णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स

श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय विश्वपूज्य

प्रातःस्मरणीय कल्पप्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर, पट्टप्रभावक चर्चाचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय धनचन्द्रसूरीश्वर, साहित्यविशारद विद्याभूषण श्रीमद् विजय भूपेन्द्रसूरीश्वर, व्याख्यानवाचस्पति श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वर, शान्तमूर्ति कविरत्न श्रीमद् विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरगुरुभ्यो नमः ।

सकल–आगम रहस्यवेदी कलिकाल सर्वज्ञ कल्प विद्वन्मान्य प्रातः स्मरणीय

प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

निर्मित

श्री अभिधानराजेन्द्रः

(सकल आगमों के समस्त संकलित शब्दों का ससंदर्भ ज्ञानमय कोष अर्थात् जिनागम कुञ्जी)

चतुर्थो भागः

('ज' से 'नोमालिया')

मुनिराज दीपविजय–यतीन्द्रविजयाभ्यां प्रथमा आवृति संशोधिता संपादिता च

❁

प्रस्तुत तृतीय संस्करण प्रकाशन के प्रेरणादाता

सुविशाल गच्छाधिपति–शासन सम्राट–धर्म चक्रवर्ती –राष्ट्रसन्त-श्रुत दिवाकर–स्मित भास्कर–लोकांत के जगप्रस्तोता–श्रमण शाश्वत धर्म के प्राण व दिशादर्शक– क्षमा दानेश्वरी–जन जन के वात्सल्य महोदधि–सत्साहित्य विधायक–जीव जगत के अक्षय अभयारण्य-

श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज साहब

प्रकाशक

श्री राजेन्द्रसूरि शताब्दि शोध संस्थान, उज्जैन (M.P.)

प्रकाशक:
राजेन्द्रसूरी शताब्दि शोध संस्थान
८७/२ विक्रम मार्ग, टावर चोक,
एस.एम.कॉम्पलेक्ष, फ्रीगंज, **उज्जैन** (M.P.)

प्राप्ति स्थान :

श्री अभिधानराजेन्द्र प्रकाशन संस्था
श्री राजेन्द्रसूरी जैन ज्ञान मन्दिर,
हाथीखाना, रतनपोल, **अहमदाबाद-३८०००१**

राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट :
शेखनो पाडो, रीलीफ रोड,
अहमदाबाद-३८०००१

राज राजेन्द्र जयंतसेन म्युजियम :
मोहनखेडा तीर्थ मार्ग,
राजगढ़, (M.P.)

पार्श्व पब्लिकेशन :
१०२, नंदन कोम्प्लेक्ष, मीठाखली गाम,
अहमदाबाद-३८०००६

विक्रम संवत् - २०७१
वीर संवत - २५४०
राजेन्द्रसूरि संवत - १०८
तृतीय आवृत्ति इस्वीसन - २०१४

सुकृत् सहयोगी

श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन श्वेताबर संघ
सुभाष चोक, गोपीपुरा, सुरत

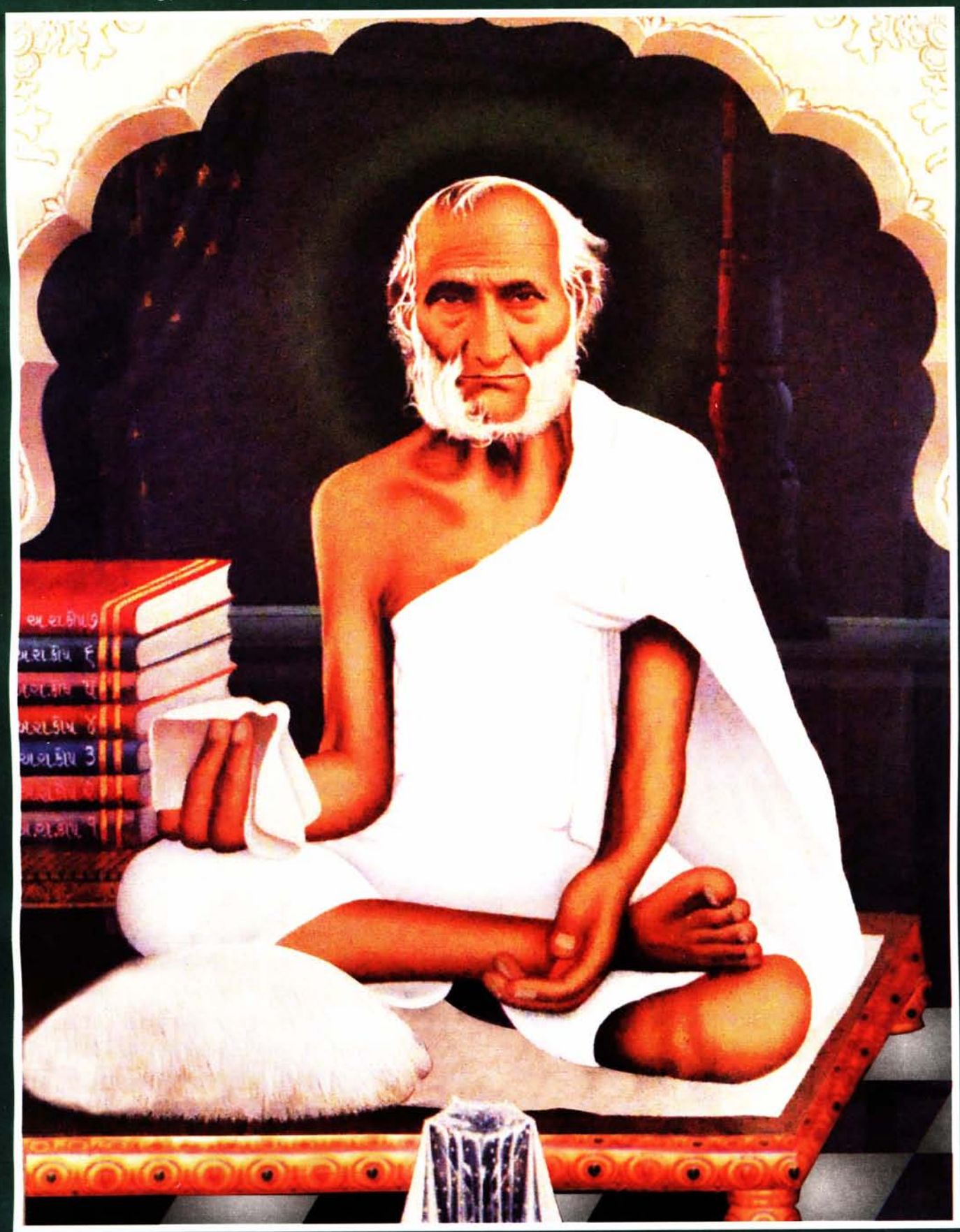
टाईप सेटिंग :
श्रीमद् जयन्तसेनसूरि सत्साहित्य कृते
श्री देवचन्द सुखराम डोलिया
इन्दौर (M.P.)

मुद्रण व्यवस्था :
खुश्बू प्रकाशन
१०३, नंदन कोम्प्लेक्ष, मीठाखली गाँव,
अहमदाबाद-६

मूल्यः संपूर्ण ७ भाग रु : ६०००-००

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि-कलिकालसर्वज्ञकल्प-परमयोगिराज

जगत्पूज्य-गुरुदेव-प्रभुश्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज



दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी - राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुतः ।
सङ्धस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान ? ॥1॥

श्री अभिधानराजेन्द्रः
२०१४

अनुक्रमणिका

१.	प्रस्तावना-तृतीय आवृत्ति	४-५
२.	सौधर्म बृहत्ततपोगच्छीय पट्टावली	६-६
३.	प्रस्तावना-द्वितीय आवृत्ति	७-११
४.	आभार प्रदर्शन	१२-१३
५.	घण्टापथः	१४-३०
६.	प्रशांत-वपुषं श्रीराजेन्द्रसूरिं नुमः	३१-३१
७.	श्रीअभिधानराजेन्द्रः-चतुर्थो भागः	१३६३-२७७८

प्रस्तावना

(तृतीय आवृत्ति)

कलिकाल सर्वज्ञ कल्प–प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में तब हुए जब मुगल साम्राज्य डाँवाडोल हो चुका था, मराठा परास्त हो चुके थे और इनके साथ ही राजपूत और नवाब सभी अंग्रेजों की कूटनीतिज्ञ चाल के सामने समर्पित हो चुके थे। भारतीय संस्कृति पर कुठाराघात अपनी चरम सीमा पर था। अंग्रेज अपनी योजित शैली में भारत की अन्तरात्मा कुचलने में सफल हो रहा था। भारत के सभी धर्मावलम्बियों में शिथिलाचार जोर पकड़े हुए था। ऐसे असमंजस भरे काल में विविध जीवन–दर्शक साठ ग्रंथों के साथ अभिधान राजेन्द्रः (ज्ञान कोश) लेकर एक देदीप्यमान सूर्य के समान प्रकट हुए। इस ग्रंथ के निर्माण के साथ ही वे एक महान साधक, तपोनिष्ठ, क्रान्तिकारी युगदृष्टा के रूप में समाज और जगत् के असर कारक अप्रतिम पथ प्रदर्शक के रूप में अवतरित हुए।

आचार्य प्रवर का यह ग्रन्थराज भगवान् महावीर की वाणी का गणधरों द्वारा प्रश्रुत आर्षपुरुषों की अर्धमागधी भाषा, जिसमें सभी आगमों का संकलन हुआ है, शताब्दी का शिरमोर व विश्ववन्द्य ग्रन्थ है। यह विश्वकोश आगम साहित्य के संदर्भ ग्रन्थ के रूप में अत्यन्त मूल्यवान है। इस ग्रन्थराज की सुसमृद्ध संदर्भ–सामग्री ने, जिससे संसार सर्वथा अनभिज्ञ था, भारतीय विद्वता का मस्तक ऊँचा किया है और यूरोपीय विद्वानों ने इस ग्रन्थराज की मुक्तकंठ से भरपूर प्रशंसा की है। यह सत्यान्वेषक तथा अनुसन्धानकर्ताओं के लिए मूल्यवान पोषक रहा है। इस ग्रन्थराज के विशद ज्ञान गाम्भीर्य और विद्योदधि श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी की चमत्कारपूर्ण अद्वितीय सृजन–शक्ति के प्रति हर कोई नतमस्तक हुए बिना नहीं रहता। इस ग्रंथराज के अवलोकन करनेवालों को जैन धर्म तथा दर्शन के अपरिहार्य तथ्यों की जानकारी मंत्रमुग्ध किये बिना नहीं रहती। सूरिजी ने अंधकार–युग में अपना मार्ग स्वयं ही प्रशस्त किया और वे जगत् के लिए पथ–प्रदर्शक बने। उनका चारित्रिक बल, उनकी विद्वता और निर्भीकता प्रशंसनीय ही नहीं बल्कि समस्त विद्वज्जगत पर महान अनुग्रह हुआ है। इस महर्द्धिक ग्रन्थराज के निर्माण ने विद्वत्संसार को चमत्कृत ढंग से प्रभावित किया। इसके अनुकरण और इसकी

सहायता तथा मार्गदर्शन पाकर अनेक विद्वानों ने पूरी शताब्दी भर अपने–अपने कोश–निर्माण की भावना में इस ग्रंथराज के बीजरूप में ही रखी है। यह ग्रन्थराज बीसवीं शताब्दी की एक असाधारण घटना ही है। इसने जैन–जैनेतर सभी विद्वन्मण्डल को निरन्तरउपकृत किया है और करता रहेगा।

इस ग्रन्थराज में तमाम जैनागमों के अर्धमागधी भाषा के प्रत्येक शब्द का संकलन किया गया है और प्रत्येक शब्द का संस्कृत अनुवाद, लिंग,व्युपत्ति, अर्थ तथा सूत्रानुसार विवेचन और संदर्भ सहित ज्ञान सुविधापूर्वक दिया है, जो सुगम और अवबोध्य है।

इस ग्रन्थराज ने लुप्तप्राय अर्धमागधी भाषा को पुनरुज्जीवित करने के साथ ही इसे अमरत्व प्रदान किया है। आगम शास्त्र जिज्ञासुओं के लिए उनकी तमाम शंकाओं के समाधान के लिए यह अक्षय भंडार है।

इस ग्रंथराज के प्रथम खण्ड के अनेकांतवाद, अस्तित्ववाद, अदत्तादान, आत्मा (अप्पा), अभय, अभयारण्य, अर्हन्त जैसे विषयों पर संदर्भ सहित विशद व्याख्या
के साथ प्रत्येक पाठक को आश्चर्यचकित करे, इतना ज्ञान आकर्षक रूप से व्याख्यायित है, जिनके अर्थबोध को पाकर हर कोई प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

इस ग्रंथराज के निर्माण के समय कुछ अक्षरों की अनुपलब्धता के कारण उनके स्थान पर वैकल्पिक अक्षर का उपयोग किया गया था जिससे पाठक–वृंद को पठन करने में जो असुविधा होती रही है उसका इस आवृत्ति में जिन वैकल्पिक अक्षरों का उपयोग किया गया था, उन्हें दूर कर दिया गया है तथा सर्वबोध्य अक्षरों का उपयोग कर लिया गया है। जिनके लिए वैकल्पिक अक्षर उपयोग में लिये गये थे वे हैं– अ, इ,उ, ऊ, ऋ, छ, झ, ठ, ड, ड्ढ, द,द्भ, द्ग, द्व्य, भ, ल, ट्ठ, क्ष, ज्ञ, त्र, द्ध, द्व, ब्क, क्त, ह्न। अब इस प्रथम भाग की तृतीय आवृत्ति में वैकल्पिक रूप हटाकरप्रवर्त्तमान प्रचलित अक्षरों का यथास्थान उपयोग कर लिया गया है।

प्रज्ञा–पुरुष के इस ग्रन्थराज के विषय में, इसकी ज्ञान–गरिमा और आध्यात्मिक साधना की अभिव्यक्ति के विषय में कुछ कहना दैदीप्यमान सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। अन्त में इतना ही कि यह चिर प्रतिक्षित संशोधित आवृत्ति आपके हाथों में रखते हुए आनंद की अनुभूति हो रही है ।

आचार्य जयन्तसेनसूरि

श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

१ श्रीसुधर्मास्वामी
२ श्रीजम्बूस्वामी
३ श्रीप्रभवस्वामी
४ श्रीसय्यंभवस्वामी
५ श्रीयशोभद्रसूरि
६ श्रीसंभूतविजयजी
श्रीभद्रबाहुस्वामी
७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
८ श्रीआर्यसुहस्तीसूरि
श्रीआर्यमहागिरि
९ श्रीसुस्थितसूरि
श्रीसुप्रतिबद्धसूरि
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
११ श्रीदिन्नसूरि
१२ श्रीसिंहगिरिसूरि
१३ श्रीवज्रस्वामीजी
१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी
१६ श्रीसामन्तभद्रसूरि
१७ श्रीवृद्धदेवसूरि
१८ श्रीप्रद्योतनसूरि
१९ श्रीमानदेवसूरि
२० श्रीमानतुङ्गसूरि
२१ श्रीवीरसूरि
२२ श्रीजयदेवसूरि
२३ श्रीदेवानन्दसूरि
२४ श्रीविक्रमसूरि
२५ श्रीनरसिंहसूरि
२६ श्रीसमुद्रसूरि
२७ श्रीमानदेवसूरि
२८ श्रीविबुधप्रभसूरि
२९ श्रीजयानन्दसूरि
३० श्रीरविप्रभूसरि
३१ श्रीयशोदेवसूरि
३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
३३ श्रीमानदेवसूरि
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
३५ श्रीउद्योतनसूरि
३६ श्रीसर्वदेवसूरि
३७ श्रीदेवसूरि
३८ श्रीसर्वदेवसूरि
३९ श्रीयशोभद्रसूरि
श्रीनेमिचन्द्रसूरि
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
४१ श्रीअजितदेवसूरि
४२ श्रीविजयसिंहसूरि
४३ श्रीसोमप्रभसूरि
श्रीमणिरत्नसूरि
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
४५ श्रीदेवेन्द्रसूरि
श्रीविद्यानन्दसूरि
४६ श्रीधर्मघोषसूरि
४७ श्रीसोमप्रभसूरि
४८ श्रीसोमतिलकसूरि
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
५५ श्रीहेमविमलसूरि
५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
५७ श्रीविजयदानसूरि
५८ श्रीहीरविजयसूरि
५९ श्रीविजयसेनसूरि
६० श्रीविजयदेवसूरि
श्रीविजयसिंहसूरि
६१ श्रीविजयप्रभसूरि
६२ श्रीविजयरत्नसूरि
६३ श्रीविजयक्षमासूरि
६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि
६८ श्री विजयधनचन्द्रसूरि
६९ श्री विजयभूपेन्द्रसूरि
७० श्री विजययतीन्द्रसूरि
७१ श्री विजयविद्याचन्द्रसूरि
७२ प्रवर्तमान आचार्य
श्री विजयजयन्तसेनसूरि



राजेन्द्र कोश



धनचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



मोहनविजयजी म.सा.



राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



भूपेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



श्री गुलाबविजयजी म.सा.



विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.



जयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा.

प्रस्तावना

(द्वितीयावृत्ति)

अनादि से प्रवहमान है श्री वीतराग परमात्मा का परम पावन शासन ! अनादि मिथ्यात्व से मुक्त होकर आत्मा जब सम्यक्त्व गुण प्राप्त करती है, तब आत्मिक उत्क्रान्ति का शुभारंभ होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रम आत्मा में परिलक्षित होता है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय तथा मन से ग्राह्य हैं, अतः इनका समावेश परोक्षज्ञान में होता है, परन्तु अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान एवं केवलज्ञान आत्म ग्राह्य हैं ; अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान में समाविष्ट हैं।

सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही मिथ्यात्व का घना अंधेरा दूर हो जाता है और आत्मा संपूर्णता की ओर गतिमान होती है। यही सम्यक्त्व आत्मा को परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रेसर करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा लौकिक भावों से अलग हो कर लोकोत्तर भावों की चिन्तनधारा में स्वयं को डुबो दे ' जिन खोजा तिन पाईयाँ गहरे पानी पैठ।'

संसार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है आश्रव और बन्ध। दुःख से मुक्ति के लिए इनको दूर करना आवश्यक है तथा इसके साथ ही संवर और निर्जरा भी आवश्यक है। बन्धन सहज है, पर यदि उसके कारण भाव एवं कारण स्थिति से स्वंय को अलग रखा जाये तो अवश्य ही हम निर्बन्ध अथवा अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

जिनागम में अध्यात्म समाया हुआ है। सहज स्थिति की कामना करनेवालों को चाहिये कि वे जिनवाणी का श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, अनुशीलन आदि करते रहें।

कर्म और आत्मा का अनादि से घना रिश्ता है, अतः कर्म आत्मा के साथ ही लगा रहता है, जैसे खदान में रहे हुए सोने के साथ मिट्टी लगी हुई होती है। मिट्टी सुवर्ण की मलिनता है और कर्म आत्मा की। प्रयोग के द्वारा मिट्टी सुवर्ण से अलग की जा सकती है। जब दोनों अलग अलग होते हैं तब मिट्टी मिट्टी रूप में और सुवर्ण सुवर्ण के रूप में प्रकट होता है। मिट्टी को कोई सुवर्ण नहीं कहता और न ही सुवर्ण को कोई मिट्टी कहता है। ठीक इसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल आलोक में सम्यक् चारित्र के प्रयोग द्वारा अपने में से कर्म रज पूरी तरह झटक देती है और अपनी मलिनता दूर करके उज्ज्वलता प्रकट कर देती है।

कर्म की आठों प्रकृतियाँ अपने अपने स्वभावानुसार सांसारिक प्रवृत्तियों में रममाण आत्मा को कर्म के फल भुगतने के लिए प्रेरित करती रहती है। जिन्हें स्वयं का ख्याल नहीं है और जो असमंजस स्थिति में है, ऐसे संसारी जीवों की कर्म प्रकृतियाँ विभाव परिणमन करा लेती हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म आँखों पर रही हुई पट्टी के समान है। नजर चाहे जितनी सूक्ष्म हो, पर यदि आँखों पर कपड़े की पट्टी लगी हो, तो कुछ भी दिखाई नहीं देता, ठीक इसी प्रकार आत्मा की निर्मल ज्ञानदृष्टि को ज्ञानवरणीय कर्म आवृत कर लेता है। इससे ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है। यह कर्म जीव को उल्टी चाल चलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म राजा के पहरेदार के समान है। जिस प्रकार पहरेदार दर्शनार्थी को राजदर्शन से वंचित रखता है, उसे महल में प्रवेश करने से रोकता है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखता है। यह जीव को प्रमत्त भाव में आकण्ठ डुबो देता है, अतः जीव अप्रमत्त भाव से सर्वथा दूर रह जाता है। यह जीव के आत्मदर्शन के राजमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और जीव को उन्मार्गगामी बनाता है।

मधुलिप्त असि धार के समान है वेदनीय कर्म। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बना कर उसे अनन्त दुःख समुद्र में धकेल देता है। साता का वेदन तो यह अत्यल्प करवाता है , पर असाता का वेदन यह अत्यधिक करवाता है। शहद लगी तलवार की धार को चाटने वाला शहद की मधुरता तो पाता है और सुख का अनुभव भी करता है, पर जीभ कट जाते ही असह्य दुःख का अनुभव भी उसे करना पड़ता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख के साथ अपार दुःख का भी वेदन करता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। मदिरा प्राशन करने वाला मनुष्य अपने होश–हवास खो बैठता है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म से प्रभावित

जीव अपने आत्म–स्वरूप को भूल जाता है और पर पदार्थो को आत्म स्वरूप मान लेता है। यही एक मात्र कारण है जीव के संसार परिभ्रमण का। 'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपकुं भरमत बादि।' यह जीव के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग में रुकावट डालता है।

जो मनुष्य इस मोहनीय कर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है और जो इसकी स्थिति का अनुभव नहीं करता, वह अपने जीवन में आत्म विकास से वंचित रह जाता है। अहंकार और ममत्व जब तक हममें विद्यमान हैं। तब तक हम मोहनीय कर्म के बन्धन में जकड़े हुए ही हैं। अहंकार और ममत्व जितना जितना घटता जाता है, उतना ही मोहनीय कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। यह मोहनीय कर्म समस्त कर्मसत्ता का अधिपति है और सबसे लम्बी उम्र वाला है। इस मोह राजा के निर्देशन में ही कर्म सेना आगे कूच करती है। जीव को भेद विज्ञान से वंचित रखनेवाला यही कर्म है। इसने ही जीव को संसार की भूलभुलैया में भटकाये रखा है।

और बेड़ी के समान है आयुष्य कर्म। इसने जीव को शरीर रूपी बेड़ी लगा दी है, जो अनादि से आज तक चली आ रही है। एक बेड़ी टूटती है, तो दूसरी पुनः तुरंत लग जाती है। सजा की अवधि पूरी हुए बिना कैदी मुक्त नहीं होता, इसी प्रकार जब तक जीव की जन्म जन्म की कैद की अवधि पूरी नहीं होती, तब तक जीव मुक्ति का आनंद नहीं पा सकता।

नाम कर्म का स्वभाव है चित्रकार के समान। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र चित्रपट पर अंकित करता है, ठीक इसी प्रकार नाम कर्म चर्तुगति में भ्रमण करने के लिए विविध जीवों को भिन्न–भिन्न नाम प्रदान करता है। इसके प्रभाव से जीव इस संसार पट पर नाना प्रकार के नाम धारण करके देव, मनुष्य, तिर्यच और नरक गति में भ्रमण करता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। कुम्हार अनेक प्रकार के छोटे बड़े बर्तन बनाता है और उन्हें विभिन्न आकार प्रदान करता है। गोत्र कर्म भी जीव को उच्च और नीच गोत्र प्रदान करता है, जिससे जीव को उच्च या नीच गोत्र में जन्म धारण करना पड़ता है।

इसी प्रकार अन्तराय कर्म है– राजा के खजाँची के समान। खजाने में माल तो बहुत होता है पर कुञ्जी खजाँची के हाथ में होती है, अतः खजाने में से याचक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यही कार्य अन्तराय कर्म करता है। इसके प्रभाव से जीव को इच्छित वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। दान, लोभ, भोग, उपभोग और वीर्य (आत्म शक्ति) के विषय में अन्तराय कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। संक्षेप में ही है, जैन दर्शन का कर्मवाद।

इसी प्रकार जिनागमों में आत्मवाद, अनेकान्तवाद, षट्द्रव्य, नवतत्व, मोक्ष मार्ग आदि ऐसे विषयों का समावेश है, जो जीव के आत्म विकास में परम सहायक हैं। द्वादशांगी जिनवाणी का विस्तार है। आत्म कल्याण की कामना करने वालों के लिए द्वादशांगी का गहन अध्ययन् अत्यंत आवश्यक है।

संसारस्थ प्रत्येक जीव को स्व–स्वरूप अर्थात् ईश्वरत्व प्राप्त करने का अधिकार केवल जैन–धर्म–दर्शन ही देता है, अन्य कोई नहीं ' सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरण व्रज। ' बुद्धं शरणं गच्छामि ..... धम्मं सरणं गच्छामि।' और केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। इन तीनों पक्षों के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम पक्ष जीव के लिए केवलीप्रणीत धर्म के दरवाजे खुले रखता है। इस धर्म में प्रवेश करके जीव स्वयं अनन्त ऐश्वर्यवान, केवलज्ञान सम्पन्न बन जाता है। जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। अन्य समस्त धर्म दर्शनों में जीव को परमात्म प्राप्ति के बाद भी परमात्मा से हीन माना गया है, जब कि जैनधर्मदर्शन में परमात्म पद प्राप्ति के पश्चात् जीव को परमात्म स्वरूप ही माना गया है। यह जैन धर्म की अपनी अलग विशेषता है।

परमज्ञानी परमात्मा की पावन वाणी जीव की इस अनुपम एवं असाधारण स्थिति का स्पष्ट बोध कराती है। प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी एवं स्याद्वाद शैली से संवृत्त जिनवाणीमय जिनागमों के गहन अध्ययन के लिए विभिन्न संदर्भ ग्रन्थों का अनुशीलन अत्यंत आवश्यक है।

आज से सौ साल पूर्व उचित साधनों के अभाव में जिनागमों का अध्ययन अत्यन्त दुष्कर था। विश्व के विद्वान जिनागम की एक ऐसी कुंजी तलाश रहे थे, जो सारे रहस्य खोल दे और उनकी ज्ञानपिपासा बुझा सके।

ऐसे समय में एक तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध त्यागवृद्ध तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध दिव्य पुरुष ने यह काम अपने हाथ में लिया। वे दिव्य पुरुष थे उत्कृष्ट चारित्र क्रिया पालक गुरुदेवप्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। उन्होंनें जिनागम की कुंजी निर्माण करने का जटिल कार्य सियाणा नगरस्थ श्री सुविधिनाथ जिनालय की छत्र छाया में अपने हाथ में लिया। कुंजी निर्माण की यह प्रक्रिया पूरे चौदह वर्ष तक चलती रही और सूरत में कुंजी बन कर तैयार हो गयी। यह कुंजी है 'अभिधान राजेन्द्र'। यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आगमों का अध्ययन करने वक्त 'अभिधान राजेन्द्र ' पास में हो तो और कोई ग्रन्थ पास में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनागमों में निर्दिष्ट वस्तुतत्त्व जो 'अभिधान राजेन्द्र' में है, वह अन्यत्र हो या न हो, पर जो नहीं है, वह कहीं नहीं है। यह महान ग्रन्थ जिज्ञासु की तमाम जिज्ञासाएँ पूर्ण करता है।

भारतीय संस्कृति में इतिहास पूर्व काल से कोश साहित्य की परम्परा आज तक चली आ रही है। निघंटु कोश में वेद की संहिताओं का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। ' यास्क ' की रचना ' निरुक्त ' में और पाणिनी के ' अष्टाध्यायी ' में भी विशाल शब्द संग्रह दृष्टिगोचर होता है ये सब कोश गद्य लेखन में हैं।

इसके पश्चात् प्रारंभ हुआ पद्य रचनाकाल। जो कोश पद्य में रचे गये, वे दो प्रकार से रचे गये। एक प्रकार है, एकार्थक कोश और दूसरा प्रकार है — अनेकार्थक कोश।

कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दार्णव', विक्रमादित्य का 'शब्दार्णव' भागुरी का 'त्रिकाण्ड' और धनवन्तरी का निघण्टु, इनमें से कुछ प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्य। उपलब्ध कोशों में अमरसिंह का 'अमरकोश' अत्यधिक प्रचलित है।

धनपाल का 'पाइयलच्छी नाम माला' २७९ गाथात्मक है और एकार्थक शब्दों का बोध कराता है। इसमें ९९८ शब्दों के प्राकृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने 'पाइयलच्छी नाम माला' पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई है।

धनञ्जय ने 'धनञ्जय नाम माला' में शब्दान्तर करने की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत की है। 'धर' शब्द के योग से पृथ्वी वाचक शब्द पर्वत वाचक शब्द बन जाते हैं --जैसे भूधर, कुधर इत्यादि। इस पद्धति से अनेक नये शब्दों का निर्माण होता हैं।

इसी प्रकार धनञ्जय ने 'अनेकार्थ नाममाला' की रचना भी की है।

कलिकाल, सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान चिन्तामणि ', 'अनेकार्थ संग्रह ', निघण्टु संग्रह और ' देशी नाममाला ' आदि कोश ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अलावा 'शिलोंछ कोश' 'नाम कोश 'शब्द चन्द्रिका', 'सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव', शब्दभेद नाममाला' ' नाम संग्रह' , शारदीय नाममाला ', शब्द रत्नाकर ', 'अव्ययैकाक्षर नाममाला' शेष नाममाला, 'शब्द सन्दोह संग्रह', 'शब्द रत्न प्रदीप', 'विश्वलोचन कोश ', 'नानार्थ कोश ' पंचवर्ग संग्रह नाम माला', 'अपवर्ग नाम माला', एकाक्षरी नानार्थ कोश,' 'एकाक्षर नाममलिका', एकाक्षर कोश', 'एकाक्षर नाममाला ', 'द्वयक्षर कोश ', 'देश्य निर्देश निघण्टु ', 'पाइय सद्दमहण्णव', 'अर्धमागधी डिक्शनरी ', 'जैनागम कोश', 'अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश', 'जैनेन्द्र सिद्धांत कोश' इत्यादि अनेक कोश ग्रन्थ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये हैं ।

इनमें से कई कोश ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र' के पूर्व प्रकाशित हुए हैं और कुछ पश्चात् भी। 'अभिधान राजेन्द्र' की अपनी अलग विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह आज भी समस्त कोश ग्रन्थों का सिरमौर बना हुआ है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दीया दिखाने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार इस महाग्रन्थ को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य स्वयमेव प्रकाशित है और यह ग्रन्थराज भी स्वयमेव प्रमाणित है, फिर भी इसकी कुछ विशेषताएं प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

'अभिधान राजेन्द्र' अर्धमागधी प्राकृत भाषा का कोश है। भगवान महावीर के समय में प्राकृत लोक भाषा थी। उन्होंने इसी भाषा में आम आदमी को धर्म का मर्म समझाया। यही कारण है कि जैन आगमों की रचना अर्धमगामी प्राकृत में की गई। इस महाकोष में श्रीमद् ने प्राकृत शब्दों का मर्म 'अ'कारादि क्रम से समझाया है , यह इस महाग्रंथ की वैज्ञानिकता है। उन्होंने मूल प्राकृत शब्द का अर्थ स्पष्ट करते वक्त उसका संस्कृत रूप, लिंग, व्युत्पत्ति का ज्ञान कराया है, इसके अलावा उन शब्दों के तमाम अर्थ सन्दर्भ सहित प्रस्तुत किये हैं ।

वैज्ञानिकता के अलावा इसमें व्यापकता भी है जैन धर्म--दर्शन का कोई भी विषय इससे अछूता नहीं रह गया है। इसमें तथ्य प्रमाण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें स्याद्वाद, ईश्वरवाद, सप्तनय, सप्तभंगी, षड्दर्शन, नवतत्त्व, अनुयोग, तीर्थ परिचय आदि समस्त विषयों की सप्रमाण जानकारी है। सत्तानवे सन्दर्भ ग्रंथ इसमें समाविष्ट हैं।

वैज्ञानिक और व्यापक होने के साथ--साथ यह सुविशाल भी हैं। सात भागों में विभक्त यह विश्वकोश लगभग दस हजार रॉयल पेजों में विस्तारित है। इसमें धर्म --संस्कृति से संबधित लगभग साठ हजार शब्द सार्थ व्यख्यायित हुए हैं। उनकी पुष्टि--सप्रमाण व्याख्या के लिए इसमें चार लाख से भी अधिक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इसके सात भागों को यदि कोई सामान्य मनुष्य एक साथ उठाना चाहे, तो उठाने के पहले उसे कुछ विचार अवश्य ही करना पड़ेगा।

इस महाग्रंथ के प्रारंभिक लेखन की भी अपनी अलग कहानी है। जिस जमाने में यह महाग्रंथ लिखा गया, उस समय लेखन साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। श्रीमद् गुरुदेव ने रात के समय लेखन कभी भी नहीं किया। कहते हैं वे कपड़े का एक छोटा सा टुकड़ा स्याही से तर कर देते थे और उसमें कलम गीली करके लिखते थे। एक स्थान पर बैठ कर उन्होंने कभी नहीं लिखा। चार्तुमास काल के अलावा वे सदैव विहार--रत रहे। मालवा, मारवाड़, गुजरात के प्रदेशों में उन्होंने दीर्घ विहार किये , प्रतिष्ठा--अंजनशलाका, उपधान, संघप्रयाण आदि अनेक धार्मिक व सामाजिक

कार्य सम्पन्न किये, जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान किया और प्रतिपक्षियों द्वारा प्रदत्त मानसिक संताप भी सहन किये। साथ–साथ ध्यान और तपश्चर्या भी चलती रही। ऐसी विषम परिस्थिति में केवल चौदह वर्ष में एक व्यक्ति द्वारा इस ' जैन विश्वकोश ' का निर्माण हुआ, यह एक महान आश्चर्य है। इस महान ग्रंथ के प्रणयन ने उन्हें विश्वपुरुष की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है और विश्वपूज्यता प्रदान की है।

श्रीमद् विजय यशोदेव सूरिजी महाराज 'अभिधान राजेन्द्र' और इसके कर्त्ता के प्रति अपना भावोल्लास प्रकट करते हुए लिखते हैं – आज भी यह (अभिधान राजेन्द्र) मेरा निकटतम सहचर है। साधनों के अभाव के जमानें में यह जो महान कार्य सम्पन्न हुआ है, इसका अवलोकन करके मेरा मन आश्चर्य के भावों से भर जाता है और मेरा मस्तक इसके कर्त्ता के इस भगीरथ पुण्य पुरुषार्थ के आगे झुक जाता है। मेरे मन में उनके प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न होता है, क्योंकि इस प्रकार के (महा) कोश की रचना करने का आद्य विचार केवल उन्हें ही उत्पन्न हुआ और इस विकट समय में अपने विचार पर उन्होंने पालन भी किया। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र में बीसवीं सदी की असाधारण घटना कौन सी है, तो मेरा संकेत इस कोश की ओर ही होगा, जो बड़ा कष्ट साध्य एवं अर्थसाध्य है।

प्रस्तुत बृहद् विश्वकोश को पुनः प्रकाशित करने की हलचल और हमारा दक्षिण विहार दोनों एक साथ प्रारम्भ हुए। बंबई चार्तुमास में हमारा अनेक मुनिजनों और विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। जो भी मिला उसने यही कहा कि 'अभिधान राजेन्द्र' जो कि दुलर्भ हो गया है, उसे पुनः प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ किया जाये। हमें यह भी सुनना पड़ा कि यदि आपके समाज के पास वर्तमान में इसके प्रकाशन की कोई योजना न हो, तो हमें इनके प्रकाशन का अधिकार दीजिये। हमनें उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि त्रिस्तुतिक जैन संघ इस मामले में सम्पन्न एवं समर्थ है। 'अभिधान राजेन्द्र' यथावसर शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रीमद् पूज्य गुरुदेव की यह महती कृपा हुई कि हम क्रमशः विहार करते हुए मद्रास पहुँच गये। तामिलनाडू राज्य की राजधानी है यह मद्रास। दक्षिण में बसे हुए दूर–दूर के हजारों श्रद्धालुओं ने इस चार्तुमास में मद्रास की यात्रा की। मद्रास चार्तुमास आज भी हमारे लिए स्मरणीय है। चार्तुमास समाप्ति के पश्चात् पौष सुदी सप्तमी के दिन मद्रास में गुरु सप्तमी उत्सव मनाया गया। गुरु सप्तमी प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज साहब का जन्म और स्मृति दिन है। गुरु सप्तमी के पावन अवसर पर एक विद्वद् गोष्ठी का आयोजन किया गया। उपस्थित विद्वानों ने अपने प्रवचन में पूज्य गुरुदेव श्री के महान कार्यो की प्रशस्ति करते हुए उनकी समीचीनता प्रकट की और प्रशस्ति में 'अभिधान राजेन्द्र ' का उचित मूल्यांकन करते हुए इसके पुर्नमुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस ग्रन्थराज का प्रकाशन एक भगीरथ कार्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाने का आह्वान मैंने मद्रास संघ को किया। आह्वान होते ही संघ हिमाचल से गुरुभक्ति गंगा उमड़ पड़ी। इस महत्कार्य के लिए भरपूर सहयोग का हमें आश्वासन प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की छपाई गतिमान हुई, पर 'श्रेयांसि बहुविध्नानि' की उक्ति के अनुसार हमें यह पुनीत कार्य स्थगित करना पड़ा। कोई ऐसा अवरोध इसके प्रकाशन मार्ग में उपस्थित हो गया कि उसे दूर करना आसान नहीं था। प्रकाशन को स्थगित करना सबके लिए दुःखद था, पर मैं मजबूर था। आंतरिक विरोध को जन्म देकर कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है।

हमारी इस मजबूरी से नाजायज लाभ उठाया– दिल्ली की प्रकाशन संस्थाओं ने ....। उन्होंने इस पुनीत ग्रन्थ को शुद्ध व्यावसायिक दृष्टि से चुपचाप प्रकाशित कर दिया। श्रीमद् गुरुदेव ने जो भी लिखा, स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय लिखा, व्यवसायियों के लिए नहीं। यही कारण है कि इसकी प्रथम आवृत्ति में यह स्पष्ट कर दिया कि इसके पुनःप्रकाशन का अधिकार त्रिस्तुतिक सकल संघ को है। ' त्रिस्तुतिक समाज की इस अनमोल धरोहर को प्रकाशित करने से पहले त्रिस्तुतिक समाज को इसके प्रकाशन से आगाह करना आवश्यक था। ऐसा न करके अन्य प्रकाशकों ने एक तरह से नैतिकता का भंग ही किया है।

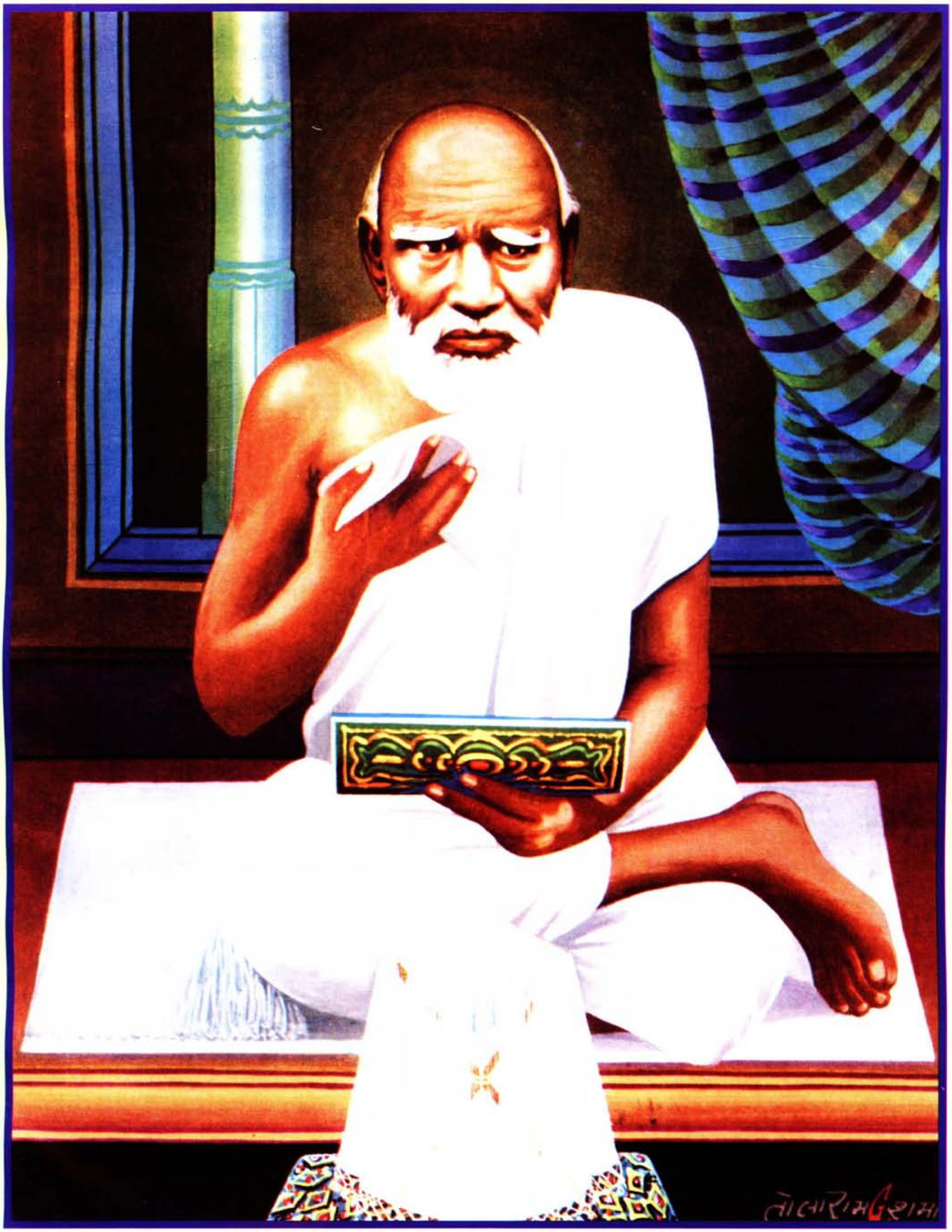
श्री भाण्डवपुर तीर्थ पर अखिल भारतीय श्रीसौधर्मवृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ का विराट अधिवेशन सम्पन्न हुआ। देश के कोने–कोने से गुरुभक्त उस अधिवेशन के लिए उपस्थित हुए। पावनपुण्यस्थल श्री भाण्डवपुर भक्तजनों के भक्तिभाव की स्वर लहरियों से गूंज उठा।

अधिवेशन प्रारंभ हुआ। संयमयःस्थविर मुनिप्रवर श्री शान्तिविजयजी महाराज साहब आदि मुनि मण्डल की सान्निध्यता में मैंने संघ के समक्ष विश्व की असाधारण कृति इस 'अभिधान राजेन्द्र' के पुनःप्रकाशन का प्रस्ताव रखा। श्री संघ ने हार्दिक प्रसन्नता व हार्दिक व अपूर्व भावोल्लास के साथ मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया और उसी जाजम पर श्रीसंघ ने इसे प्रकाशित करने की घोषणा कर दी। परमकृपालु श्रीमद् गुरुदेव के प्रति श्री संघ की यह अनन्य असाधारण भक्ति सराहनीय है।

और आज अखिल भारतीय श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ के द्वारा यह कोश ग्रन्थ पुनर्मुद्रित होकर विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है, यह हम सबके लिए परम आनंद का विषय है।

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर-चत्राचक्रवर्ति-आगमरहस्यवेदी-श्रुतस्थविरमान्य-

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज



विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरसवद्विलासम् ।
हृद्ध्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ॥ 1 ॥

इस महाग्रन्थ के पुनर्मुद्रण हेतु एक समिति का गठन किया गया है, फिर भी इस प्रकाशन में अपना अमूल्य योगदान देने वाले श्रेष्ठिवर्य संघवी श्री गगलभाई अध्यक्ष अ.भा .सौ.बृ.त्रिस्तुतिक संघ गुजरात विभागीय अध्यक्ष श्री हीराभाई, मंत्री श्री हिम्मतभाई एवं स्थानीय समस्त कार्यकताओं की सेवाओं को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता । इनकी सेवाएं सदा स्मरणीय हैं ।

इस कार्य में हमें पंडित श्री मफतलाल झवेरचन्द का स्मरणीय योगदान मिला है । प्रेसकार्य, प्रुफरीडिंग एवं प्रकाशन में हमें उनसे अनमोल सहायता मिली है। हम उन्हें नहीं भूल सकते ।

त्रिस्तुतिक संघ के समस्त गुरुभक्तों ने इस प्रकाशन हेतु जो गुरुभक्ति प्रदर्शित की है, वह इतिहास में अमर हो गई है । वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस कार्य में भाग लिया है । शुभम् ।

नेनावा (बनासकांठा)

दिनांक २–१२–१९८५

– आचार्य जयन्तसेनसूरि

आभार–प्रदर्शनम् ।

--o--

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान–सकलजैनागमपारदृश्व–आबालब्रह्मचारी–जङ्गमयुगप्रधान–प्रातःस्मरणीय–परमयोगिराज–क्रियाशुद्धयुपकारक–श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–सितपटाचार्य–जगत्पूज्य–गुरुदेव–भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद्–विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृतमागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्री सियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया । इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज ने भी आपको बहुत सहायता दी । इस प्रकार करीब साढे चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र–शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्रीसूर्यपुर (सूरत–गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ ।

गवालियर–रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के समय संवत् १९६३ पौष–शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी–मुनिश्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनिमहाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय –छोटे बड़े ग्राम–नगरों के प्रतिष्ठित–सद्गृहस्थों की सामाजिक–मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि–मर्हुम–गुरुदेव के निर्माण किए हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का जैन और जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इसलिए इसको अवश्य छपाना चाहिए, और इसके छपाने के लिए रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्–मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्–भागीरथजी, वीसाजी जवरचंदजीत्– प्यारचंदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्– निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख–रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र– कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकरप्रिन्टिंगप्रेस' स्वतन्त्र खोलना चाहिए । कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का समस्त–भार दिवंगत पूज्य–गुरुदेव के सुयोग्य–शिष्य–मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सोंपा जाए। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदी ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिए रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य– मुनिराजों की देख–रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र–वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरीकलिकालसिद्धान्तशिरोमणी–प्रातःस्मरणीय–आचार्य–श्रीमद्धनचन्दसूरिजी महाराज, उपाध्याय–श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्रीमुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्ण–गुरुदेवसेवाहेवाक–मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्–महातपस्वी–मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज; साहित्यविशा–रद–विद्याभूषण–श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय–मुनिश्रीयतीन्द्रविजयी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी–मुनिश्रीहिम्मतविजयजी मुनिश्री–लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री–गुलाबविजयजी, मुनिश्री–हर्षविजयजी, मुनिश्री–हंसविजयजी, मुनिश्री–अमृतविजयजी, आदि मुनिवरों ने अपने अपने विहार में दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे देकर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहुँचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है ।

जिन जिन ग्राम–नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन–कार्य में आर्थिक–सहायता प्रदान की है, उनकी शुभसुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है –

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ–मालवा–

श्रीसंघ–रतलाम, वाँगरोद, राजगढ,जावरा, वारोदा–बड़ा,झाबुवा,बड़नगर, सरसी, झकणावदा,खाचरोद,मुंजाखेडी, कूकसी,

सुविशाल गच्छाधिपति-शासन सम्राट-धर्म चक्रवर्ती-राष्ट्रसन्त-श्रुत दिवाकर-स्मित भास्कर-अनेकांत के जगदर्शन
श्रमण शाश्वत धर्म के प्राण व दिशादर्शक-क्षमा दानेश्वरी-जन जन के वात्सल्य महोदधि व
प्रेरणा पुंज-सत्साहित्य विधायक-जीव जगत् के अक्षय अभयारण्य



श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज साहब

मन्दसोर, खरसोद–बड़ी, आलीराजपुर, सीतामऊ, चीरोला–बड़ा, रींगनोद, निम्बाहेड़ा, मकरावन, राणापुर, इन्दौर, बरड़िया, पारा, उज्जैन, (भाट) पचलाना, टांडा, महेन्दपुर, पटलावदिया, बाग, नयागाम, पिपलोदा, खवासा, नीमच–सिटी, दशाई, रंभापुर, संजीत, बड़ी–कड़ोद, अमला, नारायणगढ, धामणदा, बोरी, बरड़ाबदा, राजोद, नानपुर

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ–गुजरात–

श्रीसंघ–अहमदाबाद, थिरपुर (थराद्), ढीमा, वीरमगाम, वाव, दूधवा, सूरत, भोरोल, वात्यम, साणंद, धानेरा, वासण , बम्बई, धोराजी, जामनगर, पालनपुर, डुवा, खंभात,

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ–मारवाड़–

श्रीसंघ–जोधपुर, भीनमाल, शिवगंज, आहोर, साचोर, कोरटा, जालोर, बागरा, फतापुरा, भैंसवाड़ा, धानपुर, जोगापुरा, रमणिया, आकोली, भारुंदा, मांकलेसर, साथू, पोमावा, देवावस, सियाणा, बीजापुर, विशनगढ़, काणोदर, बाली, मांडवला, देलंदर, खिमेल, गोल, मंडवारिया, सांडेराव, साहेला, बलदूट, खुड़ाला, आलासण, जावाल, राणी, रेवतड़ा, सिरोही, खिमाड़ा, धाणसा, सिरोड़ी, कोशीलाव, बाकरा, हरजी, पावा, मोदरा, गुडाबालोतरा, एंदला का गुड़ा, थलवाड़, भूति, चाँणोद, मेंगलवा, तखतगढ, डूडसी, सूराणा, सेदरिया, थाँवला, दाधाल, रोवाडा, जोयला, धनारी, भावरी, काचोली,

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों की ओर से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है ।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय,
रतलाम (मालवा)

॥ श्रीः ॥

मत्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी–
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनाऽऽगमः
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशो,
कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितोविजयराजेन्द्रात्परोन्योस्तिकः ॥

चतुर्थभाग–घण्टापथः ।

अर्हम् ।

इह हि प्रायोऽनवद्यहृद्यविद्याविद्योद्वितान्तःकरणानामनवरतान्तःस्थमहासपत्नपरासनप्रयतानाममेध्यहेयहिंसाऽऽदिगर्ह्यपदार्थसार्थगहनतरगहनागमविच्छेदपर्श्वधिधाराधराणामधरीकृतधराधरक्षमाधराणामपूर्वपूर्वभवोपार्जितशुभंयुकर्मपरिपाकसंमुखीनानामसंमुखीकृतपरावज्ञाऽज्ञानतिमिराणाममितचरित्रपवित्रितान्तःकरणानां विलक्षणलक्षणानां स्वेतरदोषदर्शनदवीयसां मनस्विमहीयसां दुरितभरितक्षीवक्षितिपतिप्रसादनिरादराणामहो खलु साम्प्रतं मम पचेलिमं भागधेयमिति मन्यमानानां द्राघिष्ठमुदर्कमुन्निनीषूणां विगतकुहनाऽऽटोपानां मुक्तिमहेलासंवरणोत्सुकानां प्रादुर्भूतविशङ्कटबोधानां किम्पचानप्रतिपन्थिनां समवगलितनवतत्त्वनिकुरकुरम्बानां महत्याऽऽरभट्या धर्मदेशनाश्रावणाऽभयविश्राणनसमुत्सुकानां खलोक्तिकाटवमपि मर्षणीयमिति निर्धारितमानसानां प्रपदनिमग्ननृपतिनिटिलकिरीटानां वरिष्टप्रष्टानां सततमहोत्सवमासेदुषां विदुषां परमहंसानां मानसं स्वच्छन्दोच्छलदच्छसंवराऽऽशयसमं सन्मतावागाहनाऽवसरे मध्यमभुवनभागधेयपरिपाकस्वरूपं तत्त्वाप्रस्थितिशुभशृङ्गाटकानुकारि मिथ्यात्वदर्शनाकूपाराऽऽचान्त्यै लोपामुद्राधवमुद्राधरं गाधीकृतसौगतशासनाऽऽशयनिगूढतत्त्वं प्रालेयमहीध्रवन्नितान्तयशोविशदमस्तोकमुक्ताफलाऽऽपीडवत्शिरसा श्लाघनीयमुत्कटप्रत्यग्रप्रसृमरनीरन्ध्रसदुपदेशसुधाविन्दुवृष्टिभिराप्याचितभव्यभविकस्वान्तक्षेत्रं पटनाऽऽकर्णनाभ्यां माध्वीकमुद्गीकयोरप्यधरीकृतमाधुर्यं जनिताऽऽमोदभूमोदयं मानसकासारमिवाऽऽर्हन्मतमेवाजस्रं धिनोति । यत्र शृङ्गग्राहिकया जीवाजीवाऽऽदिसमस्तवस्तुविवेचनं विधीयते यत्र च सुखतल्पकल्पेऽनल्पनिद्रामुद्रितनयनस्य विद्रावितद्वापरस्याऽऽकल्पं निद्राणस्याकुतोभयस्य जल्पाकेन साकं जल्पाऽऽयासावसरमपि नायाति, गम्भीरगर्जनविद्रावितगिरिग्रावस्य गिरिगर्भे शयानस्य पञ्चाननस्येव यस्य नामश्रवणमात्रेण मदमलिनगण्डाऽऽभोगाः पद्मिन इव कुमतावलम्बिनो गृहीतदिक्षाः पुनरावर्तनमपि न स्पृहयन्ति, येनाऽऽस्थानीमास्थितस्य वादकथासंप्रलग्नस्य निकटं जयोऽवश्यमभ्युपैति, कौक्षेयकमिव यमवलम्ब्य प्रत्यर्थिप्रवर्तितप्रेतानुकारिनिग्रहस्थानकन्धराकर्तनाय कुशलीभवति भव्यवर्गः, योह्युपगतोपघ्नानां निजनिघ्नानां विघ्नसङ्घमपहस्तयते । प्रातिस्विकरूपेण निर्धारितोऽयमर्थः प्रथमभागोपोद्घातेऽस्माभिरित्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्याऽकाण्डताण्डवाऽऽडम्बरेण वा । किं बहुना यत्प्रवर्तका एव परार्थसंपादनसमर्पितजीविताः स्वार्थनिरपेक्षाः समस्तजीवजीवातुप्रदानदक्षाः सौधर्मेन्द्राऽऽदिनिर्वर्तितजन्माभिषेकाः सुधाधोरणीकल्पनैजदेशनया संसारासातसंतप्तजन्तूनां विहितसेका अष्टमहाप्रातिहार्यपरिकलिताश्चतुस्त्रिंशदतिशयविराजिता रागद्वेषाऽऽद्यन्तरङ्गारिविप्रमुक्ता पराभिसंधानाध्ययनविमुखास्तत्त्वपारावारतलस्पर्शिनः परमदुर्गतिसमापन्नदुर्भगजनतानिरीक्षणसमुत्पन्नकरुणरसोद्गारपुलकितान्तःकरणा दरीदृश्यन्ते, तद्वचनसुधासारणीसमवगाहनसुखैषिणः पुरोभागिभिन्नाः के वा न भवेयुः? यद्यपि तृतीयभागप्रस्तावे समासेन निरूपितोऽयं विषयः प्रयत्नप्रयतैरस्माभिस्तथापि वाचकवर्गमनः पोषाय कदाग्रहग्रहिलतोषाय सोहापोहं भगवतां तीर्थकृतां रागद्वेषविप्रमुक्तत्वमेवोद्घाट्यते, यत्सत्तायामेव तेषामुपादेयवचनताऽनिर्वचनीयतामावहति । तथाहि–ननु तीर्थकृतां रागाऽऽदिभिः सहाऽऽत्यन्तिको वियोगोऽसंभवी, प्रमाणबाधनात् । तच्च प्रमाण–मिदम्–यदनादिमद् न तद्विनाशमाविशति, यथाऽऽकाशम्, अनादिमन्तश्च रोगाऽऽदय इति । किञ्च–रागाऽऽदयो धर्माः, ते च धर्मिणो भिन्नाः, अभिन्ना वा? यदि भिन्नास्तर्हि सर्वेषामविशेषेण वीतरागत्वप्रसङ्गः, रागेभ्यो भिन्नत्वात्, विवक्षितपुरुषवत् । अथाभिन्नास्तर्हि तत्क्षये धर्मिणोऽप्यात्मनः क्षयः, तदभिन्नत्वात्, तत्स्वरूपवत्, इति कुतस्तेषां वीतरागत्वम्? तस्यैवाऽभावादिति । अत्रोच्यते–इह यद्यपि रागाऽऽदयो दोषा अनादिमन्तः, तथापि कस्यचित् स्त्रीशरीराऽऽदिषु यथाऽवस्थितवस्तुतत्त्वावगमेन तेषां रागाऽऽदीनां प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृश्यते, ततः संभाव्यते–विशिष्टकालाऽऽदिसामग्रीसद्भावे भावनाप्रकर्षविशेषभावतो निर्मूलमपि क्षयः । अथ यद्यपि प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृष्टस्तथाऽपि तेषामात्यन्तिकोऽपि क्षयः संभवतीति कथमसेयम्? उच्यते–अन्यत्र तथा प्रतिबन्धग्रहणात् । तथाहि– शीतस्पर्शसंपाद्या रोमहर्षाऽऽदयः, ते च शीतप्रतिपक्षस्य वह्नेर्मन्दतायां मन्दा उपलब्धाः,उत्कर्षे च निरन्वयविनाशधर्माणः । ततोऽन्यत्रापि बाधकस्य मन्दतायां बाध्यस्य मन्दतादर्शनाद् बाधकोत्कर्षेऽवश्यं बाध्यस्य निरन्वयो विनाशो वेदितव्यः, अन्यथा बाधकामन्दतायां मन्दताऽपि न स्यात् । अथाऽस्ति ज्ञानस्य ज्ञानाऽऽवरणीयं कर्म बाधकं, ज्ञानाऽऽवरणीयकर्ममन्दतायां च ज्ञान-स्यापि मानग्मन्दता । अथ च प्रबलज्ञानाऽऽवरणीयकर्मोदयोत्कर्षेऽपि ज्ञानस्य न निरन्वयो विनाशः । एवं प्रतिपक्षभावनोत्कर्षेऽपि न रागाऽऽदीनामत्यन्तोच्छेदो भविष्यतीति । तदयुक्तम् । द्विविधे हि बाध्यम्–सहभूतस्वाभावमभूतम्, सहकारिसंपाद्य स्वभावभूतं च । तत्र यत् सहभूत्स्वभावभूतं, तत्र कदाचिदपि निरन्वयविनाशमाविशति, ज्ञानं चाऽऽत्मनः सहभूतस्वभावभूतम्, आत्मा च परिणामी नित्यः, ततोऽत्यन्तप्रकर्षवत्यपि ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मोदये न निरन्वयविनाशो ज्ञानस्य रागाऽऽदयस्तु लोभाऽऽदिकर्मविपाकोदयसंपादितसत्ताकाः, ततः कर्मणो निर्मूलमपगमेऽपि निर्मूलमपगच्छन्ति । नन्वा सतां कर्मसंपाद्या रागाऽऽदयः, तथापि कर्मनिवृत्तौ ते निवर्तन्ते इति नावश्यं नियमः। न हि दहननिवृत्तौ तत्कृता काष्ठाऽङ्गारता निवर्तते । तदसत् । यत इह किञ्चित् क्वचित् निवर्त्य–विकार–

मापादयति, यथाऽग्निः सुवर्णे द्रवताम् । तथाहि–अग्निनिवृत्तौ तत्कृता सुवर्णे द्रवता निवर्तते । किञ्चित् पुनः क्वचित् अनिवर्त्य–विकाराऽऽरम्भकम् । यथा–स एवाऽग्निः काष्ठे, न खलु श्यामतामात्रमपि काष्ठे दहनकृतं तन्निवृत्तौ निवर्तते । कर्म चाऽऽत्मनि निवर्त्यविकाराऽऽ-रम्भकम् । यदि पुनरनिवर्त्यविकाराऽऽरम्भकं भवेत्तर्हि यदपि तदपि कर्मणा कृतं न कर्मनिवृत्तौ निवर्तेत, यथाऽग्निना श्यामतामात्रमपि काष्ठे कृतमग्निनिवृत्तौ । ततश्च यदेकदा कर्मणाऽऽपादितं मनुष्यत्वममरत्वं कृमिकीटत्वमज्ञत्वं शिरोवेदनाऽऽदि, तत्सर्वकालं तथैवावतिष्ठेत, न चैतद् दृश्यते, तस्मान्निवर्त्यविकाराऽऽरम्भकं कर्म, ततः कर्मनिवृत्तौ रागाऽऽदी-नामपि निवृत्तिः। अत्राऽऽहुर्बार्हस्पत्याः–''नैते रागाऽऽदयो लोभाऽऽदि-कर्मविपाकोदयनिबन्धनाः, किन्तु कफाऽऽदिप्रकृतिहेतुकाः।'' तथाहि– कफहेतुको रागः, पित्तहेतुको द्वेषः, बातहेतुकश्च मोहः । कफाऽऽदयश्च सदैव सन्निहिताः, शरीरस्य तदात्मकत्वात्, ततो न वीतरागत्वसंभवः। तदयुक्तम् । रागाऽऽदीनां कफाऽऽदिहेतुकत्वाऽऽद्ययोगात् । तथाहि–स तद्धेतुको, यो यं न व्यभिचरति, यथा धूमोऽग्निम् । अन्यथा प्रतिनियत-कार्यकारणभावव्यवस्थाऽनुपपत्तिः । न च रागाऽऽदयः कफाऽऽदीन् न व्यभिचरन्ति, व्यभिचारदर्शनात् । तथाहि–वातप्रकृतेरपि दृश्येते रागद्वेषौ, कफप्रकृतेरपि द्वेषमोहौ, पित्तप्रकृतेरपि मोहरागौ, ततः कथं रागाऽऽदयः कफाऽऽदिहेतुकाः ? अथ मन्येथाः–एकैकाऽपि प्रकृतिः सर्वेषामपि दोषाणां पृथग् पृथग् जनिका, तेनायमदोष इति । तदयुक्तम् । एवं सति सर्वेषामपि जन्तूनां समरागाऽऽदिदोषप्रसक्तेः, अवश्यं हि प्राणिनामेकतमया प्रकृत्या कयाचिद् भवितव्यम् । सा चाविशेषेण रागाऽऽदिदोषाणामुत्पादिकेति सर्वेषामपि समानरागाऽऽदिताप्रसक्तिः। अथास्ति प्रतिप्राणि पृथक् पृथग-वान्तरः कफाऽऽदीनां परिणतिविशेषः, तेन न सर्वेषां समरागाऽऽदिता-प्रसङ्गः। तदपि न साधीयः। विकल्पयुगलानतिक्रमात् । तथाहि– सोऽप्यवान्तरः कफाऽऽदीनां परिणतिविशेषः सर्वेषामपि रागाऽऽदीना-मुत्पादकः, आहोस्विदेकतमस्यैव कस्यचित्? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तर्हि यावत् स परिणतिविशेषः तावदेककालं सर्वेषामपि रागाऽऽदीनामुत्पाद-प्रसङ्गः। न चैकका–लमुत्पाद्यमाना रागाऽऽदयः संवेद्यन्ते, क्रमेण तेषां वेदनात् । न खलु रागाध्यवसायकाले द्वेषाध्यवसायो, मोहाध्यवसायो वा संवेद्यते । अथ द्वितीयः पक्षः– तत्रापि यावत् स कफाऽऽदिपरिण-तिविशेषस्तावदेक एव कश्चिद्रागाऽऽदिदोषः प्राप्नोति। अथ च तदवस्था एव कफाऽऽदिपरिणतिविशेषे सर्वेऽपि दोषाः क्रमेण परावृत्त्योपजाय-माना उपलभ्यन्ते । अथादृश्यमान एव केवलकार्यविशेषदर्शनो-न्नीयमानसत्ताकस्तदा तदा तत्तद्रागाऽऽदिदोषहेतुः कफाऽऽदिपरि-णतिविशेषो जायते, तेन न पूर्वोक्तदोषावकाशः। ननु यदि स परिणति-विशेषः सर्वथाऽननुभूयमानस्वरूपोऽपि परिकल्प्यते, तर्हि कर्मैव किं नाभ्युपगम्यते? एवं हि लोकशास्त्रमार्गोऽप्याराधितो भवति । अपि च– स कफाऽऽदिपरिणतिविशेषः कुतस्तदा तदाऽन्यान्यरूपेणोपजायते, इति वक्तव्यम्। देहादिति चेत्, ननु तदवस्थेऽपि देहे भवद्भिः कार्यविशेष-दर्शनतस्तस्यान्यथाभवनमिष्यते, तत्कथं तद्देहनिमित्तम्? नहि यदविशेषेऽपि यद्विक्रियते स विकारस्तद्धेतुक इति वक्तुं शक्यम्। नाप्यन्यो हेतुरुपलभ्यते, तस्मात्तदप्यन्यथाभवनं कर्महेतुकमेष्टव्यम्। तथा च सति कर्मैवैकमभ्युपगम्यतां, किमन्तर्गडुना तद्धेतुतया कफाऽऽदिपरिणति-विशेषाभ्युपगमेन? किञ्च–अभ्यासजनितप्रसराः प्रायो रागाऽऽदयः । तथाहि– यथा यथा रागाऽऽदयः सेव्यन्ते तथा तथाऽभिवृद्धिरेव तेषामुप-जायते, न प्रहाणिः। तेन समानेऽपि कफाऽऽदिपरिणति विशेषे तदवस्थेऽपि च देहे यस्येह जन्मनि परत्र वा यस्मिन् दोषेऽभ्यासः स तस्य प्राचुर्येण प्रवर्तते, शेषस्तु मन्दतया, ततोऽभ्यास–संपाद्यकर्मोपचयहेतुका एव रागाऽऽदयो, न कफाऽऽदिहेतुका इति प्रतिपत्तव्यम् । अन्यच्च–यदि कफहेतुको रागः स्यात्, ततः कफवृद्धौ रागवृद्धिः स्यात्, पित्तप्रकर्षे तापप्रकर्षवत्, न च भवति; तदुत्कर्षोत्थपीडावाधिततया द्वेषस्यैव दर्शनात् । अथ पक्षान्तरं गृह्णीथाः– यदुत न कफहेतुको रागः, किन्तु कफाऽऽदिदोषसाम्यहेतुकः। तथाहि– कफाऽऽदिदोषसाम्ये विरुद्धव्या-ध्यभावतो रागोद्भवो दृश्यत इति । तदपि न समीचीनम् । व्यभिचार-दर्शनात् न हि यावत् कफाऽऽदिदोषसाम्यं तावत् सर्वदैव रागोद्भवोऽ-नुभूयते, द्वेषाऽद्युद्भवस्यानुभवात्। न च यद्भावेऽपि यन्न भवति तत् तद्धेतुकं सचेतसा वक्तुं शक्यम्। अपि च–एवमभ्युपगमे ये विषमदोषास्ते रागिणो न प्राप्नुवन्ति, अथ च तेऽपि रागिणो दृश्यन्ते, स्यादेतत्, अलं वैरस्त-र्यात्। तत्त्वं निर्वह्निशुक्रोपचयहेतुको रागो नान्यहेतुक इति । तदपि न युक्तम्। एवं ह्यत्यन्तस्त्रीसेवापरतया शुक्रक्षयतः क्षरत्क्षतजानां रागिता न स्यात्। अथ वा–एतेऽपि तस्यामवस्थायां निकामं रागिणो दृश्यन्ते। किं च–यदि शुक्रस्य रागहेतुता, तर्हि तस्य सर्वस्त्रीषु साधारणत्वात् नैकस्त्रीनियतो रागः कस्यापि भवेत्, दृश्यते च कस्याप्येकस्त्रीनियतो रागः। अथोच्यते–रूपातिशयलुब्ध स्तस्यामेव रूपवत्यामभिरज्यते, न योषिदन्तरे। उक्तं च– ''रूपा–तिशयपाशेन, विवशीकृतमानसाः। स्वां योषितं परित्यज्य, रमन्ते योषिदन्तरे ॥१॥'' इति। तदपि न मनोरमम् । रूपरहितायामपि क्वापि रागदर्शनात्। अथ तत्रोपचारविशेषः समीचीनो भविष्यति, तेन तत्राभिरज्यते। उपचारोऽपि च रागहेतुर्न रूपमेव केवलम्, तेनायमदोष इति । तदपि व्यभिचारि । द्वयेनापि विमुक्तायां क्वचिद् रागदर्शनात्। तस्मादभ्यासजनितोपचयपरिपाकं कर्मैव विचित्रस्वभाव-तया तदा तदा तत्तत्कारणापेक्षं तत्र तत्र रागाऽऽदिहेतुरिति कर्महेतुका रागाऽऽदयः। एतेन यदपि कश्चिदाह– पृथिव्यादिभूतानां धर्मा एते रागाऽऽदयः। तथाहि–पृथिव्यम्बुभूयस्त्वे रागः, तेजोवायुभूयस्त्वे द्वेषः, जलवायुभूयस्त्वे मोह इति । तदपि निराकृतमवसेयम्, व्यभिचारात् । तथाहि– यस्यामेवावस्थायां द्वेषो मोहोऽपि तस्यामेव दृश्यते, तत एतदपि यत्किञ्चित् । तस्मात् कर्महेतुका रागाऽऽदयः । ततः कर्मनिवृत्तौ निवर्तन्ते । प्रयोगश्चात्रये सहकारिसंपाद्या यदुपधानादपकर्षिणस्ते तदत्यन्तवृद्धौ निरन्वयविनाशधर्माणो, यथा रोमहर्षाऽऽदयो वह्निवृद्धौ, भावनोपधानादपकर्षिणश्च सहकारिकर्मसंपाद्या रागाऽऽदय इति। यदपि प्रागुपन्यस्तं प्रमाणम्–यदनादिमद् न तद्विनाशमाविशति, यथाऽऽकाशम् । तदप्यप्रमाणम् । हेतोरनैकान्तिकत्वात्–प्रागभावेन व्यभिचारात् । तथाहि–प्रागभावोऽनादिमानपि विनाशमाविशति, अन्यथा कार्यानुत्पत्तेः । भावनाऽधिकारी च सम्यग्दर्शनाऽऽदिरत्नत्रय–

संपत्समन्वितो वेदतिव्यः, इतरस्य तदनुरूपानुष्ठानप्रवृत्त्यभावेन तस्य मिथ्यारूपत्वात् । आह च–''णाणी तवम्मि निरओ, चारित्ती भावणाइजोगे' त्ति। सा च रागाऽऽदिदोषनिदानस्वरूपविषयफलगोचरा यथाऽऽगममेवमवसेया–

'जं कुच्छियाणुओगो, पयइविसुद्धस्स होइ जीवस्स।
एएसि भो नियाणं, बुहाण न य सुंदरं एयं ॥१॥
रूवं पि संकिलेसो–ऽभिस्संगा पीइमाइ लिंगो उ।
परमसुहपच्चणीओ, एअं पि असोहणं चेव ॥२॥
विसओ य भंगुरो खलु, गुणरहिओ तह तहारूवो।
संपत्तिनिप्फलो केवलं तु मूलं अनत्थाणं ॥३॥
जम्मजरामरणाई, विचित्तरूवो फलं तु संसारो।
बहुजणनिव्वेयकरो, एसो वि तहाविहो चेव ॥४॥'' इति।

अपि च–सूत्रानुसारेण ज्ञानाऽऽदिषु यो नैरन्तर्येणाभ्यासस्तद्रूपाऽपि भावना वेदितव्या, तस्या अपि रागाऽऽदिप्रतिपक्षत्वात्। न हि तत्त्ववृत्त्या सम्यग्ज्ञानाऽऽद्यभ्यासे व्यापृतमनस्कस्य स्त्रीशरीररामणीयकाऽऽदिविषये चेतः प्रवृत्तिमातनोति, तथाऽनुपलम्भात्। एतेन सिद्धं रागाऽऽदिविरहवत्त्वं तीर्थकृतां भगवताम्। अत एव रागद्वेषाऽऽदिशत्रून् जयन्त्यभिभवन्तीति तीर्थकृत् पर्यायस्य जिनशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रवृत्तिनिमित्तं च भावयन्ति भावुकाः। सिद्धे च तस्मिन् रागाऽऽद्यभावेऽनृतभाषणकारणाभावात् समुपादेयवचनताऽनिर्वचनीयतामावहत्येव जिनवरस्य। उक्तं च–''रागाद् वा द्वेषाद् वा, मोहाद् वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषास्तस्याऽनृतकारणं किं स्यात्? ॥१॥'' किञ्च–''अणुवकयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जगप्पवरा। जियरागदोसमोहा, य नऽण्णहावाइणो तेणं ॥५०॥'' इति सिद्धं पराभिसंधानविमुखत्वेन जिनवचनस्य विविश्वस्तसूत्रितत्वम्। अस्तु तावत् तीर्थकृतां जितरागद्वेषत्वं तथाऽपि मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वाद् जिनवचनस्य कथं प्रामाण्यमङ्गीकरणीयम्? जिनवचनस्य मिथ्यात्विदर्शनसमूहरूपत्वं तु श्रीसिद्धसेनदिवाकरोऽप्यभ्युपगच्छति। तथाहि–''भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स। जिणवयणस्स भगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥६९॥'' (सम्म० ३ काण्ड) ततश्च यन्मिथ्यादर्शनसमूहमयं तत्कथं सम्यग्रूपतामासादयति? न हि विषकणिकासमूहमयस्यामृतरूपतापत्तिः प्रसिद्धा। अत्र प्रतिविधीयतेनैतद् युक्तम्। परस्पर–निरपेक्षसंग्रहाऽऽदिनयरूपाऽऽपन्नसाङ्ख्याऽऽदिमिथ्यादर्शनानां परस्परसव्यपेक्षतासमासादितानेकान्तरूपाणां विषकणिकासमूहविशेषमयस्यामृतसंदोहस्येव सम्यक्त्वाऽऽपत्तेः। दृश्यन्ते हि विषाऽऽदयोऽपि भावाः परस्परसंयोगविशेषमवाप्ताः समासादितपरिणत्यन्तरा अगदरूपतामात्मसात्कुर्वाणाः, मध्वाज्यप्रभृतयस्तु विशिष्टसंयोगावाप्तद्रव्यान्तरस्वभावा मृतिप्राप्तिनिमित्तविषरूपतामासादयन्तः। न चाध्यक्षप्रसिद्धार्थस्य पर्यनुयोगविषयता, अन्यथाऽग्न्यादेरपि दाह्यदहनशक्त्यादिपर्यनुयोगाऽऽपत्तेः। अत एव निरपेक्षा नैगमाऽऽदयो दुर्णयाः, सापेक्षास्तु सुनया उच्यन्ते। अभिहितार्थसंवादि चेदं वादिवृषभस्तुतिकृत्सिद्धसेनाऽऽचार्यवचनम्–''नयास्तव स्यात्पदलाच्छना इमे, रसोपविष्टा इव लोहधातवः। भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः॥१॥'' इति। अथवा साङ्ख्याऽऽदेरेकान्तवादिदर्शनसमूहमयस्य चूर्णस्वभावस्य, मिथ्यादृष्टिपुरुषसमूहविघटनसमर्थस्य वा। यद्वा–मिथ्यादर्शनसमूहा नैगमाऽऽदयः, एकैकनैगमाऽऽदेर्नयस्य शतविधत्वात् ''एक्केक्को वि सयविहो।'' इत्याद्यागमप्रामाण्यात् अवयवा यस्य तन्मिथ्यादर्शनसमूहमयम्, जिनवचनस्य नैगमाऽऽदयः सापेक्षाः सप्ताऽवयवाः, तेषामप्येकैकः शतधा व्यवस्थित इत्यभिप्रायः। समूहरूपसप्तनयोदाहरणापेक्षया च सप्तभङ्गीप्रदर्शनमागमज्ञो विदधति, सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वात् वस्तुतत्त्वस्य, सामान्यस्यैकत्वात्, तद्विवक्षायां यदेव घटाऽऽदिद्रव्यं स्यादेकमिति प्रथमभङ्गीविषयः, तदेव देशकालप्रयोजनभेदाद् नानात्वं प्रतिपद्यमानं तद्विवक्षया स्यादनेकमिति द्वितीयभङ्गविषयः, तदेवोभयाऽऽत्मकमेकैकशब्देन यदाऽभिधातुं न शक्यते तदा स्यादवक्तव्यमिति तृतीयभङ्गविषयः, यदेवावकाशदातृत्वेनासाधारणेनैकमाकाशं, तदेवावगाह्यावगाहकावगाहनक्रियाभेदादनेकं भवति, तद्भेदैर्विना तस्या वस्तुत्वाऽऽपत्तेः, प्रदेशभेदापेक्षयाऽपि च तदनेकम्। अन्यथा हिमवद् विन्ध्ययोरप्येकदेशताप्राप्तेः। तस्य च तथाविवक्षायां स्यादेकं चानेकं चेति चतुर्भङ्गविषयता। यदेकमाकाशं भवतः प्रसिद्धं तदेकस्मिन्नवयवे विवक्षिते एकमवयवस्यावयवान्तराद् भिन्नभिन्नानां वाचकस्य शब्दस्याऽभावादवक्तव्यं चेति, तथा विवक्षायां स्यादेकमवक्तव्यं चेति पञ्चमभङ्गविषयः। तद् यदेवैकमाकाशं प्रसिद्धं भवतः, तदवगाह्याऽवगाहनक्रियाभेदादनेकम् एकाऽनेकत्वप्रतिपादकशब्दाभावादवक्तव्यं चेति षष्ठभङ्गविषयः। यदेवैकमाकाशाऽऽत्मकतयाऽऽकाशं भवतः प्रसिद्धं, तदेव तथैकमवगाह्यावगाहनक्रियाऽपेक्षयाऽनेकं, युगपत्प्रतिपादनापेक्षयाऽवक्तव्यं चेति स्यादेकमनेकमवक्तव्यं चेति सप्तमभङ्गविषयः। एवं स्यात् सर्वगतः स्यादसर्वगतो घटाऽऽदिरित्यादिकाऽपि सप्तभङ्गी वक्तव्या एतेन मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वेऽपि जिनवचनस्य, विषकणिकासमूहविशेषमयस्यामृतसारवदुपादेयत्वमविरुद्धम्। विशेषविस्तरस्तु 'जिणवयण' शब्दे १५०३ पृष्ठादारभ्य १५०५ पृष्ठपर्यन्तं विपश्चिद्भिरवलोकनीयः। ततः स्थितमेतत्–

''जिणवयणकप्परुक्खो, अणेगसुत्तत्थसालविट्ठिन्नो।
तवनियमकुसुमगुच्छो, सुग्गइफलबंधणो जयइ ॥१॥
सव्वे वि य सिद्धंता, सदव्वरयणामया सतेल्लोक्का।
जिणवयणस्स भगवओ, न तुल्लमिय तं अणग्घेयं ॥२॥''
''जयति जगदेकमङ्गल–मपहतनिःशेषदुरितघनतिमिरम्।
रविबिम्बमिव यथास्थित–वस्तुविकाशं जिनेशवचः ॥१॥''
''नर–नरग तिरिय–सुरगण–संसारियसव्वदुक्खरोगाणं।
जिणवयणमेगमोसह–मपवग्गसुहक्खयं फलयं ॥१॥
जिणवयणमोयगस्स य, रत्तिं व दिवा य खज्जमाणस्स।
तित्तिं बुहो न गच्छइ, हेउसहस्सोवगूढस्स ॥२॥
जीवाइवत्थुचिंतण–कोसल्लगुणेणऽनन्नसरिसेण।
सेसवयणहिँ अजियं, जिणिंदवयणं महातिसयं। ३॥''
''जन्मजरामरणभयै–रभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते
जिनवरवचनादन्य–त्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥१॥''

तस्मात्। जिनवचनरुचिनाऽविप्रतिपन्नेन भव्येन भाव्यम्।

यतः–

''सवणकरणेसु इच्छा, होइ रुई सद्दहाणसंजुत्ता।
एईइ विणा कत्तो, सुद्धी सम्मत्तरयणस्स ॥१॥''

ततः–

''जिणवयणे अनुरत्ता, जिणवयणं जे करिंति भावेणं।

अमला असंकिलिट्ठा, ते हुंति परित्तसंसारी ॥१॥''

अथवा किं बहुना–

''कूरा वि सहावेणं, विसयविसवसानुगा वि होऊण।
भावियजिणवयणमणा, तेल्लोक्कसुहावहा होंति ॥१॥''

यतः–

''सुस्सूस धम्मराओ, गुरुदेवाणं जहासमाहीए।
वेयावच्चे नियमो, सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ॥१॥''

''एतेन तृतीयभागप्रस्तावोपन्यस्तपराभिसंधानविमुखत्वं भगवतस्तीर्थकरस्य रागद्वेषजेतृत्वेन सर्वतोभावेन समर्थितम् । किञ्च–समवसरणाऽऽदिसमये देशनाऽपरपर्यायेण जिनवचनेन योऽर्थः समर्थितस्तत्र विप्रतिपन्नस्य जमालेरिव दुर्गतिगमनमवश्यमेव संपद्यते। तथाहि तृतीयभागप्रस्तावे– ''से नूणं भंते ! चलमाणे चलिए'' इत्यादि भगवत्प्ररूपितार्थवाचकं प्रश्नोत्तररूपं सूत्रमुपन्यस्तम्। तत्र विप्रतिपन्नस्य जमालेश्चरितमित्थम्– इहैव भरतक्षेत्रे कुण्डपुरं नामं नगरम्, तत्र भगवतः श्रीमन्महावीरस्य भागिनेयो जमालिर्नाम राजपुत्र आसीत्, तस्य च भार्या श्रीमन्महावीरस्य दुहिता सुदर्शना, अथ कदाचित् पञ्चशतपुरुषपरिवारो जमालिर्भगवतो महावीरस्याग्रे प्रव्रज्यां जग्राह, सुदर्शनाऽपि सहस्रस्त्रीपरिवारा तदनु प्रव्रजिता। ततश्चैकादशस्वङ्गेष्वधीतेषु जमालिना भगवान् विहारार्थमुत्कलापितः, ततो भगवता तूष्णीमास्थाय न किञ्चित् प्रत्युत्तरमदायि, तत एवममुत्कलितोऽपि पञ्चशतसाधुपरिवृतो निर्गतः श्रीमन्महा–वीरान्तिकात्, ग्रामानुग्रामं च पर्यटन् गतः श्रावस्तीनगर्याम्, तत्र च तैन्दुकाभिधानोद्याने कोष्ठकनाम्नि चैत्ये स्थितः, ततश्च तत्र तस्यान्तप्रान्ताऽऽहारैस्तीव्रो रोगाऽऽतङ्कः समुत्पन्नः, तेन च न शक्नोत्युपविष्टः स्थातुम्, ततो वभाण श्रमणान्–मन्निमित्तं शीघ्रमेव संस्तारकमास्तृणीत,येन तत्र तिष्ठामि, ततस्तैः कर्तुमारब्धोऽसौ । वाढं च दाहज्वराभिभूतेन जमालिना पृष्टम्–संस्तृतः संस्तारको, न वेति? साधुभिश्च संस्तृतप्रायत्वादर्धसंस्तृतेऽपि प्रोक्तम्–संस्तृत इति। ततोऽसौ वेदनाविह्वलितचेता उत्थाय तत्र तिष्ठासुरर्द्धसंस्तृतं तद् दृष्ट्वा क्रुद्धः–'क्रियमाणं कृतम्।' इत्यादिसिद्धान्तवचनं स्मृत्वा मिथ्यात्वमोहनीयोदयतो वक्ष्यमाणयुक्तिभिर्वितथमिति चिन्तयामास । ततः स्थविरैर्वक्ष्यमाणाभिरेव युक्तिभिः प्रतिबोधितो यदा कथमपि न प्रतिबुद्ध्यते, तदा गतास्तं परित्यज्य भगवत्समीपे, अन्ये तु तत्समीपमेव स्थिताः । सुदर्शनाऽपि तदा तत्रैव श्रावकढङ्कुम्भकारगृहे आसीत्। जमाल्यनुरागेण च तन्मतमेव प्रपन्ना, ढङ्कमपि तद् ग्राहयितुं प्रवृत्ता । ततो ढङ्केन मिथ्यात्वमुपगतेयमिति ज्ञात्वा प्रोक्तम्–नेदृशं वयं किमपि जानीमः, अन्यदा च पाकाग्निमध्ये मृद्भाजनोद्वर्तनपरावर्तने कुर्वताऽङ्गारकमेकं प्रक्षिप्य तत्रैव प्रदेशे स्वाध्यायं कुर्वत्याः सुदर्शनायाः संघाट्यञ्चलो दग्धः। तत–स्तया प्रोक्तम्–श्रावक ! किं त्वया मदीयसंघाटी दग्धा? तेनोक्तम्–ननु 'दह्यमानमदग्धं, भवति, इति भवत्याः सिद्धान्तः, ततः क्व केन त्वदीया सङ्घाटी दग्धा? इत्यादि तदुक्तं परिभाव्य संबुद्धाऽसौ सम्यक्प्रेरिताऽस्मीत्यभिधाय मिथ्यादुष्कृतं ददाति, जमालिं च गत्वा प्रज्ञापयति । यदा चासौ कथमपि न प्रज्ञाप्यते, तदाऽसौ सपरिवारा, शेषसाधवश्चैकाकिनं जमालिं मुक्त्वा भगवत्समीपं जग्मुः, जमालिस्तु बहुजनं व्युद्ग्राह्य अनालोचितप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वा किल्विषिकदेवेषूत्पन्नः। एतच्च चरितं विस्तरतः प्रज्ञापनासूत्रादवसेयम्। अथ जमालेर्विप्रतिपत्तिरुद्भाव्यतेसर्वमपि वस्तु क्रियमाणं कृतं न भवति, किन्तु कृतमेव कृतमुच्यते, ततो भगवत्यादौ यदुक्तम्– ''चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए, वेइज्जमाणे वेइए। '' इत्यादि, तत्सर्वं मिथ्या। किञ्चयस्य क्रियमाणं वस्तु कृतमित्यभ्युपगमः, तेनेह विद्यमानस्य करणरूपाः क्रिया अङ्गीकृताः, तथा च सति बहूनां दोषाणां प्रतिपत्तिर्भवति। तथाहि–इह क्रियमाणं कृतं न भवतीति प्रतिज्ञा कृतस्य विद्यमानत्वादिति हेतुः, चिरन्तनघटवदिति दृष्टान्तः । अथ कृतमपि क्रियत इत्यभ्युपगम्यते, तर्हि नित्यमनवरतमेव क्रियताम्, कृतकत्वाविशेषात्, एवं च सति न कदाचिदपि कार्यक्रियापरिसमाप्तिरिति। यदि च क्रियमाणं कृतमिष्यते, तर्हि घटाऽऽदिकार्यार्थं या मृन्मर्दनचक्रभ्रमणाऽऽदिका क्रिया, तस्या वैफल्यं प्राप्नोति, तत्काले कार्यस्य कृतत्वाभ्युपगमात् । तथा च प्रयोगः–इह यत्कृतं, तत्क्रिया विफलैव, यथा चिरनिष्पन्नघटे कृतं चाभ्युपगम्यते क्रियाकाले कार्यं , ततो विफला तत्र क्रियेति । किञ्च क्रियमाणकृतवादिना कृतस्य (विद्यमानस्य) क्रियेति प्रतिपादितं भवति, एवं च प्रत्यक्षविरोधः, यस्मादुत्पत्तिकालात् पूर्वमविद्यमानमेव कार्ये जायमानं दृश्यते, उत्पत्तिकाले तस्मात् क्रियमाणमकृतमेवेति। किञ्च आरम्भक्रियासमय एव कार्यमुत्पद्यते इति तवाभ्युपगमः। एतच्चायुक्तम्। यस्माद् घटाऽऽदिकार्याणामुत्पद्यमानानां दीर्घ एव निर्वर्तनक्रियाकालो दृश्यत इति । ननु दृश्यतां नाम दीर्घः क्रियाकालः, परं घटाऽऽदिकार्यमारम्भक्रियासमय एव, शिवकाऽऽदिकाले वा द्रक्ष्यत इति चेत्, तदयुक्तम्। यतो नाऽऽरम्भक्रियासमय एव घटाऽऽदिकार्यं भवद् दृश्यते, नाऽपि शिवकस्थासकोशकुशूलाऽऽदिसमयेष्वपि दृश्यते, किन्तु दीर्घक्रियाकालस्यान्ते घटाऽऽदिकार्यं भवद् दृश्यत, तस्मान्न क्रियाकाले कार्यं युक्तं, तस्य तदानीमदर्शनात्। दीर्घक्रियाकालस्यान्ते तु युक्तं कार्यम्, तदानीमेव तस्य दर्शनादिति सकलजनस्य प्रत्यक्षसिद्धमेवेदम्। तदा जमालेरेवमाचक्षाणस्य अप्येके निर्ग्रन्था एनमर्थं श्रद्दधति, अप्येके न श्रद्दधति, तत्र ये न श्रद्दधति, ते एवमाहुः–भगवन् ! भवतोऽयमाशयः– ''यथा घटः पटो नैव, पटो वा न घटो यथा। क्रियमाणं कृतं नैव, कृतं न क्रियमाणकम् ॥१॥'' प्रयोगश्च–यौ निश्चितभेदौ, न तयोरैक्यम्, यथा घटपटयोः, निश्चितभेदे च कृतक्रियमाणके। अत्र चाऽसिद्धो हेतुः। तथाहि–कृतक्रियमाणे किमेकान्तेन निश्चितभेदे, अथ कथञ्चित्? यद्येकान्तेन, तत्किं तदैक्ये सतोऽपि करण–प्रसङ्गतः उत क्रियाऽनुपरमप्राप्तेः, आहोस्वित् प्रथमाऽऽदिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रसक्तेः, अथ क्रियावैफल्याऽऽपत्तितो दीर्घक्रियाकालदर्शनानुपपत्तेर्वा? तत्र न तावत् सतोऽपि करणप्रसङ्गत इति युक्तम्। असत्करणे हि खपुष्पाऽऽदेरेव करणमापद्यत इति कथञ्चित् सत एव करणमस्माभिरभ्युपगतम्, न चाभ्युपगतार्थस्य प्रसञ्जनं प्रयुज्यते॥ नाऽपि क्रियाऽनुपरमप्राप्तेः, यत इह क्रिया किमेकविषया, भिन्नविषया वा? यद्येकविषया, न दोषः। तथाहि–यदि कृतं क्रियमाणमुच्यते तदा तन्मतेन निष्पन्नमेव कृतमिति, तस्यापि क्रियमाणतायां क्रियाऽनुपरमप्राप्तिलक्ष–

णो दोषः स्यात् । न तु क्रियमाणं कृतमिति, तथोक्तौ च तत्र क्रिया-वेशसमय एव कृतत्वाभिधानात् । उक्तं हि-क्रियाकालनिष्ठाकाल-योरैक्यमिति । अथैवमपि कृतक्रियमाणयोरैक्ये कृतस्य सत्त्वात् । सतोऽपि करणे तदवस्थप्रसङ्गः स्यात्, न तु क्रियासमकालसत्ताऽवाप्तौ । अथ भिन्नविषया क्रिया, तदा सिद्धसाधनम् । प्रतिसमयमन्यान्य-कारणतया वस्तुनोऽभ्युपगमनेन भिन्नविषयक्रियाऽनुपरमस्यास्माकं सिद्धत्वात् । अथ प्रथमाऽऽदिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रसक्तेरिति पक्षे क्रियमाणस्य हि कृतत्वप्रथमाऽऽदिसमयेष्वपि सत्त्वादुपलम्भः प्रसज्यत इति । तदपि न । तदा हि शिवकाऽऽदीनामेव क्रियमाणता, ते चोपलभ्यत एव । उक्तं च विशेषाऽऽवश्यके-''अन्नारंभे अन्नं, कह दीसउ जह घडो पडाऽऽरंभे । सिवगाऽऽदयोन कुंभो, किह दीसउ सो तदद्धाए ? ॥२३१६॥'' घटगताभिलाषतया च मूढः शिवकाऽऽदिकरणेऽपि घटमहं करोमीति मन्यते । तथा चाऽऽह-''पइसमयकज्जकोडी-निरवेक्खं घडगयाभिलासोऽसि । पइसमयकज्जकालं, थूलमई ! घडम्मि लाएसि ॥२३१८॥'' नापि क्रियावैफल्याऽऽपत्तिः, यतः प्रागवासत्ताकस्य करणे क्रियावैफल्यं स्यात्, न तु क्रियमाणकृतत्वे, तत्रहि क्रियमाणं क्रियाऽपेक्षमिति तस्याः साफल्यमेव, अनेकान्तवादिनां च केनचिद्रूपेण प्राक् सत्त्वेऽपि रूपान्तरेण करणं न दोषाय । दीर्घक्रियाकालदर्शना-नुपपत्तिरित्यपि न युक्तम् यतः शिवकाऽऽद्युत्तरोत्तरपरिमाणविशेषविषय एव दीर्घक्रियाकालोपलम्भो, न तु घटक्रियाविषयः। उक्तं हि- ''पइस-मयउप्पण्णाणं, परोप्परविलक्खणाणं सुबहूणं । दीहो किरियाकालो, जइ दीसइ किं च कुंभस्स ॥२३१५॥'' अथ कथञ्चिन्निश्चितभेदे कृतक्रियमाणे, तत्तीर्थकृदुक्तमेव, निश्चयव्यवहारानुगतत्वात् तद्वचसः, तत्र च निश्चयनयाऽऽश्रयणेन कृतक्रियमाणयोरभेदः । यदुक्तम्-''क्रियमाणं कृतं दग्धं, दह्यमानं स्थितं गतम् । तिष्ठच्च गम्यमानं च, निष्ठितत्वात् प्रतिक्षणम् ॥१॥'' व्यवहारनयमते तु नानात्त्वमप्यनयोः, तथा च क्रियमाणं कृतमेव, कृतं तु क्रियमाणमेव स्यात्, क्रियमाणं क्रियावेश-समये, क्रियोपरमे पुनरक्रियमाणमिति । उक्तं च- ''तेणेह कज्जमाणं, नियमेण कयं कयं तु भयणिज्जं । किञ्चिदिह कज्जमाणं, उवरयकिरियं च होज्जाहि ॥२३२०॥'' किञ्च भवतो मतिः-क्रियाऽन्त्यसमय एवाभिमत-कार्यभवनं, तत्रापि प्रथमसमयादारभ्य कार्यस्य कियत्यपि निष्पत्ति-रेष्टव्या, अन्यथा कथमकस्मादन्त्यसमये सा भवेत् ?

उक्तं च-

''आद्यतन्तुप्रवेशे च, नोतं किञ्चिद् यदा पटे ।
अन्त्यतन्तुप्रवेशे च, नोतं स्यान्न पटोदयः ॥१॥
तस्माद् यदि द्वितीयाऽऽदि-तन्तुयोगात् प्रतिक्षणम् ।
किञ्चित् किञ्चिदुतं तस्य, यदुतं तदुतं हि तत् ॥२॥''

इह प्रयोगः-यद् यस्याः क्रियाया आद्यसमये न भवति, तत्तस्या अन्त्यसमयेऽपि न भावि, यथा घटक्रियाऽऽदिसमयेऽभवन् पटो, न भवति च कृतक्रियमाणयोर्भेदे क्रियाऽऽदिसमये कार्यम्, अन्यथा घटान्त्यसम-येऽपि पटोत्पत्तिः स्यात् । एवं च- ''यथा वृक्षो धवश्चेति, न विरुद्धं मिथो द्वयम् । क्रियमाणं कृतं चेति, न विरुद्धं तथोभयम् ॥२॥'' प्रयोगश्च-यद् येनाविनाभूतं, न तदेकान्तेन भिद्यते, यथा वृक्षत्वाद् धवत्वम्, कृतत्वा-विनाभूतं च क्रियमाणत्वमिति, सकललोकप्रसिद्धत्वाच्च भेदस्य घटपट-योस्तदाश्रयेणैवमुक्तं संस्तारकाऽऽदावपि योज्यम् । तत्प्रतिपद्यस्व भगवन् । ''चलमाणे चलिए ।'' इत्यादि तीर्थकृतां चात्यन्तमवितत्थ-मिति। स चैवमुच्यमानोऽपि न प्रतिपन्नवान्; किन्तु पूर्वोक्तयुक्तिभिः संबुद्धाः शेषसाधव एकाकिनं जमालिं मुक्त्वा गता जिनसमीपम् । जमाली तु (महावीरजिननिह्नवरूपः) कालमासे कालकृत्वा लान्तके कल्पे त्रयोदशसागरोपमस्थितिकेषु किल्विषिकेषु देवेषु देवत्वेनोत्पन्नः, तस्य पञ्चदश भवाः सन्ति । तस्मान्न जिनवचनेषु कदाचनापि संशयितव्यमिति चतुरस्रम् । विस्तरतो दर्शनेच्छुभिः 'जमालि' शब्दे १४०१ पृष्ठादारभ्य १४१३ पृष्ठपर्यन्तं विलोकनीयम् । जमालिभवप्रसङ्गानुप्रसङ्गाद् जिज्ञासोत्पद्यतेकेन प्रकारेण जन्म जीवानां जायते? अत्राऽऽह-स्त्रीपुंसयोर्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिर्वर्तितायां योनौ मैथुनप्रत्ययिको रताभिलाषोदयजं-नितोऽग्निकारणयोररणिकाष्ठयोरिव संयोगः समुत्पद्यते, तत्संयोगे च तच्छुक्रशोणिते समुपादाय तत्रोत्पित्सवो जन्तवस्तैजसकार्मणाभ्यां कर्मरज्जुसंदानितास्तत्रोत्पद्यन्ते । ते च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाचिन्वन्त्यविध्वस्तायां योनौ सत्यामिति, विध्वस्यते तु योनिः- 'पञ्चपञ्चाशिका नारी सप्तसप्ततिः पुरुषं इति ।' तथा द्वादश मुहूर्तानि यावत् शुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके भवतः, तत ऊर्ध्वं ध्वंसमुपगच्छत इति । तत्र जीवा उभयोरपि स्नेहमाहार्य स्वकर्म-विपाकेन यथास्वं स्त्रीपुंनपुंसकभावेन समुत्पद्यन्ते, तदुत्तरं स्त्रीकुक्षौ प्रक्षिप्ताः सन्तः स्त्रियाऽऽहारितस्याऽऽहारस्य निर्यासंस्नेहमाददति, तद्भेदेन च तेषां जन्तूनां कर्मोपचयाऽऽदानेन क्रमेण निष्पत्तिरुपजायते । ''सत्ताहं कललं होइ, सत्ताहं होइ बुव्वुयं।'' इत्यादि । तदेवमनेन क्रमेण तदेकदेशेन वा मातुराहारमोजसा मिश्रेण वा लोमभिर्वाऽऽनुपूर्व्येणाऽऽ-हारयन्ति, यथाक्रममानुपूर्व्येण वृद्धिमुपगताः सन्तो गर्भपरिपाकमुपपन्नाः, ततो मातुः कायादभिनिवर्तमानाः पृथग् भवन्तः सन्तस्तद्योनेर्निर्गच्छन्ति, ते च तथावि-धकर्मोदयादात्मनः स्त्रीपुंनपुंसकभावं जनयन्ति । तथोक्तम्- ''अज्ञानपांशुपिहितं, पुरातनं कर्मबीजमविनाशि । तृष्णा-जलाभिषिक्तं, मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः ॥१॥'' इति । 'जम्म' शब्दे विस्तरतो विवेचितमिति १४१४ पृष्ठे विलोकनीयम् । पूर्वोक्तवच-नानुरोधेन निर्धार्यतेऽयमर्थो यत् सुकर्मदुष्कर्मवशादेव जन्तुरनीशो जन्मजरामरणाऽऽदिक्लेशाननुभूय पुनरपि गड्डरिकाप्रवाहन्यायेन तेष्वेव निपततीति । अत एव जिनवचनाऽविश्वासरूपदुष्कृतिपरि-णामतो जमालेः किल्विषिकदेवेषूत्पत्तिर्व्यावर्णिता, भगवद्वचसि श्रद्धामादधती जयन्ती श्राविका तु सुगतिमुररीचकारेति निर्विवादम् । इत्थं च-''समस्तवस्तुविस्तारे, व्यासर्पत् तैलवज्जले । जीयात् श्रीशासनं जैनं, धीदीपोद्दीप्तिवर्धनम् ॥१॥'' तस्माद् जिनवचनश्रद्धायां यतनावता भव्येन भाव्यम् । उक्तं च सैद्धान्तिकैः-

''जयणेह धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तववुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥१॥
जयणाएँ वट्टमाणो, जीवो सम्मत्तनाणचरणाणं ।
सद्धाबोहाऽऽसेवण-भावेणाऽऽराहगो भणिओ ॥२॥''

किञ्च-

''यत्नं विना धर्मविधावपीह, प्रवर्तमानोऽसुमतां विघातम् ।
करोति यस्माच्च ततो विधेयो, धर्मात्मना सर्वपदेषु यत्नः ॥१॥''

अथ (जमालिप्रसङ्गादेव) तृतीयभागस्थप्रस्तावस्य २ पृष्ठे च-

त्वार्येव भूतानि तत्त्वम्, न तु तद्व्यतिरिक्तो भवान्तरानुसरणव्यसनवानात्मेति चार्वाकचर्चापराकरणं विधाय जीवसिद्धिरुपपादिता इह तु जीवाजीवाऽऽदिनवतत्त्वनिरूपणप्रवणे श्रीमदर्हच्छासने तस्य जीवस्य कथञ्चिन्नित्यत्वं कथञ्चिदनित्यत्वं जमालिमभिमुखीकृत्य भगवानाह–''सासए जीवे जमाली ! जं ण कयाइ णासि० जाव णिच्चे। असासए जीवे जमाली ! जं णेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ, तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ, मणुस्से भवित्ता देवे भवइ।'' ननु कोऽसौ जीवो जीव इति भवद्भिरुद्घुष्यते, यस्य वा सिद्धिरुपपादिता? इत्यत्राऽऽह–''पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरिष्टाः, तेषां वियोगीकरणं च हिंसा ॥१॥'' इत्यादिवचनप्रसिद्धान् दशविधप्राणान् जीवति कोऽर्थो धरतीति शब्दार्थवशादेव जीवन्नेव जीव उच्यते। तादृशः संसार्येव भवति, सिद्धस्तु जीवशब्देन न व्यपदिश्यते। तथा च नयोपदेशे–''सिद्धो न तन्मते जीवः, प्रोक्तः सत्त्वाऽऽदिसंज्ञयति। महाभाष्ये च तत्त्वार्थभाष्ये धात्वर्थबाधतः ॥४०॥'' एवं च सिद्धासिद्धत्वेन सेन्द्रियानिन्द्रियत्वेन सकायिकाऽकायिकत्वेन संयोगायोगत्वेन सवेदकावेदकत्वेन सकषायाकषायत्वेन सलेश्याऽलेश्यात्वेन ज्ञान्यज्ञानित्वेन साकारोपयुक्तानाकारोपयुक्तत्वेन आहारकानाहारकत्वेन भाषकाभाषकत्वेन चरमाचरमत्वेन जीवानां द्वैविध्यम्, त्रसस्थावरनोत्रसस्थावरत्वेन परीतापरीतनोपरीतापरीतत्वेन स्त्रीपुरुषनपुंसकत्वेन सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टित्वेन पर्याप्तकापर्याप्तकनोपर्याप्तकापर्याप्तकत्वेन सूक्ष्मबादरनोसूक्ष्मबादरत्वेन संज्ञयसंज्ञिनोसंज्ञयसंज्ञित्वेन भवसिद्धिकाऽभवसिद्धिकनोभवसिद्धिकाभवसिद्धिकत्वेन जीवानां त्रैविध्यम्, नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवत्वेन मनोयोगिवचोयोगिकाययोग्ययोगित्वेन स्त्रीवेदकपुरुषवेदकनपुंसकवेदकावेदकत्वेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनत्वेन संयतासंयतसंयतासंयतनोसंयतासंयतत्वेन जीवानां चातुर्विध्यम्, एकद्वित्रिचतुः पञ्चेन्द्रियत्वेन नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धत्वेन, क्रोधमानमायालोभकषायित्वाकषायित्वेन जीवानां पञ्चविधत्वम्, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकत्वेन, आभिनिबोधिकाऽऽदिपञ्चविधज्ञानित्वेन अज्ञानित्वेन च, एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियत्वेन अनिन्द्रियत्वेन च, औदारिकवैक्रियकाऽऽहारकतैजसकार्मणशरीरत्वेन असरीरत्वेन च जीवानां षड्विधत्वम् नैरयिकतिर्यग्योनिकत्वेनतिर्यग्योनिकत्वेन च–मनुष्यमानुषीदेवदेवीत्वेन, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रराकायिकाकायिकत्वेन, कृष्णनीलकापोततेजः पद्मशुक्ललेश्याऽलेश्यात्वेन जीवानां सप्तविधत्वम्, प्रथमाप्रथमसमयनैरयिकत्वेन प्रथमाप्रथमसमयतिर्यग्योनिकत्वेन प्रथमाप्रथमसमयमनुष्यत्वेन प्रथमाप्रथमसमयदेवत्वेन; नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धत्वेन तिर्यग्योनिकामानुपीदेवीत्वेन च जीवानामष्टविधत्वम्, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियत्वेन; अथवा–एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियनैरयिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धत्वेन, प्रथमाप्रथमसमयनैरयिक प्रथमसमयतिर्यग् योनिकप्रथमाप्रथमसमयमनुष्यप्रथमाप्रथमसमयदेवसिद्धत्वेन जीवानां नवविधत्वम्, प्रथमाप्रथमसमयैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियत्वेन, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियानिन्द्रियत्वेन, प्रथमाप्रथमसमयनैरयिकतिर्यग् योनिकमनुष्यदेवसिद्धत्वेन जीवानां दशविधत्वम् सूक्ष्मापर्याप्तकपर्याप्तकबादरापर्याप्तकपर्याप्तकद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकत्वेन जीवानां चतुर्दशविधत्वं च 'जीव' शब्दे १५२५ पृष्ठे न्यक्षेण निरूपितमिति। किं नाम जीव इति प्रश्नस्य यद्यपि प्रकारद्वयेन लेशतो भावितमुत्तरं तथाऽपि विशेषबुबोधयिषया किञ्चिदिह प्रतायतेउपशमौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकैर्भावैः संमिश्रं द्रव्यं जीवशब्देनोच्यते। आह–औदयिकान् भावान् परित्यज्य किमितीहौपशमिकस्य भावस्य साक्षादुपादानम्? उच्यते–इह जीवस्य स्वरूपं तदेव वक्तव्यं यदसाधारणं स्वरूपम्। एवे हि पदार्थान्तरस्वरूपेभ्यो वैविक्त्येन तत् प्रतिपादितं भवति, नान्यथा, औदयिकपारिणामिकौ च भावावजीवानामपि भवतः, अतस्तौ साक्षान्नोपात्तौ, क्षायिकोऽपि च भाव औपशमिकभावपूर्वकः, न खल्वौपशमिकभावमनासाद्यकश्चिदपि क्षायिकं भावमासादयति, क्षायोपशमिकोऽपि च भावो नौपशमिकाद् भावाद् अत्यन्तभेदी, तत इह साक्षादौपशमिकस्य भावस्योपादानमिति। ततः कस्य प्रभवः स्वामिनो जीवाः इति प्रश्नावसरे, आत्मीयस्य रूपस्योत्तरम्। तथाहि कर्मविनिर्मुक्तस्वरूपा आत्मानो न केषामपि प्रभवः, किन्तु स्वरूपस्यैव, तथास्वाभाव्यात्। यस्तु स्वस्वामिभावः संसारे, सकर्मोपाधिजनितत्वादौपाधिकः, न परमार्थिक इति। ननु केन निर्मिता जीवा इति प्रश्ने कृते सति समाधिः न केनचित् कृताः, किन्तु न भस्वद्बदकृत्रिमा एव, यथा चाकृत्रिमता जीवानां तथा धर्म संग्रहणीटीकार्या संप्रपञ्चं व्याख्याता, विशेष–जिज्ञासुभिस्तत एवावधार्या। ननु किं जीवाः शरीरे लोके वाऽवतिष्ठन्ते? इति प्रश्नस्योत्तरम्–सामान्यचिन्तायां लोके, नालोके, आलोके स्वभावत एव धर्माधर्मास्तिकायजीवपुद्गलानामसंभवात्। विशेषचिन्तायां शरीरे, नान्यत्र, शरीरपरमाणुभिरेव सह आत्मप्रदेशानां क्षीरनीरवदन्योन्यानुगमभावात्। उक्तं च–''अन्नोन्नमणुगयाइं, इमं च तं च त्ति विभयणमजुत्तं। जह खीरपाणियाइं।'' इति। सर्वकालमेव जीवा भवन्ति, अनादिनिधनाश्च जीवा इति मुक्त्यवस्थायामपि जीवा न विनश्यन्ति, किन्तु ज्ञानाऽऽदिके स्वस्वरूपेऽवतिष्ठन्ते इति श्रद्धेयम्। तेन यत् कैश्चिदुक्तम्–''दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥१॥ जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद्, स्नेहक्षयात् केवलमेति–शान्तिम् ॥२॥ अर्हन्मरणचित्तस्य, प्रतिसन्धिर्न विद्यते। प्रदीपस्येव निर्वाणं, विमोक्षस्तस्य चेप्सितः ॥३॥'' इति। तदपास्तं द्रष्टव्यम्। सतः सर्वथा विनाशायोगात्, तथादर्शनादिति कृतं प्रसङ्गेन। विस्तरेच्छुभिः 'जीव' शब्दो वीक्ष्यः। त्रिषष्ट्यधिकपञ्चशतभेदा जीवानां 'जीव' शब्दे १५३६ पृष्ठे द्रष्टव्याः। जिनवचनस्य श्रद्धाऽऽस्पदत्वादेव ''चंदो चंदो अभिवड्ढिओ य चंदमभिवड्ढिओ चेव। पंचसहियं जुगमिणं, दिट्ठं तेल्लोक्कदंसीहिं ॥१॥ पढमविइयाउ चंदा, तइयं अभिवड्ढियं वियाणाहि। चंदे चेव चउत्थं, पंचममभिवड्ढियं जाण ॥२॥' इति सुगवचनाऽऽदि 'जुग' शब्दे १५६७ पृष्ठत आरभ्य १५७३ पृष्ठपर्यन्त निरीक्षणीयम्। पूर्वोक्तकारणादेव ज्योतिष्कानां पञ्चविधत्वनिरूपणानन्तरं चलत्वस्थिरत्वविचारः, सर्वलोके प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्राऽऽदीनां परिमाणप्रतिपादनार्थमन्यतीर्थिकानां द्वा-

दश प्रतिपत्तीः परिभाव्य भगवत्सिद्धान्तनिरूपणम् । जम्बूद्वीपगत–मनुष्यक्षेत्रस्य चन्द्रसूर्याऽऽदीनां संख्यानिर्देशः, चन्द्राऽऽदयो यत्र यथा भ्रमन्ति तन्निरूपणमित्यादि एकपञ्चाशद्विषयप्ररूपणप्रस्तावे मनुष्य-क्षेत्रप्ररूपणमित्थम्–''जंबूदीवो लवणो–दही च दीवो य धायईरांडे । कालोदहिपुक्खरवर–दीवड्ढो माणुसं खेत्तं ॥१॥ एतं माणुसखेत्तं, एत्थ विचारीणि जोइसगणाणि । परतो दीवसमुद्दे, अवट्ठियं जोइसं जाण ॥२॥'' तत्र च– ''चंदा सूरा य गहा, नक्खत्ता तारया य पंच इमे । एगे चलजोइसिया, घंटायारा थिरा अवरे ॥१४७॥'' तथा च– ''दो चंदा दो सूरा, णक्खत्ता खलु हवंति छप्पण्णा । वावत्तरं गहसतं, जंबुद्दीवे वियारीणं ॥१॥ एगं च सयसहस्सं, तित्तीसं खलु भवे सहस्साइं । णव य सता पण्णासा, तारागणकोडिकोडीणं ॥२॥'' सर्वं चैतत् 'जोइसिय' शब्दे विद्वद्भिर्विलोकनीयम् । जिनवचनमेतत् जिनाऽऽगमेयोगादेव कर्मक्षयो भवतीति तस्य योगस्य माहात्म्यम्, तथा च योगमार्गाधिकारिणः, योगनिष्पन्नस्य चिह्नानि । तथाहि– ''अलौल्यमारोग यमनिष्ठुरत्वं, गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् । कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च, योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि लिङ्गम् ॥१॥'' इत्यादि त्रिंशद् विषयाः ''जोग'' शब्दे सम्यक् प्रतिपादिताः । तथा–''गुरुभत्तो अपमत्तो, खंतो दंतो य निरुयगत्तो य । थीरचित्तो दढसत्तो, विणयजुतो भवविरत्तो य ॥१॥ जियलोहो जियनिद्दो, हियपियमियजंपिरो मिउ–असत्थो । अप्पाहारो अप्पो–वही य दक्खो सुदक्खिन्नो ॥२॥ पंच–समिओ तिगुत्तो, उज्जुत्तो संजमे तवे चरणे । परिसहराहुहोइ मुणी, विसेसओ जोगवाहि त्ति ॥३॥ कयसोहिलोयकम्मे, तिवासपरिया–इएण कालेणं । आयारपकप्पाई, उद्दिसिउं कप्पई जुगो ॥४॥'' इत्यादि तु 'इत्यादि तु 'जोगविहि' शब्दे द्रष्टव्यम् । तथा जिनोक्तं ध्यानस्वरूपं, ध्यानाध्यानयोर्विवेचनं, ध्यानस्यैव भेदाः, प्रशस्ता-प्रशस्तानि ध्यानानि, ध्यातव्यभेदाः, ध्यातुः स्वरूपं, संसारप्रतिपक्षतया मोक्षहेतुर्ध्यानं, ध्यानस्य फलानि चेत्यादि 'झाण' शब्दे १६६१ पृष्ठत आरभ्य १६७३ पृष्ठपर्यन्तं द्रष्टव्यम् ।

तथा च–

''ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयं यस्यैकतां गतम् ।
मुनेरनन्यचित्तस्य, तस्य दुःख न विद्यते ॥१॥
ध्याताऽन्तराऽऽत्मा ध्येयस्तु, परमाऽऽत्मा प्रकीर्तितः ।
ध्यानं चैकाग्रसंवित्तिः, समापत्तिस्तदेकता ॥२॥
जितेन्द्रियस्य धीरस्य, प्रशान्तस्य स्थिराऽऽत्मनः ।
सुखाऽऽसनस्य नाशाग्र–न्यस्तनेत्ररय योगिनः ॥३॥
रुद्धबाह्यमनोवृत्ते– र्धारणाधारया रयात् ।
प्रसन्नस्याप्रमत्तस्य, चिदानन्दसुधालिहः ॥४॥
साम्राज्यमप्रतिद्वन्द्व–मन्तरे च वितन्वतः ।
ध्यानिनो नोपमा लोके, सदेवमनुजेऽपि हि ॥१५॥''

एतादृशध्यानविरहितो रागाऽऽद्युपहतचेतास्तु परमार्थमजाना-नोऽतत्स्वभावेऽपि तत्स्वभावाऽऽरोपणेनान्धादप्यन्धतमः कामी मोदते । तत आह–

''दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितं,
रागान्धस्तु यदस्ति तत् परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति ।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवा–
नारोप्याऽशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ॥१॥''

यतोऽर्हद्वचनमेवास्माकं जीवातुभूतं ततस्तदनुज्ञातं 'नवकार' चिन्तनं विधेयम्–

''सत्त पण सत्त सत्त य, नवऽक्खरपमाणपयऽपंचपयं ।
तित्तीसक्खरचूलं, सुमिरह नवकारवरमंतं ॥१॥
एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥२॥
अरिहंतनमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसमुद्दाओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥३॥''

ननु सूत्रं संक्षेपविस्तरावतिक्रम्य न वर्तते, तत्र संक्षेपवद् यथा सामायिक-सूत्रम्, विस्तरवद् यथा चतुर्दश पूर्वाणि, इदं पुनर्नमस्कारसूत्रमुभया-तीतं, यतोऽत्र न संक्षेपो, नापि विस्तरः । यद्ययं संक्षेपः स्यात् ततस्तस्मिन् सति द्विविध एव नमस्कारो भवेत् सिद्धसाधुभ्यामिति, परिनिर्वृतार्हदा-दीनां सिद्धशब्देन ग्रहणात्, संसारिणां तु साधुशब्देनेति । संसारिणो हि अर्हदाचार्याऽऽदयो न साधुत्वमतिवर्तन्ते ॥ यद्ययं विस्तरः । तदप्ययुक्तम् । यतो विस्तरतोऽनेकविधो नमस्कारः प्राप्नोति । तथाहि–ऋषभाजित-संभवा–ऽऽदिभ्यो नामग्राहं सर्वतीर्थकरेभ्यः । तथा सिद्धेभ्योऽप्येकद्वित्रि-चतुष्पञ्चाऽऽदिसमयसिद्धेभ्यो यावदनन्तसमयसिद्धेभ्यः । तथा-तीर्थलिङ्ग प्रत्येकबुद्धाऽऽदिविशेषणविशिष्टेभ्य इत्यादिभिर्भेदैर्वि-स्तरतोऽनन्तभेदो नमस्कारः प्राप्नोति । यतश्चैवं तस्मादमुं पक्षद्व-यमङ्गीकृत्य पञ्चविधोऽयं नमस्कारो न युज्यत इति ॥ इह चेदं प्रति-विधानम्– न संक्षेपो नापि विस्तर इत्येतदसिद्धम्, संक्षेपत्वा–दस्य । किञ्च–इहार्हदादयो नियमात् साधवः, तद्गुणानामपि तत्र भावात् । साधवस्तु तेष्वर्हदादिषु विकल्पनीयाः, यतस्ते न सर्वेऽप्यर्हदादयः, कि तर्हि, केचिदर्हन्तः, येषां तीर्थकरनामकर्मोदयोऽस्ति, केचित्तु सामान्य-केवलिनः, अन्ये त्वाचार्या विशिष्टसूत्रार्थदेशकाः, अपरे तूपाध्यायाः सूत्रपाठकाः, अन्ये त्वेतदविशिष्टाः सामान्यसाधव एव शिक्षकाऽऽदयो, न पुनरर्हदादयः । तदेवं साधूनामर्हदादिषु व्यभिचारात् यन्नमस्करणेऽपि नार्हदादिनमस्कारसाध्यस्य विशिष्टस्य फलसिद्धिः । ततश्च संक्षेपेण द्विविधनमस्करणमयुक्तमेव, अव्यापकत्वादिति । तस्मात् संक्षेपतोऽपि पञ्चविध एव नमस्कारो, न तु द्विविधः, अव्यापकत्वात् । विस्तरतस्तु नमस्का–रो न विधीयते, अशक्यत्वात् । ननु जिनवचनस्य मिथ्यादर्शन-समूहमयत्वेऽपि प्रामाण्यमभ्युपगच्छद्भिर्नयनिकुरम्बोपन्यासः कृतस्तत्र किं नाम नयत्वम् ? उच्यते–बहुधा वस्तुनः पर्यायाणां संभवाद् विवक्षितपर्यायेण यन्नयनमधिगमनं परिच्छेदोऽसौ नयो नाम । तथाहि–इह हि जिनमते सर्वं वस्त्वनन्तधर्माऽऽत्मकतया संकीर्णस्वभावमिति तत्परिच्छेदकेन प्रमाणेनापि तथैव भवितव्यमित्यसंकीर्णप्रतिनियत-धर्मप्रकारकव्यवहारसिद्धये नयानामेव सामर्थ्यम् । तदुक्तम्–

''निःशेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूयं समासेदुषां,
वस्तूनां नियतांशकल्पनपराः सप्त श्रुताऽऽसङ्गिनः ।
औदासीन्यपरायणास्तदपरे चांशे भवेयुर्नया–
श्चेदेकान्तकलङ्कपङ्कफकलुषास्ते स्युस्तदा दुर्नयाः ॥॥''

नयोपपत्त्यादयस्तु 'णय' शब्दे १८५३ पृष्ठत आरभ्य १९०१ पृष्ठपर्यन्तं विस्तरतो निरूपिताः । ननु यदुक्तं जिनवचनमनाचरतो नियमाद् निरयाऽऽदिषु पातो भवति, तत्र कीदृशी यातनाऽनुभू–

यते प्राणिना ? उच्यते–दुःसहे तीव्रे खदिराङ्गारमहाराशितापा–दनन्तगुणेऽभितापे बहुवेदनेऽपरित्यक्तविषयाभिष्वङ्गा जिनवचना–नादरपराः स्वकृतकर्मगुरवः पतन्ति निरयाऽऽदिषु, तत्र च नानारूपा वेदनाः समनुभवन्ति।

तथा चोक्तम्–

''गिद्धमुहणिद्धउक्खि–त्तबंधणोम्मुक्कंधरकबंधे ।
दढगहियतत्तसंडा–सयग्गविसमुक्खुडियजीहे ॥१॥
तिक्खंकुसग्गकड्ढिय–कंटयरुक्खग्गजज्जरसरीरे ।
निमिसंतरं पि दुल्लह–सुक्खेऽवक्खेवदुक्खम्मि ॥२॥
बद्धंधयारदुग्गं–धबंधणायारदुद्धरकिलेसे ।
भिन्नकरचरणसंकर–रुहिरवसादुग्गमप्पवहे ॥३॥
सुक्कंदकडाहु–क्कढंतदुक्कयकयंतकम्मंते ।
मूलविभिन्नुक्खित्तु–द्धदेहणित्तंतपब्भारे ॥४॥
जंतंऽतरभिज्जंतु–च्छलंतसंसद्दभरियदिसिविवरे ।
मज्जंतुप्फिडियसमु–च्छलंतसीसट्ठिसंघाए ॥५॥
इय भीसणम्मि निरए, पडंति जे विविहसत्तवहनिरया ।
सव्वब्भट्ठा य नरा, जयम्मि कयपावसंघाया ॥६॥''

इत्थं च बहवोऽपि विषया नरकसंबन्धिनः 'णरग' शब्दे विषयसूच्यां १६२५ पृष्ठे विभावनीयाः । प्रत्यक्षपरोक्षत्वेन ज्ञानस्य द्वैविद्ध्यम्, केवलनोकेवलज्ञानत्वेन प्रत्यक्षस्याऽपि द्वैविध्यम्, अवधिमनःपर्यवज्ञान-त्वेन केवलज्ञानस्यापि द्वैविध्यम्, परोक्षज्ञानस्य तु आभिनिबोधिक-श्रुतज्ञानत्वेन द्वैविध्यम् । ननु यदि चैतन्यं ज्ञानमात्मनोऽत्यन्तव्य-तिरिक्तम्, तदा कथमात्मनः संबन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः? यद्यात्मनो ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वमिष्यते, तदा दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञाना-नामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद् बुद्ध्यादीनां नवानामात्मविशेषगुणा-नामुच्छेदावसरे आत्मनोऽप्युच्छेदः स्यात्, तदव्यतिरिक्तत्वात्; अतोभिन्नाभिन्नमेवाऽऽत्मनो ज्ञानं यौक्तिकमिति। प्रपञ्चितं चैतत् 'णाण' शब्दे १६५८ पृष्ठे न्यक्षेण परतीर्थिकमतोपन्यासनिरसनाभ्याम्।

ज्ञानाज्ञानाभ्यां यद् भवति तदाह–

''मज्जत्यज्ञः किलाज्ञाने, विष्ठायामिव शूकरः ।
ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने, मराल इव मानसे ॥१॥
निर्वाणपदमप्येकं, भाव्यते यद् मुहुर्मुहुः ।
तदेव ज्ञानमुत्कृष्टं, निर्बन्धो नास्ति भूयसा ॥२॥
स्वभावलाभसंस्कार–स्मरणं ज्ञानमिष्यते ।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्यत्, तथा चोक्तं महात्मना ॥३॥
वादाँश्च प्रतिवादाँश्च, वदन्तोऽनिश्चिताँस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद् गतौ ॥४॥
अस्ति चेद् ग्रन्थिभिद् ज्ञानं, किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणैः ।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते, तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ॥५॥
पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम् ।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥६॥''

''जो विणओ तं नाणं, जं नाणं सो अ वुच्चई विणओ ।
विणएण लहइ नाणं, नाणेण वि जाणई विणयं ॥७॥''

''क्रियानयः क्रियां ब्रूते, ज्ञानं ज्ञाननयः पुनः ।
मोक्षस्य कारणं तत्र, भूयस्यो युक्तयो द्वयोः ॥८॥
नित्यनैमित्तिकैरेव, कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।
ज्ञानं च विमलीकुर्व–न्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥९॥
अभ्यासात् पक्वविज्ञानः, कैवल्यं लभते नरः ॥''

''नाणी गिण्हइ नाणं, मुणेइ नाणेण कुणइ किच्चाइं ।
भवसंसारसमुद्दं, नाणी नाणट्ठिओ तरति ॥१॥''

''तम्हा न वज्झकरणं, मज्झ पमाणं न यावि चारित्तं ।
नाणं मज्झ पमाणं, नाणे च ट्ठियं जओ तित्थं ॥१॥''

परन्त ज्ञानिनाऽपि चरणवता भाव्यम्–

''जाणंतो वि अ तरिउं, काइयजोगं न जुंजई जोगं ।
सो वुड्ढइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो ॥१॥''

ननु तत्र तत्र जिनवचने निगोदजीवानां चर्चा कृताऽस्तीति के ते निगोदजीवाः?

उच्यते–

''जह अयगोलो धंतो, जाओ तत्ततवणिज्जसंकासो ।
सव्वो अगणिपरिणओ, णिगोयजीवे तहा जाण ॥१९॥
एगस्स दोण्ह तिण्ह व, संखेज्जाणं व पासिउं सक्का ।
दीसंति सरीराइं, णिगोयजीवाणऽणंताणं ॥२०॥''

यथाऽयोगोलो ध्मातः सन् तप्ततपनीयसंकाशोऽग्निपरिणतो भवति, तथा निगोदजीवानपि जानीहि, निगोदरूपेऽप्येकैकस्मिन् शरीरे तच्छरीराऽऽत्मकतया अनन्तान् जीवान् जानीहि। ननु कथं निगोदरूपं शरीरं नियमादनन्तजीवपरिणामाऽऽविर्भावितं भवतीति? उच्यते–जिनवचनात्। तच्चेदम्– ''गोला य असंखेज्जा, होंति निगोया असंख्या गोले । एक्केक्को य निगोओ, अणंतजीवो मुणेयव्वो ॥१॥'' तद्भेदास्तु ''णिगोय'' शब्दे २०२६ पृष्ठे द्रष्टव्याः। जिनवचनादेव 'निर्ग्रन्थ' शब्दे पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकभेदेन पञ्चविधनिर्ग्रन्थस्वरूपनि-रूपणानन्तरं तेषां साधकविचारः, कूजनताकर्करणताऽऽपध्यानताऽऽ-दिभेदेन निर्ग्रन्थानां, निर्ग्रन्थीनामसुखत्वाऽऽदि प्ररूप्य तद्वैपरीत्येन सुखत्वाऽऽदिनिरूपणमेवमादयो विषयाः पश्चत्वारिंशद् द्रष्टव्याः । निर्ग्रन्थीशब्दे निर्ग्रन्थीनामाचाराऽऽदिनिर्देशः। 'णितियवास' शब्दे साधु-साध्वीनां नित्यवास एकत्र निषिद्धः। तथाहि– विहारपरिहारेण सर्वदैकत्र निवासवतां प्रासुकैषणीयवसतिलाभाभावाद् गृहस्था इवाऽऽश्रयाभावेषु मुक्तसमस्तजीवोपमर्दाऽऽदयः स्वयंग्रहकरणकारणानुमोदनाऽऽदौ प्रवर्त्तन्ते, ततश्चैषणायामपि जीवनिकायानामाकुट्यापि विराधनोत्पद्यते, ततश्च प्राणातिपातविरमणमहाव्रतभङ्गनिरर्थकताया अपि शिरस्तुण्ड-मुण्डनाऽऽदेर्वैयर्थ्यं स्यात्। अन्यथैकत्र निवासे प्रतिदिनमाहाराऽऽदिदा-नवन्दनाऽऽदिप्रतिपत्त्योपगृहीतानां साधूनामनादिभवाभ्यासवशवर्तिनां प्रतिबन्धाऽऽदयः संभवन्ति। उक्तं च – ''पडिबंधो लहुयत्तं, न जणुवयारो न देसविन्नाणं। नाणाऽऽहरणमेए, दोसा अविहारपक्खम्मि ॥१॥'' ततश्च प्रतिबन्धात् संबन्धः संबन्धात् चित्तविप्लुतिः, चित्तविप्लुतेरकार्य-प्रवृत्तिरिति। यदा च चित्तविप्लुत्या प्रेरितः स्त्रीसेवाऽऽदौ प्रवर्तते, तदा न केवलं प्रथमव्रतभङ्गः, अपि तु पञ्चानामपीति। किन्तु–

''जो होज्जउ असमत्थो, रोगेण व पेल्लिओ झुसियदेहो ।
सव्वमवि जहाभणियं, कयाइ न तरिज्ज काउं जे ॥१॥
सो वि य नियमपरक्कम–ववसायधिइबलं अगूहंतो ।
मोत्तूण कूडचरियं, जयइ जइ तो अवस्स जई ॥२॥
निम्मम निरहंकारा, उज्जुत्ता नाणदंसणचरित्तम्मि ।
एगक्खेत्ते वि ठिया, खवेंति पोराणयं कम्मं ॥३॥
जियकोहमाणमाया, जियलोभपरीसहा य जे धीरा ।
वूढावासेऽवि ठिया, खवेंति पोराणयं कम्मं ॥४॥

पंचसमिया तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे।
वाससयं पि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिया ॥५॥''
नित्यवासविषये संगमस्थविरचरितं तु २०७१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्।
ननु जिनवचनश्रद्धावतो निर्वाणं श्रूयते, तत्किं नाम निर्वाणम्।
तथाहि–
''मन्नसि किं दीवस्स व, नासो निव्वाणमस्स जीवस्स।
दुक्खक्खयाइरूवा, किं होज्ज व से सओऽवत्था ॥१६७५॥''
तद् यथा सौगताः प्राऽऽहुः–
''दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥१॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद्,
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥२॥''
किं वा यथा जैनाः प्राऽऽहुस्तथा निर्वाणं भवेत्? तथाहि–रागद्वेष–मदमोहजन्मजरारोगाऽऽदिदुःखक्षयरूपा विशिष्टा काचिदवस्था विद्यमानस्य जीवस्य। उक्तं च– ''केवलसंविद्दर्शनरूपाः सर्वार्तिदुःखपरिमुक्ताः। मोदन्ते मुक्तिगताः, जीवाः क्षीणान्तरांरिगणाः ॥१॥'' अथवा–खस्थेवानादित्वात् कर्मजीवयोः संयोगस्याविगात् संसाराभाव एव न भवत्। जीवाऽऽकाशयोरिव ययोरनादिः संयोगः त्रयोर्वियोगो न भवति, अनादिश्च जीवकर्मणोः संयोगः, ततो वियोगाऽनुपपत्तिः, ततश्च न संसाराभावः, तथा च सति कुतो मोक्षः? अथात्रैव प्रतिविधीयते नायमेकान्तो यदनादिसंयोगो न भिद्यते यतः काञ्चनधातुपाषाणयोरनादिरपि संयोगोऽन्यादिसंपर्केण विघटत एव, तद्वद् जीवकर्मसंयोगस्यापि सम्यग् ज्ञानक्रियाभ्यां वियोगो मण्डिकवत् प्रतिपद्यताम्। ननु यथा कर्मणो नाशे संसारो नश्यति, तथा तन्नाशे जीवत्वस्यापि नाशाद् मोक्षाभावो भविष्यति? एतदप्यसारम्। यतः कर्मजनितः संसारः, तन्नाशे संसारस्य नाशो युज्यत एव, कारणाऽभावे कार्याऽभावस्य सुप्रतीतत्वात्। जीवत्वं पुनरनादिकालप्रवृत्तत्वात् कर्मकृतं न भवति, अतस्तन्नाशे जीवस्य न कश्चिद् नाशः, कारणव्यापकयोरेव कार्यव्याप्यनिवर्तकत्वात्, कर्म तु जीवस्य न कारणं, नापि व्यापकम्। इतश्च जीवो न नश्यति–''न विगारानुवलंभादागासं पि व विणासधम्मो सो। इह नारिणो विगारो, दीसइ कुंभस्स वाऽवयवा ॥१६८१॥ कालंतरनासी वा, घडो व्व कयगाइओ मई होज्जा। नो पद्धंसाभावो, भुवि तद्धम्मा वि जं निच्चो ॥१६८२॥'' इति। अथ यदुक्तम्–दीपो यथा निर्वृतिमित्यादि। तत्रोत्तरम्– ''न य सव्वहा विणासोऽणलस्स परिणामओ पयस्सेव। कुंभस्स कवालाण व, तहा विगारोवलंभाओ ॥१६८७॥'' ततः–''जह दीवो निव्वाणो, परिणामंतरमिओ तहा जीवो। भण्णइ परिनिव्वाणो, पत्तोऽणावाहपरिणामं ॥१६६१॥'' किञ्च– ''मुत्तस्सं परं सोक्खं, णाणावाहओ जहा मुणिणो। तद्धम्मा पुण विरहादावरणाऽऽवाह–हेऊणं ॥१६६२॥'' इत्यादि निर्वाणविषयविस्तरः 'णिव्वाण' शब्दे निर्वाणजिज्ञासुभिर्निपुणं निभालनीयः। तच्च निर्वाणं तपोऽन्तरा न लभ्यते इति प्रसङ्गतः तपःस्वरूपमुच्यते–''ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात् तपः। तदाभ्यन्तरमेवेष्टं, बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥१॥ तदेव हि तपः कार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्। येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि वा ॥२॥ मूलोत्तरगुणश्रेणि–प्राज्यसाम्राज्य–सिद्धये। बाह्यमाभ्यन्तरं चेत्थं, तपः कुर्याद् महामुनिः ॥३॥'' ''एसो बारसभेओ, सुत्तनिबद्धो तवो मुणेयव्वो। एय विसेसो उ इमो, पइण्णगोऽणेगभेउ त्ति ॥४॥ तित्थयरनिग्गमाई, राव्वगुणपसाहणं तवो होइ। भव्वाण हिओ नियमा, विसेसओ पढमठाणीणं ॥५॥'' जम्हा एसो सुद्धो, अणियाणो होइ भावियमईणं। तम्हा करेइ सम्मं, जह विरहो होइ कम्माणं ॥४४॥'' सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ। जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥४॥'' ''तपश्च त्रिविधं ज्ञेयमफलाऽऽकाङ्क्षिभिर्नरैः। श्रद्धया परया तप्तं, सात्विकं तप उच्यते ॥१॥ सत्कारमान पूजार्थं, तपो दम्भेन चैव यत्। क्रियते तदिह प्रोक्तं, राजसं चलमध्रुवम् ॥२॥ मूढग्रहेण यत्पीऽऽत्मपीडया क्रियते तपः। परस्योच्छेदनार्थं वा, तत्तामसमुदाहृतम् ॥३॥'' इति।

अनेकजन्माभ्यस्ततपःप्रभावात् तीर्थकरनामकर्मणी संवद्ध्य निर्वाणमधिरोहति जीव इति सिद्धान्तमनुस्मृत्य तीर्थकरविषयमेलावता-रयामः। तथाहि–तीर्थकरणशीलास्तीर्थकराः, अचिन्त्यप्रभावमहापुण्यसंज्ञिततन्नामकर्मविपाकतः, तस्यान्यथा वेदनायोगात्। तत्र येनेह जीवा जन्मजरामरणसलिलं मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीषणकषायपातालं सुदुर्लङ्घ्यमोहाऽऽवर्तरौद्रं विचित्रदुःखौघदुष्टश्वापदं रागद्वेषपवनविक्षोभितं संयोगवियोगवीचीयुक्तं प्रबलमनोरथवेलाऽऽकुलं सुदीर्घं संसारसागरं तरन्ति तत्तीर्थमिति। एतच्च यथाऽवस्थितसकलजीवाऽऽदिपदार्थप्ररूपकम् अत्यन्तानवद्यान्याविज्ञातचरणकरणक्रियाऽऽधारं त्रैलोक्यगतशुद्धधर्मसंपदयुक्तमहासत्त्वाऽऽश्रयम् अचिन्त्यशक्तिरामन्विताविसंवादिपरमबोहित्थकल्पं प्रवचनं, निराधारस्य प्रवचनस्या-संभवात सङ्घो वा ततश्चैतदुक्तं भवतिघातिकर्मक्षये ज्ञानकैवल्ययोगात् तीर्थकरनामकर्मोदयस्तत्स्वभावतया आदित्याऽऽदिप्रकाशनिदर्शनतः शास्त्रार्थप्रणयनाद् मुक्तकैवल्ये तदसंभवेनाऽऽगमानुपपत्तेः, भव्यजनधर्मप्रवर्तकत्वेन परम्पराऽनुग्रहकरास्तीर्थकरा इति तीर्थकरत्वसिद्धिः। किञ्च–सर्वेऽपि निरुपमधृतिसंहननाश्छद्मस्थावस्थायां चतुर्ज्ञानाः अतिशयसत्त्वसंपन्ना अच्छिद्रपाणिपात्रा जितसमस्तपरीषहाश्च यस्मात्तेन वस्त्राभावेऽपि संयमविराधनाऽऽदीन् दोषान् न प्राप्नुवन्ति। तथा व सवस्त्रा एव साधवश्चिरं स्थास्यन्ति इत्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं गृहीतैकवस्त्राः सर्वेऽपि तीर्थकृतोऽभिनिष्क्रामन्ति, तस्मिंश्च वस्त्रे क्वापि पतिते वस्त्ररहितास्ते भवन्ति, न पुनः सर्वदा। ननु सर्वोऽपि प्रेक्षावान् फलार्थी प्रवर्तते, *अन्यथा प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्गः। ततोऽसौ तीर्थं कुर्वन्नवश्यं फलमपेक्षते,* फलं चापेक्षमाणोऽस्मादृश इव व्यक्तमवीतरागः। तदयुक्तम्। यतस्तीर्थकरः स एव भवति, यस्तीर्थकरनामकर्मोदयसमन्वितः। न हि सर्वेऽपि भगवन्तो वीतरागास्तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तन्ते, तीर्थकरनामकर्मैव तीर्थप्रवर्तनफलम्। ततो भगवान् वीतरागोऽपि तीर्थकरनामकर्मोदयतस्तीर्थप्रवर्तनस्वभावः सवितेव प्रकाशमुपकार्योपकारानपेक्षं तीर्थं प्रवर्तयतीति न कश्चिद् दोषः। उक्तं च – ''तीर्थप्रवर्तनफलं, यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम।

तस्योदयात् कृतार्थो–ऽप्यर्हंस्तीर्थं प्रवर्तयति ॥१॥
तत्स्वाभाव्यादेव, प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम् ।
तीर्थप्रवर्तनाय, प्रवर्तते तीर्थकर एवम् ॥२॥

ननु तीर्थप्रवर्तनं नाम प्रवचनार्थप्रतिपादनं, प्रवचनार्थं चेद् भगवान् प्रतिपादयति, तर्हि नियमादसर्वज्ञः, सर्वस्यापि वक्तुरसर्वज्ञतयोपलम्भात्। तथा चात्र प्रयोगः विवक्षितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति, वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवदिति। तदसत्। सन्दिग्धव्यतिरेकतया हेतोरनैकान्तिकत्वात्। तथाहि वचनं न सर्ववेदनेन सह विरुद्ध्यते, अतीन्द्रियेण सह विरोधानिश्चयात्। द्विविधो हि विरोधः– परस्परपरिहारलक्षणः, सहानवस्थानलक्षणश्च। तत्र परस्परपरिहारलक्षणः तादात्म्यप्रतिषेधे, यथा घटपटयोः। न खलु घटः पटाऽऽत्मको भवति, नापि पटो घटाऽऽत्मको भवति, ''न सत्ता सत्ताऽन्तरमुपैति।'' इति वचनात्, ततो नानयोः परस्परपरिहारलक्षणो विरोधः । एवं सर्वेषामपि वस्तूनां भावनीयम् । अन्यथा वस्तुसाङ्कर्यप्रसक्तेः । यस्तु सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, स परस्परबाध्यबाधकभावसिद्धौ सिद्ध्यति, नान्यथा, यथा वह्नि-शीतयोः। तथाहि–विवक्षिते प्रदेशे मन्दमन्दमभिज्वलनवति वह्नौ शीतस्यापि मन्दमन्दभावः । यदा पुनरत्यर्थज्वालामतिविमुञ्चति वह्निस्तदा सर्वथा शीतस्याभाव इति भवत्यनयोर्विरोधः । उक्तं च– ''अविकलकारणमेकं, तदपरभावे यदाऽऽभवन्न भवेत् । भवति विरोधः स तयोः, शीतहुताशाऽऽत्मनोर्दृष्टः ॥१॥'' न चैवं वचनसंवेदयोः परस्परं बाध्यबाधकभावः, न हि संवेदने तारतम्येनोत्कर्षमासादयति वचखितायाः तारतम्येनापकर्ष उपलभ्यते, तत्कथमनयोः सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, अथ सर्ववेदी वक्ता नोपलब्ध इति विरोध उद्घुष्यते । तदयुक्तम् । अत्यन्तपरोक्षो हि भगवान्, ततः कथमनुपलम्भमात्रेण तस्याभावनिश्चयः, अदृश्यविषयस्यानुपलम्भस्याभावनिश्चायकत्वायोगात् । सर्वे चैते तीर्थकरसंबन्धिविषयाः 'तित्थयर' शब्दे २२४६ पृष्ठतः २३१२ पृष्ठपर्यन्तं विद्वद्भिर्विलोकनीयाः ।

अथ द्रव्यस्तव–भावस्तवयोः को विशेषः, कुत्र च फलाऽऽधिक्यमित्यत्राऽऽहननु वित्तपरित्यागाऽऽदिना द्रव्यस्तव एव ज्यायानिति अल्पबुद्धीनां शङ्कासंभवः, तत्राऽऽह–''दव्वत्थओ य भावत्थओ य दव्वत्थओ बहुगुणो त्ति। बुद्धि सिया अनिउणमइवयणमिणं छज्जीवहियं ॥४॥ छज्जीवकायसंजमो दव्वथए सो विरुज्झई कसिणो। तो कसिणसंजमविऊ, पुप्फाईयं न इच्छंति ॥५॥'' यद्येवं किमयं द्रव्यस्तव एकान्ततो हेय एव वर्तते, आहोस्विदुपादेयोऽप्यस्ति? उच्यते– साधूनां हये एव, श्रावकाणामुपादेयोऽपि । तथाहि– ''अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो। संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥६॥'' आह–यः प्रकृत्येवासुन्दरः स कथं श्रावकाणामपि युक्तः? उच्यते–कूपदृष्टान्तोऽत्र बोद्धव्यः। यथा कोऽपि तृषाऽपनोदार्थं कूपं खनति । यद्यपि पूर्वं तस्य मृत्तिकाकर्दमाऽऽदिना शरीरं मलिनीभवति, तथाऽपि तदुद्गतेन पानीयाऽऽदिना प्रक्षाल्यते गात्रं, ततः स अन्ये च जनाः, सुखभाजना भवन्ति । एवं द्रव्यस्तवेऽपि यद्यप्यसंयमस्तथाऽपि तत एव सा परिणामबुद्धिर्भवति, याऽसंयमवर्जं सर्वनिरवशेषं क्षपयति। किञ्च–''अप्पविरियस्स पढमो, सहकारिविसेसभूअओ सेओ। इयरस्स बज्झचाया, इयरो चिय एस परमत्थो ॥२॥ दव्वत्थयं पि काउं, ण तरइ जो अप्पवीरियत्तेणं । परिसुद्धं भावथयं, काही सो संभवो एस ॥३॥'' एतदेव स्पष्टयति–''जो वज्झचाएणं, णो इत्तरिअं पि णिग्गहं कुणइ । इह अप्पणो सयासे, सव्वच्चाएण कह कुज्जा? ॥५॥''

किञ्च–आरम्भत्यागेन ज्ञानाऽऽदिगुणेषु वर्धमानेषु द्रव्यस्तवहानिरपि न भवति कर्तुः दोषाय। विवेचनमस्य 'थय' शब्दे २३८५ पृष्ठपर्यन्तं द्रष्टव्यं प्रज्ञावद्भिः ।

'थविरकप्प' शब्दे २३८६ पृष्ठे स्थविरकल्पविचारः । तथाह– द्विविधा भवन्ति साधवः । गच्छप्रतिबद्धाः, गच्छबहिर्गताश्च । पुनरेकैकशो द्विधा जिनकल्पिकाः, स्थविरकल्पिकाश्च । एतेषां स्थविरकल्पिकजिनकल्पिकानां परस्परमयं विशेषः । तथाहि–

''थेराणं नाणत्तं, अतरंतं अप्पिणंति गच्छस्स ।
गच्छे निरवज्जेणं, करेंति सव्वं पि पडिकम्मं ॥१॥
एक्केक्कपडिग्गहगा, सप्पाउरणा हवंति थेरा उ ।
जेसिं उण जिनकप्पे, न य तेसिं वत्थपायाणि ॥२॥
निप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमलं पि नेव अवणिंति ।
विसहंति जिणा रोगं, कारेंति कयाइ न तेगिच्छं ॥३॥
संजमकरणुज्जोया, णिप्फातग णाणदंसणचरित्ते ।
दीहाउ बुड्ढवासे, वसहीदोसेहि य विमुक्का ॥४॥
मोत्तुं जिणकप्पठिइं, जा मेरा एस वन्निया हेट्ठा ।
एसा उ दुपदजुत्ता, होति ठिती थेरकप्पस्स ॥५॥''इति ।

ननु द्रव्यस्तवो गृहस्थैः कर्तव्य इति पूर्वं यदुक्तं तत्र ''वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानस्य कारणता'' इति न्यायाद् द्रव्यस्वरूपनिर्वचनं कर्तव्यम्। उच्यते– ''गुणपर्याययोः स्थानमेकरूपं सदाऽपि यत् । स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं, मध्ये भेदो न तस्य वै ॥१॥'' व्याख्या चैषागुणपर्यायभाजनं कालत्रये एकरूपं द्रव्यं स्वजात्या निजत्वे एकस्वरूपं भवति, परं पर्यायवद् न परावृत्तिं लभते तद् द्रव्यमुच्यते। यथा ज्ञानाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं जीवद्रव्यम्, रूपाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं पुद्गलद्रव्यम्, सर्वरक्तत्वाऽऽदिघटत्वाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं मृद्द्रव्यम् । यथा वा तन्तवः पटापेक्षया द्रव्यं, पुनस्तन्तवोऽवयवापेक्षया पर्यायाः । कथम् ? यतः पटविचाले पटावस्थाविचाले च तन्तूनां भेदो नास्ति, तन्त्ववयवावस्थायामन्वयत्वरूपो भेदोऽस्ति, तस्मात् पुद्गलस्कन्धमध्ये द्रव्यपर्यायत्वमापेक्षिकं बोध्यम् । अथ कश्चिदेवं कथयिष्यतिद्रव्यत्वं तु स्वाभाविकं न जातम्, आपेक्षिकं जातं, तदा तं समाधत्तेयत् सकलवस्तूनां व्यवहारापेक्षयैव जायते, न तु स्वभावेनैव, तस्मादत्र न कश्चिद् दोषः। ये च समवायिकारणप्रमुखैर्द्रव्यलक्षणं मन्वते, तेषामपि अपेक्षामनुसर्तव्यैवेति । 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ।' इति तत्त्वार्थे ।

''सहभावी गुणो धर्मः, पर्यायः क्रमभाव्यथ ।
भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधाः, त्रिलक्षणयुता इमे ॥१॥
मुक्ताभ्यः श्वेतताऽऽदिभ्यो, मुक्तादाम यथा पृथक् ।
गुणपर्याययोर्व्यक्ते–र्द्रव्यशक्तिस्तथाऽऽश्रिता ॥२॥''

किञ्च–'गुणाऽऽश्रयो द्रव्यम् ।' यदुक्तम्– ''गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा। लक्खणं पज्जवाणं तु, दुहओ अस्सिया भवे ॥६॥'' तथाहि– गुणानामाश्रयो, यत्रस्थास्ते उत्पद्यन्ते, उत्पद्य चावतिष्ठन्ते, प्रलीयन्ते च तद् द्रव्यम्। अनेन रूपाऽऽदय एव वस्तु, न तद्व्यतिरिक्तमन्यदिति तथाग–

तमतमपास्तम्। तथाहि–यदुत्पादविनाशयोर्न यस्योत्पादविनाशौ, न तत्ततोऽभिन्नम्, यथा घटात्पटः, न भवतः पर्यायोत्पादविनाशयोर्द्रव्यस्योत्पादविनाशौ। न चायमसिद्धो हेतुः, स्थासकोशकुशूलाऽऽद्यवस्थासु मृदादिद्रव्यस्याऽऽनुगामित्वेन दर्शनात्। न चास्य मिथ्यात्वं, कदाचिदन्यथादर्शनासिद्धेः। उक्तं च– ''यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः, संख्येय्येतान्यथा पुनः। स मिथ्या न तु तेनैव, यो नित्यमवगम्यते ॥१॥'' तथैकस्मिन् स्वाऽऽधारभूते द्रव्ये आश्रिता गुणाः रूपाऽऽदयः। एतेन च ये द्रव्यमेवेच्छन्ति, तद्व्यतिरिक्तांश्च रूपाऽऽदीन् अविद्योपदर्शितानाहुः, तन्मतनिषेधः कृतः। संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितयः। न च रूपाऽऽद्युत्कलितरूपं कदाचित् केनचिद् द्रव्यमवगतम्, अवगम्यते वा, अतस्तद्विवर्त एव रूपाऽऽदयो, न तु तात्त्विकाः केचन तद्भेदेन सन्ति। नन्वेवं रूपाऽऽदिविवर्तो द्रव्यमित्यपि किं न कल्पते? अथ तथैव प्रतीतिः, एवं सति प्रतीतिरुभयत्र साधारणेत्युभयमुभयाऽऽत्मकमस्तु। अनेन च य एवमाहुः यदाद्यन्तयोरसत्, मध्येऽपि तत्तथैव, यथा मरीचिकाऽऽदौ जलाऽऽदि। न सन्ति च कुशूलकपालाऽऽद्यवस्थयोर्घटाऽऽदिपर्यायाः, ततो द्रव्यमेवाऽऽदिमध्यान्तेषु सत्, पर्यायाः पुनरसन्तः, यैराकाश–केशाऽऽदिभिः सदृशा अपि भ्रान्तैः सत्यतया लक्ष्यन्ते। यथोक्तम्– ''आदावन्ते च यन्नास्ति, मध्येऽपि हि न तत् तथा। वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः।।१॥'' ते अपाकृताः। तथाहि– आद्यन्तयोरसत्त्वेन मध्येऽप्यसत्त्वं साधयतामिदमाकृतम्–यत् क्वचिदसत् तत् सर्वस्मिन्नसत् इति, ततश्च मृद्द्रव्यैः अवद्रव्यस्यासत्त्वात् सर्वस्मिन्नप्यसत्त्वप्रसङ्गः। अथेष्टमेवैतत्, सत्तामात्रस्यैव तत्त्वत इष्टत्वात्। उक्तं हि– 'सर्वमेकं सदविशेषात्।' नन्वेवमभावे भावाभावाद् भावस्यापि सर्वत्राभावप्रसङ्गः, तस्माद् बाधकप्रत्ययोदय एवासत्त्वेऽपि निबन्धनमिति न क्वचिदसत्त्वे तस्यावश्यंभावः, ततो द्रव्यवत् पर्यायाणामप्यबाधितबोधविषयत्वे सत्यमस्तु, तथा गुणेष्वपि नवपुराणाऽऽदिपर्यायाः प्रत्यक्षप्रतीता एके कियत्कालभाविनः, प्रतिसमयभाविनस्तु पुराणत्वाऽऽद्यन्यथाऽनुपपत्तेरनुमानतोऽवसीयन्ते। ततश्च द्रव्यगुणपर्यायाऽऽत्मकमेकं सबलमणिवत् चित्रपतङ्गाऽऽदिवद् वा वस्त्विति स्थितम्। ''दव्वं पज्जवविजुतं, दव्वविउत्ता य पज्जवा नऽत्थि। उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ॥१२॥'' अथ द्रव्यभेदा इमे– ''धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गलजंतवो। एस लोगो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥७॥'' अनन्तरोक्तद्रव्यषट्काऽऽत्मकत्वंलोकस्य। उक्तं हि– ''धर्माऽऽदीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम्। तैर्द्रव्यैः सह लोकः, तद्विपरीतं ह्यलोकाऽऽख्यम्॥१॥'' किञ्च–एतेऽपि भेदवन्तः। तथा चाऽऽह–''धम्मो अधम्मो आगासं एगं दव्वं वियाहियं। अणंताणि उ दव्वाणि, कालो पोग्गलजंतवो॥८॥'' वैशेषिकरीत्या द्रव्यप्रतिपादनं, तत्खण्डनं च 'दव्व' शब्दे २४६५ पृष्ठे द्रष्टव्यम्।

जिनवचनादेवाभयदानाऽऽदीनां महाफल–
दत्वमुक्तमस्ति। तथाह–

''दानेन महाभोगो, देहिनां सुरगतिश्च शीलेन।
भावनया च विमुक्तिः, तपसा सर्वाणि सिद्ध्यन्ति ॥१॥''

'दाणं च तत्थ तिविहं, नाणपयाणं च अभयदाणं च।
धम्मोवग्गहदाणं, च नाणदाणं इमं तत्थ ॥५२॥

''दिंतो य नाणदाणं, भुवणे जिणसासणं समुद्धरइ।
सिरिपुंडरीयगणहर, इव पावइ परमपयमतुलं ॥९५॥
ता दायव्वं नाणं, अणुसरियव्वा सुनाणिणो मुणिणो।
नाणस्स सया भत्ती, कायव्वा कुसलकामेहिं ॥९६॥
वीयं तु अभयदाणं, तं इह अभयेण, सयलजीवाणं।
अभउ त्ति धम्ममूलं, दयाइधम्मो पसिद्धमिणं ॥९७॥
इक्कं चिअ अभयपया–णमित्थ दाऊण सव्वसत्ताणं।
वज्जाऽऽउह व्व कमसो, सिज्झंति पहीणजरमरणा ॥९८॥''

''धम्मोवग्गहदाणं, तइयं पुण असणवसणमाईणि।
आरंभनियत्ताणं, साहूणं हुंति देयाणि ॥१००॥
तित्थयरचक्कवट्टी–बलदेवा वासुदेवमंडलिया।
जायंति जगब्भहिया, सुपत्तदाणप्पभावेणं ॥१०१॥
जह भयवं रिसहजिणो, घयदाणबलेण सयलजयनाहो।
जाओ जह भरहवई, भरहो मुणिभत्तदाणेणं ॥१०२॥
दंसणमित्तेण–वि मुणि–वराण नासेइ दिणकयं पावं।
जो देइ ताण दाणं, तेण जए किं न सुविढत्तं ॥१०३॥''

''न तवो सुट्ठु गिहीणं, विसयाऽऽसत्ताण होइ न हु सीलं।
सारंभाण न भावो, तो साहीणं सया दाणं ॥१०६॥''

''ता तेसिं दायव्वं, सुद्धं दाणं गिहीहिँ भत्तीए।
अणुकंपोचियदाणं, दायव्वं नियायसत्तीए ॥१०५॥''

अनूदितं चैतत् श्रीहेमसूरिभिः–

''प्रायः शुद्धैस्त्रिविधविधिना प्रासुकैरेषणीयैः,
कल्पप्रायैः शुद्धैस्त्रिविधविधिना प्रासुकैरेषणीयैः,
कल्पप्रायैः स्वयमुपहितैः वस्तुभिः पानकाऽऽद्यैः।
काले प्राप्तान् सदनमसमश्रद्धया साधुवर्गान्,
धन्या केचित् परमविहिताः, हन्त संमानयन्ति ॥१॥''

तथा च दाने मनोहारिणी कृतपुण्यकथा २४९१ पृष्ठे विलोकनीया। दानं प्रति विधिनिषेधविचारौ २४९६ पृष्ठे विद्वद्भिरवधार्यौ। जिनवचनप्रसङ्गात् साम्प्रतं ज्ञानत्रयभावाभावयोर्दीक्षाऽधिकारित्वानधिकारित्वप्रतिपादनायाऽऽह– ''अस्मिन् सति दीक्षायाः, अधिकारी तत्त्वतो भवति सत्त्वः। इतरस्य पुनर्दीक्षा, वसन्तनृपसन्निभा ज्ञेया ॥१॥'' इत्यादि दीक्षासंबन्धिनं सर्वं विषयं 'दिक्खा' शब्दे २५०६ पृष्ठतः २५०८ पृष्ठपर्यन्तं विलक्षणविचक्षणाः पश्यन्तु।

दीक्षाया दुःखनिवारकत्वेन फलदत्वमुक्तम्। दुःखस्वरूपं तु जिनवचने– ''दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवेद् गर्भवासो नराणां, बालत्वे चाऽपि दुःखं मललुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम्। तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः, संसारे रे मनुष्याः! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित्? ॥१॥'' तथाहि– ''जाणंति अणुहवंति य, अणुजम्मजरामरणसंभवे दुक्खे। न य विसएसु विरज्जति, दुग्गइगमणपत्थए जीवे ॥१॥'' ''दुक्खमेवमवीसामं, सव्वेसिं जगजंतुणो। एगं समयं तसभावे, जं सम्मं अहियासियं ॥१॥'' ''सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्। एतदुक्तं समासेन, लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१॥'' पुण्यापेक्षमपि ह्येवं, सुखं परवशं स्थितम्। ततश्च दुःखमेवैतद्, ध्यानजं तात्त्विकं सुखम् ॥१॥'' तथा च ''सूईहिं अग्गिवन्नाहिं, संभिन्नस्स निरंतरं। जावइयं गोयमा! दुक्खं, गब्भे अट्ठगुणं तओ ॥१॥

गब्भाओ निप्पडंतस्स, जोणिजंतनिपीलणे। कोटीगुणं तयं दुक्खं, कोड-कोडीगुणं पि वा ॥२॥ जायमाणाण जं दुक्खं, मरमाणाण जंतुणो। तेण दुक्खविवागेण, जाइं न सरंति अप्पणो ॥३॥'' तथाच दुःखवर्णकः ''कालं गमेंति दुक्खेहिं, मणुया पुन्नेहि उज्झिया। दुक्खं मणुयजाईणं, गोयम ! जं तं निबोधत ॥१॥ जमणुसमयमणुभवंताण, सयहा उव्वेइयाण वि। निव्विण्णाणं पि दुक्खेहिं, वेरग्गं न तहा भवे॥२॥'' अच्छिनिमीलणमित्तं, नऽत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं। नरए नेरइयाणं, अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥१॥ जं निरए नेरइया, दुक्खं पावंति गोयमा ! तिक्खं। तं पुण निगोयमज्झे, अणंतगुणियं मुणेयव्वं ॥१॥'' इत्यादि सर्वं 'दुक्ख' शब्दे विवृतम्।

जिनवचनाऽश्रद्दधानस्य जमालेरिव 'दोकिरिय' शब्दे आर्यगङ्गस्य चरितम्। तथाहि–उल्लुकातीरं नाम नगरम्, तत्र च महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम, तस्यापि शिष्य आर्यगङ्गो नामाऽऽचार्यः। अयं च नद्याः पूर्वतटे, तदाचार्यस्त्वपरतटे, ततोऽन्यदा शरत्समये सूरिवन्दनार्थं गच्छन् गङ्गो नदीमुत्तरति, स च खल्वाटः। ततस्तस्योपरिष्टाद् उष्णेन दह्यते खल्ली, अधस्तात्तु नद्याः शीतलजलेन शैत्यमुत्पद्यते। ततोऽत्रान्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोदयादसौ चिन्तितवान्– अहो सिद्धान्ते किल युगपत् क्रियाद्वयानुभवो निषिद्धः, अहं त्वेकस्मिन् एव समये शैत्यमौष्ण्यं च वेदयामि, अनु–भवविरुद्धत्वान्नेदमागमोक्तं शोभनमाभातीति विचिन्त्य गुरुभ्यो निवेदयामास। ततस्तैर्वक्ष्यमाणयुक्तिभिः प्रज्ञापितोऽसौ यदा च स्वाग्रहग्रस्तबुद्धित्वाद् न किञ्चित् प्रतिपद्यते, तदा उद्घाट्यबाह्यः कृतो विहरन् राजगृहनगरमागतः। तत्र च महातपस्तीरप्रभवनाम्नि प्रश्रवणे मणिनागनाम्नो नागस्य चैत्यमस्ति। तत्समीपे च स्थितो गङ्गः पर्षत्पुरस्सरं युगपत् क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयति स्म। तच्च श्रुत्वा प्रकुपितो मणिनागः तमवादीत्–अरे दुष्ट शिक्षक ! किमेवं प्रज्ञापयसि? यतोऽत्रैव प्रदेशे समवसृतेन श्रीमद्वर्धमानस्वामिना एकस्मिन् समये एकस्या एव क्रियाया वेदनं प्ररूपितम्। तच्चेह मयाऽपि श्रुतम्। तत् किं ततोऽपि लष्टतरः प्ररूपको भवान्, येनैवं युगपत् क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयसि? तत् परित्यज चैतां कूटप्ररूपणाम्, अन्यथा नाशयिष्यामि त्वाम्। इत्यादि तदुदितभयवाक्यैर्युक्तिवचनैश्च प्रबुद्धोऽसौ मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा गुरुमूलं गत्वा प्रतिक्रान्त इति। 'दोकिरिय' शब्दे २६३५ पृष्ठत आरभ्य विलोकनीयोऽयं विषय इति विस्तरभयाद् विरम्यतेऽस्मिन् विषयेऽस्माभिः।

ननु जिनवचनश्रवणं जिनाऽऽज्ञापालनं च जैनानां सम्यक्त्विनां परमो धर्म इति धर्मपदार्थसार्थनिरूपणा निरूपयितव्येति तामेवाऽऽचष्टे द्विधा हि धर्मशब्दस्य प्रवृत्तिर्लोके विलोक्यते। तथाहि–सर्वत्र वस्तुनि यद् वस्तुनः स्वभावः स धर्म उच्यते। यथा घटे घटत्वं, मनुष्ये मनुष्यत्वमित्यादि। तथा चोक्तम्– ''धर्माः सहभाविनः, पर्यायाः क्रमभाविनः।'' 'धम्मो त्ति वा सभावो त्ति वा एगट्ठा।' दुर्गतौ प्रपतन्तं जीवं धारयतीति धर्मः, स च क्लेशनिवृत्तिनिर्वृतिप्राप्तिसाधनः स्वर्गमोक्षाऽऽदिप्रापको मनुष्येणेतिकर्तव्यतारूपो हृदयसंवेद्यो मातापितृसुहृत्संवेद्यः संसारगर्ताऽऽवटनिपतनप्रहाणप्रवणः परमपुनीतः कस्य चेतो नावस्कन्दति। तत्र शब्दप्रवृत्तिनिमित्तरूपस्य (गौणस्य) धर्मस्य धर्मिणा सहैकान्तेन भेदेऽभ्युपगम्यमाने धर्मिणो निःस्वभावताऽऽपत्तिः, स्वभावस्य धर्मत्वात् तस्य च ततोऽन्यत्वात्, स्वो भावः स्वभावः, तस्यैवाऽऽत्मीया सत्ता, न तु तदर्थान्तरं धर्मरूपं, ततो न निःस्वभावताऽऽपत्तिरिति चेत्। न। इत्थं स्वरूपसत्ताऽभ्युपगमे तदपरसत्तासामान्ययोगकल्पनाया वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अपि च– यद्येकान्तेन धर्म–धर्मिणोर्भेदः ततो धर्मिणो ज्ञेयत्वाऽऽदिभिर्धर्मैरननुवेधात् तस्य सर्वथाऽनवगमप्रसङ्गः, न ह्यज्ञेयस्वभावं ज्ञातुं शक्यते इति। तथा च सति तदभावप्रसङ्गः, कदाचिदप्यवगमाभावात्, तथाऽपि तत्सत्त्वापगमेऽतिप्रसङ्गः, अन्यस्यापि तस्य कस्यचित् कदाचिदप्यनवगतषष्ठभूताऽऽदेर्भावाऽऽपत्तेः। एवं च धर्म्यभावे धर्माणामपि ज्ञेयत्वप्रमेयत्वाऽऽदीनां निराश्रयत्वादभावाऽऽपत्तिः। न हि धर्म्याधाररहिताः क्वापि धर्माः संभवन्ति, तथाऽनुपलब्धेः। अन्यच्च–परस्परमपि तेषां धर्माणामेकान्तेन भेदाभ्युपगमे सत्त्वाऽऽद्यननुवेधात् कथं भावाभ्युपगमः? तदन्यसत्त्वाऽऽदिधर्माभ्युपगमे च धर्मित्वप्रसक्तिरनवस्था च। तन्नैकान्ताभेदपक्षे धर्मधर्मिभावः। नाप्येकान्तभेदपक्षे, यतस्तस्मिन् अभ्युपगम्यमाने धर्ममात्रं वा स्यात्, धर्मिमात्रं वा? अन्यथैकान्तभेदानुपपत्तेः, अन्यतराभावाद् वा अन्यतरस्याप्यभावः, परस्परनान्तरीयकत्वात्। धर्मनान्तरीयको हि धर्मी, धर्मिनान्तरीयकाश्च धर्माः, ततः कथमेकाभावे पररूपावस्थानमिति? कल्पितो धर्मधर्मिभावस्ततो न दूषणमिति चेत्तर्हि वस्त्वभावप्रसङ्गः। न हि धर्मधर्मिस्वभावरहितं किञ्चिद् वस्त्वस्ति, धर्मधर्मिभावश्च कल्पित इति तदभावप्रसङ्गः। धर्मा एव कल्पिता न धर्मी, तत्कथमभावप्रसङ्ग इति चेत्, न। धर्माणां कल्पनामात्रभावत्वाभ्युपगमेन परमार्थतोऽसत्त्वाभ्युपगमात् तदभावे च धर्मिणोऽप्यभावाऽऽपत्तिः। अथ तदेवैकं स्वलक्षणं स कलसजातीयविजातीयव्यावृत्त्येकस्वभावाः धर्मिव्यावृत्तिनिबन्धनाश्च या व्यावृत्तयो भिन्ना इव विकल्पितास्ता धर्मास्ततो न कश्चिद् दोषः। तदप्यसङ्गतम्। एवं कल्पनायां वस्तुनोऽनेकान्तात्मकताप्रसक्तेः। अन्यथा सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्त्ययोगात्, न हि येन निजस्वभावेन घटाद् व्यावर्तते पटस्तेनैव स्तम्भादपि, स्तम्भस्य घटरूपताप्रसक्तेः। तथाहि–घटाद् व्यावर्तते घटव्यावृत्तिस्वभावतया, स्तम्भादपि चेत् घटव्यावृत्तिस्वभावतयैव व्यावर्तते, तर्हि बलात् स्तम्भस्य घटरूपताप्रसक्तिः। अन्यथा–ततः तत्स्वभावतया व्यावृत्त्ययोगात्। तस्माद् यतो यतो व्यावर्तते तत्तद्व्यावृत्तिनिमित्तभूताः स्वभावा अवश्यमभ्युपगन्तव्याः, ते चानेकान्तेन धर्म्मिणो भिन्नाः, तदभावप्रसङ्गात्। तथा च तदवस्थ एव पूर्वोक्तो दोषः, तस्माद् भिन्ना अभिन्नाश्च। भेदाभेदोऽपि धर्मधर्मिणोः कथमिति चेत्, उच्यते–इह यद्यपि तादात्म्यतो धर्मिणा धर्माः सर्वेऽपि लोलीभावेन व्याप्ताः तथाऽप्ययं धर्मी, एते धर्मा इति परस्परं भेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तद्भावानुपपत्तिः। तथा च सति प्रतीतिबाधा, मिथो भेदेऽपि च विशिष्टान्योन्यानुवेधेन सर्वधर्माणां धर्मिणा व्याप्तत्वादभेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तस्य धर्मा इति प्रसङ्गानुपपत्तेरित्यलमप्रासङ्गिकवस्तुस्वभावरूपधर्मनिरूपणेन।

अथ प्रकृतं निर्वृतिप्राप्तिसाधनीभूतं धर्मं प्रस्तुमः–

''वचनादविरुद्धाद्य–दनुष्ठानं यथोदितम्। मैत्र्यादिभावसंमिश्रं, तद्धर्म इति कीर्त्यते ॥३॥'' तथाहि– यदनुष्ठानमिहलोकपरलोकावपेक्ष्य हेयोपादेययोरर्थयोरिहैव शास्त्रे वक्ष्यमाणलक्षणा प्रवृत्तिरिति तद्धर्म इति कीर्त्यते । ''धर्मश्चित्तप्रभवो, यतः क्रियाऽधिकरणाऽऽश्रयं कार्यम् । मलविगमेनैतत् खलु, पुष्ट्यादिमदेष विज्ञेयः ॥२॥ रागाऽऽदयो मलाः खल्वागमसद्योगतो विगम एषाम्। तदयं क्रियात एव हि, पुष्टिश्चित्तस्य शुद्धस्य ॥३॥ पुष्टिः पुण्योपचयः, शुद्धिः पापक्षयेण निर्मलता। अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन्, क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया ॥४॥'' अमुमेव धर्मं भेदतः प्रभेदतश्च वर्णयन्ति वसिततिपतयः–''स द्विधा स्यादनुष्ठातृगृहिव्रतिविभागतः। सामान्यतो विशेषाच्च, सृहिधर्मोऽप्ययं द्विधा ॥४॥'' ''धम्मो वावीसविहो, अगारधम्मोऽणगारधम्मो य। पढमो य वारसविहो, दसहा पुण बीयओ होइ ॥१२॥'' व्यासार्थं चाऽऽहुः सूरयः– ''सम्मत्तमूलमणुवयपणगं तिन्नि उ गुणव्वया होंति। सिक्खावयाइँ चउरो, वारसहा होइ गिहिधम्मो ॥२॥'' तथा च– ''पाणे य नाइवाएज्जा, अदिन्नं वि य णादए। सादिणं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥१६॥ अतिक्कमं ति वायाए, मणसा वि न पत्थए। सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥२०॥'' सम्यगभ्यस्तश्रावकधर्मस्यातिताव्रस्यैकान्ततो भवभ्रमणविमुखस्य संयतातिशिवसुखाभिलाषाऽतिरेकस्य यतिधर्मकरणश्रद्धोत्पद्यते, अतस्तत्स्वरूपनिरूपणायेदमाह– ''खंती य मद्दवऽज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोधव्वे। सच्च सोयं आकिं–चणं च बंभं च जइधम्मो ॥४॥'' तथाहि– ''पञ्चाऽऽश्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः। दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥१॥'' ''दुविहो उ भावधम्मो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य। सुयधम्मे सज्झाओ, चरित्तधम्मे समणधम्मो ॥१॥'' अथवा–''दुह होइ भावधम्मो, सुयचरणे वा सुयम्मि सज्झाओ। चरणम्मि समणधम्मो, खंती मुत्ती भवे दसहा ॥१॥'' अथवा–''लोइयलोउत्तीओ, दुविहो पुण होति भावधम्मो छ दुविहो वि दुविहतिविहो, पंचविहो होति णायव्वो ॥१॥'' तथाहि–भावधर्मो नोआगमतो द्विविधः तद्यथा–लौकिको, लोकोत्तरश्च । तत्र लौकिको द्विविधः–गृहस्थानां, पाखण्डिनां च । लोकोत्तरस्त्रिविधः– ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् । तत्राप्याभिनिबोधिकं ज्ञानं पञ्चधा। दर्शनमप्यौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकवेदकक्षायिकवेदात् पञ्चविधम्। चारित्रमपि सामायिकाऽऽदिभेदात् पञ्चविधम्। ''दव्वं च अत्थिकाओ, पयारधम्मो य भावधम्मा य। दव्वस्स पज्जवा जे, ते धम्मा तस्स दव्वस्स ॥४०॥ तथाहि–''धम्मत्थिकायधम्मो, पयारधम्मो य विसयधम्मो उ । लोइय कुप्पावणिओ, लोगुत्तरलोगिणेगविहो ॥४१॥'' अनेकविधत्वं तु– ''गम्मपसुदेसरज्जे, पुरवरगामगणिगोट्ठिराईणं । सावज्जो उ कुतित्थियधम्मो न जिणेहिँ उ पसत्थो ॥४२॥'' औदार्यदाक्षिण्यं, पापजुगुप्साऽथ निर्मलो बोधः। लिङ्गानि धर्मसिद्धेः, प्रायेण जनप्रियत्वं च ॥२॥'' ''आरोग्ये सति यद्वद्, व्याधिविकारा भवन्ति नो पुंसाम्। तद्वद् धर्माऽऽरोग्ये, पापविकारा अपि ज्ञेयाः ॥१॥'' तन्नास्य विषयतृष्णा, प्रभवत्युच्चैर्न दृष्टिसंमोहः। अरुचिर्न धर्मपथ्ये, न च पापा क्रोधकण्डूतिः ॥२॥'' ''जीवदय सच्चवयणं परधणपरिवज्जणं सुसीलं च। खंती पंचिंदियनि– ग्गहो य धम्मस्स मूलाइं ॥१॥'' धर्मानधिकारिणस्तु–''सुत्तेण चोइओ जो, अप्पं उद्दिसिय तं णं पडिवज्जे । सो तत्तवादबज्झो, न होइ धम्मम्मि अहिनारी ॥६॥'' सद्धर्मग्रहणयोग्यस्तु–''संविग्रस्तच्छुतेरेव, ज्ञाततत्त्वो नरोऽनघः । दृढं स्वशक्त्या जातेच्छः, संग्रहेऽस्य प्रवर्तते ॥२०॥'' किञ्च–चः कश्चिद् विदितसंसारस्वभावतया धर्मचरणैकप्रवणमनाः पूर्वं प्रव्रज्याऽवसरे संयमानुष्ठानोत्थायी , पश्चाच्च अद्धासंवेगतया विशेषेण वर्द्धमान–परिणामो नो निपाती, सिंहतया निष्क्रान्तः, सिंहतया विहारी च, गणधराऽऽदिवत् । अथवा पूर्वोत्थायी, पुनर्विचित्रत्वात् कर्मपरिणतेस्तथाविधभवितव्यतानियोगात् पश्चान्निपाती स्यात्, नन्दिषेणाऽऽदिवत्। कश्चिद् गोष्ठामाहिलवत् दर्शनतोऽपि, इत्यादि सर्वं 'धम्म' शब्दे २६७३ पृष्ठे विवृतम्। तदुद्भावकाश्चामी– ''प्रावचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च । विद्यासिद्धः ख्यातः, कविरपि चोद्भावकाश्चामी ॥१॥'' तथा च परिपक्वबुद्धित्वात् मध्यमवया विशेषतो धर्मार्हः । यत उक्तमाचाराङ्गे–''मज्झिमेणं वयसा एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिता सोच्चा मेधावी वयणं पडियाणं णिसामित्ता समयाए धम्मे आयरियेहिं पवेदिते ते अणवकंखमाणा अणतिवाएमाणा अपरिग्गहमाणा णो परिग्गहावंति, सव्वावंति च णं लोगंसि णिहाय दंड पाणेहिं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए।'' ततश्च– ''धम्मो गुणा अहिंसा–इया उ ते परममंगलपइन्ना । देवा वि लोगपुज्जा, पणमंति सुधम्ममिइ हेऊ ॥१॥ दिट्ठंतो, अरंहता अणगारा य बहवो उ जिणसीसा । वत्तणुवत्ते नज्जइ, जं नरवइणो वि पणमंति ॥२॥ उवसंहारो देवा, जह तह राया वि पणमइ सुधम्मं। तम्हा धम्मो मंगलमुक्किट्ठमिइ य निगमणं ति ॥३॥'' साम्प्रतं प्रतिज्ञा–शुद्धिरभिधीयते– ''जह जिणसासणनिरया धम्मं पालेंति साहवो सुद्धं। न कुतित्थिएसु एवं, दीसइ परिपालणोवाओ ॥६३॥'' अत्राऽऽह त्वेष्वपि च तन्त्रान्तरीयधर्मेषु धर्मशब्दो लोके रूढः, तथा च यथातथ नैजमेव धर्मं प्रशंसन्ति, ततश्च कथमेतदिति? अत्रोच्यतेननूक्तः पूर्वं सावद्यः कुतीर्थिकधर्मः तीर्थकरैः, षड्जीवनिकायपरिज्ञानाऽऽद्यभावादेवेत्यत्रापि बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, विस्तरभ्यात्। तथा च– तन्त्रान्तरायेषु धर्मेषु धर्मशब्दो यः स उपचारेण, निश्चयेन तु जिनशासने, यथा सिंहशब्दः सिंहे प्राधान्येन व्यवस्थितः,उपचारेण तु माणवकाऽऽदौ । उपचारनिमित्तं च शौर्यक्रौर्याऽऽदयः, धर्मेत्वहिंसाऽऽद्यभिधानाऽऽदयः। हेतुविशुद्धिस्तु–''जंभत्तपाणउवगर–णवसहिसयणाऽऽसणाइसु जयंति । फासुय अकयअकारिय–अणणुमयाणुद्दिट्ठभोई य ॥६७॥'' तदन्ये पुनः– ''अप्फासुयकयकारिय–अणुमयउद्दिट्ठभोइणो हंदि। तसथावरहिंसाए, जणा अकुसला उ लिप्पंति ॥६८॥'' दृष्टान्तविशुद्धिः– ''जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं । ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥२॥'' अत्र चैवं व्यवस्थिते सति कोऽपि ब्रूयात्–यदिदं पाकनिर्वर्तनं गृहिभिः क्रियते, इदं पुण्योपादानसंकल्पेन श्रमणानां क्रियते सुविहितानां, गृह्णन्ति च ते ततो भिक्षामित्यतः पाकोपजावन–

इति कृत्वा लिप्यन्ते आरम्भदोषेणाऽऽहारकरणक्रियाफलेनेति । लौकिका अप्याहुः–''क्रयेण क्रायको हन्ति, उपभोगेन खादकः। घातको वधचित्तेन, इत्येष त्रिविधो वधः ॥१॥'' अत्र प्रतिविधीयते–''वासइ न तणस्स कए, न नणं वड्ढइ कए मयकुलाणं । न य रुक्खा सयसाहा, फुल्लंति कए महुयराणं ॥१०३॥'' पुनरपि चोदको वदति–इह यदुक्तं–वर्षति न तृणार्थमित्यादि । तदसाधु । यतः–''अग्गिम्मि हवी हूयइ, आइच्चो तेण पीणिओ संतो । वरिसइ पयाहिएणं, तेणोसहिओ परोहंति ॥१०४॥'' अत्र पुनः प्रतिविधीयते–यद्येवं, किंदुर्भिक्षं जायते? यतः तद्धविः सदा हूयत एव, ततश्च कारणाविच्छेदेन कार्यविच्छेदोऽयुक्त एव । अथ भवेद् दुर्नक्षत्रं, दुर्यजनं वा? अत्राप्युत्तरम्– किं जायते सर्वत्र दुर्भिक्षम्, नक्षत्रस्य दुरिष्टस्य वा नियतदेशविषयत्वात् , सदैव सद्यज्वनां भावात्? उक्तं च– ''सदैव देवाः सद्गावो, ब्राह्मणाश्च क्रियापराः । यतयः साधवश्चैव, विद्यन्ते स्थितिहेतवः॥१॥'' साम्प्रतं परामिप्रायः प्रदर्श्यते–''कस्सइ बुद्धी एसा, वित्ती उवकप्पिया पयावइणा । सत्ताणं तेण दुमा, पुप्फती महुयरिगणट्ठा ॥१०८॥'' अत्र प्रतिविधीयते– ''तं पभवइ जेण दुभा, नामागोयस्स पुव्वविहियस्स । उदयेणं पुप्फफलं, निवत्तइंती इमं चऽन्नं ॥१०९॥ अत्थि बहू वणसंडा, भमरा जत्थ न उपैंति न वसंति । तत्थ वि पुप्फंति दुमा, पगई एसा दुमगणाणं ॥११०॥'' अत्रोच्यते–यदि प्रकृतिः, किमिति पुनः सर्वकालं न प्रयच्छन्ति पुष्पफलम्, यन्नियते एव काले पुष्प– फलं ददति; अत एव एषा पादपानां प्रकृतिर्यद् ऋतुसमये वसन्ता–ऽऽदावागते सति वृक्षसंघाताः पुष्यन्ति, तथा फलं च कालेन बध्नन्ति, तदर्थानभ्युपगते तु नित्यप्रसङ्गः। साम्प्रतं प्रकृतेऽप्युक्तार्थयोजनामुपन्यस्यति–''किं तु गिही रंधंती, समणाणं कारणा अहासमये। मा समणा भगवंतो, किलामएज्जा अणाहारा ॥११३॥'' अत्राऽऽहन ह्येते हिरण्यग्रहणाऽऽदिनाऽस्माकमनुकम्पां कुर्वन्ति इति मत्वा भिक्षादानार्थं पाकं निर्वर्तयन्त्यतः श्रमणानुकम्पानिमित्तं, तथा सामान्येन पुण्यनिमित्तं च गृहनिवासिन एव पाकं कुर्वन्ति । नैतदेवम् । यतः कान्तारे दुर्भिक्षे, ज्वराऽऽदौ महति समुत्पन्ने रात्रौ श्रमणाः सर्वाऽऽहारं न भुञ्जते, अथ किमित पुनर्गृहस्थास्तत्रापि आदरतरेण राध्यन्ति, अतः प्रकृतिरेषा गृहिणां वर्तते यद् गृहिणो ग्रामनगरनिगमेषु राध्यन्ति आत्मनः परिजनस्यार्थाय, तत्र श्रमणाः तपस्विनः परार्थमारब्धं परार्थं च निष्ठितं धूमरहितमाहा–रमेषन्ते मनोयोगाऽऽदीनां संयमयोगानां वा साधनार्थम् । ''ण हणइ ण हणावेइ, हणंतं णाणुजाणइ। न किणइ न किणावेइ, किणंतं नाणुजाणइ । न पयइ न पयावेइ, पयंतं नाणुजाणइ ।'' एताभिर्नवकोटिभिः परिशुद्धं, तथोद्गमोत्पादनैषणाशुद्धम्– ''वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए। तह पाणवित्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥१॥'' इति षट्स्थानरक्षणार्थं भवान्तरे प्रशस्तभावनाऽभ्यासादहिंसाऽनुपालनार्थं च भुञ्जते। किञ्च –''अवि भमरमहुपरिगणा, अविदिन्नं आवियंति कुसुमरसं। समणा पुण भगवंतो, नादिन्नं भोत्तुमिच्छंति॥१२९॥'' 'जह कुमगणा उ तह नगरजणवया पयणपायणसहावा । जह भमरा तह मुणिणो, नवरि अदत्तं न भुंजंति॥१३२॥ कुसुमे सहावफुल्लं, आहारंति भमरा जह तहा उ। भत्तं सहावसिद्धं, समणसुविहिया गवेसंति॥१३३॥'' 'तम्हा दयाइगुणसुट्ठिएहिँ भमरो व्व अवहवित्तीहिं। साहूहिं साहिओ त्ती, उक्किट्ठं मंगलं धम्मो ॥१३७॥'' ''पडिपुण्णधम्मवियलत्त णेण इह अंतरायवियराओ। जीवा ण हुंति णियमा, तो जत्तो तत्थ कायव्वो॥१॥'' लब्भइ सुरसामित्तं, लब्भइ पहुअत्तणं न संदेहो । इक्को नवरि न लब्भइ, जिणिंदवरदेसिओ धम्मो ॥१॥ धम्मो पवित्तिरूवो, लब्भइ कइया वि निरयदुक्खभया । जो नियवसुस्सहावो, सो धम्मो दुल्लहो लोए ॥२॥ नियवत्थुसवणधम्मं, दुल्लह वुत्तं जिणिंदआणा य। अंतप्फासणमेग–त्त हुंति केसिंचि धीराणं ॥३॥ जउ धम्माउ सो ँहग्गं,धम्मेणं हुंति सयलरिद्धीओ । धम्मेणं पवररूवं, संविग्गए भणियं ॥१॥'' तथा च– ''भद्दा सयलं किरियं, कुणंति मुणिणो सिवत्थमेव सया । तं पुण लब्भइ गयसय–लरागदोसेण धम्मेण ॥१३॥'' किञ्च– ''धम्मेण सरागेण उ, लब्भइ सग्गाइयं फलं सो वि । जायइ परंपराए नियमेणं सुक्खहेउ त्ति ॥१४॥'' धर्मस्य मोक्षकारणत्वमित्थमामनन्ति जैनप्रौढाः– ''जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुण्णमणेलिसं। अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्म–कहा कओ? ॥१६॥'' तथोक्तम्– ''दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ् कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥१॥'' किञ्चान्यत्– ''कओ कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहागया । तहागया अपडिपुन्ना, चक्खू लोगस्सऽणुत्तरा ॥२०॥'' केवलि–प्रज्ञप्तस्य धर्मस्य श्रवणताऽपि दुर्लभा सामान्यलोकस्य। यतोऽवा–चि ''सुलहा सुरलोयसिरी, रयणायरमेहला मही सुलहा। निव्वुइसुहजणियरुई, जिणवयणसुई, जए दुलहा ॥१॥'' श्रुतस्य वा श्रद्धानता दुर्लभा। उक्तं च– ''आहच्च सवणलद्धं, सद्धा सवण–दुल्लहा। सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सइ ॥१॥'' ''भक्ष्या–भक्ष्यविवेकाच्च, गम्यागम्यविवेकतः । तपोदयाविशेषाच्च, स धर्मो व्यवतिष्ठते ॥१॥'' इत्यलं बहुविस्तरोपन्यासेन। प्रकृतमनुसरामः–

इह हि दुरन्तानन्तचतुरन्तासारविसारिसंसारापारपारावारे निमज्जता भव्यजन्तुना जिनप्रवचनप्रतीतचोल्लकाऽऽदिदशनिदर्शनदुष्प्रापां कथमपि प्रशस्तसमस्तमनुजजन्माऽऽदिसामग्रीमवाप्य भवजलधिसमुत्तरणप्रवणप्रवहणस्वधर्मसद्धर्मविधाने प्रयत्नो विधेयः । यदवादि– 'भवकोटीदुष्प्रापाम्, अवाप्य नृभवाऽऽदिसकलसामग्रीम्। भवजलधियानपात्रे, धर्मे यत्नः सदा कार्यः ॥१॥'' कामार्थयोस्तु बाधायामपि धर्मो रक्षणीयः, धर्ममूलत्वादर्थ-कामयोः। उक्तं च –''धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनापि जीवतः। आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः ॥१॥'' अथवा धर्मावाप्तौ कामार्थयोः क्षतिरत्यादरणीया– ''जाव न दुक्खं पत्ता, माणब्भंसं च पाणिणो पायं । ताव न धम्मं गेण्हंति भावओ तेयलिसुय व्व ॥१॥'' अथवा–''नेह लोके सुखं किञ्चिच्छादितस्यांहसा भृशम् । मितं च जीवितं नृणां तेन धर्मे मतिं कुरु ॥१॥'' प्रक्रान्तमेव समर्थयन्नाह– ''जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ। जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥३६॥'' ''ते धन्ना जे धम्मं, चरिउ जिणदेसियं पयत्तेणं। गिद्दिपासबन्धणाओ, उम्मुक्का सव्वभावेणं॥१॥'' तथाहि–

''निर्वाणाऽऽदिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते,
लब्धे स्वल्पमचारु कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते।

वैयूर्याऽऽदिमहोपलौघनिचित, प्राप्तेऽपि रत्नाकरे,
लातुं स्वल्पमदीप्ति काचशकलं, किं चोचितं साम्प्रतम् ॥१॥''

अपरञ्च– वदत यदीह कश्चिदनुसंततसुखपरिभोगलालितः। प्रयत्नशतपरोऽपि विगतव्यथमायुरवाप्तवान् नरः ॥१॥ न खलु नरः सुरौघसिद्धासुरकिन्नरनायकोऽपि यः। सोऽपि कृतान्तदन्तकुलिशाऽऽक्रमेण कृशितो न नश्यति ॥२॥'' मृत्युमुखप्रतिषेधस्योपायोऽपि न कश्चिदस्तीति। उक्तं च–

''नश्यति नौति याति वितनोति करोति रसायनक्रियां,
चरति गुरुव्रतानि विवराण्यपि विशति विशेषकातरः।
तपति तपांसि खादति मितानि करोति च मन्त्रसाधनं,
तदपि कृतान्तदन्तयन्त्रक्रकचक्रमणैर्विदार्यते ॥१॥''

अथवा–''जो वाससयं जीवइ, सुहीभोगे य भुंजइ। तस्स वि सेविउं सेओ, धम्मो य जिणदेसिओ ॥२२॥ किं पुण सपच्चवाए, जो नरो निच्चदुक्खिओ। सुट्ठुयरं तेण कायव्वो, धम्मो व जिणदेसिओ ॥२३॥'' तस्मात्–''नंदमाणो चरे धम्मं, वरं मे लट्ठतरं भवे। अनंदमाणो वि चरे, मा मे पावतरं भवे ॥२४॥'' किञ्च–''न वि जाइं कुलं वा वि, विज्जा नावि सुसिक्खिया। तारेइ नर व नारिं वा, सव्वं पुन्नेहिँ वड्ढई ॥२५॥'' पुन्नेहिं हीयमाणेहिं, पुरिसागारो वि हायई। पुन्नेहिं वड्ढमाणेहिं, पुरिसागारो वि वड्ढइं ॥२६॥'' अथवा–''संवयणं संठाणं, उच्चत्तं आउयं च मणुयाणं। अणुसमयं परिहावइ, ओसप्पिणिकालदोसेणं ॥१॥'' कोहमयमाणलोभा, ओसन्नं वड्ढए य मणुयाणं। कुडतुलकूडमाणा, तेणऽणुमाणेण सव्वं ति ॥२॥ विसमा अज्ज तुलाओ, विसमाणि य जणवएसु जाणाणि। विसमा रायकुलाइं, जेण उ विसमाइँ वासाइं ॥३॥ विसमेसु व वासेसुं, हुंति असाराइँ ओसहिवलाइँ। ओसहिदुब्बल्लेण य, आऊ परिहायइ नराणं ॥४॥ एवं परिहायमाणे, लोए चंदुव्व कालपक्खम्मि। जे धम्मिया मणुस्सा, सुजीवियं जीवियं तेसिं ॥५॥'' यतो मरणसमये–''पुत्ता चयंति मित्ता, चयंति भज्जा वि णंऽम्मयं चयति। तं मरणदेसकाले, ण चयइ सुविअज्जिओ धम्मो ॥११॥ धम्मो ताणं धम्मो सरणं, धम्मो गई पइट्ठा य। धम्मेण सुवरिएण य, गम्मइ अजरामरं ठाणं ॥१३॥ पीइकरो वन्नकरो, भासकरो जसकरो रइकरो य। अभयकरो निवुइकरो, परत्त वी अज्जिओ धम्मो ॥१३॥ अमरवरेसु अणोवमरूवं भोगोवभोगरिद्धी य। विन्नाण नाणमेव य, लब्भइ सुकएण धम्मेण ॥१४॥ देविंदचक्कवट्टित्तणाइँ रज्जाइँ इच्छिया भोगा। एयाइँ धम्मलाभो, फलाइँ जं चावि निव्वाणं ॥१५॥'' किञ्च–''दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद् धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्मृतः ॥१॥'' तस्मात्–''धम्माओ धणलाभो, त्ति जं पि वुत्तं तयं पि न हु जुत्तं। सव्वो वि हू पुरिसत्थो, धम्माउ च्चिय जओ भणिया ॥१५॥'' उक्तं च – ''धनदो धनार्थिनां धर्मः, कामदः सर्वकामिनाम्। धर्म एवापवर्गस्य, परम्पर्येण साधकः ॥१६॥''

''धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमथवा पुत्रार्थिनां पुत्रदः।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमपरं नानाविकल्पैर्नृणां,
तत् किं यन्न ददाति किञ्च तनुते स्वर्गापवर्गावपि ॥५४॥''

एवं च–''*धर्मश्रवणे यत्नः, सततं कार्यो बहुश्रुतसमीपे।*
हितकाङ्क्षिभिर्नृसिंहै–वचन ननु हारिभद्रीयम् ॥१७॥''

अनेकविद्याविशारदोऽपि धर्मशासनानभिज्ञो विकल एव। यदुक्तम्–

''साहित्यस्य विशारदो यदि परं जानाति सल्लक्षणं,
तर्के कर्कशमानसोऽतविभुता यद्यस्ति सा ज्योतिषि।
किञ्चानेककलाऽऽलयोऽपि विकलः प्राणी परं गीयते,
यो जानाति न स्वर्गमोक्षसुखदं धर्मानुगं शासनम् ॥१॥''

अथवा कियद् ब्रूमः–

''यत्प्रोद्दाममदान्धसिन्धुरघटं साम्राज्यमासाद्यते,
यन्निःशेषजनप्रमोदजनकं संपद्यते वैभवम्।
यत्पूर्णेन्दुसमद्युतिर्गुणगणः संप्राप्यते यत्परं,
सौभाग्यं च विजृम्भते तदखिलं धर्मस्य लीलायितम् ॥१॥''

किञ्च–

''यन्न प्लावयति। क्षितिं जलविधिः कल्लोलमालाऽऽकुलो,
यत् पृथ्वीमखिलां धिनोति सलिलाऽऽसारेण धाराधरः।
यच्च द्रोष्णरुची जगत्युदयतः सर्वान्धकाराच्छिदे,
तन्निशेषमपि ध्रुवं विजयते धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥१॥''

किन्तु साम्प्रतमनेकानि धर्माभिधेयधुराधराणि मिथ्यात्विमतानि प्रचलितानि सन्ति, ततो विवेकः कर्तव्यः। यदुक्तम्– ''तं शब्दमात्रेण वदन्ति धर्मं, विश्वेऽपि लोका न विचरियन्ति। स शब्दसाम्येऽपि विचित्रभेदैर्विभिद्यते क्षीरमेवार्जुनीयम् ॥१॥'' यथा ''लक्ष्मी विधातुं सकलां समर्थं, सदुर्लभं विश्वजननिमेनम्। परीक्ष्य गृण्हन्ति विचारदक्षाः, सुवर्णवद्धन्त न भीतचित्ताः ॥१॥'' अथवा–''सत्कारयशोलाभार्थिभिश्च मूढैरिहान्यतीर्थकरैः। अवसादितं जगदिदं, प्रियाण्यपथ्यान्युपदिशद्भिः ॥१॥'' किञ्च–''प्रायेण हि यदपथ्ये, तदेव चातुरजनप्रियं भवति। विषयाऽऽतुरस्य जगतस्तथाऽनुकूलाः प्रिया विषयाः ॥१॥'' अन्यच्च–''पूर्वापरविरुद्धानि, हिंसाऽऽदेः कारकाणि च। वचांसि चित्ररूपाणि, व्याकुर्वद्- भिर्निजेच्छया ॥३॥'' कुतीर्थिकैः प्रणीतस्य, सद्गतिप्रतिपन्थिनः। धर्मस्य सकलस्यापि, कथं स्वख्याततां भवेत् ? ॥४॥ यच्च तत्समये क्वापि, दयासत्याऽऽदिपोषणम्। दृश्यते तद् वचोमात्रं, बुधैर्ज्ञेयं न तत्त्वतः ॥५॥'' किन्तु–''स्वाऽऽख्यातः खलु धर्मोऽयं, भगवद्भिर्जिनोत्तमैः। यं समालम्बमानो हि, न मज्जेद् भवसागरे ॥१॥'' अतः–''अर्हता कथितो धर्मः, सत्योऽयमिति भावयन्। सर्वसंपत्करे धर्मे, धीमान् दृढतरो भवेत् ॥१॥'' अत एवोक्तम्– ''न श्रद्धयैव त्वपि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु। यथा वदाप्तत्वपरीक्षया तु, त्वामेव वीरं प्रभुमाश्रयामः ॥१॥'' अथवा–''पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम्। अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥१॥'' इति।

इह हि हेयोपादेयाऽऽदिपदार्थसार्थपरिज्ञानप्रवीणस्य जन्मजरामरणरोगशोकाऽऽदिदुर्गदौर्गत्यनिपीडितस्य भव्यसत्त्वस्य स्वर्गापवर्गाऽऽदिसुखसंपत्संपादनाबन्ध्यनिबन्धनं सद्धर्मरत्नमुपादातुमुचितं, तदुपादानोपायश्च गुरूपदेशमन्तरेण न सम्यक् विज्ञायते, न चानुपायप्रवृत्तानाममीष्टार्थासिद्धिरिति। स चाऽऽज्ञाऽऽदिपदार्थसार्थस्वरूपपर्यालोचनैकाग्रतारूपस्य धर्मस्य ध्यानावस्थितिरिति। तच्च ध्यान द्विविधम्–

बाह्यम्, आध्यात्मिकं च। तत्र बाह्यम्सूत्रार्थपर्यालोचनम्, दृढव्रतता, शील–

गुणानुरागो, निभृतकायवाग्व्यापाराऽऽदिरूपम् । यदुक्तं दशवैकालिक-टीकायाम्– ''सूत्रार्थसाधनमहाव्रतधारणेषु, बन्धप्रमोक्षगमनाऽऽगम-हेतुचिन्ता । पञ्चेन्द्रियव्युपरमश्च दया च भूते, ध्यानं तु धर्ममिति संप्रवद-न्ति, तज्ज्ञाः ॥१॥'' आत्मनः स्वसंवेदनाग्राह्यमन्येषामनुमेयमाध्या-त्मिकं तु तत्त्वार्थसंग्रहाऽऽदौ चातुर्विध्येन प्रदर्शितं, संक्षेपतोऽन्यत्र दशविधाम् । तद् यथा–''अपायोपायजीवाजीवविपाकविरागभव-संस्थानाऽऽज्ञाहेतुविचयानि चेति ।'' तथाहि दुष्टमनोवाक्कायव्यापार-विशेषाणामपायः कथमनुमानं स्यादित्येवंभूतः संकल्पमबन्धो दोषपरि-वर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वादपायविचयम् । तेषामेव कुशलानां स्वीकरण-मुपायः स कथमनुमेयः स्यादिति संकल्पप्रबन्ध उपायविचयम् । असंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकसाकारानाकारोपयोगलक्षणानादिस्वकृत-कर्मफलोपभोगित्वाऽऽदिजीवस्वरूपानुचिन्तनं जीवविचयम् । धर्माधर्माऽऽकाशकालपुद्गलानामनन्तपर्यायाऽऽत्मकानामजीवानामनु चिन्तनमजीवविचयम । मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नस्य पुद्गलाऽऽत्मकस्य मधुरकटुफलस्य कर्मणः संसारिसत्त्वविषयविपाकविशेषानुचिन्तनं विपाकविचयम्। कुत्सितमिदं शरीरकं शुक्रशोणितममुद्–भूतमशुचिभूत-घटोपममनित्यमपरित्राणं गदाशुचि नवछिद्रतथाऽशुचि आधेयाशौचं न किञ्चिदत्र कमनीयतरं समस्ति, किम्पाकफलोपभोगोपमाः प्रमुखरसिका विषाककटयः प्रकृत्या भङ्गुराः पराधीनाः सन्तोषामृताऽऽस्वादपरिप-न्थिनः सद् निर्निन्दिता विषयाः, तदुद्भवं च सुखं दुःखानुषङ्गि दुःखजनकं च, नातो भोगिनां तृप्तिः, न चैतदात्यन्तिकमिति नाऽत्राऽऽस्था विवेकेना-ऽऽधातुं युक्तेति विरतिरेवातः श्रेयस्कारिणीत्यादिविरागहेतुचिन्तनं वैराग्यविचयम्। प्रेत्य स्वकृतकर्मफलोपभोगार्थं पुनः प्रादुर्भावो भवः, स चारघट्टघटी यन्त्रवद् मूत्रपुरीषान्त्रतन्त्रनिबद्धदुर्गन्धिजछरपुरकोटराऽऽ-दिष्वजस्रमावर्तनं, न चात्र किञ्चिद् जन्तोः स्वकृतकर्मफलमनुभवत-श्चेतनमचतनं वा सहायभूतं शरणतां प्रतिपद्यव इत्यादिभवसंक्रान्तिदोष-पर्यालोचनं भवविचयम्। तथा च–''संसाराम्बुनिधौ सत्त्वाः, कर्मोर्मि-परिघट्टिताः । संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते, तत्र कः कस्य बान्धवः? ॥१॥'' अत्यायतेऽस्मिन् संसारे, भूयो जन्मनि जन्मनि । सत्त्वो नैवास्त्यसौ कश्चिद्, यो न बन्धुरनेकधा ॥१॥'' भवनवननगसरित् समुद्रभूरुहाऽऽदयः पृथ्वीव्यवस्थिताः, साऽपि घनोदधिघनवाततनुवातप्रतिष्ठा, तेऽप्या-काशप्रतिष्ठाः, तदपि स्वाऽऽत्मप्रतिष्ठं, तच्चाधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयन्त्यधोलोकमित्यादिसंस्थानानुचिन्तनं संस्थानविचयम् । अतीन्द्रियत्वाद् हेतूदाहरणाऽऽदिसद् भावेऽपि बुद्ध्यतिशयशक्तिविकलैः परलोकबन्धमोक्षधर्माधर्माऽऽदिभविष्वत्यन्तदुःखबोधेष्वाप्तप्रामा-ण्यात् तद्विषयं तद्वचनं तथैवेत्याज्ञाविचयम् । आगमविषयप्रतिपत्तौ तर्कानुसारिबुद्धेः पुंसः स्याद्वादप्ररूपकाऽऽगमस्य कषच्छेदतापशुद्धि-समाश्रयणीयत्वगुणानुचिन्तनं हेतुविचयम् । एतच्च सर्वं धर्मध्यानम्, श्रेयोहेतुत्वात् इति सर्वं सुस्थम्। इतोऽप्यधिकविषयजिज्ञासुभिः सूक्ष्मधिया धर्मशब्दोऽत्र निरीक्षणीयः। प्रतायते नेह, विस्तरभयादिति।

उपसंहारः–

इह संसारे स्वभावत एव शरीरिमात्रमिष्टमभिलाषुकश्चानिष्टं व्युदसिसिषु चास्तीतीष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनैदम्पर्येण भगवाँस्तीर्थङ्करच-क्रचूडामणिर्वर्द्धमानो जीवाजीवाऽऽदिनवतत्त्वविभागप्रविभागभक्तां सर्वाभ्युदयसाधनां नानाविधसमष्टिव्यष्टिफलां द्वादशाङ्गीमेकादशाङ्गीं वाऽर्थतो विदधदभिदधौ तन्निःकर्षं निजचरणान्तेवासभ्यो धर धौरेयेभ्यो गणधरप्रवरेभ्यो गौतमाऽऽदिभ्यः। जग्रन्थुश्च सुधर्मस्वामिप्रमुखा जम्बूस्वामिप्रभृतिमुपलक्ष्यार्धमागधीभाषयाऽङ्गोपाङ्गानि । गहनातिग-हनतया च तद्विषयाणां संक्षिप्ततराणां तेषां क्रमशो विस्तारमारेभिरेऽन्ये चाऽऽचार्याः। य अपि किल दुष्पमारप्रभावतः पुरुषाणां मन्दमतितया स्मरणशुक्तिदौर्बल्यतया च श्रीमाद् भद्रबाहुस्वामी तत्तद्विषयमात्रसूचि-काभिर्निर्युक्तिगाथाभिर्निबबन्धविषयान् सद्यः स्फूर्तिकराभिः, तथापि साऽप्रतकालीनबलउत्तर पञ्चमकालप्राज्यसाम्राज्यतो दुर्बलतर-धिषणानां जनानां मनःसु कथाशेषतामेवागमत् तद् जैनसिद्धान्त-रहस्यमिति सम्प्रधार्यैव श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरमहानुभावाः सङ्क्षिप्तमुत्तानबह्वर्थगुम्फितं परमोपयोगिसकलाऽऽगमविषयसंग्र-हाऽऽत्मकं कोशमसुं व्यरीरचन्निति क्रियासमभिहारेण तत्र तत्रोपो-द्घातप्रस्तावभूमिकाऽऽदौ निरूपितमस्माभिः । श्रीमन्तो विजय-राजेन्द्रसूरीश्वराः खलु दुर्लभगुणगणमूर्तय इत्यत्र किमिव बहु ब्रूमः? किन्त्वेतावदेव पर्याप्तं नाम, यदिह प्रायोऽनेकगुणगणभाजोऽन्ये सूरयो देशनामादिशन्तोऽपि नो खलु प्राप्नुवन्ति तथाविधं विपश्चिच्चित्ताऽऽ-सेचनकवैदुष्यशालित्वम्। अथवा किं बहुना सकललोकप्रसिद्धस्य तस्य परिचयप्रदानेन। प्रकृतं प्रस्तुमः–एतद्ग्रन्थपरिशोधनविषये छेदाऽऽदि-ग्रन्थानां केवलमेकैकाऽऽदर्शपुस्तकलाभात् लेखकानवधानतो द्विरावृत्तिपङ्क्ति कवैकल्याऽऽदिदोषाऽऽघ्रातत्वाच्च तेषामनेककालतः पठनपाठनपरिपाटीविरहात् बहुषु स्थलेषु सामञ्जस्याभावात् सम्मत्या-दितर्कग्रन्थानामपि जटिलातिजटिलविषयेषु विज्ञेतरलेखकलेखन-मन्तुप्रभावतोऽलग्रकत्वाद् महती दुःस्थता समुद्भूता,तथापि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि ।' इति स्मरणात् ''प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः, प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः। विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्य मानाः, प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥१॥'' इत्यनु–स्मरणाच्च मूलग्रन्थं टीकातो, टीकाग्रन्थं च मूलतो विविज्य, निशीथमहानिशीथाऽऽदिकेवलाऽर्धमागधीग्रन्थानां टीकाविकलानां प्राकृतव्याकृत्याऽऽदिसाहाय्यात् तत् प्रकृतविषयप्रतिपादकग्रन्था-न्तरमननाच्च गुरुचरणसरोजमकरन्दसमास्वादनलब्धनवनवोन्मेष-शालिप्रज्ञावद्भिरस्माभिर्दत्ताबधानतः संशोधितोऽयं कोशग्रन्थो, विशेषतश्चायं भागः, परन्तु–

I deem no skill in acting perfect, till the learned are satisfied; the heart of even those,that are deeply read, has little confidence in itself. अथवा-when delegated agents successfully carry out any great undertaking. the credit of success belongs to their masters गुरवः Could dawn ever dispel darkness, had not the thousandrayed luminary placed her, in front of his car?

इति निवेदयन्ति–

संशोधकाः ।

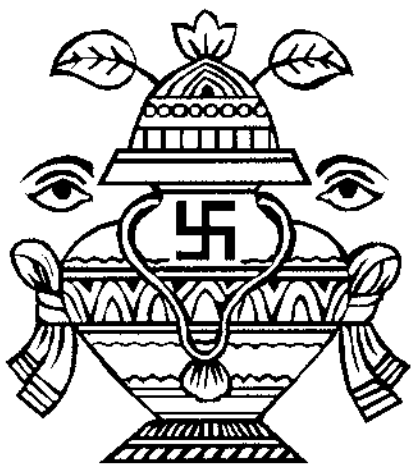
अर्हम्।

ग्रन्थनिर्माणकारणम्–

श्रीवर्धमानजिनगौतमसत्सुधर्म–
जम्बूमुनीन्द्रजगदर्चितभद्रबाहोः ।
यो वर्धितो निजकृतोदकसेचनाभि–
र्धर्मद्रुमो निखिलधर्मतरुप्रधानः ॥१॥
काले गते बहुतिथेऽथ विलुण्ठितं तं,
मूलार्थविप्लवनसाहसमाश्रयद्भिः ।
मिथ्यात्विभिः पुनरपीह समुद्विधीर्षुः,
सूरीश्वरो भुवि दयोदधिराविरासीत् ॥२॥
कामाऽऽदिवैरिनिवहोन्मथनाद्त्सुहृष्टः,
बाह्याऽऽन्तरोभयविचित्रचरित्रदृष्टः ।
कारुण्यपूर्णरसपूरितभव्यपुण्य–
नीराब्धिसंगतसुधोन्मथने समर्थः ॥३॥
चेतोऽन्धकारोद्धरणे विरोचनो,
राजेन्द्रसूरिर्विबुधार्चिताङ्घ्रिकः ।
संघोपकर्ता न च कोऽपि तादृशः
पुण्यैकमूर्तिर्भविकौघबोधदः ॥४॥
निजमतच्युतिजैनमतग्रहा–
न्यतरमाहवभङ्गपणं दिशन् ।
विततवादकथासमरे परान्,
व्यजयताऽजयतां प्रथयन्निजाम् ॥५॥
अथ विजित्य दिशो दश शिष्यतां,
गतवतः करुणावरुणाऽऽलयः ।
मुनिगणान् नववादरणाऽङ्गणे,
निजधियाऽजधिया समयोजयत् ॥६॥
सूत्राण्युपास्य तदुपोद्वलितैः स्ववाक्यै–
राख्यानकैश्च विततैर्निजदेशनाभिः ।
यो जैनसंघमखिलं कृपयोद्वधार,
सूरिः स वै विजयते स्म पवित्रकीर्तिः ॥७॥
इत्थं स जैनाऽऽगममत्र लोके,
सम्यग् व्यवस्थाप्य न संतुतोष ।
कालक्रमेणास्य पुनर्विनाश–
माशङ्कमानो विजितान्यमानः ॥८॥
ततोऽभ्यगात् शिष्यगणैः सुविज्ञै–
र्वृतो विहारेण मरुस्थलं तु ।
उवास कालं चिरमात्मतत्त्वं,
तान् बोधयन् धर्मशिरःप्रतिष्ठम् ॥९॥
अथैकदा संसदि सन्निविष्टो,
निजाऽऽप्तशिष्याऽऽदिविभूषितायाम् ।
सङ्घोपकण्ठं च निजाभिलाषं,
व्यजिज्ञपत् सूरिवरः कृपालुः ॥१०॥
जैनाऽऽगमानां निजयुक्तियोगात्,
संयोक्तुमेकत्र नवीनरीत्या ।
कोशं विधित्सामि जिनेन्द्रभाषा–
मयं न लुप्येत यतः कदाचित् ॥११॥
श्रुत्वा पुनस्तमुपदेशवरं प्रहृष्टा–
मूर्ध्नाऽग्रहीषत गुरोरनुशासनं तत् ।
संगृह्य द्रव्यमतुल्यं च ततोऽभिधान–
राजेन्द्रकोशममलं निरमापयँस्ते ॥१२॥

इति विज्ञपयन्ति–

श्रीमदुपाध्यायमोहनमुनयः।



प्रशान्त-वपुषं श्रीमद् राजेन्द्रसूरिं नुमः

विद्यालङ्करणं सुधर्मशरणं मिथ्यात्विनां दूषणं,
विद्वन्मण्डलमण्डनं सुजनता सद्बोधिबीजपदम् ।
सच्चरित्रनिधिं दयाभरविधिं प्रज्ञावतामादिमम्,
जैनानां नवजीवनं गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ १ ॥
धुर्य्यो यो दशसंख्येकेऽपि यतिनां धर्मे दृढः संयमे,
सत्वात्मा जनतोमकारनिरतो भव्यात्मनां बोधकः ।
शास्त्राणां परिशीलने दृढमतिर्ध्यानी क्षमावारिधि–
स्तं शान्तं करुणावतारमनिशं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ २ ॥
वाणी यस्य सुधासमाऽतिमधुरा दृष्टिमहाजञ्जुला,
संव्रज्या सुखशान्तिदा खलु सदाऽन्यायादिदोषापहा ।
बुद्धिर्लोकसुखानुचिंतनपरा कल्याणकर्त्री नृणां,
लोके सुप्रथिपताऽस्ति तं गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ३ ॥
य कर्त्ता जिनबिम्बकाञ्जनशलाका नामनेकाऽऽत्मनां,
मूर्तिश्चापि जिनेश्वरस्य शतशः प्रातिष्ठिपन्मन्दिरे ।
जीर्णोद्धारमनेकजैननिलयस्याचीकरच्छ्रावकै–
स्तं सत्कार्यकरं मुदा गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ४ ॥
लोके यो विहरन् सदा स्ववचनैर्वैरं मिथो देहिनां,
दूरीकृत्य सहानुभूतिरुचिरां मैत्रीं समावर्धयत् ।
मूढाँश्चापि हितोपदेशवचसा धर्मात्मनः संव्यधाद्,
देशोपद्रवनाशकं तमजित राजेन्दसूरिं नुमः ॥ ५ ॥
यो गङ्गाजलभिर्मलान् गुणगुणान् संधारयन् वर्णिराङ्,
यं यं देशमश्चकार गरनैस्तं तं त्वपायीन्मुदा ।
सच्छास्त्रामृतवाक्यावर्षणवशाद् मेघव्रतं योऽधरन्,
तं सज्ज्ञानसुधानिधिं कृतिनुतं राजेन्दसूरिं नुमः ॥ ६ ॥
तेजस्वी तपसा प्रदीप्तवदनः सौम्योऽतिवक्ताचलः,
शास्त्रार्थेषु परान् विजित्य विविधैर्मानिस्तथा युक्तिभिः ।
शिष्यांस्तानकरोत्स्वधर्मनिरतान् यो ज्ञानसिन्धुः प्रभु–
स्ते सूरिप्रवरं प्रशान्त–वपुषं राजेन्द्रसूरिंः नुमः ॥ ७ ॥
लोकान्मंदमतीन्स्वधर्मविमुखप्रायान् बहून् वीक्ष्य यो,
जैनाचार्यनिबद्धसर्वनिगमानालोऽय बुद्ध्या चिरम् ।
मर्त्यान् बोधियितुं सुखेन विशदान् धर्मान्महामागधी–
कोशं संव्यत्तनोत्तमच्छमनसा राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ८ ॥
गुरुवरगुणराजिभ्राजितं सारभूतं,
परिपठति मनुष्यो योऽष्टकं शुद्धमेत्तद् ।
अनुभवति स सर्वां सम्पदं मानावाना–
मिति वदति मुनीशो वाचको मोहनाख्यः ॥ ९ ॥

–उपाध्याय श्री मोहनविजयजी महाराज

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

अभिधानराजेन्द्रः ।

नमिऊण वद्धमाणं, सारं गहिऊण आगमाणं च ।
अहुणा चउत्थभागं, वोच्छं अभिहाणराइंदे ॥१॥

जकार

ज पुं० (ज) जकारो व्यञ्जनवर्णभेदः स्पर्शसंज्ञकः, तस्योच्चारणस्थानं तालु, आभ्यन्तरप्रेयत्नः जिह्वामध्यभागेन तालुस्पर्शः। बाह्यप्रयत्नाश्च घोषसंवारनादाः, अल्पप्राणश्च।वाच०। जिजन–जु वा डः। मृत्युञ्जये, जन्मनि, पितरि, जनार्दने, त्रि०। विषे, मुक्तौ, तेजसि, पिशाचे, वेगे, जेतरि। वाच०। ''जः पुमान् विजये मरौ, विस्तरे मत्सरे जने ॥२४॥ जस्तूर्यावितते शब्दे, जा स्त्रियां देववाहिनी। योनिः समुद्रवेला च, जं नपुंसकमम्बुनि'' ॥२५॥ एका०। गुरुमध्ये प्रान्तयोर्लघुद्वययुक्ते छन्दःशास्त्रप्रसिद्धे (।ऽ।) त्रिवर्णे जगणे च। वाच०।

***य** त्रि० ''यकारः पुंसि यवनो–पमे, दातरि, मातरि ॥७०॥ त्यागावयवयोः शिष्ये, विनये कल्पपादपे। सा स्त्रियामनसूयायां, शोभालक्ष्मयां च निर्मितौ ॥७१॥ नपुंसंक यकारस्तु यशोरूपकयोर्भवेत्''। इत्यादि। एका०।

***यद्** त्रि० यज् अदि–डिच। 'जो' इत्येवं बुद्धिविशेषविषये, वाच०। अनिर्दिष्टनिर्देश्ये, नं०। आ० म०। नि० चू०। ''जे त्ति वा से त्ति वा के त्ति वा एवमादिनिवेसवायगा होंति। जेकारस्स निद्देस-निदरिसणं, जे असंतएण अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाइ'' इत्यादि। नि० चू०। ''जेगारो पुण अणिद्दिट्ठवायगुद्देसे, जहा तेण च जं च पडुच्चेत्या-दि। अहवा–जहा इमो चेव जेगारो उस्सग्गऽववायचिएण पडिसेवियं व त्ति न निद्दिट्ठं गुरुं लहुं वा जयणाए, जयणाहि वा, तेण जेगारेण निद्देसा कृतेत्यर्थः। अहवा–जेकारेण अनिद्दिट्ठ-भिक्खुस्स निद्देसो कतो''। नि० चू० २० उ०। यदित्युद्देशः। आव० ४ अ०।

जइ पुं० (यति) यत्– इन्। यतते चारित्रं प्रति प्रयतो भवतीति यतिः। चरणोद्यते साधौ, औ०। यतते उत्तरगुणेषु विशेषत इति यतिः। विचित्रद्रव्याऽऽद्यभिग्रहाऽऽद्युपेते साधौ, रा०। तपस्विनि साधौ, आव० १ अ०। साधौ, दर्श० ४ तत्त्व। प्रयत्नवति, द्वा० ६६ द्वा०। 'यती' प्रयत्ने, ''जयमाणो जई होइ'' नि० चू० २० उ०। यतमानो भावतस्तथा तथा गुणेषु यतिर्भवेत्। द्वा० ५ द्वा०। धर्मक्रियासु प्रयत (प्रवर्त) माने, भ० ६ श० ३३ उ०। ओघ०। प्रव्रजिते, पं० व० २ द्वार। नि० चू०। गृहीतप्रव्रज्यो यतिरुच्यते। तथा च धर्मबिन्दुः– ''एवं यः शुद्धयोगेन, परित्यज्य गृहाऽऽश्र-मम्। संयमे रमते नित्यं, स यतिः परिकीर्तितः ॥१॥'' ध० ३ अधि०। संवासानुमतेरपि विरते, क० प्र०। मुनौ, पञ्चा० १ विव०। संयते, दश० ३ अ०। उत्तमाऽऽश्रमिणि, द्वा० २६ द्वा०। ध०। ''ब्रह्मचारी गृहस्थश्च, वानप्रस्थो यतिस्तथा।'' इति लोक प्रसिद्धचतुर्थाऽऽश्रमिणि, नि० ३ वर्ग। यम्यते जिह्वा यत्र। यम–क्तिन्। छन्दोग्रन्थविख्याते जिह्वाया विश्रामस्थाने उच्चारण-कालविच्छेदे, स्त्री०। सा च ''क्वचित् छन्दस्यास्ते यतिरभिहिता पूर्वकृतिभिः। पदान्ते सा शोभां व्रजति पदमध्ये त्यजति च।'' इत्याद्युक्त्या, सुप्तिङन्तरूपपदान्ते एव छन्दोग्रन्थानुसारेण जिह्वाया विश्रामरूपोच्चारणाभावरूपा। विधवायां, रागे, सन्निधौ, पाठविच्छेदे, निकारे, विष्णौ, वाद्याङ्गप्रबन्धभेदे च। यत् –परिमाणे डतिः। यत्परिमाणे, त्रि०। वाच०। स्था०।

***यतिन्** पुं० यम–भावे क्तः। यतं यमनं, यतमनेन इनिः। संन्यासिनि परिव्राजके, विधवायां, स्त्री०। ङीप्। वाच०। विच्छेदे, आ० म० प्र०। विरतौ, अनु०। ''ज्ञेया सकामा यतिनाम'' इति योगशास्त्रे हैमप्रयोगः।

***जयिन्** त्रि० जयवति, औ०।

***जविन्** त्रि० वेगवति, औ०।

***यदि** अव्य० यद् णिच् इन् णिलोपः। पक्षान्तरे, संभावनायां, गर्हायां, विकल्पे च। वाच०। अभ्युपगमे, नि० चू० १ उ०। जी०। पञ्चा०। आव०। आ० म०। विशे०। यदीति पराभ्युपगमसंसूचकः। दश० १ अ०।

जइअव्व न० (यतितव्य) कार्ये प्रयन्ते, पं० व० १ द्वार। ''जइअव्वं जाया'' प्राप्तेषु संयमयोगेषु प्रयन्तः कार्यः। भ० ६ श० ३३ उ०। ऐहिकाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना सत्त्वेन प्रवृत्यादिलक्षणः प्रयत्नः कार्यः। प्रयतितव्ये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। कार्ये उद्यमे, पं० व० १ द्वार। घटितव्य, नि० चू० ११ उ०।

जइकिच्च न० (यतिकृत्य) साधोः कर्तव्ये, पञ्चा० १२ विव०। साध्वनुष्ठाने, जीवा० २५ अधि०।

जइच्छा स्त्री० (यदृच्छा) यद्–ऋच्छ–अ–टाप्। स्वातन्त्र्ये स्वैरतायां च। ''यदृच्छालाभसंतुष्ट'' वाच०। अनभिसंधिपूर्विकार्थप्राप्तौ, (आचा०) यदृच्छा तोऽपि नास्तित्वमात्मनः, का पुनर्यदृच्छा ? अनभिसंधि-पूर्विकाऽर्थप्राप्तिर्यदृच्छा।

''अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःख-जातम्। काकस्य तालेन तथाऽभिघातो, न बुद्धि पूर्वोऽव वृथाऽभिमानः ॥१॥ सत्यं पिशाचस्य वने वसामो, भेरीं कराग्रैरपि न स्पृशामः। यदृच्छया सिद्ध्यति लोकयात्रा, भेरीं पिशाचाः परिताडयन्ति'' ॥२॥ यथा काकतालीयमबुद्धि पूर्वकं, न काकस्य बुद्धिरस्तिमयि तालं पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्रायः – काकोपरि पतिष्यामि, अथ तत्तथैव भवति, एवमन्यदप्यतर्कितोपगतम जाकृपाणीयमातुरभेषजीवमन्धकण्टकीयमित्यादि द्रष्टव्यम्। एवं

सर्वजातिजरामरणाऽऽदिकं लो यादृच्छिकं काकतालीयाऽऽदिकल्पमवसेयम्। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। एतमेव यदृच्छया गोपालदारकादेनमि क्रियते 'डित्थ, डवित्थ' इत्यादि। आ० म० प्र०।

जइच्छावाइ(ण्) पुं० (यदृच्छावादिन्) अकारणोत्पत्तिवादिनि, न०। यदपि यदृच्छावादिनः प्रलपन्ति–न खलु प्रतिनियमो वस्तूनां कार्यकारणभाव इत्यादि। तदपि च कार्याकार्यविवेचनपघटीयः शेमुषीविकलतासूचकम्, कार्यकारणभावस्य प्रतिनियततया संभवात्। तथाहि–यः शालूकादुपजायते शालूकः स सदैव शालूकादेव, न गोमयादपि। योऽपि च गोमयादुपजायते शालूकः सोऽपि सदैव गोमयादेव, न शालूकादपि। न चानयोरेकरूपता, शक्तिवर्णाऽऽदिवै। चत्र्यतः परस्परं जात्यन्तरत्वात्। योऽपि च वह्नेरुपजायते वह्निः सोऽपि सदैव वह्नेरेव, नारणिकाष्ठादपि। योऽपि चारणिकाष्ठादुपजायते सोऽपि सर्वदाऽरणिकाष्ठादेव, न वह्नेरपि। यदपि चोक्तम्– बीजादपि जायते कदलीत्यादि। तत्रापि परस्परं विभिन्नत्वादेतदेवोत्तरम्। अपि चन्या कन्दादुपजायते कदली, साऽपि परमार्थतो बीजादेव वेदितव्या, परम्परया बाजस्यैव कारणत्वात्। एवं वटाऽऽदयोऽपि शाखैकदेशादुपजायमानाः परमार्थतो बीजादवगन्तव्याः, शाखातः शाखा प्रभवति, न च सा शाखा शाखाहेतुका लोके व्यवह्रियते, किन्तु वटबीजस्यैव, सकलशाखाप्रशाखाऽऽदि समुद्रायस्य वटहेतुत्वेन प्रसिद्धत्वात्। एवं शाखैकदेशादुपजायमानो वटः परमार्थतो मूलवटप्रशाखारूप इति मूलवटबीजहेतुक एव सोऽपि वेदितव्यः। तस्मान्न क्वचिदपि कार्यकारणव्यभिचारः, निपुणविचारप्रवीणेन च प्रति-पत्त्रा भवितव्यं, ततो न कश्चिद्दोषः। एवं च यदुच्यते–न खल्वन्यथा वस्तुसद्भावं पश्यन्तोऽन्यथाऽऽत्मानं प्रेक्षावतः परिक्लेशयन्तीति वाङ्मात्रमिति स्थितम्। नं०।

जइजण पुं० (यतिजन) साधुलोके, आव० ६ अ०। सूत्र०। श्रा०। ''वज्जेयव्वो य सया, सुयप्पमाओ जइजणेणं''। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

जइजीयकप्प पुं० (यतिजीतकल्प) श्रीसोमप्रभसूरिविरचिते यतिजीतकल्पनामके प्रकरणे, एतद्वृत्तिश्च श्रीसाधुरत्नसूरिकृताऽस्ति। ग० १ अधि०।

जइजुत्त त्रि० (यतियुक्त) परिवारभूत साधुभिर्मिश्रिते, ध० ३ अधि०।

जइजोग पुं० (यतियोग) स्वाध्यायादिसाधुव्यापारे, पञ्चा० ६ विव०।

जइण त्रि० (जैन) जिनः केवली, तस्यायं जैनः। जिनसंबन्धिनि, विशे०। सर्वज्ञसंबन्धिनि, नि० चू० १ उ०। ''जइणसासणबइरित्ता परा''। नि० चू० १ उ०। अतिशीघ्रगतौ, ''लंघव–पवण–जइण–समत्थे'' रा०। जी०। (एतद्वक्तव्यता 'जिण' शब्दे चतुर्थभागे १४५६ पृष्ठे वक्ष्यते)

***जयिन्** त्रि०। जयवति, औ०।

***जविन्** त्रि० वेगवति, ''लंघव-वग्गण-धावण-धोरण-तिवई-जइण-सिक्खिअ गईणं।'' वृत्तिर्यथा–जयिनी गमनान्तरजय-वती, जविनी वा वेगवती। औ०। जविन् शब्दः शीघ्रवचनः। अनु०। शीघ्रे, ''उवइयउप्पइयतुरियचवलजइणसिग्घवेगाहिं'' औ०।

***जविन** त्रि० अतिशीघ्रगतौ, ''लंघण–पवण–जइण–पमद्दण–समत्थे'' रा०।

जइणटिप्पणग न० (जैनटिप्पनक) जैनाऽऽम्नायेन निष्पादिते टिप्पनके, तट्टिप्पनकं त्वधुना सम्यग् न ज्ञायते। कल्प० ७ क्षण।

जइणवायाम पुं० (जविनव्यायाम) शीघ्रव्यापारे, ''लंघणपवणजइणवायामसमत्थे'' उत्त० ६ अ०। जविनशब्दः शीघ्रवचन। अनु०।

जइणवेग पुं० (जयिवेग) शेषवेगवद्वेगजयिनि वेगे, भ० ३ श० २ उ०।

जइणी स्त्री० (जैनी) जिनसबन्धिन्याम्, पञ्चा० ३ विव०। प्रति०।

***जयिनी** स्त्री० जयवत्याम्, औ०।

***जविनी** स्त्री० वेगवत्याम्, औ०।

जइत्ता अव्य० (जित्वा) जयं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ६ ठा० २ उ०।

***जेत्री** स्त्री० रिपुबलजयकर्त्र्याम्, स्था० ६ ठा० २ उ०।

जइदेवुत्तरवेउव्विय न० (यतिदेवोत्तरवैक्रिय) यतिदेवैर्मूलशरीरापेक्षयोत्तरकालं क्रियमाणे वैक्रियशरीरे, तत्र यतयश्च साधवो देवाश्च सुरा यतिदेवाः। कर्म० १ कर्म०।

जइदोस पुं० (यतिदोष) छन्दःशास्त्रप्रसिद्धयतिभङ्गे, अस्थानविरतौ, सर्वथा विरतौ वा। विशे०। अनु०। अस्थानविच्छेदे, तदकरणे वा। आ० म० प्र०। तदात्मके सूत्रदोषभेदे, बृ० १ उ०।

जइधम्म पुं० (यतिधर्म) क्षान्त्यादिके दशावधे यतिधर्मे, उत्त० ५ अ०। ''खंती अज्जव मद्दव, मुत्ती तव संजमे य बोधव्वे। सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो ॥१४॥'' नवतत्त्वे (विशेषव्याख्या 'अणगारधम्म' शब्दे प्रथमभागे २७६ पृष्ठे लिखिता)

जइपज्जव पुं० [यति(पर्याय)पर्यव)] यतिदीक्षापालनकाले, पर्यायो द्विधा गृहस्थपर्यायो, यतिपर्यायश्च। प्रव० ६७ द्वार।

जइपज्जाय पुं० (यतिप)(र्याय) र्यव 'जइपज्जव' शब्दार्थे, प्रव० ६७ द्वार।

जइपज्जुवासणपर त्रि० (यतिपर्युपासनपर) साधुसेवापरायणे, पञ्चा० ६ विव०।

जइपरिसा स्त्री० (यातपर्षत्) चरणोद्यतसाधूनां पर्षदि, औ०। विचित्रद्रव्याद्यभिग्रहाऽऽद्युपेतानां साधूनां पर्षदि, रा०।

जइपुच्छा स्त्री० (यतिपृच्छा) साधुशरीरसंयमबार्तापृच्छने, पञ्चा० १ विव०।

जइय त्रि० (जयिक) जयावहे, ''जइएसु सव्वसउणेसु'' जयिकेषु जयावहेषु सर्वशकुनेषु वायसादिषु। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। कल्प०

***यदि** अव्य० (च) यदीत्यर्थे, कल्प० ४ क्षण।

जइवंस पुं० (यतिवंश) यतीनामन्वये, समवायाङ्गनामकचतुर्थाङ्गे च। तद्वक्तव्यस्य तत्र समवसरणाधिकारे प्रतिपादितत्वात्। स०।

जइवा अव्य० (यदिवा) प्रकारान्तरे, अथ वेत्यर्थे, व्या० १ उ०।

जइविस्सामण न० (यतिविश्र)(श्रा)मण यतिदेहस्वेद विनोदने, यतीनां साधूनां वैयावृत्याऽऽदिभिः श्रान्तानां पुष्टाऽऽलम्बनेन तथाविधश्रावकादैरपि देहखंदापनोदमिच्छतां विश्रमणं खेदविनोदनं यतिविश्रमणम, करणीयामति गम्यते। एवं सर्वत्रोचितक्रियाऽध्याहारः कार्यः। प्राकृतत्वाच्चविश्राम्य-तेरुषान्त्यदीर्घत्वम्। यद्वा–विश्राम्यतः करणमिति शतृडन्तस्था कारिते घुटि च विश्रामणमिति भवति। पञ्चा० १ विव०।

जइस त्रि० (यादृश) अपभ्रंशे यादृगर्थे, **''अतां डइसः''**। ८

।४।४०३। इति सूत्रेण अदन्तानां यादृशादीनामादेरवयवस्य डित् 'अइस' इत्यादेशो भवति। 'जइसो'। प्रा० ४ पाद।

जउगोल पुं० (जतुगोल) लाक्षागोलके, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

जउण पुं० (यमुन) तन्नामकराजविशेषे, यो० विं०। संथा०। (तत्कथानकं तु 'आप(व)ई' शब्दे द्वितीयभागे २४६ पृष्ठे संगृहीतम्)

जउणअड त्रि० (यमुनातट) कालिन्दीतीरे, **''दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ'' ।८।१।४।** इति सूत्रेण पक्षे ह्रस्वता। प्रा० १ पाद।

जउणराय पुं० (यमुनराज) यमुनाख्यराजविशेषे, आव० ४ अ०।

जउणा स्त्री० (यमुना) **''यमुनाचामुण्डाकामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च'' ।८।१।१७८।** इति सूत्रेण मकारलोपः। प्रा० १ पाद। कालिन्द्यां नद्यां यमभगिन्यां सूर्यसुतायाम्, दुर्गायाम्, वाच०। सा च गङ्गां संगच्छते। स्था० १ ठा० २ उ०। यमुनानदीकूले पूर्वादिग्वधूकण्ठनिवेशित-मुक्ताफलकण्ठिकेव कौशाम्बी नाम नगरी। विशे०।

जउणाअड त्रि० (यमुनातट) कालिन्दीतीरे, प्रा० १ पाद।

जउणाउर यमुनापुर—मथुराया भागविशेषे, मथुराया यमुनापुरे समुद्रः। ती० ४५ कल्प।

जउणावंक न० (यमुनावक्र) यमुनातटबर्तिनि स्वनामकोद्याने, यो० विं०। ''इत्थ जउणावंके जउणराएण हयस्स दंडअणगारस्स केवले उप्पन्ने महिमत्थं इंदो आगओ।'' ती० ६ कल्प०।

जउप्पल न० (जयोत्पल) विंशतिव्याकरणेषु तन्नामके व्याकरणे० कल्प० १ क्षण।

जउव्वेय पुं० (यजुर्वेद) यजुषामृक्सामभिन्नानां मन्त्राणां प्रतिपादको वेदः। वेदभेदे, स च शुक्लकृष्णभेदेन द्विधा। तद्विवरणं चरणव्यूहे। वाच०। ''रिउव्वेए जउव्वेए, सामवेए अथव्वणे।'' विपा० १ श्रु० ५ अ०। ''चत्तारि वेया।'' अनु०।

जओ अव्य० (यतः) यस्मादित्यर्थे, यत्रेत्यर्थे च। उत्त० १ अ०।

जं अव्य० (यत्) यस्मादित्यर्थे, नि० चू० १५ अ०। ''जं पि य मए इमस्स धम्मस्स'' इत्यादिसूत्रे यमिति विभक्तिव्यत्ययाद् यः प्राणातिपात इति योगः। भाषामात्रे वा यदिति पदं व्याख्येयम्। पा०। अम्बुनि, यशोरूपकयोः, एका०।

जंकिंचिभासग पुं० (यत्किञ्चिद्भाषक) असंबद्धपलापिनि, पं० व० ४ द्वार।

जं किं चि मिच्छा पडिक्कमण न० (यत्किञ्चिन्मिथ्याप्रतिक्रमण) षड्भेदप्रतिक्रमणस्य पञ्चमे भेदे, ''जं किंचि मिच्छ त्ति''। खेलसिङ्घाणविधिनिसर्गाभोगानाभोगसहसाकारद्य संयम स्वरूपं यत् किञ्चित् मिथ्या असम्यक् तद्विषयं मिथ्येदमित्येवं प्रतिपत्तिपूर्वकं मिथ्यादुष्कृतकरणं यत्किञ्चिन्मिथ्याप्रति-क्रमणमिति।

उक्तं च—

''संजमजोगे अब्भु—ट्ठियस्स जं किंचि तह समायरियं।
मिच्छा एयं ति विया—णिऊण मिच्छ त्ति कायव्वं'' ॥१॥

तथा—

खेलं सिंघाणं वा, अप्पडिलेहापमज्जिओ तह य।
वोसिरिय पडिक्कमई, तं पि य मिच्छुक्कडं देइ ॥१॥'' इत्यादि।
स्था० ६ ठा०।

जंगम त्रि० (जङ्गम) गम—यङ्—अच्। सततगतियुते, ''शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम्'' ''गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः'' वाच०। द्वीन्द्रियादित्रसजन्तौ, श्रा०। स्था०।

जंगमविस न० (जङ्गमविष) जङ्गमप्राणिनां नखदंष्ट्रादिगते विषे, दुष्टस्य प्राणिनो दंष्ट्राविषादिना यत् पीडाकारि तदपि जङ्गम-विषम्। स्था० ६ ठा०।

जंगल न० (जङ्गल) गल—यङ्—अच्—पृषो०। बने, रहसि, मांसे, वाच०। निर्वारिदेशे, बृ०। देशो द्विधा—अनूपो, जङ्गलश्च। नद्यादिपानीय-बहुलोऽनूपः तद्विपरीतो जङ्गलः, निर्जल इत्यर्थः। बृ० १ उ०। अहिच्छत्राप्रतिबद्धे आर्यदेशे च। प्रव०। १४८ द्वार। प्रज्ञा०। सूत्र०।

जंगा (देशी) गोचरभूमौ, दे० ना० ३ वर्ग।

जंगिय न० (जाङ्गमिक) जङ्गमजन्त्ववयवनिष्पन्ने कम्बलादौ वस्त्रभेदे, जङ्गमास्त्रसास्तदवयवनिष्पन्नं जाङ्गमिकं कम्बलादि।

इह गाथे—

''जंगमजायं जंगिय, तं पुण विगलिंदियं च पंचेंदिं।
एक्केक्कं पि य पत्तो, होइ विभागेणऽणेगविहं ॥१॥
पट्टसुवण्णे मलए, अंसुएँ चीणंसुए य विगलिंदी।
उण्णोट्टियमियलोमे, कुतवे किट्टीथ पंचेंदी ॥२॥''

पट्टः सुवर्णं सुवर्णसूत्रं कृमिकाणां मलये, मलयविषय एव अंशुकं श्लक्ष्णपट्टं, चीनांशुकं कोसिकारश्चीनविषये वा यद्भवति श्लक्ष्णात् पट्टादिति मृगरोमजं शशलोमजं मूषकरोमजं वा, कुतपश्छागले किट्टिजमेतेषामेवावयव-निष्पन्नमिति। स्था० ५ ठा० ३ उ०। सूत्रे प्राकृतत्वाद् मकारलोपः। बृ० २ उ०। ''जंगिओ अंडगाइ''। नि० चू० १ उ०।

जंगुलि पुं० (जाङ्गुलि) गम—यङ्—जुक् वा गुलिः। विषवैद्ये, वाच०। स्त्री०। गारुडिमन्त्रविशेषे, ''जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत्, तृष्णाकृष्णाहिजाङ्गुलिः। पूर्णानन्दस्य तत् किं स्यात्, दैन्यवृश्चिकवेदना ? ॥१॥'' अष्ट० १ अष्ट०।

जंगुलिविज्जा स्त्री० (जाङ्गुलिविद्या) विषविद्यायां, श्रावस्त्यां श्रीसंभवदेवो जाङ्गुलिविद्याऽधिपतिः। ती० ४५ कल्प०।

जंगोल न० (जाङ्गोल) विषविघातक्रियाविधायके गदतन्त्रे, तद्धि सर्पकीटलूतादष्टविषविनाशार्थं विविधविषसंप्रयोगप्रशमनार्थं च। विपा० १ श्रु० ७ अ०। एतद्धि आयुर्वेदस्य पञ्चमो भेदः। वाच०।

जंगोली स्त्री० (जङ्गोली) विषविद्यातन्त्रे, स्था० ८ ठा०।

जंघट्ठिया स्त्री० (जङ्घास्थिका) ऊर्वोः प्रतिष्ठानभूते जङ्घाया उपरिभागवर्तिनि अस्थिनि, जङ्घास्थितकयोरूरूप्रतिष्ठितौ, तं०।

जंघलोह पुं० (जङ्घलोह) अनागतोत्सर्पिणीकालभाविनि द्वितीय-प्रतिवासुदेवे, ति०।

जंघा स्त्री० (जङ्घा) जङ्घन्यते कुटिलं गच्छति। गत्यर्थकस्य हन्तेः कौटिल्ये यङ्—लुकि—अच्—पृषो०। गुल्फजान्वोरन्तराले अवयवे, पादजङ्घयोः संधाने गुल्फः, जङ्घयोः संधाने जानु नाम। ''चत्वार्यरत्निकास्थीनि, जङ्घयोस्तावदेव च।'' वाच०। जङ्घे जान्वोरधोवर्तिन्यौ। उत्त० २ अ०। जं०।

जंघाचर पुं० (जङ्घाचर) पादचारिणी, अनु०।

जंघाचारण पुं० (जङ्घाचारिण) चारणमुनिभेदे, ये चारित्र-तपोविशेषप्रभावतः समुद्भूतगमनागमनविषयलब्धिसंपन्नास्ते जङ्घाचारणाः। प्रव० ६७ द्वार। आ० म०। प्रज्ञा०। प्रति०। रा०। नं०। लूतातन्तुनिर्वर्तितपुटकतन्तून् रविकरान् वा निश्रां कृत्वा जङ्घाभ्यामाकाशेन चरतीति जङ्घाचारणः। अस्य च साति-शयाष्टमलक्षणेन विकृष्टतपसा सर्वदैव तपस्यतो जङ्घाचार-णलब्धिरुपजायते। विशे०। पा०। जङ्घाव्यापरोपकृताश्चारणाः जङ्घाचारणाः। भ० २० श० ८ उ०। ('चारण' शब्दोऽस्मिन्नेव भागे ११७३ पृष्ठे विशेषव्याख्योक्ता)

जंघाबल न० (जङ्घाबल) जानुसामर्थ्ये, जी० १ प्रति०।

जंघासंतारिम त्रि० (जङ्घासंतार्य) जानुदघ्नादिके उदकादौ, आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ०।

जंणाम त्रि० (यन्नाम) यानि नामानि यस्येति यन्नामा। यदभिधाने प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

जंत न० (यन्त्र) यत्रि–अच्। संयमने, प्रपञ्चविशेषे, रा०। जी०। ''विज्जाहरजमलजुगलजंताणि'' जी० ३ प्रति०। रक्षादियन्त्रे, जै० गा०। उच्चाटनाद्यर्थकरलेखनप्रकारके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। यन्त्राणि नानाप्रकाराणि। जी० ३ प्रति०। प्रज्ञा०। तद्यथा–जलयन्त्रमरघट्ट-कादि। स्था० ६ ठा०। प्रश्न० संथा०। प्रव०। तिलवन्त्रं प्राणकादि। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। जलसंग्रामादियन्त्राणि। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। पाषाणक्षेपयन्त्रम्। औ०। स०। रथोपकरणविशेषाः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। शिलोदूखलसुशलादि। प्रव० ६ द्वार। तन्त्रोक्ते देवाद्यधिष्ठाने, चक्रभेदे, औषधपाकार्थं पात्रभेदे, ज्योतिश्चक्राद्यवेक्षणसाधने, पदार्थभेदने, सूत्रधारा-देर्दारुर्वधकादौ पदार्थे, अन्यादेः क्षेपणसाधने पदार्थे अग्नियन्त्रे, वाच०।

जंतग न० (जन्त्रक) यन्त्रमिव इवार्थे कन्। दारुभ्रामकथन्त्रभेदे, वाच०। गन्त्र्यादौ, ध० २ अधि०।

जंतपत्थर पुं० (यन्त्रप्रस्तर) गोफणादि (यन्त्रमुक्त) पाषाणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। घरट्टादौ, वाच०।

जंतपासग पुं० (यन्त्रपाशक) द्यूते जयार्थं यन्त्रस्थापिते पाशके, आ० म० प्र०।

जंतपिल्लणकम्म न० (यन्त्रपीडनकर्मन्) उपभोगपरिभोगा-ख्यसप्तमव्रतस्य कर्मतोऽतिचारेष्वेकादशेऽतिचारे, यन्त्रेण तिलेक्षुप्रभृतीनां यत्पीडनरूपं कर्म तत् यन्त्रपीडनकर्म तस्मिन्, उत्त० १ अ०। भ०। आ० चू०। श्रा०। पञ्चा०। आव०। यन्त्रे उदूखलादौ, पीडनं धान्यखण्डनं तेन कर्म जीविका यन्त्रपीडनकर्म (ध०) यन्त्रपीडनकर्म शिलोदूखलमुशलघरट्टारघट्टकङ्कतादिविक्रयः तिलेक्षुसर्षपैरण्डफलादि तस्य पीडनं दलतैलविधानज-लयन्त्रवाहनादि वा। यतः– ''तिलेक्षुसर्षपैरण्ड–जल-यन्त्रादिपीडनम्। दलतैलस्य च कृति–र्यन्त्रपीडा प्रकीर्तिता'' ॥१॥ अत्र यन्त्रशब्दः प्रत्येकं संबध्यते, तत्र तिलयन्त्रं तिलपी-डनोपकरणम्, इक्षुयन्त्रं कोल्हुकादि, सर्षपैरण्डयन्त्रे, तत्पी-डनोपकरणे, जलयन्त्रमरघट्टादि, दलतिलं यत्र दलं तिलादि दीयते तैलं च प्रतिगृह्यते तद्दलतैलं, तस्य कृतिर्विधानम्। अत्र दोषस्तु तिलादिक्षोदात्तद्गतत्रसजीववधाच्च। लौकिका अप्याहुः– ''दशशूना समं चक्रम्'' इति। ध० २ अधि०। प्रव०।

जंतपीलणकम्म न० (यन्त्रपीडनकर्म) 'जंतपिल्लणकम्म' शब्दार्थ, उत्त० १ अ०।

जंतपुरिस पुं० (यन्त्रपुरुष) लोहमये यन्त्रेण च पुरुषचेष्टाकारके, पुत्तलके, आ० म० प्र०।

जंतलट्ठी स्त्री० (यन्त्रयष्टी) यन्त्रोपयोगिनि लकुटे, दश० ७ अ०।

जंतवाडयचुल्ली यन्त्रपा(वा)टकचुल्ली–यन्त्रमिक्षुपीडनयन्त्रं तत्प्रधानः पा(वा)टका यन्त्रपा(वा) टकः, तत्र चुल्ली यन्त्रपा(वा) टकचुल्ली। इक्षुरसपाकाय कृतायां चुल्ल्याम्, जी० ३ प्रति०। स्था०।

जंतवाहण न० (यन्त्रवाहन) पञ्चदशकर्मादानान्तर्गतयन्त्र-पीडनकर्मणि, प्रव० ६ द्वार।

जंतु पुं० (जन्तु) जन–तुन्। जायते इति जन्तुः। उत्त० ३ अ०। भ०। प्राणिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। पं० व०। आचा०। आ० म०। विशे०। जीवद्रव्ये, उत्त० १३ अ०।

जंतुग न० (जन्तुक) वनस्पतिविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। तृणविशेषोत्पन्ने संस्तारके, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ०।

जंतुजोहण न० (जन्तुयोधन) कुक्कुटादीनां परस्परेणाहनने, ध० २ अधि०।

जंपंत त्रि० (जल्पत्) ब्रुवाणे, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार। सूत्र०।

जंपग त्रि० (जल्पक) भाषके, ''बहुबिहअलियसयजंययाणं'' वृत्तिः बहुविधालीकशतजल्पकानाम्। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

जंपमाण त्रि० (जल्पमान) ब्रुवाणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

जंपाण न० (जम्पान) द्विहस्तप्रमाणे चतुरस्रे वेदिकोपशोभिते गोल्लदेशप्रसिद्धे युग्यनाम्नि वाहने, कूटाकारच्छादितायां शिविकायाम्, पुरुषप्रमाणायां स्थन्दमानिकायां च। स्था० ४ ठा० ३ उ०। अनु०। औ०। जं०। जी०। ज्ञा०। पर्यङ्कादौ, दशा० ६ अ०।

जंपिर त्रि० (जल्पिन्) **''शीलाद्यर्थस्येरः''** ।८।२।१४५। इति सूत्रेणेरादेशः। जल्पनशीले, प्रा० २ पाद।

जंबवइ स्त्री० (जाम्बवती) कृष्णाग्रमहिष्याम्, आ० चू० १ अ०। आ० म०। विशे०। सा च अरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य संलेखनां कृत्वा सिद्धेत्यन्तकृद्दशानां पञ्चमवर्गस्थ षष्ठेऽध्ययने सूचितम्। अन्त० ४ वर्ग। स्था०।

जंबाल पुं० (जम्बाल) जम्ब–घञ् –जम्बमालाति आदत्ते आला–कः। शैबाले, वाच०। कर्दमे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। जरायौ च। जरायुजा जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते, ते च गोमहिषा-जाविकमनुष्यादयः। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। जलनील्याम्, दे० ना० ३ वर्ग।

जंबु न० (जम्बु) जम्बूफले, ''जम्बु भक्खेमो'' आव० ४ अ० जम्बूफलादिषु कृष्णो वर्णः। जं० ३ वक्ष०। प्रज्ञा०।

जंबुद्दीव न० (जम्बूद्वीप) 'जंबूदीव' शब्दार्थ, जं० १ वक्ष०।

जंबुल (देशी) वानीरे, मद्यभाजने, दे० ना० ३ वर्ग।

जंबू स्त्री० (जम्बू) 'जम' अदने, कू–नि० –वुक्। वृक्षविशेषे, वाच०। ''ऊगारंता जंबू।'' एतद्वृत्तिः– जम्बूः स्त्रीलङ्गवृत्तिर्वनस्पतिविशेषः। अनु०। प्रज्ञा०। त्रयोदशजिनस्य चैत्यवृक्षो जम्बूः। स्था० १ ठा० १ उ०। पृथ्वी परिणामरूपायां (स० ८ समo) जम्बूवृक्षाकारायां सर्वरत्नमय्यां सुदर्शनानाम्न्यां शाश्वतायामनावृतदेवावासभूतायां जम्ब्वाम्, एतयैवायं जम्बूद्वीपोऽभिधीयते।

निपेक्षः–

जम्बूशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्द्धा निपेक्षः। तत्र नामम्बूर्यस्य जम्बूरिति नाम, यथा–जम्बूरन्तिमकेवली, जम्बाऽभिधानं वा। स्थापनाजम्बूर्या जम्बूरिति स्थापना क्रियते। यथा–चित्रलिखितजम्बूवृक्षादि। द्रव्यजम्बूर्द्विधा–आगमतो नो आगमतश्च। आगमतस्तदर्थज्ञातानुपयुक्तो, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरोभयव्यतिरिक्तभेदात्त्रिधा। तत्राऽद्यौ भेदौ सुप्रतीतौ। उभयव्यतिरिक्तद्रव्यजम्बूरपि त्रिधा, एकभविकबद्धा-युष्काभिमुखनामगोत्रजन्तुभेदात्। तत्रैकभविको नामय एकभवानन्तरं जम्बूत्वेनोत्पत्स्यते, बद्धायुष्कस्तु येन जम्ब्वायु-र्बद्धम्, अभिमुखनामगोत्रस्तु यस्य जम्ब्वा नामगोत्रे कर्मणी अन्तर्मुहूर्तानन्तरमुदयमायास्थत इत्ययं त्रिविधोऽपि भाविभावजम्बूकारणत्वाद् द्रव्यजम्बूरिति। भावजम्बूरपि द्विधा–आगमतो, नो आगम-तश्च। तत्रागमतो ज्ञानोपयुक्तः, नो आगमतस्तु जम्बूद्रुम एव। जम्बूद्रुमनाम-गोत्रकर्मणी वेदयन्निति आह–यथा अभिमुखजम्बूभावस्य जीवस्य द्रव्यजम्बूत्वम्, ''भाविनि भूतवदुपचारः'' इति न्यायात्, तथाऽऽसन्नपश्चात्कृत-जम्बूभावस्थाऽपि, ''भूतपूर्व-कस्तदुपचारः'' इति न्यायात्। कथं न द्रव्यजम्बूत्वं निर्दिष्टम्? उच्यतेइदमुपलक्षणं, तेन तस्याऽपि द्रव्यनिक्षेप एवान्तर्भावः, भूतस्य भाविनो वेत्यादि द्रव्यलक्षणस्य सद्भावात्। अत्रानिर्देशकारणं तु श्रीउत्तराध्ययनद्रुमपत्रीया-ध्ययनानिर्युक्तौ श्रीभद्रबाहुस्वाभिपादैः द्रुमनिक्षेपेऽविवक्षणम्, तत्तुल्यन्याय-त्वादस्य निक्षेपस्येति, प्रस्तुते च नोआगमतो भावजम्ब्वा-धिकारः। जं० १ वक्ष०।

कहि णं भंते ! उत्तरकुराए कुराए जंबूपेढे णामं पेढे पण्णत्ते। गोयमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणेणं मदरस्स उत्तरेणं मालवंतवक्खारपव्वयस्स पच्चच्छिमेणं सीआए महाणईए पुरच्छिमिल्ले कूले, एत्थ णं उत्तरकुराए कुराए जंबूपेढे णामं पेढे पण्णत्ते। पंच जोअणसयाइं आयाम-विक्खंभेणं, पण्णरसएकासीयाइं जोअणसयाइं किंचि विसेसाहियाइ परिक्खेवेणं बहुमज्झदेसभाए बारस जोअणाइं बाहल्लेणं, तथणंतरं च णं मायाए मायाए पदेसपरिहाणीए पदेसपरिहाणीए सव्वेसु णं चरिमपेरंतेसु दो दो गाउआइं बाहल्लेणं सव्वजंबूणयामए अच्छे, से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते, दुण्हं पि वण्णओ तस्स णं जंबूपेढस्स चउद्दिसिं एए चत्तारि तिसोवाणपडिरूपगा पण्णत्ता। वण्णओ० जाव तोरणाइं, तस्स णं जंबूपेढस्स बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं मणिपेढिआ पण्णत्ता। अद्धजोअणाइं आयामदिक्खंभेण, चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं, तीसे णं मणिपेढिआए उप्पिं एत्थ णं जंबू सुदंरणा पण्णत्ता। अट्ठ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोअणं उव्वेहेणं, तीसे णं खंधो दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं० तीसे णं सालाछ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं बहुमज्झदेसभाए अट्ठजोअणाइं आयाम-विक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोअणाइं सव्वग्गेणं, तीसे णं अयमेयारूवे वण्णावासे वइरामयमूला रययसुपइट्ठिअविडिमा० जाव अहिअमणणि-व्वुइकरी पासाईआ दरिसणिज्जा, जंबूए णं सुदंसणाए चउदिसिं चत्तारि साला पण्णत्ता। तेसि णं सालाणं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं सिद्धायतणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगस्वंभसय-सण्णिविट्ठे० जाव दारा पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं० जाव वण्णमालाओ मणिपेढिआ, पंच धणुसंयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं बाहल्लेणं; तीसे णं मणिपेढिआए उप्पिं देवच्छंदए पंचधणुसयाइं आयाम-विक्खंभेणं साइरेगाइं पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जिणपडिमावण्णओ णेयव्वो त्ति। तत्थ णं जे से पुरच्छिमिल्ले साले एत्थ णं भवणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं, एवमेव णवरमित्थ सयणिज्जं सेसेसु पासायवडेंसया सीहासणा य सयरिवारा इति, जंबूए णं बारसहिं पउमवरवेइयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता, वेइआणं वण्णओ, जम्बू णं अण्णेणं अट्ठसएणं जंबूणं तदद्धुच्चत्ताणं सव्वओ समंता संपरिखित्ता, तासि णं वण्णओ, ताओ णं जंबू छहिं पउमवरवेइयाहिं संपरिक्खित्ता, जंबूए णं सुदंसणाए उत्तरपुरच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमेणं एत्थ णं अणाढिअस्स देवस्स चउण्हं सामाथिअसाहरसीणं चत्तारि जंबूसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तीसे णं पुरच्छिमेणं चउण्हं अग्गमाहिसीणं चत्तारि जम्बूओ पण्णत्ताओ, ''दक्खिणपुर-च्छिमेणं, दक्खिणेणं तह अवरदक्खिणेणं च। अट्ठदसवारसेव य, भवंति जंबूसहस्साइं १ अणिआहिवाण पच्चच्छिमेण सत्तेव होंति जंबूओ। सोलस साहस्सीओ, चउद्दिसिं आयरक्खाणं॥२॥'' जंबूए णं तिहिं सइएहिं वणसंडेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता जंबूए णं पुरच्छिमेणं पण्णासं जोअणाइंपढमं वणसंडं ओगाहित्ता, एत्थं णं भवणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं, सो चेव वण्णओ, सयणिज्जं च, एवं सेसासु वि दिसासु भवणा, जंबूए णं उत्तरपुरच्छिमेणं पढमं वणसंडं पण्णासं जोअणाइं उग्गाहित्ता, एत्थ णं चत्तारि पुक्ख-रिणीओ पण्णत्ताओ। तं जहा–पउमा, पउमप्पभा, कुसुदा, कुमुदप्पभा। ताओ णं कोसं आयामेणं, अद्धकोसं विक्खंभेणं, पंचधणुसयाइं उव्वेहेणं, तासि णं मज्झे पासायवडेसंगा

कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं, वण्णओ–सीहासणा सपरिवारा, एवं सेसासु वि दिसासु ।

गाहा–

''पउमा पउमप्पभा चेव, कुमुदा कुमुदप्पभा ।
उप्पला गुम्म णलिणा, उप्पला उप्पलुज्जला ॥१॥
भिंगा भिंगप्पभा चेव, अंजणा कज्जलप्पभा ।
सिरिकंता सिरिमहिआ, सिरिचंदा चेव सिरिनिलया''॥

जंबूए णं पुरच्छिमिल्लस्स भवणस्स उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स दक्खिणेणं, एत्थ णं कूडे पण्णत्ते, अट्ठ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दो जोअणाइं उव्वेहेणं, मूले अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं बहुमज्झदेसभाए छ जोअणाइं आयामविक्खंभेणं उवरिं चत्तारि जोअणाइं आयामविक्खंभेणं । ''पणवीस-दारसवा–रसेव मूले अ मज्झि उवरिं च । सविसेसाइं परिओ, कूडस्स इमस्स बोधव्वो'' ॥१॥ मूले वित्थिण्णे मज्झे संखित्ते उवरिं तणुए सव्वकणगामए अच्छे, वेइआवणसंडवण्णओ, एवं सेसा वि कूडा जंबूए णं सुदंसणाए दुवालस णामधेज्जा पण्णत्ता ।

तं जहा–

''सुदंसणा अमोहा य, सुप्पबुद्धा जसोहरा ।
विदेहजंबूसोमणसा, णियया णिच्चमंडिया ॥१॥
सुभद्दा य विसाला य, सुजाया सुमणा वि य ।
सुदंसणाए जंबूए, णामधेज्जा दुवालस ॥२॥''

जंबूए णं अट्ठऽट्ठ मंगलगा, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्च-इ ? गोयमा ! जबूए सुंदसणाए अणाढिए णामं जंबूदीवाहिवई परिवसइ, महिड्ढिए, से णं तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं, जाव आयरक्खसाहस्सीणं जंबूदीवस्सणं दीवस्स जंबूए सुदंसणाए अणाढियाए रायहाणीए अण्णेसिं च बहूणं देवाण य० जाव विहरइ, से तेणट्ठेणं गोअमा ! एवं बुच्चइ, अदुत्तरेणं च णं गोयमा ! जाव जंबू सुदंसणा० जाव भुविं च धुवाणि अ आसासया अक्खया अवट्ठिया । कहि णं भंते ! अणाढि-अस्स देवस्स अणाढिआ णामं रायहाणी पण्णत्ता । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं जं चेव पुव्ववण्णिअं जमिगपमाणं तं चेव णेयव्वं० जाव उववाओ अभिसेओ अ निरवसेसो त्ति ।

क्व भदन्त ! उत्तरकुरुषु जम्बूपीठं प्रज्ञप्तम् ? निर्वचनसूत्रे गौतमेत्यामन्त्रणं गम्यम्, नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणेन मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरेण माल्यवतो वक्षस्कारपर्वतस्य गजदन्तापरपर्यायस्य पश्चिमेन पश्चिमायां सीतायां महानद्याः पूर्वकूले, सीता द्विभागौकृतोत्तरकुरुपूर्वार्द्धे, तत्रापि मध्यभागे, अत्रान्तरे उत्तर कुरुषु जम्बूपीठं नाम पीठं प्रज्ञप्तं, पञ्चयोजनशतान्यायामविष्कम्भेन, योजनानां पञ्चदश तान्येका-शीत्यधिकानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण बहुमध्यदेशभागे विवक्षितदिक्प्रान्तार्धतृतीयशत-योजनातिक्रमे इत्यर्थः । बाहल्येन द्वादश योजनानि, तदनन्तरं मात्रया २ क्रमेण २ प्रदेशपरिहाण्या परिहीयमाणः २ ''सव्वेसु त्ति'' प्राकृतत्वात् पञ्चम्यर्थे सप्तमी । तेन सर्वेभ्यः चरमप्रान्तेषु मध्यतोऽर्द्धतृतीययोजनशतातिक्रमे इत्यर्थः । द्वौ द्वौ क्रोशौ बाहल्येन सर्वात्मना जम्बूनदमयम् ''अच्छं'' इत्यादि । ''से णं एगाए पउम'' इत्यादि । तदिति अनन्तरोक्तं जम्बूपीठम्, एकपद्मवरवेदिकया एकेन च वनखण्डेन सर्वतः समन्तात्, संपरिक्षिप्तमिति शेषः । द्वयोरपि पद्मवरवेदिकावनखण्डयोर्वर्णकः स्मर्तव्यः प्राक्तनः तच्च जघन्यतोऽपि चरमान्ते द्विचरमान्ते द्विक्रोशोच्चम्, कथं सुखारोहावरोहमित्याशङ्क्याह– ''तस्स णं'' इत्यादि । तस्य जम्बूपीठस्य चतुर्दिशि एतानि दिग्नामोपलक्षितानि चत्वारि त्रि-सोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि, एतानि च त्रीणि मिलितानि द्विक्रोशोच्चानि भवन्ति । क्रोशविस्तीर्णानि, अत एव प्रान्ते द्विक्रोशबाहल्यात् पीठात् उत्तरत एव भरतैरावतां च सुखा-वहद्वारभूतानि, वर्णकश्च तावद्वक्तव्यो यावत् तोरणानि ''तस्स णं'' इत्यादि व्यक्तम् । ''तीसे णं''इत्यादि । तस्या मणिपीठिकाया उपरि, अत्र जम्बूः सुदर्शनानाम्नी प्रज्ञप्ता, अष्टयोजनान्यूर्द्ध्वोच्चत्वेन, अर्द्धयोजनमुद्वेधेन प्रवेशः । अथास्या एवोच्चत्वस्याष्टयोजनानि विभागतो द्वाभ्यां सूत्राभ्यां दर्शयति– ''तीसे णं'' इत्यादि । तस्याः जम्ब्वाः स्कन्धः स्कन्धादुपरितनः शाखाप्रभवपर्यन्तोऽष्टयोजने ऊर्द्ध्वोच्चत्वेनार्ध-योजनं बाहल्येन पीठेन तस्याः शाला-विडिमापरपर्यायाया दिक् प्रसृता शाखामध्यभागप्रभवा ऊर्द्धगता शाखा षट्योजना-न्यूर्द्ध्वोच्चत्वेन, तथा बहुमध्य-देशभागे प्रकरणात्, जम्बूरिति गम्यम् । अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां, तान्येव अस्याः स्कन्धोपरितनभागे चतसृष्वपि दिक्षु प्रत्येकमेकैका शाखा निर्गता च, क्रोशोनानि चत्वारि योजानानि, तेन पूर्वापरशाखादैर्घ्य-स्कन्धबाहल्यसंबन्ध्यर्द्धयोजनमीलनेनोक्त संख्यानयनं, बहुमध्यदेशभागश्चात्र व्यावहारिको ग्राह्यः, वृक्षादीनां शाखा-प्रभवस्थाने मध्यदेशस्य लोकै र्व्यवहियमाणत्वात्, पुरुषस्य कटिका इव, अन्यथा विडिमायाः द्वियोजनाऽतिक्रमे निश्चयप्राप्तस्य मध्यभागस्य ग्रहणे पूर्वापरशाखाद्वय-विस्तारस्य ग्रहणसंभवः, विषमश्रेणिकत्वात् । अथवा–बहुमध्यदेशभागः, शाखानामिति गम्यते । कोऽर्थः ? यतश्चतुर्दिक्शाखामध्यभागः, तस्मिन्नित्यर्थः । अष्टयोजनानयनं तु तथैव, उच्चत्वेन तु सर्वाग्रेण सर्वसंख्यया स्कनधविडिमापरिमाणमीलने सातिरेकाण्यष्टौ योजनानीति । अथास्या वर्णकमाह– ''तीसे णं'' इत्यादि । तस्या जम्ब्वा अयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः– वज्रमयानि मूलानि यस्याः सा वज्रमयमूला । तथा रजतमयी विडिमा बहुमध्यदेशभागे ऊर्द्धविनिर्गता शाखा यस्याः सा रजतसुप्रतिष्ठितविडिमा, ततः यावत्पदात् चैत्यवृक्षवर्णकः सर्वोऽप्यत्र वाच्यः। कियत्पर्यन्तमित्याह अधिकमनो-निर्वृतिकरी प्रासादीया दर्शनीया इत्यादि। अथास्याः शाखाव्यक्तिमाह– ''जंबूए णं'' इत्यादि। जम्ब्वाः सुदर्शनायाः-चतुर्दिशि चतस्रः शालाः वा शाखाः प्रज्ञप्ताः। तासां शालानां बहुमध्यदेशभागे उपरितनविडिमाशालायामित्यध्याहार्यं, जीवाऽभिगमे तथा-दर्शनात्। शेषं सुलभम्, वैताढ्य-सिद्धकूटगतसिद्धायतन-प्रकरणतो ज्ञयेमित्यर्थः। अत्र पूर्व, शालादौ यत्र यदस्ति तत्र तद्वक्तुमाह– ''तत्थ णं'' इत्या-

दि। तत्र तासु चतसृषु शालासु, या सा पौरस्त्या शाला, सूत्रे प्राकृतत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः । अत्रं भवनं प्रज्ञप्तं, क्रोशमायामेन, एवमेवेति सिद्धायतनवदिति, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन देशोनं क्रोशसुच्चत्वेनेति प्रमाणं, द्वारादिवर्णकश्च वाच्यः । नवरमत्र शयनीयं वाच्यम्, शेषासु दाक्षिणात्यादिशालासु प्रत्येक-मेकैकभावेन त्रयः प्रासादावतंसकाः सिंहासनानि सपरि-वाराणि च बोद्धव्यानि, तेषां प्रमाणं च भवनवत्, तत्र खेदापनोदाय भवनेषु शयनीयानि प्रासादेषु त्वास्थानसभा इति। ननु भवनानि विषमायामविष्कम्भानि, पद्मद्रहादि-मूलपद्मभवनादिषु तथा दर्शनात्, प्रासादास्तु समायाम-विष्कम्भाः, दीर्घवैताढ्यकूटगतेषु वृत्तवैताढ्यगतेषु वैजया-दिराजधानीगतेषु अन्येष्वपि विमानादिगतेषु च प्रासादेषु समचतुरस्रत्वेन समायामविष्कम्भत्वस्य सिद्धान्त-सिद्धत्वात्, तत्कथमत्र प्रासादानां भवनतुल्यप्रमाणता घटते ? उच्यते- ''ते पासाया कोसं, समूसिआ अद्धकोसवित्थिण्णा ।'' इत्यस्य पूज्यश्रीजिन-भद्रगणिक्षमाश्रमणोपज्ञक्षेत्र-विचारगाथार्द्धस्य वृत्तौ ते प्रासादाः, क्रोशमेकं देशोनमिति शेषः, समुच्छ्रिता उच्चाः क्रोशार्द्धमर्द्धक्रोशं विस्तीर्णाः, परिपूर्णमेकं क्रोशं दीर्घा इति श्रीमलयगिरिपादाः। तथा जम्बूद्वीपसमा-सप्रकरणे प्राच्ये शाले भवनम्, इतरेषु प्रासादमध्ये सिद्धायतनसर्वाणि विजयार्द्धमानानीति श्रीउमास्वातिवाचकपादाः । तथा तपागच्छाधि-राजपूज्यश्री सोमतिलकसूरिकृतनव्यबृहत्क्षेत्रविचारसत्कायाः, ''पासाया सेसदिसा, सालासु विअड्ढगिरिगिय व्व तओ ।'' इत्यस्या गाथाया अवचूर्णौ शेषासु तिसृषु शाखासु प्रत्येकमेकैकभावेन तत्र त्रीणिआस्थानोचितानि मन्दिराणि, देशोनं क्रोशमुच्चाः क्रोशार्द्धं विस्तीर्णाः पूर्णक्रोशं दीर्घा इति श्रीगुणरत्नसूरिपादाः यदाहुः, तदाशयेन प्रस्तुतोपङ्गस्योत्तरत्र जम्बूद्वीपपरिक्षेपकवनवापीपरिगत प्रासादप्रमाण-स्तदनुसारेण चेत्येवं निश्चिनुमो जम्बूप्रकरणप्रासादा विषमायामविष्कम्भा इति। यत्तु श्रीजीवाभिगमसूत्रवृत्तौ क्रोशमेकमूर्द्धमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेनेत्युक्तं, तद् गम्भीराशयं न विद्मः । अथास्याः पद्मवरवेदिकादिस्वरूपमाह- ''जम्बूए णं'' इत्यादि । जम्बूर्द्वादशभिः पद्मवरवेदिकाभिः प्राकारविशेषरूपाभिः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ता वेदिकानां वर्णकः प्राग्वत्, इमाश्च जम्बूमूलं जम्बूपरिवृत्य स्थिताः ज्ञातव्याः । या तु पीठपरिवेष्टिका सा तु प्रागेवोक्ता । अथास्याः प्रथमपरिक्षेपमाह- ''जंबूए णं'' इत्यादि । जम्बूः णमिति-वाक्यालङ्कारे । अन्येनाष्टशतेन जम्बूनां जम्बूवृक्षाणां तदर्द्धोच्चत्वानां, तस्या मूलं जम्ब्वा अर्द्धप्रमाणमुच्चत्वं यासां तास्तथा तासां, सर्वतस्समन्तात् संपरिक्षिप्ता उपलक्षणं चैतत् तेनोद्वेधायामविस्तारा अपि अर्द्धप्रमाणा ज्ञेयाः । तथाहि ता अष्टाधिकशतसंख्या जम्ब्या प्रत्येकं चत्वारि योजनान्युच्चैस्त्वेन क्रोशमेकमवगाहनम्, एकं योजनमुच्चः स्कन्धः त्रीणि योजनानि विडिमा सर्वाग्रेणोच्चैस्त्वेन सातिरेकाणि चत्वारि योजनानि, तत्रैका शाखा, अर्द्धक्रोशहीने द्वे योजने दीर्घा, क्रोशपृथुत्वः स्कन्ध इति भवति सर्वसंख्यया आयामविष्कम्भतश्चत्वारि योजनानि, आसु चानादृतदेवस्याभरणादीनि तिष्ठन्ति । एतासां वर्णकज्ञापनायाह (तासि णं वण्णओ त्ति) तासां च वर्ण्णको मूलजम्बूसदृश एवेति। अथासां यावत्स्त्यः पद्मवरवेदिकाः ता आह ''ताओ णं'' इत्यादि उत्तानार्थं, नवरं प्रतिजम्बूवृक्षं षट् षट् पद्मवरवेदिका इत्यर्थः। एतासु च १०८ जम्बूषु, अत्र सूत्रे जीवाभिगमे बृहत्क्षेत्रविचारादौ सूत्रकृद्भिः वृत्तिकृद्भिश्च जिनभवनप्रासादचिन्ता काऽपि न चक्रे, बहवोऽपि च बहुश्रुता श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णिकारादयो मूलजम्बूवृक्षगतप्रथम-वनखण्डगत कूटाष्टकजिनभवनैः सह सप्तदशोत्तरं शतं जिनभवनानां मन्यमाना इहाप्येकैकं सिद्धायतनं पूर्वोक्तमानं मेनिरे, ततोऽत्र तत्त्वं केवलिनो विदुरिति। संप्रति शेषान् परिक्षेपान् वक्तुं सूत्रचतुष्टयमाह- ''जंबूए णं'' इत्यादि । जम्ब्वाः सुदर्शनाया उत्तरपूर्वस्यामीशानकोण उत्तर-स्यामुत्तरपश्चिमायां कोणे, अत्रान्तरे, दिक्त्रयेऽपि इत्यर्थः । अनादृतनाम्नो जम्बूद्वीपाधिपतेर्देवस्य चतुर्णां सामानि-कसहस्राणां चत्वारि जम्बूसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । ''तीसे णं'' इत्यादि कण्ठ्यम् । गाथाबन्धेन पार्षद्यदेवजम्बूराह- ''दक्खिण'' इत्यादि। दक्षिणपौरस्त्य आग्नेयकोणे, दक्षिणस्याम्, अपरदक्षिणस्यां नैर्ऋतकोणे, चः समुच्चयार्थः । एतासु तिसृषु दिक्षु यथासंख्यं अष्टादश द्वादश जम्बूनां सहस्राणि भवन्ति, एवोऽवधारणे, तेन नाधिकानि, न न्यूनानीत्यर्थः । चः प्राग्वत् । अनीकाधिपजम्बूस्तृतीयपरिक्षेपजम्बूश्च गाथाबन्धेनाह- ''अणियाहिवाण'' इत्यादि। अनीकाधिपकानां गजादि-कटकाधीशानां सप्तानां सप्तैव जम्ब्वः पश्चिमायां भवन्ति, तृतीयः परिक्षेपः पूर्णः । अथ तृतीयमाह- आत्मरक्षाणामनादृतदेव-सामानिकचतुर्गुणानां षोडश-सहस्राणां जम्ब्वः एकैकासु दिक्षु चतुस्सहस्रसहस्रसद्भावात् षोडश-सहस्राणि भवन्ति, यद्यपि चानयोः परिक्षेपयोः जम्बूनामुच्चत्वादिप्रमाणं न पूर्वाचार्यैश्चिन्तितं, तथाऽपि पद्महृदपद्मपरिक्षेपन्यायेन, पूर्वपूर्व-परिक्षेपजम्ब्वपेक्षयोत्तरोत्तरपरिक्षेपजम्ब्वोऽर्द्धमाना ज्ञातव्याः। अत्राप्ये-कैकस्मिन् परिक्षेपे एकैकस्यां षड्क्तौ क्रियामपेक्ष्य क्षेत्रसांकीर्णेनावकाश-दोषस्तथैवोद्भावनीयः तेन परिक्षेपजातयस्तथैव वाच्याः । संप्रत्यस्या एव वनत्रयपरिक्षेपान् वक्तुमाह- ''जंबूए णं'' इत्यादि। सा चैवंपरिवारेति गम्यत्। त्रिभिः शतिकैर्योजनशतप्रमाणैर्वनखण्डैः सर्वतः संपरिक्षिप्तः । तद्यथा- अभ्यन्तरेण, मध्यमेन, बाह्येनेति । अथाऽत्र यदस्ति तदाह- ''जम्बूए णं'' इत्यादि। जम्ब्वाः सपरिवारायाः पूर्वेण पञ्चाशद्योजनानि प्रथमवनखण्डमवगाह्य, अत्रान्तरे भवनं प्रज्ञप्तं, क्रोश-मायामेन, उच्चत्वादिकथनायातिदेशमाह- स एव मूल-जम्बूपूर्वशाखागत-भवनसंबन्धी वर्णको ज्ञेयः । शयनीयं चानादृतयोग्यम्। एवं शेषास्वपि दक्षिणादिदिक्षु दिशि पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्याद्ये वने भवनानि वाच्यानि। अथात्र वने वापीस्वरूपमाह- ''जंबूए णं उत्तर'' इत्यादि । जम्ब्वा उत्तरपौरस्त्यदिग्भागे प्रथमं वनखण्डं पञ्चाशद्योजना-न्यवगाह्यात्रान्तरे चतस्रः पुष्करिण्यः प्रज्ञप्ताः । एताश्च न सूचीश्रेण्या व्यवस्थिताः, किं तु स्वाविदिग्गतप्रासादं परिक्षिप्य स्थिताः, तेन प्रादक्षिण्येन तन्ना-मान्येवम्- पद्मा पूर्वस्यां, पद्मप्रभा दक्षिणस्यां, कुमुदा पश्चिमायां, कुमुदप्रभा उत्तरस्याम्। एवं दक्षिणपूर्वादिविदिग्गतवापीष्वपि वाच्य, ताश्च क्रोशमायामेन, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन, पञ्चधनुः-शतास्तु-द्वेधेनेति । अथात्र वापीमध्यगतप्रासादस्वरूपमाह- ''तासि णं'' इत्यादि। तासां वापीनां चतसृणां मध्ये प्रासादावतंसकाः प्रज्ञप्ताः, बहुवचनं च उक्तवक्ष्यमाणानां वापीनां प्रासादापेक्षया द्रष्टव्यं, तेन प्रतिवापीचतुष्कमेकैकप्रासादभावेन चत्वारः प्रासादाः। एवं निर्देशो

लाघवार्थं, क्रोशमायामेनार्द्धक्रोशं विष्कम्भेन, देशोनं क्रोशमुच्चत्वेन, वर्णको मूलजम्बूदक्षिणशाखागत प्रासादवज्ज्ञेयः। एषु चानादृतदेवस्य क्रीडार्थं सिंहासनानि सपरिवाराणि वाच्यानि, जीवाभिगमे त्वपरिवाराणि, एवं शेषासु दक्षिणपूर्वादिषु दिक्षुवाप्यः प्रासादस्य वक्तव्याः। एतासां नामदर्शनाय गाथाद्वयम्– पद्मादयः प्रागुक्ताः, पुनः पद्मबन्धत्वेन संगृहीता इति न पुनरुक्तिः। एताश्च सर्वा अपि त्रिसोपानचतुर्द्वारा पद्मवरवेदिकावनखण्डयुक्ताश्च बोध्याः। अथ दक्षिणपूर्वस्थामुत्पलगुल्मा, पूर्वस्यां नलिना, दक्षिणस्यामुत्पलोज्ज्वला, पश्चिमायामुत्पला, उत्तरस्यां तथा अपरदक्षिणस्यां भृङ्गा, भृङ्गप्रभा, अञ्जना, कज्जलप्रभा। तथा अपरोत्तरस्यां श्रीकान्ता, श्रीमहिता, श्रीचन्द्रा, श्रीनिलया। चैवशब्दः प्राग्वत्। अथास्य वनस्य मध्यवर्तीनि स्वरूपतो लक्षयति– ''जंबूए णं'' इत्यादि। जम्ब्वा अस्मिन्नेव प्रथमे वनखण्डे पौरस्त्यस्य भवनस्य उत्तरस्याम्, उत्तरपौरस्त्यस्य ईशानकोणसत्कस्य प्रासादावतंसकस्य दक्षिणस्याम्, अत्रान्तरे कूटं प्रज्ञप्तम्। अष्ट योजनान्यूर्द्धोच्चत्वेन द्वे योजने उद्वेधेन वृत्तत्वेन य एव आयामः स एव विष्कम्भ इति मूलेऽष्टयोजना-न्यायामविष्कम्भाभ्यां बहुमध्यदेशभागे, भूमितश्चतुर्षु योजनेषु गतेष्वित्यर्थः। षड्योजनान्यायामविष्कम्भाभ्याम्उपरि शिखरभागे चत्वारि योजनान्यायामविष्कम्भाभ्याम्। अथामीषां परिधिकथनाय पद्यमाह– ''पणवीस'' इत्यादिकं सर्वं प्रथमपाठगतऋषभकूटाभिलापानुसारेण वाच्य। नवरं पञ्चविंशतियोजनानि विशेषाणि किञ्चिदधिकानि मूले परित इत्यादि यथा-संख्ययोज्यम्। जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैस्तु ''अट्ठ सह कूडसरिसा, सव्वे जम्बूणया मया भणिया।'' इत्यस्यां गाथायामृषभकूटसमत्वेन भणितत्वात् द्वादश योजनानि अष्टौ मध्ये चेत्यूचे तत्त्वं तु बहुश्रुतगम्यम्। एषु च प्रत्येकं जिनगृहम् एकैकं विडिमागतजिनगृहतुल्यमिति। अथ शेषकूटवक्तव्यमतिदेशेनाह– ''एवं सेसा वि कूडा'' इति। एवमुक्तरीत्या वर्णप्रमाणपरिध्याद्यपेक्षया शेषाण्यपि सप्त कूटानि बोध्यानि. स्थानविभागस्त्वेषः। तथाहि पूर्वदिग्भाविनो भवनस्य दक्षिणतो दक्षिणपूर्वदिग्भाविनः प्रासादावतंसकस्योत्तरतो द्वितीयं कूटं, तथा दक्षिणदिग्भाविनो भवनस्य पूर्वतो दक्षिणपूर्वदिग्भाविनः प्रासादावतंसकस्य पश्चिमायां तृतीयं, तथा दक्षिणदिग्भाविनो भवनस्य पश्चिमायां दक्षिणापरदिग्भाविनः प्रासादावतंसकपूर्वतश्चतुर्थं, तथा पश्चिमदिग्भाविनः प्रासादावतंसक-पूर्वतश्चतुर्थं, तथा पश्चिमदिग्भाविनो भवनस्य दक्षिणाऽपरादिग्भाविनः प्रासादावतंसकस्योत्तरतः पञ्चमम्, तथा पश्चिमदिग्भाविन उत्तरत उत्तरपश्चिमदिग्भाविनः प्रासादावतंसकस्य दक्षिणतः षष्ठं, तथा उत्तरदिग्भाविनो भवनस्य पश्चिमायाम् उत्तरपश्चिमदिग्भाविनः प्रासादावतंसकस्य पूर्वतः सप्तमं, तथा उत्तरदिग्भाविनो भवनस्य पूर्वत उत्तरपूर्वदिग्भाविनः प्रासादावतंसकस्य अपरतोऽष्टममिति। अत्र स्थापना। अथ जम्ब्वा नामोत्कीर्तनमाह– ''जंबूए णं'' इत्यादि। जम्ब्वाः सुदर्शनायाः द्वादश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा-सुष्ठु शोभनं नयनमनसोरानन्दकत्वेन दर्शनं यस्याः सा तथा, अमोघा सफला, इयं हि स्वस्वामिभावेन प्रतिपन्ना सती जम्बूद्वीपाधिपत्यं जनयति। तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वाभिभावस्यैवायोगात्, सुष्ठु अतिशयेन प्रबुद्धा उत्फुल्ल-योगादियमप्युत्फुल्ला, सकलभुवनव्यापकं यशो धरतीति यशोधरा, लिहादित्वादच्, जम्बूद्वीपो ह्यनया जम्ब्वा भुवनत्रयेऽपि विदितमहिमः, ततः संपन्नं यथोक्तयशोधारित्व-मस्याः विदेहेषु जम्बूर्विदेहजम्बूः, विदेहान्तर्गतोत्तरकुरुकृतनिवासत्वात् सौमनस्यहेतुत्वात् सौमनस्या, निहितं पश्यतः कस्याऽपि मनोदुष्टं भवति केवलं तां दृष्ट्वा प्रीतमनास्तां तदधिष्ठातारं च प्रशंसतीति, नियता सर्वकालमवस्थिता शाश्वतत्वात्, नित्यं मण्डिता सदा भूषणभूषितत्वात्, सुभद्रा शोभनकल्याणभाजिनी, न ह्यस्याः कदाचिदुपद्रवसंभवो, महर्द्धिकेनाश्रितत्वात्, चः समुच्चये, विशाला विस्तीर्णा, चः पूर्वत्, आयामविष्कम्भाभ्यामुच्चत्वेन चाष्टयोजनप्रमाणत्वात् शोभनं यातं जन्म यस्याः सा सुजाता, विशुद्धमणिकनकरत्नमूल्यद्रव्यजनित तया जन्मदोषरहितेति भावः, शोभनं मनो यस्याः सकाशाद्भवति सा सुमनाः, अपि चेति समुच्चये। अत्र जीवाभिगमादिषु चेदं जम्ब्वादीनां सुभद्रादीनां च नाम्नां व्यत्यासेन पाठो दृश्यते, तत्रापि न कश्चिद्विरोध इति। ''जंबूए णं अट्ठट्ठमंगलाए'' इति व्यक्तम्। उपलक्षणात् ध्वजछत्रादिसूत्राणि वाच्यानि इति। संप्रति सुदर्शनाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं पिपृच्छिषुरिदमाह– ''से केणट्ठेणं'' इत्यादि प्रश्नः प्रतीतः। उत्तर-सूत्रे–गौतम ! जम्ब्वां सुदर्शनायामनादृतो नाम जम्बूद्वीपाधिपतिर्न आदृता आदरविषयीकृता शेषजम्बूद्वीपगता देवा येनात्म-नोनन्यसदृशं महर्द्धिकत्वमीक्षमाणेन सोऽनादृत इति यथार्थनामा परिवसतिः महर्द्धिक इत्यादि प्राग्वत्। स च तत्र चतुर्णां सामानिकसहस्राणां यावदात्मरक्षसहस्राणां जम्बूद्वीपस्य जम्ब्वाः सुदर्शनाया अनादृतनाम्न्या राजधान्या अन्येषां च बहूनां देवानां देवीनां चानादृतराजधा-नीवास्तव्यानामाधिपत्यं पालयन् यावद्विहरति। तदेतेनार्थेन एवमुच्यते– जम्बूः सुदर्शनेति, कोऽर्थः ? अनादृतदेवस्य दृशमात्मनि महर्द्धिकत्वदर्शनमत्र कृता-वासस्येति सुष्ठु शोभनमिति यावत्, अनादृतदेवस्य यस्याः सकाशात् सा सुदर्शना इति। यद्यप्यनादृतराजधानी प्रश्नोत्तरसूत्रे सुदर्शनाशब्दप्रवृत्ति निमित्त प्रश्नोत्तरसूत्रनिगमनसूत्रान्तर्गते बहुष्वादर्शेषु दृष्टे, तथाऽपि ''से तेणट्ठेणं'' इत्यादि-निगमनसूत्रम् उत्तरसूत्रानन्तरमेव वाचयितृणा-मव्यामोहार्थं सूत्रपाठेऽस्माभिर्लिखितं, व्याख्यातं च उत्तरसूत्रानन्तरं, निगमनसूत्रस्यैव यौक्तिकत्वादिति। अथापरं गौतम ! यावच्छब्दाज्जम्ब्वाः सुदर्शनाया एतच्छाश्वं नामधेयं प्रज्ञप्तं, यन्न कदाचिन्न स्थादित्यादिकं ग्राह्यं, नाम्नः शाश्वतत्वं दर्शितम्। अथ प्रस्तुतवस्तुनः शाश्वतत्वमस्ति न वेत्याशङ्कां परिहरन्नाह– ''जंबू सुदंसणा'' इत्यादि। व्याख्याऽस्य प्राग्वत्। अथ प्रस्ताबादस्य राजधानीं विवक्षुराह– ''कहि णं भंते ! अणाढियस्स'' इत्यादि गतार्थम्, नवरं यदेव प्राग्वर्णितं यमिका-राजधानीप्रमाणं तदेव नेतव्य, यावदनादृतदेवस्योपपातोऽभिषेकश्च निरवशेषो, वक्तव्य इति शेषः। जं० ४ वक्ष०। जी०। स्था०। सुधर्मगणधरशिष्ये, पुं०। प्रश्न० १ आश्र०। द्वार। विपा०। अन्त०। अणु०। कल्प०। ''थेरस्स णं अज्जसुहम्मस्स अग्गिवेसायणगुत्तस्स अज्जजंबूनामेणं थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते'' कल्प० ८ क्षण। ''जम्बूणामं च कासयं,'' काश्यपः। नं०। अवसर्पिण्यां जन्म चरमशरीरिणां नियमतस्तृतीय-

चतुर्थारकयोः, सिद्धिगमनं तु केषाञ्चित् पञ्चमेऽपरके, यथा जम्बूस्वामिनः। नं०।

श्रीजम्बूस्वामिस्वरूपं चेदम्–

राजगृहे ऋषभधारिण्योः पुत्रः पञ्चमस्वर्गाच्च्युतो जम्बूनामा श्रीसुधर्मस्वामिसमीपे धर्मश्रवणपुरस्सरं प्रतिपन्नशील-सम्यक्त्वोऽपि पित्रोर्दृढाग्रहवशादष्टौ कन्याः परिणीतः, परं तासां सस्नेहाभिर्वाग्भिर्न व्यामोहितः। यतः– ''सम्यक्त्व-शीलतुम्बाभ्यां, भवाब्धिस्तीर्यते सुखम्। ते दधानो मुनिर्जम्बूः, स्त्रीनदीषु कथं ब्रुडेत्? ॥१॥'' ततो रात्रौ ताः प्रतिबोधयन् चौर्यार्थमागतं चतुःशतनवनवतिचौरपरिकरिते प्रभवमपि प्रावोधयत् ततः प्रातः पञ्चशत-चौरप्रियाष्टकतज्जनक-जननीस्वजन कजननीभिः सह स्वयं पञ्चशतसप्तविंशतितमो नवनवतिकनककोटीः परित्यज्य प्रव्रजितः क्रमात् केवलीभूत्वा षोडश वर्षाणि गृहस्थत्वे विंशतिः छाद्मस्थ्ये चतुश्चत्वारिंशत्केवलित्वे अशीतिवर्षाणि सर्वायुः परिपाल्य श्रीप्रभवं स्वपदे संस्थाप्य सिद्धिं गतः।

अत्रः कविः–

''जम्बूसमस्तलारक्षो, न भूतो न भविष्यति।
शिवाध्ववाहकान् साधून्, चौरानपि चकार यः ॥१॥
प्रभवोऽपि प्रभुर्जीयात्, चौर्येण हरता धनम्।
लेभेऽनर्ध्यांचौर्यहरं, रत्नत्रितयमद्भुतम् ॥२॥''

तत्र–

''वारसवरिसेहिं गोअमु, सिद्धो वीराउ वीसहि सुहम्मो। चउसट्ठीए जंबू, वुच्छिन्ना तत्थ दस ठाणा ॥३॥

मण १ परमोहि २ पुलाए ३, आहार ४ खवग ५ उवसमे ६ कप्पे ७ संजमतिअ ८ केवल ९ सि–द्धणा य १० जंबुम्मि वुच्छिन्ना'' ॥४॥

(मण त्ति) मनःपर्यायज्ञानम्, (परमोहि त्ति) परमावधिर्यास्मिन्नुत्पन्नेऽन्तर्मुहूर्तान्तः केवलोत्पत्तिः (पुलाए त्ति) पुलाकलब्धिर्यया चक्रवर्तिसैन्यमपि चूर्णीकर्तुं प्रभुः स्यात्, (आहारग त्ति) आहारकशरीरलब्धिः (खवग त्ति) क्षपक-श्रेणिः (उवसम त्ति) उपसमश्रेणिः (कप्प त्ति) जिनकल्पः (संजमतिअ त्ति) संयमत्रिकंपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपराययथाख्यात-चारित्रलक्षणम्। अत्रापि कविः– ''लोकोत्तरं हि सौभाग्यं, जम्बूस्वामिमहामुनेः। अद्यापि यं पतिं प्राप्य, शिवश्रीर्नान्यमिच्छति ॥१॥'' कल्प० ८ क्षण। विशे०। संभूतविजयाचार्यस्य द्वादशानां शिष्याणां मध्ये दशमे शिष्ये गौतमगोत्रीये स्थविरे, ''थेरं च अज्जजंबु, गोयमगुत्तं नमंसामि ॥६॥'' कल्प० ७ क्षण। श्रीजम्बू–प्रभव–स्वामिभ्यां सार्द्धं तपस्या गृहीता, श्रीजम्बूस्वामिनश्च सर्वायुरशीतिर्वर्षाणि श्रीप्रभवस्वामिनः स्वर्गभाक्त्वं संपनीपद्येत, तेनैव तत्पट्टावलीगतं लेख्यकं कथं मिलतीति प्रश्ने, उत्तरम्– श्रीजंम्बूस्वामिदीक्षाऽनन्तरं कियद्भिर्वर्षैः श्रीप्रभवस्वामिनो दीक्षा संमाव्यते, तथा च सति न कोऽपि विरोधः। यदुक्तं परिशिष्टपर्वणि–

''पञ्चमः श्रीगणधरोऽ–प्येवमभ्यर्थितस्तदा।
तस्मै सपरिवाराय, ददौ दीक्षां यथाविधि ॥१॥
पितृनापृच्छ्य चान्येद्युः प्रभवोऽपि समागतः।
जम्बूकुमारमनुयान्, परिव्रज्यामुपाददे'' ॥२॥

२७८ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

जंबूणय–न० (जाम्बूनद) जम्बूनद्यां भवम्, अण्। सुवर्णविशेषे, आ० म० प्र०। जी०। जं०। ''जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लवंकुरग-सिहरा।'' वृत्तिर्यथा– जाम्बूनदाजाम्बूनदनाम-कसुवर्णविशेषमया रक्ता रक्तवर्णा मृदवो मनोज्ञाः सुकुमाराः सुकु मारस्पर्शा ये प्रवाला ईषदुन्मीलितपत्रभावाः पल्लवाः संजातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपा अङ्कुराः प्रथममुद्भिद्यमाना अङ्कुरास्तान् धनन्तीति जाम्बूनदरक्त-मृदुसुकुमारप्रवा-लपल्लबाङ्कुरधराः। क्वचित्पाठः '' जंबूणयरत्त-मउय'' इत्या-दि। तत्र जाम्बूनदानि रक्तानि मृदूनि अकठिनानि सुकुमाराणि अकर्कशस्पर्शानि कोमलानि मनोज्ञानि प्रवालपल्लवाङ्कु रा यथोदितस्वरूपा अग्रशिखराणि य येषां ते तथा। जी० ३ प्रति०। अन्ये तु जाम्बूनदमया अग्रप्रवाला अङ्कुरापरपर्याया राजता इत्याहुः। जी० ३ प्रति०। ''जंबूणयमयकलावजोत्तपइविसिट्ठो'' जाम्बूनदमयौ कलापौ ग्रीवाभरणविशेषौ योक्त्रे च कण्ठबन्धनरज्ज् प्रतिविशिष्टे शोभने यस्य स तथा। उत्त० ४ अ०। ''जंबूणयमयाइं गत्ताइं'' जाम्बूनदमयानि गात्राणि। रा०।

जंबूदाडिम–पुं० (जम्बूदाडिम) लक्ष्मणार्यायाः पितरि स्वनामके राजविशेषे, महा० ६ अ०।

जंबूदीव–पुं० (जम्बूद्वीप) न०। जम्ब्वा सुदर्शनापरनाम्न्या-ऽनादृतदेवावासभूतया उपलक्षितो द्वीपः तत्प्रधानो वा द्वीपो जम्बूद्वीपः। आव० १ अ०। सर्वद्वीपसमुद्राणामभ्यन्तरीभूते स्वनामके द्वीपे, जी० ३ प्रति०। ल० द्वी०। स०। अनु०।

जम्बूद्वीपबक्तव्यताविषये गौतमो वीरं प्रश्नयति–

कहि णं भंते ! जम्बुद्दीवे दीवे, के महालए णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे, किंसंठिए णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे, किमायारभावपडोयारे णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे पण्णत्ते गोयमा ! अयं णं जंबूद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्ला-पूयसंठाणसंठिए वट्टे रहचक्कठालसंठाणसंठिए वट्टे पुक्ख-रकण्णियासंठाणसंठिए वट्टे पडिपुण्ण चंदसंठाणसंठिए एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयण-सयसहस्साइं सोलससयसहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते।

क्व किस्मिन् देशे 'भंते त्ति' गुरोरामन्त्रणम्। जम्बूद्वीपो, वर्तते इति शेषः। अनेन जम्बूद्वीपस्य स्थानं पृष्टम्। तथा भदन्त! किंप्रमाणो महानालय आश्रयो व्याप्यक्षेत्ररूपो यस्य स तथा, कियत्प्रमाणस्य महत्वमित्यर्थः। एतेन प्रमाणं पृष्टम्। अथ भदन्त ! किं संस्थानं यस्य स तथा। एतेन संस्थानं पृष्टम्। तथा भदन्त ! आकारभावः स्वरूपविशेषः कस्या-कारभावस्य प्रत्यवतारो यस्य सः किमाकारभावप्रत्यवतारः बहुलग्रहणाद्वैयधिकरण्येऽपि समासः। यद्वा–आकारस्य स्वरूपं भावाश्च जगतीवर्षधराद्यास्तद्गत-पदार्था आकार-भावाः, येषां प्रत्यवतारोऽवतरणम्, आविर्भाव इति यावत्, आकारभावप्रत्यवतारः। कः कीदृग्, आकारभाव-प्रत्यवतारो यस्मिन् स तथा। अनेन जम्बूद्वीपस्वरूपं, तद्गतपदार्थाश्च पृष्टाः इति इन्द्रभूतिना प्रश्नचतुष्टये कृते प्रतिवचः श्रवणाय सोत्साहताकरणार्थं जगत्प्रसिद्धगोत्राभिधानं

न तमामन्त्र्य निर्वचनचतुष्टयीं भगवानाह– गौतमेत्यत्र दीर्घत्वमामन्त्रणप्रभवत्, तेन हे गौतम ! अयं, यत्र वयं वसामः । अनेन समयक्षेत्रबहिर्वर्तिनामसंख्येयानां जम्बू-द्वीपानां व्यवच्छेदः । जम्बूद्वीपो नाम द्वीपः । कथंभूत इत्याह– सर्वद्वीपानां धातकीखण्डादीनां सर्वसमुद्राणां लवणोदादीनां सर्वात्मना सामस्त्येन अभ्यन्तरः सकलतिर्यग्लोकमध्यवर्ती, सर्वाभ्यन्तर एव सर्वाभ्यन्तरकः, स्वार्थे कः प्रत्ययः । अभ्यन्तरमात्रं धातकीखण्डोऽपि पुष्करवरद्वीपो-क्षयाऽस्ति, अतः सर्वशब्दोपादानमिति । अनेन जम्बूद्वीपस्या-वस्थानमुक्तम् । तथा– सर्वेभ्योऽपि शेषद्वीपसमुद्रेभ्यः क्षुल्लको लघुः । तथाहि– सर्वलवणादयः समुद्रा धातकीखण्डादयश्च द्वीपा जम्बूद्वीपादारभ्य द्विगुणद्विगुण-विष्कम्भायामपरिधयः ततः शेषद्वीपसमुद्रापेक्षयाऽयं लघुरिति । दीर्घत्वं प्राकृत-त्वात् । अनेन सामान्यतः प्रमाणमभिहितं, विशेषस्त्वायामादिगतं प्रमाणमग्रे वक्ष्यति २ । अत्र विशेषतः प्रमाणमवसरप्राप्तमपि यन्नोक्तं तत्सूत्रकाराणां विचित्रा प्रवृत्तिरिति । तथा वृत्तः, स च शुषिरवृत्तोऽपि स्यादत आह–तैलापूपसंस्थानसंस्थितः– तैलेन पक्वोऽपूपस्तैलापूपः, तैलेन हि पक्वोऽपूपः प्रायः परिपूर्णवृत्तो भवति, न घृतपक्व इति तैलविशेषणं, तस्येव यत्संस्थानं तेन संस्थितः । अत्र तैलादित्वाल्लकारस्य द्वित्वम् । तथा वृत्तो रथचक्रवालसंस्थानसंस्थितः, रथस्यावयवे समुदायोपचारात् रथाङ्गस्य चक्रवालं मण्डलं तस्येव संस्थानेन संस्थितः । अथवा-चक्रवालं मण्डलं मण्डलत्वधर्मयोगाच्च रथचक्रमपि रथचक्रवालं, शेषं प्राग्वत् । एवं वृत्तः पुष्करकर्णिकासंस्थान-संस्थितः, पुष्करकर्णिका पद्मबीजकोशः, कमलमध्यभाग इति यावत् । वृत्तः परिपूर्णचन्द्रसंस्थानसंस्थितः, प्राग्वत् पदद्वयं भावनीयम् । एकेनैव चरितार्थत्वेऽपि नाना-देशजवियेयानां क्षयोपशमवैचित्र्यात्कस्यचित् किञ्चित् बोधकमित्युपमा-पदनानात्वम् । अत एव प्रत्युपमापदं यो-ज्यमानत्वात् वृत्तपदस्य न पौनरुक्त्यशङ्काऽपि । एतेन संस्थानमुक्तम् । अथ सामान्यतः प्रागुक्तं प्रमाणं विशेषतो निर्वक्तुमाह– एकं योजनशतसहस्रप्रमाणाङ्गुतानिष्पनं, योजनलक्षमित्यर्थः । आयामविष्कम्भेन, अत्र च समाहार-द्वन्द्वः, तेन क्लीबे एकवद्भावः, आयामविष्कम्भाभ्या-मित्यर्थः ॥ अत्राह परः जम्बूद्वीपस्य योजनलक्षं प्रमाणमुक्तं, तच्च पूर्वपश्चिमयोर्जगतीमूलविष्कम्भसत्कद्वादशद्वादश-योजनक्षेपे चतुर्विंशन्यधिकं भवति, तथा यथोक्तं मानं विरुध्यत इति न जम्बूद्वीपभगतीविष्कम्भेन सहैव लक्षं पूरणीयं, लवण-समुद्रज-गतीविष्कम्भेन च लवणसमुद्रलक्षद्वयम् । एवमन्येष्वपि द्वीपसमुद्रेषु, अन्यथा समुद्रमानात् जगतीमानपृथग्भणने मनुष्यक्षेत्रपरिधिरतिरिक्तः स्यात् । स हि पञ्चचत्वारिंशल्ल-प्रमाणक्षेत्रापेक्षयाऽभिधीयते । अयमेवाशयः श्रीअभयदेवसूरिभिः चतुर्थाङ्गवृत्तौ पञ्चपञ्चाशत्तमे समवाये प्रादुष्कृतोऽस्तीति, तथा त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडशशतसहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशत्यधिके दयः क्रोशा अष्टाविंशमष्टाविंशत्याधिकं धनुःशतं त्रयोदशाङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकमित्येतावान् परिक्षेपेण परिधिना प्रज्ञप्तः । अत्र सप्तविंशमष्टाविंशमित्यादिकाः शब्दाः ॥ 'अधिकं तत्संख्यमस्मिन् शतसहस्रे शतिशद्दशान्तायाडः'' ॥ ७ ।१।१५४॥ इति (हैम) सूत्रेण डप्रत्यये, सप्तविंशत्याधिकमष्टविंश-त्यधिक-मित्यर्थः ।

परिध्यानयनोपायस्त्वयं चूर्णिकारोक्तः–

''विक्खंभवग्गदहगुण– करणी वट्टस्स परिरओ होइ।
विक्संभपायगुणिओ, परिरओ तस्स गणियपयं ॥१॥''

अत्र व्याख्या–वृत्तस्य वृत्तक्षेत्रस्य च वो बिष्कम्भो विष्कम्भपरिमाणं तस्य वर्गो विधीयते, वर्गो नाम–तेनैव राशिना तस्य गुणनं, तथा चतुष्कस्य चतुष्केण गुणने षोडश चतुष्कस्य वर्गः । ततः (दहगुण त्ति) दशभिर्गुणनात्, ततः करणरीतिर्वर्गमूलानयनं, ततो वृत्तस्य परिरयः परिमाणं भवति, तथा तस्य वृत्तस्य परिरयो, विष्कम्भस्य पादेन चतुर्थांशेन गुणितः सन् गणितपदं भवति । जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भो व्यासः, स्थापना यथा– १००००० तद्वर्गः तद्गुणो वर्ग इति वचनाल्लक्षं लक्षेण गुण्यते, जातम्– १०००००००००, स च दशगुणः क्रियते, शून्यानि ११, तदनु करणीति वर्गमूलमानीयते ।

तथाहि–

''विषमात्पदतस्त्यक्त्या, वर्गस्थानमुच्यते न मूलेन ।
द्विगुणेन भजेच्छेषं, लब्धं विनिवेशयेद् व्यक्तम् ॥१॥
तद्वर्गं संशोध्य, द्विगुणीकुर्वीत पूर्ववल्लब्धम् ।
उत्सार्य ततो विभजे–च्छेषं द्विगुणीकृतं च नयेत्'' ॥२॥

इत्यनेन करणेनानीते वर्गमूले जातोऽधस्तनः छेदराशिः– ६३२४४७ । अत्र सप्तकरूपोऽन्त्योऽङ्केन द्विगुणीकृत इति तद्वर्जशेषं सर्वमप्यर्द्धं क्रियते, लब्धं योजनानि ३१६ २२७, छेदराशिश्च सप्तकेऽपि द्विगुणीकृते जातः ६३२४५४, उपरि शेषांशाः ४८४४७१, एते च योजनस्थानीया इति क्रोशानयनार्थं चतुर्गुणा जाताः १९३७८८४, छेदराशिना भागे लब्धं क्रोशाः ३, शेषम् ४०५२२ धनुरानयनाय द्विसहस्रगुणं जातम् ८१०४४०००, छेदराशिना भागे लब्धानि धनूंषि १२८, शेषम् ८९८८८ षण्णवत्यङ्गुलमानधनुषोऽङ्गुलानयनार्थं षण्णवतिगुणं जातम् ८६२९२४८, छेदेन भागे लब्धमङ्गुलानि १३, शेषम् ४०७३४६, अर्धं राशिः अर्द्धाङ्गुलानयनाय द्विगुणीक्रियते, जाता अष्टौ लक्षाः चतुर्दशसहस्राणि षट्शतानि द्विनवत्यधिकानि ८१४६९२ छेदराशिः, स एकलब्धमेकमर्धाङ्गुलम् । अत्र व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायात् यवादिकमप्यानीयते । तथाहि– ते ह्यङ्गुलांशा अष्टभिर्यवैरङ्गुलमिति अष्टभिर्गुण्यन्ते जाताः ३२५८७६८ छेदः स एव, लब्धाः यवाः ५, ततोऽप्यष्टगुणेन यूकादयः स्युः तत्र यूका १, एतत् सर्वमप्यर्द्धाङ्गुलस्य किञ्चि-दिशेषाधिकत्वकथनेन सूत्रकारेणापि सामान्यतः संगृहीतमिति बोध्यम् । गणितपदं तत्करणं च सोदाहरणमग्रेभावयिष्यते इति । जं० १ वक्ष० । जी० ।

अथाकारभावप्रत्यवतारविषयकप्रश्नं निर्वक्तुमाह–

से णं एगाए वइरामईए जगईए सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते ।

(से णं एगाए त्ति) सोऽनन्तरोदितायामविष्कम्भ परिक्षेपपरिमाणो जम्बूद्वीपः णमिति पूर्ववत्, एकया एकसङ्ख्यया अद्वितीयया, वज्रमय्या वज्ररत्नात्मिकया, जगत्या जम्बूद्वीपप्रकाररूपया द्वीपसमुद्रसीमारिण्या महानगरप्राकार-कल्पया, सर्वतो दिक्षु समन्तादिक्षुं संपरिक्षिप्तः सम्यग् वेष्टितः । प्राकृतत्वाद्दीर्घत्वं वज्रशब्दस्य । जं० १ वक्ष० । जी० । भ० । (जगतीप्रतिबद्धविशेष-वक्तव्यता तु 'जगई' शब्देऽत्रैव भागेऽग्रे दर्शयिष्यते)

संप्रति जम्बूद्वीपस्य द्वारप्ररूपणार्थमाह–

जंबूदीवस्स णं भंते ! दीवस्स कइ दारा पण्णत्ता ? गो-

यमा ! चत्तारि दारा पण्णत्ता। तं जहा–विजये, वेजयंते, जयंते, अपराजिए।

''जंबूद्वीवस्स णं भंते !'' इत्यादि जम्बूद्वीपस्य, णमिति प्राग्वत्। भदन्त ! द्वीपस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा– विजयम्, वैजयन्तम्, जयन्तम्, अपराजितं वा। जी० ३ प्रति०। (द्वारप्रतिबद्धविशेषवक्तव्यताऽपि 'दार' शब्देविलोकनीया)

संप्रति जम्बूद्वीपमध्यवर्तिपदार्थानां संग्रहगाथामाह–

खंडा १ जोयण २ वासा ३, पव्वय ४ कूडा ५ य तित्थ ६ सेढीओ ७ विजय ८ द्दह ९ सलिलाओ १० अपिंडए होइ संगहणी ॥१॥

संग्रहवाक्यस्य संक्षिप्तत्वेन दुर्बोधत्वात् सूत्रकृदेव प्रश्नोत्तररीत्या विवृणोति–

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे भरहप्पमाणमेत्तेहिं खंडेहिं केवइअं खंडगणिएणं पण्णत्ते ? गोयमा ! णउअखंडसयगणिएणं पण्णत्ते।

जम्बूद्वीपो भदन्त ! द्वीपो भरतप्रमाणं षट्कलाधिक-षड्विंशतियोजनाधिकपञ्चशतयोजनानि तदेव मात्रा परिमाणं येषां तानि तथा एवंविधैः खण्डैः शकलैरित्येवंरूपेण खण्डगणितेन खण्डसंख्यया कियाम् प्रज्ञप्त ? भगवानाह– गौतम ! नवत्यधिकं खण्डशतं खण्डगणितेन प्रज्ञप्तः। कोऽर्थः ? भरतप्रमाणैः खण्डैः नवत्यधिकशतसंख्याकै र्मिलितैर्जम्बूद्वीपः संपूर्णः लक्षप्रमाणो भवति।

अथ योजनेति द्वारसूत्रम्–

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे केवइयं जोअणगणिएणं पण्णत्ते ? गोयमा ! ''सत्तेव य कोडिसया, णउआ छप्पण्णसयसहस्साइं। चउणउइं च सहस्सा, सयं दिवड्ढं च गणियपयं'' ॥१॥

जम्बूद्वीपो भदन्त ! द्वीपः कियान् योजनगणितेन समचतुरस्रयोजन प्रमाणखण्डः सर्वसंख्यया प्रज्ञप्तः ? भगवानाह– गौतम ! सप्तकोटिशतानि, एवोऽवधारणे। च उत्तरत्र संख्यासमुच्चयार्थः। नवतीति नवतिकोट्यधिकानि इति व्याख्येयं, प्रस्तावात्। अन्यथा कोटिशत्तो द्वितीयस्थाने सत्सु लक्षादिस्थानेषु नवदशकरूपा नवतिर्न युज्यते, गणितशास्त्रविरोधात् तथा षट्पञ्चाशच्छतसहस्राणि, लक्षाणीत्यर्थः। चतुर्नवतिं च सहस्राणि शतं च द्व्यर्द्ध सार्द्ध पञ्चाशदधिकं योजनमित्येतावत्प्रमाणः जम्बूद्वीपस्य गणितपदं क्षेत्रमित्यर्थः। सूत्रे च योजनसंख्यायाः प्रक्रान्तत्वात् योजनावधिरेव संख्या निर्दिष्टा, अन्यत्र तु भगवतीवृत्त्यादौ साधिकत्वं विवक्षितम्। तच्चेदम्– ''गाउअमेगं पणरस, धणुस्सया तह य धणूणि पण्णरस। सट्ठिं च अंगुलाइं, जंबूद्दीवस्स गणियपया ॥१॥'' इति इयं च व्यक्तैव, करणं चात्र– ''विक्खंभपायगुणिओ, अपरिरओ तस्स गणिअपअं''। इति वचनात् जम्बूद्वीपपरिधिस्त्रिलक्षषोडशसहस्रद्विशतसप्त-विंशतियोजनादिको जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भस्य लक्षरूपस्य पादेन चतुर्थांशेन पञ्चविंशतिसहस्ररूपेण गुणितो जम्बूद्वीप-गणितपदमिति। तथाहि– जम्बूद्वीपपरिधिस्तिस्रो लक्षाः, षोडश सहस्राणि, द्वे शते सप्तविंशत्यधिके योजनानां, तथा गव्यूतत्रयम्, अष्टाविंशत्यधिकं शतं धनुषां त्रयोदशाङ्गुलानि एकं चार्द्धाङ्गुलं, यवादयस्तु श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण-प्रणीतक्षेत्रविचारसूत्रवृत्त्यादौ न विवक्षिता, अतो न तद्विवक्षा क्रियते। तत्र योजनराशौ पञ्चविंशतिसहस्रैर्गुणिते सप्तकोटीशतानि नवतिकोटयः षट्पञ्चाशल्लक्षाः पञ्चसप्तति-सहस्राणि भवन्ति, तथा क्रोशत्रये पञ्चविंशतिसहस्रगुणिते जातं पञ्चसप्तति सहस्राणि गव्यूतानाम्, एषां च योजनानयनार्थं चतुर्भिर्भागे हृते लब्धान्यष्टादश सहस्राणि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि योजनानाम्, अस्मिँश्च सहस्रादिके पूर्वराशौ प्रक्षिप्ते जातानि ९३ सहस्राणि ७ शतानि ५० अधिकानि, कोट्यादिका संख्या तु सर्वत्र तथैव, तथा धनुषामष्टाविंशं शतं पञ्चविंशतिसहस्रैर्गुण्यते जाता द्वात्रिंशल्लक्षा धनुषाम् ३२०००० , अष्टाभिश्च धनुःसहस्रैर्योजनं भवति, ततो योजनानयनार्थमष्टाभिः सहस्रैर्भागलब्धानि चत्वारि योजनशतानि, अस्मिँश्च पूर्वराशौ प्रक्षिप्ते जातानि ९४ सहस्राणि, शतं पञ्चाशदधिकम्, अङ्गुलान्यपि त्रयोदशपञ्चविंशतिसहस्रै-र्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि लक्षाणि पञ्चविंशतिसहस्राधिकानि अर्द्धाङ्गुलमपि पञ्चविंशति-सहस्रैरभ्यस्यते, जातान्यर्द्धाङ्गुलानां पञ्चविंशति-सहस्राणि, तेषामर्द्धे लब्धान्यङ्गुलानां द्वादश सहस्राणि पञ्चशताधिकानि, तेषु पूर्वोक्ताङ्गुलराशौ प्रक्षिप्तेषु जातो-ऽङ्गुलराशिस्त्रीणि लक्षाणि सप्तत्रिंशत्सहस्राणि पञ्चा-शदधिकानि एषां धनुरानयनाय षण्णवत्या भागे हृते लब्धानि धनुषां पञ्चत्रिंशच्छतानि पञ्चदशाधिकानि, शेषं षष्टि-रङ्गुलानि, अस्य धनूराशेर्गव्यूतानयनाय सहस्रद्वयेन भागे हृते लब्धमेकं गव्यूतं, शेषं धनुषां पञ्चदश शतानि पञ्चदशाधिकानि, सर्वाग्रेण जातमिदं योजनानां सप्त-कोटिशतानि नवति-कोट्यधिकानि षट्पञ्चाशल्लक्षाः चतुर्णवतिसहस्राणि शतमेकं पञ्चाशदधिकं, तथा गव्यूतमेकं धनुषां पञ्चदशशतानि पञ्चदशाधिकानि अङ्गुलानां षष्टिरिति। गतं योजनद्वारम्। जं० ६ वक्ष०।

अथ वर्षाणि–

जम्बूदीवे णं भंते ! कति वासा पण्णत्ता ? गोयमा ! सत्त वासा। तं जहा– भरहे, एरवए, हेमवए, हेरण्णवए, हरिवासे, रम्मगवासे, महाविदेहे।

भरतमैरावतं हैमवत् हिरण्यवत् हरिवर्षरम्यकवर्षं महा-विदेहः। जं० ६ वक्ष०। ज्यो०। स्था०। (महाविदेह-क्षेत्रविभागीकरणे तु दश वर्षाणि)

अथ पर्वतद्वारम्–

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे केवइया वासहरा पव्वया पण्ण-त्ता ? केवइआ मंदरा पव्वया, केवइया चित्तकूडा, केवइया विचित्तकूडा, केवइया जमगपव्वया, केवइया कंचणगपव्वया, के वइया वक्खारा, केवइया दीहवेयड्ढा, केवइया वट्टवेयड्ढा पण्णत्ता ? गोयमा ! जंबूद्दीवे दीवे छ वासहरपव्वया, एगे मंदरपव्वए, एगे चित्तकूडे, एगे विचित्तकूडे, दो जमगपव्वया, दो कंचणगपव्वयसया, वीसं वक्खारपव्वया, चोत्तीसं दीहवेयड्ढा, चत्तारि वट्टवेअड्ढा, एवामेव सपुव्वावरेणं जंबूद्दीवे दीवे दुण्णिआ उणत्तरा पव्वयसया भवंतीति मक्खायं ति।

प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे संख्यामीलनाय किञ्चिदुच्यते षट् वर्षधराः क्षुल्लहिमवदादयः एको मन्दरो मेरुः एकश्चित्रकूटः एकश्च विचित्रकूटः, एतौ च यमलजातकाविव द्वौ गिरिदेवकुरुवर्तिनौ द्वौ यमकपर्वतौ तथैवोत्तरकुरुवर्तिनौ द्वे कापञ्चनकपर्वतशीते देवकुरूत्तरकुरुवर्तिहृदयदशकोभयकूलयोः प्रत्येकं दशदशकाञ्चनकसद्भावात् तथा विंशतिर्वक्षस्कारपर्वताः तत्र गजदन्ताकाराः गन्धमा-दनादयश्चत्वारः, तथा चतुष्प्रकारे महाविदेहे प्रत्येकं चतुष्कचतुष्कसद्भावात् । षोडश चित्रकूटादयः सरलाः द्वयेऽपि मिलिताः यथोक्तसंख्याः । तथा चतुस्त्रिंशद्दीर्घवैताढ्याः द्वात्रिंशद्विजयेषु भरतैराव्रतयोश्च प्रत्येकमेकैकभावात् चत्वारो वृत्तवैताढ्यहैमवतादिषु चतुर्षु वर्षेषु एकैकभावात् 'एवामेव सपुव्वावरेणं ति' प्राग्वत् । जम्बूद्वीपे द्वीपे एकोनसप्तत्यधिके पर्वतशते भवत इत्याख्यातं मया, अन्यैश्च तीर्थकृद्भिः । जं० ६ वक्ष० ।

अथ क्षेत्राणि–

जंबूदीवे दीवे दस खेत्ता पण्णत्ता । तं जहा– भरहे, एरवए, हेमवए, हेरन्नवए, हरिवासे, रम्मगवासे, पुव्वविदेहे, अवरविदेहे, देवकुरा, उत्तरकुरा । स्था० १० ठा० ।

अथ कूटानि–

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे केवइया वासहरकूडा, केवइया वक्खारकूडा, केवइ या वेअड्ढकूडा केवइया मंदरकूडा पण्णत्ता ? गोयमा ! छप्पण्णं वासहरकूडा, छण्णउइं व-क्खारकूडा, तिण्णि छलुत्तरा वेअड्ढकूडसया, नव मंदरकूडा पण्णत्ता । एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे चत्तारि सत्तट्ठा कूडसया भवंतीति मक्खायं ।।

जम्बूद्वीपे कियन्ति वर्षधरकूटानि इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तर सूत्रे–षट्पञ्चाशद्वर्षधरकूटानि । तथाहि–क्षुद्रहिमवच्छिखरिणोः प्रत्येकमेकादश, महाहिमवद्रुक्मिणोः प्रत्येकमष्टौ, निष-धनीलवतोः प्रत्येकं नव, सर्वसंख्यया ५६ । वक्षस्कारकूटानि षण्णवतिः । तद्यथा सरलवक्षस्कारेषु षोडशसु १६ प्रत्येकं चतुष्टभावात् ६४ गजदन्ताकृतिवक्षस्कारेषु गन्धमादनसौमनसयोः सप्त २ माल्यवद्विद्युत्प्रभयोः नव इति, उभयमीलने यथोक्तसंख्या, त्रीणि षडुत्तराणि वैताढ्यकूटशतानि, तत्र भरतैरावतयोर्विजयानां च वैताढ्येषु चतुस्त्रिंशति प्रत्येकं न व संभवादुक्तसंख्यानयनं वृत्तवैताढ्येषु च कूटाभावः । अत एव वैताढ्यसूत्रे न दीर्घ-पदोपादानं, विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वात्, अत्र च व्यवच्छेद्य-स्याभावादिति । मेरौ नव, तानि चन्दनवनगतानि ग्राह्याणि, न भद्रशालवनगतानि दिग्धस्तिकूटानि, तेषां भूमिप्रतिष्ठित-त्वेन स्वतन्त्रकूटत्वादिति । संग्रहणिगाथायाम् ''पव्वयकूडा य'' इत्यत्र चोऽनुक्तसमुये । तेन चतुस्त्रिंशद्वृषभकूटानि, तथाअष्टौ जम्बूवनगतानि, तावन्त्येव शाल्मलीवनगतानि भद्रशालवनगतानि च सर्वसंख्याऽष्टपञ्चाशत्संख्याकानि अग्राणि । ननु तर्हि एतद्गाथाविवरणसूत्रे– ''चत्तारि सत्त सट्ठा कूडसया'' इत्येवंरूपे संख्याविरोधः । उच्यते –एषां नियताधारकत्वेन स्वतन्त्रगिरित्वान्न कूटेषु गणना । अयमेवाशयः ऋषभकूटसंख्यासूत्रपृथक्करणेन सूत्रकृता स्वयमेव दर्शयिष्यते, यच्च प्राक् ऋषभकूटाधिकारे– ''कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे उसभकूटे णामं पव्वए पण्णत्ते ।'' इति सूत्रम्, तच्छिलोच्चयमात्रतापरं व्याख्येयमिति सर्वं सम्यक् । जं० ६ वक्ष० । स्था० ।

अथ तीर्थानि–

जम्बूद्दीवे णं भंते ! दीवे भरहे वासे कति तित्था पण्णत्ता ? गोयमा ! तओ तित्था पण्णत्ता । तं जहा– मागहे, वरदामे, पभासे । जंबुद्दीवे णं दीवे एरवए वासे कति तित्था पण्णत्ता ? गोयमा ! तओ तित्था पण्णत्ता । तं जहामागहे, वरदामे, पभासे । जंबुद्दीवे णं दीवे महाविदेहे वासे एगमेगे चक्कवट्टिविजए कति तित्था पण्णत्ता ? गोयमा ! तओ तित्था पण्णत्ता । तं जहामागहे, वरदामे, पभासे । एवामेव सपुव्वा-वरणेणं जंबुद्दीवे दीवे एगं वि उत्तरे तित्थसए भवतीति मक्खायं ति ।।

प्रश्नसूत्रे तीर्थानि चक्रिणां स्वस्वक्षेत्रसीमासु, साधनार्थं महाजलावतरणस्थानानि । उत्तरसूत्रे भरते त्रीणि तीर्थानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा–मागधं पूर्वस्यां गङ्गासङ्गमे समुद्रस्य, वरदाम दक्षिणस्यां प्रभासं, पश्चिमायां सिन्धुसङ्गमे समुद्र-स्य, । एवमै-रावतसूत्रमपि भावनीयम् । नवरं नद्यौ चात्र रक्तारक्तवत्यौ, तयोः समुद्रसङ्गमे मागधप्रभासे वरदामाख्ये च तत्रत्यापेक्षया तथैव, विजयसूत्रे चायं विशेषः– विजयसत्का गङ्गादि ४ महानदीनां यथार्हं शीताशीतोदयोः संगमे मागधप्रभासाख्यानि भावनीयानि, वरदामाख्यानि तेषां मध्यगतानि भाव्यानि, एवमेव पूर्वापरमीलनेन एकं द्व्युत्तरं तीर्थशतं भवतीत्याख्यातमिति । जं० ६ वक्ष० । स्था० ।

अथ श्रेणयः–

जंबूद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइयाओ विज्जाहरसेढीओ, केवइयाओ आभिओगसेढीओ पण्णत्ताओ ? गोय-मा ! जंबुद्दीवे दीवे अट्ठसट्ठी विज्जाहरसेढीओ, अट्ठसट्ठी आभिओगसेढीओ पण्णत्ताओ । एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे छत्तीससेढीसए भवतीति मक्खायं ।।

प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे अष्टषष्टिर्विद्याधरश्रेणयः विद्याधरावासभूता वैताढ्यानां पूर्वापरोदध्यादिपरिच्छिन्ना आयतमेखला भवन्ति चतुस्त्रिंशत्यपि वैताढ्येषु दक्षिणत उत्तरतश्च एकैकश्रेणिभावात् तथै-वांष्टषष्टिराभियोग्यश्रेणयः एवमेव पूर्वापरमीलनेन जम्बूद्वीपे द्वीपे षट्त्रिंशदधिकं श्रेणिशतं भवतीत्याख्यातम् ।

अथ विजयाः–

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइया चक्कवट्टिविजया, केवइआओ रायहाणीओ, केवइआओ तिमिसगुहाओ, केवइआओ खंडप्पवायगुहाओ, केवइया कयमालया देवा, केवइया णट्टमालया देवा, केवइया उसभकूडा पण्णत्ता ? गोयमा ! जंबूद्दीवे दीवे चोत्तीसं चक्कवट्टिविजया, चोत्तीसं रायहाणीओ, चोत्तीसं तिमिसगुहाओ, चोत्तीसं खंडप्पवायगुहाओ, चोत्तीसं कयमालगा देवा, चोत्तीसं णट्टमालगा, देवा, चोत्तीसं उसभकूडा पव्वया पण्णत्ता ।

प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे जम्बूद्वीपे द्वीपे चतुस्त्रिंशच्चक्रवर्तिविजयास्तत्र द्वात्रिंशन्महाविदेहविजयाः द्वे च भरतैरावते, अवयोरपि चक्रवर्तिविजेतव्यक्षेत्रखण्डरूपस्य चक्रवर्तिविजयशब्दवाच्यस्य सत्त्वात्, एवं चतुस्त्रिंशत् राज-धान्यश्चतुस्त्रिंशत्त मिश्रागुहाः, प्रतिवैताढ्यमेकैकसंभवात्, एवं चतुस्त्रिंशत् खण्डप्रतापगुहाः, चतुस्त्रिंशत् कृतमालदेवाः चतुस्त्रिंशन्नक्तमालका देवाश्चतुस्त्रिंशत् ऋषभकूटनामकाः पर्वताः प्रज्ञप्ताः, प्रतिक्षेत्रं संभवतः चक्रवर्तिनो दिग्विजय-सूचक-नामन्यासार्थमेकैकसद्भावात्, यच्चात्र विजयद्वारे प्रक्रान्ते राजधान्यादि प्रश्नोत्तरसूत्रे तद्विजयान्तर्गतत्वेनेति।

अथ ह्रदाः—

जंबूदीवे दीवे केवइया महद्दहा पण्णत्ता ? गोयमा ! सोलस महद्दहा पण्णत्ता।

प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे षोडश महाह्रदाः, षड्वर्षधराणां शीताशीतोदयोश्च प्रत्येकं पञ्च। जं० ६ वक्ष०। स्था०।

अथ सलिलाः—

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइआओ महाणईओ वासहरपवहाओ, केवइआओ महाणईओ कुंड- प्पवहाओ पण्णत्ताओ ? गोअमा ! जंबुद्दीवे दीवे चोद्दस महाणईओ वासहरपवहाओ, छावत्तरिमहाणईओ कुंडप्पवहाओ, एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे णउतिं महाणईओ भवंतीति मक्खायं।

जम्बूद्वीपे द्वीपे कियत्यो महानद्यो वर्षधरेभ्यः ''तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः'' इति । वर्षधरह्रदेभ्यः प्रवहन्ति निर्गच्छन्तीति वर्षधरप्रवहाः । अन्यथा कुण्डप्रभवाणामपि वर्षधरनितम्ब-स्थकुण्डप्रभवत्वेन वर्षधरप्रभवा इति वाच्यं स्यात् । कियत्यः कुण्डप्रभवा वर्षधरनितम्बवर्तिकुण्डनिर्गताः प्रज्ञप्ता ? गौतम ! जम्बूद्वीपे चतुर्दशमहानद्यो वर्षधरह्रदप्रभवाः भरतगङ्गादयः प्रतिक्षेत्रं द्विद्विभावात् कुण्डभवाः षट्सप्त-तिर्महानद्यः, तत्र शीताया उदीच्येष्वष्टसु विजयेषु शीतोदाया याम्येष्वष्टासु विजयेषु च एकैकभावेन षोडश गङ्गाः षोडश सिन्धवश्च। तथा शीताया याम्येष्वष्टसु विजयेषु शीतोदाया उदीच्येष्वष्टसु विजयेष्वष्टसु चैकैकभावेन षोडश रक्ता रक्तवत्यश्च, एवं चतुःषष्टिः द्वादश च प्रागुक्ता अन्तर्नद्यः सर्वमीलने षट्सप्ततिरिति कुण्डप्रभवानां तु शीताशीतोदापरिवारभूतत्वेनाऽसंभवदपि महानदीत्वं स्वस्वविजय-गतचतुर्दशसहस्रनदीपरिवारं संपदुपेतत्वेन भाव्यम् । एवमेव पूर्वापरेण चतुर्दशषट्सप्तरूपसंख्यामीलनेन जम्बूद्वीपे नवतिर्महानद्यो भवन्तीत्याख्यातमिति। जं० ६ वक्ष०। स्था०। स०। (तासां चतुर्दशमहानदीनां नदीपरिवारसंख्या समुद्रप्रवेशदिग् 'महाणई' शब्दे वक्ष्यते)

जंबुद्दीवे दीवे हेमवयहेरण्णवएसु वासेसु वारसुत्तरे सलिलासयसहस्से भवंतीति मक्खायं॥

जम्बूद्वीपे हैमवतहैरण्यवतयोः क्षेत्रयोर्द्वादशसहस्रोत्तर नदीशतसहस्रं भवतीत्येवमाख्यातम् । अत्र शतसहस्रशब्द-साहचर्यादग्रसंख्यायां सहस्राणि प्रतीयन्ते । अन्यथा षट्पञ्चाशत् सहस्राणां चतुर्गुणने संख्याशास्त्रबोधः स्यात्, दृश्यते च शब्दसाहचर्यादर्थप्रतिपतिः । यथा— रामलक्ष्मणा-वित्यत्र रामशब्देन दाशरथिर्लक्ष्मणशब्दसाहचर्यात् प्रतीयेत, न तु रेणुकासुत इति। जं० ६ वक्ष०।

जंबूदीवे दीवे हरिवासरम्मगवासेसु दो चउवीसा सलिलासयसहस्सा भवंतीति मक्खायं॥

तथा ''जंबुद्दीवे'' इत्यादि सुबोधं द्वयोर्वर्षयोः सहोक्तौ हेतुः प्राग्वदेव, (हरी ति) हरिसलिला पूर्वार्णवगा, हरिवर्षेहरि-कान्ता चापरार्णवगा, रम्यके नरकान्ता पूर्वार्णवगा, नारीकान्ता चापरार्णवगा सर्वसंख्यया जम्बूद्वीपे द्वीपे हरिवर्षरम्यकवर्षयोर्द्वे चतुर्विंशतिसहस्राधिके सलिला-शतसहस्रे भवत इति षट्पञ्चाशत्सहस्राणां चतुर्गुणने एकभावत एव लाभात् । अत्रापि सहस्रपरतथा व्याख्यानं प्राग्वत् । जं० ६ वक्ष०।

जंबूद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरपव्वयस्स दक्खिणेणं केवइया सलिलासयसहस्सा पुरच्छिमपच्चच्छिमाभिमुहा लवणसमुद्दं समप्पेंति ? गोयमा ! एगे छण्णउए सलिला सयसहस्से पुरच्छिमपच्चच्छिमाभिमुहे लवणसमुद्दं समप्पेंति त्ति। जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं केवइया सलिलासयसहस्सा पुरच्छिमाभिमुहा लवणसमुद्दं समप्पेंति ? गोयमा ! एगे छण्णउए सलिलासयसहस्से पुरच्छिमपच्चच्छिमाभिमुहे० जाव समप्पेइ । जंबूद्दीवे णं भंते ! केवइया सलिलासयसहस्सा पुरत्थाभिमुहा लवणसमुद्दं समप्पेंति ? गोअमा ! सत्त सलिलासयसहस्सा अट्ठावीसं च सहस्सा० जाव समप्पेंति । जंबुद्दीवे णं भंते ! केवइया सलिलासयसहस्सा, पच्चच्छिमाभिमुहा लवणसमुद्दं समप्पेंति ? गोयमा ! सत्त सलिलासयसहस्सा अट्ठावीसं च सहस्सा० जाव समप्पेंति, एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे चोद्दस सलिलासयसहस्सा छप्पण्णं च सहस्सा भवंतीति मक्खायं॥

अथ मेरुतो दक्षिणस्यां कियत्थो नद्य इत्याह— ''जंबुद्दीवे दीवे मंदरपव्वय'' इत्यादि व्यक्तम् । नवरम् उत्तरसूत्रे एकं षण्णवतिसहस्राधिकं सलिलाशतसहस्रम् । तथाहि— भरते गङ्गायाः सिन्धोश्च चतुर्दशचतुर्दशसहस्राणि, हैमवते रोहिताया रोहितांशायाश्चाष्टाविंशतिरष्टाविंशतिसहस्राणि, हरिवर्षे हरिसलिलाया हरिकान्तायाश्च षट्पञ्चाशत् २ सहस्राणि, सर्वमीलने यथोक्तसंख्या । अथ मेरोरुत्तर-वर्तिनीनां संख्यां प्रश्नयितुमाह— ''जंबुद्दीवे'' इत्यादि व्यक्तम्। नवरम् उत्तरसूत्रे सर्वसंख्या दक्षिणसुत्रवद्भावनीया, वर्षाणां नदीनां च विशेषः स्वयं बोध्यः । ननु मेरुतो दक्षिणोत्तरनदी-संख्यामीलने सपरिवारे उत्तरदक्षिणप्रवहे शीताशीतोदे कथं न मिलिते ? उच्यते— प्रश्नसूत्रं हि मेरुतो दक्षिणोत्तरदिग्भागवर्ति पूर्वापरसमुद्र प्रवेशरूपविशिष्टार्थविषयकं, तेन मेरुतः शुद्धपूर्वापरसमुद्रप्रवेशिन्योरनयोर्निर्वचनसूत्रेऽनन्तर्भावः, यथाप्रश्नं निर्वचनदानस्य शिष्टव्यवहारात्। अथ पूर्वाऽभिमुखाः कियत्यो लवणोदं प्रविशन्तीत्याह— ''जंबुदीवे दीवे'' इत्यादि । जम्बूद्वीपे द्वीपे कियत्यो नद्यः पूर्वाऽभिमुखाः लवणोदं प्रविशन्ति, कियत्यः पूर्वसमुद्रप्रवेशिन्य इत्यर्थः । इदं च प्रश्नसूत्रं केवलं नदीनां पूर्वदिग्गमित्वरूपप्रष्टव्यविषयकं, तेन पूर्वस्मात

प्रश्नसूत्राद्विभिद्यते, उत्तरसूत्रे सप्त नदीलक्षणानि, अष्टाविंशतिश्च सहस्राणि यावत् समुपसर्पन्ति । तद्यथापूर्वसूत्रे मेरुतो दक्षिणदिग्बार्तिनीनामेकं षण्णवतिसहस्राधिकं लक्षमुक्तं, तदर्द्धं पूर्वं पूर्वाब्धिगामीत्यागतान्यष्टानवतिः सहस्राणि, एवमुदीच्यनदीनामप्यवष्टानवतिः सहस्राणि शीतापरिकरनद्यश्च लक्षाणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि च, सर्वपिण्डे यथोक्तं मानम् । अथ पश्चिमाब्धिगामिनीनां संख्याप्रश्नार्थमाह– ''जंबुद्दीवे दीवे'' इत्यादि । इदं चानन्तरसूत्रवत् वाच्यं, संख्या योजनीया, परस्परं निर्विशेषत्वात् । संप्रति सर्वसरित् संकलनामाह ''एवामेव सपुव्वापरेणं'' इत्यादि व्यक्तं, नवरम् जम्बूद्वीपे द्वीपे पूर्वाब्धिगामिनीनामपराब्धिगामिनीनां च नदीनां संयोजने चतुर्दशलक्षाणि षट्पञ्चाशत् सहस्राणि भवन्ति इत्याख्यातम् । ननु इयं सर्वसरित्संख्या केवलपरिकरनदीनां, महानदीसहितानां वा तासाम् ? उच्यते– महानदीसहितानामिति संभाव्यते, संभावनाबीजं तु कच्छविजयगतसिन्धुनदीवर्णनाधिकारे प्रवेशे च सर्व-संख्यया आत्मना सह चतुर्दशभिर्नदीसहस्रैः समन्विता भवतीति श्रीमलयगिरिकृतबृहत्क्षेत्रविचारवृत्त्यादिवचन-मिति । श्रीरत्नशेखरसूरयस्तु स्वक्षेत्रसमासे– ''अडसयरि महाणइओ, वारस अंतरणईउ सेसा उ । परिअरणईउ चउदस, एवं छप्पण्णसहसा य ॥१॥'' इति महानदीनां पृथग्गणनं चक्रु-रिति । तत्त्वं तु बहुश्रुतगम्यम् । नन्वत्र प्रत्येकमष्टाविंशति सहस्रनदीपरिवारा द्वादशान्तर्नद्यः सर्वनदी संकलनायां कथं न गणिताः ? उच्यते– इयं सर्वसरित् संख्या चतुर्दशलक्षादिलक्षणं श्रीरत्नशेखरसूरिभिः स्वोपज्ञक्षेत्र-समासवृत्तौ, तथा प्रतिमहानदीपरिवारमीलने स्वस्वक्षेत्र-विचारसूत्रे श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणादिसूत्रकारैः श्रीमलयगिर्यादिभिर्वृत्तिकारैश्चान्तर्नदीपरिवाराः संग्रहेण चोक्ताः । श्रीहरिभद्रसूरिभिस्तु– ''खंडा जोअणं'' इत्यादि गाथायाः संग्रहण्यां चतुरशीतिप्रमाणा कुरुनदीरनन्तर्भाव्य तत् स्थाने इमा एव द्वादश नदीः चतुर्दशभिः २ नदीसहस्रैः सह निक्षिप्य यथोक्तसंख्याऽपूरि । तद्यथा– ''चउदस सहस्सगुणिआ, अडतीसणईउ विजयमज्झिल्ला । सीआणइणिवडंती, सीओआए वि एमेव ॥१॥'' कैश्चित्तु जयविजयगतयोः गङ्गासिन्ध्वोः रक्तारक्तवत्योर्वा अष्टाविंशतिसहस्रनदीलक्षणः परिवारः, स एवासन्नतयोपचारेणान्तर्नदीनां परिवारतयोक्त इत्यतोऽवसीयते, यदन्तर्नदीपरिवारमाश्रित्य मतवैचित्र्यदर्शनादिना केनाऽपि हेतुना प्रस्तुतसूत्रकारेणाऽपि सर्वनदीसंकलनायां गणिता इति । अत्रापि तत्त्वं बहुश्रुतगम्यमेव । यदि चान्तर्नदीपरिवारनदीसंकलनाऽपि -क्रियते तदा जम्बूद्वीपे द्विनवतिसहस्राधिकाः सप्तदश लक्षाः नदीनां भवन्ति । यदुक्तम्– ''सुत्ते चउदस लक्खा, छप्पण्ण-सहस्सजंबुदीवम्मि । हुंति उ सत्तरस लक्खा, वाणउई सहस्ससलिला उ ॥१॥'' इति । एतेषां जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्युक्तार्थानां पिण्डके मीलके विषयभूते इयं संग्रहगाथा भवतीति । अथ जम्बूद्वीपव्यासस्य लक्षप्रमाणताप्रतीत्यर्थं दक्षिणोत्तराभ्यां क्षेत्रयोजनसर्वाग्रमीलनं जिज्ञासूनामुपकाराय दर्श्यते । यथा– १००००० , अत्र सर्वाग्रं दिग्गतमुखवने-ऽन्तर्भावनीय इति । जं० ६ वक्ष० ।

अथ जम्बूद्वीपे चन्द्रादिसंख्यां पृच्छति–

जंबूद्दीवे णं भंते ! दीवे कइ चंदा पभासिंसु, पभासिंति, पभासिस्संति; कइ सूरिसा तवइंसु, तवेंति तविस्संति; केवइया णक्खत्ता जोगं जोइंसु, जोअंति, जोइस्संति, केवइआ महग्गहा चारं चरिंसु चरंति, चरिस्संति; केवइआओ तारागणकोडाकोडीओ सोभिंसु, सोभिंति, सोभिस्संति य ? गोयमा ! दो चंदा पभासिंसु० ३, दो सूरिआ तवइंसु० ३, छप्पण्णं णक्खत्ता जोगं जोइंसु० ३० छावत्तरं महग्गसहसयं चारं चरिंसु० ३ । ''एगं च सयसस्सं, तेत्तीसं खलु भवे सहस्साइं । णव य सया पण्णासा, तारागणकोडिकोडीणं ॥१॥''

जम्बूद्वीपे भगवन् ! द्वीपे कति चन्द्राः प्रभासितवन्तः– प्रकाशनीयं वस्तु सद्द्योतितवन्तः प्रभासयन्ति उद्द्योत-यन्ति, प्रभासयिष्यन्ति सद्द्योतयिष्यन्ति, उद्द्योत-नामकर्मोदयाश्चन्द्रमण्डलानामनुष्णप्रकाशो हि जने उद्द्योत इति व्यवह्रियते तेन, तथा प्रश्नेअनादिनिधनेयं जगत्स्थितिरिति जानतः शिष्यस्य कालत्रयनिर्देशेन प्रश्नः प्रष्टव्यं तु चन्द्रादिसंख्या । तथा कति सूर्यास्तापितवन्तः आत्मव्यतिरिक्तवस्तुनि तापं जनितवन्तः, एवं तापयन्ति, तापयिष्यन्ति । आतपनामकर्मोदयाद् रविमण्डलानामुष्णः प्रकाशस्ताप इति लोके व्यवह्रियते, तेन तथा प्रश्नोक्तिः, तथा कियन्ति नक्षत्राणि योगं स्वयं नियतमण्डलचारित्वेऽप्यनियताऽनेकमण्डलचारिभिर्निजमण्डलक्षेत्रमागतैर्ग्रहैः सह संबन्धं युक्तवन्ति प्राप्तवन्ति, युञ्जन्ति प्राप्नुवन्ति, योक्ष्यन्ति प्राप्स्यन्ति । तथा कियन्तो महाग्रहा अङ्गारकादयश्चार मण्डलक्षेत्रपरिभ्रमिं चरितवन्तो अनुभूतवन्तः, चरन्ति अनुभवन्ति, चरिष्यन्ति अनुभविष्य-न्ति ? यद्यपि समयक्षेत्रवर्तिनां सर्वेषामपि ज्योतिष्काणां गतिश्चार इत्यभिधीयते, तथाऽप्यन्यव्यपदेशविशेषाभावेन वक्रातिचारादिभिर्गतिविशेषैर्गतिमत्त्वेन चैषां सामान्यगतिशब्देन प्रश्नः । तथा कियत्यस्तारागणकोट्यः शोभितवत्यः शोभां धृतवत्यः, शोभन्ते, शोभिष्यन्ति ? एषां च चन्द्रादिसूत्रोक्तकारणाभावेन बहुलपक्षादौ भास्वरत्वमात्रेण शोभमानत्वादित्थं प्रश्नाऽभिलापः । अत्र सूत्रेऽनुक्तोऽपि वाशब्दो विकल्पद्योतनार्थं प्रतिप्रश्नं बोध्यः । भगवानाह– गौतम ! द्वौ चन्द्रौ प्रभासितवन्तौ, प्रभासेते, प्रभासिष्येते च । जम्बूद्वीपे क्षेत्रे सूर्याक्रान्ताभ्यां दिग्भ्यामन्यत्रशेषयोर्दिशोश्चन्द्राभ्यां प्रकाश्यमानत्वात्, प्रश्नसूत्रे च प्रभासितवन्त इत्यादौ यो बहुवचनेन निर्देशः स प्रश्नरीतिर्बहुवचनेनैव भवतीति ज्ञापनार्थः । एका-द्यन्यतरनिर्णयस्य तु सिद्धान्तोत्तरकाले संभवः, एवं सूर्यसूत्रेऽपि भावनीयम् । तथा द्वौ सूर्यौ तापितवन्तौ, जम्बूद्वीपक्षेत्रमिति शेष, अस्मिन्नेव क्षेत्रे चन्द्राक्रान्ताभ्यां दिग्भ्यामन्यत्राशेषयोर्दिशोः सूर्याभ्यां ताप्यमानत्वात् तथा षड्पञ्चाशन्नक्षत्राण्येकैकस्य चन्द्रस्य प्रत्येकमष्टाविंशतिनक्षत्रपरिवारान् योगं युक्तवन्तीत्यादि प्राग्वत् । तथा षट्सप्ततिं षड्सप्तत्युत्तरं महाग्रहशतम्, एकैकस्य चन्द्रस्य प्रत्येकमष्टाशीतेग्रहाणां परिवारभावात् चारं चरितवदित्यादि । तथा पद्येन तारामानमाह– ''तारागणकोटिकोटीनामेकलक्षं त्रयस्त्रिंशच्च सहस्राणि, नव च शतानि, पञ्चाशानि पञ्चाशदधिकानि भवन्ति । प्रतिचन्द्रं तारागणकोटीकोटीनां षट्षष्टिसहस्रनवशताधिकपञ्चसप्ततेर्लभ्य-मानत्वादिति । जं० ६ वक्ष० ।

जम्बूद्वीपे निधिसंख्यां प्रष्टुमाह–

जंबूद्दीवे दीवे केवइया णिहिरयणा सव्वग्गेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! तिण्णि छलुत्तरा णिहिरयणस या सव्वग्गेणं पण्णत्ता । जंबुद्दीवे दीवे केवइआ णिहिरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ? गोयमा ! जहण्णपए छत्तीसं, उक्कोसपए दोण्णि सत्तरा णिहिरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । जंबुद्दीवे दीवे केवइया पंचिंदियरयणसया सव्वग्गेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! दो दसुत्तरा पंचिंदियरयणसया सव्वग्गेणं पण्णत्ता । जम्बूद्दीवे दीवे जहण्णपदे वा उक्कोसपदे वा केवइआ पंचिंदियरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ? गोयमा ! जहण्णपए अट्ठावीसं उक्कोसपए दोण्णि दसुत्तरा पंचि-दियरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइआ एगिंदियरयण-सया सव्वग्गेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! दो दो दसुत्तरा एगिंदियर-यणसया सव्वग्गेणं पण्णत्ता । जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइया एगिंदियरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ? गोयमा ! जहण्णपए अट्ठावीसं, उक्कोसेणं दोण्णि दसुत्तरा एगिंदियरय-णसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । जंबूद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइअं आयामविक्खंभेणं, केवइअं परिक्खेबेणं, केवइअं उव्वेहेणं, केवइअं उड्ढं उच्चत्तेणं, केवइअं सव्वग्गेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे एगं जोअणसयसहस्सं आयाम-विक्खंभेणं, तिण्णि जोअणसयसहस्साइं सोलस य सहस्साइं दोण्णि अ सत्तावीसे जोअणसए तिण्णि अ कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस य अंगुलाइं अर्द्धंगुलं च किंचि विसेसा-हिअं परिक्खेवेणं, एगं जोअणसहस्सं उव्वेहेणं, णवणउति-जोअणसहस्साइं साइरेगाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, साइरेगं जोअण-सयसहस्सं सव्वग्गेणं पण्णत्ते ।

''जंबुद्दीवे'' इत्यादि । जम्बूद्वीपे द्वीपे कियन्ति निधिरत्नानि उत्कृष्टनिधानानि, यानि गङ्गादिनदीमुखस्थानि चक्रवर्ती हस्तगतपरि-पूर्णषट्खण्डादिदिग्विजयव्यावृत्तोऽष्टमतपः करणानन्तरं स्वसात्करोति, तानि सर्वाग्रेण सर्वसंख्यया प्रज्ञप्ता-नि ? भगवानाह– गौतम ! त्रीणि षडुत्तराणि निधिरत्नशतानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि । तद्यथा–नवसंख्या-कानि निधानानि चतुस्त्रिंशता गुण्यन्त इति यथोक्ता संख्येति । इयं च सत्तामाश्रित्य प्ररूपणा कृता । अथ निधिपतीनां कति निधानानि विवक्षितकाले भोग्यानि भवन्तीति प्रश्नमाह– ''जंबुद्दीवे दीवे'' इत्यादि । जम्बूद्वीपे कियन्ति निधिरत्नशतानि परिभोग्यतया उत्पन्ने प्रयोजने चक्रवर्तिभिर्व्यापार्यमाणत्वेन ''हव्वं इति'' शीघ्रं चक्रा-भिलाषोत्पत्त्यनन्तरं, निर्विलम्बमित्यर्थः, आगच्छन्ति ? भगवानाह– गौतम ! जघन्यपदे षट्त्रिंशत् जघन्यपदभाविनां चक्रवर्तिनां नव निधानानि चतुर्गुणितानि यथोक्तसंख्या प्रदानीति, उत्कृष्टपदे तु द्वे सप्तत्यधिके निधिरत्नशते परिभोग्यतया शीघ्रमागच्छतः, उत्कृष्टपदभाविनां चक्रिणां त्रिंशता नव नव निधानानि भवन्तीति नव त्रिंशता गुण्यन्ते, इत्युपपद्यते यथोक्तसंख्येति । अथ जम्बूद्वीपवर्ति-चक्रवर्तिरत्नसंख्यां पिपृच्छिषुराह– (जम्बुद्दीवे त्ति) जम्बुद्वीपे द्वीपे भदन्त ! कियन्ति पञ्चेन्द्रियरत्नादि सेनापत्यादीनि, तेषां शतानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह–गौतम ! द्वे दशोत्तरं पञ्चेन्द्रियरत्नशते सर्वाग्रेण प्रज्ञप्ते । तद्यथा– उत्कृष्टपदभाविनां त्रिंशतां चक्रिणां प्रत्येकं सप्त पञ्चेन्द्रियरत्नसद्भावेन सप्तसंख्या त्रिंशता गुण्यते, भवति यथोक्तं मानस् । ननु निधिसर्वाग्रपृच्छायां चतुस्त्रिंशता गुणनं, पञ्चेन्द्रियरनतसर्वाग्रपृ-च्छायां तु किमिति त्रिंशता गुणनम् ? उच्यते– चतुर्षु वासुदेवविजयेषु तदा तेषामनुपलम्भात् निधीनां तु नियतभावत्वेन सर्वदाऽप्युपलब्धेः तेन रत्न-सर्वाग्रसूत्रे रत्न-परिभोगसूत्रे च न कश्चित्संख्याकृतो विशेष इति । अथ रत्नपरिभोगप्रश्नसूत्रमाह– ''जम्बुद्दीवे'' इत्यादि प्रायो व्याख्यातत्वाद्व्यक्तम् । अथैकेन्द्रियरत्नानि प्रश्नयितुमाह– ''जंबुद्दीवे'' इति व्यक्तम् । नवरम्, एकेन्द्रियरत्नानि चक्रिणां चक्राणां चक्रादीनि तेषां शतानि इति । अथैकेन्द्रियरत्न परिभोगसूत्रं पृच्छन्नाह– ''जंबुद्दीवे त्ति'' व्यक्तम् । अथ जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भादीनि पृच्छन्नाह (जंबुद्दीवे त्ति) अत्र सूत्रे विष्कम्भायामपरिक्षेपाः प्राग् व्याख्याताः, पुनः प्रश्नविषयीकरणं तु उद्वेधादिक्षेत्रधर्मप्रश्नकरणस्य प्रस्तावाद्विस्मरणशीलविनेयजन-स्मरणरूपोपकारायेति । तेनोद्वेधादिसूत्रे, जम्बूद्वीपं द्वीपम्, अत्र द्वीपशब्दस्य क्लीबत्वनिर्देशः क्लीवेऽपि वर्तमानत्वात्, कियदुद्वेधत्वेन, भूमिप्रविष्टत्वेनेत्यर्थः । कियदूर्द्धोच्चत्वेन, भूनिर्गतत्वोच्चत्वेनेत्यर्थः । कियच्च सर्वाग्रेण तुण्डत्वोच्चत्वमीलनेन प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह–गौतम ! विष्कम्भायाम-परिक्षेपविषयं निर्वचनसूत्रं प्राग्वत्, उद्वेधादिनिर्वचनसूत्रे तु एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन सातिरेकाणि नवनवतियोजनसहस्राणि, ऊर्द्धोच्चत्वेन सातिरेकं योजनशतसहस्र सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तम् । ननु तुण्डत्वव्यवहारो जलाशयादौ, उच्चत्वव्य-वहारस्तु पर्वतविमानादौ प्रसिद्धः, द्वीपे तु स किं, व्यवहाराविषयत्वादिति ? उच्यते– समभूतला-दारभ्य रत्नप्रभायामधः सहस्रायोजनानि यावद्गमनेऽधोग्रामविजयादिषु जम्बूद्वीपव्यवहारस्योपलभ्यमानत्वेनोच्चत्व-व्यवहारः सुप्रसिद्ध एव । तथा जम्बूद्वीपोत्पन्नानां तीर्थकृतां जम्बूद्वीपमेरोः पण्डगवना-भिषेकशीलायामभिषिच्यमानत्वात् जम्बूद्वीपव्यपदेशपूर्वकम-भिषेकस्य जायमानत्वेनोच्चत्वव्यवहारोप्यागमे सुप्रसिद्ध एवेति । जं० ७ वक्ष० ।

अथास्यैव शाश्वतभावादिकं प्रश्नयन्नाह–

जम्बूद्दीवे णं भंते ! दीवे किं सासए, किं असासए ? गोअमा ! सिअ सासए, सिअ असासए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्इ–सिअ सासए, सिअ असासए ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वण्णपज्जवेहिं गंधरसफासय-पज्जवेहिं असासए, से तेणट्ठेणं गोअमा ! एंव वुच्इ– सिअ सासए, सिअ असासए । जम्बूद्दीवे णं भंते ! दीवे कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! ण कया वि णासि, ण कया वि णत्थि, ण कया वि भविस्सइ, भविंसुअभवइ अ, भविस्सइ अ, धुवे णिअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे जंबूद्दीवे दीवे पण्णत्ते ।

''जंबुद्दीवे णं'' इत्यादि । इदं च यथा प्राक् पद्मवरवेदिका-धिकारे व्याख्यातम्, तथाऽत्र जम्बूद्वीपपव्यपदेशेन बोध्यमिति ।

एवं च शाश्वताऽशाश्वतो घटो निरन्वयविनश्वरो दृष्टः, किमसावपि तद्वत्, उत नेत्याह– ''जंबूद्दीवे णं'' इत्यादि । इदमपि प्राक् पद्मवरवेदिकाऽधिकारे व्याख्यातमिति । जं० ।

अथ किं परिणामोऽसौ द्वीप इति पिपृच्छिषुराह–

जंबूद्दीवे णं भंते ! दीवे किं पुढविपरिणामे, आउपरिणामे, जीवपरिणामे, पुग्गलपरिणामे ? गोयमा ! पुढविपरिणामे वि, आउपरिणामे वि, जीवपरिणामे वि, पुग्गलपरिणामे वि ।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपः किं पृथ्वीपरिणामः पृथिवीपिण्डमयः, किं जलपरिणामः जलपिण्डमयः । एतादृशौ च स्कन्धावचित्तरजःस्कन्धादिवद जीवपरिणामावपि भवत इत्याशङ्क्याहकिं जीवपरिणामः जीवमयः । घटादिर-जीवपरिणामोऽपि भवतीत्या-शङ्क्याह – किं पुद्गलपरिणामः पुद्गलस्कन्धनिष्पन्नः केवलपुद्गलपिण्डमय इत्यर्थः । तेजसस्त्वेकान्तसुषमादावुत्पन्नत्वेन एकान्तदुःषमादौ तु विध्वस्तत्वेन जम्बूद्वीपस्य तत्परिणामेऽङ्गीक्रियमाणे कादाचित्कत्वप्रसङ्गः, वायोस्त्वतिचलत्वेन तत्परिणामे द्वीपस्यापि चलत्वापत्तिरिति तथोः स्वत एव संदेहाविषय-त्वेन न प्रश्नसूत्रे उपन्यासः । भगवानाह– गौतम ! पृथिवीपरिणामोऽपि, पर्वतादिमत्त्वात् । अप्परिणामोऽपि नदी-ह्रदादिमत्त्वात् । जीवपरिणामोऽपि मुखवनादिषु वनस्पत्यादिमत्त्वात् । यद्यपि स्वसमये पृथिव्यप्कायपरिणामत्व ग्रहणेनैव जीवपरिणामत्वं सिद्धम्, तथाऽपि लोके, तयोर्जीव-त्वस्याव्यवहारात् पृथग्ग्रहण्, वनस्पत्यादीनां तु जीवत्वव्यवहारः स्वपरसंमत इति पुद्गलपरिणामोऽपि मूर्तत्वस्य प्रत्य-क्षसिद्धत्वात् कोऽर्थः ? जम्बूद्वीपो हि स्कन्धरूपः पदार्थः, स चावयवैः समुदितैरेव भवति, समुदायरूपत्वात् समुदायिन इति ।

अथ यदि चायं जीवपरिणामरूपस्तर्हि सर्वे जीवा अत्रो–

त्पन्नपूर्वाः उत नेत्याशङ्क्याह–

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे सव्वपाणा सव्वजीवा सव्वभूआ सव्वसत्ता पुढविकाइयत्ताए आउकाइअत्ताए तेउकाइयत्ताए वाउकाइअत्ताए वणस्सइकाइअत्ताए, उववण्णपुव्वा ? हंता गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो ॥

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे सर्वे प्राणाः द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः सर्वे जीवाः पञ्चेन्द्रियाः, सर्वे भूतास्तरवः, सर्व सत्त्वाः पृथिव्य-तेजोवायुकायिकाः । अनेन च सांव्यवहारिकराशिविषयक एवायं प्रश्नः, अनादिनिगादनिर्गतानामेव प्राणजीवादिरूपविशेषपर्यायप्रतिपत्तेः । पृथिवीकायिकतया अप्कायिकतया तेजस्कायिकतथा वायुकायिकतया वनस्पतिकायिकतया उपपन्नपूर्वा उत्पन्नपूर्वाः ? भगवानाह– '' हंता गोयमा ! एवं गौतम ! यथैव प्रश्नसूत्रं तथैव प्रत्युच्चारणीयम्– पृथिवीकायिकतया यावद्वनस्पतिका-यिकतया उपपन्नपूर्वाः कालक्रमेणः संसारस्यानादित्वात्, न पुनः सर्वे प्राणादयो जीवविशेषा युगपदुत्पन्नाः सकलजीवानामेककालं जम्बूद्वीपे पृथियादि-भावेनोत्पादे सकलदेवनारकादिभेदाभावप्रसक्तेः । न चैतदस्ति, तथा जगत्स्वभावादिति । कियन्तो वारानुत्पन्ना इत्याह– असकृदनेकशः अथवा–

अनन्तकृत्वः– अनन्तवारान् संसारस्यानादित्वादिति ।

अथ जम्बूद्वीपेतिनाम्नो व्युत्पत्तिनिमित्तं जिज्ञासिषुः पृच्छति–

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–जंबुद्दीवे दीवे ? गोयमा ! जंबूद्दीवे णं दीवे तत्थ तत्थ देसेहिं देसेहिं बहवे जंबूरुक्खा जंबूवणा जंबूवणसंडा णिच्चं कुसुमिआ जाव पिंडिममेज रिविडेंसगधरा सिरीए अईव अवसोभेमाणा चिट्ठंति । जंबू सुदंसणाए अणाढिए णामं देवे महिड्ढिए० जाव पलिओवमट्ठिई परिवसइ, से तेणट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ जंबूद्दीवे दीवे ।

अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते–जम्बूद्वीपो द्वीपः ? भगवानाह– गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे तत्र तत्र देश तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो जम्बूवृक्षा एकैकरूपा विरलस्थितत्वात्, तथा बहूनि जम्बूवनानि जम्बूवृक्षा एव समूहभावेना-वस्थिताः, अविरलस्थितत्वात् । ''एकजातीयतरुसमूहो वनम्'' इति वचनात् । तथा बहवो जम्बूवनखण्डाः जम्बूवृक्षसमूहा एव विजातीयतरुमिश्रिताः ''अनेकजातीयतरूसमूहो वनखण्डः'' इति वचनात् । तत्राऽपि जम्बूवृक्षाणामेव प्राधान्यमिति प्रस्तुते वर्णकसाफल्यम् । अन्यथा अपरवृक्षाणां वनखण्डैर्निमित्त-भूतैजम्बूद्वीपपपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेऽसाङ्क्त्यात् । ते च कथंभूता इत्याह–नित्यं सर्वकालं कुसुमिताः, यावत्पदात् ''णिच्चं माइआ णिच्चं लवइआ णिच्चं थवइआ० जाव णिच्चं कुसुमिअ–माइए–लवइअ–थवइअ–गुलुइय–गोच्छइअ–जमलिअ–जुवलिअ–विणमिअ–पणमिअसुविभत्ता'' इति ग्राह्यम् । एतद्-व्याख्यानं प्राग्वनखण्डवर्णके कृतमिति ततो ज्ञेयम् । उक्तवर्णकोपेताश्च वृक्षाः श्रिया अतीव उपशोभमानास्तिष्ठन्ति । इदं च नित्यकुसुमितत्वादिकं जम्बूवृक्षाणामुत्तरकुरुक्षेत्रापेक्षया बोध्यम् । अन्यथैषां प्रावृट्कालभाविपुष्पफलोदयवत्त्वेन प्रत्यक्षबाधात्, एतेन जम्बूवृक्षबहुलो द्वीपो जम्बूद्वीप इत्यावेदितं भवति । अथवाजम्ब्वां सुदर्शनाऽभिधानायामनाहतनामा, पूर्वजम्बूवृक्षाधिकारे व्याख्यातनामा देवो महर्द्धिको, यावत्करणात् ''महज्जुइए'' इत्यादि ग्राह्यम् । पल्योपमस्थितिकः परिवसति; अथ तेनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते स्वाधिपत्यनाद्यतनादेवाश्रयभूतया जम्ब्बोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीप इति, सूत्रैकदेशो ह्यपर सूत्रैकदेशं स्मारयति इति । ''अदुत्तरं च णं जबुद्दीवस्स सासए णामधेज्जे पण्णत्ते, जं ण कयाइ ण आसी, ण कयाइ णत्थि, ण कयाइ ण भविस्सइ० जाव णिच्चे'' इति ज्ञेयं, जीवा-भिगमादशै तथा दर्शनात् । एतेन किमाकारावप्रत्यवतारो जम्बूद्वीप इति चतुर्थः प्रश्नो निर्व्यूढ इति । जं० ७ वक्ष० । जी० ।

जम्बूद्वीपस्य मध्ये च मेरुनामा पर्वतोऽस्ति । तथाहि–

महीइ मज्झम्मि ठिते णगिंदे, पन्नायते सूरियसुद्धलेसे ।
एवं सिरीए उ स भूरिवन्ने, मणोरमे जो[इ अचिमाली ॥१३॥

मह्यां रत्नप्रभापृथिव्यां, मध्यदेशे जम्बूद्वीपः, तस्यापि बहु-मध्यदेशे सौमनसविद्युत्प्रभगन्धमादनमाल्यवन्तदष्टापर्वत चतुष्टयो पशोभितः समभूभागे दशसहस्रविस्तीर्णः शिरसि सहस्रमे कमधरस्तादपि दशसहस्राणि नवतियोजनानि योजनेकादशभागैर्दशभिरधिकानि विस्तीर्णश्चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रितचूडोपशोभितो नगेन्द्रः पर्वतप्रधानो मेरुः प्रकर्षेण लोके ज्ञायते

सूर्यवच्छुद्धलेश्य आदित्यसमानतेजाः, एवमनन्तरोक्तप्रकारया श्रिया, तुशब्दात् विशिष्टतरया, स मेरुर्भूरिवर्णोऽनेकवर्णोऽनेकवर्णरत्नोपशोभितत्वात् मोनऽन्तःकरणं रमयतीति मनोरमोऽर्चिमालीव आदित्य इव स्वतेजसा द्योतयति दशदिशः प्रकाशयतीति। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। स०। स्था०।

जम्बूद्वीपनाम्नाऽन्येऽपि द्वीपा वर्तन्ते। तथाहि –

केवतिया णं भंते ! जंबूदीवे नामधेज्जेहिं पण्णत्ते ? गोयमा ! असंखेज्जा जंबूदीवा दीवा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता।

कियन्तो भदन्त ! जम्बूद्वीपाः प्रज्ञप्ताः, जम्बूद्वीप इति नाम्ना कियन्तो द्वीपाः प्रज्ञप्ता इत्यर्थः ? एवमुक्ते भगवानाह–गौतम ! असंख्येया जम्बूद्वीपा द्वीपाः प्रज्ञप्ताः, जम्बूद्वीप इतिनाम्ना असंख्येया द्वीपा इति भावः। जी० ३ प्रति०। स्था०।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं दो खित्ता पण्णत्ता। तं जहा–बहुसमउल्ला अविसेसा० जाव पुव्वविदेहे चेव, अवरविदेहे चेव।

(पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं) पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि, पश्चात् पश्चिमायामित्यर्थः। यथाक्रमं पूर्वश्चासौ विदेहश्चेति पूर्वविदेहः एवमपरविदेह इति। एतेषां चाऽऽयामादिर्ग्रन्थान्तरादवसेय इति। स्था० २ ठा० ३ उ०।

अथ जम्बूद्वीपवेदिका–

जंबूदीवस्स णं दीवस्स वेदिया दो गाउयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।

''जंबू'' इत्यादि कगत्यम्, नवरं वज्रमय्या अष्टयोजनो-च्छ्रयायाः चतुर्द्वादशोपर्यधो विस्तृताया जम्बूद्वीप-नगरप्राकारकल्पाया जगत्या द्विगव्यूतोच्छ्रितेन पञ्च-धनुश्शतविस्तृतेन नानारत्नमयेन जालकटकेन परिक्षि-प्ताया उपरि वेदिकेति, पद्मवरवेदिकेत्यर्थः। पञ्चधनुःशतविस्तीर्णगवाक्षहेमकिङ्किणीघण्टायुक्ता देवानामा-सनशयनमोहनविविधक्रीडास्थानमुभयतो वनखण्डवतीति। स्था० २ ठा० ३ उ०।

जंबूदीवग त्रि० [जम्बूद्वीपक(ग)] जम्बूद्वीपस्येदं जम्बूद्वीपकम्। तं वा गच्छतीति जम्बूद्वीपगम्। जम्बूद्वीपसत्के, स्था० ४ ठा० २ उ०। जम्बूद्वीपोत्पन्नमनुष्ये, पुं०। स्था० ६ ठा०।

जंबूदीवपण्णत्ति स्त्री० (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति) जम्बूद्वीपस्य प्रकर्षेण निःशेषकुतीर्थिकसार्थागम्ययथावस्थितस्वरूपनिरूपणलक्षणेन ज्ञप्तिर्ज्ञापनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ, ज्ञप्तिर्ज्ञानं वा यस्याः सकाशात् सा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः। अथवा–जम्बूद्वीपं प्राप्नुवन्ति पूरयन्ति स्वस्थित्येति जम्बूद्वीपप्राः जगतविर्षवर्षधराद्यस्तेषां ज्ञाप्तिर्यस्याः सकाशात् सा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः। जं० १ वक्ष०। स्वनाम्ना प्रसिद्धे पञ्चमोपाङ्गे इदं च ज्ञाताधर्मकथाख्यषष्ठाङ्गस्योपाङ्गम्। जं० १ वक्ष०। पा०।

अथ प्रस्तुततीर्थद्वादशाङ्गीसूत्रसंसूत्रणाविश्वकर्मा श्रीसुधर्मस्वामी स्वस्मिन् गुरुत्वाभिमानं परिजिहीर्षुः प्रस्तुतग्रन्थनामोपदर्शनपूर्वकं निगमनवाक्यमाह–

तए णं समणे भगवं महावीरे मिहिलाए णयरीए माणिभद्दे चेइए बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं बहूणं देवाणं बहूणं देवीणं मज्झगए एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ – जंबूदीवपण्णत्ती णाम' अज्झो ! अज्झयणे अट्ठं च हेउं च पसिणं च कारणं च वागरणं च भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ त्ति बेमि॥

''तए णं'' इत्यादि। शाश्वतत्वात् शाश्वतनामकत्वाच्च सद्रूपोऽयं जम्बूद्वीपरूपो भावः, सन्तं हि भावं नापलपन्ति वीतरा-गाः। ततः श्रमणो भगवान् महावीरो मिथिलायां नगर्यां माणिभद्रे चैत्ये बहूनां श्रमणानां बहूनां श्रमणीनां बहूनां श्रावकाणां बहूनां श्राविकाणां बहूनां देवानां बहूनां देवीनां मध्ये गतो, न पुनरेकान्ते एकतरस्य कस्यचित् पुरतः एवं यथोक्तमुक्तानुसारेण इत्यर्थः, आख्याति प्रथमतो वाच्यमात्रकथनेन, एवं भाषते विशेष-वचनकथनतः, एवं प्रज्ञापयति व्यक्तपर्यायवचनतः, एवं प्ररूप-यत्युपपत्तितः। आख्येयस्याऽभिधानमाह–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिरिति नाम षष्ठोपाङ्गमिति शेषः। जं० ७ वक्ष०। (प्रमेयरत्नमञ्जूषानाम्नी अस्य टीकेति 'पमेज्जरयणमंजूसा' शब्दे टीकाकरणप्रस्तावः)

जंबूदीवाहिवइ पुं० (जम्बूद्वीपाधिपति) अनादृताख्ये देवे, द्वी०।

जंबूपल्लवपविभत्ति स्त्री० (जम्बूपल्लवप्रविभक्ति) द्वात्रिंशद्विधदिव्यनाट्यस्य विंशतितमविधौ, रा०।

जंबूपेढ न० (जम्बूपीठ) यन्नाम्ना इदं जम्बूद्वीपं ख्यातं तस्याः सुदर्शनानाम्न्या जम्ब्वा अधिष्ठाने, जं० ४ वक्ष०। (तद्वक्तव्यता च 'जम्बू' शब्दे १३६७ पृष्ठेऽनुपदमेव प्रदर्शिता)

जंबूफल न० (जम्बूफल) जाम्बवे, रा०।

जंबूफलअसणकुसुमबंधणनीलुप्पलपुप्फपत्तनिकरमरगय-आसगनयणकीयाऽसिवन्ने॥

जम्बूफलानि प्रतीतानि, असनकुसुमबन्धनम् असन-पुष्पवृन्तं नीलोत्पलपुष्पपत्रनिकरो मरकतमणिः प्रतीतः। आसासको वीयकाभिधानो वृक्षो, नयनकीका नेत्रमध्यतारा, असिः खड्गं तेषामिव वर्णो यस्य स तथा। रा०। औ०। ''जंबूफलपुट्ठवण्णा'' जी० ३ प्रति०।

जंबूफलकालिया स्त्री० (जम्बूफलकालिका) जम्बूफलवत्कृष्णवर्णायाम्, जी० ३ प्रति०। जम्बूफलसत्ककाष्ण्यें, जी० ३ प्रति०।

जंबूलय पुं० (जम्बूलक) लोकरूढ्यवसेये चञ्चुनामके जलाधारे पात्रे, उपा० ७ अ०।

जंबूसंड पुं० (जम्बूखण्ड) स्वनामके ग्रामे, आ० म० द्वि०। आ० चू०। यत्र विहारक्रमेणागत्य वीरजिनः गोशालश्च क्षीरसंमिश्रकूरं लब्धवान्। आ० म० द्वि०।

जंबूसामि पुं० (जम्बूस्वामिन्) सुधर्मगणधरशिष्ये, आ० म० द्वि०। स्था० (तच्चरितं 'जंबू' शब्दे १३७१ पृष्ठे प्रदर्शितम्)

जंबूसाला स्त्री० (जम्बूशाला) जम्बूवृक्षशाखायाम्, ''एगो परिवायगो पोट्टं लोहपट्टेण बंधित्ता जंबूसाल च गहाय हिंडइ, पुच्छितो भणइ–नाणेन पोट्टं फुट्टइ, तो लोहपट्टेण बद्धं जंबूसालं, जहा एत्थ जंबूदीवे नत्थि मम पडिवादी''। आ० म० द्वि०।

जंभग पुं० (जृम्भंक) जृम्भन्ते विजृम्भन्ते स्वच्छन्दचारितया चेष्टन्ते ये ते जृम्भकाः। तिर्यग्लोकवासिव्यन्तरविशेषपदेवेषु, भ० १४ श० ८ उ०। आ० म०। ज्ञा०। आ० क०।

एतेषां स्वरूपं त्वेवम् –

अत्थि णं भंते ! जंभया देवा, जंभया देवा ? हंता अत्थि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–जंभया देवा, जंभया देवा ? गोयमा ! जंभगा णं देवा णिच्चं पमुइयपक्कीलिया कंदप्परतिमेहुणसीला, जे णं ते देवे कुद्धे पासेज्जा, से णं महंतं अजसं पाउणेज्जा, जे णं ते देवे तुट्ठे पासेज्जा, से णं महंतं जसं पाउणेज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जंभगा देवा, जंभया देवा। कइविहा णं भंते ! जंभगा देवा पण्णत्ता ? गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता। तं जहा – अण्णजंभगा पाणजंभगा वत्थजंभगा लेणजंभगा सयणजंभगा पुप्फजंभगा फलजंभगा पुप्फ-फलजंभगा विज्जाजंभगा अवियत्तजंभगा। जंभगा णं भंते ! देवा कहिं वसहिं उवेंति ? गोयमा ! सव्वेसु चेव दीहवेयड्ढेसु चित्तविचित्तजमगंपव्वएसु कंचणपव्वएसु य, एत्थ णं जंभगा देवा वसहिं उवेंति। जंभगाणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! एगपलिओवमं ठिई पण्णत्ता।

(जंभग त्ति) जृम्भन्ते विजृम्भन्ते स्वच्छन्दचारितया चेष्टन्ते ये ते जृम्भकास्तिर्यग्लोकवासिनो व्यन्तरदेवाः (पमुइय-पक्कीलिय त्ति) प्रमुदिताश्च ते तोषवन्तः प्रक्रीडिताश्च प्रकृष्टक्रीडाः प्रमुदितप्रक्रीडिताः (कंदप्परइ त्ति) अत्यर्थं केलिरतिकाः (मेहुणसील त्ति) निधुवनशीलाः (अजसं ति) उपलक्षणत्वादस्यानर्थं प्राप्नुयात् (जसं ति) उपलक्षणत्वादस्यार्थं वैक्रियलब्ध्यादिकं प्राप्नुयाद्वैरस्वामिवत् शापानुग्रहकरणसमर्थत्वात् तच्छीलत्वाच्च तेषामिति। ''अण्ण-जंभया'' इत्यादि। अन्ने भोजनविषये तदभावसद्भा-वाल्पत्वबहुत्व-सरसत्वनीरसत्वादिकरणतो जृम्भन्ते विजृम्भन्ते ये ते तथा, एवं पानादिष्वपि वाच्यं, नवरम् (लेणं ति) लयनं गृहम् (पुप्फपलजंभग त्ति) उभयजृम्भकाः, एतस्य च स्थाने मंतजंभग त्ति' वाचनान्तरे दृश्यते। (अविय-त्तजंभगत्ति) अव्यक्तया अन्नाद्यविभागेन जृम्भका ये ते तथा। क्वचितु ''अहिवइजंभग त्ति'' दृश्यते, तत्र चाधिपतौ राजादिनायकविषये जृम्भका ये ते तथा (सव्वेसु चेव दीहवेयड्ढेसु त्ति) सर्वेषु प्रतिक्षेत्रं तेषां भावात् सप्त-त्यधिकशतसङ्ख्येषु दीर्घ विजयार्द्धेषु पर्वतविशेषु, दीर्घ-ग्रहणं च वर्तुलविजयार्द्धव्यवच्छेदार्थम् (चित्तविचित्तजमग-पव्वएसु त्ति) देवकुरुषु शीतोदानद्या उभयपार्श्वताश्चित्र-कूटश्च पर्वतः तथा उत्तरकुरुषु शीताऽभिधाननद्या उभयतो यमकाभिधानौ पर्वतौ स्तः, तेषु (कंचणपव्वएसु त्ति) उत्तरकुरुषु शीतानदीसंबन्धिनां पञ्चानां नीलवदादिह्रदानां क्रमव्यवस्थितानां प्रत्येकं पूर्वापरतटयोर्दश-दशकाञ्चनकाऽभिधाना गिरयः सन्ति, ते च शतं भवन्त्येवं देवकुरुष्वपि शीतोदानद्याः संबन्धिनां निषधह्रदादीनां पञ्चानां ह्रदानामिति। तदेवं द्वे शते, एवं धातकीखण्डपूर्वार्द्धादिष्वप्यत-स्तेष्विति। भ० १४ श० ८ उ०।

जृम्भाकारके, रुद्रगणभेदे, वाच०।

जंभगामर पुं० (जृम्भकामर) जृम्भकनाम्ना ख्याते देवे, ''अभू-द्वज्रविभोजीवः, प्राग्भवे जृम्भकामरः''। आ० क०।

जंभणओ (देशी) यथेष्टवक्तरि, दे० ना० ३ वर्ग।

जंभणी स्त्री० (जृम्भणी) तन्त्रप्रसिद्धे विद्याविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

जंभा स्त्री० (जृम्भा) भावे अः। आलस्यश्रमगर्भादिजनितजाड्ये, वाच।

***जृम्भ** धा०। विजृम्भणे, **''अवेर्जृम्भो जंभा''** ॥ ८। ४। १५७। इति सूत्रेण ''जंभा'' आदेशे **''स्वरादनतो वा''**। ८। ४। २४०। इति सूत्रेण विकल्पादकारागमे च जृम्भते, ''जंभाइ–जंभाअइ' इति रूपे सिध्यतः। वि उपसर्गे तु ''केलिपसरो विअंभइ'' प्रा० ४ पाद।

जंभाइय न० (जृम्भित) विवृतवदनस्य प्रबलपवननिर्गमे, आव० ५ अ०। आ० चू०। ध०।

जंभायंत त्रि० (जृम्भमाण) विजृम्भमाणे, शरीरचेष्टाविशेषं विदधाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जंभायमाण त्रि० (जृम्भमाण) 'जंभायंत' शब्दार्थे ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जंभियगाम पुं० (जृम्भिकग्राम) स्वनामके मगधदेशान्तर्गते ग्रामे, आचा० ३ चू०। अत्र हि देवेन्द्रेण भगवतो महावीरस्यामुकेषु दिवसेषु गतेषु ज्ञानं समुत्पत्स्यते इति कथितं, तद्ग्रामस्य बहिस्ताच्च ऋजुपालिकाया नद्यास्तीरे शालवृक्षस्याधो भगवतः केवलज्ञानमुत्पन्नम्। आ० म० द्वि०। आ० चू०। कल्प०।

जंभियग्गाम पुं० (जृम्भिकग्राम) 'जंभियगाम' शब्दार्थे आचा० ३ चू०।

जंभो (देशी) तुषे, दे० ना० ३ वर्ग।

जक्ख पुं० (यक्ष) पूजायाम्, यक्ष्यते। यक्ष–कर्मणि–घञ्। वाच०। व्यन्तरविशेषे, रा०। सू० प्र०। जी०। औ०। स०। ज्ञा०। उत्त० अनु०। अष्टमेदव्यन्तराणां मध्ये तृतीयभेदे यक्षाः। प्रव० १६४ द्वार। ते च त्रयोदशविधाः। तद्यथा-पूर्णभद्राः, माणिभद्राः, श्वेतभद्राः, हरितभद्राः, सुमनोभद्राः, व्यतिपातिकभद्राः, सुभद्राः, सर्वतोभद्राः मनुष्ययक्षाः, वनाधिपतयो, वनाहाराः, रूपयक्षाः, यक्षोत्तमाः। प्रज्ञा० १ पद। जिनानां यक्षाः सन्ति। प्रव० १७ द्वार। (तन्नामानि तु 'जिनजक्ख' शब्देऽभिधास्यामः) वृक्षवासिसुरे, उत्त० १६ अ०। देवे च। यथा यक्षेण देवेन आविष्टो यक्षाविष्ट इति। स्था० ५ ठा० १ उ०। स्वनामख्याते वणिजि च। ''पुव्वं किर सिरिकन्नउज्जनगरे जक्खो नाम नेगमो हुत्था'' ती० २६ कल्प। कौशाम्ब्यां धनयक्षाभिधानौ श्रेष्ठिनौ। हा० २३ अष्ट०। इति द्वौ यक्षनामानौ वणिजौ। स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च। चं० प्र० २० पाहु०।

जक्खकद्दम पुं० (यक्षकर्दम) यक्षप्रियः कर्दम इव इति द्वौ यक्षनामानौ वणिजौ। स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च। चं० प्र० २० पाहु०। यक्षे द्वीपे यक्षभद्रयक्षमहाभद्रौ, यक्षे समुद्रे यक्षवरयक्ष-महावरौ। चं० प्र० २० पाहु०।

जक्खगुहा स्त्री० (यक्षगुहा) यक्षनिवासभूतायां गुहायाम्, ''यथार्थरक्षिताचार्याः मथुरानगरीं गताः। तत्र यक्षगुहायां च, व्यन्तरायतने स्थिताः ॥१॥'' आ० क०।

जक्खग्गह पुं० (यक्षग्रह) यक्षावेशे, जी० ३ प्रति०। उन्मत्तताहेतौ यक्षकृतोपद्रवे, जं० २ वक्ष०।

जक्खणायग पुं० (यक्षनायक) वैश्रमणे, अनु०।

जक्खदित्त न० (यक्षदीप्त) एकस्यां दिशि अन्तराऽन्तरा दृश्यमाने विद्युत्सदृशप्रकाशे, प्रव० २६ द्वार।

जक्खदिन्ना स्त्री० (यक्षदत्ता) स्थूलभद्रस्य सप्तानां भगिनीनां मध्ये द्वितीयायां भगिन्याम्, आ० क०। आ० चू०। आव०। कल्प०। ति०।

जक्खपडिमा स्त्री० (यक्षप्रतिमा) यक्षप्रतिकृतौ, ''दो जक्खपडिमाओ''। जी० ३ प्रति०।

जक्खभद्द पुं० (यक्षभद्र) यक्षद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० २० पाहु०। चं० प्र०।

जक्खमंडलपविभत्ति स्त्री० (यक्षमण्डलप्रविभक्ति) द्वात्रिंशद्विधनाट्यस्य दशमभेदान्तर्गते नाट्ये, रा०।

जक्खमह पुं० (यक्षमह) यक्षार्थविहितमहोत्सवे, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०।

जक्खमहाभद्द पुं० (यक्षमहाभद्र) यक्षद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० २० पाहु०। चं० प्र०।

जक्खरत्ती (देशी) दीपालिकायाम्, दे० ना० ३ वर्ग।

जक्खवर पुं० (यक्षवर) यक्षसमुद्राधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु०।

जक्खा स्त्री० (यक्षा) स्थूलभद्रस्य सप्तानां भगिनीनां मध्ये प्रथमायां भगिन्याम्, आ० क०। ति०। आ० चू०। वाच०। (तत्कथानकं तु 'थूलभद्द' शब्दे तच्चरित्रवर्णने दृष्टव्यम्)

जक्खाइट्ठ त्रि० (यक्षाविष्ट) देवाधिष्ठिते, स्था० ५ ठा० २ उ०। ओघ०। ''जक्खाइट्ठो, पीयमज्जो वा जातो कायविक्खेवकि-रियाओ दंसेइ।'' आ० म० प्र०।

जक्खाइट्ठं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेदियस्स निज्जूहित्तए० जाव रोगातकांतो विप्प-मुक्के, तओ० पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठविपव्वे सिया।।

यक्षाविष्टं भिक्षुं ग्लायन्तं यस्य सकाशमागतं तस्य गणायच्छेदिनो न कल्पते निर्यूहितुमपाकर्तुं वैयावृत्य-करणादिना, द्विं त्वाग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्यं तावत् यावत् स रोगातङ्कादिप्रमुक्तो भवति, ततः पश्चात् तस्य प्रगुणीभूतस्य सतो यथास्वघुस्वको यथो-चितस्वरूपो व्यवहारः प्रायश्चित्तः प्रस्थापयितव्यो दातव्यः स्यात्। व्य० अ० २ उ०।

संप्रति यतो यक्षाविष्टो भवति तत्प्रतिपादनार्थमाह–

पुव्वमवियवेरेणं, अहवा रागेण रागितो संतो।
एएहिं जक्खविट्ठो, सेट्ठी सज्झिलग वेसादी ॥६८॥

पौर्वभविकेन पूर्वभवभाविना वैरेण, अथवा रागेण रञ्जितः सन् यक्षैराविश्यते। एताभ्यां द्वेषरागाभ्यां यक्षाविष्टो भवति। तथा श्रेष्ठी द्वेष्यभार्यया मृतिकया, (सज्झिल त्ति) लघुभ्राता ज्येष्ठभार्यवा, द्वेष्यादिभिरित्यत्रादिशब्दात् प्रभृतिकाष्ठेषु भार्यया परिग्रहः ॥६८॥

तत्र श्रेष्ठ्याद्युदाहरणमाह–

सेट्ठिस्स दोण्णि महिला, पिया य वेस्सा य वंतरी जाया।
सामण्णम्मि पमत्तं, छलेति तं पुव्ववेरेणं ॥६९॥

''एगो सेट्ठी, तस्स दो महिला, एगा पिया, एगा वेस्सा य, तत्थ सा वेस्सा अकामनिज्जराए मरिऊणं वंतरी जाया, सेट्ठी वि तथारूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोच्चा पव्वइतो, सा य वंतरी पुव्वभववेरेण छिद्दाणि मग्गइ, अन्नया पमत्तं दट्ठूण छलियातो।'' अक्षरार्थस्त्वयम्–श्रेष्ठिनो द्वे महिले, तद्यथा–एका प्रिया, अपरा द्वेष्या। तत्रैका मृता व्यन्तरी जाता, सा श्रामण्ये स्थितं श्रेष्ठिनं प्रमत्तं दृष्ट्वा पूर्ववैरेण छलितवती। गाथायामतीतकालेऽपि वर्तमानता प्राकृतत्वात् ॥६९॥

संप्रति लघुभ्रातृदृष्टान्तमाह–

जेट्ठगभाउगमहिला, अज्झोववण्णा उ होइ खुड्डलए।
धरमाण–मारियम्मी, पडिसेहे वंतरी जाया ॥७०॥

''एगम्मि गामे दो भायरो, तस्स भारिया खुड्डलगे अज्झोववण्णा, सा तं पत्थेइ, खुड्डलगो नेच्छइ, भणइ–तुमं मम जेट्ठभाउयं धरमाणं न पाससि, तीए चिंतियं–जावज्जीवइ ताव मे नत्थि एसो देवरो त्ति, तओ छिद्दं लहिऊण विससंचारेण मारितो नियभत्ता, ततो भणियं–जस्स भयं कासी सो मओ, इयाणिं पूरेहि मे मणोरहं, तेण चिंतियं–तूणमेतीए मारितो जेट्ठभाउगो, धिरत्थु कामभोगाणमिति संवेगतो पव्वइतो, इयरी वि दुहसंतत्ता अकामनिज्जराए मरिऊण वंतरी जाया, ओहिणा पुव्वभावं पासइ, दिट्ठो देवरो सामन्ने ठितो, ततो नाहमणेण इच्छिय त्ति पुव्वभववेरेण सरंतीए पमत्तो छलितो''। अक्षरयोजना त्वियम्– ज्येष्ठमातृमहेला क्षुल्लके लघौ भातरि अध्युपपन्ना जातानुरागा, सा च तेन ज्येष्ठे भ्राता धरन्तं जीवन्तं न पश्यसीति प्रतिषिद्धा, मारिते प्रव्रज्यादिप्रतिपत्तितः प्रतिषिद्धा व्यन्तरी जाता। अत्र पूर्वं रागः पश्चाद् द्वेषः ॥७०॥

दृतिकादृष्टान्तमाह–

भतिया कुडुंबिएणं, पडिसिद्धा वाणमंतरी जाया।
सामण्णम्मि पवन्नं, छलेति तं पुव्ववेरेण ॥७१॥

एगो कुडुंबितो उरालसरीरो एगाए भइगाए उरालसरीराए पत्थितो, सा तेण नेच्छिया, तओ सा गाढमज्झुववण्णा, तेण सह संपओगमलभमाणी दुक्खसागरमोगाढा अकामनिज्जराए मरिऊणं वंतरी जाया, सो य कुडुंबिओ तहारूवाणं थेराणं अंतिए पव्वइओ, सो तीए अभोगितो अन्नया पमत्तं दट्ठूण छलिया तो''। अक्षरार्थस्त्वयम् –भृतिका कर्मकरी, कौटुम्बिकप्रतिषिद्धा व्यन्तरी जाता, ततस्तं कौटुम्बिकं श्रामण्याश्रितं प्रमत्तं सन्तं पूर्ववैरेण (छलेति त्ति) छलितवती ॥७१॥

संप्रत्येवं छलितस्य यतनामाह –

तस्स उ भूयतिगिच्छा, भूयरवावेसेण सयं वा वि।
नीयुत्तमं तु भावं, नाउं किरिया जहा पुव्विं ॥७२॥

तस्य रागेण द्वेषेण वा व्यन्तरादिना छलितस्य, पुनः क्रिया कर्तव्येति योगः। कथमित्याह–तस्य भूतस्य नीचमुत्तमं तु भावं ज्ञात्वा, कथं ज्ञात्वेत्यत आह–यथाऽभिहितं पूर्वम्, किमुक्तं भवति ? कायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य तद्वचनतः, का क्रिया कर्तव्येत्यत आह–भूतचिकित्सा भूतोच्चाटिनी चिकित्सा भूतचिकित्सा ॥७२॥ व्य० २ उ०।

एवमेव निर्ग्रन्थीं विषयीकृत्य सूत्रं यथा–

जक्खाइट्ठं निग्गंथिं निग्गंथो गिण्हमाणे नाइक्कमइ।

यतश्च सा यक्षाविष्टा भवति, तत्प्रतिपादनं तूपरितन-ग्रन्थवदेव, केवलं स्त्रीलिङ्गाभिलापेन वाच्यम्। बृ० ६ उ०।

जक्खादित्तय न० (यक्षादीप्तक) एकस्यां दिशि अन्तराऽन्तरा दृश्यमाने विद्युत्सदृशे प्रकाशे, व्य० ७ उ०। आकाशे व्यन्तर-कृतज्वलने, भ० ३ श० ६ उ०। नभसि दृश्यमानेऽग्निसहिते पिशाचे च, जी० ३ प्रति०। अनु०। ''जक्खालित्तं जक्खादित्तं आगासे भवइ'' आ० चू० ४ अ०। स्था०।

जक्खालित्तय न० (यक्षादीप्तक) 'जक्खादित्तय' शब्दार्थे, जी० ३ प्रति०।

जक्खावेस पुं० (यक्षावेश) देवाधिष्ठितत्वरूपे उन्मादे, स्था० २ ठा० १ उ०। बृ०। (केवलिनो यक्षावेशो न भवतीति 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४५७ पृष्ठे गतम्)

जक्खसिरी स्त्री० (यक्षश्री) सोमभूतिब्राह्मणस्य स्वनाम्न्यां स्त्रियाम्, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ०।

जक्खिंद पुं० (यक्षेन्द्र) यक्षाणामिन्द्रे, स्था० ४ ठा० १ उ०। अष्टादशजिनयक्षे, प्रव०। श्रीअरजिनस्य यक्षेन्द्रो यक्षः षण्मुखस्त्रिनेत्रः श्यामवर्णः शङ्खशिखिवाहनो द्वादशभुजो बीजपूरकवाणखड्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणकरषट्को नकुलधनुः फलकशूलाङ्कुशाक्षसूत्रयुष्वामपाणिषट्कश्च। प्रव० २६ द्वार। भ०।

जक्खिणी स्त्री० (यक्षिणी) यक्षयोनिकायां व्यन्तरदेव्याम्, ''सा मया जक्खिणी जाया''। आ० म० द्वि०। अरिष्टनेमेः प्रथम-प्रवर्तिन्याम्, आ० म० प्र०। स०। आ० चू०। अन्त०।

जक्खुत्तम पुं० (यक्षोत्तम) यक्षाणां त्रयोदशभेदेष्वन्तिमे भेदे, प्रज्ञा० १ पद०।

जग पुं० (जग) जन्तुषु, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

जगत् न० गच्छति तांस्तान् नारकादिभावानिति जगत्। भ० १२ श० ६ उ०। अष्ट०। पञ्चास्तिकायरूपे चराचरे, नं०। लोके, संथा०। लोकालोके, नं०। संसारे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। चराचरभूतग्रामे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। सकलसत्त्वे, नं०। दश०। प्राणिसमूहे, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। संज्ञिपञ्चेन्द्रियसमूहे, नं०। पृथिव्याम्, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। ''भुवणं जगं च लोओ।'' को०। गम–क्विप्–नि० –द्वित्वम्–तुक् च। वायौ, जङ्घायाम्, त्रि०। वाच०।

जगई स्त्री० (जगती) गम–क्विप्। ''वर्तमानेपृषन्महद्बृहज्जगच्छ-तृवच्च'' इति कात्यायनिवचनात् शतृतुल्यत्वात् ङीप्। भुवने, पृथिव्याम्, आर्यभट्टमते भूमेश्चलत्वाद् गतिमत्त्वेन तथात्वम्। अन्यमते जगदाधारत्वात् तस्यास्तथात्वमिति भेदः। द्वादशाक्षरपादके छन्दोभेदे, वाच०। ''भूयाणं जगई जहा।'' जगती पृथ्वी। उत्त० १ अ०। द्वीपसमुद्रसीमाकारिणि महानगरप्राकार कल्पे वज्रमये जम्बूद्वीपप्राकारे, जं० १ वक्ष०। जी०।

तद्वक्तव्यता यथा–

से णं एगाए वइरामईए जगईए सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते। सा णं जगई जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, मूले बारस जोअणाइं विक्खंभेणं, मज्झे अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं, उप्पिं चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं, मूले विच्छिण्णा, मज्झे संक्खित्ता, उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिया सव्ववइरामई अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका णिक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासादीया दंसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा॥

''से णं इत्यादि। सोऽनन्तरोक्तायामविष्कम्भपरिक्षेपपरिमाणो जम्बूद्वीपः णमिति वाक्यालङ्कारे, एकया जगत्या सुनगर-प्राकारकल्पया, सर्वतः सर्वासु दिक्षु, समन्ततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः सम्यग् वेष्टितः। ''सा णं जगई'' इत्यादि। सा च जगती ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन अष्टौ योजनानि, मूले द्वादश योजनानि विष्कम्भेन, मध्ये अष्टौ, उपरी चत्वारि, अत एव मूले विष्क- म्भमधिकृत्य विस्तीर्णा, मध्ये संक्षिप्ता, त्रिभागोनत्वात्, उपरि तनुका, मूलापेक्षया त्रिभागमात्रविस्तारभावात्। एतदेवोपमया प्रकटयति– (गोपुच्छसंठाणसंठिया) गोपुच्छस्येव संस्थानं गोपुच्छसंस्थानं, तेन संस्थिता, ''ऊर्द्ध्वीवकृतगोपुच्छाकारेति भावः। (सव्ववइरामई) सर्वात्मना सामस्त्येन वज्रमयी वज्ररत्नात्मिका, अच्छा आकाशस्फटिकवदतिस्वच्छा (सण्हा) श्लक्षणपुद्गस्कन्धनिष्पन्ना श्लक्ष्णदलनिष्पन्नपटवत्, (लण्हा) मसृणा घुण्टितपटवत्, (घट्ठा) घृष्टा इव घृष्टा खरशाणया पाषाणप्रतिमावत्, तथा मृष्टा इवं मृष्टा सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमावत्, नीरजाः स्वाभाविकरजोरहितत्वात्, निर्मला आगन्तुकमलाभावात्, निष्पङ्का कलङ्कविकला कर्दमरहिता वा (निक्कंकडच्छाया इति) निष्कङ्कटा निष्कवचा निरावरणा, निरुपघातेति भावार्थः। छाया दीप्तिर्यस्याः सा निष्कङ्कटकच्छाया सप्रभा स्वरूपतः प्रभावती समरीचा बहिर्विनिर्गत-किरणजाला, अत एव सोद्द्योता बहिर्व्यवस्थितवस्तुस्तोमप्रकाशकरी, प्रसादाय मनःप्रसत्तये हिता तत्कारित्वात् प्रासादीया, मनः प्रह्लत्तिकारिणीति भावः। दर्शनीया दर्शनयोग्या, यां पश्यतश्चक्षुषीश्रमं न गच्छत इति। (अभिरूवा इति) अभि सर्वेषां द्रष्टृणां मनःप्रसादानुकूलतया अभिमुखं रूपं यस्याः सा अभिरूपा, अत्यन्तकमनीया इति भावः। अत एव प्रतिरूपा प्रतिविशिष्टमसाधारणं रूपं यस्याः सा प्रतिरूपा। अथवा–प्रतिक्षणं नवं नवमिव रूपं यस्याः सा प्रतिरूपा। जी० ३ प्रति०। अथात्र सूत्रेऽनुक्तोऽपि वाचयितृणामधिकारार्थं जिज्ञापयिषया जगत्या इष्टस्थाने विस्तारानयनोपायः प्रदर्श्यते–तत्र मूले मध्ये उपरि च विष्कम्भ परिमाणं साक्षादेव सूत्रे लभ्यते, अपान्तराले उपरिष्टादधोगमनेऽयमुपायः जगती-शिखरादधो यावदुत्तीर्णं तस्मिन्नेकेन भक्ते सति यल्लब्धं तच्चतुर्भिर्युत-मिष्ट स्थाने विस्तारः। तथाहि–उ परितनभागाद्योजनमेकं गव्यूताधिक्रमव-

तीर्णं, ततो राशेरेकेन भागे हृते लब्धमेकं योजनं गव्यूताधिकं, तच्च योजनचतुष्कयुतं क्रियते, जातानि पञ्चयोजनानि गव्यूताधिकानि, एतावाँस्तत्र प्रदेशे विष्कम्भः एवं सर्वत्र भाव्यम्। संप्रति मूलादूर्द्ध गमने विस्तारानयनोपायः मूलादूर्द्ध गमने यावदूर्द्ध गतं, तस्यैकेन भागे हृते यल्लब्धं तस्मिन्मूलविस्तराच्छोधिते यच्छेषं स तत्र योजनादावतिक्रान्ते विस्तारः। तद्यथा—मूलादुत्पद्य योजनमेकं गव्यूतद्वयाधिकं गतः, ततो योजनस्य गव्यूतद्वयाधिकस्यैकेन भागे हृते लब्धं योजनं गव्यूतद्वयाधिकम्, एतन्मूलसंबन्धिनो द्वादशयोजनप्रमाणविस्तारादपनीयते, स्थितानि दश योजनानि गव्यूतद्वयाधिकानि, एतावत्प्रमाणः सार्द्धयोजनातिक्रमे विस्तारः एवं सर्वत्राऽपि भाव्यम्। एवमृषभकूटजम्बूशाल्मलीवृक्षवनगतकूटानामिष्टस्थाने विस्तारानयनार्थमिदमेव करणं भाव्यम्। जं० १ वक्ष०।

अथास्यां गवाक्षकटकवर्णनायाऽऽह—

सा णं जगई एगेणं महंतगवक्खकडएणं सव्वओ संमंता संपरिक्खित्ता, से णं गवक्खकडए अद्धजोअणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसयाइं विक्खंभेणं सव्वरयणामए अच्छे० जाव पडिरूवे॥

साऽनन्तरोदितस्वरूपा जगती, 'णं' इति प्राग्वत्। जगती एकेन महता गवाक्षकटकेन बृहज्जालकसमूहेन, सर्वतः सर्वासु दिक्षु, समन्तात् सामस्त्येन, संपरिक्षिप्ता व्याप्तेत्यर्थः। स गवाक्षकटक ऊर्द्धोच्चत्वेनार्द्धयोजनं द्वे गव्यूते, विष्कम्भेन पञ्चधनुशतानि, सर्वात्मना रत्नमयः। तथा अच्छः अत्र यावत्करणात् प्राग् व्यावर्णितं विशेषणापदवृन्दं ग्राह्यम्। इयं च गवाक्षश्रेणिर्मवणोदयाच्च जगतीभित्तिबहुमध्यभागगताऽवगन्तव्या, रिरंसुदेवविद्याधर-वृन्दरमणस्थानेम्।

अथ जगत्युपरिभागवर्णनायाऽऽह—

तीसे णं जगईए उप्पिं बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं महई एगा पउमवरवेइया पण्णत्ता। अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं जगईसमिया परिक्खेवेणं सव्वरयणामई अच्छा० जाव पडिरूवे॥

तस्या यथोक्तस्वरूपाया जगत्या उपरितनतले यो बहु-मध्यदेशलक्षणोः भागः भागश्च प्रदेशलक्षणोऽपि स्यात्तत्र च पद्मवरवेदिकाया अवस्थानासंभवः, अतो देशग्रहणेन महान् भाग इत्यर्थः। स च चतुर्योजनात्मकजगत्युपरितनतलस्य मध्ये पञ्चधनुःशतात्मक इति। सूत्रे एकारो मागधभाषालक्ष्यानुरोधात्। अत्र एतस्मिन् बहुमध्यदेशभागे, 'णं' इति प्राग्वत्। महती एका पद्मवरवेदिका देवभोगभूमिः प्रज्ञप्ता, मया शेषैश्च तीर्थकरैः। सा च ऊर्द्धोच्चत्वेन अर्द्धयोजनं, पञ्चधनुःशतानि विष्कम्भेन, जगत्याः समा समाना जगतीसमा, सा च जगतीसमिका, परिक्षेपेण परिरयेण, कोऽर्थः ? जम्बूद्वीपस्य सर्वतो वलयाकारेणः व्यवस्थिताया जगत्या यावदुपरितनं तलं चतुर्योजनविस्तारात्मकं तस्माल्लवणदिशि देशोनयोजनद्वयात्पङ्क्तेरर्गक् यावान् जगतीपरिरयस्तावानस्यापीति, सर्वरत्नमयी सामस्त्येन रत्नखचिता, ''अच्छा सण्हा'' इत्यादि विशेषणकदम्ब पाठतोऽर्थतश्चप्राग्वत्। जं० १ वक्ष०।

(पद्मवरवेदिकावक्तव्यता तु ''पउमवरवेइया'' शब्दे वक्ष्यते)

जगती ''जगई'' शब्दार्थे, जं० १ वक्ष०। जगतीपार्श्वे मक्षिकापक्षप्रमाणं जलं कथितमस्ति, तत्र सर्वदा मक्षि-कापक्षप्रमाणं, किं वा वेलाया, आगमने न्यूनाधिक्यं वा भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्—मक्षिकापक्षप्रमाणं यत्र जलमस्ति तत्र सर्वदा सदृशं भवति, परं वेलाप्रयोगेण न्यूनाधिक्यज्ञानं नास्तीति। ५२ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

जगईपव्वयग पुं० (जगतीपर्वतक) सूर्याभविमानपरिसरवर्तिवनखण्डगतक्षुद्रवापी प्रदेशवर्तिषु पर्वतविशे-षेषु, रा०।

जगगुरु पुं० (जगद्गुरु) जगतः सचराचरभुवनस्य गुणैर्गुरुत्वात् जगतां वा जङ्गमानां यथावद्वस्तुतत्त्वोपदेशनात् तेषामेव वा गौरवार्हत्वा-द् गुरुर्जगद्गुरुः। पञ्चाः ४ विव०। त्रिभुवननाथे जिने, पञ्चा० ४विव०। हा०।

जगचंदसूरि पुं० (जगच्चन्द्रसूरि) स्वनामके तपागच्छाचार्ये, कर्म० ६ कर्म०।

तद्वृत्तान्तस्त्वयम्—

''शिष्या मणिरत्नगुरो —स्ततो जगच्चन्द्रसूरयोऽभूवन्।
भूतलविदिता नूतन— वैराग्यावेगभाजस्ते॥२७॥
श्रीचैत्रगणाम्भोधौ, विधूपमाद्देवभद्रगणिमिश्रात्।
उपसंपद्याश्चरणं, विधिना संवेगवेगयुताः॥२८॥
आचाम्लाख्यतपोभि—ग्रहवन्तो व्यधुर्विधूतमलाः।
शरकरटितरणि(१२८५) वर्षे, ख्यातस्तत इति तपागच्छः॥२९॥

ग० ४ अधि०।

''क्रमात्प्राप्ततपाचार्ये—त्यभिख्यां भिक्षुनायकाः।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः॥१॥

कर्म० ५ कर्म०। ध० २०।

जगच्चंदसूरि पुं० (जगच्चन्द्रसूरि) 'जगचंदसूरि' शब्दार्थे, कर्म० ६ कर्म०।

जगजीवजोणीवियाणय पुं० (जगज्जीवयोनिविज्ञायक) जगद् ''धर्माधर्माकाशपुद्गलास्तिकायरूपं जगत् सचराचरम्'' इति वचनात् जीवा इति जीवन्ति प्राणान् धारयन्तीति जीवा योनय इति (नं०) युक्' मिश्रणे, युवन्ति तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकशरीरेण वैक्रियशरीरेण वाऽऽस्विति योनयो जी-वानामेवोत्पत्तिस्थानानि, ताश्च सचित्तादिभेदभिन्ना अनेक-प्रकाराः। उक्तं च— सचित्तशीतसंवृतेतरमिश्रास्तद्योनय इति। जगच्च जीवाश्च योनयश्च जगज्जीवयोनयः तासां विविधमनेक-प्रकारमुत्पाद्यानन्तधर्मात्मकतया जानातीति विज्ञायको जग-ज्जीवयोनिविज्ञायकः। केवलज्ञानिनि, नं०।

जगजीवण पुं० (जगज्जीवन) जगन्ति जङ्गमानि अहिंसकत्वेन जीवयतीति जगज्जीवनः। जिनेश्वरे, स० ३० सम०। दशा०।

जगजीववियाणय पुं० (जगज्जीवविज्ञायक) सर्वज्ञे, व्य० ३ उ०।

जगद्भासि(ण्) पुं० (जगदर्थभाषिन्) जगत्यर्था जगदर्था ये यथा व्यवस्थिताः पदार्थाः तानाभाषितुं शीलमस्य जगदर्थभाषी तद्यथा—ब्राह्मण डोडमिति ब्रूयात्, तथा वणिजं किराटमिति, शूद्रमाभीरमिति, श्वपाकं चाण्डालमित्यादि। तथा

काणं काणमिति, तथा खञ्जं कुब्जं वडभमित्यादि, तथा कुष्ठिनं क्षयिणमित्यादि, यो यस्य दोषस्तं तेन खरं परुषं ब्रूयात् यः स जगदर्थभाषी। अप्रियसत्यभाषिणि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

***जयार्थभाषिन्** पुं० जयार्थभाषी यथैवात्मनो जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भाषये तच्छीलश्च, येन केनचित्प्रकारेणासदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छतीत्यर्थः। असदर्थभाष-णेनापि आत्मनो जयमिच्छति, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

जगडिओ (देशी) विद्रावितेे, दे० ना० ३ वर्ग।

जगडिज्जंत जागर्य्यमाण–उत्थाप्यमाने, ''धन्नाणं तु कसाया, जगडिज्जंता वि परकसाएहिं। निच्छंति समुट्ठित्ता, सुनिविट्ठो पंगुलो चेव ॥१॥'' द० प० ४ प०।

जगडू पुं० (जगडू) स्वनामके अन्नदानलब्धकीर्ती महार्धिके श्रेष्ठिनि, उपदेशतरङ्गिणी। यथा–पञ्चालदेशमण्डने भद्रेसरग्रामे श्रीमालीयज्ञातिः सासोलाऽभिधो व्यवहारिमुख्यः, तस्याङ्गजो जगडूनामा श्राद्धः, एकदा पौषधागारे प्रतिक्रान्तं विधाय मौनेन नमस्कारान् गुणयन्नस्ति, रात्रिप्रहरानन्तरं यतिभिश्चन्द्रेण रोहिणीशकटं भिद्यमानं दृष्ट्वा गुरुपार्श्वे पृष्टम् भगवन् ! एवंविधो भवन्नस्ति। गुरुभिरपि विलोक्योक्तम् –अत्र कोऽप्यस्ति न ? साधुभिरुक्तम् –न कोऽपि। ततो गुरुभिरुक्तम् संवत् १३१५ मिते रौरवं दुर्भिक्षं भविष्यति। साधुभिः पृष्टम् –भगवन्। कोऽपि जगदुद्धर्ताऽस्ति, न वेति। गुरुणोक्तम् अस्माकं मन्त्रा-धिष्ठायकदेवेन पूर्वमेवादिष्टमस्ति–अनेन प्रकारेण जगडूर्जगदुद्धर्ता भविष्यति। तैरुक्तम्– अस्येदृग्धनं क्वास्ति ? गुरुः प्राह– ''अस्य गृहवाटके-ऽर्कस्याधः कोटित्रयप्रमाणं धनमस्ति'' इत्यादि गुरुवचः श्रुत्वा जगडूश्चिन्तयति– अहो मम महद्भाग्यं, यद् गुरुमुखादेवं श्रूयते। ततो रात्रौ मौनेन स्थितः शालायां, ततः प्रभाते विलोकितं तद्दृष्टकथितं रात्रौ तद्वचनं, तेन धान्य-ग्रहणचिकीर्षुरभूत्। इतश्च साधुजगडूकस्य वणिक्पुत्राः वखा-रिस्थाः मलवारे सन्ति, तत्र बहूनां व्यवहारिणां वखारिरस्ति। तत्र जगडूवखारि-रपरव्यवहारिवखारिद्वयान्तराले एका पाषाणशिलाऽस्ति। तत्र द्वयोर्वखारिधनिकयोः प्रातर्दन्त-धावनकरणस्थानम्। एकदा समकालमेव तौ दन्तधावनायागतौ, एक एव तत्रोपवेष्टुं शक्नोति, न द्वावपि। तेनैवः कथयति– अत्राहं प्रथममुपविश्य दन्तधावनं करिष्ये। द्वितीयस्तु वक्ति– अहं प्रथमं करिष्ये इत्यादि विवादे जायमाने अहङ्कृतितोऽत्यन्तं हठो जातः, राजवर्गीयनरैः पर्यवसायितावपि न मन्येते। ततस्तैरुक्तम् –यो राज्ञः षट्श-तस्पर्द्धकानि दास्यति सोऽत्र *दन्तधावनं करिष्यति। एवं बहुधनं वर्द्धितं, मम श्रेष्ठी लज्जते यदि* पश्चाद्भवामि। यतः ''क्षत्राः शस्त्रैर्बुधाः शास्त्रै–रिभ्याः स्वैः पामराः करैः। गालीभिरङ्गनाः शूद्रैः पशवः कलिकारिणः ॥२०॥'' एवं युद्धे यावदेकोऽपि न निवर्तते तावत् होडकोडस्य विलोक्यते। अतो मम श्रेष्ठी नामितो मा भूत् ततो जगडूवणिक्पुत्रेण पञ्चविंशति शतस्पर्द्धकैः गृहीतः स पाषाणः ''चारचलावइं पानबोलावइं हाथहलावइं धनंहुफावइ'' इति *लोकोक्तिः रात्र्या, तेन श्रेष्ठिना ज्ञापितो वृत्तान्तः।* जगडूः प्राह– *वर्य्यं कृतं यन्मम महत्वं प्रदेशे रक्षितम्। ततः स पाषाणः स्वस्थाने आनायितः।* जगडूरपि तत्रोपविश्य दन्तधावनं करोति। एकदा मध्याह्ने जगडू-भोजनार्थमुपविष्टः तस्मिन्नवसरे कोऽपि योगी गृहद्वारे प्राप्तः। पत्नीं प्राह श्रेष्ठीसद्योग्यां रसवतीं परिपूर्णपुरुषाहारप्रमाणां अस्य देहि, सा तथा करोति, योगी न लाति, तया स्वपतेः प्रोक्तम्। पुनस्तेनोक्तम्– रूप्यस्थालं वर्तुलिकासहितं देहीति, तथा कृते तुष्टो योगी ब्रूते–भोः दातृशिरोमणे ! तव परीक्षायैः आगतोऽहं भुवं भिक्षार्थं भ्रमन्, यतो मम दातृपुरुषविलोकयतुः षण्मासा गताः परं न कोऽपि दृष्टः, त्वं त्वद्य दृष्टः जगदुद्धरणक्षमः। साधुराह–ममेदृग्धनं क्व ? योगी प्राह–एष पाषाणः सद्रव्योऽस्ति इत्युक्त्वा स्थितो योगी। साधुरपि तत्पूजायै यावद्वर्यदुकूलाद्यानयति तावत्स गतः सर्वत्र विलोकितोऽपि न लब्धः। साधुना चिन्तितमसौ योगी न हि, किं तु मम पूर्वसंबन्धी कोऽपि देवः पुण्यकीर्तिदाता, विलोकितः पाषाणः एकत्र कारी दत्ता, दृषदो दूरीकृताः दृष्टानि तत्र पञ्चस्पर्शपाषाणखण्डानि, स्पर्शपःषाण योगेन लोहं स्वर्णी भवेत्। ततो गुरूक्तं सत्यं मन्यमानो जगडूर्जगदुद्धरणाय मनोऽकरोत्। सर्वदेशेषु धान्यसंग्रहमकार्षीत्। दुर्भिक्षे पतिते दिल्ली-स्तम्भन-पुरधवलक्काणाहिल्लपत्तनादिषु द्वादशोत्तरशतसत्रागारान-मण्डयत्। तेषु लोकानां सारभोजनं सघृतं दीयते यथेच्छम्। यतः ''नउकरवाली मणिअडा, ते अगीला चारि। दानसाल जगडूतणी, दीसइ पुहविमझारि ॥२१॥'' दुष्टनृपग्रहणभीत्या रङ्कयोग्या एते इति सकलकोष्ठेषु नाम दत्तम्। ''अट्ठय मूडसहस्सा, वीसलदेवस्स वार हम्मीरे। इगवीस य सुरताणे, दुब्भिक्खे जगडूसाहुणा दिन्ना'' ॥२२॥ एवंविधां जगडूकीर्तिं श्रुत्वा स्पर्धया वीसलदेवराजेन वीसलनगरे सत्रागारो मण्डितः। संपत्त्यभावात्तैलं परिवेषयति, कियद्दिनैस्तैलमपि निवारितम्, एकदाराज्ञा कार्यविशेषेण जगडूसाधुराकारितः, स नृपं नत्वोपविष्टः, राजाऽऽदेशे 'जी जी' इति भणति। तदा चारणेनोक्तम्– ''वीसलदेव रुऊ करइ, जगडू कहावइ जी। तइं परिसइ फालिसिउ, ए परीसावइ घी'' ॥२३॥ तदनु मत्सरं मुक्त्वा जगडूपार्श्वान्निजप्रणामकरणं निषिद्धम्, प्रभाते तत्रोपविश्य दानमण्डपिकायां द्रव्यदानं ददाति जगडूः तत्र यवनिकां बन्धयति, यतः लज्जया कुलीनाः प्रकटं न गृह्णन्ति, तेषां दानार्थं, सलज्जया च यवनिकान्तरिताः स्वकरं जगडू श्रेष्ठ्यग्रे विस्तारयन्ति, तदनु यथाभाग्यानुसारेण हाटकट-ङ्कारूप्यटङ्कस्पर्द्धक-द्रम्मशतादि ददाति। अत्रावसरे वीसलदेवभूपः स्वभाग्यपरीक्षार्थं वस्त्रादिवेषं परावर्त्य एकाकी निजकरं यवनिकान्तरस्थ उड्डयामास। जगडूर्नानप्रकारलक्षणताम्रताकठिनताधनभाग्यसंपद्यशः सौख्यविद्या-दिबहुरेखाङ्कितं तं करं दृष्ट्वा जगज्जनमान्यस्य कस्यापि नरेन्द्रस्य संप्रतीदृशीमवस्थां प्राप्तस्य तथा करोमि यथा यावज्जीवं सुखी स्यात् इति विचिन्त्य स्वकराङ्गुलीतो मणिमण्डितमुद्रिका उत्तार्य प्रदत्ता। सकौतुकेन भूपेन क्षणं स्थित्वा वामः करउद्धृतः। तत्रापि द्वितीया मुद्रिका मुक्ता। मुद्राद्वयं गृहीत्वा भूपः स्वावासे गतः। द्वितीयदिने जगडूसाधुमाकार्य किमेतदिति दर्शितवान् मुद्राद्वयम्। साधुनोक्तम्– ''जत्थ गओ तत्थ गओ, सामलसीहो न जुज्झए अहलं। जत्थ गओ तत्थ गओ, एत्थ रओ पाणियं वहइ'' ॥२४॥ हठात् मुद्राद्वयं परिधाप्य हस्तिस्कन्धमारोप्य गृहे प्रेषित इति जगडूसाधुप्रबन्धः। उपदेशतरङ्गिणी।

जगणंदण पुं० (जगन्नन्दन) जिनेश्वरे, स्वनामकचारणमुनौ

च। तथाहि – ''सयंपभा कन्ना अभिणंदणजगणंदणचारणसमीवे सुअधम्मसंमत्तं पडिवन्ना''। सङ्घा।

जगणाह पुं० (जगन्नाथ) जगतः सकलचराचररूपस्य यथावस्थितस्वरूपप्ररूपणद्वारेण वितथप्ररूपणापायेभ्यः पालनाच्च नाथ इव नाथो जगन्नाथः। जिनेश्वरे, नं०।

जगणिस्सिय त्रि० (जगन्निश्रित) जगल्लोकस्तत्र निश्रित आश्रितः। लोकस्थिते वस्तुनि, ''जगणिस्सिएहिं भूएहिं'' उत्त० ८ अ०।

जगदुच्चरिय न० (जगदुश्चरित) जगतां प्राणिनां दुश्चरितं हिंसादिनिबन्धनं कर्म। प्राणिनां दुराचारे, हा० २६ अष्ट०।

जगपागड त्रि० (जगत्प्रकट) जङ्गमजन्तूनां प्रत्यक्षप्रमाण सिद्धतया प्रकटे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

जगपियामह पुं० (जगत्पितामह) जगतां सकलसत्त्वानां नारकादिकुगतिविनिपातभयापायरक्षणात् पितेव पिता सम्यग्दर्शनमूलोत्तरगुणसंहतिस्वरूपो धर्मस्तस्यापि च पिता भगवान्, अर्थतस्तत्प्रणीतत्वात्। नं०। जिनेश्वरे, ब्रह्मणि च। ''ब्रह्मा जगत्पितामहः'' सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

जगबंधु पुं० (जगद्बन्धु) जगतः सकलप्राणि समुदायरूपस्याव्यापादनोपदेशप्रणयनेन मुखस्यापकत्वात् बन्धुरिय बन्धुः। जिनेश्वरे, नं०।

जगय न० (यकृत्) यं संयमं करोति, कृ–क्विप्–तुक् च। कुक्षौ दक्षिणभागस्थे मांसपिण्डे, तद्बर्द्धके रोगभेदे च। अस्य शसादौ भत्वे च यकन्नादेशः। वाच०। ''आसस्स णं धावमाणस्स हिययस्स य जगयस्स य अंतराले।'' भ० १० श० ३ उ०।

जगलं (देशी) पङ्किलायाम्, सुरायाम्, दे० ना० ३ वर्ग।

जगसव्वदंसि(ण्) पुं० (जगत्सर्वदर्शिन्) जगतः सर्वभावदर्शिनि ज्ञातपुत्रे महावीरे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

जगसहाव पुं० (जगत्स्वभाव) जगतः चराचरस्य स्वो भावः। '' जन्म मरणं च नियतं, बन्धुर्दुःखाय धनमनिर्वृतये। तन्नास्ति यन्न विपदे, तथाऽपि लोको निरालोकः॥१॥'' इत्यादिलक्षणे विश्वस्वभावे, आव० ४ अ०।

जगहित त्रि० (जगद्धित) पुरुषार्थोपयोगितया विश्वहितावहे, स० ३२ सम०।

जगहिय त्रि० (जगद्धित) 'जगहित' शब्दार्थे, स० ३२ सम०।

जगाणंद पुं० (जगदानन्द) जगतां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाममृतस्यन्दिमूर्तिदर्शनमात्रतो निःश्रेयसाभ्युदयसाधकधर्मोपदेशद्वारेण चानन्दहेतुत्वात् ऐहिकामुष्मिकप्रमोद कारणत्वात् जगदानन्दः। जिनेश्वरे, नं०।

जगार पुं० [ज (य)]कार जवर्णे, यवर्णे, यच्छब्दे च। ''जगारुद्दि-ट्ठाणं तगारेणं निद्देसो कीरति''। नि० चू० १ उ०।

जगारी स्त्री० (जगारी) (राजगरो) इतिनाम्ना प्रसिद्धे क्षुद्रधान्ये, ''असणं ओयण–सत्तुग–मुग्ग–जगारीइ''। इह 'जगारी' शब्दः समयसिद्धः, आदिशब्दात् क्षैरेयीकरम्बकादिग्रहः। पञ्चा० ५ विव०।

जग्ग धा० (जागृ) निद्राक्षये, **''जाग्रेर्जग्गः''** ॥८।४।८०॥ 'जग्गइ' पक्षे 'जागरइ' जागर्ति। प्रा० ४ पाद।

जग्गण न० (जागरण) अनिद्रागमने, प्रश्न १ आश्र० द्वार।

जग्गह पुं० (यद्ग्रह) यत् प्राप्यते तद् गृह्यतामित्याकारिकायां राजाज्ञायाम्, ''रण्णा जग्गहो घोसितो''। आ० म० प्र०। ''यद्ग्रहो घोषितस्तत्र, शतानीकमही भुजा। तदनीकभटाश्चम्पां, स्वेच्छया मुमुषुस्ततः'' ॥ आ० क०।

जग्गाह पुं० (यद्ग्राह) 'जग्गह' शब्दार्थे, आ० क०।

जघण न० (जघन) वक्रं हन्ति। हन–यङ्–अच्–पृषो०। वाच०। स्त्रिया अग्रे तनकट्यधोभागे, कल्प० २ क्षण। ''सुंदरथणजघनवयणकरचरणनयणलावण्णविलास कलिया''। औ०। भगरूपे स्त्रीकटेरग्रभागे च। तं०।

जच्च त्रि० (जात्य) जातौ भवः यत्। कुलीने, श्रेष्ठे, कान्ते, सुन्दरे, ''किं वा जात्याः स्वामिनो ह्येपयन्ति''। ''जात्यस्तेना-ऽभिक्षातेन, शूरः शौर्ययता कुशः''। ''सर्ववर्णेषु तुल्यासु, पत्नीष्वक्षतयो-निषु। आनुलोम्येन संभूताः। जात्या जातास्तयैव ते ॥१॥'' वाच०। स्वाभाविके, तं०। भ०। प्रश्न०। सजातीये अविजातिमति, जी० ३ प्रति०। नाशुद्धमपि जात्यरत्नं समानमजात्यरत्नेन। लं०। ''जह जच्चबाहलाणं, अस्साणं जणवएसु जायाणं''। आ० क०।

जच्चंजण न० (जात्याञ्जन) मर्दितेऽञ्जने, कल्प० २ क्षण। प्रधाने, सौवीरके च। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जच्चंजणभमरजलयपयरि उज्जुयसमसंहियतणुअआइज्जलडहसुकुमालमउ अरमणिज्जरोमराइं।

जात्याञ्जनं मर्दितं तैलादिनाऽञ्जनम् (भमरजलयपयरि त्ति) भ्रमराणां प्रसिद्धानां जलदानां च मेधानां यः प्रकरः समूहस्तत्सदृशीतत्समानवर्णतया जात्याञ्जनभ्रमर-जलदप्रकरी इव (उज्जुअ त्ति) ऋजुका प्रध्वरा, अत एव (सम त्ति) समा अविषमा संहिता निरन्तरा (तणुअ त्ति) तनुका सुक्ष्मा (आइज्ज त्ति) आदेया सुभगा (लडह त्ति) लटभा चिलासमनोहरा (सुकुमालमउअ त्ति) सुकुमालेभ्यः शिरीषपुष्पादिवस्तुभ्योऽपि मृदुका, तत एव (रमणिज्ज त्ति) रमणीया (रोमराइ त्ति) रोमराजिर्यस्याः सा तथा ताम्। कल्प० २ क्षण।

जच्चंजणभिंगभेयरिट्ठगभमरावलिगवलगुलियकज्जलसमप्पभेसु॥

जात्यं प्रधानं यदञ्जनं सौबीरकं भृङ्गभेदः भृङ्गाभिधान-कीटविशेषः विदलिताङ्गारो वा, रिष्टकं रत्नविशेषः। भ्रमरावली प्रतीता, गवलगुटिका महिषशृङ्गगुटिका, कज्जलं मषी, एतत्समप्रभेषु कृष्णेष्वित्यर्थः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जच्चंदण (देशी) अगरौ, कुङ्कुमे, दे० ना० ३ वर्ग।

जच्चकंचणुज्जलंतरूव त्रि० (जात्यकाञ्चनोज्ज्वलद्रूप) जात्य-काञ्चनवत् उत्तमसुवर्णवत् उत्प्राबल्येन दीप्यमानं रूपं यस्य। उत्तमसुवर्णवद् दीप्यमानरूपे, कल्प० ३ क्षण।

जच्चकणग न० (जात्यकनक) उत्तमसुवर्ण, ''जच्चकणगं व जायरूवे''। कल्प० ६ क्षण। प्रश्न०।

जच्चकमलकोमल त्रि० (जात्यकमलकोमल) उत्तमजातिसंभवकमलवत् कोमले, कल्प० २ क्षण।

जच्चण्णिय त्रि० (जात्यान्वित) विशिष्टजातिसंभूते, पृ० ३ उ०। सुकुलोत्पन्ने, सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

जच्चन्निय त्रि० (जात्यान्वित) विशिष्टजाति संभूते, पृ० ३ उ०।

जच्चमणि पुं० (जात्यमणि) पद्मरागादिप्रधानमणौ, पं० व० ६ द्वार।

जच्चसुवण्ण जात्यसुवर्ण–पारमार्थिके सुवर्णे, दश० १० अ०।

जच्चसुवन्न जात्यसुवर्ण– 'जच्चसुवण्ण' शब्दार्थे, दश० १ अ०।

जच्चिर न० (यच्चिर) यावत्काले, व्य० ७ उ०।

जच्चो (देशी) पुरुषे, दे० ना० ३ वर्ग।

जच्छ धा० (यम्) उपरमे, **''गमिष्यमाऽऽसां छः''** ।८।४।२१५। इत्यन्तस्य छः। 'जच्छइ' यच्छति। प्रा० ४ पादः।

जच्छंत त्रि० (यच्छत्) ददति, अष्ट० ३ अष्ट०।

जच्छंदओ देशी–स्वच्छन्दे, दे० ना० ३ वर्ग।

जजुव्वेय पुं० (यजुर्वेद) द्वितीयवेदे, भ० २ श० १ उ०। औ०। यजुर्वेदाहिते निर्णये, व्यापारे च। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

जज्ज त्रि० (जय्य) जेतुं शक्यः। जि–यत्। ''क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे'' ।६।१।८१। (पाणि०) जेतुं शक्ये, वाच०। **''द्यय्यर्या जः''** ।८।२।२४। इति य्यस्य ज्जः। प्रा० २ पादः।

जज्जरिय त्रि० (जर्जरित) जर्जरं करोति, जर्ज–णिच् कर्मणि क्तः। जीर्णीकृते, शकलीकृते, 'जराजर्जरितं पतिम्' वाच०। ''कुंतग्गभिन्नजज्जरिय सव्वदेहा'' प्रश्न० १ आश्र० द्वार। राजीयुक्ते, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

जज्जरियसद्द जर्जरित(झर्झरित)–पुं० (शब्द) तन्त्रीकरटिकादिवाद्यशब्दवद् झर्झर (जर्जर) ध्वनियुक्ते शब्दे, स्था० १०ठा०।

जट्ट पुं० (जर्त) वाह्लीकदेशे, सोऽभिजनोऽस्य अच्। बहुषु जनपदेषु लुप्। तद्देशवासिषु, व० व०। वाच०। ''र्तस्याधूर्तादौ''।८।२।३०। इति सूत्रेण र्तस्य ट्टः। प्रा० २ पादः।

जट्ठ न० (इष्ट) कृतयजने, ''अहो जन्निएण जट्ठं'' आ० म० प्र०। यज्ञे च। उत्त० २५ अ०।

जट्ठि स्त्री० (यष्टि) यज् –क्तिन् नि० न संप्रसारणम्। ध्वजादिदण्डे, भुजावलम्बने दण्डे च। क्तिच्। तन्तौ, हारलतायां भार्यां, मधूकायाम् वाच०। ''जट्ठिमुट्ठिकोप्परप्पहारेहिं हणामि त्ति''। नि० चू० १ उ०।

जड त्रि० (जड) जलति घनी भवति। जल अच्, डस्य लः। ''इष्टं वाऽनिष्टं वा, न वेत्ति किञ्चित्तुयो मोहात्। परवशगः स भवेदिह, नाम्ना जडसंज्ञकः पुरुषः''॥ उक्तलक्षणे मन्द बुद्धौ, मूर्खे, वेदग्रहणासमर्थे, ''अनंशौ क्लीवपतितौ, जात्यन्धबधिरौ तथा। उन्मत्तजडमूकाश्च, ये च केचिन्निरिन्द्रियाः''॥ वेदग्रहणासमर्थो जड इति दायभागः। हिमग्रस्ते, हिमेन मन्दक्रिये, मूके, अल्पज्ञे, जले, न०। सीसके, न०। चेतनभिन्ने अज्ञानादि समूहे, वेदान्तमते हि पदार्थो द्विधा–जमोऽजमश्च। तत्र जडोऽज्ञानलत् कार्यसङ्घः। अजडश्चेतन इति भेदः। ''नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्, न चान्यायेन पृच्छतः। जानन्नपि हि मेधावी, जडवल्लोक आचरेत्''॥१॥ वाच०। अपगतकर्तव्याकर्तव्यविवेके, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। स्थाद्वादस्वरूपोपलम्भरहिते, अष्ट० ७ अष्ट०। तत्त्वावबोधविधुरबुद्धौ, स्या०। ''जडा खलु भो जडं पज्जुवासंति''। जडमूढापण्डितनिर्विज्ञानशब्दा एकार्थकाः रा०।

जडाभार पुं० (जटाभार) जटासमूहे, ''जडाभारेण सव्वं सरीरं पाणिएण उल्लेत्ता सामिस्स उवरिं ठाउं धुणइ''। आ० म० द्वि०।

जडाल पुं० (जटाल) जटा अस्त्यर्थे सिध्मा० लच्। वटवृक्षे, कचूरे, मुष्ककेे, गुग्गले च। जटायुक्ते, त्रि०। चोरिणः शिरिवनश्चाम्य, जटालोर्द्धशिरोरुहाः''। जटामास्याम्, स्त्री०। वाच०। स्वनामख्याते ग्रहविशेषे, कल्प० ६ क्षण। चं० प्र०।

***जटावत्** त्रि० जटा अस्त्यर्थे मतुप्, मस्य वः। वाच०। प्राकृते च ''आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणामतोः''॥८।२।१५६॥ इति सूत्रेण आलादेशः। 'जडालो' जटावान्। प्रा० २ पाद। जटायुक्ते, वाच०।

जडि(ण्) पुं० (जटिन्) जटा अस्त्यस्य इति प्लक्षे, अश्व–त्थतुल्यपत्रयुक्ते वृक्षभेदे, वाच०। त्रि०। जटाधरे, भ० ६ श० १३ उ०। जं० औ०।

जडियाइलग पुं० (जटाल) अष्टाशीतिग्रहाणां त्रिपञ्चाशत्तमे, स्वनामख्याते ग्रहे, चं० प्र० २० पाहु०। ''दो जडियाइलगा'' स्था० २ ठा० ३ उ०।

जडिआइलय पुं० (जटाल) 'जडियाइलग' शब्दार्थे, चं० प्र० २० पाहु०।

जडिअं (देशी) खचिते, दे० ना० ३ वर्ग।

जडिल पुं० (जटिल) जटा अस्त्यर्थे पिच्छा–इलच्। सिंहे, जटायुक्ते, त्रि०। ''विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनम्''। वाच०। ''उक्कडफुड-कुडिलजडिलकक्खडविकडफडाडोवकरणदच्छा'' वृत्तिः–जटिलः स्कन्धदेशे केसरिणामिवाहीनां केसरसद्भावात्। भ० १५ श० १ उ०। ज्ञा०। उत्त०। जटाधारिवनवासिपाखण्डिनि, प्रव० ६४ द्वार। वलितोद्वलिते च। ''एगं महं कोसं व गंडियं सुक्कं जडिलं गंठिल्लं'' भ० १६ श० ३ उ०।

जडिलय पुं० (जटिलक) राहौ, सू० प्र० २० पाहु०। चं० प्र०।

जड्ड पुं० (जड्ड) भाषया शरीरेण क्रियया वा जडे, स्थूले, दीक्षाऽनर्हे, प्रव० १०७ द्वार।

तिविहो य होइ जड्डो, भासे सरीरे य करणे जड्डो य।
भासाजड्डो चउहा, जल एलग मम्मण दुमेहो॥
जल जलवुड्डो भासइ, जलमूओ एव भासति अवत्तं।
जह एलगो व्व एवं, एलगमूगो वलवलेति॥
मम्मणमूओ वोव्वडो, खलेइ वाया हु अवि सदा जस्स।
दुम्मेहस्स ण किंची, घोसंतस्सावि ठाय इहा॥
दंसणणाणचरित्ते, तवे य समितीसु करणजोगे य।
उवइट्ठं पि न गेण्हइ, जलमूगो एलमूगो य॥
नाणा दट्ठा दिक्खा, भासाजड्डो अपच्चलो तस्स।

सोववहिरो य नियमा, गहणे उड्डाहोँ अहिगरणं ॥
तिविहो सरीरजड्डो, पत्थे भिक्खे तहेव वंदणए ।
एतेहिँ कारणेहिं, सरीरजड्डं न दिक्खेज्जा ॥
अइणे वा पलिमंथो, भिक्खायरियाएँ अपरिहत्थो य ।
उड्ढस्सासपरिक्कम–अहिअग्गीउदगमादीसु ॥
आगाढगिलाणस्स य, असमाही वा वि होज्ज मरणं वा ।
जड्डे पासे वि ठिए, अन्ने य भवे इमे दोसा ॥
देसेण कक्खमादी, कुच्छणववणुप्पलावणे दोसा ।
णऽत्थि गलओ य चोरो, णिंदियमुंडो य जणवादो ॥
णेगे सरीरजड्डो, एमादीया हवंति दोसा तु ।
तम्हा तं न वि दिक्खे, गच्छेँ महल्ले अणुन्नाओ ॥
इरियासमिए भासे– सणासु आदाणसमिइगुत्तीसु ।
ण वि ठाति चरणकरणे, कम्मुदएणं करणजड्डो ॥
जलमूग एलमूगो, अतिथूलसरीरकरणजड्डो य ।
दिक्खंतस्सेते खलु, चतुगुरु सेसेसु मासलहु ॥
भासाजड्डं मम्मण, सरीरजड्डं च णातिथूरं च ।
जावज्जिय परियट्टे, करणे जड्डं तु छम्मासे ॥
मोत्तुं गिलाणकज्जं, दुम्मेहं वा वि पाढे छम्मासो ।
तो हेतुं दुम्मेहं, जो वि य करणम्मि सो जड्डो ॥
छण्हुवरिं तो दोण्ह वि, आयरिओ अन्नेँ गाहेँ धम्मासा ।
पच्छा अन्नो ततिओ, सो वि य छम्मासपरिअट्टे ॥
जो चिय तं गाहेती, सिस्सो तस्सेव सो हवति ताहे ।
तह वि न गिण्हइ जदि हू, कुलगणसंघे विगिंचणता । पं० भा० ।

जड्डस्त्रिधाभाषया, शरीरेण, करणेन च । भाषाजड्डः पुनस्त्रिधाजलमूको, मन्मनमूकः, एलकमूकश्च । तत्र जलमग्न इव बुडबुडायमानो यो वक्ति स जलमूकः । यस्य तु वदतः खच्यमानमिव वचनं स्खलति स मन्मनमूकः । यश्चैलक इवाव्यक्तं मूकतया शब्दमात्रमेव करोति स एलकमूकः । तथा यः पथि भिक्षाऽटने वन्दनादिषु चातीव स्थूलतयाऽशक्तो भवति स शरीरजड्डः । करणं क्रिया, तस्यां जड्डः करणजड्डः समितिगुप्तिप्रत्यवेक्षणादिक्रियां पुनः पुनरुपदिश्यमानामप्यतीव जड्डतया यो ग्रहीतुं न शक्नोति सः, करणजड्ड इत्यर्थः । तत्र भाषाजड्डस्त्रिविधोऽपि ज्ञानग्रहणेऽसमर्थत्वान्न दीक्ष्यः । शरीरजड्डस्तु मार्गगमनभक्तपानानयनादिष्वशक्तो भवति, तथाऽतिजड्डस्य प्रस्वेदेन कक्षादिषु कुथितत्वं भवति, तेषां जलेन क्षालनेषु क्रियमाणेषु कीटिकादिप्लावना संभवति, ततः संयमविराधना, तथा लोकोऽतिनिन्दां करोति बहुभक्षीति, तथोर्द्ध्वश्वासो भवति ततोऽसौ न दीक्षणीयः । ध० ३ अधि० । प्रव० । पं० चू० । नि० चू० । व्य० । आव० । ग० । हस्तिनि, पुं० । बृ० १ उ० । नि० चू० । जीत० । द्रव्यभावमूर्खे, त्रि० । तं० । ''जड्डाणं वड्डाणं, निव्विन्नाणं च निव्विसेसाणं । संसार-सूयराणं, कहियं पि निरत्थयं होइ'' ॥१॥ तं० ।

✱**जाड्य** न० जडस्य भावः ष्यञ् । जडतायाम्, सौख्ये च । ''आलस्यश्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत'' । ''इदं जाड्यमिदं मौढ्यमिदमत्यद्भुतं वचः'' । वाच० ।

जढ त्रि० (त्यक्त) ''क्तेनाप्फुण्णादयः'' ।८।४।२५८। इति सूत्रेण 'जढ' आदेशः । परित्यक्ते, दश० ६ अ० । बृ० । पं० व० । आचा० । नि० चू० । संथा० ।

जण पुं० (जन) जायते इति जनः । आ० म० प्र० । नं० । आचा० । विशे० । सूत्र० । जन–अच् । वाच० । लोके, उत्त० ५ अ० । सूत्र० । आव० । आचा० । स० । नगरीवास्तव्यलोके, ''पमुइअजणजाणवया'' । रा० । भ० । औ० । नि० । ज्ञा० । प्राकृतपुरुषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । आ० म० । स० । प्राणिनिवहे, पं० व० ४ द्वार । आचा० । मातापितृपुत्रकलत्रादौ, कौटुम्बिकजने च । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

जणइआ पुं० (जनयितृ) जन–णिच्–तृच् । पितरि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । उत्पादके, त्रि० । मातरि, स्त्री० । ङीप् । वाच० । ''जणइत्ता णाममेगे'' । जनयिता मेघो यो वृष्ट्या धान्यमुद्गम-यति । स्था० ६ ठा० ६ उ० ।

जणइत्ता पुं० 'जणइआ' शब्दार्थे, स्था० ६ ठा० ६ उ० ।

जणक्खय पुं० (जनक्षय) लोकमरणेषु, भ० ३ श० ६ उ० ।

जणक्खयकर त्रि० (जनक्षयकर) लोकविघातकारके, ''बहुजणक्खयकरा संगामा'' । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

जणकलकल पुं० (जनकलकल) जनानामुपलभ्यमानवर्णविभागे ध्वनौ, रा० ।

जणग पुं० (जनक) जन–णिच्–ण्वुल् । वाच० । पितरि, प्रव० १ द्वार । सूत्र० । ज्ञा० । उत्पादके, त्रि० । वाच० । मातापित्रादौ, ''माता पिआ अ क्कंदकारी जणगा रुदंति'' आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । मातापित्रोः आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० । जना लोकास्त ए जनकाः । जने, ''जणगा तं सुणेह मे'' । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । सीतायाः पितरि, विदेहनृपभेदे, वाच० । चरमजिनसमयवर्तिनि तत्पूजके मिथिलानृपे च । ''मिहिलाजणओ य धरणो य'' । मिथिलायां जनको राजा धरणश्च नागकुमारेन्द्रः भगवतः पूजां कृतवान् । आ० म० प्र० ।

जणजत्ता स्त्री० (जनयात्रा) अत्यन्तलोकतन्निसंभाषणे, ''जणजत्तारहियाणं, होइ जइत्तं जईण सया'' । दर्श० ४ तत्त्व ।

जणट्ठाण न० (जनस्थान) दण्डकाऽरण्ये, वाच० । नासिक्यपुरे च (ती०) ''अन्नया देवजाणी नाम सुक्कस्स महग्गहस्स धूआ जणट्ठाणपुरे कीलंती दंडयराएण दिट्ठा, रूववइ त्ति वला मोडिआ, भग्गं च तीसे सीलव्वयं, तस्स सरूवं उबलब्भ सुक्कमहागहेणं रोसवसेणं सावो दिण्णो–एयं नयरं दंडयरायसहियं सत्तदिवसब्भंतरे छाररासी भविस्सइ त्ति, तं च नायं नारयरिसिणा, दंडयरायस्स कहिअं, तं च सोऊण भीओ दंडयराया सयलं जणं सह आणेउं चदंप्पहसामिणं सरणं पवन्नो, बुड्डो अ, तप्पभिइ जणट्ठाणं ति तस्स नरयस्स पसिद्धं नामधिज्जं, एवं परतित्थिया वि जस्स तित्थस्स

माहप्पं उववण्णिंति, तस्स आरहंतलोगा कहं नो वण्णिहिंति ? ती० २८ कल्प०।

जणणिकुच्छिमज्झ न० (जननीकुक्षिमध्य) मातृजठरान्तरे, तं०।

जणणिबह पुं० (जननिवह) महति नगरभोजिकादि वृन्दे, बृ० ४ उ०।

जणणी स्त्री० (जननी) जनयति प्रादुर्भावयत्यपत्यमिति जननी। उत्त० २ अ०। जन–णिच् अनि० जन अपादाने, अनि० वा–ङीप्। वाच०। मातरि, प्रव० १ द्वार। पञ्चा०। कल्प०। आव०। सूत्र०। ''आ स्तन्यपानञ्जननी पशूना–मा दारलाभाच्च नराधमानाम्। आ गेहकृत्यावधि मध्यमाना–मा जीवितात्तीर्थमिवोत्तमानाम्'' ॥१॥ कल्प० ४ क्षण। उत्पादकस्त्रीमात्रे च। वाच०।

जणद्दण पुं० (जनार्दन) जनैरर्द्यते याच्यते 'अर्ह' याचने, कर्मणि ल्युट्। जनमर्दति हिनस्ति ताडयति जनान् समुद्र-वासिनोऽसुरभेदान् अर्दयति वा कर्तरि ल्युट्। विष्णौ, वाच०। ''काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषु'' जगत्पीडके, त्रि०। आव० १ अ०।

जणपरिभूय त्रि० (जनपरिभूत) लोकगर्हिते, पं० व० १ द्वार।

जणपिच्छणिज्जरूव त्रि० (जनप्रेक्षणीयरूप) जनानां प्रेक्षणीयंद्रष्टुं योग्यं रूपं स्वरूपं यस्य तत् तथा। दर्शनीयरूपकलिते, कल्प० ३ क्षण।

जणपुज्ज त्रि० (जनपूज्य) लोकामान्येषु, जीवा० १३ अधि०।

जणपूयणिज्ज त्रि० (जनपूजनीय) राजामात्यगुरुश्रेष्ठिप्रभृतिषु लोकमान्येषु, पञ्चा० २ विव०।

जणप्पमद्द पुं० (जनप्रमर्द) लोकचूर्णने, भ० ७ श० ६ उ०।

जणप्पियत्त न० (जनप्रियत्व) लोकप्रियत्वे, ''युक्तं जनप्रियत्वं शुद्धं तद्धर्मसिद्धिफलदमलम्। धर्मप्रशंसनादे– र्बीजाधाना-दिभावेन''॥१॥ षो० ४ विव०।

जणवह पुं० (जणवध) लोकघाते, भ० ७ श० ६ उ०।

जणबोल पुं० (जनबोल) जनानामव्यक्तवर्णे ध्वनौ, विपा० १ श्रु० १ अ०। भ०।

जणमणोहर त्रि० (जनमनोहर) लोकचेतोहारिणि, पञ्चा० ६ विव०।

जणमेजय पुं० (जनमेजय) जनमेजयति। एज–णिच्–खश्। *परीक्षितनृपतेः पुत्रे, कुरुनामभूपपुत्रभेदे, पुरञ्जयनृपपुत्रे च।* वाच०। क्रोधाज्ञनमेजयो विननाश। ध० १ अधि०।

जणय पुं० (जनक) 'जणग' शब्दार्थे, प्रव० १ द्वार।

जणयंत त्रि० (जनयत्) उत्पादयति, पञ्चा० ११ विव०।

जणवय पुं० *(जनपद) जनाः पद्यन्ते गच्छन्ति यत्र।* पद आधारे घः। वाच०। देशे०। प्रश्न० ५ आश्र० द्वार। तं०। स्था०। कल्प०। आचा०। उत्त०। बृ०। आ० म०। जनानां लोकानां पदान्यवस्थानानि येषु ते *जनपदाः। साधुविहरणयोग्येषु अवन्त्यादिषु अर्ध-षड्विंशतिदेशेषु,* आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। राष्ट्रे, रा०। मनुष्यलोके, भ० ७ श० ६ उ०। तन्निवासिलोकेषु च। ''हरंति धणधण्ण-णदव्वजायाणि .जणवयकुलाणं'' जनपदकुलानां लोकगृहाणा-म्। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। ''जणवयपरिवायाए'' जनपदानां लोकानां परिवादाय। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। 'जानपद' इत्यनुवादे तु तत्र भवे, ''जणवयवहाए'' जनपदे भवाः जानपदाः कालद्रष्टृादयो राजादयो वा तद्वधाय। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

जणवयकहा स्त्री० (जनपदकथा) मालवकादिदेश प्रशंसा-निन्दाऽत्मिकायां देशकथायाम्, उत्त० १२ अ०। औ०।

जणवयपाल पुं० (जनपदपाल) जनपदं पालयति इति जनपद-पालः। जनपदरक्षके, औ०।

जणवयपिया पुं० (जनपदपितृ) जनपदानां हितत्वात् (औ०) पिते-व। लोकपितरि, स्था० ६ ठा०। सूत्र०।

जणवयपुरोहिय पुं० (जनपदंपुरोहित) जनपदस्य शान्तिकारितया पुरोहित इव जनपदपुरोहितः। जनपदशान्तिकरे, रा०। औ०। सूत्र०।

जणवयप्पहाण त्रि० (जनपदप्रधान) लोकोत्कृष्टे, ''भज्जाहिं य जणवयप्प-हाणाहिं लालियंता'' प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

जणवयवग्ग पुं० (जनपदवर्ग) देशसमूहे, भ० ३ श० ६ उ०।

जणवयसच्च न० (जनपदसत्य) जनपदेषु देशेषु यद् यदर्थवाचक-तया रूढं देशान्तरेऽपि तत् तदर्थवाचकतया प्रयुज्यमानं सत्य-मवितथमिति जनपदसत्यम्। यथा कोङ्कणादिषु पयः पत्तं नीरमुदकमित्यादि। सत्यत्वं चास्यादुष्टं विवक्षाहेतुत्वात्। नानाजनपदेष्विष्टार्थप्रतिपत्तिजनकतया व्यवहारप्रवृत्तेः। दशविधसत्यस्य प्रथमे भेदे, स्था० १० ठा०। ध०।

जणवयसच्चा स्त्री० (जनपदसत्या) जनपदमधिकृत्येष्टार्थ प्रतिपत्तिजनक-तया व्यवहारहेतुत्वात् सत्या जनपदसत्या। दशविधायाः सत्यभाषायाः प्रथमे भेदे, प्रज्ञा० १२ पद।

जणवहा स्त्री० (जनव्यथा) लोकपीडायाम्, भ० ७ श० ६ उ०।

जणवाय पुं० (जनवाद) जनानां परस्परेण वस्तुविचारणे, औ०। स्वनाम-ख्याते कलाभेदे, जं० २ वक्ष०। स०। लोकापवादे च। वाच०। ''जणवायभएणं''। आव० ६ अ०।

जणवूह पुं० (जनव्यूह) जनसमुदाये, भ० ६ श० ३४ उ०। चक्राद्याकारजनसमूहे, जनव्यूहस्य शब्दोऽपि तदभेदाज्ज्ञनव्यूह एवोच्यते। विपा० १ श्रु० १ अ०।

जणव्वूह *(जनव्यूह) 'जणवूह' शब्दार्थे, विपा० १ श्रु० १ अ०।*

जणसद्द पुं० (जनशब्द) जनानां परस्परालापरूपे ध्वनौ, औ०। रा०। दशा०।

जणसम्मद्द पुं० (जनसंमर्द) जनानां परस्परं संघर्षणे, स्था० ४ ठा० १ उ०।

जणसंवट्टकप्प त्रि० (जनसंवर्तकल्प) जनसंवर्त इव लोक-संहारसदृशे, भ० ७ श० ६ उ०।

जणाउत्तो (देशी) ग्रामप्रधानपुरुषे, विटे च। दे० ना० ३ वर्ग।

जणाउल त्रि० (जनाकुल) भोजिकादिभिरिति प्रभूतैर्जनैराकीर्णे, व्य० ४ उ०।

जणाकुल त्रि० (जनाकुल) 'जणाउल' शब्दार्थे, व्य० ४ उ०।

जणाववायभीरुत्त न० (जनापवादभीरुत्व) जनापवादाद् मरणान्निर्विशिष्यमाणाद् भीरुत्वं भीतिभावः। लोकापवादभीतौ, द्वा० १२ द्वा०।

जणि अव्य० (इव) **''इवार्थे नं–नउ–नाइ–नावइ–जणि–जणवः''** ।८।४।४४४। इति सूत्रेणापभ्रंशे इवार्थे जणिप्रयोगः। प्रा० ४ पाद। इवेत्यर्थे, ''चंपयकुसुमहो मज्झि सहिभसमुपयट्टय। सोहइ इंदनीलुमणि जणि कणइ वइट्ठउ'' ॥ प्र० ४ पाद।

जणिअ त्रि० (जनित) उत्पादिते, नि० चू० १ उ०। आव०।

जणिय त्रि० (जनित) 'जणिअ' शब्दार्थे, नि० चू० १ उ०।

जणु अव्य० (इव) **''इवार्थे नं–नठ–नाइ–नावइ–जणि–जणवः''** ।८।४।४४४। इति सूत्रेणापभ्रंशे इवशब्दस्य 'जणु' इत्यादेशः। इवेत्यर्थे, ''निरुवमरसुपिएँ पिए वि जणु''। प्रा० ४ पाद।

जणुम्मि स्त्री० (जनोर्मि) जनसंबाधे, रा०।

जणुल्लाप पुं० (जनोल्लाप) जनानां काक्वा वर्णने, औ०।

जणेमाण त्रि० (जनयत्) उत्पादयति, तं०।

जणोह पुं० (जनौघ) जनसमुदाये, बृ० ३ उ०।

जणोवयार पुं० (जनोपचार) स्वजनादिलोकपूजायाम्, पञ्चा० २ विव०।

जण्ण पुं० (यज्ञ) यज–भावे नः। यागे, वाच०।

स त्रिविधः–

''अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो, विधिदृष्टो य उच्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः, समाधाय स सात्त्विकः॥

अभिसंधाय तु फलं, दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥

विधिहीनमसृष्टान्नं, मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं, तामसं परिचक्षते''॥

स च नानाविधः–

''द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः, योगयज्ञास्तथा परे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः संशितव्रताः''॥

पञ्च गृहस्थकर्तव्या यज्ञा यथा–

''अध्यापनं ब्रह्म यज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्''॥

विष्णौ च। वाच०। नागादीनां पूजायाम्, आ० म० प्र०। भ०। ज्ञा०। प्रश्न०। सूत्र०। प्रतिदिवसं स्वस्वेष्टदेवतापूजायाम्, जी० ३ प्रति०। श्राद्धे च। जी० ३ प्रति०। जः। सयूपो यज्ञ एव हि क्रतुरुच्यते, यूपरहितस्तु दानादिक्रियायुक्तो यज्ञ इति। विशे०।

जण्णइज्ज न० (यज्ञीय) यज्ञाय हितं तस्येदं वा। वाच०। स्वनामख्याते (जयघोषविजयघोषमुनिवक्तव्यताप्रतिबद्धे) उत्तराध्ययनसूत्रस्य पञ्चविंशतितमेऽध्ययने, स० ३३ सम०। उत्त०।

जण्णग्गि पुं० (यज्ञाग्नि) अग्निष्टोमानले, दश० १ चू०।

जण्णजस पुं० (यज्ञयशस्) स्वनामख्याते नारदपितामहे तापसे,

''आसीद्यदा सौर्यपुरे, समुद्रविजयो नृपः।
तदा यज्ञयशास्तत्र, तापसस्तस्य वल्लभः॥
सोममित्रासुतो यज्ञ–दत्तस्सोमयशा स्नुषा।
तत्पुत्रो नारदस्तेषा–मुञ्छवृत्त्या च भोजनम्''॥ आ० क०। आ० चू०।

जण्णजाइ(ण्) पुं० (यज्ञयाजिन्) यजनशील, नि० चू० १ उ०। औ०। भ०।

जण्णट्ठ पुं० (यज्ञार्थ) यज्ञैकप्रयोजने द्विजे, यज्ञनिमित्ते, उत्त० २५ अ०।

जण्णट्ठाण न० (यज्ञस्थान) नासिक्यपुरे, ती० २८ कल्प०। ''एवं नासिक्कपुरे कालंतरे पुण्णभूमिं नाउं आगओ मिहिलाहिंतो, तत्थ जणयराओ तेण य तत्थ दस जण्णा कारिया'' ततः ''जण्णट्ठाणं ति तन्नयरं रूढं''। ती० २८ कल्प०। यज्ञवाटे च। वाच०।

जण्णदत्त पुं० (यज्ञदत्त) स्वनामख्याते नारदपितरि, आ० क०। आव०। आ० चू०। स्वनामख्याते कौशाम्बीवास्तव्ये सोमदत्ते, सोमदेवपितरि च। उत्त० १ अ०। भद्रबाहुस्वामितृतीयशिष्ये, कल्प० ८ क्षण०।

जण्णदेव पुं० (यज्ञदेव) क्षितिप्रतिष्ठितनगरीये चिलातपुत्र–पूर्वभविकजीवे स्वनामख्याते द्विजे, आव० १ अ०।

जण्णमुह न० (यज्ञमुख) यज्ञोपाये, उत्त० २५ अ०।

जण्णवक्क पुं० (याज्ञवल्क्य) शुक्लयजुःप्रवर्तके मुनिभेदे, वाच०। (वेदाः) अनार्यास्त् पश्चातु सुतसायाज्ञवल्क्यादिभिः कृताः'' आ० म० प्र०। तन्नामकधर्म संहिताकर्तरि ऋषौ च। वाच०। याज्ञवल्क्यप्रभृतिऋषिप्रणीतधर्मसंहिताभिश्चिन्तयन्ति ते धर्मचिन्तकाः। अनु०।

जण्णवाड पुं० (यज्ञवा)(पा)ट यज्ञस्थाने, वाच०। आ० म०। उत्त०। आव०।

जण्णसेट्ठ पुं० (यज्ञश्रेष्ठ) यज्ञेषु श्रेष्ठो यज्ञश्रेष्ठः। अथ वा–श्रेष्ठो यज्ञः श्रेष्ठयज्ञः। प्राकृतत्वात् यज्ञश्रेष्ठः। (उत्त०) उत्तमयज्ञे, ''वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा, महाजयं जयइ जण्णसेट्ठं'' उत्त० १२ अ०।

जण्णिय पुं० (याज्ञिक) यज्ञेन जयति लोकान् इति याज्ञिकः। आ० म० प्र०। आचा०। यज्ञाय हितः यज्ञः प्रयोजनमस्य वा ठक्। याजके ऋत्विगादौ, यजमाने च। वाच०।

जण्णोवईय न० (यज्ञोपवीत) यज्ञेन संस्कृतमुपवीतम्। वाच०। ब्राह्मणकण्ठसूत्रे, उत्त० २ अ०।

तत्प्रसिद्धिरित्थम्–

भरतश्च श्रावकानाहूयोक्तवान्–भवद्भिः प्रतिदिनं मदीयं भोक्तव्यं, कृष्यादि च न कार्यम्, स्वाध्यायपरैरासितव्यं, भुक्ते च मदीयगृहद्वारा–सन्नव्यवस्थिततैर्वक्तव्यम्–जितो भवान्, वर्धते भयं, तस्मान्मा हन मा हनेति। ते तथैव कृतवन्तः। भरतश्चरति साग–रावगाढत्वात् प्रमत्तत्वात् तच्छन्दाकर्णनोत्तरकालमेव केनाहं जित इति ? आः ज्ञातं–कषायैः, तेभ्यः एव वर्द्धते भयमित्यालोचनापूर्वकं संवेग यातवानिति। अत्रान्तरे लोकबाहुल्यात् सूपकाराः पाकं कर्तुमशक्नुवन्तो भरताय निवेदितवन्तः, नेह ज्ञायते कः श्राव–कः, को वा नेतीति लोकस्य प्रचुरत्वात्। आह भरतः– पृच्छापूर्वकं

देयमिति। ततस्तान् पृष्टवन्तस्ते–को भवान्, श्रावकाणां कति व्रतानि ? स आह–श्रावकाणां न सन्ति व्रतानि, किं तु अस्माकं पञ्चाऽणुव्रतानि। कति शिक्षाव्रतानि ? ते उक्तवन्तः सप्त शिक्षाव्रतानि। य एवं भूतास्ते राज्ञो निवेदिताः। स च काकणीरत्नेन तान् लाञ्छितवान्, पुनः षण्मासेन योग्या भवन्ति, तानपि लाञ्छितवान्। षण्मासकालादनुयोगं कृतवानेवं ब्राह्मणाः संजाता इति। ते च स्वसुतान् साधुभ्यो दत्तवन्तः, ते च प्रव्रज्यां चक्रुः। परीषहभीरवस्तु श्रावका एवासन्निति। एवं च भरतराज्यस्थितिः। आदित्ययशसस्तु काकणीरत्नं नासीत्, सुवर्णमयानि यज्ञो-पवीतानि कृतवान्, महाशयःप्रभृतयस्तु केचन रूप्यमयानि, केचन विचित्रपट्टसूत्रमयानि, इत्येवं यज्ञोपवीत- प्रसिद्धिः। आ० म० प्र०।

जण्णोववीय न० (यज्ञोपवीत) 'जण्णोवईय' शब्दार्थे, आ० म० प्र०।

जण्णोहणो (देशी) राक्षसे, दे० ना० ३ वर्ग।

जण्हली (देशी) नीव्याम्, दे० ना० ३ वर्ग।

जण्हु पुं० (जह्नु) **''सूक्ष्मष्णस्नह्नक्ष्णां ण्हः''** ॥८।२।७५॥ इति प्राकृतसूत्रेण ह्नोः ण्हुः। प्रा० २ पाद। भरतवंश्ये आजबीढनृपपुत्रे, नृपभेदे, वाच०। को०।

जण्हुसुया स्त्री० (जह्नुसुता) गङ्गानद्याम्, ''गंगा भागीरही य जण्हुसुया।'' को०।

जइ अव्य० (यदि) यद्–णिच्–इन्, णिलोपः। पक्षान्तरे, संभावनायाम्, गर्हायां, विकल्पे च। वाच०। ''जति ण चोरं लभसि ततो ते जीवितं नऽत्थि''। नि० चू० १ उ०।

जतमाण त्रि० (यतमान) प्राणिविषये यत्नवति, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। यत्नवति च। आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

जति अव्य० (यदि) 'जइ' शब्दार्थे, नि० चू० १ उ०।

जतिय त्रि० (यावत्) यत्परिमाणे, वाच०। ''अण्णं पि जतियं जाणंति'' नि० चू० १६ उ०।

जतुकुंभ पुं० (जतुकुम्भ) जातुषे घटे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

जतुगोलसमाण त्रि० (जतुगोलसमान) डिम्भरूपक्रीडनकज-तुगोलकप्रमाणे अनति महति, भ० १६ श० ३ उ०।

जतुगोलासमाण पुं० (जतुगोलसमान) 'जतुगोलसमाण' श-ब्दार्थे, भ० १६ श० ३ उ०।

जतो अव्य० (यतस्) यस्मात् कारणादित्यर्थे, पञ्चा० ६ विव०।

जत्त पुं० (यत्न) वेलाविधानाद्याराधनोद्यमे, पञ्चा० ३ विव०।

जत्तातिग न० (यात्रात्रिक) जिनयात्रात्रिके, ध० २ अधि०। ''अष्टाहिकाऽभिधामेकां, रथयात्रामथापराम्। तृतीयां तीर्थयात्रां चे–त्याहुर्यात्रां त्रिधा बुधाः ॥१॥'' ध० २ अधि०।

जत्ता स्त्री० (यात्रा) या–ष्ट्रन्। वाच०। यानं यात्रा। तपोनियम- संयोगादिषु प्रवृत्तौ, भ० १८ श० १० उ०। आव०। यात्रा द्विधाद्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतस्तापसादीनां स्वक्रियोत्सर्पमाना, भावतः साधूनामिति। आव० ३ अ०।

किं ते भंते ! जत्ता ? सोमिला ! जं मे तवणिय-मसंजमस-ज्झायज्झाणआवस्सयमादिएसु जोगेसु जयणा, से त्तं जत्ता।

(जयण त्ति) प्रवृत्तिः। भ० १८ श० १० उ०।

अत्र प्रासङ्गिके शङ्कासमाधाने यथा–

''नो यात्रा प्रतिमानतिर्व्रतभृतां साक्षादनादेशनात्,
तत्प्रश्नोत्तरवाक्य इत्यपि वचो मोहज्वरावेशजम्।
मुख्यार्थः प्रथिता यतो व्यवहृतिः शेषान् गुणान् लक्षयेत्, सामग्र्येण हि यावताऽस्ति यतना यात्रा स्मृता तावता ॥४७॥''

प्रति०। एतद्व्याख्यानं 'चेइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १२२० पृष्ठे द्रष्टव्यम्) क्षायिकमिश्रोपशमिकलक्षणे भावे, आव० ३ अ०। देवोद्देशेनोत्सवभेदे, रथयात्रादौ, वाच०। महोत्सव एव यात्रा, न तु देशान्तरगमनम्। ध० २ अधि०। पञ्चा०। सा च यात्रा त्रिविधा–अष्टाहिका, रथयात्रा, तीर्थयात्रा च। ध० २ अधि०। (तत्राष्टाहिकास्वरूपं रथयात्रास्वरूपं च 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे दर्शितम्) स च सविस्तरं सर्वचैत्यपरिपाटी-करणादिमहोत्सवोऽष्टाहिकायात्रा, इयं चैत्ययात्राऽप्युच्यते। ध० २ अधि०। (तीर्थयात्रास्वरूपं च 'तित्थजत्ता' शब्दे दृश्यम्) देशान्तरगमने, स्था० ४ ठा० १ उ०। ज्ञा०। औ०। विजिगीषया राज्ञां गमने, गमनमात्रे, यापने उपाये च। वाच०।

जत्ताभयग पुं० (यात्राभृतक) यात्रा देशान्तरगमनं, तस्यां सहाय इति भ्रियते यः स यात्राभृतकः। देशाटनसमयोपयोगिन्यनुचरे, स्था० ४ ठा० १ उ०।

जत्ता ति होति गमणं, उभयं वा एत्तिय धणेण। पं० भा०।

''जत्ताभयगो नाम तुमे अम्हं इमा जत्ता कायव्वा''। स्वयं यात्रां गन्तुमशक्नुवता यात्रासिद्ध्यै वेतनेन व्यापारितेऽनुचरे च। पं० चू०।

जत्ताभिमुह त्रि० (यात्राऽभिमुख) गमनाभिमुखे, औ०।

जत्ताविहाण न० (यात्राविधान) जिनोत्सवविधौ, तत्प्रतिपादके यात्राविधिप्रकरणाख्ये हारिभद्रे नवमे पञ्चाशके च। पञ्चा० ६ विव०। (तद्भक्तव्यता 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३३७ पृष्ठे विलोक्या)

जत्तासिद्ध पुं० (यात्रासिद्ध) कृतसमुद्रयात्रे, यो द्वादशवारं समुद्रमवगाह्य कृतकार्यः क्षेमेणाऽऽयाति स यात्रासिद्धः। अन्येऽपि पोतेन गन्तुकामा यात्रासिद्धाः प्रेक्ष्यन्ते।

यात्रासिद्धकथा चेयम्–

''वेलाकूलेऽभवत् कोऽपि, वणिक् तुण्डिकनामकः।
तस्याब्धौ लक्षशो भग्नं, वोहित्थं स तु नाभनक् ॥१॥
जले नष्टं जले एव, लभ्यते प्रोक्तवानिति।
नाग्रहीद्वचनमप्यन्यैः जगाम पुनरम्बुधौ ॥२॥
स्वयं समुद्रस्तुष्टोऽथ, तत्थ प्राज्यं धनं ददौ।
भणितश्चान्यदपि ते, किं ददामीति सोऽवदत् ॥३॥
मम नाम गृहीत्वा यः, समुद्रमवगाहते।
सोऽविपन्नः समभ्येतु, समुद्रस्तत्प्रपन्नवान् ॥४॥''

आ० क०। रा०।

ज त्ति जगारपविभत्ति न० (ज इति जकारप्रविभक्ति) द्वात्रिंश-द्विधनाट्यभेदे, रा०।

जत्तिय त्रि० (यावत्) यत्परिमाणे, वाच०। ''जत्तियं गहियं तत्तियं ठियं।'' आ० म० प्र०।

जत्तो अव्य० (यतम्) ''त्तो दो तसो वा'' ।८।२।१६०। इति प्राकृतसूत्रेण तसः 'त्तो' इत्यादेशः। प्रा० २ पाद। यस्मात्कारणादित्यर्थे, पञ्चा० १० विव०।

जत्थकामोसाइत्त न० (यत्रकामावसायित्व) स्वाभिलषितस्य समाप्तिपर्यन्तनयने योगसिद्धिभेदे, द्वा० २६ द्वा०।

जत्थ अव्य०(जत्थ) (यत्र यत्र) यद्–त्रल्। यस्मिन् यस्मिन्नित्यर्थे, वाच०। ''उवहाणं जत्थ जत्थ जं सुत्ते, एसा सुत्तवीप्सा, जत्थ उद्देसगे, जत्थ अज्झयणे, जत्थ सुयक्खंधे, जत्थं अंगे का-लुक्कालिय अंगाणंगेसु णेया।'' नि० चू० १ उ०।

जदि अव्य० (यदि) अभ्युपगमे, नि० चू० २ उ०।

जदिच्छा स्त्री० (यदृच्छा) अभिसंधिराहित्ये, बृ० ३ उ०।

जदुणंदण पुं० (यदुनन्दन) श्रीकृष्णे, स्था० ८ ठा०।

जप धा० (जप) उच्चारणे, वाचि च। भ्वा० –पर० –सक० –सेट्। अभि–आभिमुख्येन जपे, सम्यक् कथने च। उप–भेदे, न०। वाच०। भावे अप्। पुं०। मन्त्राभ्यासे, अनु०। तत्प्रकारो यथा-

''मनः संहृत्य विषया–न्मन्त्रार्थगतमानसः।
न द्रुतं न विलम्बं च, जपेन्मौक्तिकपङ्क्तिवत्॥
जपः स्यादक्षरावृत्ति–र्मानसोपांशुवाचिकैः।
धिया यदक्षरश्रेणीं, वर्णस्वरपदात्मिकाम्॥
उच्चरेदर्थमुद्दिश्य, मानसः स जपः स्मृतः।
जिह्वोष्ठौ चालयेत् किञ्चित्, देवतागतमानसः॥
किञ्चिच्छ्रवणयोग्यः स्या–दुपांशुः स जपः स्मृतः।
मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा, वाचिकः स जपः स्मृतः॥
उच्चैर्जपाद्विशिष्टः स्या–दुपांशुर्दशभिर्गुणैः।
जिह्वाजपः शतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः॥
जिह्वाजपः स विज्ञेयः, केवलं जिह्वाया बुधैः''। वाच०।

जप्प पुं० (जल्प) छलजातिनिग्रहस्थान साधनोपालम्भपरे भाषणे, स्था० ६ ठा०। नि० चू०। स०।

जप्पभिइ अव्य० (यतः प्रभृति) यस्मात्कालादारभ्येत्यर्थे, ''तप्पभिइं च णं अम्हं एस दारए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते तप्पभिइं च णं अम्हे हिरण्णेण, जाव पीइसक्कारेणं अईव अइव वड्ढामो''। कल्प० ४ क्षण।

जम धा० (यम) उपरतौ, भ्वा० –पर० –सक० –अनिट्। उदित् क्त्वा वेट्। आ–दीर्घीकरणे, उप–विवाहे, 'यम' परिवेषणे, चुरा० –उभ० –सक० –सेट्० –वा–घटा०। वाच०। यम–घा० –घञ्। प्राणातिपातविरत्यादिरूपेषु पञ्चसु महाव्रतेषु, पुं०। उत्त० २५ अ०। ''दो यमा'' स्था० २ ठा० ३ उ०। ज्ञा०। ध० र०। तत्र महाव्रतपदेनैते जिनैरभिधीयन्ते, व्रतपदेन भागवतैः धर्मपदेन पाशुपतैः सांख्यैर्व्यासमतानुसारिभिश्च यमपदेनाभिधीयन्ते, कुशलधर्मपदेन च बौद्धैरभिधीयन्ते, वैदिकादिभिश्च ब्रह्मादि-पदेनाभिधीयन्ते। द्वा० ८ द्वा०। हा०।

तत्स्वरूपं त्वेवम्–

अहिंसासूनृताऽस्तेय–ब्रह्माकिञ्चनता यमाः।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाः, सार्वभौमा महाव्रतम्॥२॥

प्राणवियोगप्रयोजनो व्यापारो हिंसा, तदभावोऽहिंसा। वाङ्मनसोर्यथार्थत्वं सूनृतम्। परस्वापहरणं स्तेयं, तदभावोऽस्तेयम्। उपस्थसंयमो ब्रह्म। भोगसाधना नामस्वींकारोऽकिञ्चनता, एतेयमाः। तदुक्तम् –''अहिंसासत्यास्तेय–ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः'' इति। दिग्देशस्तीर्थादिः, कालश्चतुर्दश्यादिः, आदिना ब्राह्मण्या-दिरूपाया जातेर्ब्राह्मणादिप्रयोजनरूपस्य समयस्य च ग्रहः। ततो दिक्कालादिना अनवच्छिन्नाः ''तीर्थे कञ्चन न हनिष्यामि'' ''चतुर्दश्यां न हनिष्यामि'' ''ब्राह्मणान् न हानिष्यामि'' ''देवब्राह्मणाद्यर्थव्यतिरेकेण न कमपि हनिष्यामि'' इत्येवंविधावच्छेदव्यतिरेकेण सर्वविषया अहिंसा-दयो यमाः, सार्वभौमाः सर्वासु क्षिप्राद्यासु चित्तभूमिषु संभवन्तो महाव्रतमित्युच्यन्ते। तदुक्तम् – ''एते तु जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्'' ॥२॥ द्वा० २१ द्वा०।

इच्छायमादिचतुर्भेदेषु, तथाहि–

यमाश्चतुर्विधा इच्छा–प्रवृत्तिस्थैर्यसिद्धयः। (२५)

(यमा इति) यमाश्चतुर्विधाः– इच्छायमाः प्रवृत्तियमाः, स्थिरयमाः, सिद्धियमाश्च। (२५) द्वा० १६ द्वा०।

इच्छायमो यमेष्विच्छा, युता तद्वत्कथामुदा।
स प्रवृत्तियमो यत्तत्, पालनं शमसंयुतम्॥२६॥

तद्वतां यमवतां कथातो या मुत्प्रीतिः, तया युता सहिता यमेष्विच्छा इच्छायम उच्यते। यत्तेषां यमानां पालनं शमसंयुतमुपशमान्वितं स प्रवृत्तियमः। तत्पालनं चात्राविकलमभिप्रेतम्, तेन न कालादिविकलतत्पालनक्षणे इच्छायमेऽतिव्याप्तिः॥ न च सोऽपि प्रवृत्तियम एव, केवलं तथाविधसाधुचेष्टया प्रधान इच्छायम एव तात्त्विक-पक्षपातस्यापि द्रव्यक्रियातिशायित्वात्। तदुक्तम्– ''तात्त्विकः पक्षपातश्च, भावशून्या च या क्रिया। अनयोरन्तरं ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव'' ॥१॥ संविग्नपाक्षिकस्य प्रवृत्तचक्रत्वानुरोधे तु प्रवृत्तियम एवायं, तस्य शास्त्रयोगानियतत्वादिति नयभेदेन भावनीयम्॥२६॥

सत्क्षयोपशमोत्कर्षा–दतिचारादिचिन्तया।
रहिता यमसेवा तु, तृतीयो यम उच्यते॥२७॥

सतो विशिष्टस्य क्षयोपशमस्य उत्कर्षादुद्रेकादतिचारादीनां चिन्तया रहिता, तदभावस्यैव विनिश्चयात्। यमसेवा तु तृतीयो यमः स्थिरयम उच्यते॥२७॥

परार्थसाधिका त्वेषा, सिद्धिः शुद्धान्तरात्मनः।
अचिन्त्यशक्तियोगेन, चतुर्थो यम उच्यते॥२८॥

(परार्थेति) परार्थसाधिका स्वसन्निधौ परस्य वैरत्यागादिकारिणी तु एषा यमसेवा सिद्धिः। शुद्धः क्षीणमलतया निर्मलोऽन्तरात्मा यस्य अचिन्त्याया अनिर्वचनीयायाः शक्तेः स्ववीर्योल्लासरूपायाः योगेन चतुर्थो यम उच्यते॥२८॥ द्वा० १६ द्वा०। यमयति–अच्। वाच०। दक्षिणदिक्पालनिकायाश्रिते लोकपाले, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। भरणीनक्षत्राधिपतौ, सू० प्र० १० पाहु०। जं०। ज्यो०। स्था०। यमदग्निगुरौ तापसविशेषे, आ० म० प्र०। आ० चू०। आ० क०।

''यमाख्यस्तापसस्तत्र, स तत्पार्श्वेऽग्निकोऽगमत्।
प्रपन्नस्तस्य शिष्यत्वं, स घोरं तप्यते तपः॥
यमशिष्योऽग्निक इति, यमदग्निरिति श्रुतः।'' आ० क०। ''जमो नाम से तावसो'' आ० म० द्वि०। आ० चू०। संयमने, आ०

म० प्र०। मृत्यौ, मृत्युहेतुत्वात्। आव० ४ अ०। एकगर्भजायमाने यमजे, त्रि०। वाच०। द्वित्वसंख्यायां च। वाच०।

जमईय न० (यमतीत) यमतीतेत्याद्यक्षरे, आदाननाम्नि सूत्र-कृताङ्गस्य पञ्चदशेऽध्ययने, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। स०। प्रश्न०। आव०।

जमकाइय पुं० (यमकायिक) दक्षिणदिक्पालदेवनिकायाश्रितेष्वम्बाद्यसुरविशेषेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

जमग पुं० (यमक) शकुनिविशेषे, जी० ३ प्रति०। स्वनामख्याते पर्वतविशेषे, (जी०)

संप्रति उत्तरकुरुभावियमकपर्वतवक्तव्यतामाह–

कहि णं भंते ! उत्तरकुराए कुराए जमगा नामं दुवे पव्वता पण्णत्ता ? गोयमा ! नीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं अट्ठ चोत्तीसं जोयणसते चत्तारि य सत्तभागे जोयणसहस्सं आवाधाए सीताए महाणईए उभओ कूले, एत्थ णं उत्तरकुराए कुराए जमगा णाम दुवे पव्वता पण्णत्ता। एगमेगेणं जोयणसहस्सं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उव्वेहेणं मूले एकमेकं जोयणसहस्सं आयामविक्खंभेणं मज्झे अद्धट्ठमाइं जोयणसताइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पंचजोयणसयाइं आयामविक्खंभंणं मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं एकं वावट्ठं जोयणसयं किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं दो जोयण-सहस्साइं तिण्णि य वावत्तरे जोयणसते किं चिवि-से सूणपरिक्खेवेणं उवरिं पण्णरस एक्कासीते जोयणसते किंचिविसेसाहिया परिक्खेवेणं पण्णत्ता, मूल वित्थिन्ना मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गो-पुच्छसंठाणसंठिया सव्वकणगामया अच्छा सण्हा० जाव पडिरूवा पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेतिया परिक्खित्ता, पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता, वण्णओ, दोण्ण वि तेसि णं जमगपव्वयाणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जभूमिभागे पण्णत्ते, वण्णओ० जाव आसयंति। तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागासं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेंसका पण्णत्ता। ते णं पासायवडेंसका वावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एकतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गतमूसितवण्णओ भूमिभागओ उल्लोता, दो जोयणाइं मणिपेढियाओ उवरि सीहासणा सपरिवारा० जाव जमगा चिट्ठंति। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चंतिजमगा पव्वया, जमगा पव्व-या ? गोयमा ! जमगेसु णं पव्वतेसु तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहूओ खुड्डियाओ वावीओ० जाव विलवंतियाओ तासु णं खुड्डा खुड्डिया० जाव विलवंतियासु बहूइं उप्पलाइं० जाव सतसहस्सपत्ताइं जमगप्पभाइं जमगवण्णाइं जमगा, एत्थ णं दो देवा महिड्ढिया० जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति। ते णं तत्थ पत्तेयं पत्तेयं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं० जाव जमगाणं पव्वयाणं जमिगाण य रायहाणीणं अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव पालेमाणा विहरंति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–जमगपव्वया जमगपव्वया, अदुत्तरं च णं गोयमा ! जाव णिच्चा। कहि णं भंते ! जमगाणं देवाणं जमगाओ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! जमगाणं पव्वयाणं उत्तराणं ति तिरियमसंखेज्जदीवसमुद्दे बीतीवतित्ता अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारस जोयणसहसहस्साइं ओगाहित्ता, एत्थ णं जमगाणं देवाणं जमिगाओ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ बारसजोयणसहस्साइं जहा विजयस्स० जाव महिड्ढिया जमगा देवा॥

''कहि णं भंते !'' इत्यादि। क्व भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ ? भगवानाह–गौतम ! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणान्त्याच्चरमान्तात् चरमरूपात् पर्यन्तादष्टौ योजनशतानि चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंशदधिकानि चतुरश्च योजनस्य सप्त भागान् अवाधया कृत्वा अपान्तराले मुक्तेति भावः। अत्रान्तरे शीताया महानद्याः पूर्वपश्चिमयोर्दिशोरुभयोः कूलयोः, अत्र एतस्मिन् प्रदेशे यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ। तद्यथा–एकः पूर्वकूले, एकः पश्चिमकूले, प्रत्येकं योजनसहस्रमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि उद्वेधेन, अवगाहेन मेरुव्यतिरेकेण शेषशाश्वतपर्वतानां सर्वेषामपि विशेषेणोच्चैस्त्वापेक्षया चतुर्भागस्थावगाहभावात्, मूले एकं योजनसहस्रं विष्कम्भः १०००, मध्ये अर्द्धाष्टमानि योजनशतानि ७५०, उपरि पञ्चयोजनशतानि ५००, मूले त्रीणि योजनशतानि एकं च द्वाषष्टं द्वाषष्ट्यधिकं योजनशतं किञ्चिद् विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ ३१६२, मध्ये द्वे योजनसहस्रे त्रीणि योजनशतानि द्वासप्ततानि द्वासप्तत्यधिकानि २३७२, किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ, उपरि एकं योजनसहस्रं पञ्च शतानि एकाशीतानि एकाशीत्यधिकानि योजनशनानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि १५८१ परिक्षेपेण, एवं च तौ मूले विस्तीर्णौ मध्ये संक्षिप्तौ उपरि तनुकावत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितौ (सव्वकणगामया इति) सर्वात्मना कनकमयौ ''अच्छा० जाव पडिरूवा'' इति प्राग्वत्। तौ च प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्तौ, प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डपरिक्षिप्तौ, पद्मवरवेदिकवर्णको, वनखण्डवर्णकश्च जगत्युपरि पद्मवरवेदिकावनखण्डवर्णकवत् वक्तव्यः। ''जमगपव्वयाणं'' इत्यादि। यमकपर्वतयोरुपरि प्रत्येकं बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः। भूमिभागवर्णनं च– ''से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा'' इत्यादि प्राग्वत् तावद्वक्तव्यं यावत् ''बाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति० जाव पद्मणुभवमाणा विहरंति।'' ''तेसि णं'' इत्यादि। तयोर्बहुसमरमणीययोर्भूमिभागयोर्बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रासादावतंसकौ प्रज्ञप्तौ। तौ च प्रासादावतंसकौ द्वाषष्टियोजनानि अर्द्धयोजनं चोर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं चैकं विष्कम्भेन, ''अब्भुग्गयमूसियपहसियाइ वा'' इत्यादि यावत् ''पडिरूवा'' इति प्रासादावतंसकवर्णनम्, उल्लोचवर्णनम्, भूमिभागवर्णनम्, मणिपीठिकावर्णनम्, सिंहासनवर्ण-

नम्, विजयदूष्यवर्णनम्, अङ्कुशवर्णनम्, दामवर्णनं च निरवशेषं प्राग्वद्वक्तव्यम्। नवरमत्र मणिपीठिकायाः प्रमाण-मायामविष्कम्भाभ्यां द्वे योजने, बाहल्येन एकं योजनम्, शेषं तथैव। ''तेसि णं सीहासणाणं'' इत्यादि। तयोः सिंहासनयोः प्रत्येकम् ''अवरुत्तरेणं'' अपरोत्तरस्यां, वायव्यामित्यर्थः। उत्तरपूर्वस्यां च दिशि, अत्र एतासु तिसृषु दिक्षु यमक-योर्यमकनाम्नोर्यमकपर्वतस्वामिनोर्देवयोः प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। एवमेतेन क्रमेण सिंहासनपरिवारो वक्तव्यः, यथा प्राग् विजयदेवस्य। ''तेसि णं'' इत्यादि। तथोः प्रासादावतंसकयोः प्रत्येकमुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानि, इत्याद्यपि प्राग्वत् तावद्वक्तव्यं यावत् ''सयसहस्सपत्तगा'' इति पदम्। संप्रति नामनिबन्धं पिपृच्छिषुरिदमाह– ''से केणट्ठेणं'' इत्यादि। अथ केनार्थेन केन कारणेन एवमुच्यते – यमकपर्वतौ, यमकपर्वताविति ? भगवानाह–गौतम ! यमकपर्वतयोः णमिति वाक्यालङ्कारे, क्षुल्लिकासु वापीषु पुष्करिणीषु यावद्बिल-पङ्क्तिषु, बहूनि उत्पलानि यावत्सहस्रपत्राणि यमकप्रभाणि, यमका नाम शकुनिविशेषाः, तत्प्रभाणि तदाकाराणि। एतदेव व्याचष्टेयमकवर्णाभानि, यमकसदृशवर्णानीत्यर्थः। यमकौ च यमकनामानौ च, तत्र तयोर्यमकपर्वतयोः स्वामित्वेन द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावद् महाभागौ पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः। तौ च तत्र प्रत्येकं प्रत्येकंचतुर्णां सामानिक सहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणामभ्यन्तरमध्य-बाह्यरूपाणां यथासंख्यमष्टादशद्वादशदेवसहस्रसंख्याकानां सप्तानाम-नीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणाम् ''जमगाणं पव्वयाणं जमिगाण य रायहाणीणं'' इति। स्वस्य स्वस्य यमकपर्वतस्य स्वस्याः यमिकाऽभिधायाः राजधान्याः, अन्येषां च बहूनां वाणमन्तराणां देवानां देवीनां च स्वस्वयमिकाऽभिधरा-जधानीवास्तव्यानामाधिपत्यं यावद्विहरतः। यावत्करणात् – ''पारेवच्च सामित्तं भट्टित्तं'' इत्यादि-परिग्रहः। ततो यमकाकारयमकवर्णोत्पलादियोगात् यमकाभिधदेव-स्वामिकत्वाच्च तौ यमकपर्वताविति उच्यते। यथा चाह– ''से तेणट्ठेणं'' इत्यादि। संप्रति यमिकाभिधराजधानीस्थानम्– ''कहि णं भंते !'' इत्यादि। क्व भदन्त ! यमकयोर्देवयोः संबन्धिन्यौ यमिके नाम राजधान्यौ प्रज्ञ-प्ते ? भगवानाह–गौतम ! यमकपर्वतयोरुत्तरतोऽन्यस्मिन् असंख्येयतमे जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य, अत्रान्तरे यमकदेवयोः संबन्धिन्यौ यमिकराजधान्यौ प्रज्ञप्ते, ते चाविशेषेण विजयराजधानीसदृश्यौ वक्तव्ये। जी० ३ प्रति०। शब्दालङ्कारभेदे, वाच०।

पुनर्यमकपर्वतप्ररूपणा–

कहि णं भंते ! उत्तरकुराए जमगा णामं दुवे पव्वया पण्णत्ता ? गोअमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणिल्लाओ चरिमंताओ अट्ठ चउत्तीसे जोअणसए चत्तारि अ सत्तभाए जोअणस्स अबाहाए सीआए महाणईए उभओ कूले, एत्थ णं जमगा णामं दुवे पव्वया पण्णत्ता, जोअणसहस्सं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोअणसयाइं उव्वेहेणं मूले एगं जोअणसहस्सं आयामविक्खंभेणं मज्झे अद्धट्ठमाणि जोअणसयाइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पंच जोअणसयाइं आ-यामविक्खंभेणं मूले तिण्णि जोअणसहस्साइं एगं च बावट्ठं जोअणसयं किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं मज्झे दो जोअणसहस्साइं तिण्णि य बावत्तरे जोअणसए किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं उवरि एगं जोअणसहस्सं पंच य एकासीए जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं मूले वित्थिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिंतणुआए जमगसंठाणसंठिआ सव्वकणगामया अच्छा सण्हा पत्तेअं पत्तेअं पउमवरवेइआ परिक्खित्ता पत्तेअं पत्तेअं वणसंडा परिक्खित्ता, ताओ णं पउमवरवेइआओ दो गाउआइं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं वेइआवणसंडवण्णओ भाणिअव्वो। तेसि णं जमगपव्वयाणिं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते० जाव तेसि णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं दुवे पासायवडेंसगा पण्ण-त्ता। ते णं पासायवडेंसगा बावट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोअणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं पासायवण्णओ भाणिअव्वो, सीहासणा सपरिवारा० जाव एत्थ णं जमगाणं देवाणं सोलसण्हआय-रक्खदेवसाहस्सीणं सोलस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइजमगा य पव्वया, जमगा य पव्वया ? गोअमा ! जमगपव्वएसु णं तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे खुड्डा खुड्डियासु वावीसु० जाव विलपंतियासु बहवे उप्पलाइं० जाव जमगप्पभाइं जमगवण्णाभाइं जमगा य, एत्थ दुवे देवा महिड्ढिया, तेणं तत्थ चउण्हं सामाणिअसाहस्सीणं, जाव भुंजमाणा विहरंति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइजमगपव्वया जमगपव्वया, अदुत्तरं च णं सासए णामधिज्जे० जाव जमगपव्वया जमगपव्वया। कहि णं भंते ! जमगाणं देवाणं जमगाओ रायहाणीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! जंबूद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं अण्णम्मि जंबूद्दीवे दीवे बारस जोअणस-हस्साइं ओगाहित्ता, एत्थ णं जमगाणं देवाणं जमिगाओ रायहाणीओ पण्णत्ताओ, बारस जोअणसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं सत्ततीसं जोअणसहस्साइं णव य अडयाले जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पत्तेअं पत्तेअं पायारप-रिक्खेत्ता, ते णं पागारासत्त तीसं जोअणाइंअद्धजोअणं च उड्ढं उच्चत्तेणं मूले अद्धतेरसजोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे छस्सकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं उवरिं तिण्णि सअद्धकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं भूले वित्थिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुआ बाहिं वट्टा अंते चउरंसा सव्वरयणामया अच्छा, ते णं पागारा-

णाणामणिपंचवण्णेहिं कविसीसएहिं उवसोहिआ। तं जहा किण्हेहिं० जाव सुक्किल्लेहिं, ते णं कविसीसगा अद्धकोसं आयामेणं देसूणं अद्धकोसं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमया अच्छा, जमिगाणं रायहाणीणं एगमेगाए बाहाए पणवीसं पणवीसं दारसए पण्णत्ते। ते णं दारा बावट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोअणाइं कोसं च विक्खंभेणं तावइअं चेव पवेसेणं सेआ वरकणकथूमिए, एवं रायप्पसेणइज्जविमाण-वत्तव्वयाए दारवण्णओ० जाव अट्ठट्ठमंगलगाइं ति, जमियाणं रायहाणीणं चउद्दिसिं पंच पंच जोअणसए आवाहाए चत्तारि वणसंडा। पण्णत्ता। तं जहा– असोगवणे, सत्तिवण्णवणे, चंपगवणे, चूअवणे। ते णं वणसंडा *साइरेगाइं बारस जोअण-सहस्साइं आयामेणं पंच जोअणसया* विक्खंभेणं पत्तेअं पत्तेअं पागारपरिक्खित्ता किण्हा वणसंडवण्णओ भूमिओ पासायवडेंसगा य भाणिअव्वा, जमिगाणं रायहाणी अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, वण्णओ त्ति। तेसि णं बहु-समरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं दुवे उवयारिया लेणा पण्ण-त्ता। बारस जोअणसयाइं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोअणसहस्साइं सत्त य पंचाणउए जोअणसए परिक्खेवेणं अद्धकोसं च बाहल्लेणं सव्वजंबूणयामया अच्छा पत्तेअं पत्तेअं पउमवरवेइआ परिक्खित्ता, पत्तेअं पत्तेअं वणसंडवण्णओ भाणिअव्वो, तिसोवाण पडिरूवगा तोरणा चउद्दिसिं भूमिभागो अ भाणि-अव्वो। तस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे पासायवडेंसए *पण्णत्ते, बावट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअणं च उड्ढं उच्चत्तेणं इक्कतीसं* जोअणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं वण्णओ, उल्लोआ भूमिभागा सीहासणा सपरिवारा, एवं पासायपंतीओ वि। तत्थ पढमा पंतीते णं पासायवडेंसगा एकतीसं जोअणाइं कोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं साइरेगाइं अद्धसोलस जोअणाइं आयामविक्खंभेणं। बिइअपासायपंती–ते णं पासायवडेंसया साइरेगाइं अद्धसोलसजोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं साइरेगाइं अद्धट्ठमाइं जोअणाइं आया-मविक्खंभेणं। तइअपासायपंती– ते णं पासायवडेंसया साइरेगाइं अद्धट्ठमाइं जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, साइरेगाइं अद्धट्ठजोअणाइं आयामविक्खंभेणं, वण्णओ–सीहासणा सपरिवारा। तेसि णं मूलपासायवडिंसयाणं उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए, एत्थ णं जमगाणं देवाणं सभाओ *सुहम्माओ पण्णत्ताओ, अद्धतेरस जोअणाइं आयामेणं* छस्सकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं णव जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसण्णिविट्ठा सभावण्णओ। तासि णं सभाण सुहम्माणं तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता। ते णं दारा दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जोअणं विक्खंभेणं तावइअं चेव पवेसेणं सेआ वण्णओ, जाव वणमाला। तेसि णं दाराणं पुरओ पत्तेअं पत्तेअं तओ मुहमंडवा पण्णत्ता, ते णं मुहमंडवा अद्धतेरस जोअणाइं आयामेणं छस्सक्कोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोअणाइ उड्ढं उच्चत्तेण जाव दारा भूमिभागा य, पेच्छाघरमंडवाणं तं चेव पमाणं भूमिभागो मणिपेढियाओ, ताओ णं मणिपेढियाओ जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ सीहासणा भाणिअव्वा। तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ मणिपेढिआओ पण्णत्ता। ताओ णं मणिपेढिआओ दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं जोअणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ। तासि णं उप्पिं पत्तेअं पत्तेअं तओ थूभा, ते णं थूभा दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं सेआ य संखदल० जाव अट्ठट्ठमंगलया। तेसि णं थूभाणं चउद्दिसिं चत्तारि मणिपेढियाओ पण्ण-त्ताओ। ताओ णं मणिपेढिआओ जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं जिणपडिमाओ वत्तव्वाओ। चेइअरुक्खाणं मणिपेढिआओ दो जोअणाइं आयाम-विक्खंभेणं जोअणं बाहल्लेणं चेइअरुक्खवण्णओ, तेसि णं चेइअरुक्खाणं पुरओ तओ मणिपेढिआओ पण्णत्ताओ। ताओ णं मणिपेढिआओ जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं, तासि णं उप्पिं पत्तेअं पत्तेअं महिंदज्झया, पण्णत्ता, ते णं अट्ठ महिंदज्झया अद्धट्ठमाइं जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं वइरामयवट्टवण्णओ, चेइआ वणसंडा तिसोवाणतोरणा य भाणिअव्वा, तासि णं सभाणं सुहम्माणं छच्च मणोगुलिआसाहस्सीओ पण्ण-त्ताओ। तं जहा– पुरच्छिमेणं दो साहस्सीओ पण्णत्ताओ, पच्चच्छिमेणं दो साहस्सीओ, दक्खिणेणं एगा साहस्सी, उत्तरेणं एगा० जाव दामा चिट्ठंति। एवं गोवाणसिआओ णवरं, धूवघडिआओ, तासि णं सुहम्माणं सभाणं अंते बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते। मणिपेढिआ दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं, जोअणं बाहल्लेणं, तासि णं मणिपेढिआणं उप्पिं माणवए चेइअखंभे महिंदज्झयप्पमाणे उवरिं छक्कोसे उग्गाहित्ता हिट्ठा छक्कोसे वज्जित्ता जिणसकहाओ पण्णत्ताओ। माणवगस्स पु-व्वेणं सीहासणा सपरिवारा, पच्चच्छिमेणं सयणिज्जावण्णओ, *सयणिज्जाणं उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए खुड्डगमहिंदज्झया मणि-*पेढिआविहूणा महिंदज्झयप्पमाणा, तेसिं अवरेणं चोप्फला 5

पहरणकोसा, तत्थ णं बहवे फलिहरयण-पामुक्खा० जाव चिट्ठंति । सुहम्माणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा, तासिं णं उत्तरपुरच्छिमेणं, णवरं इमं णाणत्तं, एतेसिं णं बहु-मज्झदेसभाए पत्तेअं पत्तेअं मणिपेढिआओ दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं जोअणं बाहल्लेणं, तासिं उप्पिं पत्तेअं पत्तेअं देवच्छंदया पण्णत्ता। दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामया जिणपडिमावण्णओ० जाव धूव-कडुच्छगा, एवं अवसेसाण वि सभाणं० जाव उववायसभाए सयणिज्जं दहओ अ अभिसेअसभाए बहुआभिसिक्के भंडे अलंकारिअसभाएसु बहुअलं-कारिअभंडे चिट्ठइ ववसायसभासु पुत्थयरयणा-णंदापुक्खरिणीओ वलिपेढा दो जोअणाइं आया-मविक्खंभेणं जोअणं बाहल्लेणं० जाव त्ति ।

''उववाओ संकप्पो, अभिसेअं विहूसणा य ववसाओ।
अच्चणिअ सुधम्मगमो, जहा य परिचारणा इड्ढी ॥१॥
जावइयम्मि पमाणे, वि हुंति जमगाओ णीलवंताओ।
तावइअमंतरं खलु, जमगदहाणं दहाणं च ॥२॥

''कहि णं'' इत्यादि। क्व भदन्त ! उत्तरकुरुषु यमको नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ ? गौतम ! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षिणा-त्याच्चरमान्तात्, इत्यत्र दाक्षिणात्यं चरमान्तम् आरभ्येति ज्ञेयं, ल्यब्लोपे पञ्चमी। दाक्षिणात्याच्चरमान्तादारभ्यार्वाक् दक्षिणाभिमुखमित्यर्थः। अष्टौ योजनशतानि तु त्रिंशदधिकानि चतुरश्च सप्त भागान् योजनस्याबाधया, अपान्तराले कृत्वेति शेषः। शीताया महानद्या उभयोः कूलयोः एकः पूर्वकूले, एकः पश्चिमकूले इत्यर्थः। अत्रान्तरे यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ, एकं योजनसहस्रमूर्ध्वोच्चत्वेन, अर्द्धतृतीयानि योजनशतान्युद्वेधेन उच्छ्रयचतुर्थांशस्य भूम्यवगाहात्, मूले योजनसहस्रमायामविष्क-म्भाभ्यां वृत्ताकारत्वात्, मध्ये भूतलतः पञ्चयोजनशतातिक्रमेऽर्द्धाष्ट-मानि योजनशतानि आयामविष्कम्भाभ्याम्, उपरि सहस्रयोजनातिक्रमे पञ्चयोजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां, मूले त्रीणि योजनसहस्राणि, एकं च योजनशतं द्वापष्ट्यधिकं किञ्चिद्विशेषाधिकं, किं कि-यत्कलामित्यर्थः। परिक्षेपेण, एवं मध्यपरिधिरुपरितनपरिधिश्च स्वयमभ्यूह्यो, मूले विस्तीर्णौ मध्ये संक्षिप्तावुपरितनुकौ यमकौ यमलजातौ भ्रातरौ तयोर्यत् संस्थानं तेन संस्थितौ, परस्परं सदृशसंस्थानावित्यर्थः। अथवा– यमकाद् नाम शकुनिविशेषात् संस्थानसंस्थितौ संस्थानं चानयोर्मूलतः प्रारभ्य संक्षिप्तसंक्षिप्तप्रमाणत्वेन गोपुच्छस्येव बोध्यं, सर्वात्मना कनकमयौ, शेषं व्यक्तम्, अष्टादशताद्यङ्कोपपत्तिरेवम्– नीलवद्वर्षधरस्य यमकयोश्चान्तरमेकं यमकं, तयोः प्रथमहृदस्य च द्वितीयं, प्रथम-हृदस्य द्वितीयहृदस्य च तृतीयं, द्वितीयहृदस्य तृतीयहृदस्य चतुर्थं, तृतीयहृदस्य चतुर्थहृदस्य पञ्चमं, चतुर्थहृदस्य पञ्चमहृदस्य षष्ठं पञ्चमहृदस्य च वक्षस्कारगिरिपर्यन्तस्य च सप्तमम्। एतानि च सप्ताप्यन्तराणि समप्रमाणानि, ततश्च कुरुविष्कम्भात् योजन ११८४२ कला २, इत्येवंरूपात् योजनसहस्रायामयोर्यमकयोः योजन सहस्रायामकं तावत्प्रमाणायामानां पञ्चानां ह्रदानां च योजनसहस्रमेकम्, उभयोर्मीलने योजनसहस्रषट्कं शोध्यते च जातं योजन ५८४२ कला २, ततः सप्तभिर्भागे हृते ८३४।४, यच्चावशिष्टं कुरुसत्कं कलाद्वयं तदल्पत्वान्न विवक्षितमिति। अत्रैवानन्तरोक्तवेदिकावनखण्डमप्रमाणाद्याह– ''ताओ णं'' इत्यादि व्यक्तम्। संप्रत्येतयोर्यदस्ति तदाह– ''तेसि णं'' इत्यादि। तयोर्यमकपर्वतयोरुपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः। अत्र पूर्वोक्तः सर्वो भूभागवर्णक उन्नेतव्यः। कियत्पर्यन्तमित्याह– यावत्तयोर्बहु-समरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे द्वौ प्रासादावतंसकौ प्रज्ञप्तौ। अथ तयोरुच्चत्वाद्याह– ''ते णं'' इत्यादि निरवशेषं विजयदेवप्रासादसिंहासनादिव्यवस्थितिसूत्रं वक्तव्यं, नवरं यमकदेवाभिलापेनेति। अथानयोर्नामार्थं प्रश्नयन्नाह– ''से केणं'' इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम्। उत्तरसूत्रे यमकपर्वतयोस्तत्र देशे तत्र प्रदेशे क्षुद्रक्षुद्रिकासु यावद्विलपङ्क्तिषु बहून्युत्पलानि। अत्र यावत्पदात् कुमुदादीनि वाच्यानि, तथा यमकप्रभाणीति परिग्रहः तत्र यमकौ यमकपर्वतस्तत्त् प्रभाणि, तदाकाराणीत्यर्थः। यमकवर्णाभानि, यमकवर्णसदृशवर्णानीत्यर्थः। यदि वा यमकाभिधानौ द्वौ देवौ महर्द्धिकौ, अत्र परिवसतः तेन यमकाविति, शेषं प्राग्वत्। अथानयो राजधानी प्रश्नावसरः– ''कहिणं'' इत्यादि। क्व भदन्त ! यमकयोर्देवयोर्यमिका-नामराजधान्यौ प्रज्ञप्ते ? गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरेणाऽन्यस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादशयोजनसहस्रान्यवगाह्या-त्रान्तरे यमकयोर्देवयोर्यमिके नाम राजधान्यौ प्रज्ञप्ते, द्वादशयोजन-सहस्राण्यायामविष्कम्भाभ्यां सप्तत्रिं-शद्योजनसहस्राणि नव च योजनशतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रत्येकं प्रत्येकं द्वे अपि प्राकारपरिक्षिप्ते। कीदृशौ तौ प्राकाराविति ? तत्स्वरूपमाह– ''ते णं पागारा'' इत्यादि। तौ प्राकारौ सप्तत्रिंशद्यो-जनानि योजनार्द्धं सहितानि ऊर्द्धोच्चत्वेन मूले अर्द्ध त्रयोदशं योजनं येषु तान्यर्द्धत्रयोदशानि योजनानि विष्कम्भेण मध्ये षट् सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भेण मूलविष्कम्भतो मध्यविष्कम्भस्यार्द्धमानत्वात्, उपरित्रीणि सार्द्धानि क्रोशानि योजनानि विष्कम्भेण, अस्याऽपि मध्यविष्कम्भतोऽ-र्द्धमानत्वात्। अत एव मूले विस्तीर्णावित्यादिपदत्रयं विवृतप्रायम्, बहिर्वृत्तौ कोणा-वनुपलक्ष्यमाणत्वात्, अन्तश्चतुरस्रः उपलक्ष्य-माणकोणत्वात्। अथानयोः कपिशीर्षकवर्णकमाह– ''ते णं पागारा णाणामणि'' इत्यादि। तौ प्राकारौ नानामणीनां पद्मरागस्फटिकमर-कताञ्जनादीनां पञ्च प्रकारा वर्णा येषु तानि यैः तथा तैः कपिशीर्षकैः प्राकाराग्ररूपशोभितौ। एतदेव विवृणोति–तद्यथा–कृष्णैर्यावच्छु-क्लैरिति। अथैतेषां कपिशीर्षकाणा-मुच्चत्वादिमानमाह – ''ते णं इत्यादि निगदसिद्धम्। अथानयोः कियन्ति द्वाराणीत्याह ''जमि-गाणं'' इत्यादि। यमिकयोः राजधान्योरेकैकस्यां बाहायां पार्श्वे पञ्चविंशत्यधिकं २ द्वारशतं प्रज्ञप्तम्। तानि द्वाराणि द्वाषष्टियोजनानि अर्द्धयोजनं चोर्द्धोच्चत्वेन एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं च विष्कम्भेण तावदेव प्रवेशेन श्वेतानि वरकन-कस्तूपिकानि०, लाघवार्थमतिदेशमाह– एवं राजप्रश्नीये यद्विमानं सूर्याभनामकं, तस्य वक्तव्यतायां यो द्वारवर्णकः स इहापि ग्राह्यः। किं यत्पर्यन्तमित्याह –यावदष्टाष्टमङ्गलकानि, अत्रातिदिष्टमपि सूत्रं न लिखितं, विजयद्वारप्रकरणे सूत्रतोऽर्थतश्च लिखितत्वात्, अतिदिष्टत्वस्योभ-यत्रापि साम्याच्चेति। अथानयोर्बहिर्भागे वनखण्डवक्तव्यमाह– ''जमियाणं'' इत्यादि। यमिकयो राजधा-

न्योश्चतुर्दिशि, चतसृणां दिशां समाहारश्चतुर्दिक्, तस्मिंस्तथा, पूर्वादिष्वित्यर्थः। पञ्च पञ्च योजनशतान्यबाधयाऽपान्तराले कृत्वे ति गम्यते। चत्वारि वनखण्डानि, प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–अशोकवनं, सप्तपर्णवनं, चम्पकवनम्, आम्रवनमिति। अथैतेषामायाद्याह'' ते णं वणसंडा'' इत्यादि। ते च वनखण्डाः सातिरेकाणि द्वादश योजनसहस्राणि आयामेन पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भेण प्रत्येकं प्रत्येक प्राकारैः परिक्षिप्ताः, कृष्णा इति उपलक्षितो जम्बूद्वीपपद्मवरवेदिका प्रकरणलिखितः पूर्णो वनखण्डवर्णको, भूमयः, प्रासादावतंसकाश्च भणितव्याः। भूमयश्चैवम्– ''तेसि णं वनसंडाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता। से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा० जाव णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं अईवउवसोभिआ'' इति। प्रासादसूत्रमप्येवम्– ''तेसि णं वणसंडाणं बहुमज्झदेसभागे पत्तेअं पत्तेअं पासायवडेंसए पण्णत्ते। ते णं पासायवडेंसया बावट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअणं च उड्ढं उच्चतेणं इक्कतीसं जोअणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिअपहसिआइ य तहा बहुसमरमणिज्जे भूमिभाए उल्लोओ सीहासणा सपरिवारा, तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिआ० जाव पलिओवमट्ठिईआ परिवसंति। तं जहा–असोए, सत्तिवंण्णे, चंपए, चूअवणे'' इति। अत्राशोक-वनप्रासादेऽशोकवननामा देवः, एवं त्रिष्वपि तन्नामा देवः परिवसतीत्यर्थः। अथानयोरन्तर्भागवर्णकमाह– ''जमिगाणं'' इत्यादि। यमिकयो राजधान्योरन्तर्मध्यभागे बहुसमरणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः। वर्णक इति सूत्रगतपदेन– ''आलिंगपुक्खरेइ वा० जाव पंचवण्णेहिं मणीहि उवसोभिए वणसंडविलण्णो० जाव बहवे देवा य देवीओ य आसायंति० जाव विहरंति'' इत्यन्तो ग्राह्यः। अत्र च उपकारि-कालयनसूत्रमादर्शेष्वदृश्यमानमपि राजप्रश्नीयसूर्याभविमानव-र्णके च दृश्यमानत्वात् ''तिण्णि जोअणसहस्साइं सत्तया पंचाणउए जोअणसए परिक्खेवेणं'' इत्यादिसूत्रस्यान्यथानुपपत्तेश्च जीवाभिगमतो लिख्यते, आदर्शेष्वदृश्यमानत्वं च लेखकवैगुण्यादेवेति। तद्यथा– ''तेसि णं'' इत्यादि। तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे, अत्रान्तरे द्वे उपकारिकालयने प्रज्ञप्ते, उपकरोत्युपष्टम्भनाति प्रासा-दावतंसकादीनीत्युपकारिका राजधानी प्रभुसत्कप्रासा-दावतंसकादीनां पीठिका, अन्यत्र त्वियमुपकार्योपकारिकेति प्रसिद्धा। उक्तं च– ''गृहस्थानां स्मृता राज्ञामुप-कार्योपकारिका''। इति सालपनमिव गृहमिव ते च प्रतिराजधानीभव इति द्वे उक्ते, द्वादश योजनशतानि आयामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि योजनसहस्राणि सप्त च योजनशतानि पञ्चनवत्यधिकानि परिक्षेपेण अर्द्धक्रोशं धनुःसहस्रपरिमाणं बाहल्येन सर्वात्मना जाम्बूनदमये अच्छे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रत्युपकारिकालयने पद्मवरवेदिके परिक्षिप्ते, प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डवर्णको भणितव्यः। स च जगतीगतपद्मवरवेदिकास्थवनखण्डानुसारेणेति, त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि आरोहावरोहमार्गस्थानि चतुर्दिशि पूर्वादिदिक्षु ज्ञेयानि, तोरणानि चतुर्दिशि भूमिभागश्च कारिकालयनमध्यगतो भणितव्यः। तत् सूत्राणि जीवाभिगमोपाङ्गगतानि क्रमेणैवम्– ''से णं वणसंडे देसूणाइं जोअणाइं चक्कवालविक्खंभेणं उवयारिआलयणसमए परिक्खेवेणं, तेसि णं उवयारिआलयणाणं चउदिसिं चत्तारि तिसोवाण पडिरूवगा पण्णत्ता। वण्णओ, तेसि णं तिसोवाण पडिरूवगाणं पुरओ पत्तेअं पत्तेअं तोरणा पण्णत्ता। वण्णओ, तेसि णं उवयारियालयणाणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जभूमिभागे पण्णत्ते० जाव मणीहिं उवसोभिए'' इति। अत्र व्याख्या सुगमा। अथ यमकदेवयोर्मूलप्रासादस्वरूपमाह– ''तस्स णं'' इत्यादि। तस्योपकारिकालयनस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्रान्तरे एकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः। द्वाषष्टियोजनान्यर्द्धयोजनं चोर्द्धोच्चत्वेन, एकत्रिंशद्योजनानिक्रोशं चायाम-विष्कम्भाभ्यां वर्णको विजयप्रासादस्येव वाच्यः। उल्लोचावुपरि भागे भूमिभागावधोभागौ सिंहासने, सपरिवारौ सामानिकादिपरिवारभद्रासनव्यवस्था सहिते, यद्यत्र उपकारिकालयनस्य प्रासादावतंसकस्य चैकवचनेन विवक्षातावद् द्वि वचनेन विवक्षा, तत्सूत्रकाराणां विचित्रप्रवृत्तिकत्वादिति। अथास्य परि-वारप्रासादप्ररूपणमाह– ''एवं पासायपंतीओ वि'' इत्यादि। एवं मूलप्रासादा-वतंसकानुसारेण परिवारप्रासादपङ्क्तयो ज्ञातव्याः जीवाभिगमतः, पङ्क्तयश्चात्र मूलप्रासादतश्चतुर्दिक्षु पद्मानामिव परिक्षेपरूपा अवगन्तव्याः, न पुनः सूचिश्रेणिरूपाः। तत्र प्रथमप्रासादपङ्क्तिपाठ एवम्– ''से णं पासायवडेंसए अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते'' स प्रासादावतंसकोऽन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्व प्रमाणमात्रैः, अत्रोच्चत्वशब्देनोत्सेधो गृह्यते, प्रमाणशब्देन च विष्कम्भायामः, तेन मूलप्रासादापेक्षया अर्द्धोच्चत्वविष्कम्भायामैरित्यर्थः। सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः। एषामुच्चत्वादिकं तु साक्षात् सूत्रकृदेवाह– एक-त्रिंशद्योजनानि क्रोशं चोच्चत्वेन, सार्द्धद्वाषष्टियोजनानामर्द्धं एतावत एव लाभात्। सातिरेकाण्यर्द्धक्रोशाधिकानि, अर्द्धषोडशानि सार्द्धपञ्चदशयोजननानि विष्कम्भायामाभ्यामिति। अथ द्वितीयप्रासाद पङ्क्तिः। तत्पाठश्चैवम्– ''ते णं पासायवडेंसया अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता'' इति। ते प्रथमपङ्क्तिगताश्चत्वारः प्रासादाः प्रत्येकमन्यैश्चतुर्भिस्तदर्द्धोच्चत्वविष्कम्भायामैर्मूलप्रासादापेक्षया चतुर्भागप्रमाणैः प्रासादैः परिक्षिप्ताः अत्र एवैते षोडश प्रासादाः सर्वसङ्ख्यया स्युः। एषामुच्चत्वादिकं तु साक्षादेव सूत्रकृदाहते प्रासादाः सातिरेकाणि अर्द्धक्रोशाधिकानि सार्द्ध-पञ्चदशयोजनान्युच्चत्वे न सातिरेकाणि क्रोशक्रोश-चतुर्थांशाधिकानि, अर्द्धाष्ट-मयोजनान्यायामविष्कम्भाभ्यामिति। अथ तृतीया पङ्क्तिः। तत्सूत्रमेवम्– ''ते णं पासायवडेंसया अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता'' ते द्वितीयपरिधिस्थाः षोडश प्रासादाः प्रत्येकमन्यैश्चतुर्भिस्तदर्द्धोच्चत्वविष्कम्भायामैर्मूलप्रासादा-पेक्षया-ऽष्टांश प्रमाणोच्चत्वविष्कम्भायामैः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः। अत एवैते तृतीयपङ्क्तिगताश्चतुषष्टि प्रासादाः। एतेषामुच्चत्वादि प्रमाणं सूत्रकृदाह– ते चतुःषष्टिरपि प्रासादाः सातिरेकाण्यर्द्धाष्टमयोजनान्युच्चत्वेन, सातिरेकत्वं च प्राग्वत्। अर्द्धाष्टानि अर्द्ध-तृतीयानि सातिरेकाणि सार्द्धक्रोशाष्टांशाधिकानि विष्कम्भायामाभ्याम्। एषां सर्वेषां वर्णकः– सिंहासनानि च सपरिवाराणि प्राग्वत्। अत्र च पङ्क्तिप्रासादेषु सिंहासनं प्रत्येकमेकं, मूल प्रासादे तु मूलसिंहासनपरिवारोपेतमित्यादिना क्षेत्र-समासवृत्तौ श्रीमलयगिरिपादाः। तथा प्रथमतृतीयपङ्क्त्या मूलप्रासादे सपरिवारे भद्रासनानि, द्वितीयपङ्क्तौ च परिवारे पद्मासनानि जीवाभिगमोपाङ्ग इत्यादि विसंवादसमाधानं बहुश्रुतगम्यम्। यद्यपि जीवाभिगमे विजयदेवप्रकरणे, तथा श्रीभगवत्यङ्ग वृत्तौ चरमप्रकरणे, प्रासादपङ्क्तिचतुष्कं, तथाऽप्यत्र यमकाधिकारे-

पङ्क्तित्रयं बोध्यम्। पङ्क्तित्रय-प्रासादसंग्रहश्चैवम्-

४
१६
६४
मूल प्रा. १
सर्व सं. ८५

मूलप्रासादेन सह सर्वसंख्यया पञ्चाशीतिः प्रासादाः ८५। अथा-त्र सभा पञ्चकं प्रपञ्चयितुकामः सुधर्मसभास्वरूपं निरूपयति- ''तेसिं णं'' इत्यादि। तयोर्मूलप्रासादाव-तंसकयोरुत्तरपूर्व-स्यामीशानकोणेऽत्रैतस्मिन् भागे यमकयोर्देवयोर्योग्ये सुधर्मनामे सभे प्रज्ञप्ते। सुधर्म्मा-शब्दार्थस्तुसुष्ठु शोभनो धर्मो देवानां माणवकस्तम्भवर्ति-जिनसक्थ्याशातनाभीरुकत्वेन देवाङ्गनाभोगविरतिपरिणामरूपो यस्यांसा तथा। वस्तुतस्तुसुष्ठु शोभनो धर्मो राजधर्मः, समन्तु-निर्मन्तुनिग्रहानुग्रहस्वरूपो यस्यां सा तथा। ते चार्द्धत्रयोदशयोजना-न्यायामेन सक्रोशानि षट्योजनानि विष्कम्भेण नव योजनान्यूर्द्धोच्चत्वेन। अत्र लाघवार्थं सभावर्णकसूत्रमतिदिशति-अनेकस्तम्भशत सन्निविष्टेत्यादिपदसूचितः सभावर्णको जीवाभिगमोक्तो ज्ञेयः। स चैवम्- ''अणेगखंभसयसण्णिविट्ठाओ अब्भुग्गयसुकयवइरवेइआतोरण-वररइअसालभंजिआसुसिलिट्ठविसिट्ठ संठिअपसत्थवेरुलिअविमल-खंभाओ णाणामणिकणगरयणखचिअउज्जलबहुसमसुविभत्तभूमिभागा-ओ ईहामिगउसभतुरगणगरमगरविहगबालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजर वणलयपउगलयभत्तिचित्तओ खंभुग्गय-वइरवेइ- आपरगियाभिरामाओ विज्जाहरजमलजुअल-जंत्तजुत्ताओ विव अच्चासहस्समालणीआओ रूवणसहस्सकलिआओ भिसमाणीओ निब्भिससमाणीओ चक्खुल्लो-अणलेसाओ सुहफासाओ सस्सिरीअसुरूवाओ कंचणमणिरयणथूमि-अग्गाओ णाणाविहपंचवण्णघंटापडागपरिमंडिअअग्गसिहराओ धवलाओ मरीइकवयविणिम्मुअंतीओ लाउल्लोइअमहिआओ गोसीससरसरससुर-भिरत्तचंदणदद्दरदिण्ण पंचंगुलितलाओ उवचिअवंदणकलसाओ वंदणघडसुकयतोरण पडिदुवारदेसभागाओ आसत्तोसत्तविउलवट्टव-ग्घारिअमल्लकलावाओ पंचवण्ण-सरससु-रहिमुक्कपुप्फपुंजोवयार-कलिआओ कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतमघमघंतगंधधू-आभिरामाओ सुगंधवरगंधिआओ गंधिवट्टिभूआओ अच्छरगणसंघ-विकिण्णाओ दिव्वतुडिअसद्दसंपण्णदिआओ सव्वरयणामईओ अच्छाओ० जाव पडिरूवाओ'' इति। अत्र व्याख्या तु सिद्धाय-तनतोरणादिवर्णकेषु उञ्छवृत्तिन्यायेन सुलभेति न पुनरुच्यते, नवरम्- अप्सरोगणानाम् अप्सरः परिवाराणां यः संघः समुदायस्तेन सम्यक् रमणीयतया विकीर्णा आकीर्णा दिव्यानां त्रुटितानामातोद्यानां ये शब्दास्तैः सम्यक्श्रोत्रमनोहारितया प्रकर्षेण नदिता शब्दवती, शेषं प्राग्वत्। अथास्तां कति द्वाराणीत्याह- ''तासि णं सभाणं'' इत्यादि। तयोः सभयोः सुधर्मयोस्त्रिदिशि त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, पश्चिमायां द्वाराभा-वात्। तानि द्वाराणि प्रत्येकं द्वे योजने ऊर्द्धोच्चत्वेन योजनमेकं प्रवेशेन, श्वेता इत्यादिपदेन सूचितः परिपूर्णो द्वारवर्णको वाच्यो यावद्वनमाला। अथ मुखमण्डपपरिषद्निरूपणामाह- ''तेसिं णं दाराणं'' इत्यादि। तेषां द्वाराणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं त्रयो मुखमण्डपाः प्रज्ञप्ताः सभाद्वाराग्रवर्तिनो मण्डपा इत्यर्थः। ते च मण्डपा अर्द्धत्रयोदशयोज-नान्यायामेन षट् सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भेण सातिरेके द्वे योजने ऊर्द्धोच्चत्वेन। एतेषामपि ''अणेगखंभसयसण्णिविट्ठा'' इत्यादिवर्णनं सुधर्मासभा इव निरवशेषं द्रष्टव्यं यावद्वाराणां भूमिभागानां च वर्णनं, यद्यप्यत्र द्वारान्तमेव सभावर्णनं, तदतिदेशेन मुखमण्डपसूत्रेऽपि तावन्मात्रमेवायाति, तथापि जीवाभिगमादिषु मुखमण्डपवर्णके भूमिभागवर्णकस्य दृष्टत्वात् अत्रातिदेशः। अथ प्रेक्षामण्डपवर्णकं लाघवादाह- ''पेच्छाघरमंडवाणं'' इत्यादि। प्रेक्षागृहमण्डपानां रङ्गमण्डपानां तदेव मुखमण्डपोक्तमेव प्रमाणं भूमिभाग इति पदेन सर्वं द्वारादिकं भूमिभागपर्यन्तं वाच्यम्। एषु च मणिपीठिका वाच्या। एतावदर्थसूचकमिदं सूत्रम्- ''तेसि णं मुहमंडवाणं पुरओ पत्तेअं पत्तेअं पेच्छाघरमंडवा पण्णत्ता, ते णं पेच्छाघरमंडवा अद्धतेरसं जोअणाइं आयामेणं० जाव दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं० जाव मणिफासा, तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेअं पत्तेअं वइरामया अक्खाडया पण्णत्ता, तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेअं पत्तेअं मणिपेढिआओ पण्णत्ताओ त्ति'' उक्तप्रायं, नवरमक्षपाटः चतुरस्राकारो मणिपीठिकाधार विशेषः। अस्याः प्रमाणाद्यर्थमाह- ''ताओ णं मणिपेढिआओ जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ सीहासणा भाणिअव्वा'' इति। अत्र सिंहासनानि भणितव्यानि, सपरिवाराणीत्यर्थः। शेषंव्यक्तम्। अथ स्तूपावसरः- ''तेसि णं'' इत्यादि। तेषां प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतो मणिपीठिकाः, अत्र बहुवचनं न प्राकृतशैलीभवं, यथा द्विवचनस्थाने बहुवचनं ''हत्था पाया'' इत्यादिषु, किं तु बहुत्वविवक्षार्थं, तेनात्र तिसृषु प्रेक्षा-गृहमण्डपद्वारदिक्षु एकैकसद्भावात् तिस्रो ग्राह्याः, अन्यत्र जीवाभिगमादिषु तथादर्शनात्। अथैतासां मानमाह- ''ताओ णं'' इत्यादि कण्ठ्यम्, यद्यप्येतत्सूत्रादर्शेषु ''जोअणं आया-मविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं'' इति पाठो दृश्यते, तथाऽपि जीवाभिग-मपाठदृष्टत्वेन राजप्रश्नीयादिषु प्रेक्षामण्डपमणिपीठिकातः स्तूपमणि-पीठिकाया द्विगुणमानत्वेन दृष्टत्वाच्चायं सम्यक् पाठः संभाव्यते। आदर्शेषु लिपिप्रमादस्तु सुप्रसिद्ध एव। अथ स्तूपवर्णनायाह- ''तासि णं'' इत्यादि। तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं त्रयः स्तूपाः प्रज्ञप्ताः। जीवाभिगमादौ तु चैत्यस्तूपा इति योजने '' ऊर्द्धोच्चत्वेन द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां, व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्तिरिति देशोने द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां ग्राह्यः, अन्यथा मणिपी-ठिकास्तूपयोरभेद एव स्यात्। जीवाभिगमादौ तु सातिरेके द्वे योजने उच्चत्वमित्यर्थः। ते च श्वेताः, श्वेतत्वमेवोपमया द्रढयति-(संखदल त्ति) यावत्करणात् - ''संखदलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणयनिअरप्पगासा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा'' इति प्राग्वत्। कियद् दूरं ग्राह्यमित्याह-याव-दष्टाष्टमङ्गलकानीति। अथ तच्चतुर्दिशि यदस्ति तदाह- ''तेसि णं थूभाणं'' इत्यादि। तेषां स्तूपानां प्रत्येकं चतुर्दिक्षु चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः। ताश्च मणिपीठिका योजनमाया-मविष्कम्भेण अर्द्धयोजनं बाहल्येन अत्र जिनप्रतिमावक्तव्याः, तत्सूत्रं चेदम्- ''तासि णं मणिपीढिआणं उप्पिं पत्तेअं पत्तेअं चत्तारि जिणपडिमाओ जिणुस्सेहप्पमाणमेत्ताओ पलिअंकणिसण्णाओ थूभाभिमुहीओ सण्णिक्खित्ताओ चिट्ठंति। तं जहा- उसभा वद्धमाणा चंदाणणा वारिसेणा'' इति। एतद्वर्णनादिकं वैताढ्ये सिद्धायतनाधिकारे प्रागुक्तम्। गताः स्तूपाः। ''चेइअक्खाण'' इत्यादि व्यक्तम्। अत्र चैत्य-वृक्षवर्णको जीवाभिगमोक्तो वाच्यः। स चायम्- ''तेसि णं चेइअरुक्खाणं अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते। तं जहावइरमूलरययसुपइट्ठिअविडिमारिट्ठामय-

कंदा वेरुलिअरुइलखंधा सुजायवरजायरूव-पढम-विसालसाला णाणामणिरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलिअरत्ततवणिज्जपत्तवेंटा जंबूणयरत्तमउअसुकुमालपवाल-पल्लवंकुरग्गधरा विचित्तमणि-रयणसुरभिकुसुमफल-भरणमिअसाला सच्छाया सप्पभा सस्सिरीआ सउज्जोआ अमयरससमरसफला अहिअनयणमण-विणव्वुइकरा पासादीआ० जाव पडिरूवा ४'' इति । अत्र व्याख्या– तेषां चैत्यवृक्षाणा-मयतेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः । तद्यथा– 'वज्ररत्नमयानि मूलानि येषां ते वज्रमूलाः, तथा रजता रजतमया सुप्रतिष्ठिता विडिमा बहुमध्यदेशभागे ऊर्द्ध-विनिर्गता शाखा येषां ते तथा । ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः । रिष्टरत्नमयः कन्दो येषां ते, तथा वैडूर्यरत्नमयो रुचिरः स्कन्धो येषां ते तथा, ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः, सुजातं मूलद्रव्यशुद्धं वरं प्रधानं यज्जातरूपं रूप्यं तदात्मिकाः प्रथमिका मूलभूता विशाला शालाः शाखा येषां ते तथा, नानामणिरत्नात्मिका विविधाः शाखामूलशाखा विनि-र्गतशाखाः प्रशाखा येषां ते तथा । तथा वैडूर्याणि वैडूर्यमयाणि पत्राणि येषां ते तथा । तथा तपनीयानि तपनीयमयानि पत्रवृन्तानि येषां ते तथा । ततः पूर्ववत् पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । जाम्बूनदा जाम्बूनदनामकसुवर्णविशेषमया रक्तवर्णा मृदुसुकुमारा अत्यन्तकोमलाः प्रवाला ईषदुन्मीलितपत्रभावाः पल्लवजातपूर्ण-प्रथमपत्रभावरूपा वराङ्कुराः प्रथममुद्भिद्यमानास्तदग्रान् धरन्ति ते तथा । विचित्रमणि-रत्नमयानि सुरभीणि कुसुमानि फलानि च तेषां भरेण नमिता नामग्राहिताः शाखा येषां ते तथा, सती शोभना छाया येषां ते सच्छायाः, एवं सत्प्रभाः । अत एव सच्छ्रीकाः । तथा सोद्द्योताः मणिरत्ना-नामुद्द्योतभावात् । अमृतरससमरसानि फलानि येषां ते तथा । अधिकं नयनमनोनिर्वृतिकराः, शेषं प्राग्वत् । ''ते णं चेइअरुक्खा अन्नाहिं बहूहिं तिलयलवयछत्तोवग सिरीससत्तिवण्णदहिवण्णलोहधवचंदणनीव-कुडयकयंवपणसतालमालपिआलपियंगुपारावयरायरुक्खनंदि-रुक्खेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता'' इति । ते चैत्यवृक्षा अन्यैर्बहुभिस्तिलकलवगछत्रोपगशिरीषसप्तपर्णदधिपर्णलोध्रधव-चन्दननीपकुटजकदम्बपनसतालतमालप्रियालप्रियङ्गुपारापतराज-वृक्षनन्दिवृक्षैः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः। एते च वृक्षाः केचिन्नाम कोशतः केचिल्लोकतश्चावगन्तव्याः । ''तेणं तिलया० जाव नंदिरुक्खा मूलवंतो कंदवंतो० जाव सुरम्मा'' ते च तिलकादयो वृक्षा मूलवन्तः कन्दवन्त इत्यादि वृक्षवर्णनं प्रथमोपाङ्गतोऽवसेयं, यावत् सुरम्या इति । ''ते णं तिलया० जाव नंदिरुक्खा अन्नाहिं बहूहिं पउमलयाहि० जाव सामलयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता ।'' ते च तिलकादयो वृक्षा अन्याभिर्बहुभिः पद्मलताभिर्यावच्छ्यामलताभिः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः । यावच्छब्दादत्र नागलताचम्पकलताद्या ग्राह्याः । ''ताओ णं पउमलयाओ० जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमिआओ० जाव पडिरूवाओ ।'' ताश्च पद्मलताद्या नित्यं कुसुमिता इत्यादि लतावर्णनं यावत्प्रतिरूपाः '' तेसि णं चेइअरुक्खाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलया बहवे झया छत्ताइच्छत्ता'' तेषां चैत्य वृक्षाणामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः *कृष्णचामरध्वजाः छत्रातिच्छत्राणि इत्यादि चैत्यस्तूपकवक्तव्यम् ।* गताश्चैत्यवृक्षाः । अथ महेन्द्रध्वजावसरः– ''तेसि णं चेइअरुक्ख-खाणं'' इत्यादि । तेषां चैत्यवृक्षाणां पुरतस्तिस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः । ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भाभ्याम् अर्द्धयोजनं बाहल्येन, ''तासि णं उप्पिं पत्तेअं'' इत्यादि । तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं महेन्द्रध्वजाः प्रज्ञप्ताः । ते चार्द्धाष्टमनि सार्द्धसप्तयोजनानि ऊर्द्धोच्चत्वेन अर्द्धक्रोशं धनुःसहस्रमुद्वेधेनोच्चत्वेन तदेव बाहल्येन ''वइरामथवट्ट'' इति पाठोपलक्षित परिपूर्णो जीवाभिगमाद्युक्तवर्णको ग्राह्यः । स चायम् ''वइरामयवट्टलट्ठसंठिअसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठ-सुपइट्ठिआ अणेगवरपंचवण्णकुडलीसहस्सपरिमंडि आभिरामा वाउद्धूअविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइच्छत्त-कलिआ तुंग गगणतलमभिलंघमाणा सिहरा पासादीआ० जाव पडिरूवा'' इति। अत्र व्याख्यावज्रमयाः तथा वृत्तं वर्तुलं लष्टं मनोज्ञं संस्थितं संस्थानं येषां ते तथा, तथा सुश्लिष्टा यथा भवन्ति एवं परिघृष्टाः खरशाणपाषाणप्रतिमेव सुश्लिष्टपरिघृष्टाः, तथा मृष्टाः सुकुमारशाणया पाषाण प्रतिमेव तथा सुप्रतिष्ठिता मनागप्यचलनात् तथा अनेकैर्वरैः प्रधानैः पञ्चवर्णैः कुण्डलीनां लघुपताकानां सहस्रैः परिमण्डिताः सन्तोऽभिरामाः, शेषं प्राग्वत् । ''तेसि णं महिंदज्झयाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलयाझया छत्ताइच्छत्ता'' इत्यादि सर्वं तोरणवर्णक इव वाच्यं जीवाभिगमत इति। उक्ता मेहेन्द्रध्वजाः । अथ पुष्करिण्यः । ताश्च– ''चेइआवणसंड'' इत्यादिपर्यन्तसूत्रेण संगृह्यते । तथाहि– ''तेसि णं महिंदज्झयाणं पुरओ तिदिसिं तओ णंदापुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ । अद्धतेरसजोअणाइं आयामेवं छस्सकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ पुक्खरिणीवण्णओ, पत्तेअं पत्तेअं पउमवर-वेइआपरिक्खित्ताओ पत्तेअं पत्तेअं वणसंडपरिक्खित्ताओ वण्णओ''। तथा ''तासि णं णंदापुक्खरिणीणं पत्तेअं पत्तेअं तिदिसिं तओ तिसोवाण पडिरूवगा पण्णत्ता । तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं वण्णओ, तोरणवण्णओ अ भाणिअव्वो० जाव छत्ताइच्छत्ता'' इति । अत्र जगतीगतपुष्करिणीवत् सर्वं वाच्यम् । अथ सुधर्मसभायां यदस्ति तदाह ''तासि णं'' इत्यादि । तयोः सभयोः सुधर्मयोः षट् मनोगुलिकानां पीठिकानां सहस्राणि प्रज्ञप्तानि । तथाहि–पूर्वस्यां द्वे सहस्रे, पश्चिमायां द्वे सहस्रे, दक्षिणस्यामेकं सहस्रम्, उत्तरस्यामेकं सहस्रम्, ''जाव दामा'' इत्यत्र यावत्पदादिदं ग्राह्यम– ''तासु णं मणोगुलिआसु बहवे सुवण्ण-रुप्पमया फलगा पण्णत्ता । तेसि णं सुवण्णरुप्पमएसु फलगेसु बहवे वइरामया णागदंतगा पण्णत्ता । तेसुं णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तवग्घारिअमल्ल-दामकलावा० जाव सुक्किल्लसुत्तवग्घारि-अमल्लदामकलावा तेणंदामा तवणिज्जलंबूसगा चिट्ठंति'' इति सर्वं विजयद्वारवद् वाच्यम् । अनन्तरोक्तं गोमानसिकासूत्रेऽतिदिशति– ''एवं गोमाणसिआओ'' इत्यादि । एवं मनोगुलिकान्यायेन गोमानस्यः शय्यारूपाः स्थानविशेषा वाच्याः, नवरं दामस्थाने धूपवर्णको वाच्यः । अथास्या एव भूभागवर्णकमाह– ''तासि णं'' इत्यादि । तयोः सुधर्मयोः सभयोः अन्तर्बहुसमरणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । अत्र मणिवर्णादयो वाच्याः, उल्लोचाः पद्मलतादयोऽपि च चित्ररूपाः । अत्र विशेषतो यद्वक्तव्यं तदाह– ''मणिपेढिआ'' इत्यादि। अत्र सुधर्मयोर्मध्यभागे प्रत्येकं मणिपीठिका वाच्या, द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां, योजनं *बाहल्येन । ''तासि णं'' इत्यादि । तयोर्मणिपीठिकयोरुपरि प्रत्येकं* माणवकनाम्नि चैत्यस्तम्भमहेन्द्रध्वजसमाने प्रमाणतोऽर्द्धाष्टमयोजन-प्रमाणतोऽर्द्धाष्टमयोजनप्रमाण इत्यर्थः । वर्णकतोऽपि महेन्द्रध्वजवत् उपरि-

षट्क्रोशानवग्राह्य, उप-रितनषट्क्रोशान् वर्जयित्वेत्यर्थः। अधस्तादपि षट् क्रोशान् वर्जयित्वा मध्येऽर्धपञ्चमेषु योजनेषु इति गम्यम् (जिणसकहाउ त्ति) जिनसक्थीनि जिनास्थीनीत्यन्तर्जातीयानां जिनदंष्ट्राग्रहणेऽनधिकृतत्वात् सौधर्मेशानचरमबलीन्द्राणामेव तद्ग्रहणात् प्रज्ञप्तानीति, शेषो वर्णकश्चात्र जीवाभिगमोक्तो ज्ञेयः। स चायम्– ''तस्स णं माणवगचेइअस्स खंभस्स उवरिं छक्कोसे ओगाहित्ता हिट्ठा वि छक्कोसे वज्जित्ता मज्झे अद्धपंचमेसु जोअणेसु, एत्थ णं बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पण्णत्ता। तेसु णं बहवे वइरामया णागदंतया पण्णत्ता। तेसु णं बहवे रययमया सिक्कगा पण्णत्ता। तेसु णं बहवे वइरामया गोलवट्टया समुग्गया पण्णत्ता, तेसु णं बहवे जिणसकहाओ संणिक्खित्ताओ चिट्ठंति। जाओ णं जमगाणं देवाणं अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य अच्चिज्जाओ वंदणिज्जाओ पूअणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइअं पज्जुवासणिज्जाओ'' इति। अत्र व्याख्या– ''तस्स णं'' इत्याद्यारभ्य ''वज्जित्ता'' इति पर्यन्तं प्रायः प्रस्तुतसूत्रे साक्षाद् दृष्टत्वादनन्तरमेव व्याख्यातम्, मध्येऽर्द्धं पञ्चमेषु योजनेषु, अवशिष्टयोजनेष्वित्यर्थः। अत्रान्तरे बहूनि सुवर्णरूप्यमयानि फलकानि प्रज्ञप्तानि, तेषु फलकेषु बहवो वज्रमया नागदन्तकाः प्रज्ञप्ताः, तेषु नागदन्तकेषु बहूनि रजतमयानि शिक्यकानि प्रज्ञप्तानि, तेषु शिक्यकेषु बहवो वजमयाः गोलको वृत्तोपलस्तदवद् वृत्ताः समुद्गकाः प्रसिद्धाः प्रज्ञप्ताः, तेषु समुद्गकेषु बहूनि जिनसक्थीनि संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, यानि यमकयोर्देवयोरन्येषां च बहूनां यमकराजधानीवास्तव्यानां दाणमन्तराणां देवानां देवीनां च अर्चनीयानि चन्दनादिना, वन्दनीयानि स्तुत्यादिना, पूजनीयानि पुष्पादिना, सत्कारणीयानि वस्त्रादिना, संमाननीयानि बहुमानकरणतः कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमिति पर्युपासनीयानीति। एतदाशातनाभीरुतयैव तस्मात्तेदेवा देवयुवतिभिर्न संभोगादिकमाद्रियन्ते, नापि मित्रदेवादिभिर्हास्यक्रीडादिपराः स्युरिति। ननु जिनगृहादिषु जिनप्रतिमानां देवानामर्चनीयत्वादिकमाशातनात्यागश्च युक्तः, तासां सद्भावस्थापनारूपत्वेनाराध्यतासंकल्पप्रादुर्भावसंभवात्, न तथा जिनदंष्ट्रादिषु, तेन कथं तौ घटेते ? पूज्यानामङ्गानि पूज्या इव पूज्यानीति संकल्पस्यात्रापि प्रादुर्भावात्। पूज्यत्वं महावैरोप-शमकगुणवत्त्वेन च। अस्मिन्नर्थे पूज्यश्रीरत्नशेखरसूरीन्द्रोपज्ञश्राद्धविधिवृत्तिसंमतिः। तथाहि–परीक्षाप्राप्तनिर्लोभतागुणां रत्नसारकुमारं प्रति चन्द्रशेखरसुरेणोचे–

''हरिषेणाणीहंरिणे– गमेष्यनिमिषाग्रणीः।
युक्तमेव हि त्वत्श्लाघां, कुरुते सुरसाक्षिकम्॥१॥
वक्ति स्म विस्मयस्मेरः, कुमारः स सुराग्रणीम्।
मामश्लाघ्यं श्लाघते किं, सोऽप्युवाच शृणु ब्रुवे॥२॥
नवोत्पन्नतयाऽन्योर्हि, सौधर्मेशानुशक्रयोः।
विवादोऽभूद्विमानार्थं, हर्म्यार्थमित्र हर्मिणोः॥३॥
विमानलक्षा द्वात्रिंशत्, तथाऽष्टाविंशतिः क्रमात्।
सन्त्येतयोरस्तथाऽप्येतौ, विवदेते स्म धिग् भवम्॥४॥
तयोरिवोर्वीश्वरयो–र्विमानर्द्धिप्रलुब्धयोः।
नियुद्धादिमहायुद्धाः, अप्यभूवन्ननेकशः॥५॥
निवार्यते हि कलह– स्तिरश्चां तरसा नरैः।
नराणां च नराधीशै– र्नराधीशां सुरैः क्वचित्॥६॥
सुराणां च सुराधीशां, कलहो वा पुनः कथम्।
केन वा स निवार्येत, वज्राग्निरिव दुःशमः? ॥७॥
माणवकाख्यस्तम्भस्था– ऽर्हद्दंष्ट्राशान्तिवारिणा।
साधिव्याधिमहादोष– महावैरनिवारिणा॥८॥
कियत्कालव्यतिक्रान्ते, सिक्तौ महत्तरैः सुरैः।
बभूवतुः प्रशान्तौ तौ, किं वा सिद्ध्यन्न तज्जलात्? ॥९॥ युग्मम्
ततस्तयोर्मिथस्त्यक्त– वैरयोः सचिवैर्द्वयोः।
प्रोचे पूर्वव्यवस्थैवं सुधियां समये हि गीः॥१०॥

सा चैवम्–

दक्षिणस्यां विमाना ये, सौधर्मेशस्य तेऽखिलाः।
उत्तरस्यां तु ते सर्वेऽपीशानेन्द्रस्य सत्तया॥११॥
पूर्वस्थामपरस्यां च, वृत्ताः सर्वे विमानकाः।
त्रयोदशापीन्द्रकाश्च, स्युः सौधर्मसुरेशितुः॥१२॥
पूर्वापरदिशोः त्र्यस्रा–श्चतुरस्राश्च ते पुनः।
सौधर्माधिपतेरर्द्धा, ईशानचक्रिणः पुनः॥१३॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रे–ऽप्येष एव भवेत्क्रमः।
वृत्ता एव हि सर्वत्र, स्युर्विमानेन्द्रकाः पुनः॥१४॥
इत्थं व्यवस्थया चेतः– स्वाध्यमास्थाय सुस्थिरौ।
विमत्सरौ गतक्रोधौ, जज्ञाते तौ सुरेश्वरौ॥१५॥

अथ प्रकृत प्रस्तूयते– ''माणवगस्स'' इत्यादि। माण-वकचैत्यस्तम्भस्य पूर्वस्यां दिशि सुधर्मायामेव सभायां सिंहासने सपरिवारे स्तः, यमकदेवयोः प्रत्येकमेकैक-सद्भावात्। तस्मादेव पश्चिमायां दिशि शयनीये वर्णकश्चैतदीयः श्रीदेवीवर्णनाधिकारे उक्तः, शयनीययोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि क्षुल्लकमहेन्द्रध्वजौ स्तः, तौ च मानतो महेन्द्रध्वजप्रमाणौ सार्द्धसप्तयोजनप्रमाणावुच्चत्वेन अर्द्धक्रोशमुद्वेधेन, बाहल्याभ्यामित्यर्थः। ननु यदीमौ प्रागुक्तमहेन्द्रध्वजतुल्यौ तदा किमिमौ क्षुल्लकेन विशेषितौ ? उच्यते–मणिपीठिकाविहीनौ अत एव क्षुल्लकावित्यर्थः। द्वियोजनप्रमाणमणिपीठिकोपरिस्थितत्वेन पूर्वे महान्तौ महेन्द्रध्वजास्तदपेक्षया इमौ च क्षुल्लकावित्यर्थादागतमिति। तयोः क्षुल्लमहेन्द्रध्वजयोरेकैक-राजधानी संबन्धिनौ २ परेण पश्चिमायां ''चोप्फाला'' नाम, प्रहरणकोशः प्रहरण-भाण्डागारं, तत्र बहूनि परिघरत्नप्रमुखाणि यावत्पदात्प्रहरणरत्नानि संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्तिता ''सुहम्माणं'' इत्यादि। सुधर्मयोरुपर्यष्टाष्टमङ्गलकानि इत्यादि तावद्वक्तव्यं यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया इत्यादि। सुधर्मसभातः परं किमस्तीत्याह– ''तासि णं'' इत्या-दि। तयोः सुधर्मयोः सभयोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि द्वे सिद्धायतने प्रज्ञप्ते, इति शेषः। प्रतिसभमेकैकसद्भावादिति। अत्र लाघवार्थमतिदेशमाह– एष एव सुधर्मासभोक्त एव जिनगृहाणामपिगमः पाठोऽवगन्तव्यः। स चायम्– ''ते णं सिद्धाययण-अद्धतेरसजोअणाइं आयामेणं छस्सकोसाइं विक्खंभेणं णव जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसय-सण्णिविट्ठा'' इत्यादि। यथा सुधर्मायास्त्रीणि पूर्वदक्षिणोत्तरवर्तीनि द्वाराणि, तेषां च पुरतः प्रेक्षामण्डपाः, तेषां पुरतः स्तूपाः, तेषां पुरतश्चैत्यवृक्षाः, तेषां पुरतो महेन्द्रध्वजाः, तेषां पुरती नन्दापुष्करिण्य उक्ताः तदनु सभायां षण्मनोगुलिकासहस्राणि, षड्गोमानसीसहस्राण्युक्तानि। एवमनेनैव क्रमेण सर्वं वाच्यम्।

अत्र सुधर्मातो यो विशेषस्तमाह– ''णवरं इमं णाणत्तं'' इत्यादि व्यक्तम्। अथ सुधर्मासभोक्तमेव सभाचतुष्कमतिदिशन्नाह– ''एवं अवसेसाण वि'' इत्यादि। एवं सुधर्मान्यायेनावशिष्टानामुपपातसभादीनां वर्णनं ज्ञेयम्। कियत्पर्यन्तमित्याहयावदुपपातसभायामुत्पित्सुदैवोत्पत्त्युपलक्षित सभायामभिनवोत्पन्नदेवाभिषेकमहोत्सवस्थानभूतायां बहु आभिषेक्यमभिषेकयोग्यं भाण्डं वाच्यम्। तथाऽलङ्कारसभायाम-भिषिक्तसुरभूषणपरिधानस्थशयनीयं वर्णनीयं, तच्च प्राग्वत्। तथा ह्रदश्च वक्तव्यो नन्दापुष्करिणीमानः, स चोत्पन्नदेवस्य शुचित्वजलक्रीडादिहेतुः, ततोऽभिषेकसभायां स्त्यानरूपायां सुबहुलङ्कारिकभाण्डमलङ्कारयोग्यं भाण्डं तिष्ठति। व्यवसायसभयोरलंकृतसुरशुभाध्यवसायानुचिन्तन-स्थानरूपायाः पुस्तकरत्ने, ततो बलिपीठे अर्चनीयोत्तरकालं नवोत्पन्न-सुरयोर्बलिविसर्जनपीठे द्वियोजन आथामविष्कम्भाभ्यां योजनं बाहल्येन, यावत्पदात् ''सव्वरयणामया अच्छा पासाईआ ४'' ततो नन्दाभिधाने पुष्करिण्योर्बलिक्षेपोत्तरकालं सुधर्मासभां जिगमिष-तोरभिनवोत्पन्नसुरयोर्हस्तपादप्रक्षालनहेतुभूते, अत एव सूत्रे प्रथमोक्ते अपि नन्दापुष्करिण्यौ प्रयोजनक्रमवशात् पश्चाद् व्याख्याते क्रमप्राधान्याद्व्याख्यानस्य, अथ यथा सुधर्मासभात् उत्तरपूर्वस्यां दिशि सिद्धायतनम्, तथा तस्योत्तरपूर्वस्यां दिशि उपपातसभा,एवं पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् परम्परमुत्तरपूर्वस्यां वाच्यं, यावद्बलिपीठादुत्तरपूर्वस्यां नन्दा-पुष्करिणीति। अत्र च– ''जमिगाओ रायहाणीओ'' इत्यादिसूत्रेषु द्विवचनेन ''तासिं० जाव उप्पिं माणवगचेइअखंभे'' इत्यादि सूत्रेष्वेकवचनेन निर्देशः। सूत्रकाराणां प्रवृत्तिवैचित्र्यादिति वर्णितो यमिकाभिधे राजधान्यौ, अथ तयोरधिपयोर्यमक-देवयोरुत्पत्त्यादि-स्वरूपाख्यानाय विस्तररुचिः सूत्रकृत् संग्रहगाथामाह– ''उववाओ संकप्पो'' इत्यादि। उपपातो यमकयोर्देवयोरुत्पत्तिर्वाच्या, तत उत्पन्नयोः सुरयोः शुभव्यवसायचिन्तितरूपः संकल्पः। ततः अभिषेक इन्द्राभिषेकः, ततः विभूषणा अलङ्कारसभायामल-ङ्कारपरिधानम्, ततो व्यवसायः पुस्तकरत्नोद्घाटनरूपः, ततुः अर्चनिका सिद्धायतनाद्यर्था, ततः सुधर्मायां गमनं, यथा च परिचारणापरिचारकरणं परिचारणा स्वस्वोक्तदिशि परिचारस्थापनाम् यथा यमकयोर्देवयोः सिंहासनयोः परितो वामभागे चतुःसहस्र-सामानिकभद्रासनस्थापनं सैव ऋद्धिः संपत्। रूपनिष्पत्तिस्तु– ''णिज् बहुलं नाम्नः कृगादिषु'' ॥३।४।४२॥ इत्यनेन (हैमसूत्रेण) कारणार्थम् ''णिवेत्त्यासश्रन्थघट्टवन्देरनः'' ।५।३।११। इत्यनेन चानप्रत्यये स्त्रीलिङ्गीयअप्प्रत्यये साधु। तथा वा वाच्यं जीवा-भिगमादिभ्यः। अथ यमकौ ह्रदाश्च यावता अन्तरेण परस्परं स्थितास्तर्षिर्णेतुमाह– ''जावइयं'' इत्यादि। यावति प्रमाणे अन्तर्मनि नीलवतो यमकौ भवतः। खलु निश्चितं यावदन्तरं योजनसहस्रभागचतु-र्भागाभ्यधिकंचतुस्त्रिंशदधिकाष्टशतयोजनरूपं यमकह्रदयोः, इह ह्रदाणां च बोध्यमिति शेषः। उपपत्तिस्तु प्राग्वत्। जं० ४ वक्ष०।

जगमसमग अव्य० (यमकसमक) युगपदित्यर्थे, जं० ३ वक्ष०। जी०। ज्ञा०।

जमघोस पुं० (यमघोष) ऐरवतक्षेत्रे आगामिन्यां चतुर्विंशतिकायां भाविनि चतुर्थे जिने, प्रव० ७ द्वार।

जमजन्न पुं० (यमयज्ञ) यमाः प्राणातिपातविरत्यादिरूपाः पञ्च, त एव यज्ञो भावपूजात्मकत्वात् विवक्षितपूज्यं प्रति इति यमयज्ञः। अहिंसादियमपालनरूपे भावयज्ञे, (उत्त०)''यम इव प्राण्युपसंहार-कारितया यमः, स चासौ यज्ञः यमयज्ञः। हिंसामये द्रव्ययज्ञे, उत्त० २५ अ०।

जमणिया स्त्री० (यमनिका) यमनिकाख्ये साधूपकरणविशेषे, स्था० ६ ठा०।

जमदग्गि पुं० [य(ज)मदग्नि)] परशुरामपितरि तापसविशेषे, (आ० क०)।

तत्कथा चैवम्–

वसन्तपुरवास्तव्यः, कश्चिदुत्तान्नवंशकः।
देशान्तरं व्रजन् सोऽथ, भ्रष्टोऽगाद् भौतपल्लिकाम् ॥१॥
यमाख्यस्तापसस्तत्र, स तत्पार्श्वेऽग्निको ऽगमत्।
प्रपन्नस्तस्य शिष्यत्वं, स घोरं तप्यते तपः ॥२॥
यमशिष्योऽग्निक इति, यमदग्निरिति श्रुतः।
इतश्च जैनमाहेशा–वभूतां द्वौ सुरौ दिवि ॥३॥
स्वस्वधर्मं प्रशंसन्ता– वूचतुः साधुतापसौ।
परीक्षा युज्यते धर्मे, कर्तुमेकत्र तत्त्वधीः ॥४॥
ऊचे श्राद्धः परीक्ष्यो नः, शैक्षो वस्तापसोत्तमः।
अथ तावागतौ स्वर्गाद्, मर्त्यलोके परीक्षितुम् ॥५॥
अग्रे च मिथिलापुर्यां, राजा पद्मरथस्तदा।
व्रतार्थी याति चम्पायां, वासुपूज्यजिनान्तिके ॥६॥
गच्छतस्तस्य राजर्षेः, समुल्लिक्षे सति क्रमे।
सर्वतः सूक्ष्ममण्डूक्यः, क्रियन्ते स्म निरन्तराः ॥७॥
स उल्लिक्षाह्रि रेवास्था–ज्जीवहिंसाभयात्प्रधीः।
धीरश्चुक्षोभ नो मेघ– कुमारः प्राग्भवेऽभवत् ॥८॥
दयालुं तन्मनो ज्ञात्वा, तौ ताः संहृत्य जग्मतुः।
यमदग्नेः परीक्षार्थं, पुरातनमहा ऋषेः ॥९॥
कृत्वा चटकयुग्मस्य, रूपं तत्कूर्चपञ्चरे।
स्थित्वोचे चटकः कान्ते !, याम्यहं हिमवद्गिरिम् ॥१०॥
सोचे त्वं नेष्यसि ततो, लुब्धस्तच्चटिकारते।
स चक्रे शपथान् गाढान्, प्रत्येति न तथाऽपि सा ॥११॥
ऊचे प्रत्येमि चेदेनं, शपथं कुरुषे प्रिय !।
ऋषेरेतस्य पापेन, लिप्ये नायामि यद्यहम् ॥१२॥
उवाच चटकः कान्ते !, शपथं न करोम्यमुम्।
महर्षिः क्षुभितोऽवोच–तौ पाणिभ्यां विवृत्य सः ॥१३॥
आः पापौ ! पातकं किं मे, यदेवं जल्पतो मिथः।
ऊचतुस्तौ महर्षे ! त्वं, मा कुपः शृणु नौ वचः ॥१४॥
अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा, पश्चात्स्वर्गं गमिष्यसि ॥१५॥
स मुनिरत्तद्वचो मेने, मुक्तौ तौ जग्मतुर्दिवम्।
मिथ्यादृगथ संबुद्धो, देवः सम्यक्त्वमात्तवान् ॥१६॥
तत्यक्त्वा तापनाकष्टं, समासहस्रपालितम्।
यमदग्निर्ययौ मूढो, नगरं मृगकोष्टकम् ॥१७॥
जितशत्रुर्नृपस्तत्र, प्रणम्येत्याह किं ददे ?।
स ऊचे शतपुत्रीक ! पुत्रीमेकां प्रयच्छ मे ॥१८॥
शापभीरुर्नृपोऽवादीद्, या त्वामिच्छति साऽस्तु ते।
स कन्यान्तःपुरं प्राप्तस्ताभिस्तं वीक्ष्य थूत्कृतम् ॥१९॥
ऊचुश्च किं तवोद्वृद्धिं, कालो मूढैष किं मृतेः ?

सोऽथ तच्चेष्टया रुष्टः, शप्त्वा कुब्जीचकार ताः ॥२०॥
खेलन्ती रेणुनैकाऽभूत्, सुताऽस्यै ढौकितं फलम् ।
उक्ता चेच्छसि साऽऽदत्त, तत्करेणाऽऽदद स ताम् ॥२१॥
ता अथोपस्थिताः कुब्जाः, श्यालिकात्वादृजूकृताः ।
स सगोदासिकाद्यां तां, दत्तां राज्ञाऽऽश्रमेऽनयत् ॥२२॥
पाणिग्रहणकाले च,स तस्याः पाणिमग्रहीत् ।
ऋतुकाले च तामूचे, चरुं ब्राह्मं पचामि ते ॥२३॥
भवत्येवं तथा कान्त ! स्वसा मे हस्तिनापुरे ।
अनन्तवीर्यभार्याऽस्ति, तस्याः क्षात्रं चरुं पच ॥२४॥
स पक्त्वा द्वौ चरू तस्याः, आर्पयत् साऽप्यचिन्तयत् ।
जाताऽटवीमृगी तावदहं मैवं सुतोऽप्यभूत् ॥२५॥
ततः क्षात्रं स्वयं प्राश, ब्राह्मं जाम्यै न्ययोजयत् ।
अभूद्रामः सुतोऽथास्याः, कार्तवीर्यः स्वसुः पुनः ॥२६॥
रामेऽथो यौवनं प्राप्ते, तत्रागात्कोऽपि खेचरः ।
स चाकस्मादभून्मन्दो, रामेण प्रतिपालितः ॥२७॥
पर्शुविद्यां स तस्यादात्तां च सोऽसाधयद्वने ।
पर्शुराम इति ख्यातः, ततः स पर्शुशस्त्रतः॥२८॥
अन्यदा रेणुकाऽयासीद्, भगिनीवेश्म तत्र च ।
भगिनीवल्लभाऽऽसङ्गाद्, पुत्ररत्नमजीजनत् ॥२९॥
जमदग्निरथानैषीत्सपुत्रामपि तां ततः ।
रुषा व्यनीनशद्रामात्सपुत्रामपि रेणुकाम् ॥३०॥
तद्भगिन्यां श्रुतं तच्च, कथितं स्वपतेस्ततः ।
सोऽथाऽऽगत्याऽऽश्रमं भङ्क्त्वा, गृहीत्वा गास्ततोऽव्रजत् ॥३१॥
पश्चात् परशुरामेण, धावित्वा पर्शुना हतः ।
कार्तवीर्योऽभवद्राजा,ताराजानिस्तदङ्गजः॥३२॥
सोऽथान्यदा पितुर्मृत्युं, ज्ञात्वा रामकृतं रुषा ।
आगत्य पितरं तस्य, जमदग्निममारयत् ॥३३॥
ज्वलत्पर्शुरथागत्य, रैणुकेयो रुषाऽरुणः ॥
कार्तवीर्यं रणे हत्वा, स्वयं राज्यं प्रपन्नवान् ॥३४॥
इतः पलायिता राज्ञी, ताराऽगात्तापसाऽऽश्रमम् ।
संभ्रमेणापतद् गर्भः, तस्या गृह्णन् भुवं रदैः ॥३५॥
सुभूम इति दत्ताह्वो, ववृधे तापसाश्रमे ।
परशुःपर्शुरामस्य, जज्वाल क्षत्रियान्तकृत् ॥३६॥
अन्यदाऽऽश्रमपार्श्वेन, पर्शुरामस्य गच्छतः ।
पर्शौ ज्वलति तेनोक्ताः, भीताः स्वं क्षत्रियं जगुः ॥३७॥
पर्शुरामः सप्तकृत्वः, क्षितिं निःक्षत्रियां व्यधात् ।
स्थालं बभार दंष्ट्राभिस्तेषां मुक्ताकणैरिव ॥३८॥
एवं व्यधायि च क्रोधाद्रामेण क्षत्रियक्षयः ।
नमयन्तःक्रुधं धन्याः, नमोऽर्हाः स्युः पुनर्जिनाः ॥३९॥''
आ०क०। आ०चू०। आ०म०।

जमदग्निजडा स्त्री०(जमदग्निजटा) बालके, गन्धद्रव्यविशेषे च । उत्त०३अ०।

जमदग्निपुत्त पुं०(जमदग्निपुत्र) पर्शुरामे, जी०३ प्रति०।

जमपुरिससंकुल त्रि०(यमपुरुषसंकुल) यमस्य दक्षिणदिक्पालस्य पुरुषा अम्बादयोऽसुरविशेषास्तैः संकुला ये ते तथा । परमाधार्मिककलितेषु, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

जमपुरिससंनिभ त्रि०(यमपुरुषसन्निभ) परमाधार्मिकतुल्ये क्रूरजने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

जमप्पभ पुं०(यमप्रभ) चमरेन्द्रस्य यममहाराजस्य स्वनामके उत्पातक उत्पातपर्वते, स्था०१० ठा०।

जमल न०(यमल) यमं योगं लाति । ला–कः । युग्मे, वाच०। समश्रेणीके, रा०। जं०। उत्त०। जी०। भ०। अनु०। ज्ञा०। ''विज्जाहरजमलजु-अलजंतजुत्तं ।''भ०६श०३१ उ०। समसंस्थितद्वयरूपे, रा०। औ०। ''चक्कगयभुसुंडिउरोहसयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसा।'' औ०। समे, ज्ञा०१ श्रु० ८अ०। औ०। ''निल्लालियजमलजुअलजीहं'' ज्ञा० १ श्रु०८ अ०। सहवर्तिनि, ''जमलजुअलचंचलचलंतजीहं ।'' यमलं सहवर्ति युगलं द्वयं चञ्चलं यथा भवत्येवं चलन्त्योरतिचपलयोर्जिह्वयोर्यस्य स तथा तम्; प्राकृतत्वाच्चैवं समासः । भ०१५ श०१उ०। समानजातीययोर्युग्मे, रा०।

जमलकोट्ठिया स्त्री०(यमलकोष्ठिका) समतया व्यवस्थापितकुशलिकाद्वये, उत्त०२अ०। ''जमलकोट्ठियासंठाणसंठिया।'' उत्त०२अ०।

जमलजुअल न०(यमलयुगल) समश्रेणीके युग्मे,रा०। जी०। समनशीलेषु द्वन्द्वेषु, रा०। आ०म०। ''विज्जाहरजमलजुअलाइं ।'' आ०म०प्र०।

जमलज्जुणभंजग त्रि०(यमलार्जुनभञ्जक) श्रीकृष्णे, स हि पितृवैरिणौ विद्याधरौ रथारूढस्य गच्छतो मारणार्थं पथि विकुर्वितयमलार्जुनवृक्षरूपौ सरथस्य मध्येन गच्छतः चूर्णनप्रवृत्तौ हतवान् । प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

जमलपद न०(यमलपद) प्रायश्चित्तविशेषे, ''यमलपदं नामतवकाला तेहिं विसेसिया कज्जंति पढमपए दोहिं लघु, वितियपए कालगुरु, ततियपए तवगुरु, चउत्थपए दोहिं वि गुरु।'' नि० चू०१ उ०।

जमलपय न०(यमलपद) 'जमलपद' शब्दार्थे , नि०चू०१ उ०। ''जमलपया'' इति तपःकालयोः संज्ञा। बृ०१ उ०। समयपरिभाषयाऽष्टानामष्टानामङ्कस्थानानां यमलपदमिति संज्ञा । प्रज्ञा० १२ पद।

जमलपाणि पुं०(यमलपाणि) मुष्टौ, भ०१६ श०३उ०।

जमलिय त्रि०(यमलित) यमलं नाम सजातीययोर्युग्मं, तत् संजा–तमेषां ते यमलिताः । रा०। जं०। जी०। युग्मीभूय व्यवस्थितेषु, समश्रेणितया व्यवस्थितेषु च। ज्ञा०१ श्रु०१अ०। औ०। भ०।

जमलोइय पुं०(यमलौकिक) अम्बादिषु परमाधार्मिकेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

जमा स्त्री०(याम्या) यमो देवता यस्याः सा याम्या । भ०१० श०१ उ०। दक्षिणस्यां दिशि, ओघ०।

जमालि पुं०(यमालि) महावीरजिनस्य जामातरि स्वनामख्याते प्रथमे निह्नवे, आ०क०। उत्त०। स्था०। कल्प०।

तत्प्रबन्धश्चैवम्–

तस्स णं माहणकुं डग्गामस्स णयरस्स पच्चच्छिमेणं, एत्थ णं खत्तियकुं डग्गामे णामं णयरे होत्था। वण्णओ–

तत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे णयरे जमाली णामं खत्तियकुमारे परिवसइ, अड्ढे दित्ते०जाव अपरिभूए, उप्पिपासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुयंगमत्थएहिं बत्तीसइबद्धेहिं नाडएहिं णाणाविह-वरतरुणीसंपउत्तेहिं उवणच्चिज्जमाणे उवणच्चिज्जमाणे उवगि-ज्जमाणे उवगिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे पाउ-सवासारत्त-सारदहेमंत-ससिर-वसंत-गिम्हपज्जंते छप्पि उऊ जहाविभवेणं माणमाणे कालं गालेमाणे इट्ठे सद्दे फरिस-रसरूवगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणे वि-हरइ। तए णं खत्तियकुंडग्गामे णयरे सिंघाडगतिगचउक्कचच्चर० जाव बहुजणसद्देइ वा जहा उववाइए०जाव एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ, एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे आदि-गरे०जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स बहिया बहुसालए चेइए अहापडिरूवं०जाव विहरइ, तं मह-प्फलं खलु देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं जहा उववाइए०जाव एगा भिमुहे खत्तियकुंडग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे णयरे जेणेव बहुसालए चेइए, एवं जहा उववाइए०जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ, तए णं तस्स जमालिस्स खत्तिय-कुमारस्स तं महया जणसद्दं वा०जाव सण्णिवायं वा सुणमा-णस्स वा पासमाणस्स वा अयमेयारूवे अब्भत्थिए०जाव समुप्पज्जित्था, किं णं अज्ज खत्तियकुंडग्गामे णयरे इंदमहेइ वा खंदमहेइ वा मुगुंदमहेइ वा णागमहेइ वा जक्खमहेइ वा भूयमहेइ वा कूवमहेइ वा तडागमहेइ वा नईमहेइ वा दहमहेइ वा पव्वय-महेइ वा रुक्खमहेइ वा चेइयमहेइ वा थूवमहेइ वा, जं णं एए बहवे उग्गा भोगा राइण्णा इक्खागा णाया कोरवा खत्तिया खत्तियपुत्ता भडा भडपुत्ता सेणावती पसत्थारो लेच्छइ माहणा इब्भा जहा उववाइए *सत्थवाहप्पभितयो ण्हाया कयबलिकम्मा जहा* उववाइए०जाव णिग्गच्छंति, एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता एवं कंचुइज्जपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-किं णं देवाणु-प्पिया ! अज्ज खत्तियकुंडग्गामे णयरे इंदमहेइ वा०जाव णिग्ग-च्छंती, तए णं से कंचुइज्जपुरिसे जमालिणामेणं खत्तियकुमारेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणस्स भगवओ महावीरस्स आगम-णगहिय-विणिच्छए करयल०जमालिं खत्तियकुमारं जएणं विजएणं बद्धावेइ, बद्धावेइत्ता एवं वयासी-णो खलु देवाणु-प्पिया ! अज्ज खत्तियकुंडग्गामे णयरे इंदमहेइ वा०जाव णिग्ग-च्छंति। एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे०जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स बहिया बहुसालए चेइए अहारूवं उग्गहं०जाव विहरइ। तं णं एए बहवे उग्गा भोगा०जाव अप्पेगइया वंदणवत्तियं०जाव णिग्गच्छंति। तए णं जमाली खत्तियकुमारे कंचुइज्जपुरिसस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जमालिणा खत्तियकुमारेणं एवं वुत्ता समाणा पच्चप्पिणंति। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ण्हाए कयबलिकम्मे जहा उववाइए परिसावण्णाओ, तहा भाणियव्वं०जाव चंदणोक्खित्त-गायसरीरे सव्वालंकारविभूसिए मज्जणघराओ पडिणिक्खइ पडिणिक्खमइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव चाउग्घंटे आसरहे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, दुरूहइत्ता सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरि-ज्जमाणेणं महया भडचडगरपहकरविंदपरिक्खित्ते खत्तियकुंड-ग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे णयरे जेणेव बहुसालए चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तुरिए निगिण्हेइ, निगिण्हेइत्ता रहं ठवेइ, ठवेइत्ता रहाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता पुप्फतंबूलाउहमाइयवाण-हाओ य विसज्जेइ, विसज्जेइत्ता एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ, करेइत्ता आयंते चोक्खे परमसुइब्भूए अंजलिमउलियहत्थे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो०जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ। तए णं समणे भगवं महावीरे जमालिस्स खत्तियकु-मारस्स तीसे य महइ महालियाए इसि०जाव धम्मकहा०जाव पडिसा *पडिगया। तए णं जमाली खत्तियकुमारे समणस्स भगवओ* महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ०जाव हियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो० जाव णमंसित्ता एवं वयासी-सद्दहामि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, अब्भुट्ठेमि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, एवमेयं भंते! णिग्गंथं पावयणं, तहमेयं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, अवि-तहमेयं भंते ! असंदिद्धमेयं भंते !०जाव से जहेयं तुब्भे वदह, जं णवरं *देवाणुप्पिया ! अम्मापिअरो आपुच्छामि, तए णं देवा-*

णुप्पियाणं अंतियं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वयामि? अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो०जाव णमंसित्ता तमेव चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, दुरूहइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ बहुसालाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता सकोरंटमल्लदामेणं०जाव धरिज्जमाणेणं महया भडचमगर०जाव परिक्खित्ते जेणेव खत्तियकुंडग्गामे णयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता खत्तियकुंडग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तुरिए निगिण्हइ, निगिण्हइत्ता रहं ठावेइ, ठावेइत्ता रहाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता जेणेव अब्भिंतरिया उवट्ठाणसाला जेणेव अम्मापिअरो तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अम्मापिअरो जएणं विजएणं बद्धावेइ, बद्धावेइत्ता एवं वयासी–एवं खलु अम्म ! ताओ ! मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं निसंते सेवियधम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए। तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापिअरो एवं वयासी–धण्णे सि णं तुम्मं जाया ! कयत्थे सिणं तुम्मं जाया ! कयपुण्णे सि णं तुम्मं जाया ! कयलक्खणे सि णं तुम्मं जाया ! जेणं तुम्मे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं निसंते सेवियधम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापिअरो दोच्चं पि एवं वयासी–एवं खलु मए अम्म ! ताओ ! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं निसंते०जाव अभिरुइए, तए णं अहं अम्म ! ताओ! संसारभयउव्विग्गे भीए जम्मजरामरणेणं तं इच्छामि णं अम्म! ताओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, तए णं सा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया तं अणिट्ठं अकंतं अप्पियं अमणुण्णं अमणामं अस्सुयपुव्वं गिरं सोच्चा णिसम्म सेयागयरोमकूवपगलंतविगलीनगत्ता सोगभरप्पवेवियंगमंगी नित्तेया दीणविमणवयणा करयलमलियव्व कमलमाला तक्खाउलुग्गदुव्वलसरीरलायण्णसुण्णनिच्छायगइसिरीया पसिढिलभूसणपडियखुण्णियसंचुण्णियधवलवलया पब्भट्ठउत्तरिज्जा मुच्छावसतद्धचेतगरुई सुकुमालविकिण्णकेसहत्था परसुनियत्त व्व चंपगलया निव्वत्तमह व्व इंदलट्ठी विमुक्कसंधिबंधणा कोटिमतलंसि धस त्ति सव्वंगेहिं सन्निवडिया, तए णं सा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया ससंभमोयत्तियाए तुरियं कंचणभिंगारमुहविणिग्गयसीयलविमलजलधारपरिसिंचमाणनिव्वावियगायलट्ठी उक्खेवयतालियंटवीयणगजणियवाएणं संफुसिएणं अंतेउरपरियणेणं आसासिया समाणी रोयमाणी कंदमाणी सोयमाणी विलवमाणी जमालिं खत्तियकुमारं एवं वयासी–तुमं सि णं जाया ! अम्मं एगे पुत्ते इट्ठे कंते पिए मणुण्णे मणामे थेज्जे वेसासिए संमए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे रयणब्भूए जीवियउस्सविए हिययणंदजणणे उंवरपुप्फं पि व दुल्लहे सवणयाए किमंग ! पुण पासवणयाए, तं णो खलु जाया! अम्हे इच्छामो तुब्भं खणमवि विप्पओगं, तं अत्थाहि ताव जाया! जाव ताव अम्हे जीवामो, तओ पच्छा अम्हेहिं कालगएहिं समाणेहिं परिणयवओ वड्ढियकुलवंसतंतुकज्जम्मि निरवयक्खे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारिअं पव्वइहिसि । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापिअरो एवं वयासी–तहा वि णं तं अम्म! ताओ ! जं णं तुब्भे ममं एवं वदह–तुम्मं सि णं जाया ! अम्मं एगे पुत्ते इट्ठे कंते तं चेव०जाव पव्वइहिसि, एवं खलु अम्म ! ताओ! माणुस्सए भवे अणेगजाइजरामरणरोगसारीरमाणसपकामदुक्खवेयणवसणसओवद्दवाभिभूए अधुवे अणितिए असासए संझब्भरागसरिसे जलबुब्बुदसमाणे कुसग्गजलविंदुसण्णिभे सुविणगदंसणोवडे विज्जुयाचंचले अणिच्चे सडणपडणविद्धंस–णधम्मे पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वे भविस्सइ, से केस णं जाणइ–अम्म ! ताओ ! के पुव्विं गमणयाए,के पच्छा गमणयाए, तं इच्छामि णं अम्म ! ताओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स०जाव पव्वइत्तए? तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापियरो एवं वयासी–इमं च णं तं जाया ! सरीरगं पविसिट्ठरूवलक्खणवंजणगुणोववेयं उत्तमबलबीरियसत्तजुत्तं विण्णाणवियक्खणससोभग्गगुणसमुस्सियअभिजायमहक्खमं विविहवाहिरोगरहियं निरुवहय–उदत्तलट्ठपंचिंदियपडुपढमजोव्वणत्थमणेगउत्तमगुणेहिं जुत्तं तं अणुहोहि ताव० जाव जाया! नियगसरीररूवसोहग्गजोव्व–गुणे तओ पच्छा अणुभूय नियगसरीररूवसोहग्गजोव्वणगुणे अम्हेहिं कालगएहिं समाणेहिं परिणयवओ वड्ढियकुलवंसतंतु–कज्जनिरवयक्खे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइहिसि । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापियरो एवं वयासी–तहा वि णं तं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे मम एवं वदह–इमं च णं ते जाया ! सरीरगं तं चेव०जाव पव्वइहिसि, एवं खलु

अम्म ! ताओ ! माणुस्सगं सरीरं दुक्खाययणं विविहवाहिसयसंनिकेयं अट्ठिकट्ठिछिराण्हारुजालउवणद्धसंपिणद्धंमट्ठियभंडं व दुब्बलं असुइसंकिलिट्ठं अणिट्ठवियसव्वकालसंठप्पयजराकुणिमजज्जरघरं व सडणपडणविद्धंसणधम्मं पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वं भविस्सइ। से केस णं जाणइ–अम्म ! ताओ ! के पुव्विं तं चेव०जाव पव्वइत्तए। तए णं तं जमालि खत्तियकुमारं अम्मापियरो एवं वयासी–इमाओ य ते जाया ! विउलबालियाओ सरिसयाओ सरित्तयाओ सरिव्वयाओ सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाओ सरिसएहिंतो कुलेहिंतो आणिएल्लियाओ कलाकुसलसव्वकाललालियसुहोचियाओ मद्दवगुणजुत्तनिउणविणओवयारपंडियवियक्खणाओ मंजुलमियमहुरभणियविहसियविप्पेक्खियगईविलासचिट्ठियविसारयाओ अविकलकुलसीलसालियाओ विसुद्धकुलवंससंताणतंतुविबद्धणप्पगब्भवयभाविणीओ मणाणुकूलहियइच्छियाओ अट्ठ तुज्झ गुणवल्लहाओ उत्तमाओ णिच्चं भावाणुरत्तसव्वंगसुंदरीओ भारियाओ तं भुंजाहि ताव जाव जाया ! एयाहिं सद्धिं विउले माणुस्सए कामभोगे, तओ पच्छा भुत्तभोगी विसयविगयवोच्छिण्णकोउहल्ले अम्हेहिं कालगएहिं०जाव पव्वइहिसि। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापियरो एवं वयासी–तहा वि णं तं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे मम एवं वदह–इमाओ य ते जाया ! विउलकुल०जाव पव्वइहिसि, एवं खलु अम्म ! ताओ ! माणुस्सया कामभोगा असुई असासया वंतासवा पित्तासवा खेलासवा सुक्कासवा सोणियासवा उच्चारपासवणखेलसिंघाणवंतपूयसुक्कसोणियसमुब्भवा अमणुण्णदुरूवमुत्तपूइयपुरीसपुण्णा मियगंधुस्सासअसुभनिस्सासउव्वेयणगा वीभत्था अप्पकालिया लहूसगा कलमलाहिया सदुक्खबहुजणसाहारणा परिकिलेसकिच्छदुक्खसज्झा अबुहजणसेविया सदा साहुगरहणिज्जा अणंतसंसारबद्धणा कडुयफलविवागा चुडुलि व्व अमुच्चमाणदुक्खाणुबंधिणो सिद्धिगमणविग्घा, से केस णं जाणइ अम्म ! ताओ ! के पुव्विं गमणयाए, के पच्छा? तं इच्छामि णं अम्म ! ताओ !०जाव पव्वइत्तए। तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापिअरो एवं वयासी–इमे य ते जाया ! अज्जयपज्जयपिउपज्जयागए य बहुहिरण्णे य सुवण्णे य कंसे य दूसे य विउलधणकणग०जाव संतसारसावएज्जे अलाहि०जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दाउं पकामं भोत्तुं परिभाएत्तुं तं अणाहोहि ताव जाया ! विपुले माणुस्सए इड्ढिसक्कारसमुदए, तओ पच्छा अणुभूयकल्लाणे वड्ढियकुलवंस०जाव पव्वइहिसि। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापिअरो एवं वयासी–तहा वि णं अम्म ! ताओ ! जं णं तुज्झे मम एवं वदह–इमं च ते जाया ! अज्जयपज्जय०जाव पव्वइहिसि। एवं खलु अम्म ! ताओ ! हिरण्णे य सुवण्णे य०जाव सावएज्जे अग्गिसाहिए चोरसाहिए रायसाहिए मच्चुसाहिए दाइयसाहिए अग्गिसामण्णे०जाव दाइयसामण्णे अधुवे अणितिए असासए पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वं भविस्सइ, से केस णं जाणइ तं चेव०जाव पव्वइत्तए। तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्म–याओ जाहे नो संचाएइ, विसयाणुलोमेहिं बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य विण्णवणाहि य सण्णवणाहि य आघवेत्तए वा सण्णिवेत्तए वा विण्णवेत्तए वा तहेव विसयपडिकूलाहिं संजमभयउव्वेयणकरीहिं पण्णवणाहिं पण्णवेमाणा एवं वयासी–एवं खलु जाया ! णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवले जहा आवस्सए०जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, नवीर एगंत–दिट्ठिए, खुरो इव एगंतधाराए, लोहमया जवा चावेयव्वा बालु–याकवले इव निस्सारे, गंगेव महानदी पडिसोतगमणयाए महासमुद्दो व्व भुयाहिं दुत्तरो तिक्खं कमियव्वं गुरुयं लंबेयव्वं, असिधारागं वयं चरियव्वं, णो खलु कप्पइ जाया ! समणाणं णिग्गंथाणं आहाकम्मिएइ वा उद्देसिएइ वा मिस्सजाएइ वा उज्झोयरिएइ वा पूइएइ वा कीएइए वा पाडिच्चेइ वा अच्छेज्जेइ वा अणिसिट्ठेइ वा अभिहडेइ वा कंतारभत्तेइ वा दुब्भिक्खभत्तेइ वा गिलाणभत्तेइ वा वद्दलियाभत्तेइ वा पाहुणभत्तेइ वा सेज्जायरपिंडेइ वा रायपिंडेइ वा मूलभोयणेइ वा कंदभोयणेइ वा फलभोयणेइ वा बीयभोयणेइ वा हरियभोयणेइ वा भुत्तए वा पायए वा तुम्मं सि च णं जाया ! सुहसमुचिए णो चेव णं दुहसमुचिए नालं सीयं नालं उण्हं नालं खुहा नालं पिवासा नालं चोरा नालं बाला नालं दंसा नालं मसगा नालं वाइयपित्तियसिंभियसण्णिवाइयविविहे रोगायंके परीसहोवसग्गे उदिण्णे अहियासेत्तए, तं णो खलु जाया ! अम्हे इच्छामो तुज्झं खणमवि विप्पओगं, तं अत्थाहि ताव जाया ! जाव अम्हे जीवामो, तओ पच्छा अम्हेहिं कालगएहिं०जाव पव्वइहिसि। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापियरो एवं वयासी–तहा वि णं तं अम्म ! ताओ ! जण्णं तुब्भे मम एवं वदह–एवं खलु जाया ! णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवले तं चेव०जाव पव्वइहिसि, एवं खलु अम्म ! ताओ ! णिग्गंथे पावयणे कीवाणं कायराणं कापुरिसाणं इहलोगपडिबंधाणं परलोगपरंमुहाणं विसयति–

सिया णं दुरणुचरे पामरजणस्स, धीरस्स णिच्छियस्स ववसि-यस्स णो खलु एत्थ किंचि वि दुक्करं करणयाप, तं इच्छामि णं अम्म ! ताओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स०जाव पव्वइत्तए । तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापिअरो जाहे नो संचाएइ विसयाणुलोमाहि य विसयप-डिकूलाहि य बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य ४ आघवे-त्तए वा०जाव विण्णवेत्तए वा, ताहे अकामाइं चेव निक्कमणं अणुमण्णित्था । तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! खत्तियकुंडग्गामं नयरं सब्भिंतरबाहिरियं आसियसम्मज्जिओवलित्तं जहा उववाइए०जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया दोच्चं पि कोडुं-बियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! जमालिस्स खत्तियकुमारस्स महत्थं महग्घं महरिहं विपुलणिक्खमणाऽभिसेयं उवट्ठवेह । तए णं ते कोडुं-बियपुरिसा तहेव०जाव पच्चप्पिणंति । तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापियरो सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहं निसीयावेइ, निसीयावेइत्ता अट्ठसएणं सोवण्णियाणं कलसाणं एवं जहा रायप्पसेणिए०जाव अट्ठसयाणं भोमेज्जाणं कलसाणं सव्विड्ढिए०जाव महया रवेणं महया महया निक्खमणाभिसे-गेणं अभिसिंचते, अभिसिंचतेत्ता करयल०जाव जएणं विजएणं बद्धावेइ, बद्धावेइत्ता एवं वयासी-भण जाया ! किं देसो, किं पयच्छामो, किं णु वा ते अट्ठो? तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापियरो एवं वयासी-इच्छामि णं अम्म ! ताओ ! कुत्तिया-वणाओ रयहरण च, पडिग्गहं च माणेउं, कासवगं च सद्दावित्तं। तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सिरिघराओ तिण्णि सयसहस्साइं गहाय दोहिं सयसहस्सेहिं कुत्तियावणाओ रयहरणं च पडिग्गहं च आणेह, सयसहस्से-णं कासवगं सद्दावेह । तए णं से कोडुंबियपुरिसे जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठकरयल०जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव सिरिघराओ तिण्णि सयसहस्साइं तहेव०जाव कासवगं सद्दावेइ । तए णं से कासवए जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा कोडंवियपुरिसेहिं सद्दाविए समाणे हट्ठ तुट्ठ ण्हाए कयवलिकम्मे०जाव सरीरे जेणेव जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल०जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पियरं जएणं विजएणं बद्धावेइ, बद्धावेइत्ता एवं वयासी-संदिसह तुमं देवाणुप्पिया! जं मए करणिज्जं । तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तं कासवगं एवं वयासी-तुमं देवाणुप्पिया ! जमालिस्स खत्तियकुमारस्स परेणं जत्तेणं चउरंगुलवज्जे णिक्खमणप्पओगे अग्गकेसे कप्पेह । तए णं से कासवए जमालिस्स खत्तियकुमा-रस्स पिउणा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे करयल०जाव एवं सामी ! तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता सुरभिणा गंधोदएणं हत्थपाए पक्खालेइ, पक्खालेइत्ता सुद्धाए अट्ठपडलाए पोत्तिए मुहं बंधइ, बंधइत्ता जमालिस्स खत्तियकु-मारस्स परेणं जत्तेणं चउरंगुलवज्जे निक्खमणप्पओगे अग्गकेसे कप्पेइ । तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया हंसल-क्खणेणं पडसाडएणं अग्गकेसे पडिच्छइ, पडिच्छइत्ता सुरभिणा गंधोदएणं पक्खालेइ, पक्खालेइत्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं मल्लेहिं अंचेइ, अंचेइत्ता सुद्धेणं वत्थेणं बंधेइ, बंधेइत्ता रयणकरंडगंसि पक्खिवइ, पक्खिवइत्ता हारवारिधारसिंदुवार-च्छिण्णमुत्तावलिप्पगासाइं सुतविओगदूसहाइं अंसूहिं विणि-म्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी एवं वयासी-एस णं अम्हं जमालिस्स खत्तियकुमारस्स बहूसु य तिहीसु य पव्वणीसु य उस्सवसु य जण्णेसु य छण्णेसु य अपच्छिमे दरिसणे भविस्सतीति कट्टु उसीसगमूले ठवेइ । तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स अम्मापियरो दोच्चं पि उत्तरावक्कमणं सीहासणं रयावेंति, रया-वेंतित्ता जमालिं खत्तियकुमारं सेयपीएहिं कलसेहिं ण्हावेंति, सेयपीयेहिं कलसेहिं ण्हावेंतित्ता पम्हलसुकुमालाए सुरभिएणं गंधकासाइएणं गायाइं लहेंति, लूहेंतित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपंति, गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपित्ता णासाणिस्सासवज्झं चक्खुहरं वण्णफरिससंजुत्तं हयलालापे-लवातिरेगं धवलकणगखचितंतकम्मं महरिहं हंसलक्खणपड-साडगं परिहिइ, परिहिइत्ता हारं पिणद्धेंति पिणद्धेंतित्ता अद्धहारं पिणद्धेंति, पिणद्धेंतित्ता एवं जहा सूरियाभस्स अलंकारो तहेव चित्तरयणसंकडुक्कडं मउडं पिणद्धेंति, किं बहुणा गंथिमवेढिम-पूरिमसंघातिमेणं चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खगं पि व अलंकियविभूसियं करेइ, तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं लीलट्ठि-यसालिभंजियागं जहा रायप्पसेणइज्जे विमाणवण्णओ०जाव मणिर-यणघंटियाजालपरिक्खित्तं पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं उवट्ठवेह, उवट्ठवेहइत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं ते कोडुंवियपु-

रिसा०जाव पच्चप्पिणंति । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे केसालंकारेणं वत्थालंकारेणं मल्लालंकारेणं आभरणालंकारेणं चउव्विहेणं अलंकारेणं अलंकारिए समाणे पडिपुण्णालंकारे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता सीयं अणुप्पदाहिणीकरेमाणे सीयं दुरूहइ, दुरूहइत्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे । तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया ण्हाया०जाव सरीरा हंसलक्खणं पडसाडगं गहाय सीयं अणुप्पदाहिणीकरेमाणी सीयं दुरूहइ, दुरूहइत्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स दाहिणेणं पासेणं भद्दासणवरंसि सण्णिसण्णा, तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स अम्मधाती ण्हाया० जाव सरीरा रयहरणं पडिग्गहं च गहाय सीयं अणुप्पदाहिणीकरेमाणी सीयं दुरूहइ, दुरूहइत्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स वामे पासे भद्दासणवरंसि सण्णि–सण्णा । तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिट्ठओ एगा वरतरुणी सिंगारागारचारुवेसा संगय०जाव रूवजोव्वणवि–सालकलिया सुंदरथणहिमरययकुमुदकुंदेंदुप्पगासं सकोरंट–मल्लदामं धवलं आयवत्तं गहाय सलीलं उवधरेमाणी २ चिट्ठइ। तए णं तस्स जमालिस्स०उभओ पासिं दुवे वरतरुणीओ सिंगारागारचारु०जाव कलियाओ णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंक–कुंददगरयअमियमहियफेणपुंजसण्णिगासाओ धवलाओ चामराओ गहाय सलीलं वीयमाणीओ वीयमाणीओ चिट्ठंति। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स उत्तरपुरच्छिमेणं एगा वरतरुणी सिंगारागार०जाव कलिया सेतं रययामयं विमल–सलिलपुण्णं मत्तगयमहामुहाकिइसमाणं भिंगारं गहाय चिट्ठइ। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स दाहिणपुरच्छिमेणं एगा वरतरुणी सिंगारागार०जाव कलिया चित्तकणगदंडं तालपटं गहाय चिट्ठइ। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमा–रस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सरिसयं सरित्तयं सरिव्वयं सरि–सलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयं एगाभरणवसणगहियनिज्जोयं कोडुंबियवरतरुणसहस्सं सद्दावेह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा० जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव सरिसयं०जाव सद्दावेंति, तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविया समाणा हट्ठतुट्ठा ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता एगाभरणवसणगहियनि–ज्जोया जेणेव जमालिस्स खत्तिय कुमारस्स पिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव बद्धावेइ, बद्धावेइत्ता एवं वयासी–संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! जं अम्हेहिं करणिज्जं, तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तं कोडुंबियं वरतरुण–सहस्सं पि एवं वयासी–तुज्झे णं देवाणुप्पिया ! ण्हाया कय–बलिकम्मा०जाव गहियणिज्जोगा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स सीयं परिवहेह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जमालिस्स खत्तिय–कुमारस्स सीयं परिवहेंति। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तिय–कुमारस्स पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूढस्स समाणस्स तप्पढमयाए इमे अट्ठट्ठमंगला पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया । तं जहा–सोत्थियसिरिवत्थ०जाव दप्पणं, तदाणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगार जहा उव्वाइए० जाव गयणतलमणुलिहंती पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया एवं जहा उववाइए तहेव भाणियव्वं०जाव आलोयं च करेमाणा जयजयसद्दं वा पउंजमाणा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया, तयाणंतरं च णं बहवे उग्गा भोगा जहा उववाइए०जाव महापुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पुरओ मग्गओ य पासओ य अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया, तए णं जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया ण्हाया कय०जाव विभूसिए हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं उद्धुव्वमाणीहिं हयगयरहपवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे महया भडचडगर०जाव परिक्खित्ते जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिट्ठओ२ अणुगच्छइ। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पुरओ महं आसा आसवरा उभओ पासिं णागा णागवरा पिट्ठओ रहा रहसंगेल्ली । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अब्भुग्गयभिंगारे परिग्गहियतालियंटे ऊसवियसेयछत्ते पवीइयसयचामरवालवीयणीए सव्विड्ढीए०जाव णाइयरवेणं, तयाणंतरं च णं बहवे लट्ठिग्गहा कुंतग्गहा०जाव पुत्थियग्गहा०जाव वीणग्गहा, तयाणंतरं च णं अट्ठसयं गयाणं अट्ठसयं तुरियाणं अट्ठसयं रहाणं, तदाणंतरं च णं लउडअसिकोंतहत्था णं बहू णं पायत्ताणी णं पुरओ संपट्ठिया, तयाणंतरं च णं बहवे राइसरतलवर०जाव सत्थवाहप्पभियओ पुरओ संपट्ठिया खत्तियकुंडग्गामे णयरे मज्झं मज्झेणं जेणेव माहणकुंडग्गामे णयरे जेणेव बहुसालए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए, तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स खत्तियकुंडग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छमाणस्स सिंघाडगतिगचउक्क०जाव पहेसु बहवे अत्थच्छिया जहा

उववाइए जाव०अभिणंदंता य अभित्थुणंता य एवं वयासी– जय जय णंदा धम्मेणं, जय जय णंदा तवेणं, जय जय णंदा भद्दं ते, अभग्गेहिं णाणदंसणचरित्तमुत्तमेहिं अजियाइं जिया–हि इंदियाइं, जितं पालेहि समणधम्मं, जियविग्घो वि य वसा–हि य देव ! सिद्धिमज्झे, निहणाहि रागदोसमल्ले तवेणं, धिइ–धणियबद्धकच्छे मद्दाहि अट्ठकम्मसत्तू झाणेणं उत्तमेणं सुक्के–णं अप्पमत्तो, हराहि आराहणपडागं च धीर ! तेलोक्करंगमज्झे, पावय वितिमिरमणुत्तरं च केवलणाणं, गच्छ य मोक्खं परं पदं जिणवरोवदिट्ठेणं सिद्धिमग्गेण अकुडिलेन, हंता परीसहचमुं, अभिभविय गामकंटकोवसग्गाणं, धम्मे ते अविग्घमत्थु त्ति कट्टु अभिणंदंति य, अभित्थुणंति य । तए णं से जमाली खत्तिय–कुमारे णयणमालासहस्सेहिं पेच्छिज्जमाणे एवं जहा उववाइए कूणिओ०जाव णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे णयरे जेणेव बहुसालए चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता छत्ताईए तित्थगर इसए पासइ, पासइत्ता पुरिससहस्सवाहणिं सीयं ठवेइ, ठवेइत्ता पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ पच्चोरुहइ । तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापियरो पुरओ काउं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवाग–च्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो०जाव णमंसित्ता एवं वयासी– एवं खलु भंते ! जमाली खत्तियकुमारे अम्हं एगे पुत्ते इट्ठे कंते०जाव किमंग ! पुण पासणयाए से जहानामए उप्प–लेइ वा पउमेइ वा०जाव सहस्सपत्ते वा पंके जाए जले संवुड्ढे णोवलिप्पइ पंकरएणं, णोवलिप्पइ जलरएणं, एवामेव जमाली वि खत्तियकुमारे कामेहिं जाए भोगेहिं संवुड्ढे णोवलिप्पइ कामरएणं, णोवलिप्पइ भोगरएणं, णोवलिप्पइ मित्तणाइणि–यगसयणसंबंधिपरिजणेणं, एस णं देवाणुप्पिया ! संसारभय–उव्विग्गे भीए जम्मजरामरणेणं इच्छइ देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, तं एस णं देवा–णुप्पियाणं अम्हे सीसभिक्खं दलयामो, पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिया! सीसभिक्खं । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो०जाव णमंसित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं उम्मुयइ । तए णं सा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया हंसलक्खणेणं पडसाडएणं आभरणमल्लालंकारं पडिच्छइ, पडिच्छइत्ता हारवारिधार० जाव विणिम्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी जमालिं खत्तियकुमारं एवं वयासी– घडियव्वं जाया ! जइयव्वं जाया ! परक्कमियव्वं जाया ! अस्सिं च णं अट्ठे णो पमादेयव्वं त्ति कट्टु जमालिस्स खत्तियकुमारस्स अम्मापियरो समणं भगवं महावीरं वंदंति, णमंसंति, जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, करेइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवाग–च्छइत्ता एवं जहा उसभदत्तो तहेव पव्वइओ, णवरं पंचहिं पुरिससएहिं सद्धिं तहेव०जाव सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जइत्ता बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठम०जाव मासद्धमास–क्खमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं से जमाली अणगारे अण्णया कयाइं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–इच्छामि णं भंते! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाए समाणे पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं बहिया जणवयविहारं विहरित्तए । तए णं समणे भगवं महावीरे जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं णो आढाइ, णो परिजाणइ, तुसिणीए चिट्ठइ । तए णं से जमाली अणगारे समणे भगवं महावीरे दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी–इच्छामि णं भंते! तुज्झेहिं अब्भ–णुण्णाए समाणे पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं०जाव विहरित्तए? तए णं समणे भगवं महावीरे जमालिस्स अणगारस्स दोच्चं पि तच्चं पि एयमट्ठं णो आढाइ, जाव०तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं से जमाली अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिआओ बहुसा–लाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं बहिया जणवयविहारं विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी णामं णयरी होत्था, वण्णओ, कोट्ठए चेइए वण्णओ०जाव वणसंडस्स । तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था, वण्णओपुण्णभद्दे चेइए वण्णओ०जाव पुढवीसिलापट्टओ । तए णं से जमाली अणगारे अण्णया कयाइं पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव सावत्थी णयरी जेणेव कोट्ठए चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हइ, ओगिण्हइत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे०जाव सुहं सुहेणं विहरमाणे वा जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवाग–

च्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हइ, उग्गिण्हइत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स तेहिं अरसेहि य विरसेहि य अंतेहि य पंतेहि य लूहेहि य तुच्छेहि य कालाइक्कंतेहि य पमाणाइक्कंतेहि स सीएहिं पाणभोअणेहिं अण्णया कयाइं सरीरगंसि विउलरोगातंके पाउब्भूए उज्जले तिउले पगाढे कक्कसे कडुए चंडे दुक्खे दुग्गे तिव्वे दुरहियासे पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवुक्कंतिए यावि विहरइ। तए णं से जमाली अणगारे वेदणाए अभिभूए समाणे समणे णिग्गंथे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासीतुज्झे णं देवाणुप्पिया ! ममं सेज्जासंथारयं संथरह। तए णं समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति, पडिसुणेंतित्ता जमालिस्स अणगारस्स सेज्जासंथरगं संथरेंति। तए णं से जमाली अणगारे बलियतरं वेदणाए अभिभूए समाणे दोच्चं पि समणे णिग्गंथे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासीममं णं देवाणुप्पिया ! सेज्जासंथारए किं कडे कज्जइ ? तए णं समणा णिग्गथा तं जमालिं अणगारं एवं वयासी--णो खलु देवाणुप्पिया! णं सेज्जासंथारए कडे कज्जइ। तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए०जाव समुप्पज्जित्था, जं णं समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ०जाव एवं परूवेइ, एवं खलु चलमाणे चलिए उदीरिज्जमाणे उदीरिए०जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे, तं ण मिच्छा, इमं च णं पच्चक्खमेव दीसइ--सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे, संथारिज्जमाणे असंथरिए, जम्हा णं सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे संथरिज्जमाणे असंथरिए, तम्हा चलमाणे वि अचलिए०जाव णिज्जरिज्जमाणे वि अणिज्जिण्णे,एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता समणे णिग्गंथे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासीजं णं दे वाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ०जाव परूवेइ, एवं खलु चलमाणे चलिए तं चेव सव्वं०जाव णिज्जरिज्जमाणे अणिज्जिण्णे। तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स०जाव परूवेमा--णस्स अत्थेगइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं सद्दहंति, पत्तियंति, रोयंति, अत्थेगइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं णो सद्दहति, णो पत्तियंति,णो रोयंति, तत्थ णं ज त समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठ सद्दहंति, पत्तियंति, रोयंति, ते णं जमालिं चेव अणगारं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति। तत्थ णं जे ते समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं णो सद्दहंति, णो पत्तियंति, णो रोयंति, ते णं जमालिस्स अणगारस्स अतियाओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमइत्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता समणं भगवं महावीरं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति। तए णं से जमाली अणगारे अण्णया कयाइं ताओ रोगातंकाओ विप्पमुक्के हट्ठे तुट्ठे जाए अरोए बलियसरीरे सावत्थीओ णयरीओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी--जहा णं देवाणुप्पियाणं बहवे अंतेवासी समणा णिग्गंथा छउमत्था भवित्ता छउमत्थावक्क-मणेणं अवक्कमंता, णो खलु अहं तहा चेव छउमत्थे भवित्ता छउमत्थावक्कमणेणं अवक्कंते,अहं णं उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवलीअक्कमणेणं अवक्कंते। तए णं भगवं गोयमे जमालिं अणगारं एवं वयासीणो खलु जमाली! केवलिस्स णाणे वा दंसणे वा सेलसि वा थंभंसि वा थूभंसि वा आवरिज्जइ वा, णिवारइज्जइ वा, जइ णं तुम्मं जमाली ! उप्प-ण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवलीअवक्कम-णेणं अवक्कंते, ता णं इमाइं दो वागरणाइं वागरेहि, सासए लोए जमाली !, असासए लोए जमाली ! सासए जीवे जमाली !, असासए जीवे जमाली !? तए णं से जमाली अणगारे भगवया गोयमेणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए०जाव कलुससमावण्णे जाए यावि होत्था, णो संचाएइ भगवओ गोयमस्स किंचि वि पामोक्खमाइक्खित्तए तुसिणीए संचिट्ठइ जमाली। समणे भगवं महावीरे जमालिं अणगारं, एवं वयासी--अत्थि णं जमाली! ममं बहवे अंतेवासी समणा णिग्गंथा छउमत्था, जे णं पभू एयं वागरणं वागरित्तए, जहा णं अहं णो चेव णं एतप्पगारं भास भासित्तए जहा णं तुमं सासए लोए जमाली ! जं णं ण कदायि णासि, ण कदायि ण भवइ, ण कदायि ण भविस्सइ, भुविं च, भवइ, भविस्सति य,धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे असासए लोए जमाली ! ज ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ, उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ, सासए जीवे जमाली ! जं ण कदायि णासि०जाव णिच्चे असासए

जीवे जमाली ! जं णं णेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ, तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ, मणुस्से भवित्ता देवे भवइ। तए णं से जमाली अणगारे समणस्स भगवओ महावी-रस्स एवमाइक्खमाणस्स०जाव एवं परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहइ, णो पत्तियइ, णो रोयइ, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्ति-यमाणे अरोएमाणे दोच्चं पि समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ आताए अवक्कमइ, दोच्चं पि आताए अवक्कमित्ता बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणे वुप्पाएमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ, पाउणइत्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेइ, झूसेइत्ता तीसं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, छेदेइत्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे तेरससागरोवमाइं ठिईए देवकिव्विसिएसु देवेसु देवकि-व्विसियत्ताए उववण्णे। तए णं भगवं गोयमे जमालिं अणगारं कालगयं जाणि ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवाग-च्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कुसिस्से जमाली णामं अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववण्णे ? गोयमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी-एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी कुसिस्से जमाली णामं अणगारे, से णं तदा ममं एवमाइक्ख-माणस्स ४ एयमट्ठं णो सद्दहइ ३, एयमट्ठं असद्दहमाणे दोच्चं पि ममं अंतियाओ आताए अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं तं चेव०जाव देवकिव्विसियत्ताए उववण्णे। (भ०) जमाली णं भंते ! अणगारे अरसाहारे विरसा-हारे अंताहारे पंताहारे लूहाहारे तुच्छाहारे अरसजीवी०जाव तुच्छजीवी उवसंतजीवी पसंतजीवी विवित्तजीवी? हंता गोयमा ! जमाली णं अणगारे अरसाहारे०जाव विवित्तजीवी। जइ णं भंते ! जमाली अणगारे अरसाहारे०जाव विवित्तजीवी, कम्हा णं भंते ! जमाली अणगारे कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे तेरस सागरोवमट्ठिईएसु देवकिव्विसिएसु देवेसु देवत्ताए उववण्णे ? गोयमा ! जमाली णं अणगारे आयरियपडिणीए उवज्झाय-पडिणीए आयरियउवज्झायाणं अयसकारए अवण्णकारए०जाव वुप्पाएमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणेइ, पाउणइत्ता अद्धमासियाए संलेहणाए तीसं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, छेदेइत्ता तस्स ठाणस्स अणालोइमपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे०जाव उववण्णे। जमाली णं भंते ! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं०जाव कहिं उववज्जिहि त्ति? गोयमा ! चत्तारि पंच तिरिक्खजोणियमणुस्सदेव-भवग्गहणाइं संसारं अणुपरियट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिहिति० जाव अंतं काहिति सेवं भंते ! भंते त्ति जमाली सम्मत्तो।

अथ भगवता श्रीमन्महावीरेण सर्वज्ञत्वादमुं तद्व्यतिकरं जानताऽपि किमिति प्रव्राजितोऽसाविति? उच्यते-अवश्यं भाविभावनां महानुभावैरपि प्रायो लङ्घयितुमशक्यत्वादित्थमेव वा गुण-विशेषदर्शनात् अगूढलक्षा हि भगवन्तोऽर्हन्तो न निष्प्रयोजनं क्रियासु प्रवर्तन्ते। भ०६ श०३३ उ०।

अथ संपिण्ड्य सामान्यतः सूचितमेवार्थ-

मेकैकनिह्नवं प्रति व्यक्तितो निर्दिशन्नाह-

चोद्दसव वासाणि तया, जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स।
तो बहुरयाण दिट्ठी, सावत्थीए समुप्पन्ना ॥२३०६॥

चतुर्दश वर्षाणि तदा जिनेन श्रीमन्महावीरेणोत्पादितस्य केवल-ज्ञानस्य ततोऽवान्तरे बहुरतनिह्नवानां दर्शनं दृष्टिः श्रावस्त्यां नगर्यां समुपन्नेति ॥२३०६॥

सा च यथोत्पन्ना तथा दिदर्शयिषुः संग्रह-

गाथामाह-

जिट्ठा सुदंसण जमा-लिणोज्ज सावत्थितिंदुगुज्जाणे।
पंच सया य सहस्सं, डंकेण जमालि मोत्तूणं ॥२३०७॥

अत्र भावार्थस्तावत्कथानकेनोच्यते-इहैव भरतक्षेत्रे कुण्डपुरं नाम नगरम्। तत्र भगवतः श्रीमन्महावीरस्य भागिनेयो जमालिर्नाम राजपुत्र आसीत्। तस्य च भार्या श्रीमन्महावीरस्य दुहिता। तस्याश्च जेष्ठेति वा, सुदर्शनेति वा, अनवद्याङ्गीति वा नामेति। तत्र पञ्चशतपुरुष्ज्ञपरिवारो जमालिर्भगवतो महावीरस्यान्तिके प्रव्रज्यां जग्राह। सुदर्शनाऽपि सहस्रस्त्रीपरिवारा तदनु प्रव्रजिता। ततश्चैका-दशस्वङ्गेष्वधीतेषु जमालिना भगवान् विहारार्थं मुत्कलापितः। ततो भगवता तूष्णीमास्थाय न किञ्चित्प्रत्युत्तरमदायि, तत एव-ममुत्कलितोऽपि पञ्चशतसाधु-परिवृतो निर्गतः श्रीमन्महावीरान्तिकात्। ग्रामानुग्रामं च पर्यटन् गतः श्रावस्तीनगर्या, तत्र च तैन्दुकाऽभिधानोद्याने कोष्ठकनाम्नि चैत्ये स्थितः, ततश्च तत्र तस्यान्तः प्रान्ताहारैरस्तीव्रो रोगातङ्कः समुत्पन्नः, तेन च न शक्नोत्युपविष्टः स्थातुम्। ततो बभाण श्रमणान्- मन्निमित्तं शीघ्रमेव संस्तारक-मास्तृणीत, येन तत्र तिष्ठामि। ततस्तैः कर्तुमारब्धोऽसौ। वाढं च दाहज्वराभिभूतेन जमालिना पृष्टम्-संस्तृतः संस्तारको न वेति? साधुभिश्च संस्तृतप्रायत्वादर्धसंस्तृतेऽपि प्रोक्तम्- संस्तृत इति। ततोऽसौ वेदनाविह्वलितचेता उत्थाय तत्र तिष्ठासुरर्द्धसंस्तृतं तत् दृष्ट्वा क्रुद्धः- ''क्रियमाणं कृतम्''। इत्यादि सिद्धान्तवचनं स्मृत्वा मिथ्यात्वमोहनीयोदयतो वक्ष्यमाणयुक्तिभिर्वितथमिति चिन्तयामास। ततः स्थविरैर्वक्ष्यमाणाभिरेव युक्तिभिः प्रतिबोधितो यदा कथमपि न प्रतिबुध्यते, तदा गतास्तं परित्यज्य भगवत्समीपे। अन्ये तु तत्समीप एव स्थिताः। सुदर्शनाऽपि तदा तत्रैव श्रावकढङ्क-कुम्भकारगृहे आसीत्। जमाल्यनुरागेण च तन्मतमेव प्रपन्ना, ढङ्कमपि

तद् ग्राहयितुं प्रवृत्ता, ततो ढङ्केन मिथ्यात्वमुपगतेयमिति ज्ञात्वा प्रोक्तम्–नेदृशं किमपि वयं जानीमः। अन्यदा चापाकाग्निमध्ये मृद्भाजनोद्वर्तनपरावर्तने कुर्वता अङ्गारकमेकं प्रक्षिप्य तत्रैव प्रदेशे स्वाध्यायं कुर्वत्याः सुदर्शनायाः सङ्घाट्यञ्चलो दग्धः। ततस्तया प्रोक्तम्–श्रावक! किं त्वया मदीयसङ्घाटी दग्धा? तेनोक्तम्–ननु 'दह्यमानमदग्धम्' इति भवति भवत्यास्सिद्धान्तः, ततः क्व केन त्वदीया सङ्घाटी दग्धा? इत्यादि तदुक्तं परिभाव्य संबुद्धाऽसौ सम्यक् प्रेरिताऽस्मीत्यभिधाय मिथ्यादुष्कृतं ददाति, जमालिं च गत्वा प्रज्ञापयति। यदा चासौ कथमपि न प्रज्ञाप्यते, तदाऽसौ सपरिवारा शेषसाधवश्चैकाकिनं जमालिं मुक्त्वा भगवत्समीपं जग्मुः। जमालिस्तु बहुजनं व्युद्ग्राह्यानालोचितप्रतिक्रान्तः कालं कृत्वा किल्विषिकदेवेषूत्पन्नः। व्याख्याप्रज्ञप्त्यागमाच्चैतत् चरितं विस्तरतोऽवसेयमिति। एष संग्रहगाथाभावार्थः। अक्षरार्थस्त्वयम्–(जंट्ठासुदंसण जमालिणोऽज्ज त्ति) ज्येष्ठा, सुदर्शना, अनवद्याङ्गीति जमालिगृहिणीनामानि। अन्ये तु व्याचक्षतेज्येष्ठा महती सुदर्शना नाम भगवतः श्रीमन्महावीरस्य भगिनी, तस्याः पुत्रो जमालिः, अनवद्याङ्गी नाम भगवतो दुहिता जमालिगृहिणीति श्रावस्त्यां नगर्यां तैन्दुकोद्याने जमालिनिह्नवदृष्टिरुत्पन्नेति वाक्यशेषः। तत्र पञ्च शतानि साधूनां, सहस्रं चार्यिकाणाम्, एतेषां मध्ये यः स्वयं न प्रतिबुद्धःतं जमालिं मुक्त्वा ढङ्केन प्रतिबोधितः। इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥२३०७॥

अथ भाष्यकारो येन विप्रतिपत्त्यभिप्रायेण जमालिनिह्नवो जातस्तं प्रकटयन्नाह–

सक्खं चिय संथारो, न कज्जमाणो कउ त्ति मे जम्हा।
वेइ जमाली सव्वं, न कज्जमाणं कयं तम्हा ॥२३०८॥

(जे जम्ह त्ति) यस्मान्मम साक्षात्प्रत्यक्षमेवेदं वृत्तं, यदुत कम्बलास्तरणरूपः संस्तारकः क्रियमाणो न कृतः, संतीर्यमाणो न संस्तृतः। तस्माज्जमालिर्ब्रवीति–सर्वमपि वस्तु क्रियमाणं कृतं न भवति, किं तु कृतमेव कृतमुच्यते। ततो भगवत्यादिषु यदुक्तम्–''चालमाणे चलिए उईरिज्जमाणे उईरिए, वेइज्जमाणे वेइए'' इत्यादि, तत्सर्वं मिथ्येत्यभिप्रायः॥ इति ॥२३०८॥

अपि च, क्रियमाणं कृताऽभ्युपगमे बहवो दोषाः, क एते ? इत्याह–

जस्सेह कज्जमाणं, कयं ति तेणेह विज्जमाणस्स।
करणकिरिया पवन्ना, तहा य बहुदोसपडिवत्ती ॥२३०९॥

इह यस्य वादिनः क्रियमाणं वस्तु कृतमित्यभ्युपगमः, तेनेह विद्यमानस्य सतः करणरूपाः क्रियाः करणक्रियाः प्रतिपन्ना अङ्गीकृताः। तथा च सति वक्ष्यमाणानां बहूनां दोषाणां प्रतिपत्तिरभ्युपगमरूपा कृता भवतीति ॥२३०९॥

तथाहि–

कयमिह न कज्जमाणं, सब्भावाओ चिरंतनघडो व्व।
अहवा कयं पि कीरई, कीरउ निच्चं न य समत्ती ॥२३१०॥

इह क्रियमाणं कृतं न भवतीति प्रतिज्ञा, सद्भावात्– कृतस्य *विद्यमानत्वादिति हेतुः, चिरन्तनघटवदिति दृष्टान्तः। विपर्यये बाधकमाह–अथ कृतमपि क्रियत इत्यभ्युपगम्यते, तर्हि नित्यम–* नवरतमेव क्रियतां, कृतकत्वाविशेषात्। एवं च सति न कदाचिदपि कार्यक्रियापरिसमाप्तिरिति ॥२३१०॥

किमेतावन्मात्रमेव दूषणं? नेत्याह–

किरियावेफल्लं ति य, पुव्वमभूयं च दीसए होंतं।
दीसइ दीहो य जओ, किरियाकालो घडाईणं ॥२३११॥

यदि च क्रियमाणं कृतमिष्यते, तर्हि घटादिकार्यार्थं या मृन्मर्दनचक्रभ्रमणादिका क्रिया, तस्याः वैफल्यं प्राप्नोति, तत्– काले कार्यस्य कृतत्वाभ्युपगात्। प्रयोगः–इह यत्कृतं, तत्क्रिया विफलैव, यथा चिरनिष्पन्नघटे, कृतं चाऽभ्युपगम्यते क्रियाकाले कार्यं, ततो विफला तत्र क्रियेति। किं च–क्रियमाणकृतवादिना कृतस्य विद्यमानस्य क्रियेति प्रतिपादितं भवति। एवं च प्रत्यक्ष–विरोधः, यस्मादुत्पत्तिकालात्पूर्वमभूतमविद्यमानमेव कार्यं भवज्जायमानं दृश्यते, उत्पत्तिकाले तस्मात्क्रियमाणमकृतमेवेति। किं च–आरम्भक्रियासमय एव कार्यमुत्पद्यत इति तवाभ्युपगमः। एतच्चायुक्तम्। कुतः? यस्मात् घटादिकार्याणामुत्पद्यमानानां दीर्घ एव निर्वर्तनक्रियाकालो दृश्यत इति ॥२३११॥

दृश्यतां नाम दीर्घः क्रियाकालः, परं घटादिकार्यमारम्भ–

क्रियासमय एव शिवकादिकाले वा द्रक्ष्यत इति

चेत्, तदयुक्तम्। कुत इत्याह–

नारंभे चिय दीसइ,न सिवाद्धाएँ दीसइ तदंते।
तो न हि किरियाकाले, जुत्तं कज्जं तदंतम्मि ॥२३१२॥

नारम्भक्रियासमय एव घटादिकार्यं भवद् दृश्यते, नापि शिवाद्धायाम्–शिवकस्थासकोशकुशूलादिसमयेष्वपि न दृश्यत इत्यर्थः। क्व तर्हि दृश्यते? इत्याह–तदन्ते दीर्घक्रियाकालस्यान्ते घटादिकार्यं भवद् दृश्यते, तस्मान्न क्रियाकाले कार्यं युक्तं, तस्य तदानीमदर्शनात्। तदन्ते तु दीर्घक्रियाकालस्यान्ते युक्तं कार्यं, तदानीमेव तस्य दर्शनादिति सकलजनस्य प्रत्यक्षसिद्धमेवेदम्। इति जमालिपूर्वपक्षः ॥२३१२॥

अत्र स्थविराः प्रतिविदधति स्म। कथमित्याह–

थेराण मयं नाकय–मभावओ कीरए खपुप्फं व।
अहव अकयं पि कीरइ, कीरउ तो खरविसाणं पि ॥२३१३॥

स्थविराः श्रुतवृद्धा गीतार्थाः साधवः, तेषां मतम्–कुप्ररूपणां कुर्वन्तं जमालिं ते एवं प्रज्ञापयन्तीत्यर्थः–नाकृतमविद्यमानं घटादिकार्यं क्रियते, असत्त्वात्, आकाशकुसुमवत्। अथाकृतम–विद्यमानमपि क्रियते, क्रियतां तर्हि खरविषाणमपि, अकृतत्वाविशेषादिति ॥२३१३॥

यदुक्तम्– ''कीरउ निच्चं न य समत्ती'' (२३१०) इत्यादि,

तत्राह–

निच्चकिरियाइदोसा, नणु तुल्ला असइ कट्ठतरगा वा।
पुव्वमभूयं च न ते, दीसइ किं खरविसाणं पि ॥२३१४॥

नन्वसत्यविद्यमाने वस्तुनि करणक्रियाभ्युपगमे, नित्यक्रियादिदोषाः, आदिशब्दात्क्रियाऽपरिसमाप्तिक्रियावैफल्यपरिग्रहः, *आवयोस्तुल्याः समाः, यथा कृतपक्षे त्वया दत्तास्तथा अकृतपक्षेऽप्यापतन्तीत्यर्थः। किं तुल्या एव? नेत्याह–कष्टतरका*

वा। विद्यमाने हि वस्तुनि पर्यायविशेषाधानद्वारेण कथञ्चित्करण–क्रियाद्युपथत एव, यथा– ''आकाशं कुरु, पादौ कुरु, पृष्ठं कुरु'' इत्यादि। अविद्यामाने तु सर्वथा नायं न्यायः संभवति, सर्वथा असत्त्वात् खरविषाणवदिति। यदि च पूर्वं कारणावस्थायामभूत–मसत् कार्यं जायते, तर्हि मृत्पिण्डाद् घटवत् खरविषाणमपि जायमानं किं न दृश्यते, असत्त्वाविशेषाद् ? अथ खरविषाणं भवन्न दृश्यते, तर्हि घटोऽपि तथैवास्तु, विपर्ययो वेति ॥२३१४॥

यदुक्तम्– ''दीसइ दीहो य जओ''(२३११) इत्यादि, तत्राह–

पइसमउप्पन्नाणं, परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं।
दीहो किरियाकालो, जइ दीसइ किं त्थ कुंभस्स ॥२३१५॥

यदि नाम प्रतिसमयोत्पन्नानां परस्परविलक्षणस्वरूपाण सुबह्वीनां शिवकस्थासकोशकुशूलादिकार्यकोटीनां क्रियाकलनिष्ठाकालयोरेकत्वेन प्रतिप्रारम्भसमयनिष्ठाप्राप्तानां दीर्घक्रियाकालो दृश्यते, तर्हि कुम्भस्य घटस्य किमत्रायातम्? इदमुक्तं भवति मृद्दानयनमर्दनपिण्डविधानादिकालः सर्वोऽपि घटनिर्वर्तनक्रियाकाल इति तवाभिप्रायः। अयं चायुक्त एव। अतः तत्र प्रतिसमयमन्यान्येव कार्याण्यारभ्यन्ते, निष्पाद्यन्ते च, कार्यस्य कारणकालनिष्ठाकालयोरेकत्वात्। घटस्तु पर्यन्तसमय एवारभ्यते, तत्रैव च निष्पद्यत इति कोऽस्य दीर्घो निर्वर्तनक्रियाकालः? इति ॥२३१५॥

अथान्यप्राक्तनकालसमयेष्वपि घटः किं न दृश्यते? इत्याह–

अन्नारभे अन्नं, किह दीसउ जह घडो पडारंभे।
सिवकादओ न कुंभो, किह दीसएँ सो तदद्धाए ॥२३१६॥

अन्यस्य शिवकादेरारम्भे अन्यद् घटलक्षणं कार्यं कथं दृश्यते ? न हि पटारम्भे घटः कदाचिदपि दृश्यते। अतः किमुच्यते– ''नारंभे च्चिय दीसइ'' त्ति। शिवकादयोऽपि कुम्भरूपा न भवन्ति, किं तु ततोऽन्य एवेति कथं तदद्धायामप्यसौ कुम्भो दृश्यते? अत एव तदप्यज्ञतया प्रोच्यते ''न सिवादद्धाए'' इति ॥२३१६॥

यत्तूक्तम्– ''दीसइ तदंते'' इति, तत्राह–

अंते च्चिअ आरद्धो, जह दीसइ तम्मि चेव को दोसो ?
अकयं व संपइ गए, कह कीरउ कह व एस्सम्मि? ॥२३१७॥

अन्त एव क्रियाक्षणे प्रारब्धो घटो यदि तत्रैव दृश्यते तर्हि को दोषः? न कश्चिदित्यर्थः। यदुक्तम्– ''तो न हि किरियाकाले'' इत्यादि। तत्राह– ''अकयं वा'' इत्यादि। यदि च संप्रति वर्तमान–क्रियाक्षणे न कृतं कार्यमितोष्यते तदा गते अतिक्रान्ते, एष्यति–अनागते च क्रियाक्षणे कथं नाम तत्कार्यं क्रियताम्? न कथञ्चिदित्यर्थः। तथाहि–नातीतभविष्यत्क्रियाक्षणौ कार्यकारकौ, विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वात्। खरविषाणवत्, अतः कथं क्रियान्ते कार्य स्यात्? तस्मात्क्रियामाणमेव कृतमिति। यदि च क्रियमाणमपि न कृतं, क्व तर्हि कृतमिति वक्तव्यम् ? क्रियाविगम इति चेत्! तदयुक्तम्। तदानीं क्रियाया असत्त्वात् तदसत्त्वेऽपि च कार्योत्पत्तावि‌ष्यमाणायां क्रियारम्भात्प्रागपि कार्योत्पत्तिः स्यात्, क्रिया–सत्त्वाविशेषाद्। अथ संप्रतिसमयः क्रियमाणकालः, तदनन्तरस्तु कृतकालो, न च क्रियमाणकाले कार्यमस्ति, इत्यतः खल्वकृतं क्रियते, न तु कृतमित्यभिधत्से। नन्वेतदिह प्रष्टव्योऽसि–किं भवतः कार्यं क्रियया क्रियते, उत तामन्तरेणाऽपि भवति? यदि क्रियया, तर्हि कथं साऽन्यत्र समये, अन्यत्र तु कार्यम्? न हि खदिरे छेदनक्रियायां पलाशे छेदः सदुपजायते। किं च– ''क्रियोपरमे कार्यं भवति, न तु क्रियासद्भावे'' इति वदता प्रत्युत कार्योत्पत्तेर्विघ्नहेतुः क्रियेति प्रतिपादितं भवति। ततश्च कारणमप्यकारणमिति प्रत्यक्षादिविरोधः। अथ क्रियामन्तरेण कार्यमुपजायते इत्यभ्युपगम्यते, तर्हि घटादिकार्यार्थिनां निरर्थकः सर्वोऽपि मृन्मर्दनपिण्डविधान–चक्रारोपणभ्रमणादिक्रियारम्भः, अतो न कर्तव्यं मुमुक्षुभिरपि तपः संयमादिक्रियानुष्ठानं, तदनन्तरेणापि मुक्तिसुखसिद्धेः। न चैवम्, तस्मात् क्रियाकाल एव कार्यं, न पुनस्तदुपरम इति ॥२३१७॥

पुनरप्याह–ननु मृदानयनतन्मर्दनादिकश्चक्रादिच्छिन्नताकरणकार्यपर्यन्तो दीर्घ एव मया घटनिर्वर्तनक्रियाकालोऽनुभूयते, न तु यत्रैव समये प्रारभ्यते तत्रैव निष्पद्यत इत्यनुभूयते, तदेतत्कथ–मित्याह–

पइसमयकज्जकोडी–निरवेक्खो घडगयाहिलासो सि।
पइसमयकज्जकालं, थूलमई ! घडम्मि लाएसि ॥२३१८॥

हन्त ! यद्यपि प्रतिसमयमन्यान्यरूपाः कार्यकोटयः तत्रोत्पद्यन्ते, तथाऽपि तन्निरपेक्षस्त्वम्–निष्प्रयोजनत्वेनाविवक्षितत्वादुत्पद्यमाना अपि तास्त्वं न गणयसीत्यर्थः। कुतः? यस्माद् घटगताऽभिलाषोऽसि, सप्रयोजनत्वेन तस्यैव प्रधानतया विवक्षितत्वात्। 'घट इहोत्पत्स्यते' इत्येवं तत्रैव तवाभिलाषः, अतः प्रतिसमयकार्यकोटीनामदर्शकत्वेन स्थूलमते ! प्रतिसमयकार्यसंबन्धिनमपि कालं सर्वमपि घटे लगयसि–'सर्वोऽप्ययं घटोत्पत्तिकालः' इत्येवमध्य–वस्यसि, त्वमित्यर्थः, अतो मिथ्यानुभवोऽयं तवेत्यभिप्रायः, एकसामयिक एव घटोत्पत्तिकाले बहुसामयिकत्वग्रहणेन प्रवृत्तेः। अत्राह–ननु प्रतिसमयं कार्यकोटय उत्पद्यमानास्तत्र न काश्चन् संवेद्यन्ते, किं त्वपान्तराले शिवकस्थासकोशादीनि कानिचिदेव कार्याणि संवेद्यन्ते। सत्यम्, किं तु स्थूलान्येव शिवकादिकार्याणि, यानि तु प्रतिसमयभावीनि सूक्ष्मकार्याणि तानि छद्मस्थो व्यक्त्या नावधारयितुं शक्नोति, परं प्रतिसमयकार्याणां ग्राहकाण्यनन्त–सिद्धकेवलिनां ज्ञानान्युत्पद्यन्ते, तान्यपि तत्रापान्तराले कार्या–ण्येव, इति घटन्त एव प्रतिसमयं कार्यकोटय इति ॥२३१८॥

अत्र प्रेरकः प्राह–

को चरमसमयनियमो, पढमे च्चिय तो न कीरए कज्जं।
नाकारणं ति कज्जं, तं चेवं तम्मि से समए ॥२३१९॥

ननु यदि कार्यस्य दीर्घः क्रियाकालो नेष्यते, किं त्वेकसामायिक एव, तर्हि कोऽयं चरमसमयनियमो, येन तत्रैवोत्पद्यते घटादिकार्यम्– न घटत एवायं नियम इत्यर्थः। तत एतन्नियमाभा–वात् किं प्रथमसमय एव कार्यं न क्रियते ?–अपि तु क्रियत एवेति काक्वा नीयते। अत्रोत्तरमाह–अकारणं कार्यं न भवति, तच्चान्त्यसमये, एव (से) तस्य घटस्य कारणमस्ति, न तत्प्रथमसमये, अतः कथं तत्रोत्पद्यते? अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि कार्यकारणभावः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चान्त्यसमय एव घटादेः कारणं लक्ष्यत इति तत्रैव तदुत्पद्यत इति युक्त एव चरमसमयनियम इति ॥२३१९॥

अथोपसंहरँस्तात्पर्यमाह–

तेणेह कज्जमाणं, नियमेणं कयं कयं तु भयणिज्जं ।
किंचिदिह कज्जमाणं, उवरयकिरियं च होज्जाहि ॥२३२०॥

तेन उक्तप्रकारेण क्रियमाणं वर्तमानक्रियाक्षणभावि कार्यं नियमेन कृतमेवोच्यते, यत्तु कृतं तद्भजनीयं विकल्पनीयम् । कथम्? इत्याह– किंचिदिह कृतं क्रियाप्रवृत्तिकालभावि क्रियमाणमुच्यते, अन्यत्तु– परतक्रियं चक्रापाकाद्युत्तीर्णं कृतं घटादिकार्यं न क्रियमाणमुच्यते, उपरतक्रियत्वादिति ॥२३२०॥

तदेवं सामान्येन प्रतिपाद्य प्रस्तुते जमालिसंस्तारकेऽमुं सकलमपि स्थविरोक्तं युक्तिकलापमायोजयन्नाह–

जं जत्थ नभोदेसे, अत्थुव्वइ जत्थ जत्थ समयम्मि ।
तं तत्थ तत्थ मत्थुय, मत्थुव्वंतं पि तं चेव ॥२३२१॥

आस्तीर्यमाणसंस्तारकस्य यद्यावन्मात्रं नभोदेशे यत्र यत्र समये (अत्थुव्वइ) आस्तीर्यते तत् तावन्मात्रं तस्मिन्नभोदेशे तत्र तत्र समये आस्तीर्णमेव भवति, आस्तीर्यमाणमपि च तदेवोच्यते। इदमुक्तं भवति– सर्वोऽपि संस्तारक आस्तीर्यमाणो नास्तीर्ण इति 'क्रियमाणं कृतम्' इत्यादि महावीरवचनं व्यलीकमेव जमालिर्मन्यते । एतच्चायुक्तम्, भगवद्वचनाभिप्रायापरिज्ञानात् । सर्वनयात्मकं हि भगवद्वचनम् । ततश्च 'क्रियामाणमकृतम्' इत्यपि भगवान् कथंचिद् व्यवहारनयमतेन मन्यत एव, परम् ''चलमाणे चलिए, उईरिज्जमाणे उईरिए'' इत्यादिसूत्राणि निश्चयनयमतेनैव प्रवृत्तानि । तन्मतेन च क्रियमाणं संस्तृतम्, इत्यादि सर्वमुपपद्यत एव। निश्चयो हि मन्यते–प्रथमसमयादेव घटः कर्तुं नारब्धः, किं तु मृदानयनमर्दनादीनि प्रतिसमयं परापरकार्याण्यारभ्यन्ते, तेषां च मध्ये यद्यत्र समये प्रारभ्यते तत्तत्रैव निष्पद्यते, कार्यकालनिष्ठाकालयोरेकत्वात्, अन्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसंगात्। ततः क्रियमाणं कृतमेव भवति । एवं प्रस्तुतः संस्तारकोऽपि नाद्यसमयात्सर्वोऽपि संस्तरीतुमारभ्यते, किं त्वपरापरे तदवयवाः प्रतिसमयमास्तीर्यन्ते, तेषां च मध्ये यो यत्र समयेऽवयवः संस्तरीतुमारभ्यते स तत्रैवास्तीर्यते, परिपूर्णस्तु संस्तारकश्चरमसमय एव संस्तरीतुमारभ्यते तत्रैव च निष्पद्यत इति। संस्तीर्यमाणं संस्तीर्णमेव भवतीति ॥२३२१॥

''दीसइ दीहो य जओ''(२३११) इत्यत्राह–

बहुवत्थत्तरणविभिण्ण–देसकिरियाइकज्जकोडीणं ।
मन्नसि दीहं कालं, जइ संथारस्स किं तस्स ॥२३२२॥

यदि नाम बहुवस्त्रास्तरणविभिन्नदेशक्रियादिकार्यकोटीनां संबन्धिनं दीर्घकालं मन्यसे जानासि त्वं, ततः संस्तारकस्य तस्य किमायातम्? इत्यक्षरघटना। विभिन्नो देशो यासां ता विभिन्नदेशाः, ताश्च ताः क्रियाश्च विभिन्नदेशक्रियाः, वस्त्रस्योपलक्षणत्वात् कम्बलानां चास्तरणं वस्त्रकम्बलास्तरणं, तस्य विभिन्नदेशक्रिया वस्त्रकम्बलास्तरणविभिन्नदेशक्रियाः, तदादयश्च ताः कार्यकोट्यश्च तास्तथा, बह्व्यश्च ता वस्त्रकम्बलास्तरणविभिन्नदेशक्रियादिकार्यकोट्यश्च बहुवस्त्रकम्बलास्तरणविभिन्नदेशक्रियादिकार्यकोट्य इति समासः, तासामिति । आदिशब्दः स्वगतानेकभेदख्यापकः, कार्याणां च कोटिसंख्यत्वमिहापि पूर्ववद्भावनीयमिति ॥२३२२॥

ननु यदि पूर्वमराधराणि कार्याणि निष्पद्यन्ते, संस्तारकस्तु पर्यन्तसमय एवारभ्यते, निष्पद्यते च कार्यक्रियाकाल–निष्ठाकालयोरभेदात् तर्हि। कथं संस्तारकस्यैव स दीर्घः क्रियाकालो मयाऽनुभूयते ? इत्याह–

पइसमयकज्जकोडी–विमुहो संथारयाहिकयकज्जो ।
पइसमयकज्जकालं, कहं संथारम्मि लाएसि? ॥२३२३॥

गतार्था, नवरं संस्तारकेणाधिकृतं प्रस्तुतं कार्यं यस्यासौ संस्तारकाधिकृतकार्य इति समासः ॥२३२३॥

तदेवं स्थविरैर्युक्तिभिः संबोध्यमाने तस्मिन् किं संजातमित्याह–

सो उज्जुसुयनयमयं, अमुणंतो न पडिवज्जए जाहे ।
ताहे समणा केई, उवसंपण्णा जिणं चेव ॥२३२४॥
पियदंसणा वि पइणो–ऽणुरागओ तम्मयं चिअ पवण्णा ।
ढंकोवहियागणिद–ड्ढवत्थदेसा तयं भणइ ॥२३२५॥
सावय ! संघाडी मे, तुमए दड्ढ त्ति सो वि अ तमाह ।
नणु तुज्झ डज्झमाणं, दड्ढंति मओ न सिद्धंतो ॥२३२६॥
दड्ढं न डज्झमाणं, जइ विगएऽणागए व का संका ?
काले तयभावाओ, संघाडी कम्मि ते दड्ढा? ॥२३२७॥

चतस्रोऽपि गाथा गतार्थाः, नवरम् ऋजुसूत्रो निश्चयनयविशेषः । (पियदंसणा वि त्ति) आहननु पूर्वं 'सुदर्शना' इति तस्या नाम प्रोक्तं, कथमिदानीं प्रियदर्शनेत्युच्यते? सत्यं, किं त्विदमपि तस्या नाम द्रष्टव्यम् । तथा चोक्तम्–''तेयसिरिं च सुरूवं, जणइय य पियदंसणं धूयं '' इति । ''ढंकोवहिय'' इत्यादि । स्वाध्यायपौरुषीं कुर्वत्यास्तस्या आपाकाद् गृहीत्वा ढङ्केनोपहितः क्षिप्तो योऽग्निस्तेन दग्धो वस्त्रदेशो यस्याःसा ढङ्कोपहिताग्निदग्धवस्त्रदेशा सती तं ढङ्कं भणति, सोऽपि तां प्रियदर्शनामाह– ''दड्ढं'' इत्यादि चतुर्थगाथाया अयं भावार्थः । ननु यदि दह्यमानं दाहक्रियाक्षणे वर्तमाने वस्त्रं न दग्धमिति भवद्भिरुच्यते, ततो विगते उपरते, अनागते वा भविष्यति दाहक्रियाकाले का शङ्का वस्त्रदाहविषया? तदभावाद्–दाहक्रियाया विनष्टानुत्पन्नत्वेन सर्वथा अभावादित्यर्थः । अतो वर्तमानातीतानागतलक्षणे कालत्रयेऽप्युक्तयुक्तितोऽदग्धत्वात् कस्मिन् काले आर्य ! ते तव सङ्घाटी मया दग्धेत्युच्यताम् ? इति ॥२३२४॥ ॥२३२५॥२३२६॥२३२७॥

अथ आर्य ! त्वमेवं मन्यसे, किम्? इत्याह–

अहवा न डज्झमाणं, दड्ढं दाहकिरियासमत्तीए ।
किरियाऽभावे दड्ढं, जइ दड्ढं किं न तेलुक्कं? ॥२३२८॥

अथ चैवं ब्रूषे–दह्यमानं न दग्धं, किं तु दाहक्रियासमाप्तौ दग्धम्। नन्वेवं सति दाहक्रियाऽभावे दग्धमित्युक्तं भवति । एतच्चायुक्तम्,यतो यदि दाहक्रियाऽभावे दग्धं, तर्हि त्रैलोक्यमपि किं न 'दग्धम्' इत्यत्रापि संबध्यते, यथा वस्त्रे तथा त्रैलोक्येऽपि दाहक्रियाऽभाव–स्य तुल्यत्वादिति ॥२३२८॥

ततः किमिह स्थितमित्याह–

उज्जुसुयनयचमयाओ, वीरजिणिंदवयणावलंबीणं ।
जुज्जेज्ज डज्झमाणं, दड्ढं वोत्तुं न तुज्झ त्ति ॥२३२९॥

उत्तानार्था ॥२३२९॥

ननु दह्यमानदग्धवादिनोऽप्यञ्चलमात्रदेशे दह्यमाने सङ्घाटी कथं दग्धेति व्यपदिश्यते? इत्याह–

समए समए जो जो, देसोऽगणिभावमेइ डज्झमाणस्स।
तं तम्मि डज्झमाणं, दड्ढं पि तमेव तत्थेव ॥२३३०॥

यो यो दाह्यस्य पटादेर्देशस्तन्त्वादिः समये समयेऽग्निभावमेति दह्यत इत्यर्थः। तत्तद्देशरूपं वस्तु तस्मिन् समये दह्यमानं भण्यते, तथा दग्धमपि तदेव वस्तु तस्मिन्नेव समये भण्यते, अतो 'दह्यमानमेव दग्धम्' यत्तु देशमात्रेऽपि दग्धे सङ्घाटी मे दग्धेति त्वं वदसि, तत्सङ्घाट्येकदेशेऽपि संघाटीशब्दोपचारादिति मन्तव्यमिति ॥२३३०॥

ततः किमिह स्थितम्? इत्याह–

नियमेण डज्झमाणं, दड्ढं दड्ढं तु होइ भयणिज्जं।
किंचिदिह डज्झमाणं, उवरयदाहं च होज्जाहि ॥२३३१॥

व्याख्या प्रागुक्तानुसारेण कार्येति ॥२३३१॥

इत्यादिदङ्कोत्कयुक्तिभिः संबुद्धा प्रियदर्शना, शेषसाधवश्च 'आर्य! इच्छामः सद्भूतमिदं त्वदीयसंबोधनम्' इत्येवं ढङ्कामिमुखमभिधाय एकाकिनं जमालिनं मुक्त्वा सर्वाण्यपि गतानि जिनसमीपमिति एतदेवाह–

इच्छामो संबोहण–मज्जो! पियंदसणादओ ढंकं।
वोत्तुं जमालिमेक्कं, मोत्तूण गया जिणसगासं ॥२३३॥

उक्तार्थैव। इति पञ्चविंशतिगाथार्थः ॥२३३२॥ विशे० आ० म० आ०चू०। ''तए णं जमालिस्स एवमाइक्खमाणस्स अत्थेगइया निग्गंथा एयमत्थं सद्दहंति, अत्थेगइया णो सद्दहंति'' (उत्त०) इत्यस्योपरि उत्तराध्ययनवृत्तिगतं विवरणं प्रदर्श्यते–तत्र ये न श्रद्दधति, ते एवमाहुः– भगवन्! भवतोऽयमाशयः– ''यथा घटः पटो नैव, पटो वा न घटो यथा। क्रियमाणं कृतं नैव, कृतं न क्रियमाणकम्'' ॥१॥ प्रयोगश्चयौ निश्चितभेदौ, न तयोरैक्यं, यथा घटपटयोर्निश्चितभेदे च कृतक्रियमाणके, अत्र चासिद्धो हेतुः, तथाहि–कृतक्रियमाणे किमेकान्तेन निश्चित भेदे, अथ कथञ्चित् यद्येकान्तेन तत्किं तदैक्ये सतोऽपि करणप्रसङ्गतः, उत क्रियाऽनुपरमप्राप्तेराहोस्वित्प्रथमादिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रशक्तेः, अथ क्रियावैफल्यापत्तितो दीर्घक्रियाकालदर्शनानुपपत्तेर्वा तत्र न तावत्सतोऽपि करणप्रसङ्ग इति युक्तम्– सत्करणे हि खपुष्पादेरेव करणमापद्यत इति कथञ्चित्सत एव करणमस्माभिरभ्युपगतम्, न चाभ्युपगमार्थस्य प्रसञ्जनं प्रयुज्यते। नाऽपि क्रियानुपरमप्राप्तेः, यत इह क्रिया किमेकविषया, भिन्नविषया वा? यद्येकविषया न दोषः। तथाहि–यदि कृतं क्रियमाणमुच्यते, तदा तन्मतेन निष्पन्नमेव कृतमिति, तस्यापि क्रियमाणतायां क्रियाऽनुपरमप्राप्तिलक्षणो दोषः स्यात् न तु क्रियमाणं कृतमिति उक्तौ तत्र क्रियावेशसमय एव कृतत्वाऽभिधानात्। उक्तं हि–क्रियाकालनिष्ठाकालयोरैक्यमिति। अथैवमपि कृतक्रियमाणयोरैक्ये कृतस्य सत्त्वात्सतोऽपि करणे तदवस्थः प्रसङ्गः। तदसत्। पूर्वं हि लब्धसत्ताकस्य क्रियायामयं प्रसङ्गः स्यात् न तु क्रियासमकालसत्तावतौ अथ भिन्नविषया क्रिया तदा सिद्धसाधनं, प्रतिसमयमन्यान्यकारणतया वस्तुनोऽभ्युपगमनेनभिन्नविषयक्रियानुपरमस्यास्माकं सिद्धत्वात्। अथ प्रथमादिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रसक्तेरिति पक्षे क्रियमाणस्य हि कृतत्वप्रथमादिसमयेष्वपि सत्वादुपलम्भः प्रसज्यत इति, तदपि न, तदा हि शिवकादीनामेव क्रियमाणता, ते चोपलभ्यन्त एव। उक्तं च विशेषावश्यके– ''अन्नारंभे अन्नं, कह दीसउ जह घडो पडारंभे। सिवगादओ न कुंभो, किह दीसउ सो तदद्धाए'' ॥२३१६॥ घटगताऽभिलापतया च मूढः शिवकादिकरणेऽपि घटमहं करोमीति मन्यते। तथा चाह– ''पइसमयकज्जकोडी, निरवेक्खं घडगयाभि–लासो सि। पइसमयकज्जकालं, थूलमई घडम्मि लाएसि'' ॥२३१८॥ (विशे०) नापि क्रियावैफल्यापत्तिः, यतः प्रागवाप्तसत्ताकस्य करणे क्रियावैफल्यं स्यात्, न तु क्रियमाणकृतत्वे, तत्र हि क्रियमाणं क्रियापेक्षमिति तस्याः साफल्यमेव अनेकान्तवादिनां च केनचिद्रूपेण प्राग् सत्त्वेऽपि रूपान्तरेण करणं न दोषाय, दीर्घक्रियाकालदर्शनानुपपत्तिरित्यपि न युक्तम्। यतः शिवकाद्युत्तरोत्तरपरिणामविशेषविषय एव दीर्घक्रियाकालोपलम्भो, न तु घटक्रियाविषयः। उक्तं हि– ''पतिसमयउप्पण्णाणं, परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं। दीहो किरियाकालो, जइ दीसइ किं च कुंभस्स ॥२३१५॥'' (विशे०) अथ कथञ्चिन्निश्चितभेदे कृतक्रियमाणे तत्तीर्थकृदुक्तमेव निश्चयव्यवहारानुगतत्वात् तद्वचसः, तत्र च निश्चयनयाश्रयणेन कृतक्रियमाणयोरभेदः। यदुक्तम्– ''क्रियमाणं कृतं दग्धं, दह्यमानं स्थितं गतम्। निष्ठितं च गम्यमानं च, निष्ठितत्वात् प्रतिक्षणम् ॥१॥'' व्यवहारनयमतेन तु नानात्वमप्यनयोः, तथा च क्रियमाणं कृतमेव, कृतं तु क्रियमाणमेव स्यात्, क्रियमाणं क्रियावेशसमये क्रियोपरमे पुनरक्रियमाणमिति। उक्तं च– ''तेणेह कज्जमाणं, नियमेण कयं कयं तु भयणिज्जं। किंचिदिह कज्जमाणं, उवरयकिरियं च होज्जाहि'' ॥२३२०॥ (विशे०) किं च–भवतो मतिः क्रियाऽन्त्यसमय एवाऽभिमतकार्यभवनं, तत्राऽपि प्रथमसमयादारभ्य कार्यस्य कियत्यपि निष्पत्तिरेष्टव्या, अन्यथा कथम–कस्मादन्त्यसमये सा भवेत्। उक्तम्–

''आद्यतन्तुप्रवेशे च, नो तं किञ्चिद्यदा पटे।
अन्त्यतन्तुप्रवेशे च, नो तं स्यान्न पटोदयः'' ॥१॥

तस्माद्यदि द्वितीयादि–तन्तुयोगात्प्रतिक्षणम्।
किञ्चित्किञ्चिदुतं तस्य, यदुतं तदुतं हि तत् ॥२॥

इह प्रयोगः, यद्यस्याः क्रियायाः आद्यसमये न भवति तत्तस्या अन्त्यसमयेऽपि न भावि, यथा घटक्रियादिसमये अभवन् पटो न भवति च कृतक्रियमाणयोर्भेदे क्रियादिसमये कार्यम्, अन्यथा घटान्तसमयेऽपि पटोत्पत्तिः स्यात्। एवं च–''यथा' 'वृक्षो धवश्चेति', न विरुद्धं मिथो द्वयम्। 'क्रियमाणं कृतं चेति', न विरुद्धं तथोभयम् ॥१॥ प्रयोगश्च–यद् येनाविनाभूतं न तत् एकान्तेन भिद्यते, यथा–वृक्षत्वाद् धवत्वं, कृतत्वाविनाभूतं च क्रियमाण–त्वमिति सकललोकप्रसिद्धत्वाच्च घटपटयोस्तदाश्रयेणैवमुक्तं संस्तारकादावपि योज्यम। तत्प्रतिपद्यस्व भगवन्! ''चलमाणे चलिए'' इत्यादि तीर्थकृता चात्यन्तमवितथ्यमिति, स चैवमुच्यमानोऽपि न प्रतिपन्नवान्। उत्त०३ अ०। जमालेः कियन्तो भवा इति प्रश्नस्योत्तरम्–यथा भगवतीमूलकर्णिकावृत्तिवीरचरित्रानुसारेणजमालेः पञ्चदश भवा ज्ञायन्ते। ही०३प्रका०।

***जमालिन्** पुं०। महावीरजिनप्रथमनिह्नवे, विशे०।

जमालिअज्झयण न०(जमाल्यध्ययन) वाचनान्तरापेक्षया अन्तकृद्दशाध्ययनानां षष्ठेऽध्ययने, इदानीं तनम् अन्तकृद्दशासु तदनुपलब्धेः। स्था०१० ठा०।

जमालिपभव पुं०(जमालिप्रभव) जमालेः प्रभव एतत्तीर्थापेक्षया प्रथमा उपलब्धिरेषां न पुनः सर्वथोत्पत्तिरेव, प्रागप्येवंविधाभिप्रायसम्भवात् तेऽमी जमालिप्रभवाः। जमालिमताभ्युपगन्तृबहुरतनिह्नवेषु, उत्त०३ अ०।

जमावण न०(जन्मापन) विषमाणां समीकरणे, नि०चू०१उ०।

जम्म पुं०।न० (जन्मन्) जन–भावे–मनिन्। **''न्मो मः''** ॥८।२।६१॥ इति अधोलोपापवादः। **''अन्त्यव्यञ्जनस्य''** ॥८।१।११॥ इत्यन्त्यनकारलोपः। **''स्नमऽदामशिरोनमः''** ॥८।१।३२॥ इति सूत्रेणचास्य पुंसि प्रयोगः। ''जम्मो जम्म'' उत्पत्तौ, स्था०६ ठा०। अने०। गर्भवासतो योनिद्वारान्निस्सरणे, वाच०। कर्मकृतप्रसूतौ, औ०। न्यायाद्युक्ते अपूर्वदेहग्रहणे, वाच०। तत्र जन्म चतुर्विधम्–अण्डजं, पोतजं, जरायुजम्। औपपातिकं च। अण्डजाः हंसादयः, पोतजा हस्त्यादयः, जरायुजा मनुष्याः, औपपातिकाः देवनारकाः। विशे०। आ० चू०। आ०म०। विवक्षाभेदे त्वष्टविधमपि जन्म। तथाहि–अण्डाज्जाता अण्डजाः पक्षिगृहको–किलादयः। पोता एव जायन्ते पोतजाः ''अन्येष्वपि दृश्यन्ते'' इति जातेर्डः प्रत्ययः, ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलूकादयो, जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजाः पूर्ववत् डप्रत्ययः, गोमहिष्य–जाविकमनुष्यादयः। रसाज्जाता रसजास्तत्रारनालदधितीमना–दिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति, संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजाः मत्कुणयूकाशतपदिकादयः संमूर्च्छनाज्जाताः संमूर्छनजाः शलभ–पिपीलिकामक्षिकाशालिकादयः, उद्भेदनमुद् भित् ततो जाता उद्भिज्जाः, पृषोदरादित्वात्तलोपः। एवं खञ्जरीटपारिप्लवादयः, उपपाताज्जाता उपपातजाः। अथवा–उपपाते भवा औपपातिकाः देवा नारकाश्च। एवमष्टविधजन्म यथासंभवं संसारिणो नातिवर्तन्ते, एतदेव शास्त्रान्तरे त्रिविधमुपन्यस्तं, संमूर्छनगर्भोपपातजन्मरससंस्वेद–जोद्भिज्जानां संमूर्च्छनजान्तःपातित्वात् अण्डजपोतजजरायुजानां गर्भजान्तःपातित्वात् देवनारकाणामौपपातिकान्तः–पातित्वात् इति त्रिविधं जन्मेति। इह चाष्टविधं, सोत्तरभेदत्वादिति। आचा०१ श्रु०१ अ०६उ०।

अथ जन्म केन प्रकारेण जायते इत्यादिस्वरूपं प्रदर्श्यते–

आर्याणामनार्याणां च कर्मभूमिजाऽकर्मभूमिजादीनां मनुष्याणां–नानाविधयोनिकानां स्वरूपं वक्ष्यमाणनीत्या समाख्यातम्। तेषां च स्त्रीनपुंसकभेदभिन्नानां यथा बीजनेति। यद्यस्य बीजं तत्र स्त्रियाः संबन्धि शोणितं पुरुषस्य शुक्रम्, एतदुभयमप्यविध्वस्तं शुक्राधिकं सन्मनुष्यस्य, शोणिताधिकं स्त्रियाः, तत्समता नपुंसकस्य कारणतां प्रतिपद्यते। तथा यथावकाशेनेति। योयस्यावकाशो मातुरुदरकुक्ष्यादिकस्तत्रापि किल वामा कुक्षि, स्त्रियो, दक्षिणा कुक्षिः पुरुषस्य, उभयाश्रितः षण्ढ इति। अत्र चाविध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजमिति चत्वारो भङ्गाः, तत्राप्याद्य एव भङ्गक उत्पत्तेरवकाशो, न शेषेषु त्रिष्विति। अत्र च स्त्रीपुंसयोर्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिवर्तितायां योनौ मैथुनप्रत्ययिको रताऽभिलाषोदयज–नितोऽग्निकारणयोररणिकाष्ठयोरिव संयोगः समुत्पद्यते, तत्संयोगे च तच्छुक्रशोणिते समुपादाय तत्रोत्पित्सवो जन्तवस्तैजसकार्मणाभ्यां शरीराभ्यां कर्मरज्जुसंदानितास्तत्रोत्पद्यन्ते, ते च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाचिन्वन्त्यविध्वस्तायां योनौ सत्यामिति। विध्वस्यते तु योनिः। ''पञ्चपञ्चाशिका नारी सप्तसप्ततिः पुरुषः'' इति। तथा द्वादश मुहूर्तानि यावच्छुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके भवतस्तत ऊर्ध्वं ध्वंसमुपागच्छत इति। तत्र जीवा उभयोरपि स्नेह–माहारयंस्वकर्मविपाकेन यश्चास्यं स्त्रीपुन्नपुंसकभावेन (विउट्टंति त्ति) वर्तन्ते समुत्पद्यन्ते इति यावत्, तदुत्तरकालं च स्त्रीकुक्षौ प्रक्षिप्ताः सन्तःस्त्रियाऽऽहारितस्याहारस्य निर्यासं स्नेहमाददति, तत्स्नेहेन च तेषां जन्तूनां क्रमोपचयादानेन क्रमेण निष्पत्तिरुपजायते। ''सत्ताहं कललं होइ, सत्ताहं होइ बुब्बुयं'' इत्यादि। तदेवमनेन क्रमेण तदेकदेशेन वा मातुराहारमोजसा मिश्रेण ग्रासलोमभिर्वा–ऽऽनुपूर्व्याहारयन्ति यथाक्रममानुपूर्व्येण वृद्धिमुपागता जन्तवो गर्भ–परिपाकं गर्भनिष्पत्तिमनुपपन्नाः। ततो मातुः कायाग्निमतिबलमानाः पृथग्भवन्तः सन्तस्तद्योनेर्निर्गच्छन्ति, ते च तथा विधकर्मोदया–दात्मनः स्त्रीभावमप्येकदा जनयन्त्युत्पादयन्ति। अपरे केचन पुंभावम् नपुंसकभावं च। इदमुक्तं भवति–स्त्रीपुंनपुंसकभावः प्राणिनां स्वकृतकर्मनिवर्तितो भवति, न पुनर्यो यादृगिह भवे सोऽमुष्मिन्नेव तादृगेवेति, ते च तदहर्जातबालकाः सन्तः पूर्वभवाभ्यासादाहा–राभिलाषिणो भवन्ति। मातुः स्तन्यमाहारयन्ति। तदाहारेण चानुपूर्व्येण च वृद्धास्तदुत्तरकालं नवनीतदध्योदनादिकं यावत्कुलमाषान् भुञ्जन्ते, तथाहारत्वेनोपगतास्त्रसान् स्थावरांश्च प्राणिनस्ते जीवा आहारयन्ति, तथा नानाविधं पृथिवीशरीरं लवणादिकं सचेतनं वा आहारयन्ति, तद्याहारितयात्मसात्कृतं सारूप्यमापादितं सत् 'रसासृङ्मांसमेदोऽ–स्थिमज्जाशुक्राणि धातवः' इति सप्तधा व्यवस्थापयन्त्यपराण्यपि तेषां नानाविधमनुष्याणां शरीराणि नानावर्णान्याविर्भवन्ति, ते च तद्योनिकत्वात्तदाधारभूतानि नानावर्णानि शरीराण्याहारयन्तीत्येवमा–ख्यातमिति। सूत्र०२ श्रु०३अ०।

जम्मंकुर न०(जन्माङ्कुर) पुनरुत्पत्तिरूपे अङ्कुरे,। ''अज्ञानपांशु–पिहितं, पुरातनं कर्मबीजमविनाशि। तृष्णाजलाभिषिक्तं मुञ्चति जन्माङ् कुरं जन्तोः ॥१॥'' आ०म०द्वि०।

जम्मंतर न०(जन्मान्तर) अन्यान्यजन्मनि, पुनर्जन्मनि च। आ०म०द्वि०(जन्मान्तरोपपत्तियुक्तयस्तु 'परलोग' शब्दे विलोक्याः)

जम्मकहा स्त्री०(जन्मकथा) जातो मृतो वेत्येवं रूपायां वार्तायां, जन्मचरित्रे च। सूत्र०१ श्रु०१ अ०२उ०।

जम्मजरामरण न०(जन्मजरामरण) जन्म च जरा च मरणं चेति जन्मजामरणानि। स्वस्वशब्दप्रदर्शितावस्थात्रये, ''जम्मजरामरणक–रणगभीरदुक्खपक्खुभिअपउरसलिलं'' वृत्तिः–जन्मज–रामरणान्येव करणानि साधनानि यस्य तत्तथा, तच्च गभीरदुःखं तदेव प्रक्षुभितं संचलितं प्रचुरं सलिलं यत्र स तथा। प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

जम्मजीवियफल न०(जन्मजीवितफल) जन्मनो जीवितस्य च फले, भ०१५ श०१उ०।

जम्मण न०(जन्मन्) उत्पादे, भ० २५ श०६ उ०। प्रश्न०। ''जम्मणजरामरणबाहिपरियट्टणारघट्टं''। वृत्तिः–जन्मजरामरण–व्याधीनां याः परिवर्तनाः पुनःपुनर्भवनानि ताभिररघट्टो यासाम्। प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

जम्मणगर न०(जन्मनगर) 'जम्मणयर' शब्दार्थे, जं०५ वक्ष०।

जम्मणचरियणिबद्ध त्रि०(जन्मचरितनिबद्ध) तीर्थकरजन्माऽभिषेकादिवृत्तान्तवेधौ, रा०।

जम्मणमहिमा पुं०(जन्ममहिमन्) जन्मोत्सवे, भ० १४ श०२उ०।

जम्मणनयर न०(जन्मनगर) यस्मिन् नगरे यस्य जन्म भवति तत्तस्य जन्मनगरम्। उत्पत्तिपुरे, जं०५ वक्ष०।

जम्मदंसि(ण्) त्रि०(जन्मदर्शिन्) जन्मनः स्वरूपतो वेत्तरि, परिहरति, आचरति च। "जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी" आचा०२ श्रु०३ अ०४उ०।

जम्मदोस पुं०(जन्मदोष) जन्मदोषनिमित्तके तज्जातदोषविशेषे, स च-"अच्छोल्लुग्गाएँ घोडीएँ जाओ जो गद्दहेण छड्डेण। तस्स महायणमज्झे, आयारा पायडा हुंति ॥१॥" इत्याद्यनेकविधः। जन्मसहभाविदोषे च। स्था०१० ठा०।

जम्मपक्क त्रि०(जन्मपक्व) स्वयमेव पक्वीभूते, विपा०१ श्रु०८अ०।

जम्मपवाह पुं०(जन्मप्रवाह) भवपरंपरायाम्, आव०३अ०।

जम्मप्पबाह पुं०(जन्मप्रवाह) 'जम्मपवाह' शब्दार्थे, आव०३ अ०।

जम्मप्पभिइ अव्य०(जन्मप्रभृति) जन्मन आरभ्येत्यर्थे, दर्श०१ तत्त्व।

जम्मफल न०(जन्मफल) जन्मसाध्ये, पञ्चा०८विव०।

जम्मभूमि स्त्री०(जन्मभूमि) जन्मस्थाने, "जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी"। वाच०। "अवसेसा तित्थयरा, निक्खंता जम्मभूमीसु"। स०।

जम्ममह पुं०(जन्ममह) जन्ममहोत्सवे, श्रीमदर्हतां जनुर्महोत्स-वकरणे देवानां देहानि कियन्मात्रोच्चैस्त्वाणीति प्रश्ने, उत्तरम्-महोत्सवावसरे देवानां देहान्यभिषिच्यमानजिनसमानकालीनमनुजशरीरोचितानि संभाव्यन्त इति ५५ प्र०। सेन०२ उल्ला०।

जम्मा स्त्री०(याम्या) दक्षिणस्यां दिशि, आ०म०प्र०। विशे०।

जम्मादिदोसविरह पुं०(जन्मादिदोषविरह) जातिजरामरणप्रभृतिदूषणवियोगे, पञ्चा०८विव०।

जम्माभाव पुं०(जन्माभाव) अनुत्पत्तौ, दश०४ अ०।

जम्मावट्ट पुं०(जन्मावर्त) भवचक्रे, "रागद्वेषरसाविद्धं, मिथ्यादर्शनदुस्तरम्। जन्मावर्ते जगत् क्षिप्तं, प्रमादाद् भ्राम्यते भृशम् ॥१॥" आचा०१ श्रु०३अ०१उ०।

जम्मुप्पत्ति स्त्री०(जन्मोत्पत्ति) जन्मना कर्मकृतप्रसूत्या उत्पत्तिर्या सा तथा। औ०। प्रसवेनोत्पत्तौ, "सिद्धाणं कम्मवीरा दच्छे पुणरवि जम्मुप्पत्ती न भवति" औ०।

जय पुं०(जय) 'जि' जये, भावे अच्। परैरनभिभूयमानतायाम्, प्रतापवृद्धौ, रा०। ज्ञा०। वशीकरणे, द्वा०२६ द्वा०। परापेक्षया उत्कर्षलाभे, शत्रुपराङ्मुखीकरणे, संग्रामादिजये, वाच०। "जएणं विजएणं बद्धावेंति।" रा०। विपा०। औ०। कल्प०। नि०। तत्र जयः परैरनभिभूयमानता, प्रतापवृद्धिश्च। विजयस्तु परेषामसहमानानामभिभवोत्पादः। रा०। जयः सामान्यो विघ्नादिविषयः। विजयः स एव विशिष्टतरः प्रचण्डप्रतिपन्थादिविषयः औ०। जयः स्वदेशे। विजयः परदेशे कल्प०१ क्षण। "जयविजयमंगलसएहिं"। औ०। जयविजयेत्यादिभिर्मङ्गलाभिधायकवचनशतैरित्यर्थः। औ०। जिकर्तरि अच्। वाच०। स्वनामख्याते एकादशे चक्रवर्तिनि, प्रव० २०७ द्वार। ति०। स०। विमलजिनप्रथमभिक्षादातरि, स०। आ०म०। लीलावतीगुणधरयोः पितरि श्रेष्ठिविशेषे, दर्श०१ तत्त्व। तिथिशब्दस्य पुंसि निर्दिष्टतया तद्विशेषवाचकानां नन्दादिशब्दानामपि पुंसि प्रयोगे तु जय इति तृतीयाष्टमीत्रयोदशीषु तिथिषु, जं०१वक्ष०।

***जगत्** न०। अतिशयगमनात् जगत्। भ०२० श०२उ०। जीवे, पञ्चास्तिकायात्मके लोके, नं०। (अधिकार्थस्तु 'जग' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १३८२ पृष्ठे दृश्यः)

***यत** पुं०। 'यम' उपरमे, यमनं यतं तद्विद्यते यस्य स यतः।" अभ्रादिभ्यः" ॥७।२।४६॥ इत्यप्रत्ययः। प्रमत्तगुणस्थानकवर्तिनि साधौ, कर्म०४ कर्म०। यतमाने, त्रि०। उत्त०? सूत्र०। उपयुक्ते, आव०४अ०।

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥८॥

एतद्वृत्तिर्यथा-यतं चरेत् सूत्रोपदेशेन ईर्यासमितः, यतं तिष्ठेत् समाहितः। हस्तपादाद्यविक्षेपेण। यतमासीत उपयुक्त आकुञ्चना-द्यकरणेन। यत स्वपेत् समाहितो रात्रौ प्रकामशय्यादिपरिहारेण। यतं भुञ्जानः सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंहभक्षितादिना। एवं यतं भाषमाणः साधुभाषया मृदुकालप्राप्तम् (८) दश०४ अ०। "गब्भस्स अणुकंपणट्ठाए जयं चिट्ठति, जयं आसयति, जयं सुविति" यतनया यथा गर्भबाधा न भवति तथा तिष्ठति ऊर्द्धस्थानेन आस्ते आश्रयति चासनं, स्वपितिचेति ज्ञा०१ श्रु०१अ०।

जयइ धा०(जयति)जि धातूनामनेकार्थकत्वाद्। बध्नाति इत्यर्थे, प्रा०।

जयंत न०(जयन्त) द्वीपसमुद्राणां चतुर्षु द्वारेषु स्वनामख्याते पश्चिमदिग्वर्तिनि द्वारे, (जी०) (एतद्विशेषवर्णकस्तु 'विजय' शब्दे विजयद्वारवद् ज्ञेयः)

तत्र तावज्जम्बूद्वीपसत्कजयन्तद्वारवक्तव्यता यथा-

कहि णं भंते ! जंबूदीवस्स जयंते णामं दारे पण्णत्ते ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्छिमेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं जंबुद्दीवे पच्चच्छिमापरंते लवणसमुद्दे पच्चच्छिमद्धस्स पुरच्छिमेणं सीतोदाए महानदीए उप्पिं एत्थ णं जंबुद्दीवस्स जयंते णामं दारे पण्णत्ते। तं चेव सोपमाणं जयंते देवे पच्चच्छिमेणं से रायहाणीए०जाव महिड्ढीए।

अथ लवणसमुद्रसत्कजयन्तद्वारप्रतिपादनार्थमाह-

"कहि णं भंते !" इत्यादि। क्व भदन्त ! लवणसमुद्रस्य जयन्तं द्वारं प्रज्ञप्तम्। भगवानाह-गौतम ! लवणसमुद्रस्य पश्चिमपर्यन्ते धातकीखण्डपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः सीताया महानद्या उपरि लवणसमुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्। एतद्वक्तव्यताऽपि विजयद्वारवद्वक्तव्या, नवरं राजधानीजयन्तद्वारस्य पश्चिमभागेन वक्तव्या। जी०३ प्रति०। एवं शेषद्वीपसमुद्राणामपि जयन्तद्वारमभ्यूह्यम्, पञ्चानुत्तरविमानेषु स्वनामख्याते तृतीये विमाने, "उड्ढलोगेणं पंच अणुत्तरा महइमहा-

लया महाविमाणा पण्णत्ता तं जहा–विजये वेजयंते जयंते अपराजिए सव्वट्ठसिद्धे''। स्था०५ ठा०३उ०। तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो, यथा–पञ्चालदेशनिवासिनः पञ्चालाः इति, तद्वासिषु अनुत्तरदेवेषु, प्रज्ञा०१ पद। मेरोरुत्तरस्यां दिशि रुचकवरपर्वत–स्याष्टसु कूटेषु स्वनामख्याते सप्तमे कूटे, स्था०४ ठा०। जि०–डः। वाच०। पञ्चविधानुत्तरोपपातिकानां देवानां तृतीये जयन्तविमानोद्भवे देवभेदे, पुं०। प्रज्ञा०१ पद। स०। आगामिकालभाविनि प्रथमे बलदेवे, ती०२१ कल्प। वज्रसेनसूरिणां चतुर्षु शिष्येषु मध्ये स्वनामख्याते तृतीये शिष्ये, यतः किल तन्नाम्नी शाखा निर्गता। कल्प०८ क्षण। इन्द्रपुत्रे, ''यथा जयन्तेन शचीपुरंदरौ'' ''त्रिविष्ट–पस्येव पतिं जयन्तः'' इति। वाच०।

जयंती स्त्री०(जयन्ती) जि–डः। गौरा०–ङीप्। वाच०। स्वनाम–ख्यातायां वीरजिनपरमश्राविकायाम्, बृ०१ उ०।

तत् प्रबन्धो यथा–

तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसंबी णामं णयरी होत्था, वण्णओ–चंदोत्तरायणे चेइए, वण्णओ–तत्थ णं कोसंबीए णयरीए सहस्साणीयस्स रण्णो पोत्ते सयाणीयस्स रण्णो पुत्ते चेडगस्स रण्णो नत्तुए मिगावतीए देवीए अत्तए जयंतीए समणो–वासियाए भत्तिज्जए उदायणे णामं राया होत्था। वण्णओतत्थ णं कोसंबीए णयरीए सहस्सणीयस्स रण्णो सुण्हा सयाणीयस्स रण्णो भज्जा चेडगस्स रण्णो धूया उदायणस्स रण्णो माया जयंतीए समणोवासियाए भाउज्जा मियावती णामं देवी होत्था। वण्णओ–तं जहा–०जाव सुरूवा समणोवासिया०जाव विहरइ। तत्थ णं कोसंबीए णयरीए सहस्साणीयस्स रण्णो धूया सयाणीयस्स रण्णो भगिणी उदायणस्स रण्णो पिउत्था, मिगावतीए देवीए णणंदा वेसालीसावयाणं अरहंताणं पुव्वसि–ज्झातरी जयंती समणोवासिया होत्था, सुकुमाल०जाव सुरूवा। अभिगय०जाव विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसड्ढे०जाव परिसा पज्जुवासइ। तए णं से उदायणे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणु–प्पिया! कोसंबिं णयरिं सब्भिंतरबाहिरियं एवं जहा कूणिओ तहेव सव्वं०जाव पज्जुवासइ। तए णं सा जयंती समणोवासिया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणी हट्ठतुट्ठा जेणेव मिगावती देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं वयासी–एवं जहा णवमसए उसभदत्तो० जाव भविस्सइ। तए णं सा मियावई देवी जयंतीए समणोवा–सियाए जहा देवाणंदा०जाव पडिसुणेइ। तए णं सा *मियावई देवी कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–* खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! लहुकरणजुत्ता रोहिया०जाव धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठावेह०जाव उवट्ठवेंति०जाव पच्चप्पिणंति। तए णं सा मियावई देवी जयंतीए समणोवासियाए सद्धिं ण्हाया कयवलिकम्मा०जाव सरीरा बहूहिं खुज्जाहिं०जाव अंतेउराओ णिग्गच्छंति णिग्गच्छइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता० जाव दुरूढा। तए णं सा मिगावती देवी जयंतीए समणोवासियाए सद्धिं धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढा समाणी णियगपरियाल जहा उसभदत्तो०जाव धम्मियाओ जाणप्प–वराओ पच्चोरुहइ। तए णं सा मियावई देवी जयंतीए समणो–वासियाए सद्धिं बहूहिं खुज्जाहिं जहा देवाणंदा०जाव वंदइ णमंसइ उदायणं रायं पुरओ कट्टु ठिइया चेव पज्जुवासइ। तए णं समणे भगवं महावीरे उदायणस्स रण्णो मियावईए देवीए जयंतीए समणोवासियाए तीसे य महइ०जाव धम्मं परिकहेइ० जाव पडिसा पडिगया उदायणे पडिगए मिगावई वि पडिगया। तए णं सा जयंती समणोवासिया समणस्स भगवओ महावी–रस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं *महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासीकहण्णं* भंते! जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति? जयंती! पाणाइ–वाएणं०जाव मिच्छादंसणसल्लेणं एवं खलु जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति। एवं जहा पढमसए०जाव वीईवयंति। भवसिद्धियत्तं णं भंते! जीवा णं किं सभावओ य परिणामओ य? जयंती! सभावओ य णो परिणामओ य। सव्वे वि णं भंते! भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति? हंता जयंती! सव्वे वि णं भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति। जइ णं भंते! सव्वे वि भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति तम्हा णं भवसिद्धियविरहिए लोए भविस्सइ? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणं खाइण्णं अट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ सव्वे वि णं भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति। णो चेव णं भवसिद्धि–यविरहिए लोए भविस्सइ? जयंती! से जहाणामए सव्वागास–सेढी सिया अणादिया अणवदग्गा परित्ता परिवुडा सा णं परमाणुपोग्गलमेत्तेहिं खंडेहिं समए समए अवहीरमाणी अवहीरमाणी अणंताहिं उस्सप्पिणी ओसप्पिणीहिं अवहीरइ णो चेव णं अवहिरिया सिया, से तेणट्ठेणं जयंती! एवं वुच्चइ सव्वे वि णं०जाव भविस्सइ। सुत्तत्तं भंते! साहू जागरियत्तं साहू? जयंती! अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू। से केणट्ठेणं भंते! एवंवुच्चइ *अत्थेगइयाणं०जाव साहू? जयंती! जे इमे जीवा अहम्मिया अहम्माणुया अहम्मिट्ठा अहम्मक्खाई अहम्मपलोई अहम्मपल–*

ज्ञणा अहम्मसमुदायारा अहम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, एएसि णं सुत्तत्तं साहू, एएणं जीवा सुत्ता । समाणा णो बहूणं पाणभूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खाणयाए सोयणयाए०जाव परियावणयाए वट्टंति एएणं जीवा सुत्ता समाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा णो बहूहिं अहम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति एएणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू । जयंती ! जे इमे जीवा धम्मत्थिया धम्माणुगा०जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू एएणं जीवा जागरमाणा बहूणं पाणाणं अदुक्खणयाए०जाव अपरियावणयाए वट्टंति, तेणं जीवा जागरा समाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा बहूहिं धम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति, एएणं जीवा जागरमाणा धम्मजागरियाए अप्पाणं जागरइत्तारो भवंति, एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू, से तेणट्ठेणं जयंती ! एवं वुच्चइ अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू । बलियत्तं भंते ! साहू दुब्बलियत्तं साहू? जयंती ! अत्थेगइयाणं जीवाणं बलियत्तं साहू अत्थे–गइयाणं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ०जाव साहू ? जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया०जाव विहरंति, एएसि णं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू एएणं जीवा, एवं जहा सुत्तस्स तहा दुब्बलियत्तस्स वत्तव्वया भाणियव्वा, बलियत्तस्स जहा जागरस्स तहा भणियव्वं०जाव संजोएत्तारो भवंति, एएसि णं जीवाणं बलियत्तं साहू से तेणट्ठेणं जयंती ! एव वुच्चइ तं चेव०जाव साहू ! दक्खत्तं भंते ! साहू आलसियत्त साहू? जयंती ! अत्थेग इयाणं जीवाणं दक्खत्तं साहू अत्थेगइ–याण जीवाणं आलसियत्त साहू । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ते चेव०जाव साहू? जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया०जाव विहरंति । एएसि णं जीवाणं आलसियत्त साहू एएसि ण जीवा अलसाउमाणा णो बहूणं जहा सुत्ता तहा अलसा भाणियव्वा जहा जागरा तहा दक्खा भाणियव्वा०जाव संजोएत्तारो भवंति। एएणं जीवा दक्खा समाणा बहूहिं आयरियवेयावच्चेहिं उवज्झायवेयावच्चेहिं थेरवयावच्चेहिं तवस्सीवेयावच्चेहिं गिलाणवेयावच्चो ह सेहवेयावच्चेहिं कुलवेयावच्चेहिं गणवेयावच्चेहिं संघवियावच्चेहिं साहम्मिय-वेयावच्चेहिं अत्ताण संजोएत्तारो भवति, एएसि णं जीवाणं दक्खत्तं साहू से तेणट्ठेणं तं चेव०जाव साहू । सोइंदियवसट्टेणं भंते! जीवे किं बंधइ एव जहा कोहवसट्टे तहेव०जाव अणुपरियट्टइ । एव चक्खिंदियवसट्टे वि,०जाव फासिंदियवसट्टे वि,०जाव अणुपरियट्टइ । तए णं सा जयंती समणोवासिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा सेसं जहा देवाणंदा तहेव पव्वइए०जाव सव्वदुक्खपहीणा सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥

''तेणं कालेणं'' इत्यादि। (पोत्ते त्ति) पौत्रः पुत्रस्यापत्यम् (चेडगस्स त्ति) वैशालीराजस्य (नत्तुए त्ति) नप्ता दौहित्रः (भाउज्ज त्ति) भातृजाया (वेसाली सावगाणं अरहंताणं पुव्वसिज्जायरी ति) वैशालिको भगवान् महावीरस्तस्य वचनं शृण्वन्ति श्रावयन्ति वा तद्रसिकत्वादिति, वैशालिकश्रावकास्तेषाम् आर्हतानां अर्हद्देवतानां, साधूनामिति गम्यम् पूर्वशय्यातरा प्रथमस्थानदात्री साधवो ह्यपूर्वे समायातास्तद्गृह एव प्रथमं वसतिं याचन्ते, तस्याः स्थानदातृत्वेन प्रसिद्धत्वादिति, सा पूर्वशय्यातरा (सभाववो त्ति) स्वभावतः पुद्गलानां मूर्तत्ववत् (परिणामओ त्ति) परिणामो नाभूतस्य भवनेन पुरुषस्य तारुण्यवत्। (सव्वे वि णं भंते ! भव–सिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति त्ति) भवा भाविनी सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिकास्ते सर्वेऽपि भदन्त ! जीवाः सेत्स्यन्तीति प्रश्नः। हन्तेत्यादि तूत्तरम् अयं चास्यार्थः–समस्ता अपि भवसिद्धिका जीवाः सेत्स्यन्ति अन्यथा भवसिद्धिकत्वमेव न स्यादिति। अथ सर्वभवसिद्धिकानां सेत्स्यमानताऽभ्युपगमे भवसिद्धिकं शून्यता लोकस्य स्यात्। नैवं समयज्ञता। तथाहि–सर्व एवानागतकाल–समया वर्तमानतां लप्स्यन्ते। ''भवति स नामातीतः, प्राप्तो यो नाम वर्तमानत्वम्। एष्यँश्च नाम स भवति, यः प्राप्स्यति वर्त्तमानत्वम् ॥१॥'' इत्यभ्युपगमान्न चानागतकालसमयविरहितो लोको भविष्यतीति। अथैतामेवाशङ्कां जयन्ती प्रश्नद्वारेणाऽस्मदुक्तसमयज्ञातापेक्षया ज्ञातान्तरेण परिहर्तुमाह– ''जह णं'' इत्यादि। इत्येके व्याख्यान्ति। अन्ये तु व्याचक्षते–सर्वेऽपि भदन्त! भवसिद्धिका जीवाः सेत्स्यन्ति, ये केचन सेत्स्यन्ति ते सर्व्वेऽपि भवसिद्धिका एव, नाभवसिद्धिका एकोऽप्यन्यथा भवसिद्धिकत्वमेव न स्यादित्यभिप्रायः, 'हन्ता' इत्याद्युत्तरम्। अथ यदि ये केचन सेत्स्यन्ति ते सर्वेऽपि भवसिद्धिका एव, नाभवसिद्धिक एकोऽपीत्यभ्युपगम्यते, तदा कालेन सर्वभवसिद्धिकानां सिद्धिगमनात् भव्यन्यूनतो जगतः स्यादिति जयन्त्याः शङ्कां तत्परिहारं च दर्शयितुमाह–''जइ णं'' इत्यादि। (सव्वागाससेढि त्ति) सर्वाकाशस्य बुद्ध्या चतुरस्रप्रतरीकृतस्य श्रेणिः प्रदेशपङ्क्तिः सर्वाकाशश्रेणिः (परित त्ति) एकप्रदेशिकत्वेन विष्कम्भाभावेन परिमिता (परिवुड त्ति) श्रेण्यन्तरैः परिकरिता स्वरूपमेतत्तस्याः। अत्रार्थे वृद्धोक्ता भावनागाथा भवन्ति–

''तो भणइ किं ण सिज्झंति, अहव किमभव्व सावसेसत्ती।
निल्लेवणं न जुज्जइ, तेसिं तो कारणं अन्नं ॥१॥''

अयमर्थः–यदि भवसिद्धिकाः सेत्स्यन्तीत्यपगम्यते, ततो भणति शिष्यः कस्मान्न ते सर्वेऽपि सिध्यन्ति, अन्यथा भवसिद्धिकत्वस्यैवाभावात्। अथवा–अपरं दूषणं कस्मादभव्यसावशेषत्वादभव्यावशेषत्वेन अभव्यान् विमुच्येत्यर्थः। तेषां भव्यानां निर्लेपनं न युज्यते युज्यत एवेति भावः। यस्मादेवं ततः कारणं सिद्धेर्हेतुरन्यद्भव्यत्वातिरिक्तं वाच्यं, तत्र सति सर्वभव्यनिर्लेपनप्रसङ्गादिति।

''भण्णइ तेसिमभव्वे, विपइ अनिल्लेवण न उ विरोहो।
ननु सव्वभव्वसिद्धी, सिद्धा सिद्धंतसिद्धीओ ॥२॥''

अयमर्थो भण्यते–अत्रोत्तरं भव्यत्वमेव सिद्धिगमनकारणं न त्व–न्यति कश्चित्तत्र च सत्यपि भव्यत्वे सिद्धिगमनकारणे तेषां भव्याना–मभव्यानामपि प्रति भव्यानप्याश्रित्य अनिर्लेपनमव्यवच्छेदः, अभव्यानवशिष्य यद्भव्यानां निर्लेपनमुक्तम् तदपि नेत्यर्थः। न तु न पुनरिहार्थे विरोधो बाधाऽस्ति सिद्धान्तसिद्धत्वादेतदेवाह–ननु इत्यादि न हि सर्वभव्यसिद्धिः सिद्धा सिद्धान्तसिद्धेरिति।

''किह पुण भव्य बहुत्ता, सव्वागासपएसदिट्ठंता।
न वि सिज्झिहिंति तो भण–इ किं तु भव्वत्तणं तेसिं ॥३॥
जइ होऊणं भव्वा, वि केइ सिद्धिं न चेव गच्छंति।
एवं तं वि अभव्वा, को वि विसेसो भवे तेसिं ॥४॥
भण्णइ भव्वो जोगो, दारुदलियंति वा वि पज्जाया।
जोगो वि पुण न सिज्झइ, कोइ रुक्खाइदिट्ठंता ॥५॥
पडिमाईण न जोग्गा, बहवो गोसीसचंदणदुमाइ।
संति अ जोगा वि इहं, अण्णे एरंडभंडाइं ॥६॥
न य पुण पडिमुप्पायण–संपत्ती होइ सव्वजोग्गाणं।
जेसिं पि असंपत्ती, न य तेसिं जोग्गया होइ ॥७॥
किं पुण जा संपत्ती, सा नियमा होइ जोग्गरुक्खाणं।
न य होई अजोग्गाणं, एमेव य भव्वसिज्झणया ॥८॥
सिज्झिस्संति य भव्वा, सव्वे वित्ति भणियं च जं पहुणा।
तं पि य एयाए चिय, दिट्ठीए जयंति पुच्छाए ॥९॥
भव्यानामेव सिद्धिरित्येतया दृष्ट्या मतेनेति।
अहवा–पडुच्च कालं, न सव्वभव्वाण होइ वोच्छित्ती ॥१०॥
जं तीतणागयाओ, अद्धाओ दो वि तुल्लाओ।
तत्थतीतद्धाए, सिद्धी एक्को अणंतभागो सिं।
कामं तावइओ चिय, सिज्झिहिइ अणागयद्धाए ॥११॥
ते दो वणंतभागा, होउं सो चिय अणंतभागो सिं।
एवं पि सव्वभव्वाण सिद्धिगमणं च णिद्दिट्ठं ॥१२॥''

तौ द्वावप्यनन्तभागौ, मीलितौ सर्वजीवानामनन्त एव भाग इति। यत्पुनरिदमुच्यते–अतीताद्धाताऽनागताद्धाऽनन्तगुणेति। तन्मतान्तरं, तस्य चेदं बीजं, यदि द्वे अपि ते समाने स्यातां, तदा मुहूर्तादावतिक्रान्ते अतीताद्धा समधिका, अनागताद्धा च हीनेति हतं समत्वम्, एवं च मुहूर्तादिभिः प्रतिक्षणं क्षीयमाणाऽप्यनागताद्धा, यतो न क्षीयते ततोऽवसितं ततः साऽनन्त गुणेति, यच्चोभयोः समत्वं तदेवं यथाऽनागताद्धाया अन्तो नास्ति एवमतीताद्धाया आदिरिति समतेति जीवाश्च न सुप्ताः सिध्यन्ति, किं तर्हि जागरा एवेति सुप्त–जागरसूत्रं, तत्र च (सुत्त त्तं ति) निद्रावशत्वम् (जागरियत्तं ति) जागरणं जागरः सोऽस्यास्तीति जागरिकस्तद्भावो जागरिकत्वम् (अहम्मिय त्ति) धर्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्मिकास्तन्नि–षेधादधार्मिकाः। कुत एतदेवमित्यत आह–(अहम्माणुया) धर्म्मं श्रुतरूपमनुगच्छन्तीति धर्मानुगास्तन्निषेधादधर्मानुगाः। कुत एतदेवमित्यत आह–(अहम्मिट्ठा) धर्मः श्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पूजितो वा येषां ते धर्मेष्टाः, धर्मिणां वेष्टा धर्मेष्टाः, अतिशयेन वा धर्मिणो धर्मिष्ठास्तन्निषेधादधर्मिष्ठाः। अधर्मेष्टाः। अधर्मिष्ठा वा, अत एव (अहम्मक्खाइ) न धर्ममाख्यान्तीत्येवंशीला अधर्माख्यायिनः। अथवा–न धर्मात् ख्यातिर्येषां तेऽधर्मख्यातयः। (अहम्मपलोइ त्ति) न धर्ममुपादेयतया प्रलोकयन्ति ये तेऽधर्मप्रलोकिनः। (अहम्मपलज्जण त्ति) न धर्मे प्ररज्यन्ते आसज्जन्ति ये ते अधर्मप्र–रञ्जनाः। एवं च–(अहम्मसमुदायार त्ति) न धर्मरूपश्चारित्रात्मकः समुदाचार–स्समाचारः स प्रमोदो वाऽचारो येषां ते तथा, अत एव ''अहम्माण'' इत्यादि। अधर्मेण चारित्रश्रुतविरुद्धरूपेण वृत्तिं जीविकां कल्पयन्तः कुर्वाणा इति, अनन्तरं सुप्तजाग्रता साधुत्वं प्ररूपितम्। अथ दुर्बलादीनां तथैव तदेव प्ररूपयन् सूत्रद्वयमाह–''बलियत्तं भंते!'' इत्यादि। (बलियत्तं ति) बलमस्यास्तीति बलिकस्तद्भावो बलिकत्वम् (दुब्बलियत्तं ति) दुष्ट बलमस्यास्तीति दुर्बलिकस्तद्भावो दुर्बलिकत्वं, दक्षत्वं च तेषां साधु येनेन्द्रियवशानां यद्भवति तदाह–''सोइंदिय'' इत्यादि। (सोइंदियवसट्टे त्ति) श्रोत्रेन्द्रियवशेन तत्पारतन्त्र्येण ऋतः पीडितः श्रोत्रेन्द्रियवशार्तः, श्रोत्रेन्द्रियवशं वा, ऋतौ गतः श्रोत्रेन्द्रियवशार्तः। भ०५२ श०२उ०। सप्तमबलदेवस्य मातरि, स०। आव०। अकम्पिताऽभिधाष्टमगणधरस्य मातरि, आ०म०प्र०। पार्श्वशिष्यायां पश्चात् परिव्राजिकीभूताया–मुत्पलभगिन्याम्, सा हि स्वभगिनी सोमासहिता चोरिकसन्निवेशे अवटे क्षिप्यमाणं भगवन्तं राजपुरुषानुपशमय्य मुमोच। आ०म०प्र०। पूर्वरुचकवास्तव्यायां सप्तम्यां दिक्कुमार्याम्, द्वी०। जं०। आ०म०। ति०। आ०चू०। स्था०। सर्वेषां ग्रहाणां चतसृष्वग्रमहिषीषु तृतीयायाम–ग्रमहिष्याम्, जं०७ वक्ष०। जी०। भ०। पश्चिमविदेहस्य सीताया उत्तरदिग्वर्तिमहावप्रविजयराजधान्याम्, जं०४ वक्ष०। स्था०। रतिकरपर्वतराजधानीविशेषे, द्वी०। अञ्ज–नकपर्वतसत्कपुष्क–रिणीविशेषे, ती०२४ कल्प। जी०। स्था०। नवम्यां तिथौ, जं०७ वक्ष०। कल्प०। चं०प्र०। पुरीविशेषे, यत्र किल गुणचन्द्रर्षिणा सुरदत्तगृहपतिभार्यां वसुन्धरा मालाहृतभिक्षां दातुमुद्यता विनिवारिता। पिं०। अष्टमजिनशिविकायाम्, स०। महौषधिविशेषे, ती०७ कल्प। तथा हि–

''जयन्ती मदगन्धाढ्या, तिक्ता चैव कटूष्णिका।
कृमिमूत्रामजित् ख्याता, कण्ठशोषणकृन्मता ॥१॥
कृष्णा रसायनी तत्र, सैव सर्वत्र पूज्यते।
तच्छाकं विषदोषघ्नं, चक्षुष्यं मधुरं हिमम्''।

पताकायाम्, वाच०। ''दो जयंतीओ''। स्था०२ठा०३ उ०। ''पूर्वसिज्जायरी जयंती'' इत्यत्र पूर्वशय्यातरीशब्दस्यार्थः। प्रस्याध्य इति प्रश्ने, उत्तरम्–अपूर्वसाध्वादिः समायातस्तदगृह एव प्रथमं वसतिं याचते तस्याश्च स्थानदातृत्वेन प्रसिद्धत्वात्पूर्व–शय्यातरीति। भगवतीसूत्रवृत्त्यनुसारेण पूर्वशय्यातरीशब्दार्थो ज्ञेय इति। १२७प्र०सेन०१ उल्ला०।

जयकित्ति पुं०(जयकीर्ति) अञ्चलगच्छीये मेरुतुङ्गसूरिशिष्ये जयकेशरिसूरिशीलरत्नसूरिणो गुरौ, विक्रमसंवत् १४३३ वर्षे अयं जातः, १४४४ वर्षे प्रव्रजितः, १४६७ वर्षे सूरिपदं प्राप्तः, १४७३ वर्षे गच्छेशपदं प्राप्तः, १५०० वर्षे स्वर्गमगमत्। एतन्नामा द्वितीयो विजयसिंहसूरेः शिष्य आसीत्, येन शीलोपदेशमाला नाम ग्रन्थो विरचितः। जै०इ०।

जयकेसरसूरि पुं०(जयकेशरसूरि) अञ्चलगच्छीये जयकीर्तिसूरिशिष्ये सिद्धान्तसागरगुरौ, विक्रमसंवत् १४६१ वर्षे जातः, १४७५ दीक्षितः, १४९४ आचार्यो जातः, १५०१ गच्छनायकः, १५४२ स्वर्गतश्चायम–भवत्। जै०इ०।

जयघोस पुं०(जयघोष) स्वनामख्याते मुनौ, (उत्त०)

वाराणस्यां किल द्विजौ यमलौ भ्रातरौ जयघोषविजयघोषौ अभूतां तयोरेको जयघोषनामा गङ्गायां स्नातुं गतः, कुररसर्पमण्डूकग्रासं दृष्ट्वा प्रव्रजितः। तद्वार्ता चैवम्–

माहणकुलसंभूओ, आसि विप्पो महाजसो।
जायाई जमजण्णम्मि, जयघोसे त्ति नामओ ॥१॥

ब्राह्मणकुले संभूतः विप्रकुले समुत्पन्नः, 'जयघोष' इति नामतो विप्र आसीत्। अत्र हि यत् ब्राह्मणकुलसंभूतःविप्र आसीत् इत्युक्तं तत् ब्राह्मणजनकादुत्पन्नोऽपि जननीजातिहीनत्वेऽब्राह्मणः स्यात् अतो विप्र इत्युक्तम्। कीदृशो जयघोषः? (जमजण्णम्मि) यमं यज्ञे यायाजी यायजीत्येवंशीलो यायाजी यमाः अहिंसासत्याऽस्त्येयब्रह्मनिर्लोभाः पञ्च, ते एव यज्ञो यमयज्ञस्तस्मिन् यमयज्ञे अति–शयेन यज्ञकरणशीलः अर्थात्पञ्चमहाव्रतरूपे यज्ञे याज्ञिको जातः, यतिर्जात इत्यर्थः ॥१॥

इंदियग्गामनिग्गाही, मग्गगामी महामुणी।
गामाणुगामं रीयंतो, पत्तो वाणारसिं पुरिं ॥२॥

स महामुनिःएकाकी साधुर्ग्रामानुग्रामम् (रीयंतो इति) विचरन् वाराणसीं पुरीं प्राप्तः। कीदृशः स महामुनिः? इन्द्रियग्रामनिग्राही इन्द्रियाणां ग्रामं समूहम् इन्द्रियपञ्चकं निगृह्णाति मनोजयेन वशीकरोतीति इन्द्रिय-ग्रामनिग्राही, पुनःकीदृशः? स मार्गगामी मार्गं मोक्षं गच्छति स्वयम्, अन्यान् गमयति इति मार्गगामी।

वाणारसीए बहिया, उज्जाणम्मि मणोरमे।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासुमुवागए ॥३॥

स साधुर्वाराणस्यां बाह्ये, मनोरमे मनोहरे, उद्याने प्रासुके जीवरहिते शय्यासंस्तारके दर्भतृणादिरचिते शयनोपवेशनस्थितौ तत्र (वासं इति) वसतिं कर्तुमुपागतः ॥३॥

अह तेणेव कालेणं, पुरीए तत्थ माहणे।
विजयघोसे त्ति नामेणं, जन्नं जयइ वेयवी ॥४॥

अथ अनन्तरं तस्मिन्नेव काले यस्मिन् काले साधुर्वने समागतः तस्मिन्नेव काले तस्यां वाराणस्यां पुर्यां 'विजयघोष' इति नामा ब्राह्मणो यशं यजति यज्ञं करोति। कीदृशो विजयघोषः? वेदवित् वेदशः ॥४॥

अह से तत्थ अणगारे, मासक्खमणपारणे।
विजयघोसस्स जन्नम्मि, भिक्खट्ठा उववट्ठिए ॥५॥

अथ अनन्तरं तत्र विजयघोषस्य यज्ञे स पूर्वोक्तो जयघोषोऽनगारो मासक्षमणस्य पारणे भिक्षाया अर्थं भिक्षायै उपस्थितः ॥५॥

समुवट्ठियं तहिं संतं, जायगो पडिसेहए।
न हु दाहामि ते भिक्खं, भिक्खू जायाहि अण्णओ ॥६॥

तदा याजको यजमानो विजयघोषो ब्राह्मणस्तत्र भिक्षार्थं समु–पस्थितं सन्तं तं साधुं प्रतिषिध्यति निवारयति, कथं निवारयतीत्याह–हे भिक्षो! त्वम् अन्यतोऽन्यत्र याहि (ते) तुभ्यं भिक्षां न ददामि ॥६॥

जे य वेयविओ विप्पा, जण्णट्ठा य जिइंदिया।
जोइसंगविओ जे य, जे य धम्मस्स पारगा ॥७॥
जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य।
तेसिं अन्नमिणं देयं, भो भिक्खू व्वकामियं ॥८॥ युग्मम्

विजयघोषो वदति–हे भिक्षो! अस्मिन् यज्ञे इदं प्रत्यक्षं दृश्यमानम् अन्नं सर्वकामिकं षट्रससिद्धं तेषां पात्राणां देयं वर्तते तेभ्यो देयमस्ति। न तु तुभ्यं देयं वर्तते। तेषां केषाम्? ये आत्मानं स्वकं यमात्मानम् च पुनः,परं परस्यात्मानं समुद्धर्तुं समर्थाः। ये संसार–समुद्रात् आत्मानं तारयितुं समर्थाः परमपि तारयितुं समर्थाः। तेषां प्रदेयमस्ति इति भावः ॥७॥ पुनः केषां प्रदेयमन्नं वर्तते? ये विप्रा वेदविदो वेदज्ञाः तेषाम्। पुनर्ये यज्ञार्थाः यज्ञ एव अर्थः प्रयोजनं येषां ते यज्ञार्थास्तेषाम्। पुनर्ये जितेन्द्रिया इन्द्रियाणां जेतारस्तेषाम्। पुनर्ये ज्योतिषाङ्गविदःज्योतिः शास्त्रस्याङ्ग वेत्तारः। यद्यपि ज्योतिः शास्त्रं वेदस्याङ्गमेवास्ति वेदविद इत्युक्ते आगतम् तथापि अत्र ज्योतिःशास्त्रस्य पृथगुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थं तस्मात् एतद्– गुणविशिष्टा ये ब्राह्मणास्तेषां देयमस्ति, पुनर्ये धर्मशास्त्राणां पारगा–स्तेषां देयम् अत्र अन्नं वर्तते, इत्यर्थः ॥८॥

सो तत्थेवं पडिसिद्धो, जायगेण महामुणी।
न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो, उत्तमट्ठगवेसओ ॥९॥

स महा मुनिर्जयघोषः तत्र यज्ञे(एवं) अमुना प्रकारेण विजयघोषेण याजकेन यज्ञकारकेण प्रतिषिद्धः सन् निवारितः सन् नापि रुष्टो नापि तुष्टः समभावयुक्तोऽभूत्। कीदृशः स महामुनिः? उत्तमार्थगवेषको मोक्षाभिलाषी ॥९॥

नऽन्नट्ठं पाणहेउं वा, न वि निव्वाहणाय वा।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, इमं वयणमब्ववी ॥१०॥

स महामुनिस्तेषां विजयघोषादिब्राह्मणानां विमोक्षणार्थं कर्मबन्धनात् मुक्तिकरणार्थम् इदं वचनम् अब्रवीत्– परम् अन्नपान लाभार्थं न अब्रवीत्। एवं ज्ञात्वा न अब्रवीत्–येन अहं एभ्य उपदेशं ददामि एते प्रसन्ना मह्यं सम्यग् अन्नपानं ददति इति बुद्ध्या न अब्रवीत्। किं तु तेषां संसारनिस्तारार्थमवदत्। वा अथवा–निर्वाहणाय अपि न वस्त्रपात्रादिकानां निर्वाह एभ्यो मम भविष्यति तेन हेतुना न अब्रवीदिति भावः ॥१०॥

न विजाणासि वेयमुहं, न वि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं ॥११॥

किम् अब्रवीत्? इति आह–भो ब्राह्मण! विजयघोष! त्वं वेदमुखं न विजानासि। पुनर्यत् यज्ञानां मुखं वर्तते तदपि त्वं न जानासि। पुनर्यत् नक्षत्राणां मुखं तदपि त्वं न जानासि। च पुनर्यद्धर्माणां मुखं वर्तते तदपि त्वं न जानासि ॥११॥

पुनः स साधुर्विजयघोषं ब्राह्मणं प्रति पृच्छति–

जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य।
ण ते तुमं विजाणासि, अह जाणासि तो भण? ॥१२॥

हे विजयघोष! ये परं च पुनः आत्मानम्। एवं समुद्धर्तुं संसारात् निस्तारयितुं समर्थास्तान् स्वपरनिस्तारकान् त्वं न जानासि। अथ चेत् त्व जानासि तदा (भण) कथय? ॥१२॥

तस्स खेवपमोक्खं च, अचयंतो तहिं दिओ।
सपरिसो पंजलिउमो, पुच्छई तं महामुणिं ॥१३॥

(तर्हि इति) तत्र यज्ञे द्विजो विजयघोषः प्राञ्जलिपुटो बद्धाञ्जलिः सन्, तं महामुनिं पृच्छति–कीदृशो द्विजः? सपरिषत् बहुभिर्मनुष्यैः सहितः। पुनः स द्विजः कीदृशः सन्? तस्य साधोराक्षेपं प्रश्नस्तस्य प्रमोक्षं प्रतिवचनमुत्तरम् (अचंयतो इति) दातुम् अशक्नुवन् प्रश्नस्योत्तरं दातुमसमर्थः सन् दातुमित्यध्याहारः ॥१३॥

वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि, जन्नाणजं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं बूहि, जं च धम्माण वा मुहं ॥१४॥

हे महामुने! त्वमेव वेदानां मुखं ब्रूहि? पुनर्यत् यज्ञानां मुखं तन्मे ब्रूहि? पुनर्नक्षत्राणां मुखं ब्रूहि? पुनर्यत् धर्माणां मुखं तन्मे ब्रूहि ॥१४॥

जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य।
एयं मे संसयं सव्वं, साहू कहसु पुच्छिओ ॥१५॥

पुनर्ये पुरुषाः परं, च पुनरात्मानमपि संसारात् उद्धर्तुं समर्थाः सन्ति एतन्मे मम शंसयविषयं वेदमुखादिकम् अस्ति। हे साधो! त्वं मया पृष्टः सन् सर्वं कथयस्व ॥१५॥

इत्युक्ते पुनराह–

अग्गिहोत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसा सुहं।
नक्खत्ताण मुहं चंदो, धम्माणं कासवो मुहं ॥१६॥

हे विजयघोष! वेदा अग्निहोत्रमुखाः, अग्निहोत्रं मुखं येषां ते अग्निहोत्रमुखाः वेदानां मुखमग्निहोत्रम्। अग्निहोत्रं हि अग्निकारिका, सा च इयम्– ''कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाहुतिः। धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका ॥१॥'' इत्यादि यज्ञविधि–विधायिका कारिका गृह्यते। वेदानां यज्ञानां एषा एव कारिका मुखं प्रधानम्। अस्याः कारिकायाः अर्थः–कर्माणि इन्धनानि कृत्वा उत्तमा भावना आहुतिर्विधेया धर्मध्यानाग्नौ दीक्षितेन इयम् अग्निकारिका विधेया पुनर्हे ब्राह्मण! विजयघोष! यज्ञार्थी पुरुषो वेदसां यज्ञानां मुखं वर्तते, यज्ञो दशप्रकारधर्मः। ''सत्यं तपश्च सन्तोषः, क्षमा चारित्रमार्जवम्। श्रद्धा धृतिरहिंसा च,सम्वरश्च तथा परः ॥१॥'' इति दशप्रकारः। स चात्र प्रस्तावाद्भावयज्ञस्तं यज्ञम् अर्थयति अभिलषतीति यज्ञार्थी स एव यज्ञानां मुखं वर्तते। नक्षत्राणां अष्टाविंशतीनां मुखं चन्द्रो वर्तते, धर्माणां श्रुतधर्माणां चारित्र धर्माणां काश्यपः आदीश्वरो मुखं वर्तते। धर्माः सर्वेऽपि तेनैव प्रकाशिता इत्यर्थः ॥१६॥

जहा चंदं गहाईया, चिट्ठंति पंजलीउडा।
वंदमाणा णमंसंति, उत्तमं मणहारिणो ॥१७॥

यथा ग्रहादिका अष्टाशीतिग्रहाः नक्षत्राणि अष्टाविंशतिप्रमितानि एवं सर्वे ज्योतिष्का देवाश्चन्द्रं प्राञ्जलिपुटाः बद्धाञ्जलयस्तिष्ठन्ति सेवन्ते। एवं श्रीऋषभदेवम् उत्तमं प्रधानं यथा स्यात्तथा मनोहारिणस्त्रिभुवनवर्तिनो भव्याः वन्दमानाः स्तवनां कुर्वन्तो नमस्कुर्वन्ति विनये प्रवर्त्तन्ते इति भावः ॥१७॥

अजाणगा जण्णवाई, विज्जामाहणसंपया।
मूढा सज्झायतवसा, भासच्छन्ना इवऽग्गिणो ॥१८॥

हे विजयघोष! विद्याब्राह्मणसंपदामजानानाः पुनर्यज्ञवादिनस्ते त्वया पात्रत्वेन मन्यन्ते। विद्या आरण्यकब्रह्माण्डपुराणात्मिकास्ता एव ब्राह्मणसंपदो विद्याब्राह्मणसंपदस्तासाम् अज्ञास्सन्तो यज्ञवादिनो वर्तन्ते। चेत् बृहदारण्यकाद्युक्तं यज्ञम् एते जानन्ते, तदा कथं एतादृशं यज्ञं कुर्युः। तस्माद् वृथैव वयं याज्ञिकाः इत्यभिमानं कुर्वन्ति। पुनः कथंभूताः? स्वाध्यायतपसा वेदाध्ययनोपवासादिना मूढाः बहिः संवृतिमन्तः आच्छादिततत्त्वज्ञानाः। एते के इव? भस्मच्छन्नाः अग्नय इव। रक्षाच्छादित बह्नय इव। इत्यनेन बाह्यो शीतत्वे प्राप्ताः परं कषाग्निना मध्ये सन्तप्ता एवेति भावः ॥१८॥

पुनस्साधुर्वदति–

जो लोए वम्भणो वुत्तो, अग्गीव महिओ जहा।
सया कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ॥१९॥

हे विजयघोष! वदं तं ब्राह्मणं ब्रूमः। तं कम्? यो मुनिभिर्ब्राह्मण उक्तः। यदा कैश्चित् अज्ञैः अब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणोऽयमित्युक्तस्तं ब्राह्मणं न ब्रूमः इति भावः। कथं भूतः सः? लोकैर्महितः पूजितः सन् दीप्यते। क इव? अग्निरिव। यथाऽग्निः पूजितो घृतादिसिक्तो दीप्यते। कीदृशं तं ब्राह्मणम्? सदा कुशलसन्दिष्टं कुशलैस्तत्त्वाभिज्ञैः संदिष्टं कथितम् ॥१९॥

अथ कुशलसंदिष्टस्वरूपमाह–

जो न सज्जइ आगंतुं,पव्वयंतो न सोयइ।
रमई अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥२०॥

हे विजयघोष! तं वयं ब्राह्मणं ब्रूमः। तम् इति किम्? यः (आगंतुं इति) बहुभ्यो दिनेभ्यः प्राप्तं स्वजनादिकं वल्लभं जनं न स्वजति ना लिङ्गति। अथवा–(आगंतुं इति) स्वजनादिस्थानमागत्य स्वजनादिकं न स्वजति न अभिष्वङ्गं करीति, पुनर्यः प्रव्रजन् स्थानात् अन्यत् स्थानं स्थानान्तरं गच्छन् अर्थात् विच्छुटन् न शोचते न शोकं कुरुते। पुनर्य आर्यवचने तीर्थकरवाक्ये रमते तं वयं ब्राह्मणं वदामः ॥२०॥

जायरूवं जहाऽऽमिट्ठं,निद्धत्तमलपावगं।
रागदोसभयातीतं, तं वयं बूम माहणं ॥२१॥

हे विजयघोष! वयं तं ब्राह्मणं ब्रूमः। कीदृशम्? जातरूपं स्वर्णं इव आमृष्टं तेजो वृद्धये मनःशिलादिना परामृष्टं कृतवर्णिकावर्द्धनमनेन बाह्यगुण उक्तः। यथाशब्द इवार्थे। पुनः कीदृशं तम्? (निद्धत्तमलपावगं) नितरामतिशयेन ध्मातं मलं किट्टं तद्रूपं पातकं यस्य तन्निर्ध्मातमल-पातकम् अनेन च अन्तरो गुण उक्तः। पुनः कथंभूतः? रागद्वेषभयातीतं रागः प्रेमरूपः द्वेषोऽप्रीतिरूप स्ताभ्यामतीतो दूरीभूतस्तं वयं विप्रं वदामः ॥२१॥

तवस्सियं किसं दंतं, अवचियमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥२२॥

हे विजयघोष! वयं तं ब्राह्मणं ब्रूमः। तं कं तपस्विनम्। अत एव कृशं दुर्बलम्। पुनः कीदृशम्? दान्तं जितेन्द्रियम्। पुनः कीदृशम्? अपचितमांसशोणितं शोषितमांसरुधिरम्। पुनः कीदृशम्? सुव्रतं सम्यक् व्रतानां धर्तारम्। पुनः कीदृशम्? प्राप्तनिर्वाणं प्राप्तं कषायाग्निशमनेन निर्वाणं शीतिभावं येन स प्राप्तनिर्वाणस्तम् ॥२२॥

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे।

जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥२३॥

हे ब्राह्मण ! तं वयं ब्राह्मणं ब्रूमः । तम् इति कम् ? यस्त्रसान् प्राणान् पुनः स्थावरान् संग्रहेण समासेन संक्षेपेण विज्ञाय त्रिविधेन मनोवाक्कायेन करणकारणानुमतिभेदेन नवविधेन न हन्ति, तं ब्राह्मणं वच्म इति भावः ॥२३॥

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥२४॥

हे विजयघोष ! यः क्रोधात्, यदि वा अथवा हासात्, वा अथ वा लोभात्, अथ भयात् मृषाम् असत्यवाणीं न वदति, तं वयं ब्राह्मणं ब्रूमः ॥२४॥

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जदि वा बहुं ।
न गिण्हइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥२४॥

हे ब्राह्मण ! यश्चित्तमन्तं सचित्तम् । अथवा–अचित्तं प्रासुकम् अल्पं स्तोकम्, यदि वा बहुं प्रचुरम् अदत्तं दायकेन अनर्पितं स्वयमेव न गृह्णाति तं वयं ब्राह्मणं वदामः ॥२५॥

दिव्वमाणुस्सतेरिच्छं, जो ण सेवइ मेहुणं ।
मनसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥२६॥

पुनर्यो दिव्यमानुष्यतिरश्चीनं मैथुनं मनसा कायेन वचसा कृत्वा न सेवते। वयं तं ब्राह्मणं वदामः ॥२६॥

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥२७॥

हे ब्राह्मण ! पुनस्तं वयं ब्राह्मणं वदामः । तं कीदृशम् ? (एवं) अ–मुना प्रकारेण अनेन दृष्टान्तेन कामैः अलिप्तं भोगैः असंलग्नं येन दृष्टान्तेन यथा पद्मं जले जातं परं तत् पद्मं वारिणा न उपलिप्यते जलं त्यक्त्वोपरि तिष्ठति तथा भोगैरुत्पन्नोऽपि भोगैरलिप्तो यस्तिष्ठति स ब्राह्मणो ज्ञेयः ॥२७॥

अलोलुयं मुहाजीवी, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥२८॥

मूलगुणमुक्त्वा उत्तरगुणमाह–पुनर्वयं तं ब्राह्मणं ब्रूमः । कीदृशं तं ब्राह्मणम् ? अलोलुपम् आहारादिषु लाम्पट्यरहितम् । पुनः कीदृशम्? मुधाजीविनम् अज्ञातगृहेषु आहारादि गृहीत्वा आजीविकां कुर्वाणं संयमजीवितव्यधारकम् इत्यर्थः । पुनः कीदृशम्? गृहस्थेषु असंसक्तं गृहस्थे प्रतिबन्धरहितम् ॥२८॥

जहित्ता पुव्वसंजोगं, नातिसंगे य बंधवे ।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥२९॥

पुनस्तं वयं ब्राह्मणं वदामः । तमिति कम् ? यो ज्ञातौ स्वकीयगोत्रे च पुनः सङ्गं स्वसुरादिसंबन्धे पुनर्बान्धवे पूर्वसंयोगं मातापित्रादि–स्नेहं त्यक्त्वा पुनरेतेषु पूर्वोक्तेषु न स्वजति रागासक्तो न भवति । तं वयं ब्राह्मणं वदामः ॥२९॥

पसुबंधा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा ।
न तं तायंति दुस्सीलं, कम्माणि बलवंतिह ॥३०॥

भो विजयघोष ! सर्ववेदाः पशुबन्धाः वर्तन्ते पशूनां बन्धो विनाशाय नियन्त्रणं यैस्ते पशुबन्धाः केवलं वेदाः पशुहननहेतवो वर्तन्ते । न तु मोक्षहेतवः । हिंसायाः प्ररूपकत्वात् यतो हि वेदवा–क्यमिदं श्रूयताम् ''भूतिकामो वायव्यां दिशि श्वेतं छागमालभेत'' इत्यादि पशुबन्धे हेतुभूतं वेदवाक्यं–च पुनः (जट्ठं इति) इष्टं यजनं यज्ञः पापकर्मणामुत्पद्यते तत् इष्टं पापकर्मणा पापकारणपशुबन्धाद्यनुष्ठानेन तं वेदानाम् अध्येतारं यज्ञकर्तारं वा न त्रायन्ते यज्ञकर्तारं वा दुःशीलं दुराचारं पापशास्त्राणां पठनेन पापकर्मकरणेन दुष्टाचारम् इह कर्माणि बलवन्ति वर्तन्ते दुष्टकर्माणि बलेन पापकर्मकर्तारं नरकं नयन्ति। अतः कारणात् एतस्मात् यागात् ब्राह्मणः पात्रभूतोऽस्ति । किं तु अनन्तरोक्तगुणवान् एव ब्राह्मण इति भावः ॥३०॥

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणीऽरन्नवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥३१॥

हे विजयघोष ! मुण्डितेन श्रमणो निर्ग्रन्थो न स्यात् । ओङ्कारेण ऊँ भूर्भुवः स्वस्तीत्यादिना ब्राह्मणो न स्यात् । तथा–अरण्यवासेन मुनिर्नोच्यते । कुशो दर्भस्तन्मयं चीरं उपलक्षणत्वाद् वल्कलं कुशचीरं तेन कुशचीरेण कुशोपलक्षितवल्कलवस्त्रेण तापसो न भवेत् ॥३१॥

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥३२॥

(समया) समयत्वेन शत्रुमित्रयोरुपरि समानभावेन श्रमणो भव–ति । ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणो भवति, ब्रह्म पूर्वोक्तम् 'अहिंसासत्यचौर्या–भावामैथुननिर्लोभरूपं' तस्य ब्राह्मणश्चरणमङ्गीकरणं ब्रह्मचर्यं तेन ब्राह्मण उच्यते, ब्रह्मत्वयुक्तो ब्राह्मण इत्यर्थः । ज्ञानेन मुनिर्भवति मन्यते जानाति हेयोपादेयविधी इति मुनिः । स च ज्ञानेनैव स्यात्। तथा तपसा द्वादशविधेन तापसो भवति ॥३२॥

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो ।
वयसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥३३॥

कर्मणा क्रियया ब्राह्मणो भवति, ''क्षमा दानं दमो ध्यानं, सत्यं शौचं धृतिर्घृणा । ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यमेतत् ब्राह्मणलक्षणम् ॥१॥'' अनया क्रियया लक्षणभूतया ब्राह्मणः स्यात् । क्षत्रियः शरणागतत्राणलक्षण–क्रियया क्षत्रिय उच्यते, न तु केवलं क्षत्रियकुले जातिसमुत्पन्ने सति शस्त्रबन्धनत्वेनैव क्षत्रिय उच्यते । एवं वैश्योऽपि कर्मणा क्रियया एव स्यात् कृषिपशुपाल्यादिक्रियया वैश्य उच्यते । कर्मणा एव शूद्रो भवति शोचनादिहेतुप्रेषणभारोद्वहनजलाद्याहरणचरणमर्दनादिक्रियया शूद्र उच्यते । अत्र ब्राह्मणलक्षणावसरे अन्येषां वर्णत्रयाणां लक्षणाविधानं व्याप्तिदर्शनार्थम् ॥३३॥

एए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होइ सिणायओ ।
सव्वकम्मविणिम्मुक्कं, तं वयं बूम माहणं ॥३४॥

बुद्धो ज्ञाततत्त्वः श्रीमहावीरः एतान् अहिंसाद्यर्थान् प्रादुरकार्षीत् प्रकटी चकार । यैर्गुणैः कृत्वा सर्वकर्मविनिर्मुक्तो भूत्वा स्नातको भवति केवली भवति। प्राकृतत्वात् प्रथमास्थाने द्वितीया । तम् एतादृशगुणयुक्तं स्नातकं वा वयं ब्राह्मणं वदामः ॥३४॥

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवंति दिउत्तमा ।
ते समत्था वि उद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य ॥३५॥

एवंगुणसमायुक्ताः ये द्विजोत्तमाः ब्राह्मणश्रेष्ठाः भवन्ति। ते ब्राह्मणोत्तमाः परमात्मानम् अपि उद्धर्त्तुं समर्था भवन्ति ॥३५॥

एवं तु संसए छिन्ने, विजयघोसे य माहणे।
समुदाय तयं तं तु, जयघोसं महामुणिं ॥३६॥

ततस्तदनन्तरं विजयघोषो ब्राह्मणः जयघोषं महामुनिं उवा च इदं वचनम्– उदाह कथयति इति संबन्धः किं कृत्वा ? तं मुनिं जयघोषं समादाय सम्यक् उपलक्ष्य ज्ञात्वा, क्व सति (एवं) पूर्वोक्त–प्रकारेण विजयघोषस्य शंसये छिन्ने सति ॥३६॥

तुट्ठो य विजयघोसे, इणमुदाहु कयं जली।
माहणत्तं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥३७॥

विजयघोषस्तुष्ट इदं वचनं जयघोषमुनये आह–कीदृशो विजयघोषः? कृताञ्जलिः, हे मुने ! मे मम ब्राह्मणत्वं यथाभूतं यथा स्वरूपं सुष्ठु सम्यगुपदर्शितम् ॥३७॥

तुब्भे जइया जन्नाणं, तुब्भं वेयविओ विऊ।
जोइसंगविओ तुब्भे, तुब्भे धम्माण पारगा ॥३८॥

किं वचनम्? आह–हे महामुने ! (तुब्भे इति) यूयं यज्ञानां यष्टारः, यूयं वेदविदः वेदवित्सु विदो ज्ञातारो वेदविदाम्बराः यूयम् एव। पुनर्यूयम् एव ज्योतिषाङ्गविदः। यूयम् एव धर्माणां पारगाः धर्माचारपारगाः ॥३८॥

तुब्भे समत्था उद्धत्तुं,परं अप्पाणमेव य।
तमणुग्गहं करे अम्हं, भिक्खेणं भिक्खुउत्तमाः ! ॥३९॥

पुनर्हे महामुने ! यूयं परं पुनः आत्मानं समुद्धर्तुं संसारात् निस्तारयितुं समर्थाः। (तं इति) तस्मात् कारणात् भो भिक्षूत्तमाः ! साधुश्रेष्ठाः ! भिक्षया भिक्षाग्रहेण अस्माकम् अनुग्रहं यूयं कुरुथ ॥३९॥

ण कज्जं मज्झ भिक्खेणं, खिप्पं निक्खम सूदिया।
मा भमिहिसि भयावट्टे, घोरे संसारसागरे ॥४०॥

तदा जयघोषमुनिराह–हे द्विज ! मम भिक्षया कार्यं नास्ति। त्वं क्षिप्रं शीघ्रं क्षमस्व दीक्षां गृहाण। हे द्विज ! घोरे भीषणे संसारसागरे भ्रमसि मिथ्यात्वेन त्वं संसारसमुद्रे भ्रमिष्यसि। तस्मान्मिथ्यात्वं त्यज, जैनीं दीक्षां गृहाणेति भावः। कथं भूते संसारसमुद्रे? भयावर्ते सप्तभयजलभ्रमयुक्ते ॥४०॥

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पइ।
भोगी भमई संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥४१॥

हे विजयघोष ! भोगेषु भुज्यमानेषु सत्सु उपलेपः कर्मोपचयरूपो बन्धः स्यात्। अभोगी भोगानाम् अभोक्ता, कर्मणा न उपलिप्यते। पुनर्भोगी भोगानां भोक्ता, संसारे भ्रमति। अभोगी भोगानाम् अभोक्ता, कर्मलेपाद् विमुच्यते ॥४१॥

कर्मलेपे दृष्टान्तमाह–

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टिया मया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गइ ॥४२॥

उल्ल आर्द्रः, च पुनः शुष्कः, एतौ द्वौ मृत्तिकामयौ गोलकौ कुड्ये भित्तौ उच्छूढौ आक्षिप्तौ तत्र आपतितौ भित्तौ आस्फालितौ सन्तौ। अत्र द्वयोः मृत्तिकामयगोलकयोर्मध्ये य उल्लः आर्द्रो, मृद्गोलकः स कुड्ये लगति ॥४२॥

एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥४३॥

(एवं) अमुना प्रकारेण आर्द्रमृत्तिकागोलकदृष्टान्तेन दुर्मेधसो दुष्टबुद्धयो ये नराः कामलालसाः भोगेषु लम्पटाः (लग्गंति) संसारे आसक्ताः भवन्ति। तु पुनः विरक्ताः कामभोगेभ्यो विमुखनराः (न लग्गंति) संसारासक्ता न भवन्ति। यथा शुष्को मृद्गोलको भित्तौ न लगति ॥४३॥

एवं से विजयघोसे, जयघोसस्स अंतिए।
अणगारस्स निक्खंतो, धम्मं सोच्चा अणुत्तरं ॥४४॥

(एवं) अमुनाप्रकारेण स विजयघोषो ब्राह्मणो जयघोषस्य अनगा–रस्य अन्तिके समीपे निष्क्रान्तो दीक्षां प्राप्तः। किं कृत्वा? अनुत्तरं धर्मं श्रुत्वा ॥४४॥

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
जयघोसविजयघोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥४५॥ ति बेमि

जयघोषविजयघोषौ उभावपि अनुत्तरां प्रधानां गतिं सिद्धिं प्राप्तौ। किं कृत्वा ? संयमेन, च पुनस्तपसा पूर्वकर्माणि क्षपयित्वा। इति अहं ब्रवीमि। सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्राह ॥४५॥ उत्त०२५ अ०।

जयचंद पुं०(जयचन्द्र) सोमसुन्दरसूरिशिष्यपञ्चकमध्ये द्वितीये शिष्ये, ग०४अधि०। अनेन, विक्रमसंवत् १५०६ प्रतिक्रमणविधिनाम्ना ग्रन्थः विरचितः। जै०इ०।

जयजयसद्द पुं०(जयजयशब्द) जयजयारवे, औ०।

जयजयारव पुं०(जयजयारव) जय जयेत्याशीर्वादशब्दे, ''जय जय नंदा जय जय भद्दा जय जय खचियवरवसहा'' वृत्तिः–संभ्रमे द्विर्वचनम्। इह च दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्। अथवा–जयत्वं जगन्नन्द ! भुवनसमृद्धिकारक! एवं जगद्भद्र ! जगत् कल्याणकर ! औ०। ''जय जय णंदा धम्मेणं जय जय णंदा तवेणं'' वृत्तिः–जय जयेत्याशी–र्वचनं भक्तिसंभ्रमे च द्विर्वचनं नन्द वर्द्धस्व धर्मेण एवं तपसाऽपि। अथवा–जय जय विपक्षं, केन धर्मेण इह नन्देत्येवमक्षरघटना कार्या। भ०९श०३३उ०।

जयट्ठभासि(ण्) पुं०(जयार्थभाषिन्) यथैवात्मनो जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भाषते तच्छीलः जयार्थभाषी। येन केन प्रकारेणासदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छति जने, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

जयण न०(यजन) यागे, गायत्र्यादिपाठपूर्वकं विप्राणां संध्या र्चनरूपायां पूजायाम्, अनु०। अभयस्य दाने च, प्रश्न०१ सम्ब० द्वार। हयसंनाहे, दे०ना०३वर्ग।

***यतन** न०। प्राणिरक्षणे, प्रश्न०१ सम्ब० द्वार। प्राप्तेषु योगेषु उद्यम–करणे, (अणु०) ''जयणघडणजोगचरित्तं'' वृत्तिः– *यतनं प्राप्तेषु योगेषु उद्यमकरणं घटनं चाप्राप्तानां तेषां प्राप्त्यर्थं यत्नः यतनघटनप्रधाना योगाः संयमव्यापारा मनःप्रभृतयो वा चारित्रे तत्तथा।* अणु०३ वर्ग।

अजयं चरमाणो अ, पाण भूयाइं हिंसइ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥१॥

अजयं चिट्ठमाणो य, पाणभूयाइँ हिंसइ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२॥
अजयं आसमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥३॥
अजयं सयमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥४॥
अजयं भुंजमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥५॥
अजयं भासमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥६॥

अयतं चरन्नयतमनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति। क्रियाविशेषणमेतत्, चरन् गच्छन्। तुरेवकारार्थः। अयतमेव चरन् ईर्यासमितिमुल्लङ्घ्य न त्वन्यथा, किमित्याह–प्राणिभूतानि हिनस्ति। प्राणिनो द्वीन्द्रियादयः, भूतान्येकेन्द्रियाः तानि हिनस्ति, प्रमादानाभोगाभ्यां व्यापादयतीति भावः। तानि च हिंसन् बध्नाति पापं कर्म अकुशलपरिणामादादत्ते क्लिष्टं ज्ञानावरणीयादि, तत् (से) भवति कटुकफलम्, तत् पापं कर्म 'से' तस्यायतचारिणो भवति। कटुकफलमित्यनुस्वारोऽलाक्षणिकः। अशुभफलं भवति मोहादिहेतुतया विपाकदारुणमित्यर्थः ॥१॥ एवमयतं तिष्ठन् ऊर्ध्वस्थानेनासमाहितो हस्तपादादि विक्षिपन् शेषं पूर्ववत् ॥२॥ एवम–यतम् आसीनो निषण्णतया अनुपयुक्तः सन् आकुञ्चनादिभावेन, शेषं पूर्ववत् ॥३॥ एवमयतं स्वपन्नसमाहितो दिवा प्रकामशय्या-दिना, शेषं पूर्ववत् ॥४॥ एवमयतं भुञ्जानो निष्प्रयोजनं प्रणीतं काकशृगाल-भक्षितादिना, शेषं पूर्ववत् ॥५॥ एवमयतं भाषमाणो गृहस्वभाषया निष्ठुरमन्तरभाषादिना, शेषं पूर्ववत् ॥६॥

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥७॥

अत्राह–यद्येवं पापकर्मबन्धस्ततः ''कहं चरे'' इत्यादि। कथं केन प्रकारेण चरेत्? कथं तिष्ठेत् ? कथमासीत? कथं स्वपेत्? कथं भुञ्जानः? कथं भाषमाणः? पापं कर्म न बध्नाति इति ॥७॥

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥८॥

आचार्य आह–''जयं चरे'' इत्यादि। यतं चरेत्। सूत्रोपदेशेनेर्या-समितः! यतं तिष्ठेत् समाहितो हस्तपादाद्यविक्षेपेण, यतमासीत, उपयुक्त आकुञ्चनाद्यकरणेन, यतं स्वपेत् समाहितो रात्रौ प्रकाम-शय्यादिपरिहारेण, यतं भुञ्जानः सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंह-भक्षितादिना, एवं यतं भाषमाणः साधुभाषया मृदु कालप्राप्तं च। पापं कर्म क्लिष्टमकुशलानुबन्धि ज्ञानावरणीयादि न बध्नाति नादत्ते। निराश्रयत्वात् विहितानुष्ठानपरत्वादिति ॥८॥ दश०४अ०।

जयणा स्त्री०(यतना) यत्ने, नि०चू०१उ०। स्वशक्त्याअकल्पपरिहारे, आ०चू०६अ०। पृथिव्यादिष्वारम्भपरिहाररूपे यत्ने, दश०४ अ०। अष्टादशानां शीलाङ्गसहस्राणां संपूर्णानाम् अखण्डिताविराधितानां यावज्जीवमहर्निशमनुसमयं धरणरूपायां कृत्स्नायां संयमक्रियायाम्, महा०२चू०। उपयुक्तस्य युगमात्रदृष्टत्वे च। आचा०२ श्रु०३अ०१उ०।

यतना च चतुर्विधा तथाहि–

दव्वओ खित्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयतो सुण ॥६॥
दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खित्तओ।
कालओ जाव रीएज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥७॥

यतनेतिद्वारं बुभूर्षुराह– ''दव्वओ'' इत्यादि। सुगममेव, नवरं तामिति चतुर्विधयतनां मे कीर्तयतः समयक् प्ररूपाऽभिधानद्वारेण, संशब्दयतः शृण्वाकर्णय शिष्येति गम्यते। यथा प्रतिज्ञातमेवाह–द्रव्यत इति। जीवादिकं द्रव्यमाश्रित्येयं यतना, यच्चक्षुषा दृष्ट्वा प्रेक्षेतावलोकययेत्, प्रक्रमाज्जीवादिकं द्रव्यमवलोक्य च। संयमात्मविराधनापरिहारेण गच्छेदिति भावः। युगमात्रं च चतुर्हस्तप्रमाणप्रस्तावात् क्षेत्रं प्रेक्षेत, इयं क्षेत्रतो यतना। कालतो यतना यावत् (रीएज्ज त्ति) रीयते यावन्तं कालं पर्यटन्ति तावत् कालमभिगम्यते उपयुक्तश्च। भावतो दत्तावधानो यत् रीयते, इयं भावमङ्गी कृत्य यतना। उत्त०२४ अ०। मुनिना हि श्वासोच्छ्वासावपि यतनया कार्यौ। तदेवाह–''जेसि सोत्तूण उस्सासं, नीसासं वाऽणुजाणिणं तमवि जयणाए न सव्वहा अजयणाए ऊससंतस्स कओ धम्मो कओ तवो''। महा०६अ०। श्रावकेणापि यतनया प्रवर्तितव्य-मित्याह–यतनां विना प्रवृत्तौ च सर्वत्रानर्थदण्ड एव, अतः सद्यतनया सर्वव्यापारेषु सर्वशक्त्या श्रावकेण यतनायां यतनीयम्। ध०२अधि०। जिन–भवनकरणेऽपि यतना विध्यङ्गमेवेत्याह–यतनाऽपि जिनभवनक-रणविध्यङ्गमेव अयतनावतो हि कुशलक्रियासु प्रवर्तमानस्यापि प्रभूतसत्त्वसंघातसंभवेन कुशलाशयात्सम्यग् धर्मो न भवति यतः–

''यत्नं विना धर्मविधावपीह,
प्रवर्तमानोऽसुमतां विघातम्।
करोति यस्माच्च ततो विधेयो,
धर्मात्मना सर्वपदेषु यत्नः ॥१॥ दर्श०१ तत्त्व।

उक्तं च सैद्धान्तिकैः–

''जयणेह धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव।
तवबुद्धिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥५०॥

यतनेह धर्मजननी ततः प्रसूतेः, यतना धर्मस्य पालनी चैव प्रसूतरक्षणात्। तपोवृद्धिकारिणी यतना इत्थं तच्छुद्धेः, एकान्त-सुखावहा सर्वतो द्रव्यादिति गाथार्थः ॥५०॥

जयणाए वट्टमाणो, जीवो सम्मत्तनाणचरणाणं।
सद्धावोहासेवण–भावेणाराहगो भणिओ ॥५१॥

यतनायां वर्तमानो जीवः परमार्थे सम्यक्त्वज्ञानचरणानां त्रयाणामपि श्रद्धावोधासेवनाभावेन हेतुनाऽऽराधको भणितस्तथा प्रवृत्तेरिति गाथार्थः ॥५१॥

एसा य होइ णियमा, न यऽहियदोसणिवारिणी जेण।
तेण पवित्तिपहाणा, विण्णेया बुद्धिमंतेणं ॥५२॥

एषा न भवति नियमात् येनाधिकदोषनिवारणी इयम् नानुबन्धे–न। तेन प्रवृत्तिप्रधाना तत्वत्तो विज्ञेया बुद्धिमता सत्त्वेन ॥५२॥

सा इह परिणयजलदल–विसुद्धरूवाओ होइ विण्णेया।

अव्वत्थओ महंतो, सव्वो सो धम्महेउ त्ति'' ॥५३॥

सा यतनेह जिनभवनादौ परिणतजलदलविशुद्धिरूपे च भवति। प्राशुकग्रहणेन अर्थतया यद्यपि महोत्सवप्रापितवासो धर्महेतुः स्थाननियोगादिति। प्रति०।

जयना स्त्री०। जयनशीलायाम्, ''जयणाए गइए''। वृत्तिः– शेषगति-जयनशीलया। कल्प०२क्षण।

जयणाजुत्त त्रि०(यतनायुक्त) यतनोपेते, नि०चू०१उ०।

जयणाम पुं०(जयनामन्) जयाऽभिधाने एकादशे चक्रवर्तिनि, स्था०१० ठा०। आव०।

जयणावरणिज्ज न०(यतनावरणीय) चारित्रविशेषवीर्यान्तरायलक्षणे कर्मणि, भ०६ श०३१ उ०।

जयतिलगसूरि पुं०(जयतिलकसूरि) तपागच्छीये रत्नसिंहसूरिशिष्ये, तेन च मलयसुन्दरीचरित्रं तथा सुलसाचरित्रं च निर्ममे। जै०इ०।

जयदेव पुं०(जयदेव) ऋषभदेवस्वामिनश्चतुरशीतितमे पुत्रे, कल्प०७ क्षण।

जयदेववागरण न०(जयदेवव्याकरण) जयदेवकृतव्याकरणे, कल्प०१ क्षण।

जयदेवसूरि पुं०(जयदेवसूरि) भक्तामरकर्तुर्मानतुङ्गसूरेः पट्टवर्तिनो वीरसूरेः शिष्ये, ग०४अधि०।

जयद्दह पुं०(जयद्रथ) सिन्धुदेशाधिपवृद्धक्षेत्रसुते राजभेदे, स च धृतराष्टकन्यां दुःशल्यामुपयेमे। स च सौवीरदेशाधिपः ''जयद्रथो नाम यदि श्रुतस्ते, सौवीरराजस्सुभगे स एषः।'' वाच०। गंगेनविदुरद्दोण-जयद्दहं'' ज्ञा०१ श्रु०१६अ०।

जयपुर न०(जयपुर) नगरविशेषे, यत्र किल धर्मरुचिमुनिर्मालादा–हृत्य भिक्षां दातुमुद्यतां वसुमतीं निवारितवान्। दर्श०३ तत्त्व। वर्त्तमानकाल-वर्तिनि मरुधरमण्डलशृङ्गारे स्वनामाख्याते रम्यनगरे च। पिं०।

जयप्प पुं०(यतात्मन्) ध्यानैकनिषण्णे, आ०म०द्वि०।

जयप्पभ पुं०(जयप्रभ) प्रवचनसारोद्धारविषमपदटीकाकरणे उदयप्रभसूरेः साहाय्यकारके आचार्ये, जै०इ०।

जयमंगला स्त्री०(जयमङ्गला) मदनवल्लभकथानकप्रसिद्धायां राजकुमार्याम्, दर्श०३तत्त्व।

जयमाण त्रि०(यतमान) क्रियायां यत्नपरे, दश०६अ०१उ०। ओघ०। संयमानुष्ठाने परि समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यमं कुर्वति, सूत्र०१ श्रु०६अ०। आचा०। संविग्ने, व्य०१उ०। ''जतमाणा तत्थ तिहा, नाणत्था दंसणचरित्ते।'' आ०म०प्र०।

जयराम पुं०(जयराम) शत्रुंजयसिद्धे मुनिभेदे, 'जयरामादिराज र्षि–कोटित्रयमिहागमत्'। ती०१कल्प।

जयवल्लइ पुं०(जयवल्लभ) नृपभेदे, ''जलयसुंदरं नाम नयरं, तत्थ जयवल्लहो राया, कंतिकंदलो से भारिया, दुहिया लीलालया'' दर्श०१ तत्त्व०।

***जगद्वल्लभ** त्रि०। सर्वजनप्रिये च। दर्श०१ तत्त्व।

जयसंध पुं०(जयसन्ध) पुण्डरीकनृपस्यामात्ये, ''जयसंधो अमच्चो'' आ०चू०४अ०।

जयसंधि पुं०(जयसन्धि) पुण्डरीकनृपस्यामात्ये, ''जयसंधिणा अमच्चेण'' आव०४ अ०।

जयसद्द पुं०(जयशब्द) जयसूचकः शब्दः। शाक०त०। जय ध्वनौ, उद्घुष्टनैकजयशब्दविराधितायाम्, वाच०। ''मंगलजयसद्दकयालोए'' मंगलाय जयशब्दः कृतो जनेनालोके यस्य स तथा। औ०। ''जयसद्दघोसएणं'' जयेतिशब्दस्य य उद् घोषः उद् घोषणं तेन मिश्रो यः स तथा तेन। भ०६श०३३उ०।

जयसिंह पुं०(जयसिंह) दक्षिणमथुरोद्भवे, अम्बिकापुत्रमातामहे वणिग्भेदे, दर्श०४ तत्त्व। ती०।

जयसिंहदेव पुं०(जयसिंहदेव) सिद्धराजोपाह्वये चौलुक्यवंशोद्भवे गुर्जरनृपे, ती०५ कल्प। जीवा०।

जयसिंहसूरि पुं०(जयसिंहसूरि) सर्वदेवसूरिशिष्ये, दर्श०५ तत्त्व। प्रश्नवाहनकूले हर्षपुरीयगच्छसंजाते अनुयोगद्वारसूत्रवृत्तिकृच्छ्री-मद्धेमचन्द्राचार्यगुर्वभयदेवसूरेर्गुरौ, अनु०। अन्योऽप्येतन्नामा अञ्चलगच्छीय आर्यरक्षितसुरेः शिष्यो धर्मघोषसूरेर्गुरुरासीत्। अस्य च पिता वाहडनामा नाघीनाम्नी च माता कोङ्कणदेशे सोपारकनगरेऽयं विक्रमसंवत् ११७६ वर्षे जातः, सं० ११६० वर्षेऽयं दीक्षितः, सं० १११२ वर्षे सूरिपदं, प्राप्तः सं० १२५६ वर्षे (८० वयसि) स्वर्गमगमत्। जै०इ०।

जयसिरि स्त्री०(जयश्री) विजयलक्ष्म्याम्, आ०म०प्र०।

जयसुंदरी न०(जयसुन्दरी) कृतमङ्गलापुरीयधनश्रेष्ठिसुतायाम्। ''कयमंगलापुरीए, धणसिट्ठिसुया उ बालविहवाऽऽसी। जयसुंदरि त्ति तीसे, भत्तिजुया भायरा पंच॥१॥'' सङ्घा०।

जयसेहर पुं०(जयशेखर) अञ्चलगच्छीयमहेन्द्रसूरिशिष्ये, स च विक्रमसंवत् १४३६ विद्यमान असीत्। उपदेशचिन्तमाणिप्रबोध-चिन्तामणि जैनकुमारसंभवधम्मिल्लचरित्रादीनां काव्यानां कर्ताऽभवत्। जै०इ०।

जयसोमसूरि पुं०(जयसोमसूरि) स्वनामके प्रमोदमाणिक्यसूरिगुरौ, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १६५७ आसीत्। विचाररत्नसंग्रहनामानं च ग्रन्थं चकार। जै०इ०।

जया स्त्री०(जया) वासुपूज्यजिनमातरि, प्रव०११ द्वार। आव०। तृतीयाऽष्टमीत्रयोदशीरूपासु तिथिषु, सू०प्र०१० पाहु०। जी०। द०प०। चं०प्र०। मघवन्नाम्नः स्तृतीयचक्रवर्तिनः स्त्रीरत्ने, स०। पार्श्वजिनाधि-ष्ठात्रीदेवीविशेषे, ती०६ कल्प। जयन्तीवृक्षे, रोगजयात्तस्यास्तथात्वम्। वाच०। सा च गुच्छाकारा, तथाहि–गुच्छास्तु वृन्ताकीकर्पासीजयाऽऽढ-कीतुलसीकुस्तुम्भरीपिप्पलीनीलादयः। आचा०१ श्रु०१अ०५उ०। हरीतक्याम्, विजयायाम्, ''भंग'' इति नाम्ना लोके ख्यातायाम्। नीलदूर्वायाम्, अग्निमन्थवृक्षे, पताकाभेदे, वाच०।

जयाइच्च पुं०(जयादित्य) पाणिनिव्याकरणे काशिकाकरणे वाम-नाचार्यस्य साहाय्यकारिणि, जै०इ०।

जयाणंद पुं०(जयानन्द) विबुधप्रभसूरिशिष्ये, ''हरिभद्रमित्रो ह्यभवत्, सूरिः पुनस्तेव मानदेवगुरुः। विबुधप्रभश्च सूरिः, तस्मात्सूरिर्जयानन्दः''। ग०४अधि०। सोमतिलकसूरिशिष्ये च।

तथाहि–

तेषां त्रयो विनेयाः, तत्र श्रीचन्द्रशेखरः प्रथमः।

सूरिर्जयानन्दोऽन्य–स्तृतीयका देवसुन्दरा गुरवः।

श्रीसोमतिलकसूरे–स्त्त एव पट्टाम्बरादित्याः। ग०४अधि०।

जर धा०(जृ) जरायाम्, दिवा०पर०अक०सेट्। वाच०। ''ऋवर्ण–स्यारः''॥८।४।२३४॥ इति प्राकृतसूत्रेण ऋकारस्यारादेशः। 'जरइ' जीर्यते। प्रा०४ पाद।

***जर** पुं० जॄ०भावे अप्। जरायां, विनाशन च। वाच०।

***ज्वर** पुं०। ज्वर–भावे–घञ्। स्वनामख्याते रोगभेदे, वाच०। विपा०। ज्ञा०।

जरदुमार पुं०(जराकुमार) श्रीकृष्णज्येष्ठभ्रातरि, ग०२ अधि०।

जरग्ग त्रि०(जरत्क) जीर्णे, ''जरग्गओवाणहे त्ति वा'' जरत्का जरती जीर्णेत्यर्थः सा चासौ उपानच्च जरत्कोपानत्। अणु०३ वर्ग।

जरग्गव पुं०(जरद्गव) कर्म०टच्। वाच०। जीर्णबलीवर्दे, बृ० १उ०। सूत्र०। ''जरग्गवपाए'' जरद्गवपादः। अणु०३ वर्ग०।

जरठ त्रि०(जरठ) जॄ–वा–अठ–कर्कशे, कठिने, पाण्डुनृपे, पुं०। जीर्णे, त्रि०। जरायाम्, ''नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा–नलग्रन्थयः'' अयमतिजरठा प्रकामगुर्वी परिणते च। ''जरठकम–लकन्दच्छेद-गौरैर्मयूखैः''। वाच०। ''निद्धुय जरठपंडुपत्ता'' वृत्तिः–निर्धूतानि अपनीतानि जरठानि पाण्डुपत्राणि येभ्यस्ते निर्धूतजर–ठपाण्डुपत्राः। रा०। औ०।

जरपाग पुं०(जरापाक) षष्टिवर्षपर्याये सप्ततिवर्षजन्मके मानुषे, व्य०७उ०।

जरय न०(ज्वरक) गावलीगतमहानरकविशेषे, स्था०६ ठा०।

जरयमज्झ पुं०(जरकमध्य) उत्तरदिगावलीगतमहानरकविशेषे, स्था०६ ठा०।

जरयावत्त न०(जरकावर्त) पश्चिमदिगावलीगतमहानरकविशेषे, स्था०६ ठा०।

जरयावसिट्ठ न०(जरकावशिष्ट) दक्षिणदिगावलीगतमहानरकवि–शेषे, स्था०६ ठा०।

जरलछिओ (देशी) ग्रामीणे, दे०ना० ३ वर्ग।

जरलविओ (देशी) ग्रामीणे, दे०ना०३ वर्ग।

जरसमण न०(ज्वरशमन) ज्वरापहारे, ''जरसमणाइं रयणा, अण्णायगुणा वि ते समिति जहा'' वृत्तिः–ज्वरशमनादीनि ज्वरा–पहारप्रभृतानि आदिशब्दाच्छूलशमनादिग्रहो रत्नानिमाणिक्या–न्यज्ञातगुणान्यपि रोगिभिरविदितज्वरादिशमनसामर्थ्यान्यपि न केवलं ज्ञातगुणान्येव तावत् ज्वरादिरोगान् शमयन्ति विनाशय-न्ति। पञ्चा०४ विव०।

जरा स्त्री०(जरा) जॄ–अङ्–गुणः। वाच०। 'जॄ' वयोहानौ इति वचनात्। जरणं जरा। वयोहानौ, भ०१६ श०२ उ०। आ०म०। उत्त०। आव०। पं०सू०। प्रज्ञा०। ल०। द्वा०। सू०प्र०। वृद्धत्वे, संथा०। तं०। स्था०। उत्त०।

जीवानां जराशोकादिको धर्मः–

जीवाणं भंते ! किं जरा सोगे ? गोयमा ! जीवाणं जरा वि सोगे वि। से केणट्ठेणं भंते !०जाव सोगे वि ? गोयमा ! जेणं जीवा सारीरवेदणं वेदें ति। तेसि णं जीवाणं जरा, जेणं जीवा माणसं वेदणं वेदेंति तेसि णं जीवाणं सोगे। से तेणट्ठेणं०जाव सोगे वि एवं णेरइयाण वि। एवं०जाव थणियकुमाराणं। पुढविकाइयाणं भंते ! जरासोगे ? गोयमा ! पुढविकाइयाणं जरा, णो सोगे। से केणट्ठेणं० जाव णो सोगे ? गोयमा ! पुढवीकाइयाणं सारीरं वेदणं वेदें ति। णो माणसं वेदणं वेदेंति। से तेणट्ठेणं०जाव णो सोगे। एवं जाव चउरिंदियाणं, सेसं जहा जीवाणं०जाव वेमाणियाणं। सेवं भंते ! भंते ! त्ति०जाव पज्जुवासइ।

(जर त्ति) 'जॄ' वयोहानौ इति वचनात्। जरणं जरा वयोहानिः शारीरदुःखस्वरूपा वा इयमतो यदन्यदपि शारीरं दुःखं तदनयोप–लक्षितम्, ततश्च जीवानां किं जरा भवति। (सोगे त्ति) शोचनं शोको दैन्यमुपलक्षणत्वादेव चास्य सकलमानसदुःखपरिग्रहस्ततश्च उत शोको भवतीति। चतुर्विंशति दण्डके च येषां शरीरं तेषां जरा, येषां तु मनोऽप्यस्ति तेषामुभयमिति। भ०१६ श०२उ०। जराभिभूतविग्रहा जघन्यतराम-वस्थामनुभवन्ति। जरणपरिणामे, ''अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं मम'' हा०२१ अष्ट०।

जरासंध पुं०(जरासंध) स्वनामख्याते राजनि, श्रीहेमनेमिचरित्रे कृष्णजरासन्धयुद्धाधिकारे जरामोचनशङ्के श्वरपार्श्वनाथनयना–धिकारः कथं नोक्तः सोऽधिकारः शास्त्रीयो नवेति प्रश्ने, उत्तरम्–तीर्थकल्पादौ सोऽधिकारोऽस्तीति शास्त्रीय एवेति।२३० प्र०। सेन०३ उल्ला०। पाण्डवचरित्रे जरासन्धसत्कहिरण्यनाभसेनानी भीमेन हतो हैमायनेमिचरितादौ चानादृष्टिसेनान्याहत इति कथं मिलतीत प्रश्ने, उत्तरम्–अत्रापि मतान्तरमवसेय मिति। ६२ प्र०। सेन०१उल्ला०।

जल धा०(जल) आच्छादने, चुतरा०उभ०सक०सेट्। जालयति। अजीजलत्। तीक्ष्णीभवने, जीवनोपयोगिक्रियायां च। अक० भ्वा० पर० सेट्। जलति। अजालीत्। जजाल। जेलतुः। ज्वलादि। जलः जालः। वाच०। जल। अलच्–त्रि०। वाच०। ''लो लः''॥८।४।३०८॥ इति लस्य लः पैशाच्याम्। डस्य लो वा। प्रा०४ पाद। जडे, वाच०। उदके, सूत्र०१ श्रु०५ अ०२उ०। पानीये, उत्त० ३५ अ०। जलकान्तेन्द्रस्य प्रथमे लोकपाले, स्था०४ ठा०१उ०। भ०। अप्कायजीवे, कर्म० ४कर्म०। प्रश्न०। हीवेरे गन्धद्रव्ये, ज्योतिषोक्ते लग्नावधिके चतुर्थस्थाने, पूर्वाषाढानक्षत्रे च। न०। ''तदङ्गनिष्पन्दजलेन लोचने'' ''जलाभिलाषी जलमाददा-नाम्'' ''न तज्जलं यन्न सुचारु पङ्कजम्'' तृषिताय रोगिणेऽपि जलं देयम्।

तथा च–

''पानीयं प्राणिनां प्राणा–स्तदायत्तं हि जीवनम्।

तस्मात्सर्वास्ववस्थासु, न क्वचिद्वारि वार्यते॥१॥

अन्नेनापि विना जन्तुः, प्राणान् धारयते चिरम्।

तोयाभावे पिपासार्तः, क्षणात् प्राणैर्वियुज्यते॥२॥

तृषितो मोहमायाति, मोहात् प्राणान् विमुञ्चति।
तस्माज्जलमवश्यं हि,दातव्यं भेषजैः समम् ॥३॥'' वाच०।

ज्वल धा० दीप्तौ, चलने च। भ्वा० । पर०अक०सेट् । ज्वलति। अज्वालीत्। घटा०। ज्वलयति। ज्वला०। ज्वलः—ज्वालः। ''जज्वाल लोकस्थितये स राजा'' ''जागर्ति लोको ज्वलति प्रदीपः,सखीगणः पश्यति कौतुकेन। मुहूर्तमात्रं कुरु नाथ ! धैर्यं , बुभुक्षितः किं द्विकरेण भुङ्क्ते ॥१॥'' उदादिपूर्वकस्य तत्तदुपसर्गद्योत्यार्थयुक्तदीप्तौ,वाच०। 'ज्वल' दीप्तौ। वा अच्। दीप्तिविशिष्टे, न०। वाच०। देदीप्यमाने,सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०। रा०।

जलंत त्रि०(ज्वलत्) देदीप्यमाने,सूत्र०१ श्रु०२अ०। स्था०। उत्त०। ज्वालां मुञ्चति, उत्त०११ अ०। महा०। जाज्वल्यमाने, उत्त०१६ अ०। कल्प०।

जलकंत पुं०(जलकान्त) मणिविशेषे, उत्त०३६ अ०। प्रज्ञा० सूत्र०। आ०म०। उदधिकुमाराणां दक्षिणेन्द्रे, भ०३ श०८ उ०। स्था०। प्रज्ञा०। स०। जलकान्तेन्द्रस्य तृतीये लोकपाले, स्था०४ ठा०१उ०।

जलकिट्ट न०(जलकिट्ट) असां मले, रा०।

जलकीडा स्त्री०(जलक्रीडा) तडागजलयन्त्रादिषु मज्जनोन्मज्जन-शृङ्गिकाच्छोटनादिरूपायां क्रीडायाम्, ध०२ अधि०। देहशुद्धावपि जलेनाभिरतौ, भ०११ श०९उ०।

जलकीला स्त्री०(जलक्रीडा) 'जलकीडा' शब्दार्थे , भ०११ श०९उ०।

जलग पुं०(ज्वलक) वैश्वानरे, पिं०।

जलगय पुं०(जलगत) पूतरकादित्रसेषु, शेवालादिवनस्पतिकायिकेषु जीवेषु, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

जलचक्कवाल न०(जलचक्रवाल) तोयमण्डले, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

जलचार पुं०(जलचार) नावादिना संचरणे, आचा०२ श्रु०५ अ०१उ०।

जलचारण पुं०(जलचारण) जलपरिणामकुशलेषु, जलमुपेत्य वापीनिम्नगासमुद्रादिष्वप् कायिकजीवानविराधयत्सु, जले भूमाविव पादोत्क्षेपकुशलेषु, ग०२ अधि०।

जलचारिया स्त्री०(जलचारिका) चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

जलजलित त्रि०(जाज्वल्यमान) देदीप्यमाने, कल्प०२ क्षण।

जलट्ठाण न०(जलस्थान) जलाशयेषु, प्रज्ञा०२ पद।

जलण त्रि०(ज्वलन) ज्वल—ताच्छील्यादौ युच्। दीप्तिशीले, वाच०। अग्नौ, सूत्र०१ श्रु०३ अ०२उ०। आव०। वैश्वानरे, आ०म०। आत्मानं चारित्रं वा ज्वालयति दहतीति ज्वलनः। क्रोधे, सूत्र०१ श्रु०१अ०४उ०। पाटलिपुत्रे हुताशनब्राह्मणभार्यायां ज्वलनशिखायां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, आ०चू०४ अ०। आव०। आ०क०। चित्रकवृक्षे च। पुं०। वाच०। भावे ल्युट्। अग्नेरुद्दीपने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। शैत्यापनोदनाय शोधनार्थं वा वैश्वानरस्य ज्वलने, प्रकाशकरणाय दीपप्रबोधने, प्रश्न०३ सम्व० द्वार। ज्ञानादिगुणोद्भासने, प्रव० १४८ द्वार। णि०चू०। भस्मीकरणेच ग०२ अधि०।

जलणप्पवेस न०(ज्वलनप्रवेश) बालमरणभेदे, नि०चू०११ उ०। भ०

जलणसिह पुं०(ज्वलनशिख) सुरभिपुरवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्म शुभमतेः पितरि, दर्श०२ तत्त्व।

जलणसिहर पुं०(ज्वलनशिखर) वैताढ्यगिरेर्दक्षिणे शिवमन्दरे नग स्वनामख्याते, राज्ञि, उत्त०१३अ०।

जलणसिहा स्त्री०(ज्वलनशिखा) स्वनामख्यातायां पाटलिपुत्रनगरव स्तव्यहुताशनब्राह्मणभार्यायाम्, आव०४ अ०। आ०चू०। दर्श० विजयपुरनगरवास्तव्यरुद्रसोमद्विजभार्यायां च। सङ्घा०। आ०क०।

जलदचरण पुं०(जलदचरण) जलदमवष्टभ्याप् कायिकजीवपीड-मजनयति, प्रव० १८ द्वार।

जलदिट्ठि स्त्री०(जलदृष्टि) द्वि०ब०। उदकस्य विषये लोचनप्रसन्न-लक्षणयोर्मिलितयोरर्थयोः, आव०३ अ०।

जलपक्खंदण न०(जलप्रस्कन्दन) बालमरणभेदे नि०चू० ११उ०।

जलपूया स्त्री०(जलपूजा) प्रतिदिनं त्रिसन्ध्यमपि पवित्रगलितज-लभृतभाजनानां जिनपुरतो ढौकने, कर्पूरपूरसगोशीर्षघुसृणसु-रससरससुरभिसम्मिश्रपवित्रजलभृतककनककलशैर्जलमज्जने च। दर्श० तत्त्व।

जलप्पभ पुं०(जलप्रभ) उदधिकुमाराणां स्वनामख्याते उत्तरेन्द्रे, स्था० ठा०३उ०। भ०। जलकान्तेन्द्रस्य स्वनामख्याते चतुर्थे लोकपाले, स्था०४ ठा०१उ०। भ०।

जलप्पवेस पुं०(जलप्रवेश) जले प्रविश्य म्रियते। बालमरणभेदे, स्था० ठा०४उ०। भ०। नि०चू०।

जलभूमिआ स्त्री०(जलभूमिका) जलाधारभूमौ, प्रज्ञा०२ पद।

जलमग्ग पुं०(जलमार्ग) नावादिगम्ये पथि, सूत्र०२ श्रु०१ अ०। जलस्य तद्वाहस्य मार्गप्रणाल्याम्, वाच०।

जलमज्जण न०(जलमज्जन) जलेन देहशुद्धिमात्रे, भ०११ श०९उ०।

जलमंडूअ पुं०(जलमण्डूक) कुडुण्डुभे जलव्याले, नि०चू०१उ०।

जलमय त्रि०(जलमय) अप्कायिकेषु जीवेषु, प्रश्न०१ आ०श्र० द्वार।

जलमाला स्त्री०(जलमाला) प्रचुरजले,सूत्र०२ श्रु०१अ०।

जलमूअ पुं०(जलमूक) मूकभेदे, आव०४ अ०। ग०। ध०। नि० चू०।

जलय न०(जलज) सहस्रपत्रादिषु, प्रज्ञा०१ पद। आ०। म०। रा०।

जलयर पुं०(जलचर) जले चरति पर्यटतीति जलचरः ''आधाराद्'' ॥५।१।१३७॥ इत्यधिकारे । ''चरेष्टः'' ॥५।१।१३८॥ इति टप्रत्ययः। **''कगचजतदपयवां प्रायो लुक्''** ॥८

१।१७७। इति यलुकि 'जलअरः' तदभावे 'जलयरो' जलचरश्च। प्रा०१ पाद। ते च पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः (प्रज्ञा०)

से किं तं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया? जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—मच्छा कच्छभा (हा) गाहा मगरा सुंसुमारा।

अथ के ते जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः? सूरिराह—जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः। तदेव पञ्चविधत्वं तद्यथेत्यादिनोपदर्शयति—मत्स्याः कच्छपाः सूत्रे पकारस्य भकारः प्राकृतत्वात्। ग्राहाः मकराः शिशुमाराः प्राकृतत्वात् सूत्रे ''सुंसुमारा'' इति पाठः। (प्रज्ञा०)

जे यावन्ने तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—संमुच्छिमा य गब्भवक्कंतिया य, तत्थ णं जे ते सम्मुच्छिमा ते सव्वे णपुंसगा तत्थ णं जे ते गब्भवक्कंतिया, ते तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—इत्थी पुरिसा णपुंसगा।

ते जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः समासतः संक्षेपेण द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। संमूर्छिमाश्च गर्भव्युत्क्रान्तिकाश्च। 'मूर्छा' मोहसमुच्छ्रा—ययोः। अस्मात् संपूर्वात्सम्मूर्छनं संमूर्छः ''अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्'' ॥३।३।१९॥ इति (पाणि०) भावे घञ्प्रत्ययः। गर्भोपपातव्यतिरेकेण एवमेव प्राणिनामुत्पाद इति भावः। तेन निर्वृत्ताः संमूर्छिमाः ''भवादिमः ॥६।४।२१॥'' इति इमप्रत्ययः। गर्भे व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिर्येषां, व्युत्क्रान्तिशब्दोऽत्रोत्पत्तिवाची। तथा पूर्वाचार्यप्रसिद्धेः। यदि वागर्भात् गर्भावासात् व्युत्क्रान्तिर्निष्क्रमणं येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, ''शेषाद्वा'' ॥७।३।१७५॥ इति कप् समासान्तः। चशब्दौ प्रत्येकं स्वगतानेकभेदसूचकौ। तत्र ये ते संमूर्छिमास्ते सर्वे नपुंसकाः संमूर्छिमभावस्य नपुंसकत्वाविनाभावित्वात्, ये तु गर्भव्युत्क्रान्तिकास्ते त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा—स्त्रियः पुरुषाः नपुंसकाः एतेषां चोभयेषामपि शरीरावगाहनादिषु यच्चिन्तनं यच्च गर्भव्युत्क्रान्तिकानां स्त्रीपुंनपुंसकानां परस्परमल्पबहुत्वचिन्तनं तज्जीवाभिगमटीकायां कृतमिति ततोऽवधार्यम्।

एतेसि णं एवमाइयाणं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं अद्धतेरस जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा भवंतीति अक्खायं। सेत्तं जलयरपंचिंदिय तिरिक्खजोणिया।

'एतेसि णं' इत्यादि। एतेषामेवमादिकानामुपदर्शितप्रकारादीनां जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां पर्याप्तापर्याप्तानां सर्व संख्येयार्द्धत्रयोदशजातिकुलकोटीनां योनिप्रमुखाणि योनिप्रवाहानि शतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातं भगवद्भिस्तीर्थकरैः। उपसंहारमाह—''सेत्तं'' इत्यादि। तदेवमुक्ता जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः। प्रज्ञा०१ पद। स०। उत्त०। जी०। औ०। आचा०। सूत्र०। स्था०। जलचराः जलजीवाः। कल्प०३क्षण।

जलयरी स्त्री०(जलचरी) जलचरतिर्यग्योनिस्त्रियाम्, (जी०)

से किं तं जलयरीओ? जलयरीओ पंचविधाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—मच्छीओ०जाव सुंसुमारीओ। सेत्तं जलयरीओ॥ जी०२ प्रति०।

जलयामलगंधिय पुं०(जलजामलगन्धिक) जलजानामिवजलजकुसुमानामिव मलो न तु कुद्रव्यसम्मिश्रो यो गन्धः स विद्यते येषां ते जलजामलगन्धिकाः। तेषु, ''अतोऽनेकस्वरात्'' ॥७।२।६॥ इतीकप्रत्ययः। पद्मैकगन्धिनी, जी०३ प्रति०। रा०।

जलरक्खस पुं०(जलराक्षस) पञ्चमे राक्षसभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

जलमरण न०(जलरमण) जलक्रीडायाम्, ज्ञा०१श्रु०१३अ०।

जलरुह पुं०(जलरुह) जले रुहन्तीति जलरुहाः। उदकावकपनकादिके वनस्पतिकायभेदे, जी०१ प्रति०। भ०। जलरुहा उदका—वकपनकशैवलकलम्बुकापावककशेरुकोत्पलपद्मकुमुदनलिनपुण्डरीकादयः। आचा०१ श्रु०१अ०५उ०।

से किं त जलरुहा? जलरुहा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा—उदए अवए पणए सेवाले कलंबुया हठे कसेरुया कत्थभाणी उप्पले पउमे कुमुदे णलिणे सुभए सुगंधिए पोंडरीए महापोंडरीए सयवत्ते सहस्सवत्ते कल्हारे कोकणदे अरविंदे तामरसे भिसे त्ति समुणाले पोक्खले पोक्खलछिलए, जे यावण्णे तहप्पगारा। सेत्तं जलरुहा॥ प्रज्ञा०१ पद॥

जलरूव पुं०(जलरूप) उदधिकुमारेन्द्रस्य जलकान्तस्य स्वनाम—ख्याते द्वितीये लोकपाले भ०३ श०८उ०।

जललिल्लिर न०(जललिल्लिर) जलोत्पन्ने वस्तुभेदे, ''जललिल्लिरचिरनिवसियं'' दर्श०१ तत्त्व।

जलवासि(न्) पुं०(जलवासिन्) परतीर्थिके तापसभेदे, ''जलवासिणीत्ति'' ये जलनिमग्ना एवासते। भ०११ श० ९ उ०। नि०। औ०।

जलविच्छुय पुं०(जलवृश्चिक) चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा०१पद।

जलवीरिय पुं०(जलवीर्य) चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी०१ प्रति०। ऋषभस्वामिनः सप्तमे तद्वंश्ये नृपे, स्था०८ ठा०। आव०।

जलवुव्वुअ न०(जलवुद्वुद) जलस्य गोलाकारे विकारभेदे, वाच०। ''विसयसुहं जलवुव्वुअसमाणं'' औ०।

जलसिद्धि स्त्री०(जलसिद्धि) जलावगाहनात् सिद्धौ, ''मुसंवयंते जलसिद्धिमाहु'' जलावगाहनात् सिद्धिमाहुस्ते मृषा वदन्तीति। सूत्र०१ श्रु०७ अ०।

जलसूग न०(जलशूक) जलस्य शूकमग्रम्। शैवाले, वाच०। इन्द्रस्य जलक्रान्तस्य स्वनामख्याते द्वितीये लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ०।

जलसोयवाइ(न्) पुं०(जलशौचवादिन्) परतीर्थिकभेदे, ''जलसोयं जे अ इच्छंति'' ये चान्ये जलशौचमिच्छन्ति भागवतादयस्ते सर्वेऽप्यप्राशुकाहारभोजित्वात् कुशीला इति। सूत्र०१ श्रु०७ अ०।

जलहर पुं०(जलधर) महामेघे, कल्प०२ क्षण। वाच०। को०।

जलहि पुं०(जलधि) जलानि धीयन्तेऽत्र। धा०कि०। समुद्रे,

तोयधिप्रभृतयोऽप्यत्र । चक्षुःसंख्यायाम्, संख्याभेदे, वाच० पद्मं शङ्खर्जलधिरन्त्यं मध्यं परार्द्धं च । कल्प०८ क्षण ।

जलावण न०(ज्वालन) उद्दीपने, ''जलणजलावणविदंसणेहिं'' (जलावणं ति) स्वतः परतो वाऽग्नेरुद्दीपनमिति । प्रश्न०१ आश्र० द्वार ।

जलाभिसेयकढिणगाय पुं०(जलाभिषेककठिनगात्र) वानप्रस्थ तापसभेदे,ये अस्नात्वा न भुञ्जते स्नानाद्वा पाण्डुरीभूतगात्राः 'इति वृद्धाः' । भ०११ श०१उ०। नि०।

जलाभिसेयकढिणगायभूय पुं०(जलाभिषेककठिनगात्रभूत) वानप्रस्थतापसभेदे, । ''जलाभिसेयकढिणगत्ता'' क्वचित् ''जलाभिसेयकढिणगायभूय'' त्ति । दृश्यते तत्र जलाभिषेक कठिनं गात्रं भूताः प्राप्ता ये ते तथा । भ०११ श०१ उ०। नि०।

जलासय पुं०(जलाशय) सरःप्रभृतौ जलस्थाने, (प्रज्ञा०)

बादराप्कायिकानां स्थानमधिकृत्य–

अगडेसु तलाएसु सरेसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु विलपंतियासु उज्झरेसु णिज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वेप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु जलभूमिआसु ।

किम्बहुना सर्वेष्वेव जलाशयेषु एतदेव व्याचष्टेजलस्थानेषु । प्रज्ञा०२ पद । जी०।

राज्ञा अन्येन वा ईश्वरेण कूपतडागसत्रदानाद्युद्यतेन पुण्य–

सद्भावं पृष्टैर्मुमुक्षुभिर्यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह–

दुहुओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।
आयं रयस्स हेच्चाणं, निव्वाणं पाउणंति ते ॥२१॥

यदि अस्ति पुण्यमित्येवमूचुस्ततोऽनन्तानां सत्त्वानां सूक्ष्मबादराणां सर्वदा प्राणत्याग एव स्यात् । प्रीणनमात्रं तु पुनः स्वल्पानां स्वल्पकालीयमतोऽस्तीति न वक्तव्यम् । नास्ति पुण्यमित्येवंप्रतिषेधेऽपि तदर्थिनामन्तरायः स्यात्, इत्यतो द्विधाप्यस्ति नास्ति वा पुण्यमित्येवं ते मुमुक्षवः साधवः पुनर्न भाषन्ते । किं तु–पृष्टैस्सद्भिर्मौनं समाश्रयणीयम् । निर्बन्धे त्वस्माकं द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जित आहारः कल्पते । एवंविधविषये मुमुक्षूणामधिकार एव नास्तीति । उक्तं च– ''सत्यंवप्रेषु शीतं शशिकरधवलं वारि पीत्वा प्रकामं, व्युच्छिन्नाशेषतृष्णाः प्रमुदितमनसः प्राणिसार्था भवन्ति । शोषं नीते जलौघे दिनकरीकरणैर्यान्त्यनन्ता विनाशं, तेनोदासीनभावं व्रजति मुनिगणः कूपवप्रादिकार्ये ॥१॥'' तदेवमुभयथाऽपि भाषिते रजसः कर्मण आयो लाभो भवतीत्यतस्तं चायं रजसो मौनेनानवद्यभाषणेन वा हित्वा त्यक्त्वा तेऽनवद्यभाषिणो निर्वाणं मोक्षं प्राप्नुवन्ति इति । सूत्र०१ श्रु०११ अ०।

जलासयसोस पुं०(जलाशयशोष) जलाशयानां सरः प्रभृतीनां शोषणम् । सरः प्रभृतीनां शोषणे, तच्च कर्मादानम् । यदुक्तम्–''सरदहतलायसोसो, बहुजलयरजीवखयकारी'' प्रव०६ द्वार ।

जलिंत त्रि०(ज्वालयत्) दीपयति, महा०७ अ०।

जलिय त्रि०(ज्वलित) ज्वल–क्त–दग्धे, दीप्ते, उज्ज्वले, भास्वरे च। वाच० । ज्वालाकुले, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०। प्रश्न०। ''पक्खंदे जलितं जोयं'' ज्वलितं ज्वालामालाकुलं मुर्मुरादिरूपम् । दश०२ अ०। उत्त०। ''जलियहुआसणो वि व तेजसा जलंते'' प्रश्न०५ सम्ब० द्वार ।

जलियचुडिली स्त्री०(ज्वलितचुडिली) प्रदीप्ततृणपूलिकायाम्, ''जलियचुडिलीविव अमुच्चमाणमहणसीलाओ'' (जलिय चुडिलीविव त्ति) प्रदीप्ततृणपूलिकेव दहनशीला ज्वलनस्वभावा इति । तं०।

जलूया स्त्री०(जलौकस्) जलमोको वसतिरस्याः । जलजे द्वीन्द्रियजीवविशेषे, अणु०३ वर्ग । जलौका जलजो द्वीन्द्रियजीवविशे–षेः। भ०१३ श०६ उ०। जलौकसो दुष्टरक्ताऽकर्षिण्यः । उत्त०३६ अ०। आक०। प्रज्ञा०। जी०। बृ०। आव०। आचा०। दश०। आ०म०। नि०चू०। खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकचर्मपक्षिभेदे, जी०१ प्रति०। प्रज्ञा०।

***जलूका** स्त्री० । जलूकेति अनेषणाप्रवृत्तदायकस्य मृदुभावनिवारणार्थसूचकत्वात् । द्रुमपुष्पिकाध्ययने, दश०१ अ०।

जलोयर न०(जलोदर) जलप्रधानमुदरं यस्मात् ५ व०। उदरामयरोगभेदे,वाच०। ''पृथक् समस्तैरपि चानिलाद्यैः, प्लीहोदरं बद्धगुदं तथैव । आगन्तुकं सप्तममष्टमं तु, जलोदरं वेति भवन्ति तानि ॥१॥'' आचा०१ श्रु०६ अ०१उ०।

जलोयारि(न्) पुं०(जलोदरिन्) उदररोगविशेषवति, वाच०। वातपित्तादिसमुत्थमष्टधोदरं तदस्यास्त्युदरी तत्र जलोदर्यसाध्यः शेषाः स्थविरोत्थिताः साध्या इति । आचा०१ श्रु०६ अ०१उ०।

जलोयरिणी स्त्री०(जलोदरिणी) कपिलसुतस्य कल्पस्य स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, आ०क०।

जलोया पुं०(जलौकस्) 'जलूया' शब्दार्थे , अणु०३ वर्ग ।

जल्ल पुं०(यल्ल) याति च लगति चेति यल्लः । रजोमात्रे, संथा०। भ०। औ०। शरीरादिमले, स०२२ सम०। ध०। प्रश्न०। जं०। विशे०। स्था०। आव०। यल्लो मलविशेष इति । प्रश्न०५ सम्ब० द्वार । यल्लः शरीरवस्त्रादिकमलम् । स०२२ सम०। यल्लो मलः कर्णवदननासिकानयनजिह्वासमुत्थः शरीरसंभवश्च । भव० ७ द्वार।

***जल्ल** पुं० । देहप्रभवपङ्के,दर्श०३ तत्त्व । जल्लोऽस्थिरो मालिन्यहेतुरिति । ज्ञा०१ श्रु० १३ अ०। जल्लः शुष्कः प्रस्वेद इति । सूत्र०१ श्रु०३ अ०१उ०। याति च लगति चेति जल्लः । पृषोदरादित्वान्निष्पत्तिः । स्वल्पप्रयत्नापनेयः । जी०३ प्रति०। तं०। औ०। जल्लं कठिनतापन्नं मलमिति । उत्त०३ अ०। जल्लो नाम मलः कठिनीभूत इति । दश०७ अ०। ''जल्लो उ होइ कमठं'' नि०चू० ३ उ०। ''जल्लो कमठीभूतो'' नि०चू०१ उ०। ''मलथिग्गलं जल्लो भणति'' नि०चू० ३उ०। वस्त्राखेलके, राज्ञः स्तोत्रपाठके च । जल्लाः वस्त्राखेलका राज्ञः स्तोत्रपाठका इत्यन्ये । ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। औ०। अनु०। कल्प०। जी०। दशा०। जं०। प्रश्न०। रा०। म्लेच्छभेदे च । प्रश्न०१ आश्र० द्वार ।

जल्लपरीसह पुं०{य(ज)ल्लपरीषह} यल्ल इति मलः स एव परीषहो यल्लपरीषहः । अष्टादशे मलपरीषहे, उत्त०६अ०। स०। जल्लो मलस्तत्परिषहणं च देशतः सर्वतो वा स्नानोद्वर्तनादिवर्जनम् । भ०८ श०८उ०। प्रव०।

अथ तृणादिस्पर्शात् शरीरे प्रस्वेदात् रजःस्पर्शान्मलोपचयः स्यात् तदा मलपरीषहोऽपि सोढव्यः । अतस्तमाह–

किलिन्नगायमेहावी, पंकेण य रएण वा ।
घिंसु वा परितावेणं, सायं नो परिदेवए ॥३५॥

मेधावी साधुः 'घिसु' ग्रीष्मकाले, वाशब्दात् शरदि अपि परितापेन गाढोष्णा पङ्केन प्रस्वेदात् आर्द्रीभूतमलेन । अथवा–रजसा आर्द्रमलेन परिशुष्य काठिन्यं प्राप्तेन धूल्या वा क्लिन्नगात्रः सन् बाधितशरीरः सन् (सातं) सुखं न परिदेवेत मलापहारात् सुखं न वाञ्छेत् सातार्थं विलापं न कुर्यादित्यर्थः ॥३५॥

तदा किं कुर्यादिति ? आह–

वेइज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्ममणुत्तरं ।
जाव सरीरभेउ त्ति, जल्लं काएण धारए ॥३६॥

निर्जरापेक्षी कर्मक्षयमीप्सुः साधुस्तावत्कायेन जल्लं धारयेत् देहेन मलं धारयेत् । पुनः मलपरीषहं (वेइज्ज) वेदयेत् सहेत तावत्कथं यावत् शरीरस्य पातः स्यात् । साधुः कीदृशः सन् ? आर्य श्रुतचारित्ररूपं धर्मं प्रपन्नः सन् इत्यध्याहारः । कीदृशं धर्मम् ? अनुत्तरं सर्वोत्कृष्टम् ॥३६॥ उत्त०२अ०।

जल्लपेहा स्त्री०(जल्लप्रेक्षा) जल्ला वरत्राखेलकाराः स्तोत्रपाठका इत्यपरे, तेषां प्रेक्षा जल्लप्रेक्षा । जल्लप्रेक्षणे, जी०३ प्रति०।

जल्लमल पुं०(यल्लमल) याति च लगति चेति जल्लः । पृषोदरादित्वान्निष्पत्तिः । स चासौ मलश्च यल्लमलः । यल्लरूपे मले, ''जल्लमलकलंकसेयरयदोसवज्जियसरीरनिरुवलेवा'' । तं०। औ०।

जल्लमलपंकिय त्रि०(यल्लमलपङ्कित) बहुमलस्निग्धाङ्गे, जल्लमलपंकिआण वि लावन्नसिरीओ जहा सि देहे णं'' । जल्लमलपङ्कितानामपि बहुमलस्निग्धाङ्गानामपीति भावः । पं०व० ३ द्वार । ''जल्लो कमढीभूतो मलो उव्वट्टितो फिडुत्ति पंकिता णाम जलमल्लेन ग्रस्ता इति'' । नि०चू०१उ०।

जल्लिय न०(जल्लक) शरीरमले, (जल्लियं ति) आर्षत्वात् जल्लो मलः । उत्त०२४ अ०।

***यल्लित** त्रि० । यानलगनधर्मोपेतमलयुक्ते, भ०६ श०३उ०।

जल्लेस त्रि०(यल्लेश्य) यस्याः लेश्यायाः संबन्धिनि द्रव्यादौ, ''जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ'' ; या लेश्या येषां द्रव्याणां तानि यल्लेश्यानि यस्या लेश्यायाः संबन्धिनीत्यर्थः । भ०३श०४उ०।

जल्लोसहि स्त्री०(जल्लौषधि) जल्लो मलः कर्णवदननासिकानयनजिह्वासमुद्भवः शरीरसमुद्भवश्च । स एवौषधिर्यस्यासौ यत्प्रभावती जल्लः सर्वरोगापहारकः सुरभिश्च भवति स जल्लौषधिः । लब्धिभेदे, प्रव० २६६ द्वार । लब्धिलब्धिमतोरभेदोपचारात् । यल्लौषधिलब्धिविशेषसंपन्ने साधौ च । आ०चू०१अ०। ग०। आ०म०। स्था०। विशे०। पा०।

जल्लोसहिपत्त त्रि०(यल्लौषधिप्राप्त) यल्लो मलं, स एवौषधिर्यल्लौषधिस्तां प्राप्तो यल्लौषधिप्राप्तः । यल्लौषधिं लब्धिविशेषं प्राप्ते, औ०। ''जल्लोसहिपत्तेहिं'' प्रश्न०१ सम्ब० द्वार।

जव पुं०(जप) जप–अच् । वेदमन्त्रादेरावृत्तौ, असकृदुच्चारणे, जपस्तद्भाषणं ध्येयसम्मुखीकरणं मुनेः इत्युक्ते मन्त्रादिभाषणे च । वाच०। करजापो नन्दावर्तशङ्खावर्तादिरपि बहुफलः । उक्तं च– ''करआवत्ते पंच, मंगला साहुपडिमसंखाए । णव वारा आवत्तइ, छलंति तं नो पिसायाई ॥'' बन्धनादिकष्टे तु विपरीतशङ्खावर्तादिनाऽक्षरैः पदैर्वा विपरीतनमस्कारं लक्षादि जपेत् । सद्यः क्लेशनाशः स्यात् । यद्यपि मुख्यवृत्त्या निर्जरायै एव सम्यग् दृशां गणनमुचितं तथापि तत्तद्रव्यक्षेत्रकालभावसामग्रीवशेनैहिकाद्यर्थमपि स्मरणं कदाचिदुपकारीति शास्त्रे उपदिष्टं दृश्यते । यतो योगशास्त्रं–''पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये, क्षोभणे विद्रुमप्रभम् । कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत्, कर्मघाते शशिप्रभम् ॥१॥'' इति । करजापाद्यशक्तस्तु रत्नरुद्राक्षादिजपमालया स्वहृदयसमश्रेणिस्थया परिधानवस्त्रचरणादावलगन्त्या मेर्वनुलङ्घनादिविधिना जपेत् ।

यतः–

''अङ्गुल्यग्रेण यज्जप्तं, यज्जप्तं मेरुलङ्घने ।
व्यग्रचित्तेन यज्जप्तं, तत्प्रायोऽल्पफलं भवेत् ॥१॥
संकुलाद्विजने भव्यः, सशब्दान् मौनवान् शुभः ।
मौनजान् मानसः श्रेष्ठो, जापः श्लाघ्यः परः परः'' ॥२॥

श्रीपादलिप्तसूरिकृतप्रतिष्ठापद्धतावप्युक्तम्–जापः त्रिविधो मानसोपांशुभाष्यभेदात् । तत्र मानसो मनोमात्रवृत्तिनिर्वृत्तः । स्वसंवेद्यः। उपांशुस्तु परैरश्रूयमाणोऽन्तःसंजल्परूपः । यस्तु परैः श्रूयते स भाष्यः । अयं यथाक्रममुत्तममध्यमाधमसिद्धिषु शान्तिपुष्ट्यभिचारादिरूपासु नियोज्यः । मानसस्य यत्नसाध्यत्वात् । भाष्यस्याधमसिद्धिफलत्वात् । उपांशोः साधारणत्वादिति ।ध०२ अधि०।

***यव** पुं० । यु–अच्– स्वनामख्याते शूकधान्यभेदे ''वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम् । मोदमानाश्च तिष्ठन्ति, यवाः कणिशशालिनः ॥१॥'' वाच०। जं०। यवा हयप्रिया इति । जं० २ वक्ष०। ओषधिभेदे, प्रज्ञा०१ पद । आचा०। यवैरङ्कुष्ठम ध्यस्थैर्विद्याख्यातिविभूतयः । शुक्लपक्षे तथा जन्म, दक्षिणाङ्कुष्ठगैश्च ते'' ॥ कल्प०१ क्षण । यूकाष्टकमिते परिमाणभेदे च । ''परमाणू तसरेणू, रहरेणू अग्गयं च बालस्स ॥ लिक्खा जूया य यवो, अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ॥१॥'' स्था०८ठा०। ज्यो०। नं०। प्रव०।

यापि या० णिच्– **''यापेर्जवः ॥८।४।४०॥** इति प्राकृतसूत्रेण यातेर्ण्यन्तस्य 'जव' इत्यादेशो वा भवति । 'जवइ जावेइ' । प्रा०४ पाद।

जवओ (देशी) जवाङ्कुरे, दे०ना०३ वर्ग।

जवजव पुं०(यवयव) यवविशेषे, भ०६ श०६उ०। बृ०। जं०। स्था०। आचा०।

जवणं (देशी) हलशिखायाम्, दे०ना०३ वर्ग।

जवण पुं०(जवन) वेगे, आ०म०प्र० शीघ्रे, जवनशब्दः शीघ्र-वचनः। भ०१४ श०१ उ० वेगवति शीघ्रगे घोटके, वाच० परमोत्कृष्ट-वेगपरिणामोपेता जवनाः। आ०म०प्र०।

***यवन** पुं०। म्लेच्छजातिभेदे, सू०प्र०२० पाहु० प्रव० सूत्र० देशभेदे, तद्देशस्थे जने च। वेगे, अधिकवेगवत्यश्वे गोधूमे, गर्जरतृणे, तुरुष्कजातौ, ययातिशप्तस्य तत्पुत्रस्य तुर्वसोर्वंश्ये जातिभेदे च। वेगवति, त्रि० वाच०।

***यापन** न० संयमभारोद्वाहिदेहपालने, ''यवणट्ठया समुयाणं च निच्चं'' संयमभारोद्वाहिदेहपालनाय। दश०६अ०३उ०। ''जवणट्ठाए निसेवए मन्थुं'' यापनार्थं शरीरनिर्वाहार्थमिति। उत्त०८अ०।

जवणद्दीव पुं०(यवनद्वीप) यवनानां निवासभूते द्वीपभेदे, आ०चू० १अ०।

जवणा स्त्री०(यापना) शरीरनिर्वाहे, उत्त०८अ०। यापनाऽपि द्विविधा-द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्यतः शर्कराद्राक्षादिसदौषधैः कायस्य समाहितत्वात्। भावतश्च इन्द्रियनोइन्द्रियोपशान्तत्वेन शरीरस्य समाहितत्वम्। प्रव०२ द्वार। आव०।

जवणाणिया स्त्री०(यवनानिका) ब्राह्म्या लिपेर्लेख्यविधानभेदे, प्रज्ञा०१ पाद।

जवणालिया स्त्री०(यवनालिका) कन्याचोलके, आ०म० प्र० यवनालको नाम कन्याचोलकः। स च मरुमण्डलादिप्रसिद्धः चरणकरूपेण कन्यापरिधानेन सह सेवितो भवति येन परिधानं न खसति कन्यानां चैष मस्तकप्रदेशेन प्रक्षिप्यते अत एवायमूर्द्धः सरकञ्चुक इति व्यपदिश्यते। तथा च भाष्यकृत्- ''जवनालतो त्ति भणिनो, तुब्भे सरकंचुओ कुमारीए'' आ०म०प्र०। विशे०। प्रज्ञा०। नं०।

जवणाली स्त्री०(यवनाली) यस्यां नालिकायां यवा उप्यन्ते। तस्याम्, ''जवणाली णाम जाए णालीए जवा उप्पंते तस्याम् वाविज्जंति सा जवणाली भण्णति'' आ०चू०१ अ०।

जवणिज्ज त्रि०(यापनीय) वंश्ये, ''जत्ता ते भंते ! जवणिज्जं अव्वावाहं फासुयविहारं'' (जवणिज्जं ति) यापनीयं मोक्षाध्वनि गच्छतां प्रयोजक इन्द्रियादिवश्यतारूपो धर्मः। भ०१ श०१० उ०।

जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-इंदियजवणिज्जे य णोइंदियजवणिज्जे य। से किं तं इंदियजवणिज्जे ? इंदियजवणिज्जे, जे इमे सोइंदियचक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं णिरुवहयाइं वासे वट्टंति, सेत्तं इंदियजवणिज्जे। से किं तं णोइंदियजवणिज्जे? णो इंदियजवणिज्जे जं मे कोहमाणमाया-लोभा वोच्छिण्णा णोउदीरेंति। सेत्तं णोइंदियजवणिज्जे। सेत्तं जवणिज्जे।

(इंदियजवणिज्जं ति) इन्द्रियविषयं यापनीयं वश्यत्वमिन्द्रिययापनीयम्। एवं नोइन्द्रिययापनीयं नवरं नोशब्दस्य मिश्रवचनत्वादिन्द्रियैर्मिश्राः। सहार्थत्वाद्वा इन्द्रियाणां सहचरिता नोइन्द्रियाः कषायाः। ध०३अधि० ज्ञा० प्रा०।

जवणिया स्त्री०(जवनिका) जवन्त्यस्यां जू-ल्युट् स्वार्थे कन् अत इत्वम्। आच्छादक(परदा) पटे, वाच०।

***यवनिका** स्त्री०पुं०(युवन्त्यस्यां) ल्युट् ङीप् कन् अत इत्वम्। यवनिकायाम्, वाच०। ''अब्भिंतरियं जवणियं अच्छावेइत्ता''। आभ्यन्तरिकीमास्थानशालाम् अभ्यन्तरभागवर्तिनीं यवनिकां काण्डपटम् '' अच्छावेइ त्ति'' आयतां कारयतीति। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। विशे०।

जवण्ण न०(जवान्न) व्यञ्जनभेदे, सू०प्र०२० पाहु० स्था०।

जवपाणिय न०(यवपानीय) यवोदके, ''जवपाणियं अपेयं'' संस० नि०।

जवमज्झ त्रि०(यवमध्य) यवस्येव मध्यं मध्यभागो यस्य विपुलत्वसाधर्म्यात् तद्यवमध्यम्। यवाकारे, भ०२५ श०३उ०। क०प्र० अष्टाभिर्यूकाभिः परिमिते प्रमाणभेदे च। न० प्रव० २५४ द्वार। ज्यो० नं०। यवाकृतिमध्यं यस्य। चान्द्रायणभेदे, प्रथमदिनादापञ्चदशदिनमेकैकग्रासबृद्ध्या तदुत्तरं च आपञ्चदशदिनं क्रमेणैकग्रासहान्या माससाध्ये व्रते, तस्य मध्यवदिवसानां हि बहुलग्रासवत्त्वेन यवमध्यतुल्यत्वम्। वाच०।

जवमज्झचंदपडिमा स्त्री०(यवमध्यचन्द्रप्रतिमा) यवस्येव मध्यं यस्याः सा यवमध्या चन्द्र इव कला वृद्धिहानिभ्यां या प्रतिमा सा चन्द्रप्रतिमेति यवमध्यचन्द्रप्रतिमा। स्था०३ ठा०३उ०। प्रतिमाभेदे, ''उवमा जवेण चंदेण वा वि जवमज्झचंदपडिमाए''-जव-मध्यचन्द्रप्रतिमायाम्, यवेनोपमाचन्द्रेण च यवस्येव मध्ये यस्याः सा यवमध्या चन्द्राकारा प्रतिमा चन्द्रप्रतिमेति व्युत्पत्तेः। व्य०२ उ०। शुक्लप्रतिपदि एकं कवलमभ्यवहृत्य ततः प्रतिदिनं कवल-वृद्ध्या पञ्चदश पूर्णमास्याम्, कृष्णप्रतिपदि च पञ्चदश भुक्त्वा प्रतिदिनमेकहान्या अमावस्यायामेकमेव यस्यां भुङ्क्ते सा यवमध्या चन्द्रप्रतिमेति। स्था०२ ठा०३उ०।

जवमज्झा स्त्री०(यवमध्या) प्रतिमाभेदे, यवमध्या या यववदनि कवलादिभिराद्यन्तयोर्हीना मध्ये च वृद्धेति। स्था०४ ठा०१उ०।

जवरओ (देशी) जवाङ्कुरे, दे०ना० ३ वर्ग।

जवराज पुं०(यवराज) अनिलनरेन्द्रसुते स्वनामख्याते राजनि, (बृ०) कः पुनर्यव इति? आह-

यवराजदीहपट्ठ-सचिवो पुत्तो य गद्दभो तस्स।
धुत्ता अहोलिया ग-द्दभेण छूढा अगमियम्मि॥
पव्वयणं च नरिंदे, पुणरागममडोलि चेडाण।
जव पत्थ णं खरस्स उ, उवस्सए परुससालाए॥

यवो नाम राजा तस्य दीर्घपृष्ठः सचिवः, गर्दभश्च पुत्रः, दुहिता अडोलिका, सा च गर्दभेन तीव्ररागाध्युपपन्नेन अगमे भूमिगृहे विषयसेवार्थं क्षिप्ता; तच्च ज्ञात्वा वैराग्योत्तरङ्गितमनसो नरेन्द्रस्य प्रव्रजनं पुत्रस्नेहाच्च तस्योज्जयिन्यां पुनः पुनरागमनम् अन्यदा च-चेटरूपाणाम् अडोलिकया क्रीडनं खरस्य यवप्रार्थनं ततश्चोपाश्रये पुरुषः कुम्भकारस्तस्य शालायामित्यक्षरार्थः। भावार्थः पुनरयम्- ''उज्जेणी नगरी तत्थ अनिलसुओ *यवो नाम राया, तस्स पुत्तो गद्दभो नाम जुवराया, तस्स धूया गद्दभस्स*

जुवरण्णो भइणी अडोलिया णाम । सा य अतीवरुववती । तस्स वि जुवरण्णो दीहपुट्ठो अमच्चो । ताहे सो जुवराया तं अडोलियं भगिणीं पासित्ता अज्झोववन्नो दुव्वलीभवति । अमच्चेण पुच्छिओ निव्वंधे सिट्ठं अमच्चेण भन्नति–सागारियं भविस्सति । ताए सा भूमिघरि वुज्झति तत्थ भुंजाहि ताए समं भोए लोगो जाणिस्सति । सा कहिं पि विनट्ठा एवं होउत्ति कयं । अन्नया सो राया तं अकज्जं नाउं निव्वेरेण पव्वतिओ । गद्दभो राया जातो सो य जवो नेच्छति पढिउं पुत्तनेहेण य पुणो पुणो उज्जेणिं एति । अन्नया सो उज्जेणीए अदूरसामंते जवखेत्तं तस्स समीवे वीसमति । तं च जवखेत्तं एगो खेत्तपालओ रक्खति । इओ य एगो गद्दभो तं जवखेत्तं चरिउं इच्छति । ताहे तेण खेत्तपा–लएण सो गद्दभो भन्नति– ''आधावसी पधावसी, ममं चावि निरि–क्खसी । लक्खितो ते मया भावो, जवं पत्थसि गद्दहा ! ॥१॥'' अयं भाष्यान्तर्गतः श्लोकः कथानकसमाप्त्य-नन्तरं व्याख्यास्यते। एवमुत्तरावपि श्लोकौ । ''तेण साहुणा सो सिलोगो गहिओ । तत्थ य चेडरूपाणि रमंति अडोलियाए उंदोइयाए त्ति भणियं होइ सा य तेसिं रमंताणं अडोलिया नट्ठा विले पडिया । पच्छा वाणि चेडरू–वाणि इओ तओ य मग्गंति, तं अडोलियं न पासंति । पच्छा एगेण चेल्लूवेण तं विलं पासित्ताण यं जा एत्थ न दीसंति सा तूणं एयम्मि विलम्मि पडिया ताहे तेण भन्नति– ''इओ गया इओ गया, मग्गिज्जंती न दीसंति । अहमेयं वियाणामि,अगडे छूढा अडोलिया ॥२॥'' सो वि णेणं सिलोगो पढिओ । पच्छा तेण साहुणा उज्जेणिं पविसित्ता कुंभकारसालाए उवस्सए गहेओ सो य दीहपुट्ठो अमच्चो तेणं जाव साहुणा रायत्ते वि गहिओ ताहे अमच्चो चिंतेतिकहं एयस्स वेरं निज्जपमित्ति काओ गद्दभं रायं भणति–एस परीसहपराजिओ रज्जं पेल्लेउकामो जति न पत्तियसि पेच्छह से उवस्सए आउहाणि तेणं अमच्चेणं पुव्वं चेव ताणि आउहाणि तम्मि उवस्सए भूमियाणि पत्तियावणनिमित्तं रन्ना दिट्ठाणि पत्तिज्जिउ तीए अ । कुंभकारसालाए उंदुरो दुक्किओ उसरति भएणं ताहे तेणं कुंभकारेणं भणति– ''सुकुमालग ! भद्दलग, रत्तिं हिंडणसीलग । भयं ते नत्थि मंडूला, दीहपुट्ठाउ ते भयं'' ॥३॥ सो वि णेण सिलोगो गहिओ । ताहे सो राया तं पिअरं मारेउकामो रहं मग्गइ पगासेउ उड्डाहो होहित्ति काओ अमच्चेण ममं रत्तिं फरुससालं अल्लीणो अच्छति । तत्थ तेण साहुणा पढिओ पढमो सिलोगो– ''आधावसी पधावसी, ममं चावि णिक्खसी । लक्खितो ते मया भावो, जवं पत्थेसि गद्दभा'' ॥१॥ रत्ता नायं चेति जामो धुवं अतिसेसी एस साधू । तओ वितिओ पढिओ– ''इओ गया इओ गता, मग्गिज्जंती ण दीसइ । अहमेयं विजाणामि अगडे छूढा अडोलिया ॥२॥'' तं पि णेणं परिगयं जहा–नामयं एतेण तओ ततितो पढिओ– ''सुकुमालग ! भद्दलग, रत्तिं हिंडणसीलग । भयं ते णत्थि मंडूला, दीहपुट्ठाउ ते भयं''॥३॥ ताहे जाणति एस अमच्चोममं चेव मारेउकामो कओ ममं पितरो ताहे ओसंते भोए परिव्वइत्ता पुणो ते चेव पेच्छतिएस अमच्चो मम मारेउकामेण वंजत्तं करेति । ताहे राया अमच्चस्स सीसं छेत्तुं साधुस्स उवगंतुं सव्वं कहेति–खामेइ य''। अथ श्लोकत्रयस्याक्षरार्थः–आईषत् आभिमुख्येन वा धावसि प्रकर्षेण पृष्ठतो धावसि मामपि च निरीक्षसे, लक्षितस्ते मया भावोऽभिप्रायो यथायवधान्यचरितुं प्रार्थयति भो गर्द्दभ ! द्वितीतीयपक्षे यवनामानं राजानं मारयितुं भो गर्दभनृपते ! प्रार्थयतीति प्रथमश्लोकः ॥१॥ इतो गता २ मृग्यमाणा न दृश्यते अहमेतद्विजानामि अगडे भूमिगृहे गर्तायां चाक्षिप्ता अडोलिका उंदोयिका नृपतिदुहिता, वा द्वितीयश्लोकः । एष कस्य राज्ञस्त्वशरसौकुमार्यभावात् सुकुमारक ! इत्यामन्त्रणं (भद्दलग त्ति) भद्राकृते ! रात्रौ हिण्डनशील ! मूषकस्य दिवा मानुषावलोकनचकिततया। राज्ञस्तु वीरचर्यया रात्रौ पर्यटनशीलत्वात् । भयं ते तव नास्ति मन्मूलात् मन्निमित्तात्। किन्तु दीर्घपृष्ठात् एकत्र सर्पात् अपरत्र अमात्यात्। (ते) तव भयमिति। तृतीयश्लोकः।

ततः स राजर्षिश्चिन्तयति–

सिक्खियव्वं मणूसेणं, अवि जारिसतारिसं।
पेच्छ मुद्धसिलोगेहिं, जीवियं परिरक्खियं ॥

शिक्षितव्यं मनुष्येण अपि यादृशतादृशम्। पश्य मुग्धैरपि श्लोकैर्जीवितं परिरक्षितम् ॥१॥

तथा–

पुव्वविराहियसचिवे, सामत्थणरत्तिआगमो गुणना।
नाउम्मि सचिवधायण–खामणगमणं गुरुसगासे ॥

पूर्वं विराधितो यः सचिवस्तस्य राज्ञा सह (सामत्थणं) पर्यालोचनं ततस्तयोः रात्रौ तत्रागमस्तस्य च राजर्षेस्तदानीं पूर्वपठितश्लोकत्रयस्य गुणना, ततो ज्ञातोऽस्म्यहं नूनमतिशयज्ञानी मदीयः पिता कुतो वैष महात्मा पटप्रान्तलग्नतृणवल्लीलयैव राज्यं परित्यज्य भूयस्तदङ्गीकारं कुरुते, तदेष सर्वोऽप्यस्यैवामात्यस्य कूटरचनाप्रपञ्च इति परिभाव्य सचिवघातनं कृत्वा स्वपितुः क्षामणं कृतवान्। ततस्तस्य राजर्षे : अहो भगवन्तो माननेकेशो भणन्ति स्म । आचार्यादधीष्व सूत्रं परमहमात्म-वैरिकतया ना पठियं यदि नामेदृशानामपि मुग्धश्लोकानां पठितानामीदृशं फलमाविरभूत् किं पुनः सर्वज्ञोपज्ञश्रुतस्य भविष्यतीति विचिन्त्य गुरुसकाशे गमनं, ततो मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा सम्यक् पठितुं लग्न इति। बृ०१ उ०।

जवल न०(जवर) **''हरिद्रादौ लः''** ॥८।१।२५४॥ इति सूत्रेण रस्य लः । प्रा०२ पाद। उदरे, स्था०।

जववारय पुं०(यववारक) शरावादिरोपिते यवाङ्कुरे, ''जववारयवण्णय-सत्थिगादि महारम्भं'' पञ्चा०८ विव०।ध०।

जवस न०(यवस) यु–असच् घासे, तृणे च । वाच०। गोधूमादिधान्ये, ''जवसाणि वा'' यवसं गोधूमादिधान्यमिति। आचा०२ श्रु०३अ०२उ०।

जवसाग पुं०(यवशाक) यवस्य शाके, ''जवसागरलनालं परिमुच्छने च कप्पियं होइ'' संस०नि०।

जवा स्त्री०(जपा) वनस्पतिविशेषे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

जवासय पुं०(यवासक) वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद। स्वार्थे कः। वाच०।

जवासा स्त्री०(यवासा) रक्तपुष्पे वृक्षभेदे, ''यवासाकुसुमेइ वा'' प्रज्ञा०। १७ पद। मुण्डासिनीतृणे, वाच०।

जवि(ण्) (जविन्) घोटके, वाच०। सूत्र०।

जवित्तए अव्य०(यापयितुम्) वर्तयितुमित्यर्थे, व्यवस्थापयितुमि–त्यर्थे च। सूत्र०१ श्रु०३ अ०२उ०।

जवोदग न०(यवोदक) यवधावनजले, दर्श०४ तत्त्व। पञ्चा०। कल्प०। ''सीयं च सोवीरजवोदगं च''। यवोदकं यवप्रक्षालनजलम्। उत्त०१५ अ०। स्था०।

जवोदण न०(यवौदन) यवभक्ते, ''आयामगं चेव जवोदणं च'' यवौदनं यवभक्तम्। उत्त०१५ अ०।

जस पुं० न०(यशस्) **''स्नमदामशिरो नभः''** ॥८।१।३२॥ दामन्–शिरस्नभस्वर्जितं सकारान्तं नकारान्तं च शब्दरूपं पुंसि प्रयोक्तव्यम्। इति प्राकृतसूत्रेण प्राकृते पुंस्त्वम्। संस्कृते तु नपुंसकत्वम्। अश्–असुन्–धातोः युट् च। शौर्यादिभूते ख्यात्यपरपर्याये सर्व–दिग्गामिनि प्रसिद्धिविशेषे, वाच०। यशः पराक्रमकृता ख्यातिर्यश इति। स्था०३ ठा०४उ०। प्रश्न०। औ०। ज्ञा०। सर्वदिग्गामिनीप्रख्यातिर्यश इति। भ० १४श०५ उ०। कीर्त्याम्, दशा०६ अ०। स०। आचा०। (यशः कीर्त्योर्विशेषः 'जसकित्ति' शब्दे अनुपदमेव द्रष्टव्यम्) श्लाघायाम्, चं०प्र०१७ पाहु०। सूत्र०। संयमे, ''जम्हा जसो वण्णो य संजमो'' यशो वर्णः संयम इत्येकार्थाः। ''जसो त्ति वा संजमो त्ति वा वण्णो त्ति वा एगट्ठं'' इति वचनात्। व्य०१ उ०। ''जसं संरक्खमप्पणो'' यशः संरक्षन्नात्मनो यशःशब्देन संयमोऽभिधीयते। दश०५ अ०२उ०। विनये च। ''जसं संचिणु खंतिए'' यशः संयमं विनयं वा संचिनु। उत्त०३ अ०। स्वनामख्यातेऽनन्तजिनस्य प्रथमशिष्ये, स०। ''पण्णासाऽणंतजिणा पढमसिस्सो जसो नाम'' ती०८ कल्प। पार्श्वनाथस्य स्वनामख्याते अगष्टमे गणधरे च। कल्प०७ क्षण। स०।

जसंसि(न्) पुं०(यशस्विन्) ख्यातिमति, अनुस्वारः प्राकृतत्वात्। नि०१ वर्ग०। ज्ञा०। भ०। आचा०। यशस्विनः पराक्रमं प्राप्य प्रसिद्धिं प्राप्तत्वात्। स०। श्लाघान्विते, उत्त०५ अ०। कीर्तिमति, आचा०२ श्रु०२ अ०१उ०। 'जसस्सिणो चक्खुपहट्ठियस्स' सूत्र०१ श्रु०१६ अ०। ''अणुत्तरे णाणधरे जसंसी'' उत्त०३१ अ०। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सिद्धार्थापरनामध्येये पितरि च। आचा०३ चू०। कल्प०।

जसकर त्रि०(यशस्कर) यशः सर्वदिग्गामिप्रसिद्धिविशेषः। तत्करो यशस्करः। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। सर्वदिग्व्यापिकीर्तिकरे, तं०। आ०म०। भगवत ऋषभस्य स्वनामख्याते एकोनचत्वारिंशत्तमे पुत्रे, कल्प०७ क्षण।

जसकित्ति स्त्री०(यशःकर्ति) यशसा सर्वदिग्गामिप्रख्यातिरुपेण पराक्रमकृतेन वा सह कीर्तिरेकदिग्गामिनी प्रख्यातिर्दानफलभूता वा यशःकीर्तिः। यशसा श्लाघने, कर्म०१कर्म०। पं०सं०। यशः कीर्त्योश्चायं विशेषः–कीर्तिर्दानपुण्यफला, यशः पराक्रमकृतम्। आ०म०प्र०। ''अविसेसितो जसो। विसेसिता कित्ती'' आ०चू० १अ०। दानपुण्यफला कीर्तिः। पराक्रमकृतं यशः। आ०म०प्र०। बहुसमरसंघट्टनिवर्हणशौर्य-लक्षणम् यशः, दानसाध्या कीर्तिरिति। सूत्र०१ श्रु०६अ०। एकदिग्गामिनी कीर्तिः। सर्वदिग्व्यापकं यशः इति प्रसिद्धिः। उत्त०१ अ०। कीर्तिरेकदिग्गामिनी प्रसिद्धिः सर्वदिग्गामिनी सैव वर्णो यशःपर्यायत्वा-दस्य। अथवा–दानपुण्यफला कीर्तिः पराक्रमकृतं यशः। स्था०३ ठा०३उ०। कर्म०। भगवत ऋषभस्य स्वनामख्यातेऽष्टत्रिंशत्तमे पुत्रे च। पुं०। कल्प०७ क्षण।

जसकित्तिणाम न०(यशःकीर्तिनामन्) तपः शौर्यत्यागादिना समु-पार्जितेन यशसा कीर्तनं संशब्दने श्लाघनं यशःकीर्तिरुच्यते। कर्म०१ कर्म०। यद्वा–यशः सामान्येन ख्यातिः कीर्तिर्गुणोत्कीर्तनरूपा प्रशंसा। अथवा–सर्वदिग्गामिनी पराक्रमकृता वा सर्वजनोत्कीर्तनीयगुणता यशः एगदिग्गामिनी दानपुण्यकृता वा कीर्तिस्ते यदुदयाद् भवतस्तद्यशः-कीर्तिनाम। शुभनामकर्मभेदे, पं०सं०३द्वार। स०। यशःकीर्तिनामोदयाद् यशः कीर्तिर्भवति। कर्म०१कर्म०। प्रव०। उत्त०। यदुदयवशान्मध्यस्थ-जनप्रशस्यो भवति तद्यशः कीर्तिनामेति। कर्म०६कर्म०। श्रा०।

जसघाइ(न्) त्रि०(यशोघातिन्) यशोनाशके, ''दंसणनाणचरित्ते, तवविणए निच्चकालपासत्था। एए अवंदणिज्जा, जे जसघाई पवयणस्स'' आव०३ अ०। ''पुव्वं समणगुणेहिं अहिज्जतेहिं जसो आसी इमेहिं संवंतेहिं ताणि ठाणाणि जसोघाति तेणं ते जसघाती एए पवयणस्स'' आचू०३ अ०।

जसचंद पुं०(यशश्चन्द्र) स्वनामख्याते गणिनि,(भ०)

तथा च भवगतीसूत्रवृत्तावभयदेवसूरिः–

''श्रीमज्जिनेश्वराचार्य–शिष्याणां गुणशालिनाम्।
जिनभद्रमुनीन्द्राणा–मस्माकं चांहिसेवितः॥
यशश्चन्द्रगणगढि–साहाय्यात् सिद्धिमागता।
परित्यक्तान्यकृत्यस्य, युक्तायुक्तविवेकिनः''॥ भ०४२ श० १ उ०।

जसजीविय न०(यशोजीवित) जीवितभेदे, तच्च भगवतो वर्द्धमान-स्वामिनः ''जसकित्ती य भयवतो'' आ०म०द्वि०।

जसद पुं०[जस(रा)द] धातुविशेषे, औ०। येन वायुना शीयते। वाच०।

जसदपाय न०(जसदपात्र) जसदधातुविशेषनिर्मिते पात्रे, ''जसदपायाणि वा'' औ०।

जसदेव पुं०(यशोदेव) स्वनामख्याते आचार्ये, ग०४ अधि०। स्थानाङ्ग वृत्तावभयदेवसूरिः–श्रीमज्जिनचन्द्राचार्यान्तेवासियशो-देवगणिसाधोरुत्तरसाधकस्येव विद्याक्रियाप्रधानस्य साहाय्येन समर्थितम्। स्था०१० ठा०। यशोदेवः पूनमियागच्छे चन्द्रसूरि–शिष्यः पाक्षिकसूत्रवृत्तिपिण्डविशुद्धिवृत्तिग्रन्थयोः कर्ता स च विक्रमसंवत् ११७६। विद्यमान आसीत् द्वितीयश्च यशोदेवसूरिः प्रवचनसारोद्धारकर्तुर्नेमिचन्द्र-सूरेर्गुरुभ्राता प्रथमपञ्चाशकचूर्णिनामग्रन्थकर्ता। जै०इ०।

जसधण न०(यशोधन) स्वनामख्याते नृपे, तं०।

जसभद्द पुं०(यशोभद्र) गुरुचन्द्रसूरेः शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, ''जातौ तस्य विनेयौ, सूरी यशोभद्रनेमिचन्द्राह्वौ''। ग०४ अधि०। आचार्यशय्यंभवस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, नि०चू०५ उ०। ''सय्यंभवस्स सीसो, जसभद्दो नाम आस गुण–

स्सी'' ती०१३ कल्प। ''जसभद्दं तुंगियं वंदे,'' शय्यं भवशिष्यं यशोभद्रं तुङ्गिकं तुङ्गिब्डगणं व्याघ्रापत्यगोत्रं वन्दे। नं०। ''थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स तुंगियायणसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा, थेरे अज्जसंभूयविजए माढरसगुत्ते, थेरे अज्जभद्दवाहू पाईणसगुत्ते''। श्रीयशोभद्रं स्वपदे संस्थाप्य श्रीवीरादष्टनवतिवर्षैः स्वर्जगाम इति श्रीयशोभद्रसूरिरपि श्रीभद्रबाहुसंभूतविजयाख्यौ शिष्यौ स्वपदेन्यस्य स्वर्लोकमलं चक्रे। कल्प०८ क्षण। आर्यसंभूतविजयस्य माढरसगोत्रस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, कल्प०८ क्षण। साकेतनगरवास्तव्यस्य पुण्डरीकराजस्य स्वनामख्याते युवराजे, आ०चू०४ अ०। आव०। आ०क०। पक्षस्य पञ्चदशसु दिवसेषु चतुर्थे दिवसे, ज्यो०४ पाहु०। जं०। चं०प्र०। कल्प०। यशोभद्रात् भारद्वाजसगोत्रात् निर्गतस्य उरुपपाटिकगणस्य स्वनामख्याते कुलभेदे, न०। कल्प०८ क्षण। साकेतनगरस्य पौण्डरीकनृपतेर्युवराजस्य कण्डरीकस्य स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, स्त्री०। आ०चू०१अ०। आव०। आ०क०।

जसभद्दसूरि पुं०(यशोभद्रसूरि) षोडशप्रकरणविवरणकारके आचार्ये, षो० १६ विव०। धर्मघोषसूरेर्हि स शिष्यः स्था द्वादरहस्यनामग्रन्थस्य कर्ता। जै०इ०।

जसमंत त्रि०(यशस्वत्) यशस् मतुप् मस्य वः। यशोविशिष्टे, विनियशस्वीत्यप्यत्र। वाच०। भरतवर्षभवे स्वनामख्याते कुलकरे, पुं०। स्था०७ठा०। ती०।जं०। आ०म०। कल्प०। आ०चू०। आ०क०। स्त्रियां ङीप् ङीवन्तस्तु तत्र ज्योतिष्मत्याम् यवतिरूपायाम्, वनकार्पास्यां च। वाच०।

जसमित्त पुं०(यशोमित्र) शत्रुंजयशैलस्थश्रीशान्तिमरुदेवयोश्चैत्यस्योद्धारके श्रावके, ती०१ कल्प।

जसवई स्त्री०(यशोमती) वर्तमानावसर्पिण्या द्वितीयचक्रवर्तिनः सगरस्य मातरि, स०। आव०। पृष्ठिचम्पापुरस्थशालमहाशालयोर्भगिन्यां पिढरभार्यायां काम्पिल्यपुरस्थायां गागलीमातरि, आ०चू०१अ०। ती०। आ०म०। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य नप्त्र्यां प्रियदर्शनायाः पुत्र्याम्, आचा० ३ चू०। कल्प०। पक्षस्य तृतीयायामष्टम्याश्च त्रयोदश्यां च रात्रितिथौ, चं०प्र० १० पाहु०। जं०। सू०प्र०। ज्यो०। दशपुरनगरस्थस्य शाण्डिल्यस्य ब्राह्मणस्य दास्यां च। उत्त०१३अ०। कम्पिल्यनगरस्थस्य ब्रह्मदत्तस्यान्तः पुरप्रधानायां भार्यायां पक्षरहितपुत्र्याम्, उत्त०१३अ०।

जसवंस पुं०(यशोवंश) मूर्तो यशसां वंश इव पर्वप्रवाह इव यशोवंशः। यशसां पर्वप्रवाहभूते, ''जसवंसो नागहत्थीणं'' नं०।

जसवाय पुं०(यशोवाद) साधुवादे, ''जसवएणं वड्ढित्ता'' कल्प० ४ क्षण।

जसविजय पुं०(यशोविजय) द्वात्रिंशिकाविवरणद्रव्यगुणपर्यायभाषाविवरणद्वात्रिंशदष्टकप्रतिमाशतकनयोपदेशविवरणादिकारके आचार्ये, द्रव्या०१४ अध्या०।

द्वात्रिंशिकावृत्तौ नयविजयवर्णकमधिकृत्य –

''यशोविजयनाम्ना त–च्चरणाम्भोजसेविना।
द्वात्रिंशिकानां विवृति–श्चक्रे तत्त्वार्थदीपिका(६)। द्वा०३२द्वा०।
द्वात्रिंशत्तममष्टक–मुवाच श्रीमद्यशोविजयः ॥१॥'' अष्ट०३२ अष्ट०।

प्रतिमाशतके नयविजयमधिकृत्य–

''तदीयचरणाम्बुजश्रवणविस्फुरद्भारती–
प्रसादसुपरीक्षितप्रवरशास्त्ररत्नोच्चयैः।
जिनागमविवेचने शिवसुखार्थिनां श्रेयसे,
यशोविजयवाचकैरयमकारि तत्त्वश्रमः ॥१६॥
पूर्वं न्यायविशारदत्वविरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधै–
र्न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतग्रन्थस्य यस्यार्पितम्।
भव्यप्रार्थनयाऽनयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशुः,
सोऽयं तत्त्वमिदं यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान्॥१७॥'' प्रति०।

नयोपदेशवृत्तौ–

''गच्छे श्रीविजयादिदेवसुगुरोः स्वच्छैर्गुणानां गणैः,
प्रौढिं प्रौढिमधाम्नि जीतविजयप्राज्ञाः परामैयरुः।
तत्सातीर्थ्यभृतां नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशु–
स्तत्त्वं किंचिदिदं यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान्॥१॥'' नयो०।

''तर्कप्रमाणनयमुख्यविवेचनेन,
प्रोद्बाधितादिममुनिश्रुतकेवलित्वाः।
चक्रुर्यशोविजयवाचकराजमुख्याः,
ग्रन्थेऽत्र मय्युपकृतिं परिशोधनाद्यैः॥'' ध०४अधि०। अयमाचार्यः विक्रमसंवत्सराणां सप्तदशके शतके आसीत्। जै०इ०

जसहर पुं०(यशोधर) भारतवर्षभवेऽतीतेऽष्टादशमे जिने, प्रव०८ द्वार। भारतवर्षभवे भविष्यत्येकोनविंशे जिने, प्रव०७ द्वार। द्वीपायनस्य जीवं यशोधरनामानं जिनमेकोनविंशं वन्दे, प्रव० ४६ द्वार। भगवत ऋषभस्य द्वादशे पुत्रे, कल्प०७ क्षण। धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य पीठानीकाधिपतौ, ''जसोधरे आस राया पीढाणीयाहिवई'' स्था०५ ठा०१उ०। पक्षस्य पञ्चदशसु दिवसेषु पञ्चमे दिवसे, जं०७ वक्ष०। चं०प्र०। कल्प०। ग्रैवेयकविमानप्रस्तटे च। स्था०९ ठा०। साकेतनगरस्थस्य विनयन्धरनृपस्यात्मजे स्वनामख्याते कुमारे, ध०२०। दश०। (यशोधरचरितं तु धर्मरत्नप्रकरणादवसेयम्) दक्षिणरुचकवास्तव्यास्वष्टसु दिशाकुमारीषु चतुर्थदिशाकुमार्याम्, स्त्री०। स्था०८ ठा०। द्वी०। आ०चू०। ती०। आ०क०। आव०। आ०म०। जं०। पक्षस्य पञ्चदशसु रात्रिषु चतुर्थरात्रौ, ज्यो०४ पाहु०। जं०। कल्प०। सकलभुवनव्यापियशो धरतीति यशोधरा। लिहादित्वादच्। जम्बूसुदर्शनायाम्, जम्बूद्वीपो हि विदितमहिमा भुवनत्रयेऽप्यनया जम्ब्वोपलक्षितस्ततो भवति यथोक्तम्। यशोधारित्वमस्या इति। जी०३ प्रति०। जं०।

जसा स्त्री०(यशा) कौशाम्बीवास्तव्यस्य काश्यपस्य भार्यायां, कपिलमातरि, उत्त०८ अ०। ती०।

जसोकामि(न्) पुं०(यशस्कामिन्) कीर्तिकामिनि, ''धिगत्थु ते जसोकामी'' दश०२ अ०।

जसोकित्ति स्त्री०(यशःकीर्ति) 'जसकित्ति' शब्दार्थे, आ०चू०१ अ०।

जसोकित्तिणाम न०(यशःकीर्तिनामन्) 'जसकित्तिणाम' शब्दार्थे, कर्म०१ कर्म०।

जसोचंद पुं०(यशश्चन्द्र) 'जसचंद' शब्दार्थे, भ०४२ श०१उ०।

जसोजीविय न०(यशोजीवित) 'जसजीविय' शब्दार्थे, आ०म० द्वि०।

जसोद पुं०[जस(श)द] 'जसद' शब्दार्थे, औ०।

जसोदपाय न०(जसदपात्र) 'जसदपाय' शब्दार्थे, औ०।

जसोदेव पुं०(यशोदेव) 'जसदेव' शब्दार्थे, ग०४अधि०।

जसोधण न०(यशोधन) 'जसधण' शब्दार्थे,तं०।

जसोभद्द पुं०(यशोभद्र) 'जसभद्द' शब्दार्थे, ग०४ अधि०।

जसोमंत त्रि०(यशस्वत्) 'जसमंत' शब्दार्थे, स्था०७ ठा०।

जसोमित्त पुं०(यशोमित्र) 'जसमित्त' शब्दार्थे, ती०१ कल्प।

जसोय पुं०(यशोद) यशो ददाति दा–क। पारदे, यशोदातरि त्रि०। नन्दगोपपत्न्याम्, स्त्री०। वाच०। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य भार्यायां च। आ०चू०३ अ०। ''समणस्स णं भगवओ महावीरस्स भज्जा जसोया गोत्तेण कोंडिण्णा'' आचा०३ चू०। ''कारेंति पाणिग्गहणं जसोयवररायकन्नाए'' ती०२१ कल्प। आ०म०।

जसोवई स्त्री०(यशोमती) 'जसवई' शब्दार्थे, स०।

जसोवंस पुं०(यशोवंश) 'जसवंश' शब्दार्थे, नं०।

जसोवाय पुं०(यशोवाद) 'जसवाय' शब्दार्थे, कल्प०४ क्षण।

जसोविजय पुं०(यशोविजय) 'जसविजय' शब्दार्थे, द्रव्या०१४ अध्या०।

जसोहर पुं०(यशोधर) 'जसहर' शब्दार्थे, प्रव०८ द्वार।

जह अव्य०(यथा) यत् प्रकारे, थात् **''वाऽव्ययोत्खाता-दावदातः''** ८।१।६७। इति प्राकृतसूत्रेणाव्ययेषूत्खातादिषु च शब्देषु आदेराकारस्याद्वा। प्रा०१ पाद। येन प्रकारेणेत्यर्थे, आचा०१ श्रु०६ अ० ३उ०। ''जह सुत्तं तह अत्थो'' (२६) यथा येन प्रकारेण यथापद्धत्या सूत्रं व्यवस्थितं तथा तेनैव प्रकारेणाऽर्थो व्याख्येयः। सूत्र०१ श्रु०१३ अ०। अनु०। आचा०। उपप्रदर्शने, पञ्चा०१४विव०। सूत्र०। अनु०। आ०म०। उदाहरणोपन्यासे, दर्श०४ तत्त्व। पिण्ड०। आव०। सूत्र०। उत्त०। आ०म०। ''जह मंगलाभिहाणं'' विशे०। यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः। यथैतत्तथान्यदप्यनया दिशा द्रष्टव्यम्। आचा०१ श्रु०८अ०१उ०। दृष्टान्तोपदर्शने, जी०३ प्रति०। तं०। सूत्र०। ज्ञा०। स्था०। जं०। वाक्योपन्यासे, सादृश्ये, योग्यतायाम्, आनुरूप्ये, पदार्थानातिवृत्तौ च। वाच०।

***यत्र** अव्य०। **''त्रपो हि–ह–त्थाः''** ॥८।२।१६१॥ इति प्राकृतसूत्रेण त्रपः हः 'जह' इति प्रा०२ पाद। यस्मिन्नित्यर्थे, वाच०।

जहंत त्रि०(जहत्) त्यजति, ''जिणवयणं भावतो जहंतस्स'' व्य०३ उ०।

जहक्कम अव्य०(यथाक्रम) क्रमस्थानुरूप्यं तस्यानतिक्रमो वा। अव्ययी०। क्रमानुरूप्ये, क्रमानतिक्रमे च। वाच०।

यथाक्रमं परिपाट्येति। दश०५ अ०। ''अट्ठ कम्माइँ वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं'' उत्त०३२ अ०। विहरामि यथाक्रमं साध्वाचारानुक्रमेण। उत्त०२३अ०। ''जहक्कमं कामगुणेसु चेव'' यथाक्रमं यथावसरमिति। उत्त०१४ अ०। ''जहक्कमंते'' यथाक्रमं क्रमेणैव। पञ्चा०९ विव०।

जहक्खाय न०(यथाख्यात) अथाख्यातापरनामधेये चारित्रभेदे, (आ०म०प्र०)

अथ यथास्थातचारित्रं विवृण्वन्नाह–

अहसद्दो जाहत्थे, आङोऽभिविहीऐं कहियमक्खायं।
चरणमकसायमुदितं, तमहक्खायं ''जहक्खायं'' ॥१२७९।

यथाख्यातमिति द्वितीयं नाम। तस्यायमर्थः–यथा सर्वस्मिन् जीवलोके ख्यातं प्रसिद्धमकषायं भवति चारित्रमिति। तथैव यत् तद् यथाख्यातं प्रसिद्धं सर्वस्मिन् जीवलोके। आ०म० प्र०। विशे०। (अथाख्यातविवरणम् 'अहक्खाय' शब्दे प्रथमभागे ८६१ पृष्ठे विलोकनीयम्)

जहग पुं०(जहक) सेल्हके, विशे०।

जहट्ठियवत्थुवाइ(ण्) पुं०(यथास्थितवस्तुवादिन्) यथास्थितमभिलाप्यानभिलाप्यत्वादिना प्रकारेण स्थितं वस्तु वदितुं शीलः यथावस्थितवस्तुवादिनः। येन प्रकारेण वस्तुनो वादिनि, पं०सू०१ सूत्र०।

जहण न०(जघन) वक्रं हन्ति। हन्–यङ्–अच्–पृ०। स्त्रीणां श्रोणिपुरोभागे, श्रोणौ च। वाच०। जघनं पूर्वः कटिभाग इति। विपा०१ श्रु०२ अ०।

जहणरोहो (देशी) ऊरौ, दे०ना०३ वर्ग।

जहणवर न०(वरजघन) श्रेष्ठजघने, वरशब्दस्य विशेषणस्याऽपि सतः परनिपातः प्राकृतत्वात्। जी०३ प्रति०।

जहणिज्ज त्रि०(हेय) त्याज्ये, ज्ञा०१ श्रु०१अ०।

जहणूसवं (देशी) अर्धोरुके, दे०ना०३ वर्ग।

जहण्ण त्रि०(जघन्य) हन्–यङ्–अच्–पृ०। जघनमिव इवार्थे यत् वा। अधमे, वाच०। आव०। निकृष्टे, भ०२ श०१उ०। सर्वहीने, स्था०४ ठा०२उ०। सर्वाल्पे, स्था०१ ठा०१उ०। चरमे गर्विते च। शूद्रे, पुं०। जघनमनुशीलितम् यस्य। पुंसां लिङ्गे। वाच०।

जहण्णगुणकालग पुं०(जघन्यगुणकालक) जघन्येन जघन्यसंख्याविशेषेणैकेनेत्यर्थः गुणो गुणनं ताडनं यस्य स तथाविधः कालो वर्णो येषां ते जघन्यगुणकालकाः। तेषु,। स्था०१ ठा०१उ०।

जहण्णट्ठिइय त्रि०(जघन्यस्थितिक) जघन्या जघन्यसंख्या समयापेक्षया स्थितिर्येषां ते जघन्यस्थितिकाः एकसमयस्थितिके, स्था०१ठा०१उ०।

जहण्णपएसिय पुं०(जघन्यप्रदेशिक) जघन्याः सर्वाल्याः प्रदेशाः परमाणवस्ते सन्ति येषां ते जघन्यप्रदेशिकाः। द्व्यणुकादिके, स्था०१ ठा०१उ०।

जहण्णपय न०(जघन्यपद) पद्यते गम्यते इति पदं पदसंख्यास्थानं तच्चानेकधेति जघन्यं सर्वहीनं पदं जघन्यपदम्। सर्वहीने संख्यास्थाने, स्था०४ ठा०२उ०।

जहण्णपुरिस पुं०(जघन्यपुरुष) पुरुषविशेषे, स्था०३ ठा०१ उ०। (जहन्नपुरिसा तिविहा 'पुरिस' शब्दे वक्ष्यन्ते)

जहण्णुक्कोसग त्रि०(जघन्योत्कर्षक) जघन्यो निकृष्टः काश्चिद् व्यक्तिमाश्रित्य स एव च व्यक्त्यन्तरापेक्षयोत्कर्ष उत्कृष्टो जघन्योत्कर्षः। काश्चिद् व्यक्तिमाश्रित्य निकृष्टे,व्यक्त्यन्तरापेक्षयोत्कृष्टे च। भ० २५ श०१उ०।

जहण्णोगाहणग त्रि०(जघन्यावगाहनक) अवगाहन्ते आसते यस्यां साऽवगाहना क्षेत्रप्रदेशरूपा सा जघन्या येषां ते। स्वार्थिककप्रत्यय-यान्नघन्यावगाहनकाः। एकप्रदेशावगाढे, स्था०१ ठा०१उ०।

जहत्थ अव्य०(यथार्थ) अर्थमनतिक्रम्य,अव्ययी०। अर्थस्यानतिक्रमे, पं०सं०१ द्वार। अन्वर्थयुक्ते, त्रि०। पञ्चा०१५ विव०। यथार्थं प्रदीपादि। स्था०१ ठा०१उ०। वोच्छामि पंचसंग्रहमेवमहत्थं जहत्थं वा''। यथार्थं यथावस्थितः प्रवचनाविरोधी अर्थो यस्मिन् तम्। यद्वा-अर्थस्य प्रवचनोक्तस्यानतिक्रमेण न स्वमनीषिकया यथार्थम्। पं०सं० १ द्वार। ''सव्वं दव्वाइ जाणइ जहत्थं'' यथार्थं यथावद् यथासर्वज्ञेनोक्तं तथेति। विशे०।

जहत्थणिययय न०(यथार्थनियत) व्यञ्जनाक्षरभेदे, ''तत्थजहत्थं नियय, तं जहा-दहतीति दहणो तवतीति तवणो एवमादि''। आ०चू०१अ०।

जहत्थाम अव्य०(यथास्थाम) यथाबलं शक्त्यनतिक्रमेणेत्यर्थे, ''जुंजइ य जहत्थामं'' पञ्चा०१५ विव०।

जहप्प न०(याथात्म्य) यथातत्त्वे, स्था०५ ठा०१उ०।

जहवा अव्य०(यथावा) प्रकारान्तरदर्शने, दश०१ अ०।

जहवाय अव्य०(यथावाद) आप्तवचनानतिक्रमेणेत्यर्थे, पञ्चा० ११ विव०।

जहा अव्य०(यथा) 'जह' शब्दार्थे, प्रा०१ पाद।

जहाइत्ता अव्य०(हित्वा) त्यक्त्वेत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु०२अ०१ उ०। ''तयसं व जहाइसेरयं'' सूत्र०१ श्रु०२ अ०२उ०।

जहाकाल अव्य०(यथाकाल) यथावसरमित्यर्थे, आचा०१ श्रु०२ अ०१उ०। ''वोसिरइ मुणी जहाकालं''। यथाकालं यथावसरम्। संथा०।

जहागम अव्य०(यथागम) यथासूत्रमित्यर्थे, ''आराहिंता जहागमं'' पं०व०१द्वार।

जहाच्छन्द पुं०(यथाच्छन्द) स्वच्छन्दे, स्था०९ ठा०३उ०।

जहाजाय त्रि०(यथाजात) जातं समयविशेषमनतिक्रम्य यथाजातं, तदस्यास्ति अच्। मूर्खे, नीचे च। वाच० ''जहा-जायपसूभूया।'' यथाजातपशुभूताः शिक्षाभरणादिवर्जितबलीवर्दादिसदृशाः निर्विज्ञानत्वादिसाधर्म्यात्। प्रश्न०३ आश्र० द्वार। यथाजातं श्रमणत्वभवनलक्षणं जन्माश्रित्य, योनिनिष्क्रमणलक्षणं च। तत्र रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोलपट्टमात्रया श्रमणोजातो, रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गत एवंभूत एवं वन्दते। तदव्यतिरेकाद् वा यथाजातम्। कृतिकर्मणि, न०। स०१२ सम०।

जहाजेट्ठ अव्य०(यथाज्येष्ठ) ज्येष्ठस्यानतिक्रमेणेत्यर्थे, अनु०।

जहाणामय पुं०(यथानामक) अनिर्दिष्टनामके, कस्मिँश्चित्, जी०३ प्रति०। ''जहानामको कोइ मिच्छो''। यथानामकः कश्चित् म्लेच्छः। आ०म०प्र०। ''से जहाणामए केइ पुरिसे'' स यथानामको यत्प्रकारनामा देवदत्तादिनमित्यर्थः। अथवा-(से) इति सः यथेति दृष्टान्तार्थः नामेति संभावनायाम्। 'ए इति वाक्यालङ्कारे। तं०। अनु०। जी०। ज्ञा०। स्था०।

जहातच्च अव्य०(यथातथ्य) यथासत्यमित्यर्थे, ''जहातच्चमिणं ति वेमि'' यथासत्यं यथातथ्यमित्यर्थे,। आचा०१ श्रु०४अ०२उ०। ''अंजु धम्मं जहातच्चं''। यथातथ्यं यथाव्यवस्थितम्। सूत्र०१ श्रु०९ अ०। ''तं मे पवक्खामि जहातच्चेणं'' यथातथ्येनावितथं प्रतिपादयामीति। सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०। यथातथ्येन यथाव्यवस्थितं तथैव कथयामीति। सूत्र०१ श्रु०५ अ०२उ०।

जहातह अव्य०(यथातथ) तथाऽनतिक्रम्य अनतिवृत्तौ, अव्ययी० याथार्थ्ये, यस्य वस्तुनो यद्रूपमुचितं तथारूपभावे, यथायथमप्यत्रार्थे, वाच०।

***याथातथ्य** अव्य०। सूत्रकृताङ्गस्य त्रयोदशेऽध्ययने, धर्मसमाधि-मार्गसमवरणाख्येषु यदवितथं याथातथ्येन व्यवस्थितम्, यच्च विपरीतं वितथं तदपि लेशतोऽत्र, प्रतिपादयिष्यत इति। नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे याथातथ्यमिति नाम। (सूत्र०) अस्याध्ययनस्य याथातथ्यमिति नाम। सूत्र०१ श्रु० १३ अ०। ''जाणासि णं भिक्खु, जहातहेणं'' याथातथ्येन त्वं जानासि सम्यगवगच्छसीति। सूत्र०१ श्रु०६ अ०।

जहातहज्झयण न०(याथातथ्याध्ययन) सूत्रकृताङ्गस्य त्रयोदशेऽध्ययने, (सूत्र०)

अस्यार्थाऽधिकारो यथा-

जह सुत्तं तह अत्थो, चरणं चारो तह त्ति नायव्वं।
संतंमि य पसंसाए, असतीपगयं दुगुंछाए॥२६॥

''जह सुत्तं'' इत्यादि। यथा येन प्रकारेण यथापद्धत्या सूत्रं व्यवस्थितं तथा तेनैव प्रकारेणार्थो व्याख्येयोऽनुष्ठेयश्च। एतद्दर्शयति-चरणमाचरणमनुष्ठातव्यम्। यदि वा-सिद्धान्तसूत्रस्य चारित्रमेवाचरणमतो यथा सूत्रं तथा चारित्रमेतदेव चानुष्ठेयम् एतच्च याथातथ्यमिति ज्ञातव्यम्, पूर्वार्द्धस्यैव भावार्थं गाथापश्चार्द्धेन दर्शयितुमाह-यद्वस्तुजातं प्रकृतं प्रस्तुतं यथार्थमधिकृत्य सूत्रमकारि तस्मिन्नर्थे सति विद्यमाने यथावद् व्याख्यायमाने संसारोत्तारणकारणत्वेन प्रशस्यमाने वा याथातथ्यमिति भवति, विवक्षिते त्वर्थे सत्यविद्यमाने संसारकारणत्वेन वा जुगुप्सायां सत्यां सम्यगनुष्ठीयमाने वा याथातथ्यं न भवति। इदमुक्तं भवति-यदि यथासूत्रं येन प्रकारेण व्यवस्थितम्। तथैवार्थो यदि भवति व्याख्यायतेऽनुष्ठीयते च संसारनिस्तरणसमर्थश्च भवति, ततो याथातथ्यमिति भवति। असति त्वर्थे क्रियमाणे संसारकारणत्वेन जुगुप्सिते वा भवति। याथातथ्यमिति गाथातात्पर्यार्थः। सूत्र०१ श्रु० १३ अ०।

जहापवट्टकरण न०(यथाप्रवृत्तकरण) करणभेदे, आचा०१ श्रु०९ अ०१उ०।

जहाभूय त्रि०(यथाभूत) यथावृत्ते, । ''जहाभूयमवितहसमंदिट्ठं''। यथाभूतं यथावृत्तम्। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। नि०चू०।

जहामालिय अव्य०(यथामालित्) यथाधारितमित्यर्थे, ''जहामालियं ओमोघं दलइ''। यथामालितं यथाधारितं, यथापरिहितमित्यर्थः। भ०११ श०११उ०।

जहारिह अव्य०(यथार्ह) अर्हां योग्यतामनतिक्रम्य, अव्ययी०। यथायोग्ये, ततः। ''अर्श आदिभ्योऽच्'' ॥५।२।१२७॥ सत्यभूते पदार्थे, त्रि०। वाच०। ''जहारिहं होइ कायव्वं'' पञ्चा०१७ विव०। यथार्हं यथायोग्यम्। दश०७ अ०। पं०सं०। यथार्हं यथोचितम्। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। ''जहारिहं जस्सं जं जुग्गं'' यथा–योग्यम्। आव०६अ०।

जहारूव अव्य०(यथारूप) रूपानतिक्रमे, ''यथा नेत्रं तथा शीलं, यथा नासा तथाऽऽर्जवम्। यथा रूपं तथा वित्तं, यथा शीलं तथा गुणाः ॥१॥'' आव०४ अ०।

जहाल पुं०(जहाल) देशभेदे, कल्प०७ क्षण।

जहालाह अव्य०(यथालाभ) यथासंपत्तीत्यर्थे, पञ्चा०४ विव०।

जहालंदीगण पुं०(यथांलन्दिगण) लन्दिकानां पञ्चको गणः परं तेषां कल्पस्य कालमानं कियत् परिहारविशुद्धिकानामिवाष्टादश–मासकालमानं चोनाधिकं वेति, प्रश्ने, उत्तरम्–यथालन्दिकानां कालमानं तु परिहारविशुद्धिकसाध्वतिदेशवाक्यं पञ्चकल्पचूर्ण्यादावुपलभ्यमान–त्वेनाष्टादश मासाः संभाव्यन्त इति। ४२ प्र० सेन०२ उल्ला ०।

जहावाइ(ण्) पुं०(यथावादिन्) येन प्रकारेण वादिनि, (स्था०) ''णो जहावाई तहाकारी याऽवि भवइ'' सामान्यतो नो यथा वादी तथा कारी। स्था०७ ठा०।

जहाविभव अव्य०(यथाविभव) विभवानुरूपमित्यर्थे, ''ततो अ जहाविभवं।'' विभवारूपमित्यर्थः। पं०व०१ द्वार। ''दानं च यथाविभवं, दातव्यं सर्वसत्त्वेभ्यः।'' यथाविभवं विभवानुसारेणेत्यर्थः। षो०६ विव०।

जहाविहि अव्य०(यथाविधि) सम्यगित्यर्थे, पं०व० ४ द्वार।

जहासंख अव्य०(यथासङ्ख्य) संख्यानतिक्रमे, ''यथासंख्यमनुदेशः समानाम्'' ॥१।३।१०॥ इति (पाणि०) न्यायात्। आ०म०प्र०।

जहासत्ति अव्य०(यथाशक्ति) शक्तेरानुरूप्यम्। आनुरूप्येऽव्ययी०। शक्तेरानुरूप्ये, शक्त्यनुसरे च। वाच०। ''सेसा उ जहासत्तिं, आपुच्छित्ता ठवंति सज्झाणे'' यथाशक्ति शक्त्यनुरूपम्। आव०५ अ०। सामर्थ्यानति–क्रमेणेति। पञ्चा०६विव०। ''दाणमह जहासत्ती'' यथाशक्ति शक्तेरनति–क्रमेण चित्तवित्तानुरूपमित्यर्थः। पञ्चा०३ विव०। ''सेवगा जहासत्तिं'' यथाशक्ति, शक्त्यतिगूहनेन। पञ्चा०११ विव०।

जहासमाहि अव्य०(यथासमाधि) समाधानानतिक्रमे, पञ्चा०। १ विव०।

जहासुय अव्य०(यथाश्रुत) श्रुतानतिक्रमे, ''अहसुयं वदिस्सामि'' यथाश्रुतं यथासूत्रं वा वदिष्यामि। आचा०१ श्रु०६अ०१उ०।

***यथासूत्र** अव्य०। सूत्रानतिक्रमे, आचा०१ श्रु०६अ०१उ०।

जहि अव्य०(यत्र) **''त्रयो हि–ह–त्थाः'' ॥८।२।१६१॥** इतिप्राकृत–सूत्रेण प्रत्ययस्य एते आदेशाः। जहि–जह–त्रत्थ। प्रा०२ पाद। यस्मिन्नित्यर्थे, वाच०।

जहिच्छिय अव्य०(यथेप्सित) ईप्सितस्यानतिक्रमे, अव्ययी०। स्वाच्छन्द्ये, ''अर्श आदिभ्योऽच्'' ॥५।२।१२७॥ यथाभीष्टे, त्रि०। यथेष्टमप्यत्र। वाच०। ''साहेइ जहिच्छियं कज्जं'' साधयति यथेप्सितं कार्यम्। पञ्चा०१ विव०।

जहिच्छियकामकामिन् पुं०(यथेप्सितकामकामिन्) यथेप्सितान् मनोवाञ्छितान् कामान् शब्दादीन् कामयन्त इत्येवंशीला यथे–प्सितकामकामिनः। जी०३ प्रति०। मनोवाञ्छितकामभोजिनि, ''जहिच्छियकामकामिणो'' यथेप्सितान् कामान् शब्दादीन् कामयन्ते अर्थाद् भुञ्जन्ते इत्येवं शीला ये देतथेति। जं०२वक्ष०।

जहिट्ठिल पुं०(युधिष्ठिर) युधि युद्धे स्थिरः **''गवियुधिभ्यां स्थिरः'' ॥८।३।९५॥** इति (पाणि०) षत्वम्। **''उतो मुकुलादिष्वत्'' ॥८।१।१०७॥** इति प्राकृतसूत्रेणादेरुतोऽत्वम्। प्रा०१ पाद। पाण्डवश्रेष्ठे, वाच०।

***जहिमा** (देशी) विदग्धरचितायां गाथायाम्, दे०ना०३ वर्ग।

जहुट्ठिल पुं०(युधिष्ठिर) 'जहिट्ठिल' शब्दार्थे, प्रा०१ पाद।

जहुत्त त्रि०(यथोक्त) येन प्रकारेणोक्ते, ''परक्कमती जहुत्तमाउत्ते'' यथा उक्तं यथोक्तमिति। नि०चू०१ उ०।

जहुत्तकारिन् पुं०(यथोक्तकारिन्) यथोक्तं क्रियाकलापं कर्तुं शीलमस्येति यथोक्तकारी। आव०३ अ०। भगवदाज्ञाराधके, बृ०१उ०।

जहुत्तर अव्य०(यथोत्तर) उत्तरस्यानतिक्रमे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०३उ०।

जहोइय त्रि०(यथोदित) येन प्रकारेण प्रतिपादिते, वचनाद् विरुद्धाद्य–नुष्ठानं यथोदितम्। यथा येन प्रकारेण कालाद्याराधनानुसाररूपेणोदितं प्रतिपादितम् यथोदितम्। ध०३अधि०।

जहोवइट्ठ अव्य०(यथोपदिष्ट) यथोक्तमित्यर्थे, ''जहोवइट्ठं अभिकंख–माणं''। यथोपदिष्टं यथोक्तमेव। दश०६अ०२उ०।

जहोवएसकारि(न्) पुं०(यथोपदेशकारिन्) उपदेशःसदसत्क–र्तव्यादेशः तस्यानतिक्रमेण कारिणि, आचा०१ श्रु०२ अ०३उ०।

जा स्त्री०(जा) जायायाम्, जनन्याम्, शय्यायाम्, एका०। देववाहिन्याम्, योनौ, समुद्रवेलायाम्, एका०।

***यावत्** त्रि०। परिमाणमस्य। **''यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रा–वारक–देवकुलै–वमेवे वः''॥८।१।२७१॥** इति सूत्रेण वकारस्य वा लुक्। प्रा०१ पाद। यत्परिमाणे, यावति, साकल्ये, व्याप्तौ, सीमायां च अव्य०। वाच०। ''एवं जा छम्मासा''। 'जा' इति यावत्षण्मासानिति। पञ्चा०१० विव०।

***ज्या** स्त्री०। जरायां, क्र्या०। पर०अक अनिट्। जिनाति अज्यासीत्। अङ्। धनुषे, गुणे, मौर्व्याम्, मातरि; भूमौ, वा। वाच०।

***या** गतौ, अदादि–पर०सक० अनिट्। याति, अयासीत्। वाच०। अनुसूयायाम्, शोभायाम्, लक्ष्म्याम्, निर्मितौ, स्त्री०। एका०। रमायाम्, मातरि, पात्र्याम्, युक्तौ, यात्रायाम्, एका०।

जाइ स्त्री०(जाति) जनवं जातिः । उत्त०३ अ०। आचा०। जन् क्तिन् । जन्मनि, ''जाईजरामरणबंधणविप्पमुक्का'' प्रज्ञा०२ पद। ल०। आचा०। आव०। सूत्र०। स्था०। ''जाइं च मरणं च जणोवायं।'' जातिमुत्पत्तिं नारकतिर्यङ्मनुष्यामरजन्मलक्षणां च । सूत्र०१ श्रु०१२ अ०। जातिर्वारकादिषु प्रसूतिरिति । विशे०। जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति जातिः । उत्त०३ अ०। अनुगतैकाकारबुद्धिजननसमर्थे अवयवव्यङ्ग्ये सकृदुपदेशगम्ये च धर्मभेदे, यथा गोत्वमनुष्यत्वादि ब्राह्मणत्वशूद्रत्वादि च । वाच०। एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूप-समानपरिणतिलक्षण-मेकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशभाक् यत्सामान्यं सा जातिः । उक्तं च–अव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतोऽर्थात्मा जातिरिति । कर्म०१कर्म०। प्रज्ञा०। पं०सं०। ''जाइकुलरूवलक्खणं''(४५) जातिः पुरुषत्वादिकेति । सम्म०१ काण्ड । जातिरेकेन्द्रियादिः। स्था०६ ठा०। आचा०। एकेन्द्रिय–द्वीन्द्रियत्वादिकाजातिरिति । आचा०१ श्रु०४ अ०२उ०। जातिर्गुणवन्मातृकत्वम् । स्था०४ठा०२उ०। मातृसमुत्था जातिरिति। सूत्र०६ श्रु० १३ अ०। उत्त०।पं०चू०। कल्प०। औ०। आचा०। स्था०। जातिर्मातृकी पित्रादिका वा । प्रव० १६५ द्वार । जातिर्मातृ–पक्षः ब्राह्मणादिका वा । तं० । जातयः क्षत्रियाद्याः इति । उत्त० ३ अ०।

सत्ता सामण्णं पि य,सामण्णविसेसया विसेसो य (२४२३)

सामान्यं त्रिविधिम् । तद्यथा–सत्ता१, सामान्यं२, सामान्यविशे–षश्च इति । तत्र द्रव्यगुणकर्मलक्षणेषु त्रिषु पदार्थेषु सद्बुद्धिहेतुः सत्ता १ । सानान्यं द्रव्यत्वगुणत्वादि २ । सामान्यविशेषस्तु पृथ्वीत्वज–लत्वकृष्णत्वनीलत्वाद्यवान्तरसामान्यरूप इत्यादि ३ । अन्ये त्वित्थं सामान्यस्य त्रैविध्यमुपवर्णयन्ति– अविकल्पं महा सामान्यम् १ । त्रिपदार्थसद्बुद्धिहेतुभूता सत्ता २ । सामान्यविशेषो द्रव्यत्वादि ३ । नहासामान्यसत्तयोर्विशेषणव्यत्यय इत्यन्ये । द्र–व्यगुणकर्मपदार्थ-त्रयसद्बुद्धिहेतुः सामान्यम् । अविकल्पा सत्तेत्यर्थः। सामान्यविशेषस्तु–द्रव्यत्वादिरूप एव इत्यल प्रसङ्गेन इति। विशेषश्चान्त्यः । विशे०।

सामान्यं विशेषाँश्चायमभ्युपगच्छति, अतः कथंभूतस्ता–

निच्छति? इत्याह–

सामन्नमन्नदेव हि, हेऊ सामन्नबुद्धिवयणाणं ।
तस्स विसेसो अन्नो, विसेसमइवयणहेउ त्ति ॥२१८९॥

सामान्यं विशेषेभ्योऽन्यदेव हेतुश्च तत्सदिति सामान्यबुद्धेः सामान्यवचनस्य च । तस्मादपि सामान्यादन्योऽभिन्न एव नित्य–द्रव्यवर्ती अन्त्यो विशेषः । स च हेतुर्विशेषो विशेष इति मतेर्वचनस्य च। प्रयोगो–भिन्नौ परस्परं सामान्याविशेषौ, भिन्नकार्यत्वात्, घटपटादिवदिति॥२१८९॥

न केवलं सामान्यविशेषौ नैगमः परस्परं भिन्नौ मन्यते, किं तु स्वाश्रयादपि गोपरमाण्वादेस्तयोर्भेदमेवायमिच्छतीति दर्शयन्नाह–

सदिति भणिए ऽभिमन्नइ, दव्वादत्थंतरं ति सामन्नं ।
अविसेसओ मईए सव्वत्थाणुप्पवित्तीए ॥२१९०॥

सदिति यतो ''द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता'' इति वचनात् । सत्ता–समवायादेव परस्परविलक्षणेषु द्रव्यगुणकर्मसु सदित्येकाकारा बुद्धिः प्रवर्तते, अतः सदिति भणिते द्रव्यादिभ्योऽर्थान्तरमेष सामान्यं मन्यते नैगमः । कुतः ? इत्याह–सदित्यविशेषितमतेर्वचनस्य च सर्वत्र द्रव्यगुणकर्मस्वन्योऽन्यमतिविलक्षणेष्वपि अविशेषेण प्रवृत्तेः । इदमुक्तं भवति–यदि सत्तासामान्यं द्रव्यादिभ्योऽभिन्नं स्यात् तदा द्रव्यादिवत्तस्यापि भिन्नत्वात्ततः सर्वत्र सदित्यभिन्ना बुद्धिर्न स्यात् । न हि भिन्नादभिन्नबुद्धिप्रसवो युज्यते, घटस्तम्भादिभ्योऽपि तत्प्रसङ्गात्। तस्माद् भिन्नेष्वभिन्नबुद्ध्यन्यथानुपपत्तेर्द्रव्यादिभ्योऽर्थान्तरमेव सामान्यमिति ॥२१९०॥

गोत्वादिसामान्यं तर्हि कथंभूतम्? इत्याह–

गोत्तादओ गवाइसु, नियया धाराणुवित्तिबुद्धीओ ।
परओ य निवित्तीओ, सामन्नविसेसनामाणो ॥२१९१॥

गोत्वगजत्वादयस्तु गोगजाद्याश्रयवृत्तयः सामान्यविशेषनामनो मन्तव्याः । कुतः? इत्याह–निजकाधारेषु गोगजादिष्वनुवृत्तिबुद्धितः–अनुगताकारबुद्धिहेतुत्वात्सामान्यनामानः, परतस्तु तुरगमहिषादेर्नि-वृत्तितो निवर्तनाद्विशेषनामानः । तेऽपि च गोत्वादयो भिन्नेष्वभिन्नबुद्धि-हेतुत्वात् स्वाश्रयाद्भिन्ना एवास्य मतेन मन्तव्या इति । तदेवं निरूपितं सामान्यम् ॥२१९१॥

अथ विशेषस्वरूपनिरूपणार्थमाह–

तुल्लागइगुणकिरिए–गदेसतीयागए ऽणुदव्वम्मि ।
अन्नत्तबुद्धिकारण–मंतविसेसो त्ति से बुद्धी ॥२१९२॥

आकृतिश्च गुणाश्च क्रिया च आकृतिगुणक्रियाः, तुल्या आकृति–गुणक्रिया यस्य तत् तुल्याकृतिगुणक्रियम्, अतीतमतिक्रान्तमप–गतम्,आगतं तु प्रतीतम्, अतीतं च तदागतं च अतीतागतम्, एकदे–शादतीतागतमेकदेशातीतागतम्, तुल्याकृतिगुणक्रियं च तदेक–देशातीतागतं च तथा तस्मिँस्तुल्याकृतिगुणक्रियैकदेशतीतागते परमाणुद्रव्ये अयमस्यादन्यः परमाणुरित्येवंभूतायाः योगिनामन्य–त्वबुद्धेर्यः कारणं हेतुर्भवति सोऽन्त्यो विशेष इति । (से) तस्य नैगमस्य बुद्धिरभिप्रायः । इदमुक्तं भवति–परिमण्डलसंस्थानाः सर्वेऽपि परमाणव इति वैशेषिकाः । ततस्तेषु तुल्याकृतिष्वपि सर्वेषु परमाणुषु भिन्नाः, एतेन त्वभिन्ना इत्येवं येयं परस्परमन्यत्वग्राहिका योगिनां बुद्धिरुत्पद्यते तद्धेतुभूतः परमाणुद्रव्यवर्ती अन्त्यो विशेष उच्यते । यथाभूता हि प्रथमेऽणौ विशेषा न तथाभूता एव द्वितीये, यथाभूताश्च द्वितीये न तथाभूता एव प्रथमे, अन्यथैकत्वप्रसङ्गात् इतीह भावार्थः । तथा–पार्थिवा अणवःसर्वेऽपि परस्परं तुल्यगुणाः। तथा–अणुमनसोराद्यं कर्मादृष्टकारितम्, यथा अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यग्गमनमिति । सर्वेऽप्यणवस्तुल्यक्रिया :। तथा–एक–स्मादाकाशदेशादाकाशप्रदेशाद् यदैवैकः परमाणुः स्थितिक्षया–दत्येति। अन्यत्र गच्छति– तदैव यदाऽन्यः परमाणुस्तस्तिस्थित्यु–द्भवात्तत्रैवाकाशप्रदेशे समागत्य तिष्ठति, तदा एकदेशातीताऽऽगत–त्वम् । अत एवं वैशेषिकप्रक्रियया तुल्याकृतिषु, तुल्यगुणेषु, तुल्यक्रियेषु,एकप्रदेशनिर्गतागतेषु च, परमाणुद्रव्येषु यदन्यत्वबुद्धेः कारणं सोऽन्त्यो विशेष इति (से) तस्य नैगमस्य बुद्धिः । स चाकृत्यादिना तुल्येष्वतुल्यबुद्धिहेतुत्वादणुभ्यो भिन्न एवेति ॥२१९२॥

एवं सामान्यविशेषेषु प्ररूपितेषु परः प्राह–

नणु दव्वपज्जवट्ठिय–नवावलंवि त्ति नेगमो चेव ।
सम्मद्दिट्ठी साहु, व्व कीसमिच्छत्तमेओऽयं ? ॥२१९३॥

आह–नन्वेवं सति यत्सामान्यं तद्द्रव्यम्, विशेषास्तु पर्यायाः,ततो द्रव्यपर्यायास्तिकनबद्धयमतावलम्बित्वात् सम्यग्दृष्टिरेवायं नै–

गमनयः, जैनसाधुवत् । न हि जैनसाधवोऽपि द्रव्यपर्यायोभयरूपाद वस्तुनोऽन्यत् किञ्चिदिच्छन्ति । तत्किमित्यसौ मिथ्यात्वभेदः? इति ॥२१६३॥

अत्रोत्तरमाह–

जं सामन्नविसेसे, परोप्परं वत्थुओ य सो भिन्ने ।
मन्नइ अचंतमओ, मिच्छादिट्ठी कणादो व्व ॥२१६४॥
दोहिं वि नएहिँ नीयं, सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।
जं सविसयप्पहाण–त्तणेण अन्नोन्ननिरवेक्खा ॥२१६५॥

यद् यस्मात् सामान्यविशेषौ नैगमनयः परस्परमत्यन्तभिन्नौ मन्यते, वस्तुनोऽप्याधारभूतात् द्रव्यगुणकर्मपरमाणुरूपादत्यन्तभिन्नौ स ताविच्छति; जैनसाधवस्तु परस्परं स्वाधाराच्च कथंचिदेव तौ भिन्नाविच्छन्ति, अतो मिथ्यादृष्टिरेवायं, कणादवदिति ॥२१६४॥ तथाहि–द्वाभ्यामपि द्रव्यपर्यायास्तिकनयाभ्यां सर्वमपि निजं शास्त्रं नीतं समर्थितमुलूकेन तथाऽपि तन्मिथ्यात्वमेव यद्यस्मात्स्वस्वविषयप्राधान्याभ्युपगमेनोलूकाऽभिमतौ द्रव्यपर्यायास्तिकनयावन्योऽन्यनिरपेक्षौ जैनाभ्युपगतौ पुनस्तौ परस्परसापेक्षौ, स्याच्छब्दलाञ्छितत्वादिति ॥२१६५॥

अथ सिद्धान्तवादी स्थितपक्षदर्शनार्थमेकान्तवादिनं नैगमं दूषयितुमाह–

जइ सामन्नं सामन्न बुद्धिहेउत्ति तो विसेसो वि ।
सामन्नमन्नसाम–न्नबुद्धिहेउ त्ति को भेओ ? ॥२१६६॥

यदि गौःगौः इत्यादिसामान्यबुद्धिवचनहेतुरितिकृत्वा सामान्यं त्वयेष्यते, हन्त ! तर्हि परमाणुगतोऽन्त्यो विशेषोऽपि सामान्यं प्राप्नोति, विशेषो विशेष इत्यन्यसामान्यबुद्धिवचनहेतुत्वात् । न च विशेषष्वपि सामान्यमस्ति, द्रव्यगुणकर्मस्वेव तद्वृत्त्यभ्युपगमाद। अथवा–गोत्वगजत्वादिको विशेषोऽपि सामान्यं प्राप्नोतिगोत्वगजत्वादिसामान्येष्वऽपि सामान्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । सामान्यं सामान्यमिति बुद्धिवचनयोस्तत्रापि प्रवृत्तेः । न च सामान्येष्वपि सामान्यमस्ति ''निःसामान्यानि सामान्यानि'' इति वचनात् । ततश्चोक्तयुक्तेर्विशेषस्यापि सामान्यत्वात् को भेदः सामान्यविशेषयोः? न कश्चिदित्यर्थः इति ॥२१६६॥

सामान्यस्यापि च विशेषरूपता प्राप्नोतीत दर्शयन्नाह–

जइ जे ण विसेसिज्जइ, सविसेसो तेण जं पि सामण्णं ।
तं पि विसेसोऽवस्सं, सत्ताइविसेसयत्ताओ ॥२१६७॥

यदि येन वस्तुना बुद्धिर्वचनं च विशेष्यते स विशेष उच्यते, तेन ततो यदपि परमपरं च सत्ता गोत्वादिकं सामान्यं तदपि विशेषः प्राप्नोति, कुतः? सत्तादीनामपि विशेषकत्वात्, तथाहि– सत्ता–सामान्यमपि गोत्वादिभ्यो बुद्धिवचने विशेषयति, गोत्वादयोऽपि च सत्तादिभ्यस्ते विशेषयन्त्येव, प्रयोगः–सामान्यमपि विशेष एव, बुद्धिवचनविशेषकत्वात्, अन्त्यविशेषवदिति। तदेवं 'विशेषोऽपि सामान्यम्, सामान्यमपि विशेषः' प्राप्नोतीत्युक्तम् ॥२१६७॥

किं च–''त्रिपदार्थसत्करी सत्ता'' इति वचनात्सत्तासमवा–

यात्सत्त्वं भवताऽभ्युपगम्यते तच्चायुक्तम्।

कुतः? इत्याह–

सत्ताजोगादसओ, सओ व सत्तं हवेज्ज दव्वस्स ।
असओ न खपुप्फस्स, व सओ व किं सत्तया कज्जं? ॥२१६८॥

यत्सत्तायोगाद्वस्तुनः सत्त्वमिष्यते तत्स्वरूपेण किं सतोऽसतो वा भवेत्? इति वक्तव्यम्। न तावदसतः खपुष्पस्येव सत्त्वं युज्यते। यदि तु स्वरूपेणैव सद्वस्तु, तर्हि सत्तया किं कार्यम्? तामन्तरेणापि स्वरूपेणैव वस्तुनः सत्त्वादिति ॥२१६८॥

अपि च–

पइवत्थुं सामन्नं, जइ तोऽणेगं न यावि सामन्नं ।
अह दव्वेसु तदेगं, तह वि सदेसं न सामन्नं ॥२१६९॥

यदि तत्सामान्यं प्रतिवस्तु वर्तते तर्हि नैकम्, प्रतिवस्तुवृत्तित्वाद्, प्रतिवस्तुस्वात्मवत् । यदि वा–न तत्सामान्यं प्रतिवस्तुवृत्तित्वात्, प्रतिवस्तुस्वात्मवत्। अथ बहुषु द्रव्येषु वृत्तमपि तदेकं तथाऽपि सदेशं प्राप्नोति ,अदेशस्य परमाणोरिव बहुषु वृत्तियोगात्। सदेशत्वे च सति न सामान्यं, देशभेदे देशिनोऽपि तदव्यतिरिक्तस्य भेदादिति ॥२१६९॥

अथ प्रतिवस्तु वर्तमानमपि तदेकमिष्यते तथापि दोष

इति दर्शयन्नाह–

अह पइवत्थुमिहेगं,च तह वि तं नत्थि खरविसाणं च ।
न य तदुबलक्खणं तं, सव्वगयत्तओ खं व ॥२२००॥

अथ प्रतिवस्तु वर्तते तत्,एकं चेष्यते, तथापि तन्नास्ति, अनुपलभ्यमानत्वात्, खरविषाणवत् । न च तस्य स्वाश्रयभूतस्य गवादेरुपलक्षणमुपलक्षकं तद् युज्यते, सर्वगतत्वात्, गुणादिव्यक्तिभ्योऽन्यत्वाच्च, आकाशवदिति ॥२२००॥

किं च–

सामन्नविसेसकयं, जइ नाणं तेसु किं निमित्तं तो ।
अह तत्तो च्चिय तम्हा, तं परहेउ त्ति ऽणेगंतो ॥२२०१॥

यदि गौर्गौरित्यादि सामान्यज्ञानं वचनं च सामान्यहेतुकं प्रवर्तते, तथा परमाणुष्वयमस्माद्विशिष्ट इति विशेषज्ञानं वचनं च यदि विशेषकृतम्, ततस्तेषु गोत्वतुरगत्वादिसामान्येषु सर्वत्र सामान्यं सामान्यमिति ज्ञानं वचनं च तथा तेषु विशेषेषु सर्वत्र विशेषो विशेषः इति विशेषबुद्धिर्वचनं च किं निमित्तमिति वक्तव्यम्? न च सामान्येष्वपि सामान्यमस्ति, नापि विशेषेष्वन्ये विशेषाः सन्ति,येन तेषु तन्निमित्ते ते स्याताम्। अथ तत एव तेभ्य एव गोत्वादिसामान्येभ्योऽपरसामान्यमन्तरेणापि सामान्यज्ञानवचनेऽभ्युपगम्येते, विशेषेभ्य एव चान्यविशेषनिरपेक्षेभ्यो विशेषज्ञानवचने इष्येते, तस्मात् तर्हि तत्सामान्यविशेषज्ञानं वचनं च परहेतुकं सामान्यविशेषनिमित्तमेवेति नायमेकान्तः, सामान्यविशेषविषयाभ्यामेव सामान्यविशेषज्ञानवचनाभ्यां व्यभिचारादिति ॥२२०१॥

अथ सिद्धान्तवादी स्थितपक्षमुपदर्शयन्नाह–

तम्हा वत्थूणं चिय, जो सरिसो पज्जवो ससामन्नं ।
जो वि सरिसो विसेसो, समओ ऽणत्थंतरं तत्तो ॥२२०२॥

तस्माद्वस्तूनामेव गवादीनां खुरककुदलाङ्गूलविषाणसास्नादिमत्त्वलक्षणो यः सदृशः पर्यायः स एव सामान्यं, न पुनरेकनित्यनिरवयवाऽक्रियसर्वगतत्वादिधर्मोपेतं पराभ्युपगतम्। यस्तुतेषामेव गवादीनां शाबलेवधावलेयत्वादिको विसदृशोऽन्योऽ

न्यं विलक्षणः पर्यायः स विशेषः । स च सामान्यरूपो विशेषरूपश्च पर्यायस्ततो वस्तुनोऽनर्थान्तरमभिन्नः, कथञ्चित्तु पररूपतादिभिर्भिन्नोऽपि न त्वेकान्तेनाभिन्नो भिन्नो वेति द्रष्टव्यमिति । तदेवमुक्तो नैगमनयः ॥२२०२॥

अथ संग्रहनयं व्याचिख्यासुराह–

संगहणं संगिण्हइ, संगिज्झंते व तेण जं भेया ।
तो संगहो त्ति संगहि–य पिंडियत्थं वओ जस्सा ॥२२०३॥

संग्रहणं सामान्यरूपतया सर्ववस्तूनामाक्रोडनं संग्रहः । अथवा–सामान्यरूपतया सर्वं संगृह्णातीति संग्रहः । अथवायद्यस्मात्सर्वेऽपि भेदाः सामान्यरूपतया संगृह्यन्तेऽनेनेति संग्रहः । संग्रहीतं च तत्पिण्डितं च संगृहीतपिण्डितं, तदेवार्थोऽभिधेयं यस्य तत्संग्रहीतपिण्डितार्थम् । एवंभूतं वचो वचनं यस्य संग्रहस्येति ॥२२०३॥

तत्र संगृहीतपिण्डितार्थं, किमुच्यते? इत्याह–

संगहियमागहीयं, संपिंडियमेगजाइमाणीयं ।
संगहियमणुगमो वा, वइरेगो पिंडियं भणियं ॥२२०४॥
अहव महासामन्नं, संगहियं पिंडियत्थमियरंति ।
सव्वविसेसाणन्नं, सामन्नं सव्वहा भणियं ॥२२०५॥

सामान्याऽभिमुखेनाऽऽग्रहणमागृहीतुं संग्रहीतमुच्यते, पिण्डितं त्वेकजातिमानीतमभिधीयते, तदेवंभूतं वस्तु अर्थोऽभिधेयं यस्य तत्संगृहीतपिण्डितार्थं वचनं संग्रहनयस्येति स्वयमेव द्रष्टव्यम्। अथवा–संगृहीतमनुगमोऽभिधीयते, सर्वव्यक्तिष्वनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादनमित्यर्थः । व्यतिरेकस्तु पिण्डितमुच्यते । विशेष–प्रतिपादकपरमतनिराकरणमित्यर्थः । ततश्च संगृहीतपिण्डितार्थमनुगमव्यतिरेकार्थं संग्रहवचनमिति दृश्यम् ॥२२०४॥ अथवा–सत्ताख्यं महासामान्यं संगृहीतमुच्यते, इतरत्तु गोत्वादिकमवान्तर–सामान्यं पिण्डितार्थमभिधीयते । ततः संगृहीतपिण्डितार्थं परा–परसामान्यार्थं संग्रहवचः। किं बहुनोक्तेन? सर्वे विशेषा अनन्या अभिन्ना यस्य तत्सर्वविशेषानन्यम्। अतः क्रोडीकृतसर्वविशेषं सामान्यमेव सर्वैः प्रकारैः संग्रहवचनस्याऽभिधेयतया भणितमिति ॥२२०५॥

कथंभूतं पुनः सामान्यं संग्रहो मन्यते? विशेषाँस्तु कुतोऽसौ नाभ्युपगच्छति? इति दर्शनार्थमाह–

एक्कं निच्चं निरवयव–मक्रियं सव्वगं च सामन्नं ।
निस्सामन्नत्ताओ, नऽत्थि विसेसो खपुप्फं व ॥२२०६॥

एकं सामान्यम्, सर्वत्र तस्यैव भावात्, विशेषाणां चाभावात्; तथा–नित्यं सामान्यम्, अविनाशात्; तथा–निरवयवम्, अदेशत्वात्; अक्रियं, देशान्तरगमनाभावात्; सर्वगतं च सामान्यम्, अक्रियत्वादिति । विशेषास्तु न सन्ति, निःसामान्यत्वात्; सामान्यव्यतिरेकिणां तेषामभावात्। इह यत्सामान्यातिरिक्तं तन्नास्ति, यथा खपुष्पमिति ॥२२०६॥

एतदेव समर्थयति–

सदिति भणियम्मि जम्हा, सव्वत्थाणुप्पवत्तए बुद्धी ।
तो सव्वं सम्मत्तं, नऽत्थि तदत्थंतरं किंचि ॥२२०७॥

यस्मात् सदित्येवंभणिते सर्वत्र भुवनत्रयान्तर्गते वस्तुनिबुद्धिरनुप्रवर्तते प्रधावति । न हि तत्किमपि गास्त्यस्ति । यत्सत् इत्युक्ते झगिति बुद्धौ न प्रतिभासते । ततस्तस्मात्सर्वं तन्मात्रमेव सत्तामात्रमेव, न तदर्थान्तरं किञ्चिदस्ति यद्विशेषतया कल्पेत इति ॥२२०७॥

सत्तामात्रत्वमेव सर्वभावानां भावयन्नाह–

कुंभो भावाणन्नो, जइ तो भावो अहन्नहाऽभावो ।
एवं पडादओ वि हु, भावाणन्न त्ति तम्मत्तं ॥२२०८॥

कुम्भो घटः स भावात् सत्तातोऽन्यः, अनन्यो वा? यद्यऽनन्योऽ–भिन्नः, तर्हि भावः सत्तामात्रमेवाऽसौ (अहन्नह त्ति) अथान्यथा–भावाद्भिन्नोऽभ्युपगम्यत इत्यर्थः, तर्ह्यभावोऽसन्नेवासौ, भावादन्यत्वात्, खरविषाणवदिति । एवं पटादयोऽपि प्रत्येकं वाच्याः । ततस्तेऽपि द्वितीयपक्षेऽसत्त्वप्रसंगाद् भावादनन्येऽभ्युपगन्तव्याः, इति सर्वमेव घटपटादिकं वस्तु तन्मात्रं सत्तामात्रमेवेति ॥२२०८॥

अथवा–अयमेवार्थोऽन्यथाऽभिधीयचते । कथम्? इत्याह–

तम्मत्तमिह विसेसो, सामन्नं पि व पमेयभावाओ ।
सव्वत्थ सम्मईओ, वभिचाराभावओ वा वि ॥२२०९॥

तन्मात्रमिह विशेषा इति प्रतिज्ञा, प्रमेयत्वात्, सामान्यवत् । अथवा–अन्यो हेतुः–सर्वत्र सन्मतेर्व्यभिचाराभावात्। सर्वत्र सन्मतिप्रवृत्तेरित्यर्थः । इति ॥२२०९॥

प्रकारान्तरेणापि विशेषाणां सामान्यरूपतां–

साधयितुमाह–

चूओ वणस्सइ च्चिय, मूलाइगुणो त्ति तस्समूहो व्व ।
गुम्माओ वि एवं, सव्वे ण वणस्सइविसिट्ठा ॥२२१०॥

चूतो वनस्पतिःसामान्यरूप एव, मूलादिगुणत्वात्, तत्समूह–वत्–चूतादिवृक्षसमूहवत् । गुल्मो लतासमूहः, तदादयोऽपि सर्वे वृक्षविशेषा वनस्पतेरविविशिष्टा एव, इति सामान्यमेवास्ति, न विशेषा इति ॥२२१०॥

किं च –

सामन्नाउ विसेसो, ऽन्नोऽणन्नो व नत्थि जइ अन्नो ।
निस्सामन्नत्ताओ, ऽणन्नो सामन्नमेत्तं सो ॥२२११॥

सामान्याद्विशेषोऽन्यः, अनन्यो वा? यद्यन्यः, तर्हि नास्त्यसौ, सामान्यबहिर्भूतत्वात्, खरविषाणवत् । अथ अनन्यः तर्हि सामान्यमात्रमेवासौ, तत्स्वरूपवदिति । तदेवमुक्तः संग्रहः ॥२२११॥ विशे० । एके तीर्थिकाः सामान्यरूपमेव वाच्यतया अभ्युपगच्छन्ति। ते च द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदाः अद्वैतवादिनः सांख्याश्च । केचिच्च विशेषरूपमेवं वाच्यं निर्वचन्ति । ते च पर्यायास्तिकनयानुसारिणः सौगताः । अपरे च–परस्परनिरपेक्षपदार्थपृथग्भूतसामान्यविशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते । ते च नैगमनयानुरोधिनः काणादाः, अक्षपादाश्च । एतच्च पक्षत्रयमपि किञ्चिच्चर्च्यते । तथाह–संग्रहनयावलम्बिनो वादिनः प्रतिपादयन्तिसामान्यमेव तत्त्वं, ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् । तथा सर्वमेकमविशेषण सदिति ज्ञानाऽभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वात्। तथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वं, ततोऽर्थान्तरभूतानां धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामनुपलब्धेः । किं च–ये सामान्यात् पृथग्भूता अन्योऽन्यव्यावृत्त्यात्मका विशेषाः कल्प्यन्ते, तेषु विशेषत्वं विद्यते न

वा? नो चेन्निःस्वभावताप्रसंगः, स्वरूपस्यैवाऽभावात्। अस्ति चेत्तर्हि तदेव सामान्यम्। यतः समानानां भावः सामान्यम्। विशेषरूपतया च सर्वेषां, तेषामविशेषेण प्रतीतिः सिद्धैव। अपि च–विशेषाणां व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वं लक्षणम्। व्यावृत्तिप्रत्यय एव च विचार्यमाणो न घटते। व्यावृत्तिर्हि विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेधः। विवक्षितपदार्थश्च स्वस्वरूपव्यवस्थापनमात्रपर्यवसायी कथं पदार्थान्तरप्रतिषेधे प्रगल्भते? न च स्वरूपसत्वादन्यत्तत्र किमपि, येन तन्निषेधः प्रवर्त्तते। तत्र च व्यावृत्तौ क्रियमाणायां स्वात्मव्यतिरिक्ता विश्वत्रयवर्तिनोऽतीतवर्तमानाऽनागताः पदार्थाः, तस्माद् व्यावर्तनीयाः। ते च नाज्ञातस्वरूपा व्यावर्तयितुं शक्याः। ततश्चैकस्यापि विशेषस्य परिज्ञाने प्रमातुः सर्वज्ञत्वं स्यात्। न चैतत्प्रातीतिकं, यौक्तिकं वा। व्यावृत्तिस्तु निषेधः। स चाभावारूपत्वात्तुच्छः कथं प्रतीतिगोचरमञ्चति खपुष्पवत्। तथा येभ्यो व्यावृत्तिस्ते सद्रूपा असद्रूपा वा? असद्रूपाश्चेत्तर्हि खरविषाणात् किं न व्यावृत्तिः? सद्रूपाश्चेत्सामान्यमेव। या चेयं व्यावृत्तिर्विशेषैः क्रियते सा सर्वासु विशेषव्यक्तिष्वेकाऽनेका वा? अनेका चेत्तस्या अपि विशेषत्वापत्तिरनेकरूपत्वैकजीवितत्वाद्विशेषाणाम्। ततश्च तस्या अपि विशेषत्वान्यथानुपपत्तेर्व्यावृत्त्या भाव्यम्। व्यावृत्तेरपि च व्यावृत्तौ विशेषाणामभाव एव स्यात्; तत्स्वरूपभूताया व्यावृत्तेः प्रतिषिद्धत्वात्, अनवस्थापाताच्च। एका चेत्सामान्यमेव संज्ञान्तरेण प्रतिपन्नं स्यादनुवृत्तिप्रत्ययलक्षणाऽव्यभिचारात्। किं चाऽमी विशेषाः। सामान्याद् भिन्नाः अभिन्ना वा? भिन्नाश्चेत् मण्डूकजटाभारानुकाराः। अभिन्नाश्चेत्तदेव तत्स्वरूपवत्। इति सामान्यैकान्तवादः। पर्यायनयान्वयिनस्तु भाषन्तेविविक्ताः क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थः, ततो विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याप्रतीयमानत्वात्। न हि गवादिव्यक्तध्यनुभवकाले वर्णसंस्थानात्मकं व्यक्तिरूपमपहायाऽन्यत् किंचिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते; तादृशस्यानुभवाभावात्। तथा च पठन्ति–

''एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु, प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्कुलीषु।
साधारणं रूपमवेक्षते यः, शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः ॥१॥''

एकाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यते। इति न तेन सामान्यसाधनं न्याय्यम्। किं च–यदिदं सामान्यं परिकल्प्यते, तदेकमनेकं वा? एकमपि सर्वगतमसर्वगतं वा? सर्वगतं चेत् किं न व्यक्त्यन्तरालेषूपलभ्यते? सर्वगतैकत्वाभ्युपगमे च तस्य यथा गोत्वसामान्यं गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति। एवं किं न घटपटादिव्यक्तीरपि; अविशेषात्? असर्वगतं चेत् विशेषरूपापत्तिरभ्युपगमबाधश्च। अथाऽनेकं गोत्वाश्वत्वघटत्वपटत्वादिभेदभिन्नत्वात्ते तर्हि विशेषा एव स्वीकृताः, अन्योऽन्यं व्यावृत्तिहेतुत्वात्। न हि यद्गोत्वं तदश्वत्वात्मकमिति। अर्थक्रियाकारित्वं च वस्तुनो लक्षणम्। तच्च विशेषेष्वेव स्फुटं प्रतीयते। न हि सामान्येन काचिदर्थक्रिया क्रियते, तस्य निष्क्रियत्वात्, वाहदोहादिकास्वर्थक्रियासु विशेषाणामेवोपयोगात्। तथेदं सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा? भिन्नं चेदवस्तु, विशेषविश्लेषेणार्थक्रियाकारित्वाऽभावात्। अभिन्नं चेत् विशेषा एव तत् स्वरूपवत्। इति विशेषैकान्तवादः। नैगमनयानुगामिनस्त्वाहुःस्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ, तथैव प्रमाणेन प्रतीतत्वात्। तथाहि–सामान्यविशेषावत्यन्तभिन्नौ, विरुद्धधर्माध्यासितत्वात्। यावेवं तावेवं यथा पाथः पावकौ। तथा चैतौ। तस्मात्तथा। सामान्यं हि गोत्वादिसर्वगतम्। तद्विपरिताश्च शबलशाबलेयादयो विशेषास्ततः कथमेषामैक्यं युक्तम्? न सामान्यात् पृथक् विशेषस्योपलम्भ इति चेत् कथं तर्हि तस्योपलम्भ इति वाच्यम्? सामान्यव्याप्तस्येति चेत् न तर्हि स विशेषोपलम्भः, सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात्। ततश्च तेन बोधेन विविक्तविशेषग्रहणाभावात् तद्विशेषवाचकध्वनिं तत्साध्यं च व्यवहारं न प्रवर्तयेत् प्रमाता। न चैतदस्ति. विशेषाभिधानव्यवहारयोः प्रवृत्तिदर्शनात्। तस्माद् विशेषमभिलषता तत्र च व्यवहारं प्रवर्तयता तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽभ्युपगन्तव्यः। एवं सामान्यस्थाने विशेषशब्दं विशेषस्थाने च सामान्यशब्दं प्रयुञ्जानेन सामान्येऽपि तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽङ्गीकर्तव्यः। तस्मात् स्वस्वग्राहिणि ज्ञाने पृथक् प्रतिभासमानत्वात् द्वावपीतरेतरविशकलितौ। ततो न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटते इति स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादः। तदेतत्पक्षत्रयमपि न क्षमते क्षोदं, प्रमाणबाधितत्वात् सामान्यविशेषोभयात्मकस्यैव च वस्तुनो निर्विगानमनुभूयमानत्वात्। वस्तुनो हि लक्षणमर्थक्रियाकारित्वम्; तच्चानेकान्तवादे एवाविकलं कलयन्ति परीक्षकाः। तथाहि–यथा गौरित्युक्ते खुर–ककुदसास्नालाङ्गूलविषाणाद्यवयवसंपन्नं वस्तु स्वरूपं सर्वव्य–क्त्यनुयायि प्रतीयते तथा महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते। यत्रापि च शबला गौरित्युच्यते तत्रापि यथा विशेषप्रतिभासस्तथा गोत्वप्रतिभासोऽपि स्फुट एव। शबलेति केवलविशेषणोच्चारणेऽपि अर्थात्, प्रकरणात् वा गोत्वमनुवर्तते। अपि च शबलत्वमपि नानारूपं, तथा दर्शनात्। ततो वक्ता शबलेत्युक्ते क्रोडीकृतसकलशबलसामान्यं विवक्षितगोव्यक्तिगतमेव शबलत्वंव्यवस्थाप्यते। तदेवमाबालगोपालं प्रतीतिसिद्धेऽपि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वे तदुभयैकान्तवादः प्रलापमात्रम्। न हि क्वचित्कदाचित्केनचित्सामान्यं विशेषं विना कृतमनुभूयते। विशेषा वा तद्विना कृताः। केवलं दुर्णयप्रभावितमतिव्यामोहवशादेकमपलप्यान्यतरद् व्यवस्थापयन्ति बालिशाः। सोऽयम्–अन्धगजन्यायः। येऽपि च तदेकान्तपक्षोपनिपातिनः प्रागुक्ता दोषास्तेऽपि अनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वान्नोच्छ्वसितुमपि क्षमाः। स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादिनरस्त्वेवं प्रतिक्षेप्याः–सामान्यं प्रतिव्यक्ति कथञ्चिदभिन्नं, कथंचित्तदात्मकत्वाद्विसदृशपरिणामवत्। यथैव हि काचिद् व्यक्तिरुपलभ्यमाना व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विशदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात् समानेति, तेन समानो गौरयं सोऽनेन समानः इति प्रतीतेः। न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात् सामान्यरूपताव्याघातः। यतो रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति, न च तेषां गुणरूपताव्याघातः। कथंचिद् व्यतिरेकस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव। पृथक् व्यपदेशादिभाक्त्वात्। विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्यात् पृथग् भवितुमर्हन्ति। यतो यदि सामान्यं सर्वगतं सिद्धं भवेत्तदा तेषामसर्वगतत्वेन ततो विरुद्धधर्माध्यासः स्यात्। न च तस्य तत्सिद्धम् प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात्, सामान्यस्य विशेषाणां च कथंचित्तादात्म्यपरिणामेनैकरूपतया व्यवस्थितत्वात्। विशेषेभ्योऽव्यतिरिक्तत्वाद्धि सामान्यमप्यनेकमिष्यते। सामान्यात्तु विशेषाणामव्यतिरेकेण तेषामप्येकरूपता इति। एकत्वं च सामान्यस्य संग्रहनयार्पणात् सर्वत्र विज्ञेयम्, प्रमाणार्पणात्तस्य सदृशपरिणामरूपस्य विसदृशपरि-

णामवत्कथाञ्चित्प्रतिव्यक्ति भेदात्। एवं चासिरुं सामान्यविशेषयोः सर्वथा विरुद्धधर्माध्यासितत्वम्। कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासस्य कथञ्चिद्भेदाविनाभूतत्वात्। पाथः पावकदृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः, तयोरपि कथंचिदेव विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन भिन्नत्वेन च स्वीकरणात्। पयस्त्वपावकत्वादिना हि तयोर्विरुद्धधर्माध्यासो भेदश्च, द्रव्यत्वादिना पुनस्तद्विपरीतमिति। तथा च–कथं न सामान्य विशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटत? इति। स्था० १४ श्लोक। तथा सूत्रकृताङ्गवृत्तौ–सर्वमपि यदस्ति तत्सामान्यविशेषात्मकं नरसिंहाकारमुभयस्वभावमिति।

तथा चोक्तम् –

''नान्वयः सह भेदत्वा–न्न भेदोऽन्वयवृत्तितः।
मृद्भेदद्वयसंसर्ग–वृत्तिजात्यन्तरं घटः ॥१॥''

तथा –

''नरस्त्व सिंहरुपत्वा–न्न सिंहो नररुपतः।
शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि सः ॥२॥''

इत्यादि। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

''व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं, शङ्करोऽथानवस्थितिः।
रुपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥१॥'' इति।

अस्य व्याख्या–आकाशत्वं न जातिः। व्यक्त्यैक्यात्।१। घटत्वकलशत्वं न जाती। व्यक्तितुल्यत्वात् ।२। भूतत्वमूर्तत्वेन जाती। आकाशे भूतत्वस्यैव मनसि च मर्तत्वस्यैवं सद्भावेऽपि पृथिव्यादिचतुष्टये उभयोः सद्भावात् सङ्करप्रसङ्गः।३। जातेरपि जात्यन्तराङ्गकारेऽनवस्थाप्रसङ्गः।४। अत्यन्तविशेषता न जातिः। तदङ्गीकारे तत्स्वरुपव्यावृत्ति हानिः स्यात्।५। समवायता न जातिः संबन्धाऽभावात् ।६। इत्येत जातिबाधकाः। स्था० ८ श्लोक। कर्मवशादसुमतां विचित्रा जातिगमनाज्जतेरशाश्चतत्वम्। अतो न जातिमडो विधेय इति। यदपि कैश्चिदुच्यते यथा ब्राह्मणा ब्रह्मणो मुखाद्विनिर्गताः बाहुडयांक्षत्रियाः, ऊरुभ्यां वैश्याः, पदभ्यां शूद्राः इति। एतदप्यप्रमाणत्वादतिफल्गुप्रायं, तदभ्युपगमे न विशेषो वर्णानां स्यादेकस्मात् प्रसूतेर्बुन्धाशासाप्रतिशाखाग्रभूतपनसोदुम्बरा दिफलवब्रह्मणो वा मुखादेरवयवानां चातुर्वर्ण्यावाप्तिः स्यात् न चैतदिष्यते भवद्भिस्तथा यदि ब्राह्मणादीनां ब्रह्मणो मुखादेरुद्भवः। सांप्रतं किं न जायते?। अथ युगादावेतदित्येवं सति दृष्टहानिरदृष्टकल्पना स्यादिति। तथा यदि कैश्चिदभ्यधायि सर्वज्ञनिक्षेपावसरे तद्यथा सर्वज्ञरहितोऽतीतः कालः कालत्वाद्वर्त्तमानकालवदेवं च सत्वेतदपि शक्यते वक्तुं यथा नाऽतीतः कालो ब्रह्ममुखादिविनिर्गतचातुर्वर्ण्यसमन्वितः। कालत्वाद्वर्तमानकालवद्भवति च विशेषे पक्षीकृते सामान्यहेतुरित्यतः प्रतिज्ञार्थ कदेशासिद्धता ना शङ्कनीयते। जातेश्चानित्य त्वं युष्मत्सिद्धान्त एवाऽभिहितम्। तद्यथा–शृगलो वा एष जायते यः स पुरीषो दह्यत इत्यादिना। तथा–''सद्यः पतति मांसेन, लाक्षया लवणेन च। त्र्यहेन शूद्रीभवति, ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी ॥१॥'' इत्यादि लोके चावश्यं भावी जातिपातः। यत उक्तम्–''कायिके कर्मणां दोषे–र्याति स्थावरतां नरः। वाचिकैः पक्षिमृगतां, मानसैरन्त्यजातिताम् ॥१॥'' इत्यादिगुणैरप्येवंविधैर्न ब्राह्मणत्वं युज्यते। सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। ग्राह्मणत्वादिजातिश्च न कस्य चित् कारणम्। स्मृतावप्युक्तम् –

''कैवर्ती गर्भसंभूतो, व्यासो नाम महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातः, तस्माज्जातिरकाणम् ॥
हरिणीगर्भसंभूतो, हैरण्योऽपि महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जतिरकारणम्॥'' दर्श० २ तत्त्व।

क्रियाकर्मविभागेन हि चातुर्वण्येव्यवस्था वत उक्तम् –

''एकवर्णामिदं सर्वं , पूर्वमासीद् युधिष्ठिर!।
क्रियाकर्मविभागेन, चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम् ॥१॥
ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, यथा शिल्पेन शिल्पकः।

अन्यथा नाम मात्रं स्या–दिन्दूगोपककीटवत्।२। उत्त० २६ अ०।

(सप्तानां वर्णानां नवानां च वर्णान्तराणामुत्पत्तिः 'बंभ' शब्दे वक्ष्यते) व्याकरणोक्ते पौत्राद्यपत्यात्मके गोत्रे, वेदशाखा भेदे च। न्यायोक्ते साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां व्याप्तिनिरपेक्षाभ्यां वादि वाक्येषु दूषणदानरूपे वाक्ये, वाच०। तथा सम्यग्धेतौ हेत्वा भासे वा वादिना प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बन प्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिर्दूषणाभास इत्यर्थः। सा च चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन। यथा साधर्म्य वैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्याऽवर्ण्याविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्ति प्रसङ्ग प्रतिदृष्टान्तानुत्पत्ति संशयप्रकरणाऽहेत्वर्थापत्यविशेषोप पत्युपलब्धनुपब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः। तत्र साधर्म्येण प्रत्य वस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति। 'अनित्यः शब्दः' कृत कत्वाद् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम्। 'नित्यः शब्दो' निरवयवत्वात् आकाशवत्। न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वात् अनित्यः शब्दो, न पुनराकाशसाधर्म्यान्निरवयत्वात् नित्य इति। वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिर्भवति। 'अनित्यः शब्दः' कृत कत्वाद् घटवदिति। अत्रैव प्रयोगे स एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते (घटस्थ हि निरवयवित्वं वैधर्म्ये स्वयं सावयवत्वाद्वै धर्म्यम्) नित्यः शब्दो निरवयवत्वात्। अनित्यं हि सावयवं दृष्टं घटादीति न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनस्तद्वैधर्म्यात् निरवयवत्वान्नित्य इति। उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः। तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मे कञ्चित्साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्ष समां जातिं प्रयुङक्ते। यदि घटवत् कृतकत्वात् अनित्यः घटवदेव मूर्तो ऽपि भवतु। न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदितिशब्दे धर्मान्तरोकर्षमापाडयति। अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्–अश्रावणो दृष्टः। एवं शब्दोऽप्यस्तु। नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति। शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति। इत्येताश्चतस्त्रो दिङ्मात्रदर्शनार्थ जातव वक्ताः। एवं शेषा अपि विंशतिरक्षपादशा स्त्रादवसेयाः। स्या० १० श्लोक। दूषणाभासास्तु जातयस्तत्र सम्यक् दूषणस्याऽपि न तत्वव्यवस्थितिरनियतत्वात्। अनियतत्वं च वदेवैकस्मिन् सम्यग् दूषणं तदेवान्यत्रा दुषणाभासं पुरुषशक्यपेक्षत्वाच्च दूषणाभासव्यस्थितेरनियतत्वमिति। कुतः पुनर्दुषणाभासरुपाणां जातीनामवास्तुवत्वात्तासामिति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। षड्जातिषु, सप्तसु स्वरेषु, असङ्कारभेदे, चुल्लयाम्, आमलक्याम्, काम्पिल्ये, छन्दसि, जातिफले, मालत्याम्, पुष्पप्रधाने वृक्षभेदे च। वाच०। रा०। प्रज्ञा०। कल्प०। आचा०। ज्ञा०। जातिकुसुमवर्णे , मद्यभेदे, ''मेहुं च मेरगं च जाइं च'' जातिश्च जातिकुसुमवर्णे मद्यमेव। विपा० १ श्रु० २ अ०। जातिनपुंसकगर्भजतिर्यग मनुष्यमध्ये सम्यक्त्वं प्राप्यते न वेति। प्रश्ने, उत्तरम्–जातिनपुंसकमध्ये

सम्यक्तवं देशविरतिश्च प्राप्यत इति आवश्यकादावस्तीति । १२६ प्र० सेन० २ उल्ला०।

जाइअंतर न०(जात्यन्तर) नरसिंहत्वादिके विलक्षणजातौ, ''नरस्य सिंहरुपत्वा–अ सिंहो नररुपतः। शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि सः ॥१॥'' सूत्रा० १ श्रु १२ अ०।

जाइअंध पुं० (जात्यन्ध) जन्मकावादारभ्यान्धे, (विपा०) ''केइ पुरिसे जाइअंधे जाइअंधारुवे'' जातेरारभ्यान्धो जात्यन्धः। विपा० १ श्रु० १ अ०।

जाइआजीवणा स्त्री (जात्याजीवना) आजीवनाभेदे, पिं०।

जाइआजीवय पुं० (जात्याजीवक) जातिंब्रह्मणादिकामा जीवति उपजीवति तज्जातीयमात्मानं सूचादिनोपदर्श्य ततो भक्तादिकं गृहातीति जात्याजीवकः। आजीवकभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ०। यथा कञ्चन भिल्लमालादिजातीयमीश्वरं दृष्टवा ग्राहाऽहमपि भिल्लमालादिजातीयः स चैकजातिसंबन्धात् तस्य भिक्षादानादिकां प्रतिपत्तिं करोति। इति जात्युपजीवी। प्रव० २ द्वार।

जाइआरिय पुं० (जात्यार्य) जातिर्मातृकः पक्षः तया आर्या अपापा निर्दोषा जात्यार्या। विगुरुमातृके, (स्था०)

छव्विहा जाइआरिया मणस्सा पन्नत्ता। तं जहा –

''अंबट्ठा य कलंदा य, विदेहा वेदिगाइया।
हरिया चुंचुणा चेव, छप्पेया इब्भजाइओ'' ॥१॥

अम्बष्ठेत्यादि अनुष्टुपप्रतिकृतिः षडप्येता इभ्यजातय इति । इभमर्हन्तीति इभ्याः यद् ''द्रव्यस्तूपान्तरित उच्छ्रितकदलिकीदण्डो हस्ती न दृश्यते ते इभ्याः इति श्रुतिः । तेषां जातव इभ्यजातयस्ता एता इति । स्था० ६ ठा०।

जाइआसीविस पुं० (जात्याशीविष) आइयो दंष्ट्राः तासु विषं येषां ते आशीविषाः । जातित आशीविषा जात्याशीविषाः । वृश्चिकादिके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । ('आसीविस' शब्दे द्वितीयभागे ४८६ पृष्ठे विशेषवक्तव्यता।

जाइकहा स्त्री० (जातिकथा) विकथाभेदे, नि० चू० १ उ०।

जाइकुल न० (जातिकुल) जातिसंबन्धिनि कुले, ''तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ जाइकुलकोडीजोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता '' । जातिरिति किल तिर्यग् जातिस्तस्याः कुलानि कृमिकीटवृश्चिकादीनि । जी० ३ प्रति०।

जाइचउक्क न० (जातिचतुष्क) एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिस्वरूपे, कर्म० २ कर्म०।

जाइच्छ त्रि० (यादृक्) यस्येव दर्शनमस्य यद्–दृश–क्त–क्विप् वा । यत्सदृशे, यथाविधे, टान्तात्तु स्त्रियां ङीप्। वाच०।

***जातेच्छ** त्रि० लब्धचिकीर्षापरिणामे, ध०१ अधि०।

जाइच्छिय त्रि० (यादृच्छिक) यदृच्छयचा आगतः ठक्। यथेच्छया प्राप्ते, वाच० । अतर्कितोपस्थिते काकतालीयादिकल्पे वस्तुनि, तथा च यदृच्छावादिनः। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। अनर्थके डित्थादिनाम्नि, न०। स्था०२ ठा० ४ उ०।

तल्लक्षणं चेदम्–

''यद्वस्तुनोऽभिधानं, स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षम्।
पर्यायानभिधेयं, च नाम यादृच्छिकं च तथा ॥१॥''

विनेयाऽनुग्रहार्थमेतद्व्याख्या–यद्वस्तुन इन्द्रादिरभिधानमिन्दू इत्यादि वर्णावलीमात्रमिदमेव आवश्यकलक्षणवर्णचतुष्टयावली मात्रं यत्तदो नित्याभिसंबन्धात् तन्नामेति संटङ्कः। अथ प्रकारान्तरेण नाम्नो लक्षणमाऽ– (स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षं पर्यायानभिधेयं चेति) तदपि नाम यत्कथंभूतामित्याह–अन्यश्चासावर्थश्चान्यार्थो गोपालदारकादिलक्षणः। तत्र स्थितम् अन्यत्रेन्द्रादावर्थे यथार्थत्वेन प्रसिद्धं तदन्यत्र गोपाल दारकादौ पदारोपितमित्यर्थः। अत एवाऽ– (तदर्थनिरपेक्षम् इति) तस्येन्द्रादिनाम्नोऽर्थः परमैश्वर्यादिरुपस्तदर्थः स चासावर्थश्चेति वा तदर्थस्तस्य निरपेक्षं गोपालदारकादौ तथा तदर्थस्याभावात्। पुनः किंभूतं तत्? इत्याह – पर्यायानिभधेय मिति। पर्यायाणां शक्रपुरन्दरादीनामनभिधेयमवाच्यं गोपालदार कादयो हीन्द्रादिशब्दैरुच्यमाना अपि शचीपत्यादिरिच शक्रपुरन्दरादिशब्दैर्नाभिधीयन्ते अतस्तन्नामाऽपि, नामतद्वतोरभेदोपचारात् पर्यायानभिधेयमित्युच्यते। चशब्दान्नाम्न एव लक्षणान्तरसूचकं शचीपत्याऽौ प्रसिद्धं तन्नामवाच्यार्थशून्ये अन्यत्र गोपालदारकादौ यदारोपितं तदपि नामेति तात्पर्यम्। तृतीयप्रकारेणापि लक्षणमाह– (यादृच्छिकं च तथेति) तथाविधव्युत्पत्तिशून्यं मित्थकपित्थादिरुपं यादृच्छिकं स्वेच्छया नाम क्रियते तदपि नामेत्यार्यार्थः ॥१॥ अनु०।

जाइजरामरणसोगप्पणासन त्रि० (जातिजरामरणशोक-प्रणाशन) जातिर्जन्म, जरा बिस्त्रसा, मरणं प्राणनाशः, शोको मानसो दुःखविशेषः, तान् प्रणाशयत्यपनयति इति जरामरण शोकप्रणाशनः। जातिजरामरणापनयनसमर्थे , ध० २ अधि० स०।

जाइजुत्त त्रि० (जातियुक्त) मातृपक्षयुते, जातिर्मातुकी तथा युक्तो विनयादिगुणवान् भवतीति । प्रव० ६४ द्वार।

जाइजंत त्रि०(यात्यमान) यज–क्तिन् जातस्य संस्कारार्थं कर्तव्या दृष्टिः। भागभेदः। जातकर्माख्ये संस्कारभेदे, वाच०। स०।

जाइट्ठिअ त्रि (यद्यदृष्ट)यद्यदृष्टं तत्तदित्यस्मिन्नर्थे, यद्यदृष्टं तत्तदित्यस्य जाइठिअ । जइ रचसि, जाइट्ठिअ । जइ रचसि, जाइट्ठिअएहिअकासुद्धसहाव। लौहें फुट्टणएण जिम्वधणासहेसइ ताव''। प्रा० ४ पाइ।

जाइणाम न०(जातिनामन्) नामकर्मभेदे, (कर्म०) एकेन्द्रियाद्दीनामकेन्द्रियत्वादिरुपसमानपरिणतिलक्षणम् एकेन्द्रियवादि शब्दव्यपदेशभाक् यत्सामान्यं सा जातिः, तद्विपाकवेद्या कर्म प्रकृतिरपि जातिः। इदमत्र तात्पर्यम्–द्रव्यरुपमिन्द्रियमङ्गोपाङ्गेन्द्रियपर्याप्तिनामकर्मसामर्थ्यात् सिद्धं, भावरुपं तु स्पर्शनादीन्द्रियावरणक्षयोपशमसामर्थ्यात् ''ज्ञायोपशमिकानि इन्द्रियाणि'' इति वचनात्। यत्पुनरेकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनं तथा रुपसमानपरिणति लक्षणं सामान्यं तदव्यभिचारासाध्यत्वाज्जतिनामसाध्यम्। उक्तं च–अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा। उक्तं च–अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः तन्निमित्तं जातिनाम। कर्म० ६ कर्म० प्रज्ञा० पं० सं०।

तच्च पञ्चधा –

जातिनामेणं भंते ! कम्मे पुच्छा? गोयमा! पंचविहे पणत्ते। तं जहा–एगिंदियजातिनामे वेइंदियजातिनामे तेइंदिय जातिनामे चउरिंदियजातिनामे पंचिंदियजातिनामे।

प्रज्ञा० २३ पद। एकेन्द्रियजातिनाम्, द्वीन्द्रियजातीनाम्, त्रीन्द्रियजाति-नाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, पञ्चेन्द्रियजातिनाम। कर्म० ६ कर्म०। आ०। प्रद०।

जाइणामगोयनिउत्त त्रि०(जातिनामगोत्रनियुक्त) जातिनाम गोत्रं च नियुक्तं यैस्ते तथा। नियुक्तजातिनामगोत्रो नारकादौ, भ० ६ श० ८ उ०।

जाइणामगोयनिउत्ताउय त्रि०(जातिनामगोत्रनियुक्तायुष्) जातिनाम्ना गोत्रेण च सह नियुक्तमायुर्यैस्ते तथा। जातिनाम्ना गोत्रेण च सह नियुक्तायुषि, भ० ६ श० ८ उ०।

जाइणामगोयनिहत्त त्रि०(जातिनामगोत्रनिधत्त) जातिनाम गोत्रं च निधत्तं यैस्ते तथा. निधत्तजातिनामगोत्रो, भ० ६ श० ८ उ०।

जाइणामगोयनिहत्ताउय त्रि० (जातिनामगोत्रनिधत्तायुष्) जातिनाम्नो गोत्रेण च सह निधत्तमायुर्यैस्ते तथा। जातिनाम्ना गोत्रेण च सह निधत्तायुषि, भ० ६ श० ७ उ०।

जाइणामनिउत्त त्रि० (जातिनामनियुक्त) जातिनाम नियुक्तं नितरां युक्तं संबद्धं निकाचितं बेदने वा नियुक्तं यैस्ते तथा। नियुक्तजातिनाकर्मणि जीवे, भ० ६ श० ८ उ०।

जाइणामनिउत्ताउय त्रि० (जातिनावनियुक्तयुष्) जातिनाम्ना सह नियुक्तं निकाचितं वेदयितुमारब्धं वाऽऽयुर्यैस्ते तथा। जाति नाम्ना सह नियुक्तायुषि, भ० ६ श० ८ उ०।

जाइणामनिहत्ताउय न० (जातिनामनिधत्तायुष) जातिरेकेन्द्रिव जात्यादि : पञ्चधा सैव नाम इति नामकर्मण उत्तरप्रकृतिविशेषो जीवपरिणामो वा तेन सह निधत्तं निषिक्तं यदायुस्तजाति-नामनिधत्तायुः। जातिनाम्ना निधत्ते आयुषि, भ० ६ श० ८ उ०। जातिनाम्ना सह निधत्तमायुर्यैस्ते तथा। जातिनाम्ना सह निधत्तायुषि जीवे, भ० ६ श० ८ उ०। स्था०।

जाइणिबद्ध न० (जातिनिबद्ध) भावसूत्रास्य श्रुतस्य भेदे, (सूत्र०)

जातिनिबद्धं तु चतुर्द्धा। तद्यथा –

कथनीयं कथ्यम् उत्तराध्ययनज्ञाताधर्मकथादि। पूर्व षिंचरितकथा नकप्रायत्वात्तस्य। तथा गद्यम्–ब्रह्मचर्याध्ययनादि। तथा पद्यम् छन्दोनिदरुम्। तथा गेयम् – यत् स्वरसंचारेण गीतिप्रायं निवद्धम्। तद्यथा–कापिलीयमध्य यनम्–'' अधुवे असासयम्मि संसारम्मि दुक्खपउराए'' इत्यादि। सूत्र०१ श्रु० १ अ० १ उ०। जाइ(य) णिहुया–जातिनिर्हे (ई)ता–स्त्री०। जातान्यपत्यानि निर्हतानि निर्यातानीत्यर्थो यस्याः सा। जातनिर्हता ना। विहतापत्यायाम्,''विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दा भारिया जाइ (व) णिहुया वि होत्था''। विपा० १ श्रु० २ अ०।

जाइतिग न० (जातित्रिक) जातिशब्देनोपलक्षितं त्रिकम्। ''जाइसगइ'' ति गाथावयवोक्ते जातित्रये, तत्र जातयः एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाख्याः पञ्च। गतयः सुरनरतिर्यग्नरकरुपाः। चतस्त्रः खगतिः प्रशस्ताऽप्रशस्त विहायागतिभेदेन द्विधा। इत्येवं जातित्रिक-शब्देन एकादश प्रकृतयो गृह्यन्ते। कर्म० ५ कर्म०।

जाइथेर पुं०(जातिस्थविर) जातिर्जन्म तथा स्थविरः जाति स्थविरः। स्थविरभेदे, ''सद्धिवासजाए समणे णिग्गंथे जाइथेरे'' स्था० ३ ठा० ३ उ०।

जाइदोस पुं० (जातिदोष) जातिनिष्ठे दोषे, ''स्त्रीजातौ दाम्भिकता, भीलुकता भूयसी वणिसजातौ। रोषः क्षत्रियजातौ, द्विजातिजातौ पुनर्लोभः ॥१॥'' तं०।

जाइधम्मय त्रि० (जातिधर्मक) उत्पत्तिधर्मके, ''इमं पि जाइधम्मं'' जननं जातिरुपत्तिस्तत्कर्मकम्। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

जाइपह पुं० (जातिपथ) जातीनामेकेन्द्रियादीनां पन्थाः जातिपथः। जातिमार्ग , ''जाईपइं अणुपरिवट्टमाणे'' सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। ''पासजाइपहे वहू''। पाशा अत्यन्तपारवइयहेतवः। कलत्रादि-संबन्धास्त एव तीव्रहोदयादिहेतुतवा जातीणां पन्थानस्तत्प्रापकत्वा-न्मार्गाः। उत्त० ६ अ०। संसारे, ''अरक्खिओ जाइपइं उवेइ'' जातिपन्थानं जन्ममार्गं संसारमुपैति। दश० २ चू०।

जाइपुम न०(जातिपुट) जातिः पुष्पजातिविशेषः पुटं पत्रादि मयं तद्भाजनं जातिपुटम्। जातिपुष्पस्य पत्रादिमये भाजने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। ''जाइपुकाण वा'' रा०।

जाइप्पसण्णा स्त्री० (जातिप्रसन्ना) जातिपुष्पवासिता प्रसन्ना जातिप्रसन्ना। सुराभेदे, ''जाइप्पसन्नाइ वा'' जी० ३ प्रति०।

जाइप्पाय पुं० (जातिप्राय) दूषणाभासकस्पे, ''जातिप्रावश्च बाध्योऽयं, प्रकृतान्यविकल्पनात्''। जातिप्रायश्च दूषणाभास कल्पश्च बाध्यः प्रतीतिकल्पाभ्यामयं कुतर्क इति। द्वा० २३ द्वा०।

जाइबंझा स्त्री० (जातिबन्ध्या) जातेर्जन्मत, आरभ्य बन्ध्या निर्वीजा जातिबन्ध्या। जन्मत आरम्य निर्वीजायाम्, स्था० ५ ग० २ उ०।

जाइभेय – पुं० (जातिभेद) सामान्यलक्षणायां घटत्वादिजातौ,

तस्मात् यतो यतोऽर्थानां, व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः।
जातिभेदाः प्रकल्पयन्ते, तद्विशेषावगाहिनः ॥

तस्मात् स्वपरव्यावृत्तिरुपात् हेतोः यतः यतः सजातीयात् विजातीयाच्च अर्थात् घटादीनां व्यावृत्तिर्भिन्नरुपता तन्निबन्धना व्यावृत्तिहेतुका जातिभेदाः परपरिकल्पितसामान्य लक्षणाः प्रकल्पयन्ते । कीदृशाः ? इत्याह – (तद्विशेषावगाहिन इति) तस्य स्वपरव्यावृत्तिभाजः स्वलक्षणस्य विशेषामार्तत्वा पाटलीपुत्रकत्ववासन्तकत्वरक्तत्वादि-लक्षणास्तान् विकल्प वलायातानवगाहन्ते अवलम्बन्ते इत्येवं शीलां ये ते तथा। अने० १ अधि०।

जाइमंण्डग पुं० (जातिमण्डपक) जातिर्मालती तन्मयो मण्डपको जातीमण्डकपकः। जातीमये मण्डपके जं० १ वक्ष०। जी०।

जाइमंत त्रि० (जातिमत्) सुजातौ, ''जाइमंता ति वा'' आचा० २ श्रु० ४ अ० २ उ०।

जाइमय पुं० (जातिमद) जात्या मदो जातिमदः। मदस्यानभेदे,

स० ७ सम०। ''जाइमएण वा'' स्था० १ ठा०। प्रश्न०। जात्या ब्राह्मणब्राह्मण्युद्भवत्वेन मदोऽहंकारो जातिमदः। जात्यहंकारे, उत्त० ३ अ०। जातिमदं विदधातो जन्तुरन्यजन्मनि तामेव जातिहीलनां सभते विकटां च भवाटवीं पर्यटतीति। प्रव० १६६ द्वार।

सर्वेषां मदस्थानानमुत्पत्तेरारभ्य जातिमदो बाह्यनिमित्त निरपेक्षो यतो भवत्यतस्तमधिकृत्य ाह –

जे माहणो खत्तियजायए वा, तहुग्गपत्ते तह लेच्छई वा।
जे पव्वईए परदत्तभोई, गोत्तेण जे थब्भति माणवद्धे ॥१०॥

यो हि जात्या ब्राह्मणो भवति, क्षत्रियो वा इक्ष्वाकुवंश्यादिकः। तद्वेदमेव दर्शयति–उग्रपुत्राः क्षत्रियविशेष जातीयः। तथा (लेच्छई त्ति) क्षत्रियविशेष एव तदेवमादिविशि ष्टकुलोद्भूतो यथावस्थितसंसार-स्वभाववेदितया वः प्रव्रजितः त्वक्तराज्यादि गृहपाशबन्धनः परैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी सम्यक् संयमानुष्ठायी गोत्रे उच्चैर्गोत्रो हरिवंश स्थानीये समुत्पन्नोऽपि नैव स्तम्भं गर्वमुपयायादिति । किंभूते गोत्रे? अभिमानवद्धे अभिमानास्पदे इति। एतदुक्तं भवति – विशिष्टजातीवतवा सर्वलोकाऽभिमान्योऽपि प्रव्रजितः सन् कृत शिरस्तुण्कमुण्डनो भिक्षार्थं परगृहाण्यटन् कथं हास्यास्पदं गर्वं कुर्यात् नैवासौ मानं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः ॥१०॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

जाइमयपडिबद्धा पुं० (जातिमदप्रतिबद्ध) जात्यहंकारेणानम्रे, ''जाइमयपडिबद्धा हिंसगा अजिइंदिया'' जात्या ब्राह्मण-ब्राह्मण्युद्भवत्वेन यो मदोऽहं कारस्तेन प्रतिस्तब्धाः अनम्राः जाति मदप्रतिस्त्ब्धाः। उत्त० १२ अ०।

जाइय न०(जाचिन) वाच् भावेक्त। वाचनवृत्तौ, वाञ्चायां च। कर्मणि क्त। प्रार्थिते, त्रि०। वाच०। उत्त०। ''सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किं वि अजाइयं'' आ० म० द्वि०।

जाइयगमएण न० (याचितकमण्डन) मार्गिताभरणे, पूर्णतायाम्, परोपाधेः सा वाचितकमण्डनम्। अष्ट० १ अष्ट०।

जाइलिंग न० (जातिलिङ्ग) शिरः पाण्यादिके प्राण्यवयवे, जातिनि-लिङ्गानि प्राण्यवयवाः शिरःपाण्यादयस्तैर्हि गोत्वादिलक्षणा जातिर्लिङ्गयते इति। सम्म० ३ काण्ड।

जाइवर पुं० (जातिवर) जात्युत्तमे, ''जाइवरसाररक्खियं'' प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार।

जाइसंपण्ण पुं० (जातिसंपन्न) उत्तममातृकपक्षयुते, औ०। स्था०। रा०। नि०। ज्ञा०। यदाह – ''जाइकुलसंपन्नो पावमकिच्चं ने सेवइ किंचि आसेविउं च पच्छा तग्गुणओ सम्ममालोए'' त्ति। गुणवन्मातृत्वे, स्था० ६ ठा०।

जाइसर त्रि०(जातिस्मर) जातिं पूर्वजन्म स्मरति। स्मृ–अच्। अतीतजन्मवृत्तान्तस्मृतियुक्ते, वाच०। ''जाईसरो च भयवं'' जातिं स्मरतीति जातिस्मरो भगवान्। ''लिहादिभ्यः'' ।५।१।५०। इत्यण्प्रत्ययो ऽच् । आ० म० प्र०। ''भवेज्जातिस्मरः पुमान्'' जातिस्मरोऽनुभूतभवस्मर्ता। वो० वि०।

जाइसरण न० (जातिस्मरण) आभिनिबोधिकज्ञानविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। प्राग्भवे ज्ञानमति, ''जाईसरणं समुप्पण्णं'' जातिस्मरणम्। उत्त० ६ अ०। दश०। तं०। जातिस्मरणं द्विविधम्-सनिमित्तकम् अनिमित्तकं च। तत्रा यद्बाह्यं निमित्तमुद्दिश्य जातिस्मरणमुपजायते तत्सनिमित्तकम्। यथा वस्कल-चीरप्रभृतीनाम्। वत्पुनरेव तदावारककर्मणां क्षयोपशमेनोत्पद्यते तदनिमित्तकं तथा स्वयं वुद्धकपिलादीनाम्। वृ० १ उ०। जातिस्मरणं च संज्ञिजातिविषय कमेव ''सन्निपुव्वेजाइसरणे यत्स्मरणं तत्संज्ञिपूर्वजातिस्मरणम्। व्यस्तनिर्देशे तु संज्ञी पूर्वो भवो यत्रा तत्संज्ञिपूर्वी संज्ञीति च विशेषणं स्वरुपज्ञापनार्थन ह्यसंज्ञिजाति विषयं स्मरणमुत्पद्यत इति। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

तथा चोत्तराध्यवने –

देवलोगच्चुओ संतो, माणस्सं भवमागओ।
सन्निनाणसमुप्पन्ने, जाइसरणं पुराणयं ॥६॥

देवलोकात् च्युतः सन् मानुष्यं भवमागतः इति संज्ञिज्ञाने समुत्पन्ने सति पुराणकं प्रचीनं जातिस्मरणमभूदिति शेषः। संज्ञिनो गर्भजपञ्चेन्द्रियस्य ज्ञानं संज्ञिज्ञानं तस्मिन् संज्ञिज्ञाने। उत्त० १६ अ०।

जातिस्मरणं कस्मात्तदाह –

संस्कारे पूर्वजातीनाम्, ... (६)

संस्कारे स्मृतिमात्राफले जात्यायुर्भोगलक्षणे च ''एवं मया सोऽर्थोऽनुभूतः, एवं मया सा क्रिया कृता'' इति भावनया संयमात् पूर्वजातीनां प्रागनुभूतजातीनां धीरनुस्मृतिवबोधकमन्तरेणैव भवति। तदुक्तम् – ''संस्कारस्य साक्षातकरणात् पूर्वजातिज्ञानम्'' (६) द्वा० २६ द्वा०।

जातिस्मरणकारणानि योगविन्दौ यआ–

ब्रह्मचर्येण तपसा, सद्वेदाध्ययनेन च।
विद्यामन्त्राविशेषेण, सत्तीर्थसेवनेन च ॥५७॥

ब्रह्मचर्येण भावतो वस्तिनिरोधरुपेण, तपसा उपवासादिना, सद्वेदाध्ययनेन च सता सुन्दरेणात्मानुग्रहादि परिणामयुक्तवा वेदस्य सदभूतार्थागमस्याध्ययनेन वाचनापृ च्छनादिस्वभावेना। चः समुच्चयः। विद्यामन्त्राविशेषेण संसाधना स्त्रीस्वामिका वा विद्या, मन्त्राश्च तदितररुपः। ततो मन्त्रव्याकरण प्रसिद्धयोर्विद्यामन्त्रायोर्विशेषेण भेदेन सत्तीर्था सेवनेन च सतः सातिशयस्य व्यसनसलिलनिधिनिस्तारणो पायस्य स्थावरजङ्ग-भेदभिन्नस्य तीर्थस्य आसेवनेन पर्युपासनेना चः प्राग्वत् ॥५७॥ तथा –

पित्रोः सम्यगुपस्थानात्, ग्लानभैषज्यदानतः।
देवादिशोधनाच्चैव, भवेज्जातिस्मरः पुमान् ॥५८॥

पित्रोः जननीजनक्योः सम्यक्यथावत् तपस्थांनात् त्रिसंध्यप्रणामादि-विनयरुपात्, ''पूजनं चास्य विज्ञेयं, त्रिसंध्यं नमनक्रिया'' इत्यादि वक्ष्य-माणत्। ग्लानभैषज्यादानतं, ग्लानानां ज्वरादिरोगोपहतशरीरशक्तीनां भैषज्यस्यौषधस्य दानतो वितरणात्, ''देवादिशोधनाच्चैव'' देवदेवस्था-पुस्तकैसा धूपाश्रयादेर्धर्मकार्यो पयोगिनः। ''शोधनात्'' तथाविधमला

पनयनेन निर्मलीकरणाद्भवेज्जायते जातिस्मरोऽनुभूतभवस्मर्ता पुमान् प्राणी ब्रह्मचर्यादीनां योगविशेषाणां ज्ञानावरणह्रासान्त रङ्गकरणत्वात्।

अत्रैव प्रसङ्गसिद्धिमाह –

अत एव नं सर्वे षामेतदागमनेऽपि हि।
परलोकात् यथैकस्मात्, स्थानात् तनुभृतामिति ॥५९॥

"अत एव" इत्यादि। अत एव ब्रह्मचर्यादेर्जातिस्मरण हेतुत्वादेव (न) नैव सर्वेषां देहिनाम्। एतत् जातिस्मरणम्, आगमनेऽपि ह्यप्यागतोवपि किं पुनर्लोकायतमतेन तद्भाव इत्यपिहिशब्दार्थः। परलोकात् परभवात्। "यथा" इतिदृष्टान्तार्थे एकस्मात् स्थानात् पाटलिपुत्राकादेरागमनेऽपि तनुभृताम् तत्रानुभूतार्थस्मरणम्। 'इतिः' वाक्यपरिसमाप्तौ। इदमुक्तं भवति – यथैकस्मात् पाटलिपुत्राकादेः स्थानादागता नामपि सुबहूनां पथिकानां क्वचिद्विवक्षिते स्थाने च सर्वेषां प्रागनुभूतार्थस्मृतिरुपजायते, किं तु केषांचिदेव, एवं भवान्त रस्मृतावपि योजना स्यादिति न चाल्पबहूत्वेन स्मर्तृणां दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमुद्भावनीयं, स्मर्तृसंभवमात्रस्य प्रति पादयितु मिष्टत्वात् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वदा, साधर्म्या भावाच्च ॥५९॥

एतदेव भावयन्नाह –

न चैतेषामपि ह्येतदुन्मादग्रहयोगतः।
सर्वेषामनुभूतार्थ – स्मरणं स्याद्विशेषतः ॥६०॥

(न च) नैव। एतेषामप्येकस्थानादागतानां किं पुनर्भवान्तरा दागतानामपि इत्यपिशब्दार्थः। हिः यस्मात् एतदिदम्। उन्माद ग्रहयोगतः उन्मादो मोहावेशो ग्रहश्च भूतावशस्तत उन्मादग्रह योर्योगः संबन्धस्तस्मात्। सर्वेषां समस्तानाम्। किमित्याह–अनुभूतार्थस्मरणं (स्याद्) भवेद् विशेषतः सर्वान् विशेषान प्रतीत्य किं तु सामान्येनैव ॥६०॥

अथ दार्ष्टान्तिके सर्वेषां सामान्येन स्मृतिर्यथा स्यात्तयाह –

सामान्येन तु सर्वेषां, स्तनवृत्यादिचिह्नितम्।
अभ्यासातिशयात् स्वप्न–वृत्तितुल्यं व्यवस्थितम् ॥६१॥

सामान्येन साधारणतया। तुः विशेषणार्थः। सर्वेषां समस्तानां प्राणिनाम्। स्तनवृत्यादिचिन्हितं स्तनवृत्तिस्तदहर्जा तानां स्तनपानरुपा। आदिशब्दात् रमणीयरुपकन्दुकाद्यवलोक नकुतूहलादिका विविधा चेष्टा गृह्यते। तथा चिन्हितं व्यक्तिभावमानीतम् 'जातिस्मरणम्' इति गम्यते। कीदृशमित्याह– (अभ्यासातिशयात्) पुनः पुनरासेवनमभ्यास स्तस्यातिशय उत्कर्षस्तस्मात्। (स्वप्नवृत्तितुल्यम्)। स्वप्नकालोप-लभ्यमानदिवसानुभूतवनदेवकु लादिविहारादि व्यवहारसमम्। (व्यवस्थितम्) प्रतिष्ठितम्। यथाभ्यासतिशयात् स्वप्ने दिनानभूतोऽर्थ उपलभ्यते, एवं स्तनवृत्यादिको व्यवहारः प्राग्भवानुभूतो भवान्तर इति ॥६१॥

ननु स्वप्नवृत्तिः पश्चादपि स्मर्यते न त्वेवं स्तनादिवृत्तिर्भवान्तर संबन्धिनं। इह स्मर्येत इति कथम् अनयो र्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव इत्याशङ्क्याह –

स्वप्ने वृत्तिस्तथाभ्यासा–द्विशिष्टस्मृतिवर्जिता।
जाग्रतोऽपि क्वचित्सिद्धा, सूदमबुद्धया निरुप्यताम् ॥६२॥

स्वप्ने प्रवृत्तिरुक्तरुपां (तथाभ्यासात्) तत्प्रकारादभ्यासात्, मन्दाभ्यासादित्यर्थः। (विशिष्टस्मृति वर्जितां) स्फुटप्रतिभासरूप-स्मरणरहिता। "क्वचित् सिद्धा" इत्युत्तरेण योगः। तथा (जाग्रतोऽपि) क्षीणनिद्रस्य कस्यचित् कि पुनरन्यस्येति क्वचित् क्षेत्रे काले वा (सिद्धा) सर्वलोक संमत्या प्रतिष्ठिता वृत्तिर्गच्छत्तृणस्पर्शादिका तथाऽभ्यासादेव स्मृतिवर्जिता। एतदर्थप्रतीतावुपदेशमाह – (सूक्ष्मबुद्धया) निपुणाभोगेन (निरूप्यताम्) परिभाव्यतामेदन्यथा उक्तस्या प्यर्थस्य सम्यगवगमाभावात् ॥६२॥

अथ प्रकारान्तरत एव जातिस्मरणादात्मसिद्धिम भिधित्सुराह –

श्रूयन्ते च महात्मानः, एते दृश्यन्ते इत्यपि।
क्वचित्संवादिनस्तस्मा – दात्मादेर्हन्त निश्चयः ॥६३॥

(श्रूयन्ते) समाकर्ण्यन्ते कथानकेषु भरूकच्छाद्यै शकूनिकाजीवराज-पुत्रीसुदर्शनादयः। चकारो हेत्वन्तरसमुच्चये। (महात्मानः) प्रशस्तस्वभावाः। (एते) जातिस्मरकाः। (दृश्यन्ते इत्यपि) दृश्यन्ति साक्षादेव क्वचित् इदानीमप्युपल भ्यन्ते। कीदृशाः? इत्याह – (संवादिनः) विसंवादविकलवचनाः। ततः किमित्याह – (तस्मात्) जाति स्मरकादिसेवादात् (आत्मादेः) जीवकर्मादेरतीन्द्रियस्यापि कथंचिद्। "हंत" इति कोमलामन्त्रणे। निश्चयः संपद्यते इति ॥६३॥

अथ निगमयन्नाह –

एवं च तत्वसंसिद्धे–र्योग एवं निबन्धनम् (६४)

(एवम्) चोक्तन्यायेनैव (तत्वसंसिद्धेः) आत्मादृष्टादिप्रतीतेः योग एव नापरं किञ्चित् (निबन्धनं) हेतुर्वर्तते। (६४) यो० वि०।

ननु नवमासमत्रान्तरितमपि प्राक्तनं भवं सामान्यजीवः कथं स्मरतीत्याह –

जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो।
तेण दुक्खेण संमूढो, जाइं सरइ न अप्पणो ॥२॥

जायमानस्य गर्भान्निस्सरमाणस्य उत्पद्यमानस्य वा यत् दुःखं भवति (वा) अथवा पुनर्म्रियमाणस्य पञ्चत्वं कुर्वाणस्य च यत् दुःखं भवति। तेन दारुणदुःखेन समूढे महामोहभावं प्राप्तः जातिं प्राक्तनभवमात्मीयं स्वकीयं मूढात्मा प्राणी। न स्मरति कोऽहं पूर्वभवे देवादिकोऽभवमिति न जानातीति ॥२॥ तं। (न जानाति 'दिसा' शब्दे दृष्टान्तः।) जातिस्मरणं संख्यातभवनि र्णायकं न वेति प्रश्ने, उत्तरम् – जातिस्मरणमपि समतिक्रान्तं संख्यातभवावगमस्वरुपं मतिज्ञानभेद एवेति कर्मग्रन्थवृत्त्या चाराङ्गवृत्यनुसारेण संख्यातभवनिर्णायकं जाति स्मरणं ज्ञायत इति। १३० प्र०। सेन० १ उल्ला०। कर्म ग्रन्थवृत्तौजाति स्मरणमपि अतीतसंख्यात-भवावग स्वरूपं मतिज्ञानमेवेत्युक्त मस्ति "पुव्वभवा सो पिच्छइ, इक्क दो तिन्नि जाव नवगं वा। उवरिं तस्स अधिसओ, सहावओ जाइसरणस्स ॥१॥" इति गाथायां तु नवैव भवाः जातिस्मरणस्य विषयास्तत्कथमिति प्रश्नानन्तरम् – जातिस्मरणवान् आचाराङ्ग-वृत्याद्यभिप्रायेणा तीतानसंख्यात् भवान् पश्यतीति ज्ञायते कर्म्मग्रन्थवृत्तावपि स एवाभिप्रायोऽस्ति "पुव्वभवा सोपिछइ" इयं गाथा तु बूढितपत्रास्था न तु तथाविधग्रन्थस्था तेन निर्णा-यिका न भवतीति। ३४१ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। इदानीं भ –

रते मनुजानां, तिरश्चां च जातिस्मरणमस्ति न वा? यदि नास्ति तदा कुतो व्यवच्छिन्नं तथाऽवधिज्ञानमपीदाभीमस्ति न वा? इत्यपि च प्रसाध्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्–वर्त्तमानकाले जाति स्मरणाद्यवधि-ज्ञानस्य व्यवच्छेदः शास्त्रे प्रतिपादितो नास्तीति। १६८ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

जाइसरणवरणिज्ज न०(जातिस्मरणावरणीय) मतिज्ञानावरणाय-कर्मभेदे, जातिस्मरणावरणीयानि च कर्माणि मतिज्ञानावरणभेदाः। क्षयोपशम् चदितानां क्षयोऽनुदितानां विष्कम्भितोदयत्वमिति। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जातिसुमिण न०(जातिस्मरण) 'जाइसरण' शब्दार्थे, सेन० ३ उल्ला०।

जाईहिंगुलुय पुं० (जातिहिङ्गुलुक) रक्तवर्णे वर्णकद्रव्यभेदे, ''जाइहिगुलुए वा''। जातिहिङ्गु केन वर्णकद्रव्येण स कृत्रिमोऽपि भवतीति जात्याविशेषितः। ज्ञा० १ श्रु० १। अ०। जात्यः प्रधानो हिङ्गुलुको जात्यहिङ्गुसुकः। प्रज्ञा० १ पद।

जाई स्त्री०(जाती) जन–क्विच्–ङीप्। मालत्याम्, तत्पुष्पे लताभेदे च। वाच०। जं०। सुरायाम्, दे० ना० ३ वर्ग।

जाईफल न०(जातीफल) गन्धप्रधाने वस्तुनि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। (जायफल) इतिख्याते फले च। वाच०।

जाईमंडवग पुं०(जातीमण्डपक) 'जाइमंडवग' शब्दार्थे, जं० १ वक्ष०।

जाईय त्रि०(जातीय) जातौ भवः छः। समानजातियुक्ते सजातीये, वाच०। आ० म०। ''एकग्रहणे, तज्जातीयग्रहणम्'' इति न्यायः। आ० म०। किंचिच्छब्दात् जातीयप्रत्ययः। प्रकारार्थे। ''गुणालओ पंचजातीयं'' पञ्चप्रकारम्। विशे०। यथा तार्किक जातीयः तार्किकप्रकारः। वाच०।

जाईसर त्रि०(जातिस्मर) 'जाइसर' शब्दार्थ, आ० म० प्र०।

जाईसरण – न० (जातिस्मरण) 'जाइसरण' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

आईसरणावरणिज्ज न०(जातिस्मरणावरणीय) 'जाईसरणवरणिज्ज' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जाईहिंगुलुय पुं० (जातिहिङ्गुलुक) 'जाइहिंगुसुय' शब्दार्थे, का० १ श्रु० १ अ०।

जातं – त्रि० (यावत्) यत् परिमाणस्य मतुप्। ''यावत्तावतोर्वा ऽऽदेर्म डं महिं''।७।४।४०६। यावत्तावदित्यनयोरन्ययोर्वर्का रादेरवयवस्य 'म–तं–महिं' इत्येते त्रय आदेशाः भवन्ति। प्रा० ४ पादः यत्परिमाणे, साकल्ये, अवधौ, व्याप्तौ, माने, अवधारणे च। वाच०।

जाउया स्त्री० (यातृ) या–तृच्। देवरपत्न्याम्, यातरौ तृत्। गन्तरि, त्रि०। यातारौ। वाच०। ''जाउयामो जाणिस्संति''। ''जाउयाओ त्ति'' देवराणां जायाः। ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। ''जाउग त्ति'' यातरो ज्येष्ठदेवरजायाः।

जाउल पुं० (जातुल्ल) गुच्छात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

जाऊकण्णं पुं० (जातृकर्ण) मुनिभेदे, वाच०। गोत्रभेदे, न० जं० ७ वक्ष०।

जाऊकण्णीय न०(जातृकर्णीय) गोत्रभेदे, स०प्र० १० पाहु०। चं० प्र०।

जाऊरो (देशी) कपित्थे, दे०ना० ३ वर्ग।

जाओगण पुं०(यादोगण) जलजन्तुगणे, वाच०। ''सारक्ख माणे से चिट्ठति''। नानाविधाँस्तु यादसां गणान् संरक्षद् सह वा यादोगणैरा-त्मानमारक्षन्। आचा० १ श्रु० ५ अ ५ उ०।

जांववई स्त्री० (जाम्बवती) जाम्बवतोऽपत्यं स्त्री०। कृष्णावासु देवस्य स्वनामख्यातायां पत्न्याम्, कल्प० ६ क्षण। नागदमन्वां च। वाच०।

जांवूणय न०(जाम्बूनद) जम्बूनदे भवस्–अण्। स्वर्णे, तीरभृत तदूसं प्राप्य सुखवायुविशोषिता जाम्बूनदाख्यं भवति सुवर्णे सिद्धभूषणम् इत्युक्ते सुवर्णभेदे, तद्रसं जम्बूरसम्। धुस्तूरे च। वाच०। जं०।

जाग पुं० (याग) यज–घञ्। मन्त्रकरणके वह्न्याद्याधिकरणे हविष्प्रक्षेपरूपे यज्ञे, वाच०। यजनं यागः। पूजने, ''अखिवगुणा धिकसद्योगसारस-द्रव्ययागपरः'' यागो यजनं पूजनं तत्परः तत्प्रधानः। षो० ६ विव०। आचा०। ज्ञा०। देवपूजायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। श्री सिद्धार्थनृपस्य यागकरणप्रौढिर्दशाहोत्सवे, सिद्धार्थराजव्यतिकरे यागशब्देन देवपूजा कृतेति समर्थितम्। प्रति०। देवतापूजावसरभाविनि ब्राह्मणप्रसिद्धे पूजाविशेषे, अनु०। ज्ञा०। अश्वमेधादिके च। पिं०।

जागभागदायसहस्सपडिच्छय त्रि०(यागभागदायसह-स्रयतीच्छक) यागा पूजाविशेषाः भागा विंशतिभागादयो दायाः सामान्यदानान्येतेषां सहस्राणि प्रतीच्छतीति। तथाभूते औ०।

जागर पुं० (जागर) जागृ–अप्। निद्राभावे, जागरणे, कवचे च। वाच०। जागर्तीति जागरः। अपगतनिद्रे, ''जागरवेरोवरए'' असंयमनिद्राप-गमाज्जागर्तीति जागरः। आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। ''सुत्ता अमुणी उ सया, मुणी ज्ञ सुत्ता वि जागरा होंति'' आचा० नि० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। द्रव्यजागरो निद्रारहितः। भाव जागरः सम्यजागरः सम्यग्दृष्टिः। आ० म० द्वि०। विशे०।

अथ विरत्यपेक्षया जीवादीनां पञ्चविंशतेः पदानां सुप्तवजागरत्वे प्ररूपयन्नाह –

जीवा णं भंते! सुत्ता, जागरा, सुत्तजागरा? गोयमा! जीवा सुत्ता वि, जागरा वि, सुत्तजागरा वि। नेरइयाणं भंते! किं सुत्ता पुच्छा? गोयमा! णेरइया सुत्ता। णो जागरा, णो सुत्तजागरा। एवं जाव चउरिंदिया। पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते! किं सुत्ता पुच्छा? गोयमा! सुत्ता। णो जागरा। सुत्तजागरा वि। मणस्सा। जहा जीवा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया।

(सुत्त त्ति) सर्वविरतिरुपनैश्चयिक प्रबोधाभावात्। (जागर)

त्ति) सर्वविरतिरूपप्रवरजागरणसद्भावात्। (सुत्तजागर त्ति) भविरातिविरतिरूपसुप्तिप्रबुद्धतासद्भावादिति। भ० १६ श० ६ उ०। स्या०।

संजयमणुस्साणं सुत्ताणं पंच जागरा पणत्ता। तं जहा सद्दा० जाव फासा।

"संजय" इत्यादि। व्यक्तम्। नवरं संयतमनुष्याणां साधूनां सुप्तानां निद्रायतां जाग्रतीति जागरा असुप्ता जागरा असुप्ता जागरा। इव जागरा इयमत्र भावना–शब्दादयो हि सुप्तानां संयतानां जाग्रद्बद्विवदप्रतिहतशक्तयो भवन्ति कर्मबन्धाभावकरणस्याप्रमादस्य तदानीं तेषामभावात् कर्म बन्धकारणं भवतीत्यर्थः।

संजयमणुस्साणं जागराणं पंच सुत्ता पण्णत्ता। तं जहा सद्दा० जाव फासा।

द्वितीयसूत्रभावना तु–जागराणां शब्दादवः सुप्ता इद सुप्ता त्रस्मछन्नाग्निवत् प्रतिहतशक्तयो भवन्ति। कर्मबन्धकारणस्य प्रमादस्य तदानीं तेषामभावात् कर्मबन्धकारणं भवतीत्यर्थः।

संयमविपरीता ह्यसंयता इति। तानधिकृत्याह –

असंजयमणुस्साणं सुत्ताणं वा जागराणं वा पंच जागरा पण्णत्ता। तं जहा–सद्दा० जाव फासा।

"असंजय" इत्यादि। व्यक्तम्। नवरम्। असंषतानां प्रमादिणया अवस्थाद्वयेऽपि कर्मबन्धकारणताऽप्रतिहतशक्ति त्साद अन्दादयो जागरा इव, जागरा भवन्तीति भावनः। स्था० ५ ठा० २ उ०।

जागरण न०(जागरण) निद्राक्षये ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। अवबोधे, ध० ३ अधि०।

जागरणे गुणा :–

"जागरह णरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धी।
णो सुअइ ण सो धण्णो, जो जग्गइ सो सया धण्णो ॥१॥
सुअइ सुअंतस्स सुअं, संकियखलियं भवे पमत्तस्स।
जागरमाणस्य सुअं, थिरपरिचियमप्पमत्तस्स ॥२॥
बालस्सेणं समं सोक्खं, ण विज्जा सह निद्दया।
ण वेरमां पमादेण, णारंभेण दयासुआ ॥३॥
सागरिया धम्मीणं, अहम्मीणं तु सुत्तिया सेया।
पच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥४॥
सुवइ य अयगरभूओ, सुयं पि से णस्सती अमयभुयं।
दोही गोणतभूभो, णट्ठम्मि सुए अमयभूए" ॥५॥
आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

निशान्त्ययामे जागर्या, गुरोश्चावश्यकक्षणे।
उत्सर्गो देवगुर्वादि–नतिः स्वाध्यायतिष्ठता ॥२०॥

निशाया रात्रेरन्त्ययामे चतुर्थयामे जागर्या जागरणं निद्रात्यान इत्यर्थः। सापेक्षयतिधर्मो भवतीति योजना। अग्रेऽपि सर्वत्रा वसेया जागरणविधिश्च–"जामिणिपच्छिमजामे, सव्वे जग्गंति बालवुड्ढाई। परमिट्ठिपरममंतं, भणंति सत्तट्ठवारासओ ॥१॥" इत्यादि। विशेषगृहस्थधर्माधिकारे प्रदर्शितं एव निशान्त्ययामे जागरणम्। किमविशेषेण सर्वेषामेव उत केषांचिदेवेति जिज्ञासायामाह – (गुरोः) प्रव्राजकस्य दिगाचार्यादेर्वा चकारात् स्नातादे। आवश्यकक्षणे प्रतिक्रमणकरणावसरे जानर्या तत्रागुरोः तृतीयप्रहरेऽस्वापस्व वक्ष्यमाणत्वात्। ग्लानादेस्तु झरीरमान्द्यात् प्रतिक्रमणवेलाया मुचितमेव जागरणम्। उक्तमपि प्रवचनसारोद्धारे –

"सव्वे वि पढमयामे, दुन्नि अ दसहाण आइमा जामा।
तइओ होइ गुरुणं, चउत्थे, सव्वे गुरु सुअइ ॥६०॥"

सर्वेऽपि साधवः प्रथमे यामे रात्रिप्रथमप्रहरं यावत्। स्वाध्यायाध्यनादिकुर्वाणाः जाग्रति द्वौ च आद्यौ दासौ वृषभाणां वृषभा इव वृषभा गीतार्थाः साधवः तेषामवमर्थो द्वितीये यामे ये सूत्रावन्तः साधवस्ते स्वपन्ति। वृषभास्तु जाग्रति ते च जाग्रतः। प्रज्ञापनादिसूत्रार्थं परावर्तयन्ति। तृतीयप्रहरो भवति गुरुणां कोऽर्थप्रहरद्वयानन्तरं वृषभाः स्वपन्ति। गुरुवस्तूत्थिताः प्रज्ञापनादि गुणवन्ति चतुर्थप्रहरं यावत्। चतुर्थे च प्रहरे। सर्वे साधवः समुत्थाय वैरात्रिककालं गृहीत्वा कालिक श्रुतं परावर्तयान्ति। गुरवः पुनः स्वपन्ति। अन्यथा प्रातर्निद्रा घूर्णमानलोचनास्तद्वशादेव भज्यमानपृष्ठका व्याख्यानभव्व अनोपदेशादिकं कर्तुं ते सोद्यमाः सन्तो न शक्नुवन्तीति। (प्रव० १२८ द्वार) प्रतिक्रमणवेला च तत्परिसमाप्तिदशोपकरणप्रत्युपेक्षणासमनन्तरभाविसूर्योदयापरिमेया। यतः– "आवस्सयस्स समए, णिद्दामुद्दं चयंति आयरिया। तह तं कुणंति तह दस, पडिलेहाऽणंतरं सुरो" ॥१॥ जागरणानन्तर कर्तव्यमाह– (तत्सर्ग इति) कायोत्सर्गः स चर्यापथिकीप्रतिक्रमण-पूर्वकः कुस्वप्नदुःस्वप्ननि धारणनिमित्तः प्राणिवधादिकुस्वप्न-भावे शतोच्वासमानो मैथुन कुस्वप्नभावे तु चतुरुद्योतकरोपर्यक-नमस्कारचिन्तनादष्ट शतो च्छवासमानोऽवसेयः। यतो यतिदिनचर्यायास–

"इरिअं पडिक्कमंतो, कुसुमणि दुसुमिण निवारणुस्सग्गं।
सम्मं कुणंति निज्जिअ–पमायणिद्दा महामुणिणो ॥१॥
पाणिवहप्पसुहाणं, कुसुमिणभावे भवंति उज्जोआ।
चत्तारि चिंतणिज्जा, सनमुक्कारा चउत्थस्स ॥२॥" त्ति।

ततश्च (देवगुर्वादिनतिरिति) देवनतिश्चैत्यवन्दनम्। गुर्वादिनतिश्चतुर्भिः क्षमाश्रमणैर्गुर्वादिनमस्किया ततोऽनन्तरं च (स्वाध्यायतिष्ठतेति) स्वाध्यायो वाचनादिः तस्मिन् ग्रथा संभवं तिष्ठता एकाग्रता उपलक्षणत्वात्। पूर्वगृहीततपोनियमाभिग्रह चिन्तनधर्मजागरिकाकरणादि। यतः–

"जिणनमणमुणिनमंसण – पुव्वं तत्तो कुणंति सज्झायं।
चिंतिति पुव्वगहियं, तवनियमाऽभिग्गहप्पसुहं ॥१॥
किं तक्कणिज्जकज्जं, न करेमि अभिग्गहाय को वचिओ।
किं मह खलिअं जायं, कद्ददिभद्दा मज्झ वचंति ॥२॥
कह न हु पमायपंके, खुप्पिस्सं किं परो व अप्पो वा।
मह पिच्छइ अश्यारं, इअ कुज्जा धम्मजागरिअं ॥३॥

ब्राह्मे च मुहूर्ते निर्मलबुद्धयुदयाद्भवति धर्मकर्मोपायचिन्तनं सफलमिति। धर्ममनोरथान् चिन्तयेति भावार्थः। यतस्तत्रैव "जामिणिविरामसमए, सरए सलिलं च निम्मलं जाणं। इअ तत्थ धम्मकम्मं, आयमुवायं विचिंतेज्जा ॥१॥" ध० ३ अधि०।

जागरमाण न०(जाग्रत्) जागृ–शतृ–इन्द्रियादिभिर्विषयज्ञान योग्यावस्थायाम्। तद्वति, त्रि०। स्त्रियां ङीप्। वाच०। निद्रावियुक्ते च। पा०। "जागरमाणी जागरइ" जागरणं कुर्वत्यां जागतिं निद्रानाशं कुरुत इति। नं०। "निदाए भावतोवि य जागरमाणं चउण्हमण्णयरं"। निद्रारहिते, आ० म० द्वि०।

जागरिता त्रि०(जागरिह) जागृ–त। जागरके, स्था० ४ ठा० २ उ०।

जागरिय पुं० (जागरिक) जागरणं जागरः। सोऽस्यास्तीति जागरिकः। भ० १२ श० २ उ०। निद्रारहिते, आ० म० द्वि०।

***जागरित** त्रि०। जागृ–क्त। इन्द्रियैर्विषयोपलब्ध्ययोग्या वस्थायाम्, जीवो हि स्वमादिदेतुकर्मनाशे इन्द्रियविषयान्, अनुमेयाँश्च स्थूलविषयान्, व्यवहारिकाँश्च पदार्थान्, यस्यामवस्थायामनुभवति तत् जागरितम्। कर्तरिक्त। जागरणयुक्ते, त्रि०। वाच०।

जागरिया स्त्री०(जागरिका) जागरणे, आ० १ श्रु० १ अ०।

''पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि णो धम्मजागरियं जागरित्ता भवइ।'' जागरिका निद्राक्षयेण बोधः। स्था० ४ ठा० २ उ०।

कइविहा णं भंते! जागरिया पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा जागरिया पण्णत्ता। तं जहा–बुद्धजागरिया, अबुद्ध जागरिया, सुदक्खुजागरिया। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ तिविहा जागरिया पण्णत्ता? तं जहा–बुद्धजागरिया, अबुद्धजागरिया, सुदक्खुजागरिया। गोयमा! जे इमे अरइंतो भगवंतो उप्पण्णणाणदंसणधरा जहा खंदए० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी एएणं बुद्धा बुद्धजागरियं जागरंति। जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया मासासमिया० जाव गुत्तबंभयारि एएणं अबुद्धा अबुद्धजागरियं जागरंति। जे इमे समणोवासगा अभिगयजीवाजीवा० जाव विहरंति एएणं सुदक्खुजागरियं जागरंति। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ तिविहा जागरिया जाव० सुदक्खुजागरिया। (बुद्धा बुद्धजागरियं त्ति) बुद्धाः केवलावबोधेन ते च बुद्धानां व्यपोढा ज्ञाननिद्राणां जागरिकाप्रबोधो बुद्धजागरिका, तां जाग्रति कुर्वन्ति (अबुद्धा अबुद्धजागरियं जागरंति त्ति) अबुद्धाः केवलज्ञानाभावेन यथासंभवं शेषज्ञानसद्भावाच्च बुद्ध सदृशास्ते च अबुद्धानां छद्मथज्ञानवतां या जागरिका सा तथा तां जाग्रति। भ० १२ श० १ उ०

जागरिता धम्मीणं, अधम्मियाणं च सुत्तिया सेया।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥२०६॥

वच्छजणवए कोसंवी णयरी, तस्स अधिवो सताणितो राया, तस्स भगिणी जयंती, तीए भगवओ वद्धमाणो पुच्छितोधम्मियाणं किं सुत्तिया सेया, जागरिया वां सेया? भगवया वागरियं धम्मीणं जागिरिया सेया, णो सुत्तिया, अधम्मियाणं सुत्तिया सेया, णो जागरिया। (अकहिंसूत्ति) अत्तीए एवं कहियवान्। नि० चू० १६ उ०।

जीवाश्च न सुप्ताः सिद्धयन्ति। किं तर्हि जागरा एव इत्याह –

सुत्तत्तं भंते! साहू, जागरियत्तं साहू? जयंती! अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ–अत्थेगइयाणं० जाव साहू? जयंती! जे इमे जीवा अहम्मिया अहम्माणुया अहम्मिट्ठा अहम्मक्खाई अहम्मपलोई अहम्मपलज्जमाणा अहम्म-समुदायारा अहम्मेणं चेव वित्तिंकप्पेमाणा विहरंति। एएसि णं सुत्तत्तं साहू, एएणं जीवा सुत्ता समाणा णो बहूणं पाणभूयाणं जीवाणं सुत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए० जाव परियावणयाए वट्टंति। एएणं जीवा सुत्ता समाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा णो बहूहिं अहम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति। एएणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू। जयंती! जे इमे जीवा धम्मत्थिया धम्माणुगा० जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू एएणं जीवा जागरमाणा बहूणं पाणाणं अदुक्खणयाए० जाव अपरियावणयाए वट्टंति, ते णं जीवा जागरा समाणा अप्पाणं वा परं तदुभयं वा बहूहिं धम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति। एए णं जीवा जागरमाणा धम्मजागरियाए अप्पाणं जागरइत्तारो भवंति, एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू से तेणट्ठेणं जयंती! एवं वुच्चइ अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू।

(सुत्तत्तं ति) निद्रावशत्वम्। (जागारियत्तं ति) जागरणं जागरः सोऽस्यास्तीति जागरिकत्तद्भावो जागरिकत्वम्। (अडम्मिय त्ति) धर्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्मिका स्तन्निषेधाइधार्मिकाः। कुत एतदेवमित्यत आइ– (अहम्माणुया) धर्मं श्रुतरूपमनुगच्छन्तीति धर्मानुगास्तन्निषे धादधर्मानुगाः। कुत एतदेवमित्यत आह – (अहम्मिट्ठा) धर्मः श्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पजितो वा, येषां ते धर्मेष्टाः। धर्मिणां वा इष्टाः धर्मीष्टाः। अतिशयेन वा धर्मिणो धर्मिष्ठाः तन्निषेधात् अधर्मिष्ठाः, अधर्मेष्टाः अधर्मीष्टा वा अत एव। (अहम्मक्खाई) न धर्ममाक्यान्ति इत्येवंशीला अधर्माख्यायिनः, अथवा–न धर्मात् ख्यातिर्येषां ते अधर्मख्यातयः (अहम्मपलोई त्ति) न धर्ममुपादेयतया प्रलोकयन्ति ये ते अधर्मप्रलोकिनः। (अहम्मपलज्जण त्ति) न धर्मे प्ररज्यन्ते आसजन्ति ये ते अधर्म प्ररञ्जना एवं च – (अहम्मसमुदायार त्ति) न धर्मरूपश्चारित्रात्मकः समुदाचारः समाचारः सप्रमोदो वा आचारो येषां ते तथा अत एव – ''अहम्मेणं चेव'' इत्यादि। अधर्मेण चारित्र श्रुतविरुद्धरूपेण वृत्तिं जीविकां कल्पयन्तः कुर्वाणा इति। भ० १२ श० २ उ०। जन्मतः षष्ठ्यां रात्रौ भवे रात्रिजागरणरूपे तत्सवविशेषे च। विपा० १ श्रु० २ अ०। श०। ''छट्ठे दिवसे जागरियं करेंति'' रात्रिजागरण-रूपमुत्सवविशेषम्। भ० ११ श० ११ उ०।

***जागर्या** स्त्री० जागृ–श। जागरणे, अ–जागराप्यत्र। वाच०। ''निशान्त्ययामे जागर्या गुरोश्चावश्यकक्षणे'' जागर्या जागरणं निद्रात्याग इत्यर्थः। ध० ३ अधि०।

जागसहस्सभागपडिच्छय त्रि०(यागसहस्रभागप्रतीच्छक) यागाः पूजाविजेषाः ब्राह्मणप्रसिद्धाः तत्सहस्राणां भागमंशं प्रतीच्छति अभव्यत्वात् यत्। तथाभूते, औ०।

जागिणिपुर न०(जाकिनीपुर) स्वनामख्याते पुरे, ''इओ असिरिजागिणिपुरे सिरिमहम्मदसाहिसगाहिराओ'' ती० ४६ कल्प।

जागिणी स्त्री० (जागिणी) हरिभद्रसुरेः प्रतिबोधिकायां निग्रन्थ्याम्, 'महत्तराया जाकिन्या, धर्मपुत्रेण चिन्तिता। आचार्यहरिभद्रेण, टीकेयं शिष्याबोधिनी ॥१॥'' दश० २ चू०।

जाडी (देशी) गुल्मे, दे० ना० ३ वर्ग।

जाण न०(यान) या–भावे ल्युट्। गमने, वाच०। स्था०। त्त०। सूत्र०। उपक्तिशक्रे राज्ञः मूलराष्ट्रादिरक्षां कृत्वा रिपोरास्कन्दना गमने च। वाच०। यायतेऽनेनेति यानम्। स० १ सम०। करणे–ल्युट्। गमनसाधनेरथादौ, वाच०। यानानि सामान्यातः। शेषाणि वाहनानीति। रा०। जी०। यानानि नौकादीनि। वाहनानि वेसरादीनि। दशा० ६ अ०। ''दिट्ठी जाणं सुउत्तमं'' यानं यानमात्रं सूत्तममतिप्रधानमच्छिरुमित्यर्थः। ग० १ अधि०। यानँ वाहनमिति। रा०। यानं रथादिकमिति। प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। रा०। औ०। स्था०। याननि शकटादीनि। रा०। औ०। ज्ञा०। स्था०। वृत्त०। यानं गन्त्र्यादि। अनु०। जी०। यानं गन्त्रीविशेष इति। प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। यानं लघुगन्त्रीति। भ० ८ श० ६ त्त०। यानं शिविकादीति। स्था० १० ठा०। आचा०। यानं इस्त्यादीति। आ० क०। आ० म०। उत्त०। ''जाणं तु आसमाई'' यानानि पुनरश्वादीनि, आदिशब्दात्, गजवृषभरथशिविकादीनि। वृ० १ उ०। ''चत्तारि जाणा पण्णत्ता। तं जडा–जुत्ते णाममेगे जुत्ते, जुत्ते णाममेगे अजुत्ते, अजुत्ते णाममेगे जुत्ते अजुत्ते। (स्था०) चत्तारि जाणा पण्णत्ता। तं जहा–जुत्ते णाममेगे जुत्तपरिणए जुत्ते णाममेगे अजुत्तपरिणए ४ (स्था०) चत्तारि जाणा पण्णत्ता। तं जदा–जुत्ते णाममेगे जुत्तरुवे जुत्ते णाममेगे अजुत्तरूवे ४ (स्था०) चत्तारि जाणा पण्णत्ता। तं जहा–जुत्ते णाममेगे जुत्तसोमे ४'' स्था० ४ ठा० ३ उ०। '' जंति वीरा महाजाण'' यान्त्यनेन मोक्षमिति यानम्। चारित्रे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ६ उ०। यात्येतदिति यानम्। ''कृत्यल्युटो बहुलम्'' ॥३।३।११३। इति (पाणि०) वचनात्कर्मणि ल्युट्। गन्तव्ये च। त्रि०। आव० ६ अ०। ज्ञा०।

***ज्ञा** भवबोधने, क्यादि० पर० सक० अनिट्। **''ज्ञो जाणमुणौ''** ॥८।४।७॥ इति प्राकृतसूत्रेण 'जाण' आदेशः। 'जाणइ मुणइ' जाणिअं–जाणिऊण। प्रा० ४ पाद। तुमं किं जाणयंसि कूवमंडुक्को'' नि० चू० १ उ०। 'ज्ञा' ज्ञपधात्वर्थे। चुरा०। उभ० सक० सेट्। ज्ञपयति। अजिज्ञपत्। 'ज्ञा' प्रेरणे, चुरा० उभ० संक० सेट्। वाच०।

जाणं त्रि० (जानत्) अवगच्छति ''अजाणओ मे मुणि वूहिजाणं।'' जानन्नवगच्छन्। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। स्था०। वृ०। ''अजाणंता विउस्सित्ता'' सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। जान न्नवबुव्यमानः। विशे०। उत्त०। ''आसुपण्णेण जाणया''। जानता ज्ञानोपयुक्तेन। आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

जाणंत त्रि० (जानत्) 'जाणं' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

***जानान** त्रि० 'जणंत' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

जाणग् पुं० (ज्ञ) ज्ञा–का ब्रह्मणि, पण्डिते, सोमपुत्रे, बुधे च। वाच०। अनु०। उत्त०।

***ज्ञक** त्रि० ज्ञानिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ०१ उ०।

***ज्ञायक** त्रि० ज्ञातरि, विज्ञे, पुं० चू० नं० 'जाणयति' ज्ञायको ज्ञातेति। औ०।

जाणगय त्रि०(यानगत) यानानि शकटादीनि। तत्र गते, औ०।

जाणगसरीर न० (ज्ञशरीर) ''जाणगत्ति'' ज्ञायको, ज्ञो वा तस्य शरीरं ज्ञशरीरम्। जीवरहिते जानतः शरीरे, उत्त० १ अ०। नि० चू०। ज्ञातवान् इति ज्ञः। प्रतिक्षणं शीर्यत' इति शरीरम्। ज्ञस्य शरीरम् ज्ञशरीरम्। अनु०।

जाणगसेवा स्त्री०(ज्ञसेवा) ज्ञातुः सेवायाम्, ''जिज्ञासा तदसंज्ञेवा, सदनुष्ठानलक्षणम्''। द्वा० २३ द्वा०।

जाणगिह न० (यानगृह) यत्रा यानानि तिष्ठन्ति। तस्मिन् गृहे, ''जाणगिहाणि वा''। आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ०।

जाणण न० (ज्ञान) अवगमने, आव० ६ अ०। प्रा०।

जाणणा स्त्री०(ज्ञा) ज्ञानं ज्ञा संवित्तौ, आ० म० द्वि०। अनु०।

जाणणाणय पुं० (ज्ञाननय)नयभेदे, ''जाणणाणयो'' ज्ञानोपसब्धिमात्रः। अविशेषितं द्रव्यास्तिक इत्यर्थः। आ० चू० ३ अ०।

जाणणासंखा स्त्री०(ज्ञानसंख्या) ''जाणणा'' ज्ञानं संख्यायते निश्चीयते वस्त्वनयेति संख्या, ज्ञानरूपा संख्या ज्ञानसंख्या। संख्याभेदे, अनु०।

से किं तं जाणणासंखा?। जाणणासंखा जो जं जाणइ। तं जहा–सद्दं सद्दिओ, गणिअं गणिओ, निमित्तं नेमित्तिओ, कालं कालणाणी, वेज्जयं वेज्जो। सेत्तं जाणणासंखा।

''से किं तं जाणणासंखा'' इत्यादि। ''जाणणा'' ज्ञानं संख्यायते निश्चीयते वस्त्वनयेति संख्या, ज्ञानरूपा संख्या ज्ञानसंख्या। का पुनरियमुच्यते–यो देवदत्तादिर्यच्छब्दादिकं जानाति स तज्जानाति तच्च जानन्नसाव भेदोपचारात् ज्ञानसंख्येत्युपस्कारः। शेषं पाठसिद्धम्। अनु०।

जाणणासुद्ध न० (ज्ञानशुद्ध) ''पच्चक्खाणं जाणइ, कप्पे जं जम्मि होइ कायव्वं। मूलगुणत्तरगुणे तं जाणसु जाणणासुद्धं'' इत्युक्तलक्षणे प्रत्याख्यानभेदे, आव० ६ अ०। आ० चू०।

जाणय पुं० (ज्ञ) 'जाणग' शब्दार्थे, अनु०।

जाणयसरीर न०(ज्ञशरीर) 'जाणगसरीर' शब्दार्थे, उत्त० १ अ०।

जाणयसेवा स्त्री० (ज्ञसेवा) 'जाणगसेवा' शब्दार्थे, द्वा० २३ द्वा०।

जाणरह पुं० (यानरथ) रथविशेष, रथा द्विविधाः–यानरथाः, संग्रामरथाश्च। तत्र संग्रामरथस्य प्राकारानुकारिणी फलकमया वेदिका, अपरस्य तु न भवतीति विशेषः। जी० ३ प्रति०।

जाणरूव त्रि० (यानरूप) शिवकाद्याकारवति, ''समोहय– जाणरूवेणं'' यानप्रकारेण शिविकाद्याकारवतेति। भ० ३ श० ४ उ०।

जाणवय त्रि० (जानपद) जनपदे भवः, तत आगतो वा अण्। देशस्थे, देशदागते च। जनपदानां वृत्तौ, स्त्री०। ङीप्०। वाच०। रा०। औ०। आचा०। सू० प्र०। ''पमुइयजणजाणवया'' जनपदे भवाः जानपदा विशिष्टार्यदेशोत्पन्नाः। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। ''बहवे जाणवया लुसिंसु'' आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

जाणविमाण त्रि० (यानविमान) यानञ्च तद्विमानं च। यानाथवा गमनाय विमानं यानविमानम्। स्था० ४ ठा० ३ उ०। या –

नं गमनं तदर्थे विमानम्। यायतेऽनेनेति यानम् तदेव विमानं यानविमानम्। स्था० १ ठा० १ उ०। यानरूपं वाहनरूपं विमानं यानविमानम्। रा०। देवानां गमनसाधने नगराकारे वाहने, ''दसण्हं इंदाणं दस परियाणिया जाणविमाणा पण्णत्ता। तं जहा–पालए पुप्फए जाव विमलवरे सव्वओभद्दे'' यानं शिविकादि तदाकाराणि विमानानि देवाश्रयाणि यानविमानानि न तु शाश्वतानि नगराकाराणीत्यर्थः। स्था० १० ठा०। ''दिव्वं जाणविमाणं विडव्वेह'' रा०।

जाणसाला स्त्री० (यानशाला) यत्र यानानि निष्पाद्यन्ते तस्यां शालायाम्,। ''जाणसालाओ वा''। आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ०। आ० म०। दशा०।

जाणाविय त्रि०(ज्ञापित) बोधिते, ''अभयकुमारेण जाणावितो'' आ० म० द्वि०।

जाणिअ त्रि० (ज्ञात) अवमते, प्रा० ४ पाद। ''बलावलं जाणिय अप्पणो य'' आत्मनो बलाबलं ज्ञात्वा परीषहादि सहनसामर्थ्यं विचार्य। उत्त० २१ अ०। ''निरओवमं जाणिव दुक्खमुत्तमं'' ज्ञात्वा विज्ञायेति। दश० १ चू०। ''महयं पलिगोव जाणिया''। ज्ञात्वा स्वरूपतस्तद्विपाकतो वा परिच्छिद्य। सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

जाणिऊण अव्य० (ज्ञात्वा) विज्ञायेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद। आचा०।

जाणित्तु अव्य० (ज्ञात्वा) विज्ञायेत्यर्थे ''जाणित्तु धम्मं अहा तहा''। आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। प्रा०।

जाणियव्वगंसामत्थजुत्त त्रि० (ज्ञातव्यसामर्थ्ययुक्त) विज्ञप्ति-करणे, ''जाणितव्वगतामत्थजुत्तंति वा विणात्तिहेउभूयंति वा एगट्ठा'' आ० चू० १ अ०।

जाणिया स्त्री० [ज्ञि(ज्ञ)का] 'ज्ञा' अवबोधने। जानातीति, ज्ञा । ''इगुपधज्ञप्रीकिरः''॥३।१।१३५॥ इति क प्रत्ययः। अतो लोपः ॥६।४।४८॥ इति च (पाणि०) अकारलोपः। ततः। ''अजाद्यतष्टाप्'' ॥४।१।४॥ इति स्त्रियामाप्। ज्ञैव ज्ञिका। स्वार्थिकः कः प्रत्ययः। ततः ''स्वज्ञाञ्चभस्त्राऽधातुत्ययकात्'' ॥२।४।१०६॥ इत्यापः स्थाने वा इकारादेशः। कप्रत्ययाश्च परतः स्त्रियामाण ततः सिद्धं ज्ञिकेति। परिज्ञानवत्याम्, ''खीरमिव जहा हंसा जे धुरंति इह गुरुगुणसमिधा दोसे य विवज्जंती तं जाणसु जाणियं परिसं'' इत्युक्ते परिषद्भेदे च। नं०।

※ ज्ञात्वा अव्य० विज्ञायेत्यर्थे , प्रा० ४ पाद।

जाणु न० (जानु) जन–जुण। ऊरूजङ्घयोर्मध्यभागे, स्वार्थे कञ् अत्रैवार्थे, वाच०। प्रज्ञा०। उत्त०। ''समुग्गनिमग्गगूढजाणू'' तं०। जाणुस्सेहप-माणमित्ते'' स० ३४ सम०।

जाणुकोप्परमाया स्त्री० [जानुकूर्परमात्रा(ता)] जानुकूर्पराणा-मेव माता जननी जानुकूर्परमाता एतान्येव शरीरं शभूतानि तस्यास्तवौ स्पृशन्ति नापत्यम्। अथवा – जानुकूर्परा एयेव मात्रा परप्राणादेः साहाय्यसमर्थः उत्संगनिवेशनीयो वा परिकरो यस्याः, न पुत्रालक्षणः सा जानुकूर्परमात्रा। अपत्थरहितायाम्, ''जाणुकोप्परमाया वि होत्था'' नि० ३ वर्ग। ज्ञा०।

जाणय त्रि० (ज्ञापक) वेदिनि, ''जाणुयाय जाणुयपुत्ताय'' ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०। विपा०।

जाण स्त्री० (ज्ञा) व्यावृत्तिभेदे, यज्ञस्य हिंसादेर्दे तुस्वरूपफ लविदुषो ज्ञानपूर्विका व्यावृत्तिः सा तदभेदात् ''जाणुत्ति गदिता'' स्था० ३ ठा० ४ उ०।

जाणहई स्त्री० (जान्हवी) गङ्गायाम्, ''जाणहवीइ मुहे'' जान्हव्या गङ्गाया मुखे, स्था० ६ ठा०। विशे०।

जावग पुं० (यापक) यापयतीति यापकः। जी० ३ प्रति०। उपदेशदानादिभि भव्यसरस्वैरागादियापके जिने, कल्प० २ क्षण। जिणाणं जावयाणं रा०। रागादीनेव सदुपदेशादिना यापयन्तीति जापकाः। ध० ३ अधि०। ल०।

जावगहेउ पुं० (यापकहेतु) यापयतीति यापकः। यापकश्चासौ हेतुश्च यापकहेतुः। हेतुभेदे, (दश)

''जावग'' (८६ निर्यु०) भेदव्याचिख्यासयाह –

उब्भामिगा य महिला, जावगहेउम्मि उंटलिंभाई।

गाथादलम्। अस्य व्याख्या – (उब्भामिग त्ति) असती महिला भिः यापयतीति यापकः। यापकश्चासौ हेतुश्च यापकहेतुः। तस्मिन् उदाहरणमिति शेषः। उष्ट्रलिण्डानीति कथानकसंसूचकमेतत् इत्यक्षरार्थः। भावार्थः कथानकादवसेयः तच्चेदं कथानकम्-एगोवाणिअओ भज्जं गिण्हेऊण पच्चंतं गओ। पावेण खीणदव्वा धणियघरं कयावराहा य पच्चंतं सेवंती पुरिसा दुरदीयविज्जा य सा य महिला उब्भामिया एगम्मि पुरिसे लग्गा तं वाणियगं सागारियंति चिंतिऊण भणति–वच्च वाणिज्जेण। तेण भणिया किं घेत्तूण वच्चामि। सा भणइ-उट्टलिंडियाओ घेत्तूण वच्च उज्जेणिं। सगमं भरेत्ता उज्जेणिं गतो। ताए भणिओ य जहा एक्केक्कयं दीणारेण दिज्जहत्ति। सा चिंतेति। वरं खु चिरं खिप्पं तं अत्थत्ता। तेण ताओ वीहीए उड्डियाओ को इ ण पुच्छई। मूलदेवेण दिट्ठा पुच्छिओ य। सिट्ठंतेण मूलदेवेण चिंतियं। जहा एस वराओ महिलाए ठोभिओ। ताह मूलदेवेण भण्णति अहमेया उ नव विक्किणामि जति मम वि मुल्लस्स अरुं देहि। तेण भणियं देमि त्ति। अब्भुवगने पच्छा मूलदेवेण सो हंसो जाएऊण आगासे उप्पओ णगरस्स मज्झे ठाइऊण भणति-जस्स गलए चेडरूवस्स उट्टलिंडिया न वद्धा तं मारेमि। अहं देवो पच्छ सव्वेण लोएणं भीएण दीणारिक्काओ उट्टलिंडिआओ गहियाओ विक्कियगाओ य। ताहे तेण मूलदेवस्स अद्धं दिन्नं। मूलदेवेण य सो भणणति– मंदभग्ग! तव महिलाधुत्ते लग्गा। ताहे तव एयं कयं ण पत्तियसि ताहे मूलदेवेण भण्णति–एहि वच्चामो जा ते दरिसेमि। जदि ण पत्तियसि ताहे गया अन्नाए लेसाए वियाले उवासो मग्गिओ। ताहे दिण्णो तत्थ एगम्मि एएसे ठिया। सो धुत्तो आगतो इयरी वि धुत्तेण सह पिवे उमाढत्ता इमं च गायइ –

''इरि मंदिर पत्तहारओ, महुकं तु गतो वणिजारओ।
वरिसाण सयं च जीवउ, मा जीवंतु घरं कयाइ एउ ॥१॥''

मूलदेवो भणति–कयलीवणपत्तवेढिया, पडभणामि। देव जं मद्दलएणं गज्जती सुणउ तं मुहुत्तमेव पच्छा । मूलदेवेण भण्णति। किं धुत्ते तओ पभाए । निग्गंतूणं पुणरवि आगतो तीए पुरतो ठिओ सा सहसा संभंता अब्भुठिया। तओ खाणपिवणे वट्टंते तेण वाणिएणं सव्वं तीए गीयपज्जवसं संभारियं। एसो लोइओ हेतु। लोउत्तरे वि चरणकरणानुयोगे एवं सी-

सो वि केइ पयत्थे असद्दहंतो कालेण विज्जादीहिं देवतं आयं पइत्ता सद्दहावेयव्वो। तहा दव्वाणुओगे वि पडिवातिं नाऊण तहा बिसेसणवहुलो हेतु कायव्वो जहा कालजावणा हवइ तओ सो णावगच्छइ एगयं कुचियावण चक्खरी वा कज्जइ जहा सिरि गुत्तेण छलुए कया। उक्तो यापकहेतुः। दश० १ अ०।

जावण न० (यापन) या–णिच्–ल्युट्। कालादेः क्षेपणे, निरसने च। वाच०। वर्तने, ''मज्झेण मुणिजावए''। यापयेदात्मानं वर्तयेत्। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। अट्ठमासे अजावए''। अजापयद्वर्तितवान्। आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। देह प्रतिपालने च। ''अह जावइ त्थ लूहेणं'' धर्माधारं देहं यापसतिस्म। आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। स्त्रियां युच् यापना तत्रैवार्थे यापना द्विविधा द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यत औषधादिना कायस्य। भावतस्तु इन्द्रियण्नोइन्द्रियोपशमेन शरीरस्य क्षामणा। आव० ३ अ०।

जावणिज्ज त्रि० (यापनीय) यापयतीति यापनीयः 'या' प्रापणे। अस्य णवन्तस्य कर्तर्यनीयः। आव० ३ अ०। शक्तिसमन्विते, ''जावणिज्जाए णिसीहियाए'' अत्र नैषेधिक्येति विशेष्यम्, यापनीयेति विशेषणम्। 'या' प्रापणे। अस्य णियन्तस्य युगागमे यापयतीति यापनीया प्रवचनीयादित्वात् कर्तर्यनीयः तया शक्तिसमन्वितयेत्यर्थः। ध० ३ अधि०। भा० चू०।

जावणिज्जतंत न० (यापनीयतन्त्र) ग्रन्थभेदे, ध० २ अधि०।

जावय पुं० (यापक) ''जावग'' शब्दार्थे, जी० ३ प्रति०।

जावयहेउ पुं० (यापकहेतु) 'जावगहेउ' शब्दार्थे, दश० १ अ०।

जावलिपुर न० (जावलिपुर) पुरभेदे, तथा च हारिभद्राष्टक वृत्तौ, ''श्रीजावलिपुरे रम्ये, वृत्तिरेषा समापिता'' हा० ३२ अष्ट०।

जावि(जंपि)य त्रि० (यापित) कालान्तरं प्राप्ते, ''जंपिय तिलकीडगाय त्ति'' यापिताः कालान्तरं प्राप्ताः। ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०।

जाम पुं० (याम) यम् – घञ्। समये, प्रहरे च। ''यामो जात स्तथापि नायातः'' वाच०। ध०। स च रात्रेर्दिनस्य च चतुर्थभागः। स्था० ३ ठा० २ उ०।

तओ जामा पन्नत्ता। तं जहा–पढमे जामे मज्झिमे जामे पच्छिमे जामे। तिहिं यामेहिं आया केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज, सवणयाए तं जहा–पढमे जामे मज्झिमे जामे पच्छिमे जामे एवं० जाव केवलनाणं उप्पामेज्जा पढमे जामे मज्झिमे नामे पच्छिमे जामे।

''तओ जामा'' इत्यादि। स्पष्टम्। केवलं यामो रात्रेर्दिनस्य च चतुर्थभागो यद्यपि प्रसिद्धस्तथापीह त्रिभाग एव विवक्षितः पूर्वरात्रमध्यरात्रापररात्रलक्षणो यमाश्रित्य रात्रिः त्रियामा इत्युच्यते। एवं दिनस्यापि। अथवा–चतुर्भाग एव सः। किं त्विह चतुर्थो न विवक्षितः त्रिस्थानकानुरोधादित्येवमपि त्रयो यामा इत्यभिहितमेव। ''याव त्ति'' करणादिदं दृश्यम्–'' केवलं वोहिं वुज्झेज्जा मुंडे भवित्ता भागाराओ अणगरियं पव्वएज्जा केवलं बंभ चेरवासमावसेज्जा। एवं खंजमेणं संजमेज्जा संवरेणं संवरिज्जा आभिणिवोहियणाणं उप्पाडेज्जा'' इत्यादि। स्था० ३ ठा० २ उ०। प्राणतिपाठविरमणादिके व्रतविशेषे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। ''आगमिस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जामं धम्मं पन्नवित्ता'' यामा महाव्रतानीति। स्था० ६ ठा०। वयोविशेषे, ज्ञानदर्शनचारित्रेषु च। ''माहणेणं मइमया जामा तिण्णि ओदाहिया'' ''जामा'' इत्यादि। यामा व्रतविशेषाः त्रयः उदाहताः। तद्यथा–प्राणातिपातो, मृषावादः, परिग्रहश्च इति। अदत्तादानमैथुनयोः परिग्रह एवान्तर्भावात्त्रायग्रहणम्। यदि वा–यामा वयोविशेषाः। तद्यथा– अष्टवर्षाद् द्वात्रिंशतः प्रथमः, तत ऊर्द्धमाषष्टेर्द्वितीयः, तत ऊर्द्धं तृतीय इति। अतिबालवृद्धयोर्व्यु दासः। यदि वा–यस्य ते उपरम्यते संसारभ्रमणादेभिरिति यामा ज्ञानदर्शनचारित्राणीति ते उदाहता व्याख्याताः। आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

जामइल्ल त्रि० (यामवत्) **''आल्विल्लोल्लालवंतमंतेत्तेर मणामतोः'' ॥८।२।१५६॥** इति प्राकृतसूत्रेण मतोः स्थाने ''इल्ल'' आदेशः। प्रा० २ पाद। त्रिद्यमानयामके, वाच०।

जामदग्ग पुं० (जामदग्नय) जमदन्येरप्यत्वं यञ्। यमदग्निपुत्रे पर्शुरामे, वाच०। विशे०।

जामद्ध न० (यामार्द्ध) यामं प्रहरं तस्यार्द्धम् यामार्द्धम्। चतुर्घटिके समयविशेषे, ग० १ अधि०।

जामहिं त्रि० (यावत्) **''यावत्तावतोर्वाऽऽदेमं–उं–महिं'' ॥८।४।४०६॥** इति प्राकृतसूत्रेण वकारादेर्महिं इत्यादेशो वा। प्रा० ४ पाए। यत्परिमाणमस्य मतुप्। यत्परिमाणे, साकल्ये, अवधौ व्याप्तौ, माने, अवधारणे च। अव्य०। वाच०। ''जामन निवडइ कुंभडइ, सीहचपेडचत्तक्क। तामसमत्तइं भवगलहं, परप इवज्जइ ढक्क।'' प्रा० ४ पाद।

जामाउ पुं० (जामातृ)**''उद्दत्वादौ''॥८।१।१३१॥** इति प्राकृत सूत्रेण ऋकारस्योकारः। प्रा० १ पाद। जायां माति मिनोति मिमीते वा। तृच्। दुहितृपतौ, वसुभे स्वामिनि च। वाच०।

जामाउय पुं० [जा(या)मातृक] दुहितभर्तरि, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

जामि स्त्री० [जा(या)मि] जन–मिण्–वृद्धिः। अथवायम – इन्। भगिन्याम्, दुहितरि, स्नुषायाम्, कुलस्त्रियाम्, सन्निहित स्त्रियाम्, ''यामयो यानि गेहानि''। वाच०। ती० ''जामी एगे'' गत्वेत्यर्थे, स्था० १ ठा०।

जामिणी स्त्री० (यामिनी) यामास्त्रिसंख्याताः सन्त्यस्य बाहुल्ये इति। रात्रौ, हरिद्रायां च ''निसा जामिणी राई'' को०।

जामिय पुं० (यामिज) भगिनीपुत्रे, ''भद्धाङ्गजो द्विजो दत्तः, कालिकाचार्यजामिजः''। आ० क०।

जामुणकुसुम न० (जपाकुसुम) रक्तपुष्पस्य वृक्षभेदस्य पुष्पे, ''जामुणकुसुमोई वा'' रा०।

जामेय पुं० (जामेय) भगिनीपुत्रे, ''राज्ये निवेश्य जामेयं, प्रवज्यां स्वयमग्रहीत्'' आ० क०।

जाय न०(जात) जन–क्त। समूहे, व्यक्ते, जन्मनि। वाच०। जातौ, प्रकारे च। स्था० १० ठा०। जातमुत्पत्तिधार्मेकम्। तच्च व्यक्ति वस्तु। अतो भाषायाः जातनि व्यक्तिवस्तूनि भेदाः प्रकाराः। (स्था०) जातं प्रकारः। स्था० ४ ठा० १ उ०। ''अट्ठजाए वि दट्ठव्वं'' जातशब्दो भेदवाचकः। नि० चू० १ उ०।

'जाय' सद्दो प्रकारवाची। नि० चू० १६ उ०। आ० म०। बृ०। उत्पन्ने, त्रि०। स्था० ६ ठा०। सूत्र०। उत्त०। बृ०। ''कारणजाए'' जाते समुत्पन्ने दर्श० ४ तत्व। ''एत्थ पाणा अणुप्पसूया एत्थ पाणा जाया'' नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमेकार्थिकान्येवैतानि। आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०। प्रवृत्ते, रा०। औ०। विद्यमाने च। विशे०। पुत्रे, पुं०। सरपायं च जायाए'' सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। ''जाए फले समुपण्णे'' सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। ''धण्णो सि णं तुमं जाया'' (जायत्ति) हे पुत्र! भ० ६ श० ३३ उ०। बृ०।

जातस्य निक्षेपः षड्विधः तथा चाचाराङ्गे निर्युक्तौ –

....., जाए छक्कं च होई णायव्वं।

जातशब्दस्य तु षट्कनिक्षेपोऽयं ज्ञातव्यो नामस्थापनाद्रव्य क्षेत्रकालभावरूपः तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यजातं तु नो आगमतो व्यतिरिक्तम्। निर्युक्तिगाथाकारो गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति –

उप्पत्तीए तह पज्ज – वंतरे जायं गहणे वि ॥१॥

तच्चतुर्विधम्–उत्पत्तिजातम्, पर्यवजातम्, अन्तरजातम्, ग्रहणजातम्। तत्रोत्पत्तिजातं नाम–यानि द्रव्याणि भावावर्गणान्त :– पाती नि कययोगगृहीतानि वागयोगेन निसृष्टानि भावात्वेनोत्पद्यन्ते तदुत्पत्तिजातम्, यद् द्रव्यं भावात्वेनोत्पन्न-मित्यर्थः। पर्यवजातं तैरेव वाग्निसृष्टभावाद्रव्यैः यानि विश्रेणिस्थानि भावावर्गणान्तर्गतानिसृष्टद्रव्य-परघातेन भावापर्यायत्वेनोत्पद्यन्ते तानि द्रव्याणि पर्यवजातमित्युच्यते। यानित्वन्तराले समश्रेण्यामेव निसृष्टद्रव्यमिति तानि भावापरिणामं भजन्ते तान्यन्तरजातमित्युच्यते। यानि पुनर्द्रव्याणि समश्रेणिविश्रेणि-स्थानि भाषात्वेन परिणतानि ऊर्णशन्कुलीविवरप्रविष्टानि गृह्यन्ते तानि चानन्तप्रदेशिकानि द्रव्यतः। क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढानि कालत एकद्वयादि यावदसंख्येयसमयस्थितिकानि भावतो वर्णगन्धरसस्पर्श-वन्ति तानि चैवंभूतागृहणजातमित्युच्यते। उक्तं द्रव्यजातम्। क्षेत्रादिजातं तु स्पष्टत्वान्निर्युक्तिकारेण नोक्तम्। तत्रैवंभूतं यस्मिन् क्षेत्रे भाषाजातं व्यावर्ण्यते यावन्मात्रं वा क्षेत्रं स्पृशति तत् क्षेत्रजातम्। एवं कालजातमपि। भावजातं तु तान्येवोत्पत्ति पर्यवान्तरग्रहणद्रव्याणि श्रोतरि यदाशब्दोऽयमिति बुद्धिमुत्पादयन्तीति। आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ०। गमनक्रियायाम्, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। गते, त्रि०। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। प्राप्ते च। ''असुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा'' सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

जायंत त्रि० (याचमान) याचनं कुर्वति, ''जायंता पाणियं'' याचमानः पानीयम्। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

जायअंधारूवग पुं० (जातान्धरूपक) जातमुत्पन्नमन्ध कनयनयोरादित एवानिष्पत्तेः कुत्सितमङ्गरूपं यस्यासौ। जातान्धरूपके, विपा० १ श्रु० १ अ०।

जायकप्प पुं० (जातकल्प) कल्पभेदे, जाता निष्पन्नाः श्रुत संपदुपेततया लब्धात्मलाभाः साधवस्तदव्यतिरेकात्कल्पोऽपि जात उच्यते। ध० ३ अधि०। पञ्चा०।

जायकम्म न० (जातकर्मन्) जातस्य कर्म। मन्त्रावत्सर्पिष्प्राश नादि। संस्कारभेदे, वाच०। नालच्छेदादिके प्रसवकर्मणि च। ''पढमे दिवसे जायकम्मं करेंति'' जातकर्म प्रसवकर्म नालच्छेदननिखननादिकम्। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। ''णिव्वत्ते असुइं जायकम्मकरणे'' जातकर्मणा प्रसवव्यापाराणां करणं विधानम्। तस्मिन्, स्था० ६ ठा०। औ०।

जायकोऊहल त्रि० (जातकुतूहल) जातं कुतूहलं यस्य स जातकुतूहलः। जातौत्सुक्ये, रा०। सू० प्र०।

जायग न० (जातक) जातस्य हितम्–कन्। जातस्य शुभाशुभ निर्णायके बृहज्जातकादौ ग्रन्थे, जातकर्मरूपे संस्कारभेदे च। वाच०।

***जायक** न०। जयति गन्धान्तरं जि–णवुल्। पीतवर्णे सुगन्धि काष्ठे, वाच०।

***याचक** त्रि०। याच–णवुल्। याञ्चाकारके, वाच०। देवैर्भगवत्स कथादौ (सकथा जानुः) गृहीते सति श्रावका देवानतिशय भक्तया याचितवन्तः देवा अपि तेषां प्रचुरत्वान्महता यत्नेन याचनाऽभिहता आहुः– ''अहो याचकाः'' इति। तत एव याचका रूढाः। आ० म० प्र०। ''ते च सद्धा अग्गिसकदधादीणि जायंति ताहे देवेहिं भणितं–इमे केरिसगा, ''जायगा'' ततो जायगसद्दो जातो। ताहे अग्गिं घेत्तुं ते सएसु सएसु गेहेसु ठवेंति।'' आ० चु० १ अ०।

***याजक** पुं०। याजयति – यज्–णिच् – णवुल्। धनादिलाभाय परार्थं यज्ञकर्तरि, ऋत्विगादौ, वाच०। ''सो तत्थ एव पडिसिद्धो, जायगेण महामुणी'' याजकेन यज्ञकारकेण। उत्त० २६ अ०।

जायण न० (याचन) याच् – ल्युट्। याञ्चायाम्, वाच०। पञ्चा०। प्रार्थने, प्रव० ८६ द्वार। मार्गणे च। आव० ४ अ०।

***यात्रन** न०। कदर्थने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

जायणजीवण त्रि० (याचनजीवन) याचनेन जीवनं प्राणधार णसस्येति याचनजीविनः। आर्षत्वदिकारः। उत्त० १२ अ०।

***याचनजीविन्** त्रि०। याचनेन जीवनशीले च। ''जाणाहि मेज्ज याणजीविणोति'' उत्त० १२ अ०।

जायणा स्त्री० (याञ्चा) याच् – नङ्। प्रार्थनायाम्, वाच०। ज्ञा०। उत्त०। मार्गणे च। आव० ४ अ०।

***यातना** स्त्री०। चुरा० यत्–युच्। तीव्रवेदनायाम्, वाच०। कदर्थन नायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। दण्डो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः आव० ६ अ०। ''जायणा करणसयाणि'' कदर्थनहेतु शतानि। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

जायणापरीसह पुं० (याञ्चापरीषह) याचनं याञ्चा प्राथनेत्यर्थः। सैव परीषहो याञ्चापरीषहः। प्रव० ६ द्वार। उत्त०। परीषहभेदे, (आव०) भिक्षोर्हि वस्त्रपात्रान्नपानप्रतिश्रयादिपरतो लब्धव्यं सर्वमेव शालीनतया च न याञ्चा प्रत्याद्धियते। साधुना तु प्रागल्भ्यभाजा सा जाते कार्ये स्वधर्मकाय परिपालनाय याचनमश्वयं कार्यमित्येवमनुतिष्ठता याञ्चापरीषहविजयः कृतो भवति। आव० ४ अ०। प्रव०। पं० सं०। आ० चू०।

याञ्चापरीषहमाह –

दुक्करं खलु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वं सेज्जाइ तं होइ, णत्थि किंचि अजाइतं ॥२८॥
गोयरग्गपविट्ठस्स, पाणी णो सुप्पभारए।
सेओ आगारवासो त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥२९॥

दुष्करसूत्रम् – दुःखेन क्रियते इति दुष्करम्। दुरनुष्ठानं खलुर्विशेषणे। निरूपकारिण इति विशेषं द्योतयति। भो इत्यामन्त्राणे। नित्यं सर्वकालं यावज्जीवमित्यर्थः। अनगारस्य भिक्षोरिति। चः प्राग्वत्। किं तत् दुष्करमित्याह – यत्सर्वमाहारो पकरणादि (से) तस्य याचितं भवति। नास्ति किञ्चिद् दन्तशोधनाद्यप्ययाचितं ततः सर्वस्यापि वस्तुनो याचनमिति गम्यमानेन विशेषेण दुष्करमित्यस्य सम्बन्ध इति सूत्रार्थः ॥२८॥ ततश्च गोचरसूत्रम् गोरिव चरणं गोचरो, यथाऽसौ परिचितापरिचितविशेषमपहायैव प्रवर्तते। तथा साधुरपि भिक्षार्थं तस्याग्रं प्रधानं यतोऽसौ एषणयुक्तो गृणहति। न पुनर्गौरवि। यथाकथंचित्तस्मिन् प्रविष्टो गोचराग्रप्रविष्टः तस्य पाणिर्हस्तो (नो) नैव सुखेन प्रसार्यते पिण्डादिग्रहणार्थं प्रवर्तते इति सुप्रसारः स एव सुप्रसारकः कथं हि निरूपकारिणा परः प्रतिदिनं प्रणयितुं शक्य उत्तरत्र, इति शब्दस्य भिन्नक्रमत्वा दित्यस्माद्धेतोः श्रेयानतिशयप्रशस्योऽगारवासं गार्हस्थ्यं तत्र हि न कश्चिद् याच्यते, स्वभुजार्जितं च दीनादिभ्यः संविभज्य भुज्यते इत्येतद्भिक्षुर्न चिन्तयेत्। यतो गृहवासो बहुसावद्यो गृहिभ्यः पिण्डादिग्रहणं न्याय्यमिति भावः। इति सूत्रार्थः ॥२९॥

सांप्रतं ग्रामद्वारं तत्र ''दुक्करं खलु भो निच्चं'' इत्यादि। सूत्रम्।

अर्थतः स्पृशन्नुदाहरणमाह – जायण गाहरूं–

जायणपरसिहम्मि य बलदेवो इत्थ आहरणम्।

याञ्चापरीषहे बलदेवोऽत्र भवति (आहरणम्) उदाहरणम्। अत्रं संग्रदाय :– ''जया सो वासुदेवो सव्वं वहंतो सिद्धत्थेणं पडिवाहिओ कण्हस्स सरीरं सक्कारेउं कयसामाइयो लिंगपडि वज्जिओ तु गोसिहरे एवं तप्पमाणो, ण कहं भिक्खाण भिक्खउं अलीइस्सं तणकठाहाराइं ण भिक्खं गेण्हति। न गामं न नगरं अल्लियत्ति। तेण सो णाभियासिओ जायणपरीसहो एवं न कायव्वं। अण्णे भणंति – बलदेवस्स भिक्खं भमंतस्स बहुओ जणो तस्स रूवेण खित्तो ण किंचि अण्णं जाणत्ति तच्चित्तो चेव वेट्ठति तेण न सो हिंडति गामनगरादि जहा पडियाहिंतो चेव भिक्खं जायइ त्ति। एस जायणापरीसहो पसत्थो'' एवं शेष साधुभिरपि याञ्चापरीषहः सोढव्य इति। उत्त० २ अ०। ''परदत्तोप-जीवित्वात्, यतीनां नास्ति जीवितम्। यतोऽतो यावता दुःखं, क्षाम्ये नेच्छेदगारिताम् ॥१॥'' आ० म० द्वि०। योगशास्त्रवृत्तौ–नायचितं यतीनां यत्, परदत्तोपजीविनाम्। याञ्चादुःखं प्रतीच्छेत्तन्नेच्छेत्पुनरगारिताम् ॥१४॥ ध० ३ अधि०।

सांप्रतं याञ्चापरीषहमधिकृत्याह –

सदा दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया (६)

यतीनां सदा सर्वदा दन्तशोधनाद्यपि परेण दत्तमेषणीय मुत्पादा द्येषणादोषरहितमुपभोक्तव्यमित्यतः क्षुधादिवेदनातीनां यावज्जीवं परदत्तैषणादुखं भवति। अपिचेयं याञ्चापरीषहोऽल्पसत्त्वैर्दुःखेन प्रणोद्यते त्यज्यते। तथा चोक्तम् –

''डिज्झाइ मुहलावण्णं, वाया घोलेई कंठमज्झम्मि।
कढ कह कहेई हिययं, देहि त्ति परं भणतस्स ॥१॥
गति भ्रंशो मुखे दैन्यं, ग्रात्रस्वेदो विवर्णता।
मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिन्हानि याचके ॥२॥''

इत्यादि। एवं दुस्त्यजं याञ्चापरीषहं परित्यज्य गताऽभिमाना महासत्त्वा ज्ञानाद्यभिवृद्धये महापुरुषसेवितं पन्थानमनुव्रजन्तीति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

जायणी स्त्री० (याचनी) याच्यतेऽनयेति याचनी। भाषाभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ०। याचनं। कस्यापि वस्तुविशेषस्य देहीति मार्गणरूपे भाषाभेदे, प्रज्ञा० ११ पद। भ०। दश०। संथा०।

जायतेय पुं० (जाततेजस्) अग्नौ, ''जायतेयं न इच्छंति'' दश० ६ अ०। ''जायतेयं समारम्भ, बहुओ रुंभिया जणा। अंतो धूमेण मारेइ, महामोहं पकुव्वइ'' स० ३० सम०।

जायथाम त्रि० (जातस्थामन्) उत्पन्नबले, ''वसभो इव जायथामे'' गौरिवोत्पन्नबलः। स्था० ६ ठा०।

जायपक्ख पुं० (जातपक्ष) जाततन्तुरूहे, ''जायपक्खा जहा हंसा'' उत्त० २३ अ०।

जायपुंखाइ पुं० (जातपुंख्याति) उत्पन्नगुणपुरूषविवेक प्रख्यातौ, तत्परं जातपुंख्याते, ठा० १ ठा०।

जायफल न० (जातफल) पुत्ररूपे फले, ''जायफले समुप्पण्णे'' जातः पुत्रः स एव फलं गृहस्थानां तथाहि पुरूषाणां कामभोगः फलम् तेषामपि प्रधानकार्य पुत्रजन्मेति। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

जायमजायकप्प पुं० (जाताऽजातकल्प) कल्पभेदे, (पं० प्रा०)

जातमजावो अहुणा, दोण्ह वि एते समं तु वच्चंति।
जातं णिप्पण्णंति य, एगट्ठं होति णायव्वं।
जातमजातं करणं, जाते करणे गती तिहा ठिण्णा।
अजाए करणम्मि तु अ–ण्णतरिं तं गती जाइ।
जातं खलु णिप्पण्णं, सुत्तेण ऽत्थेण तदुभयेएणं च।
चरणेण य संजुत्तं, वतिरित्तं होति य अजातं।
जातकरणेण ठिण्णा, नरगतिरिक्खा गती उ दोण्णि भवे।
अहवा वि तिहा ठिन्ना, नरगतिरिक्खा मणुस्सगती।
दो वेसु वि तिण्हि गती, ठिण्णा वेमाणिएसु उवउत्ती।
चउसु वि गतीसु गच्छति, अण्णतरिं अजातकरणेणं।
एसो जातमजाते, कप्पो अभिहितो श्यागिं तु। पं० भा०।

इयागिं जायमजायकप्पं समं च वयंति। जातो निष्पन्न इत्यर्थः। अहवा– जायकप्पो संविग्गीयत्थाणं, इथरेसिं संविग्गासंविग्गाणं, अगीयत्थाणं अजायकप्पो। जइ जायकरणं जायकप्पो असद्भूतमजातमित्यनर्थान्तरम् अजातकरणम जातकल्पः जायकरणे वि दो नरगतिरिक्खजाणी य गईओ छिन्नाओ, अजायकरणे चउसु वि गईसु अन्नयरि गइं गच्छइ। जायमजायकरणा। पं० चू०।

जायमजायपारिट्ठावणिया स्त्री० (जाताजातपारिष्ठापनिका) द्वि० व०। जाताजातपारिष्ठापनिकयोः, (ग०)

जाताजातस्वरूपं यथा –

''आहारम्मि उ जाया, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए।
जाया चेव सुविहिया, नायव्वा तह अजाया य ॥१॥
आहाकम्मे य तहा, लोभविलआभिओगिए गहिए।

एएण होइ जायं, वोच्छं से विहीइ वोसिरणं ॥२॥''

आधाकर्मणि च तथा लोभाद् गृहीते, विषकृते गृहीते, मक्षिकादि विपरया जाते, आभियोगिके वशीकरणादिमन्त्राऽभिसंस्कृते, ततोऽन्यथात्वादलिङ्गतो ज्ञाते सति एतेनाधाकर्मादिदोषेण जाता स्यात्। (से) तस्य विधिना व्युत्सर्जनं वक्ष्ये ॥२॥

''एगंतमणावाए, अचित्ते थंडिले गुरूवइट्ठे।

वारेण अक्कमित्ता, तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥३॥''

त्रीन् वारान् श्रावणं कुर्यात्, अमुकदोषादिदं त्यज्यते इति त्रिरूच्चरेत् ॥३॥

''भायरिए य गिलाणे, पाहुणए दुल्लभे सहस लाभे।

एसा उ खलु अजाया, वोच्छंसि विहीइ वोसिरणं ॥४॥''

आचार्याद्यर्थं तथा दुर्लभे विशिष्टे द्रव्ये सति सहसा च तल्लाभे जाते सति इत्यादि। हेतोरधिकग्रहणं स्यात्। एषा अजातपारिष्ठापनिका ॥३॥

''एगंतमणावाए, अचित्ते थंडिले गुरूवइट्ठे।

आलोए तिण्णि पुंजा, तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥५॥''

आलोके प्रकाशेशुद्धाहारस्यत्रीन् पुञ्जान् कुर्यात्, आधाकर्मादि मूलगुणदुष्टे एकः। उत्तरगुणदुष्टे तु द्वौ, इति विशेषः। पूर्ववत् त्रिः — श्रावणं कुर्यात् एवमुपकरणविषयेऽपि जाताजाते पारिष्ठापनिकंज्ञेय इति। ग० २ अधि०।

जायमजायाहार पुं० (जाताऽजाताधार) आवश्यकपारिष्ठापनिकानिर्युक्तयुक्तजाताख्यपारिष्ठापनिकाविधिज्ञे, (ग०) ''जायम जायाहारे'' (जायमजायाहारे त्ति) मकारस्यालाक्षणि कत्वात् *जाताधारः। आवश्यकपारिष्ठापनिकानिर्युक्तजीताख्य पारिष्ठानिका*-विधिज्ञ इत्यर्थः। न० २ अधि०।

जाताजाताहार पुं०। ''कृताकृताहारे (ग०) ''जायमजायाहारे'' (जायमजायाहारे त्ति) मकारस्यालाक्षणिकत्वात्। जातः संपन्नोऽजातश्चासंपन्न आहारो यस्यासौ जाताहारः। कदाचित् कृताहारः कदाचिदकृता हार इत्यर्थः। तत्र शुद्धे लब्धे जाताहारः। अलब्धे, अशुद्धे वा लब्धे, अजाताहारः। उक्तं च — ''अलब्धतपसो बुद्धिर्लब्धे देहस्य धारणेति'' ग० २ अधि०।

***यात्रामात्राहार** पुं०। यात्रायै मात्रयाऽऽहारो यस्या — सौ यात्राहारः। संयमस्वाध्यायादिनिर्वाहाय मात्रयाऽऽहारं कुर्वति, ''जायमजायाहारे'' अथवा—यात्रायै मात्रयाऽऽहारो यस्यासौ यात्राहारः। आर्षत्वात् चेत्थं सिद्धिः। तत्र यात्रा संयमस्वाध्याय रूपा, मात्रा तु तदर्थमेव पुरूषस्त्रीषण्ढानां क्रमेण द्वात्रिंशदष्टा विंशतिचतुर्विंशति कवलप्रमाणाहारिमध्यादेकद्वित्र्यादि कवलेनाहारग्रहणमिति। ग० २ अधि०।

जायमक पुं० (जातमक) जन्मतो मूके, विपा० १ श्रु० १ अ०।

जायरूव न० (*जातरूप*) जातं रूपमस्य प्रशस्तवर्णं, वाच०। सुवर्णे, रा०। प्रश्न०। ज्ञा०। स्था०। जातं लब्धं रूपं स्वरूपं रागदिकुद्रव्यविरहादु येन स तथा। स्था० ६ ठा०। सुवर्णविशेषे, रा०। जं०। ''जायरूवमईओ ओहाडणीओ'' जातरूपं सुवर्णविशेषः। जी० ३ प्रति०। ''अहवा—जायरूवे जं च प्रवालगवत् जानंतं जायरूवं भण्णति'' नि० चू० १ उ०। रूप्ये च, ''हिरण्णं जायरूव च, मणसा वि ण चिंतए'' जातरूपं रूप्यम्। उत्त० ३५ अ०।

जायरूवकंभ न०(जातरूपकाण्ड) रत्नप्रभायाः पृथिव्याः वोडशसु काण्डेषु त्रयोदशे काण्डे, स्था० १० ठा०।

जायव पुं० (यादव) यदोरपत्यम्। यदु—अण्। यदुवंशजे, ''पज्जुण्णपईवसंवअणिरूद्धणिसढउसुयसारणगयसुमुहदुम्मुहाईणं जायवाणं''। प्रद्युम्नप्रतीपशाम्बानिरूद्धनिषधोल्मुक सारणगज—सुमुखदुर्मुखादीनां यदोरपत्यानाम्। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार०।

जायवेय पुं० (जातवेदस) जातान् प्राणिनः विन्दते जठरानलत्वेन। 'विद्ट लाभे। असुन्। वह्नौ, ''जायवेयं पाएहिं हणाह जे भिक्खुं अवमन्नह'' जातवेदसमग्निम्। उत्त० २२ अ०। चित्रकवृक्षे च। वाच०।

जायसंसय त्रि० (जातसंशय) जातः संशयो यस्य स जात संशयः उत्पन्नसंशये, सू० प्र० १ पाहु०। औ०। ज्ञा०। चं० प्र०। जं०। रा०।

जायसड्ढ त्रि०(जातश्राद्ध) जाता प्रवृत्ता श्रद्धा इच्छा विशेषो यस्यासौ जातश्राद्धः। प्रवृत्तेच्छाविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। चं० प्र०। सू० प्र०। रा०। जं०। नि०। औ०।

जाया स्त्री० (यात्रा) या—ष्ट्रन। जिगीषया राज्ञां गमने, गमनमात्रे, देवोद्देशेनोत्सवभेदे, रथयात्रादौ च। वाच०। निर्वाहे च। ''भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा''। यात्रार्थं पञ्चमहाव्रत भारनिर्वाहणार्थम्। सूत्रा० १ श्रु० ७ अ०। भ०।

***जाया** स्त्री०। जन—यक्। भार्यायाम्, (भ०)। स्त्रीत्वेन जायाम्बयोः *कान्ताजनन्योः प्रति०। भ०।*

समणोवासगस्स णं भंते! सामाइयकमस्स समणोवासए अत्थमाणस्स केइ जायं चरेज्जा। स णं भंते! किं जायं चरइ, अजायं चरइ?। गोयमा! जायं चरइ, नो अजायं चरइ। तस्स णं भंते! तेहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं सा जाया अजाया भवई?। हंता भवइ। से केणं खाइयं अट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—जायं चरइ, नो अजायं चरइ? गोयमा! तस्स णं एवं भवइनो मे माया, णो मे पिया, नो मे भाया, णो मे भइणी, नो मे भज्जा, नो मे पुत्ता, नो मे धूया, नो मे सुण्हा, पेज्जबंधणे पुण से अव्वोच्छिण्णे भवइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव नो अजायं चरइ।

(केइ जायं चरेत्ति) कश्चिदुपपत्तिरित्यर्थः। जायां भार्यां चरेत सवेत (सुण्ह त्ति) स्नुषा पुत्रभार्या (पेज्जबंधणे त्ति) प्रेमैव प्रीतिरेव बन्धनं तत्पुनः 'से' तस्य श्राद्धस्य अव्यवच्छिन्न भवति। अनुमतेरप्रत्याख्यातत्वात्। प्रेमानुबन्धस्य चानुमतिरूप त्वादिति। भ० ८ श० ५ उ०। चमरस्यासुरेन्द्रस्य स्वनामख्यातायां बाह्यायां पर्षदि, स्था० ३ ठा० २ उ०। ''बाहि जाया'' जी० ३ प्रति०।

***जाता** स्त्री०। प्रकृतिमहत्त्ववर्जितत्वेनास्थानाकोपादीनां जातत्वाज्ज्ञाता। चमरादिदेवेन्द्राणां बाह्यपर्षदि, भ० १ श० १ उ०।

जायाइ[न्]यायाजिन् पुं० यायजतीत्येवंशीलो यायाजी। वजनशीले, "जायाई जम जन्नम्मि" यमयज्ञं यायाजी। उत्त० २५ अ०।

जायामाया स्त्री० (जात्रामात्रा) यात्रा संयमयात्रा तस्यां मात्रा यात्रामात्र "आयागुत्ते णयाधीरे जायामाथाए"। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। संयमार्थं परिमिताहारग्रहणे, नं०।

जायामायावित्ति स्त्री० (जात्रामात्रावृत्ति) संयमयात्राप्रमाणायां जीविकायाम्, "जायामायावित्ती होत्था" संयमयात्राप्रमाणा जीविकाऽभवत्। सूत्र० २ श्रु० २ अ० "जायामायावित्तीओ"। यात्रा संयमयात्रा मात्रा तदर्थमेव परिमिताहारग्रहणम्, वृत्तिर्विविधैरभिग्रहविशेषैर्वर्तनम्। भ० २५ श० ३ उ०। नं०।

जार पुं० (जारं) जीर्यतेऽनेन 'ज' करणे घञ्। उपपत्तौ, वाच०। मणिलक्षणविशेषे च। जारमारेति लक्षणविशेषौ सम्यग्मणि लक्षणवेदिनौ लोकाद्वेदितव्यौ। जी० ३ प्रति०। रा०। जं०। आ० म०।

जारिस त्रि० (यादृश) यस्येव दर्शनमस्य। यद्–दृश टः। **दृशःकिप् टक् सकः**"॥८।१।१४२॥ एतदन्तस्य दृशेर्ऋतोरिः। प्रा० १ पाद। यत्सदृशे, यथाविधे, स्त्रियां ङीप्। वाच०। आ० म० प्र०। "जारिसओ ज नामा, जहय कओ जारिसं फलं देंति" यादृशको यत्स्वरूपकः यादृशं यद्रूपम्। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। "जं जारिसं पुव्वमकारि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए। यत्कर्म यादृशं यदनुभावं यादृकस्थितिकं वा। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

जारुकण्हं पुं० (जारुकृष्ण) वशिष्ठगोत्रान्तर्गते गोत्रभेदे, स्था० ७ ठा०।

जाल पुं० (जाल) चुरा० 'जल' सेवरणे। घञ्। घाते, 'जल घातने णिच्–अच्। कदम्बवृक्षे, गवाक्षे, वाच० रा०। जं०। सच्छिद्रे, गवाक्षविशेषे च। जालं सच्छिद्रो गवाक्षविशेषः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। जालकं विद्रान्वितो गृहावयवविशेषः। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। औ०। "जालानि जालकाभवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि। रा०। जी०। सू० प्र०। चं० प्र०। स०। जी०। "जालंतरत्यदीवप्पहोवमो कडुगावही होइ" अपवरकजालकान्तरस्थप्रदीपप्रभोपमः। विश०। गवाक्षछिद्रे, "गवाक्षजालैरभिनिष्पतन्त्यः" इति भट्टिः। मत्स्यधारणार्थे शणसूत्रनिर्मिते स्वनामख्याते आनाथे, वाच०। "जासुच्छिप्पणाणि"। जालेन वाऽऽनायेनोत्क्षेपणानि। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। मत्स्यबन्धनविशेषे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। विपा०। "तहेव कोंचा समइक्कमंता, तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा"। जालानि बन्धनविशेषरूपाणि उत्त० १४ अ० "विंदसएहिं जालेहिं" उत्त० १ अ०। "छिदित्तु जालं अवलंबरोहिया" उत्त० १४ अ०। अस्फुटकलिकायाम्, क्षुद्रफले, मृगपक्ष्यादिधारणार्थे पाशे, शाढये, दम्भे, समूहे च, वाच०। जं०। आ० म०। द्रव्या०। सन्ताने, आव० ४ अ०। इन्द्रजाले, वाच०। चरणाभरणविशेषे च। न०। औ०।

जालंतररयण त्रि०(जालान्तररत्न) जालान्तरेषु जालक मध्यभागेषु रत्नानि वस्थ। तस्मिन्, जालकानि च भवनभित्तिषु लोके प्रतीतान्येव तदन्तरेषु च शोभार्थं रत्नानि संभवन्त्येव। स०। रा०। चं० प्र०। जी०। सू० प्र०।

जालंधर पुं० (जालन्धर) त्रिगर्तास्ये देशे, तद्देशस्थे जने च। ब०च०। स्वनामख्याते योगिराजे, वाच०। गोत्रभेदे च। "देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए"। कल्प० १ क्षण। आ०० चू०।

जालंधरायण पुं० (जालन्धरायण) गोत्रभेदे, "देवाणंदाए माहणीए जालंधरायणसगुसत्ताए"। आचा० ३ चू०।

जालकडग पुं० (जालकटक) जालानि जालकानि भवनभित्तिषु लोकेऽपि प्रसिद्धानि तेषां कटकः समूहो जालकटकः। जी० ३ प्रति०। जालकटकाकीर्णे रम्यसंस्थाने प्रदेशविशेषे, जी० ३ प्रति०। "विजवस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसिहियाए दो दो जालकण्णा पण्णत्ता"। जालकटकौ जालकटकाकीर्णौ प्रदेशविशेषौ। जं० १ वक्ष०। "सा णं जगतीए केणं जालकडएणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता" जी० ३ प्रति०। जालकटकाकीर्णा रम्यसंस्थानप्रदेशयिविशेषपङ्क्तिरिति भावः। जी० ३ प्रति०।

जालग पुं० (जालक) स्वार्थे–कन्। गवाक्षछिद्रे, पुं०। मोचकफले, नवकलिकासमूहे, क्षारके च। न०। वाच०। छिद्रान्विते गृहावयवविशेषे, प्रक्ष० १ आश्र० द्वार। जालकं विच्छित्तिछिद्रवत् गृहायवयवविशेषः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। जालकानि भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि। रा०। जी०। स०। सू० प्र०। चं० प्र०। जी०। चरणाभरण विशेषे च। औ०। "सखिंखिणीजालपरिक्खित्ताणं" सह किङ्किणिकाभिः क्षुद्रघण्टिकाभिः यज्जालं जालकं तदाभरणविशेषस्तेन परिक्षिप्ताः परिकरिताः ये ते तथा तेषाम्। औ०।

जालगंठिया स्त्री० (जालग्रन्थिका) जालं मत्स्यबन्धनं, तस्येव ग्रन्थयो यस्यां सा जालग्रन्थिका। जालवद् ग्रन्थियुतायाम्, किं स्वरूपा सा? इत्याह –

जालगंठियाइ वा, आणुपुव्विगंठिया वा अणंतरगंठिया परंपरगंठिया अण्णमण्णगंठिया अण्णमण्णगुरूयत्ताए अण्णमण्णभारियत्ताए अण्णमण्णगुरूयसंभारियत्ताए अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठंति।

(जालगंठिय त्ति) जालं मत्स्यबन्धनं तस्येव ग्रन्थयो यस्यां सा जालग्रन्थिका। किं स्वरूपा सा? इत्याह – (आणुपुव्विगंठिय त्ति) आनुपूर्व्या परिपाट्या ग्रथिता गुम्फिता आद्युचितग्रन्थीनामादौ विधानादन्तोचितानां च क्रमेणान्त एव करणात्, एतदेव प्रपञ्चयन्नाह – (अणंतरगंठिय त्ति) प्रथमग्रन्थीनामनन्तरव्यवस्थापितैर्ग्रन्थिभिः सह ग्रथिता अनन्तरग्रथिता एवं परम्परैर्व्यवहितैः सह ग्रथिता परम्परग्रथिता किं मुक्तं भवति – (अन्नमन्नगंठिय त्ति) अन्योऽन्यं परस्परेण एकेन ग्रन्थिना सहान्यो ग्रन्थिरन्येन सहान्य इत्येवं ग्रथिता अन्योऽन्यं ग्रथिता एवं च – (अन्नमन्नगुरूयत्ताए त्ति) अन्योन्येन ग्रन्थनात् गुरूकता विस्तीर्णता अन्योऽन्यगुरूकता तया (अन्नमभारियत्ताए त्ति) अन्योऽन्यस्य यो भारः स विद्यते यत्र तदन्योऽन्यभारिकं तद्भावस्तत्ता तथा एतस्यैव प्रत्येकौ

क्तार्थद्वयस्य संयोजनेन तयोरेव प्रकर्थमभिधातुमाह – (अन्नमन्न-गुरूयसंभारियत्ताए त्ति) अन्योऽन्येन गुरूकं यत्संभारिकं च तत्तथा तद्भावस्तत्ता तया – (अन्नमन्नघडत्ताए त्ति) अन्योऽन्यं घटा समुदायरचना यत्र तदन्योऽन्यघटं तद्भावस्तत्ता तया – (चिट्ठइ त्ति) आस्ते, इति। भ० ५ श० ३ उ०।

जालघरग न०(जालगृहक) जालकान्विते गृहे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०। जालगृहकाणि गवाक्षयुतानि गृहकाणि। रा०। जी०। दार्वादिमय-जालकप्रायकुडयं यत्रा मध्यव्यवस्थितं वस्तु बहिः– स्थितैर्न दृश्यते। ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। औ०।

जालपंजर न० (जालपञ्जर) गवाक्षे, जालपञ्जरणि गवाक्षापर पर्यायाणि। जी० ३ प्रति०। रा०। जं०।

जालपगट पुं० (जालप्रकट) ज्वालासमूहे, कल्प० ३ क्षण।

जालविंद न० (जालवृन्द) गवाक्षसमूहे, जी० ३ प्रति०।

जाला स्त्री० (ज्वाला) बादरतेजस्कायभेदे, प्रज्ञा० १ पद। ''जालाए त्ति वा'' ज्वाला अनलसंबद्धेति। जी० ३ प्रति०। ''जाला तु रंधनठिन्ना।'' ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। ज्वाला अनलसंबद्धा दीपशिखेत्यन्ये। जी० १ प्रति०। ज्वालानाम् अनलसंबद्ध-स्वरूपाणाम्। भ० १४ श० ७ उ०। ज्वालाग्निशिखा छिन्नमूला। स्था० ५ ठा० ३ उ०। ज्वालाछिन्नमूलानङ्गार प्रतिबद्धेति। आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। ज्वाला छिन्नमूला ज्वलनशिखैव। उत्त० ३६ अ०। हस्तिनापुरवास्तव्यस्य पद्मोत्तर नृपतेर्भार्यायाम्, ''हत्थिणाउरे तत्थ य पउमुत्तरो राया जाला तस्स देवी''ती० २१ कल्प। महापद्मचक्रवर्तिनो मातरि, स०। आव०। चन्द्रप्रभजिनस्य शासनदेवतायाम्, ''अच्चुयसंता जाला'' (३३७) तस्याः वर्णको यथा–श्रीचन्द्रप्रभस्य ज्वाला। मतान्तरेण भृकुटिदेवी पीतवर्णा वरालकाख्यजीवविशेषवाहना चतुर्भुजा खड्गमुद्गरभूषित-दक्षिणकरद्वया फलकपरशुयुतवामपाणिद्वया च। प्रव० २७ द्वार।

जालाउ पुं० (जालायुष्) द्वीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद। जी०।

जालाउय पुं० (जालायुष्क) 'जालाउ' शब्दार्थे, प्रज्ञा० १ पद।

जालामालिणी स्त्री० (ज्वालामालिनी) प्रभासस्थायां देवतायाम्, ती० ४५ कल्प०।

जालावंत त्रि० (ज्वालयत्) दीपयति, भक्ता० ७ अ०।

जालि पुं० (जालि) अनुत्तरोपपातिकदशाप्रथमवर्गाद्याध्ययन प्रतिबद्ध-वक्तव्यताकेऽनगारे, (अणु०)

तद्वक्तव्यता –

पढमस्स णं भंते। अज्झयणस्स अणुत्तरोववाइयस्स समणेणं० जाव० संपत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते?। एवं खलु जम्बू! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे रिद्धत्थमिय-समद्धिगुणसीले चेइए सेणिए राया धारिणी देवी सीहो सुमिणो 'जालिकुमारे' जहा मेहो अट्ठट्ठ तु दातो० माव उप्पिं पासाए फुटति० जाव विहरति। सामी समोसढे सेणिओ णिग्गओ जालि जहा मेहे तहा जालविनिग्गतो तहेव निक्खंतो जहा मेहो एक्कारस अंगोई अहिज्जति अहिज्जतित्ता गुणरयणतवोकम्मं जहा खंदयस्स एवं० जाव खंदयस्स वत्तवया सो चेव वायणा आपुच्छति थेरेहिं सद्धिं विपुले तहेव दुरूहति, नवरं सोलम वासाइं सामाणि--परियागं पाउणित्ता काले मासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिमसोहम्मीसाण० जाव अरणअच्चुए कप्पे नवयगेविज्जुयविमाणे पत्थडे उड्ढं दुरवीति चउवत्ता विजए विमाणे देवत्ताए उववण्णे तेणं थेरे भगवओ जालि अणगारे कालगयं जाणित्ता परिनिव्वाणवत्तियं काउस्सग्गं करेंति करेंतित्ता पत्तचीवराइ गिण्हंति। तहेव उत्तरंति० जाव इमीसे आयरे भंडए भंते! भगवं गोयमे! जाव एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी जालिनामं अणगारं पगतिभद्दए सेणीआ जालिअण गारे कालगए कहिं उववण्णे एवं खलु गोयमा! मम अंतेवासी तहेव० जाव खंदयस्स कालगए उड्ढं चंदिम० जाव विजयविमाणे देवत्ताए उववण्णे जालिसमणं भंते! देवस्स केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता? गोयमा! वत्तीसं सागरोवमा य ठित्ती पण्णत्ता। से णं भंते! ततो देवलोगातो आउक्खएणं कहिं गच्छहिति गच्छहित्ता? गोयमा! महा विदेहे वासे सिज्झिहि त्ति। एवं खलु जंबू! समणेणं० जाव संपत्तेणं अणुत्तरोववाइय-दसाणं पढमस्स वग्गस्स पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। अणु० १ वर्ग।

अन्तकृद्दशाप्रथमवर्गाद्याध्ययनप्रतिबद्धवक्तव्यतावोऽनगादे च।

तद्वक्तव्यता –

पढमस्स णं भंते! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते? एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समणेणं वारवती नयरी तीसे जहा पढमे० जाव कण्हे वासुदेवे आहेवच्च० जाव विहरति। तत्थ णं वारवतीए णयरीए वासुदेवो राया, धारणा देवी, वण्णओ जहा गोयमो णवरं जालिकुमारे पणासतो दातो वारसंगी सोलस-वासपरियाओ सेसं जहा गोयरस० जाव सेत्तुंजे सिद्धो। अन्त० ४ वर्ग।

जालिय त्रि० (ज्वालित) दीपिते, आ० म० द्वि० जी०।

जालिया स्त्री० (जालिका) वृन्ते, एकार्थिकानधिकृत्य (अन्त० ४ वर्ग०) जालकं, जालिका, वृन्तम्, इति। विशे०। लोह कञ्चुके च। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

जालुज्जल त्रि० (ज्वालोज्ज्वल) प्रभोज्ज्वले, औ०।

जालुज्जलपहसियाभिराम त्रि० (ज्वालोज्ज्वलप्रहसिताभिराम) ज्वाला एव यत् उज्ज्वलं प्रहसितमिव प्रहसितं तेनाऽभिरामो ज्वालोज्ज्वल-प्रहसिताऽभिरामः। ज्वालात्मकोज्ज्वलप्रहसितेना ऽभिरमणीये, जी० ३ प्रति०।

जाव त्रि० (यावत्) यत्परिमाणस्य मतुप्। **''अन्त्यव्यञ्जनस्य''** ।८।१।११। इति प्राकृतसूत्रेण तज्लोपः। प्रा० १ पाद। यत्परिमाणे –

साकल्ये, व्याप्तौ, वाच०। परिमाणे, मर्यादायाम्, अवधारणे च। अल्प०। अव्य०। आ० चू०। उत्त०। (अत्र विशेषो 'जावजीवा' शब्दे द्रष्टव्यः)

जावइय त्रि० (यावत्क) यत्परिमाणे, पो० ७ विव०। ''अहवा जो जस्स जावइओ''। (जावइओ त्ति) यत्परिणामो यावान् स एव यावत्को मुहूर्तादिपरिणामः स तस्य तावत्कः पूजाकालो भवति। पञ्चा० ४ विव०।

जावई स्त्री० (यावती) गुच्छात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

जावं च णं अव्य० (यावच्च णम्) यावति काले, ''जावंचणं ति'' यावन्तं कालमित्यर्थः। भ० १ श० ८ उ०।

जावंत पुं० (यावत्) भगवत्याः प्रथमशतकस्य षष्ठे उद्देशे, ''जावंते त्ति'' यावच्छब्दोपलक्षितः षष्ठः, यावतो भदन्ताव काशान्तरासूर्य इत्यादिसूत्राश्चासौ। भ० १ श० १ उ०।

जावग पुं० (यापक) हेतुनेदे, (स्था०) यापयति वादिनः कालयापनां करोति। यथा काचिदसती एकैकरूपकैकेणैकैकमुष्टा लिण्डं दातव्यमिति दत्तशिक्षस्य पत्युस्त द्विक्रयार्थमुज्जयिनी प्रेषणोपायेन विट् सेवायां कालयापनां कृतवतीति यापकः। उक्तं च – ''उब्भामिया य महिला जावगहेउम्मि उट्ठलिंडाइं'' हृत। इह वृद्धैव्याख्यातम् – प्रतिवादिनं ज्ञात्वा तथा विशेषणबहुलो हेतुः कर्तव्यो यथा कालयापना भवति। ततोऽसौ नागच्छति प्रकृतमिति स चेहराः संभाव्यते, सचेतना वायवोऽपरप्रेरणे सति तिर्यगनियतत्वाभ्यां गतिमत्वात् गोशरीरवदिति। अयं हिं हेतु विशेषण बहुलतया परस्य दुर धिगमत्वात् वादिनः कालयापनां करोति। स्वरूपम-स्यानबबुध्यमानो हि परो न झटित्येवानैकान्ति कत्वादिददूषणोङ्गावनाय प्रवर्तितुं शक्तोत्यतो भवत्यस्माद्वादि नः कालयापनेति। अथ वा – योऽतीतिव्याप्तिकतया व्याप्तिसाधकप्रमाणान्तरसव्यपेक्षत्वान्न झटित्येव साध्ये प्रतीतिं करोति, अपि तु कालक्षेपेणेत्यसौ साध्यप्रतीतिं प्रति कालयापनाकारित्वात् यापकः, यथा क्षणिकं वस्त्विति पक्षे बौद्धस्य सत्वादिति हेतुने हि सत्वश्रवणादेव क्षणिकत्वं प्रत्येति परः, इत्यतो बौद्धाः सत्वं क्षणिकत्वेन व्याप्त मिति प्रसाधयितुमुपक्रमन्ते। तथा हिं – सत्वं नाम अर्थक्रियाकारित्वमेव, अन्यथा–वन्ध्यासुतस्यापि सत्वप्रसङ्ग अर्थक्रिया तु नित्यस्यैक रूपत्वात्, न क्रमेण नापि यौगपद्येन क्षणान्तरे अकर्तृत्वप्रसङ्गात्। इत्यतोऽर्थक्रियालक्षणं सत्वमक्षणिकान्निवर्तमानं क्षणिक एवावतिष्ठत इत्येवं क्षेपेण साध्य साधने कालयापनाकारित्वाद् यापकः सत्वलक्षणो हेतुरिति। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

जावंताव अव्य०(यावत्तावत्) यावच्च तावच्च, द्वं०। बीजगणितप्रसिद्धे अव्यक्तमानानयनाय कल्प्ये प्रथमे राशौ, वाच०। स्था०। ''जावंताव त्ति वा गुणकारो त्ति वा एगट्ठ'' इति वचनात्। गुणकारस्तेन यत्संख्यानं तत्तथैवोच्यते तच्च प्रत्युत्पन्नामिति लोकरूढम्। अथवा –यावतः कुतोऽपि तावत एव गुणकारादृष्टिकादित्यर्थः। यत्रं विवक्षितं संकलनादिक-मानीयते तत् यावत्तावत्संख्यानमिति। संख्यानभेदे, स्था० १० ठा०। गणितभेदे, सूत्रा० २ श्रु० १ अ०।

तत्रोदाहरणम् –

''गच्छो वाञ्छाभ्यस्तो, वाञ्छ्युतो गच्छसंगुणः कार्यः।
द्विगुणीकृतवाच्छहते, वदन्ति संकलितमाचार्याः॥१॥''

अत्र किल गच्छो दश १० ते च वाञ्छया यादृच्छिकगुणका रेणाष्टकेनाभ्यस्ता जाताऽशीतिः ८० ततो वाञ्छायुतास्ते अष्टाशीतिः ८८ पुनर्गच्छन दशभिः संगुणिता अष्टौ शतान्यशीतत्वधिकानि जातानि, ८८० ततो द्विगुणीकृतेन यादृच्छिकगुणकारेण षोडशभिर्भागे दृते तद्दशानां संकलितमिति ५५। इदं च पाटीगणितं श्रूयते। स्था० १० ठा०।

जावजीव अव्य० (यावज्जीव) यावदिति अयं शब्दोऽवधारणे वर्तते। (आ०म०) जीवनं जीवः, इति क्रियाशब्दः। आ०म०द्वि०। यावज्जीवो जीवनं प्राणधारणं यावज्जीवम्। ''यावदवधारणे'' ॥२।१।८॥ इति (पाणि०) अव्ययीभावसमासः। आ०म०द्वि०। पा०। यावत् प्राणधारणमित्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ०। दर्श०। पं०स०। ''जावजीवं परिसहा उवसग्गा य संखया''। ''यावज्जीवं'' यावत् प्राणधारणम्। आचा० १ श्रु० ६ म० ८ उ०। आजन्मेत्यर्थे च। ''जावजीवदुद्धराइं''। आजन्माप्यनुद्धारणीयानि। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। ''जावजीवं पि इमं, वज्जइ एयम्मि लोयम्मि (२२)'' यावज्जीवम् आजन्म। पञ्चा० १० विव०। ''जावजीवं वंधणाय करिंति''। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

जावजीवा स्त्री० यावज्जीव – अव्य०। (जावजीवाए त्ति) प्राकृतत्वात्। जीवनं जीवः प्राणधारणं यावज्जीवो यावज्जीवनं यावदित्यनेनाऽव्ययीभाव-समासः। ततश्च यावज्जीवम् प्राणधारणं यावत् इत्यर्थ, पा०। ''जावजीवाए अणिस्सिओ'' यावज्जीवं प्राणधारणं यावतु। पा०। आ०म०। ''करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावजीवाए'' यावच्छब्दः परिमाणमर्यादावधारणवचनः। तत्र परिमाणे– यावन्मम जीवनपरिमाणं तावत्प्रत्याख्यामिति। मर्यादायाम्– यावज्जीवनमिति प्राणधारणं मर्यादीकृत्य , अवधारणे यावज्जीवनमेव प्रत्याख्यामिः, न तस्मात् परत इत्यर्थः। जीवनं जीवेत्ययं क्रियाशब्दः परिगृह्यते तया। अथवा प्रत्याख्यानक्रिया परिगृहते यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवा। आ० म० द्वि०।

यावच्छब्दार्थमाह –

जावदयं परिमाणे, मज्जायाए ऽवधारणे चेइ।
तावज्जीवं जीवण–परिमाणं जत्तियम्मि त्ति ॥३५१६॥
जावज्जीवमिहाऽऽरेण, मरणमज्जायओ न उ परओ ॥३५१७॥

इह 'यावत्' अयं शब्दस्त्रिष्वर्थेषु वर्तते, तद्यथा–परिमाणे, मर्यादायाम्, अवधारणे च इति। तत्र परिमाणार्थं तावदाह – (जावज्जीवमिति) किमुक्तं भवति?। यावन्मे जीवनपरिमाणमिह भवायुष्कस्य परिमाणं तावन्तं कालं प्रत्याचक्षे इति। मर्यादार्थ-माह – ''जावज्जीवं'' इत्यादि। अत्र यावज्जीवमिति। किमुक्तं भवति?– आरेण मरणमर्यादायाः अर्वाक् प्रत्याचक्षे, न पुनस्तत्कालं प्रत्याख्यानग्रहणकाल एव, किं तु मरणसीमा यावत्प्रत्या-ख्यामीति। अवधारणेऽपि – यावद् इहभवे जीवनं तावदेव प्रत्याचक्षे, न तु परतो, देवाद्यवस्थायामविरतत्वे प्रत्याख्यानभङ्ग-प्रसङ्गात्। परतो मुत्कलमिति। विधिरपि न कर्तव्यो, भोगार्शसादोषानुष-ङ्गादिति स्वयमेव द्रष्टव्यमिति।३५१६।३५१७।

अत्राक्षेपपरिहारावाह –

जावज्जीवं पत्ते, जावज्जीवाए लिंगवच्चासो।
भावप्पच्चयओ वा, जा जावज्जीवया ताए ॥३५१८॥

ननु उक्तन्यायेन यावज्जीवमिति निर्देशे प्राप्ते यावज्जीवया इति निर्देशः किमर्थं भगवता सूत्रकृता विहित? इति शेषः। अत्र परिहारमाह – (लिंगवचातो त्ति) लिङ्गव्यत्ययोऽत्र भगवतोऽभिवतः, तेनेत्थं निर्देशः कृत इत्यर्थः। अथवा–यावज्जीवशब्दात् भावप्रत्ययः उत्पाद्यते, ततश्चेत्थं भावप्रत्यये उत्पादिते या यावज्जीवता इति निष्पद्यते, तया यावज्जीवतया प्रत्याख्यामीति संबध्यत इति ॥३५१८॥

नन्वित्थमपि ''यावज्जीवतया'' इति प्राप्ते यावज्जीवया इति कथं भवतीत्याह –

जावज्जीवतया इति, जावज्जीवाए वण्णलोवाओ।
जावज्जीवो जीसे, जावज्जीवाहवा सा उ ॥३५१९॥

यावज्जीवतयेति निर्देशे प्राप्ते यत् यावज्जीवया इत्युक्तं तत् तकारलक्षण-वर्णलोपादिति द्रष्टव्यम्। तृतीयं परिहारमाह अथवा–जीवनं जीवो यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवा इति बहुव्रीहिस्तया 'यावज्जीवया' इत्येवं द्रष्टव्यमिति ॥३५१९॥

अत्र विनेयपृच्छाम् उत्तरं चाह –

का पुण सा संवज्झइ, पच्चक्खाणकिरिया तया सव्वं।
जावज्जीवाए ऽहं, पच्चक्खामिति सावज्जं ॥३५२०॥

का पुनः पूर्वोक्तबहुव्रीहावन्यपदार्थे संबध्यत? इत्याह – प्रत्याख्यान-क्रियात, तया यावज्जीवया प्रत्याख्यानक्रियया सर्वं सावद्ययोगमहं 'प्रत्याख्यामि' इति संबन्ध इति ॥३५२०॥

परिहारान्तरमाह –

जीवणमहवा जीवा, जावज्जीवा पुरा व सा नेया।
तीए पाययवयणे, जावज्जीवाइ तइएयं ॥३५२१॥

अथवा जीवनं जीवा इति स्त्रीलिङ्गऽभिधायक एवायं शब्दः साध्यते, न तु जीव इति पुँल्लिङ्गाऽभिधायकः। ततश्च यथा पुरापूर्वं तथा अत्राप्यर्थ-त्रयवृत्तिना यावच्छब्देन सह समासे सा यावज्जीवा ज्ञेयाः, तद्यथा– यावत्परिमाणा जीवा यावज्जीवा एवं मर्यादावधारणयोरपि समासः कार्यः, तया यावज्जीवया प्रत्याख्यामिः, प्राकृतवचने न पर्यन्ते एकारनिर्देशने तृतीययमवसेयेति ॥३५२१॥ विशे०।

***यावज्जीवता** स्त्री०। यावज्जीवो जीवनं प्राणधारणं यावज्जीवम् ''यावदव-धारणे'' ॥२।१।८॥ इत्यव्ययीभावसमासः। यावज्जीवं भावो यावज्जीवता प्राकृतेऽन्यतकारस्यालाक्षणिको लोप इति ''जावजीवाए'' इति सिद्धम्। आ० म० द्वि०। अलाक्षणिक-वर्णलोपात्। यावज्जीवं भावो यावज्जीवता। आप्राणोपरमादित्यर्थ, पा०।

***यावज्जीवा** स्त्री०। यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवा, जीवित परिमाणवत्यां प्रत्याख्यानादिक्रियायाम्, (आ०म०)

अधुना यावज्जीवयेति व्याख्यायते तत्रादौ भावार्थमभिधित्सुराह –

जावदवधारणम्मी, जीवणमवि पाणधारणे भणियं।
आपाणधारणातो, पावनिवित्ती इहं अत्थे ॥

यावदित्ययं शब्दोऽवधारणे वर्तते। जीवनमपि प्राणधारणं भणितम्। 'जीव' प्राणधारणे इति वचनात्। ततो यावज्जीवया प्रत्याख्यामीति कोऽर्थः आप्राणधारणं यावत् पापनिवृत्तिरिति, परतस्तु न विधिर्नापि प्रतिवेधः। विधावाशंसादोषप्रसङ्गात्। प्रति षेधे तु सुरादिषूत्पन्नस्य भङ्गप्रसङ्गात्। इह जीवनं जीव इति क्रियाशब्दो न जीवतीति जीव आत्मपदार्थः। जीवनं च प्राणधारणम्। आ० म० प्र०। ''जावजीवाए जाव से अट्ठी''। यावज्जीवया यावज्जीवतया वा, आजन्मेत्यर्थः प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार। जीवनं जीवा यावत्परिमाणा जीवा जावज्जीवा। परिमाणवति मर्यादावति अवधारणवति च जीविते, विशे०।

जावज्जीवा स्त्री०(*यावज्जीवा*) 'जावजीवा' शब्दार्थे, विशे०।

जावमि पुं० (जावमि) मधुमतीनगरवास्तव्ये स्वनाम्ख्याते श्रेष्ठिनि, (ती०)

''मधुमत्यां पुरि श्रेष्ठि, वास्तव्यो जावडिः पुरा।
अष्टोत्तरे वर्षशते–ऽतीते श्रीविक्रमादिह ॥१॥
बहुद्रव्यव्ययाद्बिम्बं, जावडिः स न्यवीविशत्। ती० १ कल्प। (तत्कथा 'सेतुंजय' शब्द)

जावसिय पुं०(जावसिक) जवसं मुद्गभाषादिद्रव्यं तेन चरन्तीति जावसिकाः। बृ० १ उ०। यासवाहिके, ओघ०।

जास पुं० (जाष) पिशाचभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

***यास** पुं०। यस–कर्तरिसंज्ञायां घञ्। दुरालभायाम्, प्रयासे, वाच०।

जासुमण पुं०, न०(जपासुमनस्) जपा वनस्पतिविशेषः तस्याः सुमनसः पुष्पाणि। जपापुष्पे, अन्त० ४ वर्ग। ''जासुमण कुसुमेइ वा'' प्रज्ञा० १७ पद। (जासुमणकुसुमरासिंति) जपा कुसुमपुष्पस्य ज' इति लाक्प्रसि-द्धस्य यो राशिः। कल्प० ३ क्षण। वृक्षविशेषे च। जपासुमन्सश्च वृक्षविशेषः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जाहग पुं० (जाहक) सेहके, आ० म० प्र०। तिर्यगविशेषे, आ० म० प्र०। नं०। ''स्तोकं स्तोकं पयः पीत्वा, जाहको लेडिपार्श्वतः''। आ० क०।

जाहत्थ न०(याथार्थ्य) यथार्थस्य भावः। सत्यत्वे, वास्तविकत्वे, वाच०। भा० म०।

जाहे अव्य०(यदा) यद्–दाच्। यस्मिनकाले इत्यर्थे, ''जाहे णं सक्के देविंदे देवे राया'' (जाहेणं ति) यदा। भ० १ श० ६ उ०।

जि अव्य० (एव) **''पश्चादेवमेवैवेदानीं प्रत्युतेतसः पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चलिउ एत्तहे'' ॥८।४।४२०॥** इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे एवस्य जिः। प्रा० ४ पाद। इण्–वन्। सादृश्ये, अनियोगे अवधारणे, चारनियोगे, विनिग्रहे, परिभवे, ईषदर्थे च। विशेष्यसंगतः अन्ययोगव्य-वच्छेदे, विशेषणसंगतः अयोगव्य वच्छेदे, वाच०।

***जि** धा०। अभिभवे, भ्वादि–अनिट्। जयति। अजैषित्। वाच०।

जिइंदिय पुं० (जितेन्द्रिय) इन्द्रियविकाराभावात्। भ० २ श० १ उ०। जितानि स्वविषयप्रवृत्तिनिषेधेन इन्द्रियाणि येन स जितेन्द्रियः। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। जितानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि स्पर्शनादीन्यनेनेति जितेन्द्रियः। उत्त० १२ अ०। जिताः स्वरूपोपयोगीकृताः। अष्ट० ३ अष्ट०। वश्येन्द्रिय सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। ''जिइंदिओ वज्झू'' आ० म० प्र०। वशी –

कृतस्पशनादीन्द्रियकलापः। दश० २ चू०। विषयेषु रागादिनिरोद्धा। ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०। ''आयगुत्ता जिइंदिया'' जितानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि यैस्ते तथा। एवं भूताः पापकर्म नाऽनुजानन्ति इति। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। ''धितिमंता जिइंदिया''। जितानि वशीकृतानि स्वविषयरागद्वेष विजयंनेन्द्रियाणि यैस्ते जितेन्द्रियाः। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। जितेन्द्रियाः शब्दादिषु रागद्वेषरहिताः। दश० ३ अ०। औ०।

जिइंदियकसाय त्रि०(जितेन्द्रियकषाय) न्यत्कृतकरण कोपादिभावे, ''णियदडधम्मा जिइंदियकसाया'' पञ्चा० १४ विव०।

जिन्घ (जिघ्र) – धा० (जिघ्र) जा–गन्धग्रहणे, भ्वा० पर० अक्ष०। ग्रहणभावे, सक० अनिट्। जिघ्रति। अघ्रात्। अघ्रासीत्। वाच०। ''जिग्घइ'' नि० चू० १ उ०।

***जाण** न०। व्रायतेऽनेनेति। व्रा–ल्युट। नासिकायाम्, गन्धग्रहणे, वाच०। नि०चू०। ('गंध' शब्देऽत्रैव भागे ७६५ पृष्ठे विशेषः)

जिंडहगेड्डिआइरमण न० (जिण्डइगिड्डिक्कादिरमण) कन्दुकगिड्डिकादिभिः क्रीडने, प्रव० ३८ द्वार। ''जिंडहगेड्डिआइरमणं'' जिनभवनस्य चतुरशीत्याशातनासु त्रिषष्टितम आशातनाभेदे, ध० २ अधि०।

जिगीसु पुं० (जिगीसु) जि–सन्। जयेच्छावति, रत्ना० ८ परि०।

जिट्ठ त्रि० (ज्येष्ठ) वृद्ध–इष्टन् ज्यादेशः। अतिबुद्धे, श्रेष्ठे च। अग्रजे, पुं०। (ध०)

''उचिअं एअं पि सहो–अरम्मि जं निअइ अप्पसममेअं।
जिट्ठं व कणिट्ठं पि हु, बहु मन्नइ सव्वकज्जेसु ॥८॥''

(निअइ त्ति) पश्यति (जिठं व त्ति) ज्येष्ठो भ्राता पितृतुल्य स्तमिव तथा। ध० २ अधि०।

जत्थ य जिट्ठकणिट्ठो, जाणिज्जइ जिट्ठवयणबहुमाणो।
दिवसेण वि जो जिट्ठो, न य हीलिज्जइ स गोयमा! गच्छो ।६०।

यत्र च गणे ज्येष्ठः कनिष्ठश्च ज्ञायते। तत्र ज्येष्ठः पर्यायेण वृद्धः कनिष्ठः पर्यायेण लघुः तथा यत्र ज्येष्ठस्य वचनमादेशाज्ञयेष्ठवचनं तस्य बहुमानः सन्मानः ज्ञायते। ''जिट्ठ विणयवहुमाणे त्ति'' पाठे तु ज्येष्ठस्य विनयबहुमानो ज्ञायेते। तथा–यत्र च दिवसेनापि यो ज्येष्ठः स न हील्यते चकारात् यत्र पर्यायेण लंघुरपि गुणवृद्धो न हील्यते सिंहगिरिशिष्यैर्वज्र शिशुरिव। हे गौतम! स गच्छो ज्ञेय इति। गीतिछन्दः।६०। ग० २ अधि०।

***जेष्ठ** पुं०। ज्येष्ठानक्षत्रोण युक्ता पौर्णमासी ज्येष्ठी साऽस्मिन् मासे अण्। स्वनामख्याते चान्द्रे मासे, वाच०।

जिट्ठकप्प न० (ज्येष्ठकल्प) ज्येष्ठो रत्नाधिकः स एव कल्पो वृद्धलघुत्वव्यवहारो ज्येष्ठकल्पः। कल्पभेदे, (कल्प०) तत्र आद्यान्तिमजिनयतीनामुपस्थापनातः प्रारभ्य दीक्षापर्यायगणना, मध्यमजिनयतीनां च निरतिचारचारित्रात्वात् दीक्षादिनात् एव, अथ पिता पुत्रामाता दुहितृराजमात्यश्रेष्ठवणिक पुत्रादीनां सार्द्धं गृहीतदीक्षाणामुपस्थापने को विधिः? उच्यते–यदि पित्रादयः पुत्रादयश्च समकमेव षट्जीवनिकायाध्ययनयोगोद् वहनादिभिर्योग्यतां प्राप्तस्तदा अनुक्रमेणैवोपस्थापना, अथ स्तोकमन्तरं तदा कियद् चिलम्बेनापि पित्रादीनामेव प्रथममुप स्थापना, अन्यथा पुत्रादीनां बृहत्वेन पित्रादीनामप्रीतिः स्यात्। अथ पुत्रादीनां सप्रज्ञत्वेन अन्येषां निष्प्रज्ञत्वेन महदन्तरं तदा पित्रादिरेवं प्रतिबोध्यः। भो अहाभाग! सप्रज्ञोऽपि तव पुत्रः अन्येभ्यो बहुभ्यो लघुर्भविष्यति तव पुत्रो च ज्येष्ठे तवैव गौरतम्, एवं प्रज्ञापितः। स यदि अनुमन्यते, तदा पुत्रादिः प्रथमम् उपस्थापनीयः, नान्यथा, इति कल्प० १ क्षण।

जिट्ठभूइ पुं० (ज्येष्ठभूति) काश्यपमोत्रोत्पन्ने स्वनामख्याते अमणे, ''चउइसवरिमसतेहिं, वोच्छेदो जिट्ठमूइसमणम्मि। कासवगोशे णेओ, कप्पव्ववहारसुत्तस्स ॥१॥'' ती० १७ कल्प०।

जिट्ठयर त्रि० (ज्येष्ठतर) अतिश्रेष्ठे, प्रा० २ पाद।

जिट्ठा स्त्री० (ज्येष्ठा) ज्येष्ठभगिन्यास, वयोज्येष्ठायाम्, ज्येष्ठस्य पत्न्याम्, गङ्गायाम्, अलक्ष्यायाम्, अश्विन्यबधिके अष्टादशे नक्षत्रे च। वाच०। जं०।

जिण पुं० (जिन) जयति निराकरेति रागद्वेषादिरूपानराती नितिजिनः। स० १ सम०। औणादिको नक् प्रत्ययः। वं०। जयति रागद्वेषमोहरूपानन्तरङ्गान् रिपूनिति जिनः। ध० २ अधि०। रागद्वेष कषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाष्टप्रकाराकर्मजेतृत्वात् जिनः। आ० म० प्र०। दश०। औ०। स्या०। पं०सं०। कर्म०। दर्श०। केवलिनि, विशे०। जिनाः सामान्यकेवलिनः। प्रज्ञा० १ पद। रागद्वेषादिशत्रु जेतारो जिना भवस्थकेवलिनः। पा०। चतुर्दशपूर्विणि, जिनाश्च केवलिनः चतुर्दशपूर्विणश्च। उत्त० ५ म०। गच्छतिर्यगसाधुविशेषे च। स्था० ३ ठा०। ऋषभादिके चतुर्विंशतिसंख्याके तीर्थकरे च। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। जिनकल्पिके च। ''अक्खोब्भो होइ जिण चिण्णो'' जिनाः श्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानवन्तो जिनकल्पिकाश्च, तैइचीर्णः आचरितो जिनचीर्णः। पञ्चा० ४ विव०। ''जिनवरवसहस्स वद्धमाणस्स''। रागादिजयाज्जिनाः अवधिमनःपर्यवोपशान्तमोहाः क्षीणमोहाः तेषां मध्ये वराः प्रधानाः सामान्यकेवलिनः संथा०। ''जिणाणं जावयाणं'' रागद्वेषकषायेन्द्रियपरिषहोपसर्गघातिकर्मशत्रून जितवन्तो जिनाः। जी० ३ प्रति०। कल्प०। ''अरिहा जिणे केवली'' जिनो रागादिजेतृत्वात्। उपा० ७ अ०। अर्हन्, जिनः, केवली, इत्येकार्थ शब्दत्रयं चतुर्थस्नातकभेदार्थाऽभिधायकम्। भ० २५ श० ६ उ०। आव०। ''अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं'' (८) जिनानामृषभादि तीर्थकृताम्। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। ''जिणदिट्ठे णं।'' तीर्थकराभिमतेन। अनु०। ''लोगस्सुज्जोयगर, धम्मितित्थयरे जिणे। अरहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ॥१॥'' रागद्वेष कषायोन्द्रियपरीषहोपसर्गाष्टप्रकारककर्मजेतृत्वाज्जिनास्तान्। आ० म० द्वि०। ''वावीसइं च निज्जिय परीसहकसायविग्घसंघाया। अजियाईया भविआ–रविंदरविणो जियंति जिणा ॥२॥'' ति०। ''उवसमेण हणे कोहं, भाणं महवया जिणे।'' सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। ''जियकोहमाणमाया, जिअलोहा ते जिणा हों ति।'' जितक्रोधमानमाया जितलोभा येन कारणेन भगवन्तस्तेन कारणेन ते जिनाः भवन्तीति। आ० म० द्वि०। न च रागादीनामसत्वं, प्रतिप्राणि अनुभवसिद्धत्वात्। न चानुभवोऽपि भ्रान्तः, सुखदुःखाद्यनुभवोष्वपि भ्रान्तिप्रसङ्गात्। एवं च जेयसंभवाज्जिनत्वमविरुद्धम्। ध० भ्रान्तिप्रसङ्गात्। एवं च जेयसंभवाज्जिननत्वमविरुद्धम्। ध० २ अधि०। ''जिणाणं जावयाणं'' जिनेभ्यो जापकेभ्यः। तत्रा रागद्वेषकषायेन्द्रियपरी महापसगंधातिकर्मजेतृत्वाज्जिनाः, न

खल्वेषामसतां जयः, असत्वादेव हि सकलव्यवहारगो चरातीतत्वेन जयविषयतायोग्यत्वात्। भ्रान्तिमात्रकल्पनाऽप्येषाम् सङ्गतैष निमित्तमन्तरेण भ्रान्तेरयागात्, चासदेव निमित्तमतिप्रसङ्गात्, चितिमात्रादेव तु तदभ्युपगमेऽनुपरम इत्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः। तथापि तदसत्वे अनुभवबाधा, न हि मृगतृष्णिकादावपि जलाद्यनुभवः, आत्मनाऽप्यसन्नेव अविद्धङ्गनादिसिद्धमेतत्। न चायं पुरूषमात्रानिमित्तः सर्वत्र सदाभान्नेऽनुपपत्तेः, नेह मृगतृष्णि-कादावपि जलाद्यनुभवो चितिमात्रनिबन्धना रागादय इति भावनीयम्। एवं च तथा–भ्रमत्वादि-सामग्रीसमुदभूतचरण परिणामतो रागादि जेतृत्वादिना तात्विक-जिनादिसिद्धिः। ल०। ''भइं जिणस्स वीरस्स'' व्याक्याभद्रं जिनस्य वीरस्य। जयति रागादिशत्रुगणमिति जिनः। औणादिको नक् प्रत्ययः। तस्य भद्रं भवतु। अनेनापायातिशयमाह – 'अपायो विश्लेषः' तस्यातिशयः प्रकर्षभावोऽपायातिशयो रागादिभिस्सहात्यन्तिकां वियोग इत्यर्थः। ननु रागादिभिः सहात्यन्तिको वियोगोऽसंभवी प्रमाणवाधनात्, तच्च प्रमाणमिदम्– 'यदनादिमत् तद्विनाशमाविशति' यथा–आकाशम्, अनादिमन्तश्च रागादय इति। किञ्चरागादयो धर्मास्ते च धर्मिणो भिन्नाः अभिन्ना वा?। यदि भिन्नाः तर्हि सर्वेषामविशेषेण वीतरागत्वप्रसङ्ग, रागेभ्यो भिन्नत्वात् विवक्षित पुरूषवत्। अथ अभिन्नास्तर्हि तत्क्षये धर्मिणोऽप्यात्मनः क्षयः। तदभिन्नत्वात् तत्स्वरूपवत्। कुतस्तस्य वीतरागत्वम्, तस्यैवा भावादित। अत्रोच्यते–इह यद्यपि रागादयो दोषा अनादि मन्तस्तथापि कस्यचित् स्त्रीशरीरादिषु यथावस्थितवस्तुतत्वा वगमेन तेषां रागादीनां प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो ....., ततः संभाव्यते विशिष्टकालाणिसामग्रीसङ्गावे भावनाकर्ष विशेषभावतो निर्मूलमपि क्षयः। अथ यद्यपि प्रतिपक्ष भावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृष्टः तथापि तेषामात्यन्तिकोऽपि क्षयः संभवतीति कथमवसेयम्?। उच्यते–अन्यत्र तथा प्रतिबन्धग्रहणात्। तथाहि–शीतस्पर्शसंपाद्या रोमहर्षादयः शीतप्रतिपक्षस्य बह्वग्निन्दतायां मन्दा उपलब्धाः, उत्कर्षे च निरन्वय विनाशधर्माणः। ततोऽन्यत्रापि बाधकस्य मन्दतायां बाध्यस्य मन्दतादर्शनाद्बाधकोत्कर्षः। अवश्यं बाध्यस्य निरन्वयो विनाशो वेदितव्यः। अन्यथा–बाधकमन्दतायां मन्दतापि न स्यात्। अथास्ति ज्ञानस्य ज्ञानावरणीयं कर्म बाधकं ज्ञानावरणीयकर्ममन्दतायां च ज्ञानस्यापि मनाक् मन्दता। अथ च –प्रबलज्ञानावरणीयकर्मो दयोक्त–वेऽपि ज्ञानस्य निरन्वयो विनाशः। एवं प्रतिपक्षभावेनोत्कर्षेऽपि न रागादीनामत्यन्तोच्छेदो भविष्यतीति। तदयुक्तमद्विविधं हि बाध्यम्–सहभूतस्यभावभूतम, सहकारिसंपाद्यस्वभावभूतं च। तत्र यत्सहभूतस्व-भावभूतं तच्च कदाचिदपि निरन्यविनाशमा विशति। ज्ञानं चात्मनः सहभूतस्वभावभूतम् आत्मा च परिणामी नित्यः, ततोऽत्यन्त-प्रकर्षवत्यपि ज्ञानावरणीयकर्मो द येन निरन्वयविनाशो ज्ञानस्य, रागादयस्तु लोभादिकर्मविपाको दयसंपादितसत्ताकाः ततः कर्मणो निर्मूलमपगमेतेऽपि निर्मूलम पगच्छन्ति, नन्वासतां कर्मसंपाद्या रागादयः। तथापिकर्मनिवृत्तौ ते निवर्तन्ते इति नावश्यं नियमो, न हि *दहननिवृत्तौ तत्कृता काष्ठेऽङ्गारता निवर्तते। तदसत्। यत इह किञ्चित् क्वचित् निवर्त्य विकारमापादयति। यथाऽग्निः सुवर्णे द्रवताम्, तथा हि–* अग्निनिवृत्तौ तत्कृता सुवर्णे द्रवता वियर्तते। किंञ्चित् पुनः क्वचिदनिवर्त्य विकारारम्भकम्। यथा–स एवाग्निः काष्ठेन खलु श्यामतामात्रमपि काष्ठे दहनकृतं तन्निवृत्तौ निवर्तते। कर्म चात्मनि निवर्त्य विकारारम्भकम्, यदि पुनरानवर्त्य विकारारम्भकं भवेत्तर्हि यदपि तदपि कर्मणा कृतं न कर्मनिवृत्तौ निवर्त त्। यथाऽग्निना श्यामतामात्रमपि काष्ठे कृतम्। अग्निनिवृत्तौ, ततश्च यदेकदा कर्मणापादितं मनुष्यत्वममरत्वं कृमिकीटत्वमज्ञत्वं शिरोवेदनादि तत्सर्वकालं तथैवावतिष्ठेत। न चैतत् दृश्यते। तस्मान्निवर्त्य-विकारारम्भकं कर्म, ततः कर्मनिवृत्तौ रागादीनामपि निवृत्तिः। अत्राहुर्वार्हस्पत्याः नैते रागादयो लोभादि कर्मविपाको दयनिबन्धनाः, किं तु कफादिप्रकृतिहेतुकाः। तथाहि– कफहेतुको रागः, पित्तहेतुको द्वेषः, वातहेतुकश्च मोक्षः। कफादयश्च सदैव संनिहिताः शरीरस्य तदात्मकत्वात् ततो न वीतरागत्वसंभवः। तदयुक्तम्। रागादीनां कफादि हेतुकत्वाद्ययोगात्। तथाहि – स तद्धेतुको योऽयं न व्यभिचरति, यथाधूमोऽग्निम। अन्यथा– प्रतिनियतकार्यकरणाभावव्यवस्थानुपपत्तेः। न च रागादयः कफादीन्न व्यभिचरन्ति, व्यभिचारदर्शनात्। तथाहि-वातप्रकृतेरपि दृश्यते रागद्वेषौ, कफप्रकृतेरपि द्वेषमोहौ, पित्तप्रकृतेरपि मोहरागौ। ततः कथं रागादयः कफादि हेतुकाः। अथ मन्येथाः–एकैकोऽपि प्रकृतिः सर्वे षामपि दोषाणां पृथक– पृथक जनिका तेनायमदोष इति। तदयुक्तम्–एवं सति सर्वेषामपि जन्तूनां समरागादिदोषाप्रसक्तेः अवश्यं हि प्राणि नामेकतमया कदाचित् प्रकृत्या भवितव्यम्। सा चाविशेषेण रागदिदोषेण रागदिदोषाणमुत्पादिकति, सर्वेषामपि समानरागादिताप्रसक्तिः। अथास्ति प्रतिप्राणी पृथक पृथगवान्तरः कफादीनां परिणतिविशेषः, तेन न सर्वेषां समरागाद्रिताप्रसङ्ग। तदपि न साधीयः। विकल्पयुगलानतिक्रनात्। तथाहि–सोऽप्यवान्तरः कफादिनां वीरणति विशेषः, सर्वेषामपि रागादीनामुत्पादकः, आहोस्विदेकतमस्यैव कस्यचित्। तत्र यद्याद्यः पक्षस्तर्हि–यावत् स परिणतिविशेषः तावदेककालं सर्वेषामपि रागादीनामुत्पादप्रसङ्ग न चैककालमुत्पाद्यमाना रागादयः संवेद्यन्ते क्रमेण तेषां वेदनान्न खलु रागाभ्यवसायकाले द्वेषाध्यवसायो मोहाभ्यवसायी वा संवेद्यते। अथ द्वितीयः पक्षं–तत्रापि यावत्स कफादिपरिणतिविशेष स्तावदेक एव कश्चिद्रागादिदोषः प्राप्नोति। अथ च – तदवस्थ एव कफदिपरिणतिविशेष सर्वेऽपि दोषाः क्रमेण परावृत्योपजाय माना उपलभ्यन्ते। अथादृश्यमान एव केवलकार्य-विशेषदर्शनो क्षीयमानसत्ताकस्तदा तदा तत्तद्रागादिदोषहेतुः कफादि परिणतिथिविशेषो जायते। तेन पूर्वोक्तदोषावकाशाः। ननु यदि स परिणतिविशेषः सर्वथाऽननुभूयमानस्वरूपोऽपि परिकल्प्यते, तर्हि कर्मव किं नाभ्युपगम्यते। एवं हि लोकशास्त्रमार्गोऽप्याराधितो भवति। अपि च – स कफादिपरिणतिविशेषः कुतः तदा तदा अन्यान्यरूपेणोपजायते इति वक्तव्यं देहादिति चेत्, ननु तदवस्थेऽपि देहे भवद्भिः कार्यविशेष-दर्शनातः तस्यान्यथाभवन मिष्यते। तत्कथम्? तद्देहनिमित्तं न हि यदविशेषेऽपि तद्विक्रियते स विकारस्तद्धेतुक इति वक्तुं शक्यम्। नाप्यन्यो हेतुरूपलभ्यते, तण्णात्तदप्यन्यथाभवनं कर्महेतुकसेष्ट-व्यम्। तथा च सतिकर्मैवे कमभ्युपगम्यताम् किमन्तर्गरूना?. *तद्धेतुतया कफादियरिणति विशेषाभ्युपगमेन, किं चाभ्यासजनित-* प्रसराः प्राया रागादयः। तथाहि–*यथा यथा* रागादयः सेव्यन्ते, तथा तथा अभिवृद्धिरेव, तेषामुपजायसे। न प्रहाणिः। तेन समानेऽपि कका

दिपरिणतिविशेषे तदवस्थेऽपि च देहे यस्येह जन्मनि परत्र वा यस्मिन् दोषोऽभ्यासः स तस्य प्राचुर्येण प्रवर्तते । शेषस्तु मन्दतया, ततोऽभ्याससंपाद्यकर्मोपचयहेतुका एव रागादयः, न कफादिहेतुकाः, इति प्रतिपत्तव्यम्। अन्यच्च–यदि कफहेतुको रागः स्यात् ततः कफवृद्धौ रागवृद्धिर्भवत्, पित्तप्रकर्षे तापप्रकर्षवत्। न च भवति, तदुत्कर्षोत्थ-पीडाबाधिततया द्वेषस्यैव दर्शनात्। अथ पक्षान्तरं गृहीथाः, यदुत न कफहेतुको रागः किं तु कफादिदोषसाम्यहेतुकः। तथाहि–कफादिदोषसाम्ये विरूद्धव्याध्यभावतो रागोद्भवो दृश्यते इति। तदपि न समाचीनं व्यभिचारदर्शनात्, न हि यावत्कफादिदोप सापसाम्यं तावत्सर्वदैव रागोद्भवोऽनुभूयते, दूंषाद्युद्भवस्यानुभवात्। न च यद्भावेऽपि यन्न भवति तत्तद्धतुकं स चेतसा वक्तुं शक्यम्। अपि य–एवम्भ्युपगमे ये विषमदोषाः ते रागिणो न प्राप्नुवन्ति। अथ च –तेऽपि रागिणो दृश्यन्ते। स्यादेतत् अलं वैस्तर्यात्। तत्वं निर्वच्मिशुक्रोपचयहेतुको रागो नान्यहेतुक इति। तदपि न युक्तमेवं ह्यत्यन्तस्त्री सेवापरतया शुक्रक्षयतः क्षरत्क्षतजानां रागिता न स्यात्। अथवैतेऽपि तस्यामवस्थायां निकामं रागिणो दृश्यन्ते। किं च–यदि शुक्रस्य रागहेतुता, तर्हि तस्य सर्वस्त्रीषु साधारणत्वात्। नैकस्त्रीनियतो रागः कस्यापि भवेत्, दृश्यते च कस्याप्येकस्त्रीनियतो रागः। अथोच्येत–रूपस्यापि कारणगत्वाद्रूपातिशयलुब्धः तत्यामेव रूपवत्यामभिरज्यते। न योषिदन्तरे। सूक्तं च – ''रूपातिशयपाशेन, वित्रशीकृतमानसाः। स्वां योषितं परित्यज्य, रमन्ते योषिदन्तरे ॥१॥'' तदपि न मनोरमम्। रूपरहितायामपि क्षापि रागदर्शनात्। अथ तत्रोपचारविशेषः समीचीनो भविष्यति, तेन तत्राभिरज्यते उपचारोऽपि च रागहेतुर्नरूपमेव केवलम्। तेनायमदोष इति। तदपि व्यभिचारि द्वयेनापि विमुक्तायां क्वचिद्रागदर्शनात् तस्मादभ्यासजनितो पचयपरिपाकं कर्मैव विचित्रास्वभावतया तदा तदा तत्तत्कारणापेक्षं तत्र तत्र रागादिहेतुरिति। कर्महेतुका रागादयः। एतेन यदपि कश्चिदाह – पृथिव्यादिभूतानां धर्मा एते रागादयः। तथाहि–पृथिव्यम्बुभूपस्त्वे रागः, तेजोवायुभूयस्त्वे द्वेषो, जलवायुभूयत्वे मोह इति। तदपि निराकृतमवसेयम्, व्यभिचारात्। तथाहि–यस्यामेवावस्थायां द्वेषो मोहोऽपि दृश्यते तत एतदपि यात्किंचित्। तस्मात्कर्महेतुका रागादयः। ततः कर्म निवृत्तौ निवर्तन्ते। प्रयोगश्चात्र–ये सहकारिसंपाद्या यदुपघातादपकर्षिणः ते तदत्यन्तवृद्धौ निरन्वयविनाशधर्माणः यथा रोमहर्षादयो वन्हिवृद्धौ भावनोपधानाद-पकर्षिणश्च। सहकारिकर्मसंपाद्या रागादय इति। अत्र सहकारितासंपाद्या इति विशेषणं सहभूतस्वभावबोधादिव्यवच्छेदार्थम्। यदपि प्रागुपन्यस्तं प्रमाणं 'यदनादिमत् न तद्विनाशमाविशति'। यथाकाशमिति। तदम्यप्रमाणम्। हेतोरनैकान्तिकत्वात्। प्रागभावेन व्यभिचारात्। तथाहि–प्रागभावोऽनादिमानपि विनाश माविशत। अन्यथा कार्यानुत्पत्तो भावनाधिकारी च सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयसम्पत्समन्दितो वंदितव्यः इतरस्य तदनुरूपानुष्ठानप्रवृत्यभावेन तस्य नित्यारूपत्वात्। आह च – ''नाणी तवम्मि निरओ, चारित्ती भावणाइजोगो त्ति'' सा च रागादिदोषनिदानस्वरूप विषफलगोचरा यथागममेवमवसेया।

''जं कुच्छियाणुयोगो, पयइविसुद्धस्स होइ जीवस्स।
एएसि भो! नियाणं, वुहाण न य सुंदरं एयं ॥१॥
रूवं पि संकिलेसो–ऽभिस्संगा पीइमाइलिंगो स।
परमसुहपचणीओ, एअं पि असोहणं चेव ॥२॥
विसओ य भंगुरो खलु, गुणरहिओ तह तहा रूवो।
संपत्तिनिप्फलो के –वले तु मूलं अणत्थाणं ॥३॥
जम्मजरामरणाई–विचित्तरूवो फलं तु संसारो।
बहुजणनिव्वेयकरो, एसो वि तहा विहो चेव ॥४॥

अपि च–सूत्रानुसारेण ज्ञानादिषु यो नैरन्तर्येणाभ्यासस्त द्रूपाऽपि भावना वेदितव्या। तस्या अपि रागादिप्रतिपक्षत्वात्। न हि तत्त्ववृत्या सम्यग्ज्ञानाद्यभ्यासे व्यापृतमनस्कस्य स्त्री शरीररामणीयकादि-विषये चेतः प्रवृत्तिमातनोति। तथानुपलम्भात्। नं०। ते च जिनाः त्रिविधाः तथा च – ''तओ जिणा पण्णत्ता। तं जहा–ओहिनाणजिणे, मणपज्जव-नाणजिणे, केवलनाणजिणे'' ''तओ जिणे'' इत्यादि। सुगमा, नवरं रागद्वेषमोहान जयन्तीति जिनाः सर्वज्ञाः। उक्तं च – ''रागद्वेषस्तथा मोहो, जितो येन जिनो ह्यसौ। अस्त्रीशस्त्राक्षमालत्वादर्हन्नवानुमीयते ॥१॥'' इति। तथा जिना इव ये वर्तन्ते निश्चयप्रत्यक्षज्ञानतयातेऽपि जिनाः, तत्रावधि-प्रधानो जिनोऽवधिज्ञानजिन एवमितरावपि, नवरमाद्यावुपचरिता-वितरौ निरूपचार उपचारकारणं तु प्रत्यक्ष ज्ञानित्वमिति। स्था० ३ ठा० ४ उ०। ''वंदामि जिणवरिंदं'' जयन्ति रागादिशत्रुनभि-भवन्ति जिनाः। ते चतुर्विधाः। तद्यया–श्रुतजिनाः। अथचिजिनाः मनः पर्यायजिनाः। केवलिजिनाः। प्रज्ञा० १ पद।

जिननिक्षेपश्चतुर्था –

''चउह जिणा नामठाव–णदव्वभावजिणभेएहिं ॥३१॥
नामजिणा जिणनामा, ठवणजिणा पुण जिणिंदपडिमाओ।
दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था ३२ ''ध० २०।

जिनाश्चतुर्था–नामजिनाः, स्थापनाजिनाः द्रव्यजिनाः, भावजिना-श्चेति। तत्र जिनानां तीर्थकृतां नामानि ऋषभाजित संभवादीनि। नाम जिनाः। तथा–अष्टमहाप्रातिहार्या दिसमृद्धिं साक्षादनुभवन्तः। केवलिनः समुत्पन्नकेवलज्ञानाः शिवगताश्च परमपदं प्राप्ताः। भावतः सद्भावतो जिनाः, भावजिनाः। गाथानुलोभ्याच्च अनानूपूर्व्या भावजिनाः व्याख्याताः स्थापनाजिनाः प्रतिमाः काञ्चनमुक्ताशैलमरकता-दिभिनिर्मिताः, द्रव्यजिना ये जिनत्वेन भाविनो भविष्यन्ति जीवाः श्रेणिकादय इति। प्रव० ४२ द्वार।

जिनानां सर्वथास्तित्वम्–

**अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवा वि भविस्सइ।
मुसं ते एवमाहंसु, इइ भिक्खू न चिंतए ॥४५॥**

अभूवन भासन जिना रागादिजेतारः 'अस्ति' इति विभक्तिप्रतिरूपको निपातः। ततश्च विद्यन्ते जिनाः अस्य कर्मप्रवादपूर्वसप्तदशप्राभृतोद्धृत-तया वस्तुतः सुधर्मस्वामिनैव जम्बूस्वामिनं प्रति प्रणीतत्वात् तत्काले च जिनसंभवादित्यभुक्तं विदेडादिक्षेत्रान्तराप्रेक्षया वा इति भावनीयम्। (अदुवेत्ति) अथवा–अपिर्भिन्नक्रमः (भविस्सइ त्ति) वचनव्यत्ययाद्भ-विष्यन्ति जिना इत्यपि मृषा अली कं ते जिना अस्तित्ववादिन एवमनन्तरोक्त-न्यायेन (आहंसुत्ति) आहुः ध्रुवत इति भिक्षुर्न चिन्तयेत। जिनस्य सर्वज्ञाधिक्षेप प्रतिक्षेपादिषु प्रमाणोपपन्नतया प्रतिपादनात्तदुप-देश मूलत्वाच्चसकलैहिकामु ष्मिकव्यवहाराणामितिसूत्रार्थः। उत्त० ३ अ०।

''जिनैस्तदुक्तं जीवो वा, धर्माधर्मौ भवान्तरम्। परोक्षत्वान्मृषा नैवं, चिन्तयेत् महतो ग्रहात् ॥१॥'' श्रा० म० द्वि०।

अणुवकयपराणुग्गइ– परायणा जं जिणा जगप्पवरा।
जिअरागदोसमोहा, य ण ऽण्णहावाइणो तेणं ॥५०॥

अनुपक्षते परैरवर्तिते सति परानुग्रहपरायणाः धर्मोपदेशादिना वरानुग्रहोद्युक्ताः इति समासः। यत यस्मात् कारणात् केजिनाः प्राङ्निरूपितशब्दार्थः। त एव विशेष्यन्ते। जगत्प्रवराः चराचरश्रेष्ठा इत्यर्थः। एवं विधा अपि कदाचिद्रागादिभावात् वितथवादिनो भवन्ति?। अत आह–जिना निरस्ता रागद्वेषमोहा यैस्ते तथाविधाः तत्राऽभिष्वङ्गलक्षणो रागः, अप्रीतिलक्षणो द्वेषः, अज्ञानलक्षणश्च मोहः। चशब्दः एतदभावगुणसमुच्चयार्थः। नान्ययावादिनः तेनेति, तेन कारणेन तेनान्यथावादिनः इति। उक्तं च – ''रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषा –स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥१॥'' इति गाथार्थः। आव० ४ अ०।

''जिनभवनं जिनबिम्बं,
जिनपूजां जिनमतं च यः कुर्यात्।
तस्य नरामर शिवसुख –
फलानि करपल्यवस्थानि ॥१॥'' प्रति०।

जिनवर्णको यथा–

''श्रियां निवासं निखिलार्थवेदकं,
सुरेन्द्रसंसेवितमन्तरारिघम्।
प्रमाणयुङ् न्यायनयप्रदर्शकं,
नमामि जैनं जगदीश्वरं महः ॥१॥'' द्रव्या० १ अध्या०।

''पुइत्तु नमित्तु जिणं, वंदारुजणे गयम्मि सुठाणे।
विहिणा वंदिय देवे, नंदो इय पुणइ जिणनाइं ॥२६॥
जय जय सामिय जिणवर!, केवलाकलियवत्थुपरमत्थ!
मत्थयमणिकरभासुर,! सुरवरलयनमियकमकमल! ॥३०॥
मलरोगमुक्कविग्गह! गहवइदिप्पंतकंतभावलय!।
लयपत्तज्झाण सोहिय! हियकर! नी–सेससत्ताणं ॥३१॥
अन्नो हं जेण मए, अणोरपारम्मि भवसमुद्दम्मि।
भवसयसहस्सदुहलं, जं पहु तुह दंसणं लरूं।३२।'' (ध०२०)

''सजज्ञानलोचनविलोकिसर्वभावं,
निःसीमभीमभवकाननदाहदावम्।
विश्वार्चितं प्रवरचारूसुधर्मरत्न –
रत्नाकरं जिनवरं प्रयतः प्रणौमि ॥२॥'' ध०२०।

''यथास्थिताशेषपदार्थसार्थ –
कमार्थसंधाविधिप्रवीणम्।
जिनं जनानन्दकरं कृपाब्धिं,
नमामि भव्याम्बुजबोधसूरम ॥१॥'' दशा० १ अ०।

जिनानां स्वरूपवर्णको यथा–

''पुरवरकवाडवत्था, फलिउभुआ दुंदुहित्थणिअघोसा।
सिरिवत्थंकिअवत्था, सव्वे वि जिणा चउव्वीसं ॥१॥'' अनु०।

जयति संसारं, जि–नक्। बुद्धे, विष्णौ च। जित्वरे, त्रि०। वाच०।

✻**जि**–जये, भ्वादि–पर० सक० अनिट् **''चि–जि–श्रु–हु–स्तु–लू–पू–धू–गां णो हस्वश्च'' ।८।४।२४१।** इति प्राकृतसूत्रेणैषा-मन्ते णकारागमः ह्रस्वश्च। *जिणइ जयइ। प्रा० ४ पाद।*

जिणंत त्रि० (जयत्) अभिभवति, दश० ४ अ०।

जिणंतर न० (जिनान्तर) जिनयोर्व्यवधाने, ''एएसि णं भंते! चउव्वीसाए तित्थगराणे कइ जिणंतरा पण्णत्ता? गोयमा ! तेवीसं जिणंतरा पण्णत्ता॥ भ० ३ श० २ उ०। (विशेषतः जिनान्तराणि 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ६५ पृष्ठे रूष्टव्यानि)

जिणकप्प पुं० (जिनकप्प) जिनाः गच्छनिर्गतसाधुविशेषः तेषां कल्पः समाचारः। प्रव० ५३ द्वार । जिनानां कल्पो जिन कल्पः। कल्पो नीतिर्मर्यादा समाचारी। पं० चू०। जिनानामिव कल्पो जिनकल्पः। उग्रविहारविशेषे, ध० ३ अधि०। अभ्युद्यत विहारे,। बृ० १ उ०।

विषय सूची –

(१) जिनकल्पिकानाश्रित्य द्वारसंग्रहः।
(२) प्रव्रज्याद्वारम 'पव्वज्जा' शब्दे।
(३) शिक्षाद्वारम 'सिक्खा' शब्दे। अस्य प्रकृतयोजनात्रैव।
(४) अनन्तरोक्तेनानियतवासेन वक्ष्यमाणविहारद्वारेण च सह निष्पत्तिद्वारम्।
(५) निष्पत्तिद्वारे प्रतिद्वारभूतमुपसंपदादिद्वारचतुष्टयम्।
(६) तत्र प्रथममुपसंपदद्वारम्। तच्च अन्योक्तिदृष्टान्तेन त्रिभिः प्रकारैश्च सह उपवर्णितम्।
(७) तत्र द्वितीयमस्थिरत्वद्वारम्। तच्चात्मपरोभयतुलनया द्विविधम्। ते च तुलने प्रत्येकं चतुर्विधा।
(८) तत्र तृतीयं प्रतीच्छनाद्वारम। तच्च सोपनयेन स्नुषा दृष्टान्तेन समन्वितम्।
(९) तत्र चतुर्थं वाचनाद्वारम्। तच्चोपदेशस्मारणाप्रति स्मरणाभिः त्रिविधम्। घट्टनादिष्टान्तत्रयेण, निष्काशनादि विधिना स्थिरीकरणीय राजदृष्टान्तेन चोपदर्शितम्।
(१०) विहारद्वारम्। तत्र जिनकल्पिकमाश्रित्य प्रतिद्वाररूपाणि। अव्यवच्छित्तिमन आदीनि षट् द्वाराणि।
(११) तत्र द्वितीयमाचार्यादिरूपपञ्चतुलनात्कम्।
(१२) तत्र चतुर्थं परिकर्मद्वारम्। अस्य द्विविधत्वमस्यैवाधि कारस्य (१६) अङ्के द्रष्टव्यम्।
(१३) तत्र पञ्चमं तपआदिपञ्चकानां पञ्चतुलनाभावनारूपम् । अत्रैव प्रथमा! द्वितीया सत्वभावना 'सत्तभावणा' शब्दे। तृतीय सूत्रभावना 'सुत्तभावणा'' शब्दे।
(१४) तुलनाभावनापञ्चके चतुर्थ्यं कत्वभावना सदृष्टान्ता।
(१५) तुलनाभावनापञ्चके दिव्याद्युपसर्गसहनरूपा पञ्चमी बलभावना भाववलेन शारीरबलेन च द्विविधा।
(१६) पूर्वोक्तं परिकर्म पाणिप्रतिग्रहपरिकर्मभ्यां सचेलाऽचेल परिकर्मभ्यामाहारोपधिभेदाभ्यां च द्विविधम्, पुनः केनाऽऽसनेन कथंनृतेषु संस्तारकेषु चोपविशति जिनकल्पिक इति।
(१७) त्रिहारद्वारगतषष्ठं वटवृक्षद्वारम्। द्रव्याद्याऽऽनुकूल्ये, कस्य पार्श्वे, कस्य तरोरधस्तनप्रदेशे वा जिनकल्पिकत्वं स्वीकरणीयम्। तच्च केन विधिना। ततः क्षामणम्। शेषाः किं कुर्वन्ति। क्षामणायां के गुणाः। जिनपदस्थापितसूरेरनुशिष्टिं साधूनामनुशिष्टिं प्रदाय किं करोतीत्यादि प्रतिपादितम्।
(१८) सामाचारीद्वारम्। आवश्यक्यादिपञ्चसामाचार्यो जिनकल्पिकः *प्रयुङ्क्ते अन्याः न। आदेशान्तरमप्यत्रैवोक्तम्।*

(१९) श्रुतादिकानां वक्ष्यमाणसामाचारीणां सप्तविंशतिद्वार संग्रहगाथा।
(२०) श्रुतादिसप्तविंशतिद्वारेषु सप्तविंश मासकल्पद्वारम्।
(२१) जिनकल्पी षड्वीध्या भ्रमतीति विस्तरः।
(२२) देयाहाराऽयोग्यतायां श्राविकाविचाराः।
(२३) कल्पशब्दार्थः, वीध्यां भ्रमतस्तद्वक्तं पूतिकं भवति।
(२४) त्रिषु दिवसेषु पूतिकं न कल्पते। किंतु सप्तने दिवसे कल्पत इति, सप्तमदिवसे पर्यटतः श्राविकापृच्छा।
(२५) द्वितीयाऽऽदेश यादेशान्तरम्।
(२६) जिनकल्पिकाः कल्पकाले मारणान्तिके च चिकित्सां न कारयन्ति। अक्षिमलमपि नापनयन्ति। के तत्र प्रविशन्ति। के च निर्गच्छन्ति। प्रत्येकमेकैकपतद्ग्रहधारिणः सप्रावरणाश्च भवन्तीत्यादि।
(२७) जिनकल्पिकयोर्मध्ये कतरो महर्द्धिकः स च दीपादिदृष्टान्तेन अर्थापनयेन च समन्वितः।
(२८) सोपनयेन महिलाद्वयदृष्टान्तेन गोवर्गद्वयदृष्टान्तेन च जिनकल्पिकत्व एवावश्यं स्थातव्यमित्युक्तम्। गच्छः जिनकल्पिकादिरत्नानामुत्पत्तिस्थानमिति गच्छस्य रत्नाकरोपमा।
(२९) छिद्रपापयच्छिरूपाणिभेदाभ्यां जिनकल्पिकस्य द्विवि धत्वम्।
(३०) जिनकल्पिका एकस्यरूपाः पृथकस्वरूपा वा भवन्तीति शङ्का। एतेषामेव द्विविधत्वम्।
(३१) जिनकाल्पिकी द्वादशविधोपधिः स सर्वेषामेकविधो वा नेत्यष्टौ विकल्पाः।
(३२) केन विधिना केन च जिनकल्पोऽभिहितः। जिनकल्पिकास्तित्वमागमे प्रतीतम्। व्यवच्छेदस्तु केन वचनेन तीर्थकरैरुक्तमिति च सोत्तरम्।

(१) प्रथमं जिनकल्पिकानाश्रित्य द्वारसंग्रहगाथामाह –

पव्वज्जा सिक्खा–पयमत्थग्गहणं च अनियओ बासो।
निप्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिई एव।।

प्रथमं प्रव्रज्यावक्तेव्या, कथमसौ जिनकल्पिकः प्रव्रजित इति। ततः शिक्षापदं, ग्रहणासेवनाविषयम्। ततो ग्रहणशिक्षयाऽधीतं, सूत्रतोऽर्थग्रहणम्। ततो नानादेशदर्शनं कुर्वतो यथाऽनियतो वा सो भवति। ततः शिष्याणां निष्पत्ति। तदनन्तरं विहारः। ततो जिनकल्पं प्रतिपन्नस्य समाचारी। ततस्तस्यैव स्थितिः क्षेत्राकासादिकाऽभिधातव्येति गाथासमुदायार्थः। एषां द्वाराणां क्रमशो व्याख्यां। बृ० १ उ०।

(२) (प्रव्रज्या द्वारम 'पव्वज्जा' शब्दे)

(३) (सिक्षाद्वारं 'सिक्खा' शब्दे) अथ तत् प्रकृतयोजनां कुर्वन्नाह

जिणकप्पिएण पगयं, जिणेकाले हेउ केवीणं वा।
सो भणइ एव भणितो, कल्प अहीयं भयंतेहिं।

अत्र जिनकल्पिकेन प्रकृतं स तु जिनकल्पिको नियमाज्जिनस्य तीर्थकरस्य काले वा स्यात्, अपरेषां वा गणधरदीनां केवलिनां करते? ततः स शिष्यः एवं हेतुदृष्टान्तैर्भणितः प्रज्ञापितो भणति। भगवन्! यद्येवं ततः पठाम्यहं, परमाचक्षतां पूज्याः कुत्र भदन्तैवद्भिरधीतं, यस्मादसौ शिष्यौ जिनकल्पिको भविष्यति। स च जिनकाले वा भवेत् केवलिकाले वा?

अतः स आचार्यः प्रतिब्रूयात –

अंतरमणंतरे वा, इति उदिए धूलिनायमाहंसु।
चिक्खल्लेण य नायं, तम्हा उदयामि जिणमूलं।।

अन्तरं परकेण मया अधीतम्। अनन्तरं वा। तत्र यदि स आचार्यो गणधरशिष्यस्तस्याप्याराद्वा। ततः परंपरकेणाधात मित्य-भिदव्यात्। अथासौ गणधर एव। ततोऽनन्तरं जिनसकाश एव मयाधीतमिति ब्रूयात, इत्वेवमुदिते आचार्ये णाऽभिहिते स शिष्यो धूलिज्ञातं चिक्खलुज्ञातं चाक्यातवान्। यथाधूलिरेकत्रा स्थापयित्वा तत उद्धत्यान्यत्रा यत्रास्तीर्यते तत्रा वश्यं किंचित्प रिशटति। यथा वा प्रासादे लिप्यमाने मनुष्यपरम्परया चिक्ख ल्लप्रत्यर्प्यमाणो बहुपरिशटितः स्तोकमात्रावशेष एव सर्वान्तिममनुष्यस्य हस्तं प्राप्नोति।

कैः पुनस्तत्परिशटतीत्याह –

पयपायमक्खरेहिं, मत्ताघोसेहिं वा वि परिहीणं।
अवि य रवि–राय–हत्थी, पगास सेवा पया चेव।।

पदैः पादैरक्षरैर्मात्रिया घोषैर्वा अपिशब्दात् बिन्दुना वा परिही नं भवति। परम्परया अधीयमानं श्रुतमिति प्रक्रमः अपि चेत्यभ्युच्चये। भगवतः समीपे अधीयानानां कारणान्तरमप्यस्तीति। किममात्यादीनां सेवां संपादयति। यादृशानि वा महान्ति हस्तिनः पादानि, ईदृशानि किं कुन्यूनां संभवयन्ति?। एवं यादृशानि महार्थानि भगवतस्तीर्थकृतो वचनानि ईदृशान्यपरेषां किं कदाचिद्भवन्ति इत्यतस्तीर्थकरी पकपठमेव व्रजामि।

इत्थं शिष्येणोक्ते सुरिराह –

कोट्ठाइबुद्धिणा अ–त्थि संपयं एरिसाणि मा जंप।
अ वि य तहिं वाउलणा, विरयाण वि कोउयाईहिं।।

यथा कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तं, तदवस्थमेव चिरमप्यवतिष्ठते। न क्रिमपि कोलान्तरेऽपि गलति, एवं येषु सूत्रार्थो निक्षिप्तः, तदवस्थश्चैव चिरमप्यवतिष्ठते, ते कोष्ठबुद्धयः। आदिशब्दात्पदानुसारिबुद्धयो बीजबुद्धयश्च गृह्यन्ते। तत्र ये गुरूमुखादेकसुत्रपदमनुसृत्य शेषमपि भूयस्तपदनिकुरूम्ब वगाहन्ते ते पदानुसारिबुद्धयः। ये त्वेकं बीजभूतमर्थपदमनुसृत्य शेषमवितथमेव प्रभूततरमर्थपदनिवहमवगाहन्ते ते बीजबुद्धय। एवं विधाः कोष्ठादिबुद्धयः सांप्रतमपि सन्ति येषु सूत्रार्थो न परिशटित इति भावः। तत ईदृशानि धूलिज्ञातादीनि मा जल्प मा ब्रूहि। अपि च – तत्र भगवतः समीपे अधीयानानां विरतानामपि साधूनामपि कौतुकादिभिर्व्याकुलना व्याकुलीकरणं भवति। सकलस्याऽपि लोकस्य कौतुकहेतुत्वात्। कौतुकं समवसरणम्। आदिग्रहणेन भगवतो धर्मदेशनाश्रन्न णादिपरिग्रहः। बृ० १ उ०।

(क्षिक्षाद्वारविशेषः 'सिक्खा' शब्दे) पुनः प्रकृतयोजनांकुर्वन्नाह –

तित्थयरस्य समीवें, वक्खेवो तत्य एवमाईहिं।
सुत्तग्गहणं ताहे, करेइ सो वारसममाओ।।

तीर्थकरस्य समीपे तत्रा समवसरणे एवमादिभिः प्रकारैरध्वय नस्य व्याक्षेपो भ्रवति, इत्युक्ते सति शिष्याः, पाह – भगवन्।

सत्यमेवैतत् यदादिशत् यूयम्। अन इहैव पठामीत्युक्त्वा सूत्रं ग्रहणं द्वादश वर्षाणि करोति। द्वादशभिवर्षैः सकलस्याऽपि सूत्रस्याध्ययनं विद्धातीत्यर्थः। गतं शिक्षाद्वारम्। बृ० १ उ०।

(४) अनन्तरोक्तैनानियतवासेन वक्ष्यमाणविहारद्वारेण च सह निष्पत्तिद्वारम्।

तच्चानन्तरासेऽनियतवासद्वारे वक्ष्यमाणविहारद्वारे च संभवति। तत्रानियतवासद्वारं तावदृश्यते इत्थं तेन देशदर्शनं कुर्वता शिष्याः प्रतीच्छकाश्च समाचार्या सूत्रार्थग्रहणायां च निष्पादयितव्या, इत्यात्रान्तरे यदुक्तं प्रतिद्वारगाथायाम्– ''कात्त सुयं दायव्वं, अविणीयाणं विवेगो य''॥

(५) निष्पत्तिद्वारे प्रतिद्वारभूतमुपसंपदादिद्वारचतुष्टयसंग्रह गाथामाह –

उवसंपज्ज थिरत्तं, पडिच्छाणा वायणोल्लछगणे य।
घट्टणरूंचणपत्ते, दुट्ठा य तहिं गए राया॥

प्रथमं प्रतीच्छकाः यथा तमुसंपद्यन्ते तथा वक्तव्यम्। ततः आत्मनः प्रतीच्छकानां च यथा स्थिरत्वं तुलनया करोति। ततस्तेषां प्रतीच्छना वाचना च यथा भवति ततः प्रसाध्यताम्। आर्द्रदृगणदृष्टान्तो घटनारूञ्चनापदृष्टान्ताश्च यथाभिधायन्ते दुष्टाश्च विषयं दृष्टान्तं यथा साधव आचार्यानुद्दिश्य दर्शयन्ति। (तहिं गए त्ति) यत्राचार्यास्तिष्ठन्ति, तत्र गतानां यथा राजदृष्टान्तः सुरिभिरुदाहियते, तदेतत्सर्वं वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः।

(६) तत्रोसंपदद्वारमन्योक्तिदृष्टान्तेन त्रिभिः प्रकारैश्च सह विभणिषुर्गाथामाह –

काहिइ अवोच्छित्तिं, सुत्तत्थाणं ति सो तदट्ठाए।
अभिगम्मइ ऽगेगेहिं, पडिच्छएहिं विहरमाणो॥

एष महाभागः सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तिं करिष्यतीति बुद्धया स भव्याचार्यस्तदर्थं सूत्रार्थग्रहणनिमित्तमभिगम्यते अनेकैः प्रतीच्छकैर्विहरमाणो देशदर्शनं कुर्वन्निति। आह–किमसौ डिण्डिमाडम्बरेण घोषयति, यथा, अहं बहुश्रुतोऽहं बहुश्रुत इति, यदेवनेकैः प्रतीच्छकैरभिगम्यते। नैवं खमु शुद्धिविवेक सुधाधाराधौतचेतसः सन्तः कदाचनापि स्वगुणविकत्थने प्रवृत्तिमातन्वते। मिथ्याभिगम्यताक्षप्रबलतमतमस्तिस्कृत संज्ञानलोचनप्रसराणाम् इतरजतूनामेव तत्र प्रवृत्तिसंभवात्। उक्तं च – ''मोहस्य तदपि विलसितमभिमानो यः परप्रणीतायाः। ततमसोऽपि तमिअं, याऽऽत्मस्तुतिरात्मना क्रियते॥१॥'' यद्येवं ततः कथमित्र सोऽत्र तमेव प्रसिद्धिमारो हतीत्युच्यते–

वासावज्जविहारी, जडवि न य विकत्थए गुणे नियए।
अभणंतो वि मुणिज्जइ, पगइ च्चिय सा गुणगणाणं॥

वर्षावर्ज्यविहारी वर्षासु चतुरो मासानेकत्र स्थायी अन्यदा पुनरनियतविहारी इत्युक्तं भवति। स एवंविधो यद्यपि न विकथ्यतं निजकानात्मीयान् गुणान्। तथाप्यभणन्नपि स्वगुणान कीयत्तयन्नपि ज्ञाप्यते। कुत इत्याह – प्रकृतिरेव सा गुणगणानां ज्ञानादिगुणसमूहानाम्। तदुक्तम् – 'अभणंतो वि हु भज्जंति, सप्पुरिसा गुणगणेहिं नियएहिं। बोल्लंती य मणीओ, जाओ लक्खेहिं घिप्पंति'' ॥१॥

एतदेवान्योक्तिदृष्टान्तेन दृश्यति –

भमरेहिं महुयरीहिं, सूइज्जइ अप्पणो य गधेणं।
पाउमकालकयंबो, जइ वि निगूडो वणनिगुंजे।

ततः प्रावृटकाले यः कदम्बः स यद्यपि वनीनकुञ्जे निगूढो गुप्तस्तिष्ठति. तथापि भ्रमरैर्मधुकरीभिश्च आत्मनः संबन्धिना गन्धेन च प्रसरता स्तव्यते ज्ञाप्यते, यथा–अत्र कदम्बवृक्षस्तिष्ठति। एवमयमपि भ्रमरमधुरीकल्पाभिः साधुसाध्वीभिः एरिमलकल्पेन च निजगुणनिकुरुम्बेन प्रसर्पता कदम्बवदुद्याना दावत्यन्तनिगूढोऽपि तिष्ठन् सूच्यते।

यदि वा –

कत्थ व जलइ अग्गी, कत्थ व चंदो न पायडो होई।
कत्थ वरलक्खणधरा, न पायडा होंति सप्पुरिसा॥

कुत्रा वा न ज्वलति न दीप्यतेऽग्निः। कुत्रा वा चन्द्रः उदयं प्राप्तः प्रकटो न भवति। कुत्रा वा वराण्युत्तमानि लक्षणा न्यभ्यन्तरतो ज्ञानादीनि, बाह्यतः शरीरसौन्दर्यादीनि शङ्खचक्रादीनि, वा धारयन्तीति, वरलक्षणधराः सत्पुरुषाः प्रकटा न भवन्ति।

अत्र परोऽनुपपत्तिमुद्भावयन्नाह –

उदए न जलइ अग्गी, अब्भच्छन्नो न दीसई चंदो।
मुक्खेसु महाभागा, विज्जा पुरिसा न भायंति॥

उदके न ज्वलत्यग्निः। किं तु विध्यायति। अभ्रच्छन्नश्चन्द्रो न दृश्यते मूर्खेषु मूर्खाणां पुरतो महाभागाः विद्याप्रधानाः पुरुषाः विद्यापुरुषास्तेऽपि न भान्ति न शोभन्ते। ततः– ''कत्थ व न जलइ अग्गी'' इत्यादि नोपपद्यते। तदयुक्तम्– अभिप्रायपरिज्ञानात्। इह हि स्वविषय एवाग्निचन्द्रसत्पुरुषाणां ज्वलनादि सामर्थ्यं चिन्त्यते न त्वन्यविषये।

कः पुनरमीषां स्वविषय इत्याह –

सुक्किंधणम्मि दिप्पइ, अग्गी मेहरहिओ ससी भाइ।
तव्विहजाण य निउणे, विज्जापुरिसा वि भायंति॥

शुष्केन्धनं शुष्ककाष्ठादौ दीप्यतेऽग्निः। मेघरन्तिः शरदादिकाले अभ्रैरच्छन्नः शशी भाति प्रकाशते। तद्विधज्ञानं च तादृशे सहृदयलोके निपुणे व्याकरणप्रमाणादिशास्त्रकुशले विद्यापुरुषा अपि भान्ति शोभां लभन्ते। एव त्रयाणामप्यमीषां स्वविषयोऽत्र सर्वत्राप्यमी दीप्यन्ते न किञ्चिदनुपपन्नम्।

तत्रैवापरं दृष्टान्तमाह –

कुमुउयररसमुद्धा, किं न विवोहिंति पुंडरीयाइं।
सूरकिरणा संसिस्स व, कुमुयाणि अपंकयरसन्ना॥
न य अप्पगासगत्तं, चंदाइच्चाण सविसए होइ।
इय दिप्पंति गुणड्ढा, मुक्खेसु हसिज्जमाणा वि॥

कुमुदानामुदराणि कुमुदोराणि तेषु रसो मकरन्दस्तस्मिन् मुग्धा, अनभिज्ञास्तदानीं तेषामप्रबुद्धत्वात्। ईदृशोऽमीषां मकरन्द इति न विदन्तीत्यर्थः। एवंविधः सूर्यकिरणा यदि अविषयत्वात् कुमुदानि न विबोधयन्ति। ततः किं स्वविषयभूतानि पुण्डरीकाणि न बोधयन्ति? बोधयन्त्येव। शशिना वा किरणा यद्यपङ्कजरससज्ञाः पङ्कजरससाखादमुग्धास्ततः किं स्वविषयभूतानि कुमुदानि न बोधयन्ति। ततश्च न च नैव प्रकाशकत्वं चन्द्रादित्ययोः स्वविषये भवति। किं तु प्रकाशकत्वमेव इत्यसु

मेव प्रकारेण गुणैर्ज्ञानादिभिराढ्याः समृद्धाः मूर्खेषु पशुप्रायेषु हल्यमाना अपि दीप्यन्ते, सदयहृदयेषु प्रकाशन्ते। उक्तमानुषङ्गिकम्।

प्रकृतमनुसन्धीयते –

सो चरणसुट्ठिअप्पा, णाणपरो सूइओ अ माहूहिं।
उवसंपया य तेसिं, पडिच्छणे चेव साहूणं।

स इति भविष्यदाचार्यः चरणसुस्थितात्मा, तथा ज्ञानपरः सूत्रार्थपौरुषीकरणं प्रति उद्युक्तः, परां निष्ठां प्राप्तो वा दर्शनाविनाभावित्वात्, ज्ञानस्य दर्शनपर इत्यपि द्रष्टव्यम्। स च साधुभिः स्वपरिवारवर्तिभिरपरेषां साधूनां तस्यान्तिके उपलभति। तेन च तेषां यथाविधि प्रतीच्छना कर्तव्या, इति एष उपसंपदः प्रकार उक्तः।

अथ द्वितीयप्रकारमाह –

एहाणइसमोसरणे, परियट्टित्तं सुणित्तु मो साहुं।
अट्टित्ति य पडिचोयण–उवसंपय–दीवणा अत्थो।

स्नानादौ, आदिशब्दात् रथयात्रादौ समवसरणे साधुमीलनके (अठेन्नोए इति) व्यञ्जनभेददूषितं सूत्रं परिवर्त्तयन्तं, साधुं कमपि श्रुत्वा सम्प्रति नोदनां करोति। (अहेलोए इति) पाठेस प्राह–किमिति गीतार्थो ब्रूते–(अट्ठे इति) अर्थो न मिमति। इतरः प्राह–किमस्यार्थोऽप्यस्ति, बाढं नमस्कारमादिं कृत्वा सर्वस्यापि श्रुतस्यार्थो विद्यते। स आह–यद्येवं तर्हि "अट्टित्ति" पदस्य कोऽर्थः। उच्यते–आर्त्तश्चतुर्द्धा नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्। नामस्थापने सुगमे। द्रव्यतः सचित्तादिद्रव्यैरप्राप्तैः प्राप्तैर्विपर्युक्तैर्वा य आर्त्तः य द्रव्यार्तः। क्रोधादिभिरभिभूतो भावार्त्तः। एवं प्रकारद्वयेनाय लोक आर्तो वर्त्तने, इत्याकर्ण्य प्रभुदितः। स साधुश्चिन्तयति अहो अस्य सूत्रालवस्य एतावान् हृदयङ्गमोऽर्थः, ततो यदि सर्वस्याधीत स्यार्थमवबुद्धयते ततः सुन्दरं भवति। इत्यभिसंधायार्थग्रहणार्थं तस्यैव पार्श्वे उपसंपदं प्रतिपद्यते। ततोऽसौ विधिना तस्यार्थं दीपनं करोति, अर्थं कथयतीत्यर्थः। एष द्वितीयः प्रकारः।

अथ तृतीयमपि प्रकारमाह –

अहवा वि गुरूसमीवं, उवागए देसदंसणम्मि कए।
उवसंपय साहूणं, होअइ कयम्मि दिसावंधे।।

अथवा–देशदर्शने कृते सति यदाऽसौ गुरूणां समीपमुपागतो भवति। तदा गुरूभिराचार्यपदे प्रतिष्ठाय दिग्बन्धे कृतेऽनुज्ञाते सति, विहारं कुर्वतोऽस्य पार्श्वे प्रतीच्छकसाधूनामुपसंपद्भवतीति व्याख्यातं त्रिभिः प्रकारैरूप संपदद्वारम्।

(७) तत्र द्वितीयमस्थिरत्वद्वारम्। तच्चात्मपरोभयतुलनया द्विविधम्।

ते च तुलने प्रत्येकं चतुर्विधे –

आयपरोभयतुलणा, चउव्विहा सुत्तसागणित्तरिया।
तिण्हट्ठा संविग्गे, इयरे चरणे–हरा नेच्छे ।।

तत्रासावात्मपरोभयविषयां तुलनां करोति। सा च प्रत्येकं चतुर्विधा वक्तव्या। तथा–ये केचिदुणवर्जिता आगरिणः प्रवजन्ति। तेषामुपसपन्नानां चासौ सूत्रासारणां करोति, सूत्रं पाठयतीत्यर्थः। उपलक्षणं चैतत्। तेनासेवनां शिष्यमपि ग्राहयति। तया तेष्ज्ञामुमधेषामप्यसौ इत्वरां दिशं बध्नाति। यथा यावदा – चार्याणां सकाशं व्रजामः, तावद दृष्टवाऽयमाचार्यो ऽहमेव चोपाध्यायस्तत्र गतानामाचार्या ज्ञापका इति (तिण्हवा संविग्गे त्ति) ये संविग्नाः साधवस्ते त्रयाणां ज्ञानदर्शनचारित्राणामर्थायोपसंपद्यमानाः प्रत्येष्टव्याः (इयरे चरणि त्ति) इतवे पार्श्वस्थादयो यदि चरणार्थमुपसंपद्यन्ते, ततस्तेऽपि संग्राहाः (इहरानेच्छे इति) इतरथा ज्ञानदर्शननिमित्तं सूत्रार्थग्रहणदर्शप्रभावकशास्त्राध्ययनार्थमिति भावः। यदि उपसंपद्यन्ते, ततो नेच्छेत्, नोपसंपदं ग्राहयेदित्यर्थः।

अथ यदुक्तमात्मपरोभयतुलना चतुर्विधेति।

तत्रारमतुलनोतावद्भावयति–

आहाराई दव्वे, उप्पाएउं सयं जइ समत्थो।
खेत्तउ विहारजोग्गा, खेत्ता विहतारणाईया।।
कालम्मि ओमाइं, भावे अतरंमाइपाउग्गं।
कोहाइनिग्गइं वा, जं कारणसारणा वा वि।।

इहात्मतुलना चतुर्विधा–द्रव्यतः क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च। तत्र द्रव्यत एषामुपसंपन्नानां यद्येषणीयान्याहारादीनिः । क्षेत्रात ऋतुबद्धविहारयोग्यानि वर्षावासयोग्यानि वा क्षेत्राणि उत्पादयितुं शक्नोमि। न वा विहमित्यध्वा तस्मात्तारणं पारनयनम्, आदिशब्दात् राजद्विष्टादिनारणानि कर्त्तुमहं समर्थो न वेति। काले अवमं दुर्भिक्षम् तत्रादिग्रहणादशिवमयादौ निर्वाहयितुं शक्तोऽस्मि न वेति? भावे–(अतरंत त्ति) ग्लानीभूतानामादिशब्दाद्बालवृद्धा दीनां वा एषां प्रायोग्यमुत्पादयितुं समर्थोऽहं नवेति। अथवा–शक्नोमि क्रोधनिग्रहं कर्त्तुं नवेति? आदिग्रहणन्मानमायालोभ निग्रहपरिग्रहः। यद्वा–यत्कारणं ज्ञानादिकं निमित्तमुद्दिश्यैते, उपसंपद्यन्ते, तख्याहं सारणां कर्त्तुमीशो नवेति? गतमात्म तुलनाद्वारम्।

आहारद्वारमाह –

आहाराइ–अनियाओ, लंभो सो विरयमाइ–निष्ठडो।
उब्भामग! खलु खेत्तं, अरिउहियाओ अ वमहाओ।।
ऊणाइरित्तवासां, अकालभिक्खपुरिमड्ढओमाई।
भावे कसायनिग्गह, चोयणनयपोरूसी नियया।।

ते प्रतीच्छकाः प्रथममेवोच्यन्ते। द्रव्यत आहारादीनां लाभोऽनियतः कदाचिद्भवति, कदाचिन्नेति। योऽपि भवति सोऽपि विरसः। पुराणौदनादिरादिशब्दादरसस्य हिङ्ग्वाद्यसं स्कृतस्य रूक्षस्य च वल्लणकादेर्ग्रहणं सोऽपि निगूढ उज्झितप्रायः। क्षेत्रात उद्धामका भिक्षाचर्यायां गन्तव्यं, बहिर्ग्रामेषु भिक्षार्थं यत्पर्यटनं, सा उद्धामकभिक्षाचर्या तथा खलु क्षेत्राणि नाम यत्राल्पो लोकः प्रदाता, सोऽपि च स्तोकमेव ददाति। तत्र विहर्त्तव्यम्, अनृतुहिताश्च प्रायो वसतयः प्राप्यन्ते। यो यदा ऋतुर्यत्ते तस्य तदाऽननुकूला इत्यर्थः। कालतः कदाचिन्मासकल्पस्थाने वर्षावासस्थाने वा ऊतम् अतिरिक्तं वा कालकरणे वामोऽवस्थानं भवेत्। काऽपि क्षेत्रो अकाले सूत्रापौरुष्यां अर्थपौरूष्या वा वेलायां भिक्षाप्राप्ये ततः सूत्रार्थहानिरपि भाविनी, कुत्रापि पूर्वार्द्धे ऽपि पूर्णोवमं स्वादरपूरकाडारमात्राया न्यूनं लभ्येत्, आदिग्रहणात्पानकमपि न संपद्यते। भावे–भावतः कषायनिग्रहखरपुरूषनोदनायामपि कर्तव्यः। न

त्त नियतावश्यंभाविनी सूत्रार्थयोः पौरूषी, कदाचिदस्माकं धर्मकथादिव्यग्रतया सूत्रार्थयोर्व्याघातोऽपि भवन्तं भवेदित्यर्थः। तदेतत्सर्वमपि यद्यङ्गीकर्तुमुत्साहः ततः प्रतिपद्यध्वमुपसंपदमिति।

अत्तणियपरे चेव, तुलणा उभयथिरकारणे वुत्ता।

आत्मविषया परविषया च तुलना उभयोरपि स्थिरताकारणं करणार्थमेवमुक्ता। गतं स्थिरत्वद्वारम्।

(८) तत्र तृतीयं प्रतीच्छनाद्वारं तच्च सोपनयेन स्नुषादृष्टातेन सहोपवर्णितम् –

पडिवज्जंते चेव, करिंति सुण्हाए दिट्ठंतं।

''पडिवज्जंते'' इत्युत्तरार्द्धं सर्वमनन्तरोक्तमर्थे यदि प्रतीच्छकाः प्रतिपद्यन्ते। तदा स्नुषया बध्वा दृष्टान्तमाचार्याः कुर्वन्ति।

तमेवाह –

आसरहाई ओलो–यणाइभीयाऽऽउले अ पेहंती।
सकुलघरपरिचएणं, वारिज्जइ सुसुरमाईहिं॥
खिंसिज्जइ हम्मइ वा, नाणिज्जइ वा घरा अठायंति।
नीया पुण से दोसे, छायंति न निच्छुभंते य॥

यथा–काचिद्वधूः स्वकुलगृहस्य स्वकीयपितृगृहस्य संबन्धीयः परिचयो रमणीयवस्तुदर्शनहेवाकस्तेनाश्वरथान्। आदिग्रहणेन हस्त्यादीन्, अवलोकनं गवाक्षस्तेन आदिशब्दाद परेण वा जालकादिना भीतानाकुलाँश्च जनान् प्रेक्षमाणा सती वार्यते। पुत्रि! मा अवलोकिष्ठा, इति प्रतिषिध्यते। स्वपुरादिभिः मा भूदस्याः प्रसङ्गतः परपुरूषविषयोऽप्यलोकनहेवाक इति। यदि वारिता सती नोपरमते ततः (खिंसिज्जइ त्ति) निन्द्यते–आः कुलपां सुखे! किमेवं करोषीत्यादि। तथापि यदि न निवर्त्तते ततो हन्यते। केशादिभिस्ताडयते एवमपि यदि न, ततोऽतिष्ठन्ती गृहात् निष्काश्यते। मा भूदपरासामपि गृहमहेलानामस्याः प्रसङ्ग जनित एवंविध एव कुहेवाक इति कृत्वा ये तु तस्या निजकाः पितृगृहसंबद्धाः स्वजनाः (से) तस्याः दोषान् छादयन्ति कथं-चिदुपालभ्यप्रदानादिना छादयन्ति। अपि न गृहान्निष्काशयन्ति। गौरवार्हत्वात्तत्र तस्याः। एष स्नुषादृष्टान्तः।

अथोपनयमाह –

मरिसिज्जइ अप्पो वा, सगणे दंभो न या वि निच्छुभणं।अम्हे पुण न सहामो, सुसुरकुलं चेव सुण्हाए॥

ते आचार्याः भणन्ति–आर्याः पितृगृहस्थानीषो युष्माकं स्वगच्छः स्वसुरस्थानीया वयम्, अश्वरथाद्यवलोकनस्थानीयं प्रमादासेवनं, गवाक्षादिस्थानीयान्ययुष्टालम्बनानि, ततो युष्माकं स्वगणे प्रमादासेवनं कृतमपि मृश्यते क्षम्यते। अल्पो वा दण्डः प्रायश्चित्तलक्षणः प्रमादप्रत्ययो भवतां तत्र दीयते, न च महत्यपि अपराधे गच्छात् निष्काशनं, गौरवाईतया भवतां भवति। वयं पुनः स्वल्पमप्यपराधं भवतां न सहामः। श्वसुरकुलमिव स्नुषाया बध्वाः संबन्धिनमपराधामित्युक्तेः। यदि ते प्रतीच्छका भणेयुः। एवमेतद्यदादिशन्ति भगवन्तः, ततस्ते प्रतीष्टन्ता। एते च द्विधा, पार्श्वस्थादयो वा भवेयुः, संविग्ना वा। तत्र ये पार्श्वस्थादयस्ते पार्श्वस्थादिमुण्डिता वाऽपि समनोज्ञा वा अमनोज्ञा वा।

सर्वेषामप्येषां विधिमाह –

पामत्थाइमुंडिए, आलोयण होइ दिक्खपभिईओ।
संविग्गपुराणे पुण, जप्पभिइं चेव ओसन्नो॥
समणुन्नमसमणुन्ने, जप्पभिई चेव निग्गओ गच्छा।
सोहिं पडिच्छिऊणं, सामायारिं पयंती य॥

यः पार्श्वस्थादिभिरेव मुण्डितस्तस्त दीक्षाप्रभृति दीक्षादि नादारभ्य अलोचना भवति। यस्तु संविग्नमुण्डितत्वात् पूर्वं संविग्नः पश्चादवसन्नीभूतः स पुराणसंविग्न उच्यते। गाथायां प्राकृतत वात् व्यत्यासेन पूर्वनिपातः। स यत्प्रभृति यद्दिनादार भ्यावसन्नः संजातस्तत्प्रभृत्येवालोचना दाप्यते। यस्तु संविग्नः य द्विधासमनोज्ञः साम्भोगिकोऽसमनोज्ञः सांभोगिकः। स द्विविधोऽपि वत्प्रभृति स्वगच्छन्निर्गतस्तत एव दिनादारभ्य अलोचनां दापयितव्यः। ततः शोधिर्मालोचनां प्रतीच्छनीयो यक्ष परछेदं मूलं वा प्रायश्चितमापन्नस्तस्य तदत्वा स्वकीयां सामाचारीमाचार्याः दर्शयन्ति।

किं कारणमिति चेदित्याह –

अवि गीयसुयहराणं, वाइज्जंताण मा हु अचियत्तं।
मेरासु य पत्तेयं–मा संखडं पुव्वकरणेणं।

ये गीतार्थाः श्रुतधरा बहुश्रुता गणिवाचकादिशब्दाभिधेवा इत्यर्थः। तेषामपि किं पुनरितरेषामित्यपिशब्दार्थः। वितथसामाचारीकरणेनोद्यच्छमानानां मैवं सामाचारीमन्यथा कारं कार्वीरित्यादिवचनैर्मा भूत् (अचियत्तं) अप्रीतिकं यतोऽन्योऽन्यं गच्छानां काश्चिदनीदृश्यः सामाचार्यस्ततः प्रत्येकं पृथग् पृथक् मर्यादासु सामाचारीषु वर्त्तमानासु प्रवाहतः पूर्वन्य स्ताया एव सामाचार्याः करणेन प्रतिनोदितानां मा (असंखडं) कलहो भवेदित्यस्मात्सा चक्रवालसामाचारी कथयितव्या।

आह कथं पुनरभिधीयमानेऽप्रीतिकं भवेदुच्यते –

गच्छइ वियारभूमा–इ वायओ देह कप्पियारं से।
तम्हा उ चक्कवालं, कहिंति अणहिंडिय निसिं वा॥

अयं वाचको विचारभूम्याम्। आदिशब्दात् भक्तपानग्रहणादौ गच्छति, अतो ददत, कल्पितारं कमपि कल्पकंसाधु (से) तस्य वाचकस्य येन सामाचारीं दर्शयति। एवमभिधीयमाने तस्य वाचकस्य महदप्रीतिकं भवति। यथाऽहो स्वगणं विमुच्य परमणमुपसंपन्ना वयमप्येवं परिभूयामहे इति, यत एवं तस्माचक्रवालसामाचारीं प्रतिदिनक्रियाकलापरूपां तेषां पुरत आचार्याः कथयन्ति। यथा ते कल्पिका भवन्ति। यावच्च सा तेषां प्ररूप्यते। तावत् (अणहिंडिय त्ति) ते भिक्षार्थं न हिण्डाप्यन्ते, मा भूत्तेषां सामाचारीशिक्षणव्याघातः। अथ न संस्तरन्ति, ततो निशि रात्रौ ते सामाचारीं ग्राहयितव्या इति। गतं प्रतीच्छनाद्वारम्।

(९) तत्र चतुर्थं वाचनाद्वार तच्चोपदेशस्मारणा प्रतिस्मारप्पाभिः त्रिविधम्। घट्टना दिदृष्टान्तत्रयेण, निष्काशना दिविधिना स्थिरीकरणस्य राजदृष्टान्तेन सह दर्शितम् ❊ गृहीतसामाचारीकाणां सूत्रार्थवाचनादातव्या, वाच्यमानानां च तेषां सामाचारीकरणे प्रमाद्यतां यो बिधिस्तमभिधित्सुर्द्वार श्लोष्कामाह

उवएसो सारणे चेव, तइया पडिसारणा।
छंदे अवट्टमाणं जं, अप्पच्छंदेण वज्जेज्जा॥

उपदेशः, स्मारणे चैव, तृतीया प्रतिस्मारणा चैव। ततः छन्दे उपदेशेऽवर्त्तमानं विनेयं गुरूरपि आत्मच्छन्देनात्माभिप्रायेण वर्जयेत्, परित्यजेदिति विर्युक्तिश्लोकसमासार्थः। अथ विस्तरार्थस्तत्र गुरूभिस्तान्प्रति वक्तव्यमस्माकमेषा सामाचारी, यन्निछाविकल्पादयः प्रमादाः परिहर्त्तव्या एष उपदेशः।

अथ स्मारणामाह –

निद्दापमायाइसुं, सइं तु खलियस्स सारणा होइ।
नणु कहिय ते पमाया, मा सीयसु तेसु जाणंतो ॥

निद्धैव प्रमादो निद्धाप्रमादः आदिशब्दादप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितादिपरिग्रहः। तेषु सकदेकवारं स्खलितस्य स्मारणा कर्तव्या भवति। यथा–भो महाभाग! नन्वेते पूर्वमेवास्माभिस्तव प्रमादाः कथिताः, ततो जानन्नपि तेषु–मा सीदेत्येषा स्मारणा॥

अथ प्रतिस्मारणामाह –

फुड रूक्खं अचियत्तं, गोणो तुदिओ व मा हु पेलेज्जा।
सज्जं अओ न भणइ, धुव सारण तं वयं भणिमो ॥

स्फुटं नाम, यस्तेन प्रमादः कृतः परिस्फुटं नाभिधीयते, किं त्वन्यव्यपदेशेन भणितव्यम्। रूक्षं नाम, निष्पिष्य स यथा–निर्धर्म! निरक्षर! निःस्वक! इत्यादि, तदपि न वक्तव्यं, यतः स्फुटं रूक्षेऽभिधीयमानमप्रीतिकं भवति। अत्र च गोदृष्टान्तो यथा गोर्बलीवर्दो महता भारेण लक्षितो, हलं वा वहमानः, प्रतोदेनातितोदितः सन्, क्रूर्दयित्वा भारं पातयति। हलं वा भनक्ति। एवमयमपि स्फुटाक्षरं रूक्षभणित्या वा भणितः, कषायितत्वादसंखडंकृत्वा गच्छात् निर्गच्छेत्। अत एवाह–गौरवि वाशब्दस्योपमानार्थस्य च सम्बन्धादसावपितुदितः, खर पुरूषीभणनप्रतोदेन व्यथितः सन्, मा ह निश्चितं प्रेरयेत्। संयमभारं बलादपहस्त्यायातयेत्। अत एव च सद्यस्तत्कालं यदा प्रमादः कृतस्तदैव भण्यते (धुव सारणं ति) स वक्तव्यो वत्स! ध्रुवमवश्यं कर्त्तव्यं, संयमयोगेषु सीदतां सारणा। तथा च मौनीन्द्रवचनम् – ''रूसओ वा परो मा वा, विसं वा परियत्तओ। भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिया''तत्तस्मात् जिनाज्ञाराधनाय वयं भवन्तमेवं भणामो, न पुनर्मत्सरप्रद्वेषादिना॥

अथ ''सज्जं अओ न भन्नइत्ति'' पदव्याख्यानार्थमाह –

तद्दिवसं विइए वा, सीयंतो वुच्चए पुणो तइयं।
एगो वराहो सोढो, वीयं पुण ते न विसहामो ॥

सीदन् सामाचार्यो प्रमाद्यान्, तस्मिन्नेव दिवसेऽन्यस्यां वेलावां द्वितीये वा दिवसे पुनर्भूयोऽप्युच्यते, तृतीया प्रति स्मारणा। एक उपदेशो, द्वितीया स्मारणा, तृतीया प्रतिस्मारणेति कृत्वा कथमित्याह – एकस्तव महानपराधः सोढस्तितिक्षितो ऽस्माभिर्यदि पुनर्द्वितीयं स्वल्पमप्यपराधं करिष्यसि ततो वयं ते न विषहामो, न सहिष्यामः॥

तथा चार्द्धछगणदृष्टान्तः क्रियते –

गोणइ–हरणगहिओ, मुक्को य पुणो सहोढगहिओ उ।
उल्लोलछगण – हारी, न मुच्चए जायमाणो वि ॥

यथा कश्चिच्चौरो गवादिहरणं कुर्वन्नारक्षकैर्गृहीतस्ततो मुञ्चत्, मामेकवारं नाहं भूयः स्वल्पमपि चौर्यं करिष्यामीत्युक्ते, दयालुत्वादपरोपपरोधात्तैर्मुक्तः। पुनर्द्वितीयवेलायां पूर्वाभ्यासवशात् यदि आर्द्रछगणहारी भवति, स्वल्प चौर्यकारीति भावः। तथापि सहोढः सलोपुत्रो गृहीतः सन्, याचमानोऽपि मोक्षयं न मुच्यते। एवं भवतोऽप्येकवारं महदपि प्रमादपदं तितिक्षितमस्माभिः। इत उर्द्धं तु स्तोकमपि न तिति क्षामहे। इत्थमुक्तोऽपि बहि प्रमाद्यति, तदा स लघु दण्डं दत्वा, द्वितीयं घट्टनादृष्टान्तं कुर्वन्ति।

तमेवाह –

घट्टिज्जंतं वुच्छं, इति उदिए दंडणा पुणो विइयं।

यथा द्रुमादू रहितं सत् वद्यच्छमानं चाल्यमानमपि ''वुछंति'' देशीपदत्वादबदग्धं विनष्टमिति। यावदेवं भवानप्यस्माभिरित्थं स्मारणादिना घट्टमानोऽपि प्रमादमेव सेवितवानित्येवमुदिते कथिते सति वदि भूयः प्रमाद्यति, तदा पुनरपि दण्डना मासलघुप्रायश्चित्त–रूपा कर्त्तव्या (विश्यंति) एतत् द्वितीयमुदाहरणम्।

इत्थं दण्डितोऽपि यदि प्रमादान्नोपरमते, तदा

रूक्षनादृष्टान्तो वक्तव्यः–

पासाणो संवुत्तो, अइरूचियं कुकुमं तइए।

''पासाणो'' इत्यादि। अति अतीव रूचितं पिट्ठं कुङ्कुमं किं पाषाणः संवृत्तः। एवं भवानपि महता प्रयासेन प्रतिनोद्यमानः किं प्रमत्तः संवृत्तः, इत्येवं तृतीयमुदाहरणं कृत्वा, तथैव मासलघु दीयते। अथ यदुक्तं प्राक् (अविणीयाण विवेगो य त्ति) तदिदानीं भाव्यते। भविनीता नाम, ये बहुशोऽपि प्रतिनोद्यमानाः। ते च छन्दे अवर्त्तमाना भण्यन्ते। तांश्च सूरय आत्मच्छन्देन वर्जयेयुः।

कः पुनरात्मच्छन्दो येन ते परिहियन्ते। प्राग् द्वारगाथा

सूचितपत्रादृष्टान्तश्च उच्यते –

तेण परं निच्छुभणा, आउट्टो पुण सयं परेहिं वा।
तंबोलपत्तनायं, नासेहिसि मज्झ अन्ने वि ॥

ततः परं वारत्रायादूर्ध्वं यदि न निवर्त्तते, तदा निष्काशना कर्त्तव्या, निर्गच्छ मदीयगच्छादिति। अथासौ स्वयं परेण वा प्रज्ञापितः सन्नावृत्तः प्रमादात्प्रतिनिवृत्तः प्रतिभणति, भगवन्! क्षमध्व, मदीयमपराधनिकुरम्बं न पुनरेवं करिष्यामीति। ततो वद् द्वारगाथायां पत्राज्ञातं, सूचितं तदुपवर्ण्यते (तंबोलफत्तनायं ति) यथा तम्बोलपत्रं कुथितं सत् यदि न परित्यज्यते, ततः शेषाण्यपि पत्राणि कोषयति। एवं त्वमपि स्वयं विनष्टो, मम अन्यानपि साधून् विनाशयिष्यसीति कृत्वा भिष्कासितोऽस्माभिः। संप्रत्यप्रमत्तेन भवितव्यं, मासगुरू च ते प्रायश्चितम्।

अथ निष्काशनस्यैव विधिमाह –

सुहमेगो निच्छुभई, णेगा भणिया वि जइ न वच्चंति।
अन्नावएस उवहिं, जग्घावण मारि कह गमणं॥

ते पुनः प्रमाद्यन्ते, एको वा वाऽनेके वा। यद्येकस्ततः सुखेनैव निर्गच्छ मद्वच्छादित्यभिधाय निष्कास्यते। अथानेके वहवस्ततस्ते यदि निर्गच्छतेति भणिताः अपि, वयं वहवस्तिष्ठाम्, इत्यवष्टम्भं कृत्वा न व्रजन्ति, ततः शेष साधून् रहस्यं ज्ञापयित्वाऽन्येन केनाप्यपदेशेन मिषेण यथा न तेषां शङ्का भवति, तथोपधिं विहारयोग्यं कारयित्वा अन्यव्यपदेशेनैव चिरं जागरणं कारापणीया। यथा न प्रातः शीघ्रमुत्तिष्ठन्ति (सारिक त्ति) सागारिकः शय्यातरस्तस्याग्रतो रहसि कथनीयं, यथा वयं प्रभात एवामुकं ग्रामं व्रजिष्यामि। यदि कोऽपि महता निर्बन्धेन

युष्मान् प्रश्नयेत्, यथा आचार्याः क्व गता इति। ततो भवद्भिस्तस्य यथावान्निवेदनीयम्। (गमणं ति) ततो गमनं कर्तव्यम्।

गतेषु च यदि ते ब्रूयुः--

मुक्का मो दंडरूइणो, भणंति इह तेन तेसु अहिगारो।
सेज्जायरनिब्बंधे, कहय गया न विणयहाणी॥

अहो सुंदरं समजनि। यद्दण्डव्यसनिन आचार्यात् मुक्ता वयम्। इति ये भणन्ति, न तेष्वधिकारः। ये पुनः परित्यक्ताः सन्तो गाढं परितप्यन्ते। आः कष्टम्! उज्झिता वयं च कारायां। निःसंबन्धा बन्धुभिस्तैर्भगवद्भिः अतः कथमिव भविष्यामः। इति ते शय्यातरं महता निर्बन्धेन पृच्छन्ति कथय, कुत्रास्मान् विमुच्य, गताः क्षमाश्रमणाः। स प्राह–अमुकं ग्रामम्। ततस्तेन कथिते त्वरितमागतानां तेषां न विनयहानिः कर्तव्या। किं तु–प्रा०००देवाभ्युत्थानं दण्डकादिग्रहणं च कर्तव्यम्। ततस्ते बद्धाञ्जलिपुटाः पादपतिताश्चक्तमुक्ता, बलिप्रकाशान्यश्रूणि विमुञ्चन्तो विज्ञपयन्ति। भगवन्! क्षमस्व अस्मदीयमपराधं, विलोकयतास्मान् प्रसाद मन्थरया दृशा, प्रतिपद्यध्वं भूयः स्वप्रतीच्छकतया, कुरूतानुग्रहं स्मारणादिना। 'प्रणपात-पर्यवसितप्रकोपा हि भवन्ति महात्मानः' इत ऊर्द्ध वयं प्रमादं प्रयत्नतः परिहरिष्याम इति। ततो गच्छसत्काः साधवः सूरीन् कृताञ्जवयः प्रसादयन्ति। गुरवो ब्रुवते, आर्या अलं मम दुष्टाश्च सारथिकल्पेनामून् प्रत्याचार्यकरणेन।

एवमुक्ते साधवो भणन्ति–

को नाम सारहीणं, स होइ जो भद्दवाइणो दमए।
दुट्ठे वि उ जो आसे, दमेइ तं आसियं विंति॥

को नाम सारथिनां मध्ये स भवति, यो भद्भवाजिनो विनीता नश्वान् दमयेत् मा कश्चिदसौ, असारथिरेवेत्यर्थः। दुष्टानविना तामपि योऽश्वान् दमयति, शिक्षां ग्राहयति। तामश्विकमश्वदमं ब्रुवते लौकिकाः।

अपि च–

हों ति हु पमायखलिया, पुव्वब्भासा य दुच्चया भंते!
न चिरं वज्जंतणा य, हिया य अचंतियं अंते॥

भदन्त! परमकल्याणयोगिन्! पूर्वाभ्यासादनादिभवाभ्या सतया, दुस्त्यजानि प्रमादस्खलितानि भवन्ति। प्रायो जन्तूनां प्रमादा निद्राविकथादयः स्खलितान्युपयुक्तागमनभाषणादीनि। न चेयं स्मारणादिरूपा यत्नणा चिरं चिरकालं भाविनी सात्मीभावमुपगते, ह्यमीषामप्रमादं को नाम स्मारणादिकं करि ष्यतीति भावः। ने चेयमापातवत् परिणामेऽपि दुस्सहा, किं तु हिता च पथ्या। आत्यन्तिकमतिशयेन अन्ते अवसाने; परिणामे इत्यर्थः।

वच्च परिणामसुन्दरं तदापातकमप्युपादेयम्, अत्रान्तरे सूरयस्तेषां प्रमादिसाधूनां तीव्रतरं संवेगमवगम्य तेनैव स्थिरीकर्तुं राजदृष्टान्ते

कुर्वन्ति–

अच्छिरूयालुनारिंदो आगंतुअविज्जगुलियसंसणया।
विसहामि। त्त य भणिणं–ऽभणं वेयण सुहं पच्छा॥

''एगो राया तस्स अच्छिया जाया, वत्थव्वविज्जेहिं न सक्किउं। चागेच्छिउं। अन्नो अ आगंतुओ विज्जो, आगंतुं भणइ। मम अच्छिगुलिया उ, भच्छिसूलपसमणी उ, ताहिं अंजिएसु अच्छीसु तिव्वयरा दुरहियासा वेयणा भवति। मुहुत्तं जइ न वि मे मारणाए संदिसासाहि, तो अंजें अच्छीण। 'न मारेमि त्ति' अब्भुवगए। अंजिएसु अच्छीसु तिव्वतरा वेयणा जाया ताहे रन्ना भणियं, अच्छीणि मे पाडयाणि मारेहं तं वेज्जं। तो अब्भुवगंतुं न मारिओ। मुहुत्तंतरेण उवसंता वेयणा। पोराणाणि अच्छीणि जायाणि। विज्जो पूव्वओ'' अथ गाथाक्षरार्थः–अक्ष्णश्क्षुषोर्या रुग् रोगस्तद्वान् कश्चित् नरेन्द्रः। तस्य चागन्तुकवैद्येन गुटिकानां शंसनं स्वरूपकथना। ततो राज्ञा विषहाम्यहं वेदनामिति भणिते, वैद्यन चक्षुषोर्गुटिकाभिरञ्जनम्। ततो वेदना। पश्चात्क्रमेण संजातम्। प्रगुणीभूते अक्षिणी। एष दृष्टान्तः। अयमर्थो पनयः – यथा तस्य राज्ञस्तत्काल-दुस्सहमपि गुटिकाव्जनं क्रमेण चक्षुषोःप्रगुणीकरणात् परिणामसुन्दरं समजनि। एवं भवतामपि स्मारणादिकं, खरपुरूषत्वात् यद्यप्या पातकदुखं, तथापि परिणामसुन्दरमेव द्रष्टव्यम्। इह परत्र च सकल-कल्याणपरम्पराकारणत्वादिति। (उक्तो निष्कासनविधिः)

अथ संग्रहमाह–

इय अविवेगो य विगिं–चियाणं च संगहो पुणब्भूओ।
जे उ निसग्गविणीया, सारणया केवलं तेसिं॥

(इय) एवमविनीतानाविवेकः परित्यागो (विगिंचियाणं च त्ति) परित्यक्तानां पुनरावृत्तानां भूयः संग्रहो विधेयः। ये तु निसर्गेण स्वभावेन विनीतास्तेषां स्मारणैव केवलं कर्त्तव्या। यथेदमित्थं कर्त्तव्यमिति।

उपसंहरन्नाह–

एवं पडिच्छिउणं, निप्फत्तिं कुणइ बारस समा उ।

एवं देशदर्शनं कुर्वन् शिष्यः। प्रतीच्छकान् प्रतीत्य, निष्पत्ति सूत्रार्थग्रहणादिना द्वादश समाः संवत्सराणि करोति। गतं निष्पत्तिद्वारम्।

अथ विहारद्वारं व्याख्यायते–

एमो चेव विहारो, सीसनिप्फाययंतस्स॥

''एसो चेव'' इत्यादि। एष एव विहारः शिष्यान् निष्पादयतो वेदितव्यः। इयमव भावनातस्य दर्शनं कृत्वा गुरूपादमूलमागतस्य गुरूभिराचार्यपद-मध्यारोप्य, दिग्बन्धानुज्ञायां विहितायां नवकल्पविधिना विहरतो, य शिष्य निष्पादनविधिः स एवमेव द्वादश वर्षाणि यावत् विज्ञेयः तुल्यवक्तव्यत्वादिति।

(१०) विहारद्वारम्। तत्र जिनकल्पिकमाश्रिव प्रतिद्वाररुपाणि अव्यवच्छित्तिमनआदीनि षट् द्वाराणि।

व्याचिख्यासुर्द्वारगाथामाह–

अव्वोच्छित्तिमणपंच–तुलण उवगरणमेव परिकम्मे।
तवमत्तसुएगत्ते, उवसग्गमहे य वडरूक्खे॥

अव्यवच्छित्तिविषयं मनः प्रयुङ्क्ते। पञ्चानामार्याणां तुलना, स्वयोग्यताविषया भवति। उपकरणं, जिनकल्पोचितमेव गृह्णाति परिकर्म, इन्द्रियादिजयरूपं करोति। तपःमत्वश्रुतैकत्वानि, उपसर्गसहश्चेति, पञ्च भावना भवन्ति। वटवृक्ष इति, जिनकल्पं तीर्थकरादीनामभावे वटवृक्षस्याधस्तात् प्रतिपद्यते। इति द्वागाथाया-मार्थः।

अथैनामेव विवरीषुराह –

अणुपालिओ य दीहो, परियाओ वायणा वि मे दिन्ना।
निप्फाइया य सीसा, मेओ हियमप्पणो काउं ॥

तेनाचार्येण सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तिं कृत्वा, पर्यन्ते पूर्वापररात्रकालसमये धर्मजागरिकां जाग्रतेत्थं चिन्तनीयम्। यथा–अनुपालितो मया दीर्घः पर्यायः प्रवज्यारूपो, वाचनापि मया दत्ता, उचितेभ्यः। निष्पादिताश्च भूयांसः शिष्याः। तदेवं कृता तीर्थ स्याव्यवच्छित्तिः। तत्करणेन विहितमात्मन ऋणमोचनम्। अत उद्धे श्रेयः प्रशस्यतरं ममात्मनो हितं कर्तुम्।

किं नाम हितमिति चेदुच्यते –

किं तु विहारेण ऽब्भु–ज्जएण विहरामि ऽणुत्तरगुणेणं।
आउ अब्भुज्जयसास–णेणं विहिणा अणु मरामि ॥

किंतुरिति वितर्के। अभ्युद्यतविहारेण जिनकल्पादिना, अनुत्तरगुणेनानुत्तरा अनन्यसामान्या गुणा निर्ममत्वादयो यस्मिन् स तथा, तेनाहं विहरामि। (आउ त्ति) उताहो (अब्भुज्जयसासणेणं ति) सूत्रत्वात सूत्रस्य अभ्युद्यतमरणविशेषे शासनोक्तेन विधिना म्रिये। अनु पश्चात् संलेखनाद्युत्तरकालं मरणं प्रतिपद्येऽहमिति। (बृ०)

इह चायं विधिः। यदि स्तोकमेवायुरवशिष्यते, ततः पादपोपगमनादीनामेकतरमभ्युद्यतमरणं प्रतिपद्यते। अथ प्रचुरमायुः परं जङ्घबलपरिक्षीणः, ततो वृद्धावासमध्यास्ते, अथायुर्दीर्घं च न जङ्घाबलक्षीणस्तदाभ्युद्यतविहारं प्रतिपद्यत इति, गतम व्यवच्छित्तिमनोद्वारम्।

(११) तत्र द्वितीयमाचार्यादिरूप–पञ्चतुलनात्मकम्।

पञ्चानामाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणवच्छेदकानां तुलना भवति। यथा त्रयाणां अभ्युद्यतविहाराणां कतरं प्रतिपद्यामहे। चैत एव प्रायोऽभ्युद्यतविहारस्याधिकारिण इति कृत्वा पञ्चेति सङ्ख्यानियमः कृतः। इत्थमात्मानं तोलयित्वा यदि जिनकल्पं प्रतिपित्सुस्तदा इत्थं विधिं करोति –

गणनिक्खेवित्तरिओ, गणिस्स जो व ठविओ जहिं ठाणे।

गणिन आचार्यस्य गणनिक्षेपः। इत्वरः परिमितकालापन्नो भवति। यो वा उपाध्यायादिर्यत्र स्थाने पदे स्थापितः, स तत्पदमेकतुल्यगुणे साधावित्वरनिक्षेपेण निक्षिपति। आह किमर्थमसावित्वरं गणादिनिक्षेपं विदधाति, न यावज्जीविकम्? उच्यते–इह च काष्ठकविवरगामिता शिलीमुखेन वामलोचने पुत्रिकाया वेधनमिव दुष्करं गणाद्यनुपालनम्। अतः पश्या मस्तावदेवेति। न या–ऽऽचार्यप्रभृतयः किमस्य गणादेरनुपालनं कर्तुं यथावदीशते, वा न वा। यदि नेशते। ततो मया न प्रतिपत्तव्यो जिनकल्पः। यतो जिनकल्पानुपालनादपि श्रेष्ठतरमितरस्य यथाविधस्याभावे सूत्रोक्तनीत्या गणाद्यनुपालनं। बहुतरनिर्जरालाभकारणत्वात्। न च बहुगुण परित्यागेन स्वल्पगुणोपादानं विदुषां कर्तुमुचितं। सुप्रतिष्ठित कार्यारम्भकत्वात्तेषामित्यभिसंधाय, स भगवानित्वरं गणादि निक्षेपं विदधातीति।

उक्तं च पञ्चवस्तुशास्त्रे इहैव प्रक्रमे श्री हरि भद्रपूज्यैः–

''पिच्छासु ताव एए, केरिसगा होंति अस्स ताणऽस्स।
जोगाण वि पाएणं, निव्वहणं दुक्करं होइ॥
म य बहुगुणचाएणं, अप्पगुणपसाहणं जह वुहाणं॥
इहं काउं कज्जुक–सलाण सुपइट्ठियाऽरंभा''॥ (गतं पञ्चतुलनाद्वारं)

उवहिं च अहागडयं, गेण्हइ जाव ऽन्नणुप्पाए॥

अथोपकरणद्वारमाह – ''उवहिं च'' इत्यादि। यावदम्बं जिनकल्पप्रायोग्यं शुद्धैषणायुक्तं प्रमाणोपेतं चौपधिं वस्त्रादि, नोत्पादयति, तावद्यथाकृतमेव गृहति। ततः स्वकल्पप्रायोग्ये उपकरणे लब्धे सति प्राक्तनमुपकरणं व्युत्सृजतीति। गतमुपकरणद्वारम्।

(१२) तत्र चतुर्थं परिकर्मद्वारम्। अस्य द्विविधत्वमस्यैवाधिकारस्य (१६) अङ्के द्रष्टव्यम्।

परिकर्मेति वा भावनेति वा एकार्थं। तत आत्मनं भावनाभिः सम्यक् भावयति। आह–सर्वेऽपि साधवस्तावद्भावितान्तरात्मनो भवन्ति। अतः किं पुनर्भावयितव्यम्? उच्यते –

इंदियकसायजोगा, विनियमिया जइ वि सव्वमाहूहिं।
तइ वि जयो कायव्वो, तज्जयसिद्धिं गणंतेणं।

यद्यपि सर्वसाधुभिरिन्द्रियकषाययोगान्, विविधैः प्रकारैर्निवमिता जितास्तथाऽपि जिनकल्पं प्रतिपत्तुकामेन पुनरेतेषां जयः कर्त्तव्यः। तत्रैहिकाऽमुष्मिकापायपरिभावनादिना इन्द्रियाणां जयस्तथा कर्तव्यो, यथेष्टानिष्टविषयेषु गोचर मुपागतेषु रागद्वेषयोरुत्पत्तिरेव न भवति। कषायाणामपि जयस्तथा कर्त्तव्यो, यथा–आक्षेपां दुर्वचनश्रवणादि ब्राह्यं कारण मवाप्यान्वितेषु तेषामुपचय एव मा विर्भवति। योगानामपि मनः प्रभृतीनां जयस्तथा यतितव्यं यथा–तेषामार्तध्यानादिकं, दुष्प्राणिनामिव नोदयमासादयति। अथ किमर्थमित्थमिन्द्रिय कषाययोगानां जयः कर्तव्य इत्याह – तेषामिन्द्रियादीनां जयस्तज्जयेन सिद्धिर्जिन कल्पपारप्राप्तिस्तां गणयता मन्यमाने नेन्द्रियादीनां जयः करणीयाः। बृ० १ उ०। (इतोऽग्रे 'भावणा' शब्दे)

(१३) तत्र पञ्चमं तपआदिपञ्चकानां पञ्चतुलना भावनारूपम्। द्वितीया सत्वभावना 'सत्तभावणा' शब्दे। तृतीया सूत्रभावना 'सुत्तभावणा' शब्दे।

तावत् प्रथमां तपोभावनामाह –

बवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य।
तुलण्णा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ॥

तपसा, सत्वेन, सूत्रेण, एकत्वेन, बलेन च, एवं तुलना भावना पञ्चधा प्रोक्ता। जिनकल्पं प्रतिपद्यमानस्येति निर्युक्तिगा थासमासार्थः।

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुराह –

जो जेण अणब्भत्थो, पोरिसिमाई तवो उ तं तिगुणं।
कुणइ छुहाविजयट्ठे, गिरिणइसीहो य दिट्ठंतो॥

यद्येन पौरूष्यादिकं तपोऽनभ्यस्तं सात्मीभावसमानानीतं तत् त्रिगुणं, त्रीन् वारान् करोति। यथा–प्रथमं पौरूषी वारत्राया ऽऽसेवनेन सात्मीभावमानीय ततः पूर्वार्द्धं तथैवासेव्य सात्मीभावमानयति। एवमेकाननिर्विकृतिकादिष्वपि द्रष्टव्यम्। किमर्थमित्याह – क्षुद्विजयार्थं यथा क्षुत्परीषहसहने सात्म्यं भवतीत्यर्थः। अथ गिरिनदीसिंहेन दृष्टान्तः यथा असौ गिरिनदीं तरन् परतटे चिहं करोति। यथा सुष्कप्रदेशे वृक्षाद्युपलक्षिते मया गन्तव्यमिति संचरन् तीक्ष्णेनोदकवेगेनापह्रियते। ततो व्यावृत्य भूयः प्रगुणमेवोत्तरति। यदि ह्रियते। ततो भूयः तथैवोत्तरति। एवं यावत् सकलामपि गिरिनदीं प्रगुणमेवोत्तरीतुं शक्नोति, ता

यत्तदुत्तरणाभ्यासं न मुञ्चति। एवं सोऽपि यावद्ववक्षितं तपः सात्मीभावं न याति, तावत्तदभ्यासं न मुच्यति।

एतदेवाह –

एक्केक्कं ताव तवं, करेइ जह तेण कीरमाणेणं।
हाणी न होइ जइया, वि होज्ज छम्मासउवसग्गो॥

एकैकं तपस्तावत्करोति। यथा तेन तपसा क्रियमाणेनापि विहितानुष्ठानस्य हानिर्न भवति। यदापि कथंचित् भवेत्वणमात्रान् यावदुपसर्गो देवादिकृतोऽनेषणीयकरणादिरूपः तदापि षण्मासान् यावदुपोषित्त आस्ते। न पुनरनेषणीयमाहारं गृण्हाति।

तपस एव गुणान्तरमाह –

अप्पाहारस्स न इं–दियाइँ विसएसु संपवत्तंति।
नेव किलिस्सइ तवसा, गसिएसु न सज्जए वा वि॥

तपस्म क्रियमाणेनाल्पाहारस्य सतो नेन्द्रियाणि विषयेषु स्पर्शादिषु संवर्तन्ते, न च ल्काम्यति, बाधामनुभवति। तपसा नैव च रसिकेषु मधुरेषु अशनादिषु सजति, सङ्गं करोति। सुपरिभोगाभावेनादराभावात्।

अपिच –

तवभावणाई पंचिं–दियाणि दंतानि जस्स बसमिंति।
इंदियजोगायरिओ, समाहिकरणाइँ कारणए॥

तपोभावनया हेतुभूतया पञ्चोते संख्याकानीन्द्रियाणि दान्तानि सन्ति। यस्य वशमायत्ततामागच्छन्ति। स इन्द्रिययो ग्याचार्यः, इन्द्रिगुणन-क्रियागुरूः समाधिकरणानि समाधि व्यापाराणि कारयतीतीन्द्रियाणि। यथा यथा ज्ञानादिषु समाधि रूत्पद्यते, तथा तथा तानि कारयतीत्यर्थः। उक्ता तपोप्रावना। बृ० १ उ०।

(१४) तुलनाभावनापञ्चके चतुर्थ्यं कत्वभावनामाह –

जइ वि य पुव्वममत्तं, छिन्नं साहूहिं दारमाईस।
आयरियाइममत्तं, तहा वि संजायए पच्छा॥

यद्यपि च–पूर्वं गृहवासकालभावि ममत्वं साधुभिर्दाराकलत्रां तेष्वादिग्रहणात्पुत्रादिषु छिन्नमेव। तथा ऽप्याचार्यादिविवयं ममत्वं पञ्चात् प्रव्रज्यापर्यायकाले संजायते। तच्च कथं परिहा पयितव्यम्।

उच्यते –

दिट्ठिनिवायालावे, अ परोप्परकारियं स पडिपुच्छं।
परिहासमिहो य कहा, पुव्वपवित्ता परिहावेइ॥

गुर्वादिषु ये पूर्वं दृष्टिनिपाताः सस्निग्धावलोकनानि ये च तैः सहालापस्तान्। तथा परस्परोपकारितां मिथो भक्तपानदानग्रहण-द्युपकारं प्रति पृच्छन् सूत्रार्थादिप्रतिपृच्छया सहितं, परिहासं हास्यं, मिथः कथाश्च परस्परवार्ताः पूर्वप्रवृत्ताः सर्वा अपि परिहायपयति।

ततश्च –

तणुईकयम्मि पुव्वं, वाहिरपेम्मे सहायमाईसु।आहारे उवहिम्मि य, देहे य न सज्जए पच्छा॥

सहायः साङ्गसटिकसाधुस्तद्विषये, आदिशब्दादाचार्यादि विषो ब, बाह्यप्रेमाणि पूर्वं तनुकीकृते परिहाषिते सति, ततः पश्चादाहारे उपधौ, देहे च, न सज्जति, न ममत्वं करोति।

ततः किं भवतीत्याह –

पुव्वं छिन्नममत्तो, उत्तरकालं वविज्जमाणे वि।
साभावियइयरे वा, कुसइ दट्ठुं न संगइए॥

पूर्वं छिन्नममत्वः सर्वेऽपि जीवा असकृदनन्तशो वा सर्वजन्तून स्वजनभावेन शत्रुभावेन च संजाताः। अतः कोऽत्र नःस्वः को वा परः इति भावनया त्रुटितप्रेमबन्धः, स तूत्तरकालं जिनकल्पप्रतिपत्यनन्तरं व्यापाद्यमानानपि संगतिकान् स्वजनान् स्वभाविकानितरान् व वैक्रियशक्त्या देवादिनिर्मितान् दृष्टवा, न क्षुभ्यति, ध्यानात् न चलति।

अत्र दृष्टान्तमाह –

पुप्फपुरपुप्फकेउ, पुप्फवई देवी जुअलयँ पसुवे।
पुत्तं च पुप्फचलं, धूअं च सनामियं तस्स॥
सहवड्ढियाणुरागो, रायत्तं चेव पुप्फचूलस्स।
घरजामाए दाणं, मिलए निसि केवलं तेणं॥
पव्वज्जा य नरिंदे, अणुपव्वयणं च णेगत्ते।
बीमंसा उवसग्गे, विमेहिँ समुहिं च कंदणया॥

पुप्फपुरं नयरं। तत्थ पुप्फकेउ राया। पुप्फवई देवी। सा अण्णया, जुयलं पसूया। पुप्फचूलो दारओ। पुप्फचूला दारिया ताणि दो वि सहवड्ढियाणि परोप्परं अईव अणुरत्ताणि अन्नया पुप्फचूलोराया पव्वइओ। अणुरागेण पुप्फचूला विभगिणी पव्वइया। सो य पुप्फचूलो। अन्नया जिणकप्पं पडिवज्जिउकामो। एगत्तभावणाए अप्पाणं भावेइ। इओ य एगेणं देवेण वीमंसणा निमित्तं पुप्फचूलाए अज्जाए रूवं विउव्वियं। तं धुत्ता धरिसिउं पव्वत्ता। पुप्फचूलो य अणगारो तेणं ओगासेणं बोलेइ। ताहे सा पुप्फचूल अज्जा जेठ्ठज्जसरणं भवाहि त्ति। वाहइ, सो य भगवं वुच्छिन्नपेमबंधणा ''एगोहं णऽत्थि मे को वि, नाहमन्नस्स कस्स वि''। इच्चाइ एगत्तभावणं भावितो गओ सठाणं। एवं एगत्तभावणाए अप्पाणं भावेयव्वो त्ति। गाथाक्षरयोजना त्वेवम्–पुष्पपुरे, पुष्पकेतु राजा। पुष्पवती देवी, युगलं प्रसूते। वर्तमाननिर्देश स्तत्कालविवक्षया पुत्रं च पुष्पचुलं दुहितां च तस्य सनामिकां समानाभिधानां तयोश्च सह व र्द्धितयोरनुरागो। राजत्वं चैव पुष्पचूलस्य पुष्पचूलायाश्च गृहजामात्रो दानं। सा च तेन भर्त्रा समं केवलं निशि रात्रौ मिलति। प्रवज्या च नरेन्द्रपुष्पस्य। तदनुरागेणानुप्रव्राजनं च पुष्पचूलायाः। ततो जिनकल्पं प्रति पित्सुरेकत्वभावनां भावयितुं लग्नः विमर्शपरीक्षा। तदर्थं देवेनोपसर्ग क्रियमाणे विटैः सम्मुखीं पुष्पचूलां कृत्वा धर्षणं कर्तुमारब्धं, ततः क्रन्दनाम्। आर्य! शरणं शरणमिति।

अत्रोपसंहारमाह –

एगत्तभावणाए, पकामभोगे गणे सरीरे णो।
सज्जइ वेरग्गओ, फासेइ अणुत्तरं करणं॥

एकत्वभावनया भाव्यमानप्रकामभोगेषु शब्दादिषु गंधे ए-

च्छे शरीरे वा न सजति, न सङ्गं करोति। किं तु वैराग्यं गतः सन् स्पृशति, आराधयति। अनुत्तरं करणं प्रधानयोगसाधनं जिनकल्पपरिकर्मेति। गता एकत्वभावना।

(१५) अथ बलभावना। तत्र बलं द्विधा–भावबलं शारीरिबलं च। तत्र

भावबलमाह –

भावो उ अभिस्संगो, सो उ पसत्थो उ अप्पसत्थो वा।
नेहगुणओ उ रागो, अपसत्थप्पसत्थओ चेव॥

भावो नाम अभिष्वङ्गः। स तु द्विधा–अप्रशस्तः प्रशस्तश्च। तत्रापत्य-कलत्रादिषु हस्तजनितो रागः, सोऽप्रशस्तः। यः पुनराचार्योपाध्यायादिषु गुणबहुमानप्रत्ययो रागः प्रशस्तः। सत्य द्विविधस्यापि भावस्य येन मानसावष्टम्भेनासौ व्युत्सर्गं करोति, तद्भावकाले मन्तव्यम्। शारीरमपि बलम्– शेष जनापेक्षया जिनकल्पाईस्यातिशायिकमिष्यत इत्याह– तपोज्ञानप्रभृतिभिः भावनाभिर्भावयतः कृशतरं शरीरं भवति। ततः कुतोऽस्य शारीरबलं भवतीत्युच्यते ''कामं तु शारीरबलम्''।

हायइ परमणु तवना–णभावणजुअस्स देहोवचए वि।
सती जह होइ धिई, थिरा तहा ऽसो जयइ कामं॥

अनुरुधारणे। अनुमतमेवास्माकं यत्तपोज्ञानभावनायुक्तस्य शरीरबलं हीयते। परं देहोपचयेऽपि ति गथा धृतिर्मान सावष्टम्भल लक्षणा निश्चला भवति। तथासौ यतते धृतिबलेन सम्यगात्मानं भावयतीत्यर्थः।

आह–इत्थं धृतिबलेन भावयतः को नाम गुणः स्यादुच्यते –

कसिणा परिसहचमू, जइ ओठिज्जा हि मोवसग्गा वि।
दुद्धरपहकरवेगा, भयजणाणी अप्पसत्ताणं॥
धिइधणियबद्धकच्छो, जो होइ अणाउलो तमव्वहिओ।
वलभावणाए धीरो, संपुण्णमणोरहो होइ॥

कृत्स्ना संपूर्णाः परीषहचमूर्मार्गाच्चयवते, निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः क्षुदादयः। त एव तेषां वा चमूः सेना सा यद्युत्तिष्ठेत्, सम्मुखीभूय परिभावनाय प्रगुणा भवेत्। सोपसर्गापि दिव्याद्युपसर्गैः कृतसहायकापि। तथा–दुर्द्धरं दुर्वहं पन्थानं सम्यग्दर्शनादिरूपं मोक्षमार्गं करोति, इति दुर्द्धरपथकरः तथाविधो वेगः प्रसरो यस्याः सा दुर्द्धरपथकरवेगा। भयजननीं त्रासकारिणीं अल्पसत्वानां कापुरुषाणां तामेवंविधामपि स जिनकल्पप्रतिपत्तुकामो योधयति। कथंभूतो श्रृतिरेव ''धणिय'' अत्यर्थम्, बद्धा कक्षा येन स तथा। अनाकुलः औत्सुक्यरहितः। अव्यथितो निष्प्रकम्पमानः स बलभावनाय तां योधयित्वा, धीरः सत्वसंपन्नः सन् संपूर्णमनोरथो भवति। परीषहोपसर्गान् पराजित्थ, स्वप्रतिमां पूरयतीत्यर्थः।

अपि च –

धिइबल पुरस्सराओ, हवंति सव्वा वि भावणा एता।
तं तु न विज्जइ सज्झं, जं धिइमंतो न साहेइ॥

सर्वा अप्येताः तपःप्रभृतयो भावनाः धृतिबलपुरस्सरा भवन्ति। न हि धृतिबलमन्तरेण षाण्मासिकतपः करणाद्यनु गुणास्तास्तथा भावयितुं शक्यन्ते। किं वा (तं तु) तत्पुनः साध्यं कार्यं जगति न विद्यते, यद् धृतिमान् सात्विकः पुरुषो न साधयति ''सर्वं सत्वे प्रतिष्ठितम्'' इति वचनादेतेन ''अव्वोच्छित्तीमण'' इत्यादिद्वारगाथायाः 'उपसगसहे' इति यत्पदं, तद्भावतं बलभावनया, उपसर्गसहत्वभावादिति। गता बलभावना–

अथ (उवसग्गसहे य त्ति) इत्यत्र यः चशब्दः सोऽनुक्तसमुच्यते वर्तते।

अतस्तदर्थलब्धं विधिशेषमाह –

जिणकप्पियपडिरूवी, गच्छे वसमाण दुविहपरिकम्मं।
ततिए भिक्खायरिया, पंतं लूहं अभिग्गहिया॥

एवमसौ पञ्चभिर्भावनाभिर्भावितान्तरात्मा जिनकल्पिकस्य प्रतिरूपी तदनुरूपो भूत्वा, गच्छ एव वसन्, द्विविधं परिकर्म वक्ष्यमाणनीत्या करोति। तथा तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षाचर्यां, तत्रापि प्रान्तं रूक्षमाहारं गृह्णाति। एषणा वाभिगृहीताऽभिग्रहयुक्ता।

तथा –

परिणामजोगसोही, उवहिविवेगो य गणविवेगो य।
सिज्जासंथारविसो–हणं च विगईविवेगो य॥
तो पच्छिमम्मि काले, सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं।
पच्छा णिच्छयमज्झं, उवेइ जिणकप्पियविहारं॥

परिणामस्य गुर्वादिमत्वविच्छेदेन योगानां चावश्यकव्यापाराणां यथाकालमेव करणेन शुद्धिः। तथा प्राकृतस्योपधेर्विवेको गणविवेकश्च। शय्यासंस्तारस्य विशोधनं च। विकृतिविवेकश्च। तदा तेन कर्तव्यः। ततः पश्चिमे काले तीर्थव्यवच्छित्तिकरणानन्तरं सत्पुरुषनिषेवितं धीरपुरुषाराधितं परमघोरमत्यन्तदुरनुचरं पश्चादायतौ निश्चयमध्य-मेकान्तहितं जिनकल्पिकविहारमुपैति।

(१६) पूर्वोक्तं परिकर्म, पाणि–प्रतिग्रह परिकर्मभ्यां सचेलाऽचेलपरिकर्मभ्यामाहारोपधिभेदाभ्यां च द्विविधिम्, पुनः केनाऽऽसनेन कथंभुतेषु संस्तारकेषु चोपविशति जिनकल्पिक इति।

अथ द्विविधं परिकर्म व्याख्यानयति –

पाणिपडिम्मगहेण य, सचेलं अचेलओ जहा भविया।

सो तेण पगारेणं, भावेइ अणागयं चेव॥

द्विविधं परिकर्म। तद्यया–पाणिपरिकर्म, प्रतिग्रहपरिकर्म च। अथवा–सचेलपरिकर्म, अचलपरिकर्म च। तत्र यो यथा पाणिपात्राधारकः, प्रतिग्रहधारको वा। सचेलकोऽचेलको वा भविता, स तेनैव प्रकारेण पाणिपात्रभोजित्वादिना अनागत मेवात्मानं भावयति।

प्रकारान्तरमाह –

आहारे उवहिम्मि य, अहवा दुविहं तु होइ परिकम्मं।
अग्गहो दोसु पंचसु, अभिग्गहो अन्नतरियाए॥

अथवा द्विविधं परिकर्म। आहारे, उपधौ च। तत्राहारं तावदसौ तृतीयपौरुष्यामवगाढायां गृह्णाति। तं चाऽलेपकृतमवे तत्राप्य-संसृष्टादीनां सप्तानां पिण्डैषणानां मध्याद्द्वयोराद्ययोरेषणयाग्रहः सर्वथैवास्वीकारः। उपरितनासु पञ्चसु उद्धृताल्पलेपाव-गृहीतापगृहीतोज्झित धर्मिकासु ग्रहणं तत्राप्यभिग्रहो ऽन्यतरस्यामेषणयामेकया भक्तं अपरया पानकमिति नियन्त्र्यशेषा भिस्तिसृभिस्तद्दिवसमग्रहणमित्यर्थः। उपधौ तु वस्त्रपात्र-

योः प्रतिमाचतुष्टयं यत्पीठिकायामुक्तं तत्राद्यद्वयवर्जमुत्तरयोरेव ग्रहणं तत्राप्यन्तरस्यामभिग्रहः।

अथ ''पंतं लूहं ति'' व्याचष्टे–

निप्फावचणकुम्माइँ, अंतं पंतं तु होइ बावन्नं।
नेहरहियं तु लूहं, जं वुबलद्धं सभावेण॥

निष्पावाः वल्लाः चणकाः प्रतीताः आदिशब्दात् कुस्माषा दिकं च 'अन्तम्' इत्युच्यते। 'प्रान्तं' पुनस्तदेव व्यापन्नं, विनष्टं, यत्पुनः स्नेहरहिते तद् रूक्षं, यद्वा–स्वभावेनोपलब्धादिकं तदपि रूक्षं मन्तव्यम्।

अत्रैव विधिविशेषमाह –

उक्कुडुयासणसमुइं, करेइ पुढवीसिलाइसूववसे।
पडिवन्नो पुण नियमा, उक्कुडुओ केई य भयंति॥
तं तु न जुज्जइ जम्हा, अणंतरो णऽत्थि भूमिपरिभोगो।
तम्मि य हु तस्स काले, ओवग्गहिओवहं। नत्थि॥

(उक्कुरूयासणसमुइं ति) देशीवचनत्वादभ्यासं करोति। पृथिवी-शिलादिषु वा पृथिवीशिलापट्टके, आदिशब्दादपरेष्वपि तथाविधेषु यथासंस्तृतेषु उपविशेद्वा जिनकल्पं प्रतिपन्नः। पुनर्नियमादुत्कुटुकः केचिद्भजन्ति। विकल्पं कुर्वन्ति। उत्कुटुको षा तिष्ठेत्, उपविशेद्वा, तत्तु न युज्यते, यस्मादनन्तरोऽव्यग्रहितो नास्ति साधूनां भवेद्भूमिपरिभोगः ''सुद्धपुढवीए न सिएत्ति'' वचनात्। तस्मिँश्च जिनकल्पकाले औपग्रहिकोप धिर्नास्ति। तदभावाच्च निषद्यापि नास्ति, इति गम्यते,। ततश्चार्धादापन्नं तु उत्कुटुक एव तिष्ठति। उक्तश्चशब्द सूचितो विधिशेषः।

(१७) विहारद्वारगतं षष्ठं वटवृक्षद्वारम्। द्रव्याद्यानुकूल्पे, करय पार्श्वे, कस्य तरोरधस्तनप्रदेशे वा, जिनकल्पं स्वीकरणीयम्। तच्च केन विधिना। ततः क्षामणम्। शेषाः किं कुर्वन्ति। क्षामणायां के गुणाः। जिनपदस्था-पितसूरेरनुशिष्टिं। साधूनामनुशिष्टिं प्रदाय किंकरोतीत्यादिप्रतिपादितम्।

दव्वाइं अणुकूले, संघं समिल्ले य तो गणं असइ।
जिण–गणहरे य चउदस–अभिन्ने य असइ वडमाई॥

इत्थमात्मानं परिकर्म। द्रव्ये, आदिशब्दात् क्षेत्रे, काले, भावे च, अनुकूले प्रशस्ते सङ्घं मालयित्वा, सङ्घ घस्यासत्यभावे गणं स्वकीयमवश्यमेव समाडुय, ततः प्रथमं जिनः, तीर्थकरस्तस्या न्तिके। तदभावे गणधरः तन्निधाने। तदलाभे, चतुर्दशपूर्वधरा-न्तिके। तदसंभवे, अभिन्नदशपूर्वधरपार्श्वे। तस्याप्यसति, वटवृक्षस्याधः। आदिग्रहणात्तद-प्राप्तावशोकवृक्षा दीनामधस्ताज्जिकल्पं प्रतिपद्यते।

केन विधिनेत्याह –

गणि–गणहरं ठवेत्ता, खामे अगणी उ केवलं खामे।
सव्वं च बालवुड्ढं, पुव्वविरुद्धे विसेसेणं॥

गणी, गच्छाधिपाचार्यः। स पूर्वमित्वरनिक्षिप्तगणं स्वशिष्यगणधरं स्थापयित्वा श्रमणसङ्घयं क्षमयति। (अगणि त्ति) यस्तु गणी न भवति, किं तु सामान्यसाधुः स केवलं क्षमयति। न तु किमपि स्थापयति। किं पुनः क्षयमतीत्याह – सर्वं सकल मपि सङ्घं, च शब्दात्तदभावे स्वगच्छं बालवृद्धाकुलं, ये च पूर्वविरुद्धाः प्राग्विराधितास्ताद् विशेषेण क्षमयति।

कथं पुनरित्याह –

जइ किं वि पमाएणं, न सुट्ठु मे वट्टियं मए पुव्वं।
तं भे खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ अ।

धदि–किंचित्प्रमादेनानाभोगादिना न सुष्ठु (मे) भवतां भवावर्तित पूर्वं, तद् (भं) युष्मान् क्षमयाम्यहं निःशल्यो निष्कषायश्च।

इत्थं तेन क्षमिते सति शेषसाधवः किं कुर्वन्तीत्याह –

आणंदअंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा।
खामिंति जहरिहं खलु, जहारिहं खामिता तेणं॥

तेऽपि साधवः आनन्दाश्रुपातं कुर्वाणा भूमिगतशीर्षाः क्षिति निहितशिरसः सन्तः क्षमयन्ति। यथार्हं यो यो रत्नाधिकः स सः प्रथममित्यर्थः। तेनाचार्येण यथार्हं यथापर्यायज्येष्ठं क्षामिताः सन्तः इति।

अथेत्थं क्षामणायां के गुणा इत्याह –

खामिंतस्स गुणा खलु, निस्सल्लयविणयदीवणामग्गे।
लाघवियं एगत्तं, अप्पडिवंधो अ जिणकप्पे॥

जिनकल्पे प्रतिपद्यमाने साधून् क्षमयन्तः खलु एते गुणाः। तद्यथा– निःशल्यता मायादिशल्याभावो भवति। विनयश्च प्रयुक्तो भवति। मार्गस्य दीपना कृता भवति। इत्थमन्यैरपि क्षामणकपुरस्सरं सर्वं कर्तव्यमिति। लाघवमपराधभारापगमतो लघु भाव उपजायते। एकत्वं क्षामिता मया मा सीद् च। इतः ऊर्द्धमक एवास्मीत्यनुध्यानं भवति। अप्रतिबन्धश्च, ममत्वस्य छिन्नत्वाद् भूयः शिष्येषु प्रतिबन्धो न भवति।

अथ जिपनपदस्थापितस्य सूरेरनुशिष्टिमाह –

अह ते सबालवुड्ढो गच्छो साइज्ज णं अपरितंते।
ण य साहु परंपरओ, तुमं पि अंते कुणसु एवं॥
पुव्वपवित्तं विणयं, मा हु पमाए हि विणयजोगेसु।
जो जेण पगारेणं, उवउज्जइ तं च जाणाहि॥

अथैव (ते) तव सबालवृद्धो गच्छो निसृष्ट इति शेषः। अतो ऽपरितान्तोऽनिर्विण्णो (णं) एनं गच्छं सान्तयः संगोपयेः, स्मारणा-वारणादिना सम्यक् पालयेरित्यर्थः। न च परित्यक्तोऽहममीभिरित्यादि-पिरभाव्यं। यतः एव एव परंपरकः शिष्याचार्यक्रमो यदव्यवच्छित्तिकारकं शिष्यं निष्पाद्य, शक्तौ सत्यामभ्युद्यतविहारः प्रतिपत्तव्यः। त्वमप्यन्ते शिष्यनिष्पादना दिकार्यपर्यवसाने एवमेव कुर्याः। ये च बहुश्रुतपर्याय-ज्येष्ठादयो विनयं योग्या गौरवार्हास्तेषु पूर्वप्रवृत्तं यथोचितं विनयं मा प्रमादयेः, प्रमादेनं परिहापवेः। यश्च साधुर्येन तपः स्वाध्यायववैयावृत्या-दिनाप्रकारेणोपयुज्यते, निर्जराप्रन्युपयोगमुपयति तं च जानीहि, तं तथैव प्रवर्तयेत्यर्थः।

अथ साधूनामनुशिष्टिं प्रयच्छति

ओमो ग्रह राइणिओ, अप्पतरसुओ ऽज्ज मा अओ तुब्भे।
परिभवह तुम्ह एसो, विसेसओ संपयं पुज्जो॥

अवमोऽयम् अथ रत्नाकोऽयम् अल्परश्रुतो वा अयमस्मद् पेक्षया, अतः किमर्थमस्याज्ञानिर्देशं वयं कुर्मह, इति माऽद्य यूयमसुं परिभवत्। यत एष युष्माकं सांप्रतमस्मत्स्थानावत्वाद् गुरूतरगुणाधिकत्वाच्च विशेषतः पूज्यो न पुनरवज्ञातुमचत इति भावः।

इत्यमुमयेषामप्यनुशिष्टिं प्रदाय किं करोतीत्याह –

पक्खिव्व पत्तसहिओ, सभंडगो वि विजणिज्ज निरवेक्खो।
ना तइया ता विहरो, से चउत्थी ठाइ नण्णासु।।

यथा पक्षी पत्राभ्यां पक्षाभ्यां सहितः, प्राक्तनस्थाननिरपेक्षः स्थानान्तरं व्रजति। एवमपि भगवान् सभाण्डकः पात्रासहितो, निरपेक्षो गच्छसत्कापेक्षारहितः, एकान्तं मासकल्पप्रायोग्यं क्षेत्रं व्रजति। अयं च यावत्तृतीयपौरूषी, तावद् गच्छति। यतस्तस्यामेव (से) तस्य विहारो, नान्यासु पौरूषीषु। यत्र तु चतुर्थी पौरूषी भवति, तत्र नियमात् तिष्ठति इति।

तस्मिन्निर्गते शेषसाधवः किं कुर्वन्तीत्याह –

सीहमिव मंदरकंद–रात्तो नीअम्मिए तओ तम्मि।
चक्खुविसयं अइगए, अइंति आणंदिया साहू।।

सिंह इव मन्दरकन्दरायास्तस्मिन्ननगारे सिंहे, गच्छात् (नीअम्मिए) निर्गते सति, कियन्तमपि भूभागनुगमनं विधाय, ततश्चक्षुर्विषयमतिक्रान्ते अदर्शनीभूते, आयान्ति स्ववसतिं आनन्दिताः अहो अयं भगवान् सुखसेवनीयस्थविरकल्पविहारं विहायातिदुष्करमभ्युद्यतविहारमभ्युपैति, इति परिभावनया दृष्टाः सन्तः साधवः इति।

इदमेव विशेषमाह –

निच्चेलसचेले वा, गच्छारामा विणिग्गए तम्मि।
चक्खुविसयं अईए, अइंति आणंदिया साहू।।

निश्चेलो वा सचेलो वा। गच्छारामात् सुखसेवनीयाद्विनिर्गते, तस्मिन् चक्षुर्विषयमतीते, आयान्ति। आनन्दिताः साधवः।

अथासौ विवक्षितं क्षेत्रं गत्वा–किं करोतीत्याह –

आभोएउं खेत्तं, निव्वाघाएण मासनिव्वाहं।
गंतूण तत्थ विहरइ, एस विहारो समासेणं।।

आभोग्य विज्ञाय क्षेत्रं, निर्व्याघातेन विघ्नाभावेन मासनिर्वाहं मासनिर्वहणसमर्थं गत्वा–तत्र क्षेत्रे विहरति। स्वनीतिं परिपालयन्ति। एष विहारो विशेषनुष्ठानरूपोऽस्य भगवतः समासेन प्रतिपादितः। इत्युक्तं विहारद्वारम्। बृ० १ उ०।

(१८) सामाचारीद्वारम्। आवश्यक्यादिपञ्चसामाचारी जिनकल्पिकः प्रयुङ्क्ते अन्याः न। आदेशान्तरमप्यत्रैवोक्तम्।

मथैतासां मध्याज्जिनकल्पिकाः सामाचार्या भवन्तीत्युच्यते –

आवासिइनिसीहिमि– च्छाअपुच्छुबसंपदं च गिहिएसु।
अन्ना सामायारी, न हों ति सेसे सिया पंच।।

आवश्यकीं, नैषेधिकीं, मिथ्याकारं, आपृच्छाम्, उपसंपदं च, गृहिषु गृहस्थविषयाम्। एताः पञ्च सामाचारीजिनकल्पिकः प्रयुङ्क्ते। अन्याः सामाचार्या न भवन्ति, तस्य (सेसे) शेषाः पञ्च मिथ्याकाराद्याः। प्रयोजनाभावात्।

आदेशान्तरमाह –

आवासिइं निसिहिइं, मोत्तुं उवसंपयं च गिहिएसु।
सेसा सामायारी, न हों ति जिणकप्पिए सत्ता।।

आवश्यकीं नैषेधिकीं मुक्त्वा, उपसंपदं च गृहिषु गृहस्थ विषयां, जिनकल्पिकस्य शेषाः सामाचार्यो मिथ्याकाराद्याः सप्त न भवन्ति। तद्विषयस्य स्खलितादेरभावात्।

अहवा वि चक्कवाले, सामायारी उ जस्स जा जोग्गा।
सा सव्वा वत्तव्वा, सुआइआ वा इमा मेरा।।

अथवाऽपि, चक्रवाले प्रत्युपेक्षणादौ नित्यकर्मणि, यस्य जिनकल्पिकादेर्या सामाचारी योग्या, सा सर्वा अत्र सामाचारी द्वारे वक्तव्या। श्रुतादिका वा इयं वक्ष्यमाणा मेरा मर्यादा सामाचारी।

(१६) श्रुतादिकानां वक्ष्यमाणसामाचारीणां सप्तविंशतिद्वाराणि –

तामेवाभिधित्सुर्द्वारगाथात्रयमाह –

सूयमंघयणुवसग्गा, आयंका वेदणा कइ जणा य।
थंडिल्लवसहिकेचिर–मोचारो चेव पासवणो।
ओवासो तणफलयं, सारक्खणया य संठवणया य।
पाहुडिओऽगी दीवा, ओहाण–वसे कइ जणा उ।
भिक्खायरियापाणग–लेवालेवा तहा अलेवा य।
आयंविलपडिमाओ, जिणकप्पे मासकप्पो य।

श्रुतं १ संहननं २ उपसर्गः ३ आतङ्को ४ वेदना ५ कति जनाइच ६ स्थण्डिलं ६ वसतिः ८ कियच्चिरं ६ उच्चारश्चैव १० प्रश्रवणं ११ अवकाशः १२ तृणफलकं १३ संरक्षणता च १४ संस्था पनता च १५ प्राभृतिका १६ अग्निः १७ प्रदीपः १८ अवधानं १६ वत्स्यथ कति जनाश्च २० भिक्षाचर्या २१ पानकं २२ लेपालेपः २३ तथा अलेपश्च २४ आचाम्लं २५ प्रतिमा २६ मासकल्पश्च २७ (जिणकप्पेत्ति) एतानि सप्तविंशतिद्वाराणि जिनकल्प विषयानि वक्तव्यानि इति गाथात्रयसमुदायार्थः।

अथावयवार्थं प्रतिद्वारं प्रतिपिपादयिषुर्यथोद्देशं

निर्देश इति न्यायतः प्रथमं श्रुतद्वारमाह –

आयारवत्थु तइयं, जहन्नयं होइ नवमपुव्वस्स।
अहिए कालण्णाणं, दस पुण उक्कोसमिण्णाइं।।

जिनकल्पिकस्य जघन्यकश्रुतं, नवमपूर्वस्य प्रत्याख्याननामकस्याऽऽश्राख्यं तृतीयं वस्तु। तस्मिन्नधीते सति, कालज्ञानं भवतीत्यतस्तदर्वाक् श्रुतपर्याये वर्तमानस्य न जिनकल्पिकस्य प्रतिपत्तिः। उत्कर्षतो दशपूर्वाणि भिन्नानि। श्रुतपर्यायः संपूर्णदशपूर्वधरः। पुनरमोघवचनलया प्रवचनप्रभा वना-परोपकारादिद्वारेण च, बहुतरं निर्जरालाभमासादयति। अतो नासौ जिनकल्पं प्रतिपद्यते। उक्तं श्रुतद्वारम्।

अथ संहननद्वारमाह –

पढमिल्लगुसंघयणा, धिइए पुण वज्जकुड्डसामाणा।

जिनकल्पाः प्रथमिल्लुकसंहननाः वज्रऋषभनाराचसंहननोपेताः। धृत्या अङ्गीकृतनिर्वाहक्षममनः प्रणिधानरूपया वज्रकुड्यसमानाः।

❊ अथोपसर्गद्वारमाह ❊

उप्पज्जंति न वा सि उ–वसग्गा एस त्ति पुच्छा उ।।

अथोपसर्गद्वारम्–उत्पद्यन्ते न वा अमीषामुपसर्गा दिव्यादयः इत्येषा पृच्छा। अत्रोत्तरमाह –

जइ वि य उप्पज्जंते, सम्मं वि सहंति ते उ उवसग्गे।

नायमेकान्तो यदवश्यमेतेषामुपसर्गा उतपद्यन्ते, परं यद्यप्युत्पद्यन्ते, तथाऽपि सम्यगदीनमनसो विषहन्ते तानुपसर्गान्।

अथाऽऽतङ्कद्वारमाह –

रोगातंका चेवं, भइआ जइ हों ति विसहंति।।

आतङ्कद्वारमतिदिशति–रोगाश्च कालसदृशाः। आतङ्काश्च सद्यो घातिनः। एवमेव भाव्या उत्पद्यन्ते, वा न वा। यदि भवन्त्युपद्यन्ते, ततो नियमाद्विषहन्ते।

वेदनाद्वारमाह –

अब्भुवगमाओवक्क– मा य तेसि वेयणा भवे दुविहा।
धुवलोआइपढमा ज – रावियागाइ बिई एक्को ॥

आभ्युपगमिकी, औपक्रमिकी च। तेषां जिनकल्पिकानां द्विविधा वेदना भवति। तत्र प्रथमा–ध्रुवलोचाद्या ध्रुवः प्रतिदिन भावीलोचः, आदिशब्दादातापनातः प्रभृतिपरिग्रहः। द्वितीयाचौपक्रमिकी जराविपाकादिः, जरा प्रतीता। विपाकः कर्मणामुदयस्तत्समुत्था।

अथ ''कियन्तोजना'' इति द्वारम्–(एको त्ति) एक एवायं भगवान् भवति। यदि वेद द्वारमुपरिष्टात् व्याख्यास्यते।

अथ स्थण्डिलद्वारमाह –

उच्चारे पासवणे, उस्सग्गं थंडिले कुणइ पढमे।
तत्थेव य परिजुण्णे, कयकिच्चो उज्झए वत्थे ॥

उच्चारस्य प्रश्रवणस्य चोत्सर्गं परित्यागं प्रथमे अनापाते असंलोके स्थण्डिले करोति। तत्रैव प्रथमस्थण्डिले कृतकार्यो विहितशीतत्राणादिवस्त्रकार्यः, उज्झति वस्त्राणि।

अयं च संज्ञां व्युत्सृज्य न निर्लेपयति।

कुत इति चेत्? उच्यते–

अप्पमभिन्नं कच्चं, अप्पं लूहं च ओअणं भणियं।
दीहे वि उ उवसग्गे, उभयमवि अ थंडिले न करे ॥

अल्पमभिन्नं च वर्चः पुरीषमस्य भवति। कुत इत्याह – यतोऽल्पं रूक्षं च भोजनमस्य भणितं भगवद्भिः। अल्पाभिन्न वर्चस्कतया तथाकल्पत्वाद्यासौ न निर्लेपयति। न चासौ दीर्घेऽपि बहुदैवसिके उपसर्गे उभयेऽपि संज्ञां कायिकीं वा स्थण्डिले आपातादिदोषयुक्ते भागे करोति।

वसतिद्वारमाह –

अममत्ता–ऽपरिकम्मा, नियमा जिणकप्पियाण वसहीओ।
एमेव य थेराणं, मुत्तूण पमज्जणं एक्कं ॥

अममत्वाममेयमित्यभिष्वङ्गरहिताः। अपरिकर्मा साधर्षमुप लेपनादिपरिकर्मवर्जिता, नियमात् जिनकल्पिकानां वसतिः। स्थविरकल्पिकानामप्येवं वसतिरममत्वा, अपरिकर्मा च, द्रष्टव्या। मुक्त्वा प्रमार्जनामेकामन्यत्परिकर्म ति न कुर्वन्ति, इत्यर्थः।

एतदेव स्पष्टयति –

बिले न ढक्कंति न खज्जमाणिं,
गोणो य वारिंति न भज्जमाणिं।
दारे न ढक्किंति, न वल्लगिंति,
दप्पेण थेरा भइया उ कज्जे॥

एते भगवन्तो बिलानि धूल्यादिना न स्थगयन्ति। न वा गवादिभिः खाद्यमानां भज्यमानां वा यसतिं निवारयन्ति। द्वारे न ढक्किंति कन्नायाभ्यां न संयोजयन्ति। स्थविरकल्पिका अपि दर्पेण कार्याभावे एवमेव वसतेः परिकर्म न कुर्वन्ति। कार्ये तु पुष्टावलम्बेन भाज्याः परिकर्म कुर्वन्त्यपि, इतिभावः।

कियच्चिरो–चार–प्रश्रवणा–वकाश–तृणफलक–संरक्षण–संस्थापना–द्वाराणि गाथाद्वयेन भावयति –

किं चिरकालं वसिहि, इत्थ य उच्चारमाइए कुणसु।
इह अत्थसु मा इह य, इह तणफलए गिण्हह मा य ॥

यस्यां वसतौ याच्यमानायां तदीयस्वामिन इत्थं भणन्ति, कियत् चिरंकालं वत्स्यथ यूयं। यद्वा अत्र प्रदेशे उच्चारादीनि पुरीषप्रश्रवणादीनि कुरु। अत्र तु मा कुरुः इहास्मिन्नवकाशे आसीथ, इह मेति। एतानि वा हस्तसंज्ञया निर्दिश्यमानानि तृणफलकानि गृहीयाः, मा एतानीति।

सारक्खइ गोणाई, मा य पडिंतिं उविक्खइ उ भंते !
अन्नं वा अभियोगं, नेच्छति अचियत्तरिहारी ॥

संरक्षत वा गवादीन् बहिर्निगच्छतो यूयमस्माकं क्षेत्रादौ गतानां व्याकुलानां वा, मा च पतन्तीं वसतिमुपेक्षध्वे। किं सुसंस्थापना पुनः संस्काररूपा विधेया (संठवण्या य त्ति) द्वारगाथायां यश्चशब्दः तेन सुचितम्–अन्यं वा स्वाध्याय निषेधादिरूपं यत्र वसतिस्वामी अभियोग्यं नियन्त्राणां करोति, तं मनसापि नेच्छन्ति। सूक्ष्मस्याप्यप्रीतिकस्य परिहारिणो अमी भगवन्त इति।

प्राभृतिकाग्निदीपावधानद्वाराणि व्याचष्टे–

पाहुडियदीवओ वा, अग्गिपगासो व जत्थ न वसंति।
जत्थ य भणंति भंते! ओहाणं देहि गेहे वि ॥

यस्यां वसतौ प्राभृतिक बलिः क्रियते, दीपको वा यस्यां विधीयते। अग्निरङ्गारज्वालादिकस्तस्य प्रकाशो वा यत्र न वसन्ति। यत्र च तिष्ठत्सु रात्सु अगारिणी भणन्ति, अस्माकमपि गेहे अवधानमुपयोगं ददत इति। तत्रापि नावतिष्ठन्ते।

वत्स्यथ कति जना इति द्वारमाह –

वसतिं अणुणविंतो, जइ भणइकइ जणा वि न वत्थ बसे।
सुहुमं पि न सो इच्छइ, परस्स अप्पित्तियं भगवं ॥

वसतिमनुज्ञामनुज्ञापयन् यद्यसौ भणति, कति जना यूयं वस्त्यथेति तत्रापि न वसति। कुत इत्याह – सूक्ष्ममपि नासा विच्छति परस्याप्रीतिकं भगवान्। (कइ जणा उ त्ति) अत्र यस्तुशब्दस्तेनान्यासपीषदप्रीतिकजननीं वसतिमसौ परिहरति, इति गम्यते। उक्तं च–पञ्चवस्तुके–''सुहुमं पि हु अचियत्तं, परिहरए सो पररस्स नियमेणं। जं तेण तुसहाओ, वज्जइ अण्णं पि तज्जणिं''॥

भिक्षाचर्यापानकलेपालेपद्वाराणि विवृणोति –

तइयाइ भिक्खचरिया, पगहिया एसणा य पुव्ववुत्ता।
एमेव पाणगस्स वि, गिण्हइ अ अलेवडे दो वि ॥

तृतीयस्यां पौरूष्यां, भिक्षाचर्या एषणा च, प्रगृहीता अभिग्रह युक्ता, सा च (पंचसुगहवोसग्गहु) इत्यादिना पूर्वमेवोक्ता एवमेव पानकस्यापि तृतीयपौरूष्यां प्रगृहीतया वैषणया ग्रहणं करोति। तत्र शिष्यः पृच्छति (लेवालेवेत्ति) किमसौ विकल्पको लेपकृतं गृह्णति उतालेपकृतम्। अत्र सूरिः ''अलेव त्ति'' पदं विवृणवन्नुत्तरमाह– द्वेऽपि भक्तपाने अलेपकृते वल्लचणकसौ वीरादिरूपे गृह्णति, न लेपकृते।

आचामाम्लप्रतिमाद्वारद्वयमाह –

आयंविलं न गेण्हइ, जं च अणायंविलं वि लेवाडं।
न य पडिमा पडिवज्जइ, मासाई जा य सेसा उ॥

आयामाम्लमसौ न गृण्हाति। पुरीषाभेदा विदोषसंभवात्। अनायामाम्लमपि, यल्लेपकृतं तन्न गृह्णाति। न च प्रतिमा मासिक्यादिका, असौ प्रतिपद्यते। याश्च शेषा भद्रमहाभद्रादिकाः प्रतिमा स्ता अपि न प्रतिपद्यते। स्वकल्पस्थितिप्रतिपालनमेव, तस्य विशेषाभिग्रह इति भावः। बृ० १ उ०।

(२०) धुतादिसप्तविंशतिद्वारान्तर्गतं, सप्तविंशं मासकल्पद्वारम्।

अथ मासकल्प इति द्वारमभिधित्सुराह –

कप्पे सुत्तत्थविसा–रयस्स संह गुणवीरियजुत्तस्स।
जिणकप्पियस्स कप्पइ, अभिगहिया एसणा निच्चं॥

कल्पे जिनकल्पविषयो यौ सूत्रार्थौ, तत्र विशारदस्य निपुणस्य, संहननं शारीरबलं, वीर्यं धृतिस्ताभ्यां युक्तस्य, जिनकल्पिकस्य कल्पते। अभिग्रहीता साऽभिग्रहा एषणा।

(२१) जिन कल्पी षट्वीथ्यां भ्रमवीति विस्तरः।

सा च मासकल्पस्थितिमनुपालयतो भवतीति।

अतस्तस्यैव विधिमाह –

छव्वीहीओ गामं, काउं एक्किक्कियं तु सो अडइ।
वज्जेतुं होइ सुहं, अनिययवित्तिस्स कम्माइं॥

यत्रासौ मासकल्पं करोति, तं ग्रामं षट्वीथ्यार्ग्रहपङ्क्तिरूपाः कृत्वा, ततः प्रतिदिनमेकैका वीथीमटति। यावत्यष्टमे दिवसे षष्ठीं। कुत इत्याह – अनियतवृत्तेरपरापरवीथीषु पर्यटतः, कर्मादि आधाकर्मपूतिकर्मादिकं सुखं वर्जयितुं शक्यत इति भावः।

कथं पुनराधाकर्मादिसंभवो भवतीत्याशङ्क्य, तत्संभवादिदर्शयिषुराह –

अभिगहे दट्ठु करणं, भत्तोगाहिमं तिण्णि पूईयं।
तुदगो एगमणेगे, कप्पो त्ति य सत्तमे सत्त॥

तस्य भगवतः प्रथमवीथीमटतः कयाचिदगार्या श्रद्धातिरेकात्, घृतमधुसंयुक्तं भैक्षमुपनीतं। तेन च न कल्पते मे, लेपकृता भिक्षेति न गृहीतं। तत एवमादीनभिग्रहान् दृष्टवा, कर्मणः करणं भवति। तच्च भक्तमवगाहिमं वा भवेत्, त्रीणि च दिवसानि तत्पूतिकं। नोदकः प्रश्नयतीति एकं ग्रामं किमनेकान् षट्वीथीरूपान् करोति। सूरिराह – कल्प एषोऽमीषां, यत् षट् कल्पवीथीः कृत्वा, सप्तमे दिवसे पर्यटन्ति। सप्त च जना, एकस्यां वसतौ च, संभवन्तीति समासार्थः।

(२२) देयाऽऽहाराऽयोग्यतायां श्राविका–विचारः।

अथ विस्तारार्थमाह –

दट्ठूण य अणगारं, सड्ढा संवेगमागया काइ।
नत्थि महं तारिसयं, अन्नं जमलज्जिया दाहं॥

तमनगारं तपः शोषितं मलपटलजटिलं च परुषं दृष्टवा, हा काचितका, परमसंवेगमागता सती चिन्तयति। किं मे जीवितेन, यदीदृशस्य महात्मनो भिक्षा न दीयते। नास्ति मम तादृशं शोभनं, यदहमलज्जिता सती दास्यामि।

ततः –

सव्वपयत्तेण अहं, कल्ले काऊण भोअणं विउलं।
दाहामि तुट्ठमणसा, होहिइ मे पुण्णलाभो त्ति॥

सर्वप्रत्यनेन अहं, कल्पे द्वितीये अहनि, भोजनं विपुलं कृत्वा दास्यामि तुष्टमनसा प्रहृष्टेन चेतसा। ततो भविष्यति मे महान् पुण्यलाभः। इत्थं विचिन्त्य, द्वितीये दिवसे, विपुलमशनादिभक्तमवगाहिमं चोपस्कृत्य, तं भगवन्तं, प्रतीक्षमाणा तिष्ठति।

ततः किमभूदित्याह –

फेडितवीहीएहिं, अणंतवरनाणदंसणधरेहिं।
अद्दीणअपरिहंता, विइयं च पडिहिंडिया तत्थ॥

स्फेटिता परिहता वीथी यैस्तैर्जिनकल्पिकैः कथंभूतैरनन्तवरज्ञानदर्शनधरैः, इहानन्तज्ञानमयत्वादनन्तास्तीर्थकरास्तैरुपदिष्टे, वरे उत्तमे जिनकल्पिकानां ये ज्ञानदर्शने, उपलक्षणत्वा चारित्रं च, तानि धारयन्तीत्यनन्तवरज्ञानदर्शनधरास्तैः। आह चूर्णिकृत्– ''अणंतं नाणं जेसिं ते अणंता तित्थकरा तेहिं जिणकप्पियाणं वरं नाणं दंसणं चरित्तं च जं भणियं तद्धरेहिं ति'' ततस्ते अदीनमनसः अविषणाः, अपरितान्ताः कायेना निर्विण्णाः, द्वितीयां वीथीं क्रमागतां पर्यटितास्तत्र क्षेत्रे, एक वचनप्रक्रमेऽपि बहुवचनाभिधानमन्येषामपि, जिनकल्पिकाना मेवंविधवृत्तान्तसंभवख्यापनार्थम्।

(२३) कल्पशब्दार्थः। वीथ्यां भ्रमतस्तद्भक्तं, पूतिकं भवति।

अत्र चेयं व्यवस्था –

पढमदिवसोवक्कयं, तिण्णि दिवसाइं पूइयं होइ।
पूतिसु तिसु न कप्पइ, कप्पइ तईउ जया कप्पो॥

प्रथमे दिवसे तद्भक्तमुपस्कृतमाधाकर्म, त्रीणि दिवसानि यावत् तद् गृहं पूति भवति। तेषु च त्रिषु पूतिदिनेषु, तस्मिन् गृहे अन्यदपि किञ्चिन्न कल्पते। यदा तु तृतीयः कल्पो गतो भवति, तदा कल्पते। कल्पशब्देनेह दिवस उच्यते। उक्तं च पञ्चवस्तुटीकायाम्, कल्पते तृतीये कल्पे दिवसे गते अपरस्मिन् अहनीति।

(२४) त्रिषु दिवसेषु पूतिकं न कल्पते, किन्तु षष्ठे सप्तमे च दिवसे कल्पत इति। सप्तमदिवसे पर्यटतः श्राविका पृच्छा च।

इदमेव स्पष्टयन्नाह –

विइयदिवसम्मि कम्मं, तिन्नि उ दिवसाइं पूइयं होइ।
तिसु कप्पेसु न कप्पइ, कप्पइ तं छट्ठदिवसम्मि॥

यस्मिन् दिवसे स जिनकल्पिकः प्रथमवीथ्यामटन् तया दृष्टः तदपेक्ष्य द्वितीये दिवसे तद्भक्तमाधाकर्म, तदनन्तरं त्रीणि दिवसानि पूतिकं भवति। तेषु त्रिषु, कल्पेषु दिवसेषु, न कल्पते, किं तु कल्पते तत् षष्ठे दिवसे।

अथावगाहिमविषयं विधिमाह –

कल्ले से दाहामि, ओगाहिमंगणं णागता अज्ज।
तइए दिवसे तं हो–इ पूइयं कप्पए छट्ठे॥

(अवगाहिमं) दिनद्वयमपि क्षमत इति कृत्वा, सा श्राद्धा विनयवती। यदर्थमयवमवगाहिमपाको मया कृतः, स मुनिरद्य मद्गृहाङ्गणं नागतः। अतः कल्पे (से) तस्याहं दास्यामि। इदमवागहिममिति विचिन्त्य, तद्दानार्थं यदि स्थापयति, तदा तृतीयदिवसे कर्मैव भवति। यत्पुनस्तास्मिन्नेव दिवसेऽव्यवछिन्न भावा सा, आत्मार्थितं करोति, तदवगाहिममपि भक्तवन् मौलदिवसापेक्षया द्वितीयादिवसे कर्म, तृतीयादिषु तद् गृहं पूतिकं, षष्ठे तु दिवसे कल्पते।

एतदेव स्पष्टयति –

एमेवोगाहिगमं, नवरं तइयम्मि जमवि दिवसे तं ।
कम्मं तिसु पूइअं न, कप्पइ तं सत्तमे दिवसे ॥

एवमेव भक्तवदवगाहिममपि, यत्तदिवस एवात्मार्थी कृतं, तद्द्वितीये दिवसे कर्म, तृतीयादिषु त्रिषु पूर्ति, षष्ठे तु कल्पने। नवरं यत्तदिवसे नात्मार्थयति, ततृतीयेऽपि दिवसे कर्म। ततः त्रिषु दिवसेषु तत्पूतिकमिति कृत्वा, न कल्पते। किं तु कल्पते तद्ग्रहं सप्तमे, दिवसे, अत एव चासौ भूयः सप्तमे दिने तस्यां वीथ्यां पर्यटति।

आह–यद्येवं तर्हि , यदि तस्मिन्नेव दिवसे तं प्रथमवीथीमट तं दृष्टवा, कश्चिदाधाकर्मादि कुर्यात मोदकादिकं वा, तदर्थं कृत्वा सप्तमदिवसं यावदव्यवच्छिन्नभावं स्थापयेत्। तदा नासौ कथं जानाति?। कथं वा परिहरति इति? उच्यते–

चोयग! तं चेव दिणं, जइ वि करिज्जाहिं कोइ कम्माइं ।
न हु सो तं न विजाणइ, एसो पूण सिं अहाअप्पो ॥

हे नोदक! तस्मिन्नेव दिवसे यद्यपि कुर्यात् कश्चित् किञ्चिदाधाकर्मादि, (न हु) नैव स तन्न विज्ञानति ''द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थं गमयत्'' इति वचनात्, जानात्येवासौ श्रुतोपयोग बलेन। आह–यद्यसौ श्रुतोपयोगप्रामाण्यादेव जानीतं, ततः किमर्थमेकं ग्राममनेकभागान् परिकल्प्य पर्यटति? उच्यते– कल्प एषः (सिं) अमीषां भगवतां। यत् सप्तमे दिवसे भूयः प्रथमवीथ्यां पर्यटन्ति।

ततश्च, तं सप्तमे दिवसे प्रथमवीथी पर्यटन्तं दृष्टवा, सा श्राविका ब्रूयात्–

किं नाग या थ तइया, असव्वओ मे क –
ओ तुह निमित्तं। इह पुट्ठो सो भगवं,

तदानीं यूयं कि नागताः। 'थेति' निपातः पूरणार्थः। मया हित्वन्निमित्तं विलुपं भक्तादिकमुपस्कुर्वन्त्या युष्मदनुपयोगात् असद्व्ययः कृतः इति पृष्टोऽसौ भगवान् तूष्णीकं आस्ते, इति शेषः।

(२५) द्वितीयादेश–यादेशान्तरम्–

विइयाएसे इमं भणइ॥

द्वितीयादेशे आदेशान्तरे पुनरिदं भणति। किं तत्? इत्याह

अनियता उ वसईओ, भमरकुलाणं च गोकुलाणं च।
समणाणं सउणाणं, सारइआणं च मेहाणं ॥

अनियता वसतयः स्थानानि, उपलक्षणत्वात् परिभ्रमणानि च। केषामित्याह–भ्रमरकुलानां च, गोकुलानां च, श्रमणानां, शकुनानां, शारदानां, च मेघानाम्, इत्थं न नियतचर्यया भिक्षाटने श्रद्धावतामपि प्राणिनां, नाधाकर्मादिकरणे भूयः प्रवृत्ति रूपजायत इति।

अथ ''सत्त त्ति'' पदं विवृणोति –

एकाए वसहीए, उक्कोसेणं वसंति सत्त जणा ।
अवरोप्पसंभासं, चयन्ति अन्नोन्नवीहिं च ॥

एकस्यां वसतावुत्कर्षत् सप्त जनाः जिनकल्पिका वसन्ति। ते चैकत्र वसन्तोऽपि परस्परं भाषणं त्यजन्ति। न कुर्वन्तीत्यर्थः। अन्योऽन्यवीथिं च त्यजन्ति। यस्मिन् दिने, यस्यां वीथ्यामेकः पर्यटाते। न तस्मिन्नेव, तस्यामपर इत्यर्थः। गतं सामाचारी द्वारम्।

अथ स्यांतद्वारमनिधित्सुराह –

खंते काल चरित्ते, तित्थे परियाय–आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेस–ज्झाणे जगणाऽभिग्गहा य ॥
पव्वावण मुण्डवणे, मणसावन्ने वि से अणुग्घाया।
कारण–निप्पडिकम्मं, भत्तं पंथो य तइयाए ॥

एकस्मिन् क्षेत्रेऽमी भगवन्तो भवन्ति १ एवं काले २ चरित्रे ३ तीर्थे ४ पर्याये ५ आगमे ६ भेदे ७ कल्पे ८ लिङ्गे ९ लेश्यायां १० ध्याने ११ गणनायां १२ अभिग्रहाश्चामीषां भवन्ति न वा? १३ प्रव्रजनायां १४ मुण्डापनायां च कीदृशी स्थितिः १५ मनसाऽऽपन्नेऽपराधे (से) तस्यानुद्घाताश्चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम् १६ कारणं १७ निःप्रतिकर्म १८ भक्तं, पन्थाश्च, तृतीयस्यां पौरूष्याम् १९–२० इति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः।

व्यासार्थं प्रतिद्वारमभिधित्सुः प्रथमतः क्षेत्रद्वारमङ्ग कृत्याह –

जम्मणसंतीभावे, स होज्ज सव्वासु कम्मभूमीसु ।
साहरणे पुण भइयं, कम्मे च अकम्मभुमे वा ॥

क्षेत्रविषया द्विविधा मार्गणा। जन्मतः सद्भावतश्च। जन्मतो यत्र क्षेत्रे अयं प्रथम उत्पद्यते। सद्भावतस्तु यत्र जिनकल्पं प्रतिपन्नो, वाऽस्ति तत्र जन्मसद्भावयोरूभयोरपि, अयं सर्वासु कर्मभूमिषु, भरतपञ्चकैरावतपञ्चकविदेह पञ्चकलक्षणासु भवेतु। संहरणे देवादिना अन्यत्र नीते, पुनर्भाज्यं भजनीयं, कर्मभूमौ वाभवेदकर्मभूमौ वा। एतच्च सद्भावमाश्रित्योक्तं। जन्म तस्तु, कर्मभूमावेवायं भवतीत्युक्तं क्षेत्राद्वारम्।

अथ कालद्वारमाह –

ओमप्पिणीइ दोसुं, जम्मणतो तिसु संतीभावेणं ।
उस्सप्पिणिविवरीया, जम्मणतो संतीभावे य ॥

अवमर्प्पिण्यां जन्मतो द्वयोः सुषमदुष्पमसुष्झमयोः तृतीय चतुर्थारकयोर्भवेत्। सद्भावतस्तु त्रिषु तृतीयचतुर्थ–पञ्चमारकेषु (सुषमदुष्षम-दुष्षमसुषम–दुष्षमरूपेषु) दुष्षमरसुषमाया अन्ते जातो दुष्षमायां जिनकल्पं प्रतिपद्यते। इति कृत्वा उत्सर्पिणीविपरीता। जन्मतः सद्भावतश्च। इदमुक्तं भवति–उत्सर्पिण्यां दुष्षमदुष्षमसुवसुषमदुष्षमासु तिसृषु समासु जन्मश्रुते दुष्षमसुषमसुषदुष्षमासु द्वयोरसुं कल्पं प्रतिपद्यते दुष्षमायां तीर्थं नास्तीति कृत्वा तस्यां जातस्यापि दुष्पमसुषमायामेव कल्पप्रतिपत्तिरिति।

णोसप्पिणुस्सप्पिणी–भवंति पलिभागतो चउत्थम्मि।
काले पलिभागेसु अ, साहरणे होंति सव्वेसु ॥

नोऽवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूप अवस्थितकाले, चत्वारः प्रतिभागास्तद्यथा–सुषमसुषमाप्रतिभागः। सुषमाप्रतिभागः सुषम-दुष्षमाप्रतिभागः। दुष्षमसुषमाप्रतिभागश्चेति। तत्राद्यो देवकुरूत्तरकुर्वोर्द्वितीयो रम्यकहरिवर्षयोस्तृतीयो हैमवतैरण्यव-तयोश्चतुर्थस्तु महाविदेहेषु। तत्र चतुर्थे प्रतिभागे जन्मतः सद्भावतश्चामी भवन्ति। नाद्येषु त्रिषु प्रतिभागेषु (काले त्ति) यो सहाविदेहे जिनकल्पिकः स सुषमादिषु षट्स्वपि कालेषु संहरणतो भवेत् (पलिभागेषु अत्ति) भरतैरावतमहाविदेहेषु संभूतः संहरणतः सर्वेष्वपि प्रतिभागेषु देवकुर्वा दिसंबन्धिषु भवन्तीति।

चारित्राद्वारमाह –

पढमे वा विईए वा, पडिवज्जइ संजमम्मि जिणकप्पं ।
पुव्वपडिवणओ पुण, अण्णयरे संजमे होज्जा ॥

प्रथमे वा सामायिकाख्ये, द्वितीये वा छेदोपस्थापनीयनाम्नि संयमे वर्तमानो, जिनकल्पं प्रतिपद्यते। तत्र मध्यमतीर्थकरवि देऽतीर्थकृत-तीर्थवर्ती, प्रथमे संयमे। पूर्वपश्चिमतीर्थवर्त्ती तु द्वितीये, इति मन्तव्यं। पूर्वप्रतिपन्नः पुनरसौ जिनकल्पिकोऽन्य तरस्मिन् सूक्ष्मसंपरायादावपि संयमे भवेत्।

तीर्थ–पर्याय–द्वारद्वयमाह

नियमा होइ स तित्थे, गिहिपरियाए जहन्नगुणतीसा।
जइपरियाए बीसा, दोसु वि उक्कोसदेसूणा॥

स जिनकल्पिको नियमात्तीर्थो भवति। न पुनर्व्यवच्छिन्ने, उत्पन्ने वा तीर्थे ✲ पर्यायो द्विधा ✲ गृहिपर्यायो यतिपर्यायश्च–तत्र गृहिपर्यायो जन्मपर्यायो इत्यकोऽर्थः। तत्र जघन्यतः, एकोनत्रिंशत् वर्षाणि। यतिपर्याये, तु, जघन्यतो विंशतवर्षाणि। उत्कर्षतस्तु, द्वयोरपि गृहिपर्याययतिपर्याययोर्देशोनां पूर्वकोटीं यदा प्राप्तो भवति तदा जिनकल्पं प्रतिपद्यते।

तथा–ऽऽगम–वेद–द्वारे आह –

न करिंति आगमं ते, त्थीवज्जेनं वेदो इक्कतरो।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा॥

न कुर्वन्ति ते जिनकल्पिकाः आगमम्। पूर्वश्रुताध्ययनं, तत्तु श्रुतं। विश्रोतसिकाक्षयहेतोरेकाग्रमनाः सम्यगनुस्मरन्ति।

वेदमंगीकृत्य प्राप्तिकाले स्त्रीवर्जं, एकतरः पुरूषवेदो, नपुंसकवेदो वा, असंक्लिष्टस्तस्य भवेत्। पूर्वप्रतिपन्नः पुनः सवेदोऽवेदो वा भवेत्। तत्र जिनकल्पिकस्य तद्भवे केवलोत्पत्ति प्रतिबेधादुपशमश्रेण्यां वेदे उपशमिते सत्यवेदत्वम्। तदुक्तम् – ''उवसमसेढीए खलु, वेदे उवसमियम्मि उ भवेदो आ न उ खविए तं जम्मे, केवलपडिसेहभावाओ। '' शेषकालं तु सवेद इति।

अथ कल्प–लिङ्ग–लेश्या–द्वाराण्याह –

ठियमठियम्मि कप्पे, लिंगे भयणा उ दव्वलिगेणं।
तेऽहिं सुद्धाहिं पढ–मया अपढमया होज्ज सव्वासु॥

स्थितकल्पे, अस्थितकल्पे च, मध्यमजिनमहाविदेह जिनभक्तोऽमी भवेयु✲ लिङ्गे चिन्त्यमाने✲ नजना तु, द्रव्यलिङ्गे न कार्या। तु शब्दो विशेषणे। किं विशिनष्टि–प्रथमतः प्रतिपद्यमानो, द्रव्यलिङ्गयुक्त एव भवति। ऊर्ध्वमपि भावलिङ्ग नियमाद्भवति। द्रव्यलिङ्गं शु, जीर्णत्वाच्चौरादिभिरूपहृतत्वाद्वा, कदाचित्तम-भवत्यपि, वक्तं च – ''इयरं तु जिण्णभावा, एहिं सययं न होइ विख्याइ। न य तेण विणा वि तहा, जायइ से भाव परिहाणी'' न इतरदिति द्रव्यलिङ्गम् ✲✲ लेश्यासु तेजसादिकासु, प्रथमकाः प्रतिपद्यमाना भवन्ति। अप्रथमकास्तु पूर्वप्रतिपन्नाः, सर्वास्वपि शुद्धासु लेश्यासु भवेयुः। केवल मशुद्धासु वर्तमानो नात्यन्तं संक्लिष्टासु वर्तते, न च भूयासं कालमिति।

ध्यान–गणना–द्वारद्वयमाह –.

धम्मेण उ पडिवज्जइ, इयरेसु वि होज्ज अट्टझाणेसु।
पडिवत्तिसयपुहत्तं, सहसपुहत्तं च पडिवन्ने॥

धर्मेण ध्यानेन, तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वात्। प्रवर्द्धमानेन सता, कल्पं प्रतिपद्यते। पूर्वप्रतिपन्नस्तु, इतरेष्वप्यार्तादिषु ध्यानेषु कर्मवैचित्र्य-बलाद्भवेदपि, केवलं कुशलपरिणामस्योद्वा मत्वात्तीवकर्मपरिणतिजनितः सोऽपि रौद्रार्तभावोऽस्य प्रायो निरनुबन्धो भवति। तदुक्तम्– ''एवं च कुसलजोगो उन्द्वा मे तिव्व धम्मपरिणामो। रूद्दट्टेसु विभावो, इमस्स पायं निरणुबंधो''॥ गणनाद्वारे प्रतिपत्तिं, प्रतिपद्यमानतामंगीकृत्यो-त्कर्षतः, शतपृथक्त्वमेकस्मिन् समये अमीषां भगवतां प्राप्यते। पूर्वप्रति पन्नकानां पुनरूत्कर्षतः सहस्त्रपृथक्त्वं। कर्मभूमिपञ्चदशमप्येता मेवोत्कर्षतः प्राप्यमानत्वात्। जघन्यतस्तु प्रतिपद्यमानका एको, द्वौ, त्रयो, वेत्यादि। पूर्वप्रति पन्नास्तु जघन्यतोऽपि सहस्रपृथक्त्वमेव। महाविदेहपञ्चके, सर्वदैवैतावतामवाप्यमानत्वात्। नवरमुत्कृष्टपदा-ज्जघन्यपदं लघुतरमिति।

अभिग्रह–प्रव्राजना–मुण्डापना–द्वाराणि व्याचष्टे।

भिक्खायरियाईया, अभिग्गहा नेव सो उ पव्वावे।
उवदेसं पुण कुणती, धुव पव्वेणंति जाणित्ता॥

भिक्षाचर्या ऋज्वा गत्या प्रत्यागतिकादयो गोचरचर्यावि शेषा स्तदादर्याऽभिग्रहाः, इत्वरत्वादस्य न भवन्ति। जिनकल्प एव हि यावत्कथिकस्तस्याऽभिग्रहस्तत्र च प्रतिनियता निरपवादाश्च गोचरादयस्तस्तत्पालनमेवास्य परमं विशुद्धिस्थानं। यदाह – ''एयम्मि गोयराति, नियया नियमेण निरत्रावादा य। तप्पालनं चिय परं, एअस्स विसुद्धिट्ठाणं तु'' तथा नवा सावन्यं प्रव्राजयन्ति। उपलक्षणत्वात् न च मुण्डापयति। कल्प स्थितिरियमिति कृत्वा–उपदेशं पुनः करोति। प्रयच्छन्ति ध्रुव प्रव्राजिनमश्वयप्रव्रजनशीलं विज्ञाय। कञ्चन तं च संविग्न गीतार्थसांधूनां समीपे प्रहिणोति।

अथ मणसावन्ने वि से अणुग्घाय त्ति द्वारं।

मनसापि सूक्ष्मतिचारमात्रापन्नस्यास्य सर्वजघन्यं चतुर्गुरुस्कं प्रायश्चित्तम्।

अथकारण–निष्प्रतिकर्म–द्वारे आह –

निप्पडिकम्मसरीरा, न कारणं अत्थिं किंचि नत्थाई।
जंघाबलम्मि खीणे, अविहरमाणो वि नावजे।

निष्प्रतिकर्मशरीरा, अमी भगवन्तो, नाक्षिमलादिकमप्य पनयन्ति। न वा चिकित्सादि कारयन्ति ✲ न च तेषां कारणम्, ✲ आलम्बनं ज्ञानादि किञ्चिद्विद्यते, यद्बलाखे द्वितीयपदा सेवनं विदध्युः।

भक्तः ✲ पन्थाञ्च ✲ तृतीयस्यामिति द्वारम्।

तृतीयस्यां पौरूष्यां भिक्षाकालो, विहारकालोऽस्य भवति।

शेषासु तु पौरूषीषु प्रायः कायोत्सर्गेणास्ते ✲ जङ्घाबले परिक्षीणे पुनरविहरन्नपि विहारमकुर्वन्नपि नापद्यते, कमपि दोषं, किंत्वे कत्रैव क्षेत्रे स्वकल्पस्थितिं स तु पालयतीति व्याख्यातं स्थितिद्वारं, तद्व्याख्याने चाभिहितः कल्पविहारः। बृ० १ उ०।

व्यासार्थस्त्वस्याः प्रस्तुतं द्वारमेव –

सयमे आउकालं, णाउं पुच्छित्तु वा बहूसेसं।
सुबहुगुणलाभकंखी, विहारमब्भुज्जयं भयई॥३७७॥

स्वयमेवायुष्कालं ज्ञात्वा, बहुशेषं श्रुतातिशयेन पृष्टा च भुताति शययुक्तमन्यं बहुशेषं ज्ञात्वा, सुबहुगुणलाभकाङ्क्षं सन्, साधुविहारं क्रियारूपमभ्युद्यतं भजतं प्रधानमिति गाथार्थः।

प्रसङ्गमभिधाय पञ्चतुलनेति द्वारं व्यचिख्यासुराह –

गणि–उवझाय–पवित्ति+थेर–गणावच्छेइआ इमे पंच।
पायमहिगारिणो इह, तेसिमिमा होइ तुलणओ॥३७०॥

गणी गच्छाधिपः, आचार्यः, उपाध्यायः सूत्राप्रदः, प्रवृत्तिरूचितो प्रवर्तकः, स्थविरः, स्थिरीकरणात्, गणावच्छेदको गणादेशपालनक्षमः, एते पञ्चपुरूषाः, प्रायोऽधिकारिण इहाभ्युद्यतविहारे। एतेषामियं वक्ष्मयमाणा भवति, तुलनेति गाथार्थः।

गणणिक्खेवित्तरओ, गणिस्स जो वा ठिओ जहिं ठाणे।
सो तं अप्पसमस्से – वं णि णिक्खिवइ इत्तरं चेव ॥३६७॥

गणनिक्षेप इत्वरः परिमितकालो, गणिनो भवति। तो वा स्थितो यत्र स्थाने उपाध्यायादौ, स तत्पदमात्मसमस्यैव निक्षिपतीत्व रमेवापरस्य साधोरिति गाथार्थः।

पिच्छासु ताव एए, केरसिया होंतिमस्स ठाणस्स।
जोगाण वि पाएणं, णिव्वहणं दुक्करं होइ ॥३६०॥

पश्यामस्तावदेते अभिनवाचार्यदयः, कीदृशा भवन्त्यस्य स्थानस्य प्रस्तुतस्येति तानवेति। अयोग्यानामनारोपण मेवेत्याशङ्क्याह – योग्यानामपि सामान्येन प्रायो निर्वहणं, प्रस्तुतस्य दुष्करं भवति, लोकसिद्धमेतदिति गाथार्थः।

युक्तया तुलनाप्रयोजनमाह –

ण य बहुगुणचाएणं, थोवगुणपसाहणं वुहजणाणं।
इट्ठं कयाइ कज्जं, कुसला सुपइट्ठियारंभा ॥३६१॥

न च बहुगुणत्यागेन प्रामणिकेन, स्तोकगुणप्रसाधनं, बुधज गानां विदुषामिष्टं, कदाचित्कार्यं , नैवेत्यर्थः। किमित्यत आह कुशलाः सुप्रतिष्ठितारंभा भवन्तीति गाथार्थः।

उपकरणद्वारमाश्रित्याह –

उवगरणं सुद्धेण, माणजुअं जमुचिअं सकप्पस्स।
तं गेणहइ तयभावे, अहागभं जाव उचिअं तु ॥३७२॥

उपकरणं वस्त्रविशुद्धैषणामानयुक्तं, यदुचितं स्वकल्पस्य समयमील्या, तन्नत्युत्सर्गणादित एव, तदभावे सति, यथाकृतं गृह्णति। यावदुचित-मन्यद्भवति, तावदेवेति गाथार्थः।

जाए उचिए अतयं, वोसिरइ अहागमं विहाणेण।
इय आणाविरयस्सिइ, विण्णेअं तं पि तेण समं॥३७३॥

जातु सत्युचितोपकरणे, तत् प्राक्तनं व्युत्सृजति। यथाकृत मुपकरणं, विधानेन सौत्रेण, इयत्यागो निस्पृहतया आज्ञाविरत स्येह लोकेऽपि विज्ञेयं। तदपि मौलमुपकरणं तेन समं पाश्चात्येनेति गाथार्थः।

किमित्यत आह –

आणा इत्थ पमाणं, विण्णेआ सव्वहेण परलोए।
आराहणाअ तीए, धम्मो वज्जं पुण निमित्तं ॥३७४॥

आज्ञाऽत्र प्रमाणं विज्ञेया। सर्वथैव परलोके, न त्वन्यत् किञ्चित् आराधनेन तस्या धर्मः। आज्ञाबाह्यं पुननिर्मितर्मिति गाथार्थः

उवगरणं उवगारे, तीए आराहणस्सऽवट्टंतं।
पावइ जहत्थनामं, इहरा अहिगरणमो भणिअं॥३७६॥

उपकरणमप्युपकरो तस्याऽऽज्ञाया आराधनस्यावर्तमानं स प्राप्नोति, यथार्थनामोपकरणमिति। इतरथा तदाराधनोप कराभावे सत्यधिकरण-मेव भणितं तदुपकरणमिति गाथार्थः।

परिकर्मद्वारमभिधातुमाह –

परिकम्मं पुण इहिंदि–आइं विणिअमणभावणा नेआ।
तमवादालोअण – विहिणा सम्मंतओ कुणइ ॥३६६॥

परिकर्म, पुनरिह प्रक्रमे इन्द्रियादिविनियमभावना ज्ञेया भावनाभ्यासः तत्परिकर्म अपायाद्यालोचनविधीनेन्द्रियादीनां सम्यक्करवतः करोतीति गाथार्थः।

इंदिअकसायजोगा, विणम्मिआ तेण पुव्वमेव णणु!
सच्चं तहा वि जयए, तज्जयसिद्धिं गणंतो सो ॥३७६॥

इन्द्रियकषायसोगाः सर्व एव विनियमितास्तेन साधुना पूर्व मेव ननु अत्रोत्तरं–सत्यमेतत्, तथापि यतते, स तज्जयादि न्द्रियादिजयासिद्धिं गणयन् प्रस्तुतस्येति गाथार्थः।

इंदिअजोगेहिं तहा, ऐहऽहिगारो जहा कसाएहिं।
एएहिं विणा णेए, दुहुवुड्ढीवीअभूआआ ॥३८६॥

इन्द्रिययोगैस्तथा नेहाधिकारः प्रक्रमे। यथा कषायैः किमित्यत्राह-एभिर्विना नैते इन्द्रिययोगा दुःखवृद्धिवीजभूताः। इति गाथार्थः।

जेण उ ते वि कसाया, णो इंदिअयोगविरहिआ हुंति।
तव्विणियमणं पि तओ, तयत्थमेवेत्थ कायव्वं ॥७६॥

येन पुनः कारणेन, तेऽपि कषायाः नेन्द्रिययोगविरहिता भवन्ति तद्विनियमनमपि ततः कारणात्। तदर्थमेव कषायवि नियमनार्थमेव कर्तव्यमिति गाथार्थः

तपोभावनादिप्रतिपादनायाह –

इअ परिकम्मिअभावो–ऽणब्भत्थं पोरिसाइतिमुणतवं।
कुणइ छुहाविजयट्ठा, गिरिणइंसीहेण दिट्ठंता ॥३६०॥

(इय त्ति) ऐवं परिकर्मितभावः सन्नेन्द्रियादिविनियमनेना नभ्यस्तम-सात्मीभूतं पूर्व पौरूष्याद्यभ्युपलक्षमेतत् त्रिगुणं तपः, करोति। त्रिवास-सेवनेन इन्द्रियजयाय सात्मीभावेन क्षुद्विजयार्थम्। गिरिनदीसिंहेनाऽत्र दृष्टान्तः। यथाऽसौ गिरिनदीं वेगवती मसकृदुत्तरणेनपि, प्रगुणमुत्तर्येव-मसांवयाधकं तपः करोतीति गाथार्थः।

एतदेवाह –

इक्किक्कं ताव तवं, करेइ जइ तेण कीरमाणेणं।
हाणी ण होइ जइआ, वि होइ छम्मासुवस्सगो ॥३६१॥

एकैकं पौरूष्यादि तावत्तपः करोति सात्मीभावेन।

यथा तेन तपसाह –

अप्पहारस्स ण इं–दिआइं विसएसु संपयट्टंति।
नेअ किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जई आवि ॥३६२॥

अल्पाहारस्य तपसा, नेन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, विषयेषु स्पर्शनादिषु संप्रवर्तन्ते। धातूद्रेकाभावान्न च काम्यति। तपसारसिकेष्वशनादिषु, न सज्जतं चापि। अपरिभोगेनानादरा दिति गाथार्थः।

तवभाणणाए पंचिं–दिआणि दंताणि जस्स वसमिंति।
इंदियजोग्गाइरिओ, समाहिकरणइं कारेइ ॥३६३॥

तपोभावनया हेतुभूतया, पञ्चेन्द्रियाणि दान्तानि सन्ति यस्य वशमागच्छन्ति प्राणिनः, स इन्द्रिययोग्याचार्यः इन्द्रियग्रा

णनक्रियागुरूः। समाधिकरणानि, समाधिव्यापारान् कारयती न्द्रियाणि, इति गाथार्थः।

द्वारान्तरसंबन्धाभिधित्सयाह –

इअ तवणिम्माओ खलु, पच्छा सो सत्तभावणं कुणइ।
निद्दाभयविजयट्ठं, तत्थ उ पडिमा इमा पंच ॥३९४॥

(इअ) एवं तपोनिर्मितः खलु, पश्चादसौ मुनिः सत्वभावनां करोति। सत्वाभ्यासमित्यर्थः। निद्राभयविजयार्थमतस्करोति। तत्र तु प्रतिमाः सत्वभावनायामेताः पञ्चेति गाथार्थः।

पढमा उवस्सयम्मि, बीया वहिं तइया चउक्कम्मि।
सुण्णघराम्मि चउत्थी, तह पंचमिआ मसाणम्मि ॥३९६॥

प्रथमोपाश्रये प्रतिमा, द्वितीया बहिरूपाश्रयस्य, तृतीया चतुर्थ स्थाने संबन्धिनि, शून्यगृहे–चतुर्थी स्थानसंबन्धिन्ये, तथा पञ्चमी श्मशाने प्रतिमा। इति गाथार्थः।

एयासु चेव थोवं, पुव्वपव्वत्तं जिणइ निद्दमसो।
मूसगछिक्काओ तह, भयं च सहसुब्भवं अजिअं ॥३९६॥

एतासु प्रतिमासु स्तोकस्तोकं, यथा समाधिना पूर्वप्रवृत्तां जयति निद्रामसौ मूषिकपृष्टादौ। तथा आदिशब्दात्मार्जरादिपरिग्रहः। भयं च सहसोद्भवमजितं जयतीति गाथार्थः।

एएए सो कमेणं, डिंभगतक्करसुराइकयमेअं।
जिणिउण महासत्तो, वहइ भयं निब्भओ सयलं॥३९७॥

अनेनासौ क्रमेण यथोपन्यस्तेन, डिम्भकतस्करसुरादिकृत मेतद्भयं जित्वा–महासत्वः सर्वासु प्रतिमासु वहति भयं प्रस्तुतं निर्भयः सकलमिति गाथार्थः।

श्रुतभावनामाह –

अह सुत्तभावणं सो, एगग्गमणाऽणाउलो उ भयवं।
कालपरिमाणहेउ, सव्वत्थं सव्वहा कुणइ ॥३९०॥

अथ सूत्राभावनामसौऋषिरेकाग्रमना अन्तःकरणेन अनाकुलो बहिर्वृत्या भगवानसौ, कालपरिमाणहेतोस्तदभ्या सादेव तद्भूतेः स्वभ्यस्तां सर्वथा करोत्युच्छासादिमानेनेति गाथार्थः।

एतदेवाह –

उस्सासाओ पाणा, तओ अ थोवो तओ वि अ मुहुत्तो।
एएहिं पोरिसीओ, ताहिं वि णिसाइ जाणेइ ॥३९९॥

वच्छ्वासात् प्राणादित्युच्छासनिःश्वासः। ततश्च प्राणात्, स्तोकः सप्तप्राणमानाः। ततोऽपि च स्तोकान्महूर्ता द्विघटिककालः। एभिर्मुहूर्तः पौरूष्यः। ताभिरपि पौरूषीभिः, निशादिवसादि जानितः सूत्राभ्यासतः। इति गाथार्थः।

एत्तो उवओगाउ, सदेव सो मूढलक्खयाए उ।
दोसं अपावमाणो, करेइ किच्चं अविवरीअं ॥४००॥

अत उपयोगात् सूत्राभ्यसगर्भात्, सदैवासौऽमूढलक्षतयां कारणेन दोषमप्राप्नुवन्, निरतिचारः, सन् करोति कृत्यं, विहितिनुष्ठानविपरीतमिति गाथार्थः।

महाइछण्णेसुं उ–भओ कालमहावा उवस्सग्गे।
पेहाइभिक्खपंथे, जाणइ कालं विणा ठाइ ॥४०१॥

मेघादिछन्नेषु विभागेषूभयकालं प्रारम्भसमाप्तिरूपम्। अथवो पसर्गे दिव्यादौ। प्रेक्षादवुपकरणस्य भिक्षापथे औचित्येन जानाति, कालं योग्यं विना स्थापयतीति गाथार्थः।

एकत्वभावनामभिधातुमाह –

एगत्तभावणं तह, गुरूमाइस दिट्ठिमाइपरिहारा।
भावइ छिण्णममत्तो, तत्तं हिअयम्मि काउणं॥४०२॥

एकत्वभावनां, तथाऽसौ, यतिगुर्वादिषु दृष्टयादिपरिहाराह र्शनालाप-परिहारेण भावयत्वभ्यस्यति। छिन्नममत्व संस्तत्वं हृदयेकृत्वावक्ष्य-माणमिति गाथार्थः।

एगो आया संजो–गिअं, तुऽसेसं इमस्स पाएणं।
दुक्खणिमित्तं सव्वं, मोत्तुं मज्झत्थ भावं तु ॥४०३॥

एक आत्मा तत्वतः संयोगिकं त्वशेषमस्य देहादि, प्रायेण दुःखनिमित्तं सर्वमेवत्, हितस्तु मध्यस्थभावो यस्य सर्वत्रेति गाथार्थः।

इय भावियपरमत्थो, समसुहदक्खोवहीअरो होइ।
तत्तो अ सो क्रमेणं, साहेइ जहिच्छिअं कज्जं ॥४४०॥

टीका तु – (मूलप्रतावप्रतापवान्नलिखिता)

एगत्तभावणाए, ण कामभोगे गणे सरीरे वा।
सज्जइ वेरग्गओ, फासेइ अणुत्तरं करणं ॥४०६॥

एकत्वभावनया भाव्यमानया, न कामभोगयोस्तथा, गणे, शरीरे वा, सज्जने, सङ्गं गच्छति। एवं वैराग्यगतः सन्, स्पृशत्यनु त्तरं करणं, प्रधान-योगनिमित्तमितिगाथार्थः।

बलभावनमाह –

इअ एगत्तसमेओ, सारीरं माणसं च दुविहं पि।
भावइ बलं महप्पा, उस्सग्गधिईसरूवं तु ॥४०६॥

एवमेकत्वभावनासमेतः सन्, शरीरं, मानसं च, द्विविध मप्येतत् भावयति बलम्, महात्माऽसौ, कायोत्सर्गधृतिस्वरूपं यथा संख्यमिति गाथार्थः।

पायं उस्सग्गेणं, तस्स ठिईभावणावला एसो।
संघयणे वि हु जायइ, एण्हिं भाराइबलतुल्लो ॥४०७॥

प्रायः कायोत्सर्गेण तस्य यतेः स्थितिभावनाबलाच्चैष कायोत्सर्ग, संहननेऽपि सति जायते। इदानीं भारादिबलतुल्यः, शक्तौ सत्यामप्य-भ्यासतो भारवहनिदर्शनादिति गाथार्थः।

सइ सुहभावेण तहा, जं तं सुहभावठिज्जरूवाओ।
एत्तो चिय कायव्वा, धिई णिहाणाइलाभो व्व ॥४००॥

सदा शुभभावेन, तथा तस्य स्थितिरिति वर्त्तते। यद्यस्मादेवं तच्छुभ-भावस्थैर्यरूपा। अत एव स्थितिसंपादनार्थं कर्तव्या धृतिस्तेन निधानादिलाभ इवेष्टसिद्धेरिति गाथार्थः।

धिइबलए – बद्धकच्छो, कम्म जयठाउ ओज्जओ मइमो।
सव्वत्था, अविसाई, उवसग्गसहो दढं होइ ॥४०९॥

धृतिबलनिबद्धकक्षः सत्कर्मजयार्थमुद्यतो, मतिमानेष सर्वत्राविषादि-भावेनोपसर्गसहो, दृढमत्यर्थं भवतीति गाथार्थः।

चरमभावनामभिधाय विशेषमाह –

सव्वासु भावणासुं, एसो विही उ होज्जइ ओहेणं।
एत्थं चसद्दगहिओ, तयणंतरं चेव केइ त्ति ॥४१०॥

सर्वासु भावनासु अनन्तरोदितासु, एष विधिस्तु वक्ष्यमाणो भवत्योघनं। अत्र चशब्दगृहीतो द्वारगाथायां, तदनन्तरं विन्यन्तरमेवकेचनेति गाथार्थः।

जिणकप्पिअपडिरूवी, गच्छे च्चिअ कुणइ दुविहपरिकम्मं।
आहारोवहिमाई–सु ताहे पडिवज्जए कप्पं ॥४११॥

जिनकल्पिकप्रतिरूपी तत्सदृशो गच्छ एव स्थितः सन्, करोति, द्विविधं परिकर्म, बाह्यमान्तरं च, आहारोपध्यादिषु विषयेषु, ततस्तत्कृत्वा प्रतिपद्यते कल्पमिति गाथार्थः।

एतदेवाह –

तइआएऽलेवाडं, पंचऽण्णराअं भयइ आहारं।
दोण्हऽण्णयराअ पुणो, उवहिं च अहागमं चेव ॥४१२॥

तृतीयायां पौरूष्यामलेकृतं वल्लादि, पञ्चान्यतरया एषणया, भजते सेवते आहारं, द्वयोरन्यतरया पुनरेषणयोपधिं च भजते। यथाकृतं चैवोपधिं, नान्यं, तत्रौधतं एवैषणा हारारस्य सप्त। यथोक्तम् – ''संसठासंसठा, उरूडा तह होइ अप्पलेवा य। उग्गहियापग्गहिया, ओज्झियधम्मा य सत्तमिया''॥१॥ ''तत्थ पंचसुग्गहो, एक्काए अभिग्गहो असणस्स। एक्काए चेव पाणस्स,''॥ वस्त्रस्य त्वेषणाश्चतस्रो। यथोक्तम् – ''ठइट्ठपेह– अंतर–मोज्झिअकम्मा चउव्विहा भणिया। वत्थेसणा जईणं, जिणेहि जिअरागदोसेहिं''॥ 'वत्थं पि दोसु गिण्हइ' इति गाथाभावार्थः।

पाणिपडिग्गइपत्तो, सचेलभेएण वा वि दुविहं तु।
जो जहरूवो होहिइ, तह परिकम्म अप्पं ॥४१३॥

पाणिप्रतिग्रहपात्रवद्भेदेन सचेलाचेलभेदेन चापि, द्विविधं तु प्रस्तुतं परिकर्म। यो यथारूपो भविष्यति जिनकल्पिकः। स तथा तेनैव प्रकारेण, परिकर्मयत्यात्मानमिति गाथार्थः।

चरमद्वाराभिधित्सयाह –

निम्माओ अ तहिं सो, गच्छाइं सव्वहाऽणुजाणित्ता।
पुव्वोइआण सम्मं, पच्छा उववूहिउं विहिणा ॥४१४॥

निर्मातश्च, तत्र परिकर्मण्यसौ, गच्छादिसु सर्वथाऽनुज्ञाय प्रागुक्तं पदं, पूर्वोदितानां, सम्यगित्वरस्थापितानां, पश्चादुपबृंह्य विधिना तेनैवेति गाथार्थः।

खामेइ तओ संघं, सवालवुड्ढं जहोचिअं एवं।
अचंतं संविग्गो, पुव्वविरूद्धे विसेसेणं ॥४१५॥

क्षामयति ततः सङ्घं, सामान्येन सबालवृद्धं यथोचितमेव। वक्ष्यमाणनीत्या अत्यन्तं संविग्नः सन् पूर्वविरुद्धान् विशेषेण कांश्चनेति गाथार्थः।

जं किंचि पमाएणं, ण सुदु भे वट्टिअं मए पुव्विं।
तं भे खामेमि अहं, णिस्सल्लो णिक्कसाओ त्ति ॥४१६॥

वत्किंचित् प्रमादेन हेतुना न सुष्ठु (भे) भवतां वर्तितं मया पूर्वं तद् (भे) युष्मान् क्षमयाम्यहं। निःशल्यो, निःकषायोऽस्मि संवृत्त इति गाथार्थः।

दव्वाई अणुकूले, महाविभूइए अह जिणाईणं।
अब्भासे परिवज्जइ, जिणकप्पं असइ वडरूक्खे ॥४१७॥

द्रव्यादावनुकूले सति महाविभूत्या दानादिकया, अथ जिनादिनामतिशयिनामभ्यासे, प्रतिपद्यते जिनकल्पमुत्सर्गेण। असति च वटवृक्षेऽपवादे। इति गाथार्थः।

दाराणुवायो इह, सो पुण तइयाश्च भावणासारं।
काउण तं विहाणं, णिरविक्खो सव्वहा वयइ ॥४१६॥

द्वारानुपातो द्रष्टव्यः। स पुनर्ऋषिस्तृतीयायां पौरूष्यां भावनासारं सत्कृत्वा, तन्नमस्करादिप्रतिपत्तिविधानं, निरपेक्षः सन्, सर्वथा व्रजति ततः। इति गाथार्थः।

पक्खीपत्तुवगरणे, गच्छारामाउ विणिग्गए तम्मि।
चक्खुविसयं अईए, अइंति आणंदिया साहू ॥४१६॥

पक्षिपत्रोपकरणे अमुकस्तोकोपधौ, गच्छारामात्सुखसंव्या द्विनिर्गत तस्मिन् जिनकल्पिके, चक्षुर्विषयमतीते अदर्शनीभूते, आगच्छन्ति स्वकसतिमानन्दिताः, साधवः तत्प्रतिपत्तयेति गाथार्थः।

आभोएउं खेत्तं, णिव्वाघाएण मासाणिव्वाइं।
गंतुण तत्थ विहरइ, एस विहारो समासेणं ॥४३०॥

(आनुद्य) विज्ञाय क्षेत्रं निर्व्याघातेन हेतुभूतेन, (मासणिव्वाहं) मासनिर्वहणसमर्थं गत्वा–तत्र क्षेत्रं विहरति। स्वनीतिं पालयति रष विहारः, समासेनास्य भगवतः, इति गाथार्थः।

एत्थ य सामायारी, इमस्म जा होइ तं पवक्खामि।
भयणाअ दसविहाणं, गुरूवएसाणुसारेणं ॥४२१॥

अत्र च क्षेत्रे सामाचारी स्थितिरस्य या एवं जिनकल्पिकस्य। तां प्रवक्ष्यामि। भजनया विकल्पेन दशविधायां सामाचार्यां वक्ष्यमाणायां गुरूपदेशानुसारेण, न स्वमनीषिकयेति गाथार्थः।

दशविधनेवादेशनाह –

इच्छा मिच्छा तहका–रो आवस्सिइ निसी हिइऽऽपुच्छा।
पडिपुच्छ–छंदण–निमं–तणा य उवसंपया चेव ॥४२२॥

इच्छा, मिथ्या, तथाकार, इति। कारशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते इच्छाकारो, मिथ्याकारः, तथाकार, इति। तथा परभणने सर्वत्रेच्छाकाराः। दोष मोदने मिथ्याकारः। तथा आवश्यकी नैषेधिकी च आपृच्छा, वसतिनिर्गमे आवश्यकी, प्रवेशे नैषेधिकी, च स्वकार्यप्रवृत्ता वा, पृच्छा तथा प्रतिपृच्छा, छन्दना निमन्त्राणा, च तत्रादिष्टकरणकाले, प्रतिपृच्छापूर्वं गृहीतेनाशनादिना उन्दना निमन्त्राणा भवत्यगृहीतेन उपसंपच्चैव, श्रुतादिनिमित्तरिमिति गाथार्थः।

अत्र जिनकल्पिकसामाचारीमाह –

आवस्सिणिसीहिमिच्छाऽऽपुच्छणमुवसंपयम्मि ति गिहेसु।
अण्णा सामायारी, ण होई सेसे सिआ पंच ॥४२३॥

आवश्यकीं नैषेधिकीं मिथ्येति। मिथ्याकारपृच्छामुपसंपदं

गृहिस्वौचित्येनसर्वं करोति। अन्याः सामाचार्य इच्छाकार्याद्या न भवन्ति (से) तस्य शेषाः पञ्च प्रयोजनाभावादिति गाथार्थः।

आदेशान्तरमाह –

आवस्मिअं निसीहिअ, मोत्तुं उवसंपयं च गिहिएसु।
सेसा सामायारी, ण होइ जिणकप्पिए सत्ता ॥४२४॥

आवश्यकीं नैषेधिकीं मुक्त्वा उपसंपदं च, गृहिष्वारामादि ष्वोघतः शेषाः सामाचार्यः पृच्छाया अपि न भवन्ति। जिनकल्पिके सन्न। प्रयोजनाभावादेवेति गाथार्थः।

अहवा वि चक्कवाले, सामायारी उ जस्स जा जोग्गा।
सा सव्वा वभव्वा, सुअमाईआ इमा मेरा ॥४२५॥

अथवाऽपि चक्रवाले नित्यकर्मणि, सामाचारी तु यस्य या योग्या जिनकल्पिकादेः। सा सर्वा वक्तव्या। अत्रान्तरे श्रुतादिका चेयं मर्यादा वक्ष्यमाणा। इति गाथार्थः।

सुअ–संघयणु–वसग्गो, आयंको वेअणा कइजणा य।
थंडिल्ल–वसहि–केचिर–मोच्चारे चेव पासवणे ॥४२६॥

श्रुतसंहननोपसर्गा इत्येतद्विषयोऽस्य विधिर्वक्तव्यः। तथा आतङ्कः, वेदना कियन्तो जनाश्चेति, द्वारत्रयमाश्रित्य, तथा स्थाणिडल्य–वसति–कियच्चिरं, द्वाराण्याश्रित्य–तथा–उच्चारे चैव गक्षवणे चेत्येतद्विषये। इति गाथार्थः।

ओआसे तणफलए, सारक्खणया य संठवण्या य।
पाहुडिओऽग्गीदीवे, ओहाण वसे कइ जणा उ ॥४२७॥

तथा अवकाशे तृणफलक एतद्विषय इत्यर्थः। तथा संरक्षणता च संस्थापना चेति द्वारद्वयमाश्रित्य–तथा– प्राभृतिकाग्नि दीपेष्वेतद्विषयन्तयावधानं वत्स्यन्ति कति जनाश्चेत्येतद् द्वारद्वयमाश्रित्येति च गाथासमुदायार्थः।

भिक्खायरिआ–पाणय–लेवालेवे अ तह अलेवे अ।
आयंबिल–पडिमाअ, जिणकप्पे मासकप्पे य ॥४२०॥

भिक्षाचार्य–पानक इत्येताद्विषयो, लेपालेपे वस्तुनि, तथा–अलेपेचैतद्विषयश्चेत्यर्थः। तथा–चाम्ल–प्रतिमे, समाश्रित्य–जिनकल्पे, मासकल्पे चैतद् द्वारमधिकृत्य–विधिर्वक्तव्यः। इति गाथासमुदायार्थः। एतास्तिस्त्रोऽपि द्वारगाथाः। आसामवयवार्थः प्रतिद्वारे स्पष्ट उच्यते।

तत्र श्रुत–द्वारमधिकृत्याह –

आयारवत्यु तइयं, जहण्णयं होइ नवमपुव्वस्स।
तहियं कालण्णाणं, दस उक्कोसेण भिण्णाइं ॥४२९॥

आचारवस्तु तृतीयं, संख्यया जघन्यकं भवति। नवमपूर्वस्य संबन्धिश्रुतपर्यायस्तत्र कालज्ञानं भवतीति कृत्वा–दशपूर्वाण्यु त्कृष्टतस्तु भिन्नानि श्रुतपर्यायतः। इति गाथार्थः।

संहनन द्वारमाश्रित्याह –

पढमिल्लुगसंघयणा, धिइए पुण वज्जकुड्डसामाणा।
पडिवज्जंति इमं खलु, कप्पं सेसाण तु कयाइ ॥४३०॥

प्रथमिल्लुकसंहननात् वज्रऋषभनाराचसंहनना इत्यर्थः। धृ (वृ) त्या पुनर्वज्रकुंभयसमानाः प्रधानवृत्तय इति भावः। प्रतिपद्यन्ते एनं खलु कल्पमधिकृतं जिनकल्पं। शेषाणां तु कदाचित्तदन्यसंहननिनः। इति गाथार्थः।

उपसर्ग – द्वारविधिमाह –

दिव्वाई उवसग्गा, भइआ एअस्स जइ पुण हवंति।
तो अव्वहिओ विसहइ, णिच्चलचित्तो महासत्तो ॥४३१॥

दिव्यादय उपसर्गा भाज्याः। अस्य जिनकल्पिकस्य भवन्ति, वा नवा? यदि पुनर्भवन्ति कथञ्चित्, ततोऽव्यथितः सन्विसहने तानुपसर्गान्। निश्चलचित्तो महासत्वः स्वल्पस्वभावेन–इति गाथार्थ ः।

आतङ्क–द्वारविधिमाह –

आतंको जरमाई, से वि हु भईओ इमस्स जइ होइ।
णिप्पडिकम्मसरीरो, अहियासइ तं पि एमेव ॥४३२॥

आतङ्को ज्वरादिः, सद्योघाती रोगोऽसावपि भाज्योऽस्य भवति। वा यदि भवति कथंचित्ततः निष्प्रतिकर्मशरीरः सन्नधिसहते, तमप्यातङ्कमेवमेव। निश्चलचित्तयेति गाथार्थः।

वेदना – द्वारविधिमाह –

अब्भुवगमिआ उवक्क–माय तस्स वेअणा भवे दुविहा।
धुवलोआई पढमा, जराविवागाइआ बिइआ ॥४३३॥

आभ्युपगमिकी, औपक्रमिकी च। तस्य जिनकल्पिकस्य वेदना भवति द्विविधा! ध्रुवलोचाद्या प्रथमा वेदना। ज्वरविपाकादिका द्वितीया वेदनेति गाथार्थः।

कियन्तो जना इति द्वारविधिमाह –

एगो अ एस भयवं, णिविक्खाअ सव्वहेव सव्वत्थ।
भावेण होइ निअमा, वसहिम्मि दव्वओ भइओ॥४३४॥

एक एवैष भगवान् जिनकल्पिकः, निरपेक्षया सर्वथैव सर्वत्र वस्तुनि, भावेनानभिष्वङ्गन भवति नियमात्। वसत्यादौ द्रव्यतो भाज्यः। एकान्तोऽनेको वेति गाथार्थः।

स्थाडिडल्य–द्वारमाह –

उच्चारे पासवणे, उस्सग्गं कुणइ थंडिले पढमे।
तत्थेव य पडिजिण्णे, कयकिच्चो उज्जए वत्थे ॥४३४॥

उच्चारे प्रश्रवण एतद्विषयमित्यर्थः। व्युत्सर्गं करोति। स्थण्डिले प्रथमेऽनवपातादिगुणवति। तत्रैव च परिजीर्णानि सन्ति। कृतकृत्यः स तूज्झति, वस्त्राणीति गाथार्थः।

वसति – द्वारविधिमाह –

अममत्ताऽपरिकम्मा, दारविलभग्गजोगपरिहीणा।
जिणवसहीथेराण वि, मोत्तूण पमज्जणमकज्जे ॥४३६॥

अममत्वाऽममेयमित्यभिष्वङ्गरहिता। अपरिकर्मा–साधुनिमित्तमालेपनादिपरिकर्मवर्जिता। द्वारविल–भग्नयोग–परिक्षीणा, द्वारविलयोगः, स्थगनं पूरणरूपं। भग्नयोगः, पुनः संस्करणमेत-च्छून्या जिनवसति। अस्यानपवादनुष्ठानपरत्वात्। स्थविराणा-मप्येवंभूतैव वसति। मुक्त्वा प्रमार्जनं वसतेरेवाकार्यं मिति पुष्टमालम्बनं विहायैवंभूतेति गाथार्थः।

कियच्चिर–द्वारविधिमाह –

केचिरकालं वसहिहि, एवं पुच्छंति जायणा समए।
जत्थ गिही सा वसही, ण होइ एअस्स णिअमेण ॥४३७॥

कियच्चिरं कालं वत्स्यथ यूयमेवं पृच्छन्ति, याचनासमये काले, यत्रा गृहिणस्तत्स्वामिनः, सा वसतिरेवंभूता न भवत्येव, तस्य जिनकल्पिकस्य नियमेन सूक्ष्माममत्वयोगादिति गाथार्थः।

उच्चार–द्वारविधिमाह –

नो उच्चारो एत्थं, आयरिअव्वो कयाऽदवि जत्थ।
एवं भणंति ते सा, वि हु पडिकट्ठ च्चिअ एअस्स ॥४३८॥

नोच्चारोऽत्र प्रदेश आचरितव्यः कदाचिदपि। यत्रा वसतावेवं भणन्ति दातारः साऽपि प्रतिकुष्टैव, भगवत एतस्य वसतिरिति गाथार्थः।

प्रश्रवण–द्वारविधिमाह –

पासवणं पि अ एत्थ, इयम्मि देयम्मि ण उण अणत्थ।
कायव्वं ति भणंति हु, जीए एसा वि णो जोग्गा ॥४३९॥

प्रश्रवणमपि वाऽत्रा वसतौ, अस्मिन् देशे विवक्षित् एवा न पुनरन्यत्रा देशे कर्तव्यमिति भणन्ति, यस्यां वसतौ। एषा पि न योग्याऽस्येति गाथार्थः। व्याख्याता प्रथमा द्वारगाथा।

द्वितीय व्याख्यायते। तत्रावकाश–द्वारविधिमाह –

ओवासो वि अ एत्थं, एसो तुज्झं ति न पुण ऐ वि।
एव वि भणंति जहिअं, मा वि ण सुद्धा इमस्स भवे ॥४४०॥

अवकाशोऽपि चात्रा वसतौ, एष युष्माकं नियतः। न पुनरेषोऽपि, एवमपि भणन्ति, यस्यां वसतौ दातारः। सापि न शुद्धाऽस्य भवेद्वसतिरिति गथार्थः।

तृणफलक–द्वारविधिमाह –

एवं तणफलगेसु वि, जत्थ विआरो उ होइ निअमेणं।
एसा वि हु दट्ठव्वा, इमस्स एवंविहा चेव ॥४४१॥

एवं तृणफलकेष्वपि, यत्रा विचारस्तु भवति, तऽतनियमेनैषापि वसतिर्द्रष्टव्याः, पुरूषे एवं विधा चैवाशुद्धेति गाथार्थः।

संरक्षण–द्वारविधिमाह –

सारक्ख त्ति तत्थेव, किंचि वत्थुं अहिगिच्च गोणाइं।
जीए तस्मारक्खण–माह, गिही सा वि हु अजोग्गा ॥४४२॥

सारक्षणेति तत्रैव वसतौ, किञ्चिद्वस्तु अधिकृत्य, गवादि वस्यां तत्संरक्षणमाह गृही। गवाद्यपि रक्षणीयमिति। साऽपि वसतिरयोग्येति गथार्थः।

संस्थापना–द्वारविधिमाह –

संठवणा सक्कारो, पडमाणीएऽणुवेहमो भंते !
कायव्वं ति अ जीए, वि भणइ गिहीऽसो विऽजोग त्ति ॥४४३॥

संस्थापना संस्कारोऽभिधीयते। पतन्त्याः सत्या अनुत्प्रेक्षा भदन्त! कर्तव्येति च नोपेक्षितव्येत्यर्थः। यस्यामपि भणति गृही, ततोऽसाव-प्ययोग्या वसतिरिति गाथार्थः।

मूलगाथाचशब्दार्थमाह –

अण्णं वा अभिओगं, चमद्दसंसूइअं जहं कणइ।
दाया चित्तसरूवं, जोगा णेसा वि एअस्स ॥४४४॥

अन्यं चाभियोगं चशब्दसंसूचितं, यत्रा करोति वसतौ दाता चित्रास्वरूपा। योग्यानैषाऽप्येतस्य वसतिरिति गाथार्थः।

प्राभृतिका–द्वारविधिमाह –

पाहुडिआ जीएँ वली, कज्जइ ओसप्पणाइअं तत्थ।
विक्खित्तठाणसउणा–इ अग्गहणे अंतरायं च ॥४४५॥

प्राभृतिका यस्यां वसतौ, बलिः क्रियतेऽवसर्पणादि तत्रा तद्भक्तया भवति। विक्षिप्यस्य बलैः स्थानात्कायोत्सर्गतः शकु नाद्यग्रहणे सत्यन्तरायं च भवतीति गाथार्थः।

अग्नि–द्वारविधिमाह –

अग्गित्ति साऽगिणी जा, पमज्जणे रेणुमाइवाघाओ।
अपमज्जणे आकेरिआ, जोईफुसणम्मि य विभासा ॥४४६॥

अग्निरिति, साऽग्निर्या वसतिप्रमार्जने तत्रा रेणुकादिना व्याधा तोग्नेः। अप्रमार्जने सत्यक्रिया आज्ञाभङ्गो, ज्योति–स्पर्शने च विभाष्ज्ञाज्ञवालन चाङ्गारदाधिति गाथार्थः।

दीप–द्वारविधिमाह –

दीविते सदीवा जा, तीए विसेसो उ होइ जोइम्मि।
एत्तो च्चिअ इह भेओ, सेसा पुव्वाइआ दोसा ॥४४७॥

दीपिते सदीपा या वसतिः, तस्यां विशेषस्तु सदीपायां भवति ज्योतिषि। तद्भावेन स्पर्शसंभवादत एव कारणदिडाभेदो द्वारस्य। द्वारान्तराच्छेषाः पूर्वोक्ता दोषाः प्रमार्जनादयः। इति गाथार्थः।

अवधान–द्वारविधिमाह –

ओहाणं अम्हाण वि गेहेसु–वओगदायगो त्तंसि।
होहिसि भणंति हुंति, जीए एसा वि से ण भवे ॥४४८॥

अवधानं नामास्माकमपि गृहस्योपयोगदाता त्वमसि भगवन्न भविष्यसि? भणन्ति, तिष्ठति सति यस्यां वसतौ, एषापि (से) तस्य जिनकल्पिकस्य न भवेदिति गाथार्थः।

कियज्जन–द्वारविधिमाह –

तह कइ जणा त्ति तुम्हे, वसहिह एत्थं ति एवमवि जीए।
भणइ गिहीऽणुण्णाए, परिहरए णवरमेअं पि ॥४४९॥

तथा कियन्तो जना इति यूयं वत्स्यथाऽत्रा वसताविति? एवमपि यस्यां वसतौ भणति, गृही दाता ऽनुज्ञायां प्रस्तुतायां। परिहरत्यसौ महामुनिर्नवरमेतामपि वसतिमिति गाथार्थः।

परिहारप्रयोजनमाह –

सुहुममवि हु अचि अत्तं, परिहरए सो परस्स निअमेणं।

जं तेण तुसद्दाओ, वज्जइ अण्णं पि तज्जणणिं ॥४५०॥

सूक्ष्ममप्यचियत्तमप्रीतिलक्षणं परिहरत्यसौ भगवान् परस्य नियमेन। यद् यस्माद् तेन कारणेन तुशब्दात् मूलगाथोपात्ताद् वर्जयत्यन्यामपि वसतिं तज्जननीमीषदप्रीतिजननीं न च ममत्व मन्तरेण तथा तथा विचारः क्रियत इति गाथार्थः। व्याख्याता द्वितीया मूलगाथा।

अधुना तृतीया व्याख्यायते। तत्र भिक्षाचर्याद्वारविधिमाह –

भिक्खायरिआणिअमा, तइआए एसणा अभिग्गहिआ।
एअस्स पुव्वभणिआ, एक्का चिअ होइ भत्तस्स ॥४५१॥

भिक्षाचर्यानियमानि, योगेन तृतीयायां पौरूष्यामेषणा च ग्रहणैषणाऽभिगृहीता भवत्यस्य पूर्वभणितां जिनकल्पिकस्य। एकैव भवति भक्तस्य न, द्वितीयेति गाथार्थः।

पानक–द्वारविधिमाह –

पाणगगहणे एवं, ण सेसकालं पओअणाभावो।

जाणइ सुआइसयउ, सद्धमसद्धा च सो सव्वं ॥४५२॥

पानकग्रहणेऽप्येवमस्य न शेषकालं, प्रयोजनाभावकारणात्। संसक्तग्रहणदोषपरिहारमाह–जानाति, श्रुतातिशयेनैव शुद्धमशुद्धं च, स सर्वं पानकमिति गाथार्थः।

लेपालेप–द्वारविधिमाह –

लेवालेव ति इह, लेवाडेणं अलेवडं जं तु ।
अण्णण समं मिस्सं, दुगं पि इह होइ विण्णेअं ॥४५३॥

लेपालेपमित्यत्राधिकारलेपवता व्यञ्जनादिना, लेपवत् यदोदनादि। किमुक्तं भवति–अन्येन संमिअं वस्त्वन्तरेण, द्वितीय मप्यत्र भवतीति विज्ञेयं। भक्तं पानं चेति गाथार्थः।

अलेप – द्वारविधिमाह –

अल्लेवं पयईए, केवलगं पि हु न तस्सरूवं तु ।
अण्णे उऽलेवकारी, अलेवमिति सूरओ विंति ॥४५४॥

अलेपं, प्रकृत्या स्वरूपेण, केवलमपि सन्, न तत्स्वरूपं। तुलनेलस्वरूपमेव जगार्यायामवान्। अन्ये त्वलेपकारिणामले पमित्येवं, सूरय आचार्या ब्रुवत इति गाथार्थः।

आचामाम्ल–द्वारविधिमाह –

णायं विलमेअं पि हु, अइसोसपुरं। समेअदोसाओ ।
उस्सग्गियं तु किं पुण, पायइए अणुगुणं जे से ॥४५५॥

नायामाम्लमेतदप्यलेपकारि। अतिशोषपुरीषभेददोषाद् व्याप्या विधातुभावेन। औत्सर्गिकमेवौदनरूपं किं पुनः प्रकृते र्देहरूपाया अनुगुणं यद्वल्लादि (से) तस्येति गाथार्थः।

प्रतिमा–द्वारविधिमाह –

पंडिमंति अ मासाइ–सद्धा य अभिग्गहा सेमा ।
णो खलु एस पवज्जइ, जं तत्थ ठिओ विसेसेण ॥४५६॥

प्रतिमा मासाद्या, आदिशब्दान्मूलगाथागताद्यभिग्रहाः, शेषा अकण्डूयनादयो, न खल्वेष प्रतिपद्यते। जिनकल्पिको यत्तत्राभिग्रहे स्थितो विशेषेणेति गाथार्थः।

'जिणकप्पे' इति मूलद्वारगाथावयवं व्याचिख्यासुराह –

जिणकप्पे त्ति अ दारं, अनेनदाराण विसयमो एस।
एअंमि एस मेरा, अवदायविवज्जिआ णियमा ॥४५७॥

जिनकल्प इति च द्वारं। मूलगाथागमशेषद्वाराणां श्रुतसंहननादीनां विषय एष वर्तते। इति एतस्मिन् जिनकल्पे, एषा मर्यादा श्रुतदिर्योक्तपवादविवर्जिता नियमादेकान्तेनेति गाथार्थः।

'मासकप्पो' इति द्वारवयवार्थमाह –

मासं निवसइ खित्ते, छव्वीहीओ अ कुणइ तत्थ वि अ ।
एगेगमण्डकम्मा–इ वज्जणत्थं पइदिणं तु ॥४५८॥

मासं निवसति क्षेत्रे। एवं षड्वीथीः करोति गृहपङ्क्तिरूपाः परिकल्प्य, तत्रापि च वीथीकदम्बकेएकैकामटति वीथीकर्मादिवर्जनार्थमनिबद्धतया प्रतिदिनमिति गाथार्थः। व्याख्याता तृतीया द्वारगाथा।

सांप्रतमत्र प्रासङ्गिकमाह –

कहपुण होज्जा कम्मं, एत्थ पसंगेण सेसयं किं पि ।
वोच्छामि समासेणं, सीसजणाविवोहणट्ठाण ॥४५९॥

कथं पुनर्भवेत्कर्मान्य अटतः। अत्र प्रसङ्गेन शेषं किमप्येतद्वक्तव्यतागतमेव वक्ष्यामि समासेन। किमर्थमित्याह – शिष्यजविबोधनार्थमिति गाथार्थः।

आभिग्गहिए तत्थ, भत्तोगाहिमग वीइ तिअ पूई।
चुअगो णिव्वयणति अ, उक्कोसेणं च सत्त जणा ॥४६०॥

आभिग्रहिके जिनकल्पिक उपलब्धे श्रद्धोपजायते अगार्यायाः। तत्रा भक्तोदग्राहिम केति, सा एतदुभयं करोति। द्वितीयेऽहनि त्रीन् दिवसान् पूति। तद्भवतां वक्ष्यामः। अत्रान्तरे चोदको निर्वचनमिति भवति। उत्कृष्टश्चोत्सर्गपदेन सप्त जना, एते एकव सतौ भवन्तीति गाथासमुदायार्थः।

सरच्छोडगाहातोऽवयवार्थमाह –

जिणकप्पाभिग्गहिअं, दट्ठुं तवसोसिअं महासत्तं।
संवेगा गयसद्धा, काई सड्ढा भणिज्जाहि ॥४६१॥

जिनकल्पाऽभिग्रहाकमृषिं दृष्टवा तपः शाषितं महासत्वं, संवेगात्ततश्च गतश्रद्धा सती, काचित् श्राद्धी योषिद्भणेत्, ब्रूया दिति गाथार्थः।

किं काहामि अहण्णा, एसो साहू न गिण्हए एअं ।
णत्थि महं तारिसयं, अण्णं जमलज्जिआ दाइं ॥४६२॥

किं करिष्यामि। अधन्याहम्। एष साधूर्न गृह्यति, एततत्रा नूनं नास्ति। मम तादृशमनयच्छोभनं। यदलज्जिता दास्यामीति गाथार्थः।

सव्वपयत्तेण अहं, कल्ले काउण ओहणं विउलं ।
दाहामि पयत्तेणं, ताहे भणऐ असो भयवं ॥४६३॥

सर्वप्रयत्नेनाहं कल्ले कृत्वा–भोजनं साधु विपुलं दास्यामि प्रयत्नेन। तदा भणति चासौ भगवाँ स्तच्छत्वोक्तया निवारणायेति गाथार्थः।

अणिआओ वसहीओ, भमरकुलाणं च गोकुलाणं च ।
समणाणं सउणाणं, आरइआणं च मेहाणं ॥४६४॥

अनियता वसतयः केषामित्याह भ्रमरकुलानां च, गोकुलानां च, तथा श्रमणानां, शकुनानां सारदीनां च, मेघानामित्यर्थः।

तीए व उवक्खडिअं, मुक्का वीही अ तेण धीरेणं ।
अद्दीणमपरिभंतो, विइअं व पडिंडिओ वीहिं ॥४६५॥

तया वा अगार्यो परस्कृतमनाभोगात् मुक्ता वीथी च तेन धीरेणा द्वितीयेऽहनि अदीनचेतसाऽपरिभ्रान्तकायेन, द्वितीयां च, क्रमागतां प्रपर्यटितो वीथिमसाविति गाथार्थः।

तत्रेयं व्यवस्था–

पढमदिवसम्मि कम्मं, तिण्णि अ दिवसाणि पूइअं होइ ।
पूइसु तिसु णो कप्पइ, कप्पइ तइए गए कप्पे ॥४६६॥

प्रथमदिवसं कर्म, तदुपस्कृतं त्रीन् दिवसाने पूति भवति। तद् गृहमेव पूतिषु त्रिषु न कल्पते। तत्रान्यदपि किञ्चित् कल्पते। तृतीये गते कल्पे दिवसे अपरस्मिन्नद्यनीति गाथार्थः।

ओगाहिमए अज्जं, न आगओ कल्ले तस्स दाहामि ।
दोण्णि दिवसाणि कम्मं, तइआइसु पूइअं होइ ॥४६७॥

उद्ग्राहिमके हते, सति अद्यनाऽऽयातः स ऋषिः। कल्ये तस्य दास्यामि । इति दिवसे सदाऽभिसंधत्ते । अत्रा द्वौ दिवसौ

कर्म, तद्भावाविच्छेदातृतीयादिषु दिवसेषु पूति, तद्भवतीति गाथार्थः।

तिहिँ कप्पेहिं न कप्पइ, कप्पइ तं छट्ठसत्तमदिणम्मि।
अकरणदिअहो पढमो, सेसा जं एक्क दोण्णि दिणा ॥४६८॥

तत्र त्रिषु कल्पेषु दियसेषु न कल्पते। कल्पते तद् गृहं, षष्ठसप्तमे दिवसे ग्रहणदिवसात्। एतदेवाह अकरणदिवसः प्रथमो ऽटगमतः। शेषौ यदेको, द्वौ वा दिवसावाधाकर्मगताविति गथार्थः।

अह सत्तमम्मि दिअहे, पढमं वाहिं पुणो वि हिंडंतं।
दट्ठुण सा य सड्ढी, तं मुणिवसभं भणिज्जाहि ॥४६९॥

अथ सप्तमे दिवसे, अटनगतादारभ्य। प्रथमां वीथीं, पुनरपि हिंडन्तमटन्तं दृष्टवा। सा श्राद्धी अगारी, मुनिवृषभं प्रस्तुतं भणेद् ब्रूयादिति गाथार्थः।

किं णागयत्थ तइआ, असव्वओ मे कओ तुह निमित्तं।
इति पुट्ठो सो भयवं, विइआएसे इमं भणइ ॥४७०॥

किं नागतात्र यूयं तदा। असद्व्ययो मया कृतस्त्वन्निमित्तं। तद्ग्रहणादसदव्ययत्वमिति पृष्टः स भगवान् जिनकल्पिकः। द्वितीयादेशे पूर्वादेशापेक्षया, इदं भणति वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः।

अणिआओ वसहीओ, इच्चाइ जमेव वण्णिअं पुव्विं।
आणाए कम्माइं, परिहरमाणो विसुद्धमणो ॥४७१॥

अनियता वसतय इत्यादि। यदेव वर्णितं, पूर्वगाथासूत्रमिति। आज्ञया कर्मादि परिहरन् विशुद्धमनाः सन्, भवति। इति गाथार्थः।

चोएड पढमदिअहे, जइ कोइ करिज्ज तस्स कम्माई।
तत्थ ठिअं णाउणं, अजंपिउं चेव तत्थ कहं ॥४७२॥

चोदयति शिष्यः। प्रथमदिवस अटनगत एव यदि कश्चित्कुर्यात, किञ्चत् कर्माद्यकल्प्यं, तत्र स्थितं ज्ञात्वा, क्षेत्रेऽसंजल्प्यैव किंचित्तत्र कथमिति गाथार्थः।

चोअग! एवं पि इहं, जइ ओ करिज्जाहिं कोइ कम्माइ।
णाहि सो तं ण विअणाइ, सुआइमयजोगओ भयवं ॥४७३॥

चोदक! एवमप्यत्र यदि कुर्यात् कश्चित्कर्मादि प्रच्छन्नमेव। न ह्यसौ तत्र विजानाति? विजानात्येव श्रुतातिशययोगतः कारणात्तद्भगवानिति गाथार्थः।

एसो उण से कप्पो, जं सत्तमगम्मि चेव दिवसम्मि।
एगत्थ अडइ एवं, आरंभविवज्जणणिमित्तं ॥४७४॥

एष पुनः (से) तस्य कल्पः। यत्सप्तम एव दिवस एकत्र बीथ्यामटति। एवमुक्तवदारम्भविवर्जननिमित्तमिति गाथार्थः।

इअ अणिअयवित्तिं तं, दट्ठुं सड्ढाणं वि तदारंभे।
अणियमओ ण पवित्ती, होइ तहा वारणाओ अ ॥४७५॥

एवमनियतवृत्तिं तं वीथिविहारेण दृष्टवा, श्राद्धनामपि प्राणिनां तदारम्भेऽनियमात् कारणात् न प्रवृत्तिर्भवति। तथा वारणाच्चानियतत्वादिभावेनेति गाथार्थः।

गच्छवासिनामेवमकुर्वतामदोषमाह –

इअरे आणाओ वि अ, गुरूमाइनिमित्तओ पइदिणं पि।
दासं अपस्समाणा, अडंति मज्झत्थभावेण ॥४९६॥

इतरेऽपि गच्छवासिन आज्ञात एव निमित्तत्वाद्, गुर्वादि निमित्ततश्च हेताः। प्रतिदिवसमपि दोषमपश्यन्तः, सन्तोऽनैष णारूपमटन्ति मध्यस्थभावेन समतयेति गाथार्थः।

प्रासङ्गिकमेतत्। प्रस्तुतमेवाह –

एवं तु ते अडंता, वसहीऽएक्काए कइ वसिज्जाहिं।
वीहीए अ अडंता, एगाए कइ अडिज्जोहि ॥४७७॥

एवं तु ते अटन्तो जिनकल्पिकाः। वसतावेकस्यां कति वसयुः? तथा वीथ्यां वा अटन्तः सन्त एकस्यां कत्यटेयुरिति गाथार्थः।

एगाए वसहीए, उक्कोसेणं वसंति सत्त जणा।
अवरोप्परसंभासं, वज्जिंता कह वि जाऐणं ॥४७०॥

एकस्यां वसतौ वसन्तो, बाह्यायामुत्कृष्टतो वसन्ति सप्त जनाः। कथमित्याह–परस्परं संभाषणं वर्जयन्तः सन्तः कथमपि योगेनेति गाथार्थः।

वीहीए एक्काए, एक्को खलु पइदिणं अडइ एमो।
अण्णे भणंति भयणं, सा य ण जुत्तिक्खमा णेआ ॥ ४७९॥

वीथ्यां त्वेकस्यामेक एव प्रतिदिन मटत्येष जिनकल्पिकः। अन्ये भणन्ति भजनां, सा च न युक्तिक्षमा ज्ञेयाऽत्र वस्तुनीति गाथार्थः।

कुत इत्याह –

एएसिं सत्त वीही, एत्तो चिअ पायसो जओ भणिआ।
कह नाम अणोमाणं, हविज्ज गुणकारगं णिअमा ॥४८०॥

एतेषां सप्त वीथ्यः। अत एव कारणान्मा भूदेकस्यामुभयाटन मिति प्रायसो यतो भणिताः कचित्प्रदेशान्तरे कथं नाम, अनवमानं भवेत्। अन्योऽसवंर्तभावेन गुणकारकं नियमात्प्रवचन स्येति गाथार्थः।

वीथीज्ञानोपायमाह –

अइसयेण अ जमेइ, वीहिविभागं अतो विजाणंति।
ठाणाएहिं धीरा, समयपसिद्धेहिँ लिंगेहि ॥४८१॥

अतिशयेन च यदेते श्रुततः वीथीविभागमतो विजानन्त्येवैते। स्थानादिभिर्धीरा वसतिगतैः, समयप्रसिद्धैः, लिङ्गैः श्रुतादेवेति गाथार्थः।

उपसंहरन्नाह –

एस सामायारी, एएसिं समासओ समक्खाया।
एत्तो खित्तादीअं, ठिइमेएसिं उ वक्खामि ॥४८२॥

एषा सामाचारी, एतेषां जिनकल्पिकानां समासतः समाख्याता। अतः क्षेत्राद्यां स्थितिं तावद्व्यवस्थामेतेषामेव वक्ष्यामीति गाथार्थः।

खित्ते कालचरित्ते, तित्थे परिआय–आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेसा–ऊणे गणणाऽभिग्गहो सिं च ॥४८३॥

क्षेत्रे एकस्मिन् स्थितिरमीषाम्। एवं काले, चारित्रे, तीर्थ पर्याये, आगमे, वेदे, कल्पे, लिङ्गे, लेश्यायां, ध्याने, तथा गणना-ऽभिग्रहाश्चैतेषां वक्तव्या। इति गाथासमासार्थः।

पव्वावण मुण्डावण, मणसावण्णे वि से अणुग्घाया।
कारण णिप्पडिकम्मे, भत्तं पंथो अ तइआए ॥४८४॥

प्रवाजनमुण्डनेत्यत्र स्थितिर्वाच्या, मनसाऽऽपन्नेऽपि दोषे (से) तस्य, अनुद् घाताश्चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम् । तथा कारणनिष्प्रतिकर्म–स्थितिर्वाच्या, तथा भक्तं, पन्थाश्च तृतीयायां पौरुष्यमस्येति गाथासमासार्थः।

व्यासार्थं तु गाथाद्वयस्याऽपि ग्रन्थकार एव प्रतिपादयति। तत्राऽऽद्यक्षेत्र–द्वारमधिकृत्याऽह–

खित्ते दुहेहे मग्गण, जम्मणओ चेव संतिभावे अ।
जम्मणओ जहि जाओ, संतीभावे अ जहि कप्पो ॥ ४८५ ॥

क्षेत्रे द्विविधा मार्गणा जिनकल्पिकस्थितौ–जन्मतश्चैव, सद्भावतश्च। तत्र जन्मतो–यत्र जातः क्षेत्रे, एवं जन्मऽश्रित्य। सद्भावतश्च–यत्र कल्पः क्षेत्रे, एवं सद्भावमाश्रित्य, मार्गणेति गाथार्थः।

जम्मणसंतीभावे–सु होज्ज सव्वासु कम्मभूमीसु।
साहरणे पुण भइओ, कम्मे व अकम्मभूमे वा ॥ ४८६ ॥

जन्मसद्भावयोरयं भवेत् सूर्वासु कर्मभूमिषु भरताद्यासु । संहरणे पुनर्भाज्योऽयं, कर्मभूमिको वा सद्भावमाश्रित्य , अकर्मभूमिको वाऽसद्भावमाश्रित्येति गाथार्थः।

काल–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

ओसप्पिणिए दोसुं, जम्मणओ तिसु अ संतिभावेणं।
उस्सप्पिणिविवरीओ, जम्मणओ संतिभावेणं ॥ ४८७ ॥

अवसर्पिण्यां काले, द्वयोः सुषमदुष्षम–दुष्षमसुषमयोर्जन्मतो जन्माऽऽश्रित्यास्य स्थितिः। तिसृषु सुषमदुष्षम–दुष्षमसुषम–दुष्षमासु सद्भावेनेति स्वरूपतयाऽस्य स्थितिः । उत्सर्पिण्यां विपरीतोऽस्य कल्पः–जन्मतः, सद्भावतश्च। एतदुक्तं भवति–दुष्षम–दुष्षम सुषम–सुषमदुष्षमासु तिसृषु जन्मतः, दुष्षमसुषम–सुषमदुष्षमयोः शुद्धयोः सद्भावत एवेति गाथार्थः।

णोस्सप्पिणि उस्सप्पिणि, होइ उ पलिभागओ चउत्थम्मि।
काले पलिभागेसु अ, साहरणे होइ सव्वेसिं ॥ ४८८ ॥

नावसर्पिण्युत्सर्पिणीत्युभयशून्ये स्थिते काले भवति त्वयं जन्मतः, सद्भावतश्च; प्रतिभागे चतुर्थ एव । काले दुष्षमसुषमरूपे–विदेहेषु प्रतिभागेषु च केवलेषु, संहरणे सति, सद्भावमाश्रित्य भवति सर्वेषूत्तरकुर्वादिगतेष्विति गाथार्थः।

चारित्र–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

पढमे वा वीए वा, पडिवज्जइ संजमम्मि जिणकप्पं।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अण्णअरे संजमे हुज्जा ॥ ४८९ ॥

प्रथमे वा सामायिक एव, द्वितीये वा छेदोपस्थाप्ये, प्रतिपद्यते, संयमे चारित्रे सति जिनकल्पं, नान्यस्मिन्। पूर्वप्रतिपन्नः पुनरसावन्यतरस्मिन् संयमस्थाने सूक्ष्मसंपरायादौ भवेदुपसमश्रेणिमधिकृत्येति गाथार्थः।

मज्झिमतित्थअराणं, पुढमे पुरिमंतिमाण वीअम्मि।
पच्छा विसुद्धयोगा, अण्णअरं पावइ तयं तु ॥ ४९० ॥

मध्यमतीर्थकराणां तीर्थ, प्रथमे भवेत्, द्वितीयस्य तेषामभावात्। पुरिमचरमयोस्तु तीर्थकरयोः तीर्थे द्वितीये भवेत्, छेदोपस्थाप्य एव। पश्चाद्विशुद्धयोगात् कारणादन्यतरं प्राप्नोति तं संयमं सक्ष्मसंपरायादिं तूपशमापेक्षयेति गाथार्थः।

तीर्थ–द्वारमधिकृत्याऽह–

तित्थे त्ति नियमओ चिय,
होइ स तित्थम्मि न पुण तदभावे।
विगएऽणुप्पण्णे वा,
जाईसरणाइएहिं तु ॥ ४९१ ॥

तीर्थ इति नियमत एव भवति स जिनकल्पिकः तीर्थे सङ्घे सति, न पुनस्तदभावे विगतेऽनुत्पन्ने वा तीर्थे, जातिस्मरणादिभिरेव कारणैरिति गाथार्थः।

अहिगयरं गुणठाणं, होइ अतित्थम्मि एस किं ण भवे।
एसा एअस्स ठिई, पण्णत्ता वीअरागेहिं ॥ ४९२ ॥

अधिकतरं तद्गुणस्थानं श्रेण्यादि भवत्यतीर्थे, मरुदेव्यादीनां तथाश्रवणादिति, एष किं न भवति जिनकल्पिकः ? इत्याशङ्क्याऽह–एषा एतस्य स्थितिर्जिनकल्पिकस्य प्रज्ञप्ता, वीतरागैः, न पुनरत्र काचिद्युक्तिरिति गाथार्थः।

पर्याय–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

परिआओ अ दुभेओ, गिहि–जइ–भेएहि होइ णायव्वो।
एक्केक्को उ दुभेओ, जहण्ण उक्कोसओ चेव ॥ ४९३ ॥

पर्यायश्च द्विभेदोऽत्र गृहियतिभेदाभ्यां भवति ज्ञातव्यः । एकैकश्च द्विभेदोऽसौ जघन्य उत्कृष्टश्चैवेति गाथार्थः।

एअस्स एस णाओ, गिहिपरिआओ जहण्ण गुणतीसा।
जअपरिआए वीसा, दोसु वि उक्कोस देसूणं ॥ ४९४ ॥

एतस्यैष ज्ञेयो गृहिपर्यायो जन्मत आरभ्य जघन्य एकोणत्रिंशद्वर्षाणि। यतिपर्यायो विंशतिवर्षाणि जघन्यः, एवं द्वयोरपि गृहियतिभेदयोरुत्कृष्ट-पर्यायो देशोना पूर्वाकोटीति गाथार्थः।

आगम–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

अप्पुव्वं णाहिज्जइ, आगममेसो अइच्च तं जम्मं।
जमुचिअपगिट्ठजोगा–ऽऽराहणओ चेव कयकिच्चो ॥ ४९५ ॥

अपूर्वं नाधीत आगममेषः। कुतः? इत्याह–अतीत्य तज्जन्म वर्तमानं, यद् यस्मादुचितप्रकृष्टयोगाराधनादेव कारणात्, कृतकृत्यो वर्तते। इति गाथार्थः।

पुव्वाहीयं तु तयं, पायं अणुसरइ निच्चमेवेस।
एगग्गमणो सम्मं, विस्सोअसिगाइ खयहेउं ॥ ४९६ ॥

पूर्वाधीतं तु तच्छ्रुतं प्रायोऽनुस्मरति नित्यमेवैष जिनकल्पिक एकाग्रमनाः सम्यग् यथोक्तं, विश्रोतसिकायाः क्षयहेतुं श्रुतं स्मरतीति गाथार्थः।

वेद–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

वेअप्पवित्तिकाले, इत्थीवज्जो उ होइ एगयरो।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥ ४९७ ॥

वेदप्रवृत्तिकाले तस्य स्त्रीवर्ज एव भवत्येकतरः पुंवेदो नपुंसकवेदो वा शुद्धः। पूर्वप्रतिपन्नः पुनरध्यवसायभेदोद्भवात्सवेदोऽवेदो वैष भवेत् इति गाथार्थः।

उवसमसेढीए खलु, वेए उवसामिअम्मि उ अवेओ।
न उ खविए तज्जम्मे, केवलपडिसेहभावाओ ॥ ४९८ ॥

उपशमश्रेण्यामेव वेद उपशमिते सति अवेदो भवति, न तु क्षपिते। कुतः ? इत्याह– तज्जन्मन्यस्य केवलप्रतिषेधभावादिति गाथार्थः।

कल्प–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

ठिअमट्ठिए अ कप्पे, आचेलक्काइएसु ठाणेसु।
सव्वेसु ठिआ पढमो, चउ–ठिय छसु अ ट्ठिया विइओ॥ ४९६॥

स्थिते, अस्थिते च कल्प एष भवति, न कश्चिद्विरोधः। अनयोः स्वरूपमाह–आचेलक्यादिषु स्थानेषु वक्ष्यमाणलक्षणेषु सर्वेषु दशस्वपि स्थिताः, इति प्रथमः स्थितकल्पः। चतुर्षु स्थिता इति–शय्यातर-राजपिण्डकृतिकर्मज्येष्ठपदेषु स्थिताः, मध्यम-तीर्थकरसाधवोऽपि षट्सु स्थिता आचेलक्यादिष्वनियमवन्तः, इति द्वितीयः स्थितकल्पः, इति गाथार्थः।

स्थानान्याह–

आचेलक्कुद्देसिय–सिज्जाययरायपिंडकम्मे वा।
वयजिट्ठपडिक्कमणे, मासं पज्जोसणाकप्पे॥ ५००॥

आचेलक्यौद्देशिकशय्यातरराजपिण्डकृतिकर्माणि पञ्च स्थानानि, तथा व्रतज्येष्ठप्रतिक्रमणादीनि, त्रीणि, मासपर्युषणाकल्पौ द्वे स्थाने; इति गाथार्थः।

लिङ्ग–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

लिंगम्मि होइ भयणा, पडिवज्जइभ उभयलिंगसंपन्नो।
उवरि त्त भावलिंगं, पुव्वपवणस्स णिअमेणं॥ ५०१॥

लिङ्गे इति भवति भजना, वक्ष्यमाणस्य प्रतिपद्यते कल्पम्, उभयलिङ्गसंपन्नो, द्रव्यभावलिङ्गयुक्त इत्यर्थः। उपरि तु उपरिष्टात्, भावलिङ्गं चारित्रपरिणामरूपं पूर्वप्रतिपन्नस्य कल्पं नियमेन भवतीति गाथार्थः।

इयरं तु जिण्णभावाइ–एहि सअअं न होइ वि कयाइ।
ए य तेण विणाऽवि तहा, जायइ से भावपरिहाणी॥ ५०२॥

इतरत् तु द्रव्यलिङ्गं, जीर्णभावादिभिर्जीर्णहृतादिभिः कारणैः सततं न भवत्यपि, कदाचित्संभवत्यपि कदाचिन्न संभवत्येतत्। न च तेन विनाऽपि, तथा तेन प्रकारेण, जायते (से) तस्य भावपरिहाणिर-प्रमादाभ्यासादिति गाथार्थः।

लेश्या–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

लेसासु विसुद्धासुं, पडिवज्जइ तीसु न पुण सेसासु।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्जा सव्वासु वि कहंचि॥ ५०३॥

लेश्यासु विशुद्धासु तैजस्यादिषु प्रतिपद्यते तिसृषु कल्पम्, न पुनः शेषास्वाद्यासु। पूर्वप्रतिपन्नः पुनः कल्पस्थो भवेत् सर्वास्वपि शुद्धासु, कथञ्चित् कर्मवैचित्र्यादिति गाथार्थः।

एऽचंतसंकिलिट्ठा–सु थोवकालं च हंदि इअरासु।
चिंत्ता कम्माण गई, तहा वि विरियं फलं देइ॥५०४॥

नात्यन्तसंक्लिष्टासु वर्तते भगवान्, स्तोककालं च हन्दीतरासु अशुद्धासु, चित्रा कर्मणां गतिः; येन तास्वपि वर्तते, तथापि वीर्यं फलं ददाति, येन तद्भावेऽपि भूयश्चारित्रशुद्धिरिति गाथार्थः।

ध्यान–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

झाणम्मि वि धम्मेणं, पडिवज्जइ सो पवड्ढमाणेणं।
इअरेसु वि झाणेसुं, पुव्वपवण्णे ण पडिसिद्धो॥ ५०५॥

ध्यानेऽपि प्रस्तुते, धर्मेण ध्यानेन, प्रतिपद्यतेऽसौ कल्पं, प्रवर्द्धमानेन सता। इतरेष्वपि ध्यानेश्वार्तादिषु, पूर्वप्रतिपन्नोऽयं न प्रतिषिद्धो भवतीत्यपीति गाथार्थः।

एवं च कुसलजोगे, उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा।
रोद्दऽट्टेसु वि भावो, इमस्स पायं निरणुबंधो॥ ५०६॥

एवं कुशलयोगे जिनकल्पप्रतिपत्त्योद्दामे सति, तीव्रकर्म-परिणामामौदयिकाद् रौद्रार्तयोरपि भावोऽज्ञेयः, स च प्रायोनिरनुबन्धः, स्वल्पत्वादिति गाथार्थः।

गणना–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

गणण त्ति सयपुहत्तं, एएसिं एगदेव उक्कोसा।
होइ पडिवज्जमाणे, पडुच्च इअरा उ एगाई॥ ५०७॥

गणनेति शतपृथक्त्वमेतेषां जिनकल्पिकानामेकदैवोत्कृष्टा भवति प्रतिपद्यमानकान् प्रतीत्य, इतरा तु जघन्या गणनैकाद्येति गाथार्थः।

पुव्वपडिवण्णगाण उ, एसा उक्कोसिआ उचिअ खित्ते।
होइ सहस्सपुहत्तं, इयरा एवं विहा चेव॥ ५०८॥

पूर्वपतिपन्नानां त्वमीषामेषा गणना उत्कृष्टोचिता क्षेत्रे यत्रैषां भावो भवति–यदुत सहस्रपृथक्त्वमिति, इतराऽपि जघन्यैवंविधैव सहस्रपृथक्त्वमेव लघुतरमिति गाथार्थः।

अभिग्रह–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

दव्वाईआऽभिग्गह, विचित्तरूवा ण होंति इत्तरिआ।
एअस्स आवकहिओ, कप्पो च्चिभऽभिग्गहो जेण॥ ५०९॥

द्रव्याद्या अभिग्रहाः सामान्या विचित्ररूपा न भवन्तीत्वराः। कृतः ? इत्याह–अस्य यावत्कथिकः कल्प एव प्रकान्तोऽभग्नहो येनेति गाथार्थः।

एयम्मि गोअराई, णिअया णिअमेण णिरववाया य।
तप्पालणं चिअ परं, एअस्स विसुद्धिठाणं तु॥ ५१०॥

एतस्मिन् गोचरादयः सर्व एव नियता नियमेन, निरपवादाश्च वर्तन्ते। यत एवमतस्तत्पालनमेव परं प्रधानमेतस्य विशुद्धिस्थानम्, किं शेषाऽभिग्रहैरिति गाथार्थः। व्याख्याता प्रथमा द्वारगाथा।

अधुना द्वितीया व्याख्यायते, तत्र प्रव्राजनाद्वारमधिकृत्याऽऽह–

पव्वावेइ ण एसो, अण्णं कप्पट्ठिउ त्ति काऊणं।
आणाउ तह पयट्टो, चरमाणसणि व्व णिरविक्खो॥ ५११॥

प्रव्राजयति नैषोऽन्यं प्राणिनं कल्पस्थित इति कृत्वा, जीतमेतत्, आज्ञातस्तथा प्रवृत्तोऽयं महात्मा चरमानशनिवन्निरपेक्षो यावत्कारणेनेति गाथार्थः।

उवएसं पुण विअरइ, धुवं पवित्तं विआणिउं किंचि।
तं पि जहासण्णेणं, गुणओ ण दिसादविक्खाए॥ ५१२॥

उपदेशं पुनर्वितरति ददाति ध्रुवं प्रव्रजनशीलं विज्ञाय किञ्चि-त्सत्त्वम्। तमपि यथासन्नेन वितरति गुणान्, न दिगाद्यपेक्षया कारणेनेति गाथार्थः।

मुण्डन–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

मुंडावणा वि एवं, विण्णेआ एत्थ चोअगो आह।

पव्वज्जऽणंतरम्मी, णिअमा एस त्ति कीस पुढो ? ॥ ५१३॥

मुण्डनाऽप्येवं विज्ञेया प्रव्राजनावदव । चोदक आह–किमाह ? प्रव्रज्याऽनन्तरमेव नियमादेव मुण्डनेति कृत्वा किमिति पृथगपात्तेति गाथार्थः ।

अत्र ''पुढो'' द्वारम्–

गुरुराहेह ण णिअमो, पव्वइअस्स वि इमस्स पडिसेहो ।
अज्जोग्गस्साइसई, पलिभग्गादी विहेइ जओ ॥ ५१४ ॥

गुरुराह–इह न नियमो यदुत प्रव्रज्याऽनन्तरमेवेयम्, कुतः ? प्रव्रजितस्याप्यस्याः प्रतिषेधो मुण्डनाया अयोग्यस्य, प्रकृत्येहातिशयैः पुनः प्रतिभग्नादिर्विधत्ते, यतो मुण्डना न स्वतः पृथगिति गाथार्थः ।

मनसाऽऽपन्नस्यापीत्यादि–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

आवण्णस्स मणेण वि, अइआरं निअमओ अ सुहुमं पि ।
पच्छित्तं चउ गुरुगा, सव्वजहण्णं तु णेअव्वं ॥ ५१५ ॥

आपन्नस्य प्राप्तस्य मनसाऽप्यतिचारं नियमत एव सूक्ष्ममपि प्रायश्चित्तमस्य भगवतश्चतुर्गुरवः सर्वजघन्यं मन्तव्यमिति गाथार्थः ।

जम्हा उत्तरकप्पो, एसोऽभत्तट्ठमाइसरिसो उ ।
एगग्गयापहाणो, तब्भंगे गुरुअरो दोसो ॥ ५१६ ॥

यस्मादुत्तरकल्प एष जिनकल्पोऽभक्तार्थादिसदृशो वर्तत एकाग्रताप्राधानोऽप्रमादी, यतस्तद्भङ्गे गुरुतरो दोषो, विषयगुरुत्वादिति गाथार्थः ।

कारण–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

कारणमालंवणमो, तं पुण नाणाइअं सुपरिसुद्धं ।
एअस्स तं न विज्जइ, उचिअंतप्पसाहणा पायं ॥ ५१७ ॥

कारणमालम्बनमुच्यते, तत्पुनर्ज्ञानादि सुपरिशुद्धं सर्वत्र ज्ञेयम् । एतस्य तन्न विद्यते जिनकल्पिकस्य, उचितान्तःप्रसाधनात् प्रायः जन्मोत्तमफलसिद्धेरिति गाथार्थः ।

सव्वत्थ निरवइक्खो, आढत्तं चिअ दढं समाणिंतो ।
वट्टइ एस महप्पा, किलिट्ठकम्मक्खयणिमित्तं ॥ ५१८ ॥

सर्वत्र निरपेक्षः सन् प्रारब्धमेव दृढं समापयन् वर्तते, एष महात्मा जिनकल्पिकः क्लिष्टकर्मक्षयनिमित्तमिति गाथार्थः ।

निष्प्रतिकर्म–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

निप्पडिकम्मसरीरो, अच्छिमलाई वि णावणेइ स य ।
पाणंतिए वि अ तहा, वसणम्मि ण वट्टई वीए ॥ ५१९ ॥

निष्प्रतिकर्मशरीर एकान्तेन अक्षिमलाद्यपि नापनयति । स च प्राणान्तिकेऽपि च तथा अत्यन्तरौद्रे व्यसने न वर्तते द्वितीय इति गाथार्थः ।

अप्पबहुत्तालोअण–विसयाईओ उ होइ एसो त्ति ।
अहवा सुभभावाओ, बहुअं पेअं चिअ इमस्स ॥ ५२० ॥

अल्पबहुत्वालोचनविषयातीतस्तु भवत्येष जिनकल्पिक इति । अथवा शुभभावात्कारणात्, बहुकमप्येतदेवास्य तत्त्वत इति गाथार्थः ।

चरम–द्वारमधिकृत्याऽऽह–

तइआएँ पोरिसीए, भिक्खाकालो विहारकालो अ ।
सेसासु उ उस्सग्गो, पायं अप्पा य णिद्द चि ॥ ५२१ ॥

शेषासु तु कायोत्सर्गः प्रायोऽल्पा च निद्रा पौरुषीष्विति गाथार्थः ।

जंघाबलम्मि खीणे, अविहरमाणो वि णवर णावज्जे ।
तत्थेव अहाकप्पं, कुणइ अ जोगं महाभागो ॥ ५२२ ॥

जङ्घाबले क्षीणे सत्यविहरन्नपि नवरं नापद्यते दोषमिति । तत्रैव यथाकल्पं क्षेत्रे करोति योग्यं महाभागः स्वकल्पस्यः, इति गाथार्थः ।

एसेव गमो णियमा, सुद्धे परिहारिए अहालंदे ।
नाणत्तं उ जिणेहिं, पडिवज्जइ गच्छ गच्छे वा ॥ ५२३ ॥

एष एव गमोऽनन्तरोदितो भावनादिर्नियमाच्छुद्धे परिहारिके यथालन्दे च, नानात्वं तु जिनेभ्यः शुद्धपरिहारिकाणामिदं प्रतिपद्यते गच्छस्तत्प्रथमतया मवकसमुदायः, गच्छे वा एकनिर्गमादपर इति गाथार्थः ।

तवभावणणाणत्तं, करिंति आयंविलेण परिकम्मं ।
इत्तरिअं थेरकप्पे, जिणकप्पे आवकहिआ उ ॥ ५२४ ॥

तपोभावनानानात्वं चैषामिदं कुर्वन्त्याचिमाम्लेन परिकर्म सर्वमेव । एते च इत्वराः, यावत्कथिकाश्च भवन्ति । ये कल्पसमाप्तौ गच्छमागच्छन्ति ते इत्वराः । ये तु जिनकल्पं प्रतिपद्यन्ते ते यावत्कथिका इति । एतदाह–इत्वराः स्थविरकल्पा इति भूयः स्थविरकल्पे भवन्ति । जिनकल्पे यावत्कथिकास्तु भवन्तीति गाथार्थः ।

एतत्संभवमाह–

पुण्णे जिणकप्पं वा, अइंति तं चेव वा पुणो कप्पं ।
गच्छं वा इंति पुणो, तिण्णि वि ठाणा सिमविरुद्धा ॥ ५२५ ॥

पूर्णे शुद्धपरिहारे, जिनकल्पं वाऽतिगच्छन्ति, तमेव वा पुनः कल्पं शुद्धपरिहारं गच्छं वा गच्छन्तित । पुनरनेन प्रकारेण त्रीण्यपि स्थानान्यमीषां शुद्धपरिहारिकाणामविरुद्धानीति गाथार्थः ।

इत्तिरआणुवसग्गा, आयंका वेयणा य ण भवंति ।
आवकहिआण भइआ, तहेव छग्गामभागा उ ॥ ५२६ ॥

इत्वराणां शुद्धपरिहारिकाणामुपसर्गा आतङ्का वेदनाश्च न भवन्ति, तत्कल्पप्रभावाज्जीतमेतत् । यावत्कथिकानां भाज्या उपसर्गादयः, जिनकल्पस्थितानां संभवात् । तथैव षट्ग्रामभाजगास्त्वमीषां यथा जिनकल्पिकानामिति गाथार्थः ।

एतेषामेव स्थितिमभिधातुमाह–

खित्ते काले चरित्ते, तित्थे परियाएँ आगमे वेए ।
कप्पे लिंगे लेसा–झाणे गणणा अभिगहा य ॥ ५२७ ॥
पव्वावण–मुंडावण–मणसावण्णे वि से अणुग्घाया ।
कारण–णिप्पडिकम्मा, भत्तं पंथो अ तइआए ॥ ५२८॥

अस्य गाथाद्वयस्यापि समुदायार्थः पूर्व (गाथा४८३–४८४) वत्

अवयवार्थं त्वाह–

खित्ते भरहेरवए, होंती साहरणवज्जिआ णिअमा ।
एत्तो चिअ विण्णेअं, जमित्थ काले वि णाणत्तं ॥ ५२९ ॥

क्षेत्रे भरतैरवतयोर्भवन्ति शुद्धपरिहारिकाः संहरणवर्जिता नियमादियमेषां स्थितिः। अत एव भरतैरवतभावाद्विज्ञेयम्–

यदत्र कालेऽपि नानात्वं, प्रतिभागाद्यभावादिति गाथार्थः।

चारित्रस्थितिमभिधातुमाह–

तुल्ला जहण्णठाणा, संजठाणाण पढमविइआणं।
तत्तो असंखलोगा–णं तू परिहारिअट्ठाणा॥ ५३०॥

तुल्यानि जघन्यस्थानानि स्वसंख्यया संयमस्थानयोः प्रथमद्वितीययोः सामायिकच्छेदोपस्थाप्याऽभिधानयोः। ततो जघन्येभ्यः संयमस्थानेभ्यः, असंख्यानां लोकानां त्वाक्षेत्रप्रदेशस्थान वृद्ध्या परिहारिकस्थानानि भवन्ति, संयममधिकृत्येति गाथार्थः।

ताणवि असंखलोगा, अविरुद्धा चेव पढमीवआणं।
उवरिं पि तओऽसंखो, संजमठाणा उ दोण्हं पि॥ ५३१॥

तान्यपि परिहारिकसंयमस्थानानि असंख्येया लोका इति प्रदेशस्थानवृद्धौ तावन्तीत्यर्थः। तानि चाविरुद्धान्येव प्रथमद्वितीययोरिति, शुद्धिविशेषात् सामायिकच्छेदोपस्थाप्यसंयमस्थानानीति भावः। उपर्यपि ततः परिहारिकसंयमस्थानेभ्यः, असंख्येयानि शुद्धिविशेषतः संयमस्थानानि, द्वयोरपि समायिकच्छेदोपस्थाप्ययोरिति गाथार्थः।

सट्ठाणे पडिवत्ती, अण्णेसु वि होज्ज पुव्वपडिवन्नो।
तेसु वि वट्टंतो सो--ऽत। अणयं पप्प वुच्चइ उ॥ ५३२॥

स्वस्थान इति निवोगतः स्वस्थानेषु प्रतिपत्तिः कल्पस्य। अन्येष्वपि संयमस्थानेष्वधिकतरेषु भवेत् पूर्वप्रतिपन्नो व्यवसायविशेषात् तेष्वपि वर्तमानः संयमस्थानान्तरेऽपि स परिहारविशुद्धिक इत्यतीतनयं प्राप्योच्यते एव। निश्चयतस्तु न, संयमलयानान्तराध्यासनादिति गाथार्थः।

ठिअकप्पम्मी णिअमा, एमेव च भवइ दुविधालिंगे वि।
लेसा–झाणा दोण्णि वि, हवंति जिणकप्पतुल्लाओ॥५३३॥

स्थितकल्पे च नियमादेते भवन्ति, नास्थितकल्पे; एवमेव च भवन्ति द्विविधलिङ्गेऽपि नियमादेव; लेश्याध्याने द्वे अपि भवतः। अमीषां जिनकल्पतुल्या एव प्रतिपद्यमानादिभेदेनेति गाथार्थः।

गणओ तिण्णवे कणा, जहण्ण पडिवत्ति सयसमुक्कोसा।
उक्कोसजहण्णेणं, सयसो चिय पुव्वपडिवण्णा॥ ५३४॥

गणतो मणमाश्रित्य त्रय एव गणाः, एतेषां जघन्या प्रतिपत्तिरियमादावेव शतश उत्कृष्टा प्रतिपत्तिरादावेव। तथा–उत्कृष्टजघन्येन–उत्कृष्टतो, जघन्यतश्च शतश एव पूर्वपतिपन्नाः। नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदमधिकमिति गाथार्थः।

सत्तावीस जहण्णा, सहस्स उक्कोसओ आ पडिवत्ती।
सयसो सहस्ससो वा, पडिवण्ण जहण्ण उक्कोसा॥ ५३५॥

सप्तविंशतिर्जघन्याः पुरुषाः सहस्राण्युत्कृष्टतश्च प्रतिपत्तिरेतावतामेकदा शतशः सहस्रशश्च यथासंख्यं प्रतिपन्ना इति पूर्वप्रतिपन्ना जघन्या उत्कृष्टाश्चैतावन्त इति गाथार्थः।

पडिवज्जमाण भइणा, इक्को वी हुज्ज ऊणपक्खेवे।
पुव्वपडिवण्णया वि उ, भइया एगो पुहत्तं वा॥ ५३६॥

प्रतिपद्यमानका भाज्या विकल्पनीयाः। कथमित्याह–एकोऽपि भवेदूनप्रक्षेपे प्रतिपद्यमानकाः पूर्वप्रतिपन्नका अपि तु भाज्याः, प्रक्षेपपक्ष एव कथमित्याह–एकः पृथक्त्वं वा यदा भूयांसः कल्पान्तरं प्रतिपद्यन्ते भूयांस एव चैवमिति गाथार्थः।

एअं खलु णणत्तं, एत्थं परिहारिआण जिणकप्पा।
अहलंदिआण एत्तो, णाणत्तमिणं पवक्खामि॥ ५३७॥

एतत् खलु नानात्वमत्र यन्निदर्शितं पारिहारिकाणां जिनकल्पात् सकाशाच्छेषं तुल्यमेव यथालन्दिकानाम्, अत ऊर्द्धं नानात्वमिदं वक्ष्यमाणलक्षणं प्रवक्ष्यामि जिनकल्प इति गाथार्थः। पं० व० ४द्वार। (शेषा वक्तव्यता 'अहालंद' शब्दे प्रथमभागे ८६७ पृष्ठे द्रष्टव्या)

कयमित्थपसंगेणं, एसो अब्भुज्जओ इह विहारो।
संलेहणासमो खलु, सुविसुद्धो होइ णायव्वो॥ ५५३॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन विस्तरेण, एषोऽभ्युद्यतो विहारः, इह प्रवचने संलेखनासमः खलु पश्चादासेवनात्सुविशुद्धो भवति ज्ञातव्यो यथोदितः। इति गाथार्थः।

पाएण चरमकाले, जमेस भणिओ सयाणमणवज्जो।
भयणाएँ अण्णया पुण, गुरुकज्जाईहिँ पडिबद्धा॥ ५५४॥

प्रायेण चरमकाले यदेवैष भणितः, सूत्रे सतामनवद्यः, भजनयाऽन्यदा पुनः स्याद्वा, न वा, गुरुकार्यादिभिः प्रतिबन्धादिति गाथार्थः।

केई भणंति एसो, गुरुसंजमजोगओ पहाणो त्ति।
थेरविहाराओ वि हु, अच्चंतं अप्पमायाओ॥ ५५५॥

केचन भणन्त्येषोऽभ्युद्यतविहारः, गुरुसंयमयोगतः कारणात्प्रधान इति, स्थविरविहारादपि सकाशादत्यन्तमप्रमादाद्धेतोरिति गाथार्थः।

अन्ने परत्थविरहा, नेवं एसो अ इह पहाणो त्ति।
एअस्स वि तब्भावे, पडिवत्तिणिसेहओ चेव॥ ५५६॥

अन्ये परार्थविरहात् कारणान्नैवमिति भणन्तित। एष च परार्थ इह प्रधानः परलोक इति। एतस्याऽप्यभ्युद्यतविहारस्य तद्भावे परार्थभावे प्रतिपत्तिनिषेधतश्चैव, नैव भणन्ति। इति गाथार्थः।

एतदेवाऽऽह–

अब्भुज्जयमेगयरं, पडिवज्जिउकाम सो वि पव्वावे।
गणिगुणसलिद्धिओ खलु, एमेव अलद्धिजुत्तो वि॥ ५५७॥

अभ्युद्यतमेकतरं विहारं मरणं वा प्रतिपत्तुकामः सन्नसावपि प्रव्राजयत्युपस्थितम्, अन्यथा तत्प्रव्रज्याभावे गणिगुणस्वलब्धिकः खलु तत्पालनासमर्थो न सामान्येन तच्छून्यः, स्नेहात्प्रव्रजति सति का वार्ता ? इत्याह–एवमेवान्यथा तत्प्रव्रज्याभावेऽलब्धियुक्तोऽप्यभ्युद्यतप्रतिपत्तिमात्रेण गुरुनिश्रया प्रव्रजतीति गाथार्थः।

एव पहाणो एसो, एगंतेणेव आगमा सिद्धो।
जुत्तीए वि अ नेओ, सपरूवगारो महं जम्हा॥ ५५८॥

एवं प्रधान एषोऽभ्युद्यतविहारात् एकान्तेनैवाऽऽगमात् सिद्ध इति युक्त्याऽपि च ज्ञेयः प्रधानः, स्वपरोपकारो महान् यस्मादिति गाथार्थः।

ण य एत्तो उवगारो, अण्णो णिव्वाण–साहणं परमं।

जं चरणं साहिज्जइ, कस्सइ सुहभावजोएणं ॥५५९॥

न चात उपकारोऽन्यः प्रधानतरः, निर्वाणसाधनं परमं यच्चरणं साध्यते कस्यचित् प्राणिनः शुभभावयोगेन हेतुना इति न लब्ध्याद्यपेक्षया। इति गाथार्थः।

अच्चंति जुणहहेऊ, एअं अण्णेसि णिअमओ चेव
परिणमइ अप्पणो वि हु, कीरंतं हंदि एमेव ॥५६०॥

आत्यन्तिकसुखहेतुरेतच्चरणमन्येषां भव्यप्राणिनां नियमेनैव परिणमति, आत्मनोऽपि क्रियमाणमप्येषां हन्द्येवमेवा ऽऽत्यन्तिकसुखत्वंनेति गाथार्थः।

गुरू संजगजोगो वि हु, विण्णेओ सपरसंजमो जत्थ।
सम्मं पवड्ढमाणो, थेरविहारे अ सो होइ ॥५६१॥

गुरूः संयमयोगोऽपि विज्ञेयः। क इह?, स्वपरसंयम, यत्र संयमे, सम्यक् प्रवर्द्धमानः सन् सन्तस्या स्थविरविहारे चाऽसौ भवति स्वपरसंयमः, इति गाथार्थः।

अच्चंतमप्पमाओ, वि भावओ एस होइ णायव्वो।
मं सुहभावेण मया, सम्मं अण्णेसि तक्करणं ॥५६२॥

अत्यन्ताप्रमादोऽपि, भावतः परमार्थेन, एष भवति ज्ञातव्य एवंरूपः— यच्छुभभावेन सदा सर्वकालं, सम्यगन्येषां तत्करणं शुभभावकरणमिति गाथार्थः।

जइ एवं कीस मुणी, थेरविहारं विहाय गीया वि।
पडिवज्जंति इमं न तु, कालोचि अमणसणसमाणं ॥५६३॥

यद्येवं, किमिति मुनयः स्थविरविहारं विहाय गीतार्था अपि सन्तः प्रतिपद्यन्त एनं जिनकल्पम्, न तु कालोचितमनशनसमानं, तदाऽन्याभागादिति गाथार्थः।

तकाले उचिअस्सा, आणाआराहणा पहाणेस।
इहरा उ आयहाणी, निप्फलसत्तिक्खया णेआ ॥५६४॥

तत्काल एवोचितस्य पुंसः, आज्ञाऽऽराधनाद्धंतोः प्रधान एव जिनकल्पः। इतरथा त्वात्महानिः स्वकाले तदप्रतिपत्तौ निष्फलशक्तिक्षयात् कारणाद् ज्ञेयेति गाथार्थः।

अहवाऽऽणाभंगाओ, एसो अहिगगुणसाहणसहस्स।
द्दीणकरणेण आणा, सत्तीएँ सया वि जइअव्वं ॥५६४॥

अथवाऽऽज्ञाभङ्गादात्महानिः, एष चाऽऽज्ञाभङ्गः अधिक गुणसाधनसमर्थस्य सतः हीनकरणेन हेतुनाऽऽज्ञा, एवं पडुत शक्तया सदाऽपि यतितव्यं, न तत्क्षयः कार्य इति गाथार्थः।

एत्तो अ इमं एवं, जं दसपुव्वीए सुचइं सुत्ते।
एअस्स पडिस्सेहो, तयण्णहा अहिगगुणभावा ॥५६६॥

इतश्चैतदेवं स्वरपरसंयमः श्रेयान्, यदपिं दशपुर्विणां साधूनां भूयते सूत्रे आगमे, एतस्य कल्पस्य प्रतिषेधः, तस्यान्यथा पद्येपकारद्धारेणाधिकगुणभावात् कारणदिति गाथर्थः।

एवं तत्तं नाउं, विसेसओ एव सत्तिरहिएहिं।
सपरोवआरविसए, जत्तो कज्जो जहासत्ति ॥५६७॥

एवं तत्वं ज्ञात्वा विशेषत एव शक्तिरहितैः शक्तिशून्यैः स्वरोपकारे पत्नः कार्यः यथाशक्ति, अप्रमत्तैः, महदेतन्निर्जरा ऽङ्गमितिपर्यायः।

सव्वं थेरविहारं, मोत्तुं अन्नत्थ होइ सुद्धो उ।
एत्तो च्चिअ पडिसिद्धे, अज्जाओऽसमत्तकप्पो य ॥५६८॥

सर्वं स्थविरविहारं मुक्तवा, स्वपरोपकारोऽन्यत्र भवति शुद्ध एव, नाशुद्धः। अत एवं प्रतिषिद्धसूत्रेऽजातोऽसमाप्तकल्पश्चेति गाथार्थः।

एतत्स्मरणमाह —

अज्जाओ गोआणं, असमत्तो पणगमत्तगा दिट्ठा।
उउविसअ दो वि भणिओ, जहक्कमं वीअरागेहिं ॥५६९॥

अजातो गीतार्थानां कल्पोऽसमाप्तौः पञ्चकात्समाप्तकाद् वाऽवः ऋतुविषयो द्वयोरपि भणितो यथाक्रमं वीतरागैरिति गाथार्थः।

पडिसिद्धवज्जगाणं, थेरविहारो अ होइ सुद्धो त्ति।
इहरा आणाभंगो, संसारपवड्ढणा णियमा ॥५७०॥

प्रतिषिद्धवर्जकानां साधूनां स्थविरविहारश्च भवति, शुद्ध इति। इतरथा प्रतिषिद्धावर्जने आज्ञाभङ्ग संसारप्रवर्द्धना नियमादिति गाथार्थः।

कयमित्थपसंगेणं, सविसयणिअया पहाणया एवं।
दट्ठव्वा बुद्धिमया, गओ अ अब्भुज्जयविहारो ॥५७१॥

कृतमत्रा प्रसङ्गेन विस्तरेण, स्वविषयनियतोक्तन्यासात् प्रधानता एवं रूष्टव्या बुद्धिमता द्वयोरपि। गतश्चाभ्युद्यतविहार उक्तः। इति गाथार्थः। पं० व० ४ द्वार। पं०भा०। पं० चू०।

(२६) (जिनकल्पिक—स्थतिरकल्पिक—भेदभिन्नानां परस्परं प्रतिविशेषः 'अहालंद' शब्दे प्रथमभागे ८६८ पृष्ठे द्रष्टव्यः) (२७) (२८) (गच्छो जिनकल्पश्च द्वावप्येतौ महर्द्धिकाविति 'गच्छ' शब्दे तृतीयभागे ८०३ पृष्ठे द्रष्टव्यौ)

(२९) जिनकल्पिको द्विविधः—अच्छिद्रपाणि—श्छिरूपाणिच्च। तत्राछिद्रपाणेः शक्तयनुरूपाभिग्रहविशेषाद् द्विविधमुपकरणम्। तद्यथा— रजोहरणं, मुखवस्त्रिका च। कस्यचित् त्वकृत्राणार्थं क्षौमपटपरिग्रहत्रिविधम्। अपरस्योद कबिन्दुपरिता-पादिरक्षणार्थमौर्णिकपटपरिग्रहात् चतुर्द्धा। तथा—असहिष्णुतरस्य द्वितीयक्षौमपटपरिग्रहात् पञ्चधेति॥ छिद्रपाणेस्तु जिनकल्पिकस्य सप्तविधपात्रानिर्योगसमन्वितस्य रजोहरणमुखवावस्त्रिका-ऽऽदिग्रहणक्रमेण यथायोगं नवविधो दशविध एकादशविधो द्वादशविधश्चोपधिर्भवति। पात्रानिर्योगश्च (प्रवचनसारोद्धारे) — ''पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया। पडसाइँ रयत्ताण, च गोच्छमो पायणिज्जोगो॥४९८॥'' आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ०।

(३०) (३१) (जिनकल्पिकानामुपकरणम् 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०६० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

(३२) को वै न मन्यते तीर्थङ्करैराभिहितो जिनकल्प इति? केवलं यादृशानां पुरुषाणां येन विधिना तैरभिहितो जिन कल्पस्तदेतदाकर्ण्य। किं पुनस्तत? इत्याह —

उत्तमधिइसंघयणा, पुव्वविदोऽतिसइणो सयाकालं।
जिणकप्पिया वि कप्पं, कयपरिकम्मा पवज्जंति ॥२५९१॥
तं जइ जिणवयणाओ, पवज्जसि पवज्जतो सछिन्नो त्ति।
अत्थि त्ति कह पमाणं, कइ वुच्छिन्नो त्ति न पमाणं ॥२५९२॥

उत्तमधृतिसंहननाः पूर्ववेदिनो, जघन्यतोऽपि किञ्चिन्नयून

नवपूर्वप ठका इत्यर्थः। सर्वदैव निरूपमशक्त्याद्यतिशयसंपन्ना जिनकल्पिका अपि ''तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य। तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ'' ॥१॥ इत्यादि पूर्वोक्तविधिना कृतपरिकर्माण एव जिनकल्पं प्रतिपद्यन्ते, नान्यथा, इति न स्थ्यापुरूषकल्पानां भवादृशां जिनकल्पस्तीर्थ ङ्करैरनुज्ञात इति। तत्तस्माद् यदि जिनवचनादिर्हदुपदेशाज्जिन कल्पं प्रतिपद्यते त्वं, ततस्तर्हि 'स जिनकल्पो व्यवच्छिन्नः' इतीदमपि प्रतिपद्यस्व। अथैतन्न प्रतिपद्यसे, तर्हि जिनकल्पोऽ स्तीति कथं तीर्थङ्करव वनं तव प्रमाणम्? कथं च व्यवच्छिचोऽ सो इति न प्रमाणम्? नन्वाग्रह-पिशाचिकाग्रस्तचेष्टितमिदं, स्वेच्छामात्रप्रवृत्तत्वादिति ॥२५६१॥ २५६२॥

अथ जिनकल्पास्तित्वभागमे प्रतीतं, सद्व्यवच्छेदस्तु केन वचनेन तीर्थङ्करैरूक्तः? इति चेदित्याह –

मण–परमोहि–पुलाए, आहारग–खवग–उवसमे कप्पे।
संजमतिय–केवलि सि–ज्झणा य जंबुम्मि वुच्छिन्ना ॥२५६३॥

मनः पर्यायज्ञानं, परमावधिः पुलाकलब्धिः, आहारकशरीरं, क्षपकश्चेणि, उपशमश्रेणिः, जिनकल्पः, परिहारविशुद्धिक – सूक्ष्मसंपराय–यथाख्यातलक्षणं संयमत्रिकं, केवली, मोक्षगमन-लक्षणा सिद्धिश्चेति सर्वेऽप्येते पदार्थाः जम्बूस्वामिनी व्यवच्छिन्नाः जम्बूस्वामिनं यावत्प्रवृत्ताः, न तूत्तरत्र इति ॥२५६३॥ विशे०। आ०म०। जम्बू स्वामिनि व्यवच्छिन्नोऽसौ, संहननाद्यभावात् सांप्रतं न शक्यत एवं कर्तुम्। विशे०।

जिणकप्पट्ठिइ स्त्री० (जिनकल्पस्थिति) जिनाः गच्छनिर्गत साधुविशेषाः, तेषां साधुविशेषाणां कल्पस्थितिर्जिन-कल्पस्थितिः। स्था० ३ ठा० ४ उ०। कल्पस्थिति भेदे, बृ० ३ उ०। सा चैवम् जिनकल्पं हि प्रतिपद्यते जघन्येनापि नवमपूर्वस्य तृतीयवस्तुनि सति उत्कृष्टतस्तु दशसु भिन्नेषु प्रथमे संहनने दिव्याद्युपसर्गरोगवेदनाश्चासौ सहते, एकाक्येव भवति, दशगुणोपेतस्थाण्डिलं एवोच्चारादि, जीर्णवस्त्राणि च त्यजति। सर्वोपधि विशुद्धा अस्य भिक्षाचार्य तृतीयपौरूष्यां पिण्डैषणोत्तरा, सा पञ्चानामेकतरैव, विहारो मासकल्पेन, तस्यामेव वीथ्यां षष्ठदिने भिक्षाऽटनमिति, एवं प्रकारा चेयम्– ''सुयसंघयण'' इत्यादिकाद् (बृहत्कल्प) गाथासमूहात् कल्पोक्तादवगन्तव्येति। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

अथ जिनकल्पस्थितिमाह –

णिज्जुत्तिमासकप्पे–सु वणित्तो जो गमो उ जिणकप्पे।
सुयसंघयणादीओ, सो चेव गमो णिरवसेसो ॥४०६॥

निर्युक्तिः पञ्चकल्पः, तस्यां च मासकल्पः, प्रकृते च यो गमो जिनकल्पे जिनकल्पविषयः श्रुतसंहननादिको वर्णितः, स एव गमो निरविशेषोऽवगन्तव्यः।

स्थानाशून्यार्थ पुनरिदमुच्यते –

गच्छम्मि य णिम्मीता, धीरा जाहे मुणियपरमत्था।
अग्गहजोगअभिग्गहे, उवेंति जिणकप्पियचरित्तं ॥४०४॥

यदा गच्छे, प्रवज्या शिष्यपदानुक्रमेण निर्मिता निष्पन्ना, तदा धीरा औत्पत्तिक्यादिबुद्धिमन्तः, परीषहोपसर्गैरक्षोभ्या वा, मुणित-परमार्थाः– अभ्युद्यतविहारेण विहर्तुमवसरः सांप्रतम-स्माकामित्ये-वमवगतार्थाः, तथा–पिण्डैषणयोरसंसृष्ट संसृष्टाख्ययोरग्रहः, ते परिहर्तव्ये, यास्तूपरितन्यः पञ्चैषणास्तासाम भिग्रह एता एव गृहीतव्याः इत्येवंरूपः, तत्राप्येक-दैकतरस्यां योगो व्यापारः परिभोग इत्यर्थः। एवं भावितगतयो यदा भवन्ति, तदा जिनकल्पिकचारित्र-मुपयन्ति प्रतिपद्यन्ते।

धितिवलिया तवसूरा, णिंति य गच्छाउ ते पुरिससीहा।
बलवीरियसंघयणा, उवसग्गसहा अभीरू य ॥४०५॥

धृतिर्वज्रकुड्यवदच्छेद्यं चित्तप्रणिधानं, तया, बलिकां बलवन्तः, तथा तपश्चतुर्थादिकं षण्मासिकान्तं तत्र शुराः समर्थाः, एवविधाः पुरूषसिंहाः, ते गच्छान्निर्गच्छन्ति। बलं शारीरं, वीर्यं जीवप्रभवं, तद्धेतुः संहननम् अस्थिनिचयात्मकं येषां ते तथा। बलवीर्यग्रहणं च चतुर्भङ्ग ज्ञापनार्थम्। सा चेयम्–धृतिमान्नामैको, न संहननवान्। संहननवान्नामैको न धृतिमान्। संहननवान् धृतिमाँश्च! न संहननवान् न धृतिमान। तत्र तृतीय भङ्गनाधिकारः। उपसर्गा दिव्यादयः, तेषां सहाः सम्यगध्यासि तारः, तथा–अभीरवः परीषहेभ्यो न विभ्यति। गता जिनकल्प स्थितिः। बृ० ६ उ०। जिनकल्पिकः कथं मोक्षं न याति?। कर्म्मणो बाहुल्यादन्यद्वा किमपि कारणम्, तस्य क्षपकश्रेण्युपशमश्रेण्यो र्मध्ये काऽपि भवति, न वा?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–जिनकल्पि कस्तस्मिन् भवे मोक्षं न याति, तथाकल्पत्वात्। किं चोपशमश्रेणिं तु कश्चित्प्रतिपद्यते, न तु क्षपकश्रेणिम्, पञ्चवस्तुके तथाऽभिधानादिति। १६३ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

जिणकप्पपडिमा स्त्री० (जिनकल्पप्रतिमा) प्रतिमाभेदे, ''सो य जिणकप्पडिअं करेइ'' आ०म०द्वि०।

जिणकप्पिय पुं० (जिनकल्पिक) जिनानां कल्प आचारो जिनकल्पः, स विद्यते येषां ते। ''अत इन् ठनौ''।५।२।११५। इति (पाणिनीय-वचनात्) ठन्। प्रव० ६० द्वार। जिना गच्छनिर्गत साधुविशेषाः, तेषां कल्पः समाचारः, तेन चरन्तीति जिनकल्पिकाः। प्रव० ६३ द्वार। जिनानामिव कल्पो जिनकल्प उग्रविहारविशेषः तेन चरन्तीति जिनकल्पिकाः। ध० २ अधि०। अभ्युद्यतविहारिणि, पं० व० ४ द्वार। (एतस्याशेषवक्तव्यताऽनु पदमेव 'जिणकप्प' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४६३ पृष्ठे निरूपिता)

जिणकित्ति पुं० (जिनकीर्ति) तपागच्छान्तर्गतसोमसुन्दरगणी न्द्रस्य स्वनामख्याते शिष्ये, ग० ३ अधि०। अयं च वैक्रमीये १४६४ वर्षे विद्यमान आसीत्। अनेन चम्पकश्रेष्ठिकथानकं, धन्नशालिभद्रचरित्रं, नमस्कारस्तवटीका, दानकल्पद्रुमः, श्रीपालगोपालकथा चेति ग्रन्था विरचिताः। जै० इ०।

जिणकिरिया स्त्री० (जिनक्रिया) जिनप्रणीतायां क्रियायाम्, पं० व०।

चोदक आह – जिनक्रियाया असाध्या नाम न सन्ति?,

सत्यमित्याह–

जिणकिरियाऐं असज्झा, ण इत्थ लोगम्मि केइ विज्जंति।
जे तप्पओगऽजोगा, तेऽसज्झा एस परमत्थो ॥४६॥

जिनानां संबन्धिनी क्रिया तत्प्रणेतृत्वेन जिनक्रिया, तस्या असाध्या अधिकित्स्या, नाम लोके प्राणिलोके, केचन प्राणिनो विद्यन्ते। किं तु–ये तत्प्रयोगायोग्या जिनक्रियाप्रयोगानुचितास्ते असाध्याः कर्मव्याधिमाश्रित्य, एष परमार्थः–इदमत्र हृदयमिति गाथार्थः। पं० व० १ द्वार।

जिणकुसलसुरि पुं० (जिनकुशलसुरि) खरतरगच्छीये स्वनामख्याते आचार्ये, ''भुवनपदानुक्रमभानुजातो जिन-कुशलसूरि –

गुरः '' अष्ट० ३२ अष्ट०। अनेन वैक्रमीये १३३७ वर्षे जन्म सम्प्राप्य १३४७ वर्षे जिनचन्द्रसूरिणमन्तिके प्रव्रज्य १३७७ वर्षे सूरिपदं प्राप्य चैत्यवन्दनकुलकवृत्तिनामा ग्रन्थो विनिर्मितः तरूणप्रभा चार्याय च सूरिपदं दत्तम्, तथा १३९७ वर्षे स्वर्गम् गमत्। जै० इ०।

जिणकेसरि [ण्] पुं० (जिनकेशरिन्) जिनसिंहे, ''एक्को परिभमउ जए, विअडं जिणकेसरी सलीलाए। कंदप्पडुड्डदाढो, मयणो विड्डारिओ जेण ॥३॥'' सूत्र १ श्रु० ६ अ०।

जिणक्खाय न० (जिनाख्यात) जिनेन कथिते, जी० १ प्रति०। ''दुवालसंगं जिणक्खायं'' उत्त० १३ अ०। दर्श०।

जिणगुण पुं०(जिनगुण) वीतरागत्वादिके तीर्थकरगुणे, ''जिणगुणविसयं सद्धम्मवुड्ढिजणगं, अणुवहासं''। जिनगुण विषयं वीतरागत्वादितीर्थकरगुणगोचरम्। पञ्चा० ९ विव०।

जिनगुणसमुद्द पुं० (जिनगुण समुद्र) गुणरत्नाधारभूते जिनरूपे समुद्रे, पञ्चा०। ''पूया जिणगुणसमुद्देसु,'' जिनाश्च ते गुणानां गुणरत्नानामाधारत्वेन प्राचुर्येण च समुद्रा इव समुद्राइचेति जिनगुणसमुद्रास्तेषु, पञ्चा० ४ विव०।

जिणगोयमसीइआहरण न०(जिनगौतमसिंहाहरण) जिन गौतमसिंहदृष्टान्ते, जीवा०।

निच्छयओ पुण अप्पे, वि जस्स वत्थुम्मि जायए भावो।
तत्तो सो निज्झरओ, जिणगोयमसीहआहरणं ॥

निश्चयतो निश्चयनयात्, पुनरल्पेऽपि हीनेऽपि न केवलं बलिष्ठे, इत्यपिशब्दार्थः। वस्तुनि आचार्यादौ, यस्य भव्यस्य, वस्तुनि उक्तरूपे, जायते प्रादुर्भवति, भावः प्रशस्तान्तः करणं, ततः स इति भावानिर्जरकः कर्महासकारको जिनगौतमसिंह आहरणं दृष्टान्त इति गाथार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्चेदम् – किल भगवता वीरेण गौतमस्वामी ग्रामं गच्छन् एकदा भणितः। गौतम! त्वया हालिको मार्गे गच्छताः प्रव्राजनीयः। तथेति प्रतिपद्य प्रणम्य च भवगन्तं गतो गौतमो ग्रामे, दृष्टश्च गच्छता क्षेत्रनिकटवर्ती हालिकः। ततो गौतमेन भणितम् – किं भोः करोषि?, निजकर्माऽऽवेदितम्। पुनरूवाच सः–सांप्रतं यच्च भणसि तदहं भगवन्! करोमि। गौतमेनोचे–धर्मं कुरूष्वेति। तेन च प्रोत्फुल्लवदनकमलेन न्यगादि–एवमिति। ततः प्रव्राजितः सः, ततः स्वकार्यं विहाय भगवतः संमुखमागच्छतस्तस्य शिक्षा दत्ता–एवं चङ्क्रमितव्यम्, एवंविधचास्मदीयो भगवान् धीरो भवता प्रतिपत्तव्य इत्यादि। सर्वं तेन प्रतिपन्नम्। यावद द्यापि भगवान् नासीद् दृष्टो, दृष्टे च तस्मिन् रजोहरणं मुक्त्वा यद्ययं ते गुरूस्ततो न किञ्चित्तव धर्मेण कार्यमिति भणित्वा च पलायितः। किल तस्य वासुदेवभवकृतपूर्ववैरोरान् पितृव्यसुत जीवसिंहपातनरूपान् भगवन्तं पश्यतः कर्मबन्धो, गौतमं च पश्यतः तद्ह्रासः, गौतमश्च भगवदपेक्षया हीनश्छद्मस्थातीर्थङ्करत्वादिहेतोः, भगवाँश्चोत्तमः, तीर्थङ्करत्वादिहेतुभिरेव इति सिद्धम्। जीवा० ३० अधि०।

जिणचंद पुं० (जिनचन्द्र) जिनरूपे कारूणिकनिशाकरे, ''जिणचंदेहिं तुट्ठदिट्ठाओ'' जिनचन्द्रैः कारूणिकनिशाकरैः। प्रश्न० १ सम्ब० द्वार। ''तह जिणचंदागमाओ व'' जिनचन्द्रागमादर्हद्वचनात्। श्रा०। भाव०।

जिणचंदगणि पुं० (जिनचन्द्रगणिन्) उकेशगच्छीये कक्कसूरिशिष्ये, एतमेव देवगुप्तसुरिकुलमण्डनसूरिनाम्यां वदन्ति। वैक्रमीये १०७३ वर्षे ऽयमासीत्। अनेनैव नवपदप्रकरणं, तदुपरि टीका च विरचिता। जै० उ०।

जिणचंदसुरि पुं० (जिनचन्द्रसूरि) खरतरगच्छीये जिनेश्वराचार्यशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, पञ्चा० १९ विव०। स्था०। ''तच्छिष्या जिनचन्द्राख्याः, सुरयो गुणभूरयः।'' अष्ट ३२ अष्ट०। अनेन संवेगरङ्गशाला नाम ग्रन्थो विरचितः।'' जिनदत्तसुरिसंतानीये जिनमाणिक्यसूरिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये च, पं० व० ४ द्वार। ''श्रीमज्जिनचन्द्राहः, सूरिर्नवार्कदीधितिप्रतापः''। अष्ट० ३२ अष्ट०। अयं च वैक्रमीये ११९ वर्षे जातः १२०३ वर्षे दीक्षितः १२११ वर्षे आचार्यपदम्, १२२३ वर्षे स्वर्गतिं च लब्धवान्। तृतीयोऽष्वेतन्नामा आम्रदेवसुरिगुरूः नेमिचन्द्रसूरिशिष्यश्चाभवत्। चतुर्थश्च खरतरगच्छीयः जिनप्रबोधसूरिशिष्यः, तस्य वैक्रमीये १३२६ वर्षे जन्म, १३३२ वर्षे दीक्षा, १३४१ वर्षे सूरिपदप्राप्तिः। चतुर्ष राजसु जैनधर्ममरोपयत्। अस्मै कलिकालकेवलीति। विरूदमभिलत् १३७६ वर्षे स्वरयमगमत्। पञ्चमोऽप्येतन्नामा खरतरगच्छे १४९२ वर्षे वर्तमान आसीत्। यच्छिष्यो जिनसा गरनामाऽऽसीत्। जै० इ०।

जिणचिण्ण त्रि०(जिनचीर्ण) जिनाऽऽचरिते, ''अक्खोभो होइ जिणचिण्णो'' जिनाः श्रुतावधिमनः पर्यायकेवलज्ञानवन्तो, जिनकल्पिकाश्च, तैश्चीर्ण आचरितो जिनाचीर्णः। पञ्चा० ४ विव०।

जिणजक्ख पुं० (जिनयक्ष) तीर्थकृतां भक्तिदक्षे गोमुखादिके यक्षे, प्रव०।

जक्खा गोमुह महजक्ख तिमुह ईसर सुतुंवुरु कुसुमो।
मायंगो विजयाजिय, बंभो मणुओ सुरकुमारो ॥३७५॥
छम्मुह पयाल किंनर, गरूडो गंधव्व तह य जक्खिंदो।
कूवर वरूणो भिउडी, गोमहो वामण मयंगो ॥३७६॥

यक्षा भक्तिदक्षास्तीर्थकृतामिमे। यथा–प्रथमजिनस्य (ऋषभस्य) गोमुखो यज्ञः सुवर्णवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो वरदाक्षमालिकायुक्तदक्षिणपाणिद्वयो मातुलिङ्गपाशकान्वित-वामपाणिद्वयश्च ।१। अजितनाथस्य महायक्षाभिधो यक्षः चतुर्मुखः श्यामवर्णः करीन्द्रवाहनोऽष्टपाणि वरदमुद्राराक्षसूत्रपाशकान्वित-दक्षिणपाणि चतुष्टयो बीजपूरकाभयाङ्कुशशक्तियुक्त-वामपाणिचतुष्टकश्च ॥२॥ श्री संभवजिनस्य त्रिमुखो नाम यक्षः त्रिवदनः त्रिनेत्रः श्यामवर्णः मयूरवाहनः षड् भुजो नकुल-गदाऽभययुक्तदक्षिणकरकमलत्रयो मातुलिङ्गच्छागाक्षसूत्र-वामपाणिपद्यत्रयश्च ॥३॥ श्रीअभिनन्दनस्य ईश्वरो यक्षः श्यामकान्तिर्गजवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रायुक्तदक्षिण-करकमलद्वयो नकुलाङ्कुशान्वितवाम पाणिद्वयश्च।४। श्रीसुमतेस्तुम्बुरूर्यक्षः श्वेतवर्णो गरूडवाहनश्चतुर्भुजो वरदशक्तियुक्तदक्षिणपाणिद्वयो गदानागपाशयुक्तवाम पाणिद्वयश्च ।५। श्री पद्मप्रभस्य कुसुमो यक्षो नीलवर्णः कुरङ्गवाहनश्चतुर्भुजः फलाभययुक्तदक्षिणपाणि द्वयो नकुलाक्षसूत्रायुक्त वामपाणिद्वयश्च ॥६॥ सुपार्श्वस्य मातङ्गे यक्षो नील-

वर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो विल्वपाशयुक्तदक्षिणापाणिद्वयो नकुलाङ्कुश-युक्तवामपाणिद्वयश्च ॥७॥ श्रीचन्द्रप्रभस्य विजयो यक्षो हरितवर्णः त्रिलोचनो हंसवाहनो द्विभुजः कृतदक्षिणहस्त चक्रो वामहस्तधृतमुद्गरश्च ॥८॥ श्री सुविधिजिनस्याजितो यक्षः श्वेतवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रायुक्त दक्षिण पाणिद्वयो नकुलकुन्तकलितवामपाणि-द्वयश्च ॥९॥ श्री शीतलस्य ब्रह्मा यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सितवर्णः पद्मासनोऽष्टभुजो मातुलिङ्गद्वरपाशकाभययुक्तदक्षिणपाणि चतुष्टयोन-कुलगदाऽङ्कु-शाक्षसूत्रायुक्तवामपाणिचतुष्टयश्च ॥१०॥ श्री श्रेयांशस्य मनुजो यक्षः (मतान्तरेण—ईश्वरः) धवलवर्णः त्रिनेत्रो वृषभ-वाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गदायुक्तदक्षिणा पाणिद्वयो नकुलकाक्षसूत्रायुक्त-वामपाणिद्वयश्च ॥११॥ श्रीवासु पूज्यस्य सुरकुमारो यक्षः श्वेतवर्णो हंसवाहनः चतुर्भुजो बीजपूरक बाणान्वितदक्षिणकरद्वयो नकुलकधनु-र्युक्तवामपाणि द्वयश्च ।१२। श्रीविमलस्य षण्मुखो यक्षः श्वेतवर्णः शिविवाहनो द्वादशभुजः फलचक्रबाणखड्ग पाशाक्षसूत्रायुक्तदक्षिणपाणिष ट्कः, नकुलचक्रधनुः फलकाङ्कुशाभययुक्तवामपाणिषट्कश्च ॥१३॥ श्री अनन्तस्य पातासो यक्षस्त्रिमुखो रक्तवर्णो मकरवाहनः षड् भुजः पद्मखड्ग पाशयुक्तदक्षिणपाणित्रायो नकुल फलकाक्षसूत्रायुक्तवाम-पाणित्रयश्च ॥१४॥ श्रीधर्मस्य किंनरो यक्षस्त्रिभुखो रक्तवर्णः कूर्मवाहनः षड्भुजो बीजपुरकगदाऽभययुक्त दक्षिणपाणित्रायो नकुलपद्माक्षमाला युक्तवाम-पाणित्रयश्च ॥१५॥ श्रीशान्तिनाथस्य गरूडो यक्षो वराहवाहनः क्रोडवदनः श्यामरूचिश्चतुर्भुजो बीजपुरकपद्मा न्वितदक्षिण-करद्वयो नकुलाक्षसूत्र युक्तवामपाणिद्वयश्च ॥१६॥ श्रीकुन्थोर्गन्धर्वयक्षः श्यामवर्णो हंसवाहनश्चतुर्भुजो वरदपाश कान्वितदक्षिणपाणिद्वयो मातुलिङ्गाङ्कुशाधिष्ठितवामकरद्वय श्च ॥१७॥ श्री अरजिनस्य यक्षेन्द्रो यक्षः षण्मुखस्त्रिनेत्रः श्यामवर्ण शङ्खशिखिवाहनो द्वादशभुजो बीजपूरकबाणखड् गमुद्गरपाशकाभययुक्त दक्षिणकरषट्को नकुलधनुः फलकशूला ङ् कुशाक्षससूत्रायुक्त वामपाणिषट् कश्च ॥१६॥ श्रीमल्लिजिनस्य फूवरां यक्षश्चतुर्मुख इन्द्रायुधवर्णो गजवाहनोऽष्टभुजो वदरपरशुशूलाभययुक्त दक्षिणपाणिचतुष्टयो बीजपूरकशक्ति-मुद्गराक्षसूत्रायुतवामपाणि चतुष्टयश्च (अन्य कूवरस्थाने कुवेरमाहुः) ॥१६॥ श्रीमुनिसुव्रतस्य वरूणो यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सितवर्णो वृषभवाहनो जटासुकुटभूषितोऽष्ट भुजो बीज पूरकगदाबाणशक्तियुक्त दक्षिणकरकमल चतुष्को नकुलपद्मधनुः परशुयुतवाम पाणिचतुष्टयश्च ।२०। श्री नमिजिनस्य भ्रकुटिर्यक्षश्चतुर्मुखास्त्रिनेत्रः सुवर्णवर्णो वृषभ वाहनोऽष्टभुजो बीजपूरक-शक्तिमुद्गराभययुक्त दक्षिणकरचतुष्टयो नकुलपरशुवज्राक्ष सूत्रायुक्तवामकर चतुष्टयश्च ॥२१॥ श्री नेमिजिनस्य गोमेधो यक्षः त्रिमुखः श्यामकान्तिः पुरूषवाहनः षड्भुजो मानुलिङ्ग परशुचक्रान्वितदक्षिणकरत्रयो नकुलशूलशक्तियुक्तवाम-पाणित्रयश्च ॥२२॥ श्रीपार्श्वजिनस्य वामनो यक्षो (मतान्तरेण पार्श्वनामा) गजमुख उरगफणामाण्डितशिराः श्यामवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो बीजपूर कोरगयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलभुजगयुक्तवामपाणि युगश्च ॥२३॥ श्री वीरजिनस्य मतङ्गो यक्षः श्यामवर्णो गजवाहनो द्विभुजो नकुलयुत दक्षिणभुजो वामकरधृतबीजपूरकश्चेति ॥२४॥ प्रव० २६ द्वार।

जिणजत्ता स्त्री०(जिनयात्रा) अर्हदुत्सर्वे रथयात्रायाम्, पञ्चा० ७ विव०। ध०। (सा च 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे वर्णिता)

जिणणाम(ण्) न० (जिननामन्) नामकर्मभेदे, कर्म० ३ कर्म०।

जिणदत्त पुं० (जिनदत्त) स्वनामख्याते खरतरगच्छीये जिनवल्लभ-सूरिशिष्ये आचार्ये, ''तच्छिष्याभयदेवार्याः, गच्छे खरतरेश्वराः'' इति। तत्पदे जिनवल्लसुरिजिनदत्तसूरयोऽभूव न्निति च। अष्ट० ३२ अष्ट०। पं०व०। अयं च महाप्रभावक आसीत्, अम्बादेव्या युगप्रधानपदमस्मै दत्तम्। वैक्रमीये ११३२ वर्षेऽयं च जातः, सोमचन्द्र इति गृहिपर्यायेऽस्य नामाऽऽसीत्, वैक्रमीधे ११४१ वर्षेऽयं दीक्षितः, तत्समयेऽस्य प्रबोधचन्द्रगणीति नामा ऽऽसीत्। ११६६ वर्षेऽयं चित्रकूटे (चित्तोक इति प्रसिद्धे) देवभद्राचार्यदत्तं सूरिपदयवाप, संदेहदोलावलीप्रभृतीननेकान् ग्रन्थानरचयत्। वैक्रमीये, १२११ वर्षे अजयमेरू (अजमेर) नगरेऽयं स्वरगमत्। द्वितीयोऽप्येतन्नामा वायडगच्छीयराशिल सूरिशिष्यजीव-देवसुरेः शिष्यो वैक्रमीये १२६५ वर्षे विद्यमान आसीत्, येन विवेकविलास शकुनशास्त्रादय अनेके ग्रन्था निर्मिताः, परकायप्रवेशविद्यामयमजानत्, १२७७ वर्षे च निर्गते वस्तपालसङ्गेऽप्ययमासीत्, अस्य शिष्योऽमरचन्द्र-सूरिमहा कविरासीत्। जै०इ०। ''सयलगुणरयणरोहणगिरीहिं जिणदत्त सूरीहिं।'' सकलगुणरत्नरोहणगिरिभिर्निखिलगुण माणिक्यरोहण शैलैर्जिनदत्तसूरिभिरेत न्नामकैः सप्तगृहवासिभि रिति यावत्। जीवा० ३८ अधि०। आव०। वसन्तपुरस्थे स्वनामख्याते श्रावके, आ० क०। ''बसंतपुरे नगरे जियसत्तू राया, जिणदत्तो सेट्ठी'' आव० ५ अ०। आ० चू०। (तत्कथा चक्षुरिन्द्रियोदाहरणे 'चक्खिंदिय' शब्दे तृतीयभागे ११०५ पृष्ठे 'काउस्सग्ग' शब्दे ४२७ पृष्ठे च प्ररूपिता) संकुलग्रामवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, पिं०। (तत्कथा 'आधाकम्म' शब्दे द्वितीयभागे २३३ पृष्ठे निरूपिते) श्रावस्तीवास्तव्ये श्रावके, तं०। पाटलिपुत्रनगरस्थे स्वनामख्याते श्रावके, आ०म०द्वि०। (तत्कथा 'लोभ' शब्दे वक्ष्यते) वैशाली नगरीवास्तव्ये जीर्ण श्रेष्ठयपरनामधेये स्वनामख्याते श्रावके, ध०२०। स्वनामख्याते श्राद्धे, यस्य पत्नी ईश्वरी श्राविका। कल्प० ८ क्षण। स्वनामख्याते श्रावके, यस्य पत्नी फल्गुश्रीः, ''जिणदत्त—फग्गुसिरी नाम सावगमिहुणं।'' महा० ५ अ०।

जिणदत्तपुत्त पुं० (जिनदत्तपुत्र) खम्पानगरीवास्तव्ये सार्थवा हदारके, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० (एतत् कथा 'अंड' शब्दे प्रथमभागे ५१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

जिणदव्व न० (जिनद्रव्य) जिनसंबन्धिनि द्रव्ये, दर्श० १ तत्व। ('चेइयदव्व' शब्दे तृतीयभागे १२६३ पृष्ठे दृश्या। उदाहरणम् 'देवदव्व' शब्दे वक्ष्यते)

जिणदास पुं० (जिनदास) मथुरावास्तव्ये श्रावकविशेषे, यस्य भार्या साधुदासी। ''सिद्धी जिणदासो तत्थ साहुदासी पिया तस्स।'' (२) ध०२०। (अस्य 'सुत्तकाल' शब्दे कथा वक्ष्यते) राजगृहनगरस्थे ऋषभ-दत्ताऽऽत्मजे श्रेष्ठिनि, ''सिद्धी य उसभदत्तां, तस्स सुओ भुवणविस्सुओ पढमो। बीओ उण जिनदासो, आवासो जूयवसणस्स'' ॥२॥ ध० २० (अस्य कथा 'बालकीला' शब्दे वक्ष्यते) पाटलिपुत्रवास्तव्ये श्रावके, आ० चू० ६ अ०। मथुरावास्तव्ये श्रावके,

यस्य भार्या जिनदासी। ''जिनदासो, वणिक् तत्रा, श्रावकः परमाऽऽर्हतः। जिनदासी प्रिया तस्य, प्रियंकरणदर्शना ॥१॥'' आ०क०। ती०। आ०म०। (तत्कथा 'कंबल' शब्दे तृतीयभागे १७६ पृष्ठे द्रष्टव्या) राजपुरस्थे श्रावके च। पुं०। ''रायपुरे नयरे एगो कुलपुत्तगजातीओ, तस्स जिणदासो मित्तो'' आव० ६ अ०। (अस्य कथा 'पच्चक्खाण' शब्दे वक्ष्यते)

जिणदासगणिमहत्तर पुं० (जिनदासगणिमहत्तर) निशीथचूर्णिं कारके आचार्ये, ''गुरूदिएणं व गणित्तं, महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं। तेण कएसा चुण्णी, विसेसनामा णिसीहस्स ॥१॥'' नि०चू० २० उ०। एतेन महात्मना अनुयोगद्वारबृहत्कल्पाऽऽवश्य कादिष्वपि चूर्ण्या रचिताः। जै० इ०।

जिणदिट्ठ त्रि० (जिनदृष्ट) तीर्थकराभिमते, अनु०।

जिणदेव पुं० (जिनदेव) भरूकच्छस्थे आचार्ये, ''भरूकच्छे जिणदेवो'' ॥ आचार्ये जिनदेवोऽभू–दत्रैव भृगुपत्तने।'' आ० क०। (तत्कथा 'पणिहि' शब्दे वक्ष्यते)। द्वारवतीवास्तव्ये अर्हन्मित्रश्रेष्ठिनः पुत्रे, ''द्वारवत्यां महापुर्या–मर्हन्मित्रो वणिग्वरः। अनुद्धरी प्रिया तस्य, जिनदेवस्तु तत्सुतः ॥१॥'' आ०क०। ('अत्तदोसोवसंहार' शब्दे प्रथमभागे ५०३ पृष्ठे कथाऽस्य निरूपिता) कौशाम्बीनगरवास्तव्ये क्षेमदेवाऽऽत्मजे स्वनामख्याते श्रावके, ध० र०। (तत्कथा 'बंभसेण' शब्दे वक्ष्यते) साकेतनगरवास्तव्ये श्रावके, ''साएए सत्तुंजयो राया, जिणदेवो सावओ।'' आ० च० ४ ध०। (तत्कथा 'पच्चक्खाण' शब्दे वक्ष्यते) चम्पानगरीवास्तव्ये श्रावके, ''नयरी य चंपनामा, जिणदेवो सत्थवाह अहिछत्ता।'' आ०चू० ४ अ०। (तत्कथा 'संगपरिण्णा' शब्दे वक्ष्यते)

जिणदेसिय त्रि० (जिनदेशित) जिनेन कथिते, दर्श० ४ तत्व। जिना इह हितप्रवृत्तगोत्राविशुद्धोपायाभिमुखपायाविमुखादवः परिगृहन्ते, तथा मूलटीकाकृता व्याख्यानात्, जिनेभ्यो हितप्रवृत्ताऽऽदिरूपेभ्यः शुश्रूषाऽऽदिभिर्व्यक्तभावेभ्यो देशितं कथितं गणधरैरपि जिनदेशितम्। तथा जम्बूस्वामिप्रभृतय एवं विधा एवेति निरूपणीयमेतत्। अथ प्रकृतिसुन्दरमिति कस्माद जिनेभ्योऽपि नोपदिश्यते?। उच्यते–तेषां स्वतोऽसुन्दरत्वेन अनर्थोपनिपातसंभवात्। दृष्टं च पात्रासुन्दरतया स्वतः सुन्दरमपि रविकराऽऽद्युलूकादीनामनर्थाय। आह – च ''पउंजियव्वं धीरेण, हियं जं जस्स सव्वहा। आहारो वि हु मच्छस्स, न पसत्थो गले सुची'' ॥१॥ जी० १ प्रति०। ''धम्मो य जिणदेसिओ'' जिनदेशितः केवलिना भाषितः। तं०। उत्त०।

जिणधम्म पुं० (जिनधर्म) भरतवर्षस्थपद्मिनीखण्डनगर वास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, ती० १० कल्प०। जिनसंबन्धिनि धर्मे, ''अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं।'' अनुत्तरं धर्मं जिनाना मृषभादितीर्थकृतां संबन्धिनम्। सूत्रा० १ श्रु० ६ अ०। ध०। नं०। प्रा०। ''वत्युपया-सणसूरो, अइसयरयणाणसायरो जयइ। सव्वंजयजीवबंधुरबंधू दुविहो वि जिणधम्मो ॥१॥'' स्था० ५ ठा० २ उ०।

जिणपडिमा स्त्री० (जिनप्रतिमा) जिनबिम्बे, ''जिणपडिमादंस मेष पडिबुद्धं।'' (१ गाथा) दश० २ चू०। जिनप्रतिमा सद्भावस्थापनरूपेति। रा०। दश०। जी०। प्रति०। नयो०। षो०। द्वा०। पञ्चा०। ('चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२०५ पृष्ठे सर्वा षक्तव्यतोक्ता)

भारते वर्षे चतुरशीतिर्जिनप्रतिमाः, ताश्चेमा :–

''पर्युपास्य परमेष्ठिपञ्चकं, कीर्तयामि, कृतपापनिग्रहम्।
तन्त्रावेदिविदितं चतुर्युता शीतितीर्थजिननामससङ्ग्रहम्॥१॥''

तथाहि –

श्रीशत्रुञ्जये भवनदीपः श्रीवीरस्वामिप्रतिष्ठितः श्रीआदिनाथः। श्रीमूलनायकः पाण्डवस्थापितो नन्दिवर्धनो युगादिनाथः। श्री शान्तिप्रतिष्ठितः पुण्डरीकः श्रीकलशः, द्वितीयस्तु श्रीवीर स्वामि-प्रतिष्ठितः पूर्णकलशः। सुधाकुण्डे श्रीजीवितस्वामी श्री शान्तिनाथः मरूदेवास्वामिनीप्रथमसिद्धः। श्रीउज्जयन्ते पुण्य कलशमदनमूर्तिः श्रीनेमिनाथः। काञ्चनबलानके अमृतनिधिः श्रीआरिष्टनेमिः। पापामते अतीतचतुर्विंशतिमध्यात् अष्टौ पुण्यनिधयः श्रीमन्नेमीश्वरादयः। काशहृदे त्रिभुवनमङ्गलकलशः श्रीआदिनाथ। सोपारके जीवन्त-स्वामी श्रीऋषभदेवप्रतिमा। नगरमहास्थाने श्रीभरतेश्वरकारितः श्रीयुगादिदेवः। दक्षिणापथे श्रीगोमउदेवः श्री बाहुबलिः। उत्तरापथे कलिङ्ग देशे गोमठः श्री ऋषभः। खङ्गारगढे श्रीउग्रसे नपूजितो मेदिनीमुकुटः श्री आदिनाथः। महानगर्यामुद्दण्डविहारे श्री आदिनाथः। तक्षशिलायां बाहुबलिविनिर्मितं माणिक्यदेवः श्रीऋषभो मन्दोदरी-देवताऽवसरः। भङ्गायमुनयोर्वेणीसङ्गे श्री आदिकमण्डलुम्। श्रीअयोध्यायां श्रीअजितस्वामी। चन्देर्याम अजितः। तारणे विश्व-कोटिशिलायां श्री अजितः। अङ्गदिकायां श्री अजितस्वामिशान्ति-देवताद्वयं श्रीब्रह्मेन्द्रदेवताऽवसरः। श्रावस्त्यां श्री संभवदेवो जाङ्गली-विद्याऽधिपतिः। सेगमतीग्रामे श्री अभिनन्दनमेवः, नर्मदा तत्पादेभ्यो निर्गता। कौञ्चद्वीपे सिंहलद्वीपे हंसद्वीपे श्रीसुमतिनाथदेवपादुकाः। आम्बुरिग्रामे श्रीमतिदेवः। माहेन्द्रपर्वते कौशाम्ब्यां च श्री पद्मप्रभः। मथुरायां महालक्ष्मीनिर्मितः श्रीसुपार्श्वस्तूपः। श्री दशपुरनगरे श्रीसुपार्श्वे सीतादेवीदेवताऽवसरः। प्रभासे शशिभूषणः श्रीचन्द्रप्रभ-श्चन्द्र कान्तमणिमयः श्रीज्वालामालिनीदेवताऽवसरः। श्री गौतम-स्वामि प्रतिष्ठितो बलभ्यागतः श्रीनन्दिवर्धनकारितः श्रीचन्द्रप्रभः। नासिक्यपुरे श्रीजीवितस्वामी त्रिभुवनतिलकः श्रीचन्द्रप्रभः। चन्द्रावत्यां मन्दिरमुकुटः श्रीचन्द्रप्रभः। वाराणस्यां विश्वेश्वरमध्ये श्रीचन्द्रप्रभः। कोयाद्वारे श्रीसुविधिनाथः। प्रयागतीर्थे श्रीशीतल-नाथः। विन्ध्याद्रौ, मल यगिरौ च श्रीश्रेयासः। चम्पायां विश्वतिलकः श्रीवासुपूज्यः। काम्पिल्ये गङ्गामूले, सिंहपुरे च श्रीविमलनाथः। मथुरायां यमुनापुरे समुद्रदेवः। समुद्रे द्वारवत्यां शाकपाणिमध्ये श्री अनन्तः। अयोध्यासमीपे रत्नावाहपुरे नागमहितः श्रीधर्मनाथ। किष्किन्धायां लङ्कायां त्रिकूटगिरौ श्रीशान्तिनाथः। गङ्गायमुनयोर्वेणी-सङ्गमेश्रीकुन्थ्वरनाथौ। श्रीपर्वते मल्लिनाथः। भृगुपत्तनेऽनर्घ्यरत्नचूडः श्रीमुनिसुव्रतः। प्रतिष्ठानपुरे अयोध्यायां विन्ध्याचले माणिक्यदण्डके मुनिसुव्रतः। अयोध्यायां मोक्षतीर्थे नमिः। शौर्यपुरे शङ्ख जिनालये पाटलिनगरे मथुरायां द्वारकायां सिंहपुरे स्तम्भतीर्थे पातालगङ्गा ऽभिधः श्रीनेमिनाथः। अजागृहे नवनिधिः श्रीपार्श्वनाथः। स्तम्भनके भवभयहरः। फलवर्द्धिं कायां विश्वकल्पलताऽभिधः। करहेटके उपसर्गहरः। अहिच्छत्रायां त्रिभुवनभानुः। कलिकुण्डे, नागहृदे च श्रीपार्श्वनाथ। कुक्कटुटेश्वरे विश्वगजः। माहेन्द्रपर्वते छायापार्श्वनाथः। त्रैकारपर्वते सहस्रफणी

पार्श्वनाथः। वाराणस्यां दण्डखाते भव्यपुष्करादभ्यवर्तकः। महाकालान्तरे पातालचक्रवर्ती। मथुरायां कल्पद्रुमः। चम्पायमशोकः। मलयगिरौ श्रीपार्श्वः। श्रीपर्वते घण्टाकर्णो महावीरः। विन्ध्याद्रौ श्रीगुप्तः। हिमाचले ठायापार्श्वः मन्त्राधिराजः श्रीस्फुलिङ्ग। श्रीपुरं अन्तरिक्षः श्रीपार्श्वनाथः। डाकिनीभीमे श्वरे श्रीपार्श्वनाथः। भायलस्वामिगढे देवाधिदेवः। श्रीरामशयने प्रद्योतकरिश्रीवर्द्धमानः। मोटेरे चायडे नाणके पल्ल्यां मेत्तुण्डके मुण्डस्थलं श्रीमालपत्तने उपकेशपुरे कुण्डआमे सत्पुरे डङ्कायां गङ्गाह्रदे सरःस्थाने वीतभये चम्पायाम् अपापायां पुञ्जपर्वते नन्दिवर्द्धनकोटिभूमौ वीरः। वैभाराद्रौ राजगृहे कैलाशे श्रीरोहिणाद्रौ श्रीमहावीरः। अष्टापदे चतुर्विंशतिस्तीर्थकराः। सम्मेतशैलं विंशतिर्जिनाः। हेमसरावरे द्वासप्ततिजिनालयाः कोटिसिद्ध-शिलासिद्धिक्षेत्रम्।

''इति जैनप्रसिद्धानां, तीर्थानां वामपद्धतेः।
सन्देहोऽयं स्फुटीवक्र, श्रीजिनप्रभसूरिणा'' ॥१॥ ती० ४५ कल्प।

जिणपण्णत्त त्रि० (जिनप्रज्ञप्त) तीर्थकरप्रणीते, ''जिणपण्णत्तं लिंगं।'' पं० ब० १ द्वार। जी०। जिनैर्हिताऽऽप्तयनिवर्तकयोगिनिः प्रज्ञप्तं तदन्यसत्वानुग्रहाय सूत्रात् आचाराऽऽद्यङ्गोपाङ्गादिभेदेन, रचितं जिनप्रज्ञप्तम्। उक्तं च – ''अत्थं भासइ अरिहा, सुत्तं गंथिति गणहरा णिउणं। सासणस्स हियट्ठाए, तभी सुत्तं पवत्तइ ॥१॥'' त्ति। जी० १ प्रति०।

जिणपरियाय पुं० (जिनपर्याय) केवलिपर्याये, भ० २० श० ८ उ०। (तत्स्वरूपं 'केवलि' शब्दे तृतीयभागे ६५२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

जिणपवयण न०(जिनप्रवचन) जैनाऽऽगमे, (आ०म०)

सांप्रतमपि च कियं जिनप्रवचनोत्पत्तिः? कियदभिधानं चेदं जिनप्रवचनं?कौ वाऽस्याभिधानाविभागः? इत्येतत् प्रासङ्गिकशेषं शेषद्वारसंग्रहं चाभिधित्सुराह –

जिणपवयणउप्पत्ती, पवयणएगट्ठिया विभागो य।
दारविही य नयविही, वक्खाणविही अणूओगा ॥१३५०॥

इह जिनप्रवचनोत्पत्तिः प्रवचनैकार्थिकानि, एकार्थिकविभागश्चेतित्रितयमपि प्रसङ्गशेषं, द्वाराण्युद्देशनिर्देशादीनि, तेषां विधिः प्ररूपणं द्वारविधिः। अयमुपोद्घातोऽभिधीयते। नयविधिस्तूपक्रमादीनां सूत्रानुयोग द्वाराणां चतुर्थमनुयोगद्वारम्। तथा व्याख्यावस्य विधिर्व्याख्यानविधिः– शिष्याऽऽवार्यपरीक्षाऽभिधानम्। अनुयोगः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः, सूत्रानुगमश्चेति समुदायार्थः। आह च – चतुर्थमनुयोगद्वारं नयविधिमभिधाय पुनस्तृतीयानु योगद्वाराख्यानुगमाभिधानं किमर्थम्?। उच्यते–नयानुगमयोः सहचरभावप्रदर्शनार्थम्। तथाहि–नयानुगमौ प्रतिसूत्रं युगपदनुधावतः, नयमतशून्यस्यानुगमस्याभावात्। यदि युगपन्न यानुगमौ गच्छतः, तर्ह्योतदुपन्यासोऽपि युगपदेवास्तु, किमर्थमनुयोगद्वारचतुष्ट-योपन्यासे नयानामन्ते उपन्यासः? उच्यते–युग-पद्वक्तुमशक्यत्वात्। आह च मूझटीकाकृत– अनुयोग-द्वारचतुष्टयोपन्यासे तु नयानामन्तेऽभिधानं युगपद्वक्तुमशक्यत्वादिति। अपरस्त्वाह – चतुरनुयोगद्वाराऽऽत्मकं शास्त्रं, ततश्चतुरनुयोगद्वारातिरिक्तस्य व्याख्यानाव विधेरुपन्यासो निरर्थकः। तदयुक्तम्। अनुगमाङ्गतया निरर्थकत्वायोगात्। अनुगमाङ्गता च व्याख्याऽत्वादिति तत्र जिनप्रवचनोत्पत्तिर्निमर्युक्तिसमुत्थान प्रसङ्गतोऽभिहिता अर्हद्वचन-त्वात्प्रवचनस्य। आह च – ''सुयमिह जिणण्प्पवयणं, तस्सुप्पत्ती पसंगतोऽभिहिया'' इति ॥१३५०॥ आ०म०प्र०।

जिणपसत्थ त्रि० (जिनप्रशस्त) जिनभाषिते, ''बहुसु ठाणेसु जिणपसत्थेसु'' जिनप्रशस्तेषु जिनभाषितेषु। प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। जिनानां दोषशुद्धोपायभिमुखापाश्रवविमुखहित प्रवृत्तादिभेदानां प्रशस्तं निरूपमं पथ्यान्नवत् उचितसेवनया हितं जिनप्रशस्तम्। जिनहिते च। जी० १ प्रति०।

जिणपाडिहेरय न०(जिनप्रातिहार्य) अतिशयपरमपूज्यत्व ख्यापकालङ्कारविशेषे, दर्श०।

तानि च –

कंकेल्लि कुसुमबुट्ठी, दिव्वज्झुणि – चामराऽऽसणाइं च।
भाबलय–भेरि–छत्तं, जयंति जिणपाडिहेराइं ॥६॥

जयन्ति शेषाऽऽप्तमहिमानमधः कुर्वते, कानि? कङ्केल्लि प्रभृतीनि जिनप्रातिहार्यणीति संबन्धः। तत्र कङ्केल्लिर्दिनकर करप्रसरावारकोऽशोकवृक्षः। एतन्मानं च– ''बत्तीसं धणुहाइं, चेइयरुक्खो उ वद्धमाणस्स। सेसाणं तु जिणाणं, ससरीरा थारस गुणाओ''।१॥१॥ कुसुमवृष्टिः–सुरकरविमुक्ताधः स्थितवृन्तजानुदध्नपञ्चवर्णसुगन्धिपुष्पवर्षम् २। दिव्यध्वनिः– सुरनरतिर्यग्जन्तुजातस्वस्वभाषापरिणामरणीयः संख्याऽतीतपरिषत्प्राणियुगपदनेकसंशयपहारचतुरः क्षीरेक्षुद्रा क्षाद्य धिकतरमाधुर्यवानायोजनगामी देशनानिनादः ३। चामरे त्रिभुवनैश्वर्यसंसूत्रके शरचन्द्रमरीचिनिचयगौरे प्रकीर्णके ४। आसनमसेयमहिमाऽऽविर्भावकं, समुच्छलत्पञ्चवर्णमणिकिरण कदम्बक कर्बुरितदिगन्तरं सिंहासनम् ५। भावलयं–निर्जितमार्तण्डकएडलं मौलिपृष्ठप्रतिष्ठितं प्रभाजालम् ६। भेरी–पुरतोव्योम्नि शब्दायमानः प्रतिरवभरितभुवनोदरो दुन्दुभिः ७। छत्रम्–एकदेशं समुदायोपचाराङ्गगतत्रयैकप्रभुत्वाविर्भावनच – तुरं पार्वणचन्द्रमण्डलनिभाऽऽतपत्रात्रायम् ८। इह कङ्केल्लिरित्यत्र प्राकृतवशद्विभक्तिलोपः। भावलयभेरीछत्रामित्यत्र समाहार-द्वन्द्वः। शेषं सुगमम् समस्ता समस्तनिर्देशश्च बन्धानुलोम्यात्, एवमन्यत्रापि यथासंभवमूह्यम्। अतिशयान्तर्गतत्वेऽपि चामीषां पृथगुपादानम्, प्रातिहार्येऽपि व्यपदेशान्तरेणाऽऽगमे रूढत्वा-दिति गाथार्थः ॥८॥ दर्श० १ तत्व।

जिणपालिय पुं० (जिनपालित) चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते माकन्दिसार्थवाहपुत्रे, ज्ञा०। तत्कथा –

नवमस्स णं भंते! णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते? एवं खलु जम्बू! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था। तीसे णं चंपाए णयरीए कूणिए णामं राया होत्था। तत्थ णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं पुण्णभद्दे णामं चेइए होत्था। तत्थ णं मायंदी णामं मत्थवाहे परिवसति अड्ढे। तस्स णं भद्दा णामं भारिया। तीसे णं भद्दाए भारियाए अत्तया दुवे सत्थवाहदारया होत्था। तं जहा–जिणपालिए य, जिणरक्खिए य। तए णं तेसिं मागंदियदारगाणं अण्णया कदाइं एगओ सहियाणं इमेया रूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था। एवं खलु अम्हे ल –

बणसमुद्द पोयवहणेणं एक्कारस वाराओ ओगाढा, सव्वत्थ वि य णं लद्धट्ठा कयकज्जा अणहस्स मग्गा पुणरवि नियगघरं हव्व मागया, तं सेयं खल अम्हं दे देवाणुप्पिया! दुवालसमं पि लवणसमुद्द पोयवहणेण उग्गहित्तए त्ति बहु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणंति। पडिसुणेत्ता जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छंतित्ता एवं बयासी–एवं खलु अम्हे अन्नय ओ! एक्कारस वारा तं चेव० जाव नियगघरं हव्वमागया, तं इच्छामो णं अम्मयाओ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणा दवाउसं लवणसमुद्दं पोयवहणेणं ओगाहित्तए। तते णं ते मागंदियदारए अम्मापिअरो एवं बयासी–इमेभो जाया! अज्जगपज्जग० जाव परिआएत्तए, त अणुहोइ ताव जाया! विउलं माणुस्सए इड्ढीसक्कारसमुदए, किं भासपक्खवाएणं णिरालंक्खेणं लवणसमुद्दोत्तारेणं, एवं खलु पुत्ता! दु०००लसम्मी जत्ता सोवसग्गा यावि भवति, तम्हा णं तुब्भे दुवे पुत्ता दुवालसम्मि लवणसमुद्दं० जाय उग्गाहेह मा हु तुब्भं सरीरस्स वावत्ती भविस्सइ। तते णं मागंदियढारगा अम्मापिअरो दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयामी–एवं खलु अम्हे अम्मताओ! एक्कारन चारा लवण समुहं० जाव ओगाहित्तए। तते ण ते मागंदियदारए अम्मापिअरो जाहे वो संचाएति बहुहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य आघवित्तए वा, पण्णवित्तए वा, ताहे अकामयाए चेव एयमट्ठं अणुजाणित्ता, तते णं ते मागंदियदारया अम्मापिउहिं अब्भणुण्णाता समाणा गणिमं च धरियं च मेज्जं च पारिच्छेज्जं च जहा अरहण्णगस्स० जाव लवणसमुद्दं च बहूहिं जोयण सयाइं ओगाढा। तते णं तेसिं मागंदियदारगाणं अणेगतिं जोयणसयातिं ओगाढाणं समणाणं उप्पतियसयाइं अणेगाइं प्राउब्भूयाइं। तं जहा–अकाले गज्जियं, अकाले विज्जुयं, जाव थणियसद्द कालियवाए० जाव तत्थ सगुत्थिए। तते णं सा णावा तणं कालियवातेणं आहुणिज्जमाणी आहुणिज्जमाणी, संचालिज्जमाणी संचालिज्जमाणी, संखेभिज्जमाणी संखो भिज्जमाणी, सलिलतिक्खवेगेहिं अणियट्टिज्जमाणी अणियट्टिज्जमाणी, काट्ठिमकरतलाहए विव तें दुसए तत्थेव उवयमाणी। उवयमाणी उप्पयमाणी विव धरणि तलाओ सिद्धविज्जाहरकण्णगा उप्पयमाणी विवगगणतलाओ भट्ठविज्जाहरकण्णगा विप्पलायमाणी विव महाजणरसिरसद्दवित्था ठाणभट्ठा आसिकिसोरी णिगुंजमाणी विव गुरूजणदिट्ठावरोहसजणकुलकन्नगा घुम्ममाणी विव वीची पहाररयसयतालिया गलियलंरणा विव गगणतलातो रोयमाणी विव सलिलगंठिविप्पइरयाणघोरंसुपाएहिं णवबहू उवरयभत्तया बिलवमाणी विवपरचक्कारायाभिरोहिया परममहाभया भिडुया महापुरबरीज्झायमाणी विव कवडच्छोमणपओगजुत्ता जोगपरिव्वाइया णी संसमाणी विव महाकंतारविणिग्गयपरिसंता पारेणयवया अम्मया सोयमाणी विव तवचरणक्खीणपरिभोगा वक्खणकालदेववरबहुसंचुण्णियपयकड्ढकुवरा भग्गमेढिमोडिय सहस्समाला सलाइयवंकपरिमामा फलहंतरडतडिंतफुट्टंत संधिक्खिमलंतलोहकीलिया सव्वंगवियंभिया परिसडियरज्जुविसरंत सव्वगत्ता आममल्लगभूया अकयपुण्ण जणमणोरहो विव चिंतिज्जमाणी गुरूई हाहाकयकण्णधारणाविय बाणियगजणकम्मकारविलवीणा णाणाविहरयणपण्णसंपुण्णा बहुहिं पुरिरासएहिं रोयमाणेहिं कंदमाणेहिं सोयमाणेहिं तिप्पमाणेहिं विलवमाणेहिं एगं महं अंतो जलगयं गिरिसिहरमासाय इत्ता संभग्गकूवतोरणा मोडियज्झयदंडा बलयसयखंडिया करकरस्स तत्थेव विद्दवं उवगता। तते णं ताए णावाएभिज्ज माणीए एते बहवे पुरिसा विपुलपणियभंडमायाए अंतोजलम्मि निज्जामिया वि होत्था। तए णं ते मागंदियढारया ढेया दक्खा पत्तट्ठा कुसला मेहावी निउण सिप्पोवगया बहुसु पोयवहणसंपराएसु कयकरणा लद्धा विजया अमूढा अमढहत्था एगं महं फलगखंडं आसाएति। जेसिं च णं पदेसंसि से पोयवहणे विवण्णे, तेसिं च णं पदेसंसि एगे महं रयणदीवे णामं दीवे होत्था। अणेगाइं जोअणाइं आयामविक्खंभेणं अणेगाइं जोयणाइं परिक्खेवेणं नाणादुमसंडमंडिओ देसे सस्सिरीए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे, तस्स णं बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं महं एगे पासायवडिंसए यावि होत्था, अब्भुग्गयमूसिए० जाव सस्सिरीए रूवे पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे। तत्थ णं पासायवडिंसए रयणदीवदेवया णामं देवया परिवसति, पावा चंडा रूद्दा खुद्दा साहसिया। वस्स णं पासायवडिंसयस्स चत्तारि चउदिसिं बणसंडा पण्णत्ता–किण्हा किण्हाभासा। तते णं ते मागंदियदारया तेणं फलयखंभेणं उवज्झमाणा उवज्झमाणा रयणदीवे तेणं संछूढा यावि होत्था। तते णं ते मागंदियदारया थाइं लहंति, लहइत्ता मुहुत्तंतरं आसासंति, फलगखंडं विसज्जेंति, विसज्जेंतित्ता रयणदीवं उत्तरेंति, उत्तरेत्ता फलाणं मग्गणगवेसणं करेंति, फलाणि आहारेंति, आहारेंतित्ता णालिएराणं मग्गणगवेसणं करेंति, करेंतित्ता नालिएरातिं फोडंति, नालिएरस्स तिल्लेणं अण्णमण्णस्स गत्ताइं अब्भंगेंति, पोक्खरिणिं ओगाहेंति, ओगाहेंतित्ता जलमज्जणं करेंति, करेंतित्ता० जाव पच्चुत्तरंति, पुढविसिलापट्टयंसि णिसीयंति, णिसीयंतित्ता आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया चंपाणयरं अम्मापिउणं आपु

च्छणं च लवणसमुद्दोत्तारं च कालियवायसमुत्थणं च पोयवहणविवत्तिं च फलहखंडस्स आसायणं च रयणदीवुत्तारं च अणुचिंतेमाणा अणुचिंतेमाणा ओहयमणसंकप्पा० जाव ज्झियायंति। तते णं सा रयणदीवदेवया तं मागंदियदारगं ओहिणा आभोएइ, आभोएइत्ता असिफलगवग्गहत्था सण्णद्धबद्धा सत्तट्ठतालप्पमाणं उड्ढं वेहासं उप्पयइ, उप्पयइत्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव देवगतीए बीईवयमाणी बीईवयमाणी जेणेव मागंदियदारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता आसुरुत्ता ते मागंदियदारए खरफरूस-निट्ठुरवयणेहिं एवं वयासी–हं भो मागंदियदारया! जति णं तुब्भे मए सद्धिं विउलाइं लोगभोगतिं भुंजमाणा विहरइ, तो भे अत्थि जीविअं, अह णं तुब्भे मए सद्धिं विउलातिं नो विहरइ, तो भे इमेणं नीलुप्पलगवलगुलिय० *जाव खरधारेणं असिणा रत्तमंडमंसुयाइं माउयाइं उवसोभियाइं* ताल-फलाणीव सीसातिं रगंते पाडेमि। तते णं ते मागंदियदारया रयणदीवदेवयाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म भीया संजायभया करयल० जाव एवं वयासी जं णं देवाणुप्पिया! वइस्सति तस्स आणाउववायवयणनिद्देसे चिद्धिस्सामो! तए णं सा रयणदीवदेवया ते मागंदियदारए गेण्हति, गेण्हत्तित्ता जेणेव पासायवडिंसए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छति असुभपोग्गला बहारं करेति, सुभपोग्गलपक्खेवं करेति, ततो पच्छा तेहिं सद्धिं विउलातिं भोगभोगांति भुंजमाणी विहरति, कल्लाकल्लिं च अमयफलाइं उवर्णेति। तए णं सा रयणदीवदेवया सक्कवयण संदेसेणं सुट्ठिएणं लवणाहिबइणा लवणसमुद्दे तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टियव्वेइ, जं किंचि तत्थ तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा कयत्तुरं वा असुइं पूइयं दुरभिगंधिमचोक्खं तं सव्वं आहुणीय तिसत्तखुत्तो एगंते पाडेयव्वं ति कट्टु निउत्ता। तते णं सा रयण दीवदेवया ते मागंदियदारए एवं वयासी एवं खलु अहं देवाणुप्पिया! सक्कवयणेणं सुट्ठिय तं चेव जाव णिउत्ता तं० जाव अहं देवाणुप्पिया! लवणसमुद्दे जाव पाडेमि, ताव तुब्भे इहेव पासायवडिंसए सुहं सुहेणं अभिरममाणा चिट्ठइ। जइ णं तुब्भे एयंसि अंतरंसि उव्विग्गा वा उस्सुया वा उप्पुया वा भवेज्जाह, ता णं तुब्भे पुरच्छिमिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह। तत्थ णं दो उऊ सया साहीणा। तं जहा–पाउसे य, वासारत्ते य। तत्थ *कंदलसिलिंधदंतो* णि उरंबपुप्फपीवरकरो कुडयज्जुणणी व सुरभिदाणो पाउसउऊ गयवरो साहीणो?। तत्थ य सुरगोपमणि विचित्ते दद्दुरकुलरसियउज्झरखो वरहिणविंदपरिणद्धसिहरो वासारत्त उऊ पव्वओ साहीणो २। तत्थ णं तुब्भे देवाणुप्पिया! बहुसु वावीसु य० जाव सरपंतियासु य बहुसु आलियघरएसु य० जाव कुसुमघरएसु य सुहं सुहेणं अभिरममाणा अभिरममाणा विहरेज्जाह। जइ णं तुब्भे तत्थ उव्विग्गा वा उस्सुया वा उप्पुया वा भवेज्जाइ, ता णं तुब्भे उत्तरिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह। तत्थ णं दो उऊ साहीणा। तं जहा–सरदो य, हे मंतो य। तत्थ उसणसत्तवण्णकउहो नीलुप्पलपउमन लिनसिंगो सारसचक्क दायरसियघोसो सरतो गोवई सया साहीणो?। तत्थ य सियकुं दधवलजोण्हो कुसुमिसलोद्धवण संडमंडलतत्तो तुसारदगधारपीवरकरो हेमंनउऊ ससी सया साहीणो २। तत्थ णं तुब्भे देवाणुप्पिया! वावीसु य विहरेज्जाह। जइ णं तुब्भे तत्थ वि उव्विग्गा वा० जाव उस्सुया वा भवेज्जाह, ता णं तुब्भे अवरिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह। तत्थ णं दो उऊ साहीणा। तं जहा–वसंते य, गिम्हे य। तत्थ य सहकारचारूहारो किंसुयक णियारासोमउडो ऊसियतिलगव-उलालावत्तो वसंतउऊ नरवति साहीणो?। तत्थ य पाडलसिरीससलिलो मल्लिया वासंतिय धवलवेलो सीयलसुरभिअणिलमयर-चरियगिम्हउऊ सागरो साहीणो २। तत्थ णं बहुसु० जाव विहरेज्जाह। जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया! तत्थ वि उव्विग्गा उस्सुया भवेज्जाह, तओ तुम्हे जेणेव पासायवडिंसए तेणेव उवागच्छेज्जाह, ममं पडिवाले माणा चिट्ठेज्जाह, मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया! दक्खिणिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह। तत्थ णं महं एगे उग्गविसे चंडविसे महाघोरविसे महाविसे अइकाए महाकाए मसिमहिसमूसाकालए नयणाविसरोसपुण्णे अंजणपुंजणियरप्प गासे रत्तच्छे जमलजुयल चंचलचलंतजीहे धरणियलवेणिभूए उक्कडफुड-कुमिल-जडुलकक्खडवियडफुहाडोवकरणदक्खे लोहागार-धम्ममाणधमधमंतघोसे अणागलियचंडतिव्वरोसे समुहतुरि-यच-वलं धमंते दिट्ठीविसे सप्पे परिवसति। मा णं तुब्भे सरीरगस्स वावत्ती भविस्सति। ते मागंदियदारए दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयति। वयइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणति, ताए उक्किट्ठाए० जाव लवणसमुद्दं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टे पयत्ता यावि होत्था। तए णं ते मागंदियदारया तओ मुहुत्तंतरस्स पासायवडिंसए सइं वा रतिं वा धिइं वा अलभमाणा अण्णमण्णं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! रयणदीवदेवया अम्हे एवं वयासी एवं खलु अहं सक्कवयणसंदेसणं सुट्ठिएण लवणा हिवइण० जाव वावभी भविस्सति, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया! पुरच्छिमिल्लं वणसंडं गमित्तए अण्णमण्णस्स पडिसुणेंति, जेणेव पुरच्छि-मिल्ले वणसंडे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छतित्ता तत्थ णं वा–

वीसु य० जाव आलिघरएसु य० जाव विहरतिं। तते णंते मागंदियदारगा तत्थ विसइं वा० जाव अलभमाणा जेणेव उत्तरिल्ले वणसंडे तेणेवउवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता तत्थ णं वावीसु य० जाव आलिघरएसु य० जाव निहरंतिश तते णं ते मांगदियदारया तत्थ णं विसइं वा० जाव जेणेव पच्चच्छिमिल्ले वणसंडे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता० जाव विहरंति। तते णं ते मागंदियदारगा तत्थ विसतिं वा० जाव अलभमाणा अण्णमण्णं एवं वयासी–एवं खलु अम्हे देवाणुप्पिया! रयणदीवदेवया सक्कवयणसंदेसेणं सुट्ठिएणं लवणाहिवइणा० जाव मा णं तुज्झे सरीरस्स वावत्ती भविस्सति, तं भवियव्वं। एत्थ कारणेणं तं सेयं खलु अम्हं दक्खिणिल्लं बणसंडं गमित्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणें ति, जेणेव दक्खिणिल्ले वणसंडे तेणेव पहारेत्थगमणाए तओ णं गंधे णिज्जाए से जहाणामए अहिमडेति वा० जाव अणिट्ठतराए। तते णं ते मागंदियदारया तेणं असुभेणं गंधेणं अभिभूया समाणा सएहिं सएहिं उत्तरिज्जेहिं आसातिएहिं पीहें ति। पीहेंतित्ता जेणेव दक्खिणिल्ले वणसंडे तेणेव उवागया। तत्थ णं महं एगं आघतणं पासंति अठियरासिसयसं कुलं भीमदरिसणिज्जं, एगं च णं तत्थ सूलाइयं पुरिसं कलुणातिं कट्ठातिं विस्सरातिं कुव्वमाणं पासंति। पासंतित्ता भीया० जाव संजातभया जेणेव से सूलाइए पुरूसे तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छंतित्ता तं मूलाइतं पुरिसं एवं बयासी–एस णं देवाणुप्पिया! कस्साघयणे, तुमं च णं किं कओ वा इहं हव्वमागते? केण वाइमेयारूवे आवइं पातिए? तते णं से सूलाइते पुरिसे मागंदियदारए एवं बयासी–एस णं देवाणुप्पिया! रयणदीवदेवयाआघयणे, अहं णं देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवातो दीवातो भारहाओ वासाओ काकंदिअए लवणसमुद्दं उवागओ। तते णं अहं पोयवहणविवत्तीए निच्छूढभंडसारे एगं फलगखंडं आसाएमि। तते णं अहं उवुज्झमाणा उवुज्झमाणा रयणदीवं तेणं संबूढो। तते णं सा रयणदीवदेवया ममं ओहिणा पासति। पासतित्ता ममं गेण्हति, मए सद्धिं विउलातिं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरति। तते णं सा रयणदीवदेवया अण्णया कयाइं अहालहुगंसि अवराहंसि परिकुविया समाणी ममं एयारूवं आवइं पावेति। तते णज्जति णं देवाणुप्पिया! तुज्झं पि इमेसिं सरीरगाणं कामण्णे आवती य भविस्सति! तते णं ते मागंदियदारगा तस्स सूलाइयगस्स पुरिसस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म बलियतरं भीया० जाव संजातभया मूलाइतं पुरिसं एवं वगासी–कहं णं देवाणुप्पिया! अम्हे रयणदीवदेवयाए हत्थाओ साहत्थि नित्थ रेज्जामो? तते णं से सूलाइए पुरिसे ते मागं दिअदारए एवं बयासी–एसणं देवाणुप्पिया! पुरच्छि मिल्ले वणसंडे सेलगस्स जक्खस्स जक्खाययणे सेलए णामं आसरूवधारी जक्खे परिवसति । तते णं से सेलए जक्खे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु आगयसमए पत्तसमए महया महया सद्देणं एवं वयासी–कंतारयामि? कं पालयामि? तं गच्छ णं तुब्भे देवाणुप्पिया! पुरच्छिमिल्लं वणसंडं जेणेव सेलगस्स जक्खस्स महरिहं पुप्फच्चणियं करेह, जक्खपायवडिया पंजलिउडा विणएणं पज्जुवासमाणा चिट्ठइ । जाहे णं से सेलए जक्खे आगयसमए पत्तसमए एवं वअेज्जा–कं तारयामि? कं पालयामि? ताहे तुज्झे वदह–अम्हे तारयाहि, अम्हे पालयाहि, सेलए जक्खे परं रयणदीवदेचयाओ हत्थाओ साहत्थि णित्थारेज्जा, अण्णहा भे ण याणामि इमेसिं सरीरगाणं का मण्णे आवई भवस्सिइ? तए णं ते मागंदियदारया तस्स सुलाइअस्स पुरिसस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म सिग्घं चंडं चवलं तुरियं चेइयं जेणेव पुरच्छिमिल्ले वणसंडे जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता पोक्खरिणिं ओगाहेइ। ओगाहेइत्ता जलमज्जणं करेइ। करेइत्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव गिण्हंति। गिण्हंतित्ता जेणेव सेलगस्स जक्खस्स जक्खाययणे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता आलोइए पणामं करिंति, महरिहं पुप्फच्चणियं करिंति, जाणुपायवडिया सुस्सुसमाणा णमंसमाणा० जाव पज्जुवासंति। तए णं सेलए जक्खे आगयसमए पत्तसमए एवं बयासी–कं तारयामि? कं पालयामि? तए णं ते मागंदियदारया उट्ठाए उट्ठेइ, करयल०जाव कट्टु एवं वयासी–अम्हे तारयाहि, अम्हे पालयाहि। तए णं से सेलए जक्खे तं मागंदियदारयं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! तुम्मे मए सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणाणं सा रणदीवदेवया पावा चंडा रूद्दा खुद्दा साहसिया बहुहिं खरएहिं य मउएहि य अणुलोमेहि य पडिलोमेहि य सिंगारेहि य कलुणेहि य उवसग्गेहि य उवसग्गं करोहिंति। तं जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया! रयणदीवदेवयाए एयमट्ठं आढाइ वा, परियाणह वा, अवक्खएह वा, तो भे अहं पिट्ठाओ विहुणामि, अह णं तुब्भे रयणदीवदेवयाए एयमट्ठं णो आढाह, णो पारजाणह, णो अवयक्खइ, तो भे रयण दीवदेवयाहत्थातो साहत्थिं णित्थारेमि। तते णं ते मागंदियदारगा सेलगं जक्खं एवं वयासी–जं णं देवाणुप्पिया! वइस्संति तस्स णं उवायवयण-णिहेसे चिट्ठिस्सामो । तते णं सेलगे जक्खे उत्तरपुरच्छिमं दिसि भागं अवक्कमइ । अवक्कमइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समो

हणइ। समोइणइत्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निस्सरइ, दो चंपि तच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ। समोहणइत्ता एगं महं आसरूवं विउव्वइ। विउव्वइत्ता ते मागंदियदारए एवं वयासी–इं भो मागंदिया! आरूढ णं देवाणुप्पिया! मम पिट्ठिंसि। तते णं ते मागंदियदारया हट्ठतुट्ठा सेलगस्स जक्खस्स पणामं करेइ। करेइत्ता सेलगस्स पिट्ठिं दुरूढा। तए णं से सेलए जक्खे ते मागंदियदारए दुरूढे जाणित्ता सत्तट्ठतालप्पमाणमेत्ता उड्ढं वेहासं उप्पयति। उप्पयइत्ता ताए उक्किट्ठाए तुरियाए दिव्वयाए दिव्वगइए लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव चंपा णयरी, तेणेव पहारेत्थगमणाए। तते णं सा रयणदीवदेवया लवणसमुद्दं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टति। जं तत्थ तणं वा पत्तं वा० जाव एगंते पाडेति, जेणेव पासायवडिंसए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता ते मागंदियदारया पासाअवडिंसए अपासमाणी अपासमाणी जेणेव पुरच्छिमिल्ले वणसंडे० जाव सव्वतो समंता मग्गणगवेसणं करेति। करेइत्ता तए णं तेसिं मागंदियदारगाणं कत्थइ सुइं वा। २ अलभमाणी अलभमाणी जेणेव उत्तरिल्ले वणसंडे, एवं चेव पच्चच्छिमिल्ले वि० जाव अपासमाणी ओहिं पउंजति। पउंजइत्ता ते मागंदियदारए सेलएणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीती वयमाणे पासति। पासइत्ता आसुरत्ता० जाव समण्णागया असिखेडगं गेण्हति। गेण्हतित्ता सत्तट्ठतालप्पमाणमेत्ता० जाव उप्पयति। उप्पयइत्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव जेणेव मागंदियदारया तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छतित्ता एवं वयासी–भो मागंदियदारगा! अप्पत्थिय-पत्थिया किं णं तुब्भे जाणइ ममं विप्पजहाय सेलएणं जक्खेणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीतीवयमाणा तं एवमवि गए, जति णं तुब्भे ममं अवयक्खह तो भे अत्थि जीवयं, अह णं नो अवयक्खइ तो भे इमेणं नीलुप्पलगवल० जाव सीसाइं पाडेमि। तते णं ते मागंदियदारया रयणदीवदीवयाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म अभीया अतत्था अणुव्विग्गा अक्खुभिआ असंभंता रयणदीवदेवयाए एयमट्ठं नो आढंति, नो परियाणंति, णावयक्खंति, अणाढायमाणा अपरिअवयक्खमाणा सेलएणं जक्खेणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीतीवयंति। तते णं सा रयणदीवदेवया ते मागंदियदारया जाहे नो संचाएति बहुहिं पडिलोमेहि य उवसग्गेहि य चालित्तए वा खोभित्तए य विपरिणमेत्तए वा, ताहे महुरेहि य सिंगारेहि य कलुणेहि य उवसग्गेहि य उवसग्गे उपयत्तया वि होत्था। हं भो मागंदियदारगा! जइ णं तुब्भेहिं देवाणुप्पिया! मए सद्धिं हसियाणि य रसियाणि य ललियाणि य कीलियाणि य हिंडियाणि य मोहियाणि य ताहे णं तुब्भे सव्वातिं अगणेमाणा ममं विप्पजहाय सेलएण य सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीतीवयह। तते णं सारयणदीव दीवया जिणरक्खियस्स मणं ओहिणा आभोएति, आभोइत्ता एवं बयासी–निच्चं पि य णं अहं जिनपालियस्स अणिट्ठा, णिच्चं मम जिणपालिए अणिट्ठे, णिच्चं पि यणं मम जिणरक्खिए इट्ठे, णिच्चं पि य णं अहं जिणरक्खियस्स इट्ठा, णिच्चं पि य णं ममं जिणरक्खिए इट्ठे। जइ णं ममं जिणपालिए रोयमाणी कंदमाणी सोयमाणी विलवमाणी० जाव णावयक्खति, किं णं तुमं पि जिणरक्खिया ममं रोयमणिं० जाव णावयक्खसि। तते णं सा रयणदीवदेवया ओहिणा जिणरक्खियस्स मणं णाऊण वहणि मित्तं उवरिं मागंदियदारगाणं दोण्हं पि १। दोसकलिया सललियं णाणाविहचुण्णवासमीसियं दिव्वं घाणमणणिव्वुइकरं सव्वओ च सुरभिकुसुमवुट्ठिं पमुंचमाणी पमुंचमाण।२। णाणामणिकण गरयणघंटियखिंखिणनेउरमेहलभूसणखेणं दिसाओ विदिसाओ पुरयंती वयेणमिणं वयति सा सकलुसा ३। होला वसुला गोला नाहदइयपियरणकंतसामिनिग्घिणणिक्किवा-कयण्णुयसिहिलभावनिल्ललुक्ख-अकु लणजिणरक्खि यमुग्धहिययय रक्खग ४। ण हु जुज्जसि एक्कियं अणाहं अबंधवं तुज्झ चलणउववायकारियं उज्झिउमधणं गुणसंकरऽहं तुब्भे विहुणा ण समत्था जीवितुं खणं पि।५। इमस्स उ अणेगझसम गरविविहसावयसयाउल-घरस्स रयणागरस्स मज्झे अप्पाणं वहेमि तुज्झ पुरओ, एहि, नियत्ताहि, जइ सिकुविओ खमाहि एक्कावराहं मे।६। तुज्झय विगयघणविमलससिमंडलागारसस्सि रीयं सारयणवकमल-कुमुदकुवलयविमलदलनिकरसरिसभनयण वयणं पिवासागयाए सद्धा से पेच्छिउ जे अवलोयइत्ता इओ ममं नाह! जा ते पेच्छामि वयणकमलं।७। एवं सप्पणयसरलमहुरातिं पुणो पुणो कलुणाइं वयणाइं जंपमाणी सा पावा मग्गओ समन्नेइ पावहियया।८। तते णं से जिणरक्खिए चलमाणे तेण य भूसणरवेणं कण्णसुहमणहरेणं तेहि य सप्पणयस रलमहुरभणिएहिं संजायविउलमणराए रयणदीवस्स देवयाए, तीसे सुंदरथण-जहणवयणकरचरणयणलावण्णरूवजोव्वणला वण्णसिरिं च दिव्वं सरभसउवगूहियाइं विव्वोयविलसियाणी य विहसियसकम-क्खादिट्ठिणिस्ससियमलियउवललियविग्ग मणपणयखिज्जिपा-सादीयाणि य सरमाणे रागमोहियमती अवसे कम्मवसगते अवयक्खति

मग्गतो सविलियं। तए णं जिणरक्खिया समुप्पण्णकलुणभावं मच्चुगलत्थलणांल्लियमइं अवयक्खंतं तहेव जक्खे सेलए ओहिणा जाणिऊण सणियं सणियं उव्विहति। नियगपिट्ठाहिं विगयसड्ढे। तते णं सा रयणदीवदेवया निसंसा सकुलणं जिणरक्खियं सकलुसा सेलगपिठाहिं उवयंतं 'दामे! मओ सि' त्ति जंपमाणी अप्पत्तं सागरसलिलं गिण्हिय वाहाहिं आरेसंतं उड्ढं उव्विहति, अंवरतले उवयमाणं च मंडलग्गेण पडिच्छित्ता नीलुप्पलगवलअयसीपगासेणं असिवरेणं, खंडाखंभि करेति तत्थ वि विलवमाणं। तस्स स सरसवहियस्स घेत्तूणं अंगमंगातिं सरूहिराइं उक्खित्तबलिं चउद्दिसिं करेति सा पंजलिपहट्ठा। एवामेव समण्णउसो! जो अम्हं णिग्गंथाण वा अम्हं णिग्गंथीण वा अंतिए पव्वइए समाणे पुणरवि माणुस्सए कामभोगे आसायइ, पत्थयति, पीहेति, अभिलसति, से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं समणीणं सावयाणं सावियाणं० जाव संसारं अणुपरियट्टिस्सति। जहा वा से जिणरक्खिए–

''छलिओ अवयक्खंतो, निरायवक्खो गतो अविग्घेणं।
तम्हा पवयणसारे, निरावयक्खेणं भवियव्वं ॥१॥
भोगं अवयक्खंता, पडंति संसारसागरे घोरे।
भोगेहिं निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं ॥२॥''

तते णं सा रयणदीवदेवया जेणेव जिणपालिए तेणेव उवागच्छइ। उवगच्छइत्ता बहुहिं अणुलोमेहि य पडिलोमेहि य खरेहि य मउएहि य सिंगारेहि य कलुणेहि य उवसग्गेहि य जाहिं नो संचाएति चालियत्तए वा खोभित्तए या विप्परित्तए वा, ताहे संता तंता परितंता निव्विण्णा समाणी जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

तते णं से सेलए जक्खे जिणपालिएणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीइवयइ, जेणेव चंपा णयरी तेणेव उवागच्छति। उवागच्छतित्ता चंपाए णयरीए अग्गुज्जाणंसि जिणपालियं पिट्ठातो उत्तरेति। उत्तारेतित्ता एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया! चंपा णयरी दीसइ त्ति कट्टु जिणपालियं आपुच्छति, आपुच्छतित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। तते णं जिण पालिए चंपं अणुपविसंति, जेणेव सए गिहे जेणेव अम्मापिअरो, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता अम्मापिउणं रोयमाणे० जाव विलवमाणे जिणरक्खियवावित्तिं णिवेदेति। तते णं जिणपालिए अम्मा पियरो मित्तणाति० जाव परिजणेणं सद्धिं रोयमाणातिं बहुइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति। करेइत्ता कालेणं विगयसोया जाता। तते णं जिणपालियं अण्णया कयाइं सुहासणवरग यं अम्मापिअरो एवं वयासी–कहं णं पुत्ता! जिणरक्खिए कालगए?। तते णं से जिणपालिए अम्मापिउणं लवणसमुहोत्तारं च कालियवायसमुत्थणं च पोयवहणविवत्तिं च फलहखंड आसातणं च रयणदीवोत्तारणं च रयणदीवदेव यागिण्हणं च भोगपरिभूयं च सूलाइयपुरिसदरिसणं च सेलगजक्खआरूहणं च रयणदीवदेवयाउवसग्गं च जिणरक्खियस्स विवत्तिं स लवण समुद्दउत्तरणं च चंपाऽऽगमणं च सेलगजक्खआपुच्छणं च जहाभूयमवितहमसंदिद्धं परिकहति। तते णं से जिणपालिए० जाव विपुलाइं भोगभोगाइं भुंजमाण्णा विहरइ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे० जाव जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव समोसढे, परिसा णिग्गया, कूणियो वि राया णिग्गओ, जिणपालिए धम्मं सोच्चा पव्वइए इक्कारसंगविउ मासिएणं भत्तेणं० जाव सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववण्णे, दो सागरो वमाइं ठिई पण्णत्ता। ताओ णं जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति। एवामेव समणाउसो! जाव माणुस्सए कामभोगे नो पुणरवि आसाएति, ते णं० जाव वीति वइस्सति, जहा से जिणपालिए, एवं खलु जंबू! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं णवमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति वेमि॥

''जह रयणदीवदेवी, तह इत्थं अविरई महापावा।
जइ लाभत्थी वणिया, तह सुहकामा इहं जीवा ॥१॥
जह तेहिं भीएहिं, दिट्ठो आघायमंडले पुरिसो।
संसारदुक्खभीया, पावंति तहेव धम्मकहिं ॥२॥
जह तेण तेसि कहिया, देवी दुक्खाण कारणं घोरं।
तत्तो चिय णित्थारो, सेलगजक्खाउ णण्णत्तो॥३॥
इय धम्मकहा भव्वा–ण साहणऽदिट्ठअविरइसहाओ।
सयलदुहहेउभूया, विसयाविरइ त्ति जीवाणं ॥४॥
सत्ताण दुहत्ताणं, धम्मं सरणं जिणिंदपण्णत्तं।
आणंदरूवणिव्वा–णसाहणं तह य देसेइ ॥५॥
जह तेसिं तरियव्वो, रूद्धसमुद्दो तहेव संसारो।
जह तेसिँ सगिहगमणं, निव्वाणगमो तहा इत्थ ॥६॥
जह सेलगस्स पिट्ठं, तेसिं भव्वाणं तह इहं चरणं।
जह देवीवामोहो, तओ चुओ पाविओ निहणं ॥७॥
तह अविरइए णडिओ, चरणचुओ दुक्खमावयाइण्णो।
णिवडइ अपारसंसा–रसायरे दारूणसरूवे ॥८॥
जह देवीऍ अखोहो, पत्तो सट्ठाणजीवियसुहाइं॥
तह चरणठिओ साहू, अक्खोहो जाइ णिव्वाणं'' ॥९॥
ज्ञा० १ श्रु० ९ अ०।

जिणपिया पुं० (जिनपिता) नाभेयाऽऽदीना पितरि, प्रव० तन्नामानि चैवम्–

''नाभी जियसत्तुरिया, जियारी तह संवरो।
मेहे धरे पइट्ठे अ, महसेण अ खत्तिए ॥३२४॥
सुग्गीवे दहरडे विण्हू, वसुपुज्जे य खत्तिए।
कयखम्म सिंहसेण य, भाणू य विससेणओ ॥३२५॥
सूरे सुदंसणे कुंभे, सुमित्ते विजए समुद्दविजए व।
राया य अस्ससेणे, सिद्धत्थे वि य खत्तिए ॥३२६॥'' प्रव० ११ द्वार।

जिणपुत्त पुं० (जिनपुत्र) जिनशिष्ये, क्षणिकाः सर्वसंस्कारा विज्ञानमात्रमेवेदं भो जिनपुत्राः! इति। सम्म० १ काण्ड।

जिणपूयट्ठि (ण्) पुं० (जिनपूजार्थिन्) जिनस्येव पूजामर्थयते यः स जिनपूजार्थी। गोशालकादौ, जिनपूजार्थिता च त्रिंशत्तमं मोहनीयस्थानमिति। स० ३० सम०।

जिणपूया स्त्री० (जिनपूजा) अर्हदर्चने, पञ्चा० ४ विव०। ''कुसुमऽक्खय–धूवेहिं, दीवय–वासेहि सुंदरफलेहि। पूया धय–सलिसेहिं, अठविहा तस्स कायव्वा ॥२४॥'' दर्श० १ तत्व। प्रति०। पं०व०। ध०। द्वा०। जीवा०। (अस्य व्याख्या 'चेइय' शब्देऽत्रैव भागे १२८४ पृष्ठे गता। तथाऽवत्या सर्वा वक्तव्यता 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२७७ पृष्ठे निर्दिष्टा)

जिणपूयाविग्घकर पुं० (जिनपूजाविघ्नकर) जिनपूजानिषेधके सावद्यदोषोपेतत्वाद् गृहिणामप्येषा अविधेयेत्यादि कुदेशनादिभिः समयान्तस्तत्वदूरीकृते, कर्म० १ कर्म०।

जिणप्पणीय त्रि० (जिनप्रणीत) जिनोक्ते, ''जिणमयं जिणप्पणीयं'' जिनेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना प्रणीतं समस्तार्थ संग्रहात्मकमातृकापदत्रयप्रणयनाद् जिनप्रणीतम्। भगवान् हिवर्द्धमानस्वामी केवलज्ञानावाप्तावादौ बीजबुद्धिपरम गुणकलितान् गौतमादीन् गणधारिणः प्रत्येतद् मातृकापदत्रय मुक्तवान्। ''उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा'' इति। एतश्च पदत्रयमुपजीव्य गौतमादयो द्वादशाङ्गं विरचितवन्तः, ततो भवत्येतद् जिनमतं जिनप्रणीतमिति। जी० १ प्रति०। दर्श०।

जिणप्पबोध पुं० (जिनप्रबोध) खरतरगच्छीये जिनेश्वरसूरिशिष्ये, वैक्रमीय १२८५ वर्षे जातः, १३९६ वर्षे दीक्षितः, १३३१ वर्षे सूरिपदे स्थापितः, १३४१ वर्षे स्वरगमत्। कातन्त्रव्याकरणोपर्यनेन टीका कृता, प्रबोधमूर्तिरित्यपरमस्य नामाऽऽसीत्। जै० इ०।

जिणप्पभसूरि पुं० (जिनप्रभसूरि) लघुखरतरगच्छस्थे जिन सिंहसूरिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, ती० ४८ कल्प। अनेना ऽऽचार्येण वैक्रमी ये १३६५ वर्षेऽयोध्यायासमुषित्वा भयहरस्तोत्राऽजिनशान्तिस्तोत्रयोरूपरि टीका रचिता। सूरिमन्त्र प्रदेशविवरणं, तीर्थकल्पः, पञ्चपरमेष्ठिस्तवः, सिद्धा न्तागमस्तवः, द्वयाश्रयमहाकाव्यं चेत्यादयो बहवो ग्रन्था निर्मिताः। नित्यमयमभिनवकाव्यं कृत्वैव आहारमकरोद्, न्याय कन्दलीपञ्जिकानाम्नीटीकाकृत रत्नशेखरसूरिगुरुश्च स भासीदिति तत्तद्ग्रन्थानामुपक्रमोपसंहाराभ्यामवगम्यते। जै० इ०। तथाहि –''इत्थं पृथक्तवविषयार्कमिते शकाब्दे, वैशाखमासि सितपक्षगषष्ठतिथ्याम्। यात्रोत्सवोपनतसङ्घयुतो यतीन्द्रः, स्तोत्रं व्यधाद् गजपुरस्य जिनप्रभास्यः ॥२०॥'' ती० ४८ कल्प०। गौडदेशावतंसस्य, श्रीजिनप्रभसूरयः। कल्पं पाटलिपुत्रस्य, रचयांचकुरागमात् ॥१॥'' ती० ३५ कल्प। तस्य समयो जिनप्रभसूरिकृते शत्रुञ्जयकल्पे–''श्री विक्रमान्दे वाणष्ट – विइवदेवमिते सिते। सप्तम्यां तपसः काव्य–दिवसेऽयं समर्थितः'' ॥१॥ ती० १ कल्प। ''श्रीजिनप्रभसूरीणां, साहाय्यो दभिन्नसौरभा। श्रुतावुत्तंसतु सतां, वृत्तिः स्यादादमञ्जरी'' ॥८॥ स्या० ३२ श्लोक।

''नन्दानेकपशक्तिशीतगुमिते १३९३ श्रीविक्रमोर्वीपते
र्वर्षे भाद्रपदस्य मास्यवरजे सौम्ये दशम्यां तिथौ।
श्री हम्मीरमहम्मदे प्रतिपतिक्ष्मामगडलाखण्डले,
ग्रन्थोऽयं परिपूर्णतामभजत श्रीयोगिनीपत्तने ॥३॥''
''तीर्थानां तीर्थभक्तानां, कीर्तनेन पवित्रितः।
कल्पः प्रदीपनामाऽयं, ग्रन्थो विजयतां चिरम् ॥१॥''
ती० ४८ कल्प। (जिनप्रभसूरिणो महम्मदसाहिशकाधिराजेन समागमो 'वीरकप्प' शब्दे वक्ष्यते)

जिणप्परूविय त्रि० (जिनप्ररूपित) जिनेन भगवता वर्द्धमान स्वामिना यथा श्रोतृणामधिगमो भवति तथा सम्यक् प्रणयनक्रियाप्रवर्तनेन प्ररूपितं जिनप्ररूपितम्। जिनेन सम्यक् प्रणीते, जी० १ प्रति०।

जिणप्पलावि (ण्) पुं० (जिनप्रलापिन्) जिनमात्मानं प्रकर्षेण लपतीत्येवंशीलो जिनप्रलापी। आत्मानं जिनं मन्यमाने गोशाल कादौ, भगवत्यां गोशालकमतमधिकृत्य– ''अजिणे जिणप्पलावी'' भ० १५ श० १ उ०। ''एवं सो अजिणो जिणप्पलावी विरहइ'' आ०म०द्वि०।

जिणप्पवयण न० (जिनप्रवचन) जिनाऽऽगमे, जीत०।

''जिनप्रवचनं नौमि, गवतेजस्विमण्डलम्।
यतो ज्योतीषि धावन्ति, हर्तुमन्तर्गतं तमः ॥२॥
निष्प्रत्यूहं प्रणिदधे, भवानीतनयानहम्।
सर्वानपि गणाध्यक्षा–नक्षामोदरसङ्गतान् ॥३॥'' जीत०।

जिणवल्लह पुं० (जिनवल्लभ) अभयदेवसूरिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, अष्ट० ३२ अष्ट०। अयं वैक्रमीये ११६० वर्षे आसीत्, अयं षट्कल्याणकवादी पिण्डविशुद्धिप्रकरणगणधरसार्धशतक – आगमिकवस्तुविचारसारकर्मादिविचार सारवर्द्धमानस्तवाऽऽद्यनेकग्रन्थकृदासीत्। चित्रकूटेऽस्य बहूनि चिपकाव्यानि शिलायां लिखितानि सन्ति। जै० इ०।

जिणबिंब न० (जिनबिम्ब) जिनप्रतिमायाम्, षो० ६ विव०। (जिनबिम्बकारणविधिवक्तव्यता 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२६६ पृष्ठे गता)

जिणबिंबपइट्ठावणा स्त्री० (जिनबिम्बप्रतिष्ठाना) अर्हत्प्रति मास्थापने, पञ्चा० ७ विव०। (जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधिः 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२७० पृष्ठे द्रष्टव्यः)

जिणभत्त पुं० (जिनभक्त) मथुरानगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, आ०म० द्वि०। (तत्कथा 'णमोक्कार' शब्दे वक्ष्यते)

जिणभत्ति स्त्री० (जिनभक्ति) जिनसेवायाम्, ''भत्तीइ जिनवराणं''। आव० २ अ०।

जिणभत्तिदंसणाणुराग पुं० (जिनभक्तिदर्शनानुराग) जिनं प्रति भक्तया कृत्वा यो दर्शनानुरागो दर्शनेच्छा स तथा। जिनं

प्रति भक्तया कृतायां दर्शनेच्छायाम्, ''जिणभत्तिदंसणाणुरागेणं हरिसियाओ।'' औ०।

जिणभत्तिराग पुं०(जिनभक्तिराग) जिनविषयके भक्तिपूर्वकंऽनुरागे, ''अप्पेगइया जिणभत्तिरागेणं'' जिने भगवति वर्द्धमानस्वामिनि भक्तिरागो भक्तिपूर्वकोऽनुरागस्तेनेति। रा०।

जिणभत्तिसूरि (ण्) पुं० (जिनभक्तिसूरिन्) खरतगच्छीये जिनसौख्यसूरिशिष्ये जिनलाभसूरिगुरौ, सोऽयं वैक्रमीये १७७० वर्षे जातः, १७७६ वर्षे दीक्षितः १७६० वर्षे सूरिपदं प्राप्तवान्, १८०४ वर्षे स्वरगमत्। जै० इ०।

जिणभद्दगणिक्खमासमण पुं० (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण) भद्रबाहुस्वामिविरचिरसामायिकनिर्युक्तिभाष्याऽऽदिकारके आचार्ये, श्रयमाचार्यो वैक्रमीयाद् ५८५ वर्षाद् ६४५ वर्षं यावद् विद्यमानं आसीत्। संक्षिप्तजीवकल्पः, क्षेत्रसमासो, ध्यानशतकं, वृहत्संग्रहणी, विशेषाऽऽवश्यकभाष्यं चेत्याद्यो ग्रन्था अनेनैव महानुभावेन रचिता इति तद्ग्रन्थेभ्यः प्रतीयते। जै० इ०।

तथा च विशेषाऽऽवश्यकवृत्तौ –

''आवश्यकप्रतिनिबद्धगभीरभाष्य –
पीयूषजन्मजलधिर्गुणरत्नराशिः।
ख्यातः क्षमाश्रमणतागुणतः क्षितौ यः,
सोऽयं गणिर्विजयते जिनभद्रनामा'' ॥३॥ **विशे०।**

तनु श्रीमद्भद्रबाहुप्रणीता सामायिकनिर्युक्तिरिह भाष्येव्याख्यास्यते, तत्कथमिदमावश्यकानुयोगोऽभिधीयते? नैत– देवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्। तथाहि–सामायिकस्य षड्विधाऽऽवश्यकैकदेशत्वादावश्यकरूपता तावन्न विरुध्यते। विशे०। नं०। तथा चाऽऽवश्यके ध्यानशतकमधिकृत्य– ''पंचुत्तरेण गाहा–सएण झाणसयगं समुद्दिट्ठं। जिणभद्दखमासमणे–हिं कम्मसोहीकरंजइणा ॥१॥'' श्राव० ४ अ०। ''जिनभद्रगणिं स्तौमि, क्षमाश्रमणमुत्तमम्। यः श्रुताब्धीतमुद्वध्रे, सौरिः सिन्धोः सुधामिव'' ॥४॥ जीत०।

जिणभद्दसूरि (ण्) पुं० (जिनभद्रसूरिन्) स्वनामख्याते आचार्ये, तत्रैको जिनेश्वरसूरिशिष्यः खरगच्छीयः, येन सुरसुन्दरीकथा नाम ग्रन्थो रचितः। द्वितीयः शालिभद्रशिष्य एतन्नामा, स वैक्रमीये १२०४ वर्षे विद्यमान आसीत्। तेन गजसुकुमारकथा नाम ग्रन्थो विरचितः। तृतीयः खरतरगच्छे जिनदत्त सूरिशिष्यः। जै० इ०।

जिणभवण पुं० (जिनभवन) जिनाऽऽयतने, पं० व० ४ द्वार। दर्श०। ख्या०। द्वा०। षो०। (जिनभवनकारणविधिः 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२७८ पृष्ठे उक्तः)

जिणभासिय त्रि० (जिनभाषितः) जिनोक्ते, 'सुणेह जिणभासियं।'' जिनभाषितं जिनोक्तम्। उत्त० २७ अ०। ''विहिणा जिणभासिएणेव।'' जिनभाषितेनैव सर्वज्ञोक्तेनैव, न स्वमतिचर्चितेन। पञ्चा० १ विव०।

जिणमई स्त्री० (जिनमती) हेमपुरनगरस्थस्य सुरइत्तश्रेष्ठिनः स्वनामख्यातायां दुहितरि, दर्श० १ तत्त्व। (तत्कथा 'दीवपूया' शब्दे वक्ष्यते)

जिणमंडण पुं० (जिनमण्डन) तपागच्छीये सोमसुन्दरसूरि शिष्ये, येन वैक्रमीये १४९२ वर्षे कुमारपालप्रबन्धो नाम ग्रन्थो विरचितः। जै० इ०।

जिणमय न० (जिनमत) रागाऽऽदिशत्रून् जयति स्म जिनः। स च यद्यपि छद्मस्थवीतरागोऽपि भवति, तथापि तस्य तीर्थं प्रवर्तकत्वायोगात् उत्पन्नकेवलज्ञानास्तीर्थकृदादिर्गृह्यते। सोऽपि च वर्द्धमानस्वामी, तस्य वर्तमानतीर्थाधिपतित्वात्। तस्य जिनस्य वर्द्धमानस्वामिनो मतम्, अर्थतस्तेनैव प्रणीतत्वात्। आचाराऽऽदिदृष्टिवादपर्यन्ते द्वादशाङ्गे गणिपिटके, जी० १ प्रति०। आ० चू०। ज्यो०। ''तित्थयरसमोसूरी, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ।'' जिनमतं जगत्प्रभुदर्शनम्। ग० १ अधि०। ''जिणम– वमणविक्खंतो, वट्टइ अट्ठम्मि झाणम्मि।'' जिनास्तीर्थकराः, तेषां मतमागमरूपं प्रवचनम्। आव० ४ अ०। ''भावेण जिणमवम्मि उ, आरंभपरिग्गहच्चाओ।'' रागाऽऽदिजेतृत्वाज्जिनः, तन्मत एव, वीतरागशासन एवेत्यर्थः। पं० व० १ द्वार। अर्हत्सिद्धान्ते, ''हंदि पसिद्धं जिणमयम्मि।'' पञ्चा० ४ विव०। तीर्थकराभिप्राये च। ''सोऊण जिणवरमयं'' ''जिनवराणां तीर्थकराणां मतमभिप्रायम्। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

जिणमयट्ठिय त्रि० (जिनपतस्थित) सर्वज्ञाऽऽगमस्थिते, ''विसेसओ जिणमयट्ठिआणं।'' जीवा० ८ अधि०।

जिणमयनिउण त्रि० (जिनमतनिपुण) आगमप्रवीणे, दश० ९ अ० ३ उ०।

जिणमहिम (ण्) पुं० (जिनमहिमन्) जिनमहत्त्वे, ''कंबल सबला च जिणमहिमं।'' आ० क०।

जिणमाणिकसूरि पुं० (जिनमाणिक्यसूरि) प्राकृतगाथाबद्ध कूर्मापुत्रचरित्राकारके आचार्ये, जै० इ०।

जिणमाया स्त्री० (जिनमातृ) मरुदेव्यादिकायां जिनजनन्याम्, स०।

तन्नामानि त्वित्थम् –

''मरुदेवि विजय सेणा, सिद्धत्था मंगला सुसीमा व।
पुहवी लक्खण रामा, नंदा त्रिण्हु जया सामा ॥३२२॥
सुजसा सुव्वय अइरा, सिरि देवी य प्पभावई चेव।
पउमावई य वप्पा, सिव वामा तिसलवाई व ॥३२३॥''

प्रव० ११ द्वार।

जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीय पुं० (जिनमुनिचैत्यसङ्घाऽऽदिप्रत्यनीक) तीर्थकरसाधुचतुर्वर्णसङ्घ सिद्धगुरुश्रुताऽऽदिकानाम वर्णवादाऽऽशातनाद्यनिष्टनिर्वर्तके, कर्म० १ कर्म०।

जिणमुद्दा स्त्री० (जिनमुद्रा) जिनानामर्हतां कृतकायोत्सर्गाणां सत्का, जिना वा विघ्नजेवी मुद्राऽङ्ग न्यासविज्ञेपो जिनमुद्रा मुद्राभेदे, पञ्चा०।

अथ जिनमुद्रामाह –

चत्तारि अंगुलाइं, पुरओ ऊणाइ जत्थ पच्छिमओ।
पायाणं उस्सग्गो, एसा पुण होइ जिणमुद्दा ॥२०॥

चत्वारीति संख्या, अङ्गुलानि प्रतीतानि। तानि च स्वकीयान्येव, पुरतोऽग्रतः, तथा ऊनानि किञ्चिदूनानि भङ्गुलान्येव, यत्र यस्यां मुद्रायां, पश्चिमतः पश्चिमभागेः, पादयोश्चरणयोरुत्सर्गः परस्परपरित्यागः, संसर्गाभावोऽन्तरमित्यर्थः। एषाऽसौ, पुनः शब्दो योगमुद्राऽपेक्षया जिनमुद्राया वैलक्षण्यप्रतिपादनार्थः। भवति संपद्यते, जिनानामर्हतां कृतकायोत्सर्गाणां सत्का,

जिना वा विघ्नजेत्री मुद्राऽङ्गन्यासविशेषो जिनमुद्रेति गाथार्थः । ॥२०॥ पञ्चा० ३ विव० । ल० । सङ्गा । प्रव० ।

जिणरक्खिय पुं० (जिनरक्षित) चम्पानगरीवास्तव्यस्य माकन्दिसार्थवाहस्य पुत्रो स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा० । ''भोगे अवयक्खंता, पडंति संसारसागरे घोरे ।'' चारित्रं प्रतिपद्यापि भोगानभिकाङ्क्षन्तः पतन्ति संसारसागरे घोरे, जिनरक्षितवत् । ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । (तत्कथाऽनुपदमेव 'जिणपालिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४९४ पृष्ठे उक्ता)

जिणरयणसूरि(ण्) पुं० (जिनरत्नसूरिन्) खरतरगच्छीये जिनराजसूरिशिष्ये जिनचन्द्रसूरिगुरौ, तेन वैक्रमीये १६६६ वर्षे सूरिपदं प्राप्तः, तथा १७११ वर्षे आगरानगरे स्वर्गतिर्लेभे । संसारित्वेऽस्य ''रूपचन्द्र'' इत्यभिधानमासीत् । एतन्माताऽप्येतेन सह प्रव्रजिता। जै० इ० ।

जिणरायसूरि(ण्) पुं० (जिनराजसूरिन) खरतरगच्छीये जिनसिंहसूरिशिष्ये, वैक्रमीये १६४७ वर्षेऽयं जातः, १६५६ वर्षे दीक्षितः १६७४ वर्षे सूरिपदं प्राप्तः, १६९९ वर्षे पट्टने स्वरगमत । श्रीशत्रुञ्जये ऋषभदेवाऽऽदितीर्थङ्कराणामेकोत्तर– पञ्चशतप्रतिमानामनेनैव प्रतिष्ठा कारिता, नैषधीयकाव्येऽनेन जिनराजनाम्नीटीका रचिता । जै० इ० ।

जिणरूव न० (जिनरूप) परमाऽऽत्मरूपे, ''जिनरूपं ध्यातव्यं, योगविधावन्यथा दोषः ।'' जिनरूपं परमाऽऽत्मरूपमिति । षो० १४ विव० ।

जिणलाभसूरि(ण्) पुं० (जिनलाभसूरिन्) खरतरगच्छीये जिनभक्तिसूरिशिष्ये, अयं वैक्रमीये १७८४ वर्षे 'वीकानेर' नगरे जातः १७९६ वर्षे दीक्षितः १८०४ वर्षे माण्डवीबन्दरे सूरिर्जातः, १८३४ वर्षे स्वरगमत् । आत्मप्रबोधनामा ग्रन्थोऽनेन रचितः । जै० इ० ।

जिणवई स्त्री० (जिनवाक्) जिनवचने, ''जे कोविज्ञा जिणवइं पि ।'' ये जिनवाचमपि कोपयेयुरन्यथा कुर्युः । बृ० १ उ० ।

जिणवंस पुं० (जिनवंश) जिनान्वये, ''वंसाणं जिणवंसो''। वंशानामन्वयानां मध्ये यथा जिनवंशः प्रधानम् । संथा० ।

जिणवयण न० (जिनवचन) जिनान्तीर्थकराः, तेषां वचनमागमो जिनवचनम् । दश० १ अ० । जिनानां सर्वज्ञानां वचनं जिनवचनम् । द्वादशाङ्गे, व्य० १ उ० । जिनवचनमर्हद्वचनम् पञ्चा० १२ विव० । जिनवचनाचारादि । स० । ''कूरा वि सहावेणं, विसयविसवसागुगा वि होऊण । भावियजिणवयणमणा, तेल्लां क्कसुहावहा होंति''॥१॥ श्रूयन्ते हि एवंविधाश्चिलातीसुतादय इति । तथाऽनर्ध्यामिति (जिनाज्ञां भावयेदिति सर्वत्र संबन्धः) यथावस्थितार्थप्रकाशकत्वेन सकलपरप्रणेतृशास्त्रोक्तार्थादविद्यमानमूल्यामिति भावः । उक्तं च – ''सव्वे वि य सिद्धंता, स दव्वरयणामया सतेल्लोक्का । जिणवयणस्स भगवओ, न तुल्लमिय तं अणग्घेयं ॥१॥'' तथा स्तुतिकारेणाप्युक्तम् – ''कल्पद्रुमः कल्पितमात्रदायी, चिन्तामणिश्चिन्तितमेव, धत्ते । जिनेन्द्रधर्मातिशयं विचिन्त्य, द्वयेऽपि लोकं लघुतामुपैति ॥१॥'' अथवा ऋणघ्नामिति । तत्र ऋणं पूर्वभवपरम्परोपात्ताष्टप्रकारं कर्म, तद्हन्ति या सा ऋणघ्ना, ताम् । यत उक्तम् – ''जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं । तं वाणी तिहि गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं'' ॥१॥ तथा– अमितमित्यपरमिताम् । यत उक्तम् – ''सव्वनईणं जा वामुया वि सव्वोदहीण जं तोयं । तत्तोऽणंतगुणोलसु, अत्थो एगस्स सुत्तस्स'' ॥१॥ अमृतां वा परमान्नोन्मृष्टां, पथ्यां वा । तथा चोक्तम्–''जिणवयणमोयगस्स य, रत्तिं य दिया य खज्जामाणस्स । तित्तिं वुहो न गच्छइ, हेउसहस्सोवगूढस्स ॥१॥'' ''नरनरगतिरियसुरगणसंसारियसव्वदुक्खरोगाणं । जिणवयणमेगमोसहमपवग्गसुहक्खयं फलयं'' ॥१॥ अमृतां वा सजीवाम्, उपपत्तिक्षमत्वेन सार्थकामिति भावः । न तु यथा – ''तेषां कटतटभ्रष्ट– र्गजानां मदबिन्दुभिः । प्रावर्तत्र नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥१॥'' इत्यादिवाक्यनिर्युक्तिवन् मृतामिति । तथा–अजितामशेषपरप्रवादिप्रवचनाऽऽज्ञाभिरपराजितामिति भावः । तदुक्तम् – ''जीवाइवत्थुचिंतण–कोसल्लगुणेणऽनन्न–सरिसेण । सेसवयणेहिं अजियं, जिणिंदयवयणं महातिसयं ॥१॥'' तथा–महार्थामिति । महान परमितोऽर्थो यस्याः सातथाविधा, ताम् । तत्र पूर्वपराविधित्वादनुयोगद्वारात्मकत्वान्नयगर्भत्वाच्च महार्था, तां, महत्स्थां वा । तत्र महामतयः सम्यग् दृष्टय एवेहोच्यन्ते । ततश्च, महत्सु स्थिता महत्स्था, तां च, प्रधानसत्त्वस्थितामिति भावः । महस्थां वा, अतिशयपूज्यामित्यर्थः। यत उक्तम् – ''सयलसुरासुरमणुसजोइसवंतरसुपूइयं नाणं। जेणेह गहणराणं, बुहंति बुत्ते सुरिंदा वि''॥१॥ महानुभावः सामर्थ्यादिलक्षणो यस्याः सा तथाविधा, तां प्राधान्यं चास्याइचतुर्दशपूर्वविदः सर्वलब्धिमन्तो जायन्ते, ततश्च सकलस्यास्य त्रिभुवनस्य प्रभवन्ति । यत उक्तम् – ''पहू णं भंते ! चउद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं, पडाओ पडसहस्सं वि उ करित्तए ? गोयमा ! हंता पहू '' इत्यादि । परलोके पुनरनुत्तरविमानादिषूपपातः । उक्तं च – ''उववाओ लंतगम्मी, चउदसपुव्विस्स होइ उ जहन्नो । उक्कोसो सव्वट्ठे, सिद्धिगमो वा अकम्मस्स ॥१॥'' तथा महाविषयामिति । महद् विषयताऽस्याः सकलद्रव्याऽऽदिविषयावभासकत्वात् । उक्तं च –''दव्वाओ सुयनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ, नो पासइ'' इत्यादि कृतं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः । दर्श० ४ तत्व । आव० । (विस्तरतो गाथाव्याख्या 'आणा' शब्दे द्वितीयभागे ११५ पृष्ठे द्रष्टव्या)

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा, ते हुंति परित्तसंसारी ॥२६४॥

इति छिन्नसंसारिणः स्युरित्यर्थः । ते इति के ? ये जीवा जिनवचने अर्हद्वाक्ये अनुरक्ताः सन्तो भावेन जिनवचनं कुर्वन्ति, इत्यनेन मनोवाक्कायैः जिनधर्ममाराधयन्ति । पुनः कीदृशास्ते ? अमलामिथ्यामलरहिताः । पुनः कीदृशाः ? असंक्लिष्टाः मोहमत्सराऽऽदिक्लेशरहिताः । एतदृशा जीवाः संसारपारं कृत्वा मोक्षं व्रजन्तीत्यर्थः । उत्त० ३६ अ० । जिनवचनस्यप्रामाण्यमुक्तं च स्तुतिकारेण – ''सुनिश्चितं नः परतन्त्रायुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसंपदः । तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिताः, जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥१॥'' नं० । जिनवचनप्रशंसा यथा – ''जयति जगदेकमङ्गलमपहतनिः शेषदुरितघनतिमिरम् । रविबिम्बमिव यथास्थित – वस्तुविकाशं जिनेशवचः ॥१॥'' नं० । जिनवचनस्य हितकारित्वं यथा –

''एगंतेणं हियं वयणं, गोयम! दिस्संति केवलिणो।
बलवोडीय कारेंति, हत्थे घेत्तूण जंतुणो ॥
तित्थयरभासिए वयणे, जे तह त्ति अणुवालिया।
सिंदा देवगणा तस्स, पाएहि य णमंति हरिसिया''॥ महा०

६ अ० जिनवचनादन्यत्र न शरणम्। उक्तञ्च – ''जन्जरामरणभवेरभिदुते व्याधिवेदनाग्रस्ते । जिनवरवचनादन्यत्रानास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥१॥'' आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

जिनवचनस्य सम्यक्त्वं यथा –

भद्दं मिच्छादंसण – समूहमइयस्स अमयसारस।
जिणवयणस्स भगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥१६७॥

भद्रं कल्याणं, जिनवचनस्यास्त्विति संबन्धः । मिथ्यादर्शनसमूहमयस्य। ननु यन्मिथ्यादर्शनसमूहमयं, तत् कथं सम्यग्रूपतामालादयति ? न हि विषकणिकासमूहमयस्यामृतरूपता ऽऽपत्तिः प्रसिद्धा न। परस्परनिरपेक्षसंग्रहाऽऽदिनयरूपाऽऽपन्नसांख्यादिमिथ्यादर्शनानां परस्परं सव्यपेक्षतासमासादितानेकान्तरूपाणां विषकणिकासमूह विशेषमयस्यामृतसंदोहस्यैव सम्यक्त्वाऽऽपत्तेः। दृश्यन्ते हि विषाऽऽदयोऽपि भावाः परस्परसंयोगविशेषमवाप्ताः समासादितपरिणत्यन्तरा अगदरूपतामात्मसात् कुर्वाणाः। मध्याज्यप्रभृतयस्तु विशिष्टसंयोगावाप्तद्रव्यान्तरस्वभावा मृतिप्राप्तिनिमित्त विषयरूपतामासादयन्तः। न चाध्यक्षप्रसिद्धार्थस्य पर्यनुयोगविषयता, अन्यथाऽग्न्यादेरपि दाह्यदहनशक्त्यादिपर्यनुयोगाऽऽपत्तेः । अत एव निरपेक्षा नैगमाऽऽदयो दुर्णयाः सापेक्षास्तु सुनया उच्यन्ते। अभिहितार्थसंवादि चेदं वादिवृषभस्तुतिकृत् सिद्धसेनाऽऽ– चार्यवचनम् – ''नयास्तव स्यात्पदलाच्छना इमे, रसोपविष्टा इव लोहधातवः। भवत्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता– हितैषिणः'' ॥१॥ इति। अथवा सांख्यादेरेकान्तवादिदर्शनसमूहमयस्य चूर्णनस्वभावस्य, मिथ्यादृष्टिपुरुषसमूहविघटनसमर्थस्य वा, यद्वामिथ्यादर्शनसमूह नैगमाऽऽदयः, एकैकनैगमाऽऽदेर्नयस्य शतविधत्वात्। ''एक्केक्को वि सयविहो'' इत्याद्यागमप्रामाण्यादवयवायस्य तन्मिथ्यादर्शनसमूहमयम्, जिनवचनस्य नैगमाऽऽदयः सापेक्षाः सप्तावयवाः, तेषामप्येकैकः शतधा व्यवस्थित इत्यभिप्रायः। समूहरूपसप्तनयावयवोदाहरणापेक्षया च सप्तभङ्गीप्रदर्शनमागमज्ञा विदधति । सामान्यविशेषाऽऽत्म कत्वाद्वस्तुतत्त्वस्य, सामान्यस्यैकत्वात्, तद्विवक्षायां यदेव घटादि द्रव्यं स्यादेकमिति प्रथमभङ्गीविषयः, तदेव देशकालप्रयोजन भेदान्नानात्वं प्रतिपद्यमानं तद्विवक्षया स्यादनेकमिति द्वितीयभङ्गविषयः, तदेवोभयाऽऽत्मकमेकदैशब्देन यदाऽभिधातुं न शक्यते तदास्यादवक्तव्यमिति तृतीयभङ्ग विषयः। तदेवावकाशदतृत्वेनासाधारणेनैकमाकाशं, तदेवावगाह्यावगाहकावगाहन क्रियाभेदादनेकं भवति, तद्भेदैर्विना तस्यावस्तुत्वाऽऽपत्तेः । प्रदेश भेदापेक्षयाऽपि च तदनेकम्। अन्यथा हिमवद्विन्ध्ययोरप्येकदेशताप्राप्तेः । तस्य च तथाविवक्षायां स्यादेकं चानेकं चेति चतुर्भङ्ग विषयता । यदेकमाकाशं भवतः प्रसिद्धं तदेकस्मिन्नवयवे विवक्षिते एकमवयवस्यावयवान्तराद्भिन्नभिन्नानां वाचकस्य शब्दस्याभावादवक्तव्यं चेति। तथा– विवक्षायां स्यादेकमवक्तव्यं चेति पञ्चमभङ्ग विषयः । तत् यदेवैकमाकाशं प्रसिद्धं भवतः तदवगाह्यावगाहनक्रियाभेदादनेकम् । एकानेकत्वप्रतिपादकशब्दाभावादवक्तव्यं चातः स्यादने कमवक्तव्यं चेति षष्टभङ्ग विषयः । यदेवैकमाकाशात्मकतयाऽऽकाशं भवतः प्रसिद्धं, तदेव तथैकमवगाह्यावगाहनक्रियापेक्षयाऽनेकं, युगपत्प्रतिपादनापेक्षयाऽवक्तव्यं चेति स्यादेकमनेवक्तव्यं चेति सप्तमभङ्ग विषयः। एवं स्यात्सर्वगतः स्यादसर्वगतो घटादिरित्यादि काऽपि सप्तभङ्गी वक्तव्या, यतो य एव पार्थिवाः परमाणवो वटस्स एव विस्रसाऽऽदिपरिणति वशाज्जलानिलानलावन्यादिरूपतामात्म सात्कुर्वाणाः स्यात् सर्वगतो घट इत्यादि सप्तभङ्ग विधवतां यथोक्तन्वायात् कथं नासादयन्ति ? न च घटपरमाणूनां पुद्गलरूपतापरित्यागे पूर्वपर्यायापरित्यागे च घटपर्यावाऽऽपत्तिः, क्षणिकाक्षणिकै कान्तयोरर्थक्रियानुपपत्तेर सत्त्वापत्तेः, परिणामिन एव सुवर्णात्मना ऽवस्थितस्य केयूराऽऽत्मकविनाशमनुभवतः कटकाद्यात्मनोत्पद्यमानस्य वस्तुनः सत्त्वात्, अन्यथा क्वचित्कस्यचित्कदाचिदनुपलब्धेः। न चाध्वक्षादन्यद्गरिष्टं प्रमाणान्तरमस्ति, यतस्त द्विपरीतभावाभ्युपगमः क्रियते । अन्तर्बहिश्च हर्षविषादाऽऽचनेका ऽऽकार वितर्काऽऽत्मकचैतन्यस्य स्थासकोशकुशूला ऽऽद्यनेकाऽऽकार स्वीकृतैकमृत्पिण्डादेः स्वसंवेदनाऽक्षजाध्यक्षतः प्रतिपत्तेः। सर्वथोपलभ्यमध्यक्षरूपं पूर्वापरकोट्योरसदिति वदतः सर्वप्रमाण-विरोधात् कुण्डलाङ्गदा ऽऽदिषु पर्यायेषु तादृग्भूतसुवर्णद्रव्योपलब्धेः कार्योत्पत्तौ कारण स्य सर्वथा निवृत्यनुपलब्धेन च सादृश्य विप्रलम्भात्त दध्यवसावकल्पनेति वक्तुं तदेकान्तभेदसाधकप्रमाणस्यापास्तत्वात्। न च कथञ्चित्स्वभावभेदेऽपि तादात्म्यक्षतिः, ग्राह्यग्राहकाऽऽकारसंविद्वद्विविक्तपरमाणुषु स्थूलैकघटाऽऽ दिप्रतिभासबद्धा ग्राह्य ग्राहकाऽऽकारविविक्तसंवित्प्रकल्पने ऽध्यक्षधियोऽपि विवक्षिताऽऽकारविवेकाविवेकानुपलब्धेः। अध्यक्षेतरस्वभावभ्यां विरोधस्वरूपासिद्धावन्यत्रापि कः प्रद्वेषः ? तथाहि–शक्यमन्य– त्रापि एवमभिधातुम्–एकमेव पार्थिवद्रव्यं लोचनाऽऽदिसामग्रीविशेषात् चूर्णादिप्रतिपत्तिभेदेऽपि भिन्नमिव प्रतिभाति, प्रत्यासन्नेतर रूपताव्यवस्थितैकविषयत्वात्। न हि स्पष्टा-स्पष्टनिर्भासभेदेऽपि तदेकत्वक्षतिः, तद्वदिहापि रूपाऽऽदिप्रतिभासा भेदेप्येक त्वं किं न स्यात् ? प्रतीतेरविशेषात्। एवं च स्याद्वादिनोऽग्नेरप्यनुष्ण त्वप्रशक्तिरित्यसङ्ग तमभिधानम् । यतस्तत्रापि स्यादुष्णोऽग्निरिति स्पर्शविशेषेणोष्णस्य भास्वराऽऽकारेण पुनरनुष्णस्यतस्यैकस्य नानास्वभावशक्तेरबाधितप्रमाणविषयस्यैवं नो दोषाऽऽसङ्गा–संभवात्, तस्मादेकस्यैव सामग्रीभेदवशात्तथाप्रतिभासाविरोधः। कारणस्य च कार्याऽऽत्मनोत्पत्तौ न किञ्चिदपेक्षणीयमस्ति, यत्तथोत्पित्सुस्वभावता न भवेत्। अत एव मृदादिभावो घटस्वभावेन नश्वरः, कपालस्वरूपेण चोत्पत्तौ तिष्ठतीति स्वभावत एव नश्वरः, उत्पित्सुः स्थास्नुश्चान्यतमापाये पदार्थस्यैवासंभवात्, त्रितयभावं प्रत्यनपेक्षत्वाच्च। न हयुत्पन्नः पदार्थः किञ्चित् स्थितिं प्रत्यपेक्षते, स्थित्यात्मकत्वादुत्पादस्य, न चावस्थित उत्पत्तौ किञ्चिदपेक्षते, उत्पत्तिस्वभावत्वात् स्थितेः। न च विनष्ट उत्पत्तिं प्रति हेत्वन्तरापेक्षो, विनाशस्योत्पत्त्यात्मकत्वात्, ततः पूर्वापरस्वभावपरित्यागावाप्तिलक्षणं परिणाममासादयन् भावो व्यवतिष्ठते ! इति प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरमेतदेव। शब्दविद्युत्प्रदीपादेरपि निरन्वयविनाश कल्पनाऽसङ्ग तैव, तेषामादौ स्थितिदर्शनादन्तेऽपि तत् स्वभावान तिक्रमात्। न हि भावः स्वस्वभावं त्यजति, प्रागपि तत्स्व भाव परित्यागप्रशक्तेः, अन्ते च क्षयदर्शनात् प्रागपि नश्वरस्वभावादादायुत्पत्ति समये स्थितिदर्शनादन्ते स्थितिः किं नाभ्युपेयते ? न च विद्युत्प्रदीपादेस्तैजसरूपपरित्यागात्तामसरूपस्वीकरणे किञ्चिदविरुद्धं भवेत्। न च स्वभावभे दस्तदेकत्वविघातकृत् ग्राह्यग्राहकाऽऽकारसंवेदनवद् येद्यवेदकाऽऽकारविवेकपरोक्षापपरोक्ष परोक्षसंवित्ति –

यद्वा, यथा च ध्वंसहेतोस्तदतकरणविरोधादकिञ्चित्करत्वं, तथा स्थित्युत्पादहेत्वोर्विशरारुधर्मणः स्थास्नुताकरणे विनश्वर स्वभावः किं न विनश्येत् ? अथासौ स्थास्नुस्तथापि हि स्थितिहेतोरानर्थक्यं, स्वत एव तस्य स्थितेः । तथोत्पत्तिहेतुरपि यदि भावं करोति, तदा न स्यात्किञ्चित्करत्मेवभावस्य, स्वयमेव भावाभावरूपत्वात् । अथाभावं भावरूपतां नयति, तर्हि नाशहेतुरपि भावमभावीकरोतीति कथमञ्चित्करः स्यात् ? न ह्यभावस्य भावीकरणे भावस्य वाऽभावीकरणे कश्चिद्विशेषः संभवी । अत एव च तेषामन्य तमस्य सहेतुकत्वमहेतुकत्वं चाभ्युपगच्छन् सर्वेषां तदभ्युपगन्तुमर्हति, अविशेषात् । न च भिन्नयोगक्षेमत्वात् कार्यकारणयोरेकत्वमनुपपन्नं, स्वभावभेदेऽप्येकत्वप्रतिपत्तेः। सर्वसंवित्क्षणानामेकदोत्पत्ति-विनाशवतामभिन्नयोगक्षेमत्वात् कार्यकारणयोरेकत्वमनुपपन्नम्, स्वभावभेदेऽप्येकत्वेऽपि च परस्परतः पृथग्भावसिद्धेः । अथात्राभिन्नयोगक्षेमेऽपि प्रतिभास भेदाद्भेदः, तर्हि यत्र प्रतिभासाभेदस्तत्र भिन्नयोगक्षेमत्वेऽप्यभेदः, प्रतिभासभेदाभेदयोर्वस्तुभेदाभेदव्य वस्थापकत्वात् । समुदायस्य च देशकालभेदाभावात् सकृदेव संवित्यात्मनोत्पत्तेरेकत्वं प्रसज्येत । यदि च स्वभावभेदो वस्तु भेदलक्षणं, तदा सन्तानान्तरयोरिव विषयरूपायाः संवित्तेरेकत्वेऽपि प्रत्यक्षेतरयोर्वाऽसौ विद्यत इति नानात्वं भवेत् । यदि पुनः स्वभावभेदाविशेषेऽपि विवक्षितज्ञान क्षणाऽऽ कार्योरेव तादात्म्यं, न पुनः सन्तानान्तरसंवित्तीनामिति प्रत्यासत्तेः कुतश्चिद्वचवस्थाप्यते, तर्हि परस्यापि विवक्षितैकार्थो– पादानोपादेयभूतयोरेवावस्थयोस्तादात्म्यं कथञ्चिद् वदतो न कश्चिद्दोषः प्रशक्तिमान् । निराकृतश्चानेकश एकान्तवादः, तत्प्रसाधकहेतुनां सर्वेषामनेकान्तव्याप्ततया विरुद्धताप्रदर्शनात् । तत्प्रदर्शनं चैकान्तवादिनिग्रहस्थान मनेकान्तवादिविजयस्येवेतर– पराजयाधिकरणप्राप्तिलक्षणत्वाद् ''विरुद्धहेतुमुद्भाव्य, वादिनं जयतीतरः ।'' इत्यस्य वचसो न्यायानुगतत्वात् । यदि पुनर– साधनाङ्गवचनं वादिनः पराजया धिकरणभ्युपगम्येत, तदा वादाभ्युपगमं विधाय तूष्णींभावमा त्रेणासाधनाङ्गस्यावचना द्वादिनो विजयः किं न स्यात् ? प्रतिवादिनोऽपि स्वपक्षसिद्धिमकुर्वतः कथं न विजयस्तत एव भवेत् ? अय साधनाङ्गावचनमपि निग्रहस्थानं, तर्हि वादिप्रतिवादिनोर्यागपद्येन निग्रहादिकरणता भवेत्, तूष्णींभावाविशेषात् । तूष्णींभावोपलम्भेन इतरो विजयवानिति चेत् ? नन्वेवमितरजयस्यान्यतरपराजयाधिकरणतैव प्राप्ता, न च स्वपक्षसिद्धिमकुर्वतः न विजयप्राप्तिः, तदप्राप्तौ च कथं तदेतरस्य पराजयः । यदपीष्टस्यार्थस्य सिद्धसाधनं तस्याङ्गं स्वभावकार्यानुपलम्भलक्षणं हेतुत्रयं पक्षधर्मत्वादि वा त्रैरूप्यंतस्यावचनं निग्रहस्थानं वादिन् इत्युक्तम् । तदप्यचारु । प्रतिवादिनोऽपि पक्षधर्मत्वाऽन्यतमस्या नुक्तावसमर्थने वा विजया प्राप्तेः, तदप्राप्तौ च वादिनो निग्रहस्थानानुपपत्तेरितरजवनान्तरी यकत्वादित रपराजयस्य; एवं हेत्वाभासादेरसाधनाङ्गस्य वचनं वादिनो निग्रहस्थानमिति प्रतिक्षिप्तमुक्तन्यायाद्द्रष्टव्यम् । अथ ततः साध्यसिद्धेर भावात्तस्य निग्रहस्थानं प्रतिक्षिप्तम् । उक्तन्यासे च तद् भूविक्षेपादेरसाधनाङ्गकरणस्य तत एव तत्प्राप्तेः, ततो वादिन मसाधनाङ्गमभिदधानं कुर्वाणं वा स्वपक्ष सिद्धिं विदधदेव प्रतिवादी तत्पक्षप्रतिक्षेपेण निगृहातीत्येवदेव न्यायोपेतमुत्पश्यामः । एवं प्रतिवादिनोदोपमनुद्भावयतो न निग्रह स्थानं, तावता स्वपक्ष सिद्धिमकुर्वाणस्य वादिनो विजयप्राप्त्यव योगात्, तत्साधनस्य सदोषत्वसंभवात् । तस्य सदोषत्वेऽपि तदुद्भवनासमर्थत्वा त्प्रतिवादिनो निग्रहस्थानं स्यादिति चेत् । न । दोषवत्साधनाभिधाना द्वादिनोऽपि पराजयाद्यविधकरणत्वाद् द्वयोरपि युगपत्पराजप्राप्तेः । अत एव प्रतिवादिनो दोषस्यानुद्भा वनमपि न निग्रहस्थानम् । यच्च वादिपक्षसिद्धेरप्रतिबन्धकं पक्षाऽऽदिवचनाधिक्योद्भावनं प्रतिवादि पक्षसिद्धावसाधकतमं, तत्सर्वं न वादिनः पराजयाधिकरणम् । अन्यथा तत्पादप्रसारि काद्युद्भावनमपि तस्य पराजयाधिकरणं स्यात् । अथ पक्षाऽऽदि वचनस्यासाधनाङ्गत्वात्तदुद्भावने वादिनस्तदपरिज्ञाननिबन्ध नपाजयाधिकरणता, तर्हि यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति व्याप्तिवचनादेव शब्दस्यापि क्षणिकत्वसिद्धौ 'संश्च शब्दः' इत्यभिधानं, तत एव तस्य पराजयाधिकरणं भवेत् । न च शब्दे शब्दविप्रतिपत्तिः, येन तन्निरासाय सत्त्वाभिधानं तत्रापुनरुक्तं भवेत् । तद्विप्रतिपत्तौ वा तत्साधकहेतोरसिद्धत्वादिदोषत्रयानतिवृत्तेर्भवतैषाम्युपगमात्तत्साध्यत्वानुपपत्तिः । यदि च संक्षिप्तवचनात् साध्यसिद्धौ तद्विस्तराभिधानं निग्रहस्थानं, तर्हि सत्त्वात् क्षणक्षवसिद्धौ कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्यभिधानं कथं न निग्रहस्थानं स्यात् ? कथं वा कृतकप्रयत्नानन्तरीयकादिषु स्वार्थिकस्य तस्योपादानं तन्न स्यात् ? यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकमित्यादि साधनवाक्यमभिधाय पक्षादिवचनवत्त त्समर्थनमपि निग्रहस्थानं प्रसक्तम् । असमर्थितमपि स्वत एवं तत्त्वेनोक्तमेव स्वसाध्याबिनाभूतस्यं हेतोः प्रदर्शनम्, आसाध्य सिद्धेः सद्भावात् । स्वभावकार्यानुपलम्भप्रकल्पनया तद्वचनं निग्रहस्थानं परस्य प्रसक्तम् । अनुपलब्धावुपलब्धिलक्षणं प्राप्तस्येति विशेषणोपादानं निग्रहस्थानम् । अदृश्यानामपि व्याधिभूतगृहादीनां कुताश्चिद्व्यावृत्तिसिद्धिः । यदि पुनरुपलम्बानुपलब्धेरेवाभावसिद्धिः, तदा नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं, प्राणादिमत्त्वादित्यत्र घटादेरात्मनोऽक्षणिकस्याद्वश्यानुपलम्भादेवात्तसिद्धेः, यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति सामस्त्येन व्याप्त्यसिद्धितः क्षणक्षयानुमानं नानवद्यं स्यात् । किंचदेशकालस्वभावविप्रकृष्ट भावानुपलब्धेर भावसिद्धौ सर्वत्रा सदा सर्वोत्तमोऽग्निमन्तरेणानु पपत्तिमा नितिव्याप्तेरसिद्धेर्न ततस्तत्सिद्धिः स्यात् । न चाध्यक्षानुपलम्भौ तत्कार्यकारणभाव प्रबाधकावभ्युपगम्यमानौ सन्निहितविषयबलोत्पत्तेर विचारकत्वाच्च यतो व्यापारान् विधातुं क्षमौ, तत्पृष्ठभाविविकल्पस्य तन्निवर्त्तनसामर्थ्याभ्युपगमे सविकल्पकस्यानिष्टं प्रामाण्यं प्रसज्येत् । अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाद विसंवादित्वाच्च तस्याऽविकल्पकस्य तु हिंसा विरतिदानचेतसां स्वर्गाऽऽदिफल निवर्त्तनसामर्थ्यस्वभावसंवेदनस्यैव सर्वात्मना वस्तुसंवेदनेऽपि निर्णयवशादेव प्रामाण्योपपत्तेः। अन्यथाऽनुमानस्याप्रामाण्य प्रसक्तेस्तदगृहीतग्राहितयेत्युक्तं प्रागदृश्यानामनुपलम्भा देवासिद्धावर्थक्रियया सत्ताऽभावानां व्याप्त्येत्येतदपि परस्य निग्रहस्थानमेष, ततः स्वपक्षसिद्धिरितरस्य पराजयाधिकरणं, स च परोपन्यस्तहेतोर्विरुद्धताप्रदर्शनेन स्वतन्त्रानिर्दोषहेतुसमर्थनेन वा परोपन्यस्तहेत्वसिद्धताऽऽदिदोषप्रतिपादनपुरः सरा कर्त्तव्या । अन्यथा परपराजयनिबन्धनस्य विजयायोगात् । यदा च विजिगीषुणा स्वपक्षस्थापनेन परपक्षनिरा करणेन च सभाप्रत्ययानं विधेयम्, अन्यथा जयपराजया नुपपत्तेस्तदाऽ सिद्धानैकान्ति-कत्वसाधनदोषोद्भावनेऽपि वादिप्रति वादिनोर्जय पराजयौ, प्रकृतार्थपरिसमाप्तेः । अथ स्वपक्ष सिद्धेरभावाद्धेत्वा भासादसाधनाङ्गवचनं वादिनो निग्रह –

स्यनमानाः इतरत्रापि तत्प्रसङ्गात् । अथ वादिनः साधनत्वेनाभिमतस्यासाधनत्वप्रदर्शनेन प्रतिवादिकृतेन पराजयः, प्रतिवादिनस्तु समुद्भूतदोषोद्भावनाज्जयः । न । यदि स्वपक्षसिद्धि-मकुर्वता प्रतिवादिना स्वपरोत्कर्षापकर्षप्रत्यायनमात्रेण वादी निगृह्यते इत्यभ्युपगमः, तर्ह्यसद्भूतदोषोद्भावनेनापि निरुत्तरीकरणात् आत्मोत्कर्षसंभवात्प्रतिवादिनो विजयप्राप्तिः, वादिनो निर्दोषसाधनाभिधायिनोऽपि पराजयप्रसक्तिः । अथ समर्थस्यापि साधनस्यासमर्थनेन स्वपक्षसिद्धेरभावाद् वादिनः पराजयो न्यायप्राप्त एव । न । उभयत्र पराजय प्रसक्तेः । न ह्यभूतदोषोपनयनिगमनाद्युद्भावनमात्रेण प्रतिवादिना प्रकृतं वस्तुत्वं प्रसाधयन् स्वपक्षसाधनसामर्थ्यविकलेन वादी निगृह्यते इति न्यायोपपन्नम् । अथ प्रतिवाद्यप्यसाधनाङ्गस्य साधनाङ्गत्वेनोपादानात् स्वपक्षसिद्धिमकुर्वन् मिथ्याभिनिवेशी निगृह्यते इति चेत् । न । उभयोर्निग्रहप्राप्तेरित्युक्तत्वात् । तस्मात् – ''असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः । विग्रहस्थानमन्यद्धि,न युक्तमिति नेष्यते ॥१॥'' इत्यादि वादन्यायलक्षणमेकान्तवादिनां सर्वमसङ्गतम् । उक्तन्यायात् सर्वस्य चैकान्तसाधनाङ्गत्वात्, तस्यासत्वेन साधयितुमशक्यत्वात्, अनेकान्तस्य च निर्दोषत्वेन तत्र दोषोद्भावनरूपत्वात्, दोषानुद्भावनस्य वा निर्दोषे पराजयानधिकरणत्वात्, तदुद्भावनस्यैव तत्र निग्रहार्हत्वादित्यलं पिष्टपेषणेनेति व्यवस्थितं मिथ्या दर्शनसमूहमयत्वं, मयिकत्वं वा । न विद्यते मृतं मरणं यस्मिन्नसावमृतो मोक्षः, तं सारयति प्रापयतीति वा, तस्याबन्धमोक्षकारणत्वाद् मोक्षप्रतिपादकत्वाच्च ''अमयसारयस्स'' चेति पाठेऽमृतवत्स्वाद्यते इत्यमृतस्वादम्, अमृततुल्यमिति यावत् । तथा– रागाऽद्यशेषशशुजेतृपुरुषविशेषैरुच्यत इति जिनवचनम्, तस्य, अनेन विशिष्टपुरुषप्रणीततत्त्वनिबन्धनं प्रमाणं निगमयति । क्षीराऽऽश्रवाऽऽद्यनेकलब्ध्याद्यैश्वर्याऽऽ दिमतो भगवत इति, अनेनापि विशेषणेन तस्यैहिकसंपद्विशेषजनकत्वमाह । संविग्नैः संसारभयोद्वेगाविर्भूतमोक्षाभिलाषैरप कृष्यमाणरागद्वेषा हङ्कारकामुष्यैरिदमेव जिनवचनं तत्त्वमिति। एवं सुखेनाभिगम्यते यत्तत्संविग्नसुखाभिगम्यं, तेनापि विशिष्ट बुद्ध्यतिशयसंवित्समन्वितयति-वृषभनिषेव्यत्वमस्य प्रतिपादयति । एवंविधगुणाध्यासितस्य जिनवचनस्य सामायिकाऽऽदिबिन्दुसारपर्यन्तश्रुताम्भोधेः कल्याणमस्त्विति प्रकरणसमाप्तावन्त्यमङ्गलसंपादनार्थं विशिष्टां स्तुतिमाहेति । सम्म० ३ काण्ड ।

*** जिनवदन** न० जिनमुखे औ० ।

जिणवयणकप्परुक्ख पुं० (जिनवचनकल्पवृक्ष) जिनाऽऽगमरूपे कल्पवृक्षे, ''जिणवयणकप्परूक्खो, अणेगसुत्तत्थसालविटिथणो । तवनियमकुसुमगुच्छो, सुगइफलबंधणो जयइ ॥१॥'' आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जिणवयणधम्माणुरागरत्तमण त्रि० (जिनवचन (वदन) धर्मानुरागरक्तमनस्) जिनवचने जिनवदने वा धर्मानुरागेण रक्तं मनो यस्य स तथा । तस्मिन्, औ त्रि० ।

जिणवयणपदुट्ठ त्रि० (जिनवचनप्रद्विष्ट) जिनाऽऽगमप्रद्विष्टे , ''जिणवयणपदुट्ठे'' जिनास्तीर्थकराः, तेषां वचनमागमलक्षणं तस्मिन् प्रद्विष्टा अप्रीता इति । दश० १ अ० ।

जिणवयणबाहिरमइ त्रि० (जिनवचनाबाह्यमति) सर्वज्ञशासनबहिर्मुखशेमुषीके, बृ० १ उ० ।

जिणवयणमणुगइसुभासिय त्रि० (जिनवचनानुगतिसुभाषित) जिनवचनमनुगत्याऽऽनुकूल्येन सुष्ठ भाषितं ये न स तथा । तस्मिन्, स० ।

जिणवयणमणुगयमहियभासिय त्रि० (जिनवचनानुगतमहित (जिनवचनानुगताधिक) भाषित) जिनवचनमाचारादि, अनुगतं संबद्धं, नार्दवितर्दमित्यर्थः । महितं पूजितमधिकं वा भाषितं येनाध्यापनाऽऽदिना स तथा । तस्मिन्, स० ।

जिणवयणविहि पुं० (जिनवचनविधि) प्रवचनोक्ते प्रकारे, ''जिणवयणविहीइं दो वि सद्धाला ।'' जिनवचनविधिना प्रवचनोक्तेन प्रकारेण । श्रा० ।

जिणवयणरुइ त्रि० (जिनवचनरुचि) जिनाऽऽगमरुचिके, ध० २० । अयं च गुणवतः पञ्चमो भेदः।

संप्रति जिनवचनरुचिरूपं पञ्चमं भेदं व्याख्यानयन्नाह –

सवणकरणेसु इच्छा, होइ रुई सद्दहाणसंजुत्ता ।
एईइ विणा कत्तो, सुद्धी सम्पत्तरयणस्स ? ॥४६॥

श्रवणमाकर्णनं, करणमनुष्ठानं, तयोरिच्छा तीव्राभिलाषो, भवति, रुचिः, अद्धानसंयुक्ता प्रतीतिसंगता, जयन्तीश्राविकाया इवेति । अस्या एव प्राधान्यख्यापनायाऽऽह – एतया द्विस्परूपयारुच्या, विनाऽभावेन, कुतः शुद्धिः? न कुतो-ऽपीत्याकूतम् । सम्यक्त्वरत्नस्य शुश्रूषा धर्मरागरूपत्वात्तस्य, तयोश्च सम्यक्त्वसहभाविलिङ्गतया प्रसिद्धत्वात् । उक्तं च – ''सुस्सुसधम्मराओ, गुरुदेवाणं जहासमाहीए। वेयावच्चे नियमो, सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं' ।१।

इति पञ्चमगुणभावना । अन्ये तु पञ्चगुणानित्थमभिदधति –

''सुत्तरुई अत्थरुई, करणरुई चेवऽणाभिनिवेसरुई ।
गुणवंते पंचमिया, अणिट्ठिउच्छाहिया होइ ॥१॥'

अत्रापि सूत्ररुचिः पठनाऽऽदिस्वाध्यायप्रवृत्तिः, अर्थरुचिश्चाभ्युत्थानाऽऽदिविनयं गुणिनां प्रयुङ्क्ते । करणानभिनिवेशौ तुल्यावेव । अनिष्टितोत्साहता पुनरिच्छावृद्धिरेवेति न विरोध आशङ्कनीय इति । ध० २० । (जिनवचनरुचिविषये जयन्तीश्राविकाकथा 'जयंती' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४१६ पृष्ठे गता)

जिणवयणसुइ स्त्री० (जिनवचनश्रुति) जिनाऽऽगमश्रवणे, ''सुलहा सुरलोयसिरी, रयणायरमेहला मही सुलहा । निव्वुइसुहजणियरुई, जिणवयणसुई जएं दुलहा'' ॥१॥ त्ति । स्था० ६ ठा० ।

जिणवयणाकण्णण नं० (जिनवचनाऽऽकर्णन) तीर्थकरभाषि तश्रवणे, ''तत्ताहिगमो हि तहा, जिणवयणाऽऽयण्णणस्स गुणा ।'' जिनवचनाऽऽकर्णनस्य तीर्थकरभाषितश्रवणस्य एते गुणाः । श्रा० ।

जिणवर पुं० (जिनवर) जिनाः छद्मस्थवीतरागाः तेषां वराः । पञ्चा० ४ विव० । प्रश्न० । रागाऽऽदिजयाज्जिनाः, अवधिमनः– पर्यवोपशान्तमोहक्षीणमोहाः, तेषां मध्ये वराः सामान्यकेवलिनो जिनवराः । संथा० । जिनानां वरा उत्तमाः, भूतभवद्भावि–भावस्वभावावभासिकेवलज्ञानकलितत्वात् । प्रज्ञा० १ पद । श्रुताऽऽदिजिनप्रधाने केवलिनि, आव० २ अ० । ''चउवीसं पिजिणवरा, तित्थयरा मे पीसदंतु ।'' जिनवराः श्रुताऽऽदि-जिनेभ्यः प्रकृष्टाः । ध० २ अधि० । उत्त० । जिना रागद्वेषाऽऽदिजयनशीलाः सामान्यकेवलिनः, तेषु तेभ्यो वा वरः प्रधानोऽतिशयापेक्षया श्रेष्ठो जिनवरः । तं० । तीर्थकरे, आव० २ अ० । ''तित्थयरे

जिणवरे'' रागद्वेषमोहजितो जिनाः, एवंभूताश्च सामान्यकेव –लिनोऽपि भवन्तीति तद्व्यवच्छेदार्थमाह – वराः प्रधानाः चतुस्त्रिंशदतिशय-समन्वितत्वेन। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। ''सोऊण जिणवरमयं, ''जिनवराणां तीर्थकराणां मतमभिप्रायम्। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। द० प०। ''जगमत्थयट्ठियाणं, विअसिअवरनाणदंसणधराणं। नाणुज्जोय-गराणं, लोगम्मि नमो जिणवराणं ॥१॥'' द० प० ४ प०।

जिणवरिंद पुं० (जिनवरेन्द्र) जिनाश्छद्मस्थवीतरागाः, तेषां वराः प्रधानाः केवलिनः, तेषामिन्द्रास्तीर्थकरनामकर्मोदयवर्तित्वाद् नानाविधाति-शयसमेतत्वाच्च तीर्थकराः। अतस्तेषां, जिनवरेन्द्राणामित्यर्थः। ''पूजाए जिणवरिंदाणं।'' पञ्चा० ०४ विव०। ''वंदामि जिणवरिंदं''। प्रज्ञा० १ पद। (जिनवरेन्द्र-मिति) जयन्ति रागाऽऽदिशत्रूनाभिभवन्ति ये ते जिनाः, ते च चतुर्विधाः। तद्यथा–श्रुतजिनाः, अवधिजिनाः, मनः पर्यायजिनाः, केवलिजिनाः। तत्र केवलिजिनत्वप्रतिपत्तये वरग्रहणं, जिनानां वरा उत्तमाः– भूतभवद्भाविभावस्वभावावभा सिकेवलज्ञानक-लितत्वाद् जिनवराः, ते चातीर्थकरा अपि सन्तः सामान्यकेवलिनो भवन्ति, ततस्तीर्थ करत्वप्रतिपत्त्यर्थ मिन्द्रग्रहणम्, जिनवराणामिन्द्रो जिनवरेन्द्रः, प्रकृष्टपुण्यस्कन्ध रूपतीर्थकरनामकर्मोदयात्तीर्थकर इत्यर्थः। प्रज्ञा० १ पद।

जिणवसह पुं० (जिनवृषभ) जिनश्रेष्ठे, ''अस्संजलं जिणवसहं।'' असंज्वलं जिनवृषभम्। स०।

जिणवाणी स्त्री० (जिनवाणी) अर्हद्वचने, ''विलसतु मनसि सदा मे, जिनवाणी परमकल्पलतिकेव। कल्पितसकलनरामर – शिवसुखफलदा न दुर्ललिता'' ॥१॥ चं० प्र० १ पाहु०। ''देवा देवीं नरा नारीं, शाबराइचापि शाबरीम्। तिर्यश्चोऽपि हि तैरश्चीं, मेनिरे भगवद्गिरम्'' ॥१॥ दशा० १ अ०।

जिणविज्ज पुं० (जिणवैद्य) जिनभिषग्वरे, आव०।

जह सव्वसरीरगयं, मंतेण विसं णिरुंभए डंके।
तत्तो पुणोऽवणिज्जइ, पहाणतरमंतजोगेण ॥१७३॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, सर्वशरीरगतं सर्वदेह-व्यापकं, मन्त्रोण विशिष्टवर्णानुपूर्वीलक्षणेन, विषं मारणाऽऽ-त्मकद्रव्यं, निरुध्यते निश्चयेन ध्रियते, क्व ? डङ्केलक्षितदेशे, ततो डङ्कात् पुनरपनीयते। केन ? इति अत माह – प्रधानतर-मन्त्रायोगेन, श्रेष्ठतरमन्त्रायोगेनत्यर्थः। ''मंतजोगेहिं'' इति च पाठान्तरम्। तत्र मन्त्रायोगाभ्यामित्यर्थः। अत्र पुनर्योग-शब्देनागदं परिगृह्यते। इति गाथार्थः ॥१७३॥

एष दृष्टान्तः अयमर्थोपनय :–

तह तिहुअणतणुविसयं, मणो विसं मंतजोगबलजुत्तो।
परमाणुम्मि णिरुंभइ , अवणेइ तओ वि जिणविज्जो ॥१७४॥

''तह'' इत्यादि। तथा त्रिभुवनतनुविषयं, त्रिभुवनशरीराऽऽलम्बन-मित्यर्थः। मन एव भवमरणनिबन्धनत्वाद् विषं मनोविषं, मन्त्रायोग-बलयुक्तो जिनवचनध्यानसामार्थ्यसंपन्नः, परमाणौ निरुणद्धि, तथाऽचिन्त्यप्रयत्नाच्च अपनयति, ततोऽपि तस्मादपि परमाणोः कः ? जिनवैद्यो जिनभिषग्वर इति गाथार्थः ॥१७४॥ आव० ४ अ०।

जिणवीरणाह पुं० (जिणवीरनाथ) महावीरस्वामिजिने, ''बन्धोदयो-दीरणसत्पदत्थं, निःशेषकर्मारिबलं निहत्य। यः सिद्धिसाम्राज्यमलंच-कार, श्रिये स वः श्रीजिनवीरनाथः'' ॥१॥ कर्म० २ कर्म०।

जिणसंकास पुं० (जिनसङ्काश) सर्वज्ञसदृशे, कल्प० ६ क्षण सकलसंशय-च्छेदकत्वे, स्था० ३ ठा० २ उ०। ''अजिणाणं जिणसंकासाणं''। अजिनानामसर्वज्ञत्वाद् जिनसंकाशानामविसंवादिवचनत्वाद् यथापृष्ट-निर्वचनत्वाच्च। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

जिणसंथव पुं० (जिनसंस्तव) ''लोगस्सुज्जोयगरे'' इत्यादिरूपायां जिनस्तुतौ, दश० ५ अ० १ उ०।

जिणसकहा स्त्री० **जिनसक्थि** न० जिवास्थिनि, भ०।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकु माररण्णो चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए माणवए चेइए खंभे वइरामएसु गोल–वट्टसमुग्गएसु बहुओ जिणसकहाओ सण्णिविखत्ताओ चिट्ठंति॥

(जिणसकहाओ त्ति) जिनसक्थीनि जिनास्थीनि। भ० १० श० ५ उ०। सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्। सू० प्र० १८ पाहु०। (सभास्थितजिनसक्थ्यनुरोधादिन्द्राः सभायां मैथुनं कर्तुं न शक्नुवन्तीति 'अग्गमहिषी' शब्दे प्रथमभागे १७२ पृष्ठे उक्तम्)

जिणसासण न० (जिनशासन) रागद्वेषमोहलक्षणान् शत्रून् जितवन्त इति जिनाः, तेषां शासनं जिनशासनम्। सम्म० १ काण्ड। जिनप्रवचने, दश० १ अ०। वीतरागवचने, ''सुद्धाणं जिणसासणं।'' (२५ गाथा) दश० ८ अ०। जिनाऽऽज्ञायां च, ''णिक्खंता जिणसासणे।'' जिनशासने जिनाऽऽज्ञायाम्। उत्त० १८ अ०। सूत्र०।

''समस्तवस्तुविस्तारे, व्यासर्पत्तैलवज्जले।
जीयाच्छ्रीशासनं जैनं, धीदीपोद्दीप्तिवर्द्धनम् ॥२॥
यत्प्रभावादवाप्यन्ते, पदार्थाः कल्पनां विना।
सा देवी संविदे नःस्ता दस्त कल्पलतोपमा ॥३॥'' उत्त० १ अ०।

जं च मे पुच्छसी काले, सम्मं सुद्धेण चेयसा।
ता इं पाउकरे बुद्धे, तं नाणं जिणसासणे ॥३२॥

यच्च (मे इति) मां पुच्छसि, प्रश्नयसि, काले प्रस्तावे, सम्यक् शुद्धेन अविपरीतबोधवता, चेतसा चित्तेन 'लक्षणे तृतीया' ''ता''इति सूत्रत्वात् तत् (पाउकरि त्ति) प्रादुष्करोमि प्रकटीकरोमि, प्रतिपादयामीति यावत्। बुद्धोऽवगतसकलवस्तु तत्त्वः। कुतः पुनर्बुद्धोऽसि ? अत आह–तदिति यत्किञ्चिदिह जगति प्रचरति ज्ञानं यथाविधवस्त्ववबोधरूपं, त ज्जिनशासने, अस्तीति गम्यते। ततोऽहं तत्र स्थित इति तत्प्रसादाद्बुद्धो-ऽस्मीत्यभिप्रायः। इह च यतस्त्वं सम्यक् शुद्धेन चेतसा पृच्छस्यतः प्रतिक्रान्तप्रश्नादिरप्यहं यत्पृच्छसि तत् प्रादुष्करोमीत्यतः पृच्छ यथेच्छमित्यैदम्पर्यार्थः। अथ वा – अत एव लक्ष्यते यथा ''अप्पणो परेसिं च'' इत्यादिना तस्यायुर्वि ज्ञातमवगम्य संजयमुनिनाऽसौ पृष्टः– कियन्ममायुरिति ? ततोऽसौ प्राह – यच्च त्वं मां कालविषयं पृच्छसि तत्प्रागुक्तवान् बुद्धः सर्वज्ञोऽत एव तज्ज्ञानं जिनशासने, व्यवच्छेदफल-त्वाद् जिनशासन एव, न त्वन्यस्मिन् सुगताऽऽदिशासने, अतो जिनशासन एव यत्नो विधयः, येन यथाऽहं जानामि तथा त्वमपि जानीषे, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥३२॥ उत्त० १८ अ०।

जह जिणासासणनिरया, धम्मं पालें ति साहवो सुद्धं।
न कुतित्थिएसु एवं, दीसइ परिपालणोवाओ ॥९३॥

यथा येन प्रकारेण, जिनशासननिरता निश्चयेन रताः, धर्मं प्राग्निरूपितशब्दार्थं, पालयन्ति रक्षन्ति, साधवः प्रव्रजिताः, षड्जीवनिकायपरिज्ञानेन कृतकारिताऽऽदि परिवर्जनेन च शुद्धमकलङ्कं, नैवं तन्त्रान्तरीयाः, तस्मान्न कुतीर्थिकेष्वेवं, यथा साधुषु दृश्यते परिपालनोपायः, षड्जीवनिकायपरिज्ञानाऽऽद्यभावात्। उपायग्रहणं च साभिप्रायकम्। शास्त्रोक्तः खलूपायोऽत्रा चिन्त्यते, न पुरुषानुष्ठानं, कापुरुषा हि वितथकारिणोऽपि भवन्त्येवेति गाथार्थः ॥९३॥ दश० नि० १ अ०।

जिणसासणपरंमुह त्रि० (जिनशासनपराङ्मुख) जैनमार्गविद्वेषिणि, सूत्र० "इत्थी व संगया बाला, जिणसासण परम्मुहा।" रागद्वेषजितो जिनाः, तेषां शासनमाज्ञा कषायमोहो पशमहेतुभूता, तत्पराङ्मुखाः संसाराभिष्वङ्गिणो जैनमार्ग विद्वेषिणः। सूत्र० १ अ० ३ अ० ४ उ०।

जिणसिंहसूरि (ण्) पुं० (जिनसिंहसूरिन्) खरतरगच्छस्थे जिनचन्द्रसूरिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, ती० १ कल्प०। पञ्चा०। अयं वैक्रमीये १६१५ वर्षे जातः, १६२३ वर्षे दीक्षितः, १६७० वर्षे सूरिपदं प्राप्तः, १६७४ वर्षे स्वर्गतः। द्वितीयोऽप्येतन्नामा पूनमियागच्छे मुनिरत्नसूरिशिष्यः, येनाममस्वामिचरित्रनामा ग्रन्था रचितः। जै० इ०।

जिणसीस पुं० (जिनशिष्य) गणधराऽऽदिके, स०।

जिणसीसाणं चेव समणगणपवरगंधहत्थीणं थिरजसाणं परिसहसेणरिउबलपमद्दणाणं द (त) वदित्तचारित्ताणसंमत्तसारविविहप्पगारप्पसत्थगुणसंजुयाणं अणगार-महरिसीणं अणगारसुगाण वण्णओ।

जिनशिष्याणां चैव गणधरादीनाम्, किंभूतानाम् ? अत आह श्रमणगणमक्तगन्धहस्तिनां, श्रमणोत्तमानामित्यर्थः। तथा स्थिरयशसां, तथा-परीषहसैन्यमेव परीषहवृन्दमेव, रिपुबलं परचक्रं, तत्प्रमर्दनानां, तथा दवदग्धावाग्निरिव दीप्तान्युज्ज्वलानि, पाठान्तरेण – 'तपोदीप्तानि' यानि चारित्र ज्ञानसम्यक्त्वानि, तैः साराः सफलाः विविधप्रकारविस्ताराः, अनेकविधप्रपञ्चाः, प्रशस्ताश्च ये क्षमाऽऽदयो गुणास्तैः संयुतानां, क्वचिद् गुणध्वजानामिति पाठः। तथा अनगाराश्च ते महर्षयश्चेत्यनगारमहर्षयः, तेषामनगारगुणानां वर्णकः, श्लाघा, आख्यायत इति योगः। स०।

जिणसुंदर पुं० (जिनसुन्दर) सोमसुन्दरसूरिशिष्ये स्वनामख्याते तपागच्छीय आचार्ये, ग० ४ अधि०। येन दीपाऽऽवलीकल्पो नाम ग्रन्थो विरचितः। वैक्रमीये १४९६ वर्षेऽयं विद्यमान आसीत्। जै० इ०।

जिणसेहरसूरि (ण्) पुं० (जिनशेखरसूरिन्) खरतरगच्छीये जिनवल्लभसूरिशिष्ये, अनेन १२०४ वर्षे रुद्रपालीयगच्छः स्थापितः, सम्यक्त्वसप्ततिकाशीलतरङ्गिणी प्रश्नोत्तरत्न मालावृत्तिश्चेति ग्रन्था विरचिताः। जै० इ०।

जिणसोक्खसूरि (ण्) पुं० (जिनसौख्यसूरिन) खरतरगच्छीये जिनचन्द्रसूरिगुरौ, वैक्रमीये १७३९ वर्षे ऽयं जातः १७५१ वर्षे दीक्षितः १७६३ वर्षे सूरिर्जातः, १७८० वर्षे स्वर्गतः। जै० इ०।

जिणहरिसगणि (ण्) पुं० (जिनहर्षगणिन्) तपागच्छीये जिनचन्द्रसूरिशिष्ये, येन १५०२ वर्षे वीरमग्राममुषित्वा विचारामृतसंग्रहो, रत्नशेखरनरपतिकथा चेति द्वौ ग्रन्थौ रचितौ। जै० इ०।

जिणहंससूरि (ण्) पुं० (जिनहंससूरिन्) बृहत् खरतगच्छीये जिनसमुद्रसूरिशिष्ये आचाराङ्गो परि दीपिकाकारक आचार्ये, जै० इ०।

जिणाइभत्त पुं० (जिनाऽऽदिभक्त) तीर्थनाथानां सिद्धाऽऽचार्यो – पाध्यायसाधुचैत्यानामन्येषां च गुणगरिष्ठानां बहुमानकरे, कर्म० १ कर्म०।

जिणाएस पुं० (जिनाऽऽदेश) अर्हद्वचने, "पव्वज्जाभावओ जिणाएसो।" पं० व० १ द्वार।

जिणाणा स्त्री० (जिनाऽऽज्ञा) वीतरागोक्तवचनपद्धतौ, "सानुबन्धा जिनाऽऽज्ञा च, तत्तपः शुद्धमिष्यते।" अष्ट० १ अष्ट०।

जिणाणुचिण्ण त्रि० (जिनानुचीर्ण) जिनैर्हिताऽऽप्त्यनिवर्तकयोगसिद्धैर्गणधारिभिरनुचीर्णं जिनानुचीर्णम्। गणधरैः सम्यक्तदर्थाविगमाऽऽसङ्गशक्तिगर्भानिवर्तकसमभावप्राप्त्या धर्ममेघनानामकसमाधिरूपेण परिणमिते, जी०। "जिणाणुचिण्णं जिणपण्णत्तं।" जिना इह हिताऽऽप्त्यनिवर्तक-योगासिद्धा गणधारिणः परिगृह्यन्ते विचित्रार्थत्वात् सूत्राणाम्। जी० १ प्रति०।

जिणाणुमय त्रि० (जिनानुमत) जिनानामतीतानागतवर्तमानानामृषभपद्मनाभसीमन्धरस्वामिप्रभृतीनामनुमतं जिनानुमतम्। जिनानामानुकूल्येन सम्मंते, "जिणमयं जिणाणुमयं" वस्तुतत्त्वमपवर्गमार्गं प्रति मनागपि विसंवादाभावादिति जिनानुमतम्। जी० १ प्रति०।

जिणाणुलोम त्रि० (जिनानुलोम) जिनानामवध्यादिजिनानामनुलोममनुगुणं जिनानुलोमम्। जिनानामनुगुणे, "जिणमयं जिणाणुमयं जिणाणुलोमं" एतद्वशादवध्यादिजिनत्वप्राप्तेः। तथाहि–यथोक्तमिदं जिनमतमासेवमानाः साधवोऽवधिमनः– पर्यायकेवललाभमासादयन्त्येवेति। जी० १ प्रति०।

जिणाययण न० (जिनाऽऽयतन) जिनभवने, पं० व० ४ द्वार। पञ्चा०।

जिणालय न० (जिनाऽऽलय) जिनभवने, सेन०। जिनाऽऽलये यद् धौतिढौकनं करोति तत्कस्मिन् सूत्रे, प्रकरणे वाऽस्ति? तथा कुमतिन इत्थं कथयन्ति–धौतिढौकनं देवनिर्माल्यं जायते, तस्य पुष्पादि लात्वा कथं चटापयन्ति? इति प्रश्ने, उत्तरम्–धौतिढौकनमिति परम्परया ज्ञायते, तथा तन्निर्माल्यं न कथ्यते। यतो "भोगविणट्ठं दव्वं, निम्मल्लंविंति गीअत्था।" इति श्राद्धवृत्तावुक्तत्वादिति। १२५ प्र०। सेन० २ उल्ला०। ज्ञानद्रव्यमभारिद्रव्यं च जिनगृहकार्ये आयाति, न वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम् – ज्ञानद्रव्यं जिनाऽऽलयकार्ये आयातीत्य-क्षराण्युपदेशचिन्तामणौ सन्ति, अभारिद्रव्यं तु महत्कारणं विना न समायातीति ज्ञायते। ४९३ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। जिनाऽऽलय-कार्यकर्तुरात्मीयं कार्यं दीयते, न वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्– जिनाऽऽलयस्थापकेन स्वकीयकार्यं न कार्यत इति। ४९२ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। जिनाऽऽलये रात्रौ गीतागानाऽऽदि क्रियते, तत्करणे देवद्रव्यमुत्पद्यते, नान्यथा, तदा तत्कर्त्तव्यं, न वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्शास्त्रानुसारेण

मूलविधिना गीतगानाऽऽदि न शुद्धयति, परं देवद्रव्यो त्पत्तिकारणेन रात्रावपि गीतगानाऽऽदिभावनाकरणे लाभो ज्ञायते इति । ७७ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

जिण्णावधिणाण न० (जिनावधिज्ञान) ज्ञानभेदे, श्रीजिनाना – मवधिज्ञानं, सदृशं, किं वा विशेषः ? इति प्रश्ने, उत्तरम् – यो जिनो यतः समेति तस्य तत्स्थानसंबन्धि प्रवर्द्धमानं चावधिज्ञानं भवतीति, न सर्वेषां जिनानामवधिज्ञान सादृश्यमिति । १२८ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

जिणाहिय त्रि० (जिनाऽऽहित) जिनैराहितः, जिनानां वा संबन्धी आहितो जिनाहितः । जिनप्रतिपादिते, जिनानुष्ठिते च । सूत्रा० ''चरे भिक्खू जिणाहियं ।'' जिनैराहितः प्रतिपादितोऽनुष्ठितो यो मार्गो जिनानां वा संबन्धी योऽभिहितो मार्गस्तं चरेदनुतिष्ठेत् सूत्रा० १ श्रु० ६ अ० ।

जिणिऊण अव्य० (जित्वा) जयं कृत्वेत्यर्थे , प्रा० ४ पाद । अङ्क० । **''एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः'' ।८।४।४४०।** इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु इत्यादेशा । प्रा० ४ पाद । ''गंग गमिप्पिणु जो मुअइ, जो सिवतित्थ गमेप्पि । कीलदि तिदसाऽऽवासगउ, सो जमलोउ जिणेप्पि ॥१॥'' प्रा० ४ पाद ।

जिणित्ता अव्य० (जित्वा) जयं कृत्वेत्यर्थे , प्रा० ४ पाद ।

जिणिंद पुं० (जिनेन्द्र) जिननायके तीर्थकरे, ''एत्थ इमं वणिणअं जिणिंदेहिं ।'' जिनेन्द्रैः जिननायकैः । पञ्चा० ५ विव० । औ० । पं० व० । रा० ।

जिणिंदपण्णत्त त्रि० (जिनेन्द्रप्रज्ञप्त) तीर्थकरप्रणीते, पं० ब०१ द्वार ।

जिणिंदवयण नं० (जिनेन्द्रवचन) जिनेश्वराऽऽगमे, पञ्चा० ।

चित्तं चित्तपयजुअं, जिणिंदवयणं असेससत्तहिअं ।
परिसुद्धमेत्थ किं तं, जं जीवाणं हिअं णऽत्थि ? ॥३९॥

चित्रम् – अद्भुतमनेकातिशयाभिधानत्वादङ्गानङ्गादिभेदत्वाद्वा चित्रमनेकविधं, तथा चित्रपदयुतम् – नानाविधार्थप्रति-पादकाभिधानयुक्तम्, जिनेन्द्रवचनं–जिनेश्वराऽऽगमः, अशेषसत्त्वहितं समस्त-प्राण्युपकारकं भव्यानुसारेण मार्गप्रति पत्त्युपायप्रतिपादनपरत्वात् परिशुद्धं कषच्छेदतापविशुद्धं सुवर्णमिव निर्दोषम् । एवं च अत्रास्मिन् जिनवचने, किंतद् ? यज्जीवानां हितं नास्ति ? सर्वमपि जीवानां हितमस्तीत्यत इदं तपः परिदृश्यमानाऽऽगमेऽनुपलभ्यमानमप्यु-लब्धमिनावगन्तव्यं तथाविधजनहितत्वादिति गाथार्थः ॥३९॥ पञ्चा० १९ विव० ।

जिणिस्सर पुं० (जिनेश्वर) जिनेन्द्रे तीर्थकरे, पञ्चा० १९ विव० ।

जिणिस्सरसूरि (ण्) पुं० (जिनेश्वरसूरिन्) श्रीवर्द्धमानसूरि– शिष्य अभयदेवसूरिगुरौ स्वनामख्याते आचार्ये , स्था० १० ठा० । एतस्मादेवाऽऽचार्यात् खरतरगच्छः प्रवृत्तः, अयमाचार्यो वैक्रमीये १०८० वर्षे विद्यमान आसीत् । एतेन जावालपुरमुषित्वा हारिभद्राष्टकटीका, पञ्चलिङ्गीप्रकरणं, वीरचरित्रं, लीलावतीकथा, रत्नकोशश्चेत्यादिका अनेके ग्रन्था रचिताः । जै० इ० । तथा च स्यानाङ्गवृत्तौ श्रीमचन्द्रकुलीन-प्रवचनप्रणीताप्रतिबद्धाविहारहारिचरितश्रीवर्द्धमानाभिधानमुनिपति-पादोपसेविनः प्रमाणाऽऽदिव्युत्पादनप्रवणप्रकरण प्रबन्धप्रणयिनः-प्रबुद्धप्रतिबन्धकप्रवक्तृप्रवीणाप्रतिहतप्रवचनार्थप्रधानावाक्प्रसरस्य सुविहितमुनिजिनमुखस्य श्रीजिनेश्वराऽऽचार्यस्य । स्था० १० ठा० ।

''यो जैनाभिमतं प्रमाणमनघं व्युत्पादयामासिवान्,
प्रख्यानैर्विविधैर्निरस्य निखिलं बौद्धाऽऽदिसंबन्धि तत्।
नानावृत्तिकथाः कथापथमतिक्रान्तं च चक्रे तपः,
निःसंबन्धविहारयप्रतिहतं शास्त्रानुसारात्तथा ॥७॥
तस्याऽऽचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वादिप्रतिस्पर्द्धिनः,
तद्बन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि ।
छन्दोबन्धनिबद्धबन्धुरवचः शब्दादि सल्लक्ष्मणः,
श्रीसंविग्नविहारिणः, श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणेः'' ॥८॥ ज्ञा० २ श्रु० ५ वर्ग १ अ० ।

तथा च पञ्चाशकवृत्तौ वर्द्धमानवर्णनमुपक्रम्य –

''शिष्योऽभवत्तस्य जिनेश्वराऽऽख्यः,
सूरिः कृतानिन्द्यविचित्राशास्त्रः ।
सदा निरालम्बविहारवर्ती ,
चन्द्रोपमश्चन्द्रकुलाम्बरस्य'' ॥२॥ पञ्चा० १९ विव० ।

अष्टके वीरजिनमारभ्य वर्द्धमानमुनिपर्यन्तमुपवर्ण्य –

''संवेगरङ्गशाला–ग्रन्थार्थकथनसूत्राधरतुल्यः ।
सूरिर्जिनेश्वराऽऽख्यः, सिद्धिविधेः साधने धीरः'' ॥३॥ अष्ट० ३२ अष्ट० । अन्योऽप्येतन्नामा राजगच्छीयो वज्रशाखायां कोटि कगणमध्य-गोऽभयदेवसूरिशिष्योऽजितसेनगुरुः, तेन जैननैषधीयकाव्यं रचितं, स च वैक्रमीये १०५० वर्षे विद्यमान आसीत् । अपरश्च वैक्रमीये, १२९२ वर्षे आसीत्, स च सूरिप्रभसूरिशिष्यः । चतुर्थश्च खरतरगच्छे जिनप्रबोधसूरिशिष्यः चन्द्रप्रभचरित्रग्रन्थरचयिता आसीत् । तस्य जन्म १२४५ वर्षे दीक्षा १२५५ वर्षे, सूरित्वं १२५८ वर्षे, स्वर्गतिः १३३१ वर्षे समभवत् । जै० इ० ।

जिणुज्जाण न० (जिनोद्यान) अवन्तीजनपदस्थोज्जयिनीनगरोत्तर-पार्श्ववर्तिनि स्वनामख्याते उद्याने, ग० ५ अधि० । नि० चू० ।

जिणुत्तम पुं० (जिनोत्तम) तीर्थकरे, ''मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं ।'' जिनोत्तमानं तीर्थकराणाम् । उत्त० २० अ० ।

जिणेप्पि अव्य० (जित्वा) जयं कृत्वेत्यर्थे , प्रा० ४ पाद ।

जिणेस पुं० (जिनेश) अर्हति, ''जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कः ।'' जिनेशगीरर्हद्वाणी । द्रव्या० ६ अध्या० ।

जिणेसर पुं० (जिनेश्वर) जिनेन्द्रे, तीर्थकरे, पञ्चा० १९ विव० ।

जिणेसरसुरि(ण्) पुं० (जिनेश्वरसूरिन्) ''जिणिस्सरसूरि'' शब्दार्थ , जै० इ० ।

जिणोवइट्ठ त्रि० (जिनोपदिष्ट) तीर्थकराभिमते, ''जिणोवइट्ठेण भावेणं ।'' ग० २ अधि० ।

जिणोवएस पुं० (जिनोपदेश) द्वादशाङ्गे प्रवचने, ''ण वि तच्चाओ जिणोवएसम्मि ।'' सम्म० ३ काण्ड ।

जिण्ण त्रि० (जीर्ण) **''उज्जीर्णे'' ।८।१।१०२।** इति प्राकृतसूत्रेण जीर्णशब्दे इतउत्त्वे–'जुण्णो' उत्त्वाभावपक्षे–'जिण्णो' । प्रा० १ पाद । हानियुक्ते, भ० १ श० १ उ० । ''जुण्णे जराजज्जरियदेहे'' । जीर्णो हानिगतदेहः । भ० १६ श० ४ उ० । उत्त० । अनु० । निःसारे, ''जहा जुण्णाह कट्ठाइ, हव्ववाहो पमत्थति ।'' यथा जीर्णानि निःसाराणि काष्ठानि हव्यवाहो हुतभुक् प्रमथ्नाति शीघ्रं भस्मसात् करोति । आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । ''अप्पेगइ–

या दावदवरुक्खा जुण्णा।'' जीर्णा इव जीर्णाः। ज्ञा० १ श्रु० १० अ०। प्राकृते क्वचिदुत्त्वं न भवति। ''जिण्णे भोयणमत्तेओ।'' प्रा० १ पाद। आ० चू०। जरायुक्ते, जीरके, पुं०। शैलजे, न०। स्थूलजीरके, स्त्री०। वाच०। परिणतवयसि, बृ० १ उ०।

जिण्णकुमरी स्त्री० (जीर्णकुमारी) वृद्धायामपरिणीतायां स्त्रियास्, ''जिण्णा जुण्णकुमारी।'' जीर्णा जीर्णशरीरा, जरणाद् वृद्धेत्यर्थः। सैव जीर्णत्वापरिणीतत्वाभ्यां जीर्णकुमारी। ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ०। नि०।

जिण्णगुल पुं० (जीर्णगुड) निस्सारगुडे, जीर्णगुडस्य पिण्डीभवनलक्षणो बन्ध इति। भ० ८ श० ६ उ०। अनु०।

जिण्णघय न० (जीर्णघृत) निस्सारघृते, अनु०।

जिण्णतंदुल पुं० (जीर्णताण्डुल) निस्सारतण्डुलस्य पिण्डीभवनलक्षणो बन्धः। भ० ८ श० ६ उ०। अनु०।

जिण्णतया स्त्री० (जीर्णत्वक्) सर्पकञ्चुके, ''भुंजगमे जुण्णतयं जहा जहे, विमुचती से दुहसेज्ज माहणे।'' यथा सर्पः कञ्चुकं त्यक्त्वा निर्मलो भवत्येवं मुनिरपि दुःखशय्यातो नरकाऽऽदिभवाद्विमुच्यत इति। आचा० २ श्रु० ४ चू०।

जिण्णदुग्ग न० (जीर्णदुर्ग) गूर्जरधराऽधिपस्य तेजः पालमन्त्रिणा कारितपुरादूरे गिरिनारतलस्थे उग्रसेनगढापरनामकेदुर्गे, ती०। ''अणहिल्लवाडयपट्टणे य पोरवालकुलमंडणा आसरायकुमरदेवतणया गुज्जरधराऽहिवइसिरीवीरधवलरज्जधुरंधरा वत्थुपालतेजपालनामविज्जा दो भायरा मंतिवरा हुत्था। तत्थ तेजपालमंतिणा गिरिनारतले निअनामंकिअं तेजपालपुरं ठावियं, जस्स उ पुव्वदिसाए उग्गसेणगढं नाम दुग्गं जुगाइनामहप्पमुहजिणमंदिररहिल्लं विज्जइ, तस्स य तिण्णि नाम परिसिद्धाइं। तं जहा–उग्गसेणगढं ति वा, खंगार गढं ति वा, जुण्ण दुग्गं ति वा। गढस्स बाहिं दाहिणदिसाए चउरि आवेइलहुअवरियाण्सु वाडयाइं ठाणाइं चिट्ठंति, उत्तरदिसाए विसालथंभसालासोहिओ दसदुआरमंडवो, गिरिदुवारे य पंचमो हरीदामोअरो सुवण्णरेहानईपारे वट्टइ।'' ती० ४ कल्प०।

जिण्णसुरा स्त्री० (जीर्णसुरा) निःसारसुरायाम्, जीर्णसुरायाः स्त्यानीभवनलक्षणो बन्धः। भ० ८ श० ६ उ०। अनु०।

जिण्णसेट्ठि(ण्) पुं० (जीर्णश्रेष्ठिन्) श्रेष्ठिपदाच्च्युते श्रेष्ठिनि, य० २०।

''पुर समस्ति वैशाली, शालीनजनशालिनी।
तत्राऽऽसीत्परमश्राद्धो, जिनदत्ताभिधः सुधीः ॥१॥
सदा जिनपदाम्भोज – सेवनैकसितच्छदः।
च्युतः श्रेष्ठिपदाज्जीर्ण श्रेष्ठित्वेन स विश्रुतः'' ॥२॥

ध०२०। ''वाणारसीए रुद्दसेणो जुण्णसेट्ठी।'' आव० ४ भ०। कल्प०।

जिण्णजिण्णा त्रि० (जीर्णाजीर्ण) अर्द्धजीर्णे, तच्चायुः –क्षयनिमित्तम्। ''जिण्णाजिण्णे य भोयणे बहुसो।'' आ० म० प्र०। आ० क०।

जिण्णासा स्त्री० (जिज्ञासा) बुभुत्सायाम्, पञ्चा० ४ विव०।

जिण्णुज्जाण न० (जीर्णोद्यान) राजगृहनगरस्योत्तर पश्चिमदिशि स्थिते स्वनामख्याते उद्याने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जिण्णुद्धार पुं० (जीर्णोद्धार) जीर्णस्य भग्नमन्दिरादेरुद्धारो यत्र। संस्कारभेदे, वाच०। ध०।

''नवीनजिनगेहस्य, विधाने यत्फलं भवेत्।
तस्मादष्टगुणं पुण्यं, जीर्णोद्धारेण जायते ॥१॥
जीर्णे समुद्धृते याव–त्तावत्पुण्यं न नूतने।
उपमर्दो महाँस्तत्र, स्वचैत्यख्यातिधीरपि ॥२॥

तथा –

राया अमच्च सिट्ठी, कोडंबी ए वि देसणं काउं।
जिण्णे पुव्वाऽऽययणे, जिणकप्पी वा वि कारवइ ॥३॥
जिणभवणाइं जे उ–द्धरंति भत्तीइ सडिअपडिआइं।
ते उद्धरंति अप्पं, भीमाओ भवसमुद्दाओ ॥४॥''

जीर्णैचैत्योद्धारकारणपूर्वकमेव च नव्यचैत्यकारणमुचितम्, तत एव संप्रतिनपतिना एकोननवतिसहस्रा जीर्णोद्धाराः कारिताः, नवचैत्यानि तु षट्त्रिंशत्सहस्राण्येवा एवं कुमारपालवस्तुपालाऽऽद्यैरपि नव्यचैत्येभ्यो जीर्णोद्धारा एव बहवो व्यधाप्यन्तेति। ध० २ अधि०।

जिण्णोब्भवा स्त्री० (देशी) दूर्वायाम्, दे० ना० ३ वर्ग।

जित्तिअ त्रि० (यावत्) यत्परिमाणे, **''यतत्देतदोऽतोरित्ति– अएतल्लुक् च''** ॥८।२।१५६॥ एभ्यः परस्य डावाऽऽदेरतोः परिमाणार्थस्य ''इत्तिअ' इत्यादेशो भवति, एतदो लुक् च। यावत्, ''जित्तिअं'। प्रा० २ पाद।

जिध अव्य० (यथा) सादृश्ये, येन प्रकारेणेत्यर्थे च। **''कथंयथा तथां थादेरेमेमेहेधा डितः''** ॥८।४।४०१॥ इति प्राकृतसूत्रेण था इत्यस्य 'इध' 'इह' इत्यादेशौ भवतः। प्रा० ४ पाद।

जिब्भगार पुं० (जिह्वाकार) जिह्वाकारके शिल्पिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

जिब्भा स्त्री० (जिह्वा) लेढि अनया लिह–व–नि०–जः। **''ह्वो भो वा''** ॥८।२।५७॥ इति प्राकृतसूत्रेण वा भः। प्रा० २ पाद। **''ईर्जिह्वासिंहत्रिंशद्विंशतौ त्या''** ॥८।१।६२॥ इति प्राकृतसूत्रेण ईकारविकल्पः। प्रा० १ पाद। रसज्ञानेन्द्रिये, रसनायां च। वाच०। प्रश्न०। जं०। औ०। प्रज्ञा०। ''सत्तंगुलिया जीहा।'' जिह्वा मुखाभ्यन्तरवर्तिमांसखण्डरूपा दैर्ध्येणाऽऽत्माङ्गुलतः सप्ताङ्गुला। तं०। ''जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं।'' मद्यमांसरसाभिलिप्सोर्मृषाभाषिणो जिह्वां वितस्तिमात्रामाक्षिप्य तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्ति। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। उत्त०। उपा०।

जिब्भादुट्ठ पुं० (जिह्वादुष्ट) जिह्वया दुष्टे, आव० ४ अ०। उत्त०।

जिब्भादोस पुं० (जिह्वादोष) जिह्वाविकारे, आव० ४ अ०।

जिब्भामय पुं० (जिह्वामय) जिह्वेन्द्रियहानौ, स्था० ६ ठा०।

जिब्भामयदुक्ख न० (जिह्वामयदुःख) जिह्वेन्द्रियहानिरूपे दुःखे, ''जिब्भामएणं दुक्खेणं संजोएत्ता भवइ।'' जिह्वामयं जिह्वेन्द्रियमहानिरूपं यद् दुःखं, तेन संयोजयिता भवति। स्था. ४ ठा० ४ उ०।

जिब्भामयसोक्ख न० (जिह्वामयसौख्य) जिह्वाया विकारो जिह्वामयं, सौख्यं रसोपलम्भाऽऽनन्दरूपं जिह्वामयसौख्यम्। रसोपलम्भाऽऽनन्दरूपे जिह्वेन्द्रियसुखे, ''जिब्भामयाओ सोक्खाओ ववरोवित्ता भवइ।'' स्था० ४ ठा० ४ उ०।

जिब्भिंदिय न० (जिह्वेन्द्रिय) रसनेन्द्रिये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। जिह्वेन्द्रियं च दुःखाय भवति।

यथा दुःखाय भवति तथोदाहरणम् –

''भूप्रतिष्ठपुरे राजा, सोदासो मांसलोलुपः।
अमारिर्घोषिताऽन्येद्यु, र्मांसं पर्युषितं पुनः ॥१॥
मार्जारो जगृहेऽन्यत्तु, न सूनास्वप्यभूत्तदा।
राज्ञो भीतेन सूदेन, शिशुर्व्यापाद्य संस्कृतः ॥२॥
भुञ्जानः पृष्टवान् राजा, मांसं स्वादिष्ठमद्य किम् ?
तेनाऽऽख्यातेऽभयं दत्त्वा, हत्वैकैकं पचेः सदा ॥३॥
तच्च ज्ञातं जनैः सर्वैः, ततो राक्षस इत्यसौ।
पाययित्वा महामद्य–मटव्यां छर्दितो नृपः॥४॥
तत्राप्येकाकिनं व्यापा–द्याश्नाति स च मानुषम्।
सार्थस्तत्राध्वनाऽगच्छत्, ज्ञातः सुप्तेन तेन न ॥५॥
आवश्यकं प्रकुर्वाणाः, दृष्टाश्च मुनयः स्थिताः।
शक्नोत्याक्रमितुं तान्न, ततश्चिन्तां प्रपन्नवान् ॥६॥
आचार्यैः कथितो धर्मः, प्रबुद्धः प्राव्रजत् ततः।
आचार्या ज्ञानिनोऽभूवन्, अभ्युद्यध्रे स तैस्ततः ॥७॥
भाषिणः कति तादृक्षाः, तद्रसज्ञाऽतिदुःखदा।
जेतव्याऽसौ प्रयत्नेन, दुर्जया मोहनीयवत् ॥८॥'' आ० क०। आ० म०। आ० चू०।

जिब्भिंदियनिग्गह पुं० (जिह्वेन्द्रियनिग्रह) ६ त०। जिह्वेन्द्रिय-स्यनिग्रहे, जिह्वेन्द्रियस्य स्वविषयाभिमुखमनुधावतो नियमने, उत्त०।

जिब्भिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? जिब्भिंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रसेसु रागद्दोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधेइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६५॥

हे भदन्तः ! जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण जीवः किं जनयति ? गुरुराहहे शिष्य ! जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण जीवो मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति, तत्प्रत्ययिकं रागद्वेषनिमित्तकं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं रागद्वेषोपार्जितं कर्म निर्जरयति क्षपयति। ॥६५॥ उत्त० २९ अ०।

जिब्भिंदियपडिसंलीणया स्त्री० (जिह्वेन्द्रियप्रतिसंलीनता) मनोज्ञामनोज्ञेष्वाहारेषु रागद्वेषपरिहाराऽऽत्मक आजीविकानां तपोभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ०।

जिब्भिंदियबल न० (जिह्वेन्द्रियबल) बलभेदे, स्था० १० ठा०।

जिब्भिंदियमुंड पुं० (जिह्वेन्द्रियमुण्ड) मुण्डभेदे, स्था० १० ठा०।

जिब्भिंदियसंवर पुं० (जिह्वेन्द्रियसंवर) रसनेन्द्रियसंवरणे स्था०।

तच्चैवम् –

चउत्थं जिब्भिंदिएण सातियरसाणि उ मणुण्णभद्दकाइं, किं ते? ओग्गाहिमविविहपाणभोयणगुलकयखंडकयतेल्ल-घयकयभक्खेसु बहुविहेसु लवणरससंजुत्तेसु महुमंस-बहुप्पकारमज्जियनिट्ठाणगदालियंबसेहंबदुद्धदहि-सरयमज्ज-वरवारुणीसीहुकापिसायणसायऽट्ठारसबहुप्पगारेसु भोयणेसु य मणुण्णवण्णगंधरसफासबहुदव्वसंभिएसु अण्णेसु य एववइएसु रसेसु मणुण्णभद्दएसु, न तेसु समणेणं सज्जियव्वं०

जाव न सतिं च मतिं च तत्थ कुज्जा, पुणरवि जिब्भिंदिएण सातियरसानि अमणुण्णपावकाइं, किं ते? अरसविरससीयलुक्खणिज्जप्पपाणभोयणाइं दोसण्णवावण्णकुहियपूइयअमणुण्णाविणट्ठपणुयबहु दुब्भिगंधियाइं तित्तकडुयकसायअंबिलर सलिंदनीरसाइं अण्णेसु य एवमाइएसु रसेसु अमणुण्णपावएसु न तेसु समणेण रुसियव्वं. जाव चरेज्ज धम्मं॥ प्रश्न० ५ सम्व० द्वार॥ (टीकाऽस्य 'रसगिद्ध' शब्दे)

जिब्भिया स्त्री० (जिह्विका) जिह्वा – कन् – टाप्। कृत्रिम-जिह्वायाम्, स०। शीतोदाया महानद्याः प्रपातमधिकृत्य- 'वइरामयाए जिब्भियाए'॥ वज्रमय्या जिह्विकया प्रणालस्थ-मकरमुखजिह्विकया। स०। ''रोहियंसा णामं महाणई जओ पवडइ, एत्थ णं महं एगा जिब्भिया पण्णत्ता।'' जं० ४ वक्ष०।

जिम धा० (भुज) भक्षणे, आत्म०। पालने, पर० सक० रुधादि० अनिट्। **''भुजो भुंजजिमजेमकम्माण्हसमाणचमढचड्डाः'' ।८।४।११०।** इति प्राकृतसूत्रेण भुजेर्जिमाऽऽदेशः। ''जिमइ –जेमइ'' प्रा० ४ पाद। भुङ्क्ते, अन्नम् अभौक्षीत्, भूमिं भुनक्ति पालयति। वाच०। 'जिमइ – जिम्मइ'। प्रा० ४ पाद।

जिम धा० भक्षणे, जेमति, अजेमीत्। वाच०।

जिमिय त्रि० (जिमित) कृतभोजने, विपा० ३ अ०। ''जिमिए भुत्तुत्तरागए''। जिमितो भुक्तवान्। भ० ३ श० १ उ०। ज्ञा०।

जिम्म त्रि० (जिह्म) हा–मन्–द्वित्वादि० नि०। **''पक्ष्मश्मष्म–स्मह्माम्०''॥८।२।७४॥** इत्यादिसूत्रेण म्हः क्वचिन्न भवति। प्रा० २ पाद। कुटिले, मन्दे, तरगवृक्षे च। वाच०।

''अजिम्मकंतणयणा'' अजिह्मे अमन्दे भद्रभावतया निर्विकारचपले कान्ते नयने यासां तास्तथा। जं० २ वक्ष०। स०। कौटिल्ये, न०। तदात्मके मायाकषायान्तर्गते मोहनीयकर्मभेदे च। स० ७४ सम०।

जिम्मजढ त्रि० (जिह्मसड) मायारहिते, ''जिम्मजडाइं ति विस्संभे।'' जिह्मजडानि जिह्मेन मायया रहितानि। व्य० ३ उ०।

जिम्मय पुं० (जिह्मक) मेघभेदे, स्था० ५ ठा०। ''जिम्हेणं महामेहे बहुवासेहिं एगं वासं भावेइ वा, ण त्ता भावेइ।'' जिह्मस्तु बहुभिर्वर्षणैरेकमेव वर्षमब्दं यावद् भुवं भावयति, नैव वा भावयति, रुक्षत्वात्तज्जलस्येति। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

जिम्भ त्रि० (जिह्म) 'जिम्म' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद।

जिम्मजढ त्रि० (जिह्मजड) ''जिम्मजढ'' शब्दार्थे, व्य० ३ उ०।

जिम्मय पुं० (जिह्मक) 'जिम्मय' शब्दार्थे, स्था० ५ ठा०।

जिम्ह त्रि० (जिह्म) 'जिम्म' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद।

जिम्हजढ त्रि० (जिह्मजड) 'जिम्मजढ' शब्दार्थे, व्य० ३ उ०।

जिम्हय पुं० (जिह्मक) 'जिम्मय' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

जिय न० (जित) जि–भावे–क्तः। जये, कर्मणि क्तः। अभिभूते, सूत्रा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। पराजिते, ग० २ अधि०। जयलब्धे, वशीकृते, आयत्तीकृते च। त्रि०। वाच०। बृ०। सूत्रा०। उत्त०। परावर्तनकाले, प्रश्नोत्तरकाले, शीघ्रमागच्छति, अनु०।

सूत्राऽऽदौ परावर्तनं कुर्वतः परेण वा क्वचित्पृष्टस्य सतः यत् शीघ्रमाभणति तज्जितम्। अनु०। विशे०। ग०। ''जियं नामजत्थ पुच्छिओ तत्थ झगिति भणइ।'' पं० चू०।

जियंतय न० (जीवत्) हरितवनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

जियंती स्त्री० (जीवन्ती) वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

जियकरण पुं० (जितकरण) करणदक्षे, ''जियकरणविणीएँ एगत्थे।'' जितकरणो विनीत इति द्वावप्येकार्थौ तात्पर्यविश्रान्त्या; शब्दार्थस्तु परस्परं भिन्नो; जितकरणो नाम – करणदक्ष उच्यते, विनीत इति विनयकरणशीलः। व्य० ३ उ०।

जियकसाय त्रि० (जितकषाय) निगृहीतक्रोधाऽऽदिभावे, पञ्चा० १७ विव०। ''तिलोगपुज्जे जिणे जियकसाए।'' जितकषायान् निराकृताक्रोधाऽऽदिभावान्। पञ्चा० १० विव०।

जियकोह त्रि० (जितक्रोध) अभिभूतकोपे, द्वा० १२ द्वा०। विफलीकृतोदितक्रोधे, औ०। ''जितेन्द्रिया जितक्रोधाः दुर्गाण्यतितरन्ति ते।'' द्वा० १२ द्वा०।

जियक्ख त्रि० (जिताक्ष) जितेन्द्रिये, ''विणयकुसलो जियक्खगम्भीरो।'' दर्श० ५ तत्त्व। पञ्चा०।

जियणिद्द त्रि० (जितनिद्र) जिता निद्रा आलस्यं येन य जित-निद्रः। त्यक्ताऽऽलस्ये, जं० ३ वक्ष०। औ०। अल्पनिद्रे, ग० १ अधि०। स हि रात्रौ सूत्रार्थं वा परिभावयन् न निद्रया बाध्यते। प्रव० ६४ द्वार। अप्रमत्ते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

जियणिद्दिंदिय त्रि० (जितनिद्रेन्द्रिय) जितानि वशीकृतानि निद्रा इन्द्रियाणि यैस्ते जितनिद्रेन्द्रियाः। वशीकृतनिद्रेन्द्रिये, बृ० १ उ०।

जियपरिसा त्रि० (जितपरिषत्) महत्यामपि परिषदि क्षोभमनु पयाते, प्रव० ६४ द्वार। ग०। आचा०। स०।

जियपरीसम त्रि० (जितपरिश्रम) परिश्रमरहिते, कल्प० १ क्षण।

जियपरीसह त्रि० (जितपरीषह) जिताः पराजिताः परिषहाः शीतोष्णरूपा येन स जितपरिषहः। ग० ३ अधि०। औ०। शीताऽऽतपाऽऽद्यातुरत्वेऽप्यखिन्ने, जं० ३ वक्ष०।

जियप्पा पुं० (जिताऽऽत्मन्) आत्मनो जेतरि, सूत्र०।

तथा चोक्तम् –

''कोहं माणं य मायं च, लोभं पंचिंदियाणि य।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं॥१॥
जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जये जिणे।
एक्कं जिणेज्ज अप्पाणं, एसे से परमो जओ।'' ॥२॥

सूत्र० १ श्रु० २ अ०।

जियभय त्रि० (जितभय) अभये, ल०।

जियमाण त्रि० (जितमान) विफलीकृतमाने, औ०।

जियरागदोस त्रि० (जितरागद्वेष) रागद्वेषरहिते, ''जिणेहिं जियरागदोसेहिं।'' जितरागद्वेषैर्विगतासत्यवादकारणैः। पञ्चा० ६ विव०।

जियलोह त्रि० (जितलोभ) विफलीकृतलोभे, औ०।

जियवं त्रि० (जितवत्) प्राप्तजये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

जियसत्तु पुं० (जितशत्रु) पराजितशत्रौ, ''जितसत्तू पवरराय-सीहा।'' प्रश्न० ४ संव० द्वार। अजितजिनस्य पितरि, प्रव० १२ द्वार। आव०। स०। ''विजया जियसत्तुपुत्तस्स।'' ति०। वाणिज्यग्रामवास्तव्ये नृपे, ''तत्थ णं वाणियग्गामे जियसत्तू राया।'' उपा० १ अ०। चम्पानगरीवास्तव्ये नृपे, ''चंपा नामं नयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए, जियसत्तू राया।'' उपा० १ अ०। छत्रानगरी वास्तव्ये नृपे, आ० म० प्र०। वसन्तपुरस्थे नृपे, ''वसंतपुरे नयरे जियसत्तू राया।'' आ० म० द्वि०। वीतशोकानगरी वास्तव्ये नृपे, आ० चू०। ''वीयसोगा नगरी, जियसत्तू नाम राया।'' आ० चू० २ अ०। आ० म०। उज्जयिनीनगरीवास्तव्ये नृपे, उत्त० २ अ०। सर्वतोभद्रनगरस्थे नृपे, ''सव्वओभद्दे णयरे जियसत्तूणामं राया होत्था।'' विपा० १ श्रु० ५ अ०। मथुरानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, आ० म० द्वि०। मिथिलानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, जं० १ वक्ष०। मिथिलायां नगर्यां जितशत्रुर्नाम राजा। सु० प्र० १ पाहु०। मल्लिजिनेन सह प्रव्रजिते पाञ्चालदेशस्थे काम्पिल्यनगरनायके राजनि, स्था०। ''जिय सत्तू पञ्चालराया।'' जितशत्रुर्नाम पाञ्चालजनपदराजः काम्पिल्यनगरनायकः। स्था० ६ ठा०। ज्ञा०। भविष्यति स्वनामख्याते दत्तस्य राज्ञः सुते च। ती०। ''दत्तो य राया बावत्तरिवासाओ पइदिणं जिणचेइमंमिअं महिं काही, लोगं च सुहिअं काही ति, दत्तस्स पुत्तो जियसत्तू, तस्स वि स मेघघोसो कक्की, अणंतरं महानिसीहं न वट्टिस्सइ।'' ती० २० कल्प०।

जियसेण पुं० (जितसेन) श्रावस्तीवास्तव्ये स्वनामख्याते आचार्ये, आव० ४ अ०। सुमतिजिनसमकालिके स्वनामख्याते चक्रवर्तिनि, ति०। कौशाम्बीवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, आ० क०। ''कौशाम्बीत्यस्ति पूस्तत्र, जितसेनो महीपतिः।'' आ० क०। भरतवर्षस्थे अतीतायामुत्सर्पिण्यां स्वनामख्याते कुलकरे, स०।

जियसेलेस पुं० (जितशैलेश) मेरोरपि निष्प्रकम्पतरे, आव० १ अ०।

जियारि पुं० (जितारि) संभवजिनस्य पितरि, आव० १ अ०। प्रव०। स०। ''सेनाए जियारितणयस्स।'' ति०। उज्जयिनीनगर वास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, ''उज्जयिन्यस्ति पूः सर्वपुरामुज्जयिनी श्रिया। तस्यां वश्यान्तरङ्गारिर्जितारिः पृथिवीपतिः॥१॥'' आ० क०।

जिह अव्य० (यथा) सादृश्ये, येनप्रकारेणेत्यर्थे च। **''कथंयथातथां थादेरेमेमेहेघा डितः''॥८।४।४०१॥** प्रा० ४ पाद।

जी स्त्री० (जीर्) जरायां, दुर्गतौ च। जृशब्दो जरायां दुर्गतावपि। जीरेफान्तस्तदर्थः। स्त्री०। एका०।

जीमूय पुं० (जीमूत) ज्या – क्विप् जीः। तया जरया मूतो बद्धः। 'मु' बन्धने क्तः। जयति नभः, जीयते वायुना वा जि–क–मुट् दीर्घश्च वा। मेघे, वाच०। प्रा०। रा०। जं०। स्था०। जी०। मेघविशेषे च। ''जीमूएणं महामेहे एगेणं वासेणं दसवासाइं भावेइ।'' स्था० ४ ठा० ४ उ०। मुस्तके, पर्वते, धृतकरे, देवतावृक्षे, इन्द्रे, कोशातकीलतायाम्, वाच०।

जीय न० (जीत) आचरिते, ''जीयमिणं आणाओ।'' पञ्चा० १५ विव०। स्था०। जीत०। आ० म०। आचारे, कल्प० ७ क्षण। ''अप्पेगइया जीयमेयं ति''। जीतमेतत् कल्प एव इति कृत्वा। रा०। ''कुच्छिंसी गब्भत्ताएऽवक्कंते तं जीयमेयं तीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं''। जीतमेतत् आचार एष इत्यर्थः। कल्प० २ क्षण। सर्वोनुचीर्णे, विशे०। अथ जीतमिति कोऽर्थ इत्यत आह – ''बहुजणमाइण्णं पुण, जीयं उचियं ति एगट्ठं।'' बहु भिर्जनैर्गीतार्थैराचीर्ण बहुजनाऽऽचीर्णमिति वा, उचितामिति वा एकार्थम्। किमुक्तं भवति ? बहुजनाऽऽचीर्णं नाम जीतमिति। व्य० १ उ०। प्रभूतानेकगीतार्थकृतायां मर्यादायाम्, उपचारात्तत्प्रतिपादके ग्रन्थे च। जीतं नाम–प्रभूतानेकगीतार्थ कृता मर्यादा, तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽप्युपचाराज्जीतम्। व्य० १ उ०। मर्यादाकारणे सूत्रे च। जीतमिति सूत्रमुच्यते, जीतं स्थितिः, कल्पो मर्यादा, व्यवस्थेति हि पर्यायाः। मर्यादाकारणं च सूत्रमुच्यते। नं०।

***जीव** पुं० प्राणधारणे, प्राणिनि च। जी०। ''जीयन्त्स विसोहणं परमं।'' 'जीव' प्राणधारणे, जीवति, जिजीव, जीविष्यतीत्युपयोगलक्षणत्वेन त्रिकालमपि जीवनाज्जीवस्तस्य विशेषेण शोधनम्। जी० १ प्रति०।

***जीवित** नं० **''यावत्तावज्जीविताऽऽवर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवेदः।'' ॥८।१।२७१॥** इति प्राकृतसूत्रेण सस्वरस्य वकारस्यान्तर्वर्तमानस्य लुग् वा। प्रा० १ पाद। जीविते, ''जीयकामत्थधम्महेउं।'' जीवश्च जीवितं जीतं वा। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। जीवितमिव जीवितम्। श्रुते, मर्यादायां च। विशे०। **एएहिं कारणेहिं, जीयं ति कयं गणहरेहिं ॥१११३॥**

(जीयं ति) जीवितं श्रुतं द्वादशाङ्गम्। अयमत्राभिप्रायः यथा जीवस्य जीवितमात्रं न कदाचिद् व्यवच्छिद्यते, तथा अव्यवच्छित्तिनयाभिप्रायतः श्रुतमपि न कदाचिद् व्यवच्छिद्यते, ततो जीवितमिव जीवितं श्रुतमुच्यते, तद्गणधरैः सुखग्रहणाऽऽदिकारणेभ्यः कृतम्। अथवा–न सुखाऽऽदिकारणेभ्य एव किं तर्हि? (जीयं ति) जीवितं मर्यादा, ततश्च गणधराणां जीवितं धर्मो मर्यादैवेयं यदुत तन्नामकर्मोदयतस्तत्स्वाभाव्यात् कर्तव्यमेव तैः श्रुतविरचनम्। अथवा – (जीयं ति) जीवितमाचरितम्। कल्प –एवायं सर्वगणधराणां यत्नैः संदर्भणीयमेव श्रुतम्। विशे०।

होइ सुहं जीयं पि य, कायव्वमिदं जओऽवस्सं ॥१११६॥
सव्वेहिं गणहरेहिं, जीयं ति सुयं जओ न वोच्छिन्नं।
गणहरमज्जाया वा, जीयं सव्वाणुचिन्नं वा ॥१११७॥

(जीयं पि य त्ति) जीवितं श्रुतम् अथवा–जीवितं मर्यादा, यदि वा–जीतं सर्वानुचीर्णम्। कोऽर्थः? इति। आह–''कायव्वं'' इत्यादि। कर्तव्यमिदं, यतोऽवश्यं सर्वैर्गणधरैरित्युत्तरगाथायां संबन्धः। ततो जीवितं द्वादशाङ्गं श्रुतं, मर्यादा, सर्वगणधराऽऽचीर्णं वेदमिति कृत्वा कृतं ग्रथितं गणधरैरिति, तदेव 'जीयं' इति शब्दार्थत्रयं भवतीति ताँस्त्रीनप्यर्थान् तस्य दर्शयति – ''जीयं ति सुयं'' इत्यादि। विशे०। आ० म०।

जीयकप्प पुं० (जीतकल्प) जीतेनावश्यंभावेन कल्प आचारो जीतकल्पः। कल्प० ५ क्षण। पूर्वपुरुषाचरितलक्षणे आचारे, पञ्चा० ६ विव०। तदात्मके कल्पभेदे, पं० भा०। स चानुज्ञाकल्पस्य गौणं नामान्तरं, तथा च पञ्चकल्पभाष्येऽनुज्ञाकल्पस्य विंशतिनामधेयान्यधिकृत्य–

''तित्थकरेहिं कयमिणं, गणधारीणं तु तेहि सीसाणुं। तत्तो परंपरेणं, आइण्णं तेण जीयं तु ॥१॥'' पं०भा०। जीतकल्प आचरितकल्पो जिनप्रतिबोधनलक्षणः। स्था० १० ठा०। जीतमाचरितं, तस्य कल्पो वर्णना प्ररूपणा जीतकल्पः। आचारवर्णने, तत्प्रतिपादके जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणरचिते छेदश्रुतविशेषे च। जीत०।

इय एस जीयकप्पो, समासओ सुविहियाणुकंपाए।
कहिओ देयमयं पुण, पत्ते सुपरिच्छियगुणम्मि ॥१७३॥

इत्यमुना प्रकारेणाऽऽद्यगाथापञ्चकेन शास्त्रप्रस्तावनामभिधाय चतसृभिर्गाथाभिराद्यस्य, चतसृभिर्द्वितीयस्य, तिसृभिस्तृतीयस्य, द्वाभ्यां चतुर्थस्य, पञ्चभिः पञ्चमस्य, ''उद्देसऽज्झयणेसुं, खंधंगेसु कमसो पमायस्स।'' इति गाथातः प्रारभ्य ''झोसिज्जइ सुबहुं पि हु।'' इति गाथापर्यन्तीकृत्याष्टपञ्चाशद्भिर्गाथाभिर्ज्ञानाऽऽचाराऽऽदिपञ्चकातिचारगोचरस्य षष्ठस्य तिसृभिः सप्तमस्य चतसृभिरष्टमस्य सप्तभिर्नवमस्य नवभिर्दशमस्य प्रायश्चित्तस्य व्याख्यानेन एष सर्वसमुदायाऽऽत्मको जीतकल्पः, जीतमाचरितं, तस्य कल्पो वर्णना प्ररूपणा, समासतः संक्षेपतः सुविहितानुकम्पया, शोभनं विहितमनुष्ठानं येषां ते सुविहितास्तेषामनुकम्पया कथितः प्ररूपितः, देयः पुनरयं पात्रे सुपरीक्षितगुणे जात्यकाञ्चनवत्तापच्छेदनिकषसहे संविज्ञे गीतार्थे, न पुनरन्यस्मिन् येन जीतकल्पदायकग्राहकौ द्वावपि कर्मनिर्जरिया शुद्ध्यतः सिद्ध्यतश्चेति। जीत०। तथा च जीतकल्पवृत्तौ, तिलकाऽऽचार्यः– ''इति नुतिकृत्यकृतः श्रुत रहस्यकल्पस्य जीतकल्पस्य। विवरणलवं करिष्ये, स्वस्मृतिबीजप्रबोधाय ॥६॥'' इह निशीथकल्पव्यवहाराऽऽदीनि भूयांसि छेदश्रुतानि, तेषु चातिविस्तरेण प्रायश्चितान्यभिधीयन्ते, प्रतिदिनं च कल्पं तदवगाहसामर्थ्यं प्रतिग्रन्थं नानाऽतिचारा-नाश्रित्य पुरुषाद्यौचित्ये न काऽपि क्वाप्युपपत्तिरुच्यते। ततः किं कुत्र दानं दीयते ? कथमात्मनः परस्य वा शुद्धिर्भवति ? इति व्यामुह्यन्त्यन्तेवासिनोऽतस्तेषां सुखेन प्रायश्चित्तविधिप्रतिपत्तये पूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः समस्तच्छेदग्रन्थानामुपनिषत्कल्पं तदपेक्षयाऽत्यल्पं जीतकल्पं कृतवान्। परं द्विधा विनेयाः– योग्याः, अयोग्याश्च। तत्र योग्याः ये रङ्गत्संवेगतरङ्गिणीतरङ्गप्रक्षालितान्तरमलाः परिमलितबुद्धयः समस्तसिद्धान्तमहार्णवपारीणाः परिणतवयसः सार्वपथीनप्रतिभाप्राग्भारसारचेतसः सततमुत्सर्गापवादगोचराऽऽचारचतुराशिचरप्रव्रजिताः। ये त्वेत द्विपरीतास्तिन्तिणिकाऽऽदयश्च ते अयोग्याः। यदुक्तम् – ''तिंतिणए चलचित्ते, गाणंगणिए य दुब्बलचरित्ते। आयरियपरिभासी, वामावट्टे य पिसुणे य'' ॥१॥ इति। तिन्तिणिका मुहुर्मन्दमन्दस्वरभाषणशीलाः गाणङ्गणिका ये षण्मासादन्तर्गयाणाद् गणं संक्रामन्ति, एतेषामयं न दातव्यः। यतः– ''आमे घडे निहत्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ। इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ ॥१॥'' अतो योग्यानामेव दातव्यः। जीत०।

जीयकप्पिय पुं० (जीतकल्पिक) जीतेनावश्यंभावेन कल्प आचारो जीतकल्पः, सोऽस्ति यस्य स जीतकल्पिकः। कल्प० ५ क्षण। जीतकल्प आचरितकल्पो जिनप्रतिबोधनलक्षणो विद्यते यस्य स जीतकल्पिकः। जीतकल्पवति, स्था० १ ठा०।

जीयधर त्रि० (जीतधर) सूत्राधरे, आर्यगोत्रोत्पन्ने शाण्डिल्यशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये च। जी०। ''संडिल्लं अज्जजीयधरं।'' आरात्सर्वहेयधर्मेभ्योऽर्वाग् यातमार्यम्। जीतमिति सूत्रमुच्यते। जीतं, स्थितिः, कल्पो, मर्यादा, व्यवस्था इति हि पर्यायाः। मर्यादाकारणं च सूत्रमुच्यते। तथा 'धृञ्' धारणे। ध्रियते, धारयतीति धरः। ''लिहाऽऽदिभ्यः'' ॥५।१।५०॥ इत्यच् प्रत्ययः। आर्यजीतस्य धर आर्यजीतधरः, तुम्। अन्ये तु व्याचक्षतेशाण्डिल्यस्यापि शिष्य आर्यगोत्रो जीतधरनामा सूरिरासीत्, तं वन्दे इति। नं.।

जीयलक्खण न० (जीवलक्षण) जीवस्याऽऽत्मनो, लक्षणं–लक्ष्यते ज्ञायते यदन्यव्यवच्छेदेनेति तल्लक्षणम्, असाधारणं स्वरूपं, जीवलक्षणम्। जीवस्यासाधारणे स्वरूपे, कर्म०। तच्च ज्ञानाऽऽदिकं उपयोगः, अत एवोक्तमन्यत्र – 'उपयोगलक्षणो जीवः'' इति। कर्म० ४ कर्म०।

जीयवं त्रि० (जीवितवत्) प्राणिनी, ''वप्प! ताय! जीयवं'' जीवितवन्!, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

जीयववहार पुं० (जीतव्यवहार) द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषप्रतिसेवाऽनुवृत्त्या संहननवृत्त्यादिपरिहाणिमवेक्ष्य यत्प्रायश्चित्तदानं, यो वा यत्र गच्छे सूत्रातिरिक्तकारणतः प्रायश्चित्तव्यवहार-प्रवर्तितो बहुभिरन्यैश्चानुवर्तितं तज्जीतम्। स्था० ५ ठा० २ उ०। भ०। जीतं श्रुतोक्तादपि हीनमधिकं वा परम्परयाऽऽचीर्णं, तेन व्यवहारो जीतव्यवहारः। ध० २ अधि०। व्यवहारभेदे, ''जीए य पंचमए।'' जीतं गीतार्थसंविग्नप्रवर्तितशुद्धव्यवहारः। पञ्चा० १६ विव०।

तथा च –

कयपवयणप्पणामो, वुच्छं पच्छित्तदाणसंखेवं।
जीयव्ववहारगयं, जीयस्स विसोहणं परमं ॥१॥

प्रकर्षेण परसमयाद् यथावस्थितभूरिभेदप्रभेदैरुच्यन्ते जीवाजीवाऽऽदयः पदार्था अनेनास्मिन्निति वा प्रवचनम् –सामायिकाऽऽदिबिन्दुसारपर्यन्तं मुख्यतः श्रुतज्ञानम् उपचारात् तत्रोपयुक्तश्चतुर्विधः सङ्घोऽपिः, कृतः प्रवचनस्य प्रणामो येन स कृतप्रवचनप्रणामोऽहं, वक्ष्ये प्रायश्चित्तदानसंक्षेपम्, पापं छिनत्तीति पापच्छित्। अथवा–प्रायश्चित्तम् – जीवं, मनो, वाऽतीचारमलमलिनितं शोधयतीति प्रायश्चित्तम्। आर्षत्वात् प्राकृतेन 'पच्छित्तं'। उक्तं च – 'पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तंति भन्नए तम्हा। पाएण वा वि चित्तं, सोहेई तेण पच्छित्तं'' ॥१॥ तस्य दानं, तस्य संक्षेपः सङ्ग्रहस्तं, जीतव्यवहारकृतम्, जीतव्यवहारः– ''वत्तऽणुवत्तपवत्तो,'' इत्यग्रेतनगाथयैव वक्ष्यमाणलक्षणः, तेन कृतमुपदिष्टं, जीतव्यवहारगतं वा जीतव्यवहारात् प्रविष्टम् जीवस्य, ''जीव प्राणधारणे'' जीवति, जिजीव, जीविष्यतीत्युपयोगलक्षणत्वेन त्रिकालमपि जीवनाज्जीवः, तस्य, विशेषेण शोधनम्! विशेषश्चायम्– द्विजाऽऽदयोऽपि स्थूलबुद्धयः क्वापि प्राणिवधादौ सामान्येन प्रायश्चित्तं ददति, न पुनः संघट्टनपरितापनोपद्रवाऽऽदिभेदैः सर्वेषामेकेन्द्रियाऽऽदित्रस पर्यन्तानां विषयभेदेन प्रायश्चित्तं दातुं जानन्ति। न ह्ययमुपदेशस्तदीयशास्त्रेष्वस्ति। इह पुनः प्रवचने सर्वमस्ति। अत एव यथोपलसक्षारारिष्टकोदकाऽऽदिभिर्वस्त्रमलस्य शोधनं, तथाऽत्रापि कर्ममलमलिनस्य जीवस्य जीतव्यवहारोपदिष्टं विशोधनम्; परमं– प्रकृष्टम्, अनन्यसदृशम्, नान्यत्रैवंविशिष्टः प्रायश्चित्तविधिरस्तीत्यर्थः।

इह शिष्यः प्राह – विशेषणं हि व्यवच्छेदकं भवति, यथा नीलोत्पलमित्यत्र नीलविशेषणं, उत्पलशब्दस्य रक्तोत्पलाऽऽदिभिरपि सामानाधिकरण्ये संभवति तद्व्यवच्छेदाय, तत् किमत्राप्यन्येऽपि व्यवहाराः सन्ति, येन जीतव्यवहारगतमिति विशेष्ये? गुरुराह – सन्त्यन्येऽप्यागमश्रुताऽऽज्ञाधारणा व्यवहाराख्याश्चत्वारो व्यवहाराः, तद्व्यवच्छेदायेह जीतपदम्। जीत०। येष्वपराधेषु पूर्वमहर्षयो बहुना तपः प्रकारेण शुद्धिं कृतवन्तः, तेष्वपराधेषु सांप्रतं द्रव्यक्षेत्रकालभावान् विचिन्त्य संहननाऽऽदीनां च हानिमासाद्य तदुचितेन केनचित्तपःप्रकारेण यां गीतार्थाः शुद्धिं निर्दिशन्ति, तत् समयपरिभाषया जीतमुच्यते। अथवा यत्र गच्छे सूत्रातिरिक्तं न्यूनं वा कारणतः प्रायश्चित्तं प्रवर्तितं तद् जीतं, तस्य व्यवहारो जीतव्यवहारः।

स चायम् –

''वत्तऽणुवत्तपवत्तो, बहुसो आसेविओ महजणेणं।
एसो हु जीयकप्पो, पंचमओ होइ नायव्वो ॥१॥''

वृत्तं पात्रबन्धग्रन्थिदानाऽऽदिक एकदा एकेन वा जातः, ततोऽनुवृत्तं पुरुषान्तरं यावत्, ततः प्रवृत्तं पुरुषप्रवाहेन अतर एव बहुश आसेवितो महाजनेन। बहुश्रुतनिर्वहने भाष्यकृताऽप्युक्तम्–

''वत्तो नामं एक्कसि, अणुवत्तो जो पुणो वितियवारं।
तइयव्वारे पॅवत्तो, सुपरिग्गहिओ महजणेणं ॥१॥
बहुसो बहुस्सुएहिं, जो वत्तो न य निवारिओ होइ।
वत्तऽणुवत्तपमाणं, जीएण कयं हवइ एयं ॥६८२॥''

एष जीतकल्पः पञ्चमो व्यवहारो भवति ज्ञातव्यः। जीत०। प्रव०। व्य०।

व्यवहारकल्पे जीतव्यवहारं दर्शयति –

ददुरमादिसु कल्ला – णयं तु विगलिंदिएसुऽभत्तट्ठो।
परियावर्णे एतेसिं, चउत्थमायंबिला हुंति ॥१०॥

दर्दुरो मण्डूकः, तदादिषु तत्प्रभृतिषु, मकारोऽलाक्षणिकः, प्राकृतत्वात्। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु, जीविताद् व्यपरोपितेष्विति शेषः। कल्याणकं त्विति। तुशब्दो विशेषणार्थः। स चैतद्विशिन–ष्टिपञ्चकल्याणप्रायश्चित्तं (विगलिंदिएसुऽभत्तट्ठो इति) विकलान्यसंपूर्णानि इन्द्रियाणि येषां ते विकलेन्द्रियाः–एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः, तत्र – ''व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः'' इत्येकेन्द्रिया अनन्तवनस्पतिकायिका द्रष्टव्याः। तेषु अभक्तार्थ एव–उपवासः प्रायश्चितम्। (परियावर्णे एतेसिं इत्यादि) एतेषां दर्दुरादीनां परितापनायां यथासंख्यं चतुर्थाऽऽचामाम्ले प्रायश्चित्ते भवतः। इयमत्र भावना–यदि दर्दुराऽऽदीन् तिर्यक् पञ्चेन्द्रियान् गाढं परितापयति, ततोऽभक्तार्थः प्रायश्चित्तम्। अथ विकलेन्द्रियान् अनन्तवनस्पतिकायप्रभृतीन् गाढं परिता पयति, तत आचामाम्लम्। उपलक्षणमेतत्, तेनैतदपि जीत व्यवहारानुगतमवसेयम् यदि दर्दुरप्रभृतीन् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनाक् संघट्टयति, तत एकाशनकम्, अथाऽऽगाढं परितापयति, तत आचामाम्लम्; तथा अनन्तवनस्पतिकायिक चतुरिन्द्रियाणां संघट्टने पूर्वार्द्धम्, एतेषामेवानागाढपरितापने एकाशनं, तथा पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतीनां संघट्टने निर्विकृतिकम्, अनागाढपरितापने पुरिमार्द्धम्, आगाढपरितापने एकाशनं, जीविताद् व्यपरोपणे आचामाम्लम्॥

इत इदमपि जीतमेवेति दर्शयति –

अपरिण्णा कालाऽसु, अ पडिक्कंतस्स निव्विगइयं तु।
निव्वीतिय पुरिमड्ढो, अंवलि खवणा य आवासे ॥११॥

अपरिज्ञा प्रत्याख्यानपरिज्ञाया अग्रहणं, गृहीताया वा भङ्गः । सूत्रे विभक्तिलोपः, आर्षत्वात्। तथा कालाऽऽदिषु प्रतिक्रामतो व्यावर्तमानस्य प्रायश्चित्तं निर्विकृतिकम्। किमुक्तं भवति ? यदि नमस्कारपौरुष्यादि दिवसप्रत्याख्यानं न गृह्णाति, गृहीत्वा वा विराधयति, तथा स्वाध्यायं प्रस्थाप्य यदि कालस्य न प्रतिक्रामति, न कालप्रतिक्रमणनिमित्तं कायोत्सर्गं करोति । आदिशब्दात् तु येषु स्थानेषु ईर्यापथिकया प्रतिक्रमितव्यं, तेषु चेत्तथा न प्रतिक्रामति, तर्हि प्रायश्चित्तं निर्विकृतिकमिति। तथा (निव्वीतिय इत्यादि) 'आवासे' आवश्यके एकाऽऽदिका –योत्सर्गाकरणे, सर्वाऽऽवश्यकाकरणे च यथासंख्यं निर्विकृतिक–पूर्वार्द्धाऽऽचामाम्लक्षणानि । इयमत्र भावना–आवश्यके यद्येकं कायोत्सर्गं न करोति ततः प्रायश्चित्तं निर्विकृतिकं कायोत्सर्गद्वयाकरणे पूर्वार्द्धम्, त्रयाणामपि कायोत्सर्गकरणानामकरणे आचाम्लम् सर्वस्यापि चाऽऽवश्यकस्याकरणेऽभक्तार्थमिति ॥११॥

जं जस्स व पच्छित्तं, आयरियपरंपराएँ अविरुद्धं ।
जोगा य बहुविगप्पा, एसो खलु जीयकप्पो उ ॥१२॥

यत्प्रायश्चित्तं यस्याऽऽचार्यस्य गच्छे आचार्यपरम्पराऽऽगतत्वेना-विरुद्धं,न पूर्वपुरुषमर्यादाऽतिक्रमेण विरोधभाक्। यथाऽन्येषामाचार्याणां नमस्कारपौरुष्यादिप्रत्याख्यानस्याकरणे, कृतस्य वा भङ्गे प्रायश्चित्तमाचाम्लम्, तथाऽऽवश्यकतैककायोत्सर्गाकरणे पूर्वार्द्धं, कायोत्सर्गद्वयाकरणे एकाशनकमित्यादि । तथा ये योगा उपधानानि बहुविकल्पा गच्छभेदेन बहुभेदाः, आचार्यपरम्पराऽऽगतत्वेन चाविरुद्धाः, यथा नागिलकुलवंशवर्तिनां साधूनामाचारादारभ्य यावद-नुत्तरोपपातिकदशाः, तावन्नास्ति आचाम्लं, केवलं निर्विकृति-केन ते पठन्ति, आचार्यनुज्ञाताश्च विधिना कायोत्सर्गं कृत्वा विकृतीः, परिभुञ्जतेः तथा कल्पव्यवहारयोः, चन्द्रप्रज्ञप्तिसूर्य प्रज्ञप्त्योश्च केचिदागाढं योगं प्रतिपन्नाः, अपरे त्वनागाढमिति। (एसो खलु जीयकप्पो उ इति) एष सर्वोऽपि खलु गच्छभेदेन प्रायश्चित्तभेदो, योगभेदश्चा-ऽऽचार्यपरम्पराऽऽगतो जीतव्यव-हारो वेदितव्यः। व्य० १ उ० १ द्वार।

अथ कोऽसौ जीतव्यवहारं प्रयुञ्जीतेत्यत आह –

जो आगमे य सुत्ते, य सुण्णत्ते आण–धारणाए य ।
सो ववहारं जीए–ण कुणइ वत्ताणुवत्तेण ॥६७३॥

य आगमेन, सूत्रेण च, गाथायां सप्तमी प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे। तथा आज्ञया, धारणया च शून्यो रहितः, स जीतेन वृत्तानुवृत्तेन । अस्य व्याख्यानं प्राग्वत्। व्यवहारं करोति।

वृत्तानुवृत्तत्वमेव भावयति –

अमुतो अमुतत्थ कतो, जह अमुतस्स अमुतेण ववहारो।
अमुतस्स वि य तध कतो, अमुतो अमुतेण ववहारो ॥६७४॥
तं चेवऽणुमज्जंतो, ववहारविहिं पउंजति जहुत्तं।
जीएण एस भणितो, ववहारो धीरपुरिसेहिं ॥६७५॥

अमुको व्यवहारोऽमुके कारणे समुत्पन्नेऽमुकस्य पुरुषस्यामु-केनाऽऽचार्येण यथा कृतः; एतेन वृत्तत्वं भावितं, तथैवामुकस्य यादृशे एव कारणेऽमुकेनाऽऽचार्येणामुको व्यवहारः, कृतः, एतेना-नुवृत्त्वमुपदर्शितं; तमेव वृत्ता नुवृत्तं जीतमनुमज्जन् आश्रयन् यथोक्तं व्यवहारविधिं यत्प्रयुङ्क्ते एष जीतेन व्यवहारो धीरपुरुषैर्भणितः।

धीरपुरिसपण्णत्तो, पंचमतो आगमो वि हु पसत्थो ।
पियधम्मऽवज्जभीरू–पुरिसज्जायाणुचिण्णो य ॥६७६॥

एष पञ्चमको जीतव्यवहारो धीरपुरुषप्रज्ञप्तः तीर्थकरगणधरैः प्ररूपित आगमः पञ्चविधः, व्यवहारसूत्राऽऽत्मकतया श्रुतज्ञानविदश्चतुर्दश-पूर्विणः, तैः कालं प्रतीत्य प्रशस्तः प्रशंसितः, तथा प्रियधर्मभिरवद्य-भीरुभिः पुरुषजातैः अनुचीर्णः, तस्मात्सत्यतया प्रत्येतव्यः, अर्थतः सूत्रतश्च यथाक्रमं तीर्थकरगणधरैरभिहितत्वात्। तथाहि – ''पंचविहे ववहारे पण्णत्ते।'' इत्यस्य सूत्रस्यार्थस्तीर्थकरैर्भाषितो, गणधरैश्च-श्रद्धाय सूत्रीकृतः, अत एवोत्तमैः पुरुषजातैराचीर्णः ततः कथमत्र न प्रत्ययः? इति।

अधुना जीतव्यवहारनिदर्शनमाह –

जो जध कालाऽऽदीणं, अपडिक्कंतस्स णिव्विगइयं तु ।
मुहणंतफिडिय पाणग – ऽसंवरणे एवमादीसु ॥६७७॥

स जीतव्यवहारो, यथेत्युदाहरणमात्रोपदर्शने, कालादिभ्यः, आदिशब्दात् स्वाध्यायऽऽदिपरिग्रहः । अप्रतिक्रान्तस्य। गाथायां षष्ठी पञ्चम्यर्थे। मुखानन्तिके मुखपोत्तिकायां, स्फिटितायां, मुखपोत्ति-कामन्तरेण इत्यर्थः। तथा पानकस्यासंवरणे पानाऽऽहारप्रत्याख्यान-करणे निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तम्।

एगिंदिऽणंतवज्जे, घट्टणतावेऽणगाढऽऽगाढे य ।
णिव्वीतिगमादीयं, जा आयामंत उद्दवणे ॥६७८॥

एकेन्द्रियस्यानन्तकायिकवर्जस्य, पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येक –वनस्प-तीनामित्यर्थः। घट्टने अनागाढे, तापने आगाढे च, निर्विकृतिकाऽऽदिकं, यावदाचाम्लमपद्रावणे जीविताद् व्यपरोपणे । इयमत्र भावना– पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजस्कायिकवायुवन स्पतीनां घट्टने निर्विकृतिकम्, अनगाढापरितापने पुरिमार्द्धम्, आगाढपरितापने एकाशनम् – अपद्रावणे आचामाम्लमिति।

विगलिंदियघट्टणता–वऽणगाढऽऽगाढे तहेव उद्दवणे ।
पुरिमड्ढातिकमेणं, नेयव्वं जाव खवणं तु ॥६७९॥
पंचिंदियघट्टणता – वऽणगाढाऽऽगाढे तहेव उद्दवणे ।
एक्कासण आयामं, खवणं तह पंचकल्लाणं ॥६८०॥

विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियप्रभृतीनां घट्टने, तापने अनागाढे आगाढे च तथा अपद्रावणे, क्रमेण पूर्वार्द्धाऽऽदिक्रमेण ज्ञातव्यं यावत् क्षपणम्। किमुक्तं भवति ? घट्टने पूर्वार्द्धम्, अनागाढपरितापने आचामाम्लम्, आगाढपरितापने निर्विकृतिकम्, अपद्रावणे क्षपणमिति ॥६७९॥ तथा पञ्चेन्द्रियाणां घट्टने एकाशनमकम्, अनागाढपरितापने आचामाम्लम्, आगाढपरितापने क्षपणमभक्तार्थम्, अपद्रावणे पञ्चकल्याणं– निर्विकृतिकपूर्वार्द्धैकाशनकाचामाम्लक्षपणरूपम्।

एमाईओ एसो, नातव्वो होइ जीयववहारो।
आयरियपरंपरए – ण आगतो जो व जस्स भवे ॥६८१॥

एवमादिक एष जीतव्यवहारो भवति ज्ञातव्यः, यो वा यस्य आचार्य-परम्परकेणाऽऽगतः स तस्य जीतव्यवहारो ज्ञातव्यः।

बहुसो बहुस्सुतेहिं, जो वत्तो न य निवारितो होति ।
वत्तऽणुवत्तपमाणं, जीएण कयं हवति एयं ॥६८२॥

यो व्यवहारो बहुश्रुतैर्बहुशोऽनेकवारं वृत्तः प्रवर्तितो, न चान्यैर्बहुश्रुतैर्भवति विद्यते निवारितः, एतेन वृत्तानुवृत्तं जी –

तेन प्रमाणं कृतं भवति। एष जीतव्यवहारः प्रमाणीकर्तव्यः, इति भावः।

एतदेव च सविस्तरं भावयति –

जं जीतं सावज्जं, न तेण जीतेण होइ ववहारो।
जं जीतमसावज्जं, तेण तु जीतेण ववहारो॥६८३॥

यद् जीतं सावद्यं, न तेन जीतेन भवति व्यवहारः, यद् जी –तमसावद्यं, तेन तु जीतेन व्यवहारः।

अथ व्यवहारः। अथ किं सावद्यमसावद्यं वा जीतमित्यत आह –

छारहडिहडुमाला–पेट्टेण य रिंगणं तु सावज्जं।
दसविहपायच्छित्तं, होइ असावज्जजीयं तु॥६८४॥

यत्तु प्रवचने, लोके चापराधविशुद्धये समाचरितम्–क्षारावमुण्डनं, हडौ–गुप्तिगृहे प्रवेशनं, हडुमालाऽऽरोपणं, पेट्टेन–उदरेण रिङ्गणं, तुशब्दात् खरारूढं कृत्वा ग्रामे सर्वतः पर्याटनमित्येवमादि, तत् सावद्यं जीतम्। यत्तु दशविधमालोचनाऽऽदिकं प्रायश्चित्तं तदसावद्यं जीतम्।

अत्र चोदकः – कदाचित्सावद्यमपि जीतं दद्यात्।

तथा चाह –

उस्सण्णे बहुदोसे, निद्धंधसे पवयणे य निरवेक्खे।
एयारिसम्मि पुरिसे, दिज्जइ सावज्जजीयं पि॥६८५॥

उत्सन्नेन प्रायेण बहुदोषे, ''निद्धंधसे'' सर्वथा निर्दये, तथा प्रवचने प्रवचनविषये निरपेक्षे, एतादृशे पुरुषेऽनवस्थाप्रसङ्गनिवारणाय सावद्यमपि जीतं दीयते।

संविग्गे पियधम्मे, अपमत्ते वा अवज्जभीरुम्मि।
कम्हि इ पमायखलिए, देयमसावज्जजीयं तु॥६८६॥

संविग्ने, प्रियधर्मिणि, अप्रमत्ते वा, अवद्यभीरौ कस्मिँश्चित्प्रमादवशतः स्खलिते देयमसावद्यं जीतम्।

जं जीतमसोहिकरं, ण तेण जीतेण होइ ववहारो।
जं जीतं सोहिकरं, तेण उ जीतेण ववहारो॥६८७॥

यद् जीवमशोधिकरं, न तेन जीतेन भवति व्यवहारः कर्तव्यः, यत्पुनर्जीतं शोधिकरं, तेन जीतेन व्यवहारो विधेयः।

शोधकराऽशोधिकरजीतप्रतिपादनार्थमाह –

जं जीतमसोहिकरं, पासत्थमपत्तसंजयाऽऽइण्णं।
जइ वि महजणाऽऽचिन्नं, न तेण जीतेण ववहारो॥६८८॥
जं जीतं सोहिकरं, संविग्गपरायणेण दंतेण।
एगेण वि आइन्नं, तेण उ जीतेण ववहारो॥६८९॥

यद् जीतं पार्श्वस्थप्रमत्तसंयताऽऽचीर्णमत एवाशोधिकरं, तद् यद्यपि महाजनाऽऽचीर्णं, तथापि न तेन जीतेन व्यवहारः कर्त्तव्यः, तस्याशोधिकरत्वात्। यत्पुनर्जीतं संवेगपरायणेन दान्तेन एकेनाप्याचीर्णं, तत् शोधिकरं कर्तव्यम्। व्य० १० उ०।

संप्रति सूत्रकारः स्वयमेव सूत्रेणैव प्रस्तावयन्नाह –

जं जं न भणियमहियं, तस्सावत्तीएँ दाणसंखेवं।
भिन्नाइया य वुच्छं, छम्मासंता य जीएणं॥६०॥

इह जीतव्यवहारेऽपराधमुद्दिश्य यद्यत् प्रायश्चित्तं न भणितं, तस्याप्यापत्तिविशेषेण दानसङ्क्षेपं वक्ष्ये। आपत्तिश्चामुकातिचारेऽमुकस्य तपसः प्राप्तिरिति। सा च निशीथकल्पव्यवहाराऽऽदिषु विस्तरेणाभिहिता। तपसश्च पञ्चकादेः षण्मासान्तस्य महीयान् दानविरचनाप्रपञ्चः प्रोच्यते। अत्राऽऽपत्तिदानं च संक्षेपेणैव निरूप्यते– तच्चात्र दानं भिन्न– मासादारभ्य षण्मासान्तं यावद्भवति। भिन्नेत्यादि। भिन्नमासादिकाँश्च षड्मासान्तान् वक्ष्ये। अयं भावः–जीतेन जीतव्यवहारेण, भिन्नमासाऽऽदिशब्दैः किं किं तपोऽभिधीयते ? इत्यभिधास्यामीत्यर्थः॥६०॥

भिन्नाऽऽदीं स्तावदाह –

भिन्नो अविसिट्ठ चिय, मासो चउरो य छच्च लहुगुरुगा।
णिव्वियगाई अट्ठम–भत्तंतं दाणमेएसिं॥६१॥

इह समयपरिभाषया दिनपञ्चविंशतिरूपो भिन्न इति भिन्नमासोऽभिधीयते। स चाविशिष्ट एव लघुपञ्चकगुरुपञ्चकाऽऽदिभेदाविवक्षया एवात्र गृह्यते। (मासो चउरो य छच्च लहुगुरुगा) अत्र चकारौ मासे समुच्चायको। ततो मासांश्चत्वारो मासाः षड्मासाः। लघुगुरुका इति च सर्वेषु योज्यम्। यथा लघुमासो, गुरुमासो, लघुचतुर्मासं, गुरुचतुर्मासं, लघुषण्मासं, गुरुषण्मासं चेति। एतेषां भिन्नमासलघुमासगुरुमासलघुचतुर्मासगुरुचतुर्मासलघुषण्मासगुरुषण्मासाऽऽख्यानां सप्तानामापत्तौ सत्यां निर्विकृताऽऽद्यष्टमभक्तान्तम्निर्विकृतिकपुरिमार्द्धकाशनाऽऽचामाम्लचतुर्थषष्ठाष्टमाऽऽख्यं दानं यथासंख्यं ज्ञेयमित्यर्थः।६१।

एतानि च लघुपञ्चकाऽऽदिभेदाऽऽत्मकभिन्नमासाऽऽदीनि गुरुषण्मासान्तानि पूर्वम्, ''अद्धेण छिन्नसेसं'' इति गाथाव्याख्यायां सप्रपञ्चमाख्यातानीत्यन्यत्र प्रपञ्चितानि। सामान्येन तपस उपसंहारमाह –

इय सव्वाऽऽवत्तीओ, तवसो नाउं जहकम्मं समए।
जीएण दिज्ज निव्वी – यगाइ दाणं जहाऽभिहियं॥६२॥

इत्यमुनाप्रकारेण, सर्वा आपत्तीः, तपसः संबन्धिनीः, यथाक्रमतीचारानुसारेण, समये सिद्धान्ते, ज्ञात्वा, जीतेन, निर्विकृतिकाऽऽदि दानं, यथा येन प्रकारेणाभिहितं, तथा दद्यादित्यर्थः।६२।

विशेषाभिधानाय प्रस्तावनामाह –

एयं पुण सव्वं चिय, पायं सामन्नओ विनिद्दिट्ठं।
दाणं विभागओ पुण, दव्वाइविसेसियं नेयं॥६३॥

एतत्पुनरालोचनाऽर्हाऽऽदिप्रायश्चित्तदानं, सर्वमेव, प्रायो बाहुल्येन, सामान्यतो द्रव्याऽऽद्यविभागतोः, विनिर्दिष्टम्, विभागतः पुनः द्रव्याऽऽदीनि द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषप्रतिसेवनाऽऽदीनि, तदपेक्षं विशेषितं हीनमधिकं वा, यथोक्तमेव वा, जीतं दानं दातव्यमिति ज्ञेयम्॥६३॥

शेषमेव सुव्यक्तमाह –

दव्वं खेत्तं कालं, भावं पुरिस पडिसेवणाओ य।
नाउ मियं चिय दिज्जा, तम्मत्तं हीणमहियं वा॥६४॥

अत्र बन्धाऽऽनुलोम्येन प्राकृतत्वात्पुरुषशब्दो लुप्तविभक्तिको निर्दिष्टः। ततश्च द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं पुरुषं प्रतिसेवनाश्च ज्ञात्वा, मितमेव द्रव्यक्षेत्राऽऽदिप्रमाणेनैव, कोऽर्थः? द्रव्याऽऽदिषुहीनेषु हीनम्, अधिकेष्वधिकम्, अहीनोत्कृष्टेषु तन्मात्रंजीतोक्तसममेव, दद्यात्।६४।

तत्र द्रव्याऽऽद्यभिधित्सयाऽऽह –

आहाराऽऽई दव्वं, वलियं सुलहं च नाउमहियं पि ।
दिज्जाहि दुब्बलं दु–ल्लहं च नाऊण हीणं पि ॥६५॥

आहाराऽऽदिकं द्रव्यं–यत्र देशे वलिकं, सुलभं च, यथा–अनूपदेशे शालिकूरो वलिक, स्वभावेनैव सुलभश्च; तं ज्ञात्वाऽधिकमपि जीतोक्ताद् बहुतरमपि दद्यात्। यत्र पुनर्वल्लचणककञ्जिकाऽऽदिको रूक्षाऽऽहारो दुर्बलो, दुर्लभश्च; तं ज्ञात्वा हीनं जीतोक्तादल्पमपि दद्यादित्यर्थः ॥६५॥

अथ क्षेत्रकालाभिधानार्थमाह –

लुक्खं सीयल साहा–रणं च खित्तमहियं पि सीयम्मि ।
लुक्खम्मि य हीणतरं, एवं काले वि तिविहम्मि ॥६६॥

रूक्षं क्षेत्रं–स्नेहरहितं, वातुलं वा; शीतलं पुनः स्निग्धम्, अनूपं वा; साधारणं–मध्यस्थम्, अस्निग्धरुक्षम् । इह शीते स्निग्धक्षेत्रो जीतोक्तादधिकमपि दद्यात्; रूक्षे च हीनतरं जीतोक्तादल्पतरम्। अत्र चकारोऽनुक्तसमुच्चये । तेन साधारणक्षेत्रो साधारणं जीतोक्तमात्रमेव, अहीनाधिकं दद्यादिति ज्ञेयम्। कालेऽपि त्रिविधेवर्षाशिशिरग्रीष्मरूपे, एववमुनैवोक्तप्रकारेण, जीतोक्ताधिकसमहीनानि तपांसि यथासंख्यं दद्यामिति सामान्यातिदेशः ॥६६॥

विशेषतः कालं प्रपञ्चयन्नाह –

गिम्हसिसिरवासासुं, दिज्जऽट्ठमदसमवारसंताइं ।
नाउं विहिणा णवविह – सुयववहारोवएसेणं ॥६७॥

अत्र कालस्त्रिधा–ग्रीष्मशिशिरवर्षालक्षणः। स च सामान्यतो द्विधा–स्निग्धो, रूक्षश्च । स च द्विरूपोऽप्युत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात् त्रिधा । तत्रोत्कृष्टस्निग्धोऽतिशीतः, मध्यमस्निग्धो नातिशीतः, जघन्यस्निग्धः स्तोकशीतः। उत्कृष्टरूक्षोऽत्युष्णः, मध्यमरूक्षो नात्युष्णः जघन्यरूक्षः कवोष्णः । एवंरूपे ग्रीष्मशिशिरवर्षाऽऽख्ये कालत्रये नवविधश्रुतव्यवहारोपदेशेन नवविधोनवविधतपोदानलक्षणः, स चासौ श्रुतव्यवहारोपदेशश्च, तेन नवविधश्रुतव्यवहारोपदेशेन, विधिना वैपरीत्याभावेन, ज्ञात्वाऽष्टमदशमद्वादशान्तानि तपांसि दद्यात्। अयं भावार्थः–ग्रीष्मशिशिरवर्षासु यथाक्रमं चतुर्थषष्ठाष्टमानि जघन्यानि, षष्ठाष्टमदशमानि मध्यमानि, अष्टमदशमद्वादशान्युत्कृष्टानि।

उक्तं च –

''गिम्हासु चउत्थं दिज्जा, छट्ठगं च हिमाऽऽगमे।
वासासु अट्ठमं दिज्जा, तवो एस जहण्णगो ॥१॥
गिम्हासु छट्ठगं दिज्जा, अट्ठमं च हिमाऽऽगमे।
वासासु दसमं दिज्जा, एस मज्झिमगो तवो ॥२॥
गिम्हासु अट्ठमं दिज्जा, दसमं च हिमाऽऽगमे।
वासासु दुवालसमं, एस उक्कोसओ तवो ॥३॥''

एष नवविधतपोदानलक्षणः श्रुतव्यवहारोपदेशः। अथवा – नवविधश्रुतव्यवहारोपदेशो द्विधा–ओघतो, विभागतश्च। तत्रौघतौ गुरुः १, गुरुतरो २, गुरुतमश्च ३। लघुः १, लघुतरो २, लघुतमश्च ३। लघुको १, लघुकतरो २, लघुकतमश्चेति ३ । एवं नवविधः ।

उक्तं च –

''गुरुओ गुरुअतराओ, अहागुरू चेव होइ ववहारो ।
लहुओ लहुअतराओ, हालडू चेव ववहारो ॥१॥
लहुसो लहुसतराओ, अहलहुसो चेव होइ ववहारो ॥''

अहागुरु अहालहु – अहालहुसशब्दैगुर्रु तमलघुतम लघुकतमा उच्यन्ते । एष च नवविधोऽधि आपत्तिदानतपोभ्यां, कालेन च योजनीय।

तत्रेदमापत्तितप :–

गुरुमासो १, गुरुलघुचतुर्मासो २, गुरुलघुषण्मासश्च ३। लघुमासो १, भिन्नमासो २, विंशतिकं च ३। पञ्चदशकं १, दशकं २, पञ्चकं चेति ३ । उक्तं च – ''गुरुगो य होइ मासो, गुरुयतरो चेव होइ चउमासो। अहगुरुओ छम्मासो, गुरुपक्खे होइ पडिवत्ती'' ॥१॥ अत्र सामान्येनाभिधानात् चतुर्मासिकशब्देन गुरुचतुर्मास लघुचतुर्मासाऽऽख्योभयमपि ग्राह्यम्, षण्मासशब्देन च गुरुषण्मासलघुषण्मासाऽऽख्यद्वयमपि ग्राह्यम्। ''तीसा य पण्णवीसा, वीसा वि य होइ लहुयपक्खम्मि ॥'' अत्र 'तीसा' चैतत् स्थूलतयैवोक्तम्; अन्यथा लघुमासे सार्धसप्तविंशतिरेव दिनानि भवन्ति । ''पनरस दस पंचेव य, लहुसयपक्खम्मि पडिवत्ती'' ॥१॥ प्रतिपत्तिरापत्तिरित्यर्थः ।

अथेदानीमेषु गुरुकादिषु दानतपः –

अष्टमम् १, दशमम् २, द्वादशं च ३। षष्ठम् १, चतुर्थम् २, आचाम्लं च ३। एकाशनम् १, पुरिमार्द्धम् २, निर्विकृतिकं च ३ इति वर्षाशिशिरग्रीष्मेषु दीयते।

उक्तं च –

''गुरुगं च अट्ठमं खलु, गुरुयतरायं च होइ दसमं तु।
अहगुरुयं वारसमं, गुरुपक्खे होइ दाणं तु ॥१॥
छट्ठं चउत्थयंबिल, लहुपक्खे होइ तवदाणं।
एगासण पुरिमड्ढं, निव्वीयं लहुस सुद्धो वा ॥२॥''

(सुद्धो व त्ति) यस्तु निर्विकृतिकमात्रमपि तपः कर्तुमशक्तः स मिथ्यादुष्कृतेनैव शुद्ध्यतीत्यर्थः। एवमोघेनोक्तो नवविधः श्रुतव्यवहारोपदेशः।

साम्प्रतं विभागतः कथ्यते –

''ओहेण एस भणिओ, इत्तो वुच्छं विभागेणं।
तिगनवसत्तावीसा–एक्कासीईहिं भेएहिं ॥१॥''

अत्रैष नवविधव्यवहारस्त्रिभिर्नवभिः सप्तविंशतिभिरेकाशीतिभिश्च भेदैर्भवति। तत्र संक्षेपतस्तावदयं त्रिभेदःउत्कृष्टो, मध्यमो, जघन्यश्च । तत्र गुरु–गुरुतर–गुरुतमाऽऽख्यो गुरुपक्ष उत्कृष्टः। लघु–लघुतर–लघुतमाऽऽख्यो लघुपक्षो माध्यमः। लघुक–लघुकतर–लघुकतमाऽऽख्यो लघुकपक्षो जघन्य इति।

यदाह –

''नवविह ववहारेसो, संखेवेणं तिहा मुणेयव्वो।
उक्कोसो मज्झिमगो, जहण्णगो चेवं तिविहेसो ॥१॥
उक्कोसो गुरुपक्खो, लहुपक्खो मज्झिमो मुणेयव्वो।
लहुसपक्खो जहन्नो, तिविगप्पो एस नायव्वो''॥२॥

नवभेदस्त्वेवम् – गुरुपक्ष एकोऽप्युत्कृष्टमध्यमजघन्य भेदात् त्रिधा। एवं लघुपक्षोऽपि त्रिधा। लघुकपक्षोऽवि चैवं त्रिधेति । तत्र गुरुपक्षे त्रैविध्यमिदम् – गुरुपक्षः षाण्मासिक–पाञ्चमासिकाऽऽख्य उत्कृष्टः, चातुर्मासिक–त्रैमासिकाऽऽख्यो मध्यमः, द्वैमासिकगुरुमासिकाऽऽख्यो जघन्यः । लघुपक्षे लघुमास उत्कृष्टः, भिन्नमासो मध्यमः, विंशतिकं जघन्यम् । लघुकपक्षे पञ्चदशकमुत्कृष्टम, दशकं मध्यमम्, पञ्चमं जघन्यमित्येष नवविधाऽऽपचितः स्वरूपश्रुतव्यवहारो दर्शितः ।

भणितं च –

''गुरुपक्खे उक्कोसो, मज्झ जहन्नो त एव लघुए वि।
एमेव य लहुसे वी, इय एसो नवविहो होइ ॥१॥
गुरुपक्खे छम्मासो, पणमासो चेव होइ उक्कोसो।
मज्झो चउ–तेमासो, दुमास–गुरुमासग जहन्नो ॥२॥
लहुभिन्नमासवीसा, लहुपक्खुक्कोसमज्झिमजहन्ना।
एनरसगं दस पणगं, लहुसुक्कोसाइतिविहेसो ॥३॥
आवत्तितवो एसो, नवभेओ वण्णिओ समासेण।
अहुणा उ सत्तवीसो, दाणतयो तरिसमो होइ'' ॥४॥

तस्याऽऽपत्तितपस इदं सप्तविंशतिभेदं दानतपो भवति। तत्र गुरुपक्ष एकोऽपि नवधा। तद्यथा–उत्कृष्टोत्कृष्टः १, उत्कृष्टमध्यमः २, उत्कृष्टजघन्यः ३, मध्यमोत्कृष्टः ४, मध्यममध्यमः ५, मध्यमजघन्यः ६, जघन्योत्कृष्टः ७, जघन्यमध्यमः ८, जघन्यजघन्यश्चेति ९। एवं लघुपक्षोऽपि नवधा ९। एवं लघुकपक्षोऽपि चैवमेव नवधा ९। सर्वमीलने सप्तविंशतिभेदा भवन्ति।

भणितं च –

''गुरु–लघु–लघुसगपक्खो, इक्किक्को नवविहो मुणेयव्वो।
उक्कोसुक्कोसो वा १, उक्कोसगमज्झिम २ जहन्नो ३ य ॥१॥
मज्झुक्कोसो मज्झिम–मज्झो २ तह होइ मज्झिमजहन्नो ३।
इय णेय जहन्नो वी, गुरुपक्खे हुंति नवभेआ ॥२॥
पुव्वुत्ता नव भेया, नेया सव्वे तहेव लहुपक्खे।
नव चेव लहुसपक्खे, सत्तावीसं भवंतेए'' ॥३॥

तत्रोदमेव सप्तविंशतिविधं दानतपो व्यक्तीकुर्वन्निह गुरुपक्षे षण्मासिकपञ्चमासिकाऽऽख्योत्कृष्टाऽऽपत्तौ सत्याम् – उत्कृष्टोत्कृष्टं द्वादशं तपः, उत्कृष्टमध्यमंदशमम्, उत्कृष्टजघन्यमष्टमम्। चतुर्मासिक-त्रिमासिकाऽऽख्यमध्यमाऽऽपत्तौमध्यमोत्कृष्टं दशमम्, मध्यममध्यम-मष्टमम्, मध्यमजघन्यं षष्ठम्। द्विमासिकगुरुमासाऽऽख्यजघन्याऽऽपत्तौ – जघन्योत्कृष्टमष्टमम्, जघन्यमध्यमं षष्ठम्, जघन्यजघन्यं चतुर्थम्। लघुपक्षे लघुमासाऽऽख्योत्कृष्टाऽऽपत्तौ–उत्कृष्टोत्कृष्टं दशमम्, उत्कृष्ट-मध्यममष्टमम्, उत्कृष्टजघन्यं षष्ठम्। भिन्नमासाऽऽख्य– मध्यमाऽऽपत्तौ, मध्यमोत्कृष्टमष्टमम्, मध्यममध्यमं षष्ठम्, मध्यमजघन्यं चतुर्थम्। विंशाऽऽख्यजघन्याऽऽपत्तौ – जघन्योत्कृष्टं षष्ठम्, जघन्यमध्यमं चतुर्थम्, जघन्यजघन्य-माचामाम्लम्। लघुकपक्षे पञ्चदशाख्योत्कृष्टाऽऽपत्तौ– उत्कृष्टोत्कृष्टमष्टमम्, उत्कृष्टमध्यमं षष्ठम्, उत्कृष्टजघन्यं चतुर्थम्। दशका ऽऽख्यमध्यमाऽऽपत्तौ मध्यमोत्कृष्टं षष्ठम्, मध्यममध्यमं चतुर्थम्, मध्यमजघन्यमाचामाम्लम्। पञ्चकाऽऽख्यजघन्याऽऽपत्तौजघन्योत्कृष्टं चतुर्थम्, जघन्यमध्यममाचामाम्लम्, जघन्यजघन्यमेकाशनमिति। एवं वर्षासु सप्तविंशतिविधं दानतपः।

यदाह –

''वारसग दसम अट्ठम, छप्पणमासेसु तिविहदाणेणं।
चउ–तेमासे दस अ–ट्ठ छट्ठ उक्कोसगाइ तिहा ॥१॥
एमेवुक्कोसाइं, दुमासगुरुमासिए तिहा दाणं।
अट्ठम छट्ठ चउत्थं, नवविहमेयं तु गुरुपक्खे ॥२॥
दसमं अट्ठम छट्ठं, लहुमासुक्कोसगाइ तिह दाणं।
अट्ठम छट्ठ चउत्थं, उक्कोसाइं य तिहा भिन्ने ॥३॥
छट्ठचउत्थायामं, उक्कोसाइं य दाण वीसाए।
लहुपक्खम्मि नवविहो, एसो वीओ भवे नवगो ॥४॥
अट्ठम छट्ठ चउत्थं, एसुक्कोसाइ दाण पन्नरसे।
छट्ठ चउत्थायामं, दससू तिविहे य दाण भवे ॥५॥
खमणाऽऽयामेगासण, तिविहुक्कोसाइ दाण पणगम्मि।
लहुसे वी तइएसुं, सत्तावीसे य वासासु'' ॥६॥

एवं यथा वर्षासूत्कृष्टाऽऽद्यापत्तिनवके सति दानतपसो द्वादशमादौ कृत्वा एकाशनान्ताः सप्तविंशतिभेदाश्चारणिकया कृताः; तथा शिशिरेऽपि; केवलं दशममादौ कृत्वा पुरिमार्द्धान्ताः। ग्रीष्मे पुनरष्टममादौ कृत्वा निर्विकृत्यन्ताः सप्तविंशतिभेदाः कार्याः, यन्त्रास्थापनातश्च ज्ञेयाः। वर्षाशिशिरग्रीष्माणां सप्तविंशतित्रयमीलने चैकाशीतिदीनतपसो भेदा भवन्ति। अर्द्धस्य समविभागरूपस्य एकदेशस्य एकादिपदाऽऽत्म-कस्यापक्रमणं निवर्त्तनं, शेषस्य तु बुद्ध्यादिपदसङ्घाताऽऽत्म कस्यैकदेश-स्यानुवर्त्तनं यस्यां रचनायां सा समयपरिभाषयाऽर्द्धापक्रान्तिरूच्यते। यथा वर्षासु गुरुतमे उत्कृष्टतो द्वादशं, मध्यमतो दशमं, जघन्यतोऽष्टमम्। एषां मध्यादेक देशो द्वादशलक्षणोऽपक्रामति, द्वादशमाष्टमे गुरुतरं गच्छतोऽग्रेतनं च षष्ठं मील्यते, ततश्च गुरुतरे उत्कृष्टतो दशमं, मध्यमतोऽष्टमं, जघन्यतः षष्ठम्। एषां मध्यादेकदेशो दशमलक्षणो निवर्तते, अष्टमषष्ठे गुरुकं गच्छतोऽग्रेतनं चतुर्थं मील्यते, ततश्च गुरुके उत्कृष्टोऽष्टमं, मध्यमतः षष्ठं, जघन्यतश्चतुर्थमिति। यथा चेयमेकाशीतिकदानतपोयन्त्राके वर्षाऽऽद्यनवकेऽर्द्धापक्रान्ति– र्दर्शिता, तथैव सर्वेष्वपि नवकेषु विलोकनीया।

यदाह –

''सिसिरे दसमाईणं, चारणभेएण सत्तवीसेण।
वायइ पुरिमड्ढम्मी, अद्धक्कंती तह चेव ॥१॥
अट्ठममाई गिम्हे, चारणभेएण सत्तवीसेण।
तह चेव अधुक्कंती, वायइ निव्वीयए नवरं'' ॥२॥

एतैर्दानैरापत्तयः स्वका नियमात्सर्वा बोद्धव्याः एकविधाऽऽपत्तिषु च द्वादशाऽऽद्यं तपः कर्तुमसहिष्णाही सस्तावत्कार्यो यावन्नवानामपि पङक्तीनां स्थितमेकपर्यन्तकोष्ठकगतं चतुर्थाऽऽदि निर्विकृतिकान्तं तपः, ततस्तस्य दीयते। तत्करणेऽप्यशक्तस्य पुनस्तथैव ह्रासयेत्। स्वस्थान-तपो दातुं वर्षासु वर्षाकालोक्तं, शिशिरोक्तं शिशिरे, ग्रीष्मोक्तं ग्रीष्मे। तदपि कर्तुमक्षस्य परस्थानं वर्षास्वपि शिशिरोक्तं, ग्रीष्मोक्तं वा ह्रासयद्भिर्दीयते। एवं स्थाने स्थाने वर्षाशिशिरग्रीष्मरूपे ह्रासयद्भिस्ता-वन्नेयं यावन्निर्विकृतिकमात्रमेव देयतया स्थितम्। कैश्चित्त्वेवं व्याख्यातम् – आधाकर्मिकाऽऽद्युक्तौ या षड्जीवनिकायविराधना, तज्जनितं प्रायश्चित्तं स्वस्थानम्, आधाकर्माऽऽद्यासेवाभणितं च चतुर्थादिकं परस्थानं, तद्दाने कथमेव ह्रासविधिर्ज्ञेय इति ?

उक्तं च –

''एएहिं दाणेहिं, आवत्तीओ सया सया नियमा।
सव्वा बोद्धव्वाओ, असहस्सिक्किक्कहासणया ॥१॥
जावइयं इक्किक्कं, तं पी हासिज्ज असहुणो ताव।
दाउं सट्ठाणतवं, परठाणं दिज्ज एमेव ॥२॥
एवं ठाणे ठाणे, हिट्ठा उत्तं कमेण हासित्ता।
नेयव्वं जावइयं, नियमा निव्वीइयं इक्कं'' ॥३॥

एष नवविधो व्यवहारः। एकाशीतिकस्य नवविधव्यवहार–यन्त्रकस्य स्थापना (१५१८ पृष्ठेऽग्रे) अत्र च उत्कृष्टाऽऽदीनि जघन्यान्तानि तपांसि स्थाप्यन्ते, एवं सूत्रेण ह्रासः कर्तुं शक्यते, सूत्रे तु जघन्याऽऽदीन्युत्कृष्टा-न्तान्युक्तानि, तद्विचित्रत्वात् सूत्ररचनाया इति। उक्तं कालविषयं सप्रपञ्चं प्रायश्चित्तम् ॥६७॥ (भावाऽऽदिविषयं प्रायश्चित्तं तु 'तवोरिह' शब्द वक्ष्यते)

एकाशीतिकस्य नवविधव्यवहारयन्त्रकस्य स्थापना चेयम् –

उत्कृष्टापत्तौ				मध्यमापत्तौ				जघन्यापत्तौ			
			वर्षासु २७								
६।५	गुरुतमम्	उ०	उ० १२	४।३	गुरुतरम्	म०	उ० १०	२।१	गुरु	ज०	उ० ८
	गुरुतमम्	उ०	म० १०		गुरुतरम्	म०	म० ८		गुरु	ज०	म० ६
	गुरुतमम्	उ०	ज० ८		गुरुतरम्	म०	ज० ६		गुरु	ज०	ज० ४
२७॥	लघु	उ०	उ० १०	२५	लघुतरम्	म०	उ० ८	२०	लघुतमम्	ज०	उ० ६
	लघु	उ०	म० ८		लघुतरम्	म०	म० ६		लघुतमम्	ज०	म० ४
	लघु	उ०	ज० ६		लघुतरम्	म०	ज० ४		लघुतमम्	ज०	ज०आ०
१५	लघुकम्	उ.	उ. ८	१०	लघुकतरम्	म०	उ० ६	५	लघुकतमम्	ज०	उ० ४
	लघुकम्	उ०	म० ६		लघुकतरम्	म०	म० ४		लघुकतमम्	ज०	म०आ०
	लघुकम्	उ०	ज० ४		लघुकतरम्	म०ज०	आचाम्लम्		लघुकतमम्	ज०ज०एकाशनकम्	
			शिशिरे २७								
६।५	गुरुतमम्	उ०	उ० १०	४।३	गुरुतरम्	म०	उ० ८	२।१	गुरु	ज.०	उ० ६
	गगुरुतमम्	उ०	म० ८		गुरुतरम्	म०	म० ६		गुरु	ज०	म० ४
	गुरुतमम्	उ०	ज० ६		गुरुतरम्	म०	ज० ४		गुरु	ज०	ज०आ०
२७॥	लघु	उ०	उ० ८	२५	लघुतरम्	म०	उ० ६	२०	लघुतमम्	ज०	उ० ४
	लघु	उ०	म० ६		लघुतरम्	म०	म० ४		लघुतमम्	ज०	म०आ०
	लघु	उ०	ज० ४		लघुतरम्	म०	ज०आ०		लघुतमम्	ज०	ज० ए०
१५	लघुकम्	उ०	उ० ६	१०	लघुकतरम्	म०	उ० ४	५	लघुकतम्म्	ज०	उ०आ०
	लघुकम्	उ०	म० ४		लघुकतरम्	म०	म०आ०		लघुकतमम्	ज०	म० ए०
	लघुकम्	उ०	ज०आ०		लघुकतरम्	म०	ज० ए०		लघुकतमम्	ज०ज०पूरिमार्द्धम्	
			ग्रीष्मे २७								
६।५	गुरुतमम्	उ०	उ० ८	४।३	गुरुतरम्	म०	उ० ६	२।१	गुरु	ज०	उ० ४
	गुरुतमम्	उ०	म० ६		गुरुतरम्	म०	म० ४		गुरु	ज०	म०आ०
	गुरुतमम्	उ०	ज० ४		गुरुतरम्	म०	ज०आ०		गुरु	ज०	ज० ए०
२७॥	लघु	उ०	उ० ६	२४	लघुतरम्	म०	उ० ४	२०	लघुतमम्	ज०	उ०आ०
	लघु	उ०	म० ४		लघुतरम्	म०	म०आ०		लघुतमम्	ज०	म० ए०
	लघु	उ०	ज०आ०		लघुतरम्	म०	ज० ए०		लघुतमम्	ज०	ज० पु०
१५	लघुकम्	उ०	उ० ४	१०	लघुकतरम्	म०	उ०आ०	५	लघुकतम्म्	ज०	उ० ए०
	लघुकम्	उ०	म०आ०		लघुकतरम्	म०	म० ए०		लघुकतमम्	ज०	म० पु०
	लघुकम्	उ०	ज० ए०		लघुकतरम्	म०ज०	पुरिमाद्धम्		लघुकतमम्	ज०ज०निर्विकृतिकम्	

जीयविजय पुं० (जीतविजय) यशोविजयगणिगुरोर्नयविजयगणेः सतीर्थ्ये लाभविजयगणिशिष्ये आचार्ये, प्रति० । प्रतिमाशतके कल्याणविजयवर्णनमधिकृत्य – ''तच्छिष्याः प्रतिगुण धामहेमसूरेः, श्रीलाभोत्तरविजया बुधा बभूवुः । श्रीजीतोत्तरविजयाऽभिधानजीतज्ञश्रीमन्नयविजयौ तदीयशिष्यौ''॥१५॥ द्वात्रिंशिकायां लाभविजयवर्णनमधिकृत्य–''यदीया दृग्लीलाऽभ्युदयजननी मादृशि जने, जडस्थानेऽप्यर्कद्युतिरिव जवात् पङ्कजवने । स्तुमस्तच्छिष्याणां बलमविकलं जीतविजयाभिधानां विज्ञानां कनकनिकषस्निग्धवपुषाम् ॥४॥'' द्वा० ३२ द्वा० । नयो० । अष्ट० ।

जीया स्त्री० (ज्या) ज्या–अङ् । **''ज्यायामीत्''** ॥८।२।११५॥ इति प्राकृतसूत्रेण व्यञ्जनात्पूर्वमीद् भवति । प्रा० २ पाद । घनुषो गुणे, मौर्व्याम्, मातरि, भूमौ च । वाच० । **जीर** (जॄ) जरायाम् , दिवादि–पर० अक० सेट् घटादिः । **''ह्रकृ–तॄज्रामीरः''** ॥८।४।२५०॥ इति प्राकृतसूत्रेणैषामन्त्यस्य ईरइत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । जीर्यति, अजरत्, अजारीत्, जीर्णः, जरा, जरयति । वाच० ।

जीव पुं० (जीव) जीवनं जीवः । जीव–भावे–घञ् । प्राणधारणे, आ० म० । विशे० । पा० । ''इहसंति गया दविया, णावकंखंति जीवितुं ।'' जीवितुं प्राणान् धारयितम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । ''जीवो त्ति जीवणं पा–णधारणं जीवियं ति पज्जायां ॥'' (३५०८ गाथा) विशे० । जीवितवान्, जीवति, जीविष्यतीति जीवः । आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० । दर्श० । आव० । उपयोगलक्षणे जीवद्रव्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । ''न य एगो सव्वगओ, निक्किरिओ लक्खणाइमेआओ।'' (१६५७ गाथा) उपयोगलक्षणो हि जीवः । स चोपयोगो रागद्वेषकषायविषयाध्यवसायाऽऽदिभिर्भिद्यमान उपाधिभेदादनन्तयं प्रतिपद्यत इत्यनन्ता जीवाः, लक्षणभेदाद्, घटाऽऽदिवदिति । विशे० ।

जीवनिक्षेपश्चतुर्धा। तथा च निर्युक्तिः–

निक्खेवो जीवम्मी, चउविह दुविहो उ होइ दव्वम्मि ।
आगम – णोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥१॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्तं च जीवदव्वं तु ।
भावम्मि दसविहो खलु, परिणामो जीवदव्वस्स ॥२॥

तद्व्यतिरिक्तं च जीवद्रव्यम्; द्रव्यजीव उच्यते इति प्रक्रमः। तुर्विशेषद्योतकः । स चायं विशेषः– न यथा कदाचित् तत्पर्याय– वियुतं द्रव्यं, तथाऽपि च यदा वियुक्ततया विवक्ष्यते, तदा तद्द्रव्य– प्राधान्यतो द्रव्यजीवः । भावे तु दशविधः, खलुरवधारणे, दशविध एव परिणामः कर्मक्षयोपशमोदयापेक्षपरिणतिरूपो, जीवद्रव्यस्य संबन्धी, जीवदनन्यत्वेन जीवतया विवक्षितो जीव इति प्रक्रमः । तत्र च क्षायोपशमिकाः षट्पञ्चेन्द्रियाणि, षष्ठं मनः, औदयिकाः क्रोधाऽऽदयश्चत्वारो मीलिता दश भवन्ति । उत्त० ३६ अ० । दश० । (विस्तरेण निक्षेप 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १६७ पृष्ठे उक्तः) इन्द्रियपञ्चकमनोवाकायबलत्रायोच्छ्वा– सनिःश्वासायुर्लक्षणम् दश प्राणान् यथायोगं धारयतीति जीवः । कर्म० १ कर्म । नं० । आ० म० । भ० । प्राणधारणधर्मके आत्मनि, स्था० १ ठा० १ उ० । आचा० । दर्श० । देहाभिमानिनि आत्मनि, मनुष्यावधिकीटपर्यन्ते चेतने, वाच० । क इत्थंभूत इति चेत् ? उच्यते–यो मिथ्यात्वाऽऽदिकलुषितरूपतया सातास्वदिवेदनीयाऽऽदिकर्मणां अभिनिवर्तकः, तत्फलस्य च विशिष्टसाताऽऽदे रुपभोक्ता, नरकाऽऽदिभवेषु च यथाकर्मविपाकोदयं संसर्ता, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपसंपन्नरत्नत्रयाभ्यासप्रकर्षवशाच्च निःशेष-कर्माशापगमतः परिनिर्वाता, स जीवः सत्त्वेः प्राणी आत्मेत्यादिपर्यायाः । उक्तं च – ''यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च । संसर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणः'' ॥१॥ इति । कर्म० १ कर्म० । नं० ।

जीवलक्षणम् –

उवओगलक्खणमणा–इनिहणमत्थंतरं सरीराओ ।
जीवमरूवं कारिं, भोइं च सयस्स कम्मस्स ॥५६॥

उपयुज्यते अनेनेत्युपयोगः साऽऽकारानाकारदिः । उक्तश्च स द्विधा अष्टचतुर्भेदः, स एव लक्षणं यस्य स उवओगलक्षणस्तं, जीवमिति वक्ष्यते । तथा अनाद्यनिधनम् – अनाद्यपर्यववसितं, भवापवर्गप्रवाहापेक्षया नित्यमित्यर्थः । आव० ४ अ० । दर्श० ।

जीवो अणाइनिहणो, णाणाऽऽवरणाइकम्मसंजुत्तो । (६)

जीवतीति जीवः, असौ अनादिनिधनः–अनाद्यपर्यवसित इत्यर्थः । स च ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मणा समेकीभावेनान्योन्यव्याप्त्या, युक्तः संवद्धो ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मसंयुक्तः ।

श्रा० । ''ज्ञानाऽऽत्मकः सर्वशुभा–शुभकर्ता स कर्मणा । नाना संसारिमुक्ताऽऽख्यो, जीवः प्रोक्तो जिनाऽऽगमे''॥१॥ दर्श० ४ तत्त्व ।

निसर्गचेतनायुक्तो, जीवोऽरूपी ह्यवेद्धकः॥ [२०]

निसर्गा सहजा या चेतना, तया युक्तः निसर्गचेतनायुक्तः , सर्वेभ्योऽचेतनेभ्यो भिन्नो, जीवः व्यवहारनयेन रूपवेदसहितो ऽपि निश्चयनयेन रूपरहितो रूपान्यन्तभावयुक्तः, वेदरहितो वेदात्यन्ताभाववान् सत्तामात्रम्, निर्गुणो, निर्विकारो जीवः । उक्तं च – ''अरसमरूवमगंधं, अवन्नं चेयणागुणमसद्दं । जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१॥'' द्रव्या० १० अध्या० । ''... जीवमजीवे, रूवमरूवी य सप्पएसे य ।'' सुखदुःखज्ञानोपयोगलक्षणो जीवः, तद्भिन्नोऽजीवः । एतौ द्वौ भेदौ प्रत्येकं रूप्यरूपि भेदौ । तथा चाह–रूप्यरूपिण इति । तत्रानादिकर्म – सन्तानपरिगता रूपिणः, अरूपिणस्तु कर्मरहिताः सिद्धा इति । आ० म० । आ० चू० । (जीवस्यास्तित्वनित्यत्वाऽऽदि 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १७२ पृष्ठे प्रतिपादितम्)

जीवस्य कथञ्चिद् नित्यत्वं कथञ्चिदनित्यत्वम् –

सासए जीवे जमाली ! जं ण कदाइ णासि० जाव णिच्चे ।
असासए जीवे जमाली ! जं णं णेरइए भवित्ता तिरिक्ख जोणिए भवइ, तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ , मणुस्से भवित्ता देवे भवइ ॥ भ० ६ श० ३३ उ० ।

जीवानां कथञ्चित्सादृश्यं, कथञ्चिद् न –

''सव्वे पाणा अणेलिया ।'' [४ गाथा]

सर्वेऽपि प्राणिनो विचित्रकर्मसद्भावाद् नानागतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गाऽऽदिसमन्वितत्वादनीदृशा विसदृशाः । सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । (हस्तिकुन्थ्वोः समानजीवत्वं जीवस्य संकोचविकाश शालित्वं च 'पएसिण्' शब्दे वक्ष्यते)

जीवचैतन्ययोर्भेदाभेदौ –

जीवे णं भंते ! जीवे जीवे ? गोयमा ! जीवे ताव नियमा

जीवे, जीवे वि नियमा जीवे । जीवे णं भंते ! नेरइए नेरइए जीवे ? गोयमा ! नेरइए ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय नेरइए, सिय अनेरइए। जीवे णं भंते ! असुरकुमारे असुरकुमारे जीवे ? गोयमा ! असुरकुमारे ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय असुरकुमारे, सिय णो असुरकुमारे । एवं दण्डओ भाणियव्वो० जाव वेमाणियाणं । जीवइ भंते ! जीवे जीवे जीवइ ? गोयमा ! जीवइ ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय जीवइ, सिय नो जीवइ। जीवइ भंते ! नेरइए नरेइए जीवइ ? गोयमा ! नेरइए ताव नियमा जीवइ, जीवइ पुण सिय नेरइए, सिय अनेरइए, एवं दंडओ नेयव्वो० जाव वेमाणियाणं ।

इह एकेन जीवशब्देन जीवो गृह्यते, द्वितीयेन च चैतन्य मित्यतः प्रश्नः । उत्तरं पुनर्जीवचैतन्ययोः परस्परेणाविनाभूत– त्वाद् जीवः चैतन्यमेव, चैतन्यमपि जीव एवेत्येवमर्थम– वगन्तव्यम् । नारकाऽऽदिषु पदेषु पुनर्जीवत्वमव्यभिचारि, जीवेषु च नारकादित्वं व्यभिचारीत्यत आह ''जीवे णं भंते ! नेरइए'' इत्यादि । जीवाधिकारादेवाह – (जीवइं भंते! जीवे जीवेजीवइ त्ति) जीवति प्राणान् धारयति यः स जीवः, उत यो जीवः स जीवतीति प्रश्नः । उत्तरं तु यो जीवति स तावन्नियमाज्जीवः, अजीवस्य आयुः कर्माभावेनं जीवनाभावात् । जीवस्तु स्याज्जीवति, स्यान्न जीवति, सिद्धस्य जीवनाभावदिति। नारकादिस्तु नियमाज्जीवति, संसारिणः सर्वस्य प्राणधारणधर्म कत्वात् जीवतीति पुनः स्यान्नारकादिः स्यादनारकादिरिति । भ० ६ श० १० उ० । ''प्राणान् क्षेत्राज्ञरूपेण, धारयन् जीव उच्यते।'' इत्युक्ते प्राणानि, वाच० । आतु० । ध० । सूत्रा० । द्वी० । भ० । न० । जीवो जन्तुरसुमान् प्राणी सत्त्वो भूत इत्यादयो जीवपर्यायाः । विशे० । ध० । प्रश्न० । कर्म० । उत्त० । अनु० । आव० । बृ० ।

तथा च –

जम्हा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा तम्हा पाणे त्ति वत्तव्वं सिया । जम्हा भूए भवइ भविस्सइ तम्हा भए त्ति वत्तव्वं सिया । जम्हा जीवे जीवइ जीवत्तं आउयं च कम्मं उवजीवइ, तम्हा जीवे त्ति वत्तव्वं सिया । जम्हा सत्ते सुहासुहेहिं कम्मेहिं, तम्हा सत्ते वि वत्तव्वं सिया ।

तत्र प्राण इति, एतत्तं प्रति वक्तव्यं स्यात्, यदोच्छ्वासाऽऽ–दिमन्व-मात्रमाश्रित्य तस्य निर्देशः क्रियते, एवं भवनाऽऽदिधर्मविवक्षया भूताऽऽदिशब्दपञ्चकवाच्यता तस्य कालभेदेन व्याख्येया, यदा तूच्छ्वासाऽऽदिधर्मैर्युगपदसौ विवक्ष्यते, तदा प्राणो भूतो जीवः सत्त्वो विज्ञो वेदयिता इति, एतत्तं प्रति वाच्यं स्यात् । अथवा– निगमनवाक्यमेवेदमतो न युगपत्पक्षव्याख्या कार्येति। ''जम्हा जीवे'' इत्यादि। यस्माज्जीव आत्माऽसौ, जीवति प्राणान् धारयति; तथा जीवत्वमुपयोगलक्षणम् आयुष्कं च कर्म उपजीवति अनुभवति, तस्माज्जीव इति वक्तव्यं स्यादिति। (जम्हा सत्ते सुहासुहेहिं कम्मेहिं ति) सक्त आसक्तः शक्तो वा समर्थः सुन्दरासुन्दरासु चेष्टासु। अथवा–सक्तः संबद्धः शुभाशुभैः कर्मभिरिति। भ० २ श० १ उ०।

सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं।

सर्वेषां प्राणिनां, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां, तथा सर्वेषां भूतानां प्रत्येकसाधारणसूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकरूपाणामिति। तथा सर्वेषां जीवानां गर्भव्युत्क्रान्तिकसंमूर्छनजौपपातिकपञ्चेन्द्रिणाम्। तथा–सर्वेषां सत्त्वानां पृथिव्या-द्येकेन्द्रियाणामिति। इह च प्राणाऽऽदिशब्दानां यद्यपि परमार्थतो भेदस्तथाऽपि उक्तन्यायेन भेदो द्रष्टव्यः । उक्तं च – ''प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ताः । भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥१॥'' इति। यदि वा शब्दव्युत्पत्तिद्वारेण समभिरूढनयमतेन भेदो द्रष्टव्यः । तथाहि–सततं प्राणधारणात्प्राणाः, कालत्रयभवनाद् भूताः, त्रिकालजीवानाद् जीवाः, सदाऽस्तित्वाद् सत्त्वा इति। आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०। सर्वेषां प्राणिनां (दशविधाः प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिनस्तेषाम्) सामान्यतः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाम्। तथा सर्वेषां भूतानां मुक्तिगमनयोग्येन भव्यत्वेन व्यवस्थितानां, तथा सर्वेषां जीवानां जिजीविषूणां च, तथा सर्वेषां सत्त्वानां तिर्यङ्नरामराणां संभारे क्लिश्यमानतया करुणाऽऽस्पदानाम् । एकार्थिकानि चैतानि प्राणाऽऽदीनि वचनानि। आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। स्था०। आव०। पा०। ज्ञा०। सूत्रा०।

सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीया सव्वे सत्ता।

सर्वे प्राणाः सर्व एव पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः द्वित्रिचतुः–पञ्चेन्द्रिया-श्चोन्द्रियबलोच्छ्वासनिःश्वासाऽऽयुष्कलक्षणप्राणधारणात् प्राणाः । तथा–सर्वाणि भवन्ति भविष्यन्त्यभूवन्निति चतुर्दशभूतग्रामान्तपातीति । एवं सर्व एव जीवन्ति जीविष्यन्ति अजीविषुरिति जीवाः नारकतिर्यन्न-रामरलक्षणाश्चतु गतिकाः । तथा–सर्व एवं स्वकृतसातासातोदय-सुखदुःखभाजः सत्त्वाः एकार्थाश्चैते शब्दाः। आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

तथा चैवंभूतनयमाधिकृत्य –

एवं जीवं जीवो, संभारी पाणधारणाणुभवो ।
सिद्धो पुणरज्जीवो, जीवणपरिणामरहिओ त्ति ॥२२५६॥

जीवति ''पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छवासनिःश्वा–समथान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरिष्टास्तेषां वियोगीकरणं च हिंसा ॥१॥'' इत्यादिवचनप्रसिद्धान् दशविधप्राणान् धरतीति शब्दार्थव-शाज्जीवन्नेव दशविधप्राणधारणं कुर्वन्नस्य नयस्य मतेन जीव उच्यते। स च सामर्थ्यात् दशविधप्राणधारणमनुभवतीति दशविधप्राणानुभवोनार-कादिः संसार्येव भवति। सिद्धस्त्वेतन्नयमतेन जीवोऽसुमान् प्राणीत्यादि-शब्दैर्न व्यपदिश्यते। जीवनाऽऽ दिपरिणामरहित इतिकृत्वा शब्दार्था-भावात्, किं तर्हि सत्तयोगा त्सत्त्वः, अतति तांस्तान् ज्ञानदर्शनसुखाऽऽ-दिपर्यायान् गच्छती त्यात्मेत्यादिभिरेव शब्दैर्निर्दिश्यत इति। ॥२२५६॥ विशे०। आ० म०।

तथा च नयोपदेशे –

सिद्धो न तन्मते जीवः, प्रोक्तः सत्त्वाऽऽदिसंज्ञयपि।
महाभाष्ये च तत्त्वार्थ–भाष्ये धात्वर्थबाधतः ॥४०॥

(सिद्ध इति) तन्मते एवंभूतनयमते सत्त्वाऽऽदिसंज्ञयपरि सत्ता योगात् सत्त्वः, अतति, स्वान् २ पर्यायानात्मत्यादिसंज्ञाधार्यपि,

सिद्धो महाभाष्ये विशेषाऽऽवश्यके, तत्त्वार्थभाष्ये च धात्वर्थवा– धतो 'जीव' प्राणधारणे इति धात्वर्थानन्वयाद् जीवो न प्रोक्तः । तथा च विशेषाऽऽवश्यकवचनम् – ''एवं जीवं जीवो, संसारी पाणधारणाणुभवो । सिद्धो पुणरज्जीवो, जीवणपरिणामरहिओ त्ति ॥२२५६॥'' ॥४०॥

एतदेव तत्त्वार्थभाष्यवचनमनूद्य व्यवस्थापयति –

जीवोऽजीवश्च नो जीवो, नो अजीव इतीहिते ।
जीवः पञ्चस्वपि गति–ष्विष्टो भावैर्हि पञ्चभिः ॥४१॥

(जीव इत्यादि) जीवोऽजीवो नो जीवो नो अजीवश्चेति चतुर्भिः पदैः कोऽर्थः प्रतिपाद्यः? इतीहिते प्रश्नयोग्यविचारविषयीकृते, सिद्धान्तिना गतिमार्गणयां पञ्चस्वपि गतिषु नारकतिर्यङ्नरामरसिद्धगतिलक्षणासु, हि निश्चितं, पञ्चभिर्भावैरौदयिकलयिकक्षायोपशमिकौपशमिकपारिणामिकलक्षणैः, जीव इष्टः व्युत्पत्तिनिमित्तजीवनलक्षणौदयिकभावोपलक्षिताऽऽत्मत्वरूपपारिणामिकभावविशिष्टस्य जीवस्य भावपञ्चकाऽऽत्मनो जीवपदार्थत्वात् । न चाऽऽत्मत्वप्रवृत्तिनिमित्तोपादाननैवानतिप्रसङ्गे किं व्युत्पत्तिनिमित्तोपलक्षणग्रहणेनेति वाच्यम्, संभवति तदुपलक्षकभावे तत्यागस्यान्याय्यत्वात् । अन्यथा मण्डपाश्वकर्णाऽऽदिपदतुल्यताप्रसङ्गादिति दिक् ॥४१॥

नञि सर्वनिषेधार्थे , पर्युदासे च संश्रिते ।
पुद्गलप्रभृति द्रव्यमजीव इति संज्ञितम् ॥४२॥

नञोति सर्वनिषेधार्थे जीवत्वावच्छिन्नान्योन्याभाववदर्थे नञिविवक्षितं, पर्युदासे सादृश्ये च तत्र संश्रिते तात्पर्यविषयीकृते , पुद्गलप्रभृति पुद्गलाऽऽदिकं द्रव्यम् अजीव इतिपदेन संज्ञितम्; पर्युदासानाश्रयणे तु जीवस्य गुणपर्याययोरपि भेदतया श्रवणेनाजावपदप्रयोगप्रसङ्ग इति भावः ॥४२॥

नो जीव इति नोशब्दे–ऽजीवः सर्वनिषेधके ।
देशप्रदेशौ जीवस्य, तस्मिन् देशनिषेधके ॥४३॥

(नो इति) नो जीव इति शब्दवाच्ये नोशब्दे सर्वनिषेधके विवक्षितेऽजीव एव; देशनिषेधके तु नोशब्दे आश्रीयमाणे देशनिषेधस्य देशाभ्यनुज्ञानान्तरीयकत्वाज्जीवस्य देशप्रदेशावेव नोजीवशब्दव्यपदेश्यावभ्युपगन्तव्यौ ॥४३॥

जीवो वाऽजीवदेशो वा, प्रदेशो वाऽप्यजीवगः ।
अनयैव दिशा ज्ञेयो, नोअजीवपदादपि ॥४४॥

(जीवो वेति) अनयैवोक्तयैष दिशा, नोअजीवपदादपि, नो –शब्दस्य सर्वनिषेधकत्वे जीवो जीवपदार्थो वा बोध्यः, तस्य देशनिषेधकत्वे वाऽजीवदेशो वाऽजीवगः अजीवाऽऽश्रितः प्रदेशो वा 'अमानोनाः प्रतिषेधे''इत्यनुशासनतौल्येऽपि संसर्गा भावोऽन्योन्याभावश्च नञोऽर्थः, नोशब्दस्य त्वभाव एकदेशो वा; तत्रा चान्वयिताऽवच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वतदेकदेशत्वाऽऽदिव्युत्पत्तिबललभ्यमिति। सिद्धान्तपरिभाषित निगर्दः ॥४४॥

उक्तं मतं कियतां नयानाम्? इत्याह –

नैगमो देशसंग्राही, व्यवहारर्जुसूत्राकौ ।
शब्दः समभिरूढये–त्येवमेते प्रचक्षते ॥४५॥

(नैगम इति) नैगमो नैगमनयः देशसंग्राही अवान्तसंग्राही, सर्वसंग्रहस्य सन्मात्रार्थत्वात्तत्यागः। व्यवहारर्जुसूत्राकौ व्यवहारनय ऋजुसूत्रनयश्च शब्दः, समभिरूढश्चेत्यते नया एवं प्रचक्षते ॥४५॥

भावमौदयिकं गृह्ण–न्नेवंभूतो भवस्थितम् ।
जीवं प्रवक्तृत्यजावं तु, सिद्धं वा पुद्गलाऽऽदिकम् ॥४६॥

(भावमिति) एवंभूतनयस्यु औदयिकं भावं व्युत्पत्तिनिमि त्तमेव प्रवृत्तिनिमित्ततया गृह्ण न् भवस्थितं संसारिणं जीवं प्रवक्तिजीवशब्देन व्यपदिशति, अजीवम् अजीवपदार्थं तु सिद्धं वा, पुद्गलाऽऽदि द्रव्यं वेच्छत्यसौ ॥४६॥

नो अजीवश्च नो जीवो, न जीवाजीवयोः पृथक् ।
देशप्रदेशौ नास्येष्टा–विति विस्तृतकरे ॥४७॥

(नो इति) नो जीवो ने अजीवश्चैतन्नवे जीवाजीवयोर्वक्तव्ययोः सतोः पृथग् न पार्थक्यं गापद्यते, यतोऽस्य नयस्य देशप्रदेशां नेष्टाविति, नोशब्दः सर्वनिषेधार्थ एव घटते इत्येतदाकरेऽनुयोगद्वाराऽऽदौ विस्तृतम् ॥४७॥

इत्थं स्वसमयसिद्धामेवंभूतनयार्थप्रक्रियामु –

पपाद्य, तया दिगम्बरोक्तप्रक्रियां दूषयति –

सिद्धो निश्चयतो जीवः, इत्युक्तं यद्दिगम्बरैः ।
निराकृतं तदेतेन, यन्नयेऽन्त्येऽन्यथा प्रथा ॥४८॥

(सिद्ध इति) एतेन पूर्वोक्तेन सिद्धो निश्चयतो जीव इति यद्दिगम्बरैरुक्तम् – ''तिक्काले च दुपाणा, इंदियबलमाउ आणपाणो य। ववहारा सो जीवो, णिच्छयदो दुचेदणा जस्स ॥१॥'' इत्यादिन, तन्निराकृतम् । यद् यस्मादन्त्ये एवंभूतनये अन्यथा प्रथा 'असिद्धो जीवः' इत्येव प्रसिद्धिः, शुद्धनिश्चयश्च स एवेति कथं निश्चयतः सिद्धो जीव इति वक्तुं शक्यमिति ॥४८॥

नन्वेवंभूतः पर्यायार्थिकेष्वेव शुद्धनिश्चयः, तेनास्मादुक्ता नुपपत्तावपि द्रव्यार्थिकप्रभेदेन सर्वसंग्रहनयेन शुद्धनिश्चयेन तदुपपादयिष्याम इत्याकाङ्क्षायामाह –

आत्मत्वमेव जीवत्व – मित्ययं सर्वसंग्रहः ।
जीवत्वप्रतिभूः सिद्ध–साधारण्यं निरस्य न ॥४९॥

(आत्मत्वमिति) आत्मत्वमेव जीवत्वं जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तं , पारिणामिकभावस्य कालत्रयानुगतत्वेन सत्यत्वात्, औदयिकभावस्य चौपाधिकत्वेन कालत्रयानुगतत्वेन च तुच्छत्वादिलयं सर्वसंग्रहनयस्तु-सिद्धसाधारण्यं भवस्थतौल्यं निरस्य, जीवत्वसाधने न प्रतिभूः, सर्वत्रा तुल्यजीवत्वादेवैको व्यवहारतो जीवोऽन्यश्च निश्चयत इति विभागकरणम-समीक्षिताभिधानमेवापद्येत। सर्वसंग्रह एव हि कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकः, तेन च संसारिचैतन्यमपि निरुपरागं शुद्धमिति परिणष्यत एव। तदुक्तं द्रव्यसंग्रहे – ''मग्गणगुणठाणेहि अ, चउदस य हवंति तह असुद्धणया। विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा उ सुद्धणया'' ॥१॥ इति। न च संसारिचैतन्यस्य संग्रहनयेन शक्तया शुद्ध चैतन्यं, निश्चयेऽपि व्यक्तया शुद्धचैतन्यस्य सिद्ध एव निश्चयान्न साधारणमिति शङ्कनीयम्, संग्रहस्य शक्तिग्राहकत्वेन व्यक्तिग्राहकतया व्यवहार एव विश्रान्ते, निश्चयतो द्विचेतनाशाली सिद्ध एव जीव इत्यस्य व्याघातात् ॥४९॥

नन्वेवं निश्चयतः सिद्धस्याऽजीवत्वे भवद्भिरिष्यमाणे भवतामेव ग्रन्थे संसारिसिद्धसाधारणजीवपदाथीभिधानं कथम् ? इत्याशङ्कायामाह –

यज्जीवत्वं क्वचिद् द्रव्य – भावप्राणान्वयात् स्मृतम् ।
विचित्रानैगमाऽऽकूतात्, तद् ज्ञेयं न तु निश्चयात् ॥५०॥

(यदिति) यद् जीवत्वं क्वचिद् ग्रन्थे द्रव्यप्राणानां, भावप्राणानां चान्वयादेव करणात् स्मृतं, संसारिसिद्ध –साधारण्यमिति विशेषः । तद् विचित्रो विविधावस्थो यो नैगमस्तत्याऽऽकूतादभिप्रायाद् ज्ञेयम, न तु निश्चयात् एवं भूतनयात्। तथा चैवं भूतनयेनैव सिद्धमजीवं वयं प्रतिजानीमहे, न तु नयान्तराभिमतेन जीवत्वेऽपि विप्रतिपद्यामहे, इति शुद्धाशुद्धेन नैगमनयेन साधारणजीवत्वाभ्युपगमेऽपि न क्षतिः । इयांस्तु विशेषः प्रसिद्धनैगम औदयिकभावोपलक्षितमात्मत्वाऽऽख्यं पारिणामिकभावमेव जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तमभ्युपैति । तद्विशेषश्च कश्चिदुपचारोपजीवी द्रव्यभावप्राणान्यतरवत्त्वेनानुगतमौदयिक क्षायिकभावद्वयमिति नेदं सिद्धान्तार्णवे नयविकल्पकल्लोलवैचित्र्यं तत्संप्लवव्यसनिनां विक्षोभाऽऽवहम् ॥५०॥

ननु 'जीव' प्राणधारणे इत्यत्रा भावप्राणधारणमेव धात्वर्थं , विवक्षितत्वात्, निश्चयतः सिद्धस्य जीवत्वं समर्थयिष्याम– इत्याकाङक्षायामाह –

धात्वर्थे भावनिक्षेपात्, परोक्तं न च युक्तिमत् ।
प्रसिद्धार्थोपरोधेन, यन्नयान्तरमार्गणा ॥५१॥

(धात्वर्थ इति) धात्वर्थे जीवत्यर्थे, भावनिक्षेपाद् भावसङ्केतग्रहात्, परोक्तं निश्चयतः सिद्ध एव जीव इति दिगम्बरोक्तं, न च नैव, युक्तिमत् यद् यस्मात् प्रसिद्धोऽनादिधातुपाठाऽऽदिप्रतीयमानो योऽर्थः, तदनुरोधेन, नयान्तरस्य मार्गणा विचारणा भवति । तथा च यादृशधात्वर्थमुपलक्षणीकृतेतरनयार्थप्रतिसन्धानं तादृशधात्वर्थप्रकारकजिज्ञासयैवभूताभिधानस्य सांप्रदायिकत्वान्न तत्रा भावनिक्षेपाऽऽश्रयणं युक्तमित्यर्थः । अन्यथा तत्रापि निक्षेपान्तराश्रयणेऽनवस्थानात् प्रकृतमात्रा-पर्यवसानादन्ततो ज्ञानाऽद्वैते शून्यतायां वा पर्यवसानात् । किञ्च एतादृगुपरितनैवंभूतस्य प्राक्तनैवंभूताभिधानपूर्वमेवाभिधानं युक्तम्, अन्यथाऽऽप्राप्तकालत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् व्यवहाराऽऽद्यभिमतव्युत्पत्त्यनुरोधेनौदयिकभावग्राहकत्वमेवास्य सूरिभिरुक्तं युक्तमिति स्मर्तव्यम्। न चेन्द्रियरूपप्राणानां क्षायोपशमिकत्वात् कथमेवंभूतस्यौदयिकभावमात्रग्राह कत्वमित्याशङ्कनीयम्, प्राधान्येनायुष्कर्मोदयलक्षणस्यैव जीवनार्थस्य ग्रहणात् । उपहतेन्द्रियेऽप्यायु-रुदयेनैव जीवननिश्चयादिति दिक् ॥५१॥

शङ्काशेषमुपन्यस्य परिहरति –

शैलेशयन्त्यक्षणे धर्मो, यथा सिद्धस्तथाऽसुमान् ।
वाच्यं नेत्यपि यत्तत्रा, फले चिन्तेह धातुगा ॥५२॥

(शैलेश्यन्त्यक्षण इति) शैलेश्या अयोगिगुणस्थानस्यान्त्यक्षणे चरमक्षणे, यथा निश्चयतो धर्मः, तदर्वाक्तनकालभावी तु व्यवहारत एव । तदुक्तं धर्मसंग्रहण्यां हरिभद्राऽऽचार्यैः– 'सो उभयक्खयहेऊ, सेलेसीचरमसमयभावी जो । सेसो पुणण्हिच्छयओ, तस्सेह पसाहगो भणिओ ॥१॥'' त्ति । तथाऽसुमान् जीवोऽपि निश्चयतः सिद्ध एव भविष्यतीत्याप न वाच्यम्, यतस्तत्रा ''सो उभयचक्खण' इत्यादिगाथायां धारयति सिद्धिगतावात्मानमिति धर्मः' इति फले फलरूपे धात्वर्थे चिन्ता । सा च – कुर्वद्रूपत्वेन कारणत्वं वदत एवंभूतनयस्य मते शैलेश्यन्त्यक्षण एव धर्मपदार्थसिद्धिसाक्षिणी, तदनन्तरं सिद्धिसाधारणरूपसाफल्यव्यवधानात् । इह तु धातुगा धात्वर्थावच्छिन्नस्वरूपविषयिणी चिन्ता । सा च तेन सहाऽव्यवधानं गवेषयेत, स्वरूपं तु प्रसिद्ध्यनुरोधेन संसारिण्येव पर्यवमाययेत्, न तु सिद्ध इति महान् विशेषः । स्यादेतत् धर्म पदेऽपि धात्वर्थो धारणसामान्यमेव, तच्च यतो विशेषतात्पर्यवशात् सिद्धसाधारणरूपविशेषे पर्यवस्यति, तथा जीवपदार्थोऽपि विशेषे पर्यवस्यतीति सिद्ध एव दत्तपदो भविष्यतीति । मैवम् । 'जीव' प्राणधारणे इत्यत्रा प्राणपेदे समभिव्याहृते साधारणस्य भूरिप्रयोगवशादयिकप्राणधारण एव पर्यव सानात् । अत एव गोपदस्य नानाऽर्थत्वेपिततो भूरिप्रयोगवशात्सास्नाऽऽदिमत एवोपस्थितेः, अश्वाऽऽदेस्तु पदान्तर समभिव्याहाराऽऽदिनेति तान्त्रिकाः । तदेवमेवंभूतनयाभिप्रायेण सिद्धो न जीव इति व्यवस्थापितम् । यदि पुनः प्रस्थकन्यायाद् विशुद्धतरनैगमभेदमाश्रित्य प्रागुक्त स्वग्रन्थगाथा व्याख्यायते परैः, तदा न किञ्चिदस्माकं दुष्यतीति किमल्पीयसि दृढतरक्षोदेन ॥ ''ऐन्द्री ततिः प्रणयिपुण्यमिवाङ्कुराग्रैर्यत्पादपद्मकिरणैः कलयत्युदीतम्। स्नात्राम्भसा दलितयादव दुष्टकष्टं, शङ्खेश्वरप्रभुमिमं शरणीकरोमि'' ॥५२॥ नयो० । स च द्विविधः संसारी, सिद्धश्च । जी० ३ प्रति० । विशे० । सूत्रा० । संसारिणो दशविधप्राणधारणाज्जीवाः, सिद्धाश्चज्ञानाऽऽदिभावप्राणधारणात् । स्या० । प्राणाश्च द्विधा द्रव्यप्राणाः, भावप्राणाश्च । तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियाऽऽदयो, भावप्राणा ज्ञानाऽऽदीनि । द्रव्यप्राणैरपि प्राणिनः संसारसमापन्ना नारकाऽऽदयः, केवलभावप्राणैः प्राणिनो व्यपगतसमस्तकर्म सन्नाः सिद्धाः । प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

जीवानां द्वैविध्यम् –

दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सिद्धा चेव, असिद्धा चेव । दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सइंदिया चेव, अणिंदिया चेव । (स्था० २ ठा० ४ उ०) दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सकाइया चेव, अकाइया चेव ! दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा – सजोगा चेव, अजोगा चेव । दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सवेदगा चेव, अवेदगा चेव । (जी० १ प्रति०) दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सकसाया चेव, अकसाया चेव । (स्था० २ ठा० ४ उ०) दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सलेसा य अलेसा य । (जी०) दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–णाणी चेव, अण्णाणी चेव । (जी०) दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा सागारोवउत्ता चेव, अणागारोवउत्ता चेव । (जी०) दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–आहारगा चेव, अणाहारगा चेव । जी० १ प्रति० ।

''दुविहा'' इत्यादि कण्ठ्यम् । (स्था०) ''सइंदिया'' इत्यादि । सेन्द्रि

याः संसारिणः, अनिन्द्रियाः सिद्धाः । (जी० १ प्रति०) सेन्द्रियाः संसारिणः, अनिन्द्रिया अपर्याप्तकेवलिसिद्धाः । (स्था०) ''सकाइया चेव'' इत्यादि । सकायाः पृथिव्यादिषडविधकायविशिष्टाः संसारिणः, अकायाः तद्विलक्षणाः सिद्धाः । (स्था०) ''सजोगा चेव'' इत्यादि । सयोगाः संसारिणः अयोगा अयोगिनः सिद्धाश्च । (स्था०) ''सवेदगा चेव'' इत्यादि । सवेदाः संसारिणः अवेदा अनिवृत्तबादरसंपरायविशेषाऽऽदयः षट् सिद्धाश्च । (स्था०) ''सकसाया चेव'' इत्यादि । सकषायाः सूक्ष्मसंपरायान्ताः, अकषाया उपशान्तमोहाऽऽदयः चत्वारः सिद्धाश्च । (स्था०) ''सलेसा य'' इत्यादि । सलेश्याः सयोग्यन्ताः संसारिणः, अलेश्या अयोगिनः सिद्धाश्च । (स्था०) ''णाणी चेव'' इत्यादि ज्ञानिनः सम्यग्दृष्टयः, अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयः । (स्था०) ''सागारोवउत्ता चेव'' इत्यादि । सहाऽऽकारेण विशेषांशग्रहणशक्तिलक्षणेन वर्तते य उपयोगः स साकारो, ज्ञानोपयोग इत्यर्थः । तेनोपयुक्ताः साकारोपयुक्ताः । अनाकारस्तु तद्विलक्षणो, दर्शनोपयोग इत्यर्थः । अभिधीयते च – ''जं सामन्नग्गहणं, भावाणं नेय कट्ठु आगारं । अविसेसऊण अत्थे, दंसणमिति वुच्चए समए'' ॥१॥ त्ति । तेनोपयुक्ता अनाकारोपयुक्ता इति । (स्था०) (''आहारगा चेव'' इत्यादि सूत्रस्य व्याख्या 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५१० पृष्ठे गता)

दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–भासगा य, अभासगा य । (जी०) दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा चरिमा चेव, अचरिमा चेव । (जी०) दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–ससरीरी य, असरीरी य । (जी० १ प्रति०)

''भासगा य'' इत्यादि । भाषकाः भाषापर्याप्तिपर्याप्तकाः, तन्निषेधाद-भाषकाः–अयोगिसिद्धाः, एकेन्द्रियाश्च । (स्था०) (''चरिमा चेव' इत्यादिसूत्रस्य विस्तरः 'चरम' शब्दे तृतीयभागे ११३८ पृष्ठे उक्तः) ''ससरीरी य'' इत्यादि । सशरीरिणः संसारिणः, अशरीरिणस्तु शरीरमेषामस्तीति शरीरिणः, तन्निषेधादशरीरिणः सिद्धाः । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

संग्रहणीगाथा चेयम् –

''सिद्धसइंदियकाए, जोगे वेए कसायलेसा य ।
णाणुवओगाहारे, भासगचरिये य ससरीरी'' ॥१॥
स्था० २ अ० ४ उ० ।

संप्रति संसारसमापन्नजीवाभिगममभिधित्सुस्तत्प्रश्न सूत्रमाह-

संसारसमावण्णएसु णं जीवेसु इमाओ णव पडिवत्तीओ एवमाहिज्जंति । तं जहा–एगे एवमाहंसु–दुविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता । एगे एवमाहंसु–चउव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता । एगे एवमाहंसु–पंचविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता । ते एएणं अभिलिबेणं० जाव दसविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ।

संसारसमापन्नेषु णमिति वाक्यालङ्कारे । जीवेषु, इमा वक्ष्यमाणलक्षणा नव प्रतिपत्तयो, द्विप्रत्यवतारमादौ कृत्वा दशप्रत्यवतारं यावद् येनव प्रत्यवतारास्तद्रूपाणि प्रतिपादनानि, संवित्तय इति यावत् । एवं वक्ष्यमाणया रीत्या आख्यायन्ते पूर्वसुरिभिः । इह प्रतिपत्त्याख्यानेन प्रणालिकयाऽर्थाख्यानं द्रष्टव्यं, प्रतिपत्तिभावेऽपि शब्दादर्थे प्रवृत्ति-करणात् । तेन यदुच्यतेशब्दाद्वैतवादिभिः, शब्दमात्रं विश्वमिति । तदपास्तं द्रष्टव्यम् । तदपासने चेयमुपपत्तिः–एकान्तैकस्वरूपे वस्तुन्यभि-धानद्वया संभवात्, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताभावात्, ततश्च शब्दमात्र मित्येव स्यात्, न विश्वमिति प्रणालिकयाऽर्थाभिधानमेवोपदर्शयति। तद्यथा– एके आचार्या एवमाख्यातवन्तः द्विविधाः संसारसमापन्ना जीवाः प्रज्ञप्ताः । एके एवमाख्यातवन्तः–त्रिविधाः संसारसमापन्ना जीवाः प्रज्ञप्ताः । एवं यावद् दशविधा इति । इह एके इति न पृथग् मतावलम्बिनो दर्शनान्तरीया इव केचिदन्ये आचार्याः, किं तु य एव पूर्वं द्विप्रत्यवतारविवक्षायां वर्तमाना एवमुक्तवन्तः । यथा–द्विविधाः संसारसमापन्ना जीवा इति, एवं त्रिप्रत्यवतारविवक्षायां वर्तमानाः । द्विप्रत्यवतारविवक्षामपेक्ष्य त्रिप्रत्य-वतारविवक्षाया अन्यत्वात्, विवक्षा विवक्षावतां च कथञ्चिदभेदादन्ये इति वेदितव्याः । अत एव प्रतिपत्तय इति परमार्थतोऽनुयोगद्वाराणीति प्रतिपत्तव्यम् । इह य एव द्विविधास्त एव त्रिविधास्त एव चतुर्विधा इति, तेषामनेकस्वभावतायां तत्तद्धर्मभेदेन तथातथाऽभिधानता युज्यते, नान्यथाः, एकान्तैकस्वभावतायां तेषां वैचित्र्यायोगतस्तथातथाऽ-भिधान प्रवृत्तेरसंभवात् । एवं सति अष्टविकल्पम् दैवं, तिर्यग्योनिं च पञ्चधा भवति, मानुष्यं चैकविधं समासतो भौतिकः सर्ग इति वाङ्मात्रमेव अधिष्ठातृजीवानामेकरूपत्वाभ्युपगमनेन तथारूपवैचित्र्यासंभवादिति । एवमन्येऽपि प्रवादास्तथा वस्तुवैचित्र्यप्रतिपादनपरा निरस्ता द्रष्टव्याः, सर्वथैक स्वभावत्वाभ्युपगतौ वैचित्र्यायोगात् ।

संप्रत्येता एव प्रतिपत्तीः क्रमेण व्याचिख्यासुः प्रथमत आद्यां प्रतिपत्तिं विभावयिषुरिदमाह –

तत्थ जे ते एवमाहंसु दुविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता । तं जहा–तसा चेव, थावरा चेव ॥

(तत्थ जे ते इत्यादि) तत्र तासु नवसु प्रतिपत्तिषु मध्ये ये तद्विप्रत्यवतारविवक्षायां वर्तमानां एवमाख्यातवन्तः द्विविधाः संसारसमापन्नका जीवाः प्रज्ञप्ता इति । ते णमिति वाक्या-लङ्कारे । एवं वक्ष्यमाणरीत्या द्विविधत्वभावनाऽर्थमाख्यातवन्तः । तद्यथे –त्युपन्यस्तद्वैविध्योपदर्शनार्थमाहत्रासाश्चैव, तत्र त्रासन्ति उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाऽऽद्यासेवनाऽर्थं स्थानान्तरमिति त्रासाः । अनया च व्युत्पत्त्या त्रासत्रसनामकर्मोदयवर्तिन एव परिगृह्यन्ते, न शेषाः । अथ च – शैषैरपीह प्रयोजनं, तेषामप्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । तत एवं व्युत्पत्तिः– त्रसन्ति अभिसिन्धुपूर्वकमनभि सन्धिपूर्वकं वा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु चलन्तीति त्रासाः । तैजसा वायवो द्वीन्द्रियादयश्च । उष्णाऽऽद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारा समर्थाः सन्तस्तिष्ठन्तीति एवंशीलाः स्थावराः पृथिव्यादयः ।

च शब्दौ स्वगतानेकभेदसमुच्चयार्थौ । एवकारवधारणार्थौ । एते एव संसारसमापन्नका जीवाः, एतद्व्यतिरेकेण संसारिणामभावात् । जी० १ प्रति० । स्था० ।

जीवानां त्रैविध्यम् –

तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–तसा य, थावरा य,

णो तसा णो थावरा। (जी० ३ प्रति०) तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–परित्ता, अपरित्ता, नो परित्ता नो अपरित्ता। (जी० ३ प्रति) तिविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा–इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा। तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सम्मदिट्ठी, मिच्छदिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी। तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–पज्जत्तगा, अपज्जत्तगा, नो पज्जत्तगा नो अपज्जत्तगा। (स्था० ३ ठा० २ उ०।) तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सुहुमा, बायरा, नो सुहुमा नो बायरा (जी० ३ प्रति०) तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–सण्णी असण्णी, णो सण्णी णो असण्णी। (जी०) तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा भवसिद्धिआ, अभवसिद्धिआ, नो भवसिद्धिआ नो अभवसिद्धिआ। जी० ३ प्रति०।

उक्तानुक्तसंग्रहार्थे गाथाऽर्द्धम् –

''सम्मद्दिट्ठि–परित्ता–पज्जत्तग–सुहुम–सन्नि–भविका य।'' स्था० ३ ठा० २ उ०।

''परित्ता'' इत्यादि। परीत्ताः प्रत्येकशरीराः, अपरीत्ताः साधारणशरीराः। परीत्तशब्दस्य छन्दोऽर्थे व्यत्यय इति। (स्था० ३ ठा० २ उ०) ''पज्जत्ता'' इत्यादि। (नो पज्जयत्त त्ति) नो पर्याप्तकाः, नो अपर्याप्तकाः सिद्धाः। (स्था० ३ ठा० २ उ०) ''सण्णी'' इत्यादि। संज्ञिनः समनस्काः, असंज्ञिनोऽमनस्काः, उभयप्रतिषेधवर्तिनः सिद्धाः। (जी० ३ प्रति०) ''भवसिद्धिया'' इत्यादि। सर्वत्र तृतीयपदे सिद्धा वाच्याः। स्था० ३ ठा० २ उ०।

जीवानां चातुर्विध्यम् –

चउव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहाणेरइया, तिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा। चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–मणजोगी, वयजोगी, कायजोगी, अजोगी। अहवा–चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–इत्थिवेयगा, पुरिसवेयगा, णपुंसगवेयगा, अवेयगा। अहवा–चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–चक्खुदंसणी, अचक्खुदंसणी, ओहिदंसणी, केवलदंसणी। अहवा–चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–संजया १, असंजया २, संजयासंजया ३, णो संजयासंजया ॥४॥

व्यक्तानि चैतानि, नवरं मनोयोगिनः समनस्काः, योगत्रय-सद्भावेऽपि तस्य प्राधान्यात्। एवं वाग्योगिनो द्वीन्द्रियाऽऽदयः कायोगिन एकेन्द्रियाः, अयोगिनो निरुद्धयोगाः सिद्धाश्चेति। अवेदकाः सिद्धादयश्चक्षुषः समान्यार्थग्रहणमवग्रहेहारूपं दर्शनं चक्षुर्दर्शनं तद्वन्तश्चतुरिन्द्रियादयः, अचक्षुःस्पर्शनादितद्वर्शनवन्त एकोन्द्रियादय इति। संयताः सर्वविरताः, असंयता अविरताः, संयतासंयता देशविरतास्त्रयः, तत् प्रतिषेधवन्तः सिद्धा इति। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

जीवानां पञ्चविधत्वम् –

पंचविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा एगिंदिया० जाव पंचेंदिया। (स्था० ५ ठा० ३ उ०) पंचविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–नेरइया, तिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा, सिद्धा। पंचविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–कोहकसाई, माणकसाई, मायाकसाई, लोभकसाई, अकसाई। जी० ३ प्रति०॥

''पंचविहेत्यादि।'' संसारसमापन्ना भववर्तिनः, सर्वजीवाः संसारिसिद्धाः, अकषायिण उपशान्तमोहाऽऽदयः। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

संसारिणो य मुत्ता, संसारी छव्विहा समासेण।
पुढवीकाइयमादी, तसकायंता पुढो भेया ॥६४॥

चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः। संसारिणो, मुक्ताश्चेति। तत्र संसारिणः षड्विधाः षट्प्रकाराः, समासेन जातिसंक्षेपेणेति भावः। षड्विधत्वमेवाऽऽह – पृथिवीकायिकाऽऽदयस्त्रसकायान्ताः। यथोक्तम् –''पुढवीकइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकायिया, वणस्सइकाइया, तसकाइया।' पृथग्भेदा इति स्वातन्त्र्येण पृथग्भिन्नस्वरूपाः, न तु परमपुरुषविकारा इति ॥६४॥ आ०।

जीवानां षड् विधत्वम् –

छव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा पुढवीकाइया० जाव तसकाइया। छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–आभिणिबोहियणाणी० जाव केवलणाणी, अन्नाणी। अहवा–छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–एगिंदिया० जाव पंचिंदिया, अणिंदिया। अहवा छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–ओरालियसरीरी, वेउव्वियसरीरी, आहारगसरीरी, तेयगसरीरी, कम्मगसरीरी, असरीरी।

संसारसमापन्नकजीवसूत्रे, पृथिवीकायिकाऽऽदयो जीवतयोक्ताः, पूर्वसूत्रे तु निकायन्वेनेति विशेषाद् न पुनरुक्तेति। ज्ञानिसूत्रे–अज्ञानिनस्त्रिविधाः–मिथ्यात्वापहतज्ञानाः। इन्द्रियसूत्रेअनिन्द्रियाः अपर्याप्ताः, केवलिनः, सिद्धाश्चेति। शरीरसूत्रेयद्यप्यन्तरगतौ कार्म्मण शरीरसंभवः, तद्व्यतिरिक्तस्य तैजसशरारिणोऽसम्भवः, तथाऽप्येकतराविवक्षया भेदो व्याख्यातव्यः तथा अशरीरी सिद्ध इति। स्था० ६ ठा०।

जीवानां सप्तविधत्वम् –

सत्तविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा नेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, मणुस्सा, मणुस्सीओ, देवा, देवीओ। सत्तविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–पुढवीकाइया, आउक्काइया, तेउक्काइया, वाउक्काइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया, अकाइया। (जी०) सत्तविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–कण्हलेसा, नीललेसा, काउलेसा, तेउलेसा, पम्हलेसा, सुक्कलेसा, अलेसा। जी०।

सूत्राद्वयं कण्ठ्यं, नवरं सर्वे च ते जीवाश्चेति सर्वजीवाः संसारिमुक्ता इत्यर्थः। तथा (अकाइय त्ति) सिद्धाः, षड्विधकायाव्यपदेश्यत्वादिति। अलेश्याः–सिद्धा अयोगिनो वेति। (जी०)

अट्ठविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा–पढमसमय नेरइया, अपढमसमयनेरइया, पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया, पढमसमयमणुस्सा, अपढमसमयमणुस्सा, पढमसमयदेवा, अपढमसमयदेवा। जी० ८ प्रति०। स्था०।

तत्र प्रथमसमयनारकाः नारकायुःप्रथमसमयसंवेदिनो अप्रथमसमयनारका नारकायुष्यादिसमयवर्तिनः, एवं तिर्गग्योनिकादयोऽपि भावनीयाः। जी० ८ प्रति०।

अट्ठविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–नेरइया, तिरिक्ख जोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, मणुस्सा, मणुस्सीओ य, देवा, देवीओ य, सिद्धा। अहवा–अट्ठविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–आभिणिबोहियणाणी० जाव केवलणाणी, मइअण्णाणी, सुयअणाणी, विभंगनाणी। स्था० ८ ठा०॥

नवविधत्वमाह –

नवविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–पुढवीकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, वेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया। जी० ९ प्रति०।

जीवाणं नवहिं ठाणेहिं संसारं वत्तिंसु वा, वत्तंति वा, वत्तिस्संति वा। तं जहा–पुढवीकाइयत्ताए० जाव पंचिंदियकाइयत्ताए।

संसरणं निर्वर्तितवन्त अनुभूतवन्तः, एवमन्यदपि। स्था० ९ ठा०।

नवविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–एगिंदिया वेइंदिया, तेइंदिया, चतुरिंदिया, णेरतिया, पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिया, मणूसा, देवा, सिद्धा। जी० ९ प्रति०।

नवविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–पढमसमय-णेरतिया, अपढमसमयणेरतिया, पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया, पढमसमयमणूसा, अपढमसमयमणूसा, पढमसमयदेवा, अपढमसमयदेवा, सिद्धा। जी० ९ प्रति०।

दशविधत्वम् –

दसविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा पढमसमयएगिंदिया, अपढमसमयएगिंदिया, पढमसमय-वेइंदिया, अपढमसमयवेइंदिय० जाव पढमसमयपंचिंदिया, अपढमसमयपंचिंदिया। जी० १० प्रति०॥

तच्च सुगमं, नवरं प्रथमः समयो येषामेकेन्द्रियत्वस्य ते प्रथमसमयास्ते च ते एकेन्द्रियाश्चेति विग्रहः। विपरीतास्त्वितर एवं द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया वाच्याः। स्था० १० ठा०।

दसविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–पुढवीकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणप्फतिकाइया, वेइंदिया, तेइंदिया, चतुरिंदिया, पंचिंदिया, अणिंदिया। जी० १० प्रति०।

अनिन्द्रियाः सिद्धा अपर्याप्तका उपयोगतः केवलिनश्चेति। स्था० १० ठा०।

दसविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। तं जहा–पढमसमयणेरइया, अपढम–समयनेरइया, पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढम समयतिरिक्खजोणिया, पढमसमयमणूसा, अपढसमयमणूसा, पढमसमयदेवा, अपढमसमयदेवा, पढमसमयसिद्धा, अपढम-समयसिद्धा। जी० १० प्रति०। स्था०॥

जीवानां चतुर्दशविधत्वम् –

कइविहा णं भंते ! संसारसमावणगा जीवा पण्णत्ता ? गोयमा ! चउद्दसविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता। तं जहा–सुहुमअपज्जत्तगा १, सुहुमपज्जत्तगा २, बादरअपज्जत्तगा ३, बादरपज्जत्तगा ४, वेइंदिया अपज्जत्तगा ५, वेइंदिया पज्जत्तगा ६, एवं तेइंदिया ७–८, एवं चउरिंदिया ९–१०, असण्णिपंचिंदिया अपज्जत्तगा ११, असण्णिपंचिंदिया पज्जत्तगा १२, सण्णिपंचिंदिया अपज्जत्तगा १३, सण्णिपंचिंदिया पज्जत्तगा १४। भ० २५ श० १ उ०।

तत्राह –

चउदसविहा वि जीवा, विबंधगा तेसिमंतिओ भेओ।
चोद्दसहा सव्वे वि हु, किमाइसंताइपयनेया ॥१॥

चतुर्दशविधा अपि चतुर्दशप्रकारा अपि जीवाः प्रागुक्तस्वरूपा अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदयो, विबन्धका ज्ञेयाः, विशेषेण बन्धका विबन्धकाः अष्टप्रकारस्य कर्मण इति शेषः। तेषां चतुर्दशविधानां जीवानाम्, अन्तिमो भेदः– पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाख्यः चतुर्दशधा चतुर्दशप्रकारो मिथ्यादृष्टयादिभेदादवसेयः, सर्वेऽपि चैतेऽनन्तरोक्ता अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदयो मिथ्यादृष्ट्यादयश्च किमादिकैः, पदैः सत्पदाऽऽदिकैश्च प्ररूप्यमाणा यथावज्ज्ञातव्याः ॥१॥

तत्र ''यथोद्देशं निर्देशः'' इति न्यायात् प्रथमतः किमादिपदैः प्ररूपणां चिकीर्षुराह –

किं जीवा उवसमगा – इएहिं भावेहिं संजुयं दव्वं।
कस्स सरूवस्स पहू, केणं ति न केणइ कयाओ ॥२॥

किं जीवाः? किं नाम जीवा इत्यभिधीयते ?, एवं परेण प्रश्ने कृते रातिसूरि सूरिरुत्तरमाह – उपशमाऽऽदिभिरुपशमौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकैर्भावैः संयुतं संभिअं द्रव्यम्। आह औदयिकाऽऽदीन् भावान् परित्यज्य किमितीहौपशमिकस्य भावस्य साक्षादुपादानम् ? उच्यते –इह जीवस्य स्वरूपं पृष्टेन सता तदेव वक्तव्यं यदसाधारणं स्वरूपम, एवं हि पदार्थान्तर रवरूपेभ्यो वैवित्तयेन तत्प्रति पादितं भवति, नान्यथा, औदयिकपारिणामिकौ च भावावजीवानामपि भवतः, अतस्तौ साक्षान्नोपात्तौ, क्षायिकोऽपि च भाव औपशमिकभावपूर्वकः, नखल्वौपशमिकभावमनासाद्य कश्चिदपि क्षायिकं भावमासादयति, क्षायोपशमिकोऽपि व भावो नौपशमि-काद्भावादत्यन्त –

भेदी, तत इह साक्षादौपशमिकस्य भावस्योपादानमिति। ततः ''कस्य प्रभवः स्वामिनो जीवाः?'' इति प्रश्ने कृते सति उत्तरम् – स्वरूपस्य आत्मीयस्य रूपस्य, निश्चयनयमतमेतत्। तथाहि--कर्मबिनिर्मुक्त-स्वरूपा आत्मानो न केषामपि प्रभवः, किं तु स्वरूपस्यैव, तथास्वाभाव्यात्। यस्तु स्वस्वामिभावः संसारे, स कर्मोपाधिजनित-त्वादौपाधिकः, न पारमार्थिक इति। तथा केन कृता जीवा? इति प्रश्ने कृते सति समाधिः– न केनचित्कृताः किन्तु नभस्वदकृत्रिमा एव, यथा चाकृत्रिमता जीवानां, तथा धर्मसंग्रहणीटीकायां सप्रपञ्चमभिहितमिति नेह भूयोऽभिधीयते, ग्रन्थगौरवभयात् ॥२॥

कत्थ सरीरे लोए, व हुंति केवचिर सव्वकालं तु।
कइ भावजुआ जीवा, विगतिगचउपंचमीसेहिं ॥३॥

कुत्रा जीवा अवतिष्ठन्ते ? इति प्रश्ने कृते सति उत्तरमाचार्य आह शरीरे, लोके वा, तत्र सामान्यचिन्तायां लोके, नाऽलोके, अलोके स्वभावत एव धर्माधर्मास्तिकायजीवपुद्गलानामसंभवात्। विशेषचिन्तायां शरीरे, नान्यत्र, शरीरपरमाणुभिरेव सह आत्मप्रदेशानां क्षीरनीरवदूयोन्या-नुगमभावात्। उक्तञ्च – ''अन्नोन्नमणुगयाइं, इमं च तं च त्ति विभयणमजुत्तं। जह खीरपाणियाइं'' ति। तथा (केवचिर त्ति) कियच्चिरं कियत्कालं जीवा भवन्ति ? इति प्रश्ने कृते सति उत्तरम् – सर्वकालमेव, तुरेवकारार्थः। इह ''केण ति न केणइ कया उ (२)'' इत्यनेन ग्रन्थेन पूर्वं जीवानामनादित्वमावेदितम्, इदानीं त्वनिधनत्वम्, ततश्चानादि-निधना जीवा इति द्रष्टव्यम्। तथा च सति मुक्तस्य वस्थामधिगता अपि जीवा न विनश्यन्ति, किन्तु ज्ञानाऽऽदिके स्वरूपेऽवतिष्ठन्त इति श्रद्धेयम्। तेन यत्कैश्चिदुच्यते –

''दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्,
स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥१॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्,
स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥२॥

तथा –

अर्हन्मरणचित्तस्य, प्रतिसन्धिर्न विद्यते ॥
प्रदीपस्येव निर्वाणं, विमोक्षस्तस्य चेष्सितः'' ॥३॥ इति

तदपास्तमवसेयम्। सतः सर्वथा विनाशायोगात्, तथादर्शनादिति कृतं प्रसङ्गेन, मा भूद् ग्रन्थगौरवमिति कृत्वा। तथा कतिभिरुपशमा-ऽऽदिभिर्भावैर्युताः संयुक्ता जीवाः? इति प्रश्ने कृते सति, उत्तरमाह – द्विकत्रिकचतुःपञ्चमिश्रैः। पं० सं०। (जीवस्थानेषु भावस्थितिः 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ६२३ पृष्ठे कर्मग्रन्थने गतार्था)

तत्र ये जीवा यावत्सु शरीरेषु संभवन्ति, तान् तावत्सु प्रतिपादयन्नाह –

सुरनेरइया तिसु तिसु, वाउपणिंदीतिरिक्ख चउ चउसु।
मणुया पंचसु सेसा, तिसु तणुसु अविग्गहा सिद्धा ॥४॥

सुरा नैरयिकाश्च प्रत्येकं तिसृषु तनुषु शरीरेषु वर्त्तन्ते। तद्यथा तैजसे, कार्मणे, वैक्रिये च। तथा वायवो वातकायाः, तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः प्रत्येकं चतसृषु तनुषु संभवन्ति। तत्र त्रीणि शरीराणि पूर्वोक्तान्येव, चतुर्थं त्वौदारिकमवगन्तव्यम्, वैक्रियं च वायुकायिकानां पञ्चेन्द्रिय-तिरश्चां वैक्रियलब्धिमतामवसेयम्, सर्वेषामविशेषेण तथा मनुजा मनुष्याः पञ्चस्वपि तनुषु संभवन्ति। तद्यथा, औदारिके वैक्रिये आहारके तैजसे कार्म्मणे च। तत्र वैक्रियं वैक्रियलब्धिमताम्, आहारकं चतुर्दश पूर्ववेदिनाम्, औदारिकतैजसकार्मणानि सुप्रतीतानि शेषास्त्वेक द्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः प्रत्येकं तिसृषु तिसृषु औदारिकतैजस-कार्मणरूपासु तनुषु वेदितव्याः, सिद्धा व्यपगतसकलकर्ममलकलङ्का पुनरविग्रहा विग्रहरहिताः, अशरीरा इत्यर्थः ॥४॥

तदेवं किमादिपदैः प्ररूपणाकृता। संप्रति सत्पदाऽऽदिपदैः प्ररूपणा कर्त्तव्या सत्पदाऽऽदीनि च पदान्यमूनि – ''संतपयरूवणया, दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य। कालो य अंतरं भागभाव अप्पाबहुं चेव ॥'' तत्र प्रथमतः सत्पदरूपणां विदधाति –

पुढवाई चउ चउहा, साहारणवणं पि संततं सययं।
पत्तेयपज्जऽपज्जा, दुविहा सेसा उ उववन्ना ॥५॥

इह ये पृथिव्यादयश्चत्वारः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपाः, प्रत्येकं सूक्ष्मबादरपर्याप्ताऽपर्याप्तभेदाच्चतुर्द्धा चतुःप्रकाराः, सर्वभेदसंख्यया षोडशसंख्या, ततो भूयः सर्वेऽपि प्रत्येकं द्विधा द्विप्रकाराः। तद्यथा– प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च, प्रागुत्पन्नोत्पद्य मानता च प्रज्ञापकापेक्षया वेदितव्या। ते सर्वेऽपि सततमनवरतम् (संततं ति) यथायोगं सर्वत्र वचनलिङ्गपरिणामेन संबद्ध्यन्ते, सन्तो विद्यमानाः सर्वकालं सन्तः प्राप्यन्ते इत्यर्थः। तथा साधारणवनमपि साधारणवनस्पतयोऽपि पर्याप्त –सूक्ष्मबादरभेदभिन्नाः प्रत्येकं द्विधा, प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च, सततं सन्तो विद्यमानाः सर्वेऽपि सर्वदैव सन्त इत्यर्थम्। तथा– (पत्तेय इत्यादि) प्रत्येकबादरवनस्पतयः पर्याप्ताऽपर्याप्ताश्च। प्रत्येकं द्विधा–प्रागुत्पन्नाः, उत्पद्यमानाश्च। सततं सन्तः सर्वकालं सतः प्राप्यन्ते इति यावत्। शेषास्तु द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः प्रत्येकं पर्याप्ताऽपर्याप्ताश्च, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः पुनः पर्याप्ताः प्रागुत्पन्नाः सततं सन्तः, उत्पद्यमानकास्तु भाज्याः, तुशब्दस्यानेकार्थत्वात् संज्ञिनो लब्ध्यपर्याप्तकाः प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च भाज्याः। कथमेतदवसीयते ? इति चेत्। उच्यते–इह संज्ञिनां लब्ध्यपर्याप्तकानावस्थामन्तर्मुहुर्त्तमात्रं, तेषामायुषोऽन्तर्मुहूर्त्त-मात्रत्वात्। अन्तरं चैतेषामुत्पत्तिमधिकृत्योत्कर्षतो द्वादशमुहूर्त्ताः ततस्ते प्रागुत्पन्ना अपि सत्तायां भाज्याः। ननु द्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः अपि लब्ध्यपर्याप्तका अन्तर्मुहुर्त्तायुषः, अन्तरमपि च तेषामन्तर्मुहूर्त्त-मात्रमन्य-त्रोद्घुष्यते, ततः कथं तेऽपि प्रागुत्पन्ना भाज्या न भवन्ति ? नैष दोषः। तेषामवस्थानस्य बृहत्तरोन्तर्मुहुर्त्त प्रमाणत्वात् तदायुषस्ता-वन्मात्रत्वात्। कथंमिदमवसितमिति चेत् ? उच्यते–ग्रन्थान्तरे नित्यराश्यधिकारे नित्यराशिभिः सह तेषां यौगपद्येनाभिधानात् ॥५॥

तदेवं चतुर्दशविधान् सत्पदप्ररूपणया प्ररूप्य सांप्रतमेतेषा मेवान्तिमो भेदश्चतुर्दशप्रकारः सत्पदप्ररूपणया प्ररूपयितव्यः; स च चतुर्दशधा गुणस्थानकभेदाद्भवति, ततो गुणस्थानकान्येव सत्पदप्ररूपणया प्ररूपयति –

मिच्छा अविरयदेसा, पमत्तअपमत्तया सजोगी य।

सव्वद्धं इयरगुणा, नाणाजीवेसु वि न होंति ॥६॥

मिथ्यादृष्ट्यविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसयोगिकेवलिलक्षणानि गुणस्थानकानि सर्वाद्धं सर्वकालं विद्यन्ते, इतराणि शेषाणि (गुण त्ति) गुणस्थानकानि सास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहायोगिकेवलिलक्षणान्यष्टसंख्याकानि नानाजीवेष्वपि, आस्तामेकस्मिन् जीवे इत्यपिशब्दार्थः । न सर्वकालं भवन्ति, न सर्वकालं विद्यमानानि प्राप्यन्ते इत्यर्थः, किन्तु कदाचिदेव । यदाऽपि च सास्वादनाऽऽदयः प्राप्यन्ते, तदाऽपि कदाचिदेककाः, कदाचिद् बहवः, बहुत्वं च प्रतिनियतं प्रत्येकमग्रे वक्ष्यति ॥६॥

एतेषां च सासादनाऽऽदीनामष्टसंख्याकानां यावन्तो भेदा एकद्विकाऽऽदिसंयोगतः सर्वसंख्यया भवन्ति, तावन्तः प्रतिपिदयिषुः सामान्यतः करणगाथामाह –

इगदुगजोगाईणं, ठवियमहो एगऽणेग इइ जुयलं ।
इति जोगा उ दुदुगुणा, गुणियविमिस्सा भवे भंगा ॥७॥

एकद्विकयोगाऽऽदीनाम् एककद्विकत्रिकसंयोगाऽऽदीनां प्रत्येकमधस्तादेकानेकरूपं युगलं द्विकमवस्थाप्यते, तत एकक– योगादारभ्य (दुदुगुण त्ति) द्विगुणा द्वाभ्यां सहिता द्विद्विगुणाः । तथाहि–पाश्चात्या भङ्गा द्विगुणाः क्रियन्ते, ततो द्विकसहिता विधेयाः । ततः पुनरपि गुणितविमिश्रा ये भङ्गाः प्राचीना द्वाभ्यां गुणितास्तैः केवलैः सहिताः क्रियन्ते, तद ईप्सितपदे इष्टसंख्याका भङ्गा भवन्ति । इयमत्र भावनायावन्तः पदार्था विकल्पेन भवन्तो भेदसंख्यया ज्ञातुमिष्टास्तावन्तोऽसत्कल्पनया बिन्दवः स्थाप्यन्ते । इह च प्रकृता अष्टौ सास्वादनाऽऽदयः ततोऽष्टौ बिन्दवः स्थाप्यन्ते, तेषां चाधस्तात् प्रत्येकं द्विकः स्थाप्यः । स्थापना चेयम् – ० ० ० ० ० ० ० ० २ २ २ २ २ २ २ २ तत्रैकपदे द्वौ भङ्गौ । तद्यथा– एको बहवो वेति पदद्वये भङ्गा अष्टौ । तद्यथा– पाश्चात्यौ द्वौभङ्गौ द्वाभ्यां गुणितौ जाताश्चत्वारः, ते द्वितीयबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्तेः, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जाताः षट्, ततो ''गुणियविमिस्सा'' इति वचनात् यौ पाश्चात्यौ द्वौ भङ्गौ द्वाभ्यां गुणितौ तौ षट्सु मध्ये प्रक्षिप्येते, ततो जाता अष्टौ, एतावन्तः पदद्वये भङ्गाः । ननु पदद्वये भङ्गा रचत्वार एव प्राप्यन्ते । तथाहि–किल एकः सास्वादन एको मिश्र इत्येको भङ्ग, एकः सास्वादनो बहवो मिश्रा इति द्वितीयः, बहवः सास्वादना एको मिश्र इति तृतीयः, बहवः सास्वादना बहवो मिश्रा इति चतुर्थः । अतः परमेकोऽपि भङ्गो न संभवति, तत्कथमुच्यतेपदद्वये भङ्गा अष्टौ भवन्तीति ? तदयुक्तम् । अभिप्रायपरिज्ञानात् । इह हि यदि सास्वादनाभिश्रौ सदैवावस्थितौ भवेताम्, भजना तु तयोरेकानेकत्वमात्राकृतैव केवला भवेत्, तदोक्तप्रकारेण द्वयोः पदयोर्भङ्गाश्चत्वार एव भवन्ति । यावता सास्वादनमिश्रौ स्वरूपेणापि विकल्पनीयौ । तथाहि–कदाचित् सास्वादनो भवति, कदाचिन्मिश्रः, कदाचिदुभौ । यत्र सास्वादनः केवलो जायमानः कदाचिदेकः कदाचिदनेक इति द्वौ भङ्गौ । एवं मिश्रेऽपि द्वाविति चत्वारः । उभौ च युगपज्जायमानौ भवदुक्तप्रकारेण चतुर्भङ्गिकतया जायते, ततः पदद्वये भङ्गा अष्टौ भवन्ति । एवमुत्तरत्रापि भङ्गार्थभावना भावनीया । सम्प्रति पदत्रयभङ्गा दर्श्यन्ते तत्र पाश्चात्याः पदद्वये भङ्गा अष्टौ (द्वाभ्यां) गुण्यन्ते, जाताः षोडश । ते तृतीयबिन्दु स्थाने स्थाप्यन्ते ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जाता अष्टादश । ततो भूयः पाश्चात्या अष्टौ प्रक्षिप्यन्ते, जाताः षड्विंशतिः । एतावन्तः पदत्रये भङ्गाः । ततः सैव षड्विंशतिद्वीभ्यां गुण्यते, जाता द्विपञ्चाशत् । सा चतुर्थबिन्दुस्थाने स्थाप्यते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, ततो जाताश्चतुः पञ्चाशत् । ततः पुनरपि पाश्चात्य षड्विंशतिः प्राक्षिप्यते, जाता अशीतिः । एतावन्तः पदचतुष्टये भङ्गाः । ततः सा अशीतिर्द्वाभ्यां गुण्यते, जातं षष्टयेधिकं शतम्, तत्पञ्चमबिन्दुस्थाने स्थाप्यते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जातं द्विषष्टयधिकं शतम्, ततः पुनरपि प्राक्तनी अशीतिः प्रक्षिप्यते, ततो जाते द्वे शते द्विचत्वारिंशे । एतावन्तः पदपञ्चके भङ्गा । ततस्ते द्वे शते द्विचत्वारिंशे द्वाभ्यां गुण्येते:, जातानि चत्वारि शतानि चतुरशीत्यधिकानि । तानि षष्ठबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जातानि चत्वारि शतानि षड्शीत्यधिकानि । ततो भूयः प्राक्तने द्वे शते द्विचत्वारिंशदधिके प्रक्षिप्येते, जातानि सप्तशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि । एतावन्तः षट्सु पदेषु भङ्गाः । ततः सप्तशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातानि चतुर्दश शतानि षट्पञ्चाशदधिकानि । तानि सप्तमबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, जातानि चतुर्दशशतानि अष्टपञ्चाशदधिकानि । ततः पुनरपि प्राक्तनानि सप्तशतानि अष्टाविंशत्यधिकानि प्रक्षिप्यन्ते, ततो भवन्त्येकविंशतिशतानि षडशीत्यधिकानि । एतावन्तः सप्त– पदभङ्गा । अमूनि चैकविंशतिशतानि षडशीत्यधिकानि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातानि त्रिचत्वारिंशच्छतानि द्विसप्तत्यधिकानि । तान्यष्टमबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विकः प्रक्षिप्यते, ततो जातानि त्रिचत्वारिंशच्छतानि चतुःसप्तत्यधिकानि । ततो भूयोऽपि प्राक्तनान्येकविंशतिशतानि षड्शीत्यधिकानि प्रक्षिप्यन्ते, ज्ञातानि षष्ठ्यधिकानि पञ्चषष्टिशतानि । एतावन्तोऽष्टपदभङ्गाः ॥७॥

संप्रत्येषामेव भङ्गकानां प्रकारान्तरेण प्ररूपणामाह –

अहवा एक्कपईया, दो भंगा इगिबहुत्तसन्ना जे ।
ते चिय पयवुड्ढीए, तिगुणा दुगसंजुया भंगा ॥८॥

अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शने, एकपदिकौ एकपदभवौ द्वौ भङ्गौ भवतः, कौ तौ ? इत्याह – यौ एकबहुत्वसंज्ञौकदाचिदनेक इत्येवंरूपौ, ततस्तावेव द्वौ भङ्गावादौ कृत्वा पदवृद्धौ द्विकाऽऽदिपदवृद्धौ प्राक्तनाः प्राक्तनास्त्रिगुणाः क्रियन्ते, ततो द्विकेन संयुक्ता विधेयाः, ततस्तत्तत्पदभङ्गा भवन्ति । इयमत्र भावनातावेवैकपदिकौ भङ्गौ पदद्वये त्रिगुणीक्रियेते, ततो जाताः षट् । ते द्विकेन संजुज्यन्ते, ततो जायन्तेऽष्टौ । एतावन्तः पदद्वये भङ्गा । ततस्तेऽष्टौ त्रिगुणाः क्रियते, जाता चतुर्विंशतिः । सा द्विकेन संयुक्ता जाता षड्विंशतिः । एतावन्तः पदत्रये भङ्गा । ततः साऽपि षड्विंशतिस्त्रिगुणीक्रियते, जाता अष्टसप्ततिः । ततो द्विकप्रक्षेपः ततो भवत्यशीति । एतावन्तः पदचतुष्टये भङ्गाः । एवं तावद् वाच्यं, यावत्सप्तपदभङ्गाः षडशीत्यधिकान्येकविंशतिशतानि । तानि भूयस्त्रिगुणीक्रियन्ते, ततो द्विकः प्रक्षिप्यते, जातानि षष्ठ्यधिकानि पञ्चषष्टिशतानि । एतावन्तोऽष्टसु सास्वादनाऽऽदिपदेषु भङ्गाः ॥७॥ तदेवं कृता सत्पदप्ररूपणा ।

सम्प्रति द्रव्यप्रमाणमाह –

साहारणाण भेया, चउरो अणंताऽसंखया सेसा।
मिच्छाऽणंता चउरो, पलियासंखं ससेससंखेज्जा ॥८॥

साधारणानां साधारणवनस्पतिकायिकानां चत्वारो भेदाः, पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादररूपाः, प्रत्येकमनन्ता अनन्तसंख्याः, अनन्तलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्तेषाम्। तथा शेषाः पृथिव्यम्बुतेजोवायवः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरभेदाच्चतु र्भेदाः तथा पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्नाः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्तापर्याप्त द्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिनोऽसंख्याता असंख्यातसंख्याः। अथापर्याप्तासंज्ञिनः कथमसंख्याता गीयन्ते ? न हि ते सदैव प्राप्यन्ते किं तु कदाचिदेव, ततः कथमसंख्याता घटन्ते। नैष दोषः। यतो यद्यपि ते सदैव न भवन्ति, तथापि यदा भवन्ति तदा जघन्येनैको द्वौ वा उत्कर्षतोऽसंख्येयाः। उक्तं च– ''एगो व दो व तिन्नि व, संखमसंखा व एगसमएणं।'' इति। तथा मिथ्यादृष्टयोऽनन्ताः– अनन्तलोका ऽऽकाशप्रमाणाः, तथा चत्वारः सास्वादनसम्यमिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यदृष्टिदेशविरतरूपाः प्रत्येकं पल्योपमासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणा इत्यर्थः। इह सास्वादनाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयश्चाध्रुवत्वात्कदाचिल्लोके प्राप्यन्ते, कदाचिन्नः, यदा प्राप्यन्ते तदा जघन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतः क्षेत्रपल्योपमासंख्येय भागतुल्याः, अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरताः पुनः सदैव प्राप्यन्ते, ध्रुवत्वात्तेषां, केवलं कदाचिस्तोकाः कदाचिद् बहवः तत्रा जघन्यपदेऽपि ते द्वयेऽपि प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमासंख्येय भागवर्तिप्रदेशराशितुल्याः, उत्कर्षतोऽप्येतावन्त एव, नवरम्– संख्यातस्य तस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वाज्जघन्यादुत्कृष्टम– संख्यातमसंख्यातगुणं द्रष्टव्यम्। देशविरतेश्चाविरतसम्यग्दृष्टयो जघन्यपदे उत्कृष्टपदे च प्रभूततरा अवसेयाः, शेषाः प्रमत्ताऽऽदिगुण स्थानवर्तिनो जीवाः प्रत्येकं संख्येयाः प्रतिनियतसंख्याकाः, सा च प्रतिनियता संख्या स्वयमेव वक्ष्यते ॥८॥

तदेवमभिहितं सामान्यतो द्रव्यप्रमाणम्, साम्प्रतमेतदेव विशेषतोऽभिधित्सुराह –

पत्तेयपज्जवणका–इया उ पयरं हरंति लोगस्स।
अंगुलअसंखभागे–ण भाइयं भूदगतणू य ॥९॥

पर्याप्तप्रत्येकबादरवनस्पतिकायिका भूकायिका उदककायि –काश्च पर्याप्तबादराः प्रत्येकं लोकस्य घनीकृतस्व सप्तरज्जु प्रमाणस्य उपरितनाधस्तनप्रदेशरहितै कैकप्रदेशप्रस्तराऽऽत्मकं मण्डकाऽऽकारं प्रतरमङ्गुलमात्राक्षेत्रासंख्येयभागैर्भाजितं खण्डितं सकलमपि हरन्ति। इयमत्र भावना–सर्वेऽपि प्रत्येकबादरपर्याप्तवनस्पतिकायिका जन्तवः प्रतरमेककालपहर्तुमुद्यता विवक्षिताः सन्तो यदि युगपदेकैकमङ्गुलासंख्येभागमात्रं खण्डमपसारयन्ति, तत एकेनैव समयेन ते सकलमपि प्रतरमपहरन्ति। तत इदमायातम्घनीकृतलोकस्यैकस्मिन् प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि भवन्ति तावत्प्रमाणाः पर्याप्तप्रत्येक बादरवनस्पतयः। एवं पर्याप्तबादभूकायिकोदककायिकानामपि प्रत्येकं भावना कार्या। यद्यपि चामीषां त्रयाणामपीत्थं समानप्रमाणत्वमभिहितं, तथाऽप्यङ्गुलासंख्येय भागस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वात्परस्पर्म्इदमल्पबहुत्वमवसेयम्, स्तोकाः प्रत्येकबादरपर्याप्तवनस्पतयः, तेभ्यः पर्याप्तबाद-भूयकायिको असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि बादर पर्याप्ताप्कायिका असंख्येयगुणाः ॥९॥

आवलिवग्गो ऊणा–वलिए गुणिओ हु बायरा तेऊ ॥
वाऊ य लोगसंखं, सेसतिगसंखिया लोगा ॥१०॥

आवलिका असंख्येयसमयाऽऽत्मिकाऽप्यसत्कल्पनया दशसमयाऽऽत्मिका कल्प्यते, ततस्तस्या दशसमयाऽऽत्मिकाया आवलिकावर्गः, स चि किल कल्पनया शतसमयप्रमाणः, तत आवलिकावर्ग ऊनावलिकया कतिपयसमयन्यूनया आवलिकया कतिपयसमयन्यूनैरावलिकासमयैरष्टभिरित्यर्थः गण्यते। गुणने च कृते सति यावन्तो वर्गा भवन्ति, तेषु च वर्गेषु यावन्तः समया –स्तावत्प्रमाणा बादरपर्याप्ततेजस्कायिकाः। तथा (वाऊ य लोगसंखं ति) वायवो बादरपर्याप्तवायवो लोकसंख्येयभागतुल्याः, घनीकृतस्य लोकस्यासंख्येयेषु प्रतरेषु संख्यातत्मभागवर्तिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणा इत्यर्थः। अमीषां पृथिव्यम्बुतेजोवायुप्रत्येकवनस्पतीनां बादरपर्याप्तानां परस्परमल्पबहुत्वमिदम्–सर्वस्तोकाः पर्याप्तबादरतेजस्कायिकाः, तेभ्यः पर्याप्तप्रत्येकबादरवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरभूकायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादराप्कायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरवायुकायिका असंख्येयगुणाः। (सेसतिगमसंखिया लोगा इति) शेषत्रिकं पृथिव्यम्बुतेजोवायु कायिकानामपर्याप्तबादरपर्याप्ता पर्याप्तसूक्ष्मलक्षणमसंख्येया लोकाः, असंख्येयेषु लोकेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः। किमुक्तं भवति ? असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणाः पृथिव्यम्बुतेजोवायूनां प्रत्येकमपर्याप्ता बादराः, पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च सूक्ष्मा भवन्तीति। इदं सामान्येनोक्तं, विशेषचिन्तायां पुनः पृथिव्यम्बुतेजोवायूनां स्वस्थाने प्रत्येकं त्रयाणामपिराशीनामिदमल्पबहुत्वम्–सर्वस्तोका अपर्याप्तबादराः तेभ्योऽपर्याप्तसूक्ष्मा असंख्येयगुणाः तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्माः संख्येयगुणाः, शेषत्रिकग्रहणं चोपलक्षणं, तेनापर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतयोऽसंख्येयलोकाकाशप्रमाणा अवगन्तव्याः। साधा रणवनस्पतीनां च प्रागेण पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादररूपाश्चत्वारोऽपि भेदाः सामान्यतोऽनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा उक्ताः। यदि पुनस्तेषामपि विशेषचिन्ता क्रियते, तदेदमल्पबहुत्वमवसेयम्–बादरपर्याप्तसाधारणाः सर्वस्तोकाः, तेभ्योबादरापर्याप्तसाधरणा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सूक्ष्मपर्याप्तसाधारणाः संख्येयगुणाः ॥१०॥

पज्जत्ताज्जत्ता–वितिचउअस्सण्णिणो
अवहरंति।अंगुलसंखासंख–प्पएसभइयं पुढो पयरं ॥११॥

द्वित्रिचतुरसंज्ञिनो द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः पृथकप्रत्येक पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च यथासंख्यमङ्गुल-संख्येयासंख्येयभागप्रदेशैर्भाजितं खण्डितं प्रतरमपहरन्ति। इयमत्र भावना–सर्वेऽपि पर्याप्ता द्वीन्द्रिया यदि युगपदेकैकमङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागमात्रं खण्डं प्रतरस्यापहरन्ति, तत एकेनैव समयेन ते सकलमपि प्रतरमपहरन्ति। इदमुक्तं भवति घनीकृतस्य लोकस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्यैकस्मिन् प्रतरे यावन्त्यङ्गु संख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावन्तः पर्याप्ता द्वीन्द्रियाः। एवं पर्याप्तास्त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया अपि प्रत्येकमवगन्तव्याः। यावन्ति पुनरेकस्मिन् प्रतरेऽङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागप्रमाणानि खण्डानि, तावन्ताऽपर्याप्ता द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः प्रत्येक मवसेयाः। यद्यपि च सर्वे

पर्याप्ताः सर्वेऽपि चापर्याप्ता द्वीन्द्रियाऽऽदयः सामान्यतः सामान प्रमाणा उक्ताः, तथाऽपि विशेषचिन्तायाभिदमल्पबहुत्वमवसेयम्–सर्वस्तोकाः पर्याप्ताश्चतुरिन्द्रियाः, पर्याप्ता असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया विशेषाधिकाः, पर्याप्ता द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, पर्याप्तास्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, अपर्याप्ता असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया असंख्यातगुणाः, तेभ्योऽपर्याप्ताश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्यपर्याप्तास्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्यपर्याप्ता द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः। तदेवमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः सर्वेऽपि जीवाः संख्यया प्ररूपिताः ॥११॥

सम्प्रति संज्ञिप्ररूपणार्थमाह –

सन्नी चउसु गईसुं, पढमाएँ असंखसेढिनेरइया।
सेढिअसंखेज्जंसो, सेसासु जहुत्तरं तहय ॥१२॥

संज्ञिनश्चतसृष्वपि गतिषु वर्तन्ते, ततो गतीरधिकृत्य तत्प्ररूपणा कर्तव्या। तत्र प्रथमतो नरकगतिमधिकृत्याऽऽहप्रथमायां नरकपृथिव्यां रत्नप्रभाऽभिधानायां घनीकृतस्य लोकस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्य असंख्येया एकप्रादेशिक्यः, श्रेणयः एतावत्प्रमाणा नारकाः, असंख्यातासु एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणा नारका इत्यर्थः। गाथाऽन्ते चशब्दस्यानुक्तार्थसंसूचनाद् भवनपतयोऽप्येतावत्प्रमाणा वेदितव्याः। शेषासु द्वितीयाऽऽदिषु नरकपृथिवीषु प्रत्येकम् (सेढिअसंखेज्जंस त्ति) घनीकृतस्य लोकस्यैकस्या अप्येकप्रादेशिक्याः श्रेणेरसंख्येयतमो भागो नारकाः, असंख्येयतमे भागे यावन्तः प्रदेशास्तावत्प्रमाणा नारका इत्यर्थः। (जहुत्तरं तह य त्ति) तथा चेति समुच्चये। यथोत्तरं च यथा यथा उत्तरा पृथ्वी तथा तथा पूर्वपृथ्वीगतनारकापेक्षया असंख्याततमा असंख्याततमभागमात्रा द्रष्टव्याः। तद्यथा–द्वितीयपृथ्वीगतनारकापेक्षया तृतीयपृथिव्यां नारका असंख्याततमभागमात्राः तृतीयपृथ्वीगतनारकापेक्षया चतुर्थपृथिव्यां नारका असंख्यातभागमात्राः। एवं सप्तस्वपि पृथ्वीषु द्रष्टव्यम्। कथमेतदवसेयमिति चेत ? उच्यते–युक्तिवशात्। तथाहि सर्वस्तोकाः सप्तमपृथिव्यां नारकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिष्विभाग भाविनः, तेभ्योऽपि तस्यामेव सप्तमपृथिव्यां दक्षिणदिग्भागभाविनोऽसंख्येयगुणाः। कथमिति चेत? उच्यते–इह द्विधा जन्तवःशुक्लपाक्षिकाः, कृष्णपाक्षिकाश्च। तेषां चेदं लक्षणम् इह येषां किञ्चिदूनपुद्गलपरावर्तार्द्धमात्रः संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः, अधिकतरसंसारभाजिनस्तु कृष्णपाक्षिकाः। उक्तं च ''जेसिमवड्ढो पोग्गल–परियट्टो सेसओ य संसारो। ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिए पुण कण्हपक्खीओ ॥१॥'' अत एव स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, बहवः कृष्णपाक्षिकाश्च। कृष्णपाक्षिकास्तु प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, न शेषासु दिक्षु, तथास्वाभाव्यात्। तच्च तथास्वाभाव्यं पूर्वाचार्यैरेवं युक्तिभिरुपबृंह्यते तथा कृष्णपाक्षिका दीर्घतरसंसारभाजिन उच्यन्ते, दीर्घतरंसंसारभाजिनश्च बहुपापोदया भवन्ति। बहुपापोदयाश्च क्रूरकर्माणः। क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथास्वोभाव्यात् तद्भवसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, न शेषासु। यतं उक्तम्– ''पायमिह क्रूरकम्मा, भवसिद्धिया वि दाहिणिल्लेसु। नेरइयतिरियमणुसा, सुराइठाणेसु गच्छंति ॥१॥'' ततो दक्षिणस्यां दिशि बहूनां कृष्णपाक्षिकाणासुत्पादसंभवात् संभवन्ति पूर्वोत्तरपश्चिमेभ्यो दाक्षिणत्या असंख्येय गुणा इति। तेभ्योऽपि षष्ठपृथिव्यां तमः प्रभाऽभिधानायां पूर्वोत्तर पश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः। कथमिति चेत्? उच्यते इह सर्वोत्कृष्टपापकर्म्मकारिणः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याः सप्तम नरकपृथिव्यामुत्पद्यन्ते, किञ्चिद्धीनहीनतरपापकर्म्मकारिणश्च षष्ठ्यादिषु पृथिवीषु, सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणश्च सर्वस्तोकाः, बहवश्च यथोत्तरं किञ्चिद्धीनहीनतराऽऽदिपापकर्म्मकारिणः, ततो युक्तमसंख्येयगुणत्वम्। सप्तमपृथिवीदाक्षिणात्यनारकापेक्षया षष्ठपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमनारकाणाम्, एवमुत्तरोत्तरपृथिवी रप्यधिकृत्य भावितव्यम्। तेभ्योऽपि तस्यामेव षष्ठपृथिव्यां दक्षिणदिग्वर्त्तिनो नारका असंख्येयगुणाः। युक्तिरत्रापि प्रागुक्ताऽनुसर्त्तव्या। तेभ्योरपि पञ्चमपृथिव्यां धूमप्रभाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिरभाविनोऽसंख्येयगुणाः तेभ्योऽपि तस्यामेव पञ्चमपृथिव्यां दक्षिणदिग्वर्तिनोऽसंख्येयगुणाः तेभ्योऽपि चतुर्थपृथिव्यां पङ्कप्रभाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भागभाविनोऽसंख्येयगुणाः तेभ्योऽपि तस्यामेव चतुर्थपृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि असंख्येय गुणाः, तेभ्योऽपि तृतीयपृथिव्यां वालुकाऽभिधानायां पूर्वोत्तर पश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः तेभ्योऽपि तस्यामेव तृतीयपृथिव्यां दाक्षिणात्या असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि द्वितीयपृथिव्यां शर्कराप्रभाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव द्वितीयपृथिव्यां दाक्षिणात्या असंख्येयगुणाः तेभ्योऽपि रत्नप्रभापृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि नारका असंख्येयगुणाः। पं० सं०। (अत्रात्यः संवादी प्रज्ञापनाग्रन्थः 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६५२ पृष्ठे गतः)

ये च येभ्योऽसंख्येयगुणास्तेषां ते असंख्येयतमे भागे वर्त्तन्ते, ततो रत्नप्रभापृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमनारकेभ्योऽपि शर्कराप्रभानारका असंख्येयतमे भागे वर्तन्ते, किं पुनः सकलनारकेभ्यः? एवमधोऽधःपृथिवीष्वपि भावनीयम्। ततो युक्तमुक्तम् – (जहुत्तरं तह य त्ति) ॥१२॥

सम्प्रति व्यन्तराणां प्रमाणमाह –

संखेज्जजोयणाणं, सूइपएसेहिँ भाइओ पयरो।
वंतरसुरेहिँ हीरइ, एवं एक्केक्कभेएणं ॥१३॥

संख्येयानां योजनानां या सूचिरेकप्रादेशिकी श्रेणिः। किमुक्तं भवति? संख्येययोजनप्रमाणा या एकप्रादेशिकी पङ्क्तिः तत्प्रदेशैर्भक्तः प्रतरो व्यन्तरसुररपहियते। अयमत्र तात्पर्यार्थः यावन्ति संख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राण्याकाशाख ण्डान्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तावत्प्रमाणा व्यन्तरसुराः। अथ वेयं कल्पनासंख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्रं खण्डमेकैकं युगपद् यदि सर्वेऽपि व्यन्तरसुरा अपहरन्ति, तर्हि सकलमपि प्रतरमेकस्मिन्नेव समये ते अपहरन्ति, अत्रापि च एवार्थः। एवमेकैकस्मिन् भेदे व्यन्तरनिकाये द्रष्टव्यम्। किमुक्तं भवति ? यथा सकलव्यन्तरसुराणां परिमाणमुक्तमेवमेकैक स्मिन् व्यन्तरंनिकाये परिमाणमवसेयम्। न चैवं सर्वसमुदायपरिमाणव्याघातप्रसङ्ग, श्रेणिप्रमाणहेतुयोजनसंख्येयत्वस्य वैचित्र्यात् ॥१३॥

छप्पन्नदोसयंगुल – सूइपएसेहिँ भाइओ पयरो।
जोइसिएहिं हीरइ, सट्ठाणे त्थी य संखगुणा ॥१४॥

षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याऽङ्गुलप्रमाणसूचिप्रदेशैर्भाजितः

खण्डितः प्रतर उक्तस्परूपो ज्योतिष्कदेवैरपह्रियते। इयमत्र भावना– षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याऽङ्गुलप्रमाणैक –प्रादेशिकश्रेणिमात्राणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाज्योतिष्कदेवाः। अथवेयं कल्पनाषट् पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याङ्गुल प्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्रं खण्डमेकैकं यदि युगपत्सर्वेऽपि ज्योतिष्कदेवा अपहरन्ति, तर्हि ते सकलमपि प्रतरमेकस्मिन्नेव समये अपहरन्ति, तथा स्वस्थाने चतुर्ष्वपि देवनिकायेषु स्वस्वनिकायगतदेवापेक्षया देव्यः संख्येयगुणा द्रष्टव्याः, प्रज्ञापनायां महादण्डके तथा पाठात्।

अस्संखसेढिखपए – सतुल्लया पढमदुइयकप्पेसु।
सेढि असंखंससमा, उवरिं तु जहुत्तरं तह य ॥१५॥

घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्द्ध्ववाध आयता एकप्रादेशिक्यः श्रेणयोऽसंख्यातास्तासां यावान् प्रदेशराशिस्तुल्यास्तावंत्प्रमाणाः प्रथमे कल्पे सौधर्म्माऽऽख्ये, द्वितीये च कल्पे ईशानाऽऽख्ये प्रत्येकं देवा भवन्ति। केवलं सौधर्म्मकल्पगतदेवापेक्षया ईशानकल्पगता देवाः संख्येयभागमात्रा द्रष्टव्याः, प्रज्ञापनायामीशानदेवापेक्षया सौधर्म्मकल्पदेवानां संख्येय गुणतयाऽभिधानात्। (सेढिअसंखंससमा उवरिं तु त्ति) तुर्वाक्यभेदे, उपरि पुनः सौधर्मे शानकल्पयोरूपरिष्टात्पुनः सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारलक्षणेषु कल्पेषु प्रत्यकं देवा घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्या एकस्याः श्रेणेरसंख्येयांशसमाः असंख्येयतमे भागे यावन्तो नभः प्रदेशास्ताव प्रमाणाः (जहुत्तरं तह य त्ति) तथाचेति समुच्चये, यथा उत्तरे उत्तरे देवाः– उत्तरोत्तकल्पगता देवास्तथा तथा पूर्वपूर्वकल्पगतदेवापेक्षया असंख्येयभागमात्रा द्रष्टव्यः। इदमुक्तं भवतियावन्तः सनत्कुमारकल्पगता देवास्तदपेक्षया माहेन्द्रकल्पे असंख्येयभागमात्राः माहेन्द्रकल्पगतदेवापेक्षया सनत्कुमारकल्पगता देवा असंख्येयगुणा इत्यर्थः। एवं माहेन्द्र कल्पगतदेवापेक्षया ब्रह्मलोककल्पगतदेवा असंख्येयभाग-मात्राः। एवं लान्तकमहाशुक्रसहस्रारकल्पेष्वपि भावनीयम्। ''तह य'' इत्यत्रा चशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वादानतप्राणताऽऽरणाच्युतकल्पेषु अधस्तनमध्यमोपरितनग्रैवेयकेषु अनुत्तरविमानेषु च प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमस्यासंख्येयतमे भागे यावन्तो नभः प्रदेशास्तावत्प्रमाणा देवा अवगन्तव्यः। पूर्वपूर्वदेवापेक्षया चोत्तरोत्तरदेवाः संख्येयगुणहीनाः तथा प्रज्ञापनायां महादण्डके पठितत्वात्। (महादण्डकपाठस्तु–'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथम भागे ६५२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

इह पूर्वं रत्नप्रभानारकाणां भवनपतिदेवानां सौधर्मकल्पगतदेवानां च परिमाणमसंख्येयश्रेणिगताऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणं सामान्येनोक्तं, तत्र न ज्ञायते के बहवः, के स्तोका इति ? तत परस्परं विशेषमाह –

सेढी एक्केक्कपए–सरइयसूईणमंगुलप्पमियं।
घम्माएँ भवणसोह–म्मयाण माणं इमं होइ ॥१६॥

घर्मायां घर्माभिधानायां प्रथमपृथिव्यां नारकाः, तेषामिति शेषः, तथा भवनपतीनां सौधर्मजानां च सौधर्मकल्पगतानां च देवानां परिमाणावधारणाय या असंख्येयाः श्रेणयः पूर्वमुक्तास्ताः प्रति प्रत्येकमेकैकं प्रदेशं श्रेणिव्यतिरिक्तं गृहीत्वा या रचिताः सूचय एकप्रार्दशिक्यः श्रेणयः। किमुक्तं भवति ? रत्न प्रभानारकाऽऽदिपरिमाणेषु प्रत्येकं यावत्यः श्रेणयस्तावतः प्रदेशान् श्रेणिव्यतिरिक्तान् गृहीत्वा एकप्रादेशिक्यः सूचयः क्रियन्ते, तासां च सूचीनामङ्गुलप्रमितमङ्गुलभागमितमिदं वक्ष्यमाणं मानं प्रमाणम् ॥१६॥

तदेव दर्शयति –

छप्पन्नदोसयंगुल भूओ भूओ विगिज्झ मूलतिगं।
गुणिया जहुत्तरत्था, रासीओ कमेण सूईओ ॥१७॥

षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्याङ्गुलमात्रस्याऽऽगुलक्षेत्रागतप्रदेशराशेर्भूयो भूयो वारं वारं विगृह्य। किमुक्तं भवति ? वर्गमूलाऽऽनयनकरणेन एकं वारं विगृह्य वर्गमूलमानीय भूयो विगृह्यते, ततो द्वितीयं वर्गमूलमागच्छति, ततो भूयोऽपि विगृह्यते, तत स्तृतीयं वर्गमूलमागच्छति। एवं भूयो भूयो विगृह्य मूलत्रिकं वर्गमूलत्रयमानीय यथोत्तरस्था राशयो गुण्यन्ते। ततो गुणिताः सन्तस्ते क्रमेण यथाक्रमं सूचयो भवन्ति। एतावत्प्रदेशराशिप्रमाणा यथाक्रमं रत्नप्रभानारकाऽऽदिषु श्रेणिपरिमाणहेतवः सूचयो भवन्तीत्यर्थः। इयमत्र भावना– अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे असंख्याता अपि प्रदेशाः किलासत्कल्पनया षट् पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणाः कल्प्यन्ते, तेषां प्रथमं वर्गमूलं षोडश, द्वितीयं चत्वारि, तृतीयं च द्वे। एते च राशय उपर्यधोभावेन क्रमेण व्यवस्थाप्यन्ते। तत्र प्रथमवर्गमूलेन षोडशलक्षणेन उपरितनः षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणो राशिर्गुण्यते। गुणिते च सति तस्मिन् जातानि षण्णवत्यधिकानि चत्वारि सहस्राणि। एतावत्यः किल श्रेणयो रत्न प्रभानारकाणां परिमाणय द्रष्टव्याः, एतावत्प्रमाणश्रेणिगताऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणः प्रथमपृथिवीनारका भवन्तीत्यर्थः। तथा द्वितीयेन वर्गमूलेन चतुष्कलक्षणेनोपरितनः षोडशकलक्षणो राशिर्गुण्यते। गुणिते च सति जाता चतुःषष्टिः। एतावत्यः श्रेणयो भवनपतीनां परिमाणावधारणाय द्रष्टव्याः। तथा तृतीयेन वर्ग मूलेन द्विकलक्षणेनोपरितनश्चतुष्कलक्षणो राशिर्गुण्यते। ततो जाता अष्टौ। एतावत्यः श्रेणयः सौधर्म्मदेवानां परिमाणाय ज्ञातव्याः ॥१७॥

रत्नप्रभानारकाऽऽदीनामेव विषये प्रकारान्तरेण

भूयः श्रेणिपरिमाणमाह –

अह वंगुलप्पएसा, समूलगुणिया उ नेरइयसूई।
पढमदुइयापयाइं, समूलगुणियाइँ इयराणं ॥१८॥

अथवेति प्रकारान्तरसूचने, प्रकारान्तरं चेदम्पूर्वमङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रदेशप्रमाण-कल्पितः, इह तु न तथा कल्प्यते, किं तु यथाऽवस्थितएव विवक्ष्यते इति। अङ्गुले एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे अङ्गुलमात्रेये प्रदेशास्ते स्वकीयन वर्गमूलेन गुणिताः सन्तो यावन्तः सं भवन्ति, एतावत्प्रमाणा नैरयिकसूचिः नैरयिकपरिमाणहेतूनां श्रेणीनां विस्तरः। किमुक्तं भवति ? एतावत्प्रमाणाः प्रथमपृथिवीनारकाणां परिमाणावधारणाय श्रेणयोऽवगन्तव्याः। तथा अङ्गुलमात्रक्षेत्राप्रदेशराशेर्यत् प्रथमं पदं वर्गमूलं तत् स्वकीयेन मूलेन वर्गमूलेनाङ्गुलमात्रक्षेत्राप्रदेशराश्यपेक्षया द्वितीयेन वर्गमूलेन गुण्यते। गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशि र्भवति, एतावत्प्रमाणा भवनपतीनां परिमाणाव-धारणाय श्रेणयो द्रष्टव्याः। तथा अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेरेव यद् द्वितीयं पदं वर्ग –

मूलं, तत् स्वमूलेन स्वकीयेन वर्गमूलेन अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेश – राश्यपेक्षया तृतीयेन च वर्गमूलेन गुण्यते । गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणाः सौधर्मदेवानां परिमाणावधारणाय श्रेणयो ज्ञेयाः, एतावत्प्रमाणश्रेणिगताऽऽकाशप्रदेशराशितुल्याः सौधर्मदेवा भवन्तीति भावना । एवं पूर्वत्रापि भावना द्रष्टव्या ॥१८॥

संप्रत्युत्तरवैक्रियसंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रिय
परिमाणावधारणार्थमाह –

अंगुलमूलासंखिय – भागप्पमिया उ होंति सेढीओ ।
उत्तरपिउव्वियाणं, तिरियाण स सन्निपज्जाणं ॥१९॥

अङ्गुलास्याङ्गुलप्रमाणस्य क्षेत्रस्य प्रदेशराशेर्यन्मूलं वर्गमूलं प्रथमं, तस्य योऽसंख्येयो भागस्तेन प्रमितास्तत्प्रमाणास्तिरश्चां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामुत्तरवैक्रियाणां परिमाणावधारणाय श्रेणयोऽवगन्तव्याः । इयमत्र भावना–एकप्रादेशिके अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिः, तस्य यत् प्रथमं वर्गमूलं, तस्यासंख्येयभागे यावन्तो नभः प्रदेशाः, तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा उत्तरवैक्रियशरीरलब्धिसम्पन्नाः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वेदितव्याः । उक्तं च – ''पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं केवइया वेउव्वियसरीरा पन्नता ? गोयमा ! असंखेज्जा, कालओ असंखेज्जाहिं, उस्सप्पिणीओस– प्पिणीहिं अवहीरंति, खेत्तओ पयरस्स असंखेज्जइभागे असंखेज्जाओ सेढीओ, तासिं णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढममूलवग्गस्स असंखेज्जइ भागो'' इति । उत्तरवैक्रियशरीरलब्धिसंपन्नाः पर्याप्तसंज्ञितिर्यक् पञ्चेन्द्रिया असंख्येयेषु द्वीप समुद्रेषु गजमत्स्यहंसाऽऽदयो द्रष्टव्याः ॥१९॥

सम्प्रति मनुष्यपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह –

उक्कोसपए मणुया, सेढी रूवाहिया अवहरंति ।
तइयमूलाहएहिं, अंगुलमूलप्पएसेहिं ॥२०॥

इह द्वये मनुष्याः– गर्भव्युत्क्रान्ताः, संमूर्च्छिमाश्च । तत्र गर्भव्युत्क्रान्ताः, पर्याप्ताः, अपर्याप्ताश्च भवन्ति । समूर्च्छिमास्तु अन्तर्मुहूर्तायुषोऽपर्याप्ता एव म्रियन्ते । एतच्च प्रागेव प्रथमाधिकारेऽभिहितम् । ततस्ते पर्याप्ता न भवन्ति । तत्र ये गर्भव्युत्क्रान्ताः पर्याप्ता मनुष्यास्ते सदैव लभ्यन्ते, ध्रुवत्वात्तेषाम् । ते च संख्येयाः, संख्या च तेषां जघन्यतोऽपि पञ्चमवर्गगुणितषष्ठवर्गप्रमाणा द्रष्टव्या । अथ वर्गः किमुच्यते ? किंस्वरूपश्च पञ्चमो वर्गः ? किंभूतः षष्ठः ? कीदृग्वा पञ्चमवर्गगुणितः स षष्ठो वर्गो भवतीति ? उच्यते–इह विवक्षतो राशिस्तेनैव राशिनागुणितो वर्ग इत्यभिधीयते । तत्रैकस्य वर्ग एक एव भवति, ततो वृद्धिरहितत्वादेष वर्ग एव न गण्यते, द्वयोश्च वर्ग श्चत्वारो भवन्ति, इत्येष प्रथमो वर्गः ४ । चतुर्णां वर्गः षोडशति द्वितीयो वर्गः १६ । षोडशानां वर्गो द्वे शते षट् पञ्चाशदधिके, इति तृतीयो वर्गः २५६ । द्वयोः शतयोः षट्पञ्चाशदधिकयोर्वर्गः पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्च शतानि षडत्रिंशदधिकानि, एष चतुर्थो वर्गः ६५५३६ ।

अस्य च राशेर्वर्ग, सार्द्धगाथया प्रोच्यते –

''चत्तारि य कोडिसया, अउणत्तीसं च होंति कोडीओ ।
अउणावन्नं लक्खा, सत्तट्ठी चेव य सहस्सा ॥१॥
दो य सया छन्नउया, पंचमवग्गो इमो विनिद्दिट्ठो ।''

अङ्कतोऽपि स्थापना – ४२९४९६७२९६ ।

अस्यापि राशेर्वर्गो गाथात्रयेण प्रतिपाद्यते । तद्यथा –

''लक्खं कोडाकोडिण, चउरासीई भवे सहस्साइं ।
चत्तारि य सत्तट्ठा, होंति सया कोडिकोडीणं ॥१॥
चोयाला लक्खाइं, कोडीणं सत्त चेव य सहस्सा ।
तिन्नि य सया य सयरा, कोडीणं होंति नायव्वा ॥२॥
पंचाणउई लक्खा, एगावन्नं भवे सहस्साइं ।
छस्सोलसुत्तरसया, एसो छट्ठो य हवइ वग्गो ॥३॥''

अङ्कतः स्थापना – १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ ।

एष षष्ठो वर्गः पूर्वोक्तेन पञ्चमवर्गेण गुण्यते। गुणिते च सति यावान् राशिर्भवति तावत्प्रमाणा जघन्यतोऽपि पर्याप्तगर्भजमनुष्याः । स च राशिरेतावान् भवति –

७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ ।

अयं च राशिरेकोनत्रिंशदङ्कस्थानेन कोटाकोट्यादिप्रकारेण –भिधातुं कथमपि शक्यते, ततः पर्यन्तवर्तिनोऽङ्कस्थानादारभ्याङ्कस्थानसंग्रहमात्रं पूर्वपुरुषप्रणीतेन गाथाद्वयेनाभिधीयते –

''छय तिन्नि तिन्नि सुन्नं, पंचेव य नव य तिन्नि चत्तारि ।
पंचेव तिन्नि नव पं–च सत्त तिन्नेव तिन्नेव ॥१॥
चउ छच्च दु चउ एक्को, पण दो छक्केक्कगो य अट्ठेव ।
दो दो नव सत्तेव य, अंकट्ठाणा इगुणतीसं ॥२॥''

एष च राशिः पूर्वसूरिभिस्त्रियमलपदादूर्ध्वं चतुर्यमलप दस्याधस्तादित्युपवर्ण्यते; तत्र द्वौ द्वौ वर्गौ यमलपदम् । तथा चोक्तमनुयोगद्वारचूर्णौ– 'दो विन्नि वग्गा जमलपयं ति भन्नइ'' इति । ततः षड् वर्गाः समुदितास्त्रियमलपदम्, त्रियमलपदसमा हारस्तस्मादूर्ध्वमेव राशिः, षष्ठवर्गस्य पञ्चमवर्गेण गुणितत्वात् । अष्टवर्गसमुदायश्चतुर्यमलपदम्, चतुर्णां यमलकपदानां समाहार इत्यर्थः । तस्याधस्तात् सप्तमवर्गस्याप्यपरिपूर्णत्वात् एष च राशिः षण्णवतिच्छेदनकदायी । तथाहि–प्रथमो वर्गो द्वे छेदनके ददाति । तद्यथा–प्रथमं छेदनकं द्वौ, द्वितीयमेकं, द्वितीयो वर्गश्चत्वारि छेदनकानि । तत्र प्रथममष्टौ, द्वितीयं चत्वारि, तृतीयं द्वे, चतुर्थ-मेकम् । एवं तृतीयवर्गोऽष्टौ छेदनकानि। चतुर्थः षोडश । पञ्चमो द्वात्रिंशतम् । षष्ठश्चतुष्षष्टिम्, स एव पञ्चमवर्गेण गुणितः षण्ण-वतिम् । कथमेतदवसेयमिति चेत् ?उच्यते – इह यो यो वर्गो येन येन वर्गेण गुण्यते, तत्र तत्र द्वयो द्वयोरपि छेदनकानि प्राप्यन्ते । तथा प्रथमवर्गेण द्वितीये वर्गे गुणिते षट् । तथाहि–द्वितीयो वर्गः षोडशलक्षणः प्रथम वर्गेण चतुष्करूपेण गुण्यते । गुणिते च सति जाता चतुःषष्टिः । तस्याः प्रथमछेदनकं द्वात्रिंशत्, द्वितीयं षोडश, तृतीयमष्टौ, चतुर्थं चत्वारि, पञ्चमं द्वे, षष्ठमेकमिति। एवमन्यत्रापि भावनीयम् । तत्र पञ्चमवर्गे द्वात्रिंशच्छेदनकानि, षष्ठे चतुष्षष्टिः ततः पञ्चमवर्गेण षष्ठे वर्गे गुणिते षण्णवतिच्छेदनकानि प्राप्यन्ते । एवमेकारशिर्विनेयजनमतिप्रकर्षाऽऽधानाय त्रिप्रकार आगमे परमगुरुभिरुपदर्शितः । तथा चानुयोगद्वारसूत्रम् –

''जहण्णपदे मणुस्सा, संखेज्जासंखेज्जाउ कोडीओ ।
तिजमलपयस्स उवरिं, तउ जमलपयस्स हेट्ठा य ॥१॥
अहव ण छट्ठो वग्गो, पंचमवग्गं पडुप्पन्नो ।
अहव ण छण्णउइं, छेयणगदाई य रासीइ'' ॥२॥

ये तु गर्भव्युत्क्रान्ताः संमूर्च्छिमाश्चापर्याप्ताः, ते उभयेऽपि

कदाचित् प्राप्यन्ते, कदाचिन्न । यतो गर्भव्युत्क्रान्तानामपर्याप्तानां जघन्यतः समयमात्राम्, उत्कर्षतो द्वादश मुहूर्त्ता अन्तरं, संमूर्च्छिमानांत्वपर्याप्तानां जघन्यतः समयमात्राम्, उत्कर्षत – श्चतुर्विंशतिरन्तर्मुहुर्त्ताः, अपर्याप्ताश्चान्तर्मुहूर्त्तायुषः, अतोऽन्त – र्मुहूर्त्तानन्तरं सर्वेऽपि निर्लेपमपगच्छन्ति । तस्मादमी द्वयेऽप्यपर्याप्ताः कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्न । यदा पुनरमी द्वयेऽपि अपर्याप्ता गर्भव्युत्क्रान्ताश्च पर्याप्ताः समुदिताः सर्वोत्कर्षेण भवन्ति, तदा तेषा मिदं परिमाणम – ''उक्कोसपए'' इत्यादि । उत्कृष्टपदे सर्वोत्कृ– ष्टसंमूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तसमुदायग्रहणरूपे मनुजा मनुष्या रूपाधिका एकेन रूपेण परमार्थतोऽसताऽपि कल्पिते नाधिकाः सन्त एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे अङ्गुलमात्रे क्षेत्र यः प्रदेशराशिरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्तत्प्रथमं वर्गमूलं षोडशलक्षणं तृतीयेन वर्गमूलेन द्विकलक्षणेन गुण्यते । ततो जाता द्वात्रिंशत् । ततस्तैरङ्गुलप्रथमवर्गमूलप्रदेशै स्तृतीयवर्गमूलप्रदेशैराहतैर्गुणितैर– सत्कल्पनया द्वात्रिंशत्संख्यैः प्रतरस्यैकां श्रेणिं सकलामप्यपहरन्ति । इयमत्र भावना एकप्रादेशिके श्रेणिरूपे अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिस्तस्य-त्प्रथमवर्गमूलं तृतीयवर्गमूलगुणितं सत् यावद्भवति, तावन्मात्रं खण्डं प्रत्येकं यदि सर्वेऽपि पर्याप्तापर्याप्त संमूर्च्छिमगर्भज-मनुष्या गृह्णन्ति, ततः सकलामपि श्रेणिमेकस्मिन्नेव समये ते अपहरन्ति, परमेकं मनुष्यरूपं न प्राप्यते; सर्वोत्कर्षेऽपि तेषामेतावत्तामेव केवलवेदतोपलब्धत्वात् । तथा चोक्त मनुयोगद्वारचूर्णौ – ''उक्कोसपए जे मणुस्सा हवंति, ते इक्कम्मि मणुयरूवे परिकट्ठे समाणे तेहिं मणुस्सेहिं सेढी अवहीरइ, तीसे य सेढीए कालखेत्तेहिं अवहारो मग्गिज्जइ। कालओ ताव असंखेज्जाहिं ओसप्पिणीहिं उस्सप्पि-णीहिं । खेत्तओ अंगुल पढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन्न । किं भणियं होइ ? तीस सेढीए अंगुलायए खेत्ते जो य पएसरासी, तस्स जं पढमं वग्गमूलं पएसरासिमाणं, तं तइयवग्गमूलपएसरारिणा पडुप्पाइज्जइ, पडुप्पाइए समाणे जो पएसरासी भवइ, एवइएहिं खंडेहिं अवही –रमाणी अवहीरमाणी जाव निद्धाइ ताव माणुस्सा वि अवहीरमाणा निद्धंति। आह–कहमेगसेढीएदहमेत्तेहिंखंहेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी असंखेज्जा उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरइ ? आयरिओ असंखेज्जा उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरइ? आयरिओ आह–खेत्तस्स सुहुमत्तणओ । सुत्ते विमं भणियं ''सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरं हवइ खेत्तं । अंगुलसेढीमेत्ते, उसप्पिणिओ अंखेज्जा ॥१॥'' इति । ततश्चेदमायातमकालतोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यव-सर्पिणीसमय समानाः, क्षेत्रातः पुनरेकस्यामेकप्रादेशिक्यां श्रेणावङ्गुलमात्र क्षेत्रप्रदेशराशेः प्रथमवर्गमूलं तृतीयवर्गमूलगुणितं सत् यावत्प्रदेशपरिमाणं भवति, तावन्मात्राणि खण्डानि यावन्ति भवन्त्येकखण्डहीनानि, तावन्तः सर्वोत्कृष्टपदे मनुष्याः तदेवम पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदिभेदेन चतुर्दशविधानामपि जीवानां परिमाणमुक्तम् ॥२०॥

संप्रति गुणस्थानकभेदेन चतुर्दशविधानां परिमाणमाह –

सासायणाइ चउरो, होंति असंखा अणंतया मिच्छा।
कोडिसहस्सपुहुत्तं, पमत्त इयरे उ थोवयरा ॥२१॥

सास्वादनाऽऽयः सास्वादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टयविर तदेश-विरतरूपाश्चत्वारः प्रत्येकमसंख्याताः, सास्वादनाऽऽदीनां चतुर्णामपि प्रत्येकमुत्कर्षपदे क्षेत्रापल्योपमासंख्येयभागवर्तिप्रदे शराशिप्रमाण-त्वात् । तथा अनन्ता अनन्तसंख्या मिथ्यादृष्टयः, तेषामनन्तलोकाऽऽ-काशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तथा प्रमत्ताऽ –प्रमत्तासंयता जघन्यतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वपरिमाणाः प्राप्यन्ते, उत्कर्षतोऽपि कोटिसहस्रपृथ-क्त्वमानाः । इह पृथक्त्वं द्विप्रभृत्या नवकोटिसहस्राणीति । तथा इतरे अप्रमत्तसंयताः स्तोकतराः प्रमत्तसंयतेभ्यः स्वल्पतराः ॥२१॥

एगाई चउपण्णा–समगं उवसामगा य उवसंता।
अद्धं पडुच्च सेढी–ऍं हों ति सव्वे वि संखेज्जा ॥२२॥

इहोपशमका उपशान्ताश्च कदाचिद्भवन्ति, कदाचित्र, उपशम-श्रेणेरन्तरस्य भावात् । ततश्च यदा उपशमका अपूर्वकरणानिवृत्तिबाद-रसूक्ष्मसंपराया उपशान्ता उपशान्तमोहा भवन्ति, तदा जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, उत्कर्षतश्चतुः पञ्चाशत् । इदं प्रमाणं प्रवेशनकमधिकृत्योक्त्म्, एतावन्त एकस्मिन् समयेऽपूर्वकरणाऽऽदिषु गुणस्थानकेषु प्रत्येकमुपशम श्रेणिमधिकृत्य प्रविशन्तः प्राप्यन्ते इत्यर्थः । श्रेणेरूपशमश्रेणे रूढ्वां कालं प्रतीत्य पुनर्भवति सर्वे ऽपि संख्येयाः । इदमुक्तं भवति–सकलेऽप्यन्तर्मुहूर्त्तलक्षणे उपशमश्रेणिकालेऽन्येऽन्ये प्रविशन्तः सर्वेऽपि संख्येयाः प्राप्यन्ते । आह–नन्वन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेऽप्युपशमश्रेणि-काले असंख्येयाः समयाः प्राप्यन्ते, तत्र यदि प्रतिसमयमे कैकः प्रविशति, तथाऽपि सकलं श्रेणिकाल मधिकृत्यासंख्येयाः प्राप्नुवन्ति, किं पुनर्द्वित्रादेरारभ्योत्कर्षतश्चतुष्पञ्चाशतः प्रवेशने? अत्रोच्यते– स्यादियं कल्पना यदि सकलेष्वपि श्रेणिसमयेषु प्रवेशो भवेत्, यावता स एव न भवति, किं तु केषु चिदेव समयेषु । अथैतदपि कथमवसीयते इति चेत् ? उच्यते इहोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते पर्याप्तगर्भजमनुष्या एव, न शेषजीवाः तेऽपि चारित्रिणः न ये केचन, चारित्रिणश्चोत्कर्षतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वमानाः, तेऽपि च न सर्वेऽपि श्रेणिं प्रतिपद्यन्ते, किं तु कतिपया एव, ततो ज्ञायते–न सर्वेष्वपि उपशमश्रेणि समयेषु प्रवेशो भवति, किं तु केषुचिदेव, तत्रापि कदाचित् कुत्रचित् समये पञ्चदशापि कर्मभूमीरधिकृत्योत्कर्षतश्चतुः– पञ्चाशत् प्रविशन्तः प्राप्यन्ते, नाधिकाः, ततः सकलेऽपि श्रेणिकाले संख्येया एव भवन्ति । तेऽपि च शतानि द्रष्टव्याः न सहस्राणि तथा पूर्वसूरिभिरावेदितत्वात् ॥२२॥

खवण खीणाजोगी, एगाई जाव होंति अट्ठसयं।
अद्धाएँ सयपुहत्तं, कोडिपुहत्तं सजोगीओ ॥२३॥

इहापि क्षपकाः क्षीणमोहा अयोगिनश्च कदाचिद्भवति, कदाचिन्न, क्षपकश्रेणेरयोगिकालस्य चान्तरसंभवात् । ततो यदा क्षपका अपूर्वकरणानिवृत्तबादरसंपरायसूक्ष्मसंपरायाः, क्षीणाः क्षीणमोहा अयोगिनोऽयोगिकेवलिनश्च भवन्ति, तदा जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतोऽष्टशतम् अष्टाधिकशतप्रमाणाः । इदमपि प्रमाणं प्रवेशनमधि-कृत्योक्तमवसेयम् । एतावन्त एकस्मिन्समये क्षपकत्वे, क्षीणमोहत्वे अयोगित्वे चोत्कर्षतः प्रविशन्तीत्यर्थः । (अद्धाए सयपुहत्तं ति) अद्धा क्षपकश्रेणिकालोऽयोगिकालश्च । तस्यामद्धायां सकलायामपि प्रत्येकमन्येऽन्ये प्रविशन्तः सर्वसंख्यया शतसंख्याः प्राप्यन्ते। इयमत्र भावना–सकलेऽपि क्षपकश्रेणिकालेऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणे पञ्चदशस्वपि कर्म्मभूमिष्वन्येऽन्ये प्रविशन्तो यदि सर्वेऽपि संख्यायन्ते, तथाऽप्युत्कर्षतोऽपि शतपृथक्त्वसंख्या एव लभ्यन्ते, नाधिकाः । एवमयोगिकेवलिनोऽपि भावनीयाः । (कोडिपुहुत्तं सजोगीओ)

त्ति) सयोगिनः सयोगिकेवलिनः पुनः कोटिपृथक्त्वं कोटि – पृथक्त्वसंख्याः। इह सयोगिकेवलिनः सदैव भवन्ति, ध्रुवत्वात्तेषाम्, ते च जघन्यपदेऽपि कोटिपृथक्त्वमानाः, उत्कर्षतोऽपि कोटिपृथक्त्वमाना एव। केवलमुत्कर्षपदे कोटिपृथक्त्वं बृहत्तरमवसेयम् ॥२३॥ तदेवमुक्तं द्रव्यप्रमाणम्।

साम्प्रतं क्षेत्राप्रमाणमाह –

अप्पज्जत्ता दोन्नि वि, सुहुमा एगिंदिया जए सव्वे।
सेसा य असंखेज्जा, बायरपवणा असंखेसु ॥२४॥

द्वयेऽप्यपर्याप्ताः लब्ध्यपर्याप्ताः, करणापर्याप्तकाश्च। अपिशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वात् पर्याप्ताश्च। सूक्ष्मा एकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतयः प्रत्येकं सर्वेऽपि सर्वस्मिन्नापि जगति भवन्ति, ''सुहुमा उ सव्वलोए'' इति वचनप्रमाण्यात्। आह – सूक्ष्माः सर्वेऽपि पृथिव्यादयः पर्याप्ता ऽऽदिभेदभिन्नाः प्रत्येकं सर्वलोकव्यापिन इत्यञ्जसैवाभीष्टार्थसिद्धिः ततः किमर्थमिह मुख्यया वृत्त्या अपर्याप्तग्रहणं कृतम पिशब्दात्तु पर्याप्तग्रहणमिति ? उच्यते–पर्याप्तापेक्षया स्तोकानामप्यपर्याप्तानां स्वरूपतोऽतिबाहुल्यख्यापनार्थम्। तथाहि–यद्यपि अपर्याप्तेभ्यः संख्येयगुणहीनाः पर्याप्तस्तथाऽपि ते सर्वस्मिन्नपि जगति वर्त्तन्ते, इत्युच्यमाने निःसंशयमतिबाहुल्यं तेषां ख्यापितं भवति। अथ कथं पर्याप्ता अपर्याप्तापेक्षया संख्येयगुणहीना ? उच्यते–प्रज्ञापनायामपर्याप्तापेक्षया पर्याप्तानां संख्येय गुणतयाऽभिधानात्। तथा च तद्ग्रन्थः– ''सव्वत्थोवा सुहुमा अपज्जत्ता पज्जत्ता संखेज्जगुण त्ति।''

अन्यत्राप्युक्तम् – ''जीवाणमपज्जत्ता, बहुतरगा वायराण विन्नेया। सुहुमाण अपज्जत्ता, ओहेण उ केवली विंति ॥१॥'' शेषास्तु शेषाः पुनः पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्ना बादरैकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुतेजोवनस्पतयश्च प्रत्येकं लोकस्यासंख्येयतमे भागेऽवतिष्ठन्ते। (बायरपवणा असंखेसु त्ति) बादरपवना बादरवायु कायिकाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च प्रत्येकं लोकस्यासंख्येयेषु भागेषु वर्तन्ते। लोकस्य हि यत्किमपि सुषिरं, तत्र सर्वत्रापि वायवः प्रसर्पन्ति यत्पुनरतिनिविडनिचितावयवतया शुषिरहीनकनकगिरिमध्यभागादि, तत्र न, तच्च सकलमपि लोकस्यासंख्येयभागमात्रं, ततः एकमसंख्येयभागं मुक्त्वा शेषेषु सर्वेष्वप्यसंख्येयेषु भागेषु वायवो वर्तन्ते इति ॥२४॥

सासायणाइ सव्वें, लोयस्स असंखयम्मि भागम्मि।
मिच्छा उ सव्वलोए, होइ सजोगि वि समुग्घाए ॥२५॥

सास्वादनाऽऽदयः सास्वादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादयो मिथ्यादृष्टिसंयोगिकेवलिवर्जाः प्रत्येकं सर्वेऽपि लोकस्यासंख्येयतमे भागेऽवतिष्ठन्ते, सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादयो हि संज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वेव प्राप्यन्ते। सास्वादनास्तु केचित्स्वल्पाः करणापर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वपि, ते च संज्ञिपञ्चेन्द्रियाऽऽदयः स्वल्पत्वाल्लोकस्यासंख्येयभागे वर्तन्ते इति। सास्वादनाऽऽदयो लोकासंख्येयभागवर्तिन उक्ताः। तथा मिथ्यादृष्टयः सर्वलोकं सर्वस्मिन्नपि लोके भवन्ति। सूक्ष्मै केन्द्रियाहि सकललोकव्यापिनः ते च मिथ्यादृष्टय इति। तथा सयोग्यपि सयोगिकेवल्यपि, आस्तां मिथ्यादृष्टय इत्यपिशब्दार्थः। समुद्घाते समुद्घातगतः सन् सर्वलोके भवति सकललोकव्यापी भवति। तथाहि–समुद्घातं कुर्वन् प्रथमे दण्ड समये, द्वितीये च कपाटसमये लोकस्यासंख्येयतमे भागे वर्तते, तृतीये मन्थनसमये पुनरसंख्येयभागेषु, चतुर्थे सर्वलोके। तथा चोक्तम्–चतुर्थे लोकपूरणमष्टमे संहार इति। ''होइ सजोगि वि समुग्घाए'' इत्युक्तम् ॥२५॥

ततः समुद्घातप्रस्तावादशेषान् समुद्घातान्प्ररूपयति

वेयणकसायमारण – वेउव्वियतेउहारकेवलिया।
सग पण चउ तिन्नि कमा, मणुसूरनेरइयतिरियाणं ॥२६॥

समुद्घातशब्दः पाश्चात्योऽग्रेतनगाथागतो वा प्रत्येकम-भिसंबध्यते। तद्यथा– वेदनासमुद्घातः, कषायसमुद्घातः मारणसमुद्घातः वैक्रियसमुद्घातः तैजससमुद्घातः आहारकसमुद्घातः, केवलिसमुद्घातश्च। तत्र वेदनया समुद्घातो वेदनासमुद्घातः, सचासातवेदनीयकर्माऽऽश्रयः। कषायेण कषायोदयेन समुद्घातः कषायसमुद्घातः स च कषायचारित्रमोहनीय-कर्माऽऽश्रयः। तथा मरणे मरणकाले भवो मारणः, मारणश्चासौ समुद्घातश्च मारणसमुद्घातः सोऽन्तर्मुहुर्तावशेषायुः कर्मविषयः। तथा वैक्रिये प्रारभ्यमाणे समुद्घातो वैक्रियसमुद्घातः, स च वैक्रियशरीरनामकर्मविषयः, तथा तेजसि विषये भवस्तैजसः, स चासौ समुद्घातश्च तैजससमुद्घातः स च तेजोलेश्याविनिर्गमकालभावी तैजसशरीरनामकर्माऽऽश्रयः। आहारके प्रारभ्यमाणे समुद्घात आहारकसमुद्घातः, स चाऽऽहारकशरीरनामकर्मविषयः। केवलिन्यन्तर्मुहुर्तभाविपरमपदे भवः समुद्घातः केवलिसमुद्घातः। अथ समुदघात इति कः शब्दार्थः ? उच्यते – समित्येकीभावः, उत्प्राबल्ये एकीभावेन प्राबल्येन घातः समुद्घातः। केन सह एकीभावगमनम् ? इति चेत्। उच्यते– अर्थाच्छेदनाऽऽदिभिः। तथाहि बदा आत्मा वेदनाऽऽदिसमुद् घातगतो भवति, तदा वेदनाऽऽद्यनुभवज्ञानपरिणत एव भवति, नान्यज्ञान परिणतः। प्राबल्येन घातः कथम् ? इति चेत। उच्यते– इह वेदनाऽऽदि समुद्घातपरिणतो बहून् वेदनीयाऽऽदिकर्म्मप्रदेशान् कालान्तरानुभवनयोग्यान् उदीरणाकरणेनाकृष्योदयावलियकायां प्रक्षिप्यानुभूय च निर्जरयति, आत्मप्रदेशैः सह संश्लिष्टान् शातयतीत्यर्थः। तत्र वेदनासमुद्घातगत आत्मा वेदनीयपुद्गलपशातं करोति। तथाहि– वेदनाकरालितो जीवः स्वप्रदेशाननन्तानन्तकर्मस्कन्ध वेष्टितान् शरीराद्बहिरपि विक्षिपति। तैश्च प्रदेशैर्वदनजठराऽऽदिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाऽऽद्यन्तरालानि चापूर्याऽऽयामतो विस्तरतश्च शरीरमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्यान्तर्मुहूर्तं यावदवतिष्ठते। तस्मिंश्चान्तर्मुहूर्ते प्रभूतासातवेदनयीकर्म्मपुद्गलपरिशातं करोति। कषायसमुद् घातसमुद्घतः कषायाख्यचारित्रमोहनीय कर्म्मपुद्गलपरिशातं करोति। तथाहि कषायोदयसमाकुलो जीवः स्वप्रदेशान् बहिर्विक्षिप्य तैः प्रदेशैर्वदनोदराऽऽदिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाऽऽद्यन्तरालानि चापूर्याऽऽयामविस्ताराभ्यां देहमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्य वर्त्तते, तथाभूतश्च प्रभूतकषायकर्मपुद्गलपरिशातं करोति। एवं मारणसमुद्घातगत आयुः– पुद्गलशांत, वैक्रियसमुद्घातगतः पुनर्जीवः स्वप्रदेशान् शरीराद् बहिर्निष्कास्य शरीरविष्कम्भबाहल्यमानमायामतः संख्येययोजनप्रमाणं दण्डं निसृजति निसृज्य च यथास्थलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्वत् शातयति। तथा चोक्तम्– ''वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहन्नइ। समोहणित्ता। संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरइ। निसिरित्ता अहावायरे पुग्गले परिसाडेइ'' इति। तैजसाऽऽहारकसमुद्घातौ वैक्रियसमुद् घातवदवगन्तव्यौ। केवलं तैजससमुद्घातगतस्तैज सशरीरनामकर्मपुद्गलपरि –

शातम्, आहारकसमुद्घातगतस्त्वाहारकशरीरनामपुद्गलपरिशातं करोति, आहारकसमुद्घातश्चाऽऽहारकशरीरप्रारम्भकाले वेदितव्यः। केवलिसमुद्घातसमुद्घस्तु केवली सदसद्वेद्यशुभाशुभनामोच्चनीचैर्गोत्रकर्मपुद्गलपरिशातं करोति, केवलिसमुद्घातवर्जाः शेषाः षडपि समुद्घाताः प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकाः, केवलिसमुद्घातः पुनरष्टसामयिकः। उक्तं च प्रज्ञापनायाम्– ''वेयणासमुग्घाएणं भंते! कइ समयए पन्नत्ते? गोयमा असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए पण्णत्ते। एवं० जाव आहारसमुग्घाए। केवलिसमुग्घाएणं भंते! कइ समइए पन्नत्ते? गोयमा! अट्ठसमइए पण्णत्ते।'' इति। एतानेव समुद्घातान् गतिषु चिन्तयति– ''सग'' इत्यादि। मनुष्यगतौ सप्तापि समुद्घाता भवन्ति, मनुष्येषु सर्वभावसंभवात्। सुरगतावाद्याः पञ्च समुद्घाताः, आहारकसमुद्घातकेवलिसमुद्घातयोस्तत्रा संभवात्। पुनरेषु चतुर्दशपूर्वाधिगमक्षायिक-ज्ञानदर्शनचारित्रालब्ध्यसंभवात्। निरयगतावाद्याश्चत्वारः समुद्घाताः, तत्रा तैजससमुद्घातस्याप्यसंभवात्, तदसंभवश्च नैरयिकाणां तेजोलेश्यालब्धेरभावात्। तिर्यग्गतौ वैक्रियलब्धिमत्संज्ञिपञ्चेन्द्रियपवनवर्जानां शेषजीवानामाद्यास्त्रयः समुद्-घाताः, तेषां वैक्रियलब्धेरप्यसंभवात् ॥२५॥

वैक्रियलब्धिमत्संज्ञिपञ्चेन्द्रियपवनयोर्विशेषमाह –

पंचिंदियतिरियाणं, देवाण च होंति पंच सण्णीणं।
चेउव्वियवाऊणं, पढमा चउरो समुग्घाया ॥२६॥

पञ्चेन्द्रियतिरश्चां संज्ञिनां देवानामिव प्रथमाः पञ्च समुद्घाता भवन्ति। पञ्चेन्द्रियतिर्यक्ष्वपि संज्ञिषु केषुचिद्वैक्रिय तेजोलेश्यालब्धिसंभवात्। वैक्रियलब्धिमतां पुनर्वायूनां वायुकायानां प्रथमा वेदनाकषायमारणवैक्रियरूपाश्चत्वारः समुद्घाताः ॥२६॥ गतं क्षेत्राद्वारम्।

अधुना स्पर्शनाद्वारमाह –

चउदसविहा वि जीवा, समुघाएणं फुसंति सव्वजगं।
रिउसेढीऐं व केई, एवं मिच्छा सजोगीया ॥२७॥

चतुर्दशविधा अपि अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदिभेदा– चतुर्दशप्रकारा अपि, जीवाः सर्वं जगत् स्पृशन्ति। कथम्? इत्याह समुद्घातेन मरणसमुद्घातेन। इयमत्रा भावना– इह सूक्ष्मैकेन्द्रियाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च प्रत्येकं सकललोकवर्त्तिनः, ततस्ते स्वण्यानतोऽपि सकललोकस्पर्शिन उपपद्यन्ते, किं पुन र्मारणान्तिकसमुद्घातयोगतः? बादरापर्याप्तैकेन्द्रियाऽऽदयः स्वस्थानमधिकृत्य प्रत्येकं लोकासंख्येयभागवर्त्तिन एव समुद्घातमधिकृत्य पुनः सकललोकस्पर्शिनोऽपि भवन्ति। तथाहि–समुद्घात इह मरणसमुद्घात उच्यते, मरणसमुद्घातसमुद्घस्तु जीवः स्वशरीरविष्कम्भबाहुल्यं जघन्यतो दैर्घ्येणाङ्गुला – संख्येयभागमात्राम्, उत्कर्षेण संख्येयानि योजनानि स्वप्रदेश दण्डं निसृजति। निसृज्य च यत्र स्थानेऽग्रेतनभवे समुत्पत्स्यते, तत्रा स्थाने तं स्वप्रदेशदण्डं प्रक्षिपति। तच्चोत्पत्तिस्थानं ऋजु गत्या एकेन समयेन स्वप्रदेशदण्डः प्राप्नोति। विग्रहगत्या तूत्कर्षतश्चतुर्थे समये, वतो मरणसमुद्घातमधिकृत्य नानाजीवापेक्षया बादरपर्याप्तैकेन्द्रियाऽऽदयो द्वादशभेदाः प्रत्येकं सर्वेऽपि सर्वं जगत स्पृशन्तः प्राप्यन्ते इति। (रिउसेढीऐं व केई इति) केचित्पुनर्जीवाः सूक्ष्मैकेन्द्रियलक्षणा ऋजुश्रेण्या ऋजुगत्या। वाशब्दः पक्षान्तर सूचने। न केवलं समुद्घातेन ऋजुश्रेण्या वा इत्यर्थः। सर्वं जगत् स्पृशन्ति। तथाहि– अधोलोकान्तादृद्धर्वोकान्ते उत्पद्यमानाश्चतुर्दशापि रज्जूः स्पृशन्ति। एवं सर्वास्वपि दिक्षु भावनीयम्। ततो नानाजीवपेक्षया ऋजुश्रेण्याऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रियाः सकललोकस्पर्शिनः। संप्रति गुणस्थानके स्पर्शनां चिन्तयति – (एवं मिच्छा सजोगीय त्ति) एवं सर्वजगत् स्पर्शितया मिथ्यादृष्टयः सयोगिनश्चावगन्तव्याः तत्रा मिथ्यादृशः सूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदयः, सूक्ष्मैकेन्द्रियाश्च सकललोकस्पर्शिनः, सयोगिकेवलिनः पुनः केवलिसमुद्घातगताश्चतुर्थसमये सर्वलोकस्पर्शिनः प्रागेवोपदर्शिताः ॥२७॥

शेषगुणस्थानकेषु स्पर्शनामाह –

मीसा अजया अड अड, बारस सासायणा छ देसजई।
सग सेसा उ फुसंती, रज्जू खीणा असंखंसं ॥२८॥

मिश्राः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः अयता अविरतसम्यग्दृष्टयः, प्रत्येकमष्टावष्टौ रज्जूः स्पृशन्ति, द्वादश पुनः सास्वादनाः, देशयतयो देशविरताः षट्। शेषा उक्तव्यतिरिक्ताः क्षीणमोहवर्जाः प्रमत्ताऽऽद्याः प्रत्येकं सप्त सप्त रज्जूः स्पृशन्ति। क्षीणाः क्षीणमोहाः पुनरसंख्येयांशं रज्जोरसंख्येयं भागम् ॥२८॥

एनामेव गाथां स्वयमेव भावयति –

सहसारंतियदेवा, नारयणेहेण जंति तइयभुवं।
निज्जंति अच्चुयं जा, अच्चुयदेवेण इयरसुरा ॥२९॥

इह सहस्रारान्तकाः सहस्रारपर्यवसाना देवा नारकस्नेहेन पूर्वसाङ्गतिकनारकस्नेहेन, तस्य वेदनोपशमनार्थम्, उपलक्षण मेतत्, पूववैरिकस्य नारकस्य वेदनोदीरणार्थं वा, तृतीयां भुवं नरकपृथिवीं, गच्छन्ति। आनताऽऽदयो देवाः पुनरल्पस्नेहाऽऽदिभावाः स्नेहाऽऽदिप्रयोजनेनापि नरकं न गच्छन्तीति सहस्रारा न्तग्रहणम्। तथाऽच्युतदेवेन जन्मान्तरस्नेहतस्तद्भवस्नेह तो वा, इतरे सुराः शेषसुरा अच्युतदेवलोकं यावन्नीयन्ते। ततः सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च प्रत्येकमष्टाष्टरज्जुस्पर्शना घटते। इयमत्रा भावना– इह यदा सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्भवनपत्यादिको देवः पूर्वसाङ्गतिकेनाच्युतदेवलोकवासिना देवेनाच्युत देवलोके स्नेहान्नीयते, तदा तस्य षड्रज्जुस्पर्शना भवति, ''छ अच्चुए'' इति वचनात्। तथा कश्चिदमरः सहस्रार कल्पवासी सम्यग्मिथ्यादृष्टिः पूर्वसाङ्गतिकस्य वेदनोपशमनाय, पूर्ववैरिकस्य वेदनोदीरणाय वा वालुकाप्रभाऽभिधानामपि नरकपृथिवीमुपगच्छति, तदा भवनपतिनिवासस्याधस्तादन्यदपि रज्जुद्वय मधिकं प्राप्यते, इति पूर्वोक्ताः षड् रज्जवो रज्जुद्वयेन सहिता अष्टौ भवन्ति। एवं नानाजीवापेक्षया सम्यग्मिथ्यादृष्टयो अष्टरज्जुस्पर्शकाः प्राप्यन्ते। अथवा कोऽपि सहस्रारकल्पनिवासी देवः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः पूर्वोक्तकारणवशात् तृतीयां नरकभुवं गच्छन् सप्त रज्जुः स्पशृति, स एव सहस्रारदेवो यदा अच्युतदेवेन स्नेहादच्युते देवलोके नीयते, तदा अन्यामप्येकामधिकां रज्जुं स्पृशतीत्यष्टरज्जुस्पर्शना। एवमविरतसम्यग्दृष्टीनामप्यष्ट- रज्जुस्पर्शना भावनीया। नन्वविरतसम्य ग्दृष्टयस्तद्भवे वर्त्तमानाः कालमपि कुर्वन्ति, तत स्तेषामन्यथाऽपि कथं न भावना। क्रियते? उच्यते अन्यथा तेषामष्टरज्जुस्पर्शनाया असंभवात्। तथाहि तिर्यङ्मनुष्यो वा

ससम्यक्त्वो द्वितीयाऽऽदिषु नरकपृथिवीषु गच्छति, नाऽपि तत आगच्छति, ततोऽनुत्तरसुरभवं गच्छतः ततो वा च्युत्वा मनुष्यभवमागच्छतः सर्वोत्कृष्टा सप्तरज्जुस्पर्शना अवाच्यते, नाधिका क्वाप्यन्यत्रा, ततोऽविरतसम्यगदृष्टयोऽपि मिथ्यादृष्टिवदविशेषेणाष्टरज्जुस्पर्शकाः प्रतिपत्तव्याः, न प्रकारान्तरेण । अपरे पुनराहुः— अविरतसम्यगदृष्टीनामुत्कर्षतो नवरज्जुस्पर्शना कथमिति चेत् ? उच्यते— इह तन्मतेन क्षायिकसम्यग्दृष्टयः तृतीयस्यामपि नरकपृथिव्यां गच्छन्ति, ततोऽनुत्तरसुरभवं गच्छतां ततो वाच्युत्त्वा मनुष्यभवमागच्छतां सप्तरज्जुस्पर्शना । तृतीयस्यां पृथिव्यामुत्पद्यमानानां, ततो वा उद्वृत्य मनुष्यभवमागच्छतां द्विरज्जुस्पर्शनेति सामान्यतोऽविरतसम्य-ग्दृष्टीनां नवरज्जुस्पर्शना। व्याख्याप्रज्ञप्त्याद्यभिप्रायेण पुनरमीषां द्वादशरज्जुस्पर्शनाऽपि प्राप्यते । तथाहि अनुत्तरसुरभवं गच्छतां, ततो वा च्यत्त्वा मनुष्यभवमागच्छतां सप्तरज्जुस्पर्शना । तथा नरतिरश्चामन्यतरोऽविरतसम्यग्दृष्टिः पूर्वबद्धायु क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेन गृहीतेन व्याख्याप्रज्ञप्त्याद्यभिप्रायतः षष्ठनरकपृथिव्यामपि नारकत्वेनोत्पद्यते। ततो वा उद्वृत्य क्षायोपशमिकसम्यक्त्ववानत्रा मनुष्येषु मध्ये समुत्पद्यते । ततोऽविरत सम्यग्दृष्टिः, षष्ठनरकपृथिवीं गच्छन् पञ्चरज्जूः स्पृशति। ततः सामान्यतोऽविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्वसंख्यया द्वादशरज्जुस्पर्शना । सप्तमपृथिव्यां पुनः सम्यक्त्वसहितस्य गमनमागमनं वा प्रज्ञप्त्यामपि निषिद्ध, ततः षष्ठनरकपृथिवीग्रहणम् ॥२६॥

सम्प्रति सास्वादनानां द्वादशरज्जुस्पर्शनां भावयति –

छट्ठाए नेरइओ, सासणभावेण एइ तिरिमाणुए।
लोगंतिनिक्खुडेसुं, जं तससासायणगुणत्था ॥३०॥

षष्ठनरकपृथिव्यां वर्तमानः कश्चिन्नारकः स्वभावन्ते औपशमिकसम्यक्त्वमवाप्य सास्वादनभावं गतः सन् कालं करोति, कालं च कृत्वा तिर्यक्षु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पद्यते, ततस्तस्य पञ्चरज्जुस्पर्शना भवति । इह सप्तमपृथिवीनारकः सास्वादनभावं परित्यज्यैव तिर्यक्षूत्पद्यते, इति षष्ठपृथिवीग्रहणम् । तथा तिर्यग्लोकादपि केचित्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सास्वादनगुणस्थाः सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्तिनः सन्त उपरि लोकान्तनि ष्कुटेषु त्रसनाडीपर्यन्तवर्तिलोकान्तप्रदेशेषूत्पद्यन्ते, ततस्तेषां सप्तरज्जुस्पर्शना । ततः सामान्यतः सास्वादनगुणस्थानस्थानां सर्वसंख्यया द्वादशरज्जुस्पर्शना समुत्पद्यते। न ह्येकं जीवमधिकृत्येयं स्पर्शना चिन्त्यते, किं त्वेकं गुणस्थानं, ततो न कश्चिदोषः । इह प्रायः सास्वादनभावमापन्नानामधोगतिर्नो पजायते, ततो द्वादशरज्जुस्पर्शना प्रतिपादित । यदि पुनरधोगतिः सास्वादनानां भवेत् ततोऽधोलोकनिष्कुटादिष्वपि तेषामुत्पाद– संभवाच्चतुर्दशरज्जुस्पर्शनाऽभिधीयते ॥३०॥

संप्रत्यपूर्वकरणाऽऽदीनां स्पर्शनामभिधित्सुराह –

उवसामग उवसंता, सव्वत्थे अप्पमत्तविरया य।
गच्छंति रिउगईए, पुंदेसजया उ बारसमे ॥३१॥

उपशमका उपशमश्रेण्याऽऽरूढा अपूर्वकरणानिवृत्तबादरसूक्ष्मसंपरायाः, उपशान्ता उपशान्तमोहाः, तथा अप्रमत्तविरता अप्रमत्तसंयताः, चशब्दात्प्रमत्तभावाभिमुखाः, सर्वार्थे सर्वार्थ सिद्धे महाविमाने, ऋजुगत्या, गच्छन्ति उत्पद्यन्ते । ततस्ते सप्तरज्जुस्पर्शिनः, इह क्षपकश्रेण्याऽऽरूढा अपूर्वकरणाऽऽदयो न म्रियन्ते, न च मारणसमुद्घातमारभन्ते, ततस्तेषामसंख्येयभागमात्रैव स्पर्शना घटते, नाधिका। अत एव क्षीणमोहस्या संख्येयभागमात्रास्पर्शना प्रागभ्यधायि, ततोऽ – पूर्वकरणाऽऽदीनामुपशमश्रेणिमधिकृत्य सप्तरज्जुस्पर्शना प्रत्यपादि। पर आहननु मनुष्यभवायुषः क्षये, परभवायुष उदये परलोकगमनं, तदानीं चाऽविरतता, नोपशमकत्वादि, तत्कथमपूर्वकरणाऽऽदीनां सप्तरज्जुस्पर्शनेति ? नैष दोषः । इह द्विविधा गतिः कन्दुकगतिः इलिकागतिश्च। तत्रा कन्दुकस्येव गतिः कन्दुकगतिः । किमुक्तं भवति ? यथा कन्दुकः स्वप्रदेशसंपिण्डित ऊर्द्धव गच्छति, तथा जीवोऽपि कश्चित्परभवायुष उदये परलोकं गच्छन् स्वप्रदेशानेकत्रा संपिण्ड्य गच्छति। तथा इलिकाया इव गतिरिलिकागतिः यथा इलिका पुच्छप्रदेशमपरित्यजन्ती मुखेनाग्रेतनं स्थानं शरीरप्रसारणेन संस्पृश्य ततः पुच्छ संहरति, एवं जीवोऽपि कश्चित्स्वभवान्तकाले स्वप्रदेशैरुत्पत्तिस्थानं संस्पृश्य परभवायुःप्रथमसमये शरीरं परित्यजति। तत इलिकागतिमधिकृत्यापूर्वकरणाऽऽदीनां सप्तरज्जुस्पर्शना नि विहन्यते। तथा ऋजुगत्यैव (पुंदेसजया इति) अत्रा पुंग्रहणेन मनुष्यग्रहणम् ततोऽयमर्थः– मनुष्यरूपा देशयता देशविरता द्वादशेऽच्युताभिधाने देवलोके गच्छन्ति उत्पद्यन्ते, ततस्तेषां षड्रज्जुस्पर्शना, तिर्यग्लोकमध्यादच्युतदेवलोकस्य षड्रज्जु मानत्वात् । तदेवमुक्तं स्पर्शनाद्वारम् ॥३१॥ पं० सं० २ द्वार। (एषां भवस्थितिकालः 'भवट्ठिइकाल' शब्दे वक्ष्यते। गुणस्थानाविभागेन कालमानं 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ६१५ पृष्ठे गतम्)

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ
तण:क्खवीया य तसा य पाणा।
जे अंडजा जे य जराउपाणा,
संसेयजा जे रसजाभिहाणा ॥१॥

पृथिवीकायिकाः सत्त्वाः, चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः। सचायं भेदः– पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मा बादराश्च, ते च प्रत्येकं पर्याप्तकाऽपर्याप्तकभेदेन द्विधा, एवमप्कायिका अपि। तथाऽग्निकायिका वायुकायिकाश्च द्रष्टव्याः । वनस्पतिकायिकान् भेदेन दर्शयतितृणानि कुशाऽऽदीनि, वृक्षाश्चाश्वत्थाऽऽदयो, बीजानि शाल्यादीनि । एवं वल्लीगुल्माऽऽदयोऽपि वनस्पतिभेदा द्रष्टव्याः । त्रास्यन्तीति त्रासाः, द्वीन्द्रियाऽऽदयः प्राणाः प्राणिनः । ये चाण्डाज्जाता अण्डजाःशकुनिसरीसृपाऽऽदयः, ये च जरायुजा जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते, ते च गोमहिष्यजाऽविक– मनुष्याऽऽदयः। तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजाःयूकामत्कुण कृम्यादयः । ये च रसजाभिधानाः दधिसौवीराकाऽऽदिषु रुतपक्ष्मसन्निभा इति ॥१॥ सूत्रा० १ श्रु० ७ अ०।

द्वात्रिंशद्भेदा जीवा यथा –

एगविह दुविह तिविहा – चउहापंचविहछव्विहा जीवा।
चेयण तस इयरेहिं, वेयगइकरणकाएहिं ॥२॥

एकविधद्विविधत्रिविधचतुर्द्धापञ्चविधषड्विधा इति । एकाविधा विधानं येषां ते एकविधाः, एवं सर्वत्रा । एकविधाश्च द्विविधाश्च त्रिविधाश्चचतुर्द्धा च पञ्चविधाश्च षड्विधाः एकविध–

द्विविधत्रिविधचतुर्धापञ्चविधषड्विधाः। दीर्घता पुनः प्राकृत-प्रभवा। जीवाः प्राणिनः सर्वेऽपि संसारिकसत्त्वाः ''यथोद्देशं तथा निर्देशः'' इति न्यायात्पुनर्निर्देशमाह–चेतना त्रसेतरैः, वेदाश्च, गतयश्च, करणानि च, कायाश्च वेदगतिकरणकायास्तैः वेदगतिकरणकायैः करणभूतैरेते एकविधाऽऽदयो जीवास्तदादयो भवन्तीति गम्यते। तत्रैकविधाश्चेतनामाश्रित्य यतः सर्वेऽपि संसारिणो, मुक्ताश्च न व्यभिचरन्ति, एकेन्द्रियवनस्पत्यादीनां तथैवोपलब्धेः। तथा हि –

''कालफलदाणआहा–रगहणदोहलयरोगपडियारे।
नाऊण जाण सव्वे, नारि व्व सचेयणा तरुणो ॥१॥''

फलस्य दानं फलदानं, काले फलदानं कालफलदानम्। आहारस्य ग्रहणमाहारग्रहणम्, कालफलदानं च आहारग्रहणं च दोहदकश्च रोगश्च प्रतीकारश्च कालफलदानाहारग्रहणदोहद करोगप्रतीकारास्तान् किं ? ज्ञात्वा अवबुद्ध्य, जानीहि सर्वेऽपि नारीवत्सचेतनास्तरवो वृक्षाः। यथाहि नारी कालफलदानाऽऽहारग्रहणप्रवणा दोहदाऽऽदिधर्म्मयुक्ता सती सचेतना, एवं वृक्षा अपि तद्धर्मयुक्तत्वेन सचेतना इति गाथार्थः ॥१॥

द्वीन्द्रियाऽऽदीनां पुनः स्पष्टैव सा, गत्यादिविशिष्टचेष्टावत्त्वा त्तेषाम्। द्विविधाः पुनस्त्रसस्थावरभेदाभ्याम्। ते त्रसा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाः, स्थावराः पृथिव्युदकतेजोवायु वनस्पतिभेदात्पञ्चधा। त्रैविध्यं स्त्रीपुंनपुंस–कत्वादागतम्। चतुर्द्धा चातुर्विध्यं नारकतिर्यङ्नरामरापेक्षया। पञ्चविधाः पुनरिन्द्रियाश्रिताः। षड्विधा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकाय भेदादिति गाथार्थः। एकस्मादारभ्य यावता द्विधास्तावत्प्रति पादितम् ॥२॥

इदानीं तेषामेव नवविधत्वमाह –

पुढवी आऊ तेऊ, वाउ वणस्सइ तहेव वेइंदी।
तेइंदिय–चउरिंदिय–पंचिंदियभेयओ नवहा ॥३॥

सुगमा चेयम्।

पुनश्चतुर्दशविधत्वमाह –

एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियर पणिंदिया य सवितिचऊ।
पज्जत्तापज्जत्तग–भेएणं चउद्दस गामा ॥४॥

एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः, ते च सूक्ष्मेतराः। तत्र सूक्ष्माः सूक्ष्मनामकर्मोद्भवाः सर्वलोकव्यापिनः सर्वथा निरतिशयिनामदृश्याः बादराः पुनर्व्यवहारानुगाः प्रायशस्त्वनाद्य न्तवर्त्तिनः। तथा संज्ञीतराः पञ्चेन्द्रियाः। तत्र संज्ञिनो मनोविज्ञानयुक्तया देवनारकगर्भजतिर्यग्नराः। इतराः पुनरसंज्ञिनोमनो लब्धिविकलाः समूर्च्छजाः पञ्चेन्द्रियाः, इत्येते चत्वारोऽपि सह द्वित्रिचतुर्भिर्वर्त्तन्त इति सद्वित्रिचत्वारः, ततः सप्तापि पर्याप्त कापर्याप्तकभेदाचतुर्दश भेदा जायन्त इति गाथार्थः ॥४॥

पुनर्द्वात्रिंशद्विधत्वमाह –

पुढविदगअगणिमारुय– वणसयणंता पणिंदिया चउहा।
वणपत्तेया विगला, दुविहा सव्वे वि वत्तीसं ॥५॥

पृथिव्युदकाग्निमारुतवनस्पत्यनन्ताः। समासः पुनरत्र सुकर एव। पञ्चेन्द्रियाश्च चतुर्द्धा चतुर्भेदाः षट्चतुष्कमीलनाश्चतुर्विंशतिर्भवन्ति। तत्र पृथिवीकायः सूक्ष्मबादरभेदतो द्विधा पुनरेकैकपर्याप्तकभेदतश्चतुर्द्धा भवति। एवमुदकाऽऽदिष्वप्ययोज्यम्। पञ्चेन्द्रियाः पुनः संज्ञ्यसंज्ञिभेदतो द्विधा। पुनरेकैकाः पर्याप्तकभेदतो भिद्यमानाश्चतुर्द्धा भवति। वनस्पतिप्रत्येकाः पदावयवे पदसमुदायोपचारात्, पूर्वापरनिपाताश्च प्रत्येकवनस्पतयः, विकला विकलेन्द्रियाः तत्र विकलान्यपरिपूर्णानि इन्द्रियाणि येषां ते विकलेन्द्रियाः– द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः, किंविधाः? द्विविधाः पर्याप्तका पर्याप्तकभेदाः, तथा चतुर्द्विकमीलनादष्टौ भवन्ति, पुनश्चतुर्विंशतिमीलनाच्च सर्वेऽपि द्वात्रिंशद्विधा भवन्ति, इति गम्यत इति गाथार्थः ॥५॥ दर्श० ४ तत्व०।

त्रिषष्टयाधिकपञ्चशतभेदा जीवानाम् –

अम्मापिउणो सरिसा, सव्वे वि खमंतु मे जीवा। (९०)

(अम्मापिउणो सरिस त्ति) मातापितृसमानाः यथा माता पित्रारुपरि निष्कृत्रिमस्नेहो भवति, तद्वद् मम सर्वेऽपि जीवाः पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतयः सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्ता भेदेन चतुर्विधाः, सर्वमीलने विंशतिधाः, प्रत्येकवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः, पर्याप्तापर्याप्तभेदेनाष्टधाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया जलचरस्थलचरखेचर परिसर्पभुजपरिसर्पाः पञ्चापि संज्ञ्य संज्ञिपर्याप्तापर्याप्ताऽऽदीनां विंशतिसंख्याः, नारकाः पृथिवीभेदेन सप्त, पर्याप्तपर्याप्तभेदेन चतुर्दशधाः। तथा कर्म्मा–कर्म्मभूमिजान्तरद्वीपमनुजाः पञ्चदशत्रिंशत्षट्पञ्चाशत्संख्याः, पर्याप्तापर्याप्तभेदतो द्विरुत्तरशतद्वयमानाः। असांज्ञमनुजा एतद्द्वीपान्तादिभवा अपर्याप्ता एकोत्तरशतमानाः। भवनपतयो दशधाः पर्याप्तापर्याप्तरूपतो विंशतिमानाः। व्यन्तराः षोडशधाः पर्याप्तापर्याप्तत्वेन द्वात्रिंशद् भेदाः। जृम्भका अपि दश पर्याप्ताऽऽदिना विंशतिधाः। ज्योतिष्काः पञ्च गतिस्थितिभेदतो दश पर्याप्तापर्याप्तवादिना विंशतिधाः। वैमानिका द्वादश, नव पञ्चाऽपि पर्याप्तापर्याप्तयोगतः पञ्चाशन्मानाः। किल्विषिकास्त्रिविधाः पर्याप्ताऽऽदिना षोढाः। लोकान्तिका नव पूर्ववदष्टादशधाः। तदेवं सर्वजीवास्त्रिषष्टय धिकपञ्चशतमानाः, क्षमन्तु क्षमां कुर्वन्तु मे मम एते समस्ता अपि जीवा इत्यर्थः। संथा०।

नारकाऽऽदिजीवानाश्रित्य स्थित्यादि –

ठितिउस्सासाऽऽहारे, किं वाऽऽहारेइ सव्वओ वा वि।
कइ भागं सव्वाणि च, कीस व भुज्जो परिणमंति ? ॥१॥

('आहारं' शब्दे द्वितीयभागे ५०१ पृष्ठे आहारवक्तव्यता)

णेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया ? १ आहारिया आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणया ? २ अणाहारिया आहा रिज्जेस्समाणा पोग्गला परिणया ? ३ अणाहारिया अणाहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया ?४ गोयमा ! णेरइयाणं पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया १, आहारिया आहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया, परिणमंति य २, अणाहारिया आहारिज्जस्समाणा पोग्गला णो परिणया, परिणमिस्संति ३, अणाहारिया अणाहरिज्जस्समाणा पोग्गला णो परिणया, णो परिणमिस्संति ४ णेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला चिया, पुच्छा ? जहा परिणया, तेहा चिया वि, एवं चिया, उवचिया, उदीरिया, वेइया, णिज्जिणा ॥

गाहा –

''परिणत चिया उवचिया, उदीरिता वेइया य णिज्जिण्णा।
एक्किक्कम्मि पदम्मी, चउव्विहा पोग्गला होंति'' ॥१॥

(पुव्वाहारिय त्ति) ये पूर्वमाहृताः पूर्वकाले एकीकृताः सङ्– गृहीता इति यावत्। अभ्यवहृता वा; (पोग्गल त्ति) स्कन्धाः। (परिणय त्ति) ते परिणताः, पूर्वकाले शरीरेण सह संपृक्ताः, परिणतिं गता इत्यर्थः। इति प्रथमः प्रश्नः १। इह च सर्वत्र प्रश्नत्वं काकुपाठादवगम्यते। तथा– (आहारिय त्ति) पूर्वकाले आहृताः संगृहीताः अभ्यवहृता वा; (आहारिज्जमाण त्ति) ये च वर्त्तमानकाले आह्रियमाणाः संगृह्यमाणाः, अभ्यवह्रियमाणा वा पुद्गलाः (परिणय त्ति) ते परिणताः। इति द्वितीयः २। तथा – (अणाहारिय त्ति) येऽतीतकालेऽनाहृताः। (आहारिज्जस्समाण त्ति) ये चानागते काले आहरिष्यमाणाः पुद्गलास्ते परिणताः। इति तृतीयः ३। तथा – ''अणाहारिआ अणाहारिज्जस्समाण'' इत्यादि। अतीतानागताऽऽहरणक्रियानिषेधाच्चतुर्थः ४। इह च यद्यपि चत्वार एव प्रश्ना उक्ताः, तथाऽप्येते त्रिषष्टिः सम्भवन्ति। यतः पूर्वाहृता आह्रियमाणा आहरिष्यमाणाः, अनाहृता अनाह्रियमाणा अनाहरिष्यमाणाश्चेति षट् पदानीह सूचितानि। तेषु च एकैकपदाऽऽश्रयणेन षड्द्विकयोगे पञ्चदश, त्रिकयोगे विंशतिः, चतुष्कयोगे पञ्चदश, पञ्चकयोगे षट्, षड्योगे एक इति। अत्रोत्तरमाह – ''गोयम'' इत्यादि व्यक्तम्। नवरं ये पूर्वमाहृतास्ते पूर्वकाल एव परिणताः, ग्रहणानन्तरमेव परिणाम–भावात् १। ये पुनराहृता आह्रियमाणाश्च ते परिणताः आहृतानां परिणामभावादेव परिणमन्ति च, आह्रियमाणानां परिणाम– भावस्य वर्तमानत्वादिति २। वृत्तिकृता तु द्वितीयः प्रश्नोत्तरविकल्प एवंविधो दृष्टः, यदुत–आहृता आहरिष्यमाणाः पुद्गलाः परिणताः परिणंस्यन्ते च, यतोऽयं तेनैव व्याख्यातः यदुत ये पुनराहृता आहरिष्यन्ते, पुनस्तेषां केचित्परिणताः अपरिणताश्च ते सम्पृक्ताः शरीरेण सह। ये तु न तावत् संपृच्यन्ते, कालान्तरे तु संपृक्ष्यन्ते, ते परिणंस्यन्त इति। ये पुनरनाहृता आहरिष्यन्ते, पुनस्ते नो परिणताः, अनाहृतानां संपर्काभावेन परिणामाभावात्। यस्मात्त्वाहरिष्यन्ते, ततः पारणंस्यन्ते, आहृतस्यावश्यं परिणामभावादिति ३। चतुर्थस्त्वतीत भविष्यदाहरणक्रियाया अभावेन परिणामाभावादवसेय इति। एतदनुसारेणैव प्राग्दर्शितविकल्पानामुत्तरसूत्राणि वाच्यानीति। अथ शरीरसंपर्कलक्षण– परिणामात् पुद्गलानां चयाऽऽयो भवन्तीति तद्दर्शनार्थं प्रश्नयन्नाह– ''नेरइयाणं'' इत्यादि। चयाऽऽदिसूत्राणि परिणामसूत्रासमानीतिकृत्वा अतिदेशतोऽधीतानीति। तथाहि – ''जहा परिणया तहा चिया वि'' इत्यादि। इह च पुस्तकेषु वाचनाभेदो दृश्यते, तत्र न संमोहः कार्यः, सर्वत्राभिधेयस्य तुल्यत्वात्। केवलं परिणतसूत्रानुसारेण प्रश्नसूत्राणि व्याकरणानि च मतिमताऽध्येनीति। तत्र चिताः शरीरे चयं गताः। उपचिताः पुनर्बहुशः प्रदेशसामीप्येन शरीरे चिता एवेति। उदीरितास्तु स्वभावतोऽनुदितान् पुद्गलान् उदयप्राप्ते कर्मदलिके करणविशेषण प्रक्षिप्ययान् वेदयते। उदीरणालक्षणं चेदम् – ''जं करणेणाकड्ढिय, उदए दिज्जइ उदीरणा एसा।'' तथा वेदिताः स्वेन रसविपाकेन प्रतिसमयमनुदयमाना अपरिसमाप्ताः शेषानुभावा इति। तथा निर्जीर्णाः कात्स्न्र्येनानुसमयमशेषत द्विपाकहानियुक्ता इति। ''गाह त्ति'' परिणताऽऽदिसूत्राण संग्रह णाय गाथा भवति। सा चेयम्– ''परिणय'' इत्यादि। व्याख्यातार्था। नवरम् एकैकस्मिन् पदे परिणतचितोपचिता-ऽऽदौ चतुर्विधाः–आहृताः १, आहृता आह्रियमाणाश्च २, अनाहृता आहरिष्यमाणश्च ३, अनाहृता अनाहरिष्यमाणाश्च ४। इत्येवं चतूरूपाः पुद्गला भवन्ति, प्रश्ननिर्वचनविषयाः स्युरिति।

पुद्गला भिद्यन्ते –

णेरइयाण भंते! कतिविहा पोग्गला भिज्जंति ? गोयमा ! कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला भिज्जंति। तं जहा–अणू चेव, बायरा चेव १। णेरइयाणं भंते ! कतिविहा पोग्गला चिज्जंति ? गोयम ! आहारदव्वमग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला चिज्जति ? तं जहा–अणू चेव, बायरा चेव २। एवं उवचिज्जंति ३। णेरइयाणं भंते ! कतिविहा पोग्गला उदीरंति ? गोयमा ! कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला उदीरंति। तं जहा– अणू चेव, बायरा चेव ४। सेसा वि एवं चेव भाणियव्वा। वेदंति ५, णिज्जरंति ६, उयट्टिंसु ७, उयट्टंति ८, उयट्टिस्संति ९, संकमिंसु १०, सकामंति ११, संकामिस्संति १२, निहात्तसु १३, निहत्तति १४, निहत्तिस्संति १५, निकाइंसु १६, निकायंति १७, निकाइस्संति १८।

सव्वसु वि कम्मदव्वमग्गणमहिकिच्च गाहा –

''भेदिय चिता उवचिता, उदीरिता वेदिया य णिज्जिण्णा।
उव्वट्टणसंकामण – णिहत्तणिकायणे तिविहकाले'' ॥१॥

''नेरव्याणं भंते ! कइविहा पोग्गला भिज्जंति'' इत्यादि व्यक्तम्, नवरम् (भिज्जंति त्ति) तीव्रमन्दमध्यमतयाऽनुभागभेदेन भेदवन्ता भवन्ति, उद्वर्त्तनकरणापवर्त्तनकरणाऽभ्यां मन्दरसास्तीव्ररसाः, तीव्ररसास्तु मन्दरसा भवन्तीत्यर्थः। उत्तरम् – (कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च त्ति) समानजातीयद्रव्याणां राशिर्द्रव्यवर्गणा, सा चौदारिकाऽदिद्रव्याणामप्यस्तीत्यत आह – कर्मरूपा द्रव्यवर्गणा, कर्मद्रव्याणां वा वर्गणा कर्मद्रव्यवर्गणा, तामधिकृत्य तामाश्रित्य, कर्मद्रव्यवर्गणासत्का इत्यर्थः। कर्मद्रव्याणामेव च मन्देतरानुभावचिन्ताऽस्ति, न द्रव्यान्तराणा – मितिकृत्वा कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्येत्युक्तम्। (अणू चेव बायरा चेव त्ति) चैवशब्दः समुच्चयार्थः। ततश्च अणवश्च बादराश्च, सूक्ष्माश्च स्थूलाश्चेत्यर्थः। सूक्ष्मत्वं स्थूलत्वं चैषां कर्मद्रव्या–पेक्षयैवावगन्तव्यं, नान्यापेक्षया, यत औदारिकाऽऽदिद्रव्याणां मध्ये कर्मद्रव्याण्येव सूक्ष्माणीति। एवं चयोपचयोदीरणावेदनानिर्जराः शब्दार्थभेदेन वाच्याः किं तु चयसूत्रे उपचयसूत्रे च ''आहारदव्ववग्गणमहिकिच्च'' इति यदुक्तं, तत्रायमभिप्रायः शरीरमाश्रित्य चयोपचयौ प्राग्व्याख्यातौ, तौ चाऽऽहारणाद्द्रव्येभ्य एव भवतो नान्यतोऽत आहारद्रव्यवर्गणाम–धिकृत्येत्युक्तमिति। उदीरणाऽऽदयस्तु कर्मद्रव्याणमेव भवन्त्यतन्त्रसूत्रषूक्तं कर्मद्रव्यवर्गणमधिकृत्येति। (उयट्टिंसु त्ति) अपवर्त्तितवन्तः, इहापवर्तनं कर्मणां स्थित्यादेरव्यवसायविशेषण हीनताकरणम्, अपवर्त्त–

नस्य चोपलक्षणत्वादुद्वर्त्तनमपीह दृश्यम्, तच्च स्थित्यादेर्वृद्धि-करणस्वरूपम्। (संकमिंसु त्ति) संक्रमितवन्तः, तत्र संक्रमणं मूलप्रकृत्यभिन्नानामुत्तरप्रकृतीनामध्यवसायविशेषेण परस्परं संचारणम्।

तथा चाह –

''मूलप्रकृत्यभिन्नाः, संक्रमयति गुण उत्तराः प्रकृतीः।
न त्वात्माऽऽमूर्त्तत्वा – दध्यवसायप्रयोगेण ॥१॥''

अपरस्त्वाह –

''मोत्तूण आउयं खलु, दंसणमोहं चरित्तमोहं च।
सेसाणं पगईणं, उत्तरविहिसंकमो भणिओ ॥१॥''

एतदेव निर्दिश्यते–यथा कस्यचित्सद्वेद्यमनुभवतोऽशुभ – कर्मपरिणतिरेवंविधा जाता, येन तदेव सद्वेद्यमसद्वेद्यतया संक्रामतीति। एवमन्यत्रापि योज्यम्। (निहत्तिंसु त्ति) निधत्तान् कृतवन्तः, इह च विश्लिष्टानां परस्परतः पुद्गलानां निचयं कृत्वा धारणं रूढिशब्दत्वेन निधत्तमुच्यते। उद्वर्त्तनापवर्त्तव्यतिरिक्त–करणानामविषयत्वेन कर्मणोऽवस्थानमिति। (निकाइंसु त्ति) निकाचितवन्तो, नितरां बद्धवन्त इत्यर्थः। निकाचनं च तेषामेव पुद्गलानां परस्परविश्लिष्टानामेकीकरणमन्योन्यावगाहिता अग्नि प्रतप्तप्रतिहन्यमानसूचीकलापस्येव सकलकरणा–नामविषयतया कर्म्मणो व्यवस्थापनमिति यावत्। ''भिज्जंति'' इत्यादिपदानां संग्रहणी यथा – ''भेदिय'' इत्यादिगाथा गतार्था। नवरम् अपवर्त्तनसंक्रमनिधत्तनिकाचनपदेषु त्रिविधः कालो निर्देष्टव्यः, अतीतवर्त्तमानानागतकालनिर्देशेन तानि वाच्या नीत्यर्थः। इह चापवर्त्तनाऽऽदीनामिव भेदाऽऽदीनामपि त्रिकालता युक्ता, न्यायस्य समानत्वात्। केवलमविवक्षणान्न तन्निर्देशः सूत्रे कृते इति।

णेरइयाणं भंते ! जे पोग्गला तेयाकम्मत्ताए गिण्हंति, ते किं तीतकालसमए गिण्हंति, पडुप्पण्णकालसमए गिण्हंति, अणागयकालसमए गिण्हंति ? गोयमा ! णोऽतीतकालसमए गिण्हंति, पडुप्पण्णकालसमए गिण्हंति, णो अणागयकालसमए गिण्हंति १ णेरइयाणं भंते ! जे पोग्गला तेयाकम्मत्ताए गहिए उदीरंति, ते किं तीतकालसमयगहिए पोग्गले उदीरंति, पडुप्पण्णकालसमयगहिए पोग्गले उदीरंति, गहणसमयपुरक्खडे पोग्गले उदीरंति ? गोयमा ! तीतकाल-समयगहिए पोग्गले उदीरंति, णो पडुप्पण्णकालसमय-घिप्पमाणे पोग्गले उदीरंति, णो गहणसमयपुरक्खडे पोग्गले उदीरंति २। एवं वेदंति ३, णिज्जरंति ४।

''नेरइयाणं'' इत्यादि व्यक्तम्। नवरं (तेयाकम्मत्ताए त्ति) तैजसकार्म्मणशरीरतया, तद्रूपतयेत्यर्थः। (अतीतकालसमए त्ति) कालरूपः समयो, न तु समाचाररूपः। कालोऽपि समयरूपो, न तु वर्णाऽऽदिस्वरूप इति परस्परेण विशेषणात्कालसमयः, अतीतः कालसमयः अतीतकालस्य चोत्सर्पिण्यादेः समयः परमनिकृष्टोंऽशोऽतीतकालसमयः तत्र०। (पडुप्पण त्ति) प्रत्युत्पन्नो वर्त्तमानो, नोऽतीतकालेत्यादौ अतीतानागतकालविषयग्रहणप्रतिषेधः, विषयातीतत्वात्। विषयातीतत्वं च तयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वादिति प्रत्युत्पन्नत्वेऽप्यभिमुखान् गृह्णाति, नान्यान्। (गहणसमयपुरक्खडे त्ति) ग्रहणसमयः पुरस्कृतो वर्तमानसमयस्य पुरोवर्त्ती येषां ते ग्रहणसमय-पुरस्कृता। प्राकृतत्वादेवं निर्देशः। अन्यथा पुरस्कृतग्रहणसमया इति स्यात्, ग्रहीष्यमाणा इत्यर्थः। उदीरणा च पूर्वकालगृहीतानामेव भवति, ग्रहणपूर्वकत्वादुदीरणायाः। अत उक्तम् – अतीतकाल–समयगृहीतानुदीरयन्तीति गृह्यमाणानां ग्रहीष्यमाणानां चागृही–तत्वादुदीरणाभावाः। तत उक्तम् – ''नो पडुप्पण'' इत्यादि। वेदनानिर्जरासूत्रयोरप्येषैवोपपत्तिरिति।

णेरइयाणं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं बंधंति, अचलियं कम्मं बंधंति ? गोयमा ! णो चलियं कम्मं बंधंति, अचिलयं कम्मं बंधंति ? णेरइयाणं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं उदीरंति, अचलियं कम्मं उदीरंति ? गोयमा ! णो चलियं कम्मं उदीरंति, अचलियं कम्मं उदीरंति २। एवं वेदंति ३। उयट्टंति ४। संकामंति ५। निहत्तंति ६। णिकायंति ७। सव्वेसु अचलियं णो चलियं। णेरइयाणं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं णिज्जरेंति, अचलियं कम्मं णिज्जरेंति ? गोयमा ! चलियं कम्मं णिज्जरेंति, णो अचलियं कम्मं णिज्जरेंति ॥८॥

गाहा –

बंधोदयवेदोय– ट्ठसं कमणणिहत्तणिकाएसुं।
अचलिय कम्मं तु भवे, चलिअं जीवाउ णिज्जरए ॥१॥

''नेरइयाणं'' इत्यादि व्यक्ता च। नवरम् (जीवाओ किं चलियं ति) जीवप्रदेशेभ्यश्चलितं, तेष्वनवस्थानशीलं, तदितरत्त्वचलितं, तदेव बध्नाति। यदाह – ''कृत्स्नैर्देशैः स्वकदे–शस्थं रागाऽऽदिपरिणतो योग्यम्। बध्नाति योगहेतोः, कर्म स्नेहाक्त इव च मलम् ॥१॥'' एवमुदीरणावेदनापवर्त्तनासंक्रमणनिधत्तनिकाचनानि भाव्यानि। निर्जरा तु पुद्गलानां निरनुभावीकृतानामात्मप्रदेशेभ्यः शातनम्, सा च नियमाच्चलितस्य कर्मणो, नाचलितस्येति। इह सङ्ग्रहणी गाथा – ''बंधोदय'' इत्यादि भावितार्था, केवलमुदयशब्देनोदीरणा गृहीतेति। उक्ता नारकवक्तव्यता। भ० १ श० १ उ०।

अथ असुरकुमारवक्तव्यतामाह –

असुरकुमाराणं भंते! पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया ? असुरकुमाराभिलावेणं जहा णेरइयाणं० जाव चलियं कम्मं णिज्जरेंति। भ० १ श० १ उ०।

एवं यावत्स्तनितकुमाराणां, पृथिवीकायिकानां यावद्वनस्पतिकायिकानां यथा नैरयिकाणां यावदचलितं कर्म निर्जरयन्ति। (द्वीन्द्रियाणां स्थित्याहारौ 'ठिई' शब्दे, तथा 'आहार' शब्दे द्वितीय भागे ५०५ पृष्ठे द्रष्टव्यौ)

एएसि णं भंते ! पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाण य कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा पोग्गला अणासाइज्जमाणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा। वेइंदियाणं भंते ! पोग्गला आहारत्ताए गिण्हंति, तेणं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ? गोय –

मा ! जिब्भिंदियफासिंसियवेमायाए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । बेइंदियाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया ? तहेव० जाव चलियं कम्मं णिज्जरेंति ॥

(अणासाइज्जमाणाणं ति) रसनेन्द्रियतः । (अफासाइज्ज –माणाणं ति) स्पर्शनेन्द्रियतः । 'कयरे' इत्यादि यत्पदं तदेवं दृश्यम्– (कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा, बहुया वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया व त्ति) व्यक्तं च । ''सव्वत्थोवा पोग्गला अणासा–एज्जमाणा'' इत्यादि । ये अनास्वाद्यमानाः केवलं रसनेन्द्रियविषयास्ते स्तोकाः, अस्पृश्यमानानामनन्त–भागवर्त्तिन इत्यर्थः । ये त्वस्पृश्यमानाः केवलं स्पर्शनविषया–स्तेऽनन्त-गुणाः रसनेन्द्रियविषयेभ्यः सकाशादिति ।

तेइंदियचउरिंदियाणं णाणत्तं ठिईए० जाव अणेगाइं च णं भाग–सहस्साइं अणाघाइज्जमाणइं, अणासाइज्जमाणाइं, अफासाइ–ज्जमाणाइं विद्धंसमावज्जंति । एएसि णं भंते ! पोग्गलाणं अणाघाइज्ज माणाणं, अणासाइज्जमाणाणं, अफासाइज्जमाणाण य पुच्छा । गोयमा ! सव्वत्थोवा पोग्गला अणाघाइज्जमाणा, अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा । तेइंदियाणं घाणेंदियजिब्भिंदियफासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । चउरिंदियाणं चक्खिं दियघाणिंदिय-जिब्भिंदियफासिंदियत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

(तेइंदियचउरिंदियाणं णाणत्तं ठिईए त्ति) तच्चेदम्– ''जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेइंदियाणं एगूणं पन्नासं राइंदियाइं, चउरिंदियाणं छम्मासा ।'' तथा आहारेऽपि नानात्वम् । तत्र च ''तेइंदियाणं भंते ! जं पोग्गलो आहारत्ताए गेण्हंति'' इत्यत आरभ्य तावत् सूत्रं वाच्यं यावत् ''अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अणाघाइज्जमाणाइं'' इत्यादि । इह च द्वीन्द्रियसूत्रापेक्षयाऽनाघ्रायमाणानीति, अतिरिक्तमतो नानात्वम् । एवमल्पबहुत्वसूत्रे परिणामसूत्रे च । चतुरिन्द्रियसूत्रेषु तु परिणामसूत्रे ''चक्खिं-दियत्ताए घाणिंदियत्ताए'' इत्यधिकमिति नानात्वमिति ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं ठिई भणिऊण ऊसासो वेमायाए आहारो अणाभोगणिव्वत्तिए अणुसमइअं अविरहिओ आभोगनिव्वत्तिओ जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स, सेसं जहा चउरिंदियाणं० जाव चलियं कम्मं णिज्जरेंति । एवं मणुस्साण वि । णवरं आभोगणिव्वत्तिए जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठमभत्तस्स, सोइंदिय० ५ वेमायाए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । सेसं तहेव० जाव चलियं कम्मं णिज्जरेंति ॥

पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सूत्रे – (ठिइं भणिऊण त्ति) ''जहन्नेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं'' इत्येतद्रूपां स्थितिं भणित्वा (ऊसासो त्ति) उच्छ्वासो विमात्राया वाच्य इति । तथा तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा-माहारार्थं प्रति यदुक्तम् – ''उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स त्ति,'' तदेवकुरूत्तर-कुरुतिर्यक्षु लभ्यते । मनुष्य सूत्रे यदुक्तमष्टमभक्तस्येति, तदेवकुर्वादि-मिथुनकनरानाश्रित्य समवसेयमिति ।

वाणमंतराण ट्ठिईए णाणत्तं, अवसेसं जहा णागकुमाराणं, एवं जोइसियाण वि, णवरं उस्सासो जहण्णेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स, उक्कोसेण वि मुहुत्तपुहुत्तस्स, आहारो जहण्णेणं दिवसपुहुत्तस्स, उक्कोसेणं वि दिवसपुहुत्तस्स, सेसं तं चेव ॥

''वाणमंतराणं'' इत्यादि । वाणमन्तराणां स्थितौ नानात्वं (अवसेसं त्ति) स्थितेरवशेषमायुष्कवर्जमित्यर्थः । प्रागुक्तमाहा–राऽऽदि वस्तु, यथा नागकुमाराऽऽदीनां तथा दृश्यम् । व्यन्तराणां, नागकुमाराणां च प्रायः समानधर्मत्वात् । तत्र व्यन्तराणां स्थितिर्जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण तु पल्योपममिति । ''जोइसियाण वि'' इत्यादि । ज्योतिष्का-णामपि स्थितेरवशेषं तथैव, यथा नागकुमाराणाम् । तत्र ज्योतिष्काणां स्थितिर्जघन्येन पल्योपमाष्टभागः, उत्कर्षेण पल्योपमं वर्षलक्षाधिक-मिति । नवरं (उस्सास त्ति) केवलमुच्छ्वास्तेषां न नागकुमार समानः, किं तु वक्ष्यमाणः । तथा चाह – ''जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स'' इत्यादि । पृथक्त्वं द्विप्रभृतिरानवभ्यः, तत्र यज्जघन्यं मुहुर्त्तपृथक्त्वं तद् द्वित्रामुहुर्त्ताः, यच्चो त्कृष्टं तदष्टौ नव वेति । आहारोऽपि विशेषित एव । तथा चाह – ''आहारो'' इत्यादि । भ० १ श० १ उ० ।

पृथ्वीकायिकाऽऽवासेषु नैरयिकाऽऽदीनां स्थितिस्थानाऽऽदि–प्रतिपादनाय संग्रहगाथामाह –

पुढवी ठिइओगाहण – सरीरसंघयणमेव संठाणे ।
लेस्सादिट्ठीणाणे, जोगुवओगे य दस ठाणा ॥४॥

''पुढवी'' इत्यादि । तत्र पुढवीति लुप्तविभक्तिकत्वान्निर्देशस्य पृथिवीषु, उपलक्षणत्वाच्चास्य पृथिव्यादिषु जीवाऽऽवासेष्विति द्रष्टव्यामिति। (ठिइ त्ति) ''सूचनान्सूत्रम'' इतिन्यायात् स्थितिस्थानानि वाच्यानीति शेषः (एवं ओगाहण त्ति) अवगा हनास्थानानि । शरीराऽऽदिपदानि तु व्यक्तान्येव, एकारान्तं च पदं प्रथमैकवचनान्तं दृश्यम् । इत्येवमेतानि स्थितिस्थानाऽऽदीनि दश वस्तूनि इहोद्देशके विचारयितव्यानीति गाथासमासार्थः । विस्तरार्थं तु सूत्रकारः स्वयमेव वक्ष्यतीति ।

तत्र रत्नप्रभापृथिव्यां स्थितिस्थानानि तावत्प्ररूपयन्नाह –

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावासस–यसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा ठिइट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा– जहण्णिया ठिई समयाहिया, जहण्णिया ठिई दुसमयाहिया० जाव असंखिज्जसमयाहिया, जहण्णिया ठिई तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिई ॥

''इमीसे णं'' इत्यादि व्यक्तम् । नवरम् –(एगमेगंसि निरयावासंसि त्ति) प्रतिनरकाऽऽवासमित्यर्थः । (ठिइट्ठाण त्ति) आयुषो विभागाः (असंखेज्ज त्ति) सङ्ख्याऽतीतानि, कथम् ? प्रथमपृथिव्यपेक्षया जघन्या स्थितिर्दशवर्ष-सहस्राणि, उत्कृष्टा तु सागरोपमम्, एतस्यां चैकैकसमयवृद्ध्याऽसङ्ख्येयानि स्थिति स्थानानि भवन्ति । असङ्ख्येयत्वात् सागरोपमसमयानामित्येवं न–

रकाऽऽवासापेक्षयाऽऽप्यसङ्ख्येयान्येव तानि, केवलं तेषु जघन्योत्कृष्ट-विभागो ग्रन्थान्तरादवसेयः । यथा–प्रथमप्रस्तटनरकेषु जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि, उत्कृष्टा तु नवतिरिति । एतदेव दर्शयन्नाह – ''जहन्निया ठिई'' इत्यादि । जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राधिका, इत्येकं स्थितिस्थानम्, तच्च प्रतिनरकं भिन्नरूपम्, सैव समयाधिकेति द्वितीयम्, इदमपि विचित्रम्, एवं यावद सङ्ख्येयसमयाधिका सा । सर्वान्तिमस्थितिस्थानदर्शनायाऽऽह (तप्पाउग्गुक्कोसिय त्ति) उत्कृष्टाऽसावनेकविधेति विशेष्यते, तस्य विवक्षितनरकाऽऽवासस्य प्रायोग्योचिता उत्कर्षिका तत्– प्रायोग्योत्कर्षिका इत्यपरं स्थितिस्थानम्, इदमपि विचित्रं, विचित्रत्वा दुत्कर्षस्थितेरिति ।

एवं स्थितिस्थानानि प्ररूप्य तेष्वेव क्रोधाऽऽद्युपयुक्तत्वं नारकाणां विभागेन दर्शयन्निदमाह –

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससय–यसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि जहाण्णयाए ठिईए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज कोहोवउत्ता ? अहवा–कोहोवउत्ता माणोवउत्ते य २, अहवा–कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य ३, अहवा–कोहोवउत्ता य मायोवउत्ते य ४, अहवा–कोहोवउत्ता य मायोवउत्ता य ५, अहवा–कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ते य ६, अहवा–कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ता य ७ । अहवा–कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य, मायोवउत्त य १, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ता २, कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ते य ३, कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता ४ । एवं कोहेणं माणेणं लोभेणं चत्तारि भंगा १२ । अहवा–कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ते लोभोवउत्ते १, अहवा–कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ते लोभोवउत्ता २, अहवा–कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ता लोभोवउत्ते ३, अहवा–कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ४, अहवा–कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ते लोभोवउत्ते ५, अहवा–कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ते लोभोवउत्ता ६, अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायावउत्ता लोभोवउत्ते ७, अहवा कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ८ । एवं सत्तावीसं भंगो नेयव्वा ॥

''इमीसे णं'' इत्यादि । (जहण्णियाए ठिईए वट्टमाण त्ति) या यत्र नरकाऽऽवासे जघन्या, तस्यां वर्त्तमानाः ''किं कोहो–वउत्ते' इत्यादिप्रश्ने ''सव्वेवि'' इत्याद्युत्तरम् । तत्र च प्रतिनरकं जघन्यस्थितिकानां सदैव भावात्तेषु च क्रोधोपयुक्तानां बहुत्वात्सप्तविंशतिर्भङ्गकाः । एकाऽऽदिसंख्यात समयाधिकजघन्यस्थितिकानां तु कादाचित्कत्वात्तेषु च क्रोधाऽऽद्युपयुक्ताना नामेकत्वानेकत्वसंभवादशीतिर्भङ्गकाः । एकेन्द्रियेषु तु सर्वकषायोपयुक्तानां प्रत्येकं बहूनां भावादभङ्गकम् । आह च – ''संभवइ जहिं विरहो, असीति भंगा तहिं करेज्जाहि । जहियं न होइ विरहो, अभंगयं सत्तवीसा वा ॥१॥'' अयं च तत्सत्ताऽपेक्षे विरहो द्रष्टव्यो, न तूत्पादापेक्षः, यतो रत्नप्रभायां चतुर्विंशतिर्मुहुर्ता उत्पादविरहकाल उक्तः, ततश्च यत्र सप्तविंशतिर्भङ्गका उच्यन्ते, तत्रापि विरहभावादशीतिः प्राप्नोति, सप्तविंशतेश्चाभाव एवात । तत्र (सव्वे वि ताव होज्ज कोहोवउत्त त्ति) प्रतिनरकं स्वकीयस्वकीयस्थित्यपेक्षया जघन्यस्थितिकानां नारकाणां सदैव बहूनां सद्भावान्नारकभवस्य च क्रोधोदय प्रचुरत्वात् सर्व एव क्रोधोपयुक्ता भवेयुरित्येको भङ्गः । ''अहवा'' इत्यादिना द्वित्रिचतुःसंयोगभङ्गा दर्शिताः, तत्र द्विकसंयोगे बहुवचनान्तं क्रोधममुञ्चता षड् भङ्गाः कार्याः । तथाहि–क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्तश्च १, तथा क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च २ । एवं मायायैकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ, लोभेन च द्वौ। एवमेते द्विकयोगे षट्, त्रिकयोगे तु द्वादश भवन्ति । तथाहि क्रोधे नित्यं बहुवचनम्, माननायायोरेकवचनमित्येकः, मानैकत्वे मायाबहुत्वे च द्वितीयः । माने च बहुवचनं, मायायामेकत्वमिति तृतीयः । मानबहुत्वे मायाबहुत्वे च चतुर्थः, पुनः क्रोधमानलोभैरित्थमेव चत्वारः, पुनः क्रोधमायालोभैरित्थमेव चत्वारः एवमेते द्वादश । चतुष्कसंयोगे त्वष्टौ । तथाहि– क्रोधे बहुवचनेन माननायालोभेषु चैकवचनेनैकः । इत्थमेव लोभे बहुवचनेन द्वितीयः । एवमेतावेकवचनान्तमायया जातौ, एवं बहुवचनान्तमाययाऽन्यौ द्वौ, एवमेते चत्वार एकवचनान्तमानेन जाताः । एवमेव बहुवचनान्तमानेन चत्वार इत्येवमष्टौ । एवमेतं जघन्यस्थितिषु नारकेषु सप्तविंशतिर्भवन्ति । जघन्यस्थितौ हि बहवो नारका भवन्त्वत क्रोधे बहुवचनमेव ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए दुवीए तीसाए निरयावाससय सहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि समयाहियाए जहण्णाट्ठइए वट्टमाणा नेरइया किं कोहो, त्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ? गोयमा ! कं हावउत्त य माणोवउत्ते य मायोवउत्ते य लोभोवउत्ते य, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायोवउत्ता य लोभोवउत्ता य, अहवा कोहोवउत्ते य माणोवउत्त य, अहवा–काहोवउत्त य माणोवउत्ता य, एवं असीइभंगा नेयव्वा । एवं० जाव संखेज्जसमयाहिया ठिइ, असंखेज्जसमयाहियट्ठिईए तप्पाउग्गुक्कोसियाए ठिईए सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा ।

''समयाहियाए जहन्नट्ठिईए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता'' इत्यादि प्रश्नः । इहोत्तरम् – ''कोहोवउत्ते य'' इत्यादयोऽशीतिर्भङ्गाः । इह समयाधिकायां यावत् संख्येयसमयाधिकायां जघन्यास्थितौ नारका न भवन्त्यपि भवन्ति चेदेको वा; अनेके वेति । ततः क्रोधाऽऽदिष्वेकत्वेन चत्वारो विकल्पाः, बहुत्वेन चान्ये चत्वार एव ४, द्विकसंयोगे चतुर्विंशतिः । तथाहि क्रोधमानयोरेकत्वबहुत्वाभ्यां चत्वारः ४, एवं क्रोधमाययोः ४, एवं क्रोधलोभयोः ४, एवं माननायायोः ४, एवं माननलोभयोः ४, एवं मायालोभयोरिति ४ । द्विकयोगे चतुर्विंशतिः, त्रिकयोगे द्वात्रिंशत् । तथाहि–क्रोधमानमायानामकत्वेनैकः, एष्वेव मायाबहुत्वेन द्वितीयः, एवमेतौ मानैकत्वेन, द्वावेवान्यौ तद्बहुत्वेन एवमेते चत्वारः, क्रोधैत्वेन चत्वार एव, अन्ये क्रोधबहुत्वेनेत्येवमष्टौ,

क्रोधमानमायात्रिके जाताः । तथैवान्येऽष्टौ क्रोधमानलोभेषु, तथैवान्येऽष्टौ क्रोधमायालोभेषु, तथैवान्येऽष्टौ मानमायालोभेष्वितिद्वाविंशत्, चतुष्कयोगे षोडश। तथाहि–क्रोधाऽऽदिष्वेकत्वेनेको, लोभस्य बहुत्वेन द्वितीयः, एवमेतौ मायैकत्वेन, तथान्यौ मायाबहुत्वेन। एवमेते चत्वारो मानैकत्वेन, तथाऽन्ये चत्वार एव मानबहुत्वेन। एवमेते अष्टौ क्रोधैकत्वेन, एवमन्येऽष्टौ क्रोधबहुत्वेनेति षोडश । एवमेते सर्व एवाशीतिरिति। एते च जघन्यास्थतावकाऽऽदिसङ्ख्यातान्तसमयाधिकायां भवन्ति, असङ्ख्यः तसमयाधिकायास्तु जघन्यस्थितेरारभ्योत्कृष्टा स्थितिं यावत्सप्तविंशतिभङ्गास्त एव, तत्र नारकाणां बहुत्वादिति।

अथावगाहनाद्वारे –

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससय सहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवइया ओगाहणट्ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा ओगाहणट्ठाणा पण्णत्ता। तं जहा–जहण्णिया ओगाहणा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, जहण्णिया ओगाहण्णा एगपदेसाहिया, जहण्णिया, जहण्णिया ओगाहणा दुपदेसाहिया, जहण्णिया ओगाहणा० जाव असंखेज्जपदेसाहिया, जहण्णिय्या ओगाहणा तप्पाउग्गुक्कोसिया ओगाहणा ।।

तत्र (ओगाहणट्ठाण त्ति) अवगाहन्ते आसते यस्यां साऽवगाहतः तनुः, तदाधारभूतं वा क्षेत्रं, तस्याः स्थानानि । प्रदेशवृद्ध्या विभागा अवगाहनास्थानानि, तत्र (ज़हण्णिय त्ति) जघन्याऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रा सर्वनरकेषु, (तप्पाउग्गुक्कोसिय त्ति) तस्य विवक्षित-नरकस्य प्रायोग्या या उत्कर्षिका सा तत्प्रायोग्योत्कर्षिका। यथा–त्रयोदशप्रस्तटे धनुः सप्तकं रत्नित्रयमङ्गुलषट्कं चेति।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरथावासंसि जहण्णियाए ओगाहणाए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता असीइं भंगा भाणियव्वा० जाव संखेज्जपदेसाहिया जहण्णिया ओगाहणा, असंखेज्जपएसाहियाए जहण्णियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं तप्पाउग्गुक्कोसियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं नेरइयाणं दोसु वि सत्तवीसं भंगा।

''जहण्णियाए'' इत्यादि। जघन्यायां तस्यामेव चैकाऽऽदिसङ्ख्यातान्तप्रदेशाधिकायामवगाहनायां वर्तमानानां नारकाणामल्पत्वात्क्रोधऽऽद्युपयुक्त एकोऽपि लभ्यते, अतोऽशीतेर्भङ्गाः । ''असंखेज्जपएस'' इत्यादि। असङ्ख्यातप्रदेशा धिकायां तत्प्रायोग्योत्कृष्टायां च नारकाणां बहुत्वात्तेषु च बहूनां क्रोधोपयुक्तत्वेन क्रोधे बहुवचनस्य भावान्मानादिषु त्वेकत्वबहुत्वसम्भवात्सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्तीति । ननु ये जघन्यस्थितयो जघन्यावगाहनाश्च भवन्ति, तेषां जघन्य स्थितिकत्वेन सप्तविंशतिर्भङ्गकाः प्राप्नुवन्ति, जघन्यावगाहकत्वेन चाशीतिरिति विरोधः? अत्रोच्यतेजघन्यस्थितिकानामपि जघन्यावगाहनाकालेऽशीतिरेव, उत्पत्तिकालनावित्वेन जघन्यावगाहनानामल्पत्वादति, या च जघन्यस्थितिकानां सप्तविंशतिः सा जघन्यावगाहनत्वमतिक्रान्तानामिति भावनीयम्।

शरीरद्वारे –

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव० एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं कइ सरीरया पण्णत्ता? गोयमा ! तिण्णि सरीरया पण्णत्ता। तं जहा–वेउव्विए, तेयए, कम्मए। इमीसे णं भंते ! जाव वेउव्वियसरीरे वट्टमाणा नेरइयण किं कोहोवउत्ता, सत्तावीसं भंगा। एएणं गमेणं तिण्णि सरीरया भाणियव्वा।

(सत्तावीसं भंग त्ति) अनेन यद्यपि वैक्रियशरीरे सप्तविंशतिर्भङ्गका उक्ताः तथापि या स्थित्याश्रयाऽवगाहनाश्रया च भङ्गक प्ररूपणा, सा तथैव दृश्या, निरवकाशत्वात्तस्याः, शरीराश्रया– याश्च सावकाशत्वात्। एवमन्यत्रापि विमर्शनीयमिति। (एएणं गमेणं तिण्णि सरीरया भाणियव्व त्ति) वैक्रियशरीरसूत्रापाठेन त्रीणि शारीरकाणि वैक्रिय तैजसकार्मणानि भणितव्यानि, त्रिष्वपि भङ्गकसप्तविंशतिर्वाच्येत्यर्थः। ननु विग्रहगतौ केवले ये तैजसकार्मणशरीरे स्यातां तयोरल्पत्वेनाशीतिरपि भङ्गकानां सम्भवतीति कथमुच्यते तयोः सप्तविंशतिरेवेति ? अत्रोच्यतेसत्यमेतत्, केवलं वैक्रियशरीरानुगतयोस्तयोरिहाऽऽश्रयणं केवलयोश्चानाश्रयणमिति सप्तविंशतिरेवेति। यच्च द्वयोरेवातिदेशत्वे त्रीणीत्युक्तं, तत्त्रायाणामपि गमस्यात्यन्तसाम्योपदर्शनार्थमिति ।।

संहननद्वारे –

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए ०जाव नेरइयाणं सरीरया किं संघयणा पण्णत्ता ? गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असंघयणी, नेवऽट्ठी नेवच्छिरा नवे ण्हारूणि, जे पोग्गला अणिट्ठा अकंता अप्पिया असुहा अमणुण्णा अमणामा, एएसिं सरीरसंघायत्ताए परिणमंति। इमीसे णं भंते ! जाव छण्हं संघयणाणं असंघयणे वट्टमाणाणं नेरइया किं कोहोवउत्ता ? सत्तावीसं भंगा।

(छण्हं संघयणाणं असंघयणित्ति) षण्णां संहननानां वज्रऋषभनाराचाऽऽदीनां मध्यादेकतरेणापि संहननेनासहननानीति। कस्मादेवमित्यत आह – ''नेवट्ठी'' इत्यादि। नैवास्थ्यादीनि तेषां सन्ति, अस्थिसञ्चयरूपं च संहननमुच्यत इति। (अणिट्ठ त्ति) इष्यन्ते स्मेतीष्टाः तन्निषेधादनिष्टाः, अनिष्टमपि किञ्चित्कमनीयं भवतीत्यत, उच्यते– अकान्ताः, अकान्तमपि किञ्चित्कारणवशात्प्रीतये भवतीत्यत आह–अप्रियाः अप्रीतिहेतवः अप्रियत्वं तेषां कुतः ? यतः (असुभ त्ति) अशुभस्वभावाः, ते च सामान्या अपि भवन्तीत्यतो विशेष्यन्ते – (अमणुण्ण त्ति) न मनसाऽन्तः सवेदनेन शुभतया ज्ञायन्त इत्यमनोज्ञाः। अमनोज्ञता चैकदाऽपि स्यादत आह – (अमणाम त्ति) न मनसा अभ्यन्ते गम्यन्ते पुनः पुनः स्मरणतो ये तेऽमनोमाः । एकार्थिकाश्चैते शब्दा अनिष्टताप्रकर्षप्रतिपादनार्था इति। (संघायत्ताए त्ति) सङ्घातितया, शरीररूपसञ्चतयेत्यर्थः।

संस्थानद्वारे –

इमीसे णं भंते! जाव सरीरया किं संठिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–भवधारणिज्जा य, उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया पण्णत्ता, तत्थ जे ते उत्तरवेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पण्णत्ता । इमीसे णं० जाव हुंडसंठाणे वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता ? सत्तावीसं भंगा ।

(किंसंठियत्ति) किं संस्थितं संस्थानं येषां तानि किंसंस्थितानि ? (भवधारणिज्ज त्ति) भवधारणं निजजन्मातिवाहनं प्रयोजनं येषां तानि भवधारणीयान्याजन्मधारणीया– नीत्यर्थः । (उत्तरवेउव्विय त्ति) पूर्ववैक्रियापेक्षया उत्तराणि उत्तरकालभावीनि वैक्रियाणि उत्तरवैक्रियाणि । (हुंडसंठिय त्ति) सर्वत्राशुभसंस्थितानि ।

लेश्याद्वारे –

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! एगा काउलेस्सा पण्णत्ता । इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए० जाव काउलेस्साए वट्टमाणा सत्तावीसं भंगा ।

दृष्टिद्वारे –

इमीसे णं भंते ! जाव किं सम्मदिट्ठी, मिच्छदिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी ? गोयमा ! तिण्णि वि; इमीसे णं० जाव सम्मद्दंसणे वट्टमाणा नेरइया सत्तावीसं भंगा । एवं मिच्छदंसणे वि; सम्मामिच्छदंसणे असीइभंगा ।

(सम्मामिच्छदंसणे असीइभंग त्ति) मिश्रदृष्टीनामल्पत्वात् तद्भावस्यापि च कालतोऽल्पत्वादेकोऽपि लभ्यत इत्यशीतिर्भङ्गा ।

ज्ञानद्वारे –

इमीसे णं ० जाव किं नाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! नाणीवि, अण्णाणी वि, तिण्णि नाणाइं नियमा, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । इमीसे णं भंते ! जाव आभिणिबोहियणाणे वट्टमाणे ? गोयमा ! सत्तावीसं भंगा, एवं तिण्णिणाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भाणियव्वाइं ।

(तिण्णि णाणाइं नियम त्ति) ये ससम्यक्त्वा नरकेषूत्पद्यन्ते तेषां प्रथमसमयादारभ्य भवप्रत्ययस्यावधिज्ञानस्य भावात्त्रिज्ञानिन एव ते, ये तु मिथ्यादृष्टयस्ते सञ्ज्ञिभ्योऽसञ्ज्ञिभ्यश्चोत्पद्यन्ते, तत्र ये सञ्ज्ञिभ्यस्ते भवप्रत्ययादेव विभङ्गस्य भावादज्ञानिनः, ये त्वसञ्ज्ञिभ्यस्तेषामाद्यादन्तर्मुहूर्त्तात्परतो विभङ्गस्योत्पत्तिरिति तेषां पूर्वमज्ञानद्वयं, पश्चाद्विभङ्गोत्पत्तावज्ञानत्रयमित्यत उच्यते– (तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए त्ति) भजनया विकल्पनया कदाचिद् द्वे, कदाचित्त्रीणीत्यर्थः ।

अत्रार्थे गाथे स्याताम् –

''सण्णी णेरइएसुं, उरलपरिच्चायणंतरे समए ।
विब्भंगं ओहिं वा, अविग्गहे विग्गहे लहइ ॥१॥
असण्णी नरएसुं, पज्जत्तो जेण लहइ विब्भंगं ।
नाणा तिन्नेव तओ, अण्णाणा दोन्नि तिन्नेव ॥२॥''

एवम् ''तिण्णि णाणाइं'' इत्यादि । आभिनिबोधिकज्ञानवत सप्तविंशतिभङ्गकोपेतानि आद्यानि त्रीणि ज्ञानानि, अज्ञानानि वेति । इह च त्रीणि ज्ञानानीति यदुक्तं, तदाभिनिबोधिकस्य पुनर्गणनेन । अन्यथा द्वे एव ते वाच्ये स्याताम्इति । ''तिण्णि अन्नाणाइं'' इत्यत्र यदि मत्यज्ञानश्रुताज्ञाने विभङ्गात् पूर्वकालभाविनी विवक्ष्येते, तदा अशीतिभङ्गा लभ्यन्ते, अल्पत्वात्तेषाम् । किं तु जघन्यावगाहनास्ते ततो जघन्यावगाहनाश्रयेणैवाशीतिभङ्गकास्तेषामवसेया इति ।

योगद्वारे –

इमीसे णं० जाव किं मणजोगी, वयजोगी, कायजोगी? गोयमा ! तिण्णि वि । इमीसे णं० जाव मणजोए वट्टमाणा सत्तावीसं भंगा, एवं कायजोए ।

(एवं कायजोए त्ति) इह यद्यपि केवलकार्मणकाययोगे अशीतिर्भङ्गा संभवन्ति, तथापि तस्याविवक्षणात् सामान्यकाय योगाऽऽश्रयणाच्च सप्तविंशतिरुक्तेति ।

उपयोगद्वारे –

इमीसे णं ० जाव नेरइया किं सागारोवउत्ता, अणागारोव – उत्ता? गोयमा ! सागारोवउत्ता वि, अणागारोवउत्ता वि । इमीसे णं ० जाव सागारोवउत्ते वट्टमाणा सत्तावीसं भंगा, एवं अणागारो– वउत्ते वि सत्तवीसं भंगा, एवं सत्त वि पुढवीओ नेयव्वाओ, णाणत्तं लेसासु ।

(सागारोवउत्त त्ति) आकारो विशेषांशग्रहणशक्तिः, तेन सह इति साकारः तद्विकलोऽनाकारः । सामान्यग्राहीत्यर्थः । (णाणत्तं लेसासु त्ति) रत्नप्रभापृथिवीप्रकरणवच्छेषपृथिवीप्रकरणान्य ध्येयानि । केवलं लेश्यासु विशेषः तासां भिन्नत्वात् । अत एव तद्दर्शनाय गाथा –

गाहा –

**काओय दोसु तइया–ऍ मीसिया नीलिया चउत्थीए ।
पंचमियाए मीसा, कण्हा तत्तो परमकण्हा ॥१॥**

(काओय इत्यादि) तत्र (तइयाए मीसिय त्ति) बालुकप्र–भाप्रकरणे उपरितननरकेषु कापोती, अधस्तनेषु नीली भवतीति ते यथासम्भवं प्रश्नसूत्रे उत्तरसूत्रे चाध्येतव्ये इत्यर्थः । यच्च सूत्राभिलापेषु नरकाऽऽवप्ससङ्ख्यानानात्वं, तत् ''तीसा य पन्नवीसा'' इत्यादिना पूर्वप्रदर्शितेन समवसेयमिति । एवं च सूत्राभिलापः कार्यः– ''सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए पणवीसाए नरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि नरयावासंसि कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ? गोयमा ! एगा काउलेस्सा पण्णत्ता । सक्करप्पभाए णं भंते ! जाव काउलेसाए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता ? इत्यादि जाव सत्तावीसं भंगा'' । एवं सर्वपृथिवीषु गाथाऽनुसारेण वाच्यम् ।

चउसट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा ठिइट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा– जहण्णिया ठिई जहा नेरइया तहा, नवरं पडिलोमा भंगा भाणियव्वा, सव्वे वि ताव होज्जा लोभोवउत्ता य माणोवउत्ते य, एएणं गमेणं नेयव्वं० जाव थणियकुमारा, नवरं नापत्तं जाणियव्वं ।

असुरकुमारप्रकरणं (पडिलोमाभंग त्ति) नारकप्रकरणे हिक्रोधमानाऽऽदिना क्रमेण भङ्गकनिर्देशः कृतोऽसुरकुमाराऽऽदि –प्रकरणेषु लोभमायाऽऽदिनाऽसौ कार्य इत्यर्थः। अत एवाह – (सव्वे वि ताव होज्ञा लोहोवउत्त त्ति) देवा हि प्रायो लोभवन्तो भवन्ति, तेन सर्वेऽप्यसुरकुमारा लोभोपयुक्ताः स्युः। द्विकसंयोगे तु लोभोपयुक्तत्वे बहुवचनमेव, मायोपयोगे त्वेकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ भङ्गकौ, एवं सप्तविंशतिर्भङ्गकाः कार्याः। (णवरं णाणत्तं जाणियव्वं ति) नारकाणामसुरकुमाराऽऽदीनां च परस्परं नानात्वं ज्ञात्वा प्रश्नसूत्राण्युत्तरसूत्राणि चाध्येयानीति हृदयम्। तच्च नारकाणामसुराऽऽदीनां च संहननसंस्थानलेश्यासूत्रेषु भवति। तत्रैवम् – ''चउसट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं सरीरगा किं संघयणी ? गोयमा ! असंघयणी, जे पोग्गला इट्ठा कंता, ते तेसिं संघायत्ताए परिणमंति, एवं संठाणे वि, णवरं भवधारणिज्जा समचउरंससंठिया, उत्तरवेउव्विया अणयरसंठिया, एवं लेसासु वि, णवरं कइ लेसाओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि। तं जहा–कण्हा नीला काऊ तेऊलेसा। चउसट्ठीए णं जाव कण्हलेसाए वट्टमाणा किं कोहोवउत्ता ? ०४ गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ञ लोहोवउत्ता'' इत्यादि। एवं ''नीलकाऊतेऊ वि''। नागकुमाराऽऽदिप्रकरणेषु तु – ''चुलसीए नागकुमारावासयसहस्सेसु'' इत्येव ''चउसट्ठी असुराणं, नागकुमाराण होइ चुलसीई।'' इत्यादेर्वचनात्प्रश्नसूत्रेषु भवनसङ्ख्यानानात्वमवगम्य सूत्राभिलापः कार्य इति।

असंखेज्जेसु णं भंते ! पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविकाइयाणं केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा ठिइट्ठाणा पण्णत्ता। तं जहा–जहण्णिया ठिई० जाव तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिई। असंखेज्जेसु च भंते ! पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि जहण्णट्ठिईए वट्टमाणा पुढविकाइया किं कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ? गोयमा ! कोहोवउत्ता वि, माणोवउत्ता वि, मायोवउत्ता वि , लोहोवउत्ता वि। एवं पुढविकाइयाण सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं, नवरं तेउलेस्साए असीइभंगा, एवं आउकाइया वि, तेउकाइयवाउकाइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं, वणप्फइकाइया जहा पुढविकाइया।

(एवं पुढविकाइयाणं सव्वेसु ठाणेसु अभंगय त्ति) पृथिवीकायिका एकैकस्मिन् कषाये उपयुक्ता बहवो लभ्यन्त इत्यभङ्गकं दशस्वपि स्थानेषु। (नवरं तेउलेस्साए असीइभंग त्ति) पृथिवीकायिकेषु लेश्याद्वारे तेजोलेश्या वाच्या। सा च यदा देवलोकाच्चयुतो देव एकोऽनेको वा पृथिवीकायिकेषूत्पद्यते तदा भवति, ततश्च तदेकत्वाऽऽदिभवनादशीतिभङ्गका भवन्तीति। इह पृथिवीकायिकप्रकरणे स्थितिस्थानद्वारं साक्षाल्लिखितमेव वास्ति, शेषाणि तु नारकवद्वाच्यानि। तत्र च ''णवरं नाणत्तं जाणियव्वं'' इत्येतस्यानुवृत्तेर्नानात्वमिह प्रश्नत उत्तरतश्चावसेयम्। तच्च शरीराऽऽदिषु सप्तसु द्वारेष्विदम्– ''असंखेज्जेसु णं भंते ! पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु० जाव पुढ विकाइयाणं कइ सरीरा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिन्नि। तं जहा ओरालिए, तेयए, कम्मए।'' एतेषु च ''कोहोवउत्ता वि, माणोवउत्ता वि'' इत्यादि वाच्यम्। तथा – ''असंखेज्जेसु णं० जाव पुढविकाइयाणं सरीरगा किं संघयणी'' इत्यादि तथैव। ''णवरं पोग्गला मणुण्णा अमणुण्णा सरीरसंघायत्ताए परिणमंति।'' एवं संस्थानद्वारेऽपि किं तूत्तरे– ''हुंडसंठियाए'' तावदेव वाच्यम्, न तु ''दुविहा सरीरगा पण्णत्ता। तं जहाभवधारणिज्जा य, उत्तरवेउव्विया य'' इत्यादि, पृथिवीकायिकानां तदभावादिति। लेश्याद्वारे पुनरेवं वाच्यम् – ''पुढवीकाइयाणं भंते ! कइ लेसाओ पण्णत्ताओ? गोयमा ! चत्तारि। तं जहा कण्हलेस्सा० जाव तेउलेस्सा।'' एतासु च तिसृष्वभङ्गकमेव, तेजोलेश्यायां त्वशीतभङ्गकाः, एतच्च प्रागेवोक्तमिति। दृष्टिद्वारे इदं वाच्यम् – ''असंखेज्जेसु० जाव पुढविकाइया किं सम्महिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, सम्मामिच्छद्दिट्ठी ? गोयमा ! मिच्छद्दिट्ठी'' शेषं तथैव। ज्ञानद्वारेऽपि तथैव। ''णवरं पुढविकाइयाणं भंते ! किं नाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! नो नाणी, अन्नाणी नियमा दुअन्नाणी।'' योगद्वारेऽपि तथैव। नवरम् – ''पुढविकाइयाणं भंते ! किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ? गोयमा ! नो मणजोगी, नो वइजोगी, कायजोगी'' (एवं आउकाइया वि त्ति) पृथिवीकायिकवदप्कायिका अपि वाच्याः, ते हि दशस्वपि स्थानकेष्वभङ्गकाः तेजोलेश्यायां चाऽशीतिभङ्गकवन्तो, यतस्तेष्वपि देव उत्पद्यत इति। ''तेउकाइय'' इत्यादौ (सव्वेसु वि ठाणेसु त्ति) स्थितिस्थाना ऽऽदिषु दशस्वप्यभङ्गकं, क्रोधाऽऽद्युपयुक्तानामेकदैव तेषु बहुनां भावात्। इह देवा नोत्पद्यन्त इति तेजोलेश्या तेषु नास्ति। ततस्त –त्सम्भवान्नाशीतिरपीत्यभङ्गकमेवेति। एतेषु च सूत्राणि पृथिवीकायिकसमानि, केवलं वायुकायसूत्रेषु शरीरद्वारे एवमध्येयम् – ''असंखेज्जेसु णं भंते ! जाव वाउकाइयाणं कइ सरीरा पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि। तं जहा–ओरालिए, वेउव्विए, तेयए, कम्मए त्ति''। ''वणप्फइकाइया' इत्यादि। वनस्पतयः पृथिवीकायिकसमाना वक्तव्याः, दशस्वपि स्थानकेषु भङ्गकाभावात्तेजोलेश्यानां च तथैवाशीतिभङ्गकसद्भावादिति। ननु पृथिव्यम्बुवनस्पतीनां दृष्टिद्वारे सास्वादनभावेन सम्यक्त्वं कर्मग्रन्थेष्वभ्युपगम्यते, तत एव ज्ञानद्वारे मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाल्पाश्चैत इत्येवमशीतिर्भङ्गाः सम्यग्दर्शनाभिनिबोधिकश्रुतज्ञानेषु भवन्तु ? नैवम् ? पृथिव्यादिषु सास्वादनभावस्यात्यन्तविरलत्वेनाविवक्षितत्वात्। तत एवोच्यते ''उभयाभावो पुढवाइएसु विगलेसु होज्ञ उववण्णो।'' इति। उभयं प्रतिपद्यमानपूर्वप्रतिपन्नरूपमिति।

बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा, तेहिं ठाणेहिं असीई चेव, नवरं अब्भहिया सम्मत्ते आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे, एएहिं असीइभंगा। जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं सत्तावीसं भंगा, तेसु ठाणेसु सव्वेसु अभंगयं।

''बेइंदिय'' इत्यादावेवमक्षरघटना – ''जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा, तेहिं ठाणेहिं बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं असीई चेव त्ति''। तत्र एकाऽऽदिसंख्यातान्तसमयाधिकायां जघन्यस्थितौ, तथा जघन्यायामवगाहनायां च, तत्रैव च संख्येयान्तप्रदेशवृद्धायां ३, मिश्रदृष्टौ ४ च, नारकाणामशीतिर्भङ्गकाउक्ताः, विकलेन्द्रियाणामप्येतेषु स्थानेषु मिश्रदृष्टिवर्जेष्वशीति

रेव, अल्पत्वात्तेषामेकैकस्यापि क्रोधाऽऽद्युपयुक्तस्य संभवात्, मिश्रदृष्टिस्तु विकलेन्द्रियेष्वेकेन्द्रियेषु च न भवतीति न विकलेन्द्रियाणां तत्राशीतिभङ्गकसंभव इति। वृद्धैस्त्विह सूत्रे कुतोऽपि वाचनाविशेषाद् यत्राशीतिस्तत्राप्यभङ्गकामति व्याख्यातम्। इहैव विशेषाभिधानायाऽऽह – ''नवरं'' इत्यादि। अयमर्थः– दृष्टिद्वारे, ज्ञानद्वारे च नारकाणां सप्तविंशतिरुक्ता। विकलेन्द्रियाणां तु (अब्भहिय त्ति) अभ्यधिकान्यशीतिभङ्गकानां भवति। केत्याह – सम्यक्त्वेऽल्पीयसां हि विकलेन्द्रियाणां सास्वादनभावेन सम्यक्त्वं भवति, अल्पत्वाच्च तेषामेकत्वस्यापि संभवेनाशीतिभङ्गकानां भवति, एवमाभिनिबोधिकेश्रुते चेति। तथा ''जेहिं'' इत्यादि। येषु स्थानेषु नैरयिकाणां सप्तविंशतिभङ्गाः, तेषु स्थानेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां भङ्गकाभावः, तानि च प्रागुक्ता शीतिभङ्गकस्थानावशिष्टानि मन्तव्यानि, भङ्गकाभावच्च क्रोधाऽऽद्युपयुक्तानामेकदैव बहूनां भावादिति। विकलेन्द्रियसूत्राणि च पृथिवीकायिकसूत्राणीवाध्येयानि। नवरमिह लेश्याद्वारे तेजोलेश्या नाध्येतव्या। दृष्टिद्वारे च – ''वेइंदियाणं भंते ! किं सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, सम्मामिच्छद्दिट्ठी ? गोयमा ! सम्मद्दिट्ठी वि, मिच्छद्दिट्ठी वि, नो सम्मामिच्छद्दिट्ठी। सम्मदंसेण वट्टमाणा वेइंदिया किं कोहोवउत्ता ?'' इत्यादि प्रश्ने उत्तरम् – अशीति भङ्गाः। तथा ज्ञानद्वारे– ''वेइंदियाणं भंते ! किं नाणी। अन्नाणी? गोयमा ! नाणी वि, अन्नाणी वि। जइ नाणी दुन्नाणीमइनाणी, सुथनाणी य। शेषं तथैव अशीतिश्च भङ्गा इति। योगद्वारे– ''वेइंदियाणं भंते ! किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ? गोयमा ! नो मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी य''। शेषं तथैवा एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्राण्यपि।

पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया तहा भाणियव्वा, नवरं जहिं सत्तावीसं भंगा तहिं अभंगयं कायव्वं। जत्थ असीई तत्थ असीइं मणुस्सा वि। जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा तेहिं ठाणेहिं मणुस्सा वि असीइभंगा भाणियव्वा। जेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं। नवरं मणुस्साणं अब्भहियं जहण्णियट्ठिईए आहारए य असीइभंगा, वाणमंतरजोइस-वेमाणिया जहा भवणवासी। नवर नाणत्तं भाणियव्वं। जं जस्स० जाव अणुत्तरा।

''पंचिंदिय'' इत्यादि। (जहिं सत्तावीसं भंग त्ति) यत्र नारकाणां सप्तविंशतिभङ्गास्तत्र पञ्चेन्द्रियतिरश्चामभङ्गकम्, तच्च जघन्यस्थित्यादिकं पूर्वं दर्शितमेव, भङ्गकाभावच्च क्रोधाऽऽद्युपयुक्तानां बहूनामेकदैव तेषु भावादिति। सूत्राणि चह नारक सूत्रवदध्येयानि। नवरं शरीरद्वारेऽयं विशेषः– ''असंखेज्जेसु णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियावासेसु पंचिंदियतिरिक्ख–जोणियाणं केवइया सरीरा पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि। तं जहा– ओरालिए, वेउव्विए, तेयए, कम्मए''। सर्वत्र चाभङ्गकमिति। तथा संहननद्वारे – ''पंचिंदियतिरक्ख–जोणियाणं केवइया संघयणा पण्णत्ता ? गोयमा ! छ संघयणा। तं जहा– वइरोसहनाराय० जाव छेवह त्ति''। एवं संस्थान द्वारेऽपि–''छद्ठाणा पण्णत्ता। तं जहा–समचउरंसे० '' ६। एवं लेश्याद्वारे– ''कइ लेसाओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! छल्लेमा पण्णत्त। तं जहा – कण्हलेस्सा० ''६। (मणुस्सा वि त्ति) यथा नैरयिका दशसु द्वीरेष्वभिहितास्तथा मनुष्या अपि भणितव्या इति प्रक्रमः। एतदेवाह – ''जेहिं'' इत्यादि। तत्र नारकाणां जघन्यास्थितादि-संख्यातान्तसमयाधिकायाम् १, तथा जघन्यावगाहनायाम् २, तस्यामेव संख्यातान्तप्रदेशाधिकायाम् ३, मिश्रे च ४ अशीतिर्भङ्गका उक्ताः। मनुष्याणामप्येतेष्वशीतिरेव। तत्कारणं च तदल्पत्वमेवेति। नारकाणां, मनुष्याणां च सर्वथा साम्यपरिहारायाऽऽह– ''जेसु सत्तवीस'' इत्यादि। सप्तविंशतिभङ्गकस्थानानि च नारकाणां जघन्यस्थित्यसंख्यात-समयाधिकजघन्यस्थितिप्रभृतीनि, तेषु च जघन्यस्थितौ विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वेन तद्वर्जेषु मनुष्याणामभङ्गकं, यतो नारकाणां बाहुल्येन क्रोधोदय एव भवति। तेन तेषां सप्तविंशतिर्भङ्गका उक्तस्थानेषु युज्यन्ते। मनुष्याणां तु प्रत्येकं क्रोधाऽऽद्युपयोगवतां बहूनां भावान्न कषायोदय विशेषोऽस्ति। तेन तेषां तेषु स्थानेषु भङ्गकाभाव इति। इहैव विशेषाभिधानायाऽऽह – ''नवरम्'' इत्यादि। येषु स्थानेषु नारकाणामशीतिस्तेषु मनुष्याणामप्यशीतिः, तथा ''जेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं'' इत्युक्तम्, केवलं मनुष्याणामिदमभ्यधिकम्, यदुत जघन्यकस्थितौ तेषामाशीतिर्न तु नारकाणाम्। तत्र सप्तविंशतिरुक्तेत्यभङ्गकम्। तथा आहारक शरीरे अशीतिः, आहारकशरीरवतां मनुष्याणामल्पवात्। नारकाणां तु तन्नास्त्येवेत्येतदभ्यधिकं मनुष्याणामिति। इह च नारकसूत्राणां मनुष्यसूत्राणां च प्रायः शरीराऽऽदिषु चतुर्षु ज्ञानद्वार एव च विशेषः। तथाहि – ''असंखेज्जेसु णं भंते ! मणुस्सावासेसु मणुस्साणं कइ सरीरा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंच। तं जहा– ओरालिए, वेउव्विए, आहारए, तेयए, कम्मए। असंखेज्जेसु णं० जाव ओरालियसरीरे वट्टमाणा मणूसा किं कोहोव उत्ता वि० ४।'' एवं सर्वशरीरेषु, नवरमाहारकेऽशीतिर्भङ्गकानां वाच्या, एवं संहननद्वारेऽपि, नवरं ''मणुस्साणं भंते ! कइ संघयणा पण्णत्ता? गोयमा ! छ संघयणा पण्णत्ता। तं जहा–वइरोसहनाराए० जाव छेवट्ठे।'' संस्थानद्वारे ''छ संठाणा पण्णत्ता। तं जहा–समचउरसे० जाव हुंड''। लेश्याद्वारे – ''छ लेसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–कण्हलेसा० जाव सुक्कलेसा''। ज्ञानद्वारे– ''मणुस्साणं भंते ! कइ नाणाणि ? गोयमा ! पंच। तं जहा–आभिणिबोहियनाणं ५।'' एषु च केवलवर्जेष्वभङ्गकम्, केवले तु कषायोदय एव नास्तीति। ''वाणमंतर'' इत्यादि। व्यन्तराऽऽदयो दशस्वपि स्थानेषु यथा भवनवासिनस्तथा वाच्याः। यत्रासुराऽऽदीनामशीतिर्भङ्गकाः, यत्र च सप्तविंशतिः, तत्र च व्यन्तराऽऽदीनामपि ते तथैव वाच्याः। भङ्गकास्तु लोभमादौ विधायाध्येतव्याः, तत्र भवनवासिभिः सह व्यन्तराणां साम्यमेव। ज्योतिष्काऽऽदीनां तु न तथोत ! तैस्तेषां सर्वथा साम्यपरिहारसूचनायाऽऽहणवरं नाणत्तं भाणियव्वं जं जस्सति। यल्लेश्याऽऽदिगतं यस्य ज्योतिष्काऽऽदेर्नानात्वमित रापेक्षया भेदस्तज्ज्ञातव्यमिहेति, परस्परतो विशेषं ज्ञात्वा एतेषां सूत्राण्यध्येयानीति भावः। तत्र लेश्याद्वारेज्योतिष्काणामेकैव तेजोलेश्या वाच्या। ज्ञानद्वारेत्रीणि ज्ञानानि, अज्ञाना न्यपि त्रीण्येव, असंज्ञिनां तत्रोपपाताभावेन। वभङ्गस्यापर्याप्तका वस्थायामपि भावात्। तथा वैमानिकानां लेश्याद्वारेतेजोलेश्या ऽऽदयस्तिस्त्रो लेश्या वाच्याः। ज्ञानद्वारे च त्रीणि ज्ञानान्यज्ञानानि चेति। वैमानिकसूत्राणि चैवमध्येयानि – ''संखेज्जेसु णं भंते ! वेमाणियावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि वेमाणियावासंसि केवइया ठिइट्ठाणा पन्नता ?'' इत्येवमादीनि। भ० १ श० ५ उ०।

जीवानां सर्वलोकव्याप्तत्वम् –

एयंसि णं भंते ! महालयंसि लोगंसि अत्थि केइ परमाणु – पोग्गलमेत्ते वि पएसे, जत्थ णं अयं जीवे न जाए वा, न मए वा वि ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ एयंसि णं महालयंसि लोगंसि णत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पदेसे, जत्थ णं अयं जीवे ण जाए वा, ण मए वा वि ? गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे अयासयस्स एगं महं अयावयं करेज्जा, से णं तत्थ जहण्णेणं एगं वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं अयासहस्सं पक्खिवेज्जा, ताओ णं तत्थ पउरगोयराओ पउर– पाणीयाओ जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा, उक्कोसेणं छम्मासे परिवसेज्जा, अत्थि णं गोयमा ! तस्स अयावयस्स केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जेणं तासिं अयाणं उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणेण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा चम्मेहिं वा रोमेहिं वा सिंगेहिं वा खुरेहिं वा णहेहिं वा अणिक्कंतपुव्वे भवइ ? णो इणट्ठे समट्ठे, होज्जाइ णं गोयमा ! तस्स अयावयस्स केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जेणं तासिं अयाणं उच्चारेण वा जाव णहेण वा अणिक्कंतपुव्वे, णो चेव णं एयंसि महालयंसि लोगस्स सासयं भावं, संसारस्स अणादिभावं, जीवस्स स णिच्चभावं, कम्मबहुत्तं जम्मणमरणबाहुल्लं च पडुच्च णत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जत्थ णं अयं जीवे ण जाए वा, ण मए वा वि, से तेणट्ठेणं तं चेव० जाव ण मए वा वि ॥

(परमाणुपोग्गलमेत्ते वि त्ति) अत्रापिः संभावनायाम् । (अयासयस्स त्ति) षष्ठ्याश्चतुर्थ्यर्थत्वादजाशताय (अयावयं ति) अजाव्रजम्, अजावाटकमित्यर्थः । (उक्कोसेणं अयासहस्सं पक्खिवेज्ज त्ति) यदिहाजाशतप्रायोग्ये वाटके उत्कर्षेणाजास–सहस्रप्रक्षेपणमभिहितं तत्तासामतिसङ्कीर्णतयाऽवस्थाननख्यापनार्थमिति । (पउरगोयराओ पउरपाणीयाओ त्ति) प्रचुरचरणभूमयः प्रचुरपानीयाश्च । अनेन च तासां प्रचुरमूत्र–पुरीष संभवो बुभुक्षापिपासविरहेण स्वस्थतया चिरजीवित्वं चोक्तम् । (नहेहिं व त्ति) नखाः खुराग्रभागास्तैः ''णो चेव णं एयंसि महालयंसि लोगंसि'' इत्यस्य ''अत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे'' इत्यादिना पूर्वोक्ताभिलापेन संबन्धः, महत्त्वाल्लोकस्य । कथमिदमिति चेत ? अत आह– ''लोगस्स'' इत्यादि । क्षयिणो ह्येवं न संभवतीत्यत उक्तम्– लोकस्य शश्वितभावं, प्रतीत्यति योगः । शाश्वतत्वेऽपि लोकस्य संसारस्य सादित्वे नैवं स्यादित्यनादित्वं तस्योक्तं, नानाजीवापेक्षया संसारस्याना-दित्वेऽपि विवक्षितजीवस्यानित्यत्वे नोक्तोऽर्थः स्यादतो जीवस्य नित्यत्वमुक्तं, नित्यत्वेऽपि जीवस्य कर्माल्पत्वे तथाविध-संसरणाभावान्नोक्तं वेस्तु स्यादतः कर्मबाहुल्यमुक्तम्, कर्मबाहुल्येऽपि जन्मादेरल्पत्वे नोक्तोऽर्थः स्यादिति जन्मादिबाहुल्यमुक्तमिति ।

एतदेव प्रपञ्चयन्नाह –

कइ णं भंते ! पुढवीओ पहण्णाओ ? गोयमा ! जहा पढमसए पंचभुद्देसए तहेव आवासा ठावेयव्वा० जाव अणुत्तरविमाणे त्ति० जाव अपराजिए सव्वट्ठसिद्धे । अयं णं भंते ! जीवे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि णिरयावासंसि पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकाइयत्ताए णरगत्ताए णेरइयत्ताए उववण्णपुव्वे ? हंता गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो ।

''कइ णं'' इत्यादि । (नरगत्ताए त्ति) नरकाऽऽवासपृथिवी कायिकत-येत्यर्थः । (असइं ति) असकदनेकशः (अदुव त्ति) अथवा (अणंतखुत्तो त्ति) अनन्तकृत्वोऽनन्तवारान् ।

सव्वजीवा वि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरया० तं चेव० जाव अणंतखुत्तो । अयं णं भंते ! जीवे सक्कर–प्पभाए पुढवीए, पणवीसाए एवं जहा रयणप्पभाए तहेव दो आलावगा भाणियव्वा, एवं जाव० धूमप्पभाए । अयं णं भंते ! जीवे तमाए पुढवीए पंचूणे णिरयावाससयसहस्से एगमेगंसि, सेसं तं चेव । अयं णं भंते ! जीवे अहे सत्तमाए पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु महइमहालएसु महाणिरएसु एगमेगंसि णिरयावासंसि, सेसं जहा रयणप्पभाए । अयं णं भंते ! जीवे चउसट्ठी असुरकुमारावाससहस्सेसु एगमेसंसि असुरकुमारावासंसि पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकायत्ताए देवत्ताए देवित्ताए आसणसयणभंडमत्तोवगर णत्ताए उववण्णपुव्वे ? हंता गोयमा ! जाव क्खुत्तो । सव्वजीवा वि णं भंते ! एवं चेव, एवं. जाव थणियकुमारेसु णाणत्तं आवासेसु आवासा पुव्वभणिया । अयं णं भंते ! जीवे असंखेज्जसु पुढवि– काइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढवीकाइयावासंसि पुढवी काइयत्ता० जाव वणस्सइकाइयत्ताए उववण्णपुव्वे ? हंता गोयमा ! जाव खुत्तो । एवं सव्वजीवा वि । एवं० जाव वणस्सइकाइएसु ।

(असंखेज्जेसु पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु त्ति) इहासंख्यातेषु पृथिवीकायिकाऽऽवासेष्वेतावतैव सिद्धेर्यच्छतसहस्रग्रहणं तत्तेषामति-बहुत्वत्वख्यापनार्थम् । नवरम् –

अयं णं भंते! जवि असंखेज्जेसु वेइंदियावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि वेइंदियावासंसि पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइका-इयत्ताए वेइंदियत्ताए उववण्णपुव्वे ? हंता गोयमा । जाव अणंतखुत्तो । सव्वजीवा वि णं एवं चेव, एवं जाव मणुस्सेसु, णवरं तेइंदिएसु० जाव वणस्सइकाइयत्ताए तेइंदियत्ताए चउरिंदिएसु चउरिंदियत्ताए एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु पंचिदियतिरिक्खजोणियत्ताए मणुस्सेसु मणुस्सत्ताए, सेसं जहा वइंदियाणं वाणमंतरजोइसियसोहम्मीसाणाण य जहा असुर कुमाराणं ।

''तेइंदिएसु'' इत्यादि। त्रीन्द्रियाऽऽदिसूत्रेषु द्वीन्द्रियाऽऽदि --सूत्रात् त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेत्यादिनैव विशेष इत्यर्थः।

अयं णं भंते ! जीवे सणंकुमारकप्पे बारसेसु विमाणावास सयसहस्सेसु एगमेगंसि वेमाणियावासंसि पुढवीकाइया, ससं जहा असुरकुमाराणां० जाव अणंतखुत्तो। णो चेव णं देवित्ताए, एवं सव्वजीवा वि, एवं जाव आणयपाणएसु, एवं आरणच्चुएसु वि।

(णो चेव णं देवित्ताए त्ति) ईशानान्तेष्वेव देवस्थानेषु देव्य उत्पद्यन्ते, सनत्कुमाराऽऽदिषु पुनर्नेति कृत्या ''नो चेव णं देवित्ताए'' इत्युक्तम्।

अयं ण भंते ! जीवे तिसु वि अट्ठारसुत्तरेसु गेविज्जगविमाणा-वाससएसु एवं चेव। अयं णं भंते ! जीवे पंचसु अणुत्तरविमाणेसु एगमेगंसि अणुत्तरविमाणंसि पुढवि० तहेव जाव अणंतखुत्तो। णो चेव णं देवत्ताए देवित्ताए, एवं सव्वजीवा वि।

(णो चेव णं देवत्ताए देवित्ताए व त्ति) अनुत्तरविमानेष्वनन्त कृत्वो देवा नोत्पद्यन्ते, देव्यश्च सर्वथैवेति ''णो चेव णं'' इत्याद्युक्तमिति।

अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं माइत्ताए पितित्ताए भाइत्ताए भगिणित्ताए भज्जात्ताए पुत्तत्ताए धुयत्ताए सुण्हत्ताए उववण्ण पुव्वे? हंता गोयमा ! जाव अणंतखुत्तो। अयं णं भंते ! जीव सव्वजीवाणं अरित्ताए वेरियत्ताए घायगत्ताए वहगत्ताए पडिणीयत्ताए पच्चामित्तत्ताए उववण्णपुव्वे ? हंता गोयमा ! जाव अणंतखुत्तो सव्वजीवा वि णं भंते ! एवं चेव। अयं णं भंते ! जीवे सव्वज वाणं रायत्ताए जुवरायत्ताए० जाव सत्यवाहत्ताए उववण्ण पुव्वे? हंता गोयमा ! असतिं जाव अणंतखुत्तो। सव्वजीवाणं एवं चेव।

(अरित्ताए त्ति) सामान्यतः शत्रुभावेन (वेरियत्ताए त्ति) वैरिकः शत्रुभावानुबन्धयुक्तस्तत्तथा (घायगत्ताए त्ति) मारकतया (वहत्ताए त्ति) व्यधकतया, ताडकतयेत्यर्थः। (पडिणीयत्ताए त्ति) प्रत्यनीकतया कार्योपघातकतया (पच्चामित्तत्ताए त्ति) अमित्रसहायतया।

अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं दासत्ताए पेसत्ताए भुयगत्ताए भाइल्लागत्ताए भोगपुरिसत्ताए सीसत्ताए वेसत्ताए उववण्णपुव्वे? हंता गोयमा ! जाव अणंतखुत्तो, एवं सव्वजीवा वि० जाव अणंतखुत्तो॥

(दासत्ताए त्ति) गृहदासीपुत्रतया (पेसत्ताए त्ति) प्रेष्यतया आदेश्वतया (भुयगत्ताए त्ति) भृतकतया दुष्कालादौ पोषिततया (भाइल्लगत्ताए त्ति) कृष्यादिभागस्य भागग्राहकत्वेन (भोगपुरिसत्ताए त्ति) अन्यैरुपार्जि-तार्थानां भोगकारिनरतया (सीसत्ताए त्ति) शिक्षणीयतया (वेसत्ताए त्ति) द्वेष्यतयेति। भ० १२ श० ७ उ०। स्था०। (जीवः सदा समितभेजते तत्र किं बन्धक इति 'इरियावहिया' शब्दे द्वितीयभागे ६२६ पृष्ठे दर्शितम्) (जीवानां कर्मप्रतिष्ठितत्वं, कर्मसंगृहीतत्वं, जीवपुद्गलयोरन्योन्यबद्धत्वं च 'लोगट्ठिइ' शब्दे वक्ष्यते) करणे घञ्। जीवनोपाये, 'जीव' णिच् अच्। वृक्षभेदे, वाच०। बृहस्पतौ, तद्देवताके पुष्पनक्षत्रे च। स्था० २ ठा० १ उ०। यथा मनुष्ययोनौ द्वीन्द्रियाऽऽदिजीवोत्पत्तिस्तथैव तिर्यग्योनौ, कश्चिद्विशेषो वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्तिर्यगाश्रितः कोऽपि विशेषः शास्त्रे दृष्टो नास्तीति। १४५ प्र०। सेन० २ चल्ला०। अनुत्तरविमानेषु जीवः कति भवान् करोतीति प्रश्ने, उत्तरम्विजयाऽऽदिषु उत्कर्षतो वारद्वयं, सर्वार्थसिद्धिविमाने एकवारमिति। जीवाभिगमवृत्तौ विजयाऽऽदिषु द्विचरमाः, इति तत्त्वार्थसूत्रचतुर्थाध्यायेसर्वार्थ सिद्धिविमानादागतोऽ-नन्तरभवे सिद्धयत्येव, विजयाऽऽदिचतुर्षु गतो मनुष्येषु चाऽऽयाति। तत्रापि जघन्येन एकं द्वौ वा भवौ, उत्कर्षतश्चतुर्विंशतिभवानु, तत्र नरभवेऽष्टौ, देवभवेऽष्टौ, भूयो नरभवेऽष्टौ, ततः सिद्धयते च, विजयाऽऽदिषु द्विरुत्पन्नस्य नियमात्सिद्धिरनन्तरभव एवेति प्रघोषः, प्रज्ञापनायां संख्यातभवानिति। ८७ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। आउत्तिनामा वनस्पति विशेषः किं संख्यातजीवोऽसंख्यातजीवः अनन्तजीवो वा ? कुत्र प्रोक्तमस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्– आउत्तिसत्कमूलऽऽदौ असंख्याता जीवाः, पत्राऽऽदौ तु एकैको जीव इति प्रज्ञापनाऽऽदौ प्रोक्तम् स्तीति। २६७ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। जीवेनानादिकासभवं लभ्यं देयं च भवति, तदनर्पणे छुट्यते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्– एकान्तो नास्तिः, यदि तपः स्वाध्यायाऽऽदिना कर्म निर्जरयति, तदा तदनर्पणे छुट्यते। कर्म्मनिर्जरणमन्तरा तदनर्पणे नछुट्य। इति। ६७ प्र०। सेन० ४ उल्ला०। व्यवहारराशिं प्राप्तो जीवः पुनः सूक्ष्मनिगोदमध्ये याति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम् गृहमंनुष्यान् पृष्टा ददातीत्यक्षराणि सन्तीति। ११६ प्र०। सेन० ४ उल्ला०। विकसितपुष्पतन्नालमध्ये जीवाः संख्याताः असंख्याता वेति प्रश्ने, उत्तरम् केषु चित्पुष्पेषु संख्याताः केषु चिदसंख्याताः, केषुचिदनन्ताश्च प्रज्ञापनाऽऽदिषु कथिताः सन्ति। जातिपुष्पमध्ये तु संख्याता एव कथिताः सन्ति। १३८। प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

जीवआरंभिया स्त्री० (जीवारम्भिका) यज्जीवानारभमाण स्योपमृद्यतः कर्मबन्धनं सा जीवारम्भिका। क्रियाभेदे, ''आरंभिया किरिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा जीवारंभिया चेव, अजीवारंभिया चेव''। स्था० २ ठा० १ उ०।

जीवंजीव पुं० (जीवजीव) जीवबले, ''सं णूणं जीवंजीवेणं गच्छइ, जीवंजीवेणं चिट्ठइ।'' अनुस्वारस्यागमिकत्वाज्जीवजीवेन जीवबलेन गच्छति, न शरीरबलेन। भ० २ श० १ उ०। ज्ञा०। अन्त०। जीवान् जीवयति दर्शनेन तृप्तिकरत्वात्। चकोरपक्षिणि, वाच०।

जीवंजीवग पुं० (जीवञ्जीवक) जीवान् जीवयति खच्। च कोरे, चर्मपक्षिभेदे, वाच०। प्रज्ञा०। जी०। औ०। प्रश्न०।

जीवंत त्रि० (जीवत्) प्राणान् धारयति, ''मच्छा व जीवंत व जोतिपत्ता''। (१३ गाथा) सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

जीवकप्प पुं० (जीवकल्प) द्रव्यकल्पभेदे, ''तिविहो य जीवकप्पो, दुपयचउप्पयअपयभेएहिं।'' पं० भा०। पं० चू०।

जीवकाय पुं० (जीवकाय) जीवनं जीवो ज्ञानाऽऽद्युपयोगस्त त्प्रधानः कायो जीवकायाः। भ० ७ श० १ उ०। जीवराशौ, सूत्र०।

जीवकायस्वरूपनिरूपणार्थमाह –

पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥७॥

(पुढवीजीवा इत्यादि) पृथिव्येव पृथिव्याश्रिता वा जीवाः, ते च प्रत्येकशरीरत्वात्पृथक् प्रत्येकं सत्त्वा जन्तवोऽवगन्तव्याः। तथा आपश्च जीवाः। एवमग्निकायाश्च, तथाऽपरे वायुजीवाः। तदेवं चतुर्महाभूतसमाश्रिताः सत्त्वाः प्रत्येक शारीरिणोऽवगन्तव्याः। एत एव पृथिव्यप्तेजोवायुसमाश्रिताः सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिणो, वक्ष्यमाणवनस्पतेन्तु साधारणासाधारणशरीरत्वेनापृथक्त्व-मप्यस्तीत्यस्यार्थस्य दर्शनाय पुनः पृथक्सत्त्वग्रहणमिति। वनस्पतिकावस्तु यः सूक्ष्मः सः सर्वोऽपि निगोदरूपः। साधारणबादरस्तु साधारणोऽसाधारणश्चेति। तत्र प्रत्येकशारीरिणोऽसाधारणस्य कतिचि–द्भेदान्निर्दिदिक्षुराह – तत्र तृणीनि दर्भवीरणाऽऽदीनि, वृक्षाश्चूता शोकाऽऽदयः, सह बीजैः शालिगोधूमाऽऽदिभिर्वर्तन्त इति सबीजकाः। एते सर्वेऽपि वनस्पतिकायाः सत्त्वा अवगन्तव्याः। अनेन च बौद्धाऽऽदिमतनिरासः कृतोऽवगन्तव्य इति। एतेषां च पृथिव्यादीनां जीवानां जीवत्वेन प्रसिद्धिस्वरूपनिरूपणमाचारे प्रथमाध्ययने शास्त्रपरिज्ञाऽऽख्ये न्यक्षेण प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते।

षष्ठजीवनिकायप्रतिपादनायाऽऽह –

अहावरा तसा पाणा, एवं छक्कायआहिया।
एतावए जीवकाए, णवरे कोइ विज्जई ॥८॥

(अहावरेत्यादि) तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय एकेन्द्रियाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तकभेदेन प्रत्येकं चतुर्विधाः। अथानन्तरमपरेऽन्ये असन्तीति त्रसाः, द्वित्रिचतुः पञ्चेन्द्रियाः कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्याऽऽदयः। तत्र द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकनेदात्षड्विधाः। पञ्चेन्द्रियास्तु संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकपर्याप्तभेदाच्चतुर्विधाः। तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या चतुर्दशभूतग्रामाऽऽत्मकतया व्याख्यातास्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिरेतावतनेव तद्भेदाऽऽत्मक एव, संक्षेपतो जीवनिकायो जीवराशिर्भवत्यण्डजो द्विज्झसंस्वेदजाऽऽदेरत्रौवान्तर्भावान्नापरो जीवराशिर्विद्यते कश्चिदिति। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

जीवकिरिया स्त्री० (जीवक्रिया) जीवस्य क्रिया व्यापारो जीवक्रिया। सामान्यक्रियायाम्, स्था०। ''जीवकिरिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–सम्मत्तकिरिया चेव, मिच्छत्तकिरिया चेव।'' स्था० २ ठा० २ उ०।

जीवगराय पुं० (जीवकराज) नेमिजिनसमकालिके स्वनामख्याते राजनि, ति०।

जीवग्गाह अव्य० (जीवग्राह) जीवतो ग्रहणे, ''जीवग्गाहं गिण्हंति।'' जीवतीति जीवस्तं जीवं जीवन्तं गृह्णाति। ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

जीवघण पुं० (जीवघन) जीवाश्च ते घनाश्च शुषिराऽऽपूरणाद् जीवघनाः। आ० म० द्वि०। अन्तररहितत्वेन जीवप्रदेशमयेषु, सिद्धलक्षणमधिकृत्य – ''अरूविणे जीवघणा'' जीवाश्च ते घना अन्तररहितत्वेन जीवप्रदेशमयाः। उत्त० ३६ अ०। जीव एव घनो मूर्त्तिः सैन्धवशिलाशकल इव यस्य। हिरण्यगर्भे, वाच०।

जीवघाय पुं० (जीवघात) प्राणातिपाते, आव० ६ अ०।

जीवजढ त्रि० (जीवजह) जीववर्जिते, नि० चू० १ उ०।

जीवट्ठाण न० (जीवस्थान) ६ त०। मर्मणि, वाच०। जीवन्ति यथायोगं प्राणान् धारयन्तीति जीवाः प्राणिनः शरीरभृत इति पर्यायाः। तेषां जीवानां स्थानानि सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियत्वाऽऽदयोऽवान्तरविशेषास्तिष्ठन्ति जीवा एषु इति कृत्वा जीवस्थानानि। जीवानां सूक्ष्मापर्याप्तकेन्द्रियत्वाऽऽदिकेऽवान्तरवि शेषे, कर्म०।

अथ जीवस्थानप्रतिपादकां गाथामाह –

नमिय जिणं जियमग्गण – गुणठाणुवओगजोगलेसाओ।
बंधऽप्पबहूभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥१॥

जिनं नत्वा जीवस्थानाऽऽदि वक्ष्य इति संबन्धः। (कर्म०) जीवमार्गणागुणस्थानाऽऽदि वक्ष्ये, इह स्थानशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् जीवस्थानानि मार्गणास्थानानि गुणस्थानानि उपयोगश्च योगश्च लेश्याश्चेति द्वन्द्वे द्वितीयाशस्। (कर्म०) यद्वा–बन्ध इति पदैकदेशेऽपि 'भामा' सत्यभामेतिन्यायेन पदप्रयोगदर्शनाद्बन्धहेतवो मिथ्यात्वावि-रतिकषाययोगरूपा वक्ष्यमाणा गृह्यन्ते (अप्पबहु त्ति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य अल्पबहुत्वं, गत्यादिरूपमार्गणास्थानाऽऽदीनां परस्परं स्तोक–भूयस्त्वम्। (भाव त्ति) जीवाजीवानां तेन तेन रूपेण भवनानि परिणमनानि, भाव्य औपशमिकाऽऽदयः, ततो बन्धश्चाल्पबहु त्वं च भावाश्चेति द्वन्द्वे द्वितीयीबहुवचनं शस्। सूत्रे च – ''अप्पबहू''इत्यत्र दीर्घत्वं ''दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ'' ॥८।१।४। इति प्राकृतसूत्रेण। (संखिज्जाइ त्ति) संख्यायते चतुःपल्यादिप्ररूपणवा परिमीयत इति संख्येयम्। आदिशब्दादसंख्येयाऽनन्तकपरिग्रहः। तत एवं जीवस्थानाऽऽदिकमनन्तकपर्यवसानं द्वारकलापम्। अत्र वक्ष्ये इत्यनेनाभिधेयमाह। कथं वक्ष्य इत्याह (किमवि त्ति) किमपि किञ्चित् स्वल्पं न विस्तरवत्। दुष्षमानुभावेनापचीयमान-मेधाऽऽयुर्बलाऽऽदिगुणानामैदंयुगीनजनानां विस्तराभिधाने सत्युपकारासंभवात्तदुपकारार्थं चैष शास्त्रऽऽरम्भप्रयासः। एतेन संक्षिप्तरुचिसत्त्वानाश्रित्य प्रयोजनमाचष्टे। संबन्धस्त्वर्थाऽऽपत्तिगम्यः स चोपायोपेयलक्षणः साध्यसाधनलक्षणो, गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा स्वयमभ्यूहाः। इह च मार्गणास्थानगुणस्थानाऽऽदयः सर्वे पदार्था न जीवपदार्थमन्तरेण विचारयितुं शक्यन्त इति प्रथमं जीवस्थानग्रहण १। जीवाश्च प्रपञ्चतो निरूप्यमाणा गत्यादिमार्गणास्थानैरेव निरूपयितुं शक्यन्त इति तदनन्तरं मार्गणास्थानग्रहणम् २। तेषु च मार्गणास्थानेषु वर्तमाना जीवा न कदाचिदपि मिथ्यादृष्ट्याद्यन्यतमगुणस्थानकविकला भवन्तीति ज्ञापनाय मार्गणास्थानकानन्तरं गुणस्थानग्रहणम् ३। अमूनि च गुणस्थानकानि परिणामशुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षरूपाण्युपयोगवतामेवोपपद्यन्ते, नान्येषामाकाशाऽऽदीनां, तेषां ज्ञानाऽऽदिरूपपरिणामरहितत्वा दिति प्रतिपत्त्यर्थं गुणस्थानकग्रहणानन्तरमुपयोगग्रहणम् ४। उपयोगवन्तश्च मनोवाक्कायचेष्टासु वर्तमाना नियमतः कर्मसंबन्धभाजो भवन्ति। तथा चाऽऽगमः– ''जाव णं एस जीवे एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुब्भइ तं तं भावे परिणमइ, ताव णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एकविहबंधए वा नो ण अबंधए'' इति ज्ञापनार्थमुपयोगग्रहणानन्तरं योग –

ग्रहणम् ५ । योगवशाद्योपात्तस्यापि कर्मणो यावन्न कृष्णाऽऽद्यन्यतमलेश्यापरिणामो जायते, तावन्न तस्य स्थितिपाकावशेषो भवति, ''स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण'' इति वचनप्रामाण्यात्। ततो योगवशादुपात्तस्य कर्मणो लेश्याविशेषतः । स्थितिपाकविशेषो भवतीति प्रतिपत्तये योगानन्तरं लेश्याग्रहणम् ६ । लेश्यावन्तश्च यथायोगैर्बन्धहेतुभिः कर्मबन्धोदयोदीरणासत्ताः प्रकुर्वन्तीति ज्ञापनाय लेश्यानन्तरं बन्धग्रहणम् ७। बन्धोदयोऽऽदियुक्ताश्च जीवा मार्गणास्थानाऽऽद्याश्रित्य नियमतः परस्परमल्पे वा भवेयुर्बहवो वेति निवेदनार्थं बन्धानन्तरमल्पबहुत्वग्रहणम् ८। ते च जीवा मार्गणास्थानाऽऽ दिष्वल्पे वा बहवो वा भवन्तोऽवश्यं षण्णा मौपशमिकाऽऽदिना भावानां केषुचिद्भावेषु वर्त्तन्त इति प्रकटनार्थमल्पबहुत्वानन्तरं भावग्रहणम् ९ । औपशमिकाऽऽदिभाववतां च जीवानामल्पबहुत्वं नियमतः संख्येयकेनासंख्येयकेनानन्तकेन वा निरूपणीयमिति भावग्रहणानन्तरं संख्येयकाऽऽदिग्रहणमिति १०। यद्यपि चेह सामान्येनोक्तं जीवस्थानाऽऽदि वक्ष्ये तथा ध्येवं विशेषतो द्रष्टव्यम् । जीवस्थानकेषु गुणस्थानकयोगोपयोग लेश्या-कर्मबन्धोदयोदीरणासत्ता वक्ष्ये । कर्म० ।

मार्गणास्थानकेषु जीवस्थानाऽऽदीनि –

''चउदसजियठाणेसु चउदस गुणठाणगाणि जोगाय।
उवओगलेसबंधुद–ओदीरणासंतअट्ठपए'' ॥ कर्म०।

तत्र यथोद्देशं निर्द्देश इति न्यायात् प्रथमं तावज्जीवस्थानानि निरूपयन्नाह

–

इह सुहुमबायरेगिं–दि–वि–ति चउ असन्निसन्निपंचिंदी।
अपजत्तापज्जत्ता, कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥२॥

इहास्मिन् जगति अनेन क्रमेण चतुर्दश जीवस्थानानि प्राग्निरूपितशब्दार्थानि भवन्ति । केन क्रमेणेति चेदित्याह–सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, एते च सर्वेऽपि प्रत्येकं पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्चोता । तत्रैकं स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः । ते च प्रत्येकं द्वेधासूक्ष्माः बादराश्च । सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्माः सकल लोकव्यापिनो, बादरनामकर्मोदयाद्बादराः, ते च लोकप्रतिनियतदेशवर्तिनः । द्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया इति । इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं योगाद्द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रिया असंज्ञिसंज्ञिभेद भिन्नाश्च पञ्चेन्द्रियाः । तत्र द्वे स्पर्शनरसनलक्षणे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः कृमिपूतरकचन्दनशङ्ख्वकपर्दजलौकाप्रभृतयः । त्रीणि स्पर्शनरसरनघ्राणरूपाणिन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः, कुन्थुमत्कुणयूकागर्दभेन्द्रगोपकमत्कोटकाऽऽदयः। चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानिन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः, भ्रमरमक्षिकामशकवृश्चिकाऽऽदयः पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्रालक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः मत्स्यमकरेभकलभसारसहंसनररसुरनारकाऽऽदयः । ते च द्विधासंज्ञिनोऽसंज्ञिन श्च। तत्र संज्ञानं संज्ञा, भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनम् । ''उपसर्गादातः'' ।५।३।१९०। इत्यङ् प्रत्ययः। सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः, विशिष्टस्मरणा-ऽऽदिरूपमनोविज्ञानभाज इति यावत् । तद्विपरीता असंज्ञिनो विशिष्टस्मरणाऽऽदिरूपमनो विज्ञानविकलाइत्यर्थः । एते च सूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदयः प्रत्येकं द्विधापर्याप्तकाः, अपर्याप्तकाश्च । पर्याप्तिर्नामपुद्गलोपचयजः पुद्गलग्रहणपरिणमनहतुः शक्तिविशेषः । सा च विषयभेदात् षोढाआहारपर्याप्तिः, शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियपर्याप्तिः उच्छ्वासपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः, मनः पर्याप्तिश्चेति। तव यया बाह्यमाहार-मादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः, यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसभेदोऽस्थिमज्जशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः, यया धातुरूपतया परिणमित माहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः, यया पुनरूच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादायोच्छ्वासरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः, यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणाद्रव्यं गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः यया पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिकं गृहीत्वा मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मनः पर्याप्तिः। एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियाऽऽदीनां संज्ञिनां च चतुः पञ्चषट्संख्या भवन्ति। यदभाणि –

''आहारसरीरिंदिय – पज्जत्ती आणपाणभासमणे।
चत्तारि पंच छप्पि य, एगिंदियविगलसन्नीणं'' ॥१॥

पर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते पर्याप्ताः ''अभ्राऽऽदिभ्यः'' ।७।२।४६। इति मत्वर्थीयेऽप्प्रत्ययः, स्वार्थिककप्रत्ययोपादनात्पर्याप्तकाः । ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकलास्तेऽपर्याप्तकाः । ते च द्विधालब्ध्या, करणैश्च। तत्र येऽपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते, न पुनः स्वयोग्यपर्याप्ताः सर्वा अपि समर्थ यन्ते ते लब्ध्यपर्याप्तकाः। ये पुनः करणानि शरीरेन्द्रियाऽऽदीनि न तावन्निर्वर्तयन्ति, अथवा अवश्यं पुरस्तान्निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्तकाः। इह चैवमागमः– ''लब्ध्यपर्याप्तका अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते, नार्वाग, यस्मादागमिभवायुर्बध्वा मिपन्ते सर्व एव देहिनः, तच्चाऽऽहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति''॥ तदेवं निरूपितानि जीवस्थानानि। कर्म० ४ कर्म०। पं० सं०। (जीवस्थानेषु १४ गुणस्थानानि 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ९७ पृष्ठे उक्तानि) साम्प्रतं योगा वक्तुमवसरप्राप्तास्ते च पञ्चदश। तद्यथा– सत्यवाग्योगः, असत्यवाग्योगः, सत्यमृषावाग्योगः, असत्यामृषावाग्योगः।

तत्स्वरूपं चेदम्–

''सव्वा हिया सतमिह, संतो मुणयो गुणा पयत्था वा।
तव्विवरीया मोसा, मीसा जा तदुभयसहावा ॥१॥

अणहिगया जा तीसु वि, सद्दुच्चिय केवलोअसच्चमुसा''। एवं मनोयोगोऽपि चतुर्वा द्रष्टव्यः। काययोगः सप्तधाऔदारिकम्, औदारिकमिश्रं, वैक्रियं, वैक्रियमिश्रम्, आहारकम् आहारकमिश्रं, कार्मणं च । तत्रौदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः, तयोरेवापर्याप्तरौदारिकमिश्रकाययोगः, वैक्रिय– काययोगो देवनारकयोः तिर्यङ् मनुष्ययोर्वा, वैक्रियलब्धिमतोः वैक्रियमिश्रकाययोगोऽपर्याप्तयोर्देवनारकयोस्तिर्यङ् मनुष्योर्वा, वैक्रियस्यारम्भकाले परित्यागकाले च आहारकं चतुर्दशपूर्ववित्तः आहारकमिश्रकाययोगः, आहारकस्य प्रारम्भसमये परित्यागकाले च कार्मणकाययोगोऽष्टप्रकारकर्मविकार रूपशरीरचेष्टास्वरूपोऽन्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये केवलिसमुद्घातावस्थायां च।

तानेतान योगान् जीवस्थानकेषु व्यचिख्यासुराह –

अपजत्तछक्कि कम्मुर–लमीसजोगा अपज्जसन्नीसु।

ते सविउव्वमीस एसुं, तणुपज्जेसू उरलमन्ने ॥४॥

अपर्याप्तानां सूक्ष्मबादरद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां षट्कमपर्याप्तषट्कं तस्मिन् अपर्याप्तषट्के, संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तवर्जितेषु षट्सु अपर्याप्तेषु योगौ भवतः। द्विवचनस्य बहुवचनं प्राकृतत्वात्। यथा – ''हत्था पाया'' इत्यादौ। कौ योगौ ? इति। आह–कार्मणौदारिकामश्रौ; तत्र कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च, शेषकालं त्वौदारिकमिश्रकाययोगः। (अपज्जसन्नीसु। ते अविउव्वमीस त्ति) अपर्याप्त संज्ञिषु संज्ञ्यपर्याप्तजीवेषु तौ पूर्वोक्ता कार्मणौदारिकमिश्रकाययोगौ भवनः। किं केवलौ ? नेत्याहसह वैक्रियमिश्रेण वर्त्तते इति सवैक्रियमिश्रौ। तथा चापर्याप्तसंज्ञिनि त्रयो योगा भवन्ति कार्मणकाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगः, वैक्रियमिश्रकाययोगश्च। तत्र कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च, शेषकालं तु तिर्यङ्मनुष्योरौदारिकमिश्रकाययोगः। संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य देवनारकेषु पुनरुत्पद्यमानस्य वैक्रियमिश्र– काययोगो द्रष्टव्यः, न शेषस्य असंभवात्। मिश्रता चात्र कार्मणेन सह द्रष्टव्याः। अत्रैव मतान्तरमुपदर्शयन्नाह– एषु पूर्वनिर्दिष्टेषु शेषपर्याप्त्यपेक्षया पर्याप्तेषु, तनुपर्याप्तेषु, शरीरपर्याप्तेष्वित्यर्थः। औदारिकमौदारिककाययोगम्, अन्ये केचिदाचार्याः शीलाङ्काऽऽदयः, प्रतिपादयन्तीति शेषः। शरीरपर्याप्त्या हि परिसमाप्तिवत्या किल तेषां शरीरं परिपूर्णं निष्पन्नमिति कृत्वा। तथा च तद् ग्रन्थः– औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः शरीरपर्याप्ते रूर्ध्वं, तदारतस्तु मिश्र इति। नन्वनया युक्त्या संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य देवनारकेषूत्पद्यमानस्य तनुपर्याप्तया पर्याप्तस्य वैक्रियमपि शरीरमुपयद्यत एव, किमिह तन्नोक्तमिति ? उच्यते– उपलक्षणत्वात् एतदपि द्रष्टव्यमित्यदोषः। यद्वा–इहापर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्तका एवान्तर्मुहुर्त्तायुषो द्रष्टव्याः। ते च तिर्यङ्मनुष्या एव घटन्ते, तेषामेवान्तर्मुहुर्त्तायुष्कत्वात्। लब्ध्यपर्याप्तका अपि च जघन्यतोऽपीन्द्रियपर्याप्तौ परित्मप्तायामेव म्रियन्ते, नार्वागित्युक्तमागमाभिप्रायेण। ततस्तेषां लब्ध्यपर्याप्तकानां शरीरपर्याप्तया पर्याप्तानामौदारिक मेव शरीरमुपपद्यते, न वैक्रियमित्यदोषः। किं चान्यमतकथनेनायमभिप्रायः सूच्यते–यद्यपि तेषां शरीरपर्याप्तिः समजनिष्ट, तथापि इन्द्रियोच्छवासाऽऽदीनामद्याप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्यासंपूर्णत्वात्। अत एव कार्मणस्याप्यद्यापि व्याप्रियमाणत्वाद्यौदा रिकमिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानमिति ॥४॥

सव्वे सन्निपजत्ते, उरलं सुहुमे सभास तं चउसु।
बायरि सविउव्विदुगं, पजसन्निसु वार उवओगा ॥५॥

सर्वे पञ्चदशापि योगा भवन्ति। तथाहि–चतुर्द्धा मनोयोगः, चतुर्द्धा वाग्योगः, सप्तधा काययोगः। क्व ? इति। आह–संज्ञिप–र्याप्ते संज्ञीचासौ पर्याप्तः संज्ञिपर्याप्तस्तस्मिन् संज्ञिपर्याप्ते। नन्वौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकार्मणकाय योगाः कथं संज्ञिपर्याप्तस्य घटन्ते, तेषामपर्याप्तावस्थाभावित्वात् ? उच्यते– वैक्रियमिश्रं संयताऽऽदेः वैक्रियं प्रारभमाणस्य प्राप्यते, औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ तु केवलिनः समुद्घातावस्थायाम्।

यदाह भगवानुमास्वातिवाचकवर :–

''औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमयोरसाविष्टः।
मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठयद्वितीयेषु ॥१॥
कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ॥'' इति।

पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिये औदारिककाययोगो भवति, पर्याप्तशब्दश्च ''सव्वे सन्निपज्जते'' इति पदाद् डमरुकमणिन्यायेन सर्वत्र याज्यः। (चउसु त्ति) चतुर्षु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु तदेवौदारिकं भवति। किं केवल ? नेत्याह–सभाषं स भाषया असत्यामृषास्वरूपया, ''विगलेसु असच्चमांसत्ति'' वचनात् वर्त्तते इति सभाषम्। कोऽर्थः ? – विकलत्रिकासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु औदारिककाययोगः सत्यामृषाभाषालक्षणौ द्वौ योगौ इत्यर्थः। तदित्यनुवर्त्तते, तदौदारिकं सह वैक्रियद्विकेन वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेन वर्त्तते इति सवैक्रियद्विकं बादरैकेन्द्रियपर्याप्ते भवति। अयमर्थःबादरैकेन्द्रिये पर्याप्ते औदारिककाययोग वैक्रियकाययोगवैक्रियमिश्रकाययोगलक्षणास्त्रयो योगा भवन्ति। तत्रौदारिककाययोगः पृथिव्यम्बुतेजोवनपस्तीनां, वैक्रियद्विकं तु वायुकायस्येति प्ररूपिता जीवस्थानेषु योगाः। कर्म० ४ कर्म०।

एतेषु पुनर्जीवस्थानेषु योगानभिधित्सुराह –

विगलासन्नीपज्ज – त्तएसु लब्भंति कायवइजोगा।
सव्वे वि सन्निपज्ज – त्तएसु सेसेसु काओगो ॥६॥

इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् विकला इत्युक्ते विकलेन्द्रियग्रहणम्। एवमन्यत्रापि यथायोगं परिभावनीयम्। तत्र विकलेन्द्रियेषुद्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेषु, असंज्ञिकेषु च पञ्चेन्द्रियेषु, पर्याप्तकेषु कायवाग्योगो लभ्येते। तत्र काययोगो औदारिकशरीरलक्षणो द्रष्टव्यः, वाग्योगश्चासत्यामृषारूपः, ''विगलेसु असच्चमोसे च।'' इति वचनात्। सर्वेऽपि च संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु सप्रभेदाः कायवाङ्मनोयोगाः पञ्चदशापि योगास्तेषु भवन्तीत्यर्थः। तत्र कर्म्मणौदारिकमिश्रौ केवलिसमुद्घातावस्थायाम्। उक्तं च – ''मिश्रौदारिकयोगी, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु। कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च'' ॥१॥ इति। आहारकाहारकमिश्रावाहारकर्त्तुर्वैक्रियमिश्रौ च तत्कर्तुः शेषास्त्वौदारिकाऽऽदयः सुप्रतीताः तथा शेषेषु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियेषु, अपर्याप्तेषु च द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिषु काययोग एवैको भवति ॥६॥

तमेव स्पष्टयन्नाह –

लद्धीए करणेहि य, ओरालिय मीसगो अपज्जत्ते।
पज्जत्ते ओरालो, वेउव्विय मीसगो वा वि ॥७॥

लब्ध्या, करणैश्चापर्याप्ते औदारिकमिश्रः काययोगो भवति। इदं च तिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्योक्तमवसेयम्। तेषामेव हि लब्ध्या, करणैश्चेति विशेषणद्वयसंभवः, न देवनारकाणां, ते हि करणापर्याप्ता एव संभवन्ति, न लब्ध्यपर्याप्तिकाः, ततस्तेषामपर्याप्तावस्थायां वैक्रियमिश्रः काययोगो वेदितव्यः। सप्तानामपि चापर्याप्तानामपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च कार्मणकाय योगः। तथा पर्याप्ते औदारिको, वैक्रियो, वैक्रियमिश्रश्च। तत्रौदा रिकस्तिर्यङ्मनुष्याणां, वैक्रियो देवनारकाणां वैक्रियवैक्रियमिश्रौ पर्याप्तबादरवायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां वैक्रियलब्धिमताम्। अपिशब्दादाहारकाहारकमिऔ चतुर्दशपूर्व विदः, इह केचन शरीरपर्याप्तेरवीक् नरतिरश्चामौदारिकमिश्रं, देवनारकाणां वैक्रियमिश्रं, शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वं पुनः शेषपर्याप्तिभिरपर्याप्तानामप्यौदारिकं वैक्रियं चेच्छन्ति, तन्मतेनेयमन्यकर्तृकी गाथा –

कम्मुरलदुगमपज्जे, वेउव्विदुगं च सन्निलद्धिल्ले।

पज्जेसुं उरलो चिय, वाए वेउव्वियदुग च ॥८॥

अपर्याप्ते सूक्ष्माऽऽदौ कार्मणमौदारिकद्विकं च औदारिकौ दारिकमिश्रलक्षणं, भावना पातनिकाऽनुसारेण वेदितव्या । संज्ञिनि पुनः ''लद्धिल्ले'' इति वैक्रियलब्धिमति देवादावपर्याप्ते वैक्रियद्विकम् वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणं, चशब्दात् कार्मणं च द्रष्टव्यम् । तथा पर्याप्तेषु सूक्ष्माऽऽदेशब्दादौदारिक एव काययोगः, उपलक्षणमेतत्–तेन देवनारकेषु वैक्रिय एव । तथा वाते वायुकायिके पर्याप्ते वैक्रियद्विकम् वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणं, चशब्दस्यानुक्तसमुच्चायकत्वादौदारिकं च वैक्रियद्विकमपि च वातकायस्य कस्य चिदेव द्रष्टव्यम्, न तु सर्वस्य । यत उक्तं प्रज्ञापनाचूर्णौ –''तिण्हं ताव रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि, वायरपज्जत्ताणं पि संखेज्जइभागस्स त्ति'' । अत्र (तिण्हं रासीणं ति) त्रयाणां पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादररूपाणां राशीनाम् । पं० सं० १ द्वार । कर्म० । साम्प्रतमुपयोगः प्ररूपणावसरप्राप्तः, ते च द्वादश। तद्यथा– मतिज्ञानश्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानमनः पर्यवज्ञानकेवलज्ञानलक्षणानि पञ्च ज्ञानानि । मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूलदर्शनरूपाणि त्रीण्यज्ञानानि । चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनाऽवविदर्शनकेवलदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानीत्येतानुपयोगान् जीवस्थानकेषु दिदर्शयिषुराह – (पजसन्निसु वार उवओग त्ति) पज्जशब्देन पर्याप्त उच्यते । ततः पर्याप्तश्च ते संज्ञितश्च पर्याप्तसंज्ञिनः, तेषु पर्याप्तसंज्ञिषु द्वादश द्वादशसंख्या उपयोगा भवन्ति । तं च क्रमेणैव न तु युगवत्, उपयोगानां तथा जीवस्यवभावतो योगाविद्यासंभवात् । उक्तं च – ''समए दाणुवओगा ।''

श्रीभद्रबाहुस्वभियादा अप्याहु :–

''नाणम्मि दंसणम्मि य, एत्तो एगयरम्मि उवउत्ता ।
सव्वस्स केवलिस्स वि, जुगवं दो नत्थि उवओगा' ।१। इति ॥५॥

**पजचउरिंदियसन्निसु, दुदं स दुअनाण दससु चक्खु विणा ।
सन्निअपज्जे मणना– णचक्खुकेवलदुगविहूणा ॥६॥**

चतुरिन्द्रियाश्च असांज्ञनश्च चतुरिन्द्रियासंज्ञिनः, पर्याप्ताश्च ते चतुरिन्द्रियासंज्ञिनश्च, तेषु पर्याप्त चतुरिन्द्रियपासंज्ञिषु, चत्वार उपयोगा भवन्ति। के ते ? इत्याह – दुदंस दुअनाण त्ति दर्शौ दर्शनं, द्वयोर्दर्शयोः समाहारो द्विदर्शम्वक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनलक्षणम्, द्वयोरज्ञानयोः समाहारो द्व्यज्ञानंमत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपम् । अयमर्थः– पर्याप्तचतुरिन्द्रियेषु पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु च मत्यज्ञानश्रुताज्ञानवक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दशनलक्षणाश्चत्वार उपयोगा भवन्ति। दशसु जीवस्थानकेषु पर्याप्तापार्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियाऽपर्याप्तपर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणेषु पूर्वोक्ताश्चत्वार उपयोगाश्चक्षुर्दर्शनं विना भवन्ति । पूर्वोक्तदशजीवस्थानकेषु चक्षुर्दर्शनवर्जाअचक्षुर्दर्शनमत्यज्ञानश्रुताज्ञानलक्षणास्त्रय उपयोगा भवन्ति । न नु स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमसंभवाद्भवतु मतिरेकेन्द्रियाणायत्तु श्रुतं तत्कथं संजाघटाति । भाषालब्धिश्रोत्रेन्द्रियलब्धि मतो हि तुदपपद्यते, नान्यस्य।

तदुक्तम् –

''भावसुयं भासासो–यलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स ।
भासाभिसुहस्स सुयं, से ऊण व जं हविज्जा हि'' ॥१॥ इति?

उच्यते–इह तावदेकेन्द्रियाणामाहाराऽऽदिसंज्ञा विद्यन्ते, तथा सूत्रोऽभियानात्, संज्ञा चाभिलाष उच्यते । यदवादि परोपक रभूरिभिः श्रीहरिभद्रसूरिभिर्मूलाऽऽवश्यकटीकायाम्–आहारसंज्ञा आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयप्रभवः खल्वात्मपरिणामविशेष इति । अभिलाषश्चमनमेवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि, तद्यदीद्रमवाप्यते ततः समीचीनं भवतीत्येवं शब्दार्थोल्लखानुबद्धः स्वपुष्टिनिमित्तभूतप्रतिनियतवस्तुप्राप्तयध्यवसायरूपः । स च श्रुतमेव शब्दार्थाऽऽलोचनानुसारित्वात्, श्रुतस्यैवेतल्लक्षणत्वात् ।

यदवादिषुर्दलितप्रवादिकुवादिश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादाः–

''इंदियमणोनिमित्तं, विन्नाणं जं सुयानुसारेणं ।
नियतत्थुत्तिसमत्थं, त भावसुयं मइंसेसं'' ॥१॥

(सुयाणुसारेणं ति) शब्दार्थाऽऽलाचनानुसारेण केवलमेकेन्द्रियाणामव्यक्त एव कश्चनाप्यनिर्वचनीयः शब्दार्थोल्लुखो द्रष्टव्यः । अन्यथाऽऽहाराऽऽदिसंज्ञाऽनुपपत्तेः । यदप्युक्तम् भाषालब्धिश्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वादेकेन्द्रियाणां श्रुतमनुपपन्नमिति। तदप्यसमीक्षिताभिधानम् । तथाहि–बकुलाऽऽदेः स्पर्शनेन्द्रियातिरिक्तद्रव्येन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि किमपि सूक्ष्मं भावेन्द्रियपञ्चकविज्ञानमभ्युपगम्यते । ''पंचिंदिय व्व बउलो, नरु व्व सव्वविसओवलंभाओ ।'' इत्यादिवचन प्रामाणयात् । तथा भाषाश्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि तेषां किमपि सूक्ष्मं श्रुतमपि भविष्यति, अन्यथाऽऽहाराऽऽदिरसंज्ञ ऽनुपपत्तेः; यदाहुः प्रशस्यभाष्यसस्यकाश्यपीकल्पा, श्रीजिन भद्रगणिक्षमाश्रमणाः–''जह सुहमं भाविंदिय–नाणं दव्विंदियाण विरहे वि । दव्वसुया भावम्मि व, भावसुयं पत्थिवाईणं ॥१॥'' इति । संज्ञी चासौ अपर्याप्तः संज्ञ्यपर्याप्तस्तस्मिन् संज्ञ्यपर्याप्त मनःपर्यवज्ञानचक्षुर्दर्शनकेवलज्ञान केवलदर्शनलक्षणद्विक विहीनाः शेषा मतिज्ञानश्रुतज्ञाननावधिज्ञानमत्यज्ञानश्रुता ज्ञानविभङ्गनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनारूपा अष्ट वुपयोगा भवन्ति । कर्म० ४ कर्म० ।

जीवस्थानेषू योगानीभदधति –

**मइसुयअन्नाणाऽव–क्खुदेसणेक्कारसेसु ठाणेसु ।
पज्जत्तचउपणिंदसु, संचक्खुसन्नीसु वारस वि ॥८॥**

ऐकादशसु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियाऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियासांज्ञसांज्ञषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानचक्षुर्दर्शनाख्या–स्त्रय उपयोगा भवन्ति । अपर्याप्तकाश्चेह लब्ध्यपर्याप्तका वेदितव्याः । अन्यथा करणापर्याप्तकेषु चतुरिन्द्रियाऽऽदिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते, मूलटीकायामाचायेणाभ्य, ज्ञानात् । संज्ञिनि च करणापर्याप्तं मतिश्रुतावविज्ञानविभङ्ग ज्ञानावावधिदर्शनान्यपि तथा । (पज्ज त्त चउपणिंदिसु त्ति) पर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियेषु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु च सचक्षुपः सचक्षु दर्शनाः पूर्वोक्तास्त्रय उपयोगा भवन्ति । संज्ञिषु च पर्याप्तेषु द्वादशापि । पं० सं० १ द्वार ।

साम्प्रतं जीवस्थानेष्वेव लेश्याः प्रतिपिपादयिषुराह –

सन्निदुगि छलेस अपज–त्तबायरे पढम चउति सेसेसु ।

संज्ञिनो द्विकमपर्याप्तपर्याप्तलक्षणं संज्ञिद्विकं, तस्मिन् संज्ञिन्यपर्याप्ते, संज्ञिनि पर्याप्ते चेत्यर्थः । षट् लेश्याः कृष्णनीलका पोततेजःपद्मशुक्ललक्षणा भवन्ति । अपर्याप्तबादरे प्रथमाश्चतस्रः कृष्णनालकापोततेजोरूपा भवन्ति । तेजोलेश्या कथमस्मिन्नवाप्यत इति चेत ? उच्यते–यदा ''पुढवीआउवणस्सइगब्भे पज्जत्तसंखजीवेसु ! सगचुयाणं वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा'' ॥१॥ इति वचनात् कश्चनापि देवः स्वर्गलोकाध्युतः सन् बादरैकेन्द्रियतया भूदकतरूषु मध्ये समुप्तद्यते, तदा तस्य घण्टालालान्यायेन सा प्राप्यत इत्यदोषः । (ति से –)

सेसु त्ति प्रथमा इत्यनुवर्त्तने–प्रथमास्तिस्रः कृष्णनीलकापोत– लक्षणाः, शेषेषु प्रागुक्तापर्याप्तपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तबाद–रैकेन्द्रिययवर्जितेषु अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वान्द्रियत्रीन्द्रिय वतुरन्द्रियाऽसांज्ञपञ्चे-न्द्रियपर्याप्तबादरैकेन्द्रियलक्षणष्वकाद शसु जीवस्थानेषु भवन्ति ताः नान्याः, तेषां सदवाशुभपरिणामत्वात्, शुभपरिणामरूपाश्च तेजालेश्याऽऽदयः।

तदेवं जीवस्थानकेषु लेश्या अभिधाय साम्प्रतमेतेष्वेव वन्धोदयोदी-रणासचाऽऽख्यं स्थानचतुष्टमभिधित्सुरा –

सत्तऽट्ठबंधुदीरणे संतुदया अट्ठ तेरससु ॥७॥

''सत्तऽट्ठबंधु' इत्यादि। सप्त वा अष्टौ वा सप्ताष्टाः ''सुज्वार्थे संख्या संख्येये संख्यया बहुव्रीहिः'' ।३।१।१६। इति (सि० है०) सूत्रेण बहुव्रीहिसमासः। यथा–द्वित्रा इत्यादौ बन्धश्चोदीरणा च बन्धोदीरणे, सप्ताष्टानां बन्धोदीरणे सप्ताष्टबन्धोदीरणे, त्रयोदशसु जीवस्थानेषु संज्ञिपर्याप्तजितेषु शेषेषु भवतः। एतदुक्तं भवति–अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाऽपर्याप्त-द्वीन्द्रियपर्याप्तद्वीन्द्रियाऽपर्याप्तत्रीन्द्रियपर्याप्तत्रीन्द्रियाऽपर्याप्तवतु-रिन्द्रिय पर्याप्तचतुरिन्द्रियाऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तासंज्ञि-पञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु सप्तानामष्टानां वा बन्धः, सप्तानामष्टानां वा उदीरणा। तथाह–यदाऽनुभूयमानभवायुपस्त्रिभागनवभागाऽऽदिरूपे शेषे सति परभवाय-बंध्यते, तदाऽष्टानामपि कर्मणां बन्धः, शेषकालं त्वायुषो बन्धाभावा-त्सप्तानामेव बन्धः। तथा यदाऽनुभूयमानभवायुरुदयाऽऽवलिकाशेषं भवति, तदा सप्तानामुदीरणा। अनुभूयमानभवायुषोऽनुदीरणात् आवलिकाशेषस्योदीरणाऽनर्हत्वात्। उदीरणा हि उदयाऽऽवालेकाबाह–र्वतिनीभ्यः स्थितिभ्यः सकाशात्कषायसहितेनासहितेन वा योगकरणेन दलिकमाकृष्योदयसमयप्राप्तदलिकेन सहानुभवनम्। तथा चोक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ – 'उदयावलियाबाहिरिल्लठेर्शहिंता कसायसहियाम-हिएणं जोगकरणेणं दलियमाकड्ढिय उदयपत्तदलिएणसमं अणुभवणमु-दीरणा''। ततः कथमावलिकागतस्योदीणा भवति? न च परभवाऽऽयुर-स्तदोदीरणासंभवः, तस्योदयाभावात्, अनुदितस्य च उदीरणाऽनर्ह-त्वात्। शेषकालं त्वष्टानामुदीरणा। सचोदयश्च प्राकृतत्वात् 'सन्तोदयाः, अष्टानामेव कर्मणां त्रयोदशसु जीवस्थानकेषु पूर्वेषु भवतः। तथाहि–एतेषु त्रयोदशसु जीवस्थानकेषु सर्वकालमष्टानामपि सत्ता, यतोऽष्टानाऽपि कर्मणां सत्ता उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावदनुवर्त्तते। एते च जीवा उत्कर्षतां यथासंभवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकवर्तिन एवति। एवमुदयोऽप्येतेषु जीवस्थानेष्यहिष्टानामेव कर्मणां द्रष्टव्यः। तथाहि–सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावदष्टानामपि कर्मणामुदयोऽ-वाप्यते ॥७॥

एतेषु जीवस्थानकेषूत्कर्षतोऽपि यथासंभवमविरतसम्यग्दृष्टि
गुणस्थानकसंभव इति –

सत्तऽट्ठछेगबंधा, संतुदया मत्त अट्ठ चत्तारि।
सत्तऽट्ठ छ पंच दुगं, उदीरणा सन्निपज्जत्ते ॥८॥

संज्ञी चासौ पर्याप्तश्च सांज्ञपर्याप्तः, तस्मिन् संज्ञिपर्याप्ते, चत्वारो बन्धा भवन्ति : तद्यथा–सप्तानां प्रकृतीनां बन्ध एकः अष्टानां प्रकृतीनां बन्धो द्वितीय, षण्णां प्रकृतीनांबन्धस्तृतीयः एकस्याः प्रकृतेबन्धश्चतुर्थो बन्धः। तत्राऽऽयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मप्रकृतीनां बन्धो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं यावदुत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्स गैरोपमाणि षण्मासोनान्यन्तर्मुहूर्त्तोन-पूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि ॥ तथा आयुबंन्धकाले तासामष्टानांबन्धो जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः। आयुषि बध्यमानेऽष्टानां प्रकृतीनां बन्धः प्राप्यते। आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहुर्त्तमेव कालं भवति, न ततोऽप्यधिकम्। तथैता एवाष्टावायुर्मोहनीयवर्जाः षट्। एतासां च जघन्येनैकं समयं बन्धः। तथाहि–ज्ञानाऽऽवरण दर्शनाऽऽवरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायरूपाणां षण्णां प्रकृतींनां बन्धः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने, तत्र चोपशमश्रेण्यां कश्चिदेकं समयं स्थित्वा, द्वितीयसमये भवक्षयेण दिवं गतः सन्नविरतो भवति। अविरतत्वे चावश्यं सप्तप्रकृतीनां बन्ध इति षण्णां बन्धो जघन्येनैकं समयं यावदुत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तं, सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान-स्यान्तर्मुहूर्त्तकत्वात्। तथा सप्तानां प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदे सत्येकस्याः सातो नायरूपायाः प्रकृतेर्बन्धः। स च जघन्येनैकं समयम्। एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्राग्वद्भावनीयाः उत्कर्षेण पुनर्देशोनां पूर्वकोटिं यावत्। स चोत्कर्षतः कस्य वेदितव्य इति चेत ? उच्यते–यो गर्भवासे मासाससप्तकमुषित्वाऽनन्तरं शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमेण जन्मना जातो वर्षाष्टकाद्यूर्द्धं संयमं प्रतिपन्नः प्रतिपत्त्यनन्तरं च क्षपकश्रोणमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शनः, तस्य सयोगि-केवलिनो वेदितव्यः। अयं चात्र तात्पर्यार्थः–मिथ्यादृष्टयाद्य-प्रमत्तान्तेषु सप्तानामष्टानां वा बन्धः, आयुर्बन्धाभावात् अपूर्वकरणनिवृत्तिबादरयोश्च सप्तानां बन्धः, सूक्ष्मसंपराये षण्णां बन्धः, उपशान्तमोहाऽऽदिष्वेकस्याः प्रकृतर्बन्धः। तथा सचोदयश्च प्राकृतत्वात् सन्तोदयाः, ततः संज्ञिपर्याप्ते सत्तामाश्रित्य त्रीणि स्थानानि। तद्यथा–सप्त, अष्ट, चत्वारि। एवमुदयमप्याश्रित्य त्रीणि स्थानानि। तदयथा–सप्त, अष्ट, चत्वारि। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदयौऽष्टौ, एतासां चाष्टानां सत्ताऽभव्यानधिकृत्या-नाद्यपर्यवसाना, भव्यानधिकृत्यानादि सपर्यवसाना। तथा–मोहे क्षीणे सप्तानां सत्ता। सा च जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा। सा हि क्षीणमोहगुणस्थाने। तस्य च कालमानमन्तर्मुहूर्त्तमिति घातिकर्मचतुष्टय-क्षयेण चतसृणां सत्ता। सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा, उत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना। तथा–सर्वप्रकृति समुदयोऽष्टौ, तासां चादयोऽभव्यानाश्रित्यानाद्यपर्यवसानां, मव्यानाश्रित्यानादिसपर्यव-सानः। उपशान्तमोह-गुणस्थानकात्प्रतिपतितानाश्रित्य पुनः सादिसपर्यवसानः। स च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, उपशमश्रेणीतः पतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्त्तेन कस्याप्युपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः। उत्कर्षेण तु देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्त्त। तथा–ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जाः सप्त, तासामुदयो जघन्येनैकं समयम्। तथाहि–मोहवर्जसप्तानां प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहे, क्षीणमोहे वा प्राप्यते। तत्र कश्चिदुपशान्तगुणस्थानके एकं समयं स्थित्वा द्वितीये समये च भवक्षयेण दिवं गच्छन्नविरतो भवति। अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदयः ततः सप्तानामुदयो जघन्येनैकं समयं यावदव प्यते, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम्, उपशान्तमोह क्षीणमोह-गुणस्थानयोरान्त मौहुर्तिं कत्वात्। तथा–घातिकर्मवर्जाश्चतस्रः कर्मप्रकृतयः तासां च जघन्यत उदय आन्तर्मौहुर्तिकः उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिप्रमाण इति। पिण्डार्थश्चायम्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानक-मारभ्ययावदुपशान्तमोहगुणस्थानकं तावदष्टानामपि सत्ताः क्षीणमोहगुणस्थाने सप्तानां सत्ता, सयोग्ययोगगुणस्थानकयोश्चतसृ–

णां सत्ता । तथा–मिथ्यादृष्टेः प्रभृति सूक्ष्मसंपरायं यावदष्टानामुदयः, उपशान्तमोहगुणस्थाने क्षीणमोहगुणस्थाने च सप्तानां प्रकृतीनामुदयः। सयोग्ययोगिगुणस्थानयोश्चतसृणामुदयइति ।। तथा–संज्ञिपर्याप्ते उदीरणास्थानानि पञ्च । तद्यथा–सप्त, अष्ट, षट्, पञ्च, द्वे इति। तत्र यदा अनुभूयमाणभवायुरावलिकाऽवशेषं भवति, तदा तथास्वभावत्वेन तस्यानुदीर्यमाणत्वात्सप्ता-नामुदीरणा। यदात्वनुभूयमानभवायुरावलिकाऽवशेषं न भवति, तदाऽष्टानां प्रकृतीनामुदीरणा । तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात्प्रभृति यावत्प्रमत्तसंयतगुणस्थानकं तावत्ससप्तानामष्टानां चादीरणा । सम्यङ्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके तु सदैयाष्टानामेवोदीरणा, आयुष आवलिकाऽवशेषमिश्रगुणस्थानस्यैवाभावात् । तथाअप्रमत्तगुणस्थानकात्प्रभृति यावत्सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्याऽऽवलिकाऽयशेषो न भवति, तावद्वेदनीयाऽऽयुर्वर्जानां षण्णां प्रकृतीनामुदीरणा, तदानीमतिविशुद्धत्वेन वेदनीयाऽऽदयुरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात्। आवलिकाऽवशेषे तु मोहनीयस्वाप्याबलिकाप्रविष्टत्वेनोदीरणाया असंभवाद् ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणनामगोत्रान्तरायाणामेवोदीरणा । एतेषामेव चोपशान्तमोहगुणस्थानकेऽप्युद्रीरणा। क्षीणमोहगुणस्थानकेऽप्येतेषामेव यावदावलिकामात्रमवशेषो न भवति। आवलिकाऽवशेषेतु ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणान्तरायाणामप्यावलिकायप्रविष्टत्वान्नोदीरणेति द्वयोरेव नामगोत्रायोरुदीरणा, एवं सयोगिकेवलिगुणस्थानकेऽपि । अयोगिकेवलिगुणस्थानके तु वर्तमानो जीवः सर्वथाऽनुदीरक एव। ननु तदानीमप्येष सयोगिकेवलिगुणस्थानक इव भवोपग्राहि–कर्मचतुष्टयोदयवान् वर्त्तते, ततः कथं तदाऽपि तयोर्नामगोत्रायोरुदीरको न भवति? नैष दोषः। उदये सत्यपि योगसव्यपेक्षत्वादुदीरणायाः, तदानीं च तस्य योगासंभवादिति। कर्म० ४ कर्म० ।

इदानीं गुणस्थानकेषु जीवस्थानानि चिन्तयन्नाह –

सव्वजियठाण मिच्छे, सग–सासणि पंण अपज्ज सिन्नदुगं ।
सम्मे सन्नी दुविहो, सेसेसुं सन्निपज्जत्तो ।।४५।।

सर्वाणि जीवस्थानानि चतुर्दशापि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकेषु भवन्ति, मिथ्यात्वस्य सर्वेषु जीवस्थानकेषु संभवात् । तथा– (सग त्ति) सप्त जीवस्थानानि सास्वादने भवन्ति । तद्यथा– पञ्चापर्याप्ताः बादरैकेन्द्रियोऽपर्याप्तः १, द्वीन्द्रियोऽपर्याप्तः २, त्रीन्द्रियोऽपर्याप्तः ३, चतुरिन्द्रियोऽपर्याप्तः ४, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽपर्याप्तः ५ । संज्ञिद्विकम्–संज्ञयपर्याप्तः १, संज्ञिपर्याप्तः २ । अपर्याप्तकाश्चेह करणापर्याप्तका द्रष्टव्याः, न तु लब्ध्यपर्याप्तकाः, तेषु मध्ये सास्वादनसम्यक्त्वसहितस्यात्पादाभावात्। (सम्मे सन्नी दुविहो त्ति) अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके संज्ञी द्विविधोऽपर्याप्तपर्याप्त-रूपो द्रष्टव्यः । इहापर्याप्तकः करणापेक्षया ज्ञेयः, न तु लब्ध्यपेक्षया, लब्ध्यपर्याप्तमध्येऽ विरतसम्यग्दृष्टेरभावात्। शेषेषु मिश्रदेशविरत्यादिगुणस्थानकेषु संज्ञी पर्याप्त इत्येकमेवं जीवस्थानकं, न शेषाणि; तेषां मिश्रभावदेशविरतिप्रतिपत्त्यभावात्। न च पूर्वप्रतिपन्नमिश्रभावोऽन्येषु जीवस्थानकेषु संक्रामँल्लभ्यते, ''न सम्ममिच्छो कुणइ कालं'' इति वचनात् । तदेवं गुणस्थानकेषु व्याख्यातानि जीव स्थानकानि । कर्म० ४ कर्म० ।

जीवस्थानकेषु भावा :–

जीवस्थानेष्वपि भावाः स्वयमेव चिन्तनीयाः । तत्राऽऽद्येषु द्वादशसु जीवस्थानेष्वौदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकरूपं भावत्रायम्, तच्च । मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानकोक्तमिय भावनीयम् । एतदेव च भावत्रायं संज्ञिन्यपि लब्ध्यपर्याप्ते । करणमात्रापर्याप्ते तु तस्मिन् क्षीणसप्तकानां क्षायिकसम्यक्त्वस्यकेषाञ्चिद् देवानामौपशमिकत्वस्यापि संभवादौदयिक क्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकरूपमौपशमिकौ–दयिकक्षायोपशमिक–पारिणामिकरूपं वा भावचतुष्टयमवसेयम्। पर्याप्ते तु संज्ञिनि प्रागुक्तेन गुणस्थानकक्रमेण सर्वे भावा भावनीयाः। पं० सं० २ द्वार । (जीवस्थानेषु बन्धोदयसत्तास्थानानि 'बंध' शब्दे वक्ष्यन्ते) (बन्धोदयसत्तास्थानान्यधिकृत्य स्वामिता 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २८७ पृष्ठे निरूपिता)

जीवण न० (जीवन) जीव–ल्युट्। प्राणधारणे, ''जीवणमवि पाणधारणे भणियं ।'' जीवनमपि प्राणधारणे भणितम्, 'जीव– प्राणधारणे' इति वचनात् । आ० म० द्वि० । विशे० । ''जीविज्ज य आदिमोक्खं'' जीव्यात्प्राणधारणं कुर्यात् । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । आ० चू० । जीव्यतेऽनेन । वृत्तौ, जले, मज्जने, हैयङ्गवीने च । वाच० । जीवयतीति जीवनः । जीवनकारके, त्रि० । स० ३० सम० । पुत्रे, जीवनौषधे, वायौ, क्षुद्रफलके, वृक्षे, पुं० । वाच० ।

जीवणहेउ पुं० (जीवनहेतु) ६ त० । ''विद्या शिल्पं भृतिः सेवा, गोरक्षा विपणिः कृषिः । वृत्तिर्भैक्ष्यं कुशीदं च, दश जीवनहेतवः ॥१॥'' इत्युक्तेषु विद्याऽऽदिषु जीवनोपायेषु दशसु, वाच० ।

जीवणास पुं० (जीवनाश) जीवितनाशे, मृत्यो, ''आसीविसो वा वि परं सुरुट्ठो, किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा''। किं जीवितनाशान्मृत्योः परं कुर्यात्, न किञ्चिदपीत्यर्थः । दश० ६ अ० १ उ० ।

जीवणिकाय पुं० (जीवनिकाय) जीवानां निकायो राशिर्जीवनिकायः । जीवराशौ, स्था० ६ ठा० । जीवनिकायाश्च पृथिव्यादयः षट् । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार० । आव०

छ जीवनिकाया पन्नत्ता । तं जहा–पुढविकाइया० जाव तसकाइया ।

जीवानां निकाया राशयो जीवनिकायाः । इह च जीवनिकायानाभधाय यत्पृथिवीकायिकाऽऽदिशब्दैर्निकायवन्त उक्तास्तत्तेषामभेदोपदर्शनार्थम् । न ह्येकान्तेन समुदायात् समुदायिनो व्यतिरिच्यन्ते, व्यतिरेकेणाप्रतीयमानत्वादिति । स्था० ६ ठा० ।

जीवणिज्ज त्रि० (जीवनीय) उपजीव्ये, ''देवसिणाए खलु अयं पुरिसे देवजीवणिज्जे ।'' सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

जीवणिव्वत्ति स्त्री० (जीवनिर्वृत्ति) निर्वर्त्तनं निर्वृत्तिः निष्पत्तिः जीवस्यैकेन्द्रियाऽऽदितया निर्वृत्तिर्जीवनिर्वृत्तिः । जीवस्यैकेन्द्रियाऽऽदितया निष्पादने, भ० ।

जीवनिर्वृत्तिभेदाः :–

कइविहा णं भंते ! जीवणिव्वत्ती पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा जीवणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा–एगिंदियजीवणिव्वत्ती० जाव पंचिंदियजीवणिव्वत्ती । एगिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता? गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा–पुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती० जाव वणस्सइकाइय-एगिंदियजीवणिव्वत्ती । पुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा – सुहुमपुढवी –

काइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती य, बादरपुढवीकाइयएगिंदिय – जीवणिव्वत्ती य । एवं एएणं अभिलावेणं भेदो जहाबद्धगबंधे तेयगसरीरस्स० जाव सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय-कप्पातीतवे-माणियदेव । पंचिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहापज्जत्तगसव्वट्ठसिद्ध-अणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदिय जीवणिव्वत्ती य अपज्जत्तग-सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदियजीवणिव्वत्ती य ।

(जहा बद्धगबंधे तेयगसरीरस्स त्ति) यथा–महल्लबन्धा – धिकारेऽष्टमशतनवमोद्देशकाभिहिते तेजः शरीरस्य बन्ध उक्तः, एवमिह निर्वृत्तिर्वाच्या, सा च तत्र एव दृश्येति । भ० १६ श० ८ उ० ।

जीवणिज्जाणमग्ग पुं० (जीवनिर्याणमार्ग) जीवस्य निर्याणं मरणकाले शारीरिणः शरीरान्निर्गमः, तस्य मार्गो जीवनिर्याणमार्गः । जीवनिर्गममार्गे, स्था० ।

पंचविहे जीवस्स णिज्जाणमग्गे पण्णत्ते । तं जहा–पाएहिं, उरूहिं, उरेणं, सिरेणं, सव्वंगेहिं । पाएहिं णिज्जाणमाणे, निरयंगामी भवइ । उरूहिं णिज्जाणमाणे तिरियगामी भवइ । उरेणं णिज्जाणमाणे मणुयगामी भवइ । सिरेणं णिज्जाणमाणे देवगामी भवइ । सव्वंगेहिं णिज्जाणमाणे सिद्धिगतिपज्जवसाणे पण्णत्ते ।

निर्याणं मरणकाले शरीरिणः शरीरान्निर्गमः, तस्य मार्गो निर्याणमार्गः पादाऽऽदिकः, तत्र (पाएहिं) पादाभ्यां मार्गभूताभ्यां कारणताऽऽपन्नाभ्यां, जीवः शरीरान्निर्यातीति शेषः । एवमूरुभ्यामित्यादावपि । अथ क्रमेणास्य निर्याणमार्गस्य फलमाह–पादाभ्यां शरीरान्निर्यान् जीवो निरयगामीति । प्रकृतत्वादनुस्वार इति । निरयगामी भवति। एवमन्यत्रापि । सर्वाणि च तान्यङ्गानि च सर्वाङ्गानि, तैर्निर्यान् सिद्धिगतिः पर्यवसानं संसरणपर्यन्तो यस्य स सिद्धिगतिपर्यवसानः प्रज्ञप्त इति । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

जीवणिस्सिय त्रि० (जीवनिश्रित) जीवाऽऽश्रिते, स्था० ७ ठा० ।

जीवनिःसृत त्रि० जीवेभ्यो निःसृतो निर्गतो जीवनिःसृतः । जीवनिर्गते, स्था० ७ ठा० । (जीवनिः सृताः स्वराः 'सर' शब्दे वक्ष्यन्ते)

जीवत्थिकाय पुं० (जीवास्तिकाय) जीवन्ति, जीविष्यन्ति, जीवितवन्त इति जीवाः, ते च तेऽस्तिकायाश्चेति समासः । प्रत्येकासंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकसकललोकभाविनानाजीवद्रव्यसमूहाऽऽत्मकेऽस्तिकायभेदे, अनु० । आव० । स० । घटाऽऽदिज्ञानगुणस्य प्रतिभाणी स्वसंवेदनसिद्ध-त्वाज्जीवस्यास्तित्वमवगन्तव्यम् । न च गुणिनमन्तरेण गुणसत्ता युक्ता, अतिप्रसङ्गात् । न च देह एवास्य गुणी युज्यते । यतो ज्ञानममूर्तं चिद्रूपं सदैवेन्द्रियगोचरातीतत्वाऽऽदिधर्मोपेतमतस्तस्यानुरूप एव कश्चिद् गुणी समन्वेषणीयः । स च जीव एव, न तु देहो, विपरीतत्वात् । यदि पुनरननुरूपोऽपि गुणानां गुणी कल्प्यन्ते, तर्ह्यनवस्थारूपाऽऽदि-गुणानामप्याकाशाऽऽदेर्गुणित्वकल्पना प्रसङ्गादिति । अनु० ।

जीवास्तिकायेन जीवानां प्रवृत्तिमाह –

जीवत्थिकाएणं भंते ! जीवाणं किं पवत्तइ ? गोयमा ! जीवत्थिकाएणं जीवे अणंताणं आभिणिबोहियणाणपज्जवाणं अणंताणं सुअणाणपज्जवाणं जहा वितियसए अत्थि-काउद्देसए० जाव उवओगं गच्छंति, उवओगलक्खणेणं जीवे ॥

जीवानां किं प्रवर्तत इति प्रश्नः । उत्तरं तु प्रतीतार्थमेवेति । भ० १३ श० ४ उ० ।

जीवास्तिकायस्याभिवचनान्याह –

जीवत्थिकायस्स णं भंते ! केवइआ अभिवयणा पण्णत्ता ? गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता । तं जहा–जीवे ति वा, जीवत्थिकाए ति वा, पाणे ति वा, भूए ति वा, सत्ते ति वा, विण्णू ति वा, चेया ति वा, जेया ति वा, आया ति वा, रंगणे ति वा, हिंडए ति वा, पोग्गले ति वा, माणवे ति वा, कत्ता ति वा, विकत्ताति वा, जए ति वा, जंतू ति वा, जोणिए ति वा, सयंभू ति वा, ससरीरी ति वा, नायए ति वा, अंतरप्पा ति वा, जे यावण्णे तहप्पगारा, सव्वे ते जीवअभिवयणा पण्णत्ता ।

(चेय त्ति) चेता–पुद्गलानां चयकारी, चेतयिता वा । (जये त्ति) जेता कर्मरिपूणाम् । (आय त्ति) आत्मा नानागतिसततगा मित्वात् । (रंगणे त्ति) रङ्गणं रागस्तद्योगाद्रङ्गणः । (हिंडए त्ति) हिण्डकत्वेन हिण्डकः । (पोग्गले त्ति) पूरणाद्गलनाच्च शरीराऽऽदीनां पुद्गलः । (माणव त्ति) मा निषेधे, नवः प्रत्यग्रो मानवः, अनादित्वात्पुराण इत्यर्थः । (कत्त त्ति) कर्ता कारकः कर्मणाम् । (विकत्त त्ति) विविधतया कर्ता, विकर्तयिता वा छेदकः कर्मणामेव । (जए त्ति) अतिशयगमनाद् जगत् । (जंतु त्ति) जननाज्जन्तुः । (जोणि त्ति) योनिरन्येषामुत्पादकत्वात् । (सयंभु त्ति) स्वयं भवनात् स्वयंभूः । (ससरीरि त्ति) सह शरीरेणेति सशरीरी । (नायए त्ति) नायकः कर्मणां नेता । (अंतरप्प त्ति) अन्तर्मध्यरूप आत्मा न शरीररूप इत्यन्तरात्मेति । भ० २० श० २ उ० ।

जीवदय पुं० (जीवदय) जीवनं जीवः भावप्राणधारणममरण-धर्मत्वमित्यर्थः तं दयत इति जीवदयः । जीवेषु वा दया यस्य स जीवदयः । जीवदयोपेते, स० १ सम० । औ० । कल्प० ।

जीवदया स्त्री० (जीवदया) जीवाश्चेतनाऽऽदिलिङ्गव्यङ्ग्या एकेन्द्रिया-ऽऽदयः, तेषां दया रक्षणं जीवदया। जीवरक्षणे, दर्श० १ तत्त्व ।

जीवदयास्वरूपमाह –

अंधाणं विगलाणं अयंगमाणं अणाहाणं बहुवाहिदेयणापरि-गयसरीराणं सव्वलोयपरिभूयाणं दारिद्ददुक्खदोहग्गकलंकियाणं जम्मदारिद्दाणं समणाणं विहलियाणं च संबंधिबंधवाणं जं जस्स इट्ठं भत्तं वा पाणं वा० जाव णं धणधन्नसुवन्नहिरण्णं वा कुणसु य सयलसोक्खदायगं संपुण्णं जीवदयं ति । महा० २ चू० ।

जीवदव्वप्पकप्प पुं० (जीवद्रव्यप्रकल्प) ''जीवस्स दंव्वस्स जहा देवदत्तस्स अग्गकेसहत्थाणं कप्पणं'' जीवद्रव्यप्रकल्पः । द्रव्यप्रकल्पभेदे, नि० चू० १ उ० ।

जीवदिट्ठिया स्त्री० (जीवदृष्टिका) या अश्वाऽऽदिदर्शनार्थं गच्छति, तस्याम्, स्था० २ ठा० १ उ० ।

जीवदेवसूरि पुं० (जीवदेवसूरि) ''रासिल्लसूरिशिष्ये, जै० इ०। वायटग्रामे महीधरमहीपालनामानौ द्वौ ब्राह्मणकुमारावास्ताम्। तयोर्महीधरो जिनदत्तसूरिणा दीक्षितो रासिल्लसूरिरभवत्। महीपालो देशान्तरे दिगम्बरप्रव्रज्यां गृहीत्वा सुवर्णकीर्तिनामाऽभवत्। तत्र स आधाकर्मिकाऽदिदोषमुक्तिमवेक्ष्य रासिल्ल सूरिसमीपे श्वेताम्बरदीक्षामग्रहीत्, ततो जीवदेवसूरिनामा ऽभवत्। एतेनैव वायटग्रामे जैनानां ब्राह्मणैः सह विरोधस्त्याजितः। जै० इ०।

जीवधम्म पुं० (जीवधर्म) जीवानां जन्मजरामरणव्याधिरोग शोकसुखदुःखजीवनाऽऽदिके धर्मे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

जीवपइट्ठिय त्रि० (जीवप्रतिष्ठित) जीवेषु स्थिते, ''अजीवा जीवपइट्ठिआ'' अजीवाः शरीराऽऽदिपुद्गलरूपा जीवप्रतिष्ठिताः, जीवेषु तेषां स्थितत्वात्। भ० १ श० ६ उ०। स्था०।

जीवपएस पुं० (जीवप्रदेश) जीवानामवयवे, भ०।

छिन्नजीवखण्डानां जीवप्रदेशैः स्पर्शो यथा –

अह भंते! कुम्मे कुम्मावलिया गोहा गोहावलिया गोणा गोहावलिया मणुस्से मणुस्सावलिआ महिसे महिसावलिया, एएसि णं भंते ! दुहा वा तिहा वा संखेज्जहा वा छिण्णाणं जे अंतरा ते वि णं तेहिं जीवपएसेहिं फुडा ? हंता फुडा। पुरिसेणं भंते ! अंतरा हत्थेण वा पाएण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा कट्ठेण वा कलिंबेण वा आमुसमाणे वा संमुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अण्णयरेण वा तिक्खेणं सत्थजाएण आच्छिंदमाणे वा विच्छिंदमाणे वा अगणिकाएणं समोडहमाणे तेसिं जीवपएसाणं किंचि आवाहं वा वावाहं वा उप्पायइ, छविच्छेदं वा करेइ ? णो इणट्ठे समट्ठे। नो खलु तत्थ सत्थं कमइ॥

''अह'' इत्यादि। (कुम्मे त्ति) कूर्मः कच्छपः। (कुम्मावलि य त्ति) कूर्मावलिका कच्छपपङ्क्तिः, (गोह त्ति) गोधा सरीसृपविशेषः। (जे अंतर त्ति) यान्यन्तरालानि (ते वि त्ति) तान्यन्तरालान्यपि (कलिंबेण व त्ति) क्षुद्रकाष्ठरूपेण (आमुसमाणे व त्ति) आमृशन्, ईषत्स्पृशन्नित्यर्थः (संमुसमाणे व त्ति) सामत्येन स्पृशन्नित्यर्थः। (आलिहमाणे व त्ति) आलिखन् ईषत्सकृद्वा कर्षन्, (विलिहमाणे व त्ति) विलिखन् नितरामनेकशो वा कर्षन्, (आच्छिंदमाणे व त्ति) ईषत्सकृद्वा छिन्दन् (विच्छिंदमाणे व त्ति) नितरामसकृद्वा छिन्दन् (समोडहमाणे त्ति) समुपदहन्, आवहं व त्ति) ईषद्बाधां (वावाहं व त्ति) व्यावाधां प्रकृष्टपीडाम्। भ० ८ श० ३ उ०। एक एव चरमप्रदेशो जीव इत्यभ्युपगमाज्जीवः प्रदेशो येषां ते जीवप्रदेशाः। चरमप्रदेशजीवप्ररूपिणि द्वितीयनिह्नवे, विशे०। ''जीवपएसा य तीसगुत्ताओ''। जीवप्रदेशाः पुनस्तिष्यगुप्ता दुत्पन्नाः। विशे०।

प्रदेशजीव पुं० प्रदेश इत्यन्त्यप्रदेशः जीवो येषां ते प्रदेशजीवाः। प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययः। अन्त्यप्रदेश एव जीव इत्यभ्युपगतेऽन्त्यप्रदेशजीववादिनि। द्वितीयानिह्नवे, उत्त० ३ अ०।

जीवपएसिय पुं० (जीवप्रादेशिक) जीवप्रदेशा एव जीव प्रदिशिकाः। अथवा जीवप्रदेशो जीवाभ्युपगमतो विद्यते येषां ते तथा। चरमप्रदेशजीवप्ररूपिणः (स्था० ७ ठा०) एकेनाऽपि प्रदेशेन न्यूनो जीवो न भवत्यतो येनैकेन प्रदेशेन पूर्णः स जीवो भवति। स एवैकः प्रदेशो जीवो भवतीत्येवंविधवादिनि तिष्यगुप्ता ऽऽचार्यमताविसंवादिनि द्वितीयनिह्नवे, औ०।

अथ द्वितीयनिह्नवक्तव्यतामाह निर्युक्तिकार :–

सोलस वासाइँ तया, जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स।
जीवपएसियदिट्ठी, तो उसभपुरे समुप्पन्ना॥२३३३॥
रायगिहे गुणसिलए, वसु चउदसपुव्वि तीसगुत्ते य।
आमलकप्पा नयरी, मित्तसिरी कूरपिउडाई॥२३३४॥

श्रीमन्महावीरजिनेन तदा षोडश वर्षाणि केवलज्ञानस्योत्पादितस्याभूवन्। ततश्च राजगृहापरनाम्नि ऋषभपुरे नगरे जीवप्रदेशिकदृष्टिः समुत्पन्नेति। कथमुत्पन्ना ? इत्याह– राजगृहे नगरे गुणशिलके चैत्ये चतुर्दशपूर्विणो वसुनामान आचार्याः समागताः तेषां च तिष्यगुप्तो नाम शिष्यः। स च तत्र पूर्वगतमालापकं वक्ष्यमाणस्वरूपमधीयानो वक्ष्यमाणयुक्तिभि र्विप्रतिपन्नोऽसंबुद्धः परिहृतो गुरुभिर्विहरन् आमलकल्पाया नगर्यां गतः, तत्र च मित्राश्रीनाम्ना श्रावकेण ''कूरपिउडा–'' ऽऽदिना कूरसिक्थाऽऽदिदानेन प्रतिबोधित इत्यर्थः॥२३३३।२३३४॥

अथास्य निर्युक्तिगाथाद्वयस्य भाष्यमाह –

आयप्पवायपुव्वं, अहिज्जमाणस्स तीसगुत्तस्स।
नयमयमयाणमाण – स्स दिट्ठिमोहो समुप्पण्णो॥२३३५॥

आत्मप्रवादनामकं पूर्वमधीयानस्य तिष्यगुप्तस्य अयं सूत्रालापकः समायातः। तद्यथा– ''एगे भंते ! जीवपएसे जीवे त्ति वत्तव्वं सिया ? नो इणट्ठे समट्ठे। एवं दो तिण्णि० जाव दस संखेज्जा। असंखेज्जा भंते ! जीवपएसा जीव त्ति वत्तव्वं सिया ? नो इणट्ठे समट्ठे। एगपएसूणे वि णं जीवे नो जीवे त्ति वत्तव्वं सिया। से केणं अट्ठेणं ? जम्हा णं कसिणे पडिपुन्ने लोगागासपए सतुल्ले जीवे जीवे त्ति वत्तव्वं सिया, से तेणं अट्ठेणं'' इति। अमुचाऽऽलापकमधीयानस्य कस्यापि नयस्येदमपि मतम्, न तु सर्वनयानामित्येवमजानतस्तिष्यगुप्तस्य मिथ्यात्वोदयाद् दृष्टेः दर्शनस्य मोहो विपर्यासः संजात इति। ॥२३३५॥

कथमित्याह –

एगादओ पएसा, नो जीवो नो पएसहीणो वि।
जं तो स जेण पुन्नो, स एव जीवो पएसो त्ति॥२३३६॥

यद्यस्मादेकाऽऽदयः प्रदेशास्तावज्जीवो न भवति, ''एगे भंते ! जीवपएसे।'' इत्याद्यालापके निषिद्धत्वात्। एवं यावदेकेनापि प्रदेशेन हीनो जीवो न भवति, अत्रैवा ऽऽलापके निवारितत्वात्। ततस्तस्माद् येन केनापि चरमप्रदेशेन स जीवः परिपूर्णः क्रियते, स एव प्रदेशो जीवो, न शेषप्रदेशाः। एतत्सूत्राऽऽलापकप्रामाण्यादित्येवं विप्रतिपन्नोऽसाविति॥२३३६॥

ततः किमित्याह –

गुरुणाऽभिहिओ जइ ते, पढमपएसो न सम्मओ जीवो।

तो तप्परिमाणो चिय, जीवो कहमंतिमपएसो? २३३७।

एकोऽन्त्यप्रदेशो जीवस्तद्भावभावित्वाज्जीवत्वस्येत्यादि बुवाण स्तिष्यगुप्तो गुरुणा वसुसूरिणा अभिहित :– हन्त ! यदि ते तव प्रथमो जीवप्रदेशो जीवो न संमतः, ततस्तर्ह्यन्तिमो जीवप्रदेशः कथं केन प्रकारेण जीवः? न घटत एव सोऽपि जीव इत्यर्थः । कुतः ? तत्परिणाम इति कृत्वा । इदमुक्तं भवति–भवदभिमतोऽन्त्यप्रदेशोऽपि न जीवः, अन्यप्रदेशैस्तुल्य परिणामत्वात्, प्रथमाऽद्यन्यप्रदेशवदिति ॥२३३७॥

अथवा व्यत्ययेन प्रयोग इति दर्शयति –

अहव स जीवो कह ना – इमो त्ति को वा विसेसहेऊ ते ?
अह पूरणो त्ति बुद्धी, एक्केक्को पूरणो तस्स ॥२३३८॥

अथवा–सोऽन्तिमप्रदेशः कथं जीवस्त्वयाऽभ्युपगम्यते? कथं च न– नैवाऽऽदिमः प्रथमस्तद्रूपतया इष्यते ? नन्वाद्योऽपि प्रदेशो जीव एवेष्यतां, शेषप्रदेशतुल्यपरिणामत्वात्, अन्त्यप्रदेशवदिति। को वाऽत्र विशेषहेतुस्तव, येन प्रदेशत्वे तुल्येऽष्यन्तिमो जीवो न प्रथमः? इति। अथ विवक्षितासंख्येयप्रदेशराशेरन्त्यः प्रदेशः पूरण इति विशेषसद्भावतः स जीवो न प्रथम इति तव बुद्धिः । तदयुक्तम् । यतो यथाऽन्त्यः प्रदेशः पूरणस्तथा एकैकः प्रथमाऽऽदि प्रदेशः, तस्य विवक्षितजीवप्रदेशाराशेः पूरण एव, एकमपि प्रदेशमन्तरेण तस्यापरिपूर्त्ते रिति ॥२३३८॥

एवं च सर्वप्रदेशानां पूरणत्वे इदमनिष्टमापतति।

किम् ? इत्याह –

एवं जीवबहुत्तं, पइजीवं सव्वहा व तदभावो ।
इच्छा विवज्जओ वा, विसमत्तं सव्वसिद्धी वा ॥२३३९॥

एवं सर्वजीवप्रदेशानां विवक्षितप्रदेशमानपूरणत्वेऽन्त्यप्रदेशवत्प्रत्येकं जीवत्वात्प्रतिजीवं जीवबहुत्वमसंख्येयजीवाऽऽत्मकं प्राप्नोति। अथवा– प्रथमाऽऽदिप्रदेशवदन्त्यप्रदेशस्याप्यजीवत्वे सर्वया तदभावो जीवाभावः प्रसजति। अथ पूरणत्वे समानेऽप्य न्त्यप्रदेश एव जीवः शेषास्तु प्रदेशा अजीवा इत्याग्रहो न मुच्यते, तर्हि राजाऽऽदेरिवेच्छा भवतः, यत्प्रतिभासते तदेव हि जल्प्यत इति। तथा च सति विपर्ययोऽपि कस्मान्न भवति–आद्यो जीवोऽन्त्यस्तु प्रदेशो जीव इति ? विषमत्वं वा कुतो न भवति – केचनाऽपि प्रदेशा जीवाः, केचित्त्वजीवा इति ? अनियमेन सर्वविकल्पसिद्धिर्वा कस्मान्न भवति, स्वेच्छया सर्वपक्षाणामपि वक्तुं शक्यत्वादिति ?॥२३३९॥

किञ्च –

जं सव्वहा न वीसुं, सव्वेसु वि तं न रेणुतेल्लं व ।
सेसेसु असब्भूओ, जीवो कहमंतिमपएसे ॥२३४०॥

यद् विष्वगेकैकस्मिन्नवयवे सर्वथा नास्ति तत्सर्वेष्वपि अवयवेषु समुदितेषु न भवति, यथा रेणुकणेषु प्रत्येकमसत्तत्स– मुदाये तैलं, नास्ति च प्रथमाऽऽदिके एकैकस्मिन् प्रदेशे जीवत्वं, ततः शेषेषु प्रथमाऽऽदि-प्रदेशेष्वसञ्जीवत्वं परिणामाऽऽदिना तुल्ये कथमकस्मादेकस्मिन्नेवान्त्य-प्रदेशे समायातमिति ?।२३४०।

पुनः परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह –

अह देसओऽवसेसे सु तो वि किह सव्वहंतिमे जुत्ते ।
अह तम्मि व जो हेऊ, स एव सेसेसु वि समाणो ॥२३४१॥

अथान्त्यादवशेषेषु प्रथमाऽऽदिप्रदेशेषु, देशतो जीवः समस्त्येव, अन्त्यप्रदेशे तु सर्वाऽऽत्मनाऽसौ समस्तीति विशेषः। ततो ''जं सव्वहा न वीसुं'' इत्येतदसिद्धमिति भावः । अत्रोत्तरमाह – तथापि कथमन्त्यप्रदेशे सर्वाऽऽत्मना जीवो युक्तः ? ननु तत्रापि देशत एवाऽसौ युज्यते, तस्यापि प्रदेशत्वात् प्रथमाऽऽदिप्रदेशवत् । अथान्त्यप्रदेशे संपूर्णो जीव इष्यते, तर्हि तत्र तद्भावे यो हेतुः सशेषेष्वपि प्रथमाऽऽदिप्रदेशेषु समान एव, तुल्यधर्मकत्वात् । अतस्तेष्वपि प्रतिप्रदेशंसंपूर्णजीवत्वमन्त्यप्रदेश वक्तिं नेष्यते ? इति ॥२३४१॥

अथ प्रथमाऽऽदिप्रदेशेषु जीवत्वं नेष्यते, तर्ह्यन्त्यप्रदेशेऽपि तन्नेष्टव्यम्।

कुतः ? इत्याह –

नेह पएसत्तणओ, अंतो जीवो जहाइमपएसो ।
आह सुयम्मि निसिद्धा, सेसा न उणोंतिमपएसो ॥२३४२॥

इहान्त्यप्रदेशोऽपि न जीवः, प्रदेशत्वात्, यथा प्रथमाऽऽदिप्रदेश इति। आह – नन्वागमबाधितेयं प्रतिज्ञा, यतः पूर्वोक्ताऽऽलापकरूपे श्रुते शेषाः प्रथमाऽऽदिप्रदेशा जीवत्वेन निषिद्धाः, न पुनरन्त्यप्रदेशः तस्य तत्र जीवत्वानुज्ञानात्। अतः कथं प्रथमाऽऽदिप्रदेशवदन्त्यस्य जीवत्वनिषेधं मन्यामहे? इति ॥२३४२॥

अत्रोत्तरमाह –

नणु एगो त्ति निसिद्धो, सो वि सुए जइ सुयं पमाणंते ।
सुत्ते सव्वपएसा, भणिया जीवो न चरिमो त्ति ॥२३४३॥

ननु सोऽपि – अन्त्यप्रदेशः श्रुते जीवत्वेन निषिद्धः। कुतः ? इत्याह – एक इति कृत्वा। तथाहि–तत्रैवेत्थमुक्तम्– ''एगे भंते ! जीवपएसे जीवे त्ति वत्तव्वं सिया ? णो इणट्ठे समट्ठे'' इति। ततो यदि श्रुतं तप प्रमाणं, ततोऽन्त्यप्रदेशस्यापि जीवत्वं नेष्टव्यम्, एकत्वात्, प्रथमाऽऽद्यन्यतर-प्रदेशवत् । किञ्च–यदि श्रुतं हन्त ! प्रमाणीकरोषि, तदा सर्वेऽपि जीवप्रदेशाः परिपूर्णा जीवत्वेन श्रुते भणिताः, न त्वेक एव चरमप्रदेशः। तथा च तत्रैवाभिहितम् – ''जम्हा णं कसिणे पडिपुण्णे लोगागास-पएसतुल्ले जीवे त्ति वत्तव्वं सिया''। अतः श्रुतप्रामाण्यमिच्छता भवता नैक एवान्त्यप्रदेशो जीवत्वेनेष्टव्य इति ॥२३४३॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन साधयन्नाह –

तंतू पडोवयारी, न समत्तपडो य समुदिया ते उ ।
सव्वे समत्तपडओ, सव्वपएसा तहा जीवो ॥२३४४॥

एकस्तन्तुर्भवति समस्तपटोपकारी, तमप्यन्तरेण समस्त–पटस्याभावात्। परं स एकस्तन्तुः समस्तपटो न भवति, किन्तु ते तन्तवः सर्वेऽपि समुदिताः समस्तपटव्यपदेशं लभन्त इति प्रतीतमेव । तथा जीवप्रदेशोऽप्येको जीवो न भवति किन्तु सर्वेऽपि जीवप्रदेशाः समुदिता जीव इति ॥२३४४॥

ननु प्राग् यदुक्तम् – ''नयमयमयाणमाणस्स दिट्ठिमोहो समुप्पन्नो त्ति'' तत् कस्य नयस्यैवं मतम्?

इत्येतदूव्यत्क्रीकरणपूर्वकमुपदेशमाह –

एवंभूयनयमयं, देस–पएसा न वत्थुणो भिण्णा ।
तेणावत्थु त्ति मया, कसिणं चिय वत्थुमिट्ठं से ॥२३४५॥

जइ तं पमाणमेवं, कसिणो जीवो अहोवयाराओ ।
देसे वि सव्वबुद्धी, पवज्ज सेसे वि तो जीवं ॥२३४६॥

एवंभूतनयस्येदं मतं यदुत–देशप्रदेशौ न वस्तुनो भिन्नौ, तेन तौ अवस्तुरूपौ मतौ । अतो देशप्रदेशकल्पनारहितं कृत्स्ननं परिपूर्णमेव वस्तु 'से' तस्यैवंभूतनयस्येष्टम् । ततो यदि तदेवं– भूतनयमतं प्रमाणं जानासि त्वम्, एवं तर्हि कृत्स्नः परिपूर्णो जीवो, न त्वन्त्यप्रदेशमात्रमपि प्रतिपद्यस्व । अथ ग्रामो दग्धः पटो दग्धः इत्यादिन्यायादेकदेशेऽपि समस्तवस्तूपचारादन्त्यप्रदेशलक्षणे देशेऽपि समस्तजीवबुद्धिस्तत्र प्रवर्त्तते, तर्हि शेषेऽपि प्रथमाऽऽदिप्रदेशे उपचारतो जीवं प्रतिपद्यस्व, न्यायस्य समानत्वादिति ॥२३४५।२३४६॥

अथवा–अभ्युपगम्येदमुक्तं, न चैकप्रदेशमात्रे सर्वजी–
वोपचारो युज्यत इति दर्शयन्नाह –

जुत्तो व तदुवयारो, देसूणे न उ पएसमेत्तम्मि ।
जह तंतूणम्मि पडे, पडोवयारो न तंतुम्मि ॥२३४७॥

अथवा–उपचारादप्येक एवान्त्यप्रदेशो जीवो न भवति, किं तु देशोने एव जीवे जीवोपचारो युज्यते, यथा तन्तुभिः कतिपयैरूने पटे पटोपचारो दृश्यते, न त्वेकस्मिंस्तन्तुमात्रे इति ॥२३४७॥

एवं गुरुणाऽभिहिते ततः किम् ?इत्याह –

इय पण्णविओ जाहे, न पवज्जइ सो कओ तओ बज्झो ।
तउ आमलकप्पाए, मित्तसिरिणा सुहोवायं ॥२३४८॥
भक्खण–पाण–व्वंजण–वत्थंतावयवलाभिओ भणइ ।
सावय ! विधम्मिया म्हे, कीस त्ति तओ भणइ सड्ढो ॥२३४९॥
नणु तुज्झं सिद्धंतो, पज्जंतावयवमेत्तओऽवयवी ।
जइ सच्चमिणं तो का, विहम्मणा मिच्छमिहरा भे ॥२३५०॥

गतार्था एव, नवरम्, इति पूर्वोक्तप्रकारेण गुरुभिः प्रज्ञापित–स्तिष्यगुप्तो यावन्न किञ्चित्प्रतिपद्यते, तत उद्घाट्य बाह्यः कृतो विहरन्नामलकल्पां नगरीं गत्वा आम्रशालवने स्थितः । तत्र मित्रश्रीश्रावकेण निह्नवोऽयमिति ज्ञात्वा तत्प्रतिबोधनार्थं गत्वा निमन्त्रितः– 'यन्मदीयगृहे प्रकरणमद्य तत्र भवद्भिः स्वयमागन्तव्यम्' । ततो गतास्ते तद्गृहे । तेन च तत्र तिष्य–गुप्तमुपवेश्य महान्तं संभ्रममुपदर्शयता तत्पुरतो भक्ष्यभोज्यान्नपान–व्यञ्जनवस्त्राऽऽदिवस्तुनिचया विस्तारिताः । ततस्तेषां मध्यात्सर्वत्रा–न्त्यावयवान् गृहीत्वा प्रतिलाभितोऽसौ, कूरसित्थाऽऽदिना प्रतिलाभित इत्यर्थः । ततो भणत्यभिधत्ते – ''हे श्रावक! विधर्मिताः किमिति त्वया वयमित्थम् ? ततः श्राद्धो भणति– (नणु तुज्झमित्यादि) (मिच्छमिहरा भे त्ति) अन्यथा यदि नेदं सत्यम्, तदा सर्वमपि मिथ्या भवतां भाषितमिति ।२३५०।

अपि च –

अंतोऽवयवो न कुणइ, समत्तकज्जं ति जइ न सोऽभिमओ ।
संववहाराईए, तो तम्मि कओऽवयविगाहो ?॥२३५१॥

यदि नामाऽन्त्यावयवः समस्तस्याप्यवयविनो यत्साध्यं कार्यं तत्र करोतीत्यतोऽसौ नाभिमतो भवताम्कूरपक्वान्नवस्त्राऽऽदीनामिव कतिपयसिक्थसुकुमारिकाऽऽदसूक्ष्मखण्डतन्त्वादिरूपोऽन्त्यावयवो यदि न परितोषकरो, भवतामित्यर्थः, तर्हि संव्यवहारातीते तस्मिन्नन्त्यावयवे कुतः किल समस्तावयविग्रहो भवतामिति ? ॥२३५१॥

प्रमाणयन्नाह –

अंतिमतंतू न पडो, तक्कज्जाकरणओ जहा कुंभो ।
अह तयभावे वि पडो, सो किं न घडो खपुप्फं व? ॥२३५२॥

अन्त्यतन्तुमात्रं न पटः, तस्य पटस्य कार्यं शीतत्राणाऽऽदिकं तत्कार्यं, तस्याकरणं तत्कार्याकरणं, तस्मादिति । यथा कुम्भो घटः । अथ तदभावेऽपि पटकार्याभावेऽपि तन्तुः पट इष्यते, तर्हि किमित्यसौ पटो घटः खपुष्पं वा न भवति, पटकार्यकर्तृत्व-स्याविशेषादिति ? ॥२३५२॥

तथाहि –

उवलंभव्ववहारा – भावाओ नत्थि ते खपुप्फं व ।
अंतावयवेऽवयवी, दिट्ठंताभावओ वा वि ॥२३५३॥

तवाभिमतोऽवयवी अन्त्यावयवे नास्ति, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्या-नुपलब्धेः, व्यवहाराभावाच्च, खपुष्पवदिति । अथवा – 'अन्त्यावयव-मात्रमवयवी, अवयविसंपूर्णहेतुत्वात्, ' इत्यत्र तावद् दृष्टान्ताभावाद् न साध्यसिद्धिरिति ॥२३५३॥

यदि नाम नोपलभ्यते, नापि व्यवह्रियते, दृष्टान्ता–भावाच्च नानुमियते,

ततः किम्? इत्याह –

पच्चक्खओऽणुमाणा–दागमओ वा य सिद्धि अत्थाणं ।
सव्वप्पमाणविसया–ईयं मिच्छत्तमेवं भे ॥२३५४॥

प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणैरर्थानां सिद्धिः, तानि च त्वत्पक्षसाधकत्वेन न प्रवर्त्तन्ते । अतः सर्वप्रमाणविषयातीतं 'भे' भवतामभिहितं मिथ्यात्वमेवेति ॥२३५४॥

तदेवं मित्रश्रीश्रावकेणोक्ते स किं कृतवान्? इत्याह –

इय चोइयसंबुद्धो, खामिय पडिलाभिओ पुणो विहिणा ।
गंत गुरुपायमूलं, ससीसपरिसो पडिक्कंतो ॥२३५५॥

इति प्रेरितः संबुद्धोऽसौ विहितक्षमितक्षामितेन मित्रश्री–श्रावकेण संपूर्णान्नप्रदानाऽऽदिविधिना पुनरपि प्रतिलाभितो गुरुपादमूलं गत्वा शिष्यपरिषत्समेतो विधिना प्रतिक्रान्तः सम्यग्मार्गं प्रपन्नो गुर्वन्तिके विजहारेति गाथार्थः ॥२३५५॥

जीवप्रदेशा आकाशप्रदेशस्तुल्यो वाऽधिको वा हीनो वेति? प्रश्ने, उत्तरम्–जीवप्रदेशाऽऽकाशप्रदेशयोर्निर्विभागभागरूपत्वेन तुल्यत्वमेवेति मन्तव्यम् । १०२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथाऽष्टौ गोस्तनाकारा जीवप्रदेशाः सन्ति, तेषां कर्मवर्गणा लगति, न वेति? प्रश्ने, उत्तरम्–जीवानां मध्याष्टप्रदेशानां कर्म्मवर्गणा न लगतीति ज्ञानदीपकायां प्रोक्तमस्ति । यथा– ''स्पृश्यन्ते कर्मणा तेऽपि, प्रदेशा आत्मनो यदि । तदा जीवो जगत्यस्मिन्न–जीवत्वमवाप्नुयात्' ।१। १५ प्र० सिन० ४ उल्ला० ।

जीवपण्णवणा स्त्री० (जीवप्रज्ञापना) प्रज्ञाप्यन्ते जीवाऽऽदयो भावा अनया शब्दसंहत्येति प्रज्ञापना । प्रज्ञा० १ पद । जीवानां प्रज्ञापना जीवप्रज्ञापना । प्रज्ञापनोपाङ्गस्य जीवप्रज्ञापिकायां शब्दसंहतौ, प्रज्ञा० १ पद ।

साम्प्रतं जीवप्रज्ञापनामभिधित्सुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रं चाह –

से किं तं जीवपण्णवणा ? जीवपण्णवणा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–संसारसमावण्णजीवपण्णवणा य, असंसारसमावण्णजीवपण्णवणा य। से किं तं असंसारसमावण्णजीवपण्णवणा ? असंसारसमावण्णजीव-पण्णवणा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा– अणंतरसिद्धअसंसारसमावण्णजीवपण्णवणा, परंपरसिद्ध-असंसारसमावण्णजीवपण्णवणा।

'से किं तं'' इत्यादि। अथ का सा जीवप्रज्ञापना ? सूरि–राहजीव-प्रज्ञापना द्विविधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा–संसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना च, असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना च। तत्र संसरणं संसारो नारकतिर्यङ्न-रामरभवानुभवलक्षणः, तं सम्यगेकीभावेनाऽऽपन्नाः, संसारवर्तिन इत्यर्थः। ते च ते जीवाश्च, तेषां प्रज्ञापना संसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना। न संसारोऽसंसारो मोक्षस्तं समापन्ना असंसारसमापन्नाः मुक्ता इत्यर्थः। ते च तेजीवाश्च, तेषां प्रज्ञापना असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना। चशब्दौ प्राग्वद् भावनीयौ। तत्राल्पवक्तव्यत्वात्प्रथमतोऽसंसार समापन्नजीव-प्रज्ञापनामभिधित्सुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह – ''से किं तं'' इत्यादि। अथ का सा असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना ? सूरिराह – असंसारस-मापन्नजीवप्रज्ञापना द्विविधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा–अनन्तरसिद्धासंसारस-मापन्नजीवप्रज्ञापना च, परम्पर सिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना च। तत्र न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानम्, अर्थात्समयेन येषां तेऽनन्तराः, ते च ते सिद्धाश्चा नन्तरसिद्धाः सिद्धत्वप्रथमसमये वर्त्तमाना इत्यर्थः। ते च तेऽसंसारसमापन्नजीवाश्च अनन्तरसिद्धासंसारसमापन्न जीवाः, तेषां प्रज्ञापना अनन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीव प्रज्ञापना। चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः। तथा–विवक्षिते प्रथमे समये यः सिद्धस्तस्य यो द्वितीयसमयसिद्धः स परः, तस्यापि यस्तृतीयसमयसिद्धः स परः। एवमन्येऽपि वाच्याः। परे च परे चेति वीप्सायां ''पृषोदराऽऽदयः'' ॥३।२।१५५॥ इति (सि० हे०) सूत्रेण परम्पराशब्दनिष्पत्तिः। परम्पराश्च ते सिद्धाश्च परम्परासिद्धाः, विवक्षितसिद्धस्य प्रथमसमयात्प्राग् द्वितीयाऽऽदिसमयेष्वतीताद्धां यावद्वर्त्तमाना इति भावः। ते च ते असंसारसमापन्नाश्च परम्परसिद्धासंसारसमापन्नाः, ते च ते जीवाश्च, तेषां प्रज्ञापना परम्परसिद्धासंसारसमापन्नजीव प्रज्ञापना। अत्रापि चशब्दः स्वगतानेकभेदसंसूचकः। प्रज्ञा० १ पद।

जीवपरिणाम पुं० (जीवपरिणाम) परिणमनं परिणामः, ततद्भा वगमनमित्यर्थः। यदाह – ''परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्। न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदा मिष्टः ॥१॥'' द्रव्यार्थनयस्येति सत्पर्ययेण नाशः प्रादुर्भावोऽ सता व पर्ययतो द्रव्याणां परिणामः प्रोक्तः। खलु पर्ययनयस्येति जीवस्य परिणाम इति विग्रहः। जीवस्य ततद्भावगमने स्था०।

दसविहे जीवपरिणामे पण्णत्ते। तं जहा– गइपरिणामे, इंदिय परिणामे, कसायपरिणामे, लेस्सापरिणामे, जोगपरिणामे, उवओगपरिणामे, नाणपरिणामे, दंसणपरिणामे, चरित्तपरिणामे, वेदपरिणामे।

स च प्रायोगिकः तत्र गतिरेव परिणामो गतिपरिणामः। एवं सर्वत्रा। गतिश्चेह गतिनामकर्मोदया न्नारकाऽऽदिव्यपदेशहेतुः तत्परिणामश्च भवक्षयादिति। स च नरकागत्यादिश्चतुर्विधोः, गतिपरिणामे च सत्येवेन्द्रिय परिणामो भवति। तमाह – (इंदियपरिणामे त्ति) स च श्रोत्राऽऽ दिभेदात्पञ्चधेति। इन्द्रियपरिणतौ चेष्टाऽनिष्टविषय-संबन्धाद्राग द्वेषपरिणतिरिति तदनन्तरं कषायपरिणाम उक्तः। स च क्रोधा ऽऽदिभेदाच्चतुर्विधः। कषायपरिणामे च सति लेश्यापपरिणतिः, न तु लेश्यापरिणतौ कषायपरिणतिः, येन क्षीणकषायस्यापि शुक्ललेश्या-परिणतिर्देशोनपूर्वकोटिं यावद्भवति। यत उक्तम्– ''मुहुत्तद्धं त जहण्णा, उक्कोसा होइ पुव्वकोडीओ। नवहि वरिसेहि ऊणा, णायव्वा सुक्कलेस्साए'' ॥१॥ त्ति। अतो लेश्या परिणाम उक्तः। स च कृष्णाऽऽ-दिभेदात्षोढेति। अयं च योगपरिणामे सति भवति, यस्मान्निरूद्धयोगस्य लेश्यापरिणामो ऽपैति, यतः समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमलेश्यस्य भवतीति लेश्या परिणामानन्तरं योगपरिणाम उक्तः। स च मनोवाक्काय भेदात्त्रि धेति। संसारिणां च योगपरिणतावुपयोगपरिणातिर्भवतीति तदनन्तरमुपयोगपरिणाम उक्तः। स च साकारानाकारभेदाद्विधा। सति चोपयोगपरिणामे ज्ञानपरिणामः, अतस्तदनन्तर मसावुक्तः। स चाऽऽभिनिबोधिकाऽऽदिभेदात्पञ्चधा। तथा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्य-ज्ञानपरिणामो मत्यज्ञानश्रुताज्ञान विभङ्ग ज्ञानलक्षणस्त्रिविधोऽपि विशेषग्रहण-साधर्म्याद् ज्ञान परिणामग्रहणेन गृहीतो द्रष्टव्य इति ज्ञानाज्ञानपरिणामं च सति सम्यक्त्वाऽऽदिपरिणतिरिति, ततो दर्शनपरिणाम उक्तः। स च त्रिधा, सम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्रभेदात्। सम्यक्त्व सति चारित्रामिति, ततस्तत्परिणाम उक्तः। स च सामायिकाऽदिभेदा त्पञ्चधेतिस्त्रयादिवेदपरिणामे चारित्रपरिणामो, न तु परिणामे वेदपरिणतिर्यस्मादवेदकस्यापि यथाख्यातचारित्रपरिणति र्दृष्टिति चारित्रापरिणामानन्तरं वेदपरिणाम उक्तः, स च स्त्रायादिभेदात्त्रिधेति। स्था० १० ठा०।

जीवपच्चक्खाणकिरिया स्त्री० (जीवप्रत्याख्यानक्रिया) जीव–विषये प्रत्याख्यानाभावेन बन्धाऽऽदिव्यापारे, स्था० २ ठा० १ उ०।

जीवपाओसिया स्त्री० (जीवप्राद्वेषिकी) जीवस्याऽऽत्मपरतदु भयरूपस्योपरि प्रद्वेषाऽऽद्या क्रियाप्रद्वेषकारणमेव वा जीवप्राद्वेषिकी। प्राद्वेषिक्याः क्रियाया भेदे, भ० ३ श० ३ उ०। स्था०।

जीवपाडुच्चिया स्त्री० (जीवप्रातीतिका) जीवं प्रतीत्य यः कर्मबन्धः सा तथा। क्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

जीवभाव पुं० (जीवभाव) जीवत्वे, भ०।

अथ तद्देशभूतो जीव उत्थानाऽऽदिगुण इति दर्शयन्नाह –

जीवेणं भंते ! सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कार परक्कमे आयभावेणं जीवभावं उवदंसेइ त्ति वत्तव्वं सिया ? हंता गोयमा ! जीवेणं सउट्ठाणे० जाव उवदंसेइ त्ति वत्तव्वं सिया। से केणट्ठेणं० जाव वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! जीवेणं अणंतामाभिणि वोहियनाणपज्जवाणं, एवं सुयनाणपज्जवाणं ओहिनाणपज्जवाणं मणपज्जवनाणपज्जवाणं केवलनाणपज्जवाणं मइअन्नाणपज्जवाणं सुयअन्नाणपज्जवाणं विभंगनाणपज्जवाणं चक्खुदंसणपज्जवाणं अचक्खुदंसणपज्जवाणं ओहिदंसणपज्जवाणं केवलदंसण-पज्जवा–

णं उवओगं गच्छइ उवओग्गलक्खणेणं जीवे, से एणट्ठेणं एवं वुचइ– गोयमा ! जीवे सउट्ठाणे० जाव वत्तव्वं सिया।

''जीवेणं'' इत्यादि। इह च 'सउट्ठाणे' इत्यादीनि विशेषणानि मुक्तजीवव्युदासार्थानि। (आयभावेणं ति) आत्मभावने उत्थान शयनगमनभोजनाऽऽदिरूपेणाऽऽत्मपरिणामविशेषेण (जीवभावं ति) जीवत्वं चैतन्यमपदर्शयति प्रकाशयति इति वक्तव्यं स्यात्, विशिष्टस्योत्थानाऽऽदेर्विशिष्टचेतनापूर्वकत्वादिति। ''अणंताण माभिणिबोहिया'' इत्यादि। पर्यवाः प्रज्ञाकृता अविभागाः पलिच्छेदाः, ते चानन्ता आभिनिबोधिकज्ञानस्यातोऽनन्ता नाभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणां संबन्धिनमनन्ताभिनिबोधिक ज्ञानपर्यवाऽऽत्मकमित्यर्थः। उपयोगं चेतनाविशेषं गच्छतीति योगः। उत्थानाऽऽदावात्मभावे वर्तमान इति हृदयस्थम्। अथ यद्युत्थानाऽऽद्यात्मभावे वर्त्तमानो जीव आभिनिबोधिकज्ञानाऽऽ द्युपयोगं गच्छति, तत्किमेतावतैव जीवभावमुपदर्शयतीति वक्तव्यं ख्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह–''उवओग'' इत्यादि। अत उपयोग लक्षणं जीवभावमुत्थानाऽऽद्यात्मभावेनोपदर्शयतीति वक्तव्यं स्यादेवेति। भ० २ श० १० उ०।

जीवमजीव पुं० (जीवाजीव) जीवद्रव्याजीवद्रव्ययोः आ० म० २ अ०।

जीवमिस्सिया स्त्री० (जीवमिश्रिता) प्रभूतानां जीवानां स्तोकानां च मृतानां च शङ्खशफनखाऽऽदीनामेकत्र राशौ दृष्टे यदा कश्चिदेवं पदति– अहो ! महान् जीवराशिरयमिति, तदा सा जीवमिश्रिता। सत्यामृषाभाषाभेदे, सत्यामृषात्वं चास्या जीवत्सु सत्यत्वात्, मृतेषु मृषात्वात्। प्रज्ञा० ११ पद।

जीवयामई (देशी) व्याधमृगपाम्, दे० ना० ३ वर्ग।

जीवरक्खा स्त्री० (जीवरक्षा) गोप्रभृतिजीवमोचनाय द्रव्यलिङ्गिनां द्रव्यं ग्रहीतुं कल्पते, न वा ? इति प्रश्ने उत्तरम्– यदि ज्ञानाऽऽदि संबन्धि द्रव्यं न भवति, तदा गृह्यते, निषेधो ज्ञातो नास्तीति। ४७० प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

जीवरासि पुं० (जीवराशि) राशिभेदे, जीवराशिर्द्विविधः– संसारसमापन्नोऽसंसारसमापन्नश्च। स०।

जीवरूय न० (जीवरूत) मयूरमार्जारशुकसारिकाऽऽ दिलपिते, जीत०।

जीवलिंग न० (जीवलिङ्ग) चलनस्पन्दभाङ्कुरोद्भवस्वेदम्लानाऽऽदिके, ''विन्नाय लिंग तसथावराणं।'' सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

जीवलोय पुं० (जीवलोक) जीवद्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जीवविजय पुं० (जीवविचय) जीवद्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जीवविजय पुं० (जीवविजय) असंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकसाकारानाकारोपयोगलक्षणानादिस्वकृतकर्मफलोपयोगित्वाऽऽदिजीवस्वरूपानुचिन्तने, सम्म० ३ काण्ड।

जीववित्तिविसिट्ठ त्रि० (जीववृत्तिविशिष्ट) क्षेत्रज्ञवृत्तित्वविशिष्टे, ''जीववृत्तिविशिष्टाङ्गाभावाभावग्रहोऽप्यसन्। उत्कर्षश्चापकर्षश्चाव्यवस्थो यदपेक्षया''॥२५॥ जीववृत्ति विशिष्टः क्षेत्रज्ञवृत्तित्वविशिष्टः। द्वा० १५ द्वा०।

जीवविप्पजढ त्रि० (जीवविप्रजह) प्रासुके, भ० ६ श० १ उ०। ''देवदिण्णस्स दारगस्स सरीरं णिप्पाणं णिच्चिट्ठं जीवविप्पजढं कूबए पक्खवेति।'' (जीवविप्पजढं ति) आत्मना विप्रमुक्तः। ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

जीवविभत्ति स्त्री० (जीवविभक्ति) द्रव्यविभक्तिभेदे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। जीवविभक्तिः सांसारिकेतरभेदाद्, द्वेधा। तत्राप्यसांसारिकजीवविभक्तिर्द्रव्यकालभेदाद् द्वेधा। तत्र द्रव्य तस्तीर्थातीर्थसिद्धाऽऽदिभेदात्पञ्चदशधा। कालतस्तु तत्प्रथम समयसिद्धाऽऽदिभेदादनेकधा। सांसारिकजीवविभक्तिरिन्द्रिय जातिभवभेदात्त्रिधा। तत्रेन्द्रियविभक्तिरेकेन्द्रियविकलेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियभेदात्पञ्चधा। जीवानां विभागेनावस्थापने, उत्त०। ''इत्तो जीवविभत्तिं तु, वोच्छामि अणुपुव्वसो''॥४८॥ उत्त० ३६ अ०।

जीववियार पुं० (जीवविचार) जीवविचारणायाम्, सेन०। ''अहाऽऽमलगपमाणे, पुढवीकाए हवंति जे जीवा। ते पारेवयमित्ता, जंबूदीवे न माइंति॥१॥ एगम्मि दगबिंदुम्मि, जे जीवा जिणयरेहिं पण्णत्ता। ते जइ सरिससवमित्ता, जंबूदीवे न माइंति॥२॥'' एतद्गाथाद्वयं प्रतिक्रमणसूत्रावृत्तिप्रवचनसारोद्धार सूत्रावृत्यादौ यथा दृश्यते, तथा तेजस्कायप्रभृत्येकेन्द्रियाणां जीवमानप्रतिपादिका गाथाः प्रायो ग्रन्थे न दृश्यन्ते, तत्कथम् ? किञ्चवरट्टिकातण्डुलप्रमाणमात्रे तेजस्काये ये जीवास्ते यदि मस्तकलिक्षाप्रमाणदेहधारिणो भवेयुः तदा ते जम्बूद्वीपे न मान्ति। निम्बपत्रस्पृष्टमात्रे वायौ ये जीवाः सन्ति, ते यदि खसखसप्रमाणदेहधारिणो भवेयुः तदा जम्बूदीपे न मान्ति। अयमर्थः प्रमाणम्, अप्रमाणं वा ? किञ्च – एतदर्थप्रतिपादिके यादृश्यौ छुटितपत्रे गाथेऽपि स्तः। तद्यथा– ''बरट्टितंदुलमित्ता, तेऊजीव जिणेहिं पण्णत्ता। मत्थपलिक्खपमाणा, जंबूदीवे न माइंति॥१॥ जे लिंबपत्तफरिसा, वाऊजीवा जिणेहिं पण्णत्ता। ते जइ खसखसमित्ता, जंबूदीवे न माइंति॥२॥'' किञ्च – पृथिवीकायाऽऽदिजीवप्रमाणप्रतिपादिकायां गाथायां पारापता ऽऽदयः प्रोक्ताः, ते च तप्तत् तीर्थकृत्काले भिन्नभिन्नप्रमाणदेह धारिणां भवन्ति, तेन पारापताऽऽदयः किंकालीना ग्राह्याः ? इति प्रश्ने उत्तरम – तेजस्कायिकाप्रभृतिशरीरमानप्रतिपादकं गाथाद्वयं यद्यपि महाग्रन्थे न दृश्यते, तथापि सूत्रेण सह सम्मतमेव, तदर्थस्य सूत्रानुयायित्वात्। तथा जीवमानप्रतिपाद कपारापताऽऽदि-प्रमाणमवस्थितकालत्वेन महाविदेहगतं ज्ञायत इति मुग्धबोधनार्थश्चायमुपदेशइति न काऽप्यनुपपत्तिः॥२९९ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। एतन्नामके प्रकरणग्रन्थे च।

जीववियिरिय न० (जीववीर्य) आत्मसामर्थ्ये, ''उल्लसियं जीववियिरियं कहं वि।'' पं० व० ३ द्वार।

जीवविभागा स्त्री० (जीवविपाका) जीव एव विपाकः स्वशक्ति दर्शनलक्षणो विद्यते यासां ता जीवविपाकाः। कर्म० ५ कर्म०। जीवे जीवगते ज्ञानाऽऽदिलक्षणे स्वरूपविपाकस्तदुपघाताऽऽ दिसंपादनाभिमुखतालक्षणो यासां ता जीवविपाकाः। कर्मप्रकृतिभेदे, पं० सं० ३ द्वार।

जीवविपाकित्वमधिकृत्य परप्रश्नमपनुदयन्नाह –

संपप्प जीयकाले, उदयं काओ न जंति पगईओ।
एवमिणमोहहेउं, आसज्ज विसेसयं नत्थि॥४७॥

ननु कास्ताः कर्मप्रकृ तयो, या जीवं कालं वाऽऽश्रित्य नोदयमधिगच्छन्ति ? सर्वा अपि जीवकालावधि कृत्योदयमधिगच्छन्तीति भावः। जीवकालवन्तरेणोदया संभवात्। ततः सर्वा अपि जीवविपाका एवेति प्रष्टुरभिप्रायः। अत्राऽऽचार्य आह – ''एवमिणं'' इत्यादि। ओघतः सामान्येन हेतु हेतुत्वमात्रामाश्रित्य, एवमे–

तद् यथा त्वयोक्तं तथैव, विशेषितं त्वसाधारणं तु, हेतुमाश्रित्य एतन्न भवति, जीवः कालो वा सर्वासामपि विकृतीनामुदयं प्रति साधारणः, ततस्तदपेक्षया चेत् प्रकृतीनां चिन्ता क्रियते, तर्हि सयी अपि जीवविपाका एव, कालविपाका एव वा, भास्तत्र संदेहः, परं कासां चित्प्रकृतीनां क्षेत्राऽऽदिकमप्यसाधारणमुदयं प्रति हेतुरस्ति, ततस्तदपेक्षया क्षेत्रविपाकात्वाऽऽदिव्यप्रदेश इत्यदोषः ॥४७॥ पं० सं० ३ द्वार। कर्म०।

जीववुड्ढिय न० (जीववृद्धिक) अनुज्ञायाम्, एतच्चानुज्ञाया गौणं नाम। नं०।

जीवसंखेव पुं० (जीवसंक्षेप) संक्षिप्यन्ते संगृह्यन्ते जीवा एभिरिति संक्षेपा अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वाऽऽदयोऽवान्तरजातिभेदाः। जीवानां संक्षेपा जीवसंक्षेपाः। अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वाऽऽदिके, जीवस्थाने, कर्म० ६ कर्म०।

जीवसंगहिय त्रि० (जीवसंगृहीत) जीवैः संगृहीतः स्वीकृतो जीवसंगृहीतः। जीवैः स्वीकृते, स्था०। ''अजीवा जीवसंगहिया।'' अजीवाः पुद्गलाऽऽकाशाऽऽदयो जीवैः संगृहीताः स्वीकृताः। अजीवान्तिानाम-जीवानां सर्वव्यवहारा भावात्। स्था० २ ठा० १ उ०। भ०।

जीवसंजम पुं० (जीवसंयम) जीवेषु संयमो जीवसंयमः। जीवेषु हिंसाऽऽदिपरिहारे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

जीवसाहत्थिया स्त्री० (जीवस्वाहस्तिका) यत्स्वहस्तेन गृहीतेन जीवं मारयति सा जीवस्वाहस्तिका। क्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

जीवा स्त्री० (जीवा) जीवनं जीवा। प्राणधारणे, आ० चू० १ अ०। जीवनं जीवा इति स्त्रीलिङ्गाभिधायक एवायं शब्दः साध्यते, न तु जीव इति पुँल्लिङ्गभिधायकः शब्दः। विशे०। जीव – अच्, जीवयतेरच् वा टाप्। प्रत्यञ्चायाम्, सू० प्र० १३ पाहु०। धनुषो गुणे, वाच०। ''तेणेहिं सजीवेहिं धणुएहिं'' सजीवैः कोट्यारोपितप्रत्यञ्चैः। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। जीवेव जीवा, जम्बूद्वीपलक्षणवृत्तक्षेत्रस्य हैमवतैरण्यवताभ्यां द्वितीयषष्ठ वर्षाभ्यामवच्छिन्नस्याऽऽरोपितज्याधनुः पृष्ठाकारयोः परिधिखण्डयोः, धनुःपृष्ठसंज्ञकयोः पर्यन्तभूतसरलप्रदेशपङ्क्तौ, स०।

हेमवताऽऽदिजीवानां प्रमाणमाह –

हेमवयएरन्नवयाओ णं जीवाओ सत्तवीसं जोयणसहस्साइं छच्च चउसत्तरे जोयणसए सोलसए एगूणवीसइभाए जोयणस्स किंचि विसेसूणाओ आयामेणं पण्णत्ता।

हेमवताऽऽदिजीवयोरुक्तप्रमाणसंवादगाथा – ''सत्ततीस सहस्सा, छच्च सया जोयणाण चउसयरा। हेमवयवासजीवा, किं चूणा सोलस कलाय'' ॥१॥ त्ति। कला एकोनविंशतिभागो योजनस्येति। स० ३७ सम०।

हैमवतैरण्यवताऽऽदिजीवानां परिधिखण्डप्रमाणमाह –

हेमवएरण्णावइयाणं जीवाणं धणुपिट्ठे अट्ठतीसं जोयणासहस्साइं सत्त य चत्ताले जोयणसए दस एगूणवीसइभागे जोयणस्स किंचि विसेसूणा परिक्खेवेणं पण्णत्ता।

जम्बूद्वीपलक्षणवृत्तक्षेत्रस्य हैमवतैरण्यवताभ्यां द्वितीयषष्ठ वर्षाभ्यामवच्छिन्नस्याऽऽरोपितज्याधनुः पृष्ठाऽऽकारे परिधि स्वएके धनुः पृष्ठ उच्यते, तत्पर्यन्त भूते सरलप्रदेशपङ्क्तौ तु जीवे इव जीवे इति। एतत्सूत्रसंवादिगाथा च – ''चत्ताला सत्तसया, अरूतीस सहस्स दस कलाय धणू।'' इति। स० ३८ सम०। ''जंबूदीवस्स पाईणपडीणउदीण-दाहिणत्ताए जीवाए'' जीवया प्रत्यञ्चया दवरिकयेत्यर्थः। सू० प्र० १२ पाहु०।

जीवाइभाववाय पुं० (जीवाऽऽदिभाववाद) जीवाऽऽदिपदार्थ वादे, ''जीवइभाववाओ, बंधाइपसाहगो इहं ताव''। पं० व० ४ द्वार।

जीवाजीव पुं० (जीवाजीव) जीवद्रव्याजीवद्रव्ययोः, स्था०।

समयाइ वा आवलियाइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा य वुच्चइ। आणापाणूइ वा थोवाइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ। खणाइ वा लवाइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ। एवं मुहुत्ताइ वा अहोरत्ताइ वा पक्खाइ वा मासाइ वा उऊइ वा अयणाइ वा संवच्छराइ वा जुगाइ वा वासमयाइ वा वाससहस्साइं वा वास सयसहस्साइं वा वासकोडीय वा पुव्वंगाइ वा पुव्वाइ वा तुडियंगाइ वा तुडियाइ वा अडडंगाइ वा अडडाइ वा अववंगाइ वा अववाइ वा हूहूअंगाइ वा हूहूयाइ वा उप्पलंगाइ वा उप्पलाइ वा पउमंगाइ वा पउमाइ वा णलिणंगाइ वा णलिणाइ वा अत्थणि उरंगाइ वा अत्थणिउराइ वा अउअंगाइ वा अउआइ वा णउअंगाइ वा णउआइ वा पउअंगाइ वा पउआइ वा चूलिअंगाइ वा चूलियाइ वा सीसप्पहेलियंगाइ वा सीसप्पहेलियाइ वा पलिओवमाइ वा सागरोवमाइ वा उस्सप्पिणीइ वा ओसप्पिणीइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ। गामाइ वा णगराइ वा निगमाइ वा रायहाणीइ वा खेडाइ वा कव्वडाइ वा मडंवाइ वा दोणमुहाइ वा पट्टणाइ वा आगराइ वा आसमाइ वा संवाहाइ वा संनिवेसाइ वा घोसाइ वा आरामाइ वा उज्जाणाइ वा वणाइ वा वणखंडाइ वा वावीइ वा पुक्खरणीइ वा सराइ वा सरपंतियाइ वा अगडाइ वा तडागाइ वा दहाड वा णदीइ वा पुढवीइ वा उदहीइ वा वात खंधाइ वा ओगासंतराइ वा वलयाइ वा विगाहाइ वा दीवाइ वा समुद्दाइ वा वेलाइ वा वेइयाइ वा दाराइ वा तोरणाइ वा णेरइयाइ वा णेरइयावासाइ वा. जाव वेमाणियावासइ वा कप्पाइ वा कप्प विमाणवासाइ वा वासाइ वा वासहरपव्वयाइ वा कूडाइ वा कूमा गाराइ वा विजयाइ वा रायहाणीइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ। छायाइ वा आतवाइ वा दोसिणाइ वा अंधकाराइ वा ओमाणाई वा पमाणाइ वा उम्माणाइ वा अतियाणगिहाइ वा उज्जाणगिहाइ वा अवलिंवाइ वा मणिप्पवायाइ वा जीवाइ वा आजीवाइ वा पवुच्चइ। स्था०।

पूर्वव जीवविशेषाणामुच्चत्वलक्षणो धर्मोऽभिहितः इह तु धर्माधिकारादेव समयाऽऽदिस्थितिलक्षणो धर्मो जीवाजीवसंबन्धी जीवाजीवतयैव धर्मधर्मिणोरभेदेनोच्यत इति। तत्रा सर्वेषां काल प्रमाणानामाद्यः परमसूक्ष्मोऽभेद्यो निरवयव उत्पलपत्रशत

व्यतिभदाऽऽद्युदाहरणोपलक्षितः समयः, तस्य चातीताऽऽदिविवक्षयाबहुत्वाद्बहुवचनमित्याह – ''समयाइ वा'' इत्यादि। इति शब्द उपदर्शने। वाशब्दो विकल्पे। तथाऽसंख्यातसमयसमुदाया ऽऽत्मिका आवलिका क्षुल्लकभवग्रहणकालस्य षट्पञ्चाशदुत्तर द्विशततमभाग-भूता इति, तत्र समया इति वा आवलिका इति वा यत् कालवस्तु तदविभागेन जीवा इति च जीवपर्यायत्वात् पर्यायपर्यायिणोश्च कथञ्चिदभेदात्। तथा अजीवानां पुद्गलाऽऽदीनां पर्यायत्वादजीवा इति। वकारौ समुच्चयार्थौ, दीर्घता च प्राकृतत्वात्। प्रोच्यते अभिधीयत इति न जीवाऽऽदि व्यतिरेकिणः समयाऽऽदयः। तथाहि जीवाजीवानां सादिसपर्यव सानाऽऽदिभेदा या स्थितिस्तद्भेदाः समयाऽऽदयः। सा च तद्धर्मः, धर्मश्च धर्मिणो नात्यन्तभेदवान्, अत्यन्तभेदेहि विप्रकृष्टधर्म-मात्रोपलब्धौ प्रतिनियत धर्मधर्मिविषय एव संशयो न स्यात्, तदन्येभ्योऽपि तस्य भेदविशेषात्। दृश्यते च यदा कश्चिद्धरतितरूतरूण-शास्त्राविसरविवरान्तरतः किमपि शुल्कं पश्यति, तदा 'किमियं पताका, किं वा वलाका ?' इत्येवं प्रतिनियतधर्मिविषयसंशय इति। अभेदे हि सर्वथा संशयानुत्पत्तिरेव, गुणग्रहणत एव तस्यापि गृहीतत्वादिति। इह त्वभेदनयाऽऽश्रयणाज्जीवा इति वेत्याद्युक्तम्। इह च समयाऽऽ वलिकाल-क्षणार्थद्वयस्याजीवाऽऽदिद्वयाऽऽत्मकतया भणनाद् द्विस्थानकावतारो दृश्यः एवमुत्तरसूत्राण्यपि नेयानि, विशेषं तु वक्ष्याम इति। (आणपाणु इत्यादि)। आनप्राणावित्युच्छवास निःश्वासकालः संख्याताऽऽव-लिकाप्रमाणः।

आह च –

''हट्ठस्स अणवगल्ल – स्स निरूवकिट्ठस्स जंतुणो।
एगे उस्सासनिस्सासे, एस पाणु त्ति वुच्चइ'' ॥१॥

तथा स्तोकाः सप्तोच्छवासनिःश्वासप्रमाणाः, क्षणाः संख्यात प्रमाणलक्षणाः, सप्तस्तोकप्रमाणा लवाः। एवमिति यथा प्राक्तने सूत्रत्राये जीवा इति यद्वा अजीवा इति च प्रोच्यन्ते इत्यधीतम्, एवं सर्वेषूत्तरसूत्रेष्वित्यर्थः। मुहूर्त्ताः सप्तसप्ततिल वप्राणाः।

उक्तञ्च –

''सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे।
लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥१॥
तिन्नि सहस्सा सत्त य, सयाइ ते उत्तरिं च उस्सासा।
एस मुहुत्तो भणिओ, सव्वेहिं अणंतनाणीहिं'' ॥२॥

अहोरात्रास्त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणाः पक्षाः पञ्चदशाहोरात्र प्रमाणाः, मासा द्विपक्षाः, ऋतवो द्विमासमाना वसन्ताऽऽद्याः, अयनानि ऋतुत्राय-मानानि, सम्वत्सरा अयनद्धयमानाः, युगानि पञ्चसम्वत्सराणि, वर्षशताऽऽदीनि प्रतीतानि, पूर्वाङ्गानि चतुर शीतिवर्षलक्षप्रमाणानि, पूर्वाणि पूर्वाङ्गान्येव चतुरशीतिवर्ष लक्षगुणितानि।

इदञ्चैषां मानम् –

''पुव्वस्स उ परिमाणं, सयरिं खलु होंति कोडिलक्खाओ।
उप्पन्नं च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं'' ॥१॥

७०५६०००००००००० पूर्वाणि चतुरशीतिलक्षगुणितानि त्रुटिताङ्गानि भवन्ति। एवं पूर्वस्य पूर्वस्य चतुरशीतिलक्षगुणने नोत्तरमुत्तरं संख्यानं भवति, यावच्छीर्षप्रहेलिकेति। तस्यां चतुर्नवत्यधिकम-ङ्कस्थानशतं भवति।

अत्र करणयागाथा –

''इच्छियठाणेण गुणं, पण सुन्नं चउसीइगुणियं च।
काऊण तइयवारे, पुव्वंगाईण मुण संखं'' ॥१॥

शीर्षप्रहेलिकान्तः सांव्यवहारिकाः संख्यातः कालः, तेन च प्रथमपृथिवीनारकाणां भवनपतिव्यन्तराणां भरतैरवतेषु सुषमदुःषमायाः पश्चिमे भागे नरतिरश्चां चाऽऽयुर्मीयत इति। किं च शीर्षप्रहेलिकायाः परतोऽप्यस्ति संख्यातः कालः। स चानतिशायिनां न व्यवहारविषय इति कृत्वौपम्ये प्रक्षिप्तः, अत एव शीर्षप्रहेलिकायाः, परतः पल्योपमा-ऽऽद्युपन्यासः। तत्र पल्येनोपमा येषु तानि पल्योपमानि असंख्यात-वर्षकोटि कोटीप्रमाणानि वक्ष्यमाणलक्षणानि, सागरेणोपमा येषु तानि सागरोपमाणि पल्योपमकोटीकोटीदशकमानानीति, दशसागरो पमकोटिकोट्य उत्सर्प्पिणी, एवमेवावसर्प्पिणीति, कालविशेष वद् ग्रामाऽऽदिवस्तुविशेषा अपि जीवाजीवा एवेति। द्विपदैः सप्त चत्वारिंशता सूत्रैराह – (गामेत्यादि) इह च प्रत्येकं जीवा एवेत्याद्यालापोऽध्येतव्यः, ग्रामाऽऽदीनां च जीवाजीवता प्रतीतैवा तत्र कराऽऽदिगम्या ग्रामाः, नैतेषु करोऽस्तीति नकराणि, निगमा वणिङ्निवासाः, राजधान्यो यासु राजानो ऽभिषिच्यन्ते, खेटानि धूलीप्राकारेपेतानि, कर्वटानि कुनगराणि, मडम्बानि सर्वतोऽर्द्धयोजनात्परतोऽवस्थित ग्रामाणि, द्रोणमुखानि येषां जलस्थलपथावुभावपि स्तः, पत्तनानि येषु जलस्थलपथयोरन्यतरेण पर्याहाराप्रवेशः, आकरालोहाऽऽद्युत्पत्ति-भूमयः, आश्रमास्तीर्थस्थानानि, संबाहाः समभूमौ कृषिं कृत्वा येषु दुर्गभूमिभूतेषु धान्यानि कृषीबलाः संवहन्ति रक्षार्थमिति, सन्निवेशाः सार्थकटकाऽऽदेः, घोषाः गोष्ठानि आरामा विविधवृक्षलतोपशोभिताः कदल्यादि प्रच्छन्नगृहेषु स्त्रीसहितानां पुंसां रमणस्थानभूता इति। उद्यानानि पत्रपुष्पफलच्छायोपशोभितानि बहुजनस्य विविध वेषसेन्नतमानस्य भोजनार्थं यानं गमनं येष्विति। वनानीत्येक जातीयवृक्षाणि, वनखण्डा अनेकजातीयोत्तमवृक्षाः। वापी चतुरस्रा, पुष्करिणी वृत्ता पुष्करवती चेति। सरांसि जलाऽऽशय विशेषाः, सरःपङ्क्तय सरसां पद्धतयः। (अगड त्ति) अवटाः। तडागाऽऽदीनि प्रतीतानि पृथिवी रत्नप्रभाऽऽदिका, उदधिस्तदधो घनोदधिः। वात्तस्कन्धा घनवाततनुवाताः, इतरे वा, अवकाशान्तराणि वातस्कन्धानामधस्तदाकाशानि, जीवता चैषां सूक्ष्मपृथिवीकायिका-ऽऽदि-जीवव्याप्तत्वात्। वलयानि पृथिवीनां वेष्टनानि घनोदधिधनवात-तनुवातलक्षणा नीति। विग्रहाःलोकनाडीचक्राणि, जीवता चैषां पूर्ववत्। द्वीपाः समुद्राश्च प्रतीताः। वेला समुद्रजलवृद्धिः, वेदिकाः प्रतीताः, द्वाराणि विजयाऽऽदीनि, तोरणानि तेष्वेवेति। नैरयिकाः क्लिष्ट सत्वविशेषाः, तेषां च जीवता कर्मपुद्गलाऽऽद्यपेक्षया। तदुत्पत्ति भूमयो नैरयिकाऽऽवासाः, तेषां च जीवता पृथिवीकायिकाऽऽद्य पेक्षया इति। एवं चतुर्विंशतिदण्डकोऽभिधेयः। अत एवाऽऽह – यावदित्यादि। कल्पा देवलोकाः, तद्देशाः कल्पविमानाऽऽवासाः, वर्षाणि भरताऽऽदिक्षेत्राणि, वर्षधरपर्वता हिमवदादयः, कूटानि हैमवतकूटानि, कूटाऽऽ गाराणां तेष्वेव देवभवनानि, विजयाश्चक्रवर्त्तिविजेतव्यानि कच्छाऽऽदीनि क्षेत्रखण्डानि, राजधान्यः क्षेमाऽऽदिकाः। जीवेत् यादिहोक्तं सर्वत्र सम्बन्धनीयमिति। येऽपि पुद्गलधर्मास्तेऽपि तथैवेत्याह – छाये त्यादि सूत्रपञ्चकं गतार्थम्, नवरं छायावृक्षा ऽऽदीनाम्, आतपआदित्यस्य। (दोसिणाइ व त्ति) ज्योत्सना, अन्धकाराणि, तमांसि, अवमानानि क्षेत्राऽऽदीनि, उन्मानानि तुलाकर्षाऽऽदीनि, अतियानगृहाणि नगराऽऽदिप्रवेशे यानि गृहाणि प्रतीतानि। (अवलिंवाइवा सणिप्पद्यायाइ वत्ति) रूढिती ऽवसेया इति। कि –

मेतत्सर्वमित्याह– जीवा इति च जीवव्याप्तत्वात्, तदाश्रितत्वाद्वा। अजीवा इति च पुद्गलाऽऽद्यजीवरूपत्वात्, तदाश्रितत्वाद्वेति। प्रोच्यते– जिनैः प्ररूप्यत इति। इह च – ''जीवाइ वा'' इत्यादि सूत्रापञ्चकेऽपि प्रत्येकमध्येतव्यमिति। स्था० २ ठा० ४ उ०।

अथ समयाऽऽदिवस्तु जीवाजीवरूपमेव कस्माद-भिधीयते? उच्यते – तद्विलक्षणराश्यन्तराभावात्। अत एवाऽऽह –

दो रासी पण्णत्ता। तं जहा–जीवरासी चेव, अजीवरासी चेव। स्था० २ ठा० ४ उ०।

(जीवाजीवयोरस्तित्वप्रतिपादनं 'अत्थिवाय' शब्दे प्रथमभागे ५१६ पृष्ठे कृतम्।

जीवाजीवपरिज्ञाने फलम् –

जो जीवे वि न जाणेइ, अजीवे वि न जाणइ।
जीवाजीवे अजाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं? ॥१२॥

यो जीवानपि पृथिवीकायिकाऽऽदिभेदभिन्नान्न जानाति, अजीवानपि संयमोपघातिनो मद्यहिरण्याऽऽदीन्न जानाति वा, जीवाजीवाऽऽदीन-जानन् कथमसौ ज्ञास्यति संयमं तद्विषयम्? तद्विषयाज्ञानादिति भावः॥१२॥

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥१३॥

ततश्च जो जीवानपि जानात्यजीवानपि जानाति, जीवाजीवान् विजानन् स एव ज्ञास्यति संयममिति प्रतिपादितः पञ्चम उपदेशार्थाधिकारः ॥१३॥

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥१४॥

यदा यस्मिन् काले जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति–विविधं जानाति, तदा तस्मिन् काले गतिं नरकगत्यादिरूपां, बहुविधां स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारां, सर्वजीवानां जानाति, यथावस्थितजीवा-जीवपरिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात् ॥१४॥

उत्तरोत्तरां फलवृद्धिमाह –

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ।
तया पुन्नं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ ॥१५॥

यदा तस्मिन् काले गतिं बहुविधां सर्वजीवानां जानाति, तदा पुण्यं च पापं च बहुविधगतिनिबन्धनं, तथा–बन्धं जीवकर्मयोगदुःखलक्षणं, मोक्षं च तद्वियोगसुखलक्षणं जानाति। दश. ४ अ०। जीवतां स्तोकानां च भूयसां मृतानां च शङ्खशफनखाऽऽदीनामेकव राशौ कृतानाम्। प्रज्ञा० ११ पद। प्रभूतेषु मृतेषु स्तोकेषु जीवत्सु एकत्र राशीकृतेषु शङ्खाऽऽदिषु, प्रज्ञा० ११ पद। एतावन्तोऽत्र जीवन्त एतावन्तोऽत्र मृता इति नियमेनावधारयतो विसंवादे जीवाजीवमिश्रिताः। सत्यामृषाभाषाभेदे, प्रज्ञा० ११ पद।

जीवाजीवविभत्ति स्त्री० (जीवाजीवविभक्ति) जीवानामजीवानां च विभक्तिर्विभागेनावस्थापना जीवाजीवविभक्तिः। जीवानाम जीवानां च विभागेनावस्थापनायाम्, उत्त०।

तथा च निर्युक्तिकारः–

जीवाणमजीवाण य, जीवविभत्ती तहिं दुविहा ॥३६॥
सिद्धाणमसिद्धाण य, अजीवाणं तु होइ दुविहा उ।
तो रूविमरूवीण य, विभासियव्वा जहासुत्तं ॥३७॥

जीवानामजीवानां च योऽर्थो जीवविभक्तिर्जीवानां विभागेनाव-स्थापनमेव जीवविभक्तिः, उत्तरत्राप्येवमेव संबन्धिभेदाद् व्याख्येयः। (तहिं ति) वचनव्यत्ययात्तयोर्जीवाजीवविभक्त्योर्मध्ये द्विविधा सिद्धानाम्, असिद्धानां च। (अजीवाणं तु त्ति) तुरपिशब्दार्थः, ततोऽजीवानामपि भवति (दुविहा उ त्ति) तुरवधारणे, ततो द्विविधैव रूपिणामरूपिणां च विभाषितव्या विशेषेण व्यक्तं वक्तव्या। उत्त० नि० पाई० ३६ अ०। जीवाजीव विभक्तिप्रतिपादके उत्तराध्ययनस्य षट्त्रिंशेऽध्ययने, न०। स०।

जीवाजीवविभक्त्याख्यं षट्त्रिंशमध्ययनं व्याख्यायते –

जीवाजीवविभत्तिं, सुणेह मे एगमणा इओ।
जं जाणिऊण भिक्खू, सम्मं जयइ संजमे ॥१॥

भो शिष्याः! एकाग्रमनसः सन्तः स्थिरचित्ताः सन्तो यूयं तां जीवजीवविभक्तिं जीवाजीवाऽऽदीनां लक्षणं, मे मम कथयतः सतः शृणुत। जीवाश्च अजीवाश्च जीवाऽजीवाः, तेषां विभक्तिर्लक्षणज्ञानेन पृथक पृथक् करणं जीवाजीवविभक्तिः, ताम् उपयोगवान् जीव एकेन्द्रियाऽऽदिः। उपयोगरहितोऽजीवः काष्ठाऽऽदिः। इत्यादिजैनमतोक्तलक्षणेन लक्ष्यज्ञानम्, तामिति किम्? यां जीवाजीवविभक्तिं ज्ञात्वा भिक्षुः संयमे संयममार्गे सम्यक् यतते यत्नं करुते ॥१॥

जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥२॥

जीवाश्चेतनालक्षणाऽऽत्मकाः, च पुनरजीवा अचेतनाऽऽत्मकाः। चकार एवकारश्च पादपूरणे। एष लोको व्याख्यातस्तीर्थकरैरुक्तः। अजीवदेश आकाशम्, अलोको व्याख्यातः। अजीवस्य धर्मास्तिकायाऽऽदिकस्य देशोऽशोऽजीवदेशो धर्मास्तिकायाऽऽदिवृत्तिरहितस्य आकाशस्यैव देशः स अलोको व्याख्यातः। जीवाजीवानामाधेयभूतानां लोकाऽऽकाश-माधारभूतमतो लोकालोकलक्षणमुक्तम् ॥२॥

जीवाजीवविभक्तिर्यथा स्यात्तथाऽऽह –

दव्वओ खित्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
परूवणा तेसि भवे, जीवाणमजीवाण य॥३॥

द्रव्यतो द्रव्यमाश्रित्य इदं द्रव्यम् इयद्भेदं, क्षेत्रातः इदं द्रव्यम् एतावति क्षेत्रे स्थितं, कालत इदं द्रव्यमियत्कालस्थितिमद्वर्तते, भावतोऽस्य द्रव्यस्य इयन्तः पर्यायाः। एवं तेषां जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च द्रव्यक्षेत्रकालभावेन चतुर्द्धा प्ररूपणा भवेत् ॥३॥ उत्त० ३६ अ०।

जीवाजीवसमाउत्त त्रि० (जीवाजीवसमायुक्त) जीवैरुपयोगल क्षणैस्तथाऽजीवैर्धर्माधर्माऽऽकाशपुद्गलाऽऽदिकैः समन्वितो जीवाजीव-समायुक्तः। जीवाजीवसमन्विते, तथा च लोकमधिकृत्य – ''जीवाजीव-समाउत्ते, सुहदुक्खसमण्णिए''। सूत्रा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

जीवाजीवाहिगम पुं० (जीवाजीवाभिगम) जीवानामेकेन्द्रियाऽऽ दीनामजीवानां धर्मास्तिकायाऽऽदीनामभिगमः परिच्छेदो जीवाजीवा-भिगमः। जीवाजीपरिच्छेदे, जी०।

से किं तं जीवाजीवाहिगमे? जीवाजीवाहिगमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–जीवाहिगमे य, अजीवाहिगमे य।

अथ किं तज्जीवाजीवाभिगम इति? अथवा–प्राकृतशैल्याऽभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति न्यायात् किं तदिति कोऽसावित्यस्मिन्नर्थे द्रष्टव्यम्। ततोऽयमर्थः–कोऽसौ जीवाजीवाभिगमः? इति। एवं सामान्येन केनचित्प्रश्ने कृते सति भगवान् गुरुः शिष्यवचनानुरोधेनाऽऽदराऽऽधानार्थं किञ्चित्प्रत्युच्चार्याऽऽह जीवाजीवाभिगमोऽनन्तरोदितशब्दार्थो द्विविधो द्विप्रकारः प्रज्ञप्तस्तीर्थकरगणधरैः। अनेन चागृहीतशिष्याभिधानेन निर्वचनसूत्रोणैतदाह, न सर्वमेव सूत्रं गणधरप्रश्नतीर्थकरनिर्वचनरूपं, किन्तु किञ्चिदन्यथाऽपि, केवलं सूत्रं बाहुल्येन गणधरैः लब्धं, स्तोकं शषैः। यत उक्तम्– ''अत्थं भासइ, अरहा'' इत्यादि। तद्यथेति वक्ष्यमाणभेदकथनो पन्यासार्थः, स जीवाजीवाभिगमो यथा द्विविधो भवति तथोप न्यस्यत इति भावः। जीवाभिगमश्च, अजीवाभिगमश्च। चशब्दौ वस्तुतत्वमङ्गीकृत्य द्वयोरपि तुल्यकक्षतोद्भावनार्थौ। आह– जीवाजीवाभिगमप्रश्नसूत्रे संचलित उपन्यस्तः, तं तथैवोच्चार्या संचलितनिर्वचनाभिधानमयुक्तम्, असंचलिते संचलितविधाना योगात्। नैष दोषः। प्रश्नसूत्रेऽप्यसंचलितस्यैवोपन्यासात्, भिन्नजातीययोरेकत्वायोगात्। जी० १ प्रति०। जीवानामेकेन्द्रियाऽऽदीनामजीवानां धर्मास्तिकायाऽऽदीनामभिगमः परिच्छेदो यस्मिन् तद् जीवाजीवाभिगमम्। जीवाजीवपरिच्छेदप्रतिपादके जीवाजीवाभिगमाख्येऽध्ययनविशेषे, जी०।

तस्येदमादिमं सूत्रम्–

इह खलु जिणमयं जिणाणुमयं जिणाणुलोमं जिणप्पणीतं जिणरूवियं जिणक्खायं जिणाणुचिन्नं जिणपन्नत्तं जिणदेसियं जिणप्पसत्थं अणुचिंतिय तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा थेरा भगवंते जीवाजीवाभिगमं णामऽज्झयणं पण्ण वइंसु।

जिनप्रशस्तं जिनानां गोत्रविशुद्धोपायाभिमुखापायविमुखहित प्रवृत्ताऽऽदिभेदानां प्रशस्तं निरुपमपथ्यान्नवत् उचितसेवनया हितम्, एवंभूतं जिनमतमनुचिन्त्य औत्पत्तिक्यादिभेदभिन्नया पर्यालोच्य तद् जिनमतं श्रद्दधाना यद्यपि नाम काल वैगुण्यतो मेधाऽऽदिगुणहीनाः प्राणिनस्तथाऽप्यतः स्वल्पमप्यधिगतं भवच्छेदायेत्यार्द्रचित्ततया मन्यमानास्तथा तद् जिनमतमेव प्रीयमाणा असङ्गशक्तिप्रीत्या पश्यन्तः, तथा तज्जिनमतमेव रोचयन्तः सात्मीनाभावेनानुभवन्तः, क एते? इत्याह–स्थविरा भगवन्तः, तत्र धर्मपरिणत्यनिवृत्या संयमक्रियामतयः स्थविराः परिणतसाधुभावाः, आचार्या इति गर्भः। भगवन्तः श्रुतैश्वर्याऽऽदियोगात्। भग्रवन्तो वा कषायादीनिति भगवन्तः। पृषोदरादित्वान्नकारलोपः। जीवाजीवाभिगमनं नाम, नामन् शब्दस्यात्राव्ययत्वात्ततः परस्य तृतीयैकवचनस्य लोपः। जीवानामेकेन्द्रियाऽऽदीनामजीवानां धर्मास्तिकायाऽऽदीनामभि –गमः परिच्छेदो यस्मिन् तद् जीवाजीवाभिगमः। इदं चान्वर्थप्रधानं नाम। यथा ज्वलतीति ज्वलन इत्यादि। किं तदित्याह–अधीयत इत्यध्ययनम्, विशिष्टार्थध्वनिसंदर्भरूपं, प्रज्ञापितवन्तः प्ररूपितवन्तः। एतेन गुरुपर्वक्रमलक्षणः संबन्धः साक्षादुपदर्शितः, एतदुपदर्शनादभिधेयाऽऽदिकमपि सिद्धम्। यथोक्तमनन्तरमिति कृतं प्रसङ्गेन। जी० १ प्रति०। जीवाजीवस्वरुपम् अभिगम्यतेऽस्मिन्निति जीवाजीवाभिगमः। दशवैकालिकस्य षड्जीवनिकायाध्ययने, दश० ४ अ०। दशवैकालिकस्य षड्जीवनिकायाध्ययनपर्यायशब्दप्रतिपादनायाऽऽह निर्युक्तिकारः– ''जीवाजीवाभिगमो'' जीवा-जीवाभिगमः, सम्यग् जीवाजीवाभिगमहेतुत्वात्। दश० नि० ४ अ०।

जीवाणंद पुं० (जीवानन्द) स्वनामख्याते सुविधिवैद्यस्य सुते, ''जम्बूद्वीपे विदेहेषु, पुरे क्षितिप्रतिष्ठिते। वैद्यस्य सुविधेः सूनुर्जीवानन्दाभिधोऽभवत्॥१॥'' आ० क०।

जीवाणुसासण न० (जीवानुशासन) जीवस्याऽऽत्मनो जाति निर्देशाद्वा जीवस्य भव्यप्राणिगणस्यानुशासनं शिक्षा। जीवस्य शिक्षायाम्, तत्प्रतिपादके श्रीदेवसूरिविरचिते स्वनामख्याते प्रकरणग्रन्थे च। जीवा०।

तस्येयमादिमा गाथा–

णिम्महियरायरोसं, वीरं नमिऊण भुवणतियबंधुं।
मज्झत्थभावणाए, जीवस्सऽणुसासणं वोच्छं॥१॥

वीरं नत्वा जीवानुशासनं वक्ष्य इति संटङ्कः। अवयवार्थस्त्व यम्– निर्मथितरागरोषं निराकृतप्रीतिद्वेषं, वीरं वर्तमानतीर्थाधिपतिं, नत्वा प्रणम्य, किं विशिष्टम्? भुवनत्रिकबन्धुं जगत्त्रयबान्धवं माध्यस्थ्यभावनया रागद्वेषाभावेन जीवस्याऽऽत्मनो जातिनिर्देशाद् वा जीवस्य भव्यप्राणिगणस्य। एवमग्रेऽपि ज्ञातव्यम्। अनुशासनं शिक्षाम्। अत्र च ''स्वराणां स्वरे प्रकृतिलोपसंधयः'' इति प्राकृतलक्षणेन सकाराकारलोपेऽनु शब्दाकारस्य सस्वरत्वे च रूपमिदम्। एवमत्रापि यथासंभवं ज्ञेयमिति वक्ष्येऽभिधास्ये। शब्दव्युत्पत्त्यादिचर्चस्तु सर्वत्र सुकर एवेति न प्रतन्यते। जीवा० १ अधि०।

अन्ते च–

इय सिरिसिद्धंतमहो – यहीण सिरिनेमिचंदसूरीणं।
उवएसाओ मज्झ – त्थया य सिरिदेवसुरीहिं॥१॥
सिरिवीरचंदसूरी – ण सीसमत्तेहिं विरइयं एयं।
सिद्धंतजुत्तिजुत्तं, जीवस्सऽणुसासणं विमलं॥२॥
तह सयलागमपरम – त्थकणयकसवट्टलद्धउवमेहिं।
सयलगुणरयणरोहण – गिरीहिं जिणदत्तसूरीहिं॥३॥
सोहियमेयं अन्ने–सि सूरिपवराण सम्मयं किं च।
जं एत्थ अणागमियं, तं गीयत्था वि सोहिंतु॥४॥

इतिः प्रकरणसमाप्तौ, श्रीसिद्धान्तमहोदधीनां शोभनाऽऽगम – बृहत्समुद्राणां श्रीनेमिचन्द्रसूरीणामेतन्नाम्नां श्रीमदुत्तराध्ययन लघुवृत्तिवीरचरितरत्नचूडाऽऽदिशास्त्रकर्तृणां बृहद्गच्छशिरोमणीनां निष्कलङ्कसिद्धान्तव्याख्यानशिक्षातो मध्यस्थतया रागाऽऽद्यभावत्वतः, श्रीदेवसुरिभिः श्रीवीरचन्द्रसूरीणां निजदेशना वशलब्धनिर्मलकीर्त्तीनां शिष्यमत्तैर्विनेयगणैः पद्गुणैर्विरचितं दृब्धमेतदिदं सिद्धान्तयुक्तं राद्धान्तयुक्तिसहितं, जीवस्याऽऽत्मनो भव्यस्य व अनुशासनं बोधकं, विमलं निर्मलम्। तथेति। किं च – सकलाऽऽगमपरमार्थकनकपट्टलब्धोपमैः निःशेष सिद्धान्ततत्वचामीकरतत्परीक्षादक्षोपलप्राप्तोपमानैः सकलगुणरत्नरोहणगिरिभिर्निखिलगुणमाणिक्यरोहणशैलैर्जिनदत्तसूरिभिरेतन्नाऽकैः सप्तगृहनिवासिभिरिति यावत्।

शोधितं निर्दोषीकृतमेतद् जीवानुशासनम् । अन्येषां महेन्द्रसु-रिप्रमुखाणां सूरिप्रवराणामाचार्यवर्याणां सम्मतमभिप्रेतं, किं त्तअपरं यदत्र प्रकरणे अनागमिकमुत्सूत्रं, तद्गीतार्थाः सिद्धान्तविदः, शोधयन्तु निर्मलीकुर्वन्तु । इति गाथाचतुष्टयार्थः।

प्रकारान्तरेण निजनाम कथयन् प्रकरणसंख्यामाह –

देसवसुसूररीसा – हिंसाईवन्नकहियनामाहिं ।
पयरणमिणमो रइयं, तेवीसा–तिन्नि–सयगाहं ।।

देशवसुसूररीसाहिंसालक्षणा ये शब्दाः, तेषु ये आदिवर्णाः प्रथमाक्षराणि, तैः कथितं प्रतिपादितं, नामाभिधेयं येषां ते तथा, तैः, प्राकृतभाषया 'देवसूरीहिं' इत्यर्थः। प्रकरणं ग्रन्थसंदर्भः, इदं प्रत्यक्षम्, ओ इति निपातः पूरणार्थे । रचितमिति ।

आह –

अणहिल्लवाडनयरे, जयसीहनरेसरम्मि विज्जंते ।
दोहटिवसहिठिएहिं, वासट्ठीसूरनवमीए।।

अणहिल्लपट्टनगरे श्रीगूर्जराराजधान्यां जयसिंहनरेश्वरे श्रीकर्णकर्णिदेवराजसूनौ विद्यमाने सति दोहटिनामश्रावकवस-तिस्थितैर्द्वाषष्टे संवत्सरे एकादशशत उपरिष्टादिति शेषः ११६२ । सूरेणाऽऽदित्यवारेण नवमी तिथिलक्षणा यस्यां रचितमिति पूर्वगाथोक्तक्रियासंबन्धादिति गाथार्थः ।

''एतस्य वृत्तिकरणे, पुण्यं यदुपार्जितं मया तेन ।
सुखितोऽस्तु भव्यलोकः, कुग्राहवियोगतो नित्यम् ॥१॥
मासेनैकेनेयं, सरस्वतीतोषतः कृता वृत्तिः ।
अणहिलपाटकनगरे, विजयिनि जयसिंहदेहनृपे ॥२॥
दोहट्टिवसतिवासैः, श्रेष्ठिश्रीजासकस्य दानरुचेः ।
तदुपष्टम्भादपरं, च श्राविकाया वसुन्धर्याः ॥३॥
वीराऽऽदिपुत्रमातु – र्नित्यं जिनसाधुपूजनरतायाः ।
श्रीदेवसूरिभिरसौ, भव्यजने जातविमलदयैः ॥४॥
श्रीमद्भिर्नेमिचन्द्राख्य – सूरिभिः शोधिताऽऽदृतैः ।
वृत्तिरेषाऽतिगम्भीर – सिद्धसिद्धान्तपारगैः'' ॥५॥

साम्प्रतमस्य प्रकरणस्याऽऽशीर्वादमाह –

जाव जिणसासणमिणं, एयं जीवाणुसासणं ताव ।
नंदउ लोए सिद्धं – तजुत्तिसारं कुमयहरणं ।।

प्रतीतार्था।

येनाभिप्रायेणेदं प्रकरणं कर्त्रा कृतं तमाविष्कुर्वन्नाह –

पंडित्तणाभिमाणे – ण विरइयं नेय किं तु इय बोहो ।
धम्मरयपुव्वसूरी – ण चेट्ठिए जंति जइ जीवा ।।१।।

इयमपि तथैव ।

अधुना यावन्तोऽत्र मुख्यतः प्रकरणेऽर्थाधिकाराः यन्नामदृष्टास्तान् संग्रहगाथापञ्चकेन स्मृत्यर्थमाह –

बिंबपइट्ठा १ पास –
त्थनमण २ पडिकमण ३ वंदणं ४ नंदी ५ ।
दाणनिसेहो ६ महमा –
ल ७ पडिम ८ अविही ९ अणुट्ठाणं ।।१।।
सिद्धबलि १० पढऐं पासा –
उ ११ चेइविहि १२ सूरिसंघनिंदं च १३–१४ ।
पासत्थखेत्त १५ नाण –
ट्ठनिदं १६ गुरुगच्छवागं च १७–१८ ।।२।।
बंभाइपूय १९ उस्स –
ग्ग पढण २० बलहीण २१ अविहिगमणं च २२
मलनिंद २३ सड्ढिवक्खा –
ण २४ सूड्ढनमणं च २५ ओलग्गं २६ ।।३।।
संजइकहणं २७ जिणकुसु –
मपूय २८ सुद्धगहं च २९ तवनिंदा ३० ।
मिच्छइचेइ ३१ मिच्छ ३२ अप –
माणवेस ३३ अस्संजया ३४ पाणे ३५ ।।४।।
चारित्तसत्त ३६ आयर –
ण ३७ गुणथुई ३८ एऐं होंति अडतीसा ।
अहिगारा उ इम्म० मी,
जीवस्सऽणुसासणे विमले ।।५।।

एतदर्थश्च पूर्वोक्ताधिकारवशतो ज्ञेयः। जीवा० ३९ अधि०।

जीवाभिगम पुं० (जीवाभिगम) जीवानां ज्ञेयानामवध्यादिनैवा-भिगमो जीवाभिगमः। गुणप्रत्ययावध्यादिप्रत्यक्षतः सत्त्वाभिगमे, स्था० ३ ठा० २ उ०।

से किं तं जीवाभिगमे ? जीवाभिगमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा– संसारसमावण्णगजीवाभिगमे य, असंसारसमावण्णगजीवाभि-गमे य ।।

संसरणं संसारो नारकतिर्यङ्नरामरभवग्रहणलक्षणस्तं सम्यक् एकीभावेनाऽऽपन्नाः प्राप्ताः संसारसमापन्नाः संसारवर्तिनः, ते च ते जीवाश्च, तेषामभिगमः संसारसमापन्न जीवाभिगमः । तथा–न संसारोऽसंसारः संसारप्रतिपक्षभूतो मोक्ष इत्यर्थः । तं समापन्ना असंसारसमापन्नाः, ते च ते जीवाश्च, तेषामभिगमोऽसंसारसमापन्नजी-वाभिगमः । चशब्दावुभयेषामपि जीवानां जीवत्वं प्रति तुल्यकक्षत्वासूचकौ। तेन ये विध्यातप्रदीपकल्पं निर्वाणमभ्युपगतवन्तः, ये च न्यायानामात्म–गुणानामत्यन्तोच्छेदेन, ते निरस्ता द्रष्टव्याः, तथाभूतमोक्षाभ्यु– पगमे तदर्थं प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । न खलु सचेतनः स्ववधाय कण्ठे कुठारं व्यापारयति, दुःखितोऽपि हिं जीवन् कदाचिद्वद्रमा प्नुयात्, मृतेन तु निर्मूलमपहारितास्ततः संपद इति । इह केवलान् अजीवान् जीवांश्चानुच्चार्य अभिगमशब्दसंवलितः प्रश्नोऽभिग मव्यतिरेकेण प्रतिपत्तेरसंभवः, ततस्तेषामभिगम्यते धर्मख्यापनार्थः, तेन सदेवेदमित्यादिसदद्वैताऽऽद्य-पोह उक्तो वेदितव्यः । सदद्वैताऽऽद्यभ्युपगमेऽभिगमः गम्यतारूपधर्मानु-योगतः प्रतिपत्तेरेवासंभवात् । जी० १ प्रति० । ''तिहिं दिसाहिं जीवाणं जीवभिगमे पण्णत्ते । तं जहा–उड्ढाए, अहो, तिरियाए । एवं पंचिंदिय–तिरिक्खजोणियाणं, एवं अणुस्साण वि''॥ स्था० ३ ठा० । ''छहिं दिसाहिं जीवाणं जीवाभिगमे पण्णत्ते । पाईणाए० जा अहाए, एवं पंचिदियतिरिक्खजोणियाण, वि माणुस्साण वि''॥ स्था० ६ ठा० । जीवानामुपलक्षणत्वादजीवानां चाभिगमो ज्ञानं यत्र स जीवाभिगमः। स्थानाङ्ग स्योपाङ्ग भूतेऽङ्ग बाह्ये उत्कालिकश्रुतविशेषे च । पा० । नं० ।

जीवि (ण्) पुं० (जीविन्) प्राणधारके, ''जे एते एव जीविणो।'' य एते यतय एवं जीवन्ति परगृहाण्यटन्तोऽन्तप्रान्तभोजिनो दत्ताऽऽदाना लुञ्चितशिरसः सर्वभोगवञ्चिता दुःखितं जीवन्तीति। सूत्र० श्रु० ३ अ० १ उ०।

जीविउकाम त्रि० (जीवितुकाम) दीर्घकालमायुष्काभिलाषिणि, ''अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा।'' यत एव प्रियजीविनोऽत एव दीर्घकालं जीवितुकामा :– दीर्घकालमायुष्काभिलाषिणः। (आचा०) ''जीविउकामे लालप्पमाणे''। जीवितुकाम आयुष्कानुभवनमभिलषमाणः। आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

जीविओसविय त्रि० (जीवितोत्सविक) जीवितस्योत्सव इव जीवितोत्सवः, स एव जीवितोत्सविकः। रा०। ज्ञा०। जीवितविषये वा उत्सवो महः, य इव यः स जीवितोत्सविकः। भ०। ''जीविओसविए''। भ० ६ श० ३३ उ०। रा०। ज्ञा०। रा०।

जीविओसासिय त्रि० (जीवितोच्छ्वासिक) जीवितमुच्छ्वासयति वर्द्धयतीति जीवितोच्छ्वासः, स एव जीवितोच्छ्वासिकः। जीवितवर्द्धके, भ० ६ श० ३३ उ०। ज्ञा०।

जीविय न० (जीवित) प्राणधारणे, रा०। प्रश्न०। विशे०। ज्ञा०। आव०। आनु०। नि०। ''जीवियं णाभिकंखेज्जा।'' जीवितं प्राणधारणलक्षणं नाभिकाङ्क्षेत। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। ''ते वीरा बंधणोमुक्का, नावकंखंति जीवियं।'' जीवितमसंयमजीवितं प्राणधारणं वा। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। ''जीवितं दुविहंसंजमजीवियं, असंजमजीवियं च''। नि० चू० १ उ०।

फुसियमिव कुसग्गे पणुण्णं सण्णिवइयं वातेरियं एवं बालस्स जीवियं।

कुशाग्रोदकबिन्दुमिव बालस्य जीवितमिति संबन्धः। तत्किं – भूतमित्याह – ''पणुन्नं'' इत्यादि। प्रणुन्नमनवरताऽपराऽपरोदकपरमाणूपचयात् प्रणुन्नं प्रेरितं, वातेनेरितं संनिपतितंभाविनि भूतवदुपचारान्निपतदेव, निपतितं, दार्ष्टान्तिकं दर्शयत्येवमिति–यथा–कुशाग्रमित्येवमिति। यथा–कुशाग्रे विन्दु क्षणसंभावितस्थितिकः, एवं बालस्यापि जीवितम्, अवगततत्त्वो हि स्वयमेवावगच्छति। आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

जीवितं दशधा। तथा चाऽऽह –

नामं ठवणा दविए, ओहे भव तब्भवे य भोगे य।
संजम जस कित्ती जी–वियं च तं भन्नए दसहा॥

तद् जीवितं दशधा भण्यते। तद्यथा – नामजीवितं स्थापनाजीवितं, द्रव्यजीवितम्, ओघजीवितं, भवजीवितं, तद्भवजीवितं, भोगजीवितं, संयमजीवितं, यशोजीवितं, कीर्त्ति –जीवितं च। एष गाथासमासार्थः। व्यासार्थं तु भाष्यकारः स्वयमेव वक्ष्यति।

तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य
शेषभेदव्याख्यानार्थमाह –

दव्वे सचित्तादी, आउयसद्दव्वयामवे ओहे।
नेरइयाईण भवे, तब्भव तत्थेव उववत्ती॥

द्रव्ये द्रव्यविषयं जीवितं, द्रव्यजीवितमित्यर्थः। सचित्ताऽऽदिसचित्तमचित्तं, मिश्रं च। इह कारणे कार्योपचाराद् येन द्रव्येण सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन पुत्राहिरण्योभयरूपेण यस्य यथा जीवित मायत्तं तस्य तथा तत्र द्रव्यजीवितमुच्यते। उक्तं द्रव्यजीवितम्। (आउयसह-व्वयाभवे ओहे) ओघजीवितं सामान्यजीवितमायुः सद्द्रव्यता आयुः प्रदेशकर्म, तस्य द्रव्यैः सह मानता आयुःसद्द्रव्यता, आयुःकर्मद्रव्यसहचारिता, जीवस्येत्यर्थः। इदं च सामान्यजीवितं सकलसंसारिणामविशेषेण सर्वदा भावि, तत इदमङ्गीकृत्य यदि परं सिद्धा एव मृताः, न पुनरन्ये केचन। उक्तमोघजीवितम्। नैरयिकाऽऽदीनां नैरयिकतिर्यङ्नरामराणां भवे स्वस्वभवे स्थितिर्भवजीवितम्। उक्तं भवजीवितम्। (तब्भव तत्थेव उववत्ती) तस्मिन् भवे भूयो भूयो जीवितं तद्भवजीवितम्। किं तदित्याह – तत्रैवोत्पत्तिः तत्रा तस्मिन्नधिकृते तिर्यग्भवे, मनुष्यभवे वा स्वकायस्थित्यनुसारेण भूयो भूय उत्पत्तिः। इदं चौदारिकशरीरिणामेवावसातव्यम्, अन्यत्र निरन्तरं भूयोभूयस्तत्रैवोत्पत्त्यभावात्। उक्तं तद्भजीवितम्।

भोगम्मि चक्किमाई, संजमजीयं तु संजयजणस्स।
जसकित्ती य भयवतो, संजम नरजीव अहिगारो॥

भोगे भोगजीवितं चक्रवर्त्यादीनाम्, आदिशब्दाद् बलदेववासुदेवाऽऽदिपरिग्रहः। उक्तं भोगजीवितम्। संयमजीवितं संयतजनस्य साधुलोकस्य। उक्तं संयमजीवितम्। यशः कीर्त्ति भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः। ततो यशोजीवितं कीत्तिजीवितं च भगवतः प्रतिपत्तव्यम्। यशः कीर्त्योश्चायं विशेष :– ''दानपुण्यफला कीर्त्तिः पराक्रमकृतं यशः।'' अन्ये त्विदमेकमेवाभिदधति, केवलं संयमप्रतिपक्षभावतो दशमसंयमजीवितमविरतगतं प्रतिगृह्णन्ति। आ० म० १ अ० २ खण्ड। विशे०। आ० चू०। जीवन्त्यनेनाऽऽयुष्कर्मणेति जीवितम्। प्राणधारणाऽऽत्मके आयुषि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। ''जीवियं दुप्पडिवूहणं'' जीवितमायुष्कं तत् क्षीणं सत् दुष्प्रतिबृंहणीयं दुरभावार्थो, नैव वृद्धिं नीयते इति यावत्। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। अथवा जीवितमायुष्कमसंयमजीवितं वेति। आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। ''णो जीवियं णो मरणाहिकंखी।'' जीवितमसंयमजीवितं, दीर्घायुष्कं वा। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। ''ण य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भइ।'' न च चैव जीवितमायुष्कं कालपर्यायेण त्रुटितं सत् पुनः (संखयमिति) संस्कर्त्तुं तन्तुवत्संधातुं शक्यते, इत्येवमाहुस्तद्विदः, तथाऽप्येवमपि व्यवस्थिते, बालोऽज्ञो जनः प्रगल्भते पापं कुर्वन् धृष्टो भवति, असदनुष्ठानरतोऽपि न लज्जत इति। सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। न च नैव त्रुटितं जीवितमायुः संस्कर्त्तुं संधातुं शक्यते, एवमाहुः सर्वज्ञाः। तथाहि – ''दंडकलियं करित्ता, वच्चंति हु राइओ य दिवसा य। आऊसं चेल्लंता, गया य पुण नाणानियंतं ति॥१॥'' तथाऽप्येवमपि व्यवस्थिते जीवानामायुषि बालजनोऽन्यो लोको निर्विवेकतया असदनुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वन् प्रगल्भते धृष्टतां याति, असदनुष्ठानेनापि न लज्जत इत्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

कुसग्गे जह ओसविंदुए, थोवं चिट्ठइ लंवमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए॥२॥

हे गौतम ! समयमात्रमपि मा प्रमादीः। तद्धेतमाह– यथा कुशस्याग्रे अवश्यायबिन्दुर्लम्बमानः सन् स्तोकं स्तोककालं तिष्ठति वाताऽऽदिना प्रेर्यमाणः सन् पतति, तथा मनुष्याणां जीवितम् आयुरस्थिरं ज्ञेयम्। एवमायुषोऽनित्यत्वं ज्ञात्वा धर्मे प्रमादो न विधेय इत्यर्थः॥२॥

इह इत्तरियम्मि आऊए, जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरा कडं, समयं गोयम ! मा पमायए॥६३॥

इत्युक्तदृष्टान्तेन, इत्वरे स्वल्पकालपरिमाणे, मनुष्याऽऽयुषिभो गौतम ! पुरा कृतं रजः प्राचीनकृतं पातकं दुष्कर्म, विशेषेण धुनीहि जीवात् पृथक कुरु। हे गौतम ! पुनर्जीविते के अर्थात् सोपक्रमे आयुषि, बहवः प्रत्यवाया उपघातहेतवोऽध्यवसायाऽऽदयो वर्तन्ते यस्मिन् तद् बहुप्रत्यवायकं, तस्मिन् बहुप्रत्यवायके, समयमपि मा प्रमादं कुर्याः। अत्राऽऽयुःशब्देन निरुपक्रमं आयुर्भण्यते, जीवितशब्देन सोपक्रमं भण्यते। एतिप्राप्नोति उपक्रमहेतुभिरनपवर्त्यतया यथास्थित्या एव अनुभवन्निति आयुः। तस्मिन्नायुषि निरुपक्रमे आयुषि स्वल्पपरिमाणेऽपि दुष्कृतं दूरीकुरु। यद्यपि पूर्वकोटिप्रमाणयुर्भवति, तथापि देवापेक्षया स्वल्पमेव ज्ञेयम्, अतृप्तत्वात्। यदुक्तम् – ''धनेषु जीवितव्येषु, रतिकामेषु भारत ! अतृप्ताः प्राणिनः सर्वे, याता यास्यन्ति यान्ति च ॥१॥'' अत्र सोपक्रमनिरुपक्रमायुर्ज्ञानं केवलिन एव भवेत्। उत्त० १० अ०।

ता किमत्थं आउसो ! नो एवं चिंतेयव्वं भवइ। अंतराय – बहुले खलु अयं जीविए, इमे बहवे वाइयपित्तियसिंभिय– संनिवाइया विविहा रोगाऽऽयंका फुसंति जीवियं ॥

तावदादौ किमर्थं नैवं चिन्तयितव्यम्, हे आयुष्मन् ! त्वं शृणु, यतो भवति अन्तरायबहुलं विघ्नप्रचुरमिदं, खलु निश्चये, जीवितमायुर्जीवानाम्। तथा–इमे प्रत्यक्षा बहवो वातिका वातरोगोद्भवाः, पैत्तिकाः पित्तरोगजाः (सिंभिए त्ति) श्लेष्मभवाः, सान्निपातिकाः सन्निपातजन्याः, विविधा अनेकप्रकारा रोगा व्याधयः, ते च ते आतङ्काश्च कृच्छ्रजीवितकारिण इति रोगाऽऽतङ्का जीवितं स्पृशन्तीति। तं०। शरीरे, उत्त० १० अ०।

भगवान् श्रीमहावीरदेवो गौतमस्वामिनमुद्दिश्यान्यानपि भव्यजीवानुपदिशति –

दुमपत्तएँ पंडुए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए। एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

हे गौतम ! एवमनेन दृष्टान्तेन, मनुजानां मनुष्याणां, जीवितं जानीहि, त्वं समयं समयमात्रमपि, मा प्रमादीः प्रमादं मा कुर्याः। अत्र समयमात्रग्रहणमत्यन्तप्रमादनिवारणार्थं, अनेन केन दृष्टान्तेन? तद् दृष्टान्तमाह – यथा रात्रिगणानामत्यये गमने, रात्रीणांगणा रात्रिगणाः कालपरिणामाः रात्रिदिवससमूहाः, तेषामत्ययेऽतिक्रमे पाण्डुरं द्रुमपत्रकं पक्वं वृन्तात् शिथिलप्रायं पर्णं निपतति, तथैव दिनानामत्यये आयुर्लक्षणे वृन्ते शिथिले जाते सति जीवितं शरीरं पतति। जीवो जातो यस्मिन् तज्जीवितं, शरीरमित्यर्थः। जीवितस्य कालस्य विनाशाभावाद् जीवितशब्देन शरीरमुच्यते। उत्त० १० अ०। जीवितमिव जीवितम्। द्वादशाङ्गे श्रुते, मर्यादायां च। विशे०। आ० म०।

जीवियंतकरण पुं० (जीवितान्तकरण) प्राणवधे, प्राणवधस्य चैतद् गौणं नाम। प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

जीवियट्ठि (ण्) पुं० (जीवितार्थिन्) जीवितुकामे, ''जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी।'' दश० ६ अ० १ उ०। आचा०। सूत्र०। ''आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी।'' इहासंयमजीवितार्थी प्रभूतकालं सुखेन जीविष्यामीत्येतदध्यवसायी आयं कर्माऽऽश्रवलक्षणं न कुर्यात्। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

जीवियणाम (ण्) न० (जीवितनामन्) जीविकाहेतौ नामनि, अनु०। ''से किं तं जीवियणामे ? जीवियणामे अवकरए उक्कुरुडिए उंभिअए कज्जवए सुप्पए। सेत्तं जीवियणामे।'' ''से किं तं जीवियणामे'' इत्यादि। इह यस्या जातमात्रमपत्यं म्रियते सा लोकस्थितिवैचित्र्याज्जातमात्रमपि किञ्चिदपत्यं जीवननिमित्तमवकराऽऽदिष्वस्यति तस्य चावकरक उत्कुरुटक इत्यादि यन्नाम क्रियते तज्जीविकाहेतोः स्थापनानामाऽऽख्यायते। (सुप्पए त्ति) सूर्पे कृत्वा त्यज्यते, तस्य सूर्पक एव नाम स्थाप्यते, शेषं प्रतीतम्। अनु०।

जीवियभावणा स्त्री० (जीवितभावना) जीवसमाधानकारिण्यां भावनायाम्, सूत्र०।

यथा भूतेषु मैत्री संपूर्णभावमनुभवति तथा दर्शयितुमाह –

भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे बुसीमओ। साहू जगं परिन्नाय, अस्सिं जीवितभावणा ॥४॥

''भूएहिं'' इत्यादि। भूतैः स्थावरजङ्गमैः सह विरोधं न कुर्यात्, तदुपघातकारिणमारम्भं तद्विरोधकारणं दूरतः परिवर्जयेदित्यर्थः। स एषोऽनन्तरोक्तो भूताविरोधकारी, धर्मः स्वभावः, पुण्याऽऽख्यो वा, (बुसीमओ त्ति) तीर्थकृतोऽयं सत्संयमवतो वेति। तथा सत्संयमवान् साधुस्तीर्थकृज्जगच्चराचरभूतग्रामाऽऽख्यं केवलाऽऽलोकेन सर्वज्ञप्रतीताऽगमपरिज्ञानेन वा परिज्ञाय सम्यगवबुध्यास्मिन् जगति मौनीन्द्रे वा धर्मे भावनाः पञ्चविंशतिरूपा द्वादशप्रकारा वा या अभिमतास्ता जीवितभावना जीवससाधानकारिणीः सत्संयमाङ्गतया मोक्ष – कारिणीर्भवेयदिति। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

जीवियमरणनिरवकंख त्रि० (जीवितमरणनिरवकाङ्क्ष) जीवितमरणयोर्विषये निरवकाङ्क्षो जीवितमरणानिरवकाङ्क्ष। जीवितमरणयोर्विषये वाच्छारहिते, कल्प० ६ क्षण।

जीवियरसभ पुं० (जीविकरसभ) साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

जीवियरेहा स्त्री० (जीवितरेखा) मणिबन्धादुत्थाय तर्जन्यङ्गुष्ठकान्तर्गतायां रेखायाम्, कल्प०।

''मणिबन्धात्पितुर्लेखा, करभाद्विभवायुषोः।
लेखे द्वे यान्ति तिस्रोऽपि, तर्जन्यङ्गुष्ठकान्तरम् ॥११॥
येषां रेखा इमास्तिस्रः, संपूर्णा दोषवर्जिताः।
तेषां गोत्रधनायूंषि, संपूर्णान्यन्यथा न तु ॥१२॥
उल्लङ्घ्यन्ते च यावन्त्यो–ऽङ्गुल्यो जीवितरेखया।
पञ्चविंशतयो ज्ञेया–स्तावन्त्यः शरदां बुधैः'' ॥१३॥ कल्प० १ क्षण।

जीविया स्त्री० (जीविका) 'जीव' आकन्–इत्वम्। जीवनोपाये, आजीवने च। वाच०। वृत्तौ, स्था० ४ ठा० २ उ०। आजन्मनिर्वाहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कल्प०। ''सा जीविया पइविया चिरेण।'' सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

जीवियारिह त्रि० (जीविकार्ह) जीविकोचिते, भ० ११ श० ११ उ०। आजन्मनिर्वाहयोग्ये, ''विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइ।'' ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कल्प०। औ०।

जीवियासंसप्पओग पुं० (जीविताऽऽशंसाप्रयोग) जीवितं प्रत्याशंसा चिरं मे जीवितं भवन्विति जीविताऽऽशंसाप्रयोगः। आशंसा–

प्रयोगभेदे, स्था० १० ठा० । जीवितं प्राणधारणं, तदाशंसायास्तभिलाषस्य प्रयोगः, यदि बहुकालमहं जीवेयमिति । संलेखनायास्तृतीयेऽतिचारे, उपा० १ अ० । तथा कश्चित्कृतानशनः प्रभूतपौरजनव्रातविहितमहामहः सततावलोकनात्प्रचुरवन्दारुवृन्दवन्दनसंमर्ददर्शनात् अस्तोकविवेकिलोकसत्कृतश्लोकसमाकर्णनात् पुरतः संभूय भूयो भूयः सद्धार्मिकजनविधीयमानोपबृंहणश्रवणात् अनघसमस्तसङ्घजनमध्यसमारब्धपुस्तकवाचनवस्त्रमाल्याऽऽदिसत्कारनिरीक्षणाश्चैवं मन्यते–प्रतिपन्नानशनस्यापि मम जीवितमेव सुचिरं श्रेयः, यत एवंविधा मदुद्वेशेन विभूतिर्वर्तत इति जीविताऽऽशंसाप्रयोगः । ध० २ अधि० । आ० चू० । आ० ।

जीवियासंसा स्त्री० (जीविताऽऽशंसा) प्राणधारणाभिलाषायाम्, उपा० १ अ० । जीवितं प्राणधारणं, तत्र पूजाविशेषदर्शनात्, प्रभूतपरिवाराऽऽदिविलोकनात् सर्वलोकश्लाघाश्रवणाच्च एवं मन्यतेजीवितमेव श्रेयः, प्रत्याख्यातचतुर्विधाऽऽहारस्यापि यत एवंविधा मदुद्वेशेनेयं विभूतिर्वर्त्तते इत्याशंसेति तृतीयः । जीविताऽऽशंसासंलेखनायास्तृतीयेऽतिचारे, ध० ३ अधि० ।

जीवियासा स्त्री० (जीविताऽऽशा) जीवितप्राप्तिसंभावनायाम्, भ० १२ श० ५ उ० । जीवितस्य प्राणधारणस्याऽऽशा वाञ्छा जीविताऽऽशा । प्राणधारणवाच्छायाम्, रा० । नि० । ज्ञा० । लोभकषायभेदे, स० ५२ ।

जीवियासामरणभयविप्पमुक्क त्रि० (जीविताऽऽशामरणभयविप्रमुक्त) जीवितस्य प्राणधारणस्याऽऽशा वाञ्छा मरणाश्च यद्भयं, ताभ्यां विप्रमुक्तो जीविताऽऽशामरणभयविप्रमुक्तः । जीविताऽऽशामरणभयोपेक्षके, नि० १ वर्ग १ अ० । ज्ञा० । रा० ।

जीवुप्पत्ति स्त्री० (जीवोत्पत्ति) त्रसस्थावरान्यतप्राणिप्रादुर्भावे, सेन० । अथ वृद्धपं कनकविजयगणिकृतप्रश्नाः, तदुत्तराणि च–अचित्ताशनाऽऽदिचतुष्कमध्ये रात्रौ असजीवानां स्थावरजीवानां चोत्पत्तिर्भवति, न *वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्–रात्रावचित्ताशनाऽऽदिचतुष्कमध्ये* ''तज्जोणिआण जीवाणं, तहा संपाइमाण य । निसि भत्ते वहो दिट्ठो, सव्वंदसीहि सव्वहा'' ॥१॥ इतिश्राद्धदिनकृत्यसूत्रवचनात्, तथा–''अक्खइ तिहु अणणाहो, दोसो संसत्ति होइ राईए । भत्ते तग्गंधरसा, रसेसु रसिअ, जिआ हुंति'' ॥१॥ इति बूटकगाथाऽनुसारेण च स्थावरजीवोत्पत्तिः संभाव्यते, न तत्र त्रसजीवानाम्, रात्रियोगादिति । ४८ प्र० । सेन २ उल्ला० ।

जीवोद्धरण न० (जीवोद्धरण) मन्त्रशास्त्रभेदे, स्था० ६ ठा० ।

जीह ध० (लस्ज) व्रीडायाम्, भ्वादि० –आत्म० –अक० –सेट् । **''लस्जेर्जीहः''** ॥८।४।१०३॥ इति प्राकृतसूत्रेण लस्जेर्जीहाऽऽदेशः । जीहइ, लज्जइ । प्रा० ४ पाद । लज्जते, अलज्जिष्ट । निष्ठायामनिट्, तस्य नः । लग्नः । वाच० ।

जीहगार पुं० (जिहाकार) 'जिब्भगार' शब्दार्थे, प्रज्ञा० १ पद ।

जीहा स्त्री० (जिह्वा) 'जिब्भा' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद । रसनेन्द्रिये, बृ० १ उ० ।

जीहादुट्ठ पुं० (जिह्वादुष्ट) 'जिब्भादुट्ठ' शब्दार्थे, आव० ४ अ० ।

जीहादोस पुं० (जिह्वादोष) 'जिब्भादोस' शब्दार्थे, आव० ४ अ० ।

जीहादोसणिवुत्त त्रि० (जिह्वादोषनिवृत्त) रसगृद्धिरहिते, बृ० १ उ० ।

जीहामयदुक्ख न० (जिह्वामयदुःख) 'जिब्भामयदुक्ख' शब्दार्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

जीहामयसोक्ख न० (जिह्वामयसौख्य) 'जिब्भामयसोक्ख' शब्दार्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

जीहिंदिय न० (जिह्वेन्द्रिय) 'जिब्भिंदिय' शब्दार्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जीहिंदियनिग्गह पुं० (जिह्वेन्द्रियनिग्रह) 'जिब्भिंदियनिग्गह' शब्दार्थे, उत्त० २६ अ० ।

जीहिंदियसंबर पुं० (जिह्वेन्द्रियसंबर) 'जिब्भिंदियसंबर' शब्दार्थे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

जु पुं० (जु) वेगे, नभसि, स्वके, गतौ स्त्री० एका० । युत्रि. यौति पृथग् भवतीति युः, विचि छान्दसत्वाद्गुणाभावः । पृथग्भूते, जै० गा० । अपृथग्भूते च । 'यु' मिश्रणेऽमिश्रणे चेति वचनात् । जै० गा० ।

जुअल (देशी) – तरुणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जुअलिअ (देशी) द्विगुणिते, दे० ना० ३ वर्ग ।

जुइ ती (द्युति) – स्त्री० द्युत इन् वा ङीप् । **''द्यय्यर्यां जः''** ।८।२।२४। इति प्राकृतसूत्रेण जः । प्रा० २ पाद । स्फुरणे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । शरीराऽऽभरणाऽऽदिदीप्तौ, स० ३० सम० । औ० । सूत्रा० । द्युतिवक्तव्यताप्रतिबद्धे निरयाऽऽवलिकोपाङ्गस्य वृष्णिदशानामकपञ्चमवर्गस्य षष्ठेऽध्ययने, नि० १ वर्ग० । (तद्वक्तव्यता निशठवत्, सा च 'निसढ' शब्दे वक्ष्यते) आन्तरे तेजसि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । तपोदीप्तौ, तेजोलेश्यायाम्, उत्त० १ अ० । माहात्म्ये च, द्युतिः प्रेमा माहात्म्यमित्यर्थः । स्था० ६ ठा० । कान्तौ, शोभायाम्, प्रकाशे च । वाच० । 'जु' क्तिन् । इष्टार्थसम्प्रयोगे च, 'जु' *अभिगमने इति* वचनात् । जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

✱ **जुति** स्त्री० । पुं० । क्तिन् । मिश्रीकरणे, प्रव० ६ द्वार । युक्तौ, इष्टपरिवाराऽऽदिसंयोगे, स्था० । (जुइ त्ति) द्युतिर्दीप्तिः शरीराऽऽभरणाऽऽदिसंभवा, युतिर्वा युक्तिरिष्टपरिवाराऽऽदिसंयोगलक्षणेति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । वस्तुघटनायां च, (सव्वज्जुईए) सर्वद्युत्या ऽऽभरणाऽऽदिसंबन्धिन्या सर्वयुक्त्या वा उचितेषु वस्तुघटना लक्षणयेति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । द्युत्या यथाशक्ति विस्फारितेन शरीराऽऽभरणतेजसेति । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

जुइमं त्रि० (द्युतिमत्) द्युतिर्दीप्तिरतिशायिनी विद्यते यस्य सः । उत्त० ५ अ० । दीप्तिमति, सूत्रा० १ श्रु० ६ अ० । तेजस्विनि, उत्त० १८ अ० । आचा० ।

जुई स्त्री० (द्युति) द्युत इन् ङीप् । 'जुइ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

जुउंछ स्त्री० (जुगुप्स) 'गुप्' निन्दायां स्वार्थे सन् । ''जुगु –

प्सेझुंण–दुगुच्छ–दुगंछाः'' ॥८।४।४॥ इति प्राकृतसूत्रेण जुगुप्सेरेते त्रय आदेशाः। फुणइ, दुगुच्छइ, दुगंछइ। पक्षेजुगु –च्छइ। गलोपे–दुउच्छइ, दुउंछइ। पक्षे–जुउच्छइ, जुउंछइ। प्रा० ४ पाद। वाच०।

जुउंघिय त्रि० (जुगुप्सित) निन्दिते, नि० चू० ४ उ०।

जुंगिय पुं० (जुङ्गिक) जातिकर्मशरीराऽऽदिभिर्दूषते, ग०। जातिकर्मशरीराऽऽदिभिर्दूषितो जुङ्गितः। तत्र मातङ्गकौलिकवरुट–सूचिकछिम्पकाऽऽदयोऽस्पृश्या जातिजुङ्गिता स्पृश्या अपि, स्त्रीमयूरकुक्कुटाऽऽदिपोषकाः वंशवरत्राऽऽरोहणा नापितसौकरिकवागुरिकत्वाऽऽदिनिन्दितकर्मकारिणः कर्मजुङ्गिताः, करचरणकर्णाऽऽदिवर्जिताः पङ्गुकुब्जवामनककाणप्रभृतयः शरीरजुङ्गिता। ग० १ अधि०। ध०। व्य०। नि० चू०। (जुङ्गितस्य दीक्षाऽनर्हत्वं 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३२२ पृष्ठे उक्तम्)

वितियपदे दिक्खेज्ञा–

जाहे य माहणेहिं, परिभुत्ता कम्मसिप्पपडिविरता।
अट्ठाणए विदेसे, दिक्खा से उत्तिमट्ठे य ॥४१६॥

जाहे जुंगितो महायणमाहणेहिं परिभुत्तो ताहे दिक्खिज्जति, कम्मसिप्पविरता माहणादिभुत्ता तया दिक्खिज्जंति, सरीरजुंगितो अ दिक्खित्तो उत्तिमट्ठे वा। नि० चू० ११ उ०। पं० भा०। पं० चू०।

जुङ्गित पुं०। जातिकर्मशरीराऽऽदिभिर्दूषिते, ग० १ अधि०। खण्डीकृते, व्य० ३ उ०। पिं०।

जुंगियंग त्रि० (जुङ्गिताङ्ग) व्यङ्गिते, स्था० ५ ठा० ३ उ०। कर्त्तितहस्तपादाऽऽद्यवयवे, पिं०।

जुंज धा०(युज्) बन्धने, युतौ च। चुरा० उभ०। पक्षेभ्वादि० – पर० – सक० – सेट्। **''युजो जुंजजुज्झजुप्पाः''** ॥८।४।१०६॥ इति प्राकृतसूत्रेण युजेरेते त्रय आदेशाः। जुंजइ, जुज्झइ, जुप्पइ। योजयति, योजयते। प्रा० ४ पाद। योगे, समाधौ, दिवा० – अक० – अनिट्। युज्यते, अयुक्त। वाच०। 'जुंजइ य जहत्थामं।' 'युजिर्' योगे, योजयति च। नि० चू० १ उ०।

जुंजण न० (योजन) 'युज्' भावादौ ल्युट्। संयोगे, णिच् ल्युट्। संयोगकरणे, वाच०। व्यापारणे, ''इंदियाण य जुंजणे'' श्रोत्रनेत्ररसनानासात्वगादीनामिन्द्रियाणां शब्दरूपरसगन्ध-रूपर्शाऽऽदिविषयेषु व्यापारणे, उत्त० २४ अ०। ''सव्विंदियजोगजुंजणया।'' स्था० ७ ठा०।

जुंजणा स्त्री० (योजना) व्यापारणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड।

जुंजणाकरण न० (योजनाकरण) मनःप्रभृतीनां व्यापारणकरणे, नोश्रुतकरणभेदे च। नोश्रुतकरणभेदमधिकृत्य–''तह य जुंजणाकरणं।'' योजनाकरणं च मनःप्रभृतीनां व्यापारणम्। (आ०म०)

साम्प्रतं योजनाकरणं व्याचिख्यासुराह –

जुंजणकरणं तिविहं, मणवयकाए मणसि सच्चाई।
सट्ठाणे तब्भेदो, चउ चउहा सत्तहा चेव ॥

योजनाकरणं त्रिविधम्। तद्यथा–मनोवाक्काये मनोवाक्कायविषयं-मनोविषयं, वाग्विषयं, कायविषयं चेत्यर्थः। तत्र मनसि सत्याऽऽदिकं यद् योजनाकरणम्। तद्यथा–सत्यमनोयोजनाकरणम्, असत्यमनोयोजनाकरणम्, सत्यामृषामनोयोजनाकरणम्, असत्यामृषामनोयोजनाकरणमिति। स्वस्थाने प्रत्येकं मनोवाक्कायलक्षणे, तेषां योजनाकरणानां, भेदो विभागो वक्तव्यः। तद्यथा–चतुर्द्धा, चतुर्धा, सप्तधा चैवेति। अयमत्र भावार्थ :– चतुर्भेदं सत्यमनोयोजनाकरणाऽऽदि दर्शितम्, एवं वाग्योजनाकरणमपि सत्यवाग्योजनाकरणमिति। आ० म० १ अ० २ खण्ड। आ० चू०।

जुंजुरुडो (देशी) अपरिग्रहे, दे० ना० ३ वर्ग।

जुगंछ जुगुप्स – 'जुउंछ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद।

जुग धा० (जुग) त्यागे, भ्वादि० – पर० – सक० – सेट्, इदित्। युङ्क्ति, अयुङ्क्षीत्। वाच०।

*** युग** – धा०। वर्जने, भ्यादि० – पर० – सक० – सेट्, इदित्। वाच०।

*** युगि** – अच्, पृषो० – नलोपः। युग्मे, द्वित्वसंख्याऽन्विते, वृद्धिनामौषधे, हस्तचतुष्कपरिमाणे च। न०। वाच०। चतुर्हस्त –प्रमाणे यूपे, प्रव० १०४ द्वार। प्रश्न०। स्था०। भ०। तं०। जी०। शकटाङ्गविशेषे, जं० ३ वक्ष०। ''दुद्वंते भंजए जुगं।'' युगं जुसरम्। उत्त० २ अ०। ''उसु चोइया तत्तजुगेसु जुत्ता।'' सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। ''सुजायजुगजुत्तछ्छुगप-सत्थसुविरइयनिम्मियं।'' उपा० २ अ०। ज्ञा०। शकटाङ्ग-विशेषाऽऽत्मके करचरणस्थे पुरुषलक्षणाविशेषे, जं० ३ वक्ष०। चतुर्विंशत्यङ्गुलमानैश्चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्नेऽवमानप्रमाण-साधनेऽवमानविशेषे, अनु०। यदवमीयते खाताऽऽदितदव-मानम्। केनावमीयते ? इत्याह– ''हत्थेण वा दंडेण वा धणुक्केण वा जुगेण वा नालिआण वा अक्खेण वा मूसलेण वा।'' चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्ना अवमानाविशेषा दण्डधर्नुयुगनालिकाक्षमुशलरूपाः षट् संज्ञाः लभन्ते। अत एवाऽऽह – ''दंड धणू जुगनालिया य अक्खं मुसलं च चउहत्थं।'' अनु०। जं०। ज्यो०। स०। लोकप्रसिद्धे कृतयुगाऽऽदिके सत्यत्रेताद्वा परकलिरूपे कालविशेषे, स्था०। पञ्चवर्षाऽऽत्मके सुषमदुष्षमाऽऽदिके कालमानविशेषे च। स्था० ३ ठा० ४ उ०। ''पंचसंवच्छ रिए जुगे'' जं० २ वक्ष०। कर्म०। विशे०। स्था०। अनु०। आ० म०। तं०। भ०। कल्प०। ज्ञा०। (तानि पञ्च संवत्सराणि 'पव्व' शब्दे वक्ष्यामः)

तथा –

चंदो चंदो अभिव – ड्ढिओय चंदमभिवड्ढिओ चेव
पंचसहियं जुगमिणं, दिट्ठं तेल्लोक्कदंसीहिं ॥

चान्द्रश्चान्द्रस्तदनन्तरमभिवर्द्धितभूतो भूयश्चान्द्रः। अत्र मकारोऽलाक्षणिकः। ततोऽभिवर्द्धितः। एतैः पञ्चभिर्वर्षैः सहितम्। किमुक्तं भवति ? एतत् पञ्चवर्षात्मकं युगम्। इत्थ म्भूतं युगमिदं दृष्टं त्रैलोक्यदर्शिभिः सर्वज्ञैस्तीर्थकृद्भिः, ततोऽवश्यमिदं तथेति श्रद्धेयम्।

एतदेव व्याख्यानयति –

पढमविइयाउ चंदा, तइअं अभिवड्ढियं वियाणाहि।
चंदे चेव चउत्थं, पंचममभिवड्ढियं जाण ॥

युगे पञ्चसंवत्सराऽऽत्मकेऽनन्तरमुद्दिष्टे प्रथमद्वितीयौ संवत्सरौ चान्द्रौ ज्ञातव्यौ, तृतीयसंवत्सरमभिवर्धितं जानीहि। चतुर्थ –

संवत्सरं भूयश्चान्द्रमेव जानीहि, पञ्चममभिवर्द्धितम्। अत्र ये चान्द्राः संवत्सराः, ते द्वादशमासिकाः, यौ तु द्वावभिवर्द्धिता ऽऽख्यौ संवत्सरौ, तौ त्रयोदशमासिकौ चान्द्रमासप्रमाणेन। अत्र द्वितीयस्य चान्द्रसंवत्सरस्य य आदिसमयस्तदनन्तरं पञ्चाद्भावी समयः प्रथमचान्द्रसंवत्सरस्य पर्यवसानं च। तदानीं च चन्द्रमसो योग उत्तराषाढाभिः, उत्तराषाढानां च तदानीं शेषीभूताः षड्विंशतिर्मुहूर्त्ताः, षड्विंशतिश्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काश्चतुः पञ्चाशद् भागाः। उक्तं च – ''जे णं वेच्चंदसंवच्छरस्स आई से णं पढमस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छाकडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ? ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं छव्वीसमुहुत्ता, छव्वीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता चउपण्णासं चुण्णिया सेसा'' इति। तदानीं च सूर्यस्य योगः पुनर्वसुनक्षत्रेण, पुनर्वसुनक्षत्रस्य च तदा शेषीभूताः षोडश मुहुर्त्ताः, अष्टौ द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्का विंशतिर्भागाः। उक्तं च – ''तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ? ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स सोलस मुहुत्ता, अट्ठ य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता वीसं चुण्णिया भागा सेसा'' इति। तृतीयस्याभिवर्द्धिताऽऽख्यस्य संवत्सरस्य य आदिसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयो द्वितीयस्य चान्द्रसंवत्सरस्य पर्यवसानं, तदानीं च चन्द्रमसो योगः पूर्वाषाढाभिः, तासां च पूर्वाषाढानां शेषीभूताः सप्त मुहूर्त्तास्त्रिपञ्चाशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्का एकोनचत्वारिंशद्भागाः। उक्तं च – ''जे णं तच्चस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स आई से णं दोयस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छा कडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ? ता पुव्वाहिं आसाढहिं, पुव्वाणं आसाढाणं सत्त मुहुत्ता, तिपण्णासं च बावट्ठिभागा सुहुत्तस्स, बावट्ठिं च सत्तट्ठिहा छित्ता उणयलीसं चुण्णिया भागा सेसा'' इति। तदानीं च सूर्यस्य योगः पुनर्वसुनक्षत्रेण, तस्य च पुनर्वसुनक्षत्रस्य तदा शेषीभूता द्विचत्वारिंशन्मुहूर्ताः, पञ्चत्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहुर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काः सप्त भागाः। उक्तं च – ''तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ? ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स बायालीसं सुहुत्ता, पणतीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता सत्त चुण्णिया भागा सेसा'' इति। चतुर्थस्य संवत्सरस्य य आदि समयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयस्तदनन्तरमभिवर्द्धिताऽऽख्यस्य संवत्सरस्य पर्यवसानं तदानीं यश्चन्द्रमसो योग उत्तराषाढाभिः, तासामुत्तराषाढानां शेषीभूतानां तदानीं त्रयोदश मुहुर्त्तास्त्रयोदश च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काः सप्तविंशतिर्भागाः। उक्तं च – ''जे णं चउत्थस्स संवच्छरस्स आई से णं तच्चस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छे कडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ? ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं तेरस मुहुत्ता, तेरस य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता सत्तावीसं चुण्णिया भागा सेसा'' इति। तदानीं च सूर्यस्य योगः पुनर्वसुन क्षत्रेण, पुनर्वसुनक्षत्रस्य च तदा द्वौ मुहुर्त्तौ षट्पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागा मुहुर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काः षष्टिभागाः शेषाः। उक्तं च – ''तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ? ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स दो मुहुत्तभागा छप्पन्नं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिं च सत्तट्ठिहा छित्ता सट्ठी चुण्णिया भागा सेसा'' इति। पञ्चमस्य त्वभिवर्द्धितस्य संवत्सरस्य य आदिसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयश्चतुर्थस्य चान्द्रस्य संवत्सरस्य पर्यवसानं, तदा च चन्द्रमसो योग उत्तराषाढानक्षत्रेण, तस्य चोत्तराषाढानक्षत्रस्य तदानीं शेषीभूता एकोनचत्वारिंशन्मुहूर्त्ताश्चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा प्रविभक्तस्य सप्तचत्वारिंशद् भागाः। उक्तं च – ''जे णं पंचमस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स आई से णं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छाकडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ? ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं गुणतालीसं मुहुत्ता, चत्तालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता छीयालीसं (?) चुण्णिया भागा सेसा'' इति। तदानीं च योगः सूर्यस्य पुनर्वसुन क्षत्रेण, तस्य च पुनर्वसुनक्षत्रस्य तदा शेषी भूता एकोनत्रिंश न्मुहुर्त्ताः एकविंशतिर्द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काः सप्तचत्वारिंशद् भागाः। उक्तं च – ''तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ? ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स अउणातीसं मुहुत्ता एगवीसं च बावट्ठि भागा, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता छीयालीसं (?) चुण्णिया भागा सेसा'' इति। यश्च द्वितीयस्य युगस्याऽऽदिभूतस्य चन्द्रसंवत्सरस्य प्रथमसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयः पञ्चमस्याभिवर्द्धितसंवत्सरस्य पर्यवसानं तदानीं चन्द्रमसो योग उत्तराषाढानक्षत्रेण, सोऽपि चरमसमयवर्ती सूर्यस्याऽपि च पुष्यनक्षत्रेण पुण्यस्याऽपि च तदानीं वर्षीभूता एकविंशतिमुहूर्त्तास्त्रिंयश्चत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य त्रयस्त्रिंशद् भागाः। उक्तं च – ''ता जे णं पढमस्स चंदसंवच्छरस्स आई से णं पढमस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छाकडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोइए ? ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरमसमए। तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ? ता पुस्सेणं, एक्कवीसं मुहुत्ता तेयालीसं च, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता तेत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा'' इति। सर्वत्र च सुर्यनक्षत्रयोगचिन्तायां मुहूर्त्ताः सूर्यमुहूर्त्ता वेदितव्याः, न तु व्यावहारिकाः।

संप्रति युगेऽपि तौल्यरूपतया मेयरूपतया च परिमाणमतिदेशेन प्रतिपादयन्नाह –

चंदमभिवड्ढियाणं, वासाणं पुव्ववन्नियाणं च।
तिविहं पि तं पमाणं, जुगम्मि सव्वं निरवसेसं॥

चन्द्राभिधानानां त्रयाणां संवत्सराणां, द्वयोश्चाभिवर्द्धि-संवत्सरयोरित्यर्थः। कथंभूतानामित्याह–पूर्ववर्णितानां पूर्वं प्राक् अहोरात्राऽऽदिप्रमाणेन तौल्यरुपतया वाऽभिहितानां, समुदायरूपे युगे त्रिविधमप्यहोरात्राऽऽदिरूपतया तत्प्रमाणं सर्वं निरवशेषमवगन्तव्यम्। तत्राहोरात्राप्रमाणं युगेऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि। १८३०। तथाहि – युगे चान्द्रसंवत्सरास्त्रयः, द्वौ चाभिवर्द्धितसंवत्सरौ, चान्द्रसंवत्सरे चैकस्मिन्नहोरात्राणां त्रीणि शतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि। द्वादश च द्वाषष्टिभाग

अहोरात्रस्य ३५४। १२/६२। तदेतत् त्रिभिर्गुण्यते, जातान्यहोरात्राणां दश शतानि द्वाषष्टयधिकानि षट्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य १०६२। ३६/६२। अभिवर्द्धितसंवत्सरे चैकस्मिन्नहोरात्राणां त्रीणि शतानि त्र्यशीत्यधिकानि, चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य ३८३। ४४/६२। एतद् द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि सप्त शतानि षट्षष्ट्यधिकानि, अहोरात्रस्य प्रकृताश्च षट्त्रिंशद् द्वाषष्टिभागा अष्टाशीतौ प्रक्षिप्यन्ते, जातं चतुर्विंशत्यधिकं शतम् १२४। तस्य द्वाषष्ट्या भागे हृते लब्धौ द्वावहोरात्रौ, तौ पूर्वेष्वहोरात्रेषु मध्ये प्रक्षिप्येते, ततः सर्वसंकलनया जाता अहोरात्रा अष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३०। एतावन्तो युगेऽहोरात्राः। यदा तु मुहूर्त्तपरिमाणं चिन्त्यते, तदा एकैकस्मिन्नहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्त्ता इत्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि अहोरात्राणां त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि ५४९००। एतावन्तो युगे मुहूर्त्ताः। तथा चोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ – 'पंचसंवच्छरिए णं भंते ! जुगे केवइआ मुहुत्ता पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचसंवच्छरिए णं जुगे दस अयणा, तासं उऊ, सट्ठी मासा, एगे वीसुत्तरे पक्खसए, अट्ठारस तीसा अहोरत्तसया, चउपण्णं मुहुत्तसहस्सा नव सया पन्नत्ता'' इति। (जं ७ वक्ष०) अत्र षष्टिर्मासा विंशत्युत्तरं च पक्षशतं सूर्यसंवत्सरापेक्षया द्रष्टव्यम्, ततो न कश्चिद् वक्ष्यमाणपौर्णमास्यादिसंख्यानेन। एकस्मिन्मुहूर्त्तोपरि चत्वार आढकाः, ततो यन्मुहूर्त्तपरिमाणं चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि तत् चतुर्भिर्गुण्यते ततो यथोक्तमाढकपमिाणं भवति। तथा– एकैकस्मिन्नहोरात्रे मेयरूपतया परिमाणं त्रयो भाराः, अहोरात्राणां च युगे अष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि, ततस्तानि त्रिभिर्गुण्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नवत्यधिकानि ५४९०। एतावन्तो भागा युगे। ज्यो० २ पाहु०।

युगेऽयनाऽऽदिप्रमाणं पृच्छन्नाह –

पंचसंवच्छरिए णं भंते ! जुगे केवइआ अयणा, केवइआ उऊ, एवं मासा, पक्खा, अहोरत्ता, केवइआ मुहुत्ता पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचसंवच्छरिए णं जुगे दसं अयणा, तीसं उऊ, सट्ठी मासा, एगे वीसुत्तरे पक्खसए, अट्ठारसतीसा अहोरत्तसया, चउपण्णं मुहुत्तसहस्सा णव सया पण्णत्ता।

''पंचसंवच्छरिए णं भंते ! जुगे '' इत्यादि। पञ्च संवत्सराः सौरा मानमस्येति पञ्चसांवत्सरिकं युगम्, अनेन नोत्तरसूत्रेण ''दस अयणा'' इत्यादिकेन विरोधः, चान्द्रसंवत्सरोपयोगिनां चन्द्रायणानां तु चतुस्त्रिंशदधिकशतस्य संभवात्। जं० ७ वक्ष०।

संप्रति युगे सर्वसंख्यया तिथिपरिमाणमहो –

रात्रपरिमाणं च प्रतिपादयति –

अट्ठारस सट्ठिसया, तिहीण नियमा जुगम्मि नायव्वा।
तत्थेव अहोरत्ता, तीसा अट्ठारससया उ॥

इह तिथयः राशिसंभवाः, अहोरात्रास्तु सूर्यसंभवाः, तत्र युगे तिथीनां नियमाद्भवन्त्यष्टादश शतानि षष्ट्यधिकानि ज्ञातव्यानि। कथमिति चेत् ? उच्यते – इह सूर्यैककमर्द्धमण्डलमेकेनाहोरात्रेण परिमिमिते मापयति, तस्य चाहोरात्रस्य षष्टिभागो वर्द्धते, युगे चाहोरात्राणामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि। तत एकषष्टिभागा अपि प्रवर्द्धमाना एतावन्तो लभ्यन्ते। तत एतेषां तिथिकरणार्थमेकषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रिंशत्तिथयः, ता अहोरात्रस्योपर्यधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते। तत आगतं यथोक्ततिथिपरिमाणमिति। तथा तत्रैवैकस्मिन् युगे अहोरात्रा अष्टादश शतानि त्रिंशानि – त्रिंशदधिकानि भवन्ति। तथाहि– एकस्मिन् युगेऽन्यूनातिरिक्तानि पञ्च सूर्यवर्षाणि भवन्ति, एकैकस्मिंश्च सूर्यवर्षे त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि अहोरात्राणां, तानि पञ्चभिर्गुण्यन्ते, ततो यथोक्तमहोरात्रपरिमाणं भवति॥

तत्थ पडिमिज्जमाणे, पंचहिं माणेहि पुव्वगणिएहिं।
मासेहिं विभज्जित्ता, जइ मासा होंति ते वोच्छं॥

तत्रानन्तरोक्तस्वरूपे युगे पञ्चभिर्मानैर्मानसंवत्सरैः, आदित्यसंवत्सराऽऽदिभिरित्यर्थः। पूर्वगणितैः प्राक्प्रतिसंख्यात स्वरूपैः, प्रतिमीयमाने परिगण्यमाने, मासैः सूर्याऽऽदिमासैः, विभज्यमाना मासा यावन्तो भवन्ति तान् वक्ष्ये।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति –

आइच्चेण उ सट्ठी, मासा उउणा उ होंति एगट्ठी।
चंदेण य वावट्ठी, सत्तट्ठी होंति नक्खत्ती॥

आदित्येन आदित्यमासेन विभज्यमाना मासा युगे भवन्ति षष्टिः षष्टिसंख्याः। तथाहि–सूर्यमासे सार्द्धत्रिंशदहोरात्राः, युगे चाहोरात्राणामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि, तत एतेषां सार्द्धत्रिंशदहोरात्रैर्भागे ह्रियमाणे षष्टिर्मासा लभ्यन्ते। तथा ऋतुना ऋतुसंवत्सरस्य सत्कैर्मासैर्विभज्यमाने युगे एकषष्टिर्मासा भवन्ति। ऋतुमासो हि त्रिंशदहोरात्रप्रमाणः, ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां त्रिंशता भागे हृते एकषष्टिरेव लभ्यत इति। तथा चान्द्रेण चान्द्रसंवत्सरसत्केन मासेन च विभज्यमाना मासा युगे सर्वसंख्यया द्वाषष्टिर्भवन्ति। तथाहि – चान्द्रमासपरिमाणमेकोनत्रिंशद्दिनानि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा दिनस्य, तत एकोनत्रिंशद्दिनानि द्वाषष्टिभागकरणार्थं द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि सप्तदशशतान्यष्टनवत्यधिकानि १७९८। ततो द्वात्रिंशदुपरितना द्वाषष्टिभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३०। येऽपि च युगाहोरात्रा अष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि, तेऽपि द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जात एको लक्षस्त्रयोदशसहस्राणि चत्वारि शतानि षष्ट्यधिकानि। ११३४६०। एतेषामष्टादशतैस्त्रिंशदधिकै श्चान्द्रमाससत्कद्वाषष्टिभागरूपैर्भागो ह्रियते, लब्धाश्चन्द्रमासा द्वाषष्टिः। तथा नक्षत्रेण नक्षत्रमासे, परिगण्यमाने सर्वसंख्यया युगे नक्षत्रमासा सप्तषष्टिर्भवन्ति। तथाहि – नक्षत्रमासः सप्तविंशतिरहोरात्रा एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि नवोत्तराणि १८०९। तत उपरितना एकविंशतिः सप्तषष्टिभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३०। युगस्यापि च संबन्धिनस्त्रिंशदधिकाष्टादशशतप्रमाणा अहोरात्राः सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जात एको लक्षः विंशतिसहस्राणि षट्शतानि दशोत्तराणि १२०६१०। एतेषामष्टादशशतैस्त्रिंशदधिकै श्चन्द्रमास सत्कैद्वोषषष्टिभाग-रूपैर्भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तषष्टिमासाः।

मासा सयपण्णासं, सत्त य राइंदियाइँ अभिवड्ढे।
एक्कारस य मुहुत्ता, विसट्ठिभागा य तेवीसं॥

अभिवर्द्धितसंवत्सरसत्के मासे परिगण्यमाने सर्वसंख्यया युगे अभिवर्द्धितमासाः सप्तपञ्चाशद्भवन्ति, सप्त रात्रिंदिवानि, एकादश मूहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागास्त्रयोविंशतिः। तथाहि– अभिवर्द्धितो मास एकत्रिंशदहोरात्रः, एकविंशत्युत्तरं शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामहोरात्रस्य, तत एकत्रिंशदहोरात्राश्चतुर्विंशत्युत्तरशतभागकरणार्थं चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन गुण्यन्ते; जातान्यष्टात्रिंशच्छतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि ३८४४। तत उपरितनमेकविंशत्युत्तरं शतं भागानां तत्र प्रक्षिप्यते, जातान्येकोनचत्वारिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३९६५। यानि च युगे अहोरात्राणामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, तानि चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन गुण्यन्ते, जाते द्वे लक्षे षड्विंशतिसहस्राणि नव शतानि विंशत्यधिकानि २२६९३०। तत एतेषामेकोनचत्वारिंशच्छतैः पञ्चषष्ट्यधिकैरभिवर्द्धितमाससत्क चतुर्विंशत्युत्तरशतभागरूपैर्भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तपञ्चाशन्मासाः, शेषास्तिष्ठन्ति नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५। तेषामहोरात्राऽऽनयनाय चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धानि सप्त रात्रिंदिवानि, शेषास्तिष्ठन्ति चतुर्विंशतिर्भागाः सप्तचत्वारिंशत्। तत्र चतुर्भिर्भागैरेकस्य च भागस्य सत्कैश्चतुर्भिस्त्रिंशद्भागैस्त्रिंशन्मुहूर्त्ता भवन्ति। तथाहि – एकस्मिन्नहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्त्ताः, अहोरात्रे च चतुर्विंशत्युत्तरं शतं भागानां कल्पितमासे, तस्य चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य त्रिंशता भागे हृते लब्धाश्चत्वारो भागाः, एकस्य च भागस्य सत्काश्चत्वारस्त्रिंशद्भागाः, तत्र पञ्चत्वारिंशद्भागैरेकस्य च भागस्य सत्कैश्चतुर्दशभिस्त्रिंशद्भागैरेकादश मुहूर्त्ता लब्धाः, शेषस्तिष्ठति एको भागः, एकस्य च भागस्य सत्काः षोडश त्रिंशद्भागाः। किमुक्तं भवति ? षट्चत्वारिंशत्त्रिंशद्भागा एकस्य च भागस्य सत्काः शेषास्तिष्ठन्ति, ते च किल मुहूर्त्ते चतुर्विंशत्युत्तरशतभागाः। ततः षट्चत्वारिंशतः चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य च द्विकेनापवर्त्तना क्रियते, लब्धा मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागास्त्रयोविंशतिः। एवं संख्याकैश्च मासैर्यदा अष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानीमहोरात्राणां भागो ह्रियते, तदा यथोक्तमासगतदिवसपरिमाणमागच्छति। तद्यथा–युगे किल सूर्यमासापेक्षया षष्टिर्मासाः, ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां षष्ठ्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रिंशद्दिवसाः, अर्द्धदिवसश्च। एतावन्तो दिवसाः सूर्यमासे। तथा एकषष्टिः कर्ममासा युगे, ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानामेकषष्ठ्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रिंशदहोरात्राः। एतावत् कर्ममासे अहोरात्रपरिमाणम्। ते च मासा युगे द्वाषष्टिः, ततस्त्रिंशदधिकानामष्टादशशतानां द्वाषष्ठ्या भागहरणं, लब्धा एकोनत्रिंशदहोरात्रा द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य, एताव– चन्द्रमासपरिमाणम्। तथा नक्षत्रमासा युगे सप्तषष्टिः। ततः सप्तषष्ठ्या अष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्राश्चैकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागाः। इदं नक्षत्रमासपरिमाणम्। तथा–अभिवर्द्धितमासा युगे सप्तपञ्चाशत्, ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां सप्तपञ्चाशता भागो ह्रियते, लब्धा द्वात्रिंशदहोरात्राः, शेषास्तिष्ठन्ति षट् सप्त। तत्र पञ्चाशन्मासानामुपरि सप्त अहोरात्रा एकादश मुहूर्त्ताः, एकस्य च मूहूर्त्तस्य त्रयोविंशतिर्द्वाषष्टिभागा वर्त्तन्ते। तत्र सप्तभ्य षट् पातिताः, शेष एक अहोरात्रस्तिष्ठति, स चतुर्विंशत्युत्तरशतभागः क्रियते, लब्धा एकादश मूहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोविंशत्युत्तरशतं मध्ये प्रक्षिप्यते, जातमेकसप्तत्यधिकं शतम्। तस्य सप्तपञ्चाशता भागे हृते लब्धास्त्रयश्चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामिति। एतावत्परिमाणमभिवर्द्धितमासस्य। संप्रति सूर्याऽऽदिमासेषु मुहूर्त्ताऽऽदिपरिमाणं चिन्त्यतेतत्र सूर्यमासे त्रिंशदहोरात्राः, एकं चाहोरात्रस्यार्द्धम्, अहोरात्रे च त्रिंशन्मुहूर्त्ताः, ततस्त्रिंशत् त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि, अहोरात्रार्द्धे च पञ्चदश मुहूर्त्ताः, ततः सर्वसंख्यया सूर्यमासे नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि मुहूर्त्तानां भवन्ति ९१५। एकैकस्मिंश्च मुहूर्त्ते द्वे द्वे घटिके, इति नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३०। एतावत्सूर्यमासे घटिकानां परिमाणम्। मेयरूपतया तु चिन्तायामेकैको मुहूर्त्त श्चतुराढकप्रमाण इति मुहूर्त्तानां नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि ३६६०। एतावता सर्वसंख्यया सूर्यमासे आढकाः। तौल्यत्वचिन्तायामेकैकस्मिन्नहोरात्रे त्रयो भाराः, ततस्त्रिंशत् त्रिभिर्गुण्यन्ते, जाता भवतिः ९०, अहोरात्रार्द्धे च सार्द्धो भार इति सर्वसंकलनया सूर्यमासे सार्द्धा एकनवतिर्भाराः। तथा कर्ममासे त्रिंशदहोरात्राः, ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि, एतावन्तः कर्ममासे मुहूर्त्ताः, एत एव मुहूर्त्ता घटिकानयनाय द्वाभ्यां गुण्यन्ते, प्रतिमुहूर्त्तं घटिकाद्वयस्य भावात्, जातान्यष्टादशशतानि १८००। एतावत्कर्ममासे घटिकानां परिमाणम्। तथा मुहुर्त्ते चत्वार आढका इति। तदेवं मुहुर्त्तपरिमाण नवशताऽऽत्मकमाढकाऽऽनयनाय चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि ३६००। एतावन्तो मेयत्वचिन्तायामाढकाः। कर्ममासे तौल्यत्वचिन्तायां प्रत्यहोरात्रं त्रयो भारा इति त्रिंशदहोरात्रास्त्रिभिर्गुण्यन्ते, जाता नवतिः ९०। इयत्संख्याकाः कर्ममासे तौल्यत्वकर्मभाराः। तथा–चन्द्रमास एकोनत्रिंशदहोरात्राः, द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य, तत एकोनत्रिंशद्द्वाषष्टिभागाः तेऽपि मुहूर्त्तगतभागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि षष्ट्यधिकानि ९६०। एतेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्चदश मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति अष्टाशीतिसहस्राणि पञ्चशतोत्तराणि, त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य ८८५००। ३२/६२। एतदेव मुहूर्त्तपरिमाणं घटिकाऽऽनयनाय द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि सप्तदशशतानि सप्तत्यधिकानि, षष्टिश्च द्वाषष्टिभागा घटिकायाः १७७०। ६०/३२। एतच्चन्द्रमासे घटिकापरिमाणम्। तथा प्रागतमेव मुहूर्त्तपरिमाणं सकलमप्याढकाऽऽनयनाय चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि पञ्चत्रिंशच्छतानि एकचत्वारिंशदधिकानि, अष्टापञ्चाशच्च द्वाषष्टिभागा आढकस्य ३५४१। ५८/६२। तत एतावन्मेयत्वचिन्तायां चन्द्रमासे आढकपरिमाणम्। तथा तौल्यत्वचिन्तायामहोरात्रपरिमाणं प्राक्तनमेकोनत्रिंशद्रूपं भाराऽऽनयनाय त्रिभिर्गुण्यते, जाताः साप्ताशीतिः ८७। येऽपि च द्वात्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः, तेऽपि त्रिभिर्गुण्यन्ते, जाता षण्णावतिः ९६। तस्या द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्ध एको भारः, शेषास्तिष्ठन्ति चतुस्त्रिंशत् ३४। ततः सर्वसंख्यया चन्द्रमसा तौल्यत्वचिन्तायमष्टाशीतिर्भाराः, चतुस्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा भारस्य ८८। ३४/६२। नक्षत्रमासः सप्तविंशतिहोरात्रा एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा उपरितनाः, ततः सप्तविंशतिस्त्रिंशता गुण्यन्ते, जातान्यष्टौ शतानि दशधिकानि सभ्भ्युत्तराणि द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य ८१०। ६७/६२। येऽपि चैकविंशतिः सप्तषष्टिभागा

उपरितनाः, तेऽपि त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि षट्शतानि त्रिंशद-धिकानि । एतेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा नव मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति सप्तविंशतिः । मुहूर्त्ताश्च मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि संख्यया मुहूर्त्तानामष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि सप्तविंशतिश्च ८१९/२७/ एकस्य च तस्य सप्तषष्टिभागाः । एतावन्नक्षत्रमासे मुहूर्त्तपरिमाणम् । ततो घटिकापरिमाणाऽऽनयनार्थमेतदेव द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि षोडश शतान्यष्टात्रिंशदधि- कानि, चतुष्पञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा घटिकायाः १६३८ । ५४/६७ । एतावद् घटिकापरिमाणम् । नक्षत्रमासे तौल्यत्वचिन्तायामेकस्मिन्नहोरात्रे त्रयो भागा इति सप्तविंशतिहोरात्रास्त्रिभिर्गुण्यन्ते, जातान्येकाशीतिः, एतस्य रिमाणं नक्षत्रमासे एकाशीतिभारास्त्रिषष्टिश्च सप्तषष्टिभागा भारस्य तथा एकविंशतिरपि त्रिभिर्गुण्यते, जाता त्रिषष्टिः, ततो जातं तौल्यत्वपरिमाणं नक्षत्रमासे एकाशीतिर्भारास्त्रिषष्टिश्च सप्तषष्टिभागा भारस्य । तथा– एकैकस्मिनमुहूर्त्ते चत्वार आढका इति मुहूर्त्तपरिमाणमनन्तरोक्तं सर्वमपि चतुर्भिर्गुण्यते, तत आगतानि नक्षत्रमासे मेयपरिमाणचिन्तायामाढकानं द्वात्रिंशच्छतानि सप्तसप्तत्यधिकान्येकचत्वारिंशच्च सप्तषष्टिभागा आढकस्य ३२७७ । ४१/६७ । अभिवर्द्धितमासे एकत्रिंशदहोरात्राः, एकविंशत्युत्तरं च शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामहोरात्रस्य, तत्र मुहूर्त्ताऽऽनयनार्थमेकत्रिंशदहोरात्रास्त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि त्रिंशदधिकानि ९३० । तदपि चैकविंशत्युत्तरं शतं भागानां, तदपि त्रिंशता गुण्यते, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि त्रिंशदधिकानि ३६३० । एतेषां च चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन भागो ह्रियते, लब्धा एकेनत्रिंशन्मुहूर्त्ताः, शेषमुद्वरति चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां चतुस्त्रिंशच्च-चतुर्विंशत्युत्तरशतभागा मुहूर्त्ता मुहूर्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातमभिवर्द्धिते मासे सर्वसंकलनया मुहूर्तपरिमाणं नवशतान्येकोनष-ष्ट्यधिकानि चतुस्त्रिंशच्च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागाः ९५९ । ३४/१२४ । मुहूर्ते च घटिकाद्वयमित्येतदेव मुहूर्तपरिमाणं घटिकाऽऽनयनाय द्वाभ्यां गुण्यते, जातान्येकोनविंशतिशतान्यष्टादशाधिकानि घटिकानामष्टषष्टि-श्चतुर्विंशत्युत्तरं शतं भागानाम् १९१८ । ६८/१२४ एकैकस्यां च घटिकायां द्वौ द्वावाढकाविति घटिकापरिमाणमिदम् । मेयरूपतया चिन्तायामाढकाऽऽनयनाय द्वाभ्यां गुण्यते, जातान्याढकानामष्टात्रिंश-च्छतानि सप्तत्रिंशदधिकानि, द्वादश च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामाढ-कस्य ३८३७ । १२/१२४ । तथाहि–एकैकस्मिन्नहोरात्रे भास्त्रयमित्ये कत्रिंशदहोरात्रास्त्रिभिर्गुण्यन्ते, जातास्त्रिनवतिर्भाराः । यदपि चैकविंशत्युत्तरं शतमपि त्रिभिर्गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्याधिकानि ३६३ । तेषां च चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन भागो ह्रियते, लब्धौ द्वौ भारा, तौ च पूर्वराशौ प्रक्षिप्येते, शेषं पञ्चंदशोत्तरं शतम्, तत आगतं तत्तौल्यत्वचिन्तायामभिवर्द्धितमासे परिमाणं पञ्चनवतिर्भाराः शतमेके पञ्चदशोत्तरं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानाम् ।९५।११५/१२४ । यदा तु मासस्य त्रिंशत्तमो भागो दिवस इति दिवसलक्षणमनु सूर्यमासाऽऽदिदिवसपरिमाणं चिन्त्यते, तदा यदेव तस्य मासस्य दिवसापेक्षया परिमाणं, तदेव तस्य दिवसस्य मुहूर्तापेक्षया, परिमाणमवसेयम् । यथा सूर्यदिवसस्य त्रिंशन्मुहूर्तपरिमाणं, कर्मदिवसस्य त्रिंशन्मुहूर्ता एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा मुहूर्तस्य, अभिवर्द्धितदिव-सस्यैकत्रिंशन्मुहूर्त्ता एकविंशत्युत्तरं च शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां मुहूर्तस्य । तथा–सूर्यदिवसस्य एकषष्टिघटिका परिमाणम्, कर्मदिवसस्य षष्टिर्घटिकाः, चन्द्रदिवसस्य एकोनषष्टिघटिका द्वौ च द्वात्रिंशद्भागौ घटिकायाः, नक्षत्रदिवसस्य चतुष्पञ्चाशद्घटिका द्विचत्वारिंशत्सप्त-षष्टिभागा घटिकायाः, अभिवर्द्धितादिवसस्य षष्टिर्घटिका अष्टादशोत्तरं शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां घटिकायाः । ११८।१२४। एकैकस्यां च घटिकायां द्वौ द्वावाढकाविति दिवसस्य मेयत्वचिन्तायां सूर्यदिवसस्य द्वाविंशतं चत्वारश्च द्वाषष्टिभागा आढकस्य २२ ४/६२। नक्षत्रदिवसस्य दशोत्तरं शतमाढकानां, पञ्चनवतिराढकाः, सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागा आढकस्य ११०।९५। २७/६७। अभिवर्द्धितदिवसस्य सप्तविंशत्युत्त-रमाढकशतं द्वादशोत्तरं शतं च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामाढकस्य १२७। ११२/१२४ । एकैकस्यां नवनालिकायाः पलशतमिति तौल्यत्वचिन्तायामिदं दिवसस्य परिमाणम् । सूर्यदिवसस्यैकषष्टिपल-शतानि परिमाणम् ६१०० । कर्मदिवसस्य चतुःपञ्चाशत्पलशतानि ५४०० । चन्द्रदिवसस्यैकोनषष्टिपलशतानि, द्वौ च द्वाषष्टिभागौ पलशतस्य ५९००। २/६२। नक्षत्रदिवसस्य चतुष्पञ्चाशत्पलशतानि द्वाचत्वारिंशच्च सप्तषष्टिभागाः पलशतस्य ५४०० । ४२/६२ । अभिवर्द्धितदिवसस्य त्रिषष्टिः पलशतान्यष्टादशोत्तरं च चतुर्विंशत्युत्तरं पलशतस्य ६३०० । १८/१२४ । तदेवमुक्तं सप्रपञ्चं पञ्चानामपि संवत्सराणां स्वरूपं, युगप्रमाणं च । ज्यो० २ पाहु० । सू० प्र० ।

पंचसंवच्छरियस्स णं जुगस्स नक्खत्तमासेणं मिज्जमाणस्स सत्तसट्ठिं नक्खत्तमासा पण्णत्ता ।

''पंच संवच्छर'' इत्यादि । नक्षत्रमासो येन कालेन चन्द्रो नक्षत्रमण्डलं भुङ्क्ते, स च सप्तविंशतिरहोरात्राणि, एकविंशतिश्चाहोरात्रस्य सप्तषष्टिभागाः २७ । २१/६७ । युगप्रमाणं चाष्टादशशतानि त्रिंशदधि-कानीति प्राग्दर्शितम् १८३० । तदेवं नक्षत्रागासस्योक्तप्रमाणराशिना दिनसप्तषष्टिभागतया व्यवस्थापितेन त्रिंशदुत्तराष्टाशशतप्रमाणेन युगदिनप्रमाणराशिः सप्तषष्टिभागतया व्यवस्थापितः, एकं लक्षं, द्वाविंशतिः सहस्राणि, षट् शतानि, दश चैत्येवंरूपो १२२६१० । विभज्यमानः सप्तषष्टिनक्षत्रामासप्रमाणो भवतीति । स० ६७ सम० ।

पंचसंवच्छरियस्स णं जुगस्स रिउमासेणं मिज्जमाणस्स इगसट्ठिं उउमासा पण्णत्ता ।

''पंच'' इत्यादि । पञ्चभिः संवत्सरैर्निर्वृत्तमिति पञ्चसांवत्सरिकं, तस्य, णमित्यलङ्कारे, युगस्य कालमानविशेषस्य ऋतुमासेन चन्द्राऽऽदिमासेन मीयमानस्य एकषष्टिः–ऋतुमासाः प्रज्ञप्ताः । इह चायं भावार्थः– युगं हि पञ्च संवत्सरा निष्पादयन्ति । तद्यथा – चन्द्रश्चन्द्रोऽभिवर्द्धितश्चन्द्रोऽभिवर्द्धितश्चेति । तत्र एकेनत्रिंशदहो-रात्राणि द्वात्रिंशच्च द्विषष्टिभागा अहोरात्रस्येत्येवं प्रमणिन २९ । ३२/६२ । कृष्णप्रतिपदामारभ्य पौर्णमासीनिष्ठितेन चन्द्रमासेन द्वादशमासपरिमाणश्चन्द्रसंवत्सरः । तस्य च प्रमाणमिदमत्रीणि शतान्यह्नां चतुष्पञ्चाशदुत्तराणि, द्वादश च द्विषष्टिभागा दिवसस्य ३५४ । २२/६२ । तथा एकत्रिंशदहामेकविंशत्युत्तरं च शतं चतुर्विंशत्युत्तर-शतभागानां दिवसस्येत्येवं प्रमाणोऽभिवर्द्धितमास इति ३१/१२१/१२४। एतेन च मासेन द्वादशमासप्रमाणेऽभिवर्द्धितसंवत्सरो भवति । स च प्रमाणे

न त्रीणि शतान्यहां, त्र्यशीत्यधिकानि, चतुश्चत्वारिंशच्च द्विषष्टिभागा दिवसस्य ३८३ । ४४/६२ । तदेवं त्रयाणां चन्द्रसंवत्सराणां द्वयोश्चाभिवर्द्धितसंवत्सरयोरेकीकरणे जातानि दिनानां त्रिंशदुत्तराण्यष्टादशशतान्यहोरात्राणाम् १८३० । ऋतुमासश्च त्रिंशताऽहोरात्रैर्भवतीति त्रिंशता भागहारे लब्धा एकषष्टिः—ऋतुमासा इति । स० ६१ सम० ।

एकमासेन चन्द्रा दक्षिणोत्तरचारिणः, सूर्याः पुनः संवत्सरेण दक्षिणोत्तरचारिणो भवन्ति । अत्र चन्द्रस्य नक्षत्रमासो ग्राह्यः, स च सप्तविंशतिदिनान्येकविंशतिः सप्तषष्टिभागश्चेति प्रमाणः २७ । २१/६७ । तदर्द्धेन १३ ॥ १०/६७ । चन्द्रस्य दक्षिणाऽऽयनम्, अर्द्धेन चोत्तरायणम् । यतश्चन्द्रचन्द्राऽभिवर्द्धित चन्द्राभिवर्द्धितनामानः संवत्सराः ५ । ते च त्रिंशदधिकाष्टादशशतदिनसंख्ये युगे पञ्च भवन्ति । तत्रैकोनत्रिंशद्दिनमानाः सद्वात्रिंशद्द्वाषष्टिभागाश्चन्द्रमासा द्वाषष्टिः, सार्द्धत्रिंशद्दिनमानाः सूर्यमासाः षष्टिः, सप्तविंशतिदिनमानैकविंशतिः सप्तषष्टिभागा नक्षत्रमासाः सप्तषष्टिर्युगे, तेन युगे चन्द्रस्य दक्षिणायनानि सप्तषष्टिः, उत्तरायणान्यपि सप्तषष्टिः, सर्वाणि युगे चन्द्रायणानि १३४, सूर्यस्य पश्चाच्चन्द्रेण भोगो येषां तानि पश्चाद्भोगानि, चन्द्रोऽतिक्रम्य यानि भुङ्क्ते, पृष्ठं दत्त्वेत्यर्थः, इत्यादि दृश्यम् ॥७६॥

चन्द्रसूर्ययोर्मण्डलाऽऽदिस्वरूपं प्रकाश्याथ नक्षत्रतारक—स्वरूपमाह —

अट्ठेव मंडलाइं, णक्खत्ताणं जिणेहिं भणिआइं ।
दो मंडलाइँ दीवे, मंडलछक्कं ल लवणम्मि ॥८०॥

अष्टावेव मण्डलानि नक्षत्राणं जिनेन्द्रैर्भणितानि, तत्र द्वे मण्डले जम्बूद्वीपे, मण्डलषट्कं च लवणोदे, यच्चन्द्रमसः सर्वाभ्यन्तरमण्डलं तन्नक्षत्राणामपि सर्वाभ्यन्तरमण्डलं, यच्चन्द्रमस सर्वबाह्यं मण्डलं तन्नक्षत्राणामपि सर्वबाह्यं मण्डलम् । यदुक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्याम् — ''जंबूदीवे णं भंते ! केवइअं ओगाहित्ता नक्खत्तमंडला पन्नता ? गोयमा ! जंबूदीवे दीवे असीसयं ओगाहेत्ता, एत्थ णं दो नक्खत्तमंडला, लवणसमुद्दे वि तिन्नि, तीसे जोअणसए ओगाहेत्ता, एत्थ णं छ नक्खत्तमंडला पन्नत्ता । सव्वब्भंतराओ णं णक्खत्तमंडलाओ केवइए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पन्नत्ते ? गोयमा ! पंचदसुत्तरजोअणसए अबाहाए णक्खत्तमंडले पण्णत्ते'' इति ॥८०॥

अथ केषु केषु चन्द्रमण्डलेषु नक्षत्राणि सन्ति ? इत्याह —

अभिई १ सवण २ धणिट्ठा ३,
सयभिस ४ पुव्वुत्तरा य ५ भद्दवया ६ ।
रेवइ ७ असिणी ८ भरणी ९,
पुव्वुत्तर १० फग्गुणीओ ११ अ ॥८१॥

अभिजिच्छ्रवणधनिष्ठाशतभिषापूर्वाभाद्रपदोत्तराभाद्रपदा युगे दशायनानि । तत्र पञ्च दक्षिणायनानि, पञ्चैवोत्तरायणानि, त्र्यशीत्यधिकशतदिनानामेकैकमयनम् १८३ । तद्दशगुणं युगं १८३० दिनप्रमाणम् । तथा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डले दिनमेकं , चरति, सर्वबाह्येऽपि दिनमेकं, शेषेषु मण्डलेषु प्रदेशनिर्गमाभ्यां दिनद्वयम्, अतः प्रथमचरमदिनन्यूनत्वे सूर्यसंवत्सरे ३६६ दिनानि । स च पञ्चगुणितोऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि । सं० ।

संप्रति कति मण्डलानि चन्द्राः, सूर्या वा युगमध्ये चरन्तीत्येत —

निरूपयति —

सत्तरससए पुण्णे, अट्ठे चेव मंडलं चरइ ।
चंदो जुगेण णियमा, सूरो अट्ठारस उ तीसं ॥

चन्द्रो युगेन चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितसंवत्सरपञ्चकाऽऽत्मकेन नियमान्मण्डलं चरति भ्रम्या पूरयति सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि १७६८ । सूर्यः पुनर्युगेन मण्डलानि चरति अष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० ।

संप्रति चन्द्रः स्वकीयेनायनेन कियन्ति मण्डलानि चरतीति ?

एतन्निरूपयति —

तेरस य मंडलाइं, तेरस सत्तट्ठि चेव भागा य ।
अयणेण चरइ सोमो, नक्खत्तेणऽद्धमासेणं ॥

इह नक्षत्रार्द्धमासप्रमाणं चन्द्रस्यायनं, ततो नक्षत्रेण नक्षत्रा — सत्केनार्द्धमासेन यच्चन्द्रस्यायनं, तेन स्वकीयेनायनेन चन्द्रस्त्रयोदश मण्डलानि, एकस्य च मण्डलस्य सप्तषष्टिभागीकृतस्य त्रयोदश भागान् चरति । कथमेतस्योपपत्तिरिति चेत् ? उच्यते—चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन सप्तदशशतान्यष्टषष्टिसहितानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेनायनेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना—१३४ । १७६८ । १ । अत्रान्त्येन राशिनैककलक्षणेन मध्यराशिर्गुण्यते, स च तावानेव जातः । तत आद्येन राशिना चतुस्त्रिंशदधिकेन शतरूपेण भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश, शेषास्तिष्ठन्ति षड्विंशतिः । तत्र च्छेद्यच्छेद — कराश्योर्द्धिकेनापवर्त्तना, लब्धास्त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः ।

अधुना यावन्ति मण्डलान्येकेन पर्वणा चन्द्रश्चरति, तावन्निर्दिदिक्षुराह —

चोद्दस य मंडलाइं, विमट्ठिभागा य सोलस हवेज्जा ।
मासद्धेण उडुवई, एत्तियमित्तं चरइ खेत्तं ॥

मासार्द्धनैकेन पर्वणा उडुपतिश्चन्द्रमाः, एतावन्मात्रमेताव —त्प्रमाणं क्षेत्रं चरति । यदुतचतुर्दश मण्डलानि, एकस्य च मण्डलस्य षोडश द्वाषष्टिभागाः । तथाहि—यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तदशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन पर्वणा किं लभ्यते ? राशित्रयस्थापना १२४ । १७६८ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, ते च तावानेव जाताः, तत्राऽऽद्येन राशिना भागहरणं, लब्धाश्चतुर्दश, शेषास्तिष्ठन्ति द्वात्रिंशत् । तत्र छेद्यच्छेदकराश्योर्दिकेनापवर्त्तना, लब्धाः षोडश द्वाषष्टिभागाः ।

संप्रति पर्वगतमण्डलेभ्योऽयनगतमण्डलापगमे यच्छेषमवतिष्ठते

तन्निरूपयति —

एगं च मंडलं मं—डलस्स सत्तट्ठिभाग चत्तारि ।
नव चेव चुण्णियाओ, इगतीसकएण छेएण ॥

एकं मण्डलमेकस्य च मण्डलकस्य सप्तषष्टिभागाश्चत्वारः, एकस्य च सप्तषष्टिभागस्यैकत्रिंशत्कृतेन च्छेदेन नव चूर्णिका भागाः, एतावत्पर्वगतक्षेत्रापगमे शेषः । एतस्यैवमुपपत्तिः — यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तदशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन पर्वणा किं लभामहे ? अत्र राशित्रयस्थापना १२४ । १७६८ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यरा —

शिर्गुण्यते, स च तावानेव जातः, तत आद्येन चतुर्विंशत्यधिकेन शतरूपेण राशिना भागहरणं, छेद्यच्छेदकराश्योश्चतुर्भिरपवर्तना, लब्धानि चतुर्दश मण्डलान्यष्टौ च एकत्रिंशद् भागाः। एतस्मादयनक्षेत्रं शोध्यते, तत्र चतुर्दशस्य त्रयोदश मण्डलानि शुद्धानि, एकमवशिष्टम्। संप्रत्यष्टाभ्य एकत्रिंशद्भागेभ्यस्त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः शोध्याः; तत्र सप्तषष्टिरष्टभिर्गुणिताः, जातानि पञ्चशतानि षट्त्रिंशदधिकानि ५३६। एकत्रिंशता त्रयोदश गुणिताः, जातानि चत्वारि शतानि त्र्युत्तराणि ४०३। एतानि पञ्चभ्यः षट्त्रिंशदधिकेभ्यः शोध्यन्ते, स्थितं शेषं त्रयस्त्रिंशदधिकं शतम् १३३। तत एतत्सप्तषष्टिभागाऽऽनयनार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातानि नवाशीतिशतान्येकादशाधिकानि ८९११। छेदराशिर्मौलं एकत्रिंशत्, स च सप्तषष्ट्या गुण्यते, जाते द्वे सहस्रे सप्तसप्तत्यधिके २०७७। ताभ्यां भागो ह्रियते, लब्धाश्चत्वारः सप्तषष्टिभागाः, शेषास्तिष्ठन्ति षट्शतानि त्र्युत्तराणि ६०३। ततश्छेद्यच्छेदकराश्योः सप्तषष्ट्याऽपवर्तना, जाता उपरि नवाधस्तादेकत्रिंशत्, लब्धा एकस्य सप्तषष्टिभागस्य नवैकत्रिंशच्छेदकृता भागा इति। ज्यो० १६ पाहु०। जं०। चं० प्र०। (युगे किमादिकाः संवत्सरा इत्यनुपदमेव 'जुगाइ' शब्दे १५७५ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

युगेऽमावास्याः पूर्णिमाश्च यथा –

पंवसंवच्छरिए णं जुगे वावट्ठिं पुन्निमाओ, वावट्ठिं अमावासाओ पण्णत्ताओ।

''पंच'' इत्यादि। तत्र जुगे त्रयश्चन्द्रसंवत्सरा भवन्ति, तेषु षट्त्रिंशत्पौर्णमास्यो भवन्ति, द्वौ चाभिवर्द्धितसंवत्सरौ भवतः, तत्र चाभिवर्द्धितसंवत्सरः त्रयोदशभिश्चन्द्रसैर्भवतीति तयोः षड्विंशतिः पौर्णमास्य इत्येवं द्विषष्टिस्ता भवन्तीति, एवममावास्या अपीति। स० ६२ सम०।

जुगंतकडभूमि स्त्री० [युगान्तकृद् (कर) भूमि] युगानि कालमानविशेषाः, तानि च क्रमवर्त्तीनि, तत्साधर्म्याद्ये क्रमवर्त्तिनो गुरुशिष्यप्रशिष्याऽऽदिरूपाः पुरुषास्तेऽपि युगानि, तैः प्रमितान्तकरभूमिर्युगान्तकरभूमिः। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। कल्प०। पुरुषलक्षणयुगापेक्षयाऽन्तकराणां भवक्षयकारिणां भूमिः कालो युगान्तकरभूमिः। स्था० ८ ठा०। अन्तकर (कृद्) भूमिभेदे, (सा च कस्यान्तकृतः कियतीति तत्तच्छब्दे निरूपिता) पुरुषौ युगामिव पुरुषयुगं, तदपेक्षयाऽन्तकराणां भवान्तकराणां, निर्वाणगामिनामित्यर्थः। भूमिः कालो युगान्तकरभूमिः। इदमुक्तं भवति – भगवतो वर्द्धमानस्वामिनस्तीर्थे तस्मादेवावधेः तृतीयं पुरुषं जम्बूस्वामिनं यावन्निर्वाणमभूत्, तत उत्तरं तद्व्यवच्छेद इति। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

जुगंतकरभूमि स्त्री० [युगान्तकृद् (कर) भूमि] ''जुगंतकडभूमि'' शब्दार्थ, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

जुगंतरपलोयणा स्त्री० (युगान्तरप्रलोकना) युगं यूपः, तत्प्रमाणमन्तरं व्यवधानं प्रलोकयति या सा तथा। (भ०) युगं यूपः, तत्प्रमाणो भूभागोऽपि युगः, तस्यान्तरे मध्ये प्रलोकनं यस्याः सा तथा। युगप्रमाणभूभागव्यवधानेन प्रलोकयन्त्यां, भ०। ''जुगमंतरपलोयणाए दिट्ठीए'' (जुगंतरपलोयणाए त्ति) युगं यूपः, तत्प्रमाणमन्तरं स्वदेहदेशस्य दृष्टिपातदेशस्य च व्यवधानं, प्रलोकयति या सा युगान्तरप्रलोकना, तया, दृष्ट्येति। भ० २ श० १ उ०।

जुगंधर पुं० (युगन्धर) युगं रथस्य युगकाष्ठं धरति धृ–खच्। रथस्य युगकाष्ठसञ्जने कूवराख्ये काष्ठभेदे, जं० १ वक्ष०। पर्वतभेदे, वाच०। अम्बरतिलकपर्वतस्थे स्वनामख्याते आचार्ये, आ० म०। ''जुगंधरा नाम आयरिया विविहनियमधर चउद्दसपुव्विचउण्णाणोवगया।'' आ०म० १ अ० १ खण्ड। अम्बरतिलकपर्वतमधिकृत्य– ''युगन्धरमुनिस्तत्र, तदा केवलमासदत्।'' आ० क०। अपरविदेहस्थे महाबाहुवासुदेवस्य समकालिके तीर्थकरे, आ० चू० १ अ०। आव०।

जुगच्छिड्ड न० (युगच्छिद्र) युगरन्ध्रे, आ० क०।

''पुव्वंते होइ जुगं, अवरंते तस्स होइ समिलाओ।
जुगछिड्डम्मि पवेसो, इअ संसइओ मणुअलंभो ॥१॥''

पूर्वान्ते समुद्रस्य युगम्, अपरान्ते तु सम्या, ततो यथा युगस्य छिद्रे तस्याः प्रदेशः संशयित इत्येवं मनुष्यजन्मलाभः।

तथा –

''जह समिला पब्भट्ठा, सागरसलिले अणोरपारम्मि।
पविसिज्ज जुगच्छिड्डं, कह वि भमंती भमंतम्मि ॥१॥''
नवरम् –'अणोरपारम्मि' देश्यत्वादपारे इत्यर्थः।
''सा चंडवायवीई – पणुल्लिआ अ वि लभिज्ज जुगछिड्डं।
न य माणुसाउ भट्ठो, जीवो पुण माणुसं लहइ ॥१॥'' आ० क०। उत्त०।

जुगणद्ध पुं० (युगनद्ध) युगमिव नद्धो युगनद्धः। यथा युगं वृषभस्कन्धयोरारोपितं वर्तते तद्वद् योगोऽपि यः प्रतिभाति स युगनद्ध इत्युच्यते। एतदाकारं योगभेदे, सू० प्र० १२ पाहु०।

जुगप्पहाण पुं० (युगप्रधान) युगश्रेष्ठे, नि० चू० १ उ०। ''तत्थ अज्जवइरा सुचंति जुगप्पहाणा।'' आ० म० १ अ० २ खण्ड।

जो दुप्पसहो सूरी, होहिंति जुगप्पहाण आयरिया।
अज्जसुहम्मप्पभिई, चउरहिया दुन्नि य सहस्सा ॥४५१॥

इहावसर्पिण्यां दुःषमावसानसमये द्विहस्तोच्छ्रितश्चतुर्विंशतिवर्षायुष्कः पुष्कलतपःक्षपितकर्मतया समासन्नः सिद्धिसौधं शुद्धान्तरात्मा दशवैकालिकमासूत्रधरोऽपि चतुर्दशपूर्वधर इव शक्रपूज्यो दुष्प्रसहनामा सर्वान्तिमः सूरिर्भविष्यति, ततः तं दुष्प्रसहं यावत्, तमभिव्याप्यैवेत्यर्थः। आर्यसुधर्मप्रभृतयः, आरात् सर्वहेयधर्मेभ्योऽर्वाक् जात आर्यः, स चासौ सुधर्मः, तत्प्रभृतयः, प्रभृतिग्रहणाच्च जम्बूस्वामिप्रभवशय्यंभवाऽऽद्या गणधरपम्परा गृह्यते, युगप्रधानास्तत्तत्कालप्रवरपारमेश्वरप्रवचनोपनिषद्वेदित्वेन विशिष्टतरमूलगुणोत्तरगुणसंपन्नत्वेन च तत्कालापेक्षया भरतक्षेत्रमध्ये प्रधाना आचार्याः सूरयश्चतुरधिकसहस्रद्वयप्रमाणा भविष्यन्ति। अन्ये तु चतूरहितसहस्रद्वयप्रमाणा इत्याहुः। तत्त्वं तु सर्वविदो विदन्ति।

यच्च महानिशथिग्रन्थे जगन्थ ग्रन्थकारः –

''इत्थं चायरिआणं, पणपन्ना, हुंति कोडिलक्खाओ।
कोडिसहस्से कोडी, सए य तह एत्त चेवत्ति'' ॥१॥
तत्सामान्यमुनिप्रत्यपेक्षया द्रष्टव्यम्। तथा च तत्रैवोक्तम् –
''एएसिं मज्झाओ, एगे निव्वडइ गुणगणाइन्ने।
सव्वुत्तमभंगेणं, तित्थयरस्साणुसरिसगुरू ॥१॥'' प्रव० २६४ द्वार।
चतुरधिकद्विसहस्रमिता युगप्रधानाः सिद्धान्ते प्रोक्ताः, ते साम्प्रतं क्व सन्ति ? इति प्रश्ने, उत्तरम्–साम्प्रतं युगप्रधानाः सन्तीति

ज्ञातं नास्ति, दृश्यन्तेऽपि च न, तेन तृतीयोदयात्प्रारभ्य ते भविष्यन्तीति ज्ञायते। ५१ प्र०। सेन० १ उल्ला०।

जुगमच्छ पुं० (जुगमत्स्य) मत्स्यभेदे, विपा० १ श्रु० ८ अ०। जी०। प्रज्ञा०।

जुगमत्त त्रि० (युगमात्र) युगं यूपं चतुर्हस्तं, तत्प्रमाणं युगमात्रम्। चतुर्हस्तप्रमाणे, प्रव० १०३ द्वार। ''पुरओ जुगमत्ताए, पेहमाणो महिं चरे।'' (३ गाथा) पुरताऽग्रतो युगमात्राया शरीरप्रमाणया शकटोद्धर्व-संस्थितया दृष्ट्येति। दश. ५ अ० १ उ०।

जुगमाय त्रि० (युगमात्र) 'जुगमत्त' शब्दार्थे, प्रव० १०३ द्वार। ''पुरओ जुगमायं पेहमाणे।'' युगमात्रं चतुर्हस्तप्रमाणं शकटोद्धर्वसंस्थितं भूभागं पश्यन्। आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०।

जुगल न० (युगल) युगं द्वित्वं विद्यतेऽस्त्यस्य लच्। युग्मे, द्वित्वसंख्याऽन्विते च। त्रि०। वाच०। युगलं द्वयमिति। अनु०। तं०। उत्त०। ज्ञा०। रा०। भ०। स०। औ०। सजातीयविजातीययोर्द्वन्द्वे, रा०। जी०। जं०। ''आमेलगजमलजुगलवट्टियअब्भुण्णयपीणरइयसंठियप-ओहरा।'' युगलौ युगलरूपौ, द्वावित्यर्थः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जुगलधम्म पुं० (युगलधर्म) स्त्रीपुरुषद्वन्द्वधर्मे, आ० म० १ अ० १ खण्ड। तं०। ज्यो०।

जुगलधम्मिय पुं० (युगलधर्मिक) स्त्रीपुरुषद्वन्द्वधर्मवति, तं०।

जुगलयमणुय पुं० (युगलकमनुज) युगलधर्मिणि मनुष्ये, ज्यो० १ पाहु०।

जुगलि(ण्) त्रि० (युगलिन्) सजातीयविजातीयद्वन्द्वोपेते, उत्तरकुरौ भगवान् युगलिकोऽहं युगलिनीति (श्रेयांसवचः) कल्प० ७ क्षण। यस्मिन् काले कालान्तरे वा यावन्तो युगलिनस्तस्मिन् तावन्त एव, न्यूनाः, अधिका वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम् – यस्मिन् काले यावन्तो युगलिनस्तस्मिन्काले तु तावन्त एव भवन्तीति। कालान्तरे च भरतैरावतयोर्युगलिनां न्यूनाधिकत्वं, देवकुर्वादिषु तु जातु तत्संहरणसंभवे कुतश्चित्तदानयनमपि भवतीति न तत्र न्यूनाऽधिक्यमिति। १३ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

जुगलिय त्रि० (युगलिक) स्त्रीपुरुषद्वन्द्वोपेते, कल्प० ७ क्षण। पं० विष्णवर्षिकृतप्रश्ने–श्रीआदिनाथस्य वारके तालफलेन युगलिकदारको मृतो, युगलिनां चाकालमरणं न भवतीति कथं घटते ? इत प्रश्ने, उत्तरम् – पूर्वकोटियधिकायुषो युगलिनो न्यूनायुषि न मियन्ते, ततः श्रीआदिनाथस्य वारके तालफलेन मृतस्य युगलिनः पूर्वकोट्यधिकमायु-र्नाभूदिति संगच्छत इति। ३ प्र०। ही० ३ प्रका०। युगलिकशरीराणि सुराः समुद्रं क्षिपन्ति, अथवा स्वयं विनश्वरीभवन्ति ? इति प्रश्ने, उत्तरम् – ''पुरा हि मृतमिथुनशरीराणि महाखगाः। नीडकाष्ठमियोत्पाट्य, सद्यश्चिक्षिपुरम्बुधौ'' ॥१॥ इति त्रिषष्टीयऋषभदेवचरित्रवचनात् समुद्रे युगलिकशरीराणि क्षिप्यन्ते, अन्ययुगलिकक्षेत्रेऽप्येवं संभाव्यते, आरण्यकपशूनां निसर्गतो मृतानां यथा किमप्यवयवाऽदिकं नोपलभ्यते, तथा तेषामपीत्येषाऽपि संभावना संजायत इति। ३० प्र०। सेन० ३ उल्ला०। सर्वेषु युगलिकक्षेत्रेषु युगलिनां गर्भजगर्भव्युत्क्रान्तभेदभिन्नानां जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नमायुस्त्रयं, किं वोत्कृष्टमेव ? इति प्रश्ने, उत्तरम्युगलिनामुत्कृष्टमायुर्यथास्थानं त्रिपल्योपमादि प्रतीतं, जघन्यं तु क्षुल्लकभवरूपं ज्ञेयम्, अतस्त्रिपल्योपमप्रमितमप्यायुरपवर्त्यं क्षुल्लकभवरूपं कश्चिज्जन्तुः करोतीत्यर्थकाक्षराण्याचाराङ्गवृत्त्यादौ सन्ति, परं तदवपर्यंतम पर्याप्तावस्था- यामेव भवति, तदुद्वर्तनं तु न भवति, तेषां निरुपक्रमायुष्कत्वात्। मध्यमं तु युगलिनीगर्भेऽपि नवलक्ष-मितिगर्भजा उत्पद्यन्ते, निष्पद्यन्ते च द्वयमेव। शेषास्तु स्वस्वमायुरपवर्त्य गर्भस्था एव मियन्ते, तथा क्षुल्लकभवादधिकसमयाऽऽदिभवने संभव-तीति। १६८ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

युगलित्त – त्रि०। युगलं सजातीयविजातीययोर्द्वन्द्वं, तत्संजातमस्त्यस्य युगलितः। सजातीयविजातीयद्वन्द्वोपेते, जी० ३ प्रति०। जं०। जी०। ''निच्चं जुगलिया'' युगलतया स्थिताः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जुगलियखेत्तकप्परुक्ख पुं० (युगलिकक्षेत्रकल्पवृक्ष) युगलिकक्षेत्रे कल्पवृक्षा वनस्पतिरूपाः, पृथ्वीकायरूपा वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम् – ते वनस्पतिरूपा इति। ४६६ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

जुगवं त्रि० (युगवत्) युगं सुषमदुष्षमाऽऽदिः कालः, सोऽदुष्टो निरुपद्रवो विशिष्टबलहेतुर्यस्यास्त्यसौ युगवान्। कालोपद्रवरहिते, अनु०। कालोपद्रवोऽपि सामर्थ्यविघ्नहेतुः, स चास्य नास्तीति। अनु०। भ०। रा०। आ० म०।

युगपत् अव्य०। युगमिव पद्यते, पद–क्विप्। एकस्मिन् काल इत्यर्थे, नं०। ''चत्तारि कम्मं से जुगवं खवेइ''। यौगपद्येन निर्जरयति। औ०। आ० म०। उत्त०। विशे०। (युगपत्क्रियाद्वयवक्तव्यता 'दोकिरिय' शब्दे वक्ष्यते)

जुगबाहु पुं० (युगबाहु) युगो यूपस्तदाकारा वृत्तत्वाद्दीर्घत्वाच्च बाहवो यस्य सः। युगवद्दीर्घबाहौ, स्था० ६ ठा०। सुविधिजिने, सुविधिजिनस्य चैतत्पूर्वभवनामधेयम्। स०। पूर्वविदेहस्थे सीमन्धरतीर्थकरसमकालिके वासुदेवे, आ० चू० ४ अ०। आव०। मालवदेशस्थस्य सुदर्शनपुरनृपते-र्मणिरथस्य स्वनामख्याते भ्रातरि, उत्त० ६ अ०। मिथिलास्थे नमिराज-पितरि, ''इत्थं जुगबाहुमयणरेहाणं पुत्तो नमी नाम महारया'' ति०।

जुगसंवच्छर पुं० (युगसंवत्सर) युगं पञ्चवर्षाऽऽत्मकं तत् पूरकः संवत्सरो युगसंवत्सरः। स० प्र० १० पाहु०। चं० प्र०। पञ्चसंवत्सराऽऽत्मकं युगं, तदेकदेशभूतो वक्ष्यमाणलक्षणश्चन्द्राऽऽदिर्युगपूरकत्वाद्युगसंवत्सरः। जं० ७ वक्ष०। स्था०। संवत्सरविशेषे, (तद्वक्तव्यता 'जुग' शब्देऽत्रैव भागे १५६७ पृष्ठे द्रष्टव्या)

जुगसंनिभ त्रि० (युगसन्निभ) वृत्ततया आयततया च यूपतुल्ये, 'जुगसण्णिभपीणरइयपीवपउट्ठसंठियसुसिलिट्ठविसिट्ठघणथिर सुबद्धसंधीपुरवरफलिहवट्टियभूया।'' जी० ३ प्रति०। तं०। प्रश्न०।

जुगाइ पुं० (युगाऽऽदि) युगाऽऽरम्भे युगाऽऽरम्भकाले प्रथमतः प्रवृत्ते मासतिथिमुहूर्त्तादौ च। जं०।

संप्रति युगसंवत्सरमासदिनानामादिं प्ररूपयति–

आदी जुगस्स संव–च्छरो उ मासस्स अद्धमासो उ।

दिवसा भरहेरवए, राईया सह विदहेसु ॥

युगस्य चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितरूपसंवत्सरपञ्चकाऽऽत्मकस्याऽऽदिः संवत्सरः, स च चान्द्रः, तमसावन्ययुगस्य प्रवर्त्तनात्। चान्द्रस्य संवत्सरस्याऽऽदिर्मासः। स च श्रावणत आषाढपौर्णमासीचरमसमयः पाश्चात्ययुगस्य पर्यवसानं, ततोऽभिनवयुगस्याऽऽदिर्मासः प्रवर्तमानः श्रावण एव भवति, तस्यापि च मासस्य श्रावणस्याऽऽदिरर्द्धमासः पक्षः, पक्षद्वयमीलनेन मासस्य संभवात्। सोऽपि च पक्षो बहुलो वेदितव्यः, पौर्णमास्यनन्तरं बहुलपक्षस्यैव भावात्। तस्यापि च बहुलस्यार्द्धमासस्यापि भरतक्षेत्रे युगस्यादिः प्रवर्त्तते, ततो दिवस एव मासाऽऽदिरूप उत्पद्यते, यदा च भरतक्षेत्रे दिवसस्तदैरवतेऽपि दिवसः, तदा च पूर्वविदेहेष्वपरविदेहेषु च रात्रिः, अत ऐरवतेऽपि अर्द्धमासस्याऽऽदिर्दिवसो, महाविदेहेषु रात्रिरिति।

संप्रति भरतैरवतेऽधिकृत्याऽऽदिप्ररूणार्थमाह –

दिवसाइ अहोरत्ता, बहुलाईयाणि होंति पव्वाणि।
अभिई नक्खत्ताई, रुद्दो आई मुहुत्ताणं ॥

भरते, ऐरवते च दिवसाऽऽदयो दिवसमूला अहोरात्राः, युगस्याऽऽदौ दिवसस्यैवेह प्रवर्त्तमानत्वात्। पर्वाणि पक्षरूपाणि बहुलाऽऽदीनि कृष्णानि भवन्ति, कृष्णपक्षस्यैव युगाऽऽदौ भावात्। तथा नक्षत्राणामादिरभिजित्, तत एवाऽऽरभ्य नक्षत्राणां क्रमेण युगे प्रवर्तमानत्वात्। तथाहि–उत्तराषाढानक्षत्रचरमसमये पाश्चात्ययुगस्य पर्यवसानम्। ततोऽभिनव युगस्याऽऽदिनक्षत्रमभिजिदेव भवति। तथा मुहूर्त्तानामादिमुहूर्त्तो रुद्रः। इह दिवसाऽऽदिरहोरात्र इत्युक्तं, दिवसाऽऽदिके चाहोरात्रे क्रमेणामी पञ्चाशन्मुहूर्त्ताः। तद्यथा–प्रथमो मुहूर्त्तो रुद्रः, द्वितीयं श्रेयान्, तृतीयो मित्रः, चतुर्थो वायुः, पञ्चमः सुपीतः, षष्ठोऽभिचन्द्र, सप्तमो माहेन्द्रः, अष्टमो बलवान्, नवमः पद्मः, दशमो बहुसत्यः, एकादश ईशानः, द्वादशस्तत्स्थः, त्रयोदशो भाविताऽऽत्मा, चतुर्दशो वैश्रवणः, पञ्चदशो वारुणः, षोडश आनन्दः, सप्तदशो विजयः, अष्टादशो विष्वक्सेनः, एकोनविंशतितमः प्राजापत्यः, विंशतितम् उपशमः, एकविंशतितमो गन्धर्वः, द्वाविंशतितमोऽग्निवेशः, त्रयोविंशतितमः शतवृषभः, चतुर्विंशतितम आतपवान्, पञ्चविंशतितमोऽममः, षड्विंशतितमोऽरुणवान्, सप्तविंशतितमो भौमः, अष्टाविंशतितमो वृषभः, एकोनत्रिंशत्तमः सर्वार्थः, त्रिंशत्तमो राक्षसः।

उक्तं च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ –

''रुद्दो सेए मित्ते, वाऊ पीए तहेव अभिचंदे।
माहिंद वलव पम्हे, बहुसच्चे चेव ईसाणे ॥१॥
तत्थेव भावियप्पा, वेसमणो वारुणे य आणंदे।
विजए य वीससेणे, पायावच्चे तह य उवसमए ॥२॥
गंधव्व अग्गिवेसो, सयरिसह आयवं च अममं च।
रुणवं भोमे रिसहे, सव्वट्ठे रक्खसाईया ॥३॥''

ततो युगे मुहूर्त्तानामादिको रुद्र एव भवति। ज्यो० २ पाहु०।

तथा च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तावेवोक्तम् –

''किमाइआ णं भंते ! संवच्छरा, किमाइआ आयणा, किमाइआ उऊ, किमाइआ मासा, किमाइआ पक्खा, किमाइआ अहोरत्ता, किमाइआ मुहुत्ता, किमाइआ करणा, किमाइआ णक्खत्ता पण्णत्ता ? गोयमा ! चंदाइआ संवच्छरा, दक्खिणाइआ अयणा, पाउसाइआ उऊ, सावणाइआ मासा, बहुलाइआ पक्खा, दिवसाइआ अहोरत्ता, रोद्दाइआ मुहुत्ता, बालवाइया करणा, अभिजिआइया णक्खत्ता समणाउसो !'' [जं० ७ वक्ष०]

तदेवं 'राईया सह विदेहेसु' इत्यनेन (पूर्वोक्तगाथा) अवयवेन महाविदेहेष्वनया गाथया भरतैरवतयोर्युगस्याऽऽदिः प्ररूपितः।

संप्रति भरतैरवतविदेहेषु साधारणं युगस्याऽऽदि प्ररूपयति –

सावणबहुलपडिवए, बालवकरणे अभीइनक्खत्ते।
सव्वत्थ पढमसमए, जुगस्स आइं वियाणाहि ॥

सर्वत्राभरते, ऐरवते, महाविदेहेषु च श्रावणमासे बहुलपक्षेकृष्णपक्षे प्रतिपदि तिथौ बालवकरणे अभिजित्रक्षत्रे प्रथमसमये युगस्याऽऽदिं विजानीहि। ज्यो० २ पाहु०।

सर्वत्रेति भरतैरावतविदेहेषु भाव्यम्। अवसर्पिण्यां षण्णामारकाणामप्यादिः रात्रिरेव, विदेहेषु यद्यप्यारकाणामभावः, तथापि पञ्चसंवत्सराऽऽत्मकस्य युगस्य सद्भावः। सं०।

जुग्ग न० (युग्य) युज्–यत्–कुत्वम्। ''युग्यं च पत्रे'' ॥३।६।१२६॥ इति (पाणिनि) सूत्रेण निपातनम्। अश्वाऽऽदिके वाहने, स्था० ४ ठा० ३ उ०। प्रश्न०। युग्यमिव युग्यम्। संयमभार वोढरि साधौ, स्था०।

युग्यभेदा यथा –

चत्तारि जुग्गा पण्णत्ता। तं जहा–जुत्ते, णाममेगे जुत्ते, जुत्ते णाममेगे अजुत्ते, अजुत्ते णाममेगे जुत्ते, अजुत्ते णाममेगे अजुत्ते ॥

युग्यं वाहनमश्वाऽऽदि। अथवा–गोल्लविषयेजम्पानं द्विहस्तप्रमाणं चतुरस्रं सवेदिकमुपशोभितं युग्यकमुच्यते, तत् युक्तमारोहणसामग्रया पर्याणाऽऽदिकया पुनर्युक्तं वेगाऽऽदिभिरित्येवं यानवद् व्याख्येयम्। स्था० ४ ठा० ३ उ०। युगमर्हति युगं वा वहति यत्। युगवाहकेऽश्वाऽऽदौ, त्रि०। वाच०। गन्त्र्यादिके, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। गोल्लदेशप्रसिद्धे जम्पानविशेषे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार। युग्यानि गोल्लविषयप्रसिद्धानि द्विहस्तप्रमाणानि वेदिकोपशोभितानि जम्पानान्येवेति। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। अनु०। जं०। जी०। भ०। औ०। प्रश्न०। पुरुषोत्क्षिप्ते आकाशयाने, सूत्रा० २ श्रु० २ अ०। युग्यं पुरुषोत्क्षिप्तमाकाशयानं, जम्पानमित्यर्थः। जं० २ वक्ष०।

जुग्गगय त्रि० (युग्यगत) वाहनोपरि स्थिते, औ०।

जुग्गय त्रि० (युग्यक) 'जुग्ग' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

जुग्गायरिया स्त्री० (युग्याचर्य्या) युग्यस्याऽऽचर्य्या वहनं गमनं युग्याचर्य्या। युग्यस्य गमने, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

युग्याचर्याभेदाः –

चत्तारि जुग्गायरिया पण्णत्ता। तं जहा–पंथजाई णाम–

मेगे, णो उप्पहजाई । उप्पहजाई णाममेगे, णो पंथजाई । एगे पंथजाई वि, उप्पहजाई वि । एगे णो पंथजाई, णो उप्पहजाई ॥

(जुग्गायरिय त्ति) युग्यस्य चर्या वहनं, गमनमित्यर्थः । क्वचित्तु– ''जुग्गारिय त्ति'' पाठः, तत्रापि युग्याचर्येति, पथयाय्येकं युग्यं भवति, नोत्पथयायीत्यादि चतुर्भङ्गी । इह च युग्यस्य चर्याद्वारेणैव निर्देशे चतुर्विधत्वेनोक्तत्वात् तच्चर्याया एवोद्देशोक्तं चातुर्विध्यमवसयेमिति भावः । युग्यपक्षे तु युग्यमिव युग्यं, संयमयोगेभारवोढा साधुरेव, स च पथियाय्यप्रमत्त उत्पथयायी लिङ्गावशेषः, उभययायी प्रमत्तश्चतुर्थः सिद्धक्रमेण सदसदुभयानुभयानुष्ठानरूपत्वात् । अथवा–पथ्युत्पथयोः स्वपरसमयरूपत्वाद् यायित्वस्य च गत्यर्थत्वेन बोधपर्यायत्वात् स्वपरसमयबोधापेक्षयेयं चतुर्भङ्गी नेयेति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुग्गारिया स्त्री० (युग्याचर्या) 'जुग्गायरिया' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुज्झइत्ता अव्य० (युक्त्वा) योगं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० २ पाद ।

जुज्झ धा० (युध) युद्धे, दिवा० – आत्म० – अक० – अनिट् । युध्यते, अयुद्ध । वाच० । ''संपलग्गो उ जुज्झिउं'' । आ० म० १ अ० १ खण्ड । युद्धे, न० । युध् – क्तः । शस्त्रादिक्षेपणव्यापारे योधने, वाच० । मुष्ट्याऽऽदिना परस्परताडने, तं० । ''जुज्झाइं बाहुजुज्झाइयाइं वट्टाइयाणं च'' युद्धानि नाम – बाहुयुद्धाऽऽदीनि, यदि वा वर्त्तकाऽऽदीनां च । आ० म० १ अ० खण्ड । युद्धं कुक्कुटाऽऽदीनामिव मुण्डामुण्डि, शृङ्गिणामिव शृङ्गाशृङ्गि युयुत्सया योधयोर्बल्गनम् । जं० २ वक्ष० । आयुधयुद्धे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । वैरिणां परप्राणव्यपरोपणाध्यवसाये, आतु० । संग्रामे, ''अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ।'' उत्त० ९ अ० । नि० । प्रश्न० । द्रव्यतः संग्रामयुद्धं, भावतः परीषहाऽऽदियुद्धं, तद् द्विविधम्, आर्यानार्यभेदात् । तत्रानार्यं संग्रामयुद्धं, परीषहाऽऽदिरिपुयुद्धं त्वार्यम् । आचा० १ अ० ५ अ० ३ उ० । तदात्मके द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० । जं० ।

युद्धदर्शननिषेधो यथा –

जे भिक्खू आसजुज्झाणि वा. जाव सूकरजुज्झाणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥२९॥

''हजजुज्झ'' गाहा ! हयोऽश्वस्तेषां परस्परतो युद्धं, एवमन्येषामपि, गजाऽऽदयः प्रसिद्धाः, शरीरेण विमध्यमः करटः, रक्तपादपक्षकः शिखी, धूम्रवर्णो लावकः, आडिमादि प्रसिद्धा, अड्डियपच्छड्डियादिकरणेहिं जुद्धं, सव्वसंधिविक्खोभणं णिजुद्धं, पुव्वं जुद्धेण जुद्धिउं पच्छा संधी विक्खोभिज्जति जत्थ तं जुद्धं । नि० चू० १२ उ० ।

जुज्झंग न० (युद्धाङ्ग) संग्रामाङ्गे, उत्त० ।

साम्प्रतं युद्धाङ्गमाह –

जाणाऽऽवरणपहरणे, जुज्झे कुसलत्तणं च णीतीए ।
दक्खत्तं ववसातो, सरीरमारोगयं चेव ॥१४॥ उत्त० नि० ।

(जाणावरणपहरणे त्ति) यानं च हस्त्यादि, तत्र सत्यपि न शक्नोत्यभिभवितुं शत्रुमत आवरणम्, आवरणं च कवचाऽऽदि, सत्यप्यावरणे प्रहरणं विना किं करोतीति, प्रहरणं प्रहरणं च खड्गाऽऽदि, यानाऽऽवरणप्रहरणानि, यदि युद्धे कुशलत्वं नास्ति, तदा किं यानाऽऽदिनेति युद्धे संग्रामे कुशलत्वम्, कुशलत्वं च प्रावीण्यरूपं, सत्यप्यस्मिन्नीतिं न शत्रुजयनमतो नीतिः, नीतिश्चापक्रमाऽऽदिलक्षणा, सत्यामपि चास्यां दक्षत्वा धीनो जयः, ततो दक्षत्वम्, दक्षत्वमाशुकारित्वं, सत्यप्यस्मिन्निर्व्यवसायस्य कुतो जय इति व्यवसायः, व्यवसायो व्यापारः, तत्रापि यदि न शरीरमहीनाङ्गं, ततो न जय इति शरीरम्, अर्थात्परिपूर्णाङ्गम् । तत्राप्यारोग्यमेव जयायेति (आरोगवं ति) आरोग्यता, चः समुच्चये, एवोऽवधारणे । ततः समुदितानामेवैषां युद्धाङ्गत्वमिति सूत्रार्थः । उत्त० पाई० ३ अ० ।

जुज्झंझाण न० (युद्धध्यान) युद्धं वैरिणां परप्राणव्यपरोपणाध्यवसायः, तस्य ध्यानं युद्धध्यानम् । ध्यानभेदे, भ्रातृणां विनाशे, चेटकेन सह कोणिकनृपस्येव, अङ्गारवत्यादिग्रहणे चण्डप्रद्योतस्येव वा । आतु० ।

जुज्झंत त्रि० (युध्यत्) युद्धं कुर्वति, नि० चू० १ उ० । ''महया रिवुबलेण जुज्झंतो दिट्ठो ।'' आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

***युध्यमान** त्रि० । शस्त्राणि व्यापारयति, ''जुज्झंतं दढधम्माणं'' । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

जुज्झकित्तिपुरिस पुं० (युद्धकीर्तिपुरुष) युद्धजनिता या कीर्तिः, तत्प्रधानः पुरुषो युद्धकीर्तिपुरुषः । युद्धजनितकीर्तिमति पुरुषे, स० ।

जुज्झकुसल पुं० (युद्धकुशल) युद्धप्रवीणे, उत्त० ३ अ० । युद्धक्रियाज्ञानवति, आ० क० ।

जुज्झणीइ स्त्री० (युद्धनीति) व्यूहरचनाऽऽदिके, स्था० ९ ठा० । संग्रामनिर्गमप्रवेशे च । आ० क० । उत्त० ।

जुज्झदक्ख पुं० (युद्धदक्ष) युद्धे आशुकारिणि, उत्त० ३ अ० ।

जुज्झववसाय पुं० (युद्धव्यवसाय) युद्धव्यापारे, उत्त० ३ अ० ।

जुज्झवीरिय पुं० (युद्धवीर्य) पुष्पदन्तजिनसमकालिके नृपे, ''जुज्झवीरियथुयस्स ।'' ति० ।

जुज्झसज्ज पुं० (युद्धसज्ज) युद्धनिमितं सन्नः प्रगुणीभूतो युद्धसज्जः । रा० । युद्धप्रगुणे, भ० ७ श० ९ उ० । युद्धसज्जो रणप्रह्व इति । औ० ।

जुज्झसड्ढ त्रि० (युद्धश्रद्ध) युद्धं संग्रामस्तत्र संजाता श्रद्धा यस्य सः । युद्धश्रद्धावति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जुज्झसूर पुं० (युद्धशूर) युद्धे शूरः सुभटः । रणदीक्षाबद्धकक्षे, संथा० । शूरविशेषे, ''जुज्झसूरे वासुदेवे'' युद्धशूरो वासुदेवः । कृष्णवत्तस्य षष्ट्यधिकेषु त्रिषु संग्रामशतेषु लब्धजयत्वात् । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुज्झाइजुज्झ न० (युद्धातियुद्ध) यत्र प्रतिद्वन्द्विहतानां पुरुषाणां पातः स्यादित्येवम्भूते खड्गाऽऽदिप्रक्षेपपूर्वके महायुद्धे, तदात्मके द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे च । जं० २ वक्ष० । स० । औ० । ज्ञा० ।

जुज्झारिय न० (युद्धार्य) युद्धभेदे, युद्धं द्विविधम्, आर्याऽनार्यभेदात् । अनार्यं संग्रामयुद्धम्, परिषहाऽऽदिरिपुयुद्धं त्वार्यम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

जुज्झारिह त्रि० (युद्धार्ह) युद्धोचिते, ''इमेणं चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ। जुद्धारिहं तु खलु दुल्लहं जहेत्थ कुसलेहिं ॥१॥'' आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०।

जुज्झित्ता त्रि० (युद्ध्वा) युद्धं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ०।

जुण्ण त्रि० (जूर्ण जीर्ण) तृणभेदे, वाच०। 'जिण्ण' शब्दार्थे च। प्रा० १ पाद।

जुण्णकुमारी स्त्री० (जीर्णकुमारी) 'जिण्णकुमारी' शब्दार्थे, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ०।

जुण्णगुल पुं० (जीर्णगुड) 'जिण्णगुल' शब्दार्थे, भ० ८ श० ६ उ०।

जुण्णघय न० (जीर्णघृत) 'जिण्णघय' शब्दार्थे, अनु०।

जुण्णतंदुल पुं० (जीर्णतण्डुल) 'जिण्णतंदुल' शब्दार्थे, भ० ८ श० ६ उ०।

जुण्णतया स्त्री० (जीर्णत्वक्) 'जिण्णतया' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० ४ चू०।

जुण्णदुग्ग न० (जीर्णदुर्ग) 'जिण्णदुग्ग' शब्दार्थे, ती० ४ कल्प०।

जुण्णसुरा स्त्री० (जीर्णसुरा) 'जिण्णसुरा' शब्दार्थे, भ० ८ श० ६ उ०।

जुण्णसेट्ठि(ण्) पुं० (जीर्णश्रेष्ठिन्) 'जिण्णसेट्ठि(ण्)' शब्दार्थे, ध० २०।

जुण्णाजुण्ण त्रि० (जीर्णाजीर्ण) 'जिण्णाजिण्ण' शब्दार्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड।

जुण्णुज्जाण न० (जीर्णोद्यान) 'जिण्णुज्जाण' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जुण्णुद्धार पुं० (जीर्णोद्धार) 'जिण्णुद्धार' शब्दार्थे, ध० २ अधि०।

जुण्हा स्त्री० (जोत्स्ना) 'जोइसिणा' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद।

जुति स्त्री० (द्युति) द्युतौ, 'सव्वजुईए' सर्वद्युत्याऽऽभरणादि संबन्धित्या। ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०।

जुत्त त्रि० (युक्त) युज् – क्तः। युते, ''जुत्तानि बलीवदाऽऽदियुतानि। औ०। ''गुत्ते जुत्ते तदा जए।'' युक्तो ज्ञानाऽऽदिभिः। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। संयुते, पञ्चा० १२ विव०। मिलिते, अष्ट० १ अष्ट०। उपेते, षा० ११ विव०। श्लिष्टे, आ० चू०। युक्तं श्लिष्टमित्यनर्थान्तरम्। आ० चू० १ अ०। समन्विते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। परस्परसंबद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। विशे०। ज्ञा०। रा०। उचिते, अनु०। स्था०। जं०। रा०। जी०। योग्ये, नि० चू० १० उ०। युक्तं योग्यं घटमानमिति। नि० चू० १ उ०। ''जुत्तो'' युज्यते, घटत इत्यर्थः। नि० चू० १ उ०। उपपन्ने, चं० प्र० २० पाहु०। सूत्र०। सू० प्र०। संगते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। स्था०। विपा०। जं०। उपा०। पञ्चा०। युक्तियुक्ते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। संमते, दर्श० ४ तत्त्व। उद्युक्ते, प्रव० ६४ द्वार। अभ्यस्तयोगे योगिनि, पुं०। एलानीबृक्षभेदे च, न्यायाऽऽगत द्रव्याऽऽदौ, न०। वाच०।

जुत्तगइ स्त्री० (युक्तगति) मृदुगतौ, ''जुत्तगती णामं मिदुगती।'' न शीघ्रं गच्छतीत्यर्थः। नि० चू० १६ उ०।

जुत्तजोग पुं० (युक्तयोग) संयुतकायाऽऽदिचेष्टे, ''सव्वेहिं जुत्तजोगस्स।'' पञ्चा० १२ विव०।

जुत्तपरिणय त्रि० (युक्तपरिणत) सत्साम्प्रया युक्ततया परिणते यानाऽऽदौ, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

जुत्तपालिय त्रि० (युक्तपालिक) युक्तापरस्परं संबद्धा न तु वृहदन्तराला पालिः सेतुर्यस्य य युक्तपालिकः। परस्परसंबद्धसेतुके, रा०। जी०।

जुत्तफुसिय न० (युक्तस्पृष्ट) उचितबिन्दुनिपाते, ''जुत्तफुसिय–निहयरेणुयं।'' स० ३४ सम०।

जुत्तरूव त्रि० (युक्तरूप) संगतस्वभावे, प्रशस्तस्वभावे, उचितवेषे, सुविहितनेपथ्ये च। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

जुत्तसोह त्रि० (युक्तशोभ) युक्तं शोभते युक्तस्य वा शोभा यस्य तद्युक्त-शोभम्। गवाऽऽदिसत्सामग्रीयुक्ततया शोभमाने यानाऽऽदौ, स्था० ४ ठा० ३ उ०। युक्ता उचिता शोभा यस्य सः। युक्तशोभोपेते, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

जुत्ति स्त्री० (युक्ति) योजनं युक्तिः, युज्–क्तिन्। विशे०। योगे, ''दिव्वाए जुत्तीए'' युक्त्या विवक्षितार्थयोगेन। औ०। भक्तौ, स्था० ८ ठा०। द्रव्याऽऽदिसंयोगे, स० ५ अङ्ग। आचा०। ज्ञा०। युक्त्याऽन्यान्यभक्ति-भिस्तथाविधद्रव्ययोजनेनेति। स्था० ८ ठा०। लोकन्याये, षो० ६ विव०। विशे०। हेतौ, स० ५ अङ्ग। उपपत्तौ, अष्ट० १६ अष्ट०। श्रा०। पञ्चा०। ''एसा खलु तंतजुत्ति त्ति।'' तन्त्रयुक्तिः शास्त्रीयोपपत्तिः। पञ्चा० १८ विव०। अवितथभणितौ, ''तत्थिमा जुत्ति वत्तव्वा।'' जीवा० ८ अधि०। युक्तयः सर्वप्रमाणनयगर्भा इति। षो० ५ विव०। अनुमाने, यो० वि०। अनुमानसाधने लिङ्गज्ञानाऽऽदौ, वाच०। ''सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं।'' सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणीभूतैः। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। युक्तयः साधनानि, असिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरिहारेण पक्षधर्मत्वसपक्षत्व-विपक्षत्वव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसङ्गता युक्तयः। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। योजनं युक्तिः। अर्थघटनायाम्, स० ५ अङ्ग। सूत्रा०। ''तत्थ जुत्ती वि पयडा।'' जी० १ प्रति०। ''सव्वजुईए'' सर्वयुक्त्या उचितेषु वस्तुघटनालक्षणयेति। ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०। विधौ, बृ० १ उ०। युक्तिरर्थविधारणमित्युक्ते नाटकाङ्गविशेषे च। वाच०।

***जूर्ति** – स्त्री०। ज्वर–क्तिन्, संप्रसारणम्। ज्वरे, वाच०।

जुत्तिक्खम त्रि० (युक्तिक्षम) उपपत्तिसहे, पञ्चा० १२ विव०। आ० म०। ''नागमजुत्तिक्खमं होइ''। (३६५ गाथा) विशे०।

जुत्तिगई स्त्री० (युक्तिगवी) यथार्थवस्तुस्वरूपविभजनोपपत्तिर्युक्तिः। सैव गौर्युक्तिगवी। युक्तिरूपायां गवि, ''मनोवत्सोयुक्तिगवीं, मध्यस्थस्यानु-धावति''। (२ श्लो०) अष्ट० १६ अष्ट०।

जुत्तिण्ण त्रि० (युक्तिज्ञ) युक्तिज्ञानवति, ''गंधारे गीयजुत्तिण्णा।'' स्था० ७ ठा०।

जुत्तिवाहिय त्रि० (युक्तिबाधित) उपपत्तिनिराकृते, ''जम्हा ण जुत्तिवाहि–विसओ वि सदागमो होइ।'' (४४ गाथा) पञ्चा० १८ विव०।

जुत्तिसुवण्ण पुं० (युक्तिसुवर्ण) कृत्रिमसुवर्णे, दश० १० अ०।

युक्तिसुवर्णस्य का वार्ता ? इत्याह –

जुत्तीसुवण्णगं पुण, सुवण्णवण्णं तु यदि वि कीरेज्जा।
ण हु होति तं सुवण्णं, सेसेहिं गुणेहिँऽसंतेहिं ॥३६॥

युक्त्या द्रव्यसंयोगेन, यदसुवर्णं सत्सुवर्णाकारं स्यात् तद् युक्तिसुवर्णं, तत्पुनः सुवर्णवर्णं पीतच्छायमेव, यद्यपत्यिभ्युपगमोक्ति–

येत विधीयेत, कथञ्चित्तथापि 'न हु' नैव भवति स्यात्, तद्युक्ति – सुवर्णम्, सुवर्ण हेम, शैषैर्वर्णव्यतिरिक्तैर्गुणैर्विषघाताऽऽदिभिर –सद्भिरिति गाथार्थः ॥३६॥ पञ्चा० १४ विव०।

जुद्धकित्तिपुरिस पुं० (युद्धकीर्तिपुरुष) 'जुज्झकित्तिपुरिस' शब्दार्थे, स०।

जुद्धकुसल पुं० (युद्धकुशल) 'जुज्झकुसल' शब्दार्थे, आ० क०।

जुद्धणीइ स्त्री० (युद्धनीति) 'जुज्झणीइ' शब्दार्थे, आ० क०।

जुद्धदक्ख पुं० (युद्धदक्ष) 'जुज्झदक्ख' शब्दार्थे, उत्त० ३ अ०।

जुद्धववसाय पुं० (युद्धव्यवसाय) 'जुज्झववसाय' शब्दार्थे, उत्त० ३ अ०।

जुद्धविरिय पुं० (युद्धवीर्य) 'जुज्झविरिय' शब्दार्थे, ति०।

जुद्धसज्ज पुं० (युद्धसज्ज) 'जुज्झसज्ज' शब्दार्थे, रा०।

जुद्धसद्ध त्रि० (युद्धश्रद्ध) 'जुज्झसद्ध' शब्दार्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

जुप्पइत्ता अव्य० (युक्त्वा) युज् – क्त्वा। योगं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद।

जुम्म न० (युग्म) युज् – मक्। पृषोदराऽऽदित्वाज्जस्य गः। **''ग्मावा''** ।८।२।६३। इतिप्राकृतसूत्रेण ग्मस्य म्मो वा। प्रा० २ पाद। द्वित्वसंख्याऽन्विते पदार्थद्वयसंघाते, पिं०। ओघ०। युगले, ''युग्माग्निकृतभूतानि, षण्मुन्योर्वसुरन्ध्रयोः। रुद्रेण द्वादशी युक्ता, चतुर्दश्यथ पूर्णिमा। प्रतिपदाऽऽप्यमावस्या, तिथ्योर्युग्मं महाफलम्॥'' इत्युक्ते तिथियोगविशेषे, वाच०। गणपरिभाषया समराश्यात्मके राशिविशेषे च। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

युग्मभेदाः –

कइ णं भंते ! जुम्मा पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता। तं जहा–कडजुम्मे, तेओए, दावरजुम्मे, कलिओए। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव कलिओए ? गोयमा ! जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे अवहीरेमाणे चउपज्जवसिए, से तं कडजुम्मे १। जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे अवहीरेमाणे तिपज्जवसिए, से तं तेओए २। जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे अवहीरेमाणे दुपज्जवसिए, से तं दावरजुम्मे ३। जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे अवहीरेमाणे एगपज्जवसिए, से तं कलिओए ४। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव कलिओए॥

''कइ णं'' इत्यादि। (चत्तारि जुम्म त्ति) इह गणितपरिभाषया समो राशिर्युग्ममुच्यते, विषमस्तु ओज इति। तत्र च यद्यपीह द्वौ राशी युग्मशब्दवाच्यौ द्वौ च ओजः शब्द वाच्यौ भवतः, तथापीह युग्मशब्देन राशयो विवक्षिताः, अतश्चत्वारि युग्मानि, राशय इत्यर्थः। तत्र (कडजुम्मे त्ति) कृतं सिद्धं पूर्णं, ततः परस्य राशिसंज्ञान्तरस्याभावेन, न त्र्योजः प्रभृतिवदपूर्णं यद्युग्मं समराशिविशेषः तत्कृतयुग्मम्। (तेओए त्ति) त्रिभिरादित एव, कृतयुग्माद्वोषपरिवर्त्तिभिरोजो विषमराशिविशेषस्त्र्योजः। (दावरजुम्मे त्ति) द्वाभ्यामादित एव, कृतयुग्माद्वोपरिवर्त्तिभ्यां यदपरं युग्मं कृतयुग्मादन्यत्तन्निपातन विधेर्द्वापरयुग्मम्। (कलिओए त्ति) कलिना एकेन आदित एव, कृतयुग्माद्वोपरिवर्त्तिना ओजो विषमराशिविशेषः कल्योज इति। ''जे णं रासी'' इत्यादि। यो राशिश्चतुष्कके नापहारेणापह्रियमाणश्चतुष्पर्यवसितो भवति स कृतयुग्मभिधीयते। यत्रापि राशौ चतुरूपत्वेन चतुष्कापहारो नास्ति, सोऽपि चतुष्पर्यवसितत्वसद्भावात्कृतयुग्ममेव, एवमुत्तरपदेष्वपि। भ० १८ श० ४ उ०। आचा०। स्था०। यस्तु त्रिपर्यवसितः स त्र्योजो, द्विपर्यवसितो द्वापरयुग्मे, एकपर्यवसितः, कल्योज इति। इह गणितपरिभाषायां समराशिर्युग्म इत्युच्यते, विषमस्तु ओज इति। इयं च समयस्थितिः, लोके तु कृतयुगाऽऽदीनि एवमुच्यन्ते – ''द्वात्रिंशच्च सहस्राणि, कलौ लक्षचतुष्टयम्। वर्षाणां द्वापराऽऽदौ स्या–देतद् द्वित्रिचतुर्गुणम्'' ॥१॥ इति स्था० ४ ठा० ३ उ०।

उक्तराशीन्नारकाऽऽदिषु निरूपयन्नाह –

णेरइयाणं चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता। तं जहा–कडजुम्मे, तेओए, दावरजुम्मे, कलिओए। एवमसुरकुमाराणं० जाव थणियकुमाराणं, एवं पुढविकाइयाणं आउतेउवाउवणस्सइ-वेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं वाणमंतरजोइसियाणं वेमाणियाणं सव्वेसिं जहा नेरइयाणं॥

''नेरइयाणं'' इत्यादि सुगमम्। नवरम्, नारकाऽऽदयश्चतुर्धाऽपि स्युः, जन्ममरणाभ्यां हीनाधिकत्व संभवादिति। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

अनन्तरं कृतयुग्माऽऽदिराशयः प्ररूपिताः। अथ तैरेव नारकाऽऽदीन्

प्ररूपयन्नाह –

नेरइयाणं भंते ! किं कडजुम्मा, तेओआ, दावरजुम्मा, कलिओआ ? गोयमा ! जहण्णपदे कडजुम्मा, उक्कोसपदे तेओआ, अजहण्णमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ० जाव थणियकुमारा॥

''नेरइयाणं'' इत्यादि। (जहण्णपदे कडजुम्म त्ति) अत्यन्तस्तोकत्वेन कृतयुग्माः कृतयुग्मसंज्ञिताः, (उक्कोसपए त्ति) सर्वोत्कृष्टतायां त्र्योजः संज्ञिताः, मध्यमपदे चतुर्विधा अप्येतच्चैवमाज्ञाप्रामाण्यादवगन्तव्यम्।

वणस्सइकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णपदे उक्कोसपदे अपदा, अजहण्णमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। वेइंदियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णपदे कडजुम्मा, उक्कोसपदे दावरजुम्मा, अजहण्णमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। एवं० जाव चउरिंदिया। सेसा एगिंदिया, जहा वेइंदिया, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया० जाव वेमाणिया जहा णेरइया, सिद्धा जहा वणस्सइकाइया।

''वणस्सइकाइयाणं'' इत्यादि। वनस्पतिकायिका जघन्यपदे, उत्कृष्टपदे चापदाः, जघन्यपदस्योत्कृष्टपदस्य च तेषामभावात्। तथाहि – जघन्यपदमुत्कृष्टपदं च तदुच्यते यन्नियतरूपं, तच्च यथा नारकाऽऽदीनां कालान्तरेणापि लभ्यते, न तथा वनस्पतीनां, तेषां परम्परया सिद्धिगमनेन तद्राशेरनन्तत्वापरित्यागेऽप्य – नियतरूपत्वादिति। (सिद्धा जहा वणस्सइकाइय त्ति) जघन्यपदे, उत्कृष्टपदे चापदाः, अजघन्यो त्कृष्टपदे च स्यात्कृतयुग्मा –

ऽऽदय इत्यर्थः । तत्र जघन्योत्कृष्टपदापेक्षया अपदत्वं वर्द्धमानतया तेषामनियतपरिमाणत्वाद्भावनीयमिति ॥

इत्थीओ णं भंते ! किं कडजुम्माओ पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णपदे कडजुम्माओ, उक्कोसपदे कडजुम्माओ, अजहण्णमणुक्कोसपदे सि कडजुम्माओ० जाव सिय कलिओआओ । एवं असुरकुमाराइत्थीओ वि० जाव थणियकुमारइत्थीओ वि, एवं तिरिक्खजोणियइत्थीओ वि, एवं मणुस्सइत्थीओ वि, एवं वाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवइत्थीओ वि ॥ भ० १८ श० ४ उ० ।

णेरइयाणं भंते ! कइ जुम्मा पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता । तं जहा–कडजुम्मे० जाव कलिओए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–णेरइयाणं चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता । तं जहा–कडजुम्मे, अट्ठो तहेव । एवं० जाव वाउकाइयाणं । वणस्सइकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! वणस्सइकाइया सिय कडजुम्मा, सिय तेओआ, सिय दावरजुम्मा, सिय कलिओआ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ वणस्सइकाइया० जाव कलिओआ ? गोयमा ! उववायं पडुच्च से तेणट्ठेणं तं चेव । वेइंदियाणं जहा णेरइयाणं । एवं० जाव वेमाणियाणं । सिद्धाणं जहा वणस्सइकाइयाणं ॥

''नेरइयाणं भंते ! कति जुम्मा' इत्यादौ (अट्ठो तहेव त्ति) स चार्थः । ''जे णं णेरइयाणं चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणा अवहीरेमाणा चउपज्जवसिया ते णं नेरइया कडजुम्मे'' इत्यादिरिति । वनस्पतिकायिकसूत्रे–(उववायं पडुच्च त्ति) यद्यपि वनस्पतिकायिका अनन्तत्वेन स्वभावात्कृतयुग्मा एव प्राप्नुवन्ति, तथापि गत्यन्तरेभ्य एकाऽऽदिजीवानां तत्रोत्पादमङ्गीकृत्य तेषां चतूरूपत्वमयौगपद्येन भवतीत्युच्यते उद्वर्तनामप्यङ्गीकृत्य, स्यादेतत्, केवलं सेह न विवक्षितति ॥

अथ कृतयुग्माऽऽदिभिरेव राशिभिर्द्रव्याणां प्ररूपणायेदमाह –

धम्मत्थिकाए णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे० जाव कलिओए ? गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओए । एवं अधम्मत्थिकाए वि । एवं आगासत्थिकाए वि । जीवत्थिकाए णं पुच्छा ? गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णे कलिओए । पोग्गलत्थिकाए णं पुच्छा ? गोयमा ! सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए, अद्धासमए जहा जीवत्थिकाए । धम्मत्थिकाएणं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मे पुच्छा ? गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए । एवं० जाव अद्धासमए ॥

''धम्मत्थिकाए णं भंते !'' इत्यादौ (कलिओए त्ति) एकत्वाद्धर्मास्तिकायस्य चतुष्कापहाराभावेनैकस्यैवावस्थानात्कल्योज एवासाविति । ''जीवत्थि'' इत्यादि । जीवद्रव्याणामवस्थितानन्तत्वात्कृतयुग्मतैव । ''पोग्गलत्थिकाए'' इत्यादि । पुद्गलास्तिकायस्यानन्तभेदत्वेऽपि संघातभेदभाजनत्वाच्चातुर्विध्यमध्येयम्, अद्धासमयानां त्वतीतानागतानामवस्थितानन्तत्वेन कृतयुग्मत्वम् । अत एवाह– (अद्धासमए जहा जीवत्थिकाए त्ति) उक्ता द्रव्यार्थता । अथ प्रदेशार्थता तेषामेवोच्यते– ''धम्मत्थि'' इत्यादि । सर्वाण्यपि द्रव्याणि कृतयुग्मानि प्रदेशार्थतयाऽवस्थितासंख्यातप्रदेशत्वादवस्थिताऽनन्तप्रदेशत्वाच्चेति ।

अथ द्रव्याण्येव क्षेत्रापेक्षया कृतयुग्माऽऽदिभिः प्ररूपयन्नाह –

धम्मत्थिकाए णं भंते ! किं ओगाढे, अणोगाढे ? गोयमा ! ओगाढे, णो अणोगाढे । जइ ओगाढे, किं संखेज्जपएसोगाढे, असंखेज्जपएसोगाढे, अणंतपएसोगाढे ? गोयमा ! णो संखेज्जपएसोगाढे, असंखेज्जपएसोगाढे, णो अणंतपएसोगाढे । जइ असंखेज्जपएसोगाढे, किं कडजुम्मपएसोगाढे पुच्छा ? गोयमा ! कडजुम्मपएसोगाढे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओयपएसोगाढे । एवं अहम्मत्थिकाए वि, एवं आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए, अद्धासमए एवं चेव ।

''धम्मत्थिकाए'' इत्यादि । (असंखेज्जपएसोगाढे त्ति) असंख्यातेषु लोकाऽऽकाशप्रदेशेष्वगाढोऽसौ, लोकाऽऽकाशप्रमाणत्वात्तस्येति । (कडजुम्मपएसोगाढे त्ति) लोकस्यावस्थितासंख्येयप्रदेशत्वेन कृतयुग्मप्रदेशता, लोकाऽऽकाशप्रमाणत्वेन च धर्मास्तिकायस्यापि कृतयुग्मतैव । एवं सर्वास्तिकायानां लोकावगाहित्वात्तेषाम् । नवरम्, आकाशास्तिकायस्यावस्थितानन्तप्रदेशत्वादात्मावगाहित्वाच्च कृतयुग्मप्रदेशावगाढताऽद्धासमयस्य चावस्थितासंख्येयप्रदेशाऽऽत्मक मनुष्यक्षेत्रावगाहित्वादिति ।

अथ कृतयुग्माऽऽदिभिरेव जीवाऽऽदीनि
षड्विंशतिपदान्येकत्वपृथक्त्वाभ्यां निरूपयन्नाह –

जीवे णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे पुच्छा ? गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओए । एवं णेरयइ वि, एवं० जाव सिद्धे ॥

''जीवेणं'' इत्यादि । द्रव्यार्थतया एको जीव एकमेव द्रव्यं, तस्मात्कल्योजो, न शेषाः ।

जीवाणं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मा ? गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ । विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, कलिओआ । णेरइयाणं भंते ! दव्वट्ठयाए पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ । विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, कलिओआ, एवं० जाव सिद्धा ।

''जीवाणं'' इत्यादि। जीवा अवस्थितानन्तत्वादोघाऽऽदेशेन सामान्यतः कृतयुग्माः, (विहाणादेसेणं ति) भेदप्रकारेण एकैकश इत्यर्थः। कल्योजा एकत्वात्तत्स्वरूपस्य। ''नेरइयाणं'' इत्यादौ (ओघादेसेणं ति) सर्व एव परिगण्यमानाः (सिय कडजुम्मे त्ति) कदाचिच्चतुष्कापहारेण चतुरग्रा भवन्ति। ''एवं सिय तेओआ'' इत्याद्यप्यवगन्तव्यमिति। उक्ता द्रव्यार्थतया जीवाऽऽदयः।

अथ तथैव प्रदेशार्थतयोच्यन्ते –

जीवेणं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ? गोयमा ! जीवपदेसे पडुच्च कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मो णो कलिओप। सरीरदेसे पडुच्च सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओप, एवं० जाव वेमाणिए। सिद्धेणं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मे पुच्छा ! गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए।

''जीवेणं'' इत्यादि। (जीवपएसे पडुच्च कडजुम्मे त्ति) असंख्यातत्वादवस्थितत्वाच्च जीवप्रदेशानां चतुरग्र एव जीवप्रदेशतः। ''सरीरपएसे पडुच्च'' इत्यादि औदारिकाऽऽदिशरीरप्रदेशानामनन्तत्वेऽपि संयोगवियोगधर्मत्वादयुगपच्चतुर्विधता स्यात्।

जीवाणं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ? गोयमा ! जीवपदेसे पडुच्च ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। सरीरपदेसं पडुच्च ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि० जाव कलिओआ वि। एवं णेरइया वि, एवं० जाव वेमाणिया। सिद्धाणं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेण वि कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ।

''जीवाणं'' इत्यादि। (ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्म त्ति) समस्तजीवानां प्रदेशा अनन्तत्वादवस्थितत्वाच्च एकैकस्य प्रदेशा असंख्यातत्वादवस्थितत्वाच्च चतुरग्रा एव, शरीरप्रदेशापेक्षया त्वोघाऽऽदेशेन सर्वजीवशरीरप्रदेशानामयुग पञ्चातुर्विध्यम्, अनन्तत्वेऽपि तेषां संख्यातभेदभावेनानवस्थितत्वात्। ''विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि'' इत्यादि। विधानाऽऽदेशेनैकैकजीवशरीरस्य प्रदेशगणनायां युगपच्चातुर्विध्यं भवति, यतः कस्यापि जीवशरीरस्य कृतयुग्मप्रदेशता, कस्यापि त्र्योजः प्रदेशतेत्येवमादीनि।

अथ क्षेत्रतो जीवाऽऽदि तथैवाऽऽह –

जीवे णं भंते ! किं कडजम्मपदेसोगाढे पुच्छा ? गोयमा ! सिय कडजुम्मपदेसोगाढे० जाव सिय कलिओयपदेसोगाढे, एवं० जाव सिद्धे।

''जीवे णं'' इत्यादि। औदारिकाऽऽदिशरीराणां विचित्रावगाहनत्वाच्चतुरग्राऽऽदित्वमस्तीत्यत एवाऽऽह–''सिय कडजुम्मे'' इत्यादि।

जीवाणं भंते ! किं कडजम्मपदेसोगाढे पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। विहाणादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा वि० जाव कलिओअपदेसोगाढा वि। णेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मपदेसोगाढा वि० जाव सिय कलिओअपदेसोगाढा वि। विहाणादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा वि० जाव कलिओअपदेसोगाढा वि। विहाणादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा वि० जाव सिय कलिओअपदेसोगाढा वि, एवं एगिंदियवज्जा० जाव वेमाणिया सिद्धा। एगिंदिया य जहा जीवा।

''जीवाणं भंते !'' इत्यादि। समस्तजीवैरवगाढानां प्रदेशा नामसंख्यातत्वादवस्थितत्वाच्चतुरग्रतैवेत्योघाऽऽदेशेन कृतयुग्मप्रदेशावगाढाः; विधानाऽऽदेशतस्तु विचित्रत्वाद् यदवगाहनाया युगपच्चतुर्विधाः, ते नारकाः पुनरोघतो विचित्रापरिणामत्वेन विचित्राशरीरप्रमाणत्वेन विचित्रावगाहनाप्रदेशपरिमाणत्वादयौगपद्येन चतुर्विधा अपि, विधानतस्तु विचित्रावगाहनत्वादेकदाऽपि चतुर्विधास्ते भवन्ति। (एवं एगिंदियसिद्धिवज्जा सव्वे वि त्ति) असुराऽऽदयो नारकवद्वक्तव्या इत्यर्थः। तत्रौघतस्ते कृतयुग्माऽऽदयः–अयौगपद्येन, विधानतस्तु युगपदेवैतः, (सिद्धा एगिंदिया य जहाजीव त्ति) सिद्धाएकेन्द्रियाश्च यथा जीवास्तथा वाच्याः, ते चौघतः कृतयुग्मा एव, विधानतस्तु युगपच्चतुर्विधा अपि। युक्तिस्तूभयत्रापि प्राग्वत्।

अथ स्थितिमाश्रित्य जीवाऽऽदि तथैव प्ररूप्यते –

जीवे णं भंते ! किं कडजुम्मसमयट्ठितीए पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मसमयट्ठितीए, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओयसमयट्ठितीए। णेरइए णं पुच्छा ? गोयमा ! सिय कडजुम्मसमयट्ठितीए० जाव सिय कलिओयसमयट्ठितीए। एवं० जाव वेमाणिए सिद्धे जहा जीवे।

''जीवेणं'' इत्यादि। तत्रातीतानागतवर्तमानकालेषु जीवोऽस्तीति, सर्वाद्धाया अनन्तसमयाऽऽत्मकत्वादवस्थितत्वाच्चा सौकृतयुग्मसमयस्थितिक एव। नारकाऽऽदिस्तु विचित्रसमयस्थितिकत्वात्कदाचिच्चतुरग्रः, कदाचिदन्यत्रितयवर्तीति।

जीवाणं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेण वि, विहाणादेसेण वि कडजुम्मसमयट्ठितीया, णो तेओणा, णो दावरजुम्मसमयट्ठितीया, णो कलिओआ। णेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मसमयट्ठितीया वि० जाव सिय कलिओअसमयट्ठितीया वि। विहाणादेसेणं कडजुम्मसमयट्ठितीया वि जाव० कलिओअसमयट्ठितीया वि, एवं० जाव वेमाणिया सिद्धा जहा जीवा॥

''जीवाणं'' इत्यादि। बहुत्वे जीवा ओघतो, विधानतश्च चतुरग्रसमयस्थितिका एव, अनाद्यनन्तत्वेनागन्तसमयस्थितिकत्वात्तेषाम्। नारकाऽऽदयः पुनर्विचित्रसमयस्थितिकाः, तेषां च सर्वेषां स्थितिसमयमीलने चतुष्कापहारे चौघाऽऽदेशेन स्यात्कृतयुग्मसमयस्थितिका इत्यादि, विधानतस्तु युगपञ्चतु र्विधां अपि।

अथ भावतो जीवाऽऽदि तथैव प्ररूप्यते –

जीवे णं भंते ! कालवण्णपज्जवेहिं किं कडजुम्मे पुच्छा ?

गोयमा ! जीवपदेसे पडुच्च णो कडजुम्मे. जाव णो कलिओए। सरीरपदेसे सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए। एवं० जाव वेमाणिए। सिद्धो चेव ण पुच्छिज्जइ ॥

''जीवेणं'' इत्यादि (जीवपएसे पडुच्च नो कडजुम्म त्ति) अमूर्त्तत्वाज्जीवप्रदेशानां न कालाऽऽदिवर्णपर्यवानाश्रित्य कृतयुग्माऽऽदिव्यपदेशोऽस्ति; शरीरवर्णापेक्षया तु क्रमेण चतुर्विधोऽपि स्यात्। अत एवाऽऽह – ''सरीर'' इत्यादि। (सिद्धो न चेव पुच्छिज्जइ त्ति) अमूर्त्तत्वेन तस्य वर्णाऽऽद्यभावात्।

जीवा णं भंते ! किं कालवण्णपज्जवेहिं पुच्छा ? गोयमा ! जीवपदेसे पडुच्च ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि, णो कडजुम्मा० जाव णो कलिओआ। सरीरपदेसे पडुच्च ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं कडजुम्मा० वि जाव कलिओआ वि। एवं० जाव वेमाणिया, एवं णीलवण्णपज्जवेहिं वि दंडओ भाणियव्वो एगत्तपुहत्तेणं, एवं० जाव लुक्खफासपज्जवेहिं। जीवे णं भंते ! आभिणिबोहियणाण पज्जवेहिं किं कडजुम्मे पुच्छा ? गोयमा ! सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए, एवं एगिंदियवज्जं० जाव वेमाणिए। जीवा णं भंते ! आभिणिबोहियणाणपज्जवेहिं पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजम्मा. जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि जाव कलिओआ वि। एवं एगिंदियवज्जं० जाव वेमाणिया। एवं सुयणाणपज्जवेहिं वि, ओहिणाणपज्जवेहिं वि एवं चेव, णवरं विगलिंदियाणं णत्थि ओहिणाणं, मणपज्जवणाणं वि एवं चेव, णवरं जीवाणं मणुस्साण य सेसाणं णत्थि।

(आभिणिबोहियनाणपज्जवेहिं त्ति) आभिनिबोधिकज्ञानस्याऽऽवरणक्षयोपशमभेदेन विशेषास्तस्यैव च ये निर्विभागपरिच्छेदास्ते आभिनिबोधिकज्ञानपर्यवास्तैः, तेषां चानन्तत्वेऽपि क्षयोपशमस्य विचित्रत्वेनानावस्थितपरिणामत्वादयौगपद्येन जीवश्चतुरग्राऽऽदिः स्यात् (एवं एगिंदियवज्जं ति) एकेन्द्रियाणां सम्यक्त्वाभावान्नस्त्याभिनिबोधिकमिति न तदपेक्षया तेषां कृतयुग्माऽऽदिव्यपदेश इतिः ''जीवाणं'' इत्यादि। बहुत्वे समस्तामाभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणां मीलने चतुष्कापहारे वा युगपच्चतुरग्राऽऽदित्वमोघतः स्याद्, विचित्रत्वेन क्षयोपशमस्य तत्पर्यायणामनव-स्थितत्वात्। विधानतस्त्वेकदैव चत्वारोऽपि तद्भेदाः स्युरिति।

जीवे णं भंते ! केवलणाणपज्जवेहिं किं कडजुम्मे पुच्छा ? गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए। एवं मणुस्से वि, एवं सिद्धे वि। जीवाणं णं भंते ! केवलणाण पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण विकडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। एवं मणुस्सा वि। जीवे णं भंते ! मइअण्णपज्जवेहिं किं कडजुम्मे ? जहा आभिणिबोहिणाणपज्जवेहिं तहेव दो दंडगा, एवं सुयणाणपज्जवेहिं वि, एवं विभंगणाणपज्जवेहिं वि, चक्खुदंसणअचक्खुदसणओहि दंसणपज्जवेहिं।

केवलज्ञानपर्यवपक्षे च सर्वत्र चतुरग्रत्वमेव वाच्यं, तस्यानन्तपर्यायत्वादवस्थितत्वाच्च, एतस्य च पर्याया अविभागपलिच्छेद रूपा एवावसेयाः, न तु तद्विशेषाः, एकविध त्वात्तस्येति। (दो दंडग त्ति) एकत्वबहुत्वकृतौ द्वौ दण्डकाविति। भ० २५ श० ४ उ०।

पुद्गलानेव कृतयुग्माऽऽदिभिर्निरूपयन्नाह –

परमाणुपोग्गला णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे, तेओए य, दावरजुम्मे कलिओए ? गोयमा ! णो कडजुम्मे, णे तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओए। एवं० जाव अणंतपएसिए खंधे।

''परमाणु'' इत्यादि। परमाणुपुद्गला ओघाऽऽदेशतः कृत युग्माऽऽदयो भजनया भवन्ति, अनन्तत्वेऽपि तेषां सङ्घातभेदतो ऽनवस्थितस्वरुपत्वाद्, विधानतस्तु एकैकशः कल्पोजा एवेति।

परमाणुपोग्गला णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेण सिय कडजुम्मा, जाव सिय कलिओआ, विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओया, णो दावरजुम्मा, कलिओआ, एवं. जाव अणंतपदेसिया खंधा। परमाणुपोग्गला णं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ? गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओए ? दुपदेसिए पच्छा ? गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, दावरजुम्मे, णो कलिओए। तिपदेसिए पुच्छा ? गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो दावरजुम्मे, तेओए, णो कलिओए। चउप्पदेसिए पुच्छा ? गोयमा ! कडजुम्मे,णो ते ओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए। पंचपदेसिए जहा परमाणुपोग्गले। छप्पएसिए जहा दुपदेसिए। सत्तपदेसिए जहा तिपदेसिए। अट्ठपदेसिए जहा चउप्पदेसिए। णवपएसिए जहा परमाणुपोग्गले। दसपएसिए जहा दुपएसिए। संखेज्जपएसिए णं भंते ! पोग्गले। पुच्छा ? गोयमा ! सिय कडजुम्मे. जाव सिय कलिओए। एवं असंखेज्ज पएसिए वि। एवं अणंतपएसिए वि। परमाणुपोग्गले णं भंते ! पएसट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ।

(पंचपएसिए जहा परमाणुपोग्गल त्ति) एकाग्रत्वात्कल्योज इत्यर्थः। (छप्पएसिए जहा दुपएसिए त्ति) ह्यग्रत्वाद् द्वापरयुगम इत्यर्थः। एवमन्यदपि। ''संखेज्जपएसिए णं'' इत्यादि। संख्यातप्रदेशिकस्य विचित्रसंस्थत्वाद्भजनया चातुर्विध्यमिति।

दुपएसिया णं पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा, णो तेओआ, सिय दावरजुम्मा, णो कलिओआ। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा णो तेओआ, दावरजुम्मा, णो कलिओआ।

''दुपएसिया णं'' इत्यादि। द्विप्रदेशिका यदा समसंख्या भवन्ति तदा प्रदेशतः कृतयुग्माः, यदा तु विषमसंख्यास्तदा द्वापरयुग्माः। ''विहाणादेसेणं'' इत्यादि। ये द्विप्रदेशिकास्ते

प्रदेशार्थतयैकैकशश्चिन्त्यमाना द्विप्रदेशत्वादेव द्वापरयुग्मा भवन्ति।

तिपएसिया णं पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ ॥

''तिपएसिया णं'' इत्यादि। समस्तत्रिप्रदेशिकमीलने तत्प्रदेशानां च चतुष्कापहारे चतुरग्राऽऽदित्वं भजनया स्यात्, अनवस्थितसंख्यात्वात्तेषाम्। यथा चतुर्णां तेषां मीलने द्वादश प्रदेशाः, ते च चतुरग्राः पञ्चानां त्र्योजाः, षण्णां द्वापरयुग्माः, सप्तानां कल्योजा इति। विधानाऽऽदेशेन च त्र्यणुकत्वात् स्कन्धानामिति।

चउप्पएसिया णं पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। पंचपएसिया जहा परमाणुपोग्गला। छप्पदेसिया जहा दुपदेसिया। सत्तपएसिया जहा तिपदेसिया। अट्ठपदे सिया जहा चउप्पदेसिया। णवपएसिया जहा परमाणुपोग्गला। दसपएसिया जहा दुपदेसिया। संखेज्जपएसिया णं पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि० जाव कलिओआ वि। एवं असंखेज्जपएसिया वि, अणंतपएसिया वि॥

''चउप्पएसिया णं'' इत्यादि। चतुष्प्रदेशिकानामोघतो विधानतश्च प्रदेशाश्चतुरग्रा एव। (पंचपएसिया जहा परमाणुपोग्गल त्ति) सामान्यतः स्यात्कृतयुग्माऽऽदयः प्रत्येकं चैकाग्राएवेत्यर्थः। (छप्पएसिया जहा दुपएसिय त्ति) ओघतः स्यात्कृतयुग्मद्वापरयुग्माः, विधानतस्तु द्वापरयुग्मा इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि।

अथ क्षेत्रतः पुद्गलाँश्चिन्तयन्नाह –

परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं कडजुम्मपएसोगाढे पुच्छा ? गोयमा ! णो कडजुम्मपएसोगाढे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओअपदेसोगाढे। दुपएसिए णं पुच्छा ? गोयमा ! णो कडजुम्मपएसोगाढे, णो तेओए, सिय दावरजुम्मपएसोगाढे, सिय कलिओअपएसोगाढे। तिपएसिए णं पुच्छा ? गोयमा ! णो कडजुम्मपएसोगाढे, सियतेओअपएसोगाढे, सिय दावरजुम्मपएसोगाढे, सिय कलिओअपएसोगाढे। चउप्पएसिए णं पुच्छा ? गोयमा ! सियकडजुम्मपएसोगाढे० जाव सिय कलिओअपएसोगाढे, एवं० जाव अणंतपएसिए।

परमाणुः कल्योजप्रदेशावगाढ एव, एकत्वात्। द्विप्रदेशिकस्तु द्वापरजुग्मप्रदेशावगाढो वा, कल्योजप्रदेशावगाढो वा स्यात्, परिणामाविशेषात्। एवमन्यदपि सूत्रं नेयम्।

परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं कडजुम्मा पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णोकलिओआ। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, कलिओअपएसोगाढा।

''परमाणुपोग्गला णं'' इत्यादि। तत्रौघतः परमाणवः कृत युग्मप्रदेशावगाढा एव भवन्ति, सकललोकव्यापकत्वात्तेषाम्। सकललोकप्रदेशानां चासंख्यातत्वादवस्थितत्वाच्च चतुरग्रतेति। विधानतस्तु कल्योजप्रदेशावगाढाः, सर्वेषामेकैकप्रदेशावगाढत्वादिति।

दुपदेसिया णं पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। विहाणादंसेणं णो कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओअपएसोगाढा, दावरजुम्मपएसोगाढा वि, कलिओअपएसोगाढा वि। तिपएसिया णं पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मपएसोगाढा, तेओअपएसोगाढा वि, दावरजुम्मपएसोगाढा वि, कलिओअपएसोगाढा वि। च उप्पएसिया णं पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। विहाणादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा वि० जावकलिओअपएसोगाढा वि। एवं ०जाव अणंतपएसिया।

द्विप्रदेशावगाढास्तु सामान्यतश्चतुरग्रा एव, उक्तयुक्तितः। विधानतस्तु द्विप्रदेशिका ये द्विप्रदेशावगाढास्ते द्वापरयुग्माः, ये त्वेकप्रदेशावगाढास्ते कल्योजाः। एवमन्यदप्यूह्यम्।

परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं कडजुम्मसमयट्ठिईए पुच्छा ? गोयमा ! सिय कडजुम्मसमयट्ठिईए० जाव कलिओअसमयट्ठिईए। एवं० जाव अणंतपएसिए। परमाणुपोग्गलाणं किं कडजुम्मा पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मसमयट्ठिईया० जाव सिय कलिओअसमयट्ठिईया। विहाणादेसेणं कडजुम्मसमयट्ठिईया वि० जाव कलिओअसमयट्ठिईया वि। एवं० जाव अणंतपएसिया। परमाणुपोग्गला णं भंते ! कालवण्णपज्जवेहिं किं कडजुम्मे तेओए ? जहाठिईए वत्तव्वया। एवं वण्णेसु वि सव्वेसु, गंधेसु वि एवं चेव, रसेसु वि० जाव महुररसो त्ति। अणंतपएसिए णं भंते ! खंधे कक्खडफासपज्जवेहिं कि कडजुम्मे पुच्छा ? गोयमा ! सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए। अणंतपएसिया णं भंते ! खंधा कक्खडफासपज्जवेहिं किं कडजुम्मा पुच्छा ? गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि० जाव कलिओआ वि। एवं मउयगुरुयलहुया वि भाणियव्वा, सीओसिणणिद्धलुक्खा जहा वण्णा।

(अणंतपएसिए णं भंते ! खंधे त्ति) इह कर्कशाऽऽदिस्पर्शा धिकारे यदनन्तप्रदेशिकस्यैव स्कन्धस्य ग्रहणं, तत्तस्यैव बादरस्य

कर्कशाऽऽदिस्पर्शचतुष्टयं भवति, न तु परमाण्वादेरित्यभिप्रायेणेति। अत एवाऽऽह – (सोओसिणणिद्धलुक्खा जहा वण्ण त्ति) एतत्पर्यवाधिकारे परमाण्वादयोऽपि वाच्या इति भावः। भ० २५ श० ४ उ०।

जुम्मपएसिय त्रि० (युग्मप्रादेशिक) समसंख्यप्रदेशनिष्पन्ने, तदात्मके प्रतरवृत्तभेदे च। भ० २५ श० ४ उ०।

जुम्ह त्रि० (युष्मद्) युष्–मदिक्। संबोध्यचेतने भवच्छब्दार्थे, तस्य चोक्तार्थे त्रिषु लिङ्गेषु सर्वनामता। वाच०। **''युष्मद्यर्थपरे तः''** ॥८।१।२४६॥ इति प्राकृतसूत्रेण युष्मच्छब्देऽर्थपरे यस्य तः। 'तुम्हारिसो, तुम्हकेरो' प्रा० १ पाद। (युष्मच्छब्दरूपसिद्धिस्तु एतत्कोशप्रथमभागस्य प्रथमपरिशिष्टे २८ पृष्ठे प्रदर्शिता, रुपाणि तु तृतीयपरिशिष्टे १७ पृष्ठे विवेचितानीति तत एवावगन्तव्यानि)

जुयल न० (युगल) 'जुगल' शब्दार्थे, अनु०।

जुयलधम्म न० (युगलधर्म) 'जुगलधम्म' शब्दार्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड।

जुयलधम्मिय पुं० (युगलधर्मिक) 'जुगलधम्मिय' शब्दार्थे, तं०।

जुयलयमणुय पुं० (युगलकमनुज) 'जुगलयमणुय' शब्दार्थे, ज्यो० १ पाहु०।

जुरुभिल्ल न०। देशी–गहने, द० ना० ३ वर्ग।

जुव (ण्) त्रि० (युवन्) यु–क्वनिन्। श्रेष्ठे, निसर्गबलवति, वाच०। यौवनस्थे, जी० ३ प्रति०। रा०। युवा यौवनगामीति। द्वा० २२ द्वा०। युवा वयःप्राप्त इति। उपा० ६ अ०। भ०। ''आषोडशाद्भवेद् बालः तरुणस्तत उच्यते।'' इत्युक्तवयस्के तरुणे, वाच०। द्वा०। आचा०। ज्ञा०। आव०।

जुवइ स्त्री० (युवति (ती)) युवन् तिः। युवत्–ङीप् वा। यौवन वन्यां स्त्रियाम्, वाच०। तरुण्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आव०। औ०। प्रा०। रा०। ''जुवई समणं वूया।'' युवतिरभिनवयौवना स्त्री। सूत्रा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

युवइजण पुं० (युवति (ती) जन) तरुणीजने, प्रा० १ पाद।

जुवंगव पुं० (युवगव) युवाऽयं गौः युवगवः। यूनि गवि, ''जुवंगवे त्ति वा।'' आचा० २ श्रु० ४ अ० २ उ०।

जुवरज्ज न० (यौवराज्य) प्राचीननृपतिना यो यौवराज्याभिषिक्त आसीत्तेनाधिष्ठितं राज्यं परमनेन यावन्नाद्यापि द्वितीयो युवराजोऽभिषिक्तस्तावद्यौवराज्यमुच्यते। इत्युक्तलक्षणे राज्ये, बृ० १ उ०। नि० चू०। यत्र नाद्यापि राजाभिषेको भवति। इत्युक्त लक्षणे यौवराज्ये, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०। बृ०।

जुवराय पुं० (युवराज) युवा चाऽसौ राजा च युवराजः। पितरि जीवति सति राजयोग्यः कुमारो युवराज उच्यते। इत्युक्तलक्षणे कुमारपदधारके, उत्त० १६ अ०। राज्ञो द्वितीयस्थानवर्त्तिनि, व्य० १ उ०। राजयोग्यकियत्कार्यकरे राजपुत्रे, वाच०। युवराज उत्थिताऽऽसन इति। जी० ३ प्रति०। आव०। भा० म०। व्य०। औ०। आचा०। बृ०।

युवराजस्वरूपमाह –

आवस्सगाइँ काउं, सो सुचाइँ तु णिरवसेसाइं।
अत्थाणीमज्झगओ, पेच्छइ कज्जाइँ जुवराया ॥३१०॥

यो नाम प्रातरुत्थाय शौचपूर्वाणि आवश्यकानि शरीरचिन्ता – देवताऽर्चनाऽऽदीनि निरवशेषाणि कृत्वा आस्थानिकामध्यगतः सन् कार्याणि प्रेक्षते चिन्तयति स युवराजः। व्य० १ उ०। युवा राजा यत्र। ब० व्री०। युवराजनि, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०।

जुवाण पुं० (युवाण–युवन्) **''पुंस्यन् आणो राजवच्च''** ॥८।३।५६॥ इति प्राकृतसूत्रेण पुंल्लिङ्गे वर्तमानस्यान्तस्य स्थाने 'आण' इत्यादेशो वा भवति। प्रा० ३ पाद। युवा यौवनस्थस्तु प्राप्तवया एष इत्येवमणति व्यपदिशति लोको यमसौ निरुक्तिवशाद् युवाणः। बाल्याऽऽदिकालेऽपि दारकोऽभिधीयतेऽतो विशिष्टवयोऽवस्थापरिग्रहार्थमेतद्विशेषणम्। यौवनस्य इत्येवं लोकेन व्यपदिश्यमाने प्राप्तविशिष्टवयोऽवस्थे, अनु०।

जुव्वणत्थी स्त्री० (यौवनस्त्री) तरुण्याम्, ''पिच्छसि मुहं सतिलयं, सविसेसं सरायएण अहरेणं। सकडक्खं सवियारं, तरलच्छिं जुव्वणत्थीए ॥१२॥'' तं०।

जुसिय त्रि० (जुष्ट) जुष् – क्तः। उच्छिष्टे, सेविते च। वाच०। प्रीते, ''पाएण देइ लोगो, उपगारिसु परिचिए च जुसिए वा।'' स्था० ४ ठा० ४ उ०।

जुहिट्ठिल पुं० (युधिष्ठिर) युधि युद्धे स्थिरः। **''गवियुधिभ्यां स्थिरः''** ॥८।३।९५॥ इति (पाणि०) सूत्रेण षत्वम्। वाच०। हस्तिनापुरस्थे पाण्डुराजस्य ज्येष्ठपुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। ''जुहिट्ठिलपामोक्खाणं पंचण्हं पंडवाणं।'' अन्त० १ श्रु० ५ वर्ग० १ अ०।

जुहुट्ठिल पुं० (युधिष्ठिर) **''युधिष्ठिरे वा''** ।८।१।९६॥ इति प्राकृतसूत्रेण युधिष्ठिरशब्दे आदेरित उत्वं वा। प्रा० १ पाद। 'जुहिट्ठिल' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद। ज्ञा०।

जू पुं० (जू) जवे, व्योम्नि, पिशाचे, गणके, जने, सवले, प्रादुर्भावे, भवे च। सरस्वत्याम्, स्त्री०। ''जूः पुंल्लिङ्गे जवे व्योम्नि पिशाचगणके जने। जूः स्त्रियां तु सरस्वत्यां, जातिः स्यात्सवले पुमान्॥१॥'' इति। एका०। ''जूर्जुवौ जुव इत्यपि, प्रादुर्भावे भवे इति।'' एका०।

जूअअ पुं० (देशी) चातके, दे० ना० ३ वर्ग।

जुय पुं० (यूप) न०। यु–पक् – पृषो, दीर्घः। युगे, ''जूयसहस्सं'' यूपा युगास्तेषां सहस्रम्। कल्प० ५ क्षण। प्रश्न०। स्तम्भविशेषे, जं० २ वक्ष०। यज्ञस्तम्भे, जं० ३ वक्ष०। उत्त०। यज्ञीयपशुबन्ध काष्ठभेदे, यागसमाप्तिचिह्नार्थे स्तम्भे च, वाच०। जयस्तम्भे, पुं०। वाच०। तदात्मके सामुद्रिकशास्त्रोक्ते पुरुषस्य करचरणस्थे प्रशस्तलक्षणभेदे, जं० २ वक्ष०। प्रव० २७२ द्वार। ✻ द्यूत – न०। दिव–क्तः। क्रीडाविशेषे, औ०। प्रव०। स्था०। उत्त०। ''अणुक्कमं सो जूयं खेल्लउ।'' आ० म० १ अ० १२ खण्ड। उत्त०। ('मणुस्सत' शब्देऽस्य दृष्टान्तः) पाशकक्रीडायाम्, अप्राणिकरणकक्रीडायां, कैतवे च। वाच०। तदात्मके द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। जं०। स०।

जूयखलय न० (द्युतखलक) द्यूतस्थण्डिले, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

जूयग पुं० (यूपक) सन्ध्याप्रभा चन्द्रप्रभा च यद्युगपद् भवतस्तद् ''जूयगो त्ति'' भणितम्। सन्ध्याप्रभाचन्द्रप्रभयोर्मिश्रत्वे, तदात्मके आन्तरिक्षेऽस्वाध्यायभेदे च। ''दसविहे अंतलिक्खए असज्झाइए पण्णत्ते। तं जहा– उक्कावाए, दिसिदाहे, गज्जिए, विज्जुए, निग्घाए, जूयए, जक्खालित्तए, धूमिए, महिए, रजुग्घाए।'' स्था० १० ठा०। शुक्लपक्षप्रतिपदाऽऽदिदिनत्रयं यावद्यैः सन्ध्याच्छेदा आव्रियन्ते ते यूपका इति। भ० ७ श० ३ उ०। आव०।

पश्चिमस्यां दिशि स्थिते स्वनामख्याते महापाताले, स्था० ४ ठा० २ उ०। (यूपकस्य विशेषवक्तव्यता तु 'असज्झाइय' शब्दे प्रथमभागे ८२६ पृष्ठे निरूपिता)

संझाछेआवरणो, उ जूयगो सुक्कदिण तिन्नि ॥१७॥

(जूयगो त्ति) ''संझप्पहा, चंदप्पहा य, जेणं जुगवं भवंति तेण जूयगो, सा संझप्पहा चंदप्पभा चरिया फिट्टं ति, न नज्जइ, सुक्कपक्खाडिवगादिसु दिणेसु संझाझायो देव य अणज्जमाणे कालवेलं न मुणंति, अओ ते तिन्नि दिणा पाओसियकालं न गेण्हंति, तेसु तिसु दिणेसु पाओसियसुत्तपोरिसिं न करेंति'' इति गाथार्थः॥ आव० ४ अ०। जलमध्यवर्तितटे, खटे, बृ० १ उ०। (तत्र न वस्तव्यं न वाऽऽतापनाऽऽदिका क्रिया कर्त्तव्येति 'दगतीर' शब्दे वक्ष्यते)

जूयगर त्रि० (द्यूतकर) द्यूतं करोति कृ–अच्। पाशकाऽऽदिक्रीडाकारके, वाच०। प्रश्न०।

जूयगार त्रि० (द्यूतकार) द्यूतं करोति। कृ–ण्वुल्। पाशकाऽऽदिक्रीडाकारके, वाच०। प्रश्न०।

जूयचिइ स्त्री० (यूपचिति) यज्ञेषु यूपचयने, औ०।

*** द्यूतचिति** स्त्री०। द्यूतानि क्रीडाविशेषास्तेषां चितिः। द्यूतचयने, औ०।

जूयप्पमाय पुं० (द्यूतप्रमाद) द्यूतं प्रतीतं, तदपि प्रमाद एव द्यूत-प्रमादः। प्रमादभेदे, (स्था०) ''द्यूताऽऽसक्तस्य सच्चित्तं, धनं कामाः सुचेष्टितम्। नश्यन्त्येव परं शीर्षं, नामापि च विनश्यति'' ॥१॥ स्था० ६ ठा०।

जूयप्पसंगि(ण्) त्रि० (द्यूतप्रसङ्गिन्) द्यूताऽऽसक्ते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। आ० म०।

जूया स्त्री० (यूका) संस्वेदजे त्रीन्द्रियजीवविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०। प्रज्ञा०। ''लिक्खं वा जूयं वा''। आचा० २ श्रु० २ चू०। अष्टलिक्षाऽऽत्मके प्रमाणभेदे, स्था० ६ ठा०। अनु०। ''अट्ठलिक्खाओ सा एगा जूया।'' भ० ६ श० ७ उ०। जं०। उत्त०। प्रव०। ज्यो०। नं०।

जूयासेज्जायरय पुं० (यूकाशय्यातरक) यूकानां स्थानदातरि, भ० १५ श० १ उ०।

जूर धा० (जूर) वयोहानौ, अक०। वधे, सक० – दिवा० – आत्म० – सेट्। जूर्यते, अजूरिष्ट, जूर्णः। वाच०। पश्चात्तापे, 'अयहारिव्वजूरह।'' यथा वाऽयसो लोहस्याऽऽहर्त्ता अपान्तराले रूप्यादिलाभे सत्यपि दूरमानीतमिति कृत्वा नोज्झितवान्, पश्चात्स्वावस्थानाऽवाप्ता-वल्पलाभे सति जूरितवान्, पश्चात्तापं कृतवान्, एवं भवन्तोऽपि जूरयिष्यन्तीति। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

*** क्रुध्** धा०। कोपे, दिवा० – पर० – अक०। सोपसर्गसक० अनिट्। **''क्रुधर्जूरः''** ॥८।४।१३५॥ इति प्राकृतसूत्रेण क्रुधेर्जूर इत्यादेशो वा भवति। 'जूरइ' 'कुज्झइ'। प्रा० ४ पाद। क्रुध्यति, भृत्यमभिक्रुध्यति। अक्रुधत्। वाच०।

*** खिद** ध०। दैन्ये, दिवा० – रुधा० च आत्म० – अक० – अनिट्। **''खिदेर्जूरविसूरौ''** ॥८।४।१३२॥ इति प्राकृतसूत्रेण खिदेरेतावादेशौ वा भवतः। 'जूरइ' 'विसूरइ' खिज्जइ'। प्रा० ४ पाद। खिद्यते, खिन्ते। वाच०। परिघाते, तुदा० – पर० – अक० – अनिट् – मुचादिः। खिन्दति, खिन्दतः, अखैत्सीत्, खिन्नः। वाच०।

जूरण न० (जूरण) वयोहानौ, सूत्र० २ श्रु० ४ अ०। गर्हणे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। पश्चात्तापे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

जूरव धा० (वञ्च) प्रतारणे, **''वञ्चेर्वेहववेलवजूरवोमच्छाः''** ॥८।४।१६॥ इति प्राकृतसूत्रेण वञ्चेरेते आदेशा वा भवन्ति। 'जूरवइ, वंचइ'। प्रा० ४ पाद।

जूरावण न० (जूरण) शोकातिरेकाच्छरीरजीर्णताप्रापणायाम्, भ० ३ श० २ उ०।

जूरुमिल्लय पुं० (देशी) गोपाले, दे० ना० ३ वर्ग।

जवग पुं० (यूपक) 'जूयग' शब्दार्थे, स्था० १० ठा०।

जूवचिइ स्त्री० (यूपचिति) 'जूयचिइ' शब्दार्थे, औ०।

जूस पुं० (जूष) न०। जूष् – घञ्, अच् वा। मुद्गाऽऽदीनांक्काये, वाच०। मुद्गतण्डुलजीरकककटुभाण्डाऽऽदिरसाऽऽत्मके व्यञ्जनभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ०। सू० प्र०। चं० प्र०। भ०। प्रश्न०।

जूसणा स्त्री० (जूषणा) सेवायाम्, औ०।

*** जोसणा** स्त्री०। सेवानायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ०। सूत्र०।

जूसिय त्रि० (जुष्ट) सेविते, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

*** जोसित** त्रि०। सेविते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०।

जूह न० (यूथ) यु–थक्, पृषो० – दीर्घः। सजातीयसमुदाये, वाच०। यूथं समूह इति। स्था० १० ठा०। उत्त०।

जूहमल्लवाइ (ण्) पुं० (यूथमल्लवादिन्) वादिविशेषे, कल्प० ६ क्षण।

जूहवइ पुं० (यूथपति) यूथस्वामिनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। ''भावी यूथपतिःस्वयम्।'' आ० क०। ''सो वानरजूहवई।'' आ० क०।

जूहाहिव पुं० (यूथाधिप) यूथस्वामिनि, आ० म० १ अ० खण्ड।

जूहाहिवइ पुं० (यूथाधिपति) यूथस्य चतुर्विधसंघस्याधिपतिः। यूथस्वामिनि, उत्त० ११ अ०।

जूहिय त्रि० (यूथिक) ''यूथभवे, ''पुव्वजूहियट्ठाणाणि वा हयजूहिय-ट्ठाणाणि वा गयजूहियट्ठाणाणि वा''। आचा० २ श्रु० २ चू०।

जूहिया स्त्री० (यूथिका) यु–थक्, पृषो० दीर्घः, स्वार्थे कन्, अत इत्वम्–टाप्। अम्लानके पाठायाम्, यूथ्यां च। वाच०। पुष्पप्रधाने गुल्माऽऽत्मके वनस्पतिविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। प्रज्ञा०। रा०। जं०। ''जूहियाकुसुमेइ वा।'' आ० म० १ अ० १ खण्ड।

जूहियापुड न० (यूथिकापुट) यूथिकायाः पुटं पत्राऽऽदिमयं तद्–भाजनं यूथिकापुटम्। यूथिकापुष्पस्य पत्राऽऽदिमये भाजने, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। आ० म०।

जूहियामंडवग पुं० (यूथिकामण्डपक) यूथिका वनस्पतिविशेषः, तन्मयो मण्डपकः यूथिकामण्डपकः। यूथिकामये मण्डपे, जी० ३ प्रति०। जं०।

जे अव्य० (जे) पादपूरणे, बृ० १ उ०। व्य०। तं०। ''जे'' इति निपातः पादपूरणार्थः। तथा चाह वररुचिः स्वप्राकृतलक्षणे – **''इजेराः पादपूरणे''** ॥८।२।२१७॥ एते पादपूरणे प्रयोक्तव्या इति वृत्तिः। आ० म० १ अ० १ खण्ड प्रश्न०। पञ्चा०। ज्ञा०। वाक्यालङ्कारे, जे इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थ इति। विशे०। ''जे त्ति खलु णिद्देसे'' जे इति। नि० चू० १ उ०। य इत्यस्य स्थानेऽपि 'जे' इति। कल्प० १ क्षण।

जेऊण अव्य० (जित्वा) जयं कृत्वेत्यर्थ, प्रा० ४ पाद।

जेट्ठ त्रि० (ज्येष्ठ) वृद्ध–इष्ठनि ज्यादेशः। भ० १ श० १ उ०। जं० । सू० प्र० । उत्त० । चं० प्र० । अनु० । यो यस्याऽऽदौ स तस्य ज्येष्ठः। यथा–द्विकस्यैको ज्येष्ठः, त्रिकस्य त्वेककोऽनुज्येष्ठः, चतुष्काऽऽदीनां तु स एव ज्येष्ठनुज्येष्ठः। एवं त्रिकस्य द्विको ज्येष्ठः, स एव चतुष्कस्यानुज्येष्ठः, पञ्चकाऽऽदीनां तु स एव ज्येष्ठाऽनुज्येष्ठ इति। अनु० । विशे० । आ० म० । अतिवृद्धे, ''कणिट्ठ मज्झिमजेट्ठा धितिसंघयणेण उवसिट्ठा।'' ज्येष्ठमतिशयवृद्धम्, उत्कृष्टमित्यर्थः। उत्त० पाई० ५ अ०। श्रेष्ठे, ''गिहत्थधम्मा परमं ति न वा।'' गृहस्थधर्मात्परमं प्रधानं ज्येष्ठमित्येवं ज्ञात्वा। विशे०। रत्नाधिके, पञ्चा० १६ विव०। कल्प०।

यत्र च गच्छे ज्येष्ठकनिष्ठौ न ज्ञायेते, न तद्गच्छम्। तथा च–

जत्थ य जेट्ठ–कणिट्ठो, जाणिज्जइ जेट्ठवयणबहुमाणो।
दिवसेण वि जो जेट्ठो, न य हीलिज्जइ स गोयमा! गच्छो ॥४६॥

यत्र च गणे ज्येष्ठः कनिष्ठश्च ज्ञायते, तत्र ज्येष्ठः पर्यायेण वृद्धः कनिष्ठः पर्यायेण लघुः। तथा यत्र ज्येष्ठस्य वचनमादेशो ज्येष्ठवचनं, तस्य बहुमानः संमानो ज्ञायते। 'जेट्ठविणयबहुमाणे त्ति' पाठे तु ज्येष्ठस्य विनयबहुमानौ ज्ञायेते, तथा यत्र च दिवसेनाऽपि यो ज्येष्ठः स न हील्यते, चकाराद्यत्र पर्यायेण लघुरपि गुणवृद्धो न हील्यते, सिंहगिरिशिष्यैर्वज्रशिशुरिव। हे गौतम! स गच्छो ज्ञेय इति। ग० २ अधि०। अग्रजे, पुं०। वाच०।

''उच्चिअं एअं पि सहो–अरम्मि जं निअइ अप्पसममेव।
जेट्ठं व कणिट्ठं पि हु, बहु मन्नइ सव्वकज्जेसु ॥८॥''

(निअइ त्ति) पश्यति (जेट्ठं व त्ति) ज्येष्ठो भ्राता पितृतुल्यः, तमिव तथा। ध० २ अधि०।

*** ज्येष्ठ** त्रि०। वृद्ध – इष्ठानि ज्याऽऽदेशः। ततः स्वार्थिक अण् अतिवृद्धे, श्रेष्ठे च। अग्रजे, पुं०। वाच०।

जेट्ठकप्प ज्येष्ठकल्प – कल्पभेदे, ज्येष्ठो रत्नाधिकः, स एव कल्पो वृद्धलघुत्वव्यवहारो यत्र स ज्येष्ठ कल्पः। कल्पभेदे, कल्प० १ क्षण।

पुव्वतरं सामइयं, जस्स कयं जो वतेसुवट्ठविओ।
एस कितिकम्मजेट्ठो, ण जातिसुतओ दुपक्खे उ॥

यस्य सामायिकं पूर्वतरं प्रथमतरं कृतमारोपितम्, यो वा व्रतेषु प्रथममुपस्थापितः, स एष कृतिकर्मज्येष्ठो भण्यते, न पुनर्द्विपक्षेऽपि संयतपक्षे संयतीपक्षे च जातितो बुहत्तरं जन्म पर्यायमङ्गीकृत्य, श्रुततः प्रभूतं श्रुतमाश्रित्य ज्येष्ठ इहाधिक्रियते, इह च मध्यमसाधूनां यस्य सामायिकं पूर्वतरं स्थापितं स ज्येष्ठः, पूर्वपश्चिमानां तु यस्य प्रथममुपस्थापना कृता स ज्येष्ठ इति। बृ० ६ उ०। व्य०। पं० भा०। पं० चू०।

ज्येष्ठस्वरुपं गाथात्रयेणाऽऽह–

उवठावणाएँ जेट्ठो, विण्णेओ पुरिमपच्छिमजिणाणं।
पव्वज्जाए उ तहा, मज्झिमगाणं णिरतियारो ॥२६॥

उपस्थापनया महाव्रताऽऽरोपणेन, ज्येष्ठो रत्नाधिको विज्ञेयः, पूर्वपश्चिमजिनानामित्यत्र साधूनामिति शेषः। प्रव्रज्यया तु प्रव्राजनेन पुनस्तयेति ज्येष्ठो ज्ञेय इत्येतत्सम्बन्धनार्थः। मध्यमकानां द्वाविंशतिजिनसाधूनां, निरतिचारोऽतिचाररहितः। सातिचारस्तु नोपस्थापनया प्रव्रज्यया वा ज्येष्ठः, प्राक्तन्योस्तयोरप्रमाणत्वात्, पुनरुपस्थापनायाः सामायिकाऽऽरोपणस्यैव च प्रमाणत्वादिति ॥२६॥

उपस्थापनया ज्येष्ठ इत्युक्तम्, अथ तद्विधिमुपदर्शयन्नाह –

पढिएँ य कहिएँ अहिगए, परिहर उवट्ठावणाएँ कप्पो त्ति।
छक्कं तीहि विसुद्धं, सम्मं णवएण भेएण ॥३०॥

पठितेऽधीते सूत्रतः शस्त्रपरिज्ञाऽध्ययने। च शब्दो भिन्नक्रमः। कथिते व्याख्यातेऽर्थतः। अधिगते च ज्ञाते, एतस्मिन्नेव सति। (१) एकारस्य तु ह्रस्वपाठः प्राकृतत्वात्। परिहरन् वर्जयन् सन् परिहार्यम् उपस्थापनाया महाव्रताऽऽरोपणस्य कल्पो योग इत्येवंभूतः प्राणी। किं परिहरन्नित्याह– षट्कं जीवनिकायषट्कम्, अव्रतषट्कं वा, त्रिभिर्मनोवाक्कायैः, विशुद्धं निर्दोषं यथा भवति तथा, सम्यग्भावतः, नवकेन नवपरिमाणेन, भेदेन विकल्पेन, नवभिर्भेदैरित्यर्थः। मनसा कृतकारितानुमतिभिः, एवं वाचा कायेन चेति ॥३०॥

अथ द्वयोर्युगपदुपस्थाप्यमानयोः को ज्येष्ठः ? इत्यत्राऽऽह –

पितिपुत्तमाइयाणं, समगं पत्ताण जेट्ठ पितिपभिई।
थोवंतरं विलंबो, पन्नवणाए उवट्ठवणा ॥३१॥

पितापुत्राऽऽदीनां जनकसुतप्रभृतीनाम्, आदिशब्दाद्राजामात्यराज्ञ्यादिग्रहः। समकं युगपत्, प्राप्तानां विवक्षिताध्ययनाधिगमनोपस्थापनायोग्यतामवाप्तानां यौगपद्येनैवोपस्थाप्यमानानां, ज्येष्ठा रत्नाधिकाः पितृप्रभृतयः पित्राऽदयः स्युः, आदिशब्दाद्राजामात्यराज्ञ्यादिग्रहः। अथ पुत्राऽऽदिः प्राप्तो न पित्राऽदिः तदा को विधिः ? इत्याह–स्तोकेऽल्पेऽन्तरे विशेषे दिनद्वयाऽऽदितः पित्राऽदिरपि प्राप्स्यतीत्येवंरूपे, विलम्बः प्रतीक्षणं कार्यः। पित्राऽदौ प्राप्ते सति युगपदेव पित्रा पुत्राऽऽदिरुपस्थापनीयो माभूत्पुत्राऽऽद्यपेक्षया लघुताकरणेन पित्राऽऽदेरसमाध्यु-न्निष्क्रमणाऽऽदिरिति। अथ बह्वन्तरं, तदा को विधिः ? इत्याह–प्रज्ञापनया पित्राऽदेः सम्बोधनया– ''तव पुत्रो यदि विवक्षितां महाव्रतश्रियं प्राप्नोत्यन्येषां च ज्येष्ठतरो भवति तवैवाभ्युदयः, ततो न त्वयाऽस्य विघ्नो विधेयः'' इत्यादि लक्षणया, उपस्थापना व्रताऽऽरोपणा कार्या। अथ प्रज्ञप्यमानोऽपि यदि न प्रतिपद्यते, तदा प्रतीक्षणीयं यावदसौ प्राप्तः द्वये राजाऽऽदयो युगपद्यदा तूपस्थाप्यन्ते तदा यथाऽऽसन्नं ज्येष्ठतेति। तदेवं प्रकारद्वयेनापि ज्येष्ठत्वे सर्वेऽप्यवस्थिता इति गाथात्रयार्थः ॥३१॥ पञ्चा० १७ विव०।

जेट्ठज्ज पुं० (ज्येष्ठार्य) प्रथमे आर्ये, नि० चू० १ उ०।

जेट्ठभूइ पुं० (ज्येष्ठभूति) 'जिट्ठभूइ' शब्दार्थे, ति०।

जेट्ठमहाजण पुं० (ज्येष्ठमहाजन) ज्येष्ठार्यसाधुसमुदाये, बृ० १ उ०।

जेट्ठयर त्रि० (ज्येष्ठतर) 'जिट्ठयर' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद।

जेट्ठा स्त्री० (ज्येष्ठा) ज्येष्ठभगिन्याम्, वयोज्येष्ठायाम्, ज्येष्ठस्य पत्न्याम्, गङ्गायाम्, अलक्ष्यायाम्, अश्वन्यवधिकेऽष्टादशे इन्द्रदेवताके नक्षत्रे, वाच०। चं० प्र०। ज्यो०। स्था०। अनु०। आव०। ''जेट्ठाणक्खत्ते तितारे पण्णत्ते''। स० १ सम०। स्था०। भगवतो महावीरस्य स्वनामख्यातायां दुहितरि, तस्याश्च ज्येष्ठेति वा सुदर्शनेति वाऽनवद्याङ्गीति वा नामेति। विशे०। वैशालीनगरनृपतेश्चेटकस्य

(१) ''एदोतौ पदान्ते प्राकृते ह्रस्वौ वा'' इति हैमे छन्दोऽनुशासने।

स्वनामख्यातायां दुहितरि, सा च ''जेट्ठा कुंडग्गामे वद्धमाणसामिणो नंदिवद्धणस्स दिण्ण त्ति''। आ० चू० ४ अ०।

जेट्ठाणुजेट्ठ त्रि० (ज्येष्ठानुज्येष्ठ) चतुष्काद्यपेक्षया प्रथमे, आ० म० १ अ० १ खण्ड। अनु०। विशे०। (अस्य यथा तत्त्वं तथा 'जेठ' शब्दे १५८५ पृष्ठे व्याख्यातम्)

जेट्ठामूल पुं० (ज्येष्ठामूल) ज्येष्ठा, मूलं वा पौर्णमास्यां यत्र स्यात्स ज्येष्ठामूलो मासः। ज्येष्ठमासे, ''गिम्हकालसमयम्मि जेट्ठा मूलम्मि मासम्मि।'' औ०। ओघ०।

जेट्ठामूली स्त्री० (ज्येष्ठामूली) ज्येष्ठपूर्णमास्याम्, सू० प्र० १० पाहु०। जं०। चं० प्र०।

जेट्ठोवग्गह पुं० (ज्येष्ठावग्रह) पर्युषणायाम्, नि० चू० १० उ०।

जेण पुं० (जैन) जिनो देवताऽस्य अण्। जैनधर्मावलम्बिनि अर्हदुपासके, वाच०।

*** यत्र** अव्य०। यस्मिन्नित्यर्थे, ''जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता।'' यत्र कामदेवः श्रमणोपास कस्तत्रोपागच्छति स्म। उपा० २ अ०।

जेणधम्म पुं० (जैनधर्म) आर्हतधर्मे, ''आमगोरससंपृक्तद्विदलं च विवर्जयेत्। द्वाविंशतिरभक्ष्याणि, जैनधर्माधिवासितः॥१॥'' जैनधर्मेणाऽऽर्हतधर्मेणाधिवासितो भावितोऽऽत्मा। ध० १ अधि०।

जेणवत्(ण्) न० (जैनवर्त्मन्) जिनोदितमार्गे, 'श्रद्धया जैनवर्त्मना।' द्वा० १३ द्वा०।

जेणसासण न० (जैनशासन) जिनोदिते शास्त्रे, ''समस्तवस्तुविस्तारे, विसर्पत्तैलवज्जले। जीयाच्छ्रीशासनं जैनं, धीदीपोद्दीप्तिवर्द्धनम्॥१॥'' उत्त० १ अ०।

जेणसिद्धंत पुं० (जैनसिद्धान्त) जैनाऽऽगमे, ''निरस्तकुमतिध्वान्तसत्पदार्थप्रकाशकम्। नित्योदयं नमस्कुर्मो, जैनसिद्धान्तभास्करम्''॥१। क० प्र०।

जेणिंदवागरण न० (जैनेन्द्रव्याकरण) व्याकरणभेदे, कल्प० १ क्षण।

जेणेसर त्रि० (जैनेश्वर) जिनेश्वराणामयम्। जिनेश्वरसंबन्धिनि, प्रति०।

जेत्तिअ त्रि० (यावत्) **''इदंकिमश्च डेत्तिअ – डेत्तिल्ल–डेद्दहाः''** ॥८।२।१५७॥ इति प्राकृतसूत्रेणेदंकिम्भ्यां यत्तदेतद्भ्यश्च परस्यातोर्डेत्तिअ एत्तिल्ल एद्दह इत्यादेशा भवन्ति, एतुल्लक् च। प्रा० २ पाद। यत्परिमाणे, वाच०।

जेत्तिल्ल त्रि० (यावत्) यत्परिमाणे, प्रा० ३ पाद।

जेत्तुल्ल त्रि० (यावत्) **''अतोर्डेत्तुल्लः''** ॥८।४।४३५॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे यच्छब्दात्परस्यातोर्डेत्तुल्ल इत्यादेशः। यत्परिमाणे, प्रा० ४ पाद।

जेत्थु अव्य० (यत्र) **''यत्रतत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थ्वत्तु''** ॥८।४।४०४॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे यत्रशब्दावयवस्य त्रस्य डित् एत्युइत्यादेशः। प्रा० ४ पाद। यस्मिन्नित्यर्थे, वाच०।

जेद्दह त्रि० (यावत्) यत्परिमाणे, प्रा० २ पाद।

जेप्पि अव्य० (जित्वा) **''एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः''** ॥८।४।४४०॥ इति प्राकृतसूत्रेणपभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य एप्पि एप्पिणु एवि एविणु इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद। जयं कृत्वेत्यर्थे, वाच०।

जेप्पिणु अव्य० (जेतुम्) **''तुम एवमणाणहमणहिं च''** ॥८।४।४४१॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे तुमः प्रत्ययस्य एवं, अण, अणहं अणहिं एते चत्वार आदेशा वा पक्षेएप्पि एप्पिणु एवि एविणु एते चत्वार आदेशाः। प्रा० ४ पाद।

*** जित्वा** – अव्य०। जयं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद।

जेम धा० (भुज) भक्षणे, **''भुजो भुञ्जजिमजेमकम्माण्हसमाण चमढचड्डाः''** ॥८।४।११०॥ इति प्राकृतसूत्रेण भुजेर्जेमाऽऽदेशः। 'जेमइ'। प्रा० ४ पाद। ''पुव्वण्हे साली चुप्पइ, अवरण्हे जेम्मइ।'' आ० म० १ अ० १ खण्ड।

जेमण त्रि० (जेमन) वटकपूरणाऽऽदिके, ''जेमणविहिपरिमाणं करेइ।'' जेमणानि वटकपूरणाऽऽदीनि। उपा० १ अ०। उद्वाहाऽऽदिजेमनवारगृहे यथा यतीनां विहर्तुं न कल्पते, तथैकपौषधि कसत्कजेमनवारगृहे, अन्यथा वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम् – विवाहजेमनवारवत्पौषधिकसत्कजेमवारगृहेऽपि मुनीनां विहर्तुं न कल्पत इति॥२०४॥ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

जेमणय (देशी) न०। दक्षिणाङ्गे, दे० ना० ३ वर्ग।

जेमावण न० (जेमापन) भोजनकारणे, भ० ११ श० ११ उ०।

जेमिणि पुं० (जैमिनि) अन्यतीर्थिके मुनिभेदे, विशे०। सूत्रा०। जैमिनिश्चिरतरकालभावी पटुप्रज्ञः सम्यग्वेदार्थस्य परिज्ञाताऽऽसीत्। नं०।

जेय त्रि० (जेय) जेतव्ये, ''कहं णु जिच्चमेलिक्खं, जिच्चमाणा न संविदे। (२२ गाथा)'' (जिच्चं ति) आर्षत्वाद् जीयते हार्यते अतिरौद्रेरिन्द्रियाऽऽदिभिरात्मा तदिति जेयं, तच्चेह प्रक्रमान्मानु ष्यगतिलक्षणम्। उत्त० ७ अ०।

जेया त्रि० (जेतृ) जयकर्तरि, ''जेया ति वा'' जेता कर्मरिपूणाम। भ० २० श० २ उ०। ''जेएण परिवित्थए।'' (सूत्रा०) ''सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सइ।'' सूत्रा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

जेवडु त्रि० (यावत्) **''वा यत्तदोतोर्डेवडः''** ॥८।४।४०७॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे यत्तदित्येतयोरत्वन्तयोर्यावत्तावतोर्वकारा – ऽऽदेरवयवस्य डिदेवड इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद। यत्परिमाणे, वाच०।

जेवि अव्य० (जित्वा) 'जेप्पि' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद।

जेविणु अव्य० (जित्वा) 'जेप्पि' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद।

जेसलमेरु पुं० (जयशल्यमेरु) स्वनामख्याते नगरभेदे, ही० ३ प्रका०।

जेहिल पुं० (जेहिल) वसिष्ठगोत्रोत्पन्ने आर्यनागस्य शिष्ये स्वनामख्याते स्थविरे, ''जेहिलं च वासिट्ठं।'' कल्प० ८ क्षण। ''थेरस्स णं अज्जनागस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जजेहिले थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगुत्ते।'' कल्प० ८ क्षण।

जेह त्रि० (यादृक्) **''यादृक्तादृक्कीदृगीदृशां दाहेर्डेहः''** ॥८।४।४०२॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे यादृश् इत्यादेरादेरवयवस्य डित् एह इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद। यत्सदृशे, वाच०।

जो स्त्री० (द्यो) द्युत–डोः। **''द्यय्यर्यां जः''** ॥८।२।२४॥ इति प्राकृतसूत्रेण द्यस्य जः। प्रा० २ पाद। स्वर्गे, आकाशे च। वाच०।

*** ज्यो** धा०। नियमे, उपनये व्रतोपदेशे च। भ्वादि० – आत्म० – सक० – अनिट्। ज्यवते, अज्यास्त। वाच०।

*** ज्योक्** अव्य० । ज्यो – डो – किः । संप्रत्यर्थ, कालभूयस्त्वे, शीघ्रतायाम्, प्रश्ने च । वाच० ।

जोअण न० (देशी) लोचने, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोइंगण पुं० (देशी) इन्द्रगोपे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोइ पुं० (ज्योतिस्) द्योतत द्युत्यतेऽनेन वा द्युत्–इसन् । आदेर्दस्य जः । सूर्ये, अग्नौ, आच० । ''रुप्पमलं व जोइणा ।'' ज्योतिषाऽग्निना । आचा० २ श्रु० १६ अ० । दश० । स्था० । भ० । सूत्र० । ''सप्पी जहा पडियं जोइमज्झे ।'' सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । स्था० । ''किं माहणा जोइसमारभंता ।'' उत्त० १६ अ० । '' के ते जोई, के य ते जोइट्ठाणा ।'' किं ज्योतिः कोऽग्निः । उत्त० १६ अ० । विपा० । ज्वलदग्नौ, ज्योतिष एवाऽऽद्याधारो ज्वलदग्निः । आह च चूर्णिकृत् – ''जोइ त्ति मल्लगाइट्ठिओ अगणी जलंतो त्ति ।'' नं० । प्रकाशस्वभावे प्रदीपाऽऽदिके, षो० १५ विव० । ''जहा हि अंधे सह जोइणा वि ।'' ज्योतिषा प्रदीपाऽऽदिनाऽपि सह वर्तमानो न पश्यति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । ''सव्वराइएण जोइणा झियायमाणाणं ।'' सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ''दुविहो य होइ जोई, असव्वराई य सव्वराई य ।'' नि० चू० १६ उ० । ज्योतिरग्निकयोद्दीप्तं, तद् द्विविधम्, असार्वरात्रिकम्–कियतामपि रात्रिं यत् प्रज्वलित । तद्विपरीतं सार्वरात्रिकम् । उभयोरपि तिष्ठतां (गीतार्थानां) चतुर्लघुकाः । वृ० २ उ० । स्वर्गे , विशे० । आ० म० । ज्योतिरग्निः, तत्कार्यकारिणी कल्पवृक्षभेदे, स० १० सम० । मेथिकावृक्षे, वाच० । ज्योतिरिव ज्योतिः । सम्यग्ज्ञाने, आदित्याऽऽदिप्रकाशे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । सूत्र० । नेत्रकनीनिकामध्यस्थे दर्शनसाधने पदार्थे, नक्षत्रे, स्वयं प्रकाशे, सर्वावभासके चैतन्ये, वाच० । ग्रहनक्षत्रतारकाऽऽ दिके, चं० प्र० । ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रतारका इति । चं० प्र० १ पाहु० । आव० । प्रश्न० । ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रतारकाणां ज्योतिषां ज्योतिष्कलक्षणे विमानविशेषे, स० । तत्प्रतिपादके ज्योतिषामयने शास्त्रभेदे, नि० ३ वर्ग ३ अ० । तद्रूपे द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गतै कलाभेदे च । न० । कल्प० ७ क्षण । ज्योतिरेव ज्योतिः । उपार्जितज्ञाने, प्रसिद्धिं प्राप्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । सत्कर्मकारितयोज्ज्वलस्वभावे च । त्रि० । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

*** योगिन्** पुं० । योगोऽस्य विद्यते इति योगी । नं० । योगबल सम्पन्ने, षो० १५ विव० । योगिनो योगभाज इति । द्वा० २६ द्वा० । योगाभ्यासपरे, यो० विं० । दिव्यदृष्टौ, यो० विं० । मनोवाक्कायरोधके, अष्ट० २ अष्ट० । योगो धर्मः शुक्लध्यानलक्षणः स येषां विद्यते इति योगिनः । साधौ, आव० ४ अ० । ''सम्यक्त्वज्ञानचारित्रयोगः सद्योग उच्यते । एतद्योगाद्वियोगी स्यात् परमब्रह्मसाधकः'' ॥१॥ एतदाकारे साधकभेदे, पं० सू० ४ सूत्र० टी० । रत्नत्रायरुपमोक्षोपायिनि, अष्ट० २ अष्ट० ।

तत्रोपाये च नवधा, योगिभेदप्रदर्शनात् । (३१)

तत्र मुक्तिरागे उपाये च, नवधा नवभिः प्रकारैर्योगिभेदस्य प्रदर्शनादुपवर्णनात् । तथाहि–मृदूपायो मृदुसंवेगो, मध्योपायो मृदुसंवेगः, अध्युपायो मृदुसंवेगा, मृदूपायो मध्यसंवेगो, मध्योपाया मध्यसंवेगः, अध्युपायो मध्यसंवेगः, मृदूपायोऽधिसंवेगः, मध्योपायोऽधिसंवेगः, अध्युपायोऽधिसंवेगश्चेति नवधा योगिन इति योगाचार्याः । द्वा० १२ द्वा० । तीर्थकरे, गीतार्थे च । वृ० ।

गीतार्थमधिकृत्य –

कत्ता इव सो कत्ता, एवं जोगी वि नायव्वो ।

कर्ता इव तीर्थकर इवाकोपनीयत्वात् कर्ता द्रष्टव्यः । एवं योग्यपि ज्ञातव्यः । किमुक्तं भवति ? – यथा तीर्थकरः प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगी भण्यते, एवं गीतार्थोऽप्युत्सर्गापवादबल –वेत्ताऽपवादक्रियां कुर्वाणोऽपि प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगीव ज्ञातव्यः । बृ० १ उ० । अध्यात्मशास्त्रानुष्ठायिनि अन्यतीर्थिके परिव्राजकभेदे, औ० ।

*** युज** घिनुण् । संयोगवति, त्रि० । वाच० ।

जोइअ पुं० (देशी) खद्योते, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोइअंग पुं० (ज्योतिरङ्ग) ज्योतिरग्निः तत्र च सुषमसुषमायामग्नेरभावाद् ज्योतिरवयवस्तु सौम्यप्रकाशमिति भावः । तत्कारणत्वाज्ज्योतिरङ्ग । सुषमसुषमाभवे ज्योतिषिके कल्पवृक्षभेदे, स्था० १० ठा० । ति० । ज्योतिषिकाः सूर्यमण्डलमिव स्वतेजसा सर्वमप्यवभासयन्तः सन्तीति । तं० ।

जोइउवगूढ त्रि० (ज्योतिरुपगूढ) ज्योतिषाऽग्निनोपगूढः समालिङ्गितः । अग्निनोपगूढे जतुकुम्भे, ''जोइउवगूढे ।'' सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जोइक्ख पुं० (देशी) दीपे, 'जोइक्ख' शब्दश्च देश्यो दीपे वर्त्तते । प्रव० ४ द्वार । दे० ना० । 'जोइक्खो' नाम दीपः । ''जोइक्खं तह च्छाइल्लयं च दीवं मुणेज्जाहि ।'' व्य० ७ उ० ।

जोइजसा स्त्री० (ज्योतिर्यशस) कौशाम्बीनगरस्थायां स्वनाम –ख्यातायां वत्सपालिकायाम्, आव० ४ अ० ।

जोइट्ठाण न० (ज्योतिःस्थान) अग्निस्थाने, नं० । ''के ते जोई के य ते जोइट्ठाणा ।'' उत्त० । ज्योतिःस्थानं यत्र ज्योतिर्निधीयते । उत्त० १२ अ० ।

जोइणाण न० (योगिज्ञान) सकलातीतानागतापहार्य्यसाक्षात्कारिणी, सम्म० २ काण्ड । समाधिविशेषवज्ज्ञरावबोधे, पञ्चा० १६ विव० । योगिज्ञानस्य सकलातीतानागतापहार्य्यसाक्षात्कारिणोऽतीतानागत – तत्तत्पदार्थाभावेऽपि भवाभ्युपगमात् । सम्म० २ काण्ड ।

जोइणाह पुं० (योगिनाथ) तीर्थकरे, द्वा० १५ द्वा० ।

जोइणीपट्टण न० (योगिनीपत्तन) पुरभेदे, अष्टापदकल्पमधिकृत्य – ''ग्रन्थोऽयं परिपूर्णतामभजत श्रीयोगिनीपत्तने ।'' ती० ४७ कल्प ।

जोइबल त्रि० (ज्योतिर्बल) ज्योतिर्ज्ञानं बलं यस्य, आदित्याऽऽ दिप्रकाशो वा ज्योतिः, तदेव तत्र वा बलं यस्य स तथा । सदाचारवति ज्ञानवति, दिनचारिणि च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोइबलपज्जलण त्रि० (ज्योतिर्बलप्रज्वलन) ज्योतिर्बलेन ज्ञानबलेन प्रकाशबलेन वा प्रज्वलित दर्पितो भवत्यवष्टम्भं करोति यः स तथा । ज्ञानवति, प्रकाशचारिणि च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोइबलपरजण त्रि० (ज्योतिर्बलप्ररजन) ज्योतिः सम्यग् ज्ञानम्, आदित्याऽऽदिप्रकाशो वा ज्योतिः, तदेव तत्र वा बलं यस्य स तथा । सदाचारवति, दिनचारिणि च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोइबलपलज्जण त्रि० (ज्योतिर्बलप्रलज्जन) ज्योतिर्बलेन ज्ञानबलेन प्रकाशबलेन वा संचरन् प्रलज्जते इति ज्योतिर्बलप्रलज्जनः । मिथ्याज्ञानिनि, अन्धकारचारिणि च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोइबुद्धि स्त्री० (योगिबुद्धि) समाधिविशेषवन्नरावबोधे, ''निउणाए जोगिबुद्धीए।'' योगिबुद्ध्या समाधिविशेषवन्नराचबोधेन योगिन एव अध्यात्मिकार्थविवेचन चतुरचेतसो भवन्तीति। पञ्चा० १७ विव०।

जोइभंड न० (ज्योतिर्भाण्ड) अग्निभाजने, ''जोइभंडोवरागोविव मुहराग-विरागाओ।'' तं०।

जोइभूय त्रि० (ज्योतिर्भूत) ज्योतिर्मये जाते, ''तत्तं समजोइभूयं'' समा तुल्या ज्योतिषा बह्निना भूता जाता या सा तथा। विपा० १ श्रु० ४ अ०। स्था०। ''तं जोइभूयं च सया वसेज्जा।'' ज्योतिर्भूतं यदर्थप्रकाशकतया चन्द्राऽऽदित्यप्रदीपकल्पम्। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

जोइमंत पुं० (ज्योतिष्मत्) ज्योतिरस्त्यस्य मतुप्। सूर्ये, प्लक्षद्वीपस्थे पर्वतभेदे च। लताभेदे, रात्रौ, योगशास्त्रोक्ते चित्तवृत्तिभेदे च। स्त्री०। ङीप्। वाच०। तैलविधानं तिलाऽतसीसर्षपेङ्गु दीज्योतिष्मतीकरञ्जा-ऽऽदिभिरिति। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। ज्योतिर्युक्ते, त्रि०। वाच०।

जोइमय त्रि० (ज्योतिर्मय) ज्ञानमये, आ० म० १ अ० २ खण्ड। प्रकाशमये, ''ज्योतिर्मयीव दीपस्य, क्रिया सर्वाऽपि चिन्मयी।'' अष्ट० १३ अष्ट०।

जोइय त्रि० (यौगिक) शब्दभेदे, प्रश्न०। यौगिकं यदेतेषामेव नामाऽऽख्यातोपसर्गतद्धितसमाससन्धिपदानामेव द्व्यादिसंयोगवद् यथोपकरोति सेनयाऽभियात्यभिषेणयतीति। प्रश्न० २ सम्ब० द्वार।

*** योजित** त्रि०। उपनीते, पञ्चा० १५ विव०। संबन्धिते, औ०। व्य०।

जोइर न० (देशी) स्खलिते, दे० ना० ३ वर्ग।

जोइस त्रि० (ज्योतिष) ज्योतिराधिकृत्य कृतो ग्रन्थः नि०-न० वृद्धिः। ज्योतिषमप्यत्र। वाच०। ज्योतिः शास्त्राऽऽत्मके वेदाङ्गभेदे, आव० ३ अ०। भा० म०। उत्त.। ज्योतिश्चक्रे, कल्प० १ क्षण। ''जे गहा जोइसम्मि चारं चरंति।'' प्रज्ञा० ३ पद। ज्योतिष्कलक्षणे विमानविशेषे, स०। नक्षत्रे, दे० ना० ३ वर्ग।

*** ज्यौतिष** पुं०। ज्योतिश्चक्रे भवा ज्यौतिषाः। ज्योतिश्चक्र- स्थिते सूर्याऽऽदिके देवभेदे, पुं०। पञ्चा० २ विव०। ज्ञा०।

जोइसंगविउ त्रि० (ज्योतिषाङ्गविद्) ज्योतिषं ज्योतिष्कं ज्योतिःशास्त्र-मङ्गानि च विदन्ति ये ते ज्योतिषाङ्गविदः। ज्योतिः- शास्त्रस्य, शिक्षाऽऽद्यङ्गानां च वेत्तरि, उत्त० २ अ०।

जोइसंचाल पुं० (ज्योतिःसंचाल) ज्योतिषः तारकरूपस्य संचालः। ''तारकाणं तिहिं ठाणेहिं तारारूवे चरेज्जा।'' इत्यादिना सूत्रेण प्रतिपादिते संचालने, स० ३ अङ्ग।

जोइसंत पुं० (ज्योतिषान्त) ज्योतिश्चक्रस्य पर्यन्ते, स०।

तत्प्रमाणं यथा -

लोगंताओ णं इक्कारसएहिं एक्कारेहिं जोयणसएहिं अवाहाए जोइसंते पन्नत्ते।

'लोकान्ताद्, णमित्यलङ्कारे एकादश शतानि (एक्कारे त्ति) एकादशयाजनाधिकानि अबाधया बाधारहितया, कृत्वेति शेषः। (जोतिसंते त्ति) ज्योतिश्चक्रपर्यन्तः प्रज्ञप्त इति। स० ११ सम०।

जोइसकरंडय न० (ज्योतिष्करण्डक) सूर्यप्रज्ञप्तित उद्धृते ज्योतिषां प्रतिपादके प्रकरणग्रन्थभेदे, ज्यो०।

तथा च ज्योतिष्करण्डकं विवृण्वन्नाह मलयगिरिः-

''सम्यग् गुरुपदाम्भोज-पर्युपास्तिप्रसादतः।
ज्योतिष्करण्डकं व्यक्तं, विवृणोमि यथागमम्'' ॥१॥

ज्यो० १ पाहु०।

ज्योतिष्करण्डकेऽर्थाधिकाराश्च -

कालपमाणं माणं निप्फत्ती, अहिगमासगस्स चिय।
वोच्छामि ओमरत्तं, पव्वतिहीणं समत्तिं च॥
णक्खत्तयपरिमाणं, परिमाणं वा वि चंदसूराणं।
नक्खत्तचंदसूण गइं नक्खत्तजोगं च॥
मंडलविभागमयणं, आउट्टी मंडले मुहुत्तगई॥
उउ विसुव वईवाए, तावं वड्ढी च दिवसाणं।
अवमासपुण्णमासी, पणट्ठपव्वं च पोरिसिं वा वि।
ववहारनयमएणं, तं पुण सुण मे अणण्णमणे॥

इह सूर्यप्रज्ञप्तिसत्का अधिकारा एकविंशतिरूपप्राभृतनिबद्धाः, तत्र प्रथमेऽधिकारे कालस्य समयाऽऽदेर्धटिकापर्यन्तस्य प्रमाणं वक्ष्ये, द्वितीये मानं प्रमाणं संवत्सराणाम्, तृतीये अधिकमासस्य निष्पत्तिम्, तदनन्तरं चाल्पवक्तव्यत्वाद् गाथोक्तं क्रममुल्लङ्घ्य चतुर्थे पर्वतिथि समाप्तिं वक्ष्ये, पञ्चमे अवमरात्रम्, गाथायां चान्यथा निर्देशः छन्दोवशात्। ततः षष्ठे नक्षत्राणां संस्थानाऽऽदिपरिमाणं वक्ष्यामि, सप्तमे चन्द्रसूर्यपरिमाणं, अष्टमे चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां गतिम्, नवमे नक्षत्रयोगम्, दशमे जम्बूद्वीपे चन्द्रसूर्याणां मण्डलविभागम्, एकादेश अयनम्, द्वादशे आवृत्तिम्, त्रयोदशे चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां मण्डले मण्डले मुहुर्त्तगति-परिमाणम्, चतुर्दशे ऋतुपरिमाणम्, पञ्चदशे विषुवाणि, षोडशे व्यतीपातान्, सप्तदशे तापक्षेत्राम्, अष्टादशे दिवसानां वृद्ध्यवृद्धी, एकोनविंशतितमे अमावास्यापौर्णमासीवक्तव्यताम्, विंशतितमे प्रनष्टं पर्व, एकविंशतितमे पौरुषीम्। एताँश्च एकविंशतिसंख्या - नप्यर्थाधिकारान् वक्ष्ये व्यवहारनयमतेन, निश्चयनयमतेन हि कलाकलांशप्रतिकलांशगणनया परमार्थतः परमश्रुतविदो बुध्यन्ते, न शेषाः। न च तथा कथ्यमानानां श्रोतृणाम् अञ्जसाऽवगमपथमृच्छति। ततो व्यवहारनयमतेन योजनगव्यूतं कतिपय कलाकलांशप्रविभागरूपेण वक्ष्ये, तच्च तथा मे कथयतो भवानव हितमनस्को भूत्वा शृणु, तदेवं निर्दिष्टा अथाधिकाराः। ज्यो० १ पाहु०।

जोइसगणराय पुं० (ज्योतिर्गणराज) ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रातारकाणि तेषां गणः समूहस्तस्य राजाऽधिपतिर्ज्योति र्गणराजः। चन्द्रे, सूर्ये च। चं० प्र० १ पाहु०।

जोइसचक्क न० (ज्योतिश्चक्र) चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्राऽऽत्मके ज्योतिषां चक्रे, ज्यो० १ पाहु०। ''एक्कार एक्कवीसा, सयएक्कारा हिया य एक्कारा। मेरु अलोगावाहे, जोइसचक्कं चरइ ठाइ'' ॥१॥ स० ११ सम०।

तत्स्वरूपं यथा –

लोगाणुभावजणियं, जोइसचक्कं भणंति अरिहंता।
सव्वे कालविसेसा, जस्स गइविसेसनिप्फन्ना॥

यस्य ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रसूर्यनक्षत्राऽऽदिरूपस्य संबन्धिना, गतिविशेषेण निष्पन्नाः, सर्वे कालविशेषाश्चन्द्रमास सूर्यमासनक्षत्रमासाऽऽदिकाः, तद् ज्योतिश्चक्रं लोकानुभावजनितमनादिकालसन्ततिपतिततया शाश्वतं वेदितव्यम्, नेश्वराऽऽदिकृतमिति भणन्ति प्रतिपादयन्ति, भगवन्तोऽर्हन्तः। तीर्थकृतां च वचनमवश्यं प्रमाणयितव्यं, क्षीणसकलदोषतया तद्वचनस्य वितथार्थत्वाभावात्। उक्तं च – ''रागाद् वा द्वेषाद् वा, मोहाद् वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकरणं किं स्यात्?'' ॥१॥ अपि च – युक्त्त्याऽपि विचार्यमाणो नेश्वराऽऽदिर्घटां प्राञ्चति, ततस्तदभावादपि ज्योतिश्चक्रं लोकानुभावजनितमवसेयम्। यथा च युक्तया विचार्यमाणो नेश्वराऽऽदिर्घटते, तथा तत्त्वार्थटीकाऽऽदौ विजृम्भितमिति तत एवावधार्यम्। ज्यो० १ पाहु०। (ज्योतिश्चक्रं मेरुतः कियत्या अबाधया चरतीति 'अबाहा' शब्दे प्रथमभागे ६८२ पृष्ठे दृश्यम्)

द्वीपवन्दिरसङ्ग कृतप्रश्नेषुजम्बूद्वीपगतमेरोः परितो यथैकविंशत्यधिकैकादशशतयोजनान्यवाधां कृत्वा ज्योतिश्चक्रं भ्राम्यति, तथाऽन्यद्वीपगतमेरुभ्योऽपि कियतीमवाधां कृत्वा भ्रमन्ति? इति प्रश्ने, उत्तरम् – अत्र जम्बूद्वीपगतमेरोः परितो यथैकविंशत्यधिकैकादशशतयोजनान्यवाधां कृत्वा ज्योतिश्चक्रं भ्राम्यति, तथैवान्यद्वीपगतमेरुभ्योऽपीति संभाव्यतो, शास्त्राक्षराणि तु व्यक्ततया दृष्टानि न स्मर्यन्ते इति। १३ प्र०। ही० ४ प्रका०।

जोइसपह पुं० (ज्योतिष्पथ) ग्रहचन्द्रसूरनक्षत्रारूपाणां ज्योतिषां ज्योतिष्कलक्षणविमानविशेषाणां, ज्योतिषो वा दीपाऽऽद्यग्रेः पन्था ज्योतिष्पथः। ज्योतिष्कदेवानां मार्गे, अग्रेमार्गे च०। स०।

*** ज्योतिष्प्रभ** त्रि०। ग्रहचन्द्रसूरनक्षत्ररूपाणां ज्योतिषां ज्योतिष्कलक्षणविमानाविशेषाणां, ज्योतिषो वा दीपाऽऽद्यग्रेः प्रभा प्रकाशो यस्मिन्। ज्योतिष्कदेवसदृशप्रभे, अग्निसदृशप्रभे च०। स०।

जोइसमुहमंडग पुं० (ज्योतिषमुखमण्डक) सूर्ये, कल्प० १ क्षण।

जोइसराय पुं० (ज्योतिष्काराज) ज्योतीषिं ग्रहनक्षत्रतारकाणि तेषां राजाऽधिपतिर्ज्योतिष्कराजः। चन्द्रे, सूर्ये च। चं० प्र०। ''जोइसरायस्स पन्नत्तिं।'' (४ गाथा) ज्योतिष्कराजस्य चन्द्रमसः। चं० प्र० १ पाहु०। स्था०। सू० प्र०।

जोइसामयण न० (ज्योतिषामयन) ज्योतिःशास्त्राऽऽत्मके वे दाङ्गभेदे, औ०। आ० चू०। कल्प०। अनु०।

जोइसालय पुं० (ज्योतिरालय) ज्योतिरालयो गृहं येषां ते ज्योतिरालयाः। ज्योतिष्कदेवेषु, ''पंचहा जोइसालया।'' उत्त० ३६ अ०।

जोइसिंद पुं० (ज्योतिष्केन्द्र) सूर्ये, चन्द्रे च। स्था० ६ ठा०। ''चंदिमसूरिया य एत्थ दुवे जोइसिंदा जोइसियरायाणो परिवसंति।'' चं० प्र० १ पाहु०।

जोइसिण पुं० (ज्यो (ज्यौ) त्स्न्) ज्योत्स्नाऽन्विते शुक्ले पक्षे, ज्यो० ४ पाहु०।

जोइसिणा स्त्री० (ज्योत्स्ना) ज्योतिरस्त्यस्यां नः, उपधालोपश्च। ''सूक्ष्म – श्व – ष्ण – स्न – ह – ङ्क – क्ष्णां ण्हः'' ॥८।२।७५॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्नस्य ण्हो वा। प्रा० २ पाद। कौमुद्यां, चन्द्रकिरणे च। वाच०। 'जोइसिणाइ' स्था० २ ठा० ४ उ०।

जोइसिणापक्ख पुं० (ज्योत्स्नापक्ष) ज्योत्स्नाप्रधानः पक्षो ज्योत्स्नापक्षः। शुक्लपक्षे, चं० प्र० १५ पाहु०। सू० प्र०।

जोइसिणाभा स्त्री० (ज्योत्स्नाभा) चन्द्रस्य स्वनामख्यातायाम – ग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ०। ज्यो०। स्था०। सू० प्र०। चं० प्र०।

जोइसिय पुं० (ज्योतिषिक) सूर्याऽऽदिके ज्योतिश्चक्रस्थिते देवभेदे, प्रज्ञा० २ पद। पञ्चा०। उत्तरकुरुषु भवे स्वनामख्याते द्रुमगणे, तत्र प्रदेशे बहवो ज्योतिषिका नाम द्रुमगणाः। जी० ३ प्रति०।

विषय सूची –

(१) 'जोइसिय' शब्दस्यानुवादान्तरव्युत्पीत्तवाच्यार्थान्तरप्रदर्शनम्।
(२) ज्यौतिष्काणां पञ्चविधत्वप्ररूपणम्।
(३) मनुष्यक्षेत्रवर्तिनां मानुषोत्तरपर्वतात् स्वयंभूरमणसमुद्रा वधिकानां च ज्यौतिष्काणां चलत्वस्थिरत्वविचारः।
(४) प्रसङ्गतो मनुष्यक्षेत्रं निरूप्य स्फुटं ज्यौतिष्काणां चलत्वस्थिरत्वनिदर्शनम्।
(५) सर्वलोके प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्राऽऽदीनां परिमाणप्रतिपादनार्थमन्यतीर्थिकानां द्वादशप्रतिपत्तीरुद्भाव्य भगवत्सिद्धान्तनिरूपणम्।
(६) जम्बूद्वीपगतचन्द्राऽऽदिसंख्यासग्राहिके गाथे।
(७) मनुष्यक्षेत्रागतचन्द्रसूर्याऽऽदीनां संख्यापरिमाणकथनम्।
(८) चन्द्रसूर्यनक्षत्रताराग्रहाणां पिटकवक्तव्यतायां पिटकप्रमाणनिरुक्तिः।
(९) मनुष्यक्षेत्रागतचन्द्रसूर्यपङ्क्तयो यावन्त्यो यथा च स्थितास्तन्निर्वचनम्।
(१०) ''नक्षत्राणां पङ्क्तिप्ररूपणा।
(११) ''ग्रहाणां पङ्क्तिनिर्देशः।
(१२) चन्द्राऽऽदयो यत्र यथा भ्रमन्ति तन्निरूपणम्।
(१३) चन्द्राऽऽदित्यग्रहमण्डलानामन्यमण्डलसंचारित्वेनानवस्थि-तत्वं, नक्षत्रतारामण्डलानां तु मेरुमभितः संचारित्वादवस्थितत्वम्।
(१४) चन्द्रसूर्ययोर्मण्डलस्थानादूर्ध्वमधश्च संक्रमणवक्तव्यता।
(१५) चन्द्रसूर्य नक्षत्रमहाग्रहाणां चारविशेषेण मनुष्याणां सुखदुःखविधिं प्रतिपाद्य, दीक्षाऽऽदिशुभकार्याणि शुभतिथ्याद्यवलोक्यैव विधेयानीति जिनाऽऽज्ञानिर्वचनम्।
(१६) चन्द्रसूर्याणां तापक्षेत्रं यथा वर्धते हीयते वा तदुपपादनम्।
(१७) तेषामेव तापक्षेत्रसंस्थानस्य वर्णनम्।
(१८) मनुष्यक्षेत्रामध्ये चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणां चारोपगत्वं विविच्य तेषामेव मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्गत्यभावोद्घाटनम्।
(१९) प्रतिद्वीपं चन्द्राऽऽदिसङ्ख्याविवेचनम्।
(२०) प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च ग्रहनक्षत्रताराप्रमाणपरिज्ञानोपायः।

(२१) मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिः चन्द्रसूर्याणां तेजांस्यवस्थितान्येव, तथाऽभिजिता चन्द्राः पुष्येण च सर्वदेव युक्ताः सूर्या भवन्तीति प्रतिपादनम्।
(२२) मनुष्यक्षेत्रबहिर्गतचन्द्रसूर्याणां पङ्क्त्यवस्थानोपपत्तिः।
(२३) मनुष्यक्षेत्रास्यान्तर्बहिश्च चन्द्राऽऽदीनां देवानामूर्ध्वोपपन्नत्वकल्पोपपन्नत्वविमानोपपन्नत्वाऽऽदिविचारः।
(२४) चन्द्रसूर्ययोश्च्यवनोपपातवक्तव्यतायां परतीर्थिक प्रतिपत्तिनिराकरणपूर्वकं भगवन्मतप्रदर्शनम्।
(२५) पुष्करोदाऽऽदिषु द्वीपसमुद्रेषु चन्द्राऽऽदिसंख्याव्याहारः।
(२६) चन्द्रसूर्ययोः परिवारकथनम्।
(२७) चन्द्राऽऽदीनां यादृशोऽनुभावस्तत्प्रतिपाद्य तद्विषयेऽन्यतीर्थिकानां प्रतिपत्तीरुद्रस्य भगवत्सिद्धान्तवर्णनम्।
(२८) चन्द्रसूर्ययोः संस्थितिविषये परतीर्थिकानां षोडशप्रतिपत्तिप्रदर्शनानन्तरं भगवन्मतोपन्यासः।
(२९) चन्द्राऽऽदित्यचारवचनम्।
(३०) चन्द्रसूर्याऽऽदीनां भूमेरूर्ध्वमुच्चत्वप्रमाणप्रतिपादने परेषां पञ्चविंशतिप्रतिपत्तीरुद्भाव्य भगवदभिप्रायप्रकटनम्।
(३१) चन्द्रसूर्याणां क्षेत्रापेक्षयाऽधस्तनाः, समश्रेणिव्यवस्थिता वा तारारूपविमानाधिष्ठातारो देवा द्युतिविभवाऽऽदिकमपेक्ष्य चन्द्रसूर्याभ्यां केचिदणवः केचित्तुल्या इति प्रपञ्चः।
(३२) नक्षत्रमण्डलिकामपेक्ष्य सर्वाभ्यन्तरचारित्वमभिजिन्न क्षत्रास्य मूलाऽऽदीनां सर्वबाह्यचारित्वं स्वातिनक्षत्रास्य सर्वोपरिचारित्वं भरणीनक्षत्रस्य सर्वाधश्चारित्वमिति प्रतिपादनविस्तारः।
(३३) चन्द्रः सूर्यो वा कियत् क्षेत्रं प्रकाशयतीति विचारे द्वादश प्रतिपत्तीरितरेषां व्युदस्य भगवत्सिद्धान्तोक्तिः।
(३४) चन्द्राऽऽदीनां जम्बूद्वीपे चारक्षेत्रविष्कम्भमानम्।
(३५) ज्यौतिष्काणामल्पबहुत्वम्।
(३६) चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारागणां मध्ये यो यस्मात् शीघ्रगतिस्तन्निरूपणम्।
(३७) ज्यौतिष्काणामेकमुहुर्ते यावती गतिस्तन्निरुक्तिः।
(३८) चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां परस्परं मण्डलभागविषयविशेषनिर्धारणम्।
(३९) ग्रहमधिकृत्य योगचिन्ता।
(४०) सूर्येण सह नक्षत्रस्य योगचिन्तनम्।
(४१) सूर्येण सह ग्रहस्य योगविचारः।
(४२) चन्द्राऽऽदयो नक्षत्रेण (समासेन) यावन्ति मण्डलानि चरन्ति तदुपपत्तिः।
(४३) चान्द्रमासे यावन्ति मण्डलानि चन्द्राऽऽदयश्चरन्ति तस्योत्कीर्तनम्।
(४४) ऋतुमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलचारवर्णनम्।
(४५) सूर्यमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलचारविवेकः।
(४६) अभिवर्धितमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलचारोपपादनम्।
(४७) एकेनाहोरात्रेण चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं यावन्ति मण्डलानि चरन्ति तत्समर्थनम्।
(४८) एकैकं परिपूर्णमण्डलं चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं यावद्भिरहोरात्रैश्चरन्ति तदुपवर्णनम्।
(४९) युगे चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं यावन्ति मण्डलानि चरन्ति तत्परामर्शः।
(५०) ज्यौतिष्कदेवानां गतिविशेषविषये द्वे संग्रहगाथे।
(५१) चन्द्रसूर्यनक्षत्रतारागणामल्पर्द्धिकत्वमाहर्द्धिकत्वप्रति पादनम्।

✱ **ज्योतिषिज** पुं० "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्" ॥६।३।९॥ इति (पाणि०) सूत्रेण सप्तम्या अलुक्। वाच०। ज्योतिश्चक्रे जातो ज्योतिषिजः। ज्योतिश्चक्रजाते देवभेदे, पञ्चा० २ विव०।

✱ **ज्योतिष्क** पुं०। ज्योतिरिव, इवार्थे कन्। चित्रकवृक्षे, मेथिकाबीजे, गणिकारीवृक्षे च। स्वार्थे कन्। वाच०। द्योतन्ते इति ज्योतींषि विमानानि, तन्निवासिनो ज्योतिष्काः। उत्त० २ अ०। ग्रहनक्षत्राऽऽदिषु, ब० व०। वाच०। ज्योतिष्षु नक्षत्रेषु भवा ज्योतिष्काः, शब्दव्युत्पत्तिरेवेयं, प्रवृत्तिनिमित्ताऽऽश्रवणात्तु चन्द्राऽऽदयो ज्योतिष्का इति। स्था० २ ठा० ३ उ०। सूत्र०। ज्ञा०। चं० प्र०। ज्योतिष्मतीलतायाम्, स्त्री०। मेरोः शृङ्गान्तरे, वाच०। गणितप्रतिपादके ज्योतिःशास्त्रे च। न०। सूत्रा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

✱ **ज्यौतिषिक** पुं०। ज्योतिषं शास्त्रं वेत्त्यधीते वा ठक्। दैवज्ञे, वाच०। ज्योतिश्चक्रे भवो ज्योतिषिकः, स एव ज्यौतिषिकः। ज्योतिश्चक्रभवे देवभेदे, पञ्चा० १ विव०।

✱ **ज्यौतिष्क** पुं०। ज्योतिष्कदेवानां निवासभूते देवलोकभेदे, भ० ५ श० १० उ०। ज्योतींषि विमानविशेषाः, तेषु भवा ज्यौतिष्काः। ज्योतिश्चक्रभवे देवभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ०।

(२) ते च पञ्च – "पंचविहा जोइसिया पण्णत्ता। तं जहा–चंदा सूरा गहा णक्खत्ता ताराओ।" स्था० ५ ठा० १ उ०।

(३) चंदा १ सूराय २ गहा ३, नक्खत्ता ४ तारया य ५ पंचइमे। एगे चल जोइसिया, घंटायारा थिरा अवरे ॥१४७॥

चन्द्राः, सूर्याः, ग्रहाः, नक्षत्राणि, तारकाश्चेत्येवं पञ्च ज्योतिष्कभेदा भवन्ति। तत्र चैके मनुष्यक्षेत्रवर्त्तिनो ज्योतिष्काश्चला मेरोः प्रादक्षिण्येन सर्वकालं भ्रमणशीलाः, अपरे पुनर्ये मानुषोत्तरपर्वतात् परेण स्वयंभूरमणसमुद्रं यावद्वर्त्तन्ते ते सर्वेऽपि स्थिराः सदाऽवस्थानस्वभावाः, अत एव घण्टाकारा अचलधर्मकत्वेन घण्टावत् स्वस्थानस्था एव तिष्ठन्तीत्यर्थः। प्रव० १६४ द्वार। चं० प्र०। उत्त०। दश०।

(४) प्रथमतो मनुष्यक्षेत्रं प्ररूपयति –

जंबूदीवो लवणो–दही य दीवो य धायईसंडे।
कालोदहिपुक्खरवर – दीवड्ढो माणुसं खेत्तं ॥

प्रत्यक्षत उपलभ्यमानः प्रथमो जम्बूद्वीपः, ततः सर्वतस्तत्परिक्षेपी लवणोदधिः, ततोऽपि परतः सामस्त्येन लवणोदधिपरिक्षेपी धातकीखण्डो द्वीपः, तस्यापि सर्वतः परिक्षेपी कालोदधिसमुद्रः, ततोऽपि परतः सर्वतस्तत्परिक्षेपि पुष्करवरद्वीपस्यार्द्धम्। एते जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करवरद्वीपार्द्धरूपा द्वीपाः, द्वौ च लवणोदधिकालोदधिरूपौ समुद्रौ, मानुषं क्षेत्रंमनुष्याणा मुत्पत्तेर्मरणस्य च भावात्। अस्मिंश्च मानुषे क्षेत्रे समा विभागाः कालविभागाः

सुषमसुषमाऽऽदयो भवन्ति, ततो मनुष्यक्षेत्रात्परतः सर्वमपि देवारण्यं देवानां क्रीडास्थानं, तत्र जन्मतो मनुष्याः, नापि तत्र कोऽपि कालविभागा इत्यर्थः।

एतदेव स्पष्टयन्नाह –

एतं माणसखित्तं, एत्थ विचारीणि जोइसगणाणि।
परतो दीवसमुद्दे, अवट्ठियं जोइसं जाण।

एतत् अनन्तरोदितस्वरूपं मानुषं क्षेत्रम्, अस्मिंश्च मनुष्यक्षेत्रे, विचारिणो विचरणशीलाज्योतिष्कगणाश्चन्द्रसूर्य ग्रहनक्षत्रतारागणाः। सूत्रे च नपुंसकता प्राकृतत्वात्। परतो मनुष्यक्षेत्रस्य बहिः, शेषेषु द्वीपसमुद्रेष्ववस्थितमवस्थानशीलं ज्योतिश्चक्रं जानीहि। ज्यो० ६ पाहु०।

(५) संप्रति प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्राऽऽदीनां परिमाण –

प्रतिपादनाय कति चन्द्रसूर्याः सर्वलोके आख्याताः ?

इति, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह –

ता कति णं चंदिमसूरिया सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति आहिता ति वदेज्जा।

(ता कति णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। कति क्रिंप्रमाणाः, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, चन्द्रसूर्याः सर्वलोके अवभासन्ते अवभासमानाः, उद्द्योतयन्तः प्रकाशयन्त आख्याता इति वदेत्।

एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावन्त्यः प्रतिपत्तयस्तावतीरूपदर्शयति –

तत्थ खलु इमाओ दुवालसपडिवत्तीओ पण्णत्ताओ। तत्थेगे एवमाहंसु–ता एगे चंदे एगे सूरे सव्वलोयं ओभासेति, उज्जोएति, तवेति, पभासेति, एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु–ता तिण्णि चंदा तिण्णि सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, एगे एवमाहंसु २। एगे पुण एवमाहंसु–ता आउट्ठिं चंदा आउट्ठिं सूरा सव्वलोअं ओभासें ति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, एगे एव माहंसु ३। एगे पुण एवमाहंसु–एवं एतेणं अभिलावेणं णे तव्वंसत्त चंदा सत्त सूरा ४। दस चंदा दस सूरा ५। वारस चंदा वारस सूरा ६। वातालीसं चंदा वातालीसं सूरा ७। वावत्तरी चंदा वावत्तरीसूरा ८। वातालीसं चंदसयं वातालीसं सूरासयं ९। वावत्तरं चंदसयं वावत्तरं सूरसयं १०। वायालीसं चंदसहस्सं, वायालीसं सूरसहस्सं ११। वावत्तरी चंदसहस्सं, वावत्तरी सूरसहस्सं सव्वलोयं ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासंति, एगे एवमाहंसु १२॥

(तत्थेत्यादि) तत्र सर्वलोकयिषयचन्द्रसूर्यास्तित्वविषये खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपा द्वादश प्रातपत्तयः परतीर्थिकैरभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः। तत्र तेषां द्वादशानां परतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहु :– (ता इति) तेषां परतीर्थिकानां प्रथमं स्वशिष्यं प्रत्यनेकवक्तव्यतोपक्रमे क्रमोपदर्शनार्थः। एकश्चन्द्र एकः सूर्यः सर्वलोकमवभासयति, अवभासयन् उद्द्योतयन् तापयन् प्रभासयन् आस्यात इति वदेत्। अत्रैवोपसंहारमाह – (एगे एवमाहंसु) १। एके पुनरेवमाहु :– त्रयश्चन्द्रास्त्रयः, सूर्याः सर्वलोकमवभासयन्त आख्यात इति वेदत्। उपसंहारवाक्यम् – (एगे एव माहंसु) २। एके पुनरेवमाहु :– अर्द्धचतुर्थाश्चन्द्रा अर्द्धचतुर्थाः सूर्याः सर्वलोकमवभासयन्त आख्याता इति वदेत्। अत्राप्युपसंहार :– (एगे एवमाहंसु) ३। (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण एतेनानन्तरोदितेनाभिलापेन तृतीयप्राभृतोक्तप्रकारेण द्वादशप्रतिपत्तिविषयं सकलमपि सूत्रं नेतव्यम्। तच्चैवम् – ''(सत्त चंदा सत्त सूरा इति) एगे पुण एवमाहंसुता सत्त चंदा सत्त सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासंति, आहियत्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ४। एगे पुण एवमाहंसुता दस चंदा दससूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ५। एगे पुण एवमाहंसुता वारस चंदा वारस सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ६। एगे पुण एवमाहंसुता वायालीसं चंदा वायालीसं सुरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ७। एगे पुण एवमाहंसुता वावत्तरिं चंदा वावत्तरिं सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ८। एगे पुण एवमाहंसु ता वायालीसं चंदसयं वायालीसं सूरसयं सव्वलोए ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ९। एगे पुण एवमाहंसुता वावत्तरं चंदसयं वावत्तरं सूरसयं सव्वलोयं ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु १०। एगे पुण एवमाहंसु–ता वायालीसं चंदसहस्सं वायालीसं सूरसहस्स सव्वलोयं ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ११। एगे पुण एवमाहंसुता वावत्तरं चंदसहस्सं वावत्तरं सूरसहस्सं सव्वलोयं ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु १२।''

एताश्च सर्वा अपि प्रतिपत्तयो मिथ्यारूपाः, तथा भगवान् स्वमतमेताभ्यः पृथग्भूतमाह –

वयं पुण एवं वदामो–ता दयं पुण एवं वदामो–ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे जाव परिक्खेवेणं ताव जंबुद्दीवे दीवे केवतिया चंदा पभासेंसु वा, पभासिंति वा, पभासिस्संति वा ? केवतिया सूरा तविंसु वा, तवेंति वा, तविस्संति वा ? केवतिया नक्खत्ता जोइंसु वा, जोएंति वा, जोइस्संति वा ? केवतिया गहा चारं चरिंसु या, चरंति वा, चरिस्संति वा ? केवतिया तारागण-कोडिकोडीओ सोभेंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा ? ता जंबूद्दीवे णं दीवे दो चंदा पभासेंसु वा, पभासिंति वा, पभासिस्संति वा, दो सूरिया तवइंसु वा, तवंति वा, तविस्संति वा, छप्पण्णं णक्खत्ता जोयं जोएंसु वा, जोएंति वा, जोइस्संति वा, वावत्तरिगहसतं चारं चरिंसु वा, चरंति वा, चरिस्संति वा, एगं सयसहस्सं तेत्तीसं च सहस्सं णवसया पण्णत्ता तारागण-कोडाकोडीणं सोभेंसु वा, सोभिति वा, सोभिस्संति वा।

(वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञानाः, एवं वक्ष्यमाण–प्रकारेण वदामः। तमेव प्रकारमाह – (ता अयं णमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परिपूर्णं पठनीयं, व्याख्यानीयं

च (ता जंबुद्दीवे णं दीवे दो चंदा इत्यादि) जंबूद्वीपे द्वौ चन्द्रौ प्रतिभासितवन्तौ प्रतिभास्येते, प्रतिभासिष्येते, द्रव्यास्तिकनयमतेन सकलकालमेवंविधाया एव जगत्स्थितेः सद्भावात्। तथा द्वौ सूर्यौ तापितवन्तौ, तापयतस्तापयिष्यतः। तथा एकैक स्य शशिनोऽष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि परिवारो, जम्बूद्वीपे च द्वौ शशिनौ, ततः षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि, जम्बूद्वीपे चन्द्रसूर्याभ्यां सहयोगं युक्तवन्तः, युक्तवन्ति, योक्ष्यन्ति वा। तथा एकैकस्य शशिनोऽष्टाशीतिर्ग्रहाः परिवारतः, ततः शशिद्वयसत्कग्रहमीलने सर्वसंख्यया षट्सप्तत्यधिकं ग्रहशतं भवति, ततो जम्बूद्वीपे चारं चरितवान्, चरति, चरिष्यति च। तथा एकैकस्य शशिनस्तारापरिवारः कोटाकोटीनां षट्षष्टिः सहस्राणि, नवशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि, जम्बूद्वीपे च द्वौ शशिनौ, तदेतत् ताराप्रमाणं द्वाभ्यां गुण्यते, तत एकं शतसहस्रं त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि नवशतानि पञ्चाशदधिकानि तारागणकोटीनां भवन्ति। एतावत्प्रमाणास्तारा जम्बूद्वीपे शोभितवत्यः, शोभन्ते, शोभिष्यन्ते। सु० प्र० १९ पाहु०। जी०। जं०। भ०।

(६) संप्रति विनेयजनानुग्रहाय यथोक्तजम्बूद्वीपगत–

चन्द्राऽऽदिसंख्यासंग्राहिके द्वे गाथे आह –

दो चंदा दो सूरा, णक्खत्ता खलु हवंति छप्पण्णा।
वावत्तरं गहसतं, जंबुद्दीवे वियारीणं ॥१॥
एगं च सयसहस्सं, तित्तीसं खलु भवे सहस्साइं।
णव य सता पण्णासा, तारागणकोडिकोडीणं ॥२॥

एते च द्वे अपि सुगमे, नवरं (जंबुद्दीवे बियारी णं) णमिति वाक्यालङ्कारे, ततो 'वियारीति' विभक्तिपरिणामेन चन्द्रादिभिः सह सामानाधिकरण्येन योजनीयमिति॥ सु० प्र० १९ पाहु०। (लवणसमुद्रगतचन्द्राऽऽदिसंख्यापरिमाणम् 'लवणसमुद्द' शब्दे वक्ष्यते) (धातकीखण्डद्वीपचन्द्राऽऽदिसंख्या 'धायईखंडदीव' शब्दे प्रतिपादयिष्यते) (कालोदसमुद्रचन्द्राऽऽदिसंख्या 'कालोद' शब्दे तृतीयभागे ५०४ पृष्ठे गता) (पुष्करवरद्वीपचन्द्राऽऽदिसंख्या, आभ्यन्तरपुष्करार्द्धगतचन्द्राऽऽदिवक्तव्यता च 'पुक्खरवरदीव' शब्दे वक्ष्यते) इह सर्वत्र तारापरिमाण चिन्तायां कोटी कोट्य :-- कोटीकोट्य एव द्रष्टव्याः, तथा पूर्वसूरिव्याख्यानात्।

अपर उच्छ्रयाङ्गुलप्रमाणमनुश्रित्य कोटीकोटीरेव समर्थयन्ते। उक्तं च – ''कोडाकोडीसत्तं, तरंतु मन्नंति केइ थोवतया। अन्ने उस्सेहंगुलमाणं काऊण ताराणं ॥१॥'' इति। जी० ३ प्रति०।

(७) संप्रति मनुष्यक्षेत्रागतसमस्तचन्द्राऽऽदिसंख्या परिमाणमाह –

मणुस्सखेत्ते णं भंते ! कइ चंदा पभासेंसु वा, पभासिंति वा, पभासिस्संति वा, कइ सूरा तवइंसु वा, तवेंति वा, तविस्संति वा ? गोयमा ! –

''बत्तीसं चंदसयं, बत्तीसं चेव सूरियाण संयं।
सयलं मणुस्सलोयं, चरंति एए पगासेंता ॥१॥
एक्कार सय सहस्सा, छप्पि य सोला महग्गहाणं तु।
छच्च सया छण्णउया, णक्खत्ता तिण्णि स सहस्सा ॥२॥
अट्ठासीइ सतसहस्सा, वायालीसं सहस्स मणुयलोगम्मि।
सत्त य सया अणूणा, तारागणकोडिकोडीणं'' ॥३॥
सोभंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा॥

''मणुस्सखेत्ते णं'' इत्यादि पाठसिद्धम्। उक्तं चैवंरूपं परिमाणमन्यत्रापि। (बत्तीस मित्यादि गाथात्रयम्) तत्र द्वात्रिंशं चन्द्रशतम्, एवं द्वौ चन्द्रौ जम्बूद्वीपे, चत्वारो लवणोदे, द्वादश धातकीखण्डे, द्वाचत्वारिंशत्कालोदे, द्वासप्ततिरभ्यन्तरपुष्करार्द्धे, सर्वसंख्यया द्वात्रिंशं शतम्। एवं सूर्याणामपि द्वात्रिंशंशतं परिभावनीयम्। नक्षत्राऽऽदिपरिमाणम् अष्टाविंशत्यादिसंख्यानि नक्षत्राऽऽदीन द्वात्रिंशेन शतेन गुणयित्वा परिभावनीयम्। जी० ३ प्रति०।

मतभेदेनाह –

अट्ठासीतिं चत्ता–इ सतसहस्साइँ मणुयलोयम्मि।
सत्त य सता अणूणा, तारागणकोडिकोडीणं ॥३॥

(अट्ठासीइं चत्ताइ त्ति) अष्टाशीतिः सहस्राणि चत्वारिंशत् शताधिकानि, शेषं गतार्थम्। सु० प्र० १९ पाहु०। चं० प्र०। भ०। द० प०।

संप्रति सकलमनुष्यलोकगततारागणस्योपसंहारमाह –

एसो तारापिंडो, सव्वसमासेण मणुयलोयम्मि।
बहियं पुण–ता तारा, जिणेहिँ भणिआ असंखेज्जा ॥१॥
एवतिंय तारगणं, जं भणियं माणुसम्मि लोगम्मि।
चारं कलंबुयापु –प्फसंठितं जोतिसं चरति ॥२॥

एषोऽनन्तरोक्तगाथोक्तस्तारापिण्डः सर्वसंख्यया मनुष्यलोके, आख्यात इति गम्यते। बहिः पुनर्मनुष्यलोकाद् यास्तारास्ताजिनैः सर्वज्ञैस्तीर्थकृद्भिर्भणिता असंख्याताः, द्वीपसमुद्राणाम संख्यातत्वात्। प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च यथायोगं संख्येयनामसंख्येयानां च ताराणं सद्भावात् ॥१॥ ''एवइयं'' इत्यादि। एतावत्संख्याकं तारापरिमाणं यदनन्तरं भणितं मानुषे लोके, तज्ज्योतिष्कं ज्योतिष्कदेवविमानरूपं कदम्बपुष्पसंस्थितं कदम्बपुष्पवत् अधःसंकुचितं उपरि विस्तीर्णमुत्तानी –कृतार्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितमित्यर्थः। चारं चरति चारं प्रतिपद्यते, तथा जगत्स्वाभाव्यात्। ताराग्रहणं चोपलक्षणं, तेन सूर्यादयोऽपि यथोक्तसंख्याका मनुष्यलोके तथा जगत्स्वभावात् चारं प्रतिपद्यन्ते इति द्रष्टव्यम्॥२॥

संप्रत्येतद्गतमेवोपसंहारमाह –

रविससिगहणक्खत्ता, एवतिया आहिता मणुयलोए।
जेसिं णामागोत्तं, न पागता पण्णवेहिंति ॥३॥

रविशशिग्रहनक्षत्राणि, उपलक्षणमेतत्, तारकाणि च एवाव – न्त्येतावत्संख्यानि आख्यातानि सर्वज्ञैर्मनुष्यलोके, येषां किमित्याह – येषां सूर्याऽऽदीनां यथोक्तसंख्याकानां सकलमनुष्यलोकभावितानां प्रत्येकनामगोत्राणि, इहान्वर्थ युक्तं नाम सिद्धान्तपरिभाषया नामगोत्रमित्युच्यते। ततोऽयमर्थः– नामगोत्राणि अन्वर्थयुक्तानि, यदि वा नामानि च गोत्राणि नामगोत्राणि, प्राकृता अनतिशायिनः, पुरुषाः न कदाचनापि प्रज्ञापयिष्यन्ति, केवलं यदा तदा वा सर्वज्ञा एव, तत इदमपि सूर्याऽऽदिसंस्थानं प्राकृतपुरुषाप्रमेयं सर्वज्ञोपदिष्टमिति सम्यक् श्रद्धेमिति ॥३॥

(८) छावट्ठिं पिडगाइं, चंदादिच्चाण मणुयलोयम्मि।

दो चंदा दो सूरा, य हुंति एक्केक्कए पिडए ॥३॥

इह द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यावेकं पिटकमुच्यते। इत्थंभूतानि चन्द्राऽऽदित्यानां पिटकानि सर्वसंख्यया मनुष्यलोके भवन्ति षटषष्टिसंख्याकानि। अथ किंप्रमाणं पिटकम् ? इति पिटक –प्रमाणमाह–एकैकस्मिन् पिटके द्वौ चन्द्रौ, द्वौ सूर्यौ च भवतः। किमुक्तं भवति ? – द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यावित्येतावत्प्रमाणमेकैकं चन्द्राऽऽदित्यानां पिटकमिति। एवंप्रमाणं च पिटकं जम्बूद्वीपे एकम, जम्बूद्वीपे द्वयोरेव चन्द्रमसोर्द्वयोरेव सूर्ययोर्भावात्। द्वे पिटके लवणसमुद्रे, तत्र चतुर्णां चन्द्रमासां चतुर्णां च सूर्याणां भावात्। एवं षट् पिटकानि धातकीखण्डे, एकविंशतिः, कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे, इति भवन्ति सर्वमीलने चन्द्राऽऽदित्यानां षट्षष्टिः पिटकानि ॥३॥

छावट्ठिं पिडगाइं, णक्खत्ताणं तु मणुयलोयम्मि।
छप्पण्णं णक्खत्ता, हुंती एक्केक्कए पिडए ॥४॥

(छावट्ठीत्यादि) सर्वस्मिन्नपि मनुष्यलोके सर्वसंख्यया नक्षत्राणां पिटकानि भवन्ति षट्षष्टिः। नक्षत्रपिटकप्रमाणं च शशिद्वयसंबन्धिनक्षत्रसंख्यापरिमाणम्। तथा धाह–एकैकस्मिन् पिटके नक्षत्राणि भवन्ति षट्पञ्चाशत्संख्याकानि। किमुक्तं भवति? – षट्पञ्चाशन्नक्षत्रसंख्याकमेकैकं नक्षत्रपिटकं भवति। अत्रापि षट्षष्टिसंख्याभावना, एवमेकं नक्षत्रपिटकं जम्बूद्वीपे, द्वे लवणसमुद्रे, षड् धातकी खण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति ॥४॥

छावट्ठिं पिडगाइं, महग्गहाणं तु मणुयलोयम्मि।
छावत्तरं गहसतं, होई एक्केक्कए पिडए ॥५॥

महाग्रहाणामपि सर्वस्मिन्नमनुष्यलोके सर्वसंख्यया पिटकानि भवन्ति षट्षष्टिः। ग्रहपिटकप्रमाणं च शशिद्वयसंबन्धिग्रहसंख्यापरिमाणम्। तथा चाऽऽहएकैकस्मिन् पिटके ग्रहपिटके भवति षट्सप्ततिशतं षट्सप्तत्यधिकं ग्रहशतं, सप्तत्यधिकग्रहशतपरिमाणमेकैकं ग्रहपिटकमिति। ततः षट्षष्टि –संख्याभावना च प्राग्वत्कर्तव्या ॥५॥

(९) प्रथ चन्द्रसूर्याणां कियत्यः पङ्क्तयः, कथं च स्थिताः ? इत्याह –

चत्तारि य पंतीओ, चंदाइच्चाण मणुअलोयम्मि।
छावट्ठिं छावट्ठिं, च होइ एक्किक्किया पंती ॥६॥

(चत्तारि य इत्यादि) इह मनुष्यलोके चन्द्राऽऽदित्यानां पङ् –क्तयश्चतस्रो भवन्ति। तद्यथा–द्वे पङ्क्ती चन्द्राणां, द्वे सूर्याणाम्, एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिः २। सूर्याऽऽदिसंख्या तद्भावना चैवम् – एकः किल सूर्यो जम्बूद्वीपे मेरोर्दक्षिणभागे चारं चरन् वर्तते, एक उत्तरभागे, एकश्चन्द्रमा मेरोः पूर्वभागे, एकोऽपरभागे। तत्र यो मेरोर्दक्षिणभागे सूर्यश्चारं चरन् वर्तते तत्समश्रेणिव्यवस्थितौ द्वौ दक्षिणभागे सूर्यौ, लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशत् अभ्यन्तपुष्करार्द्धे; अस्यां सूर्यपङ्क्तौ षट् षष्टिः सूर्याः। योऽपि च मेरोरुत्तरभागे व्यवस्थितः सूर्यश्चारं चरन् वर्तते तस्यापि समश्रेण्या व्यवस्थितौ द्वावुत्तरभागे सूर्यौ लवणसमुद्रे, धातकीखण्डे षट्, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति। अस्यामपि पङ्क्तौ सर्वसंख्यया षट् षष्टिः सूर्याः। तथा यो मेरोः किल पूर्वभागे चारं चरन् वर्तते चन्द्रमा स्तत्समश्रेणिव्यवस्थितौ द्वौ पूर्वभागे एव चन्द्रमसौ लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति। अस्यां चन्द्रपङ्क्तौ सर्वसंख्यया षट्षष्टिश्चन्द्रमसः। एवं यो मेरोरपरभागे चन्द्रमास्तन्मूलायामपि पङ्क्तौ षट्षष्टिश्चन्द्रमसो वेदितव्याः ॥६॥

(१०) अथ नक्षत्राणां पङ्क्तिस्वरूपमाह –

छप्पन्नं पंतीओ, णक्खत्ताणं मणुयलोयम्मि।
छावट्ठिं छावट्ठिं, हवई इक्किक्किया पंती ॥७॥

नक्षत्राणां मनुष्यलोके सर्वसंख्यया पङ्क्तयो भवन्ति षट् पञ्चाशत्। एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिषट्षष्टिनक्षत्रप्रमाणा इत्यर्थः। तथाहि – अस्मिन् किल जम्बूद्वीपे दक्षिणतोऽर्द्धभागे एकस्य शशिनः परिवारभूतानि अभिजिदादीन्यष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि क्रमेण व्यवस्थितानि चारं चरन्ति, उत्तरतोऽर्द्धभागे द्वितीयस्य शशिनः परिवारभूतानि अष्टाविंशतिसंख्याकान्यभिजिदादीन्येव नक्षत्राणि क्रमेण व्यवस्थितानि, तत्र दक्षिणतोऽर्द्धभागे यदभिजिन्नक्षत्रं तत्समश्रेणिव्यवस्थिते द्वे आभजिन्नक्षत्रे लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्ध इति सर्वसंख्यया षट्षष्टिरभिजिन्नक्षत्राणि पङ्क्तया व्यवस्थितानि, श्रवणाऽऽदीन्यपि दक्षिणतोऽर्द्धभागे पङ्क्तया व्यवस्थितानि षट्षष्टिसंख्याकानि भावनीयानि। उत्तरतोऽप्यर्द्धभागे यदभिजिन्नक्षत्रं तत्समश्रेणिव्यवस्थिते उत्तरभागे एव द्वे अभिजिन्नक्षत्रे लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशत् पुष्करार्द्धे, एवं श्रवणाऽऽदिपङ्क्तयोऽपि प्रत्येकं षट् षष्टिसंख्याकाः वेदितव्याः, इति भवन्ति सर्वसंख्यया षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणां पङ्क्तयः, एकैका च पङ्क्तिः षट्षष्टिसंख्येति ॥७॥

(११) अथ ग्रहाणां पङ्क्तिस्वरूपमाह –

छावत्तरं गहाणं, पंतिसयं हवति मणुयलोयम्मि।
छावट्ठिं छावट्ठिं, च हवइ इक्किक्किया पंती ॥८॥

ग्रहाणामङ्गारकप्रभृतीनां सर्वसंख्यया मनुष्यलोके षट्सप्तत्यधिकं शतं भवति, एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिषट्षष्टिग्रहसंख्या। अत्रापीयं भावना– इह जम्बूद्वीपे दक्षिणतोऽर्द्ध भागे एकस्य शशिनः परिवारभूता अङ्गारकप्रभृतयोऽष्टशीतिर्ग्रहाः, उत्तरतोऽर्द्धभागे द्वितीयस्य शशिनः परिवारभूता अङ्गारकप्रभृतय एवाष्टाशीतिः। तत्र दक्षिणतोऽर्द्धभागे योऽङ्गारकनामा ग्रहस्तत्समश्रेणिव्यवस्थितो दक्षिणभागे एव द्वावङ्गारकौ लवणसमुद्रे, षड् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशद् अभ्यन्तरपुष्करार्द्धे, इति षट्षष्टिः। एवं शेषा अपि सप्ताशीतिर्ग्रहाः पङ्क्तया व्यवस्थिताः प्रत्येकं षट्षष्टिर्वेदितव्याः। एवमुत्तरतोऽप्यर्द्धभागे अङ्गारकप्रभृतीननामष्टाशीतिग्रहाणां पङ्क्तयः प्रत्येकं षट्षष्टिसंख्याका भावनीयाः, इति भवति सर्वसंख्यया ग्रहाणां षट् सप्तत्यधिकं पङ्क्तिशतम्, एकैका च पङ्क्तिः षट्षष्टिसंख्याकेति ॥८॥

(१२) अथैतेषां चन्द्राऽऽदीनां भ्रमणस्वरूपमाह –

ते मेरुमणु चरंती, पयाहिणाऽऽवत्तमंडला सव्वे।
अणवट्ठियजोगेहिं, चंदा सूरा गहगणा य ॥९॥

''ते मेरुमणुचरंति'' इत्यादि। ते मनुष्यलोकवर्त्तिनः सर्वे चन्द्राः, सर्वे सूर्याः सर्वे च ग्रहगणाः, अनवस्थितैर्यथायोगमान्यैरन्यैर्नक्षत्रेण सह योगैरुपलक्षिताः (पयाहिणाऽऽवत्तमंडला इति)

प्रकर्षेण सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च परि समन्ताच्चन्द्राऽऽदीनां दक्षिण एव मेरुर्भवति यस्मिन्नावर्त्ते मण्डलपरिभ्रमणरूपे स प्रदक्षिणः, प्रदक्षिण आवर्तमण्डलो येषां ते तथा, मेरुमनु लक्षीकृत्य चरन्ति। एतेनैतदुक्तं भवति–सूर्याऽऽदयः समस्ता अपि मनुष्य लोकवर्तिनः प्रदक्षिणाऽऽवर्त्त-मण्डलगत्या परिभ्रमन्तीति ॥९॥

(१३) इह चन्द्राऽऽदित्यग्रहाणां मण्डलानि अनवस्थितानि, यथायोग-मन्यस्मिन्नन्यस्मिन् मण्डले तेषां संचारित्वात्, नक्षत्र ताराणां तु मण्डलान्यवस्थितान्येव। तथा चाऽऽह –

णक्खत्ततारगाणं, अवट्ठिता मंडला मुणेयव्वा।
ते वि य पदाहिणाऽऽव–त्तमेव मेरुं अणु चरंति ॥१०॥

''णक्खत्त'' इत्यादि। नक्षत्राणां तारकाणां च मण्डलान्यव स्थितानि ज्ञातव्यानि। किमुक्तं भवति ? – आकालं प्रतिनियतमेकैकं नक्षत्राणां तारकाणां च प्रत्येकं मण्डलमिति। न चेत्थमनवस्थितमण्डलत्वोक्ता-वेवमाशङ्कनीयम् – यथैतेषां गतिरेव न भवतीति। यत आह –''ते वि य' इत्यादि। तान्यपि – नक्षत्राणि, तारकाणि च। सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्। प्रदक्षिणाऽऽवर्त्तमेव, इत्थं क्रियाविशेषणं, मेरुमनु लक्षीकृ त्य चरन्ति। एतच्च मेरुं लक्षीकृत्य प्रदक्षिणाऽऽवर्त्तं, तेषां चरणं प्रत्यक्षत एवोपलक्ष्यत इति समवादि ॥१०॥

(१४) अथ चन्द्रसूर्ययोर्मण्डलस्थानादूर्द्धमधश्च संक्रमणपरिनिषेधमाह –

रयणिकरदिणकराणं, उड्ढं च अहेव संकमो नऽत्थि।
मंडलसंकमणं पुण, सब्भंतरबाहिरं तिरिए ॥११॥

''रयणिकर'' इत्यादि। रजनीकरदिनकराणां चन्द्राऽऽदित्या-नामूर्द्धमर्द्धश्च संक्रमो न भवति, तथा जगत्स्वाभाव्यात्। तिर्यक् पुनर्मण्डलेषु संक्रमणे भवति। किंविशिष्टम् ? इत्याह – साभ्यन्तरबाह्यम्, अभ्यन्तरं च बाह्यमभ्यन्तरबाह्यं, सहाभ्यन्तरं बाह्येन वर्त्तते इति साभ्यन्तरबाह्यम्। एतदुक्तं भवति – सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतस्ता-वन्मण्डलेषु संक्रमणं यावत्सर्वबाह्यं मण्डलं, सर्वबाह्याच्च मण्डलादर्वाक् तावन्मण्डलेषु संक्रमणं यावत्सर्वाऽऽभ्यन्तरमिति ॥१॥

(१५) रयणिकरदिणकराणं, णक्खत्ताणं महागहाणं च।
चारविसेसेण भवे, सुहदुक्खविधी मणुस्साणं ॥१२॥

'रयणिकर' इत्यादि। रजनीकरदिनकराणां चन्द्राऽऽदित्यानां, नक्षत्राणां च, महाग्रहाणां च चारविशेषेण तेन तेन चारेण सुखदुःखविधयो मनुष्याणां भवन्ति। तथाहि– द्विविधानि सन्ति सदा मनुष्याणां कर्माणि। तद्यथा– शुभवेद्यानि, अशुभवेद्यानि च। कर्मणां सामान्यतो विपाकहेतवः पञ्च। तद्यथा–द्रव्यं, क्षेत्रं, कालो, भवो, भावश्च। उक्तं च – ''उदयक्ख-यखउवसमोवसमा जं च कम्मणो भणिया। दव्वं खेत्तं कालं, भवं य भावं च संपप्प'' ॥१॥ शुभकर्मणां प्रायः शुभवेद्यानां कर्मणां शुभद्रव्यक्षेत्रा-ऽऽदिसामग्री विपाकहेतुः, अशुभवेद्यानामशुभद्रव्यक्षेत्राऽऽदिसामग्री, ततो यदा येषां जन्मनक्षत्राऽऽदिविरोधी चन्द्रसूर्याऽऽदीनां चारो भवति, तदा तेषां प्रायो यान्यशुभवेद्यानि कर्माणि तानि तां तथाविधविपाक – सामग्रीमवाप्य विपाकमायान्ति, विपाकमागतानि शरीररोगोत्पादनेन, धनहानिकरणतो वा, प्रियविप्रयोगजनेन वा, कलहसंपादनतो वा दुःखमुत्पादयन्ति। यदा च एषां जन्मनक्षत्राऽऽद्यनुकूलश्चन्द्राऽऽदीनां चारस्तदा तेषां प्रायो यानि शुभवेद्यानि कर्माणि तानि तां तथाविधां विपाकसामग्रीमधिगम्य विपाकं प्रतिपद्यन्ते, प्रतिपन्नाविपाकानि च तानि शरीरनीरोगता-संपादनतो, धनवृद्धिकरणेन वा, वैरोपशमनतः, प्रियसंप्रयोग-संपादनतो वा प्रारब्धाभीष्टप्रयोजननिष्पत्तिकरणतः सुखमनुजनयन्ति। अत एव महीयांसः परमविवेकिनोऽल्पमपि प्रयोजनं शुभतिथिनक्षत्रमुहुर्त्ताऽऽदावारभन्ते, न तु यथाकथञ्चन्।

अत एव जिनानामप्याज्ञा प्रव्राजनाऽऽदिकमधिकृत्येत्थमवतिष्ठतेयथा शुभक्षेत्रे शुभाऽऽदिदिशमभिमुखीकृत्य शुभे तिथिनक्षत्रमुहूर्ताऽऽदौ प्रव्राजनव्रताऽऽरोपणाऽऽदि कर्त्तव्यं, नान्यथा।

तथा चोक्तं पञ्चवस्तुके –

''एसा जिणाणमाणा, खित्ताईयं य कम्मुणो भणिया।
उदयाइकारणं जं, तम्हा सव्वत्थ जइयव्वं'' ॥१॥

अस्या अक्षरगमनिका–एषा जिनानामाज्ञायथा शुभक्षेत्रे शुभदिशमभि-मुखीकृत्य शुभे तिथिनक्षत्रमुहूर्त्ताऽऽदौ प्रव्राजनव्रताऽऽरोपणाऽऽदि कर्त्तव्यं, नान्यथा। अपि च – क्षेत्राऽऽदयोऽपि कर्मणामुदयाऽऽदिकारणं भगवद्भिरुक्ताः, ततोऽशुभद्रव्यक्षेत्राऽऽदिसामग्रीं प्राप्य कदाचिदशुभ-वेद्यानि कर्माणि विपाकं गत्वोदयमासादयेयुः, तदुदये च गृहीतव्रतभङ्गा-ऽऽदिदोषप्रसङ्गः। शुभद्रव्यक्षेत्राऽऽदिसामग्र्यां तु प्रायो नाशुभकर्मविपा–कसंभव इति निर्विघ्नं सामायिकपरिपालनाऽऽदि। तस्मादवश्यं छद्मस्थेन सर्वत्र शुभक्षेत्राऽऽदौ यतितव्यम्। ये तु भगवन्तोऽतिशयिनस्तेऽतिशय-बलादेव निर्विघ्नं सविघ्नं वा सम्यगधिगच्छन्ति, ततो न शुभतिथिमुहूर्त्ता-ऽऽदिकमपेक्षन्ते इति न तन्मार्गानुसरणं छद्मस्थानां न्याय्यम्। तेन ये परममुनिपर्युपासितप्रवचनविडम्बका अपरिमितजिनशासनोपनिषद्-भूतशास्त्रगुरुपरम्परापोतनिरवद्यविशदकालोचितसमाचारीप्रति-पन्थिनः स्वमतिकल्पितसामाचारीका अभिदधति–यथा न प्रव्राजना-ऽऽदिषु शुभतिथिनक्षत्राऽऽदिनिरीक्षणं कर्त्तव्यं, न खलु भगवान् जगत्स्वामी प्रव्राजनायोपस्थितेषु शुभतिथ्यादिनिरीक्षणं कृतवानिति। ते अपास्ता द्रष्टव्याः ॥१२॥

(१६) अथ चन्द्रसूर्याणां केन प्रकारेण प्रकाशक्षेत्रं वर्द्धते, कथं च हीयते ? तदाह –

तेसिं पविसंताणं, तावक्खेत्तं तु वड्ढते णियगं।
तेण य कम्मेण पुणो, परिहायति निक्खमंताणं ॥१३॥

'तेसिं' इत्यादि। तेषां सूर्याचन्द्रमसां सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशतां तापक्षेत्रं प्रतिदिवसं क्रमेण नियमादायामतो वर्द्धते, येन च क्रमेण परिवर्द्धते तेनैव क्रमेण सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद् बहिर्निष्क्रामतां परिहीयते। तथाहि–सर्वबाह्ये मण्डले चारं चरतां सूर्याचन्द्रमसां प्रत्येकं जम्बूद्वीपचक्रवालस्य दशधा प्रविभक्तस्य द्वौ द्वौ भागौ तापक्षेत्रं, ततः सूर्यस्याभ्यन्तरं प्रविशतः प्रतिमण्डलं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतप्रविभ-क्तस्य द्वौ द्वौ भागो तापक्षेत्रस्य वर्द्धते, चन्द्रमसस्तु मण्डलेषु प्रत्येकं पौर्णमासीसंभवे क्रमेण प्रतिमण्डलं षड्विंशतिर्भागाः, सप्तविंशतितमस्य च एक सप्तभाग इति वर्द्धते। एवं च क्रमेण प्रतिमण्डलमभिवृद्धौ यदा सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरतः, तदा प्रत्येकं जम्बूद्वीपचक्रवालस्य त्रयः परिपूर्णा दश भागास्तापक्षेत्रं, ततः पुनरपि सर्वाभ्यन्तरमण्डलाद् बहिर्निष्क्रमणे सूर्यस्य प्रतिमण्डलं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतप्रविभक्तस्य जम्बूद्वीपचक्रबालस्य द्वौ द्वौ भागैः परिहीयते, चन्द्रमसस्तु मण्डलेषु प्रत्येकं पौर्णमासीसंभवक्रमेण प्रतिण्मण्डलं षड्विंशतिर्भागाः, सप्तविंशतितमस्य च भागस्य एकः सप्तभाग इति।

(१७) तेसिं कलंबुयापु – प्फसंठिता हुंति तावखेत्तमुहा।
अंतो अ संकुडा वा–हिवित्थडा चंदसूराणं ॥१४॥

(तेसिमित्यादि) तेषां चन्द्रसूर्याणां तापक्षेत्रमुखाः कलम्बुकापुष्पसंस्थिता नालिकापुष्पाऽऽकारा भवन्ति। एतदेव व्याचष्टेअन्तमेरुदिशि संकुचिताः, बहिर्लवणदिशि विस्तृताः। एतच्च प्रागेव चतुर्थे प्राभृते भावितमिति न भूयो भाव्यते। सू० प्र० १६ पाहु०। जी०। मं०। द० प०। ('तावक्खेत्त' शब्दे चैतद् द्रष्टव्यम्)

(१८) अंतो मणुस्सखेत्ते, हवंति चारोवगा तु उववण्णा।
पंचविहा जोतिसिया, चंदा सूरा गहगणा य ॥२०॥

अन्तर्मध्ये मनुष्यक्षेत्रे मनुष्यक्षेत्रस्य, पञ्चविधा ज्योतिष्काः। तद्यथा– चन्द्राः, सूर्याः, ग्रहगणाः, चशब्दान्नक्षत्राणि, तारकाश्च, भवन्ति चारोपगाश्चारयुक्ताः ॥२०॥

तेण परं जे सेसा, चंदाइच्चगहतारणक्खत्ता।
णत्थि गती ण वि चारो, अवट्ठिता ते मुणेयव्वा ॥२१॥

तेनेति प्राकृतत्वात् पञ्चम्यर्थे तृतीया। ततो मनुष्यक्षेत्रात्परं यानि शेषाणि चन्द्राऽऽदित्यग्रहतारानक्षत्राणि चन्द्राऽऽदित्य-ग्रहतारानक्षत्रविमानानि। सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्। तेषां नास्ति गतिर्न तस्मात् स्थानाच्चलनं, नापि चारो मण्डलगत्या परिभ्रमणं, किं त्ववस्थितान्येव तानि ज्ञातव्यानि ॥२१॥

(१९) एवं जंबुद्दीवे, दुगुणा लवणे–चउग्गुणा हुंति।
लावणगा य तिगुणिता, ससिसूरा धायईसंडे ॥२२॥

(एवं जंबुद्दीवे इत्यादि) एवं सति एकैकश्चन्द्रसूर्यो जम्बूद्वीपे द्विगुणो भवति। किमुक्तं भवति ? द्वौ चन्द्रमसौ द्वौ सूर्यौ च जंम्बूद्वीपे, लवणसमुद्रे तावेकैकौ सूर्याचन्द्रमसौ चतुर्गुणौ भवतः, चत्वारश्चन्द्राः, चत्वारश्च सूर्या लवणसमुद्रे भवन्तीति भावः। लावणिकाः लवणसमुद्रभवाः शशिसूरास्त्रिगुणिता धातकीखण्डे भवन्तिः, द्वादश चन्द्राः, द्वादश सूर्या धातकीखण्डे भवन्तीत्यर्थः ॥२२॥

दो चंदा इह दीवे, चत्तारि य सायरे लवणतोए।
धातइसंडे दीवे, बारस चंदा य सूरा य ॥२३॥
धातइसंडप्पभिती – उद्दिट्ठा तिगुणिता भवे चंदा।
आदिल्लचंदसहिता, अणंतराऽणंतरक्खेते ॥२४॥

''दो चंदा'' इत्यादि सुगमम्। ''धायइसंड'' इत्यादि। धातकीखण्डः प्रभृतिरादिर्येषां ते धातकीखण्डप्रभृतयः, तेषु धातकीखण्डप्रभृतिषु द्वीपेषु समुद्रेषु च ये उद्दिष्टाश्चन्द्रा द्वादशाऽऽदयः। उपलक्षणमेतत् – सूर्या वा, ते त्रिगुणितास्त्रिगुणीकृताः सन्तः (आइल्लचंदसहित त्ति) उद्दिष्टचन्द्रयुक्ताः तद् द्वीपात् समुद्रद्वा प्राक् जम्बूद्वीपमादिं कृत्वा ये प्राक्तनाश्चन्द्राः ते आदिमचन्द्राः, तैरादिमचन्द्रैः, उपलक्षणमेतत्–आद्यिमसूर्यैश्च सहिता यावन्तो भवन्ति। एतावत्प्रमाणा अनन्तरं कालोदाऽऽदौ भवन्ति। तत्र धातकीखण्डे द्वीपे उद्दिष्टाः चन्द्रा द्वादश, ते त्रिगुणाः क्रियन्ते जाताः षट्त्रिंशत्। आदिमचन्द्राः षट्। तद्यथा– द्वौ चन्द्रौ जम्बूद्वीपे, चत्वारो लवणसमुद्रे। एतैरादिमचन्द्रैः सहिता द्वाचत्वारिंशद्भवन्ति। एतावन्तः कालोदे समुद्रे चन्द्राः। एष एव करणविधिः सूर्याणामपि। तेन सूर्या अपि तत्रैतावन्तो वेदितव्याः। तथा कालोदे समुद्रे द्विचत्वारिंशच्चन्द्रमस उद्दिष्टाः ते त्रिगुणाः क्रियन्ते, जाते षडविंशं शतम्। आदिमचन्द्रा अष्टादश। तद्यथा–द्वौ जम्बूद्वीपे, चत्वारो लवणसमुद्रे, द्वादश धातकीखण्डे। एतैरादिमचन्द्रैः सहितं षट्त्रिंशत्, जातं चतुश्चत्वारिंशं शतम्। एतावन्तः पुष्करवरद्वीपे चन्द्राः, एतावन्त एव सूर्याः। एवं सर्वेष्वपि द्वीपसमुद्रेष्वेतत्करणवशाच्चन्द्रसंख्या प्रतिपत्तव्या।

(२०) संप्रति प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च ग्रहनक्षत्रतारापरिमाण – परिज्ञानोपायमाह –

रिक्खग्गहतारग्गं, दीवसमुद्दे जत्थिच्छसि णाउं।
तस्स ससिहिं तु गुणितं, रिक्खग्गहतारगग्गं तु ॥२५॥

अत्र अग्रशब्दः परिमाणवाची, यत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्र परिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणं वा ज्ञातुमिच्छसि तस्य द्वीपस्य समुद्रस्य वा संबन्धिभिः शशिभिः, एकस्य शशिनः परिवारभूतं नक्षत्रपरिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणं च गुणितं सत् यावद्भवति, तावत्प्रमाणं तत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्रपरिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणमिति। यथा लवणसमुद्रे किल नक्षत्राणां परिमाणं ज्ञातुमिष्टं, लवणसमुद्रे च शशिनश्चत्वारः, तत एकस्य शशिनः परिवारभूतानि यान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि तानि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातं द्वादशोत्तरं शतं, तावन्ति लवणसमुद्रे नक्षत्राणि। तथा अष्टाशीतिर्ग्रहा एकस्य शशिनः परिवारभूताः,ते चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ३५२। एतावन्तो लवणसमुद्रे ग्रहाः। तथा एकस्य शशिनः परिवारभूतानि तारागणकोटीकोटानां षट्षष्टिः सहस्राणि नवशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि, तानि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातानि कोटाकोटीनां द्वे लक्षे सप्तषष्टिसहस्राणि नव शतानि २६७६.....। एतावत्यो लवणसमुद्रे तारागणकोटाकोटयः एवंरूपा च नक्षत्राऽऽदीनां संख्या प्रागेवोक्त। एवं सर्वेष्वपि द्वीपसमुद्रेषु नक्षत्राऽऽदिसंख्यापरिमाणं परिभावनीयम्।

तत्तद्द्वीपसमुद्रवर्त्तिग्रहाऽऽदिसंख्या यन्त्रकादवधार्य्या –

नाम	चन्द्र	सूर्य	ग्रह	नक्षत्र	तारा
जम्बूद्वीप	२	२	१७६	५६	१३३६५००००००००००००००
लवणसमुद्र	४	४	३५२	११२	२६७६००००००००००००००
धातकीखण्ड	१२	१२	१०५६	३३६	८०३७००००००००००००००
कालोदसमुद्र	४२	४२	३६९६	११७६	२८१२६५००००००००००००
पुष्करवरद्वीप	१४४	१४४	१२६७२	४०३२	९६४४४००००००००००००
सर्वसंख्या	२०४	२०४	१७९५२	५७१२	९७५६९१८००००००००००

(२१) बहिता तु माणुसनग–स्स चंदसूराणऽवट्ठिता तेआ।
चंदा अभिया जुत्ता, सूरा पुण हुंति पुस्सेहिं ॥२६॥

''बहिता'' इत्यादि। मानुषनगस्य मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिश्चन्द्र-सूर्याणां तेजांसि अवस्थितानि भवन्ति। किमुक्तं भवति ? सूर्याः सदैवानत्युष्णं तेजसा, न तु जातुचिदपि मनुष्यलोके ग्रीष्मकाल इवात्युष्णतेजसः। चन्द्रमासोऽपि सर्वदैवानतिशीतलेश्याकाः, न तु कदाचनाप्यन्तर्मनुष्यक्षेत्रस्य शिशिरकाल इवातिशीततेजसः। तथा मनुष्यक्षेत्राद् बहिः सर्वेऽपि चन्द्राः सर्वदैवाभिजिता नक्षत्रेण युक्ताः, सूर्याः पुनर्भवन्ति पुष्येण युक्ता इति ॥२६॥ सू० प्र० १९ पाहु०। (चन्द्रसूर्याणां चन्द्रचन्द्राणां तथा सूर्यसूर्याणां च परस्परमन्तरपरिमाणप्रतिपादनम् 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे गतम्)

(२२) संप्रति बहिश्चन्द्रसूर्याणां षड्क्त्यवस्थानमाह –

सूरंतरिया चंदा, चंदंतरिया य दिणयरा दित्ता।
चित्तंतरलेसागा, सुहलेसा मंदलेसा य ॥२९॥

(सूरंतरिय त्ति) नृलोकाद् बहिः षड्क्त्या स्थिताः सूर्यान्त – रिताश्चन्द्राश्चन्द्रान्तरिता दिनकराः दीप्ताः दीप्यन्ते स्म, दीप्ता भास्वरा इत्यर्थः। कथंभूतास्ते चन्द्रसूर्याः ? इत्याह–चित्रान्तरलेश्याकाः चित्रमन्तरं लेश्या सप्रकाशरूपा येषां ते तथा, तत्र चित्रमन्तरं चन्द्राणां सूर्यान्तरितत्वात्, सूर्याणां चन्द्रान्तरितत्वात्, चित्रालेश्या चन्द्रमसां शीतरश्मित्वात्, सूर्याणामुष्णरश्मित्वात्। लेश्याविशेषप्रदर्शनार्थमाह – (सुहलेसा मंदलेसा य त्ति) सुखं लेश्याश्चन्द्रमसो, न शीतकाले मनुष्यलोक इवात्यन्तकशीतरश्मय इत्यर्थः। मन्दलेश्याः सूर्याः न तु मनुष्यलोके निदाघसमये इव एकान्तत उष्णरश्मय इत्यर्थः। आह च तत्त्वार्थटीकाकारो हरिभद्रसूरि :– नात्यन्तशीताश्चन्द्रमसो, नात्य-न्तोष्णाः सूर्याः, किं तु साधारण्यं द्वयोरपीति ॥२९॥

(२३) इहेदमुक्तं यत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्राऽऽदिपरिमाणं ज्ञातुमिष्यते तत्र एकशशिपरिवारभूतनक्षत्राऽऽदिपरिमाणं तावद्भिः शशिभिर्गुणयितव्यमिति। तत एकशशिपरिवारभूतानां ग्रहाऽऽदीनां संख्यामाह –

अट्ठासीतिं च गहा, अट्ठावीसं च हुंति नक्खत्ता।
एगससीपरिवारो, इत्तो ताराण वोच्छामि ॥३०॥
छावट्ठि सहस्साइं, णव चेव सताइँ पंचसयराइं।
एगससीपरिवारो, तारागणकोडिकोडीणं ॥३१॥

ता अंतोमणुस्सक्खेत्ते जे चंदिमसूरियगहगण-णक्खत्ततारारुवा, ते णं देवा किं उड्ढोववण्णगा, कप्पोववण्णगा, विमाणो–ववण्णगा, चारोववण्णगा, चारट्ठितिया, गतिरतिया, गतिसमा-वण्णगा ? ता ते णं देवा णो उड्ढोववण्णगा, णो कप्पोववण्णगा, विमाणोववण्णगा, चारोववण्णगा, णो चारट्ठितीया, गइरइया, गतिसमावण्णगा उड्डीमुहकलंबुआ पुप्फसंठाणसंठितेहिं जोअणसहस्सीएहिं तावक्खेत्तेहिं साहस्सिआहिं बाहिराहिं वेउव्वियाहिं परिसाहिं महताऽहतणट्टगीयवाइयतंतीतलतातु-डियघण मुइंगपडुप्पवाइयरवेणं महता उक्किट्ठसीहणादबोलक-लकलरवेणं अच्छं पव्वतरायं पदाहिणावत्तं मंडलचारं मेरुं अणु परियट्टंति।

''अट्ठासीतिं च गहा'' इत्यादि गाथाद्वयं निगदसिद्धम्। ''ता अंतो मणुस्सखेत्ते'' इत्यादि। अन्तर्मनुष्यक्षेत्रस्य ये चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्र-तारारूपा देवास्ते किमूर्द्धोपपन्नाः सौधर्माऽऽदिभ्यो द्वादशभ्यः कल्पेभ्य ऊर्द्धमुपपन्नाः ? कल्पेषु सौधर्माऽऽदिषु उपपन्नाः कल्पोपन्नाः ? विमानेषु सामान्येषूपपन्ना विमानीपपन्नाः ? चारो मण्डलगत्या परिभ्रमणं, तमुपपन्ना आश्रिताश्चारोपन्नाः ? चारस्य यथोक्तरूपस्य स्थितिरभावो येषां ते चारस्थितिकाः ? अपगतचारा इत्यर्थः। गतौ रतिरासक्तिः प्रीतिर्येषां ते गतिरतिकाः ? एतेन गतौ रतिमात्रमुक्तम्। संप्रति साक्षाद्गतिं प्रश्नयतिगतिसमापन्ना गतियुक्ताः ? एवं प्रश्ने कृते भगवानाह – ''ता ते णं देवा'' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। ते चन्द्राऽऽदयो देवा नोर्द्धोपपन्नाः, नाऽपि कल्पोपपन्नाः, किं तु विमानोपपन्नाः, चारोपपन्नाश्चारसहिताः, नो चारस्थितिकाः, तथा स्वभावतोऽपि गतिरतिकाः, साक्षाद्गति-युक्ताश्च, ऊर्द्धमुखीकृतकलम्बुकापुष्पसंस्थानसंस्थितयो – जनसाहस्रिकैरनेकयोजनसहस्रप्रमाणैस्तापक्षणैः साहस्रिकाभि – रनेकसहस्रसंख्याभिर्बाह्याभिः पर्षद्भि। अत्र बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया, वैकुकाभिर्विकुर्वितनानारूपधारिणीभिः, महता रवेणेति योगः। अहतानि अक्षतानि, अनघानीत्यर्थः। यानि नाट्यानि गीतानि वादित्राणि च, याश्च तन्त्र्यो वीणाः, ये च तलताला हस्ततालाः, यानि च त्रुटितानि शेषाणि तूर्याणि, ये च घना घनाकारा ध्वनिसाधर्म्यात् पटुप्रवादिता निपुणपुरुषप्रवादित मृदङ्गाः, तेषां रवेण, तथा स्वभावतो गतिरतिकैर्बाह्य –पर्षदन्तर्गतैर्वैगेन गच्छत्सु विमानेषु उत्कृष्टत उत्कर्षवशेन यो मुच्यते सिंहनादो, यश्च क्रियते बोलो नाम मुख हस्तं दत्वा महता शब्देन फूत्करणं, यश्च कलकलो व्याकुलशब्दसमूहस्तद्रवेण, मेरुमिति योगः। किंविशिष्टम् ? इत्याह–अच्छमतीव स्वच्छमतिनिर्मलजाम्बूत-दरत्नबहुलत्वात्, पर्वतराजं पर्वतेन्द्रं, प्रदक्षिणावर्त्तं मण्डलचारं यथा भवति तथा मेरुमनु लक्षीकृत्य 'परियट्टंति' पर्यटन्ति। सू० प्र० १९ पाहु०। चं० प्र०। जी०।

(बाह्यज्योतिष्कदेवेन्द्रस्थानम् 'इंदट्ठाण' शब्दे द्वितीयभागे ५३५ पृष्ठ गतम्)

ता वहिया णं मणुस्सखेत्तस्स जे चंदिमसूरियगह० जाव तारारूवा तेणं देवा किं उड्ढोववण्णगा, कप्पोववण्णगा, विमाणोववण्णगा, चारोववण्णगा, चारट्ठितिया, गतिरतिया, गतिसमावण्णगा ? ता ते णं देवा णो उड्ढोववण्णगा, णो कप्पोववण्णगा, विमाणोववण्णगा, णो चारोववण्णगा, चारट्ठि-तिया, णो गइरइया, णो गतिसमावण्णगा पक्किट्ठसंठाण संठितेहिं जोयणसतसाहस्सीएहिं तावक्खेत्तेहिं सतसाहस्सियाहिं बाहिराहिं वेउव्वियाहिं परिसाहिं महताऽहतनट्टगीयवाइय. जावरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति, सुहलेस्सा मंदलेस्सा (मंदतवलेसा) चित्तंतरलेसा अण्णोण्णसमोगाढाहिं लेस्साहिं कूडाइव ठाणट्ठिता ते पदेसे सव्वतो समंता ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासेंति, ता तेसिं णं देवाणं जाहे इंदा चयंति

से कहमिदाणिं पकरेंति, ता० जाव चत्तारि पंच सामाणिया देवा तं ठाणं तहेव० जाव छम्मासे।

''ता बहिया णं'' इत्यादि प्रश्नसूत्रमिदं प्राग्वद् व्याख्येयम्। भगवानाह – ''ता ते णं'' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। ते मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्वर्तिनश्चन्द्राऽऽदयो देवा नोर्द्धोपपन्नाः, नापि कल्पोपपन्नाः, किं तु विमानोपपन्नाः। तथा नो चारोपपन्नाश्चारयुक्ताः, किं तु चारस्थितिकाः। अत एव नो गतिरतयो, नापि गति समापन्नकाः, पकेष्टकासंस्थानसंस्थितिभिर्योजनशतसाहस्रिकैरातपक्षेत्रैर्यथा पकेष्टका आयामतो दीर्घा भवति, विस्तारतस्तु स्तोका, चतुरस्रा च, तथा तेषामपि मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्व्यवस्थितानां चन्द्रसूर्याणामातपक्षेत्राण्यायामतोऽनेकयोजनशत सहस्रप्रमाणानि, विस्तरत एकयोजनशतसहस्राणि, चतुरस्राणि चेति। तैरित्थंभूतैरातपक्षेत्रैः शतसाहस्रिकाभिरनेकसहस्रसंख्याभिर्बाह्याभिः पर्षद्भिः, अत्रापि बहुवचनं व्यक्तयपेक्षया। महतेत्यादि पूर्ववत्। दिवि भवान् दिव्यान्, भोगभोगान् भोगार्हान् शब्दाऽऽदीन् भोगान्, भुञ्जाना विरहन्ति। कथंभूताः ? इत्याह शुभलेश्याः। एतच्च विशेषणं चन्द्रमसः प्रति, तेन नातिशीततेजसः, किं तु सुखोत्पादपरमलेश्याका इत्यर्थः। मन्दा लेश्या रश्मिसंघातो येषां ते तथा। कथंभूताश्चन्द्राऽऽ दित्याः ? इत्याह–चित्रान्तरलेश्याः–चित्रमन्तरं लेश्या च येषां ते तथा। भावार्थश्चास्य पदस्य प्रागेवोपदर्शितः। तत इत्थंभूताश्चन्द्राऽऽदित्याः परस्परमवगाढाभिलेश्याभिः। तथाहि–चन्द्रमसां सूर्याणां च प्रत्येकं लेश्या योजनशतसहस्रप्रमाणं, विस्तारश्चन्द्रसूर्याणां च सूचीपङ्क्तया व्यवस्थितानां परस्परमन्तरं पञ्चाशद्योजनसहस्राणि। ततश्चन्द्रप्रभासंमिश्राः सूर्यप्रभाः, सूर्यप्रभासंमिश्राश्चन्द्रप्रभाः, इत्थं परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः, कूटानि च पर्वतोपरि व्यवस्थितशिखराणीव स्थानस्थिता सदैव एकत्र स्थाने स्थिताः, तान् प्रदेशान् स्वस्वप्रत्यासन्नान् अवभासयन्ति, उद्द्योतयन्ति, तापयन्ति, प्रकाशयन्ति।'' ता तेसिं णं जाहे इंदे चयंति'' इत्यादि प्राग्वद् व्याख्येयम्। सू० प्र० १९ पाहु०। जी०। चं० प्र०।

(२४) संप्रति चन्द्रसूर्ययोश्च्यवनोपपातौ वक्तव्याविति ततस्त द्विषयं प्रश्नसूत्रमाह –

ता कइं ते चवणोववाते आहिए त्ति वदेज्जा ? तत्थ खलुइमाओ पणवीसं पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ। तत्थ एगे एवमाहंसु ता अणुसमयमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु। एगे पुण एवमाहंसु–ता अणुमुहुत्तमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु जहेव हेट्ठा तहेव० जाव ता एगे पुण एवमाहंसुता अणु ओसप्पिणीउस्सप्पिणीमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, एगे एवमाहंसु। वयं पुण एवं वदामो–ता चंदिमसूरिया णं देवा महिड्ढिया महाजुईया महाबला महाजसा महासोक्खा महाणुभावा वरवत्थमल्लधरा वरगंधधरा वराभरणधारी अव्वोच्छि-त्तिणयट्ठआए अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा।

''ता कहं ते'' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। कथं केन प्रकारेण भगवन् ! त्वया चन्द्राऽऽदीनां च्यवनोपपातौ व्याख्यातावितिवदेत ? सूत्रे च द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्। उक्तं च – ''बहुवयणेण दुवयणं'' इति। एवं प्रश्ने कृते भगवानेतद्विषये यावन्त्यः प्रतिपत्तयः सन्ति तावतीरुपदर्शयति – ''तत्थ'' इत्यादि। तत्र च्यवनोपपातविषये खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्चविंशतिः प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा– ''तत्थेगे'' इत्यादि। तेषां पञ्चविंशतिपरतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः– 'ता' इति। तेषां प्रथमं स्वशिष्यं प्रत्यनेकवक्तव्यतोपक्रमे क्रमोपदर्शनार्थम्, अनुसमयमेव चन्द्रसूर्या अन्ये पूर्वोत्पन्नाश्च्यवन्ते च्यवमानाः, अन्ये अपूर्व उत्पद्यन्ते उत्पद्यमाना आख्याता इति वदेत्। अत्रोपसंहारमाह – 'ता' एके एवमाहुः। एके पुनरेवमाह :– अनु मुहूर्तमेव चन्द्रसूर्या अन्ये पूर्वोत्पन्नाश्च्यवन्ते च्यवमानाः, अन्येऽपूर्वा उत्पद्यन्ते उत्पद्यमाना आख्याता इति वदेत्। उपसंहारमाह – ''एगे एवमाहसु जहा हिट्ठा तहेव० जाव'' इत्यादि। एवमुक्तेन प्रकारेण यथा अधस्तात् षष्ठे प्राभृते ओजः संस्थितौ चिन्त्यमानायां पञ्चविंशतिप्रतिपत्तय उक्तास्तथैवात्रापि वक्तव्याः। ता अणुओसप्पिणिउस्सप्पिणीमेव'' इत्यादि चरमसूत्रम्। ताश्चैवं भणितव्याः– ''एगे पुण एवमाहंसु–ता अणुराइंदियमेव चंदिमसूरिया अन्ने चयंति, अन्ने उववज्जंति, आहिया इति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ३। एगे पुण एवमाहंसु–साणुपक्खमेव चंदिमसूरिया अन्ने चयंति, अन्ने उववज्जंति, आहिया इति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ४। एगे पुणएवमाहंसु–ता अणु समयमेव चंदिमसूरिया अन्ने चयंति, अन्ने उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ५। एगे पुण एवमाहंसु–ता अणु उउमेव चंदिमसूरिया अन्ने चयंति, अन्ने उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ६। एवं ता अणुअयणमेव ७। ता अणुसंवच्छरमेव ८। ता अणुजुगमेव ९। ता अणुवाससयमेव १०। ता अणुवाससहस्समेव ११। ता अणुवाससयसहस्समेव १२। ता अणुपुव्वमेव १३। ता अणुपुव्वसयमेव १४। ता अणुपुव्वसहस्समेव १५। ता अणुपुव्वसयसहस्समेव १६। ता अणुपलिओवममेव १७। ता अणुपलिओवमसयमेव १८। ता अणुपलिओवमसहस्समेव १९। ता अणुपलिओवमसयसहस्समेव २०। ता अणुसागरोवममेव २१। ता अणुसागरोवमसयमेव २२। ता अणुसागरोवमसहस्समेव २३। ता अणुसागरोवमसयसहस्समेव २४।'' पञ्चविंशतितमप्रतिपत्तिसूत्रं तु साक्षादेव सूत्रकृता दर्शितम्। तदेवमुक्ताः परतीर्थिकप्रतिपत्तयः। एताश्च सर्वा अपि मिथ्यारूपाः। तत एताभ्यः पृथग्भूतं स्वमतं भगवानुपदर्शयति – ''वयं पुण'' इत्यादि। वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञाना एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामः। तमेव प्रकारमाह – ''ता चंदिम'' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। चन्द्रसूर्याः, णमितिवाक्यालङ्कारे। देवा महर्द्धिकाः, महती ऋद्धिर्विमानपरिवाराऽऽदिका येषां ते तथा। तथा महती द्युतिः शरीराऽऽभरणाऽऽश्रिता येषां ते महाद्युतयः, तथा महद् बलं शारीरप्रमाणं येषां ते महाबलाः, तथा महद् विस्तीर्णं सर्वस्मिन्नपि जगति, विस्तृतत्वाद् यशः, श्लाघा येषां ते महायशसः। तथा महान् भवनपतिव्यन्तरेभ्योऽतिप्रभूतं, तदपेक्षया तेषां प्रशान्तत्वात्, सौख्यं येषां ते महासौख्याः तथा महान् अनुभावो वैक्रियकरणाऽऽदि विषयोऽचिन्त्यः शक्तिविशेषो येषां ते महानुभावाः। वरवस्त्रमाल्यधरा वरगन्धधरा वराऽऽभरणधरा अव्यवच्छिन्ननयार्थतया द्रव्यास्ति कनयमतेन कालं वक्ष्यमाणप्रमाणं स्वस्वा–

युर्व्यवच्छेदे, अन्ये पूर्वोत्पन्नाश्च्यवन्ते श्च्यवमानाः, अन्ये तथा जगत्स्वाभाव्यात् षण्मासादारतो नियमत उत्पद्यन्ते उत्पद्यमाना आख्याता इति वदेत् स्वशिष्येभ्यः। सू० प्र० १७ पाहु०।

(२५) ता पुक्खरवरोदे णं समुद्दे केवतिया चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा पुच्छा तहेव ? ता पुक्खर रोदे णं समुद्दे णं सखेज्जा चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा० जाव संखेज्जाओ तारागणकोडिकोडीओ ओभिंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा। एतेणं अभिलावेणं वरुणवरे दीवे वरुणोदे समुद्दे ४, खीरवरे दीवे खीरोदे समुद्दे ५, घतवरे दीवे घतोदे समुद्दे ६, खोतवरे दीवे खोतोदे समुद्दे ७, णंदिस्सरवरे दीवे णंदिस्सरवरे समुद्दे ८, अरुणे दीवे अरुणोदे समुद्दे ९, अरुणवरे दीवे अरुणवरे समुद्दे १०, अरुणवरोवभासे दीवे अरुणवरोवभासे समुद्दे ११, कुंडले दीवे कुंडलोदे समुद्दे १२, कुंडलवरे दीवे कुंडलवरोदे समुद्दे १३, कुंडलवरोवभासे दीवे कुंडलवरोवभासे समुद्दे १४, सव्वेसिं विक्खंभपरिक्खेवजोति साइं पुक्खरोदसागरमरिसाइं।

''सव्वेसिं'' इत्यादि। सर्वेषामुक्तस्वरूपाणां द्वीपसमुद्राणामन्यत् कुण्डलवरावभाससमुद्रपर्यन्तानां विष्कम्भपरिक्षेपज्योतिषाणि पुष्करोदसागरसदृशानि च वक्तव्यानि, सङ्ख्येययो जनप्रमाणे विष्कम्भः, सङ्ख्येययोजनप्रमाणः परिक्षेपः, सङ्ख्येयाश्चन्द्राऽऽदयो वक्तव्या इत्यर्थः। सू० प्र० १९ पाहु०। चं० प्र०।

ता रुयगे णं दीवे केवतिया चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा पुच्छा ? ता रुयगे णं असंखेज्जाइं चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा० जाव असंखेज्जाओ तारागणकोडिकोडीओ सोभं सोभिंसु वा, सो भंति वा, सोभिस्संति वा, एवं रुयगे समुद्दे, रुयगवरे दीवे, रुयगवरोदे समुद्दे, रुयगवरोवभासे दीवे, रुयगवरोवभासे समुद्दे, एवं तिपडोवयारां णेतव्वा० जाव सूरे दीवे, सूरोदे समुद्दे, सूरवरे दीवे, सूरवरे समुद्दे, सूरवरोवभासे दीवे, सूरवरोवभासे समुद्दे, सव्वेसिं विक्खंभपरिक्खेवज्जोतिसाइं रुयगवरदीवसरिसाइं॥

''सव्वेसिं'' इत्यादि। सर्वेषां रुचकसमुद्राऽऽदीनां सूर्यवरावभाससमुद्रपर्यन्तानां विष्कम्भपरिक्षेपज्योतिषाणि रुचकद्वीपसदृशानि वक्तव्यानि, असंख्येयोजनप्रमाणो विष्कम्भोऽसंख्येययोजनप्रमाणः परिक्षेपोऽसंख्येयाः प्रत्येकं चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारका वक्तव्या इति भावः। सू० प्र० १९ पाहु०। चं० प्र०।

ता देवे णं दीवे केवतिया चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा पुच्छा तहेव ? ता देवे णं दीवे असंखेज्जा चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा. जाव असंखेज्जाओ तारागणकोडिकोडीओ सोभं सोभेंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा। एवं देवोद समुद्दे, णागे दीवे, णागोदे समुद्दे, जक्खे दीवे, उक्खोदे समुद्दे, भूते दीवे, भूतोदे समुद्दे, सयंभूरमणे दीवे, सयंभूरमणे समुद्दे सव्व देवदीवसरिसा। सू० प्र० १९ पा०। चं० प्र०। जी०।

(२६) चन्द्रसूर्ययोः परिवारो यथा –

एगमेगस्स णं भंते ! चंदिमसूरियस्स केवतिओ णक्खत्त परिवारो पण्णत्तो ? केवतिओ महग्गहपरिवारो पण्णत्तो ? केवतिओ तारागणकोडाकोडीओ परिवारो पण्णत्तो ? गोयमा ! एगमेगस्स णं चंदिमसूरियस्स –

''अट्ठास इं च गद्दा, अट्ठावीसं च होइ णक्खत्ता।
एगमसीपरिवारो, एत्तो तारागणं वोच्छं ॥१॥
छावट्ठिसहस्साइं, णव चेव सयाइँ पंचसयराइं।
एगमसीपरिवारो, तारागणकोडिकोडीणं'' ॥२॥

''एगमेगस्स णं भंते ! चंदिमसूरियस्स'' इत्यादि। एकैकस्य भदन्त ! चन्द्रसूर्यस्य, अनेन च पदेन यथा नक्षत्राऽऽदीनां चन्द्रः स्वामी, तथा सूर्योऽपि, तस्याऽपीन्द्रत्वादिति ख्यापयन्ति। कियन्ति नक्षत्राणि परिवारः प्रज्ञप्तः ? कियन्तो महाग्रहा अङ्गारकाऽऽदयः परिवारः प्रज्ञप्तः ? कियत्यस्तारागणकोटीकोट्यः परिवारः प्रज्ञप्तः ? इह भूयान् पुस्तकेषु वाचनाभेदो, गलितानि च सूत्राणि बहुषु पुस्तकेषु, ततो यथाऽवस्थितवाचनाभेदप्रतिपत्त्यर्थं गलितसूत्रोद्धरणार्थं चैवं सुगमान्यपि विव्रियन्ते। भगवानाह– गौतम ! एकैकस्य चन्द्रसूर्यस्य अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि परिवारः प्रज्ञप्तः, अष्टाशीतिर्महाग्रहाः परिवारः प्रज्ञप्तः। ''छावट्ठिसहस्साइं'' इति गाथा। षट्षष्टिः सहस्राणि नव चैव शतानि पञ्चसप्तानि एकशशिपरिवारः तारागणकोटीकोटीनाम्, कोटीकोटीति कोट्य एवं संज्ञा, ततस्तारागणकोटीनामिति द्रष्टव्यम्। जी० ३ प्रति० १ उ०। एते च यद्यपि चन्द्रस्यैव परिवारोऽन्यत्र श्रूयन्ते, तथापि सूर्यस्यापीन्द्रत्वादेत एव परिवारतयाऽवसेया इति। स० ८८ सम०। सं०। सू० प्र०।

(२७) कीदृशश्चन्द्राऽऽदीनामनुभाव इति, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह –

ता कहं ते अणुभावे आहिते ति वदेज्जा ? तत्थ खलु इमाओ दो पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ। तत्थ एगे एवमाहंसु ताचंदिमसूरिया णं णो जीवा, अजीवा, णोघणा, झुसिरा, बादरबोंदिधरा, कलेवरा नत्थि णं तेसिं उट्ठाणे ति वा कमे ति वा बले ति वा विरिए ति वा पुरिसक्कारपरक्कमे ति वा, ते णो विज्जं लवंति, णो असणिं लवंति, णो थणितं लवंति, अहे य णं बादरे वाउक्काए समुच्छति, अहे य णं बादरे वाउक्काए समुच्छिता विज्जुं पि लवंति, असणिं पि लवंति, थणितं पि लबंति, एगे एवमाहंसु। एगे पुण एवमाहंसु– ता चंदिमसूरिया णं जीवा, णो अजीवा, घणा, णो सूसिरा बादर बुंदिधरा, नो कलेवरा अत्थि णं तेसिं उट्ठाणे ति वा कमेति वा बले ति वा विरिए ति वा पुरिसक्कारपरक्कमे ति वा, ते पि विज्जुं पिलवंति, असणिं पि लवंति, थणियं पि लवंति, एगे एवमाहंसु। *वयं पुण एवं वदामो–ता चंदिमसूरिया णं देवा* महिड्ढिया० जाव महाणुभावा वरवत्थधरा वरमल्लधरा वराभरणधारी अव्योच्छित्तिणयट्ठताए अन्ने चयंति, अणे उववज्जंति।

''ता कहं ते'' इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण चन्द्राऽऽदीनामनुभावः स्वरूपविशेष आख्यात इति वदेत् ? एवमुक्ते भगवानाह – एतद्विषये द्वे प्रतिपत्ति । ते उपदर्शयात – ''तत्थ खलु'' इत्यादि । तत्र चन्द्राऽऽदीनामनुभावविषये खल्विमे द्वे प्रतिपत्ती परतीर्थिकाभ्युपगमरूपे प्रज्ञप्ते । तद्यथा– ''तत्थेगे'' इत्यादि । तत्र तेषां द्वयानां परतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः– (ता इति) तेषां परतीर्थिकानां प्रथमं स्वशिष्यं प्रत्यनेकवक्तव्यतोपक्रमे क्रमोपदर्शनार्थं चन्द्रसूर्याः, णमितिवाक्यालङ्कारेः, नो जीवा जीवरूपाः, किं त्वजीवाः । तथा नो घनानि निविडप्रदेशोपचमाः, किं तु शुषिराः । तथा बादरवोन्दिरधराः प्रधानसुजीवसुव्यक्तावयवशरीरोपेताः, किं तु कलेवराः कलेवरमात्रास्तथा नास्ति, णमिति वाक्यालङ्कारे, तेषां चन्द्राऽऽदीनाम्, उत्थानमूर्द्धीभवनम्, इतिरुपदर्शने, वाशब्दो विकल्पे, समुच्चये वा । कर्म उतक्षेपणावक्षेपणादि, बलं शारीरप्रमाणं, वीर्यमान्तरोत्साहः, (पुरिसक्कारपरक्कमे इति) पुरुषकारः पौरुषाभिमानः, पराक्रमः स एवासाधिताभिमतप्रयोजनः । पुरुषकारश्च पराक्रमश्च पुरुषकारपराक्रममिति । वाशब्दः सर्वत्रापि पूर्ववत् । तथा ते चन्द्राऽऽदित्याः (नो विज्जुयं लवंति ति) न विद्युतं प्रवर्त्तयन्ति, नाप्यवशनिं विद्युद्विशेषरूपं, नापि गर्जितं मेघध्वनिं, किं तु ''अहे णं'' इत्यादि । चन्द्राऽऽदित्याऽऽदीनामधो, णमिति पूर्ववत् । बादरो वायुकायिकः संमूर्च्छति, अधश्च बादरो वायुकायिकाः संमूर्च्छय, (विज्जुं पि लवइ त्ति) विद्युतमपि प्रवर्तयन्ति, अशनिमपि प्रवर्तयन्ति, गर्जितमपि प्रवर्त्तयन्ति, विद्युदादिरूपेण परिणमन्ति इति भावः । अत्रोपसंहारमाह – (एगे एवमाहंसु) १ । एके पुनरेवमाहुः– 'ता' इति प्राग्वत् । चन्द्रसूर्याः, णमिति वाक्यालङ्कारे, जीवा जीवरूपाः, न पुनरजीवाः, यथाऽऽहुः परतीर्थिकाः, तथा घनाः, न शुषिराः, तथा बादरवोन्दिधराः, न कलेवरमात्राः, तथा अस्ति तेषाम्, ''उट्ठाणे इति वा'' इत्यादि पूर्ववत् व्याख्येयम् । (ते वि विज्जुं पि लवंति) विद्युतमपि प्रवर्त्तयन्ति, अशनिमपि प्रवर्त्तयन्ति, गर्जितमपि प्रवर्तयन्ति । किमुक्तं भवति ? विद्युदादिकं सर्वचन्द्राऽऽदित्याः प्रवर्तन्त इति । अत्रोपसंहारमाह – (एगे एवमाहंसु) २ । एवं परतीर्थिकप्रतिपत्तिद्वयमुपदर्श्य संप्रति भगवान् स्वमतं कथयति – ''वयं पुण'' इत्यादि । वयं पुनरेवं वदामः । कथं वदथ ? इत्याह – 'ता' इति पूर्ववत्, चन्द्रसूर्याः, णमिति वाक्यालाङ्कारे, देवा देवस्वरूपाः, न सामान्यतो जीवमात्राः । कथंभूतास्ते देवाः ? इत्याह–महर्द्धिकाः महती ऋद्धिर्विमानपरिवाराऽऽदिका येषां ते तया (०जाव महाणुभावा इति) यावत्करणात् – ''महज्जुइया महाबला महाजसा महेसक्खा'' इति द्रष्टव्यम् । तत्र महती द्युतिः शरीरा ऽऽभरणविषया येषां ते महाद्युतयः । तथा महद् बलं शारीरप्रमाणं येषां ते महाबलाः, तथा महद् यशः ख्यातिर्येषां ते महायशसः, तथा महेश इति महान् इश ईश्वर इत्याख्या येषां ते महेशाख्याः । क्वचित्, ''महासोक्खा'' इति पाठः । तत्र महत्सौख्यं येषां ते महासौख्याः । तथा महाननुभावो विशिष्टवैक्रियकरणाऽऽदिविषया अचिन्त्या शक्तिर्येषां ते महानुभावाः, वरवस्त्रधराः वरमाल्यधरा वराभरणधारिणः, अव्यवच्छित्तिनयार्थतया द्रव्यास्तिकनयमतेन, अन्ये पूर्वोत्पन्ना स्वायुःक्षयं व्यवन्ते, अन्ये तूत्पद्यन्ते । सू० प्र० २० पाहु० । (ज्योतिष्काणां कामभोगौ 'कामभोग' शब्दे तृतीयभागे ४४२ पृष्ठे द्रष्टव्यौ)

(२८) संप्रति चन्द्रसूर्ययोः संस्थानमभिधिस्तुः क्रमं श्वेतायाः संस्थितिराख्यातेति ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह–

ता कहं ते सेअआए संठिती आहिता ति वदेज्जा ? तत्थ खलु इमा दुविहा संठिती पण्णत्ता । तं जहा–चंदिमसुरियसंठिती, य तावक्खेत्तठिती य । ता कहं ते चंदिमसूरियासंठिती आहिता ति वदेज्जा ? तत्थ खलु इमातो सोलस पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थेगे च एवमाहंसु–ता समचउरं ससंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु १ । एगे पुण एवमाहंसु– ता विसमचउरं ससंठिता चंदिमसूरियसंठिती पन्नत्ता २ । एवं समचउक्कोणसंठिता ३ विसमचउक्कोणसंठिया ४ समचक्कवालसंठिता ५ विसमचक्कवालसंठिता ६ चक्कद्धचक्कवालसंठिता, एगे एवमाहंसु ७ । एगे पुण एवमाहंसु – ताछत्तागारसंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता ८, गेह संठिता ९, गेहावणसंठिता १०, पासादसंठिता ११ गोपुरसंठिया १२ पेच्छाघरसंठिता १३ वलभीसंठिता १४ हम्मियतलसंठिता १५ बालग्गपोत्तियासंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता १६ । तत्थ जे ते एवमाहंसु –ता समचउरंससंठिता चंदिमसूरियंठिती पण्णत्ता, एतेणं गणणं णेतव्वा, णो चेव णं इतरेहिं ।

''ता कहं ते सेअआए संठिई आहिया ति वदेज्जा ?'' 'ता' इति पूर्ववत् । कथं भगवन् ! त्वया श्वेतायाः संस्थितिराख्याता इति भगवान् वदेत् ? एवं भगवता गौतमेनोक्ते वर्द्धमानस्वामी भगवानाह – ''तत्थ'' इत्यादि । तत्र श्वेतताया विषये खल्वियं वक्ष्यमाणस्वरूपा द्विविधा संस्थितिः प्रज्ञप्ता । तामेव तद्यथेत्यादिनोपदर्शयति । तद्यथेत्यत्र तच्छन्दोऽव्ययम् । ततोऽयमर्थः– सा श्वेतता यथा येन प्रकारेण द्विविधा भवति तथोपदर्श्यते – चन्द्रसूर्यसंस्थितिस्तापक्षेत्रसंस्थितिश्च । इह श्वेतता चन्द्रसूर्यविमानानामपि विद्यते, तत्कृततापक्षेत्रस्य च, ततः श्वेततायोगादुभयमपि श्वेतताशब्देनोच्यते । तेनोक्तप्रकारेण श्वेतता द्विविधा भवति । तत्र चन्द्रसूर्यसंस्थितिविषये प्रश्नयति – ''ता कहं ते'' इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत् । कथं ते त्वया भगवन् ! चन्द्रसूर्यसंस्थितिराख्याता इति वदेत् ? इह चन्द्रसूर्यविमानानां संस्थानरूपा संस्थितिः प्रागेवाभिहिता, तत इह चन्द्रसूर्याणां संस्थितिश्चतुर्णामपि अवस्थानरूपा द्रष्टव्या । एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावन्त्यः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयस्तावतीरुपदर्शयति – ''तत्थ'' इत्यादि । तत्र चन्द्रसूर्यसंस्थितौ विचार्यमाणायां खल्विमाः षोडश प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा–एके वादिन एवमाहु :– समचतुरस्रसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिः प्रज्ञप्ता । समचतुरस्रं संस्थितं संस्थान यस्याश्चन्द्रसूर्यसंस्थितेः सा तथा । अत्रैवोपसंहार वाक्यमाह – ''एगे एवमाहंसु १'' । एवं सर्वत्रापि प्रत्येकमुपसंहारवाक्यं द्रष्टव्यम् । एकेपुनरेवमाहुः–विषमचतुरस्रसंस्थिता चन्द्रसूर्यस्थितिराख्याता । अत्रापि विषमचतुरस्रं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथेति विग्रहः २ । (एवं समचउक्कोणसंठिय त्ति) एवमुक्तेन प्रकारेणापरेषामभिप्रायेण समचतुष्कोणसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्वक्तव्या । सा चैवम् ''एग पुण एवमाहंसुसमचउक्कोणसंठिया चेद्दिमसुरियसंठिई पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु।''

अत्रा (समचउक्कोणसंठिय त्ति) समाश्चत्वारः कोणा यत्रा तत् समचतुष्कोणं, समचतुष्कोणं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथेति विग्रहः ३। (विसमचउक्कोणसंठिय त्ति) विषमाश्चत्वारः कोणा यत्रा तद्विषमचतुष्कोणं, तत्संस्थितं संस्थानं यस्याः चन्द्रसूर्यसंस्थितेः सा तथा, अन्येषमभिप्रायेण वक्तव्या। सा चैवम् – ''एगे पुण एवमाहंसु– विसमचउक्कोणसंठिया चंदमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु'' ४। (समचक्कवालसंठिय त्ति) समचक्रवालं समचक्रवालरूपं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा। अपरेषामभिप्रायेण चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्वक्तव्या। सा चैवम्– ''एगे पुण एवमाहंसु समचक्कवालसंठिया चंदिसूरियसंठिई पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु'' ५। (विसमचक्कवालसंठिय त्ति) विषमचक्रवालं विषमचक्रवालरूपं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा। अन्येषां मतेन चन्द्रसूर्य संस्थितिर्वक्तव्या। सा चैवम् – ''एगे पुण एवमाहंसुविसमचक्कवालसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु'' ६। (चक्कद्धचक्कवालसंठिय त्ति) चक्रस्य रथाङ्गस्य यदर्द्धचक्रवालं चक्रवालस्यार्द्धं तदूपं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अन्येषामभिप्रायेण वक्तव्या। सा चैवम् – ''एगे पुण एवमाहंसु चक्कद्धचक्कवालसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु'' ७। ''एगे पुण'' इत्यादि। एके पुनराहु :– छत्राऽऽकारसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिः प्रज्ञप्ता। अत्रैवोपसंहार :– ''एगे एवमाहंसु'' ८। (गेहसंठिय त्ति) गेहस्येव वास्तुविद्योपनि बद्धस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा। अपरेषां मतेन चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्वक्तव्या। सा चैवम्– ''एगे पुण एवमाहंसु गेहसंठिया चंदमसूरिसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु'' ९। (गेहावणसंठिय त्ति) गृहयुक्त आपणो गृहाऽऽपणो वास्तुविद्या प्रसिद्धः, तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा। अन्येषामभिप्रायेण वक्तव्या। सा चैवम्– ''एगे पुण एवमाहंसुगेहावणसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु'' १०। (पासायसंठिय त्ति) प्रासादस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अन्येषामभिप्रायेण वक्तव्या। सा चैवम् – ''एगे पुण एवमाहंसु पासायसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु'' ११। (गोपुरसंठिय त्ति) गोपुरस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अन्येषां मतेनाभिधातव्या। सा चैवम् – ''एगे पुण एवमाहंसु – गोपुरसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु'' १२। (पेच्छाघरसंठिय त्ति) प्रेक्षागृहस्येव वास्तुविद्याप्रसिद्धस्य संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अपरेषां मतेनाभिधातव्या। तद्यथा– ''एगे पुण एवमाहंसु पिच्छाघरसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु'' १३। (बलभीसंठिय त्ति) वलभ्या इव ग्रहाणामाच्छादनस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा। अन्येषां मतेनाभिधातव्या। साचैवम् – ''एगे पुण एवमाहंसु– वेलभीसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु'' १४। (हम्मियतलसंठियत्ति) हर्म्य धनवतां गृहं, तस्य तलमुपरितनो भागस्तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अपरेषामभिप्रायेण वक्तव्या। सा चैवम् – ''एगे पुण एवमाहंसुहम्मियतलसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु'' १५। (बालग्गपोत्तियासंठिय त्ति) बालाग्रपोतिकाशब्दो देशीशब्दत्वादाकाशे तडागमध्ये व्यवस्थितक्रीडास्थानलघुप्रासादमाह, तस्या इव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अपरेषां मतेन अभिधानीया। तद्यथा – ''एगे पुण एवमाहंसु बालग्गपोत्तियासंठिया चंदिमसूरियसंठिई पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु'' १६। तदेवमुक्ताः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः, एतासां च मध्ये या प्रतिपत्तिः समीचीना तामुपदर्शयति – ''तत्थ'' इत्यादि। तत्र तेषां षोडशानां परतीर्थिकानां मध्ये ये ते वादिन एवमाहु :– समचतुरस्रसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिः प्रज्ञप्ता इति, एतेन नयेन नेतव्यम् –एतेनाभिप्रायेणास्मिन्मतेऽपि चन्द्रसूर्यसंस्थितिस्व-धायेति भावः। तथाहि–इह सर्वेऽपि कालविशेषाः सुषमाऽऽदयो युगमूला युगस्य वा चाऽऽदौ श्रावणे मासि बहुलपक्षप्रतिपदि प्रातरुदयसमये एकः सूर्यो दक्षिणपूर्वस्यां दिशि वर्त्तते, तद् द्वितीयस्त्वपरोत्तरस्याम्, चन्द्रमा अपि तत्समये एको दक्षिणापरस्यां दिशि वर्त्तते, द्वितीय उत्तरपूर्वस्याम्, अत एते युगस्याऽऽदौ चन्द्रसूर्याः समचतुरस्रसंस्थिता वर्त्तन्ते, यत्वत्रा मण्डलकृतं वैषम्यं, यथा–सूर्यो सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्तते, चन्द्रमसौ सर्वबाह्ये इति तदल्पमिति कृत्वा न विवक्ष्यते। तदेवं यतः सकलकालविशेषाणां सुषमसुषमाऽऽदिरूपाणामादिभूतस्य युगस्याऽऽदौ समचतुरस्रसंस्थिताः सूर्याचन्द्रमसौ भवन्ति, ततस्तेषां संस्थितिः समचतुरस्रसंस्थानोपवर्णिता, अन्यथा वा संप्रदायं समचतुरस्रसंस्थितिः परिभावनीयेति। (नो चेव णं इयरेहिं ति) नो चैव– नैव, इतरैः शेषैर्नयैश्चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्ज्ञातव्या, तेषां मिथ्या रूपत्वात्। तदेवमुक्ता चन्द्रसूर्यसंस्थितिः। सू० प्र० ४ पाहु०। चं० प्र०। जं०। जी०। (चन्द्रविमानाऽऽदीनां संस्थानाऽऽदि 'जोइसियविमाण' शब्देऽग्रे वक्ष्यते)

(२६) संप्रति चन्द्राऽऽदित्यचारा वक्तव्या इति, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रामाह –

ता कहं ते चारा अहिता ति वदेज्जा ? तत्थ खलु इमा दुविहा चारा पण्णत्ता। तं जहा–आदिच्चचारा य, चंद चारा य।

''ता कहं ते'' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्, कथं केन प्रकारेण किंप्रमाणया संख्यया ? इत्यर्थः। चारा आख्याता इति वदेत् ? भगवानाह – ''तत्थ'' इत्यादि। तत्र चारविचारविषये खल्विमे वक्ष्यमाणस्वरूपा द्विविधा द्विप्रकाराश्चाराः प्रज्ञप्ताः। द्वैविध्यमेवाह – तद्यथा– आदित्यचाराश्चन्द्रचाराश्च। चशब्दौ परस्परसमुच्चये।

तत्र प्रथमतश्चन्द्रचारपरिज्ञानार्थं तद्विषयं प्रश्नसूत्रामाह –

ता कहं ते चंदचारा आहिते ति वदेज्जा ? ता पंचसंवच्छरिए णं जुगे अभिइणक्खत्ते सत्तसट्ठिचारे चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति।

''ता कहं ते'' इत्यादि। 'ता' इति प्राग्वत्, कथं केन प्रकारेण, कया संख्यया ? इत्यर्थः। त्वया भगवन्। चन्द्रचारा आख्याता इति वदेत् ? भगवानाह – ''ता पंच'' इत्यादि। पञ्चसांवत्सरिके चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितरूप पञ्चसंवत्सरप्रमाणे, णमिति वाक्यालङ्कारे, युगेऽभिजित्नक्षत्रां सप्तषष्टिचारान् यावत् चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति योगमुपपद्यते। किमुक्तं भवति ? चन्द्रोऽभिजित्नक्षत्रेण सह संयुक्तो युगमध्ये सप्तषष्टिसंख्यान् चारान् चरतीति। कथमेतदवसीयते इति चेत् ? उच्यते – इह योगमधिकृत्य सकलनक्षत्रामण्डली परिसमाप्तिरेकेन नक्षत्रामासेन भवति, नक्षत्रामासाश्च युगमध्ये सप्तषष्टिः, एतच्चाग्रे भाव –

यिष्यते। ततः प्रतिनक्षत्रपर्यायमेकैकं चारमभिजिता नक्षत्रेण सह चन्द्रस्य योगसंभवादुपपद्यते चन्द्रोऽभिजिता नक्षत्रेण सह संयुक्तो युगमध्ये सप्तषष्टिसंख्यान् चारान् चरतीति। एवं प्रतिनक्षत्रं भाव-नीयम्।

संप्रत्यादित्यचारविषयं प्रश्नसूत्रमाह -

ता कहं ते आइच्चचारा आहिते ति वदेज्जा ? ता पंचसंवच्छरिए णं जुगे अभिईणक्खत्ते पंच चारे सूरेण सद्धिं नोयं जोएति, एवं० जाव उत्तरासाढाणक्खत्ते पंच चारे सूरेण जोयं जोएति ॥

'' ता कहं ते '' इत्यादि। ' ता ' इति प्राग्वत्। कथं किंप्रमाणया संख्यया भगवन्! त्वया आदित्यचारा आख्याता इति वदेत् ? भगवानाह- '' त्ता पंचसंवच्छरिए णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। पञ्चसांवत्सरिके चन्द्राऽऽदिपञ्चसंवत्सरप्रमाणे, युगे युगमध्ये, अभिजिन्नक्षत्रं पञ्च चारान् यावत् सूर्येण सह योगं युनक्ति। अत्राप्ययं भावार्थः-अभिजिता नक्षत्रेण सह संयुक्तः सूर्यो युगमध्ये पञ्चसंख्यान् चारान् चरति। कथमेतदवगम्यते इति चेत् ? उच्यते-इह योगमधिकृत्य सूर्यस्य सकलनक्षत्रमण्डलीपरिसमाप्तिरेकेन सूर्यसंवत्सरेण। सूर्यसंवत्सराश्च युगे भवन्ति पञ्च। ततः प्रतिनक्षत्रपर्यायमेकैकचारमभिजिता नक्षत्रेण सह योगस्य संभवाद् घटते अभिजिता नक्षत्रेण सह संयुक्तः सूर्यो युगे पञ्च चारान् चरतीति। एवं शेषनक्षत्रेष्वपि भावना भावनीया। सू० प्र० १८ पाहु०।

(३०) संप्रति चन्द्रसूर्याऽऽदीनां भूमेरुर्द्धमुच्चत्वप्रमाणं वक्तव्यमिति ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह -

ता कहं ते उच्चत्ते आहिते ति वदेज्जा ? तत्थ खलु इमाओ पणवीसं पडिवत्तीओ पन्नत्ताओ। तत्थेगे एवमाहंसु-ता एगं जोयणसहस्सं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं दिवड्ढं चंदे, एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु-ता दो जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २। एगे पूण एवमाहंसु-ता तिन्नि जोयणसहस्साइं सरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धट्ठाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ३। एगे पुण एवमाहंसु-ता चत्तारि जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धपंचमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ४। एगे पुण एवमाहंसु-ता पंचजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धछट्ठाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ५। एगे पुण एवमाहंसु-ता छजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धसत्तमाए चंदे, एगे एवमाहंसु ६। एगे पुण एवमाहंसु-ता सत्तजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धट्ठमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ७। एगे पुण एवमाहंसु-ता अट्ठजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धनवमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ८। एगे पुण एवमाहंसु-ता नवजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठ-दसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ९। एगे पुण एवमाहंसु-ता दसजो-यणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धएकारस चंदे, एगे एवमाहंसु १०। एगे पुण एवमाहंसु-एक्कारसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धबारस चंदे, एगे एवमाहंसु ११। एतेणं अभिलावेणं णेतव्वं बारस सूरे अद्धतेरस चंदे १२। तेरस सूरे अद्धचोद्दस चंदे १३। चोद्दस सूरे अद्धपण्णरस चंदे १४। पण्णरस सूरे अद्धसोलस चंदे १५। सोलस सूरे अद्धसत्तरस चंदे १६। सत्त-रस सूरे अद्धअट्ठारस चंदे १७। अट्ठारस सूरे अद्धएगुणवीसं चंदे १८। एगुणवीसं सूरे अद्धवीसं चंदे १९। वीसं सूरे अद्धएगवीसं चंदे २०। एगवीसं सूरे अद्धबावीसं चंदे २१। बावीसं सूरे अद्ध-तेवीसं चंदे २२। तेवीसं सूरे अद्धचउवीसं चंदे २३। चउवीसं सूरे अद्धपणवीसं चंदे, एगे एवमाहंसु २४। एगे पुण एवमाहंसु-पणवीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धछव्वीसं चंदे, एगे एवमाहंसु २५। वयं पुण एवं वदामो-ता इमीसे रयणप्प-भाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ सत्तणउए जोय-णसए उड्ढं उप्पतित्ता हेट्ठिल्ले तारविमाणे चारं चरति, अट्ठजो-यणसए उड्ढं उप्पतित्ता सूरविमाणे चारं चरति, अट्ठअसीईए जोयणसए उड्ढं उप्पतित्ता चंदविमाणे चारं चरति, णवजोय-णसताइं उड्ढं उप्पतित्ता उवरिं तारविमाणे चारं चरति, हेट्ठि-ल्लाओ तारविमाणाओ दस जोयणाइं उड्ढं उप्पतित्ता सूर-विमाणे चारं चरति, नवउत्तिजोयणाइं उड्ढं उप्पतित्ता चंद-विमाणे चारं चरति, दसुत्तरं जोयणसतं उड्ढं उप्पतित्ता उवरिल्ले तारारूवे चारं चरति, ता सुरविमाणातो असीतिजोयणाइं उड्ढं उप्पतित्ता चंदविमाणे चारं चरति, जोयणसतं उड्ढं उप्पतित्ता उवरिल्ले तारारूवे चारं चरति, ता चंदविमाणाओ णं वीसं जोयणाइं उड्ढं उप्पतित्ता उवरिल्ले तारारूवे चारं चरति। एवा-मेव सपुव्वावरेणं दसुत्तरजोयणसतं बाहल्ले तिरियमसंखेज्जे जोतिसविसए जोतिसं चारं चरति आहिते ति वदेज्जा।

'' ता कहं ते '' इत्यादि। '' ता '' इति पूर्ववत्। कथं केन प्रका-रेण भगवन्! त्वया भूमेरुर्ध्वं चन्द्राऽऽदीनामुच्चत्वमाख्यातमिति वदेत् ? एवं प्रश्ने कृते भगवानेतद्विषये यावन्त्यः प्रतिपत्तयस्तावतीरुपदर्शयति- '' ता तत्थ '' इत्यादि। तत्र उच्चत्वविषये खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्चविंशतिप्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः। ता एव '' तत्थेगे '' इत्यादिना दर्शयति। तत्रैतेषां पञ्चविंशतिपरतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः- ' ता ' इति पूर्ववत्। एकयोजनसहस्रं भूमेरूर्द्धं चन्द्रः। किमुक्तं भवति ? भूमेरूर्द्धं योजनसहस्रे गतेऽत्रान्तरे सूर्यो व्यवस्थितः, सार्द्धं च योजनसहस्रगते चन्द्रः। सूत्रे च योजनसंख्यापदस्य सूर्याऽऽदिपदस्य च तुल्याधिकरणत्वनिर्देशोऽभेदोपचारात्। यथा पाटलिपुत्राद् राजगृहं नवयोजनानीत्यादौ। एवमुत्तरेष्वपि सूत्रेषु भावनीयम्। अत्रोप-संहारमाह- '' एगे एवमाहंसु १ ''। एके पुनरेवमाहः- ' ता ' इति

पूर्ववत् । द्वे योजनसहस्रे भूमेरूर्द्ध्वं सूर्यो व्यवस्थितः, अर्द्धतृतीयानि योजनसहस्राणि चन्द्रः । अत्रोपसंहार- '' एगे एवमाहंसु २ ''। एवं शेषाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि । '' एएणं '' इत्यादि । एतेनानन्तरोदितेनाभिलापेन शेषप्रतिपत्तिगतमपि सूत्रजातं नेतव्यम् । तद्यै-वम- '' तिण्णि '' इत्यादि । '' एगे पुण एवमाहंसुतिण्णि जोअणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धट्ठाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ३ ''। '' ता चत्तारि '' इत्यादि । '' एगे पुण एवमाहंसु-ता चत्तारि जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धपंचमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ४ ''। '' ता पंच '' इत्यादि । '' एगे पुण एवमाहंसु-ता पंच जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धछट्ठाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ५ । एवं छ सूरे अद्धसत्तमाइं चंदे । एगे पुण एवमाहंसु-ता छज्जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धसत्तमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ६ । सत्त सूरे अद्धट्ठमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता सत्तजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धट्ठमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ७ । अट्ठ सूरे अद्धनवमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसुता अट्ठजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धनवमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ८ । नव सूरे अद्धदसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता नवजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं, उच्चत्तेणं अद्धदसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ९ । दस सूरे अद्धएकारसाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता दसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धएकारसाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १० । एक्कारस सूरे अद्धवारसचंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता इक्कारसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धवारस चंदे, एगे एवमाहंसु ११ । वारस सूरे अद्धतेरसमाइं चंदे इति, एगे पुण एवमाहंसु-ता वारसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धतेरसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १२ । तेरस सूरे अद्धचउ-दसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता तेरेसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धचोद्दसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १३ । चोद्दस सूरे अद्धपंचदसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता चोद्दसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धपंचदसमाइं चंदे, एगे एवमा-हंसु १४ । पन्नरस सूरे अद्धसोलसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता पण्णरसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धसोलसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १५ । सोलस सूरे अद्धसत्तरसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता सोलसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्ध-सत्तरसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १६ । सत्तरसमाइं सूरे अद्धट्ठारसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता सत्तरसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धट्ठारसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १७ । अट्ठारस सूरे अद्ध-एगुणवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता अट्ठारसजोयण-सहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धएगुणवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १८ । एगुणवीसं सूरे अद्धवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता एगुणवीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धवीसमाइं चंद, एगे एवमाहंसु १९ । वीसं सूरे अद्धएगवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता वीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धएग-वीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २० । एगवीसं सूरे अद्धवावीसाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता इक्कवीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं अद्धवावीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २१ । वावीसं सूरे अद्धतेवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता वावीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धतेवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २२ । तेवीसं सूरे अद्ध-चउवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता तेवीसं जोयणसह-स्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धचउवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २३ । चउवीसं सूरे अद्धपंचवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता चउवीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धपंचवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २४ । पंचविंशतितमप्रतिपत्तिसूत्रं तु साक्षाद्दर्शयति- '' एगे पुण एवमाहंसु-ता पणवीसं '' इत्यादि । एतानि च सूत्राणि सुगमत्वात्स्वयं भावनीयानि । तदेवमुक्ताः परप्रतिपत्तयः । संप्रति स्वमतं भगवानुपदर्शयतिवयं पुनरुत्पन्नकेवलविदस्तु एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह- '' ता इमीसे '' इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्द्ध्वं सप्तयोजनशतानि नवत्यधिकानि उत्प्लुत्य गत्वा, अत्रान्तरेऽधस्तनं ताराविमानं चारं चरतिमण्डलगत्या परिभ्रमणं प्रतिपद्यते, तथा अस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्द्ध्वमष्टौ योजनशतान्युत्प्लुत्यात्रान्तरे सूर्यविमानं चारं चरति । तथा अस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्द्ध्वमष्टौ योजनशतान्यशीत्यधिकानि उत्प्लुत्यात्रान्तरे चन्द्रविमानं चारं चरति, तथा अस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्द्ध्व परिपूर्णानि नवयोजनशतान्युत्प्लुत्यात्रान्तरे सर्वोपरितनं ताराविमानं चारं चरति, अधस्तनात्ताराविमानादूर्द्ध्व दशयोजनान्युत्प्लुत्यात्रान्तरं सूर्यविमानं चारं चरति । तत एवाधस्तनात् ताराविमानान्नवतियोजनान्यूर्द्ध्वमुत्प्लुत्यात्रान्तरे चन्द्रविमानं चारं चरति । तत एव सर्वाधस्तनात्ताराविमानाद्दशोत्तरं योजनशतमूर्द्ध्वमुत्प्लुत्यात्रान्तरे सर्वोपरितनं ताराविमानं चारं चरति । '' ता सूरविमाणाओ '' इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । सूर्यविमानादूर्द्ध्वमशीतियोजनशता-न्युत्प्लुत्यात्रान्तरे चन्द्रविमानं चारं चरति, तस्मादेव सूर्यविमाना-दूर्ध्वं योजनशतमुत्प्लु-त्यात्रान्तरे सर्वोपरितनं तारारूपं ज्योतिश्चक्रं चारं चरति । '' ता चंदविमाणाओ '' इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । चन्द्रविमानादूर्ध्वं विंशति-योजनशतानि उत्प्लुत्यात्रान्तरे सर्वो-परितनं ताराविमानं ज्योतिश्चक्रं चारं चरति (एवामेवेत्यादि) एव-मेव उक्तेनैव प्रकारेण (सपुव्वावरेणं ति) सह पूर्वापरेण वर्त्तत इति सपूर्वं, सपूर्वं च तत् अपरं च सपूर्वापरं, तेन पूर्वापरमीलनेनेत्यर्थः । दशोत्तरयोजनशतबाहल्येन । तथाहि-सर्वाधस्तनात्तारारूपाद् ज्योतिश्चक्रादूर्द्ध्वं दशभिर्योजनैः सूर्यविमानं, ततोऽप्यशीत्या योजनैश्चन्द्रविमानं, ततो विंशत्या सर्वोपरितनं तारारूपं ज्योतिश्चक्रचारविषयस्य दशोत्तरं योजनशतं बाहल्यं, तस्मिन् दशोत्तरे योजनशतबाहल्ये । पुनः कथंभूते ? इत्याह-तिर्यगसंख्येये योजन-कोटाकोटीप्रमाणे ज्योतिर्विषये मनुष्यक्षेत्रविषयं ज्योतिश्चक्रं चारं चरति, चारं चरन्मनुष्यक्षेत्राद् बहिः पुनरवस्थितमाख्यात इति वदेत् । सू० प्र० १८ पाहु० । चं० प्र० । जं० । जी० ।

धरणियलाउ समाओ, सत्त उ नउएहिँजोयणसएहिं ।
हिट्ठिल्लो होइ तलो, सूरो पुण अट्ठहिँसएहिं ॥ ८४ ॥
अट्ठसए आसीए, चंदो तह चेव होइ उवरितले ।
एगं दसुत्तरसयं, बाहल्लं जोइसस्स भवे ॥ ८५ ॥

द० प० ।

(३१) देवसामर्थ्यप्रत्यासत्त्यैव ज्योतिष्कानधिकृत्याऽऽह -

ता अत्थि णं चंदिमसूरियाणं देवाणं हिट्ठं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि, समं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि, उप्पिं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि ? ता अत्थि। ता कहं ते चंदिमसूरियाणं देवाणं हिट्ठं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि, समं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि, उप्पिं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि ? ता जहा जहा णं तेसि णं देवाणं तवणियबंभचेराइं उस्सिताइं भवंति, तहा तहा णं तेसिं देवाणं एवं भवति, तं अणुते वा तुल्लते वा, ता एवं खलु चंदिमसूरियाणं देवाणं हिट्ठं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि ॥

'' ता अत्थि णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। अस्त्येतद् भगवन्! यदुत चन्द्रसूर्याणां देवानां (हिट्ठं पि त्ति) क्षेत्रापेक्षया अधस्तना अपि तारारूपविमानाधिष्ठातारो देवा द्युतिविभवलेश्याऽऽदिकमपेक्ष्य केचिदणवोऽपि लघवोऽपि, भवन्तीत्यर्थः। केचित्तुल्या अपि भवन्ति। तथा सममपि चन्द्रविमानैः सूर्यविमानैश्च क्षेत्रापेक्षया समश्रेण्याऽपि ये व्यवस्थितास्तारारूपास्तारविमानाधिष्ठातारो देवाः, तेऽपि चन्द्रसूर्याणां देवानां द्युतिविभवाऽऽदिकमपेक्ष्य केचिदणवोऽपि भवन्ति, केचित्तुल्या अपि, इति गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह- (ता अत्थि त्ति) यदेतत् त्वया पृष्टं तत्सर्वं तथैवास्ति। एवमुक्ते पुनः प्रश्नयति- '' ता कहं ते '' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह- '' ता जह जहा '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। यथा यथा। णमिति वाक्यालङ्कारे। तेषां देवानां तारारूपविमानाधिष्ठातृणां प्राग्भवे तपोनियमब्रह्मचर्याणि उच्छ्रितानि उत्कटानि भवन्ति, तथा तथा तेषां देवानां तस्मिन् तारारूपविमानाधिष्ठातृभावे एवं भवति, यथा-अणुत्वं वा, तुल्यत्वं वा ? किमुक्तं भवति ?-यैः प्राग्भवे तपोनियमब्रह्मचर्याणि मन्दानि कृतानि ते तारारूपविमानाधिष्ठातृदेवभवमनुप्राप्ताश्चन्द्रसूर्येभ्यो देवेभ्यो द्युतिविभवाऽऽदिकमपेक्ष्य हीना भवन्ति, यैस्तु भवान्तरे तपोनियमब्रह्मचर्याणि अत्युत्कटान्यासेवितानि ते तारारूपविमानाधिष्ठातृरूपं देवत्वमनुप्राप्ता द्युतिविभवाऽऽदिकम-पेक्ष्य चन्द्रसूर्यैर्देवैः सह समाना भवन्ति। न चैतदनुपपन्नम्। दृश्यन्ते हि मनुष्यलोकेऽपि केचिज्जन्मान्तरोपचिततथाविधपुण्यप्राग्भारा राजत्वमप्राप्ता अपि राज्ञा सह तुल्यद्युतिविभवा इति। '' ता एवं खलु '' इत्यादि निगमनवाक्यं सुगमम्। सू० प्र० १८ पाहु०। चं० प्र०। जी०। जं०। (मन्दराद्यपेक्षया ज्योतिष्काणां चारः 'अबा हा' शब्दे प्रथमभागे ६८२ पृष्ठे प्ररूपितः)

(३२) ता जंबुद्दीवे णं दीवे कतरे णक्खत्ते सव्वब्भंतरिल्लं चारं चरति, कतरे णक्खत्ते सव्वबाहिरिल्लं चारं चरति, कयरे णक्खत्ते सव्वुवरिल्लं चारं चरति, कयरे णक्खत्ते सव्वहेट्ठिल्लं चारं चरति ? अभिई णक्खत्ते सव्वब्भंतरिल्लं चारं चरति, मूले णक्खत्ते सव्वबाहिरिल्लं चारं चरति, सातीणक्खत्ते सव्वुवरिल्लं चारं चरति, भरणीणक्खत्ते सव्वहेट्ठिल्लं चारं चरति।

'' ता जंबुद्दीवे णं दीवे कयरे नक्खत्ते '' इत्यादि सुगमम्। नवर-म्, अभिजिन्नक्षत्रं सर्वाभ्यन्तरं नक्षत्रमण्डलिकामपेक्ष्य, एवं मूला-ऽऽदीनि सर्वबाह्याऽऽदीनि वेदितव्यानि। सू० प्र० १८ पाहु०। उक्तं च- '' सव्वब्भंतरभिइई, मूलो पुण सव्वबाहिरो भमइ। सव्वोवरिं च साई, भरणी पुण सव्वहिट्ठिमया ''॥ ६६ ॥ द० प०। चं० प्र०। जी०।

(३३) चन्द्रः सूर्यो वा कियत्क्षेत्रं प्रकाशयतीति ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता केवतियं खेत्तं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति, आहिता ति वदेज्जा ? तत्थ खलु इमाओ वारस पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ। तत्थेगे एवमाहंसु-ता एगं दीवं एगं समुद्दं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति, एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु-ता तिण्णि दीवे तिण्णि समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति, एगे एवमाहंसु २। एगे पुण एवमाहंसु-ता अद्धट्ठे दीवे अद्धट्ठे संमुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति, एगे एवमाहंसु ३। एगे पुण एवमाहंसु-ता सत्त दीवे सत्त समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ४। एगे पुण एवमाहंसु-दस दीवे दस समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ५। एगे पुण एवमाहंसु-ता बारस दीवे बारस समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ६। एगे पुण एवमाहंसु-ता बायालीसं दीवे बायालीसं समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ७। एगे पुण एवमाहंसु-बावत्तरिं दीवे बावत्तरिं समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ८। एगे पुण एवमाहंसु-ता बातालीसं दीवसतं बातालीसं समुद्दसतं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ९। एगे पुण एवमाहंसु-ता बावत्तरिं दीवसतं बावत्तरिं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु १०। एगे पुण एवमाहंसु-ता बायालीसं दीवसहस्सं बायालीसं समुद्दसहस्सं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ११। एगे पुण एवमाहंसु-ता बावत्तरिं दीवसहस्सं बावत्तरिं समुद्दसहस्सं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु १२।

'' ता केवइयं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। कियत्क्षेत्रं, चन्द्रसूर्यबहुवचनं जम्बूद्वीपे चन्द्रद्वयस्य सूर्यद्वयस्य च भावात्। अवभासयन्ति, तत्रावभासो ज्ञानस्यापि प्रतिभासो व्यवह्रियते, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह-उद्द्योतयन्ति, स चोदद्योतो यद्यपि लो-

के भेदेन प्रसिद्धो, यथा-सूर्यगत आतप इति, चन्द्रगतः प्रकाश इति, तथाप्यातपशब्दश्चन्द्रप्रभायामपि वर्त्तते। यदुक्तम्- '' चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना, तथा चन्द्रातपः स्मृतः। '' इति। प्रकाशशब्दः सूर्यप्रभायामपि, एतच्च प्रायो बहुनां सुप्रतीतं, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थमुभयसाधारणं भूयोऽप्येकार्थिकद्वयमाह-तापयन्ति प्रकाशयन्ति आख्याता इति। इहाऽऽर्षत्वात्तिवाद्यन्तपदेनापि सह नामपदस्य समन्वयो भवति। तत एवमर्थयोजना द्रष्टव्याकियत्क्षेत्रं चन्द्रसूर्या अवभासयन्त उद्द्योतयन्तस्तापयन्तः प्रकाशयन्त आख्याता भगवतेति भगवान् वदेत् ? एवं गौतमेनोक्ते भगवानेतद्विषयं परतीर्थिकप्रतिपत्तीनां मिथ्याभावोपदर्शनाय प्रथमतस्ता एवोन्यस्यति- '' तत्थ '' इत्यादि। तत्र चन्द्रसूर्याणां क्षेत्रावभासनविषये इमाः खलु द्वादश प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा- '' तत्थ '' इत्यादि। तत्र तस्यां द्वादशानां परतीर्थिकानां मध्ये एकं प्रथमास्तीर्थान्तरीया एवमाहुः-एकं द्वीपमेकं समुद्रं चन्द्रसूर्यौ अवभासयन्तौ, उद्द्योतयन्तौ, तापयन्तौ, प्रकाशयन्तौ। सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्। उक्तं च- '' बहुवयणे दुवयणं '' इत्यादि। द्विवचनं चात्र तात्त्विकमवसेयम्, परतीर्थिकैरेकस्य चन्द्रमस एकस्य च सूर्यस्याभ्युपगमात्। संप्रति अस्यैव प्रथममतस्योपसंहारमाह- (एगे एवमाहंसु) एवं सर्वाण्युपसंहारवाक्यानि भावनीयानि। १। एके द्वितीयाः पुनरेवमाहुः-त्रीन् द्वीपान् त्रीन् समुद्रान् चन्द्रसूर्यौ, अवभासयत उद्द्योतयतस्तापयतः प्रकाशयत इति। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् २। तद्यथा- एके पुनस्तृतीया एवमाहुः- (अद्धट्ठे इति) अर्द्ध चतुर्थं येषां ते अर्द्धचतुर्थाः, त्रयः परिपूर्णाश्चतुर्थस्य चार्द्धमित्यर्थः। अर्द्धचतुर्थान् द्वीपान्, अर्द्धचतुर्थान् समुद्रात् चन्द्रसूर्याववभासयत इत्यादि प्राग्वत्। ३। एके चतु-र्थाः पुनरेवमाहुःसप्त द्वीपान् सप्त समुद्रान् चन्द्रसूर्याववभासयतः। ४। एके पुनः पञ्चमा एवमाचक्षते-दश द्वीपान् दश समुद्रान् चन्द्रसूर्याववभासयतः। ५। एके पुनः षष्ठा एवमभिदधतिद्वादश द्वीपान् द्वादश समुद्रान् चन्द्रसूर्याववभासयतः। ६। एके पुनः सप्तमा एवं भाषन्तेद्विचत्वारिंशतं द्वीपान् द्विचत्वारिंशतं समुद्रान् चन्द्रसूर्या-ववभासयतः। ७। एके पुनरष्टमा एवमाहुः-द्वासप्ततिं द्वीपान् द्वासप्ततिं समुद्रान् चन्द्रसूर्याववभासयतः। ८। एके पुनर्नवमा एवमाहुः-द्विचत्वारिंशदधिकं द्वीपशतं द्विचत्वारिंशदधिकं समुद्रशतं चन्द्रसूर्याववभासयतः। ९। एके पुनर्दशमा एवं जल्पन्ति-द्वासप्ततिं द्वासप्तन्यधिकं द्वीपशतं द्वासप्तत्यधिकं समुद्रशतं चन्द्रसूर्याववभासयतः। १०। एकेएकादशाः पुनरेवमाहुः-द्वाचत्वारिंशद्वाचत्वारिंशत्यधिकं द्वीपसहस्रं द्वाचत्वारिंशत्यधिकं समुद्रसहस्रं चन्द्रसूर्याववभासयतः। ११। एके द्वादशाः पुनरेवमाहुःद्वासप्ततिं द्वासप्तत्यधिकं द्वीपसहस्रं द्वासप्तत्यधिकं समुद्रसहस्रं चन्द्रसूर्याववभासयतः। १२।

एताश्च सर्वा अपि प्रतिपत्तयो मिथ्यारूपाः, तथा च भगवानेता व्युदस्य स्वमतं भिन्नमेव कथयति-

वयं पुण एवं वदामो-ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं० जाव परिक्खेवेणं पण्णत्ते। से णं एगाए जगतीए सव्वतो समंता संपरिक्खेवे सा णं जागती तहेव जहा जंबुद्दीवपन्नत्तीए० जाव एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे चोद्दससलिलासतसहस्सा छप्पन्नं च सलिलासहस्सा भवंतीति मक्खाता, जंबुद्दीवे णं दीवे पंच चक्कभागं संठिता आहिता ति वदेज्जा। ता कहं जंबुद्दीवे दीवे पंचचक्कभागसंठिते आहिता ति वदेज्जा ? ता जता णं एते दुवे सूरिया सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति, तदा णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स तिण्णि पंचचक्कभागे ओभासंति, उज्जोवेंति,तवेंति, पभासेंति तं एगे वि एगं दिवड्ढं पंचचक्कभागं ओभासेंति एके, एगे वि एगं दीवड्ढं पंचचक्कभागं ओभासेत्ति एकं। तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ, ता जता णं एते दुवे सूरिया सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तदा णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स दोण्णि पंचचक्कभागं ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति। तं एगे वि एगं पंचचक्कभागं ओभासति, उज्जोवेइ, तवेइ, पगासेइ, एगे वि एकं पंचचक्कभागं ओभासेइ एकं, तता णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारस मुहुत्ता राई भवति, जह-ण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति।

' वयं पुण ' इत्यादि। वयं पुनरुत्पन्नकेवलचक्षुषः केवलचक्षुषा यथाऽवस्थितं जगदुपलभ्य, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामः। तमेव प्रकारमाह- '' ता अयं णं '' इत्यादि। अत्र (जहा जंबुद्दीवपन्नतीए त्ति) यथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ- '' अयं णं जंबुद्दीवे दीवे '' इत्यारभ्य यावत् '' एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे चोद्दससलिलासयसहस्साइं छप्पन्नं च सलिलासहस्सा भवंतीति मक्खायं '' इत्युक्तम्। तथा एतावद्ग्रन्थसहस्रचतुष्टयप्रमाणमत्रापि वक्तव्यं, परं ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते, केवलं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिपुस्तकमेव निरीक्षणीयमिति। अयमेवंरूपो जम्बूद्वीपः पञ्चसंख्योपेतैश्चक्रभागैश्चक्रबालभागैः संस्थित आख्यातो मया इति वदेत्स्वशिष्याणां पुरतः। एवमुक्ते भगवान् गौतमः स्वशिष्याणां स्पष्टावबोधार्थं भूयः पृच्छति- '' ता कहं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। कथं भगवन् ! त्वया जम्बूद्वीपो द्वीपः पञ्चचक्रभागसंस्थित आख्यात इति वदेत् ? भगवानाह- '' ता जया णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। यदा णमिति वाक्यालङ्कारे, एतौ प्रवचनवेदिनां प्रसिद्धौ द्वौ सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः, तदा तौ समुदितौ द्वावपि सूर्यौ जम्बूद्वीपस्य त्रीन् पञ्चचक्रवालभागान् अवभासयतः, उद्द्योतवतः, तापयतः, प्रकाशयतः। कथं प्रकाशयतः ? इति परप्रश्नावकाशमाशङ्क्य एतदेव विभागत आह- '' एगे वि '' इत्यादि। एकोऽपि सूर्यो जम्बुद्वीपस्य द्वीपस्य एकं पञ्चमं चक्रबालभागं द्व्यर्द्धमिति द्वितीयमर्द्धं यस्य स द्व्यर्द्धः पूरणार्थो वृत्तावन्तर्भूतो, यथातृतीयो भागस्त्रिभाग इत्यत्र, तम्। अयं च भावार्थः-एकपञ्चमं चक्रबालभागं द्वितीयस्य पञ्चमस्य चक्रबालभागस्यार्द्धेन सहितं प्रकाशयति। तथा एकोऽपि अपरोऽपि, द्वितीयोऽपीत्यर्थः। एकं पञ्चमं चक्रबालभागं द्व्यर्द्धं प्रकाशयतीति, उभयप्रकाशितभागमीलने परिपूर्णं भागत्रयं प्रकाश्यं भवति। इयमत्र भावना जम्बूद्वीपगतं प्रकाश्यं चक्रबालं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागं कल्प्यते ३६६०। तस्य पञ्चमो भागो द्वात्रिंशदधिकसप्तशतप्रमाणः ७३२, सार्द्धः सन्

अष्टानवत्यधिकसहस्रभागमानः १०९८ । ततः सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमान एकोऽपि सूर्यः षट्त्रिंशच्छतसंख्यानां भागानामष्टानवत्यधिकं सहस्रं प्रकाशयति, द्वितीयोऽप्यष्टानवत्यधिकं सहस्रम् , उभयमीलने एकविंशतिशतानि षण्णवत्यधिकानि २१९६ प्रकाश्यमानानि लभ्यन्ते, तदा च द्वौ पञ्चचक्रवालभागौ रात्रिः । तद्यथा-एकतोऽपि पञ्चमो भागो द्वात्रिंशदधिकसप्तशतभागसंख्या रात्रिः, परतोऽपि एकः पञ्चमो भागो द्वात्रिंशदधिकसप्तशतभागसंख्यौ रात्रिः, उभयमीलने चतुर्दशशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि भवन्ति । १४६४ । षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागानां रात्रिः, सर्वभागमीलने षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि भवन्ति । संप्रति तत्र दिवसरात्रिप्रमाणमाह- '' तया णं '' इत्यादि । तदाऽऽभ्यन्तरमण्डलचारकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्तः परमप्रकर्षप्राप्त उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति । जघन्या द्वादश मुहूर्त्ता रात्रिः । ततो द्वितीये अहोरात्रे द्वितीयमण्डले वर्त्तमान एकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपस्यैकं पञ्चमं चक्रवालभागं सार्द्धषष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागद्वयहीनं प्रकाशयति । अपरोऽपि सूर्य एकं पञ्चमं चक्रवालभागं सार्द्धषष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागद्वयहीनं प्रकाशयति । तृतीये अहोरात्रे तृतीये मण्डले वर्त्तमान एकोऽपि सूर्य एकं पञ्चमं चक्रवालभागं सार्द्धं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागचतुष्टयन्यूनं प्रकाशयति । अपरोऽप्येकं पञ्चमं चक्रवालभागं सार्द्धषष्ट्यधिकषड्त्रिंशच्छतभागसत्कभागचतुष्टयन्यूनं प्रकाशयति । एवं प्रत्यहोरात्रमेकैकः सूर्यः षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागद्वयमोचनेन प्रकाशयत् तावदवसेयो यावत्सर्वबाह्यं मण्डलं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतस्त्र्यंशीत्यधिकशततमं, ततः प्रतिमण्डलं भागद्वयमोचनेन यदा सर्वबाह्ये मण्डले चरति, तदा त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि भागानां त्रुटयन्ति, त्र्यशीत्यधिकस्य शतस्य द्वाभ्यां गुणने एतावत्याः संख्याया भावात् । त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि पञ्चमचक्रवालभागस्य द्वात्रिंशदधिकसप्तशतभागप्रमाणस्यार्द्धं परिपूर्णं तत्र मण्डले त्रुट्यतीति एक एव परिपूर्णः पञ्चमचक्रवालभागस्तत्र प्रकाश्यः । तथा चाह- '' ता जया णं '' इत्यादि । तत्र यदा, णमिति पूर्ववत् । एतौ प्रवचनप्रसिद्धौ द्वावपि सूर्यौ सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः, तदा तौ समुदितौ जम्बुद्वीपस्य द्वौ चक्रवालपञ्चमभागौः अवभासयत उद्द्योतयत-स्तापयतः प्रकाशयतः । तद्यथा-एकोऽपि सूर्य एकं पञ्चमं चक्रवालभागं प्रकाशयति । एकोऽपि अपरोऽपि, द्वितीयोऽपीत्यर्थः । एकं पञ्चमं चक्रवालभागं प्रकाशयति । '' तया णं '' इत्यादि । तदा सर्वबाह्यमण्डलचारकाले उत्तमकाष्ठाप्राप्ता उत्कर्षिका अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिः, जघन्यतो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसः । इह यथा निष्क्रामतोः सूर्ययोर्जम्बूद्वीपविषयप्रकाशविधिः क्रमेण हीयमान उक्तः, तथा सर्वबाह्याद् मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशतोः क्रमेण वर्द्धमानो वेदितव्यः । तद्यथा-द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीये अहोरात्रे सर्वबाह्यान्मण्डलादवक्तनेऽनन्तरे द्वितीये मण्डले वर्त्तमान एकोऽपि सूर्य एकं जम्बूद्वीपस्य पञ्चमं चक्रवालभागं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतसंख्यभागसत्कभागद्वयाधिकं प्रकाशयति । अपरोऽपि सूर्य एकं पञ्चमं चक्रवालभागं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतसंख्यभागसत्क-भागद्वयाधिकं प्रकाशयति । द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीयेऽहोरात्रे सर्वबाह्यान् मण्डलादवक्तने तृतीये मण्डले वर्त्तमान एकं पञ्चमं चक्रवालभागं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतसंख्यभागसत्कभागचतुष्टयाधिकं प्रकाशयति । अपरोऽपि सूर्यः परत एकं पञ्चमं चक्रवालभागं यथोक्तभागचतुष्टयाधिकं प्रकाशयति । एवं प्रतिमण्डलमेकैकः सूर्यः षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागद्वयवर्द्धनेन प्रकाशयत् तावदवसेयो यावत्सर्वाभ्यन्तरं मण्डलम् । तस्मिंश्च सर्वाभ्यन्तरे मण्डले द्वितीयस्य पञ्चमचक्रवालभागस्यार्द्धं परिपूर्णं भवति । तत एकोऽपि सूर्यस्तत्र मण्डले एकं पञ्चमे चक्रवालभागं सार्द्धं जम्बूद्वीपस्य प्रकाशयत्यपरोऽप्येकं पञ्चमं चक्रवालभागं सार्द्धम् ।

तथा जम्बूद्वीपस्य दश भोगान् परिकल्प्यान्यत्राप्युक्तम्-

'' छच्चेव चउदसभागे, जम्बूदीवस्स दो वि दिवसयरा ।
तावेंति दित्तलेसा, अब्भिंतरमंडले संता ॥ १ ॥
चत्तारि य दसभागे, जम्बूदीपस्स दो वि दिवसयरा ।
तावेंति संतलेसा, बाहिरए मंडले संता ॥ २ ॥
छत्तीसे भागसए, सङ्घे काऊण जंबुदीवस्स ।
तिरियं तत्तो दो भा-गे वड्ढइ व हायइ वा ॥ ३ ॥ ''

सू० प्र० ३ पाहु० । चं० प्र० । (चन्द्रसूर्ययोर्दक्षिणोत्तरचाराः ' अ-यण ' शब्दे प्रथमभागे ७५० पृष्ठे द्रष्टव्याः)

(३४) अथ जम्बूद्वीपे चन्द्राऽऽदीनां चारक्षेत्रविष्कम्भ-मानमाह-

दीवे असिइसयं जो-अणाण तीसऽहिअ तिन्नि सय लवणे ।
खित्तं पणसय दसऽहि अ, भागा अडयाल इगसट्ठी ॥ ८ ॥

द्वीपे जम्बूद्वीपे चन्द्रयोः सूर्ययोश्च क्षेत्रं चारक्षेत्रं विष्कम्भतोऽशीत्यधिकं शतं योजनानां १०८, लवणे च त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि योजनानाम् ३३० । उभयोर्मीलने दशाधिकानि पञ्चशतानि योजनानामष्टचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य ५१० । ४८/६१ । नक्षत्राणामपि चारक्षेत्रमेतदेव, सर्वाभ्यन्तरसर्वबाह्यमण्डलयोः परस्परं दशाधिकपञ्चशतयोजनप्रमाणान्तरालस्योक्तत्वात् । ग्रहाणां तारकाणां च चारक्षेत्रविष्कम्भमानं व्यक्त्या शास्त्रेषु नोपलभ्यत इति । मं० ।

(३५) (ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वं ' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६४१ पृष्ठे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिपाठतो गतार्थम् , न तत इह ग्रन्थान्तरपाठो वितन्यतेऽतस्तत एवावधार्यम्)

(३६) संप्रति चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारााणां कः शीघ्रगतिर्भगवन्नाख्यात इति, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते सिग्घगती वत्थु आहिते ति वदेज्जा ? ता एतेसि णं चंदिमसूरियग्गहगणनक्खत्ततारारूवाणं चंदेहिंतो सुरा सिग्घगती, सूरेहिंतो गहा सिग्घगती, गहेहिंतो णक्खत्ता सिग्घगती, णक्खत्तेहिंतो तारा सिग्घगती, सव्वऽप्पगती चंदा, सव्वसिग्घगती तारा ।

' ता कहं ते ' इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । कथं भगवन् ! त्वया चन्द्रसूर्याऽऽदिकं वस्तु शीघ्रगत्यात्मकं शीघ्रगति आख्यात इति वदेत् ? भगवानाह- '' ता एएसि णं '' इत्यादि । एतेषां चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारकाणां पञ्चानां मध्ये चन्द्रेभ्यः सूर्याः शीघ्रगतयः, सूर्येभ्योऽपि ग्रहाः शीघ्रगतयः, ग्रहेभ्योऽपि नक्षत्राणि शीघ्रगतीनि, नक्षत्रेभ्योऽपि ताराः शीघ्रगतयः । अत एवैतेषां पञ्चानां सर्वाल्पगतयश्चन्द्राः, सर्वशीघ्रगतयस्ताराः ।

(३७) एतस्यैवार्थस्य सविशेषपरिज्ञानाय प्रश्नं करोति-

ता एगमेगेणं मुहुत्तेणं चंदे केवतियाइं भागसताइं ग-

च्छति ? ता जं जं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तस्स तस्स मंडलपरिक्खेवस्स सत्तरस अट्ठट्ठे भागा सते गच्छति, मंडलं सतसहस्सेणं अट्ठाण उतीए सतेहिं छेत्ता । ता एगमेगेणं मुहुत्तेणं सूरिए केवतियाइं भागसताइं गच्छति । ता जं जं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तस्स तस्स मंडलपरिक्खेवस्स अट्ठारस तीसे भागसते गच्छति, मंडलसतसहस्सेणं अट्ठाणउतिसतेहिं छेत्ता । ता एगमेगेणं मुहुत्तेणं णक्खत्ते केवतियाइं भागसातइं गच्छति ? ता जं जं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तस्स तस्स मंडलस्स परिक्खेवस्स अट्ठारसपणतीसे भागसते गच्छति, मंडलं सतसहस्सेणं अट्ठाणवतिसतेहिं छेत्ता ।

'' ता एगमेगेणं '' इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । एकैकेन मुहूर्तेन चन्द्रः कियन्ति मण्डलस्य भागशतानि गच्छति ? भगवानाह- '' ता जं जं '' इत्यादि यद्यद् मण्डलमुपसंक्रम्य चन्द्रश्चारं चरति, तस्य तस्य मण्डलस्य संबन्धिनः परिक्षेपस्य परिधेः सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्याधकानि भागानां गच्छति, मण्डलं मण्डलपरिक्षपमेकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैश्छित्त्वा विभज्य । इयमत्र भावना-इह प्रथमतश्चान्द्रमसो मण्डलकालो निरूपणीयः, तदनन्तरं तदनुसारेण मुहूर्तगतपरिमाणं भावनीयम् । तत्र प्रथममण्डलकालनिरूपणार्थमिदं त्रैराशिकं यदि सप्तदशभिः शतैरष्टषष्ट्यधिकैः सकलयुगवर्तिभिरर्द्धमण्डलैरष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि रात्रिन्दिवानि लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यामर्द्धमण्डलाभ्यामेकेन (मण्डलेनेतीति भाव) कति रात्रिन्दिवानि लभ्यन्ते ? राशित्रयस्थापना- १७६८ । १८३० । २ । अन्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यस्य राशेर्गुणनं, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि। ३६६०। एतेषामाद्येन राशिना भागहरणं, लब्धे द्वे रात्रिन्दिवे, शेषं तिष्ठति चतुर्विंशत्यधिकं शतम्। १२४। तत्रैकस्मिन् रात्रिन्दिवे त्रिंशन्मुहूर्ता इति, तस्य त्रिंशता गुणने जातानि सप्तत्रिंशच्छतानि विंशत्यधिकानि । ३७२०। तेषां सप्तदशभिः शतैरष्टषष्ट्यधिकैर्भागे हृते लब्धौ द्वौ मुहूर्त्तौ, ततः शेषश्छेद्यच्छेदकराश्योरष्टकेनापवर्तना, जातश्छेद्यो राशिस्त्रयोविंशतिः, छेदकराशिर्द्वे शते एकविंशत्यधिके, आगता मुहूर्तस्यैकविंशत्यधिकशतद्वयभागास्त्रयोविंशतिः। $\frac{23}{221}$ एतावता कालेन द्वेऽर्द्धमण्डले परिपूर्णं चरति। किमुक्तं। $\frac{23}{221}$ भवति ? एतावता कालेन परिपूर्णमेकं मण्डलं चन्द्रश्चरति। तदेवं मण्डलकालपरिज्ञानं कृतम् । साम्प्रतमेतदनुसारेण मुहूर्तगतिपरिमाणं चिन्त्यते-तत्र ये द्वे रात्रिन्दिवेते मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्येते, जाताः षष्टिर्मुहूर्ताः। ६०। तत उपरितनौ द्वौ मुहूर्तौ प्रक्षिप्तौ, जाता द्वाषष्टिः । ६२ । एषा सवर्णनार्थं द्वाभ्यां शताभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां गुणयते, गुणयित्वा चोपरितना त्रयोविंशतिः क्षिप्यते, जातानि त्रयोदशसहस्राणि सप्तशतानि पञ्चविंशत्यधिकानि। १३७२५ । एतदेकमण्डलकालगतमुहूर्तसत्कैकविंशत्यधिकशतद्वयभागानां परिमाणं, ततस्त्रैराशिककर्मावसरः-यदि त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैरेकविंशत्यधिकशतद्वयभागानां मण्डलभागा एकं शतसहस्रमष्टानवतिशतानि लभ्यन्ते, तत एकेन मुहूर्तेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-१३७२५ । १०९८०० । १ । इहाऽऽद्यो राशिर्मुहूर्तगतैकविंशत्यधिकशतद्वयभागरूपस्ततः सवर्णनार्थमन्त्यो राशिरेकलक्षणो द्वाभ्यां शताभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां गुण्यते, जाते द्वे शते एकविंशत्यधिके। २२१। ताभ्यां मध्यराशिर्गुण्यते, जाते द्वे कोटी द्विचत्वारिंशल्लक्षाः पञ्चषष्टिः सहस्राण्यष्टौ शता-नि । २४२६५८०० । तेषां त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभि शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागो ह्रियते, लब्धानि सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि । १७६८ । एतावतो भागान् यत्र तत्र एकमण्डले चन्द्रो मुहूर्तेन गच्छति। '' ता एगमेगेणं ' इत्यादि ' ता ' इति पूर्ववत्। एकैकेन मुहूर्तेन सूर्यः कियन्ति भागशतानि गच्छति ? भगवानाह- '' ता जं जं '' इत्यादि। यद्यन्मण्डलमुपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति तस्य तस्य मण्डलसंबन्धिनः परिक्षेपस्य परिधेरष्टादशभागशतानि त्रिंशदधिकानि गच्छति, मण्डलं शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैश्छित्त्वा । कथमेतदवसीयत इति चेत् ? उच्यते-त्रैराशिकबलात् तथाहि-यदि षष्ट्या मुहूर्तैरेकं शतसहस्रमष्टानवतिः शतानि मण्डलभागानां लभ्यन्ते, तत एकैकेन मुहूर्तेन कति भागान् लभामहे ? राशित्रयस्थापना-६० । १०९८०० । १। अन्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्य-स्य राशेर्गुणनं, जातः स तावानेव। '' एकेन गुणितं तदेव भवति '' इति वचनात् । ततस्तस्याऽऽद्येन राशिना षष्टिलक्षणेन भागो ह्रियते, लब्धान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि। १८३०। एतावतो भागान् मण्डलस्य सूर्य एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति । '' ता एगमेगेणं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। एकैकेन मुहूर्तेन क्रियतो भागान्मण्डलस्य नक्षत्रं गच्छति । भगवानाह- '' ता जं जं '' इत्यादि । यद्यदात्मीयमाकालप्रतिनियतमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तस्या तस्याऽऽत्मीयस्य मण्डलसंबन्धिनः परिक्षेपस्य परिधेरष्टादशभागशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि गच्छति, मण्डलं शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैश्छित्त्वा । इहापि प्रथमतो मण्डलकालो निरूपणाव ततस्तदनुसारेणैव मुहूर्त्तगतपरिमाणभावना । तत्र मण्डलकालप्रमाणचिन्तायामिदं त्रैराशिकम् , यद्यष्टादशभिः शतैः पञ्चत्रिंशदधिकैः सकलयुगभविभिरर्द्धमण्डलैरष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि रात्रिन्दिवानां लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यामर्द्धमण्डलाभ्यामेकेन परिपूर्णेन (मण्डले-नेति भावः) किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना- १८३५ । १८३० । २। अन्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि। ३६६०। तत आद्येन राशिना भागहरणम्। १८३५। लब्धमेकं रात्रिन्दिवम्। १। शेषाणि तिष्ठन्त्यष्टादशशतानि पञ्चविंशत्यधिकानि । १८२५ । ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनार्थमेतानि त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि। ५४७५०। तेषामष्टादशभिः शतैः पञ्चत्रिंशदधिकैर्भागे हृते लब्धा एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्तोः । २९ । ततः शेषच्छेद्यच्छेदकराश्योः पञ्चकेनापवर्त्तनाः, जात उपरितनो राशिः, त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणि। ३०७। छेदकराशिः त्रीणि शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि। ३६७ । तत आगतमेकं रात्रिन्दिवम् , एकस्य च रात्रिन्दिवस्यैकोनत्रिंशन्मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तषष्ट्यधिकत्रिंशद्भागानां त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणि । २९ । ३०७ । इदानीमेतदनुसारेण मुहूर्तगतिपरिमाणं चिन्त्यतेतत्र रात्रिन्दिवे त्रिंशन्मुहूर्त्ताः । ३० । तेषूपरितना एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ताः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि एकोनषष्टिर्मुहूर्त्तानां, ततः सा सवर्णनार्थं त्रिभिः शतैः सप्तषष्ट्यधिकैर्गण्यते, गुणयित्वा चोपरितनानि त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणि प्रक्षिप्यन्ते, जातान्य-

कविंशतिसहस्राणि नवशतानि षष्ट्यधिकानि। २१९६०। ततस्त्रै-राशिकं यदि मुहूर्त्तगतसप्तषष्ट्यधिकत्रिंशद्भागानामेकविंशत्या सहस्रैर्नवभिः शतैः षष्ट्यधिकैरकं शतसहस्रमष्टानवतिशतानि मण्डलभागानां लभ्यन्ते, तत एकेन मुहूर्त्तेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-२१९६०। १०९८००। १। अत्राद्यो राशिर्मुहूर्त्तगतसप्तषष्ट्यधिकत्रिंशद्भागरूपः, ततोऽन्त्योऽपि राशिस्त्रिभिः शतैः सप्तषष्ट्यधिकैर्गुण्यते, जातानि त्रीण्येव शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि ३६७। तैर्मध्ये राशिर्गुण्यते, जाताश्चतस्रः कोट्यो द्वे लक्षे षण्णवति-सहस्राणि षट्शतानि। ४०२९६६००। तेषामाद्येन राशिनैक-विंशतिः सहस्राणि नवशतानि षष्ट्यधिकानीत्येवंरूपेण भागो ह्रियते, लब्धान्यष्टादशशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि। १८३५। एतावतो भागान्नक्षत्रं प्रतिमुहूर्त्तं गच्छति, तदेवं यतश्चन्द्रो यत्र तत्र वा मण्डले एकैकेन मुहूर्त्तेन मण्डलपरिक्षेपस्य सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि भागानां गच्छति, सूर्योऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि नक्षत्रम्, अष्टादशशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि। ततश्चन्द्रेभ्यः शीघ्रगतयः सूर्याः, सूर्येभ्यः शीघ्रगतीनि नक्षत्राणि, ग्रहास्तु वक्रानुवक्राऽऽदिगतिभावतोऽनियतगतिप्रस्थानाः, ततो न तेषामुक्तप्रकारेण यति-प्रमाणप्ररूपणा कृता।

उक्तं च-

'' चंदेहिं सिग्घयरा, सूरा सुरेहिं होंति नक्खत्ता।
अणियवगइपत्थाणा, हवंति सेसा गहा सव्वे॥ १॥
अट्ठार स पणतीसे, भागसए गच्छइ मुहुत्तेणं।
नक्खत्तं चंदो पुण, सत्तरस सए छ अट्ठऽट्ठ॥ २॥
अट्ठारसभागसए, तीसे गच्छइ रवी मुहूत्तेण।
नक्खत्तसीमछेदो, सो चेव इह पि नायव्वो॥ ३॥ ''

इदं गाथात्रयमपि सुगमम्। नवरं नक्षत्रसीमाच्छेदः स एवात्रापि ज्ञातव्य इति। किमुक्तं भवति ? अत्रापि मण्डलमेकेन शतसहस्रेणा-ष्टानवत्या च शतैः प्रविभक्तव्यमिति।

(३८) संप्रत्युक्तस्वरूपमेव चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां परस्परं मण्डलभागविषयविशेषं निर्द्धारयति-

ता जया णं चंदं गतिसमावण्णे भवति से णं गतिमाताए केवतियं विसेसेति ? बावट्ठिभागे विसेसेति। ता जता णं चंदं गतिसमावण्णणक्खत्ते गतिसमावण्णे भवइ से णं गतिमाताए केवतियं विसेसेति ? सत्तट्ठिं भागे विसेसेति। ता जता णं सूरं गतिसमावण्णणक्खत्ते गतिसमावण्णे भवति से णं गतिमाताए केवतियं विसेसेति ? ता पंचभागे विसेसेति। ता जता णं चंदगतिसमावण्णं अभिईणक्खत्तं णं गतिसमावण्णे पुरच्छिमाते भामाते समासादिन्ना णवमुहूत्ते सत्तावीसे च सत्तट्ठिभागे मुहूत्तस्स चंदेण सद्धिं जोएति, जोअं जोएत्ता जोअं अणुपरियट्टंति, जोअं विजेति, विजहति, विप्पजहति, विगतजोई यावि भवति। ता जता णं चंदगतिसमावण्णं समावण्णे णक्खत्ते गतिसमा-वण्णे पुरच्छिमा तिभागा देसमासादेति, पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता तीसं मुहूत्ते चंदेणं सद्धिं जोअं जोएति, जोअं जोएत्ता जोअं अणुपरिअट्टति, जोअं जोएत्ता विजेति, विजहति, विप्पजहति, विगतजोई यावि भवति। एवं एएणं अभिलावेणं णेतव्वं पणरस मुहूत्ता राई, तिसतीमुहुत्ताइं भाणियव्वाइं० जाव उत्तरासाढा।

'' ता जया णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। यदा णमिति वाक्यालङ्कारे। चन्द्रगतिसमापन्नमपेक्ष्य सूर्यो गतिसमापन्नो विवक्षितो भवति। किमुक्तं भवति ? प्रतिमुहूर्त्तचन्द्रगतिमपेक्ष्य सूर्यगतिश्चिन्त्यते, तदा सूर्यो गतिमात्रया एकमुहूर्त्तगतगतिपरिमाणेन कियन्तो भागान्मुहूर्तान् विशेषयति ? एकेन मुहूर्तेन चन्द्रोक्तभितेभ्यो भागेभ्यः कियतोऽधिक-तरान् भागान् सूर्य आक्रामतीति भावः। भगवानाह-द्वाषष्टिभागान् विशेषयति। तथाहि-चन्द्र एकेन मुहूर्त्तेन सप्तदशभागशतान्यष्टषष्ट्य-धिकानि गच्छति। १७६८। सूर्योऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि। १८३०। ततो भवति द्वाषष्टिभागकृतः परस्परविशेषः। '' ता जया णं '' इत्यादि। ' ता ' इति प्राग्वत्। यदा चन्द्रगतिसमापन्नमपेक्ष्य नक्षत्रं गतिसमापन्नं विवक्षितं भवति, तदा नक्षत्रं गतिमात्रया एकमुहूर्त्तगतगति-परिमाणेन कियन्तं विशेषयति ? चन्द्राक्रमितेभ्यो भागेभ्यः कियतो भागानधिकानाक्रामतीति भावः। भगवानाह-सप्तषष्टिभागान्नक्षत्रं ह्येकेन मुहूर्त्तेन अष्टादशभागशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि गच्छति। चन्द्रस्तु सप्तदशभागशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि; तत उपपद्यते सप्तषष्टिभागकृतो विशेषः। '' ता जया णं '' इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वद् भावनीयम्। भगवानाह- '' ता पंच '' इत्यादि। पञ्च भागान् विशेषयति, सूर्याऽऽ-क्रान्तभागेभ्यो नक्षत्राऽऽक्रान्तभागानां पञ्चभिरधिकत्वात्। तथाहि-सूर्य एकेन मुहूर्त्तेनाष्टादशभागशतानि त्रिंशदधिकानि गच्छति। नक्षत्रमष्टादश-भागशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि। ततो भवति परस्परं पञ्चभागकृतो विशेषः। '' ता जया णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। यदा णमिति वाक्यालङ्कारे, चन्द्रगतिसमापन्नमपेक्ष्याभिजिन्नक्षत्रं गतिसमापन्नं भवति, तदा पौरस्त्याद्भागात्प्रथमतोऽभिजिन्नक्षत्रं चन्द्रमसं समासादयति। एतच्च प्रागेव भावितम्। समासाद्य च नव मुहूर्तान्, दशमस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति, करोति, एतदपि प्रागेव भावितम्। एवंप्रमाणं च कालं योगं युक्त्वा पर्यन्तसमये योगमनु परिवर्तयति। श्रवणनक्षत्रस्य योगं समर्पयतीति भावः। योगं च परावर्त्य तेन सह योगं विजहाति। किं बहुना ? विगतयोगी चापि भवति। '' ता जया णं '' इत्यादि। ' ता ' इति प्राग्वत्। यदा चन्द्रं गतिसमापन्नमपेक्ष्य श्रवणनक्षत्रं समापन्नं भवति, तदा तच्छ्रवणनक्षत्रं प्रथमतः पौर-स्त्याद्भागात्पूर्वेण भागेन चन्द्रमसं समासादयति, समासाद्य चन्द्रेण सार्द्धं त्रिंशन्मुहूर्तान् यावद्योगं युनक्ति, एवंप्रमाणं च कालं यावद्योगं युक्त्वा पर्यन्तसमये योगमनु परिवर्तयति। धनिष्ठानक्षत्रस्य योगं समर्पयितुमार-भते इत्यर्थः। योगमनुपरिवर्त्य च तेन सह योगं विप्रजहाति। किं बहुना ? विगतयोगी चाऽपि भवति। '' एवं '' इत्यादि। एवमुक्तेन प्रकारेणैतेनानन्तरोपदर्शितेनाभिलापेन यानि पञ्चदश मुहूर्तानि शतभिषक्प्रभृतीनि नक्षत्राणि, यानि त्रिंशन्मुहूर्तानि धनिष्ठाप्रभृतीनि, यानि च पञ्चचत्वारिं-शन्मुहूर्तान्युत्तरभद्रपदाऽऽदीनि, सर्वाण्यपि क्रमेण तावद्भणितव्यानि यावदुत्तराषाढा। तत्राभिलापः सुगमत्वात्स्वयं भावनीयः, गन्थगौरव-भयान्न लिख्यत इति।

(३९) संप्रति ग्रहमधिकृत्य योगचिन्तां करोति-

ता जया णं चंदगतिसमावण्णं गहगतिसमावण्णे पुरच्छि-

माते भागाते समासादेति, पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता चंदेणं सद्धिं अद्धा जोगं जुंजति, अद्धा जोगं जुंजतित्ता अद्धा जोगं अणुपरियट्टति, अद्धा जोगं अणुपरियट्टतित्ता विजेति, विजहति, विप्पजहति, विगतजोई यावि भवति।

''ता जया णं'' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। यदा णमिति वाक्यालङ्कारे, चन्द्रं गतिसमापन्नमपेक्ष्य ग्रहो गतिसमापन्नो भवति, तदा स ग्रहः पौरस्त्याद्भागात्पूर्वेण भागेन प्रथमतश्चन्द्रमसं समा-सादयति, समासाद्य च यथासंभवं योगं युनक्ति, यथासंभवं योगं युक्त्वा पर्यन्तसमये यथासंभवं योगमनुपरिवर्त्तयति, यथासंभवमन्यस्य ग्रहस्य योगं समर्पयितुमारभते इति। भावयोगमनुवर्त्य च तेन सह योगं विजहाति, विप्रजहाति। किं बहुना ? विगतयोगी चापि भवति।

(४०) अधुना सूर्येण सह नक्षत्रस्य योगचिन्तां करोति-

ता जया णं सूरं गतिसमावण्णं अभिई णक्खत्ते गतिसमावण्णे पुरच्छिमाते भागाते समासादेति, पुरच्छिमाते भागाते समासा-देत्ता चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते सूरेणं सद्धिं जोयं जोएति, जोयं अणुपरियट्टति, अणुपरियट्टित्ता विजेति, विजहति, विप्पज-हति, विगतजोई यावि भवति। एवं अहोरत्ता छ एक्कवीसं मुहुत्ता य, तेरस अहोरत्ता वारस मुहुत्ता य, वीसं अहोरत्ता तिण्णि मुहुत्ता य, ताव सव्वे भाणितव्वा जाव उत्तरासाढाणक्खत्ता।

''ता जया णं'' इत्यादि। ' ता ' इति प्राग्वत्। यदा सूर्य गतिसमाप-न्नमपेक्ष्याभिजिन्नक्षत्रं गतिसमापन्नं भवति, तदाऽभिजिन्नक्षत्रं प्रथमतः पौरस्त्याद्भागात्सूर्यं समासादयति, समासाद्य चतुरः परिपूर्णानहोरा-त्रान्, पञ्चमस्य चाहोरात्रस्य षड्मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण सह योगं युनक्ति। एवंप्रमाणं च कालं यावद्योगं युक्त्वा पर्यन्तसमये योगमनुपरिवर्त्तयति। श्रवणनक्षत्रस्य योगं समर्पयितुमारभत इति भावः। अनुपरिवर्त्य च तेन सह योगं विजहाति, विप्रजहाति, किं बहुना ? विगतयोगी चापि भवति। ' एवं ' इत्यादि। एवमुक्तेन प्रकारेण पञ्चदशमुहूर्त्तानां शतभिषक्प्रभृतीनां षडहोरात्राः, सप्तमस्याहोरात्रस्यैकविंशतिमुहूर्त्तास्त्रिंशन्मुहूर्त्तानां श्रवणाऽऽदीनां त्रयोदश अहोरात्राश्चतुर्दशस्याहोरात्रस्य द्वादश मुहूर्त्ताः, पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तानामुत्तरअद्धपदाऽऽदीनां विंशतिरहोरात्राः, एकविंशतितमस्य चाहोरात्रस्य त्रयो मुहूर्त्ताः, क्रमेण सर्वे तावद्भणितव्या यावदुत्तराषाढानक्षत्रम्।

तत्रोत्तराषाढानक्षत्रगतमभिलापं साक्षाद्दर्शयति-

ता जता णं सूरं गतिसमावण्णं उत्तरासाढाणक्खत्ते गतिसमा-वण्णे पुरच्छिमाते भागाते समासादेति, पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएति, जोयं जोएत्ता जोयं अणुपरियट्टति, जोयं अणुपरिय-ट्टित्ता विजेति, विजहित, विप्पजहति, विगतजोई यावि भवति।

' ता जया ' इत्यादि सुगमम्। एतदनुसारेण शेषा अप्यालापाः स्वयं वक्तव्याः, सुगमत्वात्तु नात्र दर्श्यन्ते।

(४१) संप्रति सूर्येण सह ग्रहस्य योगचिन्तां करोति-

ता जता णं सूरं गतिसमावण्णं गहगतिसमावण्णे पुरच्छिमाते भागाते समासादेति, पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता सूरेण सद्धिं अद्धा जोयं जुंजति, अद्धा जोयं जुंजित्ता अद्धा जोयं अणुपरियट्टति, अद्धा जोयं अणुपरियट्टित्ता विजेति०जाव विगतजोई यावि भवति।

''ता जया णं'' इत्यादि सुगमम्।

(४२) अधुना चन्द्राऽऽदयो नक्षत्रेण मासेन कति मण्डलानि चरन्तीत्येतन्निरूपयितुकाम आह-

ता णक्खत्तेणं मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ? ता तेरस मंडलाइं चरति, तेरस य सत्तट्ठिभागे मंडलस्स। ता णक्खत्तेणं मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ? ता तेरस मंडलाइं चरति, चोत्तालीसं च सत्तट्ठिभागे मंडलस्स। ता णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ? ता तेरस मंडलाइं चरति, अद्धसीतालीसं च सत्तट्ठि-भागे मंडलस्स।

''ता णक्खत्तेणं'' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। नक्षत्रेण मासेन चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ? एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह- ''ता तेरस '' इत्यादि। त्रयोदश मण्डलानि, चतुदशस्य मण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागान्। कथमेतदवसीयते ? इति चेत्। उच्यतेत्रैराशिकबलात्। तथाहि-यदि सप्तषष्ट्या नक्षत्रमासैरष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन नक्षत्रमासेन किं लभामहे ? राशित्रय-स्थापना-६७। ८८४। १। अन्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्य सप्तषष्ट्या भागहरणं, लब्धानि त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य च मण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः। १३। $\frac{१३}{६७}$ ''ता णक्खत्ते णं'' इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह- '' ता तेरस '' इत्यादि। त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य च मण्डलस्य चतुश्चत्वारिंशतं सप्त- षष्टिभागात्। तथाहि-यदि सप्तषष्ट्या नक्षत्रैर्मासैर्नव शतानि पञ्च-दशोत्तराणि मण्डलानां सूर्यस्य लभ्यन्ते, तत एकेन नक्षत्रेण मासेन कति मण्डलानि लभामहे ? राशित्रयस्थापना-६७। ९१५। १। अन्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, तत आद्येन राशिना भागहारः, लब्धानि त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य च मण्डलस्य चतुश्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः। १३॥ ''$\frac{४४}{६७}$। ता णक्खत्ते '' इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह- '' ता तेरस '' इत्यादि। त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य च मण्डलस्य अर्द्धसप्तचत्वारिंशतं सार्धषट्चत्वारिंशतं सप्तषष्टिभागान् चरति। तथाहि-यदि सप्तषष्ट्या नक्षत्रैर्मासैरष्टादशशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि अर्द्धमण्ड-लानि नक्षत्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन नक्षत्रेण मासेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना- ६७। १८३५। १। अन्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, तत आद्येन राशिना भागहारः, लब्धानि सप्तविंशतिरर्द्धमण्डलानि, अष्टाविंशतितमस्य चार्द्धमण्डलस्य षड्विंशतिः सप्तषष्टिभागाः २७। $\frac{२६}{६७}$। ततो द्वाभ्यामर्द्धमण्डलाभ्यामेकं मण्डल-मित्यस्य राशेरर्द्धकरणेन लब्धानि त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य मण्डलस्य सार्द्धषट् चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः। १३। $\frac{४६}{६७}$।

(४३) संप्रति चन्द्रमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलनि-रूपणां करोति-

ता चंदेण मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ? चोद्दस

चउभागाइं मंडलाइं चरति, एगं च चउवीससयभागं मंडलस्स। ता चंदेणं मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ? ता पण्णरस चउभागूणाइं मंडलाइं चरति, एगं च चउवीससयभागं मंडलस्स। ता चंदेणं मासेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ? ता पण्णरस चउभागूणाइं मंडलाइं चरति, छच्च चउवीससतभागे मंडलस्स॥

'' ता चंदेणं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। चन्द्रेण मासेन प्रागुक्तस्वरूपेण, चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ? भगवानाह- '' ता चउद्दस '' इत्यादि। चतुर्दशस्य चतुर्भागमण्डलानि चतुर्भागसहितानि मण्डलानि चरति, एकं च चतुर्विंशतितमं मण्डलस्य। किमुक्तं भवति ?-परिपूर्णानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य चतुर्भागं चतुर्विंशत्यधिकशतसत्कैकत्रिंशद्भागप्रमाणम्, एकं च चतुर्विंशत्यधिकशतस्य भागं द्वात्रिंशतं, पञ्चदशस्य मण्डलस्य चतुर्विंशत्यधिकशतभागान् चरति। तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेनाष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यां पर्वभ्यां किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-१२४। ८८४। २। अन्त्यान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनं, जातानि सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि १७६८। तेषां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणं, लब्धानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य द्वात्रिंशच्चतुर्विंशत्यधिकशतभागाः। १४ $\frac{३२}{१२४}$। '' ता चंदेणं '' इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्। '' ता पन्नरस '' इत्यादि। पञ्चदश चतुर्भागन्यूनानि मण्डलानि चरति, एकं च चतुर्विंशत्यधिकशतभागं मण्डलस्य। किमुक्तं भवति ? चतुर्दश परिपूर्णानि मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य चतुर्नवतिचतुर्विंशत्यधिकशतभागान् चरति। तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि मण्डलानां लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यां किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-१२४। ९१५। २। अन्त्यान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि। १८३०। एतेषामाद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणं, लब्धानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य चतुर्नवतिचतुर्विंशत्यधिकशतभागाः। १४ $\frac{९४}{१२४}$। इति। '' ता चंदेणं '' इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह- '' ता पण्णरस '' इत्यादि। पञ्चदश मण्डलानि चतुर्भागन्यूनानि चरति, षट्चतुर्विंशत्यधिकशतभागान्मण्डलस्य। किमुक्तं भवति ?-परिपूर्णानि चतुर्दशमण्डलानि चरति, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य नवनवति चतुर्विंशत्यधिकशतभागान्। तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेनाष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि अर्द्धमण्डलानां लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यां पर्वभ्यां किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-१२४। १८३५। २। अन्त्यान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनं, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि सप्तत्वधिकानि। ३६७०। एतेषामाद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकशतरूपेण भागहरणं, लब्धा एकोनत्रिंशत्, शेषास्ति-ष्ठन्ति चतुःसप्ततिः। इदं चार्द्धमण्डलगतं परिमाणम्। द्वाभ्यां चार्द्धमण्डलाभ्यामेकं परिपूर्णं मण्डलं, ततोऽस्य राशेर्द्विकेन भागहारः, लब्धानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य नवनवतिश्चतुर्विंशत्यधिकशतभागाः। १४ $\frac{९९}{१२४}$।

(४४) साम्प्रतमृतुमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलनिरूपणां करोति-

ता उउणा मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ? ता चोद्दसमंडलाइं चरति, तीसं च एगट्ठिभागे मंडलस्स। ता उउणा मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ? ता पणरस मंडलाइं चरति। ता उउणा मासेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ? ता पणरस मंडलाइं चरति, पंच य बावीससतभागे मंडलस्स।

'' ता उउमासेणं चंदे '' इत्यादि। ऋतुमासेन कर्ममासेन चन्द्रा कति मण्डलानि चरति ? भगवानाह- '' ता चोद्दस '' इत्यादि। चतुर्दश मण्डलानि चरति। पञ्चदशस्य च मण्डलस्य त्रिंशतमेकषष्टिभागाद्। तथाहि-यदि एकषष्ट्या कर्ममासैरष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन कर्ममासेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-६१। ८८४। १। अन्त्यान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव। तस्य एकषष्ट्या भागहरणं, लब्धानि परिपूर्णानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य त्रिंशदेकषष्टिभागाः। १४ $\frac{३०}{६१}$। '' ता उउणा मासेणं '' इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह- '' ता पणरस '' इत्यादि। पञ्चदश परिपूर्णानि मण्डलानि चरति। तथाहि-यद्येकषष्ट्या कर्ममासैर्नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि सूर्यमण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन कर्ममासेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-६१। ९१५। १। अन्त्यान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, जातः स तावानेव, तस्यैकषष्ट्या भागहरणं, लब्धानि परिपूर्णानि पञ्चदश मण्डलानि। १५। '' ता उउणा मासेणं '' इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह- '' ता पणरस '' इत्यादि। पञ्चदश मण्डलानि चरति, षोडशस्य च मण्डलस्य च पञ्चद्वाविंशतिशतभागान्। तथा-हि-यदि द्वाविंशेन कर्ममासशतेनाष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि मण्डलानि नक्षत्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन कर्ममासेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-१२२। १८३५। १। अन्त्यान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन राशिना द्वाविंशत्यधिकशतरूपेण भागहरणं, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि, षोडशस्य च पञ्चद्वाविंशशतभागाः। १५। $\frac{५}{१२२}$।

(४५) संप्रति सूर्यमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलानि निरूपयति-

ता आइच्चेणं मासेणं चंदे काते मंडलाइं चरति ? ता चोद्दसमंडलाइं चरति, एक्कारस य पन्नरसभागे मंडलस्स। ता आइच्चेणं मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ? ता पणरस चउभागाइं मंडलाइं चरति। ता आइच्चेणं मासेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ? ता पणरस चउभागाइं मंडलाइं चरति, पंचतीसं च वीससतभागे मंडलस्स॥

''ता आइच्चेणं'' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। आदित्येन मासेन चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ? भगवानाह-चतुर्दश मण्डलानि चरति, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य एकादश पञ्चदश भागान्। तथाहि-यदि षष्ट्या सूर्यमासैरष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानां चन्द्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन सूर्यमासेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-६०। ८८४। १। अन्त्यान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातः स

तावानेव, तस्य षष्ट्या भागहरणं, लब्धानि चतुर्दश मण्डलानि, शेषास्तिष्ठन्ति चतुश्चत्वारिंशत् । ४४ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योश्चतुष्केनापवर्तना, जात उपरितनो राशिरेकादशरूपोऽधस्तनः पञ्चदशरूपः, लब्धाः पञ्चदशमण्डलस्यैकादशभागाः । १४ । $\frac{११}{१५}$ । '' ता आइच्चेणं ''इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-पञ्चदशचतुर्भागाधिकानि मण्डलानि चरति । तथाहि-यदि षष्ट्या सूर्यमासैर्नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि मण्डलानां सूर्यस्य लभ्यन्ते, तत एकेन मासेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-६०।९१५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्य षष्ट्या भागहरणं, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि, षोडशस्य च षष्टिभागविभक्तस्य पञ्चदशभागात्मकाश्चतुर्भागाः ।१५ । $\frac{१५}{६०}$ । '' ता आइच्चेणं '' इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह- '' ता पणरस '' इत्यादि । पञ्चदश मण्डलानि चतुर्भागाधिकानि पञ्चत्रिंशतं विंशत्यधिकशतभागान् मण्डलस्य चरति । किमुक्तं भवति ? षोडशस्य च मण्डलस्य पञ्चविंशतं विंशत्यधिकशतभागान् चरति । तथाहि-यदि विंशेन, सूर्यमासशतेनाष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि मण्डलानां नक्षत्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन सूर्यमासेन किं लभ्यते ? राशित्रयस्थापना-१२०।१८३५। १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुणितः, जातस्तावानेव, तस्य विंशत्य-धिकेन शतेन भागहरणं, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि, पञ्चत्रिंशच्च विंशत्यधिकाः शतभागाः षोडशस्य। १५ । $\frac{३५}{१२०}$।

(४६) अधुनाऽभिवर्द्धितमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलानि निरूपयन्नाह-

ता अभिवड्ढितेणं मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ? ता पण्णरस मंडलाइं चरति, तेसीति-छचुलसीतिसतभागे मंडलस्स । ता अभिवड्ढितेणं मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ? ता सोलस मंडलाइं चरति तेहिं भागेहिं ऊणागाइं, दोहिं अडयालेहिं सएहिं मंडलं छित्ता । ता अभिवड्ढितेणं मासेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ? ता सोलस मंडलाइं चरति, सीतालीसाएहिं भागेहिं अहियाहिं चोद्दसहिं अट्ठासीएहिं सएहिं मंडलं छेत्ता ।।

'' ता अभिवड्ढितेणं '' इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । अभिवर्द्धितेन मासेन चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ? भगवानाह- '' ता पण्णरस '' इत्यादि । पञ्चदश मण्डलानि चरति, षोडशस्य च मण्डलस्य त्र्यशीति-षडशीत्यधिकशतभागान् । तथाहि-अत्रैवं त्रैराशिकम्-इह युगेऽभिवर्द्धितमासाः सप्तपञ्चाशत् , सप्तचाहोरात्राः, एकादश मुहूर्तास्त्रयोविंशतिश्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य । एषां च राशिः सांऽश इति तत्त्रैराशिककर्मविषयः । ततः परिपूर्णमासप्रतिपत्त्यर्थमयं राशिः षट्पञ्चाशदधिकेन शतेन गुण्यते, जातानि परिपूर्णानि नवाशीतिशतान्यष्टाविंशत्यधिकान्यभिवर्द्धितमासानाम् । किमुक्तं भवति ? षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्येषु युगेष्वेतावन्तः परिपूर्णाः अभिवर्द्धितमासा लभ्यन्ते । एतच्च द्वादशप्राभृते सूत्रकृतैव साक्षादभिहितम् । ततस्त्रैराशिककर्मावतारः । यद्यष्टाविंशत्यधिकैरभिवर्द्धितमासैर्नवाशीतिशतैः षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्यया युगभाविभिश्चान्द्रमण्डलानामेकलक्षं सप्तत्रिंशत्सहस्राणि नवशतानि चतुरुत्तराणि लभ्यन्ते, तत एकेनाभिवर्द्धितमासेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना ८९२८ । १३७९०४ । १ । अत्रान्त्येन राशिनैकलक्षणेन मध्यराशेस्ताडना, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन ८९२८ राशि-ना भागहरणं, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि । १५ । शेषमुद्धरति एकोनचत्वारिंशच्छतानि चतुरशीत्यधिकानि । ३९८४ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योरष्टाचत्वारिंशताऽपवर्त्तना, जात उपरितनो राशिस्त्र्यशीतिरधस्तनः षडशीत्यधिकं शतम् । $\frac{८३}{१८६}$ । आगतं षोडशमण्डलस्य त्र्यशीति षडशीत्यधिकशतभागाः । '' ता अभिवड्ढितेणं '' इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह- '' ता सोलस '' इत्यादि । षोडश मण्डलानि त्रिभिर्भागैर्न्यूनानि चरति । मण्डलं द्वाभ्यामष्टाचत्वारिंशदधिकाभ्यां शताभ्यां छित्त्वा । तथाहि-यदि षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्ययुगभाविभिरष्टाविंशदधिकैरभिवर्द्धितमासनवाशीतिशतैः सूर्यमण्डलानामेकं लक्षं, द्विचत्वारिंशत्सहस्राणि, सप्त शतानि चत्वारिंशदधिकानि लभ्यन्ते, तत एकेनाभिवर्द्धितमासेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-८९२८ । १४२-७४० । १ । अत्रान्त्येन राशिनैकलक्षणेन मध्यराशिर्गुण्यते, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन ८९२८ राशिना भागो ह्रियते, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि । १५ । शेषमुद्धरन्ति अष्टाशीतिशतानि विंशत्य-धिकानि । ८८२० । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योः षडत्रिंशताऽपवर्तना, जात उपरितनो राशिर्द्वे शते पञ्चचत्वारिंशदधिके । २४५ । अध-स्तनो द्विशतेऽष्टचत्वारिंशदधिके । २४८ । आगतं षोडशमण्डलं त्रिभिर्भागैर्न्यूनं द्वाभ्यामष्टाचत्वारिंश-दधिकाभ्यां शताभ्यां प्रविभक्तम् । २४८ । '' ता अभिवड्ढितेणं '' इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह- '' ता सोलस '' इत्यादि । षोडश मण्डलानि सप्तचत्वारिंशता भागैरधिकानि चतुर्दशभिः शतैरष्टाशीत्यधिकैर्मण्डलं छित्त्वा । तथाहि-यदि षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्ययुगभाविभिरभिवर्द्धितमासनवाशीतिशतैरष्टाविंशत्यधिकैर्नक्षत्रमण्डलानामेकलक्षं त्रिचत्वारिंशत्सहस्राणि शतमेकं त्रिंशदधिकंलभ्य-ते, तत एकेनाभिवर्द्धितमासेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-८९२८ । १४३१३० । १ । अत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्य-राशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन ८९२८ राशिना भागो ह्रियते, लब्धानि षोडश मण्डलानि, शेषमुद्धरति द्वे शते द्व्यशीत्यधिके । २०२ । ततश्छेद्य-च्छेदकराश्योः षट्केनापवर्तना, जाता उपरि सप्तचत्वारिंशत् , अधस्तु चतुर्दश शतान्यष्टाशीत्यधिकानि । $\frac{४७}{१४८८}$ । आगताः सप्तचत्वारिंशद् अष्टाशीत्य-धिकचतुर्दशशतभागाः।

(४७) संप्रत्येकैकेनाहोरात्रेण चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं कति मण्डलानि चरन्तीत्येतन्निरूपणार्थमाह-

ता एगमेगेणं अहोरत्तेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ? ता एगं अद्धमंडलं चरति, एक्कतीसाए भागेहिं ऊणं णवहिं पण्णरसेहिं सतेहिं अद्धमंडलं छेत्ता । ता एगमेगेणं अहोरत्तेणं सूरिए कति मंडलाइं चरति ? ता एगं अद्धमंडलं चरति । ता एगमेगेणं अहोरत्तेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ? ता एगं अद्धमंडलं चरति, दोहिं भागेहिं अधियं सत्तहिं दुतीसेहिं सएहिं अद्धमंडलं छेत्ता ।

'' ता एगमेगेणं '' इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । एकैकेनाहोरात्रेण चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ? भगवानाह- '' ता एगं ''

इत्यादि। एकमर्द्धमण्डलं चरति, एकत्रिंशता भागैर्न्यूनं नवभिः पञ्चदशोत्तरैः शतैरर्द्धमण्डलं छित्त्वा। तथाहि-रात्रिन्दिवानामष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तदश शतान्यष्टषष्ट्यधिकान्यर्द्धमण्डलानां चन्द्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन रात्रिन्दिवेन किं लभ्यते ? राशित्रयस्थापना-१८३० ।१७६८।१। अत्राप्यन्त्येन राशिनैककलक्षणेन मध्यराशिर्गुण्यते, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन १८३० राशिना भागहरणं, स चोपरितनस्य राशेः स्तोकत्वाद्भागं न लभते। ततश्छेद्यच्छेदकराश्योर्द्विकेनापवर्त्तना, जात उपरितनो राशिरष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि, अधस्तनो नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि।$\frac{८४४}{९१५}$। तत आगतमेकत्रिंशता भागैर्न्यूनमेकमर्द्धमण्डलं नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैः प्रविभक्तमिति। '' ता एगमेगेणं '' इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह- '' ता एगमेगेणं '' इत्यादि। एकमर्द्धमण्डलं चरति। एतच्च सुप्रतीतमेव। '' ता एगमेगेणं '' इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह- '' ता एगमेगेणं '' इत्यादि। एकमर्द्धमण्डलं द्वाभ्यां भागाभ्यामधिकं चरति, द्वा-त्रिंशदधिकैः सप्तभिः शतैरर्द्धमण्डलं छित्त्वा। तथाहि-यद्यहोरात्राणामष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैरष्टादशशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि नक्षत्राणामर्द्धमण्डलानि लभ्यन्ते, तत एकेनाहोरात्रेण किं लभ्यते ? राशित्रयस्थापना-१८३० । १८३५ । १ । अन्त्येन राशिनैककरूपेण मध्यराशेर्गुणना; जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन १८३० राशिना भागहरणं, लब्धमेकमर्द्धमण्डलं, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्च। ततश्छेद्यच्छेदकराश्योरर्द्धतृतीयैरपवर्तना, जातावुपरि द्वौ अधस्तात्सप्त शतानि द्वात्रिंशदधिकानि, $\frac{२}{७३२}$। लब्धौ द्वौ द्वा-त्रिंशदधिकसप्तशतभागौ।

(४८) अधुना एकैकं परिपूर्णं मण्डलं चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं कतिभिरहोरात्रैश्चरन्तीत्येतन्निरूपणार्थमाह-

ता एगमेगं मंडलं चंदे कतिहिं अहोरत्तेहिं चरति ? ता दोहिं अहोरत्तेहिं चरति, एक्कतीसाए भागेहिं अहिगेहिं चउहिं चोतालेहिं सतेहिं राइंदिएहिं छेत्ता। ता एगमेगं मंडलं सूरे कतिहिं अहोरत्तेहिं चरति ? ता दोहिं अहोरत्तेहिं चरति। ता एगमेगं मंडलं णक्खत्ते कतिहिं अहोरत्तेहिं चरति ? ता दोहिं अहोरत्तेहिं चरति, दोहिं भागेहिं ऊणेहिं तिहिं सत्तट्ठिहिं सतेहिं राइंदियं छेत्ता।

'' ता एगं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। एकैकं मण्डलं चन्द्रः कतिभिरहोरात्रैश्चरति ? भगवानाह- '' ता दोहिं '' इत्यादि। द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां चरति, एकत्रिंशता भागैरधिकाभ्यां चतुर्भिश्चत्वारिंशदधिकैः शतै रात्रिन्दिवं छित्त्वा। तथाहि-यदि चन्द्रस्य मण्डलानामष्टभिः शतैश्चतुरशीत्यधिकैरहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि लभ्यन्ते, तत एकेन मण्डलेन कति रात्रिन्दिवानि लभामहे ? राशित्रयस्थापना-८८४। १८३०। १। अन्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन राशिना चतुरशीत्यधिकाष्टशतप्रमाणेन भागहरणं, लब्धौद्वावहोरात्रौ, शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टिः। ६२। ततश्छेद्यच्छेदकराश्योर्द्विकेनापवर्तना, जात उपरितनो राशिरेकत्रिंशद्रूपोऽधस्तनश्चत्वारि शतानि द्वाचत्वारिंशदधिकानि। $\frac{३१}{४४२}$। तत आगतमेकत्रिंशद् द्विचत्वारिंशदधिकचतुःशतभागाः। '' ता एगमेगं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। एकैकं मण्डलं सूर्यः कतिभिरहोरात्रैश्चरति ? भगवानाह- '' ता दोहिं '' इत्यादि। द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां चरति। तथाहि-यदि सूर्यस्य मण्डलानां नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैरष्टादश शतानि त्रिंशदधिकान्यहोरात्राणां लभ्यन्ते, तत एकेन मण्डलेन कत्यहोरात्रान् लभामहे ? राशित्रयस्थापना-९१५। १८३०। १। अन्त्येन राशिना मध्य-राशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन ९१५ राशिना भागहरणं, लब्धौ द्वावहोरात्राविति। '' ता एगमेगं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। एकैकमात्मीयं मण्डलं नक्षत्रं कतिभिरहोरात्रैश्चरति ? भगवानाह- '' ता दोहिं '' इत्यादि। द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां चरति, द्वाभ्यां भागाभ्यां हीनाभ्यां त्रिभिः सप्तषष्टैः सप्तषष्ट्यधिकैः शतै रात्रिन्दिवं छित्त्वा। तथाहि-यदि नक्षत्रस्य मण्डलानामष्टादशभिः शतैः पञ्चत्रिंशदधिकैः षड्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि रात्रिन्दिवानां लभामहे, तदैकेन मण्डलेन किं लभामहे ? राशित्रयस्थापना-१८३५। ३६६०। १। अन्त्येन राशिना मध्यराशेस्ताडना, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन १८३५ राशिना भागहरणं, लब्धमेकं रात्रिन्दिवं, शेषाणि तिष्ठन्त्यष्टादश शतानि पञ्चविंशत्यधिकानि । १८२५ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योः पञ्चकेनापवर्त्तना। जात उपरितनो राशिस्त्रीणि शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३६५। छेदकराशिस्त्रीणि शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि, ३६७ तत आगतं द्वाभ्यां सप्तषष्ट्यधिकशतभागाभ्यां हीनं द्वितीयं रात्रिन्दिवमिति।

(४९) संप्रति चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं कति मण्डलानि युगे चरन्तीत्येतन्निरूपणार्थमाह-

ता जुगेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ? ता अट्ठचुलसीते मंडलसते चरति। ता जुगेहिं सूरे कति मंडलाइं चरति ? ता णव पण्णरसे मंडलसते चरति। ता जुगेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ? ता अट्ठारस पणतीसे दुभागमंडलसते चरति॥

'' ता जुगेणं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। युगेन कति मण्ड-लानि चरति ? भगवानाह- '' ता अट्ठ '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। अष्टौ मण्डलशतानि चतुरशीत्यधिकानि चरति। तथाहि-चन्द्र एकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या शते प्रविभक्तस्य मण्डलस्याष्टषष्ट्यधिकसप्तदशशतसंख्यान् भागान् एकेन मुहूर्त्तेन गच्छति। युगे च मुहूर्त्ताः सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि, नव शतानि, ततः सप्तदश शतानि अष्टषष्ट्यधिकानि चतुःपञ्चाशता सहस्रैर्नवभिश्च शतैर्गुण्यन्ते, जाता नव कोटयः, सप्ततिर्लक्षास्त्रिषष्टिः सहस्राणि, द्वे शते ९७०६३२००। ततोऽस्य राशेरेकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैः १०९८०० मण्डलाऽऽनयनाय भागो ह्रियते, लब्धानि अष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानामिति। '' ता जुगेणं '' इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह- '' ता नव पणरस '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। नव मण्डलशतानि पञ्चदशाधिकानि चरति। तथाहि-यदि द्वाभ्यामहोरात्राभ्यामेकं सूर्यमण्डलं लभ्यते, ततः सकलयुगभाविभिरष्टादशभिरहोरात्रशतैस्त्रिंशदधिकैः कति मण्डलानि लभ्यन्ते ? राशित्रयस्थापना-२। १। १८३०। अन्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०। तेषामाद्येन राशिना द्विकरूपेण भागहरणं,

लब्धानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५ । '' ता जुगेणं '' इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह- '' ता अट्ठार- स '' इत्यादि । अष्टादशद्विभागमण्डलशतानि अर्द्धमण्डलशतानि पञ्चत्रिंशानि पञ्चत्रिंशदधिकानि चरति । तथाहि-नक्षत्रमेकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैः प्रविभक्तस्य मण्डलसत्कान् पञ्चत्रिंशदधिकाष्टादशशतसंख्यान् भागान् एकेन मुहूर्त्तेन गच्छति, युगे च मुहूर्त्ताः सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि, नव शतानि । ततस्तैः चतुष्पञ्चाशता सहस्रैर्नवभिः शतैरष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि गुण्यन्ते, जाता दश कोटयः, सप्त लक्षाः, एकचत्वारिंशत् सहस्राणि, पञ्चशतानि १००७४१५०० । अर्द्धमण्डलानि चेह ज्ञातुमि-ष्टानि, तत एकस्य शतसहस्रस्याष्टानवतेश्च यानि चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि नव शतानि, तैर्भागो ह्रियते, लब्धानि अष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि अर्द्धमण्डलानामिति । सू० प्र० १५ पाहु० । चं० प्र० । ज्यो० । द० प० ।

(५०) '' चंदेहि उ सिग्घयरा, सुरा सूरेहिं तह गहा सिग्घा ।
नक्खत्ता उ गहेहि य, नक्खत्तेहिं तु ताराओ ॥ ९४ ॥
सव्वऽप्पगई चंदा, तारा पुण हुंति सव्वसिग्घगई ।
एसो गईविसेसो, जोइसियाणं तु देवाणं ॥ ९५ ॥ '' द० प० ।

(५१) अथ चन्द्रसूर्यनक्षत्रताराणामल्पर्द्धिकत्वं महर्द्धिकत्वं च विवक्षुराह-

एतेसि णं भंते ! चंदिमसूरिअगहणक्खत्ततारारूवाणं कयरे सव्वमहिड्ढिआ, कयरे सव्वप्पिड्ढिआ ? गोयमा ! तारारूवेहिंतो णक्खत्ता महिड्ढिआ, णक्खत्तेहिंतो गहा महिड्ढिआ, गहेहिंतो सूरिआ महिड्ढिआ, सूरेहिंतो चंदा महिड्ढिआ, सव्वप्पिड्ढिआ तारारूवा, सव्वमहिड्ढिआ चंदा ।

'' एतेसि णं '' इत्यादि । एतेषां भदन्त ! चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपाणां मध्ये कतरे सर्वमहर्द्धिकाः, कतरे च, चकारोऽत्र गम्यः । सर्वाल्पर्द्धिकाः ? भगवानाह- गौतम ! तारारूपेभ्यो नक्षत्राणि महर्द्धिकानि, नक्षत्रेभ्यो ग्रहा महर्द्धिकाः, ग्रहेभ्यः सूर्या महर्द्धिकाः, सूर्येभ्यश्चन्द्रा महर्द्धिकाः । अत एव सर्वाल्पर्द्धिकास्तारारूपाः, सर्वमहर्द्धिकाश्चन्द्राः । इयमत्र भावना- गतिविचारणायां येभ्यः शीघ्रा उक्तास्ते तेभ्य ऋद्धिविचारणायामुत्क्रमतो महर्द्धिका ज्ञेया इति । जं० ७ वक्ष० । जी० । सू० प्र० । चं० प्र० । (चन्द्रसूर्ययोरुदयास्तमयने, तत्र बह्व्यो विप्रतिपत्तयस्तन्निराकरणं च ' सूरमंडल ' शब्दे वक्ष्यते) गणितप्रतिपादके ज्योतिःशास्त्रे, न० । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

जोइसियदेवित्थी-स्त्री०(ज्योतिष्कदेवस्त्री) चन्द्राऽऽदिज्योतिष्कदेवानामग्रमहिष्याम्, जी० ।

से किं तं जोइसियदेवित्थियाओ ? जोइसियदेवित्थियाओ पंचविहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-चंदविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, सूरविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, गहविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, णक्खत्तविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, णक्खत्तविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, ताराविमाणजोइसियदेवित्थियाओ । सेत्तं जोइसियदेवित्थियाओ । जी० १ प्रति० ।

जोइसियमंडल-न०(ज्योतिष्कमण्डल) चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणां मण्डले, जं० ७ वक्ष० । (ज्योतिष्कमण्डलनिष्पत्तिस्वरूपं ' मंडलं ' शब्दे वक्ष्यते) (अथ सूर्यमण्डलानां मिथश्चन्द्रमण्डलानां चान्तराणि ' अंतर ' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे द्रष्टव्यानि)

अथ कति मण्डलानि द्वीपे, कति च निषधलवणे चन्द्रसूर्योर्भवन्तीतयाह-

**संततमंतरमेयं, रवीण पणसट्ठि मंडला दीवे ।
तत्थ विसट्ठि निसड्ढे, तिन्नि अवाहाएँ तस्सेव ॥ ११ ॥**

सन्ततं निरन्तरम्, एतत्पूर्वोक्तं सूर्याचन्द्रयोश्च मध्ये प्रविशतोर्बहिर्निर्गच्छतोश्च मण्डलानां परस्परमन्तरं ज्ञेयं, तत्र रव्योः पञ्चषष्टिमण्डलानि द्वीपे, तत्रापि द्वाषष्टि निषधपर्वते, त्रीणि च तस्य बाहायाम् । इदं तु श्रीमुनिचन्द्रसूरिभिरुक्तं समवायाङ्गवृत्तौ । त्रिषष्टिस्थाने जम्बूद्वीपस्य पर्यन्तिमेऽशीत्युत्तरे योजनशते पञ्चषष्टिर्भवन्ति । तत्र निषधपर्वते नीलवन्तपर्वते च त्रिषष्टिः सूर्योदयाः, सूर्यमण्डलानि इत्यर्थः । तदन्ये तु द्वे जगत्यां, शेषाणि तु लवणे इत्युक्तमस्ति । संग्रहणीवृत्त्यादावपि त्रिषष्टिः २ मण्डलानि निषधनीलवतोः, द्वे द्वे हरिवर्षकोट्यादौ ॥ ११ ॥

**चंदाणं निसढे वि अ, मंडल पण गुरूवएसि दीसंति ।
सेसाइँ मंडलाइं, दोण्ह वि जलट्ठिस्स मज्झम्मि ॥ १२ ॥**

तथा चन्द्रयोर्निषधनीलवत्पर्वते एव पञ्च मण्डलानि गुरूपदेशे दृश्यन्ते । शेषाणि द्वयोरपि जलधौ रवेर्दश, पञ्च शशिनश्च भवन्ति । तत्राप्ययं विशेषः- १ । २ । ३ । ४ । ५ । ११ । १२ । १३ । १४ । १५ । एतानि चन्द्रस्य सूर्यस्याऽपि साधारणानि । ६ । ७ । ८ । ९ । १० रूपाणि पुनश्चन्द्रस्यैव भवन्ति, न जातुचिदपि तेषु सूर्यः समायाति । चन्द्रस्य मण्डलान्तराणि चतुर्दश सन्ति । तत्र चतुर्षु सर्वाभ्यन्तरेषु सर्वबाह्यमण्डलान्तरेषु च सूर्यस्य प्रत्येकं द्वादश मण्डलानि स्युः, मध्यवर्त्तिषु षट्सु चन्द्रमण्डलान्तरेषु सूर्यमण्डलानि त्रयोदश भवन्ति ॥ १२ ॥ सं० ।

चन्द्रमण्डलाऽऽदिविष्कम्भो यथा-

**एगट्ठिभागे छेत्तू-ण जोयणं तस्स होंति जे भागा ।
ते चंदा छप्पन्नं, अडयालीसं भवे सूरा ॥**

एकषष्ट्या योजनप्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नं छित्त्वा तस्य भवन्ति ये भागा एकषष्टिसंख्याः, ते च चन्द्राश्चन्द्रमण्डलानि षट्पञ्चाशद् भवन्ति । सूर्यमण्डलानि भवन्त्यष्टाचत्वारिंशद्भागाः । किमुक्तं भवति ?- योजनस्यैकषष्टिभागाः षट्पञ्चाशच्चन्द्रमण्डलस्य विष्कम्भपरिमाणं सूर्यमण्डलस्याष्टाचत्वारिंत् । एतदेव गव्यूत-परिमाणेन चिन्त्यते-तत्र चतुर्गव्यूतं योजनमिति षट्पञ्चाशच्चतुर्भिर्गुण्यते, जाते द्वे शते चतुर्विंशत्यधिके । २२४ । तयोरेकषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रयः क्रोशाः, एकस्य च क्रोशस्य एकचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः । विष्कम्भार्द्धं चोत्सेधं, ततोऽष्टाविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्योत्सेधपरिमाणं चन्द्रमण्डलस्य सार्द्धगव्यूतमेकचत्वारिंशद्विसप्तत्यधिकभागा गव्यूतस्य, तथा सूर्यमण्डलस्याष्टाचत्वारिंशद्दशभागा योजनस्य चतुर्भिर्गुण्यते, जातं द्विनवत्यधिकं शतम् । १९२ । तस्यैकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयः क्रोशाः, क्रोशस्य च नवैकषष्टिभागा विष्कम्भार्द्धमुत्से

च इत्युत्सेधपरिमाणं चतुर्विंशत्येकषष्टिभागा योजनस्य। यदि वा द्व्यर्द्ध गव्यूतं, नव च द्वाविंशत्यधिकशतभागान् गव्यूतस्य। तथा चन्द्रस्य चन्द्रमण्डलस्य परिधेः परिमाणं द्वे योजने, त्रयः क्रोशाः, एकस्य क्रोशस्य सप्तत्रिंशदेकषष्टिभागा विशेषाधिकाः। सूर्यमण्डलस्य द्वे योजने, एकः क्रोशः, अष्टापञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागाः क्रोशस्य विशेषाधिकाः। नक्षत्राऽऽदिमण्डलानां तु विष्कम्भाऽऽदिपरिमाणं संग्रहणीटीकायां तत्त्वार्थटीकायां चाभिहितमस्माभिरिति ततोऽवधार्यम्। ज्यो० ७ पाहु०। (चन्द्रसूर्यनक्षत्रग्रहताराणां मुहूर्त्तगति-प्रमाणं 'जोइसिय' शब्दे १६०५ पृष्ठे गतम्)

जोइसियराय-पुं०(ज्योतिष्कराज) चन्द्रे, सूर्ये च। '' चंदसूरिया य एत्थ दुवे जोइसिंदा जोइसियरायाणो परिवसंति। '' प्रज्ञा० २ पद०। स्था०। सू० प्र०।

जोइसियविमाण-न०(ज्योतिष्कविमान) चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारााणां विमाने, '' एत्थ णं जोइसियाणं देवाणं तिरियमसंखेज्जा जोइसियविमाणावाससयसहस्सा हवंति। '' प्रज्ञा० २ पद। (सर्वा विमानवक्तव्यता 'विमाण' शब्दे वक्ष्यते)

जोइस्सर-पुं०(योगीश्वर) योगो धर्मः शुक्लध्यानलक्षणः, स येषां विद्यते इति योगिनः साधवः, तेरीश्वरः सदुपदेशेन तेषां प्रवृत्तस्तत्संबन्धाऽऽदिति, तेषां वा ईश्वरो योगीश्वरः। प्रभुरित्यनर्थान्तरम्। योगिनां प्रभौ, आव० ४ अ०।

यदुक्तम्-

'' चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा, शुद्रोऽथ वा तापसः,
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोपि वा ?
इत्यस्वल्पविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणो जनैर्-
नो रुष्टो न हि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति॥ १॥ '' उत्त० ३ अ०। याज्ञवल्क्यमुनौ, योगिनां श्रेष्ठे च। दुर्गायाम्, स्त्री०। ङीप्। वाच०।

***योगेश्वर**-पुं०। युज्यन्त इति योगा मनोवाक्कायव्यापार-लक्षणाः, तेरीश्वरः प्रधानो योगेश्वरः। योगप्रधाने, आव० ४ अ०। श्रीकृष्णे, दुर्गायां, वन्ध्याकर्कोटक्यां च, स्त्री०। ङीष्। वाच०।

***योगिस्मर्य**-त्रि०। योगिनां चिन्तनीये, आव० ४ अ०।

जोईरम्हिचारण-पुं०(ज्योतीरश्मिचारण) चारणभेदे, चन्द्रार्कग्रहनक्षत्राऽऽद्यन्यतमज्योतीरश्मिसंबन्धेन भुवीव चरणचङ्क्रमणप्रवणा ज्योतीरश्मिचारणाः। प्रव० ६७ द्वार।

जोईरस-न०(ज्योतिरस) रत्नभेदे, रा०। ज्ञा०। आ० म०। स्था०। ज्योतीरसं नाम रत्नम्। जी० ३ प्रति०।

जोईरसमय-त्रि०(ज्योतीरसमय) ज्योतीरसाऽऽख्यरत्नाऽऽत्मके, '' जोईरसमया उत्तरंगा। '' '' जोईरसमया वंसा। '' ज्योतीरसं नाम रत्नं तन्मया वंशाः। रा०।

जोक्कारकरण-न०(जोत्कारकरण) पित्रादीनां जोत्कारकरणाऽऽत्मके जिनभवनस्थितानामाशातनाभेदे, ध० २ अधि०।

जोग-पुं०(योग) योजनं योगः। युज्-घञ्। बन्धे, योगो बन्ध इत्यनर्थान्तरमिति। पं० सू० ४ सूत्र। संबन्धे, बृ० ६ उ०। आतु०। स्था०। द्वा०। प्रश्न०। विशे०। संभवे, द्वा० १० द्वा०। अप्राप्तज्ञाना-ऽऽदिप्रापणे, कल्प० १ क्षण।

(१) '' जोगक्खेमं वट्टमाणा पडिवहंति। '' अलब्धस्येप्सितस्य वस्तुनो लाभो योगो, लब्धस्य परिपालनं क्षेम इति। ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। योगो बीजाऽऽधानोद्भेदपोषणकरणम्, क्षेमं तत्तदुपद्रवाऽऽपादनम्। रा०। संयोगे, मेलने, वर्माऽऽदिधारणे, युक्तौ, शब्दाऽऽदीनां प्रयोगे, समुदायशब्दस्यावयवार्थसंबन्धे, ' योगबलं समाख्या ' इति मीमांसकाः। '' योगः कर्मसु कौशलम् '' इत्युक्ते यथास्थितवस्तुनोऽन्यथारूपप्रतिपादने, वाच०। विधिकर्त्रनुकूलपरिवारसंपत्तौ, प्रति०। द्रव्यतो बाह्ये मनोवाक्कायव्यापारे, तं०। आ० म०। आ० चू०। नं०। अनु०। नि० चू०। पं० व०। भ०। स्था०। प्रश्न०। आव०। उत्त०। सूत्र०। विशे०। योगो, व्यापारः, कर्म, क्रियेत्यनर्थान्तरमिति। विशे०। आतु०। व्य०। जीत०। '' जोगा मणमाईआ। '' योगा मनोव्यापाराऽऽदयः। प्रति०। आचा०। स्था०। सूत्र०। '' मणवयसकाइए जोगे वट्टमाणाणं '' स्था० ६ ठा०।

(२) स च द्विधा। द्रव्ययोगो, भावयोगश्च-

दव्वे मणवइकाए-जोगा दव्वा दुहा उ भावम्मि।
जोगो सम्मत्ताई, पसत्थ इयरो य विवरीओ॥

द्रव्य इति द्वारपरामर्शः। (मणवइकाए-जोगा दव्वा इति) मनोवाक्काययोग्यानि द्रव्याणि द्रव्ययोगः। इयमत्र भावनाजीवेनागृहीतानि गृहीतानि वा स्वव्यापाराप्रवृत्तानि द्रव्ययोगः। (दुहा उ भावम्मि त्ति) द्विधैव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् द्विप्रकार एव, भावे भावविषयो योगः। तद्यथा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च। तत्र प्रशस्तः सम्यक्त्वाऽऽदिः। आदिशब्दाद् ज्ञानाऽऽवरणपरिग्रहः। प्रशस्तता चास्य प्रशस्यते युज्यते अनेनाऽऽत्माऽपवर्गेणेत्यन्वर्थबलात्। इतरो मिथ्यात्वाऽऽदियोगो विपरीतोऽप्रशस्तः, युज्यतेऽनेनाऽऽत्मा अष्टविधेन कर्मणेति व्युत्पत्तिभावात्। आ० म० १ अ० २ खण्ड। '' दव्वजोगोतिण्हं चउण्हं वा जोगाणं जोगो। अहवा-मणवइ-कायपाओगाणि दव्वाणि। भावजोगो- '' जोगो विरियं थामो, उच्छा-ह परक्कमो तहा चेट्ठा। सत्ती सामत्थं ति य, जोगस्स हवंति पज्जाया '' ॥ १॥ सो य सम्मत्तादिअणुगतो पसत्थो, मिच्छत्त-अण्णाणअविरतिगओ अपसत्थो ''। आ० चू० २ अ०।

(३) मनोवाक्कायाऽऽत्मको योग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवेन्न तूभयरूप इति प्रेरकः प्राह-

नणु मणवइकाओगा, सुभाऽसुभा वि समयम्मि दीसंति।
दव्वम्मि मीसभावो, भवेज्ज न उ भावकरणम्मि॥ १६३६॥

ननु मनोवाक्काययोगाः शुभा अशुभाश्च, मिश्रा इत्यर्थः। एकस्मिन् समये दृश्यन्ते। तत्कथम् ? उच्यते- '' सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मित्ति (१६३५ गाथा) '' तथाहि-किञ्चिदविधिना दानाऽऽदिवितरणं चिन्तयतः शुभाशुभो मनोयोगः। तथा-किमप्यविधिनैव दानाऽऽदिधर्ममुपदिशतः शुभाशुभो वाग्योगः। तथा-किमप्यविधिनैव जिनपूजावन्दनाऽऽदिकायचेष्टां कुर्वतः शुभाशुभः काययोग इति। तदेतदयुक्तम्। कुत इत्याह- '' दव्वम्मि '' इत्यादि। इदमुक्तं भवति-इह द्विविधो योगः द्रव्यतो, भावतश्च। तत्र मनोवाक्कययोगप्रवर्त्तकानि द्रव्याणि, मनोवाक्कायपरिस्पन्दाऽऽत्मको योगश्च द्रव्ययोगः। यस्त्वेतदुभयरूपयोगहेतुरध्यवसायः

स भावयोगः । तत्र शुभाशुभरूपाणां यथोक्तचिन्तादेशनाकायचे-ष्टानां प्रवर्त्तके द्विविधेऽपि द्रव्ययोगे व्यवहारनयदर्शनविवक्षामात्रेण भवेदपि शुभाशुभत्वलक्षणो मिश्रभावः, न तु मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्य-वसायरूपे भावकरणे भावाऽऽत्मके योगे । अयमभिप्रायः-द्रव्ययोगो व्यवहारनयदर्शनेन शुभाशुभरूपोऽपीष्यते । निश्चयनयेन तु सोऽपि शुभोऽशुभो वा केवलः समस्ति, यथोक्तचिन्तादेशनाऽऽदिप्रवर्त्तकद्र-व्ययोगाणामपि शुभाशुभरूपमिश्राणां तन्मेतनाभावात् । मनोवाक्काय-द्रव्ययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे तु भावकरणे भावयोगे शुभाशुभरूपो मिश्रभावो नास्ति, निश्चयनयदर्शनस्यैवाऽऽगमेऽत्र विवक्षितत्वात् । न हि शुभान्यशुभानि वाऽध्यवसायस्थानानि मुक्त्वा शुभाशुभाध्यवसाय-स्थानरूपस्तृतीयो राशिरागमे क्वचिदपीष्यते, येनाध्यवसायरूपे भावयोगे शुभाशुभत्वं स्यादिति भावः । तस्माद्भावयोग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवति, न तु मिश्रः । विशे० । प्रति० ।

(४) योगाश्च दोषाय गुणाय च भवन्ति, तदेतत्प्रतिपादयति-

मणो य वाय काओ य, तिविहो जोगसंगहो ।
ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स य गुणावहा ॥

मनोयोगो, वाग्योगः, काययोगश्चेति त्रिविधो योगसंग्रहो भवति, संक्षेपतस्त्रिधा योगो भवतीत्यर्थः । ते मनोवाक्काययोगा अयुक्तस्या-नुपयुक्तस्य दोषाय कर्मबन्धाय भवन्ति, युक्तस्य तु त एव गुणाऽऽवहाः कर्मनिर्जराकारिणः संपद्यन्ते । बृ० ३ उ० । तदात्मके आश्रवद्वारभेदे, स० ५ सम० । योजनं योगो, जीवस्य वीर्यपरिस्पन्द इति यावत् । यदि वायुज्यते धावनचलनाऽऽदिक्रियासु व्यापार्यत इति योगः । कर्मणि घञ् । यद्वायुज्यते संबध्यते धावनचलनाऽऽदिक्रियासु जीवोऽनेनेति '' पुंनाम्नि ''-॥ ५ । ३ । १३० ॥ इति करणे घञ्प्रत्ययः । कर्म० ३ कर्म० । स० । पं० सं० । आव० । अनु० । भावतः कायाऽऽदिकरणयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषे, स्था० १ ठा० । अष्ट० ।

(५) स च मनोवाक्कायलक्षणसहकारिकारणभेदात्त्रिविधः-

'' परिणामालंवणगह-णसाहणं तेण लद्धनामतिगं ॥ '' क० प्र० । अस्याक्षरगमनिका-परिणमनं परिणामः । अन्तर्भूतणिजर्थात् (व्यञ्जनात्-) ॥ ५ । ३ । १३२ ॥ इति घञ् प्रत्ययः । परिणामा-ऽऽपादानमित्यर्थः । आलम्ब्यत इत्यालम्बनम् , ' अनट् ' । ५ । ३। १२४ । इति भावेऽनट्प्रत्ययः । गृहीतिर्ग्रहणं, तेषां साधनं, साध्यतेऽनेनेति साधनं, योगसंज्ञिवीर्यं '' करणाऽऽधारे '' । ५ । ३ । १२६ । इत्यनट्प्रत्ययः । तथाहि-तेन वीर्यविशेषण योगसंज्ञितेनौ-दारिकाऽऽदिशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो गृह्णाति, गृहीत्वा च प्राणाऽपानाऽऽदिरूपतया परिणमयति, परिणमय्य च तन्निसर्ग-हेतुसामर्थ्यविशेषसिद्धये तानेव पुद्गलानवलम्बते । यथा मन्दशक्तिः कश्चिन्नगरे परिभ्रमणाय यष्टिमवलम्बते, ततस्तदवष्टम्भतो जातसाम-र्थ्यविशेषः सन् तान् प्राणापानाऽऽदिपुद्गलान् विसृजतीति । परिणामाऽऽलम्बनग्रहणसाधनं वीर्यं, तेन च वीर्येण योगसंज्ञिकेन मनोवाक्कायावष्टम्भतो जायमानेन (लद्धनामतिगं ति) लब्धं नामत्रिकं-मनोयोगः, वाग्योगः, काययोग इति । तत्र मनसा करणभूतेन योगो मनोयोगः, वाचा योगो वाग्योगः, कायेन योगः काययोगः । कर्म० ५ कर्म० ।

(६) योगप्ररूपणायाऽऽह-

तिविहे जोगे पण्णत्ते । तं जहा-मणोजोगे, वयजोगे, काय-जोगे ॥

'' तिविहे जोगे '' इत्यादि । इह च वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमस-मुत्थलब्धिविशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यनभिसन्धिपूर्वकमात्मनो वीर्ययोगः । आह च- '' जोगो विरियं थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा । सत्ती सामत्थं ति य, जोगस्स हवंति पज्जाया '' ॥ १ ॥ इति । स च द्विधा-सकरणोऽकरणश्च । तत्रालेश्यस्य केवलिनः कृत्स्नयोर्ज्ञेयदृश्ययोरर्थयोः केवलज्ञानं, दर्शनं चोपयुञ्जानस्य योऽसावपरिस्पन्दः प्रतिघो वीर्यविशेषः सोऽकरणः । स च नेहाधिक्रियते, सकरणस्यैव त्रिस्थानकावतारित्वात् । अत स्तस्यैव व्युत्पत्तिः, तमेव चाऽऽश्रित्य सूत्रव्याख्या युज्यते । जीवः कर्मभिर्येन '' कम्मं जोगनिमित्तं वज्झइ '' इति वचनाद् युङ्क्ते वा प्रयुङ्क्ते यं पर्यायं स योगो, वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितो जीवपरिणामविशेष इति ।

आह च-

'' मणसा वयसा काए-ण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो ।
जीवस्स अप्पणिज्जो, स जोगसन्नो जिणक्खाओ ॥ १ ॥
तेओजोगेण जहा, रत्तत्ताई घडस्स परिणामो ।
जीवकरणप्पभोगे, विरियमवि अप्पपरिणामो ''॥ २ ॥ इति ।

स्था० ३ ठा० १ उ० । औदारिकाऽऽदिशरीरस्याऽऽत्मनो वीर्य-परिणतिविशेषः काययोगः, औदारिकवैक्रि याऽऽहारकशरीरव्या-पाराऽऽहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः । नं० । पं० सं० । स्था० । सूत्र० । मनसा करणेन युक्तस्य जीवस्य योगो वीर्यपर्यायो दुर्बलस्य यष्टिकाद्रव्यवदुपष्टम्भकरो मनोयोग इति । स चतुर्विधःसत्यमनोयोगः, मृषामनोयोगः । सत्यमृषामनोयोगः, असत्यमृषामनोयोगश्चेति । मनसो वा योगः करणकारणानुमतिरूपो व्यापारो मनोयोगः । एवं वाग्योगोऽपि । एवं काययोगोऽपि । नवरं, स सप्तविधः, औदारिकौदारिकमिश्रवैक्रिय-वैक्रि यमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकार्मणकाययो गभेदादिति । तत्रौदारिकाऽऽदयः शुद्धाः सुबोधाः । औदारिकमिश्रस्तु औदारिक एवापरिपूर्णो मिश्र उच्यते । यथा-गुडमिश्रं दधि न गुडतया नापि दधितया व्यपदिश्यते, तत्ताभ्यामपरिपूर्णत्वादेत् , एवमौदारिकमिश्रं कार्मणेन नौदारिकतया, नापि कार्मणतया व्यपदेष्टुं शक्यमपरिपूर्णत्वादिति तस्य मिश्रव्यपदेशः । एवं वैक्रियाऽऽहारकमिश्रावपीति शतकटीकालेशः । प्रज्ञापनाव्याख्यानांशस्त्वेवम्-औदारिकाऽऽद्याः शुद्धास्तत्पर्याप्तकस्य, मिश्रास्त्वपर्याप्तकस्येति । तत्रोत्पत्तावौदारिककायः कार्मणेन, औ-दारिकशरीरिणश्च वैक्रियाऽऽहारककरणकाले वैक्रियाऽऽहारकाभ्यां मिश्रो भवतीति, एवमौदारिकमिश्रः । तथा वैक्रियमिश्रो देवाऽऽद्युत्पत्तौ कार्मणेन कृतवैक्रियस्य वौदारिकप्रवेशाद्धायामौदारिकेण । आहारकमिश्रस्तु साधिताऽऽहारककायप्रयोजनः पुनरौदारिकप्रवेशे औदारिकेणेति कार्मणस्तु विग्रहे केवलिसमुद्घातेनेति सर्व एवायं योगः पञ्चदशधेति । सङ्ग्रहोऽस्य- '' सच्चं मोसं मीसं, असच्चमोसं मणो वए चेव । काओ उराल विक्किय, आहारग मीस कम्म जोगो त्ति '' ॥ १ ॥ स्था० ३ ठा० १ उ० ।

*(७) कायव्यापारविशेषावेव मनोवाग्योगाविष्येते यद्यस्मात्ततोऽय-*मदोषः, न हि कायिको योगः कस्याश्चिदप्यवस्थायां शरीरि-

णां जन्तूनां न वर्त्तते, अशरीरिणां सिद्धानामेव तन्निवृत्तेरित्यतो वाङ्निसर्गाऽऽदिकालेऽपि सोऽस्त्येवेति भावः।

तर्हि समुच्छिद्यतां मनोवाग्योगकथा। नेत्याह-

किं पुण तणुसंरंभे-ण जेण मुंचइ स वाइओ जोगो।
मण्णइ य स माणसिओ, तणुजोगो चेव य विभत्तो॥ ३५९॥

'' किं पुण त्ति '' तथाऽपीत्यस्यार्थः। ततश्चेदमुक्तं भवति-यद्यपि काययोगः सर्वत्रानुगतोऽस्ति, तथाऽपि येन मनोवाग्द्रव्याणामुपादानं करोति, स कायिको योगः। येन तु संरम्भेण तान्येव मुञ्चति, स वाचिकः। येन तु मनोद्रव्याणि चिन्तायां व्यापारयति, स मानसिकः। इत्येवं तनुयोग एवैक उपाधिभेदात्त्रिधा विभक्त इति। एतावन्मात्रभेदेन त्रयोऽप्यमी योगा व्यवह्रियन्ते। परमार्थतस्त्वेक एव सर्वत्र कायिको योग इति। ३५९।

तथा च प्रमाणयन्ति-

तणुजोगो चिअ मणवइ-जोगा काएण दव्वगहणाओ।
आणापाण व्व न चे, तओ वि जोगंतरं होज्जा॥ ३६०॥

तनुयोग एव मनोवाग्योगौ, तदन्तर्गतावेवैतावित्यर्थः। इयं प्रति-ज्ञा, कायेनैव तद्द्रव्यग्रहणादिति हेतुः, प्राणापानवदिति दृष्टान्तः। यथा-कायेन द्रव्यग्रहणात् प्राणापानव्यापारः कायिकयोगान्न भिद्यते, एवं मनोवाग्योगावपीति भावः। न चेदेवं-न चेत् त्वया प्राणापानव्यापार-स्तनुयोगतयाऽभ्युपगम्यते, तर्हि तकोऽपि सोऽपि प्राणापानव्यापारो योगान्तरं स्यात्, ततो योगचतुष्टयप्रसङ्गः, अनिष्टं चैतत्, तस्मा-त्कायिकयोग एवायमिति॥ ३६०॥

अत्र परः प्राह-

तुल्ले तणुजोगत्ते, कीस व जोगंतरं तओ न कओ?
मणवइजोगा व कया, भण्णइ ववहारसिद्धत्थं॥ १६१॥

ननु त्वदुक्तयुक्त्यैव सर्वेषां तुल्ये तनुयोगत्वे मनोवाग्योगवत्कि-मिति तकोऽसौ प्राणापानव्यापारः कायिकयोगाद् योगान्तरं न कृतः, किमिति चतुर्थो योगो न कृत इत्यर्थः? अथ नैवं क्रियते, तर्हि तुल्येऽपि तनुयोगत्वे मनोवाग्योगौ काययोगात्किमिति पृथक् कृतौ? तस्मात्तनुयोगत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वादेक एव काययोगः क्रियताम्। उपाधिभेदेन तु चत्वारो वा योगाः, क्रियन्ताम्। अन्यथा पक्षपातमात्रमेव स्याद्, न तु युक्तिरिति भावः। अत्रोत्तरमाह- ' भण्णइ ' इत्यादि। भण्यतेऽत्रोत्तरं, किं तत्? इत्याह-व्यवहार-स्य लोकलोकोत्तररूढस्य सिद्ध्यर्थं प्रसिद्धिनिमित्तं, मनोवाग्यो-गावेव पृथत्कृतौ, न प्राणापानयोग इति॥ ३६१॥

व्यवहारोऽपि किमितीत्थं प्रवृत्त इत्याह-

कायकिरियाऽऽहरित्तं, नाऽऽणापाणयफलं जह वईए।
दीसइ मणुसो य फुडं, तणुजोगऽब्भंतरो तो सो॥ ३६२॥

कायक्रिया कायव्यापारः, तदतिरिक्तं तदभ्यधिकं प्राणापानफलं न किमपि दृश्यते। यथा वाचो मनसश्च स्फुटं तद् दृश्यते। इदमुक्तं भवति-यथा वाचः स्वाध्यायविधानपरप्रत्यायनाऽऽदिकं, मनसश्च धर्मध्या-नाऽऽदिकं, विशिष्टं स्फुटं कायक्रियाऽतिरिक्तं फलमुपलभ्यते, नैवं प्राणापानयोः, इति तनुयोगाऽभ्यन्तरवर्त्येवासौ प्राणापानव्यापारो व्यवह्रियते, न पृथक्। न च वक्तव्यंजीवत्यसाविति प्रतीतिजननाऽऽदिकं प्राणापानफलमप्युपलभ्यत एवेति; एवंभूतस्य प्रयोजनमात्रस्य सर्वत्र विद्यमानत्वाद् धावनवल्गनाऽऽदिव्यापारस्यापि पृथक् योगत्वप्रसङ्गात्, तस्माद्विशिष्टव्यवहाराङ्गभूतपरप्रत्यायनाऽऽदिफलत्वाद्वाङ्मनो-योगावेव पृथक् कृतौ, न प्राणापानयोग इति। तदेवं तनुयोगो वाङ्निसर्गविषये व्याप्रियमाणो वाग्योगः, मनने तु व्याप्रियमाणो मनोयोगः; वाग्विषयो योगो वाग्योगः, मनोविषयो योगो मनोयोग इति कृत्वा। इत्येवं तनुयोगविशेषावेव वाङ्मनोयोगौ इत्येतद्दर्शितम्॥ ३६२॥

अथवा स्वतन्त्रावेवैतौ इति दर्शयन्नाह-

अहवा तणुजोगादिअ-वइदव्वसमूहजीववावारो।
सो वइजोगो भण्णइ, वाया निसिरिज्जए तेणं॥ ३६३॥
तह तणुवावारादिअ-मणदव्वसमूहजीववावारो।
सो मणजोगो भण्णइ, मन्नइ नेयं जओ तेणं॥ ३६४॥

अथवा-तनुयोगेन कायव्यापारेणाऽऽदृतो गृहीतो योऽसौ वाग्-द्रव्यसमूहः, तेन सहकारिकारणभूतेन तन्निसर्गार्थं योऽसौ जीवस्य व्यापारः, स वाग्योगो भण्यते; वाचा सहकारिकारणभूतया जीवस्य योगो वाग्योग इति कृत्वा। किं पुनस्तेन क्रियते? इत्याह-सैव वाक् तेन जीवव्यापारेण निसृज्यते परप्रत्यायनार्थमुच्यत इति। तथा तनुव्या-पारेणाऽऽदृतो योऽसौ मनोद्रव्यसमूहः, तेन सहकारिकारणभूतेन वस्तुचिन्तनाय योऽसौ जीवस्य व्यापारः, स मनोयोगो भण्यते, मनसा सहकारिकारणभूतेन जीवस्य योगो मनोयोग इति व्युत्पत्तेः। कुतः पुनरयं मनोयोगः? इत्याह-यतस्तेन ज्ञेयं जिनमूर्त्यादिकं मन्यते चिन्त्यतेऽ-तस्तस्य मनोयोगत्वमिति। तदेवमत्र पक्षे वाग्द्रव्यनिसर्गाऽऽदिकाले तनोर्व्यापारः सन्नपि न विवक्षितः, किं तु वाङ्मनोद्रव्यसचिवस्य जीवस्यैवेति स्वतन्त्रावेव वाङ्मनोयोगौ, न तु तनुयोगविशेषभूताविति भावः। आनापानद्रव्यसाचिव्यात्, तन्मोचने जन्तोस्तद्योगोऽपि स्वतन्त्रः पृथक् प्राप्नोतीति चेत्। न। '' भण्णइ ववहारसिद्धत्थं। (३६१ गाथा) '' इत्यादिना प्रतिविहितत्वादिति॥ विशे०॥

(८) सामान्येन योगं प्ररूप्य विशेषतो नारकाऽऽदिषु चतुर्विंशतौ पदेषु तमतिदिशन्नाह-

एवं णेरइयाणं विगलिंदियवज्जाणं० जाव वेमाणियाणं।

'' एवं '' इत्यादि कण्ठ्यं, नवरमतिप्रसङ्गपरिहारायेदमुक्तम्। (विगलिंदियवज्जाणं ति) तत्र विकलेन्द्रिया अपर्याप्तेन्द्रियास्तेषां ह्योके न्द्रियाणां काययोग एव, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां तु काययोगवाभ्योगाविति। स्था० ३ ठा० १ उ०। जी०। (योगानाश्रित्य दण्डकः ' पओग ' शब्दे वक्ष्यते)

उत्पलजीवानधिकृत्य-

ते णं भंते! जीवा किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी? गोयमा! णो मणजोगी, णो वयजोगी, कायजोगी वा, काय-जोगिणी वा॥ भ० ११ श० १ उ०। जी०।

मनुष्याणां योगो यथा-

ते णं भंते! जीवा किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी, अ-जोगी? गोयमा! मणजोगी वि, वइजोगी वि, कायजोगी वि, अजोगी वि॥

योगद्वारे मनोयोगिनो, वाग्योगिनः, काययोगिनोऽयोगिनश्च । तत्रायोगिनः शैलेश्यवस्थां प्रतिपन्नाः । जी० १ प्रति० । (पुलाकाऽऽदीनां योगो ' णिग्गंथ ' शब्दे । संयताऽऽदीनां योगः ' संजय ' शब्दे वक्ष्यते)

(९) नैरयिकाऽऽदिदण्डकेषु समविषमयोगावधिकृत्य योगाधिकारादेवेदमाह-

दो भंते ! णेरइया पढमसमयउववण्णगा किं समजोगी, विसमजोगी ? गोयमा ! सिय समजोगी, सिय विसमजोगी । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सिय समजोगी, सिय विसमजोगी ? गोयमा ! आहारयाओ वा से अणाहारए, अणाहारयाओ वा से आहारए, सियहीणे, सिय तुल्ले, सिय अब्भहिए, जइ हीणे असंखेज्जइभागहीणे वा, संखेज्जइभागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा, असंखेज्जगुणहीणे वा, अइ अब्भहिए असंखेज्जइभागमब्भहिए वा, संखेज्जइभागमब्भहिए वा, संखेज्जगुणमब्भहिए वा, असंखेज्जगुणमब्भहिए वा, से तेणट्ठेणं० जाव सिय समजोगी, सि विसमजोगी, एवं० जाव वेमाणिया ।

'' दो भंते ! '' इत्यादि । प्रथमः समय उपपन्नयोर्यो स्तौ प्रथमसमयोपपन्नौ, उत्पत्तिश्चेह नरकक्षेत्रप्राप्तिः, सा च द्वयोरपि विग्रहेण, ऋजुगत्या वा, एकस्य वा विग्रहेण, अन्यस्य च ऋजुगत्येति । (समजोगि त्ति) समो योगो विद्यते ययोस्तौ समयोगिनौ, एवं विषमयोगिनौ । ''आहारयाओ वा '' इत्यादि । आहारकाद्वा, आहारकं नारकमाश्रित्य (से त्ति) स नारकोऽनाहारकः । अनाहरकाद्वा, अनाहारकं नारकमाश्रित्याहारकः । किमित्याह ?-(सिय हीण त्ति) यो नारको विग्रहाभावेनागत्याऽऽहारक एवोत्पन्नोऽसौ निरन्तराऽऽहारकत्वादुपचित एव, तदपेक्षया च यो विग्रहगत्याऽनाहारको भूत्वोत्पन्नोऽसौ हीनः पूर्वमनाहारकत्वेनानुपचितत्वाद्धीनयोगत्वेन च विषमयोगी स्यादिति भावः । (सिय तुल्ले त्ति) यौ समानसमयया विग्रहगत्याऽनाहारकौ भूत्वोत्पन्नौ, ऋजुगत्या वा गत्योत्पन्नौ, तयोरेक इतरापेक्षया तुल्यः, समयोगी भवतीति भावः । (अब्भहिए त्ति) यो विग्रहाभावेनाहारक एवाऽऽगतोऽसौ विग्रहगत्यनाहारकापेक्षयोपचिततरत्वेनाभ्यधिको विषमयोगीति भावः । इह च- ''आहारयाओ वा से अणाहारए '' इत्यनेन हीनतायाः, '' अणाहारयाओ वा आहारए '' इत्यनेन चाभ्यधिकताया निबन्धनमुक्तम् । तुल्यतानिबन्धनं तु समानधर्मतालक्षणं प्रसिद्धत्वान्नोक्तमिति । भ० २५ श० १ उ० । (सयोगिमनोयोगिवाग्योगिकाययोग्ययोगिकानामल्पबहुत्वं, संसारसमापन्नजीवानां योगाल्पबहुत्वं च ' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६५६ पृष्ठे द्रष्टव्यम् । एकेन्द्रियाऽऽदीनां योगसंभवो, अनन्तानुबन्ध्युदयरहिते मिथ्यादृष्टौ यावन्तो योगास्तेऽपर्याप्तानां योगवृद्धश्च स्थितिबन्ध प्रस्तावे ' बंध ' शब्दे दृश्याः) श्रुतोपदिष्टे संयमहेतौ सम्यङ्मनोवाक्कायव्यापारे च । योगाः श्रुतोपदिष्टाः संयमहेतव व्य० १ उ० । योगाः सम्यङ्मनोवाक्कायव्यापारा इति । अने० ३ अधि० । योगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापार इति च । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । ध्यानविशेषे, षो० २ विव० । आत्माभ्यन्तरपरिणामे, द्वा० १६ द्वा० ।

(१०) कतिविधो योग इत्याह-

सालम्बनो निराल-म्बनश्च योगः पुरो द्विधा ज्ञेयः ।
जिनरूपध्यानं ख-ल्वाद्यस्तत्तत्त्वगस्त्वपरः ॥ १ ॥

सह आलम्बनेन चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रतिमाऽऽदिना वर्त्तते इति सालम्बनः, निरालम्बनश्चाऽऽलम्बनाद्विषयभावापत्तिरूपान्निष्क्रान्तो निरालम्बनः, यो हि छद्मस्थेन ध्यायते, न च स्वरूपेण दृश्यते, तद्विषयो निरालम्बन इति यावत् । योगोध्यानविशेषः, परः प्रधानो, द्विधा ज्ञेयो द्विविधो वेदितव्यः । जिनरूपस्य समवसरणस्थितस्य, ध्यानं चिन्तनं, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, आद्यः प्रथमः, सालम्बनो योगः । तस्यैव जिनस्य तत्त्वं केवलजीवप्रदेशसङ्घातरूपं केवलज्ञानाऽऽदिस्वभावं, तस्मिन् गच्छतीति तत्तत्त्वगः । तुरेवकारार्थः, अपरोऽनलम्बनः, मुक्तपरमात्मस्वरूपध्यानमित्यर्थः ॥ १ ॥

कथं पुनर्जिनरूपं ध्यातव्यमित्याह-

अष्टपृथग्जनचित्त-त्यागाद्योगिकुलचित्तयोगेन ।
जिनरूप ध्यातव्यं, योगविधावन्यथा दोषः ॥ २ ॥

अष्ट च तानि पृथग्जनचित्तानि च, तेषां त्यागात्परिहारात्, योगिकुलस्य चित्तं मनः, तद्योगेन तत्संबन्धि, जिनरूपं परमाऽऽत्मरूपं, ध्यातव्यं ध्येयं, योगविधौ योगविधाने, अन्यथा दोषोऽपराधः ॥ २ ॥

तान्येव चाष्टौ चित्तान्याह-

खेदोद्वेगक्षेपो-त्थानभ्रान्त्यन्यमुदुगाऽऽसङ्गैः ।
युक्तानि हि चित्तानि, प्रबन्धतो वर्जयेद् मतिमान् ॥ ३ ॥

खेदः श्रान्तता, क्रियास्वप्रवृत्तिहेतुः, पथि परिश्रान्तवत् । खेदाभावेऽप्युद्वेगः, स्थानस्थितस्यैव उद्विग्नता, कुर्वाणोऽप्युद्विग्नः करोति न सुखं लभते । क्षेपः क्षिप्तचित्तता, अन्तराऽन्तराऽन्यत्र न्यस्तचित्तवत् । उत्थानं चित्तस्याप्रशान्तवाहिता, मनःप्रभृतीनामुद्रेकाद् मदावष्टब्धपुरुषवत् । भ्रान्तिरतस्मिंस्तद्ग्रहरूपा, शुक्तिकायां रजताध्यारोपवत् । अन्यमुद् अन्यहर्षः । रुग् रोगः, पीडाभङ्गो वा । आसङ्गोऽभिष्वङ्गः । खेदश्चोद्वेगश्च, क्षेपश्चोत्थानं च, भ्रान्तिश्चान्यमुच्च, रुक् चाऽऽसङ्गश्च, तैर्युक्तानि हि संबद्धानि हि, चित्तानि प्रस्तुतान्यष्ट, प्रबन्धतः प्रबन्धेन, वर्जयेत्परिहरेत् , मतिमान् बुद्धिमान् ॥ ३ ॥

खेदाऽऽदींश्चित्तदोषान् फलद्वारेणोपदर्शयन्नाह-

खेदे दार्ढ्याभावा-न्न प्रणिधानमिह सुन्दरं भवति ।
एतच्चेह प्रवरं, कृषिकर्मणि सलिलवद् ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

खेदे चित्तदोषे सति, दार्ढ्याभावाद् दृढत्वाभावाद् , न प्रणिधानमैकाग्र्यम् , इह प्रस्तुते योगे, सुन्दरं भवति । एतच्च प्रणिधानम् , इह योगे, प्रवरं प्रधानं, कृषिकर्मणि धान्यनिष्पत्तिफले, सलिलवज्जलवज्ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

उद्वेगे विद्वेषा-द्विष्टिसमं करणमस्य पापेन ।
योगिकुलजन्मबाधक-मलमेतत्तद्विदामिष्टम् ॥ ५ ॥

उद्वेगे चित्तदोषे, विद्वेषाद्योगविषयतो, विष्टिसमं राजविष्टिकल्पं, करणमस्य योगस्य, पापेन हेतुभूतेन, एतच्चैवंविधं करणम्,

योगिनां कुले यज्जन्म, तस्य बाधकम् । अनेन योगिकुलजन्मापि जन्मान्तरे न लभ्यते इति कृत्वा योगिकुलजन्मबाधकम्, अलमत्यर्थम्, एतत्तद्विदामिष्टं योगविदामभिमतम् ॥ ५ ॥

क्षेपेऽपि चाप्रबन्धा-दिष्टफलसमृद्धये न जात्वेतत् ।
नासकृदुत्पाटनतः, शालिरपि फलाऽऽवहः पुंसः ॥ ६ ॥

क्षेपेऽपि च चित्तदोषे, अप्रबन्धात्प्रबन्धत्वाभावात्, चित्तस्य इष्टफलसमृद्धये विवक्षितफलसमृद्ध्यर्थं योगनिष्पत्तये, न, जातु कदाचित्, एतत्करणं, चित्तं वा भवति । किमित्यन्यत्रान्यत्र चित्तप्रक्षेपे फलसमृद्धिर्न भवतीति ? आहनासकृदनेकशः, उत्पाटनत उत्खननात्, शालिरपि धान्यविशेषः, फलाऽऽवहः फलसंयुक्तः, पुंसः पुरुषस्य यतो भवति ॥ ६ ॥

उत्थाने निर्वेदात्, करणमकरणोदयं सदैवास्य ।
अत्यागत्यागोचित-मेतत्तु स्वसमयेऽपि मतम् ॥ ७ ॥

उत्थाने चित्तदोषे सत्यप्रशान्तवाहितायां, निर्वेदाद्धेतोः, करणं निष्पादनम्, अकरणोदयं भाविकालमाश्रित्याकरणस्यैवोदयो यस्मिन्निति तत्तथा, सदैवास्य योगस्य, न विद्यते त्यागो यस्य कथञ्चिदुषादेयत्वात्तदत्यागं, त्यागायोचितं योग्यम्, अप्रशान्तवाहितादोषात् । अत्यागं च तत्त्यागोचितं च अत्यागत्यागोचितम्, एतत्तु एतत्पुनः, करणमभिसंबध्यते । स्वसमयेऽपि स्वसिद्धान्तेऽपि, मतमिष्टम् ॥ ७ ॥

भ्रान्तौ विभ्रमयोगद्, न हि संस्कारः कृतेतराऽऽदिगतः ।
तदभावे तत्करणं, प्रक्रान्तविरोध्यनिष्टफलम् ॥ ८ ॥

भ्रान्तौ चित्तदोषे सति, विभ्रमयोगान्मनोविभ्रमसंबन्धात्, न हि संस्कारो नैव वासनाविशेषः, कृतेतराऽऽदिगतः-इदं मया कृतमितरदकृतम् । आदिशब्दादिदं मयोचरितमिदमनुचरितम् । एतद्गत एतद्विषयः । न हि मनोविभ्रमे कृतेतराऽऽदिसंस्कारोभवति । तदभावे संस्काराभावे, तत्करणंतस्य प्रस्तुतस्य योगस्य करणं, प्रक्रान्तविरोधि प्रस्तुतयोगविरोधि, अनिष्टफलमिष्टफलरहितम् ॥ ८ ॥

अन्यमुदि तत्र रागात्, तदनादरताऽर्थतो महापाया ।
सर्वानर्थनिमित्तं, मुद्विषयाङ्गारवृष्ट्याभा ॥ ९ ॥

अनुष्ठीयमानादन्यत्र मुत्प्रमोदः, तस्यां सत्यां चित्तदोषरूपायां, तत्रान्यस्मिन् वा, रागादभिलाषाऽतिरेकात्, तदनादरता अनुष्ठीयमानानादरभावो, अर्थतः सामर्थ्यात्, महापाया महानपायो यस्याः सकाशात्सा तथा, सर्वानर्थनिमित्तं सर्वेषामनर्थानां हेतुः, तदनादरताऽभिसंबध्यते । मुद्विषयाङ्गारवृष्ट्याभामुदो हर्षस्य विषयो यस्तस्मिन्नङ्गारवृष्ट्याभाऽङ्गारवृष्टिप्रतिच्छायाऽङ्गारवृष्टिसदृशी, प्रमोदविषयार्थोपघातकारिणीत्यर्थः । इयं चान्यमुत्सुन्दरेष्वपि शास्त्रोक्तेषु चैत्यवन्दनास्वाध्यायकरणाऽऽदिषु श्रुतानुरागाच्चैत्यवन्दनाऽऽद्यनाद्रियमाणस्य तत्करणवेलायामपि तदुपयोगाभावेनेतरत्राऽऽसक्तचित्तवृत्तेः सदोषा, न हि शास्त्रोक्तयोरनुष्ठानयोरयं विशेषः समस्तियदुतैकमादरविषयो, अन्यदनादरविषय इति ॥ ९ ॥

रुजि निजजात्युच्छेदात्, करणमपि हि नेष्टसिद्धये नियमात् ।
अस्येत्यननुष्ठानं, तेनैतद् बन्ध्यफलमेव ॥ १० ॥

रुजि रोगे चित्तदोषे सति, निजजात्युच्छेदादिति । कोऽर्थः ? करणमपि हि नेष्टसिद्धये नाभिमतफलनिष्पत्तये, नियमान्नियमेत, अस्य प्रस्तुतस्यार्थस्य, इत्यननुष्ठानम्-इतिहेतोरननुष्ठानमकरणं, तेन कारणेन, एतत्करणं, बन्ध्यफलमेवेष्टफलाभावात् । इयं हि रुग्भङ्गरूपा पीडारूपा वाऽनुष्ठानजातेरुच्छेदकरणद्वारेण सर्वानुष्ठानानां बन्ध्यफलत्वाऽऽपादनाय प्रभवति, तेन सदोषा विवेकिना परिहर्तव्येति दर्शिता ॥ १० ॥

आसङ्गेऽप्यविधाना-दसङ्गसक्त्युचितमित्यफलमेतत् ।
भवतीष्टफलदमुचै-स्तदप्यसङ्गं यतः परम् ॥ ११ ॥

आसङ्गेऽपि चित्तदोषे सति विधीयमानानुष्ठाने इदमेव सुन्दरमित्येवं रूपे, अविधानाच्छास्त्रोक्तविधेरभावात्, सक्तिरनवरतप्रवृत्तिर्न विद्यते सङ्गो यस्यां सेयमसङ्गाऽभिष्वङ्गाभाववती, असङ्गा चासौ सक्तिश्च, तस्या उचितं योग्यमिति कृत्वा, अफलमेतदिष्टफलरहितमेतदनुष्ठानम्, भवति जायते, इष्टफलदमिष्टफलसंपादकम्, उच्चैरत्यर्थं, तदपि शास्त्रोक्तमनुष्ठानम्, असङ्गमभिष्वङ्गरहितम्, यतो यस्मात्, परमं प्रधानम् । असङ्गयुक्तं ह्यनुष्ठानं तन्मात्रगुणस्थानकस्थितिकार्येव, न मोहोन्मूलनद्वारेण केवलज्ञानोत्पत्तये प्रभवति, तस्मात्तदर्थिना आसङ्गस्य दोषरूपता विज्ञेयेति ॥ ११ ॥

एवमष्टपृथग्जनचित्तदोषान् प्रतिपाद्य, तत्त्यागद्वारेण योगिचित्तमुपदर्शयन्नाह-

एतद्दोषविमुक्तं, शान्तोदात्ताऽऽदिभावसंयुक्तम् ।
सततं परार्थनियतं, सङ्क्लेशविवर्जितं चैव ॥ १२ ॥

एतद्दोषविमुक्तमष्टचित्तदोषकवयुक्तम्, शान्तोदात्ताऽऽदिभावसंयुक्तम्शान्त उपशमवान् । यथोक्तम्- '' न यत्र दुःखं न सुखं न रागो, न द्वेषमोहौ न च काचिदिच्छा । रसः स शान्तो विहितो मुनीनां, सर्वेषु भावेषु समः प्रदिष्टः ॥ १ ॥ '' उदात्त उदारः । यत उक्तम्- '' अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ १ ॥ '' आदिशब्दाद्गम्भीरधीराऽऽदिभावपरिग्रहः । तैः संयुक्तं समन्वितम्, सततमनवरतम्, परार्थनियतं परोपकारनियतवृत्ति, सङ्क्लेशविवर्जितं चैवसङ्क्लेशो विशुद्धिप्रतिपक्षः कालुष्यं, तेन विरहितं चैव ॥ १२ ॥

सुस्वप्नदर्शनपरं, समुल्लसद्गुणगणौघमत्यन्तम् ।
कल्पतरुबीजकल्पं, शुभोदयं योगिनां चित्तम् ॥ १३ ॥

सुस्वप्नदर्शनपरं-शोभनाः स्वप्नाःसुस्वप्नाःश्वेतसुरभिपुष्पवस्त्राऽऽतपत्रचामराऽऽदयः, तद्दर्शनप्रवृत्तम्, समुल्लसन् गुणगणौघो गुणनिकरप्रवाहो यस्मिंस्तत्समुल्लसद्गुणगणौघम्, अत्यन्तमतिशयेन, कल्पतरुबीजकल्पं, कल्पतरोबीजं स्वजनकं कारणं तेन तुल्यम्, शुभोदयं योगिनां चित्तं, शुभ उदयोऽस्येति शुभोदयम् ॥ १३ ॥

कस्य पुनरेवंविधं विशेषेण योगिनश्चित्तं भवतीत्याह-

एवंविधमिह चित्तं, भवति प्रायः प्रवृत्तिचक्रस्य ।
ध्यानमपि शस्तमस्य, त्वधिकृतमित्याहुराचार्याः ॥ १४ ॥

एवंविधमेवंस्वरूपम्, इह प्रक्रमे, चित्तं मनः, भवति सम्भवति, प्रायो बाहुल्येन, प्रवृत्तचक्रस्य प्रवृत्तरात्रिन्दिवानुष्ठानसमूहस्य योगिनः, ध्यानमपि पूर्वोक्तस्वरूपम्, शस्तं प्रशस्तम्, अस्य त्वस्यैव, अधिकृतं प्रस्तुतम्, इत्याहुराचार्याः सुरयो ब्रुवते ॥ १४ ॥

कथं पुनस्तद्ध्यानं देशाऽऽद्यपेक्षया भवतीत्याह-

शुद्धे विविक्तदेशे, सम्यक्संयमितकाययोगस्य ।
कायोत्सर्गेण दृढं, यद्वा पर्यङ्कबन्धेन ॥ १५ ॥

शुद्धे शुचौ, विविक्तदेशे जनाऽऽकीर्णाऽऽदिरहिते, सम्यगवैपरीत्येन, संयमितकाययोगस्य नियमितसर्वकायचेष्टस्य, कायोत्सर्गेण उर्द्धव स्थानरूपेण, दृढमत्यर्थम्, यद्वापर्यङ्कबन्धेनाऽऽसनविशेषरूपेण॥ १५ ॥

साध्वागमानुसारात्, चेतो विन्यस्य भगवति विशुद्धम् ।
स्पर्शाऽऽवेधात्तत्सि-द्धयोगिसंस्मरणयोगेन ॥ १६ ॥

साधु यथा भवत्येवमागमानुसारात् सिद्धान्तानुसारेण, चेतश्चित्तम्, विन्यस्य निक्षिप्य, भगवति जिने, विशुद्धं विशुद्धिमत्, स्पर्शस्तत्त्वज्ञानम्, तस्याऽऽवेधात् संस्कारात्, तस्मिन्ध्याने, सिद्धाः प्रतिष्ठिता लब्धाऽऽत्मलाभा ये योगिनस्तेषां संस्मरणयोगः स्मरणव्यापारः, तेन। यो हि यत्र कर्मणि सिद्धस्तदनुस्मरणं तत्रेष्टफलसिद्धये भवति ॥ १६ ॥ षो० १४ विव०।

' योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ' इति पातञ्जलोक्ते सर्वविषयेभ्योऽन्तःकरणवृत्तेर्निरोधे, वाच०। **योगो** मनोवाक्कायनिरोध इति। संथा०। योगश्चेन्द्रियरोधनमिति। उत्त० १२ अ०। '' मोक्षेण योजनादेव, योगो यत्र निरुच्यते। लक्षणं तेन तन्मुख्यहेतुव्यापारताऽस्य तु ॥ १ ॥ '' इत्युक्तलक्षणे मोक्षमुख्यहेतौ व्यापारे, द्वा०।

(११) योगस्य मोक्षहेतुत्वमेव सावयन्नाह-

मोक्षहेतुर्यतौ योगो, भिद्यते न ततः क्वचित् ।
साद्ध्याभेदात्, तथाभावे, तूक्तिभेदो न कारणम् ॥ ३ ॥

मोक्षहेतुर्निवृत्तिनिमित्तं, यतो यस्मात् कारणात्, योगः, सर्वैर्योगशास्त्रकारैः संगीयते। भिद्यते भेदमनुभवति, न नैव, ततो मोक्षहेतुत्वाद्धेतो, क्वचिद्योगशास्त्रे। एतदपि कुतः ? इत्याह-साद्ध्याभेदात्-साध्यस्य योगाभ्यासनिष्पाद्यस्य मोक्षस्याभेदादेकरूपत्वात्। सकलकर्मक्लेशक्षयलक्षणो हि मोक्षः, न तत्र कश्चिद्भेद इति। एवंसति यत्सिद्धं तदाह-तथाभावे तु मोक्षाभेदभावे पुनः सति, उक्तिभेदो योगशास्त्रे स्वात्माऽऽदीनां योगाङ्गानां यो भणितः सः, न कारणं हेतुर्योगभेदस्य। न हि नाममात्रभेदेन भावा भिद्यन्ते, एकस्यापि शक्राऽऽदेरनेकेन नाम्ना व्यवह्रियमाणत्वात्॥ ३॥

अथात्रैव विशेषमाह-

मोक्षहेतुत्वमेवास्य, किं तु यत्नेन धीधनैः ।
सद्गोचराऽऽदिसंशुद्धं, मृग्यं स्वहितकाङ्क्षिभिः ॥ ४ ॥

मोक्षहेतुत्वमेव मोक्षनिमित्तभाव एव, नापरं किञ्चित्, अस्य योगस्य, किं तु केवलं, यत्नेनाऽऽदरेण, धीधनैर्बुद्धिमद्भिः, मृग्यमित्युत्तरेण योगः। कीदृशम् ? इति। आहसताऽनुपचरितेन, गोचराऽऽदिनाऽनन्तरमेव दर्शयिष्यमाणेन संशुद्धमनवद्यं, मृग्यम्। कीदृशैरात्माऽऽदौ मोक्षहेतुर्योगो युज्यते इत्येवंरूपेण निपुणोहापोहयोगेन गवेषणीयम् ? स्वहितकाङ्क्षिभिरात्मकल्याणचिन्तकैरयोगवञ्चनायां हि सर्वपुरुषार्थवञ्चना नियमात्संपद्यते। यदवाचि- '' एसो य उत्तमो जं, पुरिसत्थो एत्थ वंचिओ नियमा। वंचिज्जइ सव्वेसुं, कल्लाणेसुं न संदेहो ॥ १ ॥ '' ॥ ४ ॥

अथ कस्मादस्य गोचराऽऽदिशुद्धिर्मृग्यते ? इत्याशङ्क्याऽऽह-

गोचरश्च स्वरूपं च, फलं च यदि युज्यते ।
अस्य योगस्ततोऽयं यद् मुख्यशब्दार्थयोगतः ॥ ५ ॥

गोचरो विषयः परिणामिजीवलक्षणः, स्वरूपं सर्वार्थेषूचितप्रवृत्तिलक्षणम्, फलं मोक्षाऽऽत्मकम्, चकारा उक्तसमुच्चये। यदि इत्यभ्युपगमे। युज्यते घटते, अस्य योगस्य, योगः। ततो गोचराऽऽदियोगाद्, अथं प्रस्तुतो, यद्यस्मात्स्यात्। एतदपि कुतः ? इत्याह-मुख्यस्यामुपचरितस्य शब्दार्थस्य मोक्षेण योजनाद्योग इत्येवंलक्षणस्य योगतो घटनात्॥ ५ ॥ यो० वि०।

(१२) योगस्य लक्षणं निरूपयन्नाह-

मोक्षेण योजनादेव, योगो ह्यत्र निरुच्यते ।
लक्षणं तेन तन्मुख्य-हेतुव्यापारताऽस्य तु ॥ १ ॥

योगो हि योगशब्दो हि, अत्र लोके, प्रवचने वा; मोक्षेण योजनादेव, निरुच्यते व्युत्पाद्यते, तेनास्य योगस्य तु, तन्मुख्यहेतुव्यापारता, लक्षणं, निरुक्तार्थस्याप्यनतिप्रसक्तस्य लक्षणत्वानपायात्॥ १॥

मुख्यत्वं चान्तरङ्गत्वात्, फलाऽऽक्षेपाच्च दर्शितम् ।
चरमे पुद्गलाऽऽवर्त्ते, यत एतस्य संभवः ॥ २ ॥
न सन्मार्गाभिमुख्यं स्या-दावर्त्तेषु परेषु तु ।
मिथ्यात्वच्छन्नबुद्धीनां, दिङ्मूढानामिवाङ्गिनाम् ॥ ३ ॥

मुख्यत्वं चान्तरङ्गत्वान्मोक्षं प्रत्युपादानत्वात्, फलाऽऽक्षेपात्फलजननं प्रत्यविलम्बत्वाच्च; दर्शितं प्रवचने, यतो यस्माद्, चरमे पुद्गलाऽऽवर्त्ते, एतस्य योगस्य संभवः। इत्थं ह्यभव्यदुरभव्य-क्रियाव्यवच्छेदः कृतो भवति, एकस्य मोक्षानुपादानत्वादन्यस्य च फलविलम्बादिति ध्येयम्॥ २॥ नेति स्पष्टः॥ ३॥

तदा भवाभिनन्दी स्यात्, संज्ञाविष्कंभणं विना ।
धर्मकृत् कश्चिदेवाङ्गी, लोकपङ्क्तिकृताऽऽदरः ॥ ४ ॥

तदाऽचरमेष्वावर्त्तेषुः अङ्गी प्राणी, संज्ञाविष्कम्भणम् आहाराऽऽदिसंज्ञोदयवञ्चनलक्षणं विना, कश्चिदेव धर्मकृल्लौकिकलोकोत्तरप्रव्रज्याऽऽदिधर्मकारी, लोकपङ्क्तौ लोकसदृशभावसंपादन-रूपायां, कृताऽऽदरः कृतयत्नः स्यात्॥ ४॥

क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो, मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्याद्, निष्फलाऽऽरम्भसङ्गतः ॥ ५ ॥

क्षुद्रः कृपणः, लोभरतिर्याच्ञाशीलः, दीनः सदैवादृष्टकल्याणः, मत्सरी परकल्याणदुःस्थितः, भयवान्नित्यभीतः, शठो मायावी, अज्ञो मूर्खः, भवाभिनन्दी- '' असारोऽप्येष संसारः, सारवानिव लक्ष्यते। दधिदुग्धाम्बुताम्बूलपण्यपण्याङ्गनाऽऽदिभिः '' । १ । इत्यादि चनैः संसाराभिनन्दनशीलः, स्याद्भवेद्, निष्फलाऽऽरम्भसङ्गतः सर्वहातत्त्वाभिनिवेशाद् बन्ध्यक्रियासंपन्नः॥ ५॥

लोकाऽऽराधनहेतोर्या, मलिनेनान्तराऽऽत्मना ।
क्रियते सत्क्रिया सा च, लोकपङ्क्तिरुदाहृता ॥ ६ ॥

लोकाऽऽराधनहेतोर्लोकचित्ताऽऽवर्जननिमित्तं, या मलिनेन कीर्तिस्पृहाऽऽदिमालिन्यवताऽन्तरात्मना चित्तरूपेण, क्रियते सत्क्रिया शिष्टसमाचाररूपा, सा च योगनिरूपणायां लोकपङ्क्तिरुदाहृता लोकशास्त्रज्ञैः॥ ६॥

महत्यल्पत्वबोधेन, विपरीतफलाऽऽवहा।
भवाभिनन्दिनो लोक-पङ्क्त्या धर्मक्रिया मता ॥ ७ ॥

महती अधरीकृतकल्पद्रुचिन्तामणिकामधेनौ धर्मे, अल्पत्वबोधेनातितुच्छकीर्त्यादिमात्रहेतुत्वज्ञानेन, विपरीतफलाऽऽवहा दुरन्तसंसारानुबन्धिनो, भवाभिनन्दिनो जीवस्य, लोकपङ्क्त्या धर्मक्रिया मता, नात्र केवलमफलत्वमेव, किं तु विपरीतफलत्वमिति भावः ॥ ७ ॥

धर्मार्थं सा शुभायापि, धर्मस्तु न तदर्थिनः।
क्लेशोऽपीष्टो धनार्थं हि, क्लेशार्थं जातु नो धनम् ॥ ८ ॥

धर्मार्थं सम्यग्दर्शनाऽऽदिमोक्षबीजाऽऽधाननिमित्तम्, सा लोकपङ्क्तिः, दानसंमानोचितसंभाषणाऽऽदिनिश्चित्रैरुपायैः शुभाय कुशलानुबन्धायापि। धर्मस्तु तदर्थिनो लोकपङक्त्यर्थिनो न शुभाय, हि यतो, धनार्थं क्लेशोऽपीष्टोधनार्थिनां राजसेवाऽऽदौ प्रवृत्तिदर्शनात्। क्लेशार्थं जातु कदाचिद्, धनं नेष्टम्, न हि 'धनाद् मे क्लेशो भवतु' इति कोपीच्छति प्रेक्षावान्।

तदिदमुक्तं योगविन्दौ-

'' धर्मार्थं लोकपङ्क्तिः स्यात्, कल्याणाङ्गं महामतेः।
तदर्थं तु पुनर्धर्मः, पापायाल्पधियामलम् ॥ ६० ॥ ''

तथा-

'' जनप्रियत्वं शुद्धं, सद्धर्मसिद्धिफलदमलम्।
धर्मप्रशंसनाऽऽदे-र्बीजाऽऽधानाऽऽदिभावेन ॥ १ ॥ '' ॥ ८ ॥ इति।

अनाभोगवतः साऽपि, धर्महानिकृतो वरम्।
शुभा तत्त्वेन नैकाऽपि, प्रणिधानाऽऽद्यभावतः ॥ ९ ॥

अनाभोगवतः संमूर्छनजप्रायस्य स्वभावत एव वैनयिकप्रकृतेः, साऽपि लोकपङ्क्त्या धर्मक्रियाऽपि, धर्महानिकृतो धर्मे महत्वस्यैव यथास्थितस्याज्ञानाद्भवोत्कटेच्छाया अभावेन महत्यल्पत्वाप्रतिपत्तेर्धर्महान्यकारिणो, वरमन्यापेक्षया मनाक् सुन्दरा, तत्त्वेन तत्त्वतः, पुनर्नैकाऽपि प्रणिधानाऽऽद्यभावतो नैकाऽपि वरं, प्रणिधानाऽऽदीनां क्रियाशुद्धिहेतुत्वात् ॥ ९ ॥

तानेवाऽऽह-

प्रणिधानं प्रवृत्तिश्च, तथा विघ्नजयस्त्रिधा।
सिद्धिश्च विनियोगश्च, एते कर्मशुभाऽऽशयाः ॥ १० ॥

कर्मणि क्रियायां, शुभाऽऽशयाः स्वपुष्टिशुद्ध्यनुबन्धहेतवः-शुभपरिणामाः; पुष्टिरुपचयः, शुद्धिश्च ज्ञानाऽऽदिगुणविघातिघातिकर्मह्रासोत्थनिर्मलता, इत्यवधेयम् ॥ १० ॥

प्रणिधानं क्रियानिष्ठ-मधोवृत्तिकृपाऽनुगम्।
परोपकारासारं च, चित्तं पापविवर्जितम् ॥ ११ ॥

प्रणिधानं क्रियानिष्ठमधिकृतधर्मस्थानादविचलितस्वभावम्, अधोवृत्तिषु स्वप्रतिपन्नधर्मस्थानादधस्ताद्वर्त्तमानेषु, प्राणिषु कृपाऽनुगं करुणाऽन्वितं, न तु हीनगुणत्वेन तेषु द्वेषसमन्वितं, परोपकारसारं च परार्थनिष्पत्तिप्रधानं च, चित्तं पापविवर्जितं सावद्यपरिहारेण निरवद्यवस्तुविषयम् ॥ ११ ॥

प्रवृत्तिः प्रकृतस्थाने, यत्नातिशयसंभवा।
अन्याभिलाषरहिता, चेतःपरिणतिः स्थिरा ॥ १२ ॥

प्रवृत्तिः प्रकृतस्थानेऽधिकृतधर्मविषये, यत्नातिशयसंभवा पूर्वप्रयत्नाधिकोत्तरप्रयत्नजनिता, अन्याभिलाषेणाधिकृतेतरकार्याभिलाषेण रहिता, चेतसोऽन्तरात्मनः, परिणतिः स्थिरा एकाग्रा, स्वविषय एव यत्नातिशयाज्ज्ञाता तत्रैव च तज्जननीत्यर्थः। १२।

बाह्यान्तर्व्याधिमित्यात्व-जयव्यङ्ग्याऽऽशयाऽऽत्मकः।
कण्टकज्वरमोहानां, जयैर्विघ्नजयः समः ॥ १३ ॥

बाह्यव्याधयः शीतोष्णाऽऽदयः, अन्तर्व्याधयश्च ज्वराऽऽदयः, मिथ्यात्वं भगवद्वचनाश्रद्धानं, तेषां जयस्तत्कृतवैक्लव्यनिराकरणं तद्व्यङ्ग्याऽऽशयाऽऽत्मकः कण्टकज्वरमोहानां जयैः समो विघ्नजयः। इत्थं च हीनमध्यमोत्कृष्टत्वेनास्य त्रिविधत्वं प्रागुक्तं व्यक्तीकृतम्। तथाहि-कस्यचित् पुंसः कण्टकाऽऽकीर्णमार्गावतीर्णस्य कण्टकविघ्नो विशिष्टगमनविघः तद्हेतुः, तद्रहिते तु पथि प्रवृत्तस्य निराकुलं गमनं संजायते, एवं कण्टकविघ्नजयसमः प्रथमो विघ्नजयः। तथा-तस्यैव ज्वरवेदनाऽभिभूतशरीरस्य विह्वलपादन्यासस्य निराकुलं गमनं चिकीर्षारपि तत्कर्तुमशक्नुवतः कण्टकविघ्नादप्यधिको ज्वरविघ्नः, तज्जयस्तु निराकुलप्रवृत्तिहेतुः। एवं ज्वरविघ्नसमो द्वितीयो विघ्नजयः। तस्यैव चाध्वनि जिगमिषोर्दिङ्मोहकल्पो मोहविघ्नः, तेनाभिभूतस्य प्रेर्यमाणस्याप्यध्वनीनैर्न गमनोत्साहः कथञ्चित्प्रादुर्भवति, तज्जयस्तु स्वरसतो मार्गगमनप्रवृत्तिहेतुः। एवमिह मोहविघ्नजयसमस्तृतीयो विघ्नजयः। इति फलैकोन्नेयाः खल्वेते ॥ १३ ॥

सिद्धिस्ताच्विकधर्माऽऽप्तिः, साक्षादनुभवाऽऽत्मिका।
कृपोपकारविनया-न्विता हीनाऽऽदिषु क्रमात् ॥ १४ ॥

सिद्धिः तात्त्विकस्याभ्यासशुद्धस्य, न त्वाभ्यासिकमात्रस्य, धर्मस्य अहिंसाऽऽदेः, आप्तिरुपलब्धिः, साक्षादनुपचारेण, अनुभवाऽऽत्मिका आत्मन आत्मना आत्मनि संवित्तिरूपा ज्ञानदर्शनचारित्रैकमूर्तिका, हीनाऽऽदिषु क्रमात् कृपोपकारविनयान्विता, हीने कृपाऽन्विता, मध्यमे उपकारान्विता, अधिके च विनययुता ॥ १४ ॥

अन्यस्य योजनं धर्मे, विनियोगस्तदुत्तरम्।
कार्यमन्वयसंपत्त्या, तदबन्ध्यफलं गतम् ॥ १५ ॥

अन्यस्य स्वत्यतिरिक्तस्य, योजनं धर्मेऽहिंसाऽऽदौ विनियोगः, तदुत्तरं सिद्ध्युत्तरं कार्यम्। तदन्वयसंपत्त्याऽविच्छेदसिद्ध्या, अबन्ध्यफलमव्यभिचारिफलं मतम्। स्वपरोपकारबुद्धिलक्षणस्यानेकजन्मान्तरसन्ततोद्बोधेन प्रकृष्टधर्मस्थानावाप्तिहेतुत्वात् ॥ १५ ॥

एतैराशययोगैस्तु, विना धर्माय न क्रिया।
प्रत्युत प्रत्यपायाय, लोभक्रोधक्रिया यथा ॥ १६ ॥

एतैः प्रणिधानाऽऽदिभिः, आशययोगैस्तु विना धर्माय न क्रिया बाह्यकायव्यापाररूपा, प्रत्युतान्तर्मालिन्यसद्भावात् प्रत्यपायायेष्यमाणप्रतिपक्षविघ्नाय, यथा लोभक्रोधक्रिया कूटतुलाऽऽदिसङ्ग्रामाऽऽदिलक्षणा। तदुक्तम्- '' तत्त्वेन तु पुनर्नैकाऽप्यत्र धर्म-क्रिया मता। तत्प्रवृत्त्यादिवैगुण्या-ल्लोभक्रोधक्रिया यथा ॥ '' ॥ ६२ ॥ (यो० वि०) ॥ १६ ॥

तस्मादचरमाऽऽवर्त्ते-ष्वयोगो योगवर्त्मनः।
योग्यत्वेऽपि तृणाऽऽदीनां, घृतत्वाऽऽदेस्तदा यथा ॥ १७ ॥

तस्मात्प्रणिधानाऽऽद्यभावात्, अचरमाऽऽवर्त्तेषु योगवर्त्मनो योगमार्गस्य, अयोगोऽसंभवः। योग्यत्वेऽपि योगस्वरूपयोग्यत्वेऽपि, तृणाऽऽदीनां, तदा तृणाऽऽदिकाले, यथा घृतत्वाऽऽदेरयोगःतृणाऽऽदिपरिणामकालेतृणाऽऽदेर्घृताऽऽदिपरि-

णामस्वरूपयोग्यत्वेऽपि घृताऽऽदिपरिणामसहकारियोग्यताऽभावाद् यथा न घृताऽऽदिपरिणामः, तथा प्रकृतेऽपि भावनीयम्। अत एव सहकारि-योग्यताऽभाववति तत्र काले कार्यानुपधानम्।

तद् योग्यताऽभाववत्त्वेनैव साधयितुमभिप्रेत्याऽऽह
(योगविन्दौ) हरिभद्रसूरिः-

'' तस्मादचरमाऽऽवर्त्ते-ष्वध्यात्मं नैव युज्यते।
कायस्थितितरोर्यद्व-त्तज्जन्मस्वामरं सुखम्॥ ६३॥
तैजसानां च जीवानां, भव्यानामपि नो तदा।
यथा चारित्रमित्येवं, नान्यदा योगसंभवः॥ ६४॥ '' इति। १७।

नवनीताऽऽदिकल्पस्त-चरमाऽऽवर्त इष्यते।
अत्रैव विमलो भावो, गोपेन्द्रोऽपि यदभ्यधात्॥ १८॥

नवनीताऽऽदिकल्पो घृतपरिणामनिबन्धननवनीतदधिदुग्धाऽऽ-दितुल्यः, तत्तस्मात्, चरमाऽऽवर्त्त इष्यते योगपरिणामनिबन्धनम्। अत्रैव चरमाऽऽवर्त्त एव, विमलो भावो भवाभिष्वङ्गाभाषाद्भ-वति। यद्गोपेन्द्रोऽपि अभ्यधाद् भङ्ग्यन्तरेण॥ १८॥

अनिवृत्ताधिकारायां, प्रकृतौ सर्वथैव हि।
न पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिन्, जिज्ञासाऽपि प्रवर्तते॥ १९॥

अनिवृत्तः प्रतिलोमशक्त्याऽन्तरलीनोऽधिकारः पुरुषाभिभवनरूपो यस्यास्तस्यां प्रकृतौ, सर्वथैव हि सर्वैरेव प्रकारैः, अपुनर्बन्ध-स्थानस्याप्यप्राप्तावित्यर्थः। न नैव, पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिन् वक्तुमुप-क्रान्ते, जिज्ञासाऽपि ज्ञातुमिच्छाऽपि, किं पुनस्तदभ्यासः ? इत्य-पिशब्दार्थः। प्रवर्तते संजायते॥ १९॥

साधिकारप्रकृतिम-त्यावर्त्ते हि नियोगतः।
पथ्येच्छैव न जिज्ञासा, क्षेत्ररोगोदये भवेत्॥ २०॥

साधिकारा पुरुषाभिभवप्रवृत्ता या प्रकृतिः, तद्वत्यावर्त्ते हि, नियोगतो निश्चयतः, जिज्ञासा तत्त्वमार्गपरिज्ञानेच्छा, न भवेत्। क्षेत्ररोगोदये इव पथ्येच्छा। क्षेत्ररोगो नामरोगान्तराऽऽधारभूतः कुष्ठाऽऽदिरोगः, ततो यथा पथ्यापथ्यधीविपर्यासः, तथा प्रकृतेऽपि॥ २०॥

पुरुषाभिभवः कश्चित, तस्यामपि हि हीयते।
युक्तं तेनैतदधिक-मुपरिष्टाद् भणिष्यते॥ २१॥

तस्यामपि हि जिज्ञासायामपि हि सत्यां, कश्चित्पुरुषाभिभवः, प्रकृतेर्हीयते निवर्तते, न ह्येकान्तेनाक्षीणपापस्य विमलो भावः संभवति, तैनेतद्गोपेन्द्रोक्तं युक्तम्। अधिकमपरिणाम्यात्मपक्षे तदभिभवतन्नि-वृत्त्याद्यनुपपत्तिलक्षणम्, उपरिष्टादग्रिमद्वात्रिंशिकायां, भणिष्यते॥ २१॥

भावस्य मोक्षहेतुत्वं, तेन मोक्षे व्यवस्थितम्।
तस्यैव चरमाऽऽवर्त्ते, क्रियाया अपि योगतः॥ २२॥

तेन भावस्यान्त परिणामस्य, मोक्षे मुख्यहेतुत्वं व्यवस्थितं, तेन स एव योग इत्युक्तं भवति। तस्यैव योगतश्चरमाऽऽवर्ते क्रियाया अपि मोक्षे मुख्यहेतुत्वम्, अतस्तस्या अपि योगत्वमिति भावः॥ २२॥

रसानुवेधातप्रस्य, हेमत्वं जायते यथा।
क्रियाया अपि सम्यक्त्वं, तथा भावानुवेधनः॥ २३॥

ताम्रस्य रसानुवेधात्सिद्धरससंपर्कात्, यथा हेमत्वं जायते, तथा क्रियाया अपि भावानुवेधतः सम्यक्त्वं मोक्षसंपादनशक्तिरूपम्॥ २३॥

भावसात्म्ये त एवास्याः, भङ्गेऽपि व्यक्तमन्वयः।
सुवर्णघटतुल्यां तां, ब्रुवते सौगता अपि॥ २४॥

अत एवास्याः क्रियाया भावसात्म्ये स्वजननशक्त्या भावव्याप्तिलक्षणे सति, भङ्गेऽपि तथाविधकषायोदयान्नाशेऽपि, व्यक्तं प्रकटम्, अन्वयो भावानुवृत्तिलक्षणः, तदुव्यक्त्यभावेऽपि तच्छक्त्यनपगमात्। अत एव तां भावशुद्धां क्रियां, सौगता अपि सुवर्णघटतुल्यां ब्रुवते। यथा हि सुवर्णघटो भिद्यमानोऽपि न सुवर्णानुबन्धं मुञ्चति, एवं शुभक्रिया तथाविधकषायोदयाद्भग्नाऽपि शुभफलैवेति। तदिदमुक्तम्- '' भाववृद्धिरतोऽवश्यं, सानुबन्धं शुभोदयम्। गीयतेऽन्यैरपि ह्येतत्, सुवर्णघटसन्निभम्॥ ३५१॥ '' (यो० विं०) इति। २४।

शिरोदकसमो भावः, क्रिया च खननोपमा।
भावपूर्वादनुष्ठानाद्, भाववृद्धिरतो ध्रुवा॥ २५॥

शिरोदकसमस्तयाविधकूपे सहजप्रवृत्तशिराजलतुल्यो भावः, क्रिया च खननोपमा शिराऽऽश्रयकूपाऽऽदिखननसदृशी, अतो भा-वपूर्वादनुष्ठानाद्भाववृद्धिर्ध्रुवा, जलवृद्धौ कूपखननस्येव भाववृद्धौ क्रियाया हेतुत्वाद्भावस्य दलत्वेऽपि बहूदलमेलनरूपाया वृद्धेस्त-दन्वयव्यतिरेकानुविधानात्॥ २५॥

मण्डूकचूर्णसदृशः, क्लेशध्वंसः क्रियाकृतः।
तद्भस्मसदृशस्तु स्याद्, भावपूर्वक्रियाकृतः॥ २६॥

क्रियाकृतः केवलक्रियाजनितः, क्लेशध्वंसो रागाऽऽदिपरिक्षयः, मण्डूकचूर्णसदृशः, पुनरुत्पत्तिशक्त्यन्वितत्वात्। भावपूर्वक्रियाकृतस्तु तद्भस्मसदृशो मण्डूकभस्मसदृशः स्यात्, पुनरुत्पत्तिशक्त्यभावात्। एवं च क्लेशध्वंसविशेषजनकः शक्तिविशेष एव क्रियायां भाववृद्ध्यनुकूल इति फलितम्॥ २६॥

तथा च-

विचित्रभावद्वारा तत्, क्रिया हेतुः शिवं प्रति।
अस्या व्यञ्जकताऽप्येषा, परा ज्ञाननयोचिता॥ २७॥

विचित्रो भावोऽध्यात्माऽऽदिरूपः, तद्द्वारा क्रिया, शिवं प्रति हेतुः, दण्ड इव चक्रभ्रमिद्वारा घटे। करणता च तस्याः शक्तिविशेषेण, न तु भावपूर्वकत्वेनैव, भावस्यान्यथासिद्धिप्रसङ्गात्। अस्याः क्रियायाः, व्यञ्जकताऽप्येषा हेतुता विशेषरूपा परा। अत एव भावस्य ज्ञापकत्वरूपाऽभिव्यञ्जकता ज्ञाननयोचिता ज्ञाननयप्राधान्योपयुक्ता, न तु व्यवहारतो वास्तवी, अन्यथा सत्कार्यवादप्रसङ्गादिति भावः॥ २७॥

व्यापारश्चिद्विवर्तत्वाद्, वीर्योल्लासाच्च स स्मृतः।
विविच्यमाना भिद्यन्ते, परिणामा हि वस्तुनः॥ २८॥

स योगः, चिद्विवर्त्तत्वाद् ज्ञानपरिणामाद्, वीर्योल्लासादात्मश-क्तिस्फोरणाच्च, व्यापारः स्मृतः, क्रमवतः प्रवृत्तिविषयस्य व्यापारत्वात्। एतेन द्रव्याऽऽदेर्व्यवच्छेदः। हि यतो, विविच्यमाना भेदनयेन गृह्यमाणा, वस्तुनः परिणामा भिद्यन्ते। तथा च-न व्यापाराऽऽश्रयस्यापि व्यापारत्वमिति भावः॥ २८॥

एतदेवाऽऽह-

जीवस्थानानि सर्वाणि, गुणस्थानानि मार्गणाः।
परिणामा विवर्तन्ते, जीवस्तु न कदाचन॥ २९॥

सर्वाणि चतुर्दशापि जीवस्थानानि गुणस्थानानि तावन्त्येव, मार्गणा गतीन्द्रियाऽऽद्याः परिणामा विवर्तन्तेदशाविशेषं भजन्तो, जीवस्तु कदाचन न विवर्तते, तस्य शुद्धज्ञायकभावस्यैकस्वभावत्वात्॥ २९॥

उपाधिः कर्मणैव स्या-दाचाराऽऽदौ श्रुतं ह्यदः।
विभावानित्यभावेऽपि, ततो नित्यः स्वभाववान्॥ ३०॥

आचाराऽऽदौ ह्यदः श्रुतम्-यदुत उपाधिः कर्मणैव स्यात्, ''कम्मुणा उवाही जायति त्ति'' वचनात्। ततो विभावानां मिथ्यात्व-गुणस्थानादारभ्यायोगिगुणस्थानं यावत् प्रवर्तमानानामौपाधिक-भावानाम्, अनित्यभावेऽपि स्वभाववानात्मा नित्यः, तस्योपा-ध्यजनितत्वात्, उपाधिनिमित्तका अप्यात्मनो भावः स्तद्रूपा एव युज्यन्ते इति चेत्। सत्यम्। शुद्धनयदृष्ट्याऽऽत्मपुद्गलयोः स्वस्व-शुद्धभावजननचरितार्थत्वे संयोगजभावस्य भित्तौ खटिकाश्वेतिम्न इव विविच्यमानस्यैकत्राप्यनन्तभावेन मिथ्यात्वात्॥ ३०॥

द्रव्याऽऽदेः स्यादभेदेऽपि, शुद्धभेदनयाऽऽदिना।
इत्थं व्युत्पादनं युक्तं, नयसारा हि देशना॥ ३१॥

द्रव्याऽऽदेः परिणामेभ्यः स्यात् कथञ्चिदभेदेऽपि शुद्धः केवलो यो भेदनयस्तदादिना, इत्थमुक्तरीत्या, व्युत्पादनं युक्तम्। नवसारा-नयप्रधाना हि देशा शास्त्रे प्रवर्तते, अन्यथाऽनुयोगपरिणत आत्माऽपि योग इतीष्यत एव, चरणाऽऽत्मनोऽपि भगवत्यां प्रतिपादनादिति भावः॥ ३१॥

योगलक्षणमित्येवं, जानानो जिनशासने।
परोक्तानि परीक्षेत, परमाऽऽनन्दबद्धधीः॥ ३२॥

योगलक्षणमिति स्पष्टम्॥ ३२॥ द्वा० १० द्वा०।

(१३) स्वकीयं योगलक्षणमन्यदीययोगलक्षणे विचारिते सति स्थिरीभवतीति तदर्थमयमारम्भः-

चित्तवृत्तिनिरोधं तु, योगमाह पतञ्जलिः।
द्रष्टुः स्वरूपावस्थानं, यत्र स्यादविकारिणि॥ १॥

पतञ्जलिस्तुचित्तवृत्तिनिरोधं योगमाहा तथा च सूत्रम्- ''योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः।'' (१-२) इति। तत्र चित्तपदार्थं व्याचष्टेद्रष्टुः पुरुषस्य, स्वरूपे चिन्मात्ररूपतायाम्, अवस्थानं यत्र यस्मिन् स्याद्, अविका-रिणि व्युत्पन्नविवेकख्यातेश्चित्संक्रमाभावात् कर्तुत्वाभिमाननिवृत्तौ प्रोन्मुक्तपरिणामेन। तथा च सूत्रम्- ''तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति।'' (१-३)॥ १॥

आपन्ने विषयाऽऽकारं, यत्र चेन्द्रियवृत्तितः।
पुमान् भाति तथा चन्द्र-श्चलन्नीरे चलन यथा॥ २॥

यत्र चेन्द्रियवृत्तित इन्द्रियवृत्तिद्वारा, विषयाऽऽकारमापन्ने विषया-ऽऽकारपरिणते सति, पुमान् पुरुषस्तथा भाति तथा चलन्नीरे चलन् चन्द्रः, स्वगतधर्माध्यारोपाधिष्ठानत्वेन प्रतीयत इत्यर्थः। तथा च सूत्रम्- ''वृत्तिसारूप्यमितरत्रेति।'' (१-४)॥ २॥

तच्चित्तं वृत्तयस्तस्य, पञ्चतय्यः प्रकीर्तिताः।
मानं भ्रमो विकल्पश्च, निद्रा च स्मृतिरेव च॥ ३॥

तच्चित्तं तस्य वृत्तिसमुदायलक्षणस्यावयविनोऽवयवभूताः पञ्चतथ्यो वृत्तयः प्रकीर्तिताः। तदुक्तम्- ''वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।'' (सांख्य० २-३३) (' अक्लिष्टाः ' योग० १-५) क्लिष्टाः क्लेशाऽऽ-क्रान्ताः, तद्विपरीता अपि तावत्य एव। ता एकोद्दिशतिमानं प्रमाणम्, भ्रमो, विकल्पो, निद्रा च, स्मृतिरेव च। तदाह-'' प्रमाणविपर्यय-विकल्पनिद्राः स्मृतयः।'' (१-६)॥ ३॥

आसां क्रमेण लक्षणमाह-

मानं ज्ञानं यथार्थं स्या-दतस्मिंमस्त मतिर्भ्रमः।
पुंसश्चैतन्यमित्यादौ, विकल्पोऽवस्तुशाब्दधीः॥ ४॥
निद्रा च वासनाऽभाव-प्रत्ययाऽऽलम्बना स्मता।
सुखाऽऽदिविषया वृत्ति-र्जागरे स्मृतिदर्शनात्॥ ५॥
तथाऽनुभूतविषया-संप्रमोषः स्मृतिः स्मृता।
आसां निरोधः शक्त्याऽन्तः-स्थितिर्हेतौ बहिर्हतिः॥ ६॥

मानं यथार्थं तद्वति तदवगाहि ज्ञानं स्यात्। तदाह- ''अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणमिति।'' भ्रमोऽतस्मिंमस्तदभाववति तन्मतिः। यदाह-''विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।'' (१-८) संशयोऽपि स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यतद्रूपप्रतिष्ठत्वादत्रैवान्तर्भवति। पुंसश्चैतन्यमित्यादौ अवस्तुविषया शब्दधीर्विकल्पः। अत्र हि देवदत्तस्य कम्बल इतिवत् शब्दजनिते ज्ञाने षष्ठ्यर्थो भेदोऽध्यवसीयते, तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्य-वसायः। वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुष इति। तदाह- ''शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो (असदर्थव्यवहारविषयो) विकल्पः।'' (१-९) इति। भ्रमविशेष एवायमस्त्विति चेत्। न। तथाविधशब्दजन्यजनकभावेनास्य विलक्षणत्वात्, विषयाभावज्ञानेऽपि प्रवृत्तेश्च। यद्भोजः ''वस्तुनस्तथा-त्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसायः स विकल्प इत्युच्यते'' इति॥ ४॥ अभाव-प्रत्ययाऽऽलम्बना भावप्रत्ययाऽऽलम्बनविरहिता वासना च निद्रा स्मृता, सन्ततमुद्रिक्तत्वात्तमसः। समस्तविषयपरित्यागेन या प्रव-र्तत इत्यर्थः। तदाह- '' अभावप्रत्ययाऽऽलम्बना वृत्तिर्निद्रा।'' (१-१०) इयं च जागरे जाग्रदवस्थायां स्मृतिदर्शनात् सुखमहमस्वाप्समिति स्मृत्यालोचनात्सुखाऽऽदिविषया वृत्तिः, स्वापकाले सुखाननुभवे तदा तत्स्मृत्यनुपपत्तेः॥ ५॥ तथाऽनुभूतविषयस्य प्रमाणविपर्ययविकल्प-निद्राऽनुभूतार्थस्यासंप्रमोषः संस्कारद्वारेण बुद्धावुपारोहः स्मृतिः स्मृता। तदाह- '' अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिरिति।'' (१-११) आसा-मुक्तानां पञ्चानामपि वृत्तीनाम्, हेतौ स्वकारणे, शक्त्या शक्तिरूपतया, अन्तर्बाह्याभिनिवेशनिवृत्त्याऽन्तर्मुखतया स्थितिरवस्थानं, बहिर्हतिः प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपविधातः। एतदुभयं निरोध उच्यते॥ ६॥

स चाभ्यासाच्च वैराग्या-त्तत्राभ्यासः स्थितौ श्रमः।
दृढभूमिः स च चिरं, नैरन्तर्याऽऽदराऽऽश्रितः॥ ७॥

स चोक्तलक्षणो निरोधश्च अभ्यासाद्वैराग्याच्च भवति। तदुक्तम्- '' अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध इति।'' (१-१२) तत्राभ्यासः स्थितौ वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठे परिणामे श्रमो यत्नः पुनःपुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनरूपः। तदाह- '' तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास इति।'' (१-१३) स च चिरं चिरकालं नैरन्तर्येणाऽऽदरेण चाऽऽश्रितो दृढभूमिः स्थिरो भवति। तदाह- ''स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिरिति।'' (१-१४)॥ ७॥

या वशीकारसंज्ञा स्याद्, दृष्टाऽऽनुश्रविकार्थयोः।
वितृष्णस्यापरं तत स्या-द्वैराग्यमनधीनता॥ ८॥

दृष्ट इहैवोपलभ्यमानः शब्दाऽऽदिः, आनुश्रविकश्चार्थोदेवलोकाऽऽ-

दिः। अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवो वेदः, ततः प्रतीयमान आनुश्रविक इति व्युत्पत्तेः। तयोः परिणामविरसत्वदर्शनाद्, वितृष्णस्य विगतगर्धस्य, या वशीकारसंज्ञा 'ममैवैते वश्या नाहमेतेषां वश्यः' इत्येवं विमर्शाऽऽत्मिका। तदपरं वक्ष्यमाणपरवैराग्यात्पाश्चात्यं वैराग्यं स्यात् अनधीनता फलतः पराधीनताऽभावरूपम्। तदाह-'' दृष्टाऽऽनुश्रविकविषयावितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यमिति।'' (१-१५)॥ ८॥

तत्परं जातपुंख्याते-र्गुणवैतृष्ण्यसंज्ञकम्।
बहिर्वैमुख्यमुत्पाद्य, वैराग्यमुपयुज्यते॥ ९॥

जातपुंख्यातेरुत्पन्नगुणपुरुषविवेकख्यातेः, गुणवैतृष्ण्यसंज्ञकं गुणेष्वपि तृष्णाऽभावलक्षणम्, यथार्थाभिधानं, परं प्रकृष्टं, तद्वैराग्यम्। तदाह- '' तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यमिति।'' (१-१६) प्रथमं हि विषयविषयं, द्वितीयं च गुणविषयमिति भेदः। बहिर्बाह्यविषये वैमुख्यं दोषदर्शनजत्वात्प्रवृत्त्यभावलक्षणमुत्पाद्य वैराग्यमुपयुज्यते उपकाराऽऽधायकं भवति॥ ९॥

निरोधे पुनरभ्यासो, जनयन् स्थिरतां दृढाम्।
परमाऽऽनन्दनिष्यन्द-शान्तस्रोतःप्रदर्शनात्॥ १०॥

निरोधे चित्तवृत्तिनिरोधे, अभ्यासः पुनर्दृढामतिशयितां स्थिरतामवस्थितिलक्षणां जनयन्, परमाऽऽनन्दनिष्यन्दस्यातिशयितसुखार्णविनिर्झरभूतस्य शान्तस्रोतसः शान्तरसप्रवाहस्य प्रदर्शनात्, उपयुज्यते इत्यन्वयः। तत्रैव सुखमग्नस्य मनसोऽन्यत्र गमनायोगात्। इत्थं च 'चित्तवृत्तिनिरोधः' इति योगलक्षणं सोपपत्तिकं व्याख्यातम्॥ १०॥

(१४) अथ तद् दूषयन्नाह-

न चैतद्युज्यते किञ्चि-दात्मन्यपरिणामिनि।
कूटस्थे स्यादसंसारो-ऽमोक्षो वा तत्र हि ध्रुवम्॥ ११॥

न चैतत् पूर्वोक्तं किञ्चिदपरिणामिनि आत्मनि युज्यते, तत्राऽऽत्मनि हि कूटस्थे एकान्तिकस्वभावे सति असंसारः संसाराभाव एव स्यात्, पुष्करपत्रवन्निर्लेपस्य तस्याविचलितस्वभावत्वात्। प्रकृतितद्विकारोपहितस्वभावे च तस्मिन् संसारदशायामभ्युपगम्यमाने, ध्रुवं निश्चितममोक्षो मोक्षाभावो वा स्यात्, मुक्तिदशायां पूर्वस्वभावस्य त्यागे कौटस्थ्यहानिप्रसङ्गात्॥ ११॥

प्रकृतेरपि चैकत्वे, मुक्तिः सर्वस्य नैव वा।
जडायाश्च पुमर्थस्य, कर्तव्यत्वययुक्तिमत्॥ १२॥

प्रकृतेरपि चैकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सर्वस्य मुक्तिः स्यात्, नैव वा कस्यचित्स्यात्। एकं प्रति विलीनोपधानायास्तस्याः सर्वान् प्रति तथात्वात्, एकं प्रत्यतादृश्याश्च सर्वान् प्रत्यतथात्वात्। अन्यथा स्वभावभेदे प्रकृतिभेदप्रसङ्गात्। किं च-आत्मनोऽव्याप्रियमाणस्य भोगसंपादनार्थमेव प्रकृतिः प्रवर्त्तत इति भवतामभ्युपगमः। तदुक्तम्- '' द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।'' (२-२०) '' तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मेति।'' (२-२१) जडायाश्च तस्याः पुमर्थस्य कर्त्तव्यत्वमयुक्तिमत्। पुरुषार्थो मया कर्त्तव्य इत्येवं विधाध्यवसायो हि पुरुषार्थकर्त्तव्यता, तत्स्वभावे च प्रकृतेर्जडत्वव्याघात इति॥ १२॥

अत्र स्वसिद्धान्ताऽऽशयं प्रकटयन् पूर्वपक्षी शङ्कते-

ननु चित्तस्य वृत्तीनां, सदा ज्ञाननिबन्धनात्।
चिच्छायासंक्रमाद्धेतो-रात्मनोऽपरिणामिता॥ १३॥

ननु चित्तस्य वृत्तीनां प्रमाणाऽऽदिरूपाणाम्, सदासर्वकालमेव, ज्ञाननिबन्धनात्परिच्छेदहेतोः। चिच्छायासंक्रमाद्धेतोर्लिङ्गादात्मनोऽपरिणामिताऽनुमीयते। इदमुक्तं भवतिपुरुषस्य चिद्रूपस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेन सिद्धस्य यदन्तरङ्गं निर्मलं ज्ञेयं सत्त्वं, तस्यापि सदैव व्यवस्थितत्वात्तद्येनार्थेनोपरक्तं भवति तथाविधस्य दृश्यस्य चिच्छायासंक्रान्तिसद्भावात् सदा ज्ञातृत्वं सिद्धं भवति। परिणामित्वे त्वात्मनश्चिच्छायासंक्रमस्यासार्वदिकत्वात् सदा ज्ञातृत्वं न स्यादिति। तदिदमुक्तम्- '' सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयः तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वादिति''। (४-१८)॥ १३॥

ननु चित्तमेव सत्त्वोत्कर्षाद्यदि प्रकाशकं तदा तस्य स्वप्रकाशरूपत्वादर्थस्येवाऽऽत्मनोऽपि प्रकाशकत्वेन व्यवहारोपपत्तौ किं ग्रहीत्रन्तरेण? इत्यत आह-

स्वाऽऽभासं खलु नो चित्तं, दृश्यत्वेन घटाऽऽदिवत्।
तदन्यदृश्यतायां वा-नवस्थास्मृतिसङ्करौ॥ १४॥

चित्तं खलु, नो नैव, स्वाऽऽभासं स्वप्रकाश्यं, किं तु द्रष्टृवेद्यं, दृश्यत्वेन दृग्विषयत्वेन, घटाऽऽदिवत्। यद् यद् दृश्यं तत्तद् द्रष्टृवेद्यमिति व्याप्तेः। तदिदमुक्तम्- '' न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात्।'' (४-१९) अन्तर्बहिर्मुखव्यापारद्वयविरोधात्, तन्निष्पाद्यफलद्वयस्यासंवेदनाच्च बहिर्मुखतयैवार्थनिष्ठत्वेन चित्तस्य संवेदनार्थनिष्ठमेव तत्फलं, न स्वनिष्ठमिति राजमार्त्तण्डः। तथापि चित्तान्तरदृश्यं चित्तमस्त्वित्यत आह- तदन्यदृश्यतायां च चित्तान्तरदृश्यतायां च, चित्तस्याभ्युपगम्यमानायामनवस्थास्मृतिसङ्करौ स्याताम्। तथा-हि-यदि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरेण वेद्येत तदा साऽपि बुद्धिः स्वयं बुद्ध्या बुद्ध्यन्तरं प्रकाशयितुमसमर्थेति, तस्या ग्राहकं बुद्ध्यन्तरं कल्पनीयम्, तस्याप्यन्यदित्यनवस्थानात्पुरुषायुषः सहस्रेणाप्यर्थप्रतीतिर्न स्यात्। न हि प्रतीतावप्रतीतायामर्थः प्रतीतो भवति। तथा स्मृतिसङ्करोऽपि स्यात्। एकस्मिन् रूपे, रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौ तद्ग्राहिकाणामनन्तानां बुद्धीनामुत्पत्तेस्तज्जनितसंस्कारैर्युगपद् बह्वीषु स्मृतिपूत्पन्नासु कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नेति ज्ञातुमशक्यत्वात्। तदाह- '' एकसमये चोभयानवधारणम्।''(४-२०)'' चित्तान्तरादृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्चेति'' (४-२१)॥ १४॥

नन्वेवं कथं विषयव्यवहार इत्यत्राऽऽह-

अङ्गाङ्गिभावचाराभ्यां, चितिरप्रतिसंक्रमा।
द्रष्टृदृश्योपरक्तं तत्, चित्तं सर्वार्थगोचरम्॥ १५॥

चितिः पुरुषरूपा चिच्छक्तिः, अङ्गाङ्गिभावचाराभ्यां परिणामपरिणामिभावगमनाभ्याम्, अप्रतिसंक्रमाऽन्येनासंकीर्णा। यथा हि गुणाः स्वबुद्धिगमनलक्षणे परिणामेऽङ्गिनमुपसंक्रामन्ति तदूपतामिवाऽऽपद्यन्ते, यथा चाऽऽलोकपरमाणवः प्रसरन्तो विषयं व्याप्नुवन्ति, नैवं चितिशक्तिः, तस्याः सर्वदैकरूपतया स्वप्रतिष्ठितत्वेन व्यवस्थितत्वादित्यर्थः। तत्तस्माच्चित् सन्निधाने बुद्धेस्तदाकारताऽऽपत्तौ चेतनायामिवोपजायमानायां, बुद्धिवृत्तिप्रतिसंक्रान्तायाश्च चिच्छक्तेर्बुद्धिविशिष्टतया संपत्तौ स्वसंबुध्युपपत्तेरित्यर्थः। द्रष्टृदृश्याभ्यामुपरक्तं द्रष्टृरूपतामिवाऽऽपन्नं, गृहीतविषयाऽऽकारपरिणामं च चित्तं, सर्वार्थगोचरं सर्वविषयग्रहणसमर्थं भवति। तदुक्तम्- '' चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाऽऽकाराऽऽपत्तौ स्ववु-

द्विसंवेदनम्।'' (४-२२) '' द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्। (४-२३) यथा हि निर्मलं स्फटिकदर्पणाऽऽद्येव प्रतिबिम्बग्रहणसमर्थम् , एवं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं शुद्धत्वाच्चिच्छायाग्रहणसमर्थं, न पुनरशुद्धत्वाद्रजस्तमसी । ततो न्यग्भूतरजस्तमोरूपमङ्गितया सत्त्वं निश्चलप्रदीपशिखाऽऽकारं सदैवैकरूपतया परिणममानं चिच्छायाग्रहणसामर्थ्यादामोक्षप्राप्तेरवतिष्ठते, यथाऽयस्कान्तसन्निधाने लोहस्य चलनमाविर्भवति, एवं चिद्रूपपुरुषसन्निधाने सत्त्वस्याभिव्यङ्ग्यमभिव्यज्यते चैतन्यमिति ॥ १५ ॥

इत्थं च द्विविधा चिच्छक्तिरित्याह-

नित्योदिता त्वभिव्यङ्ग्या, चिच्छक्तिर्द्विविधा हि नः।
आद्या पुमान् द्वितीया तु, सत्त्वे तत्सन्निधानतः ॥ १६ ॥

नित्योदिता, तु पुनः, अभिव्यङ्ग्या, द्विविधा हि नः-अस्माकं चिच्छक्तिः-आद्या नित्योदिता पुमान् पुरुष एव, द्वितीयाऽभिव्यङ्ग्या तु, तत्सन्निधानतः पुंसः सामीप्यात् , सत्त्वे सत्त्वनिष्ठा। यद्भोजः- '' अत एवास्मिन दर्शने द्वे चिच्छक्तीनित्योदिता, अभिव्यङ्ग्या च। नित्योदिता चिच्छक्तिः पुरुषः तत्सन्निधानाभिव्यक्तयाऽभिष्वङ्गं चैतन्यं सत्त्वमभिव्यङ्ग्या चिच्छक्तिरिति ॥ १६ ॥

इत्थं च भोगोपपत्तिमप्याह-

सत्त्वे पुंस्थितचिच्छाया-समाऽन्या तदुपस्थितिः।
प्रतिबिम्बाऽऽत्मको भोगः, पुंसि भेदाऽऽग्रहादयम् ॥ १७ ॥

सत्त्वे बुद्धेः सात्त्विकपरिणामे, पुंस्थिता या चिच्छाया, तत्समा याऽन्या, सा स्वकीयचिच्छाया, तस्या उपस्थितिरभिव्यक्तिः, प्रतिबिम्बाऽऽत्मको भोगः। अन्यत्रापि हि प्रतिबिम्बे प्रतिबिम्ब्यमानच्छायासदृशच्छायान्तरोद्भव एव प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते। पुंसि पुनरथं भोगो भेदाऽऽग्रहादत्यन्तसान्निध्येन विवेकाग्रहणाद् व्यपदिश्यते। यत्तु व्यापकस्यातिनिर्मलस्य चाऽऽत्मनः कथं सत्त्वे प्रतिबिम्बनमिति ? तत्र। व्यापकस्याप्याकाशस्य दर्पणाऽऽदावप्रकृष्टनैर्मल्यवति च जलाऽऽदावादित्याऽऽदीनां प्रतिबिम्बदर्शनात् स्वस्थितचिच्छायासदृशचिच्छायाऽभिव्यक्तिरूपस्य प्रतिबिम्बस्य प्रतिबिम्बान्तरवैलक्षण्याच्चेति भोजः ॥ १७ ॥

इत्थं प्रत्यात्मनियतं, बुद्धितत्त्वं हि शक्तिमत्।
निर्वाहे लोकयात्रायाः, ततः क्वातिप्रसञ्जनम् ? ॥ १८ ॥

इत्थमुक्तप्रकारेण, प्रत्यात्मनियतम् आत्मानमात्मानं प्रति नियतफलसंपादकम्। बुद्धितत्त्वं हि लोकयात्राया लोकव्यवहारस्य निर्वाहे व्यवस्थापने, शक्तिमत्समर्थम् , ततः क्वातिप्रसञ्जनं, योगादेकस्य मुक्तावन्यस्यापि मुक्त्यापत्तिरूपं, प्रकृतेः सर्वत्रैकत्वेऽपि बुद्धिव्यापारभेदेन भेदोपपत्तेः। तथा च सूत्रम्- '' कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वादिति। '' (२-२२) ॥ १८ ॥

यत्रोक्तम्- '' जडायाश्च पुमर्थस्य '' इत्यादि, तत्राऽऽह-

कर्तव्यत्वं पुमर्थस्या-नुलोम्यप्रातिलोम्यतः।
प्रकृतौ परिणामानां, शक्ती स्वाभाविके उभे ॥ १९ ॥

पुमर्थस्य कर्तव्यत्वं प्रकृतौ परिणामानां महदादीनाम, आनुलोम्यप्रतिलोम्यतः, उभे शक्ती स्वाभाविके स्वभावसिद्धे, पुमर्थे सतीति शेषः। न त्वन्यद् , महदादिमहाभूतपर्यन्तः खल्वस्या बहिर्मुखतयाऽनुलोमः परिणामः, पुनः स्वकारणानुप्रवेशद्वारेणास्मितान्तः-प्रतिलोमः परिणामः। इत्थं च पुरुषस्य भोगपरिसमाप्तेः सहजशक्तिद्वयक्षयात् कृतार्था प्रकृतिः, न पुनः परिणाममारभते। एवंविधायां च पुरुषार्थकर्तव्यतायां प्रकृतेर्जडत्वेन कर्तव्याध्यवसायाभावेऽपि न काचिदनुपपत्तिरिति ॥ १९ ॥

ननु यदि प्रतिलोमशक्तिरपि सहजैव प्रधानस्यास्ति, तत् किमर्थं योगिभिर्मोक्षार्थं यत्नः क्रियते ? मोक्षस्य चानर्थनीयत्वे तदुपदेशकशास्त्रस्याप्यानर्थक्यमित्यत आह-

न चैवं मोक्षशास्त्रस्य, वैयर्थ्यं प्रकृतेर्यतः।
ततो दुःखनिवृत्यर्थं, कर्तृत्वस्मयवर्जनम् ॥ २० ॥

न चैवं मुक्तौ प्रकृतेरेव सामर्थ्ये, मोक्षशास्त्रस्य वैयर्थ्यमानर्थक्यं, यतो यस्मात् , ततो मोक्षशास्त्राद् , दुःखनिवृत्त्यर्थं दुःखनाशाय, प्रकृतेः प्रधानस्य, कर्तृत्वस्मयस्य कर्तृत्वाभिमानस्य, वर्जनं निवृत्तिर्भवति। अनादिरेव हि प्रकृतिपुरुषयोर्भोक्तृभोग्यभावलक्षणः संबन्धः, तस्मिन् सति, व्यक्तमचेतनायाः प्रकृतेः कर्तृत्वाभिमानाद् दुःखानुभावे सति ' कथमियं दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी मम स्यात् ' इति भवत्येवाध्यवसायः, अतो दुःखनिवृत्युपायोपदेशकशास्त्रोपदेशापेक्षाऽप्यस्य युक्तिमतीति ॥ २० ॥

व्यक्तं कैवल्यपादेऽदः, सर्वं साध्विति चेन्न तत्।
एवं हि प्रकृतेर्मोक्षो, न पुंसस्तददो वृथा ॥ २१ ॥

कैवल्यपादे योगानुशासनचतुर्थपादे, अद एतत् , व्यक्तं प्रकटं, सर्वमखिलं, साधु निर्दोषमिति। समाधत्ते-इति चेन्न तत् , यत्प्राक् प्रपञ्चितं, हि यतः, एवमुक्तरीत्या, प्रकृतेर्मोक्षः स्यात् , तस्या एव कर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या दुःखनिवृत्त्युपपत्तेः, न पुंसः, तस्याबद्धत्वेन मुक्त्ययोगाद् , मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात्। तत्तस्माददो वक्ष्यमाणं भवद्ग्रन्थोक्तं, वृथा कण्ठशोषमात्रफलम् ॥ २१ ॥

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि, मुच्यते नात्र संशयः ॥ २२ ॥

अत्र हि पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानात् पुरुषस्यैव मुक्तिरुक्ता, सा च न संभवतीति। न च भोगव्यपदेशवन्मुक्तिव्यपदेशोऽप्युपचारादेव पुंसि संभवतीति वाच्यम् ; एवं हि तत्र चैतन्यस्याप्युपचारेण सुवचत्वाऽऽपत्तेः। बाधकाभावान्न तत्र तस्योपचार इति चेत् , तत्र कृत्याऽऽदि-सामानाधिकरण्यस्याप्यनुभूयमानस्य किं बाधकम् ? येन तेषां भिन्नाऽऽश्रयत्वं कल्प्यते। आत्मनः परिणामित्वाऽऽपत्तिर्बाधिकेति चेद् , न। तत्परिणामित्वेऽप्यन्वयानपायात् , अन्यथा चित्तस्यापि तदनापत्तेः, प्रतिक्षणं चित्तस्य नश्वरत्वोपलब्धेः। '' अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदो धर्माणाम्। '' (४-१२) '' ते व्यक्तसूक्ष्मगुणाऽऽत्मानः। '' (४-१३) '' परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वमिति। '' (४-१४) सूत्र्यालोचनाद्धर्मभेदेऽपि तेषामङ्गाङ्गिभावपरिणामैकत्वाद् न चित्तानन्त्य इति चेत् , तदेतदात्मन्येव पर्यालोच्यमानं शोभते, कूटस्थत्वश्रुतेः [illegible]राऽऽदिभेदपरत्वेनाप्युपपत्तेरिति सम्यग् विभावनीयम् ॥ २२ ॥

किञ्च-

बुद्ध्या सर्वोपपत्तौ च, मानमात्मनि मृग्यते।
संहत्यकारिता मानं, पारार्थ्यनियता च न ॥ २३ ॥

बुद्ध्या महत्तत्त्वेन, सर्वोपपत्तौ सकललोकयात्रानिर्वाहे च सति, आत्मनि मानं प्रमाणं मृग्यते। कृत्याऽऽद्याश्रयव्यतिरिक्ते आत्मनि प्रमाणमन्वेषणीयमित्यर्थः। न च परार्थ्यनियता परा-

र्थकत्वव्याप्या, संहत्वकारिता संभूयमिलितार्थक्रियाकारिता, मानमतिरिक्ताऽऽत्मनि प्रमाणं, यत्संहत्यार्थक्रियाकारि तत्परार्थं दृष्टम्, यथा शय्याशयनाऽऽसनाऽऽद्यर्थाः। सत्त्वरजस्तमांसि च चित्तलक्षणपरिणामभाञ्जि संहत्यकारीणि, अतः परार्थानि, यश्च परः स पुरुष इति। तदुक्तम्- '' तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं, संहत्यकारित्वादिति।'' (४-२४)॥ २३॥

कुतः ? इत्याह-

सत्त्वाऽऽदीनामपि स्वाङ्गि-न्युपकारोपपत्तितः।
बुद्धिर्नामैव पुंसस्तत्, स्याच्च तत्त्वान्तरव्ययः॥ २४॥

सत्त्वाऽऽदीनां धर्माणां, स्वाङ्गिन्यपि स्वाऽऽश्रयेऽपि, उपकारोपपत्तितः फलाऽऽधानसंभवादुक्तनियमे मानाभावात् सत्त्वाऽऽदौ सं-हत्यकारित्वस्य विलक्षणत्वात्। अन्यथा-असंहतरूपपरासिद्धेर्धर्माणां साश्रयत्वव्याप्तेश्च बुद्ध्यैव सफलत्वाद् नैवमात्मा कश्चिदतिरिक्तः सिद्ध्येदिति भावः। तत्तस्माद् बुद्धिः पुंसः पुरुषस्यैव नाम स्यात्। च पुनः, तत्त्वान्तरव्ययोऽहङ्काराऽऽदितत्त्वोच्छेदः स्यात्॥ २४॥

तथाहि-

व्यापारभेदादेकस्य, वायोः पञ्चविधत्ववत्।
अहङ्काराऽऽदिसंज्ञानो-पपत्तिसुकरत्वतः॥ २५॥

एकस्य वायोः, व्यापारभेदादूर्द्धगमनाऽऽदिव्यापारभेदात्, पञ्चविधत्ववत्-पञ्च वायवः प्राणापानाऽऽदिभेदादिति व्यपदेशषत्। अहङ्काराऽऽदिसंज्ञानानामुपपत्तेः सुकरत्वतः सौकर्यात्। तथाहि-बुद्धिरेवाहङ्कारव्यापारं जनयन्ती अहङ्कार इत्युच्यताम्, सैव च प्रसुप्तस्वभावा साधिकारा प्रकृतिरिति व्यपदिश्यताम्, किमन्तर्गडु तत्त्वान्तरपरिकल्पनयेति॥ २५॥

पुंसश्च व्यञ्जकत्वेऽपि, कूटस्थत्वमयुक्तिमत्।
अधिष्ठानत्वमेतच्चेत्, तदेत्यादिनिरर्थकम्॥ २६॥

पुंसः पुरुषस्य च, व्यञ्जकत्वेऽभ्युपगम्यमाने, कूटस्थत्वमयुक्तिमदसङ्गतम्। अभिव्यञ्जकत्वं ह्यभिव्यक्तिजनकत्वम्। तथा च- '' अकारणमकार्यं च पुरुषः '' इति वचनं व्याहन्येतेति भावः। अधिष्ठानत्वमभिव्यक्तिदेशाऽऽश्रयत्वम्, एतद् व्यञ्जकत्वं, पुरुषस्तु सदैकरूप इति चेत्, तर्हि तदेत्यादि '' तदा द्रष्टुः स्वरूपावस्थानम्। '' (१-३) इति सूत्रं निरर्थकम्, तदेत्यस्य व्यवच्छेद्याभावात्। काल्पनिकत्वे चैतद्विषयस्य घटाऽऽदिव्यवहारविषयस्यापि तथात्वाऽऽपत्तौ शून्यवादिमतप्रवेश इति भावः॥ २६॥

निमित्तत्वेऽपि कौटस्थ्य-मथास्यापरिणामतः।
स्याद्भेदो धर्मभेदेन, तथापि भवमोक्षयोः॥ २७॥

अथास्याऽऽत्मनो, निमित्तत्वेऽपि, सत्त्वनिष्ठामभिव्यङ्ग्यां चिच्छक्तिं प्रति, अपरिणामतः परिणामाभावात्। कौटस्थ्यमकारणमित्यस्यानुपादानकारणमित्यर्थात् उपादानकारणस्यैव परिणामित्वात् परिणामस्य चावस्थान्तरगमनलक्षणत्वादिति भावः। तथाऽपि भवमोक्षयोः संसारापवर्गयोः, धर्मभेदेन भोगनिमित्तानिमित्तत्वधर्मभेदेन, स्यात्कथञ्चित्, भेद आवश्यकः। मोक्षेऽपि पूर्वस्वभावसत्त्वे कारणान्तराभावान्न भोग इति को भेद इति चेत् ? सौम्य ! कथं तर्हि न भवमोक्षोभयस्वभावे विरोधः ? उभयैकस्वभावत्वाद् नायमिति चेद् भङ्ग्यन्तरेणायमेव स्याद्वाद इति किं वृथा खिद्यसे ?॥ २७॥

प्रसङ्गतादवस्थ्यं च, बुद्धेर्भेदेऽपि तत्त्वतः।
प्रकृत्यन्ते लये मुक्ते-र्न चेदव्याप्यवृत्तिता॥ २८॥

बुद्धेर्भेदेऽपि प्रत्यात्मनियतत्वेऽप्यभ्युपगम्यमाने, तत्त्वतः परमा-र्थतः, प्रकृत्यन्ते प्रकृतिविश्रान्ते, लये दुःखध्वंसे सति, प्रसङ्गतादवस्थ्यम्, एकस्य मुक्तावन्यस्यापि तदापत्तिरित्यस्यापरिहार एव, प्रकृतेरेव मुक्तेरभ्युपगम्यमानत्वात्, तस्याश्च मुक्तत्वामुक्तत्वोभयविरोधात्। एकत्र वृक्षे संयोगतदभावयोरिव प्रकृतौ विभिन्नबुद्ध्यवच्छेदेन न मुक्तत्वामुक्तत्वयोर्विरोध इत्यत आह-चेद् यदि, मुक्तेरव्याप्यवृत्तिता, न अभ्युपगम्यत इति शेषः। तदभ्युपगमे च मुक्तेऽप्यमुक्तत्वव्यवहाराऽऽपत्तिरेव दूषणम्। किं चैवं मुक्तस्याप्यात्मनो भवस्थशरीरावच्छेदेन भोगाऽऽपत्तिरिति तत्प्रकृतिनिवृत्तिरवश्यमभ्युपेयेति द्रष्टव्यम्॥ २८॥

प्रधानभेदे चैतत् स्यात्, कर्मबुद्धिगुणः पुमान्।
स्याद् ध्रुवश्चाध्रुवश्चेति, जयताद् जैनदर्शनम्॥ २९॥

उक्तदोषभिया प्रधानभेदे चाभ्युपगम्यमाने, आत्मभोगापवर्गनिर्वाहकमेतत् कर्म स्यात्, पुमान् पुरुषः बुद्धिगुणः स्यात्। बुद्धिलब्धिज्ञानानामनर्थान्तरत्वात्। स्यात्कथञ्चिद्, ध्रुवश्च द्रव्यतोऽध्रुवश्च पर्यायत इत्येवं जैनदर्शनं जयताद्, दोषलवस्याप्यस्पर्शात्। ननु च पुंसो विषयग्रहणसमर्थत्वेनैव चिद्रूपत्वं व्यवतिष्ठत इति विकल्पाऽऽत्मकबुद्धिगुणत्वं न युक्तम्, अन्तर्बहिर्मुखव्यापारद्वयविरोधादिति चेत्। न। अनुभूयमानक्रमिकैकोपयोगस्वभावत्वेन तदविरोधादिति॥ २९॥

तथा च कायरोधाऽऽदा-वव्याप्तं प्रोक्तलक्षणम्।
एकाग्रताऽवधौ रोधे, वाच्ये च प्राचि चेतसि॥ ३०॥

तथा च जैनदर्शनजयसिद्धौ च, प्रोक्तलक्षणं पतञ्जल्युक्तयोगलक्षणम्, कायरोधाऽऽदावव्याप्तम्, आदिना वाङ्निरोधाऽऽदिग्रहः। एकाग्रताऽवधावेकाग्रतानिरोधमात्रसाधारणे च रोधे वाच्ये, प्राचि एकाग्रतायाः पृष्ठभाविनि, चेतस्यध्यात्माऽऽदिशुद्धे, व्याप्तम्॥ ३०॥

योगाऽऽरम्भोऽथ विक्षिप्ते, व्युत्थानं क्षिप्तमूढयोः।
एकाग्रे च निरुद्धे च, समाधिरिति चेन्न तत्॥ ३१॥

अथ विक्षिप्ते चित्ते योगाऽऽरम्भः क्षिप्तमूढयोश्चित्तयोर्व्युत्थानम्, एकाग्रे च निरुद्धे च चित्ते समाधिरिति एकाग्रतापृष्ठभाविनश्चित्तस्यालक्ष्यत्वादेव न तत्राव्याप्तिः। क्षिप्तं हि रजस उद्रेकादस्थिरं बहिर्मुखतया सुखदुःखाऽऽदिविषयेषुकल्पितेषु सन्निहितेषु वा रजसा प्रेरितम्, तच्च सदैव दैत्यदानवाऽऽदीनाम्, मूढं तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्यावभागासंगतं क्रोधाऽऽदिभिर्विरुद्धकृत्येष्वेव नियमितम्, तच्च सदैव रक्षःपिशाचाऽऽदीनाम्, विक्षिप्तं तु सत्त्वोद्रेकात्परिहृतदुःखसाधनेष्वेव शब्दाऽऽदिषु प्रवृत्तम्, तच्च सदैव देवानाम्। एतास्तिस्रश्चित्तावस्था न समाधावुपयोगिन्यः। एकाग्रतानिरुद्धरूपे द्वे एव सत्त्वोत्कर्षाद् यथोत्तरमवस्थितत्वाच्च समाधावुपयोगं भजेते इति चेद्, न तत्॥ ३१॥

योगाऽऽरम्भेऽपि योगस्य, निश्चयेनोपपादनात्।
मदुक्तं लक्षणं तस्मात्, परमाऽऽनन्दकृत् सताम्॥ ३२॥

योगाऽऽरम्भेऽपि योगप्रारम्भकालेऽपि, निश्चयेन निश्चयनयेन, यो-

गस्योपपादनात् व्यवस्थापनात् , क्रियमाणं कृतमिति तदभ्युपगमाद् आद्यसमये तदनुत्पत्तावग्रिमसमयेष्वपि तदनुत्पत्त्यापत्तेः । वस्तुतो योगविशेषप्रारम्भकालेऽपि कर्मक्षतरूपफलान्यथाऽनुपपत्त्या व्यवहारेणापि योगसामान्यसद्भावोऽवश्याभ्युपेय इति प्रागुक्तातिव्याप्तिर्वज्रलेपायितैव। तस्मान्मदुक्तं लक्षणं ' मोक्षमुख्यहेतुव्यापारः, ' इत्येवंरूपं, सतां व्युत्पन्नानाम् , अदुष्टत्वप्रतिपत्तिद्वारा परमाऽऽनन्दकृत् ॥ ३२ ॥ द्वा० ११ द्वा०।

(१५) योगभेदाः-अत्र मिथ्यात्वाऽऽदिहेतुगतं मनोवाक्काययोग-त्रयम् , तच्च कर्मवृद्धिहेतुत्वाद् न ग्राह्यम् , किं तु मोक्षसाधनहेतुभूतं शुद्धाध्यात्मभावनाभावितचेतनावीर्यपरिणामसाधनकारकप्रवर्त्तनरूपं ग्राह्यं द्रव्यभावभेदं बाह्याऽऽचारविशोधिपूर्वकाभ्यन्तराऽऽचारशुद्धिरूपम्-

मोक्षेण योजनाद् योगः, सर्वोऽप्याचार इष्यते ।
विशिष्य स्थानवर्णार्थ-ऽऽलम्बनैकाग्र्ययगोचरः ॥ १ ॥

सकलकर्मक्षयो मोक्षः, तेन योजनाद् योग उच्यते। स च सर्वोऽप्याचारी जिनशासनोक्तः चरणसप्ततिकरणसप्ततिरूपो मोक्षोपायत्वाद् योग इष्येते । तत्र विशेषेण स्थानम् १,वर्णः २, अर्थः ३, आलम्बनम् ४, एकाग्रता ५, इति पञ्चप्रकारयोगो मोक्षोपायहेतुर्गतः, इत्यनेनानादिपरभावाऽऽसक्तभवभ्रमणग्रहात् पुद्गलभोगमग्नानां न भवत्ययमभिप्रायः-यतोऽस्माकं मोक्षः साध्योऽस्ति। स च गुरुवचनस्मरणतत्त्वजिज्ञासाऽऽदियोगेन स्वरूपं निर्मलं निःसङ्गं परमाऽऽनन्दमयं स्मृत्यं तत्कथाश्रवणप्रीत्यादिकं करोति, स परम्परया सिद्धियोगी भवति। न हि मरुदवोवत् सर्वेषामल्पप्रयासा सिद्धिः, तस्या हि अनल्पाऽऽशातनादोषकारकत्वेन निष्प्रयासा सिद्धिः । अन्यजीवानां चिराऽऽशातनाबद्धगाढकर्मणां तु स्थानाऽऽदिक्रमेणैव भवति ॥ १ ॥

अथ योगपञ्चके बाह्यान्तरङ्गसाधकत्वमुपदिशति-

कर्मयोगद्वयं तत्र, ज्ञानयोगत्रयं विदुः ।
विरतेष्वेष नियमाद् , बीजमात्रं परेष्वपि ॥ २ ॥

तत्र मोक्षसाधने, कर्मयोगद्वयं, क्रियाऽऽचरणायोगरूपम् , त्रयम् अर्थप्रमुखं, ज्ञानयोगं विदुः प्राहुर्बुधाः । तत्र विंशतिकाऽनुसारेण लक्षणाऽऽदिकं निरूप्यतेतत्र स्थानरूपं कायोत्सर्गाऽऽदिजैनाऽऽगमोक्तक्रियाकरणे करचरणाऽऽसनमुद्रारूपम्। उक्तं च विंशतिका-याम्- '' ठाणवण्णत्थालंबणरहिओ तंतम्मि पंचहा एसो। दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणजोगो उ '' ॥ १ ॥ एष पञ्चप्रकारो योगः, विरतेषु देशविरतसर्वविरतेषु, नियमाद् भवति। योगपञ्चकं हि चापल्यवारणम् , तेन योगवता भवितव्यम् । परेषु मार्गानुसारिप्रमुखेषु बीजमात्रं भवति किञ्चिन्मात्रं भवति । उक्तं च विंशतिकायाम्- '' देसे सव्वे य तहा, नियमेण सो चरित्तिणो होइ। इयरस्स वीयमित्तं, इति चेअ केइ इच्छंति ॥ १ ॥ ''

(१६) अत्र योगोत्पत्तिहेतवः प्रोच्यन्ते-

कृपानिर्वेदसंवेग-प्रशमोत्पत्तिकारिणः ।
भेदाः प्रत्येकमत्रेच्छा-प्रवृत्ति स्थिरसिद्धयः ॥ ३ ॥

कृपा अनुकम्पादुःखितेषु दुःखमोचनलक्षण आर्द्रतापरिणामः। निर्वेदः भवोद्वेगःचतुर्गतिषु चारकवद्भासनम् । संवेगः मोक्षाभिलाषः, प्रशमः कषायाभावः। एते परिणामाःयो योगो मोक्षोपायः, तस्योत्पत्तिकारिणः करणशीलाः, एतादृक्परिणामपरिणतस्य संसारोद्विग्नस्य शुद्धाऽऽत्मस्वादेच्छकस्य योगसाधना भवन्ति। अत्र योगपञ्चके, प्रत्येकं एकैकस्य चत्वारो भेदाः। ते च इमे-इच्छा १, प्रवृत्तिः २, स्थिरता ३, सिद्धिः ४ इत्येवं भेदा ज्ञेयाः। उक्तं च विंशतिकायाम्- '' इक्किक्को य चउद्धा, इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो। इच्छापवित्तिथिरसिद्धिभेयओ समयनीईए '' ॥ १ ॥ इत्यादि ॥ ३ ॥

इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः, प्रवृत्तिः पालनं परम् ।
स्थैर्यं बाधकभीहानिः, सिद्धिरन्यार्थसाधनम् ॥ ४ ॥

इच्छा साधकभावाभिलाषः, तद् योगपञ्चकं येषु विद्यन्ते तद्वन्तः श्रमणाः, तेषां कथासु गुणकथनाऽऽदिषु, प्रीतिःइष्टता । उक्तं च हरिभद्रपूज्यैः-'' तज्जुत्तकहापीई, समयादविपरीणामणी इच्छा। '' इति । तस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदिगुणवृद्धिहेतुभूतं क्रियाश्रुताभ्यासपालनं परं परा उत्कृष्टा सा प्रवृत्तिः । उक्तं च- '' सव्वत्थुवसम---रं, तप्पालणगा पवित्तीओ । '' इति । इत्येवं योगद्वयं बाह्यरूपत्वात् क्रियामुख्यत्वात् साध्यावलम्बिनां कारणरूपम् । शेषाणां तु शुभबन्धनिबन्धनं स्थैर्यबाधका अशुद्धाध्यवसाया अतीचाराः, तेषां भीर्भयं, तस्य हानिरभावः, निरतिचारगुणपालनारूपं यत्र तत् स्थैर्यम् । क्षयोपशमोऽपि अतिगुणसाधनापरिणमनेन सहजभावत्वात् निर्दोषगुणसाधनो भवति। उक्तं च- '' तह चेव एयबाधगचिंतारहियं थिरत्तणं नेयं। '' शुद्धानामर्थानां परमात्मरूपाणां साधनं स्वरूपालम्बनं शुद्धतत्त्वसाधनं सिद्धिः । उक्तं च- '' सव्वं परमत्थसाहगरूवं पुण होइ सिद्धि त्ति । '' एवं सप्रभेदं ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

यावद् ध्यानैकत्वं न भवति तावद् न्यासमुद्रावर्णशुद्धिपूर्वकमावश्यकचैत्यवन्दनप्रत्युपेक्षणाऽऽदिकमुपयोगयोगचापल्यवारणार्थमवश्यं करणीयं, महद् हितकरं सर्वजीवानां, तेन स्थानवर्णक्रमेण तत्त्वप्राप्तिरिति-

अर्थाऽऽलम्बनयोश्चैत्य-वन्दनाऽऽदौ विभावनम् ।
श्रेयसे योगिनः स्थान-वर्णयोर्यत्र एव च ॥ ५ ॥

अर्थो वाक्यस्य भावार्थः, आलम्बनं वाच्ये पदार्थे अर्हत्स्वरूपे उपयोगस्यैकत्वम् , अर्थश्च आलम्बनं च अर्थालम्बने, तयोश्चैत्यवन्दनाऽऽदौ अर्हद्वन्दनाधिकारे, विभावनं स्मरणं करणीयं, श्रेयसे कल्याणार्थं, च पुनः, स्थानं वन्दनकं कायोत्सर्गशरीरावस्थानम् , आसनमुद्राऽऽदिके, वर्णा अक्षराणि, तयोर्यत्र एव शुद्धिः श्रेयसे कल्याणाय भवति । उक्तं चाऽऽवश्यके- '' जं वाइद्धं वच्चामेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं, घोसहीणं, जोगहीणं, सुट्ठु दिन्नं, दुट्ठु पडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाए सज्झाइयं, सज्झाए न सज्झाइयं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं। '' इत्यनेन द्रव्यक्षेत्रकालविशुद्धौ भावसाधनसिद्धिः, तेन द्रव्यक्रिया हिता ॥ ५ ॥

आलम्बन मिह ज्ञेयं, द्विविधं रूप्यरूपि च ।
अरूपि गुणसायुज्यं, योगानालम्बनं परम् ॥ ६ ॥

इह जैनमार्गे, आलम्बनं द्विविधं ज्ञेयम्। एकं रूपि, अपरम्-अरूपि। तत्र रूप्यालम्बनं जिनमुद्राऽऽदिकपिण्डस्थपदस्थरूपस्थपर्यन्तं यावत् अर्हदवस्थाऽऽलम्बनं, तावत् कारणावलम्बनं शरीरातिशयो येन रूप्यवलम्बनं, तत्र अनादिपरभावशरीरधनस्वजनावलम्बो परत्र परिणतचेतनः विषयाऽऽस्वादाऽऽद्यर्थं तीर्थङ्कराऽऽद्यवलम्बनमपि भवहेतुः । तथैव यः स्वरूपाऽऽनन्दपिपासितः स्वरूपसाधनार्थं प्रथमं कारणरूपं जिनेश्वरं वीतरागाऽऽदिगुणस-

मूहैरवलम्बते यावद् मुद्राऽऽद्यालम्बनी, तावत् रूप्यावलम्बनी, स एव अर्हत्सिद्धस्वरूपं ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽद्यनन्तपर्यायविशुद्धं शुद्धाध्यात्मधर्ममवलम्बते इति। अरूप्यालम्बनी तत्र भाव्यतेअनादितो जीवो मूर्तपुद्गलस्कन्धावलम्बनपरिणतः कथं प्रथमत एवामूर्ताऽनन्दरूपं स्वरूपमवलम्बते ? यत अतिशयोपेतवीतरागमुद्राऽऽदकं परं मूर्तं चालम्ब्य विषयकषायवृद्धिकरं स्त्रीधनाऽऽद्यवलम्बनं त्यज्यति इत्येका परावृत्तिः। पुनः स एव अतिशयाऽऽदिरूपं मूर्तं नालम्बनीयम्, अहं तु अमूर्तः, मूर्तभावरसिकत्वं नोपयुज्यते। यद्यपि अर्हतः संबद्धं तथापि औदयिकं नालम्बनम्, अनन्तगुणाऽऽलम्बनमुत्तममिति गुणावलम्बनी मूर्तान् भावान् न रसिकत्वेन गृह्णाति, सापेक्षपरत्वेन पश्यतीति द्वितीया परावृत्तिः। एवममूर्ताऽऽत्मगुणरसिको भवति, तेन परमेष्ठिस्वरूपं कारणेनावधार्य स्वीयासंख्येयप्रदेशव्याप्यव्यापकभावावच्छिन्नद्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकानन्तस्वभावममलामूर्ताऽऽनन्दमयं ध्येयत्वेनावलम्बते इति तृतीया परावृत्तिरिति। साधनपद्धतिः सर्वेषां तत्स्वरूपसाधनम्, अरूपिगुणाः सिद्धगुणा, तेषां भावनं सायुज्यं तदात्मता, तया योग आत्मोपयोगयोजनं यद्यपि ईषदवलम्बनं श्रुताऽऽदीनां, तथापि अनालम्बनमेव पर उत्कृष्टो योगः। उक्तं च पाठकैः- '' तत्राप्रतिष्ठितं खलु, यतः प्रवृत्तश्चलत्यतस्तत्र। सर्वोत्तमो हि मुनिजः, तेनानालम्बनो गीतः ॥ १ ॥ '' निरालम्बनयोगेन धारावाहिप्रशान्तवाहिता नाम चिन्तितस्य स्वरसत एव मनः सहजधारायां वर्तते, न प्रयासो भवति। उक्तं च विंशतिकायाम्- '' आलंबणं पि एयं, रूविमरूवी य इत्थ परमो त्ति। तग्गुणपरणइमित्तो, सुहमो आलंबणो नाम '' ॥ १ ॥ एकाग्रयोगस्यैवापरनाम अनालम्बनयोग इति। एवं स्थानाऽऽद्याः पञ्च इच्छाऽऽदिगुणिता विंशतिर्भवन्ति। ते च प्रत्येकमनुष्ठानचतुष्कयोजिता अशीतिप्रकारा भवन्ति ॥ ६ ॥

तत्स्वरूपनिरूपणायोपदिशति-

प्रीतिभक्तिवचोऽसङ्गैः, स्थानाऽऽद्यपि चतुर्विधम्।
तस्मादयोगियोगाऽऽप्ते-र्मोक्षयोगः क्रमाद् भवेत् ॥ ७ ॥

एते स्थानाऽऽदयः, प्रीतिर्भक्तिर्वचनमसङ्ग इति भेदचतुष्टयैरशीतिभेदाः भवन्ति। तस्माद् योगात्क्रमेण अयोगिनामा योगः, तस्याऽऽप्तिः प्राप्तिर्भवति, अयोगी योगशैलेशीकरणं सकलयोगचापल्यरहितो योगस्तं प्राप्नोति, तेन पुनः क्रमाद् मोक्षः। '' सर्वकर्माभावलक्षण आत्मनस्तादात्म्यावस्थानं मोक्षः। '' एवं योगः संयोगः, क्रमात् अनुक्रमेण भवति। (अथ प्रीत्याद्यनुष्ठानस्वरूपं तु षोडशकपाठेन ' अणुट्ठाण ' शब्दे प्रथमभागे ३७७ पृष्ठे गतार्थम्) एवं क्रमेण योगसाधनारतः सर्वयोगरोधं कृत्वा अयोगी भवति ॥ ७ ॥

स्थानाऽऽद्ययोगिनस्तीर्थो-च्छेदाऽऽद्यालम्बनादपि।
सूत्रदाने महादोषः, इत्याचार्याः प्रचक्षते ॥ ८ ॥

इति स्थानाऽऽदिप्रवृत्तियोगरहितस्य सूत्रदानं महादोष इति आचार्या हरिभद्राऽऽदयः, प्रचक्षते कथयन्ति, कस्मात् ? तीर्थोच्छेदाऽऽद्यालम्बनात्, निरास्तिकस्य सूत्रदाने कदाचित् कुप्ररूणाकरणेन तीर्थोच्छेदो भवति।

उक्तं च विंशतिकायाम्-

'' तित्थस्सुच्छेया इति, णालंबणजं स एय एमेव।
सुत्तकिरियाइनासो, एसो असमंजसविहाणो ॥ १ ॥
सो एस वंकओ चिअ, नअससमयमादियाणमविसेसा।
एयं पि भावियव्वं, इह तित्थुच्छेदभीरूहिं ॥ २ ॥
मुत्तूण लोगसन्नं, नाऊण य साहुसमयसब्भावं।
सम्मं परियट्टिव्वं, वुहेण मइनिउणबुद्धीए '' ॥ ३ ॥

एवं प्रथमं स्थानाऽऽदिविशुद्धिं कृत्वा इच्छाऽऽदिपरिणतः क्रमेण स्वस्वरूपाऽऽलम्बनाऽऽदि गृहीत्वा प्रीत्याद्यनुष्ठानेन असङ्गानुष्ठानयोगतः सर्वज्ञो भूत्वा अयोगीभूय सिद्धो भवति, अतः क्रमसाधना श्रेयस्करी। इति व्याख्यातं योगाष्टकम्॥ अष्ट० २७ अष्ट०।

अध्यात्मं भावना ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तो, योगमार्गविशारदैः ॥ १ ॥

द्वा० १८ द्वा०। अष्ट०। (सर्वे भेदाः ' भावणा ' शब्दे विवेचनासहिता वक्ष्यन्ते)

(१७) वृत्तिरोधोऽपि योगश्चेद्, भिद्यते पञ्चधाऽप्ययम्।
मनोवाक्कायवृत्तीनां, रोधे व्यापारभेदतः ॥ २७ ॥

मोक्षहेतुलक्षणो योगः पञ्चधा भिन्न इति प्रदर्शितं, वृत्तिरोधोऽपि चेद्योग उच्यते, अयमपि पञ्चधा भिद्यते, मनोवाक्काय वृत्तीनां रोधे व्यापारभेदतोऽनुभवसिद्धानां भेदानां दुरपह्नवत्वात्; अन्यथा द्रव्यमात्रपरिशेषप्रसङ्गादिति भावः ॥ २७ ॥

प्रवृत्तिस्थिरताभ्यां हि, मनोगुप्तिद्वये किल।
भेदाश्चत्वार इष्यन्ते, तत्रान्त्यायां तथाऽन्तिमः ॥ २८ ॥

प्रवृत्तिः प्रथमाभ्यासः, स्थिरता उत्कर्षकाष्ठाप्राप्तिः, ताभ्यां मनोगुप्तिद्वये किल आद्याश्चत्वारो भेदाः-अध्यात्मभावनाध्यानसमतालक्षणा इष्यन्ते, व्यापारभेदादेकत्र क्रमेणोभयोः समावेशाद् यथोत्तरं विशुद्धत्वात्। तथाऽन्त्यायां चरमायां, तत्र मनोगुप्तौ, अन्तिमो वृत्तिसंक्षय इष्यते। इत्यं हि पञ्चापि प्रकारा निरपाया एवं ॥ २८ ॥

विमुक्तकल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
आत्माऽऽरामं मनश्चेति, मनोगुप्तिस्त्रिधोदिता ॥ २९ ॥

विमुक्तं परित्यक्तं, कल्पनाजालं संकल्पविकल्पचक्रं, येन तत्; तथा समत्वे सुप्रतिष्ठितं सम्यग् व्यवस्थितम्, आत्माऽऽरामं स्वभावप्रतिबद्धं, मनः, तद्ज्ञैस्तद्वेदिभिः, मनोगुप्तिस्त्रिधा त्रिभिः प्रकारैः, उदिता कथिता ॥ २९ ॥

अन्यासामवतारोऽपि, यथायोगं विभाव्यताम्।
यतः समितिगुप्तीनां, प्रपञ्चो योग उत्तमः ॥ ३० ॥

अन्यासां वाक्कायगुप्तीर्यासमित्यादीनाम्, अवतारोऽप्यन्तर्भावोऽपि, यथायोगं यथास्थानं, विभाव्यतां विचार्यतां, यतो यस्मात्, समितिगुप्तीनां प्रपञ्चो यथापर्यायं विस्तारो, योग उच्यते उत्तम उत्कृष्टः, न तु समितिगुप्तिविभिन्नस्वभावो योगपदार्थोऽतिरिक्तः कोऽपि विद्यत इति ॥ ३० ॥

उपायत्वेऽत्र पूर्वेषा-मन्त्य एवावशिष्यते।
तत्पञ्चमगुणस्थाना-दुपायोऽर्वागिति स्थितिः ॥ ३१ ॥

अत्राध्यात्माऽऽदिभेदेषु योगेषु पूर्वेषामध्यात्माऽऽदीनाम्, उपायत्वे योगोपायत्वमात्रे वक्तव्ये, अन्त्य एव वृत्तिक्षय एव योगोऽवशिष्यते। तत्तस्मात्, पञ्चमगुणस्थानादर्वाक् पूर्वसेवारूप उपायः, तत आरभ्य तु सानुबन्धयोगप्रवृत्तिरेवेति स्थितिः सत्तन्त्रमर्यादा ॥ ३१ ॥

भगवद्वचनस्थित्या, योगः पञ्चविधोऽप्ययम्।
सर्वोत्तमं फलं दत्ते, परमाऽऽनन्दमञ्जसा॥ ३२॥

निगदसिद्धोऽयम्॥ ३२॥ द्वा० १८ द्वा०।

(१८) अध्यात्माऽऽदीन् योगभेदानुपदर्श्य तदवान्तरनानाभेदप्रदर्शनेन तद्विवेकमेवाऽऽह-

इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्य-माश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम्।
गीयते योगशास्त्रज्ञै-र्निर्व्याजं यो विधीयते॥ १॥

इच्छां, शास्त्रं, सामर्थ्यं चाऽऽश्रित्य त्रिविधोऽप्ययं योगो योगशास्त्रज्ञैर्गीयते, इच्छायोगः, शास्त्रयोगः, सामर्थ्ययोगश्चेति यो निर्व्याजं निष्कपटं विधीयते। सव्याजस्तु योगाऽऽभासो गणनायामेव नावतरतीति॥ १॥

इच्छायोगमाह-

चिकीर्षोस्तु श्रुतार्थस्य, ज्ञानिनोऽपि प्रमादिनः।
कालाऽऽदिविकलो योगः, इच्छायोग उदाहृतः॥ २॥

चिकीर्षोः-तथाविधक्षयोपशमाभावेऽपि निर्व्याजमेव कर्तुमिच्छोः, श्रुतार्थस्य श्रुताऽऽगमस्य, अर्यतेऽनेन तत्त्वमिति, तत्त्वार्थशब्दस्याऽऽगमवचनत्वात्। ज्ञानिनोऽपि अवगतानुष्ठेयतत्त्वार्थस्यापि, प्रमादिनो विकथाऽऽदिप्रमादवतः, कालाऽऽदिना विकलोऽसंपूर्णो, योगश्चैत्यवन्दनाऽऽदिव्यापारः, इच्छायोग उदाहृतः प्रतिपादितः॥ २॥

प्रधानस्येच्छायोगत्वे तदङ्गस्यापि तथात्वमिति दर्शयन्नाह-

साङ्गमप्येककं कर्म, प्रतिपन्ने प्रमादिनः।
न त्वेच्छायोगत इति, श्रवणादत्र मज्जति॥ ३॥

साङ्गमपि अङ्गसाकल्येनाविकलमपि, एककं स्वल्पं किञ्चित्कर्म, प्रतिपन्ने बहुकालव्यापिनि प्रधाने कर्मण्यादृते, प्रमादिनः प्रमादवतः, न त्वेच्छायोगत इति श्रवणात्, अत्र इच्छायोगे, मज्जति मग्नं भवति। अन्यथा हि इच्छायोगाधिकारी भगवान् हरिभद्रसूरिर्योगदृष्टिसमुच्चयप्रकरणप्रारम्भे .मृषावादपरिहारेण सर्वत्रौचित्याऽऽरम्भप्रदर्शनार्थं न त्वेच्छायोगतोऽयोगमित्यादि नावक्ष्यत्; वाङ्नमस्कारमात्रस्याल्पस्य विधिशुद्धस्यापि संभवात्। प्रतिपन्नस्वपर्यायान्तर्भूतत्वेन च प्रकृतनमस्कारस्यापि इच्छायोगप्रभवत्वमदुष्टमिति विभावनीयम्॥ ३॥

यथाशक्त्यप्रमत्तस्य, तीव्रश्रद्धाऽवबोधतः।
शास्त्रयोगस्त्वखण्डार्था-ऽऽराधनादुपदिश्यते॥ ४॥

यथाशक्ति स्वशक्त्यनतिक्रमेण, अप्रमत्तस्य विकथाऽऽदिप्रमादरहितस्य, तीव्रौ तथाविधमोहापगमात्पटुतरौ, यौ श्रद्धाऽवबोधौ जिनप्रवचनाऽऽस्तिक्यतत्त्वपरिच्छेदौ, तत अखण्डार्थाऽऽराधनात् कालाऽऽद्यविकलवचनानुष्ठानात् तु शास्त्रयोग उपदिश्यते॥ ४॥

शास्त्रेण दर्शितोपायः, फलपर्यवसायिना।
तदतिक्रान्तविषयः, सामर्थ्याऽऽख्योऽतिशक्तितः॥ ५॥

फलपर्यवसायिना मोक्षपर्यन्तोपदेशेन शास्त्रेण दर्शितः सामान्यतो ज्ञापित उपायो यस्य, सामान्यतः फलपर्यवसानत्वाच्छास्त्रस्य द्वारमात्रबोधनेन विशेषहेतुदिक्प्रदर्शकत्वात् अतिशक्तितः शक्तिप्राबल्यात्, तदतिक्रान्तविषयः शास्त्रातिक्रान्तगोचरः सामर्थ्याऽऽख्यो योग उच्यते॥ ५॥

शास्त्रातिक्रान्तविषयत्वमस्य समर्थयन्नाह-

शास्त्रादेव न बुध्यन्ते, सर्वथा सिद्धिहेतवः।
अन्यथा श्रवणादेव, सर्वज्ञत्वं प्रसज्ज्यते॥ ६॥

सिद्धिहेतवः सर्वे, सर्वथा सर्वैः प्रकारैः, शास्त्रादेव न बुध्यन्ते, अन्यथा शास्त्रादेव सर्वसिद्धिहेतूनां बोधे, सर्वज्ञत्वं प्रसज्ज्यते श्रवणादेव, सर्वसिद्धिहेतुज्ञाने सार्वज्ञसिद्ध्युपधायकोत्कृष्टहेतुज्ञानस्याप्यावश्यकत्वात्तदुपलम्भाऽऽख्यस्वरूपाऽऽचरणरूपचारित्रस्यापि विलम्बाभावात् सर्वसिद्ध्युपायज्ञानस्य सार्वज्ञव्याप्यत्वाच्च।

तदिदमुक्तम्-

'' सिद्ध्याख्यपदसंप्राप्ते-र्हेतुभेदा न तत्त्वतः।
शास्त्रादेवावगम्यन्ते, सर्वथैवेह योगिभिः॥ १॥
सर्वथा तत्परिच्छेदात्, साक्षात्कारित्वयोगतः।
तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धेः, तदा सिद्धिपदाऽऽप्तितः॥ २॥ ''॥ ६॥

प्रातिभज्ञानगम्यस्तत्, सामर्थ्याऽऽख्योऽयमिष्यते।
अरुणोदयकल्पं हि, प्राच्यं तत्केवलार्कतः॥ ७॥

तत्तस्मात्, प्रातिभज्ञानगम्योऽयं सामर्थ्याऽऽख्यो योग उच्यते, सार्वज्ञहेतुः खल्वयं मार्गानुसारिप्रकृष्टोहस्यैव विषयो, न तु वाचाम्, क्षपकश्रेणिगतस्य धर्मव्यापारस्य स्वानुभवमात्रवेद्यत्वादिति भावः। ननु प्रातिभमपि श्रुतज्ञानमेव, अन्यथा षष्टज्ञानप्रसङ्गात्, तथा च कथं शास्त्रातिक्रान्तविषयत्वमस्येत्यत आह-तत् प्रातिभं हि, केवलार्कतः केवलज्ञानभानुमालिनः, प्राच्यं पूर्वकालीनम्, अणोदयकल्पम्॥ ७॥

एतदेव भावयति-

रात्रेर्दिनादपि पृथग्, यथा नो वाऽरुणोदयः।
श्रुताच्च केवलज्ञानात्, तथेदमपि भाव्यताम्॥ ८॥

यथाऽरुणोदयो रात्रेर्दिनादपि पृथग्, नो वा, अपृथगित्यर्थः। न पुनरत्रैकरूप्यं विवेचयितुं शक्यते, पूर्वापरत्वाविशेषेणोभयभागसंभवात्। श्रुतात् केवलज्ञानाच्च, तथेदमपि प्रातिभं ज्ञानं भाव्यतां, तत्काल एव तथाविधक्षयोपशमभाविनस्तस्य श्रुतत्वेन तत्त्वतोऽसंव्यवहार्यतया श्रुतादशेषद्रव्यपर्यायाविषयत्वेन, क्षायोपशमिकत्वेन च केवलज्ञानाद्विभिन्नत्वात् केवलश्रुतपूर्वापरकोटिव्यवस्थितत्वेन, तद्धेतुकार्यतया च ताभ्यामभिन्नत्वात्॥ ८॥

ऋतम्भराऽऽदिभिः शब्दैः, वाच्यमेतत्परैरपि।
इष्यते गमकत्वं चा-मुष्य व्यासोऽपि यज्जगौ॥ ९॥

एतत् प्रकृतं प्रातिभज्ञानं, परैरपि पातञ्जलाऽऽदिभिः, ऋतम्भराऽऽदिभिः शब्दै र्वाच्यमिष्यते, आदिना तारकाऽऽदिशब्दग्रहः। गमकत्वं सामर्थ्ययोगज्ञापकत्वं च, अमुष्य प्रातिभस्य परैरिष्यते, यद् यस्माद्व्यासोऽपि जगौ॥ ९॥

आगमेनानुमानेन, ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन प्रज्ञां, लभते योगमुत्तमम्॥ १०॥

आगमेन शास्त्रेण, अनुमानेन लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानरूपेण, ध्यानाभ्यासस्य रसः श्रुतानुमानप्रज्ञाविलक्षण ऋतम्भराऽऽख्यो विशेषविषयः, तेन च; त्रिधा प्रज्ञां प्रकल्पयन्, उत्तमं सर्वोत्कृष्टं, योगं लभते॥ १०॥

द्विधाऽयं धर्मसंन्यास-योगसंन्याससंज्ञितः।

क्षायोपशमिका धर्माः, योगाः कायाऽऽदिकर्म तु ॥ ११ ॥

द्विधा द्विप्रकारोऽयं सामर्थ्ययोगः धर्मसंन्यास-योगसंन्याससंज्ञे जाते यस्य स तथा। संज्ञा चेह तथा संज्ञायत इति कृत्वा, तत्स्वरूपमेव गृह्यते। क्षायोपशमिकाः-क्षयोपशमनिर्वृत्ताः ज्ञान्त्यादयो धर्माः, योगास्तु-कायाऽऽदिकर्म कायोत्सर्गकरणाऽऽदयः कायाऽऽदिव्यापाराः ॥ ११ ॥

द्वितीयापूर्वकरणे, प्रथमस्तात्त्विको भवेत्।
आयोज्यकरणादूर्ध्वं, द्वितीय इति तद्विदः ॥ १२ ॥

द्वितीयापूर्वकरण इति। ग्रन्थिभेदनिबन्धनप्रथमापूर्वकरणव्यवच्छेदार्थं द्वितीयग्रहणं, प्रथमेऽधिकृतसामर्थ्ययोगासिद्धेः। अपूर्वकरणस्य तु तत्रासंजातपूर्वग्रन्थिभेदाऽऽदिफलेनाभिधानाद् यथाप्राधान्यमयमुपन्यासः। चारुश्च पश्चानुपूर्व्येति समयविदः। ततो द्वितीयेऽस्मिँस्तथाविधकर्मस्थितेस्तथाविधसंख्येयसागरोपमातिक्रमभाविनि प्रथमो धर्मसंन्याससंज्ञितः सामर्थ्ययोगः तात्त्विकः पारमार्थिको भवेत्, क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्मनिवृत्तेः। अतात्त्विकस्तु प्रव्रज्याकालेऽपि भवति, प्रवृत्तिलक्षणधर्मसंन्यासायाः प्रव्रज्याया ज्ञानयोगप्रतिपत्तिरूपत्वात्। अत एवास्या भवविरक्त एवाधिकार्युक्तः। यथोक्तम्- '' अथ प्रव्रज्यार्हः, आर्यदेशोत्पन्नः, विशिष्टजातिकुलान्वितः, क्षीणप्रायकर्ममलबुद्धिः, दुर्लभं मानुष्यं, जन्म मरणनिमित्तं, संपदश्चलाः, विषया दुःखहेतवः, संयोगो वियोगान्तः, प्रतिक्षणं मरणं, दारुणो विपाकः, इत्यवगतसंसारनैर्गुण्यः, तत एव तद्विरक्तः, प्रतनुकषायोऽल्पहास्याऽऽदिः, कृतज्ञो, विनीतः, प्रागपि राजामात्यपौरजनबहुमतोऽद्रोहकारी, कल्याणाङ्गः, श्राद्धः, सुमपसंपन्नश्चेति ''। न ह्यनीदृशो ज्ञानयोगमाराधयति, न चेदृशो नाराधयतीति भावनीयम्। सर्वज्ञवचनमागमः, तत्रायमनिरूतार्थ इति, आयोज्यकरणं केवलाऽऽभोगेनाचिन्त्यवीर्यतया भवोपग्राहिकर्माणि तथा व्यवस्थाप्य तत्क्षपणव्यापारणं शैलेश्यवस्थाफलं, तत ऊर्ध्वं द्वितीयो योगसंन्याससंज्ञित इति, तद्विदोऽभिदधति, शैलेश्यवस्थायां कायाऽऽदियोगानां संन्यासेनायोगाऽऽख्यस्य सर्वसंन्यासलक्षणस्य सर्वोत्तमस्य योगस्य प्राप्तेरिति ॥ १२ ॥

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चेति, सामान्येन द्विधाऽप्ययम्।
तात्त्विको वास्तवोऽन्यस्तु, तदाभासः प्रकीर्तितः ॥ १३ ॥

सामान्येन विशेषभेदानुपग्रहेण, तात्त्विकोऽतात्त्विक श्चेति द्विधाऽप्ययं योग इष्यते। तात्त्विको वास्तवः, केनापि नयेन मोक्षयोजनफल इत्यर्थः। अन्योऽतात्त्विकस्तु तदाभास उक्तलक्षणविरहितोऽपि, योगोचितवेषाऽऽदिना योगवदाभासमानः प्रकीर्तितः ॥ १३ ॥

अपुनर्बन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः।
अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥ १४ ॥

अपुनर्बन्धकस्योपलक्षणत्वात् सम्यग्दृष्टेश्च, अयं योगो, व्यवहारेण कारणस्यापि कार्योपचाररूपेण, तात्त्विकोऽध्यात्मरूपो भावनारूपश्च, निश्चयेन निश्चयनयेनोपचारपरिहाररूपेणोत्तरस्य तु चारित्रिण एव॥ १४ ॥

सकृदावर्तनाऽऽदीना-मतात्त्विक उदाहृतः।
प्रत्यपायफलप्रायः, तथावेपाऽऽदिमात्रतः ॥ १५ ॥

सकृदेकवारम्, आवर्तन्ते उत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तीति सकृदावर्तनाः, आदिशब्दाद् द्विरावर्तनाऽऽदिग्रहः। तेषामतात्त्विको व्यवहारतो, निश्चयतश्चातत्त्वरूपोऽशुद्धपरिणामत्वादुदाहृतोऽध्यात्मभावनारूपो योगः। प्रत्यपायोऽनर्थः फलं, प्रायो बाहुल्येन, यस्य स तथा। तथा तत्प्रकारभावमाराध्याऽऽत्मभावनायुक्तयोगियोग्यं यद्वेषाऽऽदिमात्रं नेपथ्यचेष्टाभाषालक्षणं श्रद्धानशून्यं वस्तु तस्मात्, तत्र हि वेषाऽऽदिमात्रमेव स्याद्, न पुनस्तेषां काचिच्छ्रद्धालुतेति ॥ १५ ॥

शुद्ध्यपेक्षो यथायोगं, चारित्रवत एव च।
हन्त ! ध्यानाऽऽदिको योग-स्तात्त्विकः प्रविजृम्भते ॥ १६ ॥

यथायोगं यथास्थानं, शुद्ध्यपेक्ष उत्तरोत्तरां शुद्धिमपेक्ष्य प्रवर्तमानचारित्रवत एव च, हन्त ! तात्त्विकः पारमार्थिकैकस्वरूपो, ध्यानाऽऽदिको योगः, प्रविजृम्भते प्रोल्लसति ॥ १६ ॥

अपायभावाभावाभ्यां, सानुबन्धोऽपरश्च सः।
निरुपक्रमकर्मैवा-पायो योगस्य बाधकम् ॥ १७ ॥

अपायस्य भावाभावाभ्यां सद्भावासद्भावाभ्यां, सानुबन्धः, अपरो निरनुबन्धश्च, स योगः अपायरहितः सानुबन्धः, तत्सहितश्च निरनुबन्ध इति। योगस्य बाधकं निरुपक्रमं विशिष्टानुष्ठानचेष्टयाऽप्यनुच्छेद्यमनाश्यं, स्वविपाकसामर्थ्यं वा, कर्मैव चारित्रमोहनीयाऽऽख्यमपायः ॥ १७ ॥

बहुजन्मान्तरकरः, सापायस्यैव साऽऽश्रवः।
अनाश्रवस्त्वेकजन्मा, तत्त्वाङ्गव्यवहारतः ॥ १८ ॥

बहुजन्मान्तरकरो देवमनुष्याऽऽद्यनेकजन्मविशेषहेतुः, निरुपक्रमकर्मणोऽवश्यवेदनीयत्वात्, सापायस्यैवापायवत एव, साऽऽश्रवो योगः, एकमेव वर्तमानं जन्म यत्र स त्वनाश्रवः। ननु कथमेतत् ? अयोगिकेवलिगुणस्थानादर्वाक् सर्वसंवराभावेनानाश्रवत्वासंभवादित्यत आह-तत्त्वाङ्गनिश्चयप्रापको यो व्यवहारः, ततस्तेन साम्परायिककर्मबन्धनलक्षणस्य वाऽऽश्रवस्याभ्युपगमात्तदभावे इत्यराऽऽश्रवभावेऽपि नानाश्रवयोगक्षतिरिति भावः।

तदुक्तम्-
'' आश्रवो बन्धहेतुत्वाद्, बन्ध एवेह यन्मतः।
स साम्परायिको मुख्यः, तदेवोऽर्थोऽस्य सङ्गतः॥ ३७५ ॥
एवं चरमदेहस्य, संपरायवियोगतः।
इत्वराऽऽश्रवभावेऽपि, स तथाऽनाश्रवो मतः॥ ३७६ ॥
निश्चयेनात्र शब्दार्थः, सर्वत्र व्यवहारतः।
निश्चयव्यवहारौ वद्, द्वावप्यभिमतार्थदौ॥ ३७७ ॥ '' (यो० विं०)

निश्चयेनेत्युपलक्षणे तृतीया, ततो निश्चयेनोपलक्षितात् तत्प्रापकव्यवहारत इत्यन्वयः॥ १८॥

इत्थं साऽऽश्रवानाश्रवत्याभ्यां योगद्वैविध्यमुक्त्वा, शास्त्रसापेक्षस्वाधिकारिकत्वतद्विपर्ययाभ्यां तद्द्वैविध्याभिधानाभिप्रायवानाह-

शास्त्रेणाधीयते चायं, नासिद्धेर्गोत्रयोगिनाम्।
सिद्धेर्निष्पन्नयोगस्य, नोद्देशः पश्यकस्य यत् ॥ १९ ॥

अयं च योगो गोत्रयोगिनां गोत्रमात्रेण योगिनाम्, असिद्धेर्मलिनान्तराऽऽत्मतया योगसाध्यफलाभावात् शास्त्रेण योगतन्त्रेण नाधीयते, तथा सिद्धेः सामर्थ्ययोगत एव कार्यनिष्पत्तेः, निष्पन्नयोगस्यासङ्गानुष्ठानप्रवाहप्रदर्शनेन सिद्धयोगस्यायं शास्त्रेण नाधीयते, यद् यस्मात्, पश्यकस्य स्वत एव विदितवेद्यस्य, उ-

द्दिश्यत इत्युद्देशः, सदसत्कर्तव्याकर्तव्याऽऽदेशो नास्ति। यतोऽभिहितमाचारे- '' उद्देसो पासगस्स नऽत्थि त्ति '' ॥ १६ ॥

कुलप्रवृत्तचक्राणां, शास्त्रात् तत्तदुपक्रिया।
योगाऽऽचार्यैर्विनिर्दिष्टं, तल्लक्षणमिदं पुनः ॥ २० ॥

कुलयोगिनां, प्रवृत्तचक्रयोगिनां च, शास्त्राद् योगतन्त्रात् ,सा विचित्रत्वेन प्रसिद्धा, उपक्रिया योगसिद्धिरूपा भवति। तदुक्तं योगदृष्टिसमुच्चये- '' कुलप्रवृत्तचक्रा ये, त एवास्याधिकारिणः। योगिनो न तु सर्वेऽपि, तथा सिद्ध्यादिभावतः '' ॥ १ ॥ तेषां कुलप्रवृत्तचक्रयोगिनां, लक्षणं पुनरिदं वक्ष्यमाणं, योगाऽऽचार्यैर्योगप्रतिपादकैः सूरिभिर्विनिर्दिष्टम् ॥ २० ॥ द्वार० १६ द्वा०। [कुलयोगिलक्षणं ' कुलजोगि ' (ण्) शब्दे तृतीयेभागे ५६८ पृष्ठे द्रष्टव्यम्। प्रवृत्तचक्रयोगिलक्षणं च ' पवत्तचक्क ' शब्दे वक्ष्यामः]

आद्यावञ्चकयोगाऽऽप्त्या, तदन्यद्वयलाभिनः।
एतेऽधिकारिणो योग-प्रयोगस्येति तद्विदः ॥ २४ ॥

आद्यावञ्चकयोगस्य योगावञ्चकयोगस्य, आप्त्या प्राप्त्या हेतुभूतया, तदन्यद्वयलाभिनः क्रियावञ्चकफलावञ्चकयोगलाभवन्तः, तदबन्ध्यभव्यतया तत्त्वतस्तेषां तल्लाभवत्त्वात्। एतेऽधिकारिणो, योगप्रयोगस्याधिकृतयोगव्यापारस्य, इत्येवं, तद्विदो योगविदोऽभिदधति ॥ २४ ॥ द्वार० १६ द्वा०।

सद्भिः कल्याणसंपन्नै-र्दर्शनादपि पावनैः।
तथा दर्शनतो योग, आद्यावञ्चक उच्यते ॥ २६ ॥

सद्भिरुक्तमैः, कल्याणसंपन्नैर्विशिष्टपुण्यवद्भिः, दर्शनादप्यबलोकनादपि, पावनैः पवित्रैः, तथा तेन प्रकारेण, गुणवत्तयेत्यर्थः। दर्शनतो योगः संबन्धः, आद्यावञ्चकः सद्योगावञ्चकः, उच्यते दृश्यते ॥ २६ ॥

तेषामेव प्रणामाऽऽदि-क्रियानियम इत्यलम्।
क्रियाऽवञ्चकयोगः स्याद्, महापापक्षयोदयः ॥ ३० ॥

तेषामेव सतामेव, प्रणामाऽऽदिक्रियानियमः, इत्यलं, क्रियाऽवञ्चकयोगः स्यात्, महापापक्षयस्य नीचैर्गोत्रकर्मक्षयस्य, उदय उत्पत्तिर्यस्मात् स तथा ॥ ३० ॥

फलावञ्चकयोगस्तु, सद्भ्य एव नियोगतः।
सानुबन्धफलावाऽऽप्ति-र्धर्मसिद्धौ सतां मता ॥ ३१ ॥

फलावञ्चकयोगस्तु, सद्भ्य एवानन्तरोदितेभ्यः, नियोगतोऽवश्यंभावेन सानुबन्धस्योत्तरोत्तरवृद्धिमतः, फलस्यावाऽऽप्तिः, तथा सदुपदेशाऽऽदिना धर्मसिद्धौ विषये सतां मता ॥ ३१ ॥

इत्थं योगविवेकस्य, विज्ञानाद्धीनकल्मषः।
यतमाना यथाशक्ति, परमाऽऽनन्दमश्नुते ॥ ३२ ॥

इत्थमिति स्पष्टम् ॥ ३२ ॥ द्वा० १६ द्वा०।

अनन्तरोक्तो योगविवेकः स्वाभिमतयोगभेदे परोक्तयोगानामवतारे सति व्यवतिष्ठते, इत्यतोऽयं निरूप्यते-

संप्रज्ञातोऽपरश्चेति, द्विधाऽन्यैरयमिष्यते।
सम्यक् प्रज्ञायते येन, संप्रज्ञातः स उच्यते ॥ १ ॥

संप्रज्ञातः, अपरोऽसंप्रज्ञातश्चेति, अन्यैः पातञ्जलैः, अयं योगो द्विधेष्यते, सम्यक्संशयविपर्ययानध्यवसायरहितत्वेन, प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते, भाव्यस्य स्वरूपं येन स संप्रज्ञात उच्यते ॥ १ ॥

वितर्केण विचारेणा-ऽऽनन्देनास्मितयाऽन्वितः।
भाव्यस्य भावनाभेदात्, संप्रज्ञातश्चतुर्विधः ॥ २ ॥

वितर्केण विचारेण, आनन्देनास्मितयाऽन्वितः क्रमेण युक्तः, भाव्यस्य, भावनायाः विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनलक्षणायाः, भेदात्, संप्रज्ञातश्चतुर्विधो भवति। तदुक्तम्- '' वितर्कविचाराऽऽनन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञात इति। '' (१-१७) ॥ २ ॥

पूर्वापरानुसन्धानात्, शब्दोल्लेखाच्च भावना।
महाभूतेन्द्रियार्थेषु, सविकल्पोऽन्यथाऽपरः ॥ ३ ॥

पूर्वापरयोरर्थयोः, अनुसन्धानात्, शब्दोल्लेखाच्छब्दार्थोपरागाश्चः, यदा भावना प्रवर्त्तते महाभूतेन्द्रियलक्षणेष्वर्थेषु स्थूलविषयेषु, तदा सविकल्पःसवितर्कः समाधिः। अन्यथाऽस्मिन्नेवाऽऽलम्बने, पूर्वापरानुसन्धानशब्दार्थोल्लेखशून्यत्वेन भावनायामपरो निर्विकल्पःनिर्वितर्कः ॥ ३ ॥

तन्मात्रान्तःकरणयोः, सूक्ष्मयोर्भावना पुनः।
दिक्कालधर्मावच्छेदात्, सविचारोऽन्यथाऽपरः ॥ ४ ॥

तन्मात्रान्तःकरणयोः सूक्ष्मयोर्भाव्ययोः, दिक्कालधर्मावच्छेदाद्देशकालधर्मावच्छेदेन, भावना पुनः सविचारः समाधिः। अन्यथा तस्मिन्नेवाऽऽलम्बने, देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासित्वेन भावनायाम्, अपरो निर्विचारः समाधिः ॥ ४ ॥

यदा रजस्तमोलेशा-नुबिद्धं भाव्यते मनः।
तदा भाव्यसुखोद्रेकात्, चिच्छक्तेर्गुणभावतः ॥ ५ ॥

यदा रजस्तमसोर्लेशेनानुबिद्धं मनोऽन्तःकरणतत्त्वं भाव्यते, तदा भाव्यस्य भावनाविषयस्य, सुखस्य सुखप्रकाशमयस्य सत्वस्य, उद्रेकादाधिक्यात्, चिच्छक्तेर्गुणभावतोऽनुद्रेकात् ॥ ५ ॥

साऽऽनन्दोऽत्रैव भण्यन्ते, विदेहा बद्धवृत्तयः।
देहाहङ्कारविगमात्, प्रधानपुमदर्शिनः ॥ ६ ॥

साऽऽनन्दः समाधिर्भवत्युक्तहेतुतः, अत्रैव समाधौ, बद्धवृत्तयो विदेहा भण्यन्ते, देहाहङ्कारविगमाद् बहिर्विषयाऽऽवेशनिवृत्तेः, प्रधानपुमदर्शिनः प्रधानपुरुषतत्त्वाऽऽविर्भाविकाः ॥ ६ ॥

सत्त्वं रजस्तमोलेशा-नाक्रान्तं यत्र भाव्यते।
स सास्मितोऽत्र चिच्छक्ति-सत्त्वयोर्मुख्यगौणता ॥ ७ ॥

यत्र रजस्तमोलेशेनानाक्रान्तं सत्त्वं भाव्यते, स सास्मितः समा-धिः। अत्र चिच्छक्तिसत्त्वयोर्मुख्यगौणता, भाव्यस्य शुद्धसत्त्वस्य, न्यग्भावाच्चिच्छक्तेश्चोद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वाच्चात्र सास्मितत्वोपयन्तिः। न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः, यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयं वेदयते सोऽहङ्कारः, यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमेव भाति, साऽस्मितेति ॥ ७ ॥

अत्रैव कृततोषा ये, परमाऽऽत्मानवेक्षिणः।
चित्ते गते ते प्रकृति-लया हि प्रकृतौ लयम् ॥ ८ ॥

अत्रैव सास्मितसमाधावेव, ये कृततोषाः परमाऽऽत्मानवेक्षिणः परमपुरुषादर्शिनः, ते हि चित्ते प्रकृतौ लयं गते सति प्रकृतिलया उच्यन्ते ॥ ८ ॥

ग्रहीतृग्रहणग्राह्य-समापत्तित्रयं किल।

अत्र सास्मितसाऽऽनन्द-निर्विचारान्तविश्रमम् ॥ ९ ॥

सास्मितसमाधिपर्यन्ते परं पुरुषं ज्ञात्वा भावनायां विवेकख्यातौ ग्रहीतृसमापत्तिः, साऽऽनन्दसमाधिपर्यन्ते ग्रहणसमापत्तिः, निर्विचारसमाधिपर्यन्ते च ग्राह्यसमापत्तिर्विश्रान्तेत्येतदर्थः ॥ ९ ॥

मणेरिवाभिजातस्य, क्षीणवृत्तेरसंशयम् ।
तात्स्थ्यात्तदञ्जनत्वाच्च, समापत्तिः प्रकीर्तिता ॥ १० ॥

मणेरिव स्फटिकाऽऽदिरत्नस्येव, अभिजातस्य जात्यस्य, क्षीणवृत्तेः क्षीणमलस्य, असंशयं निश्चितं, तात्स्थ्यात्तत्रैकाग्र्यात्, तदञ्जनत्वाच्च तन्मयत्वात्, न्यग्भूते चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैकत्वोत्कर्षात् समापत्तिः प्रकीर्तिता । तदुक्तम्- '' क्षीणवृत्तेरभिजात-स्येवमणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः । '' (१-४१) यथा हि निर्मलस्फटिकमणेस्तद्रूपाऽऽश्रयवशात्तद्रूपताऽऽपत्तिः, एवं निर्मलचित्तसत्त्वस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तद्रूताऽऽपत्तिः । यद्यपि ग्रहीतृग्रहणग्राह्येत्युक्तं, तथाऽपि भूमिकाक्रमवशेन व्यत्ययो बोध्यः । वतःप्रथमं ग्राह्यनिष्ठः समाधिः, ततो ग्रहणनिष्ठः, ततोऽस्मितोपरागेण ग्रहीतृनिष्ठाः, केवलस्य पुरुषस्य ग्रहीतुर्भाव्यत्वासंभवादिति बोध्यम् ॥ १० ॥

संकीर्णा सा च शब्दार्थ-ज्ञानैरपि विकल्पतः ।
सवितर्का परैर्भेदै-र्भवतीत्थं चतुर्विधा ॥ ११ ॥

सा च समापत्तिः, शब्दार्थज्ञानैर्विकल्पतोऽपि संकीर्णा सवितर्का । यदाह- '' तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का । '' (१-४२) अत्र श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यः, स्फोटरूपो वा शब्दः, अर्थो जात्यादिः, ज्ञानं सत्त्वप्रधाना बुद्धिवृत्तिः, विकल्पःशब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्योऽर्थः, एतैः संकीर्णाः-यत्रैते शब्दाऽऽदयः परस्पराध्यासेन प्रतिभासन्तेगौरिति शब्दो, गोरित्यर्थो, गौरिति ज्ञानमित्याकारेण, इत्थं परैर्भेदैश्चतुर्विधेयं भवति । तथाहि- '' महास्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का । '' (१-४३) यदा-ह- ' उक्तलक्षणविपरीता निर्वितर्केति '। यथा च स्थलभूताऽऽदिविषया सवितर्का, तथा सूक्ष्मतन्मात्रेन्द्रियाऽऽदिकमर्थ शब्दार्थविकल्पसहितत्वेन, देशकालधर्मावच्छेदे न च गृण्हन्ती सविचारा भण्यते, धर्मिमात्रतया च तं गृह्णन्ती निर्विचारेति। एत उक्तम्- '' एतयैव सविचारा, निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता । '' (१-४४) '' सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् । '' (१-४५) न क्वचिद्विद्यते, न वा किञ्चिल्लिङ्गति गमयतीत्यलिङ्गं प्रधानं, तत्पर्यन्तमित्यर्थः । गुणानां हि परिणामे चत्वारि पर्वाणिविशिष्टलिङ्गम्, अविशिष्टलिङ्गं, लिङ्गमात्रम्, अलिङ्गं चेति । विशिष्टलिङ्गं भूतानि, अविशिष्टलिङ्गं तन्मात्रेन्द्रियाणि, लिङ्गमात्रं बुद्धिः, अलिङ्गं च प्रधानमिति । एताश्च समापत्तयः संप्रज्ञातरूपा एव । यदाह- '' ता एव सबीजः समाधिरिति । '' (१-४६) सह बीजेनाऽऽलम्बनेन वर्त्तत इति सबीजः, संप्रज्ञात इत्यर्थः ॥ ११ ॥

इतरासां समापत्तीनां निर्विचारफलत्वान्निर्विचारायाः फलमाह-

अध्यात्मं निर्विचारत्व-वैशारद्ये प्रसीदति ।
ऋतम्भरा ततः प्रज्ञा, श्रुतानुमितितोऽधिका ॥ १२ ॥

निर्विचारत्वस्य चरमसमापत्तिलक्षणस्य, वैशारद्ये प्रकृष्टाभ्यासवशेन नैर्मल्ये, अध्यात्मं शुद्धसत्त्वं, प्रसीदति क्लेशवासनारहितस्थितिप्रवाहयोग्यं भवति। यदुक्तम्- '' निर्विचारत्ववैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः । '' (१-४७) ततोऽध्यात्मप्रसादात्, ऋतम्भरा प्रज्ञा भवति । ऋतं सत्यमेव बिभर्ति, न कदाचिदपि विपर्ययेणाऽऽच्छाद्यते या सा ऋतम्भरा । तदुक्तम्- '' ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा । '' (१-४८) सा च श्रुतानुमितित आगमानुमानाभ्यां सामान्यविषयाभ्यां विशेष-विषयत्वेनाधिका । यदाह- '' श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयावि-शेषार्थत्वादिति । '' (१-४९) ॥ १२ ॥

तज्जन्मा तत्त्वसंस्कारः, संस्कारान्तरबाधकः ।
असंप्रज्ञातनामा स्यात्, समाधिस्तन्निरोधतः ॥ १३ ॥

तत ऋतम्भरप्रज्ञायाः, जन्मोत्पत्तिर्यस्य स तथा, तत्त्वसंस्कारः परमार्थविषयः संस्कारः, संस्कारान्तरस्य स्वेतरस्य-व्युत्थानजस्य, समाधिजस्य वा संस्कारस्य बाधकस्तन्निष्ठकार्यकरणशक्तिभङ्गकृदिति यावत्। तदुक्तम्- ''तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। '' (१-५०) तस्य निरोधतः सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयात्, संस्कारमात्रोदितवृत्तिलक्षणोऽसंप्रज्ञातनामा समाधिः स्यात्। तदुक्तम्- ''तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधी निर्बीजः समाधिरिति।'' (१-५१) ॥ १३ ॥

विरामप्रत्ययाभ्यासाद्, नेति नेति निरन्तरात् ।
ततः संस्कारशेषाच्च, कैवल्यमुपतिष्ठते ॥ १४ ॥

विरामो वितर्काऽऽदिचिन्तात्यागः, स एव प्रत्ययो विरामप्रत्ययः, तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन चेतसि निवेशनं, ततः नेति नेति निरन्तरादन्तररहितात्, संस्कारशेषादुत्पन्नः, ततोऽसंप्रज्ञातसमाधेः । यत उक्तम्-'' विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषादन्य इति । '' (१-१८) कैवल्यमात्मनः स्वप्रतिष्ठत्वलक्षणम्, उपतिष्ठत आविर्भवति ॥ १४ ॥

(१९) तदेवमुक्तौ पराभिमतौ सभेदौ सोत्पत्तिक्रमौ च संप्रज्ञातासंप्रज्ञाताऽऽख्यौ योगभेदौ ; अथानयोर्यथासंभवमवतारमाह-

संप्रज्ञातोऽवतरति, ध्यानभेदेऽत्र तत्त्वतः ।
तात्त्विकी च समापत्ति-र्नाऽऽत्मनो भाव्य तां विना ॥ १५ ॥

अत्र संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोर्योगभेदयोर्मध्ये, संप्रज्ञातस्तत्त्वतो ध्यानभेदेऽवतरति, स्थिराध्यवसानरूपत्वात्; अध्यात्माऽऽदिकमारभ्य ध्यानपर्यन्तं यथाप्रकर्षं संप्रज्ञातो विश्राम्यतीत्यर्थः । यदाह योगबिन्दुकृत्- '' समाधिरेष एवान्यैः, संप्रज्ञातोऽभिधीयते । सम्यक् प्रकर्षरूपेण, वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा '' ॥ ४१८ ॥ इति । एष एवाध्यात्माऽऽदियोगः तात्त्विकी निरुपचरिता च समापत्तिरात्मनो भाव्यतां भावनाविषयतां विना न घटते, शुद्धस्याभाव्यत्वे विशिष्टस्यापि तत्त्वायोगाद् विशेषणसंबन्धं विना वैशिष्ट्य स्यापि दुर्वचत्वाच्चेति । तथा च ग्रहीतृसमापत्तिर्वाङ्मात्रमे वेति भावः ॥ १५ ॥

परमाऽऽत्मसमापत्ति-जीवाऽऽत्मनि हि युज्यते ।
अभेदेन तथा ध्याना-दन्तरङ्गस्वशक्तितः ॥ १६ ॥

जीवाऽऽत्मनि हि परमाऽऽत्मसमापत्तिः, तथापरिणामलक्षणा युज्यते, अभेदेन तथा परमात्मत्वेन ध्यानाद् जीवाऽऽत्मनोरन्तरङ्गा या उपादानभूतायाः स्वशक्तितस्तयापरिणमनादात्मशक्तेः शक्तय सत एव व्यक्तया परिणमनस्य तथा सामग्रीतः संभवादिति भावः ॥ १६ ॥

(२०) जीवाऽऽत्मनि परमाऽऽत्मनः सत्त्वोपपत्त्यर्थमात्मत्रयं सन्निहितमुपदर्शयति-

बाह्याऽऽत्मा चाऽऽन्तराऽऽत्मा च, परमाऽऽत्मेति च त्रयः।
कायाधिष्ठायकध्येयाः, प्रसिद्धा योगवाङ्मये ॥ १७ ॥

कायः स्वाऽऽत्मधिया प्रतीयमानः, - 'अहं स्थूलोऽहं कृशः,' इत्याद्युल्लेखेनाधिष्ठायकः कायचेष्टाजनकप्रयत्नवान् , ध्येयश्च ध्यानभाव्यः, एते त्रयोबाह्याऽऽत्मा च अन्तराऽऽत्मा च, परमाऽऽत्मा चेति योगवाङ्मये योगशास्त्रे प्रसिद्धाः। एतेषां च स्वेतरभेदप्रतियोगित्वध्यातृत्वध्येयत्वैर्ध्यानोपयोगस्तात्त्विकातात्त्विकैकत्वपरिणामतश्च सन्निधानमतातत्विकपरिणामनिवृत्तौ तात्त्विकपरिणामोपलम्भः [illegible]पत्तिरिति ध्येयम् ॥ १७ ॥

अन्ये मिथ्यात्वसम्यक्त्व-केवलज्ञानभागिनः।
मिश्रे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तास्ते त्वयोगिनि ॥ १८ ॥

अन्ये पुनराहुः मिथ्यात्वसम्यक्त्वकेवलज्ञानभागिनो बाह्याऽऽत्मान्तराऽऽत्मपरमाऽऽत्मानः। ते तुमिश्रे च क्षीणमोहे चायोगिनि च गुणस्थाने क्रमेण विश्रान्ताः तत्र च बाह्याऽऽत्मतादशायामन्तराऽऽत्मपरमाऽऽत्मनोः शक्तिः, तदेकद्रव्यत्वात् , अन्तराऽऽत्मदशायां च परमाऽऽत्मनः शक्तिः, बाह्याऽऽत्मनस्तु पूर्वनयेन योगः । परमाऽऽत्मतादशायां च बाह्याऽऽत्मान्तराऽऽत्मनोर्द्वयोरपि भूतपूर्वनयेनैव योग इति वदन्ति । तत्त्वमत्रत्यमध्यात्ममतपरीक्षायां व्यवस्थापितमस्माभिः ॥ १८ ॥

विषयस्य समापत्ति-रुत्पत्तिर्भावसंज्ञिनः।
आत्मनस्तु समापत्ति-र्भावो द्रव्यस्य तात्त्विकः ॥ १९ ॥

विषयस्याऽऽत्मातिरिक्तस्य भाव्यस्य, समापत्तिर्भावसंज्ञिनो भावाभिधानस्योत्पत्तिरुच्यते । वदन्ति हि नयदक्षाः- ' अग्न्युपयुक्तो माणवकोऽप्यग्निरेवेति '। शब्दार्थप्रत्ययानां तुल्याभिधानत्वात् न वस्त्वर्थज्ञानयोः कश्चनैकवृत्त्यारूढतया एकत्वपरिणामः संभवति, चेतनत्वाचेतनत्वयोर्विरोधादिति भावः । आत्मनस्तु समापत्तिर्द्रव्यस्य परमाऽऽत्मदलस्य, तात्त्विकः सहजशुद्धो भावः परिणामः ॥ १९ ॥

अत एव च योऽर्हन्तं, स्वद्रव्यगुणपर्ययैः।
वेदाऽऽत्मानं स एव स्वं, वेदेत्युक्तं महर्षिभिः ॥ २० ॥

यत एव दलतया परमाऽऽत्मैव जीवाऽऽत्मा, अत एव च, योऽर्हन्तं तीर्थकरं, स्वद्रव्यगुणपर्ययैर्निजशुद्धाऽऽत्मकेवलज्ञानस्वभावपरिणमनलक्षणैः, वेद जानाति, स एव स्वमात्मानं वेद तत्त्वतो जानाति, तथाज्ञानस्य तथाध्यानद्वारा तथासमापत्तिजनकत्वादिति महर्षिभिरुक्तम्। यतः पठ्यते- '' जो जाणइ अरहंते, दव्वत्तगुणत्त-पज्जयत्तेहिं। सो जाणइ अप्पाणं, मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥ १ ॥ '' न चैतद्गाथाकर्तुर्दिगम्बरत्वेन महर्षित्वाभिधानं न निरवद्यमिति मूढधिया शङ्कनीयम्, सत्यार्थकथनगुणेन व्यासाऽऽदीनामपि हरिभद्राऽऽचार्यैस्तथाऽभिधानादिति द्रष्टव्यम् ॥ २० ॥

(२१) असंप्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंक्षयः।
सर्वतोऽस्मादकरण-नियमः पापगोचरः ॥ २१ ॥

असंप्रज्ञातनामा तु समाधिर्वृत्तिसंक्षयः संमतः, सयोग्ययोगिकेवलित्वकाले मनोविकल्पपरिस्पन्दरूपवृत्तिक्षयेण तदुपगमात् । तदुक्तम्- '' असंप्रज्ञात एषोऽपि, समाधिर्गीयते परैः। निरुद्धाशेष-वृत्त्यादि, तत्स्वरूपानुवेधतः ॥ ४२० ॥ '' (यो० बिं०) इति। धर्ममेघ इत्यप्यस्यैव नाम। यावत्तत्वभावनेन फलमलिप्सोः सर्वथा विवेकख्यातौ धर्ममशुक्लकृष्णं मेहति सिञ्चतीति व्युत्पत्तेः । तदुक्तम्- '' प्रसंख्याने कुशीदस्य सर्वथा विवेकख्यातौ धर्ममेघः समाधिरिति। '' (४-२९) एवमन्येषामपि तत्तत्तन्त्रसिद्धानां शब्दानामर्थोऽत्र यथायोगं भावनीयः । तदाह- '' धर्ममेघोऽमृताऽऽत्मा च, भवशक्रशिवोदयः । सत्त्वाऽऽनन्दपरश्चेति, ऽयोज्योऽत्रैवार्थयोगतः '' ॥ ४२१ ॥ (यो० बिं०) अस्माद् वृत्तिसंक्षयात् फलीभूतात् , सर्वतः सर्वैः प्रकारैः, पापगोचरः पापविषयः, अकरणनियमः, अनुमीयत इति शेषः । नरकगमनाऽऽदिवृत्तिनिर्वृत्तेर्महारम्भपरिग्रहाऽऽदिहेत्वकरणनियमेनैवोपपत्तेः ॥ २१ ॥

ग्रन्थिभेदे यथाऽयं स्याद् , बन्धहेतुं परं मति।
नरकाऽऽदिगतिष्वेवं, ज्ञेयस्तद्धेतुगोचरः ॥ २२ ॥

यथाऽयमकरणनियमो, बन्धहेतुं मिथ्यात्वं परमुत्कृष्टं सप्ततिकोटिकोट्यादिस्थितिनिमित्तं, प्रत्याश्रित्य ग्रन्थिभेदे निरूप्यते । एवं नरकाऽऽदिगतिषु निवर्तनीयासु, तद्धेतुगोचरो नरकाऽऽदिहेतुविषयोऽकरणनियमो ज्ञेयः ॥ २२ ॥

दुःखात्यन्तविमुक्त्यादि, नान्यथा स्यात् श्रुतोदितम्।
हेतुः सिद्धश्च भावोऽस्मि-न्निति वृत्तिक्षयौचिती ॥ २३ ॥

अन्यथा दुःखात्यन्तविमुक्त्यादि, श्रुतोदितं सिद्धान्तप्रतिपादितं, न स्यात्। तदाह- '' अन्यथाऽऽत्यन्तिको मृत्युर्भूयस्तत्राऽऽगतिस्तथा। न युज्यते हि सन्नायादित्यादि समयोदितम्। '' ॥ ४१६ ॥ (यो० बिं०) न च तत्त्वज्ञानेनैव दुःखात्यन्तविमुक्त्युपपत्तौ किमकरणनियमेनेति वाच्यम् ? तस्याऽऽत्यन्तिकमिथ्याज्ञाननाशद्वारा हेतुत्वोपगमे तद्धेत्वकरणनियमस्यावश्याऽऽश्रयणीयत्वादिति भावः । अस्मिँस्तत्तत्पापस्थानाकरणनियमे च, सिद्धः परापराधनिवृत्तिहेतुतत्त्वज्ञानानुगततया प्रतिष्ठितो भावोऽन्तःकरणपरिणामो हेतुः । तदुक्तम्- '' हेतुमस्य परं भावं, सत्त्वाद्यागो निवर्तनम्। प्रधानं करुणारूपं, ब्रुवते सूक्ष्मदर्शिनः '' ॥ ४१७ ॥ (यो० बिं०) इति एवमकरणनियमोपपत्तौ, वृत्तिक्षयौचिती वृत्ति-क्षयस्य न्याय्यता, हेत्वकरणनियमेन फलानुत्पत्तिपर्यायोपपत्तेस्तत्प्राग्भावापगमस्यापि योग्यताविगमाऽऽख्यस्य हेत्वकरणनियमेनैव फलवत्त्वात्तद्विरहितस्य तस्य फलनियतत्वात्। तदुक्तम्- '' मण्डूकभस्मन्यायेन, वृत्तिबीजं महामुनिः। योग्यताऽपगमाद्ध्वा, ततः कल्याणमश्नुते ''॥ ४२२ ॥ (यो० बिं०) इति ॥ २३ ॥

(२२) ननु यद्येक एव योगस्तदा कथं भेदः ? भेदे च प्रकृते किं तदन्तर्भावप्रयासेन ? इत्यत आह-

योगे जिनोक्तेऽप्येकस्मिन् , दृष्टिभेदः प्रवर्तते।
क्षयोपशमवैचित्र्यात् , समेयाऽऽद्योयदृष्टिवत् ॥ २४ ॥

जिनोक्ते सर्वज्ञप्रोक्ते, तत्त्वत एकस्मिन्नापि योगे, क्षयोपशमवैचित्र्याद् दृष्टिभेदो दर्शनविशेषः प्रवर्तते, समेघाऽऽदौ मेघसहितरात्र्यादौ, ओघदृष्टिवत्सामान्यदर्शनमिव। यथा हि एकस्मिन्नपि दृश्ये समेघायां रात्रौ दृष्टिः किञ्चिन्मात्रग्राहिणी, अमेघायां तु मनागधिकतरग्राहिणी। एवं समेघाऽमेघयोर्दिवसयोरप्यस्ति विशेषः। तथा सग्रहाग्रहयोश्चित्तविभ्रमतदभावाभ्यामर्भकानर्भकयोरपि मुग्धत्वविवेकाभ्याम् उपहतानुपहतलोचनयोश्च

दोषगुणाभ्यां ग्राहकयोरपि, तथा प्रकृतेऽपि योगदृष्टिभेद इति भावनीयम्। एतन्निबन्धनोऽयं दर्शनभेद इति योगाऽऽचार्याः। न खल्वयं स्थिराऽऽदिदृष्टिमतां भिन्नग्रन्थीनां योगिनां यथाविषयं नयभेदावबोधात्प्रवृत्तिरप्यमीषां परार्थं शुद्धबोधभावेन विनिवृत्ताऽऽग्रहतया मैत्र्यादिपारतन्त्र्येण गम्भीरोदाराऽऽशयत्वाद्यारिचरकसञ्ज्ञीविन्यचरकचारणनीत्येत्याहुः॥ २४॥ द्वा० २० द्वा०।

योगस्य कारणानि विवक्षुर्योगस्य प्रथमोपायभूतां पूर्वसेवामाह-

पूर्वसेवा तु योगस्य, गुरुदेवाऽऽदिपूजनम्।
सदाचारस्तपो मुक्त्य-द्वेषश्चेति प्रकीर्तिताः॥ १॥ द्वा० १ द्वा०॥

(यमाऽऽदीनां योगाङ्गत्वं योगबीजानि यमाऽऽदियोगाङ्गयुक्तानां मित्राद्या दृष्टयश्च 'जोगदिट्ठि' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(२३) योगामार्गाधिकारिणस्तु-

योजनाद् योग इत्युक्तो, मोक्षेण मुनिसत्तमैः।
स निवृत्ताधिकारायां, प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः॥ १४॥

योजनाद् घटनाद्, मोक्षेण, इत्यस्माद्धेतो, मुनिसत्तमैः ऋषिपुङ्गवैः, योग उक्तः, स निवृत्ताधिकारायां व्यावृत्तपुरुषाभिभवायां, प्रकृतौ सत्यां, लेशतः किञ्चिद्वृत्या, ध्रुवो निश्चितः॥ १४॥

गोपेन्द्रवचनादस्मा-देवंलक्षणशालिनः।
परैरस्येष्यते योगः, प्रतिश्रोतोऽनुगत्वतः॥ १५॥

अस्माद् गोपेन्द्रवचनात्, एवंलक्षणशालिनः शान्तोदात्तत्वाऽऽदिगुणयुक्तस्यापुनर्बन्धकस्य, परैस्तीर्थान्तरीयैः, योग इष्यते-उच्यते, प्रतिश्रोतोऽनुगच्छति यः स प्रतिश्रोतोऽनुगः, तद्भावस्तत्त्वं, तत इन्द्रियकषायानुकूला हि वृत्तिरनुश्रोतः, तत्प्रतिकूला तु प्रतिश्रोत इति। इत्थं हि प्रत्यहं शुभपरिणामवृद्धिः, सा च योगफलमित्यस्य योगौचित्यम्। तदाह- '' वेलावलनवन्नद्यास्तदापूरोपसंहृतेः। प्रतिश्रोतोऽनुगत्वेन, प्रत्यहं वृद्धिसंयुतः''॥ २०२॥ (यो० बिं०) इति॥ १५॥

तत्क्रियायोगहेतुत्वाद्, योग इत्युचितं वचः।
मोक्षेऽतिदृढचित्तस्य, भिन्नग्रन्थेस्तु भावतः॥ १६॥

तद्वचः, क्रियायोगस्य सदाचारलक्षणस्य, हेतुत्वाद् योग इत्येवमुचितम्, अस्य द्रव्ययोगवत्त्वाद्, मोक्षे निर्वाणेऽतिदृढ, चित्तस्यैकधारालग्नहृदयस्य, भिन्नग्रन्थेर्विदारितातितीव्ररागद्वेषपरिणामस्य तु, भावतो योगः संभवति। सम्यग्दृष्टेर्हि मोक्षाऽऽकाङ्क्षाक्षणिकचित्तस्य, या या चेष्टा, सा सा मोक्षप्राप्तिपर्यवसानफलिकेति तस्यैव भावतोऽयम्, अपुनर्बन्धकस्य तु नसार्वदिकस्तथा परिणाम इति द्रव्यत एवेति। तदुक्तम्- '' भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो, मोक्षे चित्तं भवे तनु। तस्य तत्सर्व एवेह, योगो योगो हि भावतः। २०३। (यो० बिं०) इति॥ १६॥

अन्यसक्तस्त्रियो भार्तृ-योगोऽप्यश्रेयसे यथा।
तथाऽमुष्य कुटुम्बाऽऽदि-व्यापारोऽपि न बन्धकृत्॥ १७॥

अन्यस्मिन् स्वभर्तृव्यतिरिक्ते पुंसि, सक्ताया अनुपरतरिरंसायाः, स्त्रियो योषितः, भर्तृयोगोऽपि पतिशुश्रूषणाऽऽदिव्यापारोपि, यथाऽश्रेयसे पापकर्मबन्धाय, तथाऽमुष्य भिन्नग्रन्थेः, कुटुम्बाऽऽदिव्यापारोऽपि, न बन्धकृत्, पुण्ययोगेऽपि पापपरिणामेन पापस्येव बन्धवदशुभकुटुम्बचिन्तनाऽऽदियोगेऽपि शुद्धपरिणामेन सदनुबन्धस्यैवोपपत्तेः।

तदुक्तम्-

'' नार्या यथाऽन्यसक्तायाः-स्तत्र भावे सदा स्थितेः।
तद्योगः पापबन्धश्च, तथा मोक्षेऽस्य दृश्यताम्॥ ५०४॥
न चेह ग्रन्थिभेदेन, पश्यतो भावमुत्तमम्।
इतरेणाऽऽकुलस्यापि, तत्र चित्तं न जायते''॥ २०५॥ (यो० बिं०)॥ १७॥

निजाऽऽशयविशुद्धौ हि, बाह्यो हेतुरकारणम्।
शुश्रूषाऽऽदिक्रियाऽप्यस्य, शुद्धश्रद्धाऽनुसारिणी॥ १८॥

निजाऽऽशयविशुद्धौ हि सायां, बाह्यो हेतुः कुटुम्बचिन्तनाऽऽदिव्यापारोऽकारणं, कर्मबन्धं प्रति भवहेतूनामेव परिणामविशेषेण मोक्षहेतुत्वेन परिणमनात्- '' जे जत्तिया य हेऊ, भवस्स ते तत्तिआ य मुक्खस्स। '' इति वचनप्रामाण्यात्। ननु किमेकेन शुभपरिणामेन ? क्रियाया अपि मोक्षकारणत्वात्, तदभावे तस्याकिञ्चित्करत्वात्; इत्यत आह-शुश्रूषाऽदिक्रियाऽप्यस्य सम्यग्दृशः, शुद्धश्रद्धाऽनुसारिणी जिनवचनप्रामाण्यप्रतिपत्त्यनुगामिनी, परिशुद्धोहापोहयोगस्य हि प्रकृतेरप्रवृत्तिविरोधिप्रकृतियोगाभ्यां सम्यगनुष्ठानाबन्ध्यकारणत्वात्तेनैव तदाक्षिप्यत इति भावः।

तदुक्तम्-

'' चारु चैतद् यतो ह्यस्य, तथोहः संप्रवर्त्तते।
एतद्वियोगविषयः, श्रद्धाऽनुष्ठानभाक् स यत्॥ २०६॥
प्रकृतेरा यतश्चैव, नाप्रवृत्त्यादिधर्मताम्।
तथा विहाय घटते, ऊहोऽस्य विमलं मनः॥ २०७॥
सति चास्मिन् स्फुरद्रत्न-कल्पे सत्त्वोल्वणत्वतः।
भावस्तैमित्यतः शुद्ध-मनुष्ठानं सदैव हि''॥ २०८॥(यो० बिं०)

ननु सम्यग्दृष्टिपर्यन्तमन्यत्र द्रव्ययोग एवोच्यते इति कथमत्र भावतोऽयमुक्त इति चेत् ? चारित्रप्रतिपन्थिनामनन्तानुबन्धिनामपगमे तद्गुणप्रादुर्भावनियम इति निश्चयाऽऽश्रयणादल्पन्नेदविवक्षा-परेण व्यवहारेण त्वत्रायं नेष्यत एव। '' एतच्च योगहेतुत्वाद्, योग इत्युचितं वचः। मुख्यायां पूर्वसेवायामवतारोऽस्य केवलम्''॥ २०९॥ (यो० बिं०) इत्यनेनापुनर्बन्धकातिशयाभिधानं तु सम्यग्दृशो नैगमनयशुद्धिप्रकर्षकाष्ठापेक्षमिति न कश्चिद्विरोध इति विभावनीयं सुधीभिः॥ १८॥

एतन्निश्चयवृत्त्यैव, यद् योगः शास्त्रसंज्ञितः।
त्रिधा शुद्धादनुष्ठानात्, सम्यक्प्रत्ययवृत्तितः॥ १९॥

एतद् यदुक्तम्-भिन्नग्रन्थेरेव भावतो योग इति, निश्चयवृत्त्यैव परमार्थवृत्त्यैव, न तु कल्पनया, यद् यस्माद्, शास्त्रेणैव संज्ञी, तद्विनात्वसंज्ञिवत् क्वाप्यर्थे प्रवर्त्तमानो यः, तस्य, त्रिधा वक्ष्यमाणैस्त्रिभिः प्रकारैः, शुद्धान्निरवद्यात्, अनुष्ठानादाचारात्, सम्यक्प्रत्ययेनाऽऽत्मगुरुलिङ्गशुद्ध्या स्वकृतिसाध्यताऽऽद्यभ्रान्तविश्वासेन, वृत्तिः प्रवृत्तिः, ततो भवतीति॥ १९॥

शास्त्रमासन्नभव्यस्य, मानमामुष्मिके विधौ।
सेव्यं यद्विचिकित्सायाः, समाधेः प्रतिकूलता॥ २०॥

आसन्नभव्यस्यादूरवर्त्तिमोक्षलाभस्य प्राणिनः, आमुष्मिके विधौ पारलौकिके कर्मणि, शास्त्रं मानं, धर्माधर्मयोरतीन्द्रियत्वेन तदुपायत्वबोधने प्रमाणान्तरासामर्थ्यात्। अतः सेव्यं सर्वत्र

प्रवृत्तौ पुरस्करणीयं, न तु क्वचिदप्यंशेऽनादरणीयम्। यद् यस्माद्, विचिकित्सायाः-युक्त्या समुपपन्नेऽपि मतिव्यामोहोत्पन्नचित्तविप्लुतिरूपायाः, समाधेः चित्तस्वास्थ्यरूपस्य, ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽत्मकस्य वा, प्रतिकूलता विरोधिताऽस्ति। अर्थो हि त्रिविधः-सुखाधिगमो, दुरधिगमोऽनधिगमश्चेति श्रोतारं प्रति भिद्यते। आद्यो यथा-चक्षुष्मतश्चित्रकर्मनिपुणस्य रूपसिद्धिः, द्वितीयः सैवानिपुणस्य, तृतीयस्त्वबन्धस्येति। तत्र प्रथमचरमयोर्नास्त्येव विचिकित्सा, निश्चयादसिद्धेश्च। द्वितीये तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टे धर्माधर्माऽऽदौ भवन्ती सा महानर्थकारिणी। यदागमः- '' वितिगिंछं समावन्नेणं अप्पाणेणं णो लहति समाहिं। '' अतश्चित्तशुद्ध्यर्थं शास्त्रमेवाऽऽदरणीयमिति भावः। यत उक्तम्- '' मलिनस्य यथाऽत्यन्तं, जलं वस्त्रस्य शोधनम्। अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः '' ॥ २२८ ॥ (यो० बिं०) ॥ २० ॥ द्वा० १४ द्वा०।

(२४) आत्माऽऽदिप्रत्ययं विना न सिद्धिरित्युपक्रम्य-

सद् योगाऽऽरम्भकस्त्वेनं, शास्त्रसिद्धमपेक्षते।
सदा भेदः परेभ्यो हि, तस्य जात्यमयूरवत् ॥ २९ ॥

सद्योगाऽऽरम्भकस्तु सानुबन्धयोगाऽऽरम्भक एव, एनमात्माऽऽदिप्रत्ययं, शास्त्रसिद्धमतीन्द्रियार्थसार्थसमर्थनसमर्थाऽऽगमप्रतिष्ठितम्, अपेक्षतेऽवलम्बते। परेभ्यो हि असद्योगाऽऽरम्भकेभ्यो हि, तस्य सद्योगाऽऽरम्भकस्य, सदा भेदो वैलक्षण्यं, जात्यमयूरवत् सर्वोपाधिविशुद्धमयूरवत्। यथाहि-जात्यमयूरोऽजात्यमयूरात् सदैव भिन्नः, तथा सद्योगाऽऽरम्भकोऽप्यन्यस्मादिति भावना। तदुक्तम्- '' न च सद्योगभव्यस्य, वृत्तिरेवंविधाऽपि हि। न जात्यजात्यधर्मान् यज्ञात्यः सन् भजते शिखी ''। २४१। (यो० बिं०) ॥ २९ ॥

यथा शक्तिस्तदण्डाऽऽदौ, विचित्रा तद्वदस्य हि।
गर्भयोगेऽपि मातृणां, श्रूयतेऽत्युचिता क्रिया ॥ ३० ॥

यथा तदण्डाऽऽदौ जात्यमयूराण्डचञ्चुचरणाऽऽद्यवयवेषु, शक्तिः विचित्राऽजात्यमयूरावयवशक्तिविलक्षणा, तद्वदस्य हि सद्योगाऽऽरम्भकल्पाऽऽदित एवाऽऽरभ्येतरेभ्यो विलक्षणा शक्तिरित्यर्थः। यत उक्तम्- '' यश्चात्र शिखिदृष्टान्तः, शास्त्रे प्रोक्तो महात्मभिः। स तदण्डरसाऽऽदीनां, सच्छक्त्यादिप्रसाधनः '' ॥ २४५ ॥ इति (यो० बिं०) अत एव सद्योगाऽऽरम्भकस्येति गम्यम्। मातृणां जननीनां, गर्भयोगोऽपि किं पुनरुत्तरकालः ? इत्यपिशब्दार्थः। श्रूयते निशम्यते, शास्त्रेषु अत्युचिता लोकानामतिश्लाघनीया, क्रिया प्रशस्तमाहात्म्यलाभलक्षणा। यत एवं पठ्यते- ''जणणी सव्वत्थ वि णिच्छएसु सुमइ त्ति तेण सुमइ जिणो। '' (४३ गाथा) तथा- ' गब्भगए जं जणणी, जायसुधम्म त्ति तेण धम्मजिणो। '' (४७ गाथा) तथा- '' जाया जणणी जं सुव्वय त्ति मुणिसुव्वओ तम्हा। '' (५० गाथा) (आव० २ अ०) इत्यादि। इदं गर्भावस्थायामुक्तम्। उत्तरकालेऽप्यत्युचितैव तेषां क्रिया। यत उक्तम्- '' औचित्याऽऽरम्भिणोऽक्षुद्राः, प्रेक्षावन्तः शुभाऽऽशयाः। अबन्ध्यचेष्टाः कालज्ञाः, योगधर्माधिकारिणः ''॥ २४४ ॥ (यो० बिं०) इति। तदेवं सिद्धः सद्योगाऽऽरम्भक इतरेभ्यो विलक्षणः, स चाऽऽत्माऽऽदिप्रत्ययमपेक्षत एवेति ॥ ३० ॥ द्वा० १४ द्वा०।

(२५) योगस्य फलं कर्मक्षयः, तथा च कर्माण्यधिकृत्य-

क्लेशाः पापानि कर्माणि, बहुभेदानि नो मते।
योगादेव क्षयस्तेषां, न भोगादनवस्थितेः ॥ ३१ ॥
ततो निरुपमं स्थान-मनन्तमुपतिष्ठते।
भवप्रपञ्चरहितं, परमाऽऽनन्दमेदुरम् ॥ ३२ ॥

नोऽस्माकं, मते, पापान्यशुभविपाकानि, बहुभेदानि विचित्राणि, कर्माणि ज्ञानाऽऽवरणीयानि, क्लेशा उच्यन्ते। अतः कर्मक्षय एव क्लेशहानिरिति भावः। ननु- '' नामुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ १ ॥ '' इति वचनाद्भोगादेव कर्मणां क्षये तस्याप्यपुरुषार्थत्वमनिवारितमेवेत्यत आह-योगादेव ज्ञानक्रियासमुच्चयलक्षणात् क्षयः, तेषां नानाभवार्जितानां प्रचितानां, न भोगादनवस्थितेर्भोगजनितकर्मान्तरस्यापि भोगनाश्यत्वादनवस्थानात्। ननु निरभिष्वङ्गभोगस्य न कर्मान्तरजनकत्वं, प्रचितानामपि च तेषां क्षयो योगजादृष्टाधीनकायव्यूहबलादुत्पत्स्यत इति चेत्। न। प्रायश्चित्ताऽऽदिनाऽपि कर्मनाशोपपत्तेः कर्मणां भोगेतरनाश्यत्वस्यापि व्यवस्थितौ योगेनापि तन्नाशसंभवे कायव्यूहाऽऽदिकल्पने प्रमाणाभावात्। कर्मणां ज्ञानयोगनाश्यतायाः- '' ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि, भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन! '' इति भवदागमेनापि सिद्धत्वात्। नराऽऽदिशरीरसत्त्वे शूकराऽऽदिशरीरानुपपत्तेः कायव्यूहानुपपत्तेर्मनोऽन्तरप्रवेशाऽऽदिकल्पने गौरवाच्च। ये त्वाहुः पातञ्जलाः-अग्नेः स्फुलिङ्गानामिव कायव्यूह-दशायामेकस्मादेव चित्तात्प्रयोजकान्नानाचित्तानां परिणामोऽस्मितामात्रादिति। तदुक्तम्- '' निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्। '' (४-४) '' प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषामिति। '' (४-५) तेषामप्यनन्तकालप्रचितानां कर्मणां नानाशरीरोपभोगनाश्यत्व कल्पनं मोह एव। तवदृष्टानां युगपद् वृत्तिलाभस्याप्यनुपपत्तेरिति निरुपक्रमकर्मणामेव भोगैकनाश्यत्वमाश्रयणीयमिति सर्वमवदातम्॥ ३१ ॥ तत इति व्यक्तम्॥ ३२ ॥ द्वा० २५ द्वा०।

(२६) योगस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यौपयिकं माहात्म्यमुपदर्शयन्नाह-

शास्त्रस्योपनिषद् योगो, योगो मोक्षस्य वर्तिनी।
अपायशमनो योगो, योगः कल्याणकारणम् ॥ १ ॥
संसारवृद्धिर्धनिनां, पुत्रदाराऽऽदिना यथा।
शास्त्रेणापि तथा योगं, विना हन्त! विपश्चिताम् ॥ २ ॥
इहापि लब्धयश्चित्राः, परत्र च महोदयः।
पराऽऽत्माऽऽयत्तता चैव, योगकल्पतरोः फलम् ॥ ३ ॥
योगसिद्धैः श्रुतेष्वस्य, बहुधा दर्शितं फलम्।
दर्श्यते लेशतश्चैतद्, यदन्यैरपि दर्शितम् ॥ ४ ॥

इयं चतुश्लोकी सुगमा। द्वा०२६ द्वा०।

प्रायश्चित्तं पुनर्योगः, प्राग्जन्मकृतपाप्मनाम्।
अब्धीनां निश्चयादन्तः-कोटाकोटिस्थितेः किल ॥ २३ ॥

प्राग्जन्मकृतपाप्मनां पुनः प्रायश्चित्तं योगः, तन्नाशकत्वात्तस्य। तथा किलेति सत्ये, अब्धीनां सागरोपमाणाम्, अन्तःकोटाकोटिस्थितेर्निश्चयादपूर्वकरणाऽऽरम्भेऽपि तावत्स्थितिककर्मसद्भावाऽऽवश्यकत्वस्य महाभाष्याऽऽदिप्रसिद्धत्वात्, तस्य च धर्मसंन्यासैकनाश्यत्वादिति ॥ २३ ॥

निकाचितानामपि यः, कर्मणां तपसा क्षयः।
सोऽभिप्रेत्योत्तमं योग-मपूर्वकरणोदयम् ॥ २४ ॥

निकाचितानामपि उपशमनाऽऽदिकरणान्तसंयोज्यत्वेन व्यवस्थापितनामपि, कर्मणां यस्तपक क्षयो, भणित इति शेषः। ''तवसा उ निकाइआणं पि, '' इति वचनात्। सोऽपूर्वकरणोदयम्, उत्तमं योगं धर्मसंन्यासलक्षणमभिप्रेत्य, न तु यत्किञ्चित्प इति द्रष्टव्यम्। तत्त्वमत्रत्यमध्यात्मपरीक्षाऽऽदौ विपश्चितम् ॥ २४ ॥

अपि क्रूराणि कर्माणि, क्षणाद् योगः क्षिणोति हि।
ज्वलनो ज्वालयत्येव, कुटिलानपि पादपान् ॥ २५ ॥
दृढप्रहारिशरणं, चिलातीपुत्ररक्षकः।
अपि पापकृतां योगः, पक्षपातान्न शङ्कते ॥ २६ ॥
अहर्निशमपि ध्यातं, योग इत्यक्षरद्वयम्।
अप्रवेशाय पापानां, ध्रुवं वज्रार्गलायते ॥ २७ ॥
आजीविकाऽऽदिनाऽर्थेन, योगस्य च विडम्बना।
पवनाभिमुखस्थस्य, ज्वलनज्वालनोपमा ॥ २८ ॥
योगस्पृहाऽपि संसार-तापव्ययतपात्ययः।
महोदयसरस्तीर-समीरलहरीलवः ॥ २९ ॥
योगानुग्राहको योऽन्यैः, परमेश्वर इष्यते।
अचिन्त्यपुण्यप्राग्भार-योगानुग्राह्य एव सः ॥ ३० ॥
भरतो भरतक्षोणीं, भुञ्जानोऽपि महामतिः।
तत्कालं योगमाहात्म्याद्, बुभुजे केवलश्रियम् ॥ ३१ ॥
पूर्वमप्राप्तधर्माऽपि परमाऽऽनन्दनन्दिता।
योगप्रभावतः प्राप, मरुदेवा परं पदम् ॥ ३२ ॥

अष्टश्लोकी सुगमा। द्वा० २६ द्वा०।

योगमाहात्म्यमेवाऽऽह-

योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो, योगश्चिन्तामणिः परः।
योगः प्रधानं धर्माणां, योगः सिद्धेः स्वयं ग्रहः ॥ ३७ ॥

योग उक्तो निरुक्तः, कल्पतरुः कल्पद्रुमः, श्रेष्ठोऽन्यकल्पद्रुभेभ्योऽतिशायी। तथा योगश्चिन्तामणिश्चिन्तारत्नं, परः प्रकृष्टः, योगः प्रधानं वस्तु, धर्माणां शेषधर्मस्थानानाम्। तथा योगः सिद्धेर्निवृत्तिलक्षणायाः, स्वयंग्रहहेतुत्वात्स्वयंग्रहः। यदत्र पुनः पुनर्योगशब्दोपादानं तदस्यात्यन्तमादरणीयताख्यापनार्थमिति ॥ ३७ ॥

तथा च जन्मबीजाग्नि-र्जरसोऽपि जरा परः।
दुःखानां राजयक्ष्माऽयं, मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः ॥ ३८ ॥

तथा चेति समुच्चये, जन्मबीजाग्निः पुनःपुनर्जन्मकारणकर्मशक्तिदाहकारी, तथा जरसोऽपि जराया अपि, जरा, वयोहानिकारणत्वात्, परा प्रकृष्टा। तथा दुःखानां शारीरमानसाऽऽबाधारूपाणां, राजयक्ष्मा राजमान्द्यमिव, अयं योगः, तथा मृत्योरन्तकस्य मृत्युरुदाहृतः शास्त्रकारैर्निरूपितः ॥ ३८ ॥

किञ्च-

कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि, मन्मथास्त्राणि सर्वथा।
योगवर्माऽऽवृते चित्ते, तपश्छिद्रकराण्यपि ॥ ३९ ॥

कुण्ठीभवन्ति मन्दानि जायन्ते, तीक्ष्णानि निशितानि, मन्मथ-स्त्राणि कामशस्त्राणिशब्दाऽऽदिविषयरूपाणि, सर्वथा सर्वप्रकारैः। क्व ? इत्याह-योगवर्माऽऽवृते योगसंन्नाहवति, चित्ते मनसि। कीदृशानि ? इत्याह-तपश्छिद्रकराण्यपि मासक्षपणाऽऽदितपोभ्रंशकारीण्यपि, तथाविध-योगविकलानां तपस्विनामिति ॥ ३९ ॥

अक्षरद्वयमप्येतत्, श्रूयमाणं विधानतः।
गीतं पापक्षयायोच्चै-र्योगसिद्धैर्महात्मभिः ॥ ४० ॥

अक्षरद्वयमपि, किं पुनः पञ्चनमस्काराऽऽदीन्यनेकान्यक्षराणीत्यपिशब्दार्थः ? एतद् योग इति शब्दलक्षणं, श्रूयमाणमाकर्ण्यमानं, तथाविधार्थानवबोधेऽपि विधानतो विधानेन, श्रद्धासंवेगाऽऽदिशुद्धभावोल्लासकरकुङ्मलयोजनाऽऽदिलक्षणेन, गीतमुक्तं, पापक्षयाथ मिथ्यात्वमोहाऽऽद्यकुशलकर्मनिर्मूलनाय उच्चैरत्यर्थम्। कैर्गीतम् ? इत्याह-योगसिद्धैर्योगः सिद्धो निष्पन्नो येषां ते तथा, तैर्जिनगणधराऽऽदिभिः, महात्मभिः प्रशस्तस्वभावैरिति ॥ ४० ॥

तथा-

मलिनस्य यथा हेम्नो, वह्नेः शुद्धिर्नियोगतः।
योगाग्नेश्चेतसस्तद्व-दविद्यामलिनाऽऽत्मनः ॥ ४१ ॥

मलिनस्य ताम्राऽऽदिमलबहुलस्य, यथेति दृष्टान्तार्थः। हेम्नः सुवर्णस्य, वह्नेर्वैश्वानरात्, शुद्धिर्निर्मलता, नियोगतो नियमेन, शुद्धकारणानां स्वकार्याव्यभिचारात्। योगाग्नेर्योगवह्नेः, चेतसो मनसः, शुद्धितः, तद्वद्धेमवत्। कीदृशो मनसः ? इत्याह-अविद्यामलिनाऽऽत्मनः सद्भूतवस्तुविषयभ्रान्तिवशाशुद्धभूतस्वरूपस्ये-ति ॥ ४१ ॥

तथा-

अमुत्र संशयाऽऽपन्न-चेतसोऽपि ह्यतो ध्रुवम्।
सत्स्वप्नप्रत्ययाऽऽदिभ्यः, संशयो विनिवर्तते ॥ ४२ ॥

अमुत्र परलोकविषये, संशयाऽऽपन्नचेतसो भवान्तरं समस्ति, न वेति भ्रान्तमनसः, किं पुनरन्यस्येत्यपि हीतिशब्दार्थः। अतो योगा-द्, ध्रुवमसंशयं, सत्स्वप्नप्रत्ययाऽऽदिभ्यः, सत्स्वप्नानिद्रायमाणावस्थायां स्वर्गाऽऽदिभवान्तरदर्शनलक्षणाऽऽख्यः प्रत्ययः प्रतीतिर्भवान्तरस्य, आदिशब्दान्निजोहापोहतथाविधाऽऽगमाभ्यास-जन्यप्रत्ययग्रहः, तेभ्यः सकाशात्, संशयः संदेहो, विनिवर्त्तते उपरमिति ॥ ४२ ॥

शुद्धसमाचारा हि साधवः सत्स्वप्नलाभेन निजोहापोहयोगेन, सदागमाभ्यासेन च, प्राक् संशयितमनसोऽपि व्यावर्तितविपर्यास-हेतुमिथ्यात्वाऽऽदिमोहोदया अभ्रकगृहान्तर्ज्वलितप्रदीपप्रभोदाहरणेन भवान्तरं निर्णयन्त्येवेति। न च वक्तव्यं स्वप्नोऽपि कथं लभ्यते इति ?

यतः-

श्रद्धालेशान्नियोगेन, बाह्ययोगवतोऽपि हि।
शुक्लस्वप्ना भवन्तीष्ट-देवतादर्शनाऽऽदयः ॥ ४३ ॥

श्रद्धालेशाद् बहुमानाङ्गाद्, नियोगेन नियमेन, बाह्ययोगवतोऽपि तथाविधोपयोगशून्यतया भावयोगानुरूपक्रियामात्रयुक्तस्य, किं पुनरबाह्ययोगवत इत्यपि हीतिशब्दार्थः। किम् ? इत्याह-शुक्लस्वप्ना अमलीमसाः स्वप्नाः, भवन्ति जायन्ते, इष्टदेवतादर्शनाऽऽदयः-दिवसाऽऽरब्धाऽऽराधनजिनगुरुधार्मिकदर्शनाऽऽदिल-क्षणा ॥ ४३ ॥

तथा-

देवान् गुरून् द्विजान् साधून् , सत्कर्मस्था हि योगिनः ।
प्रायः स्वप्ने प्रपश्यन्ति, हृष्टान् सन्नोदनापरान् ॥ ४४ ॥

देवान्-आराध्यतमान् जिनाऽऽदीन् , गुरून् धर्माऽऽचार्याऽऽदीन् , मातापित्रादीन् वा, द्विजान् लब्धदीक्षानामकद्वितीयद्वितीयजन्मनो मुनीन् , साधून् शेषशिष्टलोकान् , सत्कर्मस्थाः स्वसिद्धान्ताविरुद्ध-क्रियास्थिताः, हिः प्राग्वद् , योगिनो योगाभ्यासपराः प्राणिनः, किम् ? इत्याह-प्रायो बाहुल्येन, स्वप्ने प्रतीतरूपे एव, प्रपश्यन्ति प्रेक्षन्ते, हृष्टान् हर्षवतः, तथा सन्नोदनापरान् शुद्धार्थविषयप्रेरणपरायणान् ॥ ४४ ॥

न चासौ भ्रान्तेति भावयन्नाह-

नोदनाऽपि च सा यतो, यथार्थवोपजायते ।
तथाकालाऽऽदिभेदेन, हन्त ! नोपप्लवस्ततः ॥ ४५ ॥

नोदनाऽपि च न केवलं देवतादर्शनाऽऽदि, सा देवाऽऽदिकृता, यतो यस्मात्कारणात् , यथार्थव सूचितप्रयोजनफलैवोपजायते । कथम् ? इत्याह-तथाकालाऽऽदिभेदेन तत्प्रकारकालक्षेत्रभावविशेषेण, हन्त ! इति प्राग्वत् । न नैव, उपप्लवः वाताऽऽदिधातुविकारजनितश्चित्त-संक्षोभो वर्तते प्रेरणा; ततो यथार्थत्वाद् हेतोः, न हि यथार्थफलभाजः प्रतिभासा अविसंवादिरूपत्वाल्लोके उपप्लवरूपतां लभन्ते, किं तु सत्यरूपतामेवेति ॥ ४५ ॥

तथा-

स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्च, सत्यः स्वप्नोऽभिजायते ।
विद्वज्जनेऽविगानेन, सुप्रसिद्धमिदं तथा ॥ ४६ ॥

स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्चस्वप्नलाभफलो मन्त्रविषयः, तत्प्रयोगात् , चकाराच्छुद्धयोगाच्च, सत्यः स्वप्नो यथार्थः स्वप्नः, अभिजायते आविर्भवति, एतदेव द्रढीकुर्वन्नाह-विद्वज्जने मतिमल्लोके, अ-विगानेनाविप्रतिपत्त्या, सुप्रसिद्धमतीव ख्यातिमागतम् , इदं स्व-प्नमन्त्रप्रयोगात्सत्यः स्वप्नो जायत इत्येतत् , तथा तेन प्रकारेण ॥ ४६ ॥

नैवंभूतहेतुकोऽयं व्यवहार इति दर्शयति-

न ह्येतद्भूतमात्रत्व-निमित्तं संगतं वचः ।
अयोगिनः समध्यक्षं, यन्नैवंविधगोचरम् ॥ ४७ ॥

न हि नैव, एतदुक्तरूपं देवतादर्शनाऽऽदि, भूतमात्रत्वनिमित्तं भूत-मात्रत्वं केवलभूतभाव एव, निमित्तं हेतुर्यस्य तत्तथा, इत्येवं परेण प्रवर्तमानं, सङ्गतं घटमानकं, वचो वचनम् , एतत्स्वप्नदर्शनाऽऽदि, यत्कैश्चिद् भूतमात्रमित्युच्यते, तदसङ्गतं वच इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह-अयोगिनोऽर्वाग्दर्शिनः प्रमातुः, समध्यक्षं प्रत्यक्षं चाक्षुद्राऽऽदि, यत् यस्माद् , नैव, एवंविधगोचरम्-एवंविधाः स्वप्नदर्शनाऽऽदिरतीन्द्रि-योऽर्थो भूतमात्रनिमित्तो, न तु देवताऽनुग्रहमन्त्रप्रयोगाऽऽदिनिमित्तक इत्यादिकोऽर्थो गोचरो विषयो यस्य तत्तथा । इदमुक्तं भवतिछद्मस्थस्य पृथिव्यादिरूपभूतमात्रपरिहारेणातीन्द्रिये देवताऽऽदावर्थे विधिप्रतिषे-धयोः प्रत्यक्षमक्षममेव, तस्य तदविषयत्वादिति ॥ ४७ ॥

एतदेव भावयति-

प्रलापमात्रं च वचो, यदप्रत्यक्षपूर्वकम् ।
यथेहाप्सरसः स्वर्गे, मोक्षे चाऽऽनन्द उत्तमः ॥ ४८ ॥

प्रलापमात्रमनर्थकमेव, चः समुच्चये ; वचो वचनम् । कीदृशम् ? इत्याह-यदप्रत्यक्षपूर्वकं प्रत्यक्षेणानुपलभ्य यद्भाषितम् । दृष्टान्तमाह-यथा इह मर्त्यलोके, कश्चिद् वक्ति असर्वज्ञवादी मीमांसकाऽऽदिः, अप्सरसो मेनकारम्भाऽऽद्याः स्वर्गे सन्ति, मोक्षे च मुक्तौ पुनरानन्द आह्लादः, उत्तमः सर्वातिशायी ; साक्षादृष्टे हि वाच्य अप्सरःप्रमुखे ब्रुवाणो मीमांसकाऽऽदिः प्रलापमात्रकार्यव स्यात् ; एवं नास्तिकोऽप्यतीन्द्रियं देवताऽऽदिकं निह्नुवान इति । अथैवमनवकाशीकृतः कदाचित्परलोकसंशयवादी, मीमांसको वा ब्रूयात् ? ॥ ४८ ॥

यथा-

योगिनो यत्समध्यक्षं, ततश्चेदुक्तनिश्चयः ।
आत्माऽऽदेरपि युक्तोऽयं, तत एवेति चिन्त्यताम् ॥ ४९ ॥

योगिनो दिव्यदृशः प्रमातुः, यत्समध्यक्षं प्रत्यक्षज्ञानं, ततस्तत्स-मध्यक्षाद् , चेद् यदि, उक्तनिश्चयः-अप्सरसः स्वर्गे, मोक्षे चाऽऽनन्द इति प्रागुक्तार्थनिर्णयो जायते, एवं तर्हि आत्माऽऽदेरप्यतीन्द्रियार्थस्य । किं पुनः प्रस्तुतस्य ? इत्यपिशब्दार्थः । युक्तो घटमानोऽयं निश्चयः, तत एव योगिसमध्यक्षादेव, इत्येतच्चिन्त्यतां विमृश्यता-मिति ॥ ४९ ॥

एतदेव भावयति-

अयोगिनो हि प्रत्यक्ष-गोचरातीतमप्यलम् ।
विजानात्येतदेवं च, बाधाऽत्रापि न विद्यते ॥ ५० ॥

अयोगिनोऽर्वाग्दृशः प्रमातुः, हिर्यस्मात् प्रत्यक्षगोचरातीतमपि ऐन्द्रियकाध्यक्षविषयभावातिक्रान्तमपि आत्माऽऽदि वस्तु, किं पुनरितररूपम् ? इत्यपिशब्दार्थः । अलमत्यर्थम् , हस्ततलन्यस्त-निस्तलस्थूलमुक्ताफलावलोकनोदाहरणेन, विजानाति प्रेक्षते । एतद्योगिसमध्यक्षं, दिव्यदर्शनत्वात्तस्य । यदि नामैवं ततः किं सिद्धम् ? इत्याह-एवं च अस्मिंश्च प्रकारे सति, बाधा अघटनालक्षणा, अत्रापि आत्माऽऽदिनिश्चये, न केवलमप्सरःप्रभृतावर्थे, इत्यपिशब्दार्थः । न विद्यते नास्ति ॥ ५० ॥

(२७) इत्यमागमगम्यत्वमभिधायाधुनाऽनुमानविषयत्वमाह-

आत्माऽऽद्यतीन्द्रियं वस्तु, योगिप्रत्यक्षभावतः ।
परोक्षमपि चान्येषां, न हि युक्त्या न युज्यते ॥ ५१ ॥

आत्माऽऽदि आत्मकर्मसर्वज्ञाऽऽदि, अतीन्द्रियमिन्द्रियविषय-भावातीतं वस्तु, न हि न, युज्यते इत्युत्तरेण योगः । कीदृशम् ? इत्याह-योगिप्रत्यक्षभावतः सर्वज्ञज्ञानविषयभावने, परोक्षमपि च इन्द्रियज्ञाना-गोचरमपि, किं पुनरपरोक्षम् ? इत्यपिचशब्दार्थः । अन्येषामस्मादृशाम् अर्वागदृशां, न हि नैव, युक्त्या शुद्धहेतुप्रयोगरूपया, न युज्यते, किं तु युज्यत एव ।

तत्र युक्तिः-

'' अचेतनानि भूतानि, न तद्धर्मो न तत्फलम् ।
चेतनाऽस्ति च यस्येह, स एवाऽऽत्मेति बुध्यताम् ॥ १ ॥
यदीयं भूतधर्मः स्यात् , प्रत्येकं तेषु सर्वदा ।
उपलभ्येत सत्त्वाऽऽदि, कठिनत्वाऽऽदयो यथा ॥ २ ॥
काठिन्यादिस्वभावानि, भूतान्यध्यक्षसिद्धितः ।
चेतना तु न तद्रूपा, सा कथं तत्फलं भवेत् ॥ ३ ॥ '' इत्यादि ।

'' तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां,
केचिल्लभन्ते निजकार्यसिद्धिम् ।
परे न तामत्र निगद्यतां मे
कर्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतुः ॥ १ ॥
विचित्रदेहाऽऽकृतिवर्णगन्ध-

प्रभावजातिप्रभवस्वभावाः ।
केन क्रियन्ते भुवनेङ्गिवगौ-
श्चिरन्तनं कर्म निरस्य चित्राः ? ॥ २ ॥
विवर्ध्य मासान्नवगर्भमध्ये,
बहुप्रकारैः कललाऽऽदिभावैः ।
उद्वृत्ये निष्काशयते सवित्र्याः,
को गर्भतः कर्म विहाय पूर्वम् ? '' ॥ ३ ॥ इत्यादि ।
'' वीतरागोऽस्ति, सर्वज्ञः प्रमाणाबाधितत्वतः ।
सर्वदा विदितः सद्भिः, सुखाऽऽदिकमिव ध्रुवम् ॥ १ ॥
क्षीयते सर्वथा रागः, क्वापि कारणहानितः ।
ज्वलनो हीयते किं न, काष्ठाऽऽदीनां वियोगतः ॥ २ ॥
प्रकर्षस्य प्रतिष्ठानं, ज्ञानं क्वापि प्रपद्यते ।
परिमाणमिवाऽऽकाशे, तारतम्योपलब्धितः '' ॥ ३ ॥ इत्यादि ।

अत्रैवाभ्युच्चयमाह-

किं चान्यद् योगतः स्थैर्यं, धैर्यं श्रद्धा च जायते ।
मैत्री जनप्रियत्वं च, प्रातिभं तत्त्वभासनम् ॥ ५२ ॥

किं च इत्यभ्युच्चये, अन्यत्प्रागुक्ताद्विलक्षणं योगफलमस्ति । तदेव दर्शयतियोगतो योगात् , स्थैर्यं स्थिरभावः प्रतिपन्ननिर्वाहणो, धैर्यं व्यसनाशनिसन्निपातेऽपि अविचलितप्रकृतिभावः, श्रद्धा च रुचिस्तत्त्वमार्गानुगा, जायते आविर्भवति, मैत्री सर्वसत्त्वेषु मित्रभावः, जनप्रियत्वं च शिष्टलोकवल्लभभावः, प्रातिभं सहजप्रतिभाप्रभवं, तत्त्वभासनं जीवादितत्त्वावलोकनं भवतीति ॥ ५२ ॥

तथा-

विनिवृत्ताऽऽग्रहत्वं च, तथा द्वन्द्वसहिष्णुता ।
तदभावश्च लाभश्च, बाह्यानां कालसङ्गतः ॥ ५३ ॥

विनिवृत्ताऽऽग्रहत्वं च निर्मुक्तानुचितार्थाभिनिवेशित्वं च, तथा द्वन्द्वसहिष्णुता निरुपक्रमक्लिष्टकर्मोदयाऽऽपादितानामिष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगाऽऽदीनां व्यसनानां सम्यक् सहनभावः । तदभावश्च द्वन्द्वविनाशश्च प्रायः परिशुद्धयोगोपहतशक्तिकत्वाद् द्वन्द्वसंपादकोपायानाम् , लाभश्च प्राप्तिश्च बाह्यानां निर्वाहाऽऽदीनां समाधिहेतूनां, कालसङ्गतो यो यत्र काले योग्य इति ॥ ५३ ॥

तथा-

धृतिः क्षमा सदाचारो, योगवृद्धिः शुभोदया ।
आदेयता गुरुत्वं च, शमसौख्यमनुत्तरम् ॥ ५४ ॥

धृतिर्यैन केनचिद् व्यसनभोजनाऽऽदिना निर्वाहमात्रनिमित्तेन सन्तोषः । क्षमा सत्येतरदोषश्रवणेन कार्यतत्त्वमविचार्यान्तर्बहिश्च कोपोदयाद् विक्रियामापाद्यमानस्याऽऽत्मनो निरोधनम् । सदाचारः सर्वोपकारप्रियवचनाकृत्रिमोचितस्नेहाऽऽदिका सज्जनचेष्टा । योगवृद्धिः सम्यग्दर्शनाऽऽदिमुक्तिबीजोत्कर्षरूपा । शुभोदया प्रशस्तफलोद्गमहेतुः । धृत्यादेः प्रत्येकविशेषणमेतत् । आदेयता परैरादरणीयवचनचेष्टनरूपता । गुरुत्वं च सर्वत्र गौरवलाभलक्षणम् । तथा शमसौख्यमतिमन्दीभूतकषायविषदोषतया प्रशमशर्म । अनुत्तरं विषयसेवाजनिताऽऽनन्दान्निशायि । यतः पठ्यते- '' निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् । विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् '' ॥ १ ॥ इति । अत्र च श्लोकत्रये चकारास्तथाशब्दश्च समुच्चयार्थः ॥ ५४ ॥

आ विद्वदङ्गनासिद्ध-मिदानीमपि दृश्यते ।
एतत्प्रायस्तदन्यत्तु, सुबह्वागमभाषितम् ॥ ५५ ॥

आ विद्वदङ्गनासिद्धम्-आ-विद्वद्भ्यः आ-अङ्गनाभ्यश्च यो लोकः, तस्येत्यर्थः । सिद्धं प्रतीतम् , इदानीमपि दुःषमायां, किं पुनः सुषमदुःषमाऽऽदावित्यपिशब्दार्थः । दृश्यते अवलोक्यते, एतत् प्रागुक्तं योगफलं, प्रायो बाहुल्येन, तदन्यत्तूक्तादन्यत् पुनर्योगफलं, सुबहु अतिभूरि, आमर्षौषध्यादिकं हि प्राप्तिरूपम् , आगमभाषितम्-आवश्यकनिर्युक्त्यादिनिरूपितम् ।

यदुक्तं तत्र-

'' आमोसहि विप्पोसहि-खेलोसहि जल्लमोसही चेव ।
संभिन्नसोय उजुमइ, सव्वोसहि चेव बोधव्वो ॥ ६८ ॥
चारण आसीविस के-वली य मणणाणिणो य पुव्वधरा ।
अरहंत चक्कवट्टी, बलदेवा वासुदेवा य '' ॥ ६९ ॥ इति ।
'' अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं,
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च,
योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि लिङ्गम् ॥ १ ॥
मैत्र्यादियुक्तं विषयेषु चेतः,
प्रभाववद्धैर्यसमन्वितं च ।
द्वन्द्वैरधृष्यत्वमभीष्टलाभो,
जनप्रियत्वं च तथा परं स्यात् ॥ २ ॥
दोषव्यपायः परमा च तृप्ति-
रौचित्ययोगः समता च गुर्वी ।
वैराऽऽदिनाशोऽथ कृतंभरा धीः,
निष्पन्नयोगस्य तु चिह्नमेतत् '' ॥ ३ ॥

अथोक्तादेव योगफलात्तत्त्वान्तरप्रसिद्ध्यर्थमाह-

न चैतद्भूतसङ्घात-मात्रादेवोपपद्यते ।
तदन्यद्भेदकाभावे, तद्वैचित्र्याप्रसिद्धितः ॥ ५६ ॥

न च चैव, एतद्योगमहात्म्यं भावयोगिषूपलभ्यमानं, भूतसङ्घातमात्रादेव पृथिव्यादिमहाभूतसङ्घातात् केवलादात्माऽऽदिरूपतत्त्वान्तरशून्यात् , उपपद्यते घटते । कुतः ? इत्याह-तदन्यभेदकाभावे-तस्माद् भूतसङ्घाताद् यदन्यत्तत्त्वान्तरमात्मकाऽऽदिलक्षणं, भेदकं विशेषकारि, तस्याभावे तद्वैचित्र्याप्रसिद्धितः, तेषां भूतसङ्घातानां कायाऽऽकारपरिणतानामपि, वैचित्र्यस्य नानात्वस्य, योगमाहात्म्ययुक्तत्वेतरलक्षणस्य, अप्रसिद्धेरघटनात् । अतो बलात् अनुमिमीमहे भूतसङ्घातारिक्तं विचित्रशक्तिसङ्गतं तत्त्वान्तरं समस्ति, यद्भावादयं योगमाहात्म्यभावाभावलक्षणो भेदः संपद्यते ॥ ५६ ॥ यो० बिं० ।

अथ निगमयन्नाह-

एवं च तत्त्वसंसिद्धे-योगे एव निबन्धनम् ।
अतो यन्निश्चितैवेयं, नान्यतस्त्वीदृशी क्वचित् ॥ ६४ ॥

एवं चोक्तन्यायेनैव, तत्त्वसंसिद्धेः-आत्मादृष्टाऽऽदिप्रतीतेः, योग एव नापरं किञ्चिद् , निबन्धनं हेतुर्वर्तते । एतदपि कुतः ? इत्याह-अतः योगात् , यत् यस्मात् , निश्चितैव अविपर्यासवत्येव, इयं तत्त्वसिद्धिः स्याद् , न नैव, अन्यतोऽन्यस्माद्वादप्रतिवादाऽऽदेः, तुः पुनरर्थे, ईदृशी निश्चितरूपा तत्त्वसंसिद्धिः, क्वचित् क्षेत्राऽऽदौ । ६४ ।

(२८) **अतोऽत्रैव महान् यत्न-स्तत्तत्तत्त्वप्रसिद्धये ।**
प्रेक्षावता सदा कार्यो, वादग्रन्थास्त्वकारणम् ॥ ६५ ॥

अतः-अस्मात्कारणात्, अत्रैव योगे, महान् अन्योपाथातिशायी, यत्नः आदरः, तस्य तस्य तत्त्वस्य स्वर्गनरकाऽऽदेः, प्रसिद्धये प्रतीत्यर्थं, प्रेक्षावता बुद्धिमताः, सदा सर्वकालं, कार्यो विधेयः। उपायान्तर-प्रतिषेधमाहवादग्रन्थाः परपक्षनिराकरणेन स्वपक्षप्रतिष्ठापनानि तर्कप्रकरणानि, तुः प्राग्वद्, अकारणं तत्त्वप्रतीतेरहेतवः॥ ६५॥

एतदेव समर्थयमान आह-

उक्तं च योगमार्गज्ञै-स्तपोनिर्धूतकल्मषैः।
भावियोगिहितायोच्चै-र्मोहदीपसमं वचः॥ ६६॥

उक्तं च निरूपितं पुनः, योगमार्गज्ञैः-अध्यात्मविद्भिः पतञ्जलि-प्रभृतिभिः, तपोनिर्धूतकल्मषैः प्रशमप्रधानेन तपसा क्षीणमार्गानु-सारिबोधबाधकमोहमलैः, भावियोगिहिताय-भावष्यद्विवादबहु-लकलिकालयोगिहितार्थम्, उच्चैरत्यर्थं, मोहदीपसममतिमोहा-न्धकारप्रदीपस्थानीयम्, वचो वचनम्॥ ६६॥

एतदेव दर्शयति-

वादाँश्च प्रतिवादाँश्च, वदन्तो निश्चिताँस्तथा।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद्गतौ॥ ६७॥

वादाँश्च पूर्वपक्षरूपान्, प्रतिवादाँश्च परोपन्यस्तपक्षप्रतिवचनरूपान्, चौ समुच्चये, वदन्तो ब्रुवाणाः, निश्चितानसिद्धानैकान्तिकाऽऽदिहेतु-दोषपरिहारेण, तथा तेन प्रकारेण तत्तच्छास्त्रप्रसिद्धेन, सर्वेऽपि दर्शनिनो मुमुक्षवोऽपि, किम्? इत्याह-तत्त्वान्तम् आत्माऽऽदितत्त्वप्रसिद्धिरूपं, नैव गच्छन्ति न प्रतिपद्यन्ते। तिलपीलकवद् निरुद्धाक्षसंचारतिलयन्त्र-वाहननियुक्तैक्रगोमहिषाऽऽदिवत्, गतौ वहनरूपायां सत्यामिति; यथा असौ तिलपीलको गवादिर्निरुद्धाक्षतया नित्यं भ्राम्यन्नपि न तत्परिमाण-मवबुध्यते, एवमेतेऽपि वादिनः स्वपक्षाभिनिवेशान्धा विचित्रं वदन्तोऽपि नोच्यमानतत्त्वं प्रतिपद्यन्त इति॥ ६७॥ यो० बिं०। चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां वृषभानुजाताऽऽदिके योगे च। सू० प्र०।

(२६) ते च दश-

तत्थ खलु इमे दसविधे जोए पण्णत्ते। तं जहा-वसभाणुजाते १, वेणुयाणं जाते २, मंचे ३, मंचाइमंचे ४, छत्ते ५, छत्तातिछत्ते ६, जुअणद्धे ७, घणे ८, पीणिते ९, मंडकपुत्ते णामं दसमेत्ता १०॥

''तत्थ खलु'' इत्यादि। तत्र युगे, खल्वयं वक्ष्यमाणो, दशविधो योगः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-वृषभानुजातः। अत्र अनुजातशब्दः सदृश-वचनः, वृषभस्यानुजातः सदृशो वृषभानुजातः, वृषभाऽऽकारेण चन्द्रसूर्य-नक्षत्राणि यस्मिन् योगे एव तिष्ठन्ति स वृषभानुजात इति भावना। एवं सर्वत्रापि भावयितव्यम्। वेणुर्वंशः, तदनुजातस्तत्सदृशो वेणुकानुजातः। मञ्चो मञ्चसदृशः। मञ्चान् व्यवहारप्रसिद्धान् द्वित्रादिभूमिकाभावतोऽति-शायी मञ्चो मञ्चातिमञ्चः, तत्सदृशो योगोऽपि मञ्चातिमञ्चः। छत्रं प्रसिद्धम्, तदाकारो योगोऽपि च्छत्रम्। छत्रात् सामान्यरूपात् उपर्यन्यान्यच्छत्र-भावतोऽतिशायि च्छत्रं छत्रातिच्छत्रम्, तदाकारो योगोऽपि छत्रातिच्छत्रम्, युगमिव नद्धो युगनद्धः, यथा युगं वृषभस्कन्धयोरारोपितं वर्तते तद्वद् योगोऽपि यः प्रतिभाति, स युगनद्ध इत्युच्यते। घनः संमर्दरूपः, यत्र चन्द्रः सूर्यो वा ग्रहस्य नक्षत्रस्य वा मध्ये गच्छति, प्रीणित उपचयं नीतः यः प्रथमतश्चन्द्रमसः सूर्यस्य वा एकतरस्य ग्रहेण नक्षत्रेण वा एक-तरेण जातः, तदनन्तरं द्वितीयेन सूर्याऽऽदिना सहोपचयं गतः स प्रीणित इति भावः। मण्डूकप्लुतो नाम दशमः। तत्र मण्डूकप्लुत्या यो जातो योगः स मण्डुकप्लुतः, स च ग्रहेण सह वेदितव्यः, अन्यस्य मण्डूकप्लुति-गमनासंभवात्। उक्तं च-चन्द्रसूर्यनक्षत्राणि प्रतिनियतगतानि, ग्रहास्त्वनियतगतय इति। यदित्थं यथावबोधं दशानामपि योगानां स्वरूपमात्रभावना कृता यथासंप्रदायमन्यथा वाच्या, तत्र युगे छत्रातिच्छत्रवर्जाः शेषा नवापि योगाः प्रायो बहुशो बहुषु च देशेषु भवन्ति। छत्रातिच्छत्रयोगस्तु कदाचित्कस्मिंश्चिदेव देशे। सू० प्र० १२ पाहु०।

(३०) योगाङ्गत्वाद् योगाः। यमाऽऽदिकेषु योगाङ्गेषु (ते जे 'जो-गंग' शब्देऽनुपदमेव १३३८ पृष्ठे वक्ष्यन्ते) उत्साहे, षो० ३ विव०। आकाशगमनाऽऽदिफले पादलेपाऽऽदिके द्रव्यसंघाते, योग आका-शगमनाऽऽदिफलो द्रव्यसंघातः। पिं०। योगा वशीकरणाऽऽदिप्रयो-जनाद् द्रव्यसंयोगा इति। प्रश्न० २ संव० द्वार। ''जोगो पुण होइ पायलेवाई।'' नि० चू० १३ उ०। ''वसिकरणपायलेवाऽऽदिया तु जोगा मुणेयव्वा।'' पं० भा०। पं० चू०। पादप्रलेपाऽऽदयः सौ-भाग्यदौर्भाग्यकरा योगाः। ध० ३ अधि०। योगसौभाग्याऽऽदिकृद् द्रव्यनिचय इति। ग० १ अधि०। (अन्ययूथिकानां, गृहस्थानां वा योगकरणे प्रायश्चित्ताऽऽदिसूत्राणि 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७२ पृष्ठे द्रष्टव्यानि। तेषां सूत्राणां व्याख्यारूपा गाथाः 'पासिणा-पसिण' शब्दे दृश्याः) तदात्मके पञ्चदशे उत्पादनादोषे च। पिं०। (तद्वक्तव्यता 'जोगपिंड' शब्दे दृश्या) श्रुतोपधाने, ''जोगा य बहुविकप्पा।'' योगा उपधानानि, बहुविकल्पाः गच्छभेदेन बहु-भेदाः। व्य० १ उ०। ''आगाढमणागाढे, दुविधे जोगे समासतो होइ''। जोगो दुविधोआगाढो य, अणागाढो य। जम्मि जोगे जंतणा सो आगाढो। यथा भगवतीत्यादि। इतरो अणागाढो, यथोत्तराध्य-यनाऽऽदि। नि० चू० ४ उ०। आगाढमुत्तराध्ययन-भगवत्यादिकम्, अनागाढं दशवैकालिकाऽऽदिकमिति। जीत०। स्था०। वाक्ये, वाक्यस्यैकार्यिकानधिकृत्य- ''वइजोगजोगे य।'' दश० ७ अ०। ज्योतिषोक्तेषु रविचन्द्रयोगाधीनेषु विष्कुम्भाऽऽदिषु तिथि-वारनक्षत्राऽऽदीनामन्यतरान्यतमानाममृतयोगोऽर्द्धोदययोग इत्यादिके योगविशेषे, वाच०। षाण्मासिकयोगाऽऽदौ दत्तिप्रत्याख्यानं कार्यते, तत् किं ''सपाणभोअणं पंचदत्तियं आयंबिलं पच्चक्खाइ।'' इत्याचाम्ला-ऽऽदिस्थाने पठ्यते? अथवा- ''सपाणभोअणं पंचदत्तिअं एगासणं पच्चक्खाइ।'' इत्येकाशनकाऽऽदिस्थाने पठ्यते? इति प्रश्ने उत्तरम्- ''सपाणभोयणं पंचदत्तिअं आयंबलं पच्चक्खाइ'' इत्येवंरूपं प्रत्याख्यानं गुरुपरम्परया पठ्यमानमुपलभ्यते, न त्वन्यथेति। ७६ प्र०। सेन० १ उल्ला०। योगमध्ये रात्रावनाहारग्रहणं भवति, न वा? इति प्रश्ने, उत्तरम्-रात्रौ योगिनां संघट्टकाभावात् किमपि ग्रहीतुं न कल्पते, संघट्टकं तु सांय मुक्तमिति प्रातः प्रवचनप्रवेदनानन्तरमेव तद्ग्रहणं कल्पत इति। १०३ प्र०। सेन० २ उल्ला०। आवश्यकोत्तराध्ययनाऽऽदि-योगेषु पत्तनीयमुद्गगोधूममोदकान केचन गृह्णन्ति, केचन न? इति प्रश्ने, उत्तरम्-न गृह्णन्तीति वृद्धपरम्पराऽस्तीति। १३५ प्र०। सेन० २ उल्ला०। आवश्यकयोगसंबद्धदशवैकालिकयोगप्रवेशः शुद्ध्यति? न वा? इति प्रश्ने, उत्तरम्- शुद्ध्यतीति। २३ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। येन साधुना ये योगा न व्यूढाः, तेन तद्योगानां प्रवेशोत्तारणं कार्यते, न

वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-मुख्यवृत्त्या येन ये योगा व्यूढाः, तेन तेषामेव प्रवेशोत्तारणाऽऽदिकं विधीयते, तदभावे तु नन्द्यनुयोगद्वारयोगाऽऽदिना सर्वेष्वव्यूढयोगेषु प्रवेशः, तेभ्यो निर्गमनं च कार्यते, तयोः क्रियाया असंबद्धत्वादिति परम्पराऽप्यस्ति, परं सर्वथैव तत्क्रियाकारिता न शुद्ध्यतीति। ३६ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। चक्षुर्विकलस्य साधोः पार्श्वे कालिकोत्कालिकयोगस्य क्रिया कृता शुद्ध्यति, न वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-कालिकोत्कालिकयोगक्रिया चक्षुर्विकलस्य साधोः पार्श्वे प्रायो न शुद्ध्यतीति ज्ञातमस्ति। ९५ प्र। सेन० ३ उल्ला०।

विषयसूची-

(१) अलब्धेप्सितवस्तुलाभबीजाऽऽधानोद्भेदपोषणकरणसंयोग-मेलनवर्माऽऽदिधारणयुक्तिशब्दाऽऽदिप्रयोगसमुदायशब्द-निष्ठावयवार्थसंबन्ध यथास्थितवस्त्वन्यथारूपप्रतिपादन-विधिकर्वनुकूलपरिवारसंपत्तिमनोवाक्कायव्यापाराऽऽदयो योगशब्दार्थाः।

(२) द्रव्यभावभेदेन योगस्य द्वैविध्यप्ररूपणे प्रशस्ताप्रशस्तत्वं निरूप्य द्रव्ययोगभावयोगयोर्निर्वचनम्।

(३) योगस्य मनोवाक्कायाऽऽत्मकस्य एकस्मिन् काले युगपत् शुभाशुभत्वनिरसनम्।

(४) मनोवाक्कायतया योगस्य द्वैविध्यमुपपाद्य, योगानामयुक्तस्य कर्मबन्धकारकत्वं युक्तस्य कर्मनिर्जराकारित्वं च भवतीति प्रतिपादनम्।

(५) परिणामालम्बनग्रहणसाधनत्वेन मनोवाक्कायलक्षण-सहकारिकारणभेदाद् योगस्य त्रैविध्यम्।

(६) आत्मनो वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थलब्धिविशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यनभिसन्धिपूर्वकत्वं योगस्य प्रतिपादनम्।

(७) मनोवाग्योगयोः कायव्यापारविशेषत्वेन विचारः।

(८) सामान्ययोगप्ररूपणानन्तरं विशेषतो नारकाऽऽदिषु योगविचारः।

(९) नैरयिकाऽऽदिदण्डकेषु समविषमयोगावधिकृत्य प्ररूपणा।

(१०) ध्यानतत्त्वरूपसालम्बनिरालम्बनत्वेन योगस्य द्वैविध्यं प्ररूप्य, ध्याननिरूपणखेदाऽऽद्यष्टविधचित्तपरिहारप्ररूपणतत्फलाफलत्वप्रदर्शनशान्तोदात्ताऽऽदियुक्तचित्तव्यावर्णनाऽऽदिविस्तरः।

(११) योगस्य मोक्षहेतुत्वेन प्रदर्शनम्।

(१२) योगस्य लक्षणं निरूप्य, दुरभव्याभव्यलक्षणनिरूपणाऽऽद्यनेकविषयोपपत्तिः।

(१३) स्वकीयं लक्षणं परकीयलक्षणे विचारिते सति स्थिरीभवतीति पतञ्जलिप्रणीतियोगशास्त्रानुसारियोगस्य लक्षणाऽऽदिनिरूपणम्।

(१४) विस्तरतो हि पुनस्तस्य परकीयप्ररूपितयोगस्य खण्डनम्।

(१५) स्थानवर्णार्थालम्बनैकाग्र्यरूपेण योगस्य पञ्चविधत्वं प्ररूप्य, विरतेषु तस्य नियतभावित्वं, परेषु तु बीजमात्रमेवेति विवेचनम्।

(१६) योगोत्पत्तिहेतून् निरूप्य स्थानाऽऽदीनां प्रीतिभक्तिवचोऽसङ्गैरशीतिभेदस्याऽऽविर्भावनं, स्थानाऽऽद्ययोगिनः सूत्रदाने दोषोद्घाटनं च।

(१७) वृत्तिनिरोधस्यापि योगत्वं तस्यापि पञ्चविधत्वाऽऽद्यनेकविषयविवेचनम्।

(१८) योगस्येच्छाशास्त्रसामर्थ्याऽऽद्यवान्तरभेदप्रदर्शनेन तद्विवेकः।

(१९) संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोर्यथासंभवमवतारः।

(२०) जीवाऽऽत्मनि परमाऽऽत्मनः सत्त्वोपपत्त्यर्थमात्मत्रयस्वनिरूपणानन्तरं विषयाऽऽत्मनोः समापत्त्यादिनिरुक्तिः।

(२१) असंप्रज्ञातनाम्नः समाधेर्निर्वचनम्।

(२२) एकस्मिन्नपि योगेऽन्येषां समावेशाऽऽदिविचारः।

(२३) योगमार्गाधिकारिणः।

(२४) आत्माऽऽदिप्रत्ययं विना न योगसिद्धिः।

(२५) योगादेव कर्मक्षयो भवतीति प्रतिपादनम्।

(२६) योगस्य माहात्म्यम्।

(२७) योगस्याऽऽगमगम्यत्वप्रदर्शनानन्तरमनुमानगम्यत्वप्रदर्शनम्।

(२८) योगे एव महान् यत्नो विधेय इत्युपदेशः।

(२९) युगे योगस्य दशविधत्वप्रदर्शनम्।

(३०) प्रकीर्णकविषयाः।

जोगंग-न०(योगाङ्ग) यमाऽऽदिके, ''योगाङ्गं च यमो भवेत्।'' द्वा० २२ द्वा०। अहिंसाऽऽदियमानधिकृत्य- ''योगसौकर्यतोऽमीषां, योगाङ्गत्वमुदाहृतम्।'' यथोक्तम्- ''यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्येति।'' द्वा० २२ द्वा०। षो०। पुरुषसप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, कल्प० ७ क्षण।

जोगंत-पुं०(योगान्त) शैलेश्यवस्थायाम्, द्वा० २५ द्वा०।

जोगंतरग-न०(योगान्तरक) अन्यो योगो व्यापारो योगान्तरम्, तदेव योगान्तरकम्। अन्यस्मिन् योगे, पञ्चा० ५ विव०।

जोगंधरायण-पुं०(यौगन्धरायण) उदायननृपतेः स्वनामख्यातेऽनात्ये, ''न हरामि नृपन्यार्थं, नाहं यौगन्धरायणः।'' आव० ४ अ०। आ० चू०।

जोगक्खेम-न०(योगक्षेम) योगश्च क्षेमं च समाहारद्वन्द्वः। अलभ्यलाभचिन्तासहिते लब्धपरिरक्षणे, ''योगक्षेमं वहाम्बहम्'' वाच०।'' जोगक्खेमं वट्टमाणा पडिवहंति।'' ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। रा०।

जोगक्खेमपय-न०(योगक्षेमपद) योगक्षेमाय पद्यते गम्यते येनार्थस्तत् पदं योगक्षेमपदम्। योगक्षेमार्थके पदे, ''अणुत्तरं जोगक्खेमपयं लंभिए समाणे।'' सूत्र० २ श्रु० ७ अ०।

जोगचलणा-स्त्री०(योगचलना) चलनाभेदे, भ० १७ श० ३ उ०। (अस्यास्त्रिविधत्वं 'चलणा' शब्दे तृतीयभागे ११६५ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

जोगचित्त-त्रि०(योगचित्त) योगबीजोपादानप्रणिधानचित्ते, द्वा० २१ द्वा०।

जोगजुत्त-त्रि०(योगयुक्त) दशविधचक्रवालसामाचार्याऽऽद्यावरणप्रगुणे, कर्म० १ कर्म०।

जोगजुत्तया-स्त्री०(योगयुक्तता) अनगारगुणभेदे, ''जोगम्मि जुत्तता।'' आव० ४ अ०। प्रश्न०।

जोगट्ठाण-न०(योगस्थान) योगो वीर्यं, तस्य स्थानं योग-

स्थानम्। वीर्याऽऽदिविभागांशसंघाते, कर्म० ५ कर्म०। (तद्वक्तव्यता ' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६५६ पृष्ठे गता)

जोगणिओग-पुं०(योगनियोग) द्व० स०। कार्मणवशीकरणाऽऽदि-प्रकारे, योगनियोगैः कार्मणवशीकरणाऽऽदिप्रकारैरिति। तं०।

जोगणिग्गह-पुं०(योगनिग्रह) कायोत्सर्गे, '' उस्सग्गो त्ति वा जोगणिग्गहो त्ति वा। '' आ० चू० ५ अ०।

जोगणिरोह-पुं०(योगनिरोध) योगाश्चौदारिकाऽऽदिशरीरसंयोगसमुत्था आत्मपरिणामविशेषव्यापारा एव, तेषां निरोधनं निरोधः प्रलयकरणम्, योगनिरोधः। मनोवाक्कायव्यापारप्रलयकरणे, स एव च जिनानां ध्यानम्।'' जोगणिरोहो जिणाणं तु। '' आव० ४ अ०। आ० म०।

जोगणिव्वत्ति-स्त्री०(योगनिर्वृति) योगनिष्पत्तौ, भ० १ श० १ उ०। '' कइविहा णं भंते ! जोगणिव्वत्ती पण्णत्ता। गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता। तं जहामणजोगणिव्वत्ती, वइजोगणिव्वत्ती, कायजोग-निव्वत्ती, एवं० जाव वेमाणिया जस्स जइविहो जोगो। '' भ० १९ श० ८ उ०।

जोगत्तिय-न०(योगत्रिक) कृतकारितानुमतिरूपे व्यापारत्रिके, दश० १० अ०।

जोगदिट्ठि-स्त्री०(योगदृष्टि) योगजप्रातिभज्ञाने, द्वा० १६ द्वा०। मित्राऽऽदिकायां योगदृष्टौ च। ध० १ अधि०।

सच्छ्रद्धासंगतो बोधो, दृष्टिः सा चाष्टधोदिता।
मित्रा तारा बला दीप्रा, स्थिरा कान्ता प्रभा परा॥ २५॥

सच्छ्रद्धया शास्त्रबाह्याभिप्रायविकलसद्हलक्षणाया, संगतो, बोधो, दृष्टिः, तस्या उत्तरोत्तरगुणाऽऽधानद्वारा सत्प्रवृत्तिपदाऽऽवहत्वात्। तदुक्तम्- '' सच्छ्रद्धा संगतो बोधो, दृष्टिरित्वभिधीयते। असत्प्रवृत्ति-व्याघातसत्प्रवृत्तिपदाऽऽवहः '' ॥ १ ॥ इति। सा चाष्टथोदितामित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा चेति॥ २५॥

तृणगोमयकाष्ठाग्नि-कणदीप्रप्रभोपमा।
रत्नाताराऽर्कचन्द्राऽऽभा, क्रमेणेक्ष्वादिसन्निभा॥ २६॥

मित्रा दृष्टिस्तृणाग्निकणोपमा, न तत्त्वतोऽभीष्टकार्यक्षमा, सम्य-क प्रयोगकालं यावदनवस्थानात्। अल्पवीर्यतया ततः पटुस्मृति-बीजसंस्काराऽऽधानानुपपत्तेः, विकलप्रयोगभावाद्भावतो वन्द-नाऽऽदिकार्यायोगादिति। तारा दृष्टिर्गोमयाग्निकणसदृशी। इयम-प्युक्तकल्पैव, तत्त्वतो विशिष्टस्थितिवीर्यविकलत्वात्, अतोऽपि प्रयोगकाले स्मृतिपाटवासिद्धेः, तदभावे प्रयोगवैकल्यात्, ततस्तथा तत्कार्याभावादिति। बला दृष्टिः काष्ठाग्निकणतुल्या। ईषद्विशिष्टोक्त-बोधद्वयात्। तद्भावेनात्र मनाक् स्थितिवीर्ये, अतः पटुप्राया स्मृतिः, इह प्रयोगसमये, तद्भावे चार्थप्रयोगमात्रप्रीत्या यत्नलेशभावादिति। दीप्रा दृष्टिर्दीपप्रभासदृशी। विशिष्टतरोक्त-बोधत्रयात्। अतोऽत्रोदग्रे स्थितिवीर्ये, तत्पट्व्यपि प्रयोगसमये स्मृतिः। एवं भावतोऽप्यत्र द्रव्यप्रयोगो वन्दनाऽऽदौ, तथा भक्तितो यत्नभेदप्रवृत्तेरिति प्रथमगुण-स्थानकप्रकर्ष एतावानिति समयविदः। स्थिरा च भिन्नग्रन्थेरेव, सा च रत्नाभा, तदवबोधो हि रत्ननास्समानः, तद्भावोऽप्रतिपाती प्रवर्द्धमानो निरपायो नापरपरितापकृत् परितोषहेतुः प्रायेण प्रणिधानाऽऽदियो-निरिति। कान्ता ताराऽऽभा, तदवबोधस्ताराभास्समानः। अतः स्थित एव प्रकृत्या निरतिचारमत्रानुष्ठानं शुद्धोपयोगानुसारि विशिष्टाप्रमादसचिवं विनियोगप्रधानं गम्भीरोदाराऽऽशयमिति। प्रभा अर्काभा। तदव-बोधस्तरणिभास्समानः, सद्ध्यानहेतुरेव सर्वदा, नेह प्रायो विक-ल्पावसरः। प्रशमसारं सुखमिह, अकिञ्चित्कराण्यत्रान्यशास्त्राणि, समाधिनिष्ठमनुष्ठानं, तत्सन्निधौ वैराऽऽदिनाशः, परानुग्रहकर्तृता, औचित्ययोगो विनयेषु, तथाऽबन्ध्या सत्क्रियेति। परा तु दृष्टिश्चन्द्राऽऽभा। तदवबोधश्चन्द्रचन्द्रिकाभास्समानः, सद्ध्यानरूप एव सर्वदा, विकल्प-रहितं मनः, तदा भावेनोत्तमं सुखम्, आरूढाऽऽरोहणभावतोऽनुष्ठानं प्रतिक्रमणाऽऽदि, परोपकारित्वं, यथा भव्यमबन्ध्या क्रियेति, तथा क्रमेण मित्राऽऽद्यनुक्रमेणेक्ष्वादिसन्निभा दृष्टिरिक्षुरसकक्कबगुडकल्पाः खल्वाद्याश्चतस्रः खण्डशर्करामत्स्यण्डवर्षोलकसमाश्चाग्रिमा इत्याचार्याः। इक्ष्वादिकल्पानामेव रुच्यादिगोचराणां संवेगमाधुर्यभेदोपपत्तेः, नलाऽऽदिकल्पानामभव्यानां संवेगमाधुर्यशून्यत्वादिति॥ २६॥

यमाऽऽदियोगयुक्तानां, खेदाऽऽदिपरिहारतः।
अद्वेषाऽऽदिगुणस्थानां, क्रमेणैषा सतां मता॥ २७॥

यमाऽऽदयो योगाङ्गवाद् योगाः। यथोक्तम्- '' यमनियमाऽऽसन-प्रणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्येति।'' (२-२९) तैर्युक्तानां खेदाऽऽदीनां ध्यानाभिधानस्थले प्रोक्तानां योगप्रत्यनीकाऽऽशयलक्षणानां परिहारतोऽद्वेषाऽऽदयो येऽष्टौ गुणाः। तदुक्तम्- '' अद्वेषो जिज्ञासा, शुश्रूषा श्रवणबोधमीमांसाः। परिशुद्धा प्रतिपत्तिः, प्रवृत्तिरष्टाङ्गिकी तत्त्व॥ १॥ '' इति। तत्स्थानां तत्प्रतिब-द्धवृत्तीनां क्रमेणैषा दृष्टिः सतां भगवत्पतञ्जलिभदन्तभास्कराऽऽदीनां योगिनां मतेष्टा॥ २७॥

आद्याश्चतस्रः सापाय-पाता मिथ्यादृशामिह।
तत्वतो निरपायाश्च, भिन्नग्रन्थेस्तथोत्तराः॥ २८॥

आद्याश्चतस्रो मित्राऽऽद्या दृष्टयः, इह जगति, मिथ्यादृशां भवन्ति। सापायपाता दुर्गतिहेतुकर्मबं तेन तन्निमित्तभावादपायसहिताः। कर्मवै-चित्र्याद् भ्रंशयोगेन, सपाताश्च, न तु सपाता एव, ताभ्यः तदु-त्तरभावादिति। तथोत्तराश्चतस्रः स्थिराऽऽद्या दृष्टयो भिन्नग्रन्थेस्तत्त्वतः परमार्थतश्च निरपायाः, श्रेणिकाऽऽदीनामेतदभावोपात्तकर्मसामर्थ्यं हि तस्यापावस्यापि सदृष्ट्यविघातेन तत्त्वतोऽनपायत्वाद् वज्रतन्दुलवत्पा-केन तदाशयस्य कायदुःखभावेऽपि विक्रियाऽनुपपत्तेः, योगाऽऽचार्या एवात्र प्रमाणम्। तदुक्तम्- '' प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्रो नोत्तरास्तथा। सापाया अपि चैतास्तत्, प्रतिपातेन नेतरा॥ १॥ '' इति॥ २८॥

प्रयाणभङ्गाभावेन, निशि स्वापसमः पुनः।
विघातो दिव्यभवत-श्चरणस्योपजायते॥ २९॥

प्रयाणस्य कान्यकुब्जाऽऽदावनवरतगमनलक्षणस्य, भङ्गाभावेन निशि रात्रौ, स्वापसमः पुनर्विघातः प्रतिबन्धः, पुनर्दिव्यभवतः स्वर्गजन्मनः सकाशात्, चरणस्य चारित्रस्योपजायते॥ २९॥

तादृश्यौदयिके भावे, विलीने योगिनां पुनः।
जाग्रन्निरन्तरगति-प्राया योगप्रवृत्तयः॥ ३०॥

तादृशि स्वर्गगतिनिबन्धने सरागचारित्रदशायति, औदयिके भावे प्रशस्तरागाऽऽदिरूपे, विलीने पुनर्योगिनां जाग्रतो या निरन्तरा गतयः, तत्प्राया योगिनां प्रवृत्तयो भवन्ति, अक्षेपेणैव

मोक्षपुरप्राप्त्युपपत्तेः तथाविधकर्मरूपश्रमाभावेन, तदपनयनार्थं स्वापसमस्वभावेनाविलम्बादिति भावः ॥ ३० ॥

मिथ्यात्वे मन्दतां प्राप्ते, मित्राऽऽद्या अपि दृष्टयः ।
मार्गाभिमुखभावेन, कुर्वते मोक्षयोजनम् ॥ ३१ ॥

मिथ्यात्वे मिथ्यात्वमोहनीये कर्मणि, मन्दतां प्राप्तेऽपुनर्बन्धकत्वाऽऽदिभावेन मित्राऽऽद्या अपि दृष्टयश्चतस्रः, किं पुनः स्थिराऽऽद्या इत्यर्थः ? मार्गाभिमुखभावेन मार्गसांमुख्येन द्रव्ययोगतया मोक्षयोजनं कुर्वते, चरमाऽऽवर्तभावित्वेन समुचितयोग्यतासिद्धेः ॥ ३१॥

प्रकृत्या भद्रकः शान्तो, विनीतो मृदुरुत्तमः ।
सूत्रे मिथ्यादृगप्युक्तः, परमाऽऽनन्दभागतः ॥ ३२ ॥

अत उक्तहेतोः, सूत्रे जिनप्रवचने, प्रकृत्या निसर्गेण, भद्रको निरुपमकल्याणमूर्तिः, शान्तः क्रोधविकाररहितः, विनीतोऽनुद्धतप्रकृतिः, मृदुर्निर्दम्भः, उत्तमः सन्तोषसुखप्रधानः, मिथ्यादृगपि, परमाऽऽनन्दभाक् निरतिशययोगसुखभाजनयुक्तः, शिवराजर्षिवदिति ॥ ३२ ॥ द्वा० २० द्वा० । (शिवराजर्षिचरित्रं ' सिव ' शब्दे वक्ष्यते) (मित्रा-तारा-बला-दीप्रा-स्थिरा-कान्ता-प्रभा-पराणां योगदृष्टीनां व्याख्यानं स्वस्वशब्दे द्रष्टव्यम्)

जोगदुप्पणिहाण-न०(योगदुष्प्रणिधान) सावद्यप्रवर्तनालक्षणे कायवाङ्मनसां प्रणिधाने, ध० १ अधि० ।

योगदुष्प्रणिधानानि, स्मृतेरनवतारणम् ।
अनादरश्चेति जिनैः, प्रोक्ताः सामायिके व्रते ॥ ५० ॥

योगदुष्प्रणिधानात् ते प्रक्रमात्पञ्चातिचाराः सामायिकव्रते जिनैः प्रोक्ता इत्यन्वयः । तत्र योगाः कायवाङ्मनांसि, तेषां दुर्दुष्टानि प्रणिधानानि प्रणिधयो दुष्प्रणिधानानि, सावद्ये प्रवर्त्तनालक्षणानीत्यर्थः । तत्रापि शरीरावयवानां पाणिपादाऽऽदीनामनिभृतताऽवस्थापनं कायदुष्प्रणिधानम् । वर्णसंस्काराभावोऽर्थानवगमश्चापल्यं च वाग्दुष्प्रणिधानम् । क्रोधलोभद्वेषाभिमानेर्ष्याऽऽदयः कार्यव्यासङ्गः संभ्रमश्च मनोदुष्प्रणिधानम् । ध० २ अधि० । (एतेषां सामायिकव्रतस्यातिचारत्वं 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते)

जोगपच्चक्खाण-न०(योगप्रत्याख्यान) मनोवाक्कायानां व्यापारो योगः, तस्य प्रत्याख्यानं परिहारो योगप्रत्याख्यानम् । उत्त० २९ अ० । प्राणातिपाताऽऽदिषु कृतकारितानुमतिलक्षणानां मनःप्रभृतिव्यापाराणां निरोधप्रतिज्ञाने, भ० १५ श० १ उ० ।

योगप्रत्याख्यानफलं प्रश्नपूर्वकमाह-

जोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? जोगपच्चक्खाणेणं अजोगित्तं जणयइ । अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ ॥ ३७ ॥

हे भगवन् ! योगप्रत्याख्यानेन जीवः किं जनयति ? योगप्रत्याख्यानेन अयोगित्वं जनयतिशैलेशीभावं भजति । अयोगी हि जीवः चतुर्दशगुणस्थाने प्रवर्तमानो जीवो नवं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं कर्म निर्जरयति, क्षपयतीति भावः । उत्त० २९ अ० ।

जोगपट्ट-न०(योगपट्ट) योगाभ्यासार्थं पट्टम् । योगिधार्ये पट्टसूत्रभेदे, वाच० । गुरूणां धार्ये विशिष्टे उत्तरपट्टे च । पुं० । '' चम्मछेयणपट्टे य, चिलिमिली धारए गुरू । '' पट्टो योगपट्ट इति । ध० ३ अधि० ।

जोगपडिक्कमण-न०(योगप्रतिक्रमण) मनोवचनकायव्यापाराणामशोभनानां व्यावर्तनरूपे प्रतिक्रमणभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

जोगपर-त्रि०(योगपर) उत्साहपरे, षो० ४ विव० ।

जोगपरिणाम-पुं०(योगपरिणाम) योग एव परिणामो योगपरिणामः । जीवपरिणामभेदे, स च मनोवाक्कायभेदात्त्रिधेति । स्था० ८ ठा० ।

जोगपिंड-पुं०(योगपिण्ड) योगो वशीकरणाऽऽदिफलो द्रव्यसंयोगः । पञ्चा० १३ विव० । योगादञ्जनाऽऽदेरवाप्तः पिण्डो योगपिण्डः । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० । योगः पादप्रलेपनाऽऽदि तत्प्रयोगेण लब्धः पिण्डो योगपिण्डः । जीत० । यदा मुग्धलोकान् सौभाग्याऽऽविलेपनराजवशीकरणाऽऽदितिलकेन जलस्थलमार्गोल्लङ्घनसुभगदुर्भगविधिमुपदिश्याऽऽहारं गृह्णाति, तदा योगपिण्डदोषः । इत्युत्तरलक्षणे पञ्चदशे उत्पादनादोषे, उत्त० २६ अ० । पिं० । ग० । ध० । स्था० ।

उत्पादनादोषाधिकारे योगद्वारमधिकृत्य- '' पायलेवणे जोगे '' इति व्याख्यानयन्नाह-

सोभगदोभग्गकरा, जोगा आहारिया य इयरे य ।
अप्पत्थधूववासा, पायपलेवाइणो इयरे ॥

योगाः सौभाग्यदौर्भाग्यकरा जनप्रियत्वाप्रियत्वकराः । ते च द्विधा-आहार्याः, इतरे च । तत्राऽऽहार्या ये पानीयाऽऽदिना सहाभ्यवहियते । तद्विपरीता इतरे । तत्राद्याः-आप्यर्थाः, धूपावासाश्च । ये पानीयाऽऽदिना सह घर्षयित्वा, पीयन्ते ते आप्यर्थाः । धूपावासाः प्रतीताः । अथ चूर्णस्य वासानां च परस्परं कः प्रतिविशेषः, द्वयोरपि क्षोदरूपत्वाविशेषात् ? उच्यते-सामान्यद्रव्यनिष्पन्नः शुष्क आर्द्रो वा क्षोदः चूर्णं, सुगन्धद्रव्यनिष्पन्नाश्च शुष्कपेषं पिष्टाः वासाः, इतरे वाऽऽहार्या योगाः पादप्रलेपनाऽऽदयः । पिं० ।

जे भिक्खू जोगपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७१ ॥
जो भिक्खु जोगपिंडं, भुंजेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ २०४ ॥

पादलेवाऽऽदिजोगेहिं आउट्टेउं जो पिंडं उप्पादेति, तस्स आणादी दोसा । नि० चू० १३ उ० । '' असिवादिकारणेसु वा जोगपिंडं उप्पाएज्जा ण दोसो त्ति । '' नि० चू० १३ उ० ।

अत्र दृष्टान्तं गाथात्रयेण भावयति-

नइकन्ह-विन्न-दीवे, पंचसया तावसाण निवसंति ।
पव्वदिवसेसु कुलवइ, पालेवुत्तारें सक्कालो ॥
जणें सावगाण खिंसण, समिय खमाइ ठाण लेवेणं ।
सावयपयत्तकरणं, अविणय लोए चलणधोए ॥
पडिलाभिप वच्चंता, निव्वुड नइकूल मिलण समियाओ ।
विम्हियपंचसया ता-वसाण पव्वज्ज साहा य ॥

'' पृथ्व्यां प्रतिष्ठं नगरं, सुप्रतिष्ठः क्षितीश्वरः ।
कृष्णा वेणा च वाहिन्यौ, तिष्ठतस्तत्पुरान्तिके ॥ १ ॥
ब्रह्मद्वीपस्तयोरन्त-स्तत्राऽऽसन् केऽपि तापसाः ।
भुवीव पादलेपेन, ते जलोपरिचारिणः ॥ २ ॥

ऊचुः पृष्टास्तषःशक्ति-रस्माकमियमीदृशी।
तेष्वादृतस्ततो लोकः, क्षुभिताः श्रावका अपि ॥ ३ ॥
आसतामपरे धर्माः, जिनधर्मोऽपि हील्यते।
तदाऽऽर्यसमिताऽऽचार्याः, तत्रेयुर्वज्रमातुलाः ॥ ४ ॥
श्राद्धः सुधीर्गुरोराख्यद्, भौतोदन्तं गुरुस्ततः।
भ्रमितानां प्रबोधाय, शिक्षां तस्य ददौ रहः ॥ ५ ॥
सोऽथ गत्वा प्रभाते तान्, भौतान् सर्वानमन्त्रयत्।
हृष्टास्तेऽसच्चरित्रेण, क्षुभिताः श्रावका अपि ॥ ६ ॥
अथाऽऽनीय गृहे सर्वान्, पादशौचे कृतोद्यमः।
स तैर्निषिध्यमानोऽपि, भक्त्यैवाक्षालयत् क्रमान् ॥ ७ ॥
धौताश्च पादुकास्तेषां, यथेष्टं भोजितास्ततः।
अथानुव्रजनं श्राद्धाः, श्रद्धालव इव व्यधुः ॥ ८ ॥
नद्यां प्राग्वत्प्रविष्टास्ते, बुडन्तस्तारकैर्धृताः।
तदेत्युच्चैर्जना ऊचु-र्मुष्टाः स्मश्छद्मतापसैः ॥ ९ ॥
तत्राऽऽचार्यास्तदाऽऽयाताः, योगं क्षिप्त्वा नदीं जगुः।
एहि पुत्रि ! यथा यामो, वयं परतटं तव ॥ १० ॥
मिलितो द्वावपि तटौ, सर्वेषामपि पश्यताम्।
गुरवः परतो जग्मु-र्लोकः सर्वोऽपि विस्मितः ॥ ११ ॥
तापसाः प्रतिबुद्धास्ते, तेषां पार्श्वं प्रवव्रजुः।
ते ब्रह्मद्वीपवासित्वात्, तदाह्वाः साधवोऽभवन् '' ॥ १२ ॥
आ० क०।

जोगबुड्ढि-स्त्री०(योगवृद्धि) सम्यग्दर्शनाऽऽदिमुक्तिबीजोत्कर्षे, यो० बिं०।

जोगब्भास-पुं०(योगाभ्यास) योगो ध्यानं, तस्याभ्यासः परिचयो योगाभ्यासः। ध्यानपरिचये, षो०।

योगाभ्यासमाह-

स्थानोर्णार्थाऽऽलम्बन-तदन्ययोगपरिभावनं सम्यक्।
परतत्त्वयोजनमलं, योगाभ्यास इति तत्त्वविदः ॥ ४ ॥

स्थीयतेऽनेनेति स्थानमासनविशेषरूपम्-कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धपद्माऽऽसनाऽऽदिसकलशास्त्रसिद्धम्। ऊर्णः शब्दः, स च वर्णाऽऽत्मकः। अर्थः शब्दस्याभिधेयम्। आलम्बनं बाह्यो विषयः प्रतिमाऽऽदिः। तस्मादालम्बनादन्यः, तद्विरहितस्वरूपोऽनालम्बन इति यावत्। स्थानं चोर्णश्चार्थश्चाऽऽलम्बनं च तदन्यश्चैत एव योगाः, तेषां परिभावनं सर्वतोऽभ्यसनं, सम्यक् समीचीनं, परं तत्त्वं योज-यतीति परतत्त्वयोजनं, मोक्षेण योजनात्, अलमत्यर्थम्, योगस्य योगाङ्गरूपस्य ध्यानस्य वाऽभ्यासः परिचयो योगाभ्यासः, 'इति' इत्थं, तत्त्वविदोऽभिवदन्ति। कथं पुनः स्थानाऽऽदीनां योगरूपत्वं, येन तत्परिभावनं योगाभ्यासो भवेत् ? उच्यते-योगाङ्गत्वेन, योगाङ्गस्य च शास्त्रेषु योगरूपताप्रसिद्धेर्हेतुफलभावेनोपचारात्। योगाङ्गत्वं तु स्थानाऽऽदीनां प्रतिपादितमेव योगशास्त्रेषु। यथोक्तम्- '' यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। '' (२-२९ पातञ्जलयोग०) ॥ ४ ॥ षो० २ विव०।

जोगभंग-पुं०(योगभङ्ग) श्रुतोपधानभङ्गे, स च द्विविधःसर्वभङ्गो, देशभङ्गश्च। व्य० ४ उ०। द्वा०। नि०। (योगभङ्गे प्रायश्चित्तम् 'चरियापविट्ठ '' शब्दे तृतीयभागे ११६२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

जोगभावियमइ-त्रि०(योगभावितमति) धर्मव्यापारविशेषवासितबुद्धौ, '' पायं तह जोगभावियमईणं। '' योगभावितमतीनां धर्मव्यापारविशेषवासितधियामिति। पञ्चा० ४ विव०।

जोगमग्ग-पुं०(योगमार्ग) योगवर्त्मनि, '' आमूलमिदं परमं, सर्वस्य हि योगमार्गस्य। '' षो०१५ विव०। अध्यात्मशास्त्रपथे च। पञ्चा० १९ विव०।

जोगमुद्दा-स्त्री०(योगमुद्रा) हस्तविन्यासविशेषाऽऽत्मके मुद्राभेदे, संघा० १ प्रस्ता०।

योगमुद्रायाः स्वरूपमाह-

अण्णोण्णंतरिअंगुलि-कोसाकारेहिंदोहिं हत्थेहिं।
पिट्ठो वरि कोप्परसं-ठिएहिं तइ जोगमुद्द त्ति ॥ १९ ॥

अन्योन्येन परस्परेण, अन्तरिता व्यवहिताः, अङ्गुलयः करशाखा ययोस्तौ, तथा तौ, कोशाऽऽकारौ च कमलकोरकाऽऽकृती, उभयजोटनेनान्योऽन्यान्तरिताङ्गुलिकोशाऽऽकारौ, ताभ्याम्। द्वाभ्यां, हस्ताभ्यां कराभ्यां, करणभूताभ्याम्। पुनः किंभूताभ्यां ? पेट्टस्य उदरस्य, उपरि ऊर्द्ध्वभागे, कूर्पराभ्यां कुहणिकाभ्यां, संस्थितौ व्यवस्थितौ यौ तौ तथा ताभ्यां-पेट्टोपरिकूर्परसंस्थिताभ्याम्। तथा तेन प्रकारेणाऽऽचरणगम्येन, अथवा-पञ्चाङ्गप्रणिपातापेक्षया समुच्चयार्थस्तथाशब्दः। योगो हस्तयोर्योजनविशेषः, समाधिर्वा, तत्प्रधाना मुद्राऽङ्गन्यासविशेषो विघ्नविशेषव्ययोहनसमर्थो योगमुद्रा, भवतीति गम्यते। इतिशब्दो योगमुद्रालक्षणसमाप्तिसंसूचकः, उपप्रदर्शनार्थो वा-'इत्येवंलक्षणा योगमुद्रेत्यर्थः'। इति गाथार्थः ॥ १९ ॥ पञ्चा० ३ विव०। दर्श०।

योगमुद्रया किं कर्त्तव्यम् ? इत्याह-

थयपाठो होइ जोगमुद्दाए। (१७)

स्तवपाठः शक्रस्तवाऽऽदिपठनम्, भवति, कर्तव्य इति शेषः। कया ? इत्याह-योगमुद्रया प्रदर्शितलक्षणया। ननु चतुर्विंशतिस्तवाऽऽदेरेव पाठो योगमुद्रया विधेयो, न तु शक्रस्तवस्य, तर्हि किमर्थं समाकुञ्चितवामजानुर्भूमिविन्यस्तदक्षिणजानुर्ललाटपट्टघटितकरकुड्मलः पठतीति जीवाभिगमाऽऽदिष्वभिधीयत इति ? सत्यम्। केवलं नानन्तरोक्तविशेषणयुक्त एव तं पठतीति नियमोऽस्ति, पर्यङ्काऽऽसनस्थः शिरोऽधिनिवेशितकरकोरकस्तं पठतीत्यस्यापि ज्ञाताधर्मकथासु दर्शनात्। तथा हरिभद्राऽऽचार्येणापि चैत्यवन्दनवृत्तौ- '' क्षितिनिहितजानुकरतलो भुवनगुरौ विनिवेशितनयनमानसः प्रणिपातदण्डकं पठति '' इत्यस्य विध्यन्तरस्याभिधानात्। ततोऽस्य पाठे विविधविधिदर्शनात्सर्वेषां च तेषां प्रमाणग्रन्थोक्तत्वेन, विनयविशेषभूतत्वेन च निषेद्धुमशक्यत्वाद् योगमुद्रयाऽपि शक्रस्तवपाठो न विरुध्यते, विचित्रत्वान्मुनिमतानाम्। न चैतानि परस्परमतिविरुद्धानि, सर्वैरपि विनयस्य दर्शितत्वादिति। पञ्चा० ३ विव०। प्रव०। दर्श०। सङ्घा०।

जोगरहिय-त्रि०(योगरहित) सम्यगकृतयोगोद्वहने, तदात्मके सूत्रदोषभेदे च। न०। ध० ३ अधि०।

जोगलोयण-त्रि०(योगलोचन) योग एव लोचनमक्षि यस्य। योगबलेन यथावस्थितवस्तुपरिज्ञानवति, यो० बिं०।

जोगवं-त्रि०(योगवत्) योजनं योगो व्यापारः तद्वान्, अतिशायने मतुप्। व्यापारवति, योगः समाधिः, सोऽस्यास्तीति योगवान्। प्रशंसायां मतुप्। समाधिमति, उत्त ११ अ। संयमाऽऽदियोगवति च। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

जोगवहण-न०(योगवहन) योगोद्वहने, सेन०। प्राग् योगोद्वहनं कृत्वा साधवो द्वादशाङ्गीं पठेयुः, किं वाऽन्यथा वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-प्राग् योगमुद्ग्राह्य द्वादशाङ्गीं पठेयुः। कदाचित्केनचिदयोगोद्वहनं विनाऽपि द्वादशाङ्गी पठिता शास्त्रे दृश्यते, तदपि कर्तव्यम्, आगमव्यवहारिकृतत्वात्। यत आगमव्यवहारी यथा लाभं जानाति, तथा करोतीति। ११६ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

जोगवाहि(ण्)-पुं०(योगवाहिन्) योगेन वहति, वहणिनिः। पारदे क्षारभेदे च। वाच०। श्रुतोपधानकारिणि, स्था० १० ठा०। ध०। ही० (एतद्वक्तव्यता 'जोगविहि' शब्दे १६४५ पृष्ठे वक्ष्यते) योगेन समाधिना सर्वत्रानुत्सुकत्वलक्षणेन वहतीत्येवंशीलो योगवाही। समाधिस्थायितरि, स्था० १० ठा०।

जोगविंदु-पुं०(योगबिन्दु) योगस्य मोक्षहेतोरनुष्ठानस्य बिन्दुरवयवो योगबिन्दुः। योगावयवे, योगावयवानां प्रतिपादके आचार्यहरिभद्रसूरिविरचिते स्वनामख्याते प्रकरणग्रन्थभेदे च। यो० बिं०।

तस्य चेदमादिसूत्रम्-

नत्वाऽऽद्यन्तविनिर्मुक्तं, शिवं योगीन्द्रवन्दितम्।
योगबिन्दुं प्रवक्ष्यामि, तत्त्वसिद्ध्यै महोदयम्॥ १॥

नत्वाऽभिवन्द्य, आदिः प्रथमभावः, अन्तः पर्यवसानं, ताभ्यां विनिर्मुक्तं विरहितं, किम् ? इत्याह-शिवं सकलोपप्लवकलाविकलं देवताविशेषम्। कीदृशम् ? इत्याह-योगीन्द्रवन्दितं गणधराऽऽदिमहामुनिनमस्कृतम्। किम् ? इत्याह-योगबिन्दुम्-योगस्य मोक्षहेतोरनुष्ठानस्य, बिन्दुरवयवो योगबिन्दुः, तत्प्रतिपादकतया प्रकरणमपि योगबिन्दुरुच्यते ; ततो योगबिन्दुनामकं प्रकरणं, प्रवक्ष्यामि अभिधास्ये। किमर्थम् ? इत्याह-तत्त्वसिद्ध्यै आत्माऽऽदितत्त्वप्रतीतिनिमित्तम्। पुनरपि कीदृशं योगबिन्दुम् ? इत्याह-महोदयं महान् प्रशस्य उदयो निःश्रेयसाभ्युदयसंसिद्धिरूपो यस्मात् स तथा तम्॥ १॥

पुनरपि कीदृशं योगबिन्दुम् ? इत्याह-

सर्वेषां योगशास्त्राणा-मविरोधेन तत्त्वतः।
सन्नीत्या स्थापकं चैव, मध्यस्थाँस्तद्विदः प्रति॥ २॥

सर्वेषां कपिलसुगताऽऽदिप्रणीतयोगशास्त्राणामध्यात्मग्रन्थाना-म्, अविरोधेन अविघटनेनोपलक्षितं, तत्त्वत ऐदम्पर्यपर्यालोचनेन, न पुनः शाब्दन्यायेनापि तस्य प्रतिदर्शनम्, अन्यथाऽन्यथाप्रवृत्तत्वात्। पठ्यते च- '' प्रशान्तवाहितासंज्ञं, विषभागपरिक्षयम्। शिववर्त्म ध्रुवादीति, योगिभिर्गीयते ह्यदः ''॥ १॥ इति। तथा सन्नीत्या अन्वयव्यतिरेकशुद्धयुक्तिरूपया, स्थापकमविसंवादाऽऽपादनेन प्रतिष्ठाकारि सर्वयोगशास्त्राणामेव। चैव इति समुच्चये। ननु योगशास्त्रकाराणां निजनिजमतात्यन्ताभिनिवेशेन विप्रतिपन्नत्वात्कथं सर्वयोगशास्त्राणां संस्थापकमिदं प्रकरणं स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽहमध्यस्थान् स्वदर्शनरागपरदर्शनद्वेषयोर्मध्यभागवर्तिनः, तद्विदो योगशास्त्रविदः, श्रोतॄन् प्रति इति स्वदर्शनं प्रतीत्य, अमध्यमेषु श्रोतृषु वस्तुस्थापनाऽयोगात्। तथा चोक्तम्- '' आग्रही वत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा। *पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्* ''॥ १॥ *इति।* आद्यन्तविनिर्मुक्तमिति च विशेषणं शिवसन्तानापेक्षम्। न पुनरेकः कश्चिदनादिशुद्धः शिवः समस्ति, तस्य शास्त्रान्तरे महता प्रबन्धेन प्रतिषिद्धत्वात्। अत्र च नत्वा शिवमित्यनेन विघ्नापोहहेतुः शास्त्रमूलमङ्गलमुक्तम्। योगबिन्दुमित्यनेन प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थमभिधेयम्। तत्त्वसिद्ध्य इत्यनेनानन्तरप्रयोजनम्। महोदयमित्यनेन तु परम्पराप्रयोजनमभिहितम्। अभिधानाभिधेयलक्षणश्च संबन्धः स्वयमेव वाच्य इति सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन इत्युक्तम्॥ २॥ यो० बिं०।

अथास्य योगशास्त्राविरचनस्य प्रयोजनमुद्गारस्थानं स्वनाम च सूचयन् शास्त्रकार इदमाह-

स्वल्पमत्यनुकम्पायै, योगशास्त्रमहार्णवात्।
आचार्यहरिभद्रेण, योगबिन्दुः समुद्धृतः॥ ५२५॥

स्वल्पमत्यनुकम्पायै तुच्छमतिजनानुग्रहाय, योगशास्त्राण्येव तत्तत्तन्त्रान्तरप्रसिद्धानि महार्णवो महासमुद्रः, तस्मात्। आचार्यहरिभद्रेणेति शास्त्रकृतो नाम। किम् ? इत्याह-योगबिन्दुः समुद्धृतः पृथक्कृत इति॥ ५२५॥

अथ शास्त्रकृद्देवप्रणिधानमाह-

समुद्धृत्यार्जितं पुण्यं, यदेनं शुभयोगतः।
भवाऽऽन्ध्यविरहात् तेन, जनः स्ताद्योगलोचनः॥ ५२६॥

समुद्धृत्य-उद्धारस्थानाविसंवादेन पृथक्कृत्य, अर्जितमुपात्तं, पुण्यं शुभकर्म, यद्विशिष्टस्वरूपम्, एनं योगबिन्दुम्, शुभयोगतः परोपकाररूपशुभव्यापारात्, भवाऽऽन्ध्यविरहात् रागद्वेषमोहलक्षणसंसारान्धभावस्य परिहारेण, तेन शुभकर्मणा, जनो भवलोकः, स्तात्भवतीकीदृशः ? इति आह-योगलोचनःयथाऽवस्थितवस्तुपरिज्ञानाबन्ध्यकारणत्वाद् योग एव लोचनमक्षि यस्य स तथा। विरह इति च भगवतः श्रीहरिभद्रसूरेः स्वप्रकरणाङ्कप्रद्योतक इति। यो० बिं०।

जोगविसुद्ध-पुं०(योगविशुद्ध) निरवद्यव्यापारे, '' उभओ जोगविसुद्धा।'' पञ्चा० १८ विव०।

जोगविहि-पुं०(योगविधि) योगविधाने, षो० १३ विव०। उपधानवहनं विना श्राद्धस्य, योगोद्वहनं च विना साधोः स्वस्वोचितश्रुताध्ययनवाचनाऽऽदिकमधर्म इति स्थितम्। योगाक्षराणि चैतानि- '' तिहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अणाइअं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीतीवएज्जा। तं जहा-अणिदाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगवाहिताए। '' इति स्थानाङ्गतृतीयस्थाने। तथा- '' दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसिभद्दगत्ताए कम्मं पकरिंति। तं जहा-अणिदाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगवाहित्ताए, खंतिखमणयाए, जिइंदियत्ताए, अमाइल्लयाए, अपासत्थयाए, सुसामन्नत्ताए, पवयणवच्छल्लयाए, पवयणउब्भावणयाए।'' इति स्थानाङ्गदशमस्थाने। तथा- ''णीयावित्ती अचवले, अमाई अकऊहले। विणीअविणए दंते, जोगवं उवहाणवं॥'' (२७ गाथा) तथा- ''पयणूकोहमाणे अ, मायालोभपयणुए। पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं। '' (२९ गाथा) इति चतुस्त्रिंशोत्तराध्ययने। तथा- ''अणिस्सिओवहाण त्ति'' समवायाङ्गे द्वात्रिंशद्योगसंग्रहाधिकारे। तथा- ''नाणं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा-आभिणिबोहिअनाणं० जाव केवलणाणं। तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं णो उद्दिसंति, णो समुद्दिसंति, णो *अणुण्णविज्जंति; सुअनाणस्स उद्देसो १, समुद्देसो २, अणुण्णा ३, अणुओगो* ४, पवत्तइ।'' इत्या-अनुयोगद्वारे उद्देशाऽऽदिकरणं च योगस्यैवेतिकर्तव्यता।

एवं कालग्रहणाऽऽदिविधिरप्युत्तराध्ययनाऽऽदिगतो द्रष्टव्यः। उप-धानं च यद्यस्मिन्नङ्गाऽऽदौ भणितं, तत्तद्विधिश्च योगविधिप्रतिपादकग्रन्थतो इति। कालक्रमश्च आचाराङ्गाऽऽदेस्त्रिवर्षाऽऽदिपर्यायः सूत्रोक्तः, तदुल्ल-ङ्घनेन ददतस्तु आज्ञाभङ्गाऽऽदयो दोषा एव।

स च कालो यथा-

'' तिवरिसपरिआगस्स उ, आयारपकप्पणाममज्झयणं।
चउवरिसस्स उ सम्मं, सूत्रगडं नाम अंगं ति॥ १॥
दसकप्प व्यवहारा, संवच्छरपणगदिक्खिअस्सेव।
ठाणं समवाओ त्ति अ, अंगाइं अट्ठवासस्स॥ २॥
दसवासस्स विवाहा, एक्कारसवासयस्स य इमाओ।
खुड्डिअविमाणमाई, अज्झयणा पंच णायव्वा॥ ३॥
बारसवासस्स तहा, अरुणुववायाइ पंच अज्झयणा।
तेरसवासस्स तहा, उट्ठाणसुआइआ चउरो॥ ४॥
चउदसवासस्स तहा, आसीविसभावणं जिणा बिंति।
पण्णरसवासगस्स य, दिट्ठीविसभावणं तह य॥ ५॥
सोलसवासाईसु य, एक्कुत्तरवड्ढिएसु जहसंखं।
चारणभावणमहसुवि-णभावणा तेअगनिसग्गा॥ ६॥
एगूणवासगस्स उ, दिट्ठीवाओ दुवालसममंगं।
तेसु पुण वीसवरिसो, अणुवाई सव्वसुत्तस्स ''॥ ७॥ इति।

आवश्यकाऽऽदेस्तु योगोद्वहनोत्तरकाल एव काल इत्यवसेयम्। ध० ३ अधि०।

अहुणा सेससाहूणं जोगविही विपाहिज्जइ। तत्थ पढमं काल-ग्गहणविही भण्णइ- '' दिण १ वसहि २ कालवेला ३, दिसि ४ सोही ५ कालविहि ६ समक्खाया।
सज्झाय प्पट्ठवणं ७, वुच्छामि जहागमं सुगमं ''॥ १॥ दारं। तत्थ चित्तस्स आसोयस्स य सुक्कपंचमीए, आसाढस्स कत्ति-यस्स य सुक्कचउद्दसीए य मज्झण्हाओ आरब्भ पडिवयंतेसु दिणेसु लाडेसु पुण सावणपुण्णिमाए महाअसज्झायं ति काउं कालग्गहणं-अज्झयणउद्देसाइयं ण कीरइ, भगवईवज्जं जोगा य ण णिक्खिप्पंति। चित्तसुद्धएगारसीओ आरब्भ पुन्निमंतेसु दिवसेसु अचित्तरजओहडावणत्थं पडिक्कमणाणंतरं चउज्जोअ-गरं चिंतयमाणो काउस्सग्गो कीरइ। अह न सुमरियं तो संवच्छरं जाव धूलीए पडंतीए असज्झाओ। सूरग्गहणे मुक्के तं चेव अहो-रत्तमसज्झाइयं, अमुक्के तं चेव, अन्नं च। एवं चंदग्गहणे मुक्के सा चेव राई; अमुक्के सा राई० अन्नं च अहोरत्तं॥

यतः-

'' सग्गह निव्वुड एवं, सूराई जेण हुंतिऽहोरत्ता।
आइन्नं दिणमुक्के, सो चिय दिवसो य राई य ''॥ १॥

गंधव्वनगरदिसिदाहउक्कावि़ज्जूहिं इक्किक्का पोरिसी अस-ज्झाओ। गज्जिए दो पोरिसी। रविजुयअद्दानक्खत्ताओ जाव साइयंता दस नक्खत्ता, ताव विज्जुगज्जिएहिं न असज्झाओ। धडहडे भूमिकंपे य अट्ठप्पहरा। मंसरुधिरपमिइवुट्ठिमए सत्त-घरअंतरगए य अहोरत्तं। महियाए रओवुट्ठीए महाकलहे आसन्ने पुरिसाणं इत्थीणं वा जुज्झधूलिमाइमहे गाढपलीवणे जच्चिरं दंडिए कालगए ठवियंते जाव असमंजसं, ताव असज्झाओ। निरंतरं वुव्वुयवुट्ठीए तिन्हं, सामन्नधाराए पंचण्हं, फुसियमित्ताए सत्तण्हं दिणाणं परेण आउक्कायभावियं ति भिन्नमासं असज्झाओ।

वसही पुण गीयत्थेण उभयकालं दव्वाइएहिं सोहियव्वातत्थ तेरिच्छं सोणियमंसचम्मअट्ठिरूवं अणुद्धियं सत्तट्ठहत्थऽब्भंतरे पडणकालाओ पोरिसितिगमसज्झाओ। सोणियं पुण भूमिपडियं उट्ठिउं न कप्पइ। मंसे पुण वहि धोए अंतो पक्के कप्पइ। अंडए भिन्ने गवाइपसूयाए तहा जराए पडिए तहेव पोरि-सितिगम-सज्झाओ। विरालाइणा महाकायमूसगाइगहिए अंतो सट्ठिहत्थस्स अहोरत्तमसज्झाओ। दगवाहेण वूढे अग्गिणा दड्ढे परियावन्ने विवन्ने गिलिओगिलिए उभयनिग्गमसगडबाहिए हंतरिए य न असज्झाओ, माणुस्सए वि नवरं हत्थसए तिसु अहोरत्तं। अट्ठिए पुण बारस वरिसाणि। दंते नट्ठे पयत्तेण गविट्ठे अदिट्ठे तस्सोहडावणट्ठं अट्ठस्सासो उस्सग्गो कीरइ। इत्थीए मासाविए महाउपत्ताए तिन्नि दिणाणि असज्झाओ; परओ तहा पावासुयाए वसवेहिं पन्नवियाए अणत्थंताए तहेव काउ-सग्गो। पसूयाए कवडए जाव सत्तदिणे, कव्वडियाए पुण अट्ठ-दिणं, भगंदलाइएसु बाहिं धोइयभूइखयगाढवंधिए न अस-ज्झाइयं। तह विगलंतेहिं तिन्नि बंधा कायव्वा। अणाहमडए बाहिं नीणियमित्ते विसुज्झइ।

'' रुद्दाइगिहसुसाणे, असिवोमाऽऽयाऍ बार वरिसाणि।
असझाइयं च रुहिरे, मच्छियपाओ जहिं खुप्पे॥ १॥
असझाइऍ आलोए, कालाईए अणुच्चरण कुज्जा।
घाणामुत्तपुरीसे, चिलिमिलि अन्नत्थ गम्मइ वा॥ २॥ ''

एवं सुद्धे दिवसे पच्छिमपोरिसीए सोहित्तु गुरुपुरओ वसहीए पवेइयाए आवस्सए कए फिडियाए कालवेलाए जहाकाले उ-स्सग्गेसु तिसु चउसु वा कएसु कालो सज्झायस्स घेप्पइ, न हि वाघाइओ कालो घित्तव्वो। अड्ढरत्ते पुण फिडणे अड्ढरत्तिओ, तइयपहरंतसमयए वेरत्तिओ, तओ वेरत्तियसज्झायपट्ठवणं। तस्सज्झायकरणकालं विलंविय, जहा खलियाइणा अट्ठ-वेलाइए कालग्गहणवेला, पडिक्कमणवेला य पहुच्चइ, तहा पा-भाइओ घेत्तव्वो। तहा तिसु तिण्णि तारगाओ त्ति पाभाइए अदि-ट्ठे वि वासासु अ तारगा चउरो छन्नम्मि चिट्ठो वि कालग्गहणवे-लाए आयरियस्स सङ्घाइकहणविक्खेवाइणा वायणायरियअभावे य कालग्गाहिणो अन्नयराए हिंसाए निरावाहट्ठाणे ठवणायरि-

यं ठवित्तु पढमकालकाउस्सग्गं एयदिसाभिमुहो चेव करिंति।
तं जहा-'' पाउसिअ अहोरत्ते, उत्तरदिसि पुव्व पेहए कालं।
वेरत्तियम्मि भवणा, पुव्वदिसा पव्विसे काले '' ॥ १ ॥
कालग्गाही पुण पुरिसगुणजुत्तो कालं गिण्हइ।
'' पियधम्मो दढधम्मो, संविग्गो चेवऽवज्जभीरू य।
खेयत्ते य अभीरू, कालं पडिलेहए साहू '' ॥ १ ॥
सामन्नेण ताव कालग्गहणविही भण्णइ-
'' कणगाहणं ति कालं, ति पंच सत्तेव सिसिरवासेसु।
उक्का उ सरेहा जा, रेहारहिओ भवे कणगो '' ॥ २ ॥

कणगो सन्नरेहो, पगासविरहिओ य। उक्का महंतरेहा, पगासकारिणी य। अहवा-रेहाविरहिओ विप्फुलिंगो पगासकरो उक्का चेव। काले गिहमाणे कालग्गाहिणो दंडधरस्स वा वच्चंतस्स णियत्तंतस्स काललियावणिया, काउस्सग्गो वा वंदणाणंतरं संदिसावणपवेयणसमए वा पावासुयाइं रुयंतेहिं अच्चायासेण रुयंति अजंपिरडिंभगेण जंपिऊण अप्पेणावि वीसरसद्दरुयं-तेण छीयाछित्तयविहसियनिट्ठुरपहरणरोसाविद्धस्स छड्डिं सिद्धिमारिहच्चाइ अणिट्ठविसएण चउचउविहम्मं ति सव्वत्थ जोइवुड्ढिखलियाइएहि च उण्हविओ पाभाइओ पुण उवहओ इक्किक्कमंडले तिन्नि वारे घित्तुं कप्पइ। अभावे पुण तहिं चेव नववेला घिप्पइ। इमिणा विहिणा जइ संदिनावणपुव्वं भज्जइ, तो मूलाओ घिप्पइ। अह संदिसावणाणंतरं वच्चंतस्स कालमंडलस्स पडिलेहणाणंतरं पुव्वं वा भज्जइ, तो एमेव नियत्तियकालगिण्हवो ठवणायरियसमीवे खमासमणपुव्वं संदिसावणविहिणा कालमंडलं आगच्छइ। अह कालमंडले पडिलेहणाणंतरं कालकाउस्सग्गेण काउस्सग्गाणंतरं कालमंडले ठियस्स तो तत्थेव ठिओ ठवणायरियसंमुहं ठाऊण पंचंगखमासमणपुव्वं संदिसाविय पुणो मूलाओ काउस्सग्गं करेइ। अह कालकाउस्सग्गाणंतरं गच्छतस्स पवेयणसमए भज्जइ, तो मूलाओ घिप्पइ।

विसंसेण कालग्गहणविही भण्णइ-तत्थ पाउसिए पढमं कालभूमिं पमज्जिय दक्खिणदिसाए ठवणायरियं ठवित्तु कालग्गाही दंडियाहत्थवामपासट्ठियदंडधरसमीवे खमासमणपुव्वं भणइ-इच्छाकारेण संदिस्सह वाघाइअकालपडियरंउ, इत्थं मत्थएण वंदामि। आवसी इत्थं आसज्ज ३, निसीही १ आसज्ज ३, निसीही १ आसज्ज ३, निसीही नमो खमासमणाणं भणिय कालसगासे दो वि चिट्ठंति। तओ दंडधरो दिसाऽऽलोयं करिय हत्थट्ठियदंडियासंमुहं मत्थएण वंदामि। आवसी इत्थं इच्चाइ नमो खमासमणाणं भणिय ठवणायरियसमीवे खमासमणं दाउं एवं भणइ-इच्छाकारेण संदिसह वाघाइयं च कालं वावट्टइ, इत्थं मत्थएण वंदामि। आवसी इत्थं आसज्जइ ३, इत्यादि नमो खमासमणाणमित्थं भणिय कालग्गाहिसमीवे दक्खिणा-भिमुहो चिट्ठइ। इत्थ गंडकमरुएहिं दिट्ठंतो नायव्वो। जइ दंड-धरेण महंतसरेण घुट्टं, तो जेण्ण न सुयं, तस्स कालो न दिज्जइ, अहव एहिं न सुयं, तो दंडधरस्स न दिज्जइ। तओ कालग्गाही दंडियासंमुहं मत्थएण वंदामि, आवसी इत्थं आसज्जइ ३, इच्चाइ नमो खमासमणाणमित्यन्तम्। तओ ठवणायरियसमीवे खमासमणपुव्वं इरियं पडिक्कमइ, नमोक्कारं चिंतेइ, पारित्ता नमुक्कारं भणइ खमासमणाणं पुव्विं पुर्तिं पेहिय वारसावत्तं वंदणं दाउं-इच्छाकारेण संदिसह वाघाइअकाललिआवणियं इत्थं मत्थएण वंदामि। आवसी इत्थं आसज्ज ३, नमो खमासमणाणमिच्चाइणा कालमंडले जाइ दंडधरो, तस्संमुहं दंडियं धरेइ, तओ कालग्गाही तयग्गे ओहडिउं मत्थएण वंदामि, इरियावहियं पडिक्कमिउं इत्थं इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए भणिउ काउस्सग्गे नमुक्कारं चिंतइ। पारित्ता नमुक्कारं भणिय संडासए पडिलेहिय दो वि उववसंति। तओ कालग्गाही दाहिणचलणोवरि संबद्धं कालमंडले रयहरणं ठविय मुहपुत्तिं उवरि कायं च पेहिय वासहत्थेण कालमंडलं संघट्टिय दाहिणहत्थगहियरयहरणेण पाए पमज्जिय मुहपुत्तिं संगोविय दाहिणजंघमूले रयहरणं वामहत्थेण निवेसिय रयहरणदसियाहिं दाहिणहत्थं तिण्णिवारे हिट्ठोवरि संघट्टिय कालमंडलमंडियकयसंपुडहत्थदुगंगुट्ठएहिं नासाए दाहिणकन्ने वा तिन्नि वारे उवओगं करिय हिट्ठोवरि दोहिं हत्थेहिं एगंतरियं तिन्नि वारे आवत्तेण भूमिं परामुसिय दाहिणहत्थगहियरयहरणेण कालमंडलट्ठियवामकरंगुट्ठअंगुलीणं अंतरे तिन्नि वारे पमज्जिय वामजाणुणा कालमंडलं संघट्टिय दंडधरहत्थाओ दंडियं गहिय पेहिय कडीए निवेसेइ। एवं तिन्नि वारे पुत्तिपेहणपुव्वं मंडलं पडिलेहिय दंडियं नमोक्कारपुव्वं दंडधरकरे समप्पेइ। तओ दोहिं हत्थेहिं कालमंडलं संघट्टिय हत्थेसु पाएसु समग्गलाइंतो निसीही नमो खमासमणाणं ति भणंतो कालमंडले पविसइ, चोलपट्टं पडिलेहेइ, सागारियस्स भावे उद्धो होऊण रयहरणेणं तं पमज्जिय भणइवाघाइकाललियावणियं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थूससिएणं० जाव वोसिरामि। कालग्गाहे उद्धट्ठिए दंडधरो वि उद्धो होऊण भणइ-इच्छकारि साहवो ! उवउत्ता होइ। वाघाइयकालं वावट्टइ, दंडियं तस्स रज्जे धरइ, अभिक्खणं कालग्गाहिस्स पाए पमज्जइ य, इयरे काउस्सग्गे नमुक्कारं चिंतिय सणियं वाहाओ समाहट्टु रयहरणसणाहं मुहपुत्तियं मुहे दाउं सत्ताविसुस्सासं चउवीसं थयं चिंतेइ। तओ दुमपुप्फियं

सामन्नपुव्वियं अज्झयणे, तइयज्झयणस्स सिलोगं च। एवमुत्तराए चिंतिए पुव्वाए दाहिणाए पच्छिमाए चिंतेइ, पुणो उत्तराए बाहाओ अवलंविय नमुक्कारं चिंतेइ, पारित्ता नमुक्कारं कड्ढित्ता मत्थएण वंदामि आवसी इच्छं इच्चाइविहिणा ठवणायरियसमीवे पवेसिय खमासमणपुव्वं इरियं पडिक्कमइ ; काउस्सग्गे नमुक्कारं चिंतिय भणित्ता य खमासमणपुव्वे पुत्तिं पेहिय वंदणं दाउं इच्छाकारेण संदिसह वाघाइअकालं पवेसिउं, इच्छं खमासमण इच्छकारि साहवो वाघाइयकालो सुज्झइ। भगवन्! सुद्धो वाघाइओ कालो सुद्धो। तओ मंगलाइसज्झायं करंति। दंडधरो खमासमणपुव्वं भणइसाहवो ! दिट्ठं सुयं किंचि पुच्छिए, सुद्धो कालो। एवं अद्धरत्तियपाभाइया वि घिप्पंति। केवलं तयभावे पाभाइए इच्छाकारेण संदिसह पाभाइओ कालिओ० जाव सुद्ध त्ति भन्नइ। एवं सुद्धे काले पाभाइए य ठवणायरियसमीवे गुरूहिं समं खमासमणपुव्वं पुत्तिं पेहिय वंदणे दिन्ने साहवो भणंति-इच्छाकारेण संदिसह सज्झायं संदिसाविउं। गुरू भणइसंदिसावेह। साहवो इच्छं ति भणिय खमासमणं दाऊण भणंति-इच्छाकारेण संदिसह सज्झायं पट्ठविउं। गुरू भणइ-पट्ठवेह। साहवो इच्छं ति भणंति। तओ गुरूहिं एवं चेव पट्ठाविए सव्वे भणंति-सज्झायस्स पट्ठावणियं करेमि काउस्सग्गमिच्चाइ० जाव वोसिरामि। तओ नमुक्कारं चिंतिय सणियं सणियं बाहाओ साहुट्ठ सत्तावीसुस्सासं चउवीसत्थयं दुमपुप्फियं सामण्णपुव्वियं तइयज्झयणसिलोगं च चिंतिय बाहाओ अवलंबिय नमुक्कारं चिंतिय पारित्ता नमुक्कारं भणिय वंदणं दाउं गुरुं भणइ-इच्छाकारेण संदिसह सज्झायं पवेइउं इच्छं पुणो खमासमणपुव्वं भणइ-इच्छकारि साहवो सज्झाओ सुज्झइ! भगवन्! सुद्धो सज्झाओ सुद्धो। एवं साहूहिं वि गुरु-पुरओ पवेइए सव्वे समगं सज्झायं करिंति। तओ वंदणगं स-ज्झायं करिंति। तओ वंदणगं दाउं गुरूहिं वइसणगे संदिसा-विए खमासमणपुव्वं वइसणगे ठामित्ति भणिए इयरे वि तहेव करिंति। पाभाइयसज्झायं पुण तओ०जाव सुद्ध त्ति भन्नइ। अत्रापि श्रुतस्खलिताऽऽदिभिः कालव्याघातः। एवं सुद्धे स-ज्झाए पोरिसिं०जाव सज्झाइत्ता ठवणायरियसमीवे खमा-समणपुव्वं इच्छाकारेण संदिसह सज्झायं पडिक्कमिउं इच्छं सज्झायपडिक्कमावणियं करेमि काउस्सग्गमिच्चाइ नमुक्कारचिंतणं, भणण्णं च। एवं कालपडिक्कमणं पि पाभाइए पुण पच्छिमपोरि-सीए पुणो वि सज्झायं पट्ठविय करिय पडिक्कमिय कालो पडिक्कमेयव्वो। असुद्धे पुण पाभाइए अन्नो वि कालो सुपडिजग्गिओ पाभाइयठाणे ठाएयव्वो ॥ दारं ॥ ६ ॥

'' जोगिगुणा १ जोगुक्खिव २, सुय अंगुद्देसऽणुन्न नंदी य ३।
जोगाणुट्ठाणविही ४, कप्पु ५ स्संघट्ट ६ निक्खेवो। १।

तत्थ-

गुरुभत्तो अपमत्तो, खंतो य निरुयगत्तो।
धीरचित्तो दढसत्तो, विणयजुतो भवविरत्तो ॥ २ ॥
जियलोहो जियनिद्दो, हियपियमियर्जपिरो मिउ असत्थो।
अप्पाहारो अप्पो-वही य दक्खो सुदक्खिन्नो ॥ ३ ॥
पंचसमिओ तिगुत्तो, उज्जुत्तो संजमे तवे चरणे।
परिसहसह होइ मुणी, विसेसओ जोगवाहि त्ति ॥ ४ ॥
कयसोहिलोयकम्मे, तिवासपरियाइएण कालेण।
आयारपकप्पाई, उद्दिसिउं कप्पई जुग्गो '' ॥ ५ ॥

तत्थ जोगा दुविहागणिजोगा, बाहिरजोगा य। गणिजोगा विवाहपन्नत्ती, बाहिरजोगा उक्कालिया। उक्कालिया आवस्सगाई। ते पुण संघट्टयं, कालिए सुसंघट्टयं। ते दुविहा-आगाढा, अणागाढा य। आगाढा-उत्तरज्झयणासत्तिक्कयाविवाहपन्नत्तीपन्हवागरणमहानिसीहाणि। आगाढा नाम-सव्वसम्मत्तीए उत्तरिज्जइ त्ति काउं आगाढेसु उत्तरज्झयणवज्जेसु आउवाणयं च हवइ। सेसा सव्वे अणागाढा। असम्मत्तीए वि कारणे दिणतिगाणंतरं उत्तरेज्जइ त्ति गोसे पडिक्कमणाणंतरं चूलियाए पवेइयाए पडिलेहणाणंतरं वसहीए पवेइआए साहू उवओगं करिय गंधे आणिय गओ पुरओ पुत्तिं पेहिय खमासमणपुव्वं भणइइच्छकारि तुम्हे अम्हे जोगुक्खेवावणियं देवे वंदावेह। तओ सक्कत्थयं भणिय खमासमणपुव्वं जोगुक्खेवावणियं सत्तावीसुस्सासं काउस्सग्गं रज्जं करिय चउवीसत्थयं भणइ। कालिएसु पुण गुरूहिं जोगवाहिए सज्झायपट्ठविए जोगुक्खेवे कए सुयक्खंधस्स अंगस्स उद्देसे अणुन्ना य नंदी भवइ। तत्थ खमासमणपुव्वं अमुगसुयक्खंधं अंगउद्देसावणियं वा नंदिकड्ढावणियं वा सनिक्खेवं करेह। एवं देवे वंदावेह। तओ वड्ढंतियाहिं थुईहिं देवे वंदिय बारसावत्तं वंदणं देइ। तओ दो वि नंदिकड्ढावणियं सत्तावीसुस्सासं काउस्सग्गं करिंति, चउवीसत्थयं भणंति। तओ गुरू नमुक्कारपुव्वं नंदिं कड्ढइ। सा चेयंनाणं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा-आभिणिबोहियनाणं, सुयणाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं। तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं नो उद्दिसिज्जंति, नो समुद्दिसिज्जंति, नो अणुन्नविज्जंति, सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो य पवत्तइ। जइ सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो य पवत्तइ, किं अंगपविट्ठस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो य पवत्तइ ? अंगपविट्ठस्स जइ उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ, अंगबाहिरस्स वि

उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ । जइ अंगबाहिरस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ, किं आवस्सगस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ, आवस्सगवइरित्तस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ ? ॥ ४ ॥ जइ आवस्सगवइरित्तस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ, कालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ । उक्कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ, दसवेयालियस्स रायपसेणियस्स जीवाभिगमस्स पण्णवणाए महापण्णवणाए णंदीए अणुओगदाराणं देविंदत्थयस्स तंदुलवेयालियस्स चंदाविज्झयस्स पोरिसिमंडलस्स मंडलिपवेसस्स गणिविज्जाए विज्जाचरणविणिच्छियस्स झाणविभत्तीए मरणविभत्तीए आयविसोहीए संलेहणासुयस्स वीयरागसुयस्स विहारकप्पस्स चरणविहीए आउरपच्चक्खाणस्स सव्वेसिं पि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ । जइ कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ । जइ आवस्सगवइरित्तस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ, कालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ, उक्कालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ ॥ ५ ॥ जइ उक्कालिस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ, दसवेयालियस्स रायपसेणियस्स जीवाभिगमस्स पन्नवणाए महापन्नवणाए नंदीए अणुओगदाराणं देविंदत्थयस्स तंदुलवेयालियस्स चंदाविज्झयस्स पोरिसमंडलस्स मंडलिपवेसस्स गणिविज्जाए विज्जाचरणविणिच्छियस्स झाणविभत्तीए मरणविभत्तीए आयविसोहीए संलेहणासुयस्स वीयरागसुयस्स विहारकप्पस्स चरणविहीए आउरपच्चक्खाणस्स सव्वेसिं पि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ ॥ ६ ॥ जइ कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ, किं उत्तरज्झयणाणं कप्पस्स ववहारस्स इसिभासियाणं निसीहस्स महानिसीहस्स सूरपन्नतीए जंबूदीवपन्नत्तीए चंदपन्नत्तीए दीवसागरपन्नत्तीए खुड्डियाविमाणपविभत्तीए महल्लियाविमाणपविभत्तीए अंगचूलियाए वंगचूलियाए विवाहचूलियाए अरुणोववाए देविंदत्थयस्स (वरुणोववायस्स) तंदुलवेयालियस्स चंदाविज्झयस्स पोरिसिमंडलस्स मंडलिपवेसस्स गणिविज्जाए विज्जाचरणविणिच्छियस्स झाणविभत्तीए मरणविभत्तीए आयविसोहियस्स गरुलोववायस्स धरणोववायस्स वेसमणोववायस्स वेलंधरोववायस्स (देविंदोववायस्स) उट्ठाणसुयस्स समुट्ठाणसुयस्स नागपरियावलियाणं निरयावलियाणं कप्पियाणं कप्पवडिंसयाणं पुप्फियाणं पुप्फियावलियाणं वन्हियाणं वन्हिदसाणं आसीविसभावणाणं दिट्ठीविसभावणाणं चारणभावणाणं महासुमिणभावणाणं तेयग्गनिसग्गाणं सव्वेसिं वि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ ॥ ७ ॥ जइ अंगपविट्ठस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ, किं आयारस्स सूयगडस्स ठाणस्स समवायस्स विवाहपन्नत्तीए नायाधम्मकहाणं उवासगदसाणं अंतगडदसाणं अणुत्तरोववाइयदसाणं पण्हवागरणाणं विवागसुयस्स दिट्ठिवायस्स सव्वेसिं पि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ ॥ ८ ॥ इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च इमस्स साहुस्स साहुणीए वा अमुयसुयक्खंधस्स अंगस्स च उद्देसो नंदी अणुन्ना णंदी वा पवत्तइ, तओ उवविसिय मंताणं सेज्जं वासदाणं ; तओ जोगवाही खमासमणं दाउं भणइ-इच्छकारि तुम्हे अमुगसुयक्खंधं अंगं वा उद्दिसह । गुरू भणइ-उद्दिसामि । बीयखमासमणेणं संदिसह-किं भणामि ? तइए अमुगसुयक्खंधं अंगं वा उद्दिट्ठं । इच्छामि अणुसट्ठिं । गुरू भणइ-उद्दिट्ठं उद्दिट्ठं । खमासमाणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभएणं जोगं करिज्जाहि । चउत्थे तुम्हाणं पवेइयं साहूणं पवेइयम्मि । पंचमे नमुक्कारेणं पयक्खिणाइं, एवं तिन्नि वारा । छट्ठे तुम्हाणं पवेइयं साहूणं साहूणीणं पवेइयं संदिसह-काउस्सग्गं करेमि । सत्तमए अमुगसुयक्खंधअंगउद्दिसावणियं करेमि काउस्सग्गं इत्यादि सत्तावीसुस्सासचिंतणं चउवीसत्थयभणनं । एवमणुन्नाए वि ; नवरं सम्मं धारिज्जा, अन्नेसिं च पविज्जाहि । समुद्देसे पुण थिरपरिचियं करिज्जाहि । सुयक्खंधे उद्दिट्ठे तस्स अज्झयणाइं उद्दिसिय अज्झयणंतं उद्दिस्सिज्जइ । तं तिविहं-एगसरं, समुद्देसं, विसमुद्देसं च । एगसरं नाम-उद्देसगरहियं । समुद्देसं दुविहं-दुउद्देसं, चउछक्कउद्देसगं । विसमुद्देसं-तिगपणगउद्देसं । तत्थ एगसरं अज्झयणं उद्दिसिय समुद्दिसिय तिविहेण संदिसाविय खमासमणपुव्वं गिण्हामि त्ति भणिय खमासमणदुगेण कालमंडलं संदिसावेमि, पडिलेहिस्सामि,० खमासमणदुगेण वइसणए ठामि, तओ वंदणं दाउं अज्झयणमणुन्नविय खमासमणदुगेण कालमंडलं संदिसावेमि, पडिलेहियस्सामि, खमासमणदुगेण सज्झायं पडिक्कमिस्सामि, तिविहेण वि वइसणं संदिस्सावेमि, पडिलेहिस्सामि, (खमासमणदुगेण सज्झायं पडिक्कमिस्सामि, तिविहेण वि वइसणं संदिस्सावेमि, पडिलेहिस्सामि, खमास-मणदुगेणं सज्झायं पडिक्कमिस्सामि,) तिविहेण वि वइसणं संदिसाविय खमासमणदुगेण वइसणए ठामि तओ वंदणं दाउं अज्झयणमणुन्नाविय खमासमणदुगेण कालमंडल० खमा-समण० सज्झायं पडिक्कमामि, खमा-

समणदुगेण कालं पडिक्कमामि, तओ वइसणावंदणं। एवं एगसरे तिन्नि काउस्सग्गए एगं दिणं दुउद्देसज्झयणा वंदणं दाउं अज्झयणमुद्दिसिय पढमुद्देसए बीयउद्देसो उद्दिसिज्जइ, तं पढमुद्देसे समुद्दिसिय बीयउद्देसो उद्दिसिज्जइ। तं पढमुद्देसो समुद्देसिज्जइ, तओ बीओ, तओ अज्झयणे, तओ वायणाइयं, तओ वंदणं दाउं पढमुद्देसो अणुन्नविज्जइ, तओ बीओ, तओ अज्झयणं, तओ कालमंडलाइयं। एवं तवउवसग्गा दिणमेगं ; एवं सए वि जत्थ एगो कालो नवगं आइल्ला अंतिल्ला उद्देसा इति वत्तव्वं। वग्गे वि एवं। नवरं अज्झयणं ति वत्तव्वं, चउराइयमुद्देसे वंदणं दाउं अज्झयणुद्देसपुव्वं पढमं पढमे बीओ बीए उद्देसो उद्दिसिज्जइ। तओ दो वि उद्देससमुद्देसयवायणाइयं काउं वंदणयपुव्वं दो वि अणुन्नविज्जंति। एवं उस्सग्गा सत्तदिणमेगं। एवं सेसा दो दो उद्देसा छहिं उस्सग्गेहिं एक्किक्कदिणेण वच्चंति, अंतिल्ला पुण दो उद्देसा उद्दिसिय समुद्दिसिय तओ अज्झयणं समुद्दिसिय वायणाइयं काउं उद्देसदुगमज्झयणं च अणुण्णविज्जइ। एवं अट्ठ उस्सग्गा दिणमेगं। एवं विसमुद्देसेसु वि। नवरं उद्देसमुद्दिसिय अज्झयणं समुद्दिसिज्जइ, तओ उद्देसमणुन्नविज्जइ, एवं उस्सग्गा पंच, दिणमेगं, तहा सुयखंधो। तत्थ दो दिणा-एगेण समुद्देसो, एगेण अणुन्ना। जत्थेगे दो सुयखंधे तत्थेगदिणेण सुयखंधस्स समुद्देसो, एगेण अणुन्ना। जत्थेगे दो सुयखंधा तत्थेगदिणेण सुयखंधस्स समुद्देसो, अंगसुयखंधो, उद्देससमुद्देसो, एगेण अणुन्ना। जत्थेगदिणेण सुयखंधस्स समुद्देसो, अणुन्ना य, अंगसुयखंधो उद्देसो अणुण्णा वि ण य पडिनिरुद्धं करियउं पारणगं वा निद्दिसंति आयामाइपारणगं, निव्विइयं, तओ खमासमणपुव्वं पच्चक्खाणं करेइ, तओ वइसणावंदणगं। इत्थं वइसणाणंतरं पवेइयव्वं, तो पढमं वइसणयं संदिसावणयं न किज्जइ, पच्चक्खाणाणंतरं वइसणयं वंदणेण वेसरइ, तओ खए संघट्टय मुहपत्ती खए संघट्टय संदिसाविय खए संघट्टलेओ० जाव सरीरखए संघट्टालियावणियं काउस्सग्गे नमुक्कारचिंतणं, भणणं च। एवं आउत्तवाणयं पि, नवरं तइए खमासमणाणंतरं तंबा तउआ सीसा काँसा सोना रूपा हाड-चामरुधिर बालसूकी मांसाऽऽदि ; इत्येवमादि ओहडावणिय करेमि काउस्सग्गमित्यादि कायोत्सर्गं पूर्ववत्। भगवईए पच्चूढाए आउत्तवाणए पुत्तीओ न पेहिज्जंति, इक्किके काले दो दो सज्झाया, दो दो कालमंडलाणि, एवं सव्वं पि पढमपोरिसिमज्झे न पहविज्जा, तो कालं पइ इक्किकं सज्झायं पट्ठवित्ता अणुट्ठाणं कीरइ,दो सज्झाया कालमंडलाणि य पच्छिमपोरिसाणंतरं वि करिज्जा, अह न पहविज्जा, नो कयं पि अणुट्ठाणं मूलाओ उच्छिज्जा, वाघाइयकाले सुद्धे अज्झयणे दिवसाइयं राईए वि करिज्जा, तहा पच्छिमपोरिसीए कालियजोगेसु वइसणावंदणं संघट्टा आउत्तवाणयं पि उट्ठावणिकाउस्सग्गं च कीरइ, संघट्टेण पुण आरंभदिणा पारइ छम्मासाणंतरं आरओ चेव पूरिज्जति।

'' आवस्सगे य एगो, सुयखंधो छच्च हुंति अज्झयणा।
दुन्नि दिणा सुयखंधे, सव्वे वि य हुंति अट्ठ दिणा॥ १॥
दसयालियम्मि एगो, सुयखंधो वारसेव अज्झयणा।
पंचम नवमे दो चउ, उद्देसा दिवस पन्नरसा॥ २॥
छत्तीसं अज्झयणा, एगेगदिणेण तुरियमस्संखा।
दो दिण दो सुयखंधे, गुणचत्ता उत्तरज्झयणे॥ ३॥
अहवेगसरा चउदस, एगेगदिणेण दुन्नि तइय दिणा।
सत्तावीसं वासी.....मो इं पभिइकप्पे ''॥ ४॥

असंखं पुण जइ पढमपोरिसीए उद्दिसइ, तो आयंबिलेण अणुन्नविज्जइ, जइ बीयदिणे पोरिसिमज्झे, तो निव्वीएण ; अह ततो बीयदिणे वि आयंबिलं। एवं ऊणचत्ता अट्ठावीस दिणा छअट्ठज्झयणुद्देसा॥

''सत्त य छ ६ च्चउ ४ चउरो, छ ६ पंच ५ अट्ठेव सत्त चउरो य।
इक्कारस ११ ति ३ ति ३ दो २ दो २,दो दो सत्तेक्क एक्को य ''॥ १॥

सुयखंधयदिणसमं आयरे सव्वदिणा पण्णत्ता। सत्थपरि-ण्णाए उद्देसा ७ दिण ४ लोगविजए उद्देसा ६ दिण ३ सीओ-सणिज्जे उद्देसा ४ दिण २ सम्मत्ते उद्देसा ४ दिण २ सम्मत्ते उद्देसा ४ दिण २ आवईए उद्देसा ६ दिण २ धुवज्झयणे उद्देसा ५ दिण ३ विमोहे उद्देसा ८ दिण ४ वहाणसुए उद्देसा ४ दिण २ महपरिण्णयज्झयणं बुच्छिन्नं, दिणमेगं सुयखंधं। णंदीए ण, एवं दिन २४। पिंडेसणाए उद्देसा ११ दिण ६ सिज्जाए उद्देसा ३ दिण २ भासज्जायाए उद्देसा २ दिण १ पाएसणीए उद्देसा २ दिण १ उवग्गहपडिमाए उद्देसा २ दिण १ सत्तसत्तिक्कया आउत्तवाणएणं दिण ७ भावणज्झयणे दिण १ विमुत्तिज्झयणे दिण १ वीओ सुयक्खधो। दिण १ अग्गे दिण २ एवं आचारांगे दिण ५०। एयम्मि बूढे य कडजोगी हवइ, दिणसमं सव्वेसिं जोगवाहीणं कप्पइ भत्तपाणं पडिगाहित्तए।

''पढमझयणउद्देसा, चउ तिय चउ दो दुगार इक्कसरा १६।
वीए सत्तिक्कसरा २३, सूयगढे सव्वदिण तीसं''॥ १॥

तीसज्झयणेसु छव्वीस दिणा दो सुयक्खंधेसु इक्कं दिणं, अग्गे दो दिणा, एवं तीसं दिणा।

'' इक्कसरं १ चउ ३ चउ ४ तिय, उद्देसा तउ पणेगसरा १० ।
ठाणा अठारस दिणा, उ सगइगदुनंदि तिन्नि दिणा '' ॥ १ ॥

इयाणिं भगवई । सा य छमासेहिं छहिं दिणेहिं ओउत्तवाणए एवं वच्चइ । इत्थ नत्थि सुयक्खंधो । सयाणि पुण इक्कतालीसं, सत्तरिं काला । इत्थ विवाहपन्नत्तिअंगं नंदीए उद्दिसिय पढमसयं उद्दिसिज्जइ । तत्थ य उद्देसा दस इक्किक्कदिणेण दो दो जंति, एवं दिणा ५ । वीयसए वि दस उद्देसगा, नवरं पढमो खंदगुद्देसओ आयंबिलदुगेण सपाणभोयणाहिं पंचहिं दत्तीहिं दोहिं दिणेहिं वच्चइ, सेसा नवुद्देसा पंचहिं दिणेहिं, एवं दिणा सत्त । तइयसए देसुद्देसो पढपउद्देसओ एगदिणेण वच्चइ, वीओ चमरुद्देसओ खंदओ अ दोहिं दिणेहिं वच्चइ । एवं पन्नरसेहिं कालेहिं चमरेहिं अणुन्नाए ओगाहिमविगइविसज्जणत्थं अट्ठस्सासो काउस्सग्गो कीरइ, छट्ठ जोगो वि लग्गइ । पंच निव्विइया, छट्ठं आयंबिलं । तहा मोइयवघारियतीसणाइ कप्पइ । सेसा अट्ठुद्देसा चउहिं दिणेहिं वच्चंति । चउत्थसए दस उद्देसा । तत्थ पढमा अट्ठ आइल्लअंतिल्ल त्ति काउस्सग्गेहिं एगदिणेण जंति । सेसा दो उद्देसगा अट्ठस्सग्गेहिं एगेहिं दिणेण जंति । सव्वदिणं वीसं । नवमदसमसएसु चउतीस उद्देसा, नव नव वग्गा, इक्किक्कं दिणं । इक्कारसमे सए उद्देसा १२ दिन १ । बारसमे तेरसमे चउदसमे य उद्देसा १० दिन २ । इक्किक्कदिणे पन्नरसमे गासालए आयामदुगं, सपाणभोयणाओ तिन्नि दत्तीओ, दो दिणे, एवं एगेण चत्ताए कालेहिं गोसाले अणुन्नाए अट्ठमं जोगो लग्गइ, सत्त निव्विइया, अट्ठमं आइल्लं पुण अट्ठमचउदसीसु आयामं । सेसाणिछव्वीसं सयाणि नव नव उस्सग्गेहिं इक्किक्कदिणेण जंति । तत्थ सोलसमे सए उद्देसा १४ । सत्तरसमे उद्देसा १७ । अट्ठारसमे उद्देसा १० । एगुणवीसइमे उद्देसा १० । वीसइमे उद्देसा १० । इक्कवीसइमे उद्देसा ८० । बावीसइमे उद्देसा ६० । तेवीसइमे उद्देसा ५० । करिंसुगसुए २७ उद्देसा ११ । कम्मसमजिणाणसए २८ उद्देसा ११ । उव्वट्टणासए ३२ उद्देसा २८ । एगिंदियजुम्मसयाणि बारस ३२ । तेसु चउवीसगसयं दुहा काउं ६२ । सेढीसयाणि बारस ३४ उद्देसा १२४ । एगिंदियमहाकम्मसयाणि बारस ३५ उद्देसा १३२ । बेइंदियमहाजुम्मसयाणि बारस ३७ उद्देसा १३२ । चउरिंदियमहाजुम्मसयाणि बारस ३९ उद्देसा १३२ । सन्निपंचिंदियमहाजुम्मसयाणि बारस ४० उद्देसा १३२ । रासीजुम्मसए ४१ उद्देसा १९६ । एवं काला ७५ अंगसमुद्देसे अणुन्नाए य इक्किक्कं दिणं । एवं सव्वे सत्तहत्तरिं काला अणुन्नाए नंदीए नामं ठविज्जइ ।

'' नायसुए गुणवीसं, एगारसऽज्झयण पढमसुयखंधे ।
वीए पुण दस वग्गा, पण नंदी दिवस तित्तीसं ॥ १ ॥
दुसु दुसु वग्गेसु कमा, अज्झयणा हुंति दस य चउपन्ना ।
बत्तीसा चउ अट्ठं, धम्मकहा बीयसुयखंधे ॥ २ ॥
सत्तमए पुण अंगे, दस अज्झयणाणि एगसरयाणि ।
चउदस दिण नंदितियं, एगो य तहा सुयक्खंधो ॥ ३ ॥
बारस दिण अट्ठमए, अंगे वग्गद्वएसु अज्झयणा ।
दस अट्ठ तेर दस दस, सोलस तेरस दस कमेण ॥ ४ ॥
नवमंगे सत्त दिणा, वग्गतिए तेसु अज्झयणसंखा ।
दसगं तेरस दसगं, नंदितियं एगसुयखंधो ॥ ५ ॥
दसमंगे एगसरा, दस अज्झयणाणि चउदस दिणा य ।
बूढाइ भगवईए, कप्पइ इह छट्ठजोगि व्व ॥ ६ ॥
पढमम्मी सुयखंधे, एगसरा दस हवंति अज्झयणा ।
वीए वि दसेगसरा, चउवीस दिणा विवागसुए '' ॥ ७ ॥

इयाणिं उवंगा-आयारे उवाइयं १, सूयगडे रायपसेणइयं २, ठाणे जीवाभिगमो ३, समवाए पन्नवणा ४, एए उक्कालिया । भगवईए सूरपन्नत्ती ५, नायाणं जंबुद्दीवपन्नत्ती ६, उवासगदसाणं चंदपन्नत्ती ७ । एए कालिया । सव्वे वि उद्देससमुद्देसअणुन्नत्थं आयंबिलतिगेण वच्चंति । अन्नेसिं पुण पन्नवणजुत्ते जोगमज्झे आयंबिलतिगपूरणत्थं वि वच्चंति । अंतगडदसाइपंचन्हमंगाणं निरयावलियसुयक्खंधो उवंगं । तम्मि पंच वग्गा-कप्पियाओ, कप्पवडिंसियाओ, पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ । एएसु चउसु दस दस अज्झयणा । वन्हिदसासु वारस । एवं दिणा ५, सूयक्खंधे दिणा २, सव्वे दिणा ७ ।

अहुणा छे अगंथा-निसीहज्झयणा एगसरा दिन १८, सुयखंधे दिन २, एवं वीसं दिणा ।

'' पढमेगसरं नव सोल सोल वारस, चउक्क छग वीसा ।
सत्तऽज्झयणेसु निवियं, पइन्नगं तत्थ नंदीए '' ॥ १ ॥

अणुओगदाराणं तिन्नि निव्विइइया । देविंदत्थया तंदुलवेयालियं चंदाविज्झया आउरपच्चक्खाणं गणिविज्जा । एवमाइसु इक्किक्कं निव्वीइयं ॥ एवं आवश्यके दिन ८, दशवैकालिके दिन १५, (मंडलिके ७) उत्तराध्ययने ३९, आचारांगे ५०, सूत्रे ३०, ठाणांगे १८, समवायांगे ३, भगवती १८६, ज्ञाताधर्मकथा ३३, उपासकदशांग १४, अंतगडदशा १२, अणुत्तरोववाई ७, पण्हवागरण १४, विपाक २४, उवाई ३, रायपसेणी ३, जीवाभिगम ३, पण्णवणा ३, सूर्यप्रज्ञप्ति ३, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति ३, चन्द्रप्रज्ञप्ति ३, निरयावली ७, निशीथ १०, कल्पभाष्य २०, महानिशीथ ४५, पंचकल्प १, जीतकल्प १, नंदी ३, अनुयोगद्वार २, ग० १ । सर्वसंख्या इगुवीस मास, दिन ६, संपयं आउत्तवाणए कप्पाकप्पविही । तत्थ सगच्छसंघाडयच्छिन्नाणं जोगवाहिसन्नी असज्झायं

च न उवहणइ। उल्लासन्नासणुपसाणमज्झाराईणं आमिसासीणं पक्खीणं अंतिणभक्खिणोत्तनयरस्स गयहयखगणं च्छिक्का समाणी उल्लं हडुं चम्मं च उवहणइ। घणावंतीए वंतीए वंते अदिस्समाणे न उवहम्मइ। संन्नियमणुयतिरियपंचिंदियसंघट्टे उवहम्मइ। कप्पइ निव्विइगइयतिल्लहिं कारणोपायगायगायाइ अब्भंगित्तणं सीवणतुन्नणलेवणाइयं न कप्पइ काउं। आ छट्ठजोगाओ सव्वविगईहिं वावडहत्थाए छट्ठजोगलग्गे पुण ओगाहिमवज्जाहिं भत्तपाणं उवहम्मइ। पगरणसंसट्ठमाइसरावाइठियं च न उवहणइ। तद्दिणनवणीयमिस्सकज्जलनयणंजियाए तद्दिणतिल्लमिस्सकुंकुमपिंजरियाए अब्भंगिएण य उवहम्मइ। कडाइ थिरं बिगइसंसट्ठं उत्तिविडंवियमकप्पभायणं दुयंतरियं च न उवहणइ। एवं तिरिच्छठविएसु परोप्परं संबद्धेसु दायगेसु वि एसो उवहयाणुवहयविही भत्तपाणणिमित्तं काउस्सग्गे कए दट्ठव्वो। तहा कक्कवइक्खुरसगुललवाँणीखंडसक्करक्खीरदुद्धसाढियाकक्करियगुलहाणी वीसदणबाटनंदिहलनालियरतिलयरतिल्लीइ तहा वासीमोइमंक्खियमंडलामोइयसत्तुयकुल्लुरिघोलसिहरणितिलवट्टिकरंवाइ छट्ठजोगा आउरं कप्पंति। छट्ठे जोगे पुण लग्गे न तत्तद्दिणमोइवग्घारियतीमणाइयं कप्पइ। अववाएण असुहस्स तिन्हं घाणोतक्खियं विइंजणं न कप्पइ। गिहिभायणसइसमायणेणावि अप्पणा कप्पइ चंदपरिगाहित्तए। तहा जं जत्थ जोगे कप्पइ, तं चेव आवस्सगाइसु कप्पइ। भत्तपाणपडिलेहणकाले वीहिणुच्छंगे रयहरणं च विअणुत्तरं परागयवीहीए पत्तबंधा पन्नतरिं कप्पइ पणवीसं उवही पेहिय उवसंतो भत्तपाणअगडिए पुत्तिरयहरणे वेइयाबहिरा पच्छितो य पुणो वि काउस्सग्गे संघट्टं वहइ। रओहरणपुत्तिवज्जो जा सरीरसंबंधी हवइ, सो पुणो वि पडिलेहियव्वो। वेइयाबाहिरगयं दुद्धभोयणोवरिगयं च भत्तं पाणं च मज्झपविट्ठं अंगुलिचउक्कोग्गहियं तिपणाइयं मज्झपविट्ठं अंगुट्ठहियं पत्ताइयं च उस्संघट्टिज्जइ। भत्तं पाणं वा उगुडिउभूमीए रयहरणं पुत्तिं वा भूमीए पडिए ठिओ निस्संनिसन्ने ठियस्स च अप्पेइ उगुडिउभूमीए ठियं संघट्टेइ। विगहाउ असंखडं वा करेमाणो तुयट्टो वा संघट्टे वा पेयलाइई पायचारिमणुयतिरियच्छिन्ने य उस्सेवट्टं २ भुंजइ, अकालसन्नं उड्डं वा करेइ, कालमंडलाणि थंडिलाणि य न पडिलेहइ, दिणबुड्ढी जोगनिक्खेवो वि उक्खेवसरिसो, नवरं पुत्तिं पेहिय वंदणं दाउं पच्चक्खाणं काउं विगइविसज्जावणियं अट्ठस्सासं काउस्सग्गं करिंति, पारिए नमुक्कारं भणंति।

'' इय वुत्तो जोगविही, संखेवेणं सुयाणुसारेणं।
जं च न इत्थ उ भणियं, गीयायरणाउ तं नेयं॥ १॥
उम्मायं गुरुरोगा-ऽधम्मब्भरियं तु सव्वसंसारं।
जोगविहीऍऽपमत्तो, वायंतो कुज्ज जहभणियं॥ २॥ ''

एसा जोगविही जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं पवेइया सुअक्खाया सुपण्णत्ता भुज्जो भुज्जो णिग्गंथाणं निग्गंथीणं जाणियव्वा पासियव्वा फासियव्वा पालियव्वा तीरइयव्वा किट्टइयव्वा, एसा णो अतिक्कमिअव्वा। एसाए बिहीए वहिया सुत्तपडिणीया अत्थपडिणीया तदुभयपडिणीया जिणाणाए विराहगा णिण्हगा चेव अणंतसंसारिया, तेसिं पासे जोगविहीए विणा कडकिरियाकलावे एगंतसो मिच्छादिट्ठिया चेव, पुण जंबू ! एयारिसाए जोगविहीए बाहिया ते साहू कल्लाणं मंगलं देवयं चेइअमिव पज्जुवासणिज्जा मोक्खफलदायगा णेयव्वा, पुण जे जंबू ! अणुण्णाअणुओगकिरियाबहिया साहुवेसे विहरंता वि किरियाए फडाडोवं दंसइत्ता वि ते असाहू, दिट्ठीए वि ण दट्ठव्वा; सेवं भंते भंते त्ति। '' तमेव सच्चं णिस्संकं, जं जिणेहिं पवेइअं॥ '' अंग०।

(आगाढानागाढयोगविधौ स्वाध्यायभूमेर्द्विविधत्वम् ' चरियापविट्ठ ' शब्दे तृतीयभागे ११५६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) अत्र महोपाध्यायश्रीविमलपिंगणिकृतप्रश्नो यथा-षाण्मासिकयोगोद्वाहकानां षड्दिवसाधिकैर्वा षण्मासैर्वा, षड्दिवसहीनैर्वा, षड्मास्यालोचनादीयते। यदि वाऽधिकैस्तदानीमस्वाध्यायसंबन्धिद्वादशदिनक्षेप-वचातुर्मासिकास्वाध्यायदिनचतुष्टयमपि कथं न क्षिप्यते ? तथा च दशदिनाधिकाः षण्मासा भवन्तीति कथमालोचनाविधिरिति प्रसाद्यम् ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-षाण्मासिकयोगवाहिनां षड्दिवसाधिकैः षण्मासैरस्वाध्यायदिनगणनानिरपेक्षमेव आलोचना दातव्येति वृद्धसंप्रदाय इति। १८ प्र०। ही० १ प्रका०। व्य०। (योग-वाहकस्य कारणे विकृतिः कल्पत इति ' विगह ' शब्दे वक्ष्यते)

जोगविरिय-न०(योगवीर्य) भाववीर्यभेदे, स च त्रिधा, मनोवाक्कायभेदात्। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

जोगवीय-न०(योगबीज) मोक्षयोजकानुष्ठानकारणे, द्वा०२१ द्वा०। (तानि च ' जोगदिट्ठि ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १६४६ पृष्ठे गतानि)

जोगसंगह-पुं०(योगसंग्रह) युज्यन्ते इति योगा मनोवाक्कायव्यापाराः, ते चेह प्रशस्ता एव विवक्षिताः, तेषां शिष्याऽऽचार्यगतानामालोचनानिरपलापाऽऽदिना प्रकारेण संग्रहणानि संग्रहाः, प्रशस्तयोगसंग्रहाः, प्रशस्तयोगसंग्रहनिमित्तत्वादालोचनाऽऽदयोऽपि योगसंग्रहाः। प्रशस्तयोगसंग्रहनिमित्तेषु आलोचनाऽऽदिषु, स०।

ते च त्रिंशद् भवन्ति। तदुपदर्शकं श्लोकपञ्चकमाह-

आलोयण निरवलावे, आवईसु दढधम्मया।
अणिस्सिओवहाणे य, सिक्खा णिप्पडिकम्मया॥ ७३॥

(आलोयण त्ति) प्रशस्तमोक्षसाधनयोगसंग्रहाय शिष्येणाऽऽचार्याय सम्यगालोचना दातव्या १। (निरवलावे त्ति) आचार्योऽपि प्रशस्तमोक्षसाधको योगसंग्रहायैव प्रदत्तायामालोचनायां निरपलापः स्याद्, नान्यस्मै कथयेदित्यर्थः। एकारान्तश्च प्राकृते प्रथमान्तो भवतीत्यसकृदावेदितम्। यथा- '' कतरे आगच्छइ दित्तरूवे '' इत्यादि। (आवईसु दढधम्मय त्ति) तथा योगसंग्रहायैव सर्वेण साधना आपत्सु द्रव्याऽऽदिभेदासु दृढधर्मता कार्या, आपत्सु सतीषु, सुतरां दृढधर्मेण भवितव्यमित्यर्थः ३। (अणिस्सिओवहाण त्ति) योगसंग्रहायैवानिश्रितोपधानेन भवितव्यम्। अथवा-अनिश्रितोपधाने च यत्नः कार्यः, उपदधातीत्युपधानं तपः। तदनिश्रितम्, निश्रितं च। तच्च तदुपधानं चेति समासः ४। (सिक्ख त्ति) प्रशस्तयोगसंग्रहायैव शिक्षा आसेवितव्या। सा च द्विप्रकारा भवति-ग्रहणशिक्षा, आसेवनशिक्षा च ५। (निप्पडिकम्मय त्ति) प्रशस्तयोगसंग्रहायैव निष्प्रतिकर्मशरीरेणासेवनीया, न पुनर्नागदत्तवदन्यथा वर्तितव्यमिति प्रथमगाथासमासार्थः ॥ ६ ॥ (नागदत्तदृष्टान्तः ' णिप्पडिकम्मया ' शब्दे वक्ष्यते)

अण्णायया अलोभे य, तितिक्खा अज्जवे सुई।
सम्मदिट्ठी समाही य, आयारे विणओ वए॥ ७४॥

(अण्णायय त्ति) तपसि अज्ञानता कार्या, यथाऽन्यो न जानाति तथा तपः कार्यम्। प्रशस्तयोगसंग्रहायेत्येतत्सर्वत्र योज्यम्। ७। (अलोभे य त्ति) अलोभश्च कार्यः। अथवा-अलोभेन यत्नः कार्यः। ८। (तितिक्ख त्ति) तितिक्षा कार्या, परीषहाऽऽदिजय इत्यर्थः ९। (अज्जवे त्ति) ऋजोर्भाव आर्जवं, तच्च कर्तव्यम् १०। (सुइ त्ति) शुचिना भवितव्यं, संयमवतेत्यर्थः ११। (सम्मदिट्ठि त्ति) सम्यगविपरीता दृष्टिः कार्या, सम्यग्दर्शनशुद्धिरित्यर्थः १२। (समाही य त्ति) समाधिश्च कार्यः, समाधानं समाधिश्चेतसः स्वास्थ्यम् १३। (आ-यारे विणओ त्ति) द्वारद्वयम्। आचारोपगमः स्यात्, न मायां कुर्यादित्यर्थः १४। तथा विनयोपगमः स्यात्, न मानं कुर्यादित्यर्थः १५। इति द्वितीयगाथासमासार्थः॥ ७४॥

धिई मई य संवेगे, पणिही सुविहि संवरे।
अत्तदोसोवसंहारे, सव्वकामविरत्तया॥ ७५॥

(धिई मई य त्ति) धृतिर्मतिश्च कार्या, धृतिप्रधाना मतिरित्यर्थः १६। (संवेगे त्ति) संवेगः संसाराद्भयं, मोक्षाभिलाषो वा कार्यः १७। (पणिहि त्ति) प्रणिधिरस्त्याज्यो, माया न कार्येत्यर्थः १८। (सुविहि त्ति) सुविधिः कार्यः १९। (संवरो त्ति) संवरः कार्यः, न तु न कार्य इति व्यतिरेकोदाहरणमत्र भावि २०। (अत्तदोसोवसंहारे त्ति) आत्मदोषोपसंहारः कार्यः २१। (सव्वकामविरत्तय त्ति) सर्वकामविरक्तता भावनीया २२। इति तृतीयगाथासमासार्थः॥ ७५॥

पच्चक्खाणे विउस्सग्गे, अप्पमाए लवालवे।
झाणसंवरजोगे य, उदए मारणंतिए॥ ७६॥

(पच्चक्खाणे त्ति) मूलगुणोत्तरगुणविषयं प्रत्याख्यानं कार्यमिति द्वारद्वयम् २३-२४। (विउस्सग्गे त्ति) विविध उत्सर्गो व्युत्सर्गः, स च कार्य इति द्रव्यभावभेदभिन्नः २५। (अप्पमाए त्ति) न प्रमादोऽप्रमादः, अप्रमादः कार्यः २६। (लवालवे त्ति) कालोपलक्षणं क्षणे क्षणे सामाचार्यनुष्ठानं कार्यम् २७। (झाणसंवरजोगे य त्ति) ध्यानसंवरयोगश्च कार्यः, ध्यानमेव संवरयोगः २८। (उदए मारणंतिए त्ति) वेदनोदये मारणान्तिकेऽपि न क्षोभः कार्यः २९। इति चतुर्थगाथासमासार्थः॥ ७६॥

संगाणं य परिण्णा य, पच्छित्तकरणे वि य।
आराहणा य मरणंते, वत्तीसं जोगसंगहा॥ ७७॥

(संगाणं च परिण्णा य त्ति) सङ्गानां च परिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञाभेदेन परिज्ञा कार्या ३०। (पच्छित्तकरणे वि य त्ति) प्रायश्चित्तंकरणं कार्यम् ३१। (आराहणा य मरणंते त्ति) आराधना च मरणान्ते कार्या, मरणान्तकाल इत्यर्थः ३२। एते द्वात्रिंशद्योगसंग्रहाः। इति पञ्चमगाथासमासार्थः॥ ७७॥ आव० ४ अ०। स०। ध०। '' ते य इमे बत्तीसं जोगसंगहाधम्मं सोलसविधं, एवं सुक्कं पि। एते वत्तीसं जोगसंगह त्ति। '' आ० चू० ४ अ०। (आलोचनाऽऽदीनां योगसंग्रहाणामुदाहरणाऽऽदि तत्तच्छब्दे दृश्यम्) योगविधिप्रान्ते लिखितमस्ति यत्प्राभातिककालो वैरात्रिककालस्थाने स्थाप्यत इत्यत्राकसंध्यादिकारणायैतत्स्थापनमन्यथा वेति प्रश्ने ? उत्तरम्-प्राभातिककालो वैरात्रिककालस्थाने स्थाप्यतामाकसन्ध्यादिकारणे सति, तथा वैरात्रिकप्राभातिककालभेदाकसन्ध्यादिसद्भावे समुद्देशानुज्ञयोर्मध्ये कारणतो यद्यन्तरं जायते, तदा अग्रे दिनमेकं वृद्ध्या दीयते, आगाढयोगे तु आकसन्धिपूरणाभवनाद् यावत् आचाम्लमेव कार्यं, गुर्वाज्ञया शुद्ध्यति, योगविध्यादौ तथैव प्रतिपादनादिति। ३८ प्र०। सेन० १ उल्ला०।

जोगसच्च-न०(योगसत्य) मनोवाक्काययोगेषु सत्यं योगसत्यम्। उत्त० २९ अ०। योगा मनोवाक्कायाः, तेषां सत्यमवितथत्वं योगसत्यम्। भ० १७ श० ३ उ०। मनःप्रभृतीनामवितथत्वरूपे सत्यभेदे, प्रश्न० ५ संव० द्वार। योगतः संबन्धतः सत्यं योगसत्यम्। तथा दण्डयोगाद् दण्डः, छत्रयोगाच्छत्र एव उच्यते, इत्येवंरूपे सत्यभेदे च। स्था० १० ठा०।

योगसत्यस्य फलं प्रश्नपूर्वकमाह-

जोगसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? जोगसच्चेणं जोगे विसोहेइ॥ ५२॥

हे भदन्त ! योगसत्येन मनोवाक्काययोगानां सत्यं योगसत्यं, तेन योगसत्येन मनोवाक्कायसाफल्येन जीवः किं जनयति ? तदा गुरुराह-हे शिष्य ! योगसत्येन योगान् विशोधयति मनोवाक्काययोगान् विशदीकरोतीति कर्मबन्धाभावान्निर्दोषान् करोतीति भावः॥ ५२॥ उत्त० २९ अ०। योगः संबन्धः, तस्मात्सत्या योगसत्या। छत्रयोगाद् विवक्षितशब्दप्रयोगकाले छत्राभावेऽपि छत्रयोगस्य संभवात् छत्री। एवं दण्डयोगाद्दण्डीत्येवंरूपे पर्यायभाषाभेदे, स्त्रीटाप्। प्रज्ञा० ११ पद।

जोगसण्णास-पुं०(योगसंन्यास) सामर्थ्ययोगमधिकृत्य- ''द्विधाऽयं धर्मसंन्यासयोगसंन्याससंज्ञितः।'' द्वा० १९ द्वा० (तद्वक्तव्यता ' जोग ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १६२७ पृष्ठे गता)

जोगसत्थ-न०(जोगशास्त्र) पातञ्जलाऽऽदिष्वध्यात्मचिन्ताशास्त्रेषु, द्वा० २३ द्वा०। यो० विं०। '' पइट्ठिया जोगसत्थेसु। '' योगशास्त्रेष्वध्या-

त्मग्रन्थेषु पातञ्जलाऽऽदिष्विति । पञ्चा० १ विव० । हेमचन्द्राऽऽचार्यविरचिते योगशास्त्रनामके प्रकरणग्रन्थे च।

जोगसद्द-पुं०(योगशब्द) योगप्रतिपादके शब्दे, अत्र पण्डितश्रीजगमालगणिकृतप्रश्नो यथा- '' आवस्सियाए जस्स जोगो सिज्झा-तर० '' इत्यत्र योगशब्देन किमुच्यते ? इति प्रश्ने, उत्तरम्- ' यस्य योगो ' भिक्षार्थं गच्छन्निदं वक्ति, यस्य योगोयेन वस्तुना सह संबन्धो भविष्यति, तद् ग्रहीष्यामीत्यर्थः । इति ओघनियुक्ति- वृत्तौ । १० प्र० । ही० १ प्रका० ।

जोगसिद्ध-पुं०(योगसिद्ध) योगेषु योगे वा सिद्धो योगसिद्धः । योगातिशयवति सिद्धभेदे, आ० म०।

साम्प्रतं योगसिद्धं प्रतिपादयन्नाह-

सव्वे वि दव्वजोगा, परमच्छेरयफलाऽहवेगो वि ।
जस्सेस होज्ज सिद्धो, स जोगसिद्धो जहा समितो ॥

सर्वेऽपि कात्स्न्र्येन द्रव्ययोगाः परमाऽऽश्चर्यफलाः परमाद्भुत-कार्याः। अथवा-एकोऽपि योगः परमाऽऽश्चर्यफलो यस्य भवेत् सिद्धः स योगेषु योगे वा सिद्धो योगसिद्धोऽतिशयवान् । यथा समित आचार्य इति गाथाक्षरार्थः । आ० म० १ अ० २ खण्ड। (कथानकं ' जोगपिंड ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १६४० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

जोगसिद्धि-स्त्री०(योगसिद्धि) योगनिष्पत्तौ, यो० बिं०।

जोगसुद्धि-स्त्री०(योगशुद्धि) योगाः कायवाङ्मनोव्यापारलक्षणाः, तेषां शुद्धिः। सोपयोगान्तरगमननिरवद्यभाषणशुभचिन्तनाऽऽदिरूपायां शुद्धौ, ध० २ अधि०।

जोगसुद्धितव-न०(योगशुद्धितपस्) मनोवाक्कायव्यापाराऽनवद्यतासंपादके तपोविशेषे, पञ्चा० १६ विव० । यत्र निर्विकृतायामोपवासा एकैकयोगमश्रित्य विधीयन्तेऽसौ योगशुद्धिः, इह च परिपाटीत्रयेण नव तपोदिनानि स्युरिति । पञ्चा० १६ विव०।

जोगसुद्धिसचिव-त्रि०(योगशुद्धिसचिव) मनोवाक्कायविशुद्धिसहिते, षो० १३ विव०।

जोगहाणि-स्त्री०(योगहानि) योगानां संयमव्यापाररूपाणां हानिः। संयमव्यापारहानौ, '' संवच्छरेणावि न तेसि आसी, जोगाण हाणी दुविहे बलम्मि। '' व्य० १ उ०।

जोगहीण-न०(योगहीन) असम्यक्तपउपचारे श्रुतदोषभेदे, आव० ४ उ०।

जोगाइसय-पुं०(योगातिशय) आत्माभ्यन्तरपरिणामोत्कर्षे, द्वा० १६ द्वा०।

जोगायरिय-पुं०(योगाचार्य्य) पतञ्जल्यादिके, '' योगाऽऽचार्यैर्यथोदितम् । '' योगाऽऽचार्यैः पतञ्जल्यादिभिरिति । द्वा० २१ द्वा० । योगप्रतिपादके सूरौ च । '' योगाऽऽचार्यैर्विनिर्दिष्टं, तल्लक्षणमिदं पुनः। '' योगाऽऽचार्यैः योगप्रतिपादकैः सूरिभिरिति । द्वा० १६ द्वा० ।

जोगायार-पुं०(योगाऽऽचार) योगेनाऽऽचरति । आचर्-घञ् । बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रवादिनि बौद्धभेदे, बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रसमभिरूढो योगाऽऽचार इति । सम्म १ काण्ड । वाच०।

जोगारूढ-पुं०(योगाऽऽरूढ) योगमारूढः । आ-रुह्-क्तः । '' यदा तु नेन्द्रियार्थेषु, न कर्मस्वनुषज्जते । सर्वसंकल्पसंन्यासी, योगाऽऽरूढस्तदोच्यते ॥ १ ॥ '' इत्युक्ते योगिभेदे, '' योगाऽऽरूढस्य तस्यैव, समः कारणमुच्यते । '' इति । वाच० । योगे सम्यग्दर्शनचारित्रे आत्मीयसाधनरत्नत्रयीलक्षणे आरूढो योगाऽऽरूढः । सम्यग्दर्शनचारित्रेषूद्युक्ते, '' योगाऽऽरूढः शमादेव, शुध्यत्यन्तर्गतक्रियः।'' अष्ट० ६ अष्ट०।

जोगि(ण्)-पुं०(योगिन्) ' जोइ(ण्) ' शब्दार्थे, षो० १५ विव०।

जोगिणाण-न०(योगिज्ञान) ' जोइणाण ' शब्दार्थे, सम्म० २ काण्ड।

जोगिणाह-पुं०(योगिनाथ) ' जोइणाह ' शब्दार्थे, द्वा० १५ द्वा०।

जोगिणीपट्टण-न०(योगिनीपट्टन) ' जोइणीपट्टण 'शब्दार्थे, ती० ४७ कल्प।

जोगिय-त्रि०(यौगिक) ' जोइय ' शब्दार्थे, प्रश्न० २ संव० द्वार।

जोगिवुड्ढि-स्त्री०(योगिवृद्धि) ' जोइवुड्ढि ' शब्दार्थे, तं०।

जोग्ग-त्रि०(योग्य) योगमर्हति । युज्-यत् , ण्यत् वा । वोगार्हे, वाच०। अर्हे, '' अरिहो त्ति वा, जोग्गो त्ति वा एगट्ठं। '' आ० चू० १ अ०। योग्यमर्हमित्यनर्थान्तरम्। विशे०। आ० म०। उचिते, दश० १ अ०। प्रभौ, '' पभु त्ति वा जोग्गो त्ति वा एगट्ठं। '' नि० चू० २० उ०। घटमानके, '' अजोग्गरूवं इह संजयाणं। '' अयोग्यरूपमघटमान-कम्। सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । निपुणे, शक्ते, पुष्यनक्षत्रे च । पुं० । ऋ-द्विनामौषधे, न० । वाच० । चाटौ, दे० ना० ३ वर्ग० ।

जोग्गा-स्त्री०(योग्या) योगमर्हति, युज्-यत्-कुत्वम् । ण्यत् वा । गुणनिकायाम् , भ० ११ श० ११ उ० । औ० । अभ्यासे, जं० ३ वक्ष० । '' खुरली तु श्रमो योग्याऽभ्यासः '' इति वचनात् । कल्प० ३० क्षण । शास्त्राभ्यासे, सूर्यस्त्रियां च । वाच० । गर्भधारणसमर्थायां योनौ, तं० ।

कोसाया रिं जोणिं, संपत्ता सुक्कमीसिया जइया ।
तइया जीवुव्वाए, जोग्गा भणिया जिणिंदेहिं ॥ ११ ॥

ते रुधिरबिन्दवः कोशाऽऽकारां योनिं संप्राप्ताः सन्तः शुक्रमिश्रिता ऋतुदिनत्रयान्ते पुरुषसंयोगेन असंयोगेन वा पुरुषवीर्येण मिलिताः (तइय त्ति) तदा जीवोत्पादे गर्भसंभूतिलक्षणे, योग्या भणिताः कथिताः, जिनेन्द्रैः सर्वज्ञैः ॥ ११ ॥ तं० ।

जोग्गोवयरिया-स्त्री०(योग्योपचर्या) योग्यानां देवगुरुसाधर्मिकस्वजनदीनानाथाऽऽदीनामुचितोपचर्या योग्योपचर्या । धूपपुष्पवस्त्रविलेपनाऽऽसनदानाऽऽदिगौरवाऽऽत्मिकायां देवगुरुसाधर्मिकस्वजनदीनानाथाऽऽदीनामुचितोपचर्यायाम् , ध० २ अधि०।

जोड-सम्बन्धे(यौट) भ्वादि०-पर०-सक०-सेट्। यौटति, अयौ-टीत्। चडि न ह्रस्वः । वाच० । नक्षत्रे, दे० ना० ३ वर्ग।

जोडिअ-पुं०(देशी) व्याधे, दे० ना० ३ वर्ग।

जो(ण्)-पुं०(योन्) योनिं सचित्ताऽऽदिकां चतुरशीतिलक्षसंख्यावच्छिन्नां करोतीति ण्यन्तात् क्विपि णिलुक्। संसारे, जै० गा०।

जोण-पुं०(योन) अनार्यप्राये देशभेदे, ज्ञा०।

जोणयपल्हवियइसिणियथोरुणियलसियलउसियदावडि-सिंहलिआरबिपुलिंदिपक्कणिवल्हिमुरुडिसवरिपारसीहिं।

योनिकाभिः, पह्लविकाभिः, इसिनिकाभिः, थोरुनिकाभिः, लसिकाभिः, लकुसिकाभिः, द्राविडीभिः, सिंहलीभिः, आरबीभिः, पुलिन्दीभिः, पक्वणीभिः, बह्लिकाभिः, मुरुण्डीभिः, शबरीभिः, पारसीभिः, नानादेशीभिरनार्यप्रायदेशोत्पन्नाभिरित्यर्थः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जोणि-पुं०स्त्री०(योनि) उत्पत्तिस्थाने, उत्त० ३ अ०। सूत्र०। मण्यादीनामुत्पत्तिस्थाने आकरे, वाच०। कारणे, पञ्चा० ४ विव०। उत्पत्तिहेतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। उपाये, स्था० ३ ठा० ३ उ०। (अर्थयोनयः 'अत्थजोणि' शब्दे प्रथमभागे ५०६ पृष्ठे भाविताः) युः मिश्रणे इति वचनाद् युवन्ति तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकाऽऽदिशरीरयोग्यस्कन्धसमुदायेन मिश्रीभवन्ति जीवा यस्यां सा योनिः। भ० १० श० २ उ०। औणाऽऽदिको निप्रत्य- यः। जीवानामुत्पत्तिस्थानविशेषे, स्था० ७ ठा०। प्रव०। आचा०। प्रज्ञा०। नं०। स०। प्रश्न०। असुमतामुत्पत्तिस्थानं योनिर्भणनी-येति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। योषिदवाच्यदेशे, अनु०। सा च स्म-रकूपिका।

तल्लक्षणम्-

इत्थीऐं नाभिहिट्ठा, सिरादुगं पुप्पनालियागारं।
तस्स य हिट्ठा जोणी, अहोमुहा संठिया कोसा॥ ६॥

स्त्रिया नार्याः, नाभेरधोऽधोभागे, पुष्पनालिकाऽऽकारं सुमनोवृन्तसदृशं, शिराद्विकं धमनियुग्मं वर्तते, च पुनः, तस्य शिराद्विकस्याओ योनिः स्मरकूपिका संस्थिताऽस्ति। किंभूता ? अधोमुखाः। पुनः किंभूता ?-(कोस त्ति) कोशा खड्गपिधानकाऽऽकारेत्यर्थः॥ ६॥ तं०।

योनिसंख्या यथा-

चोरासीइजोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता।

चतुरशीतिर्योनयो जीवोत्पत्तिस्थानानि० त एव प्रमुखानि द्वाराणि योनिप्रमुखानि, तेषां शतसहस्राणि लक्षाणि योनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। स० ८४ सम०।

पुढवि दग अगणि मारुअ, इक्किक्के सत्तजोणिलक्खाओ।
वण पत्तेअ अणंते, दस चउदस जोणिलक्खाओ॥ ६८२॥
विगलिंदिएसु दो दो, चउरो चउरो अ नारयसुरेसु।
तिरिएसु हुंति चउरो, चउदसलक्खाउ मणुएसुं॥ ६८३॥

'य' मिश्रणे, इत्यस्य धातोः, युवन्ति भवान्तरसंक्रमणकाले तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्तो जीवा औदारिकाऽऽदिशरीरप्रायोग्यपुद्गलस्कन्धैर्मिश्रीभवन्त्यस्यामित्यौणादिके 'नि' प्रत्यये योनिः; जीवानामुत्पत्तिस्थानमित्यर्थः। तत्र पृथिव्युदकाग्निमरुतां संबन्धिन्येकैककस्मिन् समूहे सप्त सप्त योनिलक्षा भवन्ति। तद्यथा-सप्त पृथिवीनिकाये, सप्तोदकनिकाये, सप्ताग्निनिकाये, सप्त वायु-निकाये। वनस्पतिनिकायो द्विविधः। तद्यथा-प्रत्येकोऽनन्तकायश्च। तत्र प्रत्येकवनस्पतिनिकाये दश योनिलक्षाः, अनन्तवनस्पतिनिकाये चतुर्दश। विकलेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियाऽऽदिषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियरूपेषु प्रत्येकं द्वे द्वे योनिलक्षाः। तद्यथा-द्वे योनिलक्षे द्वीन्द्रियेषु, द्वे योनिलक्षे त्रीन्द्रियेषु, द्वे चतुरिन्द्रियेषु। तथा चतस्रो योनिलक्षा नारकाणां, चतस्रो देवानां, तथा तिर्यक्षु पञ्चेन्द्रियेषु चतस्रो योनिलक्षाः। तथा चतुर्दश योनिलक्षा मनुष्येषु। सर्वसंख्यायाश्च मीलने चतुरशीतिर्योनिलक्षा भवन्ति इति। न च वक्तव्यम्, अनन्तानां जीवानामुत्पत्तिस्थानान्यप्यनन्तानि प्राप्नुवन्ति, यतो जीवानां सामान्याऽऽधारभूतो लोकोऽप्यसंख्येयप्रदेशात्मक एव, विशेषाऽऽधाररूपाण्यपि नरकनिष्कुटेष्वेव च, येन प्रत्येकसाधारणजन्तुशरीराण्यसंख्येयान्येव, ततो जीवानामानन्त्येऽपि कथमुत्पत्तिस्थानानानन्त्यम्। भवतु तर्ह्यसंख्येयानीति चेत् ? नैवम्। यतो बहून्यपि तानि केवलिदृष्टेन केनचिद्वर्णाऽऽदिना धर्मेण सदृशान्येकैव योनिरिष्यते, ततोऽनन्तानामपि जन्तूनां केवलिविवक्षितवर्णाऽऽदिसादृश्यतः परस्परान्तर्भावचिन्तया चतुरशीतिलक्षसंख्या एव योनयो भवन्ति, न हीनाधिकाः॥ ६८२। ६८३॥

एतदेवाऽऽह-

समवण्णाइसमेआ, बहवो वि हु जोणिलक्खभेआओ।
सामन्ना घेप्पंति हु, एक्कगजोणीऐं गहणेणं॥ ६८४॥

समैः सदृशैः, वर्णाऽऽदिभिर्वर्णगन्धरसस्पर्शैः, समेता युक्ताः, समानवर्णगन्धरसस्पर्शा इत्यर्थः। बहवोऽपि प्रभूता अपि, योनिभेदलक्षाः, हुर्निश्चितम्, इह एका योनिर्जातिग्रहणेन गृह्यते। कुतः ? सामान्याद्, व्यक्तिभेदतः प्राभूत्येऽपि समानवर्णगन्धरसस्पर्शसद्भावेन सादृश्यादिति। ननु योनिकुलयोः कः प्रतिविशेषः ? उच्यते-योनिः जीवानामुत्पत्तिस्थानं, यथा-वृश्चिकाऽऽदेर्गोमयाऽऽदि। कुलानि तु-योनिप्रभवाणि। तथाहि-एकस्यामेव योनावनेकानि कुलानि भवन्ति, यथा छगणयोनौ कृमिकुलं, कीटकुलं; वृश्चिककुलमित्यादि। यदि वा तस्यैव वृश्चिकाऽऽदेर्गोमयाऽऽद्येकयोनित्वेनोत्पन्नस्यापि कपिलरक्ताऽऽदिवर्णभेदादनेकविधानि कुलानीति। प्रव० १५१ द्वार। सम०। आचा०।

योनिभेदाः-

तिविहा तिविहा जोणी, अंडा पोया जराउया चेव।
वेइंदिय तेइंदिय, चउरो पंचिंदिया चेव॥ १५४॥

''तिविहा'' इत्यादि। अत्र हि शीतोष्णमिश्रभेदात्तया सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्तथा संवृतविवृततदुभयभेदात्तथा स्त्रीपुंनपुसकभेदाच्च इत्यादीनि बहूनि योनीनां त्रिकाणि संभवन्ति। तेषां सर्वेषां संग्रहार्थं त्रिविधा त्रिविधेति वीप्सानिर्देशः। तत्र नारकाणामाद्यासु तिसृषु भूमिषु शीतैव योनिः, चतुर्णामुपरितननरकेषु शीता, अधस्तननरकेषूष्णा, पञ्चमीषष्ठीसप्तमीषूष्णैव, नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणामशेषदेवानां च शीतोष्णा योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसंमूर्छनजतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनिः-शीता, उष्णा, शीतोष्णा चेति। तथा नारकदेवानामचित्ता, नेतरे, द्वीन्द्रियाऽऽदिसंमूर्छनजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनिः सचित्ताचित्तमिश्रयोनिर्नेतरे। तथा देवनारकाणां संवृता योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुरिन्द्रियसंमूर्छनजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां विवृता योनिर्नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणां संवृतविवृता योनिर्नेतरे, तथा नारकानपुंसकजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां विवृता योनिर्नेतरे, गर्भयोनय एव। तिर्यञ्चस्त्रिविधाः स्त्रीपुंनपुंसकयोनयोऽपि मनुष्या अप्येवं त्रैविध्यभाजः। देवाः स्त्रीपुंयोनय एव। तथा परं मनुष्ययोनेस्त्रैविध्यम्। तद्यथा-कूर्मोन्नता, तस्यां चार्हन्चक्रवर्त्यादिसत्पुरुषाणामुत्पत्तिः। तथा संखाऽऽवर्त्ता, सा

च स्त्रीरत्नस्यैव, तस्यां च प्राणिनां संभवो नास्ति, न निष्पत्तिः। तथा वंशीपत्रा, सा च प्राकृतजनस्येति। तथा परं त्रैविध्यं निर्युक्तिकृद्दर्शयति। तद्यथा-अण्डजा, पोतजा, जरायुजा चेति। तत्राण्डजाः पक्ष्यादयः, पोतजा वल्गुलीगजकलभाऽऽदयः, जरायुजा गोमहिषीमनुष्याऽऽदयः, तथा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदाच्च भिद्यन्ते। आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०।

सत्त्वानां योनयः प्रतिपाद्यन्ते-

कतिविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता। तं जहा-सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोगी।

'' कतिविहा णं भंते ! जोणी '' इत्यादि। कतिविधा कतिप्रकारा, णमिति पूर्ववत्, भदन्त ! योनिः प्रज्ञप्ता ? अथ योनिरिति कः शब्दार्थः ? उच्यते- '' यु '' मिश्रणे, युवन्ति तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकाऽऽदिशरीरप्रायोग्यपुद्गलस्कन्धसमुदयेन मिश्रीभवन्त्यस्यामिति योनिरुत्पत्तिस्थानम्। औणादिको निप्रत्ययः। भगवानाह-गौतम ! त्रिविधा योनिः प्रज्ञप्ता। तद्यथा-शीता, उष्णा, शीतोष्णा। तत्र शीतस्पर्शपरिणामा शीता, उष्णस्पर्शपरिणामा उष्णा, शीतोष्णरूपोभयस्पर्शपरिणामा शीतोष्णा।

योनिविशेषप्रतिपादनायाऽऽह-

नेरइयाणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ? गोयमा ! सीता वि जोणी, उसिणा वि जोणी, नो सीतोसिणा जोगी। असुरकुमाराणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोगी ? गोयमा ! नो सीता जोणी, नो उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी, एवं० जाव थणियकुमाराणं। पुढवीकाइयाणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ? गोयमा ! सीता वि जोणी, उसिणा वि जोणी, सीतोसिणा वि जोणी। एवं आउवाउवणस्सइबेइंदियतेइंदियचउरिंदियाण वि पत्तेयं भाणियव्वं। तेउकाइयाणं नो सीता, उसिणा, नो सीतोसिणा। पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ? गोयमा ! सीता वि जोणी, उसिणा वि जोणी, सीतोसिणा वि जोणी। संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण वि एवं चेव। गब्भवक्कंतियमणुस्साणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ? गोयमा ! नो सीता जोणी, नो उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी। मणुस्साणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ? गोयमा ! सीता वि, उसिणा वि, सीतोसिणा वि जोणी। संमुच्छिमणुस्साणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ? गोयमा ! तिविहा वि जोणी। वाणमंतरदेवाणं किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ? गोयमा ! नो सीता, नो उसिणा, सीतोसिणा जोणी। जोइसियाणं वेमाणियाण वि एवं चेव॥

तत्र नैरयिकाणां द्विविधा योनिः-शीता, उष्णा च। न तृतीया शीतोष्णा। कस्यां पृथिव्यां का योनिरिति चेत् ? उच्यते-रत्नप्रभायां शर्करप्रभायां वालुकाप्रभायां च यानि नैरयिकाणामुपपातक्षेत्राणि तानि सर्वाण्यपि शीतस्पर्शपरिणामपरिणतानि उपपातक्षेत्रव्यतिरेकेण चान्यत् सर्वमपि तिसृष्वपि पृथिवीषूष्णस्पर्शपरिणामपरि-णतं, तेन तत्रत्या नैरयिकाः शीतयोनिका उष्णां वेदनां वेदयन्ते। पङ्कप्रभायां बहून्युपपातक्षेत्राणि शीतस्पर्शपरिणामपरिणतानि, स्तोकान्युष्णस्पर्शपरिणामपरिणतानि, येषु च प्रस्तटेषु नरकाऽऽवासेषु शीतस्पर्शपरिणामान्युपपातक्षेत्राणि, तेषु तद्व्यतिरेकेण चान्यत्सर्वमुष्णस्पर्शपरिणामं, तेषु प्रस्तटेषु नरकाऽऽवासेषु चोप-पातक्षेत्राण्युष्णस्पर्शपरिणामानि, तेषु तद्व्यतिरेकेण चान्यत्सर्वं शीतस्पर्शपरिणामं, तेन तत्रत्या बहवो नैरयिकाः शीतयोनिका उष्णां वेदनां वेदयन्ते, स्तोका उष्णयोनिकाः शीतवेदनामिति। धूमप्रभायां बहून्युपपातक्षेत्राणि उष्णस्पर्शपरिणामपरिणतानि, स्तोकानि शीतस्पर्शपरिणामानि, येषु च प्रस्तटेषु येषु च नरकाऽऽवासेषु चोष्णस्पर्शपरिणामपरिणतान्युपपातक्षेत्राणि, तेषु तद्व्यतिरेकेणान्यत्सर्वं शीतपरिणामं, येषु च शीतस्पर्शपरिणामान्युपपातक्षेत्राणि, तेष्वन्यत्सर्वमुष्णस्पर्शपरिणामं, तेन च तत्रत्या बहव उष्णयोनिकाः शीतवेदनां वेदयन्ते, स्तोकाः शीतयोनिका उष्णवेदनामिति। तमःप्रभायां तमस्तमःप्रभायां चोपपातक्षेत्राणि सर्वाण्यप्युष्णस्प-र्शपरिणामपरिणतानि, तद्व्यतिरेकेण चान्यत्सर्वं तत्र शीतस्पर्शपरिणामं, तेन तत्रत्या नारका उष्णयोनिकाः शीतवेदनां वेदयितार इति। भवनवासिनां गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां चोपपातक्षेत्राणि शीतोष्णरूपोभयस्पर्शपरिणामपरिणतानि, तेन तेषां योनिरुभयस्वभावान शीता, नाप्युष्णा। एकेन्द्रियाणामग्निकायिकवर्जानां द्वित्रिचतुरिन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंमूर्च्छिममनुष्याणां चोपपातस्थानानि शीतस्पर्शान्युष्णस्पर्शान्युभयस्पर्शान्यपि भवन्तीति, तेषां त्रिविधा योनिः-तैजस्कायिका उष्णयोनिकाः, तथा प्रत्यक्षत उपलब्धेः। प्रज्ञा० ८ पद। (एतेषामल्पबहुत्वम् ' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६५८ पृष्ठे गतम्) शीताऽऽदियोनिप्रकरणार्थसंग्रहस्तु प्रायेणैवम्- '' सीओसिणजोणीया, सव्वे देवा य गब्भवक्कंती। उसिणा य तेउकाए, दुह निरए तिविह सेसेसु॥ १॥ '' (गब्भवक्कंति त्ति) गर्भोत्पत्तिकाः। भ० १० श० २ उ०। स्था०।

भूयोऽपि प्रकारान्तरेण योनीनां त्रैविध्यं प्रतिपिपादयिषुराह-

कतिविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता। तं जहा-सचित्ता, अचित्ता, मीसिया॥

'' कइविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ?'' इत्यादि। सचित्ता जीवप्रदेशसंबद्धा, अचित्ता सर्वथा जीवविप्रमुक्ता, मिश्रा जीवविप्रमुक्ताविप्रमुक्तास्वरूपा।

नेरइयाणं भंते ! किं सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, मीसिया जोणी ? गोयमा ! नो सचित्ता जोणी, अचित्ता, नो मीसिया जोणी। असुरकुमाराणं भंते ! किं सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, मीसिया जोणी ? गोयमा !

नो सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, नो मीसिया । एवं० जाव थणियकुमाराणं । पुढवीकाइयाणं भंते ! किं सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, मीसिया जोणी ? गोयमा ! सचित्ता वि जोणी, अचित्ता वि जोणी, मीसिया वि जोणी । एवं० जाव चउरिंदियाणं । सम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, सम्मुच्छिममणुस्साण य एवं चेव ; गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं गब्भवक्कंतियमणुस्साण य नो सचित्ता, नो अचित्ता, मीसिया जोणी । वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा असुरकुमा-राणं।।

तत्र नैरयिकाणां युदपपातक्षेत्रं तत्र न केनचिज्जीवेन परिगृहीतमिति तेषामचित्ता योनिः । यद्यपि सूक्ष्मैकेन्द्रियाः सकललोकव्यापिनः, तथाऽपि न तत्प्रदेशैरुपपातस्थानपुद्गला अन्योन्यानुगमसंबद्धा इति अचित्तैव तेषां योनिः । एवमसुरकुमाराऽऽदीनां भवनपतीनां व्यन्तरज्योतिष्क-वैमानिकानां वा अचित्ता योनिर्भावनीया । पृथिवीकायिकाऽऽदीनां संमुर्च्छिममनुष्यपर्यन्तानामुपपातक्षेत्रं जीवैः, परिगृहीतमपरिगृहीतमुभयस्वभावं च संभवतीति त्रिविधा योनिः, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्याणां च यत्रोत्पत्तिस्तत्र सचित्ताचित्ता अपि शुक्रशोणिताऽऽदिपुद्गलाः सन्तीति मिश्रा तेषां योनिः । प्रज्ञा० ९ पद। (अल्पबहुत्वम् ' अप्पा-बहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६५८ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

सचित्ताऽऽदियोनिप्रकरणार्थसंग्रहस्तु प्रायेणैवम्-

'' अचित्ता खलु जोणी, नेरइयाणं तहेव देवाणं ।
मीसा य गब्भवासे, तिविहा पुण होइ सेसेसु '' ॥ १ ॥

सत्यप्येकेन्द्रियसूक्ष्मजीवनिकायसंभवे नारकदेवानां यदुपपातक्षेत्रं तत्र केनचिज्जीवेन परिगृहीतमित्यचित्ता तेषां योनिः । गर्भवासयोनिस्तु मिश्रा, शुक्रशोणितपुद्गलानामचित्तानां गर्भाशयस्य च सचेतनस्य भावादिति। शेषाणां पृथिव्यादीनां संमूर्च्छजानां च मनुष्याऽऽदीनामुपपातक्षेत्रे जीवेन परिगृहीतेऽपरिगृहीते उभयरूपे चोत्पत्तिरिति त्रिविधाऽपि योनिरिति । भ० १० श० २ उ० । स्था० । प्रव० ।

भूयोऽपि प्रकारान्तरेण योनीः प्रतिपादयितुकाम आह-

कतिविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता । तं जहा-संबुडा जोणी, वियडा जोणी, संबुडवियडा जोणी । नेरइयाणं भंते ! किं संबुडा जोणी, वियडा जोणी, संबुडवियडा जोणी ? गोयमा ! संबुडा जोणी, नो वियडा जोणी, नो संबुडवियडा जोणी । एवं० जाव वणस्सइकाइयाणं । वेइंदियाणं पुच्छा ? गोयमा ! नो संबुडजोणी, विगडजोणी, नो संबुडवियडजोणी । एवं० जाव चउरिंदियाणं । संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं संमुच्छिममणुस्साण य एवं चेव । गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियगब्भवक्कंतियमणुस्साण य नो संबुडा जोणी, नो वियडा जोणी, संबुडवियडा जोणी । बाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा नेरइयाणं ।।

तत्र नारकाणां संवृता योनिः, नरकनिष्कुटानां नारकोत्पत्तिस्थानानां संवृतगवाक्षकल्पत्वात् । तत्र च जाताः सन्तो नैरयिकाः प्रवर्द्धमानमूर्तयस्तेभ्यः पतन्ति शीतेभ्य उष्णेषु, उष्णेभ्यः शीतेष्विति। भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामपि संवृता योनि, तेषां देवशयनीयदेवदूष्यान्तरिते उत्पादात्, '' देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिए अंगुलासंखेज्जइभागमेत्ताए सरीरोगाहणाए उववज्जइ '' इति वचनात् । एकेन्द्रिया अपि संवृतयोनिकाः, तेषामपि योनेः स्पष्टमनुपलक्ष्यमाणत्वात्। द्वीन्द्रियाऽऽदीनां चतुरिन्द्रियपर्यन्तानां सम्मूर्च्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसम्मुर्च्छिममनुष्याणां च विवृता योनिः, तेषामुत्पत्तिस्थानस्य जलाऽऽशयाऽऽदेः स्पष्टमुपलभ्यमानत्वात्। गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां च संवृतविवृता योनिः, गर्भस्य संवृतविवृतरूपत्वात्। गर्भो ह्यन्तःस्वरूपतो नोपलभ्यते, बहिस्तूदरवृद्ध्यादिनोपलक्ष्यते इति । प्रज्ञा० ९ पद। (अल्पबहुत्वम् ' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६५८ पृष्ठे गतम्)

संवृताऽऽदियोनिप्रकरणार्थसंग्रहस्तु प्राय एवम्-

'' एगिंदियनेरइया, संवुडजोणी तहेव देवा य।
विगलिंदिएसु वियडा, संवुडवियडा य गब्भम्मि ॥ १ ॥ ''

एकेन्द्रियाणां संवृता योनिः, तथास्वभावत्वात्। नारकाणामपि संवृतैव । यतो नरकनिष्कुटाः संवृतगवाक्षकल्पाः, तेषु च जातास्ते वर्द्धमानमूर्त्तयः, तेभ्यः पतन्ति शीतेभ्यो निष्कुटेभ्य उष्णेषु नरकेषु, उष्णेभ्यस्तु शीतेष्विति। देवानामपि संवृतैव। यतो देवशयनीये देवदूष्यान्तरितोऽङ्गुलासङ्ख्यानभागमात्रावगाहनो देव उत्पद्यत इति। भ० १० श० २ उ० । स्था० । सूत्र० । नं० ।

सम्प्रति मनुष्ययोनिविशेषप्रतिपादनार्थमाह-

कतिविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता । तं जहा-कुम्मुन्नया, संखावत्ता, वंसीपत्ता। कुम्मुन्नया णं जोणी उत्तमपुरिसमाउयाणं कुम्मुन्नयाए णं जोणीए उत्तमपुरिसा गब्भं वक्कमंति । तं जहा-अरहंतचक्कवट्टीणं बलदेवा वासुदेवा । संखावत्ता णं जोणी इत्थीरयणस्स, संखावत्ताए णं जोणीए बहवे जीवा य पोग्गला य वक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उवत्तयंति, नो चेव णं निप्पज्जंति । वंसीपत्ता णं जोणी पिहुणस्स, वंसीपत्तियाए णं जोणीए पिहुजणे गब्भं वक्कमंति ।।

'' कइविहा णं भंते ! जोणी पन्नत्ता ? '' इत्यादि। कूर्मपृष्ठमिवो-न्नता कूर्मोन्नता । शङ्खस्येवाऽऽवर्ता यस्याः सा शङ्खावर्त्ता । संयुक्तवंशीयत्रद्वयाऽऽकारत्वात् वंशीपत्रा। शेषं सुगमं, नवरं शङ्खावर्तायां योनौ बहवो जीवा जीवसंबद्धाः पुद्गलाश्चावक्रमन्ते, आगच्छन्ति, व्युत्क्रामन्ति गर्भतयोत्पद्यन्ते, तथा चीयन्ते सामान्यतश्चयमागच्छन्ति, उपचीयन्ते विशेषत उपचयमायान्ति, परं न निष्पद्यन्ते, अतिप्रबलकामाग्निपरितापतो ध्वंसगमनादिति वृद्धप्रवाहः । प्रज्ञा० ९ पद।

एतद्वक्तव्यतासंग्रहस्त्वेवम्-

'' संखाऽऽवत्ता जोणी, इत्थीरयणस्स होइ विण्णेया।
तीए पुण उप्पण्णो, नियमाउ विणस्सई गब्भो ॥ १ ॥
कुम्मुण्णयजोणीए, तित्थयरा चक्कि-वासुदेवा य।

रामा वि य जायंते, सेसाए सेसगजणाओ ॥ २ ॥ '' इति ।
भ० १० श० २ उ० । स्था० । प्रव० ।
तथा शुभाशुभभेदेन योनीनामनेकत्वं गाथाभिः प्रदर्शयते-
'' सीयाऽऽदी जोणीओ, चउरासी-तीयसय-सहस्साइं ।
असुभाओ य सुभाई, तत्थ सुभाओ इमा जाण ॥ १ ॥
अस्संखा उ मणुस्सा, राईसरसंखमादिआईणं ।
तित्थगरनामगोत्तं, सव्वसुहं होइ नायव्वं ॥ २ ॥
तत्थ वि य जाइसंप-न्नतादि सेसा उ हुंति असुभाओ ।
दोसं वि किव्विसादी, सेसाओ हुंति असुभाओ ॥ ३ ॥
पंचिंदियतिरिएसुं, हयगयरयणे हवंति उ सुभाओ ।
सेसाओ असुभाओ, सुभवन्नेगिंदियादीया ॥ ४ ॥
देविंद चक्कवट्टि-त्तणाइँ मोत्तुं च तित्थगरभावं ।
अणगारभाविता वि य, सेसा उ अणंतसो पत्ता '' ॥ ५ ॥
आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अथ स्त्रीणां कियद्भ्यो वर्षेभ्यः पुनरूर्ध्वं योनिविध्वंसो भवतीत्याह-

पणपन्ना य परेणं, जोणी पडिलायए महिलियाणं ।
पण्णत्तरीइ परओ, पाएण पुमं भवेऽवीओ ॥ १२ ॥

महिलानां स्त्रीणां प्रायः प्रवाहेण (पणपन्ना य त्ति) पञ्चपञ्चाशद्वर्षेभ्यः (परेणं ति) ऊर्ध्वं योनिः प्रम्लायति, गर्भधारणाऽसमर्था भवतीत्यर्थः । तं० । (एतद्गता बहुवक्तव्यता ' गब्भ ' शब्दे तृतीयभागे ८३१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

सम्प्रति जीवविशेषयोनिवक्तव्यतादिरर्थ उच्यते । तत्र-
चेदं सूत्रम्-

अह भंते ! सालीणं बीहीणं गोधूमाणं जवाणं जवजवाणं एएसि णं धण्णाणं कोट्ठाउत्ताणं पल्लाउत्ताणं मंचाउत्ताणं मालाउत्ताणं ओलित्ताणं लित्ताणं पिहियाणं मुद्दियाणं लंछियाणं केवइयं कालं जोणी संचिट्ठइ ? गोयमा ! जहण्णं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसं तिण्णि संवच्छराइं, तेण परं जोणी पडिलायइ, तेण परं जोणी विद्धंसइ, तेण परं वीए अवीए भवइ, तेण परं जोणीवोच्छेदे पण्णत्ते, समणाउसो ! भ० ६ श० ७ उ० ।

'' भंते त्ति '' पदं साधनीयमिति, अतो भंते त्ति महावीरमामन्त्र-यन्नुक्तवान् गौतमाऽऽदिः । शालीनां, कलमाऽऽदिकानामिति वि-शेषः । शेषाणां ब्रीहीणामिति सामान्यम् । यवयवा यवविशेषा एव । एतेषामभिहितत्वेन प्रत्यक्षाणां कोष्ठे कुशूले आगुप्तानि प्रक्षेपणेन संरक्षितानि कोष्ठागुप्तानि, तेषाम् । एवं सर्वत्र, नवरं पल्यं वंशकट-काऽऽदिकृतो धान्याऽऽधारविशेषः, मञ्चः स्थूणानामुपरिस्थापित-वंशकटकाऽऽदिमयो जनप्रतीतः, मालको गृहस्योपरितनभागः । अभिहितं च- '' अक्खुड्डो होइ मंचो, मालो य घरोवरिं होइ '' इति । (ओलित्ताणं ति) द्वारदेशे पिधानेन सह गोमयाऽऽदिना अवलिप्तानाम् । (लित्ताणं ति) सर्वतः (पिहियाणं ति) स्थगितानाम् (मुद्दियाणं ति) मृत्तिकाऽऽदिमुद्रावताम् (लंछियाणं ति) रेखाऽऽदिभिः कृतलाञ्छना-नाम् । (केवइयं ति) कियन्तं कालं योनिर्यस्यामङ्कुर उत्पद्यते, ततः परं योनिः प्रम्लायति, वर्णाऽऽदिना हीयते, प्रतिध्वस्यते विध्वंसाभि-मुखीभवति । विध्वस्यते, क्षीयते । एवं च तद् बीजमबीजं भवति उप्तमपि नाङ्कुरमुत्पादयति । किमुक्तं भवति ?-ततः परं योनिव्यवच्छेदः प्रज्ञप्तो मया, अन्यैश्च केवलिभिरिति शेषं स्पष्टम् । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अह भंते ! कलावमसूरतिलमुग्गमासनिप्फावकुलत्थआलिसंदगसंतीणं पलिमंथमाईणं एएसि णं धण्णाणं ? जहा सालीणं तहा एयाणि वि, णवरं पंचसंवच्छराइं, सेसं तं चेव ।

अह भंते ! अयसिकुसुंभगकोद्दवकंगुवरगरालगकोदूसगसणसरिसवमूलाबीयमाईणं एएसि णं धन्नाणं ? एयाणि वि तहेव, णवरं सत्त संवच्छराइं, सेसं तं चेव । भ० ६ श० ७ उ० ।

अहेत्यादि सूत्रसिद्धम् । नवरम् , अथेति परप्रश्नार्थः । भदन्तेति गुर्वामन्त्रणम् । (अयसीति) अतसी कुसुम्भो रट्टा रालकः कङ्गूविशेषः सणस्त्वक् प्रधानो धान्यविशेषः, सर्षपाः सिद्धार्थकाः, मूलकः शाकविशेषः, तस्य बीजानि ककारलोपसन्धिभ्याम् '' मूलावीय त्ति '' प्रतिपादितमिति । शेषाणां पर्याया लोकरूदितो ज्ञेया इति । यावद्-ग्रहणात्- '' मंचाउत्ताणं मालाउत्ताणं ओलित्ताणं लंछियाणं मुद्दियाणं । '' इति द्रष्टव्यम् । व्याख्याऽस्य प्रागिवेति । पुनर्यावत्करणात्- '' पविद्धंसइ विद्धंसइ से वीए अवीए भवइ तेण परं । '' इति दृश्यम् । स्था० ७ ठा० । कोष्ठाऽऽदिषु निक्षिप्तानाम् , उपलक्षणमेतत्-पिहितानामव-लिप्तानां लाञ्छितानां मुद्रितानां चोत्कृष्टानां स्थितौ सप्तवर्षाणि भवन्ति, जघन्येन पुनः सर्वेषामपि पूर्वोक्तानां धान्यानामन्तर्मुहूर्तं स्थितिर्भवेत् , अन्तर्मुहूर्तात् परतः स्वायुःक्षयादेवाचित्तं जायते । सा च परमार्थतोऽ-तिशयज्ञानेनैव सम्यक् परिज्ञायते, न छाद्मस्थिकज्ञानेनेति न व्यवहारपथमवतरति । अत एव च पिपासापीडितानामपि साधूनां स्वभावतः स्वायुः-क्षयेणाचित्तीभूतमपि तडागोदकपानाय वर्द्धमान-स्वामी भगवान् नानुज्ञातवान् । इत्यंभूतस्याचित्तीभवनस्य छद्मस्थानां दुर्लक्षत्वेन मा भूत्सर्वत्रापि तडागोदके सचित्तेऽपि पाश्चात्यसाधूनां प्रवृत्तिप्रसङ्ग इति कृत्वा । प्रव० १५४ द्वार । तं० । ल० प्र० । सूत्र० । (कियद्गमनेन धान्यानामचित्तत्वमिति ' अचित्त ' शब्दे प्रथमभागे १८५ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) अन्येषामुत्पादकत्वाद् जीवे जीवस्याभिवचनान्य-धिकृत्य- '' जोणीए त्ति वा '' योनिरन्येषामुत्पादकत्वात् । भ० २० श० २ उ० । भगनामके देवे, तद्देवताके पूर्वाफल्गुनीनक्षत्रे च । स्था० २ ठा० ३ उ० । वाच० । योनिविचारेयत्र मनुष्योत्पत्तिस्तत्रैव द्वीन्द्रियाऽऽदीना-मुत्पत्तिर्दृश्यते, तथा च योनिसङ्करः स्यात् ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-मनुष्यद्वीन्द्रियाऽऽदीनां योन्येकत्वेऽपि स्वस्वजातावेव योन्येकत्व-व्यवहारो, न तु भिन्नजातौ । अत एव छगणाऽऽदिषु अप्युत्पन्नानां भूयसां कुलानां द्वीन्द्रियाऽऽदीनां स्वजात्यपेक्षया योन्येकत्वं, भिन्नजातीया-नामपि तत्रोत्पन्नानां स्वजात्यपेक्षयैकयोनिकत्वं, तेन न योनिसङ्करः संभाव्यत इति । १०२ । प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

जोणिघात-पुं०(योनिघात) योनिविध्वंसे, नि० चू० ४ उ० । (अस्य विस्तरः ' गब्भ ' शब्दे ८६१ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

जोणिजम्मणणिक्खमण-न०(योनिजन्मनिष्क्रमण) योग्या जन्मार्था-न्निष्क्रमणे, कल्प० २ क्षण० ।

जोणिपाहुड-न०(योनिप्राभृत) जीवयोनिभेदस्वरूपप्रतिपादके पूर्वगताऽधिकारविशेषे, बृ० १ उ० ।

जोणिप्पमुह-त्रि०(योनिप्रमुख) योनिद्वारके, विपा० १ श्रु० १ अ०। '' चउरासीइजोणिप्पमुहसयसहस्सा। '' स० ८४ सम०। योनिप्रमुखानि योनिप्रवाहाणि एकस्यामेव योनावनेकजातिकुलसंभवादिति। जी० ३ प्रति०। प्रव०।

जोणिभूय-त्रि०(योनिभूत) योन्यवस्थे बीजाऽऽदौ, '' जोणिब्भुए बीए, जीवोऽवक्कमइ सो व अण्णो वा। '' आचा० नि० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। अत्र भूतशब्दोऽवस्थावचनः, योन्यवस्थे बीजे योनि-परिणाममजहतीत्यर्थः। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। बीजे योनिभूते योन्यवस्थां प्राप्ते योनिपरिणाममजहतीति भावः। बीजस्य हि द्विविधाऽवस्था। तद्यथा-योन्यवस्था, अयोन्यवस्था च। तत्र यदा बीजं योन्यवस्थां न जहाति, अथ चोज्झितं जन्तुना, तदा तद् योनिभूतमित्यभिधीयते। प्रज्ञा० १ पद। नि० चू०।

जोणिमुहणिप्फडिय-त्रि०(योनिमुखनिस्फटित) स्मरमन्दिरतुण्ड-निर्गते, तं०।

जोणिय-त्रि०(योनिक) योनदेशोद्भवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

***योनिज**-त्रि०। योनिस्थानाद् जायते। जनडः। देहभेदे, जरायुजेऽण्डजे च देहे, वाच०।

जोणिलक्खचुलसी-स्त्री०(योनिलक्षचतुरशीति) चतुरशीति-योनिलक्षसमूहे, प्रव० १५१ द्वार०। (तद्वक्तव्यता ' जोणि ' शब्दे १६५२ पृष्ठे गता)

जोणिविहाण-न०(योनिविधान) योनिभेदे, विपा० १ श्रु० १ अ०।

जोणिसंगह-पुं०(योनिसंग्रह) योनिरुत्पत्तिहेतुर्जीवस्य तया संग्रहोऽनेकेषामेकशब्दाभिलाप्यत्वं योनिसंग्रहः। भ० ७ श० ५ उ०। योनिभिरुत्पत्तिस्थानविशेषैर्जीवानां संग्रहो योनिसंग्रहः। योनिप्रतिपादनद्वारा-ऽनेकेषां जीवानामेकशब्देन प्रतिपादने, स्था०।

योनिसंग्रहतो जीवानाह-

सत्तविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते। तं जहा-अडजा, पोतजा, जराउया, रसया, संसेयया, संमुच्छिमा, उब्भिया॥

'' सत्तविहे '' इत्यादि। योनिभिरुत्पत्तिस्थानविशेषैर्जीवानां संग्रहो योनिसंग्रहः। स च सप्तधा, योनिभेदात्सप्तधा जीवा इत्यर्थः। अण्डजाः पक्षिमत्स्यसर्पाऽऽदयः। पोतं वस्त्रं, तज्जाताः पोतादिव वा वोहित्थाज्जाताः अजरायुवेष्टिता इत्यर्थः। पोतजा हस्तिवल्गुलीप्रभृतयो जरायौ गर्भवेष्टने जातास्तद्वेष्टिता इत्यर्थः। जरायुजा मनुष्याः, गवादयश्च। रसे तीमनक-ञ्जिकाऽऽदौ जाता रसजाः। संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजाः-यूकाऽऽदयः। संमूर्च्छनेन निर्वृत्ताः संमूर्च्छिमाः कृम्यादयः, उद्भिदो भूमिभेदाज्जाता उद्भिज्जाः खञ्जनकाऽऽदयः। स्था० ७ ठा०।

अट्ठविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते। तं जहा-अंडया, पोयया, ०जाव उब्भिया उववाइया॥

'' अट्ठविहे '' इत्यादि सुगमं, नवरमौपपातिका देवनारकाः। स्था० ८ ठा०।

संप्रति पक्षिणां प्रकारान्तरेण भेदप्रतिपादनार्थमाह-

पक्खीणं भंते! कइविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते? गोयमा! तिविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते। तं जहा-अंडया, पोयया, संमुच्छिमा॥

'' पक्खीणं भंते! '' इत्यादि। पक्षिणां भदन्त! कतिविधः कति-प्रकारो योनिसंग्रहो, योन्युपलक्षितं संग्रहणमित्यर्थः? भगवानाह-गौतम! त्रिविधो योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-अण्डजाः-मयूरा-ऽऽदयः, पोतजाः-वल्गुल्यादयः, संमूर्च्छिमाः-खञ्जरीटाऽऽदयः। जी० ३ प्रति०।

भुयगाणं भंते! कइविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते? गोयमा! तिविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते। तं जहा-अंडया, पोयया, संमुच्छिमा, एवं जहा खहयराणं॥

'' भुयगाणं भंते! '' इत्यादि। भुजगानां भदन्त! कतिविधो योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः? इत्यादि पक्षिवत् सर्वं निरवशेषं वक्तव्यम्। जी० ३ प्रति०।

चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा? गोय-मा! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-जराउया संमुच्छिमया। जरा-उया तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा। तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे णपुंसगा॥

'' चउप्पयाणं '' इत्यादि। चतुष्पदानां भदन्त! कतिविधो योनि-संग्रहः प्रज्ञप्तः? भगवानाह-गौतम! द्विविधो योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-पोतजाः, संमूर्छिमाश्च। इह ये अण्डजव्यतिरिक्तगर्भव्यु-त्क्रान्तास्ते सर्वे जरायुजाः, अजरायुजा वा पोतजा इति विवक्षित-मतोऽत्र द्विविधो यथोक्तरूपो योनिसंग्रह उक्तः। अन्यथा गवादीनां जरायुजत्वात् तृतीयोऽपि जरायुजलक्षणो योनिसंग्रहो वक्तव्यः स्यादिति। तत्र ये पोतजाः ते त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-स्त्रियः, पुरुषाः, नपुंसकाश्च। तत्र ये ते संमूर्च्छिमास्ते सर्वे नपुंसकाः। जी०३ प्रति०।

जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते! पुच्छा? गोय-मा! तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-अडया, पोयया, संमुच्छिमा, एवं जहा भुयगपरिसप्पाणं॥

'' जलचराणं '' इत्यादि। जलचराणां भदन्त! कतिविधो योनि-संग्रहः प्रज्ञप्तः? भगवानाह-गौतम! त्रिविधो योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-अण्डजाः, पोतजाः, संमूर्च्छिमाश्च। जी० ३ प्रति०।

जोणिसमुच्छेय-पुं०(योनिसमुच्छेद) योनिविध्वंसे, '' एस जोणी जगाणं दिट्ठा न कप्पइ जोणिसमुच्छेओ। '' प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार।

जोण्ह-पुं०(ज्योत्स्न) ज्योत्स्नाऽन्विते शुक्लपक्षे, ज्यो० ४ पाहु०।

जोण्हा-स्त्री०(ज्योत्स्ना) ' जोइसिणा ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद।

जोत्त-न०(योक्त्र) युज्यतेऽनेन। युज-ष्ट्रन्। ईषादण्डाऽऽदौ, युगबन्धनार्थे दामनि, वाच०। '' सुकिरणतवणिज्जजोत्तकलियं '' जं० ३ वक्ष०। '' जोत्तलयकसप्पहारपादपण्हिजाणुं। '' योक्त्रं यूपे वृषभसंयमनमिति। प्रश्न० ५ संब० द्वार। ज्ञा०।

***योत्र**-न०। यु-ष्ट्रन्। योत्रे, वाच०। सूत्र०।

जोय-न०(योक्त्र) ' जोत्त ' शब्दार्थे, जं० ३ वक्ष०।

जोयण-न०(योजन) युज-भावाऽऽदौ ल्युट्। संयोगे, णिच् ल्युट्। संयोगकरणे, वाच। संबन्धने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। उत्त०। चतुर्गव्यूताऽऽत्मके अध्वमानविशेषे, जं० २ वक्ष०। स्था०। '' चउ-गाउए जोयणे पण्णत्ते। '' स० १ सम०। भ०। आ० म०। प्रज्ञा०। '' चउहत्थं पणधणुहं, दुन्नि सहस्साइ गाउअं तेसिं। चत्तारि गाउआ पुण, जोअणमेगं मुणेयव्वं ''॥ १॥ प्रव० २५६ द्वार। '' अट्ठेव धणुसहस्सा, जोयणमाणं पमाणेणं। '' ज्यो० २ पाहु०।

संप्रति मागधयोजनमाह-

मागहस्स णं जोयणस्स अट्ठधणुसहस्साइं नीहारे पण्णत्ते।

'' मागह '' इत्यादि। मगधेषु भवं मागधं मगधदेशव्यवहृतं, तस्य योजनस्याध्वमानविशेषस्याष्टधनुःसहस्राणि नीहारो निर्गमः, प्रमाणमिति यावत्। (निहत्ते त्ति) क्वचित्पाठः। तत्र निधत्तं निकाचितं निश्चितं, प्रमाणमिति गम्यते। इदं च प्रमाणं परमाण्वादिन क्रमेणावसेयम्।

तथाहि-

'' परमाणू तसरेणू, रहरेणू अग्गयं च बालस्स।
लिक्खा जूया य जवो, अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ॥ १॥ ''

तत्र परमाणुरनन्तानां निश्चयपरमाणूनां समुदयरूप ऊर्द्ध्वरेण्वादिभेदा अनुयोगद्वाराभिहिता अननैव संगृहीता दृश्याः, तथा पौरस्त्यादिवायुप्रेरितस्त्रसति गच्छतीति त्रसरेणुः, स्थगमनोत्खातो रथरेणुरिति। एवं चाष्टौ यवमध्यान्यङ्गुलं, चतुर्विंशतिरङ्गुलानि ह-स्तः, चत्वारो हस्ता धनुः, द्वे सहस्रे धनुषां गव्यूतं, चत्वारि गव्यू-तानि योजनमिति। मागधग्रहणात् क्वचिदन्यदपि योजनं स्यादिति प्रतिपादितम्। तत्र यस्मिन् देशे षोडशभिर्धनुःशतैर्गव्यूतं स्यात्तत्र षड्भिः सहस्रैश्चतुर्भिः शतैर्धनुषां योजनं भवतीति। स्था० ८ ठा०। आव०। '' भरहो वि भगवओ पूयं काऊण चक्करयणस्स अट्ठाहिया-महिमं करियाइ, इओ निवत्ताए अट्ठाहियाए तं चक्करयणं पुव्वमुहं पहावियं, भरहो सव्वबलेण तमणुगच्छिआइ, उड्ढं जोयणं गंतूण ठियं, ततो सा जोयणसंखा जाया ''। आव० १ अ०।

जोयणनीहारि(ण्)-त्रि०(योजननीहारिन) योजनातिक्रामिणि, '' जोयणनीहारिणा सरेणं। '' योजनातिक्रामिणा शब्देन। उपा० २ अ०। '' जोयणनीहारी सरो। '' तीर्थकृतामेकविंशतितम अतिशयः। स० ३४ सम०।

जोयणपरिमंडल-त्रि०(योजनपरिमण्डल) योजनं योजनप्रमाणं परिमण्डलं, गुणप्रधानोऽयं निर्देशः, पारिमाण्डल्यं यस्य स योजनपरिमण्डलः। योजनप्रमाणपरिमाण्डल्योपेते, ''जोयणपरिमंडलं सुस्सरं घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेमाणे।'' रा०।

जोयणा-स्त्री०(योजना) युज-णिच्-युच्। संयोगकरणे, नि० चू० २ उ०। '' उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत्। नीचमल्प-प्रदानेन, समदृशं च पराक्रमैः '' ॥ १॥ दश० ३ अ०।

जोयणिज्ज-त्रि०(योजनीय) संबन्धनीये, नि० चू० १ उ०।

जोयत्तिय-न०(जोगत्रिक) ' जोगतिय ' शब्दार्थे, दश० १० अ०।

जोव-न०(देशी) बिन्दौ, स्तोके च। दे० ना० ३ वर्ग।

जोवारी-स्त्री०(देशी) धान्ये, दे० ना० ३ वर्ग।

जोव्वण-न०(यौवन) यूनो भावः-अण्। '' औत् औत् '' ॥ ८। १। १५६ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणाऽऽदेरौत ओकारः। प्रा० १ पाद। '' तैलाऽऽदौ '' ॥ ८। २। ६८। इति प्राकृतसूत्रेणानादौ वर्त्तमानस्यान्त्यस्यानन्त्यस्य च व्यञ्जनस्य द्वित्वम्। प्रा० २ पाद। तारुण्ये, प्रश्न० ४ सम्व० द्वार। ज्ञा०। पं० व०। नि० चू०। '' निरुवहयसर-सजोव्वणकक्कसतरुणवय-भावमुवगयाओ। '' निरुपहतं रोगाऽऽदिना अबाधितं सरसं च शृङ्गारर-सोपेतं निरुपहतो वा स्वो रसो यत्र तत्तथाविधं यौवनं, तथा कर्क्कशोऽश्लयाङ्गतया यस्तरुणवयोभावस्तारुण्यं, तं चोपगता यास्तास्तथा। इह च यौवनतरुणभावयोर्यद्यप्येकार्थता, तथापि सरसत्वाश्लथाङ्गत्वलक्षणयोर्मनःशरीराश्रितयोः प्रधानतया विवक्षितयोर्धर्मयोराधारतया भेदेन विवक्षणाद् न पौनरुक्त्यमिति। औ०। '' जोव्वणेण य संपण्णे। '' उत्त० २१ अ०। यौवनं परमस्तरुणिमेति। प्रज्ञा० ३५ पद०। '' आषोडशाद् भवेद् बालस्तत्तस्तरुण उच्यते। वृद्धः स्यात्सप्ततेरुर्द्ध्वम्, ''इत्युक्तलक्षणेऽवस्थाभेदे,'' अह जोव्वणं समणुपत्तो। '' यौवनं वयोविशेषलक्षणमिति। आ० म० १ अ० २ खण्ड। वाच०। सूत्र०। '' यौवनमुद्ग्रकाले, विदधाति विरूपकेऽपि लावण्यम्। दर्शयति पाकसमये, निम्बफलस्यापि माधुर्यम् ''॥ १॥ इति। दश० ३ अ०। '' वयो अचेइ जोव्वणं च। '' वयोग्रहणेनैव यौवन्यगतत्वात्तदुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थं, धर्मार्थकामानां तन्निबन्धनत्वात्सर्ववयसां यौवनं साधीयस्तदपि त्वरितंभ्रातीति। उक्तं च- '' नइवेगसमं चंचलं, च जीवियं जोव्वणं च कुसुमसम! सोक्खं च जं अणिच्चं, तिण्णि वि तुरमाणभोज्जाइं ॥ १॥ '' आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

जोव्वणकरण-न०(यौवनकरण) कालकृतवयोऽवस्थाविशेषाऽऽत्मके रसायनाऽऽद्यापादितवयोऽवस्थाविशेषाऽऽत्मके च करणभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

जोव्वणकिड्डग-त्रि०(यौवनक्रीडक) तारुण्यावस्थायां क्रीडाकर्तरि, तथा चोक्तम्- ''पियपुत्तभाइकिडगा, णत्तू किडगा य सयणकिडगा य। एते जोव्वणकिडगा, पच्छन्नपई महिलियाणं॥ १॥'' सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

जोव्वणग-न०(यौवनक) यौवनमेव यौवनकम्। दशा० १० अ०। यौवने, '' जोव्वणगमणुप्पत्ते। '' आ० म० १ अ० १ खण्ड।

जोव्वणगुण-पुं०(यौवनगुण) युवतीनां प्रियभाषित्वाऽऽदिके गुणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

जोव्वणमद-पुं०(यौवनमद) तारुण्यगर्वे, '' विहवावलेवनडिए-हिँ जाइँ कीरंति जोव्वणमएण। वयपरिणामे सरिया-इँ ताइँ हिअए खडुक्कंति ॥ १॥ '' सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

जोव्वणिया-स्त्री०(यौवनिका) यौवने, रा०।

जोसंत-त्रि०(जुषत्) सेवमाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०।

जोसण-न०(जोषण) सेवने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। आव०।

जोसणा-स्त्री०(जोषणा) प्रीतौ, सेवायां च। ' जुषी ' प्रीतिसेवनयोरिति वचनात्। औ०। स०।

जोसिय-त्रि०(जुष्ट) सेविते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

जोसियंग-न०(योषदङ्ग) स्त्रीणासङ्गे, तथा चोक्तम्- '' कार्य्येऽपीषन्मतिमा-न्निरीक्षते योषिदङ्गमस्थिरया। अस्निग्धया दृशाऽव-ज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव॥ १॥ '' सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

जोसियाण-अव्य०(जोषित्वा) प्रीतयित्वेत्यर्थे, व्य० ७ उ०।

जोह-पुं०(योध) युध्यति शत्रून् प्रतिसंहरतीति योधः। युद्धं कृत्वा शत्रूणां जेतरि, उत्त० १४ अ०। शूरपुरुषे, '' जोहाण य उप्पत्ती। '' योधानां शूरपुरुषाणाम्। स्था० १० ठा०। सुभटे, '' यथा योधैः कृतं युद्धम्। '' अष्ट० १५ अष्ट०। ते च भटेभ्यो विशिष्टतराः सहस्रयोधाऽऽदयः। औ०। भ०। रा०। ज्ञा०। सूत्र०। '' सावरणो वि हु च्छलिज्जइ जोहो। '' बृ० १ उ०। सहस्रयोधित्वाभावेऽपि योधित्वमिदानीम्।

तथा च-

साहस्सीमल्ला खलु, महपाणा पुव्व आसि जोहा उ।
तत्तुल्ल नत्थि एण्हिं, किं ते जोहा न होंती तो ?॥

पूर्वं योधा महाप्राणाः सहस्रमल्ला आसीरन्, इदानीं तेषां तुल्या न सन्ति, किन्त्वनन्तभागहीनाः, ततः किं ते योधा न भवन्ति ? भवन्त्येव, कालौचित्येन तेषामपि युद्धकार्यकरणादिति भावः। व्य० ३ उ०। युध्यत इति योधः सुभटः, बोध इव योधः। कर्मवैरिपराभवकारके बहुश्रुताऽऽदौ, '' अप्पडिहयबले जोहे, एवं हवइ बहुस्सुए। '' उत्त० ११ अ०। भावे घञ्। युद्धे, वाच०।

***योद्धृ**-पुं०। युध-तृच्। युद्ध कर्तरि, वाच०।

जोहजुज्झसज्ज-त्रि०(योधयुद्धसज्ज) योधानां युद्ध तन्निमित्तं सज्जः प्रगुणीभूतो यः स योधसज्जः। योधानां युद्धार्थं प्रगुणीभूते, जी० ३ प्रति०।

जोहट्ठाण-न०(योधस्थान) आलीढाऽऽदिके युद्धकालभवे योधानामङ्गविन्यासविशेषे, स्था० १ ठा०। तानि च- '' लोयप्पवाए पंच ठाणाणि। तं जहा-आलीढं, पच्चालीढं, वइसाहं, मंडलं, समपादं। '' आ० म० १ अ० २ खण्ड। '' एयाणि पंच ठाणाणि लोयप्पवाएण सयणकरणछट्ठाणि त्ति। '' आ० म० १ अ० २ खण्ड। आ० चू०। उत्त०।

तथा च योधाऽऽदिस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

आलीढेपच्चलीढे, वेसाहे मंडले य समपाए।

योधानां स्थानं पञ्चविधम्। तद्यथा-आलीढं, प्रत्यालीढं, वैशाखं, मण्डलं, समपादं च। एतैर्हि पञ्चभिरपि स्थानैर्योधा यथायोगं युध्यन्ते, तत एतानि योधस्थानानीति। व्य० १ उ०। '' अण्णे भणंति-जं एतेसिं चेव ठाणाणं जहासंभवं चलिय ठितो पासतो पिट्ठतो वा जुज्झति, तं छट्ठं चलियणामट्ठाणं ति। '' नि० चू० २० उ०। (आलीढाऽऽदीनां स्वरूपं तत्तच्छब्दे)

जोहिया-स्त्री०(योधिका) भुजपरिसर्प्पिणीभेदे, जी० २ प्रति०।

ज्झड-धा०(शद्) शातने, भ्वा०-पर०-सक०-अनिट्। '' शदो ज्झड-पक्खोडौ '' ॥ ८। ४। १३०॥ इति प्राकृतसूत्रेण शीय-तेर्ज्झडादेशः। ' ज्झडइ ' प्रा० ४ पाद। शीयते, अशदत्। वाच०।

ज्झर-धा०(क्षर्) सञ्चलने, भ्वादि०-पर०-अक०-सेट्। '' क्षरः खिर-ज्झर-पज्झर-पच्चड-णिच्चल-णिट्टुआः '' ॥ ८। ४। १७३॥ इति प्राकृतसूत्रेण क्षरतेर्ज्झरादेशः। प्रा० ४ पाद०। क्षरति, अक्षारीत्। वाच०।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८
श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते
'अभिधानराजेन्द्रे'
जकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

झकार

झ-पुं०(झ) ' झग ' संहतौ, ग्रहे, पिधाने वा डः। सुरगुरौइन्द्रे, ध्वनौ, वाच०। स्वप्ने, शून्ये, ऊर्ध्वक्षेपणे, विनष्टे, विवरे, भृङ्गे, एका०। को०। शब्दान्तरे, सरसीरुहसंभवे झञ्झानिले, प्रतापे, भ्रमरे, हंसके, मदे, उपाये, घर्घरध्वाने, एका०। ' झ त्ति झाणस्स होइ निद्देसे। ' ध्यानस्य निर्देशे, आ० म० १ अ० २ खण्ड। नष्टद्रव्ये, त्रि०। वाच०।

झअ-पुं०(ध्वज) '' ध्वजे वा। ''। ८। २। २७। ध्वजशब्दे संयुक्तस्य झो वा भवति। ' झओ ' धओ। प्रा० २ पाद। चतुष्कोणाऽऽकारे वंशदण्डोपरिस्थिते वस्त्रखण्डे, वाच०।

झंकारिअ-न०(देशी)अवचयने, दे० ना० ३ वर्ग।

झंख-धा०(उप+आ+लभ) निन्दापूर्वकदुष्टवचने, परस्परदूषणे च। वाच०। '' धातवोऽर्थान्तरेऽपि ''। ८। ४। २५८। उक्तादर्थादर्थान्तरेऽपि धातवो वर्तन्ते इति उपालम्भेर्झङ्खादेशः। ' झंखइ ' उपालम्भते, भाषते वा। प्रा० ४ पाद। '' उपालम्भेर्झंखपचारबेल- वाः ''। ८। ४। १५६। इत्यनेन वा उपालम्भेर्झंखादेशः। ' झंखइ ' ' उवालम्भइ '। प्रा० ४ पाद। तुष्टे, दे० ना० ३ वर्ग।

***वि+लप**-धा०। परिदेवनोक्तौ, वाच०। '' धातवोऽर्थान्तरेऽपि ''॥ ८। ४। २५८॥ इति विलपेर्झंखादेशः। '' विलपेर्झंखवडवडौ ''॥ ८। ४। १४८॥ इत्यनेन वा झंखादेशः। प्रा० ४ पाद।

***निर्+श्वस**-धा०। मुखनासाभ्यन्तर्गते वायौ, वाच०। '' निः-श्वसेर्झंखः ''। ८। ४। २०१। निःश्वसेर्झंख इत्यादेशो भवति। ' झंखइ।' ' नीससइ। ' प्रा० ४ पाद।

झंखर-पुं०(देशी) शुष्कतरौ, दे० ना० ३ वर्ग।

झंखरिअ-न०(देशी) अवचयने, दे० ना० ३ वर्ग।

झंझ-पुं०(झञ्झ) कलहविशेषे, औ०।

झंझकर-पुं०(झञ्झकर) येन येन गणस्य भेदो भवति तत्कारिणि, येन गणस्य मनोदुःखमुत्पद्यते तद्भाषिणि च। प्रश्न० ३ संव० द्वार। आ० चू०।

झंझकारीय-पुं०(झञ्झकारीय) झञ्झकरे, '' जेण गणस्स भेदो भवति, सव्वो वा गणो झंझविओ अत्थति, तारिसं भासइ, करेइ वा। '' आव० ४ अ०।

झंझपत्त-पुं०(झञ्झप्राप्त) द्वि त। कलहं क्रोधं मायां वा प्राप्ते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

झंझा-स्त्री०(झञ्झा) झमिति कृत्वा झट्यते यत्र डः। ध्वनिभेदे, तथाध्वनियुक्ते प्रचण्डानिले च। वाच०। कलहे, बृ० ३ उ०। तृष्णायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ०। क्रोधे, मायायाम्, सूत्र० १ श्रु० १३ उ०। लोभेच्छायाम्, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०। विप्रकीर्णवचने, स्था० ८ ठा०। व्याकुलतायां च। इष्टविषयावाप्तौ रागझञ्झा। अनिष्टावाप्तौ च द्वेषझञ्झा। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

झंझाउर-त्रि०(झञ्झाऽऽतुर) तृष्णाऽऽतुरे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

झंझावाय-पुं०(झञ्झावात) अशुभे निष्ठुरे सवृष्टिके च वायौ, प्रज्ञा० १ पाद। भ०।

झंझिय-त्रि०(झञ्झित) बुभुक्षिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

झंट-धा०(भ्रम) चलने, दिवा०-पर०-सक०-सेट्। वाच०। '' भ्र-मेष्टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तलअण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परीप-राः ''॥ ८। ४। १६१॥ इति झंटादेशः। ' झंटइ ' प्रा० ४ पाद। स्त्रियां ङीष्। लघूर्ध्वकेशेषु, दे० ना० ३ वर्ग।

झंटलिअ-स्त्री०(देशी) चङ्क्रमणे, दे० ना० ३ वर्ग।

झंडअ-पुं०(देशी) पीलुवृक्षे, दे० ना० ३ वर्ग।

झंडल-स्त्री०(देशी) असत्याम्, क्रीडाणां च। दे० ना० ३ वर्ग।

झंतर-न०(ध्यन्तर) धियो बुद्धेरन्तरं विशेषो ध्यन्तरम्। विशिष्ट-बुद्धौ, अने० ४ अधि०।

झंतरजोग-पुं०(ध्यन्तरयोग) ध्यन्तरेणोपलक्षिते सम्यङ्मनोवाक्काय-व्यापाररूपे असम्यङ्मनोवाक्कायनिषेधरूपे योगे, अने० ४ अधि०।

झंप-धा०(भ्रम) चलने, भ्वा०-पर०-सक०-सेट्। वाच। '' भ्रमेष्टि-रिटिल्ल०- ''॥ ८। ४। १६१॥ इत्यादिना झंपादेशः। ' झंपइ ' प्रा० ४ पाद।

झंपणी-स्त्री०(देशी) पक्ष्मणि, दे० ना० ३ वर्ग।

झंपिअ-न०(देशी) त्रुटिते, घट्टिते च। दे० ना० ३ वर्ग।

झंसइ-क्रिया(देशी) संतप्यते, विलपति, उपालभते, निःश्वसिति च। दे० ना० ३ वर्ग।

झक्किअ-न०(देशी) वचनीये, दे० ना० ३ वर्ग।

झज्झर-पुं०(झर्झर) झर्झ-अरन्। वाच०। '' नादियुज्योरन्ये-षाम् ''। ८। ४। ३२७। चूलिकापैशाचिकेऽप्यन्येषामाचार्याणां मतेन तृतीयतुर्ययोरादौ वर्त्तमानयोः युजि धातौ चाद्यद्वितीयौ न भवतः। झज्झरो, झच्छरो। प्रा० ४ पाद। ' झांझ ' इति ख्याते वाद्यभेदे, पटहे, कलियुगे, नदभेदे, वाच०।

झज्झरिय-त्रि०[झर्झरित(जर्जरित)] सतन्त्रीककरटिकाऽऽदि-वाद्यशब्दवाते, स्था० १० ठा०।

झज्झरी-स्त्री०(देशी) स्पर्शपरिहारार्थं, चण्डालाऽऽदीनां हस्तयष्टौ, दे० ना० ३ वर्ग।

झडप्पर-न०(झटिति) वेगे, ढुं० ४ पाद। दिअहा जन्ति झडप्पडहिं, पडहिं मणोरह पच्छि। '' प्रा० ४ पाद ३८८ सूत्र।

झडिज्झंत-त्रि०(झीर्य्यमाण) हीयमाने, ''वासासु सीतवातेहिं झडि-ज्झंतो।'' आव० १ अ०।

झडिल-त्रि०(जटिल) '' जटिले जो झो वा '' ॥ ८ । १ । १६४ ॥ जटिले जस्य झो वा भवति । ' झडिलो '- ' जडिलो ' निविडे, प्रा० १ पाद ।

झडी-स्त्री०(देशी) निरन्तरवृष्टौ, दे० ना० ३ वर्ग ।

झत्थ-न०(देशी) गते, नष्टे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झमाल-न०(देशी) इन्द्रजाले, दे० ना० ३ वर्ग ।

झय-पुं०(ध्वज) ध्वज-अच् । शौण्डिके, सर्पे च । वाच० । चक्रसिंहाऽऽदिलाञ्छनोपेते, भ० ६ श० ३३ उ० । चतुष्कोणाऽऽकारे वंशदण्डोपरिस्थिते वस्त्रखण्डे, वाच० । औ० । चतुर्दशानामष्टमे स्वप्नभेदे, कल्प० ।

तओ पुणो जच्चकणगलट्ठिपइट्ठिअं समूहनीलरत्तपीअसुक्किल्लसुकुमालुल्लसियमोरपिच्छकयमुद्धयं झयं अहियसस्सिरीयं फालिअसंखंककुंददगरयरययकलसपंडुरेणं मत्थयत्थेण सीहेण रायमाणेण रायमाणं भित्तुं गगणतलमंडलं चेव ववसिएणं पिच्छइ सिवमउयमारुयलयाहयकंपमाणं अइप्पमाणं जणपिच्छणिज्जरूवं ॥

'' तओ पुणो जच्च '' इत्यादितः '' जणपिच्छणिज्जरूवं '' इतिपर्यन्तम् । ततः सा त्रिशला पुनरष्टमे स्वप्ने (झयं ति) ध्वजं पश्यति । किं विशिष्टं ध्वजम् ?- '' जच्चकणग '' इत्यादि । जात्यम् उत्तमजातीये यत् (कणगं ति) कनकं सुवर्णं तस्य (लट्ठि त्ति) यष्टिः, तत्र (पइट्ठिअं ति) प्रतिष्ठितं, सूवर्णमयदण्डशिखरे स्थितमित्यर्थः । पुनः किं विशिष्टम् ?-(समूह त्ति) समूहीभूतानि, बहूनि इत्यर्थः । (नीलरत्तपीअसुक्किल्ल त्ति) नीलरक्तपीतशुक्लवर्णमनोहराणीत्यर्थः । (सुकुमाल त्ति) सुकुमालानि (उल्लसिय त्ति) उल्लसन्ति, वातेन लहलहायमानानि इत्यर्थः । एवंविधानि यानि (मोरपिच्छ त्ति) मयूरपिच्छानि, तैः कृता मूर्द्धजा इव केशा इव यस्य स तथा तम् । अयमर्थः-यथा मनुष्यशिरसि वेणिर्भवति, तथा तस्य ध्वज-स्य वर्णस्थाने मयूरपिच्छसमूहः स्थापितोऽस्तीति । पुनः किं विशिष्ट म् ?-(अहियसस्सिरीयं ति) अधिकसश्रीकम् , अतिशोभितम् इत्यर्थः । पुनः किं विशिष्टम् ?-एवंविधेन सिंहेनराजमानस् इति विशेषणयोजना । अथ कीदृशेन सिंहेन ?-'' फालिय '' इत्यादि। स्फटिकं रत्नविशेषः, शङ्खः प्रसिद्धः, अङ्कोऽपि रत्नविशेषः, (कुंद त्ति) कुन्दस्य धवलपुष्पविशेषस्य माल्यम् , (दगरय त्ति) दकरजांसि जलकणाः, (रययकलस त्ति) रजतकलशो कप्यघटः, (पंडुरेण त्ति) उक्तसर्ववस्तुवत् उज्ज्वलवर्णेन, (मत्थयत्थेण त्ति) मस्तकस्थितेन, चित्रतया ध्वजशिरसि आलेखितेनेत्यर्थः । पुनः कीदृशेन सिंहेन ?-(रायमाणेण त्ति) राजमानेन, सुन्दरत्वात् शोभमाननेत्यर्थः । (रायमाणं ति) राजमानम् इति योजितम् । पुनः कीदृशेन सिंहेन ?-(भित्तुं) भेत्तुं द्विधा कर्तुं, किम् ?-(गगणतलमंडलं ति) आकाशतलमण्डलम् । (चेव त्ति) उत्प्रेक्षायाम् (ववसि-एण त्ति) सोद्यमेनैव । अयमर्थः-ध्वजस्तावद्वायुतरङ्गेण कम्पते । कम्पमाने च ध्वजे सिहोऽपि गगनं प्रति उच्छलति । तथा च उत्प्रेक्षते-अयं सिंहः किं गगनतलं भेत्तुम् उद्यमं करोतीति ? (पिच्छइ त्ति) प्रेक्षते इति प्राग्वत् । अथ पुनः किं विशिष्टं ध्वजम् ?-'' सिव '' इत्यादि । शिवः सौम्यः सुखकारी, अत एव (मउअ त्ति) मृदुको, मन्दमन्द इति यावत् । एवंविधो यो (मारुअ त्ति) मारुतो वायुः, तस्य (लय त्ति) लय आश्लेषो, मिलनमिति यावत् । तेन (आहय त्ति) आहत आन्दोलितो यः । तत किंविशिष्टम् ?-(अइप्पमाणं ति) अतिप्रमाणम् , महान्तम् इत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टम् ?-(जणपिच्चणिज्जरूवं ति) जनानां प्रेक्षणीयं द्रष्टुं योग्यं रूवं स्वरूपं यस्य स तथा तम् । कल्प० ३ क्षण । आ० म० । खट्वाऽङ्गे , मेढ्रे च । पुं० । न० । वाच० । स्त्रियां टाप् । औ० । ज्ञा० । नि० । स्था० । विपा० ।

झर-धा०(स्मर) स्मरणे, भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । '' स्मरेर्झर-झूर-भर-भल-लढ-विम्हर-स्मर-पयर-पम्हुहाः '' । ८ । ४ । ७४ । इति झरादेशः । झरइ । प्रा० ४ पाद ।

झरअ-पुं०(देशी) सुवर्णकारे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झरंक-पुं०(देशी) तृणमयपुरुषे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झरग-पुं०(ध्यातृ) ध्यायतीति ध्याता । ध्यानकर्त्तरि, '' झणगं करगं झरगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं । '' तं० ।

झरण-स्त्री०(झरण) क्षरणे, व्य० १ उ० ।

झरणा-स्त्री०(झरणा) क्षरणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

झरुअ-पुं०(देशी) मशके, दे० ना० ३ वर्ग ।

झरेयव्व-त्रि०(स्मर्त्तव्य) परिचेतव्ये, बृ० ५ उ० ।

झलक्किअ-त्रि०(दग्ध) भस्मीभूते, '' तक्ष्यादीनां छोल्लाऽऽद यः '' । ८ । ४ । ३६५ । इति दहस्य झलक्कादेशः, क्तप्रत्यये '' स्व-राणां०-'' । ८ । ४ । २३८ । क्त-क्तिः, '' कगच०- '' । ८ । १ । १७७ । तलुक् । स्वार्थे कः । स्-१-१ । '' कग० '' । ८ । १ । १७७ । कलुक् । '' स्यमोरस्योत् '' । ८ । ४ । ३३१ । ' अउ ' झल-क्किअउ । दुं० ४ पाद । '' सासानल-झलक्किअउ, वाहसलिलसंसित्तउ । '' प्रा० ४ पाद ३६५ सूत्र ।

***झलक्कित**-त्रि० । भस्मीभूते, प्रा० ४ पाद ।

झलझलिआ-स्त्री०(देशी) क्षोलिकायाम् , दे० ना० ३ वर्ग ।

झला-स्त्री०(देशी) मृगतृष्णायाम् , दे० ना० ३ वर्ग ।

झलुसियअ-न०(देशी) दग्धार्थे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झलुंकिअ-न०(देशी) दग्धार्थे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झल्लरी-स्त्री०(झल्लरी) झर्झति झर्झ-अरन्-पृ० । वाच० । उभ-यतो विस्तीर्णे चर्म्मावनद्धमुखे मध्ये सङ्क्षिप्ते ढक्काकारे वाद्यभेदे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रज्ञा० । जी० । अल्पोच्छ्रये महामुखे, (भ० ६ श० ३३ उ०) चतुरङ्गुलनालिके करटिसदृशे बलयाकारे आतोद्यविशेषे च । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । आ० म० । कल्प० । रा० । औ० । ज्ञा० । विशे० । '' संखो णदह गंधारं, मज्झिमं पुण झल्लरी । '' स्था० ७ ठा० । अनु० ।

झल्लरीसंठिय-त्रि०(झल्लरीसंस्थित) झल्लरीसंस्थानवति, अल्पोच्छ्रायत्वान्महाविस्तारत्वाच्च । तिर्यग्लोकक्षेत्रलोको झल्लरीसंस्थितः । भ० ११ श० १० उ० । स्था० ।

झवण-न०(ध्यापन) उपशमश्रेण्यां कर्मानुदयलक्षणे विध्यापने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

झवणा-स्त्री०(क्षपणा) क्षपणाऽपचयो निर्जरा पापकर्मणामस्मा-दिति क्षपणा। विशे० (६६१ गाथा)। '' पावाण खवण त्ति '' पाप-कर्मक्षपणहेतुत्वात्क्षपणा। भावाध्ययने सामायिकाऽऽदिश्रुतविशेषे, अनु०। स्था०। (अस्या निक्षेपस्तु ' खवणा ' शब्दे तृतीयभागे ७३३ पृष्ठे गतः)

झस-पुं०(झष) झष्यते कर्मणि घः। मत्स्ये, जी० ३ प्रति०। वाच०। तं०। जं०। प्रश्न०। विशे०। ज्ञा०। मीनराशौ च। भावे घः। तापे, अच्। खिले वने च। न०। नागवल्ल्याम्, स्त्री०। वाच०। '' झस-विहगसुजा-यपीणकुच्छी। '' जी० ३ प्रति०। जं०। टङ्कच्छिन्ने, अयशसि, तटे, तटस्थे, दीर्घगम्भीरे च। दे० ना० ३ वर्ग।

झसिअ-न०(देशी) पर्यस्ते, आकृष्टे च। दे० ना० ३ वर्ग।

झसुर-न०(देशी) ताम्बूले, अर्थे च। दे० ना० ३ वर्ग।

झाअइ-स्त्री०(ध्याति) '' स्वरादनतो वा ''। ८। ४। २४०। अका-रान्तवर्जितात्स्वरान्ताद्धातोरन्तेऽकाराऽऽगमो वा भवति। ' झा-इ '। ' झाअइ '। प्रा० ४ पाद। ध्याने, स्था० ६ ठा०। आव०।

झाइ-स्त्री०(ध्याति) ' झाअइ ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद।

झाइय-त्रि०(ध्यात) अनुप्रेक्षिते, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

झाइयव्व-त्रि०(ध्यातव्य) ध्येये, आव० ४ अ०।

झाउल-न०(देशी) कार्पासफले, दे० ना० ३ वर्ग।

झाड-पुं०(झाट) झट्-णिच् अच्। निकुञ्जे कान्तारे, व्रणाऽऽदौनां च मार्जने, वाच०। लतागहने, दे० ना० ३ वर्ग।

झाडन-न०(झाटन) झोषे, स्था० ५ ठा० २ उ०। प्रस्फोटने, स्था० ५ ठा० २ उ०।

झाण-न०(ध्यान) ' ध्यै ' चिन्तायाम्। आ० चू० ४ अ०। ध्यायते चिन्त्यते वस्त्वनेन, ध्यातिर्वा ध्यानम्। प्रव० ६ द्वार। '' साध्व-सध्स्ह्यां झः ''॥ ८। २। २६॥ इति ध्यस्य झः। प्रा० २ पाद। चिन्तायाम्, आ० चू० ४ अ०। परिणामस्थिरतायाम्, अष्ट० ६ अष्ट०। एकाऽऽलम्बनसंस्थस्य सदृशप्रत्ययस्य च प्रत्ययान्त-र्नियुक्तप्रवाहे, षो० १२ विव०। आन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालमेकाग्रचित्त-ताऽध्यवसाने, प्रव० ६ द्वार। एकावलम्बनेन मनःस्थैर्ये, विशे०। सूत्र०। योगनिरोधे, स० १ सम०। प्रश्न०। पञ्चा०। स्था०। ग०। सूत्र०।

विषयसूची-

(१) ध्यानस्वरूपम्।
(२) ध्यानस्य चातुर्विध्यम्।
(३) ध्यानाध्यानयोर्विवेचनम्।
(४) ध्यानस्यैव भेदनिरूपणम्।
(५) प्रशस्ताप्रशस्तानि ध्यानानि।
(६) शुभाशुभध्यानस्य विशेषतो वर्णनम्।
(७) धर्मध्यानस्य वर्णनम्।
(८) तत्र प्रसङ्गतो ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्यभावनानां स्वरूपप्रदर्शनम्।
(९) देशद्वारे परिणतापरिणतयोगानां स्थाननिदर्शनम्।
(१०) कालाऽऽसनाऽऽलम्बनक्रमद्वाराणि।
(११) ध्यातव्यद्वारे ध्यातव्यभेदप्रतिपादनम्।
(१२) ध्यातुः स्वरूपस्य निरूपणम्।
(१३) तत्रानुप्रेक्षालेश्यालिङ्गद्वाराणि।
(१४) फलद्वारे आलम्बनाऽऽदिविस्तरः।
(१५) ध्यातव्यद्वारस्य विशेषतो विवरणम्।
(१६) संसारप्रतिपक्षतया मोक्षहेतुर्ध्यानमिति निरूपणम्।
(१७) ध्यानाष्टकेन ध्यानस्य फलाऽऽदिनिरूपणम्।

(१) ध्यानस्वरूपम्-

उपयोगे विजातीय-प्रत्ययाव्यवधानभाक्।
शुभैकप्रत्ययो ध्यानं, सूक्ष्माऽऽभोगसमन्वितम्॥ ११॥

(उपयोग इति) उपयोगे स्थिरप्रदीपसदृशे धारालग्ने ज्ञाने, वि-जातीयप्रत्ययेन तद्विच्छेदकारिणा विषयान्तरसंचारेणालक्ष्य-कालेनापि, अव्यवधानभागनन्तरितः, शुभैकप्रत्ययः प्रशस्तै-कार्थबोधो, ध्यानमुच्यते; सूक्ष्माऽऽभोगेनोत्पाताऽऽदिविषय-सूक्ष्माऽऽ-लोचनेन, समन्वितं सहितम्। द्वा० १८ द्वा०।

ध्यानं च विमले बोधे, सदैव हि महात्मनाम्।
सदा प्रसृमरोऽनभ्रे, प्रकाशो गमने विधोः॥ २०॥

(ध्यानं चेति) विमले बोधे च सति, महात्मनां सदैव हि ध्यानं भवति, तस्य तन्नियतत्वात्। दृष्टान्तमाह-अनभ्रेऽभ्ररहिते गगने, विधोरुदितस्य प्रकाशः सदा प्रसृमरो भवति, तथाऽवस्थास्वाभाव्यादिति। द्वा० २४ द्वा०।

(२) तच्चतुर्विधम्-

चत्तारि झाणा पण्णत्ता। तं जहा-अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे।

सुगमं चैतद्-नवरं-ध्यातयो ध्यानानि, अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं चि-त्तस्थिरतालक्षणानि। उक्तं च- '' अंतो मुहुत्तमित्तं, चित्ताऽवत्थाण-मेगवत्थुम्मि। छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं ति ''॥ १॥ तत्र ऋतं दुःखं, तस्य निमित्तं, तत्र वा भवम्, ऋते वा पीडिते भवमार्त्तध्यानं, दुष्टोऽध्यवसायो हिंसाऽऽद्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रं, श्रुतचरणधर्मादनपेतं धर्म्यं, शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं, शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्। स्था० ४ ठा० १ उ०। विशे०। ध०। भ०। ग०। औ०। आ० चू०। तत्र ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधनः, तत्पुनः कालतोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रं, भेदतस्तु चतुःप्रकारमार्त्ताऽऽदिभेदेन, ध्येयप्रकारास्त्वमनोज्ञविषयसम्प्र-योगाऽऽदयः। तत्र शोकाऽऽक्रन्दनविलपनाऽऽदिलक्षणमार्त्तं, तेन उत्सन्नवधाऽऽदिलक्षणं रौद्रं, तेन जिनप्रणीतभावश्रद्धानाऽऽदिलक्षणं धर्म्यं, तेन अवधासंमोहाऽऽदिलक्षणं शुक्लम्। तेन फलं पुनरेषां तिर्यङ्नरकदेवगत्या विमोक्षाऽऽख्यमिति क्रमेण अयं ध्यानसमासार्थः। व्यासार्थस्तुध्यानशतकादवसेयः। तच्चेदं ध्यानशतकम्-अस्य च महार्थत्वाद्वस्तुतः शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमाह-

वीरं सुक्कज्झाण-ऽग्गिदड्ढकम्मिंधणं पणमिऊणं।
जोईसरं सरण्णं, झाणज्झायणं पवक्खामि॥ १॥

वीरं शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धनं, प्रणम्य, ध्यानाध्ययनं प्रव-क्ष्यामीति योगः। तत्र ' ईर ' गतिप्रेरणयोरित्यस्य विपूर्वस्याजन्त-स्य विशेषेण ईरयति कर्म गमयति, याति वेह शिवमिति वीरः, तं वीरं, किंविशिष्टम्? इत्यत आह-शुचं क्लामयतीति शु-

क्लं, शोकं ग्लपयतीत्यर्थः। ' ध्यै '-ध्यायते चिन्त्यतेऽनेन तत्त्व-मिति ध्यानम् , एकाग्रचित्तनिरोध इत्यर्थः। शुक्लं च तद् ध्यानं च, तदेव कर्मेन्धनदहनादग्निः शुक्लध्यानाग्निः, तथा मिथ्यादर्शना-विरतिप्रमादकषाययोगैः क्रियत इति कर्मज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदि, तदेवातितीव्रदुःखानलनिबन्धतत्वादिन्धनं कर्मेन्धनं, ततश्च शु-क्लध्यानाग्निना दग्धं स्वस्वभावापनयनेन भस्मीकृतं कर्मेन्धनं येन स तथाविधः, तं प्रणम्य, प्रकर्षेण मनोवाक्काययोगैर्नत्वेत्यर्थः। किम् ? समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वाप्रत्ययविधानाद् ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्या-मीति योगः। तत्राधीयत इत्यध्ययनं, कर्मणि ल्युट्, पठ्यत इत्यर्थः। ध्यानप्रतिपादकमध्ययनं ध्यानाध्ययनम्। तद्याथात्म्यमङ्गीकृत्य प्रकर्षेण वक्ष्येऽभिधास्ये, किंविशिष्टं वीरं प्रणम्य ? इत्यत आह-योगेश्वरं, योगीश्वरं वा। तत्र युज्यन्त इति योगा मनोवाक्कायव्यापारलक्षणाः, तैरीश्वरः प्रधानः, तम्। तथाहि-अनुत्तरा एव भगवतो मनोवाक्कायव्यापारा इति।

यथोक्तम्-

'' दव्वमणोजोएणं, मणनाणीणं अणुत्तराणं च।
संसयवोच्छित्ति के-वलेण नाऊण सति कुणइ ॥ १ ॥
रिभियपयक्खरसरला मिच्छितरतिरिच्छसगिरपरिणामा।
मणणेव्वाणी वाणी, जोयणनीहारिणी चेव ॥ २ ॥
एक्का य अणेगेसिं, संसयवोच्छेयणम्मि अपडिहया।
न य निव्विज्जइ सोआ, तिप्पइ सव्वाछएणं पि ॥ ३ ॥
सव्वसुरेहिंतो वि हु, अहिगो कंतो य कायजोगो से।
तह वि य पसंतरूवे, कुणइ सया पाणिसंघाए '' ॥ ४ ॥ इत्यादि।

युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानाऽऽदिनाऽऽत्मेति योगो धर्मशुक्लध्यान-लक्षणः। स येषां विद्यते इति योगिनः साधवः, तैरीश्वरः, तदुपदेशेन तेषां प्रवृत्तेः, तत्संबन्धादिति। तेषां वा ईश्वरो योगीश्वरः प्रभुः स्वामीत्य-नर्थान्तरम्। तं योगीश्वरम्। अथवा योगिस्मार्ययोगिनां चिन्त्यं, ध्येयमित्यर्थः। पुनरपि स एव विशेष्यते-शरण्यं-तत्र शरणे साधुः शरण्यः, तं रागाऽऽदिपरिभूताऽऽश्रितसत्त्ववत्सलं, रक्षकमित्यर्थः, ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीत्येतद् व्याख्यातमेव।

अत्राऽऽह-यः शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धनः स योगीश्वर एव, यश्च योगीश्वरः स शरण्य एवेति गतार्थं विशेषणे। न। अभिप्रायापरिज्ञानात्। इह शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धनः सामान्यकेवल्यपि भवति, न त्वसौ योगेश्वरः, वाक्कायातिशयाभावात् ; स एव च तत्त्वतः शरण्य इति ज्ञापनार्थमेवादुष्टमेतदपि। तथा चोभयपदव्यभिचारे एकपदव्यभिचारे अज्ञातज्ञापनार्थं च शास्त्रे विशेषणाभिधानमनुज्ञातमेव पूर्वमुनिभिरि-त्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ १ ॥

(३) साम्प्रतं ध्यानाध्यानलक्षणं प्रतिपादयन्नाह-

जं थिरमज्झवसाए, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं हुज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता ॥ २ ॥

यदित्युद्देशः, स्थिरं निश्चलम् , अध्यवसानं, मन एकाग्रताऽऽल-म्बनमित्यर्थः। तदिति निर्देशे, ध्यानंप्राङ्निरूपितशब्दार्थम्। ततश्चैतदुक्तं भवतियत्स्थिरमध्यवसानं तद्ध्यानमभिधीयते, यच्चलमिति यत्पुनरन-वस्थितं तच्चित्तम्। तच्चौघतस्त्रिधा भवतीति दर्शयति। तद्भवेद्भावना वेतितच्चित्तं भवेत्। का ? भावनाभाव्यत इति भावना, ध्यानाभ्यास-क्रियेत्यर्थः। वा विभाषायां, अनुप्रेक्षा वेति-अनु पश्चाद्भावे, प्रेक्षणं प्रेक्षा, सा च स्मृतिः, ध्यानादृष्टस्य चित्तचेष्टेत्यर्थः। वा पूर्ववत्। अथवा (चिते त्ति) अथवाशब्दः प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थः। चिन्तेतिवा खलूक्तप्रकार-द्वयरहिता मनश्चेष्टा, सा चिन्तेति गाथार्थः ॥ २ ॥

इत्थं ध्यानाऽध्यानलक्षणमोघतोऽभिधायाधुनाऽध्यानमेव का-लस्वामिभ्यां निरूपयन्नाह-

अंतोमुहुत्तमित्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥ ३ ॥

इह मुहूर्त्तः सप्तसप्ततिलवप्रमाणः कालविशेषो भण्यते। (आव०) अन्तर्मध्यकरणे, ततश्च अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं, कालमिति गम्यते। मात्र-शब्दस्तदधिककालव्यवच्छेदार्थः। ततश्च भिन्नमुहूर्त्तमेव कालम्, किम् ? चित्तावस्थानमितिचित्तस्य मनसः, अवस्थानं चित्तावस्थानम् , अवस्थितिरवस्थानं, निष्प्रकम्पतया वृत्तिरित्यर्थः। क्व ? एकवस्तुनि-एकमद्वितीयं, वसन्त्यस्मिन् गुणपर्याया इति वस्तुचेतनाऽऽदि ; एकं च तद्वस्तु च एकवस्तु, तस्मिन्। छद्मस्थानां ध्यानमितितत्र च्छादयतीति छद्म-पिधानं, तच्च ज्ञानाऽऽदीनां गुणानामाचारकत्वाद् ज्ञानाऽऽवरणाऽऽ-दिलक्षणं घातिकर्म, छद्मनि स्थिताः छद्मस्थाः, अकेवलिन इत्यर्थः। तेषां छद्मस्थानां, ध्यानं प्राग्वत्। ततश्चायं समुदायार्थः-अन्तर्मुहूर्त्तकालं यच्चित्तावस्थानम् एकस्मिन् वस्तुनि तत् छद्मस्थानां ध्यानमिति। योगनिरोधो जिनानां त्विति। तत्र योगास्तत्त्वत औदारिकाऽऽदिशरीर-संयोगसमुत्था आत्मपरिणामविशेषव्यापारा एव। यथोक्तम्- '' औदारिकाऽऽदिशरीरयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः ; तथौ-दारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीरव्यापाराऽऽहृतवाग्द्रव्यसमूहसा-चिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः ; तथौदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीरव्यापा-राऽऽहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोग इति। अमीषां निरोधो योगनिरोधः, निरोधनं निरोधः, प्रलयकरणमित्यर्थः। केषां ? जिनानां केवलिनां, तुशब्द एवकारार्थः। स चावधारणे, योगनिरोध एव, न तु चित्तावस्थानं, चित्तस्यैवाभावात्। अथवा योगनिरोधो जिनानामेव ध्यानं, नान्येषाम् , अशक्यत्वादित्यलं विस्तरेण। यथा चायं योगनिरोधो जिनानां ध्यानं यावन्तं च कालं तद्भवत्येतदुपरिष्टाद्वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥ ३ ॥

साम्प्रतं छद्मस्थानामन्तर्मुहूर्त्तात्परतो यद्भवति, तदुपदर्शयन्नाह-

अंतोमुहुत्तपरओ, चिंता झाणंतरं व हुज्जाहि।
सुचिरं वि हुज्ज बहुव-त्थुसंकमे झाणसंताणो ॥ ४ ॥

अन्तर्मुहूर्त्तात्परत इति-भिन्नमुहूर्त्तादूर्द्धं, चिन्ता प्रागुक्तस्वरूपा, तथा ध्यानान्तरं वा भवेत्। तत्रेह न ध्यानादन्यद् ध्यानं ध्यानान्तरं परिगृह्यते, किं तर्हि ? भावनाऽनुप्रेक्षाऽऽत्मकं चेत इति। इदं च ध्यानान्तरं तदुत्तरकालभाविनि ध्याने सति भवति, तत्राप्ययमेव न्याय इति कृत्वा ध्यानसन्तानप्राप्तिर्यतः, अतस्तमेव कालमानं वस्तुसंक्रमद्वारेण निरूपयन्नाह-सुचिरमपि प्रभूतमपि, कालमिति गम्यते। भवेत् , बहुवस्तुसंक्रमे सति, ध्यानसन्तानो ध्यानप्रवाह इति। तत्र बहूनि च तानि वस्तूनि बहुवस्तूनि, आत्मगतपरगतानि गृह्यन्ते। तत्राऽऽत्मगतानि मनःप्रभृतीनि, परगतानि द्रव्याऽऽदीनीति,तेषु संक्रमः संचरणमिति गाथार्थः ॥ ४ ॥

(४) अथ ध्यानस्यैव भेदानाह-

कायाऽऽदितिहिक्किक्कं, तिव्वं मउयं च मज्झं च।
जह सीहस्स गतीओ, मंदा य पुता दुया चेव॥

पुनर्दृढाध्यवसायाऽऽत्मकं चित्तं त्रिधाकायिकं, वाचिकं, मानसिकं च। कायिकं नामयत्कायव्यापारेणोपयुक्तो भङ्गकचारणिकां करोति, कूर्मवद्वा संलीनाङ्गोपाङ्गस्तिष्ठति। वाचिकं तुमयेदृशी निरवद्या भाषा भाषितव्या, नेदृशी सावद्येति विमर्शपुरस्सरं यद्भाषते। यद्वाविकथाऽऽदिव्युदासेन श्रुतपरावर्त्तनाऽऽदिकमुपयुक्तः करोति तद्वाचिकम्। मानसं तु-एकस्मिन् वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता। पुनरेकैकं त्रिविधं-तीव्रं, मृदुकं च, मध्यं च। तत्र तीव्रमुत्कटम्, मृदुकं च मन्दम्, मध्यं च-नातितीव्रं नातिमृदुकमित्यर्थः। यथा सिंहस्य गतयस्तिस्रो भवन्ति। तद्यथा-मन्दा च, प्लुता, द्रुता च। तत्र मन्दाविलम्बिता, प्लुतानातिमन्दा नाति त्वरिता, द्रुता-अतिशीघ्रवेगा। बृ० १ उ०। दर्श०।

इत्थं तावत् सप्रसङ्गं ध्यानस्य सामान्येन लक्षणमुक्तम्; अधुना विशेषलक्षणाभिधित्सया ध्यानोद्देशं विशिष्टफलहेतुभावं च सङ्क्षेपतः प्रदर्शयन्नाह-

(५) प्रशस्ताप्रशस्तानि ध्यानानि-

अट्टं १ रुद्दं २ धम्मं ३, सुक्कं ४ झाणाइँ तत्थ अंताइं।
निव्वाणसाहणाइं, भवकारणमट्टरुद्दाइं॥ ५॥

आर्त्तं, रौद्रं, धर्म्यं, शुक्लम्। तत्र ऋतं दुःखं, तन्निमित्तो दृढोऽध्यवसायः, ऋते भवमार्त्तं, क्लिष्टमित्यर्थः। हिंसाऽऽद्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रम्। चरणश्रुतधर्मानुतं धर्मम्। शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं, शुचं वा क्लामयतीति शुक्लम्। अमूनि ध्यानानि वर्त्तन्ते। अधुना फलहेतुत्वमपदर्शयति-तत्र ध्यानचतुष्टये, अन्ते चरमे-सूत्रक्रमप्रामाण्याद् धर्मशुक्ले इत्यर्थः। किम् ? निर्वाणसाधने। इह निर्वृतिर्निर्वाणं, सामान्येन सुखमभिधीयते। तस्य साधने, कारणे इत्यर्थः। ततश्च- '' अट्टेण तिरिक्खगतिं, रोद्दज्झाणेण गम्मती नरयं। धम्मेण देवलोयं, सिद्धिगतिं सुक्कझाणेणं॥ १॥'' इति युदक्तं, तदपि न विरुध्यते। देवगतिसिद्धिगत्योः सामान्येन सुखसिद्धेरिति। अथापि निर्वाणं मोक्षः, तथाऽपि पारम्पर्येण धर्मध्यानस्यापि तत्साधनत्वादविरोध इति। तथा भवकारणमार्त्तरौद्रे इति। तत्र भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिन इति भवः-संसार एव, तथा-ऽप्यत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेस्तिर्यङ्नारकभवग्रह इति गाथार्थः॥ ५॥ आव० ४ अ०। सम्म०।

(६) अथ शुभाशुभध्यानज्ञापनार्थमिदमाह-

वण्णरसगंधफासा, इट्ठाणिट्ठा विभासिया सुत्ते।
अहिकिच्च दव्वलेसा, ताहि उ साहिज्जई भावो॥

सूत्रे प्रज्ञापनाऽऽदौ, कृष्णाऽऽदीनां लेश्यानां यद्वर्णगन्धरसस्पर्शाः, इष्टा अनिष्टाश्च, विभाषिता विविधमनेकैरुपमानैर्वर्णिताः। (लेश्यावर्णनं 'लेस्सा' शब्दे वक्ष्यते) तदेतत् सर्वमपि द्रव्यलेश्या अधिकृत्य प्रतिपत्तव्यम्। ताभिश्च द्रव्यलेश्याभिः शुभाशुभाध्यवसायरूपः साध्यते भावः। बृ० १ उ०। आव०। दर्श०। (आर्तध्यानवक्तव्यता 'अट्टज्झाण' शब्दे प्रथमभागे २३५ पृष्ठे निरूपिता। रौद्रध्यानवक्तव्यता तु 'रोद्दज्झाण' शब्दे वक्ष्यते)

धर्मशुक्लध्यानयोस्तु परमार्थतो ध्यानत्वादिहैव व्याख्या।

(७) साम्प्रतं धर्म्मध्यानावसरः, तत्र तदभिधित्सवैवाऽऽदाविदं द्वारगाथाद्वयमाह-

झाणस्स भावणाओ, देसं कालं तहाऽऽसणविसेसं।
आलंबण कम्मं झा-इअव्वयं जे अ झायारो॥ २८॥
तत्तोऽणुप्पेहाओ, लेस्सा लिंगं फलं च नाऊण।
धम्मं झाइज्ज मुणी, तक्कयजोगो तओ सुक्कं॥ २९॥

ध्यानस्य प्राङ्निरूपितशब्दार्थस्य, किम् ? भावनाः-ज्ञानाऽऽद्याः, ज्ञात्वेति योगः। किं च-देशं तदुचितं, कालं, तथाऽऽसनविशेषं तदुचितमिति, आलम्बनं वाचनाऽऽदि, क्रमं मनोनिरोधाऽऽदि, तथा ध्यातव्यं ध्येयमाज्ञाऽऽदि, तथा ये च ध्यातारः-अप्रमादाऽऽदियुक्ताः, ततोऽनुप्रेक्षाः-ध्यानोपरमकालभाविन्योऽनित्यत्वाऽऽद्यालोचनारूपाः, तथा लेश्याः-श्रद्धा एव, तथा लिङ्गं-श्रद्धानाऽऽदि, तथा फलं-सुरलोकाऽऽदि। चशब्दः स्वगतानेकभेदप्रदर्शनपरः। एतद् ज्ञात्वा, किम् ? धर्म्ममितिधर्मध्यानं, ध्यायेन्मुनिरिति। तत्कृतयोगः-धर्मध्यानकृताभ्यासः, ततः पश्चात्, शुक्लध्यानमिति गाथाद्वयसमासार्थः। व्यासार्थं तु प्रतिद्वारं ग्रन्थकारः स्वयमेव वक्ष्यति। २८। २९।

तत्राऽऽद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाऽऽह-

पुव्वकयब्भासो भा-वणाहिँ झाणस्स जुग्गयमुवेइ।
ताओ अ नाणदंसण-चरित्तवेरग्गनिअयाओ॥ ३०॥
'' वेरग्गजणिआओ '' इति पाठान्तरम्।

पूर्वं ध्यानात्प्रथमं, कृतो निर्वर्त्तितः, अभ्यास आसेवनालक्षणो येन स तथाविधः, काभिः पूर्वकृताभ्यासः ?-भावनाभिः करणभूताभिः, भावनासु वा भावनाविषये पश्चाद्, ध्यानस्याधिकृतस्य, योग्यताम्-अनुरूपताम्, उपैति यातीत्यर्थः। ताश्च भावना ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्यनियता वर्त्तन्ते, नियता इति परिच्छिन्नाः। पाठान्तरे वा जनिता इति गाथार्थः॥ ३०॥

साम्प्रतं ज्ञानभावनास्वरूपं गुणदर्शनायेदमाह-

णाणे निच्चब्भासो, कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च।
नाणगुणमुणिअसारो, तो झाइ सुनिच्चलमईओ॥ ३१॥

ज्ञाने श्रुतज्ञाने, नित्यं सदा, अभ्यास आसेवनालक्षणः, करोति निर्वर्त्तयति, किम् ? मनसोऽन्तःकरणस्य, चेतस इत्यर्थः। धारणमशुभव्यापारनिरोधेनावस्थानमिति भावना। तथा विशुद्धिं च, तत्र विशोधनं विशुद्धिः, सूत्रार्थयोरिति गम्यते। ताम्, चशब्दाद् भवनिर्वेदं च। एवं ज्ञानगुणज्ञातसार इति-ज्ञानेन गुणानां जीवा-जीवाऽऽश्रितानां, 'गुणपर्यायं च द्रव्यम्' इति वचनात्, पर्यायाणां च तदविनाभाविनां (मुणितो) ज्ञातः सारः परमार्थो येन स तथोच्यते, ज्ञानगुणेन वा ज्ञानमाहात्म्येनेति भावः। ज्ञातः सारो येन, विश्वस्येति गम्यते। स तथाविधः। ततश्च पश्चाद्, ध्यायति चिन्तयति; किंविशिष्टः सन् ? निश्चला निष्प्रकम्पा, सम्यग्ज्ञानतोऽन्यथाप्रवृत्तिकम्परहितेति भावः। मतिर्बुद्धिर्यस्य स तथाविध इति गाथार्थः॥ ३१॥ उक्ता ज्ञानभावना।

साम्प्रतं दर्शनभावनास्वरूपं गुणदर्शनार्थमिदमाह-

संकाइदोसरहिओ, पसमत्थिज्जाइगुणगणोवेओ।
होइ असंमूढमणो, दंसणसुद्धीइ झाणम्मि॥ ३२॥

(संकादिदोसरहित त्ति) शङ्कनं शङ्का, आदिशब्दात्काङ्क्षाऽऽदि-

परिग्रहः । उक्तश्च- '' शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसापरपाखण्डसंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः '' इति । (एतेषां च स्वरूपं प्रत्याख्यानाध्ययने न्यक्षेण वक्ष्यामः) तत्र शङ्काऽऽदय एव सम्यक्त्वाऽऽख्यप्रथमगुणातिचारत्वाद्दोषाः शङ्काऽऽदिदोषाः, तैः रहितः त्यक्तः ; उक्तदोषरहितत्वादेव । किम् ? प्रथमस्थैर्याऽऽदिगुणगणोपेतः । तत्र प्रकर्षेण श्रमः प्रश्रमः खेदः । स च स्थपरसमयतत्त्वाधिगमरूपः, स्थैर्यं तु जिनशासने निष्प्रकम्पता । आदिशब्दात् प्रभावनाऽऽदिपरिग्रहः । उक्तश्च- '' सपरसमएँ कोसल्लं, थिरिया जिण-सासणे पभावणया । आययणसेवभत्ती, दंसणदीवा गुणा पंच '' ॥ १ ॥ प्रश्रमस्थैर्याऽऽदय एव गुणाः, तेषां गणः समूहः, तेनोपेतो युक्तो यः स तथाविधः । अथवा- प्रशमाऽऽदिना स्थैर्याऽऽदिना च गुणग-णेनोपेतः । तत्र प्रशमाऽऽदिगुणगणः प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणः; स्थैर्याऽऽदिस्तु दर्शित एव । य इत्थम्भूतः, असौ भवत्यसंमूढमनाः, तत्त्वान्तरेऽभ्रान्तचित्त इत्यर्थः । दर्शनशुद्ध्योक्तलक्षणया हेतुभूतया, क्व ? ध्याने इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ उक्ता दर्शनभावना ।

साम्प्रतं चारित्रभावनास्वरूपं गुणदर्शनायेदमाह-

नवकम्माणायाणं, पोराणविणज्झरं सुभादाणं ।
चारित्तभावणाए, झायमयत्तेणं य समेइ ॥ ३३ ॥

नवकर्मणामनादानमितिनवान्युपचीयमानानि प्रत्यग्राणि भ-ण्यन्ते, क्रियन्ते इति कर्माणिज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदीनि, तेषामनादानमग्रहणम् ; चारित्रभावनया समेति गच्छतीति योगः । तथा पुराणविनिर्जरांचिरन्तनक्षपणमित्यर्थः । तथा शुभाऽऽदानमितिशुभं पुण्यं सम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्रात्मकं, त-स्याऽऽदानं ग्रहणम् । किम् ?-चारित्रभावनया हेतुभूतया ध्यानं, चशब्दान्नवकर्मानादानाऽऽदि वा ; अयत्नेनाक्लेशेन, समेति गच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः ।

तत्र चारित्रभावनयेति कोऽर्थः ? 'चर' गतिभक्षणयोरित्यस्य ''अर्तिलुधूसूखनिसहचर इत्रः'' ॥ ३ । २ । १८४ ॥ इति (पाणि०) इत्रप्रत्ययान्तस्य चारित्रमिति भवति । चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रंक्षयोपशमरूपं, तस्य भावश्चारित्रम् । एतदुक्तं भवति-इहा-न्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसंचयापचयाय चरणभावः चारित्रमिति, सर्वसावद्ययोगविनिवृत्तिरूपा क्रियेत्यर्थः । तस्य भावनाऽभ्यासश्चारित्रभावनेति गाथार्थः । उक्ता चारित्रभावना ॥ ३३ ॥

साम्प्रतं वैराग्यभावनास्वरूपं गुणदर्शनार्थमाह-

सुविइअजगस्सहाओ, निस्संगो निब्भओ निरासो अ ।
वेरग्गभाविअमणो, झाणम्मि सुनिच्चलो होइ ॥ ३४ ॥

सुष्ठवतीव विदितो ज्ञातः जगतश्चराचरस्य । यथोक्तम्-

'' जगन्ति जङ्गमान्याहु-र्जगद् ज्ञेयं चराचरम् ॥ ''

स्वो भावः स्वभावः ।

'' जन्म मरणाय नियतं, बन्धुर्दुःखाय धनमनिर्वृतये ।
तन्नास्ति यन्न विपदे, तथापि लोको निरालोकः '' ॥ १ ॥

इत्यादिलक्षणो येन स तथाविधः । कदाचिदेवंभूतोऽपि कर्मपरिणतिवशात् ससङ्गो भवत्यत आह-निःसङ्गो विषयस्नेहसङ्गरहितः । एवम्भूतोऽपि कदाचित् समयो भवत्यत आह-निर्भयः-इहलोकाऽऽदिसप्तभयविप्रमुक्तः । कदाचिदेवम्भूतोऽपि विशिष्टपरिणत्यभावात् परलोकमधिकृत्य साऽऽशंसो भवत्यत आह-निराशश्च-इहपरलोकाऽऽशंसाविप्रमुक्तः, चशब्दात्तथाविधक्रोधाऽऽदिरहितश्च । य एवंविधो वैराग्यभावितमना भवति स खल्वज्ञानाऽऽद्युपद्रवरहितत्वाद् ध्याने सुनिश्चलो भवतीति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ उक्ता वैराग्यभावना, मूलद्वारगाथाद्वये ध्यानस्य भावना इति व्याख्यातम् ।

(६) अधुना देशद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह-

निच्चं चिअ जुवइपसू-नपुंसगकुसील परिण्वज्जिअं जइणो ।
ठाणं विअणं भणिअं, विसेसओझाणकालम्मि ॥ ३५ ॥

नित्यमेव सर्वकालमेव, न केवलं ध्यानकाल इति । किम् ? युवतिपशुनपुंसककुशीलपरिवर्जितं, यतेः स्थानं विजनं भणितमि-ति । तत्र युवतिशब्देन मनुष्यस्त्री, दैवी च परिगृह्यते । पशुशब्देन तु तिर्यक्स्त्रीति । नपुंसकं प्रतीतं, कुत्सितं निन्दितं शीलं वृत्तं येषां ते कुशीलाः, ते च तथाविधा द्यूतकाराऽऽदयः ।

उक्तञ्च-

'' जूइयरसोलमेंठा, वड्ढा उद्भामगाइणो जे य ।
एते हुंति कुसीला, वज्जेयव्वा पयत्तेणं '' ॥ १ ॥

युवतिश्च पशुश्चेत्यादिद्वन्द्वः । युवत्यादिभिः, परिसमन्ताद्, वर्जितं रहितमिति विग्रहः । यतेस्तपस्विनः साधोः, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति साध्वाश्च । किं ? स्थानमवकाशलक्षणम् । तदेव विशेष्यते-युवत्यादिव्यतिरिक्तशेषजनापेक्षया विगतं जनं विजनं, भणितमुक्तं, तीर्थकरैर्गणधरैश्चेदमेवंभूतं नित्यमेव, अन्यत्र प्रवचनोक्तदोषसंभवाद् , विशेषतो ध्यानकाल इति । अपरिणतयोगाऽऽदिनाऽन्यत्र ध्यानस्याऽऽराधयितुमशक्यत्वादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

इत्थं तावदपरिणतयोगाऽऽदीनां स्थानमुक्तम् , अधुना परिणतयोगाऽऽदीनधिकृत्य विशेषमाह-

थिरकयजोगाणं पुण, मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं ।
गाममि जणाइन्ने, सुन्नेऽरन्ने व न विसेसो ॥ ३६ ॥

तत्र स्थिराः संहननधृतिभ्यां बलवन्त उच्यन्ते, कृता निर्वर्तिताः, अभ्यस्ता इति यावत् । के ?-युज्यन्त इति योगाः-ज्ञानाऽऽदिभावनाऽऽदिव्यापाराः, सत्त्वसूत्रतपाप्रभृतयो वा यैस्ते कृतयोगाः, स्थिराश्च ते कृतयोगाश्चेति विग्रहः । तेषाम् । अत्र च स्थिरकृतयोगयोश्चतुर्भङ्गी भवति । तद्यथा- '' थिरे णामेगे णो कयजोगे '' इत्यादि । स्थिरा वा पौनःपुन्यकरणेन परिचिताः कृता योगा यैस्ते तथा-विधाः, तेषाम् । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि ?-तृतीयभङ्गवर्तां, न शेषाणां, स्वभ्यस्तयोगानां वा । मुनीनामिति-मन्यन्ते जीवाऽऽदीन् पदार्थानिति मुनयोविपश्चितः साधवः, तेषाम् , तथा ध्याने अधिकृते एव धर्मध्याने, सुष्ठवतिशयेन निश्चलं निष्प्रकम्पं मनो येषां ते तथाविधाः, तेषाम् । एवंविधानां स्थानं प्रतिग्रामे जनाऽऽकीर्णे, शून्येऽरण्ये वा, न विशेष इति । तत्र ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान् इति ग्रामः, गम्यो वा कराऽऽदीनामिति ग्रामः, सन्निवेसविशेषः । इह चैकग्रहणेन तज्जातीयग्रहणान्नगरखेटकर्वटाऽऽदिपरिग्रह इति । जनाऽऽकीर्णे जनाऽऽकुले ग्रामे एवोद्यानाऽऽदौ, तथा शून्यं तस्मिन्नेव, अरण्ये वा कान्तारे येति, वा विकल्पेन विशेषान्न भेदः, सर्वत्र तुल्यभावत्वात् परिणतत्वात्तेषामिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

तो जत्थ समाहाणं, होइ मणोवयणकायजोगाणं ।
भूओवरोहरहिओ, सो देसो झायमाणस्स ॥ ३७ ॥

यत एतदुक्तमतस्तस्मात् कारणाद् , यत्र ग्रामाऽऽदौ स्थाने, स-

माधानं स्वास्थ्यं, भवति जायते । केषाम् ? इत्यत आह-मनोवाक्काययोगानां प्राङ्निरूपितस्वरूपाणामिति । आह-मनोयोगसमाधानमस्तु, वाक्काययोगसमाधानं त्वत्र क्वोपयुज्यते, न हि तन्मयं ध्यानं भवति ? अत्रोच्यते तत्समाधानम्-तावन्मनोयोगोपकारकं ध्यानमपि च तदात्मकं भवत्येव ।

यथोक्तम्-

'' एवंविधा गिरा मे, वत्तव्वा एरिसी न वत्तव्वा ।
इय वेयालिय वक्क-स्स भासओ वाइयं झाणं ॥ १ ॥ ''

तथा-

'' सुसमाहियकरपाय-स्स अ कज्जे कारणम्मि जयणाए ।
किरियाकरणं जं तं, काइयझाणं भवे जइणो ॥ १ ॥ ''

न चात्र समाधानमात्रकारिन्यमेव गृह्यते, किं तु भूतोपरोधरहितः, तत्र भूतानि पृथिव्यादीनि, उपरोधस्तत्संघट्टनाऽऽदिलक्षणः, तेन रहितः परित्यक्तो यः । एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् अनृतादत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहाऽऽद्युपरोधरहितश्च, स देशो, ध्यायतः-चिन्तयतः, उचित इति शेषः । अयं गाथार्थः ॥ ३७ ॥ गतं देशद्वारम् ।

(१०) अधुना कालाऽऽसनाऽऽलम्बनक्रमद्वारेषु क्रमप्राप्तं कालद्वारमभिधित्सुराह-

कालो वि सो चिअ जहिं, जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ ।
न उ दिवसनिसावेला-इनिअमणं झाइणो भणिअं ॥ ३८ ॥

कलनं कालः, कलासमूहो वा, स चार्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु चन्द्रसूर्यगतिक्रियोपलक्षितो दिवसाऽऽदिरवसेयः । अपिशब्दो देशानियमेन तुल्यत्वसंभावनार्थः । तथा चाह-कालोऽपि स एव, ध्यानोचित इति गम्यते । यत्र काले, योगसमाधानं मनोयोगाऽऽदिस्वास्थ्यम् , उत्तमं प्रधानं, लभते प्राप्नोति, न तु पुनर्नैव, तुशब्दस्य पुनःशब्दार्थत्वादेवकारार्थत्वाद्वा । किम् ? दिवसनिशावेलाऽऽदिनियमनं ध्यायिनो भणितमिति । दिवसनिशे प्रतीते । वेला सामान्यत एव तदेकदेशो मुहूर्त्ताऽऽदिः । आदिशब्दात्पूर्वाह्णापराह्णाऽऽदिसूचा । एतन्नियमनं दिवैवेत्यादिलक्षणं, ध्यानिनः सत्त्वस्य, भणितमुक्तं, तीर्थकरगणधरैर्नैवेति गाथार्थः । गतं कालद्वारम् ॥ ३८ ॥

आसनविशेषद्वारं व्याचिख्यासयाऽऽह-

जचिअ देहावत्था, जिआ ण झाणोवरोहिणी होइ ।
झाइज्जा तयवत्थो, ठिओ निसन्नोऽनिसन्नो वा ॥ ३९ ॥

इह चैव कावित् , देहावस्था शरीरावस्था निषण्णताऽऽदिरूपा, किम् ? जितेत्यभ्यस्ता, उचिता वा, तथाऽनुष्ठीयमाना, न, ध्यानोपरोधिनी भवति-नाधिकृतधर्मध्यानपीडाकरी भवतीत्यर्थः । ध्यायेत, तदवस्थ इति-सैवावस्था यस्य स तदवस्थः, तमेव विशेषतः प्राऽऽहस्थितः कायोत्सर्गेण, ईषन्नताऽऽदिना निषण्ण उपविष्टो, वीरासनाऽऽदिनाऽनिषण्णः शयितो दण्डाऽऽयताऽऽदिना, वा विभाषायामिति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

आह-किं पुनरयं देशकालाऽऽसनानामनियम इति ? अत्रोच्यते-

सव्वासु वट्टमाणा, मुणओ जं देसकालचिट्ठासु ।
वरकेवलाइभावं, पत्ता बहुसो समियपावा ॥ ४० ॥

सर्वास्वित्यशेषासु, देशकालचेष्टास्विति योगः । चेष्टा देहावस्था, किम् ? वर्त्तमाना अवस्थिताः, के ? मुनयः प्राङ्निरूपितशब्दार्थाः, यद्यस्मात्कारणात् ; किम् ? वरः प्रधानश्चासौ केवलाऽऽदिभावश्च, तं, प्राप्ता इति । आदिशब्दान्मनःपर्यायज्ञानाऽऽदिपरिग्रहः । किं सकृदेव प्राप्ताः ? न । केवलवर्जं बहुशोऽनेकशः, किंविशिष्टाः ? शान्तपापाः, तत्र पातयति नरकाऽऽदिष्विति पापम् , शान्तमुपशमं नीतं पापं यैस्ते तथाविधा इति गाथार्थः ॥ ४० ॥

तो देसकालचिट्ठा-नियमो झाणस्स नत्थि समयम्मि ।
जोगाण समाहाणं, जह होइ तह पयइयव्वं ॥ ४१ ॥

यस्मादिति पूर्वगाथायामुक्तं, तेन सहास्याभिसंबन्धः, तस्माद् , देशकालचेष्टानियमो, ध्यानस्य, नास्ति न विद्यते । क्व ? समये आगमे, किं तु योगानां मनःप्रभृतीनां, समाधानं पूर्वोक्तं, यथा भवति तथा यतितव्यं यत्नः कार्य इत्यत्र नियम एवेति गाथा-र्थः ॥ ४१ ॥ गतमासनद्वारम् ।

अधुना आलम्बनद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाऽऽह-

आलंबणाऽऽइवायण-पुच्छणपरिअट्टणाणुचिंताओ ।
सामाइआइ एया-इ सद्धमाऽऽवस्सयाइं च ॥ ४२ ॥

इह धर्मध्यानाऽऽरोहणार्थमालम्ब्यन्त इत्यालम्बनानि, वाचना पृच्छना परावर्त्तनाऽनुचिन्ता इति । तत्र वाचनं वाचना, विनेयाय निर्जरायै सूत्राऽऽदिदानमित्यर्थः । शङ्किते सूत्राऽऽदौ संशयापनोदाय गुरुपृच्छनं प्रश्न इति । परिवर्त्तनं तु पूर्वाधीतस्यैव सूत्राऽऽदेरविस्मरणनिर्जरानिमित्तमभ्यासकरणमिति । अनुचिन्तनमनुचिन्ता, मनसैवाविस्मरणनिमित्तं सूत्रानुस्मरणमित्यर्थः । वाचना च, प्रश्नश्चेत्यादि द्वन्द्वः । एतानि च श्रुतधर्मानुगतानि वर्त्तन्ते । तथा सामायिकाऽऽदीनि सद्धर्माऽऽवश्यकानि चेति । अमूनि तु चरणधर्मानुगतानि वर्त्तन्ते । सामायिकमादौ येषां तानि सामायिकाऽऽदीनि । सामायिकं प्रतीतम् , आदिशब्दान्मुखवस्त्रिकाप्रत्युप्रेक्षणाऽऽदिलक्षणसकलचक्रवालसामाचारीपरिग्रहः । यावत्पुनरपि सामायिकमिति । एतान्येव विधिवदासेव्यमानानि, सन्ति शोभनानि, सन्ति च तानि चारित्रधर्माऽऽवश्यकानि चेति विग्रहः । आवश्यकानि नियमतः करणीयानि । चः समुच्चये । इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

साम्प्रतममीषामेवाऽऽलम्बनत्वे निबन्धनमाह-

विसमम्मि समारोहइ, दढदव्वाऽऽलंबणो जहा पुरिसो ।
सुत्ताऽऽइकयाऽऽलंबो, तह झाणवरं समारुहइ ॥ ४३ ॥

विषमे निम्ने दुःसंचारे, समारोहति सम्यगपरिक्लेशेनोर्ध्वं याति । कः ? दृढं बलवत् , द्रव्यं रज्ज्वाद्यालम्बनं यस्य स तथाविधः । यथा पुरुषः पुमान्कश्चित्सूत्राऽऽदिकृताऽऽलम्बनः, वाचनाऽऽदिकृताऽऽलम्बन इत्यर्थः । तथा तेनैव प्रकारेण, ध्यानवरं धर्मध्यानमित्यर्थः । समारोहतीति गाथार्थः । गतमालम्बनद्वारम् ।

अधुना क्रमद्वारावसरः । तत्र लाघवार्थं क्रमं धर्मस्य शुक्लस्य च प्रतिपादयन्नाह-

झाणपडिवत्तिकम्मो, होइ मणोजोगनिग्गहाईओ ।
भवकाले केवलिणो, सेसस्स जहा समाहीए ॥ ४४ ॥

ध्यानं प्राङ्निरूपितशब्दार्थं, तस्य प्रतिपत्तिक्रम इति समासः । प्रतिपत्तिक्रमः प्रतिपत्तिपरिपाट्यभिधीयते । स च भवति मनोयोगनिग्रहाऽऽदिः । तत्र प्रथम मनोयोगनिग्रहः, ततो वाग्योगनिग्रहः, ततः काययोगनिग्रह इति । किमयं सामान्येन सर्वस्यैवेत्थंभूतः क्रमः ? न, किं तु भवकाले केवलिनः । अत्र भवकालशब्देन मोक्षगमनप्रत्यासन्नः अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण एव शैलेश्यवस्थान्तर्गतः परिगृह्यते । केवलमस्यास्तीति केवली, तस्य शुक्लध्यान एवायं क्रमः प्रतिपत्तिक्रमः । शेषस्थान्यस्य धर्मध्यानप्रतिपत्तुः, योगका-

लावाश्रित्य, किम् ? यथा समाधिनेतियथैव स्वास्थ्ये भवति, तथैव प्रतिपत्तिरिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ गतं क्रमद्वारम् ।

(११) इदानीं ध्यातव्यमुच्यते-

आणा विजएँ अवाए, विवागें संठाणओ अ नायव्वा ।
एए चत्तारि पया, झायव्वा धम्मझाणस्स ॥ ४५ ॥

तच्चतुर्भेदमाज्ञाऽऽदि । उक्तं च-आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविषयाय धर्म्ममित्यादि । (तत्राद्यभेदम् ' आणा ' शब्दे द्वितीयभागे ११५ पृष्ठे गतम्)

अधुना द्वितीय उच्यते-

रागद्दोसकसाया-ऽऽसवाइकिरियासु वट्टमाणाणं ।
इहपरलोगावाए, झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥ ४६ ॥

रागद्वेषकषायाऽऽश्रवाऽऽदिक्रियासु वर्त्तमानानां इहपरलोकापायान् ध्यायेत् । यथा-रागाऽऽदिक्रियैहिकाऽऽमुष्मिकविरोधिनी ।

उक्तं च-

'' रागः सम्पद्यमानोऽपि, दुःखदो दुष्टगोचरः ।
महाव्याध्यभिभूतस्य, अपथ्यान्नाभिलाषवत् '' ॥ १ ॥

तथा-

'' द्वेषः सम्पद्यमानोऽपि, तापयत्येव देहिनम् ।
कोटरस्थो ज्वलन्नाशु, दावानल इव द्रुमम् '' ॥ २ ॥

तथा-

'' दृष्ट्यादिभेदभिन्नस्य, रागस्याऽऽमुष्मिकं फलम् ।
दीर्घः संसार एवोक्तः, सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः '' ॥ ३ ॥ इत्यादि ।

तथा-

'' दोसानलसंतत्तो, इह लोगे चेव दुक्खिओ जीवो ।
परलोगम्मि य पावो, पावइ निरयानलं तत्तो '' ॥ ४ ॥ इत्यादि ।

तथा-

कषायाः क्रोधाऽऽदयः, तदपायाः पुनः-

'' कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ''॥ ५ ॥
'' कोहो य माणो य भणिग्गही य,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइँ पुणब्भवस्स '' ॥ ६ ॥

तथा आश्रवाः कर्मबन्धहेतवो मिथ्यात्वाऽऽदयः, तदपायाः पुनः-

'' मिच्छत्तमोहियमई, जीवो इहलोग एव दुक्खाइं ।
निरओवमाइ पावो, पावति पसमाऽऽइगुणहीणो ''॥ ७ ॥

तथा-

'' अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधाऽऽदिभ्योऽपि सर्वदोषेभ्यः ।
अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनाऽऽवृतो लोकः ''॥ ८ ॥

तथा-

'' जीवा पावंति इहं, पाणवधादविरतीएँ पावाए ।
नियसुयघायणमादी, दोसे जणगरहिए पावे ॥ ९ ॥
परलोगम्मि वि एवं, आसवकिरियाहि अज्जिए कम्मे ।
जीवाण चिरमवाया, णिरयादिगतिं भमंताण ''॥ १० ॥ इत्यादि।

आदिशब्दः स्वगतानेकभेदख्यापकः; प्रकृतिस्थित्वनुभावप्रदेशबन्धभेदग्राहक इत्यन्ये । क्रियास्तु कायिक्याऽऽदिभेदाः पञ्चः एताः पुनरुत्तरत्र न्यक्षेण वक्ष्यामः ।

विपाकः पुनः-

'' किरियासु वट्टमाणा, काइगमाईसु दुक्खिया जीवा ।
इह चेव य परलोगे, संसारपवड्ढगा भणिया ॥ १ ॥ ''

ततश्चैवं रागाऽऽदिक्रियासु वर्त्तमानानामपायान् ध्यायेत् । किंवि-शिष्टः सन्निति ? आह-वर्ज्यपरिवर्जी-तत्र वर्जनीयं वर्ज्यमकृत्यं परिगृह्यते, तत्परिवर्जी, अप्रमत्त इति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ उक्तः खलु द्वितीयो ध्यातव्यभेदः ।

अधुना तृतीय उच्यते-

पयइट्ठिइप्पएसा-णुभावभिन्नं सुहासुहविभत्तं ।
जोगाणुभावजणिअं, कम्मविभागं विचिंतिज्जा ॥ ५२ ॥

तत्र प्रकृतिस्थितिप्रदेशानुभावभिन्नं शुभाशुभविभक्तमित्यत्र प्रकृतिशब्देनाष्टौ कर्मप्रकृतयोऽभिधीयन्ते, ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिभेदा इति । प्रकृतिरंशो भेद इति पर्यायाः । स्थितिः-तासामेवावस्थानं जघन्याऽऽदिभेदभिन्नम् । प्रदेशशब्देन जीवप्रदेशकर्मपुद्गलसंबन्धोऽभिधीयते, अनुभावशब्देन तु विपाकः । एते च प्रकृत्यादयः शुभाशुभभेदभिन्ना भवन्ति । ततश्चैतदुक्तं भवतिप्रकृत्यादिभेदभिन्नं शुभाशुभविभक्तं योगानुभावजनितं मनोयोगाऽऽदिगुणप्रभवं, कर्मविपाकं विचिन्तयेदिति गाथाक्षरार्थः ॥

भावार्थः पुनर्वृद्धविवरणादवसेयः । तच्चेदम्- '' इह पथतिभिन्नं शुभाशुभविभक्तं कम्मविपागं विचिंतेज्जा । तत्थ पयतीओ त्ति कम्मणो भेदा, अंसा णाणावरणिज्जाइणो अट्ठा, तेहिं भिन्नं पि हतं च, सुभं पुन्नं-साताऽऽदियं, असुभं पावं, तेहिं विभिन्नं विभिन्नविपागं, जहा कम्मपगतीए तहा विसेसेण चिंतेज्जा विचिंतेज्जा । किञ्च ठितिभिन्नं च सुभासुभविभिन्नं कम्मविपाकं विचिंतेज्जा । ठिति त्ति तासिं चेव अट्ठण्हं पगडीणं जहन्नमज्झिमुक्कोसकालावत्था, जहा कम्मपगडीए । किं च पएसभिन्नं शुभाशुभं० जाव कृत्वा पूर्वविधानं पदयोस्तावेव पूर्ववद्वर्ग्यौ वर्गघनौ कुर्यात् । तां तृतीयराशेः, ततः प्राग्वत् कृत्वा पूर्वविधानमिति २५६ । अमीषां घने कृते राशिरयमागच्छति । अथवा चतुर्भिरष्टौ वारा गुणिते अस्य राशेः पूर्वपदस्य घनाऽऽदि कृत्वा, तस्य वर्गाऽऽदि । ततः द्वितीयपदस्य इदमेव विपरीतं क्रियते । तत एतावेव वर्ग्येते । ततस्तृतीयपदस्य वर्गघनौ क्रियते । एवमनेन क्रमे-णायं राशिः १६७७७२१६ चिंतेज्जा । पदेसो त्ति जीवपदेसाणं कम्मपदेसेहिं सुहुमेहिं एक्कखेत्तावगाढेहिं पुट्ठोगाढअणंतअणुबादरउट्ठेहिं भेदोहिं बद्धाणं वित्थरओ य कम्मपगडीए भणियाणं कम्मविपाकं चिंतेज्जा । किं च-अणुभावभिन्नं सुभासुभविभत्तं कम्मविवागं विचिं-तेज्जा । तत्थ अणुभावो त्ति, तासिं चेवऽट्ठण्हं पगडीणं पुट्ठबद्धनिका-इयाणं उदयाओ अणुभावणं, तं च कम्मविपाकं जोगाणुभावजणियं विचिंतेज्जा । तत्थ जोगा मणवयकाया, अणुभावो जीवगुण एव । स च मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायाः, तेहिं अणुभावेण य जणिय-मुप्पाइयं जीवस्स कम्मं जं, तस्स विपाकं उदयं विचिंतेज्जा '' इति । उक्तस्तृतीयो ध्यातव्यभेदः ।

साम्प्रतं चतुर्थ उच्यते-

जिणदेसिआइँ लक्खण-संठाणासणविहाणमाणाइं ।
उप्पायट्ठिइभंगा, पज्जाया जे अ दव्वाणं ॥ ५३ ॥

जिनाः प्राङ्निरूपितशब्दार्थास्तीर्थकराः ; तैर्देशितानि कथितानि जिनदेशितानि । *कानि ? अत आह-लक्षणसंस्थानाऽऽसनवि-*

धानमानानि। किम् ?-' विचिन्तयेत् ' इति पर्यन्ते वक्ष्यति षष्ठ्यां (?) (५८) गाथायामिति । तत्र लक्षणाऽऽदीनि विचिन्तयेदत्रापि गाथान्ते द्रव्याणामित्युक्तं, तत्प्रतिपदमायोजनीयमिति । तत्र लक्षणं धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्याणां गत्यादि ; तथा संस्थानं मुख्यवृत्त्या पुद्गलरचनाऽऽकारलक्षणं परिमण्डलाऽऽद्यजीवानाम्। यथोक्तम्- '' परिमंडले पवट्टे, तंसे चउरंस आयते चेव। '' जीवशरीराणां च समचतुरस्राऽऽदि। यथोक्तम्- '' समचउरंसे णिग्गोहमंडले साति वामणे खुज्जे। हुंडे वि य संठाणे, जीवाणं छ मुणेयव्वा ॥ १ ॥ '' धर्माधर्मयोरपि लोकक्षेत्रापेक्षया भावनीयमिति। उक्तं च- ''हेट्ठा मज्झे उवरिं, छव्वीझल्लरिमुइंगसंठाणो। लोगो अद्धागारो, अद्धा खित्तागिई णेआ ॥ १ ॥ '' तथाऽऽसनान्याधारलक्षणानि धर्मास्तिकायाऽऽदीनां लोकाऽऽकाशाऽऽदीनि, स्वरूपाणि वा। तथा विधानानि धर्मास्तिकायाऽऽदीनामेव भेदानीत्यर्थः। यथा- '' धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायस्स पदेसे '' इत्यादि। तथा मानानिप्रमाणानि धर्मास्तिकायाऽऽदीनामेवाऽऽत्मीयानि। तथा उत्पादस्थितिभङ्गाऽऽदिपर्याया ये च द्रव्याणां धर्मास्तिकायाऽऽदीनां, तान्यिचिन्तयेदिति। तत्रोत्पादाऽऽदिपर्यायसिद्धिः '' उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् '' इति वचनात्।

युक्तिः पुनरत्र-

'' घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम्॥ १ ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्वं त्रयाऽऽत्मकम्॥ २ ॥ ''

ततश्च धर्मास्तिकायो विवक्षितसमयसंबन्धरूपापेक्षयोत्पद्यते, तदनन्तरातीतसमयसंबन्धरूपापेक्षया तु विनश्यति, धर्मास्तिकायद्रव्याऽऽत्मना तु नित्य इति। उक्तं च- '' सर्वव्यक्तिषु नियतं, क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः। सत्योचित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात्॥ १ ॥ '' आदिशब्दादगुरुलघ्वादिपर्यायपरिग्रहः। चशब्दः समुच्चयार्थ इति गाथाऽर्थः॥ ५३ ॥

किञ्च-

पंचत्थिकायमइअं, लोगमणाइनिहणं जिणक्खायं।
नामाइभेअविहिअं, तिविहमहोलोगभेआई॥ ५४ ॥

पञ्चास्तिकायमयं लोकमनाद्यनिधनं जिनाऽऽख्यातमिति, क्रिया पूर्ववत्। तत्रास्तयः प्रदेशाः, तेषां काया अस्तिकायाः, पञ्च च ते अस्तिकायाश्चेति विग्रहः। एते च धर्मास्तिकायाऽऽदयो गत्याद्युपग्रहकरा ज्ञेया इति।

उक्तं च-

'' जीवानां पुद्गलानां च, गत्युपग्रहकारणम्।
धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य, दीपश्चक्षुष्मतो यथा॥ १ ॥
जीवानां पुद्गलानां च, स्थित्युपग्रहकारणम्।
अधर्मः पुरुषस्येव, तिष्ठासोरवनिः समा॥ २ ॥
जीवानां पुद्गलानां च, धर्माधर्मास्तिकाययोः।
बादराणां घटी यद्व-दाकाशमवकाशदम॥ ३ ॥
ज्ञानाऽऽत्मा सर्वभावज्ञो, भोक्ता कर्ता च कर्मणाम्।
नानासंसारिमुक्ताऽऽख्यो, जीवः प्रोक्तो जिनाऽऽगमे॥ ४ ॥
स्पर्शरसगन्धवर्ण-शब्दमूर्त्तिस्वभावकाः।
सङ्घातभेदनिष्पन्नाः, पुद्गला जिनदेशिताः '' ॥ ५ ॥

तन्मयं तदात्मकम् ; लोक्यत इति लोकस्तम् , कालतः किंभूतमिति ? अत आह-अनाद्यनिधनम्-अनाद्यपर्यवसितमित्यर्थः। अनेनेश्वराऽऽदिकृतव्यवच्छेदमाह। असावपि दर्शनभेदासिद्ध एवेत्यत आह-जिनाऽऽख्यातं तीर्थकरप्रणीतम्।

आह-जिनदेशितानीत्यस्माज्जिनप्रणीतधर्माधिकारोऽनुवर्त्तत एव, ततश्च जिनाऽऽख्यातमित्यतिरिच्यते। न। अस्याऽऽदरख्यापनार्थत्वात्, आदरख्यापनाऽऽदौ च पुनरुक्तदोषानुपपत्तेः।

तथोक्तम्-

'' अनुवादाऽऽदरवीप्सा-भृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु।
ईषत्संभ्रमविस्मय-गणनस्मरणे न पुनरुक्तम् '' ॥ १ ॥

तथा-नामाऽऽदिभेदविहितं भेदतो नामाऽऽदिभेदावस्थापितमित्यर्थः।

उक्तञ्च-

'' नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले भवे च भावे य।
पज्जवलोगे य तहा, अट्ठविहो लोगनिक्खेवो॥ १ ॥ ''

भावार्थश्चतुर्विंशतिस्तवविवरणादवसेयः।

साम्प्रतं क्षेत्रलोकमधिकृत्याऽऽह-त्रिविधं त्रिप्रकारम् , अधोलोकभेदाऽऽदीनि प्राकृतशैल्याऽधोलोकाऽऽदिभेदम् , आदिशब्दात्तिर्यगूर्ध्वलोकपरिग्रहः। इति गाथार्थः॥ ५४ ॥

किं च-तस्मिन्नेव क्षेत्रलोके इदं चेदं च विचिन्तयेदिति प्रतिपादयन्नाह-

खिइवलयदीवसागर-निरयविमाणभवणाइसंठाणं।
वोमाइपइट्ठाणं, निच्चं लोगट्ठिइविहाणं॥ ५५ ॥

क्षितिवलयद्वीपसागरनिरयविमानभवनाऽऽदिसंस्थानं, तत्र क्षितयः खलु घर्माऽऽद्या ईषत्प्राग्भारावसाना अष्टौ भूमयः परिगृह्यन्ते। वलयानि घनोदधिघनवाततनुवाताऽऽत्मकानि धर्माऽऽदि-सप्तपृथिवीपरिक्षेपीण्येकविंशतिः। द्वीपा जम्बूद्वीपाऽऽदयः स्वयम्भूरमणद्वीपान्ता असङ्ख्येयाः। सागरा लवणसागराऽऽदयः स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्ता असङ्ख्येया एव। निरयाः सीमन्तकाऽऽद्या अप्रतिष्ठानावसानाः संख्येयाः।

यत उक्तम्-

'' तीसा य पन्नवीसा, पनरस य दसेव सयसहस्साइं।
तिन्नेगं पंचूणं, पंच य नरगा जहा कमसो ''॥ १ ॥

विमानानि ज्योतिष्काऽऽदिसंबन्धीन्यनुत्तरविमानान्तान्यसङ्ख्येयानि, ज्योतिष्कविमानानामसङ्ख्येयत्वात्।

भवनानि भवनवास्यालयलक्षणानि असुराऽऽदिदशनिकायसंबन्धीनि सङ्ख्येयानि।

उक्तं च-

'' सत्तेव य कोडीओ, हवंति बावत्तरिं सयसहस्सा।
एसो भवणसमासो, भवणवतीणं वियाणेज्जा॥ १ ॥ ''

आदिशब्दादसङ्ख्येयव्यन्तरनगरपरिग्रहः।

उक्तं च-

'' हेट्ठोवरि जोयणसय-रहिए रयणाऍ जोयणसहस्से।
पढमे वंतरियाणं, भोमा णगरा असंखेज्जा॥ १ ॥ ''

ततश्च क्षितयश्च वलयानि चेत्यादिद्वन्द्वः। एतेषां संस्थानमाकारविशेषलक्षणं, विचिन्तयेदिति। तथा व्योमाऽऽदिप्रतिष्ठानमित्यत्र प्रतिष्ठितिः प्रतिष्ठानं, भावे ल्युट्। व्योम आकाशम्। आदिशब्दाद्वाताऽऽदिपरिग्रहः। व्योमाऽऽदौ प्रतिष्ठानमस्येति व्योमाऽऽदिप्रतिष्ठानं, लोकस्थितिविधानमिति योगः। विधिर्विधानं, प्रकार इत्यर्थः। लोकस्य स्थितिः लोकस्थितिः, स्थितिर्व्यवस्था मर्यादेत्यनर्थान्तरम्। तद्विधानम्। किम्भूतम् ? नित्यं शाश्वतम्। क्रिया पूर्ववदिति गाथार्थः॥ ५५ ॥

किंच-

उवओगलक्खणमणा-इनिहणमत्थंतरं सरीराओ।
जीवमरूवं कारिं, भोइं च सयस्स कम्मस्स ॥ ५६ ॥

उपयुज्यतेऽनेनेत्युपयोगः, साकारानाकाराऽऽदिः। उक्तं च- ''स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।'' स एव लक्षणं यस्य स उपयोगलक्षणस्तम ; जीवमिति वक्ष्यति। तथा-अनाद्यनिधनम् अनाद्यपर्यवसितं, भवापवर्गप्रवाहापेक्षया नित्यमित्यर्थः। तथाऽर्थान्तरं पृथग्भूतं, कुतः ? शरीरात् , जातावेकवचनम्-शरीरेभ्य औदारिकाऽऽदिभ्य इति। किमिति ? अत आह-जीवति, जिविष्यति, जिवितवान् वा जीव इति, तम्। किंभूतमिति ? अत आह-अरूपणिममूर्तमित्यर्थः। तथा कर्त्तारं निर्वर्तकं, कर्मण इति गम्यते। तथा भोक्तारमुपभोक्तारम्, कस्य ?-स्वकस्य आत्मीयस्य, कर्मणो ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदेरिति गाथाऽर्थः ॥ ५६ ॥

तस्स य सकम्मजणिअं, जम्माइजलं कसायपायालं।
वसणसयसावयमणं, मोहाऽऽवत्तं महाभीमं ॥ ५७ ॥

तस्य च जीवस्य च, स्वकर्मजनितम्-आत्मीयकर्मनिर्वर्तितम्। कम् ?-संसारसागरमिति वक्ष्यति। किम्भूतम् ? जन्माऽऽदिजलं, जन्म प्रतीतम्; आदिशब्दाज्जरामरणपरिग्रहः। एतान्येवातिबहुत्वाज्जलमिव जलं यस्मिन्स तथाविधस्तम्। तथा कषायपातालंकषायाः पूर्वोक्ताः, त एवागाधभवजननसामान्येन पातालमिव पातालं यस्मिन् स तथाविधस्तम्। तथा व्यसनशतश्वापदवन्तम्-व्यसनानि दुःखानि, द्यूताऽऽदीनि वा, तथा तान्येव पीडाहेतुत्वात् श्वापदानि, तान्यस्य विद्यन्त इति तद्वान् , तं, (मणं ति) देशीशब्दो मत्वर्थीयः। उक्तं च- '' मतुवत्थम्मि मुणेज्जह, आलं इल्लं मणं च मणुयं च '' इति। तथा मोहाऽऽवर्तम्-मोहो मोहनीयं कर्म, तदेव तत्र विशिष्टभ्रमिजनकत्वात् आवर्त्तो यस्मिन् स तथाविधस्तम्। तथा महाभीमम्-अतिभयानकमिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

किंच-

अन्नाणमारुएरिअ-संजोगविओगवीइसंताणं।
संसारसागरमणो-रपारमसुहं विचिंतिज्जा ॥ ५८ ॥

अज्ञानं ज्ञानाऽऽवरणकर्मोदयजनित आत्मपरिणामः, स एव तत्प्रेरकत्वान्मारुतो वायुः, तेनेरितः प्रेरितः, कः ?-संयोगवियोगवीचिसन्तानो यस्मिन् स तथाविधस्तम्। तत्र संयोगः केनचित्सह संबन्धः, वियोगस्तेनैव विप्रयोगः। एतावेव सततप्रवृत्तत्वाद्वीचय ऊर्मयस्तत्प्रवाहः सन्तान इति भावना। संसरणं संसारः सागर इव संसारसागरस्तम्। किम्भूतम् ?- '' अणोरपारं '' अनाद्यपर्यवसितम्, अशुभमशोभनं, विचिन्तयेत् , तस्य गुणरहितस्य जीवस्येति गाथाऽर्थः ॥ ५८ ॥

तस्स य संतरणसहं, सम्मद्दंसणसुबंधणं अणहं।
नाणमयकन्नधारं, चारित्तमयं महापोअं ॥ ५९ ॥

तस्य च संसारसागरस्य, सन्तरणसहं सन्तरणसमर्थं, पोतमिति वक्ष्यति। किंविशिष्टम् ? सम्यग्दर्शनमेव शोभनं बन्धनं यस्य स तथाविधः, तम् , अनघम्-अपापम्। ज्ञानं प्रतीतं, तन्मयस्तदात्मकः, कर्णधरो नियामकविशेषो यस्य यस्मिन् वा स तथाविधस्तम् , चारित्रं प्रतीतम् , तदात्मकम्। महापोतमिति महाबोहित्थम्; क्रिया पूर्ववदिति गाथाऽर्थः ॥ ५९ ॥

संवरकयनिच्छिड्डं, तवपवणाऽऽविद्धजवणतरवेगं।
वेरग्गमग्गपडिअं, विसुत्तिआवीइनिक्खोहं ॥ ६० ॥

इहाऽऽश्रवनिरोधः संवरः, तेन कृतं निश्छिद्रम् , स्थगितरन्ध्रमित्यर्थः। अनशनाऽऽदिलक्षणं तपः, तदेवेष्टपुरं प्रति प्रेरकत्वात् पवन इव तपःपवनः, तेनाऽऽविद्धस्य प्रेरितस्य, जवनतरः शीघ्रतरः, वेगो रयो यस्य स तथाविधस्तम्। तथा विरागस्य भावो वैराग्यं, तदेवेष्टपुरप्रापकत्वाद् मार्ग इव वैराग्यमार्गः, तस्मिन् पतितो गतस्तम्; तथा विश्रोतसिका अपध्यानानि, एता एवेष्टपुरप्राप्तिविघ्नहेतुत्वाद्वीचय इव विश्रोतसिकावीचयः, ताभिर्निक्षोभ्यः निष्प्रकम्पस्तमिति गाथाऽर्थः ॥ ६० ॥

एवम्भूतं पोतम्। किम् ?-

आरोढुं मुणिवणिआ, महग्घसीलंगरयणपडिपुन्नं।
जह तं निव्वाणपुरं, सिग्घमविग्घेण पावंति ॥ ६१ ॥

आरोढुमित्यारुह्य, के ? मुनिवणिजः-मन्यन्ते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनयः, त एवातिनिपुणमायव्ययपूर्वकप्रवृत्तेर्वणिज इव मुणिवणिजः। पोत एव विशेष्यतेमहार्घाणि महार्हाणि, शीलाङ्गानि पृथिवीकायसमारम्भपरित्यागाऽऽदीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि, तान्येवैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकसुखहेतुत्वाद्रत्नानि, तैः प्रतिपूर्णो भृतस्तम्। यथा येन प्रकारेण, तत्प्रक्रान्तं, निर्वाणपुरं सिद्धिपत्तनं परिनिर्वाणपुरं वेति पाठान्तरम्। शीघ्रम् आशु, स्वल्पे न कालेनेत्यर्थः। अविघ्नेनान्तरायमन्तरेण, प्राप्नुवन्त्यासादयन्ति, तथा विचिन्तयेदिति वर्त्तते। इत्ययं गाथाऽर्थः ॥ ६१ ॥

तत्थ य तिरयणविणिओ-गमइअमेगंतिअं निरावाहं।
साहाविअं निरुवमं, जह सुक्खं अक्खयमुविंति ॥ ६२ ॥

तत्र च परिनिर्वाणपुरे, त्रिरत्नविनियोगाऽऽत्मकमितित्रीणि रत्नानि ज्ञानाऽऽदीनि, विनियोगश्चैषां क्रियाकरणं, ततः प्रसूतेस्तदात्मकमुच्यते। तथैकान्तिकमिति-एकान्तभावि ; निराबाधमित्याबाधारहितं, स्वाभाविकं न कृत्रिमम् , निरुपममुपमाऽतीतमिति। उक्तं च- '' ण वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं। '' इत्यादि। यथा येन प्रकारेण, सौख्यं प्रतीतम्, अक्षयमपर्यवसानम्, उपयान्ति सामीप्येन प्राप्नुवन्ति, क्रिया प्राग्वदिति गाथाऽर्थः ॥ ६२ ॥

किं बहुणा सव्वं चिअ, जीवाइपयत्थवित्थरोवेअं।
सव्वनयसमूहमयं, झाइज्जा समयसब्भावं ॥ ६३ ॥

किं बहुना भाषितेन ? सर्वमेव निरवशेषमेव, जीवाऽऽदिपदार्थविस्तरोपेतं जीवाजीवाऽऽश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाऽऽख्यपदार्थप्रपञ्चसमन्वितं, समयसद्भावमिति योगः। किंविशिष्टम् ? सर्वनयसमूहाऽऽत्मकं द्रव्यास्तिकायाऽऽदिनयसङ्घातमयमित्यर्थः। ध्यायेद्विचिन्तयेदिति भावना। समयसद्भावं सिद्धान्तार्थमिति हृदयम्। अयं गाथाऽर्थः। गतं ध्यातव्यद्वारम्॥ ६३ ॥

(१२) साम्प्रतं येऽस्य ध्यातारस्तान्प्रतिपादयन्नाह-

सव्वप्पमायरहिआ, मुणओ खीणोवसंतमोहा य।
झायारो नाणधणा, धम्मज्झाणस्स निद्दिट्ठा ॥ ६४ ॥

प्रमादा मद्याऽऽदयः। यथोक्तम्- '' मज्जं विसयकसाया, निद्दा विकहा य पंचमी भणिया। '' सर्वप्रमादैः रहिताः सर्वप्रमादरहिताः, अप्रमादवन्त इत्यर्थः। मुनयः साधवः क्षीणोपशान्तमो-

हाश्चेति-क्षीणमोहाः क्षपकनिर्ग्रन्थाः, उपशान्तमोहा उपशामकनिर्ग्रन्थाः । चशब्दादन्ये चाप्रमादिनः, ध्यातारश्चिन्तकाः, धर्मध्यानस्येति संबन्धः । ध्यातार एव विशेष्यन्तेज्ञानधना ज्ञानविद्याः, विपश्चित इत्यर्थः । निर्दिष्टाः प्रतिपादिताः, तीर्थकरगणधरैरिति गाथाऽर्थः ॥ ६४ ॥ उक्ता धर्मध्यानस्य ध्यातारः ।

साम्प्रतं शुक्लध्यानस्याप्याद्यभेदद्वयस्याविशेषेणैत-
एव यतो ध्यातार इत्यतो नान्ये पुनरभिधेया
भविष्यन्तीति लाघवार्थं चरमभेदद्वयस्य
च प्रसङ्गत एतानेवाभिधित्सुराह-

एए वि य पुव्वाणं, पुव्वधरा सुप्पसत्थसंघयणा ।
दुन्ह सजोगाजोगा, सुक्काण पराण केवलिणो ॥ ६५ ॥

एत एव येऽनन्तरमेव धर्मध्यानध्यातार उक्ताः, पूर्वयोरित्याद्ययोर्द्वयोः शुक्लध्यानभेदयोः पृथक्त्ववितर्कं सविचारम्, एकत्ववितर्कमविचारमित्यनयोः, ध्यातार इति गम्यते । अयं पुनर्विशेषः पूर्वधराश्चतुर्दशपूर्वविदस्तदुपयुक्ताः, इदं च पूर्वधरविशेषणमप्रमादवतामेव वेदितव्यम् ; न निर्ग्रन्थानां, माषतुषमरुदेव्यादीनामपूर्वधराणामपि तदुपपत्तेः । सुप्रशस्तसंहनना इत्याद्यसंहननयुक्ताः, इदं पुनरोघत एव विशेषणमिति । तथा द्वयोः शुक्लयोः, परयोरुत्तरकालभाविनोः प्रधानयोर्वा सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिव्युपरतक्रियाप्रतिपातिलक्षणयोर्यथासङ्ख्यं सयोग्ययोगिकेवलिनोः, ध्यातार इति योगः । एवं च गम्यते- '' सुक्कज्झाणाइदुगवोलीणस्स तितियमपत्तस्स एयाए झाणंतरियाए वट्टमाणस्स केवलनाणं समुप्पज्जइ, केवलियसुक्कलेसो अज्झाणी य० जाव सुहुमकिरियमनियट्टि त्ति '' गाथार्थः ॥ ६५ ॥ उक्तमानुषङ्गिकम् ।

(१३) इदानीमवसरप्राप्तमनुप्रेक्षाद्वारं व्याचिख्यासुरिदमाह-

झाणोवरमे वि मुणी, निच्चमणिच्चाइचिंतणोवरमो ।
होइ सुभाविअचित्तो, धम्मज्झाणेण जो पुव्विं ॥ ६६ ॥

इह ध्यानं धर्मध्यानमभिगृह्यते ; तदुपरमेऽपि तद्विगमेऽपि, मुनिः साधुः, नित्यं सर्वकालम्, अनित्याऽऽदिचिन्तनोपरमो भवति । आदिशब्दादनित्याशरणैकत्वसंसारपरिग्रहः । एताश्चतस्रोऽनुप्रेक्षा भावयितव्याः, इष्टजनसंप्रयोगर्द्धिविषयसुखसंपद इत्यादिना ग्रन्थेन । फलं चासां सचित्ताऽऽदिष्वनभिष्वङ्गभवनिर्वेदादिति भावनीयम् । अथ किंविशिष्टोऽनित्याऽऽदिचिन्तनोपरमो भवति ? अत आह-सुभावितचित्तः सुभावितान्तःकरणः, केन ? धर्मध्यानेन प्राङ्निरूपितस्वरूपेण, यः कश्चित्, पूर्वमादाविति गाथाऽर्थः ॥ ६६ ॥ गतमनुप्रेक्षाद्वारम् ।

अधुना लेश्याद्वारप्रतिपिपादयिषयाऽऽह-

हुंति कम्मविसुद्धाउ, लेसाओ पीअपम्हसुक्काओ ।
धम्मज्झाणोवगय-स्स तिव्वमंदाइभेआओ ॥ ६७ ॥

इह भवन्ति संजायन्ते, क्रमविशुद्धाः परिपाटिविशुद्धाः, काः ? लेश्याः । ताश्च पीतपद्मशुक्लाः । एतदुक्तं भवतिपीतलेश्यायाः पद्मलेश्या विशुद्धा, तस्या अपि शुक्ललेश्येति क्रमः । कस्यैता भवन्ति ? अत आह-धर्मध्यानोपगतस्य, धर्मध्यानयुक्तस्येत्यर्थः । किंविशिष्टाश्चैता भवन्ति ? अत आह-तीव्रमन्दाऽऽदिभेदा इति । तत्र तीव्रभेदाः पीताऽऽदिस्वरूपेष्वन्त्याः, मन्दभेदास्त्वाद्याः । आदिशब्दान्मध्यमपक्षपरिग्रहः अथवौघत एव परिणामविशेषात् तीव्रमन्दाऽऽदिभेदा इति गाथाऽर्थः ॥ ६७ ॥ उक्तं लेश्याद्वारम् ।

इदानीं लिङ्गद्वारं विवृण्वन्नाह-

आगमउवएसाऽऽणा-निसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं ।
भावाणं सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥ ६८ ॥

इहाऽऽगमोपदेशाऽऽज्ञानिसर्गतो यज्जिनप्रणीतानां तीर्थङ्करप्ररूपितानां, भावानां द्रव्याऽऽदिपदार्थानां, श्रद्धानम्-अवितथा एत इत्यादिलक्षणं, धर्मध्यानस्य, तल्लिङ्गमिति । तच्च श्रद्धानेन लिङ्ग्यते धर्मध्यानीति । इह चाऽऽगमः सूत्रमेव, तदनुसारेण कथनमुपदेशः, आज्ञा त्वर्थः, निसर्गः स्वभाव इति गाथाऽर्थः ॥ ६८ ॥

किं च-

जिणसाहुगुणक्कित्तण-पसंसणादाणविणयसंपन्नो ।
सुअसीलसंजमरओ, धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ॥ ६९ ॥

जिनसाधुगुणोत्कीर्तनप्रशंसादानविनयसंपन्न । इह जिनसाधवः प्रतीताः, तद्गुणाश्च निरतिचारसम्यग्दर्शनाऽऽदयः, तेषामुत्कीर्तनं सामान्येन संशब्दनमुच्यते । प्रशंसा त्वहो श्लाघ्यतया भक्तिपूर्विका स्तुतिः, विनयोऽभ्युत्थानाऽऽदिः, दानमशनाऽऽदिप्रदानम् ; एतत्संपन्न एतत्समन्वितः । तथा श्रुतशीलसंयमरतः-तत्र श्रुते सामायिकाऽऽदिबिन्दुसारान्तं, शीलं व्रताऽऽदिसमाधानलक्षणं, संयमस्तु प्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्तिलक्षणः । यथोक्तम्-पञ्चाऽऽश्रवादित्यादि । एतेषु भावतो रतः ; किम् ? धर्मध्यानो विज्ञातव्य इति गाथाऽर्थः ॥ ६९ ॥ गतं लिङ्गद्वारम् ।

(१४) अधुना फलद्वारावसरः । तच्च लाघवार्थं शुक्लध्यानफलाधिकारे वक्ष्यतीति । उक्तं धर्मध्यानम् । इदानीं शुक्लध्यानावसर इत्यस्य चान्वर्थः प्राग्निरूपित एव । इहापि च भावनाऽऽदीनि फलान्तानि तान्येव द्वादश द्वाराणि भवन्ति । तत्र भावनादेशकालाऽऽसनविशेषेषु धर्मध्यानादस्याविशेष एवेत्यतस्तान्यनादृत्याऽऽलम्बनाऽऽदीन्यभिधित्सुराह-

अह खंतिमद्दवऽज्जव-मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ ।
आलंवणेहि जेहिं, सुक्कज्झाणं समारुहइ ॥ ७० ॥

अथेत्यासनविशेषाऽऽनन्तर्ये, क्षान्तिमार्दवाऽऽर्जवमुक्तयः-क्रोधमानमायालोभपरित्यागरूपाः । परित्यागश्चाक्रोधेन वर्त्तनम्, उदयनिरोधः, उदीर्णस्य च विफलीकरणमिति । एवं मानाऽऽदिष्वपि भावनीयम् । एता एव क्षान्तिमार्दवाऽऽर्जवमुक्तयो विशेष्यन्तेजिनमतप्रधाना इति-जिनमते तीर्थकरदर्शने, कर्मक्षयहेतुतामधिकृत्य प्रधानाः जिनमतप्रधानाः । प्राधान्यं चाऽऽसामकषायं चारित्रम्, चारित्राच्च निश्चयतो मुक्तिरितिकृत्वा । ततश्चैना आलम्बनानि प्राङ्निरूपितशब्दार्थानि, यैरालम्बनैः करणभूतैः शुक्लध्यानं समारोहति । तथा च क्षान्त्याद्यालम्बन एव शुक्लध्यानमासादयति, नान्यइति गाथाऽर्थः । व्याख्यातं शुक्लध्यानमधिकृत्याऽऽलम्बनद्वारम् । (शुक्लध्यानभेदाश्च ' सुक्कज्झाण ' शब्दे विलोकनीयाः)

साम्प्रतं क्रमद्वारावसरः-क्रमश्चाऽऽद्ययोर्द्वयो-
धर्मध्यान एवोक्तः । इह पुनरयं विशेषः-

तिहुयणविसयं कमसो, संखिविअ मणं अणुम्मि छउमत्थो ।
झायइ सुनिप्पकंपो, झाणं अमणो जिणो होइ ॥ ७१ ॥

त्रिभुवनमधस्तिर्यग्ऊर्ध्वलोकभेदं, तद्विषयो गोचर आलम्बनं

यस्य, मनस इति योगः। तत् त्रिभुवनविषयं, क्रमशः क्रमेण, परि-पाट्या प्रतिवस्तुत्यागलक्षणया, संक्षिप्य संकोच्य, किम् ? मनः-अन्तःकरणम्। क्व ? अणौ परमाणौ, विधायेति शेषः। क्व ? छद्मस्थः प्राङ्निरूपित-शब्दार्थः। ध्यायति चिन्तयति, सुनिष्प्रकम्पोऽतीव निश्चल इत्यर्थः। ध्यान शुक्लं, ततोऽपि प्रयत्नविशेषान्मनः अपनीय, अमना अविद्यमा-नान्तःकरणो, जिनो भवत्यर्हन् भवति, चरमयोर्द्वयोर्ध्यातेति वाक्यशेषः। तत्राप्याद्यस्यान्तर्मुहूर्त्तेन शैलेशीमप्राप्तस्तस्यां च द्वितीयस्येति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

आह-कथं पुन छद्मस्थः त्रिभुवनविषयं मनः संक्षिप्याणौ धारयति, केवली वा ततोऽप्यपनयति ? (अत्र दृष्टान्तः ' जिणविज्ज ' शब्दे तृतीयभागे १५०६ पृष्ठे गतः)

अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तान्तरमभिधातुकाम आह-

ओसारिएंधणभरो, जह परिहाइ कम्मसो हुआसो वा।
थोविंधणावसेसो, निव्वाइ तओऽवणीओ अ ॥ ७५ ॥

अपसारितेन्धनभरः-अपनीतदाह्यसंघातः, यथा परिहीयते हानिं प्रपद्यते, क्रमशः क्रर्मण, हुताशो वह्निः, या विकल्पार्थे, स्तोकेन्ध-नावशेषः हुताशनमात्रं भवति, तथा निर्वाति विध्यापयति, ततः स्तोकेन्धनादपनीतश्चेति गाथाऽर्थः ॥ ७५ ॥

अस्यैव दृष्टान्तस्योपनयमाह-

तह विसएंधणहीणो, मणोहुआसो कमेण तणुअम्मि।
विसएंधणं निरुज्झइ, निव्वाइ तओऽवणीओ अ ॥ ७६ ॥

तथा विषयेन्धनहीनो गोचरेन्धनहीन इत्यर्थः। मन एव दुःखदाह-कारणत्वाद् हुताशो मनोहुताशः, क्रमेण परिपाट्या, तनुके कृशे, क्व ?-विषयेन्धने, अणावित्यर्थः। किम् ? निरुध्यतेनिश्चयेन ध्रियते, तथा निर्वाति, ततस्तस्मादणौ अपनीतश्चेति गाथाऽर्थः ॥ ७६ ॥

पुनरप्यस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तोपनयावाह-

तोयमिव नालिआए, तत्तायसभायणोदरत्थं वा।
परिहाइ कमेण जहा, तह जोगिमणोजलं जाण ॥ ७७ ॥

तोयमिव उदकमिव, नालिकायाः घटिकायाः, तथा-तप्तं च तदासयभाजनं लोहभाजनं, तदुदरस्थं ; वा विकल्पार्थः। परिहीयते क्रमेण यथा। एष दृष्टान्तः। अथमुपनयः-तथा तेनैव प्रकारेण, योगिमन एवाऽविकलत्वाज्जलं योगिमनोजलं, जानीहि अवबुध्यस्वा तथा-अप्रमादानलतप्तजीवभाजनस्थं मनो जलं परिहीयत इति भावना। अलमतिविस्तरेण इति गाथाऽर्थः ॥ ७७ ॥

अपनयति ततोऽपि जिनवैद्य इति वचनादेव तावत्केवली मनोयोगं निरुणद्धीत्युक्तम्।

अधुना शेषयोगनिरोधविधिमभिधातुकाम आह-

एवं चिअ वयजोगं, निरुंभइ कमेण कायजोगं पि।
तो सेलेसु व्व थिरो, सेलेसी केवली होइ ॥ ७८ ॥

एवमेव एभिरेव विषाऽऽदिदृष्टान्तैः, किम् ? वाग्योगं, निरुणद्धि। तथा क्रमेण काययोगमपि, निरुणद्धीति वर्त्तते। ततः शैलेश इव मेरुरिव, स्थिरः सन् शैलेशी केवली भवतीति गाथाऽर्थः। (आव०) (इह च भावार्थः ' सेलेसी ' शब्दे वक्ष्यते)

(१५) इदानीं ध्यातव्यद्वारं विवृण्वन्नाह-

उप्पाणट्ठिइभंगा-इपज्जवाणं जमेगदव्वम्मि।
नाणानयाणुसरणं, पुव्वगयसुआणुसारेणं ॥ ७९ ॥

उत्पादस्थितिभङ्गाऽऽदिपर्यायाणाम् , उत्पादाऽऽदयः प्रतीताः। आदिशब्दान्मूर्त्तामूर्त्तग्रहः। अमीषां पर्यायाणां, यदेकस्मिन् द्रव्ये अणवात्माऽऽदौ, किम् ? नानानयैर्द्रव्यास्तिकायाऽऽदिभिः, अनुस्मरणं चिन्तनम्। कथम् ? पूर्वगतश्रुतानुसारेण पूर्वविदः। मरुदेव्यादीनां त्वन्यथा। तत्किमित्याह-

सविआरमत्थवंजण-जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं।
होइ पुहुत्तविअक्कं, सविआरमरागभावस्स ॥ ८० ॥

सविचारम्-सह विचारेण वर्त्तत इति सविचारम् , ''विचारोऽर्थ-व्यञ्जनयोगसंक्रमः '' इति आह च। अर्थव्यञ्जनयोगान्तरतः-अर्थो द्रव्यं, व्यञ्जनं शब्दः, योगो मनःप्रभृति, एतदन्तरत एतद्भेदेन, सविचारम् , अर्थाद्व्यञ्जनं संक्रामतीति विभाषा। तम् , कम् ?-एतत् प्रथमं शुक्लमाद्यं शुक्लं भवति। किंनाम्ना ? इत्यत आह-पृथक्त्ववितर्कं सविचारं-पृथक्त्वेन भेदेन विस्तीर्णभावेन अन्ते वितर्कः श्रुतं यस्मिँस्तत्तथा। कस्येदं भवति ? इत्यत्राऽऽह-अरागभावस्य रागपरिणामरहितस्येति गाथाऽर्थः ॥ ८७ ॥

जं पुण सुनिप्पकंपं, निवायसरणप्पईवमिव चित्तं।
उप्पायट्ठिइभंगा-इयाणमेगम्मि पज्जाए ॥ ८१ ॥

यत्पुनः सुनिष्प्रकम्पं विक्षेपरहितं, निर्वातशरणप्रदीप इव निर्गत-वातगृहैकदेशस्थदीप इव, चित्तमन्तःकरणं, क्व ? उत्पादस्थिति-भङ्गाऽऽदीनामेकस्मिन् पर्याये ॥ ८१ ॥

तत्किम् ? अत आह-

अवियारमत्थवंजण-जोगंतरओ तयं बिइयसुक्कं।
पुव्वगयसुआलंवण-मेगत्तविअक्कमवियारं ॥ ८२ ॥

अविचारमसंक्रमम् , कुतः ? अर्थव्यञ्जनयोगान्तरत इति पूर्ववत्। तत्, किमेवंविधम् ? द्वितीयं शुक्लं भवति। किमभिधानमिति ? अत आह-एकत्ववितर्कमविचारं-एकत्वेनाभेदेन वितर्कः व्यञ्जनरूपः, अर्थरूपो वा यस्य तत्तथा। इदमपि च पूर्वगतश्रुताऽऽलम्बनम् , पूर्वगतश्रुतानुसारेणैव भवति। अविचाराऽऽदि पूर्ववदिति गाथाऽर्थः ॥ ८२ ॥

निव्वाणगमणकाले, केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स।
सुहुमकिरियाऽनिअट्टिं, तइअं तणुकायकिरियस्स ॥ ८३ ॥

निर्वाणगमनकाले मोक्षगमनप्रत्यासन्नसमये, केवलिनः सर्वज्ञस्य, मनोवाग्योगद्वये निरुद्धे सति, अर्द्धनिरुद्धकाययोगस्य, किम् ? सूक्ष्मक्रियानिवर्त्तिसूक्ष्मा क्रिया यस्मिन् तत्सूक्ष्मक्रियं, सूक्ष्मक्रियं च तदनिवर्ति चेति नामनिवर्तितुं शीलमस्येति निवर्त्ति, प्रवर्धमानतर-परिणामात् , न निवर्त्ति अनिवर्त्ति, तृतीयं, ध्यानमिति गम्यते। तनुकायक्रियस्येतितन्वी उच्छ्वासनिःश्वासाऽऽदिलक्षणा, कायक्रिया यस्य स तथाविधस्तस्येति गाथाऽर्थः ॥ ८३॥

तस्सेव य सेलेसिं, गयस्स सेलेसु व निप्पकंपस्स।
वुच्छिन्नकिरिअमप्पडि-वाइं झाणं परमसुक्कं ॥ ८४ ॥

तस्यैव च केवलिनः शैलेशीं गतस्य, शैलेशी प्राग्वर्णिता, तां प्राप्तस्य, किंविशिष्टस्य ? निरुद्धयोगत्वाच्छैलेश इव निष्प्रकम्पस्य, मेरुरिव स्थिरस्येत्यर्थः। किम् ? व्यवच्छिन्नक्रियं, योगाभावात्; अप्रतिपाति अनुपरतिस्वभावमिति। एतदेव चास्य नाम, ध्यानं परमशुक्लं, प्रकटार्थमेव तदिति गाथाऽर्थः ॥ ८४ ॥

इत्थं चतुर्विधं ध्यानमभिधायाधुनैतत्प्रतिबद्धमेव वक्तव्यताशेषमभिधित्सुराह-

पढमं जोगे जोगे-सु वा मयं विइअमेगजोगम्मि ।
तहअं च कायभोगे, सुक्कमजोगिम्मि अ चउत्थं ॥ ८४ ॥

प्रथमं पृथक्त्ववितर्कं सविचारं, योगे मनआदौ, योगेषु वा सर्वेषु, मतमिष्टम्, तच्चाऽऽगमिकश्रुतपाठिनः । द्वितीयम्-एकत्ववितर्कविचारं, तदेकयोग एव, अन्यतरस्मिन् सङ्क्रमाभावात् तृतीयं च-सूक्ष्मक्रियानिवर्ति, काययोगे, न योगान्तरे, शुक्लम् अयोगिनि च शैलेशीकेवलिनि, चतुर्थम्- व्युपरतक्रियाऽप्रतिपाति, इति गाथाऽर्थः ॥ ८५ ॥

आह-शुक्लध्यानोपरिमभेदद्वये मनो नास्ति, अमनस्कत्वात् केवलिनः, ध्यानं च मनोविशेषः, ' ध्यै ' चिन्तायामिति पाठात्, तदेतत्कथम् ? इति । उच्यते-

जह छउमत्थस्स मणो, झाणं भण्णइ सुनिच्चलं संतं ।
तह केवलिणो कओ, सुनिच्चलो भण्णए झाणं ॥ ८६ ॥

यथा छद्मस्थस्य मनः, किम् ?-ध्यानं भण्यते । सुनिश्चलं सत्, तथा तेनैव प्रकारेण, योगत्वाव्यभिचारात्, केवलिनः, कायः सुनिश्चलो भण्यते ध्यानम् । इति गाथाऽर्थः ॥ ८६ ॥

आह-चतुर्थे निरुद्धत्वादसावपि न भवति, तथाविधभावेऽपि च सर्वभावप्रसङ्गः, तत्र का वार्ता ? इत्युच्यते-

पुव्वप्पओगओ वि अ, कम्मविणिज्जरणहेउओ चावि ।
सद्दत्थबहुत्ताओ, तह जिणचंदागमाओ अ ॥ ८७ ॥
चित्ताभावे वि सई, सुहुमोवरयकिरियाउ भण्णंति ।
जीवोवओगसब्भा-वओ भवत्थस्स झाणाइं ॥ ८८ ॥

काययोगनिरोधिनो योगिनोऽयोगिनो वा, चित्ताभावेऽपि सति सूक्ष्मोपरतक्रिये भण्येते । सूक्ष्मग्रहणात्सूक्ष्मक्रियानिवर्तिनो ग्रहणं, उपरतग्रहणादुपरतक्रियाऽप्रतिपातिन इति ॥ पूर्वप्रयोगादिति हेतुः, कुलालचक्रभ्रमणवदिति दृष्टान्तोऽभ्यूह्यः । यथा तच्चक्रं भ्रमणनिमित्तदण्डाऽऽदिक्रियाऽभावेऽपि भ्रमति, तथाऽस्यापि मनःप्रभृतियोगोपरमेऽपि जीवोपयोगसद्भावतो भावमनसो भावात् भवस्थस्य ध्याने इति । अपिशब्दश्चोदनानिर्णयप्रथमहेतुसंभावनार्थः । चशब्दस्तु प्रस्तुतहेत्वनुकर्षणार्थः । एवं शेषहेतवोऽप्यनया गाथया योजनीयाः ॥ विशेषस्तूच्यतेकर्मविनिर्जरणहेतुतश्चापिकर्मविनिर्जरणहेतुत्वात्, क्षपकश्रेणिवत् । भवति च क्षपकश्रेण्यामिवास्य भवोपग्राहिकर्मनिर्जरेति भावः । चशब्दः प्रस्तुतहेत्वनुकर्षणार्थः । अपिशब्दस्तु द्वितीयहेतुसम्भावनार्थ इति ॥ तथा शब्दार्थबहुत्वात्, यथैकस्यैव हरिशब्दस्य शक्रशाखामृगाऽऽदयोऽनेकेऽर्थाः, एवं ध्यानशब्दस्यापि, न विरोधः । ' ध्यै ' चिन्तायाम्, ' ध्यै ' काययोगनिरोधे, ' ध्यै ' अयोगित्वे, इत्यादि ॥ तथा जिनचन्द्राऽऽगमाच्चैतदेवमिति । उक्तं च- '' आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम् । अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ १ ॥ '' इत्यादि गाथाद्वयार्थः ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ उक्तं ध्यातव्यद्वारम् ।

ध्यातारस्तु धर्मध्यानाधिकारे उक्ताः ।

अधुनाऽनुप्रेक्षाद्वारमुच्यते-

सुक्कज्झाणसुभाविअ-चित्तो चिंतेइ झाणविगमे वि ।
विअयमणुप्पेहाओ, चत्तारि चरित्तसंपन्नो ॥ ८९ ॥

शुक्लध्यानशुभावितचित्तश्चिन्तयति ध्यानोपरमेऽपि नियतमनुप्रेक्षाश्चतस्रश्चारित्रसंपन्नः, तस्य परिणामरहितस्य तदभावादिति गाथाऽर्थः ॥ ८९ ॥

ताश्चैताः-

आसवदारावाए, तह संसारासुहाणुभावं च ।
भवसंताणमणंतं, वत्थूणं विपरिणामं च ॥ ९० ॥

आश्रवद्वाराणि मिथ्यात्वाऽऽदीनि, तदपायान् दुःखलक्षणान्; तथा-संसारासुभानुभावं च '' असुभानुभावबंधी संसारो '' इत्यादि । भवसन्तानमनन्तं भाविनारकाऽऽद्यपेक्षया । वस्तूनां विपरिणामश्च सचेतनाचेतनानाम्; '' सव्वट्ठाणाणि असासयाणि '' इत्यादि । एताश्चतस्रोऽप्यपायाशुभानन्तविपरिणामानुप्रेक्षा आद्यद्वयभेदसंगता एव द्रष्टव्याः । इति गाथाऽर्थः ॥ ९० ॥ उक्तमनुप्रेक्षाद्वारम् ।

इदानीं लेश्याद्वाराभिधित्सयाऽऽह-

सुक्काए लेसाए, दो तइअं परमसुक्कलेसाए ।
थिरयाजिअसेलेसं, लेसाईअं परमसुक्कं ॥ ९१ ॥

सामान्येन शुक्लायां लेश्यायां, द्वे आद्ये उक्तलक्षणे, तृतीयमुक्तलक्षणमेव, परमशुक्ललेश्यायां स्थिरताजितशैलेशं मेरोरपि निष्प्रकम्पतरमित्यर्थः । लेश्याऽतीतं परमशुक्लं चतुर्थमिति गाथाऽर्थः ॥ ९१ ॥ उक्तं लेश्याद्वारम् ।

इदानीं लिङ्गद्वारं विवर्णयिषुस्तेषां नामप्रमाणस्वरूपगुणभावनार्थमाह-

अवहासंमोहविवे-गवुसग्गा तस्स हुंति लिंगाइं ।
लिंगिज्जइ जेहिं मुणी, सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ॥ ९२ ॥
चालिज्जइ वीहेइ व, धीरो न परीसहोवसग्गेहिं ।
सुहुमेसु न संमुच्छइ, भावेसु न देवमायासु ॥ ९३ ॥
देहविवित्तं पिच्छइ, अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे ।
देवोवहिवुस्सग्गं, निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥ ९४ ॥

अवधासंमोहविवेकव्युत्सर्गाः, तस्य शुक्लध्यानस्य, भवन्ति लिङ्गानि, लिङ्ग्यते गम्यते यैर्मुनिः शुक्लध्यानोपगतचित्त इति गाथाऽक्षरार्थः ॥ ९२ ॥ अधुना भावार्थमाह-चाल्यते ध्यानान्न परीसहोपसर्गैर्विभेति वा धीरो बुद्धिमान्स्थिरो वा, न तेभ्य इत्यवधलिङ्गम् । सूक्ष्मेष्वत्यन्तगहनेषु न संमुह्यतिन संमोहमुपगच्छति, भावेषु पदार्थेषु, न देवमायास्वनेकरूपास्वित्यसंमोहलिङ्गम्, इति गाथाऽर्थः ॥ ९३ ॥ देहविविक्तं पश्यति आत्मानं, तथा च सर्वसंयोगानिति विवेकलिङ्गम् । देहोपधिव्युत्सर्गं निःसङ्गः सर्वथा करोतीति व्युत्सर्गलिङ्गमिति गाथाऽर्थः ॥ ९४ ॥ गतं लिङ्गद्वारम् ।

साम्प्रतं फलद्वारमुच्यते । इह च लाघवार्थं प्रथमोपन्यस्तं धर्मफलमभिधाय शुक्लध्यानफलमाह, धर्मफलानामेव शुद्धतराणामाद्यशुक्लद्वयफलत्वादत आह-

हुंति सुभाऽऽसवसंवर-विणिज्जराऽमरसुहाइँ विउलाइं ।
झाणवरस्स फलाइं, सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥ ९५ ॥

भवन्ति शुभाऽऽश्रवसंवरनिर्जरामरसुखानिशुभाऽऽश्रवः-पुण्याऽऽश्रवः, सम्बरः-अशुभकर्माऽऽगमनिरोधः विनिर्जराकर्मक्षयः, अमरसुखानि-देवसुखानि । एतानि च दीर्घस्थितिविशुद्ध्युपपाताभ्यां विपुलानि विस्तीर्णानि, ध्यानवरस्य ध्यानप्रधानस्य, फलानि शुभानुबन्धीनि सुकुलप्रत्ययानि पुनर्बोधिलाभभोगप्रव्रज्याकेवलशैलेश्यपवर्गानुबन्धीनि, धर्मध्यानस्येति गाथाऽर्थः ॥ ९५ ॥ उक्तानि धर्मध्यानफलानि ।

अधुना शुक्लमधिकृत्याऽऽह-

ते अ विसेसेण सुहा-ऽऽसवादओऽणुत्तरामरसुहं च ।
दुन्हं सुक्काण फलं, परिनिव्वाणं परिल्लाणं ॥ ९६ ॥

ते च विशेषेण शुभाऽऽश्रवाऽऽदयोऽनन्तरोदिताः, अनुत्तरामरसुखं च, द्वयोः शुक्लयोः, फलमाद्ययोः । परिनिर्वाणं मोक्षगमनं (परिल्लाणं ति) चरमयोर्द्वयोरिति गाथाऽर्थः ॥ ९६ ॥

अथवा सामान्येनैव संसारप्रतिपक्षभूते एते इति-दर्शयति-

आसवदारा संसा-रहेउओ जं न धम्मसुक्केसु ।
संसारकारणाइं, न तो धुवं धम्मसुक्काइं ॥ ९७ ॥

आश्रवद्वाराणि संसारहेतवो वर्त्तन्ते, तानि च यद् यस्मान्न धर्म-शुक्लयोर्भवन्ति । संसारकारणानि न तस्माद् ध्रुवं नियमेन धर्मशुक्लानि । इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥

(१६) संसारप्रतिपक्षतया च मोक्षहेतु-र्ध्यानमित्यावेदयन्नाह-

संवरविणिज्जराओ, मुक्खस्स पहो तवो तासिं ।
झाणं च पहाणंगं, तवस्स तो मुक्खहेऊ तं ॥ ९८ ॥

संवरविनिर्जरे मोक्षस्य पन्थाः-अपवर्गस्य मार्गः, तपः-पन्थाः मार्गः, तयोः संवरनिर्जरयोः । ध्यानं च प्रधानाङ्गं तपस आन्तरकारणत्वात् । ततो मोक्षहेतुस्तद् ध्यानमिति गाथाऽर्थः ॥ ९८ ॥

अमुमेवार्थं सुखप्रतिपत्तये दृष्टान्तैः प्रतिपादयन्नाह-

अंबरलोहमहीणं, कमसो जह मलकलंकपंकाणं ।
सोज्झावणयणसोसे, साहंति जलानलाइच्चा ॥ ९९ ॥

अम्बरलोहमहीनां वस्त्रलोहक्षितीनां, क्रमशः क्रमेण, यथा मलक लङ्कपङ्कानां यथासंख्यं शोध्यापनयनशोषान् यथासंख्यमेव, साधयन्ति निर्वर्तयन्ति, जलानलाऽदित्याः । इति गाथाऽर्थः ॥ ९९ ॥

तह सुज्झाइसमत्था, जीवंवरलोहमेइणिगयाणं ।
झाणजलानलसूरा, कम्ममलकलंकपंकाणं ॥ १०० ॥

तथा शोध्यादिसमर्था जीवाम्बरलोहमेदिनीगतानां ध्यानमेव जलान-लसूर्याः, कर्मैव मलकलङ्कपङ्का, तेषामिति गाथाऽर्थः ॥ १०० ॥

किञ्च-

तावो सोसो भेओ, जोगाणं झाणओ जहा निअयं ।
तह तावसोसभेआ, कम्मस्स वि झाइणो निअमा ॥ १०१ ॥

तापः, शोषो, भेदः, योगानां, ध्यानतो ध्यानाद्, यथा नियतमवश्यम् । तत्र तापो दुःखं, तत एव शोषो दौर्बल्यम्, तत एव भेदो विदारणं; योगानां वाग्दीनां, तथा तेनैव प्रकारेण, तापशोषभेदाः, कर्मणोऽपि भवन्ति । कस्य ?-ध्यायिनः, न यदृच्छया, नियमाद् नियमेनेति गाथाऽर्थः ॥ १०१ ॥

किं च-

जह रोगाऽऽसयसमणं, विसोसणविरेअणोसहविहीहिं ।
तह कम्माऽऽमयसमणं, झाणाणसणाइजोगेहिं ॥ १०२ ॥

यथा रोगाऽऽशयशमनं रोगनिदानचिकित्सा, विशोषणविरेचनौ-षधविधिभिः-अभोजनविरेकौषधप्रकारैः ; तथा कर्माऽऽमयशमनं कर्मरोगचिकित्सा, ध्यानानशनाऽऽदिभिर्योगैः, आदिशब्दाद् ध्या-नवृद्धिकारकशेषतपोभेदग्रहणमिति गाथाऽर्थः ॥ १०२ ॥

किञ्च-

जह चिरसंअियमिंघण, जलणो पवणसहिओ दुअं डहइ ।
तह कम्मिंधणममिअं, खणेण झाणानलो डहइ ॥ १०३ ॥

यथा चिरसंचितं प्रभूतकालसंचितम् , इन्धनं काष्ठाऽऽदि, ज्वल-नोऽग्निः, पवनसहितो वायुसमन्वितः, द्रुतं शीघ्रं, दहति भस्मीकरोति। तथा दुःखतापहेतुत्वात्कर्मैवेन्धनम् , अमितमनेकभवोपात्तम् , अनन्तं, क्षणेन समयेन, ध्यानमनल इव ध्यानानलः, असौ, दहति भस्मीकरो-तीति गाथाऽर्थः ॥ १०३ ॥

जह वा घणसंघाया, खणेण पवणाहया विलयमिंति ।
झाणपवणाबहूआ, तह कम्मघणा विलिज्जंति ॥ १०४ ॥

यथा वा घनसङ्घाताः-मेघोत्कराः, क्षणेन, पवनाहता वायुप्रेरिताः, विलयं विनाशं, यान्ति गच्छन्ति । ध्यानपवनावधूता ध्यान-वायु-विक्षिप्ताः, तथा कर्मैव जीवस्वभावा घनाः कर्मघनाः ।

उक्तं च-

'' स्थितः शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या भावशुद्धया ।
चन्द्रिकावच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवत् '' ॥ १ ॥

इत्यादि । विलीयन्ते विनाशमुपयान्ति, इति गाथाऽर्थः ॥ १०४ ॥

किञ्चेदमन्यदिहलोकप्रतीतमेव ध्यानफलमिति दर्शयति-

न कसायसमुत्थेहि अ, वाहिज्जइ माणसेहिंदुक्खेहिं ।
ईसाविसायसोगा-इएहिं झाणोपगयचित्तो ॥ १०५ ॥

न कषायसमुत्थैश्च न क्रोधाऽऽद्युद्भवैश्च, बाध्यते पीड्यते, मानसैः दुःखैः, मानसग्रहणात्ताप इत्याद्यपि यदुक्तम् , तत्र बाध्यते; ईर्ष्या-विषादशोकाऽऽदिभिः, तत्र प्रतिपक्षाभ्युदयोपलम्भजनितो मत्सरविशेष ईर्ष्या, विषादो वैक्लव्यम् , शोको दैन्यम् , आदिशब्दाद् हर्षाऽऽदि-परिग्रहः । ध्यानोपगतचित इति प्रकटार्थम् । अयं गाथाऽर्थः ॥ १०५ ॥

सीआयवायएहि अ, सारीरेहि सुबहुप्पगारेहिं ।
झाणसुनिच्चलचित्तो, न बहिज्जइ निज्जरापेही ॥ १०६ ॥

इह कारणे कार्योपचाराच्छीताऽऽतपाऽऽदिभिश्च, आदिशब्दात् क्षुदादिपरिग्रहः । शारीरैः, सुबहुप्रकारैरनेकभेदैः, ध्यानसुनिश्चलचित्तः ध्यानभावितमतिः, न स बाध्यते, ध्यानसुखादिति गम्यते । अथवा न शक्यते चालयितुं, तत एव निर्जराऽपेक्षी कर्मक्षयापेक्षकः । इति गाथाऽर्थः ॥ १०६ ॥ उक्तं फलद्वारम् ।

अधुनोपसंहरन्नाह-

इयसव्वगुणाऽऽहाणं, दिट्ठादिट्ठसुहसाहणं झाणं ।
सुपसत्थं सद्धेअं, नेअं झेअं च निच्चं पि ॥ १०७ ॥
पंचुत्तरेण गाहा-सएण झाणसयगं समुद्दिट्ठं ।
जिणभद्दखमासमणे-हिंकम्मसोहीकरं जइणा ॥ १०८ ॥

' इय ' एवमुक्तेन प्रकारेण, सर्वगुणाऽऽधानमशेषगुणस्थानं, दृष्टादृष्टसुखसाधनं ध्यानमुक्तन्यायात्सुष्ठु प्रशस्तं तीर्थकराऽऽदिभिरासेवितत्वाद्, यतश्चैवमतः श्रद्धेयं, नान्यथैतदिति भावनया, ज्ञेयं ज्ञातव्यं, स्वरूपतः ध्येयमिति, चिन्तनीयं क्रियया । एवं च सति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्यासेवितानि भवन्ति, नित्यमपि सर्वकालमपि । आह-एवं तर्हि शेषक्रियालोपः प्राप्नोति । न । तदासेवनस्यापि तत्त्वतो ध्यानत्वात् । नास्ति काचिदसौ क्रिया, या आगमानुसारेण क्रियमाणा साधूनां ध्यानं न भवतीति गाथार्थः ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ समाप्तं ध्यानशतकम् । आव० ४ अ० । षो० संधा० । (' केवलिसमुग्घाय ' शब्दे तृतीयभागे ६६७ पृष्ठे शैलेश्यवस्थायां ध्यानमुक्तम्)

(१७) ध्यानस्वरूपं निरूपयन्नाह-

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयं यस्यैकतां गतम् ।
मुनेरनन्यचित्तस्य, तस्य दुःखं न विद्यते ॥ १ ॥
ध्याताऽन्तराऽऽत्मा ध्येयस्तु, परमाऽऽत्मा प्रकीर्तितः ।
ध्यानं चैकाग्र्यसंवित्तिः, समापत्तिस्तदेकता ॥ २ ॥
मणौ बिम्बप्रतिच्छाया, समापत्तिः पराऽऽत्मनः ।
क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्याना-दन्तराऽऽत्मनि निर्मले ॥ ३ ॥
आपत्तिश्च ततः पुण्य-तीर्थकृत्कर्मबन्धतः ।
तद्भावाभिमुखत्वेन, संपत्तिश्च क्रमाद्भवेत् ॥ ४ ॥
इत्थं ध्यानफलाद्युक्तं, विंशतिस्थानकाऽऽद्यपि ।
कष्टमात्रं त्वभव्याना-मपि नो दुर्लभं भवेद् ॥ ५ ॥
जितेन्द्रियस्य धीरस्य, प्रशान्तस्य स्थिराऽऽत्मनः ।
सुखाऽऽसनस्य नासाग्र-न्यस्तनेत्रस्य योगिनः ॥ ६ ॥
रुद्धबाह्यमनोवृत्ते-र्धारणाधारया रयात् ।
प्रसन्नस्याप्रमत्तस्य, चिदानन्दसुधालिहः ॥ ७ ॥
साम्राज्यमप्रतिद्वन्द्व-मन्तरे च वितन्वतः ।
ध्यानिनो नोपमा लोके, सदेवमनुजेऽपि हि ॥ ८ ॥

अष्ट० ३० अष्ट० । '' वीए झाणं झियायइ । '' दिनस्य द्वितीये प्रहरे ध्यानं ध्यायतीति प्रतिदिनक्रिया । उत्त० २६ अ० । करणप्रत्ययेन निर्विषये मनसि, उत्त० १२ अ० ।

झाणंतर-न०(ध्यानान्तर) अदृढाध्यवसायध्यानस्य चान्तरि-कायाम्, बृ० १ उ० ।

झाणंतरिया-स्त्री०(ध्यानान्तरिका) ध्यानयोः शुक्लध्यानद्वितीयतृतीयभेदलक्षणयोरन्तरं मध्यं ध्यानान्तरम्, तदेव ध्यानान्तरिका । स्था० ६ ठा० । अन्तरस्य विच्छेदस्य करणमन्तरिका, ध्यानस्यान्तरिका ध्यानान्तरिका । भ० ५ श० ४ उ० । ध्यानस्य मध्यभागे, कल्प० ६ क्षण । आरब्धध्यानस्य समाप्तावपूर्वस्यानारम्भणे, भ० ५ श० ४ उ० । द्रव्याऽऽदीनामन्यतमध्यानवतो यदा चित्तमुत्पद्यतेसम्प्रति शेषाणां ध्यातव्यानां कतरद् ध्यायामीत्येवंविधे विमर्शे, बृ० ।

केयं पुनर्ध्यानान्तरिकेति ? उच्यते-

अन्नतरझाणऽतीतो, विइअं झाणं तु सो असंपत्तो ।
झाणंतरम्मि वट्टइ, विपहे व विकुंचियमईओ ॥

अन्यतरस्माद् द्रव्याऽऽद्यन्यतरवस्तुविषयाद्, ध्यानादतीतो यः कश्चिदद्यापि द्वितीयध्यानं न संप्राप्नोति, स द्वितीयं ध्यानमसंप्राप्तः सन् ध्यानान्तरे वर्तने, सा ध्यानान्तरिका भवतीति शेषः । इयमत्र भावना-द्रव्याऽऽदीनामन्यतमध्यानवतो यदा चित्तमुत्पद्यतेसम्प्रति शेषाणां ध्यातव्यानां कतरद् ध्यायामीति, एवंविधो विमर्शो ध्यानान्तरिकेत्युच्यते । अत्र यथा-(विपहे व विकुंचियमईओ त्ति) द्विपथं मार्गद्वयस्थानं, ततः कश्चिदेकेन पथा गच्छन् पुरस्ताद् द्विपथे मार्गद्वये दृष्टे सति विकुञ्चितमतिकोऽनयोर्मार्गयोः कतरेण व्रजामीति विमर्शाऽऽकुलबुद्धिः सन्नपान्तराले वर्तते । एवमेषोऽपि ध्यानान्तरे इति । बृ० १ उ० ।

झाणकोट्ठोवगय-पुं०(ध्यानकोष्ठोपगत) ध्यानं-धर्मध्यानं, शुक्ल-ध्यानं च । तदेव कोष्ठः कुशूलो ध्यानकोष्ठः, तमुपगतो ध्यानकोष्ठोपगतः । यथा हि कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तं विप्रसृतं भवति, एवं ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रियान्तःकरणवृत्तौ, रा० । चं० प्र० । भ० । जं० । सू० प्र० । विपा० । औ० । धर्मध्यानकोष्ठमनुप्रविश्येन्द्रिय-मनांस्यधिकृत्य संवृताऽऽत्मनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० । औ० ।

झाणजुत्त-त्रि०(ध्यानयुक्त) ध्यानं चित्तनिरोधः, तेन युक्तो यः स तथा । चित्तनिरोधवति, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार ।

झाणजोग-पुं०(ध्यानयोग) ७ त० । चित्तनिरोधलक्षणे धर्मध्याना-ऽऽदौ विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

झाणज्झयण-न०(ध्यानाध्ययन) ध्यानप्रतिपादके आवश्यका-ध्ययने, आव० ४ अ० ।

झाणज्झयणरइ-स्त्री०(ध्यानाध्ययनरति) ७ त० । ध्यानं चाध्ययनं च ध्यानाध्ययने, अध्यनपूर्वकत्वेऽपि ध्यानस्याल्पाक्षरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च पूर्वनिपातः । एकालम्बनसंस्थस्य सदृशप्रत्ययस्य च प्रत्ययान्तरप्रवाहस्वाध्याययोरसिक्तौ, षो० १२ विव० ।

झाणप्पयास-पुं०(ध्यानप्रकाश) ध्यानप्रतिपादके ग्रन्थविशेषे, उक्तञ्च ध्यानप्रकाशे- '' जोयवियप्पो चिरकालीओ । '' अष्ट० ६ अष्ट० ।

झाणवर-न०(ध्यानवर) ध्यानश्रेष्ठे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । प्रधानध्याने, आव० ४ अ० । प्रश्न० । धर्मध्याने, आव० ४ अ० ।

झाणविभत्ति-स्त्री०(ध्यानविभक्ति) ध्यानान्यार्त्तध्यानऽऽदीनि, तेषां विभजनं विभक्तिर्यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा । उत्कालिकश्रुतविशेषे, नं० । पा० ।

झाणसंवरजोग-पुं०(ध्यानसंवरयोग) ध्यानमेव संवरयोगो ध्यानसंवरयोगः । स० ३२ सम० ।

ध्यानसंवरयोगतामाह-

'' नगरं च सिंधुवङ्कण, मुंडिवगो अज्जपुस्सभूई अ ।
आणयण पुसमित्ते, सुहुमे झाणे विवाओ अ ॥ १ ॥ ''
'' आसीन्मुण्डिवको राजा, नगरे सिन्धुवर्द्धने ।
पुष्पभूत्यभिधास्तस्मि-न्नाचार्याः सुबहुश्रुताः ॥ १ ॥
बोधितस्तैः स राजेन्दुः, परमः श्रावकोऽभवत् ।
पुष्पमित्रश्च शिष्योऽस्ति, तेषामतिबहुश्रुतः ॥ २ ॥
अवसन्नतयाऽन्यत्र, तिष्ठति स्म परं सुखी ।

अन्यदा दद्धुराचार्याः, सूक्ष्मध्याने प्रवेशनम्॥ ३॥
महाप्राणसमं तच्च, तत्र स्याच्चेतनाऽपि न।
अगीतार्थाश्च तत्पार्श्वे, पुष्पमित्रोऽथ शब्दितः॥ ४॥
आगतः कथितं तस्य, प्रपन्नं तेन तेऽप्यश्च।
स्थित्वैकत्रापवरके, ध्यानमारेभिरे रहः॥ ५॥
दत्ते ढौकं न कस्यापि, स तेषां किं तु वक्त्यदः।
अत्रस्था एव वन्दध्वं, व्याकुलाः सन्ति सूरयः॥ ६॥
दिनैः कतिपयैरन्ये-ऽमन्त्रयत् साधवो मिथः।
कुर्वन्तः सन्ति किं पूज्याः ? एकस्तत्र न्यभालयत्॥ ७॥
तावद् गुरुनं चलति, न स्पन्दते न वक्ति च।
आख्यत्तदर्थं सर्वेषां, रुष्टाः सर्वेऽपि साधवः॥ ८॥
आर्याऽऽख्यासि त्वमाचार्यान् , किं न कालगतानपि ?
सोऽवक्कालगता नैते, ध्यानं ध्यायन्ति किं त्वमी॥ ९॥
व्याघातमेषां मा कार्षु-रुचुस्ते धूर्तता तव।
त्वं साधयितुकामोऽसि, वेतालं पूर्णलक्षणैः॥ १०॥
आचार्यैरिति ते सर्वे, तेन सार्द्धं व्यधुः कलिम्।
आनिन्ये तैस्ततो राजा-ऽऽचार्याः कालगता इति॥ ११॥
दत्तेऽसौ लिङ्गिकः किं तु, न निर्याणं कथञ्चन।
राजा स्वयमथाऽऽलोक्य, मेने कालगतान् गुरून्॥ १२॥
पुष्पमित्रमवज्ञाय, शिविका सज्जिता ततः।
अग्न्याद्यपाये महति, स्पृश्योऽङ्गुष्ठो मम त्वया॥ १३॥
पुष्पस्तमिति संकेतात् , पस्पर्श प्रत्यबुद्ध सः।
ऊचे किमार्य ! व्याघातः, सोऽवक् वः शिष्यकैः कृतः॥ १४॥
उक्तास्ते न कृतं रम्यं, भङ्गो ध्यानस्य नः कृतः।
प्रवेश्यमीदृशे ध्याने, येन स्याद्योगसंग्रहः॥ १५॥'' आ० क०। आव०। आचू०। अष्टाविंशे योगसंग्रहे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

झाणसयग-न०(ध्यानशतक) ध्यानप्रतिपादके गाथाशतके, '' पंचुत्तरेण गाहा-सएण झाणसयगं समुद्दिट्ठं''। (१०८ गाथा) आव० ४ अ०। ध०।

झाणोवओगचित्त-त्रि०(ध्यानोपयोगचित्त) ध्यानोपयोगे विशिष्ट-ध्यानान्यासे चित्तं यस्य सः। विशिष्टध्यानाभ्यासचित्ते, संथा०।

झाम-त्रि०(ध्यात) दग्धे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०। आ० चू०।

***ध्याम**-त्रि०। अनुज्ज्वले, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

झामण-न०(ध्मापन) प्रदीपनके, व्य० २ उ०। सूत्र०।

झामथंडिल-न०(ध्मातस्थण्डिल) दग्धभूमौ, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०।

झामिय-त्रि०(ध्यामित) अग्निना दग्धे, व्य० ७ उ०। बृ०। '' वावघरं सव्वं झामियं। '' आ० म० १ अ० १ खण्ड। दे० ना०।

झाय-त्रि०(ध्यात) भस्मीकृते, नं०।

झायव्व-त्रि०(ध्यातव्य) ध्येये, आव० ४ अ०। दर्श०।

झाया-त्रि०(ध्यातृ) चिन्तके, आव० ४ अ०। दर्श०।

झारुअ-स्त्री०(देशी) चीर्याम् , '' झारुअझाडच्छण्णे, झिरिंडए एस जं पडिही। '' (४८ गाथा) चीरीलतागहनच्छन्ने जीर्णकूपे एष यत् पतिष्यति, इत्यर्थः। दे० ना० ३ वर्ग।

झावण-(ध्मापन) भस्मसात्करणे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

झावणा-स्त्री०(ध्मापना) अग्निसंस्कारे, आ० म० १ अ० १ ख-ण्ड। स च भगवतो निर्वाणप्राप्तस्यान्येषां च साधूनामिक्ष्वाकूणामितरेषां च प्रथमं त्रिदशैः कृतः, पश्चाल्लोकेऽपि संजातः। आ० म० १ अ० १ खण्ड।

झिंगिर-पुं०(झिङ्गिर) त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति०।

झिंगिरड-पुं०(झिङ्गिरड) त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति०।

झिंझिय-त्रि०(झिञ्झित) बुभुक्षाऽऽर्ते, बृ० ६ उ०।

झिंझिरी-स्त्री०(झिञ्झिरी) वल्लीभेदे, झझिरीवल्लीए सालगो त्ति। '' आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०। वल्लीपलाशके, बृ० १ उ०।

झिम्म-न०(जैह्म्य) येन परवञ्चनाभि प्रायेण जैह्मयं क्रियासु मान्द्य-मालम्बते तस्मिन्भावे, भ० १२ श० ५ उ०।

झियायंत-त्रि०(ध्यायत्) चिन्तयति, विपा० १ श्रु० २ अ०।

झियायमाण-त्रि(ध्मायमान) जाज्वल्यमाने, दशा १० अ। ज्वलति, भ० ८ श० ६ उ०। सूत्र०। दह्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

***ध्यायमान**-त्रि०। चिन्त्यमाने, दशा० ५ अ०। भ०।

झिरिंड-न०(देशी) जीर्णकूपे, दे० ना० ३ वर्ग।

झिल्लिया-स्त्री०(झिल्लिका) त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

झिल्लिरिआ-स्त्री०। देशी-चीहीतृणे, मशके च। दे० ना० ३ वर्ग।

झिल्ली-स्त्री०(झिल्ली) चिल्लति-चिल-अच्-पृषो०-गौरा०-ङीष्। कीटभेदे, संज्ञायां कन्। आतपरुचौ, वर्त्यां च। वाच०। क-न्दभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

झीण-त्रि०(क्षीण) क्षि-क्तः। दुर्बले, क्षामे च। वाच०। अष्ट०। क० प्र०। अङ्गे, कीटे च। दे० ना० ३ वर्ग।

झीर-स्त्री०(देशी) लज्जायाम् , दे० ना० ३ वर्ग।

झुंख-पुं०(देशी) तुणपाऽऽख्ये वाद्यविशेषे, दे० ना० ३ वर्ग।

झुंझिय-त्रि०(झुञ्झित) बुभुक्षिते, झुरितके च। भ० १६ श० ४ उ०।

झुंझुंमुसयय-न०(देशी) मनोदुःखे, दे० ना० ३ वर्ग।

झुंटण-(देशी) प्रवाहे, दे० ना० ३ वर्ग।

झुंवणग-न०(झुम्वनक) प्रालम्बे कर्णाऽऽभरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

झुट्ठ-न०(देशी) अलीके, दे० ना० ३ वर्ग।

झुण-धा०(जुगुप्स) निन्दायाम, '' जुगुप्सेर्झुणदुगुच्छदुगुंच्छाः ''॥ ८। ४। ४॥ इति जुगुप्सतेर्झुणाऽऽदेशः। ' झुणइ ' प्रा० ४ पाद।

झुणि-पुं०(ध्वनि) ध्वन्-इन्। '' ध्वनिविश्वचोरुः ''॥ ८। १। ५२॥ इति आदेरस्य उत्वम्। प्रा० १ पाद। अव्यक्ते मृदङ्गाऽऽदिशब्दे, अलङ्कारोक्ते उत्तमकाव्ये च। वाच। '' झुणि कन्नडप्पइट्ठ। '' प्रा० ४ पाद।

झुत्ति-स्त्री०(देशी) छेदे, दे० ना० ३ वर्ग।

झुल्लरी-(देशी) गुल्मे, दे० ना० ३ वर्ग।

झुसण-न०(जोषण) सेवायाम्, स्था० २ ठा० १ उ०। कल्प०। ज्ञा०।

झुसणा-स्त्री०(जोषणा) सेवायाम्, स्था० ५ ठा० १ उ०।

झुसिय-न०(जुषित) सेविते, बृ० २ उ०।

झुसिर-न०(शुषिर) शुषेः शोषस्य दानाच्छुषिरम्। आकाशे, भ० २० श० २ उ०। रन्ध्रे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। पोल्ले, नि० चू० १२ उ०। सच्छिद्रे, ग० २ अधि०। अन्तःसाररहिते, दश० १० अ०। असारकाये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। शङ्खाऽऽदौ, रा०। काहसाऽऽदौ, रा०। आ० म०। जी०। आ० चू०। वंशाऽऽदौ वाद्ये, भ० ५ श० ४ उ०। जं०। चतुर्विधे आतोद्यशब्दे, आचा० २ श्रु० २ चू० १२ अ०। ''झुसिरा जमलचुल्ली-संठाणसंठिया। '' उपा० २ अ०।

अथ कतिविधं शुषिरमिति प्रश्नावकाशमाशङ्क्याऽऽह-

शुषिरं पञ्चविधम्। तद् यथा-पुस्तकपञ्चकं, तृणपञ्चकं, दूष्यंवस्त्रं, तत्पञ्चकं द्विविधम्-अप्रत्युपेक्षकदूष्यपञ्चकं, दुष्प्रत्युप्रेक्षकदूष्यपञ्चकं च। चर्मपञ्चकं चेति।

अथ तृणपञ्चकाऽऽदिषु दोषानाह-

तणपणगम्मि वि दोसा, विराहणा होति संजमाऽऽताए।
सेसेसु वि पणगेसुं, विराहणा संजमे होति॥

तृणपञ्चकेऽपि दोषा आज्ञाभङ्गाऽऽद्दयो भवन्ति। विराधना च संयमाऽऽत्मविषया। शेषेष्वपि दूष्यपञ्चकाऽऽदिषु संयमविषया विराधना भवति।

इदमेव भावयति-

अहिविच्छुगविसकंटग-मादीहिंखयं व होज्ज आयाए।
कुंथादि संजमम्मि य, जति उव्वत्तादि तति लहुगा॥

तृणाऽऽदिषु शुषिरत्वादहिर्वृश्चिको वा, विषकण्टको वा भवेत्। एतैः, आदिशब्दान्मर्कटिकाऽऽदिभिश्च, तत्र शयान आसीनो वा उपद्रूयेत। क्षतं वा दर्भाऽऽदिषु सुप्तस्य भवेत्। एषा आत्मविराधना। कुन्थुपनकाऽऽदि-प्राणिव्यपरोपणं तु संयमविराधना। तृणेषु च प्रसुप्तो (यति) यावतो वारानुद्वर्तनं परिवर्तनमाकुञ्चनं प्रसारणं वा करोति (तति) तावन्तश्चतुर्लघुकाः। बृ० ३ उ०।

झुसिरगोलसंठिय-त्रि०(शुषिरगोलसंस्थित) अन्तःशुषिरगोलकाऽऽकारे, भ० ११ श० १० उ०।

झूर-धा०(स्मर) भ्वा०-षर०-सक०-अनिट्। ''स्मरेर्झर-झूर-भरभल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः '' ॥ ८। ४। ७४॥ इति रुवरेर्झराऽऽदेशः। ' झूरइ '। ' सरइ '। प्रा० ४ पाद। स्मरति, अस्मार्षीत्। '' झूरइ त्ति '' हृदयेन खिद्यते। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। कुटिले, दे० ना० ३ वर्ग।

झूसण-न०(जोषण) प्रीतौ, सेवायां च। औ०। स्त्रियां टाप्। स्था० २ ठा० २ उ०। आ० चू०। स०।

झूसरिअ-त्रि०(देशी) अत्यर्थे, स्वच्छे च। दे० ना० ३ वर्ग।

झूसिय-त्रि०(जुष्ट) सेविते, स्था० २ ठा० २ उ०। औ०। ज्ञा०।

***झूषित**-त्रि०। क्षपिते, स्था० २ ठा० २ उ०। कल्प०।

झेंडुअ-पुं०(देशी) कन्दुके, दे० ना० ३ वर्ग।

झेय-न०(ध्येय) चिन्तनीये, आव० ४ अ०।

झोंडलिअ-स्त्री०। देशी-क्रीडायाम्, दे० ना० ३ वर्ग।

झोट्ट-न०(देशी) अर्द्धमहिष्याम्, दे० ना० ३ वर्ग।

झोडप्प-न०(देशी)पणके, दे० ना० ३ वर्ग।

झोडिअ-पुं०(देशी) व्याधे, दे० ना० ३ वर्ग।

झोल्लिआ-स्त्री०(झोल्लिका) पुरुषद्वयोत्क्षिप्ते '' झोली '' इति ख्याते पदार्थे, सूत्र० २ श्रु० ४ अ०।

झोस-पुं०(झोष) यथेह तीर्थे षड्मासान्तमेव तपः, ततः षण्णां मासानामुपरि यान् मासानापन्नोऽपराधी, तेषां क्षपणमनारोपणम्। प्रस्थे चतुःसेतिकाऽतिरिक्तधान्यस्येव झाटने, स्था० ५ ठा० २ उ०। नि० चू०।

झोसण-न०(झोषण) मार्गणे, '' आभोगणं ति वा मग्गणं ति वा झोसणं ति वा एगट्ठं। '' व्य० २ उ०।

झोसमाण-त्रि०(झोषयत्) क्षपयति, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

झोसिय-त्रि०(जुष्ट) सेविते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०।

***झोषित**-त्रि०। क्षपिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

झोसेमाण-त्रि०(जुषत्) आचरति, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

झोसेहि-क्रिया(देशी) गवेषयत इत्यर्थे, बृ० ३ उ०।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८
श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते
'अभिधानराजेन्द्रे'
झकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

टकार

ट-(ट) ' ट ' इत्ययं वर्णो मूर्धस्थानीयः स्पर्शसंज्ञः। वाच०।

ट-पुं०। टल-डः। वामने, पादे, निःश्वने, वाच०। धने, सूनौ, करटे, धूमे, पाते, आवर्ते, भानुरश्मौ, ताडने, त्रासे, स्थिरे, अश्वे च। एका०। करङ्के, टङ्कारे च। न०। वाच०।

टंक-पुं०(टङ्क) टकि-घञ्, अच् वा। कोपे, कोषे, खड्गे, पाषाणभेदनेऽस्त्रे, वाच०। खड्गाऽऽदीनामग्रभागे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। मुद्राचित्रविशेषे, पञ्चा० ४ विव०। आव०। प्रज्ञा०। छिन्नतटे कूटे, नं०। भ०। एकदिशि छिन्ने पर्वते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। शत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प०। लोमपक्षिभेदे च। जी० १ प्रति०। चतुर्माषकरूपे परिमाणे, नीलकपित्थे, खनित्रे, दर्पे च। पुं०। वाच०। खड्गे, च्छिन्ने, खाते, जङ्घायाम्, खनित्रे, भितौ, नटे च। दे० ना० ४ वर्ग।

टंकण-पुं०(टङ्कन) टकि-युच्। ' सोहागा ' इतिख्याते क्षारभेदे, वाच०। उत्तरापथे म्लेच्छदेशवास्तव्ये स्वनामख्याते म्लेच्छविशेषे, विशे०। आ० म०। आ० चू०। सूत्र०।

टंका-स्त्री०(टङ्का) स्वनामख्याते, तीर्थं, यत्र वीरः पूज्यते। ती० ४३ कल्प०।

टंकिअ-न०(देशी) प्रसृते, दे० ना० ४ वर्ग।

टंवरअ-त्रि०(देशी) भारिके, दे० ना० ४ वर्ग।

टक्कर-पुं०(टक्कर) अङ्गुल्यादिना शिरआदौ टगिति करणे, व्य० १ उ०।

टगर-पुं०(तगर) गृ-अच्। तस्य क्रोडस्य गरः। वाच०। '' तगर-त्रसर-तूवरे टः '' ॥ ८। १। २०५ ॥ इति तस्य टः। प्रा० १ पाद। स्वनामख्याते वृक्षे, वाच०।

टमरुक-पुं०(डमरुक) ''चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययौराद्यद्वितीयौ '' ॥ ८। ४। ३२५ ॥ इति डस्य टः। प्रा० ४ पाद। वाद्यभेदे, कापालिकयोगवाद्ये चमत्कारे च। वाच०।

टसर-पुं०(त्रसर) त्रस-अरन्। तन्तुवायोपकरणभेदे, वाच०। '' तगर-त्रसर-तूवरे टः '' ॥ ८। १। २०५ ॥ इति तस्य टः। प्रा० १ पाद।

टा-स्त्री०(टा) घटिकायाम्, भुवि, भृत्यायां, व्यावृत्तौ, निगरेऽपि च। एका०।

टाल-न०(टाल) अवद्धास्थिनि फले, दश० ७ अ०। आचा०।

टिंपुरी-स्त्री०(टिम्पुरी) तीर्थभेदे, ती०।

तत्कल्पं यथा-

'' श्रीपार्श्वं चेल्लणाभिख्यं, ध्यात्वा श्रीवीरमप्यथ।
कल्पं श्रीटिम्पुरीतीर्थ-स्याभिधास्ये यथाश्रुतम् ॥ १ ॥
पारेतजनपदान्त-श्चर्मण्वत्यास्तटे महानद्याः।
नानाघनवनगहना, जयत्यसौ टिम्पुरीति पुरी '' ॥ २ ॥

अत्रैव भारते वर्षे विमलयशा नाम भूपतिरभूत्। तस्य सुमङ्गलादेव्या सह विषयसुखमनुभवतः क्रमाज्जातमपत्ययुगलम्। तत्र पुत्रः पुष्पचूलः, पुत्री पुष्पचूला। अनर्थसार्थमुत्पादयितुः पुष्पचूलस्य कृत लोके- '' वङ्कचूल '' इति नाम। महाजनोपालब्धेन राज्ञा रुषितेन निःसारितो नगराद्वङ्कचूलः। गच्छँश्च पतितो भीषणायामटव्यां सह निजपरिजनेन स्वस्रा च स्नेहवशया। तत्र च क्षुत्पिपासाऽऽर्दितो भिल्लैः, नीतः स्वपल्लीं, स्थापितश्च पूर्वपल्लीपतिपदे। पर्यपालयद्राज्यम्, अलुण्टयद्ग्रामनगरसार्थाऽऽदीन्। अन्यदा सुस्थिताचार्या अर्बुदाचलादष्टापदयात्रायै प्रस्थितास्तामेव सिंहगुहां नाम पल्लीं सगच्छाः प्रापुः। जातश्च वर्षाकालः। अजनि च पृथ्वी जीवाऽऽकुला। साधुभिः सहाऽऽलोच्य मार्गयित्वा वङ्कचूलाद् वसतिं स्थितास्तत्रैव सूरयः। तेन च प्रथममेव व्यवस्था कृता। मम सीमाऽन्तर्धर्मकथा न कथनीया; यतो युष्मत्कथायामहिंसाऽऽदिको धर्मः, न चैवं मल्लोको निर्वहति। ' एवमस्तु ' इति प्रतिपद्य तस्थुरुपाश्रये गुरवः। तेन चाऽऽहूय सर्वे प्रधानपुरुषा भणिताः। अहं राजपुत्रः, मत्समीपे ब्राह्मणाऽऽदय आगमिष्यन्ति, ततो भवद्भिर्जीववधो, मांसमद्याऽऽदिप्रसङ्गश्च पल्ल्या मध्ये न कर्तव्यः। एवं कृते तु यतीनां न भक्तपानमजुगुप्सितं कल्पत इति। तैस्तथैव कृतं यावच्चतुरो मासान्। प्राप्तो विहारसमयः। अनुज्ञापितो वङ्कचूलः सूरिभिः- '' समणाणं सउणाणं '' इत्यादिवाक्यैः। ततस्तैः सह चलितो वङ्कचूलः स्वसीमां प्राप। तेन विज्ञप्तं-वयं परकीयसीमायां न प्रविशाम इति। भणितः सूरिभिः-वयं सीमान्तरमुपेताः, तत्किमप्युपदिशामस्तुभ्यम्। तेनोक्तम्-यन्मयि निर्वहति तदुपदेशेनानुगृह्यतामयं जनः। ततः सूरिभिश्चत्वारो नियमा दत्ताः। तद्यथा-अज्ञातफलानि न भोक्तव्यानि, सप्ताष्टानि पदान्यपसृत्य घातो देयः, पट्टदेवी नाभिगन्तव्या, काकमांसं च न भक्षणीयमिति। प्रतिपन्नास्तेन ते। गुरुन् प्रणम्य स स्वगृहानागमत्। अन्यदा गतः सार्थस्योपरि धाट्या, शकुनकरणान्नागतः सार्थः। त्रुटितं न तस्य पथ्यदनम्। पीडिताः क्षुधा राजन्याः, दृष्टश्च तैः किंपाकतरुः फलितः, गृहीतानि फलानि, न जानाति तन्नामधेयमिति तेन न भुक्तानि। इतरैः सर्वैर्बुभुजिरे, मृताश्च तैः किंफलैः। ततश्चिन्तितं तेन-अहो! नियमानां फलं, तत एकाक्येवाऽऽगतः पल्लीं, रजन्यां प्रविष्टः स्वगृहं, दृष्टा पुष्पचूला दीपाऽऽलोकेन पुरुषवेषा निजपत्न्या सह प्रसुप्ता। जातस्तस्य कोपस्तयोरुपरि। द्वावप्येतौ खड्गप्रहारेण छिनद्मीति यावदचिन्तयत्तावत् स्मृतो नियमः। ततः सप्ताष्टपदान्यपक्रम्य घातं ददत्, खाट्कृतमुपरि खड्गेन, व्याहृतं स्वस्रा, जीवतु वङ्कचूल इति। तद्वचः श्रुत्वा लज्जितोऽसावपृच्छत्-किमेतदिति ? साऽपि नटवृत्तान्तमचीकथत्। कालक्रमेण तस्य तद्राज्यं शासतस्तत्रैव पल्ल्यां तस्यैवाऽऽचार्यस्य शिष्यौ धर्मऋषिधर्मदत्तनामनौ कदाचिद्वर्षारात्रमवास्थिपाताम्। तत्र तयोरेकः साधुस्त्रिमासक्षपणं विदधे, द्वितीयश्चतुर्मासक्षपणम्। वङ्कचूलस्तु तद्दत्तनियमानामायतिशुभफलतामवलोक्य व्यजिज्ञपत्। भदन्तौ! मदनुक-

म्पया कमपि पेशलं धर्मोपदेशं दत्तः । ततस्ताभ्यां चैत्यविधापनदेशना क्लेशनाशिनी विदधे । तेनापि शराविकापर्वतसमीपवर्तिन्यां तस्यामेव पल्लयां चर्मण्वतीसरित्तीरे कारितमुपैस्तरं चारु चैत्यम् । स्थापितं श्रीमन्महावीरबिम्बम् । तीर्थतया च रूढं तत् । प्रयान्ति स्म चतुर्दिगभ्यः सङ्घाः । कालान्तरे कश्चिन्नैगमः सभार्यः सर्वथा तद्यात्रायै प्रस्थितः, प्राप्तः क्रमेण रन्तिनदीम् । नावमारूढौ च दम्पती चैत्यशिखरं व्यलोकयताम् । ततः सरभसं सौवर्णिककच्चोलके कुङ्कुमचन्दनकर्पूरं प्रक्षिप्य जलं क्षेप्तुमारब्धवती नैगमगृहिणी । प्रमादान्निपतितं तदन्तर्जलतलम् । तां ततो भणितं वणिजा- ''अहो ! इदं कच्चोलकं नैककोटिमूल्यरत्नसचितं राज्ञा ग्रहणकेऽर्पितमासीत् , ततो राज्ञः कथं छुटितव्यम् ? इति चिरं विषद्य वङ्कचूलस्य पल्लीपतेर्विज्ञापितं तत् । यथा-अस्य राजकीयवस्तुनो विचितिः कार्यताम् । तेनापि धीवर आदिष्टस्तच्छोधयितुम् । प्राविशदन्तर्नदम् । विचिन्वता चान्तर्जलतलं दृष्टं तेन हिरण्मयरथस्थं जीवन्तस्वामिश्रीपार्श्वनाथबिम्बं तावत् , पश्यति स्य स बिम्बस्य हृदये तत् कच्चोलकम् । धीवरेणोक्तम्-धन्याविमौ दम्पती, यद्भगवतो वक्षसि घुसृणचन्द्रचन्दनविलेपनार्हे कच्चोलकं स्थितम् । ततो गृहीत्वा तदर्पितं नैगमस्य । तेनापि दत्तं तस्मै बहु द्रव्यम् । उक्तं च बिम्बस्य रूपं नाविकेन । ततो वङ्कचूलेन श्रद्धालुना तमेव प्रवेश्य निष्कासितं तद् बिम्बम् । कनकरथस्तु तत्रैव मुक्तः । निवेदितं हि केनापि स्वप्ने प्राग्भावता नृपतेः-यत्र क्षिप्ता सती पुष्पमाला गत्वा तिष्ठति तत्र बिम्बं शोद्धव्यमिति । तदनुसारेण बिम्बमानीय समर्पितं राज्ञे वङ्कचूलाय । तेनापि स्थापितं श्रीवीरबिम्बस्य बहिर्मण्डपे यावत् कालं नव्यं चैत्यतस्मै कारयामीत्यभिसंधिमता । कारिते चैत्यान्तरे यावत्तत्र स्थापनार्थमुत्थापयितुमारभन्ते राजकीयाः पुरुषास्तावद्बिम्बं नोत्तिष्ठति स्म । देवताधिष्ठानात्तत्रैव स्थितम् । अद्यापि तत्रैवाऽऽस्ते । धीवरेण पुनर्विज्ञप्तः पल्लीपतिः-यत्तत्र देव ! मया नद्यां प्रविष्टेन बिम्बान्तरमपि दृष्टं, तदपि बहिरानयनेनौचितीमञ्चति, पूजाऽऽरूढं हि भवति । ततः पल्लीश्वरेण पृष्टा स्वपरिषत्-भो ! जानीते कोऽप्यनयोर्बिम्बयोः संविधानकं ? केन स्थलतो नद्यन्तर्जलतले न्यस्ते ? इत्याकर्ण्यैकेन पुराविदा स्थविरेण विज्ञप्तम्-देव ! एकोऽस्मिन्नगरे पूर्वं नृपतिरासीत् । स च परचक्रेण समुपेयुषा सार्द्धं योद्धुं सकलचमूसमूहसन्नहनेन गतः । तस्याग्रमहिषी च निजं सर्वस्वमेतच्च बिम्बद्वयं कनकरथस्थं विधाय जलदुर्गमिति कृत्वा चर्मण्वत्यां कोटिम्बके प्रक्षिप्य स्थिता । चिरं युद्धवतस्तस्य कोऽपि खलः किल वार्तामानैषीत्-यदयं नृपतिस्तेन परचक्राधिपतिनृपतिना व्यापादित इति । तत् श्रुत्वा देवी तत्कोटिम्बकमाक्रम्यान्तर्जलतलं प्राक्षिपत् । एकं च तयोरानीतं पूज्यमानं चास्ति । द्वितीयमपि चेद् निःसरति तदोपक्रम्यतामिति । तदाकर्ण्य वङ्कचूलः परमार्हतचूलामणिस्तमेव धीवरं तदानयनाय नद्यां प्रावीविशत् । स च तद्बिम्बं कटीदघ्नवपूर्जलतलेऽवतिष्ठमानं बहिःस्थशेषाङ्गं चावलोक्य निष्कासनोपाययनेकानकार्षीत् । न च तन्निर्गतमिति दैवतप्रभावमाकलय्य समागत्य च विशामीशाय न्यवेदयत् तत्स्वरूपम् । अद्यापि तत्किल तथैवाऽऽस्ते । श्रूयतेऽद्यापिकेनापि धीवरस्थविरेण नौकायाः स्तम्भे जाते तत्कारणं विचिन्वता तस्य हिरण्मयरथस्य कीलिका लब्धा । तां कनकमयीं दृष्ट्वा लुब्धेन तेन व्यचिन्तियदिमं रथं क्रमात्सर्वं गृहीत्वा ऋद्धिमान् भविष्यामीति । ततश्च रात्रौ निद्रां न लेभे । उक्तश्चकेनाप्यदृष्टपुरुषेणयदिमां तत्रैव विमुच्य स्थेयाः, नो चेत्सद्य एष त्वां हनिष्यामीति । तेन भयाऽऽतेन तत्रैव मुक्ता युगकीलिका इत्यादि । किं न संभाव्यते दैवताधिष्ठितेषु पदार्थेषु ? श्रूयते च संप्रति काले कश्चिन्म्लेच्छः पाषाणपाणिः श्रीपार्श्वनाथप्रतिमां भङ्क्तुमुपस्थितः स्तम्भितबाहुर्जातः, महति पूजाविधौ कृते सज्जतामापन्न इति । श्रीवीरबिम्बं महत् , तदपेक्षया लघीयस्तरं श्रीपार्श्वनाथबिम्बमिति महावीरस्यार्भकरूपोऽयं देव इति भेदाचेल्लण इत्याख्यां प्राचीकशत । श्रीमच्चेल्लणदेवस्य महीयस्तममाहात्म्यनिधेः पुरः ताभ्यां महर्षिभ्यां सुवर्णमुकुटमन्त्राऽऽस्तावः समाधितः प्रकाशितश्च भव्येभ्यः । सा च सिंहगुहापल्ली कालक्रमात् ' टिम्पुरी ' इत्याख्यया प्रसिद्धा नगरी संजाता । अद्यापि स भगवान् श्रीमहावीरः सचेल्लणपार्श्वनाथः सकलसङ्घेन तस्यामेव पुर्यां पात्रोत्सवैराराध्यते इति । अन्यदा वङ्कचूल उज्जयिन्यां खात्रपातनाय चौर्यवृत्त्या कस्यापि श्रेष्ठिनः सद्मनि गतः, कोलाहलं श्रुत्वा ततः चलितः । ततो देवदत्ताया गणिकाया गाणिक्यमाणिक्यभूताया गृहं प्राविशत् । दृष्टा सा कुष्ठिना सह प्रसुप्ता । ततो निःसृत्य गतः पुरः श्रेष्ठिनो वेश्म । तत्रैकविंशोपको लेख्यके तुद्यतीति परुषवाग्भिर्निर्भर्त्स्य निःसारितो गेहात् पुत्रः श्रेष्ठिना । विरराम च यामिनी । यावद्राजकुलं यामीत्यचिन्तयत् तावदुज्जगाम धामनिधिः । पल्लीशश्च निःसृत्य नगराद्गोधां गृहीत्वा तरुतले दिनं नीत्वा पुना रात्रावागाद्राजकुलम् । भाण्डागाराद् बहिर्गोधापुच्छे विलग्य प्राविशत्कोशम् । दृष्टो राजाग्रमहिष्या । रुष्टया पृष्टश्चकस्त्वमिति ? तेनोचे-चौर इति । तयोक्तम्-मा भैषीः, मया सह सङ्गमं कुरु । सोऽवादीत्-का त्वम् ? साऽप्यूचे-अग्रमहिष्यहमिति । चौरोऽवादीद्-यथेवं तर्हि ममाम्बा भवसि,अतो यामि ? इति चौरेण निश्चिते, तया स्वाङ्गं नखैर्विदायं पूत्कृतिपूर्वमाहूता रक्षकाः । गृहीतस्तैः । राज्ञा चानुनयार्थमागतेन तद् दृष्टम् । राज्ञोक्ता-स्ते-पौरुष्यामेनं गाढं कुर्वीध्वमिति तै उक्षितः । प्रातः पृष्टः क्षितिभृता । तेनाप्युक्तम्-देव ! चौर्यायाहं प्रविष्टः पश्चादेव भाण्डागारे देव्या दृष्टोऽस्मि । यावदन्यन्न कथयति तावत्तुष्टो विदितवेद्यो नरेन्द्रः, स्वीकृतः पुत्रतया । स्थापितश्च सामन्तपदे । देवी विडम्ब्यमाना रक्षिता वङ्कचूलेन । अहो ! नियमानां शुभफलमित्यनवरतमयमध्यासीत् । प्रेषितश्चान्यदा राज्ञा कामरूपभूपसाधनार्थम् । घातैर्जर्जरितो विजित्य तमगात् स्वस्थानम् । व्याहृताश्च राज्ञा वैद्याः, यावद् गूढोऽपि घातव्रणो विकशति । तैरुक्तम्-देव ! काकमांसेन शोभनो भवत्ययम् । तस्य च जिनदासश्रावकेण सार्द्धं प्रागेव मैत्र्यमासीत् । ततस्तदानयनाय प्रेषितः पुरुषः पुरुषाधिपतिना, येन तद्वाक्यात्काकमांसं भक्षयतीति । तदाहूतश्च जिनदासोऽवन्तीमागच्छन्नुभे देव्यौ रुदत्यावद्राक्षीत् । तेन पृष्टे-किंरुदियः ? ताभ्यामुक्तम्-अस्माकं भर्ता सौधर्माच्च्युतः, अतो राजपुत्रं वङ्कचूलं प्रार्थयावहे, त्वयि गते स मांसं भक्षयिता, तेन गन्ता दुर्गतिम् , तेन रु-दिव । तेनोक्तम्-तथा करिष्ये, यथा तन्न भक्षयिता । गतश्च तत्र राजोपरोधाद्वङ्कचूलमवोचत्-गृहाण बलिभुक्पिशितम् , यद् भुक्तः सन् प्रायश्चित्तं चरेः । वङ्कचूलोऽवोचत्-जानासि त्वं यदाचर्य्याप्ये-कान्तं प्रायश्चित्तं ग्राह्यं, ततः प्रागेव तदनाचरणं श्रेय इति ; ''प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ।'' इति वाक्यात् । निषिद्धो नृपतिः । विशेषप्रतिपन्नव्रतनिवहश्चाच्युतकल्पमगमत् । बलमानने जिनशसेन ते देव्यौ तथैव रुदत्यौ दृष्टा प्रो-

क्तम्-किमिति रुदिथः ? न तावत्स मांसं ग्राहितः । ताभ्यामभिदधेस ह्यधिकाराधनवशादच्यतं प्राप्तः ।
'' चेल्लणापार्श्वनाथस्य, कल्पमेतं यथाश्रुतम् ।
किञ्चिद्विरचयांचक्रुः, श्रीजिनप्रभसुरयः ''॥ १ ॥
इति श्रीचेल्लणापार्श्वनाथस्य कल्पः ॥
टिम्पुरीस्तवस्त्वयम्-
'' उत्तुङ्गैर्विविधैर्नगैरुपलसच्छायैरभिभ्राजिता,
श्रीवीरप्रभुपार्श्वसुव्रतयुगाऽऽदीशाऽऽदिबिम्बैर्युता ।
पल्ली भूत्तलविश्रुता नियमिनः श्रीवङ्कचूलस्य या,
सा भूत्या चिरमद्भुतां कलयतु प्रौढिं पुरी टिम्पुरी ॥ १ ॥
व्योमचुम्बिशिखरं मनोहरं, रन्तिदेवतटिनीतटस्थितम् ।
अत्र चैत्यमवलोक्य यात्रिकाः, शैत्यमाशु ददति स्वचक्षुषोः ॥ २ ॥
मूलनायक इहान्त्यजिनेन्द्र-श्चारुलेपघटितोद्भटमूर्त्तिः ।
दक्षिणे जयति चेल्लणपार्श्वो, भात्युदक्तदपरः फणिकेतुः ॥ ३ ॥ एकत
आदिजिनोऽत्र जिनोऽन्यो-ऽन्यत्र पुनर्मुनिसुव्रतनाथः ।
एवमनेकजिनेश्वरमूर्ति-स्फूर्तिमदत्र चकास्ति जिनौकः ॥ ४ ॥
अत्राम्बिकाद्वारसमीपवर्तिनौ,
श्रीक्षेत्रपालौ भुजषट्कभास्वरौ ।
सर्वज्ञपादाम्बुजसेवनालनौ,
सङ्घस्य विघ्नौघमपोहतः क्षणात् ॥ ५ ॥
यात्रोत्सवानिह सिते सहसो दशम्या-
मालोक्य लोकसमवायविधीयमानान् ।
संभावयन्ति भविकाः कलिकालगेहे,
प्राघूर्णकं कृतयुगं ध्रुवमभ्युपेतम् ॥ ६ ॥
अमरमहितमेतत्तीर्थमाराध्य भक्त्या,
फलितसकलकामाः, सर्वभीतीर्जयन्ति ।
बहलपरिमलाऽऽढ्यं चन्दनं प्राप्य यद्वा,
क इह सहतु तापव्यापमालिङ्गिताङ्गम् ? ॥ ७ ॥
शशधरहृषीकाक्षिक्षोणीमिते १२९१ शकवत्सरे,
ग्रहमणिमहे सङ्घान्वीता उपेत्य पुरीमिमाम् ।
मुदितमनसस्तीर्थस्यास्य प्रभावमहोदधि-
रिति विरचयांचक्रुः स्तोत्रं जिनप्रभसुरयः '' ॥ ८ ॥
टिम्पुरीस्तोत्रम् । ती० ४३ कल्प ।

टिंवरु-पु०(देशी) स्थविरे, दे० ना० ४ वर्ग।

टिक्क-न०(देशी) तिलके, दे० ना० ४ वर्ग।

टिग्घर-पुं०(देशी) स्थविरे, दे० ना० ४ वर्ग।

टिट्टिभ-पुं०(टिट्टिभ) ' टिट्टि ' इत्यव्यक्तं भाषते । (टिट्टिर) पक्षिभेदे, स्वार्थे कन्, अत्रैवार्थे, वाच०। स्त्रियां ङीष्। आ० म० १ अ० १ खण्ड।

टिट्टियावण-न०(टिट्टियापन) शब्दायमानकरणे, '' मयूरी अंडयं अभिक्खणं अभिक्खणं नो उव्वट्टेइ जाव नो टिट्टियावेइ। '' ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । स्वकीयकर्णसमीपे धृत्वा टिट्टियावेति-शब्दायमानं करोति । ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । बृ० ।

टिप्पी-स्त्री० । देशी-तिलके, दे० ना० ४ वर्ग।

टिरिटिल्ल-धा०(भ्रम) चलने, भ्वा०-पर०-अक०-सेट् । वाच० । '' भ्रमेष्टि-रिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तलअंट-झंट-झंप-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः ''॥ ८ । ४ । १६१ ॥ इति टिरिटिल्लाऽऽदेशः । ' टिरिटिल्ल इ ', ' भमइ ' । प्रा० ४ पाद ।

टिविडिक्क-धा०(मण्ड) भूषायाम् , चुरा०-उभ०-पक्षे-भ्वा०-पर०-सक०-सेट्-इदित्। वाच०। '' मण्डेश्चिश्च-चिश्चअ-चिञ्च-ल्ल-रीड-टिवि-डिक्काः '' । ८ । ४ । ११५ । इति टिविडिक्का-ऽऽदेशः । ' टिविडिक्कइ '। प्रा० ४ पाद।

टुंट-पुं०(देशी) छिन्नकरे, दे ना ४ वर्ग।

टुवर-पुं०(तुवर) तरति द्विनस्ति रोगानसौ। तॄ-ष्वरच्। नि०-गुणा-भावः । वाच० । ' तगर-त्रसर-तूवरे टः ' ॥ ८ । १ । २०५ ॥ इति तस्य टः । प्रा० १ पाद । धान्यभेदे, कषायरसे च, तद्वति ; त्रि० । आढक्याम् , सौराष्ट्रमृत्तिकायां च । स्त्री० । षित्वाद् ङीष् । स्वार्थे कन् । तुवरिकाऽप्यत्रैव । वाच० ।

टेंटा-स्त्री०(देशी) द्यूतस्थाने, दे० ना० ४ वर्ग।

टेक्कर-न०(देशी)स्थले, दे० ना० ४ वर्ग।

टोक्कण-न०(देशी) मद्यपरिणामभाण्मे, दे० ना० ४ वर्ग।

टोक्कल-पुं०(टोक्कल) एकधान्यनिष्पन्ने व्यञ्जनभेदे, एकधान्यनिष्पन्नान्यपि पूलिकास्थूलरोटकमण्डकषर्षरकधूघरीटोक्कलथूली-वाटकणिक्काऽऽदीनि पृथक् पृथक् नामाऽऽस्वादवत्त्वेन पृथक् पृथक् द्रव्याणि। ध० २ अधि०।

टोप्परिया-स्त्री०(टोप्परिका) '' दवरी '' इति ख्याते जत्राऽऽदि-निक्षेपणार्थे वस्तुनि, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । ग० । जघन्यो-पकरणेषु टोप्पटिकाऽपि गृह्यते।

टोलंब-(देशी) ममूके, दे० ना० ४ वर्ग।

टोल-पुं०(देशी) शलभे, दे ना ४ वर्ग।

टोलगइ-पुं०(टोलगति) पञ्चमे वन्दनदोषे, '' टोलो व्व उ किडुंतो, ओसक्कभिसक्कणं दुहओ । '' बृ० ३ उ० । प्रव० । पञ्चमं दोषमाह-अवष्वष्कणं पश्चाद्गमनम् , अभिष्वष्कणमभिमुखगमनं, तेऽवष्व-ष्कणाभिष्वष्कणे टोलवत्ति द्रवदुत्प्लवमानः करोति यत्र तट्टोल-गतिवन्दनकमित्यर्थः । प्रव० २ द्वार । आव० । बृ० । उष्ट्राऽऽदिसम-प्रचारे य । भ० ७ श० ६ उ० । जं० ।

***टोलागइ**-त्रि०(टोलाकृति) प्रशस्ताऽऽकारे, भ० ७ श० ६ उ०।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८
श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते
'अभिधानराजेन्द्रे'
टकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

ठकार

ठ-(ठ) 'ठ' इत्ययं वर्णो मूर्द्धस्थानीयः स्पर्शसंज्ञकः। वाच०।

***ठ**-पुं०। महेशमहामन्त्रे, मन्त्रिणि, भूपे, वाडवे, आसने, शयने, आकाशे, जलाऽऽशये, घटे, चक्रे, मुद्रायाम्, कुण्डले, भगवत्कचे, बृहद्घ्वाने, साहसे, स्तम्भे, चन्द्रमण्डले च। न०। शवे, शून्ये, मनोज्ञे, कठिने च। त्रि०। एका०।

ठइअ-पुं०(देशी) उत्क्षिप्ते, अवकाशे, दे० ना० ४ वर्ग।

ठकार-पुं०(ठकार) शङ्करे, विषये, दरे, भासे, शङ्खनिनादे, क्षये, रौद्ररसे, ध्वनौ च। एका०।

ठक्का-स्त्री०(ढक्का) '' चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्य्ययोराद्यद्वितीयौ '' ॥ ८। ४। ३२५॥ इति ढस्य ठः। प्रा० ४ पाद। स्वनामख्याते वाद्यभेदे, वाच०।

ठक्कुर-पुं०(ठक्कुर) ग्रामाऽऽदिप्रभौ, विशे०। आ० म०।

ठट्ठारत्त-न०(ठट्ठारत्व) शुल्वनागवङ्गकांस्यपित्तलाऽऽदीनां करण-घटनाऽऽदिना जीविकायाम्, ध० २ अधि०।

ठड्ढ-त्रि०(स्तब्ध) '' स्तब्धे ठ-ढौ ''॥ ८। २। ३९॥ इति स्तब्धे संयुक्तयोर्यथाक्रमं ठढौ भवतः। जडे, प्रा० २ पाद।

ठप्प-न०(स्थाप्य) असंव्यवहार्ये, अनु०। भ०।

***ठरिअ**-न०। देशी-गौरविते, ऊर्ध्वस्थिते, दे० ना० ४ वर्ग।

ठल्ल-पुं०(देशी) निर्धने, दे० ना० ४ वर्ग।

ठवणपुरिस-पुं०(स्थापनापुरुष) पुरुषप्रतिमाऽऽदौ, स्था० ३ ठा० १ उ०।

ठवणप्पमाण-न०(स्थापनाप्रमाण) आकारविशेषवद्वस्तुप्रतिपादके नामनि, अनु०।

से किं तं ठवप्पमाणे ? ठवप्पमाणे सत्तविहे पण्णत्ते।

तं जहा-

'' णक्खत्तादेवय-कुले, पासंड-गणे ज जीवियाहेऊ।

आभिप्पाइयनामे, ठवणानामं तु सत्तविहं ''॥ १॥

अथ किं तत् स्थापनाप्रमाणम् ? स्थापनाप्रमाणं सप्तविधिमित्यादि। ''णक्खत्तगाहा।'' इयमत्र हृदयम्-नक्षत्रदेवताकुल-पाखण्डगणाऽऽदीनि वस्तून्याश्रित्य यस्य किञ्चिन्नामस्थापनं क्रियते, सेह स्थापना गृह्यते। त पुनर्यत्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण, यच्च तत्करणीत्यादिना पूर्वं परिभाषितस्वरूपा सैव प्रमाणं तेन हेतुभूतेन नाम सप्तविधं भवति। अनु०।

ठवणसव्व-न०(स्थापनासर्व) स्थापनया सर्वमेतदिति कल्पनया अक्षाऽऽदिद्रव्यं सर्वं, स्थापनैव वा अक्षाऽऽदिद्रव्यरूपा सर्वं स्थापनासर्वम्। स्था० १० ठा०।

ठवणा-स्त्री०(स्थापना) स्थाप्यतेऽमुकोऽयमित्यभिप्रायेण क्रियते निर्वर्त्यत इति स्थापना.। काष्ठकर्माऽऽदिगताऽऽवश्यकवत् साध्वा-दिरूपे, अनु०। स्था०। लेप्याऽऽदिकर्मणि, स्था० २ ठा० ४ उ०। सर्वस्य वस्तुनो निजे निजे आकारे, विशे०। आकारविशेषे, आ म० १ अ० १ खण्ड। लेप्याऽऽदिकर्मअर्हदादिविकल्पेन स्थाप्यते। स्था० १० ठा०। सद्भावासद्भावरूपप्रतिकृतौ, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। पत्राऽऽदिलिखिते आकारे, नयो०। आ० म०। स्था०। तच्चित्रं स्थापनेति-तस्य घटस्य चित्रं पत्राऽऽदिलिखित आकारः स्थापना।

तल्लक्षणं चेदं स्मरन्ति-

'' यत्तु तदर्थवियुक्तं, तदभिप्रायेण यच्च तत्करणिः।
लेप्याऽऽदिकर्म्म तत् स्थापनेति क्रियतेऽल्पकालं च '' ॥ १॥

एतदर्थोऽयम्-यद्वस्तु, तदर्थवियुक्तं भावेन्द्रार्थरहितं, तदभिप्रायेण तदबुद्ध्या, करणिराकृतिः, यच्चेन्द्राऽऽद्याकृतिलेप्याऽऽदिकर्म्म क्रियते, चशब्दादाकृतिशून्यं चाक्षनिक्षेपाऽऽदि, तत् स्थापनेति; तच्चाल्पकाल-मित्वरमित्यर्थः। चशब्दाद् यावद्द्रव्यभावि च मृद्द्रव्यमिति, घटकारणी-भूता मृदेव द्रव्यघट इत्यर्थः। नयो०।

ननु सादृश्यसंबन्धस्य स्थापना निक्षेपनिवासकत्वेऽसद्भा-वस्थापनोच्छेदप्रसङ्गोऽभिप्रायसंबन्धस्यापि तन्नि-यामकत्वं च नाम्न्यपि तस्य सुवचनत्वादति-प्रसङ्गस्तदवस्थएवेत्याशङ्कायामाह-

अतिप्रसङ्गो नैवं चा-ऽभिप्रायाऽऽकारयोगतः।

यच्छ्रुतोक्तमनुलङ्घ्य, स्थापना नाम चान्यतः॥ ९९॥

(अतिप्रसङ्ग इति) एवमुक्तासङ्करप्रकारेण च, अतिप्रसङ्गो न भवति, यत् श्रुतोक्तं सिद्धान्तवचनमनुलङ्घ्य, अक्षाऽऽदावेवाभिप्रायसंबन्धं, प्रतिमादवेव चाऽऽकारसंबन्धं पुरस्कृत्य, स्थापनाऽऽद्रियते, अन्यतोऽ-न्यस्थले च, नाम निक्षेप इति क्वातिप्रसङ्गः ? तथा च-सूत्रबोधितबलव-दनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताकतद्गतगुणस्मृतिजनकसंस्कारोद्बोध-काभिप्रायाऽऽकारान्यतरसंबन्धकत्वं तत्स्थापनात्वमिति फलितं भवति॥ ९९॥

उक्तविशेषप्रयोजनमेवोपदर्शयितुमाह-

अत एव न धीरर्ह-त्प्रतिमायामिवार्हतः।

भावसाधोः स्थापनायाः, द्रव्यलिङ्गिनि कीर्त्तिता॥ १००॥

''अत एव'' इत्यादि। अत एवोक्तविशेषणनिवेशश्चौव्यादेव, अर्हत्प्रति-मायामर्हत इव, द्रव्यलिङ्गिनि प्रकटप्रतिषेधिणि पार्श्वस्थाऽऽदौ, स्थापनायाः, भावसाधोः, धीः, सिद्धान्ते, न कीर्त्तिता॥ १००॥

कुतः ? इत्याह-

सा हि स्थाप्यस्मृतिद्वारा, भावाऽऽदरविधायिनी।

न चोत्कटतरे दोषे, स्थाप्यस्थापकभावना॥ १०१॥

सा हि स्थापनाधीर्हि, स्थाप्यस्मृतिद्वारा '' एकसंबन्धिज्ञाने अ-परसंबन्धिस्मृतिः '' इति नियमविधया स्थाप्यस्मृतिव्यापारेण, भावाऽऽदरस्यस्थाप्यगतगुणप्रणिधानोद्रेकस्य, तज्जनितानिर्ज्जरा-ऽतिशयस्य वा, विधायिनी। न च स्थापनाविषये उत्कटतरे दोषे, प्रतिसन्धीयमाने इति शेषः। स्थाप्यस्थापकभावना, फल-

वतीति शेषः । तथा च द्रव्यलिङ्गिदर्शनादपि न भावसाधुगुणाः । ननु स्मृतिरेव तन्नियामकप्रायिकसादृश्यस्य रजोहरणगोच्छकपतद्ग्रहाऽऽदिरूपस्य तस्याबाधितत्वात् , किं तूत्कटदोषवत्त्वेन प्रतिसंधीयमानस्य सा दृश्या । वन्दनकनिर्युक्तौ-

'' तित्थयरगुणा पडिमा-सु णऽत्थि णिस्संसयं विआणंतो ।
तित्थयरु त्ति णमंतो, सो पावइ णिज्जरं विउलं ॥ ५८ ॥
लिंगं जिणपण्णत्तं, एव णमंतस्स णिज्जरा विउला ॥
जइ वि गुणविप्पहीणं, वंदइ अज्झप्पसोहीए ॥ ५९ ॥ ''

(अनयोरर्थः ' किइकम्म ' शब्दे तृतीयभागे ५१९ पृष्ठे द्रष्टव्यः) इति गाथाभ्यां सादृश्यसंबन्धमात्रेणार्हत्प्रतिमाया अर्हतो द्रव्यलिङ्गिनो भावसाधोस्तटस्थेन स्मृतेरुत्थापकतयाऽध्यात्मशुद्धिप्रभवनिर्जराऽङ्गत्वेन वन्दनीयत्वं यदाक्षिप्तं पूर्वपक्षकृता । तत्र । आचार्यैरेकत्रोत्कटदोषवत्त्वेनोपस्थितसमानसंवित्संवेद्यतालभ्यगुणवत्- सादृश्यधीस्तद्गतदोषानुमतिरूपतया गुणवदपकर्षव्यञ्जकत्वेन तन्निदानरूपत्वेन बलवदनिष्टानुबन्धावहा, अन्यत्र चोक्तकारणाभावान्न तथात्वमिति वैषम्यमुद्भावयित्वा समाधानं कृतम् ।

'' संता तित्थयरगुणा, तित्थयरे तेसिमं तु अज्झप्पं ।
ण य सावज्जा किरिया, इयरेसु धुवा समणुमन्ना ''॥ ६० ॥ इति ।

अस्या अर्थः-सन्तो विद्यमानाः शोभना वा तीर्थकरत्वेन प्रतीयमानस्य गुणाः, तीर्थकरेऽर्हति, इयं च प्रतिमा, तेषां नमस्कुर्वताम् , इदमध्यात्मं समापत्त्यादिफलकानुभूयमानतीर्थकरगुणस्मृताऽऽलम्बनम् । यद्वा-तेषां गुणानाम् , इदमध्यात्म्यम्-अध्यारोपविषयः, तटस्थेन स्मृतौ योगजीवातुसमापत्त्यसिद्धेः । न च तासु प्रतिमासु सावद्या सपापा, क्रिया, इतरेषु पार्श्वस्थाऽऽदिषु, ध्रुवा, सेति योज्यते । ततः समनुज्ञा सावद्यक्रियायुक्तपार्श्वस्थाऽऽदि प्रणमनाद् , ध्रुवेति योगः । एवं च सति प्रतिमायामुभयक्रियाभावप्रसञ्जित उभयफलाभावस्तदालम्बनकस्थाप्यगुणसंकल्परूपमनःशुद्धेर्बलवत्तयैव निराक्रियमाणः पार्श्वस्थाऽऽदिवन्दनेऽपि मनःशुद्धेर्बलवत्तयैव दोषाभावं गुणोदयं च साधयितुं कथं न प्रगल्भते ? इत्याशङ्काशेष उभयविकल एव आकारमात्रतुल्ये कतिपयगुणान्विते चोत्कृष्टगुणाध्यारोपशुभसंकल्परूपतामास्कन्दनिर्जराहेतुः । अन्यत्र त्वसावशुभसंकल्परूपत्वेन निरवद्यकर्माभाववद्विशेष्यकत्वस्य गौरवेणातन्त्रत्वात् सावद्यकर्मवद्विशेष्यकतयैव विपर्यासलक्षणसमन्वयेन वाऽनन्तक्लेशाऽऽवह इत्यभिप्रायेणाऽऽचार्यैस्तत्रैव निराकृतः ।

तथाहि-

'' जह सावज्ज किरिया, णत्थि य पडिमासु एवमियराऽवि ।
तयभावे णत्थि फलं, अह होइ अहेउअं होइ ॥ ६१ ॥
कामं उभयाभावो, तह वि फलं अत्थि मणविसुद्धीए ।
तीइ पुण मणविसुद्धी-इ कारणं हुंति पडिमाओ ॥ ६२ ॥
जइ वि अ पडिमा उ जहा, मुणिगुणसंकप्पकारणं लिंगं ।
उभयमवि अत्थि लिंगे, ण य पडिमासूभयं अत्थि ॥ ६३ ॥
णियमा जिणेसु उ गुणा, पडिमाओ दिस्स जं मणे कुणइ ।
अगुणे उ वियाणंतो, कं नमउ मणे गुणं काउं ? ॥ ६४ ॥
जह वेलंबगलिंगं, जाणंतस्स णमओ धुवं दोसो ।
णिद्धंधसमिअ णाऊ-ण वंदमाणे धुवो दोसो । ६५ । इति । १०१।

(आसां गाथानामर्थः ' किइकम्म ' शब्दे तृतीयभागे ५१९ पृष्ठे गतः)

नन्वेवं स्थापनास्थले सावद्यकर्माभाववद्विशेष्यगुणसंकल्पत्वे भावस्य निर्जराहेतुत्वमित्यागतम् । तच्चायुक्तम् । लाघवेन निरवद्यकर्मवद्विशेष्यकत्वेनैव तद्धेतुत्वौचित्याल्लक्षणगौरवापेक्षया कारणभावगौरवस्य महादोषत्वात् । किञ्च-स्थापनास्थलीयभावे जात्युपाध्यन्यतरकृतातिरिक्तविशेषाभावे यथोक्तरूपेणैव हेतुत्वे मायाच्छादितदोषे आलयविहाराऽऽदिना शुद्धताप्रतिसंधानदशायां वन्द्यमाने साधौ कथं निर्जरोत्पत्तिः संगच्छते ? न च तत्र निरवद्यकर्मयुक्ततयाऽगृहीतासंसर्गकगुणसंकल्पेन पृथगेव निर्जराहेतुत्वाददोषः । तथा सति तुल्यन्यायतया सावद्यकर्मयुक्तत्वेनागृहीतासंसर्गकगुणसंकल्पत्वेन बन्धहेतुतायाः एव युक्तत्वात् , प्रतिमावन्दनादुभयाभावाऽऽपत्तेः । न च सत्त्वशुद्धिविधया कारणतायामयमेव प्रकारः, अवश्यकयोगविधया कारणतायां तु वास्तवविषयतायाः एव निवेशान्न दोष इति वाच्यम् । सत्त्वशुद्धिविधयैव प्रतिमावन्दनान्निर्जरोत्पत्तेः, '' तह वि फलं अत्थि मणविसुद्धीए । '' इत्यनेन प्रतिपादनात् । किं च-गुणदोषोभयवैकल्यमात्रेण प्रतिमायामर्हदध्यवसायस्य निर्जराऽङ्गत्वे प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितयोरविशेषाऽऽपत्तेः । न च-

'' सयकारियाइ एसा, नायइ ठवणाइ बहुफला केइ ।
गुरुकारियाइ अन्ने, विसिट्ठविहिकारियाए य ॥ १ ॥
थंडिल्ले वि य एसा, मणवयणाए पसत्थगा चेव ।
आयासगोमयाई-हि एत्थमुल्लेवणाइ हियं ॥ २ ॥
उवयारंगा इह सो-वओगसाहारणाण फला ।
किं च विसेसेण तओ, सव्वे वि य ते विभइअव्वा '' ॥ ३ ॥

इति पूजाविधिविंशिकावचनपर्यालोचनायामिष्टपदेति वाच्यम् । तत्र प्रतिष्ठितत्वव्याप्यधर्म्मपुरस्कारेणेव मानसप्रतिष्ठापुरस्कारेण प्रवृत्तानां पूजाविधिकल्पानां विधिप्रतिष्ठितपूजाजन्यताऽवच्छेदकजातिव्याप्यजात्यवच्छेदेन, मानसाभिप्रायशोधितविधिप्रतिष्ठितपूजाजन्यतावच्छेदकजात्यवच्छेदेन च फलभेदाद्धेतुभेदो युक्त इत्यभिप्रायेण प्रवृत्तावपि प्रतिष्ठासामान्यस्याकिञ्चित्करत्वे तात्पर्याभावात् , अन्यथा प्रतिष्ठाविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

ततः प्रतिष्ठाऽऽदिविधिजनितः प्रतिमागतोऽतिशयविशेषः कश्चित्स्थापनानिक्षेपो निहन्यतामित्याशङ्कायाम्- '' संता तित्थयरगुणा ''। (आव० ६० गाथा) इत्यादिगाथामेव व्याख्यानान्तरसूचितं पक्षान्तरं परिष्कुर्वन्नाह-

यद्वा प्रतिष्ठाविधिना, स्वाऽऽत्मन्येव पराऽऽत्मनः ।
स्थापना स्यात्समापत्ति-बिंम्बे सा चोपचारतः ॥ १०२ ॥

यद्वा पक्षान्तरे, प्रतिष्ठाविधिना प्रतिष्ठाकारयितुः स्वाऽऽत्मन्येव, पराऽऽत्मनः परमगुणवतः त्रिभुवनभर्तुः ध्यानतारतम्ये च तात्स्थ्यतदञ्जनत्वस्वरूपा समापत्तिरेव स्थापना स्यात् , निश्चयतः सर्व-क्रियाणां तत्फलानां च उद्देश्यसंबन्धित्वेन व्यवह्रियमाणानामपि स्वात्मसंबन्धित्वस्यैव भाष्याऽऽदौ व्यवस्थापनात् । पराऽऽत्मन इत्युपलक्षणम् । स्वभावस्याऽऽर्हत्यादिप्रतिष्ठया कारयितरि स्वभाव एव स्थाप्यते । परम्परया तु तन्मूलप्रमाणानुपलब्ध्या विषयवचनाऽऽद्यप्रवर्तकत्वसंबन्धस्मारितः । तत्र च खलु प्रतिष्ठा निजभावस्य एव, देवतोद्देशात् स्वात्मन्येव, परं यत् स्थापनमिह वचननीत्या ऊचे- '' बीजमिदं परमं यत् , परमाया एव

समरसाऽऽपत्तेः। स्थाप्येन तदपि मुख्या, हन्तैषैवेति विज्ञेया ॥ १ ॥ '' इति। नन्वेवं निश्चयतः स्थापनाया आत्मगतायाः प्राप्तौ प्रतिमायां तद्व्यवहारः कथम् ? अत आह-बिम्बे च, सा स्थापना उपचारतः, स्वाऽऽत्मनि स्थापितस्य भावस्याऽऽलम्बनतयः समापत्तिविषयीक्रियमाणस्य परमाऽऽत्मनः साकारयोगमुद्राऽनुकारितया वा लक्षणया एव इत्यर्थः ॥ १०२ ॥

नन्वेवं यजमानगतादृष्टमेव प्रतिष्ठाफलं भवद्भिरुपपादितम्, ता-वता वन्दकपूजकाऽऽदीनां का सिद्धिः ? सा हि तदा स्यात्, यदि प्रतिष्ठाऽऽहितश्चाण्डालाऽऽदिस्पर्शनाश्यः पूजाफलप्रयोजकः कश्चिदतिशयोऽभ्युपगतः स्यात्, प्रतिष्ठितप्रतिमावन्दनपूजननत्यादिना फलविशेषहेतुत्वस्य इत्थमेव वक्तुं शक्यत्वात्। न च यजमानगतादृष्टं तदाहितं, तथा चाण्डालाऽऽदिस्पर्शेन व्यधिकरणेन तन्नाशयोगाद् यजमानस्य तददृष्टक्षये पूज्यत्वानापत्तेः। एतेन संबन्धविशेषेण यजमानगतादृष्टस्य प्रतिमागतत्वसमर्थनमपि प्रत्याख्यातम्।

यत्तु-प्रतिष्ठाविधेर्देवतासंविधानस्य स्वाभेदस्वीयत्वाऽऽदिज्ञानतदाहितसंस्काररूपस्य उत्पादात् फलोत्पत्तिः, चाण्डालाऽऽदिस्पर्शे च तदभावात् फलभाव इति कस्यचिद् मतम्। ततु मुक्तिप्रतिष्ठितदेवताया अभिमानाभावात् ; प्रतिष्ठया तदुपकरणस्य अशक्यक्रियत्वात् चाऽऽचार्यैरेव दूषितम्। तदुक्तम्- '' मुक्त्यादौ तत्त्वेन, प्रतिष्ठिताया न देवतायास्तु। स्थाप्ये न च मुख्ये तत्, तदधिष्ठानाऽऽद्यभावेन ''। १। इत्यादेर्न च तस्या उपकारः कश्चिदत्र मुख्य इति; तदतत्त्वकल्पनैषा बालक्रीडासमा भवतीति।

यदपि- '' प्रतिष्ठितं पूजयेत् '' इति विधिः प्रतिष्ठाकालीनयावदस्पृश्यस्पर्शाभावविशिष्टः प्रतिष्ठाध्वंसः, तद्विशिष्टप्रतिमापूजनं वा फलप्रदं, क्तप्रत्ययादतीतत्वलाभात् '' इति गङ्गेशोपाध्यायैरुक्तम्। तदपि तुच्छम्। प्रतिष्ठारूपायां पूजायामेवाऽऽगतेः, तत्र ध्वंसस्यैव फलजनकव्यापारस्याऽऽश्रयणे चादृष्टमात्रस्यैव दत्तजलाञ्जलित्वप्रसङ्गात्। कथं चैवं प्रतिष्ठितेऽप्यप्रतिष्ठितत्वज्ञाने न पूजाफलम् ? प्रतिष्ठाध्वंसवत्त्वेन प्रमीयमाणत्वस्य पूजाफलजनकताऽवच्छेदककोटौ निवेशेन प्रतिष्ठावत्त्वेन प्रमीयमाणत्वस्यैव निवेशौचित्यम्, इति नकिञ्चिदेतत्।

तस्माद् वन्दनपूजनाऽऽदिफलप्रयोजकत्वं कथं प्रतिष्ठायाः ? इति जिज्ञासायामाह-

प्रतिष्ठितप्रत्यभिज्ञा-समापन्नपराऽऽत्मनः।
आहार्याऽऽरोपतः सा च, द्रष्टृणामपि धर्मभूः ॥ १०३ ॥

(प्रतिष्ठितेति) सा स्थापना, प्रतिष्ठितप्रत्यभिज्ञया, समापन्नो यः पराऽऽत्मा भगवान्, तस्य, आहार्याऽऽरोपतः, द्रष्टृणाम्, उपलक्ष-णाद् वन्दकानां पूजकानां च, धर्मभूः धर्मकारणं भवति। अयं भावः-प्रतिमायां भगवदभेदाऽऽरोपं विना न तावद्वन्दनपूजनाऽऽदिफलं हेतुसहस्रेणापि संपद्यते, स च काष्ठपाषाणत्वाऽऽदिना भेदप्रत्यक्षे सति स्वरसतो नोदयतीत्याहार्य एव संपादनीयः। आहार्यत्वं चेच्छाजन्यत्वम्। इच्छा च इष्टसाधनताज्ञानसाध्या, इति इष्टसाधनताज्ञानसंपादनाय प्रतिष्ठितां प्रतिमां भगवदभेदेन अध्यारोपयेदिति विधिः कल्पनीयः। तथा चाऽऽहार्यभगवदध्यारोपविषयप्रतिमापूजनत्वाऽऽदिना फलविशेषहेतुत्वे आहार्यत्वप्रयोजकेच्छाजनकज्ञानविशेष्यताऽवच्छेदककुक्षिप्रविष्टत्वेन प्रतिष्ठाया अपि परम्परया प्रयोजकत्वमित्युक्तं भवति। '' प्रतिष्ठितं पूजयेत् '' इत्यत्रापि क्तप्रत्ययस्य खण्डशः शक्त्या लक्षणाऽऽदिना वा प्रतिष्ठाप्रयुक्ताऽऽहार्याऽऽरोपविषयपूजनत्वाऽऽदिनैव फलहेतुता। क्तप्रत्ययस्य चौत्सर्गिकेण कृत्प्रत्ययार्थेनाष्प्रत्ययत्वेनैवार्थवत्तेति चिन्तामणिकारादप्यतिसूक्ष्ममतिनिपुणं च वयमीक्षामहे ॥ १०३ ॥

उक्तमेव वक्ष्यमाणफलान्वयेनाऽऽह-

तत्कारणेच्छाजनक-ज्ञानगोचरबोधकाः।
विधयोऽप्युपयुज्यन्ते, तेनेदं दुर्मतं हतम् ॥ १०४ ॥

(तत्कारणेति) तस्याऽऽहार्याऽऽरोपस्य, कारणं या इच्छा, तज्ज-नकं यत् '' प्रतिष्ठितां प्रतिमां भगवदभेदेनाध्यारोपयेत् '' इति विधिजनितं ज्ञानं, तद्गोचरीभूतायाः प्रतिष्ठाया बोधकाः, इष्टसाधनत्वबोधनाऽऽदिद्वारा तदुत्पत्तिहेतव इति यावत्। विधयो विधिवाक्यानि, अप्युपयुज्यन्ते फलवन्तो भवन्ति, तैः प्रतिष्ठोत्पादने प्रतिष्ठितप्रतिमायामारोपविधिना भगवदभेदाध्यारोपोपपत्तौ पूजाफलप्रयोजकरूपसिद्धेः। तेनेदं वक्ष्यमाणं, दुर्मतमाध्यात्मिकाऽऽभासानां, हतं निराकृतम्॥ १०४।

किं तत् ? इत्याह-

प्रतिष्ठाऽऽद्यनपेक्षायां, शाश्वतप्रतिमाऽर्चने।
अशाश्वतार्चापूजायां, को विधिः किं निषेधनम् ? ॥ १०५ ॥

शाश्वतप्रतिमाऽर्चने प्रतिष्ठाया आदाविह प्रथमतोऽनपेक्षायां तत्रैव तस्याः फले व्यभिचारात्। अशाश्वतार्चानां कृत्रिमप्रतिमानां पूजायां, ''प्रतिष्ठितां प्रतिमां पूजयेत्'' इति विधिः कः ? ''अप्रतिष्ठितं न पूजयेत्'' इति निषेधनं च किम् ? प्रतिष्ठातदभावयोरिष्टानिष्टसाधनतया व्यभिचारादभावेन तत्र विधिनिषेधार्थान्वयस्यायोग्यत्वात्। इति भावः ॥ १०५ ॥

कथमेतन्निरस्तम् ? इत्याह-

पूजाऽऽदिविधयो ज्ञान-विध्यङ्गित्वं यदाश्रिताः।
शाश्वताशाश्वतार्चासु, विभेदेन व्यवस्थिताः ॥ १०६ ॥

(पूजाऽऽदीति) पूजाऽऽदिविधयः- ''प्रतिष्ठितां प्रतिमां पूजयेत्'' इत्यादिवाक्यलक्षणाः, ज्ञानविधेः ''प्रतिष्ठितां प्रतिमां भगवदभिन्नत्वेनाध्यारोपयेत् '' इत्यङ्गवाक्याऽऽत्मकस्य, अङ्गित्वं प्रधानत्वम्, आश्रिताः, शाश्वताशाश्वतार्चासु, विभेदेन भिन्नरूपेण, व्यवस्थिताः। तथा च-प्रतिष्ठाया न पूजासहकारित्वम्, किं तु स्वकर्तव्यताबोधकविध्यङ्गताऽऽपन्नविधिविषयनिर्वाहकत्वेन प्रयोजकत्वम्। तच्चाशाश्वतप्रतिमास्थले। अन्यत्र त्वनादिप्रतिष्ठितत्वप्रत्यभिज्ञाया एव तथात्वं, तादृशशिष्टाऽऽचारेण तथैव विधिबोधनादिति विकल्पेनानयोः पूजाफलप्रयोजकव्याहतेर्न कोऽपि दोष इति। अत एव निश्रितानिश्रिताऽऽदिभेदेन स्वल्पबहुभक्तिविधानाऽऽदेर्ज्ञानविशेषाऽऽपेक्षकत्वेन व्यवस्थितविकल्पोपपादकत्वं संगच्छते। अत एव चाविधिप्रतिष्ठितेऽप्यविच्छेदाऽऽदिकारणाऽऽलम्बनोपबृंहितवैज्ञानिकविधिना विधिप्रतिष्ठिततुल्यतामामनन्ति संप्रदायवृद्धाः। भावशोधितशुद्धनिमित्तनैमित्तिकैकान्तशुद्ध्यभावेऽपीदानीन्तनयतिधर्मपौषधाऽऽदिक्रियावत्तत्र भावशोधनमात्रेण मध्यमशुद्ध्यप्रच्यवात्तस्या अपि च शुभानुबन्धसारत्वादित्यादिकमुपपादितं प्रतिमाशतकाऽऽदौ। तस्मात् स्थापनातटस्थेन भगवद्गुणस्मारकतया तदाहार्याऽऽरोपप्रयोजकतया वा संग्रहनयेनाप्यवश्यं स्वीकर्तव्या, इति व्यवस्थापितम्॥ १०६ ॥

एतेन तदभ्युपगतव्यवहारोऽपि निरस्त इत्याह-

एतेन व्यवहारोऽपि, स्थापनाऽनाग्रहो हतः।
तत्रार्द्धजरतीयं किं, नाम्नाऽपि व्यवहर्तरि ? ॥ १०७ ॥

(एतेनेति) एतेनानुपदोक्तयुक्तिकदम्बकेन संग्रहस्थापनाव्यवस्थापनेन, व्यवहारोऽपि, स्थापनाया अनाग्रहोऽस्वीकारो, हतो निरस्ता, केषाञ्चिदाचार्याणाम् , यतस्तत्र व्यवहारे, नाम्नाऽपि नामनिक्षेपेणापि, व्यवहर्तरि व्यवहारमभ्युपगच्छति, किमिदमर्द्धजरतीयम् ? यदुत स्थापनया व्यवहार इति, न हीन्द्रप्रतिमायां नेन्द्रव्यवहारो भवति, तत्राभवन्नपि भ्रान्त एव । न वा नामाऽऽदिप्रतिपक्षव्यवहारसाङ्कर्यम्: इत्येकमाद्रियमाणस्यापरं च परित्यजतः केवलमाहोपुरुषिकामात्रमेवेति ॥ नयो० ।

अथ सामान्येनैव स्थापनायाः स्वरूपमाह-

जं पुण तदत्थसुण्णं, तयभिप्पाएण तारिसाऽऽगारं।
कीरइ व निरागारं, इत्तरमियरं व सा ठवणा ॥ २६ ॥

सा स्थापनाऽभिधीयते, यत् , किम् ? इत्याह-यत्क्रियतेइन्द्राऽऽदिस्थापनारूपतया विधीयते वस्तु, पुनःशब्दो नामलक्षणात् स्थापनालक्षणस्य वैसदृश्यद्योतकः। केन ? इत्याह-तदभिप्रायेणतस्य सद्भूतेन्द्रस्याभिप्रायोऽध्यवसायस्तेन । कथंभूतं तद्वस्तु ? इत्याह-तदर्थशून्यं-स चासावर्थश्च तदर्थःसद्भूतेन्द्रलक्षणः, तेन शून्यं तदर्थशून्यम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? तादृशाऽऽकारंसद्भूतेन्द्रसमानाऽऽकारं, वाशब्दस्य भिन्नक्रमत्वान्निराकारं वा, सद्भूतेन्द्राऽऽकारशून्यमित्यर्थः । चित्रलेप्यकाष्ठापाषाणाऽऽदिषु तादृशाऽऽकारं भवति, अक्षाऽऽदिषु तु निराकारमित्यर्थः । पुनः किंभूतम् ? इत्वरम्-अल्पकालीनम् । इतरद्वायावत्कथिकम् । तत्रेत्वरं चित्राक्षाऽऽदिगतम् । यावत्कथिकं तुनन्दीश्वरचैत्यप्रतिमाऽऽदि । तदपि हि ' तिष्ठतीति स्थापना ' इति स्थापनात्वने समये निर्दिष्टमेव। तदिदमिह तात्पर्यम्-यद्वस्तु सद्भूतेन्द्रार्थशून्यं सत्तद्बुद्ध्या तादृशाऽऽकारं, निराकारं वा स्तोककालं, यावत्कथिकं वा स्थाप्यते सा स्थापनेति। प्रकृते योजना तु इत्थं क्रियते-चित्रकर्माऽऽदिगतः परममुनिः, स्थापनं स्थापना, तया मङ्गलम् , स्थाप्यते इति वा स्थापना, तया मङ्गलं ; स्थापनामङ्गलमिति व्यपदिश्यते। इति गाथाऽर्थः ॥ २६ ॥

अथ भाष्यकारः स्वयमेव नामस्थापनामङ्गलयोरुदाहरणमुपदर्शयन्नाह-

जह मंगलमिह नामं, जीवाजीवोभयाण देसीओ।
रूढं जलणाईणं, ठवणाए सोत्थियाईणं ॥ २७ ॥

यथाशब्द उदाहरणोपन्यासार्थः । क्व यथा ? इत्याह-जीवाजीवोभयानां ज्वलनाऽऽदीनां, देशीतो देशीभाषया, मङ्गलमिति नाम रूढम्। तत्र जीवस्याग्नेर्मङ्गलमिति नाम रूढम् , सिन्धुविषये अजीवस्य दवरकवलनकस्य मङ्गलमिति नाम रूढम् , लाटदेशे जीवाजीवोभयस्य तु मङ्गलमिति नाम रूढं वन्दनमानायाः, दवरिकाऽऽदीनामिहाचेतनत्वात् , पत्राऽऽदीनां तु सचेतनत्वाद् जीवाजीवोभयत्वं भावनीयम् । स्वस्तिकाऽऽदीनां तु या स्थापना लोके, तस्या रूढं स्थापनामङ्गलत्वमिति शेषः। इति गाथाऽर्थः ॥ २७ ॥ विशे० ।

'' ठविओ य आरियत्ते, जम्हा तू तेण ठवण त्ति। '' पं० भा० ।

पण्डितनगर्षिकृतप्रश्नः-गणधराः प्रतिक्रमणं कुर्वाणाः स्थापनां कुर्वन्ति, न वा ? कुर्वाणा अपि तीर्थङ्करस्य, अन्यस्य वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-तीर्थङ्करस्य देवगुरुरूपत्वेन तत्समीपे प्रतिक्रमणाऽऽदि कुर्वतां स्थापनाप्रयोजनं न स्यात् , जिनपरोक्षे तत्कुर्वतां तु स्थापनाकरणमात्मनामिवेति संभाव्यते। ६ प्र० । ही० ३ प्रका० । दीपवन्दिरसङ्घकृतप्रश्नः-अक्षमालाऽऽदिका स्थापना या नमस्कारेण विधीयते, तदुपरि उद्द्योते दृष्टिरक्षणं सुकरम् , अन्धकारे कथं च भवति ? तद्धीना च स्थापना शुद्ध्यति, न वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र अक्षमालापुस्तकाऽऽदिकस्थापना नमस्कारेण स्थाप्यते, स्थापनाऽनन्तरं च क्रियाकरणं यावदुद्द्योते यथाशक्ति दृष्ट्युपयोगौ रक्ष्येते अन्धकारे, दृष्ट्युपयोगयोरन्तरे जाते तु पुनः स्थापनां कृत्वा अग्रतः क्रिया क्रियते। यतः स्थापना द्विधाइत्वरा, यावत्कधिका च । तत्र इत्वराऽक्षमालाऽऽदिका, या नमस्कारेण स्वयं स्थापिता दृष्ट्युपयोगयोः सतोरेव तिष्ठति । यावत्कथिका चाक्षप्रतिमाऽऽदिका या गुरुसकाशात् स्थाप्यते, सा पुनः पुनः स्थापिता न विलोक्यते इति। ६ प्र० । ही० ४ प्रका० । कायोत्सर्गे वन्दनकदानावसरे च स्थापनाऽऽचार्यचालनं य शुध्यति, न वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र कायोत्सर्गकरणावसरे, वन्दनकदानावसरे च स्थापनाऽऽचार्यचालनं न शुद्ध्यतीत्येकान्तो ज्ञातो नास्तीति। १४ प्र० । ही० ४ प्रका० । पण्डितगुणविजयगणिकृतप्रश्नः-स्थापनाः कियति प्रदेशे ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च दूरे स्थापिताः क्रियाशुद्धिहेतवो भवन्ति ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्रोर्द्ध मस्तकात् पादयोरधस्तात् तिर्यक् च द्रष्टुमशक्ये स्थाने स्थापिताः स्थापनाः क्रियाशुद्धिनिमित्तं न भवन्तीति वृद्धवादः। यत्तु-उपरितनभूम्यादौ स्थापितासु तासु अधस्तनभूम्यादौ क्वापि क्रियायाः क्रियमाणत्वं, तत्कारणिकमिति ज्ञेयम्। ४ प्र० । ही० २ प्रका० । स्थापने, नं० । ' णिक्खेवो ' स्थापनाऽभ्यासक इत्यनर्थान्तरम् । आ० चू० १ अ० । न्यासे, पञ्चा० २ विव० । निधानं निधिर्निक्षेपो न्यासो विरचना प्रस्तारः स्थापनेति पर्यायाः । अनु० । (जिनबिम्बस्थापना ' चेइ-य ' शब्दे तृतीयभागे १२७० पृष्ठे निरूपिता, सा च तत एवावधार्या) पञ्चमे उद्गमदोषे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । स्थाप्यते साधुनिमित्तं कियन्तं कालं यावन्निधीयते इति स्थापना । यद्वास्थापनं साधुभ्यो देयमिदमिति बुद्ध्या देववस्तुनः। कियन्तं कालं व्यवस्थापनं स्थापना, तद्योगाद्देयमपि स्थापना । स्वस्थाने चुल्लीस्थाल्यादौ, परस्थाने सुस्थितकछच्चकाऽऽदौ चिरकालमित्वरकालं च साधुदाननिमित्तं धार्यमाणमशनाऽऽदिकं स्थापनेति व्युत्पत्तेः । प्र-व० ६७ द्वार । पिं० । पं० व० । पञ्चा० । आचा० । ध० । उत्त० । ग० । दर्श० ।

अथ स्थापनाद्वारमाह-

सद्वाणे परट्ठाणे, दुविहं च ठियं तु होइ नायव्वं।
खीराऽऽदिपरंपरए, हत्थगयघरंतरं जाव ॥

स्थापितं साधुनिमित्तं, घृतभक्ताऽऽदि। तच्च द्विधा। तद्यथा-स्वस्थाने, परस्थाने च । तत्र स्वस्थानं-चुल्ल्यवचुल्लाऽऽदि । परस्थाने-छच्चकाऽऽदि। एकैकं द्विधा-अनन्तरं, परम्परं च। तत्र यस्य साधुनिमित्तं स्थापितस्य सतो विकारान्तरं न भविष्यति, यथा घृताऽऽदि, तदनन्तरस्थापितम् । क्षीराऽऽदिकं तु, परम्परके परम्परास्थापितम् । तथाहि-क्षीरं स्थापितं सद् दधि भवति, दधि भूत्वा नवनीतं, नवनीतं भूत्वा घृतं, ततो यदेव साधुनिमित्तं क्षीरं धृत्वा घृतीकृत्य ददाति, तदा तत् क्षीरं परम्परास्थापितं भवति । एवमन्यदपीक्षुरसाऽऽदिकं द्र-

ष्टव्यम्। तथा पङ्क्तिस्थिते गृहत्रये उपयोगावकाशसंभवे सति, हस्तगतासु तिसृषु भिक्षास्वेकः, साधुरेकां भिक्षां सम्यगुपयोगेन परिभावयन् गृह्णाति। द्वितीयस्तु द्वयोर्गृहयोर्हस्तगते द्वे भिक्षे परि-भावयति। ततो गृहत्रयात्परतो यावद् गृहान्तरं न भवति, तावन्न तस्य स्थापनादोषः। गृहान्तरे तु साधुनिमित्तं हस्तगता भिक्षा स्थापना, तत्रोपयोगासंभवात्।

तत्र एनामेव गाथां भाष्यकृद् व्याचिख्यासुः प्रथमतः स्वस्थान-माह-

चुल्ली अवचुल्लो वा, ठाणट्ठाणं तु भायणं पिढरे।
सट्ठाणट्ठाणम्मि य, भायणठाणे य चतुभंगा॥

द्विविधं स्थानम्। तद् यथा-स्थानस्वस्थानं, भाजनस्वस्थानं च। तत्र स्थानरूपं स्वस्थानम्-चुल्ली, अवचुल्लो वा। चुल्ल्या अव पश्चात् अवचुल्लः। राजदन्ताऽऽदित्वादवशब्दस्य पूर्वनिपातोऽन्तता च। तत्र चुल्ली प्रतीता। अवचुल्लो अवह्लकः। एतयोश्च स्थितं सद् भक्तं पच्यते। तत एतौ स्थानरूपं स्वस्थानम्। भाजनरूपं तु स्वस्थानंपिठरं स्थाली, तत्र स्थानस्वस्थाने, भाजनस्वस्थाने च चत्वारो भङ्गाः। तद्यथा-चुल्ल्यां स्थापितं, पिठरे च। चुल्ल्यां स्थापितं, न पिठरे; छच्चकाऽऽदौ स्थापितत्वात्। न चुल्ल्यां, किं तु पिठरे। तद्य चुल्ल्यवचुल्लाभ्यामन्यत्र प्रदेशान्तरे स्थापितं द्रष्टव्यम्। न चुल्लयां, न पिठरे, चुल्ल्यवचुल्लाभ्यामन्यत्र छच्चकाऽऽदौ स्थापितमित्यर्थः।

संप्रति परस्थानमाह-

छच्चगवारगमाई, होइ परट्ठाणमो अणेगविहं।
सट्ठाणे पिढरे छ-च्चगे य एमेव दूरे य॥

छच्चकवारकाऽऽदिकम्, अनेकविधं, परस्थानं परभाजनं भवति द्रष्टव्यम्। तत्र छच्चकं पटलिकाऽऽदिरूपम्। वारको लघुघटः। आदिशब्दात्पाकभाजनवर्जचुल्ल्यवचुल्लवर्जशेषसकलभाजनपरिग्रहः। अत्रापि स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुभङ्गी। तद् यथास्वस्थाने स्वस्थाने, स्वस्थाने परस्थाने, परस्थाने स्वस्थाने, परस्थाने परस्थाने। एनामेव चतुर्भङ्गी दर्शयति- '' सट्ठाणे '' इत्यादि। अत्र(सट्ठाणे पिढरे छच्चगे य इति) अनेन भङ्गद्वय सूचितम्, स्वस्थानस्य पिठरछच्चकाभ्यां प्रत्येकमभिसंबन्धात्। तद् यथास्वस्थाने चुल्ल्यादौ, पिठरे वा, तथा स्वस्थाने चुल्लयादौ, छच्चके च। परस्थाने (एमेव दूरं य त्ति) इह दूरं चुल्ल्यवचुल्लाभ्यामन्यत् प्रदेशान्तरं, तत्रापि तदपेक्षयाऽपि, एवमेव भङ्गद्वयं द्रष्टव्यम्। तद् यथा-भाजनरूपे स्वस्थाने पिठरे परस्थानेऽन्यत्र प्रदेशान्तरे, तथा परस्थानेऽन्यत्र प्रदेशान्तरे परस्थाने छच्चकाऽऽदाविति। सर्वसंख्यया चत्वारो भङ्गाः। तदेवदेवं मूलगाथायाः- '' सट्ठाणे '' इत्यादि पूर्वार्द्धं व्याख्यातम्।

अथ '' खीरादिपरंपरए '' इति व्याचिख्यासुराह-

एक्केक्कं तं दुविहं, अणंतरपरंपरे य नायव्वं।
अविकारि कयं दव्वं, तं चेव अणंतरं होइ॥

तत् साधुनिमित्तं स्थानम्, एकैकं स्वस्थानपरस्थानगतं द्विविधं ज्ञातव्यम्। तद् यथा-अनन्तरे अन्तराभावे, विकाररूपव्यवधानाभावे इत्यर्थः। परम्परके, विकारपरम्परायामित्यर्थः। तत्र यत् कर्त्रा स्वयोगेनाविकारिभूयोऽसंभवविकारि घृतगुडाऽऽदि, तत्कृतं, न हि तस्य भूयोऽपि विकारः संभवति, तत् साधुनिमित्तं स्थापितमनन्तरस्थापितम्। उपलक्षणमेतत्-तेन क्षीराऽऽदिकमपि यस्मिन् दिने साधुनिमित्तं स्थापितं, यदि तस्मिन्नेव दिने ददाति, तर्हि तदपि दध्यादिरूपं विकारान्तरमनापद्यमानमनन्तरस्थापितं द्रष्टव्यम्। तदेव तु क्षीरं साधुनिमित्तं धृतं सद् दध्यादिरूपतया परिकर्म्यमाणं परम्परास्थापितं भवति। एवमिक्षुरसाऽऽदिकमपि तस्मिन्नेव दिने स्थापितं दीयमानमनन्तरस्थापितम्। कक्कवाऽऽदिरूपतया तु परिकर्म्यमाणं परम्परास्थापितमिति।

सम्प्रति विकारीतराणि द्रव्याणि प्रतिपादयति-

उच्छूखीराईयं, विगारि अविगारि घयगुडाईयं।
परियावज्जणदोसा, ओयणदहिमाइयं वा वि॥

इक्षुक्षीराऽऽदिकं विकारि, तस्य कक्कवाऽऽदिदध्यादिविकार-सहितत्वात्। तथा ओदनदध्यादिकमपि करम्बाऽऽदि रूपं विकारि। कुतः ? इत्याह-पर्यायाऽऽपादनादोषात्। करम्बाऽऽदिकं हि क्रियमाणं नियमात्पर्यापद्यते, कोथमायातीत्यर्थः। ततस्तदपि वि-कारि द्रष्टव्यम्। तदेवं विकारीतराणि द्रव्याण्यभिहितानि।

सम्प्रति क्षीराऽऽदिकं परम्परास्थापितं भावयति-

उब्भट्ठ परिन्नावं, अन्नं लद्धं पओयणे घेत्थी।
रिणभीया व अगारी, दहि त्ति दाहं सुए ठवणा॥
नवणीय मंथु तक्कं, ति जाव अत्तट्ठिया य गिण्हंति।
देसूणा जाव घयं, कुमुणं पि य जत्तियं कालं॥

'' उब्भट्ठं '' केनापि साधुना कस्याश्चिदगारिण्याः सकाशे क्षीरमभ्यर्थितम्। ततस्तया प्रतिज्ञातम्-क्षणान्तरे दास्यामि। साधुना चान्यत्रान्यत् क्षीरं लब्धम्। ततः पूर्वमभ्यर्थितया अगारिण्या दुग्धसंप्राप्तौ सत्यां साधुं प्रति प्रत्यवादि-गृहाण भगवन् ! इदं दुग्धमिति। साधुना चोक्तम्-लब्धमन्यत्र मया दुग्धं, ततो यदि भूयोऽपि प्रयोजनं भविष्यति, ततो (घेत्थी) ग्रहीष्यामि। एवमुक्ते सा अगारिणी ऋणभीतेव स्वयं नो वुभुजे। किं च। एवं चिन्तयामास-इवः कल्ये, दधि कृत्वा दास्यामीति। तत एवं चिन्तयित्वा स्थापयति। ततो द्वितीयदिने दधि जातं, तदपि साधुना न गृहीतं, तद् नवनीतं तक्रं च जातं, नवनीतमपि घृतं कृतम्। इह क्षीराऽऽदिकं सकलमपि स्थापनादोषदुष्टत्वात् साधूनां न कल्पते। यद्वा-क्षीराऽऽदिकं यावद् नवनीतं, मस्तु, तक्रं वा, तावदेतानि सर्वाण्यप्यात्मार्थीकृतानि मा गृह्णीयात् साधुः। कुटुम्बे भविष्यतीत्येवमात्मसत्ताकीकृतानि तु साधवो गृह्णन्ति। घृतं त्वात्मार्थीकृतमपि तेजस्कायाऽऽरम्भादाधाकर्मेति न कल्पते। घृतं च स्थापितं सत् तावत् घटते यावद्देशोना पूर्वकोटी। तथाहि-पूर्वकोट्यायुषा केनापि साधुना वर्षाष्टकप्रमाणेन कस्याश्चित पूर्वकोट्यायुषोऽगारिण्यः पार्श्वे घृतं ययाचे। तयोक्तम्- क्षणान्तरे दास्यामि। साधुना चान्यत्र घृतं लब्धम्। ततः सा ऋण-भीतेव तावद घृतं धृतवती यावत् साधोरायुः। ततो मृते साधौ तदन्यत्रोपयुक्तमिति नास्ति स्थापना। (इह वर्षाष्टकस्याधः पूर्व-कोटेरुपरि च चारित्रं न भवति। चारित्रिणं चाधिकृत्य स्थापनादोषः, ततो देशोना पूर्वकोटीत्युक्तम्) एवं गुडाऽऽदेरप्यविनाशिनो द्रव्यस्य यथायोगं स्थापनाकालपरिमाणं द्रष्टव्यम्।

(कुमुणं पि य त्ति) कुमुणितमपिकरम्बाऽऽदिरूपतया कृतमपि, यावन्तं कालमविनाशनात् कालं, तस्य स्थापना द्रष्टव्या। परतस्तु क्वथितत्वाद् दुष्यते एवेति भावः। तदेवं क्षीराऽऽदिकं परम्परास्थापितमुक्तम्।

साम्प्रतमिक्षुरसाऽऽदिकमपि परम्परास्थापितमाह-

रसकक्कवपिंडगुला-मच्छंडियखंडसक्कराणं च।
होइ परंपरठवणा, अन्नत्थ व जुज्जए तत्थ॥

इह केनापि साधुना किमपि प्रयोजनमुद्दिश्य कोऽपीक्षुरसं याचितः। स प्रतिज्ञातवान् क्षणान्तरे दास्यामि। साधुना चान्यत्रेक्षुरसो लब्धः। पूर्वमभ्यर्थितश्च ऋणभीत इव तमिक्षुरसं कक्कवं करोति, यावत् शर्करेति। एतेषां चेक्षुरसकक्कवाऽऽदीनामुत्तरोत्तरपिण्डगुडाऽऽदिपर्यायाऽऽपादन-पुरस्सरं ध्रियमाणानां स्थापना परम्परस्थापना। एवमन्यत्रापि द्रव्यान्तरे यत्रैव परम्परया स्थापना घटते, तत्र परम्परास्थापना द्रष्टव्या। यावच्च स्थापितस्य नाधाकर्मसंभवः, तावदात्मार्थीकृतं कल्पते। कृतपाकाऽऽरम्भं तु न कल्पते।

सम्प्रति '' हत्थगयघरंतरं जाव '' इति व्याचिख्यासुराह-

भिक्खग्गाही एग-त्थ कुणइ विइउ दोसु उवओगं।
तेण परं उक्खित्ता, पाहुडिया होइ ठविया उ॥

भिक्षाग्राही एकत्रोपयोगं करोति, द्वितीयस्तु द्वयोर्गृहयोः, तत्र त्रिषु गृहेषूपयोगसम्भवे स्थापनादोषो न भवति। गृहत्रयात्परं साध्वर्थ-मुत्पादिता भिक्षा प्राभृतिका स्थापना भवति। उक्तं स्थापनाद्वार-म्। पिं०। स्थाप्यते इति स्थापना। वक्ष्यमाणेनाऽऽरोपणाप्रकारेण शुद्धीभूतेभ्यः सञ्चयमासेभ्यो शेषा मासास्तेषां प्रतिनियतदिवसग्रहणतो व्यवस्थापने, व्य० १० उ०। नि० चू०। (प्रस्थापनाभेदाः ' पच्छित्त ' शब्दे वक्ष्यन्ते) अनुज्ञायाम्, एतच्च पञ्चमं गौणमनुज्ञानाम्। नं०। पर्युषणायाम्, वर्षाकल्पादन्या मर्यादा स्थाप्यते अनयेति व्युत्पत्तेः। नि० चू० १० उ०। (विशेषः ' पज्जुसणा ' शब्दे वक्ष्यते)

ठवणाकप्प-पु०(स्थापनाकल्प) अकल्पस्थापनाकल्प-शैक्षस्था-पनाकल्पोभयरूपे साध्वाचारे, बृ०।

ठवणाकप्पो दुविहो, अकप्पठवणा य सेहठवणा य।
पढमो अकप्पिएणं, आहाराऽऽदी न गिण्हावे॥

स्थापनाकल्पो द्विविधः-अकल्पस्थापनाकल्पः, शैक्षस्थापना-कल्पश्च। तत्राकल्पिकेनानधीतपिण्डैषणाऽऽदिसूत्रार्थेन, आहाराऽऽदिकं न ग्राहयेत्-नाऽऽनाययेत्। तेन नीतं न कल्पत इत्यर्थः। एष प्रथमः-अकल्पस्थापनाकल्प उच्यते।

अट्ठारसे य पुरिसे, वीसं इत्थीउ एस णपुंसा य।
दिक्खेति जो ण एते, सेहट्ठवणाए सो कप्पो॥

अष्टादश भेदाः पुरुषे पुरुषविषयाः, विंशतिः स्त्रियो, दश नपुंस-काः। एतानष्टचत्वारिंशतमतलान् शैक्षान् यो न दीक्षते, स एष कल्प-कल्पवतोरभेदात् शैक्षस्थापनाकल्प उच्यते। बृ० ६ उ०। नि० चू०। पं० भा०।

ठवणाकम्म-न०(स्थापनाकर्म) स्थापनं प्रतिष्ठायनं स्थापना, तस्याः कर्म करणं स्थापनाकर्म। येन ज्ञातेन परमतं दूषयित्वा वमतस्थापना क्रियते तत्स्थापनाकर्मेति भावः। तच्च द्वितीयाङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे प्रथमाध्ययनं पुण्डरीकाऽऽख्यम्। तत्र ह्युक्तम्-अस्ति कश्चित् पुष्करिणी कर्दमप्रचुरजला। तन्मध्यदेशे महापुण्ड-रीकम्। तदुद्धरणार्थं चतसृभ्यो दिग्भ्यश्चत्वारः पुरुषाः सकर्दममार्गे प्रवेष्टुमारब्धाः। ते चाकृततदुद्धरणा एव पङ्के निमग्नाः। अन्यस्तु तटस्थोऽसंस्पृष्टकर्दम एवामोघवचनतया तदुद्धृतवानिति ज्ञातम्। उपनयश्चायम्-अत्र कर्दमस्थानीया विषयाः, पुण्डरीकं राजाऽऽदिर्भव्यपुरुषः, चत्वार पुरुषाः परतीर्थिका, पञ्चमः पुरुषः, साधुः, अमोघवचनं धर्मदेशना, पुष्करिणी संसारः, तदुद्धारो निर्वाणमिति। अनेन च ज्ञातेन विषयाभिष्वङ्गवतामन्यतीर्थिकानां भव्यस्य संसारानुत्तारकत्वं, साधोश्च तद्विपर्ययं वदता आचार्येण परमतदूषणेन स्वमतं स्थापितमतो भवतीति, इदं ज्ञातं स्थापनाकर्मेति। अथवा-आपन्नं दूषणमपोह्य स्वाभिमतस्थापना कार्येत्येवंविधार्थप्रतिपत्तिर्यतो जायते तत् स्थापनाकर्म। यथा किलमालाकारेण केनापि राजमार्गे पुरीषोत्सर्ग-लक्षणापराधापोहाय तत्स्थाने पुष्पपुञ्जकरणेन किमिदमिति पृच्छतो लोकस्य हिङ्गुशिवो देवोऽयमिति वदता व्यन्तराऽऽयतनस्थापना कृतेति। एतस्मात् किलाऽऽख्यानकादुक्तार्थः प्रतीयते। इदं स्थापना-कर्मेति॥ स्था० ४ ठा० ३ उ०।

अधुना स्थापनाद्वारमभिधित्सुराह-

ठवणाकम्मं एक्कं, दिट्ठंतो तत्थ पोंडरीअं तु।
अहवा विसन्नढक्कण-हिंगुसिवकयं उदाहरणं॥ ६६॥

स्थाप्यते इति स्थापना, तया, तस्याः, तस्यां वा कर्मसम्यग-भीष्टार्थप्ररूपणलक्षणा क्रिया स्थापनाकर्म। एकमिति तज्जात्यपेक्षया, दृष्टान्तो निदर्शनम्। तत्र स्थापनाकर्मणि, पौण्डरीकं, तु तुशब्दात्तथाभूतमन्यच्च। तथा च-पौण्डरीकाध्ययने पौण्डरीकं प्ररूप्य प्रक्रिययैवान्यगतनिरासेन स्वमतमवस्थापितमिति। अथ-वेत्यादि पश्चार्द्धं सुगमम्। लौकिकं चेदमिति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्चेदम्- '' जहा एगम्मि णगरे एगो मालायरो सण्णाइओ करंडे पुप्फे घेत्तूण वीहीए एइ। सो अईव अच्चाहिओ, ताहे तेण सिग्घं वोसिरिऊणं, सा पुप्फपिडिगा तस्सेव उवरि पल्हत्थिया। ताहे लोओ पुच्छइ-किमेयं ति जेणित्थ पुप्फाणि छड्डेसि ? ताहे सो भणइ-अहं अलोविओ, एत्थ हिंगुसिवो नाम। एतं तं वाणमंतरं हिंगुसिवं नाम उप्पन्नं। लोएण परिग्गहियं। पूया से जाया। खाइं गयं, अज्ज वि तं पाडलिपुत्ते हिंगुसिवं नाम वाणमंतरं। एवं जइ किं वि उड्डाहं पावयणीयं कयं होज्जा केण वि पमाएण, ताहे तहा पच्छाएयव्वं, जहा पच्चुण्णं पवयणुब्भावणा हवइ। संजाए उड्डाहे जह गिरिसिद्धेहिं कुसलबुद्धीहिं लोयस्स धम्मसद्धा पवयणवण्णेण सुद्ध कया ''। एवं तावच्चरणकरणानुयोगं लोकं चाधिकृत्य स्थापना-कर्म प्रतिपादितम्।

अधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्योपदर्शयन्नाह-

सव्वभिचारं हेउं, सहसा वोत्तुं तमेव अन्नेहिं।
उववूहइ सप्पसरं, सामत्थं चऽप्पणो नाउं॥ ६७॥

सह व्यभिचारेण वर्त्तत इति सव्यभिचारः, तं हेतुं-साध्यधर्मान्वि-याऽऽदिलक्षणं, सहसा तत्क्षणमेव, '' वोत्तुं '' अभिधाय, तमेव हेतुमन्यै-र्हेतुभिरेव, उपबृंहते समर्थयति, सप्रसरमनेकधा स्फारयन् सामर्थ्यं प्रज्ञाबलम्। चशब्दो भिन्नक्रमः। आत्मनश्च स्वस्य च ज्ञात्वा विज्ञाय, चशब्दात्परस्य चेति गाथार्थः॥ ६७॥

भावार्थस्त्वयम्-द्रव्यास्तिकाऽऽद्यनेकनयसंकुलप्रवचनज्ञेन सा-धुना तत्स्थापनाया नयान्तरमतापेक्षया सव्यभिचारं हेतुमभिधाय प्रतिपक्षनयमतानुसारतः तथा समर्थनीयः यथा सम्यगनेकान्तवा-दप्रतिपत्तिर्भवतीति । आह-उदाहरणभेदस्थापनाऽधिकारचिन्तायां सव्यभिचारहेत्वभिधानं किमर्थमिति ? उच्यते-तदाश्रयेण भूयसामुदा-हरणानां प्रवृत्तेः, तदन्वितं चोदाहरणमपि प्राय इति ज्ञापनार्थम् ; अलं प्रसङ्गेन । अभिहितं स्थापनाकर्मद्वारम् । दश० नि० उ० ।

ठवणाकु ल-न०(स्थापनाकुल) प्रतिकृष्टकुले, ध० ३ अधि० । स्थापनाकुलानि निर्विशति । अथवा-यानि लोके गर्हितानि कुलानि स्थापितान्युच्यन्ते, तेषामपरिभोग्यतया जिनैः स्थापितत्वात् , तेभ्य आहाराऽऽदिकमुत्पादयति । व्य० १ उ० ।

इदाणिं ठवणेति-

ठवणाकुलेसु ठविए-सु वारए अलसे णिद्धम्मे ।

अस्या व्याख्या-ठवणापच्छद्धं । ठवणाकुला अतिशयकुला भ-ण्णंति, येष्वाचार्य्याऽऽदीनां भक्तमानीयते, तेसु ठविएसु अलसे णिधम्मे पविसंते, णिवारते, इत्यर्थः । नि० चू० १ उ० । '' सज्ञातरसामगाइकुलाइ ठवणकुलाइ भण्णंति । '' नि० चू० ४ उ० ।

जे भिक्खू ठवणाकुलाइं अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय पुव्वामेव पिंडवायवडियाए अणुपविसइ, अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

(जे भिक्खु ठवणाकुलाइं इति) ठप्पाकुला ठवणाकुला, अभोज्जा इत्यर्थः । साधुठवणाए वा ठविज्जंति त्ति ठवणाकुला, सेज्जातरा इत्यर्थः । पुव्वदिट्ठे पुच्छा, अदिट्ठे गवेसणा । अधवाणामेण वा गोत्तेण वा दिसाए वा पुच्छा, थूभियाइविधेहिं गवेसणा, पूर्वं प्रथमम् , आदावेव । जो पुण पुच्छणगवेसणं करेति, तस्य पूर्वं न भवतीत्यर्थः ।

गाहा-

ठवणाकुला तु दुविधा, लोइय लोउत्तरा समासेण ।
इत्तरिय आवकहिया, दुविधा पुण लोइया होंति ॥ ५९ ॥

समासो संखेवो, लोइया दुविहा-इत्तरिया, आवकहिया य ।

इमे इत्तरिया । गाहा-

सूयगमतगकुलाइं, इत्तरिया जे य होंति णिच्छूढा ।
जे जत्थ जुंगिता खलु, ते होंती आवकधिया तु ॥ ६० ॥

कालावधीए जे ठप्पा कया ते णिच्छूढा, (जे त्ति) कुला, जत्थ विसए, जुंगिता दुगुंछिता, अभोज्जा इत्यर्थः । कम्मेण वा, सिप्पेण वा, जातीए वा । कम्मेणहाणिया, सोहका, मोरपोसगा । सिप्पेहेट्ठण्हविता, तेरिमा, पयकरा, णिल्लेवा, जातीएयाणा, डोंवा, मारेत्तिया य । खलुसद्दोऽवधारणे । ते चेव अण्णत्थ अजुंगिता, जहा सिंधुए णिल्लेवगा ।

इमे लोगुत्तरा । गाहा-

दुविधा लोउत्तरिया, वसधीसंबद्ध एतरा चेव ।
सत्तघरंतर जाव तु, मुत्तूणं वसधिसंबद्धा ॥ ६१ ॥

वसहीए संबद्धा य, असंबद्धा य । वसहीए मोत्तुं सत्तघरा वसहिसंबद्धा, तेसु भत्तं वा पाणं वा घेत्तव्वं ।

इमा असंबद्धा । गाहा-

दाणे अभिगमसड्ढी, संमत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अवियत्ते, एवं इतरे वि णायव्वा ॥ ६२ ॥

अहाभद्दो दाणरुई दाणसड्ढो सम्मद्दिट्ठी गिहीताणुव्वओ अभिगमसड्ढो (सम्मत्ते त्ति) अविरयसम्मद्दिट्ठी । एतेसु एसणादोसा । खलुसद्दो पादपूरणे । (मिच्छत्त त्ति) अभिगहियमिच्छे साहुपडिणीए । ईसालुत्तणेणं मा मम घरं एहि समणं ति भणाइ । अण्णस्स ईसा खलु अत्तणेण चेवसाहू घरं पविसंता अवियत्ता वायाए भणाति न किंचि वि । एतेसु विसगरपंतावणादि दोसा । (इयरे ति) असंबद्धा ॥

गाहा-

एतेसामण्णतरे, ठवणकुलं जो तु पविसतो भिक्खू ।
पुव्वं अपुच्छितेणं, सो पावति आणमादीणि ॥ ६३ ॥

कंठा ।

चोदग आह-लोउत्तरे ठियाणं लोइयठवणपरिहारेण किंच अम्हं ? आचार्य आह-

लोउत्तरम्मि ठविता-ण लोगणिव्वाहिरत्तमिच्छंति ।
लोगजढे परिचत्ता, तित्थविवड्ढी य वण्णो य ॥ ६४ ॥

पुव्वद्धं कंठं । लोगदुगुंछिया जे, ते परिहरंतेण तित्थस्स विवड्ढी कता भवति, (वण्णो त्ति) जसो पभावितो भवति तो भण्णति ।

लोइयठवणकुलेसु गेण्हंतस्स इमे दोसा । गाहा-

अयसो पवयणहाणी, विप्परिणामो तहेव य दुगुंछा ।
लोइयठवणकुलेसुं, गहणे आहारमादीणं ॥ ६५ ॥

अयसो त्ति अवण्णो, पवयणहाणीन कश्चित्प्रव्रजति, संमत्तचरित्ता सेहा विप्परिणमंति, कावालिया इव लोए दुगुंछिता भवति, अस्पृश्या इत्यर्थः । पच्छद्धं कंठं ।

लोउत्तरिएसु दाणाइसड्ढकुलेसु पविसंतस्स इमे दोसा । गाहा-

आयरियबालवुड्ढा, खवगगिलाणा महोदराऽऽएसा ।
सव्वे वि परिचत्ता, जो ठवणकुलाइं णिविसति ॥ ६६ ॥

महोदरोऽयं बह्वाशी, आएसः प्राघूर्णकः, णिआधिक्केणा, विशति निविशति, प्रविशतीत्यर्थः ।

इमं पच्छित्तं । गाहा-

आयरिए य गिलाणे, गुरुगा लहुगा य खमगे पाहुणए ।
गुरुगो य बालवुड्ढे, सेहे य महोदरे लहुओ ॥ ६७ ॥

जो एते ठवणाकुले ण णिविसति, तस्सिमे गुणा । गाहा-

गच्छो महाणुभागो, सबालवुड्ढोऽणुकंपिओ तेण ।

जिनकल्पिकाऽऽदिरत्नानामाकरत्वात् समुद्रवद् महानुभागः, बालवृद्धगिलाणादीनां च साधारणत्वान्महानुभागः, जो तेसु ण णिव्विसति तेण सो गच्छो अणुकंपितो ।

गाहा-

उग्गमदोसा य जढा, जो ठवणकुलाइं परिहरइ ॥ ६८ ॥

उद्गमदोषाश्च परित्यक्ता भवन्ति।

गच्छवासीणं इमा सामायारी। गच्छम्मि गाहा-

गच्छम्मि एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुवद्धे।

कप्पो विधी, एस वासावासे, उडुबद्धे वा।

गामनगरनिगमेसुं, अतिसेसी ठावते सड्ढी॥ ६६॥

गामणगरातिसु विहरंताणं अतिसयदव्वा उक्कोसा, ते जेसु कुलेसु लब्भंति, ते ठावियव्वा, ण सव्वसंघाडगा तेसु पविसंति (सड्ढि त्ति) संजमे सड्ढा जस्स सो सड्ढी, आयरिओ।

मज्जाद गाहा-

मज्जादठावणेणं, पवत्तगा सव्वखेत्तेंआयरिया।

जो तु अम्मज्जातिल्लो, आवज्जति मासियं लहुयं॥ ७०॥

मज्जाया मेरा, ताणं ठवणा, पवत्तगा य सव्वखेत्तेसु आयरिया भवंति। जो पुण आयरिओ मज्जायं ण वेत्ति, ण पवत्तेति वा, सो अमज्जाइल्लो असमायारिणिप्फणं मासलहुं पावति। नि० चू० ४ उ०।

अथ स्थापनामभिधित्सुः प्रस्तावनामाह-

भत्तट्ठिया च खमगा, अमंगलं चोयण जिणाहरणं।

जइ खमगा वंदंता, दासंतियरे विहिं वोच्छं॥ ७४४॥

ते हि साधवः क्षेत्रं प्रविशन्तो भक्तार्थिनो वा भवेयुः, क्षपका वा। यदि क्षपकाः, ततो नोदकस्य नोदना प्रेरणा-यथा प्रथममेव तावदमङ्गलमिदं यदुपवासं प्रत्याख्याय प्रविश्यते। सूरिराह-(जिणा-हरणं) जिनानामुदाहरणं मन्तव्यम्। ते हि भगवन्तो निष्क्रमणसमये प्रायश्चतुर्थादि तपः कृत्वा निष्क्रामन्ति, न च तत्तेषाममङ्गलम्। एवं तत्रापि भावनीयम्। ततश्च यदि ते क्षपकाः, तदा चैत्यानि वन्दमाना एव दर्शयन्ति स्थापनाकुलानि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान्। अथ भक्तार्थिनस्ते, ततः (इयरे त्ति) इतरेषु भक्तार्थिषु यो विधिस्तं वक्ष्ये।

तमेवाऽऽह-

सव्वे दट्ठुं उग्गा-हिएण ओदरि भयं समुप्पज्जे।

तम्हेक्क दोहिंतिहिं वा, उग्गाहिय चेइए वंदे॥ ७४५॥

चैत्यवन्दनार्थं गन्तुकामा यदि सर्वेऽपि पात्रकमुद्ग्राहयेयुः, ततः सर्वान् साधूनुद्ग्राहितेन पात्रकेण दृष्ट्वा महो! औदारिका एते इति श्रावकश्चिन्तयति। भयं च तस्य समुत्पद्यते। यथा-कथमेतावतां मयैकेन दास्यत इति? तस्मादेकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा साधुभिरुद्- ग्राहितपात्रकैः, शेषैः पुनरनुद्ग्राहितपात्रकैः सहिताः सूरयश्चैत्यानि वन्दन्ते।

अथ यद्येकोऽपि साधुः पात्रकं नोद्ग्राहयति, ततः को दोषः? इत्याह-

सद्धाभंगोऽणुग्गा-हियम्मि ठवणाइया भवे दोसा।

घरचेइएँ आयरिए, कइपयगमणं च गहणं च॥ ७४६॥

अथानुद्ग्राहिते पात्रके प्रयान्ति, ततश्चैत्यानि वन्दमानान् दृष्ट्वा कोऽपि धर्मश्रद्धावान् भक्तपानेन निमन्त्रयेत्, तदा यदि भाजनं नास्तीति कृत्वा न गृह्यते, ततः श्रद्धाभङ्गस्तस्योपजायते। अथ ब्रुवतेपात्रं गृहीत्वा यावद्वयमागच्छामः, तावदेवमेव तिष्ठतु, ततः स्थापनाऽऽदयो दोषा भवेयुः। तस्मादुद्ग्राहणीयं पात्रकम्। जिन-गृहेषु च वृन्देन सर्वेऽपि चैत्यानि वन्दित्वा गृहचैत्यवन्दनार्थमाचार्येण कतिपयैः साधुभिः उद्ग्राहितपात्रकैः समं गमनं कर्त्तव्यं, तत्र यदि श्रावकः प्राशकेन भक्तपानेन निमन्त्रयेत्, ततो ग्रहणमपि तस्य कर्त्तव्यम्। बृ० १ उ०।

कानि पुनः कुलानि चैत्यवन्दनं विदधानास्ते (सूरयः) दर्शयन्ति? उच्यते-

दाणे अभिममसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते।

मामाए अवियत्ते, कुलाइं दासिंति गीतत्था॥ ७१॥

रातो दिवसतो वा वाहिट्ठिया वसहीए वा भिक्खं हिंडंता ठवणकुले दासेंति।

दरिसितेसु गुरुणो इमा सामायारी-

दाणे अभिगमसड्ढे, संमत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते।

मामाए अवियत्ते, कुलाइ ठाएंति गीयत्था॥ ७२॥ नि० चू० ४ उ०।

एतानि कुलानि स्थापयन्ति गीतार्थाः, अमीषु प्रवेष्टव्यममीषु तु नेति व्यवस्थापयन्तीत्यर्थः।

अथ न स्थापयन्ति तदा किम्? इत्याह-

दाणे अभिगमसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते।

मामाए अवियत्ते, कुलाइँ अटविंति चउ गुरुगा॥ ७४६॥

एतानि कुलान्यस्थापयतश्चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तम्।

यत एवमतः-

कयउस्सग्गाऽऽमंतण, अपुच्छणे अकहिएगयरदोसा।

ठवणकुलाण य ठवणं, पविसइ गीयत्थसंघाडो॥ ७५०॥

उत्सर्गे-चैत्यवन्दनं विधाय गतानामैर्यापथिकीकायोत्सर्गे कृते, यद्वा-(ओसय त्ति) आवश्यके कृते सर्वेऽपि साधवो गीतार्थरामन्त्रणीयाः-आगच्छत क्षमाश्रमणाः!, आचार्या स्थापनां प्रवर्त्तयिष्यन्ति। इत्थमुक्ते सर्वेऽप्यागम्य (" वा ल्यपि "॥ ६। ४। ३८॥ अनुनानासिकलोपः। आगत्य, आगम्य) गुरुपदकमलमभिवन्द्य रचिताञ्जलयस्तिष्ठन्ति। तत आचार्यैः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्रष्टव्याः-कथयत कानि कुलानि प्रवेष्टयानि, कानि वा नेति? ततस्तैरपि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैर्विधिवत्कथनीयम्। यद्याचार्याः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान्न पृच्छन्ति, ते च पृष्टाः सन्तो न कथयन्ति, ततस्तेषु प्रविशतां ये संयमाऽऽत्मविराधनाऽऽदयो दोषास्तानेकतरे-सूरयः, क्षेत्रप्रत्युपेक्षया वा, प्राप्नुवन्ति। ततः कथिते सति यानि गृहीतमिथ्यात्वमामकावियत्तानि तानि सर्वथैव स्थाप्यानि, यथा नैतेषु केनापि प्रवेष्टव्यम्, यानि तु दानश्राद्धाऽऽदीनि स्थापनाकुलानि तेषामपि स्थापनं कर्त्तव्यम्। कथम्? इत्याह-प्रविशति एक एव गीतार्थसङ्घाटको गुर्वादिवैयावृत्यकरः, तेषु।

इदमेव भावयति-

गच्छम्मि एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुबद्धे।

नामनगरनिगमेसुं, अइसेसी ठावए सड्ढी॥ ७५१॥

वर्षावासे, तथैव ऋतुबद्धे, ग्रामनगरनिगमेषु स्थितानां गच्छे एष कल्पः। कः? इत्याह-अतिशेषाण्यतिशायीनि स्निग्धमधुरद्रव्याणि प्राप्यन्ते येषु तान्यतिशेषाणि (सड्ढि त्ति) दानश्रद्धाव-

न्ति, एवंविधानि कुलानि स्थापयेत्। एकं गीतार्थसङ्घाटकं मुक्त्वा, शेषसङ्घाटकान्न तत्र प्रवेशं कारयेत्।

आह निर्युक्तिकारः-

किं कारणं चमढणा, दव्वखओ उग्गमो वि य न सुज्झे।
गच्छम्मि नियय कज्जं, आयरियगिलाणपाहुणए॥ ७५२॥

किं कारणं को हेतुः ? येन स्थापनाकुलेष्वेक एव सङ्घाटकः प्रविशति ? सूरिराह-(चमढण त्ति) अन्यैरन्यैश्च सङ्घाटकैः प्रविशद्भिस्तानि कुलान्युद्वेगं प्राप्यन्ते। ततश्च द्रव्याणां स्निग्धमधुराणां क्षयो भवति। तदुद्गमोऽपि च न शुद्ध्यति। गच्छे च नियतं निश्चितं प्रायोग्यद्रव्यैः कार्यं भवति। किमर्थम् ? इत्याह-आचार्यग्लानप्राघूर्ण-कानां हेतोरिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथ भाष्यकार एनामेव विवृणोति-

पुव्विं पि वीरसुणिया, भणिया भणिया पहावए तुरियं।
सा चमढणाऐं सिग्गा, नेच्छइ दट्ठुं पि गंतुं जे॥ ७५३॥

''जह काइ वीरसुणिया केणइ पारद्धिएण तित्तिराईणं गहणे छि-क्कारिया समाणी तित्तिराईणि गिण्हइ, पच्छा सा तेहिं सावएण विणा वि छिक्कारेइ, सा वीरसुणिया इतो तओ पहावेइ, जाव न किंचि पेच्छइ, ताहे सा वेयारिया समाणी जइ सो सावयं दट्ठुं पच्छा छिक्कारेइ, तहा वि पयं पि न इच्छइ गंतुं।'' अथ गाथाक्षरयोजनायः शुनिकद्वितीयः शस्त्राद्यपेक्षारहितो मृगयां करोति स वीरः उच्यते। तस्य शुनिकाः, यथा पूर्वमदृष्टेऽपि श्वापदे भणिता छीत्कृता सती (तुरियं) त्वरितमितस्ततः प्रधावति, ततः सा 'चमढणया 'निरर्थकमुद्वेजनया, 'सिग्गा 'श्रान्ता सती, सन्तमपि श्वापदं दृष्ट्वा, पदमपि गन्तुं, 'जे 'इति पादपूरणे, नेच्छति। एष दृष्टान्तः।

अथोपनयस्त्वेवम्-

एवं सड्ढकुलाइं, चमढिज्जंताइं अन्नमन्नेहिं।
नेच्छंति किंचि दाउं, संतं पि तहिं गिलाणस्स॥ ७५४॥

एवममनैव प्रकारेण, श्राद्धकुलानि (चमढिज्जंताइं ति) उद्वेज्यमानानि, अन्यान्यैः-क्षुल्लकस्थविरक्षपकाऽऽदिभिः। यद्वा-(अन्नमन्नेहिं ति) अन्योन्यैः परिफल्गुप्रायैः कारणैः। यथा एकः प्राहग्लानस्य शीर्षं दुष्यति, शर्करां प्रयच्छ। अपरः प्राहममोदरं दुष्यति, दध्नः करम्वेन प्रयोजनम्। तदपरः प्राह-प्राघूर्णक आयातोऽस्ति घृताऽऽदिकं देहि। अन्यः प्राह-अहमाचार्यस्य हेतोरायातोऽस्मि, दुग्धं सशर्करं प्रतिलाभायेत्यादि। ततस्तानि ब्रवीरन्-यूयं सर्व एव ग्लानाः, अतो वयं कियतां प्रयच्छामः ? को वा जानाति-यूयमाचार्याऽऽदीनां हेतोगृह्णीथ, आहोस्विदात्मार्थम्। इत्येवमुद्वेज्यमानानि नेच्छन्ति, सदपि विद्यमानमपि, घृताऽऽदिकं, किञ्चित् स्तोकमात्रमपि, ग्लानस्या, उपलक्षणत्वात्-आचार्यप्राघूर्ण-काऽऽदेरप्यर्थाय दानम्। ततश्च यत्ते ग्लानाऽऽदयः परिताप्यन्ते, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। गत चमढणाद्वारम्।

अथ द्रव्यक्षयोद्गमाशुद्धिकारणमाह-

अन्नो चमढणदोसो, दव्वखओ उग्गमो वि य न सुज्झे।
खीणे दुल्लभदव्वे, नत्थि गिलाणस्स पाउग्गं॥ ७५५॥

अन्योऽपरश्चमढणायां दोषः। कः ? इत्याह-द्रव्यस्थावगाहिमघृ-ताऽऽदेः, कारणमन्तरेणापि दिने दिने गृह्यमाणस्य, क्षयो भवति। ततश्च यद्यभिनवमवगाहिमाऽऽद्रव्यं साधूनामर्थाय करोति, क्रीणाति वा, तत उद्गमोऽपि च न शुद्ध्यति, सदोषत्वात् तदुत्पादितमपि न कल्पत इति भावः। ततः क्षीणे व्यवच्छिन्ने दुर्लभद्रव्ये, प्रयोजने उत्पन्नेऽपि नास्ति ग्लानस्य प्रायोग्यं, ततः परितापमहादुःखाऽऽदिका ग्लानाऽऽरोपणा-द्रव्याभद्रकप्रान्तकृताश्च दोषा भवन्ति।

तानेवाह-

दव्वक्खएण पंतो, इत्थिं घाएइ कीस ते दिन्नं ?
भद्दो हट्ठपहट्ठो, करिज्ज अन्नं पि साहूणं॥ ७५६॥

इह कस्यापि प्रान्तस्य भार्या श्राद्धिका, ततस्तया अन्यान्यसा-धूनां याचमानानां प्रायोग्यं द्रव्यं सर्वमपि प्रदत्तम्। ततस्तस्याः पतिर्भोजनार्थमुपविष्टः सन् ब्रूतेकूरं मे परिवेषय। सा प्राह-साधूनां प्रदत्तः। स प्रतिब्रूयात्-पूपुलिकां तर्हि परिवेषय। सा प्राह-ता अपि प्रदत्ताः। एवं सूपदुग्धदधिप्रभृतीन्यपि साधूनां वितीर्णानि। इत्थं द्रव्यक्षयेण प्रान्तः कुपितः सन् स्वस्त्रियं घातयेत्-कुट्टयेत्। कस्मात्किमर्थं, त्वया तेभ्यः सर्वमपि दत्तमिति कृत्वा ? अत्र पाठान्तरम्-''दव्वक्खएण लुद्ध त्ति'' लुब्धो लोभाभिभूतः, शेषं प्राग्वत्। यस्तु भद्रको गृहपतिः, स श्राद्धिकया सर्वस्मिन्नपि दत्ते, तथैव च कथिते, हृष्टप्रहृष्टो भवति ; हृष्टो-नाम मनसि परितोषवान्। प्रहृष्टस्तु प्रहसि-तवदनः समुद्भूतरोमहर्ष इति। ततश्च 'कुर्यादन्यदपि, अवगाहिमाऽऽदिकं साधूनामर्थाय कारयेदित्यर्थः। एतद्दोषपरिहरणार्थमेकं गीतार्थसङ्घाटकं मुक्त्वा, शेषाः स्थापनाकुलानि न निर्विशेयुः। प्राघूर्णके चाऽऽयाते सति प्राघूर्ण्यं विधेयं, तच्च स्वभावानुमतैरेव भक्तपानैः।

तथा चात्र दृष्टान्तमाह-

जड्डे महिसे चारिं, आसो गोणे य जे य जावसिया।
एएसिं पडिवक्खे, चत्तारि उ संजया होंति॥ ७५७॥

जड्डो हस्ती, महिषाश्वौ प्रतीतौ, गोणो बलीवर्दः। एतेषां ये याव-सिका यवसस्तत्प्रायोग्यमुद्गमाषादिरूप आहारः, तेन तद्भक्षनेन चरन्तीति यावसिकाः, ते अनुकूलां चारीं मानयन्ति। एतेषां जड्डाऽऽदीनां प्रतिपक्षी प्रतिरूपः, पक्षसदृशपक्ष इत्यर्थः। तत्र चत्वारः प्राघूर्णकसंयता भवन्ति। तद्यथा-जड्डसमानो, महिषसमानः, अश्वसमानः, गोसमानश्चेति।

अथामीषामेव व्याख्यानमाह-

जड्डो जं वा तं वा, सुकुमालं महिसओ महुरमासो।
गोणो सुगंधिदव्वं, इच्छइ एमेव साहू वि॥ ७५८॥

जड्डो हस्ती, स यद्वा तद्वा-सकर्कशकटुकाऽऽदिकमप्याहारयति। यस्तु महिषः, स सुकुमारं वंशकरीलाऽऽदिकमभिलषति। अश्वो मधुरं मुद्ग-माषाऽऽदिकमभिकाङ्क्षति। गौर्बलीवर्दःस, स सुगन्धिद्रव्यमर्जुनकग्र-न्थिपर्णाऽऽदिकमिच्छति। एवमेव साधवश्चत्वारश्चतुर्विधं भक्तमिच्छन्ति। ''तत्थ पढमो जड्डसमाणो पाहुणगसाहू भणइमम जं दोसिं पंचाउण्हगं वा कंजियं वा लब्भइ, तं चेव आणेहिः नवरं उदरपूरं। एवं भणिए किं दोसी-

ण चेव आणेयव्वं, न विसेसेण सोहणं तस्स आणेयव्वं। विइओ पाहुणयसाहू भणइ-परं मे नेहरहिया विधूवलिया सुकुमाला होइ। तइओ भणइमहुरं नवरि मे होउ। चउत्थो भणइअन्नं वा पाणं वा निप्पडिगंधं मे आणेह। एवं ताणं भणंताणं जं जोग्गं तं सुड्ढयकुलेहिंतो विसेसियं आणिज्जइ। तं ठविएसु चेव सड्ढयकुलेसु लब्भइ, ता ठविएसुं पाहुन्ने य कीरमाणे महंतो निज्जरालाभो, साहुक्कारो य पावि-ज्जइ। अतो कायव्वं तं जहाविहिं साहूहिं ति।''

आह-यद्येवं तर्हि श्राद्धकुलेषु मा सोऽपि प्रवेशमकार्षीत् , यदा प्राघूर्णकाऽऽदिकार्यं समुत्पन्नं भविष्यति, तदा प्रवेशं करिष्यामः, ततश्च बहुतरमुत्कृष्टं च लप्स्यामहे।

सूरिराह-

एवं च पुणो ठविए, अप्पविसंते इमे भवे दोसा।
वीसरण संजयाणं, विसुक्कगोणीइ आरामे ॥ ७५९ ॥

एवं च तावद्यमढणायां दोषा अभिहिताः। पुनःशब्दो विशेषणा-र्थः। यदि पुनः स्थापनाकुलानि सर्वथैव स्थाप्यन्ते, ततो (ठविए त्ति) सर्वथैव स्थापितेषु अप्रविशतां साधूनामेते दोषा भवेषुः। तद्यथा-विस्मरणं सेवतानां भवति, भिक्षा दातव्येतिनियमाभावात्। अत्र च विशुष्कया गवा, आरामेण च दृष्टास्तः- '' जहा एगस्स चोदधिज्जाइयस्स गोणी-धेणू। सा य पओसपच्चूसेसु कुलवं कुलवं दुद्धस्स य पयच्छेइ। तस्स य दसहिं दिवसेहिं संखडी भविस्सइ। ताहे सो चिंतेइ-एसा यावी ताव बहुयं खीरं देइ, तया य दुल्लहं खीरं भविस्सइ, समयतया अवस्सं कज्जं, तो इयाणिं न दुहामि। तया चेव एक्कसराए दुहिस्सामि, वरं मे दस कुलवा होंतया। पत्ते च संखडिदिवसे महंतं कुंडय गहाय गोणीदुहणट्ठयाए दुक्को जाव विसुक्का, चुलुओ वि नत्थि दुद्धस्स। एवं संजया वि अणल्लियंतो तेसिं सड्ढाणं पम्हुट्ठा न चेव जाणंतिकिं संजया अत्थि, न वा ? ते वि संजया जम्मि दिवसे कज्जं ति भिगया जाव न संति ताणि दव्वाणि; तम्हा दोण्ह वा तिण्ह वा दिवसाणं अवस्सं गंतव्वं।

अहवा आरामदिट्ठंतो-जहा एगो आरामिओ सो चिंतेइमम आरामे पुप्फाणं आढयं दिणे दिणे उट्ठेइ, इंदमहदिवसे अ बहुजणो पुप्फाणं कायओ भविस्सइ, तो मा दिणे दिणे पुप्फाइं उच्चेमि, तद्दिवसं वरं बहूणि पुप्फाणि होंताणि त्ति। पत्ते य इंदमहदिवसे सो पत्थिया उ घेत्तुं गओ, ताव सो आरामो उप्फुल्लो, एगमवि पुप्फं नत्थि। एवं ते यद्दिवसं कज्जमुप्पन्नं तद्दिवसं पविट्ठा ठवणाकुलेसु। ताहे सड्ढा भणंतितुब्भे इहं चिय अत्थंता न मुणह वेलंअम्हं, एए चत्ता वेला अप्पविसंतेसु य न कोइ दंडणं पडिवज्जइ। न वा अणुव्वए गिलाणपाउग्गं वि नत्थि।'' यतश्चैवमतः प्रवेष्टव्यं स्थापनाकुलेषु गीतार्थसंघाटकेन।

स कीदृग्दोषैर्विरहितः ? इत्यत आह-

अलसं घसिरं सुविरं, खमगं कोहमाणमायलोहिल्लं।
कोऊहलपडिबद्धं, वेयावच्चं न कारिज्जा ॥ ७६० ॥

अलसं निरुद्यमं, ग्रसितारं बहुभक्षिणं, सुप्तारं स्वप्नशीलम्। '' शीलाऽऽद्यर्थस्येरः ॥ ८। २। १४५ ॥ इति प्राकृतलक्षणबलादुभयत्रापि तृन्प्रत्ययस्येरादेशः। क्षपकं प्रतीतं (कोहमाणमायालोहिल्लं ति) को धवन्तं, मानवन्तं, मायावन्तं, लोभवन्तम्। सर्वत्रापि मतुप्प्रत्ययः। यथा गोमानिति। (कोऊहल्ल त्ति) मत्वर्थीयप्रत्ययलोपात्कौतूहलिनं, प्रतिबद्धं सूत्रार्थग्रहणसक्तम्। एतान् वैयावृत्यमाचार्यो न कारयेदिति समासार्थः।

अथैनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतः प्रायश्चित्तमाह-

तिसु लहुओ तिसु लहुआ, गुरुओ य लहुस लहुगो य।
पेसगकरिंतगाणं, आणाइ विराहणा चेव ॥ ७६१ ॥

अलसाऽऽदीन् य आचार्यः स्ववैयावृत्त्यर्थं प्रेषयति, व्यापारयतीत्यर्थः। यश्चैभिर्दोषैर्दुष्टः स्वयं वैयावृत्त्यं करोति ; तयोः प्रेषककुर्वतोः प्रायश्चित्तम्। तद् यथात्रिषु अलसबह्वाशिनिद्रासुषु लघुको मासः, त्रिषु क्षपक कोपनाभिमानिषु चत्वारो लघवः, मायावति गुरुको मासः। लोभवति चत्वरो गुरुकाः। कौतूहलवति चत्वारो लघुकाः, सूत्रार्थप्रतिबद्धे लघुमासः। आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः ; विराधना चाऽऽत्मसंयमविषया।

तत्रालसस्वप्नशीलयोजनादोषानाह-

ता अत्थइ ना फिडिओ, सइकालो अलससाविरे दोसा।
गुरुमाई तेण विणा, विराहणुस्सक्कठवणादी ॥ ७६२ ॥

अलसः स्वप्नशीलश्च तावदुपविष्टः शयानो वा आस्ते, यावत् सन् विद्यमानकालः सत्कालः, भिक्षायाः स्फिटितोऽतिक्रान्तः, तदा च पर्यटन्नसौ यद्वा तद्वा भक्तपानं लभते, न प्रायोग्यं, तेन प्रायोग्येण विना या गुर्वादीनामाचार्यबालवृद्धग्लानाऽऽदीनां विराधना तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। यद्वा-अतिक्रान्तायां वेलायामायान्तं वैयावृत्यकरं मत्वा प्रायोग्यस्थानुष्वष्कणं श्राद्धकानि कुर्युः, उत्सुरे तद्विदध्युरिति भावः। यद्वा-तदुपस्कृतं प्रायोग्यं भक्तं स्थापयेयुः, ततः स्थापनादोषः। आदिशब्दात्साधूनामसंविभक्तं भक्तं कथं मुखे प्रक्षिप्यते ? इति बुद्ध्या तेषामभुञ्ज्यमानानामन्तरायाऽऽदयो दोषाः ॥

अप्पत्ते वि अलंभो, हाणी ओसक्कणा य अइभद्दे।
अणहिंडंतो अ चिरं, न लहइ जं किंचि आणेइ ॥ ७६३ ॥

अथ यदेतत् कर्मास्माकं मध्ये समापतितं तन्निर्वाहितं भवत्विति कृत्वा अप्राप्ते काले भिक्षामटति, तदा अलाभोन किमपि प्राप्यते। ततश्चाऽऽचार्याऽऽदीनां हानिरसंस्तरं भवति। यस्तु अतिभद्रकोऽतीव धर्मश्रद्धावान् , गृहयति सोऽवष्वष्कणं, विवक्षितकालादर्वाक् भक्तनिष्पादनं कुर्यात्। यद्वा-असावलसत्वान्निद्रासुत्वाद्वा चिरम-हिण्डमानः सन् किमपि लभते ; यत्किञ्चिद्वा पर्युषितं वल्लचणका-ऽऽदिकं वा आनयति, तेन भुक्तेनापथ्यतया गुर्वादीनां ग्लानत्वं भवति ; ततः परितापमहादुःखाऽऽदिका ग्लानाऽऽरोपणा।

अय ' घसिर त्ति ' पदं भावयति-

गिण्हामि अप्पणो ता, पज्जत्तं तो गुरूण घित्थामि।
घेत्तुं च तेसि घेत्थं, सीयलओसक्क ओमाई ॥ ७६४ ॥

यो महोदरः से वैयावृत्त्ये नियुक्तो भिक्षामटन् चिन्तयति-गृह्णामि तावदात्मनो योग्यं पर्याप्तं, ततो गुरूणां हेतोर्ग्रहीष्यामि। यद्वा-तेषां गुरूणां योग्यं गृहीत्वा, तत आत्मनो अर्थाय ग्रहीष्ये, इत्थं विचिन्त्य यदि प्रथमं गुरूणां योग्यं गृहीत्वा पश्चादात्मार्थं गृह्णन्ति, ततो यावता कालेनाऽऽत्मना पूर्यते, तत्पर्याप्तं भवति, तावता स्थापनाकुलेसु वेलाऽतिक्रमो भवेत्।

अथ वेलाऽतिक्रमभयाद्देशक एव तेषु प्रविशति, तत आत्मनोऽवशं भवेत्, उदरपूरणं न भवेदिति भावः। ततश्चैवमाहारतया तस्यैव अनागाढपरितापनाऽऽदयो दोषाः।

अथ क्षपकक्रोधवतो दोषानाह-

परिताविज्जइ खमओ, अह गिण्हइ अप्पणो इयर-हाणी।
अविदिन्ने कोहिल्लो, रूसइ किं वा तुमं देसि ? ॥ ७६५ ॥

यदि क्षपको गुरूणां हेतोः प्रायोग्यं गृह्णाति, नाऽऽत्मनः, ततः स एव परिताप्यते। अथाऽऽत्मनो गृह्णाति, तत इतरेषामाचार्याणां, हानिः परितापना। यस्तु क्रोधवान्, सोऽवितीर्णे-अदत्ते सति रुष्यति। रुष्टश्चागारिणं भणति-यदि भवान् न ददाति, तर्हि मा दा त्। किं भवदीयं गृहं दृष्ट्वाऽस्माभिः प्रव्रज्या प्रतिपन्नेति ? किं वा त्वं ददासि, येनैवमहं ददामीति गर्वितो भवसि ? इत्यादिभिर्दुर्वचनैः सार्द्धं विपरिणमयति।

मानिमायिनोर्दोषानाह-

ऊणाणुट्ठमदिन्ने, यद्धो न य गच्छए पुणो जं वा।
माई भद्दगभोई, पंतेण व अप्पणो छाए ॥ ७६६ ॥

यः स्तब्धः मानी, स ऊने तुच्छे दत्ते, (अणुट्ठ त्ति) अभ्युत्थाने वा अकृते (अदिन्न त्ति) सर्वथैव वा अदत्ते सति, पुनर्भूयः, तदीयं गृहं न गच्छति। भणति च-श्रावकाणामितरेषां च को विशेषः ? यदि द्वितयेऽपि साधूनामभ्युत्थानाऽऽदिविनयप्रक्रियामन्तरेण भिक्षां प्रवच्छन्ति ? ततो नाहममुष्य गृहं भूयः प्रविशामीति। ततो (जं व त्ति) तद्गृहिप्रवेशं विना प्रायोग्यस्यालाभे यत्किञ्चिदाचार्याऽऽदीनां परितापनाऽऽदिकं भवति, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। यस्तु मायी भद्रकभोजी, प्रायोग्यमुपाश्रयाद्बहिर्भुक्त्वा प्रान्तमानयतीति भावः। यद्वाप्रान्तेन वल्लचणकाऽऽदिना, आत्मनो योग्यं स्निग्धमधुर-द्रव्यं छादयति, छादयित्वा च गुरूणां दर्शयति।

लुब्धस्य दोषामाह-

ओभासइ खीराई, दिज्जंते वा न वारई लुद्धो।
जेऽणेगविसुणदोसा, एगस्स वि ते उ लुद्धस्स ॥ ७६७ ॥

यो लुब्धः सन् स्थापनाकुलेषु क्षीराऽऽदीन्यवभाषते। यद्वाश्रद्धातिरेकतस्तैर्दीयमानानि स्निग्धमधुराणि न वारयति, ततश्च येऽनेकेषु स्थापनाकुलं ; प्रविशत्सु चमढणाऽऽदयो दोषा वर्णिताः, ते सर्वेऽप्येकस्यापि लुब्धस्य प्रवेशतो द्रष्टव्याः।

कुतूहलिनः सूत्रार्थप्रतिबद्धस्य च दोषामाह-

नडमाई पिच्छंतो, ता अत्थइ जाव फिडुई वेला।
सुत्तत्थे पडिबद्धो, ओसक्कऽभिसक्कमाईया ॥ ७६८ ॥

या कुतूहली, स नटाऽऽदीन् प्रेक्षमाणस्तावदास्ते, यावद्वेला स्फिटति। यस्तु सूत्रे अर्थे वा प्रतिबद्ध आसक्तः, स गुरूणां धर्मकथाऽऽदिव्यग्रतया यदैवान्तरं लभते, तदैवाप्राप्तकालेऽपि भिक्षार्थमवतरति। वेलाऽतिक्रमं वा कृत्वाऽकालवेलाऽऽदावतरति, ततोऽवष्वष्कणाभिष्वष्कणाऽऽदयो दोषाः।

यतश्चैवमतः किं कर्त्तव्यमिति ? आह-

एसद्दोसविमुक्कं, कडजोगिं नायसीलमायारं।
गुरुभत्तिमं विणीयं, वेयावच्चं तु कारेज्जा ॥ ७६९ ॥

एभिरनन्तरोक्तैः, दोषैर्विमुक्तं वर्जितम्। किं विशिष्टम् ? इत्याह-कृतयोगिनं गीतार्थम्। ज्ञातशीलाऽऽचारम्-ज्ञाते सम्यगवगते, शीलं प्रियधर्मताऽऽदिरूपम्, आचारश्चक्रवालसामाचारीरूपो यस्य स तथा, तम्। तथा गुरव आचार्याः, तेषु भक्तिमन्तमान्तरप्रतिबन्धोपेतम्। विनीतमभ्युत्थानाऽऽदिबाह्यविनयवन्तम्। एवंविधं शिष्यं वैयावृत्त्यमाचार्यः कारयेत् (''हृक्रोरन्यतरस्याम्'' ॥ १। ४। ५३ ॥ (पाणि०) हृक्रोरणौ यः कर्ता स णौ कर्म वा स्यात्।'' हृक्रोर्नवा'' ॥ २। २। ८॥ (हैम०) हृक्रोरणिक्कर्ता णौ कर्म वा स्यात्।)

आह-किमर्थं वैयावृत्त्यकरस्येयन्तो गुणा मृग्यन्ते ?

उच्यते-

साहंति य पियधम्मा, एसणदोसे अभिग्गहविसेसे।
एवं तु विहिग्गहणे, दव्वं वड्ढंति गीयत्था ॥ ७७० ॥

प्रियधर्माणः, उपलक्षणत्वादपरैरप्यनन्तरोक्तगुणैर्युक्ता वैयावृत्त्यकराः (साहंति त्ति) कथयन्ति, एषणादोषान्-म्रक्षितनिक्षिप्ताऽऽदीनि। यथाइत्थं म्रक्षितदोषो भवति, इत्थं तु निक्षिप्त इत्यादि। एतैश्च दोषैर्दुष्टं साधूनां न दीयते। अभिग्रहविशेषांश्च जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकसंबन्धिनः, कथयन्ति। एवम्-उक्तेन विधिना, स्थापनाकुलेषु ग्रहणे, श्रद्धां वर्द्धयन्तो गीतार्थाः, द्रव्यमपि घृताऽऽ-दिकं वर्द्धयन्ति।

इदमेव भावति-

एसणदोसे व कए, अकए वा जइगुणविकत्थंता।
कहयंति असढभावा, एसणदोसे गुणे चेव ॥ ७७१ ॥

एषणादोषे म्रक्षिताऽऽदौ, कृते वा अकृते वा, यतिगुणान् क्षान्तिमार्दवाऽऽदीन्, विकत्थमानाः-विविधं श्लाघ्यमानाः, अशठभावाः कैतववर्जिताः, न भक्षणोपायनिमित्तमिति भावः। एषणादोषान् कथयन्ति। तथा गुणाः-साधूनां प्राशुकैषणीयभक्तपानप्रभवाः पापकर्मनिर्जराऽऽदयः, तांश्च, गीतार्थाः कथयन्ति। यथा-''समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? गोयमा ! एगंतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य सो पावकम्मे कज्जइ त्ति''।

अथेत्थं न कथयेयुः, ततः के दोषा इति ? आह-

बालाई परिचत्ता, अकहिंतेऽणेसणाइगहणं वा।
न य कहपबंधदोसा, अह य गुणा साहिया होंति ॥ ७७२ ॥

तेषु श्राद्धकुलेषु जिनकल्पिका भिक्षार्थमायाताः, तेषां परमान्नाऽऽदिकं लेपकृतमुपनीतं, तैश्च भगवद्भिः प्रतिषिद्धम्। ततस्तानि श्राद्धकानि चिन्तयेयुः-'एत एव प्रधानाः साधवः, इतरे तु स्निग्धमधुरद्रव्यग्राहिणः सर्वेऽपि नामधारकमात्राः साध्वाभासा एवं इति। ततः श्रद्धाभङ्गभाजितानि भूयः प्रायोग्यद्रव्यं नोपढौकयेयुः। एवमभिग्रहविशेषानकथयद्भिर्गीतार्थैर्बालाऽऽदयः परित्यक्ता भवन्ति। अनेषणातो दोषान्, शुद्धभक्तपानदानस्य च गुणान्न कथयेयुः, ततस्तानि श्राद्धकान्यनेषणां कुर्युः। तत्र च यदि प्रतिषिध्यति, तदाऽपि बालाऽऽदयः परित्यक्ता ; तेषां प्रायोग्याभावे संस्तरणाभावात्। अथ न प्रतिषिध्यते, ततोऽनेषणाऽऽदिग्रहणं भावयेत्। आदिशब्द एष-

णादोषाणामेव स्वगतानेकभेदसूचकः । आह-गोचरप्रविष्टानां साधूनां कथाप्रबन्धः कर्तुं न कल्पते । अमी च साधव इत्थमेषणादोषाऽऽदीनां कथाप्रबन्धतः कथं न दोषभाजो भवन्तीति ? उच्यते-न च नैवात्र, कथाप्रबन्धदोषा भवन्ति । यदिह भक्तपानलोलुपतया कथां प्रबध्नीयुः, ततो भवेयुर्दोषाः, तच्च नास्ति, एषणाशुद्धिहेतोरेव तेषामित्थं कथनात् । अथ च प्रत्युतैत्थं कथयद्भिस्तैर्गीतार्थैर्गुणाः-बालवृद्धाऽऽद्युपष्टम्भगुरुप्रभृतयः, साधिता भवन्ति ।

कथं पुनस्ते कथयन्ति ? इत्याह-

ठाणं गमणागमणं, वावारं पिंडसोहिमुल्लोगं ।
जाणंताण वि तुब्भं, बहुवक्खेवाण कहयामो ॥ ७७३ ॥

स्थानं नाम-आत्मप्रवचनसंयमोपघातवर्जितो भूभागः । यत्र स्थितस्य गवाश्वमहिषाऽऽदेराहननाऽऽदि न भवति, स आत्मोपघातवर्जितः । यत्र तु निर्द्धमनाऽऽद्यशुचिस्थानव्यतिरिक्ते प्रदेशे स्थितस्य लोकः प्रवचनस्यावर्णं न ब्रूयात्, स प्रवचनोपघातवर्जितः । यत्र पुनः पृथिव्यादिकायानां विराधना न भवति, स संयमोपघातवर्जितः । गमनं, गच्छता षट्कायानामुपमर्दनं कुर्वता न गन्तव्यम् । एवमागमनमपि, भिक्षां गृहीत्वा साधुसंमुखमागच्छता दायके नोपयुक्ते नाऽऽगन्तव्यम् । व्यापारः कर्त्तनकण्डनपेषणाऽऽदिकः । तं च सम्यग् ज्ञापयन्तिईदृशे व्यापारे भिक्षा ग्रहीतुं कल्पते, ईदृशे तु नेति । पिण्डशुद्धेरुल्लोकं लेशोद्देशं कथयन्ति-इत्थमाधाकर्माऽदयो दोषा उपजायन्ते ; इत्थमेभिर्दोषैरदुष्टः पिण्डः साधूनां दीयमानः शुद्धो बहुफलश्च भवतीत्येवंपिण्डनिर्युक्तिलेशतो ज्ञापयन्तीति भावः । तथा यद्यपि यूयमिदं साधुधर्मरूपमग्रेऽपि जानीथ, तथाऽपि युष्माकं बहुव्याक्षेपाणामविस्मरणार्थं कथयाम इति ।

अपि च-

केसिंचि अभिग्गहिया, अणभिग्गहिएसणा य केसिंचि ।
मा हु अवन्नं काहिह, सव्वे वि हु ते जिणाणाए ॥ ७७४ ॥

केषाञ्चित्साधूनाम्, अभिगृहीता एषणा । यथा-जिनकल्पिका-नाम् । केषाञ्चित्तु अनभिगृहीता । यथा-गच्छवासिनाम्, सप्तस्वपि एषणासु तेषां भक्तपानस्य ग्रहणात् । एवं चापरां भक्तपानग्रहणसामाचारीं दृष्ट्वा यूयं मा अवज्ञां करिष्यथ । कुतः ? इत्याह-सर्वेऽपि ते भगवन्तो जिनकल्पिकाः स्थविरकल्पिकाश्च, जिनाऽऽज्ञायां वर्तन्ते, स्वस्वकल्पस्थितिपरिपालनात् । अतो न केऽप्यवज्ञातुमर्हन्तीति भावः ।

किं च-

संविग्गभावियाणं, लुद्धगदिट्ठंतभावियाणं च ।
मुत्तूण खेत्तकाले, भावं च कहिंति सुद्धंछं ॥ ७७५ ॥

येषां श्राद्धानां पुरत एषणादोषाः कथ्यन्ते, ते द्विधासंविग्नभाविताः, लुब्धकदृष्टान्तभाविताश्च । संविग्नैरुद्यतविहारिभिर्भाविताः संविग्नभाविताः । ये तु पार्श्वस्थाऽऽदिभिर्लुब्धकदृष्टान्तेन भावितास्ते लुब्धकदृष्टान्तभाविताः । कथमिति चेत् ? उच्यते-पार्श्वस्थाः श्राद्धानित्थं प्रज्ञापयन्ति । यथा-कस्यापि हरिणस्य पृष्ठतो लुब्धको धावति, तस्य हरिणस्य पलायनं श्रेयः ; लुब्धकस्यापि तत्पृष्ठतो-ऽनुधावनं श्रेयः । एवं साधोरप्यनेषणीयग्रहणतः पलायितुमेव युज्यते; श्रावकस्यापि तेन तेनोपायेन साधोरेषणीयमनेषणीयं वा दातुमेव युज्यते इति । इत्थं द्विविधानामपि श्राद्धानां पुरतः शुद्धं द्वाचत्वारिंशद्दोषरहितं, यदुञ्छमिवोञ्छंस्तोकस्तोकग्रहणात्, तच्छुद्धोञ्छम्, उत्सर्गपदमित्यर्थः । तत्कथयन्ति । किं सर्वदैव ? नेत्याह-मुक्त्वा क्षेत्रकालौ, भावं चेति । क्षेत्रं कर्कशक्षेत्रमध्वानं वा, कालं दुर्भिक्षाऽऽदिकं, भावं ग्लानत्वाऽऽदिकं प्रतीत्य, ते श्राद्धाः किञ्चि-दपवादमपि ग्राह्यन्ते ।

अपि च-इदमपि ते श्राद्धा ज्ञापनीयाः-

संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गिण्हंतदिंतयाणऽहियं ।
आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥ ७७६ ॥

संस्तरणं नाम-प्राशुकमेषणीयं वा अशनाऽऽदि पर्याप्तं प्राप्यते, न च किमपिग्लानत्वं विद्यते; तत्राशुद्धम्-अप्राशुकमनेषणीयं च, गृह्णतो ददतश्च, द्वयोरपि, अहितमपथ्यम् ; गृह्णतः संयमबाधाविधायित्वात् । ददतस्तु भवान्तरे स्वल्पायुर्निबन्धकर्मोपार्जनात् । तदेवाशुद्धम्, असंस्तरणे अनिर्वाहे, दीयमानं च हितं पथ्यं भवति । आह-कथं यदेवाकल्प्यं, तदेव च कल्प्यं भवितुमर्हतीति ? उच्यते-आतुरो रोगी, तस्य दृष्टान्तेनेदं मन्तव्यम् । यथा हि-रोगिणः कामप्यवस्थामाश्रित्य अन्नौषधाऽऽदिकमपथ्यं भवति, काञ्चित्पुनः समाश्रित्य तदेव पथ्यम् ; एवमिहापि भावनीयम् । तदेव भावितम्- '' साहंति य पियधम्मा, एषणदोसे अभिग्गहविसेसे । '' (७७० गाथा) इति ।

अथ यदुक्तम्-(एवं तु विहिग्गहणे त्ति) तत्र विधिग्रहणं भावयति-

संचइयमसंचइयं, नाऊण असंचयं तु गिण्हंति ।
संचइयं पुण कज्जे, निव्वंधे चेव संतरितं ॥ ७७७ ॥

प्रायोग्यद्रव्यं द्विधा-सञ्चयिकमसञ्चयिकं च । सञ्चयिकंघृतगुडमोदकाऽऽदि । असञ्चयिकं तुदुग्धदधिशालिसूपाऽऽदि । तत्र यदसञ्चयिकं, तत् स्थापनाकुलेषु प्रभूतं ज्ञात्वा गृह्णन्ति । सञ्चयिकं पुनर्ग्लानप्राघूर्णकाऽऽदौ महति कार्ये उत्पन्ने गृह्णन्ति । अथ श्राद्धानां महानिर्बन्धो भवति, ततोऽग्लाना अपि गृह्णन्ति, परं सान्तरितम् ; न दिने दिने इति भावः । एष सञ्चयिकग्रहणस्यापवाद उक्तः ।

अथापवादस्यापवादमाह-

अहवण सड्ढाविभवे, कालं भावं च बालबुड्ढाई ।
नाउ निरंतरगहणं, अछिन्नभावे य ठायंति ॥ ७७८ ॥

'' अहवण त्ति '' अखण्डमव्ययं प्रकारान्तरद्योतनार्थम् । श्रावकाणां श्रद्धां दानरुचिं तीव्रां परिज्ञाय, विभवं च विपुलतरं तदीयगृहेऽवगम्य, कालं दुर्भिक्षाऽऽदिकं, भावं च ग्लानत्वाऽऽदिकं, ज्ञात्वा, बालवृद्धाऽऽदयो वा आप्यायिता भवन्तीति ज्ञात्वा, निरन्तर-ग्रहणमपि कुर्वन्तिः सञ्चयिकमपि दिने दिने गृह्णन्तीति भावः । यावच्च दायकस्य दानभावो न व्यवच्छिद्यते, तावदच्छिन्ने भावे तिष्ठन्ति ; दीयमानं प्रतिषेधयन्तीत्यर्थः । यथा तेषां भूयोऽपि श्रद्धा जायते ।

अथ स्थापनाकुले भक्तपानग्रहणे सामाचारीमभिधित्सुराह-

दव्वपमाणं गणणा, खारिय फोडिय तहेव अद्धा य ।
संविग्ग एगठाणे, अणेगसाहूसु पन्नरस ॥ ७७९ ॥

द्रव्यं शाल्यादि, तस्य प्रमाणं ज्ञातव्यम्-कियदत्र गृहे रसवत्यां शालिमुद्गाऽऽदि दिने दिने प्रविशति ? गणना नामकियन्ति घृतपलान्यत्र प्रविशन्ति। यद्वा-कियन्ति मानुषाण्यत्र जेम(य)न्ति। क्षारो लवणं, तेन संस्कृतानि क्षारितानिकरीराऽऽदीनि व्यञ्जना-नि, तानि कियन्त्यत्र पच्यन्त इति ? (फोडिय त्ति) स्फोटितानि मरिचजीरकाऽऽदिकटुभाण्डधूपितानि शालनकानि। एतेषामपि तथैव प्रमाणं ज्ञातव्यम्। अद्धा कालः, स ज्ञातव्यः-किमत्र प्रहरे वेला, उत सार्द्धप्रहरे, आहोस्वित्प्रहरद्वये इति। एतद् द्रव्यप्रमाणा-ऽऽदि विज्ञाय संविग्नो मोक्षाभिलाषी। (एगठाणे त्ति) एकः संघाटकः, तत्र प्रविशति। यदि पुनरनेके साधवः स्थापनाकुलेषु प्रविशन्ति, ततः पञ्चदशाऽऽधाकर्माऽऽदयोऽनिसृष्टान्ता उद्गमदोषा भवन्ति, अध्यवपूरकस्य मिश्रजातएवान्तर्भावात्। एष संग्रहगाथासमासा-र्थः।

अस्या एव भाष्यकृद् व्याख्यानमाह-

असणाइदव्वमाणे, दसपरिमिएँ एगभत्तमुव्वरति।
सो एगदिणं कप्पइ, निच्चं तुऽज्झोयरो इहरा (''सो एगदिणं कप्पतिऽणेकंतिएँ ओदरो इहरा।'' इति प्राचीनपुस्तकस्थ-पाठः)॥ ७८०॥

अशनमोदनमुद्गाऽऽदि, आदिग्रहणात्पानकखादिमस्वादिमपरिग्रहः। एतेषां द्रव्याणां परिमितानामपरिमितानां च मानं प्रमाणं ज्ञातव्यम्। यत्र परिमितमशनाऽऽदि द्रव्यं प्रविशति, तत्र दशानां मानुषाणां हेतोरुपकरिष्क्रियमाणे, एकस्यापरस्य योग्यं भक्तं भक्ता-र्थमुद्वरति। स च भक्तार्थ एकस्य साधोः परिपूर्णाऽऽहारमात्ररूप एकं दिनं ग्रहीतुं कल्पते। इतरथा यदि द्वितीयाऽऽदिदिवसेषु गृण्हन्ति, तदा(निच्चं तु त्ति) स साधुभिः प्रतिदिवसं गृह्यमाणो भक्तार्थो नित्यजेमनमेव तैः श्राद्धैर्गण्यते, ततश्च तदर्थमध्यवपूरकः प्रक्षिप्येत। एवं तावत्परिमितमाश्रित्योक्तम्।

अथापरिमितमधिकृत्याऽऽह-

अपरिमियारद्धेण वि, दसण्हमुव्वरइ एगभत्तट्ठो।
वंजणसमितिमपिट्ठे, वेसणमाईसु य तहेव॥ ७८१॥

यत्र पुनरपरिमितं राध्यते, तत्र दशानां मानुषाणामर्वागपि नवाष्टाऽऽदिसङ्ख्याकानामपि हेतोः, राद्धे, एकस्य योग्यो भक्तार्थ उद्वरति। स च दिने दिने कल्पत इति। आह च चूर्णिकृत्- ''अपरिमिए पुण भत्ते, दसण्हहारेण वि एगस्स भत्तट्ठो दिणे दिणे कप्पइ चेव।'' तथा व्यञ्जनानि तीमनवटिकाभर्जिकाऽऽदीनि। (समितिम त्ति) समिता कणिका, तया निष्पन्नाः, समितिमाः-मण्डकाः, पूपुलिका वा, पिष्टं मुण्डेरकाऽऽदि। सक्तुप्रभृति वा। (वेसणं) मरिचजीरकहिङ्गुप्रभृतिकं कटुभाण्डम्। आदिग्रहणाल्लवणशुण्ठ्यादिपरिग्रहः। एतेषामपि परिमाणं तथैव द्रष्टव्यं, यथा अशनाऽऽदीनाम्। एतावता द्रव्यप्रमाणं गणना क्षारितस्फोटितानीति गाथादलं भावितम्।

अथ ''अद्धा य त्ति'' पदं व्याचष्टे-

सतिकालद्धं नाउं, कुले कुले ताहि तत्थ पविसंति।
ओसक्कणाइ दोसा, अलंभें बालाइहाणी य॥ ७८२॥

सत्कालाद्धाभिक्षायाः संबन्धी यः, तत्र देशकालरूपोऽद्धा, तं ज्ञात्वा, कुले कुले, तस्मिन् देशे, तत्र काले, प्रविशन्ति। अथ देशकाले अतिक्रान्तेऽप्राप्ते वा प्रविशन्ति, ततोऽवष्वष्कणाऽऽदयो दोषाः। अथावष्वष्कणाऽऽदिकं तानि श्राद्धकान्यशुद्धदानदोषश्रवणव्युत्पन्नमतीनि न कुर्युः, ततः प्रायोग्यद्रव्यस्यालाभे बालाऽऽदीनां हानिर्भवेदिति।

एगो व होज्ज गच्छो, दोन्नि व तिन्नि ठवणा असंविग्ग।
सोही गिलाणमाई, असईइ दवाइ एमेव॥ ७८३॥

विवक्षितक्षेत्रे एको वा गच्छो भवेत्, द्वौ वा, त्रयो वा। तत्रैकं गच्छमाश्रित्य विधिरुक्तः। अथ द्व्यादीन् गच्छानधिकृत्य विधिरभिधीयते-(ठवणा असंविग्गे त्ति) येषु असंविग्नाः प्रविशन्ति, तेषां श्राद्ध-कुलानां स्थापना कर्त्तव्या। न तेषु प्रवेष्टव्यम्। अथ प्रविशन्ति,ततः पञ्चदशोद्गमदोषानापद्यन्ते। (सोहि त्ति) तद्दोषनिष्पन्ना शोधिः प्रायश्चित्तम्। यद्वा-''सोहि त्ति पदं गिलाणमाई'' इत्युत्तरपदेन सह योज्यते। अतोऽयमर्थः-ग्लानप्राघूर्णकाऽऽदीनामर्थाय, असंविग्नभावितेष्वपि कुलेषु शोधिरेषणाशुद्धिः; तया शुद्धं भक्तं गृह्यते, न कश्चिद्दोषः। ''(असई दवाइ एमेव त्ति)'' अन्यत्रासति अविद्यमाने, द्रवाऽऽदिकमप्येवमेवअसंविग्नभावितकुलेषु ग्रहीतव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवरीषुराह-

संविग्गमणुन्नाते, अतिंति अहवा कुले विरंचिंति।
अण्णातुंच्छं च सहू, एमेव य संजईवग्गे॥ ७८४॥

इह यैस्तत् क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं, तेषु पूर्वस्थितेषु ये अन्ये साधवः समायान्ति, ते साम्भोगिकाः, असाम्भोगिकाश्च। तत्र चासाम्भोगि-केषु संविग्नेषु विधिरुच्यते-संविग्नैर्वास्तव्यसाधुभिः, अनुज्ञाते पूर्वस्थापनाकुलेषु, 'प्रविशत, वयमज्ञातोञ्छं गवेषयिष्यामः, इत्येवमनुज्ञायां प्रदत्तायामागन्तुकाः संविग्नाः स्थापनाकुलेषु (अतिंति त्ति) प्रविशन्ति। वास्तव्यास्तु स्थापनाकुलवर्जेषु गुरुबालवृद्धाऽऽदीनामात्मनश्च हेतोर्भक्तपानमुत्पादयन्ति। अथवा वास्तव्या असहिष्णवः, ततो यावन्तो गच्छाः, तावद्भिर्भागैः स्थापनाकुलानि विरचयन्ति-आर्याः! एतावत्सु कुलेषु भवद्भिः प्रवेष्टव्यम्, एतावत्सु पुनरस्माभिरिति। अथवा यद्यागन्तुकाः (सहू इति) सहिष्णवः समर्थशरीराः, ततोऽज्ञातोञ्छं गवेषयन्तः पर्यटन्ति। एवमेव च संयतीवर्गेऽपि द्रष्टव्यम्। ता अपि द्व्यादिगच्छसद्भावे एवंविधमेवंविधं कुर्वन्तीत्यर्थः।

एवं तु अण्णसंभो-इआण संभोइआण ते चेव।
जाणित्ता निव्वंधं, वत्थव्वेणं स तु पमाणं॥ ७८५॥

एवं तुः पुनरर्थे, एवं पुनर्विधिरन्यसाम्भोगिकानामुक्तः ये तु साम्भोगिकाःपरस्परमेकसामाचारीकाः, तेषामागन्तुकानामर्थाय त एव वास्तव्याः स्थापनाकुलेभ्यो भक्तपानमानीय प्रयच्छन्ति। अथ श्राद्धाः प्राघूर्णकभद्रका अतीव निर्बन्धं कुर्युः। यथा-प्राघूर्णकसंघाटकोऽप्यस्मद्गृहे प्रस्थापनीयः। ततो निर्बन्धं ज्ञात्वा, वास्तव्यसंघाटकेनाऽऽगन्तुकसंघाटकं गृहीत्वा तत्र गन्तव्यम्। यदि च-तत्र प्रचुरप्रायोग्यं प्राप्यते, तत आगन्तुकसंघाटकेन गवेषणा न कर्त्तव्या। यथा-किमित्येतावत्प्रचुरं दीयते ? किं तु, (स तु) स एव वास्तव्यसंघाटकः, तत्र प्रमाणं यावन्मात्रं ग्रहीतव्यम्, यद्वा कल्पनीयं, तदेतत्सर्वमपि स एव जानातीति भावः। एष एकस्यां वसतौ स्थितानां विधिरुक्तः। बृ० १ उ०। ओघ०।

अथ पृथग्वसतिव्यवस्थितानामाह-

असइ वसहीऍं वीसुं, रायणिए वसहिभोयणा गम्मा (गतुं, इति प्राचीनपुस्तक पाठः)।

असहू अपरिणया वा, ताहे वीसुं सहू वियरे ॥ ७८६ ॥

विस्तीर्णाया वसतेरसत्यभावे, विष्वक् पृथग्, अन्यस्यां वसतौ स्थितानाम्, आगन्तुको वास्तव्यो वा यो रत्नाधिक आचार्यः, तस्य वसतावागम्यावमरत्नाधिकेन भोजनं कर्त्तव्यम्। अथैकस्मिन् गच्छे, द्वयोर्वा गच्छयोरसहिष्णवो ग्लाना भवेयुः ; अपरिणता वा शैक्षाः-परस्परमिलिताः सन्तोऽसंखडं कुर्युः, तदा (वीसुं ति) अपरिणतान् पृथक् पृथग् भोजयन्ति। (सहू वियरे त्ति) अकारप्रश्लेषादसहिष्णूनां प्रथमालिकां वितरन्ति प्रयच्छन्ति, ततोऽपरिणतान् वसतौ स्थापयित्वा कृतमालिकान् सहिष्णून् गृहीत्वा, सर्वेऽपि रत्नाधिकवसतौ गत्वा मण्डल्यां भुञ्जते।

अथ वोत्तरार्द्धमन्यथा व्याख्यायते-(असहू इति) यद्यवमरत्नाधिक आचार्यः स्वयमसहिष्णुर्न शक्नोति रत्नाधिकाऽऽचार्यसन्निधौ गन्तुं, न वा तावन्तीं वेलां प्रतिपालयितुं शक्तः, अपरिणता वा अगीतार्थास्तस्य शिष्याः, तेषां नास्ति कोऽपि सामाचार्या उपदेष्टा, आलोचनाया वा प्रतीच्छकः। ततो विष्वग्वसतौ द्वावप्याचार्यौ समुद्दिशतः (सहू विअरे त्ति) अथवा-यदि रत्नाधिकः सहिष्णुः, तत इतरस्यावमरत्नाधिकस्योपाश्रयं गत्वा समुद्दिशति। एवं तावद् द्वयोर्गच्छयोर्विधिरुक्तः।

अथ त्रयो गच्छा भवेयुः, ततः को विधिरिति ? आह-

तिण्हं एक्केण समं, भत्तट्ठं अप्पणो अवट्ठं तु।

पच्छा इयरेण समं, आगमणे विरेगो सो चेव ॥ ७८७ ॥

यद्येक आचार्यो वास्तव्यो भवति, द्वौ चाऽऽगन्तुकौ, तत इत्थं त्रयाणामाचार्याणां सम्भवे द्वयोरागन्तुकयोर्मध्याद् यो रत्नाधिकः तस्य संबन्धी यो वैयावृत्त्यकरः, तेनैकेन समं वास्तव्याऽऽचार्यवैयावृत्त्यकरः पर्यटन् प्राघूर्णकाऽऽचार्यस्य हेतोर्भक्तार्थं परिपूर्णाऽऽहारमात्ररूपम्, आत्मनश्चाऽऽत्मीयाऽऽचार्यार्थमषार्धमर्धमात्रं, श्राद्धकुलेभ्यो गृह्णाति। पश्चादितरेणाऽऽगन्तुकावमरत्नाधिकाऽऽचार्यसंबन्धिना वैयावृत्त्यकृता समं पर्यटन् तथैव तद्योग्यं भक्तार्थमात्मनश्चार्थमात्रं गृह्णाति। (आगमणे विरेगो सो चेव त्ति) यदि त्रिचतुः-प्रभृतीनामाचार्याणामागमनं भवति, ततः स एव विरेको विभजनम्। किमुक्तं भवति ?-तदीयैरपि वैयावृत्त्यकरैः समं यथाक्रमं पर्यटता वास्तव्यसाधुना आत्मीयाऽऽचार्यार्थं तथा व्यादिभिर्भगैर्भक्तार्थं विभज्य भक्तं ग्रहीतव्यं, यथा सर्वान्तिमवैयावृत्त्यकरेण समं पर्यटन्नात्मगुरूणां भक्तार्थं परिपूरयतीति।

अथ '' गिलाणमाई असति त्ति '' पदं विवृणोति-

अतरंतस्स उ जोगा-सईइ इयरेहिं भाविओवसिउं।

अन्नमहाणसुवक्खड, जं वा सन्नी सयं भुंजे ॥ ७८८ ॥

अतरन्तो ग्लानः, तस्य, उपलक्षणत्वाद्-आचार्यन्यापि, यद्योग्यं प्रायोग्यं, तस्यासत्यलाभे, इतरे नाम असंविग्नाः, तैर्भाविनेषु श्राद्धकुलेषु, प्रविश्य, यस्मिन्महानसे तेऽसंविग्ना अध्यवपूरकाऽऽदिदोषदुष्टां भिक्षां गृह्णते, तद्वर्जयित्वा, यदन्यस्मिन्महानसे केवलं गृहार्थमेयोपस्कृतं, ततो ग्लानाऽऽद्यर्थं गृह्यते। यद्वा भक्तं पृथगुपस्कृतं, सन्नी स गृहस्वामी श्रावकः, स्वयं भुङ्क्ते, ततो वा गृह्यते, अन्यदीयाद्वा कुतोऽपि गृहाद्यत्प्रहेणकाऽऽदिकमायातं तद् गृह्यते।

अथ ' दवाइ एमेव त्ति ' पदं व्याख्यानयन्ति-

असतीए व दवस्स व, परिसित्तियकंजिगुलदवाईणि।

अत्तट्ठियाइँ गिण्हइ, सव्वालम्भे विमिस्साई ॥ ७८९ ॥

यदि ग्लानस्य गच्छस्य वा योग्यं द्रवं पानकं संविग्नभावितेष्वपि कुलेषु (परिसित्तिय त्ति) येनोष्णोदकेन दधिभाजनानि लेप्यन्ते, तत् परिषिक्तपानकं काञ्जिकमारनालम्, गुलद्रवं नामयस्यां केवल्लिकायां गुड उत्काल्यते, तस्यां यत्तप्तमतप्तं वा पानीयं तद् गुडोपलिप्तं द्रवं गुडद्रवम्। आदिग्रहणाच्चिञ्चापानकाऽऽदिपरिग्रहः। एतानि पानकानि यदि तैः श्राद्धकैरात्माऽऽर्थितानि प्रथममेवाऽऽत्मार्थं कृतानि, ग्लानाद्यर्थं गृह्णाति। (सव्वालम्भे त्ति) यदि सर्वथैव ग्लानस्य वा गच्छस्य वा योग्यमेषणीयं न लभ्यते, तदा (विमिस्साइ त्ति) विमिश्राणि असंविग्नानां श्रावकाणां चार्थायाचित्तीकृतानि, तान्यपि द्वितीयपदे गृह्यन्ते।

अथ ' असईइ दवाइ ' इत्यत्र योऽयमादिशब्दः, तस्य सफलतामुपदर्शयन्नाह-

पाणट्ठाणपविट्ठो, विसुद्धमाहारछंदिओ गिण्हे।

अद्धाणाइअसंथरें, जइउं एमेव जदसुद्धं ॥ ७९० ॥

पानकार्थं वा प्रविष्टो यदि विशुद्धेनैषणीयेनाऽऽहारेण गृह पतिना छन्द्यते निमन्त्र्यते, ततश्छन्दितः सन् तमपि गृह्णाति। तथा-(अ-द्धाणाइ त्ति) अध्वनिर्गतानां साधूनां हेतोः, आदिशब्दादवमौदर्याशिवाऽऽदिषु वा असंस्तरणे, असंविग्नभावितकुलेषु, एवमेव ग्लानोक्तविधिना शुद्धान्वेषणे, यतित्वा यत्नं कृत्वा ततो यदशुद्धमनेषणीयं तदप्यागमोक्तनीत्या गृह्णन्ति। उक्तं स्थविरकल्पिकानधिकृत्य विहारद्वारम्। बृ० १ उ०।

ठवणाणंतय-न०(स्थापनानन्तक) स्थापनानन्तकं यदक्षादावनन्तकमिति स्थाप्यते। तस्मिन्ननन्तकभेदे, स्था० १० ठा०।

ठवणाणय-पुं०(स्थापनानय) स्थापनाप्राधान्यमिच्छति नये, स्थापनानय आह-स्थापनेत्याकारः। ततश्च-''प्रमाणमिदमेवार्थस्याऽऽकारमयत्तां प्रति। नामाऽऽदि न विनाऽऽकारं, यतः केनापि वेद्यते''॥ १ ॥ तथाहि-नाम्नोऽर्थान्तरेऽपि वर्त्तयितुं शक्यत्वाद् न तदुल्लेखेऽप्याकारावभासमन्तरेण नियतनीलाऽऽद्यर्थग्रहणमित्याकारग्रहण एव ग्रहात् सर्वस्य सिद्धमाकारमयत्वम्, ततो ज्ञानज्ञेयाभिधानाभिधेयाऽऽदिसकलमाकाराऽऽरोपितमेव संव्यवहारावतारि, तद्विकलस्य खपुष्पस्येवासत्त्वात्। उत्त० १ अ०।

आगारो च्चिय मइस-द्दवत्थुकिरियाफलाभिहाणाइं।

आगारमयं सव्वं, जमणागारं तयं नत्थि ॥ ६४ ॥

आकार एव आकारमात्रारूपाण्येव, कानि ? इत्याह-मतिश्च शब्दश्चेत्यादिद्वन्द्वः। तत्र मतिस्तावज्ज्ञेयाऽऽकारग्रहणपरिणतत्वादाकारवती। तदनाकारत्वे तु-'' नीलस्येदं संवेदनं नपीताऽऽदेः, इति नैयत्यं न स्यात्, नियामकाभावात्। नीलाऽऽद्याकारो हि नियामकः, यदा च स नेष्यते, तदा ' नीलग्राहिणी मतिर्न पीताऽऽदिग्राहिणी '' इति कथं व्यवस्थाप्येत ? विशेषाभा-

वात् , तस्मादाकारवत्येव मतिरभ्युपगन्तव्या । शब्दोऽपि पौद्गलिकत्वादाकारवानेव । घटाऽऽदिकं तु वस्त्वाकारवत्त्वेन प्रत्यक्षसिद्धमेव । क्रियाऽप्युत्क्षेपणावक्षेपणाऽऽदिका क्रियावतोऽनन्यत्वादाकारवत्येव । फलमपि कुम्भकाराऽऽदिक्रियासाध्यं घटाऽऽदिकं मृत्पिण्डाऽऽदिवस्तुपर्यायरूपत्वादाकारवदेव । अभिधानमपि शब्दः ; स च पौद्गलिकत्वादाकारवानित्युक्तमेव । तस्माद् यदस्ति तत्सर्वमाकारमयमेव । यत्त्वनाकारं तन्नास्त्येव, वन्ध्यापुत्राऽऽदिरूपत्वात्तस्येति गाथाऽर्थः ॥ ६४ ॥

अथ प्रयोगद्वारेणानाकारं वस्तु निराचिकीर्षुराह-

न पराणुमयं वत्थुं, आगाराभावओ खपुप्फं व ।
उवलंभव्ववहारा-भावाओ नाणऽऽगारं च ॥ ६५ ॥

परस्याऽऽकारवद्वस्तुनिषेधकस्य, अनुमतमभिप्रेतं, सामर्थ्याद् यदनाकारवद् वस्तु, तन्नास्ति, आकाराभावात् , खपुष्पवत् । अपरमपि हेतुद्वयमाह- '' उवलंभ '' इत्यादि । (नाणगारमिति) नास्त्यनाकारं वस्तु, सर्वथैवानुपलभ्यमानत्वात् , तेनाणीयसोऽपि व्यवहारस्याभावाच्च इति पर्यन्तवर्ती, चकारोऽत्र योजनीयः, खपुष्पवदिति दृष्टान्तो हेतुद्वयेऽपि स एवेति गाथाऽर्थः ॥ ६५ ॥ विशे०।

ठवणापुरिस-पुं०(स्थापनापुरुष) पुरुषप्रतिमाऽऽदौ, स्था० ३ ठा० १ उ०। काष्ठाऽऽदिनिर्मिते जिनप्रतिमाऽऽदिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

ठवणायरिय-पुं०(स्थापनाऽऽचार्य्य) अक्षवराटकाऽऽदिषु स्थापिते आचार्ये, (ध०) श्रावकस्य स्थापनाऽऽचार्यविचारः-ननु '' गुरुविरहम्मि उ ठवणा, गुरूवएसोवदंसणत्थं च । जिणविरहम्मि व जिणबिंबसेवणामंतणं सहलं ॥ १ ॥ '' इत्यादिविशेषाऽऽवश्यकवचनप्रामाण्याद् यतिसामायिकप्रस्तावे भदन्तशब्दं व्याख्यानयता भाष्यकृता साधुमाश्रित्य स्थापनाऽऽचार्यस्थापनमुक्तं, न श्रावकमाश्रित्येति कुतस्तेषां स्थापनाऽधिकार इति चेत् ? न । भदन्तशब्दं भणतां तेषां स्थापनाऽऽचार्यस्थापनं युक्तमेव । अन्यथा भदन्तशब्दपठनं व्यर्थमेव स्यात् । अथ च स्थापनाऽऽचार्यस्थापनमन्तरेणापि वन्दनाऽऽद्यनुष्ठानं विधीयते, तदा वन्दनकनिर्युक्तौ- '' आयप्पमाणामित्तो, चउद्दिसिं होइ उग्गहो गुरुणो । '' इत्यक्षरैर्गुरोरवग्रह-प्रमाणमुक्तम् , तत्कथं घटते ? न हि गुर्वभावे गुरुगतावग्रहप्रमाणं घटमानं स्यात् , ग्रामाभावे तत्सीमव्यवस्थावत् । ध० २ अधि० । (त्रयोदशभिः प्रतिलेखनाभिः स्थापनाऽऽचार्यस्य प्रतिलेखना ' पडिलेहणा ' शब्दे वक्ष्यते)

ठवणावीर-पुं०(स्थापनावीर) वीरवर्द्धमानस्वामिस्थापनावत् सुभटस्य स्थापनायाम् , सू० प्र० २० पाहु०।

ठवणासच्च-न०(स्थापनासत्य) स्थाप्यत इति स्थापना, यल्लेप्याऽऽदिकर्मार्हदादिविकल्पेन स्थाप्यते तद्विषये सत्यं स्थापनासत्यम् । यथा-अजिनोऽपि जिनोऽनाचार्योऽप्याचार्योऽयमिति । स्था० १० ठा० । जिनप्रतिमाऽऽदिषु जिनाऽऽदिव्यपदेशे, प्रश्न० २ संव० द्वार० । स्थापना सत्या यथाविधमङ्काऽऽदिविन्यासं मुद्राविन्यासं चोपलभ्य प्रयुज्यते, यथा-एकं पुरतो बिन्दुद्वयसहितमुपलभ्य शतमिदमिति, बिन्दुत्रयसहितं सहस्रमिदमिति । तथाविधं मुद्राविन्यासमुपलभ्य मृत्तिकाऽऽदिषु माषोऽयं कार्षापणोऽयमिति । प्रज्ञा० ११ पद । ध० ।

ठवणिंद-पुं०(स्थापनेन्द्र) इन्द्राऽऽकारलक्षिते, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या चास्य ' इंद ' शब्दे द्वितीयभागे ५३३ पृष्ठे गता)

ठविआ-स्त्री० । देशी-प्रतिमायाम् , दे० ना० ४ वर्ग ।

ठवित्ता-अव्य०(स्थापयित्वा) प्ररूप्येत्यर्थे, व्य० १ उ०।

ठविय-त्रि०(स्थापित) संयतार्थं स्वस्थाने परस्थाने वा स्थापिते स्थापनादोषदुष्टे, व्य० ३ उ० । ''ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलम् । '' (६५ गाथा) दश० ५ अ० १ उ० । स्थापितं द्विविधम्-चिरस्थापितम् , अचिरस्थापितं च । तत्र चिरस्थापिते मासलघु । बृ० १ उ० । ऊर्ध्वे, निकटे, हिक्कायां च । दे० ना० ४ वर्ग ।

ठवियगभोइ(ण्)-त्रि०(स्थापनकभोजिन्) स्थापनादोषदुष्टप्राभृतकभोजिनि, व्य० १ उ० ।

ठविया-स्त्री०(स्थापिता) आरोपणाभेदे, (स्था०) यत्प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य स्थापितं कृतं, न बाहयितुमारब्धमित्यर्थः । आचार्याऽऽदिवैयावृत्त्यकरणार्थम् , तद्धि वहन्न शक्नोति वैयावृत्त्यं कर्तुम् , वैयावृत्त्यसमाप्तौ तु तत्करिष्यतीति स्थापितोच्यत इति । स्था० ५ ठा० २ उ० । '' मासाऽऽदी निक्खित्तं, जं सेसं दिज्जए तत्तु । '' नि० चू० १ उ० । यदि पुनर्यन्मासाऽऽदिकमापन्नं तद् वैयावृत्त्यमाचार्याऽऽदीनां करोतीति स्थापितं क्रियते, तस्मिंश्च स्थापिते यदन्यत् शेषमुद्घातमनुद्घातं वाऽऽपद्यते, तत्सर्वमपि प्रमादनिवारणार्थमनुद्घातं दीयते सा ' हाडहडा ' आरोपणा । व्य० १ उ० ।

ठा-धा०(स्था) गतिनिवृत्तौ, '' स्थष्ठायक्कचिट्ठनिरप्पाः ''॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति तिष्ठतेष्ठाऽऽदेशः । ' ठाई ' ठाअइ ' ठाणं ' । प्रा० ४ पाद । जाहे एया जिव्वइ ताहे णवं ठाहेंति । '' नि० चू० १ उ० ।

ठाउं-अव्य०(स्थातुम्) ' ष्ठा ' गतिनिवृत्तौ इत्यस्य तुमुन्प्रत्ययान्तस्य भवति । अवस्थायेत्यर्थे, आव० ५ अ० । ''इच्छामि ठाउं काउस्सग्गं ।'' आव० ५ उ० ।

ठाऊण-अव्य०(स्थित्वा) अवस्थायेत्यर्थे, पञ्चा० १८ विव० ।

ठाग-न०(स्तोघ) अवकाशे, बृ० ३ उ० ।

ठाण-न०(स्थान) ' स्था ' भावाऽऽदौ ल्युट् । '' स्थष्ठाथक्कचिट्ठनिरप्पाः ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति स्थाधातोष्ठाऽऽदेशः । प्रा० ४ पाद । अवस्थितिविशेषे, आव० ५ अ० । एकत्रैव (दश० ४ अ०) उपवेशने, दशा० ३ अ० । निषद्यायाम् , स्था० १० ठा० । निषदनस्थाने, त्वग्वर्तनस्थाने, भ० १४ श० ८ उ० । पादन्यासविशेषे, भ० ७ श० ६ उ० । अवस्थाने, प्रव० ११२ द्वार । आसने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । गमनादुपरम्य निवेशं कृत्वा क्वचित् प्रदेशेषु अवस्थाने, बृ० १ उ० । स्थितौ, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । बृ० । कुड्याऽऽदिषु स्थाने, नि० चू० १ उ० । माने, दे० ना० ४ वर्ग ।

जे भिक्खू अणंतरहियाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ, चेयतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥ जे भिक्खू

ससरक्खाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥ जे भिक्खू ससणिद्धाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥ जे भिक्खू चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुए कोलावासंसि वा दारुए जाव पइट्ठिए सअंडे सपाणे सवीए सउस्से सउत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडयसंताणयंसि ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

ससणिद्धससरक्खसिलालेलुकोलावासा सअंडे सपाणे सवीए सउस्सं उत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कमगसंकडणं, एते सुत्तपदा।

इमं वक्खाणं। गाहा-

पुढवीमादी ठाणा, जत्तियमित्ता उ आहिया सुत्ते।
तेस ट्ठाणादीणी, चेतें ताऽऽणादिणो दोसो ॥ २ ॥

ठाणं काउस्सग्गं, आदिसद्दातो णिसीयणतुयट्टणा, चेयणं करणं, अणंतरहिया णाम सचित्ता, तम्मि सट्ठाणे पच्छित्तं चउलहु।

अहवा। गाहा-

अंतररहिताऽणंतर, ईसिं उल्ला उ होति ससणिद्धा।
अंतरणविभिन्ना फा-सुगाय पुढवी तु ससरक्खा ॥ ३ ॥

अंतरं ववधाणं, तेण रहिता, निरंतरमित्यर्थः। अहवा-पुढवी अणंतभावेण रहिता असंखातजीविका, पज्जत्तं पडुच्च संखेया वि। अधवा-जीए पुढवीए अंतो जीवेहिं रहिया ण अंतरहिया अणंतरहिता, सर्वा सचेतना, न मिश्रा इत्यर्थः। ईसिं उल्ला ससणिद्धा, सेयं पुढवी अचित्ता, सचित्तेण आरण्णएण विभिण्णा ससरक्खा।

गाहा-

चित्तं जीवो भणितो, तेणं सह संगया तु होति सचित्ता।
पासाणसिला रुंदा, लेलू पुण मट्टिया लेट्ठू ॥ ४ ॥

सचेयणा रुंदा महासिला, सचित्तो वा खेलू लेट्ठुओ।

गाहा-

कोला उ घुणा तेसिं, आवासो तप्पतिट्ठियं दारुं।
अंडा तु मुइंगादी, पाणग्गहणं तसा चउरो ॥ ५ ॥
वितियं तु अप्परूढं, तदेव रूढं तु होति हरिताऽऽदी।
कीडगनगरुत्तिंगो, सअंकुर णिरंकुरो पणगो ॥ ६ ॥

कोला घुणा, तेसिं आवासदारुए वा, जीवपतिट्ठिए सपाणे दारुए, पुढवीए वा। एवं सवीए दारुए, पुढवीए वा, अणंकुरियं वीयं, तं चेव अंकुरुब्भिण्णं हरितं, कीडयणगरगोउत्तिंगो, परुगद्धभो वा ; पणगो पंचवण्णोसंकुरी अणंकुरो वा उसावेहो, अंडगा मुइंगाऽऽदिगा, दगमट्टियाचिक्खल्लो, सचित्तो, मीसो वा।

गाहा-

मक्कडसंताणो पुण, लूतापुडतो उ अफुडितो जाव।
संकमणे तस्सेव उ, पिपीलिकादीणिअं तेसिं ॥ ७ ॥

कोलियपुडगं अफुडियं संताणगं, तस्सेव पुडयस्स गमणकाले संकमणं भण्णति। अहवा-संठाणगं संकमणं पिपीलियमक्कोडगादीणं भण्णति। ठाणं उद्धट्ठाणं, सेज्जा आसणं, सिसीहिका सज्झायकरणं। एएसिं चेयणं करणं, आवण्णसंताणं, पच्छित्तं, आणादियो य दोसा, आए संजमे य दोसा जहासंभवं भाणियव्वं।

पुढवादिएगिंदियाण संघट्टणादिकरणे चेयणोवमा इमा।

गाहा-

थेरुवमा अक्कंते, मत्ते सुत्ते व जारिसं दुक्खं।
एमेव य अव्वत्ता, वियणा एगिंदियाणं तु ॥ ८ ॥

जहा थेरस्स जराए जिण्णस्स वरिससतायुस्स तरुणेण बलवता जमलपाणिणा सव्वायामेण अक्कंतस्स जारिसा वेयणा, तारिसा पुढविकाईयाण अधिकतरा ठाणादिट्ठियक्कंतेहिं वेयणा भवति। वेयणा य जीवस्स भणति, णोऽजीवस्स, ते य जीवलिंगा एगिंदिएसु अव्वत्ता जहा मत्ते सुत्ते वा अव्वत्तं सुहदुक्खलिंगं, एवं एगिंदिएसु वि अव्वत्ता वेयणा दट्ठव्वा, लिंगं च।

किं च-एगिंदियाण उवयोगपसाहगा इमे दिट्ठंता। गाहा-

भोयणे वा खित्तिए वा, जहा णेहो तणुट्ठितो।
पावल्ले नेहकज्जेसु, कारेंतुं जे अपच्चलो ॥ ९ ॥

जहा रुक्खे त्ति भोयणे सुहुमो णेहगुणो अत्थि जा, ता तेणाहारि-एण सरीरोवचयो भवति, ण य अव्वत्तणओ लक्खिज्जंति। तहा पुढवीए अत्थि नेहो सुहुमो, सो वि सुहुमत्तणेणं ण दिस्सति, जओ पुढवीए तणुट्ठितो अल्पः, ततो तेण प्राबल्यं नेहकज्जे हत्थादि-सरीरमंखणं कर्त्तुमशक्यम्।

अस्स दिट्ठंतस्स उवसंघारो। गाहा-

कोहातिया परीणामा, तहा एगिंदिआण तु।
पावल्ले तेसु कज्जेसु, कारेंतुं जे अपच्चलं ॥ १० ॥

एगिंदियाणं कोहादिया परिणामा, सागारिया य उवयोगा, तहा सातादियाओ वेयणातो, एते सव्वे भावा सुहुमत्तणओ अणतिसयस्स अणुवलक्खा। जहा सण्णी पज्जत्ता कोहुदया उक्कोसंति, तियलिं भिगुडिं वा करेंति, तेसु ते अप्पीतिकज्जेसु तहा प्राबल्येन एगिंदिया अपच्चला, असमर्था इत्यर्थः। जम्हा पुढवीकाया एवंविधवेदणमणुभवंति, तम्हा तेसु ठाणादियं ण कायव्वं।

अववादतो वा करेज्ज। गाहा-

वोसट्ठकायअसिवो, गेलण्णऽद्धाणसंभमेगतरे।
वसहीवाघाएण य, असती जयणा य जा जत्थ ॥ ११ ॥

वोसट्ठकायो पाओवगतो, सो परप्पओगा अणुकंपपडिणीयत्तणेण वा अणंतरहियाठाणेसु ठवेज्जेज्जा, असिवगहिया वसहिमलभंता रुक्खादिहेट्ठेसु ठायंति, वेज्जट्ठा, ओसहिट्ठा वा गिलाणो जया णिज्जति, तदा वसहिअभावे अथंडिले ठाएज्ज, अद्धाणं पडिवण्णा वा ठायंति, अगणिमादिसंभवे वा वसहिणिग्गता ठायंति, वसहिवाघाए वा ठायंति, सव्वहा वा वसहिअभावे ठायंति,अणंतरहितादिथंडि-लाण जा जत्थ जयणा संभवति पडिलेहणपमज्जणादिणा वा, सा सव्वा वि कायव्वा ॥

सुत्तं-

जे भिक्खू थुणंसि वा गिहलेयंसि वा ओसुकालंसि वा कामजलंसि वा ठाणं वा सिज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

गाहा-

थूणाऽऽदी ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
तेसिं ठाणादीणी, चेतेताऽऽणादिणो दोसा ॥ १२ ॥

थूणा वेली, गिहेलुको उंवरो, उसुकालं उक्खलं, कामजलं एहाणपीढं ।

गाहा-

थूणा उ होति वियली, गिहेलुओ उंवरो उ नायव्वो ।
उद्धुखलं उसुकालं, सिणाणपीढं तु कामजलं ॥ १ ॥

गतार्था । णवरं-सिणाण मज्जणा दो वि एगट्ठा ।

वितियपदं । गाहा-

वोसिट्ठकाएँ असिवे, गेलण्णऽद्धाणसंभमेगतरे ।
वसहीवाघाएण य, असती जयणा य जा भणिया ॥ १४ ॥

पूर्ववत् ।

जे भिक्खू कुलियंसि वा सिलंसि वा लेलुयंसि वा अंतरिक्खजायंसि वा ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

कुलियं कुड्डं, तं जतो णिच्चमवतरति, इयरा सह करभएण भित्ती, नईणं वा तडी भित्ती, सिला लेट्टू पुव्वुत्ता पढमसुत्ते णियमा सचित्ता इह भणिज्जा । शेषं पूर्ववत् ।

गाहा-

कुलियादी ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
तेसु ट्ठाणादीणी, चेतें ता आणमादीणि ॥ १५ ॥

पूर्ववत् ।

वोसिट्ठकाएँ असिवे, गेलण्णऽद्धाणसंभमेगतरे ।
वसहीवाघाएण य, असती जयणा य जा भणिया ॥ १६ ॥

पूर्ववत् ।

सुत्तं-

जे भिक्खू खंधंसि वा फलिहंसि वा अकुड्डंसि वा गिहमालंसि वा दुब्बंधे दुनिक्खित्ते चलचले ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

(जे भिक्खू खंधंसि वा इत्यादि) खंधं पागारो, पेढं वा, फलिहो अग्गला, अकुड्डो मंचो । सो य मंडवो । गिहोवरि मालो दुभूमिगादीणि । जहा गवक्खोवसोभितो पासादो सव्वोवरि दाता जं हम्मितलं भूमितलं परं वा हम्मतलं । एस सुत्तत्थो ।

इमा णिज्जुत्ती । खंधादिगाहा-

खंधो खलु पायारो, पेढं फलिहा तु अग्गला होति ।
अहवा खंधो उ घरो, मंचो अकुड्डो गिहमालो ॥ १७ ॥

अहवा खंधो घरो, गृहे इष्टकदारुसंघातो, स्कन्ध इत्यर्थः । दुबंधे त्ति । बंधो दुविधोरज्जुबंधो, कट्ठादिसु वेहबंधो वा । तेणं सुबद्धं दुबद्धं, दुणिक्खित्तं तिणिहितं, स्थापितमित्यर्थः । तेणु सुणिक्खित्तं, केसिं नि दुण्णिक्खित्तं ति आलावगो, तं अपडिलेहियं दुप्पडिलेहियं वा, तं निप्पकंपं अनिप्पकंपं, अनिष्प्रकम्पित्वादेव चलाचलं चलनाचलनस्वभावं, तादृशे स्थानाऽऽदि न कर्त्तव्यम्-

रज्जुव्वेहो बंधो, णिहयाणिहतं तु होति निक्खवणं ।
अनिरिक्ख अपडिलेहा, चलाचलमणिप्पकंपं तु ॥ १८ ॥
पवडंतो कायवहे, आउवघाओ य भाणभेदादी ।
तस्सेव पुणो करणे, अहिगरणं अण्णकरणे वा ॥ १९ ॥

गतार्था । णवरं (णिहताणिहय त्ति) णिक्खयमणिक्खयं वा । तारिसे सदोसे ठाणाइं करेंतस्स इमे दोसा-

ततो पडंतो छण्हं कायाणं विराहणं करेज्ज, अप्पणो वा से हत्थपादादिविराहणा हवेज्जा । भाणादि वा उवकरणजातं विराधेज्जा । तस्स य थूणादियस्स पाडियस्स रज्जुबद्धस्स वा त्रोडितस्स वा वि संघातियस्स पुणो करणे अण्णस्स वा अहिणवस्स करणे, अधिकरणं भवति । पडिसिद्धकरणे आणादिया दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं ।

वोसिट्ठकाएँ असिवे, गेलण्णऽद्धाण संभमेगतरे ।
वसहीवाघाएण य, असती जयणा य जा जत्थ ॥ २० ॥

पूर्ववत् । नि० चू० १३ उ० । स्वरूपप्राप्तौ, सम्म० ३ काण्ड । ऊर्ध्वस्थाने, व्य० ४ उ० । कायोत्सर्गे, बृ० १ उ० । नि० चू० । ओघ० । पं० भा० । आचा० । स्था० । आव० । सूत्र० ।

पञ्च स्थानानि मुक्त्वा निर्ग्रन्थैर्निर्ग्रन्थीभिश्चैकत्र कायोत्सर्गो न कार्यः-

पंचहिं ठाणेहिं निग्गंथा य निग्गंथीओ य एगयओ ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएमाणा णाइक्कमंति । तं जहा-अत्थेग-इया निग्गंथा य निग्गंथीओ य एगं महं आगामियं च्छिन्नावायं दीहमद्धमडविमणुपविट्ठा, तत्थेगयाओ ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएमाणा णाइक्कमंति ? अत्थेगइया णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य गामंसि वा नगरंसि वा० जाव रायहाणिं वा वासं उवगया एगइया जत्थ उवस्सयं लभंति, एगइया णो लभंति, तत्थेगयाओ ठाणं वा० जाव णाइक्कमंति २ । अत्थेगइया य णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य णागकुमारावासंसि वा सुवन्नकुमारावासंसि वा वासं उवगया, तत्थेगयाओ ठाणं वा० जाव णाइक्कमंति ३ । आमोसगा दीसंति इच्छंति णिग्गंथीओ चीवरपडियाए पडिगाहेत्तए, तत्थेगयाओ ठाणं वा० जाव णाइक्कमंति ४ । जुवाणा दीसंति ते इच्छंति णिग्गंथीओ मेहुणवडियाए पडिगाहेत्तए, तत्थेगयाओ ठाणं वा० जाव णाइक्कमंति ५ । इच्चेहिं पंचहिं ठाणेहिं० जाव णाइक्कमंति ।

''पंचहिं'' इत्यादि सुगमम् । नवरम् (एगयाओ त्ति) एकत्र (ठाणं ति) कायोत्सर्गः, उपवेशनं वा । (सेज्ज त्ति) शयनम् । (निसीहिय त्ति) स्वाध्यायस्थानं, चेतयन्तः कुर्वन्तो नातिक्रामन्तिन लङ्घयन्ति, आज्ञामिति गम्यते । (अत्थि त्ति) । सन्ति भवन्ति, (एगइय त्ति) एके केचन, एकामद्वितीयां, महतीं विपुलामग्रामिकामकामिकां वा अनभिलषणीयां छिन्नाम, आपाताः सार्थगोकुलाऽऽदीनां यस्यां सा तथा, ताम् । दीर्घोऽध्वा मार्गो यस्यां सा तथा, तांदीर्घा-ध्वाम् । मकारस्त्वागमिकः । दीर्घोऽद्धा वा कालो निस्तरणे यस्यां सा दीर्घाद्धा, तामटवीं कान्तारम्, अनुप्रविष्टा दुर्भिक्षाऽऽदिकारणवशात्; तत्राटव्याम् (एगयओ त्ति) एकतः, एकत्रेत्यर्थः । स्थानाऽऽदि कुर्वन्त आग-

मोक्षसामाचारीं नातिक्रामन्ति १ । तथा राजधानीयत्र राजाऽभिषिच्यते, वासमुपगताः, निवासं प्राप्ता इत्यर्थः । (एगइया य त्ति) एकका एकतरा, निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थिका वा, चः पुनरर्थः । अत्र ग्रामाऽऽदौ उपाश्रयं गृहपतिगृहाऽऽदिकमिति । २ । तथा (अत्थेत्ति) अथ गृहपतिगृहाऽऽदिकमुपाश्रयमलब्ध्वा । (एगइया) एके केचन नागकुमाराऽऽवासाऽऽदौ वासमुपगताः । अथवा (अत्थेत्ति) इह संबध्यते, अस्ति सन्ति भवन्ति, निवासमुपगताः, तस्य च नागकुमाराऽऽवासाऽऽहेरतिशून्यत्वात् । अथवा-बहुजनाऽऽश्रयत्वादनायकत्वाच्च निर्ग्रन्थिकारक्षार्थमेकत एव स्थानाऽऽदि कुर्वाणा नातिक्रामन्तीति ३ । तथा आमुष्णन्तीत्यामोषकाश्चौराः, दृश्यन्ते च इच्छन्ति निर्ग्रन्थिकाः (चीवरवडियाए त्ति) चीवरप्रतिज्ञया वस्त्राणि गृहीष्याम इत्यभिप्रायेण, प्रतिग्रहीतुं यत्रेति गम्यते । तत्र निर्ग्रन्थास्तद्रक्षणार्थमेकतः स्थानादिकमिति ४ । तथा मैथुनप्रतिज्ञयामैथुनार्थमिति ५ । इदमपवादसूत्रम् । उत्सर्गश्चापवादसहितो भाष्यगाथाभिरवसेयः ।

ताश्चेमाः-

'' भयणपयाण चउण्हं, अण्णतरजुए उ संजए संते ।
जे भिक्खू विहरेज्जा, अह वा वि करिज्ज सज्झायं '' ॥ १ ॥
(एकः साधुरेका स्त्रीत्यादिभङ्गकानामित्यर्थः) ।
'' असणादिं वा हारी, उच्चारादिं च आवरिज्जाहिं ।
निद्धुरमसाधुजुत्तं, अणंतरकहं च जो कहए ॥ २ ॥ ''
(स्त्रीभिः सहेति)
'' सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं तहा दुविहं ।
पावइ जम्हा तेणं, एए उ पए वि वज्जेज्जा ॥ ३ ॥ ''
'' वीयपयमणपज्झे गेलन्नुवसग्गरोहगट्ठाणे ।
संभमभयवासासु य, खंतियमाईण णिक्खमणे ॥ ४ ॥ '' त्ति ।

(अपवादोऽनात्मवश इत्यर्थः) स्था० ५ ठा० २ उ० । परमाण्वादीनां स्थितिपरिणामे, विशे० । स्थीयते अनेनेति स्थानम् । कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धपद्माऽऽसनाऽऽदिसकलशास्त्रसिद्धे आसनविशेषे, षो० १२ विव० । प्रकारे, स्था० १० ठा० । भेदे, आ० चू० ४ अ० । स० । स्था० । पदे, स्था० १० ठा० । उत्कर्षापकर्षरूपे (उत्त० ३४ अ०) गुणविशेषे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । आकारे, ओघ० । पर्याये, आव० ४ अ० । कारणे, स्था० २ ठा० ४ उ० । बृ० । उपादानकारणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । आचा० । निमित्ते, स० २६ सम० । तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानम् । सामान्ये, भ० १ श० १ उ० । आचा० । व्य० । वस्तुनि, स्था० ६ ठा० । ज्योतिःस्थाने, यन्त्रस्थाने च । नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । आश्रये, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । स्था० । आव० । आवासे, उत्त० ५ अ० ।

स्थानस्य पञ्चदशधा निक्षेपमाह-

नामं ठवणा दविए, खेत्तऽद्धा उड्ढ उवरई वसही ।
संजम पग्गह जोधे, अचल गणण संधणा भावे ॥ ८३ ॥

तत्र द्रव्यस्थानं-ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं, द्रव्याणां सचित्ताचित्तमिश्राणां स्थानमाश्रयः । क्षेत्रस्थानं भरताऽऽदि, ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकाऽऽदि चेति; यत्र क्षेत्रे स्थानं व्याख्यायते । अद्धाकालस्तत्स्थानं द्विधा, कायस्थितिभवस्थितिभेदात् । तत्र कायस्थितिः पृथिव्यप्तेजोवायूनामसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । वन-स्पतेस्तु ता एवानन्ताः, विकलेन्द्रियाणामसंख्येया वर्षसहस्राः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुजानां सप्ताष्टौ वा, भवस्थितिस्तु वायूदकवनस्पतिपृथिवीनां त्रिसप्तदशद्वाविंशतिवर्षसहस्राऽऽत्मिका, तेजसस्त्रीण्यहोरात्राणि, द्वीन्द्रियाणां शङ्खाऽऽदीनां द्वादश वर्षाणि, त्रीन्द्रियाणां पिपीलिकानामेकोनपञ्चाशदहोरात्राणि, चतुरिन्द्रियाणां भ्रमराऽऽदीनां षण्मासाः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां त्रीणि पल्योपमानि, देवानां नारकाऽऽदीनां च कायस्थितेर्भावाद् भवस्थितिः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । इयमुत्कृष्टा । जघन्या तु सर्वेषामन्तर्मुहूर्ताऽऽत्मिका, नवरं देवनारकयोर्दशवर्षसहस्राणीति । अथवा अद्धास्थानं समयावलिकामुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगपल्योपमसागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपुद्गलपरावर्तातीतानागतसर्वाद्धारूपमिति । ऊर्ध्वस्थानं तु-कायोत्सर्गाऽऽदिकम् , अस्योपलक्षणत्वान्निषद्याऽऽद्यपि गृह्यते, उपरतिर्विरतिः, तत्स्थानं देशे सर्वत्र च श्रावकसाधुविषयम् । वसतिस्थानं यो यत्र ग्रामगृहाऽऽदौ वसति । संयमस्थानं-संयमः सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराये यथाख्यातरूपः, तस्य पञ्चविधस्याप्यसङ्ख्येयानि संयमस्थानानि । किं तदसंख्यम् ? इति चेत् , अतीन्द्रियत्वादर्थस्य न साक्षान्निर्देष्टुं शक्यते । आगमानुसारोपमया तूच्यते-इहैकसमयत्वेन सूक्ष्मान्निजीवा असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणा उत्पद्यन्ते, तेभ्योऽग्निकायत्वेन परिणता असंख्येयगुणाः, ततोऽप्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणाः, ततोऽप्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानि संयमस्थानान्यप्येतावन्त्येवेति सामान्यतः । विशेषतस्तूच्यतेसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धीनां प्रत्येकमसंख्येयलोकाऽऽकाशतुल्यानि संयमस्थानानि सूक्ष्मसंपरायस्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वादन्तर्मुहूर्त्तसमयतुल्यान्यसंख्येयानि संयमस्थानानि, यथाख्यातस्य त्वेकमेवाजघन्योत्कृष्टं संयमस्थानम् । अथवा-संयमश्रेण्यन्तर्गतानि संयमस्थानानि ग्राह्याणि; सा चानेन क्रमेण भवति । तद्यथा-अनन्तचारित्रपर्यायनिष्पादितमेकं संयमस्थानमसंख्येयसंयमस्थाननिर्वर्त्तितं कण्डकं, तैश्चासंख्येयैर्जनितं षट्स्थानकं, तदसंख्येयाऽऽत्मिका श्रेणीति । प्रग्रहस्थानं तु-प्रकर्षेण गृह्यन्ते वाचोऽस्येति प्रग्रहः, ग्राह्यवाक्यो नायक इत्यर्थः । स च लौकिको, लोकोत्तरश्च । तस्य स्थानं प्रग्रहस्थानम् । लौकिकं तावत्पञ्चविधम् । तद्यथा-राजा, युवराजो, महत्तरः, अमात्यः, कुमारश्चेति । लोकोत्तरमपि पञ्चविधम् । तद्यथा-आचार्योपाध्यायप्रवृत्तिस्थविरगणावच्छेदिभेदात् । योधस्थानं पञ्चधा । तद्यथा-लीढप्रत्यालीढवैशाखमण्डलसमपादभेदात् । अचलस्थानं तु-चतुर्द्धा, सादिसपर्यवसानभेदात् । तद्यथा-सादिसपर्यवसानं परमाण्वादेर्द्रव्यस्यैकप्रदेशाऽऽदावव्वस्थानं जघन्यत एकं समयम् , उत्कृष्टतश्चासंख्येयकालमिति । साद्यपर्यवसानानां सिद्धानां भविष्यदद्धारूपम् ; अनादिसपर्यवसानमतीताद्धारूपस्य शैलेश्यवस्थाऽन्त्यसमये कार्मणतैजसशरीरभव्यत्वानां चेति । अनाद्यपर्यवसानं धर्म्माधर्म्माऽऽकाशानामिति । गणनास्थानम्- एकद्व्यादिकं शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तम् । सन्धानस्थानं द्विधाद्रव्यतो, भावतश्च । पुनरप्येकैकं द्विधा, छिन्नाच्छिन्नभेदात् । तत्र द्रव्यच्छिन्नसन्धानं कञ्चुकाऽऽदेः । अच्छिन्नसन्धानं तु पक्ष्मोत्पद्यमानतन्त्वादेरिति । भावस्थानमपि प्रशस्ताप्रशस्तभेदाद् द्वेधा । तत्र प्रशस्ताच्छिन्नभावसन्धानमुपशमक्षपकश्रेण्यामारोहतो जन्तो-

रपूर्वसंयमस्थानान्यच्छिन्नान्येव भवन्ति; श्रेणिव्यतिरेकेण वा प्रवर्द्धमानकण्डकस्येति । छिन्नप्रशस्तभावसन्धानं पुनरौपशमिकाऽऽदिभावादौदयिकाऽऽदिभावान्तरगतस्य पुनरपि शुद्धपरिणामवतस्तत्रैव गमनम् । अप्रशस्ताच्छिन्नभावसन्धानमुपशमश्रेण्यां प्रतिपततोऽविशुद्ध्यमानपरिणामस्यानन्तानुबन्धिमिथत्वोदयं यावत्, उपशमश्रेणिमन्तरेणापि कषायवशाबन्धाध्यवसायस्थानान्युत्तरोत्तराण्यवगाहमानस्य वा इति। अप्रशस्तच्छिन्नसन्धानं पुनरौदयिकभावादौपशमिकाऽऽदिभावान्तरसंक्रान्तौ सत्यां पुनस्तत्रैव गमनमिति । इह द्वारद्वयं यौगपद्येन व्याख्यातम्। तत्र सन्धानस्थानं द्रव्यविषयम्, इतरत्तु भावविषयमिति। उक्तं स्थानम्।

अथवा भावस्थानं कषायाणां यत् स्थानमिह परिगृह्यते, तेषामेव जेतृद्रव्यत्वेनाधिकृतत्वात्तेषां किं स्थानं, यदाश्रित्य च ते भवन्ति ? शब्दाऽऽदिविषयानाश्रित्य च ते भवन्तीति तद्दर्शयति-

पंचसु कामगुणेसुं, सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ।
जस्स कसाया वट्टं-ति मूलठाणं तु संसारे ॥ ८४ ॥

तत्रेच्छाऽनङ्गरूपः कामः, तस्य गुणाः, यानाश्रित्य चासौ चेतसो विकारमादर्शयति। ते च शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः, तेषु पञ्चस्वपि व्यस्तेषु समस्तेषु वा विषयभूतेषु, यस्य जन्तोर्विषयसुखपिपासोन्मुखस्यापरमार्थदर्शिनः संसाराभिष्वङ्गिणो रागद्वेषतिमिरोपप्लुतमनोज्ञेतरविषयोपलब्धौ सत्यां कषाया वर्तन्ते प्रादुर्भवन्ति, तन्मूलश्च संसारपादपः प्रादुर्भवतीत्यतः शब्दाऽऽदिविषयोद्भूतकषायाः, संसारे संसारविषयं, मूलस्थानमेवेति। एतदुक्तं भवति-रागाऽऽद्युपहतचेताः परमार्थमजानानोऽतत्स्वभावेऽपि तत्स्वभावाऽऽरोपणेनान्धादप्यन्धतमः कामी मोदते। तत आह-

'' दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितं,
रागान्धस्तु यदस्ति तत्परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवा-
नारोप्याशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ॥ १ ॥ ''

द्वेषं वा कर्कशशब्दाऽऽदौ व्रजतीति। ततश्च मनोज्ञेतरशब्दाऽऽदिविषयाः कषायाणां मूलस्थानं, ते च संसारस्येति गाथातात्पर्यार्थः। आचा० नि० १ श्रु० २ अ० १ उ०। उत्त०। नि० चू०। सूत्र०।

कहि णं भंते ! बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सट्ठाणेणं अट्ठसु पुढवीसु । तं जहा-रयणप्पभाए, सक्करप्पभाए, वालुयप्पभाए, पंकप्पभाए, धूमप्पभाए, तमप्पभाए, तमतमप्पभाए, अहे सत्तमाए ईसिप्पभाराए, अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु निरएसु निरयावलियासु निरयपत्थडेसु, उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु, तिरियलोए टंकेसु कूडेसु सेलेसु सिहरिसु पब्भारेसु विजयेसु वक्खारेसु वासेसु वासहरपव्वएसु वा वेलासु वेइयासु दारेसु तोरणेसु दीवेसु समुद्देसु । एत्थं णं बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे ।

'कहि णं भंते !' इत्यादि । (कहि त्ति) कस्मिन्, 'णं' शब्दो वाक्यालङ्कारे । भदन्तेति परमगुर्वामन्त्रणम । बादरपृथिवीकायिकानां पर्याप्तानां स्थानानि स्वस्थानाऽऽदीनि प्रज्ञप्तानि प्ररूपितानि ? एवं गौतमस्वामिना प्रश्ने कृते भगवान् वर्द्धमानस्वाम्याह- गौतम ! '' सट्ठाणेणं ''इत्यादि। ननु गौतमोऽपि भगवानुपचितकुशलमूलो गणधरः तीर्थकरभाषितमातृकापदश्रवणमात्रावाप्तप्रकृष्टश्रुतज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमश्चतुर्दशपूर्ववित् सर्वाक्षरसन्निपाती विवक्षितार्थप्रतिज्ञानसमन्वित एव, ततः किमर्थं पृच्छति ? न हि चतुर्दशपूर्ववित्सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसमन्वितस्य कश्चित् प्रज्ञापनीयमविदितमस्ति। यत उक्तम्- ''संखाईए वि भवे, साहइ जं वा पुरो उ पेच्छेज्जा। नयणं अणाइसंसी, वियाणई एस छउमत्थो'' ॥ १ ॥ सत्यमेतत्। केवलं जानन्नेव गौतमस्वामी भगवान् अन्यत्र विनयेभ्यः प्रतिपाद्य तत्सम्प्रत्ययनिमित्तं विवक्षितार्थं पृच्छति। यदि वा-प्रायः सर्वत्र गणधरप्रश्नतीर्थकरनिर्वचनरूपं सूत्रम्, अतो भगवानार्यश्यामोऽपीत्थमेव सूत्रं रचयति। अथवा सम्भवति तस्यापि गणभृतो गौतमस्वामिनोऽनाभोगः, छद्मस्थत्वात्। उक्तं च- ''न हि नामानाभोगः, छद्मस्थस्येह कस्यचित्रास्ति। ज्ञानाऽऽवरणीयं हि, ज्ञानाऽऽवरणप्रकृतिकर्म ॥ १ ॥'' ततो जातसंशयः सन् पृच्छतीति न कश्चिद्दोषः। ' गोयमा ! ' इति लोकप्रथितमहाविशिष्टगोत्राभिधायकोपमाऽऽमन्त्रणध्वनिः । हे गौतम ! गौतमगोत्रेति भावार्थः । (सट्ठाणेणं इति) स्वस्थानं यत्राऽऽसते बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ताः आसनाश्च वर्णाऽऽदिविभागेनाऽऽदेष्टुं शक्यन्ते तत्स्वस्थानमिति भावः । स्वस्थानग्रहणमुपपातसमुद्घातस्थाननिवृत्त्यर्थम्, तेन स्वस्थानेन, स्वस्थानमङ्गीकृत्येति भावः। अष्टासु पृथिवीषु, सर्वत्र बादरपृथिवीकायिकानां पर्याप्तानां स्थानानीति योगः। ता एवाष्टौ पृथिवीर्नामग्राहमाह- '' तं जहा '' इत्यादि। तद्यथा-रत्नप्रभायां यावदष्टम्यामीषत्-प्राग्भारायाम्, तथाऽधोलोकेपातालेषु पातालकलशेषु बलयामुखप्रभृतिषु, भवनेषु भवनपतिनिकायाऽऽवासरूपेषु भवनभूमिकारूपेषु। इह भवनग्रहणेन भवनानामेव केवलानां ग्रहणम्; भवनप्रस्तटग्रहणेन तु भवनानामपान्तरालस्यापि; तथा नरकेषु प्रकीर्णकरूपेषु नरकाऽऽवासेषु, नरकाऽऽवलिकासु आवलिकाव्यवस्थितेषु नरकाऽऽवासेषु , नरकप्रस्तटेषु नरकभूमिरूपेषु, अत्रापि नरकनरकाऽऽवलिकाग्रहणेन केवला एव नरकाऽऽवासाः परिगृह्यन्ते, नरकप्रस्तटग्रहणेन तु नरकापान्तरालमपि। ऊर्द्धलोकेकल्पेषु सौधर्मिकाऽऽदिकल्पेषु, अनेन द्वादश देवलोकपरिग्रहः। विमानेष ग्रैवेयकसम्बन्धिषु प्रकीर्णकरूपेषु, विमानाऽऽवलिकासु आवलिकाप्रविष्टेषु ग्रैवेयकाऽऽदिविमानेषु, विमानप्रस्तटेषु विमानभूमिकारूपेषु; अत्रापि प्रस्तटग्रहणं विमानान्तरालभाविनामपि यथासंभवभाविनां बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकानां स्थानपरिग्रहार्थं; तथापि तिर्यग्लोकेटङ्केषु छिन्नटङ्केषु, कूटेषु सिद्धाऽऽयतनकूटप्रभृतिषु, शैलेषु शिखरहीनपर्वतेषु, शिखरिषु शिखरयुक्तेषु पर्वतेषु, प्राग्भारेषु ईषत्कुब्जेषु, विजयेषु कच्छाऽऽदिषु, वक्षस्कारेषु विद्युत्प्रभाऽऽदिषु पर्वतेषु, वर्षेषु भरताऽऽदिषु, वर्षधरेसु हिमवदादिपर्वतेषु, वेलासु समुद्राऽऽदिपानीयरमणभूमिषु, वेदिकासु जम्बूद्वीपजगत्याहिसंबन्धिनीषु, द्वारेषु विजयाऽऽदिषु, तोर-

णेषु द्वाराऽऽदिसंबन्धिषु, किं बहुना ? सामस्त्येन सर्वेषु द्वीपेषु समुद्रेषु। ''एत्थ णं'' इत्यादि। अत्र एतेषु स्थानेषु बादरपृथिवीकायिकानां पर्याप्तानां स्थानानि प्रज्ञप्तानि, मया, अन्यैरपि तीर्थकृद्भिः। ''उववाएणं'' इत्यादि। उपपातो बादरपृथिवीकायिकानां पर्याप्तानां यदनन्तरमुक्तं तत्प्राप्त्याभिमुख्यमिति भावः, तेनोपपातमङ्गीकृत्येति भावः। लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्यासङ्ख्येयभागे। अत्रैके व्याचक्षते-ऋजुसूत्रनयो विचित्रः, ततो यदा परिस्थूरऋजुसूत्रनयदर्शनेन बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ताश्चिन्त्यन्ते, तदा ये स्वस्थानप्राप्ता आहाराऽऽदिपर्याप्तिपरिसमाप्त्या विशिष्टविपाकतो बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकाऽऽयुर्वेदयन्ते, त एव द्रष्टव्याः, नापान्तरालगतावपि, तदानीं विपाकाऽऽयुर्वेदनासंभवात्। स्वस्थानं च तेषां रत्नप्रभाऽऽदिकं समुदितमपि लोकस्यासङ्ख्येयभागे वर्तते। तत उपपातेनापि लोकस्यासङ्ख्येयभागगता वेदि-तव्याः। अन्ये त्वभिदधतिपर्याप्ता हि नाम-बादरपृथिवीकायिकः सर्वस्तोकाः, ततस्तेऽपान्तरालगतावपि परिगृह्यमाणा लोकस्यासङ्ख्येयभाग एवेति न कश्चिद्दोषः। तथा च-समुद्घातेनापि लोकस्यासङ्ख्येयभाग एव वक्ष्यन्ते। अन्यथा समुद्घातावस्थायामपि स्वस्थानातिरेकेण क्षेत्रान्तरवर्तित्वसंभवादसङ्ख्येयभागवर्तिता नोपपद्यत इति। तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति, विशिष्टश्रुतविदो वा। तथा-(समुग्घाएणं लोगस्स असंखेज्जइ भागे इति) समुद्घातेन समुद्घातमधिकृत्य, लोकस्यासङ्ख्येयभागे। इयमत्र भावना-यदा बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकाः सोपक्रमायुषा, निरुपक्रमायुषा वा त्रिभागाऽऽद्यवशेषायुषः परभविकमायुर्बद्ध्वा मारणान्तिक समुद्घातेन समवहन्यन्ते, तदा ते विक्षिप्ताऽऽत्मप्रदेशदण्डा अपि लोकस्यासङ्ख्येयतम एव भागे वर्तन्ते, स्तोकत्वात्। बादरपृथिवीकायिकपर्याप्तायुश्चाद्याप्यक्षीणमिति पर्याप्तबादरपृथिवीकायिका अपि लभ्यन्ते। इह पूर्वं पृथिव्यादिषु स्वस्थानमात्रमुक्तम्। इदानीं स्वस्थानेनापि क्रियते लोकस्य भागे वर्तन्ते इति निरूपयति-(सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइ भागे इति) स्वस्थानं रत्नप्रभाऽऽदि। तच्च समुदितमपि लोकस्यासंख्येयभागवर्त्ति। तथाहि-रत्नप्रभा अशीतियोजनसहस्राधिकलक्षप्रमाणपिण्डभावा, एवं शेषा अपि पृथिव्यः स्वस्वघनभावेन वक्तव्याः। पातालकलशा अपि योजनलक्षावगाहाः, नरकाऽऽवासास्त्रिसहस्रयोजनोच्छ्रयाः, विमानान्यपि द्वात्रिंशद्योजनशतबहुलानि; ततः सर्वेषामपि परिमितभावात् समुदितानामप्यसंख्येयभागवर्त्तितैवेति॥

कहि णं भंते ! बादरपुढविकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जत्थेव बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता, तत्थेव बादरपुढविकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे॥

बादरापर्याप्तपृथिवीकायिकसूत्रे-(उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए इति) इहापर्याप्ता बादरपृथिवीकायिका अपान्तरालगतावपि स्वस्थानेऽपि चापर्याप्तबादरपृथिवीकायिकाऽऽयुर्विशिष्टविपाकतो वेदयन्ते, तथा देवनैरयिकवर्जेभ्यः शषसर्वकायेभ्यश्चोपपद्यन्ते, उद्वृत्ता अपि च देवनैरयिकवर्जेषु शेषेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु गच्छन्ति। ततोऽपान्तरालगतावपि वर्त्तमाना अमी गृह्यन्ते इति। प्रभूताश्च स्वभावतोऽपीत्युपपातेन समद्घातेन च सर्वलोके वर्त्तन्ते। अन्ये तु अभिदधति-स्वभावत एवामी बहव इति, उपपातेन समुद्घातेन च सर्वलोकव्यापिनः, तत्रोपपातः केषाञ्चिद्वक्रगत्या, तत्र ऋजुगतिः सुप्रतीता। वक्रस्थापना चैवम्-अत्र यदेव प्रथमं वक्रमेके संहरन्ति, तदेवापरे तद्वक्रदेशमापूरयन्ति; एवं द्वितीयवक्रदेशसंहरणेऽपि, तत्रोत्पत्तावपि प्रवाहतो निरन्तरमापूरणं भावनीयम्। (सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे इति) यथा पर्याप्तानां भावितं, तथा अपर्याप्तानामपि भावनीयम्, तन्निश्चयैस्तेषामुत्पादभावात्।

कहि णं भंते ! सुहुमपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाण य ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सुहुमपुढविकाइया जे पज्जत्तगा, जे य अपज्जत्तगा,ते सव्वे एगविहा अविसेसा अनाणत्ता सव्वलोए परियावन्नगा पण्णत्ता समणाउसो ! प्रज्ञा० २ पद०।

कहि णं भंते ! अणंतरोववण्णगबायरपुढविकाइयाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सट्ठाणेणं अट्ठसु पुढवीसु। तं जहा-रयणप्पभा जहा सट्ठाणपदे० जाव दीवसमुद्देसु। एत्थ णं अणंतरोववण्णगाणं बादरपुढविकाइयाणं ठाणा पण्णत्ता। उववातेणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे। (भ०) सट्ठाणेणं सव्वेसिं जहा ठाणपदे, तेसिं पज्जत्तगाणं बायराणं उववायसमुग्घायसट्ठाणाणि जहा तेसिं चेव अपज्जत्तगाणं बादराणं, सुहुमाणं सव्वेसिं जहा पुढवीकाइयाणं भणिया, तहेव भाणियव्वा० जाव वणस्सइकाइय त्ति। भ० ३४ श० १ उ०। कहि णं भंते ! बादरआउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणोदधिसु सत्तसु घणोदधिबलएसु, अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु, उड्ढलोए कप्पेसु कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु सरेसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सररसरपंतियासु विलपंतियासु उज्झरेसु णिज्झरेसु चिल्ललेसु, पल्ललेसु वेप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु जलभूमिआसु। एत्थ णं बादरआउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे०। कहि णं भंते ! वायरआउकाइयाणं अपज्जत्तगाण ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जत्थेव बादरआउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा, तत्थेव बादरआउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। कहि णं भंते ! सुहुमआउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सुहुमआउकाइया जे य पज्जतगा, जे य अपज्जत्तगा, ते सव्वे एगविहा अविसेसा

अनाणत्ता सव्वलोए परियावन्नगा पण्णत्ता समणाउसो ! कहि णं भंते ! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सट्ठाणेणं अंतोमणुस्सखेत्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु निव्वाघाए पन्नरससु कम्मभूमीसु वाघायं पडुच्च पंचसु महाविदेहेसु। एत्थ णं बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। कहि णं भंते ! बादरतेउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जत्थेव बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा, तत्थेव बादरतेउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स दोसु उड्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्टे य, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। कहि णं भंते ! सुहुमतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं य ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सुहुमतेउकाइयाणं जे पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अनाणत्ता सव्वलोए परियावन्नगा पण्णत्ता समणाउसो ! कहि णं भंते ! बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणवाएसु, सत्तसु घणवायबलएसु, सत्तसु तणुवाएसु सत्तसु तणुवायबलएसु,अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु भवणच्छिद्देसु भवणनिक्खुडेसु निरएसु निरयावलियासु निरयपत्थडेसु निरयच्छिद्देसु निरयनिक्खुडेसु, उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु विमाणच्छिद्देसु विमाणनिक्खुडेसु, तिरियलोएसु पाईणदाहिणउदीणेसु सव्वेसु चेव लोगागासच्छिद्देसु लोगनिक्खुडेसु य। एत्थ णं बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु,समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु,सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु। कहि णं भंते ! बादरवाउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जत्थेव बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं, तत्थेव बादरवाउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भोगेसु । कहि णं भंते ! सुहुमवाउकाइयाणं पज्जत्ता-पज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सुहुमवाउकाइयाणं जे पज्जत्ता अपज्जत्ता य, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अनाणत्ता सव्वलोयपरियावन्नगा पण्णत्ता समणाउसो ! कहि णं भंते ! बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणोदहीसु सत्तसु घणोदहिबलएसु, अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु, उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थमेसु, तिरियलोए अगडेसु तलागेसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु । एत्थ णं बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! बादरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जत्थेव बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा, तत्थेव बादरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। कहि णं भंते ! सुहुमवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाण य ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सुहुमवणस्सइकाइया जे पज्जत्तगा जे अपज्जत्तगा य, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अनाणत्ता सव्वलोयपरियावण्णगा पण्णत्ता समणाउसो ! कहि ण भंते ! बेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! उड्ढलोए तदेकदेसभागे, अहोलोए तदेकदेसभागे, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु। एत्थ णं बेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। कहि णं भंते ! तेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! उड्ढलोए तदेकदेसभाए, अहोलोए तदेकदेसभाए, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु। एत्थ णं तेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। कहि णं भंते ! चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! उड्ढलोए तदेगदेसभाए, अहोलोए तदेगदेसभागे, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु णिज्झरेसु उज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पि-

णेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु। एत्थ णं चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। कहि णं भंते! पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता? गोयमा! उड्ढलोए तदेकदेसभागे, अहोलोए तदेकदेसभागे, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु। एत्थ णं पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। कहि णं भंते! नेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता? कहि णं भंते! नेरइया परिवसंति? गोयमा! सट्ठाणेणं सत्तसु पुढवीसु। तं जहा-रयणप्पभाए सक्करप्पभाए वालुयप्पभाए पंकप्पभाए धूमप्पभाए तमप्पभाए तमतमप्पभाए। एत्थ णं नेरइयाणं चउरासिं निरयावाससयसहस्साइं भवंतीति मक्खायं। ते णं णरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेदवसापूयरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊयगणिवन्नाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरएसु वेयणाओ। एत्थ णं नेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। एत्थ णं बहवे नेरइया परिवसंति। काला कालाभासा गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकण्हा वण्णेणं पण्णत्ता। ते णं तत्थ निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धनरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। कहि णं भंते! रयणप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता? कहि णं भंते! रयणप्पभापुढविनेरइया परिवसंति? गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्समोगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं रयणप्पभापुढविनेरइयाणं तीसं निरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं। ते णं नरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेदवसापूइयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊयगणिवन्नाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा असुभा नरगेसु वेदणाओ। एत्थ णं रयणप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे रयणप्पभापुढविनेरइया परिवसंति। काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वन्नेणं पण्णत्ता समणाउसो! ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। कहि णं भंते! सक्करप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता? कहि णं भंते! सक्करप्पभापुढविणेरइया परिवसंति? गोयमा! सक्करप्पभापुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए, उवरि एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे तीसुत्तरजोयणसय-सहस्से। एत्थ णं सक्करप्पभापुढविणेरइयाणं पणवीसं णिरयावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं नरगा अतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसपहा मेयवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊयगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा, असुभा नरगेसु वेयणाओ। एत्थ णं सक्करप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेइज्जभागे। तत्थ णं बहवे सक्करप्पभापुढविणेरइया परिवसंति। काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो! ते णं निच्चं भीता निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। कहि णं भंते! बालुयप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता? गोयमा! बालुयप्पभापुढीए अट्ठावीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे छव्वीसुत्तरजोयणसयसहस्से। एत्थ णं बालुयप्पभापुढविणेरइयाणं पण्णरस निरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं। ते णं नरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसपहा मेयवसापू-

यपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊयगणिवन्नाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा, असुभा णरएसु वेयणा। एत्थ णं बालुयप्पभापुढवीणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे बालुयप्पभापुढवीणेरइया परिवसंति। काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो! ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं णरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। कहि णं भंते! पंकप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता? गोयमा! पंकप्पभापुढवीए बीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठारसुत्तरे जोयणसयसहस्से। एत्थ णं पंकप्पभापुढविनेरइयाणं दस निरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं। ते णं णरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेयवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिसंधा काऊयगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा, असुभा नरगेसु वेयणाओ। एत्थ णं पंकप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, संठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे पंकप्पभापुढविणेरइया परिवसंति। काला, कालोभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो! ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। कहि णं भंते! धूमप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता? गोयमा! धूमप्पभापुढवीए अट्ठारसुत्तरजोयणसयसहस्साबाहल्लाए, उवरि एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे सोलसुत्तरे जोयणसयसहस्से। एत्थ णं धूमप्पभापुढविणेरइयाणं तिण्णि निरयावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं नरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेयवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊयगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरगेसु वेयणाओ। एत्थं णं धूमप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे धूमप्पभापुढविणेरइया परिवसंति। काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो! ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति।

कहि णं भंते! तमप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता? गोयमा! तमापुढवीए सोलसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे चोद्दसुत्तरे जोयणसहस्से। एत्थ णं तमप्पभापुढविणेरइयाणं एगे पंचूणे नरगावाससयसहस्से हवंतीति मक्खायं। ते णं नरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेदवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्विगंधा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरगेसु वेयणाओ। एत्थ णं तमापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे तमप्पभापुढविणेरइया परिवसंति। काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो! ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। कहि णं भंते! तमतमापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। गोयमा! तमतमापुढवीए अट्ठुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्ला उवरि अद्धतेवण्णजोयणसहस्साइं उग्गाहित्ता, हेट्ठा वि अद्धतेवण्णजोयण-सहस्सं वज्जित्ता, मज्झे तिण्णि जोयणसहस्सेसु। एत्थ णं तमतमापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं पंचदिसिं पंच अणुत्तरा महइमहालगा महानिरया पण्णत्ता। तं जहा-काले, महाकाले, रोरुए, महारोरुए, अपइट्ठाणे। ते णं नरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया, निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेयपूयवसारुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा

कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरगेसु वेअणाओ। एत्थ णं तमतमापुढविनेरइयाणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभाए, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभाए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभाए। तत्थ णं बहवे तमतमापुढविनेरइया परिवसंति। काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणया, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो ! ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति।

'' आसीयं बत्तीसं, अट्ठावीसं च होइ वीसं च।
अट्ठारस सोलसगं, अट्ठुत्तरमेव हेट्ठिमया॥ १॥
अट्ठुत्तर बत्तीसं, छव्वीसं चेव सयसहस्सं तु।
अट्ठारस सोलसगं, चोद्दसमहियं तु छट्ठीए॥ २॥
अद्धतिवन्न सहस्सा, उवरिमहो वज्जिऊण तो भणियं।
मज्झे उ तिसु सहस्सेसु होंति नरगा तमतमाए॥ ३॥
तीसा य पन्नवीसा, पन्नरस दसेव सयसहस्साइं।
तिन्नि य पंचूणेगं, पंचेव अणुत्तरा नरगा॥ ४॥ ''

कहि णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! उड्ढलोए तदेकदेसभाए, अहोलोए तदेकदेसभाए, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु विलपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु। एत्थ णं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे।

कहि णं भंते ! मणुस्साणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! अंतोमणुस्सखित्ते पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अंतरदीवेसु। एत्थ णं मणुस्साणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेइज्जभागे।

कहि णं भंते ! भवणवासीणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भवणवासी देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयण-सहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरि जोयणसयसहस्सं, एत्थं णं भवणवासीणं देवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं सत्त भवणकोडीओ बावत्तरिं च भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो समचउरंसा, अहे पुक्खरकन्नियासंठाणसंठिया उक्किण्णंतरविउलगंभीरखातफलिहा पागारऽट्टालयकवाडतोरणपडिदुवारदेसभागा जंतसयघिमुसलभुसंडिपरिवारिया अउज्झा सया जया सया अजेया सदा गुत्ता अडयालकोट्ठइया अडयालकवयणमाला खेमा सिवा किंकरामरडंडो वरक्खिया लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदनदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवन्नसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधगंधिया गंधवट्टीभूया अच्छरगणसंघसंकिन्ना दिव्वतुडियसद्दसंपन्नदित्ता सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरिया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। एत्थ णं भवणवासीणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे भवणवासी देवा परिवसंति।

तं जहा-

'' असुरा नागसुवन्ना, विज्जू अग्गी य दीव उदही य।
दिसि पवणथणियणामा, दसहा एए भवणवासी॥ १॥ ''

चूडामणिमउडरयणभूसणा फणिगरुलवइरपुण्णकलसंकिउप्फेसा सीहमगरमयंकअस्सवरवद्धमाणनिज्जुत्तचित्तचिंधमतासुरूवा महिड्ढिया महज्जुतिया महायसा महाबला महाणुभावा महासोक्खा हारविराइयवत्था कडगतुडियथंभियभुया अंगदकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुत्तीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेस्साए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं भवणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं तायत्तीसाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं साणं अवगमहिसीणं साणं साणं परियाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाह-

स्सीणं अन्नेसिं च बहूणं भवणवासीणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महया ध्यनट्टगीयवाइयतंतीतलताल-तुडियघण इंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजेमाणा विहरंति।

कहि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?कहि णं भंते ! असुरकुमारा देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्स-बाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से बाहल्लाए। एत्थ णं असुरकुमाराणं देवाणं चोवट्ठिभवणावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा, अहे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिया किन्नंतरविउलगंभीरक्खायफलिहा पागारऽट्टालयकवाडतोरणपडिदुवारदेसभागा जंतसयग्घिमुसलभुसंडिपरिवारिया अउज्झा सदा सया बलया सदा गुत्ता अडयाला कोट्ठगरइया अडयालकयवन्नमाला खेमा सिवा किंकरामरडंडो वरक्खिया लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवन्नसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधगंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघसंविकिण्णा दिव्वतुडियसद्दसंपन्ना-दिया सव्वरयणामया अच्छा सण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरिया सउज्जोया पासा-इया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। एत्थ णं असुरकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे असुरकुमारा देवा परिवसंति। काला, लोहितक्खा, बिंबोट्ठा, धवलपुप्फदंता, असियकेसा, वामेयकुंडलधरा, अट्टचंदणाणुलित्तगत्ता ईसीसिलिंधपुप्फपगासाइं असंकिलिट्ठाइं सुहुमाइं वत्थाइं पवरपरिहिया, वयं च पढमं समइक्कंता, विइयं च असंपत्ता, भद्दे जोव्वणे वट्टमाणा तलभंगयतुडियपवरभूसणनिम्मलनिरयमणिरयणमंडियभुया दसमुद्दामंडियऽग्गहत्था चूडामणिविचित्तचिंधगता सुरूवा महिड्ढिया महज्जुइया महायसा महब्बला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवत्था कडयतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडयलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंवतानमालधरा दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणाणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए भासाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए पहाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेण एएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा। ते ण तत्थ साणं साणं भवणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाह-स्सीणं साणं साणं तायत्तीसाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं भवणवासीणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महतरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतु-डियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजेमाणा विहरंति। चमरबलिणो इत्थ दुवे असुरकुमारिंदा असुरकुमार-रायाणो परिवसंति। काला, महानालसरिसा, नीलगुलियगवलऽयसीकुसुमप्पगासा, वियसियसयवत्तनिम्मलेसीसियरत्ततंबनयणा गरुलाययउज्जुत्तुंगनासा उवचियसिलप्पवालबिंबफलसन्निहाहरोट्ठा पंडुरससिसगलविमलनिम्मलदहिघणसंखगोखीरकुंददगरयमुणालियाधवलदंतसेढी हुयवहणिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा अंजणघणकासणरुयगरमणिज्जनिद्धकेसा वामेयकुंडलधरा अट्टचंदणाणुलित्तगत्ता ईसीसिलिंधपुप्फप्पगासाइं असंकिलिट्ठाइं सुहुमाइं वत्थाइं पवरपरिहिया, वयं च पढमं समइक्कंता, विइयं च असंपत्ता, भद्दे जोव्वणे वट्टमाणा तलभंगयतुडियपवर-भूसणनिम्मलनिरयमणिरयणमंडियभुया दसमुहामंडियऽग्गहत्था चूडामणिविचित्तचिंधगता सुरूवा महिड्ढिया महज्जुइया महायसा महब्बला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवत्था कडयतुडियथंभियभुया अंगयकुंडल-मट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउढा कल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए भासाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए पहाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं एएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा। ते णं तत्थ साणं साणं भवणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं तायणीसाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं साणं

अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाण साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साण आयरक्खदेवसहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं भवणवासीणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघण-मुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजेमाणा विहरति।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं असुरकुमारदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! दाहिणिल्ला णं असुरकुमारा देवा परिवसंति ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयण-सयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसह-स्से। एत्थ णं दाहिणिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं देवीण य चोत्तीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भव-णा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा, सो चेव वण्णओ० जाव पडि-रूवा। एत्थ णं दाहिणिल्लाणं असुरकुमारदेवाणं पज्जत्तापज्ज-त्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे दाहिणिल्ला असुरकुमारदेवा देवीओ परिवसंति। काला, लोहियक्खा तहेव० जाव भुंजेमाणा विहरंति। एवं सव्वत्थ भाणियव्वं भवणवासीणं।

चमरे इत्थ असुरकुमारिंदे असुरकुमारराया परिवसइ। काले महानीलसरिसे० जाव पहासेमाणे, से णं तत्थ चउत्तीसाए भवणावाससयसहस्साणं चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं पंचण्हं अग्गम-हिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउण्हं च चउसट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सी-णं, अन्नेसिं च बहूणं दाहिणिल्लाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं० जाव विहरंति।

कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं पज्जत्ताप-ज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! उत्तरिल्ला असुरकुमारा देवा परिवसंति ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसह-स्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं देवीण य तीसं भव-णावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा, सेसं जहा दाहिणिल्लाणं० जाव विहरंति। वली इत्थ वइरोयणिंदे वइरोयणराया परिवसइ, काले महानील-सरिसे० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ तीसाए भवणा-वाससयसहस्साणं सट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं पंचण्हं अग्गमहिसीणं स-परिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीया-हिवईणं चउण्हं सट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अण्णेसिं च बहूणं उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव कुव्वमाणे विहरंति।

कहि णं भंते ! नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! नागकुमारा देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयण-सयसहस्स-बाहल्लाए, उवरि एगं जोयणसहस्सं वज्जिऊण, मज्झे अट्ठहत्त-रिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्ता-पज्जत्ताणं चुलसीइभवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा० जाव पडिरूवा। तत्थ णं नागकुमाराणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे नागकुमारा देवा परिवसंति महिड्ढिया महज्जुइया सेसं जहा ओहियाणं० जाव विहरंति। धरणभूया णंदा एत्थ दुवे नाग-कुमाररायाणो परिवसंति महिड्ढिया, सेसं जहा ओहियाणं० जाव विहरंति। कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! दाहिणिल्ला णं नागकुमारा देवा परिवसंति ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाह-ल्लाए, उवरि एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता हेट्ठा चेगं जोयणसह-स्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं चोयालीसं भवणावाससय-सहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा० जाव पडिरूवा। एत्थ णं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता, तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। एत्थ णं बहवे दाहिणिल्लाणं नागकुमारा देवा परिवसंति महिड्ढिया० जाव विहरंति। धरणे एत्थ नागकुमारिंदे नागकुमारराया परिवसंति महिड्ढीए० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ चोयालीसाए भवणा-वाससयसहस्साणं छण्हं सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं छण्हं अग्गमहिसीणं

सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउवीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाण य देवीण य आहे-वच्चं पोरेवच्चं० जाव कुव्वमाणे विहरंति।

कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! उत्तरिल्ला नागकुमारा देवा परिवसंति ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं उत्तरिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं चत्तालीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा, सेसं जहा दाहिणिल्लाणं० जाव विहरंति। भूयाणंदे इत्थ नागकुमारिंदे नागकुमारराया परिवसइ महिड्ढिए० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ चत्तालीसाए भवणावाससयसहस्साणं आहेवच्चं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते ! सुवण्णकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए० जाव एत्थ णं सुवण्णकुमाराणं देवाणं बावत्तरिभवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा० जाव पडिरूवा, तत्थ णं सुवण्णकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति महिड्ढिया, सेसं जहा ओहियाणं० जाव विहरंति। वेणुदेवे वेणुदाली य इत्थ दुवे सुवण्णकुमारिंदा सुवण्णकुमाररायाणो परिवसंति, महिड्ढिया० जाव विहरंति।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! दाहिणिल्ला सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे० जाव मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं दाहिणिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं अट्ठत्तीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा० जाव पडिरूवा। तत्थ णं दाहिणिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। एत्थ णं बहवे सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति। वेणुदेवे इत्थ सुवर्णिंदे सुवण्णकुमाररायाणो परिवसंति, सेसं जहा नागकुमाराणं।

कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! उत्तरिल्ला सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए० जाव एत्थ णं उत्तरिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं वत्तव्वया भणिया, तहा सेसाण वि चोद्दसण्हं इंदाणं भाणियव्वा ; नवरं भवणनाणत्तं इंदाण नाणत्तं वण्णेण नाणत्तं परिहाणनाणत्तं च इमाहिं गाहाहिं अणुगंतव्वं-

'' चोवट्ठी असुराणं, चुलसीती चेव होइ नागाणं।
बावत्तरिं सुवण्णे, वाउकुमाराण छण्णउती ॥ १ ॥
दीवदिसाउदहीणं, विज्जुकुमारिंदथणियमग्गीणं।
छण्हं पि जुवलयाणं, छावत्तरिमो सयसहस्सा ॥ २ ॥
चोत्तीसा चोयाला, अडतीसं होइ सयसहस्साइं।
पण्णा चत्तालीसा, दाहिणओ होंति भवणाइं ॥ ३ ॥
तीसा चत्तालीसा, चोत्तीसं चेव सयसहस्साइं।
छायाला छत्तीसा, उत्तरओ होंति भवणाइं ॥ ४ ॥
चउसट्ठी सट्ठी खलु, छच्च सहस्सा उ असुरवज्जाणं।
सामाणियाउ एए, चउग्गुणा आयरक्खाओ ॥ ५ ॥
चमरे धरणे तह वे-णुदेवहरिकंत अग्गिसीहे य।
पुण्णे जलकंते य, अमिए वेलंबे घोसे य ॥ ६ ॥
बलि भूयाणंदे वे-णुदालिहरिसहऽग्गिमाणवविसिट्ठे।
जलप्पभे अमियवाहणे, पभंजणे वा महाघोसे ॥ ७ ॥
उत्तरिल्लाणं० जाव विहरंति।

'' काला असुरकुमारा, नागा उदही य पंडुरा दो वि।
बरकणगणिहसगोरा, होंति सुवण्णा दिसा थणिया ॥ १ ॥
उत्तत्तकणगवण्णा, विज्जू अग्नी य होंति दीवा य।
सामा पियंगुवण्णा, वाउकुमारा मुणेयव्वा ॥ २ ॥
असुरेसु होंति रत्ता, सीलिंधप्पुप्फभायणा उदही।
आसासयवसणधरा, होंति सुवण्णा दिसा थणिया ॥ ३ ॥
नीलाणुरागवसणा, विज्जू अग्गी य होंति दीवा य।
संझाऽणुरागवसणा, वाउकुमारा मुणेयव्वा ॥ ४ ॥ ''

कहि णं भंते ! वाणमंतराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! बाणमंतरा देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडयस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरि एगं जोयणसयं ओगाहित्ता, हिट्ठा वि एगं जोयणसय वज्जित्ता, मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु। एत्थ णं वाणमंतराणं देवाणं तिरियमसंखेज्जाओ भोमेज्जनगरावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भोमेज्जा णगरा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा, अहे पुक्खरकन्नियासंठाणसंठिया, उक्किन्नंतरविउलगंभीरखायफलिहा पागारऽट्टालयकवाडतोरणपडिदुवारवे

सभागा जंतसयग्घिमुसलभुसंडिपरिवारिया अउज्झा सया जया सया गुत्ता अडयालकुट्ठरइयअडयालकयवण्णमाला खेमा सिवा किंकरामरदंडोवरक्खिया लाउल्लोइयमहिया गोसीस-सरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउल-वट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवन्नसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकंदरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधिया गंधवट्टीभूया अच्छरगणसंघविकिण्णा दिव्वतुडियसद्दसंपन्नंदिया पडागमालाउलाभिरामा सव्वरयाणमया अच्छा सण्हा लट्ठा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। एत्थ णं वाणमंतराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा परिवसंति। तं जहा-पिसाया भूया जक्खा रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा भुयगवतिणो य महाकाया गंधव्वगणा य निउणगंधव्वगीतरइणो अणवण्णियपण्णवण्णियइसिवाइयभूयवाइयकंदियमहाकंदियकोहंडपयंगदेवा चलचवलचित्तकीलणदवप्पिया गहिरहसियपिया गीयणिच्चरती वणमालाऽऽमेलमउलकुंडलसच्छंदविउव्वियाभरणचारुभूसणधरा सव्वोयसुरभिकुसुमसुरइयपलंबसोहंतकंतवियसितचित्तवन्नमालरइयवच्छा कामकामा कामरूवदेहधरा नाणाविहवन्नरागवरवत्थललितचित्तचिल्लगणियंसणा विविहदेसनेवत्थगहियवेसा समुइयकंदप्पकलहकेलिकोलाहलप्पिया-हासा बोलबहुला असिमोग्गरसत्तिकुंतहत्था अणेगमणिरयणविविहनिज्जुत्तविचित्तचिंधगया सुरूवा महिड्ढिया महज्जुतिया महायसा महाबला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडजुयलकण्णपीठधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिकल्लाणगपवरवत्थपरिहया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं एएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा। ते णं तत्थ साणं साणं भोमेज्जाणगरावाससयसहस्सा असंखिज्जाणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं सपरिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजेमाणा विहरंति।

कहि णं भंते ! पिसायाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! पिसाया देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडयस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरि एगं जोयणसयं ओगाहित्ता, हिट्ठा चेगं जोयणसयं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु, एत्थ णं पिसायाणं देवाणं तिरियमसंखेज्जा भोमेज्जानगरावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भोमेज्ज नगरा बाहिं वट्टा, जहा ओहिओ भवणवण्णओ, तहा भाणियव्वो० जाव पडिरूवा। एत्थ णं पिसायाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे पिसाया परिवसंति महिड्ढिया जहा ओहिया० जाव विहरंति। काला, महाकाला, इत्थ दुवे पिसाइंदा पिसायरायाणो परिवसंति महिड्ढिया मह-जुइया० जाव विहरंति।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं पिसायाणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! दाहिणिल्ला पिसाया देवा परिवसंति ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडयस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरि एगं जोयणसयं ओगाहित्ता, हिट्ठा चेगं जोयणसयं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु, एत्थ णं दाहिणिल्लाणं पिसायाणं देवाणं तिरियमसंखिज्जा भोमेज्जानगरावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा जहा ओहिओ भवणवण्णओ तहेव भाणियव्वो० जाव पडिरूवा, एत्थं णं दाहिणिल्लाणं पिसायाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता, तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे दाहिणिल्ला पिसाया देवा परिवसंति, महिड्ढिया जहा ओहिया० जाव विहरंति। काले जत्थ पिसाइंदे पिसायराया परिवसति महिड्ढिए० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ तिरियमसंखेज्जाणं भोमेज्जा णगरावाससयसहस्साणं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं दाहिणिल्लाणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव विहरंति।

उत्तरिल्लाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहेव दाहिणिल्लाणं वत्तव्वया, तहेव, उत्तरिल्लाणं पि, नवरं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं महाकाले जत्थ पिसाइंदे पिसायराया परिवसति० जाव विहरति । एवं जहा पिसायाणं जहा भूयाणं पि० जाव गंधव्वाणं, नवरं इंदेसु नाणत्तं भाणियव्वं, इमेणं पि विहिणा भूयाणं सुरूवपडिरूवा, जक्खाणं पुण्णभद्दमाणिभद्दा, रक्खसाणं भीममहाभीमा, किन्नराणं किन्नरकिंपुरिसा, किं पुरिसाणं सप्पुरिसमहापुरिसा, महोरगाणं अइकायमहाकाया, गंधव्वाणं गीतरई गीतजसा० जाव गीयजसे विहरति ।

'' काले य महाकाले, सुरूव पडिरूव पुण्णभद्दे य ।
अमरवइ माणभद्दे, भीमे य तहा महाभीमे ॥ १ ॥
किन्नर किंपुरिसे खलु, सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे ।
अइकाएँ महाकाए, गीयरती चेव गीयजसे ''॥ २ ॥विहरति ।

कहि णं भंते ! अणवन्नियाणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! अणवन्निया देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडयस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरि हिट्ठा य एगं जोयणसयं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु, एत्थ णं अणवन्नियाणं देवाणं तिरियमसंखिज्जा भवणा वाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं० जाव पडिरूवा, एत्थ णं अणवन्नियाणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं अणवन्निया देवा परिवसंति, महिड्ढिया जहा पिसाया० जाव विहरंति, सन्निहियसामाणा, इत्थ दुवे अणवन्निंदा अणवन्नियकुमाररायाणो परिवसंति महिड्ढिया, जहा कालमहाकाला, एवं जहा कालमहाकालाणं दोण्हं पि दाहिणिल्लाणं उत्तरिल्लाण य भणिया, तहा संनिहियसामाणाणं पि भाणियव्वा !

संगहणिगाहा-

'' अणवन्निएँ पणवन्निएँ, इसिवाइएँ भूयवाइए चेव ।
कंदिएँ य महाकंदिएँ, कोहंडएँ पयंगदेवा य ॥ १ ॥ ''

इमे इंदा-

'' संनिहिए सामाणिएँ, धाइ विधाए इसी य इसिवाले ।
ईसरें महेसरे वि य, हवइ सुवत्थे विसाले य ॥ १ ॥
हासे हासरई वि य, सेए य भवे तहा महासेए ।
पयगे पयगपए वि य, नेयव्वा आणुपुव्वीए ॥ २ ॥ ''

कहि णं भंते ! जोइसियाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता ? कहि णं भंते ! जोइसिया देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ सत्तणउए जोयणसए उड्ढं उप्पइत्ता, दसुत्तरं जोयणसयं, बाहल्ले, तिरियमसंखिज्जे जोइसविसए । एत्थ णं जोइसियाणं देवाणं तिरियमसंखिज्जा जोइसियविमाणा वाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं विमाणा अद्धकविट्ठगसंठाणसंठिया सव्वफालियामया अइडगयमुसियपहसिया इव विविहमणिकणगरयणभत्तिचित्ता वाउद्धूतविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइच्छत्तकलिया तुंगा गगनतलमहिलंघमाणसिहरा जालंतररयणपंजरुम्मीलिय व्व मणिकणगथूभियागा वियसियसयपत्तपोंडरीया तिलगरयणद्धचंदचित्ता नानामणिमयदामालंकिया अंतो बाहिं च सण्हा तवणिज्जरुइलवालुया पत्थडा सुहफासा ससिरीयरूवा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, एत्थ णं जोइसियाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे जोइसिया देवा परिवसंति । तं जहा-बहस्सई, चंदा, सूरा, सुक्का, सणिच्छरा, राहुधूमकेतुबुधा, अंगारगा, तत्ततवणिज्जकणगवन्ना जे गहा जोइसिम्मि चारं चरंति, केतू य गतिरइया अट्ठावीसइविहा य नक्खत्ता देवयगणा नाणासंठाणसंठियाओ य पंचवन्नाओ तारयाओ वि य तेयलेस्सापरिणो अविस्सामंडलगई पत्तेयं णामंकपगडियचिंधमउडा महिड्ढिया० जाव पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं विमाणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं जोइसियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव विहरंति । चंदिमसूरिया य, एत्थ दुवे जोइसिंदा जोइसियरायाणो परिवसंति महिड्ढिया० जाव पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं जोइसियविमाणावाससयसहस्साणं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं जोइसियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव विहरंति ।

कहि णं भंते ! वेमाणियाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! वेमाणिया देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं बहुगाओ जोयणकोडीओ बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, एत्थ णं सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलोगलंतगमहासुक्कसहस्सारआणयपाणय-

आरणअच्चुयगेविज्जाणुत्तरेसु तत्थ इत्थ णं वेमाणियाणं देवाणं चउरासीविमाणसयसहस्सा सत्ताणउईभवे सहस्साओ तेवीसं विमाणा हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया अत्था सण्हा लट्ठा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पहा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, इत्थं णं वेमाणियाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे वेमाणिया देवा परिवसंति। तं जहा-सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलोगलंतगमहासुक्कसहस्सारआणयपाणयआरणअच्चुयगेविज्जगाणुत्तरोववाइया देवा, ते णं मियमहिसवराहसीहछगलदद्दुरहयगयभुयगखग्गउसभंकविडिमपागडियचिंधमउडा पसढिलवरमउडतिरीडधारिणो वरकुंडलुज्जोइयाणणा मउडदित्तसिरया रत्ताभा पउमप्पहगोरा भासेया सुहवण्णगंधफासा उत्तमवेउव्विणो पवरवत्थगंधमल्लाणुलेवणधरा महिड्ढिया महज्जुइया महायसा महब्बला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया अंगदकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलीकल्लाणपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वन्नेणं, दिव्वेणं गंधेणं, दिव्वेणं फासेणं, दिव्वेणं संघयणेणं, दिव्वेणं संठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, दिव्वाए जुईए, दिव्वाए पभाए, दिव्वाए छायाए, दिव्वाए अच्चीए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवे-माणा पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं विमाणावाससयसह-स्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं तायत्तीस-गाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं सपरि-वाराणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं वेमाणियाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरंति।

कहि णं भंते ! सोहम्मगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! सोहम्मगदेवा परिवसंति ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंद्रिमसूरियगहगणनक्खत्ततारागं बहूणि जोयणसयाइं बहूणि जोयणसहस्साइं बहूणि जोयणसयसहस्साइं बहुगाओ जोयणकोडीओ बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता एत्थ णं सोहम्मे नामं कप्पे पन्नत्ते। पातीणपडीणायते उदीणदाहिणवित्थिन्ने अद्धचंदसंठाणसंठिए अच्चिमालिभासरासिवन्नाभे असंखेज्जाओ जोयणकोडीओ असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं सव्वरयणामए अत्थे सण्हे लट्ठे घट्ठे मट्ठे० जाव पडिरूवे। तत्थ णं सोहम्मगदेवाणं बत्तीसं विमाणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया अत्था० जाव पडिरूवा। तेसि णं विमाणाणं बहुमज्झदेसभाए पंच वडेंसया पण्णत्ता। तं जहा-असोगवडेंसए, सत्तवन्नवडेंसए, चंपगवडेंसए, चूयवडेंसए, मज्झे तत्थ सोहम्मवडेंसए। ते णं वडेंसया सव्वरयणामया अत्था० जाव पडिरूवा, एत्थ णं सोहम्मगदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता, तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे सोहम्मगदेवा परिवसंति महिड्ढिया० जाव पभासेमाणा। ते णं तत्थ साणं साणं विमाणावाससयसहस्साणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं एवं जहेव ओहियाणं तहेव एतेसिं पि भाणियव्वं० जाव आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं सोहम्मगकप्पवासीणं वेमाणियाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं० जाव विहरंति। सक्के इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ वज्जपाणी पुरंदरे सयक्कऊ सहस्सक्खे मघवं पाकसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई बत्तीसविमाणवाससयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे अरयंवरवत्थधरे आलइयामालमउडे नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे महिड्ढिए० जाव पभासेमाणे से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससयसहस्साणं चउरासीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं सोहम्मकप्पबासीणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं कुव्वमाणे० जाव विहरति।

कहि णं भंते ! ईसाणगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! ईसाणगदेवा परिवसंति ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियग्गहगणनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं

जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं ईसाणे नामं कप्पे पन्नत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविथिन्ने, एवं जहा सोहम्मे० जाव पडिरूवे। तत्थ णं ईसाणदेवाणं अट्ठावीसं विमाणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा। तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पंच वडेंसगा पण्णत्ता। तं जहा-अंकवडेंसए, फलिहवडेंसए, रयणवडेंसए, ०जाव सुरूववडिंसए, मज्झे इत्थ ईसाणवडेंसए। ते णं वडेंसया सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा। इत्थ णं ईसाणाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, सेसं जहा सोहम्मगदेवाणं० जाव विहरंति, ईसाणे इत्थ देविंदे देवराया परिवसति सूलपाणी बसभवाहणे उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाणावाससयसहस्साहिवई अरयंवरवत्थधरे, सेसं जहा सक्कस्स० जाव पभासेमाणे, तत्थ अट्ठावीसाए विमाणावाससयसहस्साणं असीतीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउण्हं असीतीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं ईसाणकप्पवासीणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं कुव्वमाणे० जाव विहरइ।

कहि णं भंते ! सणंकुमारदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! सणंकुमारा देवा परिवसंति ? गोयमा ! सोहम्मस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहुगाओ जोयणकोडीओ बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, तत्थ णं सणंकुमारे नामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायए, उदीणदाहिणविथिन्ने, जहा सोहम्मे कप्पे० जाव पडिरूवे। तत्थ णं सणंकुमाराणं देवाणं बारस विमाणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा, तेसि णं विमाणाणं बहुमज्झदेसभागे पंचवडेंसगा पण्णत्ता। तं जहा-असोगवडेंसए, सत्तवण्णवडेंसए, चंपगवडेंसए, चूयवडेंसए, मज्झे जत्थ सणंकुमारवडेंसए, ते णं वडेंसया सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा। तत्थ णं सणंकुमार-देवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे सणंकुमारा देवा परिवसंति महिड्ढिया० जाव पभासेमाणा विहरंति, नवरं अग्गमहिसीओ णत्थि सणंकुमारे, इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, अरयंबरवत्थधरे, सेसं जहा सक्कस्स, से णं तत्थ बारसण्हं विमाणावाससयसहस्साणं बावत्तरीए सामाणियसाहस्सीणं, सेसं जहा सक्कस्स अग्गमहिसीवज्जं, नवरं चउण्हं बावत्तरीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते ! माहिंदाणं देवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! माहिंदगा देवा परिवसंति ? गोयमा ! ईसाणस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं० जाव बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, तत्थ णं माहिंदे णामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायए० जाव एवं जहेव सणंकुमारे, नवरं अट्ठ विमाणावाससयसहस्सा वडेंसया, जहा ईसाणे, नवरं मज्झे तत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, अरयंवरवत्थधरे, एवं जहा सणंकुमारे० जाव विहरइ, नवरं अट्ठण्हं विमाणावाससयसहस्साणं सत्तरीए सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं सत्तरीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते ! बंभलोगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! बंभलोगा देवा परिवसंति ? गोयमा ! सणं-कुमारमाहिंदाणं कप्पाणं उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं बंभलोए नामं कप्पे पाईणपडीणायते, उदीणदाहिणविथिन्ने, पडिपुन्नचंदसंठाणसंठिए अच्चिमाली भासरासिप्पभे, अवसेसं जहा सणंकुमाराणं, नवरं चत्तारि विमाणावाससयसहस्सा वडेंसगा, जहा सोहम्मस्स वडेंसया, नवरं मज्झे इत्थ बंभलोयवडेंसए, इत्थ णं बंभलोगाणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता। सेसं तहेव० जाव विहरति। बंभे इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ अरयंबरवत्थधरे, एवं जहा सणंकुमारे० जाव विहरति, नवरं चउण्हं विमाणावाससयसहस्साणं सट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं चउण्ह य सट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते ! लंतगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्ण- त्ता ? कहि णं भंते ! लंतगदेवा परिवसंति ? गोयमा ! बंभलोगस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं बहूइं जोयणसयाइं० जाव बहुईओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, इत्थ णं लंतए नामं कप्पे पण्णत्ते। पाईणपडीणायते जहा बंभलोए, नवरं पन्नासा विमाणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं, वडेंसगा जहा ईसाणवडेंसगा, नवरं मज्झे इत्थ लंतगवडेंसए देवा तहेव० जाव विहरंति, लंतए इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, जहा सणंकुमारे, नवरं पन्नासाए विमाणावाससयसहस्साणं, पन्नासाए सामाणियसाह-

स्सीणं चउण्हं पन्नासाणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अण्णेसिं च बहूणं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते ! महासुक्काणं देवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! महासुक्का देवा परिवसंति ? गोयमा ! लंतस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं महासुक्के नामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायते, उदीणदाहिणवित्थिन्ने, जहा बंभलोए, नवरं चत्तालीसं विमाणावाससहस्सा हवंतीति मक्खायं, वडेंसगा जहा सोहम्मवडेंसगा, नवरं मज्झे तत्थ महासुक्कवडेंसए० जाव विहरइ। महासुक्के इत्थ देविंदे देवराया जहा सणंकुमारे, नवरं चत्तालीसाए विमाणावाससाहस्सीणं चत्तालीसाए सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं चत्तालीसाणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं० जाव विहरंति।

कहि णं भंते ! सहस्सारदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! सहस्सारा देवा परिवसंति ? गोयमा ! महासुक्कस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं सहस्सारे नामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायते, जहा बंभलोए, नवरं छ विमाणावाससहस्सा हवंतीति मक्खायं, देवा तहेव वडेंसगा, जहा ईसाणस्स वडेंसगा, नवरं मज्झे जत्थ सहस्सारवडेंसए० जाव विहरंति। सहस्सारे इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, जहा सणंकुमारे नवरं छण्हं विमाणावाससहस्साणं तीसाए सामाणियसाहस्सीणं चउण्ह य तीसाणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं० जाव आहेवच्चं पोरेवच्चं कारेमाणे विहरति।

कहि णं भंते ! आणयपाणयदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! आयणपाणयदेवा परिवसंति ? गोयमा ! सहस्सारस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं आणयपाणयणामेणं दुवे कप्पा पण्णत्ता, पाईणपडीणायते, उदीणदाहिणवित्थिन्ना, अद्धचंदसंठाणसंठिआ अच्चिमाली भासरासिप्पभा, सेसं जहा सणंकुमारे० जाव पडिरूवा। तत्थ णं आणयपाणयदेवाणं चत्तारि विमाणावाससया हवंतीति मक्खायं० जाव पडिरूवा वडेंसगा, जहा सोहम्मे, नवरं मज्झे पाणयवडेंसए, ते णं वडेंसगा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा, इत्थ णं आणयपाणयदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता ; तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे आणयपाणयदेवा परिवसंति, महिड्ढिया० जाव पभासेमाणा। ते णं तत्थ साणं साणं विमाणावाससयाणं० जाव विहरंति। पाणए एत्थ देविंदे देवराया परिवसंति, जहा सणंकुमारे, नवरं चउण्हं विमाणावाससयाणं वीसाए सामाणियसाहस्सीणं असीतीए आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं० जाव विहरंति।

कहि णं भंते ! आरणच्चुयाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! आरणच्चुया देवा परिवसंति ? गोयमा ! आणयपाणयाणं कप्पाणं उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं इत्थ णं आरणच्चुया नाम दुवे कप्पा पण्णत्ता, पाईणपडीणायता, उदीणदाहिणवित्थिन्ना, अद्धचंदसंठाणसंठिया अच्चिमाली भासरासिवन्नाभा असंखिज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लट्ठा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला णिप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। इत्थ णं आरणच्चुयाणं देवाणं तिन्नि विमाणावाससया हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरणामया अच्छा सण्हा लट्ठा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, तेसि णं विमाणाणं बहुमज्झदेसभाए पंच वडेंसया पण्णत्ता। तं जहा-अंकवडेंसए, फलिहवडेंसए, रयणवडेंसए० जाव रूववडेंसए, मज्झे जत्थ अच्चुयवडेंसए, ते णं वडेंसया सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा; इत्थ णं आरणच्चुयाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे आरणच्चुया देवा० जाव विहरंति। अच्चुए तत्थ देविंदे देवराया परिवसइ। जहा पाणए० जाव विहरति, नवरं तिण्हं, विमाणावाससयाणं दसण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तालीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीणं आहेवच्चं० जाव कुव्वेमाणे विहरति।

'' बत्तीसऽट्ठावीसा, वारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा।
पन्ना चत्तालीसा, छच्च सहस्सा सहस्सारे॥ १॥
आणयपाणयकप्पे, चत्तारि सयाऽरणच्चुए तिण्णि।
सत्तविमाणसयाइं, चउसु वि एएसु कप्पेसु॥ २॥ ''

सामाणियसंगहणीगाहा-

'' चउरासीइ असीई, बावत्तरि सत्तरी य सट्ठीए।
पन्ना चत्तालीसा, तीसा वीसा दस सहस्सा॥ १॥ ''

एव चेव आयरक्खा चउग्गुणा।

कहि णं भंते ! हिट्ठिमेगविज्जगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! हेट्ठिमगेविज्जगा देवा परिवसंति ? गोयमा ! आरणच्चुयाणं कप्पाणं उप्पिं० जाव उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, इत्थ णं हेट्ठिमगेविज्जाणं देवाणं तओ गेवेज्जविमाणपत्थडा पन्नत्ता, पाईणपडीणायया उदीणदा-

हिणविंटिथन्ना पडिपुन्नचंदसंठाणसंठिया अच्चिमाली भासरासिवन्नाभा, सेसं जहा बंभलोगे० जाव पडिरूवा। तत्थ णं हेट्ठिमगेविज्जगाणं देवाणं एक्कारसुत्तरे विमा गावाससए हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया ०जाव पडिरूवा, इत्थ णं हेट्ठिमगेविज्जगाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे हेट्ठिमगेविज्जगा देवा परिवसंति, सव्वे सममहिड्ढिया सव्वे समज्जुतीया सव्वे समजसा सव्वे समबला सव्वे समाणुभावा महासोक्खा अणिंदा अप्पेस्सा अपुरोहिया अहमिंदा नामं ते देवगणा पण्णत्ता, समणाउसो !

कहि णं भंते ! मज्झिमगाणं गेविज्जगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! मज्झिमगेविज्जगदेवा परिवसंति ? गोयमा ! हेट्ठिमगेविज्जमाणं उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं मज्झिमगेविज्जगदेवाणं तओ गेविज्जगविमाणपत्थडा पण्णत्ता, पाईणपडीणायता, जहा हेट्ठिमगेविज्जगाणं, नवरं सत्तुत्तरे विमाणावाससए हवंतीति मक्खाए। ते णं विमाणा० जाव पडिरूवा, इत्थ णं मज्झिमगेवेज्जाणं देवाणं० जाव तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे मज्झिमगेवेज्जगा देवा परिवसंति० जाव अहमिंदा नामं देवगणा पण्णत्ता, समणाउसो !

कहि णं भंते ! उवरिमगेवेज्जगाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! उवरिमगेविज्जगा देवा परिवसंति ? गोयमा ! मज्झिमगेवेज्जगदेवाणं उप्पिं० जाव उप्पइत्ता, तत्थ णं उवरिमगेवेज्जगाणं देवाणं तओ गेविज्जगविमाणपत्थडा पण्णत्ता, पाईणपडीणाओ, सेसं जहा हेट्ठिमगेविज्जगाणं, नवरं एगे विमाणावाससए हवंतीति मक्खायं, सेसं तहेव भाणियव्वं० जाव अहमिंदा नामं ते देवगणा पण्णत्ता, समणाउसो !

'' एक्कारसुत्तरं हे-ट्ठिमए सत्तुत्तरं च मज्झिमए।
सयमेगं उवरिमए, पंचेव अणुत्तरविमाणा ॥ १ ॥ ''

कहि णं भंते ! अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! अणुत्तरोववाइया देवा परिवसंति ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहुगाओ जोयणकोडीओ बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलोगलंतगसुक्कसहस्सारआणयपाणयआरणअच्चुयकप्पा तिण्णि य अट्ठारसुत्तरे गेविज्जविमाणावाससए वीतीवइत्ता ते णं परं दूरं गता णीरया निम्मला वितिमिरा विसुद्धा पंचदिसिं पंच अणुत्तरा महतिमहालया महाविमाणा पण्णत्ता। तं जहा-विजए, वेजयंते, जयंते, अपराजिए, सव्वट्ठसिद्धे। ते णं विमाणा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा घट्टा मट्ठा णीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, इत्थ णं अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे अणुत्तरोववाइया देवा परिवसंति, सव्वे सममहिड्ढिया सव्वे समबला सव्वे समाणुभावा महासोक्खा अणिंदा अप्पेस्सा अपुरोहिया अहमिंदा ते देवगणा पण्णत्ता, समणाउसो !

कहि णं भंते ! सिद्धाणं ठाणा पण्णत्ता ? कहि णं भंते ! सिद्धा परिवसंति ? गोयमा ! सव्वट्ठस्स महाविमाणस्स उवरिल्लाओ थूभियग्गाओ दुवालसजोयणे उड्ढं अवाहाए, इत्थ णं इसीपब्भारा नामं पुढवी पण्णत्ता। पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, एगं जोयणकोडीओ बायालीसं च सयसहस्साइं तीसं सहस्साइं दोन्नि य अउणापन्ने जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ता, इसीपब्भाराए णं पुढवीए बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणिए खेत्ते अट्ठजोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते, ततो अणंतरं च णं माताए २ पएसपरिहाणी २ परिहायमाणी २ सव्वेसु चरिमंतेसु मच्छियपत्तातो तणुयरी अंगुलस्स संखेज्जइभागे बाहल्लेणं पण्णत्ता, इसीपब्भाराए णं पुढवीए दुवालसनामधेज्जा पण्णत्ता, इसीति वा इसीपब्भाराइ वा तणुयरीति वा तणुतणुयरीति वा सिद्धिति वा सिद्धालएति वा मुत्तीइ वा मुत्तालएइ वा लोयग्गेति वा लोयग्गथूभियाति वा लोयपडिबुज्झणाइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहावइ वा इसीपब्भारा णं पुढवी सेता संखदलविमलसोत्थियमुणालदगरयतुसारगोखीरहारवन्ना उत्ताणयछत्तसंठाणसंठिया सव्वज्जुण्णसुवण्णमई अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, इसीपब्भाराए णं सीताए जोयणम्मि लोगंतो, तस्स णं जोयणस्स जे से उवरिल्ले गाउए, तस्स णं गाउयस्स जे से उवरिल्ले छब्भागे, एत्थ णं सिद्धा भगवंतो सादिया अपज्जवसिया अणेगजातिजरामरणजोनिसंसारकलंकलीभावपुणब्भवगब्भवासवसही० एवं च समइक्कंता सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति। तत्थ वि य ते

अवेदा अवेयणा निम्ममा असंगा य संसारविप्पमुक्का पदेसनिव्वत्तिसंठाणा।

अत्र शिष्यः पृच्छन्नाह-

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया।
कहिं बोंदिं चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झइ ? ॥ १ ॥

'' कहिं पडिहया सिद्धा '' इत्यादि। ' कहिं ' इत्यत्र सप्तमी तृतीयार्थे, प्राकृतत्वात्। यथा '' तिसु तिसु अलंकिया पुढवी '' इत्यादि। ततोऽयमर्थः-केन प्रतिहताः केन वलिताः ? सिद्धाः मुक्ताः, तथा क्व कस्मिन् स्थाने, सिद्धाः, प्रतिष्ठिता अवस्थिताः तथा क्व कस्मिन् क्षेत्रे, बोन्दिस्तनुः शरीरमित्यनर्थान्तरं, तां त्यक्त्वा, क्व गत्वा सिद्ध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्ति ? '' सिज्झइ '' इत्यत्रानुस्वारलोपो द्रष्टव्यः, अथ चैकवचनोपन्यासोऽपि सूत्रशैल्या न विरोधभाक्। तथा चान्यत्राप्येवं प्रयोगः- '' वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य। अच्छंदा जे न भुंजति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥ १ ॥ '' इति।

एवं शिष्येण प्रश्ने कृते सूरिराह-

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इह बोंदिं चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झइ ॥ २ ॥

'' अलोए पडिहया सिद्धा '' इत्यादि। अत्रापि सप्तमी तृतीयार्थे। अलोकेन केवलाऽऽकाशास्तिकायरूपेण, प्रतिहताः स्खलिताः सिद्धा ; इह तत्र धर्मास्तिकायाऽऽद्यभावात्तदानन्तर्यावृत्तिरेव प्रतिस्खलनं, न तु संबन्धे सति विघातः, अप्रतिघत्वात्, सप्रतिघानां हि संबन्धे सति विघातो, नान्येषामिति। तथा लोकस्य पञ्चास्तिकायाऽऽत्मकस्य, अग्रे मूर्द्धनि, प्रतिष्ठिता अपुरागत्या व्यवस्थिताः, इह मनुष्यलोके, बोन्दिं तनुं, त्यक्त्वा, तत्र लोकाग्रे, समयान्तरप्रदेशान्तरास्पर्शनेन गत्वा सिद्ध्यन्ति निष्ठितार्था भव-न्ति।

संप्रति तत्र गतानां यत्संस्थानमानं तदभिधित्सुराह-

दीहं वा हस्सं वा, जं चरिमभवे हविज्ज संठाणं।
तत्तो तिभागहीणा, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥ ३ ॥

'' दीहं वा हस्सं वा '' इत्यादि। दीर्घं वा पञ्चधनुःशतप्रमाणं, ह्रस्वं वा हस्तद्वयप्रमाणं, वाशब्दाद् मध्यमं वा विचित्रं, यच्चरमभवे पश्चिमभवे, भवेत् संस्थानं, ततस्तस्मात्संस्थानात्, त्रिभागहीना वदनोदरादिरन्ध्रपूरणेन तृतीयेन भागेन हीना, सिद्धानामवगाहना, अवगाहन्ते अस्यामित्यवगाहना स्वावस्थैव, भणिता तीर्थकरगणधरैरिति। अत्र गतस्य संस्थानप्रमाणापेक्षया त्रिभागहीन तत्र संस्थानमिति भावः।

एतदेव स्पष्टतरमुपदर्शयति-

जं संठाणं तु इहं, भवं चयंतस्स चरमसमयम्मि।
आसी य पदेसघणं, तं संठाणं तहिं तस्स ॥ ४ ॥

'' जं संठाणं तु इहं '' इत्यादि। यत्संस्थानं यावत्प्रमाणं संस्था-नम्, इह मनुष्यभवे आसीत्, तदेव, भवन्ति प्राणिनः कर्मवशवर्त्तिनोऽस्मिन्निति भवं शरीरं, त्यज्यतः परित्यजतः, कायोगं परिजिहानस्येति भावः। चरमसमये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानबलेन वदनोदराऽऽदिरन्ध्रपूरणात्त्रिभागेन हीनं प्रदेशघनमासीत्(तं संठाणं तहिं तस्स त्ति) तदेव च प्रदेशघनं मूलप्रमाणापेक्षया त्रिभागहीनप्रमाणं संस्थानं, तत्र लोकाग्रे, तस्य सिद्धस्य, नान्यदिति।

साम्प्रतमवगाहनामुत्कृष्टाऽऽदिभेदभिन्नामभिधित्सुराह-

तिन्नि सया तेत्तीसा, धणुत्तिभागो य होइ नायव्वो।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिया ॥ ५ ॥
चत्तारि य रयणीओ, रयणि तिभागूणिया य बोधव्वा।
एसा खलु सिद्धाणं, मज्झिम ओगाहणा भणिया ॥ ६ ॥
एगा य होइ रयणी, अट्ठेव य अंगुलाइ सहियाइं।
एसा खलु सिद्धाणं, जहन्न ओगाहणा भणिया ॥ ७ ॥

त्रीणि शतानि, त्रयस्त्रिंशानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि, धनुस्त्रिभागश्च भवति बोद्धव्यः। एषा खलु सिद्धानामुत्कृष्टावगाहना भणिता तीर्थकरगणधरैः, सा च पञ्चधनुःशततनुकानामवसेया। ननु मरुदेवा नाभिकुलकरपत्नी, नाभेश्च पञ्चविंशत्यधिकानि पञ्चधनुःशतानि शरीरप्रमाणं, यदेव च तस्य शरीरमानं तदेव मरुदेवा अपि, '' संघयणं संठाणं, उच्चत्तं चेव कुलगरेहि समं '' इति वचनात्। मरुदेवा च भगवती सिद्धा, ततस्तस्या देहमानस्य त्रिभागे पातिते सिद्धावस्थायाः सार्द्धानि त्रीणि धनुःशतान्येवावगाहना प्राप्नोति, कथमुक्तप्रमाणा उत्कृष्टावगाहना घटते ? इति। नैष दोषः। मरुदेवायाः नाभेः किञ्चिदूनप्रमाणत्वात्, स्त्रियो हि उत्तमसंस्थाना उत्तमसं-स्थानेभ्यः पुरुषेभ्यः स्वस्वकालापेक्षया किञ्चिदूनप्रमाणा भवन्ति। ततो मरुदेवाऽपि पञ्चधनुःशतप्रमाणेति न कश्चिद् दोषः। अपि च-हस्तिस्कन्धाधिरूढा संकुचिताङ्गी सिद्धा। ततः शरीरसंकोचनभावान्नाधिकावगाहनासंभव इत्यविरोधः। आह च भाष्यकृत्- '' कह मरुदेवामाणं, नाभीतो जेण किंचिदूणा सा। तो किर पंच सय च्चिय, अहवा संकोचतो सिद्धा '' ॥ ५ ॥ (३१६७ विशे०) '' चत्तारि य रयणीओ '' इत्यादि। चतस्रो रत्नयो, रत्निश्च त्रिभागोना च बोधव्या, एषा खलु सिद्धानामवगाहना भणिता मध्यमा। आह-जघन्यपदे सप्तहस्तोच्छितानामागमे सिद्धिरुक्ता, तत एषा जघन्या प्राप्नोति, कथं मध्यमा ? तदयुक्तम्। वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्। जघन्यपदे हि सप्तहस्तानां सिद्धिरुक्ता तीर्थकरापेक्षया, सामान्यकेवलिनां तु हीनप्रमाणानामपि भवति। इदमपि चावगाहनामानं चिन्त्यते सामान्यसिद्धापेक्षया, ततो न कश्चिद्दोषः ॥ ६ ॥ '' एगा य होइ '' इत्यादि। एका रत्निः परिपूर्णा अष्टौ चाङ्गुलान्यधिकानि, एषा भवति सिद्धानामवगाहना जघन्या। सा च कूर्मापुत्राऽऽदीनां द्विहस्तानामवसेया। यदि वा सप्तहस्तोच्छ्रितानामपि यन्त्रपीलनाऽऽदिना संवर्त्तितशरीराणाम्।

आह च भाष्यकृत्-

'' जेट्ठा उ पंचधणुसय, एवं मज्झा य सत्तहत्थस्स।
देहत्तिभागहीणा, जहन्निया जा विहत्थस्स '' ॥ ३१६६ ॥
'' सत्तूसिएसु सिद्धी, जहन्नतो कहमिहं विहत्थेसु ?
सा किर तित्थयरेसुं, सेसाणं सिज्झमाणाणं ॥ ३१६८ ॥
ते पुण होज्ज विहत्था, कुम्मापुत्तादओ जहन्नेणं।
अन्ने संवट्टियस-त्तहत्थसिद्धस्स हीण त्ति ॥ ३१६९ ॥ ''
(विशे०) ॥ ७ ॥

साम्प्रतमुक्तानुवादेनैव लक्षणं सिद्धानामभिधित्सुराह-

ओगाहणाएं सिद्धा, भवत्तिभागेण होइ परिहीणा।

संठाणमणित्थंथं, जं जरामरणविमुक्काणं ॥ ८ ॥

'' ओगाहणाऍ '' इत्यादि सुगमं, नवरम् (अणित्थंथमिति) इदंप्रकारमापन्नमित्थम् , इत्थं तिष्ठतीति इत्थंस्थः, न इत्थंस्थम्-अनित्थंस्थं, वदनाऽऽदिशुषिरप्रतिपूरणेन पूर्वाऽऽकारान्यथात्वभावतोऽनियताऽऽकारमिति भावः । योऽपि च सिद्धाऽऽदिगुणेषु ''सिद्धे न दीहे न हस्से '' इत्यादिना दीर्घत्वाऽऽदीनां प्रतिषेधः सोऽपि पूर्वाऽऽकारापेक्षया संस्थानस्यानित्थंस्थत्वात्प्रतिपत्तव्यः, न पुनः सर्वथा संस्थानस्याभावतः ।

आह च भाष्यकृत्-

'' सुसिरपरिपूरणाओ, पुव्वागारऽन्नहाववत्थातो ।
संठाणमणित्थंथं, जं भणियं अणिययागारं ॥ ३१७२ ॥
एत्तो च्चिय पडिसेहो, सिद्धाइगुणेसु दीहयाऽऽईणं ।
जमणित्थंथं पुव्वा-ऽऽगारावेक्खाऍ नाभावो ॥ ३१७३ ॥ ''
(विशे०) ॥ ८ ॥

नन्चेते सिद्धाः परस्परं देशभेदेन व्यवस्थिताः, उत नेति ? नेति तद् ब्रूमः । कस्मादिति चेत् ? उच्यते-

जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अनंता भवक्खयविमुक्का ।
अन्नोन्नसमोगाढा, पुट्ठा सव्वे वि लोयंते ॥ ९ ॥

'' जत्थ य '' इत्यादि । यत्रैव देशे, चशब्दस्य एवकारार्थत्वात् , एकः सिद्धो निर्वृतः, तत्रानन्ता भवक्षयविमुक्ताः । अत्र भवक्षयग्रहणेन स्वेच्छया भवावतरणशक्तिमत्सिद्धव्यवच्छेदमाह । अन्योन्यसमवगाढाः, तथाविधाचिन्त्यपरिणामत्वाद्धर्मास्तिकायाऽऽदिवत् । तथा स्पृष्टा लग्नाः सर्वेऽपि लोकान्ते ॥ ९ ॥

फुसइ अणंते सिद्धे, सव्वपएसेहिं नियमसो सिद्धा ।
ते वि असंखेज्जगुणा, देसपदेसेहिं जे पुट्ठा ॥ १० ॥

'' फुसइ '' इत्यादि । स्पृशत्यनन्तान् सिद्धान् सर्वप्रदेशैरात्मसंबन्धिभिर्नियमशः सिद्धः । तथा नेऽपि सिद्धाः सर्वप्रदेशस्पृष्टेभ्योऽसंख्येयगुणा वर्त्तन्ते, ये देशप्रदेशैः स्पृष्टाः । कथमितिचेत् ? उच्यते-इहैकस्य सिद्धस्य यदवगाहनक्षेत्रं, तत्रैकस्मिन्नपि परिपूर्णेऽवगाढा अन्येऽप्यनन्ताः सिद्धाः प्राप्यन्ते । अपरे तु ये तस्य क्षेत्रस्य एकैकं प्रदेशमाक्रम्यावगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ताः, एवं द्वित्रिचतुष्पञ्चाऽऽप्रदेशवृद्ध्या येऽवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ताः, तथा तस्य मूलक्षेत्रस्य एकैकं प्रदेशं परित्यज्य येऽवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ताः । एवं च सति प्रदेशवृद्धिहानिभ्यां ये समवगाढाः, ते परिपूर्णैकक्षेत्रावगाढेभ्योऽसंख्येयगुणा भवन्ति, अवगाढप्रदेशानामसङ्ख्यातत्वात् ।

आह च भाष्यकृत्-

'' एगक्खेत्तेऽणंता, पएसपरिवुड्ढिहाणिओ तत्तो ।
हुंति असंखेज्जगुणा-ऽसंखपएसो जमवगाहो '' ॥ ३१८० ॥
(विशे०) ॥ १० ॥

सम्प्रति सिद्धानेव लक्षणतः प्रतिपादयति-

असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे य नाणे य ।
सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥ ११ ॥

'' असरीरा '' इत्यादि । अविद्यमानशरीरा अशरीराः ; औदारिकाऽऽदिपञ्चविधशरीररहिता इत्यर्थः । जीवाश्च ते घनाश्च वदनोदराऽऽदिशुषिरपूरणाद् जीवघनाः, उपयुक्ता दर्शनेकेवलदर्शने, ज्ञाने चकेवलज्ञाने । यद्यपि सिद्धत्वप्रादुर्भावसमये केवलज्ञानमिति ज्ञानं प्रधानं, तथाऽपि सामान्यसिद्धलक्षणमेतदिति ज्ञापनार्थमादौ सामान्याऽऽलम्बनं दर्शनमुक्तम् । तथा च सामान्यविषयं दर्शनं, विशेषविषयं ज्ञानमिति । ततः साकारानाकारं, सामान्यविशेषोपयोगरूपमित्यर्थः । सूत्रे मकारोऽलाक्षणिकः । लक्षणंतदन्यव्यावृत्तिस्वरूपम् , एतत् अनन्तरोक्तं, तुशब्दो वक्ष्यमाणनिरुपमसुखविशेषणार्थः, सिद्धानां निष्ठितार्थानामिति ॥ ११ ॥

सम्प्रति केवलज्ञानदर्शनयोरशेषविषयतामुपदर्शयति-

केवलणाणुवउत्ता, जाणंती सव्वभावगुणभावे ।
पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठीहिऽणंताहिं ॥ १२ ॥

'' केवलणाणुवउत्ता '' इत्यादि । केवलज्ञानेनोपयुक्ताः, न त्वन्तःकरणेन, तदभावादिति केवलज्ञानोपयुक्ताः, जानन्त्यवगच्छन्ति, सर्वभावगुणभावान् सर्वपदार्थगुणपर्यायान् । प्रथमो भावशब्दः पदार्थवचनः, द्वितीयः पर्यायवचनः । गुणपर्याययोस्त्वयं विशेषः-सहवर्तिनो गुणाः, क्रमवर्त्तिनः पर्याया इति । तथा पश्यन्ति सर्वतः खलु, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सर्वत एव, केवलदृष्टिभिरनन्ताभिः, अनन्तैः केवलदर्शनैरित्यर्थः । केवलदर्शनानां चानन्तता सिद्धानामनन्तत्वात् , इहाऽऽदौ ज्ञानग्रहणं प्रथमतया तदुपयोगस्थाः सिद्ध्यन्तीति ज्ञापनार्थम् ॥ १२ ॥

सम्प्रति निरुपमसुखभाजस्ते इति दर्शयति-

न वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं नत्थि सव्वदेवाणं ।
जं सिद्धाणं सुक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥ १३ ॥

'' न वि अत्थि '' इत्यादि । नैव अस्ति मनुष्याणां चक्रवर्त्यादीनामपि, तत्सौख्यं, नैव सर्वदेवानामनुत्तरपर्याप्तानामपि, यत् सिद्धानां सौख्यम्, अव्याबाधामुपगतानां, न विविधा आबाधा अव्याबाधा, ताम् , उप सामीप्येन गतानां प्राप्तानाम् ॥ १३ ॥

यथा नास्ति तथा भङ्ग्या उपदर्शयति-

सुरगणसुहं समत्तं, सव्वद्धापिंडियं अणंतगुणं ।
न वि पावइ मुत्तिसुहं-ऽणंताहिंवि वग्ग वग्गूहिं ॥ १४ ॥

'' सुरगणसुहं '' इत्यादि । सुरगणसुखं देवसङ्घातसुखं, समस्तं सम्पूर्णम् , अतीतानागतवर्त्तमानकालोद्भवमित्यर्थः । पुनः सर्वाद्धापिण्डितं सर्वकालसमयगुणितम् , तथाऽनन्तगुणमिति, तदेवं प्रमाणं किलासत्कल्पनया एकैकाऽऽकाशप्रदेशे स्थाप्यते, इत्येवं सकलाऽऽकाशप्रदेशपूरणेन यद्यप्यनन्तं भवति, तदनन्तरमप्यनन्तैर्वर्गैर्वर्गितम् , तथाऽप्येयं प्रकर्षगतमपि मुक्तिसुखं सिद्धिसुखं, न प्राप्नोति ॥ १४ ॥

एतदेव स्पष्टतरं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयति-

सिद्धस्स सुहोरासी, सव्वद्धापिंडिए जइ हविज्जा ।
सोऽणंतवग्गभइओ, सव्वागासे ण माइज्जा ॥ १५ ॥

'' सिद्धस्स सुहोरासी '' इत्यादि । सुखानां राशिः सुखराशिः सुखसङ्घातः सिद्धस्य सुखराशिः सिद्धसुखराशिः, सर्वाद्धापिण्डितः सर्वया साद्यपर्यवसितया अद्धया, यत्सुखं, सिद्धः प्रतिसमयमनुभवति, तदेकत्र पिण्डीकृतमिति भावः । सोऽनन्तवर्गभक्तोऽनन्तैर्वर्गमूलैरपवर्त्तितः, अनन्तैर्वर्गमूलैस्तावदपवर्तितो यावत्सर्वाद्धालक्षणेन गुणकारेण गुणने यदधिकं जातं, तस्य सर्वस्या-

पवर्तनैः सिद्धत्वाद्यः समयभाविसुखमात्रतां प्राप्त इति भावः। सर्वाकाशे न माति-एतावन्मात्रेऽपि सर्वाकाशे न माति, सर्वस्तु दूरापास्तप्रसर एवेति ज्ञापनार्थं पिण्डयित्वा पुनरपवर्तनं सुखराशेः। इय-मत्र भावना-इह किल विशिष्टाऽऽह्लादरूपं सुखं परिगृह्यते, ततश्च यत आरभ्य शिष्टानां सुखशब्दप्रवृत्तिः, तमाह्लादमधिकृत्य एकैकगुणवृद्धितारतम्येन तावदसाताह्लादो विशिष्यते, यावदनन्तगुणवृद्ध्या निरतिशयनिष्ठामुपगतः, सोऽयमत्यन्तोपमाऽतीतैकान्तौत्सुक्यविनिवृत्तिरूपस्तिमिततमकल्पश्चरमाऽऽह्लादः सदा सिद्धानां यस्माच्चारतः प्रथमाद्योर्ध्वमपान्तरालवर्त्तिनो ये गुणास्तारतम्येनाऽऽह्लादविशेषरूपाः, ते सर्वाऽऽकाशप्रदेशेभ्योऽप्यतिभूयांसः। ततः किलोक्तम्- ''सव्वाऽऽगासे न माएज्जा'' इति। अन्यथा यत्सर्वाऽऽकाशे न माति, तत्कथमेकस्मिन् सिद्धे भावात् ? इति पूर्वसूरिसम्प्रदायः॥ १५॥

साम्प्रतमस्य निरुपमतां प्रतिपादयति-

जह नाम कोइ मिच्छो, नगरगुणं बहु विजाणंतो।
ण चणइ * परिकहेउं, उवमाए तहिंअसंतीए॥ १६॥

'' जह नाम '' इत्यादि। यथा नाम कश्चिन्म्लेच्छो नगरगुणान् गृहनिवासाऽऽदीन्, बहुविधान् अनेकप्रकारान्, विजानन्, अरण्याऽऽगतः सन् अन्यम्लेच्छेभ्यो न शक्नोति परिकथयितुम्। कस्माद् न शक्नोति ? इत्यत आह-उपमायां तत्रासत्याम्। '' निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम्। '' इति न्यायाद् हेतौ सप्तम। तत्र उपमाया अभावादिति द्रष्टव्यम्। एष गाथाऽक्षरा-र्थः॥ भावार्थः कथानकादवसेयः। तचेदम्- '' एगो महारण्णवासी मिच्छोऽरण्णे चिट्ठति। इतो य एगो राया आसेण अवहरितो तं अडविं पवेसितो। तेण दिट्ठो सक्कारेऊण जणवयं नीतो। रन्ना वि सो नगरे पच्छा उवगारि त्ति गाढमुपचरितो-जहा राया चिट्ठइ धवल-घराइभोगेण वि, वासाकालेणऽरण्णं सरिउमारद्धो, रन्ना विसज्जिओ, ततोऽरण्णगा पुच्छंति-केरिसं नयरं ति ? सो वियाणंतो वि तत्थो-वमाऽभावा न सक्केइ नयरगुणे परिकहेउं। एस दिट्ठंतो ''॥ १६॥

अयमर्थोपनयः-

इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं नत्थि तस्स ओवम्मं।
किंचि विसेसेणित्तो, सारिक्खमिणं सुणह वोच्छं॥ १७॥

'' इय सिद्धाणं '' इत्यादि। इति एवं, सिद्धानां सौख्यमनुपमं वर्त्तते। किमिति ? तत आह-यतो नास्ति तस्यौपम्यं, तथापि बालजनप्रतिपत्तये किञ्चिद्विशेषेण, '' इत्तो '' इति। आर्षत्वादस्येत्यर्थः। सादृश्यमिदं वक्ष्यमाणं, शृणुत॥ १७॥

जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोइ।
तण्हाछुहाविमुक्को, अत्थिज्ज जहा अमियतित्तो॥ १८॥

'' जहा सव्व '' इत्यादि। यथेत्युदाहरणोपदर्शनार्थः। भुज्यते इति भोजनं, सर्वकामगुणितं सकलसौन्दर्यसंस्कृतं, कोऽपि पुरुषो, भुक्त्वा, क्षुत्तृड्विमुक्तः सन्, यथा अमृततृप्तः, तथा तिष्ठति॥ १८॥

इय सव्वकालतित्ता, अउलं निव्वाणमुवगया सिद्धा।
सासयमव्वाबाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता॥ १९॥

'' इय '' इत्यादि। इति एवं, निर्वाणं मोक्षमुपगताः सिद्धाः, सर्व-कालं साद्यपर्यवसितं कालं, तृप्ताः सर्वथौत्सुक्यविनिवृत्तिभावतः परमसन्तोषमधिगताः, अतुलमनन्यसदृशम्, उपमातीतत्वात्; शाश्वतं प्रतिपाताभावात्; अव्याबाधं लेशतोऽपि व्याबाधाया असम्भवात्; सुखं प्राप्ताः, अत एव सुखिनस्तिष्ठन्ति॥ १९॥

एतदेव सविशेषतरं भावयति-

सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य, पारगत त्ति य परंपरगत त्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य॥ २०॥

'' सिद्ध त्ति य '' इत्यादि। सितं बद्धमष्टप्रकारं कर्म, ध्मातं भ-स्मीकृतं, यैस्ते सिद्धाः। '' पृषोदराऽऽदयः '' ॥ ३। २। १५५॥ (हेम०) इति रूपनिष्पत्तिः, निर्दग्धानेकभवकर्मेन्धना इत्यर्थः। ते च सामान्यतः कर्माऽऽदिसिद्धा अपि भवन्ति। यत उक्तम्- '' कम्मे सिप्पे य विज्जाए, मंते जोगे य आगमे। अत्थ-जत्ता-अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय ''॥ ३६१॥ (आव० नि०) (३०२८ विशे०) ततः कर्माऽऽदिसिद्धाध्यपोहायाऽऽह-(बुद्ध त्ति) अज्ञाननिद्राप्रसुप्ते जगति अपरोपदेशेन जीवाऽऽदिरूपं तत्त्वं बुद्धवन्तो बुद्धाः, सर्वज्ञ-सर्वदर्शिस्वभावबोधरूपा इति भावः। एतेऽपि च संसारनिर्वाणोभय-परित्यागेन स्थितवन्तः कैश्चिदिष्यन्ते, '' संसारे न च निर्वाणे, स्थितो भुवनभूतये। अचिन्त्यः सर्वलोकानां, चिन्तारत्नाधिको महान् ''॥ १॥ इतिवचनात्। ततस्तन्निरासार्थमाह-पारगताः-पारं पर्यन्तं संसारस्य, प्रयोजनव्रातस्य वा, गताः पारगताः। तथा भव्यत्वाऽऽक्षिप्तसकलप्रयोजनसमाप्त्या निरवशेषकर्तव्यशक्तिविप्रमुक्ता इति भावः। इत्थंभूता अपि कैश्चित् यदृच्छावादिभिरक्रमसिद्धत्वेनापि गीयन्ते। तथोक्तम्- '' नैकादिसङ्ख्याक्रमतो, वित्तप्राप्तिर्नियोगतः। दरिद्रराज्याऽऽप्तिसमा, तद्वन्मुक्तिः क्वचिन्न कि-म् ?॥ १॥ '' ततस्तन्मतव्यपोहायाऽऽहपरम्परागता इति। परम्परया ज्ञानदर्शनचारित्ररूपया, मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतिसम्यग्दृष्ट्यविरतिसम्यग्दृष्टिदेशविरतिप्रमत्तनिवृत्त्यनिवृत्तिबादरसम्परायसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिगुणस्थानभेदभिन्नया, गताः। एते च कैश्चित्तत्त्वतोऽनुन्मुक्तकर्मकवचा अभ्युपगम्यन्ते, तीर्थनिकारदर्शनादिहाऽऽगच्छन्तीति वचनतः पुनः संसारावतरणाभ्युपगमादतस्तन्मतापाकरणार्थमाह-उन्मुक्तकर्मकवचाः-उत्प्राबल्येनापुनर्भवरूपतया मुक्तं परित्यक्तं कर्म कवचमिव कर्मकवचं यैस्ते उन्मुक्तकर्मकचाः। अत एव अजराः शरीराभावतो जरसोऽभावात्, अमरा अशरीरत्वादेव प्राणत्यागासम्भवात्। उक्तं च- ''वयसो हाणीह जरा, पाणच्चाओ य मरणमादिट्ठं। सह देहम्मि तदुभयं, तदभावे नेव कस्सेव॥ १॥'' असङ्गाःबाह्याभ्यन्तरसङ्गरहितत्वात्॥ २०॥

णित्थिण्णसव्वदुक्खा, जातिजरामरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहोंती सासयं सिद्धा॥ २१॥

'' णित्थिण्ण '' इत्यादि। निस्तीर्णं लङ्घितं सर्वं दुःखं यैस्ते निस्तीर्णसर्वदुःखाः। कुतः ? इत्याह-(जातिजरामरणबंधणविमुक्का) जातिर्जन्म, जरा वयोहानिलक्षणा, मरणं प्राणत्यागरूपं, बन्धनानि तन्निबन्धरूपाणि कर्माणि, तैर्विशेषतो निःशेषापगमनेन मुक्ता जातिजरामरणबन्धनविमुक्ताः। हेतावियं प्रथमा। यतो जरामरणबन्धनविमुक्तास्ततो निस्तीर्णसर्वदुःखाः, कारणाभावात्। ततोऽव्याबाधं सौख्यं शाश्वतं सिद्धा अनुभवन्ति॥ २१॥ प्रज्ञा० २ पद। जी०। एतदर्थप्रतिपादके प्रज्ञापनाया द्वितीये पदे, प्रज्ञा० १ पद। जी०। तिष्ठति अनवस्थाननिबन्धनकर्माभावेन सदाऽवस्थितो भवति यत्र तत् स्थानम्। क्षीणकर्मणो जीवस्य स्व-

---

* शकेश्चय तर-तीर-पाराः '' ॥ ८। ४। ८६॥ शक्नोतेरेते चत्वार आदेशा भवन्ति। '' चयइ ''। त्यजतेरपि ' चयइ '।

रूपे, लोकाग्रे वा । भ० १ श० १ उ० । औ० । सं० । तिष्ठन्ति सकलकर्मक्षयावाप्तानन्तज्ञानसुखरूपाध्यासिताः शुद्धात्मानोऽस्मिन्निति स्थानम् । सम्म० २ काण्ड । व्यवहारतः सिद्धिक्षेत्रे, निश्चयतो यथाऽवस्थितस्वरूपे, स्थानस्थानिनोरभेदापचारात् सिद्धिगतिनामधेये, जी० ३ प्रति० । प्रदेशे, पा० । उत्त० । तिष्ठन्ति मुमुक्षवो येषु तानि स्थानानि । महाव्रतेषु, पञ्चा० १२ विव० । आ० म० । स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानम् । दुर्गतिगमनाऽऽदिके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अवगाहनायाम् , आ० म० २ अ० । तिष्ठन्ति साधवोऽत्रेति स्थानम् । वसतौ, बृ० २ उ० । तिष्ठन्त्यस्मिन् कर्माणि प्रायश्चित्ताऽऽचरणत इति स्थानम् । पाराञ्चिते, जी० १ प्रति० । तिष्ठन्त्यस्मिन्प्रतिपाद्यतया जीवाऽऽदय इति स्थानम् । स्थानाङ्गाऽऽख्ये प्रव-चनपुरुषस्य तृतीयेऽङ्गे, स० २ अङ्ग । समुदाये, कर्म० ५ कर्म० ।

ठाणंग-न०(स्थानाङ्ग) तिष्ठन्ति प्रतिपाद्यतया जीवाऽऽदयः पदार्था अस्मिन्निति स्थानम् । नं० । स० । तिष्ठति आसने वसन्ति यथावदाभिधेयतयैकत्वाऽऽदिविशेषिता आत्माऽऽदयः पदार्था यस्मिन् तत्स्थानम् । अथवा-स्थानशब्देनेहैकाऽऽदिकः सङ्ख्याभेदोऽभिधीयते, ततश्चाऽऽत्माऽऽदिपदार्थगतानामेकाऽऽदिदशान्तानां स्थानानामभिधायकत्वेन आचाराभिधायकत्वादाचारवदिति स्थानं, तच्च प्रवचनपुरुषस्य क्षायोपशमिकभावरूपस्याऽङ्गमिवाङ्गं वेति समुदायार्थः । स्था० १० ठा० । प्रवचनपुरुषस्य तृतीयेऽङ्गे, स० १ अङ्ग ।

से किं तं ठाणे ? ठाणेणं जीवा ठाविज्जंति, अजीवा ठाविज्जंति, जीवाजीवा ठाविज्जंति, ससमए ठाविज्जइ, परसमए ठाविज्जइ, ससमयपरसमए ठाविज्जइ, लोए ठाविज्जइ, अलोए ठाविज्जइ, लोयालोए ठाविज्जइ। ठाणेणं टंका कूडा सेला सिहरिणो पब्भारा कुंढाइं गुहाओ आगरा दहा नईओ आघविज्जंति। ठाणेणं एगाइयाए एगुत्तरियाए बुड्ढीए दसठाणगविवड्ढियाणं भावाणं परूवणा आघविज्जइ। ठाणस्स णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए तइए अंगे एगे सुयक्खंधे दस अज्झयणा एगवीसं उद्देसणकाला एगवीसं समुद्देसणकाला बावत्तरिपयसहस्सा पयगे णं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबंधनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निंदसिज्जंति, उवदंसिज्जंति, से एवं आया एवं नाया एवं विण्णाया एवं चरणकरण-परूवणा आघविज्जइ, से तं ठाणे ।

'' से किंतं '' इत्यादि । अथ किं तत् स्थानम् ? तिष्ठन्ति प्रतिपाद्यतया जीवाऽऽदयः पदार्था अस्मिन् इति स्थानम् । तथा चाऽऽह सूरिः- '' ठाणेणं '' इत्यादि । स्थानेन, स्थाने वा, णमिति वाक्यालङ्कारे, जीवाः स्थाप्यन्ते यथाऽवस्थितस्वरूपप्ररूपणया व्यवस्थाप्यन्ते, शेषं प्रायो निगदसिद्धं, नवरं (टंक त्ति) छिन्नतटं टङ्कम् , कूटानि पर्वतस्योपरि । यथा-वैताढ्यस्योपरि सिद्धाऽऽयतनकूटाऽऽदीनि नव कूटानि, शैला हिमवदादयः, शिखरिणः शिखरेण समन्विताः, ते च वैताढ्याऽऽदयः । तथा यत् कूटमुपरि कुब्जाग्रवत् कुब्जं तत्प्राग्भारम् । यद्वा-यत् पर्वतस्य उपरि हस्तिकुम्भाऽऽकृति कुब्जं विनिर्गतं, तत्प्राग्भारम् । कुण्डानि गङ्गाकुण्डाऽऽदीनि, गुहास्तमिस्रागुहाऽऽदयः, आकरा रूप्यसुवर्णाऽऽद्युत्पत्तिस्थानानि, ह्रदाः पौण्डरीकाऽऽदयः, नद्यो गङ्गासिन्ध्वादयः, आख्यायन्ते । तथा स्थानेन । अथवा-स्थाने, णमिति वाक्यालङ्कारो एकाद्येकोत्तरिकया वृद्ध्या दशस्थानं यावद् विवर्द्धितनां भावानां प्ररूपणा आख्यायते । किमुक्तं भवति ?-एकसंख्यायां द्विसंख्यायां यावद्दश-संख्यायां ये ये भावा यथाऽन्तर्भवन्ति, तथा ते ते प्ररूप्यन्ते इत्यर्थः । यथा ' एगे आया ' इत्यादि, तथा '' जं इत्थं च णं लोगे तं सव्वं दुप्पडियारं जीवा चेव अजीवा चेव '' इत्यादि । '' ठाणस्स णं परित्ता वायणा '' इत्यादि सर्वं प्राग्वत्परिभावनीयम् । पदपरिमाणं च पूर्वस्मादङ्गादुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नङ्गे द्विगुणमवसेयं, शेषं पाठसिद्धं यावन्निगमनम् । नं० । निपुणबुद्ध्यादिगुणगणमाणिक्यरोहणधरणीकल्पेन भाण्डागारनियुक्तेनेव गणधरेण पूर्वकाले चतुर्वर्णश्रीश्रमणसङ्घभट्टारकस्य तत्सन्तानस्य चोपकाराय निरूपितस्य विविधार्थरत्नसारस्य देवताऽधिष्ठितस्य विद्याक्रियाबलवताऽपि पूर्वपुरुषेण केनापि कुतोऽपि कारणादनुन्मुद्रितस्यात एव च केषाञ्चिदनर्थभीरूणां मनोरथगोचरातिक्रान्तस्य महानिधानस्येव स्थानाङ्गस्य तथाविधविद्याऽऽदिबलविकलैरपि केवलं धार्ष्ट्यप्रधानैः स्वपरोपकारार्थविनियोजनाभिलाषिभिरत एव चाविगणितस्वयोग्यतैर्निपुणपूर्वपुरुषप्रयोगानुपसृत्य किञ्चित् स्वमत्योत्प्रेक्ष्य तथाविधवर्त्तमानजनानापृच्छ्य च तदुपायान् द्यूताऽऽदिमहाव्यसनोपेतैरिवास्माभिरुन्मुद्रणमिवानुयोगः प्रारभ्यत इति शास्त्रप्रस्तावना । तस्य चानुयोगस्य फलाऽऽदिद्वारनिरूपणतः प्रवृत्तिः । यत उक्तम्- ''तस्स फलजोगमंगल-समुदायत्था तहेव दाराइं । तब्भेयनिरुत्तिक्कमपयोयणाइं च वच्चाइं '' ॥ १ ॥ इति । तत्र प्रेक्षावतां प्रवृत्तये फलमवश्यं वाच्यम् । अन्यथा हि निष्प्रयोजनत्वमस्याऽऽशङ्कमानाः श्रोतारः कण्टकशाखामर्दन इव न प्रवर्त्तेरन्निति । तच्चानन्तरपरम्परभेदाद् द्विधा । तत्रानन्तरमर्थावगमः, तत्पूर्वकानुष्ठानतश्चापवर्गप्राप्तिर्या सा परम्परप्रयोजनमिति । तथा योगः सम्बन्धः । स च यदि उपायोपेयभावलक्षणो, यदुतानुयोग उपायः, अर्थावगमाऽऽदि चोपेयमिति, तदा सप्रयोजनाभिधानादेवाभिहित इत्यवसरलक्षणः सम्बन्धोऽस्य वाच्यः । कोऽस्य दाने संबन्धोऽवसर इति, भावयोग्यो वा दाने अस्य क इति ? तत्र भव्यस्य मोक्षमार्गाभिलाषिणः स्थितगुरूपदेशस्य प्राणिनोऽष्टवर्षप्रमाणप्रव्रज्यापर्यायस्यैव सूत्रतोऽपि स्थानाङ्गं देयमिति । अयमवसरो, योग्योऽपि चायमेवेति ।

यथोक्तम्-

'' तिवरिसपरियागस्स उ, आयारपकप्पणाममज्झयणं ।
चउवरिसस्स य सम्मं, सूयगडं नाम अंग त्ति ॥ १ ॥
दसकप्पव्ववहारा, संवच्छरपणगदिक्खियस्सेव ।
ठाणं समवाओ वि य, अंगे ते अट्ठवासस्स ॥ २ ॥ '' इति ।

अन्यथा दानेऽस्याऽऽज्ञाभङ्गाऽऽदयो दोषा इति । स्था० १ ठा० ।

ठाणंतर-न०(स्थानान्तर) स्वस्थानात्परस्थाने, ध० २ अधि० ।

ठाणकप्प-पुं०(स्थानकल्प) कल्पभेदे, '' अधुणा तु ठाणकप्पो, उद्धट्ठाणादिओ मुणेयव्वो । ठितकप्पसंजतस्स वि, अणुण्णओ अहितस्सेव ॥ १ ॥ '' पं० भा० । पं० चू० ।

ठाणगुण-पुं०(स्थानगुण) स्थानं स्थितिर्गुणः कार्यं यस्य स स्थानगुणः । स्था० ५ ठा० २ उ० । जीवपुद्गलानां स्थितिपरिणतानां स्थित्युपष्टम्भहेतौ गुणतोऽधर्मास्तिकाये, भ० १ श० १ उ० ।

ठाणचंचल-पुं०(स्थानचञ्चल) चञ्चलशब्दोक्तार्थके चञ्चलभेदे, बृ० १ उ० ।

ठाणठवणा-स्त्री०(स्थानस्थापना) उचितस्थाननिवेशे, पञ्चा० ८ विव० ।

ठाणठाइ(ण्)-पुं०(स्थानस्थायिन्) उचितस्थानस्थातरि, बृ० १ उ० । नि० चू० ।

ठाणठिइ-स्त्री०(स्थानस्थिति) विहारान्तरं वसतिप्रवेशात्प्राङ्मध्ये स्थितौ, ओघ० । (एतद्वक्तव्यता च ' मासकप्पविहार ' शब्दे वक्ष्यते)

ठाणठिय-त्रि०(स्थानस्थित) उत्तरोत्तरविशिष्टसंयमस्थानाध्यासिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

षष्ठे द्वारे स्थानस्थितो भवतीदमुक्तं, स च एभिः कारणैः-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए णइट्ठाणे ।
फिडिऍ गिलाणे कालगऍ, वासे ठाणट्ठिओ होइ ॥ १७७ ॥

अशिवे देवताजनितोपद्रवे सति तस्मिन् यत्रभिप्रेतं गमनं कदाचिदपान्तराले भवति, ततश्चानेन कारणेन स्थानस्थितो भवति । (ओमोयरिए त्ति) दुर्भिक्षे विवक्षिते देशे जाते अपान्तराले वा, ततश्च स्थानस्थितो भवति । (रायदुट्ठि त्ति) राजद्विष्टं कदाचित्तत्र भवत्यभिप्रेतदेशे, अपान्तराले वा, तेन च कारणेन स्थानस्थितो भवति । स्तेनाऽऽदिभयं विवक्षिते देशे, अपान्तराले वा, ततस्तेन कार-णेन स्थानस्थितो भवति । (नइ त्ति) कदाचिन्नदी विवक्षिते देशे अपान्तराले वा भवति, तेन प्रतिबन्धेन स्थानस्थितो भवति । (फिडिय त्ति) कदाचिदासावाचार्यस्तस्मात् क्षेत्रात् च्युतोऽपगतो भवति, ततश्च तावदास्ते यावद्वार्त्ता लभ्यते, अनेन कारणेन स्थान-स्थितो भवति । (गिलाणे त्ति) ग्लानः कदाचिदसावाचार्यो भवति, तेन प्रतिबन्धेन स्थानस्थितो भवति । (कालगए त्ति) कदाचिदसावाचार्यः कालगतो मृतो भवति तथाच यावत्तन्निश्चयो भवति तावत् स्थानस्थितो भवति । (वासे त्ति) वर्षाकालः संजातस्ततस्तत्प्रति-बन्धात् स्थानस्थितो भवति, तत्रैव ग्रामादावास्ते । इयं द्वार- गाथा ॥ १७७ ॥

इदानीं निर्युक्तिकार एव तानि विहाराणि व्याख्यानयन्नाह-

तत्थेव अंतरा वा, असिवाऽऽदी सोउ परिरयस्सऽसति ।
संचिट्ठे जाव सिवं, अहवा वी ते तओ फिडिया ॥ १७८ ॥

(तत्थ त्ति) तत्र योऽसौ विवक्षितो देशः, तत्रैव (अंतरा) अन्तराले वा, अशिवाऽऽदयो जाता इति श्रुत्वा आकर्ण्य । आदिग्रहणात् अवमौदरिकराजद्विष्टभयानि परिगृह्यन्ते । (परिरयस्सऽसइ त्ति) ' भमाडयस्स ' असति अभावे तिष्ठति । एतदुक्तं भवति-यदि गन्तुं शक्नोति श्रमणः ततोऽपान्तरालं परिहृत्याभिलषितस्थानं गच्छति, अथ न शक्यते गन्तुं ततः (संचिट्ठे त्ति) संतिष्ठेत । कियन्तं कालं यावत् ?अत आह-(जाव सियं) यावत् शिवं निरुपद्रवं यातमिति । (अहवा वी ते ततो फिडिया) अथवा ते आचार्याऽऽदयस्तस्मात् क्षेत्रादपगता भ्रष्टा इति, ततश्च वार्तोपलम्भं यावत् तिष्ठति ॥ १७८ ॥

इदानीं भाष्यकृत् शेषद्वाराणि व्याख्यानयन्नाह-

पुन्ना च नई चउमा-सवाहिणी वि य न कोइ उत्तारे ।
तत्थंतरालदेसे, उट्ठिउ ण वि लब्भइ पवित्ती ॥ १७९ ॥

पूर्णा भृता, का ? नदी, किंविशिष्टा ? चतुर्मासवाहिनी, न च कश्चिदुत्तारयति, ततोऽपान्तराले एव तिष्ठति । तत्र, अन्तराले वा देशे, उत्थित उद्गमितः, न च प्रवृत्तिर्वार्ता लभ्यते, अतस्तिष्ठति तावत् ॥ १७९ ॥

फिडिएसु जा पवत्ती, सयं गिलाणो परं व पडियरइ ।
कालगय त्ति पवित्ती, ससंकिए जाव निस्संकं ॥ १८० ॥

(फिडिएसु) तस्मात् क्षेत्रादपगतेषु सत्सु (जा पवत्ती) यावद्वार्त्ता भवति, तावत्तिष्ठति । तथा-(सयं गिलाणो) स्वयमेव ग्लानो जातः, ततस्तिष्ठति । (परं व पडियरइ) अन्यं वा ग्लानं सन्तं प्रतिचरति (कालगय त्ति पवित्ती) अथवा-कालगतास्ते आचार्याः, इति एवम्भूता, प्रवृत्तिः श्रुताः, ततः (ससंकिते जाव निस्संकं) सशङ्कायां वार्तायामनिश्चितायां तावदास्ते, यावन्निःशङ्कं संजातमिति ॥ १८० ॥

वासासु उब्भिन्ना, बीयाऽऽई तेण अंतरा चिट्ठे ।
तेगिच्छि भोगि सार-क्खणहट्ठे य ठाणमिच्छंति ॥ १८१ ॥

वर्षासूद्भिन्ना बीजाऽऽदयः, आदिशब्दादनन्तकायः, तेन कारणेन अन्तराल एव तिष्ठति । मन्दश्च (तेगिच्छि त्ति) चिकित्सकं, तथा (भोइ त्ति) भोगिकं ग्रामस्वामिनं पृच्छति । किमर्थं पुनः वैद्यभोगिकयोः पृच्छनं करोतीत्यत आह-(सारक्खणहट्ठे) वैद्यं पृच्छति मन्दतायां सत्यां (हट्ठे त्ति) दृढीकरणार्थम् , भोगिकं पृच्छति संरक्षणार्थं परिभवाऽऽदेः, ततः स्थानं च वसनमिच्छन्ति केचित् ॥ १८१ ॥

तत आह-

संविग्गसन्निभद्दग-अहप्पहाणेसु भोइयघरे वा ।
ठवणा आयरियस्सा, सामायारी पउंजणया ॥ १८२ ॥

वैद्यभोगिकयोः कथयित्वा संविग्नेषु मोक्षाभिलाषिषु तिष्ठति, (सन्नि त्ति) संज्ञी श्रावकः, तद्गृहे तिष्ठति, भद्रकः साधूनां श्रद्धाकरः, तद्गृहे तिष्ठति, तद्गृहे निवासं करोति । (अहप्पहाणेसु त्ति) यथाप्रधानेष्विति-यो यत्र ग्रामाऽऽदौ प्रधानः प्रथितस्तेषु यथा-प्रधानेष्विति । एतेषामभावे (भोइयघरे व त्ति) भोगिकगृहे या ग्रामस्वामिगृहे वा तिष्ठति । तत्र च तिष्ठन् किं करोतीति ? अत आह-(ठवणा आयरियस्सा) दण्डकाऽऽदिमाचार्य कल्पयति निराबाधे प्रदेशे; अयमाचार्य इति तस्य चाग्रतः सकलां चक्रबालसामाचारीं प्रयुङ्क्ते, निवेद्य करोतीत्यर्थः ॥ १८२ ॥

एतच्च कारणिकद्वारम्-

एवं ता कारणिओ, दूइज्ज जुत्तो अप्पमाएणं ।
निक्कारणिओ एत्तो, चइओ आहिंडओ चेव ॥ १८३ ॥

एवं तावत्कारणिकः, (दूइज्ज त्ति) विहरति । कथं विहरति ? (जुत्तो अप्पमाएणं) अप्रमादेन युक्तः प्रयत्नपर

इत्यर्थः। निष्कारणिकोऽत ऊर्द्धमुच्यते, न द्विविधः (चइओ) त्याजितः सारणवारणाऽऽदिभिस्त्याजितः; आहिण्डकः-अगीतार्थश्चकस्तूपाऽऽदिदर्शनप्रवृत्तः॥ १८३॥

तत तावत् त्याजित उच्यते-

जह सागरम्मि मीणा, संखोभं सागरस्स असहंता।
णिंति तओ सुहकामी, निग्गयमेत्ता विणस्संति॥ १८४॥

यथा सागरे समुद्रे, मीना मत्स्याः, संक्षोभं सागरस्य असहमानाः, निर्गच्छन्ति, ततः समुद्रात् , सुखकामिनः सुखाभिलाषिणः, निर्गतमात्राश्च विनश्यन्ति॥ १८४॥

एवं गच्छसमुद्दे, सारणवीईहिंचाइया संता।
णिंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा विणस्संति॥ १८५॥

एवं गच्छसमुद्रे सारणवारणा एव वीचयः, ताभिस्त्याजिताः सन्तो निर्गच्छन्ति, ततो गच्छात् , सुखाभिलाषिणो, मीना इव मीना यथा विनश्यन्ति। उक्तं त्याजितद्वारम्॥ १८५॥ ओघ०। (आहिण्डकस्तु ' आहिंडग ' शब्दे द्वितीयभागे ५२७ पृष्ठे प्रतिपादितः)

ठाणणिउत्त-त्रि०(स्थाननियुक्त) स्थाने पदे नियुक्तो व्यापारितः स्थाननियुक्तः। प्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदकेषु, ग० १ अधि०। सामान्यसाधौ, ध० ३ अधि०।

ठाणतिग-न०(स्थानत्रिक) स्थानत्रये, ध०। पिण्डग्रहणं कुर्वता स्थानत्रयं परिहरणीयम्। तद्यथा-आत्मोपघाति, संयमोपघाति, प्रवचनोपघाति वेति। ध० ३ अधि०।

ठाणपडिमा-स्त्री०(स्थानप्रतिमा) स्थानं कायोत्सर्गाऽऽद्यर्थं आश्रयः, तत्र प्रतिमा स्थानप्रतिमा। स्थानविषयके तथाऽभिधेऽभिग्रहे, '' चत्तारि ठाणप्पडिमा। '' (स्था०) स्थानं कायोत्सर्गाऽऽद्यर्थं आश्रयः, तत्र प्रतिमाः स्थानप्रतिमाः। तत्र कस्यचिद् भिक्षोरेवंभूतोऽभिग्रहो भवति-यद्यहमचित्तं स्थानमुपाश्रयिष्यामि, तत्र चाऽऽकुञ्चनप्रसारणाऽऽदिकां क्रियां करिष्ये, तथा किञ्चिदचित्तं कुड्यादिकमवलम्बयिष्ये, तथा तत्रैवं स्तोकं पादविहरणं समाश्रयिष्यामीति प्रथमा प्रतिमा। द्वितीया तु आकुञ्चनप्रसारणाऽऽदिक्रियामवलम्बनं च करिष्ये, न पादविहरणमिति। तृतीया तु आकुञ्चनप्रसारणमेव, नालम्बनपादविहरणे इति। चतुर्थी पुनर्यत्र त्रयमपि न विद्यते। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

ठाणपरिणाम-पुं०(स्थानपरिणाम) परिणमनं परिणामः, तत्तद्भावगमनमित्यर्थः। यदाह-परिणामो ह्यर्थान्तराऽऽगमनं, न च सर्वथा व्यवस्थानं, न च सर्वथा विनाशः। परिणामभेदे, स्था० १० ठा०।

ठाणभट्ठ-त्रि०(स्थानभ्रष्ट) स्थानाच्चारित्राद् , गुरुकुलाऽऽवासाऽऽदिकात्, सिद्धान्तव्याख्यानरूपाद्वा सूत्रप्ररूपणेन भ्रष्टे, दुष्टाचारे च। तं०।

ठाणरय-त्रि०(स्थानरत) कायोत्सर्गकारिणि, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ०।

ठाणविच्छुय-न०(स्थानवृश्चिक) सम्मूर्च्छिमनपुंसकजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद०।

ठाणसत्तिक्कय-पुं०(स्थानसप्तैकक) आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे सप्तैककानां प्रथमे, आचा० २ श्रु० २ चू०। स्था०। (अत्रत्यः सर्वो विषयो ' वसहि ' शब्दे वक्ष्यते)

ठाणाइगा-स्त्री०(स्थानायतिका) ऊर्ध्वस्थायाम् , बृ०। नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः स्थानायतयो भवितुं स्थानायतं नामोर्द्धस्थानरुपमायतं स्थानं, तद्यस्यामस्ति सा स्थानायतिका। बृ० ५ उ०।

***स्थानादिगा**-स्त्री० ऊर्ध्वस्थायाम् , केचित्तु ' ठाणाइगा ' इति पठन्ति। तत्रायमर्थः-सर्वेषां निषदनाऽऽदीनां स्थानानामादिभूतमूर्द्धस्थानमतः स्थानानामादौ गच्छतीति स्थानाऽऽदिगं तदुच्यते, तद्योगादार्यिकाऽपि स्थानाऽऽदिगेति व्यपदिश्यते। बृ० ५ उ०। (एतच्च ' आसन ' शब्दे द्वितीयभागे ४७० पृष्ठे उक्तम्)

ठाणाइय-पुं०(स्थानातिद) स्थानं कायोत्सर्गाऽऽदिकमतिशयेन ददाति प्रकरोति अतिगच्छति वेति। स्था० ७ ठा०। भ०। कायोत्सर्गकारिणि, धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् कायक्लेशभेदे च। स्था० ७ ठा०।

***स्थानातिग**-पुं० कायक्लेशभेदे, स्था० ७ ठा०।

***स्थानायतिक**-पुं० कायक्लेशभेदे, स्था० ७ ठा०।

ठाणायय-न०(स्थानाऽऽयत) ऊर्ध्वस्थानरूपे आयतस्थाने, बृ० ५ उ०।

ठाणि(ण्)-पुं०त्रि०(स्थानिन्) स्थानानि विद्यन्ते येषां ते स्थानिनः। स्थानवत्सु, सूत्र० १ श्रु० २ अ०।

ठाणुक्कुडुय-त्रि०(स्थानोत्कुटुक) स्थानमासनमुत्कुटुकमाधारे पुतालगनरूपं यस्यासौ स्थानोत्कुटुकः। आसनाभिग्रहविशेषवति, भ० २ श० १ उ०।

ठाणुप्पइयमह-पुं०(स्थानोत्पातिकमह) स्वनामख्याते अपूर्वे उत्सवविशेषे, बृ० १ उ०।

ठावण-न०(स्थापन) आरोपणे, षो० १२ विव०। धारणे, पञ्चा० १३ विव०।

ठावणा-स्त्री०(स्थापना) निक्षेपे, न्यासे, स्था० १० ठा०। प्रतिष्ठायाम्, बृ०। प्रतिष्ठा स्थापना स्थानं व्यवस्था संस्थितिः स्थितिरवस्थानम् , अवस्था चैकार्थिकानि पदानि। बृ० ५ उ०।

ठावित्ता-त्रि०(स्थापयितृ) स्थापनशीले, स्था० ३ ठा० १ उ०।

ठिअलेस्स-न०(स्थितलेश्य) लेश्यभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। (अर्थस्तु ' बालमरण ' शब्दे वक्ष्यते)

ठिइ-स्त्री०(स्थिति) अवस्थाने, आव० ४ अ०। विशे०। श्रा०। बृ०। स्थाने, स्था० ५ ठा० ३ उ०। जीतं स्थितिः कल्पो व्यवस्था समयो मर्यादेति हि पर्यायाः। नं०। दर्श०। '' दुविहा ठिई पण्णत्ता। तं जहा-कायट्ठिई चेव, भावट्ठिई चेव। '' स्था० २ ठा० ३ उ०। आव०। आ० चू०। (व्याख्या ' कप्पट्ठिइ ' शब्दे तृतीयभागे २३३ पृष्ठे प्रदर्शिता) स्थितिः प्रकल्पमवस्थानं विकल्पनमित्येकार्थम्। स्था० ४ ठा० ३ उ०। स्वभावव्यवस्थायाम्, द्वा० २१ द्वा०। क्रमे, स्था० ४ ठा० १ उ०। आयुषि, भ० १४ श० ५ उ०। प्रश्न०। तद्भवशक्ते आयुषि, कल्प० ६ क्षण।

नैरयिकाणाम्-

नेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं।

नैरयिकाणां भदन्त ! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ? तत्र स्थीयतेऽवस्थीयते अनयाऽऽयुष्कर्मानुभूत्येति स्थितिः, स्थितिरायुष्कर्मानुभूतिर्जीवनमिति पर्यायाः । यद्यप्यत्र जीवेन मिथ्यात्वाऽऽदिभिरुपात्तानां कर्मपुद्गलानां ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिरूपतया परिणतानां यदवस्थानं सा स्थितिरिति प्रसिद्धं, तथापि नारकाऽऽदिव्यपदेशहेतुरायुष्कर्मानुभूतिः । तथाहि-यद्यपि नरकगतिपञ्चेन्द्रियजात्यादिनामकर्मोदयाऽऽश्रयो नारकत्वपर्यायः, तथाऽपि नारकाऽऽयुःप्रथमसमयसंवेदनकाल एव तन्निबन्धननारकक्षेत्रमप्राप्तोऽपि नारकस्य व्यपदेशं लभते। तथा च मौनीन्द्रं प्रवचनम्- ''नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जइ, अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ ? गोयमा ! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ, नो अनेरइए नेरइएसु उवव- ज्जइ '' इत्यादि। ततः सैवाऽऽयुष्कर्मानुभूतिरिह यथोक्तव्युत्पत्त्या स्थितिरभिधीयते इति। अत्र निर्वचनमाह- ''गोयमा !'' इत्यादि । एतच्च पर्याप्तापर्याप्तविभागाभावेन सामान्यत उक्तम् ।

यदा तु पर्याप्तापर्याप्तविभागेन चिन्ता, तदेदं सूत्रम्-

अपज्जत्तगनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ॥

'' अपज्जत्तगनेरइयाणं भंते ! '' इत्यादि। इहापर्याप्ता द्विविधाः-लब्ध्या, करणैश्च । तत्र नैरयिका देवाः संख्येयवर्षायुषस्तिर्यग्मनुष्याः करणैरेवापर्याप्ताः, न लब्ध्या, लब्ध्यपर्याप्तकानां तेषु मध्ये उत्पादासम्भवात्। तत एते उपपातकाल एव करणैः कियन्तं कालमपर्याप्ता द्रष्टव्याः। शेषास्तु तिर्यग्मनुष्या लब्ध्या अपर्याप्ता उपपातकाले च।

उक्तं च-

'' नारगदेवा तिरिमणु-यगब्भजा जे असंखवासाऊ।
एए अप्पज्जत्ती, उववाए चेव बोधव्वा ॥ १ ॥
सेसा य तिरियमणुया, लद्धिं पप्पोववायकाले य।
दुहओ वि य भइयव्वा, पज्जत्तियरे य जिणवयणं ॥ २ ॥ ''

अपर्याप्तकाश्च जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तम् । अत उक्तम्- '' गोयमा ! जहन्नेणं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ''।

पज्जत्तगनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ॥

अपर्याप्ताद्धाऽपगमे च शेषकालः पर्याप्ताद्धा । तत उक्तं पर्याप्तसूत्रे- ''गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं *सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।'' एतच्च पृथिव्यविभागेन चिन्तितम्।*

सम्प्रति पृथिवीविभागेन चिन्तयति-

रयणप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं सागरोवमं । अपज्जत्तयरयणप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयरयणप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं । प्रज्ञा० ४ पद । अनु० स० ।

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए अत्थेगइयाणं नेरइयाणं तेवीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । सम० २३ सम० ।

सक्करप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं एगं सागरोवमं, उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं । अपज्जत्तयसक्करप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयसक्करप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

बालुयप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं तिण्णि सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्त सागरोवमाइं । अपज्जत्तयबालुयप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयबालुयप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं तिण्णि सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्त सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । पंकप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं सत्त सागरोवमाइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं । अपज्जत्तयपंकप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयपंकप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं सत्त सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

धूमप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं दस सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सनर सागरोवमाइं । अपज्जत्तयधूमप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयधूमप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं *कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दस सागरोवमाइं अंतो-* मुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सतर सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ॥

तमप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं सतर सागरोवमाइं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं । अपज्जत्तयतमप्पभापुढ-

विनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जह-ण्णेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयतमप्प-भापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं सतर सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

अहेसत्तमपुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं साग-रोवमाइं । अपज्जत्तयअहेसत्तमपुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयअहेसत्तमपुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तू- णाइं।

देवानां स्थितिः-

देवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । अपज्जत्त-यदेवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयदेवाणं भंते ! केव-इयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तू- णाइं।

देवीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पणपन्न पलिओवमाइं ! अपज्ज-त्तगदेवीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जह-न्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयदेवीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससह-स्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं पणपन्न पलिओवमाइं अंतो-मुहुत्तूणाइं ।

भवणवासीणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गो-यमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं सातिरेगं साग-रोवमं । अपज्जत्तयभवणवासीणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतो-मुहुत्तं । पज्जत्तयभवणवासीणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

भवणवासिणीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं । अपज्जत्तियाणं भंते ! भवणवासिणीणं देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं भंते ! भवणवासिणीणं देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओ-वमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

असुरकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं साइरेयं साग-रोवमं । अपज्जत्तयअसुरकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयअसुरकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं ॥

असुरकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं । अपज्जत्तियाणं असुरकुमारीणं भंते ! देवीणं केव-इयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं असुरकुमारीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससह-स्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

नागकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोय-मा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं दोण्णि पलिओ-वमाइं देसूणाइं । अपज्जत्तयाणं भंते ! नागकुमाराणं देवाणं केव-इयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्को-सेणं वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयाणं भंते ! नागकुमाराणं देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससह-स्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं दोण्णि पलिओवमाइं देसूणाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

नागकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणं पलिओ-वमं । अपज्जत्तियाणं नागकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं नागकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं देसूणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

सुवण्णकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई प-

ण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं देसूणाइं। अपज्जत्तयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं देसूणाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

सुवण्णकुमारीणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणं पलिओवमं। अपज्जत्तियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं; उक्कोसेणं देसूणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं।

एवं एएणं अभिलावेणं ओहियअपज्जत्तपज्जत्तसुत्तत्तयं देवाण य देवीण य णेयव्वं० जाव थणियकुमाराणं जहा नागकुमा-राणं।

पुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं। प्रज्ञा० ४ पद।

सण्हपुढवीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं एगं वाससहस्सं। सुद्धपुढवी-पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस वास-सहस्सा। बालुयापुढवीपुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउदस वाससहस्सा। मणोसिलापुढवीपुच्छा ? गो-यमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सोलस वाससहस्साइं। सक्करापुढवीपुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठरस वाससहस्साइं। खरपुढवीपुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सा।

''सण्हपुढविकाइयाणं'' इत्यादि। श्लक्ष्णपृथिवीकायिकानां भदन्त! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ? भगवानाह-गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षत एकं वर्षसहस्रम्। एवमन्येनाभिलापेन शेषाणामपि पृथिवीनाम्। शुद्धपृथिव्या द्वादश वर्षसहस्राणि, बालुकापृथिव्याश्चतुर्दश वर्षसहस्राणि, मनःशिलापृथिव्याः षोडश वर्षसहस्राणि, शर्कगपृथिव्या अष्टादश वर्षसहस्राणि, खरपृथिव्या द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि। सर्वासामपि चामूषां पृथिवीनां जघन्येन स्थितिरन्तर्मुहूर्तं वक्तव्या। जी० ३ प्रति०।

अपज्जत्तयपुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयपुढ-विकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं। सुहुमपुढविकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेण वि अपज्जत्तय-सुहुमपुढविकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयसुहुमपुढविकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। बादरपुढविकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं। प्रज्ञा० ४ पद।

बायरस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता। जी० ६ प्रति०। अपज्जत्तयबादरपुढविकाइयाणं पु-च्छा ? गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्त-यबादरपुढविकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

आउकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं।अपज्जत्तय-आउकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयआउकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणिआइं। आउकाइयाणं ओहियाणं अपज्जत्तयाणं पज्जत्तयाणं जहा सुहु-मपुढविकाइयाणं तहा भाणियव्वं। बादरआउकाइयाणं पु-च्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त वाससह-स्साइं। अपज्जत्तयबादरआउकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जह-ण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ? गोय-मा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं अंतो-मुहुत्तूणाइं।

तेउकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं। अपज्जत्तयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्त-याणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं अंतोमुहुत्तूणाइं। सुहुमतेउकाइयाणं पुच्छा ? गोय-मा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। अपज्जत्तापज्जत्ताणं सुहुमाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमु-हुत्तं। बायरतेउकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं। अपज्जत्तयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

वाउकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोय-मा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि वाससहस्साइं।

अपज्जत्तयवाउकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । सुहुमवाउकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । अपज्जत्तयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । बादरवाउकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि वाससहस्साइं । अपज्जत्तबादरवाउकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तबादरवाउकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

वणस्सइकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं । अपज्जत्तयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । सुहुमवणस्सइ-काइयाणं ओहियाणं अपज्जत्तपज्जत्ताण य अंतोमुहुत्तं । बादर-वणस्सइकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं । अपज्जत्तबादरवणस्सइकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमु-हुत्तं । पज्जत्तबादरवणस्सइकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

बेइंदियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जह-ण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं । अपज्जत्तबेइं-दियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तबेइंदियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

तेइंदियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जह-ण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं एगूणवण्णराइंदियाइं । अपज्जत्तय-तेइंदियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्ततेइंदियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं एगूणवण्णराइंदियाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

चउरिंदियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छम्मासा । अपज्जत्तयचउरिंदियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयचउरिंदियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छम्मासा अंतोमुहुत्तूणा ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं । अपज्जत्तयपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्तयसंमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयसम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा । गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं । अपज्जत्तगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगब्भवक्कंतिपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्तजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोय-मा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा । सम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्तयसम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तसम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा । गब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा ।

चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं । अपज्जत्तयचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउरासीइं वाससहस्साइं । अपज्जत्तयसम्मु-च्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्ज-त्तगसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउरासीइं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयर-पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं । अपज्जत्तगगब्भ-वक्कंतियच-उप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्ज-त्तगगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलि-ओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्त-यउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्ज-त्तगउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा ।

सम्मुच्छिमसामण्णपुच्छा कायव्वा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेवण्णवाससहस्साइं । अपज्जत्तगसम्मु-च्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगसम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेवण्णवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । गब्भवक्कंतियउरपरिस-प्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! ज-हण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्तगगब्भवक्कं-तियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्ज-त्तगगब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा । भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणि-याणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्व-कोडी । अपज्जत्तयभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा । सम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिं-दियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमु-हुत्तं, उक्कोसेणं बायालीसं वाससहस्साइं । अपज्जत्तयसम्मु-च्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पु-च्छा ? गोयमा जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगसम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजो-णियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बायालीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । गब्भवक्कंतियभुय-परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोय-मा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्तगब्भ-वक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पु-च्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमु-हुत्तं । पज्जत्तयगब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरि-क्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्को-सेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा ।

खहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे । अपज्जत्तयखहयरपंचिं-दियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतो-मुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयखहयरपंचिं-दियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतो-मुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे अंतोमुहुत्तूणे । सम्मुच्छिमखहयरपंचिंदितिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोय-मा ! जहण्णेणं, अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावत्तरिवाससहस्साइं । अपज्जत्तयसम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहु-त्तं । पज्जत्तयसम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावत्तरि-वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । गब्भवक्कंतियखहयरपंचिं-दियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे । अपज्ज-त्तयगब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतो-

मुहुत्तं । पञ्जत्तयगब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागो अंतोमुहुत्तूणो ।

मणुस्साणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं । अपज्जत्तयमणुस्साणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयमणुस्साणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

(निर्ग्रन्थानां स्थितिः ' निग्गंथ ' शब्दे वक्ष्यते)

स्त्रीणाम्-

मणुस्सित्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं । धम्मचरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । कम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं । धम्मचरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । भरहेरवयकम्मभूगममणुस्सित्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं । धम्मचरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सि-त्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । धम्मचरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । अकम्मत्तूमगमणुस्सित्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! जम्म णं पडुच्च जहण्णेणं देसूणं पलिओवमं, पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओ-वमाइं । संहरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । हेमवए एरन्नवए जहण्णेणं देसूण पलिओवमं, पलि-ओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं पलिओवमं । संहरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । हेमवए एरन्नवए पडुच्च जहण्णेणं देसूणं पलिओवमं, पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं पलिओवमं । संहरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । हरिवासरम्मगवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जम्म णं पडुच्च जहण्णेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं, पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागे ऊणाइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं । संहरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । देवकु रुउत्तरकु रुअकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! जम्म णं पडुच्च जहण्णेणं देसूणाइं तिण्णि पलिओवमाइं, पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेणं ऊणगाइं, उक्को-सेणं तिण्णि पलिओवमाइं । संहरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! जम्म णं पडुच्च जहण्णेणं देसूणं पलिओवमं, पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं । संहरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी ॥

मनुष्यस्त्रीषु क्षेत्रं प्रतीत्य, क्षेत्राऽऽश्रयणेनेति भावः । जघन्यतोऽन्तर्मुहुर्तम् , उत्कर्षतो देवकुर्वादिषु, भरताऽऽदिष्वपि च, एकान्तसुषमाऽऽदिकाले त्रीणि पल्योपमानि । धर्मचरणं धर्मसेवनं प्रतीत्य, जघन्येनान्तर्मुहूर्तमेव । तच्च तद्भवस्थितायाः एव परिणामवशतः प्रतिपातापेक्षया द्रष्टव्यम् । चरणधर्मस्य मरणमन्तरेण सर्वस्तोकतयाऽप्येतावन्मात्रकालावस्थानभावात् । तथाहि-काचित् स्त्री तथाविधक्षयोपशमभावतः सर्वविरतिं प्रतिपद्य तावन्मात्रक्षयोपशमभावात् अन्तर्मुहूर्तानन्तरं भूयोऽपि अविरतसम्यग्दृष्टिं, मिथ्यात्वं च प्रतिपद्यते इति । अथवा-धर्मचरणमिह देशचरणं प्रतिपत्तव्यं, न सर्वचरणम् ; देशचरणप्रतिपत्तिस्तु जघन्यतोऽप्यन्तर्मौहूर्त्तिकी, तस्या भङ्गबहुलत्वात् । अथोभयाऽऽचरणसंभवे किमर्थमिह देशचरणं परिगृह्यते ? उच्यते-देशचरणपूर्वकं प्रायः सर्वचरणमिति ख्यापनार्थम्। अत एवोक्तं वृद्धैः- '' सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपु-हुत्तेण सावओ होइ। चरणुवसमो खयाणं, सागरसंखंतरा होंति ॥ १ ॥ अपरिवडिए '' इत्यादि । उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, अष्टसांवत्सरिक्याश्चरणधर्मप्राप्तेः, तदूर्द्ध चरमान्तर्मुहूर्तं यावदप्रतिपतितपरिणामभावात्। पूर्वपरिमाणं चेदम्- '' पुव्वस्स उ परिमाणं, सयरिं खलु वासकोडिलक्खाओ । छप्पण्णं च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं ॥ १ ॥ '' इति। सम्प्रति कर्मभूमिकाऽऽदिविशेषस्त्रीणां वक्तव्यतामाह-(कम्मभूमगमणुस्सित्थीणं इत्यादि) अक्षरगमनिका सुगमा । भावार्थस्त्वयम-कर्मभूमिकमनुष्यस्त्रीणां क्षेत्रं कर्मभूमिसामान्यलक्षणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् , उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । तानि च भरतैरावतेषु सुषमसुषमालक्षणे अरके वेदितव्यानि । धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । भावना चात्र प्रागिव द्रष्टव्या । एवमुत्तरसूत्रद्वयेऽपि । अत्रैव विशेषचिन्तां चिकीर्षुराह- ''भरहेरवयवासकम्मभूमग '' इत्यादि सुगमं, नवरं भरतैरवतेषु त्रीणि पल्योपमानि, सुषमायां पूर्वविदेहापरविदेहेषु क्षेत्रतः पूर्वकोटिः, तत ऊर्द्धं तत्र तथा क्षेत्रस्वाभाव्यादायुषोऽसम्भवात् । (अकम्मभूमगेत्यादि) जम्म प्रतीत्येति । अकर्मभूमिषूत्पत्तिमाश्रित्य, जघन्यतो देशोनं पल्योपमं,

तच्चाष्टभागन्यूनमपि देशोनं भवति । ततो विशेषस्थापनायाऽऽह-पल्योपमस्यासंख्येयभागोनम् । एतच्च हैमवतैरण्यवतक्षेत्रापेक्षया द्रष्टव्यम् । तत्र जघन्यतः स्थितेरेतावत्प्रमाणायाः संभवात् , उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, तानि च देवकुर्वपेक्षया । (संहरणं पडुच्चेत्यादि) संहरणं नामकर्मभूमिजायाः स्त्रियोऽकर्मभूमिषु नयनं, तत्प्रतीत्य तदाश्रित्य, जघन्येनान्तर्मुहूर्तम् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । इयमत्र भावना इह कर्मभूमिकाऽप्यकर्मभूमिषु संहृता अकर्मभूमिकेति व्यवह्रियते, तत्क्षेत्रसंबन्धभावात् । यथा लोके कश्चित् मगधाऽऽदिदेशात् सुराष्ट्रान् प्रस्थितो, गिरिनगरेषु निवासं कल्प-यितुकामः सुराष्ट्रपर्यन्तग्रामं प्राप्तः सन् समुत्पद्यमानेषु तथाविधेषु प्रयोजनेषु सौराष्ट्र इति व्यवह्रियते, तद्वदधिकृताऽपि तत्र संहृता सती काचिदन्तर्मुहूर्तं जीवति । ततोऽपि वा भूयोऽपि संह्रियते काचित्पूर्वकोट्यायुष्का यावज्जीवमपि तत्रावतिष्ठते, ततो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुक्तम् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटीति ।

आह-भरतैरवतान्यपि कर्मभूमौ वर्तन्ते ; तत्र चैकान्तसुषमाऽऽदौ त्रीण्यपि पल्योपमानि स्थितिरस्या भवति, संहरणं च संभवति, तत्कथं देशोना पूर्वकोटी भण्यते इति ? अत्रोच्यतेकर्मकालवि-वक्षयाऽभिधानात्तस्य चैतावन्मात्रत्वादिति हैमवतैरण्यवतकर्म-भूमिकमनुष्यस्त्रीणां जन्मतो जघन्येन देशोनं पल्योपमं, पल्योप-मासंख्येयभागेन न्यनम् , उत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमम् । संहरण-मधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतोदेशोना पूर्वकोटी, भावना प्रागिव । एवं '' हरिवासरम्मग '' इत्याद्यपि सूत्रत्रयं भावनीयम् । नवरं हरिवर्षरम्यकयोर्जन्मतो तधन्येन द्वे पल्योपमे, पल्योपमासंख्येयभागन्यूने । उत्कर्षतः परिपूर्णे द्वे पल्योपमे । देवकु रूत्तरकुरुषु जन्मतो जघन्येन त्रीणि पल्योपमानि, पल्योप-मासंख्यैय-भागहीनानि । उत्कर्षतः परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि । अन्तर-द्वीपेषु जघन्यतो जघन्येन देशोनपल्योपमासंख्येयः । कियता देशो-न इति चेत् ? अत आह-पल्योपमासंख्येयभागोनः । किमुक्तं भवति ?-उत्कृष्टात् पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणादायुषो जघन्यमायुःपल्योपमासंख्येयभागन्यूनम् , नवरमूनताहेतुः पल्योपमासंख्ये-यो भागोऽऽतीव स्तोको द्रष्टव्यः । संहरणमधिकृत्य सर्वत्रापि जघ-न्यत उत्कर्षतश्च तावदेव प्रमाणम् । जी० २ प्रति० ।

नपुंसकानाम्-

मणुस्सणपुंसगस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! खत्त पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । धम्मचरण पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसणं देसूणा पुव्वकोडी । कम्मभूमगभरहेरवयपुव्वविदेहअवरविदेहमणुस्सणपुंसगस्स वि तहेव । अकम्मभूमगमणुस्सणपुंसगस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! जम्म णं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । संहरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसणा पुव्वकोडी । एवं० जाव अंतरदीवगाणं ॥

सामान्यतो मुनष्यनपुंसकस्यापि जघन्यतोऽन्तर्मुहुर्तम् , उत्कर्षतः पूर्वकोटी । कर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् , उत्कर्षतः पूर्वकोटी । धर्मचरणं बाह्यवेषपरिकरित-प्रव्रज्याप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त, तत ऊर्द्धं मरणाऽऽदिभावात् । उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, संवत्सराष्टकादुर्द्धं प्रतिपद्य जन्मपालनात् । भरतैरवतकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य च क्षेत्रं, धर्मचरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैवमेव वक्तव्यम् । अकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य जन्म प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तम् , उत्कर्षेणापि अन्तर्मुहूर्तम् । अकर्मभूमौ हि संमूर्च्छिमा मनुष्या नपुंसका एव भवन्ति, न गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, युगलधर्मिकाणां नपुंसकत्वा-भावात् । समूर्च्छिमाश्च जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्तायुषः, केवलं जघन्यादुत्कृष्टमन्तर्मुहूर्तं बृहत्तरमवसेयम् । संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, संहरणादूर्द्धमामरणान्तमवस्थानसंभवात् । देशोनता च पूर्वकोट्या गर्भनिर्गतस्य संभवात् । एवं विशेषचिन्तायां हैमवतैरण्यवताकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य, अन्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसकस्य च जन्म, संहरणं च प्रतीत्यैवमेव वक्तव्यम् । जी० ३ प्रति० ।

सम्मुच्छिममणुस्साणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । गब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं । अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

उत्तरकुरुमनुष्याणां जघन्येन पल्योपमस्यासंख्येयभागेनोनानि त्रीणि पल्योपमानि, उत्कर्षात् परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि । जी० ३ प्रति० ।

वाणमंतराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पलिओवमं । अपज्जत्तयवाणमंतरदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयवाणमंतरदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं । प्रज्ञा० ४ पद । प० द० ।

अकामकायक्लेशतपस्विनां व्यन्तरेषूपपन्नानां दश वर्षसहस्राणि स्थितिः । औ० । बालमरणेन मृतानां व्यन्तरेषूपपन्नानां द्वादश वर्षसहस्राणि स्थितिः । औ० । विधवानामल्पारम्भप्रवृत्तानां व्यन्तरेषूपपन्नानां चतुर्दश वर्षसहस्राणि स्थितिः । औ० । अकामकायक्लेशतपस्विनीनां स्त्रीणां व्यन्तरेषूपपन्नानां चतुःषष्टिर्वर्षसहस्राणि स्थितिः । औ० । उदकद्वितीयाऽऽदीनां पाखण्डव्रतिनां निर्विकृति-कानां व्यन्तरेषूपपन्नानां चतुरशीतिवर्षसहस्रं स्थितिः । औ० ।

वाणमंतरीणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अद्धपलिओपमं । अपज्जत्तियाणं भंते ! वाणमंतरीणं देवीणं पुच्छा ? गो-

यमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तियाणं भंते ! वाणमंतरीणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं।

जोइसियाणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमऽट्ठभागो, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं। अपज्जत्तयजोइसियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयजोइसियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमट्ठभागो अंतोमुहुत्तूणो, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं॥

जोइसिणी णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमट्ठभागो, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पण्णासवाससहस्समब्भहियं। अपज्जत्तियाणं जोइसिणी णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तियाणं जोइसिणी णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमट्ठभागो अंतोमुहुत्तूणो, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पण्णासवाससहस्सेहिं अब्भहिए अंतोमुहुत्तूणं॥ प्रज्ञा० ४ पद। जी०।

होतृकाऽऽदीनां वानप्रस्थानां ज्योतिष्केषूपपन्नानां वर्षशतसह-स्राधिकं पल्योपमं स्थितिः। औ०।

चंदविमाणे णं भंते ! देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं। चंदविमाणे णं भंते ! अपज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। चंदविमाणे णं भंते ! पज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं।

चंदविमाणे णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पण्णासाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं। चंदविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। चंदविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पण्णासाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं।

सूरविमाणे णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससहस्समब्भहियं। सूरविमाणे णं अपज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। सूरविमाणे णं पज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससहस्समब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं।

सूरविमाणे णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पंचहिं वाससएहिं अब्भहियं। सूरविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। सूरविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पंचहिं वाससएहिं अब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं।

गहविमाणे णं भंते ! देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं पलिओवमं। गहविमाणे णं अपज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। गहविमाणे णं पज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं।

गहविमाणे णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं। गहविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। गहविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं।

णक्खत्तविमाणे णं भंते ! देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं अद्धवलिओवमं। णक्खत्तविमाणे णं अपज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। णक्खत्तविमाणे णं पज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं।

णक्खत्तविमाणदेवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं सातिरेगं चउभागपलिओवमं। णक्खत्तविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। णक्खत्तविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं सातिरेगं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं।

ताराविमाणे णं भते ! देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमं, उक्कोसेणं चउभागपलिओवमं। ताराविमाणे णं अपज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। ताराविमाणे णं पज्ज-

त्तदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं । ताराविमाणे णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमं, उक्कोसेणं साइरेगं अट्ठभागपलिओवमं । ताराविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ताराविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं साइरेगं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

वेमाणियाणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । अपज्जत्तवेमाणियाणं भंते ! देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तवेमाणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद । सू० प्र० । जी० । जं० ।

वेमाणिणीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं पणपण्णं पलिओवमाइं । अपज्जत्तियाणं देवीणं वेमाणिणीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयाणं वेमाणिणीणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पणपण्णं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगाणं देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । रा० । स्था० । जी० ।

(शक्राऽऽदीनां देवानां पर्षत्सु स्थितिः ' परिसा ' शब्दे वक्ष्यते)

सोहम्मे णं भंते ! कप्पे देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं । प्रज्ञा० ४ पद । स० । द० प० । सोहम्मे कप्पे अपज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सोहम्मे कप्पे पज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

सोहम्मे कप्पे देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं पन्नासं पलिओवमाइं । सोहम्मे कप्पे अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सोहम्मे कप्पे पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पन्नासं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

सोहम्मे कप्पे परिग्गहियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं । सोहम्मे कप्पे परिग्गहियाणं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सोहम्मे कप्पे परिग्गहियाणं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

सोहम्मे कप्पे अपरिग्गहियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं पन्नासं पलिओवमाइं । सोहम्मे कप्पे अपरिग्गहियाणं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सोहम्मे कप्पे अपरिग्गहियाणं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पण्णासं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

ईसाणे कप्पे देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं साइरेगं पलिओवमं, उक्कोसेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं । ईसाणे कप्पे अपज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ईसाणे कप्पे पज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं सातिरेगं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं सातिरेगाइं तो सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अग्गमहिसीणं नव पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । स्था० ९ ठा० ।

ईसाणे कप्पे देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं सातिरेगं पलिओवमं, उक्कोसेणं पणपण्णपलिओवमाइं । ईसाणे कप्पे देवीणं अपज्जत्तियाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ईसाणे कप्पे पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं साइरेगं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पणपण्णपलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

ईसाणे कप्पे परिग्गहियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं साइरेगं पलिओवमं, उक्कोसेणं नव पलिओवमाइं । ईसाणे कप्पे परिग्गहियाणं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ईसाणे कप्पे परिग्गहियाणं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं साइरेगं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं नव पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

ईसाणे कप्पे अपरिग्गहियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं साइरेगं पलिओवमं, उक्कोसेणं पणपण्णपलिओ-

वमाइं। ईसाणे कप्पे अपरिग्गहियाणं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। ईसाणे कप्पे अपरिग्गहियाणं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं साइरेगं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पणपण्ण पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ॥

ईसाणस्स णं देविंदस्स मज्झिमए परिसाए देवाणं छ पलिओवमा ठिई पण्णत्ता। स्था० ६ ठा०।

('लोगपाल' शब्दे सर्वेन्द्राणां लोकपालानां स्थितिवक्तव्यता) कन्दर्पिकाऽऽदीनां श्रमणानामुत्कर्षेण सौधर्मकल्पे कन्दर्पिकेषु देवेषूपपन्नानां वर्षसहस्रमभ्यधिकं पल्योपमं स्थितिः। औ०। भ०। द० प। स्था०।

सणंकुमारे कप्पे देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं दो सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्त सागरोवमाइं। सणंकुमारे कप्पे अपज्जत्तगाणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। सणंकुमारे कप्पे पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं दो सागरोवमाइं अतोणटुत्तुलाइं, उक्कसिणं सत्त सागरोवमाइं अंतोमुहूत्तूणाइं।

माहिंदे कप्पे देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्त साहियाइं सागरोवमाइं। माहिंदे कप्पे अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। माहिंदे कप्पे पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्त साहियाइं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ? सोहम्मे कप्पे देवाणं उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ? ईसाणे कप्पे देवाणं उक्कोसेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। सणंकुमारे कप्पे देवाणं जहण्णेणं दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। माहिंदे कप्पे देवाणं जहण्णेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। स्था० २ ठा० ४ उ०।

बंभलोए कप्पे देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं सत्त सागरोवमाइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं। बंभलोए अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। बंभलोए पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं सत्त सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

मस्करिसाङ्ख्ययोगिकापिलाऽऽदीनां चरकपरिव्राजकानामुत्कर्षेण ब्रह्मलोककल्पे देवेषूपपन्नानां दश सागरोपमा स्थितिः-

तद्यथा-

ते णं परिव्वायगा एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियाइं पाउणिंति, बहूइं वासाइं परियाइं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तेहिं तेसिं गई दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। सेसं तं चेव ॥ १२ ॥ औ०।

अम्मडस्य देवस्य ब्रह्मलोककल्पे देवेषूपपन्नस्य दश सागरोपमा स्थितिः। औ०।

लंतए पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं दस सागरोवमाइं, उक्कोसेणं चउदस सागरोवमाइं। लंतए अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। लंतए पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं चउदस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं। प्रज्ञा० ४ पद।

ग्रामाऽऽकराऽऽदिषु प्रव्रजितानामाचार्य्याऽऽदिप्रत्यनीकानामुत्कर्षेण लान्तके कल्पे देवकिल्विषिकेषूपपन्नानां त्रयोदश सागरोपमा स्थितिः। औ०।

तद्यथा-

से इमे गामाऽऽगरजाणसण्णिवेसेसु पव्वइया समाणा भवंति। तं जहा-आयरियपडिणीया, उवज्झायपडिणीया, कुलपडिणीया, गणपडिणीया, आयरियउवज्झायाणं अयसकारगा अवण्णकारगा अकित्तिकारगा बहूहिं असब्भावणुब्भावणाहिं मिच्छत्ताहिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणिंति, बहुयस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिव्विसिएसु देवकिव्विसित्ताए उववत्तारो हवंति। तेहिं तेसिं गती तेरस सागरो-वमाइं ठिती अणाराहगा, सेसं तं चेव ॥ १५ ॥ औ०।

महासुक्के देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउदस सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सतर सागरोवमाइं। महासुक्के अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। महासुक्के पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चोद्दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सतर सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

सहस्सारे देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं सतर सागरोवमाइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमाइं। सहस्सारे अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। सहस्सारे पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं सतर सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं। प्रज्ञा० ४ पद।

संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकापर्याप्तकानां शुभैः परिणामैः संज्ञिपूर्वजातिस्मरणे समुत्पन्ने स्वयमेव पञ्चाणुव्रतानि परिवर्जयित्वा बहूनि शीलव्रतगुणविरमणप्रत्याख्यानपोषधोपवासाऽऽदीनात्मना भावयमानानामुत्कर्षेण सहस्रारे कल्पे देवेषूपपन्नानामष्टादश सागरोपमा स्थितिः। औ०।

आणए कप्पे देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठारस सागरोवमाइं, उक्कोसेणं एगूणवीसं सागरोवमाइं। आणए अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। आणए पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठारस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं एगूणवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

पाणए कप्पे देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एगूणवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं बीसं सागरोवमाइं। पाणए अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पाणए पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एगूणवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं। आरणे कप्पे देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं बीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं एगवीसं सागरोवमाइं। आरणे अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। आरणे पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं एक्कवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

अच्चुए कप्पे देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं। अच्चुए अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। अच्चुए पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं। प्रज्ञा० ४ पद।

आजीवकानामच्युते कल्पे देवेषूपपन्नानामात्मोत्कर्षिकादीनां ग्रामाऽऽकराऽऽदिसन्निवेशेषु प्रव्रजितानां श्रमणानामुत्कर्षेणाच्युते कल्पे आभियोगिकेषु देवेषूपपन्ननां च द्वाविंशतिसागरोपमा स्थितिः। औ०।

हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं तेवीसं सागरोवमाइं। हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जगअपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। हेट्ठिमहेट्ठिममेविज्जगपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तू- णाइं।

हिट्ठिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं तेवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं चउबीसं सागरोवमाइं। हिट्ठिममज्झिमगेविज्जगअपज्जत्तगदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। हिट्ठिममज्झिमगेविज्जगपज्जत्तगदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं तेवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं चउवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

हिट्ठिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं पणवीसं सागरोवमाइं। हेट्ठिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। हिट्ठिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं चउवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं पणवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पंचवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं छव्वीसं सागरोवमाइं। मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पणवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं छव्वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

मज्झिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं छव्वीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्तावीसं सागरोवमाइं। मज्झिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। मज्झिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं छव्वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्तावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

मज्झिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं सत्तावीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं अट्ठावीसं सागरोवमाइं। मज्झिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। मज्झिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं सत्तावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अट्ठावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

उवरिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठावीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं एगूणतीसं सागरोवमाइं। उवरिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। उवरिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जह-

ण्णेणं अट्ठावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं एगूणतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

उवरिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एगूणतीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमाइं। उवरिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। उवरिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एगूणतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

उवरिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं तीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं। उवरिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। उवरिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं। प्रज्ञा० ४ पद। औ०।

विजयवेजयंतजयंतअपराजिएसु णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं। विजयवेजयंतजयंतअपराजितदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। विजयवेजयंतजयंतअपराजितदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। सव्वट्ठसिद्धदेवाणं पज्जत्ताणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ठिई पण्णत्ता। प्रज्ञा० ४ पद। भ०। औ०।

(देवस्थितिविषये यथा ऋषिभद्रपुत्रः '' जहण्णेणं दस वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता। तेण परं समाहिया दुसमाहिया० जाव दससमाहिया संखेज्जसमाहिया, असंखेज्जसमाहिया, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिई पण्णत्ता। तेण परं वोच्छिण्णा देवा य, देवलोगा य। '' इति प्रतिपेदे, भगवता वीरजिनेन च सत्यार्थत्वेन मतः, तथा ' इसिभद्दपुत्त ' शब्दे तृतीयभागे ६३४ पृष्ठेऽस्माभिरदर्शि)

भव्याऽऽदिदेवानां स्थितिः-

भवियदव्वदेवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। णरदेवाणं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं सत्त वाससयाइं, उक्कोसेणं चउरासीतिपुव्वसयसहस्साइं। धम्मदेवाणं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणाइं पुव्वकोडी। देवाहिदेवाणं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं वावत्तरिं वासाइं, उक्कोसेणं चउरासीइपुव्वसयसहस्साइं। भावदेवाणं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं।

'' भवियदव्वदेवाणं '' इत्यादि। (जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं ति) अन्तर्मुहूर्तायुषोः पञ्चेन्द्रियतिरश्चोः, देवेषूत्पादाद्भव्यद्रव्यदेवस्य जघन्याऽन्तमुहूर्तस्थितिः। (उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं ति) उत्तरकुर्वादिमनुजाऽऽदीनां देवेष्वेवोत्पादात् ते भव्यद्रव्यदेवाः, तेषां चोत्कर्षतो यथोक्ता स्थितिरिति। (सत्त वाससयाइं ति) यथा ब्रह्मदत्तस्य (चउरासीतिपुव्वसयसहस्साइं ति) यथा भरतस्य। धर्म-देवानाम् (जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं ति) योऽन्तर्मुहूर्त्तविशेषाऽऽयुश्चारित्रं प्रतिपद्यते तदपेक्षमिदम्। (उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी ति) यो देशोनपूर्वकोट्यायुश्चारित्रं प्रतिपद्यते तदपेक्षमिति। ऊनता च पूर्व-कोट्या अष्टाभिर्वर्षैः, अष्टवर्षस्यैव प्रव्रज्याऽर्हत्वात्। यच्च षड्वर्ष-स्त्रिवर्षो वा प्रव्रजितोऽतिमुक्तको वैरस्वामी वा, तत्कादाचित्कमिति न सूत्रावतारीति। देवाधिदेवानाम् (जहण्णेणं वावत्तरिं वासाइं ति) श्रीमन्महावीरस्येव। (उक्कोसेणं चउरासीइपुव्वसयसहस्साइं ति) ऋषभस्वामिनो यथा। भावदेवानाम् (जहण्णेणं दस वाससहस्साइं ति) यथा व्यन्तराणाम्। (उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ति) यथा सर्वार्थसिद्धदेवानाम्। भ० १२ श० ६ उ०।

एएसि णं अट्ठविहाणं लोगंतियाणं देवाणं अजहण्णमणुक्कोसेणं अट्ठ सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता॥ स्था० ७ ठा०।

(वेदनीयस्य कर्मणः स्थितिः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २७८ पृष्ठे स्थितिकर्मप्रस्तावे उक्ता)

पुन्नपुंसकानां स्थितिः-

पुरिसस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं। तिरिक्खजोणियपुरिसाणं मणुस्सपुरिसाणं जं चेव इत्थीणं ठिती, सा चेव भाणियव्वा।

'' पुरिसस्स णं भंते ! '' इत्यादि। पुरुषस्य स्वभवभावमजहतो भदन्त ! कियन्तं कालं यावत् स्थितिः प्रज्ञप्ता ? भगवानाह-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तत ऊर्द्धं मरणभावात्। उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। तान्यनुत्तरसुरापेक्षया द्रष्टव्यानि, अन्यस्य एतावत्याः स्थितेरसंभवात्। तिर्यग्योनिकानामौधिकातां जलचराणां स्थलचराणां खचराणां यथा स्त्रीणां स्थितिरुक्ता, तथा वक्तव्या। मनुष्यपुरुषस्याप्यौधिकस्य कर्मभूमकस्य सामान्यतो विशेषतो भरतैरावतकस्य पूर्वविदेहापरविदेहकस्याकर्मभूमकस्य सामान्यतो विशेषतो हैमवतैरण्यवतिकस्य हरिवर्षरम्यकदेवकुरूत्तरकुरुकस्य अन्तरद्वीपकस्य यैवाऽऽत्मीये आत्मीये स्थाने स्त्रियाः, सैव पुरुषस्यापि वक्तव्या। तद्यथा-सामानिकतिर्यग्योनिकपुरुषाणां जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतः त्रीणि पल्योपमानि। जलचरपुरुषाणां

जघन्येनान्तर्मुहूर्तम् , उत्कर्षतः पूर्वकोटी । चतुष्पदस्थलचरपुरुषाणां जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । उरःपरिसर्पस्थलचरपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् , उत्कर्षतः पूर्वकोटी । एवं भुजपरिसर्पस्थलचरपुरुषणामपि खचरपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षतः पल्योपमस्यासंख्येयो भागः, सामान्यतो मनुष्यपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् । एतच्च बाह्यलिङ्गप्रव्रज्याप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य वेदितव्यम् । अन्यथा चरणपरिणामस्यैकसामायिकस्यापि सम्भवादेकं समयमिति ब्रूयात् । अथवा देशचरणमधिकृत्येदं वक्तव्यम् । देशचरणप्रतिपत्तेर्भङ्गबहुलतया जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तसंभवात् । तत्र सर्वचरणसम्भवेऽपि देशचरणमधिकृत्योक्तम् । तद्देशचरणपूर्वकं प्रायः सर्वचरणमिति प्रतिपत्त्यर्थम् । तथा चोक्तम्- '' सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहुत्तेण सावओ होइ । चरणोवसमखयाणं, सागरसंखंतरा होंति ॥ १ ॥ '' (पं० सू० टी०) अत्र यदाद्यं व्याख्यातं, तत् स्त्रीवेदचिन्तायामपि द्रष्टव्यम् , यच्च स्त्रीवेदचिन्तायां व्याख्यातं, तदत्रापीति । उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, वर्षाष्टकादूर्ध्वमुत्कर्षतोऽपि पूर्वकोट्यायुष एव चरणप्रतिपत्तिसंभवात् । कर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । चरणप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । भरतैरावतकर्मभूमिकमनुष्याणां पुरुषाणां क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । तानि च सुषमसुषमाऽरके वेदितव्यानि । धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । सामान्यतोऽकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनमेकं पल्योपमम् , उत्कर्षस्त्रीणि पल्योपमानि । संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षेण देशोना पूर्वको-टी । पूर्वविदेहकस्यापरविदेहकस्य वा अकर्मभूमौ संहृतस्य जघन्यत उत्कर्षतश्च एतावदायुःप्रमाणसंभवात् । हैमवतैरण्यवताकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन पल्योपमं पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनम् , उत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमम् । संहरणमधि-कृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूत्तम् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । भावना प्रागिव । हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्यतो द्वे पल्योपमे पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूने, उत्कर्षतःपरिपूर्णे द्वे पल्योपमे । संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्यतः पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनानि त्रीणि पल्योपमानि । उत्कर्षतः परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि । संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । अन्तरद्वीपकाकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन देशोनः पल्योपमासङ्ख्येयभागः, उत्कर्षतः परिपूर्णः पल्योपमासङ्ख्येयभागः, संहरणमधिकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम् , उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटीति ॥ जी० २ प्रति० ।

सम्प्रति स्थितिप्रतिपादनार्थमाह-

नपुंसगस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥

'' नपुंसगस्स णं भंते ! '' इत्यादि सुगमं, नवरमन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यङ्मनुष्याक्षेपया द्रष्टव्यम् । त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सप्तमपृथिवीनारकापेक्षया । जी २ प्रति । '' वासाणं च दहाणं, वासहराणं महाणईणं च । दीवाणं उदहीणं, पलिओवमगाउवठिईणं '' ॥ १ ॥ द्वी० । स्थितिप्रतिपादके प्रज्ञापनायाश्चतुर्थपदे, प्रज्ञा० ४ पद । (उत्पलाऽऽदिजीवानां स्थितिः ' वणप्फइ 'शब्दे द्रष्टव्या) (कषायाणां स्थितिः ' कसाय ' शब्दे तृतीयभागे ३६७ पृष्ठे प्ररूपिता)

ठिइअव्वट्टणा-स्त्री०(स्थित्यपवर्त्तना) स्थितिकर्मविषयकापवर्त्तनाकरणे, पं० सं० ५ द्वार । क० प्र० । (' अववट्टणा ' शब्दे प्रथमभागे ७६६ पृष्ठेऽस्या व्याख्या)

ठिइउदय-पुं०(स्थित्युदय) अबाधाकालरूपायाः स्थितेः क्षयेण उदीरणाकरणरूपेण प्रयोगेण वा कर्मोदयरूपे उदयभेदे, पं० सं० ५ द्वार । क० प्र० । (स च ' उदय ' शब्दे द्वितीयभागे ७७५ पृष्ठे व्याख्यातः)

ठिइउदीरणा-स्त्री०(स्थित्युदीरणा) स्थितिकर्मविषयकोदीरणा-करणे, पं० सं० ५ द्वार । क० प्र० ।

ठिइउव्वट्टणा-स्त्री०(स्थित्युद्वर्तना) स्थितिकर्मविषयकोद्वर्तनाकरणे, क० प्र० । पं० सं० । (सा च ' उव्वट्टणा ' शब्दे द्वितीयभागे १११० पृष्ठे व्याख्याता)

ठिइकप्प-त्रि०(स्थितिकल्प) प्रथमचरमजिनसाधूनां सततोऽऽसेवनेनावस्थिते आचेलक्याऽऽदिदशविधे कल्पे, प्रव० ७७ द्वार ।

ठिइकम्म(ण्)-न०(स्थितिकर्मन्) कर्मभेदे, कर्म० ५ कर्म० ।

ठिइकरण-न०(स्थितिकरण) स्थापने, स० १० अङ्ग ।

ठिइकल्लाण-न०(स्थितिकल्याण) स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणा कल्याणं येषां ते । सर्वोत्कर्षस्थितिकेषु, स० ८०० सम० ।

ठिइकारण-न०(स्थितिकारण) '' वातेरिता णया इष, पकंपमा-णाण तरुणमादीणं । होति थिरा वड्ढंतो, तरु व्व थिरकरणतेणं तु ॥ १ ॥ '' इति निरूपितायां सप्तदश्यां गौणाऽनुज्ञायाम् ,पं० भा० नं० ।

ठिइक्खय-पुं०(स्थितिक्षय) आयुष्काऽऽदिकर्मणां स्थितिर्निर्ज-रणे, भ० ७ श० ६ उ० । आयुषः स्थितिबन्धक्षये, स्था० ८ ठा० । वेदने, भ० २ श० १ उ० । विगमने, विपा० २ श्रु० १० अ० । स्थितिर्वैक्रियशरीरे अवस्थानं, तस्याः क्षयेऽपूरणीकरणे । कल्प० १ क्षण ।

ठिइघाय-पुं०(स्थितिघात) बृहत्प्रमाणावा ज्ञानाऽऽवरणीयादिकर्मस्थितिरपवर्त्तनाकरणेन खण्डने, कर्म० १ कर्म० । क० प्र० । पं० सं० । (स च '' उवसमसेढि '' शब्दे द्वितीयभागे १०४४ पृष्ठे उक्तः)

ठिइठाण-न०(स्थितिस्थान) आयुषो विभागे, भ० १ श० ५

उ० । क० प्र० । पं० सं० । (नैरयिकाऽऽदीनां स्थितिस्थानमाश्रित्य दण्डको '' जीव '' शब्दे चतुर्थभागे १५४२ पृष्ठे उक्तः)

ठिइणामणिहत्ताउय-न०(स्थितिनामनिधत्तायुष्) स्थितिर्यथा स्थातव्यं तेन भावेनाऽऽयुर्दलिकस्य सैव नाम परिणामो, धर्म इत्यर्थः। स्थितिनाम गतिजात्यादिकर्मणां च प्रकृत्यादिभेदेन चतुर्विधानां यः स्थितिरूपो भेदस्तत् स्थितिनाम, तेन सह निधत्तमायुः स्थितिनामनिधत्ताऽऽयुः। आयुर्बन्धभेदे, स०। स्था०। भ०। प्रज्ञा०।

ठिइपरिणाम-पुं०(स्थितिपरिणाम) आयुषो याऽन्तर्मुहूर्त्ताऽऽदित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्ता स्थितिर्भवति स स्थितिपरिणामः। आयुःपरिणामभेदे, स्था० ६ ठा०।

ठिइप्पगप्प-पुं०(स्थितिप्रकल्प) स्थितौ अवस्थाने वलिचश्चाविषये प्रकल्पः सङ्कल्पः स्थितिप्रकल्पः। अवस्थानविषयके सङ्कल्पे, भ० ३ श० १ उ०। स्थितिप्रकल्पमवस्थानं विकल्पनम्-तेष्वहं तिष्ठेयमिति, एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरीभवन्त्वित्येवरूपे, स्थित्या वा मर्यादया विशिष्टः प्रकल्पः। आचाराऽऽसेवायाम्, स्था० ३ ठा० ३ उ०। यानीमानि सुप्रसिद्धतया प्रत्यक्षाणि स्थविराणां स्थविर-कल्पिकानां स्थितौ समाचारे प्रकल्पानि प्रकल्पनीयानि योग्यानि विशुद्धपिण्डशय्याऽऽदीनि स्थितिप्रकल्पानि। पिण्डाऽऽदिकानां च कल्पानां मासकल्पाऽऽदिकानां च स्थितीनां द्वन्द्वे, स्था० ५ ठा० १ उ०।

ठिइबंध-पुं०(स्थितिबन्ध) अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिक-स्य स्थितिकालनियमने, कर्म० ५ कर्म०। पं० सं०। अष्टानां ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मप्रकृतीनां जघन्याऽऽदिभेदभिन्नावस्थानस्य निवर्त्तने, स० १ सम०। स्था०। मूलोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। कर्म्म०। क० प्र०। पं० सं०। (एकेन्द्रियाऽऽदिजीवानाश्रित्याल्पबहुत्वम् '' अप्पाबहुय '' शब्दे प्रथ-मभागे ६१८ पृष्ठे वक्ष्यते) (अत्रत्यं सर्वं '' बंध '' शब्दे प्रदर्शयि-ष्यामि)

ठिइबंधपरिणाम-पुं०(स्थितिबन्धपरिणाम) येन पूर्वभवाऽऽयुःपरिणामेन परभवाऽऽयुषो नियतां स्थितिं बध्नाति, स स्थितिबन्धपरिणामः। यथा तिर्यगायुःपरिणामेन देवाऽऽयुष उत्कर्षतोऽप्य-ष्टादश सागरोपमाणीति। आयुःपरिणामभेदे, स्था० ६ ठा०।

ठिइवडिय-त्रि०(स्थितिपतित) कुलक्रमादागते पुत्रजन्मानुष्ठाने, नि० १ श्रु० १ वर्ग० १ अ०। कुलस्य लोकस्य वा मर्यादायां गतायां पुत्रजन्ममहप्रक्रियायाम्, भ० ११ श० ११ उ०। रा०। विपा०। ज्ञा०।

ठिइसंकम-पुं०(स्थितिसंक्रम) मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च स्थितेरुत्कर्षणेऽपकर्षणे प्रकृत्यन्तरस्थितौ नयने, (स्था०) '' ठिइसंकमो त्ति वुच्चइ, मूलुत्तरपगइओ य जा हि ठिई। उव्वट्टिया य ओवट्टिया व पगई नियावन्नं '' ॥ १ ॥ स्था० ४ ठा० २ उ०। क० प्र०। पं० सं०। (स च 'संकम' शब्दे वक्ष्यते)

ठिइसंतकम्म-न०(स्थितिसत्कर्म) कर्मस्थितिसत्कसत्कर्मणि, क० प्र०। पं० सं०। ('सक्कम्म' शब्दे प्ररूपयिष्यते)

ठिइसाहण-न०(स्थितिसाधन) दीक्षामर्यादाकथने, पञ्चा० १२ विव०।

ठिइसिद्धि-स्त्री०(स्थितिसिद्धि) व्यवस्थानसाधने, हा० २५ अष्ट०।

ठिय-त्रि०(स्थिति) व्यवस्थिते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। अवस्थिते, स्था० २ ठा० ४ उ०। उत्त०। पञ्चा०। उपा०। अप्रच्युते, अनु०। आ० म०। निषण्णे, उद्यते, अगतिपरिणामे, नि० चू० १ उ०। कटीस्तम्भेन ऊर्ध्वस्थाने, बृ० १ उ०। ऊर्ध्वस्थानस्थिते, भ० ६ श० ३३ उ०। सूत्राऽऽदित आरभ्य पठनक्रियं यावदन्यदेवाविस्मरणतश्चेतसि स्थितत्वात् स्थितम्। द्वितीये आगमतो द्रव्याऽऽव-श्यकभेदे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। आ० चू०। विशे०। प्रथमे कल्पभेदे, '' अत्थे विणओघकारित्ते ठियस्स जहा विज्जाओ फलं पयच्छं ति। '' नि० चू० १ उ०।

ठियकल्प-पुं०(स्थितकल्प) अवस्थितसमाचारे, बृ० ६ उ०। नि० चू०। भ०। प्रव०। पञ्चा०। नि०। (प्रथमचरमयोस्तीर्थकरयोरा-चेलक्याऽऽदयो दश कल्पा अवस्थिता एवेति '' कप्प '' शब्दे तृतीयभागे २२५ पृष्ठे दर्शिताः)

अयमपरः स्थितकल्पः-

ठितकप्पमो तु तत्तो, वोच्छामि गुरूवदेसेणं।
गच्छाणुकंपताए, सुत्तत्थविसारए य आयरिए॥
आगाढेपढमसंजय-उवगाहिए य कप्पदुए।
गच्छो जदि हीरिज्जा, आयरियं वाऽतिवायते कोइ॥
एरिसए आगाढे, जस्स तु जो होति लद्धीओ।
सो न पमादेती पढ-मणियंठे पुलागलद्धीओ॥
गच्छोवग्गहहेउं, करणपकप्पिट्ठितोऽणुण्णा।
दुयए ति साहुसाहुणि, तदट्ठहेतुं तु एव मूलगुणे॥
भणिता सेवा एसा, सीसो पुच्छति तु अह इणमो।
जह कारणम्मि भणिता, मूलगुणेसुं तु एव पडिसेवा॥
तह होज्ज कारणम्मी, पडिसेवा उत्तरगुणे वि?।
गुरुयतरएसु एवं, मूलगुणेसुं तु जदि भवेऽणुण्णा॥
उत्तरगुणेसु तत्तो, लहुयतरेसुं भवेऽणुण्णा।
ठितकप्पो सो भणितो,.....॥ पं० भा०।

'' इयाणिं ठियकप्पो। तत्थ गाहा-(गच्छाणु०) आयरिया वा उवज्झाया वा गच्छो वा हीरइज्जा, उवगरणं आसियावेज्जइ हेमंते, ताहे मारिया चेव भवंति सीएण, एएहिं कारणेहिं आगाढे जइ अत्थि पुलागलद्धी, अण्णं वा सामत्थं, ताहे परिक्कमइ। ओवग्गहिओ नामगच्छोपग्रहकरः। पकप्पट्ठियस्स एवमणुण्णायं। गाहा-(दुयं ति) साहूणं साहूणीण य पडिसेवणा, एवं मूलगुणेहिं भणिया पडिसेवणा। सीसो पुच्छइ-जहा मूलगुणेसु पडिसेवा भणिया, तहा उत्तर-गुणेसु, वि होज्जा? उच्यते-जइ ताव गुरुएसु अणुण्णाया, उत्तरगुणेसु लहुएसु पागेव अणुण्णाया। ठियकप्पो नाम एसु कारणेसु पएसु अवस्सं कायव्वं। एस ठियकप्पो। '' पं० चू०।

कप्पट्ठितमट्ठिए पुण, वोच्छामऽहुणा समासेणं।
संघयणवज्जिओ वि हु, दुक्खक्खयकारओ पणगजाओ॥
संघयणसमग्गस्स वि, अजातचतुरो अमोक्खाए।
पंच तु महव्वयाइं, पणगं तेसिं करे पयत्तं तु॥

जाओ जो निप्फण्णो, अजातों णियमा अणिप्फण्णो ।
ठियमहिए विकप्पे, संघयणेणावि जो विहीणो तु ॥
सो कुणति दोक्खमोक्खं, जो पुण न करे पयत्तं तु ।
पंचसु महव्वएसुं, संघयणेणं तु जदि वि संपण्णो ॥
सो चउगतिसंसारे, भमती ण य पावती मोक्खं । पं० भा० ।

'' इयाणिं ठियमट्ठिया समा चेव जंति । चोदग आह-अस्मिन् काले संहननवर्जितानां साधूनां कीदृशी संयमशुद्धिः ? तत्थ गाहा-(संघयण०) उच्यते-वत्स ! संहननवर्जितोऽपि अलं पर्याप्तिभूषणामन्त्रणेषु । यद्यपि ऋषभादिसंहननम् , अज्जकाले सेवर्त्तसंहननिनः साधवः पञ्चमहाव्रत-युक्ताश्च, तथापि दुःखक्षयं कुर्वन्ति, संहननसंपत्तौ तु जइ बलवीरियं गूहेइ, जइ न करेइ पंचसु महव्वएसु पयत्तं, सो चउसु गइसु अण्णयरिं गइं जाइ, न य से मोक्खो अत्थि, एवं ट्ठियकप्पे अट्ठियकप्पे वि आयरतो विमुच्चइ संसाराओ, इयरो चउगइसु अण्णयरिं गइं गच्छइ, पुव्ववण्णिया य एए ठियमट्ठियकप्पा । '' पं० चू० ।

ठियचि-त्रि०(स्थितार्चि) स्थिता शुद्धस्वभावाऽत्मना अर्चिर्लेश्या यस्य स भवति स्थितार्चिः । सुविशुद्धस्थिरलेश्ये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

ठियप्पा-पुं०(स्थिताऽऽत्मन्) स्थितो व्यवस्थितोऽशेषकर्मविग-मादात्मस्वरूप आत्मा यस्य स भवति स्थितात्मा । ज्ञानक्रिययोः प्रधानफलयोगेन मुक्त्यर्हे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । महासत्त्वे, दश० ६ अ० । ज्ञानाऽऽदिके मोक्षाध्वनि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । सम्यङ्मार्गे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

ठीण-न०(स्त्यान) '' **ईः स्त्यानखल्वाटे** '' ॥ ८ । १ । ७४ ॥ स्त्यानखल्वाटयोरादेरत ईर्भवति । '' **स्त्यानचतुर्थार्थे वा** ''॥ ८ । २ । ३३ ॥ एषु संयुक्तस्य ठो वा भवति । ' ठीणं ' ' थीणं ' । प्रा० २ पाद । ' स्त्यै ' भावे क्तः, तस्य नः । स्नेहे, घनत्वे, संहतौ, आलस्ये, प्रतिशब्दे च । कर्तरि क्तः । संहतिकारके, ध्वनिकारके च । त्रि० । वाच० ।

***ठुंठ**-पुं० । छिन्नावशिष्टवनस्पतीनां शुष्कावयवे, जं० १ वक्ष० । ल० प्र० ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८
श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
ठकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

डकार

ड-पुं०(ड) डकारो व्यञ्जनवर्णभेदः चतुर्थवर्गीयः मूर्द्धस्थानीयः स्पर्शसंज्ञः। डीङ्-डः। वाडवाग्नौ, शब्दे, चाषपक्षिणि, शिवे, वाच०। भयङ्करनादे, चन्द्रे, चञ्चलयोषिति, जिह्वायाम्, कुण्डलिन्याम्, एका०। शङ्करे, विषये, दरे, भासे, शङ्खनिनादे, क्षये, रौद्ररसे, ध्वनौ च। एका०। वाचि, सत्तायाम्, प्रज्ञायाम्, स्त्री०। भवे, उग्रे, पटौ, डमरूके, आन्दोलने, डामरे च। न०। एका०।

डओयर-न०(दकोदर) जलोदरनाम्नि रोगे, नि० चू० १ उ०।

डंक-पुं०(डङ्क) वृश्चिकाऽऽदिकण्टके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। नि० चू०। आव०।

डंख-धा०(संतप) संतापे, **''संतपेर्डंखः''** ॥ ८। ४। १४॥ संतप्यतेर्डख इत्यादेशो वा भवति। 'डंखइ' पक्षे-'संतप्पइ' प्रा० ४ पाद।

डंड-पुं०न०(दण्ड) **'' दशनदष्टदग्धदोलादण्डदरदाहदम्भदर्भकदनदोहदे दो वा डः ''** ॥ ८। १। २१७॥ इति दस्य वा डः। प्रा० १ पाद। दण्ड-अच्। निग्रहे, विपा० १ श्रु० ३ अ०। द्वात्रिंशे स्वनामख्याते आतोद्यभेदे, रा०। 'लाठी' इति ख्याते लगुडे, व्यूहभेदे, प्रकाण्डे, अश्वे, कोणे, मन्थनदण्डे, सैन्ये च। पुं०। दम्यतेऽनेन मड-डः। मस्य च नत्वम्। षष्टिपलाऽऽत्मके काले, 'काठा' इतिप्रसिद्धे भूमिमानभेदे, सूर्यानुचरे, पुं०। दण्ड-भावे घञ्। अर्थापहाररूपे राज्ञां चतुर्थोपाये, दण्ड-कर्तरि अच्। यमे, पुं०। वाच०। सूच्या सङ्घाट्टितेषु वस्त्रखण्डेषु, दे० ना० ४ वर्ग।

डंडअ-पुं०(देशी) रथ्यायाम्, दे० ना० ४ वर्ग।

डंडग-पुं०(दण्डक) साधूपकरणे दण्डे, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ०। नि० चू०।

डंडगा-स्त्री०(दण्डका) दण्डकाऽरण्ये जनस्थाननामके वने, वाच०। आ० क०।

डंडगि-पुं०(दण्डकि) उत्तरापथे कुम्भकारकृतनगरस्य राज्ञि, यत्पुरोहितेन पालकनाम्ना पूर्वं वादपराजितश्चम्पाराजः स्कन्दकः प्रव्र-ज्य भगिनीं पुरन्दरयशसं द्रष्टुमागतो मारितः सन् अग्निकुमारे-षूपपन्नः। नि० चू० १६ उ०। व्य०।

डंडडणगार-पुं०(दण्डानगार) स्वनामख्यातेऽनगारे, यस्य यमुनातीरे यमुनावक्रोद्याने यमुनाराजेन हतस्य केवले उत्पन्ने महिमार्थं शक्र आगतः। यो० बिं०। आ० चू०। आव०। ती०। संथा०।

डंडय-पुं०(दण्डक) 'डंडग' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ०। नि० चू०।

डंडया-स्त्री०(दण्डका) 'डंडगा' शब्दार्थे, वाच०। आ० क०।

डंडि(ण्)-पुं०(दण्डिन्) दण्डधारके, औ०।

डंडिखंडवसण-पुं०(दण्डिखण्डव्रसन) दण्डिखण्डरूपं वसनं वस्त्रं येषां ते। दण्डिखण्डरूपवस्त्रवति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

डंभ-पुं०(दम्भ) **'' दशनदष्ट०-''** ॥ ८। १। २१७॥ इत्यादिना दस्य डः। 'डंभो' दम्भः। प्रा० १ पाद। दन्भ-घञ्। कपटे, शाठ्ये च। वाच०। मायाप्रयोगे, प्रश्न० १ संव० द्वार।

डंभण-न०(दम्भन) सूचीप्राये दम्भकारके अङ्गुलिषु प्रक्षेप्ये शस्त्र-विशेषे, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

डंभिअ-पुं०(देशी) द्यूतकारे, दे० ना० ४ वर्ग।

डंवर-पुं०(देशी) धर्मे, दे० ना० ४ वर्ग।

डंस-धा०(दंश) दंशने, भ्वा-पर-सक-अनिट्। वाच०। **''दंशद-होः''** ॥ ८। १। २१८॥ इति धात्वादेर्दस्य डः। 'डसइ'। प्रा० १ पाद। सूत्र०। आ० म०।

डक्क-त्रि०(दष्ट) **'' अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम् ''** ॥ ८। २। ८९॥ इति पदस्थानादौ वर्तमानस्य द्वित्वम्। 'डक्को' प्रा० २ पाद। **'' शक्तमुक्तदष्टरुग्णमृदुत्वे को वा ''**॥ ८। २। २॥ इति संयुक्तस्य वा क्कः। 'डक्को,' 'दट्ठो'। प्रा० २ पाद। दशनाऽऽहते, नि० चू० १ उ०। प्रश्न०। आव०। दंष्ट्राविषाऽऽदिना दष्टस्य प्राणिनः पीडा-कारिणि विषपरिणामे, स्था० ६ ठा०। दन्तगृहीते, दे० ना० ४ वर्ग।

डगण-न०(डगण) यानविशेषे, बृ० १ उ०।

डगलग-पुं०न०(डगलक) अतीव पक्वेष्टकासु, ओघ। लघुपाषाणाऽऽदौ, ओघ। पक्वेष्टकाखण्डे, पिं०। पुरीषोत्सर्गानन्तरमपान-प्रोच्छनकपाषाणाऽऽदिखण्डे, पिं०। बृ०।

डगल-पुं०(देशी) भवनोपरिभूमितले, दे० ना० ४ वर्ग।

डज्झमाण-पुं०(दह्यमान) दह-क्यच्। **'' दहो ज्झः ''** ॥ ८। ४। २४५॥ दहोऽन्त्यस्य कर्मभावे द्विरुक्तो ज्झो वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य लुक् च। प्रा० ४ पाद। भस्मसात्क्रियमाणे, उत्त० १४ अ०। आव०। प्रति०। आ० म०। भ०। नि० चू०। सूत्र०। प्रश्न०।

डज्झमाणधूव-पुं०(दह्यमानधूप) भस्मसात्क्रियमाणे अनेकसुगन्धद्रव्यसंयोगसमुद्भूते दशाङ्गाऽऽदिधूपके, कल्प० २ क्षण।

डट्ठ-त्रि०(दष्ट) **'' दशनदष्ट०-''** ॥ ८। १। २। २१७॥ इत्यादिना दस्य वा डः। 'डट्ठो' 'दट्ठो'। दशनाऽऽहते, प्रा० १ पाद।

***दग्ध**-त्रि० भस्मीकृते, आव० ४ अ०। प्रश्न०। औ०। नि० चू०। बृ०। संथा०।

डड्डाड-स्त्री०(देशी) दवमार्गे, दे० ना० ४ वर्ग।

डप-धा०(डप) संहतौ, चुरा०। पक्षे-भ्वा०-आत्म०-सक० सेट्। डपयति, डपयते, डपते। अडीडयत्, अडडियत, अडपिष्ट। वाच०। 'डप' 'रिपुण्' संघाते। डपन्ति मिलन्ति। संघा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

डप्फ-न०(देशी) सेल्लाऽऽख्ये आयुधे, दे० ना० ४ वर्ग।

डब्भ-पुं०(दर्भ) 'दृभ' ग्रन्थे घञ्। **' दशनदष्ट०-''** ॥ ८। १।

२१७ ॥ इत्यादिना दस्य वा डः । ' डब्भो ' ' दब्भो '। प्रा० १ पाद । '' कुशाः काशा वल्वजाश्च, तथाऽन्ये तीक्ष्णरोमशाः । मौञ्जाश्च शाद्वलाश्चैव, षड् दर्भाः परिकीर्तिताः ''॥ १ ॥ इत्युक्तेषु काशाऽऽ-दिषु षट्सु तृणेषु, वाच० ।

डभग-पुं०(डभक) म्लेच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

डमर-पुं०न०(डमर) स्वराष्ट्रक्षोभे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । परराज-कृतोपद्रवे, जं० २ वक्ष० । स्वचक्रपरचक्रकृते विप्लवे, प्रव० ४ द्वार । कलहे, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० । ज्ञा० । विग्रहे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । विड्वरे, औ० । प्रश्न० । राजकुमाराऽऽदिकृतविड्वरे, रा० । नि० । ज्ञा० । कुमाराऽऽद्युत्थाने, स्था० ६ ठा० । अशोभने, आव० १ अ० ।

डमरगर-त्रि०(डमरकर) परस्परेण कलहविधायके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विड्वरकारिणि, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० । वाक्कायमनोभिर्विचित्र-ताडनकरणशीले, आ० म० २ अ० ।

डमरय-पुं०न०(डमरक) अशोभने, आव० १ अ० ।

डमरुग-न०(डमरुक) चूलिकापैशाचिकेऽन्येषामाचार्याणां मतेन तृतीयस्य स्थाने प्रथमे प्राप्ते '' **नादियुज्योरन्येषाम्** '' ॥ **८ । ४ । ३२७** ॥ इति निषेधान्न टः । ' डमरुगो ' प्रा० ४ पाद । वाद्यभेदे, वाच० ।

डमरुयमणिन्नाय-पुं०(डमरुकमणिन्याय) एकस्यैव पदस्य पूर्व-स्मिन् परस्मिँश्च पदे वाक्ये वा संबन्धद्योतके न्याये, विशे० । उत्त० ।

डर-धा०(त्रस) उद्वेगे, '' **त्रसेर्डरवोज्जवज्जाः** '' ॥ **८ । ४ । १९८** ॥ त्रसेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । ' डरइ ' ' वोज्जइ ' ' वज्जइ ' ' तसइ ' प्रा० ४ पाद ।

***दर**-अव्य० । दृ-अप् । '' **दशनदष्ट०-** '' ॥ **८ । १ । २१७** ॥ इत्यादिना दस्य वा डः । ' डरो ' ' दरो '। प्रा० १ पाद । ईषदर्थे, भये, गर्ते च । पुं० । न० । कन्दरे, पुं० । स्त्री० । स्त्रीत्वे ङीष् । वाच० ।

डल-पुं०(देशी) लोष्टे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डल्ल-न०(देशी) पिटिकायाम् , दे० ना० ४ वर्ग ।

डल्लग-न०(डल्लक) वंशाऽऽदिरचिते ' डाला ' इतिख्याते पात्रवि-शेषे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । वाच० ।

डव्व-पुं०(देशी) वामकरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डसण-न०(दशन) भावे-ल्युट् । **''दशनदष्ट०-''॥८ ।१ ।२१७॥** इत्यादिना दस्य डः । ' डसणं ' ' दसणं '। दशनाऽऽहते, प्रा० १ पाद । करणे ल्युट् । दंष्ट्रायाम् , वाच० ।

डह-धा०(दह) दाहे, भ्वादि०-पर०-सक०-अनिट् । वाच० । **'दशदहोः' ॥ ८ । १ । २१८** ॥ इति दहधातोर्दस्य डः । प्रा० १ पाद । **' दहेरहिऊलाऽऽलुंखौ ' । ८ । ४ । २०८ ।** '' दहेरेतावादेशौ वा भवतः । ' अहिऊलइ, ' ' आलुंखइ, ' ' डहइ '। प्रा० ४ पाद ।

डहण-पुं०(दहन) दह-ल्युट् । भस्मीकरणे, बृ० १ उ० । आचा० । अग्नौ, चित्रकवृक्षे, भल्लातके, दुष्टचेतसि च । वाच० । भावे ल्युट् । दाहे, न० । वाच० । केवलिसमुद्घातध्यानाग्निना वेदनीयस्य भस्मसात्करणे, शेषस्य च दग्धरज्जुतुल्यत्वाऽऽपादने च । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । पाटलिपुत्रवास्तव्यस्य हुताशनब्राह्मणस्य स्व-नामख्याते पुत्रे, स च पितृभ्यां भ्रात्रा च सह प्रव्रजितः । आव० १ अ० ।

डहर-पुं०(डहर) लघौ, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । बृ० । ओघ० । ज्यो० । दश० । पुत्रनप्त्रादौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । बालके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आचा० । अप्राप्तवयसि, दश० ६ अ० १ उ० । यावत्परिपूर्णानि पञ्चदशवर्षाणि षोडशवर्षादर्वाक् तावद्डहरकं ब्रुवते समयविदः । व्य० ३ उ० । क्षुल्लके, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

डहरयग्गाम-पुं०(डहरकग्राम) क्षुल्लकग्रामे, व्य० ७ उ० ।

डहरिया-स्त्री०(डहरिका) जन्मतोऽष्टादशवर्षावधिकायां योषिति, जन्मपर्यायेण यावदष्टादशिका अष्टादशवर्षप्रमाणा तावद्भवति डहरिका । व्य० ४ उ० ।

डाकुलीभीमेसर-पुं०(डाकुलीभीमेश्वर) स्वनामख्याते तीर्थे, यत्र श्रीपार्श्वनाथः पूज्यते । ती० ४३ कल्प । (' जिणपडिमा ' शब्दोऽत्र १४६४ पृष्ठे विलोक्यः)

डाग-पुं०(डाक) शाके, पिं० । प्रश्न० । सू० प्र० । स० । पत्रशाके, दशा० १ अ० । नि० चू० । डालप्रधाने शाके, आचा० २ श्रु० २ चू० १२ उ० । वास्तुकाऽऽदिभर्जिकायाम् , भ० ७ श० १० उ० । चं० प्र० । वृन्ताकचिर्भिटिकाचणकाऽऽदयः संस्कृताः पत्रशाकान्ता डाकशब्देन भण्यन्ते । प्रव० २ द्वार । आव० ।

डागवच्च-न०(डाकवर्चस्) यत्र पतितो डाकः सटनेन वर्चोभवति तादृशे स्थले, आचा० २ श्रु० २ चू० १० अ० ।

डागिणी-स्त्री०(डाकिनी) पूतनायाम् , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

डाय-पुं०(डाक) ' डाग ' शब्दार्थे, पिं० । प्रश्न० । सू० प्र० । स० ।

डायाल-न०(डायाल) हर्म्यतले, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

डाल-न०(डाल) शाखायाम् , पञ्चा० १६ विव० । स्था० । शाखैक-देशे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १० उ० ।

डाला-स्त्री०(डाला) शाखायाम् , **'' लिङ्गमतन्त्रम् ''॥ ८ । ४ । ४४५ ॥** अपभ्रंशे लिङ्गमतन्त्रं व्यभिचारि प्रायो भवतीत्यनेन

'' सिरि चडिआ खंति फलइँ, पुणु मालइँ मोडंति ।
तो वि महद्दुम सउणाहं, अवराहिउ न करंति ''॥ १ ॥

इत्यत्र डालइँ इति स्त्रीलिङ्गस्य नपुंसकत्वम् । प्रा० ४ पाद ।

डाली-स्त्री०(डाली) शाखायाम् , नि० चू० १ उ० । दे० ना० ।

डाव-पुं०(देशी) वामकरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डाह-पुं०(डाह) **'' दशनदष्ट०- ''॥ ८ । १ । २१७ ॥** इत्यादिना दस्य वा डः । ' डाहो ' दाहः । भस्मीकरणे, प्रा० १ पाद । आचा० । अनु० ।

डिंगर -पुं०(डिङ्गर) पादमूलिके, नि० चू० १५ उ० ।

डिंडिम-पुं०(डिण्डिम) ' डिडिड ' इति शब्दं मिनोति प्रकाश-यति । पटहाऽऽदिवाद्यविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । रा० । आ० चू० । प्रथमप्रस्तावनासूचके पणवविशेषे, जं० २ वक्ष० ।

जी०। गर्भे, बृ० ३ उ०। कांस्यभाजने, न०। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ०।

डिंडीलिअ-न०(देशी) खलिखचितवस्त्रे, स्खलितहस्ते च। दे० ना० ४ वर्ग।

डिंडी-स्त्री०(देशी) सूच्या सङ्कटितेषु वस्त्रखण्डेषु, दे० ना० ४ वर्ग।

डिंडीबंध-पुं०(डिण्डीबन्ध) गर्भसम्भवे, नि० चू० ११ उ०।

डिंडीर-पुं०(डिण्डीर) 'डिण्डि' इति शब्दोऽस्त्यस्य रः। पूर्वपद-दीर्घः। समुद्रफेने, वाच०। फेने, आ० म० १ अ० १ खण्ड।

डिंफिअ-न०(देशी) जलपतिते, दे० ना० ४ वर्ग।

डिंब-पुं०(डिम्ब) डिबि-घञ्। शिशौ, अण्डे, प्लीहनि, विप्लवे, शस्त्रे, कलले, एरण्डे, भयहेतुके, ध्वनौ, भये, डमरे, फुप्फुसे, वाच०। वध्रे, स्था० ६ ठा०। भ०। औ०। आचा०। नि०। रा०। ज्ञा०। स्वदेशोत्थविप्लवे, न०। जं० २ वक्ष०। जी०। पराऽऽतीत-शृगालिके, पुं०। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

डिंभ-पुं०(डिम्भ) डिभि-अच्। लघुतरवयसि बालके, बृ० २ उ०। आ० म०। नि०। आ० क०। ज्ञा०।

***संस्**-धा०। अधःपतने, "संसेर्ह्रसडिंभौ"॥ ८। ४। १६७॥ इति संसेर्डिंभाऽऽदेशः। 'डिंभइ' 'संसइ'। प्रा० ४ पाद।

डिअली-स्त्री०(देशी) स्थूणायाम्, दे० ना० ४ वर्ग।

डिडुर-न०(देशी) भेके, दे० ना० ४ वर्ग।

डिल्ली-पुं०(डिल्ली) ग्राहभेदे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

डीण-त्रि०(क्षीण) त्ति-क्तः। **"क्षः खः क्वचित्तु छडौ"॥ ८। २। ३॥** क्षस्य खो भवति, क्वचित्तु छडावपि। 'खीणं'। 'छीणं'। 'डीणं'। प्रा० २ पाद। दुर्बले, क्षामे च। वाच०। अवतीर्णे, दे० ना० ४ वर्ग।

डीणोवय-न०। देशी-उपरि, दे० ना० ४ वर्ग।

डीर-(देशी) कन्दले, दे० ना० ४ वर्ग।

डुंग-न०(डुङ्ग) शिलावृन्दे, जं० २ वक्ष०।

डुंगर-पुं०(डुङ्गर) शिलोच्चयमात्ररूपे पर्वते, भ० १ श० २ उ०। नि० चू०। आ० चू०। "जिम डुंगर तिम कुट्टरइं"। प्रा० ४ पाद। शैले, दे० ना० ४ वर्ग।

डुंघ-पुं०(देशी) नारिकेरमये उदश्वनविशेषे, दे० ना० ४ वर्ग।

डुंडुअ-पुं०(देशी) जीर्णघण्टे, दे० ना० ४ वर्ग।

डुंब-पुं०(डोम्ब) एकावशतितमे म्लेच्छभेदे, प्रव० ६ द्वार। पं० चू०। व्य०। ती०। श्वपचे, दे० ना० ४ वर्ग।

डुमवण-न०(द्रुमवन) वृक्षसमूहे, प्रति०।

डुहिल-पु०(द्रुहिल) द्रोहस्वभावे, विशे०।

डेवण-पुं०(डेपन) आत्मनः प्रतिक्षेपे, व्य० ३ उ०। आ० म०। गर्त-वरण्डाऽऽदीनां रयेणोल्लङ्घने, जीत०। व्य०। महा०। ग०। ओघ०।

डेवेमाण-पुं०(डेपयत्) अतिक्रामति, भ० १ श० ७ उ०।

डोंगर-पुं०(डुङ्गर)'डुंगर' शब्दार्थे, भ० १ श० २ उ०।

डोंगिली-स्त्री०(देशी) ताम्बूलभाजनविशेषे, दे० ना० ४ वर्ग।

डोंब-पुं०(डोम्ब) एकविंशतितमे म्लेच्छभेदे, प्रव० ६ द्वार।

डोंबिलग-पुं०(डोम्बिलक) म्लेच्छजातीये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। प्रज्ञा०।

डोअ-पुं०(देशी) दारुहस्ते, दे० ना० ४ वर्ग।

डोल-पुं०(डोल) तिकाऽऽख्ये प्राणिनि, बृ० १ उ०। जी०। उत्त०। मधूकफलाऽऽदौ, पं० व० २ द्वार। प्रव०।

डोला-स्त्री०(दोला) दुल-अच्-टाप्। **"दशनदष्ट०-"॥ ८। १। २१७॥** इत्यादिना दस्य डः। 'डोला' दोला। प्रा० १ पाद। 'डोली' इतिख्याते यानभेदे, उद्यानाऽऽदौ क्रीडाऽर्थं दोलनयन्त्रे च। स्वार्थे कन्। पूर्वोक्तार्थे, वाच०।

डोलायमाण-त्रि०पुं०(दोलायमान) दोलां दोलनमयते। अय्-शा-नच्। वाच०। शिविकायाम्, दे० ना० ४ वर्ग। चलचित्तवृत्तौ, नि० चू० १० उ०। दोलनं कुर्वति, दोलायन्त्ररूढे च। वाच०।

डोल्लणग-पुं०(दोल्लनक) उदकसंजाते संस्वेदजे जीवे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।

डोलिअ-पुं०(देशी) कृष्णसारे, दे० ना० ४ वर्ग।

डोव-पुं०(देशी) दर्व्याम्, नं०।

डोहल-पुं०न०(दोहद) **"दशनदष्ट०-"॥ ८। १। २१७॥** इत्यादिना दस्य डः। 'डोहलो, दोहदो'। प्रा १ पाद। मनोरथे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आव०। नि० चू०। गर्भिणीतदपत्ययोर्हृद्द्वयमत्र गर्भे दोहमाकर्षं ददातीति दा-कः। गर्भिण्यभिलाषे, लालसायां च। चिह्ने, गर्भलक्षणे च। न०। वाच०।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८
श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
डकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

ढकार

ढ-पुं०(ढ) ढकारो व्यञ्जनवर्णभेदो मूर्द्धस्थानीयः स्पर्शसंज्ञः। ढक्का-याम्, निर्गुणे, लास्ये, एका०। शुनि, तल्लाङ्गूले, ध्वनौ च। वाच०। गोमुखे, न। एका०।

ढंक-पुं०(ढङ्क) काकपक्षिविशेषे, जं० २ वक्ष०। सूत्र०। उत्त०। प्रज्ञा०। आ० म०। आ० चू०। स्था०। भ०। श्रावस्त्यां तिन्दुकोद्याने पञ्चशतानि साधूनां सहस्रं साध्वीनां ढङ्केन कुम्भकारश्रावकेण जमालिं मुक्त्वा प्रतिबोधितानीति। आ० क०। आ० म०। विशे०। वायसे, दे० ना० ४ वर्ग।

ढंकण-पुं०(ढङ्कन) चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद। जी०।

ढंकणग-पुं०(ढङ्कनक) पिधाने, अनु०। आचा०।

ढंकणय-पुं०(ढङ्कनक) 'ढंकणग' शब्दार्थे, अनु०।

ढंकणी-स्त्री०(देशी) पिधानिकायम्, दे० ना० ४ वर्ग।

ढंकवत्थुल-पुं०(ढङ्कवास्तुल) शाकविशेषे, ध० २ अधि०। प्रव०।

ढंकुण-पुं०(देशी) मत्कुणे, दे० ना० ४ वर्ग।

ढंखरी-स्त्री०(देशी) वीणाभेदे, दे० ना० ४ वर्ग।

ढंढण-पुं०(ढण्ढन) नेमितीर्थकरशिष्ये, भरतेश्वरवृत्तौ।

***ढंढण**-'अलाभपरीसह' शब्दे प्रथमभागे ७७२ पृष्ठे कथा गता। उत्त० २ अ०।

ढंढणी-स्त्री०(देशी) कपिकच्छूरूपेऽर्थे, दे० ना० ४ वर्ग।

ढंढरीअ-पुं०(देशी) ग्रामतरौ, कर्दमे, दे० ना० ४ वर्ग।

ढंढल्ल-धा०(भ्रम) चलने, पर०-अक०-सेट्। वाच०। **''भ्रमेष्टिरिटिल्ल०-''** ॥ ८। ४। १६१ ॥ इत्यादिना ढण्ढल्लाऽऽदेशः। 'ढंढल्लइ' 'भमइ'। प्रा० ४ पाद। भ्रमति, अभ्रमीत्। फणा०। भ्रेमतुःस, यभ्रमतुः। चडि न ह्रस्वः। ज्वला०। भ्रमः, भ्रामः। वाच०।

ढंढसिअ-पुं०(देशी) ग्रामयक्षे, ग्रामतरौ, कर्दमे, दे० ना० ४ वर्ग।

ढंढोल-धा०(गवेष) अन्वेषणे, अदा०-चुरा०-आत्म०-सेट्। **''गवेषेर्ढुंढुल्लढंढोलगमेसघत्ताः''** ॥ ८। ४। १८६ ॥ 'ढंढोलइ'। 'गवेसइ'। प्रा० ४ पाद। गवेषयते, अजगवेषत्। वाच०।

ढंस-धा०[वि(वृत्)] **''विवृत्तेर्ढंसः''** ॥ ८। ४। ११८ ॥ विवृतेर्ढंस इत्यादेशो वा भवति। 'ढंसइ' 'विवट्टइ'। प्रा० ४ पाद। विवर्त्तते। वाच०।

ढंसय-न०(देशी) अयशसि, दे० ना० ४ वर्ग।

ढक्क-धा०(छदि) छद्-णिच्। आवरणे, **''छदेर्णेर्णुमनूमसंनुमढक्कौम्बालपव्वालाः''** ॥ ८। ४। २१ ॥ इति छदेर्ण्यन्तस्य ढक्काऽऽदेशः। 'ढक्कइ,' 'छाअइ' 'पइ पइ वज्जइ ढक्क''। प्रा० ४ पाद।

ढक्कय-न०(देशी) तिलके, दे० ना० ४ वर्ग।

ढक्करि-न०(अद्भुत) **''शीघ्राऽऽदीनां बहिल्लाऽऽदयः''** ॥ ८। ४। ४२२ ॥ इत्यनेन अद्भुतस्य ढक्करिः। आकस्मिके उल्कापाताऽऽदौ, ''हियडा पइँ एँहु बोल्लिअउ, महु अग्गइ सयवार॥ फुट्टिसु पिएँ पवसंति हउं, भंडय ढक्करि सार॥ १॥'' प्रा० ४ पाद।

ढक्का-स्त्री०(ढक्का) ढक्क इति कायति। कै-कः। भम्भायाम्, जी० ३ प्रति०। स्था०। भेर्याम्, आ० म० १ अ० १ खण्ड। यशःपटहे, स्वनामख्याते वाद्यभेदे च। वाच०।

ढक्किय-त्रि०(ढक्कित) स्थगितद्वारे, व्य० ६ उ०। समारचिते, व्य० ४ उ०। अनु०।

ढक्केयव्व-त्रि०(ढकितव्य) पिधानीये, दश० २ अ०।

ढड्ढ-पुं०(देशी) भेर्याम्, दे० ना० ४ वर्ग।

ढड्ढर-न०(ढड्ढर) एकत्रिंशे वन्दनकदोषे, ''उच्चसरेणं वंदइ, ढड्ढर एवं तु होइ बोधव्वं। '' उच्चस्वरेण महता शब्देन वन्दनकमुच्चारयन् यद्वन्दते तदेतद् ढड्ढरमिति बोद्धव्यम्। बृ० ३ उ०। पं० व०। आ० चू०। प्रव०। आ० क०। ध०।

ढिंकण-पुं०(ढिङ्कन) चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उत्त० ३६ अ०।

ढिंकुण-पुं०(ढिङ्कुन) क्षुद्रजीवविशेषे, जं० २ वक्ष०।

ढिंग-पुं०(ढिङ्ग) जीवविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

ढिक्क-धा०(गर्ज) ऊर्जहितुकशब्दे, भ्वादि०-पर०-सक०-सेट्। वाच। **'वृषेर्ढिक्कः'** ॥ ८। ४। ९९ ॥ वृषकर्तृकस्य गर्जेर्ढिक्काऽऽदेशः। 'ढिक्कइ,' वृषो गर्जतीत्यर्थः। प्रा० ४ पाद।

ढुंढुण-न०(ढुण्ढुण) तीर्थभेदे, ती० ४ कल्प।

ढुंढुल्ल-धा०(गवेष) अन्वेषणे, अदा०-चुरा०-आत्म०-सेट्। **''गवेषेर्ढुंढुल्ल०-''** ॥ ८। ४। १८९ ॥ इत्यादिना ''ढुंढुल्ल'' आदेशः। 'ढुंढुल्लइ, गवेसइ।' प्रा० ४ पाद।

***भ्रम**-धा०। चलने, पर-सक०-सेट्। वाच। **''भ्रमेष्टिरिटिल्ल०-''** ॥ ८। ४। १६१ ॥ इत्यादिना ढुंढुल्लाऽऽदेशः। 'ढुंढुल्लइ'। 'भमइ'। प्रा० ४ पाद।

ढेंकिय-न०(गर्जित) वृषशब्दे, आव० ४ अ०।

ढेंकी-स्त्री०(देशी) बलाकायाम्, दे० ना० ४ वर्ग।

ढेणियालग-पुं०(ढेणिकालक) पक्षिविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

ढेणी-स्त्री०(ढेणी) पक्षिविशेषे, अणु० ३ वर्ग १ अ०।

ढेल्ल-पुं०(देशी) निर्धने, दे० ना० ४ वर्ग।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८
श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
ढकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

णकार

ण-पुं०(ण) ' ण ' इति टवर्गस्य पञ्चमो वर्णो मूर्धन्यः। संस्कृते णेत्येकाक्षरभिन्ना णकाराऽऽदयः शब्दा न सन्ति। ये चोपदेशे ' ण-म ' प्रह्वत्वे, शब्दे च, इत्यादयो धातवः पठ्यन्ते, तेषामपि '' णोः नः '' ॥ ६। १। ६५ ॥ (पाणि०) इति नत्वेन नमतीत्यादीनि नकाराऽऽदीन्येव रूपाणि भवन्ति। प्राकृते तु नकाराऽऽदयोऽपि नद्यादयः शब्दाः '' नो णः '' ॥ ८। १। २२८ ॥ इति णत्वे कृते णकाराऽऽदितां व्रजन्तीति, अस्माभिर्निर्वेशिष्यमाणा णाऽऽदयः शब्दा नादयोऽपि शुद्धा एवेत्यभ्यूह्यम्। ' णख ' गतौ डः। पृषो०- णत्वम्। विन्दुदेवे, भूषणे, गुणबर्जिते, जलस्थाने, निर्णये, ज्ञाने च। वाच०। निर्गुणे, जये, योग्ये, दुष्टे, क्रोडे, तस्करे, पशुपुच्छे च। एका०।

'' णो निर्गुणे जये योग्ये, दुष्टे क्रोडे च तस्करे।
पशुपुच्छे श्रियां णा स्त्री, बृहन्माने च णः पुमान्॥ ५८ ॥
संप्रत्यये तथा स्वार्थे, णः कोणे चैकचक्षुषि।
क्षीरे रणे धने ध्याने, णीः पुमान् णीर्णियौ णियः॥ ५९ ॥
समे स्वरे चये तारे, चरणे णिश्चोभयात्मकः।''

इति विश्वदेवशम्भुमुनिः। एका०।

अन्यच्च-

'' त्रिलिङ्ग्यां निर्गुणे गूढे, सौम्ये सव्यापसव्ययोः।
णशब्दः कङ्कटे रागे, भेरावग्नौ ध्वजे पुमान्॥ ३९ ॥
णा तु स्त्री रजनीशय्या-धेनुनासाकृपास्वपि।
णं सरोजजले ज्ञाने, गमने चरणे रणे॥ ४० ॥
णशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, भवेद् णस्तुषवस्तुनि ''॥ इतिमाधवः। एका०।

***न**-अव्य०। ' नह ' बन्धने कः। प्रतिषेधे, नि० चू० १ उ०। नञ्-शब्दवन्नशब्दोऽप्यस्ति; अत एव न एकं नैकं, नायं नञ्, किन्तु न इति; अन्यथा न लोपः स्यादिति। आ० म० १ अ० २ खण्ड। नि० चू०। तत्र क्रियायोगे अभावे, तद्भिन्नयोगे तु भेदे, '' नकारो संजोगमाइसु पडिसेहे। '' नकारः पुनः संयोगाऽऽदिषु संयोगसमवायसामान्यविशेषचतुष्टये प्रतिषेधं करोति।

अत्रोदाहरणम्-

अथ संयोगाऽऽदिविषयं नकारप्रतिषेधं भावयति-

संजोगे समवाए, सामन्ने खलु तहा विसेसे अ।
कालतिए पडिसेहो, जत्थुवओगो नकारस्स ॥ ८२२ ॥

संयोगे, समवाये, सामान्ये, विशेषे चेति चतुर्द्धा प्रतिषेधो नकारस्य भवति। स च प्रत्येकमतीतानागतवर्त्तमानलक्षणकालत्रिकविषयत्वादेकैकः त्रिविध इति सर्वसंख्यया द्वादशविधो नकारप्रतिषेधः। यत्र च क्वापि नकारस्योपयोगो भवति तत्रामीषां द्वादशानां भेदानामन्यतमः प्रतिषेधः प्रतिपत्तव्य इति।

अथ संयोगाऽऽदिषु यथाक्रमं प्रतिषेधमुदाहरति-

नत्थियरे जिणदत्तो, पुव्वपसिद्धाण तेसि दोण्हं पि।
संजोगो पडिसिज्झइ, न सव्वसो तेसिँअत्थित्तं ॥ ८२३ ॥
समवाए खरसिंगं, सामन्ने नत्थि एरिसो चंदो।
नत्थि घडयप्पमाणा, विसेसओ होंति मुत्ताओ ॥ ८२४ ॥

' नास्ति गृहे जिनदत्तः ' इत्यत्र प्रयोगे पूर्वप्रसिद्धयोस्तयोर्गृह-जिनदत्तयोर्द्वयोरपि संयोगः संबन्धमात्रं प्रतिषिध्यते, न पुनः सर्वथैव, तयोरस्तित्वमिति संयोगप्रतिषेधः। समवायप्रतिषेधे तु खर-शृङ्गमुदाहरणं, खरोऽप्यस्ति, शृङ्गमप्यस्ति, परं खरशिरसि शृङ्गं नास्तीति समवायः, ' एकत्र संश्लेषः उभयोरपि ' प्रतिषिध्यते इति समवायप्रतिषेधः। सामान्यप्रतिषेधो यथा-नास्त्यस्मिन् स्थानेऽन्य ईदृशश्चन्द्रमा इति। विशेषमाश्रित्य पुनरयं प्रतिषेधः-न सन्ति घटप्रमाणा मुक्ताः, मुक्ताफलानीत्यर्थः। सन्ति मुक्ताफलानि, परं न घटप्रमाणानीति घटप्रमाणत्वलक्षणस्य विशेषस्य प्रतिषिध्यमानत्वाद्विशेषप्रतिषेधो भावितः। भावितः संयोगाऽऽदिचतुष्टयप्रतिषेधः।

सम्प्रति कालत्रयविषयं तमेव भावयति-

नेवासी न भविस्सइ, णेव घडो अत्थि इति तिहा कालो।
पडिसेहेइ नकारो, सज्जं तु अकारनोकारा ॥ २२५ ॥

नैवाऽऽसीन्न भविष्यति, नैवास्ति घट इति यथाक्रममतीतानागतवर्त्तमानभेदाद् त्रिधा कालविषयं वस्तु नकारः प्रतिषेधयति। अकारनोकारौ तु सद्यो वर्त्तमानकालमेव प्रायः प्रतिषेधयतः। यथा-अकरोषित्वं, नो कल्पते तालप्रलम्बं प्रतिगृहीतुमित्यादि। नाकार-स्य द्विविधकालप्रतिषेधकत्वं पूर्वमुक्तमेवेति न पुनरुच्यते। बृ० १ उ०। नि० चू०। सूत्र०। उपमायां बन्धे, प्रस्तुते च। वाच०। नराऽऽदिषु, एका०।

'' नो नरे च सनाथेऽपि, नो नाथेऽपि प्रदर्श्यते।
नृशब्दोऽपि नरे नाथे, ना नरौ नर इत्यपि॥ ७६ ॥
ननौ इति निपातौ द्वौ, नू दर्षेऽपि तथोदितः।
पृच्छायां नु वितर्केऽपि, निर्निशब्दौ तथाऽव्ययम्॥ ७७ ॥
नीवन्तो लक्ष्मीवाच्यः स्या-न्नीर्नेतरि नियौ नियः।
नु स्तुतौ दीर्घह्रस्वे स्त्री, नेनौश्च तरणौ स्त्रियाम्॥ ७८ ॥
नूशब्दः पातके पुंसि, वायौ क्लीबे नु वारिणि।
नं ब्रह्माणि तथाऽनन्ते, सानन्दे नं च नन्दने॥ ७९ ॥
इति विश्वदेवशम्भुमुनिः। एका०।

'' नकारस्तु स्त्रियां नामौ, नं नाट्यज्ञानयोर्भवेत्।
नशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, पठ्यते भिन्नसूक्ष्मयोः॥ ५३ ॥
प्रस्तुते वा परिश्लिष्टे, शुद्धे निर्णेतरि स्मृतः।
नुः स्त्रियां नु स्तुतौ नावि, नौस्तथैव निरूप्यते॥ ५४ ॥
नुन्नशब्दस्त्रिलिङ्गः स्या-न्निष्टयुक्तार्थवाचकः।
अव्ययं प्रतिषेधेऽल्पे, नकारः स्थिरनिश्चये॥ ५५ ॥
नानाप्रकारे नेदं स्यात्, भावे नन्वबधारणे॥ '' इति माधवः। एका०।

***नञ्**-अव्य०। सर्वनिषेधे, पर्युदासे, नं। स्था। कुत्सार्थे, यथा कुत्सितो ब्राह्मणोऽब्राह्मणः। ध० १ अधि०। कुत्सितं शील-

मशीलमिति । अनु० । दुःशब्दार्थे,यथा अशीलाः, दुःशीला इत्यर्थः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । अल्पार्थे, यथाऽयं पुमानज्ञः, स्वल्पज्ञान इत्यर्थः । आचा० १ श्रु० ६ अ० ६ उ० ।

णइ-अव्य०(णइ) अवधारणे, **'' णइ चेअ चिअ च अवधारणे ''॥८।२।१८४॥** इत्यवधारणे जइ इति प्रयोगः । ' णइ ' प्रा० २ पाद ।

***नति**-स्त्री० । नमने, नम्रीभवने, वाच० ।

णइग्गाम-पुं०(नदीग्राम) **'' समासे वा ''॥ ८ । २ । ९७ ॥** इति समासे द्वित्वं वा, द्वित्वे ह्रस्वः । नदीतटस्थे ग्रामे, प्रा० २ पाद ।

णइसोत्त-न०(नदीस्रोतस्) **'' दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ''॥ ८ । १ । ४ ॥** इति दीर्घकारस्य वा ह्रस्वः । नद्याः प्रवाहे, प्रा० १ पाद ।

णइसंतार-पुं०(नदीसन्तार) ' णईसंतार ' शब्दार्थे, जीत० ।

णई-स्त्री०(नदी) सरिति, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । उत्त० । ज्ञा० । सलिलायाम् , भ० ६ श० २ उ० । प्रश्न० । गङ्गा नदी षष्ठारके रथ-पथप्रमाणा भविष्यति, न वा, चेद्भविष्यति, तदाऽन्याश्चतुर्दश-सहस्रमिता नद्यः क्व यास्यन्तीति प्रश्ने ? उत्तरम्-गङ्गा यथोक्त-प्रमाणा भविष्यति, अन्यास्तु चतुर्दशसहस्रमिता नद्यः पृथिव्या भूयस्तरता-पवत्त्वेन शोषं यास्यन्तीति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ताविति । ६७ प्र० सेन० १ उल्ला० ।

तथा जम्बूद्वीपमध्ये चतुर्दशलक्षषट् पञ्चाशत्सहस्राश्चेन्ततस्तदा महाविदेहमध्यविजयविभेदविधात्र्यः षट् नद्योऽन्याः प्रतिवैताढ्य-मध्यगोन्मग्ना निमग्नाभिधाना नद्यश्च संख्यामध्ये कथं नागताः ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-पूर्वाचार्याणां विवक्षैव प्रमाणं, जम्बूद्वीपसंग्रहणीकारेण तु साधिकसप्तदशलक्षमिता नद्यो जम्बूद्वीपमध्ये संकलिताः सन्तीति । ६८ प्र० । सेन० प्र० १ उल्ला० ।

(सलिला महानद्योऽन्तरनद्यश्च '' जंबूद्वीव '' शब्दे चतुर्थभागे १३७५ पृष्ठे उक्ताः) (गङ्गासिन्ध्वोर्वक्तव्यता स्वस्वस्थाने)

णईकच्छ-पुं०(नदीकच्छ) नदीगहने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णईगाम-(नदीग्राम) ' णइग्गाम ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

णईजल-न०(नदीजल) सामान्यनदीजले, गङ्गानदीजलं यथा लवणाब्धौ विश्राम्यति तथा मानुषोत्तरपर्वतसंमुखविनिर्गतनदीजलमपि कुत्र विश्राम्यतीति प्रश्ने ? उत्तरम्-मानुषोत्तराभिमुखनिर्गतनदीजलं पुष्करवरसमुद्रे विश्राम्यतीति स्थानाऽऽदावस्तीति । २६४ प्र० । सेन० प्र० ३ उल्ला० ।

णईपमुह-त्रि०(नदीप्रमुख) नदीह्रदाऽऽदिके, प्रव० ८२ द्वार ।

णईमासय-न०(देशी) जलोद्भवे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णईसंतार-पुं०(नदीसन्तार) नद्युत्तरणे, नदीसन्तारश्चतुर्धाजङ्घार्धदघ्नोदकः, संघट्टस्तदूर्ध्वं नाभिद्वयसोदकः, लेपस्तदूर्ध्वजलो, लेपोपरि बाहुभ्यामुडुपैर्वा चतुर्थः । चतुर्ष्वत्र प्रायः कायोत्सर्गः । जीत० ।

जलोत्तरणप्रकाराः-

जंघातारिम कत्थइ, कत्थइ बाहाहि अप्प ण तरेज्जा ।
कुंभे दतिए तुंबे, णावा उडुवे य पण्णी य ॥ १९१ ॥

समासतो जलसंतरणं दुविहं-थाहं, अथाहं च । जं थाहं तं तिविहं संघट्टो, लेवो, लेवोवरियं च । एयं तिविहं वि जंघासंतारिमग्गहणेण गहियं । (कत्थइ त्ति) क्वचिन्नद्यादिषु ईदृशं भवतीत्यर्थः । वितियं (कत्थइ त्ति) क्वचिन्न-द्यादिषु अत्थाहं भवतीत्यर्थः । एत्थ य बाहाहिं अप्पणा णो तरेज्जा, हस्ताऽऽदिप्रक्षेपे बहूदकोपघातत्वात् । जलभाविएहिं इमेहिं संतरणं कायव्वं-कुंभेण, तदभावा दत्तिएण, तदभावा तुंबेण, तदभावा उडुवेण, तदभावा पण्णीए, तदभावा णावाए । बंधऽणुलोमा मज्झे णावागहणं कतं ।

एत्तो एगतरेणं, तरियव्वं कारणम्मि जातम्मि ।
एतेसिँ विवच्चासे, चातुम्मासा भवे लहुया ॥ १९२ ॥

गाहा कंठा । णवरं (विवच्चासे त्ति) सति कुंभस्स दत्तिएण तरति तो चउलहुयं । एवं एक्केक्कस्स विवच्चासे चउलहुयं दट्ठव्वं । सव्वते कुंभाती इमाए जयणाए घेत्तव्वा ।

णावं पुण अहिकिस भण्णति-

णवाऽणवे विभासा तु, भाविताऽभाविते त्ति य ।
दगऽण्णभाविए चेव, उल्लाऽणोल्ल य मग्गणा ॥ १९३ ॥

सा णावा अहाकडेण य जाति, संजयट्ठा वा अहाकडाए गंतव्वं । असति अहाकडाए संजयट्ठाए वि जा जाति, ताए वि गंतव्वं । सा दुविहा-(णवाऽणवे विभास त्ति) णवा, पुराणा वा । णवाए गंतव्वं, न पुराणाए, सप्रत्यपायत्वात् । णवा दुविहा-(भावियाऽभाविय त्ति) उदगभाविता, अभाविता य । जा उदगे छूढपुव्वा, सा उदगभावि-या । इतरा अभाविया । भावियाए गंतव्वं, ण इतराए । मा उदगशस्त्रं भविष्यतीति कृत्वा । तदुदयभाविया दुविहा-(उल्लाऽणोल्ल त्ति) मग्गणा उल्ला तिंता, अणोल्ला सुल्ला । उल्लाए गंतव्वं, ण इयरीए, दगाकर्षणभयात् । (मग्गणे त्ति) एषा एव मार्गणा, याऽभिहिता, एरिसणावाए पुण गच्छति । नि० चू० १ उ० । (चत्वारो नौसंतरणप्रकाराः ' णावा ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

महार्णवसूत्रम्-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाओ पंच महण्ण-वाओ महानदीओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतोमास-स्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा । तं जहा-गंगा, जउणा, सरऊ, कोसिया, मही ।

नो कल्पन्ते न युज्यन्ते । सूत्रे एकवचननिर्देशः प्राकृतत्वात् । निर्ग्रन्थानाम् , इमाः प्रत्यासन्नाः पञ्च महार्णवा बहूदकतया महा-समुद्रगामिन्यो महानद्यो गुरुनिम्नगा उद्दिष्टाः सामान्येनाभिहिताः, यथा महानद्य इति । गणिता यथा पञ्चेति । व्यञ्जिता व्यक्तीकृता यथा गङ्गेत्यादि । अन्तर्मध्ये मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं बाहुजङ्घाऽऽदिना, संतरीतुं नावादिना । तद्यथा-गङ्गा १ यमुना २ सरयू ३ कौशिकी ४ मही ५ । एष सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यकारः कानिचिद्विषमपदानि विवृणोति-

इमाओ त्ति सुत्तउत्ता, उद्दिट्ठ नदीउ गणिय पंचेव ।
गंगादि वंजिताओ, बहुउदगा महण्णवाओ तु ॥ ७१४ ॥

(इमा इति) प्रत्यक्षवाचिना सर्वनाम्ना सूत्रोक्ता उच्यन्ते । उद्दिष्टा नद्य इति । गणिताः पञ्चेति । व्यञ्जिता गङ्गाऽऽदिपदै-

व्यक्तीकृताः, यास्तु बहूदकास्ता महार्णवा उच्यन्ते । कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः-

पंचण्हं गहणेणं, सेसा वि तु सूइया महासलिला ।
तत्थ पुरा विहरिंसु, ण य ताओ कयाइ सुक्खंति ॥ ७१५ ॥

पञ्चानां गङ्गाऽऽदीनां ग्रहणेन शेषा अपि या महासलिला बहूदका अविच्छेदवाहिन्यस्ताः सूचिता मन्तव्याः । स्याद् बुद्धिः किमर्थं गङ्गाऽऽदीनां ग्रहणम् ? इत्याह-(तत्थ इत्यादि) येषु गङ्गाऽऽदयः पञ्च महानद्यो वहन्ति, तेषु पुरा साधवो विहृतवन्तः, न च ताः कदाचिदपि शुष्यन्ति, अतस्तासां ग्रहणम् ।

पंच परूवेऊणं, णावासंतारिमं तु जं जत्थ ।
उत्तरणम्मि वि लहुगा, तत्थ वि आणाऽऽदिणो दोसा ॥ ७१६ ॥

पञ्चापि महानदीः प्ररूप्य, या यादृशी यद्विषये, तां तथा वर्णयित्वा प्रस्तुतमभिधातव्यम् । तच्चेदम्-नौसंतारिमं यत्रोदकं तत्र यः षट्कायविराधनां प्राप्नोति, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तं, यत्रापि जङ्घाऽऽदिनोत्तरणं भवति, तत्रापि चतुर्लघुकाः । अपिशब्दात्संतरणेऽपि चतुर्लघु । तत्राप्युत्तरणे आज्ञाऽऽदयो दोषाः, किं पुनः संतरणे ? इत्यपिशब्दार्थः । बृ० ४ उ० । स्था० । ग० । नि० चू० ।

सन्तरणे दोषाः । तत्र संतरणे तावद्दोषानाह-

अणुकंपा पडिणीया, व होज्ज बहवो य पच्चवायाओ ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ७१७ ॥

अनुकम्पादोषाः, प्रत्यनीकदोषाः, बहवो वा प्रत्यपाया नावमारूढानां भवन्ति । एतेषां च नानात्वं विभागं यथाऽऽनुपूर्व्या वक्ष्यामि ।

तदेवाऽऽह-

छुभणं जले थलातो, अण्णे वोत्तारिता छुभति साहू ।
ठवणं व पत्थिताए, दट्ठुं णावं च आणाती ॥ ७१८ ॥

साधुं तरणार्थिनं ज्ञात्वा नौवाणिजो, नाविको वा अनुकम्पया नावं स्थलाज्जले प्रक्षिपेत् । ये वा पूर्वं नावमारोपिताः, तानुदके, तटे वाऽवतार्य साधून् प्रक्षिपेत् , नावमारोपयेदित्यर्थः । संप्रस्थिता वा नावं साधव उत्तरिष्यन्तीति कृत्वा स्थापयेत् । साधून् वा दृष्ट्वा परकूलान्नावमानयेत् ।

अत्र चामी दोषाः-

भावियसाधुपदोसा, णियत्तणत्थंतगा य हरियाऽऽदी ।
जं तेणसावएहि व, पवहण अण्णाएँ किणणं वा ॥ ७१९ ॥

ये वेडिकाया अवतारिताः, ते नाविकस्य वा, साधूनां वा प्रद्वेषं गच्छेयुः । यद्वाते निवर्त्तमानास्तत्रैव तिष्ठन्तो हरिताऽऽदीनां विराधनामन्यद्वाऽधिकरणं यत् कुर्वन्ति । यद्वास्तेनश्वापदेभ्य उपद्रवं प्राप्नुवन्ति, अवहन्तीं वा नावं यत्प्रवाहयिष्यन्ति, अन्यस्या नावः क्रयणं करिष्यन्ति ते, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

परकूलान्नावानयने दृष्टान्तमाह-

मज्जणगतो मुरुंडो, णावं दट्ठूण अप्पणा णेति ।
कहिगा जति अ कखेवा, तति लहुगा मग्गणा पच्छा ॥ ७२० ॥

मज्जनगतः स्नानं कुर्वन् , मुरुण्डो राजा साधून् दृष्ट्वा नावमात्मना नयति, ततो नावारूढः साधुः कथिकाः कथयितुं लग्नः, यावन्तश्च तत्र वल्लकक्षेपास्तावन्ति चतुर्लघूनि, पश्चाच्च साधूनां मार्गणासंयमविराधना १, आत्मविराधना २, उभयविराधना वा । यदि वा उदकमवतरतः, नावारूढस्य, नाव उत्तरतश्चेति । एतेषां त्रयाणामेकतरस्मिन् बहवः प्रत्यपाया भवन्ति । उक्तं संतरणम् ।

उत्तरणे जङ्घासंघट्टाऽऽदिदोषाः । अथोत्तरणमाह-

उत्तरणम्मि परुविते, उत्तरमाणस्स चउलहू होंति ।
आणाऽऽदिणो य दोसा, विराहणा संजमाऽऽताए ॥ ७२९ ॥

उत्तरणं नाम यन्नावं विना वक्ष्यमाणैः संघट्टाऽऽदिभिः प्रकारैरुत्तीर्यते, तस्मिन्नुत्तरणे प्ररूपिते सतीदमनिधीयते, यदि जङ्घाऽऽदिनाऽप्युत्तरति, तदा चतुर्लघु, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः, संयमाऽऽत्मविराधना च भवति ।

तस्य चोत्तरणस्यैते भेदाः-

जंघद्धा संघट्टो, संघट्टवरिं तु लेवो जा णाभी ।
तेण परं लेवोवरि, तुंबाऽऽदी णाववज्जेसु ॥ ७३० ॥

यस्मिन् कूले उत्तरतां पादतलादारभ्य जङ्घाया अर्द्धं ब्रुडति स संघट्टः, तस्यैव संघट्टस्योपरि यावन्नाभिरेव तावद्यत् प्रविशति स लेपः । ततः परं नाभेरारभ्योपरि सर्वमपि लेपोपरि भण्यते । तच्च द्विधास्ताघमस्ताघं च । यत्र नासिका न ब्रुडति तत् स्ताघं, यत्र तु नासिका ब्रुडति तदस्ताघम् । तत्र तुम्बोदुपाऽऽदिभिर्नौवर्जितैर्यत्तार्यते तदुत्तरणं मन्तव्यम् ।

तत्रोत्तरणे एते संयमाऽऽत्मविराधनादोषाः-

संघट्टणा य सिंचण, उवगरणे पडण संजमे दोसा ।
चिक्खिल्लखाणुकंटग, सावतभयवाहणे आया ॥ ७३१ ॥

लोकेन साधोः संघट्टनं भवेत् , साधुर्वा जलं सङ्घट्टयेत् , सङ्घट्टनग्रहणात् परितापनमपद्रावणं च सूचितम् । एतेषु कायनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । प्रत्यनीकः साधुमुपधिं वा सिञ्चति, स्वयं वा साधुरात्मानं सिञ्चेत् , साधोरुपकरणस्य जले पतनम् । एते संयमे दोषाः । तथा चिखिल्लेष्वभिमज्जति, जलमध्ये वा चक्षुरविषयतया स्थाणुना कण्टकेन वा यद्विध्यते, मकराऽऽदिश्वापदभयं वा भवति, नदीवाहेन वा वाहनम् । एषा सर्वाऽप्यात्मविराधना ।

ऐरावतीकुणालायां सूत्रम्-

अह पुण एवं जाणिज्जा-एरवई कुणालाए जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा, एव ण्हं कप्पइ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा; नो चक्किया एव ण्हं नो कप्पइ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा ।

अथ पुनरेवं जानीयात्-ऐरावती नाम नदी कुणालायाः न गर्याः समीपे जङ्घार्द्धप्रमाणेनोद्वेधेन वहति, तस्यामन्यस्यां वा यत्रैव (च-क्रिया) शक्नुयात् , उत्तरीतुमिति शेषः । कथमिति ? आह- एकं पादं जले कृत्वा, एकं पादं स्थले आकाशे कृत्वा । एव ण्ह-मिति वाक्यालङ्कारे । यत्रोत्तरीतुं शक्नुयात् , तत्र कल्पते अन्तर्मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं लङ्घयितुम् , संतरीतुं भूयः प्रत्यागन्तुं, यत्र पुनरेवमुत्तरीतुं न शक्नुयात् , तत्र नो कल्पते अन्तर्मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं लङ्घयितुं, संतरीतुं भूयः प्रत्यागन्तुम्, यत्र पुनरेवमुत्तरीतं न श-

पनुयात्, तत्र नो कल्पते अन्तर्मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं वा संतरीतुं वा। इति सूत्रार्थः।

अथ भाष्यकृद्विषमपदानि व्याचष्टे-

एरवइ जण्हि चक्किय, जलथलकरणे इमं तु णाणत्तं।
एगो जलम्मि एगो, थलम्मि इहइं थलागासं॥ ७३२॥

ऐरावती नाम यत्र, नदी तस्यां जलस्थलयोः पादकरणेनोत्तरीतुं शक्यम्। इदमेव चात्र नानात्वं, यत्सर्वसूत्रोक्तासु महानदीसु मासान्तार्द्धौ त्रीन् वारान् न कल्पते। यद्यत्रैको जले, एकश्च पादः स्थले इत्युक्तं, तदिह स्थलमाकाशमुच्यते।

एरवइ कुणालाए, वित्थिन्ना अद्धजोयणं वहति।
कप्पति तत्थ अपुण्णे, गंतुं जा एरिसी अण्णा॥ ७३३॥

ऐरावती नदी कुणालानगर्या अदूरे अर्द्धयोजनविस्तीर्णा वहति। सा चोद्वेधेन च जङ्घार्द्धप्रमाणा, तत्र ऋतुबद्धे काले मासकल्पे अपूर्णे, त्रिःकृत्वो भिक्षाग्रहणलेपाऽऽनयनाऽऽदौ कार्ये यतनया गन्तुं कल्पते, या चेदृशी अन्याऽपि नदी, तस्यामपि त्रिःकृत्वो गन्तुं कल्पते। कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता।

सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः-

संकमथले य णो-थल पासाणजले य वालुगजले य।
सुद्धुदगे पंकमीसे, परित्तऽणंते तसा चेव॥ ७३४॥

नदीमुत्तरतस्तु ये पन्थानः। तद्यथा-संक्रमस्थलं, नो स्थलं च तत्र यदेकाङ्गिकाऽऽदिना संक्रमेण गम्यते तत् संक्रमस्थलं, नद्यां कूर्परेण वरणेन वा यद् नदीजलं परिहृत्य गम्यते। नोस्थलं चतुर्विधम्-पाषाणजलं, वालुकाजलं, शुद्धोदकं, पङ्कमिश्रजलम्। एतेषु चतुर्ष्वपि गच्छतां यथासंभवं परीत्तानन्तकायास्त्रसाश्च विराधनां प्राप्नुवन्ति।

तथा-

उदए चिक्खिल्लपरि-त्तऽणंतकाइगतसे य मीसे य।
अक्कंतमणक्कंते, संजोए होति अप्पबहुं॥ ७३५॥

उदके चिक्खिल्लाऽऽदिकः पृथिवीकायो, वनस्पतयश्च परीत्तकायिकाः, अनन्तकायिका वा, त्रसाश्च द्वीन्द्रियाऽऽदयो भवेयुः। एते च सर्वेऽपि यथासंभवं मिश्राः सचित्ता अचित्ता वा, आक्रान्ता अनाक्रान्ता वा, स्थिराः अस्थिरा वा, सप्रत्यपाया निष्प्रत्यपाया वा भवेयुः। एतेषु बहवः संयोगा उपयुज्य वक्तव्याः। तेषु यत्राल्पबहुत्वं भवति, अल्पतरसंयमाऽऽत्मविराधनादोषाः, बहवश्च गुणा भवन्ती-त्यर्थः। तत्र कारणे समुत्पन्ने गन्तव्यम्।

यत्र च संक्रमो भवति, तत्रामी भङ्गविकल्पा भवेयुः-

एगंगिचलत्थिरपरि-साडिसालंबवज्जिए सभए।
पडिवक्खेसु तु गमणं, तज्जातितरे य संडेवा॥ ७३६॥

संक्रमः एकाङ्गिको वा स्याद्, अनेकाङ्गिको वा। एकाङ्गिको य एकेन फलकाऽऽदिना कृतः। अनेकाङ्गिको योऽनेकफलकाऽऽदिनिर्मितः। अत्रैकाङ्गिकेन गन्तव्यम्, न अनेकाङ्गिकेन। एवं स्थिरेण, न च चलेन। अपरिशाटिना, नो परिशाटिना। सालम्बेन गन्तव्यं, न वर्जितेन; निरालम्बेनेत्यर्थः। सालम्बोऽपि द्विधाएकतः सालम्बः, द्विधा सालम्बश्च। पूर्वं द्विधा सालम्बेन, तत एकतः सालम्बेनापि। तथा निर्भयेन गन्तव्यं, न सभयेन। अत एवाऽऽह-(पडिव-क्खेसु य गमणं ति) अनेकाङ्गिक-कचलपरिशाटिनिरालम्बसभयाऽऽख्यानां पञ्चानां पदानां, ये एकाङ्गिकाऽऽदयः प्रतिपक्षाः, तेषु गमनं कर्तव्यम्। अत्र पञ्चभिः पदैर्द्वात्रिंशद्भङ्गाः। एकाङ्गिकः, स्थिरोऽपरिशाटी, सालम्बो, निर्भय इत्यादि। एषु प्रथमो भङ्गः शुद्धः, शेषा अशुद्धाः। तेष्वपि बहुगुणतरेषु गमनं, यतना च कर्त्तव्या। सण्डेवका अपि संक्रमभेदा एव। उद्यानकाः, इतरे वा अनुद्यानकाः सण्डेवका भवेयुः। अत आह-तत्रैव जातास्तज्जाताः, शिलाऽऽदयः। अन्यतः स्थानादानीय स्थापिता अतज्जाताः, इट्टालकाऽऽदयः। तेष्वपि चलाचलाऽऽक्रान्तानाक्रान्ताऽऽदयो भेदाः कर्त्तव्याः। उक्तः संक्रमः।

अथ स्थलमाह-

नदिकोप्परवरणेण व, थलमुदयं णोथलं तु तं चउहा।
उवलजलवालुगजलं, सुद्धमहीपंकमुदगं च॥ ७३७॥

नद्या आकुण्टितकूर्पराऽऽकारजलेन नदीकूर्परमुच्यते। जलोपरि कपाटानि मुक्त्वा पालिबन्धः क्रियते, स वरण उच्यते। एताभ्यां यदुदकं परिहृत्य गम्यते, तत् स्थलं द्रष्टव्यम्। अथ नोस्थलं, तच्चतुर्विधम्। उपलजलम्-अधः पाषाणाः, उपरि जलम्। वालुकाजलम्-अधो वालुकाः, उपरि पानीयं च। शुद्धोदकम्-अधः शुद्धा मही, उपरि जलम्। पङ्कोदकम्-अधः कर्दम उपरि जलम्।

पङ्कोदकस्य चामूनि विधानानि-

लत्तमपहे य खलुए, तहऽद्धजंघाऐं जाणुउवरिं च।
लेवो य लेवउवरिं, अक्कंतादी उ संजोगा॥ ७३८॥

यावन्मात्रमलक्तेनेव पादो रज्यते, तावन्मात्रो यत्र पथि कर्दमः स लक्तकपथः। खलुकमात्रः पादघुण्टकप्रमाणः, अर्धजङ्घामात्रो जङ्घार्द्धं यावद् भवति, जानूपरि जानुमात्रं यावद्भवति, लेपो नाभिप्रमाणः, तत ऊर्द्धं सर्वोऽपि लेपोपरि। एते सर्वेऽपि कर्दमप्रकाराश्चतुर्विधे नोस्थले कर्दमे च, आक्रान्तानाक्रान्तसमयनिर्भयाऽऽदयः संयोगा यथासंभवं वक्तव्याः।

सदोषः पन्थाः। अमुना दोषेण युक्तः पन्थाः परिहर्तव्यः-

जो वि पहो अक्कंतो, हरियादितसेहिंचेव परिहीणो।
तेण वि तु ण गंतव्वं, जत्थ अवाया इमे होंति॥ ७३९॥

योऽपि च पन्था आक्रान्तो दरमलितो, हरिताऽऽदिभिस्त्रसैश्च परि-हीणो भवति, ततोऽपि न गन्तव्यम्, यत्रामी अपाया भवन्ति।

गिरिनदि पुण्णा बाला-हिकंटगा दूरपारमावत्ता।
चिक्खिल्लकल्लुगाणि य, गारा सेवाल उवला य॥ ७४०॥

यथ पथि गिरिनदी पूर्णा तीव्रवेगा वहति। मकराऽऽदयो व्याला अहयो वा यत्र जलमध्ये भवन्ति, कण्टका वाऽऽपूरेणाऽऽनीताः, दूरपारम्, आवर्तबहुलं वा जलं भवेत्। चिक्खिल्लो वा नदीषु तद्देशो-यत्र पादौ निमज्जति, कल्लुकाः, गाथायां नपुंसकत्वं प्राकृतत्वात्। पाषाणेषु द्वीन्द्रियजातिविशेषा भवन्ति, ते पादौ छेदयन्ति। गाराः पाषाणशृङ्खिकाः, सेवालः प्रसिद्धः, उपलाः छिन्नपाषाणाः। एभिरपायैर्वर्जितेन पूर्वं स्थलेन गन्तव्यम्, तदभावे संक्रमेण, तदभावे नोस्थलेनापि। तत्र चतुर्विधे नोस्थले पूर्वममुना गन्तव्यम्-

उवलजलेण तु पुव्वं, अक्कंतें निरुवएण गंतव्वं।

तस्सऽऽसति अणक्कंते, निरच्चएणं तु गंतव्वं ॥ ७४१ ॥

उपलजले कर्दमो न भवति, स्थिरसंहननं च तद् भवति, अतः पूर्वं तेनाऽऽक्रान्ते निरत्ययेन क्षुण्णनिष्प्रत्यपायेन गन्तव्यम् । तख्याभावे अनाक्रान्ते निरत्ययेनापि गन्तव्यम् ।

एमेव सेसएसु वि, सिगतजलादीहिँहोंति संजोगा ।
पंकमहुसित्तलत्तग-खलऽद्धजंघा य जंघा य ॥ ७४२ ॥

उपलाद् बालुका अल्पसंहनना, तत उपलजलाभावे बालुकाजलेन गन्तव्यम् । बालुकायाः शुद्धा पृथिवी स्वल्पतरसंहनना, ततो बालुकाजलानन्तरं शुद्धोदकेन गम्यते, तेष्वपि सिकताजला दि, शेषपदेषु एवमेव प्राग्वदाक्रान्ताऽनाक्रान्ताऽऽदयः संयोगा भवन्ति । पङ्कजलं बहुप्रत्यपायमतः सर्वेषामुपलजलाऽऽदीनामभावे तेन गम्यते । स च यो मधुसिक्ताऽऽकृतिक्रमतलयोरेव केवलं लगति, यो वा अलक्तकमात्रस्तेन पूर्वं गम्यते, पश्चात् खलुकमात्रेण, पश्चादर्द्धजङ्घामात्रेण, ततो जङ्घामात्रेणापि, जानुप्रमाणेनेत्यर्थः । यस्तु जानुप्रमाणादुपरि पङ्कस्तेन न गन्तव्यम् ।

यत आह-

अद्धोरुगमित्तातो, जो खलु उवरिं तु कद्दमो होति ।
कंटादिजढो वि य सो, अत्थाहजलं व सावायं ॥ ७४३ ॥

अर्द्धोरुकमात्राद् जानुप्रमाणादुपरि यः कर्दमो भवति, स कण्टकाऽऽद्यपायवर्जितोऽप्यस्ताघजलमिव गन्तुमशक्यत्वात् सापायो मन्तव्यः । एष विधिः सर्वोऽपि सचित्तपृथिव्यामुक्तः ।

अथाचित्तपृथिव्यां तमेवाऽऽह-

जत्थ अचित्ता पुढवी, तहियं आउतरुजीवसंजोगो ।
जोणिपरितथीरेहि य, अक्कंतणिरच्चएहिं च ॥ ७४४ ॥

यत्र पृथिवी अचित्ता तत्राप्कायजीवानां तरुजीवानां च संयोगाः कर्त्तव्याः । तद्यथा-पृथिवी सर्वत्राप्यचित्ता किमप्कायेन गच्छतु, किं वा वनस्पतिना ? उच्यते-अप्काये नियमाद्वनस्पतिरस्ति, तस्मात्तेन मागात् । वनस्पतिना गच्छन् तत्रापि परीत्तयोनिकेन स्थिरसंहननेन आक्रान्तेन निरत्ययेन निष्प्रत्यपायेन । अत्र षोडश भङ्गाः । तद्यथा-प्रत्येकयोनिकः स्थिर आक्रान्तो निष्प्रत्यपायः । एष प्रथमो भङ्गः । सप्रत्यपायेन द्वितीयः । अनाक्रान्तेऽप्येवमेव द्वौ विकल्पौ । एवं स्थिरे चत्वारो विकल्पा लब्धाः । अस्थिरेऽप्येवं चत्वारः । एते प्रत्येकयोनिकेनाष्टौ भङ्गा लब्धाः । अनन्तयोनिकेऽप्येवमेवाष्टौ लभ्यन्ते । एवं सर्वसंख्यया वनस्पतिकाये परीत्ताऽऽदिभिः पदैः षोडश भङ्गा भवन्ति ।

अथाप्कायस्य, त्रसानां च संयोगानाह-

एमेव य संजोगा, उदगस्स चउव्विहेहि तु तसेहिं ।
अक्कंतथिरसरीरे, णिरच्चएहिं तु गंतव्वं ॥ ७४५ ॥

चतुर्विधास्त्रसा द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति । एतैश्चतुर्विधैरपि त्रसैराक्रान्ताऽऽदिभिः पदैरेवमेव उदकेन सह संयोगाः कार्याः । तद्यथा-आक्रान्ताः स्थिराः सप्रत्यपायाः । एवं त्रिभिः पदैरष्टौ भङ्गा भवन्ति । एते च द्वीन्द्रियाऽऽदिषु चतुर्ष्वपि प्रत्येकमष्टावष्टौ लभ्यन्ते, जाता भङ्गकानां द्वात्रिंशत् ।

अथ सान्तरनिरन्तरं विकल्पविवक्षा क्रियते, ततश्चतुःषष्टिसंयोगा उत्तिष्ठन्ते । अत्र चाऽऽक्रान्तस्थिरनिरत्ययैः सान्तरैस्त्रसैर्गन्तव्यम् , नाप्काये नावा-

तेऊवाउविहूणा, एवं सेसा वि सव्वसंजोगा ।
उदगस्स उ कायव्वा, जेणऽहिगारो इहं उदए ॥ ७४६ ॥

तेजोवायुकाययोर्गमनं न संभवतीति कृत्वा तेजोवायुविहीनाः । एवं शेषा अपि संयोगाः सर्वेऽपि कर्तव्याः । तत्राप्कायस्य वनस्पतिना त्रसैश्च सह भङ्गका उक्ताः । (बृ०)

'' अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा '' इत्यादिसूत्रं व्याख्याति-

एरवइ जत्थ चक्किय, तारिसए ण उवहम्मती खेत्तं ।
पडिसिद्धं उत्तरणं, अण्णासति खेत्तऽणुण्णातं ॥ ७४७ ॥

या ऐरावती नदी कुणालाजनपदे योजनार्द्धं विस्तीर्णं जङ्घार्द्धजानुमुदकं वहति, तस्यां केचित्प्रदेशाः शुष्काः, न तत्रोदकमस्ति । तामुत्तीर्य यदि भिक्षाचर्या गम्यते, तदा ऋतुबद्धे तु ये उदकसंघट्टाः, ते च गताऽऽगतेन षड् भवन्ति । वर्षासु सप्त दकसंघट्टाः, ते च गता-ऽऽगतेन चतुर्दश भवन्ति । एवमीदृशे संघट्टप्रमाणे क्षेत्रं नोपहन्यते । इत एकेनाप्यधिके संघट्टे उपहन्यते । अन्यतोऽन्यत्रापि यत्राधिकतरसंघट्टाः, तत्रोत्तरणं प्रतिषिद्धम् । पूर्णे मासकल्पे, वर्षावासे वा यद्यनुत्तीर्णानामपरं मासकल्पप्रायोग्यं क्षेत्रमस्ति, ततो नोत्तरणीयम् । अथानुत्तीर्णानामन्यत् क्षेत्रं नास्ति, ततः असति क्षेत्रे उत्तरणमनुज्ञातम् ।

इदमेव व्याचष्टे-

सत्त उ वासासु भवे, दगघट्टा तिण्णि होंति उडुबद्धे ।
जे तु ण हणंति खेत्तं, भिक्खायरियं च ण हणंति ॥ ७४८ ॥

सप्तोदकसंघट्टाः वर्षासु, त्रयः संघट्टा ऋतुबद्धे भवन्ति । ये एतावन्तं क्षेत्रं नोपघ्नन्ति, न वा भिक्षाचर्यामुपघ्नन्ति ।

जह कारणम्मि पुन्ने, अंतो तह कारणम्मि असिवाऽऽदी ।
उवहिस्स गहणलिंपण-नावोदगतं वि जतणाए ॥ ७४९ ॥

यथा कारणे पूर्णे मासकल्पे, वर्षावासे वा अपरक्षेत्राभावे दृष्टमुत्तरणं, तथा मासस्यान्तरेऽप्यशिवाऽऽदिभिः कारणैः, उपधेर्वा ग्रहणार्थं, लेपस्याऽनयनार्थं चोत्तरणीयम् , कारणे यत्र नावाऽप्युदकं तार्यते, तत्रापि यतनया संतरणीयम् ।

तत्र चायं विधिः-

नावथललेवहिट्ठा, लेवो वा उवरि एव लेवस्स ।
दोण्हादिवड्ढमेगं, अद्धं णावाऍ परिहाती ॥ ७५० ॥

तत्र पूर्वार्द्धपश्चार्द्धपदानां यथासंख्येन योजना । नावुत्तरणस्थानाद् यदि द्वे योजने वक्रस्थलेन गम्यते, तेन गन्तव्यं, न च नौरारोढव्या । (लेवहिट्ठ त्ति) लेपस्याधस्ताद् दकसंघट्टेन यदि सार्द्धयोजनपरिरयेण गम्यते, ततस्तत्र गम्यतां, न च नावमधिरोहेत् । एवं योजनपरिहारेण लेपेन गच्छतु, न च नावमधिरोहेत् । अर्द्धयोजनपरि-हारेण स्थलेन एकयोजनपरिरयेण संघट्टेन अर्द्धयोजनपरिहारेण वा लेपेन गम्यताम् , न च लेपोपरिणा । लेपोत्तरणस्थानादेकयोजनपरिहारेण स्थलेनार्द्धयोजनपरिहारेण वा संघट्टेन गन्तव्यं, न लेपेन । संघट्टोत्तरणस्थानादर्द्धयोजनपरिहारेण स्थलेन गम्यतां, न च संघट्टेन । एतेषां परिहरमाणानामभावे नावा लेपोपरिणा लेपेन संघट्टेन वा गम्यतेः, न कश्चिद्दोषः ।

अत्र ' नावथल त्ति ' पदं व्याचष्टे-

दो जोयणाइँ गंतुं, जहियं गम्मति थलेण तेण वए ।

मा य दुरूहे नावं, तत्थावाया बहू वुत्ता ॥ ७५१ ॥

द्वे योजने गत्वा यत्र स्थलेन गम्यते, तेन पया व्रजेत् , मा च नावमारोहेत्। यतस्तत्र बहवोऽपायाः पूर्वमेवोक्ताः। कारणे तु तत्रापि गम्यते।

तत्र संघट्टे गच्छतां तावद्यतनामाह-

थलसंकमणे जयणा, पलोगणा पुच्छिऊण उत्तरणं ।
परिहरिऊणं गमणं, जति पंथो तेण जयणाए ॥ ७५२ ॥

स्थलसंक्रमणे यतना कार्या; एकं पादं जले, एकं पादं स्थले कुर्यादित्यर्थः। प्रलोकना नामलोकमुत्तरन्तं प्रलोकयति, यस्मिन् पार्श्वे जङ्घाऽर्द्धमात्रमुदकं तत्र गच्छति। अथोत्तरतो न पश्यति, ततः प्रातिपथिकम् , अन्यं वा पृच्छति। ततो यत्र नीचतरमुदकं, तत्रोत्तरणं विधेयम्। (परिहरिऊण) इत्यादि। यदि तस्योदकस्य परिहारेण पन्था विद्यते, तदा तं परित्यज्य यतनया तेन गन्तव्यम्।

अथ स्थलपदे अमी दोषा भवेयुः-

समुदाणं पंथो वा, वसही वा थलपधेण जति णत्थि ।
सावयतेण भयं वा, संघट्टेणं ततो गच्छे ॥ ७५३ ॥

समुदानं भिक्षा तत्र नास्ति, स्थलपथ एव वा नास्ति, वसतिर्वा स्थलपथेन यदि न समस्ति, श्वापदभयं, स्तनेभयं वा तत्र विद्यते, ततः स्थलपथं मुक्त्वा संघट्टेन प्रथमतो गच्छेत् , तदभावे लेपेन।

तत्रेयं यतना-

निब्भएऽगारत्थाणं, तु मग्गतो चोलपट्टमुस्सारे ।
सभये अत्थाघे वा, उत्तिण्णेसुं घणं पट्टं ॥ ७५४ ॥

यदि स साधुर्गृहिसार्थसहायः, तत उदकसमीपं गन्तोर्ध्वकायं मुखवस्त्रिकया, अधःकायं रजोहरणेन प्रमार्ज्योपकरणमेकतः कृत्वा, यदि निर्भयं चौरभयं नास्ति, ततो गृहस्थानां मार्गतः सर्वतः पश्चादुदकमवतरति, यथा यथा चोण्डमुण्डतरं जलमवगाहते, तथा तथोपर्युपरि चोलपट्टकमुत्सारयेत् ; येन न तीम्यते। अथ तत्र सभयम् , अस्ताघं वा जलं, ततो यदा कियन्तोऽपि गृहस्था अप्रतोऽवतीर्णाः, तदा मध्ये साधुनाऽवतरणीयम् , चोलपट्टकं च घनं दृढं बध्नीयात्।

एतेन विधिनोत्तीर्णस्य यदि चोलपट्टकोऽन्यद्वा किञ्चिदुपकरणजातं तीमितं तदाऽयं विधिः-

दगतीरे ता चिट्ठे, णिप्पगलो जाव चोलपट्टो तु ।
सभए पलंबमाणं, गच्छति काएण अफुसंतो ॥ ७५५ ॥

दकतीरे स्निग्धपृथिव्यामप्कायरक्षणार्थं तावत्तिष्ठेद् यावच्चोलपट्टकोऽन्यद्वोपकरणं निष्प्रगलं भवति। अथ तत्र तिष्ठतः सभयं, ततः प्रगलन्तमेव तं चोलपट्टकं कायेनास्पृशन् बाहायां प्रलम्बमानं नयन् गच्छति।

यत्र सार्थविरहित एकाकी समुत्तरति, तत्रायं विधिः-

असइ गिहि णालियाए, आणक्खेउं पुणोऽवि पडियरणं ।
एगाभोगं च करे, उवगरणं लेव उवरिं च ॥ ७५६ ॥

गृहिणामभावे सर्वोपकरणमवतरणतीरे मुक्त्वा नालिकामात्मप्रमाणाच्चतुरङ्गुलातिरिक्तां यष्टिं गृहीत्वा, तया (आणक्खेउं) अस्ताघतामनुमीय, तीरात् पुनरपि जले प्रतिचरणं करोति, प्रत्यागच्छतीत्यर्थः। आगत्य च तदुपकरणमेकाभोगं करोति, एकत्र नियन्त्रयतीत्यर्थः। ततस्तद् गृहीत्वा, तेन परीक्षितजलपथेनोत्तरति। एष लेपे, लेपोपरौ वा विधिरुक्तः। बृ० ४ उ०।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो परेहिं सद्धिं परिजविय परिजविय गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेजा (७४०) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से जंघासंतारिमे उदए सिया, से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पादे य पमज्जेज्जा, से पुव्वामेव पमज्जित्ता० जाव एगं पादं जले किच्चा एगं पादं थले किच्चा, तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदगे अहारियं रीएज्जा (७४१) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जंघासंतारिमे उदगे अहारियं रीयमाणे णो हत्थेण वा हत्थं पादेण वा पादं काएण वा कायं आसाएज्जा, से अणासादए अणासायमाणे तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा (७४२) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीयमाणे णो सायावडियाए णो परिदाहवडियाए महति महालयंसि उदगंसि कायं वितिसेज्जा, तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जापारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा काएण उदगतीरे चिट्ठेज्जा (७४३)

' से ' इत्यादि स्पष्टम्। नवरमवेयं सामाचारीयदुदकार्द्रं वस्त्रं तत् स्वत एव यावन्निष्प्रगलं भवति, तावदुदकतीर एव स्थेयम्। अथ चौराऽऽदिभयाद् गमनं स्यात् , ततः प्रलम्बमानं कायेनास्पृशता नेयमिति। तथा ' से ' इत्यादि कण्ठ्यम्। नवरं (परिजविय इत्ति) परैः सार्द्धं भृशमुल्लापं कुर्वन्न गच्छेदिति। इदानीं जङ्घासंतरण-विधिमाह- '' से '' इत्यादि। तस्य भिक्षोर्ग्रामान्तरं गच्छतो यदन्तराले जानुदघ्नाऽऽदिकमुदकं स्यात्, तत ऊर्ध्वकायं मुखवस्त्रिकया, अधःकायं च रजोहरणेन प्रमृज्योदकं प्रविशेत्प्रविष्टश्च पादमेकं जले कृत्वा, अपरं स्थले आकाशे कृत्वा पादावुत्क्षिपन्न गच्छेत् , न जलमालोडयता गन्तव्यमित्यर्थः। (अहारियं रीयेज्ज त्ति) यथा ऋजु भवति तथा गच्छेद् , नार्दवितर्दं विकारं वा कुर्वन् गच्छे-दिति। ' से ' इत्यादि। स भिक्षुर्यथार्थमेव गच्छन् महत्युदके महाश्रये वक्षस्थलाऽऽदिप्रमाणे जङ्घासंतरणीये नदीह्रदाऽऽदौ पूर्वविधिनैव कायं प्रवेशयेत्। प्रविष्टश्च यद्युपकरणं निर्वाहयितुमसमर्थस्ततः सर्वम् , असारं वा परित्यजेत् । अथैवं जानीयाच्छक्तोऽहं पारगमनाय, ततस्तथाभूत एव गच्छेत्। उत्तीर्णश्च कायोत्सर्गाऽऽदि पूर्ववत् कुर्यादिति। आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ०।

अथापवादमाह-

पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ। तं जहा-भयंसि वा, दुब्भिक्खंसि वा पव्वहेज्ज व णं कोइ, दओघंसि वा एज्जमाणंसि महता वा, अणारिएहिं।

(पंचेत्यादि) भये राजप्रत्यनीकाऽऽदेः सकाशादुपध्याद्यपहारविषये सति १, दुर्भिक्षे वा भिक्षाऽभावे सति २, (पव्वहेज्ज त्ति) प्रव्यथते बाधते, अन्तर्भूतकारितार्थत्वाद्वा प्रवाहयेत् क्वचित् प्रत्यनीकस्तत्रैव गङ्गाऽऽदौ प्रक्षिपेदित्यर्थः ३। (दओघंसि त्ति) उदकौघे वा गङ्गाऽऽदीनामुन्मार्गगामित्वेनावगच्छति सति, तेन प्लाव्यमाना-नामित्यर्थः। महता वा आटोपेनेति शेषः ४। (अणारिएहिं त्ति) विभक्तिव्यत्ययादनार्यैर्म्लेच्छाऽऽदिभिर्जीवितचारित्रापहारिभिः, अभिभूतानामिति शेषः। ५। म्लेच्छेषु वा, आगच्छत्स्विति शेषः। एतानि पुष्टान्यालम्बनानीति तत्तरेणेऽपि न दोष इति।

उक्तञ्च-

'' सालंबणो पंडतो, विअप्पयं दुग्गमे वि धारेइ।
इय सालंबणसेवी, धारेइ जई असढभावं॥ १॥
आलंबणहीणो पुण, निवडइ खलिओ अहे दुरुत्तारे।
इय निक्कारणसेवी, पडइ भवोहे अगाहम्मि '' ॥ २॥ इति।
स्था० ५ ठा० २ उ०।

अथ नावं यैः कारणैरारोहेत्, तानि दर्शयति-

विइयपयं तेणसावय-भिक्खे वा कारणे व आगाढे।
कज्जुवहिमगरवुड्डण-नावोदग तं पि जतणाए॥ ७५७॥

द्वितीयपदमत्रोच्यते। स्थलसंघट्टाऽऽदिपदेषु शरीरोपधिस्तेनाः, सिंहाऽऽदयो वा श्वापदा भवेयुः, भैक्ष्यं वा न लभ्यते, आगाढं वा कारणमहिदष्टविषविसूचिकाऽऽदिकं भवेत्, तत्र त्वरितमौषधान्यानेतव्यानि, कुलाऽऽदिकार्यं वा आक्षेपेण करणीयमुपस्थितम्, उपधिरुत्पादकेनोदके प्रक्षिप्येत, तत एकाभोगकृतेषु भाजनेषु विलग्नस्तरतीति। (नावोदगतं पि जयणाए त्ति) यदि बलाभियोगेन नावुदकस्योत्सेचापनं कार्यते, तदा तदपि यतनया कर्त्तव्यम्।

कथं पुनरेकाभोगमुपकरणं करोतीत्याह-

पुरतो दुरुहणमेगं-ते पडिलेह पुव्व पच्छ समगं व।
सीसे मग्गतो मज्झे, वितियं उवगरण जयणाए॥ ७५८॥

गृहिणां पुरत उपकरणं न प्रत्युपेक्षते, न वा एकाभोगं करोति, (दुरुहण त्ति) नावमारोढुकामेन एकान्तमपक्रम्योपकरणं प्रत्युपेक्ष-णीयं, ततोऽधःकायं रजोहरणेन, उपरिकायं मुखानन्तकेन प्रमृज्य भाजनान्येकत्र बध्नाति, तेषामुपरिष्टादुपधिं सुनियन्त्रितं करोति। (पुव्व पच्छ समगं व त्ति) किं गृहिभ्यः पूर्वमारोढव्यम्, उत पश्चात्, उताहो समकम्? अत्रोत्तरम्-यदि भद्रका भाविकाऽऽदयो, यदि च स्थिरा नौर्न दोलायते, ततः पूर्वं समारोढव्यम्। अथ प्रान्तास्ततः पूर्वं नारुह्यबे, मा अमङ्गलमिति कृत्वा प्रद्वेषं गमन्; तेषां प्रान्तानां भावं ज्ञात्वा समकं, पश्चाद्वा आरोहणीयम्। (सीसे त्ति) नावः शिरसि न स्थातव्यं, देवतास्थानं तदितिकृत्वा, मार्गतोऽपि न स्थातव्यं, निर्यामकपात्रं तिष्ठतीतिकृत्वा, मध्येऽपि यत्र कूपकस्थानं, तत्र न स्थातव्यं, तन्मुक्त्वा यदपरं मध्यस्थानं, तत्र स्थेयम्। अथ मध्ये नास्ति स्थानं, ततः शिरसि पृष्ठतो वा यत्र ते स्थापयन्ति, तत्र निराबाधे स्थीयते, साकारं भक्तं प्रत्याख्याय नमस्कारपरस्तिष्ठति। उत्तरन्नपि न पूर्वमुत्तरति, न वा पश्चात्, किं तु मध्ये उत्तरति। सारोपधिश्च पूर्वमेवाल्पसागारिकैः क्रियते, यदन्तप्रान्तं चीवरं, तत्प्रावृणोति, यदि च तरपण्यं नाविको मार्गयति, तदा धर्मकथा, अनुशिष्टिश्च क्रियते। अथ न मुञ्चति, ततो द्वितीयपदे यदन्तप्रान्तमुपकरणं, तद् यतनया दातव्यम्। अथ तन्नेच्छति, निरुणद्धि वा, ततोऽनुकम्पया यद्यन्यो ददाति तदा न वारणीयः। बृ० ४ उ०।

साम्प्रतं नौगमनविधिमधिकृत्याऽऽह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से णावासंतारिमं उदयं सिया, सेज्जं पुण णावं जाणेज्जा-अस्संजए भिक्खुपडियाए किणेज्ज वा, पाडिच्चेज्ज वा, णावाए वा णावापरिणामं कट्टु थलाओ वा णावं जलंसि ओगाहेज्जा, जलाओ वा णावं थलंसि उक्कसेज्जा, पुण्णं वा णावं उस्सिंचेज्जा, सण्णं वा णावं उप्पीलावेज्जा, तहप्पगारं णावं उड्ढगामिणिं वा अहेगामिणिं वा तिरियगामिणिं वा परं जोयणमेराए अद्धजोयणमेराए वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा णो दुरूहेज्ज गमणाए। (७२३)

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पुव्वामेव तिरिच्छसंपातिमं णावं जाणेज्जा, जाणित्ता से तमायाए एगंतमवक्कमेत्ता भंडगं पडिलेहेज्जा, पडिलेहित्ता एगओ भोयणभंडगं करेज्जा, करित्ता ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जेज्जा, पमज्जित्ता सागारियभत्तं पच्चक्खाएज्जा, पच्चक्खाइत्ता एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा, तओ संजयामेव णावं दुरूहेज्जा। (७२४)

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णावं दुरूहमाणे णो णावाए पुरओ दुरूहेज्जा, णो णावाए अग्गओ दुरूहेज्जा, णो णावाए मज्झतो दुरूहेज्जा, णो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलीए उव-दंसिय २ उण्णमिय २ णिज्झाएज्जा। से णं परो णावागतो णावागयं वएज्जा-आउसंतो ! समणा ! एयं तुमं णावं उक्क-साहि वा, वोक्कसाहि वा, खिवाहि वा, रज्जुए वा गहाय आगसाहि, णो सेयं परिण्णं परिजाणिज्जा, तुसिणीओ उवे-हेज्जा। से णं परो णावागतो णावागयं वएज्जा-आउसंतो ! सम-णा ! णो संचाएसि तुमं णावं उक्कसित्तए वा, वोक्कसित्तए वा, खिवित्तए वा, रज्जुयाए वा गहाय आकसित्तए, आहर एतं णा-वाए रज्जुयं, सयं चेव णं वयं णावं उक्कसिस्सामो वा० जाव र-ज्जुए वा गहाय आकसिस्सामो, णो सेयं परिण्णं परिजाणि-ज्जा, तुसिणीतो उवेहेज्जा। से णं परो णावागओ णावागयं वएज्जा-आउसंतो ! समणा ! एयं ता तुमं णावं अलित्तेण वा पीढेण वा वंसेण वा वलएण वा अवल्लएण वा बाहेहि, णो सेयं परिण्णं० जाव उवेहेज्जा। से णं परो णावागओ णावागतं वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! एतं ता तुमं णावाए उदयं हत्थेण वा पाएण वा मत्तेण वा पडिग्गहेण वा णावा उस्सिंचणेण वा उस्सिंचाहि, णो सेयं परिण्णं परिजाणेज्जा। से णं परो णावागतो णावागतं वएज्जा-आउसंतो ! समणा ! एतं ता तुमं णावाए

उत्तिंगं हत्थेण वा पाएण वा बाहुणा वा ऊरुणा वा उदरेण वा सीसेण वा काएण वा णावाउस्सिंचणेण वा चेलेण वा मट्टिया ए वा कुसपत्तएण वा कुरुविंदेण वा पेहेहि, णो सेवं परिण्णं परिजाणेज्जा।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णावाए उत्तिंगेणं उदयं आसवमाणं पेहाए उवरुवरि णावं कज्जलावेमाणं पेहाए णो परं उवसंकमित्तु एवं बूया-आउसंतो ! गाहावइ ! एयं ते णावाए उदयं उत्तिंगेण आसवति, उवरुवरि वा णावा कज्जलावेति, एतप्पगारं मणं वा वायं वा णो पुरओ कट्टु विहरेज्जा, अप्पुस्सुए अवहिलेस्से एगंतिगएणं अप्पाणं विपोसेज्ज समाहीए, तओ संजयामेव णावासंतारिमेउदए अहारियं रीएज्जा। एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं, जं सव्वट्ठेहिं सहिते सदा जएज्जासि त्ति बेमि। (७३२)

स भिक्षुर्ग्रामान्तराले यदि नौसंतार्यमुदकं जानीयान्नावं चैवंभूतां विजानीयात्। तद्यथा-असंयतो गृहस्थो भिक्षुप्रतिज्ञया नावं क्रीणीयात्, अन्यस्मादुच्छिन्नां वा गृह्णीयात्, परिवर्तनं वा कुर्यात्। एवं स्थलायाऽऽनयनाऽऽदिक्रियोपेतां नावं ज्ञात्वा नारुहेदिति। शेषं सुगमम्। इदानीं कारणजाते नावारोहणविधिमाह- ' से ' इत्यादि सुगमम्। तथा ' से ' इत्यादि स्पष्टं, नवरं नो नाव अग्रभागमारुहेद्, निर्यामकोपद्रवसंभवात्। नावारोहिणां वा पुरतो नाऽऽरोहेत्, प्रवर्तनाधिकरणसंभवात्। तत्रस्थश्च नौव्यापारं नापरेण चोदितः कुर्यात्, नाप्यन्यं कारयेत्। (उत्तिंग त्ति) रन्ध्रं (कज्जलावेमाणं ति) प्लाव्यमानाम्, (अप्पुस्सुए त्ति) अविमनस्कः शरीरोपकरणाऽऽदौ मूर्छामकुर्वन् तस्मिंस्तूदकेनावगच्छन् (अहारियमिति) *यत् तार्यं भवति, तथा गच्छे शिष्टाध्यवसायो यायादित्यर्थः*। एत तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति। आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ०।

जे भिक्खू अणट्ठाए णावं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ॥

णो अट्ठाए अणट्ठाए, दुरूहइ त्ति, विलग्गइ त्ति, आरुभति त्ति एगट्ठं। आणाऽऽदिया दोसा चउलहुं॥

गाहा-

वारसमे उद्देसे, नावासंतारिमम्मि जे दोसा।
ते चेव अणट्ठाए, अट्ठारसमे निरवसेसा॥ २॥

कंठ्या।

अणट्ठे दंसेति। गाहा-

अंतो मण केरिसिया, णावारूढेहिं गम्मति कहं वा ?
अहवा णाणादिजढं, दुरूहणं होतऽणट्ठाए॥ ३॥

केरिसि अब्भंतर त्ति चक्खुदंसणपडियाए आरुहति, गमणकुतूढलेण वा दुरूहति। अहवा णाणादिजढं दुरूहंतस्स सेसं सव्वं अणट्ठा।

अपवादेण आगाढे कारणे दुरूहेज्जा थलपहेण संघटातियजलेण वा जइ इमे दोसा हवेज्जा। गाहा-

वितियपद तेणसावय-विक्खेवा कारणे च आगाहे।
कज्जुवहिमगरवुड्डण-नावोदग तं पि जयणाए॥ ४॥

एस वारसमुद्देसे जहा, तहा भाणियव्वा।

सुत्तदिट्ठकारणा विलग्गियव्वं, केरिसं पुण णावं विलग्गति, केरिसं वा ण विलग्गति ? अतो सुत्तं भयणति-

जे भिक्खू णावं किणइ, किणावेइ, किणावंतं दिज्जमाणं णावं दुरूहइ, दुरूहंतं वा किणावेइ, किणावंतं वा साइज्जइ। २।

जे भिक्खू णावं पामिच्चेइ, पामिच्चावेइ, पामिच्चियमाहट्टु दिज्जमाणं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ॥ ३॥

जे भिक्खू णावं परियट्टेइ, परियट्टावेइ, परियट्टियमाहट्टु दिज्जमाणं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ॥ ४॥

जे भिक्खू णावं अच्छिद्दं अणिसिट्ठं अभिहडमाहट्टु दिज्जमाणं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ॥ ५॥

अप्पणा किणइ, अण्णेण वा किणावेति, अणुमोयति वा, तथा पामिच्चेति, पामिच्चावेति, पामिच्चंतं अणुमोदति। पामिच्चितं णाम उच्छिण्णं जो णावं परियट्टेति॥ ३॥ तहा डहरियणावाए महल्लं णावं परिच्चावेति साहू।

एतेहिं सुत्तपदेहिं सव्वे उग्गमुप्पायणेसणादोसा य सूचिता, तेण णावणिज्जुतिं भण्णति। गाहा-

णावा उग्गमउप्पा-यणेसणा सुत्तसूइया दोसा।
जावुत्तरणमकारण, अट्ठवि हा ताव निज्जुत्ती॥ ५॥

उग्गमदोसेसु जे चउलहुआ, ते जहासंभवं णावं पडुच्च वत्तव्वा।

गाहा-

उच्चत्त भत्तिए वा, दुविहा किण्णा उ होति णावाए।
हीणाहियणावाए, भंडगुरू तेण पामिच्चे॥ ६॥

साधूअट्ठाए उच्चत्ताए णावं किणति, सर्वथा आत्मीकरोतीत्यर्थः। (भत्तिए त्ति) भाडएणं गेण्हति अप्पणा, से णावा हीणप्पमाणा, अहियप्पमाणा वा। अहवा-(भंडगुरु त्ति) जं तत्थ भंडमारोविज्जति, तं गुरुं, साहू य णो खमिहिति त्ति, ता एवमादिकज्जेहिं णावं पामिच्चेति।

अहवा-सा णावा स्वयमेव गुरू, गुरुत्वाद् न शीघ्रगामिनीत्यर्थः। गाहा-

दोण्ह वि उवट्ठिताणं, जत्ताए णअहियसिग्घट्ठा।
णावा परियट्टिज्जइ, एवं साहुट्ठ आयरिया॥ ७॥

दो वाणिया जत्ताए णावाहिं उवट्ठिता, तत्थ य एगस्स हीणा, अच्चस्स अहिया, तो परोप्परं णावा परिणामं करेंति, नावा नावं परावर्त्तयन्तीत्यर्थः। अहवामन्दगामिनीं शीघ्रगामिन्या परावर्तयन्ति, एवं साध्वर्थमपि।

गाहा-

एमेव सेसएसु वि, उप्पायणएसणाइदोसेसुं।
जं जं जुज्जति सुत्ते, विभासियव्वं दुवत्ताए॥ ८॥

कीयकमादिणावासुत्तेसु जं जं जुज्जति, तं तं पिंडणिज्जुत्तीए भाणियव्वं। दुवत्ता बायालीसासोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पायणादोसा, दस एसणादोसा। एते मिलिया चाताला

उग्गमउप्पायणेसणा तिण्णि दारगता।

संजोगादियाण चउण्हं इमा विभासा। गाहा-

संजोए तणमादी, जलेण णावाऍं होति माणं तु।
सुहवण्णो इंगालं, छड्डी खोहाऽऽदिसू धूमो ॥ ६ ॥

साधुअट्ठाए तणमादि किंचि कट्ठं संजोएति, आसण्णमज्झदूरगमणा जलप्पमाणसाधुप्पमाणाओ य हीणं जुत्तमधियं पमाणेण वा णावा होज्ज (सुहवण्णो त्ति) रागेणं इंगालसरिसं वरणं करेति, णावागमणे छड्डी हवइ, दुट्ठा बाहया वा नावाभएण सरीरसंखोहो भवति, कंपो, मुच्छा, सिरत्ती य। एवमादिदोसा वरणधूमिंधणेण समं करेति।

गाहा-

कारणें विलग्गियव्वं, अकारणे चउलहू मुणेयव्वं।
किं पुण कारण होज्जा, असिवादि थलासति दुरूहेइ ॥ १० ॥

णावागमणे कारणेण य दुरूहियव्वं, निक्कारणे चउलहुं।
असिवाइकारणे वा गच्छंतस्स तं नावातारिमं
चउव्विहं। गाहा-

नावासंतारपहो, चउव्विहो वण्णितो उ जो पुव्वं।
णिज्जुत्तीऍं सुविहिए, सो चेव इहं पि णायव्वो ॥ ११ ॥

निज्जुत्तीपेढं इमस्सेव जहा पेढया आउक्कायाहिगारेण भाणिया, तहा भाणियव्वा।

गाहा-

तिरिओयाणुज्जाणो, समुद्दगामी य चेव नावाए।
चउलहुगा अंतगुरू, जोयणमद्धऽद्ध जाणु पदं ॥ १२ ॥

तत्र इव गाहा-

वीयपऍं तेणसावऍं, भिक्खे वा कारणे व आगाढे।
वत्थूवहिमगरवुड्डण-नावोदग तं पि जयणाए ॥ १३ ॥

बारसमे पूर्ववत्।

सुत्तं-

जे भिक्खू थलाओ णावं जले उक्कसावेइ, उक्कसावंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

स्थलस्थं जले कारेति।

जे भिक्खू जलाओ णावं थले उक्कसावेइ, उक्कसावंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जलस्थं स्थले कारेति।

सुत्तं-

जे भिक्खू पुण्णणावं उस्सिंचइ, उस्सिंचंतं वा साइज्जइ ॥८॥

जे भिक्खू सण्णं णावं उप्पिलावेइ, उप्पिलावंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

(सण्ण त्ति) कद्दमे खुत्ता (उप्पिलावेइ त्ति) ततो उक्खणति।

गाहा-

गाहेइ जलाउ थलं, जाव थलाओ जलयमोगाहे।
सण्णं व उप्पिलावे, दोसा ते तउ वितियपदं ॥ १४ ॥

दोसा जे वारमे भणिता, ते भवंति, वितियपदं जं तत्थेव भणियं, तं चेव भाणियव्वं।

जे भिक्खु पडिणावियं कट्ठणावाए दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥ जे भिक्खू उड्डगामिणा वा णावं अहेगामिणा वा णावं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खू जोयणवेलागामिणी वा अद्धजोयणवेलागामिणी वा णावं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खू णावं आकसइ, आकसावेइ, आकसावंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खू णावं खेवावेइ, खेवावंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू णावं रज्जुणा वा कड्ढावेइ, कड्ढावंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥ जे भिक्खू णावं अलित्तएण वा पहिएण वा दंडएण वा वंसेण वा वल्लेण वा वाहेइ, वाहंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे भिक्खू णावाए उदगं हत्थेण वा पडिग्गहेण वा मत्तेण वा णावाउस्सिंचएण वा उस्सिंचइ, उस्सिंचंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू उव्वद्धियं णावं उत्तिंगं वा उदगं आसिंचमाणिं वा उवरुवरि वा कज्जलावेमाणिं पेहाए हत्थेण वा पाएण वा असिपत्तेण वा कुसपत्तेण वा मट्टियाए वा चेलेण वा पडिपिहेइ, पडिपिहंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

जलो नावं वेलाए हीरहि त्ति दीहरज्जुए तडंसि रुक्खे वा कीलगे वा बद्धं वा मुत्तिता वाहेज्जा, वुज्झमाणिं वा बंधिज्जा, उत्तिंगेण वा भरितं भरिज्जमाणिं वा जो उवसिंचति सबलपाणियस्स, रित्तं वा थिमिता गच्छउ त्ति पाणियस्स भरेति, तस्स चउलहुं।

गाहा-

उव्वद्धऍं वाहेती, बंधइ वुज्झईं भरिऍं उस्सिंचे।
रित्ती वा पूरेती, ते दोसा तं वितियपदं ॥ १५ ॥

कंठा।

जे णावं आगसति वा इत्यादि। जे णावाए उदगं हत्थेण वा० जाव उस्सिंचति, णावाए उत्तिंग० जाव पिहितं वा साइज्जइ।

एतेसिं सुत्ताणं पदा सुत्तसिद्धा चेव, तहा वि कोइ पदे सुत्तफासित्ता फुसति। गाहा-

नावाऍं खिवणवाहण-उस्सिंचणपिहणसाहणं वा वि।
जे भिक्खू कुज्जाही, सो पावति आणमादीणि ॥ १६ ॥

अण्णणावट्ठितो जलट्ठितो तडट्ठिओ वा णावपरावुत्तं खिवति, णावऽण्णतरणयणप्पगारेणं नयणं वाहणं भण्णति। उत्तिंगादिणावापविट्ठमुदगं अण्णयरेण कट्ठाऽऽदिणा उस्सिंचएण उस्सिंचति। उत्तिंगाऽऽदिणा उदगहत्थाऽऽदिणा पिहति, एवमप्पणा करेति, अण्णस्स वा कहेति; आणादि, चउलहुं च।

एतेसु य अण्णेसु य सुत्तपदेसुं इमं वितियपदं। गाहा-

वितियपऍं तेवसावऍं, भिक्खे वा कारणे व आगाढे।
कज्जोवहिमगरवुड्डण-णावोदग तं पि जतणाए ॥ १७ ॥

पूर्ववत्।

गाहा-

आकड्ढणमाकसणं, उक्कसणं पेल्लणं तु जउ उदगं।
उड्ढमहतिरियकड्ढण, रज्जुऍं कट्ठम्मि वा घेत्तुं ॥ १८ ॥

अप्पणो तेण आकड्ढणमाकसणं, उदगत्तेण प्रेरणं उक्कसणं। (उड्ढे त्ति) णदीगए समुद्दे वा वेलापाणियस्स प्रतिकूलं उड्ढं (अह त्ति) तस्सेव उदगस्स श्रोतोनुकूलम् अहो भण्णति। नो प्रतिकूलं, नो अनुकूलं वि तिरिच्छं तिरियं भण्णति। एयं उड्ढं अहं तिरियं वा रज्जुए कट्ठम्मि वा घेत्तुं कड्ढंति।

गाहा-

तणुयमलित्तं आसो, पत्ते सिरसो पिहो हवति रुंदो।
वंसे णवा उ गम्मति, वलएण वलिज्जती णावा॥ १६॥

तणुयमदीहं, (अलित्तमिति) अलित्तं आसो दो वि पत्तो, तस्स एतस्स सिरसो रुंदो पिहो भवति, वंसो वेणू, तस्स अवट्ठंभेण, पादेहिं परितावे णावा गच्छति, जेण वामं दक्खिणं वा वलिज्जति, सो वलतारणं पि भण्णति।

गाहा-

मूले रुंद अवल्ला, अंते तणुगा वहंति णायव्वा।
दव्वी तणुगी लहुगी, दोणी वाहिज्ज वीतीयं॥ २०॥

पुव्वद्धं कंठं। लहुगी जा दोणी, सा तीए दव्वीए वाहिज्जति। णावा-उस्सिंचणगं च दुगं दव्वगादि वा भवति। उत्तिगं णामछिद्दं, तं हत्थमादीहिं पिहेति।

गाहा-

इसिगाइ विप्पितंती, होति उ उसुमट्टिया य तम्मिस्सा।
मोयगुलवंजणाती, अदुवा छल्ली कुविंदो उ॥ २१॥

अहवा सरसछल्ली ईसिगि त्ति, तस्सेव उवरिं तस्स छल्ली, सो य मुंजो दब्भो वा; एते विप्पितंति, कुट्टिया पुणो मट्टियाए सह कुट्टिज्जंति। एस उसुमट्टिता, कुसुमट्टिया वा मोदगुलवंजणाती, आदि-सद्दातो वडपिप्पलआसंतयमादिदाणचक्को मट्टियाए सह कुट्टिज्जति, सो कुविंदो भण्णति। अहवा चेलेण सह मट्टिया कुट्टिया चेलमट्टिया भण्णति। एवमाइएहिं तं उत्तिगं पिहेति जो, तस्स चउलहुं, आणा-दिया य दोसा। सुत्तं-(जेणावाए उदगं आसवमाणं पेहाए इत्यादि) उत्तिंगेण णावाए उदगं आसवति, पेहेति, प्रेक्ष्य उवरुवरिं कज्जलमाणे विभरिज्जमाणं पक्खित्ता परस्स दाएति, आणादिया चउलहुं च।

गाहा-

उत्तिंगो पुण छिद्दं, तेणासिवे उवरिएण कज्जलणं।
वितियपदेण दुरूढो, णावाए भंडभूतो वा॥ २२॥

पुव्वद्धं गतार्थम्। आसिवादिणाणादिकारणेहिं दुरूढो णावं जहा भमं तहा णिव्वावारभूतेण भवियव्वं। सव्वसुत्ते जाणि वा पडिसिद्धाणि, ताणि कारणारूढो सव्वाणि सयं करेज्ज, कारवेज्ज वा, जओ तत्थ साधुणो णिव्वावारे दट्ठुं कोइ पडिणीओ जले पक्खिवेज्ज नि० चू० १८ उ०।

नौगतस्य विध्यन्तरम्-

से णं परो णावागए णावागयं वएज्जा-आउसंतो! समणा! एयं ता तुमं छत्तगं वा० जाव चम्मच्छेयणगं वा गिण्हाहि, एयाणि तुमं विरूवरूवाणि सत्थजायाणि धारेहि, एयं ता तुमं दारगं वा दारियं वा पज्जेहि, णो से तं परिण्णं परिजाणेज्जा, तुसिणीओ उवेहेज्जा। (७३३)

(से णमित्यादि) अपरो गृहस्थाऽऽदिर्नाव्यवस्थितः तत्स्थमेव साधुमेवं ब्रूयात्। तद्यथा-आयुष्मन् श्रमण! एतन्मदीयं तावच्छत्रकाऽऽदि गृहाण, तथैतानि शस्त्रजातान्यायुधविशेषान् धारय, तथा दारकाऽऽद्युदकं पायय, इत्येतां परिज्ञां प्रार्थनां परस्य न शृणुयादिति।

तदकरणे च परः प्रद्विष्टः सन् यदि नावः प्रक्षिपेत्, तत्र यत्कर्त्तव्यं तदाह-

से णं परो णावागओ णावागयं वदेज्जा-आउसंतो! एस णं समणे णावाए भंडभारिए भवति, से णं वाहाए गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवइ। एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म से य चीवरधारी सिया खिप्पामेव चीवराणि उव्वेढेज्ज वा, णिव्वेढेज्ज वा, उप्पोसं वा करेज्जा (७३४) अह पुण एवं जाणेज्जा-अमि-कंतकूरकम्मा खलु वाला बाहाहिं गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवेज्जा। से पुव्वामेव वएज्जा-आउसंतो! गाहावती! मा मेत्तो बाहाए गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवइ। सयं चेव णं अहं णावातो उदगंसि ओगाहिस्सामि। से णेवं वयंतं परो सहसा बलसा बाहाहिं गहाय णावाए उदगंसि पक्खिवेज्जा। तं णो सुमणे सिया, णो दुम्मणे सिया, णो उच्चावयं मणं णियच्छेज्जा, णो तेसिं बालाणं घाताए वहाए समुट्ठेज्जा, अप्पुस्सुए० जाव समाहीए, ततो संजयामेव उदयंसि पवज्जेज्जा। (७३५)

(से णमित्यादि) स परः, णमिति वाक्यालङ्कारे। नौगतस्तं सुसाधुमुद्दिश्य अपरमेवं ब्रूयात्। तद्यथा-आयुष्मन्! अयमत्र श्रमणो भाण्डवन्निश्चेष्टत्वाद् गुरुः, भाण्डेन वा उपकरणेन गुरुः, तदेनं स्वबाहुग्राहं नाव उदके प्रक्षिपत यूयमित्येवंप्रकारं शब्दं श्रुत्वा, तथाऽन्यतो वा कुतश्चिन्निशम्य अवगम्य, स साधुर्गच्छतो निर्गतो वा, तेन च चीवरधारिणैतद्विधेयं-क्षिप्रमेव चीवराणि गुरुत्वान्निर्वाहयि-तुमशक्यानि चोद्वेष्टयेत्-पृथक्कुर्यात्, तद्विपरीतानि तु निर्वेष्टयेत्, सुबद्धानि कुर्यात्। तथा (उप्पोसं वा करेज्ज त्ति) शिरोवेष्टनं वा कुर्यात्। येन संवृतोपकरणो निर्व्याकुलत्वात् सुखेनैव जलं तरति, तांश्च धर्मदेशनया अनुकूलयेत्। अथ पुनरेवं जानीयादित्यादि कण्ठ्यमिति।

साम्प्रतमुदकं प्लवमानस्य विधिमाह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदगंसि पवमाणे णो हत्थेण हत्थं पाएण पायं कारण कायं आसादेज्जा, से अणासादए अणासायमाणे तओ संजयामेव उदगंसि पवेज्जा। (७३६) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदगंसि पवमाणे णो उम्मज्जणिमज्जियं करेज्जा, मा मेयं उदगं कण्णेसु वा अच्छीसु वा णक्कंसि वा मुहंसि वा परियावज्जेज्जा, तओ संजयामेव उदगंसि पवेज्जा। (७३७) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदगंसि पवमाणे दोव्वलियं पाउणेज्जा, खिप्पामेव उवधिं विगिंचेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, णो चेव णं साइज्जेज्जा। अह पुण एवं जाणेज्जा-पारए सिया उदगाओ

तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा काएण उदगतीरे चिट्ठेज्जा (७३८) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदउल्लं वा ससिणिद्धं वा कायं णो आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, संलिहेज्ज वा, णिल्लिहेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा। अह पुण एवं जाणेज्जा-विगतोदए मे काए वोच्छिण्णसिणेहे तहप्पगारं कायं आमज्जेज्ज वा० जाव पयावेज्ज वा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा। (७३९)

' से ' इत्यादि। स भिक्षुरुदके प्लवमानो हस्ताऽऽदिकं हस्ताऽऽ-दिना नाऽऽसादयेद् न संस्पृशेत् , अप्कायाऽऽदिसंरक्षणार्थमिति भावः। ततस्तथा कुर्वन् संयत एवोदकं प्लवेदिति। तथा ' से ' इत्यादि। स भिक्षुरुदके प्लवमानो मज्जनोन्मज्जने नो विदध्यादिति सुगममिति। किञ्च- ' से ' इत्यादि। स भिक्षुरुदके प्लवमानो दौर्बल्यात् श्रमं प्राप्नुयात्ततः क्षिप्रमेवोपधिं त्यजेत् , तद्देशं वा विशोधयेत् त्यजेदिति नैवोपधावाशक्तो भवेत्। अथ पुनरेवं जानीयात्-(पारए सिय त्ति) समर्थोऽहमस्मि सोपधिरेवोदकपारगमनाय, ततस्तस्मादुदकाददुत्तीर्णः स संयत एवोदकाऽऽर्द्रेण गलद्बिन्दुना कायेन सस्निग्धेन वा उदकतीरे तिष्ठेत् , तत्र चेर्यापथिकां च प्रतिक्रामेन्न चैतत् कुर्यात्। आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ०।

णउ-अव्य०(ननु) असूयायाम् , आव० ५अ०।

णउअ-न०[नि(न्य)युत] चतुरशीतिलक्षगुणिते नियुताङ्गे, स्था० २ ठा० ४ उ०। जी०। अनु०। भ०।

णउअंग-न०[नि(न्य)युताङ्ग] चतुरशीतिलक्षगुणिते प्रयुते, अनु०। स्था०। जी०।

णउल-पुं०(नकुल) वभ्रौ, उपा० २ अ०। सूत्र। ' नेवला ' इति ख्याते जीवे, प्रज्ञा० १ पद। माद्रीजाते पाण्डुराजपुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। वाद्यभेदे, आ० चू० १ अ०। रा०। (नकुलोदाहरणम् ''अणणुओग '' शब्दे प्रथमभागे २८७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

णउलय-पुं०(नकुलक) ' नौली ' इतिख्याते रूप्यकभरणवस्त्रे, बृ० ४ उ०।

णउली-स्त्री०[न(ना)कुली] सर्पविद्याप्रतिपक्षभूतायां विद्यायाम् , विशे०। जी०। कल्प०। आ० म०। आ० क०। ती०।

णओवएस-पुं०(नयोपदेश) जिनप्रवचने, सर्वं वस्त्वनन्तधर्माऽऽत्मकतया संकीर्णस्वभावमिति तत्परिच्छेदकेन प्रमाणेनापि तथैव भवितव्यमित्यसंकीर्णप्रतिनियतधर्मप्रकारकव्यवहारसिद्धये समर्थानां नयानां व्युत्पादने, तदर्थगर्भे ग्रन्थे च। नयो०।

तद्विषयश्च यशोविजयकृतनयामृततरङ्गिणीनाम्न्यां
नयोपदेशटीकायां दर्शितो यथा-

'' नयोपदेशटीकेयं, नयामृततरङ्गिणी।
सेव्यतामामृतप्राप्त्यै, मिथ्यात्वविषतापहृत्॥ १॥
सबलविषयसन्निविष्टधर्म-
व्यतिकरसङ्करशङ्कयाऽऽविलानाम्।
जयति भगवतो नयोपदेशः,
पटुरखिलाङ्गभृतां हितं विधातुम्॥ २॥
इह खलु न हि नः स्मयो न रोषो,
न च परबुद्धिपराभवाभिलाषः।
अपि तु पितुरिव प्रजाहितस्य,
प्रथमगुरोर्वचनाऽऽदरो निमित्तम्॥ ३॥
न च नयवचनेषु पक्षपातः,
क्वचन समाकलितप्रमाण दृष्टेः।
अभिमतविषये हि गोपनीया-
अनभिमते यदमी विगोपनीयाः॥ ४॥
व्रजति फलवति प्रमाणवाक्ये,
नयवचनं बहुरूपभङ्गभावम्।
तदिह विविधभङ्गजालयुक्तं,
छलवदिदं न विशङ्कनीयमार्यैः॥ ५॥
प्रथम इह लौकिकोऽर्थबोध-
स्तदनु नयात्मक एव मध्यमः स्यात्।
तदुपरि परितः प्रसर्पिभङ्ग-
व्यतिकरसंवलितः प्रमाणबोधः॥ ६॥
श्रुतमय उदितः किलाऽऽद्यबोधोऽ-
मतहतकृन्नयचिन्तया द्वितीयः।
कुमतमदहरः परस्तृतीयः,
सकलजगद्धितकाम्यया पवित्रः॥ ७॥
त्रयमिदमधिकृत्य लोकलोको-
त्तरपथभङ्गभयं ननाश यस्मात्।
गुरुमत इव चोपपत्तिकार्थे,
न हि परिपन्थि विरम्य बोधकत्वम्॥ ८॥
अपि च नियतकृत्स्वजन्यबोधा-
विषमधियो विरहोऽत्र शाब्दबोधे।
सनियतमनुयायि तत्परत्वं,
तदिह मतस्तदतज्ज्ञबोधभेदः॥ ९॥
न च शुकवचनादतत्परादप्यधिगमदर्शनतः प्रतीपमेतत्।
श्रुतमयमपहाय बोधियुग्मे,
यदिह न तत्परताधियोऽनपेक्षाः॥ १०॥
वक्तुस्तात्पर्यमज्ञात्वा-ऽप्येतदुन्नीय वास्तवम्।
प्रामाण्यमप्रमाणेऽपि, वाक्ये सम्यग्दृशां मतम्॥ ११॥
सम्यक्श्रुतस्य मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्टिपरिग्रहात्।
मिथ्याश्रुतस्य सम्यक्त्वं, सम्यग्दृष्टिग्रहादतः॥ १२॥
लौकिकान्यपि वाक्यानि, प्रमाणानि श्रुतार्थतः।
तात्पर्यार्थे प्रमाणं तु, सप्तभङ्गाऽऽत्मकं वचः॥ १३॥
ना प्रमाणं प्रमाणं वा, स्वतः किं त्वर्थतः श्रुतम्।
इति यत् कल्पभाष्योक्तं, तदित्थमुपपद्यते॥ १४॥
तात्पर्यं खल्वपेक्षानय इति च समं स्थापितं शास्त्रगर्भे,
तत्कल्लोलैर्विचित्रैः समयजलनिधौ जायते चिद्विवर्त्तः।
यत् त्वेकं निस्तरङ्गं परमसुखमयं ब्रह्म सर्वातिशायि,
स्थायि ज्ञानस्वभावं तदिह दहतु बोऽनल्पसंकल्पजातम्॥ १५॥
निक्षेपा वा नया वा तदुभयजनिताः सप्तभङ्गाऽऽत्मका वा,
शृङ्गाराः सार्ववाचः परगुणरचनाजातरोचिष्णुभावाः।
यस्याग्रे भान्ति किञ्चिन्न निरुपधिचिदुद्बुद्धशुद्धस्वभावात् ,
तद्रूपं स्वीयमुच्चैः प्रकटय भगवन् ! बाढमात्मन् ! प्रसीद ''॥ १६॥
इति महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्री-

लाभविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितजीतविजयगणिसतीर्थ्यतिलकपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलसेविना पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेणोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचिताऽमृततरङ्गिणी नाम्नी नयोपदेशटीका संपूर्णा। नय०।

णं-अव्य०(णं) नन्वर्थे, **'' णं नन्वर्थे ''॥ ८। ४। २८३॥** शौरसैन्यां नन्वर्थे णमिति निपातः प्रयोक्तव्यः। णं अफलोदया, णं अय्यमि-स्सेहिं पढमं य्येव आणत्तं, णं भवं मे अग्गदो चलदि। आर्षे वाक्या-लङ्कारेऽपि दृश्यते-नमोऽत्थु णं। जया णं। तया णं। प्रा० ४ पाद। ते णं काले णं ते णं समए णं। णमिति वाक्यालङ्कारे। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। ति०। प्रश्न०। रा०। औ०। कल्प०। स०। ल० प्र०। विशे०। स्था०। प्रश्ने, अभ्युपगमसूचने, सम्म० २ काण्ड। निपा-तानामनेकार्थत्वात् (प्रज्ञा० १५ पद) णमित्युपसंहारवाक्यम्। रा०। **'' णे णं मि अम्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिमं अहं अमा ''॥ ८। ३। १०७॥** इत्यनेन अमासहितस्यास्मदो णमादेशः। प्रा० ३ पाद। ' णं ' इत्यात्मनिर्देशे, नि० चू० २ उ०।

णंगल-न०(लाङ्गल) **'' लाहल-लाङ्गल-लाङ्गूले वाऽऽदेर्णः ''॥ ८। १। २५६॥** इत्यनेन सूत्रेण आदिलस्य णत्वं वा। ईषायाम्, प्रा० १ पाद।

णंगलग्गाम-पुं०(लाङ्गलग्राम) स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र वासुदेवगृहे वीरजिनः प्रतिमया स्थितः, तेन सह विहरन् गोशालो डिम्भभाषनयाऽक्षिविक्रियां कुर्वन् तत्पित्रादिभिः कुट्टितो मुनिपिशाच इत्युपेक्षितः। कल्प० ६ क्षण। आ० म०। आ० चू०।

णंगलिय-पुं०(लाङ्गलिक) गलावलम्बितसवुर्णाऽऽदिमयलाङ्गलप्रतिकृतिधारिणि भट्टविशेषे, भ० ६ श० ३ उ०। जं०। कल्प०। औ०।

णंगुल-न०(लाङ्गूल) **'' लाहल-लाङ्गल-लाङ्गूले वाऽऽदेर्णः ''॥ ८। १। २५६॥** इति सूत्रेण आदिलस्य णत्वं वा। पुच्छे, प्रा० १ पाद। जं०।

णंगोलिय-पुं०(लाङ्गोलिक) हिमवतः पश्चिमायां दिशि पर्यन्तादारभ्य पश्चिमोत्तरस्यां दिशि त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्योपरि दंष्ट्रायां चतुर्थेऽन्तरद्वीपे, कर्म० १ कर्म०। नं०। जी०। स्था०। तद्वासिनि मनुष्ये च। प्रज्ञा० १ पद।

णंतग-न०(देशी) वस्त्रे, वस्तवृक्षेषु परिहीयमाणेषु भगवता वस्त्रोत्पादनिमित्तं वस्त्रशिल्पमुत्पादितम्। आ० म० १ अ० १ खण्ड। यथा-' मुहणंतगं ' मुखवस्त्रिका। आव० ५ अ०।

णंद-पुं०(नन्द) नन्दयति, नन्दतीति वा नन्दः। समृद्धे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। '' जय जय णंदा ! जय जय भद्दा ! '' नन्दति समृद्धो भवतीति नन्दः। तस्य सम्बोधनं हे नन्दा ! दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्। कल्प० ५ क्षण। प्रश्न०। स्वनामख्याते राजगृहजे मणिकारश्रेष्ठिनि, स च मणिकारश्रेष्ठी राजगृहे वीरजिनान्तिके श्रावको भूत्वाऽपि मिथ्यात्वं गतः। श्रेणिकाऽऽज्ञया राजगृहस्य बहिरारोग्यशालाऽऽदिशोभितवनखण्डचतुष्कपरिवृत्तां नन्दापुष्करिणीं निर्माप्य तदध्यवसायेन मृत्वा तत्रैव पुष्करिण्यां दर्दुरो जातः। ततो जातिस्मरणेन वीरसमवसरणमागच्छन् श्रेणिकाश्वकिशोरेणाऽऽक्रान्तो मृत्वा सौधर्मे कल्पे दर्दुरेऽवतंसके दर्दुरो नाम देवो जातः, ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यति। ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०। (इति ' दद्दुर ' शब्दे वक्ष्यते) अरिष्टनेमेः प्रथमशिष्ये श्रावके, कल्प० ७ क्षण। आ० चू०। ति०। आ० म०। काशीस्थे नाविकभेदे, ती०।

तद्वृत्तम्-

काश्यां नन्दाभिधानो नाविकस्तरिपण्यजिघृक्षया मुमुक्षुं धर्मरुचिं विराध्य तस्य हुङ्कारेण भस्मीभूय गृहकोकिलहंससिंहभवान् यथा-संख्यं सभामृगाङ्कतीराञ्जनगिरिमवाप्य तस्यैवानगारस्य तेजोनिसर्गेण विपद्य चास्यामेव (काश्यां) पूर्वो बभुर्भूत्वा तत्रैव निधममधिगत्यास्यामेव राजा समजनिष्ट जातिस्मरः सार्द्धं श्लोकमकरोत्, अन्येद्युस्तत्रैवाऽऽगतं तमनगारं समस्यापूरणाद्विज्ञायाभयदानपुरस्सरमुपगत्य च क्षमयित्वा परमाऽऽर्हतोऽभूत्, सिद्धश्च धर्मरुचिः क्रमात्।

सा चेयं समस्या विज्ञेया-

'' गंगाए नाविको नंदो, सभाए घरकोइलो।
हंसो मयंगतीराए, सीहो अंजणपव्वए॥ १॥
बाणारसीए बभुओ, राया तत्थेव आगओ।
एएसिं घायओ जाओ, सो इत्थेव समागओ॥ २॥ ''

ती० ३७ कल्प। आ० क०। अ० म०। तं०। (' राग ' शब्दे उदाहरणम्) वीरमोक्षात्पञ्चाशत्तमे वर्षे जाते पाटलिपुत्रस्य महाराजे, ति०। नव नन्दा आसन्, तत्र प्रथमस्य यावदष्टमस्य वृत्तं कथाऽनुयोगादवसेयम्, अत्र नोपलभ्यते। नवमेन नन्देन चाणक्यो विप्रो यथा कदर्थितो, यथा च- '' कौशेश्च भृत्यैश्च निबद्धमूलं, पुत्रैश्च भृत्यैश्च विवृद्धशाखम्। उत्पाट्य नन्दं परिवर्तयामि, महाद्रुमं वायुरिवोग्रवेगः ''॥ १॥ इति प्रतिज्ञानुसारेण नन्दमुन्मूलितवान्। आ० क०। नं०। आचा०। आ० चू०। आ० म०। आव०। (' एतच्च चंद-गुप्त ' शब्दे तृतीयभागे १०६८ पृष्ठे दर्शितम्) (चन्द्रगुप्तस्य बिन्दुसारः, तस्य चाशोकश्रीः, तस्य कुणालः, तस्य संप्रतिमहाराज इत्येवं मौर्यवंश्यस्याशोकश्रियः श्रेणिकापरनामत्वाङ्गीकारे नन्द-वंशो वीरजिनाद् पूर्वमेव द्वितीये तृतीये वा शतके जायते इति युक्तं स्यात्, तद् न संभाव्यते, तस्मान्मौर्यादशोकश्रीनाम्नोऽशोकचन्द्रापरनामा वीरजिनसमकालीनः श्रेणिकोऽन्य इति वीरजिनमोक्षादर्वागेव नन्दवंशो मौर्यवंशश्च पाटलिपुत्रराज्यमकार्षीत् इति प्रतिभाति) (नवानां नन्दानां कल्पकवंश्या मन्त्रिण आसन् इति ' कप्पअ ' शब्दे तृतीयभागे २३२ पृष्ठे उक्तम्) (नवमनन्दस्य मन्त्रितां शकटालसुतः स्थूलभद्रोऽनङ्गीकृत्य प्रवव्राजेति ' थूलभद्द ' शब्दे वक्ष्यते) (' नंदराय ' शब्देऽनुपदमेव १७५० पृष्ठेऽस्य संक्षिप्तवक्तव्यतां वक्ष्यामि) वीरजिनकाले ब्राह्मणग्रामे स्वनामख्याते प्रधानपुरुषे, कल्प०। ततः स्वामी ब्राह्मणग्राममगात्, तत्र नन्दोपनन्दभ्रातृद्वयसंबन्धिनौ द्वौ पाटकौ, स्वामी नन्दपाटकेप्रविष्टः, प्रतिलाभितश्च नन्देन। गोशालस्तूपनन्दगृहे पर्युषितान्नदानेन रुष्टः, यद्यस्ति मे धर्माचार्यस्य तपस्तेजस्तदाऽस्य गृहं दह्यतामिति शशाप। तदनु तद्गृहमासन्नदेवता ददाह। कल्प० ६ क्षण। आ० चू०। आ० म०। श्रेयांसजिनस्य प्रथमभिक्षादायके, आ० म० १ अ० १ खण्ड। स०। पाटलिपुत्रे स्वनामख्याते लुब्धवणिजि, आ० म० १ अ० २ खण्ड। (उदाहरणं ' लोभ ' शब्दे वक्ष्यते)। उत्सर्पिण्यां जनिष्यमाणे प्रथमवासुदेवे, स०। नि०। नासिक्यपुरे सुन्दरीभर्तरि, नं०। वृत्तलोहासने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। भ०। आ० म०। मुहूर्तयोगभेदे, द० प०। नन्दने, कल्प० ७ क्षण। सप्तमदेवलोकस्थे विमानभेदे, सप्तमदेवलोके नन्दाऽऽद्यानि विमानानि। स०।

'' जे देवा णंद सुणद णदावत्तं णंदप्पभं णंदकंतं णंदवण्णं णंदलेस्सं णंदज्झयं णंदसिंगं णंदसिद्धं णंदकूडं णंदुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववन्ना। '' स० १५ सम०।

णंदग-पुं०(नन्दक) समृद्धिकारके नन्दकाभिधाने वासुदेवखड्गे, स०।

णंदण-पुं०(नन्दन) नन्दतीति नन्दनः। ' टुनदि ' समृद्धौ, '' **नन्दिग्रहिपचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः** '' ॥ **३। १। १३४** ॥ इति (पा०) ल्युट्। नं०। पुत्रे, कल्प० ७ क्षण। भरतवर्षे जाते सप्तमे बलदेवे, प्रव० २०६ द्वार। ति०। ती०। आव०। स०। पञ्चविंशे भवे श्रीवीरजिने, पञ्चविंशतिभवे इहैव भरतक्षेत्रे छत्रिकायां नगर्यां जितशत्रुनृपतेर्भद्रादेव्याः कुक्षौ पञ्चविंशतिवर्षलक्षाऽऽयुर्नन्दनो नाम पुत्रः। कल्प० २ क्षण। आ० म०। आ० चू०। स०। श्रेणिकपुत्रवध्वा नन्दना अपत्ये, स च वीरजिनान्तिके प्रव्रज्य द्वौ वर्षौ प्रव्रज्या-पर्यायं पालयित्वा मृत्वाऽच्युते कल्पे देवो भूत्वा महाविदेहे सेत्स्य-ति। इति कल्पावतंसिकाया दशमेऽध्ययने सूचितम्। नि० १ श्रु० २ वर्ग० १ अ०। सर्वाङ्गसुन्दर्याः पूर्वभवसत्कभ्रातृजाययोः साकेत-नगरे उत्पन्नयोः पितरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड। (सर्वाङ्गसुन्दर्या लोभे उदाहरणम्) पूर्वभवे मल्लीतीर्थकृज्जीवे, स०। मोकाया नगर्या बहिश्चैत्ये, '' तीसे णं मोयाए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए णंदणनामं चेइए होत्था। '' भ० ३ श० १ उ०। भृत्ये, दे० ना० ४ वर्ग।

णंदणकर-त्रि०(नन्दनकर) वृद्धिकरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

णंदणकूड-न०(नन्दनकूट) नन्दनवनकूटे, स० ५०० सम०। ति०। (' कूड ' शब्दे तृतीयभागे ६२२ पृष्ठे वर्णक उक्तः)

णंदणभद्द-पुं०(नन्दनभद्र) आर्यसंभूतिविजयस्य माठरसगोत्रस्य प्रथमशिष्ये, कल्प० ८ क्षण।

णंदणवण-न०(नन्दनवन) मेरोः पञ्चयोजनशतोच्छ्रितप्रथममेखलाभाविनि पञ्चयोजनशतोच्छ्रिते स्वनामके द्वितीयवने, स० ६७ सम०। ज्यो०। ज्ञा०। सूत्र०। जं०। '' दो णंदणवणा। '' मेरोश्चत्वारि वनानि-

'' भूमीएँ भद्दसालं, मेहलजुयलम्मि दोन्नि रम्माइं।
णंदणसोमणसाइं, पंडगपरिमंडियं सिहरं॥ १॥ ''

इति वचनाद् मेरोर्द्वित्वे नन्दनवनस्यापि द्वित्वम्। स्था० २ ठा० ३ उ०। ओघ०।

नन्दनवनवक्तव्यता-

कहि णं भंते ! मंदरे पव्वए णंदणवणे णामं वणे पण्णत्ते ? गोयमा ! भद्दसालवणस्स बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ पंच जोयणसयाइं उड्ढं उप्पइत्ता, एत्थ णं मंदरे पव्वए णंदणवणे णामं वणे पण्णत्ते, पंच जोअणसयाइं चक्कवालविक्खंभेणं वट्टे वलयाकारसंठिए, जेणं मंदरं पव्वयं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता णं चिट्ठइ। णव जोअणसहस्साइं एव य चउप्पण्णे जोअणसए छच्चेगारसभाए जोअणस्स बाहिगिरिविक्खंभो। एगतीसं जोअणसहस्साइं चत्तारि अ अउणासीए जोअणसए किंचि विसेसाहिए बाहिं गिरिपरिरए णं। अट्ठ जोअणसहस्साइं एव य चउप्पण्णे जोअणसए छच्चेगारसभाए जोअणस्स अंतो-गिरिविक्खंभो। अट्ठावीसं जोअणसहस्साइं तिण्णि य सोलसुत्तरे जोयणसए अट्ठ य इक्कारसभाए जोयणस्स अंतो गिरिपरिरये णं। से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते वण्णओ० जाव देवा आसंयति। मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं महं एगे सिद्धाययणे पण्णत्ते। एवं चउद्दिसिं चत्तारि सिद्धाययणा, विदिसासु पुक्खरिणीओ, तं चेव पमाणं सिद्धाययणाणं पुक्खरिणीणं च, पासायवडेंसगा तहेव सक्केसाणाणं, तेवं चेव पमाणे।

'' कहि णं '' इत्यादि प्रश्नः प्रतीतः। उत्तरसूत्रे-गौतम ! भद्रशालवनस्य बहुसमरमणीयाद् भूमिभागात्पञ्चयोजनशतान्यूर्द्धमुत्प-त्य गत्वाऽग्रतो, वर्द्धिष्णुष्विति गम्यम्। मन्दरे पर्वते एकस्मिन् प्रदेशे नन्दनवनं नाम वनं प्रज्ञप्तम्। पञ्च योजनशतानि चक्रवालविष्कम्भेन-चक्रवालविशेषस्य सामान्येऽनुप्रवेशात् समचक्रवालं, तस्य यो विष्कम्भः स्वपरिक्षेप्यस्य सर्वतः समप्रमाणतया विष्कम्भस्तेन, अनेन विषमचक्रवालाऽऽदिविष्कम्भनिरासः। अत एव वृत्तं, तच्च मोदकाऽऽदिवद् घनमपि स्यादत आह-वलयाऽऽकारं मध्ये शुषिरं यत् संस्थानं तेन संस्थितम्। इदमेव द्योतयतिमन्दरं पर्वतं सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य वेष्टयित्वा तिष्ठति। अथ मेरोर्बहिर्विष्कम्भाऽऽदिमानमाह-(णव जोयण इत्यादि) मेखलाविभागे हि गिरीणां बाह्याभ्यन्तररूपं विष्कम्भद्वयं भवति, तत्र मेरौ बाह्यविष्कम्भोऽयम्- नव योजनसहस्राणि नवशतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि षट् चैकादश भागा योजनस्य। तथाहि-मेरोरूर्द्धमेकस्मिन् योजने गते विष्कम्भसंबन्धी एकादशभागो योजनस्य गतो लभ्यते इति प्रागुक्तं, ततोऽत्र त्रिराशिकं यदि एकयोजनाऽऽरोहे मेरोरुपरि व्यासस्या-पचयः सर्वत्रैकादशभागो योजनस्यैको लभ्यते, ततः पञ्चशतयोज-नाऽऽरोहे कोऽपचयो लभ्यते ? लब्धानि ४५ योजनानि $\frac{५}{११}$। एतत् समभूतलगतव्यासाद् दशयोजनसहस्ररूपात् त्यज्यते, जातं यथोक्तं मानम्। एतच्च नन्दनवनस्य बहिः पूर्वापरयोरुत्तरदक्षिणयोर्वा अन्तयोः संभवति, अतो नन्दनवनाद् बहिर्वर्तित्वेन बाह्यो गिरिवि-ष्कम्भः। तथा एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि एकोना-शीत्यधिकानि, किञ्चिद्विशेषाधिकानि। इत्ययं बाह्यो गिरिपरिरयो, मेरुपरिधिरित्यर्थः। णमिति वाक्यालङ्कारे। अन्तर्गिरिविष्कम्भो नन्दनवनादर्वाक् यो गिरिविस्तारः सोऽष्टयोजनसहस्राणि नव च योजनशतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि षट् च एकादश भागा योजनस्येत्येतावत्प्रमाणः। अयं च बाह्यगिरिविष्कम्भे सहस्रोने यथोक्तः स्यात्। तथा अष्टाविंशतियोजनसहस्राणि, त्रीणि च योजनशतानि षोडशाधिकानि, अष्ट चैकादश भागा योजनस्यैतावत्प्रमाणोऽन्तर्गिरिपरिरय इति। णमिति प्राग्वत्। अथात्र पद्मवरवेदिकाऽऽद्याह- '' से णं एगाए पउम '' इत्यादि व्यक्तम्। अथात्र सिद्धायतनाऽऽदिवक्तव्यतामारभते-(मंदरस्स णमित्यादि) मन्दरस्य पूर्वस्याम्, अत्र नन्दने पञ्चाशद् योजनातिक्रमे महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तम्। (एवमिति) भद्रशालवनानुसारेण चतसृषु दिक्षु चत्वारि

सिद्धाऽऽयतनानि, विदिक्षु पुष्करिण्यः। तदेव प्रमाण सिद्धाऽऽयतनानां पुष्करिणीनां च यद्भद्रशाले उक्तम्। प्रासादावतंसकास्तथैव शकेशानयोर्वाच्याः, यथा भद्रशाले, दक्षिणदिक्संबद्धविदिग्वर्तिनः प्रासादाः शक्रस्य, तथोत्तरदिक्संबद्धविदिग्वर्तिनस्तु ईशानेन्द्र-स्य, तेनैव प्रमाणेन पञ्चयोजनशतोच्चत्वाऽऽदिनेति॥ अत्र च पुष्क-रिणीनां नामानि सूत्रकारालिखितत्वाद्, लिपिप्रमादाद्वा आदर्शेषु न दृश्यन्ते इति। तत्रेशान्यादिप्रासादक्रमादिमानि नामानि द्रष्टव्यानि पूज्य-प्रणीतक्षेत्रविचारतः-नन्दोत्तरा १ नन्दा २ सुनन्दा ३ नन्दिवर्द्धना ४। तथा नन्दिषेणा १ अमोघा २ गोस्तूपा ३ सुदर्शना ४। तथा सुभद्रा १ विशाला २ कुमुदा ३ पुण्डरीकिणी ४। तथा विजया १ वैजयन्ती २ अपराजिता ३ जयन्ती ४ इति। जं० ४ वक्ष०। स्था०। (अत्र नन्दनाऽऽदीनि नव कूटानि 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६२२ पृष्ठे उक्तानि) द्वारिकायां रैवताचलपर्वतस्य वने, अन्त० ५ वर्ग २ अ०। "तस्स णं रेवयगस्स पव्वयस्स अदूरसामंते, एत्थ णं णंदणवणे णामं उब्जाणे होत्था।" नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ०। आ० चू०। आ० म०। ज्ञा०। विजयपुरनगरसत्कोद्याने, विपा० २ श्रु० ४ अ०।

णंदणीपिया-पुं०(नन्दनीपितृ) श्रावस्तीनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, उपा०।

तदवृत्तम्-

एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी णयरी, कोट्ठए चेइए, जियसत्तू राया। तत्थ णं सावत्थीए णंदणीपिया णामं गाहावई परिवसइ। अड्ढे चत्तारि हिरण्णकोडीओ णिहाण-पउत्ता, वुड्ढिपवित्थरपत्ताओ चत्तारि, वया दस गोसाहस्सिएणं वएणं, अस्सिणी भारिया। सामी समोसढो, जहा आणंदो तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ। सामी बहिया विहरइ। तए णं से णंदणी-पिया समणोवासए जाए विहरइ, तए णं तस्स णंदणीपियस्स बहूहिं सीलव्वयगुणव्वयं० जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वितिक्कंता, तहेव जेट्ठपुत्तं ठवेइ। धम्मपणित्तिं वीसं वासाइं परिआयं पाउणित्ता अरुणगविमाणे उववाए महाविदेहे वासे सिज्झिहि त्ति। उपा० ६ अ०। स्था०। आ० म०।

णंदमाण-त्रि०(नन्दत्) सौख्यं भुञ्जाने, तं०।

णंदराय-पुं०(नन्दराज) पाटलिपुत्रमहाराजे नन्दे, ती०।

तदयथा-

पाटलीनाम्ना पाटलिपुत्रं पत्तनमासीत्। असमकुसुमबहुलतया च कुसुमपरमित्यपि नाम रूढम्। तन्मध्ये श्रीनेमिचैत्यं राज्ञाऽकारि। तत्र पुरे गजाश्वरथशालाप्रासादसौधप्राकारगोपुरपुण्यशालासत्राऽऽगारराम्ये चिरं राज्यं जैनधर्मं चापालयदुदायिनरेन्द्रः। तस्मिन्नुपात्तपौषधेऽन्यदो-दायिमारकेण स्वर्गाऽऽतिथ्यं प्रापिते तणिकासुतो नन्दः श्रीवीरमोक्षाच्च षष्टिवत्सर्यामतीतायां क्षितिपतिरजनि। तदन्वये सप्त नन्दा नृपा जाताः। नवमनन्दे राजनि परमार्हत्कल्पकान्वयी शकटाओ मन्त्र्यभूत्। तस्य पुत्रौ स्थूलभद्रश्रीयकौ, सप्त च पुत्र्यो यक्षायक्षदत्ताभूताभूतदत्ता-सेणावेणारेणाऽऽख्याः क्रमादेकादिसप्ताऽऽचारश्रुतपाठिन्योऽजनिषत। तत्रैव पुरे कोशा वेश्या, तज्जामिरुपकोशा चाभूताम्। तत्रैव च चाणिक्यः सचिवो नन्दं समूलमुन्मूल्य मौर्यवंश्यं श्रीचन्द्रगुप्तं न्यवीविशद्दिशां पतित्वे। तद्वंशे तु बिन्दुसारोऽशोकश्रीः कुणालसूनुस्त्रिखण्डभरताधिपः परमार्हतोऽनार्यदेशेष्वपि प्रवर्त्तितश्रमणविहारः संप्रतिमहाराजश्चाभवत्। मूलदेवः सकलकलाकलापज्ञो बलसार्थवाहो महाधनी, देवदत्ता च गाणिक्यं तत्रैव प्रागभवत्। उमास्वातिवाचकः कौभीषणिगोत्रः पञ्चशत-संस्कृतप्रकरणप्रसिद्धः तत्रैव तत्त्वार्थाधिगमसूत्रं सभाष्यं व्यरचयत्। चतुरशीतिर्वादशालाश्च तत्रैव विदुषां परितोषाय पर्यणंसिषुः। तत्रैव चोत्तुङ्गतरङ्गोत्सङ्गितगगनाङ्गणा परिवहति महानदी गङ्गा, तस्यैव चोत्तरादिशि विपुलं वालुकास्थलं नातिदूरे। यत्राऽऽरुह्य कल्की, प्रातिपदाऽऽचार्यप्रमुखसङ्घश्च सलि-लप्लवान्निस्तरीता। तत्रैव च भविष्यति कल्किर्नृपतिः। धर्मदत्तजितशत्रुमेघघोषाऽऽदयश्च तद्वंश्याः। तत्रैव च विद्यन्तेऽर्निहितनन्दसत्ककनकनवतिद्रव्यकोट्यः पञ्च स्तूषाः, येषु धनाशया श्रीलक्ष्मणावतीसुरत्राणस्तांस्तानुपाक्रमतोपक्रमान्। ते च तत्सैन्योपप्लवायैवाकल्पन्त। तत्रैव विहृतवन्तः श्रीभद्रबाहुमहागिरि-सुहस्तिवज्रस्वाम्यादयो युगप्रवराऽऽगमाः, विहरिष्यन्ति च प्रातिपदा-ऽऽचार्याऽऽदयः। तत्रैव महाधनधनश्रेष्ठिनन्दना रुक्मिणी श्रीवज्रस्वामिनं प्रतीयन्ती, प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभचूडामणिना प्रव्राजिता। तत्रैव सुदर्शनश्रेष्ठी महर्षिरभयाराज्ञ्या व्यन्तरीभूतया भूयस्तरमुपसर्गितोऽपि न क्षोभमभवत्। तत्रैव स्थूलभद्रमहामुनिः षट्रसाऽऽहारपरः कोशाया-श्चित्रशालायामुत्सादितमदश्चकार वर्षारात्रं चतुर्मासीम्। सिंहगुहावासिमु-निरपि तत्स्पर्द्धिष्णुस्तत्रैव कोशया तदानीतरत्नकम्बलस्य बन्दनि-काप्रक्षेपेण प्रतिबोध्य पुनश्चारुतरां चरणश्रियमङ्गीकारितः। तत्रैव द्वादशाब्दे दुर्भिक्षे गच्छे देशान्तरं प्रोषिते सति सुस्थिताऽऽचार्यशिष्यौ क्षुल्लकावदृश्यीकरणाञ्जनाक्तचक्षुषौ चन्द्रगुप्तनृपतिना सह बुभुजाते कियन्त्यपि दिनानि। तदनु गुरुप्रत्युपालम्भाद्विष्णुगुप्त एव तयोर्निर्धारम-करोत्। तत्रैव श्रीव्रजस्वामी पौरस्त्रीजनमनःसंक्षोभरक्षणार्थं प्रथमदिने सामान्यमेव रूपं विकृत्य, द्वितीयेऽह्नि चाहो नास्य भगवतो गुणानुरूपं रूपमिति देशनारसहृतहृदयजनमुखात् संख्यापान् श्रुत्वाऽनेकलब्धिमान् महल्लनप्रतिरूपं रूपं विकुर्व्य सौवर्णसहस्रपत्रे निषद्य देशनां विधाय राजादिजनतामोदयत। तस्यैव पुरस्य मध्ये सप्रभावातिशया मातृदेवता आसन्, तदनुभावात् तत्पुरं परैराग्रहवद्भिरपि न खलु ग्रहीतुमशाकि। चाणिक्य-वचसोत्पाटिते पुनर्जनैर्मातृमण्डले गृहीतवातकौ चन्द्रगुप्तचाण-क्यौ। एवमाद्यनेकसंविधानकनिधाने तत्र नगरेऽष्टादशसु विद्यासु स्मृतिषु पुराणेषु च द्वासप्ततौ कलासु भरतवात्स्यायनचाणिक्यलक्षणं रत्नत्रयम्, मन्त्रतन्त्रयन्त्रविद्यासु रसवादधातुनिधिवादाञ्जनगुटिकापादप्रले-परत्नपरीक्षावास्तुविद्यास्त्रीगजाश्ववृषभाऽऽदिलक्षणेन्द्रजालाऽऽदि-ग्रन्थेषु काव्येषु च नैपुण्यचणास्ते ते पुरुषाः प्रत्यूषकीर्तनीयनामधेयाः। आर्यरक्षितोऽपि हि चतुर्दशविद्यास्थानानि तत्रैवाधीत्य दशपुरमागमत्। आद्यास्तु तत्रैवंविधा वसन्ति स्म, एके योजनसहस्रगमने यानि गजपदानि भवेयुस्तानि प्रत्येकं स्वर्णसहस्रेण पूरयितुमीशते। अन्ये च तिलानामाढके प्ररूढे सुफलिते यावन्तस्तिलाः स्युः, तावन्ति हेमसहस्राणि बिभ्रति गृहेऽपरेऽनवद्यनामकाः प्रवरगिरिनदीप्रवाहपूरस्यैकदिनोत्पन्नेन

गवाङ्गनवनीतेन संवरं विरचय्य पयोरयं स्खलयितुमलम् । अन्यतमे चैकहेलाज्ञजात्यनवकिशोराणा समुद्धृतैः स्कन्धकेशैः पाटलिपुत्रं समन्ताद्वेष्टयितुमचेष्टन् । इतरे च शालिरत्नद्वयं वेश्मनि बिभरांबभूवुः । तत्रैकः शालिर्भिन्नभिन्नशालिबीजप्रसूतिमान् , अन्यश्च गर्दभिकाशालियों लूनलूनः पुनः पुनः फलति । ती० ३५ कल्प ।

णंदवई-स्त्री०(नन्दवती) श्रेणिकमहाराजभार्यायाम् , सा च राजगृहे स्वनाम-ख्याता वीरान्तिके प्रव्रजिता विंशतिवर्षपर्याया सिद्धा । उपा० १ अ० । रतिकरपर्वते शक्रसामानिकानां दक्षिणदिक्स्थायां राजधान्याम् , द्वी० ।

णंदसंहिया-स्त्री०(नन्दसंहिता) नन्दनिर्मितग्रन्थपद्धतौ, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णंदसिरी-स्त्री०(नन्दश्री) वाराणस्यां भद्रसेनजीर्णश्रेष्ठिनः सुतायाम् , ती० ।

'' वाणारसीएँ कोट्ठएँ, पासे गोचारिभद्दसेणे य ।
णंदसिरी पउमद्दह-रायगिहे सेणिए वीरे '' ॥ १ ॥

अत्रैव पुर्यां भद्रासनो जीर्णश्रेष्ठी, तस्य भार्या नन्दा । तयोः पुत्री नन्दश्रीश्वरकरहिता । अत्रैव कोष्ठके चैत्ये अन्यदा पार्श्वस्वामी समवासरत् ; नन्दश्रीः प्राव्राजीद् गोचारिपर्यायां शिष्यतयाऽर्पितः । सा च पूर्वमुग्रं विहृत्य पश्चादवसन्नीभूता हस्तपादाऽऽद्यक्षालयत् , साध्वीभिर्वार्यमाणा तु विभक्तायां वसतौ स्थिता, तदनालोच्य मृता क्षुल्लहिमवति पद्महदे श्रीदेवी जज्ञे देवगणिका, भगवतः श्रीवीरस्य राजगृहे समवसृतस्याग्रे नाट्यविधिमुपदर्श्य गता । अन्ये त्वाहुः-करिणीरूपेण वातनिसर्गमकरोत् , श्रेणिकेन तस्याः स्वरूपे पृष्टे भगवानाख्यत् तस्याः पूर्वभवावसन्नतावृत्तम् । ती० ३७ कल्प । आ० क० । आव० ।

णंदा-स्त्री०(नन्दा) ज्योतिषसङ्केतिते तिथिभेदे तत्र प्रतिपत् , षष्ठी, एकादशी च नन्दा । चं० प्र० १० पाहु० । जं० । सू० प्र० । द० प० । श्रीशीतलजिनस्य मातरि, प्रव० १३ द्वार । ति० । आव० । स० । स्था० । वीरजिनसत्कस्य अचलभ्रातुर्नाम गणधरस्य मातरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । श्रेणिकभार्यायामभयकुमारमातरि, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । अनु० । सा च वेन्नातटनगरे कस्यचित् क्षीणधनस्य श्रेष्ठिनो दुहिताऽपि जनाऽऽदृता श्रेणिकेन तत्र गत्वा परिणीता, क्रमेणाभयकुमारं नाम पुत्रं जनितवती । तेण च वयःप्राप्तेन साकं राजगृहमागता श्रेणिकेन संमानिता राजभोगानुपलिषेवे । नं० । (इति ' उप्पत्तिया ' शब्दे द्वितीयभागे ८२७ पृष्ठे खुड्डकोदाहरणावसरे प्रत्यपादि)

तदनन्तरम्-

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे, गुणसिलए चेइए, सेणिए राया । वण्णओ । तस्स णं सेणियस्स रण्णो णंदा नामं देवी होत्था । वण्णओ । सामी समोसहे, परिसा णिग्गया, तते णं सा णंदा देवी इमीसे कहाते लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठा कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्तिा जा णं जहा पउमावती० जाव एकारस अंगाइं अहिज्झित्ता वीसं वासाइं परियायं० जाव सिद्धा । अन्त० ७ वर्ग १ अ० । ज्ञा० । आ० म० । कल्प० ।

कौशम्बीराजशतानीकमन्त्रिणः सुगुप्तस्य भार्यायां शतानीकराजमहिष्या मृगावत्याः सख्याम् , तया च सूर्पकोणस्थकुल्माषाभिग्रहवन्तं वीरभनवन्तं प्रतिलाभयन्त्या, तद् ग्रहणपराङ्मुखं दृष्ट्वा अभिग्रहविशेषवानयमिति निश्चित्य मृगावतीद्वारा शतानीको राजोपालब्धः । तदनु दधिवाहनभूभुक्पुत्र्या वसुमत्या धनश्रेष्ठिना पुत्रीत्वेन क्रीतया चन्दनानाम्न्या पूरितोऽभिग्रहः । आ० क० । आ० म० । (इति ' वीर ' शब्दे वक्ष्यते) वाराणस्यां नन्दश्रीमातरि भद्रासनश्रेष्ठिभार्यायाम् , आ० चू० ११ अ० । ती० । आव० । तालफलाऽऽहतपुरुषभगिन्यां श्रीऋषभदेवेन परिणीतायां बाहुबलीसुन्दरीतिमिथुनकमातरि, आ० म० १ अ० १ खण्ड । पौरस्त्यरुचकपर्वत-स्य द्वितीयतपनीयकूटवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम् , आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० क० । द्वी० । ती० । स्था० । जं० । उत्तरपौर-स्त्ये रतिकरपर्वते ईशानाग्रमहिष्याः कृष्णराजराजधान्याम् , स्था० ४ ठा० २ उ० । ती० । जी० । आ० चू० । स्वनामप्रसिद्धायां पुष्करिण्याम् , तत्र शाश्वतपुष्करिण्यः सर्वा अपि सामान्येन नन्दे-त्युच्यन्ते । विशेषेण तु-१ नन्दा २ नन्दोत्तरा ३ आनन्दा ४ नन्दिवर्धनेति चतस्रोऽञ्जनकपर्वतवर्णके वर्णिताः । स्था० ४ ठा० ३ उ० । जी० । रा० । ज्ञा० । (राजगृहे नन्देन मणिकारश्रेष्ठिना कारितायां नन्दायाः पुष्करिण्याः वर्णको ' दद्दुर ' शब्दे वक्ष्यते) गवि, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदावत्त-पुं०(नन्द्यावर्त) प्रतिदिक्नवकोणके स्वस्तिके, जं० ३ वक्ष० । रा० । प्रज्ञा० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

णंदि-पुं०स्त्री०[नन्दि(न्दी)] ' टुनदि ' धातोः नुमि नन्दनं नन्दिः । हर्षे, नन्दिहेतुत्वाद् ज्ञानपञ्चके, नन्दन्ति प्राणिनोऽनेनास्मिन् वेति नन्दिः । इप्रत्ययः । ज्ञाते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । अथ नन्दिरिति कः शब्दार्थः ? उच्यते-' टुनदि ' समृद्धौ इत्यस्य धातोः **''इदितो नुम्०''** ॥ ७ । १ । ५८ ॥ इति नुमि विहिते न-न्दनं नन्दिः, प्रमोदो हर्ष इत्यर्थः । नन्दिहेतुत्वात् ज्ञानपञ्चकाभिधावकमध्ययनमपि नन्दिः । नन्दन्ति प्राणिनोऽनेनास्मिन् वेति नन्दिः । इदमेव प्रस्तुतमध्ययनम् आविष्टलिङ्गत्वाच्चाध्ययनेऽपि वर्त-मानस्य नन्दिशब्दस्य पुंस्त्वम् ''इः सर्वधातुभ्यः'' । इत्यौणादिक इः प्रत्ययः । अपरे तु नन्दीति पठन्ति, ते '' ईकृष्टादिभ्यः '' इति सूत्रादीकप्रत्ययं समानीय स्त्रीत्वेऽपि वर्त्तयन्ति । ततश्च **'' इतोऽ- त्यर्थात् ''॥ २ । ४ । ३२ ॥** इति ङीप्रत्ययः । स च नन्दिश्चतुर्धा । तद्यथा-नामनन्दिः, स्थापनानन्दिः, द्रव्यनन्दिः भावनन्दिश्च । तत्र नामनन्दिषस्यकस्यचिज्जीवस्याऽजीवस्य वा नन्दिशब्दार्थरहितस्य नन्दिरिति नाम क्रियते, स नाम्ना नन्दिर्नामनन्दिः । यद्वा-नामनामवतोरभेदोपचाराद् नाम चासौ नन्दिश्च नामनन्दिः । नन्दिरिति नामवान् नामनन्दिः । तथा-सद्भावमाश्रित्य लेप्यकर्माऽऽदिषु, त्रसद्भावं चाऽऽश्रित्याक्षवराटकाऽऽदिषु भावनन्दिर्मतः । साध्यादेर्या स्थापना स स्थापनानन्दिः । अथवा द्वादशविधतूर्य-रूपद्रव्यनन्दिस्थापना स्थापनानन्दिः । द्रव्यनन्दिर्द्विधा-आग-मतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो नन्दिपदार्थस्य ज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तः, अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात् । नोआगमतस्तु त्रिधा । तद्यथा-ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः, भव्यशरीरद्रव्यनन्दिः, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यनन्दिश्च । तत्र य-

न्नन्दिपदार्थज्ञस्यापगतजीवितस्य शरीरं सिद्धशिलातलाऽऽदिगतं तद् भूतभावतया ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः । वस्तु बालको नेदानीं नन्दिशब्दार्थमवबुध्यते, अथ चावश्यमायत्यां तेनैव शरीरसमुच्छ्रयेण भोत्स्यते, स भाविभावनिबन्धनत्वाद् भव्यशरीरद्रव्यनन्दिः । इह हि यद् भूतभावं, भाविभावं वा वस्तु, तद् यथाक्रमं विवक्षितभूतभावि-भावापेक्षया द्रव्यमिति तत्त्ववेदिनां प्रसिद्धिमुपागमत् । उक्तं च- ''भूतस्य भाविनो भावाः, भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः, सचेतनाचेतनं कथितम् ''॥ १ ॥ ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तस्तु द्रव्यनन्दिः क्रियाविशिष्टो द्वादशविधतूर्यसमुदायः । उक्तं च-'' दव्वे तूरसमुदओ । '' तानि च द्वादशविधतूर्याण्यमूनि- '' भंभा १ मुकुंद २ मद्दल, ३ कडंप ४ झल्लरि ५ हुडुक्क ६ कंसाला ७ । काहल ८ तलिमा ९ वंसो १०, संखो ११ पणवो १२ य बार-समो '' ॥ १ ॥ भावनन्दिर्द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽ-गमतो नन्दिपदार्थस्य ज्ञाता, तत्र चोपयुक्तः, '' उपयोगो भाव-निक्षेपः '' इतिवचनात् । नोआगमतः पञ्चप्रकारोज्ञानसमुदायः, '' भावम्मि व पंच नाणाइ '' इति वचनात् । नं० । अथवा पञ्चप्रकार-ज्ञानस्वरूपमात्रप्रतिपादकोऽध्ययनविशेषो भावनन्दिः, नोशब्द-स्यैकदेशवाचित्वात् , अस्य चाध्ययनस्य सर्वश्रुतैकदेशत्वात् । तथाहि-अयमध्ययनविशेषः सर्वश्रुताभ्यन्तरभूतो वर्तते, तत एक-देशः । अत एव चायं सर्वश्रुतस्कन्धाऽऽरम्भेषु सकलप्रत्यूहनिवृत्तये मङ्गलार्थमादौ तत्त्ववेदिभिरभिधीयते । नं० । पा० । विशे० । तदुक्तम्- '' नंदी चउक्कदव्वे, संखबारसगतूरसंघातो । भावम्मि नाणपणगं, पच्चक्खियरं च तं दुविहं ॥ १ ॥ '' बृ० १ उ० ।'' णंदी य मंगलट्ठा, पंचग दुग तिग दुगे च चोद्दसए । अंगगयमणंगगए, का तत्थ परुवणा पगतं ॥ २ ॥ '' इति वक्तव्यार्थेन प्रतिज्ञायाऽऽह कल्पकारः-

नंदी मंगलहेऊ, न यावि सा मंगला हि वइरित्ता ।
कज्जामिलप्पनेया, अपुढो य पुढो य जह सिद्धा ॥ ३ ॥

नन्दिर्ज्ञानपञ्चकरूपो, मङ्गलहेतुर्मङ्गलनिमित्तं वक्तव्यः । आह-यदि मङ्गलनिमित्तं नन्दिर्वक्तव्यः, ततः स मङ्गलादेकान्तेन भिन्नः प्राप्तः, अन्यथा तदुत्पादननिमित्तं तस्योपादानमिति व्यवहारानुपपत्तेः । उपादानं हि तस्य सिद्धस्य सतो भवति, उत्पाद्यं चाद्याप्यसिद्धं, ततः कथमनयोरभेदः, किं तु भेद एव ? तत आह-न चापि स नन्दिर्मङ्गलाद् व्यतिरिक्तः, अपिशब्दादव्यतिरिक्तोऽपि स्यात् , व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्त इत्यर्थः । कथमेतत् श्रद्धेयमिति चेत् ? अत आह-(कज्जेत्यादि) यथा कार्याभिलाप्यज्ञेयानि कारणाभिलापज्ञानेभ्यः पृथक्त्वापृथक्त्व-सिद्धानि, तथा नन्देर्मङ्गलमपि । तथा-हि-कार्यं पटः, कारणं तन्तवः । तत्र तन्तव एव पुरुषव्यापारमपेक्ष्य तानवितानभावेन परिणममानाः पटकार्यरूपतया परिणमन्ते, तेषु च तेषु च तथा परिणतेषु सत्सु न कार्यकारणयोर्भेदः, किं त्वभेदः । एवमिहापि नन्दिर्ज्ञानपञ्चकाभिधानरूप उत्तरोत्तरशुभाध्यवसायविशेषसंभवसव्यपेक्षतरतमभावेन परिणममानो वाञ्छिताधिगतिलक्षणमङ्गलरूपतया परिणमते इति नन्दिमङ्गलयोरभेदः ; प्राचीनां त्ववस्थामपेक्ष्य भेदः । यथा-तन्तुभ्यः पटस्य, तथा अभिलाप-शब्देन कदाचिदभिलाप्यस्याभिलाप्यमानतोच्यते, अभिलपनमभिलाप इति व्युत्पत्तेः । कदाचित्तद्वाचकशब्दः, अभिलाप्यते वस्त्वभिलाप्य-मनेनेति व्युत्पादनात् । तत्र यदा अभिलाप्यमानतोच्यते, तदाऽभिला-प्याभिलापकयोरभेदो, धर्मधर्मिभावात् । यदा तु तद्वाचकशब्दः, तदा भेदः, शब्दार्थयोर्भिन्नदेशत्वाद्भिन्नस्वरूपत्वाच्च । ज्ञानशब्देनापि क्वचिद् ज्ञेयस्य ज्ञानमुच्यते, ज्ञातिर्ज्ञानमिति भावे व्युत्पादनात् । कदाचिदात्मधर्मो, ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति करणे व्युत्पत्तेः । तत्र यदा ज्ञायमानता, तदा ज्ञानज्ञेययोरभेदो, धर्मधर्मिभावात् । यदा त्वात्मधर्मः, तदा भेदो, भिन्नस्वरूपत्वात् । एवमिहापि नन्दिशब्दो यदा भाववचनो नन्दनं नन्दिरिति, तदा नन्दनं समृद्धीभवनं वाञ्छितस्याधिगतिरिल्ल-नर्थान्तरं, मङ्गलमपि चैवंस्वरूपमिति परस्परमभेदः । यदा तु प्राचीनावस्थामपेक्ष्य करणसाधनो नन्दिशब्दो, नन्द्यतेऽनेनेति नन्दिरिति, तदा भेदः, कालभेदेन, भेदादिति । बृ० १ उ० । आ० चू० । नमस्कारत्रयरूपे मङ्गले, ध० २ अधि० । विशे० । श्रावकश्राविकाणां नन्दीसूत्रश्रावणं '' नाणं पंचविहं पण्णत्तं '' इत्यादिरूपं, नमस्कारत्रयरूपं वा क्रियते ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र श्रावकश्राविकाणां नन्दीसूत्रं नमस्कारत्रयरूपं श्राव्यते इति । ३१ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

साम्प्रतं पञ्चमः-

अइगरुअमोहविहुणिय-सुहबोहा केइ धम्ममगणिंता ।
कारेंति नंदिमाइं, सङ्घीणं संजईहिंतो ॥ १ ॥

अतिगुरुकमोहविधूनितशुभबोधा वृहत्तरमूढताकम्पितप्रधानम-तयः, केचनैके, धर्मं क्षान्त्यादिकम् , अगणयन्तस्तिरस्कुर्वाणाः, कारयन्ति विधापयन्ति, नन्द्यादिकं, मकारोऽत्र प्राकृतप्रभवः । आदिशब्दान्निषि-द्धानुष्ठानाऽऽदिग्रहः । तत्र नन्दिरूपधानाऽऽदिषु समयप्रतीतो विधिः, श्राद्धीनां श्राविकाणां, (संजईहिंतो त्ति) संय-तिनीभ्यो व्रतिनीभ्यः सकाशात् । ' हिंतो त्ति ' पञ्चम्याः स्थाने निर्देशः, '' उहिंतो लोपास्तस्यातः पञ्चम्याः ''॥ इति प्राकृतेन । स च दर्शित एव । अयमभिप्रायः-स्वयं विहारं व्रजन्तोऽन्येषु त्वाचार्येषु बहुश्रुताऽऽदिषु विद्यमानेषु विज्ञार्यिकाभिः श्राविकाणां नन्द्यादि कारयन्ति । यदि पुनरेकोऽप्याचार्यस्तत्र भवति, ततः सामाचार्या अविरुद्धमपि भवेदिति गाथाऽर्थः ॥ १ ॥

एतस्यापि आगमसंवादपूर्वकप्रतिषेधपूर्वं जीवोपदेशमाह-

आरेण अज्जरक्खिय-इच्चाईवयणओ न तं जुत्तं ।
रागद्दोसविमुक्को, रे जीव ! तहिं पि मा मुज्झ ॥ २ ॥

(आरेणेति) अर्वाक्, ' आरोवणं पच्छित्तदाणं चेति ' दृश्यं, सुबोधं च । अयमभिप्रायः-निगोदजीवविचारार्थाऽऽयातदेवेन्द्रवन्दिताऽऽ-र्यरक्षिताऽऽचार्यात् पूर्वं सामायिकाऽऽदिषु आर्यिकाणामनुज्ञा, अर्वाक् पुनर्नास्ति । सामायिकाऽऽदिकं च नन्दिपूर्वकं क्रियते, अत-स्तत्प्रतिषेधादेतदपि प्रतिषिद्धं बोद्धव्यम् । अतो नेति निषेधे, युक्तं संगतम् । रागद्वेषविमुक्तोऽभिष्वङ्गमत्सररहितो,जीव ! इत्यामन्त्रणे, तत्रापि नन्द्यादिकरणेऽपि, न केवलं पूर्वोक्तेषु, इत्यपिशब्दार्थः । मेति निषेधे, मुह्यस्व मोहं विधेहीति गाथाऽर्थः । समाप्तोऽयमार्यि-कानन्दिवक्तव्यताऽऽख्यः पञ्चमः साध्वीनां पाठः । जीवा० ५ अधि० ।

अन्यतीर्थीयः कश्चिद्यदि तुर्यव्रतमुच्चारयति, तदा किं

नन्दिं विनाऽप्युच्चारयति, उत नन्दिसहितमेव ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-अन्यान्यतीर्थीयः कश्चित्तुर्यव्रतमुच्चारयति, तदा नन्दिं विनाऽपि उच्चार्यते, तदाश्रित्य निषेधः कोऽपि ज्ञातो नास्तीति। ३६ प्र०। ही० ४ प्रका०। तपःसंयमयोगानां स्फीतौ, बृ० १ उ०।

नंदंति जेण तवसं-जमेसु नेव य दर त्ति खिज्जंति।
जायंति न दीणा वा, नंदी अ ततो समयसन्ना॥

येन द्रव्येणाभ्यवहृतेन तपःसंयमयोर्नन्दन्ति समाधिमनुभवन्ति, तन्नन्दिः। तथा येन द्रव्येणोपभुक्तेन नैव(दर त्ति) द्रुतं खिद्यन्ते, न कृशीभवन्तीत्यर्थः, तन्नन्दिः। अथ वा येनोपयुक्तेन न दीना जाय-न्ते, तदपि निरुक्तिवशान्नन्दिः। अत्र पाठान्तरम्-(जायंति नंदिया व त्ति) नन्द्या ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽत्मिकया समृद्ध्या युक्ताः साधवो यतस्तेन द्रव्येण जायन्ते, ततस्तस्य नन्दिरिति समयसंज्ञा आगम-परिभाषा। बृ० १ उ०। नि० चू०। नन्दनं नन्दिः। आनन्दे, स्था० ५ ठा० २ उ०। प्रमोदे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। मनसस्तुष्टौ, आचा० १ श्रु० ३ अ० ६ उ०। समृद्धौ, ध० २ अधि०। अनु०। '' सिद्धे भो पयओ नमो जिणमए, नंदी सया संजमे ''। आ० चू० ५ अ०। गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५१ सम०। द्वादशतूर्याणां घोषे, उत्त० ११ अ०। ज्ञा०। ध०। जं०। प्रश्न०। पञ्चा०। औ०। वृक्ष-भेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

***नन्दिन्**-पुं०। महेश्वराऽऽख्यव्यन्तरस्य शिष्ये, आ० चू० ४ अ०। आ० क०। आव०।

णंदिअ-न०(देशी) सिंहरुते, दे० ना० ४ वर्ग।

णंदिक्ख-पुं०(देशी) सिंहे, दे० ना० ४ वर्ग।

णंदिगर-त्रि०(नन्दिकर) वृद्धिकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

णंदिग्गाम-पुं०(नन्दिग्राम) मङ्गलावतीविजये स्वनामख्याते ग्रामे, आ० चू० १ अ०। आ० म०। मगधदेशान्तर्गते ग्रामे, यत्र जातो नन्दिषेणो गौतमपुत्रः पित्रोर्मृतयोर्दीक्षां जगृहे। आ० क०। आ० व०। वीरभगवत्पितृमित्रनन्दीवासस्थानग्रामे, आ० म० १ अ० २ खण्ड। आ० चू०।

णंदिघोस-पुं०(नन्दिघोष) द्वादशविधतूर्यनिनादे, नं०। रा०। ज्ञा०। नन्दीसदृशघोषकारके, तं०। उत्त०।

णंदिचुण्णग-न०(नन्दिचूर्णक) द्रव्यसंयोगनिष्पादितौष्ठम्रक्षणचूर्णे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

णंदिज्ज-न०(नन्दीय) स्थविरादार्यरोहणान्निर्गतस्य उद्देहगणस्य पञ्चमे कुले, कल्प० ८ क्षण।

णंदिज्जमाण-त्रि०(नन्द्यमान) जय जय नन्देतिसमृद्धिमुपनीयमाने, औ०।

णंदिणी-स्त्री०(नन्दिनी) नन्दयति नन्दणिनिः। वसिष्ठधेनौ, सुतायाम्, उमायां, गङ्गायां, ननन्दरि, व्याडिमातरि, रेणुकौषधौ च। वाच०। पार्श्वनाथस्य प्रथमश्राविकायाम्, आ० चू० १ अ०। गवि, दे० ना० ४ वर्ग।

णंदित-त्रि०(नन्दित) दृष्टे, क्षुभिते च। प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

णंदितूर-न०(नन्दितूर्य) युगपद् वाद्यमाने द्वादशविधतूर्यसमुदाये, बृ० १ उ०। आव०।

णंदिपिणद्ध-त्रि०(नन्दिपिनद्ध) फुल्लिकायुक्ते, ज्यो० २ पाहु०।

णंदिपुर-न०(नन्दिपुर) शाण्डिल्यदेशराजधान्याम्, प्रव० २७५ द्वार। प्रज्ञा०। नन्दिपुरनगरराजस्य मित्राभिधानस्य श्रीको नाम महानसिकोऽभूत्। स्था० १० ठा०।

णंदिफल-न०(नन्दिफल) नन्दिवृक्षाभिधानतरुफले, तदुदाहरण-प्रतिपादके तृतीये ज्ञाताऽध्ययने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आ० चू०। स०। आव०। प्रश्न०।

नन्दिफलोदाहरणं चेत्थम्-

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए, जितसत्तू राया। तत्थ णं चंपाए नगरीए धण्णे नामं सत्थवाहे होत्था। अड्ढे० जाव अपरिभूए। तीसे णं चंपाए णयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए अहिच्छत्ता नामं नयरी होत्था रिद्धित्थियसमिद्धा, वण्णओ। तत्थ णं अहिच्छत्ताए नयरीए कणगकेऊ नामं राया होत्था, महया वण्णओ। तेणं तस्स धण्णस्स सत्थवाहस्स अन्नदा कयाइ पुव्वरत्तावरत्त-कालसमयंसि इमे एयारूवे अत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-सेयं खलु मम विपुलं पणितं भंडमायाए अहिच्छत्तिं णगरिं वाणिज्जाए गमेत्तए एवं संपेहेइ, गणिमं च० ४ चउव्विहं भंडं गेण्हति, गेण्हतित्ता सगडीसागडं सज्जेति, सग-डीसागडं भरेति, कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं व-यासी-गच्छह णं तुज्झे देवाणुप्पिए ! चंपाए नगरीए सिंघाडग० जाव पहेसु एवं खलु देवाणुप्पिए ! धण्णे सत्थवाहे विउलं पणियं गहाय इच्छति अहिच्छत्तनगरिं वाणिज्जाए गमेत्तए। तं जे णं देवाणुप्पिया ! चरए वा चीरिए वा चम्मखंडिए वा भिक्खुंडे वा पंडुरागे वा गोतमे वा गोव्वतिए वा गिहिधम्मे वा धम्मचिंतए वा अविरुद्धविरुद्धवुड्ढसावगरत्तपडनिग्गंथप्पभितियपासंडे वा गिहत्थे वा धण्णेण सद्धिं अहिच्छत्तिं नगरिं गच्छति, तस्स णं धण्णे अच्छत्तगस्स छत्तगं दलयइ, अवाहणस्स वाहणं दलयति, अकुंडियस्स कुंडियं दलयति, अपत्थयणस्स पत्थयणं दल-यति, अपक्खेवस्स पक्खेवगं दलयति, अंतरा वि य से पडिय-स्स वा भग्गलुग्गसाहज्जं दलयति, सुहं सुहेण य अहिच्छत्तिं संपावेइ त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि घोसेइ, घोसेत्तित्ता मम एयमाण-त्तियं पच्चप्पिणइ। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा० जाव एवं वयासी-हंदि ! णिसुणंत भवंतो ! चंपाणगरी वत्थव्वा, बहवे चरग० जाव पच्चप्पिणिंति। तए णं ते कोडुंबिपुरिसाणं अंतिए सोच्चा चंपाए बहवे चर० जाव गिहित्था जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छति। तए णं धण्णे सत्थवाहे तेसिं चरगाण य० जाव गिहत्थाण य अच्छत्तगस्स छत्तं दलयति० जाव पत्थयणं दलाति, दलातित्ता एवं वयासीगच्छह

णं तुमे देवाणुप्पिया ! चंपाए नगरीए बहिया अणुज्जाणंसि ममं पडिलाभेमाणा पडिलाभेमाणा चिट्ठह। तए णं ते चरगा य धण्णेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा० जाव चिट्ठंति। तए णं ते धण्णे सत्थवाहे सोहणंसि तिहिकरणणक्खत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता मित्तं आमंतेति, भोयणा भोवावेति, भोयावेतित्ता आपुच्छति, सगडीसागडं जोयावेति, जोयावेतित्ता चंपाए णगरीए निग्गच्छति, णातिविगिट्ठेहिं अद्धाहिं वसमाणे २ सुहेहिं वसहिपायरासीहिं अंगजणवयं मज्झं मज्झेणं जेणेव देसग्गे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सगडीसागडं मोयावेति, सत्थनिवेसं करेइ, कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयइ-तुज्झे णं देवाणुप्पिया ! मम सत्थनिवेसंसि महया महया सद्दं उग्घोसेमाणा एवं वयइ-एवं खलु देवाणुप्पिया ! इमीसे आगमियाए छिन्नावायाए दीहमद्धाए अवीए बहुमज्झदेसभाए बहवे णंदिफला णामं रुक्खा पण्णत्ता किण्हा० जाव पत्तिया पुप्फिया फलिया हरिया रिज्झमाणा सिरीए अईव २ उवसोभेमाणा चिट्ठंति, मणुण्णा वण्णेणं० जाव मणुण्णा फासेणं, मणुण्णा छाया, ते जो णं देवाणुप्पिया ! तेसिं णंदिफलाणं रुक्खाणं मूलाणि वा कंदतयपत्तपुप्फफलबीयाणि वा हरियाणि वा आहारेइ, छायाए वा वीसमति, तस्स णं आवाए भद्दए भवति, ततो उ पच्छा परिणममाणा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेति। तं मा णं देवाणुप्पिया ! केइ तेसिं नंदिफलाणं मूलाणि वा० जाव छायाए मा वीसमउ, मा णं सेविय अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जति, तुब्भे णं देवाणुप्पिए ! अण्णेसिं रुक्खाणं मूलाणि य० जाव हरियाणि य आहारेह, छायासु वीसमह त्ति घोसेणं घोसह० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं धण्णे सत्थवाहे सगडी सागडं जोएत्ता जेणेव णंदिफला रुक्खा, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेसिं णंदिफलाणं अदूरसामंते सत्थणिवेसं करेति, दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयइ-तुज्झे णं देवा-णुप्पिए ! मम सत्थनिवेसंसि उग्घोसेमाणा २ एवं वयह-एए णं देवाणुप्पिए ! ते णंदिफला किण्हा० जाव मणुण्णा छायाए, ते जो णं देवाणुप्पिए ! एएसिं णंदिफलाणं रुक्खाणं मूलाणि वा कंदपुप्फतयपत्तफल० जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरो-वेति। तं मा णं तुब्भे वीसमह, मा णं अकाले० जाव जीवियाओ ववरोविस्सह। अण्णेसिं रुक्खाणं मूलाणि य० जाव वीसमह त्ति कट्टु घोसेणं पच्चप्पिणंति। तत्थ णं अप्पेगइया पुरिसा धण्णस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं सद्दहंति० जाव रोयंति, एयमट्ठं सद्दहमाणा रोएमाणा तेसिं णंदिफलाणं दूरेणं परिहरमाणा, अण्णेसिं रुक्खाणं मूलाणि य० जाव वीसमंति ; तेसि णं आवाए नो भद्दए भवति, ततो पच्छा परिणममाणा २ सुहरूवत्ताए य भुज्जो २ परिणमंति। एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा० जाव पंचसु कामगुणेसुं नो सज्जति, नो रज्जति, से णं इहभवे चेव बहूणं समणाणं समणीणं णिग्गंथाणं णिग्गंथीणं अच्चणिज्जे परलोए नो आगच्छति० जाव वीतीवतिस्सति, जहा वा ते पुरिसा। तत्थ णं अप्पेगतिया पुरिसा धण्णस्स एयमट्ठं नो सद्दहंति, धण्णस्स एयमट्ठं असद्दहमाणा जेणेव ते णंदिफला, तेणेव उवागच्छंति, तेसिं णंदिफलाणं मूलाणि य० जाव वीसमंति, तेसि णं आवाए भद्दए भवति, तओ पच्छा परिणममाणा० जाव ववरोवेतिं। एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा पवइए पंचसु कामगुणेसु सज्जति० जाव अणुपरियट्टिस्सति, जहा व ते पुरिसा। तए णं से धण्णे सगडी-सागडं जोयावेति, जेणेव अहिच्छत्ता नगरी, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अहिच्छत्ताए नगरीए बहिया अग्गोज्जाणंसि सत्थनिवेसं करेति, सगडीसागडं मोयावेति। तए णं से धण्णे सत्थवाहे महत्थे रायारिहं पाहुडं गिण्हेति, बहूहिं पुरिसेहिं सद्धिं संपरिवुडे अहिच्छत्तणगरस्स मज्झं मज्झेणं अणुप्पविस्सति, जेणेव कणगकेऊ राया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता करयल० जाव वद्धावेति, वद्धावेतित्ता तं महयं पाहुडं उवणेति। तए णं से कणगकेऊ राया इट्ठतुट्ठ० धण्णस्स सत्थवाहस्स तं महत्थं० ३ जाव पडिच्छति, धण्णं सत्थवाहं सक्कारेंति, सक्कारेतित्ता संमाणेति, संमाणेतित्ता उस्सूकं वियरति, वियरतित्ता पडिविसज्जेति, पडिविसज्जेतित्ता भंडविणिमयं करेति, करेतित्ता पडिभंडं गिण्हति, सुहं सुहेणं जेणेव चंपा णगरी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता मित्तणातिअभिसमण्णागए विउलाइं माणुस्सगाइं भोग० जाव विहरति। तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरागमणं, धण्णे धम्मं सोच्चा जिट्ठपुत्ते कुडुंबे ठवेत्ता पव्वइए सामाइयमाइयाइं एक्कारसंगाइं बहूणि वासाणि सामण्णमासि-याए अण्णयरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववण्णे महाविदेहे वासे सिज्झिहिति।

अधुना पञ्चदशं विद्रियते, अस्य चैवं पूर्वेण सह संबन्धः-पूर्वस्मिन्नपमाननाद्विषयत्यागः प्रतिपादितः, इह तु जिनोपदेशात्। तत्र च सात्यर्थप्राप्तिः, तदभावे त्वनर्थप्राप्तिरभिधीयते, इत्येवं संबद्धमिदं सर्वं सुगमं, नवरं (चरए वेत्यादि) तत्र च रक्तो धाटिभिक्षाचरः, चीरिको रथ्यापतितचीवरपरिधानः, चीवरोपकरण इत्यन्ये। चर्मखण्डिकश्चर्मपरिधानः, चर्मोप-

करण इति चान्ये । भिक्षोण्डो भिक्षाभोजी, सुगतशासनस्थ इत्यन्ये । पाण्डुरागः शैवः । गौतमः-लघुतराक्षमालाचर्चितविचित्रपाद-पतनाऽऽदिशिक्षाकलापवत्प्रतिवृषभकोपायतः कणभिक्षाग्राही । गोव्रतिकः-गोचर्याऽनुकारी । उक्तं च- '' गावीहिँ'' समं निग्गमप-वेसठाणाऽऽसणाइ पकरिंति । भुंजंति जहा गावी, तिरिक्खवासं विभाविंता ॥ १ ॥ '' गृहधर्मा गृहस्थधर्म एव श्रेयानित्वभिसंधाय तद्यथोक्तकारी । धर्मचिन्तको धर्मसंहितापरिज्ञानवान् । सभासद अविरुद्धो वैनयिकः । उक्तं च-'' अविरुद्धो विणयकारी, देवाईण य पराएँ भत्तीए । जह वेसियायणसुओ, एवं अन्ने वि नायव्वा ॥ १ ॥ '' विरुद्धोऽक्रियावादी, परलोकानभ्युपगमात् सर्ववादिभ्यो विरुद्ध एव । वृद्धस्तापसः, प्रथममुत्पन्नत्वात्प्रायो वृद्धकाले च दीक्षाप्रति-पत्तेः । श्रावको ब्राह्मणः । अन्ये तु बुद्धश्रावक इति व्याचक्षते । स च ब्राह्मण एव । रक्तपटः परिव्राजकः । निर्ग्रन्थः साधुः । प्रभृतिग्रहणात् कपिलाऽऽदिपरिग्रह इति । (पत्थयणं त्ति) पथ्यदनं शम्बलं (पक्खेव त्ति) अर्द्धपथे त्रुटितसंबलस्य संबलपूरणं द्रव्यं प्रक्षेपकः । (पडियस्स त्ति) वाहनात्स्ख-लनात्पतने भग्नस्य, रुग्णस्य च जीर्णतां गतस्येत्यर्थः । '' हंदि त्ति '' आमन्त्रणे । (नाइविगिट्ठेहिं अद्धाहिं ति) नातिविकृष्टेषु नातिदीर्घेष्वध्वसु प्रयाणकमार्गेषु वसन् शुभैरनुकूलैर्वसतिप्रातराशैरावासस्थानैः, प्रातर्भोजनकालैश्चेत्यर्थः । ' देसग्गं ति ' देशान्तम् । इहोपनयस्तत्रा-भिहित एव ।

विशेषतः पुनरेवं तं प्रतिपादयन्ति-

'' चंपए इव मणुयगती, धणो व्व भयवं जिणो दएक्करसो ।
अहिछत्तानयरिसमं, इह निव्वाणं मुणेयव्वं ॥ १ ॥
घोसणया इव तित्थं-करस्स सिवमग्गदेसणमणग्घं ।
चरगाइणो व्व इत्थं, सिवसुहकामा जिया बहवे ॥ २ ॥
नंदिफलाइ व्व इहं, सिवपहपडिवन्नगाण विसयाओ ।
तब्भक्खणा उ मरणं, जह तह विसएहिँ संसारो ॥ ३ ॥
तव्वज्जणेण जह इ-ट्ठपुरगमो विसयवज्जयेण तहा ।
परमाणंदणिबंधण-सिवपुरगमणं मुणेयव्वं '' ॥ ४ ॥ ज्ञा० १ श्रु० १५ अ० ।

णंदिबद्धण-पुं०(नन्दिवर्धन) गौतमस्वामिप्रतिष्ठितस्य बलभ्यागतस्य चन्द्रप्रभस्य पूजके, ती० ४३ कल्प । पाण्डवस्थापिते मूलकुण्डग्रामे महावीरस्वामिनो ज्येष्ठभ्रातरि, चेटकराजसुतायाः-चेल्लणास्वसुः ज्येष्ठायाः पत्यौ, आ० चू० ४ अ० । कल्प० । आ० म० । आव० । आचा० । लोकोत्तरीत्या कार्तिकमासे, कल्प० ६ क्षण । नन्दिषेणमुनेर्गुरौ, आ० चू० ४ अ० । आव० । मथुरायां श्रीदामराजपुत्रे, विपा० ।

तत्कथा-

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं महुरा णयरी, भंडीरे उज्जाणे, सुदरिसणे जक्खे, सिरिदामे राया, बंधुसिरी भारिया, पुत्ते णंदिबद्धणे णामं कुमारे अहीण० जाव जुवराया । तस्स णं सिरिदामस्स सुबंधू णामं अमच्चे होत्था, सामदंडभेय० । तस्स णं सुबंधुस्स अमच्चस्स बहुमित्ती पुत्ते णामं दारए होत्था, अही-ण० । तस्स णं सिरीदामस्स रण्णो चित्ते णामं अलंकारिए हो-त्था । सिरिदामस्स रण्णो चित्ते बहुविहं अलंकारियकम्मं करे-माणे सव्वट्ठाणेसु सव्वभूमियासु य अंतेउरे य दिण्णवियारे या-वि होत्था । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे, परिसा राया य णिग्गओ० जाव गया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समण-स्स जेट्ठे०जाव रायमग्गं ओगाढे, तहेव हत्थी आसे पुरिसे । तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगयं एगं पुरिसं पासइ० जाव णरणा-रीसंपरिवुडं । तए णं तं पुरिसं रायपुरिसा चच्चरंसि तत्तंसि अओ-मयंसि समजोइयंसि सिंहासणंसि णिवेसावेइ । तयाणंतरं च णं पुरिसाणं मज्झगयं बहूहिं अयकलसेहिं तत्तेहिं समजोइभूएहिं अप्पेगइयाणं तंबभरिएहिं, अप्पेगइयाणं तउयभरिएहिं, अप्पे-गइयाणं सीसगभरिएहिं, अप्पेगइयाणं कलकलभरिएहिं, अप्पेगइयाणं खारतेल्लभरिएहिं, महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचइ । तयाणंतरं च णं तत्तअउमयं समजोइभूयं अउमय-संडासगं गहाय हारं पिणद्धइ । तयाणंतरं च णं हारं अद्धहारं० जाव पट्टं मउढं चिंता तहेव० जाव वागरेइ । एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे सीह-पुरे णामं णयरे होत्था रिद्धत्थि० । तत्थ णं सीहपुरे सीहरहे णामं राया । तस्स णं सीहरहस्स रण्णो दुज्जोहणे णामं चारग-पालए होत्था अहम्मिए० जाव दुप्पडियाणंदे । तस्स णं दुज्जो-हणस्स चारगपालस्स इमे एयारूवे चारगभंडे होत्था । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे अयकुंडीओ अप्पेगइयाओ तंबभारियाओ, अप्पेगइयाओ तउयभरियाओ, अप्पेगइयाओ सीसगभरियाओ, अप्पे० कलकलभरियाओ, अप्पे० खार-तेल्लभरियाओ, अगिणीकायंसि अद्दहियाओ चिट्ठंति । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे उट्टियाओ आसमुत्तभरि-याओ, अप्पेगइयाओ हत्थीमुत्तभरियाओ, अप्पे०उट्टमुत्तभरि-याओ, अप्पे०गोमु०, अप्पे० एलयमु०, अप्पे० महिसमु०, बहु-पडिपुण्णाओ चिट्ठइ । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे हत्थंदुयाण य पायंदुयाण य हडीण य णियलाण य संकलाण य पुंजा य णिगरा य संणिखित्ता चिट्ठंति । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे वेणुलयाण य चिंचाछिवाण य कसाण य वायरासीण य पुंजा णिगरा चिट्ठंति । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे सिलाण य लउडाण य मोग्गराण य कणंगराण य पुंजा णिगरा चिट्ठइ । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स वरत्ताण य वागरज्जूण य वालसुत्तरज्जूण य पुंजा णिगरा संचिट्ठइ । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे असिपत्ताण य करपत्ताण य खुरप त्ताण य कलंवचीरपत्ताणय पुंजा णिगरा संचिट्ठइ ।

तस्स णं दुज्झोहणस्स चारगपालस्स बहवे लोहखीलाण य कमसक्कराण य चम्मपट्टाण य अलिपत्ताण य पुंजा णिगरा संचिट्ठइ। तस्स णं दुज्झोहणस्स चारगपालस्स बहवे सूचीण य भंडणाण य कोट्टिल्लाण य पुंजा णिगरा संचिट्ठइ। तस्स णं दुज्झोहणस्स चारगपालस्स बहवे सत्थाण य पिप्पलाण य कुहामाण य णहच्छेयणाण य दब्भाण य पुंजा णिगरा संचिट्ठइ। तस्स णं से दुज्झोहणस्स चारगपालस्स सीहरहस्स रण्णो बहवे चोरे य पारदारिए य गंठिभेदे य रायावकारी य अणाहारए य बालघाते य वीसंभघाते य जुइकरे य खंडपट्टे य पुरिसेहिं गिण्हावेइ, गिण्हावेइत्ता उत्ताणए पामेइ, लोहदंडेण मुहं विहामेइ, अप्पेगइए तत्तं तंबं पज्जेइ, अप्पे० तउयं पज्जेइ, अप्पे० सीसगं पज्जेइ, अप्पे० कलकलं पज्जेइ, अप्पे० खारतेल्लं पज्जेइ, अप्पे० तेणं चेव अभिसेगं करेइ, अप्पे० उत्ताणए पाडेइ, अप्पे० आसमुत्तं पज्जेइ, अप्पे० हत्थिमुत्तं पज्जेइ० जाव एलयमुत्तं पज्जेइ, अप्पे० हिट्ठा मुहं पाडेइ, अप्पे० बलस्स वमावेइ, अप्पे० तेणं चेव उदीलं दलयइ, अप्पे० हत्थंडुयाहिं बंधावेइ, अप्पे० पायंडुयाहिं बंधावेइ, अप्पे० हडिबंधणं करेइ, अप्पे० णियलबंधणं करेइ, अप्पे० संकोडियं करेइ, अप्पे० संकलबंधणं करेइ, अप्पे० हत्थच्छि-ण्णए करेइ० जाव सत्थोवाडिए करेइ, अप्पे० वेणुलयाहि य० जाव वेयरासीहि य ण्हावेइ, अप्पे० उत्ताणए करेइ, करेइत्ता उरे सिलं दलावेइ, दलावेइत्ता लउलं दावेइ, पुरिसेहिं उक्कंपावेइ, अप्पे० लंतीहि य० जाव सुत्तरज्जुहि य हत्थेसु य पादेसु य बंधावेइ, अगमम्मि ओचूलं पाणगं पज्जेइ, अप्पे० असिपत्तेहि अब्भंगावेइ, अप्पे० णिलाडेसु य अवटुसु य कोप्परेसु य जाणुसु य खलुएसु य लोहकीलएसु य कमसक्करासु य दलावेइ, अलए भंजावेइ, अप्पे० सूतीओ य दंडणाणि य हत्थंगुलियासु य पायंगुलियासु य कोट्टिल्लएहिं आउडावेइ, आउडावेइत्ता भूमिं कंडूयावेइ, अप्पे० सत्थिएहि य० जाव णइच्छेदणएहि य अंगं पच्छावेइ, दब्भेहि य कुसेहि य उल्लदब्भेहि य वेढावेइ, आयवंसि दलयइ, सुक्के समाणे चडचडस्स उप्पामेइ। तए णं से दुज्झोहणचारए एयकम्मे० सुबहुपावं समज्जिणित्ता एगतीसं वाससयाइं परमाउयं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसं बावीसं सागरोवमाइं ठिईएसु णेरइएसु उववण्णे। से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव महुराए णयरीए सिरिदामस्स रण्णो बंधुसिरीए देवीए कुच्छिं पुत्तत्ताए उववण्णे। तए णं बंधुसिरी णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं० जाव दारगं पया-या। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णिव्वत्तबारसाहे इमं एयारूवं णामधेज्जं करेइ-होउ णं अम्हं दारगे णंदिसेणे णामेणं। तए णं से णंदिसेणे कुमारे पंचधाइपरिवुडे० जाव परिवड्ढइ। तए णं से णंदिसेणे कुमारे उम्मुक्कबालभावे० जाव विहरइ० जाव जुवराया जाए यावि होत्था। तए णं से णंदिकुमारे रज्जे य० जाव अंतेउरे य मुच्छिए० ४ उच्छइ सिरिदामं रायं जीवियाओ ववरोवित्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे विहरिउं। तए णं से णंदिसेणे कुमारे सिरिदामस्स रण्णो अंतरं अलभमाणे अण्णया कयाइ चित्तं अलंकारियं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासीतुमं णं देवाणुप्पिया! सिरिदामं रायं सव्वट्ठाणेसु सव्वभूमियासु य अंतेउरे य दिण्णवियारे सिरिदामं रायं अभिक्खणं अभिक्खणं अलंकारियकम्मं करेमाणे विहरइ। तं णं तुम्हं देवाणुप्पिया! सिरिदामं रायं अलंकारियकम्मं करेमाणे गीवाए खुरं णिवेसेहि, ता णं अहं तुब्भं अद्धरज्जियं करेस्सामि, तुमं अम्हेहिं सद्धिं उराले भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सह। तए णं से चित्ते अलंकारिए णंदिसेणस्स कुमारस्स वयणं एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता-तए णं तस्स चित्तस्स अलंकारियस्स इमे एयारूवे० जाव समुप्पज्जित्था। जइ णं ममं सिरिदामे राया एयमट्ठं आगमेइ, तए णं ममं णं णज्जइ केणइ असुभेणं कुमरणेणं मारिस्सति त्ति कट्टु भीए० ४ जेणेव सिरिदामे राया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सिरिदामं रायं रहसि एवं करयल० जाव एवं वयासी-एवं खलु सामी! णंदिसेणे कुमारे रज्जे य० जाव मुच्छिए० ४ इच्छइ तुब्भे जीवियाओ ववरोवित्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे विहरिउं। तए णं से सिरिदामे राया चित्तस्स अलंकारियस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुते० ४ जाव साहट्टु णंदिसेणं कुमारं पुरिसेहिं गिण्हावेइ, एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ। तं एवं खलु गोयमा! णंदिसेणे पुत्ते० जाव विहरइ। णंदिसेणे कुमारे भयवं! इओ चुओ कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति? गोयमा! णंदिसेणे कुमारे सट्ठिवासाइं परमाउयं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए संसारो तहेव; ततो हत्थिणाउरे णयरे मच्छत्ताए उववज्जिहिति। से णं तत्थ मच्छिएहिं वधिए समाणे तत्थेव सेट्ठिकुले बोहिं पाउणित्ता सोहम्मे कप्पे महाविदेहे वासे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति, मुच्चिहिति, परिणिव्वाहिति। विपा० १ श्रु० ६ अ०।

णंदिबद्धणा-स्त्री०(नन्दिबर्द्धना) जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वे रुचकवर-स्य पर्वतस्य रजतकूटवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम् ,स्था० ८ ठा०। आ० म०। आ० चू०। जं०। आ० क०। जं०। आ० क०। शाश्वतपुष्करिणीभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ०। ती०। जी०।

णंदिभाण-न०(नन्दिभाजन) औपग्रहिकोपकरणभेदे, बृ०।

तदुपयोगश्च-

एकं भरेमि भाणं, अणुकंपा नंदिभाण दरिसेंति।
निंति व तं वइगाऽऽइसु, गालिंति तह चम्मकरएणं॥

अथ प्रतिपन्नानां कोऽप्यनुकम्पया ब्रूयात्-अहं युष्मभ्यं दिने दिने एकं भाजनं बिभर्मि पूरयामि, ततस्तत्र नन्दिभाजनं बिभर्ति पूरयति, ततस्तत्र नन्दीभाजनं दर्शयन्ति। अथवा-तद् नन्दिभाजनं भिक्षाचर्यया व्रजिकाऽऽदिषु नयन्ति। तथा प्रासुकं तद् द्रव्यं पानकं चर्मकरकेण गालयन्ति। बृ० १ उ०। ओघ०। नि० चू०।

इदानीमेतदेव भाष्यकरो व्याख्यानयन्नाह-

वेयावच्चगरो वा, नंदीभाणं धरे उवग्गहियं।
सो खलु तस्स विसेसो, पमाणजुत्तं तु सेसाणं॥ १०५॥

वैयावृत्त्यकरो वा नन्दीपात्रं धारयत्यौपग्राहिकम् , आचार्येण समर्पितं, निजं वा स खलु तस्यैव वैयावृत्त्यकरस्य विशेषः। एतदुक्तं भवति-यदतिरिक्तपात्रकधारणम् , अयं तस्यैव वैयावृत्त्यकरस्य विशेषः क्रियते। शेषाणां साधूनां प्रमाणयुक्तमेव पात्रकं भवति, उदरप्रमा-णयुक्तमित्यर्थः॥ १०५॥

एतच्च प्रमाणातिरिक्तेन पात्रकेन प्रयोजनं भवति-

देज्जाहि भाणपूरं, तु रिद्धिमं कोइ रोहमाईसु।
तत्थ वि तस्सुवओगो, सेसं कालं तु पडिकुट्ठो॥ १०६॥

दद्याद् भाजनपूरं कश्चिद्ऋद्धिमान्-पात्रकभरणं कश्चिदीश्वरः कुर्यात्। कदा ? पत्तनरोधकाऽऽदौ। तत्र पात्रकभरणे तस्य नन्दीपात्रस्योपयोगः, शेषकालमुपयोगः तस्य प्रतिकुष्टः प्रतिषिद्धः, कारणमन्तरेणेत्यर्थः। ओघ०। पं० व०।

णंदिमित्त-पुं०(नन्दिमित्र) भाविनि द्वितीये वासुदेवे, ती० २० कल्प। मल्ल्या सह प्रव्रजिते राजपुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

णंदिमुइंग-पुं०(नन्दिमृदङ्ग) एकतः संकीर्णेऽन्यत्र विस्तृते मुरजविशेषे, रा०। आ० चू०।

णंदिमुह-पुं०(नन्दिमुख) द्व्यङ्गुलप्रमाणशरीरके पक्षिविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। औ०। रा०।

णंदिय-त्रि०(नन्दित) समृद्धितरतामुपगते, औ०। स्वनामख्याते स्थविरे, कल्प०। '' मिउमद्दवसंपन्नं, उवउत्तं नाणदंसणचरित्ते। थेरं च णंदियं पि य, कासवगुत्तं पणिवयामि ''॥ १॥ कल्प० ८ क्षण।

णंदियगपोसण-न०(नन्दितकपोषण) मनोज्ञाऽऽहाराऽऽदिभिर्व-ध्यपशोः परिपालने, बृ० १ उ०।

णंदियावत्त-पुं०(नन्द्यावर्त) प्रतिदिङ्नवकोणके स्वस्तिके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। जं०। रा०। औ०। प्रव०। ब्रह्मलोके कल्पे तदिन्द्रस्य पारियात्रिके विमाने, स्था० १० ठा०। द्वीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद। जी०। स्तनितकुमारेन्द्रस्य घोषस्य महाघोषस्य च लोकपाल-भेदे, स्था० ४ ठा० १ उ०। भ०। सिद्धश्रेणिकापरिकर्मभेदे, स० १२ अङ्ग०।

णंदिराय-पुं०(नन्दिराज) वीरस्वामिज्येष्ठभ्रातरि नन्दिवर्द्धने, कल्प० ५ क्षण।

✱**नन्दिराग**-पुं०। समृद्धौ सत्यां हर्षे, भ० २ श० ५ उ०।

णंदिरुक्ख-पुं०(नन्दिवृक्ष) धववृक्षे, अश्वत्थवृक्षे, तुम्बे, कुबेरके, मेषशृङ्ग्यां च। वाच०। प्रज्ञा०। औ०। ति०। स०। रा०।

णंदिसूरि-पुं०(नन्दिसूरि) श्रीशत्रुञ्जयतीर्थोद्धारकारके स्वनामके सूरौ, ती० २ कल्प।

णंदिसेण-पुं०(नन्दिषेण) मथुरायां श्रीदामराजसुते युवराजे नन्दि-वर्धनापरनामके, स्था० १० ठा०। विपा०। स्वनामख्याते पार्श्वापत्यीये आचार्ये, यो हि भद्रिकापुर्यां वीरे भगवत्यागते प्रतिमया स्थितश्चौर-भ्रान्त्याऽऽरक्षकपुरुषेण भल्लाऽऽहतो जातावधिः स्वर्जगाम। कल्प० ५ क्षण। आ० म०। आ० चू०। नन्दिग्रामे गौतमपुत्रे नन्दिवर्धनसूरिशिष्ये, आ० क०।

'' मगधे हि नन्दिग्रामे, गौतमः कणवृत्तिकः।
तत्पत्नी धारणी तस्याः, गर्भे षाण्मासिके पिता॥ १॥
मृतो माताऽपि जाते च, मातुलेन स वर्द्धितः।
नन्दिषेणाभिधस्तस्य, गृहे कर्म चकार सः॥ २॥
प्रतारितः स लोकेन, मातुलेन स्थिरीकृतः।
मा श्रौषीर्लोकवाक्यानि, तिस्रः सन्ति सुता मम॥ ३॥
दास्यामि तव नैषुस्ताः, कुरूपमिति तं परम्।
निर्विण्णः सोऽथ निर्गत्य, मुमूर्षुर्वीक्ष्य कुत्रचित्॥ ४॥
नन्दिवर्द्धनसूरीणां, सन्निधौ व्रतमग्रहीत्।
स षष्टक्षपकः ख्यातः, यशःकीर्तिरभून्मुनिः॥ ५॥
वैयावृत्येऽभिग्रही च, बालग्लानाऽऽदिसाधुषु।
शक्रोऽशंसत्तमेकोऽथा-श्रद्दधानः सुरोऽभ्यगात्॥ ६॥
चक्रे श्रमणरूपे द्वे, बहिरेकोऽतिसारकी।
स्थितोऽगादपरो मध्ये, साधूपान्ते ब्रवीदिदम्॥ ७॥
ग्लानर्षिः पतितोऽस्तयेको, वैयावृत्त्यकरोऽस्ति चेत्।
स उत्तिष्ठतु तच्छ्रुत्वा, षष्ठपारणकेऽपि हि॥ ८॥
सहसा नन्दिषेणर्षि-र्मुक्त्वा कवलमुत्थितः।
ऊचेऽर्थः केन सोऽवादीद् , जलेनाऽऽगात् स तत्कृते॥ ९॥
अनैषणां सुरश्चक्रे-ऽनेषणीयं न सोऽग्रहीत्।
भ्रान्त्वा द्विरित्रः स शुद्धाम्भो, गृहीत्वागात्तदन्तिके॥ १०॥
आचुक्रोश स तं ग्लानो, मुनिं निष्ठुरया गिरा।
त्वं वैयावृत्त्यकारीति, श्रुतो नाम्नैव वर्त्तसे॥ ११॥
स तद्गिरं सुधासारां, मन्यमानः क्षमानिधिः।
अशोकः क्षालयामास, तं विष्ठाऽऽक्षिप्तमप्यृषिम्॥ १२॥
अथाऽऽहोत्तिष्ठ यामान्त-र्नीरुजं त्वां करोमि यत्।
ग्लानोऽवक् न क्षमः सोऽवक्, पृष्ठमारोह तर्हि मे॥ १३॥
पृष्ठमारोप्य तं गच्छं-स्तेन देवेन मायया।
नन्दिषेणः पुरीषेण, लिप्तोऽतीव विगन्धिना॥ १४॥
आक्रुष्टश्च कथं वेग-भङ्गान्मे मृतमारणम्।
करोषि भोक्तुकामस्त्वं, व्रजन्नत्यन्तरहसा॥ १५॥
मुनिश्चम्पकलेपं तं मन्वानोऽमेध्यलेपनम्।
आक्रोशं चाऽऽशिषं दध्यौ, कथं स्यादस्य निर्वृतिः ?॥ १६॥
देवस्तुष्टोऽथ संहृत्य, मायां नत्वा च तं मुनिम्।
शक्रप्रशंसां चाऽऽवेद्य, स्वं विमानं जगाम सः॥ १७॥

वसतौ मुनिरप्यागा-दगुरोरालोच्य भुक्तवान्।
एषणासमितिः पाल्या, तदेवं मुनिपुङ्गवै ॥ १८ ॥
आ० क० । आव० । तं० । नि० चू० । स्था० । श्रेणिकस्य पुत्रे, स च पूर्वभवे कस्यचिद् धिग्जातिकस्य दास आसीत्, तेन च यज्ञपाटे नियुक्तेन स्वामिनो यज्ञशेषं याचित्वा साधवे दत्त्वा तत्पुण्येन देवलोके गत्वा ततः श्च्युत्त्वा श्रेणिकस्य पुत्रो जज्ञे (आ० चू० ४ अ० । आव०) स च वीरजिनान्तिके प्रव्रज्यां जगृहे, तस्य साधोः श्रेणिकपुत्रस्य नन्दिषेणस्य स्वशिष्यस्य व्रतमुज्झितुकामस्य स्थिरीकरणाय भगवद्वर्द्धमानस्वामिवन्दननिमित्तचलितमुक्ताऽऽभरणश्वेताम्बरपरिधानरूपरमणीयता-विनिर्जितामरसुन्दरीकं स्वान्तः-पुरदर्शनं कारितम्। (सा पारिणामिकी बुद्धिः) स हि (नन्दिषेणस्य) तादृशमन्तःपुरं नन्दिषेणः परित्यक्तं दृष्ट्वा दृढतरं संयमे स्थिरो बभूव। नं० । आ० क० । आ० चू० । ती० । आ० म० । शीलावसन्ने चारणमुनौ, महा० । स चावसोदन् मुमूर्षा चकार।

तद् यथा-

'' ता गोयम ! णंदिसेणेणं, गिरिपडणं जाव पत्थुयं ।
ताव आयासे इमा वाणी, पडिओ वि णो मरेज्ज तं ॥
दिसामुहाइं जा जोए, ता पेच्छा चारणं मुणिं ।
अकाले नत्थि ते मच्चू, विरम विसयादितो गओ ॥
ताहे वि अणहियासेहिं, विसएहिं जाव पीडिओ ।
ताव चिंता समुप्पन्ना, जहा किं जीविएण मे ? ॥
कुंदेदुनिम्मलयरागं, तित्थं पावमती अहं ।
उड्ढाहिंतो य सिज्झिस्सं, कत्थ गंतुमणारिओ ? ॥
अहवा सलंछणो चंदो, कुंदस्स उणका पहा ।
कलिकलुसकलंकेहिं, वज्जियं जिणसासणं ॥
ता एयं सयलदालिद्द-दुहकिलेसक्खयं-करं ।
पवयणं खिंसाविंतो, कत्थ गंतूण सिज्झिइं ? ॥
दुगुड्ढकं गिरी रोढुं, अत्ताणं चुन्निमो धुवं ।
जाव विसयवसेणाहं, किंचि उड्ढाहयं करे ॥
एवं पुणो वि आरोढुं, ढंकुच्छिन्नं गिरीतडं ।
संचरे किल निरागारं, गयणे पुणरवि भाणियं ॥
अकाले नत्थि ते मच्चू, चरिमं तुज्झ इमं तणुं ।
ता बद्धपुट्ठं भोगहलं, वेइत्ता संजमं कुरु ॥
एवं तु जाव बेवारा, चारणसमणोहि सेहिओ ।
ताहे गंतूण सो लिंगं, गुरुपायमूले निवेदिओ ''॥ महा० ६अ०।

भरतक्षेत्रजाभिनन्दनतीर्थकृत्समकालीने ऐरवतजे तीर्थंकरे, ति० । ती० । शत्रुञ्जयतीर्थे जिनशान्तिविषायके गणेशे, ती० १ कल्प । द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, द्वी० । अजितशान्तिस्तवग्रन्थकारके आचार्ये, जै० इ० ।

णंदिसेणा-स्त्री०(नन्दिषेणा) पूर्वस्मिन्नञ्जनकपर्वते पूर्वस्यां दिशि नन्दापुष्करिष्याम्, जी० ३ प्रति० । ती० । द्वी० । स्था० । अञ्जनकपर्वतानामुत्तरस्यां नन्दापुष्करिष्याम्, द्वी० । नन्दिवर्धनापरनामिकायां पूर्वरुचकवरवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, द्वी० । स्था० । रतिकरपर्वतानामुत्तरदिक्स्थासु शक्रसामानिकराजधानीषु, द्वी० ।

णंदिसेणिया-स्त्री०(नन्दिषेणिका) स्वनामख्यातायां श्रेणिकभार्यायाम्, सा च वीरान्तिके प्रव्रजिता सिद्धा, इति अन्तकृद्दशानां सप्तमे वर्गे चतुर्थेऽध्ययने सूचितम्। अन्त० ६ वर्ग १६ अ० ।

णंदिस्सर-पुं०(नन्दिस्वर) द्वादशतूर्यसंघातस्वरे, जी० ३ प्रति० । तं० । रा० ।

***नन्दीश्वर**-पुं० । महेश्वराऽऽख्यव्यन्तरस्य शिष्यभेदे, आ० चू० ४ अ० । आ० क० । नन्दी समृद्धिः, तस्या ईश्वरो द्वीपो नन्दीश्वरः । अनु० । '' जंबू लवणे धायइ-कालोयपुक्खराइ जुयलाइ। वारुणिखीरघयक्खू, नंदीसरअरुणदीवुदही ॥ १ ॥ '' इति गणनयाऽष्टमे द्वीपे, स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रव० । रा० ।

तत्कल्पं यथा-

'' आराध्य श्रीजिनाधीशान्, सुराधीशार्चितक्रमान्।
कल्पं नन्दीश्वरद्वीप-स्याऽऽख्येऽहं विश्वपावनम् ॥ १ ॥
अस्ति नन्दीश्वरो नाम्ना-ऽष्टमो द्वीपो द्युसन्निभः।
तत्परिक्षेपिणा नन्दी-श्वरेणाम्भोधिना युतः ॥ २ ॥
एतद्वलयविष्कम्भे, लक्षाशीतिश्चतुर्गुणा।
योजनानां त्रिषष्टिश्च, कोट्यः कोटिशतं तथा ॥ ३ ॥
असौ विविधविन्यासो-द्यानवान् देवभोगभूः।
जिनेन्द्रपूजासंसक्त-सुरसंपातसुन्दरः ॥ ४ ॥
अस्य मध्यप्रदेशे तु, क्रमात्पूर्वाऽऽदिदिक्षु च।
अञ्जनवर्णाश्चत्वार-स्तिष्ठन्त्यञ्जनपर्वताः ॥ ५ ॥
दशयोजनसाहस्रा-तिरिक्तविस्तृतास्तले।
सहस्रयोजनाश्चोर्द्ध, क्षुद्रमेरूच्छ्रयाश्च ये ॥ ६ ॥
तत्र प्राग्देवरमणो, नित्योद्द्योतश्च दक्षिणः।
स्वयंप्रभः प्रतीच्यस्तु, रमणीयोदकस्थिरः ॥ ७ ॥
शतयोजन्यायतानि, तदर्द्धं विस्तृतानि च।
द्विसप्ततियोजनोच्चा-न्यर्हच्चैत्यानि तेषु च ॥ ८ ॥
पृथग्द्वाराणि चत्वार्यू-र्द्धानि षोडशयोजनम्।
प्रवेशो योजनान्यष्ट, विस्तारोऽप्यष्ट तेषु तु ॥ ९ ॥
तानि देवासुरभाग-सुपर्णानां दिवौकसाम्।
समाश्रयास्तेषामेव, नामभिर्विश्रुतानि च ॥ १० ॥
षोडशयोजनाऽऽयामा-स्तावन्मात्राश्च विस्तृतौ।
अष्टयोजनकोत्सेधा-स्तन्मध्ये मणिपीठिकाः ॥ ११ ॥
सर्वरत्नमया देव-च्छन्दकाः पीठिकोपरि।
पीठिकाभ्योऽधिकाऽऽयामो-च्छ्रयभाजश्च तेषु तु ॥ १२ ॥
ऋषभो वर्द्धमानस्तु, तथा चन्द्राननोऽपि च।
वारिषेणो वेति नाम्ना, पर्यङ्कासनसंस्थिताः ॥ १३ ॥
रत्नमय्यो युताः स्वस्व-परिवारेण हारिणा।
शाश्वतार्हत्प्रतिमाः प्र-त्येकमष्टोत्तरं शतम् ॥ १४ ॥
द्वे द्वे नागयक्षभूत-कुण्डभृत्प्रतिमे पृथक्।
प्रतिमानां पृष्ठतस्तु, छत्रभृत्प्रतिमैकका ॥ १५ ॥
तेषु धूपघटीदाम-घण्टाष्टमङ्गलध्वजाः।
छत्रतोरणचङ्गेर्यः, पटलाभ्यासनानि च ॥ १६ ॥
षोडश पूर्वकलशाः, दीप्त्यलङ्करणानि च।

सुवर्णरुचिररजो-वालुकास्तत्र भूमयः ॥ १७ ॥
आयतनप्रमाणेन, रुचिरा मुखमण्डपाः ।
प्रेक्षार्थमण्डपा अक्ष-वाटिका मणिपीठिकाः ॥ १८ ॥
रम्याश्च स्तूपप्रतिमा-श्चैत्यवृक्षाश्च सुन्दराः ।
इन्द्रध्वजाः पुष्करिण्यो, दिव्याः सन्ति यथाक्रमम् ॥ १९ ॥
प्रतिमाः षोडश चतु-र्द्वारस्तूपेषु सर्वतः ।
शतं चतुर्विंशमेवं, ताः साष्टशततद्युताः ॥ २० ॥
प्रत्येकमञ्जनाद्रीणां, ककुत्सु चतसृष्वपि ।
गते लक्षे योजनानां, निर्मत्स्यस्वच्छवारयः ॥ २१ ॥
सहस्रहयोजनोद्वेधाः, विष्कम्भे लक्षयोजनाः ।
पुष्करिण्यः सन्ति तासां, क्रमान्नामानि षोडश ॥ २२ ॥
नन्दिषेणा चामोघा च, गोस्तूपाऽथ सुदर्शना ।
तथा नन्दोत्तरा नन्दा, सुनन्दा नन्दिवर्द्धना ॥ २३ ॥
भद्रा विशाला कुमुदा, पुण्डरीकिणिका तथा ।
विजया वैजयन्ती च, जयन्ती चापराजिता ॥ २४ ॥
प्रत्येकमासां योजन-पञ्चशत्या परत्र च ।
योजनानां पञ्चशतीं, यावद्विस्तारभाञ्जि तु ॥ २५ ॥
लक्षयोजनदीर्घाणि, महोद्यानानि तानि तु ।
अशोकसप्तच्छदक-चम्पकचूतसंज्ञया ॥ २६ ॥
मध्ये पुष्करिणीनां च, स्फाटिकाः कल्पमूर्त्तयः ।
ललामवेद्युद्यानानि, चिह्ना दधिमुखाद्रयः ॥ २७ ॥
चतुःषष्टिसहस्रोचाः, सहस्रं चावगाहिनः ।
सहस्राणि दशाधस्ता-दुपरिष्टाच्च विस्तृताः ॥ २८ ॥
अन्तरे पुष्करिणीनां, द्वौ द्वौ रतिकराचलौ ।
ततो भवन्ति द्वात्रिंश-देते रतिकराचलाः ॥ २९ ॥
शैलेषु दधिमुखेषु, तथा रतिकराद्रिषु ।
शाश्वतान्यर्हच्चैत्यानि, सन्त्यञ्जनगिरिष्विष ॥ ३० ॥
चत्वारोद्वीपविदिक्षु, तथा रतिकराचलाः ।
दशयोजनसाहस्रा-ऽऽयामविष्कम्भशालिनः ॥ ३१ ॥
योजनानां सहस्रं तु, यावदुच्छ्रयशोभिताः ।
सर्वरत्नमया दिव्याः, झल्लर्य्याकारधारिणः ॥ ३२ ॥
तत्र द्वयोः रतिकरा-चलयोर्दक्षिणस्थयोः ।
शकस्येशानस्य पुन-रुत्तरस्थितयोः पृथक् ॥ ३३ ॥
अष्टानां महादेवीनां, राजधान्योऽष्टदिक्षु ताः ।
लक्षोद्वेधा लक्षमानाः, जिनाऽऽयतनभूषिताः ॥ ३४ ॥
सुजाता सौमनसा चा-र्चिर्माली च प्रभाकरा ।
पद्मा शिवाशुभाञ्जने, चूता चूतावतंसिका ॥ ३५ ॥
गोस्तूपासुदर्शने अ-प्यमलाप्सरसौ तथा ।
रोहिणी नवमी चाथ, रत्ना रत्नोच्चयाऽपि च ॥ ३६ ॥
सर्वरत्ना रत्नसंच-या वसुर्वसुमित्रिका ।
वसुभागाऽपि च वसु-धरानन्दोत्तरे अपि ॥ ३७ ॥
नन्दोत्तरकुरुर्देव-कुरुः, कृष्णा ततोऽपि च ।
कृष्णराजीरमाराम-रक्षिताः प्राक्क्रमादमूः ॥ ३८ ॥
सर्वर्द्धयस्तासु देवाः, कुर्वते सुपरिच्छदाः ।
चैत्ये ह्यष्टाहिकाः पुण्य-तिथिषु श्रीमदर्हताम् ॥ ३९ ॥
प्राच्येऽञ्जनगिरौ शक्रः, कुरुतेऽष्टाहिकोत्सवम् ।
प्रतिमानां शाश्वतीनां, चतुर्द्वारि जिनालये ॥ ४० ॥
तस्य चाग्रे चतुर्दिक्स्थ-महावापीविचर्चिषु ।
स्फाटिकेषु दधिमुख-पर्वतेषु चतुर्ष्वपि ॥ ४१ ॥
चैत्येष्वर्हत्प्रतिमानां, शाश्वतीनां यथाविधि ।
चत्वारः सर्वदिग्पालाः, कुर्वतेऽष्टाहिकोत्सवम् ॥ ४२ ॥
ईशानेन्द्राश्चौत्तराहे-ऽञ्जनाद्रौ विदधाति तम् ।
तल्लोकपालास्तद्वापी-दधिमुखाद्रिषु कुर्वते ॥ ४३ ॥
चमरेन्द्रो दाक्षिणात्ये-ऽञ्जनाद्रावुत्सवं चरेत् ।
तद्वाप्यन्तर्दधिमुखे-ष्वस्य दिक्पतयः पुनः ॥ ४४ ॥
पश्चिमे जिनशैले तु, बलीन्द्रः कुरुते महम ।
तद्दिक्पालास्तु तद्वाप्य-न्तर्भाग्दधिमुखाद्रिषु ॥ ४५ ॥
वर्षद्वीपदिनाऽऽरब्धा-नुपवासान् कुहूतिथौ ।
कुर्वन्नन्दीश्वरोपास्त्यै, श्रेयसीं श्रियमार्जयेत् ॥ ४६ ॥
भक्त्या चैत्यानि वन्दारु-स्तत्स्तोत्रस्तुतिपाठभाक् ।
नन्दीश्वरमुपासीनो-ऽनुपर्वाहस्तदुत्तरम् ॥ ४७ ॥
प्रायः पूर्वाऽऽचार्य-प्रथितैरेवायमाचितः श्लोकैः ।
श्रीनन्दीश्वरकल्पो, लिखित इति श्रीजिनप्रभाऽऽचार्यैः ॥ ४८ ॥

इति नन्दीश्वरकल्पः । ती० ४९ कल्प ।

णंदी-स्त्री०(नन्दी) ' णंदि ' शब्दार्थे, आ० म० द्वि० । गवि, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदीचुण्णग-न०(नन्दीचूर्णक) ' णंदीचुण्णग ' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

णंदीसरवर-पुं०(नन्दीश्वरवर) नन्दीश्वर एव वरश्च मनुष्यद्वीपा-पेक्षया बहुतरजिनभवनाऽऽदिसद्भावेन तस्य वरत्वादिति । अष्टमे, द्वीपे, स्था० ४ ठा० २ उ० । जी० । द्वी० ।

तद्वक्तव्यता चैवम्-

खोदोदं णं समुद्दं नंदीसरवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारसंठाण-संठिते तहेव० जाव परिक्खेवतो पउमवरवणसंडे परिदारा दारं-तरापदेसा जीवा तहेव २; से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइणंदी-सरवरो दीवो णंदीसरवरो दीवो ? गोयमा ! देसे देसे बहुओ खुड्डा खुड्डियाओ वावीओ० जाव विलपंतियाओ खेत्तोदग-पडिहत्थातो उप्पातपव्वया सव्ववइरामया अच्छा० जाव पडिरूवा, अदुत्तरं च णं गोयमा ! णंदीसरदीवचक्कवालविक्खं-भबहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं चउद्दिसिं चत्तारि अंजणपव्वया पण्णत्ता ।

(खोदोदं णं समुद्दमित्यादि) क्षोदोदं, णमिति पूर्ववत् । समुद्रं, नन्दीश्वरवरो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितः, सर्वतः समन्तात् , संपरिक्षिप्य तिष्ठति । चक्रवालविष्कम्भपरिक्षेपाऽऽदिवक्तव्यता प्राग्वत् , यावद् जीवोपपातसूत्रम् । सम्प्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह-(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केन कारणेन एवमुच्यते-नन्दीश्वरवरो द्वीपः नन्दीश्वरवरद्वीप इति ? भगवानाह-गौतम ! नन्दीश्वरद्वीपे बहवः '' खुड्डा खुड्डियाओ वावीओ '' इत्यादि प्रागुक्तं सर्वं तावद्वक्तव्यं, यावत् '' वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति संयंति० जाव विहरंति नवरमत्र वाप्यादयः क्षोदोदकप्रतिपूर्णा वक्तव्याः, पर्वतकाः, पर्वतकेष्वासनानि, गृहकाणि, गृहकेष्वासनानि, मण्डपकाः, मण्डपकेषु शिलापट्टकाः सर्वाऽऽत्मना वज्रमयाः, शेषं तथैव । (अदुत्तरं च णं गोयमा ! इत्यादि) अथान्यद् गौतम ! नन्दीश्वरे चत्वारो दिशः समाहृताश्चतुर्दिक् , तस्मिन् चक्रवाल-विष्कम्भेण बहुमध्यदेशभागे एकैकस्यां दिशि एकैकभागेन चत्वारोऽ-ञ्जनकपर्वताः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-पूर्वस्यां दिशि, एवं पश्चिमायां, दक्षिण-

स्यामुत्तरस्याम् । जी० ३ प्रति० । प्रव० । चं० प्र० । सु० । प्र० । स्था० । (अञ्जनकपर्वताः स्वस्थाने उक्ताः) '' णंदीसरवरदीवस्स णं दीवस्स अंतो सत्त दीवा पण्णत्ता । तं जहा-जंबुद्दीवे, धायइखंडे, पुक्खरवरे, वारुणिवरे, खीरवरे, घयवरे, क्खोयवरे । णंदीसरवरस्स णं दीवस्स अंतो सत्त समुद्दा पण्णत्ता । तं जहा-लवणे, कालोए, पुक्खरोदे, वरुणोदे, खीरोदे, घओदे, क्खोओए । स्था० ७ ठा० ।

णंदीसरवरोद-पुं०(नन्दीश्वरवरोद) नन्दीश्वरद्वीपस्याभितः समुद्रे, जी० ।

णंदीसरवरे णं दीवे णंदीसरवरोदे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए० जाव सव्वं तहेव अट्ठो, जहा क्खोदोदगस्स० जाव सुमणसोमणसा य अत्थ दो देवा महिड्ढिया० जाव परिवसंति, सेसं तहेव० जाव तारग्गं ॥

'' णंदीसरवरे णं '' इत्यादि । नन्दीश्वरवरं, णमिति पूर्ववत् । नन्दीश्वरवरोदो नाम समुद्रो वृत्तो बलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति । यथैव क्षोदोदकसमुद्रस्य वक्तव्यता, तथैवास्यापि अर्थसहिता वक्तव्यता, नवरमत्र सुमनसौमनसौ च द्वौ देवौ वक्तव्यौ, तावतिशयेन स्फीताविति । जी० ३ प्रति० ।

णंदुत्तर-पुं०(नन्दोत्तर) भवनपतीन्द्राणां रथानीकाधिपतिषु, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

णंदुत्तरा-स्त्री०(नन्दोत्तरा) उत्तरपौरस्त्ये रतिकरपर्वते ईशास्य देवेन्द्रस्य कृष्णाया अग्रमहिष्या राजधान्याम् , जी० ३ प्रति० । स्वनामख्यातायां शाश्वतनन्दापुष्करिण्याम् , स्था० ४ ठा० २ उ० । मन्दरस्य पर्वतस्य रिष्टकूटवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम् , जं० ५ वक्ष० द्वी० । स्था० । ति० । ती० । जी० । आ० म० । स्वनामख्यातायां श्रेणिकमहाराजभार्यायाम् , सा च वीरजिनान्तिके प्रव्रज्य सिद्धा, इत्यन्तकृद्दशानां सप्तमे वर्गे तृतीयेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ७ वर्ग० १ अ० । ती० ।

णकर-न०(नगर) **'' चूलिकापैशाचिके तृतीयचतुर्थयोराद्यद्वितीयौ '' ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥** इति गस्य कः । प्रा० ४ पाद । प्रांशुप्राकाबद्धे सन्निवेशे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

णक्क-न०(नासिक्य) नासिकान्तर्नाड्याम् , विपा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० ।

***णक्क**-न० । ' नाक ' इति ख्याते जलचरभेदे, प्रज्ञा० १ पद० । प्रश्न० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० ।

णक्ख-पुं०(नक्ख) **'' सेवाऽऽदौ वा '' ॥ ८ । २ । ९९ ॥** इति खद्वित्वम् । प्रा० २ पाद । कररुहे, जी० ३ प्रति० । औ० । करजे, मदनाङ्कुशे च । पुं० । न० । हैम० । नखेषु, दे० ना० ४ वर्ग ।

णक्खण्णणिया-स्त्री०(नखार्चनिका) नखहरणिकायाम् , '' नक्खन्नणं नखकंटाई '' नखार्चनं नखहरणिका, सा नखच्छेदनार्थं, कण्टकाऽऽदिशल्योद्धरणार्थं वा गृह्यते । बृ० १ उ० ।

णक्खत्त-न०(नक्षत्र) ज्योतिष्कभेदे, द० प० ।

विषयसूची-

(१) योग इति वस्तुनो नक्षत्रजातस्य क्रमेण चन्द्रसूर्यैः सह संपातविषये पञ्च प्रतिपत्तीरुद्भाव्य भगवन्मतनिरूपणम् ।

(२) यानि नक्षत्राणि प्रत्येकं द्वे द्वे, तेषां प्रतिपादनम् ।

(३) अष्टाविंशतेर्नक्षत्राणामष्टाविंशतिदेवतानां सामान्यतो नामनिदर्शनम् ।

(४) जम्बूद्वीपेऽभिजिद्वर्जितैः सप्तविंशतिनक्षत्रैर्व्यवहारो भवतीति प्रतिपादनम् ।

(५) येषु नक्षत्रेषु गमनप्रस्थानाऽऽदीनि कार्याणि कर्तव्यानि, येषु नेति, तदुद्घाटनम् ।

(६) पादोपगमनलोचकर्माऽऽदीनि येषु नक्षत्रेषु कर्तव्यानि वर्ज्यनक्षत्राण्युदस्य तेषां निरूपणम् ।

(७) क्षिप्रमृदुसंज्ञकानि स्वाध्यायाऽऽदिनक्षत्राणि ।

(८) तपःकर्मोपकरणगणसंग्रहनक्षत्रप्ररूपणं करणप्ररूपणं च ।

(९) ज्ञानवृद्धिकराणां नक्षत्राणां निदर्शनम् ।

(१०) प्रतिनक्षत्रं मुहूर्तपरिमाणविचारे चन्द्रेण सार्द्धं नक्षत्रयोगप्रतिपादनम् ।

(११) तथैव सूर्येणापि साकं तदभिधानम् ।

(१२) नक्षत्राणामादानविसर्गपरिज्ञाननिमित्तनिरूपणम् ।

(१३) चन्द्रसूर्ययोगे नक्षत्रशोधनपरामर्शः ।

(१४) यावन्ति भागानि नक्षत्राणि चन्द्रेण सह युज्यन्ते, तेषां प्रतिपादनम् ।

(१५) यानि प्रमदयोगीनि नक्षत्राणि, तेषामभिधानम् ।

(१६) यावन्ति नक्षत्राणि यावन्ति भागानि पूर्णिमाऽमाभ्यां, तत्परामर्शः ।

(१७) यद नक्षत्रं यावत्तारं भवति, तन्निर्देशः ।

(१८) यावन्ति नक्षत्राणि स्वयमस्तंगमनाहोरात्रपरिसमापकतया यं मासं नयन्ति, तन्निरूपणम् ।

(१९) येषां नक्षत्राणां या देवतास्तासामभिजिन्नक्षत्रत उत्तराषाढापर्यन्तं विशिष्य विवेचनम् ।

(२०) नक्षत्राणां गोत्राणि ।

(२१) नक्षत्रेषु यानि भोजनानि, तन्निरूपणम् ।

(२२) यन्नक्षत्रं यद्द्वारिकं, तत्प्रदर्शनम् ।

(२३) नक्षत्रविचयनिदर्शनम् ।

(२४) सायं प्रातश्च नक्षत्रचन्द्रयोगविचारः ।

(२५) पूर्णिमासु चन्द्रनक्षत्रयोगस्य सूर्यनक्षत्रयोगस्य च प्ररूपणम् ।

(२६) यस्मिन् देशे यन्नक्षत्रं यावता कालेन भूयश्चन्द्रेण सह सूर्येण वा साकं योगमुपागच्छति, तावतः कालस्य प्ररूपणम् ।

(२७) नक्षत्राणां संस्थानानि ।

(२८) नक्षत्राणामन्तर्बहिश्च चारप्रतिपादनम् ।

(१) तत्संख्या-

ता जोए ति वत्थुस्स आवलियनिवाते आहिते ति वदेज्जा । ता कहं ते जोगे ति वत्थुस्स आवलियनिवाते आहिते ति वदेज्जा ? तत्थ खलु इमाओ पंच वडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थेगे एवमाहंसुता सव्वे हि णं णक्खत्ता कत्तिवादीआ भरणीपज्जवसिआ आहिते ति वदेज्जा, एगे

एवमाहंसु । १ । एगे पुण एवमाहंसुता सव्वे वि णं णक्खत्ता महाऽऽदीआ अस्सेसापज्जवसिआ आहितेति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु । २ । एगे पुण एवमाहंसुता सव्वे वि णं णक्खत्ता धणिट्ठाऽऽदिया सवणपज्जवसिया आहिता ति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु । ३ । एगे पुण एवमाहंसुता सव्वे वि णं णक्खत्ता अस्सि-णीआदिआ रेवतिपज्जवसिआ आहिता ति वदेज्जा, एगे एवमा-हंसु । ४ । एगे पुण एवमाहंसुता सव्वे वि णक्खत्ता भरणीआदिआ अस्सिणी-पज्जवसिता आहितेति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु । ५ । वयं पुण एवं वदामो ता सव्वे वि णं णक्खत्ता अभिजिताऽऽदिआ उत्तरासाढापज्जवसिआ आहिता ति वदेज्जा । तं जहा- अभिजिए, सवणो, धणिट्ठा, सतभिसता, पुव्वभद्दवता, उत्तराभद्दवता, रेवती, अस्सिणी, भरणी, कत्तिया, रोहिणी, मिगसिरं, अद्दा, पुणव्वसू , पुस्सो, असिलेसा, मघा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तरा-फग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साती, विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा ।

अत्र चायमर्थाधिकारः । यथा-योगमिति किं भगवन् ! त्वया समाख्यायत इति ? ततस्तद्विषयं निर्वचनसूत्रमाह- '' ता जोगे ति वत्थुस्स '' इत्यादि । ' ता ' इति । आस्तां तावदन्यत्कथनीयम् , इदानीं तावदेतदेव कथ्यतेयोग इति वस्तुनो नक्षत्रजातस्य (आवलियनिवाते त्ति) आवलिकया क्रमेण, निपातश्चन्द्रसूर्यैः, सह संपातः, आख्यातो मयेति वदेत् स्वशिष्येभ्यः । एवमुक्ते भगवान् गौतमः पृच्छति- '' ता कहं ते '' इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् , कथं केन प्रकारेण, भगवन् ! त्वया योग इति योगस्य वस्तुनो नक्षत्रजातस्याऽऽवलिकानिपातः, स आख्यात इति वदेत् ? भगवानाह- '' तत्थ खलु '' इत्यादि । तत्र तस्मिन् नक्षत्रजातस्याऽऽवलिकानिपातविषये, खल्विमाः पञ्च प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-तत्र तेषां पञ्चानां परतीर्थिकानां मध्ये, एके परतीर्थिका एवमाहुः- ' ता ' इति पूर्ववत् । सर्वाण्यपि नक्षत्राणि कृत्तिकाऽऽदीनि भरणीपर्यवसानानि प्रज्ञप्तानि । क्लीबत्वे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । तत्रैवोपसंहारमाह- '' एगे एवमाहंसु १ '' । एवं शेषप्रतिपत्तिचतुष्टयगतान्यपि सूत्राणि परिभावनीयानि । तदेवं परप्रतिपत्तीरुपदर्श्य संप्रति स्वमतमुपदर्शयति- '' वयं पुण '' इत्यादि । वयं पुनरेवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह- '' ता सव्वे वि णं '' इत्यादि । ''ता'' इति पूर्ववत् । सर्वाण्यपि नक्षत्राण्यभिजिदादीनि, उत्तराषाढापर्यवसानानि प्रज्ञप्तानि । कस्मात् ? इति चेत् । उच्यते-इह सर्वेषामपि सुषमसुषमाऽऽदिरूपाणां कालविशेषाणामादिर्युगम् , '' एए उ सुसमसुसमादओ अद्धाविसेसो जुगाइणा सह पवत्तते, जुगं तेण सह समप्पंति, इति श्रीपादलिप्तसूरिवचनप्रामाण्याद् , युगस्य चाऽऽदिः प्रवर्तते श्रावणे मासे बहुलपक्षे प्रतिपदि तिथौ बालवकरणे अभिजिति नक्षत्रे चन्द्रेण सह योगमुपगच्छति ।

तथा चोक्तं ज्योतिष्करण्डके-

'' सावणबहुलपडिवए, बालवकरणे अभीइणक्खत्ते ।
सव्वत्थ पढमसमए, जुगस्स आइं विआणाहि ॥ १ ॥ ''

अत्र (सव्वत्थेति) भरते ऐरवते महाविदेहे च, शेषं सुगमम् ।

ततः सर्वेषामपि कालविशेषाणामादौ चन्द्रयोगमधिकृत्याभिजिन्नक्षत्रस्य प्रवर्तमानत्वादभिजिदादीनि नक्षत्राणि प्रज्ञप्तानि । तान्येव तद् यथेत्यादिनोपदर्शयति- '' अभिई सवणो '' इत्यादि । सू० प्र० १० पाहु० १ पाहु० ।

(२) एतानि नक्षत्राणि प्रत्येकं द्वे द्वे-

दो कत्तियाओ, दो रोहिणीओ, दो मियसिराओ, दो अद्दाओ, एवं भाणियव्वं-

'' कत्तिय रोहिणि मियसिर, अद्दा य पुणव्वसू य पुस्सो य ।
तत्तो वि अस्सलेसा, महा य दो फग्गुणीओ य ॥ १ ॥
हत्थो चित्ता साई, य विसाहा होंति अणुराहा ।
जेट्ठा मूलो पुव्वा-आसाढा उत्तरा चेव ॥ २ ॥
अभिई सवण धणिट्ठा, सयभिसया दो य होंति भद्दवया ।
रेवइ अस्सिणि भरणी, णेयव्वा आणपुव्वीए '' ॥ ३ ॥
एवं गाहाणुसारेण णायव्वं० जाव दो भरणीओ ।

द्वे कृत्तिके नक्षत्रापेक्षया, न तु तारकाऽपेक्षया, इत्येवं सर्वत्रेति । '' कत्तिए '' इत्यादि गाथात्रयेण नक्षत्रसूत्रसंग्रहः ।

(३) कृत्तिकाऽऽदीनामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां क्रमेणाग्न्यादयोऽष्टाविंशतिरेव देवता भवन्ति । ता आह-

दो अग्गी, दो पयावई, दो सोमा, दो रुद्दा, दो अइई, दो बहस्सई, दो सप्पा, दो पिई, दो भगा, दो अज्जमा, दो सविया, दो तट्ठा, दो वाऊ, दो इंदग्गी, दो मित्ता, दो इंदा, दो निरई, दो आऊ, दो विस्सा, दो बम्हा, दो विण्हू , दो वसू , दो वरुणा, दो अया, दो विविद्धी, दो पूसा, दो अस्सा, दो जमा ।

द्वावग्नी १, एवं प्रजापती २, सौमौ ३, रुद्रौ ४, अदिती ५, बृहस्पती ६, सर्पौ ७, पितरौ ८, भगौ ९, अर्यमणौ १०, सवितारौ ११, त्वष्टारौ १२, वायू १३, इन्द्राग्नी १४, मित्रौ १५, इन्द्रौ १६, निर्ऋती १७, आपः १८, विश्वौ १९, ब्रह्माणौ २०, विष्णू २१, वसू २२, वरुणौ २३, अजौ २४, विवृद्धी (२५) । ग्रन्थान्तरे अहिर्बुध्नावुक्तौ २५ । पूषणौ २६, अश्विनौ २७, यमाविति २८ ।

ग्रन्थान्तरे पुनरश्विनीत आरभ्यैता एवमुक्ताः-

'' अश्वियमदहनकमलज-शशिशूलभृददितिजीवफणिपितरः ।
योन्यर्यमदिनकृत्त्व-ष्टृ पवनशक्राग्निमित्राऽऽख्याः ॥ १ ॥
ऐन्द्रो नैर्ऋतितोऽयं, विश्वौ ब्रह्मा हरिर्वसुर्वरुणः ।
अजपादोऽहिर्बुध्नः, पूषा चेतीश्वरा भानाम् '' ॥ २ ॥

स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

(४) जंबुद्दीवे दीवे अभिईवज्जेहिं सत्तावीसाए णक्खत्तेहिं संववहारे वट्टति ।

जम्बूद्वीपे, न धातकीखण्डाऽऽदौ, अभिजिद्वर्जैः सप्तविंशत्या नक्षत्रैर्व्यवहारः प्रवर्त्तते, अभिजिन्नक्षत्रस्योत्तराषाढचतुर्थपादानुप्रवेशनादिति । सं० २७ सम० ।

(५) केषु नक्षत्रेषु कानि कार्याणि गमनप्रस्थानाऽऽदीनि कर्त्तव्यानि-

पुस्सऽस्सिणि मिगसिर रे-वई य हत्थो तहेव चित्ता य।
अणुराह जिट्ठ मूलो, नव णक्खत्ता गमणसिद्धा ॥ ११ ॥
मिगसिर महा य मूलो, विसाह तहचेव होइ अणुराहा।
हत्थुत्तर रेवइ अ-स्सिणी य सवणे य णक्खत्ते ॥ १२ ॥
एएसु य अद्धाणं, पत्थाणं ठाणयं च कायव्वं।
जइ य गहुत्थ न चिट्ठइ, संझामुक्कं च जइ होइ ॥ १३ ॥
उप्पन्नभत्तपाणो, अद्धाणम्मि उ सया उ जो होइ।
फलपुप्फवग्गुवेओ, गओ वि खेमेण सो एइ ॥ १४ ॥

सन्ध्यागताऽऽदीनि-

संझागयं रविगयं, विड्डेरं सग्गहं विलंबिं च।
राहुहयं गहभिन्नं, च वज्जए सत्त नक्खत्ते ॥ १५ ॥
अत्थमणे संझागय, रविगय जह पट्ठिओ उ आइच्चो।
विड्डेरमविद्दारिय, सग्गह कूरग्गहठियं तु ॥ १६ ॥
आइच्चपिट्ठओ जं, विलंबि राहूहयं जहिं गहणं।
मज्झेण गहो जस्स उ, गच्छइ तं होइ गहभिन्नं ॥ १७ ॥
संझागयम्मि कलहो, होइ विवाओ विलंबि नक्खत्ते।
विड्डेरे परविजओ, आइच्चगए अणिच्चाणि ॥ १८ ॥
जं सग्गहम्मि कीरइ, नक्खत्ते तत्थ निग्गहो होइ।
राहुहयम्मि य मरणं, गहभिन्ने सोणिउग्गालो ॥ १९ ॥
संझागयं गहगयं, आइच्चगयं च दुब्बलं रिक्खं।
संझाऽऽइच्चविमुक्कं, गहमुक्कं चेव बलियाइं ॥ २० ॥

(६) पादोपगमनलोचकर्माऽऽदीनि-

पुस्सो हत्थो अभिई य, अस्सिणी भरणी तहा।
एएसु य रिक्खेसु य, पाओवगमणं करे ॥ २१ ॥
सवणेण धणिट्ठाई, पुणव्वसू न वि करिज्ज निक्खमणं।
सयभिसयस्स न बंभे, विज्जाऽऽरंभे पवित्तिज्जा ॥ २२ ॥
हत्थाइ पंच रिक्खा, वत्थुस्स पसत्थगा विणिद्दिट्ठा।
उत्तर तिन्नि धणिट्ठा, पुणव्वसू रोहिणी पुस्सो। २३। द० प०।
पुणवसुणा पुस्सेणं, सवणेण धणिट्ठया।
एएहिंचउरिक्खेहिं, लोयकम्माणि कारए ॥ २५ ॥
द० प०। विशे०। व्य०। आ० म०। पं० व०।
कत्तियाहि विसाहाहिं, मघाहिँ भरणीहि य।
एएहिँ चउरिक्खेहिं, लोयकम्माणि वज्जए ॥ २६ ॥
तिहिँ उत्तराहिँ तह रो-हिणीहिँ कुज्जा उ सेहनिक्खमणं।
सेहोवट्ठावणं कुज्जा, अणुन्ना गणिवायए ॥ २७ ॥
गणसंगहणं कुज्जा, गणहरं चेव ठावए।
उग्गहं वसहिट्ठाणं, थावराणि पवत्तए ॥ २८ ॥

(७) स्वाध्यायाऽऽदिनक्षत्राणि क्षिप्रमृदुसंज्ञकानि-

पुस्सो य हत्थो अभिई, अस्सिणी य तहेव य।
चत्तारि खिप्पकारीणि, विज्जाऽऽरंभेसु सोहणा ॥ २९ ॥
विज्जाणं धारणं कुज्जा, बंभलोगे य साहए।
सज्झायं च अणुन्नं च, उद्दिसो य समुद्दिसो ॥ ३० ॥
अणुराहा रेवई चेव, चित्ता मिगसिरं तहा।
मिऊ णेयाणि चत्तारि, मिउकम्मं तेसु कारए ॥ ३१ ॥
भिक्खाचरणऽमत्ताणं, कुज्जा गहणधारणं।
संगहोवग्गहं चेव, बालबुड्ढाण कारए ॥ ३२ ॥
(८) अहा अस्सेस जिट्ठा य, मूलो चेव चउत्थओ।
गुरुणो कारए पडिमं, तवोकम्मं च कारए ॥ ३३ ॥
दिव्वमाणुस्सतेरिच्छ-उवसग्गेऽहियासए।
गुरूसु चरणकरणं, उग्गहोवग्गहं करे ॥ ३४ ॥
महा भरणि पुव्वाणि, तिन्निओ य वियाहिया।
एएसु य तवं कुज्जा, सब्भितरयवाहिरं ॥ ३५ ॥
तिन्नि सयाणि सट्ठाणि, तवोकम्मा य आहिया।
उग्गनक्खत्तजोएसु, तेसुमन्नतरं करे ॥ ३६ ॥
कत्तिया य विसाहा य, उण्हा एयाणि दुन्निओ।
लिंपणं सिंचणं कुज्जा, संचारग्गहधारणं ॥ ३७ ॥
उवगरणभंडमाईणं, विवायं चीवराण य।
उवगरणं विभागं च, आयरियाणं च कारए ॥ ३८ ॥
धणिट्ठा सयभिसा साई, सवणो य पुणव्वसू।
एएसु गुरुसुस्सूसं, चेइयाणं च पूयणं ॥ ३९ ॥
सज्झायकरणं कुज्जा, विज्जाऽऽरम्भे य कारए।
चेओवट्ठावणं कुज्जा, अणुन्नं गणिवायए ॥ ४० ॥
गणसंगहणं कुज्जा, सेहनिक्खमणं तहा।
संगहोवग्गहं कुज्जा, गणावच्छेइयं तहा ॥ ४१ ॥
वव १ वालवं च २ तह को-लवं च तेतीलयं ४ गराइं च ५।
वणियं ६ विट्ठी ७ य तहा, सुद्धपडिवए निसाईया ॥ ४२ ॥
सउणि चउप्पय नागं, किंतुग्घं च करणा धुवा हुंति।
किन्हचउद्दसिरत्तिं, सउणी पडिवज्जए करणं ॥ ४३ ॥
काऊण तिहिं वि ऊणं, जम्हेगो साहए न पुण काले।
सत्तहि हरिज्ज भागं, जं सेसं तं भवे करणं ॥ ४४ ॥
द० प०। स०। स्था०। चं० प्र०।

(९) ज्ञानवृद्धिकराणि नक्षत्राणि-

दस नक्खत्ता नाणवुड्ढिकरा पण्णत्ता। तं जहा-
'' मिगसिर अहा पुस्सो, तिन्नि अ पुव्वाइ मूलमस्सेसा।
हत्थो चित्ता य तहा, दस वुड्ढिकरा य नाणस्स '' ॥ १ ॥
स० १० सम०। द० प०।

(१०) चन्द्रनक्षत्रयोगः-

ता कहं ते मुहुत्तग्गे आहिते ति वदेज्जा ? ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ते, जे णं णव मुहुत्ते,

सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं पण्णरस मुहुत्ते णं चंदेण सद्धिं जोयं जोइंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोइंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं पणतालीसं मुहुत्ते णं चंदेण सद्धिं जोगं जोइंति। ता एएसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं कयरे णक्खत्ते, जे णं नव मुहुत्ते, सत्तावीसं च सत्तट्ठिभाए मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएति ? कयरे णक्खत्ता, जे णं पणरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोइंति ? कयरे णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोगं जोइंति ? कयरे णक्खत्ता, जे णं पणयालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोइंति ? ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं तत्थ जे ते णक्खत्ते, जे णं णव मुहुत्ते, सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सुद्धिं जोयं जोएति ; से णं एगे अभिई। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं पण्णरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोइंति ; ते णं छ। तं जहा-सतभिसया, भरणी, अद्दा, अस्सेसा, साती, जेट्ठा। तत्थ जे णं तीसं मुहुत्तं चंदेण सद्धिं जोगं जोइंति ; ते पण्णरस। तं जहा-सवणो, धणिट्ठा, पुव्वाभद्दवता, रेवती, अस्सिणी, कत्तिया, मगसिरं, पुस्सो, महा, पुव्वाफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, अणुराहा, मूलो, पुव्वासा-ढा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, ते णं पणतालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोगं जोइंति, ते णं छ। तं जहा-उत्तराभद्दवता, रोहिणी, पुणव्वसू, उत्तराफग्गुणी, विसाहा, उत्तरासाढा।

'ता' इति पूर्ववत्। कथं भगवन् ! प्रतिनक्षत्रं मुहूर्त्ताग्रं मुहूर्त्तपरिमाणमाख्यातमिति वदेत् ? एवमुक्ते भगवानाह- ''ता एएसि णं'' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मध्ये, अस्ति तन्नक्षत्रं, यन्नव मुहूर्त्तान्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशति-सप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति उपैति। तथाऽस्ति निपातत्वादव्ययत्वाद्वा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि पञ्चदश मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगमुपयान्ति। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि त्रिंशतं मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगमश्नुवते। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि पञ्चचत्वारिंशतं मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगं युञ्जन्ति। एवं सामान्येन भगवतोक्ते विशेषनिर्द्धारणार्थं भगवान् पृच्छति गौतमः- ''ता एएसि णं'' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये, कतरद् तन्नक्षत्रं, यन्नव मुहूर्त्तान्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिसप्तषष्टिभागान् यावच्चन्द्रेण सह योगं युनक्ति ? तथा कतराणि तानि नक्षत्राणि, यानि पञ्चदश मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगं युञ्जन्ति ? तथा कतराणि तानि नक्षत्राणि, यानि त्रिंशतं मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगमश्नुवते ? तथा कतराणि तानि नक्षत्राणि, यानि पञ्चचत्वारिंशतं मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सार्द्धं योगमुपयान्ति ? एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह- ''ता एएसि णं'' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मध्ये यन्नक्षत्रं नव मुहूर्त्तान्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिसप्तषष्टिभागान् यावच्चन्द्रेण सह योगं युनक्ति। तदेकमभिजिन्नक्षत्रमवसेयम्। कथमिति चेत् ? उच्यते-इह अभिजिन्नक्षत्र सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रस्यैकाविंशतिभागान् चन्द्रेण सह योगमुपैति। ते चैकविंशतिरपि भागा मुहूर्त्तगतभागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि षट्शतानि त्रिंशदधिकानि ६३०। तथा चैतावान् कालमधिकृत्य सीमाविस्तारोऽभिजिन्नक्षत्रस्यान्यत्राप्युक्तः- '' छच्चेव सया तीसा, भागाणं अभिइ सीमविक्खंभो। दिट्ठो सव्वडहरगो:, सव्वेहिंऽणंतणाणीहिं॥ १॥'' तेषां सप्तषष्टया भागो ह्रियते, लब्धा नव मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः। ६। $\frac{२७}{६७}$। उक्तं च- '' अभिइस्स चंदजोगो, सत्तट्ठी खंडिओ अहोरत्तो। भागा य एगवीसं, ते अहिया नव मुहुत्ता ''॥ १॥ तथा '' तत्थ '' इत्यादि। तत्र तेषामष्टा-विंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि पञ्चदश मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगमश्नुवेत, तानि षट्। तद्यथा-'' सतभिसया '' इत्यादि। तथाहि-एतेषां षण्णामपि नक्षत्राणां प्रत्येकं सप्तषष्टि-खण्डीकृतस्याहोरात्रस्य सत्कान् सार्द्धान् त्रयस्त्रिंशद्भागान् यावच्चन्द्रेण सह योगो भवति, ततो मुहूर्त्तगतसप्तषष्टिभागकरणार्थं त्रयस्त्रिंशत् त्रिंशता गुण्यते, जातानि नवशतानि नवत्यधिकानि ९९०। यदपि सार्द्धं, तदपि त्रिंशता गुणयित्वा द्विकेन भज्यते, लब्धाः पञ्चदश मुहूर्त्तस्य सप्तषष्टिभागाः, ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातं पूर्वराशिसहस्रं पञ्चोत्तरम् १००५। तथा चैतेषां प्रत्येकं कालमधिकृत्य सीमाविस्तारो मुहूर्त्तगतसप्तषष्टिभागानां पञ्चोत्तरं सहस्रमुक्तः- '' सयभिसया भरणीए, अद्दा अस्सेस साइ जिट्ठा य। पंचोत्तरं सहस्सं, भागाणं सीमविक्खंभो॥ १॥'' अस्य पञ्चोत्तरसहस्रस्य सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्चदश मुहूर्त्ताः। उक्तं च-'' सयभिसया भरणीओ, अद्दा अस्सेस साइ जिट्ठा य। एए छ नक्खत्ता, पन्नरस मुहुत्तसंजोगा॥ १॥'' तथा-तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि त्रिंशतं मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगं युञ्जन्ति, तानि पञ्चदश। तद्यथा- '' सवणो '' इत्यादि। तथाहि-एतेषां कालमधिकृत्य प्रत्येकं सीमाविष्कम्भो मुहूर्त्तगतसप्त-षष्टिभागानां दशोत्तरे द्वे सहस्रे २०१०। ततस्तयोः सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रिंशन्मुहूर्त्ताः। तथा-तत्र यानि नक्षत्राणि पञ्चचत्वारिंशतं मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सार्द्धं योगं युञ्जन्ति, तानि षट्। तद्यथा-उत्तरभाद्रपदा इत्यादि। तेषां हि प्रत्येकं कालमधिकृत्य सीमाविष्कम्भो मुहूर्त्तगतसप्तषष्टिभागानां त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि ३०१५। ततस्तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धाः पञ्चचत्वारिंशदेव मुहूर्त्ता लभ्यन्ते।

उक्तं च-

'' तिन्नेय उत्तराइं, पुणव्वसू रोहिणी विसाहा य।
एए छ नक्खत्ता, पणयालमुहुत्तसंजोगा॥ १॥
अवसेसा नक्खत्ता, पनरसए हुंति तीसइमुहुत्ता।
चंदम्मि एस जोगो, नक्खत्ताणं समक्खाओ॥ २॥''
तदेवमुक्तो नक्षत्राणां चन्द्रेण सह योगः।

(११) संप्रति सूर्येण सह तमभिधित्सुराह-

ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ते, जे णं चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते णं सूरेण सद्धिं

जोयं जोएति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एगवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति। अत्थि णक्खत्ता; जे णं तेरस अहोरत्ते वारस य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं कतरे णक्खत्ते, जं चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते णं सूरेण सद्धिं जोयं जोएति ? कतरे णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एगवीसं च मुहुत्ते सूरणे सद्धिं जोयं जोइंति ? कतरे णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते वारस य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति ? कतरे णक्खत्ता, जे णं वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं, तत्थ जे से णक्खत्ते, जे णं चत्तारि अहोरत्ते छ च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएति, से णं एगे अभिई। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एगवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति, ते णं छ। तं जहा-सतभिसया, भरणी, अद्दा, अस्सेसा, साती, जेट्ठा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते दुवालस य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति, ते णं पण्णरस। तं जहा-सवणो, धणिट्ठा, पुव्वभद्दवता, रेवती, अस्सिणी, कत्तिया, मग्गसिरं, पुस्सो, महा, पुव्वाफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, अणुराधा, मूलो, पुव्वासाढा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति, ते णं छ। तं जहा-उत्तराभद्दवता, रोहिणी, पुणव्वसू, उत्तराफग्गुणी, विसाहा, उत्तरासाढा।

'' ता एतेसि णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। एतेषामनन्तरोदितानामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मध्ये अस्ति तन्नक्षत्रं, यच्चतुरो अहोरात्रान् षट् च मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण सार्द्धं योगमुपैति। तथाऽस्तीति सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि षडहोरात्रानेकाविंशतिं च मुहूर्त्तान् सूर्येण सार्द्धं योगं युञ्जन्ति। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि त्रयोदश अहोरात्रान्, द्वादश च मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण सह योगमुपयान्ति। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि विंशतिमहोरात्रान् त्रीन् मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण समं योगं युञ्जन्ति। एवं भगवता सामान्येनाक्षौ विशेषावगमनिमित्तं भयोऽपि भगवान् गौतमः पृच्छति- '' ता एतेसि णं '' इत्यादि सुगमम्। भगवान् निर्वचनमाह-'' ता एतेसि णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यन्नक्षत्रं चतुरो अहोरात्रान् षट् च मुहूर्त्तान् सूर्येण सार्द्धं योगं युनक्ति, तदेकमभिजिन्नक्षत्रमसेयम्।

तथाहि-सूर्ययोगविषयं पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शितमिदं करणम्-

'' जं रिक्खं जावइए, वच्चइ चंदेण भाग सत्तट्ठी।
तं पणभागे राइं-दियस्स सूरेण तावइए ''॥ १॥

अस्या अक्षरगमनिका-यत् ऋक्षं नक्षत्रं यावतो रात्रिन्दिवस्याहोरात्रस्य सम्बन्धिनः सप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण सह योगं व्रजति, तन्नक्षत्रं रात्रिन्दिवस्य पञ्च भागान् तावतः सूर्येण समं व्रजति। तत्राभिजिदेकविंशतिसप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण समं वर्तते, तत एतावतः पञ्चभागानहोरात्रस्य सूर्येण समं वर्तमानमवसेयम्। एकविंशतिश्च पञ्चभिर्भागे हृते लब्धाश्चत्वारोऽहोरात्राः, एकः पञ्चमो भागोऽवतिष्ठते, स मुहूर्त्ताऽऽनयनाय त्रिंशता गुण्यते, जातास्त्रिंशत्, तस्याः पञ्चभिर्भागे हृते लब्धः षण्मुहूर्त्ता इति।

उक्तं च-

'' अभिई छ च्च मुहुत्ते, चत्तारि य केवले अहोरत्ते।
सूरेण समं वच्चइ, इत्तो सेसाण वुच्छामि॥ १॥ ''

तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि षडहोरात्रानेकविंशतिं च मुहूर्त्तान् यावत् सूर्येण समं योगमुपयान्ति। तानि षट्। तद्यथा-'' सयभिसया '' इत्यादि। तथाहि-एतानि नक्षत्राणि प्रत्येकं चन्द्रेण समं सार्द्धान् त्रयस्त्रिंशत्संख्याकान् सप्तषष्टिभागानहोरात्रस्य व्रजन्ति, अपार्द्धक्षेत्रत्वादेतेषाम्, तत एतावतः पञ्चभागानहोरात्रस्य सूर्येण समं व्रजन्तीति प्रत्येतव्यं, प्रागुक्तकरण-प्रामाण्यात्। त्रयस्त्रिंशतश्च पञ्चभिर्भागे हृते लब्धाः षडहोरात्राः, पश्चादवतिष्ठन्ते सार्द्धास्त्रयः पञ्चभागाः, ते सवर्णनायां जाताः सप्त-तिः, मुहूर्त्ताऽऽनयनाय त्रिंशता गुण्यन्ते, जाते द्वे शते दशोत्तरे २१०। एते च मुहूर्त्तार्द्धगते, ततः परिपूर्णमुहूर्त्ताऽऽनयनाय दशभि-र्भागो ह्रियते, लब्धा एकविंशतिर्मुहूर्त्ताः। उक्तं च-'' सयभिसया भरणीओ, अद्दा अस्सेस साइ जिट्ठा य। वच्चंति मुहुत्ते इगवीसं छ चेवऽहोरत्ते॥ १॥ '' तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये तानि नक्षत्राणि त्रयोदश अहोरात्रान् द्वादश मुहूर्त्तान् यावत् सूर्येण समं योगं युञ्जन्ति, व्रजन्तीति पाठान्तरे। तानि पञ्चदश। तद्यथा-'' सवणो '' इत्यादि। तथाहि-अमूनि परिपूर्णान् सप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण समं व्रजन्ति, ततः सूर्येण सह एतानि पञ्चभागानप्यहोरात्रस्य सप्तषष्टिसंख्यान् गच्छन्ति। सप्तषष्टेश्च पञ्चभिर्भागे हृते लब्धास्त्रयो-दश अहोरात्राः, शेषौ च द्वौ भागौ तिष्ठतः, तौ त्रिंशता गुण्येते, जाता षष्टिः, तस्याः पञ्चभिर्भागे हृते लब्धा द्वादश मुहूर्त्ताः। उक्तं च- '' अवसेसा नक्खत्ता, पनरस वि सूरसहगया जंति। वारस चेव मुहुत्ते, तेरस य समे अहोरत्ते ''॥ १॥ तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि विंशतिमहोरात्रान् त्रीन् मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण समं योगमश्नुवते, तानि षट्। तद्यथा- '' उत्तरभद्दवया '' इत्यादि। एतानि हि षडपि नक्षत्राणि प्रत्येकं चन्द्रेण समं सप्तषष्टि-भागानां, शतमेकस्य च सप्तषष्टिभागस्यार्द्धं व्रजन्ति। तत एतावतः पञ्च भागान् अहोरात्रस्य सूर्येण समं व्रजन्तीत्येवमवगन्तव्यम्, शतस्य च पञ्चभिर्भागे हृते लब्धा विंशतिरहोरात्राः। यदपि चैकस्य पञ्चभागस्यार्द्धमुद्वरति, तदपि त्रिंशता गुण्यते, जाता त्रिंशत्, तस्या दशभिर्भागे हृते लब्धास्त्रयो मुहूर्त्ताः। सू० प्र० १० पाहु० २ पाहु०। ज्यो०।

(१२) नक्षत्राणामादानविसर्गपरिज्ञाननिमित्तनिरूपणम्-

**एएसिं रिक्खाणं, आयाणविसग्गजाणणाकरणं।
चंदम्मि य सूरम्मि य, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥**

एतेषामनन्तरोदितानां नक्षत्राणामष्टाविंशतिसंख्यानाम्, आदानविसर्गज्ञानकरणमादानविसर्गपरिज्ञाननिमित्तम्। तत्र विवक्षिते दिने चन्द्रेण सूर्येण वा सह वर्त्तते यन्नक्षत्रं, तस्य किल चन्द्रेण सूर्येण वा कृतः परिग्रह इत्यादानम्। पाश्चात्यादिनक्षत्राणि गतानि, तानि किल मुक्तानि, परित्यक्तानि, तेषां परित्यागो विसर्गः। तयोः परिज्ञानंकेन नक्षत्रेण सह चन्द्रस्य सूर्यस्य वा

योगो वर्त्तते ? कानि च प्रागतीतानि ? इति सम्यग् ज्ञानं, तन्निमित्तं करणं, चन्द्रे सूर्ये च प्रत्येकं यथाऽनुपूर्व्या क्रमेण वक्ष्यामि।

तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात् प्रथमतः चन्द्रविषयं करणमाह-

पव्वं पन्नरसगुणं, तिहिसहियं ओमरत्तपरिहीणं।
वासीइए विभत्ते, लद्धे अंसे वियाणाहि॥
जं हवइ भागलद्धं, कायव्वं तं चउग्गुणं णियमा।
अभिइस्स एक्कवीसा, भागे सोहेहि लद्धम्मि॥
सेसाणं रासीणं, सत्तावीसा तु मंडला सोज्झा।
अभिइस्स सोहणाऽसं-भवे तु इणमो विही होइ॥
सेसाओ रासीओ, रूवं घेत्तूण सत्तसट्ठि काऊणं।
पक्खिव लद्धेसु पुणो, अभिजिइ सोहेउ पुव्वकमा॥
पंच दस तेरसऽट्ठा-रसे य वावीस सत्तवीसा य।
सोज्झा दिवड्ढखेत्तं, तं भद्दवई असाढंता॥
एयाणि सोहइत्ता, जं सेसं तं हविज्ज नक्खत्तं।
सोज्झा तीसगुणाओ, सत्तट्ठिहते मुहुत्ताओ॥

यस्मिन् दिने चन्द्रेण सह युक्तं नक्षत्रं ज्ञातुमिष्यते, तस्माद् दिनात् प्राक् यानि पर्वाणि युगमध्येऽतीतानि, तानि संख्यया परिभाव्य तत्संख्या ध्रियते। सूत्रे च पर्वसंख्याऽप्युपचारात् पर्वेत्यभिहिता। पर्व पञ्चदशतिथ्यात्मकम्, अतस्तत् पञ्चदशभिर्गुण्यते, गुणयित्वा च तेषां पर्वाणामुपरि विवक्षितायास्तिथेर्याः प्रागतीतास्तिथयः, ताभिः सहितं संयुक्तं पञ्चदशगुणनाऽनन्तरं पर्वोपरिवर्तिन्योऽतीता-स्तिथयो मध्ये प्रक्षिप्यन्त इति। ततो येऽवमरात्रा अतिक्रान्तेषु पर्वसु गताः, तैः परिहीणं क्रियते, ततोऽपनीयत इत्यर्थः। ततो द्व्यशीत्या भागो ह्रियते। तत्र भागे हृते यल्लब्धं, ये चांशा अवतिष्ठमानाः, तदेतत्सर्वं विजानीहि, बुद्ध्या सम्यगवधारयेति भावः। लब्धं चोपरि स्थापय, अंशाँश्चाऽधस्तात् लब्धश्च राशिरिति व्यवह्रियते, अंशाश्च शेषो राशिरिति॥ तत्र यद् भवति वर्तते भागलब्धं, तद् नियमाच्चतुर्गुणं कर्तव्यं, कृते च सति लब्धरूपात् राशेरभिजितो नक्षत्रस्य सम्बन्धिन एकविंशतिभागान् शोधय॥ शेषाणां तु राशीनामधस्तनस्थानवर्तिनां मध्यात्सप्तविंशतिसंख्यं नक्षत्रमण्डलं शोध्यं, सप्तविंशतिः शोध्या इत्यर्थः॥ अथोपरितनो राशिः स्तोकतया एकविंशतिरूपं शोधनं न सहते, तत आह- '' सेसाओ '' इत्यादि। शेषात् अधस्तनरूपात् राशेरेकं रूपं गृहीत्वा सप्तषष्टिभागीक्रियते, कृत्वा च पुनस्ते सप्तषष्टिभागा लब्धेषु लब्धराशिमध्ये प्रक्षिपेत्। प्रक्षिप्य च ततोऽभिजिदष्टादशनक्षत्रसंबन्धेनेकविंशतिभागान्, पूर्वक्रमात् पूर्वक्रमानुसारेण शोधय॥ शोधयित्वा च पञ्चदशत्रयोदशाष्टादशद्वाविंशतिसप्तविंशतिरूपान् शोध्यान् द्व्यर्द्धक्षेत्रान् द्व्यर्द्धक्षेत्रपर्यन्तसूचकान्, तानपि शोधय। एतदेव व्यक्तमाचष्टेभाद्रपदाऽऽदीन् आषाढान्तान्, उत्तरभाद्रपदान्, उत्तराषाढापर्यन्तसूचकानित्यर्थः। तथाहि-पञ्चकं श्रवणादारभ्योत्तरभाद्रपदारूपद्व्यर्द्धक्षेत्रपर्यन्तसूचकः। दशको रोहिणीरूपद्व्यर्द्धक्षेत्रसीमा सूचकः। त्रयोदशकः पुनर्वसुरूपद्व्यर्द्धक्षेत्रपर्यन्तख्यापकः। अष्टादशक उत्तरफाल्गुनीरूपद्व्यर्धक्षेत्रसीमापरिज्ञापकः। द्वाविंशतिर्विशाखारूपद्व्यर्द्धक्षेत्रसीमासूचिकेत्यर्थः। सप्तविंशतिरुत्तराषाढारूपद्व्यर्धक्षेत्रसीमासूचकः। शोधितेषु चामूषु तदुपरितनेषु यदस्ति तत् त्रिंशता गुणयित्वा, सप्तषष्ट्या भागे हृते ये लब्धास्ते मुहूर्ता ज्ञातव्याः। तत्राप्यवशेषांशा मुहूर्तस्य सप्तषष्टिभागा अवसेया इति करणगाथाक्षरार्थः।

संप्रति भावना क्रियते-

युगस्य प्रथमे संवत्सरे दशसु पर्वसु गतेषु पञ्चम्यां केन नक्षत्रेण सह योक्तव्यम् ? इति जिज्ञासायां पर्वसंख्या दशको ध्रियते, ते च दश पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातं पञ्चाशदधिकंशतम् १५०। पञ्चम्यां च नक्षत्रेण सह चन्द्रस्य योगो ज्ञातुमिष्ट इति दर्शानां पर्वणामुपरितना-स्तिथयोऽतिक्रान्ताः, ताः प्रक्षिप्यन्ते, जाते चतुष्पञ्चाशदधिकं शतम् १५४। दशसु पर्वसु द्वावप्यमरात्रौ, ततस्तौ तस्मात्पात्येते, जातं द्विपञ्चाशदधिकं शतम् १५२। तस्य द्व्यशीत्या भागो ह्रियते, लब्धमेकं रूपं, तच्च उपरि न्यस्यते, न्यस्य च चतुर्भिर्गुण्यते, जाताश्चत्वारः ४। शेषं चाधस्तादुद्वरति सप्ततिः। तत्रोपरितनो राशिः स्तोकत्वादेकविंशतिरूपं शोधनं न सहते, ततः सप्ततेरेकं रूपं गृहीत्वा सप्तषष्टिखंण्डीक्रियते ते च सप्तषष्टिभागा उपरितनराशिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते जात उपरितनो राशिरेकसप्ततिः ७१। अधस्ताच्चैकोनसप्ततिः $\frac{७१}{६६}$। तत उपरितनराशेरभिजित एकविंशति शोध्यते, अधस्तनराशेश्च नक्षत्रमण्डलं सप्तविंशतिः, तत उपरि पञ्चाशत् जाताः ५०। अधस्ताद् द्विचत्वारिंशज्जाताः $\frac{५०}{६७}$। ततः पुनरप्युपरितनराशेरेकविंशतिः शुद्धाः, अधस्ताच्च सप्तविंशतिः। तत उपरि एकोनत्रिंशत् २९ जाताः, अधस्तात् पञ्चदश $\frac{२९}{६५}$। ततो भूयोऽप्युपरितनराशेरभिजित एकविंशतिः शोध्यते ८। अधस्ताच्च पञ्चदशसु त्रयोदशकमङ्कस्थानं पुनर्वसुनक्षत्रपर्यन्तस्तत्सयकम्, अतः पुनर्वसुपर्यन्ताति नक्षत्राणि शुद्धानि। शेषौ द्वौ तिष्ठतः। तस्य द्वे नक्षत्रे शुद्धे। तद्यथा-पुष्यः, आश्लेषा च। उपरि च तिष्ठन्त्यष्टौ। ते त्रिंशता गुण्यन्ते, जाते द्वे शते चत्वारिंशदधिके २४०। तयोः सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रयो मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः। एकस्य च मुहूर्तस्य सत्केष्वेकोनचत्वारिंशत्संख्येषु सप्तषष्ट्या भागेषु चन्द्रेण भुक्तेषु पञ्चम्यां सूर्य उदित इति॥ तथा युगे प्रथमदिवसे प्रतिपदि केन नक्षत्रेण सह युक्तश्चन्द्रः ? इति चिन्तायां पाश्चात्ययुगपर्वसंख्या ध्रियते चतुर्विंशं शतं १२४। ततः पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि षष्ट्यधिकान्यष्टादशशतानि १८६०। युगे च त्रिंशदवमरात्रा इति तेभ्यस्त्रिंशत्पात्यते, जातान्यष्टा-दशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३०। तेषां द्व्यशीत्या भागो ह्रियते, लब्धा द्वाविंशतिः। सा उपरि न्यस्ते, न्यस्य च चतुर्भिर्गुण्यते, जाता अष्टाशीतिः। शेषमधस्तादुद्वरति षड्विंशतिः $\frac{८८}{६६}$। तत्रोपरितनराशेरेकविंशतिरभिजितः शोध्यते, स्थिता पश्चात् सप्तषष्टिः ६७। तथा च किलैकं नक्षत्रं लभ्यते। अधस्ताच्च षड्विंशतिरिति सर्वसकलनया सप्तविंशतिरपि नक्षत्राण्युत्तराऽऽषाढापर्यन्तानि शुद्धानि। तत आगतमुदयसमय एवाभि-जिन्नक्षत्रं चन्द्रेण सह योगमुपयातीति॥ तथा युगे द्वितीयेऽहोरात्रे द्वितीयायां केन नक्षत्रेण सह युक्तश्चन्द्रः ? इति चिन्तायां पाश्चात्या तिथिरतिक्रान्ता प्रतिपल्लक्षणा, तत्संख्या एकको ध्रियते, स द्व्यशीत्या भागं न सहते, ततः सप्तषष्टिभागीक्रियते, तस्मादेकविंशतिरभिजितः शोध्यते, स्थिता पश्चात् षट्चत्वारिंशत् ४६। सा मुहूर्तकरणार्थम् ३० त्रिंशता गुण्यते। जातानि त्रयोदशशतान्यशीत्यधिकानि

१३८०। तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा मुहूर्त्ता विंशतिः २०। स्थिताः पश्चात् चत्वारिंशत् ४०। आगतं श्रवणनक्षत्रं विंशतिमुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु चन्द्रेण भुक्तेषु युगे द्वितीये अहोरात्रे द्वितीयायां सूर्य उदयते। एवं सर्वत्रापि भावनीयम्। ज्यो० ६ पाहु०।

(१३) पव्वं पन्नरसगुणं, तिहिसहियं ओमरत्तपरिहीणं।
तिहि छावट्ठसएहिं, भागे सेसम्मि सोहणगं॥

युगमध्ये विवक्षिताद् दिनात् प्राक् यानि पर्वाणि अतीतानि, तत्संख्या स्थाप्यते, स्थापयित्वा च पञ्चदशभिर्गुण्यते, ततो विवक्षिताद् दिनात् प्राक् पर्वणामुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्तत्सहिता क्रियते। ततस्तदनन्तरमधिकृताद् दिनादर्वाग् ये गता अवमरात्राः, तैः परिहीना क्रियते, ते ततः पात्यन्त इत्यर्थः। ततः शेषस्य त्रिभिः शतैः षट्षष्ट्यधिकैर्विभजेत भागं हरेत्, भागे च हृते यत् शेषं, तस्मिन् शेषे, शोधनकं वक्ष्यमाणस्वरूपं कुर्यात्।

तत्र यस्मिन् शोधनके शुद्धे यन्नक्षत्रं शुद्धं भवति, तदेतन्निरूपयन्नाह-

चउवीसं च मुहुत्ता, अट्ठे व य केवला अहोरत्ता।
एए पुस्से सेसा, एत्तो सेसाण वोच्छामि॥

चतुर्विंशतिर्मुहूर्त्ताः, अष्टौ च केवलाः परिपूर्णा अहोरात्राः। एते एतावन्तो मुहूर्त्ताः, अहोरात्राश्च-पुष्ये पुष्यनक्षत्रे, शोध्याः। किमुक्तं भवति ?-एतेषु शोधितेषु पुष्यनक्षत्रं शोधितं भवति। अत ऊर्द्धंव शेषाणां नक्षत्राणां शोधनकानि वक्ष्ये।

तानि च क्रमेण आह-

राइंदिया विसट्ठी, य मुहुत्ता वारसुत्तरा सुद्धा।
सोलससयं विसाहा, बीसंदेवा य तेसीयं॥

द्वाषष्टिर्द्वाषष्टिसंख्यानि, रात्रिन्दिवानि, द्वादश च मुहूर्त्ताः, एतावति शोधिते उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं शुद्धं भवति। तथा षोडशशतं षोडशाधिकं शतं, विशाखा विशाखापर्यन्तसूचकं, ततस्तस्मिन् शोधिते विशाखाऽन्तानि नक्षत्राणि शोधितानि भवन्तीति भावः। तथा त्र्यशीतं त्र्यशीत्यधिकं शतं, विष्वग्देवाविष्वग्देवाधिपतिरुत्तराषाढा इत्यर्थः। अत्राऽयं भावार्थः-त्र्यशीत्यधिकं शतमुत्तराषाढापर्यन्त-सूचकमिति।

दो चउपण्णे छच्चे-व मुहुत्ता उत्तरा उ पोट्ठवया।
तिण्णेव एक्कवीसा, छच्च मुहुत्ता उ रोहिणिया॥

द्वे शते चतुष्पञ्चाशे चतुष्पञ्चाशदधिके, षट् च मुहूर्त्ताः, उत्तराप्रोष्ठपदा-उत्तराभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदपर्यन्तसूचका इत्यर्थः। ततस्त्रीणि शतान्येकविंशत्यधिकानि, षट् च मुहूर्त्ताः, रोहिणी-रोहिणीसूचका इति योगः।

तिन्नेगट्ठा वारस, य मुहुत्ता सोधणं पुणव्वसुणो।
जं सोहणं न गच्छइ, नक्खत्तं तं तु सूरगयं॥

त्रीणि शतान्येकषष्ट्यधिकानि द्वादश मुहूर्त्ताः, एतावत् शोधनकं पुनर्वसोः पुनर्वसुनक्षत्रस्य। एतानि च शोधकानि पुष्यं मुक्त्वा शेषाणि द्व्यर्द्धक्षेत्रपर्यन्तानामुक्तानि। तत एतेषामपान्तराले यानि नक्षत्राणि, तान्यात्मीयेन प्रमाणेन शोध्यन्ते। तद्यथा-अर्द्धक्षेत्राणि षड्भिरहोरात्रैरेकविंशत्या च मुहूर्त्तैः; समक्षेत्राणि त्रयोदशभिर्दिनैर्द्वादशभिश्च मुहूर्त्तैः, द्व्यर्द्धक्षेत्राणि विंशत्या दिनैस्त्रिभिश्च मुहूर्त्तैरिति। यत्पुनरुद्धारितं शोधनं न गच्छति, तन्नक्षत्रं सूर्यगतमवसेयम्। वाऽपि राशिः स्तोकतया षट्षष्ट्यधिकशतत्रयभागं न सहते, तत्रापि यथा-योगं शोधनं कर्त्तव्यम्। उक्तं करणम्।

संप्रत्येतद्विषया भावना क्रियते-

युगस्य प्रथमे संवत्सरे चान्द्रे दशसु पर्वस्वतिक्रान्तेषु पञ्चम्यां केन नक्षत्रेण सह योगो दिवसाधिपतेः ? इति चिन्तायां पर्वसंख्या दश ध्रियते, ततः पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातं पञ्चाशदधिकं शतम् १५०। दशानां च पर्वणामुपरि पञ्चम्याः प्राक् तिथयोऽतिक्रान्ताश्चतस्रः, ततस्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातं चतुःपञ्चाशदधिकं शतम् १५४। दशसु च पर्वसु द्वावहोरात्रौ। ततस्तौ तस्मात् पात्यते, जातं द्विप-ञ्चाशदधिकं शतम् १५२। अयं च राशिः षट्षष्ट्यधिकं शतत्रयभागं न सहते, ततो यथासंभवं शोधनकं कर्तव्यम्। तत्र षोडशाधिकेन शतेन विशाखाऽन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, शेषाणि षट्त्रिंशत्। ततोऽनुराधा त्रयोदशभिरहोरात्रैर्द्वादशभिर्मुहूर्त्तैः शुद्धा, शेषास्तिष्ठन्ति द्वात्रिंशतिर्दिवसाः, अष्टादश च मुहूर्त्ताः। पुनः षड्भिर्दिवसैरेकविंशत्या च मुहूर्त्तैर्ज्येष्ठा शुद्धा, शेषाः पञ्चदश दिवसाः सप्तविंशतिर्मुहूर्त्ता अवतिष्ठन्ते। तेभ्यस्त्रयोदशभिर्दिवसैर्द्वादशभिश्च मुहूर्त्तैर्मूलनक्षत्रं शुद्धं, शेषौ द्वौ दिवसौ, पञ्चदश मुहूर्त्तास्तिष्ठन्ति। एतावान् कालः पर्वदशकातिक्रमे पञ्चम्यां पूर्वाषाढाप्रविष्टस्य सूर्यस्याभूत्॥ तथा युगस्य प्रथमसंवत्सरपर्यन्ते केन नक्षत्रेण सह समेतो भास्करः ? इति चिन्तायां प्रथमसंवत्सरे पर्वाणि चतुर्विंशतिः, तानि पञ्चदश-भिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६०। संवत्सरे च षडवमरात्रा इति षट् तेभ्यः पात्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि ३५४। अत्रापि त्रिभिः शतैः षट्षष्ट्यधिकै- र्भागो न पूर्यते, ततो यथासंभवं शोधनं कर्तव्यम्। तत्र त्रिभिः शतैरेकविंशत्याऽधिकैः षट्भिश्च मुहूर्त्तैरहिण्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, शेषास्तिष्ठन्ति द्वात्रिंशदहोरात्राश्चतुर्विंशतिश्च मुहूर्त्ताः। तेभ्योऽपि त्रयोदशभिर्दिवसैर्द्वादशभिश्च मुहूर्त्तैर्मृगशिरो नक्षत्रं, शेषा अवतिष्ठन्ते एकोनविंशतिरहोरात्राः, द्वादश च मुहूर्त्ताः। तेभ्योऽपि षड्भिर्दिवसैरेकविंशत्या च मुहूर्त्तैरार्द्रा नक्षत्रं शुद्धं, शेषास्तिष्ठन्ति द्वादश दिवसाः, एकविंशतिर्मुहूर्त्ताः। एतावान् कालस्तदानीं पुनर्वसुनक्षत्रप्रविष्टस्य सूर्यस्याभवत्। इह यन्नक्षत्रमहोरात्रं कालं यावच्चन्द्रेण सह योगमपारूढं वर्तते, तस्य सूर्येण सह यावन्तं कालं योगः, तस्य त्रिंशत्तमभागप्रमाण एकः सूर्यमुहूर्तः। एवं त्रयोदश मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य किञ्चित्समधिकाः सार्द्धास्त्रिपञ्चाशद्भागाः। एवंप्रमाणा मुहूर्ता अर्धक्षेत्राणां पञ्चदश, समक्षेत्राणां त्रिंशत्, द्व्यर्द्धक्षेत्राणां पञ्चचत्वारिंशत्। तत्र द्वादशभिर्दिनैरेकविंशत्या च मुहूर्तैर्ये चतुष्पञ्चाशदधिकशतत्रयस्योपरि द्वादश द्वाषष्टिभागाश्चन्द्रसंवत्सरसत्काः, ते चाष्टाविंशतिसंख्याः किञ्चित्समधिकाः सूर्यमुहूर्ता भवन्ति; शेषास्तु किञ्चित्समधिकाः। एवंप्रमाणाः सूर्यमुहूर्ताः षोडश तिष्ठन्ति। तदुच्यते सूर्यप्रज्ञप्तौ- ''जे णं दोच्चस्स चंदसंवच्छरस्स आई, से णं पढमस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे, अणंतरपच्छाकडे समए। तं समयं च णं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएइ, जोइत्ता उत्तराहिं आसाढाहिं उत्तराणं आसाढाणं छव्वीसं मुहुत्ता, छ-

व्वीसं च वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता चउपण्णं चुन्निया भागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएइ, जोइत्ता पुणव्वसुस्स सोलस मुहुत्ता अट्ठ य वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता वीसं चुण्णिया भागा सेसा '' इति।

संप्रति पञ्चाशदधिकेन शतेन भागे हृते लब्धाः षडहोरात्राः, शेषं तिष्ठति पञ्चोत्तरं शतं, ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनाय छेदराशेरर्द्धक्षेत्राऽऽदीनां नक्षत्राणां कालपरिमाणज्ञानार्थं करणमाह-

नक्खत्तचंदजोगे, नियमा सत्तट्ठिए समुप्पन्ने।
पण्णेव सएण भए, लहई सूरस्स सो जोगो॥

नक्षत्राणां यावत् प्रमाणो योगः सप्तषष्ट्या नियमान्निश्चयेन, प्रत्युत्पद्यते इत्यर्थः। तस्मिन् चन्द्रनक्षत्रयोगे सप्तषष्ट्या प्रत्युत्पन्ने पञ्चाशेन पञ्चाशदधिकेन शतेन भजेत् भागहारं कुर्यात्, भागे हृते यद् लब्धे, स तावत्कालप्रमाणः सूर्यस्य योगः।

इयमत्र भावना-कोऽपि पृच्छति-यस्मिन् क्षेत्रे पञ्चदश मुहूर्त्तान-वतिष्ठते चन्द्रः, तत्र सूर्यः कियन्तं कालमवस्थानं करोति ? तत्र पञ्चदश सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातं पञ्चोत्तरं सहस्रम् १००५। तस्य पञ्चाशदधिकशतरूपस्य त्रिंशता भागहरणं, लब्धाः पञ्च, तेन पञ्चोत्तरशतस्य भागे हृते लब्धा एकविंशतिर्मुहूर्त्ताः। एतावानर्द्धक्षेत्राणां प्रत्येकं सूर्येण समं योगः। तथा समक्षेत्राणां त्रिंशन्मुहूर्त्ताश्चन्द्रयोगपरिमाणं, ततस्त्रिंशत्सप्तषष्ट्या गुण्यते, जाते द्वे सहस्रे दशोत्तरे २०१०। तेषां पञ्चाशदधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाः त्रयोदश अहोरात्राः, शेषास्तिष्ठन्ति षष्टिः, ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनात् छेदराशे-स्त्रिंशता भागहरणं, स्थिताः पञ्च, तैः षष्टेर्भागो ह्रियते, लब्धा द्वादश मुहूर्त्ताः, एतावान् समक्षेत्राणां प्रत्येकं सूर्येण सह योगः। तथा द्व्यर्द्ध- क्षेत्राणां पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्ताश्चन्द्रयोगः पञ्चचत्वारिंशत्सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातानि त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि ३०१५। तेषां पञ्चाशदधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धा विंशतिरहोरात्राः, शेषा-स्तिष्ठन्ति पञ्चदश, ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनाय छेदराशेस्त्रिंशता भागहरणं, स्थिताः पञ्च, तथा दशानां भागे हृते लब्धाःस्त्रयः पञ्च मुहूर्त्ताः, एतावान् द्व्यर्द्धक्षेत्राणां प्रत्येकं सूर्येण समं योगः।

साम्प्रतं यथा सूर्ययोगपरिमाणदर्शनतः चन्द्रयोगपरिमाणज्ञा-नं भवति, तथा प्रतिपादयति-

नक्खत्तसूरजोगो, मुहुत्तरासीकओ उ पंचगुणो।
सत्तट्ठीऍ विभत्तो, लद्धो चंदस्स सो जोगो॥

नक्षत्राणामर्द्धक्षेत्राऽऽदीनां यः सूर्येण सह योगः स मुहूर्त्तराशीक्रियते, कृत्वा च पञ्चभिर्गुण्यते, ततः सप्तषष्ट्या भागे हृते यल्लब्धं, स चन्द्रस्य योगः। अत्रापीयं भावनाकोऽपि शिष्यः पृच्छतियत्र सूर्यः षट् दिवसान् एकविंशति च मुहूर्त्तान् अवतिष्ठते, तत्र चन्द्रः कियन्तं कालं तिष्ठतीति ? तत्र मुहूर्तराशिकरणार्थं षट् दिवसाः त्रिंशता गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरि एकविंशतिर्मुहूर्त्ताः प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते एकोत्तरे २०१। ते पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाते पञ्चोत्तरं सहस्रम् १००५। तस्य सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धाः पञ्चदश मुहूर्त्ताः, एतावानर्द्धक्षेत्राणां प्रत्येकं चन्द्रेण समं योगः। तथा समक्षेत्राणां सूर्ययोगस्त्रयोदशदिवसा द्वादश मुहूर्त्ताः, तत्र दिवससंख्या मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि नवत्यधिकानि ३९०। उपरितनाश्च द्वादश मुहूर्त्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि चत्वारि शतानि द्व्युत्तराणि ४०२। तानि पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे सहस्रे दशोत्तरे २०१०। तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रिंशन्मुहूर्त्ताः ३०। एतावान् समक्षेत्राणां प्रत्येकं चन्द्रयोगः। तथा द्व्यर्द्धक्षेत्राणां सूर्ययोगः विंशतिरहोरात्रास्त्रयो मुहूर्त्ताः, तत्राहोरात्रसंख्या मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यते, जातानि षट् शतानि, उपरितनाश्च त्रयो मुहूर्त्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि षट् शतानि त्र्युत्तराणि ६०३। तानि पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि ३१५। तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धाः पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्ताः ४५। एतावान् द्व्यर्द्धक्षेत्राणां प्रत्येकं चन्द्रेण सह योगः।

संप्रत्युपसंहारमाह-

नक्खत्ताणं जोगा, चंदाऽऽइच्चेसु करणसंजुत्ता।
भणिया (मुणाहि एत्तो, पविभागं मंडलाणं तु)॥

नक्षत्राणां चन्द्राऽऽदित्येषु चन्द्रविषये, आदित्यविषये च करण-संयुक्ता योगा भणिताः प्रतिपादिताः। ज्यो० ९ पाहु०।

(१४) कति भागानि नक्षत्राणि चन्द्रेण सह युज्यन्ते-

ता कहं ते एवंभागा आहिता ति वदेज्जा ? ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पुव्वंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता। अत्थि णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पच्छंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता। अत्थि णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता णत्तंभागा अवड्ढखेत्ता पण्णरस मुहुत्ता पण्णत्ता। अत्थि णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता उभयंभागा दिवड्ढक्खेत्ता पणयालीस मुहुत्ता पण्णत्ता। ता एएसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं कतरे णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पुव्वंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता ? कतरे णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पच्छंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता ? कतरे णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता णत्तंभागा अवड्ढक्खेत्ता पण्ण-रस मुहुत्ता पण्णत्ता ? कतरे णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता उभयं-भागा दिवड्ढक्खेत्ता पणयालीसइमुहुत्ता पण्णत्ता ? ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं, तत्थ णं जे ते णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पुव्वंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता। ते णं छ। तं जहा-पुव्वभद्दवया १, कत्तिता २, महा ३, पुव्वफग्गुणी ४, मूलो ५, पुव्वासाढा ६। तत्थ णं जे ते णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पच्छंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता। ते णं दस। तं जहाअभिई १, सवणो २, धणिट्ठा ३, रेवती ४, अस्सिणी ५, मिगसिरं ६, पुस्सो ७, हत्थो ८, चित्ता ९, अणुराहा १० एवं पच्छंभागा दस हवंति। तत्थ णं जे ते णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता णत्तंभागा अवड्ढक्खेत्ता पण्णरस मुहुत्ता पण्णत्ता।

ते णं छ। तं जहा-सतभिसया १, भरणी २, अद्दा ३, अस्सेमा ४, साती ५, जेट्ठा ६। तत्थ णं जे ते णक्खत्ता उभयंभागा दिवड्ढक्खेत्ता पणयालीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता। ते णं छ। तं जहा-उत्तरभद्दवया १, रोहिणी २, पुणव्वसू ३, उत्तराफग्गुणी ४, विसाहा ५, उत्तरासाढा ६।

'' ता कहं ते '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत् , कथं केन प्रकारेण भगवन् ! त्वया एवंभागानि वक्ष्यमाणप्रकारभागानि नक्षत्राणि आख्यातानि इति भगवान् वदेत् ? एवमुक्ते भगवानाह-'' ता एएसि णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽस्तीति सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि पूर्वभागानिदिवसस्य पूर्वभागश्चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य विद्यते येषां तानि पूर्वभागानि, समक्षेत्राणिसमं पूर्णं क्षेत्रमहोरात्रप्रतीतं चन्द्रयोगमधिकृत्यास्ति येषां तानि समक्षेत्राणि ; अत एव त्रिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि पश्चाद्भागानिदिवसस्य पश्चात्तनो भागः चन्द्रयोगमधिकृत्य विद्यते येषां तानि पश्चाद्भागानि, समक्षे-त्राणि त्रिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि नक्तंभागानिनक्तं रात्रौ चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य भागोऽवकाशो येषां तानि। तथा अपार्द्धक्षेत्राणीति-अपगतमर्द्धं यस्य तदपार्द्धम् , अर्द्धमात्रमित्यर्थः। अपार्द्धमर्द्धमात्रं क्षेत्रमहोरात्रप्रतीतं येषां चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य तान्यपार्द्धक्षेत्राणि। अत एव पञ्चदशमुहूर्तानिपञ्चदश चन्द्रयोगमधिकृत्य मुहूर्त्ता विद्यन्ते येषां तानि। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि नक्षत्राणि उभयभागानि उभयं दिवसं रात्रिः, तस्य उभयस्य-दिवसस्य, रात्रेश्चेत्यर्थः। चन्द्रयोगस्याऽऽ-दिमधिकृत्य भागो येषां तानि। तथा द्व्यर्द्धक्षेत्राणिद्वितीयमर्द्धं यस्य तत् द्वयर्द्धं, सार्द्धमित्यर्थः। द्वयर्द्धं सार्द्धमहोरात्रप्रमितं क्षेत्रं येषां तानि तथा। अत एव पञ्चचत्वारिंशन्-मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि। एवं सामान्येनोक्ते विशेषावबोधनार्थं भगवान् गौतमः पृच्छति-'' ता एतेसि णं '' इत्यादि सुगमम्। भगवान् प्रतिवचनमाह-'' ता एतेसि णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि पूर्वभागानि समक्षेत्राणि त्रिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि, तानि षट्। तद्यथा-'' पुव्वभद्दवया '' इत्यादि। (एतच्चानन्तरे एव प्राभृतप्राभृते योगस्याऽऽदौ चिन्त्यमाने भावयिष्यते)। तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि पश्चाद्भागानि समक्षेत्राणि त्रिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि। तानि दश। तद्यथा-'' अभिई '' इत्यादि। तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि नक्तंभागानि अपार्द्धक्षेत्राणि पञ्चदश मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि। तानि षट्। तद्यथा-'' सयभिसया '' इत्यादि। तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राण्युभयभागानि द्व्यर्द्धक्षेत्राणि पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्तानि। तानि षट्। तद् यथा-'' उत्तरभद्दवया '' इत्यादि। चं० प्र० १० पाहु० ३ पाहु०। स्था०। सं०। सू० प्र०।

(१५) प्रमर्दयोगीनि नक्षत्राणि-

अट्ठ णक्खत्ता णं चंदेण सद्धिं पमद्दं जोगं जोइंति। तं जहा-कत्तिया, रोहिणी, पुणव्वसू, महा, चित्ता, विसाहा, अणुराहा, जिट्ठा।

(पमद्दं ति) प्रमर्दश्चन्द्रेण स्पृश्यमानता, तल्लक्षणं योगं योजयन्ति, आत्मनश्चन्द्रेण सार्द्धं कदाचिद् , न तु तमेव सदैवेति। उक्तं च-'' पुणवसु रोहिणि चित्ता, मह जेट्ठऽणुराह कत्तिय विसाहा। चंदस्स उभयजोगी '' इति। यानि च दक्षिणोत्तरयोगीनि, तानि प्रमर्दयोगीन्यपि कदाचिद्-भवन्ति, यतो लोकश्रीटीकाकृतोक्तम्-एतानि नक्षत्राण्युभययोगीनि चन्द्रस्य दक्षिणेनोत्तरेण च युज्यन्ते, कथञ्चिच्चन्द्रेण भेदमप्युपयान्तीति। एतत्फलं चेदम्-'' एतेषामुत्तरगाः, ग्रहाः सुभिक्षाय चन्द्रमा नितराम्। '' इति। स्था० १० ठा०।

(१६) कति नक्षत्राणि कति भागानि पूर्णिमाऽमाभ्याम्-

ता कहं ते जोगस्सादी आहिता ति वदेज्जा ? ता अभिई, सवणो खलु दुवे णक्खत्ता पच्छंभागा समक्खेत्ता सातिरेगउणतालीसमुहुत्ता तं पढमताए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोइंति। ततो पच्छा अवरं सातिरेगं दिवसं। एवं खलु अभिई, सवणो दुवे णक्खत्ता एगं रातिं एगं च सातिरेगं दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएंति, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टंति, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं धणिट्ठाणं समप्पेंति, समप्पेंतित्ता धणिट्ठा खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते तीसतिमुहुत्ते तप्पढमताए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति। ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु धणिट्ठा णक्खत्ते एवं रातिं एगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टति, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं सतभिसताणं समप्पेति। ता सतभिसता खलु णक्खत्ते णत्तंभागे अवड्ढखेत्ते तप्पढमताए सागं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, णो लभति अवरं दिवसं। एवं खलु सतभिसता णक्खत्ते एगं रातिं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता अणुपरिय-ट्टति, अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं पुव्वाणं पोट्ठवयाणं समप्पेति, ता पुव्वा पोट्ठवता खलु णक्खत्ते पुव्वंभागे समक्खेत्ते तीसति-मुहुत्ते तप्पढमताए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, पच्छा अवरं राइं। एवं खलु पुव्वा पोट्ठवता णक्खत्ते एगं च दिवसं एगं च रातिं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता अणुपरियट्टति, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं उत्तराणं पोट्ठवताणं समप्पेति। उत्तर-पोट्ठवता खलु णक्खत्ते पणयालीसतिमुहुत्ते तप्पढमताए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, अवरं च रातिं, ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु उत्तरापोट्ठवता णक्खत्ते दो दिवसे, एगं च रातिं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टति, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं रेवतीणं समप्पेति। ता रेवती खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते जहा धणिट्ठा० जाव सायं चंदं अस्सिणीणं समप्पेति। भरणी खलु णक्खत्ते णत्तंभागे अवड्ढ० जहा सत्तवीसंता० जाव पातो चंदं

कत्तिताणं समप्पेति० जाव पातो चंदं रोहिणीणं समप्पेति, रोहिणी जहा उत्तरभद्दवया, मिगसिरं जहा धणिट्ठा। एवं जहा सतभिसता, तहा णत्तंभागा णेयव्वा। एवं जहा पुव्वाभद्दवता, तहा पुव्वंभागा छप्पि णेयव्वा। जहा धणिट्ठा तहा पच्छंभागा अट्ठ णेयव्वा० जाव एवं खलु उत्तरासाढा दो दिवसे एगं च रातिं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टति, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं अभिईसवणाणं समप्पेइ।

''ता कहं से'' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्, कथं ते त्वया भगवन्! योगस्याऽऽदिराख्यात इति वदेत् ? इह निश्चयनयमतेन चन्द्रयोगस्याऽऽदिता सर्वेषामपि नक्षत्राणामप्रतिनियतकालप्रमाणा, ततः सा करणवशादवगन्तव्या। तच्च करणं ज्योतिष्करण्डके समस्तीति तदीक्षां कुर्वता तत्रैव सप्रपञ्चंभावितमतस्ततोऽवधार्यम्। अत्र तु व्यवहारनयमधिकृत्य बाहुल्येन यस्य नक्षत्रस्य यदा चन्द्रयोगस्याऽऽदिर्भवति तमभिधित्सुराह-''ता अभिई'' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। द्वे अभिजिच्छ्रवणाऽऽख्ये नक्षत्रे पश्चाद्भागे समक्षेत्रे। इहाभिजिन्नक्षत्रं समक्षेत्रं, नाप्यर्द्धक्षेत्रं, नापि द्व्यर्द्धक्षेत्रं, केवलं श्रवणेन सह संबद्धमुपात्तमित्यभेदोपचारात् तदपि समक्षेत्रमुपकल्प्य समक्षेत्रम् इत्युक्तम्। सातिरेकैकोनचत्वारिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणे। तथाहि-सातिरेका नव मुहूर्त्ता अभिजितः, त्रिंशन्मुहूर्ताः श्रवणस्येत्युभयमीलने यथोक्तं मुहूर्त्तपरिमाणं भवति। तत्प्रथमतया चन्द्रयोगस्य प्रथमतया, सायं विकालवेलायाम्, इह दिवसस्य कतितमाद्यरमाद्भागादारभ्य यावद्रात्रेः कतितमो भागो यावन्नापि परिस्फुटनक्षत्रमण्डलाऽऽलोकः तावान् कालविशेषः सायमिति द्रष्टव्यः; तथा लोके व्यवहारदर्शनात्। तस्मिन् सायं समये, चन्द्रेण सार्द्धं योगं युङ्क्तः। इहाभिजिन्नक्षत्रं यद्यपि युगस्याऽऽदौ प्रातश्चन्द्रेण सह योगमुपैति, तथाऽपि श्रवणेन सह सम्बद्धमिह तद्विवक्षितम्। श्रवणनक्षत्रं च मध्याह्नादूर्द्धमपसरति, दिवसे चन्द्रेण सह योगमुपादत्ते। तत्तस्तत्साहचर्यात्तदपि सायं समये चन्द्रेण सार्द्धं युज्यमानं विवक्षितं ततः सामान्यतः सायं चन्द्रेण सार्द्धं योगं युञ्जन्तीत्युक्तम् (बहुत्वं प्राकृतानुवादवशात्) अथवा युगस्याऽऽदिमतिरिच्यान्यदा बाहुल्यमधिकृत्येदमुक्तं, ततो न कश्चिद्दोषः। ''ततो पच्छा'' इत्यादि। पश्चात् तदूर्द्धवम्, अपरमन्यं सातिरेकदिवसं यावत्। एतदेवोपसंहारव्याजेन व्यक्तीकरोति-''एवं खलु'' इत्यादि। एवमुक्तेन प्रकारेण, खल्विति निश्चये, अभिजिच्छ्रवणौ द्वे नक्षत्रे, सायं समयादारभ्य एकां रात्रिमेकं च सातिरेकं दिवसं, चन्द्रेण सार्द्धं युङ्क्तः। एतावन्तं च कालं युक्त्वा तदनन्तरं योगमनुपरिवर्त्तयति, आत्मनश्चयावयत इत्यर्थः। योगं चानुपरिवर्त्य सायं दिवसस्य कतितमे पश्चाद्भागे चन्द्रं धनिष्ठायां समर्पयतः। तदेवमभिजित् श्रवणं धनिष्ठा सायं समये चन्द्रेण सह प्रथमतो योगं युञ्जन्ते। तेनामूनि त्रीण्यपि पश्चाद्भागान्यवसेयानि। ततः समर्पणादनन्तरं धनिष्ठा खलु नक्षत्रं पश्चाद्भागं सायं समये तस्य प्रथमतश्चन्द्रेण सह युज्यमानत्वात् समक्षेत्रं त्रिंशन्मुहूर्त्तं तत्प्रथमतया सायं समये चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति। चन्द्रेण सह योगं युक्त्वा ततः सायं समयादूर्द्धं, ततः पश्चाद्रात्रीः, अपरं च दिवसं यावद् योगं युनक्ति। एतदेवोपसंहारव्याजेनाऽऽचष्टे-''एवं खलु इत्यादि सुगमं, यावद् योगमनुपरिवर्त्य सायं समये चन्द्रं शतभिषजः समर्पयति। प्रायः परिस्फुटनक्षत्रमण्डलावलोके तत इदं नक्षत्रं नक्तंभागं द्रष्टव्यम्। तथा चाऽऽह-(ता इत्यादि) 'ता' इति। ततः समर्पणादनन्तरं शतभिषग्नक्षत्रं खलु नक्तंभागमपार्द्धक्षेत्रं पञ्चदशमुहूर्त्तं तत्प्रथमतया चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति। तच्च तथा युक्तं सन्न लभते अपरं दिवसं, पञ्चदशमुहूर्त्तप्रमाणत्वात्, किन्तु रात्रित एव योगमधिकृत्य परि-समाप्तिमुपैति। तथा चाऽऽह-'' एवं खलु'' इत्यादि सुगमम्। यावद् योगमनुपरिवर्त्य प्रातश्चन्द्रं पूर्वयोः प्रोष्ठपदयोर्भद्रपदयोः समर्पयति। इह पूर्वप्रोष्ठपदानक्षत्रस्य प्रातश्चन्द्रेण सह प्रथमतया योगः प्रवृत्त इतीदं पूर्वभागमुच्यते। तथा चाऽऽह-(ता पुव्वेत्यादि) ततः समर्पणादनन्तरं पूर्वप्रोष्ठपदा खलु नक्षत्रं पूर्वभागं समक्षेत्रं त्रिंशन्मुहूर्त्तं तत्प्रथमतया प्रातश्चन्द्रेण सह योगं युनक्ति। तच्च तथा युक्तं सत्ततः समयादूर्द्धं तं सकलं दिवसम्, अपरां च रात्रिं यावद्वर्त्त-ते। एतदेवोपसंहारव्याजेनाऽऽह-'' एवं खलु'' इत्यादि सुगमं, यावद् योगमनुपरिवर्त्य प्रातश्चन्द्रमुत्तरयोः प्रोष्ठपदयोः समर्पयति। इदं किलोत्तराभाद्रपदाऽऽख्यं नक्षत्रमुक्तप्रकारेण प्रातश्चन्द्रेण सह योगमधिगच्छति, केवलं प्रथमान् पञ्चदश मुहूर्त्तानधिकानपनीय समक्षेत्रत्वं कल्पयित्वा यदा योगश्चिन्त्यते, तदा नक्तमपि योगोऽस्तीत्युभयभागमवसेयम्। तथा चाऽऽह-ततः समर्पणादनन्तरं प्रोष्ठपदा नक्षत्रं खलूभयभागं द्व्यर्द्धक्षेत्रं पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तं तत्प्रथमतया प्रातश्चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति। तच्च तथा युक्तं सत्सकलमपि दिवसमपरां च रात्रिं ततः पश्चादपरं दिवसं यावद्वर्त-ते। एतदेवोपसंहारव्याजेन व्यक्तीकरोति-(एवं खलु) इत्यादि सुगमम्, यावद्योगमनुपरिवर्त्य सायं समये चन्द्रं रेवत्याः समर्पयति। ततो रेवतीनक्षत्रं सायं समये चन्द्रेण सह योगमधिगच्छति; ततस्तत्पश्चाद्भागमवसेयम्। तथा चाऽऽह-'' ता रेवती'' इत्यादि। 'ता' इति। ततः समर्पणादनन्तरं, शेषं सुगमम्। इदं च चन्द्रेण युक्तं सत् सायं समयादूर्द्धं सकलां रात्रिमपरं च दिवसं यावदवतिष्ठते, समक्षेत्रत्वात्। एतदेवोपसंहारत आह-'' एवं खलु'' इत्यादि सुगम-म्। यावद् योगमनुपरिवर्त्य सायं समये चन्द्रमश्विन्याः समर्पयति। तत इदमप्यश्विनी नक्षत्रं सायं समये चन्द्रेण सह युज्यमानत्वात् पश्चाद्भागमवसेयम्। तथा चाऽऽह-'' ता'' इत्यादि सुगमं, नवरमिदमप्यश्विनी नक्षत्रं समक्षेत्रत्वात् सायं समयादारभ्य तां सकलां रात्रिमपरं च दिवसं यावच्चन्द्रेण सह युक्तमवतिष्ठते। एतदेवोपसंहारव्याजेनाऽऽह-'' एवं खलु'' इत्यादि सुगमम्। यावद् योगमनुपरिवर्त्य सायं प्रायः परिस्फुटनक्षत्रमालावलोकसमये चन्द्रं भरण्याः समर्पयति। इदं च भरणी नक्षत्रमुक्तयुक्त्या रात्रौ चन्द्रेण सह योगमुपैति, ततो नक्तंभागमवसेयम्। तथात्वाऽऽह-'' भरणी'' इत्यादि पाठसिद्धम्। नवरमिदमपार्द्धक्षेत्रत्वाद्रात्रौ तं योगं परिसमापयति, ततो न लभते चन्द्रेण सह युक्तमपरं दिवसम्। एतदेवोपसंहारव्याजेनाऽऽह-'' एवं खलु'' इत्यादि सुगमम्। यावद् योगमनुपरिवर्त्य प्रातश्चन्द्रं कृत्तिकानां समर्पयति। इदं च कृत्तिकानक्षत्रमुक्तयुक्त्या प्रातः चन्द्रेण सह योगमुपैति, ततः पूर्वभागमवसेयम्। एतदेवोपसंहारव्याजेन व्यक्तीकरोति-'' एवं खलु'' इत्यादि सुगमं, यावद्योगमनुपरिवर्त्य प्रातश्चन्द्रं रोहिण्याः समर्पयति। इदं च रोहिणीनक्षत्रं द्व्यर्द्धक्षेत्रम्, अतः प्रागुक्तयुक्तिवशादुभयभागं प्रतिपत्तव्यम्। (रोहिणी जहा उत्तरभद्दवया इति) रोहिणी यथा प्रागुत्तरभद्रपदा उक्ता, तथा

वक्तव्या। सा चैवम्-'' ता रोहिणी खलु णक्खत्ते उभयंभागे दिवड्ढक्खेत्ते पणयालीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं, जोएइ, अवरं च राइं, ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु रोहिणी णक्खत्ते दो दिवसे एगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगे जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं मिगसिरस्स समप्पेइ। '' इति। '' मिगसिरं जहा धणिट्ठ त्ति। '' मृगशिरो नक्षत्रं यथा प्राक्धनिष्ठोक्ता तथा वक्तव्यम्। तद्यथा-'' ता मिगसिरे खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमताए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु मिगसिरे णक्खत्ते एगं राइं एगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं (अत्र सायमिति प्रायः परिस्फुटनक्षत्रमण्डलाऽऽलोकसमये, अत एवैतन्नक्तंभागम्।) चंदं अद्धाए समप्पेइ '' इति। '' एवं जहा सयभिसया, तहा णत्तंभागा णेयव्वा। एवं जहा पुव्वाभद्दवया तहा पुव्वंभागा छप्पि णेयव्वा। जहा धणिट्ठा तहा पच्छंभागा अट्ठ णेयव्वा '' इति। एवमुक्तेन प्रकारेण यथा शतभिषगुक्ता, तथा सर्वाण्यपि नक्तंभागानि नेतव्यानि। यथा पूर्वाभद्रपदा, तथा पूर्वभागानि षडपि नेतव्यानि। यथा धनिष्ठा तथा पश्चाद्भागानि अष्ट नेतव्यानि। उपलक्षणमेतत्। तेन यथोत्तराभद्रपदा, तथा सर्वाण्यप्युभयभागानि द्रष्टव्यानि। तानि चैवम्-'' ता अद्दा खलु णक्खत्ते णत्तंभागे अवड्ढक्खेत्ते पण्णरसमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, णो लहइ अवरं दिवसं। एवं खलु अद्दा एगं राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं पुणव्वमूणं समप्पेइ। '' इदं पुनर्वसुनक्षत्रं द्व्यर्द्धक्षेत्रत्वात् प्रागुक्तयुक्तेरुभयभागमवसेयम्। ततश्चैवं तत्सूत्रम्-'' ता पुणव्वसू णक्खत्ते उभयंभागे दिवड्ढक्खेत्ते पणयालीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, अवरं च राइं, ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु पुणव्वसु णक्खत्ते दो दिवसे एगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं पुस्सस्स समप्पेइ ''। इदं च पुष्यनक्षत्रं सायं समये दिवसावसानरूपे चन्द्रेण सह योगमधिगच्छति, ततः पश्चाद्भागमवसेयम्। तत एवं तत्सूत्रम्-'' ता पुस्से य खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते तीसइ-मुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु पुस्से णक्खत्ते एगं राइं एगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं असिलेसाए समप्पेइ। '' इदं चाऽऽश्लेषा नक्षत्रं सायं समये परिस्फुटनक्षत्रमण्डलाऽऽलोकरूपे प्रायश्चन्द्रेण सह योगमुपैति; तत इदं नक्तंभागमवसेयम्, अपार्द्धक्षेत्रत्वाच्च तस्यामेव रात्रौ योगं परिसमापयति। तत एवं तत्सूत्रम्-'' ता असिलेसा खलु णक्खत्ते नत्तंभागे अवड्ढक्खेत्ते पन्नरसमुहुत्ते तप्प-ढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता नो लभइ अवरं दिवसं। एवं खलु असिलेसा णक्खत्ते एगं राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं मघाणं समप्पेइ '' इति। इदं तु मघानक्षत्रमुक्तयुक्त्या प्रातश्चन्द्रेण सह योगमश्नुते, ततः पूर्वभागमवसेयम्। एवं च तत्सूत्रम्- '' ता मघा खलु णक्खत्ते पुव्वंभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवरं राइं। एवं खलु मघा णक्खत्ते एगं दिवसं एगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं पुव्वाफग्गुणीणं समप्पेइ ''। इदमपि पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रं प्रातश्चन्द्रेण सह योगमुक्तनीत्या समधिगच्छति, ततः पूर्वभागं प्रत्येतव्यम्। एवं च तत्सूत्रम्-'' ता पुव्वाफग्गुणी णक्खत्ते पुव्वभागे समक्खेत्ते तीसइ-मुहुत्ते तप्पढयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवरं राइं, एवं खलु पुव्वाफग्गुणीणक्खत्ते एगं च दिवसमेगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरि-यट्टित्ता पातो चंदमुत्तराणं फग्गुणीणं समप्पेइ। '' एतच्चोत्तराफाल्गु-नीनक्षत्रं द्व्यर्द्धक्षेत्रम्, अतः प्रागुक्तयुक्तिवशादुभयभागं वेदितव्य-म्। एवं च तत्सूत्रम्-'' ता उत्तराफग्गुणी णक्खत्ते उभयभागे दिव-ड्ढक्खेत्ते पणयालीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, अवरं च राइं, ततो पच्छा अवरं च दिवसं। एवं खलु उत्तराफग्गुणी णक्खत्ते दो दिवसे एगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरिय-ट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं हत्थस्स समप्पेइ ''। एतच्च हस्तनक्षत्रं सायं दिवसावसानसमये चन्द्रेण सह योगमधिरोहति, तेन पश्चाद्भागमवसेयम्। तत्सूत्रं चैवम्-''ता हत्थे खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु हत्थं नक्खत्ते एगं राइमेगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं चित्ताणं समप्पेइ। '' इदमपि चित्रा नक्षत्रं सायं समये प्रायो दिवसावसानसमये चन्द्रेण सह योगमुपैति, तत इदमपि पश्चाद्भाग-मवसेयम्। एवं च तत्सूत्रम्-'' ता चित्ता खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु चित्ता णक्खत्ते एगं राइमेगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता चंदं सायं साईए समप्पेइ ''। स्वातिश्च सायं समये प्रायः परिस्फुटं दृश्यमाने नक्षत्रमण्डलरूपे चन्द्रेण सह योगमुपैति। तत इयं नक्तंभागा प्रत्येया। तत्सूत्रं चेत्थम्-'' ता साई खलु णक्खत्ते णत्तंभागे अवड्ढक्खेत्ते पन्नरस-मुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, नो लभइ अवरं दिवसं। एवं खलु साई णक्खत्ते एगं राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं विसाहाणं समप्पेइ ''। इदं च विशाखानक्षत्रं द्व्यर्द्धक्षेत्रं, ततः प्रागुक्तयुक्तिवशादुभयभागमवसेयम्। एवं च तत्सूत्रम्-'' विसाहा खलु णक्खत्ते उभयंभागे दिवड्ढक्खेत्ते पणयालीस-इमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, अवरं च राइं, ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु विसाहा णक्खत्ते दो दिवसे एगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं अणुराहाए समप्पेइ। '' इदं चानुराधानक्षत्रं सायं समये दिवसावसानरूपे चन्द्रेण सह योगमुपैति, ततः प्रागुक्तयुक्तिवशात् पश्चाद्भा-गमवसेयम्। इत्थं च तत्सूत्रम्-'' ता अणुराहा खलु णक्खत्ते पच्छंभागे स-

मक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ। ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु अणुराहा णक्खत्ते एगं च राइं एगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगे अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं जेट्ठाए समप्पेइ। '' ज्येष्ठायाश्च सायं समये समर्पयति प्रायः परिस्फुटं दृश्यमाननक्षत्रमण्डले, तत इदं ज्येष्ठा नक्षत्रं नक्तंभागमवसेयम्। तत्सूत्रं चैवम्-'' ता जेट्ठा खलु णक्खत्ते नत्तंभागे अवड्ढक्खेत्ते पन्नरसमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, नो लभइ अवरं दिवसं। एवं खलु जेट्ठा णक्खत्ते एगं राइं चंदेण सद्धिं जोगे जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं मूलस्स समप्पेइ। '' मूलनक्षत्रं चोक्तप्रकारेण प्रायश्चन्द्रेण सह योगमधिगच्छति प्रातः, तत इदं पूर्वभागमवसातव्यम्। तत्सूत्रं चेदम्-'' ता मूलणक्खत्ते पुव्वंभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवरं राइं। एवं खलु मूलणक्खत्ते एगं च दिवस-मेगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं पुव्वासाढाणं समप्पेइ। '' इदमपि पूर्वाषाढानक्षत्रं प्रातश्चन्द्रेण सह योगमुक्तयुक्त्या समुपैतीति पूर्वभागमवसेयम्। एवं च तत्सूत्रम्-'' ता पुव्वासाढा खलु णक्खत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ,अवरं च राइं। एवं खलु पुव्वासाढा णक्खत्ते एगं च दिवसमेगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं उत्तरासाढाणं समप्पेइ। '' उत्तराषाढा नक्षत्रं च द्व्यर्धक्षेत्रत्वादुभयभागं वेदितव्यम्। तत्सूत्रं चैवम्-'' ता उत्तरासाढा खलु णक्खत्ते उभयंभागे दिवड्ढक्खेत्तं पणयालीसं मुहुत्ते तप्पढम-याए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, अवरं च राइं, ततो पच्छा अवरं दिवसं। '' अत ऊर्द्धं चैतद्गतं सूत्रं साक्षादाह-'' ०जाव एवं खलु उत्तरासाढा दो दिवसे '' इत्यादि। यावत्करणात् पाश्चात्यनक्षत्र-गतानि सूत्राण्यनुक्तान्यपि द्रष्टव्यानि। तानि च तथोपदर्शितानि। तदेवं बाहुल्यमधिकृत्योक्तप्रकारेण यथोक्तेषु कालेषु नक्षत्राणि चन्द्रेण सह योगमुपयान्ति, ततः कानिचित्पूर्वभागानि, कानिचित्पश्चाद्भागानि, कानिचिन्नक्तंभागानि, कानिचिदुभयभागानि। चं० प्र० १० पाहु० ४ पाहु०। सू० प्र०। नं०। (अमापूर्णिमाभिर्नक्षत्र-चन्द्रयोगः ' अमावसा ' शब्दे प्रथमभागे ७४३ पृष्ठे उक्तः) (कुलोपकुलकुलोपकुलसंज्ञकानि नक्षत्राणि ' कुल ' शब्दे तृतीयभागे ५९२ पृष्ठे उक्तानि)

(१७) किं नक्षत्रं कतितारम्-

ता कहं ते तारग्गे आहिते ति वदेज्जा ? ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? तितारे पण्णत्ते। सवणे णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? तितारे पण्णत्ते। धणिट्ठा णक्खत्ते कतितारे पंण्णत्ते ? पंचतारे पण्णत्ते। सतभिसया णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? सततारे पण्णत्ते। पुव्वापोट्ठवता णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? दुतारे पण्णत्ते। एवं उत्तरा वि। रेवती णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? बत्तीसइतारे पण्णत्ते। अस्सिणी णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ? तितारे पण्णत्ते। एवं सव्वे पुच्छिज्जंति। भरणी तितारे पण्णत्ते। कत्तिया छत्तारे पण्णत्ते। रोहिणी पंचतारे पण्णत्ते। मिगसिरे तितारे पण्णत्ते। अद्दा एगतारे पण्णत्ते। पुणव्वसू पंचतारे पण्णत्ते। पुस्से णक्खत्ते तितारे पण्णत्ते। अस्सेसा छत्तारे पण्णत्ते। महा सत्ततारे पण्णत्ते। पुव्वाफग्गुणी दुतारे पण्णत्ते। एवं उत्तरा वि। हत्थे पंचतारे पण्णत्ते। चित्ता एगतारे पण्णत्ते। साती एगतारे पण्णत्ते। विसाहा पंचतारे पण्णत्ते। अणुराहा चउतारे पण्णत्ते। जेट्ठा तितारे पण्णत्ते। मूले एगारसतारे पण्णत्ते। पुव्वासाढा चउतारे पण्णत्ते। उत्तरासाढा णक्खत्ते चउतारे पण्णत्ते।

'' ता कहं ते '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। कथं केन प्रकारेण ते त्वया भगवन्! नक्षत्राणां ताराग्रं ताराप्रमाणमाख्यातमिति वदेत्? एवं सामान्यतः प्रश्नं कृत्वा संप्रति नक्षत्रं पृच्छति-'' ता एएसि णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽभिजित्नक्षत्रं कतितारं प्रज्ञप्तम्? भगवानाह-अभिजित्नक्षत्रं त्रितारं प्रज्ञप्तम्। एवं शेषाण्यपि प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि भावनीयानि।

ताराप्रमाणसंग्राहिके चेमे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसत्के गाथे-

'' तिग तिग पंचग सय दुग, दुग वत्तीसं तिगं तह तिगं च।
छ प्पंचग तिग एक्कग, पंचग तिग छक्कगं चेव॥ १॥
सत्तग दुग दुग पंचग, इक्किक्कग पंच चउ तिगं चेव।
इक्कारसग चउक्कं, चउक्कगं चेव तारग्गं ''॥ २॥

सू० प्र० १० पाहु० ६ पाहु०। स्था०।

'' जेट्ठापज्जवसाणाणं एगोणवीसाए णक्खत्ताणं अट्ठाणउओ तारा-ओ तारग्गेणं पण्णत्ताओ। '' स० ९९ सम०।

(१८) कति नक्षत्राणि स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया कं मासं नवन्तीति-

ता कहं ते णेता आहिते ति वदेज्जा ? ता वासाणं पढमं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? ता चत्तारि णक्खत्ता णेंति। तं जहा-उत्तरासाढा, अभिई, सवणो, धणिट्ठा। उत्तरासाढा चोद्दस अहोरत्ते णेति, अभिई सत्त अहोरत्ते णेति, सवणो अट्ठ अहोरत्ते णेति, धणिट्ठा एगं अहोरत्तं णेति। तंसि च णं मासंसि चउरंगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति। तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे दो पदाइं चत्तारि य अंगुलाणि पोरिसी भवति। ता वासाणं दोच्चं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? ता चत्तारि णक्खत्ता णेंति। तं जहा-धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवया, उत्तरापोट्ठवया। धणिट्ठा चोद्दस अहोरत्ते णेति, सयभिसया सत्त अहोरत्ते णेति, पुव्वाभद्दवया अट्ठ अहोरत्ते णेति, उत्तरापोट्ठवता एगं अहोरत्तं णेति। तंसि च णं मासंसि अट्ठंगुले पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति। तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे दो पदाइं अट्ठंगुलाइं पोरिसी

भवति । ता वासाणं ततियं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? ता तिण्णि णक्खत्ता णेंति । तं जहा-उत्तरापोट्ठवता, रेवती, अस्सिणी । उत्तरापोट्ठवता चोद्दस अहोरत्ते णेति, रेवती पण्णरस अहोरत्ते णेति, अस्सिणी एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि दुबालसंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाणि तिपदाइं पोरिसी भवति । ता वासाणं चउत्थमासं कति णक्खत्ता णेंति ? ता तिण्णि णक्खत्ता णेंति । तं जहा-अस्सिणी, भरणी कत्तिया । अस्सिणी चउद्दस अहोरत्ते णेति । भरणी पन्नरस अहोरत्ते णेति । कत्तिया एगं अहोरत्तं णेति । तसि च णं मासंसि सोलसंगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टइ । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिन्नि पयाइं चत्तारि अंगुलाइं पोरिसी भवति । ता हेमंताणं पढमं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? ता तिण्णि णक्खत्ता णेंति । तं जहा-कत्तिया, रोहिणी, संठाणा । कत्तिया चोद्दस अहोरत्ते णेति । रोहिणी पण्णरस अहोरत्ते णेति । संठाणा एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि वीसंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिण्णि पदाइं अट्ठंगुलाइं पोरिसी भवति । ता हेमंताणं दोच्चे मासे कति णक्खत्ता णेंति ? चत्तारि णक्खत्ता णेंति । तं जहा-संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू , पुस्सो । संठाणा चोद्दस अहोरत्ते णेति, अद्दा सत्त अहोरत्ते णेति, पुणव्वसू अट्ठ अहोरत्ते णेति, पुस्सो एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि चउवीसंगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाणि चत्तारि पदाइं पोरिसी भवति । ता हेमंताणं ततियं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? ता तिण्णि णक्खत्ता णेंति । तं जहा-पुस्से, अस्सेसा, महा । पुस्से चोद्दस अहोरत्तं णेति, अस्सेसा पंचदस अहोरत्ते णेति, महा एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि वीसंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिण्णि पदाइं अट्ठंगुलाइं पोरिसी भवति । ता हेमंताणं चउत्थमासं कति णक्खत्ता णेंति ? ता तिण्णि णक्खत्ता णें-ति । तं जहा-महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी । महा चोद्दस अहोरत्ते णेति । पुव्वाफग्गुणी पन्नरस अहोरत्ते णेति । उत्तराफग्गुणी एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि सोलस अंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिण्णि पदाइं चत्तारि अंगुलाइं पोरिसी भवति । ता गिम्हाणं पढमं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? ता तिण्णि ण-क्खत्ता णेंति । तं जहा-उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता । उत्तराफग्गुणी चोद्दस अहोरत्ते णेति । हत्थो पण्णरस अहोरत्ते णेति । चित्ता एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि दुबालसअंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाणि तिण्णि पदाइं पोरिसी भवति । ता गिम्हाणं वितियं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? ता तिण्णि णक्खत्ता णें-ति । तं जहा-चित्ता, साई, विसाहा । चित्ता चोद्दग अहोरत्ते णेति । साती पण्णरस अहोरत्ते णेति । विसाहा एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि अट्ठंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे दो पदाइं अट्ठंगुलाइं पोरिसी भवति । गिम्हाणं ततियं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? ता चत्तारि णक्खत्ता णेंति । तं जहा-विसाहा, अणुराधा, जेट्ठा, मूलो । विसाहा चोद्दस अहोरत्ते णेति । अणुराहा सत्त, जेट्ठा अट्ठ, मूले एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि चउरंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे दो पदाणि चत्तारि य अंगुलाणि पोरिसी भवति । ता गिम्हाणं चउत्थं मासं कति णक्खत्ता णेंति ? तिण्णि ण-क्खत्ता णेंति । तं जहा-मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा । मूलो चोद्दस अहोरत्ते णेति । पुव्वासाढा पन्नरस अहोरत्ते णेति । उत्तरासाढा एगंअहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि वट्टाए समचउरंससंठाणसंठिताए णग्गोधपरिमंडलाए सकायमणुरंगिणीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाणि दो पदाइं पोरिसी भवति ।

(ता कहं ते णेता आहिते ते वदेज्जा) ' ता ' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण भगवन् ! ते त्वया स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापको नक्षत्ररूपो नेता आख्यात इति वदेत् ? एतदेव प्रतिमासं पिपृच्छिषुराह-(ता वासाणमित्यादि) ' ता ' इति पूर्ववत् । वर्षाणां वर्षाकालस्य चतुर्मासप्रमाणस्य प्रथमं मासं श्रावणलक्षणं कति नक्षत्राणि स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया नयन्ति गमयन्ति ? भगवानाह-(ता चत्तारीत्यादि)' ता ' इति पूर्ववत् । चत्वारि नक्षत्राणि स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया क्रमेण नयन्ति । तद्यथा-उत्तराषाढा, अभिजित्, श्रवणो, धनिष्ठा च । तत्रोत्तराषाढा प्रथमान् चतुर्दश अहोरात्रान् स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया नयति, तदनन्तरमभिजिन्नक्षत्रं सप्ताहोरात्रान्नयति । ततः परं श्रवणनक्षत्रमष्टौ अहोरात्रान्नयति । एवं च सर्वसंकलनया श्रावणमासस्यैकोनत्रिंशदहोरात्रा गताः । ततः परं श्रावणमासस्य संबन्धिनं चरममेकमहोरात्रं धनिष्ठा नक्षत्रं स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया नयति । एवं चत्वारि नक्षत्राणि श्रावणमासं नयन्ति । (तंसि च ण-

मित्यादि) तस्मिंश्च श्रावणे मासे चतुरङ्गुलपौरुष्या चतुरङ्गुलाधिकपौरुष्या छायया सूर्योऽनु प्रतिदिवसं परावर्त्तते। किमुक्तं भवति ?-श्रावणे मासे प्रथमादहोरात्रादारभ्य प्रतिदिनमन्यान्यमण्डलसंक्रान्त्या तथा कथञ्चनापि परावर्तते, यथा तस्य श्रावणमासस्य पर्यन्ते चतुरङ्गुलाधिका द्विपदा पौरुषी भवति। तदेवाऽऽह-(तस्स णमित्यादि) तस्य श्रावणमासस्य चरमे दिवसे द्वे पदे चत्वारि चाङ्गुलानि पौरुषी भवति। (ता वासाणमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। वर्षाणां वर्षाकालस्य चतुर्मासप्रमाणस्य द्वितीयं भाद्रपदलक्षणं मासं कति नक्षत्राणि नयन्ति ? अस्य वाक्यस्य भावार्थः प्राग्वद्भावनीयः। भगवानाह-('ता' इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। चत्वारि नक्षत्राणि नयन्ति। तद्यथा-धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वाप्रोष्ठपदा, उत्तराप्रोष्ठपदा च। तत्र धनिष्ठा तस्मिन् भाद्रपदे मासे प्रथ-मान् चतुर्दश अहोरात्रान् स्वयमस्तंगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया नयति। तदनन्तरं शतभिषक् नक्षत्रं सप्ताहोरात्रान्, ततः परमष्टावहोरात्रान् पूर्वाप्रोष्ठापदा। तदनन्तरमेकमहोरात्रमुत्तराप्रोष्ठपदा। एवमेनं भाद्रपदं मासं चत्वारि नक्षत्राणि नयन्ति। (तंसि च णमित्यादि) तस्मिंश्च 'णं' इति वाक्यालङ्कारे। मासे भाद्रपदे अष्टाङ्गुलपौरुष्या अष्टाङ्गुलाधिकपौरुष्या छायया सूर्यो अनु प्रतिदिवसं परावर्त्तते। अत्राप्ययं भावार्थः-भाद्रपदे मासे प्रथमादहोरात्रादारभ्य प्रतिदिवसमन्यान्यमण्डलसंक्रान्त्या तया कथमपि परावर्त्तते, यथा तस्य भाद्रपदस्य मासस्यान्ते अष्टाङ्गुलिका पौरुषी भवति। एतदेवाऽऽह-(तस्स णमित्यादि) सुगमम्। एवं शेषमासगतान्यपि सूत्राणि भावनीयानि, नवरं (लेहट्ठाणि तिपदाइं ति) रेखा पादपर्यन्तवर्त्तिनी सीमा, तत्स्थानि त्रीणि पदानि पौरुषी भवति। किमुक्तं भवति ?-परिपूर्णानि त्रीणि पदानि पौरुषी भवति। एषा चतुरङ्गुला प्रतिमासं वृद्धिस्तावदवसेया यावत्पौषमासः, तदनन्तरं प्रतिमासं चतुरङ्गुला हानिर्वक्तव्या। सा च तावद् यावदाषाढो मासः। तेनाऽऽषाढपर्यन्ते द्विपदा पौरुषी भवति। इदं च पौरुषीपरिमाणं व्यवहारत उक्तं, निश्चयतः सार्द्धैरित्रिंशता अहोरात्रैश्चतुरङ्गुला वृद्धिर्हानिर्वा वेदितव्या।

तथा च निश्चयतः पौरुषीपरिमाणप्रतिपादनार्थमिमाः
पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शिताः सव्याख्याः करणगाथाः-

''पव्वे पन्नरसगुणे, तिहिसहिए पोरिसीऍ आणयणे।
छलसीइसयविभत्ते, जं लद्धं तं वियाणाहि ''॥ १॥

व्याख्या-युगमध्ये यस्मिन् पर्वणि यस्यां तिथौ पौरुषीपरिमाणं ज्ञातुमिष्यते, ततः पूर्वयुगाऽऽदित आरभ्य यानि पर्वाण्यतिक्रान्तानि, तानि धियन्ते, धृत्वा च पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, गुणयित्वा च विवक्षितायास्तिथेर्याः प्रागतिक्रान्तास्तिथयः, ताभिः सहितानि क्रियन्ते, कृत्वा च षडशीत्यधिकेन शतेन तेषां भागो ह्रियते। इह एकस्मिन्नयने त्र्यशीत्यधिकमण्डलशतपरिमाणे चन्द्रनिष्पादितानां तिथीनां षडशीत्यधिकं शतं भवति, ततस्तेन भागहरणं, भागे च हृते यल्लब्धं तद्विजानीहि, सम्यगवधारयेत्यर्थः॥ १॥

''जइ होइ विसम लद्धं, दक्खिणमयणं हविज्ज नायव्वं।
अह हवइ समं लद्धं, नायव्वं उत्तरं अयणं ''॥ २॥

तत्र यदि लब्धं विषमं भवति, यथा-एकत्रिकः, पञ्चकः, सप्तको, नवको वा; तदा तत्पर्यन्तवर्ति दक्षिणमपनं ज्ञातव्यम्। अथ भवति लब्धं समम्। तद्यथा-द्विकश्चतुष्कः, षट्कोऽष्टको, दशको वा। तदा तत्पर्यन्तवर्ति उत्तरायणमवसेयम्। तदेवमुक्तो दक्षिणायनोत्तरायणपरिज्ञानोपायः॥ २॥

सम्प्रति षडशीत्यधिकेन शतेन भागे हृते यच्छेषमवतिष्ठते, यदि वा भागासंभवेन यच्छेषं तिष्ठति, तद्गतविधिमाह-

''अयणगए तिहिरासी, चउग्गुणे पव्वपायभइयव्वं।
जं लद्धमंगुलाणि य, खयवुड्ढी पोरिसीए उ ''॥ ३॥

'अयणगए' इत्यादि। यः पूर्वं भागे हृते, भागासंभवे वा शेषीभूतोऽयनगतस्तिथिराशिर्वर्तते, स चतुर्भिर्गुण्यते, गुणयित्वा च पर्वपादेन-युगमध्ये यानि सर्वसंख्यया पर्वाणि चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्यानि, तेषां पादेन चतुर्थनांशेन, एकत्रिंशता इत्यर्थः। तथा भागे हृते यल्लब्धं, तान्यङ्गुलानि, चकारादङ्गुलांशाश्च पौरुष्याः क्षयवृद्धयोर्ज्ञातव्यानि। दक्षिणायने पदध्रुवराशेरुपरि वृद्धौ ज्ञातव्यानि; उत्तरायणे पदध्रुवराशेः क्षये ज्ञातव्यानीत्यर्थः॥ अथैवंभूतस्य गुणकारस्य भागहारस्य वा कथमुपपत्तिः ? उच्यते-यदि षडशीत्यधिकेन तिथिशतेन चतुर्विंशतिरङ्गुलानि क्षये वृद्धौ वा प्राप्यन्ते, तत एकस्यां तिथौ का वृद्धिः, क्षयो वा ? राशित्रयस्थापना-१८६। २४। १। तत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यमो राशिश्चतुर्विंशतिरूपोगुण्यते, जातः स तावानेव, 'एकेन गुणितं तदेव भवति' इति वचनात्। तत आद्येन राशिना षडशीत्यधिकशतरूपेण भागो ह्रियते तत्रोपरितनराशेः स्तोकत्वाद्भागो न लभ्यते, ततः छेद्यच्छेदकराश्योः षट्केनापवर्तना, जात उपरितनो राशिश्चतुष्करूपोऽधस्तनः एकत्रिंशत्, लब्धमेकस्यां तिथौ चत्वार एकत्रिंशद्भागाः क्षये वृद्धौ चेति चतुष्को गुणकार उक्त एकत्रिंशद्भागहार इति॥३॥

इह यल्लब्धं तान्यङ्गुलानि क्षये वृद्धौ वा ज्ञातव्यानीत्युक्तं तत्र कस्मिन्नयने किंयत्प्रमाणध्रुवराशेरुपरि वृद्धौ, कस्मिन् वा अयने किं प्रमाणध्रुवराशेः क्षये ? इत्येतन्निरूपणार्थमाह-

''दक्खिणे वुड्ढी दुपया-उ अंगुलाणं तु होइ नायव्वा।
उत्तरअयणे हाणी, कायव्वा चउहिं पायाहिं ''॥ ४॥

''दक्खिणे वुड्ढी'' इत्यादि। दक्षिणायने द्विपदात् पदद्वयस्योपरि अङ्गुलानां वृद्धिर्ज्ञातव्या, उत्तरायणे चतुर्भ्यः पादेभ्यः सकाशादङ्गुलानां हानिः॥ ४॥

तत्र युगमध्ये प्रथमे संवत्सरे दक्षिणायने यतो दिवसादारभ्य वृद्धिः, तन्निरूपयति-

''सावणबहुलपडिवए, दुपया पुण पोरिसी धुवा होइ।
चत्तारि अंगुलाइं, मासेणं वड्ढए तत्तो॥ ५॥
इक्कत्तीसइ भागा, तिहिए पुण अंगुलस्स चत्तारि।
दक्खिणअयणे वुड्ढी, जाव उ चत्तारि उ पयाइं ''॥ ६॥

''सावण'' इत्यादिगाथाद्वयम्। युगस्य प्रथमे संवत्सरे श्रावणे मासि बहुलपक्षे प्रतिपदि पौरुषी द्विपदा पदद्वयप्रमाणा ध्रुवा भवति, ततस्तस्याः प्रतिपद आरभ्य प्रतितिथिक्रमेण तावद्वर्धते यावन्मासेन सूर्यमासेन सार्द्धत्रिंशदहोरात्रप्रमाणेन चन्द्रमासापेक्षयैकत्रिंशत्तिथिभिरित्यर्थः। चत्वारि अङ्गुलानि वर्धन्ते। ५। कथमेतदवसीयते, यथा मासेन सूर्यमासेन सार्द्धत्रिंशदहोरात्रप्रमाणेनैकत्रिंशत्तिथ्यात्मकेनेति ? अत आह-(''इक्कत्तीस'' इत्यादि) यत एकस्यां तिथौ चत्वार एकत्रिंशद्भागा वर्द्धन्ते, एतच्च प्रागेव भावितम्। परिपूर्णे तु दक्षिणायने वृद्धिः। परिपूर्णानि चत्वारि पदानि। ततो मासेन सूर्यमासेन सार्द्धत्रिंशदहोरात्रप्रमाणेनैकत्रिंशत्तिथ्यात्मकेनेत्युक्तम्। तदेवमुक्ता वृद्धिः॥ ६॥

संप्रति हानिमाह-

'' उत्तरअयणे हाणी, चउहिं पायाहिंजाव दो पाया।
एवं तु पोरिसीए, वुड्ढिखया हुंति नायव्वा '' ॥ ७ ॥

'' उत्तर '' इत्यादि। युगस्य प्रथमे संवत्सरे माघमासे बहुलपक्षे सप्तम्या आरभ्य चतुर्भ्यः पादेभ्यः सकाशात्प्रतितिथ्येकत्रिंशद्भागचतुष्टयहानिस्तावदवसेया, यावदुत्तरायणपर्यन्ते द्वौ पादौ पौरुषीति। एष प्रथमसंवत्सरगतो विधिः। द्वितीये संवत्सरे श्रावणमासि बहुलपक्षे त्रयोदशीमादौ कृत्वा वृद्धिः। माघमासे शुक्लपक्षे चतुर्थीमादिं कृत्वा क्षयः। तृतीये संवत्सरे श्रावणमासे शुक्लपक्षे दशमी वृद्धेरादिः। माघमासे बहुलपक्षे प्रतिपत् क्षयस्याऽऽदिः। चतुर्थे संवत्सरे श्रावणमासे बहुलपक्षे सप्तमी वृद्धेरादिः। माघमासे बहुलपक्षे त्रयोदशी क्षयस्याऽऽदिः। पञ्चमे संवत्सरे श्रावणमासे शुक्लपक्षे दशमी वृद्धेरादिः। माघमासे बहुलपक्षे प्रतिपत् क्षयस्याऽऽदिः। चतुर्थे संवत्सरे श्रावणे चतुर्थी वृद्धेरादिः। माघमासे शुक्लपक्षे दशमी क्षयस्याऽऽदिः। एतच्च करणगाथाऽनुपात्तमपि पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शितव्याख्यानादवसितम्। संप्रत्युपसंहारमाह-'' एवं तु '' इत्यादि। एवमुक्तेन प्रकारेण पौरुष्यां पौरुषीविषये वृद्धिक्षपौ यथाक्रमं दक्षिणायनेषूत्तरायणेषु वेदितव्यौ। तदेवमक्षरार्थमधिकृत्य व्याख्याता करणगाथा ॥ ७ ॥ संप्रत्यस्य करणस्य भावना क्रियतेकोऽपि पृच्छतियुग आदित आरभ्य पञ्चाशीतितमे पर्वणि पञ्चम्यां तिथौ कतिपदा पौरुषी भवति ? तत्र चतुरशीतिर्ध्रियते, तस्याश्चाधस्तात्पञ्चम्यां तिथौ पृष्टमिति। पञ्च चतुरशीतिश्च पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि द्वादश शतानि षष्ट्यधिकानि १२६०। एतेषु मध्येऽधस्तनाः पञ्च प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि १२६५। तेषां षडशीन्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाः षट्, आगतं षट् अथनान्यतिक्रान्तानि, सप्तममयनं वर्त्तते। तद्गतं च शेषमेकोनप-ञ्चाशदधिकंशतं तिष्ठति १४९। ततश्चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि पञ्चशतानि षण्णवत्यधिकानि ५९६। तेषामेकत्रिंशता भागहरणे लब्धा एकोनविंशतिः। शेषास्तिष्ठन्ति सप्त। तत्र द्वादशाङ्गुलानि पाद इत्येकोनविंशतेर्द्वादशभिः पदं लब्धम्। शेषाणि तिष्ठन्ति सप्त अङ्गुलानि, षष्ठं चायनमुत्तरायणं, तद्गतं सप्तमं तु दक्षिणायनं वर्त्तते। ततः पदमेकं, सप्ताङ्गुलानि पदद्वयप्रमाणे ध्रुवराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रीणि पदानि सप्ताङ्गुलानि। ये च सप्त एकत्रिंशद्भागाः शेषीभूता वर्त्तन्ते, तान् यवान् कुर्मः। तत्राष्टौ यवा अङ्गुले इति ते सप्त अष्टभिर्गुण्यन्ते, जाताः षट्पञ्चाशत् ५६। तस्या एकत्रिंशता भागे हृते लब्ध एको यवः। शेषास्तिष्ठन्ति यवस्य पञ्चविंशतिरेकत्रिंशद्भागाः। आगतं पञ्चाशीतितमे पर्वणि पञ्चम्यां त्रीणि पदानि, सप्ताङ्गुलानि, एको यवः, एकस्य च यवस्य पञ्चविंशतिरेकत्रिंशद्भागाः। इत्येतावती पौरुषीति। तथाऽपरः कोऽपि पृच्छतिसप्तनवतितमे पर्वणि पञ्चम्यां तिथौ कतिपदा पौरुषी भवति ? तत्र षण्णवतिर्ध्रियते, तस्याश्चाधस्तात् पञ्च षण्णवतिश्च पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि चतुर्दश शतानि चत्वारिंशदधिकानि १४४०। तेषां मध्येऽधस्तनाः पञ्च प्रक्षिप्यन्ते। जातानि चतुर्दशशतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि १४४५। तेषां षडशीत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धानि सप्त अयनानि। शेषं तिष्ठति त्रिचत्वारिंशदधिकं शतम् १४३। तच्चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि पञ्च शतानि द्विसप्तत्यधिकानि ५७२। तेषामेकत्रिंशता भागो ह्रियते, लब्धान्यष्टादश अङ्गुलानि १८। तेषां मध्ये द्वादशभिरङ्गुलैः पदमिति लब्धमेकं षडङ्गुलानि, उपरि चांशा उद्धरन्ति चतुर्दश, ते यवाऽऽनयनार्थमष्टभिर्गुण्यन्ते, जातं द्वादशोत्तरं शतम् ११२। तस्यैकत्रिंशता भागे हृते लब्धास्त्रयो यवाः, शेषास्तिष्ठन्ति यवस्यैकोनविंशतिरेकत्रिंशद्भागाः, सप्त चायनान्यतिक्रान्तानि। अष्टमं वर्त्तते, अष्टमं चायनमुत्तरायणम्, उत्तरायणे च पदचतुष्टयरूपात् ध्रुवराशेर्हानिर्वक्तव्या, तत एकं पदं सप्ताङ्गुलानि, त्रयो यवाः, एकस्य च यवस्यैकोनविंशतिरेकत्रिंशद्भागा इति पदचतुष्टयात् पात्यते, शेषं तिष्ठति द्वे पदे चत्वारि चाङ्गुलानि, चत्वारो यवाः, एकस्य च यवस्य द्वादश एकत्रिंशद्भागाः। एतावती युगे आदित आरभ्य सप्तनवतितमे पर्वणि पञ्चम्यां तिथौ पौरुषीति। एवं सर्वत्र भावनीयम्।

संप्रति पौरुषीपरिमाणतोऽयनगतपरिमाणज्ञापनार्थमियं करण-गाथा-

'' वुड्ढी वा हाणी वा, जावइया पोरिसीएँ दिट्ठाओ।
तत्तो दिवसगएणं, जं लद्धं तं खु अयणगयं ॥ ८ ॥ ''

'' वुड्ढी वा '' इत्यादि। पौरुष्यां यावतीवृद्धिर्हानिर्वा दृष्टा, ततः सकाशाद् दिवसगतेन प्रवर्तमानेन वा त्रैराशिककर्मानुसारतो यल्लब्धं, तदयनगतमयनस्य तावत्प्रमाणं गतं वेदितव्यम्। एष करणगाथाऽक्षरार्थः ॥ ८ ॥

भावना त्वियम्-तत्र दक्षिणायने पदद्वयस्योपरि चत्वारस्यङ्गुलानि वृद्धौ दृष्टानि। ततः कोऽपि पृच्छतिकियद् गतं दक्षिणायनस्य ? अत्र त्रैराशिककर्मावतारः; यदि चतुर्भिरङ्गुलस्यैकत्रिंशद्भागैरेका तिथिर्लभ्यते, ततश्चतुर्भिरङ्गुलैः कति तिथीर्लभामहे ? राशित्रयस्थापना-४। १। ४। अन्त्यान्त्यौ राशिरङ्गुलरूप एकत्रिंशद्भागकरणार्थमेकत्रिंशता गुण्यते, जातं चतुर्विंशत्यधिकं शतम् १२४। तेन मध्यो राशिर्गुण्यते, जातं तदेव चतुर्विंशत्यधिकंशतम् १२४. ' एकेन गुणितं तदेव भवति ' इति वचनात्। तस्य चतुष्करूपेणाऽऽदिराशिना भागो ह्रियते, लब्धा एकत्रिंशत्तिथयः। आगतं दक्षिणायने एकत्रिंशत्तमायां तिथौ चतुरङ्गुला पौरुष्यां वृद्धिरिति। तथा उत्तरायणे पदचतुष्टयादङ्गुलाष्टकं हीनं पौरुष्यामुपलभ्य कोऽपि पृच्छतिकियद् गतमुत्तरायणस्य ? अत्रापि त्रैराशिकम्। यदि चतुर्भिरङ्गुलस्यैकत्रिंशद्भागैरेका तिथिर्लभ्यते, ततोऽष्टभिरङ्गुलैर्हीनैः कति तिथयो लभ्यन्ते ? राशित्रयस्थापना-४। १। ८। अन्त्यान्त्यौ राशिरेकत्रिंशद्भागकरणार्थमेकत्रिंशता गुण्यते, जाते द्वे शतेऽष्टाचत्वारिंशदधिके २४८। ताभ्यां मध्यो राशिरेकरूपो गुण्यते, जाते ते एव द्वे शते अष्टाचत्वारिंशदधिके २४८। तयोराद्येन राशिना चतुष्करूपेण भागहरणम्, लब्धा द्वाषष्टिः ६२। आगतमुत्तरायणे द्वाषष्टितमायां तिथावष्टावङ्गुलानि पौरुष्यां हीनानीति।

'' तंसि च णं मासंसि वट्टाए '' इत्यदि। तस्मिन्नाषाढे मासे प्रकाश्यस्य वस्तुनो वृत्तस्य वृत्तया, समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितस्य च समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितया, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानस्य न्यग्रोधपरिमण्डलया। उपलक्षणमेतत्-शेषसंस्थानसंस्थितस्य प्रकाश्यस्य वस्तुनः शेषसंस्थितया। आषाढे हि मासे प्रायः सर्वस्यापि प्रकाश्यस्य वस्तुनो दिवसस्य चतुर्भागेऽतिक्रान्ते शेषे वा स्वप्रमाणा छाया भवति। निश्चयतः पुनराषाढमासस्य चरममण्डले, तत्रापि सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्तमाने सूर्ये। ततो यत्प्रकाश्यं वस्तु यत्संस्थानं भवति, तस्य छायाऽपि तथासंस्थानोपजायते। तत उ-

क्तं वृत्तस्य वृत्तया इत्यादि। एतदेवाऽऽह-स्वकायमनुरङ्गिण्या-स्व-स्य स्वकीयस्य छायानिबन्धनस्य वस्तुनः कायः शरीरं स्वकायः, तमनुरज्यते अनुकारं विदधातीत्येवंशीला स्वकायानुरङ्गिणी। '' संपृचा नुरुधाङ्घ्यमाङ्घ्यसपरिससंसृजपरिदेवि संज्वरपरिक्षिप-परिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुषद्विषद्रुह०-'' ॥ ३। २। १४२॥ (पाणि०) इत्यादिना घिनुण् प्रत्ययः। तया स्वकायमनुरङ्गिण्या छायया सूर्योऽनु प्रतिदिवसं परावर्तते। एतदुक्तं भवति-आषाढस्य प्रथमादहोरात्रादारभ्य प्रतिदिवसमन्यान्यमण्डलसंक्रान्त्या तथा कथञ्चनापि सूर्यः परावर्तते, यथा सर्वस्यापि प्रकाश्यस्य वस्तुनो दिवसस्य चतुर्भागेऽतिक्रान्ते, शेषे वा स्वानुकारा स्वप्रमाणा च छाया भवतीति। शेषं सुगमम्। सू० प्र० १० पाहु० १ पाहु०। (नक्षत्राण्यधिकृत्य चन्द्रमार्गाः ' चंदमग्ग ' शब्दे तृतीयभागे १०८५ पृष्ठे उक्ताः)

(१९) नक्षत्राणां देवताः-

ता कहं ते देवताणं अज्झयणा आहिता ति वदेज्जा ? ता एएसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ? ता बंभदेवताए पण्णत्ते। सवणे णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ? ता विण्हुदेवताए पण्णत्ते। धणिट्ठा णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ? ता वसुदेवताए पण्णत्ते। सयभिसया णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ? ता वरुणदेवताए पण्णत्ते। पुव्वापोट्ठवया णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ? अजदेवताए पण्णत्ते। उत्तरा-पोट्ठवया णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ? ता अहिवड्ढिदेवताए पण्णत्ते। एवं सव्वे वि पुच्छिज्जंति। रेवती पुस्सदेवयाए, अस्सि-णी अस्सदेवयाए, भरणी जमदेवयाए, कत्तिया अग्गिदेवयाए, रोहिणी पयावइदेवयाए, संठाणा सोमदेवयाए, अद्दा रुद्ददेवयाए, पुणव्वसू अदितिदेवयाए, पुस्सो वहस्सइदेवयाए, अस्सेसा सप्पदेवयाए, महा पितिदेवयाए, पुव्वाफग्गुणी भगदेवयाए, उत्तराफग्गुणी अज्जमदेवयाए, हत्थे सवितिदेवयाए, चित्ता तट्ठदेवयाए, साती वाउदेवयाए, विसाहा इंदग्गिदेवयाए, अणुराधा मित्तदेवयाए, जेट्ठा इंददेवयाए, मूले णिरितिदेवयाए, पुव्वासाढा आउदेवयाए, उत्तरासाढा विस्सदेवयाए पण्णत्ता॥

'' ता कहं ते देवताणं '' इत्यादि। ' ता ' इति। पूर्ववत्। कश्चं केन प्रकारेण भगवन्! त्वया नक्षत्राधिपतीनां देवतानामध्ययनानि, अधीयन्ते ज्ञायन्ते यैस्तान्यध्ययनानि, नामानीत्यर्थः। आख्यातानीति वदेत् ? एवं प्रश्ने कृते भगवानाह-'' ता एएसि णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। एतेषामन्तरोदितानामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽभिजिन्नक्षत्रं किंदेवताकं किंनामधेयदेवताकं प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-' ता ' इति प्राग्वत्। ब्रह्मदेवताकं ब्रह्माभिधदेवताकं प्रज्ञप्तम्। श्रवणनक्षत्रं किंदेवताकं प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-' ता ' इत्यादि। विष्णुदेवताकं विष्णुनामदेवताकं प्रज्ञप्तम्। एवं शेषाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि।

देवताऽभिधानसंग्राहिकाश्चेमास्तिस्रः प्रवचनप्र-
सिद्धाः संग्रहणिगाथाः-

'' बम्हा विण्हू य वसू, वरुणो सह अजो अणंतरं होइ।
अभिवड्ढि पूस गंध-व्व चेव परतो जमो होइ॥ १॥
अग्गि पयावइ सोमे, रुद्दे अदिई बहस्सई चेव।
नागे पिइ भग अज्जम, सविया तट्ठा य वाऊ य॥ २॥
इंदग्गी मित्तो वि य, इंदे निरई य आउ विस्सो अ।
नामाणि देवयाणं, हवंति रिक्खाण जहकमसो॥ ३॥ ''

जं० ७ वक्ष०। सू० प्र० १० पाहु० १४ पाहु०।

(२०) नक्षत्राणां गोत्राणि-

ता कहं ते गोत्ता आहिता ति वदेज्जा ? ता एतेसि णं अट्ठा-वीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? ता मोग्गलायणसगोत्ते पण्णत्ते। सवणे णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? संखायणसगोत्ते पण्णत्ते। धणिट्ठा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? अग्गतावसगोत्ते पण्णत्ते। सतभिसया णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? कण्णियणसगोत्ते पण्णत्ते। पुव्वापोट्ठवता णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? जाउकण्णीयसगोत्ते पण्णत्ते। उत्तरापोट्ठवता णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? धणंजयसगोत्ते पण्णत्ते। रेवती णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? पुस्सायणसगोत्ते पण्णत्ते। अस्सिणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? अस्सायणसगोत्ते पण्णत्ते। भरणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? भग्गवेससगोत्ते पण्णत्ते ? कत्तिया णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? अग्गिवेससगोत्ते पण्णत्ते ? रोहिणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? गोतमसगोत्ते पण्णत्ते। संठाणा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? भारद्वायसगोत्ते पण्णत्ते। अद्दा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? लोहिच्चायणसगोत्ते पण्णत्ते। पुणव्वसू णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? वासिट्ठसगोत्ते पण्णत्ते। पुस्से णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?ओमजायणसगोत्ते पण्णत्ते। अस्सेसा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? मंडव्वायणसगोत्ते पण्णत्ते। महा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? पिंगायणसगोत्ते पण्णत्ते ? पुव्वा-फग्गुणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? गोवल्लायणसगोत्ते पण्णत्ते। उत्तराफग्गुणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? कासवगोत्ते पण्णत्ते। हत्थे णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? कोसियगोत्ते पण्णत्ते। चित्ता णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? दब्भायणसगोत्ते पण्णत्ते। साई णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? चामरत्थगोत्ते पण्णत्ते। विसाहा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? सुंगायणसगोत्ते पण्णत्ते। अणुराधा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? गोलव्वायणसगोत्ते पण्णत्ते। जेट्ठा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?

तिगिच्छायणसगोत्ते पण्णत्ते । मूले णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? कच्चायणसगोत्ते पण्णत्ते । पुव्वासाढा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? वग्भियायणसगोत्ते पण्णत्ते । उत्तरासाढा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?वग्घावच्चसगोत्ते पण्णत्ते ।

इह नक्षत्राणां स्वरूपतो न गोत्रसंभवः, यत इदं गोत्रस्य स्वरूपं लोके प्रसिद्धिमुपागमत्-प्रकाशकाऽऽद्यपुरुषाभिधानस्तदपत्यसन्तानो गर्गाभिधानो गोत्रमिति । न चैवंस्वरूपं नक्षत्राणां गोत्रं संभवति, तेषामौपपातिकत्वात् । तत इत्थं गोत्रसंभवो द्रष्टव्यः-यस्मिन्नक्षत्रे शुभैरशुभैर्वा ग्रहैः समानं यस्य गोत्रस्य यथाक्रमं शुभमशुभं वा भवति, तत्तस्य गोत्रम् , ततः प्रश्नोपपत्तिः । ' ता ' इति पूर्ववत् । कथं त्वया नक्षत्राणां गोत्राणि आख्यातानीति वदेत् ? भगवानाह-'' ता एएसि णं'' इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽभिजिन्नक्षत्रं मौद्गलायनसगोत्रं मौद्गलायनेन सह गोत्रेण वर्त्तते, यत्तत्तथा । श्रवणनक्षत्रं सङ्ख्यायनसगोत्रम् । एवं शेषाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि ।

क्रमेण गोत्रसंग्राहिकाक्षेमा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसत्काश्चत्तस्रः संग्रहणिगाथाः-

'' मोग्गल्लायण संखा-यणे य तह अग्गताव कण्णिण्णे ।
तत्तो य जाउकण्णे, धणंजए चेव बोधव्वे ॥ १ ॥
पुस्सायणे अस्साय-णे, य भग्गवेसे य अग्गिवेसे य ।
गोयम भारद्दाए, लोहिच्चे चेव वासिट्ठे ॥ २ ॥
ओमज्जायणे मंडव्वायण पिंगायणे य गोवल्ले ।
कासव कोसिय दब्भा-यण चामरत्था य सुंगा य ॥ ३ ॥
गोलव्वायण तिगिछा-यणे य कच्चायणे हवइ मूले ।
तत्तो य वब्भियायणे, वग्घावच्चे य गोत्ताइं ॥ ४ ॥ ''

(जं० वक्ष०) सू० प्र० १० पाहु० १६ पाहु० । चं० प्र० ।

(२१) संप्रति भोजनानि वक्तव्यानि, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते भोयणा आहिता ति वदेज्जा ? ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं कत्तियाहिं दधिणा भोच्चा कज्जं साधेति ? रोहिणीहिं वसभमंसं भोज्जा कज्जं साहेति । संठाणाहिं मिगमंसं भोच्चा कज्जं साहेति । अद्दाहिं णवणीतेण भोच्चा कज्जं साहेति । पुणव्वसुणा घतेणं भोच्चा कज्जं साधेति । पुस्सेणं खीरेणं भोच्चा कज्जं साधेति । अस्सेसाहिं दीवगमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । महाहिं कसोर भोच्चा कज्जं साधेति । पुव्वाफुग्गणीहिं मेढगमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । उत्तराहिं फग्गुणीहिं णरवीमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । हत्थेणं वच्छाणीयपण्णेणं भोच्चा कज्जं साधेति । चित्ताहिं मुग्गसूवेणं भोच्चा कज्जं साधेति । सादिणा फलाइं भोच्चा कज्जं साधेति । विसाहाहिं आसित्तिआ भोच्चा कज्जं साधेति । अणुराहाहिं मासाकूरं भोच्चा कज्जं साधेति । जेट्ठाहिं कोलट्ठिएणं भोच्चा कज्जं साधेति । मूलेण मूलगसागेणं भोच्चा कज्जं साधेति । पुव्वाहिं आसाढाहिं आमलगसारिएण भोच्चा कज्जं साधेति । उत्तराहिं आसाढाहिं विल्लेहिं भोच्चा कज्जं साधेति । अभिइणा पुप्फेहिं भोच्चा कज्जं साधेति । सवणेणं खीरेणं भोच्चा कज्जं साधेति । धणिट्ठाहिं जूसेणं भोच्चा कज्जं साधेति । सयभिसयाए तुवरीओ भोच्चा कज्जं साधेति । पुव्वाहिं पोट्ठवयाहिं कारिल्लएहिं भोच्चा कज्जं साधेति । उत्तराहिं पोट्ठवताहिं वराहमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । रेवतीहिं जलयरमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । अस्सिणीहिं तित्ति-रमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । भरणीहिं तिलतंदुलकं भोज्जा कज्जं साधेति ।

ता कहं ते भोयणा इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण नक्षत्रविषयाणि भोजनानि आख्यातानीति वदेत् ? भगवानाह-'' ता एएसि णं '' इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । एतेषामनन्तरोदितानामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये कृत्तिकाभिः पुमान् कार्यं साधयति दध्ना संमिश्रमोदनं भुक्त्वा । किमुक्तं भवति ?कृत्तिकासु प्रारब्धं कार्यं दध्नि भुक्ते प्रायो निर्विघ्नं सिद्धिमासादयतीति भावः । एवं शेषेष्वपि सूत्रेषु भावना द्रष्टव्या । सू० प्र० १० पाहु० १७ पाहु० । चं० प्र० ।

(२२) किं नक्षत्रं किं द्वारिकम्-

ता कहं ते जोतिसस्स दारा आहिता ति वदेज्जा ? तत्थ खलु इमाओ पंच पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थेगे एवमाहंसु-ता कत्तियादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । १ । एगे पुण एवमाहंसु-ता अणुराहादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । २ । एगे पुण एवमाहंसु-ता धणिट्ठादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । ३ । एगे पुण एवमाहंसु-अस्सिणीयादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । ४ । एगे पुण एवमाहंसुता भरणियादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता । ५ । तत्थ जे ते एवमाहंसुता कत्तियादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, ते एवमाहंसुतं जहा-कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो, अस्सेसा । महादिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता । तं जहा-महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साई, विसाहा । अणुराधादिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता । तं जहा-अणुराधा, जेट्ठा, मूले, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा, अभिई, सवणो । धणि-ट्ठादिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता । तं जहा-धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवता, उत्तरापोट्ठवता, रेवती, अस्सिणी, भरणी । तत्थ जे ते एवमाहंसुता महादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, ते एवमाहंसुतं जहा-पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साती, विसाहा । अणुराधादिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता ।

तं जहा-अणुराधा, जेट्ठा, मूले, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा, अभिई, सवणो। धणिट्ठाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारि-या पण्णत्ता। तं जहा-धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवता, उत्तरापोट्ठवता, रवेती, अस्सिणी, भरणी। कत्तियाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता। तं जहा-कत्तिया, रोहि-णी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो, अस्सेसा। तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता धणिट्ठाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया प-ण्णत्ता, ते एवमाहंसु-तं जहा-धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वा-भद्दवया, उत्तराभद्दवया, रेवती, अस्सिणी, भरणी। कत्तिया-ऽऽदिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता। तं जहा-क-त्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, अस्सेसा। महाऽऽ-दिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता। तं जहा-महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साती, विसाहा। अणुराधाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता। तं जहा-अणुराधा, जेट्ठा, मूले, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा, अभिई, सवणो। तत्थ जे ते एवमाहंसुता अस्सिणीआदिया सत्त ण-क्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, ते एवमाहंसुतं जहा-अस्सिणी, भरणी, कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू। पुस्साऽऽदिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता। तं जहा-पुस्सा, अस्सेसा, महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता। सातीआदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता। तं जहा-साती, विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा। अभिईआदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता। तं जहा-अभिई, सवणो, धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वाभद्दवया, उत्तराभद्दवया, रेवती। तत्थ जे ते एवमाहंसुता भरणीआदिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, ते एवमाहंसुतं जहा-भरणी, कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो। अस्सेसाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता। तं जहा-अस्सेसा, महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साई। विसाहाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता। तं जहा-विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरसाढा, अभिई। सवणाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता। तं जहा-सवणो, धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवया, उत्तरापोट्ठवया, रेवती, अस्सिणी। एते एवमा-हंसु। वयं पुण एवं वदामोता अभिईआदिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता। तं जहा-अभिई, सवणो, धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवया, उत्तरापोट्ठवया, रेवती। अस्सिणी-आदिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता। तं जहा-अस्सिणी, भरणी, कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू। पुस्साऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता। पुस्से, अस्सेसा, महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता। सातीआदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता। तं जहा-साती, विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूले, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा॥

'' ता कहं ते जोइसदारा '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। कथं केन प्रकारेण, केन क्रमेणेत्यर्थः ? ज्योतिषो नक्षत्रचक्रस्य, द्वाराणि आख्यातानीति वदेत् ? एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावत्यः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः, तावतीरुपदर्शयति-(तत्थेत्यादि) तत्र द्वारविचारविषये खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्च परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः। ता एव क्रमेणाऽऽह-'' तत्थेगे '' इत्यादि। तत्र तेषां पञ्चानां परतीर्थिकसंघा-तानां मध्ये एके एवमाहुः-कृत्तिकाऽऽदीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि प्रज्ञप्तानि। इह येषु नक्षत्रेषु पूर्वस्यां दिशि गच्छतः प्रायः शुभमुपजायते, तानि पूर्वद्वारकाणि। एवं दक्षिणद्वारकाऽऽदीन्यपि वक्ष्यमाणानि भावनीयानि। अत्रैवोपसहारमाह-'' एगे एवमाहंसु ''। एके पुनरेवमाहुः-अनुराधाऽऽदीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि प्रज्ञप्तानि। अत्राप्युपसंहा-रमाह-'' एगे एवमाहंसु ''। एवं शेषाण्युपसंहारवाक्यानि योजनीयानि। एके पुनरेवमाहुः-धनिष्ठाऽऽदीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि। एके पुनरेवमाहुः-अश्विन्यादीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि प्रज्ञप्तानि। एके पुनरेवमाहुः-भरण्यादीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि। संप्रत्येतेषामेव पञ्चानामपि मतानां भावनिकामाह-'' तत्थ जे ते एवमा-हंसु '' इत्यादि सुगमम्। भगवान् स्वमतमाह-'' वयं पुण '' इत्यादि पाठसिद्धम्। सू० प्र० १० पाहु० २१ पाहु०।

(२३) नक्षत्रविचयः-

ता कहं ते णक्खत्तविचए आहिते ति वदेज्जा ? ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे० जाव परिक्खेवेणं। ता जंबुद्दीवे णं दीवे दो चंदा पभासेंसु वा, पभासेंति वा, पभासिस्संति वा। दो सरिया तविंसु वा, तवेंति वा, तविस्संति वा। छप्पण्णं णक्खत्ता जोयं जोएंसु वा, जोयंति वा, जोइस्संति वा। तं जहा-दो अभिई, दो सवणा, दो धणिट्ठा, दो सतभिसया, दो पुव्वापोट्ठवया, दो उत्तरापोट्ठ-वया, दो रेवती, दो अस्सिणी, दो भरणी, दो कत्तिया, दो रोहि-णी, दो संठाणा, दो अद्दा, दो पुणव्वसू, दो पुस्सा, दो अस्से-सा, दो महा, दो पुव्वाफग्गुणी, दो उत्तराफग्गुणी, दो हत्था, दो चित्ता, दो साई, दो विसाहा, दो अणुराधा, दो जेट्ठा, दो मूला, दो पुव्वासाढा, दो उत्तरासाढा। ता एएसि ण छप्पण्णाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ता, जे णं णव मुहुत्ते, सत्तावीसं

च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं पण्णरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं पणयालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं कतरे णक्खत्ते, जे णं णव मुहुत्ते सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ? कतरे णक्खत्ता, जे णं पण्णरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ? कतरे णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ? कतरे णक्खत्ता, जे णं पणतालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ? ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं, तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं मुहुत्ते सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं दो अभिई। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं पण्णरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं बारस। तं जहा-दो सतभिसया, दो भरणी, दो अद्दा, दो अस्सेसा, दो साती, दो जेट्ठा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं तीसं। तं जहा-दो सवणा, दो धणिट्ठा, दो पुव्वाभद्दवया, दो रेवती, दो अस्सिणी, दो कत्तिया, दो संठाणा, दो पुस्सा, दो महा, दो पुव्वाफग्गुणी, दो हत्था, दो चित्ता, दो अणुराधा, दो मूला, दो पुव्वासाढा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं पणयालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जो-एंति। ते णं बारस। तं जहा-दो उत्तरापोट्ठवया, दो रोहिणी, दो पुणव्वसू, दो उत्तराफग्गुणी, दो विसाहा, दो उत्तरासाढा॥ ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ता, जे णं चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एक्कवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते बारस मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं बीसं अहोरत्ते तिन्नि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं कयरे णक्खत्ता, जे णं तं चेव उच्चारे पव्वं ? ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं, तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं दो अभिई। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एक्कवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं बारस। तं जहा-दो सतभिसया, दो भरणी, दो अद्दा, दो अस्सेसा, दो साती, दो जेट्ठा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते बारस मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं तीसं। तं जहा-दो सवणा० जाव दो पुव्वासाढा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं बीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं बारस। तं जहा-दो उत्तरापोट्ठवया० जाव दो उत्तरासाढा।

'' ता कहं ते '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। कथं केन प्रकारेण (णक्खत्तविचए त्ति) विपूर्वश्चिञ् स्वभावात् स्वरूपनिर्णये वर्तते। तथा चोक्तमन्यत्र-'' आप्तवचनं प्रवचनं, ज्ञाता विचयस्तदर्थनिर्णयनम्। '' तत्र विचयनं विचयः, नक्षत्राणां विचयो नक्षत्रविषयःनक्षत्राणां स्वरूपनिर्णयः, आख्यात इति वदेत् ? भगवानाह-''ता अयं णं '' इत्यादि। इदं जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परिपूर्णं स्वयं कृत्वा परिभावनीयम्। '' ता जंबुद्दीवे णं '' इत्यादि। तत्र जम्बूद्वीपे, णमिति वाक्यालङ्कारे। द्वीपे द्वौ चन्द्रौ प्रभासितवन्तौ, प्रभासेते, प्रभासिष्येते। द्वौ सूर्यौ तापितवन्तौ, तापयतः, तापयिष्यतः। षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि चन्द्राऽऽदिभिः सह योगमयुञ्जन्, युञ्जन्ति, योक्ष्यन्ति। तत्र तान्येव षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि दर्शयति-(तं जहा) इत्यादि सुगमम्। इह भरतक्षेत्रे प्रतिदिवसमष्टाविंशतिरेव नक्षत्राणि चारं चरन्ति। ततः पूर्वमस्य दशमस्य प्राभृतस्य द्वितीये प्राभृतप्राभृतेऽष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां चन्द्रमसा सूर्येण च सह योगपरिमाणं चिन्तितम्। संप्रति पुनः सकलमेव जम्बूद्वीपमधिकृत्य नक्षत्राणि चिन्त्यमानानि वर्तन्ते, तानि च सर्वसंख्यया षट्पञ्चाशत्। ततस्तेषां सर्वेषामपि चन्द्रसूर्याभ्यां सह योगमधिकृत्य मुहूर्तपरिमाणं चिचिन्तयिषुरिदमाह-'' ता एएसि णं '' इत्यादि। एतच्च प्रागुक्तद्वितीयप्राभृतप्राभृतवत्परिभावनीयम्। तदेवं कालमधिकृत्य चन्द्रमसा सूर्येण च सह योगपरिमाणं चिन्तितम्।

संप्रति क्षेत्रमधिकृत्य तं चिचिन्तयिषुः प्रथमतः सीमाविष्कम्भविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते सीमाविक्खंभो आहिते ति वदेज्जा ? ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ता, जेसि णं छसया तीसा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। अत्थि णक्खत्ता, जेसि णं सहस्सं पंचोत्तरं सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमावि-क्खंभो। अत्थि णक्खत्ता, जेसि णं दो सहस्सा दसुत्तरा सत्त-ट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। अत्थि णक्खत्ता, जेसि णं तिण्णि सहस्सा पण्णरसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसविभागाणं सीमाविक्खंभो। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं कतरे णक्खत्ता, जेसि णं छसया तीसा० तं चेव उच्चारेयव्वं ? ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं तत्थ जे ते णक्खत्ता, जेसि णं छसया तीसा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। ते णं दो अभिई। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जेसि णं सहस्सं पंचोत्तरं सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। ते णं बारस। तं जहा-दो सतभिसया० जाव दो जेट्ठा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जेसि णं दो सहस्सा दसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। ते णं तीसं। तं जहा-दो सवणा० जाव दो पुव्वासाढा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जेसि णं ति-

णिण सहस्सा पण्णरसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। ते णं बारस। तं जहा-दो उत्तरापोट्ठवता० जाव दो उत्तरासाढा।

'' ता कहं ते '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। कथं केन प्रकारेण, कियत्या विभागसंख्यया इत्यर्थः। भगवन्! त्वया सीमाविष्कम्भ आख्यात इति वदेत् ? भगवानाह-'' ता एतेसि णं '' इत्यादि। इहाष्टाविंशत्या नक्षत्रैः स्वगत्या स्वकालपरिमाणेन क्रमशो यावत् क्षेत्रं बुद्ध्या व्याप्यमानं संभाव्यते, तावदेकमर्द्धमण्डलमुपकल्प्यते, एतावत्प्रमाणमेव द्वितीयमर्द्धमण्डलम्, इत्येवंप्रमाणं बुद्धिपरिकल्पितमेकं परिपूर्णमण्डलम्। तस्य मण्डलस्य '' मंडलंसयसहस्सेण अट्ठाणउतीए सएहिं छेत्ता इच्चेस णक्खत्तखेत्तपरिभागे णक्खत्तविच-ए पाहुडे आहिए त्ति बेमि '' इति वक्ष्यमाणवचनात् अष्टानवतिशताधिकशतसहस्रविभागैर्विभज्यते। किमेवं संख्यानां भागानां कल्पते निबन्धमिति चेत् ? उच्यते-इह त्रिविधानि नक्षत्राणि। तद्यथा-समक्षेत्राणि, अर्द्धक्षेत्राणि, द्व्यर्धक्षेत्राणि च। तत्र यावत्प्रमाणं क्षेत्रमहोरात्रेण गम्यते नक्षत्रैः, तावत्क्षेत्रप्रमाणं चन्द्रेण सह योगमुपयान्ति गच्छन्ति, तानि समक्षेत्राणि। तानि पञ्चदश। तद्यथा-श्रवणो, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरः, पुष्यः, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्तं, चित्रा, अनुराधा, मूलम्, पूर्वाषाढा इति। तथा यानि अहोरात्रप्रमितस्य क्षेत्रस्यार्द्धं च चन्द्रेण सह यो-गमश्नुवते, तान्यर्द्धक्षेत्राणि, तानि च षट्। तद्यथा-शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वातिर्ज्येष्ठेति। तथा द्वितीयमर्द्धं यस्य तद् द्व्यर्द्धं, सार्द्धमित्यर्थः। द्व्यर्द्धमर्द्धाधिकं क्षेत्रमहोरात्रप्रमितं चन्द्रेण योगयोग्यं येषां तानि द्व्यर्द्धक्षेत्राणि। तान्यपि षट्। तद्यथा-उत्तराभाद्रपदा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, रोहिणी, पुनर्वसु, विशाखा चेति। तत्र सीमापरिमाणचिन्तायामहोरात्रः सप्तषष्टिभागीक्रियते, इति समक्षेत्राणां क्षेत्रं प्रत्येकं सप्तषष्टिभागाः परिकल्प्यन्ते। अर्द्धक्षेत्राणां त्रयस्त्रिंशदर्द्धं च द्व्यर्द्धक्षेत्राणां शतमेकमर्द्धं च अभिजिन्नक्षत्रस्यैकविंशतिसप्तषष्टिभागाः। समक्षेत्राणि च नक्षत्राणि पञ्चदशेति सप्तषष्टिः पञ्चदशभिर्गुण्यते, जात सहस्रं पञ्चोत्तरम् १००५। अर्द्धक्षेत्राणि णमिति। ततः सार्द्धा त्रयस्त्रिंशत्षड्भिर्गुण्यते, जाते द्वे शते एकोत्तरे २०१। द्व्यर्द्धक्षेत्राण्यपि षट्। ततः शतमेकमर्द्धं च षड्भिस्ताड्यते, जातानि षट् शतानि त्र्युत्तराणि ६०३। अभिजिन्नक्षत्रस्य एकविंशतिः, सर्वसंख्यया जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०। एतावद्भागपरिमाणमेकमर्द्धमण्डलम्, एतावद्भागमेव द्वितीयमिति त्रिंशदधिकान्यष्टादशशतानि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि ३६६०। एकैकस्मिन्नहोरात्रे किल त्रिंशन्मुहूर्ता इति प्रत्येकमेतेषु षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतसंख्येषु भागेषु त्रिंशद्भागकल्पनायां त्रिंशता गुण्यन्ते, जातमेकं शतसहस्रमष्टानवतिशतानि। १०९८००। तत इत्थं मण्डलस्य भागान् परिकल्प्य भगवान् प्रतिवचनं ददाति-''ता '' इति। तत्र एतेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये, अस्तीति निपातत्वादार्षत्वाद्वा स्तः, ते नक्षत्रे, ययोः प्रत्येकं षट्शतानि त्रिंशानि त्रिंशदधिकानि, सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः सीमापरिमाणम्। तथाऽस्तीति सन्ति तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं पञ्चोत्तरं सहस्रं सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः। सन्ति तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं द्वे सहस्रे दशोत्तरे सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः। सन्ति तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि, सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः। एवं भगवता सामान्येनोक्ते भगवान् गौतमो विशेषावगमनिमित्तं भूयः प्रश्नयति-'' ता एतेसि णं '' इत्यादि। तत्र एतेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये कतराणि तानि नक्षत्राणि, येषां षट्शतानि त्रिंशानि सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः ? (तं चेव उच्चारेयव्वं ति) तदेवानन्तरोक्तमुक्तप्रकारेणोच्चारयितव्यम्। तद्यथा-'' कयरे खलु णक्खत्ता, जेसिं सहस्सं पंचोत्तरं सत्तट्ठिभागतीसइभागाणं सीमाविक्खंभो ? कयरे णक्खत्ता, जेसिं दो सहस्सा दसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसइभागाणं सीमाविक्खंभो '' इति। चरमं तु सूत्र साक्षादाह-'' कयरे णक्खत्ता '' इत्यादि। एतानि त्रीणि सूत्राणि सुगमानि ? भगवानाह-'' ता एतेसि णं '' इत्यादि। तत्र एतेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि, येषां षट्शतानि त्रिंशानि सप्तषष्टिभागत्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः। ते द्वे अभिजिन्नक्षत्रे। कथमेतदवसीयते ? इति चेत्। उच्यते-इह एकैकस्याभिजितो नक्षत्रस्य सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रगम्यस्य क्षेत्रस्य सत्का एकविंशतिभागाश्चन्द्रयोगयोग्याः, एकैकस्मिंश्च भागे त्रिंशद्भागपरिकल्पनादेकविंशतिस्त्रिंशता गुण्यते, जातानि षट् शतानि त्रिंशदधिकानि ६३०। तथा तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं पञ्चोत्तरं सहस्रं सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः। तानि द्वादश। तद्यथा-द्वे शतभिषजौ (०जाव दो जेट्ठाओ त्ति) यावच्छब्दकरणादेवं द्रष्टव्यम्-'' दो भरणीओ, दो अद्दाओ, दो अस्सेसाओ, दो साईओ, दो जेट्ठाओ '' इति। तथाहि-एतेषां द्वादशानामपि नक्षत्राणां प्रत्येकं सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रगम्यस्य क्षेत्रस्य सत्काः सार्द्धास्त्रयस्त्रिंशद्भागाश्चन्द्रयोगयोग्याः, ततस्त्रयस्त्रिंशत् त्रिंशता गुण्यते, जातानि नवशतानि नवात्यधिकानि ९९०। अर्द्धस्यापि च त्रिंशता गुणयित्वा द्वाभ्यां भागे हृते लब्धा पञ्चदश १५, सर्वसंख्यया जातं पञ्चोत्तरं सहस्रम् १००५। तथा तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि, येषां द्वे सहस्रे दशोत्तरे सप्तषष्टिभागत्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः। तानि त्रिंशत्। तद्यथा-द्वौ श्रवणौ (०जाव दो पुव्वासाढा इति) यावच्छब्दादेवं पाठो द्रष्टव्यः-'' दो धणिट्ठा, दो पुव्वाभद्दवया, दो रेवई, दो अस्सिणी, दो कत्तिया, दो मिगसिरा, दो पुस्सा, दो मघा, दो पुव्वाफग्गुणीओ, दो हत्था, दो चित्ता, दो अणुराहा, दो मूला, दो पुव्वासाढा '' इति। तथाहि-एतानि नक्षत्राणि समक्षेत्राणि। तत एतेषां सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रगम्यस्य क्षेत्रस्य सत्काः परिपूर्णाः सप्तषष्टिभागाः प्रत्येकं चन्द्रयोगयोग्यः। तेन सप्तषष्टिस्त्रिंशता गुण्यते, जाते द्वे सहस्रे दशोत्तरे इति २०१०। तथा तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः। तानि द्वादश। तद्यथा-द्वे उत्तरे प्रोष्ठपदे (०जाव दो उत्तरासाढा इति) यावच्छब्दकरणादेवं द्रष्टव्यम्-'' दो रोहिणी, दो पुणव्वसू, दो उत्तराफग्गुणी, दो विसाहा, दो उत्तरासाढा'' इति। एतानि हि नक्षत्राणि द्व्यर्द्धक्षेत्राणि। ततः सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रगम्यस्य क्षेत्रस्य सत्काश्चन्द्रयोगयोग्या भागाः, शतमेकमर्द्धं च प्रत्येकमवगन्तव्याः। तत्र शतं त्रिंशता गुण्यते, जातानि त्रीणि

सहस्राणि, अर्द्धमपि त्रिंशता गुणयित्वा द्वाभ्यां विभज्यते, लब्धाः पञ्चदशेति। सू० प्र० १० पाहु० २२ पाहु०।

(२४) सायं प्रातर्नक्षत्रचन्द्रयोगः-

ता एतेसि णं छप्पाण्णाए णक्खत्ताणं किं सता पादो चंदेणं सद्धिं जोयं जोएंति ? किं सता सायं चंदेण सद्धिं जोयं जोए-ति ? किं सता दुहओ पविट्ठित्ता पविट्ठित्ता चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ? ता एतेसि णं णक्खत्ताणं णो सया पाढो चंदेण सद्धिं जोयं जोएति, णो सया सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, णो सया दुहओ पविट्ठित्ता पविट्ठित्ता चंदेण सद्धिं जोयं जोएति। णऽणत्थ दोहिं अभिईहिं। ता एतेसि णं दो अभिईआ पायं चिय पायं चिय चोत्तालीसं अमावासं जोएंति, णो चेव णं पुण्णिमासिणिं॥

'' ता एतेसि णं '' इत्यादि। ' ता ' इति। तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये किं नक्षत्रं यत्सदा प्रातरेव चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति ? किं नक्षत्रं यत्सदा सायं दिवसावसानसमये चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति ? किं तन्नक्षत्रं यत्सदा द्विधा प्रातः सायं च समये, प्रविश्य प्रविश्य चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति ? भगवानाह-'' ता एतेसि णं '' इत्यादि। तत्रैतेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये न किमपि तन्नक्षत्रमस्ति, यत् सदा प्रातरेव चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति, नापि तन्नक्षत्रमस्ति यत्सदा सायं समये चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति, नापि तदस्ति नक्षत्रं, यत्सदा द्विधा प्रातः सायं समये च, प्रविश्य प्रविश्य चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति। किं सर्वथा ? नेत्याह-'' णऽणत्थ '' इत्या- दि। नेति प्रतिषेधे, अन्यत्र द्वाभ्यामभिजिद्भ्यामवसेयः। कस्मात् ? इत्याह-'' ता एतेसि णं '' इत्यादि। ' ता ' इति। तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये, एते अनन्तरोदिते द्वे अभिजिती, अभिजिन्नक्षत्रे युगे युगे प्रातरेव प्रातरेव चतुश्चत्वारिंशत्तमामामावास्यां चन्द्रेण सह योगमुपगम्य युङ्क्तः परिसमापयतः, नो चैव पौर्णमासीम्। अथ कथमेतदवसीयते-यथा युगे युगे चतुश्चत्वारिंशत्तमामामावास्यां सदैव प्रातः समये अभिजिन्नक्षत्रं चन्द्रेण सार्द्धं योगमुपागम्य परिसमापयतीति ? उच्यते-पूर्वाऽऽचार्योपदर्शितकरणवशात्। तथाहि-तिथ्यानयनार्थं तावत्करणमिदम्-

'' तिहिरासिमेव वाव-ट्ठीभइए सेसमेगसट्ठिगुणं।
वावट्ठीएँ विभत्ते, सेसा अंसा तिहिसमत्ती ''॥ १॥

अस्या अक्षरगमनिकाये युगमध्ये चन्द्रमासा अतिक्रान्ताः, ते तिथेरानयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, गुणयित्वा च तस्य राशेर्भागो द्वाषष्ट्या ह्रियते, हृते च भागे यदवतिष्ठते, तस्मिन्नेकषष्ट्या गुणयित्वा द्वाषष्ट्या विभक्ते ये अंशा उद्धरन्ति, सा विवक्षिते दिने विवक्षिततिथिपरिसमाप्तिः। ततश्चतुश्चत्वारिंशत्तमायाममावास्थायां चिन्त्यमानायां त्रिचत्वारिंश-चन्द्रमासाः, एकं च चन्द्रमासस्य पर्वावाप्यते। ततस्त्रिचत्वारिंशत् त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि द्वादश शतानि नवत्यधिकानि १२९०। तत उपरितनाः पर्वगताः पञ्चदश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रयोदश शतानि पञ्चोत्तराणि १३०५। तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकविंशतिः, सा त्यज्यते, शेषास्तिष्ठन्ति त्रयः, ते एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातं त्र्यशीत्यधिकं शतम् १८३। तस्य द्वाषष्ट्या भागे हृते लब्धौ द्वौ, तौ त्यक्तौ, शेषस्तिष्ठत्ये-कोनषष्टिः ५९। आगतमेकोनषष्टिर्द्वाषष्टिभागाः, तस्मिन् दिने अमावास्यासु पौर्णमासीषु च नक्षत्राऽऽनयनार्थं प्रागुक्तमेव करणम्। तत्र ध्रुवराशिः षट्षष्टिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकः सप्तषष्टिभागः ६६। $\frac{५}{६२}$। $\frac{१}{६७}$। तत्र चतुश्चत्वारिंशत्तमा अमावास्या चिन्तयितुमारब्धा, ततश्चतुश्चत्वारिंशता सा गुण्यते, जातानि मुहूर्त्तानामेकोनत्रिंशच्छतानि चतुरुत्तराणि २९०४। एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागानां द्वे शते विंशत्यधिके २२०। एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः $\frac{४४}{६७}$। तत्र पुनर्वसुप्र-भृतिकमुत्तराषाढापर्यन्तं चत्वारि शतानि द्विचत्वारिंशदधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्चत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागाः ४४२। $\frac{६६}{६२}$। इत्येवं प्रमाणं शोध्यते, जातानि मुहूर्त्तानां चतुर्विंशतिशतानि द्वाषष्ट्यधिकानि २४६२। एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुःसप्तत्यधिकं शतं द्वाषष्टिभागानाम् १७४। ततोऽभिजिदादिसकलनक्षत्रमण्डल-शोधनकमष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः ८१९। २४। ६६। इत्येवंप्रमाणं यावत्संभवं शोधनीयम्। तत्र त्रिगुणमप्पि शुद्धिमासादयतीति त्रिगुणं कृत्वा शोध्यते, स्थिताः पश्चात् यह मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तत्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागास्य सप्तचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः ६। ३७। ४७। आगतं चतुश्चत्वारिंशत्त-माममावास्यामभिजिन्नक्षत्रं, षट्सु, मुहूर्त्तेषु सप्तमस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु गतेषु परिसमापयति।

(२५) संप्रत्यमावास्यापौर्णमासीप्रक्रमादेव तत्प्ररूपणां चिकीर्षुरिदमाह-

तत्थ खलु इमाओ बावट्ठि पुण्णिमासिणीओ बावट्ठि अमावा-साओ पण्णत्ताओ। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि जोएति ? ता जंसि णं देसंसि चदे चरिमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति, ता एतेणं पुण्णिमा-सिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता, एत्थ णं से चंदे पढमं पुण्णिमासिणिं जोएति। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि जोएति ? ता जंसि णं देसंसि चंदे पढमं पुण्णिमासिणिं जोएति, ता एतेणं पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता, एत्थ णं से चंदे दोच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि जोएति ? ता जंसि णं देसंसि चंदे दोच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति, ता एतेणं पुण्णिमासिणिट्ठा-णातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणा-वेत्ता, एत्थ णं छच्चं चंदे पुण्णिमासिणिं जोएति। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि

जोएति ? ता जंसि णं देसंसि चंदे तच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दोण्णि अट्ठासीते भागसते उणातिणावेत्ता एत्थ णं से चंदे दुवालसमं पुण्णिमासिणिं जोएति ॥ एवं खलु एतेणुवाएणं ताते २ पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता तंसि तंसि देसंसि तं तं पुण्णिमासिणिं चंदे जोएति। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरमं वावट्ठिं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि जोएति ? ता जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स पाईणपडीणाऽऽयतउदीणदाहिणाऽऽयताए जीवाए मंडलं चउव्वासेणं सतेणं छेत्ता दाहिणिल्लंसि चउब्भागमंडलंसि सत्तावीसं च भागे उवातिणावेत्ता अट्ठावीसतिभागं वीसहा छेत्ता अट्ठावीसतिभागे उवातिणावेत्ता तिहिं भागेहिं दोहि य कलाहिं पच्चच्छिमिल्लचउभागमंडलं असंपत्ते एत्थ णं से चंदे चरिमं वावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति।

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ? ता जंसि णं देसंसि सूरे चरिमं वावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिभागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे पढमं पुण्णिमासिणिं जोएइ। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ? ता जंसि णं देसंसि सूरे पढमं पुण्णिमासिणिं जोएइ, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिभागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे दोच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जो-एति ? ता जंसि णं देसंसि सूरे दोच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिभागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे तच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसण्हं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ? ता जंसि णं देसंसि सूरे तच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं संतेणं छेत्ता अट्ठवत्ताले भागसते उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे दुवालसमं पुण्णिमासिणिं जोएति। एवं खलु एतेणुवाएणं ताते २ पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिचउणउतिभागे उवातिणावेत्ता तंसि तंसि देसंसि तं तं पुण्णिमासिणिं सूरे जोयं जोएति। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरिमं वावट्ठिं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ? ता जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स पाईणपडीणाऽऽयतउदीणदाहिणाऽऽयताए जीवाए मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता पुरच्छिमिल्लंसि चउभागमंडलंसि सत्तावीसभागे उवातिणावेत्ता अट्ठावीसतिभागं वीसधा छेत्ता अट्ठारसभागे उवातिणावेत्ता तिहिं भागेहिं दोहि य कलाहिं दाहिणिल्लचउभागमंडलं असंपत्ते एत्थ णं से सूरे चरिमं वावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति।

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं अमावासं चंदे कंसि देसंसि जोएति ? ता जंसि णं देसंसि चंदे चरिमं वावट्ठिं अमावासं जोएति, ताते अमावासट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से चंदे पढमं अमावासं जोएति। एवं जेणेव अभिलावेणं चंदस्स पुण्णिमासिणीओ भणिताओ, तेणेव अभिलावेणं अमावासाओ भणितव्वाओ। तं जहाविंतिया, ततिया, दुवालसमी। एवं खलु एतेणुवाएणं ताते २ अमावासट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुतीसं दुतीसं भागे उवातिणावेत्ता तंसि तंसि देसंसि तं तं अमावासं चंदे जोएति। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरमं वावट्ठिं अमावासं चंदे कंसि देसंसि जोएति ? ता जंसि णं देसंसि चंदे चरिमं वावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता सोलसभागे ओसक्कावइत्ता एत्थ णं से चंदे चरिमं वावट्ठिं अमावासं जोएति। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएति ? ता जंसि णं देसंसि सूरे चरिमं वावट्ठिं अमावासं जोएति, ताते अमावासट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिभागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे पढमं अमावासं जोएति। एवं जेणेव अभिलावेणं सूरस्स पुण्णिमासिणीओ, तेणेव अमावासाओ वि। तं जहाविंतिया, ततिया, दुवालसमी। एवं खलु एतेणुवाएणं ताते अमावासट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता चउणउतिचउणउतिभागे उवातिणावेत्ता तंसि तंसि देसंसि तं तं अमावासं सूरे जोएति। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरिमं वावट्ठिं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएति ? ता जंसि णं देसंसि सूरे चरिमं वावट्ठिं अमावासं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता सत्तालीसं भागे ओसक्कावइत्ता एत्थ णं से सूरे चरिमं वावट्ठिं अमावासं जोएति।

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? ता धणिट्ठाहिं, धणिट्ठाणं

तिण्णि मुहुत्ता, एगूणवीसं च वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता पण्णट्ठिचुण्णियाभागा सेसा।

''तत्थ खलु'' इत्यादि। तत्र युगे खलु इमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः द्वाषष्टिः पौर्णमास्यो, द्वाषष्टिरमावास्याः प्रज्ञप्ताः। एवमुक्ते भगवान् गौतमः पृच्छति-''ता'' इत्यादि। 'ता' इति। तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां चन्द्राऽऽदीनां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां पौर्णमासीं चन्द्रः कस्मिन् देशे युनक्ति परिसमापयति ? भगवानाह-''ता जंसि णं'' इत्यादि। तत्र यस्मिन् देशे चन्द्रश्चरमां पाश्चात्य युगपर्यन्तवर्तिनीं द्वाषष्टिमां पौर्णमासीं युनक्ति परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानाच्चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानात् परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य, तद्गतान् द्वात्रिंशद्भागानुपादाय गृहीत्वा, अत्र द्वात्रिंशद्भागरूपे देशे चन्द्रः प्रथमां पौर्णमासीं युनक्ति परिसमापयति। भूयः प्रश्नं करोति-''ता एतेसि णं'' इत्यादि। 'ता' इति। तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये या द्वितीया पौर्णमासी, तां चन्द्रः कस्मिन् देशे परिसमापयति ? भगवानाह-''ता जंसि णं'' इत्यादि। तत्र यस्मिन् देशे चन्द्रः प्रथमां पौर्णमासीं युनक्ति परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात् प्रथमपौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानात् परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा तद्गतान् द्वात्रिंशद्भागानुपादायात्र प्रदेशे स चन्द्रो द्वितीयां पौर्णमासीं परिसमापयति। एवं तृतीयपौर्णमासीविषयमपि सूत्रं व्याख्येयम्। एवं द्वादशपौर्णमासीविषयमपि। नवरं(दोण्णि अट्ठासीते भागसते त्ति) तृतीयस्याः पौर्णमास्याः परतो द्वादशो किल पौर्णमासी नवमी भवति, ततो नवभिर्द्वात्रिंशतो गुणने द्वे शतेऽष्टाशीत्यधिके भवतः २८८। संप्रत्यतिदेशमाह-''एवं खलु'' इत्यादि। एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चितमेतेनानन्तरोदितेनोपायेन यां पौर्णमासीं यत्र यत्र देशे परिसमापयति, तस्याः तस्याः पौर्णमास्यास्ततोऽनन्तरां पौर्णमासीं तस्मात्तस्मात् पाश्चात्यपाश्चात्यपौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानाद् मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा परतस्तद्गतान् द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशतं भागानुपादाय तस्मिन् तस्मिन् देशे तां तां पौर्णमासीं चन्द्रः परिसमापयति। स चैवं परिसमापयंस्तावद्वेदितव्यो, यावद् भूयोऽपि चरमां द्वाषष्टिं पौर्णमासीं तस्मिन् देशे परिसमापयति, यस्मिन् देशे पाश्चात्ययुगे चरमां द्वाषष्टिं पौर्णमासीं परिसमापितवान्। कथमेतदवसीयते ? इति चेत्। उच्यते-गणितक्रमवशात्। तथाहि-पाश्चात्ययुगे चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानात् परतो मण्डलस्य चतुर्विंशत्यधिकशतप्रविभक्तस्य सत्कानां द्वात्रिंशतो भागानामतिक्रमे तस्यास्तस्याः पौर्णमास्याः परिसमाप्तिः, द्वाषष्टिश्च सर्वसंख्यया युगे पौर्णमास्यः। ततो द्वात्रिंशद् द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकोनविंशतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि १९८४। तेषां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाः षोडश सकलमण्डलपरावर्ताः, समस्तस्यापि च राशेर्निर्लेपीभवनादागतंयस्मिन् देशे पाश्चात्ययुगसंबन्धिचरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिः, तस्मिन्नेव देशे विवक्षितस्यापि च युगस्य चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिः। संप्रति चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिदेशं पृच्छति-''ता एतेसि णं'' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं चन्द्रः कस्मिन् देशे युनक्तिपरिसमापयति ? भगवानाह-(ता जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। जम्बुद्वीपस्य, णमिति वाक्यालङ्कारे। द्वीपस्योपरि प्राचीनापाचीनाऽऽयतया, इह प्राचीनग्रहणेनोत्तरपूर्वा गृह्यते, अपाचीनग्रहणेन दक्षिणापरा। ततोऽयमर्थः-पूर्वोत्तरदक्षिणापराऽऽयतया; एवमुदीच्यदक्षिणाऽऽयतया, पूर्वदक्षिणोत्तरापराऽऽयतया जीवया प्रत्यञ्चया, दवरिकया इत्यर्थः। मण्डलं चतुर्विंशेन शतेन चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य, भूयश्चतुर्भिर्विभज्यते। ततो दक्षिणात्ये चतुर्भागमण्डले एकत्रिंशद्भागप्रमाणे सप्तविंशतिभागानुपादायाष्टाविंशतितमं च भागं विंशतिधा छित्त्वा, तद्गतानष्टाविंशतिभागानुपादाय शेषैस्त्रिभिर्भागैश्चतुर्थस्य भागस्य द्वाभ्यां कलाभ्यां पाश्चात्यचतुर्भागमण्डलसंप्राप्तोऽस्मिन् प्रदेशे चन्द्रो द्वाषष्टितमां चरमां पौर्णमासीं परिसमापयति। तदेवं चन्द्रस्य पौर्णमासीपरिसमाप्तिदेश उक्तः।

संप्रति सूर्यस्य पौर्णमासीपरिसमाप्तिदेशं प्रतिपिपादयिषुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-(ता एतेसि णं इत्यादि) 'ता' इति। तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां पौर्णमासीं सूर्यः कस्मिन् देशे स्थितः सन् युनक्तिपरिसमापयति ? भगवानाह-(ता जंसि णं इत्यादि) तत्र यस्मिन् देशे स्थितः सन् सूर्यश्चरमां पाश्चात्ययुगवर्तिनीं द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं युनक्तिपरिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात् चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य, तद्गतान् चतुर्नवतिभागान् उपादाय, अत्र प्रदेशे सूर्यः प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयति। किमत्र कारणमिति चेत् ? उच्यते-इह परिपूर्णेषु त्रिंशदहोरात्रेषु परिसमाप्तेषु सत्सु स एव सूर्यस्तस्मिन्नेव देशे वर्तमानः प्राप्यते, न कतिपयभागन्यूनेषु; पौर्णमासी च चन्द्रमासपर्यन्ते परिसमाप्तिमुपैति; चन्द्रमासस्य च परिमाणमेकोनत्रिंशदहोरात्राः, एकस्य चाहोरात्रस्य द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः। ततस्त्रिंशत्तमेऽहोरात्रे द्वात्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु गतेषु सूर्यश्चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् चतुर्नवतौ चतुर्विंशत्यधिकशतभागेष्वतिक्रान्तेषु प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयन्नवाप्यते। किमुक्तं भवति ?-त्रिंशता भागैस्तमेव देशमप्राप्तः सन्नवाप्यते, त्रिंशतो द्वाषष्टिभागानामहोरात्रसत्कानामद्यापि स्थितत्वात्। भूयः प्रश्नयति-(ता एतेसि णमित्यादि)' ता' इति। तत्र युगे एतेषां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये द्वितीयां पौर्णमासीं सूर्यः कस्मिन् देशे स्थितः सन् युनक्तिपरिसमापयति ? भगवानाह-(ता जंसि णमित्यादि) 'ता' इति। तत्र यस्मिन् देशे स्थितः सन् सूर्यः प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात् प्रथमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा तद्गतान् चतुर्नवतिभागान् उपादाय अत्र देशे स्थितः सन् सूर्यो द्वितीयां पौर्णमासीं परिसमापयति। एवं तृतीयपौर्णमासीविषयमपि सूत्रं वक्तव्यम्। एवं द्वादशपौर्णमासीविषयमपि। नवरं (अट्ठचत्ताले भागसते त्ति) तृतीयस्याः पौर्णमास्याः परतो द्वादशी किल पौर्णमासी नवमी, ततश्चतुर्नवतिर्नवभिर्गुण्यते, जातान्यष्टौ शतानि षट् चत्वारिंशदधिकानि ८४६। संप्रति शेष-

पौर्णमासीविषयमतिदेशमाह-(एवं खलु इत्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण, खलु निश्चितम्, एतेनानन्तरोदितेनोपायेन यां यां पौर्णमासीं यत्र यत्र देशे परिसमापयति, तस्यास्तस्याः पौर्णमास्यास्तां तामनन्तरामनन्तरां पौर्णमासीं तस्मात् तस्मात् पाश्चात्यपाश्चात्यपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानाद् मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा परतस्तद्गतान् चतुर्नवतिचतुर्नवतिभागानुपादाय तस्मिन् तस्मिन् देशे स्थितः सन् सूर्यस्तां तां पौर्णमासीं परिसमापयति। स चैवं परिसमापयन् तावद् वेदितव्यो यावद् भूयोऽपि चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं तस्मिन् देशे परिसमापयति यस्मिन् देशे पाश्चात्ययुगसंबन्धिनीं चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापितवान्। एतचावसीयते गणितक्रमवशात्। तथाहि-पाश्चात्ययुगचरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् परतो मण्डलस्य चतुर्विंशत्यधिकशतप्रविभक्तस्य सत्कानां चतुर्थवतिभागानामतिक्रमे तस्याः तस्याः पौर्णमास्याः परिसमाप्तिः, ततश्चचतुर्नवतिर्द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातान्यष्टापञ्चाशच्छतानि अष्टाविंशत्यधिकानि ५८२८। तेषां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तचत्वारिंशत् सकलमण्डलपरावर्त्ताः। न च तैः प्रयोजनं, केवलं राशेर्निर्लेपीभवनादागतंयस्मिन् देशे स्थितः सन् पाश्चात्ययुगसंबन्धिचरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमापकः, तस्मिन्नेव देशे विवक्षितस्यापि युगस्य चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयतीति। संप्रति चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनं देशं पृच्छति-'' ता एतेसि णं '' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-''ता जंबुद्दीवस्स णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य प्राचीनापाचीनाऽऽयतया, अत्रापि प्राचीनग्रहणेनोत्तरपूर्वा दिग् गृह्यतो अपाचीनग्रहणेन दक्षिणाऽपराः ततोऽयमर्थः-उत्तरपूर्वदक्षिणापराऽऽयतया, एवमुदीच्यदक्षिणाऽऽयतया, उत्तरापरदक्षिणपूर्वाऽऽयतया जीवया दवरिकया, मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य भूयश्चतुर्भिर्भक्त्वा (पुरच्छिमिल्लंसि त्ति) पूर्वदिग्वर्तिनि चतुर्भागमण्डले एकत्रिंशत्भागप्रमाणे सप्तविंशतिभागानुपादायाष्टाविंशतितमं च भागं विंशतिधा छित्त्वा तद्गतानष्टादशभागानुपादाय शेषैस्त्रिभिर्भागैश्चतुर्थस्य च भागस्य द्वाभ्यां कलाभ्यां, विंशतितमाभ्यामित्यर्थः। दाक्षिणात्यचतुर्भागमण्डलमसंप्राप्तः सन्नत्र प्रदेशे स सूर्यश्चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयति। तदेवं सूर्याचन्द्रमसोः पौर्णमासीपरिसमाप्तिदेश उक्तः।

संप्रति तयोरेषामावास्यापरिसमाप्तिदेशं प्रतिपिपादयिषुः प्रथमतः चन्द्रविषयं प्रश्नसूत्रमाह-(ता एतेसि णमित्यादि) तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमाममावास्यां चन्द्रः कस्मिन् देशे स्थितः परिसमापयति ? भगवानाह-(ता जंसि णमित्यादि) तत्र यस्मिन् देशे स्थितः सन् चन्द्रश्चरमां द्वाषष्टिं ,द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति, ततोऽमावास्यास्थानादमात्रास्यापरिसमाप्तिस्थानात्, परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा तद्गतान् द्वात्रिंशतं भागान् उपादायात्र प्रदेशे स चन्द्रः प्रथमाममावास्यां परिसमापयति। (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण येनैवाभिलापेन चन्द्रस्य पौर्णमास्यो भणिताः, तेनैवाभिलापेनामावास्या अपि भणितव्याः। तद्यथा-द्वितीया, तृतीया, द्वादशी च। ताश्चैवम्-'' ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं अमावासं कंसि देसंसि जोएइ ? ता जंसि णं देसंसि चंदे पढमं अमावासं जोएइ, ताओ णं अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छित्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से चंदे तच्चं अमावासं जोएइ। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराण दुवालसमं अमावासं चंदे कंसि देसंसि जोएइ ? ता जंसि णं देसंसि चंदे तच्चं अमावासं जोएइ, ताओ णं अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता दोन्नि अट्ठासीए भागसए उवातिणावेत्ता एत्थ णं चंदे दुवालसमं अमावासं जोएइ।'' संप्रति शेषासु अमावास्यास्वतिदेशमाह-'' एवं खलु '' इत्यादि। एतत् प्राग्वद् व्याख्येयम्। संप्रति चरमद्वाषष्टितमामावास्यापरिसमाप्तिनिबन्धनं देशं पृच्छति-'' ता एतेसि णं '' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-(ता जंसि णमित्यादि) तत्र यस्मिन् देशेस्थितः सन् चन्द्रो द्वाषष्टितमां चरमां पौर्णमासीं युनक्ति परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात्-पौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानात् मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य पूर्वं षोडशभागानवष्वष्क्य। चरमा हि द्वाषष्टितमा अमावास्या चरमद्वाषष्टितमपौर्णमास्याः पक्षेण पञ्चात्पक्षेण च विवक्षितप्रदेशात् षोडशभिश्चतुर्विंशत्यधिकशतभागैः परतः प्ररूप्यते, मासने द्वात्रिंशता भागैः परतो वर्त्तमानस्य लभ्यमानत्वात्। ततः षोडशभागान् पूर्वमवष्वक्येत्युक्तम्। अत्रास्मिन् प्रदेशे स्थितः सन् चन्द्रश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति। संप्रति सूर्यस्यामावास्यापरिसमाप्तिनिबन्धनं देशं पिपृच्छिषुराह-(ता एतेसि णमित्यादि) एतत्प्राग्वद् व्याख्येयम्। (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण येनैवाभिलापेन सूर्यस्य पौर्ण-मास्य उक्ताः, तेनैवाभिलापेनामावास्या अपि वक्तव्याः। तद्यथा-द्वितीया, तृतीया, द्वादशी च। ताश्चैवम्- '' एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएइ ? ता जंसि णं देसंसि सूरिए पढमं अमावासं जोएइ, ताओ अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता चउणउइभागे उवाइणावेत्ता एत्थ णं से सूरे दोच्चं अमावासं जोएइ। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएइ ? ता जंसि णं देसंसि दोच्चं अमावासं जोएइ, ताओ णं अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता चउणउइभागे उवातिणावेत्ता तच्चं अमावासं जोएइ। ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसं अमावासं सूरे केसि देसंसि जोएइ ? ता जंसि णं देसंसि सूरे तच्चं अमावासं जोएइ, ताओ अमावासट्ठा-णाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता अट्ठछत्ताले भागसए उवाति-णावेत्ता एत्थ णं से सूरे दुवालसमं अमावासं जोएइ।'' संप्रति शेषास्वमावास्यासु अतिदेशमाह-(एवं खल्वित्यादि) एतत् प्राग्वद् व्याख्येयम्। संप्रति चरमद्वाषष्टितमामावास्यापरिसमाप्तिनिबन्धनं देशं पृच्छति-'' ता एतेसि णं '' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-(ता जंसि णमित्यादि) यस्मिन् देशे स्थितः सन् सूर्यश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात् पौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनाद् देशात् मंडलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्यार्वाक् सप्तचत्वारिंशतं भागानवष्वष्क्य अत्र प्रदेशे स्थितः सन् सूर्यश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां -युनक्ति परिसमापयति। अथ कां पौर्णमासीं केन नक्षत्रेण युक्तश्चन्द्रः सूर्यो वा परिसमापयति ?इति प्रष्टुकाम आह-(ता एतेसि णमित्यादि)

' ता ' इति । तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां पौर्णमासीं चन्द्रः । उपलक्षणमेतत्-सूर्यो वा; केन नक्षत्रेण सह योगमुपागतः सन् युनक्तिपरिसमापयति ? भगवानाह-(ता धणिट्ठाहिं इत्यादि) ' ता ' इति । तत्र तेषां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां पौर्णमासीं चन्द्रः परिसमापयति धनिष्ठाभिः, धनिष्ठानक्षत्रस्य पञ्चतारत्वात् तदपेक्षया बहुवचनम् ; अन्यथा त्वेकवचनं द्रष्टव्यम् । तासां च धनिष्ठानां त्रयो मुहूर्त्ताः, एकस्य मुहूर्त्तस्य एकोनविंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा पञ्चषष्टिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-पौर्णमासीविषयस्य चन्द्रनक्षत्रयोगस्य परिज्ञानार्थं करणं प्रागेवोक्तं, तत्र षट्षष्टिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभागाः ६६। $\frac{५}{६२}$ $\frac{१}{६७}$ इत्येवंरूपो ध्रुवराशिर्ध्रियते ; धृत्वा च प्रथमायां पौर्णमास्यां चन्द्रनक्षत्रयोगो ज्ञातुमिष्ट इत्येकेन गुण्यते, ' एकेन गुणितं तदेव भवति ' इति तावानेव जातः तस्मादभिजितो नव मुहूर्त्ताः । एकस्य मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्यद्वाषष्टिभागाः एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः । इत्येवंप्रमाणं शोधनकं शोध्यते । तत्र षट्षष्टेर्नव मुहूर्त्ताः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् सप्तपञ्चाशत् , तेभ्य एको मुहूर्त्तो गृहीत्वा द्वाषष्टिभागीकृतः, ते च द्वाषष्टिरपि भागा द्वाषष्टिभागराशौ पञ्चकरूपे प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तषष्टिर्द्वाषष्टिभागाः, तेभ्यश्चतुर्विंशतिः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् त्रिचत्वारिंशत् , तेभ्य एकं रूपमादाय सप्तषष्टिभागाः क्रियन्ते । ते च सप्तषष्टिरपि भागाः सप्तषष्टिभागैकमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता अष्टषष्टिः सप्तषष्टिभागाः । तेभ्यः षट्षष्टिः शुद्धाः, स्थितौ द्वौ पश्चात्सप्तषष्टिभागौ, ततस्त्रिंशता मुहूर्त्तैः श्रवणः शुद्धः, स्थिताः पश्चान्मुहूर्त्ताः षड्विंशतिः । तत इदमागतम्-धनिष्ठानक्षत्रस्य त्रिषु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनविंशतिसंख्येषु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चषष्टिसंख्येषु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमपौर्णमासी परिसमाप्तिमुपयाति ।

संप्रति सूर्यनक्षत्रयोगं पृच्छन्नाह-

तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? ता पुव्वाहिं फग्गुणीहिं अट्ठावीसं मुहुत्ता, अट्ठतीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता दुवत्तीसं चुण्णियाभागा सेसा । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? ता उत्तराहिं पोट्ठवताहिं, उत्तराणं पोट्ठवताणं सत्तावीसं मुहुत्ता, चोद्दस य बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता चउसट्ठिचुण्णियाभागा सेसा ।

(तं समयं च णमित्यादि) तं समयमित्यत्र '' कालाध्वनोर्व्याप्तौ '' ॥ २ । २ । ४२ ॥ इत्यधिकरणत्वेऽपि द्वितीया । ततोऽयमर्थः- तस्मिन् समये, यस्मिन् समये धनिष्ठा नक्षत्रं चन्द्रेण युक्तं यथोक्तविशेषं परिसमापयति, तस्मिन् क्षणे इत्यर्थः । सूर्यः केन नक्षत्रेण युक्तः सन् तां प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयति । भगवानाह-'' ता पुव्वाहिं '' इत्यादि । ' ता ' इति । तदा पूर्वाभ्यां फाल्गुनीभ्यां, पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रस्य द्वितारत्वात्तपेक्षया द्विर्वचनम् । द्विर्वचने च प्राप्ते प्राकृते बहुवचनम् । तयोश्च पूर्वाफाल्गुन्योस्तदानीमष्टाविंशतिर्मुहूर्त्ताः, अष्टात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्या सत्काः द्वात्रिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव षट्षष्टिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभाग इत्येवंप्रमाणो ध्रुवराशिर्ध्रियते ६६ । ५ । १ । धृत्वा च एकेन गुण्यते, ' एकेन च गुणितं तदेव भवति ' इति तावानेव जातः, ततस्तस्मात् पुष्यशोधनकमेकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः १९ । ४३ । ३३ । इत्येवंप्रमाणं शोध्यते । अथैतावत्प्रमाणस्य पुष्यशोधनकस्य कथमुत्पत्तिरिति ? उच्यते-इह पूर्वयुगपरिसमाप्तिवेलायां पुष्यस्य त्रयोविंशतिः सप्तषष्टिभागाः परिसमाप्ताः, चत्वारिंशदवतिष्ठते । ततस्ते चतुश्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागा मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रयोदश शतानि विंशत्यधिकानि १३२० । तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः । शेषास्तिष्ठन्ति सप्तचत्वारिंशत् ४७ । ते द्वाषष्टिभागाऽऽनयनार्थं द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि एकोनत्रिंशच्छतानि चतुर्दशोत्तराणि २९१४ । तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रिचत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागाः $\frac{४३}{६२}$ $\frac{३३}{६७}$ । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः । एतद् ध्रुवराशेः शोध्यते । तद्यथा-षट्षष्टिर्मुहूर्त्तेभ्य एकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात्सप्तचत्वारिंशत् , तेभ्य एको मुहूर्तो गृह्यते, स्थिताः षट्चत्वारिंशत् गृहीतव्य च मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागान् कृत्वा द्वाषष्टिभागराशौ पञ्चकरूपे प्रक्षिप्यन्ते, जाता द्वाषष्टिभागाः सप्तषष्टिः, तेभ्यस्त्रिचत्वारिंशत् शोध्यन्ते, स्थिताः पश्चाच्चतुर्विंशतिः, तेभ्य एकं रूपमुपादीयते, जाता त्रयोविंशतिः, गृहीतस्य च रूपस्य सप्तषष्टिभागाः क्रियन्ते, कृत्वा च सप्तषष्टिभागैकमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता अष्टषष्टिः सप्तषष्टिभागाः । तेभ्यस्त्रयस्त्रिंशत् शुद्धाः, स्थिताः पञ्चत्रिंशत् । ततः पञ्चदशभिर्मुहूर्तैरश्लेषा, त्रिंशता च मुहूर्तैमघाः शुद्धाः, स्थितः पश्चादेको मुहूर्तः, एकस्य च मुहूर्तस्य त्रयोविंशति-द्वा० षष्टिभागाः । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चत्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः १ । $\frac{२३}{६२}$ । $\frac{३५}{६७}$ तत आगतं पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रस्याष्टाविंशतौ मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्याष्टात्रिंशत् द्वाषष्टिभागस्य द्वात्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु सूर्यः प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयति । एते च सूर्यमुहूर्ता एवंभूतैश्च सूर्यमुहूर्तैस्त्रिंशता त्रयोदश रात्रिन्दिवानि, एकस्य च रात्रिन्दिवस्य द्वादश व्यावहारिका मुहूर्ता भवन्ति । तत एतदनुसारेण गतैकदिवसभागगणना, शेषस्थितदिवसगणना च पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रस्य स्वयं कर्तव्या । एवमुत्तरसूत्रेष्वपि सूर्यनक्षत्रयोगे परिभावनीयम् । '' ता एतेसि णं '' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-(ता उत्तराहिं इत्यादि) ' ता ' इति पूर्ववत् । उत्तराभ्यां प्रोष्ठपदाभ्याम् , अत्रापि द्विर्वचनम् , उत्तराप्रोष्ठपदानक्षत्रस्य द्वितारकत्वात् , बहुवचनं च सूत्रे प्राकृतत्वात् । उत्तरयोश्च प्रोष्ठपदयोः सप्तविंशतिर्मुहूर्त्ताः, चतुर्दश च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काश्चतुःषष्टिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वितीयपौर्णमासीचिन्तायां द्वाभ्यां गुण्यते, मुहूर्तानां जातं द्वात्रिंशतं शतम् १३२ । एकस्य च मुहूर्तस्य दश द्वाषष्टिभागाः १० । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ २, ततः पूर्वरीत्या अभिजितो

नव मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः शोध्यन्ते, जातं द्वाविंशं शतं मुहूर्तानाम, एकस्य च मुहूर्तस्य स सचप्तत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयः सप्तषष्टिभागाः १२२। $\frac{४७}{६२}$। $\frac{३}{६७}$। ततस्त्रिंशता मुहूर्तैः, श्रवणः, त्रिंशता धनिष्ठा, पञ्चदशभिः शतभिषक्, त्रिंशता पूर्वाभाद्रपदा शुद्धेति स्थिताः पश्चात्सप्तदश मुहूर्त्ताः १७। शेषं तथैव। ४७।३। तत आगतम्-उत्तराभाद्रपदानक्षत्रस्य सप्तविंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्दशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुःषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु गतेषु शेषेषु द्वितीया पौर्णमासी परिसमाप्तिमुपैति। सू० प्र० १० पाहु० २२ पाहु०। चं० प्र०।

संप्रतस्यामेव पौर्णमास्यां सूर्यनक्षत्रयोगं चन्द्रनक्षत्र-
योगं च पृच्छति-

तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? ता उत्तराहिं फग्गुणीहिं, उत्तराणं फग्गुणीणं सत्त मुहुत्ते, तेत्तीसं च वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता एक्कतीसं चुण्णियाभागा सेसा। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? ता अस्सिणीहिं, अस्सिणीणं एक्कवीसं मुहुत्ता, णव य वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तेवट्ठिं चुण्णियाभागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? ता चित्ताहिं, चित्ताणं एगो मुहुत्तो, अट्ठावीसं च वावट्ठिभागं मुहुत्तस्स, वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तीसं चुण्णियाभागा सेसा। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं छउवीसं मुहुत्ता, छउवीसं च वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता चउपण्णं चुण्णिआभागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएइ ? ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स सोलस मुहुत्ता, अद्ध य वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता वीसं चुण्णियाभागा सेसा। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरमं वावट्ठिं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरमसमए। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? ता पुस्सेणं, पुस्सस्स एगूणवीसं मुहुत्ता, तेत्तालीसं च वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तेत्तीसं चुण्णियाभागा सेसा॥

''तं समयं च णं'' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-(ता उत्तराहिं इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। उत्तराभ्यां फाल्गुनीभ्यां, तयोश्च उत्तरयोः फाल्गुन्योस्तदानीं द्वितीयपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायां सप्त मुहुर्त्ताः, त्रयस्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, द्वाषष्टिभागं च सप्त-षष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का एकत्रिंशत् चूर्णिकाभागाः शेषाः। तथा-हि-स एव ध्रुवराशिर्धियते ६६।५।१। धृत्वा च द्वितीयस्याः पौर्णमास्याः संप्रति चिन्तेति द्वाभ्यां गुण्यते, जातं द्वात्रिंशं शतं मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य दश द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ। १३२। $\frac{१०}{६२}$। $\frac{१२}{६७}$। तत एतस्मात् पुष्यशोधनकमेकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशत् सप्तषष्टिभागाः १९। $\frac{४३}{६२}$। $\frac{३३}{६७}$। इत्येवं परिमाणं पूर्वरीत्या शोध्यते, स्थितं पश्चाद् द्वादशोत्तरं शतं मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टा-विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिंशत् सप्तषष्टिभागाः ११२। $\frac{२८}{६२}$। $\frac{३६}{६७}$। ततः पञ्चदशभिर्मुहूर्त्तैरश्लेषा, त्रिंशता मघा, त्रिंशता पूर्वाफाल्गुनी शुद्धा, स्थिताः पश्चान्मुहूर्त्ताः सप्तत्रिंशत्, शेषं तथैव। तत आगतंसूर्येण युक्तमुत्तराफाल्गुनीनक्षत्रं सप्तमुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयस्त्रिंशत-द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकत्रिंशत्सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु द्वितीयां पौर्णमासीं परिसमापयति। अधुना तृतीयपौर्णमासीविषयं चन्द्रनक्षत्रयोगं पृच्छति-''ता एतेसि णं'' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-(अस्सिणीहिं इत्यादि) अश्विनीनक्षत्रं त्रितारमिति तदपेक्षया बहुवचनम्, तदानीं च तृतीयपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायाम-श्विनीनक्षत्रस्य एकविंशतिमुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य नव द्वाषष्टिभागाः, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रिषष्टिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः। तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६। ५। ७। तृतीया पौर्णमासी चिन्त्यमाना वर्त्तत इति त्रिभिर्गुण्यते, जातमष्टानवत्यधिकं शतं मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चदश द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयः सप्तषष्टिभागाः १९८। $\frac{१५}{६२}$। $\frac{३}{६७}$। ''तत उगुणट्ठं पोट्ठवया'' इत्यादिवचनात् एकोनषष्ट्यधिकेन शतेन चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादी-न्युत्तराभाद्रपदपर्यन्तानि षट् नक्षत्राणि शुद्धानि, पश्चादवतिष्ठन्तेऽष्टात्रिंशन् मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्विपञ्चाशत् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारः सप्तषष्टिभागाः ३८। $\frac{५२}{६२}$। $\frac{४}{६७}$। ततस्त्रिंशता मुहूर्त्तैः रेवती नक्षत्रं शुद्धं, तिष्ठन्त्यष्टौ मुहूर्त्ताः, तत आगतं चन्द्रयुक्तमश्विनीनक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य नवसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति। संप्रत्यस्यामेव तृतीयस्यां सूर्यनक्षत्रयोगं पृच्छति-''तं समयं च णं'' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-''ता चित्ताहिं'' इत्यादि। चित्रायुक्तः सूर्यः परिसमापयति। तदानीं च तृतीयपौर्णमासीपरिसमाप्ति-वेलायां चित्रायामेको मुहूर्त्तः, एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टाविंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः। तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६। ५। १। संप्रति तृतीयपौर्णमासी-चिन्तेति त्रिभिर्गुण्यते, जातमष्टानवत्यधिकं शतं मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चदश द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयः सप्तषष्टिभागाः १९८। $\frac{१५}{६२}$। $\frac{३}{६७}$। तत एतस्मात्पुष्यशोधनकम् १९। ४३। ३३। पूर्वोक्तप्रकारेण शोध्यते, स्थितं पश्चादष्टसप्तत्यधिकं मुहूर्त्तानां शतम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयस्त्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तत्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः १७८। $\frac{३३}{६२}$। $\frac{३७}{६७}$। ततः पञ्चाशद-धिकेन मुहूर्त्तशतेनाश्लेषाऽऽदीनि हस्तपर्यन्तानि पञ्च नक्षत्राणि शुद्ध्यन्ति। शेषास्तिष्ठन्त्यष्टाविंशतिर्मुहूर्त्ताः। शेषं तथैव २८। ३३। ३७। तत आगतमसूर्येण सह संप्रयुक्तं चित्रानक्षत्रमेकस्मिन् मुहूर्त्ते, एकस्य च मुहू-

र्तस्याष्टाविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेसु तृतीयां पौर्णमासीं परिसमापयति। संप्रति द्वादश्यां पौर्णमास्यां चन्द्रनक्षत्रयोगं पृच्छति-'' ता एतेसि णं '' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-'' ता उत्तराहिं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। उत्तराभ्याषाढाभ्यां द्वादशीं पौर्णमासीं चन्द्रः परि-समापयति। तदानीं च तयोरुत्तरयोराषाढयोः षड्विंशतिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षड्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काश्चतुष्पञ्चाशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः। तथाहि-स एव ध्रुवराशिः-६६। ५। १। द्वादशी किल पौर्णमासी चिन्त्यते इति द्वादशभिर्गुण्यते, जातानि सप्तशतानि द्विनवत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षष्टिर्द्वाषष्टिभागाः। एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागाः ७९२। ६०। १२। तत एतस्मात् '' मूले सत्तेव चोयाला '' इत्यादिवचनात् सप्तभिश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्त्तानां शतैः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि मूलपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, ततस्त्रिंशता मुहूर्त्तैः पूर्वा-षाढा, शेषं तिष्ठन्त्यष्टादश मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चत्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः १८। ३५। १३। तत आगतं-चन्द्रेण युक्तमुत्तराषाढानक्षत्रं द्वादशीं पौर्णमासीं षड्विंशतौ मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशत्सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति। संप्रत्यस्यामेव द्वादश्यां पौर्णमास्यां सूर्यनक्षत्रयोगं पृच्छति-'' तं समयं च णं '' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-'' ता पुणव्वसुणा '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। पुनर्वसुना युक्तः सूर्य परिसमापयति। तदानीं च द्वादशीपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायां पुनर्वसुनक्षत्रस्य षोडश मुहूर्त्ताः, अष्टौ च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का विंशतिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः। तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६। ५। १ द्वादशभिर्गुण्यते, जातानि सप्त शतानि द्विनवत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षष्टिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागाः ७९२। ६०। १२। तत एतस्मात्पुष्यशोधनकं १९। ४३। ३३ पूर्वोक्तप्रकारेण शोध्यते, स्थितानि पञ्चात्सप्तशतानि त्रिसप्तत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षोडश द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वा-रिंशत् सप्तषष्टिभागाः। ७७३। १६। ४६। तत एतस्मात्सप्तभिः शतैश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरश्लेषाऽऽदीन्यार्द्रापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, पञ्चादवतिष्ठन्ते अष्टाविंशतिर्मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः २८। $\frac{५३}{६२}$। $\frac{४७}{६७}$। तत आगतं पुनर्वसुनक्षत्रं सूर्येण सह योगमुपागतं षोडशसु मुहूर्त्तेषु शेषेषु, एकस्य च मुहूर्तस्याष्टसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु द्वादशीं पौर्णमासीं परिसमापयति।'' ता एतेसि णं '' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-'' ता उत्तराहिं '' इत्यादि। उत्तराभ्यामाषाढाभ्यां युक्तश्चन्द्रश्चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयति। तदानीं चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायामुत्तरयोराषाढयोश्चरमसमयः। तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६। ५। १। चरमा द्वाषष्टितमा पौर्णमासी संप्रति चिन्त्य-माना वर्तते, इति द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातानि मुहूर्तानां चत्वारिंशच्छ-तानि द्विनवत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागानां त्रीणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाषष्टिः सप्तषष्टिभागाः ४०९२। ३१०। ६२। तत एतस्मात्-'' अट्ठसयउ गुणवीसा, सोहणग उत्तराण साढाणं। चउवीसं खलु भागा,छावट्ठी चुण्णियाओ य ''॥ १॥ इत्येवंप्रमाणमेकं सकलनक्षत्रपर्यायशोधनकं पञ्चभिर्गुणयित्वा शोध्यते। तच्च पूर्वोक्तेन प्रकारेण शोध्यमानं परिपूर्णं शुद्धिमासादयतीति न किञ्चित्पश्चादवतिष्ठते। तत आगतम्-उत्तराषाढानक्षत्रं चन्द्रेण सह युक्तं चरमसमये चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयति। संप्रत्यस्यामेव द्वाषष्टितमायां पौर्णमास्यां सूर्यनक्षत्रयोगं पृच्छति-'' तं समयं च णं '' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-'' ता पुस्सेणं '' इत्यादि। पुष्येण युक्तः सूर्यश्चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयति। तदानीं च द्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायामेकोनविंशतिर्मुहूर्तास्त्रिचत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य, द्वाषष्टिभागं च सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रय-स्त्रिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः। तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६। ५। १। द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातानि मुहूर्तानां चत्वारिंशच्छतानि द्विनवत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागानां त्रीणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाषष्टिः सप्तषष्टिभागाः ४९२। ३१०। ६२। इह पुष्यस्य दशमुहूर्त्तष्वेकस्य च मुहूर्तस्याष्टादशसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेष्वतिक्रान्तेषु पाश्चात्ययुगं परिसमाप्तिमुपैति, तदनन्तरमन्ययुगं प्रवर्त्तते। पुष्यस्यापि च तावन्मात्रादतिक्रान्तात् परतो यावद् भूयोऽपि तावन्मात्रस्य पुष्यस्यातिक्रमः, एतावत्प्रमाण एकः परिपूर्णो नक्षत्रपर्यायः। तस्य च प्रमाणमष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः ८१९। २४। ६६। तत एतत् पञ्चभिर्गुणयित्वा प्रागुक्ताद् राशिर्निलेपो जायते, तत आगतं- पुष्यस्य सूर्येण युक्तस्य दशसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य अष्टादशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु अतिक्रान्तेषु एकोनविंशतौ च मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चरमा द्वाषष्टितमा पौर्णमासीं परिसमाप्तिमगमदिति। तदेवं पौर्णमासीविषय-श्चन्द्रनक्षत्रयोगः, सूर्यनक्षत्रयोगश्चोक्तः। सू० प्र० १० पाहु० २२ पाहु०। चं० प्र०। (अमावास्याविषयश्चन्द्रनक्षत्रयोगः, सूर्यनक्षत्रयोगश्च 'अमावसा' शब्दे प्रथमभागे ७४३ पृष्ठे निरूपितः)

(२६) संप्रति यन्नक्षत्रं यादृशनामकं तदेव वा तस्मिन्नेव देशे अन्यस्मिन् वा यावता कालेन भूयश्चन्द्रेण सह योग-मुपागच्छति तावन्तं कालं निर्दिदिक्षुराह-

ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं चंदे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाणि अट्ठ एगूणवीसाणि मुहुत्तसत्ताइं, चउवी-

सं च वावट्ठिभागे मुहुत्तस्स, वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता वावट्ठिचुण्णियाभागे उवातिणावेत्ता पुणरवि से चंदे अण्णेणं सरिसएणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति अण्णंसि देसंसि। ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं चंदे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं सोलस अट्ठतीसं मुहूत्तसताइं अउणापण्णं च वावट्ठिभागे मुहूत्तस्स, वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता पण्णट्ठिचुण्णियाभागे उवातिणावेत्ता पुणरवि से चंदे तेणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति अण्णंसि देसंसि। ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं चंदे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं चउप्पण्णं मुहुत्तसहस्साइं, णव य मुहूत्तसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से चंदे अण्णेणं तारिसएणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि देसंसि। ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं चंदे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमे एगं मुहुत्तसयसहस्सं अट्ठाणउतिं चेव मुहुत्तसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से चंदे तेणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि तंसि देसंसि।

'' ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। येन नक्षत्रेण सह चन्द्रो अद्य विवक्षिते दिने योगं युनक्ति करोति यस्मिन् देशे, स चन्द्रः णमिति वाक्यालङ्कारे। इमानि वक्ष्यमाणसंख्याकानि। तान्येवाह-अष्टौ मुहूर्तशतान्येकोनविंशान्येकोनविंशत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिद्वाषष्टिभागान्, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा द्वाषष्टिचूर्णिकाभागानुपादाय गृहीत्वा, अतिक्रम्येत्यर्थः। पुनरपि स चन्द्रोऽन्येन द्वितीयेन सदृशनाम्ना नक्षत्रेण योगं युनक्ति अन्यस्मिन् देशे। इयमत्र भावना-इह चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां मध्ये नक्षत्राणि सर्वशीघ्राणि, तेभ्यो मन्दगतयः सूर्याः, तेभ्योऽपि मन्दगतयश्चन्द्रमसः। (एतच्चाग्रे स्वयमेव प्रपञ्चयिष्यते) षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि प्रतिनियतापान्तरालदेशानि चक्रवालमण्डलतया व्यवस्थितानि सदैवैकरूपतया परिभ्रमन्ति। तत्र किल युगस्याऽऽदावभिजिता नक्षत्रेण सह योगमधिगच्छति चन्द्रमाः, स च योगमुपागतः सन् शनैः शनैः पश्चादवष्वष्कते; तस्य नक्षत्रेभ्योऽतीव मन्दगतित्वात्। ततो नवानां मुहूर्तानामेकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिद्वाषष्टिभागानाम्, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिसप्तषष्टिभागानामतिक्रमे पुरतः श्रवणेन सह योगमायाति। ततस्ततश्चन्द्रोऽपि शनैः पश्चादवष्वष्कमानस्त्रिंशता मुहूर्तैः श्रवणेन सह योगं समाप्य पुरतो धनिष्ठया सह योगमुपागच्छति। एवं स्वं स्वं कालमपेक्ष्य सर्वैरपि नक्षत्रैः सह योगस्तावद्वक्तव्यो यावदुत्तराषाढानक्षत्रयोगपर्यन्तः। एतावता च कालेनाष्टौ मुहूर्तशतानि, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागा अभवन्। तथाहि-षट् नक्षत्राणि, पञ्चचत्वारिंशत् मुहूर्त्तानीति षट् पञ्च चत्वारिंशता गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७०। षट् च नक्षत्राणि पञ्चदश मुहूर्त्तानीति भूयः षट् पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाता नवतिः पञ्चदश त्रिंशन्मुहूर्तानीति पञ्चदश त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि चत्वारि शतानि पञ्चाशदधिकानि ४५०। अभिजितो नव मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागा इति भवति सर्वेषामेकत्र मीलने यथोक्ता मुहूर्त्तसंख्या। एष एतावान् नक्षत्रमासः। ततस्तदनन्तरं यदभिजिन्नक्षत्रमतिक्रान्तं तदपरेण द्वितीयेनाभिजिता नक्षत्रेण सह नवमुहूर्त्ताऽऽदिकालं योगमुपागच्छति, ततः परमपरेण द्वितीयाष्टाविंशतिसंबन्धिना श्रवणेन सह योगमश्नुते, एवं पूर्ववत् तावद्वाच्यं यावदुत्तराषाढा, तदनन्तरं भूयः प्रथमेनैवाभिजिता नक्षत्रेण सह योगं याति। ततः प्रागुक्तक्रमेण श्रवणाऽऽदिभिः, एवं सकलकालमपि ततो विवक्षिते दिने यस्मिन् देशे येन नक्षत्रेण सह योगमगमच्चन्द्रमाः स यथोक्तमुहूर्त्तसंख्याऽतिक्रमे भूयस्तादृशेनैवापरेण नक्षत्रेण सह अन्यस्मिन् देशे योगमादत्ते, न तेनैवापि तस्मिन्नेव देशे इति। तथा (ता जेणमित्यादि) अद्य विवक्षिते दिने येन नक्षत्रेण सह, योगं युनक्ति यस्मिन् यस्मिन् देशे चन्द्रमाः, स इमानि वक्ष्यमाणसंख्याकानि। तान्येवाह-षोडश मुहूर्त्तशतानि अष्टात्रिंशदधिकानि, एकोनपञ्चाशतं द्वाषष्टिभागान् मुहूर्त्तस्य, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कान् पञ्चषष्टिचूर्णिकाभागानुपादायातिक्रम्य पुनरपि स चन्द्रस्तेनैव नक्षत्रेण सह योगं युनक्ति, परमन्यस्मिन् देशे, न तु तस्मिन्नेव। कुतः ? इति चेत्। उच्यते-इह भूयस्तस्मिन्नेव देशे तेनैव नक्षत्रेण सह योगः, युगद्वयकालातिक्रमे तथा केवलवेदसा ज्योतिश्चक्रगतेरुपलब्धेः। जम्बूद्वीपे च षट्पञ्चाशदेव नक्षत्राणि, ततो विवक्षितनक्षत्रयोगे सति तत आरभ्य षट्पञ्चाशन्नक्षत्रातिक्रमेण तेन नक्षत्रेण सह योगमादत्ते, षट्पञ्चाशन्नक्षत्रातिक्रमश्च प्रागुक्ताष्टाविंशतिनक्षत्रमुहूर्त्तसंख्यया। तत उक्तम्-'' सोलस अडतीस मुहुत्त-सया '' इत्यादि। तदेवं तादृशेन तेन वा नक्षत्रेण सह अन्यस्मिन् देशे यावता कालेन भूयोऽपि योग उपजायते, तावान् कालविशेष उक्तः। सम्प्रति तस्मिन्नेव देशे तादृशेन तेन वा नक्षत्रेण सह भूयोऽपि योगो यावता कालेन भवति, तावन्तं कालविशेषमाह-(ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं इत्यादि) अद्य विवक्षिते दिने येन नक्षत्रेण सह योगं चन्द्रो युनक्ति यस्मिन् देशे, स चन्द्रमा इमानि वक्ष्यमाणसंख्याकानि। तान्येवाह-चतुःपञ्चाशन्मुहूर्त्तसहस्राणि। नव च मुहूर्त्तशतान्युपादायातिक्रम्य पुनरपि स चन्द्रोऽन्येन तादृशेनैव नक्षत्रेण सह योगं युनक्ति तस्मिन्नेव देशे। इयमत्र भावनाविवक्षिते युगे विव-क्षितानामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये येन नक्षत्रेण सह यस्मिन् देशे यदा चन्द्रमसो योगो जातो, भूयस्तस्मिन्नेव देशे तदेव तेनैव नक्षत्रेण सह योगो विवक्षितयुगादारभ्य तृतीये युगे, न तु द्वितीये। कुतः ? इति चेत्। उच्यते-इह युगाऽऽदित आरभ्य प्रथमे नक्षत्रमासे यान्येकान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि समतिक्रामन्ति द्वितीयेन नक्षत्रमासेन, तेभ्योऽपराणि द्वितीयानि ततो भूयस्तृतीयेन नक्षत्रमासेन, तान्येव प्रथमान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि चतुर्थेन भूयस्तान्येव द्वितीयानि। एवं सकलकालं युगे च नक्षत्रमासाः सप्तषष्टिः। सा च सप्तषष्टिसंख्या विषमेति विवक्षितयुगपरिसमाप्तौ सत्यामन्यस्य युगस्य प्रारम्भे यानि विवक्षितयुगस्याऽऽदौ भुक्तानि नक्षत्राणि, तेभ्योऽपराण्येव द्वितीयानि भोगमायान्ति, न तु तान्येव, युगद्वये च चतुस्त्रिंशन्नक्षत्रमासशतं भवति। सा च चतुस्त्रिंशन्नक्षत्रमासशतसंख्या समेति द्वितीययुगपरिसमाप्तौ षट्पञ्चाशदपि नक्षत्राणि समाप्तिमुपयान्ति, ततो विवक्षितयुगादारभ्य तृतीये युगे तेनैव नक्षत्रेण तस्मिन्नेव देशे

तदा चन्द्रमसो योगः, युगे चाहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि, एकैकस्मिंश्चाहोरात्रेमुहूर्तास्त्रिंशत्, ततोऽष्टादशानां शतानां त्रिंशदधिकानां त्रिंशता गुणने भवति यथोक्ता मुहूर्तसंख्या, यथोक्तमुहूर्तसंख्याऽतिक्रमे च तादृशेनैव नक्षेण सह योगः चन्द्रमसस्तस्मिन्नेव देशे, न तु तेन नक्षत्रेण, अन्यस्मिन्वा देशे इति। (ता जेणमित्यादि) इदं सूक्ष्मक्षरार्थमधिकृत्य सुगमम्। भावना तु प्रागेव कृता, नवरं युगद्वयकालं षड्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि अहोरात्राणाम्, एकैकस्मिंश्चाहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्ता इति षट्त्रिंशच्छतानां षष्ट्यधिकानां त्रिंशता गुणने यथोक्ता मुहूर्तसंख्या भवति। तदेवं तादृशेन तेन वा नक्षत्रेण सहान्यस्मिन् तस्मिन् वा देशे चन्द्रमसो योगे कालप्रमाणमुक्तम्।

संप्रति सूर्यविषये तदाह-

ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं सूरे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं तिण्णि छावट्ठाइं राइंदियसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से सूरिए अण्णेणं तारिसएणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि देसंसि। ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं सूरे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं सत्तदुवत्तीसं राइंदियसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से सूरे तेणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि देसंसि। ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं सूर जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं अट्ठारस तीसाइं राइंदियसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि सूरे अण्णेणं तारिसएणं चेव णक्खत्तेणं जोगं जोएति तंसि देसंसि। ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं सूरे जोयं जोएति जंसि देसंसि, ते णं इमाइं छत्तीसं सट्ठाइं राइंदियसयाइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से सूरे तेणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि देसंसि। ता जया णं इमे चंदे गतिसमावण्णए भवति, तता णं इतरे वि चंदे गतिसमावण्णए भवति, जता णं इतरे वि चंदे गतिसमावण्णए भवति, तता णं इमे वि चंदे गतिसमावण्णए भवति। ता जया णं इमे सूरिए गतिसमावण्णे भवति, तया णं इयरे वि सूरिए गतिसमावण्णे भवति, जता णं इतरे सूरिए गतिसमावण्णे भवति, तया णं इमे वि सूरिए गतिसमावण्णे भवति। एवं गहे वि, णक्खत्ते वि। ता जता णं इमे चंदे जुत्ते जोगेणं भवति, तता णं इतरे वि चंदे जुत्ते जोगेणं भवति, जया णं इतरे चंदे जुत्ते जोगेणं भवति, तता णं इमे चंदे जुत्ते जोगेणं भवति। एवं सूरे वि, गहे वि, णक्खत्ते वि। सया वि णं चंदा जुत्ता जोएहिं, सता वि णं सूरा जुत्ता जोगहिं, सया वि णं गहा जुत्ता जोगेहिं, सया वि णं णक्खत्ता जुत्ता जोगेहिं। दुहतो वि णं चंदा जुत्ता जोगेहिं, दुहतो वि णं सूरा जुत्ता जोगहिं, दुहतो वि णं गहा जुत्ता जोगेहिं, दुहतो वि णं णक्खत्ता जुत्ता जोगेहिं।

'' ता जेणं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। अद्य विवक्षिते दिने येन नक्षत्रेण सह सूर्यो यस्मिन् देशे योगं युनक्ति, स इमानि त्रीणि षट्षष्ट्यधिकानि रात्रिंदिवशतानि उपादाय अतिक्रम्य, पुनरपि स सूर्यस्तस्मिन्नेव देशे तादृशेनैवान्येन नक्षत्रेण सह योगं युनक्ति, न तु तेनैव। कुतः ? इति चेत्। उच्यते-इह चन्द्रो नक्षत्रमासेनैकेनाष्टाविंशतिनक्षत्राणि भुङ्क्ते। सूर्यस्तु त्रिभिरेवाहोरात्रशतैः षट्षष्ट्यधिकैः। त्रीणि चाहोरात्रशतानि षट्षष्ट्यधिकानि एकः सूर्यसंवत्सरः। ततोऽन्यैस्त्रिभिरहोरात्रशतैः षट्षष्ट्यधिकैरन्यानि द्वितीयान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि परिभुङ्क्ते। तदनन्तरं भूयस्तान्येव प्रथमान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि तावत्याऽहोरात्रसंख्यया क्रमेण युनक्ति। ततः षट्षष्ट्यधिकरात्रिन्दिवशतत्रयातिक्रमेण सूर्यस्य तस्मिन्नेव देशे तादृशेनैवापरेण नक्षत्रेण सह योगः, न तु तेनैव। (ता जेणं इत्यादि) इदं सूत्रमक्षरार्थमधिकृत्य सुगमम्, भावना च प्रागेव कृता। (ता जेणमित्यादि) ' ता ' इति पूर्ववत्। अद्य विवक्षिते दिने येन नक्षत्रेण सह सूर्यो यस्मिन् देशे योगं युनक्ति, स इमानि अष्टादश रात्रिंदिव-शतानि त्रिंशदधिकानि उपादायातिक्रम्य, पुनरपि तस्मिन्नेव देशे-ऽन्येनैव तादृशेन नक्षत्रेण सह योगं युनक्ति, न तु तेनैव। कस्मात् ? इति चेत्। उच्यते-इह रात्रिन्दिवानामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि युगे भवन्ति। तत्र सूर्यो विवक्षितदिनादारभ्य तस्मिन्नेव देशे तदैव दिने तेनैव नक्षत्रेण सह योगमागच्छति। तृतीये संवत्सरे युगे च सूर्यवर्षाणि पञ्चः, ततस्तृतीये पञ्चमे वा सूर्यसंवत्सरे सूर्यः तेनैव नक्षत्रेण तस्मिन्नेव काले योगमादत्ते, न तु युगातिक्रमे षष्ठे वर्षे इति। '' ता जेणं '' इत्यादि सुगमं, नवरं षट्त्रिंशद्रात्रिंदिवशतानि षष्ट्यधिकानि युगद्वये भवन्ति, युगद्वये च दश सूर्यवर्षाणि। ततो युगद्वयातिक्रमे एकादशे वर्षे सूर्यस्य तेनैव नक्षत्रेण सह तस्मिन्नेव देशे योग उपपद्यत इति। इह जम्बूद्वीपे द्वौ चन्द्रमसौ, द्वौ सूर्यौ, एकैकस्य चन्द्रमसो भिन्नो ग्रहाऽऽदिकः परिवार इति श्रुत्वा कश्चिदेवमपि मन्येत-यथा भिन्नकालं मण्डलेषु चन्द्राऽऽदीनां गतिः, भिन्नकालं च तेषां नक्षत्राऽऽदिभिः सह योग इति। ततस्तदाशङ्काऽपनोदार्थमाह-(ता जया णमित्यादि) ' ता ' इति पूर्ववत्। यदा यस्मिन् काले, अयं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो भरतक्षेत्रे प्रकाशयन् विवक्षितश्चन्द्रः, विवक्षिते मण्डले इति गम्यते। गतिसमापन्नो गतियुक्तो भवति, तदा तस्मिन् काले इतरोऽपि ऐरावतं क्षेत्रं प्रकाशयन् तस्मिन्नेव विवक्षिते मण्डले गतिसमापन्नो भवति। एवं शेषाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि। नवरम् (एवं गहे वि, एवं णक्खत्ते वि त्ति) एवमुक्तेन प्रकारेण ग्रहेऽपि द्वावालापकौ वक्तव्यौ, नक्षत्रेऽपि च। तद्यथा-'' ता जया णं इमे गहे गइसमावण्णे भवइ, तया णं इतरे वि गहे गइसमावण्णे भवइ, ता जया णं इतरे गहे गइसमावण्णे भवइ, तया णं इमे वि गहे गइसमावण्णे भवइ। '' एवं नक्षत्रेऽपि वाच्यम्। '' ता जया णं इमे चंदे जुत्ते जोगेणं '' इत्यादि सुगमं, नवरं (दु-हतो वि त्ति) उभयतोऽपि दक्षिणोत्तरयोः, पूर्वपच्छिमयोर्वा। सू० प्र० १० पाहु० २२ पाहु०। (संवत्सरान्तेषु नक्षत्रचन्द्रयोगः ' संवच्छर ' शब्दे वक्ष्यते) (संवत्सरेषु चन्द्रः केन नक्षत्रेणाऽऽवृत्तिं योजयतीति ' आउट्टि ' शब्दे द्वितीयभागे ३३ पृष्ठे उक्तम्) (अर्द्धमासे केन नक्षत्रेण चन्द्रश्चारं चरतीति ' चंदमंडल ' शब्दे तृतीयभागे १०८१ पृष्ठे उक्तम्)

(२७) नक्षत्राणां संस्थानानि-

ता कहं ते णक्खत्तसंठिती आहिता ति वदेज्जा ? ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते गो-

सीसाऽऽवलिसंठिए पण्णत्ते ? सवणे णक्खत्ते काहारसंठिए पण्णत्ते २, धणिट्ठा णक्खत्ते सउणिपलीणगसंठिए पण्णत्ते ३, सतभिसया णक्खत्ते पुप्फोवयारसंठिए पण्णत्ते ४, पुव्वापोट्ठवया णक्खत्ते ५, उत्तरभद्दवया णक्खत्ते अ ववीसंठिए पण्णत्ते ६, रेवती णक्खत्ते णावासंठिए पण्णत्ते ७, अस्सिणी णक्खत्ते अस्सखंधगसंठिए पण्णत्ते ८, भरणी णक्खत्ते भगसंठिए पण्णत्ते ९, कत्तिया णक्खत्ते छुरधरसंठिए पण्णत्ते १०, रोहिणी णक्खत्ते सगडसंठिए पण्णत्ते ११, मगसिरे णक्खत्ते मगसीसाऽऽवलिसंठिए पण्णत्ते १२, अद्दा णक्खत्ते रुहिरबिंदुसंठिते पण्णत्ते १३, पुणव्वसू णक्खत्ते तुलासंठिए पण्णत्ते १४, पुस्से णक्खत्ते बद्धमाणगसंठिए पण्णत्ते १५, असिलेसा णक्खत्ते पडागसंठिए पण्णत्ते १६, महा णक्खत्ते पागारसंठिए पण्णत्ते १७, पुव्वाफग्गुणी णक्खत्ते अद्धपलियसंठिए पण्णत्ते १८, उत्तरा वि एवं चेव १९, हत्थे हत्थसंठिए पण्णत्ते २०, चित्ता णक्खत्ते महुफुल्लगसंठिए पण्णत्ते २१, साई णक्खत्ते खीलगसंठिए पण्णत्ते २२, विसाहा णक्खत्ते दामणिसंठिए पण्णत्ते २३, अणुराहा णक्खत्ते एगावलिसंठिए पण्णत्ते २४, जेट्ठा णक्खत्ते गजदंत-संठिए पण्णत्ते २५, मूले णक्खत्ते विच्छुयलंगूलसंठिए पण्णत्ते २६, पुव्वासाढा णक्खत्ते गयविक्कमसंठिए पण्णत्ते २७, उत्तरासाढा णक्खत्ते सीहणिस्साइसंठिए पण्णत्ते २८।

नक्षत्राणां संस्थानं वक्तव्यमिति ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह- '' ता कहं ते '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। कथं केन प्रकारेण भगवन्! नक्षत्राणां संस्थितिः संस्थानमा ख्यातमिति वदेत्? एवमुक्ते भगवानाह- '' ता एतेसि णं '' इत्यादि। ' ता ' इति पूर्ववत्। एतेषामनन्तरोदितानामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽभिजिन्नक्षत्रं गोशीर्षाऽऽवलिसंस्थितिप्रज्ञप्तम्। गोः शीर्ष, तस्याऽऽवली तत्पुद्गलानां दीर्घरूपा श्रेणिः, तत्समं संस्थानं प्रज्ञप्तम्। श्रवणनक्षत्रं कासारसंस्थितं प्रज्ञप्तम्। एवं शेषाण्यपि स्वस्वसंस्थानानि नक्षत्राणि भावनीयानि, नवरं दामनी पशुबन्धनं, शेषं प्रायः सुगमम्।

संस्थानसंग्राहिकाश्चेमा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसत्काःस्तिस्रो गाथाः-

'' गोसीसाऽऽवलि काहा-र सउणि पुप्फोवयार वावी य।
नावा आसक्खंधग, भग छुरघरए य सगडुद्धी॥ १॥
मिगसीसाऽऽवलि रुहिर-स्स विंदु तुल वद्धमाणग पडागा।
पागारे पल्लंके, हत्थे महुफुल्लए चेव॥ २॥
खीलग दामणि एगा-वली य गयदंत विच्छुअअले य।
गयविक्कमे व तत्तो, सीहनिसाई य संठाणा ''॥ ३॥ इति।

जं० ७ वक्ष०। चं० प्र० १० पाहु० ७ पाहु०। (नक्षत्राणां षड्- कयः ' जोइसिय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५९३ पृष्ठे उक्ताः)

(२८) (नक्षत्राणामन्तर्बहिश्च चारः ' जोइसिय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६०३ पृष्ठे प्रत्यपादि)

णक्खत्तचंदजोग-पुं०(नक्षत्रचन्द्रयोग) सप्तविंशत्या नक्षत्रैः साकल्येन चन्द्रस्य योगे, ज्यो० २ पाहु०। (नक्षत्रस्य चन्द्रेण योगो ' णक्खत्त ' शब्दे १७८० पृष्ठे समुक्तः)

णक्खत्तणाम(ण्)-न०(नक्षत्रनामन्) नक्षत्राणामभिधायके शब्दे अनु०।

नक्षत्राण्याश्रित्य यन्नाम तद्दर्शयति-

से किं तं णक्खत्तणामे ? णक्खत्तणामे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा-कत्तिआहिं जाए कत्तिए, कत्तियादिण्णे, कत्तियाधम्मे, कत्तियासम्मे, कत्तियादेवे, कत्तियादासे, कत्तियासेणे, कत्तियारक्खिए। रोहिणीहिं जाए रोहिणीए, रोहिणीदिण्णे, रोहिणीधम्मे, रोहिणीसम्मे, रोहिणीदेवे, रोहिणीदासे, रोहिणीसेणे, रोहिणीरक्खिए। एवं सव्वणक्खत्तेसु णामा भणियव्वा।

एत्थ संगहणिगाहाओ

'' कत्तिअ रोहिणि मगसिर, अद्दा य पुणव्वसू अ पुस्से अ।
तत्तो अ अस्सिलेसा, महा उ दो फग्गुणीओ अ॥ १॥
हत्थो चित्ता साती, होइ विसाहा तहा य अणुराहा।
जेट्ठा मूला पुव्वा-साढा तह उत्तरा चेव॥ २॥
अभिई सवण धणिट्ठा, सतभिसया दो अ होंति भद्दवया।
रेवइ अस्सिणि भरणी, एसा णक्खत्तपरिवाडी ''॥ ३॥
सेत्तं णक्खत्तणामे।

कृत्तिकासु जातः कार्तिकः, कृत्तिकाभिर्दत्तः कृत्तिकादत्तः। एवं कृत्तिकाधर्मः, कृत्तिकाशर्मः, कृत्तिकादेवः, कृत्तिकादासः, कृत्तिकासेनः, कृत्तिकारक्षितः। एवमन्यान्यपि रोहिण्यादिसप्तविंशतिनक्षत्राण्याश्रित्य नामस्थापना द्रष्टव्या। तत्र सर्वनक्षत्रसंग्रहार्थं '' कत्तिया रोहिणी '' इत्यादि गाथात्रयं सुगमम्। नवरमभिजिन्नक्षत्रेण सह पठ्यमानेषु नक्षत्रेषु कृत्तिकाऽऽदिरेव क्रम इत्यश्विन्यादिक्रममुत्सृज्येत्यमेव पठितव्यानीति। अनु०।

णक्खत्तणेमी-देशी०(विष्णौ) दे० ना० ४ वर्ग।

णक्खत्तमंडल-न०(नक्षत्रमण्डल) नक्षत्राणां संबन्धिनि मण्डले, जं०।

नक्षत्रमण्डलस्य अष्टभिर्द्वारैः प्ररूपणातत्राष्टौ द्वाराणि यथा-मण्डलसंख्याप्ररूपणा १, मण्डलचारक्षेत्रप्ररूपणा २, अभ्यन्तराऽऽदिमण्डलस्थायिनामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां परस्परमन्तरनिरूपणा ३, नक्षत्रविमानानामायामाऽऽदिनिरूपणम् ४, नक्षत्रमण्डलानां मेरुतोऽबाधानिरूपणम् ५, तेषामेवाऽऽयामाऽऽदिनिरूपणम् ६, मुहूर्तगतिप्रमाणनिरूपणम् ७, नक्षत्रमण्डलानां चन्द्रमण्डलैः समवतारनिरूपणम् ८।

तत्राऽऽदौ मण्डलसंख्याप्ररूपणाप्रश्नमाह १-

कइ णं भंते ! णक्खत्तमंडला पण्णत्ता ? गोयमा ! अट्ठ णक्खत्तमंडला पण्णत्ता।

'' कइ णं भंते! '' इत्यादि। कति भदन्त! नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह-गौतम ! अष्ट नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि, अष्टाविंशतेरपि नक्षत्राणां प्रतिनियतस्वस्वमण्डलेष्वेतावत्स्वेव संवरणात्।

एतदेव क्षेत्रविभागं प्रश्नयति-

जंबुद्दीवे दीवे केवइयं ओगाहित्ता केवइया णक्खत्तमंडला पण्णत्ता ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे असीयं जोयण-

सयं ओगाहित्ता एत्थ णं दो णक्खत्तमंडला पण्णत्ता। लवणे णं समुद्दे केवइयं ओगाहेत्ता केवइया णक्खत्तमंडला पण्णत्ता ? गोयमा ! लवणे णं समुद्दे तिण्णि तीसे जोयणसए ओगाहित्ता एत्थ णं छ णक्खत्तमंडला पण्णत्ता। एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे लवणसमुद्दे अट्ठ णक्खत्तमंडला भवंतीति मक्खायं।

जम्बूद्वीपे द्वीपे कियत्क्षेत्रमवगाह्य कियन्ति नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह-गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे अशीतमशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्यान्तरे द्वे नक्षत्रमण्डले प्रज्ञप्ते। लवणसमुद्रे कियदवगाह्य कियन्ति नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह-गौतम ! लवणसमुद्रे त्रीणि त्रिंशदधिकानि योजनशतान्यवगाह्यान्तरे षट् नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि। अत्रोपसंहारवाक्येनोक्तसंख्यां मीलयति-एवमेव सपूर्वापरेण जम्बूद्वीपे द्वीपे लवणसमुद्रे चाष्टौ नक्षत्रमण्डलानि भवन्ति, इत्याख्यातम्। मकारोऽत्राऽऽगमिकः।

अथ मण्डलचारक्षेत्रप्ररूपणा २-

सव्वब्भंतराओ णं भंते ! णक्खत्तमंडलाओ केवइआए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचदसुत्तरे जोयणसए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ॥

सर्वाभ्यन्तराद् भदन्त ! नक्षत्रमण्डलात् कियत्या अबाधया सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-गौतम ! पञ्चदशोत्तराणि योजनशतान्यबाधया सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। इदं च सूत्रं नक्षत्रजात्यपेक्षया बोद्धव्यम्, अन्यथा सर्वाभ्यन्तरमण्डलस्थायिनामभिजिदादिद्वादशनक्षत्राणामवस्थितमण्डलकत्वेन सर्वबाह्यमण्डलस्यैवाभावात्। तेनायमर्थः संपन्नःसर्वाभ्यन्तरनक्षत्रमण्डलजातीयात् सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलजातीयमित्यया अबाधया प्रज्ञप्तमिति बोध्यम्।

अथाभ्यन्तराऽऽदिमण्डलस्थायिनामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां परस्परमन्तरनिरूपणा ३-

णक्खत्तमंडलस्स णं भंते ! णक्खत्तमंडलस्स य एस णं केवइयाए अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! दो जोयणाइं णक्खत्तमंडलस्स णक्खत्तमंडलस्स य अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

'' णक्खत्त '' इत्यादि। नक्षत्रमण्डलस्य नक्षत्रविमानस्य, नक्षत्रमण्डलस्य नक्षत्रविमानस्य च भदन्त ! कियत्या अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-गौतम ! द्वे योजने नक्षत्रविमानस्य नक्षत्रविमानस्य च अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम्। अयमर्थः-अष्टास्वपि मण्डलेषु यत्र यत्र मण्डले यावन्ति नक्षत्राणां विमानानि, तेषामन्तरबोधकमिदं सूत्रम्। यथा अभिजिन्नक्षत्रविमानस्य श्रवणविमानस्य च परस्परमन्तरं द्वे द्वोजने, न तु नक्षत्रसत्कसर्वाभ्यन्तराऽऽदिमण्डलानामन्तरसूचकम्, अन्यथा नक्षत्रमण्डलानां वक्ष्यमाणचन्द्रमण्डलसमवतारसूत्रेण सह विरोधात्।

अथ नक्षत्रविमानानामायामाऽऽदिप्ररूपणा ४-

णक्खत्तमंडले णं भंते ! केवइयं आयामविक्खंभेणं, केवइयं परिक्खेवेणं, केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! गाउयं आयामविक्खंभेणं, तंतिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं, अद्धगाउयं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

'' णक्खत्त '' इत्यादि। नक्षत्रमण्डलं भदन्त ! कियदायामविष्कम्भाभ्यां, कियत् परिक्षेपेण, कियद् बाहल्येनोच्चैस्त्वेन प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-गौतम ! गव्यूतमायामविष्कम्भाभ्यां, तत्त्रैगुण्यात् विशेषात् परिक्षेपेण, अर्द्धगव्यूतं बाहल्येन प्रज्ञप्तमिति।

संप्रत्येषामेव मेरुमधिकृत्याबाधाप्ररूपणा ५-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वब्भंतरे णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ? गोयमा ? चोआलीसं जोयणसहस्साइं अट्ठ य बीसे जोयणसए अबाहाए सव्वब्भंतरे णक्खत्तमंडले पण्णत्ते।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वाभ्यन्तरं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-गौतम ! चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, अष्ट च विंशत्यधिकानि योजनशतान्य-बाधया सर्वाभ्यन्तरं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्।

अथ बाह्यमण्डलाऽबाधां पृच्छति-

जंबद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमण्डले पण्णत्ते ? गोयमा ! पणयालीसं जोयणसहस्साइं तिण्णि अ तीसे जोयणसए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पण्णत्ते।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-गौतम ! पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, त्रीणि च त्रिंशदधिकानि योजनशतान्यबाधया सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्।

अथ तेषामेवाऽऽयामाऽऽदिनिरूपणम् ६-

सव्वब्भंतरेणं भंते ! णक्खत्तमंडले केवइयं आयामविक्खंभेणं, केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! णवणउतिजोयणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोयणसए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोयणसयसहस्साइं पण्णरस सहस्साइं एगूणणवतिं च जोयणाइं किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते।

' सव्वब्भंतरेणं ' इत्यादि प्राग्वत्।

अथ सर्वबाह्यमण्डलं पृच्छति-

सव्वबाहिरए णं भंते ! णक्खत्तमंडले केवइयं आयामविक्खंभेणं, केवइयं आयामपरिक्खेवेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! एगं जोयणसहस्सं छच्च सट्ठे जोयणसए आयामविक्खंभेणं, तिण्णि अ जोयणसयसहस्साइं अट्ठारस य सहस्साइं तिण्णि अ पण्णरमुत्तरे जोयणसए।

'' सव्वबाहिरए '' इत्यादि प्राग्वत्। मध्यमेषु षट्सु मण्डलेषु तु चन्द्रमण्डलानुसारेणाऽऽयामविष्कम्भपरिक्षेपाः परिभाव्याः, अष्टावपि नक्षत्रमण्डलानि चन्द्रमण्डले समवतरन्तीति भणिष्यमाणत्वात्।

अथ मुहूर्तगतिद्वारम् ७ -

जया णं परिक्खेवेणं भंते ! णक्खत्ते सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइयं खेत्तं गच्छइ ? गोयमा ! पंच जोयणसहस्साइं दोण्णि अ पण्णट्ठे जोयणसए अट्ठारस भागसहस्से दोण्णि अ तेवट्ठे भागसए गच्छइ मंडलं एक्कवीसाए भागसहस्सेहिं णवहि अ सट्ठेहिं सएहिं छेत्ता।

'' जया णं '' इत्यादि। यदा भदन्त ! परिक्षेपेण नक्षत्रं सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तदैकेन मुहूर्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ? नक्षत्रमित्यत्र जात्यपेक्षयैकवचनम् , अन्यथाऽभ्यन्तरमण्डलगतिचिन्तायां द्वादशानामपि नक्षत्राणां संग्रहाय बहुवचनस्यौचित्यात्। भगवानाह-गौतम ! पञ्च योजनसहस्राणि, द्वे च पञ्चषट्यधिकयोजनशते, अष्टादश च भागसहस्राणि, द्वे च त्रिषष्ट्यधिके भागशते गच्छति मण्डलमेकविंशत्या भागसहस्रैर्नवभिश्च षष्ट्यधिकैः शतैः छित्त्वा इति। अत्रोपपत्तिः-इह नक्षत्रमण्डलकाल एकोनषष्टिर्मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तषष्ट्यधिकत्रिंशद्भागानां त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणीति ५९। $\frac{३६७}{३०७}$। इदानीमेतदनुसारेण मुहूर्तगतिश्चिन्त्यते-तत्र रात्रिंदिवे त्रिंशन्मुहूर्ताः, तेषु उपरितना एकोनत्रिंशन्मुहूर्ताः प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकोनषष्टिर्मुहूर्तानाम्। ततः सवर्णनार्थं त्रिभिः शतैः सप्तषष्ट्यधिकैर्गुणयित्वा उपरितनानि त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणि प्रक्षिप्यन्ते, जातान्येकविंशतिसहस्राणि नव शतानि षष्ट्यधिकानि २१९६०। अयं प्रतिमण्डलं परिधेः छेदकराशिः। तत्र सर्वाभ्यन्तरमण्डलपरिधिः ३१५०८९। अयं च योजनाऽऽत्मको राशिर्भागाऽऽत्मकेन राशिना भजनार्थः त्रिभिः सप्तषष्ट्यधिकैः शतैः ३६७ गुण्यते। जातम् ११५६३७६६३। अस्य राशेरेकविंशत्या सहस्रैर्नवभिः शतैः षष्ट्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि ५२६५। शेषम् १८२६३२१९६० भागाः। एतावती सर्वाभ्यन्तर-मण्डलेऽभिजिदादीनां द्वादशनक्षत्राणां मुहूर्तगतिः।

अथ बाह्यनक्षत्रमण्डले मुहूर्तगतिं पृच्छति-

जया णं भंते ! णक्खत्ते सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइय खेत्तं गच्छइ ? गोयमा ! पंच जोयणसहस्साइं तिण्णि अ एगूणवीसए जोयणसए सोलस य भागसहस्से तिण्णि अ पण्णट्ठे भागसए गच्छइ मंडलं एगवीसाए भागसहस्सेहिं णवहि अ सट्ठेहिं सएहिं छेत्ता।

'' जया णं '' इत्यादि। यदा भदन्त ! नक्षत्रं सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तदा एकैकेन मुहूर्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ? अत्राप्येकवचनं प्राग्वत्। भगवानाह-गौतम ! पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि चैकोनविंशत्यधिकानि योजनशतानि षोडश च भागसहस्राणि त्रीणि च पञ्चषष्ट्यधिकानि भागशतानि गच्छति मण्डलमेकविंशत्या भागसहस्रैर्नवभिश्च षष्ट्यधिकैः शतैः छित्त्वा इति। अत्रोपपत्तिः-अत्र मण्डले परिधिः ३१८३१५। अयं त्रिभिः सप्तषष्ट्यधिकैः शतैः ३६७ गुण्यते, जातम्-११६८२१६०५। अस्य राशेरेकविंशत्या सहस्रैर्नवभिः शतैः षष्ट्यधिकैः भागे लब्धानि ५३१९ योजनानि। शेषम् १६३६५२१९६० भागाः। एतावती सर्वबाह्यनक्षत्रमण्डले मृगशीर्षप्रभृतीनामष्टानां नक्षत्राणां मुहूर्तगतिः। उक्ता तावत् सर्वाभ्यन्तरसर्वबाह्यमण्डलवर्तिनां नक्षत्राणां मुहूर्तगतिः।

अथ नक्षत्रतारकाणामवस्थितमण्डलकत्वेन प्रतिनियतगतिकत्वेन चावशिष्टेषु षट्सु मण्डलेषु मुहूर्तगतिपरिज्ञानं दुष्करमिति तत्करणभूतं मण्डलपरिज्ञानं कर्तुं नक्षत्रमण्डलानां चन्द्रमण्डलेषु समवतारप्रश्नमाह ८ -

एते णं भंते ! अट्ठ णक्खत्तमंडला कतिहिं चंदमंडलेहिं समोअरंति ? गोयमा ! अट्ठहिं चंदमंडलेहिं समोअरंति। तं जहा-पढमे चंदमंडले, ततिए, छट्ठे , सत्तमे, अट्ठमे, दसमे, इक्कारसमे, पण्णरसमे चंदमंडले।

'' एते णं '' इत्यादि। एतानि भदन्त ! अष्टौ नक्षत्रमण्डलानि कतिषु चन्द्रमण्डलेषु समवतरन्ति अन्तर्भवन्ति ? चन्द्रनक्षत्राणां साधारणमण्डलानि कानीत्यर्थः ? भगवानाह-गौतम ! अष्टासु चन्द्रमण्डलेषु समवतरन्ति। तद्यथा-प्रथमे चन्द्रमण्डले प्रथमं नक्षत्रमण्डलं चारक्षेत्रम्, संचारिणामनवस्थितचारिणां च सर्वेषां ज्योतिष्काणां जम्बूद्वीपे अशीत्यधिकयोजनशतमवगाह्यैव मण्डलप्रवर्तनात्। तृतीये चन्द्रमण्डले द्वितीयं नक्षत्रमण्डलम्। एते च द्वे जम्बूद्वीपे। षष्ठे लवणे भाविनि चन्द्रमण्डले तृतीयम्। तत्रैव भाविनि सप्तमे चतुर्थम्। अष्टमे पञ्चमम्। दशमे षष्ठम्। एकादशे सप्तमम्। पञ्चदशे अष्टमम्। शेषाणि तु द्वितीयाऽऽदीनि सप्त चन्द्रमण्डलानि नक्षत्रैर्विरहितानि। तत्र प्रथमे चन्द्रमण्डले द्वादश नक्षत्राणि। तद्यथा-अभिजित् , श्रवणः, धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तरा-भाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, भरणी, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, स्वातिश्च। द्वितीये पुनर्वसु, मघा च। तृतीये कृत्तिका। चतुर्थे रोहिणी, चित्रा च। पञ्चमे विशाखा। षष्ठे अनुराधा। सप्तमे ज्येष्ठा। अष्टमे मृगशिरः, आर्द्रा, पुष्यः, अश्लेषा, मूलो, हस्तश्च। पूर्वाषाढोत्तराषाढयोर्द्वे द्वे तारे अभ्यन्तरतो, द्वे द्वे बाह्यत इति। एवं स्वस्वमण्डलावतारसत्कचन्द्रमण्डलपरिध्यनुसारेण प्रागुक्तरीत्या द्वितीयाऽऽदीनामपि नक्षत्रमण्डलानां मुहूर्तगतिः परिभावनीया। उक्ता प्रति- मण्डलं चन्द्राऽऽदीनां योजनाऽऽत्मिका मुहूर्तगतिः। जं० ७ वक्ष०।

णक्खत्तमास-पुं०[न(ना)क्षत्रमास] चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डले परिवर्तमाने निष्पन्न इत्युपचारतो मासोऽपि नक्षत्रं, नक्षत्रेषु भवो नाक्षत्रः, स चासौ मासश्च। चन्द्रश्चारं चरन् यावता कालेनाभिजित आरभ्योत्तराषाढानक्षत्रपर्यन्तं गच्छति तत्कालप्रमाणे मासभेदे, व्य० १ उ०। नि० चू०। स्था०। तन्मानम्-नक्षत्रमासः-सप्तविंशतिरहोरात्रः, एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य। नक्षत्रसंवत्सरे ह्यहोरात्रास्त्रीणि शतानि सप्तविंशत्यधिकानि, एकपञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य। ततस्त्रयाणां शतानां सप्तविंशत्यधिकानां द्वादशभिर्भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्राः, शेषास्त्रयस्तिष्ठन्ति। तेऽपि सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जाते द्वे शते एकोत्तरे। २०१। येऽपि च उपरितना एकपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागाः, तेऽपि

च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके २५२। तेषां द्वाद-शभिर्भागे हृते लब्धा एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, आगतं यथोक्तं नक्षत्रमास-परिमाणम्। ज्यो० २ पाहु०। नि० चू०। बृ०। '' एगमेगेणं णक्खत्तमासे सत्तावीसाहिं राइंदियाहिं राइंदियग्गेणं पण्णत्ता ''। स० २७ सम०। ('मास' शब्देऽन्यद् वक्ष्यते)

णक्खत्तमुह-न०(नक्षत्रमुख) चन्द्रे, '' णक्खत्ताण मुहं बूहि, णक्खत्ताण मुहं चंदो। '' उत्त० २५ अ०।

णक्खत्तविचय-पुं०(नक्षत्रविचय) विपूर्वश्चिङ् स्वभावात् स्वरूपनिर्णये वर्तते। तथा चोक्तमन्यत्र-'' आप्तवचनं प्रवचनं, ज्ञात्वा विचयस्तदर्थ-निर्णयनम्। '' तत्र विचयनं विचयः, नक्षत्राणां विचयो नक्षत्रविचयः। नक्षत्राणां स्वरूपनिर्णये, सू० प्र० १ पाहु०। (स च 'णक्खत्त' शब्देऽत्रैव भागे १७७७ पृष्ठे उक्तः)

णक्खत्तसंवच्छर-पुं०[न(ना)क्षत्रसंवत्सर] नक्षत्रेषु भवो नाक्षत्रः। किमुक्तं भवति ?-चन्द्रश्चारं चरन् यावता कालेनाभिजित आर-भ्योत्तराषाढानक्षत्रपर्यन्तं गच्छति तत्प्रमाणो नाक्षत्रो मासः। यदि वा चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डले परिवर्तनतानिष्पन्न इत्युपचारतो मासोऽपि नक्षत्रम्। स च द्वादशगुणो नक्षत्रसंवत्सरः। जं० ७ वक्ष०। चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डल-भोगकालो नक्षत्रमासः, स च सप्तविंशतिर्दिनानि, एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा दिवसस्येत्येवंविधद्वादशमासमिते संवत्सरभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ०। स चायं त्रीणि शतानि अह्नां सप्तविंशत्युत्तराणि एकपञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा इति। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

संप्रति नक्षत्रसंवत्सरमाह-

णक्खत्तचंदजोगो, वारसगुणिओ उ णक्खत्तो।

नक्षत्रचन्द्रयोगः सप्तविंशत्या नक्षत्रैः साकल्येन य एकत्र चन्द्रेण योगः, एष द्वादशभिर्गुणितो नक्षत्रो नक्षत्रसंवत्सरो भवति। अत्र पुनरेकः समस्तनक्षत्रयोग्यपर्याय एव नक्षत्रमासः। स च सप्तविंशतिरहोरात्राः, एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य, एष राशिर्यदा द्वादशभिर्गुण्यते तदा त्रीण्यहोरात्रशतानि सप्तविंशत्यधिकानि, एकपञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य। एतावत्प्रमाणो नक्षत्रसंवत्सरः। ज्यो० २ पाहु०।

नामनिरुक्तिमुक्त्वाऽथ तेषां भेदानाह-

णक्खत्तसंवच्छरे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुवाल-सविहे पण्णत्ते। तं जहा-सावणे, भद्दवए, आसोए० जाव अ-साढे। जं वा विहप्फई महग्गहे दुवालसेहिं संवच्छरेहिं सव्वण-क्खत्तमंडलं समाणेइ। सेत्तं णक्खत्तसंवच्छरे॥

'' णक्खत्त '' इत्यादि। नक्षत्रसंवत्सरो भगवन्! कतिविधः प्रज्ञ-प्तः ? भगवानाह-गौतम ! द्वादशविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-श्रावणः, भाद्रपदः, आश्विनः। यावत्पदात् कार्तिकाऽऽदिसंग्रहः। द्वादशस्त्वाषाढः। अयं भावः-इहैकः समस्तनक्षत्रयोगपर्यायो द्वादशभिर्गुणितो नक्षत्रसंवत्सरः। ततो ये नक्षत्रसंवत्सरस्य पूरका द्वादश समस्तनक्षत्रयोग्यपर्यायाः श्रावणभाद्रपदाऽऽदिनामानः, तेऽप्यवयवे समुदायोपचाराद् नक्षत्रसंव-त्सरः। ततः श्रावणाऽऽदिद्वादशविधो नक्षत्रसंवत्सरः। वा इति पक्षान्तर-सूचने। अथवा बृहस्पतिर्महाग्रहो द्वादशभिः संवत्सरैर्योगमधिकृत्य यत् सर्वं नक्षत्रमण्डलमभिजिदादीन्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि परिसमापयति, तावान् काल-विशेषो द्वादशवर्षप्रमाणो नक्षत्रसंवत्सरः। जं० ७ वक्ष०। चं० प्र०। उक्तस्वरूपे प्रमाणसंवत्सरभेदे, वक्ष्यमाणस्वरूपे प्रमाणसंव-त्सरभेदे, वक्ष्यमाणस्वरूपे लक्षणसंवत्सरभेदे च।

तत्स्वरूपं च-

ता णक्खत्तेणं संवच्छरस्स पंचविहं लक्खणं पण्णत्ते। तं जहा-'' समगं णक्खत्ता जोगं, जोएंति समगं उऊ परिण-मंति। णऽच्चुण्ह णातिसीते, बहुउदओ होति णक्खत्तो ''॥ १॥

'' ता णक्खत्त '' इत्यादि। ' ता ' इति। तत्र नक्षत्रसंवत्सरस्य लक्षणमधिकृत्य पञ्चविधः प्रज्ञप्तः। किमुक्तं भवति ?-नक्षत्रसंवत्सरस्य पञ्चविधं लक्षणं प्रज्ञप्तमिति। तदेव गाथयाऽऽह-(समगं णक्खत्ता जोगं जोएंति त्ति) यस्मिन् संवत्सरे समकं समकमेवएककालमेव, ऋतुभिः सहेति गम्यते। नक्षत्राणि उत्तराषाढाप्रभृतीनि योगं युञ्जन्ति सन्निहितां पौर्णमासीं परिसमापयन्ति। तथा समकमेवएककालमेव, तया तया परिसमाप्यमानया पौर्णमास्या सह ऋतवो निदाघाऽऽद्याः परिणमन्ति परिसमाप्तिमुपयान्ति। इय-मत्र भावना-यस्मिन् संवत्सरे नक्षत्रैर्मासस-दृशनामकैस्तस्य तस्य ऋतोः पर्यन्तवर्ती मासः परिसमाप्यते, तेषु च तां तां पौर्णमासीं परिसमापयन्सु तया तया पौर्णमास्या सह ऋतवोऽपि निदाघाऽऽदिकाः परिसमाप्तिमुपयान्ति। यथा-उत्तराषाढानक्षत्रे आषाढीं पौर्णमासीं परिसमापयति, तया आषाढ्या पौर्णमास्या सह निदा-घोऽपि ऋतुः परिसमाप्तिमुपैति, स नक्षत्रसंवत्सरः, नक्षत्रानुरोधेन तथापरिण-मनात्वात्। एतेन च लक्षणद्वयमभिहितं द्रष्टव्यम्। तथा न विद्यते अतिशयेन उष्णम् उष्णरूपः परितापो यस्मिन् स नात्युष्णः, तथा न विद्यते अतिशयेन शीतं यत्र स नातिशीतः। बहु उदकं यस्मिन् स बहूदकः। एवंरूपैः पञ्चभिः समग्रैर्लक्षणैरूपेतो भवति नक्षत्रसंवत्सरः। चं० प्र० १० पाहु० २० पाहु०। स्था०।

णक्खि(ण्)-त्रि०(नखिन) नखाः करजा विद्यन्ते येषां ते नखिनः। प्रशंसायामत्र मतुप्, यथा रूपवती कन्येत्यादिषु। **'' द्वितीय-तुर्ययोरु-परि पूर्वः ''। ८। २। ९०।** द्वितीयतुर्ययोर्द्वित्वप्रसङ्गे उपरि पूर्वो भवतः। (यथा-'' वक्खाणं, वग्घो, मुच्छा, णिज्झरो, '' इत्यादि।) इति खकारस्य ककारः, द्वित्वं च। सुनखेषु, बृ० १ उ०।

णग-पुं०(नग) पर्वते, औ०। जी०। तं०। सूत्र०। ज्ञा०। प्रश्न०। '' जहा से णगाणं पवरे सुमहं मंदरो गिरी। '' उत्त० ११ अ०। वृक्षे च। वाच०।

णगय-न०(नाग्न्य) नग्नस्य भावो नाग्न्यम्। सरजस्कत्वे, '' भूइगहणं जह नगयाणं। '' संथा०।

णगर-न०(नकर) नास्मिन् करोऽस्तीति नकरम्। नखाऽऽदित्वान्न-ओऽकाराभावः। बृ० १ उ०। उत्त०। आचा०। नि० चू०। कल्प०। स्था०। अष्टादशकररहिते, भ० १ श० १ उ०। प्रज्ञा०। स्था०। उत्त०। व्य०। ज्ञा०। ग०। अकरदायिलोकाऽऽवासे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

***नगर**-न०। चतुर्गोपुरोद्भासिनि पत्तने, औ०। जं०।
''ग्रामो वृत्त्यावृतः स्याद्, नगरमुरुचतुर्गोपुरोद्भासिशोभम्,
खेटं नद्यद्रिवेष्टं, परिवृतमभितः खर्वटं पर्वतेन।
ग्रामैर्युक्तं मट(ड)म्बं, मिलितदशशतैः पत्तनं रत्नयोनिं,
द्रोणाऽऽख्यं सिन्धुवेलावलयितमव संबाधनं वाऽद्रिशृङ्ग''॥ १॥
सूत्र० २ श्रु० २ अ०।
''पुण्यक्रियाऽऽदिनिपुणै-श्चातुर्वर्ण्यजनैर्युतम्।
अनेकजातिसंबद्धं, नैकशिल्पिसमाकुलम्॥
सर्वदैवतसंनद्धं, नगरं त्वभिधीयते।'' वाच०।
नगरवासिषु प्रकृतिषु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०। सैन्यनिवासिप्रकृतिषु, भ० ७ श० ९ उ०।

णगरगुत्तिय-पुं०(नगरगुप्तिक) नगररक्षके, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। कोट्टपाले, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

णगरट्ठाण-न०(नगरस्थान) उद्धसग्रामस्थाने, कल्प० ४ क्षण।

णगरणिद्धमण-न०(नगरनिर्धमन) नगरजलनिर्गमने, भ० ३ श० ७ उ०। नगरजलनिर्गमनक्षाले, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

णगरणिवेस-पुं०(नगरनिवेश) नगरवासकल्पनायाम्, स० ७२ सम०।

णगरधम्म-पुं०(नगरधर्म) नगराऽऽचारे, स्था० १० ठा०।

णगरमाण-न०(नगरमान) नगरस्य द्वादशयोजनाऽऽयामनवयोजनव्यासाऽऽदिपरिज्ञाने, कलशाऽऽदिनिरीक्षणपूर्वकसूत्रन्यासयथास्थानवर्णाऽऽदिव्यवस्थापरिज्ञाने, जं०। पञ्चचत्वारिंशोऽयं कलाभेदः। जं० २ वक्ष०। ज्ञा०। स०।

णगरमारी-स्त्री०(नगरमारी) नगरवासिलोकानां मारिकृते प्राणक्षये, जी० ३ प्रति०।

णगररक्खिय-पुं०(नगररक्षिक) नगरं रक्षति यः स नगररक्षिकः। कोट्टपाले, नि० चू० ४ उ०।

णगरवह-पुं०(नगरवध) सर्वेषां नगरवासिनामपराध्यनपराध्यविवेकेन प्रत्यनीकराजाऽऽज्ञया मारणे, ''से सुच्चई नगरवहे व सद्दे।'' अथ तेषां नारकाणां भयानकशब्दो नगरवध इव श्रूयते। यथा नगर-संबन्धी महानाक्रन्दः स्यात्तादृशे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

णगराय-पुं०(नगराज) मन्दरे, मेरौ च, स्था० ९ ठा०।

णगरावास-पुं०(नगराऽऽवास) नगराणामावासेषु, नगररूपेषु वा आवासेषु, स०।

णगरी-स्त्री०(नगरी) पुर्याम्, औ०।

तद्वर्णकः-

ते णं काले णं ते णं समए णं चंपा नामं नयरी होत्थारिद्धत्थिमियसमिद्धा, पमुइयजणजाणवया, आइण्णजणमणुस्सा, हलसयसहस्ससंकिट्ठविकिट्ठलट्ठपण्णत्तसेउसीमा, कुक्कुडसंडेयगामपउरा, उच्छुजवसालिकलिया, गोमहिसगवेलगप्पभूता, आयारवंतचेइयजुवइविविहसंणिविट्ठबहुला, (अरिहंतचेइयजणवयविसण्णिविट्ठबहुला ' इति पाठान्तरम्।) उक्कोडियगायगंठिभेयभडतक्करखंडरक्खरहिया, खेमा, णिरुवद्दवा, सुभिक्खा, पासंडिगिहत्थवीसत्थसुहावासा, अणेगकोडिकुडुंबियाऽऽइण्णणिव्वुयसुहा, णडणट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलंवयकहगपवगलासगआइक्खगलंखमंखतूणइल्लतुंबवीणियअणेगतालायराणुचरिया, आरामुज्जाणअगडतलागदीहियवप्पिणगुणोववेया, (णंदणवणसण्णिभप्पगासा ' इति क्वचित् पाठः।) उविद्धविउलगंभीरखायफलिहा, चक्कगयभुसुंढिओरोहसयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसा, धणुकुडिलबंकपागारपरिक्खित्ता, कविसीसयवट्टरइयसंट्ठियविरायमाणा, अट्टालयचरियदारगोपुरतोरणउण्णयसुविभत्तरायमग्गा, छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला, विवणिवणियछेत्तसिप्पियाऽऽइण्णणिव्वुयसुहा, सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरपणियाऽऽवणविविहवत्थुपरिमंडिया, सुरम्मा, नरवइविइण्णमहिवइपहा, अणेगवरतुरगमत्तकुंजररहपकरसीयसंदमाणीयाऽऽइण्णजाणजुग्गा विमुउलणवणलिणिसोभियजला, पंडुरवरभवणसण्णिमहिया, उत्ताणणयण पेच्छणिज्जा, पासाईया, दरिसणिज्जा, अभिरूवा पडिरूवा।

तत्र योऽयं णंशब्दः स वाक्यालङ्कारार्थः। ' ते ' इत्यत्र च य एकारः, स प्राकृतशैलीप्रभवः। यथा-' करेमि भंते! '' इत्यादिषु। ततोऽयं वाक्यार्थो जातः-तस्मिन् काले तस्मिन् समये, यस्मिन्नसौ नगरी बभूवेति। अधिकरणे चेयं सप्तमी। अथ कालसमययोः कः प्रतिविशेषः? उच्यते-काल इति सामान्यकालः वर्तमानावसर्पि-ण्याश्चतुर्थविभागलक्षणः। समयस्तुतद्विशेषः, यत्र सा नगरी, स राजा, वर्द्धमानस्वामी च बभूव। अथवा-तृतीयैवेयम्। ततश्च तेन कालेन अवसर्पिणीचतुर्थाऽऽरकलक्षणेन हेतुभूतेन, समयेन तद्विशेषभूतेन हेतुना चम्पा नाम नगरी(होत्थ त्ति) अभवदासीदित्यर्थः। ननु चेदानीमपि साऽस्ति, किं पुनरधिकृतग्रन्थकरणकाले, तत्कथमुक्तमासीदिति? उच्यते-अवसर्पिणीत्वात्कालस्य वर्णकग्रन्थवर्णितविभूतियुक्ता सा इदानीं नास्तीति। (ऋद्धत्थिमियसमिद्धा) ऋद्धा भवनाऽऽदिभिर्वृद्धिमुपगता, स्तिमिता भयवर्जितत्वेन स्थिरा, समृद्धा धनधान्याऽऽदियुक्ता। ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः। (पमुइयजणजाणवया) प्रमुदिता हृष्टाः, प्रमोदकारणवस्तूनां सद्भावात्, जना नगरीवास्तव्यलोकाः, जानपदाश्च जनपदभवाः, तत्राऽऽयाताः सन्तो यस्याम्, सा प्रमुदितजनजानपदा। पाठान्तरे-'' पमुइयजणुज्जाणजणवया ''। तत्र प्रमुदितजनान्युद्यानानि जनपदाश्च यस्यां सा तथा। (आइण्णजणमणुस्सा) मनुष्यजनेनाऽऽकीर्णा संकीर्णा, मनुष्यजनाऽऽकीर्णेति वाच्ये राजदन्ताऽऽदिदर्शनादाकीर्णजनमनुष्येत्युक्तम्। आकीर्णा वा गुणव्याप्तो मनुष्यजनो यस्यां सा तथा। (हलसयसहस्ससंकिट्ठविकिट्ठलट्ठपण्णत्तसेउसीमा) हलानां लाङ्गलानां शतैः, सहस्रैश्च, शतसहस्रैर्वा लक्षैः, संकृष्टा विलिखिता विकृष्टं दूरं यावत्, अविकृष्टा वा आसन्ना, लष्टा मनोज्ञा, कर्षकाभिमतफलसाधनसमर्थत्वात्। (पण्णत्त त्ति) योग्यीकृता बीजवपनस्य सेतुसीमा मार्गसीमा यस्याः सा तथा। अथवा संकृष्टाऽऽदिविशेषणविशिष्टानि सेतूनि कुल्या जलसेकक्षेत्राणि सीमासु यस्याः सा तथा। अथवा-हलशतसहस्राणां सं-

कृष्टेन संकर्षणेन विकृष्टा दूरवर्तिन्यो लष्टाः प्रज्ञपिताः कथिताः सेतु-सीमा यस्याः सा तथा ; अनेन तज्जनपदस्य लोकबाहुल्यं, क्षेत्रबाहुल्यं चोक्तम् । (कुक्कुडसंडेयगामपउरा) कुक्कुटाः ताम्रचूडाः, षण्डेयाः षण्डपुत्रकाः षण्डा एव, तेषां ग्रामाः समूहास्ते प्रचुराः प्रभूताः यस्यां सा तथा ; अनेन लोकप्रमुदितत्वं व्यक्तीकृतम् ; प्रमुदितो हि लोकः क्रीडाऽऽद्यर्थं कुक्कुटान् पोषयति, षण्डांश्च करोतीति । (उच्छुजवसालिकलिया) पाठान्तरेण-'' उच्छुजवसालिमालिणीया । '' एतद्व्याप्तेत्यर्थः । अनेन च जनप्रमोदकारणमुक्तं, न ह्येवंप्रकारवस्त्वभावे प्रमोदो जनस्य स्यादिति । (गोमहिसगवेलगप्पभूता) गवादयः प्रभूताः प्रचुरा यस्यामिति वाक्यम्; गवेलका उरभ्राः (आयारवंत-चेइयजुवइविविहसण्णिविट्ठबहुला) आकारवन्ति सुन्दराऽऽकाराणि, आकारचित्राणि वा यानि चैत्यानि देवताऽऽयतनानि, युवतीनां च तरुणीनां, पण्यतरुणीनामिति हृदयम् । यानि विविधानि सन्निविष्टानि सन्निवेशनाति पाटकाः, तानि बहुलानि यस्यां ता तथा । '' अरिहंतचेइय-जणवइविसण्णिविट्ठबहुला '' इति पाठान्तरम् । तत्रार्हच्चैत्यानां जनानां व्रतिनां च विविधानि यानि सन्निविष्टानि पाटकास्तैर्बहुलेति विग्रहः । '' सुजागचित्तचेइयजूयचिइसण्णिविट्ठबहुला '' इति च पाठान्तरम् । तत्र च सुयागाः शोभनयज्ञाः, चित्रचैत्यानि प्रतीतानि, यूपचितयो यत्रेषु यूपचयनानि, द्यूतानि वा क्रीडाविशेषाश्चितयस्तेषां सन्निविष्टानि निवेशाः, तैर्ब-हुला या सा तथा । (उक्कोडियगायगंठिभेयभडतक्करखंडरक्खर-हिया) उत्कोटा उत्कोचा, लञ्चेत्यर्थः । तवा ये व्यवहरन्ति ते औ-त्कोटिकाः, गात्रात् मनुष्यशरीरावयवविशेषात् कट्यादेः सकाशाद् ग्रन्थि कार्षापणाऽऽदिपुट्टलिकां भिन्दन्त्याच्छिान्दन्तीति गात्रग्रन्थिभेदकाः । '' उक्कोडियगाहगंठिभेय '' इति च पाठान्तरं व्यक्तम् । भटाश्चारभटाः बलात्कारप्रवृत्तयः, तस्करास्त एव चौर्यं कुर्वन्तीत्येवंशीलाः, खण्डरक्षा दण्डपाशिकाः, शुल्कपाला वा, एभीरहिता वा सा तथा; अनेन तत्रोपद्रवकारिणामभावमाह । (खेमा) अशिवाभावात् । (णिरुवद्दवा) निरुपद्रवा, अविद्यमानराजाऽऽदिकृतोपद्रवेत्यर्थः । (सुभिक्खा) सुष्ठु मनोज्ञा प्रचुरा भिक्षा भिक्षुकाणां यस्यां सा सुभिक्षा, अत एव पाषण्डिनां गृहस्थानां च (वीसत्थसुहा-वासा) विश्वस्तानां निर्भयानामनुत्सुकानां वा सुखः सुखस्वरूपः शुभो वाऽऽवासो यस्यां सा तथा । (अणेगकोडि-कुडुंबियाऽऽइण्णनिव्वुयसुहा) अनेकाः कोटयो द्रव्यसङ्ख्यानां स्वरूपपरिमाणे वा येषां ते अनेककोटयः, तैः कौटुम्बिकैः कुटुम्बिभिरा-कीर्णा सङ्कुला या सा तथा । सा चासौ निर्वृता च सन्तुष्टजनयोगात्स-न्तोषवतीति कर्मधारयः ; अत एव सा चासौ सुखा य शुभा वेति कर्मधारयः । (नडनट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलंबयकहगपवगलासगआइक्खगलंख-मंखतूणइल्लतुंबवीणियअणेगतालायराणुचरिया) नटाः नाटकानां नाटयितारः, नर्तका ये नृत्यन्ति, अङ्किल्ला इत्येके । जल्ला वरत्रा-खेलकाः, राज्ञस्तोत्रपाठका इत्यन्ये । मल्लाः प्रतीताः । मौष्टिका मल्ला एव, ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति । विडम्बकाः विदूषकाः, कथकाः प्रतीताः, प्लवका ये उत्प्लवन्ते, नद्यादिकं वा तरन्ति । लासका ये रासकान् गायन्ति, जयशब्दप्रयोक्तारो वा, भाण्डा वा इत्यर्थः । आख्यायका ये शुभाशुभमाख्यान्ति । लङ्घा महावंशाप्रखेलकाः, मङ्खाश्चित्रफलकहस्ता भिक्षुकाः, ' तूणइल्ला ' तूणाभिधानवाद्यविशेषवन्तः, तुम्बवीणका वीणावादकाः, अनेके च ये तालाचराःतालाऽऽदानेन प्रेक्षाकारिणः, तैरनुचरिता आसेविता या सा तथा । (आरामुज्जाणअगमतलागदीहिय-वप्पिणगुणोववेया) आरमन्ति येषु माधवीलतागृहाऽऽदिषु दम्पत्यादीनि क्रीडन्ति ते आरामाः, उद्यानानि पुष्पाऽऽदिसद्वृक्षसङ्कुलान्युत्सवाऽऽदौ बहुजनभोग्यानि (अगड त्ति) अवटाः कूपाः, तडागानि प्रतीतानि, दीर्घिका सारणी, (वप्पिण त्ति) केदारः । एतेषां ये गुणाः रम्यताऽऽदयः, तैरुप-पेता युक्ता या सा तथा । उप अप इत इत्येतस्य शब्दत्रयस्य स्थाने शकन्ध्वादिदर्शनादकारलोपे उपपेतेति भवति । क्वचित्पठ्यते- '' नंदणवणसण्णिभप्पगासा '' नन्दनवनं मेरोर्द्वितीयवनं, तत्प्रकाशस-न्निभः प्रकाशो यस्यां सा तथा । इह चैकस्य प्रकाशशब्दस्य लोप उष्ट्रमुख इत्यादाविवेति । (उविद्धविउलगंभीरखायफलिहा) ' उविद्धं ' ऊर्द्धं विपुलं विस्तीर्णं गम्भीरमलब्धमध्यं खातमुपरि विस्तीर्णम् अधः सङ्कटं, परिखा च अध उपरि च समा खातरूपा यस्यां सा तथा । (चक्कगयभुसुंढिओरोहसयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसा) चक्राणि रथाङ्गानि, अरघट्टाङ्गानि वा, गदाः प्रहरणविशेषाः, भुसुण्डयोऽप्येवम् । अवरोधः प्रतोलिद्वारेष्ववान्तरप्रकारः संभाव्यते । शतघ्न्यो महायष्टयः, महाशिला वा, या उपरिष्टात्पातिताः सत्यः शतानि पुरुषाणां घ्नन्तीति, यमलानि समसंस्थितद्वयरूपाणि यानि कपाटानि घनानि च निश्छिद्राणि तैर्दु-ष्प्रवेशा या सा तथा । (धणुकुडिलवंकपागारपरिक्खित्ता) धनुः कुटिलं कुटिलधनुः, ततोऽपि वक्रेण प्राकारेण परिक्षिप्ता या सा तथा । (कविसीसयवट्टरइयसंठियविरायमाणा) कपिशीर्षकैर्वृत्तिर-चितैर्वर्तुल-कृतैः संस्थितैर्विशिष्टसंस्थानवद्भिर्विराजमाना शोभमाना या सा तथा । (अट्टालयचरियदारगोपुरतोरणउण्णय-सुविभत्तरायमग्गा) अट्टालकाः प्राकारोपरिवर्त्याश्रयविशेषाः, चरिका अष्टहस्तप्रमाणा नगरप्रकारान्त-रालमार्गाः, द्वाराणि प्राकारद्वारिकाः, गोपुराणि पुरद्वाराणि, तोरणानि प्रतीतानि, उन्न-तानि गुणवन्ति उच्चानि च यस्यां सा तथा । सुविभक्ताः विविक्ता राजमार्गा यस्यां सा तथा । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । (छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला) छेकेन निपुणेनाऽऽचार्येण शिल्पिना रचितो दृढो बलवान् परिघोऽर्गला, इन्द्रकीलश्च गोपुरावयवविशेषो यस्यां सा तथा । (विवणिविवणियच्छेत्तसिप्पियाऽऽइण्णणिव्वुयसुहा) विपणीनां वणिक्पथानां हट्टमार्गाणां, वणिजां च वाणिजकानां च क्षेत्रं स्थानं या सा तथा । शिल्पिभिः कुम्भकाराऽऽदिभिराकीर्णा, अत एव जनप्रयोजन-संसिद्धिर्जनानां निर्वृतत्वेन सुखितत्वेन च निर्वृतसुखा च या सा तथा । वाचनान्तरेछेत्तशब्दस्य स्थाने छेयशब्दोऽधीयते । तत्र च छेकशिल्पि-काऽऽकीर्णेति व्याख्येयम् । (सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरपणियाऽऽवणविविहवत्थुपरिमंडिया) शृङ्गाटकं त्रिकोणं स्थानं, त्रिकं यत्र रथ्यात्रयं मिलति, चतुष्कं रथ्याचतुष्कमेलकं, चत्वरं बहुरथ्याऽऽपात-स्थानं, पणितानि भाण्डानि, तत्प्रधाना आपणा हट्टा विविधवस्तूनि अनेकविधद्रव्याणि, एभिः परिमण्डिता या सा तथा । पुस्तकान्तरेऽ-धीयते-'' सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुह- महापहपहेसु पणियाऽऽ-पणविविहवेसपरिमंडिया । '' तत्र चतुर्मुखं चतुर्द्वारं देवकुलाऽऽदि, महापथो राजमार्गः, पन्थास्तदितरः, ततश्च शृङ्गाटकाऽऽदिषु पणिताऽऽपणैर्विविधवेशैश्च जनैर्विविधवेश्याभिर्वा परिमण्डिता या सा तथा । (सुरम्मा) अतिरमणीया, (नरवइपविइण्णमहिवइपहा)

नरपतिना राज्ञा प्रविकीर्णो गमनाऽऽगमनाभ्यां व्याप्तो महीपतिपथो राजमार्गो यस्यां सा तथा। अथवा-नरपतिना प्रविकीर्णा विक्षिप्ता निरस्ताऽन्येषां महीपतीनां प्रभा यस्यां सा तथा। अथवा-नरपतिभिः प्रविकीर्णा महीपतेः प्रभा यस्यां सा तथा। (अणेगवरतुरगमत्त-कुंजररहकररीयसंदमाणिण्णाऽऽइण्णजाणजुग्गा) अनेकैर्वरतुरगै-र्मत्तकुञ्जरैः (रहपकरे त्ति) रथनिकरैः शिविकाभिः स्यन्दमाना-भिराकीर्णा व्याप्ता यानैर्युग्यैश्च या सा तथा। अथवा-अनेके वरतुर-गाऽऽदयो यस्यामाकीर्णानि च गुणवन्ति यानाऽऽदीनि यस्यां सा तथा। तत्र शिविकाः कूटाऽऽकारेण छादिताः 'जम्पान' विशेषाः, स्यन्दमा-निकाः पुरुषप्रमाणा जम्पानविशेषाः, यानानि शकटाऽऽदीनि, युग्यानि गोल्लविषयप्रसिद्धानि द्विहस्तप्रमाणानि वेदिकोपशोभितानि जम्पानान्येवेति। (विमुउलणवणलिणिसोभियजला) विमुकुलाभिर्विक-सितकमलाभिर्नवाभिर्नलिनीभिः शोभितानि जलानि यस्यां सा तथा। (पंडुरवरभवणसण्णिमहिया) पाण्डुरैः सुधाधवलैः वरभवनैः प्रासादैः सम्यक् निरन्तरं महितेव महिता पूजिता या सा तथा। (उत्ताणणयण-पेच्छणिज्जा) सौभाग्यातिशया-दुत्तानिकैरनिमिषितैर्नयनैर्लोचनैः प्रेक्षणीया या सा तथा। (पासा-ईया) चित्तप्रसन्नकारिणी। (दरिसणिज्जा) यां पश्यचक्षुः श्रमं न गच्छति। (अभिरूवा) मनोज्ञरूपा। (पडिरूवा) द्रष्टारं द्रष्टारं प्रति 'रमणीयं' रूपं यस्याः सा तथेति। औ०। चं० प्र०। ज्ञा०। रा०।

णगाहिराय-पुं०(नगाधिराज) श्रीशत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प।

णगिंद-पुं०(नगेन्द्र) पर्वतप्रधाने मेरौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

णगिण-त्रि०(नग्न) भावतो निर्ग्रन्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

णग्ग-त्रि०(नग्न) नज-क्तः। **''अधो मनयाम्''। ८। २। ७८।** इति संयुक्तस्य नस्य लुक्। प्रा० २ पाद। **''अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम्''॥ ८। २। ८९॥** इत्यनादौ वर्तमानस्य गस्य द्वित्वम्। प्रा० २ पाद। दिगम्बरे, नं०। आ० म०।

णग्गइ-पुं०(नग्नजित्) गन्धारविषये पुरुषपुराधिपतौ रचनाख्याते राज्ञि, आव० ४ अ०। ''नमी राया विदेहेसु, गंधारेसु य णग्गई।'' प्रव्रजित इति शेषः। उत्त० १८ अ०।

अथास्य पूर्वभवचरितनिबद्धं वृत्तमुद्भाव्यते-

अस्मिन् भरते पुण्ड्रवर्द्धनं नाम नगरमस्ति। तत्र सिंहरथो राजा वर्तते गन्धारदेशाधिपतिः। तस्य राज्ञोऽन्यदा द्वावश्वौ प्राभृते समायातौ। तयोः परीक्षार्थमेकस्मिन् तुरङ्गे राजाऽधिरूढः, द्वितीये तुरङ्गेऽपरो नर आरूढः। तेन सममपरैश्चाश्वबारशतैः परिवृतो भूपतिर्बाह्यामिकायां गतः। परीक्षां कुर्वता च राज्ञाऽश्वः प्रधानगत्या विमुक्तः। सोऽपि बलवता वेगेन निर्ययौ। यथा यथा राजा वल्गामाकर्षयति, तथा तथा स वायुवेगोऽभवत्। पुरोपवनान्यतिक्रम्य सोऽश्वो राजानं लात्वा महाटव्यां प्रविष्टः। श्रान्तेन भूपेन तदाऽस्य वल्गा विमुक्ता। अथ यदा वल्गामोचनेऽश्वः स्थिरीबभूव, तदा राज्ञैनं विपरीतमश्वं मन्यते स्म; ततस्तस्मादुत्तीर्य राजा भूमिचरो बभू-व। तं च पानीयं पाययित्वा वृक्षे बबन्ध, स्वप्राणवृत्तिं च फलैर्विंद-धे। तत एकं नगमारुह्य क्वचित्प्रदेशे सुन्दरमेकं महावासं ददर्श। राजा कुतूहलात्तस्मिन्नावासे प्रविष्टः। तत्रैकाकिनीं पवित्रगात्रां कन्यां भूपतिर्दृष्टवान्। सा राजानमागच्छन्तं दृष्ट्वा भूरिहर्षाऽऽसनं ददौ। राज्ञा ऊचेका त्वम्? कोऽयमद्रिनिवासः? किमिदं रम्यं धाम? सा प्राऽऽह-भूपाल! प्रथमं मत्पाणिग्रहणं कुरु, साम्प्रतं सिंहविशिष्टं लग्नमस्ति, पश्चात्सर्वं वृत्तान्तमहं कथयिष्यामि। तयेत्युक्ते नरपतिस्तत्र कन्यया समं पूजितं जिनबिम्बं प्रणम्योद्वाहमाङ्गल्यमलञ्चकार। भूपतिना परिणीता सा कन्या विविधान् भोगोपचारान् चकार, विचित्राश्च भक्तीर्दर्शयामास। अवसरे राजा तां प्रत्येवमाह-विमलः पुण्यैरावयोः संबन्धो जातोऽस्ति, परं त्वं स्ववृत्तान्तं पदकाऽसि त्वम्? कथमत्रैकाकिनी वससि? स्वभर्त्रेवमुक्ते सा स्वसंबन्धं मूलतो वक्तुमारेभे क्षितिप्रतिष्ठे नगरे जितशत्रुर्नृपोऽस्ति, सोऽन्यदा परदेशाऽऽयातचरानेवमाह-अहो! मद्राज्ये किञ्चिद् न्यूनमस्ति। ते प्राऽऽहुः-सर्वमस्ति तव राज्ये, परं विचित्रचित्रा सभा नास्ति। ततो नृपतिश्चित्रकरानाकार्य सभागृहभित्तिभागास्तेषां सर्वेषां समाश्चित्रयितुं दत्ताः। सर्वेऽपि चित्रकराः स्वस्वभित्तिभागान् गाढोद्यमेन चित्रयन्ते। तत्रैको वृद्धश्चित्रकरः सकलचित्रकलावेदी स्वभित्तिभागं चित्रयितुमारब्धवान्। सहायशून्यस्य तस्य निरन्तरं गृहतः कन-कमञ्जरी रूपवती तत्पुत्री भक्तं तत्राऽऽनयति। अन्यदा सा स्वगृहाद् भक्तमानयन्ती राजमार्गे गच्छन्त्यश्ववारमेकं ददर्श। स च बालस्त्री-वराकाऽऽदिजनसङ्कीर्णेऽपि राजमार्गे त्वरितमश्वमवाहयत्। लोकास्तु तद्भयादितस्ततो नष्टाः। साऽपि क्वचिन्नंष्ट्वा स्थिता, पश्चात् तत्राऽऽयाता। भक्तपात्रहस्तां तामागतां वीक्ष्य स वृद्धश्चित्रकरः पुरीषोत्सर्गार्थं बहिर्जगाम। एकत्राऽऽहारपात्रमाच्छादयित्वा सा क्वचिद्भित्तिदेशे वर्णकैर्मयूरपिच्छमालिलेख। अथ तत्र राजा सं-प्राप्तः। भित्तिचित्राणि पश्यन् कुमार्या लेखिते केकिपिच्छे साक्षात्पिच्छं मन्यमानः करं चिक्षेप। भित्त्यास्फालनतो नखभङ्गेन विलक्षीभूतं तं नृपं सामान्य-पुरुषमेव जानन्ती सा चित्रकरपुत्र्येवमाहचतुर्थः पादस्त्वं मया लब्धः। नृप प्राऽऽहपूर्वं त्वया केन त्रयः पादा लब्धाः, साम्प्रतमहं कथं त्वया चतुर्थः पादो लब्धः? सा प्राऽऽह-श्रूयताम्- योऽद्य राजमार्गे त्वरितमश्वं वाहयन् बालस्त्रीप्रमुखजनानां त्रासमुत्पादयन् दृष्टः, स मूर्खत्वे प्रथमः पादः। द्वितीयः पाद इतो राजा, यः कुटुम्बलोकसहितैश्चित्रकरैः समं भित्तिभागं जराऽऽतुरस्यैकस्यैव मम पितुर्ददौ। तृतीयः पादो मम पिता, यो नित्यं भक्ते समायाते बहिर्याति। चतुर्थस्तु त्वम्, योऽस्मिन् भित्तिदेशे मल्लिखिते मयूर-पिच्छे करं चिक्षेप। किमित्येवं त्वया न विमृष्टम्-यदत्र सुधाघृष्टे भित्तिदेशे निराधारा मयूरपिच्छस्थितिः कथम्? एवं तस्या वचश्चातुरीरञ्जितो राजा तत्पाणिग्रहणवाञ्छकः सन् तस्याः पितुः समीपे स्वमन्त्रिणं प्रेषयित्वा तां प्रार्थितवान्। पित्राऽपि सा दत्ता, मुहुर्त्ते परिणीता, राज्ञः प्रकामं प्रेमपात्रा बभूव। सर्वान्तःपुरीषु च मुख्या जाता। विविधानि दूष्याणि, रत्नाऽऽभरणानि चाऽऽससाद। एकदा तया मदनाभिधानः स्वदासी रहस्येवं बभाषे-भद्रे! यदा मदनशान्तो भूपतिः स्वपिति, तदा त्वयाऽहमेवं प्रष्टव्यास्वामिनि! कथां कथयेति। तयोक्तम्-अवश्यमहं तदानीं प्रश्नायिष्ये। अथ रात्रिसमये राजा दृगृहे समायातः, तां भुक्त्वा रतश्रान्तो यावत् स्वपिति, तावता दास्या इयं पृष्टास्वामिनि! कथां कथय। राज्ञी प्राऽऽहयावद्राजा निद्रां नाऽऽप्नोति तावन्मौनं कुरु, पश्चात् त्वदग्रे यथेष्टं कथां कथयिष्यामि। राजाऽपि तां कथां श्रोतुकामः कपटनिद्रया सुष्वाप। पुनर्दास्या साम्प्रतं कथां कथयेति पृष्टा चित्रकरपुत्री कथां कथयितुमारेभे-

मधुपुरे वरुणश्रेष्ठ्येककरप्रमाणं देवकुलमकारयत् , चतुःकरप्रमा-णो देवस्तत्र स्थापितः, स तस्मै देवश्चिन्तितार्थदायको बभूव। अथ दासी प्राऽऽह-एकहस्ते देवकुले चतुःकरप्रमाणो देवः कथं माति ? इति तया पृष्टे सा राज्ञी प्राऽऽह-इमं रहस्यं तव कल्यरात्रौ कथयि-ष्यामि, अद्य तु निद्रा समायातीति प्रोच्य सा राज्ञी राज्ञः शय्यायाः पुरो भूमौ सुप्ता। सा दासी तां तथा दृष्ट्वा स्वगृहे गता। राजा मनस्येवं चिन्तयामास-कल्परात्रावपीदं कथानकं मया श्रोतव्यमिति निश्चित्य सुप्तः सुखनिद्रामवाप। द्वितीयदिनेऽपि राजा तस्या एव गृहेरात्रौ समायातः, रात्र्यर्द्धं यावत् सुखं भेजे, पश्चाद्रतश्रान्तोऽपि पूर्वकथानकश्रवणाय कपटनिद्रया सुप्तः। दासी प्राऽऽह-स्वामिनि ! कल्यकथितकथानकरहस्यं वद। राज्ञी प्राऽऽह-एकहस्ते देवकुले चत्वारः करा यस्य स चतुःकरो देवो नारायणाऽऽदिस्तत्र स्थापित इति रहस्यम्। इति एका कथा १।

अथ तृतीयदिनरात्रावपि राजा तथैव कपटनिद्रया सुप्तः। पुनः कथामद्य कथयेति दासी तामाह। सा प्राऽऽह-विन्ध्याचले पर्वते कोऽपि रक्ताशोकद्रुमः प्रौढोऽस्ति, तस्य घनानि पत्राणि सन्ति, परं छाया नास्ति। दासी प्राऽऽह-पत्राऽऽवृतस्य तस्य छाया कथं न जायते ? राज्ञी प्राऽऽह-एतद्रहस्यं तव कल्यरात्रौ कथयिष्यामि, अद्याहं रतश्रान्ता निद्रासुखमनुभविष्यामीत्युक्त्वा सुप्ता। सा दासी तु स्वगृहे गता। अपररात्रावपि राजा भोगान् भुक्त्वा तथैव तत्र सुप्तः। दासी प्राऽऽह-स्वामिनि ! कल्यसत्ककथारहस्यं कथनीयम्। राज्ञी प्राऽऽह-तस्य वृक्षस्य सूर्याऽऽतपस्य मूर्द्धिव छाया नास्ति, किन्त्वध एव छायाऽस्ति। इति द्वितीया कथा २।

अथ पुनस्तथैव रात्रौ नृपे सुप्ते दासीपृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-क्वचिन्निवेशे कश्चिदुष्ट्रश्चरन् कदाऽपि बब्बूलतरुं ददर्श। तदभिमुखां ग्रीवां कुर्वन्नप्राप्त-शाखः प्रकामं खिन्नस्तस्यैव बब्बूलतरोरुपरि पुरीषोत्सर्गं कृतवान्। दासी राज्ञीं पपच्छ-हे स्वामिनि ! कथमेतद् घटते, स्व-ग्रीवया बब्बूलतरुर्न प्राप्तः तदुपरि कथमसावुत्सर्गं चकार ? राज्ञी प्राऽऽह-अद्य निद्रा समायाति, तेनैतत्कथारहस्यं कल्यरात्रावश्यं कथयिष्यामीत्युक्त्वा सुप्ता। कल्यदिनरात्रावपि तथैव नृपे सुप्ते दासीपृष्टा राज्ञी तत्कथातत्त्वं प्राऽऽह-स उष्ट्रः कूपमध्यस्थं तं बब्बूलतरुं ददर्शेति घटत एवेदम्। इति तृतीया कथा ३।

पुनस्तथैव नृपे सुप्ते रात्रौ दासीपृष्टा सा राज्ञी कथामाचख्यौकस्मि-श्चिन्नगरे काचित्कन्या भृशं रूपसौभाग्यवत्यासीत् , तद्वरणार्थं तन्मातापितृभ्यां त्रयो भरा आहूताः समायाताः। तदानीं फणिना दष्टा सा कन्या मृता। तया समं मोहादेको वरस्तच्चितायां प्रविष्टो भस्मसाद् बभूव। द्वितीयस्तद्भस्मपिण्डाऽऽदाता तद्भस्मोपरि वासं चकार। तृतीयस्तु सुरमाराध्यामृतं प्राप्तः। तदमृतेन तच्चितायां सिक्तायां कन्यां, प्रथमं वरं च सद्योऽजीवयत्। कन्याऽप्युत्थिता तान् त्रीन् वरान् ददर्श। राज्ञी दासी प्राऽऽह-हे सखि ! ब्रूहि, तस्याः 'कन्यायाः को वरो युक्तः ? दासी प्राऽऽह-अहं न वेद्मि त्वमेव ब्रूहि। राज्ञी प्राऽऽह-अद्य निद्रा समायाति, कल्यरात्रौ कथयिष्यामीत्युक्त्वा सुप्ता। द्वितीयदिनरात्रौ दासीपृष्टा साऽवदत्-यस्तस्याः संजीवकः स पिता, यः सहोद्भूतः स बन्धुः। यो भस्मपिण्डाऽऽदाता, स तत्पतिरिति। इति चतुर्थी कथा ४।

तथैवान्यरात्रौ नृपे सुप्ते दासीपृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-कश्चिद् नृपः स्वपत्न्यै दिव्यमलङ्कारवरं सुगुप्तभूमिगृहे रत्नाऽऽलोकात् सुवर्णकारैरजीघटत्। तत्रैकः सुवर्णकारः सन्ध्यां पतितां ज्ञातवान्। राज्ञी प्राऽऽह-हे सखि ! तेन रत्नाऽऽलोकसहिते सुगुप्तभूमिगृहे यामिनीमुखं कथं ज्ञातम् ? दासी प्राऽऽह-नाहं वेद्मि, त्वमेव ब्रूहि। राज्ञी प्राऽऽह-साम्प्रतं निद्रा समायाती-त्युक्त्वा सुप्ता। द्वितीयदिनरात्रौ दासीपृष्टा सा प्राऽऽह-स सुवर्णकारो रात्र्यन्ध आसीदिति ज्ञातं तेन। इति पञ्चमीकथा ५।

पुनरेकदा रात्रौ सुप्ते नृपे दासीपृष्टा सा प्राऽऽह-केनापि राज्ञा द्वौ मल्लिम्लुचौ निच्छिद्रपेट्यां क्षिप्तौ समुद्रमध्ये प्रवाहितौ, क्वापि तटे सा पेटी लग्ना केनचिद् नरेण गृहीता, उद्घाट्य तौ दृष्ट्वा पृष्टौ- भोः ! युवयोरद्य क्षिप्तयोः कतमो दिवसोऽयम् ? तयोर्मध्ये चैकः प्राऽऽह-अद्य चतुर्थो दिवसः। राज्ञी प्राऽऽह-हे सखि ! तेन चतुर्थो दिवसः कथं ज्ञातः ? दासी प्राऽऽह-अहं न वेद्मि, त्वमेव ब्रूहि। राज्ञी तु साम्प्रतं निद्रा समायातीत्युक्त्वा सुप्ता। द्वितीयदिने रात्रौ दासी-पृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-स चतुर्थदिनवक्ता पुरुषस्तुर्यज्वरी वर्त्तते स्मेति तेन तथा प्ररूपितम्। इति षष्ठी कथा ६।

पुनरन्यदा दासीपृष्टा सा राज्ञी रात्रौ कथामाचख्यौकाचित् स्त्री सपत्नीभयेन निजाङ्गभूषणानि पेट्यां निक्षिप्य मुद्रां च दत्त्वाऽऽलोकभूमौ मुमोच। अन्यदा सा स्त्री सखीनिवासे गता, सपत्नी च विजनं विलोक्य तां पेटीमुद्घाट्यानेकाऽऽभरणश्रेणिमध्यादेकं हारं निष्कास्य स्वतनयायै ददौ। तनया च स्वपतिगृहे तं गुप्तं चकार। कियत्कालानन्तरं सा स्त्री तत्राऽऽयाता, तां पेटीं दूरादवलोक्यैव ज्ञातवती-यदस्याः पेट्या मध्यान्मम हारोऽनयाऽपहृत इति सपत्नीं चौर्येण दूषयामास। सपत्नी शपथान् कुर्वती हारापहारं न मन्यते स्म। तदा सा स्त्री तां सपत्नीं दुष्टदेवपादस्पर्शशपथायाऽऽकर्षितवती। तदानीं भयभ्रान्ता सपत्नी तं हारं तनयागृहादानीय तस्यै ददौ। दासी प्राऽऽह-हे स्वामिनि ! तया कथं ज्ञातो हारापहारः ? राज्ञी प्राऽऽह-कल्ये रात्रौ कथयिष्यामीत्यक्त्वा सुप्ता। द्वितीयदिन-रात्रौ पुनस्तया पृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-सा पेटी स्वच्छकाचमयी बभूवेति ज्ञातं तया। इति सप्तमी कथा ७।

कस्यचिद्राज्ञः कन्या केनापि खेऽटेनापहृता। तस्य राज्ञश्चत्वारः पुरुषाः सन्ति-एको निमित्तवेदी, द्वितीयो रथकृत्, तृतीयः सहस्र-योधा, चतुर्थो वैद्यः। तत्र निमित्तवेदी दिशं विवेद। रथकृद्दिव्यं रथं चकार। खगामिनं तं रथमारुह्य सहस्रयोधा, वैद्यश्च विद्याधरपुरं गतौ। सहस्रयोधी तं खेऽटं हतवात्। हन्यमानेन तेन खेऽटेन कन्या-शिरश्छिन्नम् , तदैव तेन वैद्येनौषधेन शिरः संयोजितम्। राजा तु पश्चादागतेभ्य एभ्यश्चतुर्भ्यस्तां सुतां ददौ। कन्या प्राऽऽह-एषु मध्ये यो मया सह चिताप्रवेशं करिष्यति, तमहं वरिष्यामि। इति प्रोच्य सा कन्या सुरङ्गाद्वारि रचितायां चितायां प्रविष्टा। यस्तया सह तत्र प्रविष्टः, स तां कन्यामूढवान्। दासी प्राऽऽह-हे स्वामिनि ! चतुर्षु मध्ये कोऽत्र प्रविष्टः ? राज्ञी प्राऽऽह-अद्य रतिश्रान्ताया मे निद्रा समायातीत्युक्त्वा सुप्ता। द्वितीयवासररात्रौ पुनर्दासीपृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-निमित्तवेदी-' इयं न मरिष्यति ' इति मत्वा चितां प्रविष्ट-स्ततस्तामूढवान्। इत्यष्टमी कथा ८।

पुनरपि रात्रौ दासीपृष्टा राज्ञी कथामाह-जयपुरनगरे सुन्दर-नामा राजाऽऽसीत्। स चान्यदा विपरीताश्वेनैक एवाटव्यां नीतः, ततो बलगां शिथिलीकृत्याश्वात् स राजा समुत्तीर्णः।

तमश्वं क्वचित्तरौ बद्धा स्वयमितस्ततो भ्रमन् स कस्मिंश्चित् सरसि जलं पपौ। तत्रैकां सुरूपां तापसपुत्रीं ददर्श। तापसपुत्र्याहूतः स तापसाऽऽश्रमं प्राप। तत्र तापसास्तस्य भृशं सत्कारं चक्रुः। सा कन्या तापसैर्दत्ता, राज्ञा च परिणीता। तां नवोढां कन्यां गृहीत्वा तमेवाश्वमधिरुह्य पश्चाद्वलितोऽन्तरालमार्गे क्वचित् सरपाल्यां राजा सुप्तोऽपि जाग्रन्नेवाऽऽसीत्। राज्ञी तु निद्राणा। केशरिराक्षसेन तत्राऽऽगत्य नृपस्यैवं कथितम्-षण्मासान् यावद् बुभुक्षितोऽहं त्वां भक्ष्यं प्राप्याद्य तृप्तो भविष्यामि, अन्यथा मद्वाञ्छितं देहि। राज्ञोक्तम्-ब्रूहि स्ववाञ्छितम्। तेनोक्तम्-कश्चिदष्टादशवर्षीयो ब्राह्मणपुत्रः शिरसि पितृदत्तपदस्त्वया खड्गेन हतः सप्तदिनमध्ये चेद्बलिर्दीयते, तदाऽहं त्वां मुञ्चामि, नान्यथा इति। राज्ञा प्रतिपन्नम्। प्रभाते राजा चलितः कुशलेन स्वपुरं गतः। सैनिकाः सर्वेऽपि मिलिताः। राज्ञा स्वमन्त्रिणं प्रति राक्षसवृत्तान्तः कथितः। मन्त्री सुवर्णपुरुषं निर्माय पटहवादनपूर्वं नगरे भ्रामयामास। तेनैवं चोद्घोषितम्-यो हि ब्राह्मणपुत्रो राक्षाय स्वजीवितदानेन नृपजीवितं रक्षते, तस्य पित्रोरयं सुवर्णपुरुषो दीयते। इयमुद्घोषणा षड् दिनानि यावत् तत्र जाता। सप्तमदिने एकत्र प्राज्ञो ब्राह्मणपुत्रस्तां निर्घोषणां श्रुत्वैवं मातापितरावबोधयत्-प्राणा गत्वराः सन्ति, मातापित्रोश्चेद्रक्षणं मम प्राणैः कृत्वा भवेत्, तदा वरं, तेनाहं नृपजीवितरक्षार्थं स्वजीवितं राक्षसाय दत्त्वा सुवर्णपुरुषं दापयामि। एवं भृशमाग्रहेण मातापित्रोरनुमतिं गृहीत्वा राज्ञः समीपे गतः। राज्ञा तु तत्पितुः पादौ शिरसि दापयित्वा स्वयमाकर्ष्य सखड्गस्तस्य पृष्ठतो भूत्वा राक्षसस्य समीपमानीतः। यावता राक्षसो दृष्टस्तावता नृपेणोक्तम्-भो ब्राह्मणपुत्र! इष्टं स्मर। एवं नृपेणोक्तः स ब्राह्मणपुत्र इतस्ततो नेत्रे निक्षिपन् जहास। तदानीं राक्षसस्तुष्टः प्राऽऽह-यदिष्टं तन्मार्गयेति। स प्राऽऽह- यदि त्वं तुष्टस्तदा हिंसां त्यज, जिनोदितं दयाधर्मं कुरु। राक्षसेनापि तद्वचसा दयाधर्मः प्रतिपन्नः। राजादयोऽपि तं दारकं प्रशंसितवन्तः। अथ दासी प्राऽऽह-हे राज्ञि! तस्य ब्राह्मणपुत्रस्य को हास्यहेतुः? तयोक्तम्-साम्प्रतं मे निद्रा समायातीत्युक्त्वा सा सुप्ता। द्वितीयदिने दासीपृष्टा सा राज्ञी प्राऽऽह-हे हले! अथं तस्य हास्यहेतुः-नृणां हि माता, पिता, नृपः शरणं, ते त्रयोऽपि मत्पार्श्वस्थाः, अहं पुनः कमन्यं शरणं श्रयामि? इति विचिन्त्य तस्य हास्यमुत्पन्नम्। इति नवमी कथा ६।

एवं सा चित्रकरसुता कथाभिर्मुहुर्मुहुर्मोहयन्ती राजानं वशीचकार। राजा तु तस्यामेवाऽऽसक्तोऽन्यासां राज्ञीनां नामापि न जग्राह। ततस्तस्याश्छिद्राणि पश्यन्त्यः सर्वा अपि सपत्न्यः परमद्वेषं वहन्ति स्म। चित्रकरसुता तु निरन्तरं मध्याह्ने रहस्येकाकिनी कपाटयुगलं दत्त्वा गृहान्तः प्रविश्य पूर्ववस्त्राणि प्रावृत्यऽऽत्मानमेवं शिक्षयामास-आत्मन्! तवायं पूर्ववेषः, साम्प्रतं राजप्रसादादुत्तरामवस्थां प्राप्य गर्वं मा कुर्याः। एवमात्मनः शिक्षां ददतीं दृष्ट्वा सपत्न्यो राजानमेवं विज्ञपयामासुः-स्वामिन्! एषा क्षुद्रा तवाहर्निशं कार्मणं कुरुते, यद्यस्माकं वचनं न मन्यसे, तदा मध्याह्ने स्वयं तद्गृहं गत्वा तस्याः स्वरूपं विलोकय। भूपतिस्तासां वाक्यं निशम्य मध्याह्ने तस्या गृहं गतः। सा तु तथैव पूर्वनेपथ्यं परिधायाऽऽत्मनः शिक्षां ददती भूपतिना दृष्टा। सर्वाणि तद्वचांस्यपि श्रुतानि। राजा तस्या निर्गर्वतां ज्ञात्वा परमं प्रमोदमवाप। इमां च पट्टराज्ञीं चकार। राज्ञो विशेषान्मनो विनोदमियं व्यधात्। अन्यदा तन्नगरोद्याने विमलाऽऽचार्याः समायाताः। राज्ञ्या सह नृपस्तद्वन्दनाय तत्र गतः, नगरलोकोऽपि तद्वन्दनार्थं गतः। तदा विमलाऽऽचार्यो देशनां चकार। चित्रकरसुता, नृपश्च द्वावपि प्रतिबुद्धौ श्रावकधर्मं गृहीतवन्तौ, परस्परमनाबाधया त्रिवर्गसाधनं कुरुतः। अन्येद्युस्तया दत्तपञ्चपरमेष्ठिश्रीनमस्कारस्तत्पिता मृतो व्यन्तरो जातः। कालान्तरेणाऽऽर्हतं धर्ममाराध्य चित्रकरसुता राज्ञी मृता देवीत्वं प्राप। ततश्चुत्वा वैताढ्ये तोरणाभिधे पुरे दृढशक्तिखेचरस्य पुत्री कनकमाला बभूव। प्राप्तयौवनां तामेकदा वीक्ष्य कन्दर्पतप्तो वासवनामा कश्चित् खेचरोऽपहृत्यात्र महाद्रौ मुक्त्वा स्वचित्ते प्रमोदं बभार। अत्र विद्याबलात् समग्रां सामग्रीं विधाय स वासवविद्याधरो यावद्गन्धर्वोद्वाहाय समुत्सुकोऽभवत्, तावत् कनकमालाऽग्रजः सुवर्णतेजास्तदनुपदिकस्तत्राऽऽयातस्तं वासवं विद्याधरमधिक्षिप्तवान्। तौ द्वावपि कोपाद् घोरं युद्धं कुर्वाणौ परस्परप्रहाराद् मृतौ। कनकमाला तु भृशं भ्रातृशोकं चकार। तदानीं कश्चिद्देवस्तत्राऽऽगत्य कनकमालां प्रत्येवमवदत्-पुत्रि! भ्रातृशोकं मुञ्च, चित्तं स्वस्थं कुरु, ईदृक्ष एव संसारोऽस्ति, त्वं मम पूर्वभवे पुत्र्यभूः, तिष्ठ त्वमत्रैव गिरौ। अत्र स्थितायास्तव सर्वं भव्यं भविष्यति। एवं देववचनमाकर्ण्य कनक-माला चिन्तयामासकोऽसौ देवः? कथमस्याहं पुत्री? असौ मयि स्निह्यते, अहमप्यस्मिन् स्निह्यामि। यावदेवं कनकमाला चिन्तयतितावत्तज्जनको विद्याधरेन्द्रो दृढशक्तिनामा धावन् तत्राऽऽयातः, स्वपुत्रं स्वर्णतेजसं, विरोधिनं वासवविद्याधरं च मृतं दृष्ट्वा छिन्नमस्तकां च तां पुत्रीं दृष्ट्वैवं विचारयामास-अयं सुतः, इयं सुता, अयं शत्रुस्त्रयोऽप्यमी ईदृगवस्थां प्राप्ताः। स्वप्नोपमं जगत्सर्वं दृश्यते। एवं ध्यायतस्तस्य दृढशक्तिविद्याधरस्य जातिस्मरणमुत्पन्नम्। ततोऽसौ शासनदेवीप्रदत्तवेषश्चारणश्रमणो यतिरभूत्। अथ स व्यन्तरस्तया पुत्र्या सह तं श्रमणं ननाम। जीवन्तीं तां पुत्रीं वीक्ष्य स चारणश्रमणस्तं व्यन्तरं नमन्तमपृच्छत्-किमिदमिन्द्रजालं मया दृष्टम्? व्यन्तरः प्राऽऽह-तव पुत्रः शत्रुश्च मिथो नियुध्य मृतौ। इयं च कन्या जीवन्त्यपि मया तव मृता दर्शिता। मुनिः प्राह-कथं त्वया मृता कृता? स व्यन्तरः स्मृत्वैवमाह-हे मुनिनायक! एतद्- वार्तां शृणुक्षितिप्रतिष्ठनृपतेर्जितशत्रोरियं प्राग्भवे पत्न्यभवत्, चित्राङ्गदनाम्नश्चित्रकृतो ममैषा पुत्र्यभवत्, एतया प्राग्भवे ऽन्त्यसमये मम नमस्कारा दत्ताः, तत्प्रभावादहं व्यन्तरो जातः। एषा अपि मृता देवी जाता, देवीत्वमनुभूय तव सुताऽत्र भवे जज्ञे। तेन विद्याधरेणापहृत्यात्र चैत्ये मुक्ता, यात्रार्थमायातेन मया दृष्टा, एत-स्या बन्धौ चौरे च मृते यावदिमामहमाश्रयामि तावद्भवन्तोऽत्र प्राप्ताः। मया विमृष्टम्-इयमनेन जनकेन समं मा यात्विति मयैतस्या गोपनमाया विहिता। यत्तव निराशत्वं मया तदानीं कृतं, तत् क्षन्तव्यम्। मुनिरूचे-अहो! व्यन्तर! या त्वया तदा माया कृता, सा ममत्वमायापहारिणी जाता, तेन मम भवतोपकृतं, न किमप्य-पराधः। एवमुक्त्वा स मुनिर्धर्माऽऽशिषं दत्त्वाऽन्यत्र विजहार। अथ प्राग्भववृत्तान्तं श्रुत्वा सा कन्या जातिस्मृतिभागभूत्, प्राग्जन्मजनकं व्यन्तरं प्राऽऽह-तात! तं पूर्वभवपतिं मेलय। व्यन्तरः प्राऽऽह-स ते प्राग्भवभर्ता जितशत्रुनृपतिर्देवीभूय च्युतः साम्प्रतं सिंहरथो नाम राजा जातोऽस्ति। स गन्धारदेशे पुण्ड्रवर्द्धननगरादश्वापहृतोऽत्र समायास्यति। स हि त्वामत्रैव सकलसामग्र्या परिणेष्यति। यावत् स इहाभ्येति ता-

व ः त्वमत्रैव तिष्ठेत्युक्त्वा स व्यन्तरः पुराचले शाश्वतजिनबिम्बानि नन्तुं गतवान्।

इदं सर्वं वृत्तान्तं कथयित्वा सा कन्या राजानं प्रत्याह-स्वामिनि! त्वमत्र मद्भाग्याऽऽकर्षितः समायातः। सिंहरथराजाऽपीमां पूर्वभवकथां श्रुत्वा पूर्वभवश्वशुरं तं व्यन्तरमस्मरत्। तेन स्मृतः स व्यन्तरस्तत्राऽऽगत्य, दिव्यवादित्रनिर्घोषं कृतवान्। मध्याह्ने जिनबिम्बान्यभ्यर्च्य नृपो भुङ्क्ते स्म। ततस्तेन व्यन्तरेण पूरिताशेषवाञ्छितोऽसौ नृपतिस्तत्र मासमेकं स्थितवान्। चिरकालेन स्वराज्यानिष्टशङ्कया राजा तां दयितां प्रतीदमाह-प्रिये! प्रबलो वैरिव्रजो मे राज्यमुपद्रोष्यति, ततोऽहं स्वपुरं यामि। दयिता जगाद-यदि राज्यं मोक्तुं न शक्यते, तदा व्योमगमनसाधिकां प्रज्ञप्तिविद्यां मन्मुखाद् गृहाण, यतस्ते व्योमगतिर्यथासुखं स्यात्। प्रियाप्रदत्तां तां विद्यामासाद्य सिंहरथो राजा विद्याधराग्रणीर्बभूव। प्राग्भवप्रेमपूर्णा तां प्रियामापृच्छ्य स राजा स्वपुरे व्योममार्गेण समागतः। तत्र पुरे कियद्दिनानि स्थित्वा सिंहरथनृपतिस्तं पर्वतं पुनर्गतः। एवं स्वनगरात् तस्मिन्नगे नित्यं गताऽऽगतं कुर्वन् नृपतिः सिंहरथो लोकान्नगतिरितिनामप्रसिद्धिं प्राऽऽप। अन्यदा तत्र नगे तं भूपं स व्यन्तर एवमाह-अहं मत्स्वामिनिदेशाद् देशान्तरं गमिष्यामि, त्वं मत्पुत्रीं स्वनगरे नीत्वेमं नगं शून्यं मा कार्षीः। एवमुक्त्वा स व्यन्तरः स्थानान्तरमगात्। नृपस्तन्नगे महन्नगरं व्यधात्, तस्य नगतिपुरमिति नाम कृतवान्। तत्रस्थो राजा तया राज्ञ्या सह भोगान् भुञ्जानः सुखेन कालं निर्गमयति स्म। तत्र राज्यं पालयतस्तस्य बहुतरः कालो ययौ। अन्यदा नगतिर्नृपः पुरपरिसरे वसन्तोत्सवं द्रष्टुं जगाम, मार्गे च मञ्जरीपुञ्जमञ्जुलमाम्रवृक्षमद्राक्षीत्। तत एकां मञ्जरीं नृपतिर्लीलया स्वकरेण जग्राह। ततो '' गतानुगतिकाः प्रायो, दृश्यन्ते बहवो नराः। स्वभूपमनुवर्तन्ते, यथा राजा तथा प्रजाः॥ १॥ '' इति न्यायात् सर्वे तस्य मञ्जरीपत्राऽऽदिकं जगृहुः। भूमिपालः क्रीडां कृत्वा ततः पश्चाद्गलितस्तमाम्रवृक्षं काष्ठशेषमालोक्यैवं चिन्तितवान्-अयमाम्रवृक्षो नेत्रप्रीतिकरो, यो मया पूर्वं गच्छता दृष्टः, सोऽयं काष्ठशेषो विगतशोभः साम्प्रतं दृश्यते यथा, तथा सर्वोऽपि जीवः कुटुम्बधनधान्यदेहाऽऽदिसौन्दर्यभ्रष्टो नैव शोभां प्राप्नोति। एतच्च सर्वं विनश्वरं यावन्न क्षीयते तावत्संयमे यत्नः कार्य इति चिन्तयन्नगतिः प्रतिबुद्धो जातः, शासनदेवीप्रदत्तवेषः संयममाददे। उत्त० ९ अ०। आव०। आ० चू०। क्षत्रियपरिव्राजक-भेदे, औ०।

णग्गयमग्ग-पुं०(नगगतमार्ग) विषमपर्वतमार्गे, तं०।

णग्गभाव-पुं०(नग्नभाव) अचेलत्वे, '' समणाणं णिग्गंथाणं नग्गभावे मुंडभावे। '' स्था० ९ ठा०।

णग्गिया-स्त्री०(नग्निका) अवस्त्रायाम्, विशे०।

णग्गोह-पुं०(न्यग्रोध) वटे, प्रज्ञा० १ पद। नि० चू०।

णग्गोहपरिमंडल-न०(*न्यग्रोधपरिमण्डल*) *न्यग्रोधवत्परिमण्डलं यस्य* स तथा। यथा न्यग्रोध उपरि संपूर्णप्रमाणोऽधस्तु हीनः, तथा यत् संस्थानं नाभेरुपरि संपूर्णम्, अधस्तनु, तस्मिन् संस्थानभेदे, तं०।

णग्गोहवरपायव-पुं०(न्यग्रोधवरपादप) वटप्रधानवृक्षे, अन्त० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ०।

णच्च-धा०(नृत्) गात्रविक्षेपे, **'' व्रजनृतमदां चः॥ ८। ४। २२५॥** एषामन्त्यस्य द्विरुक्तः ' च ' इति चः। ' णच्चइ ' नृत्यति। प्रा० ४ पाद।

***नृत्य**-न०। पादजङ्घोरुकट्युदरबाह्वङ्गुलिवदननयनभ्रूमुखाऽऽदिविकारकरणे, नि० चू० १७ उ०। नाट्ये, स्था० ९ ठा०।

णच्चंत-त्रि०(नृत्यत्) अङ्गविकारकारके, औ०। नि० चू०। ''ण-च्चंताणि वा हसंताणि वा रमंताणि वा। '' आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ०। '' नच्चंतकबंधपउरे। '' नृत्यन्ति कबन्धानि शिरोरहितकलेवराणि प्रचुराणि यत्र स तथा। प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

णच्चग-पुं०(नर्तक) नटानां नायके, व्य० ६ उ०।

णच्चा-अव्य०(ज्ञात्वा) **'' त्वश्चद्वध्वां चछजझाः क्वचित् ''॥ ८। २। १५॥** प्रा० २ पाद। अवगम्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। अवबुध्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। दर्श०। आचा०। उत्त०। '' सव्वं णच्चा अहिट्ठिए। '' सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

णच्चाविय-न०(नर्तित) नृत्यवदिव कृते, स्था० ६ ठा०।

णच्चिर-पुं०(देशी) रमणशीले, दे० ना० ४ वर्ग।

णज्ज-त्रि०(न्याय्य) न्यायोपपन्ने युक्ते, हा० २६ अष्ट०।

णज्जंत-त्रि०(ज्ञायमान) **'' ज्ञो णव्वणज्जौ ''॥ ८। ४। २५२॥** इति जानातेः कर्मणि भावे वा ' णज्ज ' इत्यादेशः। अवगम्यमाने, प्रा० ४ पाद। नि०।

णज्जर-पुं०(देशी) मलिने, दे० ना० ४ वर्ग।

णज्झर-पुं०(देशी) विमले, दे० ना० ४ वर्ग।

णट्ट-न०(नाट्य) नटस्य भावः कर्म वा। करचरणाऽऽदिविशिष्टपरिस्पन्दाविशेषे, आव० ३ अ०। नृत्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रश्न०। जं०। जी०। स्था०। करपादभ्रूशिरोऽक्ष्योष्ठाऽऽदीनां सविकारे चलने, ध० ३ अधि०। नृत्ये, भ० १४ श० ६ उ०। साभिनयनिरभिनयभेदभिन्ने ताण्डवे, जं० ५ वक्ष०। उत्त०। '' चउव्विहे णट्टे पण्णत्ते। तं जहा-अंचिए, रिभिए, आरभडे, भसोले। '' एतच्च संप्रदायाभावान्न विवृतम्। स्था० ४ ठा० ४ उ०। आ० चू०। एतेऽभिनयाऽऽदयश्चत्वारोऽपि भेदा नाट्यशास्त्रप्रसिद्धाः। अथवा-'' नट्टं होइ अगीयं, गीयजुयं नाडयं तु नायव्वं। '' बृ० १ उ०। एते नाट्यविधयो भरताऽऽदिशास्त्रज्ञेभ्योऽवसेयाः। जं० ५ वक्ष०। '' बत्तीससतिविहे णट्टे पण्णत्ते। '' द्वात्रिंशद्विधं नाट्यमभिनयविषयवस्तुभेदाद्, यथा राजप्रश्नकृताभिधानद्वितीयोपाङ्ग इति संभाव्यते। द्वात्रिंशत्पात्रप्रतिबद्धमिति केचित्। सम० ३३ सम०।

तते णं से सूरियाभे देवे समणं भगवं महावीरं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासीतुब्भे णं भंते! सव्वं जाणह उवदंसित्तए त्ति कट्टु समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणति, समोहणतित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं उच्चं दंडं निस्सरइ, निस्सरइत्ता अहासुहुमे दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं० जाव बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वइ। से

जहानामए आलिंग पुक्खरेति वा० जाव मणीणं फासो । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे पेच्छाघरमंडवे विउव्वइ, अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं वण्णओ । अंतो बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वइ, उल्लोचं अक्खाडगं मणिपेढियं विउव्वइ। तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं सीहासणं सपरिवारं० जाव दामो चिट्ठंति । तए णं से सूरियाभे देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स आलोए पणामं करेति, पणामं करेत्तिता अणुजाणउ मे भगवं ति कट्टु सीहासणवरगयतित्थयराभिमुहे सन्निसन्ने । तए णं से सूरियाभे देवे तप्पढमयाए णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहणिउणोवचियमिसमिसंतविरतियमहाभरणकडगतुडियवरभूसणुज्जलं पीवरपलंबं दाहिणभुयं पसारेति । तओ णं सरिसयाणं सरिसतयाणं सरिसवयाणं सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणं एगाभरणवसणगहियणिज्जोगाणं दुहतो संविल्लिवग्गणिवत्थाणं आविद्धतिलयामेलाणं पिणद्धगेविज्जकंचुयाणं उप्पीलियचित्तपट्टपरियरसफेणगावत्तरइयसंगयपलंबवत्थंतचित्तविल्ललगनिवसणाणं एगावलिकंठरइयसोभंतवच्छपडिहत्थभूसणाणं अट्ठसयं णट्टसज्जाणं देवकुमाराणं णिग्गच्छइ । तयाणंतरं च णं णाणामणि० जाव पीवरपलंबं वामभुयं पसारेइ । तओ सरिसयाणं सरिसतयाणं सरिसवयाणं सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणं एगाभरणवसणगहियनिज्जोयाणं दुहतो संविल्लियग्गनियत्थाणं आविद्धतिलयामेलाणं पिणद्धगेविज्जकंचुयाणं णाणामणिकणगरयणभूसणविराइयंगुवंगाणं० जाव अट्ठसयं नट्टसज्जाणं देवकुमारियाणं णिग्गच्छइ । तते णं से सूरियाभे देवे अट्ठसयं संखाणं विउव्वइ,अट्ठसयं संखवाययाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संगाणं वि-उव्वइ, अट्ठसयं संगवाययाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संखियाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संखियावाययाणं विउव्वइ, अट्ठसयं खर-मुहीणं विउव्वइ, अट्ठसयं खरमुहीवाययाणं विउव्वइ, अट्ठसयं पेयाणं विउव्वइ, अट्ठसयं पेयावाययाणं विउव्वइ, अट्ठसयं पिरिपिरियाणं विउव्वइ, ०एवमादियाणं एगूणपण्णं आउज्जविहाणाइं विउव्वति, विउव्वित्ता ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सद्दावेइ । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सूरियाभेणं देवेणं सद्दाविया समाणा हट्ठतुट्ठ० जाव हियया जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तेणेव सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं० जाव वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासीसंदिसंतु मे देवाणुप्पिया ! जं अम्हेहिं कायव्वं । तए णं से सूरियाभे देवे बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य एवं वयासीगच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेह, करेत्तिता वंदह, णमंसह, वंदित्ता णमंसित्ता गोयमाऽऽइयाणं समणाणं निग्गंथाणं तं दिव्वं देवड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं वत्तीसइविहं नट्ट-विहिं उवदंसेह, उवदंसित्ता खिप्पामेव एवमाणत्तियं पच्चप्पि-णह । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठकरयल० जाव पडिसुणेंति, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता समणं भगवं महावीरं० जाव णमंसित्ता जेणेव गोयमाऽऽइया समणा णिग्गंथा, तेणेव णिग्गच्छंति । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समामेव समोसरणं करेंति, समामेव समोस-रणं करेत्ता समामेव पंती बंधंति, समामेव पंती बंधेत्ता नमंसंति, नमंसित्ता समामेव उवणमंति, उवणमंतित्ता समामेव उण्णमंति, समामेव उण्णमंतित्ता, एवं सहितामेव उवणमंति, उवणमंतित्ता थिमियामेव उण्णमंति, उण्णमंतित्ता संगयामेव उण्णमंति, उ-ण्णमंतित्ता० जाव समामेव आउज्जविहाणाइं गिण्हंति, समामेव य वाइंसु, पगाइंसु, पणच्चिंसु । किं ते उरेणं मंदं सिरेणं तारं कठेणं व तारं समयरेयगरइयं गुंजावक्कुहरोवगूढं रत्तं तिट्ठाणकरणसुद्धं सकुहरगुंजंतवंसतंतीतलतालललयगहसुसंपउत्तं महुरसमसुललितं मणहरं मिउरिभितपयसंचारं सुरइसुनतिवरचारुरूवं दिव्वं नट्टसज्जं गेयं पगीया वि होत्था। किं ते उद्धमंताणं संखाणं संगाणं संखियाणं खरमुहीणं पेयाणं पिरिपिरियाणं, आहणंताणं पणवाणं पडहाणं, आफालिज्जंतीणं भंभाणं होरंभाणं, तालिज्जंतीणं भेरीणं झल्लरीणं दुंदुभीणं, आलवंताणं मुरजाणं मुइंगाणं नंदिमुइंगाणं, उत्तालिज्जंताणं आलिंग कुत्तुंवीणं गोमुहीणं मद्दलाणं, मुच्छिज्जंताणं वीणाणं विपंचीणं वल्लकीणं, कुट्टिज्जंतीणं महतीणं कच्छभीणं तंतिवीणाणं, सारिज्जंतीणं वद्धीसाणं सुघोसाणं णंदिघोसाणं, फुरिज्जंतीणं भागरीणं परिवाइणीणं, फासंतीणं तूणाणं तुंववीणाणं, आमोडिज्जंतीणं णउलाणं, मुच्छिज्जंतीणं मुगुंदाणं हुडक्कीणं चिच्चिकीणं, वाइज्जंताणं करडाणं डिंडिमाणं किणियाणं कडंवाणं, उत्ताडिज्जंताणं दद्दराणं दद्दरियाणं कुडुंवरूणं कलसियाणं मद्दयाणं, आताडिज्जंताणं तलाणं तालाणं कंसतालाणं, घट्टिज्जंताणं गिरिसयाणं लत्तियाणं मगरियाणं सुंसमारियाणं, फूमिज्जंताणं वंसाणं वेणूणं चालीणं पिरिलीणं वद्धगाणं, तते णं से दिव्वे णट्टे दिव्वे गीए दिव्वे वा-

इए, एवं अब्भुए सिंगारे उराले मणुण्णे मणहरे गीए वाइए णट्टे, उप्पिंजलभूए कहकहभूए दिव्वे देवरमणे पवत्ते यावि होत्था। तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स सोत्थियसिरिवत्थनंदियावत्तवद्धमाणभद्दासणकलसमच्छदप्पणमंगलभत्तिचित्तं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ? तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समामेव समोसरणं करेंति, समोसरणं करेत्ता तं चेव भाणियव्वं० जाव दिव्वे देवरमणे पवत्ते यावि होत्था। तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स आवडपच्चावडसेढिपसेढिसोत्थियसिरिवत्थिपूसमाणगवद्धमाणगमच्छंडामकरंडाजारामारापुल्लावलिपउमपत्तसागरतरंगवासंतीलयपउमलयभत्तिचित्तं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति २। एवं एक्केक्कियाए नट्टविहीए समोसरणादिए सा वत्तव्वया० जाव देवरमणे पवत्ते यावि होत्था। तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीयाओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ३। एगओचंकं दुहओचंकं एगओचक्कवालं दुहओचक्कवालं चक्कद्धचक्कवालं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ४। चंदावलिपविभत्तिं सूरावलिपविभत्तिं च वलयावलिपविभत्तिं च हंसावलिपविभत्तिं च एगावलिपविभत्तिं च तारावलिपविभत्तिं च मुत्तावलिपविभत्तिं च कणगावलिपविभत्तिं च रयणावलिपविभत्तिं च आवलियापविभत्ति-णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ५। चंदुग्गमणपविभत्तिं च सूरुग्गमणपविभत्तिं च उग्गमणुग्गमणपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ६। चंदागमणपविभत्तिं च सूरागमणपविभत्तिं च आगमणागमणपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ७। चंदावरणपविभत्तिं च सूरावरणपविभत्तिं च आवरणावरणपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेति ८। चंदत्थमणपविभत्तिं च सूरत्थमणपविभत्तिं च अत्थमणत्थमणपविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ९। चंदमंडलपविभत्तिं च सूरमंडलपविभत्तिं च नागमंडलपविभत्तिं च जक्खमंडलपविभत्तिं च भूयमंडलपविभत्तिं च रक्खसमहोरगगंधव्वमंडलपविभत्तिं च मंडलपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १०। उसभललियविक्कंतं सीहललियविक्कंतं हयविलंबियं गयविलंबियं हयविलसियं गयविलसियं मत्तहयविलसियं मत्तगयविलसियं मत्तहयविलंबियं मत्तगयविलंबियं दुयविलंबियं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ११। सागरपविभत्तिं च नागरपविभत्तिं च सागरनागरपविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १२। णंदापविभत्तिं च चंपापविभत्तिं च णंदाचंपापविभत्तिंणामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १३। मच्छंडापविभत्तिं च मगरंडापविभत्तिं च जारापविभत्तिं च मारापविभत्तिं च मच्छंडामगरंडाजारामारापविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १४। कत्ति ककारपविभत्तिं च ख त्ति खकारपविभत्तिं च ग त्ति गकारपविभत्तिं च घ त्ति घकारपविभत्तिं च ङ त्ति ङकारपविभत्तिं च ककारखकारगकारघकारङकारपविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १५। एवं चकारवग्गो वि १६। टकारवग्गो वि १७। तवग्गो वि १८। पवग्गो वि १९। असोयपल्लवपविभत्तिं च अंबपल्लवपविभत्तिं च जंबुपल्लवपविभत्तिं च कोसंबपल्लवपविभत्तिं च पल्लवपविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति २०। पउमलयापविभत्तिं च नागलयापविभत्तिं च० जाव सामलयापविभत्तिं च लयापवि-भत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति २१। दुयणामं णट्टविहिं उवदंसेंति २२। विलंबियं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २३। दुयविलंबियं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २४। अंचियं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २५। रिभियं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २६। अंचियरिभियं णामं० उवदंसेंति २७। आरंभडं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २८। भंसोलं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २९। आरंभडभसोलं० उवदंसेंति ३०। उप्पायणिवायपरिणिवायपसत्तं संकुचियं पसारियं रेवयारचियंभंतं संभंतं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ३१। तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समामेव समोसरणं करेंति० जाव दिव्वे देवरमणे पवत्ते यावि होत्था। तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स पुव्वभवचरियणिबद्धं देवलोयचरियणि-बद्धं चवणचरियणिबद्धं च गब्भसंहरणचरियणिबद्धं च जम्मणचरियणिबद्धं च अभिसेयचरियणिबद्धं च बालभावचरियणिबद्धं च जोव्वणचरियणिबद्धं च कामभोगचरियणिबद्धं च णिक्खमणचरियणिबद्धं च तवचरणचरियणिबद्धं च णाणुप्पायचरियणिबद्धं च तित्थपवत्तणचरियणिबद्धं च परिणिव्वाणचरियणि-बद्धं च चरमचरियणिबद्धं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ३२। तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य चउव्विहं वाउत्तं वायंति। तं जहा-ततं, विततं, घणं, झुसिरं। तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य चउव्विहं गेयं गायंति। तं जहा-उक्खित्तं, पायंतं, मंदायं, रोइयावसाणं च। तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य चउव्विहं णट्टविहिं उवदंसेंति। तं जहा-अंचियं १, रिभियं २, आरंभडं ३, भसोलं च ४। तते णं ते बहवे देवकुमारा

य देवकुमारीओ य चउव्विहं अभिणयं अभिणयंति। तं जहा- दिट्ठंतियं, पाडियंतियं, सामंतोवायणिवाइयं, अंतोऽज्झावसाणियं। तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य गोयमाऽऽदियाणं समणाणं णिग्गंथाणं दिव्वं देवड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसइविहं णाडयं उवदंसित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णडंसित्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं पत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावेंतित्ता एवमाणत्तियं पच्चप्पिणंति।

'' तए णं '' इत्यादि। ततः सूर्याभो देवस्तीर्थकरस्य भगवत आलोके प्रणामं करोति। कृत्वा चानुजानातु भगवान् मामित्यनुज्ञापनां कृत्वा सिंहासनवरगततीर्थकराभिमुखः सन्निषण्णः। ' तए णं ' इत्यादि। ततः सूर्याभो देवस्तत्प्रथमतया-तस्य नाट्यविधेः प्रथमतायां, दक्षिणं भुजं प्रसारयति। कथंभूतम् ? इत्याह-(णाणा-मणिकणगरयणविमलमहरिहणिउणोवचियमिसमिसंतविरतियमहाभरणकडगतुमियवरभूसणुज्जलमिति) नानाविधानि मणिकनकरत्नानि येषु तानि नानामणिकनकरत्नानि, मणयो नानाविधाश्चन्द्रकान्ताऽऽदयः। कनकानि नानावर्णतया, रत्नानि नानाविधानि कर्केतनाऽऽदीनि, तथा विमलानि निर्मलानि, तथा महान्तमुपभोक्तारमर्हन्ति, यदि वा महदुत्सवं क्षणमर्हन्तीति महार्हाणि, तथा निपुणं निपुणबुद्धिगम्यं यथा भवति (एवमुवचिय त्ति) परिकर्मितानि। (मिसमिसंत इति) दीप्यमानानि, विरचितानि महाभरणानि यानि कटकानि कलाचिकाऽऽभरणानि, त्रुटितानि बाहुरक्षिकाः, अन्यानि च यानि वरभूषणानि, तैरुज्ज्वलं भास्वरम्। तथा पीवरं स्थूलं प्रलम्बं दीर्घं (तओ णं इत्यादि)। ततस्तस्माद् दक्षिणभुजात् अष्टशतमष्टाधिकं शतं देवकुमाराणां निर्गच्छति। कथभूतानाम् ? इत्याह-सदृशानां, समानाऽऽकाराणामित्यर्थः। तत्राऽऽकारेण कस्यचित् सदृशोऽपि वर्णतः सदृशो न भवति, ततः सदृग्वर्णत्वप्रतिपादनार्थमाह-(सरिसतयाणमिति) सदृशी सदृग्वर्णा त्वग् येषां ते तथा। सदृक्त्वगपि कश्चिद् वयसा विसदृशः संभाव्येत, तत आह-(सरिसवयाणं) सदृक् समानं वयो येषां ते। (सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणमिति) सादृश्येन लावण्येन लवणिम्ना, अतिसुभगया शरीरकान्त्येति भावः। रूपेण आकृत्या यौवनेन यौवनिकया गुणैर्दक्षत्वप्रियंवदत्वाऽऽदिभिरुपपेताः सदृशलावण्यरूपयौवनगुणोपपेताः, तेषाम्। (एगाभरणवसणगहियनिज्जोगाणमिति)। एकः समान आभरणवसनलक्षणो गृहीतो नियोग उपकरणमर्थान्नाट्योपकरणं यैस्ते तथा, तेषाम्। (दुहतो संविद्धियग्गनिवत्थाणं ति) द्विधातो द्वयोः पार्श्वयोः संवेल्लितानि अग्राणि यस्य तत् द्विधातः संवेल्लिताग्रं, निवसनं सामर्थ्यादुत्तरं यैस्ते तथा, तेषाम्। तथा-(उप्पीलियचित्तपट्टपरियरसफेणगावत्तरइयसंगयपलंबवत्थंतचित्तविल्ललगनिवसणाणमिति) उत्पीडित अत्यन्तवद्धश्चित्रपट्टोविचित्रवर्णपट्टरूपः परिकरो यैस्ते तथा, तथा यस्मिन्नावर्त्तनैव फेनविनिर्गमो भवति स फेनकाऽऽवर्तः, तेन रचिताः संगता नाट्यविधावुपपन्नाः प्रलम्बा वस्त्रान्ता यस्य निवसनस्य तत्तथा; तत् चित्रं वर्णं ' विल्ललगं ' देदीप्यमानं निवसनं परिधानं येषां ते तथा। ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः। तेषाम्, (एगावलिकंठरइयसोभंतवद्धछपडिहत्थभूसणाणमिति) एकावली या कण्ठे रचिता तथा शोभमानं वक्षो येषां ते तथा। ' पडिहत्थ ' शब्दो देश्यः परिपूर्णवाचकः। पडिहत्थानि पूर्णानि भूषणानि येषां ते तथा। ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः, तेषां (नट्टसज्जाणं) नृत्ये सज्जाः प्रगुणीभूता नृत्यसज्जाः, तेषाम्। तदनन्तरं च यथोक्तविशेषणविशिष्टं वामं भुजं प्रसारयति, तस्मात् वामभुजादष्टशतं देवकुमारिकाणां विनिर्गच्छति। कथंभूतम् ? इत्याह- '' सरिसयाणं सरिसतयाणं सरिसवयाणं सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणं एगाभरणवसणगहियनिज्जोगाणं दुहतो संविल्लियग्गनिवत्थाणं '' इति पूर्ववत्। (आविद्धतिलयामेलाणमिति) आविद्धस्तिलक आमेलश्च शेखरको यकाभिस्ता आविद्धतिलकाऽऽमेलाः, तासां (पिणद्धगेविज्जकं चुयाणमिति) पिनद्धं ग्रैवेयकं ग्रीवाऽऽभरणं कञ्चुकश्च यकाभिस्तथा, तासां (णाणामणिकणगरयणभूसणविराइयंगुवंगाणमिति) नानाविधानि मणिकनकरत्नानि येषु भूषणेषु तानि नानामणिकनकरत्नभूषणानि, तैर्विराजितान्यङ्गोपाङ्गानि यासां तास्तथा, तासाम्। यावत्करणात्- '' चंदाणणाणं चंदद्धसमनिडालाणं चंदाहियसोमदंसणाणं उक्काए उज्जोवेमाणीणं '' इति सुगमम्। तथा- '' सिंगारागारचारुवेसाणं हसियभणियचिट्ठियविलाससललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकुसलाणं गहियाउज्जाणं नट्टसज्जाणं '' इति पूर्ववत्। ' तए णं से सुरियाभे देवे ' इत्यादि। ततः सूर्याभो देवोऽष्टशतं शङ्खानां विकुर्वति, अष्टशतं शङ्खवादकानाम्, अष्टशतं शृङ्गाणामष्टशतं शृङ्गवादकानाम् १, अष्टशतं शङ्खिकानामष्टशतं शङ्खिकावादकानाम्, ह्रस्वः शङ्खो जात्यन्तराऽऽत्मकः शङ्खिका, तस्या हि स्वरो मनाक् तीक्ष्णो भवति, न तु शङ्खवदतिगम्भीरः २, तथाऽष्टशतं खरमुखीणाम्-काहलानाम्, अष्टशतं खरमुखीवादकानाम् ३, अष्टशतं पेयानां, पेया नाम महती काहला, अष्टशतं पेयावादकानाम् ४, अष्टशतं पिरिपिरिकाणां कौलिकपुटावनद्धमुखवाद्यविशेषरूपाणाम्, (एवमादियाणमिति) अष्टशतं पिरिपिरिकावादकानाम् ५, अष्टशतं पणवानां, पणवो भाण्डं पटहो क, अष्टशतं पणववादकानाम् ६, अष्टशतं पट-हानामष्टशतं पटहवादकानाम् ७, अष्टशतं भम्भानां, भम्भा ढक्का, अष्टशतं भम्भावादकानाम् ८, अष्टशतं होरम्भाणां, होरम्भा महा-ढक्का, अष्टशतं होरम्भावादकानाम् ९, अष्टशतं भेरीणां ढक्काऽऽ-कृतिवाद्यविशेषरूपाणाम्, अष्टशतं भेरीवादकानाम् १०, अष्टशतं झल्लरीणां, झल्लरी नाम चर्मावनद्धा विस्तीर्णवलयाऽऽकारा, अष्टशतं झल्लरीवादकानाम् ११, अष्टशतं दुन्दुभीनाम्, अष्टशतं दुन्दुभिवादकानां, दुन्दुभिर्भेर्वाकारा संकटमुखी देवाऽऽतोद्यविशेषः १२, अष्टशतं मुरजानां, महाप्रमाणो मर्दलो मुरजः, अष्टशतं मुरजवादकानाम् १३, अष्टशतं मृदङ्गानां, लघुमर्दलो मृदङ्गः, अष्टशतं मृदङ्गवादकानाम् १४, अष्टशतं नन्दीमृदङ्गानाम्, नन्दीमृदङ्गो नाम एकतः संकीर्णोऽन्यत्र विस्तृतो मुरजविशेषः, अष्टशतं नन्दीमृदङ्गवादकानाम् १५, अष्टशतमालिङ्गानाम्, आलिङ्गो मुरजवाद्यविशेष एव। अष्टशतमालिङ्गवादकानाम् १६, अष्टशतं कुस्तुम्बीनां, कुस्तुम्बीचर्मावनद्धपुटो वाद्यविशेषः। अष्टशतं कुस्तुम्बीवादकानाम् १७, अष्टशतं गोमुखीनां, गोमुखी लोकतोऽवसेथा, अष्टशतं गोमुखी-

वादकानाम् १८, अष्टशतं मर्दलानां, मर्दल उभयतः समः, अष्टशतं मर्दलवादकानाम् १९, अष्टशतं विपञ्चीनां, विपञ्ची त्रितन्त्री वीणा, अष्टशतं विपञ्चीवादकानाम् २०, अष्टशतं वल्लकीनां, वल्लकी सामान्यतो वीणा। अष्टशतं वल्लकीवादकानाम् २१, अष्टशतं भ्रमरीणाम्, अष्टशतं भ्रमरीवादकानाम् २२, अष्टशतं भ्रामरीणाम्, अष्टशतं भ्रामरीवादकानाम् २३, अष्टशतं परिवादिनीनां, परिवादिनी सप्ततन्त्री वीणा। अष्टशतं परिवादिनीवादकानाम् २४, अष्टशतं चर्चसानाम्, अष्टशतं चर्चसावादकानाम् २५, अष्टशतं सुघोषाणाम्, अष्टशतं सुघोषावादकानाम् २६, अष्टशतं नन्दीघोषाणाम्, अष्टशतं नन्दीघोषावादकानाम् २७, अष्टशतं महतीनाम्, अष्टशतं महतीवादकानाम् २८, अष्टशतं कच्छभीनाम्, अष्टशतं कच्छभीवादकानाम् २९, अष्टशतं चित्रवीणानाम्, अष्टशतं चित्रवीणावादकानाम् ३०, अष्टशतमामोदानाम्, अष्टशतमामोदवादकानाम् ३१, अष्टशतं दण्डानाम्, अष्टशतं दण्डावादकानाम् ३२, अष्टशतं नकुलानाम्, अष्टशतं नकुलवादकानाम् ३३, अष्टशतं तूणानाम्, अष्टशतं तूणावादकानाम् ३४, अष्टशतं तुम्बवीणानां, तुम्बयुक्ता वीणा याऽद्यकल्पप्रसिद्धा। अष्टशतं तुम्बर्वाणावादकानाम् ३५, अष्टशतं मुकुन्दानां, मुकुन्दो मुरजो वाद्यविशेषो योऽतिलीनं वाद्यते, अष्टशतं मुकुन्दवादकानाम् ३६, अष्टशतं हुडुक्कीनाम्, अष्टशतं हुडुक्कीवादकानाम्, हुडुक्की प्रतीता। ३७, अष्टशतं चिच्चिकीनाम्, अष्टशतं चिच्चिकीवादकानाम् ३८, अष्टशतं करटीनाम्, अष्टशतं करटीवादकानाम्, करटी प्रतीता ३९, अष्टशतं डिण्डिमानाम्, अष्टशतं डिण्डिमवादकानाम्, प्रथमप्रस्तावनास्तवकः पणवविशेषो डिण्डिमः ४०, अष्टशतं किणितानाम्, अष्टशतं किणितवादकानाम् ४१, अष्टशतं कम्बानाम्, अष्टशतं कडम्बावादकानाम्, कडम्बा करटिका ४२, अष्टशतं दर्दरकाणाम्, अष्टशतं दर्दरकवादकानाम्, दर्दरकः प्रतीतः ४३, अष्टशतं ददरिकाणाम्, अष्टशतं दर्दरिकावादकानाम्, लघुदर्दरी दर्दरिका ४४, अष्टशतं कुडुम्बरूणाम्, अष्टशतं कुडुम्बरुवादकानाम् ४५ अष्टशतं कलशिकानाम्, अष्टशतं कलशिकावादकानाम् ४६, अष्टशतं तलानाम्, अष्टशतं तलवादकानाम् ४७, अष्टशतं तालानाम्, अष्टशतं तालवादकानाम् ४८, अष्टशतं कांस्यतालानाम्, अष्टशतं कांस्यतालवादकानाम् ४९, अष्टशतं गिरिशिकानाम्, अष्टशतं गिरिशिकावादकानाम् ५०, अष्टशतं मकरिकाणाम्, अष्टशतं मकरिकावादकानाम् ५१, अष्टशतं शिशुमारिकाणाम्, अष्टशतं शिशुमारिकावादकानाम् ५२, अष्टशतं वंशानाम्, अष्टशतं वंशवादकानाम् ५३, अष्टशतं चालीनाम्, अष्टशतं चालीवादकानाम्, चाली तूणविशेषः, स हि मुखे दत्त्वा वाद्यते ५४। अष्टशतं वेणूनाम्, अष्टशतं वेणुवादकानाम् ५५, अष्टशतं पिरिलीनाम्, अष्टशतं पिरिलीवादकानाम् ५६, अष्टशतं बद्धकानाम्, अष्टशतं बद्धकानाम्, अष्टशतं बद्धक-वादकानाम्, बद्धकस्तूर्यविशेषः ५७, अव्याख्यातास्तु भेदा लोकतः प्रत्येतव्याः। एवमादीनि बहून्यातोद्यानि, आतोद्यवादकाँश्च विकुर्वति। सर्वसंख्यया तु मूलभेदापेक्षयाऽऽतोद्यभेदापेक्षया आतोद्यभेदा एकोनपञ्चाशत्, शेषास्तु भेदा एतेष्वेवान्तर्भवन्ति। यथा वंशाऽऽतोद्यविधाने चालीवेणुपिरलीबद्धका इति। यथा चाऽऽह- '' एवमाइयाइं एगूणपन्नं आउज्जविहाणाइं विउव्वइ त्ति ''। विकुर्व्य च तावत् स्वयं विकुर्वितान् बहून् देवकुमारान् देवकुमारिकाश्च शब्दयति। ते च शब्दिताः सन्तो हृष्टतुष्टाऽऽनन्दितचिताः सूर्याऽऽभसमीपमागच्छन्ति, आगत्य च करतलपरिगृहीतं दशनखं शिरसावर्त्तं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा जयेन विजयेन वर्द्धापयित्वा एवमवादिषुःसन्दिशन्तु देवानां प्रियाः ! यद-स्माभिः कर्त्तव्यम्। ततः स सूर्याभो देवस्तान् देवकुमारान् देवकुमारिकाश्च एवमवादीत्-गच्छत यूयं देवानां प्रियाः ! श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिःकृत्वः, आदक्षिणप्रदक्षिणं कुरुत, कृत्वा वन्दध्वं, नमस्यत, वन्दित्वा नमस्यित्वा गौतमाऽऽदीनां श्रमणानां निर्ग्रन्थानां तां देवजनप्रसिद्धां दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देवद्युतिं दिव्यं देवानुभावं दिव्यं द्वात्रिंशद्विधं नाट्यविधिमुपदर्शयत, उपदर्श्य चैतामाज्ञप्तिकां क्षिप्रमेव प्रत्यर्पयत। '' तए णं '' इत्यादि। ततस्ते बहवो देवकुमारा देवकुमारिकाश्च सूर्याभेन देवेन एवमुक्ताः सन्तो हृष्टा यावत्प्रतिशृण्वन्ति, अभ्युपगच्छन्तीत्यर्थः। प्रतिश्रुत्य च यत्र श्रमणो भगवान् महावीरस्तत्रोपागच्छन्ति, उपागत्य च श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिःकृत्व आदक्षिणप्रदक्षिणं कुर्वन्ति,-कृत्वा च वन्दन्ते, नमस्यन्ति, वन्दित्वा नमस्यित्वा च यस्मिन् प्रदेशे गौतमाऽऽदयः श्रमणास्तत्र समकालमेव एककालमेव समवसरन्ति, मिलन्तीत्यर्थः। समवसृत्य च समक-मेव एककालमेव अवनमन्ति, अधो नीचा भवन्ति। अवनम्य च समकमेव उन्नमन्ति, ऊर्द्धमवतिष्ठन्त इति भावः। तदनन्तरं चैव क्रमेण सहितं संगतम्, स्तिमितं चावनमनमुन्नमनं च वाच्यम्। अमीषां च संहिताऽऽदीनां भेदः सम्यक्कौशलोपेतनाट्योपाध्यायादवगन्तव्यः। ततः स्तिमितं समक मुन्नम्य समकमेव प्रसरन्ति, प्रसृत्य च समकमेव यथायोगमातोद्यविधानानि गृह्ण-न्ति। गृहीत्वा च समकमेव वादितवन्तः, समकमेव प्रगीतवन्तः, समकमेव प्रनर्तितवन्तः। ' किं ते ' इत्यादि। केचिद् देवकुमारा देवकुमारिकाश्च एवं प्रगीता अप्यभवन्निति योगः। कथम् ? इत्याह-(उरेण मंदमिति) सर्वत्र सप्तम्यर्थे तृतीया। उरसि मन्दं यथा भवति एवं प्रगीताः। (सिरेण तारं कंठेण व तारमिति) शब्देन यथावल्लक्षणोपेतम्। किमुक्तं भवति ?-उरसि प्रथमतो गीतमुत्क्षिप्यते, उत्क्षेपकाले च गीतं मन्दं भवति। '' आदिमिउमारभंता, '' इति वचनात्। अन्यथा गीतगुणक्षतेः, ततः उक्तमुरसि मन्दमिति। ततो गायतां मूर्द्धानमभिघ्नन् स्वर उच्चैस्तरो भवति। स्थानकं च द्वितीयं तृतीयं वा समधिरोहति। ततः शिरसि तारमित्युक्तं, शिरसश्च प्रतिनिवृत्तः सन् स्वरः कण्ठे घुलति, घुलंश्चातिमधुरो भवति। (समयरेवगरश्यमिति) (गुंजाचक्रकुहरोवगूढं) गुञ्जनं गुञ्जा, तत्प्रधानानि यानि चक्राणि शब्दमार्गाप्रतिकू लानि कुहराणि तेषूपगढं गुञ्जाचक्रकुहरोपगूढम्। किमुक्तं भवति ?-तेषां देवकुमाराणां देवकुमारिकाणां च तस्मिन् प्रेक्षागृहमण्डपेगायतां गीतं तेषु प्रेक्षागृहमण्डपसत्केषु च कुहरेषु स्वानि रूपाणि प्रतिशब्दसहस्राण्युत्थापयद्वर्त्तते इति। (रत्तमिति) रक्तम्, इह यद् गेयरागरक्तेन गीतं गीयते तत् रक्तमिति। तद् द्विधा प्रसिद्धं (तिट्ठाणकरणसुद्धमिति) त्रीणि स्थानानि उरःप्रभृतीनि तेषु करणेषु क्रियया शुद्धं त्रिस्थानकरणशुद्धम्। तत् यथा-उरः शुद्धं, कण्ठशुद्धं, शिरोविशुद्धं च। तत्र यदि उरसि स्वरः स्वभूमिकाऽनुसारेण विशालो भवति, तत उरोविशुद्धं, स एव यदि कण्ठे वर्त्तितो भवति अस्फुटितश्च, ततः कण्ठविशुद्धं, यदि पुनः शिरः प्राप्तः सन् सानुनासिको भवति, ततः शिरोविशुद्धम्। यदि वा तत् उरःकण्ठशिरोभिः श्लेष्मणाऽव्याकुलितैर्विशुद्धैर्गीयते तत् उरःकण्ठशिरोविशुद्ध-

त्वात् त्रिस्थानकरणविशुद्धम्। तथा सकुहरो गुञ्जन् यो वंशो, ये च तन्त्रीतलतालालयग्रहाः, तेषु सुष्ठु अतिशयेन सम्प्रयुक्तं सुकुहर-गुञ्जद्वंशतन्त्रीतलतालालयग्रहसुसम्प्रयुक्तम्। किमुक्तं भवति ? सकुहरे वंशे गुञ्जति तन्त्र्यां च वाद्यमानायां यत् वंशतन्त्रीस्वरेणाविरुद्धं तत् सकुहरगुञ्जद्वंशतन्त्रीसुसम्प्रयुक्तं, तथा परस्परहतहस्ततलस्वरानुवर्ति यत् तत् तलसुसम्प्रयुक्तं, मुरजकंशिकाऽऽदीनामातोद्यानामाहतानां यो ध्वनिः यच्च नृत्यं पादोत्क्षेपः, तेन समं यत् तत् तालसुसम्प्रयुक्तम्, तथा शृङ्गमयो दारुमयो दन्तमयोऽङ्गुलिकौशिकस्तेनाऽऽहतायास्तन्त्र्याः स्वरप्रकारो लयस्तमनुसरद् गेयं लयसुसम्प्रयुक्तम्, तथा यः प्रथम वंशतन्त्र्यादिभिः स्वरो गृहीतस्तन्मार्गानुसारि ग्रहसुसम्प्रयुक्तम्, तथा (महरमिति) मधुरस्वरेण गीयमानं मधुरं कोकिलारुतवत्, तथा (सममिति) तलवंशस्वराऽऽदिसमनुगतं समं (सललियं ति) यत् स्वरघोलनाप्रकारेण ललतीव, सह ललितेन ललनेन वर्त्तते इति। श्रीत्रेन्द्रियस्य शब्दस्पर्शनमतीव सूक्ष्ममुत्पादयति सुकुमारमिव च प्रतिभासते तत् सललितमिति। अत एव मनोहरम्। पुनः कथंभूतम् ? इत्याह-(मिउरिभितपदसंचारं) तत्र मृदु मृदुना स्वरेण युक्तो निष्ठुरेण, तथा यत्र स्वरोऽक्षरेषु घोलनास्वरविशेषेषु च संचरन् रङ्गतीव प्रतिभासते, स पदसञ्चारो रिभित उच्यते। मृदुः रिभितः पदेषु गेयनिबद्धेषु संचारो यत्र गेये तत् मृदुरिभितपदसंचारं, तथा (सूरइ इति) शोभना रतिर्यस्मिन् श्रोतृणां तत् सुरति, तथा शोभना नतिरवनामोऽवसानो यस्मिन् तत् सुनति, तथा वरं प्रधानं चारु विशिष्टचङ्गिमोपेतं रूपं स्वरूपं यस्य तद् वरचारुरूपं दिव्यं प्रधानं नृत्तसञ्ज्ञं गेयं प्रगीता अप्यभवन्। '' किं ते '' इत्यादि। किञ्च-ते देवकुमारा देवकुमारिकाश्च प्रगीतवन्तः, प्रनर्तितवन्तश्च (उद्धमंताणं संखाणमित्यादि) अत्र सर्वत्रापि षष्ठी सप्तम्यर्थे। ततोऽयमर्थः-यथायोगमुघ्मायमानाऽऽदिषु शङ्खाऽऽदिषु, इह शङ्खशृङ्गशङ्खिका-खरमुहीपेयापिरिपिरिकाणां वादनमुद्ध्मातमिति प्रसिद्धम्। पणवपटहा-नामाहननम्, भम्भाहोरम्भाणामास्फालनम्, भेरीझल्लरीदुन्दुभीनां ताडनम्, मुरजमृदङ्गनन्दीमृदङ्गानामालपनम्, आलिङ्गकुस्तुम्ब-गोमुखीमर्दलानामुत्ताडनम्, वीणाविपञ्चीवल्लकीनां मूर्छनम्, महतीक-ल्पीतन्त्रिवीणानां कुट्टनम्, वध्वीसासुघोषानन्दिघोषाणां सारणं, भ्रामरीपरिवादिनीनां स्पन्दनम्, तूणतुम्बवीणानां स्पर्शनम्, नकु-लानामामोटनम्, मुकुन्दहुडुक्कचिच्चिकीनां मूर्छनम्, करटडिण्डि-मकिणि-ककडम्बानां वादनम्, दर्दरदर्दरिकाकुडुम्बरुकलशिका-मर्दकानामुत्ताडनम्, तलतालकांश्यतालानामाताडनं, गिरिशकाल-त्तिरकामकरिकाशिशुमारिकाणां घट्टनं, वंशवेणुचालीपिरिलीवध्व-कानां फुङ्कनम्। अत उक्तम्-'' उद्धमंताणं सङ्खाणं '' इत्यादि (तए णं से दिव्वे णट्टे दिव्वे गीए इत्यादि) यत एवं प्रगीतवन्त इत्यादि, ततो णमिति पूर्ववत्। तद् दिव्यं गीतं, दिव्यं वादितं, दिव्यं नृत्यमभूदिति योगः। दिव्यं नाम प्रधानम्। एवम्-(अब्भुए गीए अब्भुए वाइए अब्भुए नट्टे) अद्भुतमाश्चर्यकारि, (सिंगारे गीए, सिंगारे वाइए, सिंगारे णट्टे) शृङ्गारं शृङ्गाररसोपेतत्वात्। अथवा शृङ्गारं नामालङ्कृमुच्यते, तत्र यदन्यस्य विशेषकरणेनालङ्कृतमिव गीतं वादनं नृत्यं वा तत् शृङ्गारमिति। (उराले गीए उराले वाइए उराले णट्टे) उदारं स्फारं परिपूर्णगुणोपेतत्वात्, न तु क्वचिदपि हीनं, (मणुण्णे गीए मणुण्णे वाइए मणुण्णे णट्टे) मनोज्ञं मनोऽनुकूलं द्रष्टृणां श्रोतृणां च मनोनिवृत्तिकरमिति भावः। तत्तु मनोनिवृत्तिकरत्वं सामान्यतोऽपि स्यादतः प्रकर्षविशेषप्रतिपाद-नार्थमाह-(मणहर इति) (मणहरे गीए मणहरे वाइए मणहरे णट्टे) मनो हरति आत्मवशं नयति, तद्विधमप्यतिचमत्कारकारितयेति मनोहरम्। एतदेवाऽऽह-(उप्पिंजलभूए) उत्पिञ्जलमाकुलम्, आकुलभूते। किमुक्तं भवति ?-महर्द्धिकदेवानामप्यतिशायितया परमक्षोभोत्पादकत्वेन सकलदेवासुरमनुजसमूहचित्ताऽऽक्षेपकारीति। (कहकहभूते इति) कहकहेत्यनुकरणं, कहकहेतिभूतं प्राप्तं कहकहभूतम्। किमुक्तं भवति ?-निरन्तरं तत्तद्विशेषदर्शनतः समुद्वलितप्रमोदभरपरवशसकलदिक्-चक्रवालवर्त्तिप्रेक्षकजनकृतप्रशंसावचनबोलकोलाहलव्याकुलीभूत-मिति। अत एवं दिव्यं देवरमणमपि देवानामपि रमणं क्रीडनं प्रवृत्तमभूत्। रा० । आ० म० ।

इह द्वात्रिंशद् नाट्यविधयः। ते च येन क्रमेण भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः पूरतः सूर्याभदेवेन भाविताः राजप्रश्नीयोपाङ्गे च दर्शिताः, तेन क्रमेण विनेयजनानुग्रहार्थमुपदर्शयन्तेतत्र स्वस्तिकश्रीवत्सनन्द्यावर्तवर्द्ध-मानकभद्रासनकलशमत्स्यदर्पणरूपाष्टमङ्गलाऽऽकाराभिनयाऽऽत्मकः प्रथमो नाट्यविधिः। द्वितीय आवर्तप्रत्यावर्तश्रेणिप्रतिश्रेणिस्व-स्तिकश्रीवत्सपुष्पमाडवकवर्द्धमानकमत्स्याण्डकडकराण्डक-जारमारपुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरङ्गवासन्तीलतापद्मलताभक्ति-चित्राभिनयाऽऽत्मकः। तृतीय ईहामृगऋषभतुरगनरमकरविहगव्याल-किन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलतापद्मलताभक्तिचित्राऽऽत्मकः। चतुर्थ एकतश्चक्रद्विधातश्चक्र एकतश्चक्रबालद्विधातश्चक्रवालचक्रार्द्धचक्र-बालाभिनयाऽऽत्मकः। पञ्चमः चन्द्रावलिप्रविभक्तिसूर्यावलिप्रवि-भक्तिबलयावलिप्रविभक्तिहंसावलिप्रविभक्तिएकावलि-प्रविभक्तिहाराऽऽवलिप्रविभक्तिमुक्तावलिप्रविभक्तिकनकावलि-प्रविभक्तिरत्नावलिप्रविभक्तियुक्तावलिप्रविभक्तिनामा। षष्ठश्चन्द्रोद्-गमप्रविभक्तिसूर्योद्गमप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मक उद्गमोद्गमप्र-विभक्तिनामा। सप्तमश्चन्द्रावागमनप्रविभक्तिसूर्यावागमनप्रविभक्त्य-भिनयाऽऽत्मक आगमनागमनप्रविभक्तिनामा। अष्टमश्चन्द्रावरणप्र-विभक्तिसूर्यावरणप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मक आवरणावरणप्रवि-भक्तिनामा। नवमश्चन्द्रास्तमनप्रविभक्तिसूर्यास्तमनप्रविभक्त्यभिन-याऽऽत्मकोऽस्तमयास्तमयप्रविभक्तिनामा। दशमश्चन्द्रमण्डलप्रवि-भक्तिसूर्यमण्डलप्रविभक्तिनागमण्डलप्रविभक्तियक्षमण्डलप्रवि-भक्तिभूतमण्डलप्रविभक्तिराक्षसमहोरगगन्धर्वमण्डलप्रविभ-क्त्यभिनयाऽऽत्मको मण्डलप्रविभक्तिनामा। एकादश ऋषभमण्डल-प्रविभक्तिसिंहमण्डलप्रविभक्तिहयविलम्बितगजविलम्बितहयविलसित-गजविलसितमत्तहयविलसितमत्तगजविलसितमत्तहयविलम्बितमत्त-गजविलम्बिताभिनयोद्भुतविलम्बितनामा। द्वादशः सागरप्रविभक्तिनागर-प्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मकः सागरनागरप्रविभक्तिनामा। त्रयोदशो नन्दाप्रविभक्तिचम्पाप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मको नन्दाचम्पाप्रविभक्त्या-त्मकः। चतुर्दशो मत्स्याण्डकप्रविभक्तिमकराण्डकप्रविभक्तिजारप्रवि-भक्तिमारप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मको मत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारप्रवि-भक्तिनामा। पञ्चदशः क इति ककारप्रविभक्ति ख इति खकारप्रविभक्ति ग इति गकारप्रविभक्ति घ इति घकारप्रविभक्ति ङ इति ङकारप्रविभक्तिरि-त्येवंक्रमभाविककाराऽऽदिप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मकः ककारखकारगकारघकार-

ङकारप्रविभक्तिनामा । एवं षोडशश्चकारछकारजकारझकार ञकारप्रविभक्तिनामा । सप्तदशः टकारठकारडकारढकारणकार प्रविभक्तिनामा । अष्टादशस्तकारथकारदकारधकारनकारप्रवि भक्तिनामा । एकोनविंशतितमः पकारफकारबकारभकारमकार प्रविभक्तिनामा । विंशतितमोऽशोकपल्लवप्रविभक्त्याम्रपल्लव प्रविभक्तिजम्बूपल्लवप्रविभक्तिकोशाम्बपल्लवप्रविभक्त्याभिनया ऽऽत्मकः पल्लवप्रविभक्तिनामा । एकविंशतितमः पद्मलताप्रवि भक्तिनागलताप्रविभक्तयशोकलताप्रविभक्तिचम्पकलताप्रविभक्ति चूतलताप्रविभक्तिवनलताप्रविभक्तिवासन्तीलताप्रविभक्तयति मुक्तकलताप्रविभक्तिश्यामलताप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मको लता प्रविभक्तिनामा । द्वाविंशतितमो द्रुतनामा । त्रयोविंशतितमो विल म्बितनामा । चतुर्विंशतितमो द्रुतविलम्बितनामा । पञ्चविंशतितम स्त्वञ्चितनामा । षड्विंशतितमो रिभितनामा । सप्तविंशतितमोऽञ्चितरिभितनामा । अष्टाविंशतितम आरभटनामा । एकोनत्रिंशत्तमो भसोलनामा । त्रिंशत्तम आरभटभसोलनामा । एकत्रिंशत्तम उत्पात निपातपरिनिपातप्रसक्तसंकुचितप्रसारितरेवकारचितभ्रान्तसंभ्रा न्तनामा । द्वात्रिंशत्तमस्तु चरमनामनिबद्धनामा । स च सूर्याऽऽभदे वेन भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः पुरतो भगवतश्चरमपूर्वमनुष्यभवचर मदेवलोकभवचरमच्यवनचरमगर्भसंहरणचरमभरतक्षेत्रावसर्पिणी तीर्थकरजन्माभिषेकचरमबालभावचरमयौवनचरमकामभोगचरम निष्क्रमणचरमतपश्चरणचरमज्ञानोत्पादचरमतीर्थप्रवर्त्तनचरमनिर्वा णाभिनयाऽऽत्मको भावितः ३२ । तत्रैतेषां द्वात्रिंशतो नाट्यविधीनां मध्ये काँश्चन नाट्यविधीन् उपन्यस्यति अप्येकका देवा द्रुतं द्रुत नामकं द्वाविंशतितमं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति । एवमप्येकका विल म्बितं नाट्यविधिम्, अप्येकका अञ्चितं नाट्यविधिम् , अप्येकका रिभितं नाट्यविधिम्, अप्येकका अञ्चितरिभितं नाट्यविधिम् , अप्येकका आरभटं नाट्यविधिम् , अप्येकका भसोलं नाट्यविधि म् , अप्येकका आरभटभसोलं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति । अप्येक का देवा उत्पातनिपातम् , उत्पातपूर्वो निपातो यस्मिन् स उत्पात निपातः, तम् । एवं निपातोत्पातं, सकुचितं प्रसारितं, रेवकारचित मिति गमनागमनं भ्रान्तं संभ्रान्तं नाम नाट्यविधि सामान्यतो नर्त्त नविधिं द्वात्रिंशाद्युत्तीर्णमुपदर्शयन्ति । अप्येकका देवाश्चतुर्विधं वाद्यं वादयन्ति । तद्यथा ततं मृदङ्गपटहाऽऽदि, विततं वीणाऽऽदिकं, घनं कंसिकाऽऽदि, शुषिरं काहलाऽऽदि । अप्येकका देवाश्चतुर्विधं गेयं गायन्ति । तद्यथा प्रथमतः समारभ्यमाणमुत्क्षिप्तम् , उत्क्षेपा वस्थातो विक्रान्तं मनाक् भरेण प्रवर्तमानं पादान्तम् । (मंदाय मिति) मध्यभागे मूर्छनाऽऽदिगुणोपेततया मन्दं मन्दं घोलनाऽऽत्म कम् । रोचितावसानमितिरोचितं यथोचितलक्षणोपेततया भावितं, सत्यापितमिति यावत् , अवसानं यस्य तत् रोचितावसानम् । जी० ३ प्रति० ।

***नट्** धा० । नृत्ते, भ्वादि० परस्मै० सेट् । **'' शकाऽऽदीनां द्वित्वम् '' ॥ ८ । ४ । २३० ॥** इत्यन्त्यस्य द्वित्वम् । ' णट्टइ ' नटति । प्रा० ४ पाद ।

णट्टग पुं०(नर्तक) स्वयं नृत्यकर्त्तरि, कल्प० ५ क्षण० । औ० । रा० । ज्ञा० । प्रश्न० । अनु० ।

णट्टपाल पुं०(नाट्यपाल) नाट्यस्वामिनि सूत्रधारे, '' णट्टपालो णिउत्तो तेण गीतवाउत्तकधाऽऽदीहिं आवज्जिओ । '' आ० चू० १ अ० ।

णट्टमालय पुं०(नृत्यमालक) खण्डकप्रपातगुहानां स्वामिषु देवेषु, यावत्यः खण्डकप्रपातगुहास्तावन्तो नृत्यमालकाः । स्था० २ ठा० ३ उ० । आ० म० । सुषमसुषमभाविनि कल्पद्रुमविशेषे, जं० २ वक्ष० ।

णट्टवत्थु न०(नाट्यवस्तु) नृत्यप्रतिपादके पापश्रुते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । आव० ।

णट्टवाइच्च न०(नाट्यवादित्व) नर्तकीत्वे, बृ० ५ उ० ।

णट्टविहि पुं०६त०(नाट्यविधि) नृत्यकरणप्रकारे, स्था० ६ ठा० । नायकचरिताभिनये, भ० ११ श० ६ उ० । सामान्यतो नर्त्तनविधौ, जी० ३ प्रति० । (तस्य द्वात्रिंशत्प्रकाराः ' णट्ट ' शब्दे १८०३ पृष्ठे दर्शिताः)

णट्टाणीय पुं०ब०(नाट्यानीक) नाट्यकारकजनसमूहे, भ० १४ श० ६ उ० ।

णट्ठ त्रि०(नष्ट) सर्वथाऽदृश्यीभूते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । व्य० । अपगते, सूत्र १ श्रु ३ अ ३ उ । हारिते, बृ० ३ उ० । '' णट्ठे ति वा वि गए ति वा अंतद्धाभूए ति वा एगट्ठा । '' आ० चू० १ अ० । '' णट्ठ सप्पहसब्भावे '' नष्टोऽपगतः सत्पथः सद्भावः सन्मार्गः परमार्थो येभ्यस्ते । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । रात्रिन्दिवस्य सप्तदशे मुहूर्त्ते, स० ३० सम० ।

णट्ठमइय त्रि०(नष्टमतिक) मत्या स्वविषयकानिश्चायके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णट्ठरय त्रि०(नष्टरजस्) नष्टं सर्वथाऽदृश्यीभूतं रजो यत्र स तथा । जी० ३ प्रति० । अदृश्यमानरजस्के, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णट्ठवं त्रि०(नष्टवत्) अहोरात्रस्य षड्विंशे मुहूर्ते, स० ३० सम० ।

णट्ठसण्ण त्रि०(नष्टसंज्ञ) मनसा भ्रान्ते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णट्ठसुइय पुं०(नष्टश्रुतिक) निर्यामके, शास्त्रेण दिगादिविवेचनस्य करणेऽशक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णड पुं०(नट) '' टो डः '' ॥ ८ । १ । १६५ ॥ इति टस्य डः । प्रा० १ पाद । नाटकानां नाटयितरि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । अनु० । नटा ये नाटकानि नर्त्तयन्ति । व्य० ३ उ० । नि० चू० । कल्प० । औ० । '' णडा दुविहा लंखका, वग्गुरिया य । '' पं० चू० । नटति नट् अच् । नाटकाऽऽदिदृश्यकाव्याभिनयकर्त्तरि नर्त्तकभेदे, जाया जीविनि वर्णसङ्करभेदे, अशोकवृक्षे, शोनाकवृक्षे, नले, किष्कुपर्व णि, गोदन्तहरिताले च । वाच० ।

***गुव्** धा० । व्याकुलीभावे, दिवा पर सक सेट् । **'' गुप्योर्विरणमौ ॥ ८ । ४ । १५० ॥** इति गुप्यतेर्नडाऽऽदेशः । ' नडइ ' ' गुप्यति ' । प्रा० ४ पाद ।

णडखाइता स्त्री०(नटखादिता) नटस्येव संवेगविकलधर्मकथा करणोपार्जितभोजनाऽऽदीनां खादितं भक्षणं यस्यां सा नटखादि ता । प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णडपिडय पुं०(नटपिटक) स्वनामख्याते भृगुकच्छावन्त्यन्तराल ग्रामे, यत्र कश्चिद् गुरुप्रेषितः साधुः वर्षापातेनावरुद्धः

सामाचारीमुपयुक्त एवाऽऽचरन् लवालवे उदाहरणम्। आ० क०। आव०।

णडपेहा स्त्री०(नटप्रेक्षा) नटा नाटकानां नाटयितारः, तेषां प्रेक्षा नटप्रेक्षा। नटप्रेक्षणके, जी० ३ प्रति०। वीरसाधूनामृजुजमत्वे, कल्प० १ क्षण। बृ०। (नटप्रेक्षोदाहरणम् ' कप्प ' शब्दे तृतीयभागे २२६५ पृष्ठे गतम्)

णडाइणाय न०(नटाऽऽदिज्ञात) नर्तकप्रभुत्युदाहरणे, पञ्चा० १६ विव०।

णडाल न०(ललाट) " **ललाटे च** "॥ ८। १। २५७॥ इति लस्य णः। " **पक्वाऽऽङ्गारललाटे वा** " ॥ ८। १। ४७॥ इत्यादेरत इत्त्वाभावपक्षे। मस्तके, प्रा १ पाद।

णडिय त्रि०(नटित) विडम्बिते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

णडी स्त्री०(नटी) नर्तक्याम्, बृ० ३ उ०। नटभार्यायाम्, स्था० ६ ठा०।

णडीरंग पुं०(नटीरङ्ग) नर्तकीरङ्गे नाट्यस्थाने, बृ० ३ उ०।

णडुरी (देशी) भेके, दे० ना० ४ वर्ग।

णडुल त्रि०(नडुल) नडाः सन्त्यत्र ड्वलच्। नडयुक्ते देशे, वाच०। कारणे कार्योपचाराद् नड्वलः पादरोग इति। विशे०। आचा०।

णडुली स्त्री०(देशी) कच्छपे, दे० ना० ४ वर्ग।

णणु अव्य०(ननु) आशङ्कितावधारणे, नि० चू० १ उ। वितर्के, षो० १६ विव०। अक्षमायाम्, दश० १ अ०। जी०। विशे०। प्रति०। असूयायाम्, विशे०।

णण्णसूरि पुं०(नन्नसूरि) चन्द्रगच्छोद्भवे श्रीवप्पभट्टिसूरिशिष्ये सर्वदेवसूरिगुरौ, स च विक्रमसंवत्सरे ६०० मिते विद्यमान आसीत्। जै० इ०।

णत्त न०(नक्त) रात्रौ, चं० प्र० १० पाहु० ३ पाहु०।

णत्तंदिव न०(नक्तन्दिव) अहोरात्रे, अष्ट० ६ अष्ट०।

णत्तंभाग पुं०(नक्तम्भाग) नक्तं रात्रौ चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य विद्यन्ते येषां तानि नक्षत्राणि तथा। चं० प्र० १० पाहु० ३ पाहु०। चन्द्रस्य समयोगिषु नक्षत्रेषु, " अद्दाऽसेसा साई, सयभिस अभिई य जेट्ठसमजोगा। " स्था० ६ ठा०।

णत्तिअ पुं०(नप्तृक) " **इदुतौ वृष्टवृष्टिपुथङ्मृदङ्गनृप्तके** "। ८। १। १३७। इति ऋत इकारोकारौ। प्रा० १ पाद। पुत्रस्य दुहितुर्वा पुत्रे, नि० चू० २ उ०। आ० म०। बृ०। विशे०।

णत्तिआ स्त्री०(नप्तृका) पौत्र्यां, दौहित्र्यां च। विपा० १ श्रु० ३ अ०। ग०।

णत्तु पुं०(नप्तृक) ' णत्तिअ ' शब्दार्थे, नि० चू० २ उ०। आ० म०। बृ०। विशे०।

णत्तुआ स्त्री०(नप्तृका) " णत्तिआ " शब्दार्थे, विपा० १ श्रु० ३ अ०। ग०।

णत्तुआवइ पुं०(नप्तृकापति) पौत्रीणां दौहित्रीणां वा भर्तृषु, बृ० १ उ०।

णत्तुइणी स्त्री०(नप्तृकिनी) पौत्रदौहित्रभार्यायाम्, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

णत्थ त्रि०(न्यस्त) साध्वर्थमुपकल्पिते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। स्थापिते, अष्ट० ३० अष्ट०।

णत्थिअ पुं०(नास्तिक) नास्ति जीवः परलोको वेत्येवं मतिर्यस्य सः। अक्रियावादिनि, स्था० ४ ठा० ४ उ०। आचा०। सूत्र०। (८४ भेदाः ' अकिरियावाइ(ण्)' शब्दे प्रथमभागे १२७ पृष्ठे उक्ताः) नास्तिकवादिगणमतम्न सन्ति सप्त स्वपरसंस्थाः। स्था० ४ ठा० ४ उ०। सूत्र०।

तद्यथा-

नत्थि जीवो, न जाइ, इह परे वा लोए न य किंचि वि फुसइ पुण्णपावं, नत्थि फलं सुकयदुक्कयाणं, पंचमहब्भूतियं सरीरं भासंति हं वातजोगजुत्तं, पंच य खंधे भणंति केइ, मणं च मणजीविका वदंति, वाउजीवो त्ति एवमाहंसु, सरीरं सादियं इहभवे एगे भवे तस्स विप्पणासंसि सव्वनासो त्ति एवं जंपंति मुसावाई॥

शून्यमिति, जगदिति गम्यते, कथम् ? आत्माऽऽद्यभावात्, एतदाह-नास्ति जीवः, तत्प्रसाधकप्रमाणाभावात्। स हि न प्रत्यक्षग्राह्यः, अतीन्द्रियत्वेन तस्याभ्युपगमत्वात्। नाप्यनुमानग्राह्यः, प्रत्यक्षाप्रवृत्तावनुमानस्याप्यप्रवृत्तेः। आगमानां च परस्परतो विरुद्धत्वेनाप्रमाणत्वादिति। असत्त्वादेवासौ न याति न गच्छति। इहेति मनुष्यापेक्षया मनुष्यलोके, ' परे वा ' परस्मिन् तदपेक्षयैव देवाऽऽदि लोके, न च किञ्चिदपि स्पृशति बध्नाति पुण्यपापं शुभाशुभं कर्म, नास्ति फलं सुकृतदुष्कृतानां पुण्यपापकर्मणां, जीवासत्त्वेन तयोरप्यसत्त्वात्। तथा पञ्चमहाभौतिकं शरीरं भाषन्ते। ' हं ' इति निपातो वाक्यालङ्कारे। वातयोगयुक्तं प्राणवायुना सर्वक्रियासु प्रवर्त्तितमित्यर्थः। तत्र पञ्चमहाभौतिकमिति, महान्ति च तानि लोकव्यापकत्वाद् भूतानि च सद्भूतवस्तूनि महाभूतानि। तानि चामूनिपृथिवी कठिनरूपा, आपो द्रवलक्षणाः, तेज उष्णरूपम्, वायुश्चलनलक्षणः, आकाशं शुषिरलक्षणमिति। एतन्मयमेव शरीरं, नापरः शरीरवर्त्ती तन्निष्पादकोऽस्ति जीव इति विवक्षा। तथाहि-भूतान्येव सन्ति, प्रत्यक्षेण तेषामेव प्रतीयमानत्वात्। तदितरस्य तु सर्वथाऽप्रतीयमानत्वात्। यत्तु चैतन्यं भूतेषूपलभ्यते, तद् भूतेष्वेव कायाऽऽकारपरिणतेष्वभिव्यज्यते, मद्याङ्गेषु समुदितेषु मदशक्तिवत्। तथा न भूतेभ्योऽतिरिक्तं चैतन्यं, कार्यत्वात्, मृदो घटवदिति। ततो भूतानामेव चैतन्याभिव्यक्तिर्जलस्य बुद्बुदाभिव्यक्तिवदिति। अलीकवादिता चैषामात्मनः सत्त्वात्, सत्त्वं च प्रमाणोपपत्तेः। प्रमाणं च सर्वजनप्रतीतं जातिस्मरणाऽऽद्यन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणमनेकधा शास्त्रान्तरप्रसिद्धमिति। न च भूतधर्मश्चैतन्यं, तद्भावेऽपि तस्याभावाद्, विवक्षितभूताभावेऽपि प्रेताऽऽद्यवस्थायां चैतन्यसद्भावाच्चेति। (पंच य खंधे भणंति केइ त्ति) पञ्च च स्कन्धान् रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराऽऽख्यान्, भणन्ति केचिदिति बौद्धाः। तत्र रूपस्कन्धः पृथिवीधात्वादयो, रूपाऽऽदयश्च। वेदनास्कन्धः पुनः सुखदुःखासुखदुःखेति त्रिविधवेदनास्वभावः। विज्ञानस्कन्धस्तु रूपाऽऽदिविज्ञानलक्षणः। संज्ञास्कन्धश्च संज्ञानिमित्तोद्ग्रहणाऽऽत्मकः प्रत्ययः। संस्कारस्कन्धः पुनः पुण्यापुण्याऽऽदिधर्मसमुदाय इति। न चैतेभ्यो व्यक्तिरिक्तः कश्चिदात्माऽऽख्यः पदार्थोऽध्यक्षाऽऽदिभिरवसीयत इति। तथा-(मणं च मणजीविया वयंति त्ति) न केवलं पञ्चैव स्कन्धान्, मनश्च मनस्कारो रूपाऽऽदिज्ञानलक्षणानामुपादानकारणभूतः, यमाश्रित्य परलोकोऽभ्युपगम्यते बौद्धैः, मन एव जीवो येषां ते म-

नो जीवाः, त एव मनोजीविकाः। अलीकवादिता चैषां सर्वथाऽननुगामिनि मनोमात्ररूपे जीवे कल्पितेऽपि परलोकासिद्धेः। तदसिद्धिश्च-अवस्थितस्यैकस्याऽऽत्मनोऽसत्त्वात्, मनोमात्राऽऽत्मनः क्षणान्तरस्यैवोत्पादादकृताभ्यागमाऽऽदिदोषप्रसङ्गात्। कथञ्चिदननुगामिनि तु मनसि जीवत्वाभ्युपगमः सम्यक् पक्ष एवेति। तथा (वाउजीवो त्ति एवमाहंसु त्ति) वात उच्छ्वासाऽऽदिलक्षणो जीव इत्याहुरेके। तद्भावाभावयोर्जीवनमरणव्यपदेशाद् नान्यः परलोकयाय्यात्माऽस्तीति। अलीकवादिता चैषां वायोर्जडत्वेन चैतन्यजीवरूपत्वायोगात्। तथा शरीरं साऽऽदि, उत्पन्नत्वात्, सनिधनं, क्षयदर्शनात्। (इह भवे एगे भवे त्ति) इह भवे एव प्रत्यक्षजन्मैव एको भव एकं जन्म, नान्यः परलोकोऽस्ति, प्रमाणाविषयत्वात्, तस्य शरीरस्य, विविधैः प्रकारैः प्रकृष्टो नाशः प्रणाशस्तस्मिन् सति सर्वनाश इति नाऽऽत्मा शुभाशुभरूपं वा कर्माविनष्टमवशिष्यते। एवमेव उक्तप्रकारं ' जंपंति ' जल्पन्ति मृषावादिनः। मृषावादिता चैषां जातिस्मरणाऽऽदिना जीवपरलोकसिद्धेः। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। दश०। यथावस्थितं हि वस्त्वनेकान्ताऽऽत्मकं, तन्नास्त्येकान्ताऽऽत्मकमेव चास्तीति प्रतिपत्तिमन्तः सर्वेऽपि नास्तिकाः। स्था० ८ ठा०।

एकान्ताभिनिवेशे तु जात्या सर्वेषां तुल्यत्वमेवेत्याह-

स्वरूपतस्तु सर्वेऽपि, स्युर्मिथोऽनिश्रिता नयाः।
मिथ्यात्वमिति को भेदो, नास्तित्वास्तित्वनिर्मितः ?॥ १२५॥

स्वरूपतस्त्विति स्पष्टः। (मिथोऽनिश्रिता इति) स्याद्वादमुद्रया परस्परापेक्षारहिता इत्यर्थः॥ १२५॥

ननु नास्तिकास्तिकव्यवहारप्रयोजकतयैवैतेषां भेदो भविष्यतीत्यत आह-

धर्म्यंशे नास्तिको ह्येको, बार्हस्पत्यः प्रकीर्तितः।
धर्मांशे नास्तिका ज्ञेयाः, सर्वेऽपि परतीर्थिकाः॥ १२६॥

(धर्म्यंशे इति) धर्मिण आत्मनोंऽशे नास्तित्वभागे, एको बार्हस्पत्यश्चार्वाको नास्तिकः प्रकीर्तितः। धर्माणामात्मनः शरीरप्रमाणत्वनानात्वपरिणामित्वध्रुवत्वसर्वज्ञजातीयत्वाऽऽदीनामंशे नास्तित्वपक्षे सर्वेऽपि नैयायिकवैशेषिकवेदान्तिसाङ्ख्यपातञ्जलजैमिनीयाऽऽदयः परतीर्थिका नास्तिका ज्ञेयाः। यत्र यथावदस्तित्वं तत्र तथा तदनभ्युपगमस्य, स्वरसतो भगवद्वचनाश्रद्धानस्यैव वा नास्तिकपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वादिति भावः। चार्वाकाऽऽदिभिन्नदर्शनस्वीकर्तृत्वमेवास्तिकत्वमिति रूढिस्त्वनुकम्पामात्रम्। नयो०। आ० म०। (' उसभ ' शब्दे द्वितीयभागे ११३४ पृष्ठे ललिताङ्गदेववक्तव्यतायां नास्तिकवादिनं सुबुद्धिं प्रति स्वयंबुद्धकृत उपदेशो द्रष्टव्यः)

णत्थिभाव पुं०(नास्तिभाव) अविद्यमानभावे, '' णत्थिभावो त्ति वा अविज्जमाणभावो त्ति वा एगट्ठा। '' आ० चू० १ अ०।

णत्थून अव्य०(नष्ट्वा) नश-क्त्वा। **'' दधूनत्थूनौ ष्टवः ''॥ ८। ४। ३१३॥** इति ष्टवा इत्यस्य स्थाने त्थूनाऽऽदेशः। अदृश्यीभूयेत्यर्थे, प्रा० १ पाद।

णदियाययण न०(नद्यायतन) नद्याः प्रधानस्थाने, यत्र तीर्थस्थानेषु लोकाः पुण्यार्थं स्थानाऽऽदि कुर्वन्ति। आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ०।

णदी स्त्री०(नदी) गङ्गासिन्धुमहीकोशीप्रभृतिषु सरित्सु, स० ३ अङ्ग। प्रज्ञा०। गिरिनद्यादिषु, प्रज्ञा० ११ पद।

णद्दिय न०(नर्दित) घोषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

णद्ध त्रि०(नद्ध) नियन्त्रिते, तं०। आरूढे, दे० ना० ४ वर्ग।

णपुंसग पुं०न०(नपुंसक) न स्त्री न पुमान् नपुंसकम्। ग० १ अधि०। स्त्रीपुरुषोभयाभिलाषिणि पुरुषाऽऽकृतौ पुरुषे, ध० २ अधि०। '' स्तनाऽऽदिश्मश्रुकेशाऽऽदि-भावाभावसमन्वितम्। नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानलसुदीपितम्॥ १॥ '' तं०।

तिविहा णपुंसगा पण्णत्ता। तं जहा-णेरइयणपुंसगा, तिरिक्खजोणियणपुंसगा, मणुस्सणपुंसगा। तिरियणपुंसगा तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-जलचरा, थलचरा, खहचरा। मणुयणपुंसगा तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-कम्मभूडिया, अकम्मभूडिया, अंतरदीवया। स्था० ३ ठा० १ उ०।

'' स्तनकेशवती स्त्री स्या-द्रोमशः पुरुषः स्मृतः। उभयोरन्तरं यच्च, तदभावे नपुंसकम्॥ १॥ '' स्था० ३ ठा० १ उ०। नपुंसकः पण्डक इति पर्यायौ। बृ० ४ उ०। आव०। (पण्डकलक्षणानि ' पंडग ' शब्दे वक्ष्यन्ते) '' अज्झवसायविसेसं तं इह ते हुंति णपुंसगे। '' महा० १ अ०।

दश नपुंसकाः-

पंडए १ वाइए २ कीवे, ३ कुंभी ४ ईसालुए ५ त्ति अ।
सउणी ६ तक्कम्मसेवा अ ७, पक्खिआपक्खिए इ अ ८। ८००।
सोगंधिए अ ९ आसत्ते १०, दस एए नपुंसगा।
संकिलिट्ठि त्ति साहूणं, पव्वावेउं अकप्पिआ॥ ८०१॥
प्रव० १०९ द्वार।

पण्डकाऽऽदयो दश नपुंसकाः संक्लिष्टचित्ता इतिकृत्वा साधूनां प्रव्राजयितुमकल्प्याः। संक्लिष्टत्वं चैषां सर्वेषामप्यविशेषतो नगरदाहसमानकामाध्यवसायसंपन्नत्वेन स्त्रीपुरुषसेवामाश्रित्य विज्ञेयम्, उभयसेविनो ह्येते। ध० ३ अधि०।

नपुंसकानामिमे षड् भेदाश्चान्येऽपि-

....., बद्धिए विप्पितत्तिए।
मंतोसहिउवहतए, इसिसत्ते देवसत्ते य॥ २७९॥

नि० चू० ११ उ०। पं० भा०। पं० चू०। आव०।

नपुंसका द्विविधाः-स्त्रीनेपथ्यकाः पुरुषनेपथ्यकाश्च

तद् यथा-

एमेव होंति दुविहा, पुरिसनपुंसा वि सन्नि अस्सन्नी।
मज्झत्थाऽऽभरणपिया, कंदप्पा काहिया चेव॥ ४३२॥

पुरुषसागारिकालाभे कदाचिन्नपुंसकसागारिकः प्रतिश्रयो लभ्यते, तत्राप्येवमेव भेदाः कर्तव्याः। तत्र नपुंसका द्विधास्त्रीनेपथ्यकाः, पुरुषनेपथ्यकाः। ये पुरुषनेपथ्यकाः ते द्विधाप्रतिसेविनः, अप्रतिसेविनश्च। ये तु स्त्रीनेपथ्यकास्ते नियमात्प्रतिसेविनः। तत्र पुरुषनपुंसका अपि, न केवलं पुरुषा इत्यपिशब्दार्थ संज्ञिनः, असंज्ञिनश्चेति द्विविधाः। उभयेऽपि चतुर्विधाः-मध्यस्थाः, आभरणप्रियाः, कान्दर्पिकाः, काथिकाश्च।

एक्केक्का ते तिविहा, थेरा तह मज्झिमा य तरुणा य।
एवं सन्नी बारस, असन्निणो होंति एक्केके॥ ४३३॥

ते मध्यस्थाऽऽदयस्त्रिविधाः-स्थविराः, मध्यस्थाः, तरुणाश्च। एवं संज्ञिनो द्वादश। असंज्ञिनोऽपि द्वादश भवन्ति। बृ० १ उ०। नि० चू०।

' नपुंसको भवति ' इति महाभाष्यप्रयोगात् अस्य पुंस्त्वमपि। लिङ्गस्य शब्दगतत्वेऽपि शब्दार्थे तद्व्यवहारस्तु अभेदाऽऽरोपात्। तद् यथा-लिङ्गत्वं च प्राकृतगुणगतावस्थाऽऽत्मको धर्म एव, तद्वि-शेषश्च पुंनपुंसकत्वाऽऽदिः। तथाहि-सर्वेषां त्रिगुणप्रकृतिकार्यतया शब्दानामपि तथात्वेन गुणगतविशेषाच्छब्देषु विशेष इति कल्प्यते। स च विशेषः शास्त्रे इत्थमभ्यधायि। विकृतसत्त्वाऽऽदीनां तुल्यरूपेणावस्थानाद् नपुंसकत्वं, सत्त्वस्याऽऽधिक्ये पुंस्त्वम्, रज-आधिक्ये स्त्रीत्वमिति। एवं च लिङ्गस्य शब्दधर्मत्वेऽपि शब्देन सहार्थाभेदारोपादसति बाधकेऽर्थेऽपि साक्षात् तत्पारतन्त्र्येण वा सर्वत्र तस्य विशेषणत्वम्, शाब्दबोधे शब्दभान-स्येष्टत्वाच्च, शब्दस्य नामार्थतावत् तद्गतलिङ्गस्यापि नामार्थतौचित्यात् '' न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते। '' इति हर्युक्तेः, '' शब्देऽपि यदि भेदेन, विवक्षा स्यात्तदा तथा। नो चेत् श्रोत्राऽऽदिभिः सिद्धो-ऽप्यसावर्थेऽवभासते॥ १॥ '' इति हर्युक्तेश्च, शब्दानां तदर्थताऽव-गतेः। तथा प्रातिपदिकार्थः। अभेदविवक्षायां तु श्रोत्राऽऽदिभिरेव सिद्धो ज्ञातः सन् अर्थे प्रकारतया भासते इति तदर्थः। युक्तं चैतत्- ' पुल्लिङ्ग शब्दः ' इति व्यवहारात् '' स्वमोर्नपुंसकात् '' ॥ ७। १। २३॥ इति पाणिनिसूत्रे शब्दस्यैव नपुंसकत्वव्यपदेशात्। दारानित्यादौ पुंस्त्वा-न्वयबाधाच्च लिङ्गस्य शब्दधर्मत्वम्, अन्यथैतेषु लिङ्गानन्वयाऽऽपत्तेर्व्य-वहारसूत्रनिर्देशासङ्गत्यापत्तेश्च। तथा अर्थभेदाच्छब्दभेदवद् लिङ्गभेदादपि शब्दभेद इति कल्प्यते, प्रागुक्तधर्मविशेषरूपभेदकसद्भावात्। उक्तं च भाष्ये-'' एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्टं लिङ्गान्यत्वम् '' इति एवं च तटाऽऽदिशब्दानामनेकलिङ्गत्वव्यवहारः समानानुपूर्वीकत्वेनैव। वस्तुतस्तेषां भिन्नानामेव लिङ्गत्वमिति दिक्। वाच०। जीवाभिगमाऽऽदिषु नपुंसकस्य धर्म-चरणमुक्तं, तत्सम्यक्त्वं देशसंयमं, सर्वसंयमं वा ? पञ्चदश भेदाः सिद्धानां प्रोक्ताः, तत्र मूलनपुंसकत्वे, कृत्रिमत्वे वा मोक्षः ? तत् साक्षरं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-जातिनपुंसकस्य सम्यक्त्वं देशविरतिं च यावत्प्रतिपत्तिर्भवति, न तु परतस्तेन न मोक्षाऽऽप्तिः, मोक्षावाप्तिरपि कृत्रिमनपुंसकानामिति। १६६ प्र। सेन० प्र० ३ उल्ला०।

णपुंसगपण्णवणी स्त्री०(नपुंसकप्रज्ञापनी) स्तनाऽऽदिश्मश्रुकेशाऽऽ-दिभावाभावाऽऽदिसमन्वितमित्यादिलक्षणायां नपुंसकलक्षणाभिधा-यिन्यां भाषायाम्, शब्दव्यवहारानुगतं नपुंसकलक्षणमाश्रित्यैतल्ल-क्षणाऽघटनेऽपि उच्यमाना वाङ् न मृषेति भाषाशब्दे, प्रज्ञा० ११ पद।

णपुंसगलिंगसिद्ध पुं०(नपुंसकलिङ्गसिद्ध) तीर्थकरप्रत्येकबुद्धवर्जिते नपुंसकलिङ्गशरीरनिर्वृत्तिरूपे व्यवस्थिते सति सिद्धे, नं०। पा०।

णपुंसगवयण न०(नपुंसकवचन) पीठं देवकुलमित्यादिके नपुंसकलिङ्गे शब्दे, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ०। प्रज्ञा०। अनु०। अव्यक्तगुणसंदोहे नपुंसकलिङ्गं प्रयुज्यते। जी० १ प्रति०।

णपुंसगवेय पुं०(नपुंसकवेद) वेद्यत इति वेदः, नपुंसकस्य वेदो न-पुंसकवेदः। प्रज्ञा० २१ पद। स्त्रीपुंसयीरुपर्यभिलाषे, तद्धेतुके वेदनीयकर्मणि, यदुदये नपुंसकस्य स्त्रीपुंसयोरुभयोरभिलाषः पित्तश्लेष्मणोरुदये मञ्जिताभिलाषवत्, स महानगरदाहाग्नि-समानो नपुंसकवेदः। स्था० ९ ठा०। कर्म०। बृ०। पं० स०। जी०। स०।

णभ न०(नभस्) न भाति न दीप्यते इति नभः। भ० २० श० २ उ०। '' **खघथधभाम्** '' ॥ ८। १। १८७॥ इत्यस्य प्रायिकत्वाद् न हः। प्रा० १ पाद। '' **स्नमदामशिरोनभः** '' ॥ ८। १। ३२॥ इति नभःपर्युदासान्न पुंस्त्वम्। प्रा० १ पाद। आकाशे, औ०। सूत्र०।

णभप्पईव पुं०(नभःप्रदीप) नभ आकाशं प्रदीपयति यत्तत्तथा। सूर्ये, कल्प० ३ क्षण।

णभसूर पुं०(नभःसूर) चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णतो राहोः कृष्णपुद्गलभेदे, सू० प्र० २० पाहु०।

णभसेण पुं०(नभःसेन) अष्टचत्वारिंशे ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० ७ क्षण।

णमंसण न०(नमस्यत्) नमस्तिप्यव्ययस्य '' नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्॥ २। १। १९॥ इति क्यच्। दर्श० १ अ०। प्रणमने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। भ०। नि०। औ०। संथा०। स्था०।

णमंसित्तए अव्य०(नमस्यितुम्) प्रणामपूर्वकप्रशस्तध्वनिभिर्गुणो-त्कीर्त्तनं कर्तुमित्यर्थे, उपा० १ अ०। स्था०। रा०। प्रति०। आ० चू०।

णमंसित्ता अव्य०(तमस्यित्वा) प्रणम्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ०।

णमण न०(नमन) शिरसा प्रमाणमात्रे, बृ० १ उ०। नि०। पं० भा०। नमस्कारे, उत्त० १ अ०। विनयकरणे, उत्त० ५ अ०। प्रह्वीकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

णमणी स्त्री०(नमनी) '' गिहिसाधूहि णमिज्जति, तम्हा जं होति णमणि त्ति। '' पं० भा०। तृतीयगौणानुज्ञायाम्, नं०।

णमंत त्रि०(नमत्) आचार्याऽऽदेः प्रणामं कुर्वति, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०।

णमि पुं०(नमि) स्वनामख्याते विदेहराजे, उत्त०।

अत्र निर्युक्तिकृत्-

णिक्खेवो उ नमिम्मी, चउव्विहो दुविहो उ होइ दव्वम्मि।
आगम-नोआगमओ, नोआगमओ य सो तिविहो॥ ९५॥
जाणगसरीर भविए, तव्वइरित्ते य से भवे तिविहो।
एगभविय बद्धाउय, अभिमुहओ नामगोत्ते य॥ ९६॥
नमिआउनामगोयं, वेयंतो भावओ नमी होइ॥ ९७॥

निक्षेपो न्यासः, तुः पूरणे, नमौ नमिविषयश्चतुर्विधश्चतुर्भेदो नामाऽऽदिः। तत्र च नामस्थापने सुगमे। द्विविधो भवति द्रव्ये द्रव्यविषयः। तमेवाऽऽह-आगमनोआगमतः। तत्राऽऽगमतो ज्ञातानुपयुक्तो, नोआगमतश्च। स त्रिविधः-(जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते य त्ति) नमिशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धाद् ज्ञशरीरनमिर्भव्यशरीरनमिः, तद्व्यतिरिक्तनमिश्च। स तद्व्यतिरिक्तनमिर्भवेत् त्रिविधः-एकभविको, बद्धाऽऽयुष्कोऽभि-मुखनामगोत्रश्च। एतत्स्वरूपं च प्राग्वत्। तथा नम्यायुर्नामगोत्रं वेदयन् भावतो नमिर्भवति। उत्त० ९ अ०।

अथ तृतीयप्रत्येकबुद्धनमिचरित्रमुच्यते-

मालवमण्डलमण्डनं सुदर्शनपुरमस्ति; तत्र मणिरथो

राजा, तस्य भ्राता युगबाहुर्वर्तते स्म। तस्य भार्या सुशीला सुरूपा मदनरेखा वर्तते स्म। सा बाल्यावस्थात आरभ्य सम्यक्त्वमूलद्वादशव्रतानि जग्राह। तस्याः पुत्रश्चन्द्रयशा वर्तते स्म। अन्यदा मणिरथेन मदनरेखा दृष्टा, तद्रूपमोहितो नृप एवं चिन्तयति स्मइयं मदनरेखा मम कथं वशवर्तिनी भवतु ? भवतु, प्रथमं तावत् साधारणैः कृत्यैस्तां विश्वासयामि, पश्चात्कामाभिलाषमपि तस्याः समये कारयिष्येऽहम्। दुष्करं कार्यं बुद्ध्या किं न सिद्ध्यति ? एवं चिन्तयित्वा राजा तस्यै ताम्बूलकुसुमवस्त्रालङ्काराऽऽदिकं प्रेषयति स्म। साऽपि निर्विकारा ज्येष्ठप्रेषितत्वात् सर्वं गृह्णाति स्म। एकदा मणिरथस्तामेकान्ते स्वयमित्युवाचभद्रे ! त्वं मां भर्तारं विधाय यथेष्टं सुखं भुङ्क्ष्व। सा जगौराजन् ! तव लघुबन्धुकलत्रे मय्येतादृशं वचनमयुक्तम्, त्वं निष्कलङ्को पञ्चमो लोकपालोऽसि, एवं वदंस्त्वं किं न लज्जसे ? शस्त्राग्निविषयोगैर्मृत्युसाधनं वरं, निजकुलाऽऽचाररहितं जीवितं न श्रेयः। परस्त्रीलम्पटाःस्वजीवितं यशश्च नाशयन्ति। तयैवं प्रतिबोधितोऽपि नृपः कदाग्रहे न मुमोच। एवं च व्यचिन्तयत्-यदाऽस्याः प्रीतिपात्रं मद्बन्धुर्युगबाहुर्व्यापाद्यते, तदेयं मम वशीभविष्यति। अन्यदा मदनरेखा स्वप्ने पूर्णेन्दुं ददर्श। तया युगबाहवे निवेदितः स्वप्नः। युगबाहुना कथितम्-तव सुल-क्षणः पुत्रो भविष्यति। तस्या गुरुदेववन्दनार्चनदोहदमुत्पन्नं युग-बाहुरपूरयत्। अन्यदा युगबाहुर्वसन्ते मदनरेखया सममुद्याने रन्तुं गतः, तत्रैव रात्रौ कदलीगृहे सप्तः। परिवारः समन्तात्तद्गृहं वेष्टयित्वा स्थितः। तदाऽवसरं ज्ञात्वा मणिरथनृपस्तत्रैकाकी समायातः।' अथ युवराजाऽत्र कथं सुप्तः ? ' इति यामिकान् प्रत्युवाच। युग-बाहुरपि कदलीगृहाद् बहिरागत्य मणिरथपादौ ननाम। नमतोऽस्य स्कन्धदेशे मणिरथः खड्गं चिक्षेप। उवाच चैवम्-धिग् मे प्रमादतः करात् खड्गं पतितं, मणिरथेङ्गितोऽऽकारेण तद्दुष्कर्म ज्ञात्वाऽपि स्वामिन्युपेक्षितः। इतोऽवसरे मणिरथः सद्यस्ततो गतः। पितृघात-वार्तां निशम्य चन्द्रयशाः पुत्रो घातचिकित्सकैः परिवृतस्तत्राऽऽयातः। चिकित्सकैरन्त्यावस्थागतं युगबाहुं निरीक्ष्य धर्म एवास्यौषधमिति प्रोक्तम्। मदनरेखा स्वभर्तुरन्त्यावस्थां विलोक्य विधिनाऽऽराधनां कारयामास-हे दयित ! मे विज्ञप्तिं शृणु, धनाङ्गनाऽऽद्येषु मोहं त्यज, जैनधर्मं स्वीकुरु, हितं भजस्व, धर्मप्रसादादेव प्रधानं कुटुम्बदेहगेहाऽऽदिकं भवान्तरे प्राप्स्यसि, सर्वाण्यपि पापानि सिद्धसाक्षिकमालोचय, पुण्यान्यनुमोदय, सर्वजीवान् क्षामय, अष्टादश पापस्थानानि व्युत्सृज, अनशनं च कुरु, शुभभावनां भावय, चतुःशरणान्याश्रय, परमेष्ठिमन्त्रस्मरणं कुरु, मनसा सम्यक्त्वमाश्रय। इत्येवं मदनरेखावचनानि श्रद्दधानः पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रं स्मरन् युगबाहुः परलोकमसाधयत्। मदनरेखा मनस्येवं व्यचिन्तयत्-अथ स्वतन्त्रो ज्येष्ठो मम शीलं विध्वंसयिष्यति, ततो निःसरणावसरो मम साम्प्रतमेवास्तीति निश्चित्य मदनरेखा वेगतो निर्गता, सद्य एकाकिन्येव व्रजन्त्युत्पथमाश्रित्य क्वापि महाटव्यां प्राप्ता, विभावरी विरराम, जातं प्रभातं, देवगुरूणां स्मरणं चकार, मध्याह्ने सा प्राणयात्रां फलैरेवाकरोत्। तस्यामेवाटव्यां रात्रौ सुप्तायास्तस्याः शीलप्रभावेण न किञ्चिद्भयं बभूव। सा सती चार्द्धरात्रौ पुत्रं सुषुवे, पितृनामाङ्कितमुद्रिका तस्याङ्गुलौ क्षिप्त्वा रत्नकम्बलेन वेष्टयित्वा शुचिभूमौ निक्षिप्य मदनरेखा शौचार्थं सरसि गता। तत्र स्नानं कुर्वती जलकरिणा शुण्मादण्डेन गृहीता नभसि उत्क्षिप्ता। नभसोऽपि पतन्तीं च तां कश्चित्तरुणविद्याधरो वैताढ्यं निनाय। सा विद्याधरं प्राऽऽह-बन्धो ! अहमद्य निश्चटव्यां पुत्रमजीजनम्। स तु रत्नकम्बलवेष्टितो मया तत्रैव मुक्तोऽस्ति। अहं तु सरसि स्नानं कुर्वती जलकरिणोत्क्षिप्ता त्वया गृहीताऽत्राऽऽनीता। अथ त्वं ततो मत्पुत्रमिहाऽऽनय, मां वा तत्र नय। अन्यथा बालस्य तत्र मरणाऽऽपद्भविष्यति, त्वं प्रसीद, मां पुत्रेण मेलय, पुत्रभिक्षाप्रदानेन त्वं मे दयां कुरु। सोऽपि युवा विद्याधर एतस्यां सरागं चक्षुः क्षिपन्नेवमुवाच-गन्धारदेशे रत्नवाहं नाम नगरमस्ति। तत्र विद्याधरेन्द्रो मणिचूडो वर्तते। तस्य प्रिया कमलावती मणिप्रभनामानं पुत्रं मामसूत। यौवनावस्थां च गतस्य मे श्रेणिद्वयं राज्यं दत्त्वा मणिचूडः स्वयं प्रव्रज्यां जग्राह। स चारणमुनिश्चतुर्ज्ञानीभूत्वा साम्प्रतमष्टमे द्वीपे जिनबिम्बानि नन्तुं समायातोऽस्ति। अहं तत्र वन्दितुं गच्छन्नभूवम्। अन्तराले त्वां दृष्ट्वा लात्वा चाहं पुनरत्राऽऽगऽऽगमः। अतः परं त्वं मे प्रिया भव, तवाऽऽदेशकरोऽहमस्मि, तव पुत्रसंबन्धो मया प्रज्ञप्तिविद्यया ज्ञातः, अश्वापहृतो मिथिलेश्वरः पद्मरथाऽऽख्यस्तत्राऽऽयातः, तं बालं सुरूपं दृष्ट्वा गृहीत्वा च स्वपत्न्यै दत्तवान्, तत्रायं प्रकामं सुखभागेवास्ति। एवं तद्वचः श्रुत्वा मदनरेखाऽचिन्तयत्-असौ स्वतन्त्री युवा दृप्तः शीलभङ्गं मे करिष्यति, तावत्कालं मे विलम्बः श्रेयान्, यावदस्य पिता साधुर्वन्द्यते, तदुपदेशात् सर्वं भविष्यतीति ध्यात्वा मदनरेखाऽवदत्-हे भद्र ! त्वं मां प्रथमं नन्दीश्वरे नय, यथाऽहं तज्जिनबिम्बानि वन्दे, पश्चात् कृतकृत्याऽहं तत्रेप्सितं करिष्यामि। एवं तयोक्ते सहर्षो मणिप्रभस्तां विमानान्तर्निधाय नन्दीश्वरद्वीपे गतः। तत्र शाश्वतजिनबिम्बानि नत्वा मदनरेखाऽऽत्मानं कृतार्थं मन्यमाना मणिप्रभेण समं चतुर्ज्ञानधरं चारणश्रमणं प्रासादमण्डपोपविष्टं मणिचूडमुनिं प्रणनाम। स मुनिस्तां सतीं मत्वा स्वसुतं च लम्पटं ज्ञात्वा तथा देशनां विस्तारयामास, यथाऽसौ विद्याधरः स्वदारसन्तोषव्रतं जग्राह। मदनरेखां च स्वां भगिनीं मेने। हृष्टमानसा सती स्वपुत्रस्य कुशलोदन्तं पप्रच्छ। मुनिराह-महानुभावे ! शोकं मुक्त्वा सर्वं सुतवृत्तान्तं शृणुजम्बूद्वीपे पुष्कलावतीविजयोऽस्ति, तत्र मणितोरणपुरी, तस्यां मितयशा राजा। स च चक्रवर्त्यभूत्, तस्य पुष्पवती कान्ता, तयोः पुष्पसिंहरत्नसिंहाभिधानौ पुत्रावभूतां, तौ सदयौ धर्मकर्मरतौ विनीतौ स्तः। अन्यदा तौ राज्ये स्थापयित्वा चक्रवर्ती तपस्यां जग्राह। तौ द्वावपि भ्रातरौ चतुरशीतिलक्षपूर्वं यावद्राज्यं प्रपालयतः स्म। एकदा च तौ दीक्षां गृहीतवन्तौ, षोडश पूर्वलक्षाणि यावद्दीक्षां पालयतः स्म, अन्ते समाधिना मृत्वाऽच्युतकल्पे सामानिकौ देवौ जातौ। ततश्च्युत्वा धातकीखण्डभरते हरिषेणराज्ञः समुद्रदत्ताभार्यासुतौ सागरदेवदत्ताभिधानौ धार्मिकौ जातौ। अन्यदा तौ द्वादशतीर्थङ्करस्य दृढसुव्रतस्य बहुव्यतिक्रान्ते तीर्थे सुगुरुसमीपे दीक्षामगृह्णीताम्। तृतीये दिवसे तौ द्वावपि विद्युत्पातेन मृत्वा शुक्रदेवलोके महर्द्धिकौ देवावभूताम्। अन्येद्युस्तौ देवावत्रैव भरते श्रीनेमिजिनेश्वरमिति पृष्टवन्तौ भगवन् ! नावद्यापि कियान् संसारस्तिष्ठति ? स भगवान् प्राऽऽह-युवयोर्मध्ये एकोऽत्रैव भरते मिथलापुर्यां विजयसेनभूपतेः पद्मरथाऽऽख्यः पुत्रो भावी, एकस्तु सुदर्शनपुरे युगबाहुपुत्रो मदनरेखाकुक्षिसंभूतो नमिनामा भविष्यति। तस्मिन् भवे द्वावपि युवां शिवपदं प्राप्स्यथ। एवं नेमिजिनवच-

नं निशम्य निजमायुः पूर्णं विधायैको मिथिलापुर्यां पद्मरथो नृपोऽभवत्। तेन पद्मरथेनाश्वापहृतेन तस्मिन् वने समायातेन हे महानुभावे ! स पुत्रो दृष्टो, गृहीतश्च, मिथिलायां नीत्वा स्वपत्न्यै च समर्पितः। तज्जन्ममहोत्सवो महान् विहितः ॥'' अत्रान्तरे तत्र नन्दीश्वरप्रासादेऽन्तरिक्षादेकं विमानमवततार। तन्मध्यादेको दिव्यविभूषाधरः सुरो निर्गत्य मदनरेखां त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य प्रथमं प्रणनाम्, पश्चाद् मुनिं प्रणम्याग्रे निविष्टः सुरः। मणिरथविद्याधरेन्द्रेण विनयविपर्यासकरणं पृष्टम्। स सुरः प्राऽऽह-अहं पूर्वभवे युगबाहुर्मणिरथनाम्ना बृहद्भ्रात्रा निहतः, अनया ममाऽऽराधना-नशनाऽऽदिकृत्यानि कारितानि, तत्प्रभावादहमीदृशो देवो ब्रह्मदेवलोके जातः। ततो धर्माऽऽचार्यत्वादहमिमां प्रथमं प्रणतः। एवं खेचरं प्रतिबोध्य स सुरो मदनरेखां जगौ-हे सति ! त्वं समादिश, किं ते प्रियं कुर्वे ? सा प्राऽऽह-मम मुक्तिरेव प्रिया, नान्यत्किमपि, तथाऽपि सुताऽऽननं द्रष्टुमुत्सुकां मां त्वमितो मिथिलां पुरीं नय, तत्राहं निर्वृताऽऽत्मना परलोकहितं करिष्यामि। इत्युक्तवतीं तां देवो मिथिलां पुरीं निनाय। तत्र प्रथमं मदनरेखा जिनचैत्यानि नत्वा श्रमणीनामुपाश्रये जगाम। वन्दित्वा पुरोनिविष्टां तां प्रवर्तिन्येवं प्रतिबोधयामासमूढचंतसो जना धर्माद्विना भवक्षयमिच्छन्तोऽपि मोहवशेन पुत्राऽऽदिषु स्नेहं कुर्वन्ति। संसारे हि मातृपितृबन्धुभगिनीदयितावधूप्रियतमपुत्राऽऽदीनामनन्तशः संबन्धो जातः। लक्ष्मीकुटुम्बदेहाऽऽदिकं सर्वं विनश्वरम्, धर्म एवैकः शाश्वतः। इत्यादि साध्वीवाक्यैः प्रतिबुद्धा सा सती देवेन पुत्रदर्शनार्थं प्रार्थितैवमाह-भववृद्धिकरेण प्रेमपूरेण ममालम्, अतः परं तु साध्वीचरणा एव शरणमित्युक्त्वा साध्वीसमीपे सा प्रव्रज्यां जग्राह। देवस्तां वन्दित्वा स्वस्थाने जगाम। पद्मरथस्य गृहे यथा यथाऽहं बालो वर्द्धते, तथा तथा तस्यान्ये राजानोऽनमन्। ततः पद्मरथराजा तस्य बालस्य नमिरिति नाम कृतवान्। वृद्धिं व्रजतस्यस्य बालस्य कलाऽऽचार्यसेवनात् सर्वाः कलाः समायाताः, सकललोकलोचनहरं यौवनमप्यस्याऽऽयातम्। पित्रा चाष्टाधिकसहस्रराजकन्यानां पाणिग्रहणं कारितम्। पद्मरथोऽस्मै राज्यं दत्त्वा स्वयं तपस्यां गृहीत्वा केवलज्ञानं प्राप्य मोक्षं गतवान्। नमिराजा प्राज्यं राज्यं पालयामास, न्यायेन यशःपात्रमभूत्॥ अथ पूर्वं युगबाहुं हत्वा मणिरथो नृपोऽसिद्धमनोरथः स्वधाम प्राप्तस्तत्र तदानीमेव प्रचण्डसर्पेण दष्टस्तुर्थं नरकं जगाम। द्वयोर्भ्रात्रोरौर्द्धदैहिकीं क्रियां कृत्वा मन्त्रिभिर्युगबाहुपुत्रश्चन्द्रयशा राज्येऽभिषिक्तः। स न्यायेन राज्यं पालयति स्म। अन्यदा नमिराज्ञो धवलकान्तिर्गजो मदोन्मत्त आलानस्तम्भमुन्मूल्यापरान् हस्तिनोऽश्वान्मनुष्यानपि त्रासयन् चन्द्रयशोनृपनगरसीम्नि समायातः। चन्द्रयशा नृपस्तमागतं श्रुत्वा समन्तात्सुभटैर्वेष्टयित्वा स्वयं वशीकृत्य च जग्राह। नमिराजा-ऽष्टभिर्दिनैस्तां वार्तां श्रुत्वा चन्द्रयशोऽन्तिके दूतं प्रेषितवान्। दूतोऽपि तत्र गत्वा धवलकरिणं मार्गयामास। कुपितश्चन्द्रयशा दूतं गले धृत्वा नगराद् बहिर्निष्कासयामास। दतोऽपि नमेः पुरो गत्वा स्वाऽपमानं जगौ। कुपितो नमिराजाऽतुलसैन्यैर्वेष्टितोऽच्छिन्नप्रयाणैः सुदर्शनपुरसमीपे समायातः। चन्द्रयशा भूपतिः स्वसैन्यवेष्टितो यावदभिमुखं युद्धार्थं चलितः, तावदपशकुनैर्वारितो मन्त्रिभिरेवमूचेस्वामिन्! कोट्टं सज्जीकृत्य तव साम्प्रतं पुरान्तरेऽवस्थातुं युक्तम्, कालविलम्बेनैतत्कार्यं कर्तव्यम्। ततश्चन्द्रयशाः कोट्टं शतघ्नीभिर्जलाऽऽद्युपस्करैश्च सज्जीकृतवान्, न-मिस्तं कोट्टं स्वसैन्यैरवेष्टयत्। अधस्थैः सैनिकैः सहोर्द्धस्थानां सैनिकानां महान् संग्रामे प्रववृते स्म। नमिः कोट्टभङ्गे विविधानुपायान् विदधाति स्म। चन्द्रयशा नृपस्तु कोट्टरक्षणे विविधानुपायान् करोति स्म। अस्मिन्नवसरे तयोर्माता साध्वी मदनरेखा प्रवर्तिनीमनुज्ञाप्य तत्संग्राम-वारणार्थं प्रथमं नमिराजसैन्ये समायाता। नमिरपि तां साध्वीं ननाम। आसने चोपविश्य नमेः पुरः सा साध्वी एवं वाचं विस्तारयामास-अनन्तदुःखैकभा-जनेऽस्मिन् संसारे नृभवं प्राप्य पापैस्त्वं किं मुह्यसे ? राजन्! तव बन्धुना चन्द्रयशसा स्वयमागतो हस्ती चेद् गृहीतः, तर्हि तेन समं किं युद्धं करोषि ? क्रुद्धस्त्वं न किञ्चिद्वेत्सि। यदुक्तम्-'' लोभी पश्येद् धनप्राप्तिं, कामिनीं कामुकस्तथा। भ्रमं पश्येदथोन्मत्तो, न किञ्चिच्च क्रुधाऽऽकुलः॥ १॥ '' इदं साध्वीवचो निशम्य नमिश्चिन्त-यामास-' अयं चन्द्रयशा युगबाहुभवोऽस्ति, अहं तु पद्मरथपुत्रो-स्मि, इयं साध्वी सत्यवादिनी सती कथं मम चानेन समं भ्रातृत्वं वदति ' इति विमृश्य साध्वीं प्रत्येवं भाषते स्म-हे पूज्ये ! असौ क्व ? अहं क्व ? भिन्नकुलसंभवयोर्भदेतयोः कथं भ्रातृत्वं वदसि ? इति नमिनोक्ता साध्वी प्राऽऽह-वत्स ! यौवनैश्वर्यभवं मदं मुक्त्वा यदि शृणोषि, तदा सकलं स्वरूपं कथ्यते। अथ श्रोतुमुत्सुकाय नमिनृपाय सर्वं पूर्वस्वरूपं साध्वी जगाद। पुनरेवं बभाषेसुदर्शनपुरस्वामी युगबाहुस्तवास्य च पिता, अहं मदनरेखा तव मातेति। पद्मरथस्तु तव पालकः पितेति। अनेन भ्रात्रा समं मा विरोधं कुरु, बुद्ध्यस्य हितमिति साध्वीप्रोक्तं युगबाहुनामाङ्कि-तकरमुद्रादर्शनतः सर्वं नमिः सत्यं विवेद। तां साध्वीं प्रकाम चित्तोल्लासेन स्वमातरं मत्वा विशेषान्नमिः प्रणनाम। उवाच च-मातः ! यत् त्वया प्रोक्तं, तत् सर्वं तथ्यमेव। नात्र काचिद्विचारणाऽस्ति, ममेयं करमुद्रा युगबाहुसुतत्वं ज्ञापयति। अयं चन्द्रयशा मे ज्येष्ठभ्राता भवत्येव, परं लोकः कथं प्रत्याय्यते ? लघुभ्रातृवात्सल्यतो ज्येष्ठश्चेत् संमुखमायाति, तदाऽहमुचितं विनय कुर्वन् शोभामुद्वहामि। एवं नमिनृपोक्तमाकर्ण्य सा साध्वी दुर्गद्वारवर्त्मना प्रविश्य राजसौधे जगाम। चन्द्रयशा भूपस्तु ताम-कस्मादागतामुपलक्ष्य स्वमातरं साध्वीं विशेषादभ्युत्थाय नतवा-न्, उचिताऽऽसनोपविष्टां तां साध्वीं वृत्तान्तं पृष्टवान्। साध्वी सकलं वृत्तान्तं नमिराजमिलनं यावत् कथयामास। चन्द्रयशा नृपस्तं नमिं निजलघुभ्रातरं मत्वा सभालोकान् प्रत्येवमुवाच-'' सुलभाः सन्ति सर्वेषां, पुत्रपत्न्यादयः शुभाः। दुर्लभः सोदरो बन्धुर्लभ्यते सुकृतैर्यदि॥ १॥ '' इत्युक्त्वा चन्द्रयशा नृपोऽपि पुराद् बहिर्निर्गतः। नमिरपि तं ज्येष्ठभ्रातरम-भ्यागच्छन्तं दृष्ट्वा सिंहाऽऽसनादुत्थाय भूतलमिलच्छिरः प्रणनाम। चन्द्रयशा नृपोऽपि स्वकराभ्यां भूतलादुत्थाय भृशमालिलिङ्ग। तुल्याऽऽकारौ तुल्यवर्णौ तावेकमातृपितृसंभूतत्वेन तदा परमप्रीतिपदं जातौ, लोकैः सहोदरौ ज्ञातौ। चन्द्रयशा नृपस्तु तदानीमेव नमिबन्धवे सुदर्शनपुरराज्यं ददौ, स्वयं संग्रामाङ्गणमध्ये दीक्षां ललौ। क्रमेण राज्यद्वयं पालयन्नमिः, क्षितौ प्रचण्डाऽऽज्ञो जज्ञे। अन्यदा नमेर्वपुषि दाघज्वरो जातः पूर्वकर्मदोषेण तस्य षाण्मासिकी पीडा महती उत्पन्ना, तया निद्रामपि न लेभे, अन्तःपुरीनूपरशब्दा अपि कर्णशूलायाऽऽसन्।

नमिराज्ञो दाधज्वरशान्तये स्वयं चन्दनं घर्षयन्तीनामन्तःपुरीणां वलयशब्दाः रोमसु भल्लप्राया बभूवुः । तत्र ताभिर्वलयानि समस्यान्युत्तारितानि, केवलमेकैकं मङ्गलाय रक्षितम् । तदानीं नूपुरकङ्कणशब्दाऽश्रवणेन नमिना कश्चिन्निकटस्थः सेवकः पृष्टःकथमधुना कङ्कणशब्दा न श्रूयन्ते ? तेनोक्तम्-स्वामिन्! भवत्पीडाकरत्वेनान्तःपुरीभिः कङ्कणान्युत्तारितानि, केवलमेकैकं मङ्गलाय रक्षितमिति, तेन नैकैककङ्कणशब्दाः श्रूयन्ते, परस्परघर्षाभावात् । एवं तद्वचः श्रुत्वा प्रतिबुद्धो नमिरेवं चिन्तयामास-यथा संयोगतः संयोगत एव भवन्ति । यद्यस्मादोगादहं मुक्तः स्यां, तदा सर्वसङ्गं विमुच्य दीक्षां ग्रहीष्यामि । तस्येतिध्यायमानस्य रात्रौ सुखेन निद्रा समायाता । निद्रायां स्वप्नमेवं ददर्शगजमारुह्याहं मन्दरगिरिमारूढः । प्रातः प्रतिबुद्धो नीरोगो जातः । स एवं व्यचिन्तयत्- अमुं पर्वतं क्वाप्यहमपश्यम् , एवमूहाऽपोहं कुर्वतस्तस्य जातिस्मरणमुत्पन्नम् । एवं च पूर्वभवमपश्यत्-यदाऽऽहं पूर्वभवे शुक्रकल्पे सुरोऽभवम् , तदाऽर्हज्जन्माभिषेककरणायाहमस्मिन् मेरावगमम् । अथ कङ्कणदृष्टान्तेनैकत्वं सुखकारीति चिन्तयन् प्रत्येकबुद्धत्वं प्राप्य प्रव्रजितो नमिः । तदा राज्यमन्तःपुरमेकपदे त्यजन्तं नमिं ब्राह्मणरूपधरः शक्रः समागत्य परीक्षितवान् , प्रणुतवांश्च । शक्रपरीक्षासमये नमिराजसत्कशक्रप्रश्ननमिराजर्ष्युत्तररूपमुत्तराध्ययनान्तर्गतं नवममध्ययनं संजातम् । उत्त० ९ अ० । इह हि करकण्डूद्विमुखनमिनग्गतिराजानश्चत्वारोऽपि प्रत्येकबुद्धाः संयमिनो विरहन्ति स्म । एकदा ते क्षोणीप्रतिष्ठनगरं प्राप्ताः, तत्र चतुर्मुखदेवकुले क्रमतः पूर्वाऽऽद्येषु चतुर्दिगद्वारेषु युगपत्प्रविष्टाः, तेषामादरकरणार्थं चतुर्मुखो यक्षः समन्तात् संमुखोऽभवत् । तदानीं करकण्डूः स्वदेहकण्डूरोगोपशमनाय कर्णधृतां शलाकां गोपयन् द्विमुखेन संयमिनोक्तः-पुरमन्तःपुरं राज्य देशं च विमुच्य पुनस्त्वं किं सञ्चयं कुरुषे ? करकण्डूमुनिर्यावत् तं प्रति वक्ति, तावद् भगवन्नग्गिराजर्षिणा द्विमुखं प्रत्येवमुक्तम्-सर्वाणि राजकार्याणि मुक्त्वा पुनस्त्वया किमिति शिक्षारूपं कार्यं वक्तुमारब्धम् ? यावद् द्विमुखो मुनिर्नमिरा-जर्षिं प्रति प्रत्युत्तरं दत्ते, तावन्नग्गतिराजर्षिरेवमुवाच-यदा राज्यं परित्यज्य भवान् मुक्तावुत्सहते, तदाऽन्यत्किमप्याख्यातुं नार्हति । अथ करकण्डूमुनिस्तान् त्रीन् प्रत्येवमुवाचसाधुषु साधुर्हितं वदन् न दूषणाय भवति, कण्डूपशमनाय कर्णधृतशलाकासञ्चयो-ऽयुक्त एव, परमसहता मयेयं धृताऽस्तीति । एवं चत्वारोऽपि परस्परं संबुद्धाः सत्यवादिनः सर्वथा संयमाऽऽराधकाः केवलज्ञानमासाद्य शिवं जग्मुः । उत्त० ९ अ० । (करकण्ड्वादीनामुत्पत्तिकथा, प्रव्रज्याकारणं च करकण्ड्वादीनामवसरे तृ० भागे ३५७ पृष्ठे, चतुर्थभागे १७९५ पृष्ठे प्रतिपादितम् , द्विमुखस्य ' दुमुख ' शब्दे वक्ष्यते)

तथा च नमिचरित्रं क्रमादुपन्यस्यते-

मिहिलावइस्स णमिणो,
छम्मासाऽऽतंकवेज्जपडिसेहो ।
कत्तिएँ सुविणगदंसण,
अहिमंदर णं दिवासे य ॥ १ ॥
दोण्णि वि नमी विदेहा,
रज्जाइं पजहिऊण पव्वइया ।
एगो नमि तित्थयरो,
एगो पत्तेयबुद्धो उ ॥ २ ॥
जो से नमितित्थयरो,
सो साहस्सीयपरिवुडो भगवं ।
गंधमवहाय पव्वएँ,
पुत्तं रज्जे ठवेऊणं ॥ ३ ॥
वितिओ वि नमी राया,
रज्जं चइऊण गुणगणसमग्गं ।
गंधमवहाय पव्वएँ,
अहिगारो एत्थ विइएणं ॥ ४ ॥
पुप्फुत्तराओं चवणं,
पव्वज्जा होइ एगसमएणं ।
पत्तेयबुद्धकेवलि-
सिद्धिगया एगसमएणं ॥ ५ ॥
सेयं भुजायं सुविभत्तसिंगं,
जो पासिया वसहं गोट्ठमज्झे ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया णं,
कलिंगराया वि समिक्ख धम्मं ॥ ६ ॥
वुड्ढिं च हाणिं वसभस्स दट्ठुं,
पूरावरेगं च महाणईणं ।
अहो अणिच्चं अधुवं च णच्चा,
पंचालराया वि समिक्ख धम्मं ॥ ७ ॥
जा इंदकेउं सुअलंकियं तु,
दट्ठुं पडंतं वि विलुप्पमाणं ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया णं,
पंचालराया वि समिक्ख धम्मं ॥ ८ ॥
बहुयाण सद्दयं सोच्चा,
एगस्स य असद्दयं ।
बलयाणं नमी राया,
निक्खंतो मिहिलाहिवो ॥ ९ ॥
जो चूयरुक्खं तु मणाभिरामं,
समंजरीपल्लवपुप्फचित्तं ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहियाणं,
गंधारराया वि समिक्ख धम्मं ॥ १० ॥
जहा रज्जं च रट्ठं च, पुरं अंतेउरं तहा ।
सव्वमेयं परिच्चज्ज, संचयं किं करेसिमं ? ॥ ११ ॥
जया ते पेइए रज्जे, कया किच्चकरा बहू ।
तेसिं किच्चं परिच्चज्ज, अज्ज किच्चकरो भवं ? ॥ १२ ॥
जया सव्वं परिच्चज्ज, मोक्खाय घडसी भवं ।

परं गरिहसी कीस, अत्तनिस्सेसकारए ? ॥ १३ ॥
मोक्खमग्गं पवन्नेसु, साहूसुं बंभयारिसु ।
अहियत्थं निवारिंतो, न दोसं वत्तुमरिहसि ॥ १४ ॥

एतदर्थस्तु प्रायः संप्रदायादवसेय इति तावत् स एवोच्यते। अक्षरार्थस्तु स्पष्ट एव। नवरं मिथिला नाम नगरी, तस्याः पतिः स्वामी मिथिलापतिः, तस्य, अनेनान्येषामपि नमीनां संभवात्तद्व्यवच्छेदार्थमाहनमेर्नमिनाम्नः, (छम्मासाऽऽयंकवेज्जपडिसेहोत्ति) वण्डासानातङ्को दाहज्वराऽऽत्मको रोगः षण्मासाऽऽतङ्कः, तत्र वैद्यैर्भिषग्भिः प्रतिषेधो निराकरणम्-अचिकित्स्योऽयमित्यभिधानरूपः, षण्मासाऽऽतङ्कवैद्यप्रतिषेधः । (कत्तिए त्ति) कार्तिकमासे (सुविणगदंसणमिति) स्वप्न एव स्वप्नकः, तस्मिन् दर्शनं स्वप्नकदर्शनम् , अभूदिति शेषः। कयोः ? (अहिमंदर त्ति) अहिमन्दरयोर्नागराजाचलराजयोः, (नंदिघोसे य त्ति) द्वादशतूर्यसंघातो नन्दी, तस्या घोषः, स च स्वप्नमवलोकयतो जातः, तेन चासौ प्रतिबोधित इत्युपस्कारः ॥ १ ॥ इह च मिथिलापतिर्नमिरित्युक्तौ माभुत्तथाविधस्य तीर्थकरस्यापि नमेः संभवाद् व्यामोह इति द्वौ नमी वैदेहावित्याद्युक्तम् ॥ २ ॥ तथा (पुप्फुत्तर त्ति) पुष्पोत्तरविमानात् च्यवनं भ्रंसनम् , एकसमयेनेति योज्यते। प्रव्रज्या च निष्क्रमणं भवत्येकसमयेनैव। तथा प्रत्येकामिति-एकैकं हेतुमाश्रित्य बुद्धा अवगततत्त्वाः प्रत्येकबुद्धाः, केवलिन उत्पन्नकेवलज्ञानाः, सिद्धिगता मुक्तिपदप्राप्ताः, त्रयाणामपि कर्मधारयः। एकसमयेनैव इति ; चतुर्णामपि समसमयसंभवात् ॥ ५ ॥ तथा (सेयं सुजायं त्ति) श्वेतं वर्णतः, सुजातं प्रथमत एवाहीनसमस्ताङ्गोपाङ्गतया, सुष्ठु शोभने, विमले विभागेनावस्थिते, शृङ्गे विषाणे यस्य स तथा तम्, ऋद्धिं बलोपचयाऽऽत्मिकाम् , अरिद्धिं तस्यैव बलापचयात्तर्णकाऽऽदिपरिभवरूपां, (समुपेहिया णं ति) सम्यगुत्प्रेक्ष्येति पर्यालोच्य; पाठान्तरतः समुत्प्रेक्ष्यमाणो वा, कलिङ्गराजोऽपीत्यत्राविशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चये ॥ ६ ॥ तथा (पूरावरेणं ति) पूरः पूर्णता, अवरेको रिक्तता, अनयोः समाहारः पूरावरेकम् ॥ ७ ॥ तथेन्द्रकेतुमिन्द्रध्वजं, प्रविलुप्यमानम् इति, जनैः स्वस्ववस्त्रालङ्काराऽऽदिग्रहणत इतश्चेतश्च विक्षिप्यमाणम् ॥ ८ ॥ तथा (समंजरीपल्लवपुप्फचित्तं ति) सह मञ्जरीभिः प्रतीताभिः, पल्लवैश्च किशलयैर्यानि पुष्पाणि कुसुमानि, तैश्चित्रः कर्बुरः समञ्जरीपल्लवपुष्पचित्रः, तम्; यद्वा-सह मञ्जरीपल्लवपुष्पैर्वर्तते यः स तथा, चित्र आश्चर्योऽनयोर्विशेषणसमासः। (समिक्ख त्ति) आर्षत्वात्समीक्ष्यते पर्यालोचयत्यनेकार्थत्वादङ्गीकुरुते वा, वर्तमाननिर्देशः प्राग्वत्। यद्वा-(समिक्ख त्ति) समैक्षिष्ट समीक्षितवान्, धर्मं यतिधर्मम् ॥ १० ॥ यदा ते त्वया पैतृके पितुरागते राज्ये कृता विहिताः, कृत्यानि कुर्वन्त्यनुतिष्ठन्ति कृत्यकरा नियोगिनः, बहवः प्रभूताः, तदैव कृत्यकरत्वं स्वयं तथा तव कर्तुमुचितमासीदित्युपस्कारः। तेषामिति कृत्यकराणां कृत्यं परापराधपरिभावनाऽऽदिकर्त्तव्यं परित्यज्य व्रताङ्गीकारादपहाय, अद्य कृत्यकरो नियुक्तकोऽन्यदोषचिन्तो भवाँस्त्वं, किमिति जात इति शेषः ? ॥ १२ ॥ तथा (मोक्खाय घडसीति) प्राकृतत्वाद् मोक्षाय मोक्षार्थं, घटते चेष्टते, तथा (अत्तनिस्सेसकारए त्ति) आत्मनो निःशेषमिति शेषाभावं, प्रक्रमात् कर्मणः, करोति विधत्ते इत्यात्मनिः शेषकारकः। यद्वा-(निस्सेस त्ति) निःश्रेयसो मोक्षः, तत्कारकः ॥ १३ ॥ मोक्षमार्गं मुक्त्यध्वानं प्रतिपन्नेष्वङ्गीकृतवत्सु साधुषु ब्रह्मचारिषु (अहियत्थं ति) अहितार्थं, निवारयन्निषेधयन्, न दोषं परापवादलक्षणम् , अस्येति शेषः, वक्तुमभिधातुमर्हसि। यथा हि भवानहितान्निवारयन् कथमर्हतीत्याह, एवं नमिरपि अद्य कृत्यकरो भवान्निति कृत्यकरत्वलक्षणादहितान्निवारयति, तथा दुर्मुखोऽपि संचयं किं करोषीति सञ्चयत एवाहि-तान्निषेधतीति नायं परापवाद इति वक्तुमुचितम्। यद्वा-(अहियत्थं निवारंतो त्ति) सुप्व्यत्ययादहितार्थान्निवारयन्तं (न दोसमिति) मतुब्लोपान्न दोषमिति न दोषवन्तं वक्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

संप्रति सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवतीति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम्। तच्चेदम्-

चइऊण देवलोगा, उववन्नो मणुसम्मि लोगम्मि ।
उवसंतमोहणिज्जो, सरई पोराणयं जाइं ॥ १ ॥

च्युत्वा देवलोकात् प्रतीतात् , उत्पन्नो जातो, मानुषे मानुषसंबन्धिनि, लोके प्राणिगणे, उपशान्तमनुदयप्राप्तं, मोहनीयं दर्शनमोहनीयं यस्यासावुपशान्तमोहनीयः, स्मरति चिन्तयति, स्मेति शेषः। वर्तमाननिर्देशो वा प्राग्वत्। कामित्याह-(पोराणयं ति) पुराणामेव पौराणिकीं, विनयाऽऽदित्वात् ठक्। चिरन्तनीमित्यर्थः। जातिमुत्पत्तिं, देवलोकाऽऽदाविति प्रक्रमः। तद्गतसकलचेष्टोपलक्षणं चेह जातिरिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

ततः किमित्याह-

जाइं सरित्तु भयवं, सहसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे ।
पुत्तं ठवेत्तु रज्जे, अभिणिक्खमई नमी राया ॥ २ ॥

जातिमुक्तरूपां स्मृत्वा, भगशब्दो यद्यपि धैर्याऽऽदिष्वनेकार्थेषु वर्तते। यदुक्तम्- '' धैर्यसौभाग्यमाहत्म्ययशोऽर्कश्रुतिधीश्रियः। तपोऽर्थोपस्थपुण्येशप्रयत्नतनवो भगाः ॥ १ ॥ '' इति। तथाऽपीह प्राप्तस्तावद् बुद्धिवचन एव गृह्यते, ततो भगो बुद्धिर्यस्यास्तीति भगवान् , (सह त्ति) स्वयमात्मनैव संबुद्धः सम्यगवगततत्त्वः सहसंबुद्धः, नान्यप्रतिबोधित इत्यर्थः। अथवा-(सहसं ति) आर्षत्वात् सह जातिस्मृत्पनन्तरं झगित्येव, बुद्धः। क्व ? इत्याह-अनुत्तरे प्रधाने, धर्मे चारित्रधर्मे, पुत्रं सुतं, स्थापयित्वा निवेश्य, क्व ? राज्ये, अभिनिष्क्रामति धर्माभिमुख्येन गृहस्थपर्यायान्निर्गच्छति, स्मेतीहापि शेषः। ततश्च प्रव्रजितवानित्यर्थः। प्राग्वत्तिङ् व्यत्ययेन वा व्याख्येयम्। नमिर्नमिनामा, राजा पृथ्वीपतिरिति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

स्यादेतत् , कुत्रावस्थितः कीदृशान् वा भोगान् भुक्त्वा संबुद्धः किं वाऽभिनिष्क्रामन् करोतीत्याह-

सो देवलोगसरिसे, अंतेउरवरगओ वरे भोए ।
भुंजित्तु नमी राया, बुद्धो भोगे परिच्चयइ ॥ ३ ॥

स इत्यनन्तरमुद्दिष्टः, (देवलोगसरिस त्ति) देवलोकभोगैः स-दृशा देवलोकसदृशाः, मयुरव्यंसकाऽऽदित्वान्मध्यमपदलोपी समासः। (अंतेउरवरगओ त्ति) वरं प्रधानं, तच्च तदन्तःपुरं च वरान्तःपुरं, तत्र गतः स्थितो वरान्तःपुरगतः। प्राकृतत्वाच्च वरशब्दस्य परनिपातः। वरान्तःपुरं हि रागहेतुरिति तद्गतस्यास्य भोगपरित्यागाभिधानेन जीववीर्योल्लासातिरेक उक्तः। तत्रापि कदाचिद्वराः शब्दाऽऽदयो न स्युः, तत्संभवेऽपि वा सुबन्धुरिव कुतश्चिन्निमित्तान्न भुञ्जीताऽपीत्याहवरान् प्रधानान् भोगान् मनोज्ञशब्दाऽऽदीन्, भुक्त्वा आसेव्य, नमिनामा राजा,

बुद्धो विज्ञाततत्त्वो, भोगानुत्तरूपान् , परित्यजति, स्मेति शेषः । इह पुनर्भोगग्रहणमतिविस्मरणशीला अप्यनुग्राह्या एवेति ज्ञापनार्थ-मिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

किं भोगानेव त्यक्त्वाऽभिनिष्क्रान्तवान् , उतान्यदपि ? इत्याह-

मिहिलं सपुरजणवयं, बलमवरोहं च परियणं सव्वं ।
चिच्चा अभिणिक्खंतो, एगंतमहिट्ठिओ भयवं ॥ ४ ॥

मिथिलां मिथिलानाम्नीं नगरीं, सह पुरैरन्यनगरैर्जनपदेन च वर्तते या सा तथोक्ता, तां, न त्वेककामेव, बलं हस्त्यश्वाऽऽदिचतुरङ्गम्, अवरोधं चान्तःपुरं, परिजनं परिवर्गं, सर्वं निरवशेषं, न तु तथाविध-प्रतिबन्धानास्पदं किञ्चिदेव, त्यक्त्वाऽपहाय, अभिनिष्क्रान्तः प्रव्रजितः, (एगंत त्ति) एकोऽद्वितीयः कर्मणामन्तो यस्मिन्निति मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात्समासः । तत एकान्तो मोक्षः, तमधिष्ठित इवाऽऽश्रितवानि-वाधिष्ठितः, तदुपायसम्यग्दर्शनाऽऽद्यासेवनादधिष्ठित एव वा, इहैव जीवन्मुक्त्यवाप्तेः । यद् वा-एकान्तं द्रव्यतो विजनमुद्यानाऽऽदि । भावतश्च '' एकोऽहं न मे कश्चिन्नहमन्यस्य कस्यचित् । तं तं पश्यामि यस्याहं, नासौ दृश्योऽस्ति यो मम ॥ १ ॥ '' इति भावनात् एक एवाहमित्यन्तो निश्चय एकान्तः, प्राग्वत्समासः । तमधिष्ठितो भगवानिति धैर्यवान् , श्रुतवान् वेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

तत्रैवमभिनिष्क्रामति यदभूत्तदाह; यदि वा यदुक्तं ' सर्वं परित्य-ज्याभिनिष्क्रान्तः इति, तत्र कीदृक् तत्त्यज्यमानमासीत् ? इत्याह-

कोलाहलगसंभूयं, आसी मिहिलाएँ पव्वयंतम्मि ।
तइया रायरिसिम्मी, नमिम्मि अभिणिक्खमंतम्मि ॥ ५ ॥

कोलाहलो विलपिताऽऽक्रन्दितकः, कोलाहल एव कोलाहलकः, संभूत इति जातो यस्मिन् तत् कोलाहलकसंभूतम् , आहिताऽऽदेराकृतिगण-त्वाद् निष्ठान्तस्य परनिपातः । यदि वा भूतशब्द उपमार्थः, ततः कोलाहलकसंभूतमिति कोलाहलकरूपतामिवाऽऽपन्नम्- हा तात ! हा मातरित्यादिकलकलाऽऽकुलितम् , आसीद-भूत् , मिथिलायां, सर्वं गृहविहाराऽऽरामाऽऽदीति प्रक्रमः । क्व सति ? प्रव्रज्यामाददाने, तदा तस्मिन् काले, राजा चासौ राज्यावस्थामाश्रित्य, ऋषिश्च तत्कालापेक्षया राजर्षिः, यदि वा-राज्यावस्थायामपि ऋषिरिव ऋषिः, क्रोधाऽऽ-दिषड्वर्गजयात् । तथा च राजनीतिः-'' कामः क्रोधस्तथा लोभो, हर्षो मानो मदस्तथा । षड्वर्गमुत्सृजेदेतं, तस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥ १ ॥ '' तस्मिन्नमौ नमिनाम्न्यभिनिष्क्रामति गृहात्कषायाऽऽदिभ्यो वा निर्गच्छति । इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

पुनरत्रान्तरे यदभूत्तदाह (शक्रसंवादः)-

अब्भुट्ठियं रायरिसिं, पव्वज्जाठाणमुत्तमं ।
सक्को माहणवेसेण, इमं वयणमब्ववी ॥ ६ ॥

अभ्युत्थितमभ्युदितं, राजर्षिं प्राग्वत् , प्रव्रज्यैव स्थानंतिष्ठन्ति सम्यग्दर्शनाऽऽदयो गुणा अस्मिन्निति कृत्वा प्रव्रज्यास्थानं, प्रतीति शेषः । उत्तमं प्रधानं, सुप्व्यत्ययेन सप्तम्यर्थे वा द्वितीया । ततः प्रव्रज्यास्थाने उत्तमेऽभ्युद्यतं तद्विषयोद्यमवन्तं, शक्र इन्द्रो, माहनवेषेण ब्राह्मणवेषेण, आगत्येति शेषः । तदा हि तस्मिन्महात्मनि प्रव्रज्यां ग्रहीतुमनसि तदाशयं परीक्षितुकामः स्वयमिन्द्र आजगाम् , ततः स इदं वक्ष्यमाणम् , उच्यते इति वचनं वाक्यम् , अब्रवीदुक्तवानिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

यदुक्तवाँस्तदाह-

किं णु भो अज्ज मिहिलाए, कोलाहलगसंकुला ।
सुच्चंति दारुणा सद्दा, पासाएसु गिहेसु य ॥ ७ ॥

किमिति परिप्रश्ने, नु इति वितर्के, भो इत्यामन्त्रणे । अद्येत्यस्मिन् दिने, मिथिलायां नगर्यां कोलाहलकेन बहलकलकलाऽऽत्मकेन संकुला व्याकुलाः कोलाहलसंकुलाः, श्रूयन्ते इत्याकर्ण्यन्ते, शब्दा ध्वनय इति संबन्धः । ते च कदाचिद्वन्दिवृन्दोदीरिताअपि स्युः, तन्निरयकरणायाऽऽह-दारयन्ति जनमनांसीति दारुणा विलपिताऽऽदयः, क्व पुनस्ते ? प्रासादेषु सप्तभूमाऽऽदिषु, गृहेषु सामान्येन वेश्मसु, तथा ' प्रासादो देवतानरेन्द्राणाम् ' इति वचनात् प्रासादेषु देवतानरेन्द्रसंबन्धिष्वास्पदेषु, गृहेषु तदितरेषु, चशब्दात् त्रिकचतुष्कचत्वराऽऽदिषु चेति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

ततश्च-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्ववी ॥ ८ ॥

एवमनन्तरोक्तम् , अर्थमिति, उपचारादर्थाभिधायिनं ध्वनिं, नि-शम्याऽऽकर्ण्य, हिनोति गमयति विवक्षितमर्थमिति हेतुः, स च पञ्चावयववाक्यरूपः, कारणं चान्यथाऽनुपपत्तिमात्रं ताभ्यां चोदितः प्रेरितो हेतुकारणचोदितः, कोलाहलकसंकुलाः दारुणाः शब्दाः श्रूयन्त इत्यनेन हि उभयमेतत् सूचितम् । तथाहि-अनुचितमिदं भवतोऽभि-निष्क्रमणमिति प्रतिज्ञा, आक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वादिति हेतुः, प्राणव्यपरोपणाऽऽदिवदिति दृष्टान्तः, यद्यदा-क्रन्दाऽऽदिदारुणशब्द-हेतुस्तत्तद् धर्मार्थिनोऽनुचितं, यथा प्राणव्यपरोपणाऽऽदि, तथा चेदं भवतोऽभिनिष्क्रमणमित्युपनयः, तस्मादाक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्द-हेतुत्वादनुचितं भवतोऽभिनिष्क्रमणमिति निगमनमिति पञ्चावयवं वाक्यमिह हेतुः, शेषावयवविवक्षाविरहितं त्वाक्रन्दाऽऽदिदारुण-शब्दहेतुत्वं भवदभिनिष्क्रमणानुचितत्वं विनाऽनुपपन्नमित्येतावन्मात्रं कारणम् , अनयोस्तु पृथगुपादानं प्रतिपाद्यभेदतः साधनवाक्यवैचित्र्य-सूचनार्थम् । तथा च श्रुतकेवली-'' कत्थ वि पंचावयवं, दसहा वा सव्वहा ण पडिसिद्धं । न य पुण सव्वं भण्णति, हंदी सवियारमक्खायं ॥ १ ॥ '' तथा-'' जिणवयणं सिद्धं चिअ, भण्णति कत्थ वि उदाहरणं । आसज्ज उ सोतारं, हेऊ वि कहिं वि वत्तव्वो ॥ १ ॥ '' (नि०) अथवाऽन्ययव्यति-रेकलक्षणो हेतुः, उपपत्तिमात्रं तु दृष्टाताऽऽदिरहितं कारणम् । यथा निरुपम-सुखः सिद्धो, ज्ञानाऽऽनावाधप्रकर्षात्, अन्यत्र हि निरुपमसुखा-संभवान्नोदाहरणमिस्ति । दृष्टाश्च प्रकृष्टमत्यादिज्ञानानाबाधाः परम-सुखिनो मुनय इति ज्ञानानावाधप्रकर्षो निरुपमसुखत्वे हेतुरुच्यते । तथा च पूज्याः- '' हेऊ अणुगमवतिरे-गलक्खणो सज्झावत्थुपज्जाओ । आहरणं दिट्ठंतो, कारणमववत्तिमेत्तं तु ॥ १०७७ ॥ '' (विशे०) इहापि आक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वमेव हेतुः, तस्योक्तन्यायेनान्वया-न्विततत्वात्सति चान्वये व्यतिरेकस्यापि संभवात् । इदमेव चान्वयव्यतिरेकविकलतया विवक्षितमुपपत्तिमात्रं कारणम् । एवं सर्वत्र कारणभावना कार्येत्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतमेव सूत्रमनुश्रियतेततः प्रेरणानन्तरं, नमिर्नमिनामा, राजर्षिर्देवेन्द्रं शक्रमिदं वक्ष्यमाणमब्रवीदुक्त-वानिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

किं तदुक्तवानित्याह-

मिहिलाए चेइए वच्छे, सीयच्छाए मणोरमे ।
पत्तपुप्फफलोवेए, बहूणं बहुगुणे सया ॥ ९ ॥

मिथिलायां पुरि, चितिरिह प्रस्तावात्पत्रपुष्पाऽऽद्युपचयः, तत्र साधु चित्यं, ततः प्रज्ञाऽऽदेराकृतिगणत्वात् स्वार्थिकेऽणि चैत्यमुद्यानम् । तस्मिन् (वच्छे त्ति) सूत्रत्वाद्विशब्दलोपे वृक्षैः, शीता शीतला छाया यस्य तच्छीतलच्छायं, तस्मिन्, मनश्चित्तं रमते धृतिमवाप्नोति यस्मिन् तन्मनोरमम्-मनोरमाभिधानं, तस्मिन्, पत्रपुण्यफलानि प्रतीतानि, तैरुपेतं युक्तं पत्रपुष्पफलोपेतं, तस्मिन्, बहूनां प्रक्रमात् खगाऽऽदीनां, बहवो गुणा यस्मात्तत्तथा, तस्मिन् । कोऽर्थः ? फलाऽऽदिभिः प्रचुरोपकारकारिणि, सदा सर्वकालमिति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

तत्र किम् ? इत्याह-

वाएण हीरमाणम्मि, चेइयम्मि मणोरमे ।
दुहिया असरणा अत्ता, एए कंदंति भो ! खगा ॥ १० ॥

वातेन वायुना, ह्रियमाणे इतस्ततः क्षिप्यमाणे ; वातश्च तदा शक्रेणैव कृत इति संप्रदायः । चितिरिहेष्टकाऽऽदिचयः, तत्र साधुर्योग्यश्चित्यः प्राग्वत्, स एव चैत्यः, तस्मिन् । किमुक्तं भवति ? अधो बद्धपीठिके उपरि चोद्धृतपताके मनोरमे मनोऽभिरतिहेतौ, वृक्षे इति शेषः । दुःखं संजातं येषां ते दुःखिताः, अशरणास्त्राणरहिताः, अत एवाऽऽर्ताः पीडिताः, एते प्रत्यक्षाः, क्रन्दन्त्याक्रन्दशब्दं कुर्वन्ति, भो इत्यामन्त्रणम् , खगाः पक्षिणः । ' इह च किमद्य मिथिलायां दारुणाः शब्दाः श्रूयन्ते ? ' इति यत् स्वजनजनाऽऽक्रन्दनमुक्तं, तत् खगकन्दनप्रायम् , आत्मा च वृक्षकल्पः, ततो हि नियतकालमेव सहावस्थितत्वेन, उत्तरकालं च स्वस्वगतिगामितया द्रुमाऽऽश्रितखगोपमा एवामी स्वजनाऽऽदयः ।

उक्तं हि-

'' यद्वद् द्रुमे महति पक्षिगणा विचित्राः,
कृत्वाऽऽश्रयं हि निशि यान्ति पुनः प्रभाते ।
तद्वज्जगत्यसकृदेव कुटुम्बजीवाः,
सर्दं समेत्य पुनरेव दिशो भजन्ते ॥ १ ॥ '' इति ।

ततश्चाऽऽक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वेनाभिधीयमानमसिद्धम् । एते हि स्वजनाऽऽदयो वातेन प्रेर्यमाणा द्रुमविश्लिष्यत्खगा इव स्वस्वप्रयोजनहानिमेवाऽऽशङ्कमाना क्रन्दन्ति ।

आह च-

'' आत्मार्थं सीदमानं स्वजनपरजनो रौति हा हा कुलाऽऽर्तो,
भार्या चाऽऽत्मोषभोगं गृहविभवसुखं स्वं वयस्याश्च कार्यम् ।
क्रन्दन्त्यन्योऽन्यमन्यस्त्विह हि बहुजनो लोकयात्रानिमित्तं,
यश्चान्यस्तत्र कश्चिद् मृगयति हि गुणं रोदितीष्टः स तस्मै '' ॥ १॥

एवं चाऽऽक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दानामभिनिष्क्रमणहेतुकत्वमसिद्धम् , स्वप्रयोजनहेतुकत्वात्तेषाम् , तथा च भवदुक्तहेतुकारणे असिद्धे एवेत्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

ततश्च-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्ववी ॥ ११ ॥

एनमर्थं निशम्य हेतुकारणयोरनन्तरसूत्रसूचितयोः, चोदितः-असिद्धोऽयं भवदभिहितो हेतुः, कारणं चेत्यनुपपत्त्या प्रेरितो हेतुकारणचोदितः, ततो नमिं राजर्षिं देवेन्द्र इदं वक्ष्यमाणमब्रवीदिति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

किं तत् ? इत्याह-

एस अग्गी य वाऊ य, एयं मज्झइ मंदिरं ।
भयवं ! अंतेउरंते णं, कीस णं नावपेक्खह ? ॥ १२ ॥

एष इति प्रत्यक्षोपलभ्यमानोऽग्निश्च वैश्वानरो, वातश्च पवनः, तथैतदिति प्रत्यक्षं, दह्यते भस्मसात् क्रियते, प्रक्रमाद्वातेरितेनाग्निनैव, मन्दिरं वेश्म, भवत्संबन्धीति शेषः । भगवन्निति पूर्ववत् । (अंतेउरंते णं ति) अन्तःपुराभिमुखं, (कीस त्ति) कस्मात् , णमिति वाक्यालङ्कारे । नावप्रेक्षसे नावलोकयसे ? इह च यद्यदात्मनः स्वं तत्तद्रक्षणीयं, यथा ज्ञानाऽऽदि, स्वं चेदं भवतोऽन्तःपुरमित्यादिहेतुकारणभावना प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

ततश्च-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्ववी ॥ १३ ॥

प्राग्वत् ॥ १३ ॥

किमब्रवीत् ? इत्याह-

सुहं वसामो जीवामो, जेसि मो नत्थि किंचण ।
मिहिलाएँ डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण ॥ १४ ॥

सुखं यथा भवत्येवं वसामस्तिष्ठामो, जीवामः प्राणान् धारयामः, येषां (मो इति) अस्माकं, नास्ति न विद्यते, किञ्चन वस्तुजातम् । यतः- '' एकोऽहं न मे कश्चित् , स्वः परो वाऽपि विद्यते । यदेको जायते जन्तुर्म्रियतेऽप्येक एव हि ॥ १ ॥ '' इति न किञ्चिदन्तःपुराऽऽदि मत्सत्कं, यतश्चैवमतो-मिथिलायामस्यां पुरि दह्यमानायां न मे दह्यते किञ्चित् स्वल्पमिति ॥ मिथिलाग्रहणं तु-न केवलमन्तःपुराऽऽद्येव न मत्संबन्धि, किं त्वन्यदपि स्वजनाऽऽदि, स्वस्वकर्मफभुजो हि जन्तवस्तथा तथाऽस्मिन् भ्राम्यन्तीति किमत्र कस्य स्वं परं वेति ख्यापनार्थम् ॥ ततश्चानेन प्रागुक्तहेतोरसिद्धत्वमुक्तं, तत्त्वतो ज्ञानाऽऽदिव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यास्वकीयत्वादित्यादि प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

एतदेव भावयितुमाह-

चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जए किंचि, अप्पियं पि न विज्जए ॥ १५ ॥
बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगंतमणुपस्सओ ॥ १६ ॥

त्यक्ताः परिहृताः-पुत्राश्च सुताः, कलत्राणि च दाराः, येन स तथा, तस्य, अत एव निर्व्यापारस्य परिहृतकृषिपाशुपाल्याऽऽदिक्रियस्य, भिक्षोरुक्तरूपस्य, प्रियमिष्टं, न विद्यते नास्ति, किञ्चिदल्पमिति, अप्रियमप्यनिष्टमपि, न विद्यते नास्ति, प्रियाप्रियविभागास्तित्वे हि सति पुत्रकलत्रत्यागं न कुर्यात् , एतयोरेवातिप्रतिबन्धविषयत्वादिति भावः । एतेन यदुक्तंनास्ति किञ्चनेति तत्समर्थितं, तत् स्वकीयत्वं हि पुत्राऽऽद्यत्यागतोऽभिष्वङ्गतः स्यात् , स च निषिद्ध इति ॥ एवमपि कथं सुखेन वसनं जीवनं च ? इत्याह-बहु विपुलं, खुरवधारणे, बह्वेव, मुनेस्तपस्विनो, भद्रं कल्याणं सुखं च, अनगारस्य भिक्षोरिति च प्राग्वत् । सर्वतो बाह्यादभ्यन्तराच्च । यद्वास्वजनात्परजनाच्च, विप्रमुक्तस्येति पूर्ववत् । एकान्तमेवकोऽहमित्याद्युक्तरूपैकत्वभावनाऽऽत्मकम् , अनुपश्यतः पर्यालोचयत इति सूत्रद्वयार्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥

पुनरपि-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्ववी ॥ १७ ॥

प्राग्वत् ॥ १७ ॥

पागारं कारइत्ता णं, गोपुरऽट्टालगाणि य ।

उसूलगसयग्घीओ, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥ १८ ॥

प्रकर्षेण कुर्वन्ति तमिति प्राकारः, तं, धूलीष्टकाऽऽदिविरचितं, कारयित्वा विधाप्य, गोपुराट्टालकानि च-तत्र गोभिः पूर्यन्ते इति गोपुराणि प्रतोलीद्वाराणि, गोपुरग्रहणमर्गलाकपाटोपलक्षणम् । अट्टालकानि प्राकारकोष्ठकोपरिवर्तीन्यायोधनस्थानानि, (उसू-लग त्ति) खातिका परबलपातार्थमुपरिछादितगर्त्ता, (सयग्घीओ त्ति) शतं घ्नन्ति शतघ्न्यः ताश्च यन्त्रविशेषरूपाः, तत एवं सकलं निराकुलीकृत्य (गच्छसि इति) तिङ्व्यत्ययाद् गच्छ। क्षतात् त्रायत क्षत्रियः, तत् संबोधनं क्षत्रिय ! हे तूपलक्षणं चेदम् । स चायम्-यः क्षत्रियः स पुररक्षं प्रत्यवहितो, यथोदितोदयाऽऽदिः, क्षत्रियश्च भवान् , शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः । १८ ।

ततः-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ १९ ॥

प्राग्वत् ॥ १९ ॥

सद्धं च नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं ।
खंतिं निउण-पागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसगं ॥ २० ॥
धणू परक्कमं किच्चा, जीवं च इरियं स्मया ।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेणं पलिमंथए ॥ २१ ॥
तवनारायजुत्तेणं, भेत्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चइ ॥ २२ ॥

श्रद्धां तत्त्वरुचिरूपाम् , अशेषगुणगणधारणतया नगरीं पुरीं, कृत्वा हृदि विधाय, अनेन च प्रशमसंवेगाऽऽदीनि गोपुराणि कृत्वेत्युपलक्ष्यते, अर्गलाकपाटं तर्हि किम् ? इत्याह-तपोऽनशनाऽऽदि बाह्याभ्यन्तरप्रधानः संवर आश्रवनिरोधलक्षणस्तपःसंवरः, तं, मिथ्यात्वाऽऽदिदुष्टनिवारकत्वेनार्गला परिघः, तत्प्रधानं कपाटमप्यर्गलेत्युक्तम् ,ततोऽर्गलामर्गलाकपाटं, कृत्वेति संबन्धः। प्राकारः कः ? इत्याह-क्षान्तिः क्षमा, निपुणमिव निपुणं शत्रुरक्षणं प्रति, श्रद्धाविरोध्यनन्तानुबन्धिकषापरोधितया प्राकारं, कृत्वेति संबन्धः । उपलक्षणं चैषां मानाऽऽदिनिरोधिनां मार्दवाऽऽदीनाम् । तिसृभिरट्टालकोच्छ्रूलकशतघ्नीसंस्थानीयाभिर्मनोगुप्त्यादिगुप्तिभिर्गुप्तम् । मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात्समासः । प्राकारस्य विशेषणम् । अत एव दुःखेन प्रधृष्यते परैरभिभूयत इति दुःप्रधर्षः, स एव दुःप्रधर्षकः, तम्। पठन्ति च-''खतिं निउणपागारं, तिगुत्तिं दुप्पधंसयं'' इति स्पष्टम् । इत्थं यदुक्तं प्राकाराऽऽदीन् कारयित्वेति तत्प्रतिवचनमुक्तम् ॥ संप्रति तु प्राकाराट्टालकेष्ववश्यं योद्धव्यम् , तच्च सत्सु प्रहरणाऽऽदिषु, प्रतिविधेये च वैरिणि संभवति। अत आह-धनुः कोदण्डं, पराक्रमं जीववीर्योल्लासरूपमुत्साहं कृत्वा, जीवां च प्रत्यञ्चां च, ईर्यामीर्यासमितिम् , उपलक्षणत्वाच्छेषसमितीश्च, सदा सर्वकालं, तद्विरहितस्य जीववीर्यस्याप्यकिञ्चित्करत्वात् । धृतिं च धर्माभिरतिरूपां, केतनं श्रृङ्गमयधनुर्मध्ये काष्ठमयमुष्टिकाऽऽत्मकम्, तदुपरि स्नायुना निबध्यते, इदं तु केन बन्धनीयम् ? इत्याह-सत्येन मनःसत्याऽऽदिना(पलिमंथए त्ति) बध्नीयात् ॥ ततः किम् ? इत्याह-तपः षड्विधमान्तरं परिगृह्यते, तदेव कर्मप्रत्यभिभेदतया नाराचःअयोमयो बाणः, तद्युक्तेन प्रक्रमाद्धनुषा, भित्त्वा विदार्य, कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि, कञ्चुक इव कर्म-कञ्चुकः, तम् । इह कर्मकञ्चुकग्रहणेनाऽऽत्मैवाद्भुतो वैरीत्युक्तं भव-ति । वक्ष्यति च- '' अप्पा मित्तममित्तं च, दुट्ठिए सुप्पतिट्ठिए । '' कर्मणस्तु कञ्चुकत्वं तद्गतमिथ्यात्वाऽऽदिप्रकृत्युदयवर्तिनः श्रद्धानगरमुपरुन्धत आत्मनो दुर्निवारत्वात् , मुनिः प्राग्वत्। कर्मभेदे जेयस्य जितत्वाद् विगतः संग्रामो यस्य यस्माद्वेति विगतसंग्राम उपरताऽऽयोधनः सन, भवन्त्यस्मिन् शारीरमानसानि दुःखानीति भवः संसारः, तस्मात्परिमुच्यते । एतेन च यदुक्तम्-प्राकारं कारयित्वेत्यादि, तत्सिद्धसाधनम् । इत्थं श्रद्धानगररक्षणाभिधानाद्भवतश्च तत्त्वतस्तदविज्ञातेति चोक्तं भवति । न च भवदभिमतप्राकाराऽऽदिकरणे सकलशारीरमानसक्लेशवियुक्तिलक्षणा मुक्तिरवा-प्यते, इतस्तु तदवाप्तिरपीति सूत्रत्रयार्थः ॥ २० । २१ । २२ ॥

एवं च तेनोक्ते-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ २३ ॥

प्राग्वत् ॥ २३ ॥

पासाए कारइत्ता णं, वद्धमाणगिहाणि य ।
वालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥२४ ॥

प्रसीदन्ति नृणां नयनमनांसि येषु ते प्रासादाः, तानुक्तरूपान् , वर्द्धमानगृहाणि चानेकधा वास्तुविद्याऽभिहितानि । (वालग्गपोइय त्ति) देशीपदं वलभीवाचकम् , ततो वलभीश्च कारयित्वा ; अन्ये त्वाकाशतलागमध्यस्थितं क्षुल्लकप्रासादमेव '' वाल्लगपोइयाओ त्ति '' देशीपदाभिधेयमाहुः । ततस्ताश्च क्रीडास्थानभूताः कारयित्वा, ततोऽनन्तरं गच्छ क्षत्रिय ! एतेन च यः प्रेक्षावान् स सति सामर्थ्ये प्रासादाऽऽदि कारयिता, यथा ब्रह्मदत्ताऽऽदिः, प्रेक्षावांश्च सति सामर्थ्ये भवानित्यादिहेतुकारणयोः सूचनमकारीति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥

एवं च शक्रेणोक्ते-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ २५ ॥

प्राग्वत् ॥ २५ ॥

संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणई घरं ।
जत्थेव गंतुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ॥ २६ ॥

संशीतिः संशयः-इदमित्थं भविष्यति, न वा ? इत्युभयांशाऽऽवलम्बनप्रत्ययः, तं, खलुरेवकारार्थः । ततः संशयमेव, स कुरुते; यथा-मम कदाचिद् गमनं भविष्यतीति । यो मार्गे कुरुते गृहं । गमननिश्चये तु करणायोगात् ; अहं तु न संशयितेत्याशयः, सम्यग्दर्शनाऽऽदीनां मुक्तिं प्रत्यबन्ध्यहेतुत्वेन मया निश्चितत्वादवाप्तत्ववाच्य । यदि नाम न संशयितस्तथापि किमिहैव गृहं न कुरुषे ? अत आह-यत्रैव विवक्षितप्रदेशे, गन्तुं यातुम् , इच्छेत्-अभिलेषत्। (तत्थेति) व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यस्य तत्रैव-जिगमिषितप्रदेशे, कुर्वीत विदधीत, स्वस्याऽऽत्मनः, आश्रयो वेश्म स्वाश्रयः, तम् । यद्वाशाश्वतं नित्यं, प्रक्रमाद् गृहमेव। ततोऽयमर्थः-इदं तावदिहावस्थानं मार्गावस्थानप्रायमेव, यत्र तु जिगमिषितप्रदेशे कुर्वीत विदधीतास्माभिस्तन्मुक्तिपदं, तदाश्रयविधाने च प्रवृत्ता एत वयम् , ततस्तत्करणप्रवृत्तत्वात् कथं प्रेक्षावत्त्वक्षतिः ? तथा च यः प्रेक्षावानित्याद्यपि तत्त्वतः सिद्धसाधनतयैवावस्थितमिति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥

ततः पुनरपि-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्ववी ॥ २७ ॥

प्राग्वत् ॥ २७ ॥

आमोसे लोमहारे य, संठिभेए य तक्करे ।
नगरस्स खेमं काऊणं, तओ गच्छसि खत्तिआ ! ॥ २८ ॥

आ समन्ताद् मुष्णवन्ति स्तैन्यं कुर्वन्तीत्यामोषाः, तान् , लोमानि हरन्ति व्यपनयन्ति प्राणिनां ये ते लोमहाराः । किमुक्तं भवति ? निस्त्रिंशतया, आत्मविघाताऽऽशङ्कया च प्राणान् निहत्यैव ततः सर्वस्वमपहरन्ति । तथा च वृद्धाः-'' लोमहाराः प्राणहाराः '' इति । तांश्च, ग्रन्थि द्रव्यसंबन्धिनीं भिन्दन्ति घुर्घुरुकद्विकर्तिकाऽऽदिना विदारयन्तीति ग्रन्थिभेदाः, तान् , चशब्दो भिन्नक्रमः । तदेव कुर्वन्ति तस्कराः, सर्वकालं चौर्यकारिणः, तांश्च । यत आहुर्वैयाकरणाः-'' तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च । '' (वार्ति०) इह चोत्साद्येति गम्यते, प्रविश्य पिण्डीमित्युक्तौ भक्षयेतिवत् । यद्वा-सप्तम्येवेयं, बह्वर्थे चैकवचनम् , ततश्चाऽऽमोषाऽऽदिषूपतापकारिषु सत्सु, नगरस्य पुरस्य क्षेमं सुस्थं, कृत्वा विधाय, ततस्तदनन्तरं, गच्छ क्षत्रिय ! एतेनापि यः सधर्मा नृपतिः, स इहाधर्मकारिनिग्रहकृत्, यथा भरताऽऽदिः, सधर्मनृपतिश्च भवानित्यादि-हेतुकारणसूचना कृतैवेति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥

इत्थं शक्रोक्तौ-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्ववी ॥ २९ ॥
असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छा दंडो पउंजइ ।
अकारिणोऽत्थ बज्झंति, मुच्चई कारओ जणो ॥ ३० ॥

असकृदनेकधा, तुरेवकारार्थः, ततश्चासकृदेव, मनुष्यैर्मनुजैः, मिथ्या व्यलीकः । किमुक्तं भवति ?-अनपराधिष्वप्यज्ञानाहङ्काराऽऽदिहेतुभिरपराधिष्विव, दण्डनं दण्डोदेशत्यागशरीरनिग्रहाऽऽदिः, प्रयुज्यते व्यापार्यते । कथमिदम् ? इत्याह-अकारिण आमोषणाऽऽद्यविधायिनः, अत्रेत्यस्मिन् प्रत्यक्षत उपलभ्यमानमनुष्यलोके, दध्यन्ते निगडाऽऽदिभिर्नियन्त्र्यन्ते; मुच्यते त्यज्यते, कारको विधायकः, प्रकृतत्वादामोषणाऽऽदीनाम् । जनो लोकः । तदनेन यदुक्तम्-प्रागामोषकाऽऽद्युत्सादनेन नगरस्य क्षेमं कृत्वा गच्छेति, तत्र तेषां ज्ञातुमशक्यतया क्षेमकरणस्याप्यशक्यत्वमुक्तम् । यत्तु यः सधर्मेत्यादि सूचितम्, तत्रापरिज्ञानतोऽनपराधिनामपि दण्डमाददतां सधर्मनृपतित्वमपि तावच्चिन्त्यमित्यसिद्धता हेतोरिति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥ ३० ॥

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्ववी ॥ ३१ ॥

प्राग्वत् ॥ ३१ ॥

नवरमियता स्वजनान्तःपुरपुरप्रासादनृपतिधर्मविषयः
किमस्याभिष्वङ्गोऽस्ति, नेति वेति विमृष्य, संप्रति द्वेषाभावं विवेक्तुमिच्छुर्विजिगीषुतामूलत्वात् द्वेषस्य, तामेव परीक्षितुकामः शक्र
इदमुक्तवान्-

जे केइ पत्थिवा तुब्भं (तुज्झमिति) **,नाणमंति नराहिवा !**
वसे ते ठावइत्ता णं, तओ गच्छसि खत्तिया ॥ ३२ ॥

ये केचिदिति सामस्त्योपदर्शकम् , पार्थिवा भूपालाः, (तुब्भं ति) तुभ्यं, नानमन्ति न मर्यादया प्रह्वीभवन्ति, तुभ्यमिति नमतीतियोगेऽपि चतुर्थी, '' मात्रे पित्रे सवित्रे च, नमामि '' इत्यादिवददुष्टैव । वाचनान्तरे पठ्यते च-(तुज्झं ति) तत्र च तवेति शेषविवक्षया षष्ठी । ' नराहिवा ! '' इत्यत्राऽऽकारो **'' ह्रस्वदीर्घा मिथो वृत्तौ '' ॥ ८ । १ । ४ ।** इति लक्षणात् (अयं तु प्रमादेनोल्लेखः, यतो हि **' डो दीर्घो वा ॥ ८ । ३ । ३८ ॥** इतिसूत्रं विवेचयता हेमचन्द्रसूरिणा प्राप्ताप्राप्तविभाषात्वमस्य सूत्रस्य समर्थितम् । तद् यथा-हे गुरू, हे गुरु, हे पहू , हे पहु, एषु प्राप्ते विकल्पः । हे गोयमा ! हे गोयम ! इह त्वप्राप्ते विकल्पः) ततश्च हे नराधिप ! नृपते ! वशे इत्यात्माऽऽयत्ते, तानित्यन्यात्पार्थिवान् , स्थापयित्वा निवेश्य, कृत्वेति यावत् । ततो गच्छ क्षात्रिय ! इहापि यो नृपतिः स नानमत्पार्थिवं नमयिता, यथा भरताऽऽदिरित्यादिहेतुकारणे अर्थत आक्षिप्ते, इति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥

एवं तु सुरपतिनोक्ते-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्ववी ॥ ३३ ॥

सूत्रं प्राग्वत् ॥ ३३ ॥

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एवं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥ ३४ ॥
अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ?
अप्पणा चेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥ ३५ ॥
पंचिंदियाणि कोहं, मायं माणं तहेव लोभं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥ ३६ ॥

य इत्यनुद्दिष्टनिर्देशे, सहस्रं दशशताऽऽत्मकं, सहस्राणां प्रक्रमात् सुभटानाम् , संग्रामे युद्धे, दुर्जये दुरापपरपरिभवे, जयेदभिभवेत् । संभावने लिङ् । एकमद्वितीयं, जयेद् यदि कथञ्चिज्जीववीर्योल्लासतोऽभिभवेत् , कम् ? आत्मानं स्वं, दुराचारप्रवृत्तमिति गम्यते । एषोऽनन्तरोक्तः, (से इति) तस्य जेतुः, सुभटदशशतसहस्रजयात्परमः प्रकृष्टो, जयः परेषामभिभवः, तदनेनाऽऽत्मन एवातिदुर्जयत्वमुक्तम् ॥ ३४ ॥ तथा च (अप्पाणमेव त्ति) तृतीयार्थे द्वितीया । ततश्चात्मनैव सह, युद्ध्यस्व संग्रामं कुरु । यद्वायुधेरन्तर्भावितण्यर्थत्वाद्युध्यस्वेति योधयस्व । कम् ? आत्मानम् , इहाप्यात्मनैव सहेति शेषः । किम् ? न किञ्चिदित्यर्थः । ते तव, युद्धेन संग्रामेण, बाह्यत इति बाह्यं पार्थिवाऽऽदिकमाश्रित्य, यदि वा बाह्य इति तृतीयार्थे तसिः, ततो बाह्येन युद्धेनेति संबध्यते । एवं च (अप्पणा चेव त्ति) आत्मनैवान्यव्यतिरिक्तेन, आत्मानं स्वं, (जइत्त त्ति) जित्वा, सुखमैकान्तिकात्यन्तिकमुक्तिसुखाऽऽत्मकम् , एधत इति- अनेकार्थत्वाद्धातूनां प्राप्नोति । (अहवा सुहमेहए त्ति) शुभं पुण्यमेधते-अन्तर्भावितण्यर्थत्वाद् वृद्धिं नयति ॥ ३५ ॥ कथमात्मन्येव जिते सुखावाप्तिः ? इत्याह-पञ्चेन्द्रियाणि श्रोत्राऽऽदीनि, क्रोधः कोपो, मानोऽहङ्कारो, माया निकृतिः, तथैव लोभश्च गार्ध्यलक्षणो, दुर्जयो दुरभिभवः, चः समुच्चये । एवेति पूरणे । अतति स-ततं गच्छति तानि तान्यध्यवसायस्थानान्तराणीति व्युत्पत्तेरात्मा मनः, सर्वत्र च सूत्रत्वान्नात्मना निर्देशः । सर्वमशेषमिन्द्रियादि, उपलक्षणत्वाद् मिथ्यात्वाऽऽदि च, आत्मनि जीवे, जितेऽभिभूते, जितमित्यभिभूतमेव । ननु मनसि जिते जितानि

पञ्चेन्द्रियाऽऽदीनीति, किं पृथक् तज्जयाभिधानेन ? सत्यम्-तथाऽपि प्रत्येकं दुर्जयत्वख्यापनाय पृथगुपन्यास इत्यदोषः। यद्वा- (दुज्जयं चेव अप्पाणं त्ति) चकारो हेत्वर्थः, एवोऽवधारणे, भिन्नक्रमश्च-आत्मशब्दानन्तरं द्रष्टव्यः। ततश्च यस्मादात्मैव जीव एव दुर्जयस्ततः सर्वमिन्द्रियाऽऽद्यात्मनि जिते जितम्। अनेन चेन्द्रियाऽऽदीनामेव दुःखहेतुत्वात्तज्जयतः सुखप्राप्तिः समर्थिता भवति। एवं च फलोपदर्शनद्वारेणैवंविधैव जिगीषुता श्रेयसीत्याचष्टे। ततश्च यो नृपतिरित्याद्यपि तत्त्वतो विजिगीषुत्वदर्शनात् सिद्धसाधनतया प्रत्युक्तमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ ३६ ॥

भूयोऽपि-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्ववी ॥ ३७ ॥

प्राग्वत् ॥ ३७ ॥

नवरमनन्तरपरीक्षातो द्वेषोऽप्यनेन परिहृत इति निश्चित्य, जिनप्रणीतधर्मं प्रति स्थैर्यं परीक्षितुकामः शक्र इदमवोचत्-

जइत्ता विउले जण्णे, भोएत्ता समणमाहणे।
दच्चा भोच्चा य जिट्ठा य, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥ ३८ ॥

(जइत्त त्ति) याजयित्वा विपुलान् विस्तीर्णान् , यज्ञान् यागान् , भोजयित्वा-अभ्यवहार्य, श्रमणाश्च निर्ग्रन्थाऽऽदयो, ब्राह्मणाश्च द्विजाः, श्रमणब्राह्मणाः, तान् , द्विजाऽऽदिभ्यो गोभूमिसुवर्णाऽऽदीन् दत्त्वा, भुक्त्वा च मनोज्ञशब्दाऽऽदीन् , इष्ट्वा च राजर्षित्वात् स्वयमेव यज्ञान् , ततो गच्छ क्षत्रिय ! अनेन यद्यत्प्राणिप्रीतिकरं तत्तद् धर्माय, यथा हिंसोपरमाऽऽदि, प्राणिप्रीतिकराणि चामूनि यागाऽऽदीनीत्यादिनीत्या हेतुकारणे सूचिते एवेति सूत्रार्थः ॥ ३८ ॥

शक्रवचनानन्तरम्-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्ववी ॥ ३९ ॥

सूत्रं प्राग्वत् ॥ ३९ ॥

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्सा वि संजमो सेओ, अदिंतस्स वि किंचण ॥ ४० ॥

य सहस्रं सहस्राणां दशलक्षाऽऽत्मकं, मासे मासे, गवां प्रतीतानां, (दए त्ति) दद्यात् , तस्याप्येवंविधस्य दातुर्यदि कथञ्चिच्चारित्रमोहनीयक्षयोपशमेन संयम आश्रवाऽऽदिविरमणाऽऽत्मकः स्यात् , तदा स एव श्रेयानतिशयप्रशस्यः। कथंभूतस्यापि ? अददतोऽप्ययच्छतोऽपि, किञ्चन स्वल्पमपि वस्तु। यद्वा-(तस्सा वि त्ति) तस्मादप्युक्तरूपाद् ददतुरवधित्वेन विवक्षितात्संयच्छति प्राणिहिंसाऽऽदिभ्यः सम्यगुपरमतीति, सर्वधातूनां पचाऽऽदिषु दर्शनादचि संयमः संयमवान् , साधुरित्यर्थः। श्रेयान् प्रशस्यतरः। अथवा तस्यापि दातुः, प्रक्रमाद्गोदानधर्मात्, संयम उक्तरूपः, श्रेयान्। शेषं पूर्ववत्। गोदानं चेह यागाऽऽद्युपलक्षणमतिप्रभूतजनाऽऽचरितमित्युपात्तम्। एवं च संयमस्य प्रशस्यतरत्वमभिदधता यागाऽऽदीनां सा-वद्यत्वमर्थादापेदितम्। तथा च यज्ञप्रणेतृभिरुक्तम्- '' षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनाद् , न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥ '' इयत्यस्तु वधे च कथमसावद्यता नाम ? तथा दानान्यप्यशनाऽऽदिविषयाणि, धर्मोपकरणगोचराणि च धर्माय वर्ण्यन्ते ? यत आह- '' अशनाऽऽदीनि दानानि, धर्मोपकरणानि च। साधुभ्यः साधुयोग्यानि, देयानि विधिना बुधैः '' ॥ १ ॥ शेषाणि तु सुवर्णगोभूम्यादीनि प्राण्युपमर्दहेतुतया सावद्यान्येव, भोगानां तु सावद्यत्वं सुप्रसिद्धम्; तथा च प्राणिप्रीतिकरत्वादित्यसिद्धो हेतुः। प्रयोगश्चयत्सावद्यं तत्प्राणिप्रीतिकरं न, यथा हिंसाऽऽदि, सावद्यानि च यागाऽऽदीनीति सूत्रार्थः ॥ ४० ॥

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्ववी ॥ ४१ ॥

' एयमट्ठं ' सूत्रं प्राग्वत् ॥ ४१ ॥

नवरम् , इत्थं जिनधर्मस्थैर्यमवधार्य, प्रव्रज्यां प्रति दृढोऽयमुत नेति परीक्षणार्थं शक्र इदमब्रवीत्-

घोराऽऽसमं चइत्ता णं, अन्नं पत्थेसि आसमं।
इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा ! ॥४२ ॥

घोरोऽत्यन्तदुरनुचरः, स चासावाश्रमश्च, आडिति स्वपरप्रयोजनाभिव्याप्त्या, श्राम्यन्ति खेदमनुभवन्त्यस्मिन्निति कृत्वा घोराऽऽश्रमो गार्हस्थ्यम् , तस्यैवाल्पसत्त्वैः दुष्करत्वात्। यत आहुः- ''गृहाऽऽश्रमसमो धर्मो, न भूतो न भविष्यति। पालयन्ति नराः शूराः, क्लीबाः पाखण्डमाश्रिताः ॥ १ ॥ '' तं, त्यक्त्वाऽपहाय, '' जहित्ता णं ति '' क्वचित्पाठः। तत्र च हित्वा, अन्यमेतद्व्यतिरिक्तं कृषिपाशुपाल्याऽऽद्यशक्तकातरजनाभिनन्दितं, प्रार्थयसेऽभिलषसि, आश्रमं प्रव्रज्यालक्षणं, भेदं क्लीबसत्त्वानुचरितं भवादृशामुचितमित्यभिप्रायः। तर्हि किमुचितम् ? इत्याह-इहैवास्मिन्नेव गृहाश्रमे, स्थित इति गम्यते। पोषं धर्मपुष्टिं धत्त इति पोषधः, अष्टम्यादितिथिषु व्रतविशेषः, तत्र रत आशक्तः पोषधरतो, (भवाहि त्ति) भव, अणुव्रताऽऽद्युपलक्षणमेतत्, अस्यैवोपादानं पोषधदिनेष्ववश्यंभावतस्तपोऽनुष्ठानख्यापकम्। यत आह आश्वसेनः- '' सर्वेष्वपि तपोयोगः, प्रशस्तं कालपर्वसु। अष्टम्यां पञ्चदश्यां च, नियतः पोषधं चरेत् ॥ १ ॥ '' इति। मनुजाधिप ! नृपते ! अत्र च घोरपदेन हेतु-राक्षिप्तः। तथाहि-यद्यद् घोरं तद् तद्धर्मार्थिनाऽपि अनुष्ठेयं, यथाऽनशनाऽऽदि, तथा चायं गृहाऽऽश्रमः, शेषमेतदनुसारतोऽभ्यूह्यमिति सूत्रार्थः ॥ ४२ ॥

ततश्च-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्ववी ॥ ४३ ॥

प्राग्वत् ॥ ४३ ॥

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेण उ भुंजए।
न सो सुअक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥ ४४ ॥

'' मासे मासे '' इति वीप्सायां द्विर्वचनम् , तुरिहोत्तरत्र चैवकारार्थः, ततश्च मासे मासे एव, न त्वेकस्मिन्नेव मासे, अर्द्धमासाऽऽदौ वेति, यः कश्चिद् बालोऽविवेकः, कुशाग्रेणैव तृणविशेषप्रान्तेन, भुङ्क्ते। एतदुक्तं भवतियावत् कुशाग्रेऽवतिष्ठते तावदेवाभ्यवहरन्, नातोऽधिकम्; अथवा कुशाग्रेणेति जातावेकवचनम्। तृतीया तु ओदनेनासौ भुङ्क्तइत्यादिवत् साधक-तमत्वेनाभ्यवहियमाणत्वेऽपि विवक्षितत्वात्। नेति निषेधे। स इति यः कुशाग्रैर्भुङ्क्तेस एवंविधकष्टानुष्ठाय्यपि, सुष्ठु शोभनः सर्वसावद्यविरतिरूपत्वात् , आडित्यभिव्याप्त्या, ख्यातस्तीर्थकराऽऽदिभिः कथितः स्वाख्यातः, तथाविधो

धर्मो यस्य सोऽयं स्वाख्यातधर्मा, तस्य, चारित्रिण इत्यर्थः । कलां भागमपि, अर्हति षोडशीं षोडशपूरणीम् ॥ इदमुक्तं भवति-स समोऽपि न भवति, किं पुनस्तुल्यः, अधिको वा । ततो यदुक्तं-यद्यद् घोरं न तत्तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयम् , अनशनाऽऽदिवदित्यत्र घोरत्वादि-त्यनैकान्तिको हेतुः । घोरस्यापि व्याख्यातधर्मस्यैव धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयत्वात् , अन्यस्य त्वात्मविघाताऽऽदिवदन्यथात्वात् । प्रयोगश्चात्रयत् स्वाख्यात-धर्मरूपं न भवति घोरमपि न तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयम्, यथा-आत्मवधा-ऽऽदिः, तथा च गृहाऽऽश्रमः, तद्रूपत्वं चास्य सावद्यत्वाद् हिंसाऽऽदिव-दित्यलं प्रसङ्गेन । शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ ४४ ॥

ततश्च-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्ववी ॥ ४५ ॥

' एयं ' सूत्रं प्राग्वत् ॥ ४५ ॥

नवरं यतिधर्मे दृढोऽयमिति निश्चित्य, दुरन्तोऽ-
यमभिष्वङ्ग इति तद्भावं परीक्षितमपि पुनः
परीक्षितुमिन्द्र उवाच-

हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं, कंसं दूसं च वाहणं ।
कोसं वड्ढावइत्ता णं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥ ४६ ॥

हिरण्यं सुवर्णं, स्वर्णं शोभनवर्णं, विशिष्टवर्णकमित्यर्थः । यद्वाहिरण्यं घटितस्वर्णम् , इतरत्तु सुवर्णं, मणयश्चेन्द्रनीलाऽऽदयः, मुक्ताश्च मौक्तिकानि, मणिमुक्तम् । तथा कांश्यं कांश्यभाजनाऽऽदि, दूष्यं वस्त्राणि, चःस्वगतानेकभेदसंसूचकम् । वाहनं रथाश्वाऽऽदि । वाचनान्तरे पठन्ति च-(सवाहणं ति) सह वाहनैर्वर्तत इति सवाहनम् , हिरण्याऽऽदीति संबन्धः । कोशं भाण्डागारं धर्मलाभाऽऽद्यनेकवस्तुस्वरूपं (बद्धावइत्ता णं ति) वृद्धिं प्रापय्य, ततः समस्तवस्तुविषयेच्छापरिपूर्तौ, गच्छ क्षत्रिय ! अयमाशयः-यः साऽऽकाङ्क्षो नासौ धर्मानुष्ठानयोग्यो भवति, यथा मम्मणवणिक्, साऽऽकाङ्क्षश्च भवान् , आकाङ्क्षश्च भवान् , आकाङ्क्षणीय-विहरण्याऽऽदिवस्त्वपरिपूर्तेः, तथाविधद्रमकवदिति । शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ ४६ ॥ (तत्कथा ' मम्मण ' शब्दे वक्ष्यते)

ततः-

एयमट्ठं निवामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्ववी ॥ ४७ ॥

प्राग्वत् ॥ ४७ ॥

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥ ४८ ॥
पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुहिं सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इह विज्जा तवं चरे ॥ ४९ ॥

सुवर्णं रूप्यं च सुवर्णरूप्यमिति समाहारः । तस्य, तुः पूरणे । यद्वा-आर्षत्वाद्विभक्तिलोपः, तुशब्दश्च समुच्चये, ततः सुवर्णस्य रूप्यस्य च पर्वता इव पर्वताः पर्वतप्रमाणा राशयः, (भवे त्ति) भवयुः स्युः, पर्वतप्रमाणत्वेऽपि च लघुपर्वतप्रमाणा एव स्युः, अत आह-(सिया हु त्ति) स्यात् कदाचित् , हुरवधारेण, भिन्नक्रमश्च, ततः कैलाशसमा एव कैलाशपर्वततुल्या एव, न त्वन्यलघुपर्वतप्रमाणाः, तेऽप्यसंख्याकाः संख्याविरहिताः, न तु द्वित्रा एव, नरस्य पुरुषस्य, उपलक्षणत्वात् स्त्रियः, पण्डकस्य वा । न तैः कैलाशसमैरसंख्यैरपि सुवर्णरूप्यपर्वतैः, किञ्चिदप्यल्पमपि, परितोषोत्पादनं प्रति क्रियत इति शेषः । वाचनान्तरे पठ्यते च-(न तेण त्ति) अत्र च सूत्रत्वाद्वचनव्यत्ययः । कुतः पुनरिदम् ? इत्याह-इच्छा अभिलाषो, हुरिति यस्मात् , आकाशेन समा तुल्या आकाशसमा, अनन्तिका अन्तरहिता । तथा चैतदनुवादी वाचकः-'' न तुष्टिरिह शताज्जन्तोर्न सहस्रान्न कोटितः । न राज्यान्नैव देवत्वान्नेन्द्र-त्वादपि विद्यते ॥ १ ॥ '' ॥ ४८ ॥

किं सुवर्णरूप्ये केवले एव नेच्छापरिपूर्तये ? इत्याशङ्क्याऽऽह- पृथ्वी मही, शालयो लोहितशाल्यादयः, यवाः प्रतीताः, चः शेष-धान्य-समुच्चयार्थः । एवोऽवधारणे, स च भिन्नक्रमो नेत्यस्यान्तरं योज्यते । हिरण्यं सुवर्णं, ताम्राऽऽद्युपलक्षणमेतत् , पशुभिर्गवाश्वाऽऽदिभिः, सह सार्द्धं, प्रतिपूर्णं समस्तम् । वाचनान्तरे पठन्ति च-(सव्वं तं ति) सर्वमशेषं, न तु कियदेव, तत् पृथिव्यादि । नेति नैव, अलं समर्थं, प्रक्रमादि-*च्छापरिपूर्त्तये । एकस्याद्वितीयस्य, जन्तोरिति गम्यते । इत्येतत्* श्लोकद्वयोक्तम् , (विज्ज त्ति) सूत्रत्वाद्विदित्वा । यद्वा-इतीत्यस्माद्धेतोः, विद्वान पण्डितः, तपो द्वादशविधं, चरेदासेवेत । तत एव निस्पृहतयेच्छा-परिपूर्तिसंभवादिति भावः । अनेन च संतोष एव निराकाङ्क्षतायां हेतुर्न तु हिरण्याऽऽदिवर्द्धनमित्युक्तम् । तथा च हिरण्याऽऽदि वर्द्धयित्वेत्यत्र यदनुमानमुक्तं, तत्र साकाङ्क्षत्वलक्षणो हेतुरसिद्धः, न चाऽऽकाङ्क्षणीयव-स्त्वपरिपूर्त्तेस्तस्य सिद्धत्वं, संतुष्टतया ममाऽऽकाङ्क्षणीयवस्तुन एवाभावादिति सूत्रार्थः ॥ ४९ ॥

भूयोऽपि-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्ववी ॥ ५० ॥

' एयमट्ठं ' सूत्रं प्राग्वत् ॥ ५० ॥

नवरम् , अविद्यमानविषयेषु विषयवाऽऽछानिवृत्तोऽयमिति निश्चित्य, सत्सु तेष्वभिषङ्गोऽस्तु, न वा ? इति, विवेचयितुमिन्द्र उवाच-

अच्छेरयमब्भुदए, भोए जहसि पत्थिवा !
असंते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहण्णसि ॥ ५१ ॥

(अच्छेरयं ति) आश्चर्यं वर्त्तते, यत् त्वमेवंविधोऽपि (अब्भु- दए त्ति) अद्भुतकानाश्चर्यरूपान् , भोगान् कामान् , जहासि त्यजसि । वाचना-न्तरे पठ्यते च-(चयसि त्ति) पार्थिव ! पृथिवी-पते ! पाठान्तरश्चक्षत्रिय ! अथवा-(अब्भूइए त्ति) अभ्युदये; ततश्च यदभ्युदयेऽपि भोगाँस्त्वं जहासि तदाश्चर्यं वर्त्तते । तथा-तस्यागतश्च-असतोऽविद्यमानान्, कामान् , प्रार्थयसेऽभिलषसि यत् , तदप्याश्चर्यमिति संबन्धः । अथवा-कस्तवात्र दोषः ? संकल्पेन उत्तरोत्तराप्राप्तभोगाभिलाषरूपेण विकल्पेन, विहन्यसे विविधं बाध्यसे, एवंविधसंकल्पस्यापर्यवसितत्वादुक्तम्; अमीषां स्थूलसूक्ष्माणामिन्द्रियार्थविधायिनां शक्राऽऽदयोऽपि नो तृप्तिविशेषा-णामुपागताः । यद्वा-(अच्छेरगमब्भुदए त्ति) मकारोऽलाक्षणिकः । ततश्चा-ऽऽश्चर्याद्भुतयोरकार्थत्वेऽप्युपादानममतिशयख्यापनार्थम् । अतिशयाद्-भुतान् भोगान् जहासि पार्थिव ! असतश्च कामान् प्रार्थयसि यत् , तत्संक-ल्पेनैवोक्तरूपेण, विहन्यसे बाध्यसे । कथं ह्यन्यथा विवेकिनस्तवैतत्सं-भवेत्, एतेन च यः सद्विवेको, नासौ प्राप्तान् विषयानप्राप्ताऽऽ-

काङ्क्षया परिहरति; यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्यादिः, सद्विवेकश्च भवानित्यादिहेतुकारणे सुचिते इति सूत्रार्थः ॥ ५१ ॥ (तत्कथा 'बंभदत्त' शब्दे)

तदनु-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ५२ ॥

प्राग्वत् ॥ ५२ ॥

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेऽमाणा य, अकामा जंति दुग्गइं ॥ ५३ ॥

(सल्लं ति) देहान्तश्चलतीति शल्यं शरीरान्तःप्रविष्टं तोमराऽऽदि, शल्यमिव शल्यम् । के ते ? काम्यमानत्वात् कामाः, मनोज्ञशब्दाऽऽदयः । यथाहि-शल्यमन्तश्चलद्विविधवाधाविधायि, तथैतेऽपि, तत्वत एषामपि सदा वाधाविधायित्वात् । तथा वेवेष्टि व्याप्नोतीति विषं तालपुटाऽऽदि, विषमिव विषं कामाः, यथैव हि तदुपभुज्यमानं मधुरमित्यापातसुन्दरमिवाऽऽभाति, अथ परिणतावतिदारुणम् , एवमेते अपि कामाः, तथा कामाः-आश्वो दंष्ट्राः, तासु विषमस्येत्याशीविषः, तदुपमाः । यथा ह्ययमङ्गैरवलोक्यमानः स्फुरन्मणिफणाभूषित इति शोभन इव विभाव्यते, स्पर्शनाऽऽदिभिरनुभूयमानश्च विनाशायैव भवति, तथैतेऽपि कामाः ? किञ्च-कामान् प्रार्थयमाना अभिलषन्तः, अपि शब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्प्रार्थय-माना अपि, अकामा इष्यमाणकामाभावाद्, यान्ति गच्छन्ति, दुर्गतिं दुष्टां नरकाऽऽदिगतिम् । तदनेन न केवलं शल्याऽऽदिवदनुभूयमाना एवामी दोषकारिणिः, किं तु प्रार्थ्यमाना अपीत्युक्तं भव-ति । तथा यः सद्विवेको, नासौ प्राप्तमप्राप्ताऽऽकाङ्क्षया जहातीत्यादौ सद्विवेकत्वमनैकान्तिको हेतुः । न ह्ययमेकान्तः, यथा-प्राप्तमप्राप्तार्थेन ; प्राप्तस्याप्यपायहेतोस्तदुच्छेदकाप्राप्तार्थं विवेकिभिः परिहियमाणत्वात् ; अनभ्युपगतोपालम्भश्चायम् , मुमुक्षूणां क्वचिदाकाङ्क्षाया एवासंभवात् । उक्तं हि-'' मोक्षे भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तमः । '' इति सूत्रार्थः ॥ ५३ ॥

कथं पुनः कामान् प्रार्थयमाना दुर्गतिं यान्ति ? अत आह-

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडीघाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥ ५४ ॥

अधो नरकगतौ, व्रजति गच्छति, क्रोधेन कोपेन, मानेनाहङ्कारेण, अधमा नीचा गतिः, भवतीति गम्यते । (माय त्ति) सूव्व्यत्ययात् मायया परवञ्चनाऽऽत्मिकया, गतेः-प्रस्तावात् सद्गतेः, प्रतिघातो विनाशो गतिप्रतिघातो भवति । लोभाद्गार्ध्यलक्षणात् , (दुहओ ति) द्विधा द्विःप्रकारम्-ऐहिकं, पारत्रिकं च । विभ्यत्यस्मादिति भयं दुःखं, तदाशङ्कने साध्वसं च । कामेषु प्रार्थ्यमानेष्ववश्यंभावी क्रोधसंभवः, स चेद्गतिं कथं न, तत् प्रार्थनातो दुर्गतिगमनमित्यभिप्रायः । यद्वा-सर्वमपि यदिन्द्रेणोक्तं तत्कषायानुपातीति तद्विपाकानुवर्णनमिदमिति सूत्रार्थः ॥ ५४ ॥

एवं बहुभिरप्युपायैस्तमिन्द्रः क्षोभयितुमशक्तः किमकरोत् ? इ-त्याह-

अवउज्झिऊण माहण-रूवं च विउव्विऊण इंदत्तं ।
वदइ अभित्थुणंतो, इमाहि महुराहि वग्गूहिं ॥ ५५ ॥
अहो ! ते निज्जितो कोहो, अहो ! माणो पराजितो ।
अहो ! निरक्किया माया, अहो ! लोभो वसीकओ ॥ ५६ ॥
अहो ! ते अज्जवं साहु, अहो ! ते साहु मद्दवं ।
अहो ! ते उत्तमा खंती, अहो ! ते मुत्ति उत्तमा ॥ ५७ ॥

(अवउज्झिऊण ति) अपोह्य त्यक्त्वा, ब्राह्मणरूपं धिन्वर्णवेषं, (विउव्विऊणं ति) विकृत्य, इन्द्रत्वमुत्तरवैक्रियरूपमिन्द्रभावं, वन्दतेऽनेकार्थत्वात् प्रणमति, अभिष्टुवन्नभिमुखेन स्तुतिं कुर्वन् , इमाभिरनन्तरवक्ष्यमाणाभिः, मधुराभिः श्रुतिसुखाभिः, (वग्गूहिं ति) आर्षत्वाद् वाग्भिर्वाणीभिः ॥ ५५ ॥ तद्यथा-अहो ! इति विस्मये, (ते त्ति) त्वया, नितरामतिशयेन जितोऽभिभूतो निर्जितः, क्रोधः कोपः, यतस्त्वमनानमत्पार्थिववशीकरणप्रेरणायामपि न क्षुभित इत्यभिप्रायः । तथा अहो ! त्वया मानोऽहमितिप्रत्ययहेतुः, पराजितोऽभिभूतः, यस्त्वं मन्दिरं दह्यत इत्याद्युक्तेऽपि कथं मयि जीवतीदमिति नाहङ्कृतिं कृतवानिति ॥ ५६ ॥ तथा-(अहो निरक्किय त्ति) प्राकृतत्वान्निराकृताऽपास्ता माया, यस्त्वं पुनः रक्षाहेतुप्राकाराट्टालकोच्छूलकाऽऽदिषु निकृतिहेतुकेष्वामोषकोत्सादनाऽऽदिषु च न मनो निहितवान् । तथा-अहो ते लोभो वशीकृत इति नियन्त्रितः, यस्त्वं हिरण्याऽऽदि वर्द्धयित्वा गच्छेति सहेतुकमभिहितोऽपि इच्छाया आकाशसमत्वमेवोदाहृतवान् , अत एव अहो ! ते तवाऽऽर्जवं विनयवत्त्वं, साधु शोभनम् , अहो ! ते साधु मार्दवं मृदुत्वम् , अहो ! ते उत्तमा प्रधाना क्षान्तिः कोपोपशमलक्षणा, अहो ! ते मुक्तिर्निर्लोभता, उत्तमा, व्यत्ययनिर्देशस्त्वनानुपूर्व्यपि प्ररूपणाङ्गमितिकृत्वेति सूत्रार्थः ॥ ५७ ॥

इत्थं गुणोपवर्णनद्वारेणाभिष्टुत्य संप्रति फलोपदर्शनद्वारेण प्रस्तुवन्नाह-

इहं सि उत्तमो भंते ! पच्छा होहिसि उत्तमो ।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥ ५८ ॥

इहास्मिन् जन्मनि, असि भवसि, उत्तमः प्रधानः उत्तमगुणान्वितत्वात् । (भंते त्ति) पूज्याभिधानम् । पश्चात् प्रेत्य परलोके भविष्यस्युत्तमः । कथमित्याह-लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य, उत्तममुपरिवर्ति लोकोत्तमम् । उत्तमं देवलोकोऽद्यपेक्षया प्रधानम् । अथवा-(लोगुत्तममुत्तम त्ति) मकारोऽलाक्षणिकः, ततो लोकस्य लोके वा, उत्तमोत्तममतिशयप्रधानं लोकोत्तमम् , तिष्ठन्त्यस्मिन्नातःपरं गच्छन्तीति स्थानं, किं तत् ? इत्याह-सिद्धिं मुक्तिं, गच्छसि सूत्रत्वाद् गमिष्यसि, निर्गतो रजसः कर्मणः, इति सूत्रार्थः ॥ ५८ ॥

उपसंहारमाह-

एवं अभित्थुणंतो, रायरिसिं उत्तमाएँ सद्धाए ।
पायाहिणं करेंतो, पुणो पुणो वंदई सक्को ॥ ५९ ॥

एवममुनोक्तन्यायेन, अभिष्टुवन् राजर्षिमुक्तरूपं, प्रक्रमान्नमिम् , उत्तमया प्रधानया, श्रद्धया भक्त्या, (पायाहिणं ति) प्रदक्षिणां, कुर्वन् विदधत् , पुनः पुनः वन्दते प्रणमति, शक्रः पुरन्दरः, इति सूत्रार्थः ॥ ५९ ॥

अनन्तरं च यत् कृतवाँस्तदाह-

तो वदिऊण पाए, चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स ।
आगासेणुप्पइओ, ललियचवकुंडलतिरीडी ॥ ६० ॥

ततस्तदनन्तरं, पाठान्तरतश्च-(स इति) शक्रः, वन्दित्वा, पादौ चरणौ, चक्रं चाङ्कुशश्च प्रतीतावेव, तत्प्रधानानि लक्षणानि

ययोस्तौ, तथा मुनिवरस्य, नमिनाम्न इति प्रक्रमः । तत आकाशेन नभसा, उदिति ऊर्द्ध-देवलोकाभिमुखं, पतितो गत उत्पतितः, ललिते च ते सविलासतया, चपले च चञ्चलतया ललितचपलं, तथाविधे कुण्डले करणाऽऽभरणे यस्यासौ ललितचपलकुण्डलः, स चासौ तिरीटी च मुकुटवान्, ललितचपलकुण्डलतिरीटीति सूत्रार्थः ॥ ६० ॥

स एवंविधः स्वयमिन्द्रेणाभिष्टूयमानः किमुत्कर्ष मनस्यानवान्, उत न ? इत्याह-

नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ ।
चइऊण गेहं वइदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिए ॥ ६१ ॥

नमिर्नमयति भावतः ग्रहीभवन्तमात्मानं स्वं तत्त्वभावनया विशेषतः प्रगुणयति तत्तच्छिक्षतां नयति । तत्कालापेक्षया लट् । कथंभूतः सन् ? साक्षात् प्रत्यक्षतामुपगम्य, शक्रेणेन्द्रेण, (चोइओ त्ति) प्रेरितः, त्यक्त्वाऽपहाय, गेहं गृहं, (वइदेहि त्ति) सूत्रत्वाद् विदेहनामा जनपदः, सोऽस्यास्तीति वैदेही, विदेहजनपदाधिपः, न त्वन्य एव कश्चिदिति भावः । यद्वा-विदेहेषु भवा वैदेही मिथिलापुरी, सुप्व्यत्ययात् तां च, त्यक्त्वेति संबन्धनीयम् । श्रामण्ये श्रमणभावे पर्युपस्थिते, उद्यतोऽभूदिति शेषः । यद्वा-नमिर्नमयति संयमं प्रति प्रवणीकरोत्यात्मानम्, कीदृशः ? शक्रेण प्रेरितः, कथम् ? साक्षात् स्वयं, न त्वन्यपार्श्वप्रहितसंदेशकाऽऽदिना, श्रामण्ये पर्युपस्थितः, न तु तत्प्रेरणतोऽपि धर्मं प्रति विप्लुतोऽभूदिति भावः । इति सूत्रार्थः ॥ ६१ ॥

किमेष एवैवंविधः, उतान्येऽपि ? इत्याह-

एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से नमी रायरिसी । ६२ । त्ति बेमि ।

(एवमिति) यथैतेन नमिना निश्चलत्वं कृतं, तथाऽन्येऽपि कुर्व-न्ति, उपलक्षणत्वादकार्षुः, करिष्यन्ति च । न त्वयमेव, निदर्शनत-यैवास्योपात्तत्वात् । कीदृशाः पुनरन्येऽप्येवं कुर्वन्ति ? संबुद्धा मिथ्यात्वापगमतोऽवगतजीवाजीवाऽऽदितत्त्वाः । पण्डिताः सुनि-श्चितशास्त्रार्थाः, प्रविचक्षणा अभ्यासातिशयतः क्रियां प्रति प्रावी-ण्यवन्तः, तथाविधाश्च सन्तः किं विदधति ? विनिवर्तन्ते विशेषेण तदनासेवनादुपरमन्ति, केभ्यः ? (भोगेसु त्ति) भोगेभ्यः, किंवत् ? यथा स नमिर्नमिनामा राजर्षिर्निश्चलो भूत्वा तेभ्यो निवृत्त इति ॥ यद्वा-उपदेशपरमेतद्, यत एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः पण्डिताः प्रविक्षणाः । एवमिति कथम् ? इत्याह-भोगेभ्यो विनिवर्तन्ते विशेषेणात्यन्तनिश्चलता-लक्षणेन, निवर्तन्ते, यथा स नमिनामा राजर्षिः, ततो भवद्भिरप्येवं-विधैरित्यमेव विधेयमिति सूत्रार्थः ॥ ६२ ॥ इति ब्रवीमीति पूर्ववन्नयाश्च प्राग्वदिति । उत्त० ९ अ० । सूत्र० । आ० चू । आव । ऋषभजिनसह-प्रव्रजितस्य कच्छस्य सुते विनमिभ्रातरि, यो हि कुसुमोच्चयेन भगवन्तं प्रसाद्य धरणेन्द्राऽऽदेशाद् विद्याधर-ऋद्धिसंप्राप्तो वैताढ्ये नगे दक्षिणश्रेण्यां राज्यं चकार । (आ० म० १ अ० १ खण्ड । कल्प० । आ० चू०) ततो विजयप्रवृत्तेन भरतचक्रिणा पराजितो रत्नानि दत्त्वा क्षमयां बभूव । आव० १ अ० । आ० म० । (शत्रुञ्जयेऽस्य प्रतिमाः) '' आत्तासिना विनमिना, नमिना च निषेवितः । स्वर्गाऽऽरोहणचैत्ये च, श्रीनाभयेः प्रभासते ॥ १ ॥ '' ती० १ कल्प । स्वनामके खेचरर्षौ, '' अस्मिन्नमिविनम्याख्यौ, खेच-रेन्द्रमहाऋषी । कोटिद्वय्या महर्षीणां, सहितौ सिद्धिमीयतुः ॥१॥'' ती० १ कल्प । अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे एकविंशे तीर्थकरे, परीषहोप-सर्गाऽऽदिनामनाद् '' नमेरस्तु वा '' इति विकल्पेनोपान्त्यस्याकारा-भावपक्षे नमिः । धर्म० २ अधि० । प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाल्लक्षणा-न्तरसंभवाच्च '' तत्थ सव्वे वि परीसहोवसग्गा णामिया कसाय त्ति सामन्नं, विसेसो पुण-'' पणया पचंतनिवा, दंसिअमित्ता जिणम्मि तेण णमी । '' (५१) आव० २ अ० । तथा गर्भस्थे भगवति परचक्रनृपैरपि प्रणतिः कृतेति नमिः । ध० २ अधि० । अनु० । (' तित्थयर ' शब्दे सर्वं वक्ष्यते) '' नवरं नमीणं अरहा दसवाससहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे० जाव पहीणे । '' स्था० १० ठा० । कल्प० । '' नमिस्स णं अरहओ एगूणचत्ता-लीसं आहोहियसया होत्था । '' स० ३९ सम० । '' नमिस्स णं अरहओ एगचत्तालीसं अज्जियासाहस्सीओ होत्था । '' स० ४० सम० । प्रव० । आ० चू० । अन्तकृद्दशानां प्रथमाऽऽध्ययनोक्तवक्तव्यताकेऽन्तकृत्साधौ, (परमस्यान्तकृद्दशासु नामापि न श्रूयते ।) स्था० १० ठा० ।

णमिऊण अव्य०(नत्वा) प्रणम्येत्यर्थे, दश० १ अ० । '' णमि-ऊणऽरहंताणं, सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं । '' नि० चू० १ उ० । पञ्चा० । पं० सं० ।

णमिपव्वज्जा स्त्री०(नमिप्रव्रज्या) नमेः प्रव्रज्याऽत्राभिधीयते इति नमिप्रव्रज्या । मिथिलाराजस्य नमेः प्रव्रज्यायां शक्रसंवादरूपे नवमे उत्तराध्ययने, उत्त० ९ अ० । स० । ('' णमि '' शब्दे चैतद्- वक्तव्यतोक्ता)

णमिय त्रि०(नमित) नम्रे, जी० ३ प्रति० । '' कुसुमफलभारन-मियसाला । '' जी० ३ प्रति० । नीचैर्भावं प्रापिते, जं० १ वक्ष० ।

***नत्वा** अव्य । प्रणम्येत्यर्थे, कर्म० ४ कर्म० ।

णमियणमिय त्रि०(नमितनमित) देवर्षिवन्दिते, पं० सू० १ सूत्र ।

णमिसाहु पुं०(नमिसाधु) थारापद्रपुरीयगच्छीयश्रीशान्तिभद्रसूरि-शिष्ये, अनेन रुद्रटरचितकाव्यालङ्कारग्रन्थोपरि टिप्पणं कृतम् । अयं च ११२५ वि० वर्षे विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

णमुदय पुं०(नमुदय) आजीविकोपासकभेदे, भ० ७ श० १० उ० ।

णमोक्कार पुं०(नमस्कार) नमस्करणं नमस्कारः । नमस्-कृ-घञ् । '' **नमस्कारपरस्परे द्वितीयस्य** '' ॥ ८ । १ । ६२ ॥ अनयोर्द्वितीय-स्यात ओत्वम्, इत्योत्वमतः । प्रा १ पाद । '' **ष्कस्कयोर्नाम्नि** '' ॥ ८ । २ । ४ ॥ इति नाम्नीति निर्देशान्न खः । प्रा २ पाद । अञ्जा-लिबन्धशिरोनमनाऽऽदिलक्षणे प्रणाममात्रे, कायेन प्रणमने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । घ० । अर्हदादिप्रणतौ, विशे० । सङ्घा० ।

(१) नमस्कारस्य व्याख्यानं चोत्पन्नाऽऽद्यनुयोगद्वारै-र्विज्ञेयम्, तानि चामूनि-

उप्पत्ती निक्खेवो, पयं पयत्थो परूवणा वत्थुं ।
अक्खेव पसिद्धि कमो, पओयण फलं नमोक्कारो । २८०५ ।

उत्पदनमुत्पत्तिः-प्रसूतिः, सा चास्य य नमस्कारस्य नयानुसारेण चिन्त्या । तथा-निक्षेपणं निक्षेपो न्यासः, स चास्य कार्यः । पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदं नामिकाऽऽदि, तच्चेह चिन्तनीयम् । पदस्यार्थः पदार्थः, स चास्य वक्तव्यः । प्रकृष्टा रूपणा प्ररूपणा,

सा चास्य द्विविधाऽऽदिभेदतो विधेया। वसन्त्यस्मिन् गुणा इति वस्तु, तच्च नमस्कारार्हं वाच्यम्। आक्षेपणमाक्षेपः पूर्वपक्षो वाच्यः। प्रसिद्धिस्तत्परिहाररूपा वक्तव्या। क्रमोऽर्हदादिरभिधेयः। प्रयोजनमर्हदादिक्रमस्य कारणं वाच्यम्। अथवा-येन प्रयुक्तः प्रवर्त्तते तन्नमस्कारस्य प्रयोजनमपवर्गाऽऽख्यं वाच्यम्। तथा-फलं च नमस्करणाऽऽदिक्रियाऽनन्तरभावि स्वर्गाऽऽदिकं निरूपणीयम्। अन्ये तु व्यत्ययेन प्रयोजनफलयोरर्थं प्रतिपादयन्ति-(नमोक्कारो त्ति) नमस्कारः खल्वेभिर्द्वारैरिश्चिन्तनीयः। इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः॥ २८०५॥

(२) अथ निर्युक्तिकार एवोत्पत्तिद्वारं विस्तरेणाऽऽह-

उप्पण्णाऽणुप्पण्णो, इत्थ नया णेगमस्सऽणुप्पण्णो।
सेसाणं उप्पण्णो, जइ कत्तो तिविहसामित्ता॥ २८०६॥

उत्पन्नश्चासावनुत्पन्नश्चेत्युत्पन्नानुत्पन्नो नमस्कारो मन्तव्यः। आह-कथमेक एवोत्पन्नोऽनुत्पन्नश्च भवति, विरोधाद्? इत्याह-(इत्थ इत्यादि) अत्र नयाः प्रवर्तन्ते? ते च नैगमाऽऽदयः सप्त। नैगमो द्विविधः-सर्वसंग्राही, देशसंग्राही च। तत्राऽऽदिनैगमस्य सामान्यमात्रावलम्बित्वात्, तस्य चोत्पादव्ययरहितत्वाद् नमस्कारस्यापि तदन्तर्गतत्वादनुत्पन्नः। (सेसाणं उप्पण्णो त्ति) शेषा विशेषग्राहिणः, तेषां शेषाणां विशेषग्राहित्वात्, तस्य चोत्पादव्ययवत्त्वाद्, उत्पादव्ययशून्यस्य वान्ध्येयाऽऽदिवदवस्तुत्वात्, नम-स्कारस्य तु वस्तुत्वादुत्पन्न इति। (जइ कत्तो त्ति) यद्युत्पन्नः, कुतः? इत्याह-(तिविहसामित्ता) त्रिविधं च तत्स्वामित्वं चेति समासः। तस्मात्त्रिविधस्वामित्वात् त्रिविधस्वामिभावात्त्रिविधकारणादित्यर्थः॥ २८०६॥

तदेव त्रिविधस्वामित्वं दर्शयति-

समुठाणवायणाल-द्धिओ य पढमे नयत्तिए तिविहं।
उज्जुसुयपढमवज्जं, सेसनया लद्धिमिच्छंति॥ २८०७॥

(समुठाणेत्यादि) समुत्थानतः, वाचनातः, लब्धितश्च। 'नमस्कार उत्पद्यते' इति वाक्यशेषः। तत्र सम्यक् सङ्गतं वोत्तिष्ठतेऽस्मादिति समुत्थानम्, निमित्तमित्यर्थः। किं पुनस्तदिह? इति। उच्यते-अन्यस्याश्रुतत्वात्, तदाधारतया प्रत्यासन्नत्वाद्देहोऽत्र परिगृह्यते; देहो हि नमस्कारकारणम्, तद्भावभावित्वाद्, बीजवदङ्कुरस्य, इत्येवं देहलक्षणात् समुत्थानाद् नमस्कार उत्पद्यते। तथा-वचनं वाचना गुरुभ्यः श्रवणमधिगम इत्यर्थः, तस्याश्च वाचनायाः सकाशाद् नमस्कारो जायते। तथा-लब्धिस्तदावरणक्षयोपशमलक्षणा, तस्याश्चामुपजायते। इत्येतत्त्रिविधं कारणं, प्रथमे नैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणे त्रिके, नैगमाऽऽदिनयत्रयमतेनावगन्तव्यमित्यर्थः। तथा-ऋजुसूत्रस्य प्रथमवर्जं वाचनालब्धिद्वयं नमस्कारस्य कारणम्, तच्छून्यस्य जन्तोर्देहमात्रसद्भावेऽपि नमस्काराऽऽख्यकार्योत्पत्तिव्यभिचारात्। शेषनयास्तु शब्दाऽऽदयो लब्धिमेवैकां नमस्कारकारणत्वेनेच्छन्ति, वाचनाया अपि लब्धिशून्येष्वभव्याऽऽदिषु नमस्काराजनकत्वात्, लब्धियुक्तेषु तु प्रत्येकबुद्धाऽऽदिषु तदभावेऽपि तत्सद्भावतो व्यभिचारित्वात्। इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः॥ २८०७॥

''उप्पण्णाऽणुप्पण्णो'' (२८०६) इत्यत्र भाष्यम्-

सत्तामेत्तग्गाही, जेणाऽऽइम-नेगमो तओ तस्स।
उप्पज्जइ नाभूयं, भूयं न य नासए वत्थुं॥ २८०८॥

येन यस्मात्कारणात्, आद्यनैगमः सत्तामात्रग्राही, ततस्तस्याऽऽद्यनैगमस्य मतेन सर्वं वस्तु नाभूतं नाऽविद्यमानं, किं तु सर्वदैव सर्वं सदेव। ततः किम्? इत्याह-(उप्पज्जइ न) इत्येवमिहापि नञ् संबध्यते, आवृत्तिव्याख्यानात्। इदमुक्तं भवति-यत्सर्वदैव सत्, तन्नोत्पद्यते। यथा-नभः, तस्याप्युत्पादाभ्युपगम उत्पन्नस्याप्युत्पादप्रसङ्गेनानवस्थाप्राप्तेः। तथा-यद् भूतं विद्यमानं सर्वदैव सद्वस्तु, तन्न नश्यति, सर्वथा सर्वदैव सतो विनाशायोगादिति॥ २८०८॥

तो तस्स नमोक्कारो, वत्थुत्तणओ नहं व सो निच्चो।
संतं पि न तं सव्वो, मुणइ सरूवं व वरणाओ॥ २८०९॥

यत एवम्, ततस्तस्याऽऽद्यनैगमस्य, स नमस्कारो नित्य एव, वस्तुत्वात्, नभोवत्, नोत्पद्यते, नाऽपि विनश्यतीत्यर्थः। अत एवैतन्मतेनानुत्पन्नोऽसावभिधीयते। आह-ननु यदि नमस्कारः सर्वदैव संस्तदा मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां किमित्यसौ न लक्ष्यते? इत्याह-(संतं पीत्यादि) सर्वावस्थासु सन्तमपि नमस्कारमति-शयज्ञानिनं विहाय न सर्वोऽपि 'मुणति' जानातीति प्रतिज्ञा। (वरणाओ त्ति) आवरणकर्मसद्भावादिति हेतुः, आत्मनः स्वरूपवदिति दृष्टान्तः। इदमुक्तं भवति-मिथ्यादृष्ट्यवस्थायामपि द्रव्यरूपतया नमस्कारोऽस्ति। सर्वथाऽसतः खरविषाणस्येव पश्चादप्युत्पादायोगात्, केवलं ज्ञानाऽऽवरणेनाऽऽवृतत्वाद् छद्मस्थजन्तवस्तद्रूपतया सन्तमपि तं नमस्कारं न लक्षयन्ति, यथाऽऽत्मनः स्वरूपम्। न हि आत्मनः स्वरूपं नास्ति, केवलममूर्तत्वात् सर्वदा सदपि तत्केवलिनं विहाय न कोऽपि लक्षयति। एवं नमस्कारोऽपि। इत्यतः सर्वदैव सत्त्वादसावादिनैगमाभिप्रायेणानुत्पन्न उच्यत इति॥ २८०९॥

''सेसाणं उप्पण्णो'' (२८०६) इत्येतद् गाथावयवं व्याचिख्यासुराह-

सेसमयं नत्थि तओ-ऽणुप्पायविणासओ खपुप्फं व।
जमिहऽत्थि तदुप्पाय-व्वयधुवधम्मं जहा कुंभो॥२८१०॥

शेषाणां विशेषवादिनयानाम्, एतन्मतम्-तकोऽसौ पराभिमतो नमस्कारो नास्ति, इति प्रतिज्ञा। अनुत्पादविनाशाद्-उत्पादविनाशाभावादिति हेतुः। खपुष्पवदिति दृष्टान्तः। इह यदस्ति तत्सर्वमुत्पादव्ययध्रुवधर्मकम्, यथा कुम्भः, यस्य पुनरुत्पादाऽऽ-दयो न सन्ति, तत्सदपि न भवति; यथा खरविषाणम्, उत्पाद-विनाशशून्यश्च परैर्नमस्कारोऽभ्युपगम्यते; ततो नास्त्यसावपि॥ २८१०॥

यदुक्तम्-आवरणात्सतोऽप्यस्याग्रहणम्, तत्राऽऽह-

आवरणादगणं, नाभावाउ त्ति तत्थ को हेऊ?
भत्तीऐं नमोक्कारो, कहमत्थि य सा नयगहणं॥ २८११॥

नन्वावरणाद् ज्ञानाऽऽवरणोदयात् सन्नपि नमस्कारः सर्वेण न गृह्यते, न पुनरभावादित्यत्र को हेतुः-किं नियामकम्? न किञ्चिदित्यर्थः। अभावादेवायं सर्वेण सर्वदा न गृह्यते, न पुनरावरणोदयादिति शेषनयाभिप्रायः। किञ्चतीर्थकराऽऽदिषु भक्तिर्नमस्कारोऽभिधीयते, सा च सर्वदाऽस्ति, न च मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां गृह्यत इति परस्परव्याहतमिदम्। तस्मादुत्पन्नोऽसौ गृह्यते, अनुत्पन्नस्तु न गृह्यते, इत्येतदेव सुन्दरम्, किमावरणाऽऽदिकल्पनया? इत्यभिप्रायः॥ २८११॥

अथाऽऽद्यनैगमनयमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अह परसंतो त्ति तओ, संतो किं नाम कस्स नासंतं ?
अहणाऽऽइव्ववएसो, नेवं न य परधणाफलया ॥ २८१२ ॥

अथैवं ब्रूषे-(परसंतो त्ति तओ संतो त्ति) परसन्ताने सर्वदैवास्ति नमस्कारः, नानाजीवेषु तस्य सर्वकालमध्यवच्छेदात् । योऽयमत्र नोपलभ्यते, तत्राप्यसौ (संतो त्ति) सन्नुच्यते । अत्रोत्तरमाह-(किं नाम कस्स नासंतं ? ति) यदि हि अन्यसन्तानवर्त्यपि वस्त्यन्यस्य सदुच्यते, तर्हि किं नाम वस्तु धनाऽऽदिकं कस्य नासद् ? अपि तु सर्वं सर्वस्यासत्प्राप्नोति । अस्य चोपलक्षणत्वात्- ' इत्थं सर्वं सर्वस्य सत्प्राप्नोति ' इत्यपि द्रष्टव्यम् । ततश्चैवम्-ईश्वरधनेन दरिद्राणामधनानामपि धनवत्त्वादधनव्यपदेशः कस्यापि न स्यात् । न चेत्थं परधनस्याफलता भवेत् , अन्यधनस्यान्यत्रापि सत्वात् , तथा च तत्फलस्यापि सद्भावादिति ॥ २८१२ ॥

ततः किं भवेद् ? इत्याह-

सव्वधणं सामन्नं, पावइ भत्तीफलं व सेसं च ।
किरियाफलमेवं चा-ऽकयागमो कयविणासो य ॥ २८१३ ॥

एवं सति यदेकस्येश्वरस्य संबन्धि तत्सर्वेषां दरिद्राणामपि धनं सामान्यं साधारणं प्राप्नोति । यद्वा-यदेकस्य नमस्कारवतोऽर्हदादिभक्तिफलं, तत्प्रिथ्यादृशामपि नमस्कारशून्यानां सामान्यं प्राप्नोति; तथा शेषं च यद्दान-ध्याना-हिंसा-ऽमृषावादाऽऽदिक्रियाफलं, तत्सर्वेषां सामान्यं प्राप्नोति । एवं च सत्यकृतस्यापि पुण्य-पाप-सुखदुःखाऽऽदेरागमः, कृतस्यापि च पुण्यपापाऽऽदेर्विनाशः स्यादिति ॥ २८१३ ॥

पुनरपि नैगममतमाशङ्क्य परिजिहीर्षवः शेषनयाः प्राऽऽहुः-

अह भत्तिमंतसंताणओ स निच्चो त्ति कहमणुप्पण्णो ?
नणु संताणित्तणओ, स होइ बीयंकुराइ व्व ॥ २८१४ ॥

अथानुत्पन्ननमस्कारवादिन् ! एवं ब्रूषेभक्तिमतां सम्यग्दृष्टीनां यः सन्तानः प्रवाहः, तस्मात् तमाश्रित्य, नित्यो नमस्कारः । सम्यग्दृष्टीनां हि सन्तानो न कदाचिद् व्यवच्छिद्यते । अव्यवच्छिन्नत्वाच्च नित्योऽसौ, यच्च नित्यं तदाकाशवन्नोत्पद्यते । ततः किलानुत्पन्नो नमस्कार इति परस्याऽऽकूतम् । अत्रोत्तरमाह-(कहमणुपण्णो त्ति) नन्वेवमपि कथमनुत्पन्नो नमस्कारः ? न कथञ्चिदित्यर्थः । कुतः ? इत्याह-(नणु इत्यादि) ननु यद्यपि सम्यग्दृष्टीनां सन्तानो नित्यः, तथाऽपि सम्यग्दृष्टयः सन्तानिनो नित्वा एव, मनुष्याऽऽदिभावेन तेषामुत्पादविनाशादिति । सम्यग्दृष्ट्यव्यति-रेकाच्च नमस्कारोऽपि सन्तानी, सन्तानित्वाच्च (स होइ त्ति) स नमस्कारो भवत्युत्पद्यते, बीजाङ्कुराऽऽदिसन्तानिवदिति । इह यः सन्तानी स उत्पद्यते, यथा बीजाङ्कुराऽऽदिः, सम्यग्दृष्टि-सन्तान्यव्यतिरेकात् , सन्तानी च नमस्कार इति उत्पद्यत एव । ततः कथमनुत्पन्नोऽसौ ? इति ॥ २८१४ ॥

किञ्च-

होज्जाहि नमोक्कारो, नाणं सद्दो व कायकिरिया वा ।
अहवा तस्संजोगो, न सव्वहा सो अणुप्पत्ती ॥ २८१५ ॥

नमस्कारो हि ज्ञानं वा भवेतु, '' नमो अरिहंताणं '' इत्यादि-शब्दो वा शिरो नमनकरकुड्मलमीलनविवक्षितावयवसंकोचनाऽऽदिलक्षणा कायक्रिया वा, द्विकाऽऽदिको वा ज्ञानाऽऽदिसंयोगो भवेदिति चत्वारः पक्षाः । किञ्चातः ? इत्याह-(न सव्वहा सो अणुप्पत्ति त्ति) सर्वथा सर्वैरपि प्रकारैर्नायमनुत्पत्तिर्नात्तिर्नानुत्पन्नो घटत इत्यर्थः । ज्ञानाऽऽदीनां चतुर्णामप्युत्पादाऽऽदिधर्मकत्वादिति ॥ २८१५ ॥

अथ नैगमः प्राऽऽहननु ज्ञानाऽऽदीनामुत्पादाऽऽदिधर्मकत्वमसिद्धं, नित्यत्वाद् , आकाशवत् । तत्र ज्ञानस्य तावन्नित्यत्वं साधयन्नाह-

नणु जीवाओऽणन्नं, नाणं णिच्चो य सो तओ तं पि ।
निच्चुग्घाडो य सुए, जमक्खराणंतभागो त्ति ॥ २८१६ ॥

ननु जीवादनन्यदभिन्नं ज्ञानं, नित्यश्चासौ जीवः, ततस्तदव्यतिरेकात्तदपि, ' नित्यम् ' इति शेषः । ततो नोत्पादाऽऽदिधर्मकं ज्ञानम् , नित्यत्वात् , नभोवदिति भावः । एवमुत्तरत्रापि भावार्थो वक्तव्यः । किञ्च- '' सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडियओ '' इति वचनाद् न क्षरति न विनश्यतीत्यक्षरं केवल-ज्ञानम् , तस्यानन्तभागो नित्योद्घाटो नित्यावस्थितोऽनावृत एव सर्वदा तिष्ठतीति यद्यस्माच्छुतेऽभिहितम् , तस्माच्च नित्यं ज्ञानं, नित्यानावृतत्वाद् , नभोवदिति ॥ २८१६ ॥

अहवा अरूवगुणओ, नाणं निच्चं नहावगाहो व्व ।
लयणप्पयासपरिणामओ य सव्वं जहा अणवो ॥ २८१७॥

अथवा-नित्यं ज्ञानम् , अरूपद्रव्यगुणत्वाद् , यथा नभोद्रव्यस्यावगाहगुणः । अथवा-सर्वमपि ज्ञानशब्दाऽऽदिकं नित्यं, लयनप्रकाशपरिणामत्वात् , तिरोभावाऽऽविर्भावधर्मकत्वादित्यर्थः, यथा परमाणव इति ॥ २८१७ ॥

अथ विशेषतोऽपि शब्दस्य नित्यत्वं साधयन्नाह-

दरिसणपरत्थयाओ, अइंदियत्थत्तओऽणवत्थाओ ।
संबंधनिच्चयाओ, सद्दावत्थाणमणुमेअं ॥ २८१८ ॥

इह शब्दस्यावस्थानं सदाऽवस्थितत्वं नित्यत्वमनुमेयं साध्यम् । (दरिसणपरत्थयाओ त्ति) दर्शनं प्रकटमं शब्दस्योच्चारणं व्यापारणं प्रयोग इति यावत् , तस्य दर्शनस्य शब्दप्रयोगस्य परार्थत्वं परप्रत्यायकत्वं, तस्माद्दर्शनपरार्थत्वादिति हेतुः । इदमुक्तं भवति-न खलु वक्तृभिः शब्दोत्पादनमात्रार्थमेव शब्दप्रयोगः क्रियते, किंतु परार्थत्वात् परप्रत्यायननिमित्तत्वादिति; यच्च परार्थं व्यापार्यते तत् तद्व्यापारकालात् प्रागप्यस्ति, यथा-वृक्षाऽऽदिच्छेदनक्रियानिमित्तं व्यापार्यमाणः कुठारः छेदनक्रियाव्यापारकालात्प्रागप्यस्ति; ततः शब्दः सदाऽऽवस्थितत्वान्नित्यः सिद्धः ।

अत्रैव द्वितीयं हेतुमाह-(अइंदियत्थत्तओ त्ति) अतीन्द्रिया मेरुस्वर्गाऽऽदयोऽर्था अभिधेयत्वेन यस्यासावतीन्द्रियार्थः, तद्भावोऽतीन्द्रियार्थत्वं, तस्मादतीन्द्रियार्थत्वान्नित्यः शब्दः, केवलज्ञानवत् । इदमुक्तं भवति-ये इन्द्रियग्राह्या घटाऽऽदयोऽर्थाः, तेषु संकेतवशात्कृतक एव किल वाच्यवाचकत्वसंबन्धः, अतस्तस्माच्छब्दस्य नित्यत्वं न सिध्यति; ये त्वतीन्द्रिया मेरुस्वर्गाऽऽदयोऽर्थाः, तेषामतीन्द्रियत्वेनैव किल संकेतः कर्तुं न शक्यते, अतोऽनादिकालसंसिद्धोऽकृतक एव शब्दस्य तेषु वाच्यवाचकभावसंबन्धः । अतोऽतीन्द्रियार्थैः सहानादिकालसंसिद्धादकृतकत्वेन नित्याद्

वाच्यवाचकभावसंबन्धात्सिद्धं किलशब्दस्य नित्यत्वम् । न हि स्वयमनित्यस्यानादिकालसंसिद्धैर्नित्यैर्मर्वादिभिरर्थैः सह वाच्यवाचकभावसंबन्धः सिद्ध्यतीति भावः । तर्हि घटाऽऽदिवाचकशब्दानां नित्यत्वे सिद्धे तेषामपि तत्साध्यते ; तद्यथा-नित्या घटाऽऽदिवाचकशब्दाः, शब्दत्वाद् , मेर्वादिशब्दवदिति ।

अत्रैव तृतीयहेतुमाह-(अणवत्थाओ त्ति) अयं च विपर्यये बाधक एव हेतुः । मूलहेतुस्त्वित्थं द्रष्टव्यःनित्याः सर्वेऽपि घटाऽऽदि-वाचकाः शब्दाः, अनादिकालात् तद्वाचकत्वेन तेषां सिद्धत्वाद् , इह यदनादिकालसिद्धं तन्नित्यं दृष्टम्, यथा चन्द्रार्कविमानाऽऽदयः, अनादिकालसिद्धाश्च घटाऽऽदिवाचकशब्दाः, तस्मान्नित्या इति । ननु साङ्केतिका एव घटाऽऽदिवाचकशब्दास्ततोऽसिद्धममीषामनादिकालसिद्धत्वमिति चेत् । तदयुक्तम् । सङ्केतस्य कर्तुमशक्यत्वात् । कुतः ? इत्याह-अनवस्थातः, अनवस्थाप्रसङ्गोऽत्र बाधकं प्रमाणमित्यर्थः । तथाहि-येन शब्देन सङ्केत क्रियते, तत्रापि सङ्केतकारकं शब्दान्तरमपेक्षणीयम् , तत्राप्यन्यत् , पुनस्तत्राप्यपरमिति, एवमनवस्थाप्रसङ्गतोऽशक्यं सङ्केतकरणम् । अथ पर्यन्ते कश्चिदकृतसङ्केतोऽपि ध्वनिरिष्यते, तर्हि प्राक्तना अपि सर्वे ध्वनयोऽकृतसङ्केताः, शब्दत्वात्, पर्यन्तध्वनिवत्, इत्यसाङ्केतिकत्वात्सिद्धं घटाऽऽदिवाचकशब्दानामनादिकालसिद्धत्वमिति ।

चतुर्थं हेतुमाह-(संबंधनिच्चयाओ त्ति) नित्यः शब्दः उक्तन्यायेन तस्य घटाऽऽदिभिः सह वाच्यवाचकभावसंबन्धस्य नित्यत्वात् ; तस्यानित्यत्वे वाच्यवाचकभावसंबन्धनित्यत्वानुपपत्तेरिति । इत्थं च ज्ञानाऽऽदीनां नित्यत्वे सिद्धे सिद्धोऽनुत्पन्नस्तदात्मको नमस्कार इत्याद्यनैगमाभिप्राय इति ॥ २८१८ ॥

अथ शेषनया एतैरेव जीवानन्यत्वाऽऽदिहेतुभिर्ज्ञानाऽऽदीनामनित्यत्वं साधयन्ति-

जेणं चिय जीवाओ-ऽणन्नं तेणेव नाणमुप्पाइ ।
उप्पज्जइ जं जीवो, बहुहा देवाऽऽइभावेण ॥ २८१९ ॥

येनैव कारणेन जीवादनन्यदभिन्नं ज्ञानं, तेनैव तदुत्पद्यते, यद्यस्माद् , बहुधा जीवो देवाऽऽदिभावेनोत्पद्यते, तदुत्पादे च ज्ञानस्याप्युत्पादादिति ॥ २८१९ ॥

यदुक्तम्-'' निच्चुग्घाडो य सुए '' (२८१६) इति तत्राऽऽह-

अविसिट्ठऽक्खरभागो, सुत्तेऽभिहिओ न सम्मनाणं ति ।
कोऽवसरो तस्स इहं, सम्मंनाणाहिगारम्मि ? ॥ २८२० ॥

अक्षरस्य योऽनन्ततमो भागो नित्योद्घाटः श्रुतेऽभिहितः, सोऽविशिष्ट एव सम्यग्मिथ्याविशेषरहित एवोक्तः, न तु सम्यग्ज्ञानरूपः । ततः सम्यग्ज्ञानविचारेऽत्र प्रस्तुते कस्तस्याधिकारः ? इदमुक्तं भवति-यद्यविशिष्टज्ञानरूपोऽक्षरानन्तभागो नित्योद्घाटत्वेन नित्यः, तर्हि नमस्काररूपस्य सम्यग्ज्ञानस्य नित्यत्वे किमायातम् ? अतो यत्किञ्चिदेतदिति ॥ २८२० ॥

यदुक्तम्- '' अहवा अरूवगुणओ नाणं निच्चं '' (२८१७) इत्यादि तत्राऽऽह-

अवगाहणाऽऽदओ नणु, गुणत्तओ चेव पत्तधम्म व्व ।
उप्पायाऽऽइसहावा, तह जीवगुणा वि को दोसो ? ॥२८२१॥

नत्यवगाहनाऽऽदय उत्पादाऽऽदिधर्मका एव, गुणत्वात्, पत्रनीलताऽऽदिगुणवद्; एवं जीवगुणा अपि नमस्काराऽऽदय उत्पादाऽऽदिधर्मका एव, गुणत्वात् , पत्रधर्मवत् , इत्यपि त्वदुक्तविपरीतं ब्रुवतां को दोषः ? न कश्चिदिति ॥ २८२१ ॥

किञ्च-

अवगाढारं च विणा, कुओऽवगाहो त्ति तेण संजोगो ?
उप्पाई सोऽवस्सं, गच्चुवगाराऽऽदओ चेवं ॥ २८२२ ॥

अवगाढारं चावगाहकं जीव-परमाण्वादिकं विना विचार्यमाणः कुतोऽन्योऽवगाह इति वक्तव्यम् ? तेनावगाह्येन नभसा सहावगाहकस्य जीवाऽऽदेः, तेन चावगाहकेन जीवाऽऽदिना सहावगाह्यस्य नभसः संयोगोऽवगाह इति चेत्। ननु यद्येवं, जितमस्माभिः, यतोऽवश्यमुत्पादी असौ, संयोगत्वात्, द्व्यङ्गुलाऽऽदिसंयोगवदिति । एवं गतेरुपकारो गत्युपकारः, स आदिर्येषां स्थित्युपकाराऽऽदीनां ते गत्युपकाराऽऽदयो धर्मास्तिकायाऽऽदिगुणाः, तेऽप्येवमेवोत्पादवन्तो द्रष्टव्याः, गुणत्वाद्, अवगाहगुणवदिति ॥ २८२२ ॥

अपि च, आकाशपरमाण्वादिदृष्टान्ततो भवता नित्यत्वं साध्यते, तच्चाऽऽकाशाऽऽदीनां नित्यत्वमस्माकमसिद्धम् ; कुतः ? इत्याह-

न य पज्जवओ भिन्नं, दव्वमिहेगंतओ जओ तेण ।
तन्नासम्मि कहं वा, नहाऽऽदओ सव्वहा निच्चा ? ॥२८२३॥

न च पर्यायाद् घटाऽऽदिसंयोगवर्णगन्धाऽऽदेः सकाशाद्, यतो यस्माद्, द्रव्यमेकान्ततो भिन्नम् , किन्त्वभिन्नमपि तत्तस्मादिष्यते, तेन तस्मात्कारणात् , तन्नाशे पर्यायविनाशे, कथं वा केन वा प्रकारेण, नभःपरमाण्वादयः सर्वथा नित्याः ? कथञ्चिद्यदि नित्या भवन्ति, तर्हि भवन्तु । यत्तु सर्वथा नित्यत्वं, तत्तेषां न घटते, पर्यायविनाशे तद्रूपतया तेषामपि विनाशादिति भावः । तत एकान्तनित्यत्वे साध्ये नैतेषां दृष्टान्तत्वं युक्तमिति ॥ २८२३ ॥

यदुक्तम्-'' दरिसणपरत्थयाओ '' (२८१८) इत्यादि, तत्र दूषणातिदेशमाह-

निच्चत्तसाहणाणि य, सद्दस्सासिद्धयाऽऽइदुट्ठाइं ।
संभवओ वच्चाइं, पक्खोदाहरणदोसा य ॥ २८२४ ॥

दर्शनपरार्थत्वाऽऽदीनि शब्दस्य नित्यत्वसाधनानि यानि उक्ता-नि, तानि न्यायमार्गानुसारिभिः स्वयमेवाभ्यूह्य यथासंभवमसिद्धताऽऽदिदोषदुष्टानि वाच्यानि । तथाहि-दर्शनपरार्थत्वादित्यसिद्धो हेतुः, स्वावबोधार्थमपि क्वचिच्छब्दप्रयोगदर्शनात्; तथाऽनैकान्तिकश्च, विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् । विरुद्धो वा, प्रयोगानन्तरमेव विशरारुत्वदर्शनात्; कृतकत्वाद्वा शब्देऽनित्यत्वस्यैव दर्शनात् । इत्यादिदूषणानि सर्वत्राभ्यूह्य वक्तव्यानि । तथा-पक्षोदाहरणदोषाश्च वाच्याः, वयं तु साक्षात्र ब्रूमः,ग्रन्थविस्तरभयात् । तत्र प्रत्यक्षाऽऽदिबाधितः पक्षः, साध्यसाधनविकलमुदाहरणम् । इत्यादिदोषाः स्वयमेव द्रष्टव्या इति ॥ २८२४ ॥

तदेवं नैगमोक्तं दूषयित्वा स्वपक्षसिध्यर्थं शेषनयाः प्राऽऽहुः-

धणिरुप्पाई इंदिय-गज्झत्ताओ पयत्तजत्ताओ ।
पुग्गलसंभूईओ, पच्चयभेए य भेयाओ ॥ २८२५ ॥
उप्पाइ नाणमिट्ठं, निमित्तसब्भावओ जहा कुंभो ।
तह सद्दकायकिरिया, तस्संजोगो य जोऽभिमओ ॥२८२६॥

उत्पद्यत इत्युत्पादी ध्वनिरिति प्रतिज्ञा, इन्द्रियग्राह्यत्वात्, घटवदिति। तथा-प्रयत्नाज्जायत इति प्रयत्नजः, तद्भावः प्रयत्नजत्वं, तस्मात्प्रयत्नजत्वात्। तथा-पुद्गलेभ्यः संभूतेः। तथा-तालवादिप्रत्ययभेदभेदित्वादुत्पादी शब्दः घटवदिति सर्वत्र द्रष्टव्यम्। यश्चोत्पादी स विनाशित्वादनित्य इति सिद्धमेवेति ॥ २८२५ ॥ तथा-उत्पादि ज्ञानं नमस्कारज्ञानमिष्टमिति प्रतिज्ञा, निमित्तसद्- भावादिति हेतुः, जिनाऽऽदिविषयाज्ज्ञायमानत्वादित्यर्थः। यथा कुम्भ इति दृष्टान्तः। न केवलं ज्ञानं, तथा शब्दशिरोनमनाऽऽदिका कायक्रिया, तेषां च ज्ञानाऽऽदीनां यो द्विकाऽऽदिसंयोगो नित्यत्वेनाभिमतः परस्य, एतत्सर्वमुत्पादि, निजनिजनिमित्तज्ञायमानत्वात्, यथा कुम्भः। ततो ज्ञानाऽऽद्यात्मको नमस्कार उत्पन्न इति सिद्धम्। तदेवं '' सेसाणं उप्पण्णो '' (२८०६) इति व्याख्या- तम्॥ २८२६ ॥

'' जइ कत्तो तिविहसामित्ता ? '' (२८०६) इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

उप्पत्तिमओऽवस्सं, निमित्तमस्स उ णयत्तियं तिविहं।
इच्छइ णिमित्तमेत्तो, जमण्णहा नत्थि संभूई ॥ २८२७ ॥

यदि नामोत्पन्नो नमस्कारस्ततः किम् ? अत्रोच्यते-उत्पत्तिमतश्च वस्तुनोऽवश्यं निमित्तम्, 'अस्ति' इति क्रियाऽध्याहारः। तथा च-सत्यस्य नमस्कारस्योत्पत्तिमत्त्वादविशुद्धनैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणं प्रथमनयत्रिकं समुत्थानवाचनालब्धिस्वरूपं त्रिविधं निमित्तमिच्छति। कुतः ? इत्याह-(एत्तो इत्यादि) यद्यस्माद्यतस्त्रिविधाद् निमित्तादन्यथाऽन्येन प्रकारेण नमस्कारस्य नास्ति संभूतिरुत्पत्तिरिति ॥ २८२७ ॥

तत्र समुत्थानलक्षणं निमित्तं व्याचिख्यासुराह-

देहसमुत्थाणं चिय, हेऊ भवपच्चयावहिस्सेव।
पुव्वुप्पण्णस्स वि से, इहभवभावो समुत्थाणं ॥ २८२८ ॥

सम्यक् सङ्गतं वा उत्तिष्ठति जायतेऽस्मादिति समुत्थानम्, देह एव समुत्थानं, तदेव तावद्धेतुर्निमित्तम्, 'से' तस्य नमस्कारस्य। आह-यदाऽयमन्यभव एव स्वाऽऽवरणक्षयादुत्पन्नः स्यात्तदा कथमयं देहो हेतुः ? इत्याशङ्क्याऽऽह-(पुव्वुप्पन्नस्स वि से इहभवभावो समुत्थाणं ति) प्राग्भवे उत्पन्नस्यापि नमस्कारस्येहभवभाव इहभवशरीरं समुत्थानं कारणं भवति, एतद्भावभावित्वात्तस्य। दृष्टान्तमाह-(भवपच्चयावहिस्सेव त्ति) यथा हि भवप्रत्ययोऽवधिस्तीर्थकराऽऽदिसंबन्धी प्रागुत्पन्नोऽप्येतद्भवशरीरमन्तरेण न भवति। ततश्चेहभवशरीरं तस्य समुत्थानमेवं नमस्कारस्यापीति। एतदुक्तं भवति-यथा पूर्वोत्पन्ना अपि घटाऽऽदयो दीपेनाभिव्यज्यन्ते, तथा पूर्वोत्पन्नोऽपि नमस्कार इहभवदेहेनाभिव्यज्यते, इत्यसौ तस्य निमित्तं व्यपदिश्यत इति ॥ २८२८ ॥

अत्र परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अण्णे सयमुत्थाणं, सविरियमण्णोवगारविमुहं ति।
तदजुत्तं तदवत्थे, चुयलद्धे लद्धिओ णन्नं ॥ २८२९ ॥

अन्ये सूरयः स्वकमुत्थानं स्वमुत्थानं, स्ववीर्यमित्याचक्षते। कुतः ? इत्याह-(अण्णोवगारविमुहं ति) अन्येनापान्तरालवर्तिना कारणान्तरेण कृत उपकारोऽन्योपकारः, तद्विमुखं तन्निरपेक्षं, यतोऽनन्तरकारणमित्यर्थः, तस्मादन्योपकारविमुखत्वादनन्तर-कारणत्वात्स्ववीर्यनमस्कारस्य समुत्थानं कारणमिति। एतन्निरा-सार्थमाह-(तदजुत्तं ति) तद्वीर्यमयुक्तम्, नमस्कारानन्तरकारणतया व्यभिचारित्वात्। कुतः ? इत्याह-(तदवत्थे इत्यादि) यतस्तदवस्थेऽपि विद्यमाने वीर्ये कस्यापि लब्धोऽपि नमस्कारः स्वाऽऽवरणोदयात्पुनरपि च्यवते भ्रस्यति; च्युतोऽपि कदाचित् तदावरणक्षयोपशमात्पुनरपि लभ्यते। तत एवं तदवस्थेऽपि वीर्ये च्युतलब्धे नमस्कारे सति विज्ञायतेलब्धितो नान्यद्वीर्यं किमपि नमस्कारकारणमस्ति, व्यभिचारित्वात्। व्यभिचारित्वं च नमस्कारस्य तदन्वयव्यतिरेकाननुविधायित्वात्। लब्धिस्तु तस्याव्यभिचारि कारणम्, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादिति ॥ २८२९ ॥

तदेवं समुत्थानं व्याख्याय वाचनालब्धिस्वरूपं व्याचिख्यासुराह-

परओ सवणमहिगमो, परोवएसो त्ति वायणाऽभिमया।
लद्धी य तयाऽऽवरण-क्खओवसमओ सयं लाभो ॥२८३०॥

परतो गुरुभ्यो यच्छ्रवणम्, तथा-अधिगमः, परोपदेशश्च, सा वाचनाऽभिधीयते। लब्धिस्तु का ? इत्याह-परतो वाचनामन्तरेण नमस्कारस्य यः स्वयं लाभः। कुतः पुनर्या लब्धिः ? इत्याह-तदावरणक्षयोपशमात्-नमस्काराऽऽवरणकर्मक्षयोपशमादित्यर्थः। आहननु तदावरणक्षयोपशम एव लब्धिरन्यत्र प्रसिद्धा, तत् कथमिह तत्कार्यभूतो नमस्कारलाभो लब्धित्वेनोच्यते, नमस्कारकारणस्यैवेह चिन्तयितुं प्रस्तुतत्वात् यथोक्तायाश्च लब्धेर्नमस्कारकारणत्वात् ? सत्यम्, किन्तु तत्कार्यभूतोऽपि नमस्कारलाभोऽत्र लब्धिरुक्ता, कारणे कार्योपचारादिति। एतदविशुद्धनैगमसंग्रहव्यवहारनयमतेन त्रिविधं नमस्कारकारणं मन्तव्यमिति ॥ २८३० ॥

ऋजुसूत्रमतेन तु द्विविधमेव कारणमिति दर्शयन्नाह-

उज्जुसुयणयमयमिणं, पुव्वुपण्णस्स किं समुत्थाणं ?
अह संपइमुप्पज्जइ, न वायणालद्धिंमित्तं तं ॥ २८३१ ॥

ऋजुसूत्रनयस्येदं मतम्-यदि पूर्वभवोत्पन्नो नमस्कारः, तदेहभवदेहलक्षणं समुत्थानं तस्य किं करोति ? न किञ्चिदित्यभिप्रायः; उत्पन्नस्य कारणापेक्षायोगादिति। अथ साम्प्रतमिहभवे समुत्पद्यते नमस्कारः, तर्हि यस्तस्य कारणं तद्वाचनालब्धिभ्यां भिन्नं व्यति-रिक्तं न किञ्चित्पश्यामः; अत इदमेवं द्विविधं तस्य कारणमिति ॥ २८३१ ॥

इदमेव भावयन्नाह-

परओ सयं व लाभो, जइ परओ वायणा सयं लद्धी।
जं न परओ सयं वा, तओ किमण्णं समुत्थाणं ? ॥२८३२॥

नमस्कारस्य हि लाभो जायमानः परतोऽपि भवेत्, स्वयं वा ? इति द्वयी गतिः, तत्र यदि परत इति पक्षः, तर्हि (वायण त्ति) गुरूपदेशलक्षणा वाचनैव तत्र कारणम्। अथ स्वयमिति पक्षः, तर्हि (लद्धि त्ति) तदावरणक्षयोपशमलक्षणा लब्धिरेव तत्र कारणं, नापरम्। यच्च परतः स्वयं वा नोत्पद्यते, तत्खरविषाणकल्पमवस्त्वेवेत्यध्याहारः; वस्तुन उत्पत्तौ यथोक्तप्रकारद्वयस्यैव संभवात्, अनुत्पन्नस्य चावस्तुत्वादिति। ततस्तस्माद्वाचनालब्धिभ्यामन्यत्किं नाम समुत्थानं यत्स्वयं परतो वाऽनुत्पन्नस्यावस्तुनः कारणं भवेदिति ? ॥ २८३२ ॥

अथ परभवे समुत्पन्नस्य नमस्कारस्येहभवे स्वतः परतो वाऽनुत्पन्नस्य तस्याभिव्यक्तिलक्षणाया उत्पत्तेः कारणं समुत्थानं भविष्यति। तदप्ययुक्तम्। कुतः ? इत्याह-

उप्पज्जइ नाईयं, तक्किरिओवरमओ कयघडो व्व।
अहवा कयं पि कीरइ, कीरउ निच्चं कओ णिट्ठा॥ २८३३॥

इहातीतोत्पादक्रियं वस्त्वतीतमभिप्रेतम्। तदेवंभूतं पूर्वभवेऽतीतोत्पादक्रियमतीतं नमस्कारलक्षणं वस्त्विह भवे पुनरपि नोत्पद्यत इति प्रतिज्ञा। (तक्किरिओवरमओ त्ति) तस्य नमस्कारस्योत्पादलक्षणा क्रिया तत्क्रिया, तस्या उपरमो विरामः तत्क्रियोपरमः, तस्मादिति हेतुः। कृतघटवदिति दृष्टान्तः। इह यस्योत्पत्तिक्रियोपरता तत्पुनरपि नोत्पद्यते, यथा पूर्वकृतो घटः; उपरतोत्पत्ति-क्रियश्च पूर्वभवोत्पन्नो नमस्कार इष्यते, तत इहभवे पुनरपि नोत्पद्यत इति॥ अथवा पूर्वं कृतमपि पुनः क्रियते, तर्हि पुनः पुनर्नित्यमेव क्रियताम्, पूर्वकृतत्वाविशेषात्। तथा च सति कुतः करणक्रियाया निष्ठा ? इति। तदेवं य इहोत्पद्यते नासौ पूर्वोत्पन्न इति सामर्थ्यादुक्तम्॥ २८३३॥

अथवा-भवतु पूर्वोत्पन्नः, तथाऽपि मत्पक्षसिद्धिरिति-दर्शयन्नाह-

होउ व पुव्वुप्पाओ, तह वि न सो लद्धिवायणाभिन्नो।
जेण पुरा वि सयं वा, परओ वा होज्ज से लाभो॥ २८३४॥

भवतु वा नमस्कारस्य पूर्वजन्मन्युत्पादः, तथाऽपि न स तदुत्पादो लब्धिवाचनाभ्यां भिन्नः-न लब्धिवाचनालक्षणकारणद्वयव्यतिरेकेण समुत्थानलक्षणेन कारणेन नमस्कारो जन्यत इत्यर्थः। कुतः ? इत्याह-येन यस्मात्पुरा परभवेऽपि प्रष्टव्योऽसि त्वं स्वयं वा परतो वा (से) तस्य नमस्कारस्य लाभ इति वक्तव्यम् ? यदि स्वयं, तर्हि लब्धिरेव तत्कारणम्। अथ परतः, तर्हि वाचना तद्धेतुरिति न किमप्येतत्कारणद्वयव्यतिरिक्तं समुत्थानलक्षणं कारणं पश्याम इति॥ २८३४॥

अथ '' सेसनया लद्धिमिच्छंति '' (२८०७) इत्येतद्-व्याचिख्यासुराह-

सद्दाऽऽइमयं न लहइ, जं गुरुकम्मा पवायणाए वि।
पावइ य तयावरण-क्खओवसमओ जओऽवस्सं॥२८३५॥

शब्दसमभिरूढैवंभूतनयानामेतन्मतम्-यद्यस्मात्कारणाद् गुरुकर्मा प्राणी गुरुभ्यः प्रवाचनायां सत्यामपि नमस्कारं न लभते, लघुकर्मा तु वाचनामन्तरेणाऽपि तदावरणकर्मक्षयोपशमाद् यतोऽवश्यमेव नमस्कारं प्राप्नोति॥ २८३५॥

तो हेऊ लद्धि च्चिय, न वायणा जइ मइक्खओवसमो।
तक्कारणो त्ति तम्मि वि, नणु साऽणेगंतिगी दिट्ठा॥ २८३६॥

(तो हेऊ लद्धि च्चिय त्ति) ततस्तस्माद्वाचनाया नमस्कारजनने व्यभिचारित्वात्तदावरणक्षयोपशमलक्षणा लब्धिरेव तद्धेतुर्न वाचनेति। यदि तु ऋजुसूत्रः कथमप्येवं ब्रूयात्-ननु मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमस्तत्कारणो वाचनाजन्यः, तथा च सति तत्क्षयोपशमजन्यस्य नमस्कारस्य पारम्पर्येण वाचनाऽपि कारणं भवति। अत्रोच्यतेननु तस्मिन्नपि मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमे जन्ये सा वाचनाऽनैकान्तिकी दृष्टा, गुरुकर्मणां वाचनातोऽपि यथोक्तक्षयोपशमादर्शनादिति॥ २८३६॥

अथ कस्यापि तावद्वाचनातः कर्मक्षयोपशमो भवन्नुपलभ्यते, तमाश्रित्य वाचना नमस्कारकारणं भविष्यति। तदप्ययुक्तम्। कुतः ? इत्याह-

जस्स वि स तन्निमित्तो, तस्स वि तम्मत्तकारणं होज्जा।
न नमोक्कारस्स तई, कम्मक्खओवसमलब्भस्स॥ २८३७॥

यस्यापि जीवस्य स मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमस्तन्निमित्तो वाचनाहेतुको दृश्यते, तस्यापि तन्मात्रकारणं यथोक्तक्षयोपशमनिमित्तं (तह त्ति) सा वाचना भवेत्, न तु नमस्कारस्य कारणं सा युज्यते। कथंभूतस्य ? इत्याह-कर्मक्षयोपशमलभ्यस्य। इदमुक्तं भवति-एवमपि मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिक्षयोपशमादेवानन्तरं नमस्कार उत्पद्यते, न तु वाचनातः, ततोऽसावेव तत्कारणं युज्यते, न तु वाचना, तस्या यथोक्तक्षयोपशमजनकत्वेनाऽन्यकारणत्वादिति॥ २८३७॥

पुनरपि परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अह कारणोवगारि, त्ति कारणं तेण कारणं सव्वं।
पाएण वज्झवत्थुं, को नियमो सद्दमेत्तम्मि ?॥ २८३८॥
अह पच्चासण्णतरं, कारणमेगंतियं तओ लद्धिं।
पडिवज्ज न चेदेवं, न वायणमित्तनियमो ते॥ २८३९॥

अथ कारणस्य यथोक्तक्षयोपशमस्योपकारिणी वाचनेति, अतः कारणकारणत्वादसौ नमस्कारस्य कारणमिष्यते। अत्रोच्यते-(तेणेत्यादि) तेन तर्हि प्रायेण सर्वमपि क्षितिशय्याऽऽसनाऽऽहार-वस्त्र-पात्राऽऽदिकं बाह्यं वस्तु नमस्कारकारणस्य यथोक्तक्षयोपशमस्योपकारित्वात्परम्परया नमस्कारस्य कारणं प्राप्नोति। अतः को नाम वाचनालक्षणे शब्दमात्रे तत्कारणत्वनियमः ? इति॥ २८३८॥ अथ परम्परया सर्वस्य बाह्यवस्तुनो नमस्कारकारणोपकारित्वे सत्यपि यदेव प्रत्यासन्नतरं वाचनालक्षणं वस्तु, तदेवाऽऽसन्नोपकारित्वान्नमस्कारस्य कारणमिष्यते। ननु तथाऽपि नमस्कारजनने तदेवैकान्तिकमित्युक्तमेव। तत एकान्तिकमानन्तर्येणातिप्रत्यासन्नतरं लब्धिमेव तत्कारणं प्रतिपद्यस्व। न चेदेवं प्रतिपद्यसे, तर्हि न वाचनामात्रस्य नमस्कारकारणत्वनियमः ' ते ' तव सिध्यति; क्षित्यादेरपि पूर्वोक्तनीत्या तत्कारणत्वप्राप्तेः। तदेवं प्रथमनयत्रयस्य त्रिविधं कारणम्, ऋजुसूत्रस्य द्विविधं, शब्दनयास्तु लब्धिमेवैकां नमस्कारकारणमिच्छन्तीति स्थितम्। इति द्वात्रिंशद्गाथार्थः॥ २८३९॥ तदेवमभिहितमुत्पत्तिद्वारम्।

(३) इदानीं निक्षेपद्वारमुच्यते-तत्र नमस्कारस्य निक्षेप-श्चतुर्द्धा-नामनमस्कारः, स्थापनानमस्कारः, द्रव्यनमस्कारः, भावनमस्कारश्चेति। तत्र-

नामस्थापने क्षुण्णे, ज्ञभव्यशरीरव्य-तिरिक्तद्रव्यनमस्काराऽभि-धित्सया पुनराह-

निहणाऽऽइ दव्व भावो-वउत्त नं कुज्ज सम्मदिट्ठी उ।
नेवाइयं पयं दव्वभावसंकोयण पयत्थो॥ २८४०॥

नमस्कारतद्वतोरभेदोपचारान्निह्नवाऽऽदिद्रव्यनमस्कारः, आ-

दिशब्दाद् यो द्रव्यार्थं विद्यामन्त्रदेवताऽऽदीनां नमस्कारःक्रियते, सोऽपि द्रव्यनमस्कारः । निह्नवाऽऽदिनमस्कारस्य च द्रव्यत्वमप्राधान्यात् , अप्राधान्यं च तेषां मिथ्यात्वाऽऽदिकलुषितत्वादिति । भावनमस्कारस्त्वागमतः स विज्ञेयो, यमुपयुक्तः सम्यग्दृष्टिरर्हदादीनां कुर्यादिति द्वारम्॥

(४) अथ पदद्वारमुच्यते-पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदम्। तच्च पञ्चधा-नामिकम् , नैपातिकम् , औपसर्गिकम् , आख्यातिकम् , मिश्रं चेति। तत्र ' अश्वः ' इति नामिकम्। ' खलु ' इति नैपातिकम् , ' परि ' इत्यौपसर्गिकम्। ' धावति ' इत्याख्यातिकम्। ' संयत ' इति मिश्रम्। एवं नामिकाऽऽदिपञ्चप्रकारपदसंभवे सत्याह-(नेवाइयं पयं ति) निपतत्यर्हदादिपदानामादिपर्यन्तयोरिति निपातः, निपातादागतं, तेन वा निर्वृत्तं, स एव वा स्वार्थिकप्रत्ययविधानान्नैपातिकम् ' नमः ' इति पदम्। इति पदद्वारम।

(५) अथ पदार्थद्वारमुच्यते-(दव्वभावसंकोयण पयत्थो त्ति) इह ' नमोऽर्हद्भ्यः ' इत्यादिषु यत् ' नमः ' इति पदं, तस्य नम इति पदस्यार्थः पदार्थः, स च पूजालक्षणः। सा च का ? इत्याह-(दव्व-भावसंकोयण त्ति) द्रव्यसंकोचनम् , भावसंकोचनं च । तत्र द्रव्य-संकोचनं करशिरःपादाऽऽदिसंकोचः, भावसंकोचनं तु विशुद्धस्य मनसोऽर्हदादिगुणेषु निवेशः। अत्र च भङ्गचतुष्टयम्। तद्यथा-द्रव्यसंकोचो न द्रव्यसंकोच इत्यनुत्तरसुराऽऽदीनाम् ; द्रव्यसंकोचो भावसंकोचश्च, यथा शम्बस्य ; न द्रव्यसंकोचो न भावसंकोच इति शून्यः । इह च भावसंकोचप्रधानो द्रव्यसंकोचोऽपि तच्छुद्धिनिमित्तः॥ इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः॥ २८४०॥

अथ नमस्कारस्य भाष्यकरो नामाऽऽदिनिक्षेपं विस्तरतो व्याचिख्यासुराह-

नामाऽऽइचउब्भेओ, निक्खेवो मंगलं च सो नेओ ।
नामं नमोऽभिहाणं, ठवणा नासोऽहवाऽऽगारो ॥ २८४१ ॥

नामस्थापनाऽऽदिचतुर्भेदो नमस्कारस्य निक्षेपः । स चाधस्तादुक्तमङ्गलस्येव विस्तरतो विज्ञेयः। संक्षेपतस्त्विहाप्युच्यते-(नामं ति) नामनमस्कारो ' नमः ' इत्यभिधानम्। स्थापनानमस्कारस्तु- ' नमः ' इत्यक्षरद्वयस्य विन्यासः। अथवा-नमस्कारकरणप्रवृत्तस्य संकोचितकरचरणस्य काष्ठपुस्तकचित्राऽऽदिगतस्य साध्वादेराकारः स्थापनानमस्कार इति॥ २८४१ ॥

द्रव्यनमस्कारमाह-

आगमओऽणुवउत्तो, अज्झेया दव्वओ नमोक्कारो ।
नोआगमओ जाणय-भव्वसरीराइरित्तोऽयं ॥ २८४२ ॥

द्रव्यनमस्कारो द्वेधा-आगमतः, नोआगमतश्च । तत्रानुपयुक्तो नमस्कारस्याध्येता-आगमतो द्रव्यनमस्कारः । नोआगमतोऽयं द्रव्यनमस्कारो ज्ञशरीर-भव्यशरीर-तद्व्यतिरिक्तभेदात्त्रिविध इति। तत्र ज्ञशरीर-भव्यशरीर-वक्तव्यता क्षुण्णा॥ २८४२॥

तद्व्यतिरिक्तं तु द्रव्यनमस्कारमाह-

मिच्छोवहया जं भावओ वि कुव्वंति निन्हवाऽऽईया ।
सो दव्वनमोक्कारो, सम्माणुवउत्तकरणं च ॥ २८४३ ॥

मिथ्यात्वोपहता निह्नवाऽऽदयो भावतोऽपि यं नमस्कारं कुर्वन्ति, स ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तोऽप्रधानत्वाद् द्रव्यनमस्कारः । तथा सम्यग्दृष्टिरप्यनुपयुक्तो यं नमस्कारं करोति स तद्व्यतिरिक्तो द्रव्यनमस्कार इति॥ २८४३ ॥

आह-ननु भावतोऽपि कुर्वतां निह्नवाऽऽदीनां किमिति द्रव्यनमस्कारः ? अत्रोच्यते-अज्ञानित्वात् । अज्ञानित्वं च तेषां मिथ्यादृष्टित्वात् , ' मिथ्यादृष्टेरज्ञानम् ' एतदपि कुतः ? इत्याह-

सदसदविसेसणाओ, भवहेऊ जदिच्छिओवलंभाओ ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥ २८४४ ॥

प्रागसकृद् व्याख्यातार्था॥ २८४४ ॥

प्रकारान्तरेणापि द्रव्यनमस्कारमाह-

जो वा दव्वत्थमसं-जयस्स व भयाइणाऽहवा सो वि ।
दव्वनमोक्कारो च्चिय, कीरइ दमएण रण्णो व्व ॥ २८४५ ॥

यो वा द्रव्यार्थं क्रियते स द्रव्यनमस्कारः। अथवा-द्रव्यलाभ विनाऽपि योऽसंयतस्य राजाऽऽदेर्भयाऽऽदिकारणतो द्रमकाऽऽदिना क्रियते, सोऽपि तद्व्यतिरिक्तो द्रव्यनमस्कार इति॥ २८४५॥

अथाऽऽगमतो नोआगमतश्च द्विविधं भावनमस्कारमाह-

आगमओ विन्नाया, तच्चित्तो भावओ नमोक्कारो ।
नोआगमओ सो च्चिय, सेसयकरणोवउत्तो त्ति ॥ २८४६ ॥

तस्मिन् नमस्कारार्थे चित्तमुपयोगो यस्य नान्यत्रअसौ तच्चित्तो विज्ञाता आगमतो भावनमस्कारः, स एव मनस्करणेनोपयुक्तो नमस्कारकर्त्ता यदा शेषकाभ्यामपि वाक्कायकरणाभ्यामुपयुक्तो नमस्कारं करोति-वचनेन ' नमोऽर्हद्भ्यः ' इति ब्रुवाणः, कायेन तु संकोचितकरचरणो यदा नमस्कारं करोतीत्यर्थः, तदाऽसौ नोआगमतो भावनमस्कार उच्यते, उपयोगलक्षणस्याऽऽगमस्य वाक्कायकरणक्रियामिश्रत्वात् , नोशब्दस्य चेह मिश्रवचनत्वादिति॥ २८४६ ॥

अथामुं नामाऽऽदिनिक्षेपमपि नयैर्विचार-यन्नाह-

भावं चिय सद्दनया, सेसा इच्छंति सव्वनिक्खेवे ।
ठवणावज्जे संगह-ववहारा केइ इच्छंति ॥ २८४७ ॥

भावमेव भावनमस्कारमेव इच्छन्ति त्रयोऽपि शब्दनयाः, शुद्धत्वात्। शेषास्तु ऋजुसूत्रान्ताश्चत्वारो नयाः, सर्वाँश्चतुरोऽपि निक्षेपानिच्छन्ति अविशुद्धत्वात्। केचित्तुव्याचक्षते-संग्रहव्यवहारौ स्थापनावर्जांस्त्रीन्निक्षेपान्निच्छतः, सद्भावाऽसद्भावस्थापनायाः किल साङ्केतिकनामाभिधेयत्वेन नामनिक्षेप एवान्तर्भावा-दिति॥ २८४७॥

तथा-

दव्वट्ठवणावज्जे, उज्जुसुओ तं न जुज्जए जम्हा ।
इच्छइ सुयम्मि भणियं, सो दव्वं किं तु न पुहत्तं ॥ २८४८ ॥

द्रव्यस्थापनावर्जौ शेषौ द्वावेव नामभावनिक्षेपाविच्छति ऋतुसूत्रः । तदेतद् व्याख्यानं न युज्यते, यस्मादसौ ऋजुसूत्रो द्रव्यमिच्छत्येव, केवलं पृथक्त्वं नेच्छतिबहूनि द्रव्याऽऽवश्यकाऽऽदीनि नेच्छतीत्यर्थः। एतच्च सूत्रेऽनुयोगद्वारलक्षणे,

भणितं प्रतिपादितम्। तद्यथा-'' उज्जुसुयस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगे दव्वावस्सए पुहत्तं नेच्छइ '' इति॥ २८४८॥

स्थापनेच्छामप्यस्याऽऽह-

इच्छंतो य स दव्वं, तदणागारं तु भावहेउ त्ति।
नेच्छेज्ज कहं ठवणं, सागारं भावहेउ त्ति ?॥ २८४९॥

इच्छंश्च ऋतुसूत्रस्तप्रसिद्धं सुवर्णाऽऽदिकं द्रव्यं पिण्डावस्थायामनाकारं तथाविधकटककेयूराऽऽद्याकाररहितम्, विशिष्टेन्द्राऽऽद्याकाररहितं वा। कुत इच्छत् ? इत्याह-भावहेतुर्यतस्तद्-भविष्यत्कुण्डलाऽऽदिपर्यायलक्षणभावहेतुत्वादित्यर्थः कथं नाम नेच्छेत्स्थापनाम् ? कथंभूताम् ? साकारां विशिष्टेन्द्राऽऽद्याकारसहितामपीत्यर्थः। पुनरपि किंविशिष्टाम् ? इत्याह-भावहेतुभूतांसाकारत्वेन विशिष्टेन्द्राऽऽद्यभिप्रायकारणभूतामित्यर्थः। इदमुक्तं भवतियो ह्यनाकारमपि भावहेतुत्वाद् द्रव्यमिच्छति ऋजुसूत्रः, स साकारमपि विशिष्टेन्द्राऽऽदिभावहेतुत्वात् स्थापनां किमिति नेच्छेत् ? इच्छेदेव, नात्र संशय इति॥ २८४९॥

उपपत्त्यन्तरेणापि द्रव्यस्थापनेच्छामस्य साधयन्नाह-

*** नामं पि होज्ज सन्ना, तव्वच्चं वा तदत्थपरिसुन्नं।**
हेउ त्ति तदिच्छंतो, दव्वट्ठवणा कहं नेच्छे ?॥ २८५०॥

ननु ऋजुसूत्रस्तावन्नाम निर्विवादमिच्छति। तच्च नाम इन्द्राऽऽदिसंज्ञामात्रं वा भवेत्, तद्वाच्यं वा तदर्थपरिशून्यमिन्द्रशब्दवाच्यं वा, इन्द्रार्थरहितं वा गोपालदारकाऽऽदि वस्तु भवेदिति त्रयी गतिः। इदं चोभयरूपमपि नामहेतुर्भावकारणमिति कृत्वा इच्छन्नसौ ऋ-जुसूत्रो द्रव्यस्थापने कथं नाम नेच्छेत् ? भावकारणत्वाविशेषादिति भावः॥ २८५०॥

अह नामं भावम्मि वि, तेणेच्छइ तेण दव्वठवणा वि।
भावस्साऽऽसन्नयरा, हेऊसद्दो उ वज्झयरो॥ २८५१॥

अथेन्द्राऽऽदिकं नाम भावेऽपि भावेन्द्रेऽपि संनिहितमस्ति, तेन तस्मादिच्छति तदृजुसूत्रः। तेन तर्हि जितमस्माभिः, अस्य न्याय-स्य द्रव्यस्थापनापक्षे सुलभतरत्वात्। तथाहि-द्रव्यस्थापने अपि भावस्येन्द्रपर्यायस्यासन्नतरौ हेतू, शब्दस्तु तन्नामलक्षणो बाह्यतर इति। एतदुक्तं भवति-इन्द्रमूर्त्तिलक्षणं द्रव्यं, विशिष्टतदाकाररूपा तु स्थापना, एते द्वे अपीन्द्रपर्यायस्य तादात्म्यसंबन्धेनावस्थितत्वात् सन्निहिततरे, शब्दस्तु नामलक्षणो वाच्यवाचकभावसंबन्धमात्रेणैव स्थितत्वाद् बाह्यतर इति। अतो भावे सन्निहितत्वान्नामेच्छन् ऋजुसूत्रो द्रव्यस्थापने सन्निहिततरत्वात्सुतरामिच्छेदिति। तदेवमृजुसूत्रस्य चतुर्विधनिक्षेपेच्छासाधनेनानन्तरोक्तत्वातपरिहृतं तद्विषयं दुर्व्याख्यानम्॥ २८५१॥

अथ प्राग् यदुक्तम्- '' ठवणावज्जे संगहववहारा '' (२८४७) इत्यादि, तत्परिहरन्नाह-

संगहिउ असंगहिओ, सव्वो वा नेगमो ठवणमिच्छे।
इच्छइ जइ संगहिओ, तं नेच्छे संगहो कीस ?॥ २८५२॥

इह संग्रहिकोऽसंग्रहिकः सर्वो वा नैगमस्तावन्निर्विवादं स्थापनामिच्छत्येव। तत्र संग्रहिकः संग्रहमतावलम्बी, सामान्यवादीत्यर्थः। असंग्रहिकस्तुव्यवहारनयमतानुसारी, विशेषवादीत्यर्थः, सर्वस्तु समुदितः। ततश्च यदि संग्रहिकः संग्रहमतावलम्बी नैगमस्तां स्थापनामिच्छति, तर्हि संग्रहस्तत्समानमतोऽपि तां किमिति नेच्छति ? इच्छेदेवेत्यर्थः॥ २८५२॥

अहव मयमसंगहिओ, तो ववहारो वि किं न तद्धम्मा ?
अह सव्वो तो तस्सम-धम्माणो दो वि ते जुत्ता॥ २८५३॥

(अहव मयमित्यादि) ' अथवा ' इत्यव्ययोऽथार्थे। अथ परस्य मतम्-यद्यपि सामान्येन सर्वो नैगमः स्थापनामिच्छति, तथापि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरसंग्रहिकोऽसौ तामिच्छतीति प्रतिपत्तव्यम। ' न संग्रहिकः' इत्यध्याहारः, न ततः संग्रहस्य स्थापनेच्छा निषिध्यत इति भावः। अत्रोत्तरमाह- ' तो ' इत्यादि। तर्ह्येकत्र संधित्सतोऽन्यत्र प्रच्यवते, एवं हि सति व्यवहारोऽपि स्थापनां किमिति ' नेच्छति ' इति शेषः। कुतः ? इत्याह-यतस्तद्धर्माऽसौअसंग्रहिकनैगमसमानधर्मा व्यवहारनयोऽपि वर्तते, विशेषवादित्वात्। ततश्चैषोऽपि स्थापनामिच्छदेवेति, निषिद्धा चास्यापि त्वया, '' ठवणावज्जे संगहववहारा '' इति वचनादिति। अथ सर्वोऽखण्डः परिपूर्णो नैगमः स्थापनामिच्छति, न तु संग्रहिकोऽसंग्रहिको वेति भेदवान्, अतस्तद्दृष्टान्तात्संग्रहव्यवहारयोर्न स्थापनेच्छा साधयितुं युक्तेति भावः। अत्रोच्यते- ' तो ' इत्यादि। ततस्तर्हि तत्समधर्माणौ नैगमसमानधर्माणौ द्वावपि समुदितौ ताविति संग्रहव्यव-हारौ युक्तावेव। इदमत्र हृदयम्-तर्हि प्रत्येकं तयोरेकतरनिरपेक्षयोः स्थापनाऽभ्युपगमो मा भूदिति समुदितयोस्तयोः संपूर्णनैगमरूपत्वात्तदभ्युगमः के न वार्यते, अविभागस्थाद् नैगमात्प्रत्येकं तदेकैकताग्रहणात् ? इति॥ २८५३॥

इतश्च स्थापनाऽभ्युपगमः संग्रहव्यवहारयोर्युक्तः। कुतः ? इत्याह-

जं च पवेसो नेगम-नयस्स दोसु बहुसो समक्खाओ।
तो तम्मयं पि भिण्णं, मयमियरेसिं विभिन्नाणं॥ २८५४॥

यच्च यस्मात् प्रवेशोऽन्तर्भावः, '' जो सामन्नग्गाही सो नेगमो संगहं गओ '' इत्यादिना ग्रन्थेन प्रागत्रान्यत्र च नैगमनयस्य द्वयोः संग्रहव्यवहारयोर्बहुशोऽनेकधा समाख्यातः प्रतिपादितः। ततस्तन्मत-मपि स्थापनाऽभ्युपगमलक्षणं नैगमनयमतमपीतरयोः संग्रहव्यवहारयोर्विभिन्नयोर्भेदवतोर्भिन्नं पृथग्मतं सम्मतमिति। इदमुक्तं भवतियथा विभिन्नयोः संग्रहव्यवहारयो र्नैगमोऽन्तर्भूतः, तथा स्थापनाऽभ्युपगमलक्षणं तन्मतमपि तयोरन्तर्भूतमेव; ततो भिन्नं भेदेन तौ तदिच्छत एवस्थापनासामान्यं संग्रह इच्छति, स्थापनाविशेषाँस्तु व्यवहार इत्येतदेव युक्तं, तदनिच्छा तु सर्वथाऽनयोर्न युक्तेति॥ २८५४॥

अत्रैवोपचयमाह-

सामण्णाऽऽइविसिट्ठं, वज्झं पि जमुज्जुसुत्तपज्जंता।
इच्छंति वत्थुधम्मं, तो तेसिं सव्वनिक्खेवो॥ २८५५॥

यस्माच्च सामान्याऽऽदिविशिष्टं बाह्यमपि च विचित्रं बहुप्रकारमृजुसूत्रपर्यन्ता नया वस्तुधर्ममिच्छन्ति, ततस्तेषां सर्वेऽपि नामाऽऽदयो निक्षेपाः संमता एवेति। अतः '' ठवणावज्जे संगहववहारा '' (२८४७) इत्यादिना यत्केषाञ्चिन्मतं, तदसंगतमेवेति॥ २८५५॥

'नेवाइयं पयं' (२८४०) इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

निवयइ पयाऽऽइपज्जं-तओ जओ तो नमो निवाउ त्ति ।
सो च्चिय नियय्त्थपरो, पयमिह नेवाइयं नाम ॥ २८५६ ॥
पूयत्थमिणं सा पुण, सिरकरपायाऽऽइदव्वसंकोओ ।
भावस्स य संकोओ, मणसा सुद्धस्स विणिवेसो ॥ २८५७ ॥

यतो यस्मान्निपतति पदाऽऽदिपर्यन्तयोस्ततो 'नमः' इति पदं निपातो भण्यते । स एव 'नमः' इति निपातो निजकार्थपरः स्वार्थिकप्रत्ययोपादानो नैपातिकं पदमित्युच्यत इति ॥ २८५६ ॥ इदं च 'नमः' इति पदं पूजार्थम्, शेषं सुगमम् ॥ २८५७ ॥

अत्र च भावसंकोचलक्षणं भावकरणमेव प्रधानमिति-दर्शयन्नाह-

एत्थं तु भावकरणं, पहाणमेगंतियं ति तस्सेव ।
वज्झं सुद्धिनिमित्तं, भावावेयं तु तं विफलं ॥ २८५८ ॥
जं जुज्झंतो वि तयं, न तप्फलं पालगाइ व्व ।
तव्विरहिया लहंति य, फलमिह जमणुत्तराऽऽईया ॥२८५९॥
तह वि विसुद्धी पाएण वज्झसहियस्स जा न सा इहरा ।
संजायइ तेणोभयमिट्ठं संवस्स वा नमओ ॥ २८६० ॥

सुगमाः, गतार्थाश्च । नवरं भाषापेतं भावरहितं तद् बाह्यकरणं विफलमेव । इति विंशतिगाथार्थः ॥ २८५८ । २८५९ । २८६० ॥

(६) अथ प्ररूपणाद्वारमाह-

दुविहा परूवणा छ-प्पया य नवहा य छप्पया इ णमो ।
किं कस्स केण व कहिं, केवचिरं कइविहो व भवे ?॥ २८६१॥

द्विविधा द्विप्रकारा, प्रकृष्टा प्रधाना, प्रगता वा रूपणा वर्णना प्ररूपणेति । तदेव द्वैविध्यमाह-षट्पदा च षट्प्रकारा, नवधा च नवप्रकारा, चशब्दात्पञ्चपदा, चतुष्पदा च । तत्र षट्पदा 'णमो' इति पदं किं, कस्य, केन वा, क्व वा, कियचिरं, कतिविधो वा भवे-न्नमस्कारः ? इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ २८६१ ॥

तत्र किंद्वारव्याख्यानार्थमाह-

किं जीवो तप्परिणओ, पुव्वपडिवन्नओ य जीवाणं ।
जीवस्स य जीवाण य, पडुच्च पडिवज्जमाणं तु ॥ २८६२ ॥

किं वस्तु नमस्कारः ? इत्याह-(जीवो त्ति) सामान्येन अविशुद्धनैगमाऽऽदिनयानां जीवः, तद्ज्ञानलब्धियुक्तो योग्यो वा नमस्कारः । शब्दाऽऽदिशुद्धनयमतंत्वधिकृत्याऽऽह-(तप्परिणओ त्ति) शब्दाऽऽदिविशुद्धनयमतेन तु जीवः, तत्परिणतो नमस्कारपरिणामपरिणत एवं नमस्कारो, नापरिणत इति । उक्तं किंद्वारम् ।

अथ कस्येतिद्वारमुच्यते-तत्र च यदा पूर्वप्रतिपन्नो नमस्कारः चिन्त्यते, तदा जीवानामसौ विज्ञेयः, बहुजीवस्वामिक इत्यर्थः । प्रतिपद्यमानं तु नमस्कारं प्रतीत्य यदा एको जीवस्तं प्रतिपद्यते, तदा जीवस्यासौ विज्ञेयः, एकजीवस्वामिक इत्यर्थः । यदा तु बहवो जीवास्तं प्रतिपद्यन्ते, तदा जीवानामेष ज्ञातव्यः, बहुजीवस्वामिक इत्यर्थः । इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ २८६२ ॥

अथ किंद्वारविषयं भाष्यम्-

किं होज्ज नमोक्कारो, जीवोऽजीवोऽहवा गुणो दव्वं ।'
जीवो नो खंधो त्ति य, तह नोगामो नमोक्कारो ॥ २८६३ ॥

किं वस्तु नमस्कारो भवेत् ? जीवः, अजीवो वा । जीवाजीवत्वेऽपि किं गुणो, द्रव्यं वा नमस्कारः ? इति प्रश्ने नैगमाऽऽद्यविशुद्धनयमतमङ्गीकृत्याऽऽह-जीवो नमस्कारः, नाऽजीवः । स च संग्रहनयापेक्षया मा भूदविशिष्टः पञ्चास्तिकायमयः स्कन्धः । यथाऽऽहुस्तन्मतावलम्बिनः-''पुरुष एवेदं ग्नि सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति'' इत्यादि । तथा संग्रहनयविशेषापेक्षयैव मा भूदविशिष्टग्राम इति, 'अतो नो स्कन्धो नो ग्रामः ।' इति नियुक्तिगाथायां वाक्यशेषः । पञ्चास्तिकायमयस्कन्धैकदेशत्वान्नोशब्दस्य च देशवचनत्वान्नोस्कन्धो जीवो नमस्कारः, तथा-चतुर्दशविधभूतग्रामैकदेशत्वाद् नोशब्दस्य च देशवचनत्वाद् नोग्रामरूपः प्रतिनियतः कोऽपि जीवो नमस्कार इति ॥ २८६३ ॥

ननु कस्माज्जीवो नमस्कारः, नाऽजीवः ? इत्याह-

जं जीवो णाणमओ-ऽणन्नो नाणं च जं नमोक्कारो ।
तो सो जीवो दव्वं, गुणो त्ति सामाइएऽभिहियं ॥ २८६४ ॥

यद्यस्माद् ज्ञानमयो जीवः, ज्ञानं च यस्मात् श्रुतज्ञानरूपो नमस्कारः, अनन्यश्चाव्यतिरिक्तश्च ज्ञानाज्जीवः । ततः स नमस्कारो 'जीवो त्ति' जीव एव, नाजीवः, तस्य ज्ञानशून्यत्वादिति । भवतु जीवो नमस्कारः, केवलं द्रव्यमसौ, गुणो वा ? इति वक्तव्यमित्याह-'द्रव्यं गुणो वा नमस्कारः' इत्येतत्सामायिके 'किं सामायिकं' इति द्वारे-''जीवो गुणपडिवन्नो, नयस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं । सो चेव पज्जवट्ठियनयस्स जीवस्स एस गुणो ॥ १ ॥'' (२६४३) इत्यादिना ग्रन्थेनाभिहितमेव, केवलं सामायिकस्थाने नमस्कारो वाच्य इति ॥ २८६४ ॥

भवतु जीवो नमस्कारः, किन्तु नोस्कन्धो नोग्रामश्च कथमसौ ? इत्याह-

सव्वत्थिमओ खंधो, तदेक्कदेसो य जं नमोक्कारो ।
देसपडिसेहवयणो, नोसद्दो तेण नोखंधो ॥ २८६५ ॥
भूयग्गामो गामो, तदेक्कदेसो तउ त्ति नोगामो ।
देसो त्ति सो किमेक्को-ऽणेगो नेओ नयमयाओ ॥ २८६६ ॥

सर्वं पञ्चास्तिकायाः, तन्मयस्तैर्निवृत्तः परिपूर्णः, स्कन्ध उच्यते । तदेकदेशश्च यस्मान्नमस्कारवान् जीवः, नमस्कारतद्वतोश्चा-भेदोपचारान्नमस्कारोऽपि तदेकदेशः । देशप्रतिषेधवचनश्च नोशब्दः, तेन तस्मात्स्कन्धैकदेशो जीवः, अभेदोपचारान्नमस्कारश्च नोस्कन्ध इति । तथा-''एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियरपणिंदिया सवितिचऊ । पज्जत्तापज्जत्ता, भेएणं चउदसग्गामा ॥ १ ॥'' इति वचनाच्चतुर्दशविधो भूतग्रामो ग्राम उच्यते । तदेकदेशश्च यस्मात्तकोऽसौ नमस्कारवान् देवमनुष्याऽऽदिजीवोऽभेदोपचारान्नमस्कारोऽपि तदेकदेश इत्यतोऽसौ नोग्रामोऽभिधीयते । 'देसो त्ति' पृच्छति विनेयः-भूतग्रामस्य देशः सन् स नमस्कारः, किमेकोऽनेको वा ? इति वक्तव्यम् । गुरुराहज्ञेयो नयमतात्-एकत्वमनेकत्वं च तस्य नयमताद्विज्ञेयमित्यर्थः । तदेतावता 'किं जीवो' (२८६२) इति व्याख्यातम् ॥ २८६५ । २८६६ ॥

अथ 'तप्परिणओ' (२८६२) इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

तप्परिणओ च्चिय जया, सहाईणं तया नमोक्कारो ।
सेसाणमणुवउत्तो, वि लद्धिसहिओऽहवा जोग्गो ॥२८६७॥

तत्परिणत एव नमस्कारपरिणामपरिणत एव, यदा जीवो भवति, तदाऽसौ शब्दाऽऽदिनयत्रयमतेन नमस्कारोऽभिधीयते । शेषाणां तु नैगमाऽऽदिनयानामनुपयुक्तोऽपि नमस्कारो जीवो नमस्कार उच्यते । किं सर्वः ? नेत्याह-लब्धिरहितस्तदावरणकर्मक्षयोपशमयुक्तः, अथवा-योग्यो भव्यशरीराऽऽदिको राज्यार्हकुमारराजवदिति ॥ २८६७ ॥

अथ कथं पुनर्नयमतेन नमस्कारस्यैकत्वमनेकत्वं च ज्ञेयम् ? इत्याह-

संगहनओ नमोक्कारजाइसामन्नओ सया एगं ।
इच्छइ ववहारो पुण, एगमिहेगं बहू बहवो ॥ २८६८ ॥
उज्जुसुयाऽऽईणं पुण, जेण सयं संपयं व वत्थुं ति ।
पत्तेयं पत्तेयं, तेण नमोक्कारमिच्छंति ॥ २८६९ ॥

द्वे अपि सुगमे, नवरं व्यवहारनयः पुनरेकं नमस्कारवन्तं जीवमेके नमस्कारमिच्छति, बहूँस्तद्वतो बहून्नमस्कारानिच्छति, लोकव्यवहारपरत्वात् , लोके चेत्थं दर्शनादिति । ऋजुसूत्राऽऽदयस्तु बहुत्वं नेच्छन्ति, वर्तमानसमयवर्तिनः स्वकीयस्यैवैकस्य प्रत्येकं प्रत्येकमभ्युपगमादिति ॥ व्याख्यातं किमितिप्ररूपणाद्वारम् ॥ २८६८ ॥ २८६९ ॥

अथ कस्येतिद्वारे '' पुव्वपडिवण्णओ य जीवाणं '' (२८६२) इत्यादि व्याचिख्यासया प्राऽऽह-

पडिवज्जमाणओ पुण, एगोऽणेगे व संगहं मोत्तुं ।
इट्ठो सेसनयाणं, पडिवन्ना णियमओऽणेगे ॥ २८७० ॥

प्रतिपद्यमानको नमस्कारस्यैकोऽनेके वा जीवा भवन्तीत्ययं पक्षः संग्रहनयं मुक्त्वा शेषनयानामिष्टः संमतः पूर्वप्रतिपन्नास्तु नियमेनानेके तेषामिष्टाः, गतिचतुष्टयेऽपि पूर्वप्रतिपन्नस्य सम्यग्दृष्टीनामसंख्येयानां सदैव लाभात्। संग्रहनयस्तु-बहुत्वं सर्वत्र नेच्छतीति तद्वर्जनमिति। तदेवं ' कस्य नमस्कारः ? ' इति पृष्टे एकानेकजीवस्वामिको नमस्कार इति निर्णीतम् ॥ २८७० ॥

अथ जीवस्वामिके सत्यपि ' किं नमस्कार्यजीवस्वामिको नमस्कारः, नमस्कर्तृजीवस्वामिको वा ? ' इति जिज्ञासायां नयैर्निर्णयमाह-

कस्स त्ति नमोक्कारो, पुज्जस्स य संपयाणभावाओ ।
नेगमववहारमयं, जह भिक्खा कस्स जइणो त्ति ॥ २८७१ ॥

कस्य नमस्कारः-किंस्वामिकोऽसौ ? इति पृष्टे गुरुराह-नैगमव्यवहारनयमतमिदम्-पूज्यस्य नमस्कार्यस्य नमस्कारः, न पुनस्तत्कर्तुः। कुतः ? संप्रदानभावात्-तेन पूज्यस्यैव संप्रदीयमानत्वात्। लोकेऽपि वक्तारो भवन्तिकस्य भिक्षा ? ' यतेः ' इति, न पुनस्तद्दातुः ॥ २८७१ ॥

हेत्वन्तरेणापि नमस्कार्यस्वामिकत्वं नमस्कारस्यैतौ समर्थयतः। कथम् ? इत्याह-

पुज्जस्स व पज्जाओ, तप्पच्चयओ घडाऽऽयधम्म व्व ।
तद्धेउभावओ वा, घडविण्णाणाभिहाणं व ॥ २८७२ ॥

अथवा-पूज्यस्यैव पर्यायो नमस्कार इति प्रतिज्ञा । (तप्पच्चयओ त्ति) पूज्ये पूज्योऽयमिति प्रत्ययजनकत्वादिति हेतुः । (घडाऽऽयधम्म व्व त्ति) घटस्याऽऽत्मीयरूपाऽऽदिवदिति दृष्टान्तः, यथा-घटे घटप्रत्ययजनकत्वात्तद्रूपाऽऽदयस्तत्पर्याया इत्यर्थः। अथवा-अस्यामेव प्रतिज्ञायां तद्धेतुभावादिति हेतुः-नमस्कारोत्पत्तिहेतुत्वादित्यर्थः । घटविज्ञानाभिधानवदिति दृष्टान्तः । इयमत्र भावना-नमस्कार्येऽर्हदादौ दृष्टे भव्यजन्तोः विशिष्टोल्लासो नमस्कारकरणाभिप्राय उत्पद्यते, ततस्तन्नमस्कारस्य नमस्कार्यो हेतुः, ततस्तद्धेतुभावान्नमस्कार्यस्यैव पूज्यस्यैव पर्यायो नमस्कार; यथा घटविषयविज्ञानाभिधाने घटहेतुकत्वाद् घटपर्यायाविति ॥ २८७२॥

किञ्च-युक्त्यन्तरेणापि पूज्यस्वामिक एव नमस्कारः ; कथम् ? इत्याह-

अहवा स करेंतो चे-व तस्स जं भिन्नभावमावण्णो ।
का तस्स नमोक्कारे, चिंता दासक्खरोवम्मे ॥ २८७३ ॥

अथवा-यद्यस्मात् स नमस्कारकर्ता नमस्कारं कुर्वाण एव तस्य नमस्कार्यस्याऽर्हदादेर्भृत्यभावं दासत्वमापन्नः, ततस्तस्य नमस्कारकर्तुर्नमस्कारे का चिन्ता ? किं ममत्वम् ? ननु नमस्कारस्तावद् दूरे तिष्ठतु, तस्याऽऽत्माऽपि नात्मीयः, पूज्यस्य भृत्यभावेन समर्पणात्। किंविशिष्टे नमस्कारे चिन्ता न विधेया ? इत्याह-(दासक्खरोवम्मे त्ति) दाससंबन्धिना खरेणौपम्यमुपमानं यस्य तस्मिंस्तथाभूते । इदमुक्तं भवति-'' दासेण से खरो कीओ, दासो वी से खरो वी से । '' इति सिद्धान्तोक्तन्यायाद्दासकल्पो नमस्कार-कर्ता, खरकल्पस्तु नमस्कारः, द्वावप्येतौ नमस्कार्यस्यार्हदादेरेव, न पुनर्नमस्कारकर्तुः किञ्चिदिति किं तस्य चिन्तया ? तदेवं पूज्यस्यैव नमस्कार इति नैगमव्यवहारनयमतेन प्रतिष्ठितम् ॥ २८७३॥

पूज्यं च वस्तु द्विविधंजीवरूपं जिनाऽऽदि, अजीवरूपं च तत्प्रतिमाऽऽदि । अस्य च जीवाजीवपदद्वयस्यैकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ भङ्गा भवति । तद्यथा-जीवस्य १, अजीवस्य २, जीवानाम् ३, अजीवानाम् ४, जीवस्याऽजीवस्य च ५, जीवस्याजीवानां च ६, जीवानामजीवस्य च ७, जीवानामजीवानां च ८ । इमामेवाष्टभङ्गीं सोदाहरणां भाष्यकारः प्राऽऽह-

जीवस्स सो जिणस्स व, अजीवस्स उ जिणिंदपडिमाए ।
जीवाण जईणं पि व, अजीवाणं तु पडिमाणं ॥ २८७४ ॥
जीवस्साऽजीवस्स य, जइणो बिंबस्स चेगओ समयं ।
जीवस्साऽजीवाण य, जइणो पडिमाण चेगत्थं ॥ २८७५ ॥
जीवाणमजीवस्स य, जइणं बिंबस्स चेगओ समयं ।
जीवाणमजीवाण य, जईण पडिमाण चेगत्थं ॥ २८७६ ॥

तिस्रोऽपि गतार्थाः ॥ २८७४ । २८७५ । २८७६ ॥

अत्र परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

जीवो त्ति णमोक्कारो, नणु सव्वमयं कहं पुणो भेओ ?
इह जीवस्सेव सओ, भण्णइ सामित्तचिंतेयं ॥ २८७७ ॥

ननु '' किं जीवो तप्परिणओ '' (२८६२) इत्यत्र पूर्वं जीवो नमस्कार इति सर्वनयसंमतं समानाधिकरणमुक्तम्। इह तु '' जीवस्स सो जिणस्स व '' (२८७४) इत्यादिषष्ठीनिर्देशात्कथं भेदोऽभिधीयते ? अत्रोच्यते-(इहेत्यादि) इहास्यामष्टभङ्ग्यां जीवस्यैव सतो नमस्कारस्य तथैव समाना-

धिकरणभाजः सतो नमस्कारस्येत्यर्थः । किम् ? अत आह-स्वामित्वचिन्तेयं भण्यते- ' स जीवरूपो नमस्कार किं नमस्कार्यस्य संबन्धी, नमस्कर्तुर्वा ? ' इत्येतदिह चिन्त्यत इति भावः । एतच्च नैगमव्यवहारनयमतेन चिन्तितम् ॥ २८७७ ॥

अथ संग्रहनयमतेन चिन्तयन्नाह-

सामण्णमेत्तगाही, सपरजिएयरविसेसनिरवेक्खो ।
संगहनओऽभिमण्णइ, तमिहेगस्साविसिट्ठस्स ॥ २८७८ ॥

सामान्यमात्रग्राही संग्रहनयोऽभिमन्यते तमिह नमस्कारं, संबन्धितया कस्य ? इत्याह-एकस्य । कथंभूतस्य ? अविशिष्टस्य जीवाजीवविशेषणरहितस्यैकस्यैवाविशिष्टस्य सत्तामात्ररूपस्य संबन्धितया नमस्कारमसौ मन्यते, न तु द्वयोः; बहूनां चेत्यर्थः । अत्रोपपत्तिमाह- '' सपरजिएयरविसेसनिरवेक्खो त्ति । '' स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ च तौ जीवौ च स्वपरजीवौ, तौ चेतरेऽजीवाश्च स्वपरजीवेतराः, तेषां विशेषा एकद्वित्र्यादयः, स्वपरजीवेतराश्च ते विशेषाश्च स्वपरजीवेतरविशेषाः, तन्निरपेक्षो यतोऽसौ, ततस्तन्निरपेक्षत्वात् सामान्यमात्रस्यैव संग्रहो नमस्कारं मन्यत इति ॥ २८७८ ॥

एतदेव भावयति-

जीवस्साऽजीवस्स व, सस्स परस्स व विसेसणेऽभिण्णो ।
न य भेयमिच्छइ सया, स नमोसामण्णमेत्तस्स ॥ २८७९ ॥

(जीवस्सेत्यादि) जीवस्याऽजीवस्य वा स्वस्य परस्य वा नमस्कारस्येत्येवं विशेषणे कर्त्तव्येऽभिन्नोऽभेदवानसौ एतैर्भेदैर्नमस्कारं न विशेषयति, किं तु सामान्यमात्रग्राहित्वात् सामान्यमात्रस्यैव नमस्कारमसौ मन्यत इत्यर्थः । भवत्वेवं, किंतु नमः शब्दरूपं नमस्कारं स्वस्वरूपेणाऽऽधाराऽऽदिभेदाद्भिन्नमसौ मन्यते, अभिन्नं वा ? इत्याशङ्क्याऽऽह-न च नमस्कारसामान्यमात्रस्याऽऽधाराऽऽदिभेदेऽपि सदा सर्वकालं स संग्रहनयो भेदमिच्छति, सर्वतः सामान्यमात्रग्राहित्वादिति ॥ २८७९ ॥

अथवा जीवस्य नमस्कार इत षष्ठ्या भेदनिर्देशं मूलतः संग्रहो न मन्यत एव, किमनया तस्य स्वामित्वचिन्तया ? इति दर्शयन्नाह-

जीवो नमु त्ति तुल्ला-हिगरणयं वेइ न उ स जीवस्स ।
इच्छइ वाऽसुद्धयरो ,तं जीवस्सेव नऽण्णस्स ॥ २८८० ॥

(जीवो इत्यादि) संग्रहः '' जीवो नमस्कारः '' इति तुल्याधिकरणतां समानाधिकरणतामेव ब्रवीति, न पुनरसौ जीवस्य नमस्कार इति व्यधिकरणमिच्छति, जीवनमस्काराऽऽद्यर्थानां सर्वेषामप्यभेदवादित्वादिति । किमयमेक एव प्रकारस्तस्य ? नेत्याह-(इच्छइ इत्यादि) इच्छति वाऽशुद्धतरः संग्रहनयस्तं नमस्कारं संबन्धितया, कस्य ? जीवस्यैव जीवसामान्यस्यैव, न पुनरन्यस्याऽऽद्यभङ्ग-रहितस्य शेषसप्तभङ्गीगतस्याजीवाऽऽदेरिति ॥ २८८० ॥

अथ ऋजुसूत्रमधिकृत्याऽऽह-

उज्जुसूयमयं नाणं, सद्दो किरिया च जं नमोक्कारो ।
होज्ज न हि सव्वहा सो, जुत्तो तक्कत्तुरन्नस्स ॥ २८८१ ॥

ऋजुसूत्रनयस्येदं मतम्-यद्यस्माज्ज्ञानमुपयोगरूपं, शब्दो वा '' नमोऽर्हद्भ्यः '' इत्यादिकः, क्रिया वा शिरोनमनाऽऽदिरूपा नमस्कारो भवेद् ? इति त्रयी गतिः । ततो न हि नैव, सर्वथा सर्वैरपि प्रकारैः, तत्कर्त्तारं विनाऽन्यस्य युक्तः स नमस्कारः । तस्मान्नमस्कर्तृस्वामिक एवासौ युज्यते, न तु नमस्कार्यस्वामिक इतीह भावार्थः ॥ २८८१ ॥

कुतः ? इत्याह-

नाणं जीवाणऽन्नं, तं कहमत्थंतरस्स पुज्जस्स ?
जीवस्स होउ कह वा, पडिमाए जीवरहियाए ? ॥२८८२॥

(नाणमित्यादि) यदि ज्ञानं नमस्कारस्तदा गुणत्वेन तन्नमस्कर्तुर्जीवादनन्यदव्यतिरिक्तं वर्त्तते, तत्कथमर्थान्तरस्य पूज्यस्य नमस्कार्यस्यार्हदादेः संबन्धि वक्तुं युज्यते ? यदि वा-अघटमानकमप्यभ्युपगम्य ब्रूमः-जीवस्य पूज्यस्यापि संबन्धि तद् भवतु, जीवरहितायास्त्वचेतनायाः प्रतिमायाः कथं वा केन प्रकारेण तद्भवेत् ? तस्या सर्वथा ज्ञानशून्यत्वेन कष्टतरं महासाहसमिदमित्यभिप्रायः ॥ २८८२ ॥

एवं सद्दो किरिया, य सह-किरियावओ जओ धम्मो ।
न य धम्मो दव्वंतर-संचारी तो न पुज्जस्स ॥ २८८३ ॥

एवं शब्दः क्रिया च यस्माच्छब्दक्रियावतो नमस्कर्तुर्धर्मः, धर्मश्च न द्रव्यान्तरसंचारी, ततो न पूज्यस्य नमस्कार्यस्य नमस्कार इति ॥ २८८३ ॥

कुतः पुनर्धर्मो द्रव्यान्तरसंचारी न स्याद ? इत्याह-

एवं च कयविणासा-ऽकयागमेगत्तसंकराऽऽईया ।
अन्नस्स नमोक्कारे, दोसा बहवो पसज्जंति ॥ २८८४ ॥

एवं ह्यनेन पूजकेन कृते नमस्कारे, अन्यस्य पूज्यस्याभ्युपगम्यमाने बहवोः दोषाः प्रसजन्ति । के ? इत्याह-कृतनाशाकृताऽऽगमैकत्वसङ्करऽऽदयः । तत्र येन कृतस्यस्यानभ्युपगमात्कृतनाशः, येन च न कृतः पूज्येन, तत्स्वामित्वाभ्युपगमेऽकृताऽऽगमः । तथा-द्वयोरप्यभिन्ननमस्कारधर्मकत्वादेकत्वं, सङ्करो वा । आदिशब्दात्सहोत्पत्तिविनाशाऽऽदय इति ॥ २८८४ ॥

नैगमाऽऽदिनयवादी पूर्वपक्षयन्नाह-

जइ सामिभावओ होज्ज पूयणिज्जस्स सो तों को दोसो ?
अत्थंतरभूयस्स वि, जह गावो देवदत्तस्स ॥ २८८५ ॥

यदि पूजकादर्थान्तरभूतस्यापि पूजनीयस्य पूजके स्थितोऽपि स्वामिभावेन स नमस्कारो भवेत् , तर्हि को दोषः स्यात् ? धर्मस्य द्रव्यान्तरे संचरणाभ्युपगमान्न कश्चिदित्यर्थः । यथाऽन्यत्र स्थितानामपि गवां देवदत्तः स्वामीति ॥ २८८५ ॥

ऋजुसूत्र उत्तरमाह-

अस्सेदं ववएसो, हवेज्ज दव्वम्मि न उ गुणे जुत्तो ।
पडयस्स सुक्कभावो, भन्नइ न हि देवदत्तस्स ॥ २८८६ ॥

अन्यत्र स्थितेऽपि गवादिके द्रव्ये, अन्यत्र स्थितस्यापि देवदत्ताऽऽदेरस्येदमिति स्वामित्वव्यपदेशो भवेद्युज्यते, गुणे त्वयं न्यायो न युक्तः; न हि पटस्य शुक्लभावः शुक्लगुणो देवदत्तस्य भण्यते, साङ्कर्यैकत्वाऽऽदिदोषप्रसङ्गादिति ॥ २८८६ ॥

पुनरपि परः प्राऽऽह-

ववएसाभावम्मि वि, नणु सामित्तमणिवारियं चेव ।
अन्नाधाराणं पि हु, सगुणाण व भोगभावाओ ॥ २८८७ ॥

ननु गुणेष्वप्ययं न्यायो दृश्यते एव; तथाहि-अन्याऽऽधाराणामपि देवदत्तसंबन्धिपटाऽऽदिगतानामपि, शुक्लाऽऽदिगुणानामिति शेषः । देवदत्तस्यैते शुक्लाऽऽदिगुणा इति व्यपदेशाभावेऽपि ननु तस्य तत्स्वामित्वमनिवारितमेव । कुतः ? इत्याह-भोगभावादिति, निजपटाऽऽदिगतशुक्लाऽऽदिगुणानां देवदत्तेन भुज्यमानत्वादित्यर्थः । केषां यथा कस्य स्वामित्वम् ? इत्याह-

यथा-स्वगुणानां रूपाऽऽदीनां देवदत्तस्य स्वामित्वम् । ततः पूजके स्थितस्यापि नमस्कारस्य यदि पूज्यः स्वामी भवेत् , तदा को दोषः ? इति प्रकृतम् ॥ २८८७ ॥

ऋजुसूत्रः प्राऽऽह-तथाऽपि पूज्यस्य नमस्कार इति न मन्यामहे । कुतः ? इत्याह-

एवं पि न सो पुज्जस्स तप्फलाभावओ परघणं व ।
जुत्तो फलभावाओ, सघणं पि व पूजयंतस्स ॥ २८८८ ॥

एवमपि न स नमस्कारः पूज्यस्य युक्तः, तत्फलस्य स्वर्गाऽऽदेरभावात्परधनवदिति । युक्तः पुनरसौ पूजकस्य, स्वर्गाऽऽदेः फलस्य सद्भावात् , स्वधनवदिति ॥ २८८८ ॥

पुनरपि नैगमाऽऽदिनयमतमाशङ्क्य ऋजुसूत्रः परिहरन्नाह-

नणु पुज्जस्सेव फलं, दीसइ पूया न पूजयंतस्स ।
नाणुजीवित्तणओ, तं तस्स फलं जहा नभसो ॥ २८८९ ॥

ननु पूज्यस्यैव पूजालक्षणं फलं प्रत्यकृतो दृश्यते, न तु पूजकस्य, ततः तत्फलाभावादित्यसिद्धो हेतुः । एवं नैगमाऽऽदिवादिना प्रोक्ते ऋजुसूत्रः प्राऽऽह-न तत्तस्य पूज्यस्य पूजालक्षणं फलम् , अनुपजीवित्वात् , यथा नभसः । इह यो यस्यानुपजीवी न तत्तस्य फलं, यथा नभसो दह्यमानागुरुकर्पूराऽऽदिधूमपटलप्रसरत्सुमनोगन्धाऽऽदिफलं न भवति, किं तु तदुपजीवकस्य देवदत्ताऽऽदेरेव, अनुप-जीवी च पूजाया वीतरागः, अतो न तस्य तत्फलं किंतु पूजकस्यै-वेति ॥ २८८९ ॥

न य दिष्ठफलत्थोऽयं, जुत्तो पुज्जस्स वोवगाराय ।
किं तु परिणामसुद्धी, फलमिट्ठं सा य पूजयओ ॥ २८९० ॥

न च दृष्टमेव प्रत्यक्षं पूजाऽऽदिकं फलमर्थः प्रयोजनं यस्याऽसौ दृष्टफलार्थोऽयं नमस्कर्तुः नमस्कारो युक्तः, नापि च पूज्योपकारायासौ, किं त्वनन्तरं परिणामविशुद्धिः फलमिष्टं नमस्कारस्य, परम्पराफलं तु स्वर्गापवर्गाऽऽदि । सा च परिणामशुद्धिः, तच्च स्वर्गप्राप्त्यादिकं फलं पूजयतः पूजकस्यैव भवति, न तु पूज्यस्येति । तस्मात्स नमस्कारस्तस्य नमस्कर्तुरेव, न नमस्कार्यस्येति ॥ २८९० ॥

ऋजुसूत्रनयप्रतिज्ञाहेतुनाऽऽह-

कत्तुरहीणत्तणओ, तग्गुणओ तप्फलोवभोगाओ ।
तस्स क्खओवसमओ, तज्जोगाओ य सो तस्स ॥ २८९१ ॥

कर्तुरेवाधीनत्वात् , तदधीनत्वं च तेनैव क्रियमाणत्वादिति । तथा तद्गुणत्वाद् , ज्ञानशब्दक्रियारूपत्वेन नमस्कारस्य कर्तुर्गुणत्वादित्यर्थः । तथा-तस्य नमस्कारस्य यत् फलं स्वर्गाऽऽदिकं तदुपभोगादिति । तथा-तस्य नमस्कारस्य यः कारणभूतः कर्मक्षयोपशमः, तस्य कर्तर्येव सद्भावात् , कारणपरित्यागेन च कार्यस्यान्यत्रायोगादिति । तथा-तद्योगात्-तत्परिणामरूपत्वादिति । दृष्टान्तास्तु पञ्चस्वपि हेतुषु स्वधनवदित्यादयः स्वयमभ्यूह्या इति ॥ २८९१ ॥

अथ शब्दाऽऽदिनयत्रयमतेन स्वामित्वचिन्तामाह-

जं नाणं चेव नमो, सद्दाऽऽईणं न सद्दकिरियाओ ।
तेण विसेसेण तथं, वज्झस्स न तेऽणुमण्णंति ॥ २८९२ ॥

यद् यस्माद् नमो नमस्कारः शब्दाऽऽदिनयमतेनोपयोगरूपं ज्ञानमेव, न तु शब्दक्रिये, शुद्धत्वेन ज्ञानवादित्वात् तेषामिति भावः । तेन विशेषत एव तं नमस्कारं ते शब्दाऽऽदयो बाह्यस्य जिनेन्द्राऽऽदेस्तत्प्रतिमाऽऽदेर्वा नाऽनुमन्यन्ते नेच्छन्ति, किं तु तदुपयोगवतोऽन्तरङ्गस्यैव पूजकजीवस्य ते तमिच्छन्ति । इति त्रिंशद्गाथार्थः ॥ २८९२ ॥ गतं कस्येति प्ररूपणाद्वारम् ।

अथ केनेति द्वारमाह-

नाणाऽऽवरणिज्जस्स य, दंसणमोहस्स जो खओवसमो ।
जीवमजीवे अट्ठसु , भंगेसु य होइ सव्वत्थ ॥ २८९३ ॥

ज्ञानाऽऽवरणीयस्येत्यनेन मतिश्रुतज्ञानाऽऽवरणद्वयं गृह्यते; नमस्कारस्य मतिश्रुतज्ञानान्तर्गतत्वाद्; ज्ञानस्य च सम्यक्त्वसहचरितत्वाद्दर्शनमोहनीयमप्याक्षिप्यते । ततो मतिश्रुतज्ञानाऽऽवरणद्वयस्य, दर्शनमोहनीयस्य च कर्मणो यः क्षयोपशमः ' तेन हेतुभूतेन नमस्कारो लभ्यते ' इत्यध्याहारः । तस्य चाऽऽवरणस्य द्विविधानि स्पर्द्धकानि भवन्ति-सर्वोपघातीनि, देशोपघातीनि च । तत्र सर्वेषु सर्वघातिषु हतेषु देशोपघातिनां च प्रतिसमयमनन्तैर्भागैर्विमुच्यमानः क्रमेण नमस्कारस्य प्रथमं नमस्कारलक्षणमक्षरं लभते । एव-मेकैकवर्णप्राप्त्या समस्तनमस्कारं प्राप्नोतीति । गतं केनेतिद्वार-म् ।

अथ कस्मिन्निति द्वारमभिधित्सुराह-(जीवमजीवे इत्यादि) मकारोऽलाक्षणिकः । नमस्कारस्य जीवगुणत्वाज्जीवः, ततो नमस्कारवान् जीवो यदा गजेन्द्राऽऽदौ जीवेऽधिकरणे वर्तते तदा जीवे नमस्कारोऽभिधीयते, यदा तु कटाऽऽद्यजीवे तदाऽजीवेऽसौ व्यप-दिश्यते । यदा तु जीवाजीवोभयाऽऽत्मके वस्तुनि तदा जीवाजीवयोः । इत्येकबहुवचनभ्यां प्रागुक्तेष्वष्टसु भङ्गेषु सर्वत्रायं भवति ॥ इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ २८९३ ॥

विस्तरार्थं त्वभिधित्सुर्भाष्यकारः प्राऽऽह-

केणं ति णमोक्कारो, साहिज्जइ लब्भए व भणियम्मि ।
कम्मक्खओवसमओ, किं कम्मं को खओवसमो ? ॥२८९४॥

केन हेतुना नमस्कारः साध्यते, लभ्यते वा ? इति भणिते गुरु-राहकर्मक्षयोपशमतोऽसौ लभ्यते । विनेयः प्राऽऽह-किं तत्कर्म, कश्च क्षयोपशमः ? इति ॥ २८९४ ॥

तत्र कर्म तावदाह-

मइसुयनाणाऽऽवरणं, दंसणमोहं च तदुवघाईणि ।
तप्फड्डुयाइँ दुविहाइँ सव्वदेसोवघाईणि ॥ २८९५ ॥
सव्वेसु सव्वघाई-सु हएसु देसोवघाइयाणं च ।
भागेहिं मुच्चमाणो, समए समए अणंतेहिं ॥ २८९६ ॥
पढमं लहइ नकारं, एक्केक्कं वन्नमेवमन्नं पि ।
कमसो विसुज्झमाणो, लहइ समत्तं नमोक्कारं ॥ २८९७ ॥

तिस्रोऽपि गतार्थाः, नवरं मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिस्पर्द्धकानि तीव्रमन्दमध्यमाऽऽदिभेदभिन्नरसविशेषरूपाणि स्थानान्तरादवसेवानीति ॥ २८९५ ॥ २८९६ ॥ २८९७ ॥

यदुक्तम्- ' कश्च क्षयोपशमः ?' इति, तत्राऽऽह-

खीणमुइन्नं सेसय-मुवसंतं भण्णई खओवसमो ।
उदयविघाय उवसमो, जा समुइन्नस्स य विसुद्धी ॥२८९८॥

पूर्वार्द्धमेवोत्तरार्द्धेन व्याचष्टे - अनुदितस्योदयविघात उपशमः,

समुदीर्णस्योदितस्य पुनर्या विशुद्धिः क्षपणं, स क्षय इति शेषः। क्षयेणोपलक्षित उपशमः क्षयोपशम इति समासः॥ २८९८॥

अथ मतिश्रुताऽऽवरणद्वयस्य, दर्शनमोहनीयस्य च क्षयोपशम इह किमिति गृह्यते ? इत्याह-

सो सुयनाणं मइमणु-गयं च तं जं च सम्मदिट्ठिस्स।
तो तल्लाभे जुगवं, मइसुयसम्मत्तलाभो त्ति॥ २८९९॥

स नमस्कारस्तावत्स्वयं श्रुतज्ञानं, तच्च श्रुतज्ञानम्, '' मइपुव्वं जेण सुयं '' इत्यादिवचनान्मत्यनुगतं मतिपूर्वमेव भवति। एते च मतिश्रुते यस्मात्सम्यग्दृष्टेरेवं भवतः। ततस्तल्लाभे नमस्कारलाभे, युगपत्समकालं, मतिश्रुतसम्यक्त्वानां लाभो भवतीति। अतो मतिश्रुतज्ञानाऽऽवरणीयद्वयस्य, दर्शनमोहनीयस्य च क्षयोपशमोऽत्र गृह्यत इति॥ २८९९॥ तदेवं व्याख्यातं केनेति द्वारम्।

अथ कस्मिन्निति द्वारं व्याचिख्यासुराह-

कम्हि नमोक्कारोऽयं, बाहिरवत्थुम्मि कत्तुराहारो।
नेगमववहारमयं, जीवादावट्ठभेयम्मि॥ २९००॥
जं सो जीवाणन्नो, तेण तओ जत्थ सो वि तत्थेव।
एगम्मि अणेगेसु य, जीवाजीवोभएसुं च॥ २९०१॥

कस्मिन् वस्तुन्याधारभूते नमस्कारोऽयं भवतीति विनेयेन पृष्टे गुरुराह-नैगमव्यवहारमतं तावदिदम्-अष्टभेदे पूर्वोक्तभङ्गाष्टकनिर्दिष्टे नमस्कर्तृजीवस्याऽऽधारभूते जीवाऽऽदौ बाह्यवस्तुनि नमस्कारो भवतीति॥ २९००॥ कस्मात्पुनर्नमस्तकर्तृजीवाऽऽधारे वस्तुन्ययं भवति ? इत्याह-(जमित्यादि) यस्मादसौ नमस्कारो नमस्कर्तृजीवादनन्यः, तेन तस्मात्तकोऽसौ नमस्कर्तृजीवो यत्रैकस्मिन्-जीवे, अजीवे, उभयस्मिन् वा; अनेकेषुजीवेषु ,अजीवेषु, उभयेषु वा भवति, सोऽपि नमस्कारः, तत्रैव स्याद्, अन्यथा-अभेदायोगादिति॥ २९०१॥

एवमुक्ते पूर्वापरविरोधमुद्भावयन्नाह-

नणु नेगमाऽऽइवयणं, पुज्जस्स तओ कहं न तत्थेव ?
तस्स य न य तम्मि तओ, धन्नं व नरस्स खेत्तम्मि॥२९०२॥

ननु नैगमाऽऽदिवचनं पूर्वमेवं व्याख्यातम्-पूज्यस्य संबन्धी तको-ऽसौ नमस्कारः, तत्कथमसौ तत्रैव पूज्ये न भवति ? सत्यम्-(तस्स य त्ति) तस्यैव पूज्यस्य नैगमाऽऽदिमतेन नमस्कार इति मन्यामहे, न हि किञ्चिद्विस्मृतमिदम्, केवलम् (न य तम्मि तओ त्ति) तस्मिन्नेव पूज्ये तकोऽसौ नमस्कार इति न नियमः। न हि यद्यस्य संबन्धि तस्य स एवाऽऽधारः, अन्यथाऽपि दर्शनात्; यथा-धान्यं भवति देवदत्ताऽऽदिनरस्य संबन्धि, न च तत्तत्रैव, किं तु क्षेत्रे आधारभूते तदिति॥ २९०२॥

संग्रहमतेन नमस्कारस्याऽऽधारमाह-

सामन्नमेत्तगाही, सपरजिएयरविसेसनिरवेक्खो।
संगहनओऽभिमन्नइ, आहारे तमविसिट्ठम्मि॥ २९०३॥

व्याख्या पूर्ववत्, नवरमविशिष्टे सामान्यमात्रे आधारे संग्रहस्तं नमस्कारं मन्यत इति॥ २९०३॥

एतदेव भावयति-

जीवम्मि अजीवम्मि व, सम्मि परम्मि व विसेसणेऽभिन्नो।
न य भेदमिच्छइ सया, नमोसामन्नमेत्तस्स॥ २९०४॥

आधारस्य जीवाऽऽदिविशेषणे कर्त्तव्ये सामान्यवादित्वाद्यस्मादभिन्नोऽभेदतत्परोऽसौ, तस्मादविशिष्टे आधारे नमस्कारं मन्यत इति। न चाऽऽधाराऽऽदिभेदेन नमस्कारसामान्यमात्रस्यापि सदा भेदमिच्छत्यसौ, किं त्वभेदमेवेच्छति, सामान्यवादित्वादेवेति॥ २९०४॥

अथवा-अन्योऽन्यत्र वर्त्तत इति व्यधिकरणं संग्रहो मूलत एव नेच्छति, इच्छति वा कोऽप्यशुद्धतरो नमस्कारं जीव एव, नाजीवे, इत्येतद्दर्शयन्नाह-

जीवो नमो त्ति तुल्ला-हिगरणयं वेइ न उ स जीवम्मि।
इच्छइ वाऽसुद्धयरो, तं जीवे चेव नन्नम्मि॥ २९०५॥

गतार्था॥ २९०५॥

अथ ऋजुसूत्रनयमतेनाऽऽधारचिन्तामाह-

उज्जुसुयमयं नाणं, सद्दो किरिया च जं नमोक्कारो।
होज्ज न हि सव्वहा सो, मओ तदत्थंतरब्भूओ॥ २९०६॥

प्रागुक्तार्था, नवरं न खलु सर्वथाऽसौ नमस्कारः, तस्मात्कर्त्तुरर्थान्तरभूतो मतः, किं तु कर्त्तर्येवाऽऽधारे नमस्कार इति भावः॥ २९०६॥

एतदेव समर्थयति-

सुगुणम्मि नमोक्कारो, तग्गुणओ नीलया व पत्तम्मि।
इहरा गुणसंकरओ, सव्वेगत्ताऽऽदओ दोसा॥ २९०७॥

स्वस्याऽऽत्मनो गुणी स्वगुणी, तस्मिन् स्वगुणिनि कर्त्तरि नमस्कारः, नान्यत्रेति प्रतिज्ञा। तद्गुणत्वादिति हेतुः। पत्रे नीलतावदिति दृष्टान्तः। विपर्यये बाधकमाह-इतरथा-अन्यगुणस्य अन्यत्र गमने, गुणानां परस्परं साङ्कर्याद्, गुणिनां सर्वेषामपि साङ्कर्यैकत्वा-ऽऽदयो दोषा भवेयुरिति॥ २९०७॥

अत्र कश्चित्प्रेरयति-

भिन्नाऽऽधारं पीच्छइ, नणु रिउसुत्तो जहा वसइ खम्मि।
दव्वं तत्थाहिगयं, गुणगुणिसंबंधचिंतेयं॥ २९०८॥

ननु भिन्नाऽऽधारमपि अन्यस्यान्यमप्याधारमृजुसूत्र इच्छत्येव, यथा-अनुयोगद्वारेषु वसतिदृष्टान्तमृजुसूत्रमतेनाभिदधता प्रोक्तम्-' क्व वसति भवान् ?' ' खे आकाशे वसामीति '। तत्कथमिह भिन्नाऽऽधारता निषिध्यते ? इति। अत्रोत्तरमाह-(दव्वमित्यादि) इदमत्र हृदयम्-द्रव्यं देवदत्ताऽऽदिकं द्रव्यान्तरे आकाशे वर्त्तत इति मन्यत एव ऋजुसूत्रः। इह तु गुण-गुणिसंबन्धचिन्ता प्रस्तुता। ततोऽन्यगुणोऽन्यत्र वर्त्तत इतीहासौ न मन्यत इति न कश्चिद्विरोध इति॥ २९०८॥

एतदेव व्यक्तीकरोति-

सो संमन्नइ न गुणं, नियया हारं तया सयं इहरा।
को दोसो जइ दव्वं, हव्वेज्ज दव्वंतराऽऽहारं ?॥ २९०९॥

गतार्था, नवरं निजादाधारादाधारान्तरमाश्रयो यस्य स तथा, तमेवंभूतं गुणं न संमन्यतेऽसाविति॥ २९०९॥

शब्दाऽऽदिनयमतमधिकृत्याऽऽह-

जं नाणं चेव नमो, सद्दाऽऽईणं न सद्दकिरिया वि।
तेण विसेसेण तयं, वज्झम्मि न तेऽणुमन्नंति ॥ २६१०॥
इच्छइ अवि उज्जुसुओ, किरियं पि स तेण तस्स काए वि।
इच्छंति न सद्दनया, नियमा तो तेसि जीवम्मि ॥ २६११ ॥

यद् यस्माच्छब्दाऽऽदिमते नमो नमस्कारो ज्ञानमेव, न तु शब्दक्रिये अपि, तेन विशेषत एव तं नमस्कार तत्कर्तुर्जीवाद् बाह्ये वस्तुनि ते शब्दाऽऽदयो नानुमन्यन्त इति॥ २६१०॥ तर्हि ऋजुसूत्राच्छब्दाऽऽदीनां न कश्चिद्भेदः, सर्वैरपि कर्तरि नमस्कारस्याभ्युपगमात्। तदयुक्तम्। यत इच्छत्यपि ऋजुसूत्रः (किरियं पि) क्रियारूपमपि, अपिशब्दाच्छब्दरूपमपि नमस्कारं, तेन तस्य मते '' नमोऽर्हद्भ्यः '' इत्यादिशब्दमुच्चारयतः शिरोनमनाऽऽदिक्रियां च कुर्वतः कर्तुः कायेऽपि स नमस्कारो भवति। शब्दनयास्तु शब्दक्रियारूपं नमस्कारं नेच्छन्त्येव। किं तूपयोगरूपं ज्ञानमेव तमिच्छन्ति। अतस्तेषां मते नियमात् तदुपयोगवति कर्तृजीव एव नमस्कारो, न काये इति विशेषः। इत्यष्टादशगाथार्थः॥ २६११ ॥ व्याख्यातं कस्मिन्निति द्वारम्।

अथ कियच्चिरं कालं नमस्कारो भवतीति द्वारम्, तत्राऽऽह-

उवओग पडुच्चंतो, मुहुत्त लद्धीऍ होइ उ जहन्ना।
उक्कोसहिया छाव-ट्ठि सागरा अरिहाऽऽइ पंचविहो ॥२६१२॥

उपयोगं प्रतीत्य जघन्यतः, उत्कृष्टतश्च नमस्कारस्यान्तर्मुहूर्त्तं स्थितिर्भवति। लब्धेस्तु तदावरणक्षयोपशमरूपाया जघन्याऽन्तर्मुहूर्तमेव स्थितिः। उत्कृष्टतस्तु साधिकानि षट्षष्टिः सागरोपमाणि स्थितिर्भवति। इयं च-'' दो वारे विजयाइसु '' (२७६२) इत्यादिना मतिज्ञानाऽऽदीनामिव भावनीयेति द्वारम्।

अथ कतिविधो नमस्कार इति द्वारमाह-(अरिहाऽऽइ इत्यादि) अर्हत्सिद्धाऽऽदिपञ्चपदानामादौ नम इति पदस्य निपातात्पञ्चविधो नमस्कारः। इति निर्युक्तिगाथार्थः॥ २६१२॥

अत्र भाष्यम्-

सो कइविहो त्ति भणिए, पंचविहो भणइ नणु पुराऽभिहियं।
इक्कं नमोऽभिहाणं, केण विहाणेण पंचविहं ? ॥ २६१३ ॥

स नमस्कारः कतिविधः ? इति भणिते पृष्टे गुरुराहपञ्चविध इति। अत्र भणति प्रेरकः-ननु पुरा पूर्वं '' नेवाइयं पदं '' (२८४०) इत्यत्राभिहितं प्रतिपादितम्, एकमेव ' नमः ' इत्यभिधानम्। तत्केन विधानेन केन भेदेन पञ्चविधमुच्यते ? इति॥ २६१३॥

अत्रोत्तरमाह-

एगं नमोऽभिहाणं, तदरुहयाईयसन्निवायाओ।
जायइ पंचविगप्पं, पंचविहत्थोवओगाओ ॥ २६१४ ॥

सत्यम्, एकविधमेव नमोऽभिधानं, किं त्वर्हदादिपञ्चपदानामादौ सन्निपातात्पञ्चविधेऽर्हदादिकेऽर्थे उपयोगान्नमस्करणक्रिययोपयुज्यमानत्वात्पञ्चविकल्पं पञ्चभेदं जायत इति॥ २६१४॥

अथवा '' एकं नमोऽभिधानम् '' (२६१४) इत्यसिद्धं नैपातिकमिति, सान्वर्थाभिधानेनैव प्रागपि तस्यानेकविधत्वसूचनाऽऽदिति दर्शयन्नाह-

अहवऽन्नपयाइनिवा-यणा हि नेवाइयं च ताइं च।
पंचारुहयाऽऽईणि य, पयाणि तं निवयए जेसु ॥ २६१५॥

अथवा-अन्यपदानामादौ निपातानान्नैपातिकं पदमिदं प्रागुक्तम्। तच्च येष्वन्यपदेष्वादौ निपतति तान्यहात्सिद्धाऽऽदीनि पञ्च पदानि, अतः पञ्चानामन्यपदानामादौ निपतनान्नैपातिकमित्यन्वर्थत एव पञ्चविधमिदं सामर्थ्यात्प्रागप्युक्तम्। अत्र तु कतिविधो नमस्कार इति द्वारे स एवार्थो व्यक्तीकृत इति॥ २६१५॥

अथवा पूर्वं पदद्वार एव पञ्चविधो नमस्कार उक्तः, इह तु कतिविधो भवेत् ? इति द्वारे पञ्चविधानामर्हदादिपदानामर्थः कथ्यत इत्येतद्दर्शयन्नाह-

अहवा नेवाइयपय-पयत्थमेत्ताभिहाणओ पुव्वं।
इहमरिहदाइपंचवि-धपयपयत्थोवदेसणया ॥ २६१६ ॥

अथवा-नैपातिकं यत्पदं तस्य यत्पदार्थमात्रं पञ्चानामर्हदादिपदानामादौ निपतनाद् नैपातिकमित्येवंस्वरूपं तस्य यदभिधानं कथनं तस्मान्नैपातिकपदपदार्थमात्राभिधानात्पूर्वमेव पदद्वारे सामर्थ्यात् ' पञ्चविधो नमस्कार उक्तः ' इति शेषः। इह तु ' कतिविधो नम-स्कारः ? ' इति द्वारे तेषमिव पञ्चानामर्हदादिपदानां ' नमोऽर्हद्भ्यो, नमः सिद्धेभ्यो, नम आचार्येभ्यः '' इत्यादिको यः पदार्थस्तस्यैवोपदेशना कथना कार्या, तस्या एव प्रागनुक्तत्वादिति॥२६१६॥

अत्र परस्य प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

नणु वत्थम्मि पयत्थो, न जओ तच्चकहणं तहिं जुत्तं।
तह वि पयत्थं तत्थे-व लाघवत्थं पवोच्छिहिइ ॥ २६१७ ॥

नन्वग्रे वस्तुद्वारेऽर्हदादिपदानामर्थो वक्ष्यते, तत्कथमुच्यते-' इहार्हदादिपदानामर्थोपदेशनात् ' इति ? तदेतत् परोक्तं न, यतो यस्मादिह ' नमोऽर्हद्भ्यः ' इत्यादिके पदार्थे कथिते सति ततस्तत्र वस्तुद्वारेऽर्हदादीनां '' देवासुरमणुएसुं, अरिहा पूर्यसुरुत्तमा जम्हा। अरिणो हंता रयं हंता, अरिहंता तेण वुच्चति '' ॥ १ ॥ इत्यादिकं, (तच्चकहणं ति) तत्त्वकथनं स्वरूपनिवेदनं युक्तं भवति। क्रियतां तर्ह्येवं, कथ्यतामत्र पदार्थ इति चेत्। अत्राऽऽह-(तह वि इत्यादि) यद्यप्यत्र पदार्थे कथिते सति तत्र स्वरूपकथनं युज्यते, तथाऽपि नेह पदार्थः कथ्यते, किं तु ग्रन्थलाघवार्थं तत्रैव वस्तुद्वारे पदार्थं वक्ष्यतीति; अन्यथा यत्रार्हदादिपदानामर्थः, तत्र त्वर्हदादीनां स्वरूपकथनमिति ग्रन्थगौरवमेव स्यादिति गाथापञ्चकार्थः। तदेवमुक्ता षड्विधप्ररूपणा॥ २६१७॥

अथ नवविधां तामभिधित्सुराह-

संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खेत्त फुसणा य।
कालो य अंतरं भा-गभावअप्पाबहुं चेव ॥ २६१८ ॥

इति द्वारगाथा। एतैः सत्पदप्ररूपणताऽऽदिभिर्नवभिर्द्वारैर्नमस्कारस्य नवविधेयं प्ररूपणा प्रोच्यते॥ २६१८॥

तत्र प्रथमद्वारमधिकृत्याऽऽह-

संतपयं पडिवन्ने, पडिवज्जंते य मग्गणा गइसु।
इंदिय काए जोए, वेए य कसाय-लेसासु ॥ २६१९ ॥

सम्मत्तनाणदंसण-संजयउवओगओ य आहारे।
भासगपरित्तपज्ज-त्तसुहुमसन्नी य भवचरिमे ॥ २६२० ॥

सच्च तत्पदं च सत्पदं, विद्यमानार्थं पदमित्यर्थः, तच्चेह नमस्कार-लक्षणम् । तस्य नमस्कारलक्षणस्य सतपदस्य पूर्वप्रतिपन्नान् , प्रतिपद्यमानकांश्चाऽऽश्रित्य (मग्गण त्ति) मार्गणा अन्वेषणा कर्त्तव्या । कासु ? चतसृष्वपि गतिषु । तद्यथा-नमस्कारः किमस्ति, न वा ? अस्तीति ब्रूमः । तत्र चतुष्प्रकारायामपि गतौ नमस्कारस्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमतो विद्यन्ते, प्रतिपद्यमानास्तु विवक्षितकाले भाज्याः-कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्नेति। एवमिन्द्रियाऽऽदिष्वपि चरमान्तेषु द्वारेषु यथा पीठिकायां मतिज्ञानस्य सत्पदप्ररूपणता कृता, तथा नमस्कारस्यापि कर्त्तव्या, तयोरभिन्नस्वामित्वेनैकवक्तव्यत्वादिति। तदेवं गतं सत्पदप्ररूपणताद्वारम् ॥ २६१६ ॥ २६२० ॥

अथ द्रव्यप्रमाणद्वारमुच्यते-तत्र नमस्कारवज्जीवद्रव्यप्र-माणं वक्तव्यम्। एकस्मिन् समये कियन्तो नमस्का-रं प्रतिपद्यन्ते, सर्वे वा कियन्त इति ? क्षेत्रमिति क्षेत्रं वक्तव्यम्-कियति क्षेत्रे नमस्कारः रा-भवति ? स्पर्शना च वक्तव्या-कियद्-भुवं नमस्कारवन्तः स्पृशन्ति। इदं च द्वारत्रयमधिकृत्याऽऽह-

पलियमसंखेज्जइमो, पडिवन्नो होज्ज खेत्त लोगस्स।
सत्तसु चोद्दसभागे-सु होज्ज फुसणा वि एमेव ॥ २६२१ ॥

(पलियेत्यादि) इह सूचनात्सूत्रख्यायमर्थः-नमस्कारस्य प्रति-पत्तिमङ्गीकृत्य लोके कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्नेति । यदि भवन्ति जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, उत्कृष्टतस्तु सूक्ष्मक्षेत्रे पल्योपमासंख्येय-भागप्रदेशराशितुल्या इति । पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यतः सूक्ष्मक्षेत्र-पल्योपमासंख्येयभागप्रदेशराशिपरिमाणा एव, उत्कृष्टतस्तेभ्यो विशेषाधिका इति। (खेत्त त्ति) क्षेत्रद्वारमुच्यते-तत्र नमस्कारवान् जीव ऊर्द्धमनुत्तरसुरेषु गच्छँल्लोकस्य सप्तसु चतुर्दशभागेषु भवति, अधस्तु षष्ठपृथिव्यां गच्छन् पञ्चसु चतुर्दशभागेषु भवतीति द्रष्टव्य-म् । स्पर्शनाद्वारमप्येवं वक्तव्यम् । क्षेत्रस्पर्शनयोस्तु प्रागुक्तो विशेष इति ॥ २६२१ ॥

कालान्तरभावलक्षणं द्वारत्रयमधिकृत्याऽऽह-

एगं पडुच्च हेट्ठा, जहेव नाणाजियाण सव्वद्धा।
अंतर पडुच्चमेगं, जहन्नमंतोमुहुत्तं तु ॥ २६२२ ॥
उक्कोसऽणंतकालं, अवड्ढपरियट्टगं च देसूणं।
णाणाजीवे णत्थि उ, भावे य भवे खओवसमे ॥ २६२३ ॥

एकं नमस्कारवन्तं जीवं प्रतीत्य (हेट्ठा जहेव त्ति) यथैवाऽधस्ता-दनन्तरमिहैव '' उवओग पडुच्चंतो, मुहुत्तलद्धीएँ होइ उ जहन्ना ।'' (२६१२) इत्यादिना काल उक्तः, तथेहापि वक्तव्यः । नानाजीवानां तु नमस्कारः सर्वाद्धा सर्वकालं भवति, लोके तस्य सर्वदाऽविच्छेदादिति प्रतिपत्तिः। तस्य पुनर्लाभेऽन्तरमप्येकं जीवं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त भवति ॥ २६२२ ॥ उत्कृष्टतस्त्वपार्द्धपुद्गलपरावर्तलक्षणोऽनन्तकाल इति । नानाजीवाँस्तु प्रतीत्य नास्त्यन्तरं, तदविच्छित्तेरेवेति । भावे तु क्षायोपशमिके नमस्कारो भवेदिति प्राचुर्यमङ्गीकृत्यैतदुक्तम् , अन्यथा-क्षायिकौपशमिकयोरप्येके वदन्ति, क्षायिके यथा-श्रेणिकाऽऽदीनाम् , औपशमिके श्रेण्यन्तर्गतानामिति ॥ २६२३ ॥

भागद्वारमाह-

जीवाणऽणंतभागो, पडिवन्नो सेसगा अणंतगुणा।
वत्थुं तरहंताई, पंच भवे तेसिमो हेऊ ॥ २६२४ ॥

जीवानामनन्ततमो भागो नमस्कारस्य प्रतिपन्नः प्राप्यते । शेषकास्तु तमप्रतिपन्ना मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः । इदं च भागद्वारं गाथायां भावद्वारात्पूर्वमुपन्यस्तमपि व्यत्ययेन निर्दिष्टं, विचित्रत्वात्सूत्रगतेः । अल्पबहुत्वद्वारमपि नेह विवृतम् । पीठिकायां मतिज्ञानस्येव च भावनीयमिति । साम्प्रतं चशब्दाऽऽक्षिप्तां पञ्चविधाऽऽदि-प्ररूपणाम-नाभिधाय वस्तुद्वारं तावदाह-(वत्थुमित्यादि) वस्तु द्रव्यं दलिकं नमस्कारस्य योग्यमर्हमित्यनर्थान्तरम् , तच्चेह नमस्कारार्हाः पञ्चार्ह-दादयो मन्तव्याः। तेषां च वस्तुत्वेन नमस्कारार्हत्वेऽयं वक्ष्यमाणलक्षणो हेतुः । इति निर्युक्तिगाथासप्तकार्थः ॥ २६२४ ॥

इह '' एगं पडुच्च हेट्ठा जहेव '' (२६२२) इत्यादिना नम-स्कारस्य कालद्वारं निरूपितम्। अथवा-अन्यथा त-चिन्तनीयं, कथम् ? इत्याह भाष्यकारः-

अहवोसप्पुस्सुप्पिणि-कालो नियओ य तव्विसिट्ठो य।
तत्थऽत्थि नमोक्कारो, न व त्ति णेयं जहा सुत्तं ॥ २६२५ ॥

अथवा-अवोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणः कालो गृह्यते। स च भरतैरवतेषु नियतः प्रतिनियतेन निजस्वरूपेण वर्तते, हैमवतहरिवर्ष-देवकुरूत्त-रकुरुमहाविदेहरम्यकैरण्यवतेषु पुनस्तद्विशिष्टः। तस्मादुत्सर्पिण्यवस-र्पिणीकालाद्विशिष्टो विशेषितस्तत्प्रतिभागरूप एव कालोऽस्ति । तत्र द्विविधेऽपि काले नमस्कारोऽस्ति, न वा ? इति चिन्तायां यथा श्रुतं श्रुतसामायिकं पूर्वमुक्तं, तथाऽत्रापि ज्ञेयं, नमस्कारस्यापि श्रुतविशेष-रूपत्वादिति ॥ २६२५ ॥

इह च '' संतपयपरूपणया (२६१८) इत्यादिनवद्वाराणां कि-ञ्चिद्व्याख्यातं, किञ्चिन्नेत्यतो भाष्यकारोऽतिदेशमाह-

मइसुयनाणं नवहा, नंदीए जह परूवियं पुव्वं।
तह चेव नमोक्कारो, सो वि सुयब्भंतरो जम्हा ॥ २६२६ ॥

सुगमा ॥ २६२६ ॥ विशे० । आ० म० ।
(आभिनिबोधिकश्रुतज्ञानशब्दावलोकनावसेया चेयम्)

अथ चशब्दसूचितां पञ्चविधप्ररूपणामाह-

आरोवणा य भयणा, पुच्छा तह दायणा य निज्झवणा।
एसा वा पंचविहा, परूवणा रोवणा तत्थ ॥ २६२७ ॥

आरोपणा च भजना, पृच्छा तथा-दायना दर्शना दापना वा, निर्यापना वक्ष्यमाणरूपा, एषा वा प्ररूपणा पञ्चविधा ज्ञेया इति ॥ २६२७ ॥

तत्राऽऽरोपणा का ? इत्याह-

किं जीवो होज्ज नमो, नमो व जीवो त्ति जं परोप्परओ।
अज्झारोवणमेसो, पज्जणुजोगो मया रुवणा ॥ २६२८ ॥

किं जीव एव भवेन्नमस्कारः, नमस्कार एव वा जीव इति यत् परस्परावधारणादध्यारोपणं पर्यनुयोजनमेष पर्यनुयोग आरोपणा मता संमतेति ॥ २६२८ ॥

भजनव्याख्यानमाह-

जीवो नमोऽनमो वा, नमो उ नियमेण जीव इति भयणा।
जह चूओ होइ दुमो, दुमो उ चूओ अचुओ वा॥ २६२६॥

जीवस्तावदनवधारित एव नमो नमस्कारो वा स्यात्सम्यग्दृष्टिः, अनमोऽनमस्कारो वा स्यान्मिथ्यादृष्टिः। नमो नमस्कारस्त्ववधारितो नियमेन जीव एव भवति, अजीवस्य नमस्कारासंभवात्। यथा चूतो द्रुम एव भवति, द्रुमस्तु चूतोऽचूतो वा खदिराऽऽदिः स्यादिति। एषा एकपदव्यभिचाराद्भजनेति॥ २६२६॥

पृच्छास्वरूपमाह-

तो जइ सव्वो जीवो, न नमोक्कारो उ तो मया पुच्छा।
सो होज्ज किंविसिट्ठो, को वा जीवो नमोक्कारो?॥ २६३०॥

ततो यदि सर्वोऽपि जीवो न नमस्कारः, किं तर्हि ? कश्चिदेव। ततः पृच्छा मता पृच्छामो भवतः-यो जीवो नमस्कारः, स किंविशिष्टो भवेदिति कथ्यतां ? को वा जीवो नमस्कारः ? इत्यपि निवेद्यतामिति ? एषा पृच्छेति॥ २६३०॥

दापनानिर्यापनयोर्व्याख्यानमाह-

अह दायणा नमोक्का-रपरिणओ जो तओ नमोक्कारो।
निज्जवणाए सो चिय, जो सो जीवो नमोक्कारो॥ २६३१॥

अथानन्तरोक्तप्रश्नस्य निर्वचनरूपा दापनोच्यते-किं पुनस्तन्निर्वचनम् ? यो नमस्कारपरिणतो जीवस्तकोऽसौ नमस्कारः, यस्तु तदपरिणतः स खल्वनमस्कार इति निर्यापनायां स एव नमस्कारपरिणत एव, योऽसौ जीवः स एव नमस्कारः, नमस्कारोऽपि जीवपरिणाम एव नाजीवपरिणाम इति॥ २६३१॥

अथ दापनानिर्यापनयोः को विशेषः ? इत्याह-

दायणनिज्जवणाणं, को भेओ दायणा तयत्थस्स ?
वक्खाणं निज्जवणा, पच्चब्भासो निगमणं ति॥ २६३२॥

दापनानिर्यापनयोः को भेदः कः प्रतिविशेषः ? अत्रोच्यते-दापना तदर्थस्य '' सो होज्ज किंविसिट्ठो, को वा जीवो नमोक्कारो।'' (२६३०) इत्येवं पृच्छापृष्टस्य तस्य नमस्कारस्यार्थस्तदर्थो भ-ण्यते। यथा- '' नमोक्कारपरिणओ जो तओ नमोक्कारो त्ति।'' निर्यापना तु दापनाद-र्शितस्यैवार्थस्य प्रत्याभ्यासः प्रत्युच्चारणं निगमनं, यथा-स ए नमस्कारपरिणत एव योऽसौ जीवः स एव नम-स्कारः, नमस्कारोऽपि जीवपरिणाम एव नाऽजीवपरिणाम इति। एवं च निगमनीयम्। निगमनकृत एव च दापनानिर्यापनयोर्भेदः, न त्वात्यन्तिक इति भावनीयम्॥ २६३२॥

अथवा-अन्यथाऽनयोर्भेदो दर्श्यते। कथम् ? इत्याह-

तत्परिणय एव जहा, जीवो अवहिओ वा तहा भुज्जो।
तप्परिणओ स एव हि, निज्जवणाए मओऽणन्नो॥ २६३३॥

अथवा-यथा दापनायां जीवो (अवहिओ त्ति) जीवोऽवधृतो नियमितः। तद्यथा-तत्परिणत एव नमस्कारपरिणत एव जीवो नमस्कारो नान्य इति। (तहा भुज्जो त्ति) तथा तेनैव प्रकारेण निर्यापनायां भूयोऽपि प्रकारान्तरतोऽवधार्यते। कथम् ? इत्याह-(तप्प-रिणओ स एव हि त्ति) यथा दापनायां नमस्कारपरिणत एव जीवो नमस्कार इत्यवधृतं, तथाऽत्र निर्यापनायां तत्परिणतो नमस्कारपरिणतो जीवः स एव मतो नमस्कार एव मत इति भूयोऽवधार्यते। कुतः ? इत्याह-अनन्य इति कृत्वा, अनन्यत्वादभिन्नत्वादित्य-र्थः। इदमुक्तं भवति-यथाऽग्न्युपयुक्तो माणवकस्तदुपयोगानन्यत्वादग्निरेव भवति, तथा नमस्कारपरिणतो जीवस्तदुपयोगानन्यत्वान्नमस्कार एव निर्यापनायां भवति। इति दापनानिर्यापनयोर्विशेष इति। तदेवमभिहिता पञ्चविधाऽपि प्ररूपणा॥ २६३३॥

अथवा चतुर्विधा प्ररूपणा सा, कथम् ? इत्याह-

पयईएँ अगारेण य, नोगारोभयनिसेहओ वा वि।
इह चिंतिज्जइ भुज्जो, को होज्ज तओ नमोक्कारो?॥ २६३४॥

प्रकृत्या स्वभावेन, अकारेण च प्रतिषेधवाचकेन, नोकारेण, निषे-धोभयेन च सहितोऽत्र भूयोऽपि नमस्कारश्चिन्त्यते। तत्र प्रकृतिपक्षे नमस्कारः, अकारसहितस्त्वनमस्कारः, नोकारयुक्तस्तु नोनम-स्कारः, निषेधोभयसहितस्तु नोअनमस्कार इति। एवं च चिन्त्यमाने ततः कः किं वस्तु नमस्कारो भवेत् ? उपलक्षणं चेदं, को वाऽनमस्कारः, कश्च नोनमस्कारः, को वा नोअनमस्कार इत्यपि द्रष्टव्यमिति॥ २६३४॥

एवं च जिज्ञासिते सति भाष्यकारः प्राऽऽह-

पयइ त्ति नमोक्कारो, जीवो तप्परिणओ स चामिहिओ।
अनमोक्कारो परिणइ-रहिओ तल्लद्धिरहिओ वा॥२६३५॥

प्रकृतिस्तावन्नमस्कारः। स च कः ? इति यदि पृच्छ्यते, तदाऽसौ जीवस्तत्परिणतो नमस्कारपरिणतो नमस्कार इति प्रागभिहितमेव। अनमस्कारस्तु परिणतिरहितो नमस्कारपरिणतिवर्जितोऽनुपयुक्तः सम्यग्दृष्टिः। तल्लब्धिविरहितो वा नमस्कारकारणकर्मक्षयोपशमशून्यो वा मिथ्यादृष्टिरिति॥ २६३५॥

नोनमस्कारस्तर्हि कः ? इत्याह-

नोपुव्वो तप्परिणय-देसो देसपडिसेहपक्खम्मि।
पुणरनमोक्कारो चिय, सो सव्वनिसेहपक्खम्मि॥२६३६॥

नोपूर्वस्तु नोशब्दोपपदो नमस्कारो, नोनमस्कार इत्यर्थः। (तप्प-रिणयदेसो त्ति) देशप्रतिषेधवचने नोशब्दे तत्परिणतस्य नमस्का-रपरिणामयुक्तस्य सम्यग्दृष्टिजीवस्य देश एकदेशो भण्यते। सर्व-निषेधवचने तु नोशब्दे स नोनमस्कारः पुनरप्यनमस्कार एव गम्यत इति॥ २६३६॥

नोअनमस्कारः कः ? इत्याह-

नोअनमोक्कारो पुण, दुनिसेहपगइगमयभावाओ।
होइ नमोक्कारो चिय, देसनिसेहम्मि तद्देसो॥ २६३७॥

नोअनमस्कारः पुनर्नोशब्दस्य सर्वनिषेधपक्षे नमस्कार एव भवति, द्वयोर्निषेधयोः प्रकृतिगमकभावात् '' द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थं गमयतः'' इति न्यायादित्यर्थः। देशनिषेधवचने तु नोशब्दे तस्य पूर्वोक्तस्वरूपस्य नमस्कारस्यैकदेशः प्रतीयत इति॥ २६३७॥

इह च '' नमस्कारोऽनमस्कारः '' इत्यादिभङ्गचतुष्टये यदुपचरितं, यच्च वास्तवं, तन्निर्द्धारयन्नाह-

उवयारदेसणाओ, देस पएस त्ति नोनमोक्कारो।
नोअनमोक्कारो वा, पयइनिसेहाउ सब्भूया॥ २६३८॥

(देस पएस त्ति) इह यथासंख्येन संबन्धः। तृतीयभङ्गे यो देशो नमस्कारैकदेशो (नोनमोक्कारो त्ति) नोनमस्कार उक्तः, यश्च चतुर्थभङ्गे प्रदेशोऽनमस्कारैकदेशो (नोअन-

मोक्कारो त्ति) नोअनमस्कारः उक्तः, स उपचारदेशनादिति संबन्धः। औपचारिकत्वं चेह नोनमस्काररूपस्य, नोअनमस्काररूप-च देशप्रतिषेधवचने नोशब्दे संपूर्णस्य वस्तुनोऽभावादिति। अथ सद्भूतभङ्गकप्रतिपादनार्थमाह-(पयईत्यादि) प्रकृतिः प्रथमो भङ्गः, निषेधस्तु द्वितीयभङ्गः, एतौ द्वावपि सद्भूतौ निरुपचरितौ, एतद्भङ्गवाच्यस्य नमस्कारानमस्काररूपस्य वस्तुनः संपूर्णस्य सद्भावादिति। तुशब्दादुपरिमावपि द्वौ भङ्गौ सर्वनिषेधवचने नोशब्दे सति सद्भूताविति द्रष्टव्यम्, तद्वाच्यस्यापि नमस्काराऽनमस्का-ररूपस्य वस्तुनः संपूर्णस्य सद्भावादिति॥ २६३८॥

अथैताँश्चतुरो भङ्गान्नयैर्निरूपयन्नाह-

सव्वो वि नमोक्कारो, अनमोक्कारो य वंजणनयस्स।
होउं चउरूवो वि हु, सेसाणं सव्वभेया वि॥ २६३६॥

इहशब्दनयास्त्रयोऽपि शुद्धत्वादखण्डं संपूर्णं देशप्रदेशरहितमेव वस्तु इच्छन्ति। शेषास्तु नैगमाऽऽदयोऽविशुद्धत्वाद्देशप्रदेशरूपमपि मन्यन्त इति। एवं च स्थिते व्यञ्जननयस्य त्रिविधस्यापि शब्दनयस्य भङ्गकप्ररूणामात्रेण प्रकृत्यकारनोकारतदुभययोगाचतूरूपोऽपि नमस्कारो भूत्वा परिशिष्टः सर्वोऽपि नमस्कारोऽनमस्कार-श्चेति द्विरूप एवावशिष्यते; प्रथमद्वितीयभङ्गवाच्य एवावतिष्ठते। तृतीयचतुर्थभङ्गकौ तु तन्मतेन शून्यावेव, तद्वाच्यस्य देशस्य प्रदेशस्य चासत्त्वादिति। शेषाणां तु नैगमाऽऽदिनयानां सर्वे चत्वारोऽपि भङ्गरूपा भेदाः सद्भूतार्था एव, तन्मतेन देशस्य प्रदेशस्य च सत्त्वादिति। तदेवमुक्ता चतुर्विधाऽपि प्ररूपणा, तद्भणने च गतं सप्रसङ्गं प्ररूपणाद्वारम्॥ २६३६॥ विशे०। आ० म०। आ० चू०। '' णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो बंभीए लिवीए। '' भ० १ श० १ उ०। दश०।

(७) नमस्कारस्याऽऽर्षत्वम्-

ये तु वदन्ति-नमस्कारपाठ एव नाऽऽर्षः, युक्तिरिक्तत्वात्-सि-द्धानामभ्यर्हित्वेन पूर्वमर्हन्नमस्कारस्याऽघटमानत्वात्, आचार्या-ऽऽदिना सर्वसाधवो न वन्दनीया इति तथास्थितपञ्चमपदानुपपत्तेश्चेति। पापिष्ठतरास्तेऽप्यनाकर्णनीयवाचोऽद्रष्टव्यमुखाः। स्वकपोलकल्पि-ताऽऽशङ्कया व्यवस्थितसूत्रत्यागायोगात्, ईदृशकदाशङ्कानिराशपूर्व-मसंक्षिप्तविस्तृतस्य नमस्कारपाठस्य स्थितक्रमस्य निर्युक्तिकृतैव व्यवस्थापितत्वाच्च।

तदाह-

'' न वि संखेवो न वित्थारो, संखेवो दुविह सिद्ध-साहूणं।
वित्थरओऽणेगविहो, पंचविहो न जुज्जए तम्हा॥ ३२०१॥
अरिहंताऽऽई नियमा, साहू साहू उ तेसु भइयव्वा।
तम्हा पंचविहो खलु, हेउनिमित्तं हवइ सिद्धो ''॥ ३२०२॥
'' पुव्वाणुपुव्वि न कमो, नेव य पच्छाणुपुव्विए सभवे।
सिद्धाऽऽईआ पढमा, बीयाए साहुणो आई ''॥ ३२१०॥
अरिहंतुवएसेणं, सिद्धा नज्जंति तेण अरहाऽऽई।
न वि कोई परिसाए, पणमित्ता पणमए रन्नो (एतदर्थस्त्वग्रेऽस्मि-न्नेव शब्दे आक्षेपद्वारे स्पष्टीभविष्यति।)॥ ३२१३॥ विशे०।

इत्यादिना सामान्यतः सर्वसाधुनमस्करणेन च नास्थानविनय-करणाऽऽदिदुषणम्। अत एव-'' सिद्धाण णमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।'' इत्याद्युत्तराध्ययनोक्तं संगच्छत इति। पञ्चपदनमस्कारश्च सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तरभूतो, नवपदश्च समूलत्वात् पृथक् श्रुतस्कन्ध इति प्रसिद्धमाम्नाये। अस्य हि निर्युक्तिचूर्ण्यादयः पृथगेव प्रभूता आसीरन्, कालेन तद्व्यवच्छेदे मूलसूत्रमध्ये तल्लेखनं कृतं पदानुसारिणा वज्रस्वामिनेति महानिशीथपञ्चमाध्ययने व्यवस्थितम्। प्रति०।

तथा च तद्ग्रन्थः-

एयं तु जं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स वक्खाणं, तं महया पबंधेणं अणंतगमपज्जवेहिं सुत्तस्स य पियभूयाहिं णिज्जुत्तिभा-सचुन्नीहिं जहेव अणंतनाणदंसणधरेहिं तित्थयरेहिं वक्खा-णियं, तहेव समासओ वक्खाणिज्जं तं आसि, अहऽन्नया काल-परिहाणिदोसेणं ताओ णिज्जुत्तिभासचुन्नीओ बुच्छिन्नाओ। इओ य वच्चंतेणं कालेणं समएणं महिड्ढिपत्ते पयाणुसारी वइरसामी नाम दुवालसंगसुअहरे समुप्पन्ने। तेण य पंचमंगलमहासुय-क्खंधस्स उद्धारो मूलसुत्तस्स मज्झे लिहिओ। मूलसुत्तं पुण सुत्तत्ताए गणहरेहिं अत्थत्ताए अरिहंतेहिं भगवंतेहिं धम्मतित्थ-यरेहिं तिलोगमहिएहिं वीरजिणिंदेहिं पन्नवियं ति एस वुड्ढसंप-याओ। महा० ५ अ०।

(तद्विषयोपधानाध्ययनविधिश्च 'उवहाण' शब्दे द्वितीयभागे १०५० पृष्ठे उक्तः)

जहुत्तविहाणेणं चेव पंचमंगलपभिइसुयनाणस्स वि उवहाणं करेज्जा, से णं गोयमा! नो हीलिज्जा सुत्तं, नो हीलिज्जा अत्थं, णो हीलिज्जा सुत्तत्थोभए, से णं नो आसाइज्जा तिकालभावी तित्थयरे, णो आसाइज्जा तिलोगसिहरवासी विहूयरयमले सिद्धे, णो आसाइज्जा आयरियउवज्झायसाहुणो, सुट्ठुयरं चेव भवेज्जा पियधम्मे दढधम्मे भत्तिजुत्ते, पसंतेणं भावेज्जा सुत्तत्था-णुरंजियमाणुससद्धासंवेगमावन्नो, से एस णं ण लभेज्जा पुणो पुणो भववारगे गब्भवासाइयं अणेगहा जंतणं ति। णवरं गोय-मा! जे णं बाले जाव अविन्नायपुन्नपावाणं विसेसो, ताव णं से पंचमंगलस्स णं गोयमा! एगंतेणं अउग्गे, तस्स णं पंचमंगल-महासुयक्खंधस्स एगमवि आलावगं ण दायव्वं, जओ अणाइ-भवंतरसमज्जियाऽसुहकम्मरासिदहणट्ठमिणं लभित्ता णं न बाले सम्ममाराहेज्जा। लहुत्तं च जणइत्ता तस्स केवलं धम्मकहाए गोयमा! भत्ती समुप्पाइज्जा। तओ नाऊण पियधम्मं दढधम्मं भत्तिजुत्तं, ताहे जावइयं पच्चक्खाणं निव्वाहेउं समत्थो भवइ, तावइयं कारवेज्जइ, राईभोयणं च दुविहतिविहचउव्विहेणं वा जहासत्तीए पच्चक्खाविज्जइ, गोयमा! णं पणयालाए नमोक्कार-सहियाणं चउत्थं चउवीसाए पोरिसीहिं वारसहिं पुरिमड्ढेहिं दसहिं अवड्ढेहिं छहिं निव्विइएहिं चउहिं एगट्ठाणगेहिं

दोहिं आयंबिलेहिं एगेणं सुद्धत्थायंबिलेणं अव्वावारत्ताए रोद्द-ज्झाणविगहाविरहियस्स सज्झाएगग्गचित्तस्स गोयमा ! एव-मायंबिलं मासक्खमणं विसेसेज्जा, तओ य जावइयं तवोवहा-णमवि समंतो करेज्जा, तावइयं अणुगणेऊणं जाहे जाणेज्जा-जहा णं मत्तियमित्तेणं तवोवहाणेणं पंचमंगलस्स जोग्गीभूओ, ताहे आउत्तो पढेज्जा, ण अण्णह त्ति। से भयवं ! पभूयं काला-इक्कमं एयं, जइ कहमवि अंतराले पंचत्तमुवगच्छे, तओ नमो-क्कारविरहिए कह मुत्तिमद्दं साहेज्जा ? गोयमा ! जं समयं चेव सुत्तोवयारनिमित्तेणं असहभावत्ताए जहासत्तीए किंचि तवमार-भेज्जा, तं समयमेवमहीयसुत्तत्थोभयं दट्ठव्वं। जओ णं सो तं पंचनमोक्कारं सुत्तत्थोभयं ण अविहीए गिण्हे, किं तु तहा गेण्हे, जहा भवंतरेसु वि ण विप्पणस्से, एयस्सेव अज्झवसायत्ताए आराहगो भवेज्जा। से भयवं ! जेण उ ण अण्णेसिमहीयमाणाणं सुयावरणखओवसमेण कण्णहारित्तणेणं पंचमंगलमहियं भवे-ज्जा, से वि य किं तवोवहाणं करेज्जा ? गोयमा ! करेज्जा। से भयवं केणं अट्ठेणं ? गोयमा ! सुलभबोहिलाभनिमित्तेणं। एवं चेइयाइअकुव्वमाणे नाणकुसीले णेए तहा गोयमा ! णं पव्व-ज्जादिवसप्पभिइए जहुत्तविणओवहाणेणं॥ महा० ३ अ०।

'' एसो पंचणमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं '' ॥ १ ॥

(८) नमस्कारसूत्रसंपदः। अक्षराणि च पदसंपद्गतानीत्यतो-ऽक्षरपदसंपदिति द्वारत्रयं प्रस्तावाऽऽयातम्, तत्र च प्रथमं तावत्पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारमा-श्रित्य तदाह-

वण्णऽट्ठसट्ठि नवपएँ, नवकारे अट्ठ संपया तत्थ।
सगसंपय पयतुल्ला, सतरऽक्खर अट्ठमी दुपया॥ २२६॥

अथ कोऽत्र व्याख्यानेऽवसरः, चैत्यवन्दनाविधानस्याधिकृतत्वात् ? सत्यम्। यदा जिनबिम्बाभावे स्थापनाऽऽचार्यपुरतश्चैत्यवन्दना विधीयते, तदाऽनेन पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रेणाऽनाकारस्थापनयाऽक्षाऽऽदिषु जिनाऽऽदयः स्थाप्यन्ते। यदुक्तं बृहद्भाष्ये-'' जिणबिंबाभावे पुण, ठवणा गुरुसविखया वि कीरंति। चिइवंदण चिय इमा, तत्थ वि परमेट्ठिठवणा उ '' ॥ १ ॥ इति। यथा श्रेयोभूतं चैतत् स्तुतिस्तोत्राऽऽदिप्रधानं चैत्यवन्दनाविधानं स्वर्गापवर्गाबन्ध्यनिबन्धनसम्यग्दर्शनाऽऽदिहेतुत्वात्, तथा चाऽऽगमः-'' थयत्थुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? थयत्थुइमंगलेणं नाणदंसण-चरित्तं, बोहिलाभं च जणयइ। नाणदंसणचरित्तसंपन्नेणं जीवे अंत-किरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहेइ '' इति। अतो निर्विघ्नेनैत-द्विधानसिद्ध्यर्थं प्रथमं पञ्चमङ्गलमेव व्याचिख्यासुराह-

संप्रति भाष्यगाथा व्याख्यायते-वर्णा अक्षराणि अष्टषष्टिः, नमस्कारे पञ्चपरमेष्ठिमहामन्त्ररूपे भवन्तीति शेषः। उक्तं च-'' पंचपयाणं पणतीस वण्ण चूलाइवण्ण तित्तीसं। एवं इमो समप्पइ, फुडमक्खरमट्ठसट्ठीए '' ॥ १ ॥ तथा नवपदानि विवक्षितावधियुक्तानि '' नमोअरिहंताण-मित्यादीनि, न तु स्त्याद्यन्तानि। भणितं च-'' सत्त १ पण २ सत्त ३ सत्त य, ४ नव ५ अट्ठ य ६ अट्ठ ७ अट्ठ ८ नव ९ पहुति। इय पयअक्खरसंखा, असहू परेइ अडसट्ठी॥ १ ॥'' तथाऽष्टौ संपदो विश्रामस्थानानि (तत्थ त्ति) तास्वष्टासु संपत्सु मध्ये क्रमेण सप्त संपदपदैः पूर्वोक्तस्वरूपैस्तुल्याः समानाः। अष्टमी पुनः संपत् सप्तदशाऽक्षरप्रमाणा, पर्यन्तपदवर्तिपद-द्वयाऽऽत्मिका च। यथा-'' मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं। '' यदुक्तं चैत्यवन्दनाभाष्यप्रवचनसारोद्धाराऽऽदिषु-'' पंचपरमिट्ठिमंते, पएँ एए सत्त संपया कमसो। पज्जंते सत्तरऽक्खरपरिमाणा अट्ठमी भणिया॥ १ ॥ '' तथा एवं चतुर्थपदस्य पाठः-'' नवऽक्खरऽट्ठमी दुपयछट्ठी ''॥ अष्टमी संपत्-'' पढमं हवइ मंगलं '' इति नवाऽक्षरप्रमाणा ज्ञेया। षष्ठी पुनः-'' एसो पंचनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।'' इति। द्विपदमाना। अभ्यधायि-'' अंतिमचूलाइतियं, सोल १ ऽट्ठ २ नवक्खरा तयं चेव १। जो पढइ भत्तिजुत्तो, सो पावइ सासयं ठाणं॥ ४ ॥ '' एवं च त्रयस्त्रिं-शदक्षरप्रमाणचूलिकासहितो नमस्कारो भणनीय इत्युक्तं भवति। तथा चोक्तं बृहन्नमस्कारफले- '' सत्त पण सत्त सत्त य, नवऽक्खरपमाण-पयऽपंचपयं। तित्तीसऽक्खरचूलं, सुमिरह नवकारवरमंतं॥ १ ॥ '' सिद्धान्तेऽपि स्फुटाक्षरैः-'' हवइ मंगलं '' इति भणितम्। तथाहि महानिशीथचतुर्थाऽध्ययने सूत्रम्-'' तहेव च तदत्थाणुगमिय इक्कारसपयपरिच्छिन्नं ति आलावगतित्तीस-ऽक्खरपरिमाणं। '' एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं॥ १॥ इय चूल त्ति अहि-ज्झंति त्ति। '' तत्र प्रकृतं तदेवम्-'' हवइ मंगलं '' इत्यस्य साक्षादागमे भणितत्वात्, प्रभुश्रीवज्रस्वामिप्रभृतिसुबहुश्रुत-सुविहितसंविग्नपूर्वाऽऽचार्यसंमतत्वाच्च '' पढमं हवइ मंगलं '' इतिपाठेन अष्टषष्ट्यक्षरप्रमाण एव नमस्कारः पठनीयः। तथा च महानिशीथे-'' एयं तु जं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स वक्खाणं तं महया पबंधेण अणंतगम-पज्जवेहिं सुत्तस्स य पियभूयाहिं निज्जुत्तिभासचुन्नीहिं जहेव अणंतनाण-दंसणधरेहिं तित्थयरेहिं वक्खाणियं, तहेव समासओ वक्खाणिज्जं तं आसि। अहऽन्नया कालपरिहाणिदोसेणं ताओ निज्जुत्तिभासचुन्नीओ वुच्छिन्नाओ, इओ य वच्चंतेणं कालेणं समएणं महिड्ढिपत्ते पयाणुसारी वइरसामी दुवालसंगसुयहरे समुप्पण्णे, तेणेसो पंचमंगलमहासुय-क्खंधस्स उद्धारो मूलसुत्तस्स मज्झे लिहिओ, मूलसुत्तं पुण सुत्तत्ताए गणहरेहिं अत्थत्ताए अरिहंतेहिं भगवंतेहिं धम्मतित्थगरेहिं तिलोयमहिएहिं वीरजिणिंदेहिं पन्नविअं ति, एस वुड्ढसंपयाओ एत्थ य। जत्थ य पयंपएणाणुलग्गं सुत्तालावगं न संपज्जइ, तत्थ तत्थ सुयहरेहिं ति जोगवए वि कुलिहियदोसो न दायव्वु त्ति, किं तु जो सो एयस्स अचिंतचिंतामणि-कप्पभूयस्स महानिसीहसुयक्खंधस्स पुव्वायरिसो आसि महुराए सुपासनाहवूहे पन्नरस-एहिं उववासेहिं विहिएहिं सासणदेवीए मम अपिओ त्ति तहिं चेव खंडाखंडीए उट्टिहियाइएहिं हेऊहिं बहवे पन्नगा परिसमिया,

पंचमंगलस्सेव पढणं ताव विणओवहाणं कायव्वं। '' इत्यलं विस्तरेण।

तहा वि अचंतसुमहत्थाइसयं ति इमं महानिसीहसुयक्खंधं कसिणपवयणस्स परमसारभूयं परं तत्तं महत्थं ति कलिऊण पवयणवच्छलत्तणेणं बहुभव्वसत्तोवयारयं च काउं तहा य आयहियट्ठयाए आयरियहरिभद्देणं जं तत्थायरिसे दिट्ठं, तं सव्वं समतीए सोहिऊणं लिहिअं ति अन्नेहिं पि सिद्धसेणदिवायरवुड्ढवाइजक्खसेणदेवगुत्तजसवद्धणखमासमणसीसरविगुत्तनेमिचंदजिणदासगणिखवगसच्चसिरिपमुहेहिं जुगप्पहाणसुयहरेहिं बहु मन्नियमिणं ति।'' (महा० ३ अ०) अन्यत्र तु संप्रति वर्त्तमानाऽऽगमः, तत्र मध्ये न कुत्राऽप्येवं नवपदाऽष्टसंपदादिप्रमाणो नवकार उक्तो दृश्यते। यतो भगवत्यादावेवं पञ्चपदान्युक्तानि-'' नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, णमो बंभीए लिवीए '' इत्यादि। क्वचिद्-'' नमो लोए सव्वसाहूणं '' इति पाठ इति। तद्वृत्तिप्रत्याख्यानपारणाप्रस्तावे चूर्णावित्युक्तम्-'' नमो अरिहंताणं ५ '' भणित्वा पारयति। नवकारनिर्युक्तिचूर्णौ त्वेवमुक्तम्- '' सो नमुक्कारो कमा पयाणि छ वा, दस वा। तत्थ छप्पयाणि नमो १ अरिहंत २ सिद्ध ३ आयरिय ४ उवज्झाय ५ साहूणं ६ ति। दश त्वेवम्-'' अरिहंताणं नमो ३ सिद्धाणं ४ '' इत्यादि। यत्पुनर्नमस्कारनिर्युक्तावशीतिपदमाना विंशतिगाथाः सन्ति। यथा- '' अरिहंतनमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ।'' (३५७) इत्यादयस्ता नवकारमाहात्म्यप्रतिपादका न पुनर्नवकाररूपं भवितुमर्हन्ति, बहुपदत्वात् तासाम्, नवकारस्य तु नवपदाऽऽत्मकत्वात्। किञ्चतास्वपि गाथासु वर्षशतात् तद्ग्रन्थाच्च पूर्वपूर्वतरप्रतिषु '' हवइ '' इति पाठो दृश्यते। श्रीमलयगिरिणाऽप्यावश्यकवृत्तिं कुर्वता वृत्तिमध्ये ता गाथा '' हवइ '' इति पाठत एव लिखिताः; एतन्निश्चयार्थिना तद्वृत्तिर्निरीक्षणीया; इति परमार्थं ज्ञात्वा कदाग्रहाभिनिवेशाऽऽदिविलसितकल्पितमागमानुक्तं '' होइ '' इति मुक्त्वा साक्षात्परमागतसूत्रान्तर्गतं श्रीवज्रस्वामिप्रभृतिदशपूर्वधराऽऽदिबहुश्रुतसंविग्नसुविहितव्याख्यातमादृतं '' हवइ '' त्ति पाठतोऽष्टषष्टिवर्णप्रमाणं परिपूर्णं नवकारसूत्रमध्येतव्यम्। तच्चैवम्-'' नमो अरिहंताणं १, नमो सिद्धाणं २, नमो आयरियाणं ३, नमो उवज्झायाणं ४, नमो लोए सव्वसाहूणं ५। एसो पंचनमुक्कारो ६, सव्वपावप्पणासणो ७। मंगलाणं च सव्वेसिं ८, पढमं हवइ मंगलं ९ ''॥ १॥ अस्य च व्याख्यानं यदेव श्रीवज्रस्वाम्यादिभिः छेदग्रन्थाऽऽदिमध्ये लिखितं, तदेव भक्तिबहुमानातिशयतो विशेषतश्च भव्यसत्त्वोपकारकमिति दर्श्यते। तथाहि-'' से भयवं! किमेयस्स अचिंतचिंतामणिकप्पभूयस्स णं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स सुत्तत्थं पण्णत्तं। तं जहा-जे णं एस पंचमंगलमहासुयक्खंधे से णं सयलागमंतरोववत्ती तिलतेल्लकमलमयरंदसव्वलोयपंचत्थिकायमिव जहत्थकिरियाऽणुरावसंभूयगुणकित्तणे जहिच्छिए य फलप्पसाहगे चेव परमत्थुइवाए। सा य परमत्थुई केसिं कायव्वा ? सव्वजगुत्तमाणं। सव्वजगुत्तमुत्तमे य जे केइ भूए, जे केइ भवंति, जे केइ भविस्संति, ते सव्वे चेव अरिहंतादओ चेव नो णमन्नेसिं। ते य पंचहाअरिहंते १, सिद्धे २, आयरिए ३, उवज्झाए ४, साहुणो ५। तत्थ एएसिं चेव गब्भत्थसब्भावो इमो। तं जहा-सनरामरासुरस्स णं सव्वस्सेव जगस्स अट्ठमहापाडिहेराइपूयाइसओवलक्खियं अणन्नसरिसमर्चितमप्पमेयकेवलाहिट्ठियं पवरुत्तमत्तं। (महा० ३ अ०) '' अरिहंति वंदणनमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं। सिद्धिगमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति '' ॥ १॥ (आ० म० द्वि०) सङ्घा० १ अधि० ३ प्रस्ता०।

(९) वस्तुद्वारम्-

अथ यदुक्तम्-'' वत्थुं तरहंताऽऽई, पंच भवे तेसिमो हेऊ।'' (२९२४) इति तदेतत्प्ररूपणायामसमर्थितायामन्तराले प्रागुपन्यस्तत्वात्सांन्यासिकं कृतमासीत्। तत्रेदानीं प्ररूपणायाः समर्थितत्वाद्यथाऽवसराऽऽयातं वस्तुद्वारं विस्तरेण व्याचिख्यासुराह-

वत्थुं अरहा पुज्जा, जोग्गा के जे नमोऽभिहाणस्स।
संति गुणरासओ ते, पंचारुहयाऽऽइजाईया॥ २९४०॥

वस्तु दलिकम्, अर्हाः पूज्याः योग्या नमोऽभिधानस्य के ? इति पृष्टे गुरुराहयं नमोऽभिधानस्य योग्यास्ते पञ्च सन्तीति संबन्धः। किंविशिष्टास्ते ? गुणराशयो गुणसमूहाः। पुनः किं प्रकाराः ? इत्याह-अर्हदादिजातीया अर्हदादिप्रकाराः-अर्हत्सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधव इत्यर्थः। तदेवमत्र वस्त्वर्हदादयो गुणराशयः सन्ति, इतिगुणगुणिनोरभेद उक्तः॥ २९४०॥

अथ तयोर्भेदोपचारादिदमाह-

भेओवयारओ वा, वसंति नाणाऽऽदओ गुणा जत्थ।
तं वत्थुमसाहारण-गुणालओ पंचजाईयं॥ २९४१॥

सुबोधा। नवरं '' घटे रूपाऽऽदयः '' इत्यादिष्विव गुणगुणिनोर्भेदोपचारादिहैवमुच्यतेवसन्ति ज्ञानाऽऽदयो गुणा यत्र तत्पञ्चप्रकारं वस्त्वस्तीति॥ २९४१॥

अथ तानेव विशेषेणाऽऽह-

ते अरिहंता सिद्धा-ऽऽयरिओवज्झायसाहवो नेया।
जे गुणमयभावाओ, गुणा व पुज्जा गुणत्थीणं॥ २९४२॥

ते पञ्चविधवस्तुरूपा अर्हत्सिद्धाऽऽदयो ज्ञेयाः, ये ज्ञानाऽऽदिगुणसमूहमयत्वान्मूर्त्तज्ञानाऽऽदिगुणा इव गुणार्थिनां ज्ञानाऽऽदिगुणाभिलाषिणां भव्यजीवानां पूज्या इति। तदत्रार्हदादीनां पूज्यत्वे '' गुणमयत्वात् '' इति हेतुरुक्तः॥ २९४२॥

अथवा हेत्वन्तरमप्याह-

मोक्खत्थिणो व जं मो-क्खहेयओ दंसणाऽऽदितियगं व।
तो तेऽभिवंदणिज्जा, जइ व मई हेयओ कह ते ?॥ २९४३॥

यस्माद्वा मोक्षार्थिनो भव्यसत्त्वस्य मोक्षहेतवोऽर्हदादयः, ततस्तेऽभिवन्दनीयाः पूज्याः, मोक्षहेतुत्वात्, दर्शनाऽऽदित्रिकवदिति। यदि वा-इहैवंभूता परस्य मतिः स्यात्कथं केन हेतुना ते मोक्षहेतवः ? तदा तमपि हेतुं कथयामः। इति सप्तदश गाथार्थः॥२९४३॥

यथा ते हेतवस्तथाऽऽह-

मग्गो अविप्पणासो, आयारे विणययाऽ सहायत्तं।
पंचविहनमोक्कारं, करेमि एएहि हेऊहिं॥ २९४४॥

अर्हतां नमस्काराऽर्हत्वे मार्गः सम्यग्दर्शनाऽऽदिलक्षणो हेतुः, यस्मादसौ तैः प्रदर्शितः, तस्माच्च मुक्तिः, ततश्च पारम्पर्येण मुक्तिहेतुत्वात्पूज्यास्त इति। (अविप्पणासो त्ति) सिद्धानां तु नमस्कारार्हत्वे अविप्रणाशः शाश्वतत्वं हेतुः। तथा- हितदविप्रणाशमवगम्य प्राणिनः संसारवैमुख्येन मोक्षाय घटन्त इति। (आयारे त्ति) आचार्याणां तु नमस्कारार्हत्वे आचार एव हेतुः। तथाहि-तानाचारवत आचारख्यापकांश्च

प्राप्य प्राणिन आचारस्य विज्ञातारोऽनुष्ठातारश्च भवन्तीति। (विण-यय त्ति) उपाध्यायानां तु नमस्कारार्हत्वे विनयता विनयो हेतुः, यतस्तान् स्वयं विनीतान् प्राप्य कर्मविनयनसमर्थस्य ज्ञानाऽऽदिविनयस्या-नुष्ठातारो भवन्ति। (सहायत्तं ति) साधूनां तु नमस्काराऽर्हत्वे सहायत्वं हेतुः, यतस्ते सिद्धिवधूसङ्गमैकलालसानां जन्तूनां तदवाप्तिक्रियासा-हाय्यमनुतिष्ठन्तीति। अत एवाऽऽहपञ्चविधं नमस्कारं करोम्येभिर्हेतु-भिरिति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ २६४४ ॥

विस्तरार्थं त्वभिधित्सुर्भाष्यकारः प्राऽऽह-

मग्गोवएसणाओ, अरिहंता हेयओ हि मोक्खस्स।
तब्भावे भावाओ, तयभावेऽभावओ तस्स ॥ २६४५ ॥

अर्हन्तो यस्माद् मोक्षहेतवस्तस्मात् पूज्या इति प्रक्रमः। सम्य-ग्दर्शनाऽऽदेस्तन्मार्गस्योपदेशनादिति हेतुः। श्रुतज्ञानवदिति दृष्टान्तः स्वयं द्रष्टव्यः। यदि नाम ते तन्मार्गमुपदिशन्ति तथाऽपि कथं मोक्षहेतवः ? इत्याह-(तब्भावे इत्यादि) तस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदिमार्गस्य भावे भावात्, तदभावे चाभावात् तस्य मोक्षस्येति ॥ २६४५ ॥

यद्येवं, तर्हि सम्यग्दर्शनाऽऽदिमार्ग एव मोक्षहेतुः, तदन्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वात् तस्य; ये तु तदुपदेशकत्वेन तस्य मार्गस्य हेतवोऽर्हन्तस्ते कथं मोक्षहेतवो न युक्ताः ? इत्येतत्प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

मग्गो च्चिय सिवहेऊ, जुत्तो तद्धेयओ कहं जुत्ता ?
तदहीणत्तणओऽहव, कारण कज्जोवयाराओ ॥ २६४६ ॥

प्रेरकोपन्यस्तं पूर्वार्द्धमुक्तार्थमेव। उत्तरमाह-(तदहीणत्तणओ इत्यादि) सत्यम, मार्ग एव मोक्षहेतुः, केवलमर्हन्तोऽपि तद्धेतव एव, तस्यापि मार्गस्य तदुपदेशज्ञेयत्वेन तदधीनत्वादिति। अथवा-मोक्षहेतवोऽर्हन्तः, कारणेऽर्हल्लक्षणे मार्गलक्षणकार्यधर्मस्य मोक्षहेतुत्वस्योपचारादध्या-रोपादिति ॥ २६४६ ॥

आह-नन्वेतावता मार्गस्योपदेशकत्वेनोपकारिणोऽर्हन्त-स्ततो मार्गजन्यस्य मोक्षस्य तेऽपि हेतवोऽभि-धीयन्त एव इत्युक्तम्, एवं चातिप्रस-ङ्गः। कथम् ? इत्याह-

मग्गोवयारिणो जइ, पुज्जा गिहिणो वि तो तदुवगारी।
तस्साहणदाणाओ, सव्वं पुज्जं परंपरया ॥ २६४७ ॥

(तस्साहणदाणाओ त्ति) तस्य मार्गस्य साधनानि यानि वस्त्र-पात्राऽऽहारशय्याऽऽसनाऽऽदीनि तद्दानामिति। शेषं सुगमम् ॥ २६४७ ॥

अत्रोत्तरमाह-

जं पच्चासन्नतरं, कारणमेगंतियं च नाणाइं।
मग्गो तद्दायारो, सुयं च मग्गो त्ति ते पुज्जा ॥ २६४८ ॥

सत्यपि विश्वत्रयस्य परम्परया मार्गोपकारित्वे यत्प्रत्यासन्नतर-मैकान्तिकं च मोक्षस्य कारणं ज्ञानाऽऽदित्रयं मोक्षस्य मार्ग इति, तस्य दातारस्तावदर्हन्त एव, न तु गृहस्थाः, नापि वस्त्राऽऽहारशय्याऽऽसना-ऽऽदीनि तत्साधनानि, तेषामर्हद्भ्यो लब्धस्य ज्ञानाऽऽदित्रयस्योप-कारित्वमात्र एव वर्तनादिति। स्वयमपि च मोक्षस्य मार्गोऽर्हन्तः, दर्शनमात्रेणैव भव्यजन्तूनां तत्प्राप्तिहेतुत्वात्, अतो ज्ञानाऽऽदिमार्गदा-तृत्वात्, स्वयमपि च मार्गत्वात्तेऽर्हन्त एव पूज्याः, न तु गृहस्थाऽऽदयः, इति नातिप्रसङ्गः ॥ २६४८ ॥

एतदेवाऽऽह-

भत्ताई-वज्झयरो, हेऊ न य नियमओ सिवस्सेव।
तद्दायारो गिहिणो, सयं न मग्गो त्ति नो पुज्जा ॥ २६४६ ॥

भक्तपानवस्त्राऽऽदिभिर्बाह्यतरो दूरवर्ती परम्परया मोक्षस्य हेतुः। न च ज्ञानाऽऽदित्रयवदसावेव नियमतः शिवस्य मोक्षस्य हेतुः, तम-न्तरेणाऽप्यन्तकृत्केवल्यादीनां सिद्धेः। अतस्तस्य बाह्यतरा-नैकान्तिकहेतोर्भक्तपानाऽऽदेर्दातारः, तद्दातारो गृहिणो न पूज्याः, अर्हतामिव तेषामन्तरङ्गैकान्तिकमोक्षहेतुज्ञानाऽऽदित्रयदातृत्वा-भावादिति। न च तेऽर्हन्त इव स्वयं मोक्षमार्गः, तद्दर्शनाऽऽदिना मुक्त्यनवाप्तेः, इत्यतोऽपि न ते पूज्या इति ॥ २६४६ ॥

अथाविप्रणाशलक्षणं सिद्धनमस्कारार्हत्वे हेतुं व्याचिख्यासुराह-

मग्गेणाणेण सिवं, पत्ता सिद्धा जमविप्पणासेणं।
तेण कयत्थत्तणओ, ते पुज्जा गुणमया जं च ॥ २६५० ॥

यद्यस्मात्सिद्धाः संप्राप्तनिर्वाणसुखा अनेन मार्गेण ज्ञानदर्शन-चारित्रलक्षणेन शिवं मोक्षं प्राप्ताः। कथम् ? अविप्रणाशेनानुच्छि-न्नसन्तानभावेन, तस्मात्कृतार्थत्वात्ते पूज्याः। अत्र प्रयोगःपूज्याः सिद्धाः, अविप्रणाशबुद्धिजनकत्वेन मार्गोपकारित्वात्, जिनेन्द्रवदिति। (गुणमया जं च त्ति) इतश्च ते पूज्याःज्ञानाऽऽदिगुणसमूहाऽऽत्मकत्वात्, जिनाऽऽचार्याऽऽदिवदिति ॥ २६५० ॥

अत्र प्रेरकः प्राऽऽह-

गुणपूयामेत्ताओ, फलं ति तप्पूयणं पवज्जामो।
जं पुण जिणु व्व मग्गो-दयारिणो ते तयं कत्तो ? ॥२६५१॥

गुणानां सम्यग्ज्ञानाऽऽदीनां पूजामात्रतोऽपि फलं विशिष्टं स्वर्गा-पवर्गाऽऽदिकमस्तीति तत्पूजनं तेषां गुणवतां सिद्धानां पूजनं प्रति-पद्यामहे। यत्पुनरुच्यते-' जिनवत्ते सिद्धा अपि मार्गोपकारिणः ' इति, तत्तेषां सिद्धानां कुतः ? न मन्यामहे एतदित्यर्थः, इह तेषामभावात्, असतश्चोपकारायोगदित्यभिप्रायः ॥ २६५१ ॥

अत्रोत्तरमाह-

जइ तग्गुणपूयाओ, फलं पवन्नं नणूवगारो सो।
तेहिंतो तदभावे, का पूया किं फलं वा से ? ॥ २६५२ ॥

यदि तद्गुणपूजातो गुणवत्सिद्धगुणपूजनात्फलमस्तीति त्वया प्रतिपन्नं, तर्हि नन्वसावेव तेभ्यः सिद्धेभ्य उपकारस्त्वयाऽपि प्रतिपन्नः, अन्यथा तदभावे सिद्धाभावे का तेषां पूजा, किं वा ' से ' तस्य पूजकस्य फलम् ? एवं च सति निर्वृतावविप्रणाशबुद्धिरपि सिद्धाभावे भवतीत्ययमुपकार-स्तेभ्यः किं नेष्यते ? इति ॥२६५२॥

अथवा '' अविप्रणाशबुद्धिहेतुत्वान्मार्गोपकारिणः सिद्धाः '' इत्यय-मर्थोऽन्यथाऽपि साध्यते। कथम् ? इत्याह-

गंतुरणासाओ वा, सम्मग्गोऽयं जहिच्छियपुरस्स।
सिद्धो सिद्धेहिंतो, तदभावे पच्चओ कत्तो ? ॥ २६५३ ॥

अथवा-अयं सम्यग्दर्शनचारित्रलक्षणो मार्गो यथेप्सितपुरस्य मोक्षनगरस्य सन्मार्ग इत्येवं सिद्धेभ्य एव सिद्धो निश्चितः, नान्यस्मात्। कुतः ? इत्याह-(तंतुरणासाओ त्ति) मोक्षपुरं गन्तुर्मुमुक्षोरपायाभावतोऽनाशादविप्रणाशात्। तदनाशे च सन्मार्गोऽयं सम्यग्दर्शनाऽऽदिको मोक्षपुरस्य मार्ग इत्येवं मुमुक्षूणां प्रत्ययोत्पादात्। तदभावे तु सिद्धविप्रणाशे कुतोऽयं प्रत्ययः स्यात् ? न कुतश्चिदित्यर्थः। इदमत्र हृदयम्-यथा पाटलिपुत्राऽऽदिनगरमार्गः कश्चिद् यथेप्सितपुरं गन्तुः सार्थवाहस्य निरपायगमनेनाविप्रणाशात्सन्मार्गोऽयमिति निश्चीयते, एवं सम्यग्दर्शनाऽऽदिको मोक्षपुरमार्गोऽपि तदभीष्टं मोक्षपुरं गन्तुर्भव्यजन्तुसार्थस्य निरपायगमनेनाविप्रणाशात्सन्मार्गोऽयमिति निश्चीयते। अत एवंभूतनिश्चयजनकत्वान्मार्गोपकारिणः सिद्धाः, ततः पूज्या इति॥ २६५३॥

अपि च-

मग्गम्मि रुई तदवि-प्पणासओ तप्फलोवलंभाओ।
जं नायइ तेहिंतो, नेयरहा तदुवगारो से॥ २६५४॥

यद्यस्मात्सम्यग्दर्शनाऽऽदिको मोक्षमार्गो यथावदयमित्येवं रुचिः प्रीतिर्जायते उत्पद्यते भव्यजन्तूनां (तेहिंतो त्ति) तेभ्यः सिद्धेभ्य एव, नेतरथा नाऽन्यथा। कुतः ? इत्याह-तदविप्रणाशात्-तेषां सिद्धानां शाश्वतभावोपगमात्; तथा-तत्फलोपलम्भात्-तेषामेव सिद्धानां शाश्वतानुपमसुखलक्षणस्य फलस्योपलम्भात्। ततस्तदुपकारोऽसौ मार्गे रुच्याविर्भावलक्षणः सिद्धकृतोऽसाधुपकार इति॥ २६५४॥

अत्र परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

नणु जिणवयणाउ च्चिय, तदत्थिया तप्फलोवलंभो य।
सच्चं तहा वि तप्फल-सब्भावाओ रुई होइ॥ २६५५॥

ननु जिनवचनाज्जिनोपदेशादेव, तदर्थिता तत्र मार्गे रुचिलक्षणाऽर्थिता, तस्य मार्गस्य यत्फलं सिद्धिसुखलक्षणं तदुपलम्भश्च सर्वमिदं जायते, तत्किमविप्रणाशहेतूपन्यासेन ? सत्यम्। तथाऽपि तस्य मार्गस्य यत्फलं सिद्धत्वप्राप्तिलक्षणं तस्य सद्भावादविप्रणाशाच्छाश्वतभावाद्विशेषिततरा मार्गे रुचिर्भवति इति। अतो वक्तव्य एव सिद्धानामविप्रणाशलक्षणो हेतुरिति॥ २६५५॥

पुनरपि परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अप्प च्चिय सिवमग्गो, निच्छयओ तह रुई समत्तं ति।
मग्गोवयारिणो जह, जिणा तहा खीणसंसारा॥ २६५६॥

ननु ''दुप्पत्थिओ अमित्तं, अप्पा सुप्पत्थिओ हवइ मित्तं।'' इत्यादिवचनान्निश्चयतो निश्चयनयमतेनाऽऽत्मैव शिवमार्गो मोक्षमार्गः, तथारुचिश्च सम्यक्त्वमात्मैव नापर इति, अतः किमत्र बाह्येनाविप्रणाशहेतुनोपन्यस्तेन ? सत्यम्। तथाऽपि व्यवहारनयमतेन यथा मार्गोपदेशनाज्जिनास्तीर्थकरा मार्गोपकारिण उच्यन्ते, तथा क्षीणसंसारा अपि सिद्धा अविप्रणाशेन मार्गोपकारिणोऽभिधीयन्त इति न दोषः॥ २६५६॥

अथाऽऽचार्याणामुपाध्यायानां च नमस्कारार्हहेतुत्वं व्याचिख्यासुराह -

आयारदेसणाओ, पुज्जा परमोवगारिणो गुरवो।
विणयाऽऽइग्गहणा वा, उवझाया सुत्तदा जं च॥ २६५७॥

पूज्याः परमोपकारिणो गुरवः, स्वयमाचारपरत्वात्, परेभ्यश्चाऽऽचारदेशनादिति। तथा-पूज्या उपाध्यायाः, स्वयं विनयवत्त्वात्, शिष्याणां च विनयग्राहणाद्विनयशिक्षणात्। यतश्च सूत्रपाठदास्ते, अतोऽपि पूज्या इति॥ २६५७॥

अथ साधूनां पूज्यार्हत्वकारणम्, तथा-पञ्चानामप्य-
र्दादीनां सामान्यं तत्कारणमुपदर्शयन्नाह-

आयारविणयसाहण-साहज्जं साहओ जओ दिंति।
तो पुज्जा ते पंच वि, तग्गुणपूयाफलनिमित्तं॥ २६५८॥

ततः साधवः पूज्याः; यतः किम् ? इत्याह-(आयार इत्यादि) आचारवत्त्वाद्, विनयवत्त्वाद्, मोक्षसाधने साहाय्यदानात्पूज्यास्ते इति भावार्थः। तथा-सामान्येन पञ्चाप्यर्हदादयः पूज्याः, तद्- गुणानां ज्ञानाऽऽदीनां या पूजा, तस्या यत्फलं स्वर्गापवर्गाऽऽदिकं, तन्निमित्तं ते भवन्तीति कृत्वा, तद्गुणपूजाफलनिमित्तत्वादित्यर्थः। इति चतुर्दशगाथार्थः॥ २६५८॥

एवं तावत्समासेनार्हदादीनां नमस्काराऽर्हत्व-द्वा-
रेण मार्गदेशकत्वाऽऽदयो गुणाः उक्ताः। सा-
म्प्रतं संसाराटवीमार्गदेशकत्वभवसमु-
द्रनिर्यामकत्वषड्विधजीवनिका-
वगोपनत्वप्ररूपणाऽऽदिना प्र-
पञ्चेनहितां गुणानुपदर्श-
यन्नाह-

अडवीऍ देसयत्तं, तहेव निज्जामया समुद्दम्मि।
छक्कायरक्खणट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति॥ २६५९॥

भवाटव्यां देशकत्वं मार्गोपदेशकत्वं कृतमर्हद्भिः, तथैव निर्यामकाः संसारसमुद्रे भगवन्त एव, षट्कायरक्षणार्थं यतः प्रयत्नं चक्रुर्महागोपास्तेनोच्यन्ते॥ इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः॥ २६५९॥

अथ ''जह निव्वुहपुरमग्गं'' इत्यादिका विस्तरार्थप्रतिपादनपराः सप्तदश गाथाः सुगमाः। सति वैषम्ये मूलाऽऽवश्यकटीकाऽनुसारतो भावनीया इति न प्रतिपादिताः।

तदेवमुक्तप्रकारेणार्हतां नमस्कारार्हत्वे हेतवो गुणाः
प्रतिपादिताः, साम्प्रतं तु प्रकारान्तरेण तद्धे-
तुभूतानेव गुणान् प्रतिपादयन्नाह-

रागद्दोसकसाए, य इंदियाणि य पंच वि परीसहे।
उवसग्गे नामयंता, नमोऽरिहा तेण वुच्चंति॥ २६६०॥

रागद्वेषकषायान् इन्द्रियाणि च पञ्चाऽपि परीषहान्, उपसर्गान्निमयन्तोऽर्हन्तो नमोऽर्हाः। इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः॥ २६६०॥

(एतद्व्याख्यानरूपं भाष्यं तु नेह प्रपञ्चितं विस्तरभयात्, किन्तु रागद्वेषाऽऽदिशब्देषु यथास्थानेषु द्रष्टव्यम्)

अथ ''नामयंता नमोऽरिहा'' (२६६०) इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

पहवीकरणं नामणमहवा नासणमओ जहाजोगं।
नेयं रागाऽऽईणं, तन्नामाओ नमोअरिहा॥ ३००८॥

रागाऽऽदीनां प्रहीकरणं वश्यभावाऽऽपादनं नमनमुच्यते, मूलतो नाशनं वा। अतो रागाऽऽदीनामेवंविधं नमनं यथायोगं यथाघटमानकं ज्ञेयम्। तन्नामनाच्च नमो नमस्कारस्यार्हा अर्हन्त इति॥ ३००८॥

साम्प्रतं प्राकृतशैल्या अनेकधाऽर्हच्छब्दनिरुक्तसंभव इति

दर्शयन्नाह-' इंदिय ' इत्यादि चतस्रो गाथाः, एता अपि तथैव।

इदानीममोघताख्यापनार्थमपान्तरालिकं नमस्कारफलमुपदर्शयति-

अरहंतनमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए॥ ३००९॥

इह नामस्थापनाद्रव्यभावलक्षणनमस्कारश्चतुर्विधो गृहीतः, तत्रार्हच्छब्देन बुद्धिस्था अर्हदाकारवती स्थापना गृह्यते, तस्या नमस्कारः स्थापनानमस्कार इति व्युत्पत्त्या स्थापनानमस्कारः संगृहीतः। (नमोक्कारो त्ति) इत्यनेन नामनमस्कारः। (कीरमाणे त्ति) अञ्जलिप्रग्रहाऽऽदिना क्रियमाण इत्यनेन द्रव्यनमस्कारः। (भावेण त्ति) अनेन तु भावनमस्कार इति। तत्रार्हन्नमस्कारः क्रियमाणो जीवं मोचयति भवसहस्रात्, प्रस्तावादनन्तभवेभ्य इत्यर्थः। अनन्तभवमोचनाच्च मोक्षं प्रापयतीत्युक्तं भवति। यद्यपि च कांश्चितद्- भव एव मोक्षं न प्रापयति तथाऽपि भावेनोपयोगविशेषण क्रियमाणो भावनाविशेषत एवान्यस्मिन्नपि जन्मनि पुनरपि बोधिलाभाय भवति। बोधिलाभश्च निश्चितोऽविरान्मोक्षहेतुरिति। एवं बाह्याभ्यन्तरेण नामाऽऽदिचतुर्विधविधानेन नमस्कारः क्रियमाणो जीवं भवाद् मोचयति, पुनर्बोधिबीजं च जायते॥ इति निर्युक्तिगाथार्थः॥ ३००९॥

अत्र भाष्यम्-

अरहंताऽऽगारवई, ठवणा नामं मयं नमोक्कारो।
भावेणं ति य भावो, दव्वं पुण कीरमाणो त्ति॥ ३०१०॥
इय नामाऽऽइचउव्विह-बज्झऽब्भंतरविहाणकरणाओ।
सो मोएइ भवाओ, होइ पुणो बोहिवीयं च॥ ३०११॥

गतार्थे॥ ३०१०। ३०११॥

तथा चाऽऽह-

अरहंतनमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करंताणं।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियावारओ होइ॥ ३०१२॥

धनं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणमर्हन्तीति धन्याः साध्वादयः, तेषां भवक्षयं तद्भवजीवितक्षपणं कुर्वतां यावज्जीवं हृदयमनुन्मुञ्चन् विस्रोतिकाया विमार्गगमनस्यापध्यानस्य चाऽऽवारकोऽर्हन्नमस्कारो भवति। इति निर्युक्तिगाथार्थः॥ ३०१२॥

भाष्यम्-

धन्ना नाणाऽऽइधणा, परित्तसंसारिणो पयणुकम्मा।
भवजीवियं पुणभवो, तस्सेह खयं करिंताणं॥ ३०१३॥
इह विस्सोओगमणं, चित्तस्स विसोत्तिया अवज्झाणं।
अरहंतनमोक्कारो, हिययगओ तं निवारेइ॥ ३०१४॥

गतार्थे॥ ३०१३। ३०१४॥

अथार्हन्नमस्कारस्यैव महाऽर्थतां दर्शयति-

अरहंतनमोक्कारो, एवं खलु वण्णिओ महत्थो त्ति।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरई बहुसो॥ ३०१५॥

अर्हन्नमस्कार एवं खलु वर्णितो महार्थ इति महान् अर्थो यस्य स महार्थोऽल्पाक्षरोऽपि द्वादशाङ्गार्थग्राहित्वान्महार्थः। कथं पुनरेतदेवम्? इत्याह-यो नमस्कारो मरणे प्राणोपरमलक्षणे उपाग्रे समीपभूते, अभीक्ष्णमनवरतं क्रियते बहुशोऽनेकशः। ततश्च महत्यामापदि द्वादशाङ्गीं मुक्त्वा तत्स्थानेऽनुस्मरणान्महार्थः॥ इति निर्युक्तिगाथार्थः॥ ३०१५॥

कथं पुनर्द्वादशाङ्गार्थो नमस्कारः? इत्याशङ्क्य युक्तिमाह भाष्यकारः-

जलणाऽऽइभए सेसं, मोत्तुं पगरणयं महामोल्लं।
जुधि वाऽतिभए घेप्पइ, अमोहमत्थं जह तहेह॥ ३०१६॥
मोत्तुं पि वारसंगं, मरणाऽऽइभएसु कीरए जम्हा।
अरहंतनमोक्कारो, तम्हा सो वारसंगत्थो॥ ३०१७॥
सव्वं पि वारसंगं, परिणामविसुद्धिहेउमित्तागं।
तक्कारणभावाओ, कह न तयत्थो नमोक्कारो?॥ ३०१८॥
न हु तम्मि देसकाले, सक्को वारसविहो सुयक्खंधो।
सव्वो अणुचिंतेउं, धंतं पि समत्थचिंतेणं॥ ३०१९॥

चतस्रोऽपि सुगमाः, नवरं (देसकाले त्ति) देशः प्रस्तावः, तद्रूपः कालो देशकालः, तस्मिन्मरणलक्षणे देशकाल इति। (धंतं पि त्ति) धनितमत्यर्थमिति॥ ३०१६। ३०१७। ३०१८। ३०१९॥

एकस्मिन्नपि यत्र वीतरागोक्ते पदे सति जीवः संवेगं गच्छति, येन च पदेन विरागत्वं भवति निर्वेदमुपैति, तत्तस्यैकमपि पदं समस्तमोहजालोच्छेदहेतुत्वात्संपूर्णद्वादशाङ्गरूपं ज्ञानमेव भवति, तत्कार्यकर्तृत्वात्, किं पुनरनेकपदाऽऽत्मको नमस्कारः सम्पूर्णं द्वादशाङ्गज्ञानं न भविष्यति? इत्यनया भङ्ग्या नमस्कारस्य द्वादशाङ्गरूपतां साधयन्नाह-

एगम्मि वि जम्मि पए, संवेगं कुणइ वीयरायमए।
तं तस्स होइ नाणं, जेण विरागत्तणमुवेइ॥ ३०२०॥
एगम्मि वि जम्मि पए, संवेगं कुणइ वीयरागमए।
सो तेण मोहजालं, छिंदइ अज्झप्पओगेणं॥ ३०२१॥
ववहाराओ मरणे, तं पयमेक्कं मयं नमोक्कारो।
अन्नं पि निच्छयाओ, तं चेव य वारसंगत्थो॥ ३०२२॥

गतार्था एव, नवरं किं पुनः प्रस्तुते तदेकं पदम्? इत्याह-'' व-वहाराओ '' इत्यादि। यथा लोकव्यवहारे ' साम्प्रतमल्पस्तन्दुलः, प्रचुरो गोधूमः, संपन्नो यवः, ' इत्यादावनेकमप्येकमुच्यते, तथा मरणसमये क्रियमाणः '' पंच नमोक्कारो '' अनेकपदाऽऽत्मकोऽपि व्यवहारत एकं पदमत्राभिमतः। निश्चयनयमतेन तदन्यदपि सुबन्तं तिङन्तं वा लघ्वपि यत्संवेगकरं निर्जराफलं पदं तदेतद् द्वादशाङ्गार्थ इति॥ ३०२०। ३०२१। ३०२२॥

यदुक्तं निर्युक्तिकृता- ' अभिक्खणं कीरई बहुसो '। (३०१५) इति। तत्र किं कारणम्? इत्याशङ्क्याऽऽह-

जं सोऽतिनिज्जरत्थो, विंडयत्थो वन्निओ महत्थो वि।
कीरइ निरंतरमभि-क्खणं तु बहुसो बहू वारा॥ ३०२३॥

यद् यस्मादसौ नमस्कारोऽतिनिर्जरार्थः अयं, तथा द्वादशाङ्गपिपिटकार्थो महार्थश्चोक्तप्रकारेण वर्णितः, तस्मादभीक्ष्णं निरन्तरं बहुशो बहवो वाराः क्रियते॥ इति गाथाऽष्टकार्थः॥ ३०२३॥

अथ निर्युक्तिकृदुपसंहरन्नाह-

अरहंतनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ ३०२४ ॥

अत्र '' सव्वपावप्पणासणो '' इत्यस्य व्याख्यानमाह-

पंसेइ पिवइ व हियं, पाइ भवे वा जियं तओ पावं ।
तं सव्वमट्ठसाम-न्नजाइभेयं पणासेइ ॥ ३०२५ ॥

पांशयति मलिनयति जीवमिति पापम् , पिवति वा हितमिति पापम् , पाति वा भव एव रक्षति जीवं, न पुनस्तस्मान्निःसर्तुं ददातीति पापम् ; तच्च सर्वं, कर्मेहाभिप्रेतम् । कथंभूतम् ? इत्याह-(अट्ठसामन्नजाइभेयं ति) अष्टौ सामान्येन ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदयो जातिभेदा यस्य तदष्टसामान्यजातिभेदं प्रणाशयत्युच्छेदयतीति सर्वपापप्रणाशन इति ॥ ३०२५ ॥

'' मंगलाणं च सव्वेसिं '' (३०२४)
इत्यादेर्व्याख्यानमाह-

नामाऽऽइमंगलाणं, पढमं ति पहाणमहव पंचण्हं ।
पढमं पहाणतरयं, व मंगलं पुव्वभणियत्थं ॥ ३०२६ ॥

अर्हन्नमस्कारलक्षणं मङ्गलं नामस्थापनाऽऽदिमङ्गलानां मध्ये प्रथमं प्रधानम्, मोक्षलक्षणप्रधानपुरुषार्थसाधकत्वात् । अथवा-प्रस्तुतानामेव पञ्चानामद्वैतसिद्धाऽऽदिभावमङ्गलानामेतत्प्रथममाद्यम् , आदावेव निर्दिष्टत्वात् । अथवा-प्रधानतरं प्रथमं, सिद्धाऽऽद्यपेक्षयाऽर्हतां प्रधानतरपरोपकारार्थसाधकत्वादिति । '' मंगालयइ भवाओ,'' (२४) इत्यादिनां च मङ्गलं पूर्वभणितशब्दार्थमेव । इति गाथात्रयार्थः ॥ ३०२६ ॥ इत्यर्हन्नमस्कारः समाप्तः । विशे० । (सिद्धनमस्कारशब्दार्थः ' सिद्ध ' शब्देऽभिधास्यते)

संप्रति सिद्धनमस्कारवक्तव्यतामाह-

सिद्धाण नमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥
सिद्धाण नमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियाऽऽवारओ होइ ॥
सिद्धाण नमोक्कारो, एवं खलु वन्निओ महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥
सिद्धाण नमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, बीयं हवइ मंगलं ॥

गाथाचतुष्टयमप्यर्हन्नमस्कार इव वेदितव्यम् । उक्तः सिद्धनमस्काराधिकारः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । (सिद्धशब्दार्थः ' सिद्ध ' शब्दे वक्ष्यते)

साम्प्रतमाचार्यनमस्कारावसरः-

आयरियनमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥
आयरियनमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियाऽऽवारओ होइ ॥
आयरियनमोक्कारो, एवं खलु वण्णितो महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥
आयरियनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, तइयं हवइ मंगलं ॥

गाथाचतुष्टयमप्यर्हन्नमस्कारवदवसेयम् , विशेषस्तु सुगम एव इतयुक्त आचार्यनमस्काराधिकारः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । (आचार्यशब्दार्थस्तु ' आयरिय ' शब्दे द्वितीयभागे ३०२ पृष्ठे निरूपितः)

साम्प्रतमुपाध्यायनमस्कारः-

उवझायनमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥
उवझायनमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियाऽऽवारओ होइ ॥
उवझायनमोक्कारो, एवं खलु वन्निओ महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥
उवझायणमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, चउच्छं हवइ मंगलं ॥

गाथाचतुष्टयमपि सामान्यार्हन्नमस्कारवदवसेयम् । विशेषस्तु सुगम एवेत्युक्त उपाध्यायनमस्काराधिकारः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । (उपाध्यायशब्दार्थस्तु ' उवज्झाय ' शब्दे द्वितीयभागे ८८२ पृष्ठे गतः)

अथ साधुनमस्कारः-

साहूण नमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥
साहूण नमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियाऽऽवारओ होइ ॥
साहूण नमोक्कारो, एवं खलु वन्निओ महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवगए, अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥
साहूण नमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पंचमं हवइ मंगलं ॥

इदं गाथाचतुष्टयमप्यर्हन्नमस्कारवदवसेयम् , विशेषस्तु सुखो-ज्ञेयः ।

एसो पंचनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥

पाठसिद्धा । तदेवं गतं वस्तुद्वारम् । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

(१०) अथाऽऽक्षेपद्वारं वक्तव्यम् । तत्र परः प्राऽऽह-

न वि संखेवो न वित्थारो, संखेवो दुविह सिद्धसाहूणं ।
वित्थरओऽणेगविहो, पंचविहो न जुज्जए तम्हा ॥ ३२०१ ॥

इह किल सूत्रं संक्षेपविस्तरावतिक्रम्य न वर्त्तते । तत्र संक्षेपवद् यथा सामायिकसूत्रम् , विस्तरवद् यथा चतुर्दश पूर्वाणि । इदं पुनर्नमस्कारसूत्रमुभयातीतम् , यतोऽत्र न संक्षेपो, नाऽपि विस्तारः । तथा-(संखेवो दुविह त्ति) यद्ययं संक्षेपः स्यात्ततस्तस्मिन् सति द्विविध एव नमस्कारो भवेत्सिद्धसाधुभ्यामिति, परिनिर्वृताऽर्हदादीनां सिद्धशब्देन ग्रहणात्, संसारिणां तु साधुशब्देनेति । संसारिणो ह्यर्हदाचार्याऽऽदयो न साधुत्वमतिवर्तन्ते । अथायं विस्तरतः । तदप्ययुक्तम् । यतो वि-

स्तरतोऽनेकविधो नमस्कारः प्राप्नोति । तथाहि-ऋषभाऽजित-संभवाऽऽदिभ्यो नामग्राहं सर्वतीर्थकरेभ्यः , तथा-सिद्धेभ्योऽप्येक-द्वित्रिचतुष्पञ्चाऽऽदिसमयसिद्धेभ्यो यावदनन्तसमयसिद्धेभ्यः, तथा-तीर्थलिङ्गप्रत्येकबुद्धाऽऽदिविशेषणविशिष्टेभ्य इत्यादि-भिर्भेदैर्विस्तर-तोऽनन्तभेदो नमस्कारः प्राप्नोति। यतश्चैवं, तस्मादमुं पक्षद्वयमङ्गीकृत्य पञ्चविधोऽयं नमस्कारो न युज्यत इति ॥३२०१॥ तदेवमुक्तमाक्षेपद्वारम्।

(११) अथ प्रसिद्धिद्वारम्। तत्र प्रसिद्धिराक्षेपस्य प्रतिवि-धानमभिधीयते। इह चेदं प्रतिविधानम्- ' न संक्षेपो, नाऽपि विस्तरतः ' इत्येतदसिद्धम् , संक्षेपत्वादस्य। अथ संक्षेपकारणवशात्कृतार्थाकृतार्थपरिग्रहेण सिद्धसाधुमात्रक एवोक्त इति चेत्। *तदयुक्तम्। कारणान्तरस्यापि* सद्भावात्। तथा चाऽऽह-

अरिहंताऽऽई नियमा, साहू साहू उ तेसु भइयव्वा।
तम्हा पंचविहो खलु, हेउनिमित्तं हवइ सिद्धो ॥ ३२०२ ॥

इहार्हदादयो नियमात्साधवः, तद्गुणानामपि तत्र भावात्। साधवस्तु तेष्वर्हदादिषु भक्तव्या विकल्पनीयाः, यतस्ते न सर्वेऽप्यर्हदादयः, किं तर्हि ? केचिदर्हन्तः, येषां तीर्थकरनामकर्मोदयोऽस्ति, केचित्तु सामान्यकेवलिनः, अन्ये त्वाचार्या विशिष्टसूत्रार्थदेशकाः, अपरे तूपाध्यायाः सूत्रपाठकाः, अन्ये त्वेतदविशिष्टाः सामान्यसाधव एव शिक्षकाऽऽदयो, न पुनरर्हदादयः। तदेवं साधूनामर्हदादिषु व्यभिचारात् तन्नमस्करणेऽपि नाऽर्हदादिनमस्कारसाध्यस्य विशिष्टस्य फलसिद्धिः। ततश्च संक्षेपेण द्विविधनमस्करणमयुक्तमेव, अव्यापकत्वादिति। अत्र प्रयोगःसाधुमात्रनमस्कारो विशिष्टोऽर्हदादिगुणनमस्कृतिफलप्रापण-समर्थो न भवति तत्सामान्याभिधाननमस्कारकृत्त्वात् , मनुष्यमात्र-नमस्कारवद् , जीवमात्रनमस्कारवद्वेति। तस्मात्संक्षेपतोऽपि पञ्चविध एव नमस्कारो, न तु द्विविधः, अव्यापकत्वात्; विस्तरतरस्तु नमस्कारो न विधीयते, अशक्य-त्वात्। तथा- '' मग्गे अविप्पणासो '' इत्यादिको यः पूर्वं पञ्चविधो हेतुरुक्तः, तन्निमित्तमप्ययं पञ्चविधः सिद्धो भवति। इति निर्युक्ति-गाथार्थः ॥ ३२०२ ॥

अथ भाष्यकार आक्षेपविवरणमाह-

निव्वुयसंसारिकया-कयत्थलक्खणविहाणओ जुत्तो।
संखेवनमोक्कारो, दुविहोऽयं सिद्धसाहूणं ॥ ३२०३ ॥
उसभाऽऽईणमणंतर-सिद्धाऽऽईणं जिणाऽऽइयाणं च।
वित्थरओ पंचविहो, न वि संखेवो न वित्थारो ॥ ३२०४ ॥

गतार्थे ॥ ३२०३ । ३२०४ ॥

अथ प्रसिद्धिविवरणमाह-

जइ वि जइग्गहणाओ, होइ कयं गहणमरुहयाऽऽईणं।
तह वि न तग्गुणपूया, जइगुणसामण्णपूयाओ ॥ ३२०५ ॥
परिणामसुद्धिहेउं, व पयत्तो सा य बज्झवत्थूओ।
पायं गुणाहिआओ, जा सा न तदूणगुणलब्भा ॥ ३२०६ ॥
जह मणुयाऽऽइग्गहुणे, होइ कयं गहणमरुहयाऽऽईणं।
न य तव्विसेसबुद्धी, तह जइसामण्णगहणम्मि ॥ ३२०७ ॥
जइ एवं वित्थरओ, जुत्तो तदणंतगुणविहाणाओ।
भण्णइ तदसज्झमओ, पंचविहो हेउभेयाओ ॥ ३२०८ ॥
मग्गोवएसणाई, सोऽभिहिओ तप्पभेयओ भेओ।
जह लावगाऽऽइभेओ, दिट्ठो लवणाऽऽइकिरियाओ ॥३२०९॥

एता अपि गतार्था एव॥ ३२०५। ३२०६॥ नवरं (तह जईत्यादि) तथा तेनैव प्रकारेण, यतेः साधोः सामान्यं, तद्ग्रहणे, सति नार्ह-दादिविशेषवति बुद्धिरुत्पद्यत इति॥ ३२०७॥

(तदनंतगुणेत्यादि) तेषामर्हदादीनां ये अनन्ता गुणाः प्रत्येकं क्षेत्र-कालजातिगोत्रप्रमाणाऽऽकृतिवयःसंयमाऽऽदिविशेषरूपा उपा-धयस्तैः कृत्वा विधानाद् नमस्कारस्य करणादिति॥ ३२०८॥

(जह लावगाऽऽईत्यादि) यथा लावक-प्लावक-पाचक-पाठक-*याचकाऽऽदीनां लवन-प्लवन-पचन-पठन-याचनाऽऽदिक्रियातो* भेदो दृष्टः॥ *३२०९*॥

(१२) अत्र क्रमद्वारविचारमाह-

पुव्वाणुपुव्वि न कमो, नेव य पच्छाणुपुव्विए स भवे।
सिद्धाऽऽईया पढमा, विइयाए साहुणो आई ॥ ३२१० ॥

इह क्रमस्तावद् द्विविधः-पूर्वानुपूर्वी वा, पश्चानुपूर्वी वेति। अनानुपूर्वी किल क्रम एव न भवति, असमञ्जसत्वात्। तत्रायमर्हदादिक्रमः पूर्वानुपूर्वी न भवति, सिद्धानामादावनभिधानादेकान्तकृत-कृत्यत्वेन। यथा-'' सिद्धाण नमोक्कारं, काऊणमभिग्गहं तु सो गिण्हे। '' इति वचनादर्हन्न-मस्कार्यत्वेन च सिद्धानां प्रधानत्वात्, प्रधानस्य चाऽभ्यर्हितत्वेन पूर्वाभिधानादिति भावार्थः। तथा-नैव च पश्चानुपूर्व्येष क्रमो भवेत् , साधूनां प्रथममनभिधानात् , इहाऽप्रधानत्वात्सर्वपाश्चात्या हि साधवः। ततश्च तानादौ प्रतिपाद्य यदि पर्यन्ते सिद्धाऽभिधानं स्यात् , तदा भवेत्पश्चानुपूर्वी। तस्मात्प्रथमायाः सिद्धाऽऽदित्वात् , द्वितीयायास्तु साध्वादित्वाद् नेयं पूर्वानुपूर्वी, नापि पश्चानुपूर्वी॥ इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥३२१०॥

एतदेव भाष्यकारः प्राऽऽह-

जेण कयत्था सिद्धा, न जिणा सिद्धाऽऽइओ कमो जुत्तो।
पच्छक्कमो व जइ सं-जयाऽऽसिद्धावसाणा तो ॥ ३२११ ॥
जं च जिणाण वि पुज्जा, सिद्धा जं तेसि निक्खमणकाले।
कयसिद्धनमोक्कारा, करेंति सामाइयं सव्वे ॥ ३२१२ ॥

गतार्थे॥ ३२११॥ ३२१२॥

अत्रोत्तरमाह-

अरहंतुवएसेणं, सिद्धा नज्जंति तेण अरहाऽऽई।
न वि कोई परिसाए, पणमित्ता पणमई रन्नो ॥ ३२१३ ॥

इह तावदयं पूर्वानुपूर्वीक्रम एव। यदप्युक्तम्- '' सिद्धादिरयं प्राप्नोति ''। तदयुक्तम्। यतोऽर्हदुपदेशेनैव सिद्धा अपि ज्ञायन्ते, प्रत्यक्षाऽऽदि-गोचातीतत्वेनाऽऽगमगम्यत्वात् तेषाम्। तेन तस्मादर्हदादिरेव, पूर्वानु-पूर्वीक्रम इति गम्यते। अत एव चार्हतामभ्यर्हितत्वमवसेयम्। कृतकृत्य-मप्यल्पकालव्यवहितत्वात् प्रायः समानमेव। तथा-नमस्कार्यत्वमप्य-साधकमेव, अर्हन्नमस्कारपूर्वकमेव सिद्धत्वप्राप्तेरर्हतामपि वस्तुतः सिद्धनमस्कार्यत्वादिति।

आह-यद्येवं तर्ह्याचार्याऽऽदिभिः क्रमः प्राप्तः, अर्हतामप्या-चार्योपदेशेन परिज्ञानादिति। तदयुक्तम्। यस्मादर्हत्सि-

द्धयोरेवायं वस्तुतस्तुल्यबलयोर्विचारः श्रेयान् , परमनायकपद-वर्तित्वात्तयोः । अचार्यास्त्वर्हतां परिषत्कल्पा एव वर्तन्ते । नाऽपि कश्चित्परिषदे (पणमित्ता) प्रणामं कृत्वा, ततः प्रणमति राज्ञे; इत्यतोऽप्रेर्यमेवेदम् । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ३२१३ ॥

भाष्यकारः प्राऽऽह-

जइ एवं आयरिओ-वएसओ जं जिणाऽऽइपडिवत्ती ।
तेणाऽऽयरियाऽऽइकमो, जुत्तो नो चेदणेगंतो ॥ ३२१४ ॥

यद्यर्हदुपदेशेन सिद्धा ज्ञायन्त इत्यर्हतामादौ नमस्कारः, तर्ह्येवं सत्याचार्योपदेशत एव यस्माज्जिनाऽऽदीनामर्हदाऽऽदीनां प्रतिपत्तिर्भव्यलोकस्योपजायते, तस्मादाचार्यादिरेव क्रमो युक्तः, न चेदेवमिष्यते, तर्ह्यनैकान्तोऽयं-यदुपदेशेन यो ज्ञायते तस्य प्राधान्यमितरस्य च गुणभाव इति ॥ ३२१४ ॥

पर एवाऽऽह-

जुत्तो व गणहराणं, जिणाऽऽइओ जं जिणोवएसेणं ।
जाणंति ते विसेसे, सेसा उ गुरूवएसेणं ॥ ३२१५ ॥

काक्षा वदति-युक्तो वा गणधराणां गौतमाऽऽदीनामयं जिनाऽऽदिरर्हदादिक्रमः, यस्मात्ते गौतमाऽऽदयो जिनस्याऽर्हत एवोपदेशेनावशेषान् सिद्धाऽऽचार्याऽऽदीन् जानन्ति, शेषास्तु गणधरशिष्यप्रशिष्याऽऽदयो निजनिजगुरूपदेशेन सिद्धाऽऽदीनर्हतश्च जानन्ति, ततः केषाञ्चिदर्हदादिः, केषाञ्चिदाचार्याऽऽदिः क्रमस्त्वदभिप्रायतोऽनियमेन भवत्विति ॥ ३२१५ ॥

तथा पर एवाऽऽह-

अहवा आयरिउ च्चिय, सो तेसिं मइ तओ पसत्तो भे ।
आयरियाऽऽइउ च्चिय, एवं सइ सव्वसाहूणं ॥ ३२१६ ॥

अथवा मतिः-स जिनो भगवानाचार्य एव तेषां गणधराणामाचारप्रवर्तकत्वमाश्रित्येति भावः । ततश्चैवं सति-' भे ' भवतामाचार्याऽऽदिरेव सर्वसाधूनां गणधराऽऽदीनां क्रमः प्रसक्तः प्राप्त इति ॥ ३२१६ ॥

अत्र सूरिरुत्तरमाह-

पढमोवएसगहणं, तं चारुहओ न सेसएहिंतो ।
गुरवो वि तदुवइट्ठ-स्स चेव अणुभासया नवरं ॥ ३२१७ ॥
अरहंतगुरूवज्झा-यभावओ तस्स गणहराणं पि ।
जुत्तो तयाइउ च्चिय, न गुरु त्ति तओ जिणे न भवे ॥३२१८॥
स जिणो जिणाऽऽइसयओ, सो चेव गुरू गुरूवएसाओ ।
करणाऽऽइविणयणाओ, सो चेव मओ उवज्झाओ ॥३२१९॥

इह यद्यप्याचार्याऽऽदयोऽप्यर्हदादीनुपदिशन्ति, तथाऽपि यत्प्रथममुपदेशग्रहणं गणधराणां तदधिकृत्योच्यते । तच्चाऽर्हत एव सकाशाद्, न शेषेभ्य आचार्योपाध्यायाऽऽदिभ्यः । येऽपि गुरव आचार्याऽऽदयोऽर्हदादीनुपदिशन्ति, तेऽपि तदुपदिष्टस्यार्हदुपदिष्टस्यैव, केवलमनुभाषकाः, न पुनः स्वातन्त्र्येण देशका इति ॥ ३२१७ ॥ अथवा यद्यप्याचार्याऽऽद्युपदेशेनाऽर्हन्तो ज्ञायन्त इत्यभ्युपगम्यते, तथाऽप्यर्हदादिरेव क्रमः । कुतः ? इत्याह-(अरहंतेत्यादि) गणधराणाम् , अपिशब्दाच्छेषाऽऽचार्याऽऽदीनामपि, तदादिरर्हदादिरेव क्रमो युक्तः । कुतः ? इत्याह-तस्याऽर्हत एवार्हदगुरूपाध्यायभावतः । स एव हि महावीराऽऽदिर्भगवानष्टमहाप्रातिहार्याऽऽद्यतिशययोगादर्हन् , स एव तत्त्वोपदेशाऽऽदिभ्यो गुरुराचार्यः, स एव चेन्द्रियकषाययोगाऽऽदिविनयनादुपाध्यायः, ततश्चाऽऽचार्याऽऽदिक्रमेऽपि परेणाऽऽपाद्यमाने सामर्थ्यादर्हदादिरेव क्रमः संपद्यत इति भावः ॥ ३२१८ ॥ न चाऽयं गुरुराचार्य इत्यतो जिनोऽर्हन्न भवेत् , किं तु भवेदेव, जिनातिशययोगादिति । एतदेवाऽऽह-(स जिणो इत्यादि) गतार्था ॥ ३२१९ ॥

अथ यदुक्तम्- '' जं च जिणाण वि पुज्जा सिद्धा '' (३२१२) इत्यादि; तत्राऽऽह-

जइ सिद्धनमोक्कारं, छउमत्थो कुणइ न य तदाईओ ।
तं पइ तया न दोसो, न हि सो तक्कालमरुहंतो ॥ ३२२० ॥

यदि निष्क्रमणकाले भगवाँश्छद्मस्थो गुणाधिकानां सिद्धानां नमस्कारं करोति, करोतु नाम तदा, न कश्चिद्दोषः । कं प्रति न दोषः ? इत्याह-तं छद्मस्थतीर्थकरं प्रति । न ह्यसौ तत्कालमर्हन्, केवलोत्पत्तावेव तद्भावादिति । यदि छद्मस्थतीर्थकरापेक्षया गुणाधिकाः सिद्धा भवद्भिरपीष्यन्ते, तर्हि कथं छद्मस्थतीर्थकराऽऽदिनमस्कारः ? इति चेत् । तदयुक्तम् । कुतः ? इत्याह-न च तदादिश्छद्मस्थतीर्थकराऽऽदिर्नमस्कार इष्यतेऽस्माभिः, किं तु समुत्पन्नकेवलज्ञानाऽर्हदादिरेव । स च केवल्यर्हन् सिद्धाऽऽदिवस्तुस्तोमस्वरूपोपदेशदानतः सिद्धेभ्यो गुणाधिक इत्युक्तमेवेति ; अतोऽर्हदादिरेव नमस्कार इति ॥ ३२२० ॥

अत्राऽऽक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह-

एवमकयत्थकाले, सिद्धाऽऽई होउ भण्णइ तया वि ।
अन्ने संतरुहंता, तओ तयाई तओ निच्चं ॥ ३२२१ ॥

यदि छद्मस्थतीर्थकरापेक्षया गुणाधिकाः सिद्धाः, तर्ह्येवं सत्यकृतार्थछद्मस्थतीर्थकरकाले सिद्धाऽऽदिर्नमस्कारो भवतु, न्यायोपपन्नत्वादिति । भण्यतेऽत्रोत्तरम्-हन्त ! यदाऽत्र भरताऽऽदौ छद्मस्थतीर्थकरस्तदाऽपि महाविदेहेष्वन्ये केवलिनोऽर्हन्तःसन्ति, ततस्तदादिरर्हदादिरेव, तकोऽसौ नमस्कारो, नित्यं सर्वदा ॥ इति गाथाऽष्टकार्थः ॥ ३२२१ ॥ तदेवमुक्तं क्रमद्वारम् ।

(१३) अथ प्रयोजनफलयोर्दर्शनार्थमाह-

एत्थ य पओयणमिणं, कम्मक्खयमंगलाऽऽगमो चेव ।
इहलोयपारलोइय-दुविहफलं तत्थ दिट्ठंता ॥ ३२२२ ॥

अत्र च नमस्कारकरणे प्रयोजनमिदम् । यदुत-करणकाल एवाऽऽक्षेपेण ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयः, अनन्तकर्मपुद्गलापगममन्तरेण भावतो नमस्कारस्याऽप्यप्राप्तेरित्युक्तमेव । तथा-मङ्गलाऽऽगमश्चैव यः करणकालभावीति, तथा-कालान्तरभावि पुनरैहलौकिकपारलौकिकभेदभिन्नं द्विविधं फलम् । तत्र दृष्टान्ता वक्ष्यमाणलक्षणा इति ॥ ३२२२ ॥

तदेव द्विविधं फलं तावद्विवृण्वन्नाह-

इहलोएँ अत्थकामा, आरोग्गं अभिरई य निप्फत्ती ।
सिद्धी य सग्गसुकुल-प्पच्चायाऽऽई य परलोए ॥ ३२२३ ॥

इहलोके नमस्कारादर्थकामौ भवतः, आरोग्यं नीरुजत्वमुपजायते । एते चाऽऽर्थादयः शुभविपाकिनोऽस्माद्भवन्ति । तथा चाऽऽह-आभिमुख्येन रतिरभिरतिः, सा चेहलोकेऽप्यर्थादिभ्यो भवति, परलोकविषया तु तेभ्य एव, शुभानुबन्धित्वात्; निष्पत्तिः ' पुण्यस्य ' इति गम्यते । अथवा-' अभिरतेश्च निष्पत्तिः ' इत्येकवाक्यतैव । तथा-सिद्धिश्च, मुक्तिश्च, स्वर्गः, सुकुलप्रत्ययाऽऽदिश्च परलोके इत्यस्याऽऽमुष्मिकफलमिति ॥ ३२२३ ॥

(१४) अथाऽत्र द्विविधेऽपि फले पूर्वोपक्षिप्तान् दृष्टान्तानाह-

इहलोयम्मि तिदंडी, सा दिव्वं माउलुंगवणमेव।
परलोए चंडपिंगल, हुंडिय जक्खो य दिट्ठंता।३२२४। विशे०।

इहलोके नमस्कारार्थमुदाहरणं त्रिदण्डी-

'' एगस्स सावगस्स पुत्तो धम्मं न य लेइ। सो य सावगो कालगतो। सो वि बाहिराहओ (विवाहिओ) एवं चेव विहरइ। अन्नया तेसिं घरसमीवे परिव्वायगो आवासितो। सो तेण समं मेत्तिं करेइ। अन्नया भणइआणेह निरुवहयं अणाहं मडयं, जेण ते ईसरियं करेमि। तेण मग्गिओ, लद्धो उव्वद्धो मणुस्सो। सो मसाणं नीतो। जं च तत्थ पाउग्गं तं च नीयं। सो य दारगो पियरेण नमोक्कारं सिक्खावितो, भणितो य-जाहे वीहेज्जासि, ताहे एयं पढिज्जासि, विज्जा एसा। सो य तस्स मयगस्स पुरतो ठविओ। तस्स य मयगस्स हत्थे असी दिन्नो। परिव्वायगो विज्जं परियट्टेइ। उट्ठेतुमारद्धो वेयालो। सो दारगो भीतो हियए नमोक्कारं परियट्टेइ। सो वेयालो पडितो। पुणो वि जवति। पुणो वि उट्ठिओ। सुट्ठुतरगं परियट्टेइ। पुणो वि पडितो। तिदंडी भणइ-किं वि जाणसि ? भणइ-न किं पि जाणामि। पुणो वि जवइ। तइयवारं पुणो वि उट्ठितो। पुणो नमोक्कारं परियट्टेइ। ताहे वाणमंतरेण रूसिऊण तं खग्गं गहाय सो तिदंडी दो खंडा कओ। सुवण्णकोडी (खाडी) जातो। अंगोवंगाणि य से जुत्तजुत्ताइं काउं सव्वरत्तिं छूढं। इस्सरो नमोक्कारपभावेण जातो। जइ न होंतो नमोक्कारो, तो वेयालेण मारिज्जंतो सो सुवण्णं होंतो''।

कामनिष्फत्ती नमोक्कारतो कहं ?-

'' एगा सावियां आसी, तीसे भत्ता मिच्छादिट्ठी अण्णं भज्जं आणेउं मग्गइ, तीसे तणए न लब्भइ त्ति। स सवत्तगं ति चिंतेइ-कहं मारेमि ? अण्णया कण्हसप्पो घडए छुभित्ता आणीतो, संगोवितो य। जिमितो भणइ-आणेह पुप्फाणि अमुगे घडए ठवियाणि। सा पविट्ठा अंधकारं ति नमोक्कारं परियट्टंती चिंतेइ-जइ वि मे कोइ खाएज्जा, तो पि मे मरंतीए नमोक्कारो न नस्सिहिति। ता छूढो हत्थो। सप्पो देवयाए अवहितो पुप्फमाला कया। सा गहिया, दिन्ना य से। सो संभंतो चिंतेइ-अण्णाणि एयाणि। पुच्छइ य। तीए कहियंततो चेव घडातो आणीयाणि एयाणि। गतो तत्थ पेच्छइ घडगं, पुप्फगंधं च। न वि तत्थ कोइ सप्पो। ततो आउट्टो पाए पडितो सव्वं कहेइ, खामेइ य। पच्छा सा चेव घरसामिणी जाया। एवं कामावहो नमो-क्कारो ''।

आरोग्गाभिरईए उदाहरणं-

'' एगं नगरं नदीतीरे। खरकम्मिएण सरीरचिंताए निग्गएणं नदीए बुज्झंतं माउलुंगं दिट्ठं। रायाए उवणीयं। रन्ना सूयस्स हत्थे दिन्नं। तेण जिम्मियंतस्स उवणीयं पमाणेण वण्णेण गंधेण य अइरित्तं। तस्स मणुसस्स राया तुट्ठो। दिण्णा भोगा। राया भणइ-अणुनदीए मग्गह जाव लद्धं भवे। पत्थयणं गहाय पुरिसा गया। दिट्ठो वण-संडो। जो फलाणि गेण्हइ सो मरइ। रण्णो कहियं। भणइ-अवस्सं आणेयव्वाणि, गोलग-(अक्ख) पडिया वच्चंतु। एवं गया आणेंति। तत्थ जस्स गोलगो आगतो सो एगो वणे पविसइ। पविसित्ता फलाणि बहिं छुभइ, ततो अण्णे आणेंति। जो छुहइ सो मरइ। एवं काले वच्चंते सावगस्स परिवाडी जाया। तत्थ गतो चिंतेइ-मा विराहियसामण्णो को वि होज्ज त्ति निसीहियं भणित्ता नमोक्कारं पढंतो दुक्कइ। वाणमंतरस्स चिंता जायाकत्थ मए एयं सुयपुव्वं ? णायं, संबुद्धो, वंदइ, भणइ य-अहं तत्थेव साहरामि। गतो रण्णो कहियं। रण्णा संमाणितो। तस्स उस्सीसए दिणे दिणे ठवेइ। एवं तेण अभिरई, भोगा य लद्धा। जीवियातो य किं अन्नं आरोग्गं ? राया वि परितुट्ठो त्ति ''।

परलोगे वि नमोक्कारफलं-

'' वसंतपुरे नयरे जियसत्तू राया। तस्स गणिया सावियां। सा चंडपिंगलेण चोरेण समं वसति। अन्नया कयाइ तेण रन्नो घरं हयं (खायं), हारो आणीतो, भीएहिं संगोविज्जइ। अण्णया उज्जाणियाए गमणं। सव्वाओ विभूसियाओ गणियाओ वच्चंति। तीए सव्वातो अतिसयामित्ति सो हारो आविद्धो। जीसे देवीए सो हारो, तीए दा-सीए सो नातो। कहियं रण्णो। सा केण समं वसइ ? कहिए चंड- पिंगलो गहितो सूले भिन्नो। तीए वि चिंतियं-मम दोसेण मारिओ त्ति सा से नमोक्कारं देइ, भणइ य निदाणं। करेहि जहा एयस्स रण्णो पुत्तो आयासि त्ति। कयं निदाणं। अग्गमहिसीए उदरे उववन्नो। दारगो जातो। सा सावियां कीलावणधाती जाया। अन्नया चिंतेइ-कालो समो गब्भस्स मरणस्स य होज्जा। कयाइ रमावंती भणइमा रोव चंडपिंगल ! त्ति जाई सरिया। संबुद्धो राया सतो। सो राया जातो। सुचिरेण कालेणं दो वि पच्चइयाणि ''।

एवं सुकुलप्पच्चायातीतं सग्गगमणं सिद्धिगमणमिति।

अह वा द्वितीयं उदाहरणं-

'' महुराए नयरीए जिणदत्तो सावगो। तत्थ हुंडिओ चोरो नगरं परिमुसइ। सो कयाइ गहिओ सूले भिन्नो। रन्ना भणियं-पडिचरह बितिया वि से नज्जिहिं ति। ततो रायमणूसा पडिचरंति। सो जिण-दत्तो सावगो तस्स नाइदूरे वीतीवयइ। सो चोरो भणइ-सावग ! तुममणुकंपगो सि त्ति साइतोऽहं, देह मम पाणियं, जा मरामि। सावगो भणइ-इमं नमोक्कारं पढेज्जा, ते आणेमि पाणियं। जइ वि-स्सारेसि तो ते आणीयं पि न देमि। सो ताए लोलयाए पढइ। सा-वगो वि पाणियं गहाय आगतो। ता बेला पयाय (पच्चलं पाहामि) त्ति णमोक्कारं घोसंतस्सेव निग्गतो जीवो। जक्खो उववन्नो। सावगो तेहिं मणुस्सेहिं गहितो, चोरभत्तदायगो त्ति रण्णो निवेइयं। राया भणइ-एयं पि सूले भिंदह। आघायणं दिज्जइ। जक्खो ओहिं पउं-जइ। पेच्छइ सावगं अप्पणो य सरीरं। ततो पव्वयं उप्पाडेऊण नयरस्स उवरिं ठवेइ। भणइ य-सावगं भट्टारयं न याणह, खामेह, मा भे सव्वे चूरेहामि। ततो मुक्को खामितो विभूईए नयरं पवेसितो। नयरस्स पुव्वेण जक्खस्स आययणं कयं। एवं नमोक्कारेण फलं लब्भइ।'' उक्ता नमस्कारनिर्युक्तिः। आ० म० १ अ० २ खण्ड।

अथ भाष्यकारः प्रयोजनफलयोर्विवरणमाह-

सयओवओगकिरिया-गुणलाभो तप्पओयणमिहेव।
कालंतरनिप्फत्तिं, फलमिहपरलोगमोक्खेसु ॥ ३२२५ ॥
कम्मक्खओऽणुसमयं, तल्लाभे चेव तदुवओगाओ।
सव्वत्थेसु य मंगल-मविग्घहेऊ नमोक्कारो ॥ ३२२६ ॥

तस्य नमस्कारस्य प्रयोजनं तत्प्रयोजनमिहैवेहलोक एव। किमिति ? अत्रोच्यते-तद्विषयसततोपयोगक्रियायाः कर्मक्षयक्षयोपशमाऽऽदिगुणस्य लाभः। फलं तु नमस्कारस्य (का-

लंतरनिष्फत्तिं ति)। कालान्तरे निष्पत्तिर्यस्य तत्कालान्तरनिष्पत्ति, कालान्तरभावीत्यर्थः। तच्च (इह त्ति) इहलोके, अर्थकामाऽऽदिकम्। (परलोए त्ति) परलोके स्वर्गाऽऽदिकं, मोक्षे तु जरामरणाभावाऽऽदिकमिति। तदेवं सामान्यतः प्रयोजनं फलं चोपदर्शितम् ॥ ३२२५ ॥ अथ प्रयोजनं विशेषतो दर्शयति-(कम्मेत्यादि) (तल्लाभे चेव त्ति) तस्य नमस्कारस्य लाभकाल एव, तदुपयोगान्नमस्कारोपयोगादनुसमये कर्मक्षयो भवति। तथा-सर्वार्थेषु च सर्वकार्येषु प्रवृत्तानां मङ्गलमविघ्नहेतुर्नमस्कारः संपद्यत इति ॥३२२६॥

अत्र कश्चिदाह-'' ननु नमस्कारोपयोगात्कर्मक्षयो भवति '' इत्येतत्कुतः ? इत्याह-

सुयमागमो त्ति य तओ, सुओवओगप्पओयणो तं च।
आयहियपरिण्णाभा-वसंवराऽऽइ-बहुविगप्पं च ॥३२२७॥

तकोऽसौ नमस्कारः श्रुतमागम इत्यर्थः। स च श्रुतोपयोगप्रयोजनः श्रुतोपयोगः प्रयोजनं फलमस्येति कृत्वा। तच्च श्रुतोपयोगप्रयोजनमात्महितभावसंवराऽऽदिभेदेन बहुविकल्पं बहुभेदम्। उक्तं च- '' आयहियपरिण्णाभा-वसंवरो नवनवो य संवेगो। निक्कंपया तओ निज्जरा य परदेसियत्तं च ॥ १ ॥ '' इत्यादि। अतो नमस्कारस्य श्रुतरूपत्वाद्भवत्येव तदुपयोगात्कर्मक्षय इति ॥ ३२२७ ॥

(१५) अत्र प्रेरकः प्राऽऽह-

पूयाफलप्पया न हि, नहं व कोवप्पसायविरहाओ।
जिणसिद्धा दिट्ठंतो, वइधम्मेणं निवाऽऽईया ॥ ३२२८ ॥

नमस्कारलक्षणायाः पूजायाः फलं पूजाफलं तत्प्रदौ न हि नैव जिनसिद्धौ, कोपप्रसादरहितत्वात्, नभोवदिति। ये तु पूजाफलदाः ते कोपप्रसादरहिता न भवन्ति, यथा नृपाऽऽदय इत्येव वैधर्म्येण दृष्टान्त इति ॥ ३२२८ ॥

एतदेव समर्थयन्नाह-

पूयाऽणुवगाराओ, अपरिगहाओ विमुत्तिभावाओ।
दूराऽऽइभावओ वा, विफला सिद्धाऽऽइपूय त्ति ॥ ३२२९ ॥

विफला सिद्धाऽऽदिपूजेति प्रतिज्ञा। हेतूनाह-पूजाया अनुपक्रियमाणत्वात्, तदपरिग्राहित्वाद्, अमूर्तत्वात्, दूराऽऽदिभावात्, नभोवदिति ॥ ३२२९ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह-

जिणसिद्धा दिंति फलं, पूयाए केण वा पवण्णमिणं ?
धम्माऽधम्मनिमित्तं, फलमिह जं सव्वजीवाणं ॥ ३२३० ॥
ते य जओ जीवगुणा, तओ न देया न वा समादेया।
कयनासाऽकयसंभो-गसंकरेगत्तदोसाओ ॥ ३२३१ ॥

नन्वयमनुक्तोपालम्भः सर्वोऽपि पूर्वोक्तः, यस्माद् '' जिनसिद्धाः पूजायाः फलं ददति '' इति केनेदं प्रपन्नम् ? धर्माधर्मनिमित्तमेव हि यस्मात् स्वर्गनरकाऽऽदिकं फलमिह सर्वजीवानामिति ॥ तौ च धर्माधर्मौ यतो जीवगुणौ, ततो न कस्यापि देयौ दातव्यौ, नाऽपि कुतश्चित्समादेयौ ग्राह्यौ, ज्ञानाऽऽदिगुणवत्। कुतः ? इत्याह-(कयनासेत्यादि) यदि ह्येते जिनसिद्धाः कुपिताः सन्तः कस्याऽपि धर्ममपहरेयुरधर्मं च प्रयच्छेयुः, तदा कोपविषयभूतस्य प्राणिनः कृतस्य धर्मस्य नाशः, अकृतस्य चाऽधर्मस्याऽऽगमः स्यात्, प्रसन्ना वा यदि कस्याऽप्याकस्मिकं धर्मं प्रयच्छेयुः, अधर्मं चापहारेयुः, तदाऽकृतस्य धर्मस्याऽऽगमः, कृतस्य चाधर्मस्य नाशो भवेदिति। एवं यदा ते प्रसन्नाः कुपिता वा कस्याऽपि संबन्धिनौ धर्माधर्मौ वाच्छिद्यान्यस्य दद्युः, अन्यस्य संबन्धिनौ चापरस्य, तदा प्राणिनां परस्परं धर्माधर्मयोः संकरः, एकत्वं वा स्यात्। एवं स्वर्गनरकाऽऽदिके धर्माधर्मफलेऽपि कृतनाशाऽऽदिभावना कार्येति ॥ ३२३० ॥ ३२३१ ॥

अपि च-

नाणानाबाहसुहं, मोक्खो पूयाफलं जओऽभिमयं।
तं नाऽऽयपज्जयाओ, देयं जीवाऽऽइभावो व्व ॥ ३२३२ ॥

ज्ञाने सत्यनाबाधस्य यत्सुखं तद्रूपो यो मोक्षः, स एव यस्मान्नमस्कारलक्षणायाः पूजायाः परमार्थतो मुख्यं फलमभिमतं, स्वर्गाऽऽदेरानुषङ्गिकफलत्वात्। तच्च यथोक्तं सुखं न कस्याऽपि हेयं दातुं शक्यम्, आत्मपर्यायत्वात्, जीवचैतन्याऽऽदिभाववत्। ततश्च पूजाफलदाननिषेधे सिद्धसाधनमेवेति ॥ ३२३२ ॥

यदि पूजाफलं न देयं, तर्हि किं देयमिह भवेद् ? इत्याह-

भत्ताऽऽइ होज्ज देयं, न तदत्थो पूयणप्पयत्तोऽयं।
तं पि सकओदयं चिय, बज्झनिमित्तं परो नवरं ॥ ३२३३ ॥

शाल्योदनाऽऽदिरूपं भक्ताऽऽदिकं परस्मै देयं भवेत्, स्थूलपुद्गलस्कन्धमयत्वात्, घटाऽऽदिवत्। केवलं तदर्थो भक्ताऽऽद्यर्थोऽयं पूजनप्रयत्नो न भवति, किं तु मोक्षार्थः। किञ्चतदपि भक्ताऽऽदिकं स्वकृतात्कर्मण उदय उत्पत्तिर्यस्य तत्स्वकृतोदयं, स्वकृतकर्मजनितमेवेत्यर्थः। यस्तु परः कश्चिद्दाता दृश्यते, स केवलं बाह्यनिमित्तमात्रमेव। निश्चयतस्तु बाह्यो न कोऽपि कस्यापि दाता, अपहर्ता चेति ॥ ३२३३ ॥

एतदेव समर्थयन्नाह-

कम्मं सुहाऽऽइहेऊ, वज्झयरं कारणं जया देहो।
सद्दाऽऽइ वज्झतरयं, जइ दायरि कहा का णु ? ॥ ३२३४ ॥
तम्हा सकारणं चिय, सुहाऽऽइ वज्झं निमित्तमेत्तायं।
को कस्स देइ हरइ व, निच्छयओ का कहा सिद्धे ? ॥३२३५॥

यदि हन्त! सुखदुःखानामन्तरङ्गं कर्मैव हेतुः, देहस्तु यदा तेषां बाह्यतरं कारणं, शब्दरूपाऽऽदिकं तु शुभाशुभमपि बाह्यतरं कारणं, तदाऽतिबाह्यतरादपि परभूते दातरि काऽत्र किल कारणत्वकथा ? इति ॥ ३२३४ ॥ तस्मात्स्वमात्मीयं कर्मैव कारणं यस्य तस्वकारणमेव सुखाऽऽदि, बाह्यं तु देहशब्दरूपाऽऽदिकं निमित्तमात्रकमेव। ततो निश्चयतः कः कस्मै ददाति, अपहरति वा ? न कश्चिदित्यर्थः। तथा च सति क्षीणरागद्वेषे सिद्धे का नमस्कारफलदातृत्वकथा ? इति ॥ ३२३५ ॥

अत्र परप्रेर्थं परिहारं चाऽऽह-

जइ सव्वं सकयं चिय, न दाणहरणासइफलमिहाऽऽवन्नं।
णणु जत्तो च्चिय सकयं, तत्तो च्चिय तप्फलं जुत्तं ॥ ३२३६ ॥
दाणाऽऽइपराणुग्गह-परिणामविसेसओ सओ चेव।
पुन्नं हरणाऽऽइपरो-वघायपरिणामओ पावं ॥ ३२३७ ॥
तं पुन्नं पावं वा, ठियमत्तणि बज्झपच्चयावेक्खं।
कालंतरपागाओ, देइ फलं न परओ लब्भं ॥ ३२३८ ॥

यद्युक्तप्रकारेण यल्लोकः शुभमशुभं वा फलमनुभवति, तत्स-

र्वं स्वकृतमेवेष्यते, न पुनः कोऽपि कस्याऽपि किमपि ददात्यपह-रति वा; तर्हि दानापहरणाऽऽदीनामिह दातुरपहर्तुर्वा न किञ्चि-त्फलमित्यापन्नं, स्वकृतस्यैव फलेन तस्य प्राप्तत्वादिति। सूरिराहननु यत एव तत्स्वकृतं, तत एव तत्फलं दातुरपहर्तुश्च युक्तम्। दाता हि दानसमये परानुग्रहपरिणामविशेषात्स्वत एव पुण्यं बध्नाति; अपहर्ता तु परोपघातपरिणामात् स्वत एव पापं बध्नाति। अतस्तयोस्तत्पुण्य-पापलक्षणं फलं स्वकृतमेवेति कथं न युक्तम्? युक्तमे-वेति॥ ३२३६॥ एतदेवाह-(दाणाऽऽईत्यादि) आदिशब्दाद्दयाऽऽदिपरिग्रहः। (सओ चेव ति) स्वत एव स्वकृतमेव दातुः पुण्यं, स्वत एव चापहर्तुः पापम्। शेषं गतार्थमिति॥ ३२३७॥ तच्च पुण्यं पापं वा स्वपरिणामजनितमात्मन्येव स्थितं, किं तु बाह्यनिमित्तमात्रापेक्षं कालान्तरे विपाकाच्छुभमशुभं वा फलं ददातीति '' पर-कृतम् '' इति व्यपदिश्यते, न पुनः परमार्थतस्ततत् पुण्यपापफलं परतो लभ्यमिति॥ ३२३८॥

ननु परतस्तल्लाभे को दोषः? इत्याह-

जइ वा परलहियव्वं, तत्तो च्चिय जेण तप्परिग्गहियं।
तो तम्मि सिवं पत्ते, कुगइगए वा कुओ लब्भं?॥ ३२३९॥

स्पष्टा॥ ३२३९॥

अपि च-यदि येन यद्दत्तं तस्मै तद्देयम्, यस्य चाऽऽ-पहृतमसावपि तस्याऽऽहरति, तर्हीदं दूषण-म्। किं तत्? इत्याह-

लहइ अदिंतो न कओ, साहू जं देज्ज पुव्वदायस्स?
कत्तोऽवहारिणो तं, जं पडिहीरिज्ज से धणिणो॥ ३२४०॥
अहव मई जं तेण वि, दिन्नं अण्णस्स तं तओ लद्धुं।
पडिदेइ तहाऽऽहारी, हारीओ अन्नओ लद्धुं॥ ३२४१॥

वा अथवा, इह निर्ग्रन्थत्वेन साधुर्दानमददद्प्रयच्छन्मृत्वा भवान्तरं प्राप्तः पूर्वमदत्तत्वात्कुतः कस्मादाहाराऽऽदिणं तल्लभते, य-त्पूर्वभवसंबन्धिन आहाराऽऽदिदातुस्तदानीं दद्यात्? इति। यो वा पूर्वभवे कस्याऽपि संबन्धिनमपहृत्य मृतो जन्मान्तरे निःस्वो जातः (से) तस्य परधनाऽपहारिणः कुतस्तद्धनं यत्पूर्वभवधनिना प्रतिहियते? इति॥ ३२४०॥ अथ मतिः परस्य भवेत्-तेनापि यदनेकभवेष्वन्यस्याऽऽ-हाराऽऽदिकं दत्तं तत् ततो लब्ध्वा पूर्वभवदातुः प्रतिददाति। तथा-योऽपि पूर्वभवे परधनमपहृत्येहभवे निःस्वो जातस्तस्यापि संबन्धिनं नानाभवेष्वन्येनान्येन वाऽपहृतमास्ते, ततश्चासौ ततः स्वधनापहारि-णोऽन्यतः सकाशात्स्वापहृतं लब्ध्वा यस्य सत्कं तेन पूर्वमपहृतं तस्मै, ' प्रतिदद्यात् ', इति शेषः॥ ३२४१॥

तदेतत्सर्वमयुक्तम्, कुतः? इत्याह-

एवं होउऽणवत्था, दाणग्गहणाणमपरिभोगो य।
जइ परओ लद्धव्वं, दिन्नं वा तस्स तं चेव॥ ३२४२॥

यदि दानाऽऽदिविषयस्वपरिणामवशात्पुण्यपापे नेष्येते, किं तु यद्यस्मै दत्तं तत्तस्मादेव परतो लभ्यमित्यभ्युपगम्यते। यस्माद्वा यदाहाराऽऽदिकं कदाऽपि लब्धं, तस्यैवाऽन्यदा दत्तं, न पुनर्दायकेन ग्राहकस्य किमप्यधिकं कृतमिति चेष्यते; तदैवं सति दानग्रहणयोरनवस्था प्राप्नोति; यस्मै दानं तस्मात्पुनर्ग्रहणं, पुनरपि चान्यस्मै दानं, पुनरपि तस्माद् ग्रहणमित्यादि। ततश्च दानग्रहणपरम्पराव्यापृतस्य मोक्षाभाव-प्रसङ्गः, दानफलस्य च स्वयमपरिभोगः प्राप्नोति, अन्योन्यदानग्रहणा-भ्यामायव्ययविशुद्धत्वादिति॥ ३२४२॥

तदेवं तीर्थिकविशेषाणां सौस्नातिकाऽऽदीनां मतमपा-कृत्योपसंहारपूर्वकं स्वाऽभिमतमुपदर्शयन्नाह-

तम्हा सपराणुग्गह-परिणामाओ सुपत्तविणिओगा।
दाया पुण्णं पावइ, जं तत्तो से फलं होइ॥ ३२४३॥

तस्मात्स्वपरानुग्रहपरिणामेन सुपात्रेषु वित्तविनियोगाद्दाता यत्पुण्यं प्राप्नोति, ततः (से) तस्य दातुः फलं स्वर्गाऽऽदिकं भवती ति॥ ३२४३॥

तदेवमुक्तनीत्या दाता स्वत एवेदं स्वर्गाऽऽदिफलं लभते, न तु परतः, गृहीताऽप्येवमेव द्रष्टव्य इति दर्शयन्नाह-

जह सो पत्ताणुग्गह-परिणामाओ फलं सओ लहइ।
तह गेण्हंतो वि फलं, तदणुग्गहओ सओ लहइ॥ ३२४४॥

गतार्था॥ ३२४४॥

एवं परधनापहार्यपि स्वत एव वधबन्धननरकाऽऽदिकं पाप-फलं लभते, न परत इति दर्शयति-

हारी वि हरणपरिणा-मदूसिओ बज्झपच्चयावेक्खं।
पावो पावं पावइ, जं तत्तो से फलं होइ॥ ३२४५॥

इयमप्युक्तार्थप्राया॥ ३२४५॥

अथ प्रकृतयोजनामाह-

जह सायत्तं दाणे, परिणामाओ फलं तहेहावि।
नियपरिणामओ च्चिय, सिद्धं जिणसिद्धपूयाए॥ ३२४६॥

प्रकटार्थप्राया॥ ३२४६॥

(१६) अथ जिनाऽऽदिपूजाप्रतिष्ठार्थं प्रमाणयन्नाह-

कज्जा जिणाऽऽइपूया, परिणामविसुद्धिहेउसो निच्चं।
दाणाऽऽदउ व्व मग्ग-प्पभावणाओ य कहणं व॥ ३२४७॥

कार्या नित्यं जिनाऽऽदिपूजेति प्रतिज्ञा, स्वपरिणामविशुद्धहेतु-त्वादिति हेतुः, दानाऽऽदिवदिति दृष्टान्तः। अथवा-कार्या नित्यमेव जिनाऽऽदिपूजा, मोक्षमार्गप्रभावकत्वात्, धर्मकथनवदिति॥ ३२४७॥

'' कोपप्रसादरहितत्वात् '' इति परोक्तहेतोरनैकान्तिकतां दर्शयन्नाह-

कोवप्पसायरहियं, पि दीसए फलदमन्नपाणाऽऽइं।
कोवप्पसायरहियं, ति निप्फलं तो अणेगंतो॥ ३२४८॥

पूर्वार्द्धं सुबोधम्। ततः '' कोपप्रसादरहितं वस्तु निष्फलम् '' इत्यनेकान्तः, अन्नपानाऽऽदिभिर्व्यभिचारादिति॥ ३२४८॥

अपि च-विरुद्धोऽप्ययं हेतुरिति दर्शयन्नाह-

कोवाऽऽइविरहियं चिय, सव्वं जमणुग्गहोवघायाय।
दीसइ तेण विरुद्धं, फलमिह कोवप्पसायाओ॥ ३२४९॥

इहाऽऽकाशान्नपानपीयूषविषचिन्तामण्यन्धोपलकल्पद्रुमविष-वृक्षगुडनागरहरीतकीमरीचाऽऽद्यौषधाऽऽदिकं सर्वमपि वस्तु कोपप्रसादविरहितमेव यस्मादनुग्रहोपघातयोः प्रवर्तमानं दृश्यते, तेन तस्मादिह कोपप्रसादतः सकाशात्फलमुच्यमानं विरुद्धमेव

संलक्ष्यते। तथाहि-कोपाऽऽदिरहितादेवाऽऽकाशाऽऽदेर्व्रण उप-घातः, पट्टकबन्धाऽऽदेस्त्वनुग्रहः, हितमितान्नपानाऽऽदेरनुग्रहः, तस्माद्विपरीतात्पुनरुपघातः। एवं पीयूषविषाऽऽदेरपि सकाशात्कोपाऽऽदिविरहितादेवानुग्रहोपघातौ दृश्यते। ततो विरुद्धोऽयं हेतुः, विपक्ष एव वृत्तिदर्शनादिति ॥ ३२४९ ॥

अथ राजाऽऽदिनां हरणप्रदानहेतवः कोपप्रसादा भवन्तीति प्रत्यक्षत एव दृष्टमिति परस्य मतिर्भवेत्; ननु तदपि सर्वस्वाऽऽहरणं, प्रदानं वा स्वपापपुण्यकृतमेव। यस्तु परः, स तत्र केवलं निमित्तमात्रमेवेति प्रागेव भणितमिति दर्शयन्नाह-

हरणप्पयाणहेऊ, हवेज्ज कोवाऽऽदओ मई तं पि।
नणु सकयं चिय भणियं, निमित्तमेत्तं परो नवरं ॥ ३२५० ॥

गतार्था ॥ ३२५० ॥

अथवाऽपहरणप्रदानाऽऽदिकं स्वकृतं नेष्यते, तत्राऽऽह-

जइ वा न सकयहेउं,तं तो कोवप्पसाययं राया।
सो सव्वसेवयाणं, समानफलदो कहं न भवे ? ॥ ३२५१ ॥

पाठसिद्धा ॥ ३२५१ ॥

अपि च-

दीसइ य विसमफलदो, विफलो य समाणसेवयाणं पि।
भण्णइ य सुकयपुण्णो, तो से रायप्पसाउ त्ति ॥ ३२५२ ॥

समानसेवकानामपि विषमफलदः केषाञ्चिद्विफलश्च दृश्यते राजा। ततो ज्ञायतेस्वकृतपुण्यपापकृतमेवेदं सर्वमपि वैचित्र्यम्, राजाऽऽदिस्तु तत्र निमित्तमात्रमेवेति। अपरं च लोकेऽपि भण्यते लोकेऽप्येवं वक्तारो भवन्ति- ''सुकृतपुण्यः स देवदत्ताऽऽदिः, (तो से त्ति) ततः ' से ' तस्यैव राजप्रसादो जातः'' इति। तत एवमादिलोकोक्तेश्च स्वकृतपुण्यपापानुमानं प्रवर्तत इति ॥ ३२५२ ॥

अपि च-

कोवप्पसायहेउं, च जं फलं न हि तदत्थमारंभो।
न परप्पसायणत्थं, किं तु नियय्प्पसायत्थं ॥ ३२५३ ॥

कोपप्रसादहेतुकं च यत्किमपि फलं तदर्थो नैवायमस्माकमर्हदादिनमस्कारपूजाऽऽरम्भः, नाऽपि परप्रसादनार्थं, किं तु निजकचित्तस्य यः प्रसादः प्रसत्तिरर्हदादिगुणबहुमानेन शुभरूपता, तदर्थोऽयमारम्भ इति ॥ ३२५३ ॥

परप्रसादनार्थं नाऽऽरम्भ इत्याह-

धम्माऽधम्मा न परप्पसायकोवाणुवत्तिणो जम्हा।
तो न परो त्ति प्रसण्णो, धम्मो कुविउ त्ति वाऽधम्मो ॥३२५४॥

धर्मार्थो ह्ययमारम्भः। धर्माऽधर्मौ च यस्मान्न परप्रसादकोपानुवर्तिनौ, किं तर्हि ? जीवगतशुभाशुभपरिणामानुयायिनौ; ततः ' परः प्रसन्नः ' इत्येतावता न धर्मः, नापि ' परः कुपितः ' इत्येतावन्मात्रेणाऽधर्मः, किं तु निजशुभाशुभपरिणामवशाद्धर्माधर्मौ। तत्र च शुभाशुभपरिणामस्याऽऽलम्बनमर्हदादयो नमस्क्रियमाणाः संपद्यन्ते। शुभपरिणामाच्च धर्मः। तस्माच्चार्थकामाऽऽदयः, स्वर्गापवर्गौ च भवतः। इति संपद्यत एवार्हन्नमस्कारस्य यथोक्तं फलमितीह तात्पर्यमिति ॥ ३२५४ ॥

यदि परप्रसादकोपाऽनुवर्तिनौ धर्माधर्मौ स्यातां,
ततः को दोषो भवेत् ? इत्याह-

तस्साहणसुन्नस्सं वि, जइ वा धम्मो परप्पसायाओ।
तो जो जस्स पसन्नो, स तस्स देज्जा जगद्धम्मं ॥ ३२५५ ॥
कुपिओ हरेज्ज सव्वं, दिज्जा धम्मं व तह य पावं ति।
अकयाऽऽगमकयनासा,मोक्खगयाणं पि चापडणं ॥३२५६॥

वाशब्दः प्रस्तावनायां, सा च कृतैव। तस्य धर्मस्य दयादानप्रशमब्रह्मचर्याऽर्हदादिपूजाऽऽदीनि साधनानि, तैः शून्यस्यापि यदि धर्मः परप्रसादमात्रादेवेष्यते, ततस्तर्हि य ईश्वराऽऽदिर्यस्य देवदत्ताऽऽदेः प्रसन्नः स ईश्वराऽऽदिर्जगतोऽपि संबन्धिनं धर्ममपहृत्य तस्यैवैकस्य देवदत्ताऽऽदेः सर्वं दद्यात्। तथा-कुपितः स एव तस्य देवदत्ताऽऽदेः संबन्धिनं सर्वं धर्ममपहरेत्, अधर्मं वा सर्वमपि प्रयच्छेत्। तथा च सत्यकृताऽऽगमकृतनाशौ प्राप्नुतः, एकस्याकृतयोरपि धर्माऽधर्मयोरागमाद्, अन्येषां तु स्वयंकृतयोरपि तयोर्नाशादिति। मोक्षगतानामपि च सिद्धानामेवं पतनं स्यात्तदीयपूर्वसुकृतस्यान्यत्र संचरणात्, अन्यदीयाधर्मस्य च तेषु प्रक्षेपादीति ॥३२५५ ॥ ३२५६ ॥

किञ्च-परकीयकोपप्रसादाभावेऽपि धर्माऽधर्मौ तवापि
प्रसिद्धौ। कथम् ? इत्याह-

जइ वीयरागदोसं, मुणिमक्कोसिज्ज कोइ दुट्ठऽप्पा।
कोवप्पसायरहिओ, मुणि त्ति किं तस्य नाधम्मो ?॥३२५७॥
सवओ तस्साऽधम्मो, जइ वंदंतस्स तो धुवं धम्मो।
कोवप्पसायरहिए, तह जिणसिद्धे वि को दोसो ? ॥३२५८॥

वीतावपगतौ रागद्वेषौ यस्य तं वीतरागद्वेषं मुनिं यदि दुष्टाऽऽत्मा कश्चिदाक्रोशेत्, तदा '' वीतरागद्वेषत्वात्कोपप्रसादरहितः स मुनिः '' इत्येतावन्मात्रेण किं तस्याऽऽक्रोष्टुर्नाऽधर्मः स्यात् ? ननु स्यादेवाऽसौ, सकलशास्त्रलोकप्रतीतत्वादिति ॥ ३२५७ ॥ ततश्च (सवओ त्ति) मुनिं शपमानस्य तस्याऽऽकोष्टुर्यद्यधर्मोऽभ्युपगतस्त्वया, ततस्तर्ह्यन्यस्य कस्यापि शुभपरिणामस्य तमेव मुनिं वन्दमानस्य ध्रुवं निश्चितं धर्म्मोऽभ्येष्टव्य एव, स्वपरिणाममात्रनिबन्धनत्वस्येहाऽपि समानत्वादिति। यदि नामैवं, ततः प्रकृते किम् ? इत्याह-तथा तेनैवोक्तप्रकारेण कोपप्रसादरहिते जिने सिद्धे च नमस्कर्तुर्निजशुभपरिणामवशाद्यथोक्तफलप्राप्तौ को दोषः ? न कश्चिदिति ॥ ३२५८ ॥

(१६) दृष्टान्तान्तरेणाऽप्यर्हदादिभ्यः फलप्राप्तिं
समर्थयन्नाह-

हिंसामि मुसं भासे, हरामि परदारमाविसामि त्ति।
चिंतेज्ज कोइ न य चिंतियाण कोवाऽऽइसंभूई ॥ ३२५९ ॥
तह वि य धम्माधम्मो-दयाऽऽइ संकप्पओ तहेहावि।
वीयकसाए सवओ-ऽधम्मो धम्मो य संथुणओ ॥ ३२६० ॥

'' हिनस्मि हरिणाऽऽदीन्, मृषा भाषेऽहं, तद्भाषणाच्च वञ्चयामि देवदत्ताऽऽदीन्, धनमपहरामि तेषामेव, परदारानाविशामि निषेवेऽहम्,'' इत्यादि कश्चिच्चिन्तयेत्। न च तेषां चिन्तितानां हिंसाऽऽदिचिन्ताविषयभूतानां हरिणाऽऽदीनां तत्कालं कोपाऽऽदिसंभूतिः कोपाऽऽदिसंभवोऽस्ति ॥ ३२५९ ॥ तथाऽपि हिंसाऽऽदिचिन्तकस्याधर्मः, दयाऽऽदिसंकल्पतस्तु तद्वतो धर्मो भवति। इत्याववोरविगानेन प्रसिद्धमेव, तथेहापि प्रस्तुते वीतकषायानप्यर्हत्सिद्धाऽऽदीन् शपमानस्याऽधर्मः, संस्तुवतस्तु धर्म इति किं नेष्यते ? इति ॥ ३२६० ॥

अथोपसंहारपूवकं प्रस्तुतमुपदर्शन्नाह-

तम्हा धम्माऽधम्मा, जुत्ता नियय्प्पसायकोवाओ।
धम्मत्थिणा पयत्तो, कज्जो तो सप्पसायम्मि ॥ ३२६१ ॥
सो य नियय्प्पसाओऽवस्सं जिणसिद्धपूयणाउ त्ति।
जस्स फलमप्पमेयं, तेण तयत्थो पयत्तोऽयं ॥ ३२६२ ॥

सुगमे, नवरं यस्य निजमनःप्रसादस्याप्रमेयमनन्तं फलं येनानन्तफलोऽसौ, तेन कारणेन तदर्थो निजमनःप्रसादार्थ एवार्हदादिनमस्कारप्रयत्न इति ॥ ३२६१ ॥ ३२६२ ॥

अस्यैवार्थस्य साधनार्थं प्रमाणयन्नाह-

नाणाऽऽइमयत्ते सइ, पुज्जा कोवप्पसायविरहाओ।
नियय्प्पसायहेउं, नाणाऽऽइतियं व जिणसिद्धा ॥३२६३॥

निजमनःप्रसादहेतोः पूज्या जिनसिद्धा इति प्रतिज्ञा, ज्ञानाऽऽदिमयत्वे सति कोपप्रसादविरहादिति हेतुः, ज्ञानाऽऽदित्रिकवदिति दृष्टान्तः। कोपाऽऽदिविरहिता लेष्टुकाष्ठाऽऽदयोऽपि विद्यन्ते, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं ज्ञानाऽऽदिमयत्वे सतीति हेतोर्विशेषणमिति ॥ ३२६३ ॥

(१८) परः प्राऽऽह-

पुज्जा जिणाऽऽइवज्जा, न हि मोक्खत्थं सरागदोस त्ति।
अकयत्थभावओ वि य, दवट्ठाए दरिद्द व्व ॥ ३२६४ ॥

जिनसिद्धान्वर्जयित्वा शेषा आचार्योपाध्यायसाधवो, न हि नैव, मोक्षार्थं पूज्या इति प्रतिज्ञा, सरागद्वेषत्वाद्, अत एवाऽकृतार्थभावाच्च, द्रव्यार्थं दरिद्रा इवेति ॥ ३२६४ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह-

कलुसफलेण न जुज्जइ, किं चित्तं तत्थ जं विगयरागो।
संते वि जो कसाए, न गिण्हई सो वि तत्तुल्लो ॥ ३२६५ ॥

किं तत्र चित्रं किमाश्चर्यं, यद्विगतरागः कलुषफलेन कषायजनितेन चित्तकालुष्येण न युज्यते, विगतकषायोदयत्वात्तस्य। ननु सोऽपि तत्तुल्यो *वीतरागसमान एव यः सतोऽपि कषायान्न गृह्णाति। ततश्चा*स्मात्परमगुरुवचनादाचार्याऽऽदयोऽपि वीतरागतुल्या एव, सतामपि कषायाणां निग्रहात्। ततः सरागद्वेषत्वादित्यसिद्धो हेतुरिति भावः। इयं च गाथा केषुचिदादर्शेषु न दृश्यते; पूर्वटीकाकारैरपि न व्याख्याता; अस्माभिस्तु बहुष्वादर्शेषु दर्शनात्सोपयोगत्वाच्च लि-खितेति ॥ ३२६५ ॥

' अकृतार्थत्वात् ' इत्ययमपि हेतुरनैकान्तिकः, अकृतार्थत्वे सत्यपि कारणान्तरतोऽपि पूजासंभवादिति दर्शयन्नाह-

न परोवयारओ चिय, धम्मो न परोवयारहेउं च।
पूयाऽऽरंभो नणु सपरिणामसुद्धत्थमक्खाओ ॥ ३२६६ ॥

' अकृतार्थभावात् ' इति ब्रुवतस्तव किलायमभिप्रायः-' स्वयमकृतार्थाः सन्त आचार्याऽऽदयो न परोपकारक्षमाः, अतस्तदसामर्था दरिद्रा इव न ते नमस्करणीयाः ' इति। एतच्चायुक्तम्। यतो न परस्मादर्हदादेरुपकारत एव धर्मो नमस्तकर्तुः, नापि परस्मादर्हदादेरुपकारहेतोस्तस्य नमस्कारपूजाऽऽरम्भः। ननु स्वपरिणामशुद्ध्यर्थमाख्यातोऽसौ। ततः किञ्चिदकृतार्थत्वे सत्यपि स्वशुभपरिणामनिबन्धनत्वात्पूज्या एवाऽऽचार्याऽऽदय इति ॥ ३२६६ ॥

अथ पञ्चानामपि पूज्यत्वसमर्थनार्थं प्रमाणमाह-

पूया परोवयारा-भावे वि सिवाय जिणवराऽऽईणं।
परिणामसुद्धिहेउं, सुभकिरियाओ य बंभं व ॥ ३२६७ ॥

शिवाय मोक्षार्थं भवति पूजा, परोपकाराभावेऽपि पञ्चानामपि जिनवराऽऽदीनामिति साध्यम्, पूजकपरिणामशुद्धिहेतुत्वात्, तन्नमस्कारक्रियायाश्च ज्ञानाऽऽदिगुणविषयबहुमानत्वेन निरवद्यत्वेन च शुभत्वाद्, ब्रह्मचर्याऽऽदिवदिति ॥ ३२६७ ॥

अथ सुप्रसिद्धदृष्टान्तोपदर्शनेनापि जिनाऽऽदिपूजा परोपकाराभावेऽपि शिवायेति समर्थयन्नाह-

परहियय्गया मेत्ती, करेइ भूयाण कमुवयारं सा।
अवयारं दूरत्थो, कं वा हिंसाऽऽइसंकप्पो ? ॥ ३२६८ ॥
धम्माऽधम्मनिमित्तं, तहा वि तह चेह निरुवगारो वि।
पूयासुहसंकप्पो, धम्मनिमित्तं जिणाऽऽईणं ॥ ३२६९ ॥

परहृदयगता साधुहृदयस्थिता सर्वभूतेषु या मैत्री सा तेषां पृथिव्यादिभूतानां कमुपकारं करोति ? न कञ्चित्। तथा-कं वा देवदत्ताऽऽदिहृदयगतो दूरस्थहरिणाऽऽदिभूतग्रामविषयो दूरस्थहरिणाऽऽद्यपेक्षया दूरस्थो हिंसास्तेयाऽऽदिसंकल्पोऽपकारं कुर्यात् ? न कश्चित्; तथाऽपि मैत्री हिंसाऽऽदिसंकल्पश्च भूतानामुपकाराऽप-कारविरहेऽपि द्वावपि यथासंख्यं धर्माऽधर्मनिमित्तं भवत एव। तथा चैवं चोक्तप्रकारेण निरुपकारोऽपि जिनाऽऽदीनामुपकारमकुर्वन्नपि भूतानां साधुगतमैत्रीसंकल्पवज्जिनाऽऽदीनां पूजा शुभसंकल्पः पूजकस्य धर्मनिमित्तं भवतीति ॥ ३२६९ ॥

(१९) आह-ननु यथा दानं साध्वादीनामुपकारं करोति, नैवं जिनाऽऽदीनां नमस्कारपूजा, तत्कथमसौ धर्मनिमित्तं भवति ? इत्याशङ्क्याऽऽह-

दाणे वि पराऽणुग्गहलक्खणसंकप्पमेत्तओ चेव।
फलमिह न उ पच्छा तक्कओवगाराऽवगाराओ ॥ ३२७० ॥
इहरोवउत्तभत्ताजिन्नाऽऽह वहम्मि दक्खिणे यस्स।
दिंतस्स वहावत्ती, तेणाऽऽदाणप्पसंगोऽयं ॥ ३२७१ ॥

साध्वादिदानेऽपि पराऽनुग्रहलक्षणसंकल्पमात्रत एवेह दातुः फलनिष्पत्तिः, न पुनः पश्चात्तत्कृताद् दानकृतादुपकारादपकाराद्वेति ॥ ३२७० ॥ इतरथोपयुक्तेसाध्वादिना भुक्ते योऽजीर्णाऽऽदिदोषस्तेन दाक्षिणेयस्य-दक्षिणा दानं तद्विषयभूतस्य साध्वादेर्वधे मरणे सति दातुर्वधाऽऽपत्तिहिंसाऽऽदिदोषसमापत्तिः। तेन च हिंसाऽऽदिदोषेणाऽऽदानप्रसङ्गोऽयं प्राप्नोति; अनिष्टं चैतत्, दातुर्विशुद्धपरिणामत्वात्। न हि तेन साध्वादिजिघांसया दानं दत्तं, किं तु तद्गुणबहुमानाऽऽदिपरिणामेन। न चैवं विशुद्धपरिणामस्यापि पापसंबन्धो घटते, अन्यथा मातृस्पन्यपानादजीर्णाद् बालस्य मरणे मातुस्तद्वधकृतपापप्रसङ्गादिति। तदेवं प्राग् यदुक्तं '' पूयाऽणुवगाराओऽपरिग्गहाओ '' (३२२९) इत्यादि, तत्र पूजाऽनुपकारादित्ययं हेतुरपाकृतः ॥ ३२७१ ॥

अथ '' अपरिग्रहात् '' इत्यमुं निराचिकीर्षुराह-

न परपरिग्गहउ चिय, धम्मो किं तु परिणामसुद्धीओ।
पूया अपरिग्गहम्मि वि, सा य धुवा तो तदारंभो ॥ ३२७२ ॥

न खलु पूजायाः परेण पूज्येन परिग्रहादेव स्वीकारादेव ध-

र्मः, किं तु स्वपरिणामशुद्धितः । सा च परिणामशुद्धिः पूजायाः परेणापरिग्रहेऽपि ध्रुवा निश्चिता स्वसंवेदनसिद्धा समस्ति, ततस्तदारम्भो नमस्कारपूजाऽऽरम्भ इति ॥ ३२७२ ॥

किञ्च-दानस्यापरिग्रहत्वमभ्युपगम्योक्तं, वस्तुतस्तु तन्नास्त्येवेति दर्शयन्नाह-

इह चोयगमणुमोयग-मणिसेहगमेव संपयाणं त्ति ।
वडुमुणिपडिमाऽऽइ जओ, न दाणमपरिग्गहं तेण ॥३२७३॥

इह यतो यस्मात्सत्कृत्य सम्यग्वा प्रदीयते यस्मै तत्संप्रदानम् । तच्च त्रिविधम् । तद्यथा-' दीयतां मह्यं, बहुफलं भवतां भविष्यति ' इत्यादिवचनप्रपञ्चेन किञ्चित्प्रेरकं, यथा बटुर्ब्राह्मणः । अपरं त्वित्थमप्रेरकमपि दानस्य ग्रहणपरिभोगाभ्यामनुमोदकं भवति । यथा मुनिः साधुः ; अन्यत्तु पुष्पाऽऽद्यनिषेधादनिषेधकं, यथाऽर्हत्प्रतिमाऽऽदि, सर्वत्र संप्रदानाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् । तेन तस्मान्न क्वचिद्दानमपरिग्रहमस्तीति ॥ ३२७३ ॥

अपि च-किमनया दानस्य परिग्रहापरिग्रहचिन्तया ? कार्यस्यान्यथैव स्थितत्वात् ; कथम् ? इत्याह-

दाणमपरिग्गम्मि वि, धम्मो नियययपरिणामसुद्धीओ ।
अपरिग्गहे वि जइ सा, को नाम परिग्गहग्गाहो ? ॥ ३२७४ ॥
किं च परहिययनियया, मेत्ती भूएहिं संपरिग्गहिया ।
हिंसासंकप्पो वा, जं धम्माधम्महेउ त्ति ॥ ३२७५ ॥
एवं जिणाऽऽइपूया, सद्धासंवेगसुद्धिहेऊओ ।
अपरिग्गहा वि धम्मा-य होइ सीलव्वयाऽऽइं व ॥ ३२७६ ॥

तिस्रोऽपि व्यक्तार्थाः ॥ ३२७४ ॥ ३२७५ ॥ ३२७६ ॥

अथ '' विमूर्तिभावात् '' इत्यस्य हेतोर्निरासार्थमाह-

जं चिय मुत्तिविउत्ता, मुत्ता गुणरासओ विसेसेणं ।
तेणं चिय ते पुज्जा, नाणाऽऽइतियं व मोक्खत्थं ॥ ३२७७ ॥

यस्मादेव मूर्तिवियुक्ता अमूर्त्ता मुक्ताः सिद्धाः, तेनैव ते शरीरसंबन्धजनितसकलक्लेशविमुक्तत्वाद् गुणराशयः सन्तो विशेषेण मोक्षार्थं पूज्याः, ज्ञानाऽऽदित्रिकवदिति ॥ ३२७७ ॥

अपि च-

मुत्तिमओ वि न मुत्ती, पूइज्जइ किं तु जे गुणा तस्स ।
ते मुत्तिविउत्त चिय, नणु सिद्धगुणा विसेसेणं ॥ ३२७८ ॥

मूर्तिमतोऽपि संबन्धिनी मूर्तिर्न पूज्यते, किं तु गुणाः, ते च मूर्तिवियुक्ता एवामूर्ता एव । ततश्च '' न पूज्याः सिद्धाः, अमूर्त्तत्वात् , नभोवत् '' इति त्वदुक्तप्रमाणे विरुद्धाव्यभिचारित्वाद् विरुद्धो हेतुः । तथाह्येतदपि शक्यते वक्तुम्-पूज्याः सिद्धाः, अमूर्तत्वात् , मूर्त्तसाधुसंबन्ध्यमूर्तज्ञानाऽऽदिगुणवदिति । अथ सिद्धगुणा अमूर्ता न भवन्तीति चेदित्याहननु सिद्धगुणाः विशेषणैवामूर्त्ताः; मूर्त्तसाधुगुणा हि ज्ञानाऽऽदयो मूर्तादव्यतिरिक्तत्वात् कथञ्चिन्मूर्ता अपि शक्यन्ते वक्तुम् ; सिद्धगुणास्तु नैवम् , ततो विशेषेण ते अमूर्त्ता एव; इति न तेषां पूजाविरोध इति ॥ ३२७८ ॥

अथ परमतमाक्षिप्य परिहरन्नाह-

अहव मई मुत्तिमओ, गुणपूया होइ मुत्तिपूयाओ ।
तग्गुणसंबंधाओ, सिद्धगुणाणं तु सा नत्थि ॥ ३२७९ ॥
पूया मुत्तिगुणाणं, संबंधे फलमितीह को हेऊ ?
अन्नो परिणामाओ, तस्स य को केण संबंधो ? ॥ ३२८० ॥
हिययत्थो (' नियत्थो ' इति पाठान्तरम् ।) परिणामो,
बज्झत्थालंवणनिमित्तमित्तागो ।
देह फलं सव्वो च्चिय, सिद्धगुणाऽऽलंवणो चेवं ॥ ३२८१ ॥

सुगमाः ॥ ३२७९ ॥ नवरम् (पूयेत्यादि) परिहारवचनं, पूजा च मूर्तिश्च गुणाश्च, तेषां पूजामूर्तिगुणानां त्रयाणामपि, संबन्ध एवाऽभिमतं फलमवाप्यत इतीह स्वगतविशुद्धपरिणामादन्यः को हेतुः ? न कोऽपीति । तस्य च स्वगतपरिणामस्य कः संबन्धः केनचिद् बाह्येन ? न कश्चिदिति ॥ ३२८० ॥ केवलं निजहृदयस्यशुभपरिणामो यथा बाह्यार्हदाद्यालम्बननिमित्तमात्रकः सर्वोऽपि ददात्यभिमतफलमेवममूर्त्तसिद्धगुणाऽऽलम्बनोऽपीति ॥ ३२८१ ॥

अथ यदुक्तं-'' दूराऽऽइभावओ वा, विफला सिद्धाइपूय त्ति ''

(३२२६) तत्र दूराभावादित्यस्य हेतोर्निराकरणार्थमाह-

जइ दूरस्थे वि धिई, बंधुम्मि सरीरपुट्ठिबलहेऊ ।
तणुदोव्वल्लाइफलो, कत्थइ सोगाऽऽइसंकप्पो ॥ ३२८२ ॥
तह परिणामो सुद्धो, धम्मफलो हि दूरसंथे वि ।
अविसुद्धो पावफलो, दूरासन्नं ति को भेओ ? ॥ ३२८३ ॥
अहवाऽऽयसभावोऽयं, परिणामो तेण सव्वमेवेह ।
दूरमहाऽऽलंबणओ, तस्साऽऽसन्नं तओ सव्वं ॥ ३२८४ ॥

यथा दूरस्थेऽपि बन्धौ बान्धवजने सुखिनि श्रुते तत्सुखवार्ता-संकल्पजनिता धृतिः कस्याऽपि तद्बान्धवस्य दूरस्थस्यापि शरीरपुष्टिबलहेतुर्भवति; क्वचित्तु प्रस्तावे तस्मिन्नपि दुःखिनि श्रुते शोकाऽऽदिसंकल्पस्तनुदौर्बल्याऽऽदिफलः संपद्यते ॥ ३२८२ ॥ तथा तेनैव प्रकारेण दूरसंस्थेऽपि सिद्धाऽऽद्यालम्बने तद्गुणबहुमानरूपत्वाच्छुद्धपरिणामः सद्धर्मफलोऽविशुद्धस्तु पापफलः संजायते । अतो दूरस्थमासन्नं वा सिद्धाऽऽद्यालम्बनमिति को भेदः ? केयं निष्फला तद्भेदचिन्ता ? इत्यर्थः ॥ ३२८३ ॥ अथवा-आत्मस्वभावोऽयं तद्गुणबहुमानलक्षणशुभपरिणामस्तेन तस्मादिह यदनात्मस्वभावं किमपि वस्तु तत्सर्वमप्यस्य विपरीतरूपत्वाद् दूरस्थमेव । अथाऽऽलम्बनत आलम्बनभावमाश्रित्य चिन्त्यते, ततस्तर्हि सर्वमप्यर्हत्सिद्धाऽऽदिकं वस्तु तस्य यथोक्ताऽऽत्मपरिणामस्याऽऽसन्नमेवेति; अतः का सिद्धेषु दूरस्थता ? इति ॥ ३२८४ ॥

अत्राऽऽक्षेपपरिहारावाह-

जइ सपरिणामउ च्चिय, धम्मोऽधम्मो व्व कित्थ बज्झेण ।
जं बज्झाऽऽलंबणओ, सो होइ तओ तदत्थं तं ॥ ३२८५ ॥

ननु यदि स्वगतपरिणामादेव धर्मोऽधर्मश्च भवति, तर्हि किमत्र बाह्येनाऽर्हत्सिद्धाऽऽद्यालम्बनेनापेक्षितेन, स्वपरिणामत एव कार्यसिद्धेः तदपेक्षाया निष्फलत्वात् ? इति । सूरिराह-यस्मात्सोऽपि परिणामो बाह्याऽऽलम्बनत एव भवति, नाऽन्यथा, ततस्तदर्थं स्वपरिणामोत्पादनार्थं तद् बाह्याऽऽलम्बनमपेक्ष्यत इति ॥ ३२८५ ॥

एतदेव भावयति-

परिणामो बज्झाऽऽलंबणो सया चेव चित्तधम्मो त्ति ।
विण्णाणं पि व तम्हा, सुहबज्झाऽऽलंवणपयत्तो ॥३२८६॥

शुभोऽशुभो वा परिणामः सदैव बाह्याऽऽलम्बनत एव प्रवर्तते, चित्तधर्मत्वात्, विज्ञानवदिति। यथा विज्ञानं बाह्यं नीलपीताऽऽदिकं वस्तु विना न प्रवर्तते, एवं परिणामोऽपीति भावः। तस्मादिह मोक्षाधिकारे शुभबाह्याऽऽलम्बनप्रयत्नो मोक्षार्थिनामिति ॥३२८६॥

अत्र परः प्राऽऽह-

जत्तो तत्तो व सुभो, होइ किमालंबणप्पभेएण।
जह नाऽणाऽऽलंबणओ, विवरीयाओ वि सो न तहा ॥३२८७॥

ननु यतस्ततो वाऽऽलम्बनात् शुभपरिणामो भवतु, किमिह शुभाशुभभेदत आलम्बनप्रभेदेनकिमिति शुभाऽऽलम्बनादेव शुभः परिणाम इष्यते ? इति भावः। गुरुराह-(जह णाऽणाऽऽलंबणओ त्ति) यथाऽनालम्बन आलम्बनरहितः शुभपरिणामो न प्रेवर्तते, तथा विपरीतादप्यशुभाऽऽलम्बनादसौ न भवति, अन्यथा नीलाऽऽदेरपि शुक्लाऽऽदिज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गादिति ॥ ३२८७ ॥

यदि विपरीताऽऽलम्बनान्न शुभः परिणामः, तर्हि कुतोऽसौ भवति ? इत्याह-

किं तु सुभाऽऽलंबणओ, पाएण सुभो वि धम्मओ इयरो।
जं होइ तं पयत्तो, सुभासुभाऽऽदाणवोसग्गो ॥ ३२८८ ॥

सुगमा, नवरं शुभस्याऽऽलम्बनस्याऽऽदाने, अशुभस्य तु तस्य व्युत्सर्गे शुभपरिणामार्थिना प्रयत्नः कर्तव्य इति ॥ ३२८८ ॥

प्रायोग्रहणस्य व्यवच्छेद्यमाह-

अन्नाणिणो मुणिम्मि वि, न सुभो दिट्ठो सुभो य निस्सीले।
जइ परिणामाउ च्चिय, फलमिह किं पत्तचिंताए ॥ ३२८९ ॥

अज्ञानिनोऽभव्यस्य दुरभव्यस्य वा शुभाऽऽलम्बनरूपे मुनावपि न शुभपरिणामो दृष्टः, शुभश्चाऽसौ तस्य निःशीले नास्तिकाऽऽ- दौ दृष्टः, ततोऽनन्तरगाथायां '' सुभालंबणओ पाएण सुभो वि '' (३२८८) इत्यत्र '' प्रायेण '' इत्युक्तमिति भावः। प्रेरकः प्राऽऽहयद्येवं, तर्ह्यन्यत् प्रेर्यमापन्नं, परिणामादेव भवद्भिस्तावत्फलमिष्यते, ततः किं पात्रापात्रचिन्तया ? इति। अयमत्र भावार्थः-यदि निःशीलेऽपि पात्रे शुभपरिणामो दृष्टः, ' शुभपरिणामाच्च शुभं फलं भवति ' इति भवद्भिरपि प्रागसकृद् समर्थितं, ततः किं सुशीलनिःशीलपात्रचिन्तया, निःशीलेऽपि पात्रे शुभपरिणामदर्शनात्, तस्माच्च शुभफलभावात् ? ॥ ३२८९ ॥

अत्रोत्तरमाह-

सुहपरिणामनिमित्तं, होज्ज सुहं जइ तओ सुहो होज्ज।
उम्मत्तस्स न व उ सो, सुहो विवज्जासभावाओ ॥ ३२९० ॥

ननु तस्य मिथ्यादृष्टेः शुभपरिणामनिमित्तं शुभपरिणामहेतुकं शुभं फलं स्वर्गाऽऽदिकं भवेत्, को वै न मन्यते, यदि तस्याऽऽदित एव तकोऽसौ निःशीलपात्रविषयपरिणामः शुभो भवेत् ? न चोन्मत्तस्येव तस्याऽसौ शुभः। कुतः ? इत्याह-विपर्यासभावान्निःशीलेऽपि सुशीलाध्यवसायादिति कुतस्तस्य फलं शुभम् ? इति। यदप्यस्माभिरुक्तम्- '' सुभो य निस्सीले '' (३२८९) इति, तदपि तदपेक्षयैव। स हि मिथ्यादृष्टिस्तं शुभपरिणामं मन्यते, तत्त्ववेदिनस्तु तस्य शुभत्वं नेच्छन्त्येव, विपर्यासादिति ॥ ३२९० ॥

पुनरपि परः प्राऽऽह-

नणु मुणिवेसच्छन्ने, निस्सीले वि मुणिबुद्धिए दैंतो।
पावइ मुणिदाणफलं, तह किं न कुलिंगदाया वि ॥ ३२९१ ॥

ननु मनेर्वेषो मुनिवेषस्तेन छन्नोऽविज्ञातो य उदायिनृपमारकाऽऽदिस्तस्मिन्निःशीलेऽपि मुनिबुद्ध्या दानं ददद्दाता मुनिदानफलं स्वर्गाऽऽदिकं प्राप्नोति, इत्येतद्भवतामपि तावत्संमतम्, तथा तेनैव प्रकारेण कुत्सितलिङ्गी कुलिङ्गी सरजस्काऽऽदिस्तस्मै दाता कुलिङ्गदाता, सोऽपि किं न मुनिफलं प्राप्नोति, मुनिबुद्धेस्तस्यापि तत्र सद्भावात् ? इति ॥ ३२९१ ॥

गुरुराह-

जं थाणं मुणिलिंगं, गुणाण सुन्नं पि तेण पडिम व्व।
पुज्जं थाणमईए, वि कुलिंगं सव्वहा जुत्तं ॥ ३२९२ ॥

यस्मान्मुनिलिङ्गं ज्ञानाऽऽदिगुणानां स्थानमाश्रयः, तेन तस्मात्कस्याऽपि मायाविनः संबन्धि तच्छून्यमपि गुणैरविज्ञातं पाषाणाऽऽदिनिर्मिताऽर्हत्प्रतिमावत्स्थानमत्याऽपि पूज्यम्। कुलिङ्गं तु सर्वथा पूजयितुं न युक्तं, ज्ञानाऽऽदिगुणानां सर्वथैवाऽनाश्रयत्वादिति॥ ३२९२ ॥

पुनरपि परः प्राऽऽह-

नणु केवलं कुलिंगे, वि होइ तं भावलिंगओ न तओ।
मुणिलिंगमंगभावं, जाइ जओ तेण तं पुज्जं ॥ ३२९३ ॥

ननु केवलं केवलज्ञानं कुलिङ्गेऽपि वर्त्तमानानामन्यतीर्थिकानां भवतीत्यागमे श्रूयते, तत्किमिति स्थानबुद्ध्या तत्पूज्यं नेष्यते ? गुरुराह-तत्केवलज्ञानं भावलिङ्गतो भवति, न पुनस्ततः कुलिङ्गात्, तस्य केवलज्ञानानङ्गत्वात्। मुनिलिङ्गं पुनर्यस्मादङ्गभावं केव-लज्ञानस्य कारणतां याति, तेन तस्मात्तत्पूज्यमिति ॥३२९३॥

(२०) तदेवं कोपप्रसादविरहाऽऽदीन् पञ्चापि परोपन्यस्तहेतून्निराकृत्योपसंहरन्नाह-

तेण सुहाऽऽलंबणओ, परिणामविसुद्धिमिच्छया निच्चं।
कज्जा जिणाऽऽइपूया, भव्वाणं बोहणत्थं च ॥ ३२९४ ॥

येनैवं, तेन तस्मात्परिणामविशुद्धिमिच्छता कार्या विधेया जिनाऽऽदीनां नित्यमेव पूजा। कुतः ? इत्याह-शुभाऽऽलम्बनतः शुभाऽऽलम्बनरूपत्वात्। न केवलं स्वपरिणामविशुद्धिनिमित्तं, भव्यजनावबोधनार्थं च विधेया जिनाऽऽदिपूजा। तद्दर्शने ह्यनेके भव्याः प्रतिबुध्यन्ते, जिनधर्ममासादयन्ति, समासादिते च स्थिरीभव-न्ति। अत एव तत्करणकारणानुमोदनाऽऽदिप्रवृत्तसंवेगातिशयात्क्षपितकर्मणोऽन्तकृत्केवलिनो भूत्वाऽनन्तेन कालेनाऽनन्ताः सिद्धान्ते सिद्धाः श्रूयन्ते॥ इति सप्ततिगाथार्थः॥ ३२९४॥ तदेवमवसितः पञ्चनमस्कारः। विशे०। ल०। ध०। ('' णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं '' इति शकस्तवः ' चेइयवंदण ' शब्दे तृतीयभागे १३१७ पृष्ठे, '' णमो जिणाणं जियभयाणं '' इति च तस्मिन्नेव शब्दे १३१८ पृष्ठे '' सिद्धाणं बुद्धाणं '' इत्यपि तस्मिन्नेव शब्दे १३१९ पृष्ठे सूत्रपाठकमेणोक्तः। व्याख्या चैषां प्रतिपदं तत्तत्स्थानेषु। '' इक्को वि णमुक्कारो, जिणवरवसभस्स बद्धमाणस्स। संसार-सागराओ, तारेइ नरं व नारिं व॥ १॥ '' इत्यपि '' चेइयवंदण '' शब्दे तृतीयभागे १३२० पृष्ठे उपपादितम्। '' जो देवाण वि देवो '' इत्यपि तत्रैव पृष्ठे निरूपितम्) '' सर्वान् देवान्नमस्यन्ति, नैक देवं समाश्रिताः। जितेन्द्रिया जितक्रोधाः, दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥ १॥ '' द्वा० १२ द्वा०।

विषयसूची-

(१) नमस्कारस्य व्याख्यानार्थमुत्पत्ति-निक्षेप-पद-पदार्थ-प्ररूपणा-वस्त्वाक्षेप-प्रसिद्धि-क्रम-प्रयोजन-फलरूपाणां द्वाराणां संग्रहः।

(२) नमस्कारोत्पत्तिद्वारविस्तरे ज्ञानशब्दयोर्नित्यत्वानित्यत्व-विचारः।

(३) निक्षेपद्वारे नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदेन निक्षेपस्य चातुर्वि-ध्यम्।

(४) पदद्वारे नामिक-नैपातिकौपसर्गिकाऽऽख्यातिकमिश्रभेदेन पदस्य पञ्चविधत्वम्।

(५) द्रव्यसंकोचो न भावसंकोचः, भावसंकोचो न द्रव्यसंको-चः, द्रव्यसंकोचो भावसंकोचश्च, न द्रव्यसंकोचो न भावसंकोच इति भङ्गचतुष्टयप्रतिपादनपुरस्सरं पदार्थद्वारम्।

(६) प्ररूपणाद्वारे '' किं कस्य केन क्व कियच्चिरं कतिविधो वा नमस्कारेः,'' '' इन्द्रियकाययोगवेदकषायलेश्याऽऽहाराऽऽ-दिचरमान्तः,'' इत्यादिषट्प्रकारनवप्रकाराभ्यां प्ररूपणाया द्वैविध्यम्।

(७) नमस्कारपाठस्य युक्तायुक्तत्वे विचार्यमाणे पञ्चपदस्य सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तरभूतत्वं, नवपदस्य पृथक् श्रुतस्क न्धाभ्यन्तरभूतत्वं, नवपदस्य पृथक् श्रुतस्कन्धत्वमित्यत्र श्रीमहानिशीथसूत्रसंवादः।

(८) नमस्कारसूत्रसंपत्स्वष्टषष्टिवर्णनवपदविवेचनम्।

(९) वस्तुद्वारे गुणगुणिनोर्भेदाभेदपक्षनिरूपणपुरस्सरमर्हत्सिद्धाऽऽ-चार्योपाध्यायसाधूनां नमस्कारार्हत्वे मार्गदेशकत्वाऽऽदिगुण-निरूपणानन्तरं संसाराटवीमार्गदेशकत्वभवसमुद्रनिर्याम-कत्वषड्विधजीवनिकायगोपनत्वं प्ररूप्यार्हदादीनां नमस्कार-फलप्रदर्शनम्।

(१०) आक्षेपद्वारे सिद्धसाधुभ्यामेव द्वाभ्यां नमस्कारः कथं न ? परिनिर्वृतार्हदादीनां सिद्धशब्देन, आचार्याऽऽदीनां संसारिणां साधुशब्देन ग्रहणात्। तथा-ऋषभाजित संभवाऽऽदिभ्यो नामग्राहं तीर्थकरेभ्यः, सिद्धेभ्योऽपि एकद्वित्रिचतुष्पञ्चाऽऽदि-समयेभ्यो यावदनन्तसिद्धेभ्यस्तीर्थलिङ्गप्रत्येकबुद्धाऽऽ-दिविशेषणविशिष्टेभ्य इत्यनन्तभेदस्य नमस्कारस्य पञ्चविधत्वं न युज्यते इति पञ्चविधनमस्काराऽऽक्षेपः।

(११) प्रसिद्धिद्वारे तदाक्षेपस्य प्रतिविधानम्।

(१२) क्रमद्वारेऽर्हदादीनां नमस्कारे पौर्वापर्यक्रमव्युत्क्रमाऽऽक्षेपप्रति-विधानविस्तरः।

(१३) प्रयोजनफलद्वारयोरैहलौकिकपारलौकिकफलप्रदर्शनम्।

(१४) द्विविधेऽपि फले दृष्टान्तपञ्चकप्रदर्शनम्।

(१५) अर्हतां पूजाफलदत्वं किमरित, न वेति विचारविस्तरः।

(१६) जिनाऽऽदिपूजाऽर्थं सोपपत्तिकप्रमाणोपन्यासः।

(१७) ''हिनस्मि हरिणाऽऽदीन, मृषा भाषेऽहं, तद्भाषणाच्च वञ्चयामि देवदत्ताऽऽदीन्, धनमपहरामि तेषामेव, परदारान् निषेवेऽहम्'' इत्यादिचिन्तया न हि तेषां चिन्तितानां तत्कालं कोपाऽऽदि-संभूतिः, तथापि हिंसाऽऽदिचिन्तकस्याधर्मः, दयाऽऽदिसंक-ल्पतस्तु तद्वतो धर्मः, तथेहापि तीर्थकरसिद्धाऽऽदीन् शपमान-स्याधर्मः, संस्तुवतस्तु धर्म इत्यर्हदादिभ्यः फलप्राप्तिसमर्थनम्।

(१८) सरागद्वेषत्वात् कृतार्थाभावाच्चाऽऽचार्योपाध्यायसाधवो वन्दनीया न वेत्याक्षेपपरिहारौ।

(१९) साध्वादीनां दानमुपकारं यथा करोति नैवं जिनाऽऽदीनां नमस्कारपूजा, तत्कथमसौ धर्मनिमित्तेतिशङ्कानिरासाय युक्तिप्ररूपणम्।

(२०) परिणामविशुद्धिमिच्छता जिनाऽऽदीनां नित्यमेव पूजा विधेये-त्युपसंहारः।

णमोक्कारणिज्जुत्ति स्त्री०(नमस्कारनिर्युक्ति) नमस्कारप्रतिपादकाऽऽव-श्यकनिर्युक्तिगाथाकदम्बे, आ० क०।

णमोक्कारसहियपच्चक्खाण न०(नमस्कारसहितप्रत्याख्यान) अद्धाप्र-त्याख्यानभेदे, (ध०)

साम्प्रतं सूत्रार्थौ-

उग्गए सूरे नमुक्कारसहियं पच्चक्खाइ, चउव्विहं पि आहारं-असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ।

उद्गते सूर्ये, सूर्योद्गमादारभ्येत्यर्थः। नमस्कारेण परमेष्ठिस्तवेन सहितं युक्तं नमस्कारसहितं, प्रत्याख्याति '' सर्वे ध तवः करोत्यर्थेन व्याप्ताः ''इति न्यायाद् नमस्कारसहितं प्रत्याख्यानं करोति, विधेयतयाऽभ्यु-पगच्छतीत्यर्थः। इदं गुरोरनुवादभङ्ग्या वचनम्। शिष्यस्तु ' प्रत्याख्यामि ' इत्याह। एवं युत्सृजतीत्यत्रापि वाच्यम्। कथं प्रत्याख्याति ? इत्याह-चतुर्विधमप्याहारमिति न पुनरेकविधाऽऽदिकम् , आहारमभ्यवहार्य, व्युत्सृजतीत्युत्तरेण योगः। इदं चतुर्विधाऽऽहारस्यैव भवतीत्युक्तमेव, रात्रिभोजनतीरणप्रायत्वादस्य, तथा मुहूर्तमानं नमस्कारोच्चारणावसानं च। ननु कालस्यानुक्तत्वात्सङ्केतप्रत्याख्यानमेवेदम्। मैवम्। सहित-शब्देन मुहूर्तस्य विशेषणात्। अथ मुहूर्तशब्दो न श्रूयते तत्कथं तस्य विशे-ष्यत्वम् ? उच्यते-अद्धाप्रत्याख्यानमध्येऽस्य पाठबलात्, पौरु-षीप्रत्याख्यानस्य च वक्ष्यमाणत्वादवश्यं तदर्वाग्मुहूर्त एवावशिष्य-ते। अथ मुहूर्त्तद्वयाऽऽदिकमपि कुतो न लभ्यते ? उच्यते-अल्पा-ऽऽकारत्वादस्य, पौरुष्यां हि षडाकाराः, तदस्मिन् प्रत्याख्याने आकारद्वयवति स्वल्प एव कालोऽवशिष्यते, स च नमस्कारेण सहितः, पूर्णेऽपि काले नमस्कारपाठमन्तरेण प्रत्याख्यानस्याऽऽपूर्यमाणत्वात्, सत्यपि नमस्कारपाठे मूहूर्ताभ्यन्तरे प्रत्याख्यानभङ्गात्। तत्सिद्धमेतत्-मुहूर्तमानकालं नमस्कारसहितप्रत्याख्यानमिति। अथ चतुर्विधाऽऽ-हारमेव व्यक्त्या प्रदर्शयति-अशनम् ? पानम् २, खादिम् ३, स्वादिमं चेति ४। तत्राश्यते इति अशनम् , ' अश भोजने ' इत्यस्य ल्युमन्तस्य भवति। तथा-पीयत इति पानम् , ' पा ' धातोः। तथा-खाद्यत इति खादिमम् , ' खादृ भक्षणे ' इत्यस्य वक्तव्यादिमत्प्रत्ययान्तस्य। एवं स्वाद्यत इति स्वादिम् ' स्वद आस्वादने ' इत्यस्य च रूपम्। अथवा-खाद्यं स्वाद्यं चेति। अशनाऽऽद्याहारविभागश्चैवं श्राद्धविधिवृत्तौ-'' अशनं-शाल्यादि सक्त्वादि पेयाऽऽदि मोदकाऽऽदि क्षीराऽऽदि सूरणाऽऽदि मण्डाऽऽदि च।

यदाह-

'' असणं ओअणसत्तुग-मुग्गजगाराऽऽइ खज्जगविही अ।
खीराऽऽइ सूरणाऽऽई, मंडगपभिई अ विण्णेयं ॥ १ ॥ ''

पानं-सौवीरयवाऽऽदिधावनं सुराऽऽदि सर्वश्चाप्कायः कर्कटजलाऽऽदिकं च।

यदाह-

'' पाणं सोवीरजवो-दगाऽऽइ चित्तं सुराऽऽइअं चेव।
आउक्काओ सव्वो, कक्कडगजलाऽऽइअं च तहा ॥ २ ॥ ''

खाद्यं-भृष्टधान्यगुडपर्पटिकाखर्जूरनालिकेरद्राक्षाकर्कट्याम्रपनसाऽऽदि।

यदाह-

'' भत्तोसं दंताऽऽई, खज्जूरगनालिकेरदक्खाऽऽई।
कक्कडिअंबगफणसाऽऽइ बहुविहं खाइमं नेअं ॥ ३ ॥ ''

खाद्यं-दन्तकाष्ठताम्बूलतुलसिकापिण्डार्जकमधुपिप्पल्यादि।

यदाह-

'' दंतवणं तंबोलं, चित्तं तुलसी कुहेडगाऽऽईअं।
महुपिप्पलिसुंठाऽऽई, अणेगहा साइमं होइ ॥ ४ ॥ ''

(अणेगहेति)सुण्ठी-हरीतकी-पिप्पली-मरीच-जीरक-अजम-कजातिफल-जावन्त्री-कसेल्लक-कत्थक-खदिरवटिका-ज्येष्ठीमधुतमालपत्र-एला-लवङ्ग-काठीविडङ्ग-विडलवण-अञ्जक-अजमोद-कूलिञ्जण-पिप्पलीमूल-चिणीकबाबा-कव्वू-रक-मुस्ता-कण्टाचेलिओ-कर्पूर-सौवर्चल-हरडा-बिभीतक-कुम्भट्ठो-बब्बूल-धव-खदिर-खीचडाऽऽदिकच्छलीपत्र-हिङ्गुला-ष्टक-हिङ्गुत्रेवीसु-पञ्चकूल-जवासकमूल-वावची-तुलसी-कर्पूरी-कन्दाऽऽदिकम्। जीरकं स्वभाष्यप्रवचनसारोद्धाराभिप्रायेण स्वा-द्यम् , कल्पवृत्त्यभिप्रायेण तु खाद्यम् , अजमकं खाद्यमिति केचि-त्। सर्वं स्वाद्यम् एलाकर्पूराऽऽदिजलं च द्विविधाऽऽहारप्रत्याख्याने कल्पते। वेसण-विरहाली-सोआकोठवडी-आमला-गण्ठी-आंबागोली-कउचिली-चूइपत्रप्रमुखं खाद्यत्वाद् द्विधाऽऽहारे न कल्पते। त्रिविधाऽऽहारे तु जलमेव कल्पते। शास्त्रेषु मधुगुडशर्करा-खण्डाऽऽद्यपि खाद्यतया द्राक्षाशर्कराऽऽदिजलं तक्राऽऽदि च पान-कतयोक्तमपि द्विविधाऽऽहाराऽऽदौ न कल्पते। उक्तं च-'' दक्खा-पाणाऽऽईअं, पाणं तह साइमं गुडाऽऽईअं। पढिअं सुअम्मि तह वि हु, तित्तीजणगं ति नाऽऽयरिअं ''॥ १ ॥ अनाहारतया व्यवह्रियमाणान्यपि प्रसङ्गतो दर्श्यन्ते। यथा-पञ्चाङ्गनिम्ब-गुडूची-कडूकि-रिआतुं-अतिविस-चीडि-सूकडि-रक्षा-हरिद्रा-रोहिणी-उप-लोट-वज्र-त्रिफला-बाउलछल्लीत्यन्ये धमासो-नाहिआ-सन्धिरीङ्गणी-एलीओ-हरडीदल-वउणि-बदरी-कंथेरिकरीर-मूल-पुंआड-मजीउ-वोलबीउ-कुंआरि-चित्रक-कुन्दरुप्रभृत्य-निष्ठाऽऽस्वादानि रोगाऽऽद्यापदि चतुर्विधाहारेऽत्येतानि कल्प्यानीति कृतं प्रसङ्गेन। अत्र नियमभङ्गभयादाकारावाह-(अन्नत्थऽ-णाभोगेणं सहसागारेणं) अत्र पञ्चम्यर्थे तृतीया, अन्यत्रेति परिवर्जनार्थः, यथा-' अन्यत्र द्रोण-भीष्माभ्यां, सर्वे योद्धाः पराङ्मुखाः।' इति। ततोऽन्यत्रानाभोगात् सहसाकाराच्च, एतौ वर्जयित्वेत्यर्थः। तत्रानाभागोऽत्यन्तविस्मृतिः, सहसाकारोऽतिप्रवृत्तयोगानिवर्त्तनमिति। ध० २ अधि०। पं० व०। आव०। प्रव०। ल०।

पण्डितआनन्दसागरगणिकृतप्रश्नो यथा-

नमस्कारसहितप्रत्याख्यानं रात्रिप्रत्याख्यानमध्ये, पृथग् वा ? तेन प्रत्याख्यानेन श्राद्धः पौरुषीं यावत्स्थितस्तस्य पौरुष्या लाभो द्विघटिकसत्को वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-नमस्कारसहितप्रत्याख्यानं दिनमध्ये आयाति, न तु रात्रिमध्ये, तथा-तत्प्रत्याख्यानं विधाय पौरुषीं यावदनुपयोगेन स्थीयते तदा न लाभाय, उपयोगपूर्वं तु लाभायेति। २ प्र० ही० ३ उल्ला०।

णमोरिह पुं०(नमोऽर्ह) जिने, आ० म०।

पालेंति जहा गावो, गोवा अहिसावयाऽऽइदुग्गेहिं।
पउरतणपाणियाणि य, वणाणि पावेंति तह चेव ॥
जीवनिकाया गावो, जं ते पालेंति ते महागोवा।
मरणाऽऽइभयाहि जिणा, निव्वाणवणं च पावेंति ॥
ते उवगारित्तणतो, नमोऽरिहा भवियजीवलोगस्स।
सव्वस्सेह जिणिंदा, लोगुत्तमभावतो तह य ॥

यथा गोपाः गाः पालयन्ति रक्षन्ति अहि स्वापदाऽऽदिदुर्गेभ्यः, वनानि च, प्रचुरतृणपानीयानि प्रापयन्ति, तथैव च जीवनिकाया एव गावः जीवनिकायगावः, तान् ते भगवन्तोऽर्हन्तो जिना महागोपाः, पालयन्ति रक्षन्ति मरणाऽऽदिभयेभ्यो, निर्वाणवनं च प्रापयन्ति। एवं ते जिनेन्द्रा इह अस्मिन् जीवलोके उपकारित्वतो हेतोः सर्वस्य भव्यजीवलोकस्य नमोऽर्हाः।

एवं तदुक्तेन प्रकारेण नमोऽर्हत्वहेतवो गुणाः प्रतिपादितः। साम्प्रतं प्रकारान्तरेण नमोऽर्हत्वहेतुगुणाऽभिधित्सयाऽऽह-

रागद्दोसकसाए, इंदियाणि य पंच वि।
परीसहे उवसग्गे, नामयंता नमोरिहा ॥

रागद्वेषकषायानिन्द्रियाणि च पञ्चापि परीषहानुपसर्गान् नमयन्तो नमोऽर्हाः। इति गाथासमासार्थः। आ० म० १ अ० २ खण्ड।

णम्मया स्त्री०(नम्रता) औचित्येन नमनशीलतायाम् , द्वा० १२ द्वा०।

***नर्मदा** स्त्री०। रेवापर्याये अमरकण्टकादुद्गत्य पश्चिमसमुद्रं प्रविष्टे नदीभेदे,'' दिवा काकरवाद् भीता, रात्रौ तरति नर्मदाम्। '' आव० २ अ०।

णय त्रि०(नत) प्रह्वीभूते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। ज्ञा०। आचा०।

***नय** पुं०। नयत्यनेकांशाऽऽत्मकं वस्त्वेकांशावलम्बनेन प्रतीतिपथमारोपयतीति, नीयते वा अनेन तस्मिन् ततो वा नयनं नयः। उत्त० १ अ०। पं० चू०। नीयते परिच्छिद्यतेऽनेनास्मादिति वा नयः। अनन्तधर्माऽऽत्मकस्य वस्तुन एकांशपरिच्छित्तौ, अनु०। स्था०। आ० म०। अनन्तधर्माऽऽत्मकस्य वस्तुनो नियतैकधर्माऽऽत्मकावलम्बनेन प्रतीतौ प्रापणे, उत्त० १ अ०। '' नयंतीति नया वत्थुतत्तं अवबोहमोयरं पावयंति त्ति ''। अन्ये भणन्ति-नय-न्तीति नयाः कारकाः, व्यञ्जकाः, प्रकाशका इत्यर्थः। आ० चू० १ उ०। नि० चू०। विशे०।

विषयसूची-

(१) नयनिरुक्तिः।
(२) नयलक्षणनिरूपणपुरस्सरं नयतत्त्वप्ररूपणम्।
(३) नयस्वरूपोपपत्तिः।
(४) वस्तूनामनन्तधर्माऽऽत्मकत्वनिरूपणम्।
(५) नय इति यदुच्यते, यावद्भागश्चायं, तन्निरूपणम्।
(६) नयार्था आपेक्षिकाः।
(७) अपेक्षाऽऽत्मकं वाक्यं नयः।

(८) सामान्यविशेषविचारः।
(९) सप्तभङ्ग्यां नयविभागोपदर्शनम्।
(१०) एकत्रानेकाऽऽकारा प्रमाणधीः।
(११) नयानां प्रमाणाप्रमाणत्वनिर्णयः।
(१२) संमत्यादौ यदभिनिविष्टतरनवखण्डनं तत्साधनंनिमित्तं बौद्धाऽऽदिनयपरिग्रहा अपि शुद्धपर्यायाऽऽदिवस्तुप्राप्त्या फलतो न मिथ्यारूपा इत्यादिनिरूपणम्।
(१३) नयविभागे द्रव्यपर्यायार्थिकतया नयस्य संक्षेपतो द्वैविध्यम्।
(१४) संग्रहविशेषौ द्रव्यपर्यायौ सामान्यविशेषशब्दवाच्यावित्यत्र विचारः।
(१५) द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्नैगमाऽऽदिनयानामन्तर्भावः।
(१६) सप्तसु नैगमाऽऽदिषु मूलनयेषु विचारे नैगमाऽऽदीनां मतसंग्रहः।
(१७) सिद्धसेनदिवाकरमते षड् नयाः, नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावात्।
(१८) प्रस्थकवसतिप्रदेशदृष्टान्तेन नयप्रमाणपरामर्शः।
(१९) तत्र प्रस्थकदृष्टान्तः।
(२०) वसतिदृष्टान्तः।
(२१) प्रदेशदृष्टान्तः।
(२२) सर्वे नयाः स्वस्वस्थाने शुद्धाः।
(२३) ७०० सप्त शतानि नयाः।
(२४) असंख्याता नया इति मतान्तरनिरूपणम्।
(२५) निक्षेपनययोजना।
(२६) द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्मिथो विचारः।
(२७) तौ सव्यपेक्षौ प्रमाणम्।
(२८) यद् दर्शनं यस्मान्नयाद् जातं सामान्यतस्तन्निरूपणम्।
(२९) निश्चयव्यवहारयोः सर्वनयान्तर्भावः।
(३०) दिगम्बरमते नयाः।
(३१) व्यवहारनयात् साङ्ख्यं प्रवृत्तम्।
(३२) वेदान्तिसाङ्ख्यदर्शनयोः शुद्धाशुद्धत्वम्।
(३३) नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावः।
(३४) ये शब्दनया ये चार्थनयास्तेषां निरूपणम्।
(३५) नयोत्पादितेष्वपरिमितेषु दर्शनेषु यस्य मिथ्यात्वं, यस्य च सम्यक्त्वं तन्निरूपणम्।
(३६) नयफलविमर्शः।
(३७) ज्ञानक्रियानयद्वारे संग्रहाऽऽदीनां समवतारो भवतीति तत्स्वरूपनिरूपणम्।
(३८) नयानां पार्थक्ये यैः समवतारः, यत्र वाऽनवतारस्तन्निरूपणम्।
(३९) आलोचनाऽऽद्यष्टनयानां निरूपणम्।

(१) अथ नयनिरुक्तिमाह-

स नयइ तेण तहिं वा, तओऽहवा वत्थुणो व जं नयणं।
बहुहा पज्जायाणं, संभवओ सो नओ नाम ॥ ९१४ ॥

स एव वक्ता संभवद्भिः पर्यायैर्वस्तु नयति गमयतीति नयः। अथवा-नीयते परिच्छिद्यते अनेन, अस्मिन्, अस्माद् चेति नयः; अनन्तधर्माध्यासिते वस्तुन्येकांशग्राहको बोध इत्यर्थः। यदि वा-बहुधा वस्तुनः पर्यायाणां संभवाद्विवक्षितपर्यायेण यन्नयनमधिगमनं परिच्छेदनमसौ नयो नाम ॥ ९१४ ॥ विशे०। इह हि जिनप्रवचने सर्वं वस्त्वनन्तधर्माऽऽत्मकतया संकीर्णस्वभावमिति तत्परिच्छेदकेन प्रमाणेनाऽपि तथैव भवितव्यमित्यसंकीर्णप्रतिनियतधर्मप्रका-रकव्यवहारसिद्धये नयानामेव सामर्थ्यम्। नयो०।

(२) नयतत्त्वं प्ररूपयन्ति-

नीयते येन श्रुताऽऽख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥ १ ॥

अत्रैकवचनमतन्त्रम्, तेनांशावंशा वा, येन परामर्शविशेषेण श्रुतप्रमाणप्रतिपन्नवस्तुनो विषयीक्रियन्ते तदितरांशौदासीन्यापेक्षया स नयोऽभिधीयते। तदितरांशप्रतिक्षेपे तु तदाभासता भणिष्यते ('णयाभास' शब्दे)।

प्रत्यपादयाम च स्तुतिद्वात्रिंशति-

'' अहो ! चित्रं चित्रं तव चरितमेतन्मुनिपते !,
स्वकीयानामेषां विविधविषयव्याप्तिवसिनाम्।
विपक्षापेक्षाणां कथयसि नयनां सुनयतां,
विपक्षक्षेभृणां पुनरिह विभो ! दुष्टनयताम् ॥ १ ॥ ''

पञ्चाशति च-

'' निःशेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूयं समासेदुषां,
वस्तूनां नियतांशकल्पनपराः सप्त श्रुताऽऽसङ्गिनः।
औदासीन्यपरायणास्तदपरे चांशे भवेयुर्नया-
श्चेदेकान्तकलङ्कपङ्ककलुषास्ते स्युस्तदा दुर्नयाः ॥ १ ॥ ''
रत्ना० ७ परि०।

(३) नयलक्षणे नयस्वरूपोपपत्तिमाह-

सत्त्वाऽसत्त्वाऽऽद्युपेतार्थे-ष्वपेक्षावचनं नयः।
न विवेचयितुं शक्यं, विनाऽपेक्षां हि मिश्रितम् ॥ २ ॥

(सत्त्वाऽसत्त्वेति) सत्त्वाऽसत्त्वाऽऽदयो ये धर्माः, आदिना नित्याऽनित्यत्वभेदाऽभेदाऽऽदिरिति परिग्रहः। तैरुपेतास्तदात्मका येऽर्थाः जीवपुद्गलाऽऽदयः, तेष्वपेक्षावचनं प्रतिनियतधर्मप्रकारकापेक्षाऽऽख्यशाब्दबोधजनकं वचनम्, नयवाक्यमित्यर्थः। इदं वचनरूपस्य नवस्य लक्षणं, ज्ञानरूपस्य तु नयस्य-अपेक्षाऽऽत्मक-शाब्दबोधत्वमेवेति द्रष्टव्यम्। अपेक्षात्वं च क्षयोपशमजन्यताऽवच्छेदको जातिविशेषो, विषयताविशेषो वेत्यन्यदेतत्॥

ननु घटोऽस्तीत्यादिवाक्यश्रवणाद् घटविषयकं शाब्दज्ञानं मम जातमित्येव लोकाः प्रतियन्ति; न तु तत्रापेक्षात्वमपीत्यपेक्षाऽऽत्मकनयज्ञानसत्त्वे किं प्रमाणम् ?; अत आह-हि निश्चितं, मिश्रितं विरुद्धत्वेन प्रतीयमानैर्नानाधर्मैः करम्बितं वस्तु, अपेक्षां विना विवेचयितुं विवक्षितैकधर्मप्रकारकनिक्षेपविषयीकर्तुं, न शक्यम्; तद्विरुद्धधर्मवत्ताज्ञानस्यानपेक्षाऽऽत्मकस्या(स्या)नुपपत्तेर्बाधप्रतिबद्धयताऽवच्छेदककोटौ लाघवेनाऽनपेक्षाऽऽत्मकत्वस्यैव निवेशात्, अव्याप्यवृत्तित्वज्ञानकालीनाऽऽहार्यदोषविशेषजन्याऽऽदीनामपेक्षाऽऽत्मकत्वेनैव तद्धारकविशेषणानुपादानात्। तथा च तद्धर्मप्रतिपक्षधर्मवत्तया ज्ञातेऽपि तद्धर्मवत्तया ज्ञायमानस्य(ऽऽहार्यदोषविशेषजन्या)ऽऽदीनामपेक्षाऽऽत्मकतयाऽनुपपत्तिरेवाऽपेक्षात्वे मानम्, तस्या एव सर्वतो बलवत्प्रमाणत्वात्। तदाह श्रीहर्षः- '' अन्यथाऽनुपपत्तिश्चेदस्तु वस्तुप्रसाधिकादस्त्वपेक्षाप्रसाधिकेति पाठः स्यात्। पिनष्ट्यदृष्टवैमत्यं, यतः सर्वबलाधिका '' ॥१॥ इति। न चाऽपेक्षां विना लौकिकोऽपि व्यवहारः संगच्छते, अग्राऽऽद्यवच्छेदेन कपिसंयोगाभाववति

वृक्षेशाखाऽऽपेक्षयैव कपिसंयोगवत्त्वव्यवहारात् । न चाऽवच्छेदकावगाह्येवायं(व्यवहारो)न त्वपेक्षाऽऽत्मक इति वाच्यत् , शाखाऽवच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगवान् , न तु संपूर्ण इति प्रत्ययस्य स्कन्धदेशापेक्षां विनाऽनुपपत्तेः । कथं चैवं सामान्यविशेषापेक्षां विना '' घटपटयोः रूपं, घटपटयोर्न रूपम् '' इत्यादयो विचित्रनयापेक्षाप्रत्ययाः समर्थनीयाः । संग्रहनयाऽऽश्रयणेनैव हि घटपटोभयरूपसामान्योद्भूत (त) त्वविवक्षया घटपटयो रूपमिति प्रत्ययस्योपपत्तेः, द्वयोर्भेदविवक्षायां प्रत्येकाऽन्वयस्य धर्मद्वयावच्छिन्नवाचकपदोपादानस्थल एव व्युत्पन्नत्वात् । व्यवहाराऽऽश्रयणात्तु प्रकृतप्रयोगोऽनुपपन्न एव, मिलितवृत्तित्वान्वय एव तस्य साकाङ्क्षत्वाद् घटपटयोर्न रूपमिति बोधस्यैव तस्मादुत्पत्तेः । यत्तु घटपटयोर्न रूपमिति वाक्यं तात्पर्यभेदेन योग्यायोग्यं-घटपटयोः रूपत्वाव-च्छिन्नाभावान्वयातात्पर्येऽयोग्यमेव, रूपत्वावच्छेदेन घटपटोभयवृत्तित्वाभावान्वयतात्पर्ये च योग्यमेव; घटपटयो रूपमित्यादौ च घटपटोभयवृत्तित्वस्यापि रूपत्वाऽऽदिसामानाधिकरण्येन अन्वयबोध एव साकाङ्क्षत्वाद् न तयोर्घटरूपमित्यपि स्यादिति कैश्चित्कल्प्यते । तदसत् । प्रतिवस्तुन्याकाङ्क्षावैचित्र्यस्यापेक्षाबोधाऽऽत्मकफलवैचित्र्यार्थमेवाऽऽश्रयणात् , उभयरूपसामान्यस्य प्रत्येकरूपविशेषात्कथञ्चिद्भेदानभ्युपगमे त्वदुक्तान्यव्युत्पत्तिग्रहाद् घटपटयोर्घटरूपमिति जायमानस्य बोधस्य प्रामाण्याऽऽपत्तेश्च; अस्माकं तु स्यादर्थानुप्रवेशस्यैवातिप्रसङ्गभञ्जकत्वान्न दोषः । किञ्चैवम्-द्वयोर्गुरुत्वं न गन्ध इत्यादौ का गतिः ? गुरुत्वसामानाधिकरण्येनैव गन्धत्वसामानाधिकरण्येनाऽपि पृथिवीजलोभयत्वा (ऽऽश्रयवृत्तित्वा)त् विधिनिषेधविषयार्थानिरुक्तेः । अत्र सप्तम्याः स्वार्थान्वयिताऽवच्छेदकस्वरूपत्वादुभयाख्याऽतिरिक्तैवाऽऽधेयताऽर्थः ? तत्र च प्रकृत्यर्थस्य तन्निष्ठनिरूपितत्वविशेषणान्वयात्पृथिवीजलोभयविशिष्टाऽऽधेयतात्वेन गुरुत्वं विधेयतया, गन्धश्च निषेध्यतया प्रतीयते, इत्युक्तौ च नामान्तरेण गुरुत्वसामान्यस्यैव विधेयत्वं, गन्धसामान्यस्यैव च निषेध्यत्वमायुष्मतामतिरिक्ताऽऽधारताया अनिरूपणात् । अन्यथा घटपटयोर्न घटरूपमित्यादौ जातिघटयोर्न सन्नित्यादाविव घटपटोभयनिरूपितत्वाभाववदाधेयतावद् घटरूपमित्यन्वयोपपादनेऽपि घटपटरूपे इत्यस्योपपादयितुमशक्यत्वाद् घटरूपत्वाऽऽदिस्वरूपाया आधेयताया उभयानिरूपितत्वात् । तत्र द्वित्वाऽऽदिस्वरूपैवाऽऽधेयतेति चेद् , द्वयोः प्रत्येकरूपावच्छेदेन द्वित्वाभावान्निषेधस्याऽपि प्रवृत्तिः स्यात् । अनुयोगिताऽवच्छेदकावच्छेदेनैव सप्तम्यर्थाऽऽधेयत्वान्वयव्युत्पत्तेर्नाऽयं दोष इति चेत् , तथाऽपि घटरूपाऽऽकाशे इत्यादिकं कथम् ? एतद्द्वित्वाऽऽदिस्वरूपाया आधेयताया उभयानिरूपितत्वात् , तत्र तात्पर्यवशाद् द्वित्वान्वयेऽप्युभयस्यानाधेयत्वाभावात्; तस्मान्नयापेक्षाभेदेनाऽत्र विचित्र एव बोधः स्वीकार्यः ॥ २ ॥

(४) नन्वनन्तधर्ममिश्रितं वस्तु कथं विवेचयितुमशक्यम् ? अनन्तानामपि धर्माणां धर्मि(र्म्य) भिन्नत्वेन धर्मिग्राहकप्रत्याक्षाऽऽदेरेव तद्विवेकरूपत्वात् , सति च तद्विवेके किमपेक्षाऽऽश्रयणेन ? इत्याशङ्क्याऽऽह-

यद्यप्यनन्तधर्माऽऽत्मा, वस्तु प्रत्यक्षगोचरः ।
तथाऽपि स्पष्टबोधः स्यात् , सापेक्षो दीर्घताऽऽदिवत् ॥ ३ ॥

यद्यपि वस्तु घटपटाऽऽदिकम् अनन्तधर्माऽऽत्मकं सत् प्रत्यक्षगोचरः प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणविषय एकस्मिन् घटाऽऽदौ गृह्यमाणे गृह्यमाणधर्मोपरागेण द्रव्यार्थातिदेशेनातीतानागतवर्तमानानां तद्वृत्तिधर्माणां यावतामेव ग्रहात् परेषां सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिस्थानेऽभिषिक्तस्य घटविषयकतिर्यक्सामान्योपयोगस्य घटताया व्यापकविषयताकप्रत्यक्षत्वं तादृशज्ञानत्वं वा यथा कार्यताऽवच्छेदकत्वं तथा तद्विषयकोर्द्धतासामान्यस्य तादात्म्यसंबन्धिनाऽऽधेयत्वसंबन्धेन वा घटव्यापकविषयताकप्रत्यक्षत्वस्य तादृशज्ञानत्वस्य वा कार्यताऽवच्छेदकताया न्यायसिद्धत्वात् । अत एव-'' जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ '' इति पारमर्षवचनानुरोधोऽपि, एक-वस्तुग्रहे तद्गतस्वपरपर्यायकुक्षिप्रवेशेन सर्वेषां ग्रहादनुवृत्तिव्यावृत्तिसंबन्धपर्यालोचने तावत्प्रमाणस्यैव वस्तुनोऽनुभवात् । तदाह महावादी सम्मतौ-'' एगदवियम्मि जे अत्थपज्जवा वयणपज्जवा वा वि । तीयाणागयभूआ, तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ ३१ ॥ '' (सम्म० १ काण्ड) इति । नन्वेवं सर्वस्य सार्वज्ञाऽऽपत्तिरिति चेत् । न । द्र-व्यार्थे इष्टत्वात् ; उक्तभगवद्वचनरुच्यनुवेधेन सम्यक्संपन्नत्वानतिप्रसङ्गाद् यद्यप्येवं, तथापि स्पष्टबोधः सत्त्वासत्त्वाऽऽदिप्रतिनियतधर्मप्रकारको बोधः, सदसदाद्याकारको वा बोधः सापेक्षः शाब्दस्थले नयापेक्षया जनितः, प्रत्यक्षस्थले चावध्यच्छेदकाऽऽदिज्ञानापेक्षः स्यात् । किंवत् ? दीर्घताऽऽदिवत्-आदीयतेऽनेनेत्यादि ज्ञानं, दीर्घताप्रत्यक्षवदित्यर्थः । यथा हि दण्डाऽऽदिज्ञानकाले तत्परिमाणग्रहेऽप्ययमस्माद्दीर्घ इति दीर्घत्वप्रकारकं ज्ञानं नियतावध्यपेक्षयैव, तथा सदसदाद्यात्मकवस्तुग्रहेऽपि सत्त्वाऽऽदिप्रकारकं ज्ञानं स्वद्रव्याऽऽद्यपेक्षयैवेत्यर्थः, अयमेव तदपेक्षया दीर्घ इतिवत् स्वद्रव्याऽऽद्यपेक्षया सन् परद्रव्याऽऽद्यपेक्षयाऽसन्नित्येव व्यवहारात् । नन्वेवं व्यवहार एव सापेक्षो, न तु बोध इति चेत् । न । व्यवहर्तव्यज्ञाने सति सत्यां चेच्छायां व्यवहारेऽपि तदपेक्षणात् । अन्यथाऽभावज्ञानेऽपि प्रतियोग्यपेक्षा न स्यात् , तद्व्यवहार एव सप्रतियोगिकत्वस्थितेः । अथ दीर्घो दण्ड इति ज्ञानं चक्षुःसन्निकर्षमात्राज्जायत एवामुकापेक्षया दीर्घ इति दीर्घत्वत्वावान्तरजात्यवगाहिज्ञान एव चावधिज्ञानापेक्षेति चेत् । न । ह्रस्वत्वेन ज्ञाने दीर्घत्वेन ज्ञानस्यैवापेक्षां विनाऽनुपपत्तेः । तद्वदिहापि परद्रव्याऽऽदिनाऽसत्त्वेन स्वद्रव्याऽऽद्यपेक्षयैव सत्त्वज्ञानमिति प्रतिपत्तव्यम् । अवच्छेदकानवगाहिनस्तु अनवधारणरूपत्वादेवानुपयोगः, द्विहस्ताऽऽदिमात्रेऽनुवृत्तैकहस्तावच्छेदेन महत्त्वग्रहस्तु देशापेक्षयैवेति तस्य निरपेक्षत्वम् । अत एवाऽऽवरणापगमे स्कन्धापेक्षया परिणामे द्विहस्तत्वग्रहेऽपि तावदवच्छेदेन हस्तत्वग्रहस्य नाप्रामाण्यं, देशस्कन्धभेदेनोभयोपपत्तेः । एतेन भूयोऽवयवावच्छेदेन चक्षुःसंयोगाभावान्नर्द्धनिखात-वंशाऽऽदेर्द्विहस्ताऽऽदेः परिमाणग्रह इति प्राच्यनैयायिकानां प्रलापो निरस्तः । यावंति भागे नाऽऽवरणं तावति भागे परिमाणवत इव परिमाणस्य ग्रहादेव स्कन्धपर्याप्तपरिमाणग्रहे तत्पर्याप्त्यवच्छेदकयावदवयवावच्छेदेनाऽऽवरणाभावलक्षणयोग्यताया एव हेतुत्वे दोषाभावात् । किञ्चभूयोऽवयवावच्छेदेनेत्यस्य कोऽर्थः ? यावदवयवसन्निकर्षस्य तत्राप्य-संभवात्, अनेकतस्तद्योगस्य चातिप्रसञ्जकत्वाद् भूयोऽवयवावच्छिन्नत्वोपलक्षिताऽऽधारताविशेषस्य च देशस्कन्धापेक्षावैचित्र्यमुखनिरीक्षकत्वादिति न किञ्चिदेतत् । यत्तु विषयतासंबन्धेन परिमाणसाक्षात्कारित्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्धेन तत्तदावरकसंयोगत्वेन प्रतिबन्धकत्वाद् ना-

र्द्धनिखातवंशाऽऽदिपरिमाणग्रहः । यद्वा-अर्द्धनिखातवंशाऽऽदेर्महत्त्वाऽऽदिकं गृह्यत एव, महानयं वंश इति प्रतीतेः । तदवान्तरवैजात्यं तु नानुभूयत इति तत्तद्वैजात्यग्रहं प्रत्यावरकसंयोगस्य विरोधिता । न च निखाताऽनिखातसदृशवंशयोः सन्निकर्षकतायां तन्महत्त्वाऽऽदिवृत्तिवैलक्षण्यानुभवाद् वैजात्यप्रत्यक्षं (प्रत्यक्षं) प्रत्यावरकसंयोगानां प्रतिबन्धकत्वासंभव इति वाच्यम्, तादृशवैलक्षण्यप्रकारकं प्रत्यक्षं प्रत्येव तेषां विरोधित्वात् । विशेष्यत्वं प्रतिबध्यताऽवच्छेदकः संबन्धः, स्वाश्रयमेव तत्त्वं प्रतिबन्धतावच्छेदकम् , इत्यनतिप्रसङ्गात् । न चैवम्, निखातसंनिकर्षात् तादृशवैलक्षण्यविशेष्यकसाक्षात्काराऽऽयत्तेर्दुर्वारत्वात् । किञ्च-एवमावृत्तैक-पार्श्वविच्छेदेन यस्य चक्षुःसंयोगान्नोक्तवैजात्यस्य ग्रहः, तस्यैवान्यदा पुरुषान्तरस्य वा तदानीं पार्श्वान्तरावच्छेदेन चक्षुःसंयोगेऽप्यग्रहः स्यात् , आवरकसंयोगस्य विरोधिनः सत्त्वात् । तत्तत्कालीनतत्तत्पुरुषीयमहत्त्वाऽऽदिप्रत्यक्षं प्रत्येवोक्तप्रतिबन्धकत्वे त्वनावरणकालीनस्य विलक्षणमहत्त्वाऽऽदिप्रत्यक्षस्याऽऽवरणदशायामुत्पत्तिप्रसङ्गः । न हि तत्रापि सन्निकर्षं विना अन्यद्विशिष्टकारणं क्लिप्तं, येन तद्विलम्बात्तद्विलम्बः स्यात् । अपि च-एवमावृत्तादृष्टनष्टस्थले प्रतिबद्ध्याप्रसिद्धिः स्वप्राचीस्थपुरुषीयोक्तवैजात्यसाक्षात्कारणत्वावच्छिन्न एव स्वप्रतीच्यवच्छिन्नाऽऽवरकसंयोगत्वेन प्रतिबन्धकत्वे तु द्रव्यचाक्षुषेऽप्येवमित्यादिसंयोगप्रतिबन्धकत्वेन निर्वाहे व्यवहितार्थादर्शनान्यथाऽनुपपत्त्या चक्षुःप्राप्यकारित्वसाधनप्रयासस्य वैफल्याऽऽपत्तिरिति न किञ्चिदेतत् । एतेन तादृशवैलक्षण्यसाक्षात्कारप्रयोजकतया चक्षुरादिसंयोगनिष्ठवैजात्यान्तरस्वीकारेणैव निर्वाह इति कल्पनाऽपि तेषामपास्ता, तद्वतोरिति न्यायेनाऽऽभिमुख्यविशेषेणाऽऽवरणाभावविशेषेण वा निर्वाहे तादृशवैजात्यकल्पनायां महागौरवात् , अन्यापेक्षयैव स्वदेशापेक्षयाऽपि न्यूनाधिकभावरूपवैजात्यानुभवस्यापेक्षां विनाऽनुपपत्तेश्चेति दिक् ॥ ३ ॥ नयो० । द्रव्या० ।

(५) तत्र नय इति किमुच्यते ? कतिभेदश्चायम् ? इत्याह-

एगेण वत्थुणोऽणे-गधम्मुणो जमवधारणेणेव ।
नयणं धम्मेण तओ, होइ नओ सत्तहा सो य ॥ २१८० ॥

अनेकधर्मणोऽनन्तधर्माऽऽत्मकस्य वस्तुनो यदेकेन नित्यत्वाऽऽदिना, अनित्यत्वाऽऽदिना वा धर्मेणावधारणेनैव सावधारणं नयनं प्ररूपणं तकोऽसौ नयो भवति । अनन्तधर्माऽऽत्मकंवस्त्वेकांशेनैव नयति प्ररूपयतीति नयः । कथं पुनरेकस्य वस्तुनो युग-पदनन्तधर्माऽऽत्मकत्वम् ? अत्रोच्यते-सर्वमेव वस्तु तावत्सपर्यायम् । ते च पर्याया द्विविधाःरूपरसाऽऽदयो युगपद्भाविनः, नवपुराणाऽऽदयस्तु क्रमभाविनः । पुनः शब्दार्थपर्यायभेदात्सर्वेऽपि द्विविधाः । तत्र '' इन्द्रो दुश्च्यवनो हरिः '' इत्यादिशब्दैर्येऽभिलप्यन्ते, ते सर्वेऽपि शब्दपर्यायाः । ये त्वभिलपितुं न शक्यन्ते श्रुतज्ञानविषयत्वातिक्रान्ताः केवलाऽऽदिज्ञानविषयास्तेऽर्थपर्या- याः । पुनरेते द्विविधाः-स्वपर्यायाः, परपर्यायाश्च । पुनस्तेऽपि केचित्स्वाभाविकाः, केचित् तु पूर्वापराऽऽदिशब्दवदापेक्षिकाः । पुनरेते सर्वेऽप्यतीतानागतवर्तमानकालभेदात्त्रिविधा इत्यादिना प्रकारेण समयानुसारतः सुधिया वस्तुनो युगपदनन्तधर्मकत्वं भावनीयम् । स च नयः सप्तविधः सप्तप्रकार इति ॥ २१८० ॥ विशे० । आ० म० ।

ननु नयस्य प्रमाणाद्भेदेन लक्षणप्रणयनमयुक्तम् , स्वार्थव्यवसायाऽऽत्मकत्वेन तस्य प्रमाणस्वरूत्वात् । तथाहि-नयः प्रमाणमेव, स्वार्थव्यवसायकत्वादिष्टप्रमाणवत् , स्वार्थव्यवसायकस्याप्यस्य प्रमाणत्वानभ्युपगमे प्रमाणस्यापि तथाविधस्य प्रमाणत्वं न स्यादिति कश्चित् । तदसत् । नयस्य स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणत्वेन स्वार्थव्यवसायकत्वासिद्धेः । ननु नयविषयतया सम्मतोऽर्थैकदेशोऽपि यदि वस्तु तदा तत्परिच्छेदी नयः प्रमाणमेव, वस्तुपरिच्छेदलक्षणत्वात्प्रमाणस्य । स न चेद्वस्तु तर्हि तद्विषयो नयो मिथ्याज्ञानमेव स्यात्, तस्यावस्तुविषयत्वलक्षणत्वादिति चेत् । तदवद्यम् । अर्थैकदेशस्य वस्तुत्वावस्तुत्वपरिहारेण वस्त्वंशतया प्रतिज्ञानात् ।

तथा चाऽऽवाचि-

'' नाऽयं वस्तु न चाऽवस्तु, वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः ।
नाऽसमुद्रः समुद्रो वा, समुद्रांशो यथैव हि ॥ १ ॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे, शेषांशस्याऽसमुद्रता ।
समुद्रबहुता वा स्यात् , तत्त्वे क्वास्तु समुद्रवित् ? ॥ २ ॥ ''

यथैव हि समुद्रांशस्य समुद्रत्वे शेषसमुद्रांशानामसमुद्रत्वप्रसङ्गात् समुद्रबहुत्वाऽऽपत्तेर्वा तेषामपि प्रत्येकं समुद्रत्वात् ; तस्याऽसमुद्र-त्वे वा शेषसमुद्रांशानामप्यसमुद्रत्वात् क्वचिदपि समुद्रव्यवहारा-योगात् समुद्रांशः समुद्रांश एवोच्यते, तथा-स्वार्थैकदेशो नयस्य न वस्तु, स्वार्थैकदेशान्तराणामवस्तुत्वप्रसङ्गाद् वस्तुबहुत्वानुषक्तेर्वा; नाप्यवस्तु, शेषांशानामप्यवस्तुत्वेन क्वचिदपि वस्तुव्यवस्थाऽनु-पपत्तेः । किं तर्हि वस्त्वंश एवासौ तादृक्प्रतीतेर्बाधकाभावात् ? ततो वस्त्वंशे प्रवर्त्तमानो नयः स्वार्थैकदेशव्यवसायलक्षणो न प्रमाणं, नापि मिथ्याज्ञानामिति ॥ १ ॥ (रत्ना०)

नयप्रकारसूचनायाऽऽहुः-

स व्याससमासाभ्यां द्विप्रकारः ॥ ३ ॥

स प्रकृतो नयः व्यासो विस्तरः, समासः संक्षेपः, ताभ्यां द्विभेदः-व्यासनयः, समासनयश्चेति ॥ ३ ॥

व्यासनयप्रकारान् प्रकाशयन्ति-

व्यासतोऽनेकविकल्पः ॥ ४ ॥

एकांशगोचरस्य हि प्रतिपत्त्रभिप्रायविशेषस्य नयस्वरूपत्वमुक्तं, ततश्चानन्तांशाऽऽत्मके वस्तुन्येकैकांशपर्यवसायिनो यावन्तः प्रतिपत्तृणामभिप्रायास्तावन्तो नयाः, ते च नियतसंख्यया संख्यातुं न शक्यन्त इति व्यासतो नयस्यानेकप्रकारत्वमुक्तम् ॥ ४ ॥

समासनयं भेदतो दर्शयन्ति-

समासतस्तु द्विभेदो-द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकश्च ॥ ५ ॥

नय इत्यनुवर्तते; द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यं, तदेवार्थः, सोऽस्ति यस्य विषयत्वेन स द्रव्यार्थिकः । पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्यायः स एवार्थः, सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिकः । एतावेव च द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकाविति, द्रव्यस्थितपर्यायस्थिताविति, द्रव्यार्थपर्यायार्थाविति न प्रोच्यते । ननु गुणविषयस्तृतीयो गुणार्थिकोऽपि किमिति नोक्त इति चेत् , गुणस्य पर्याय एवान्तर्भूतत्वेन पर्यायार्थिकेनैव तत्संग्रहात् । पर्यायो हि द्विविधः क्रमभावी, सहभावी च । तत्र सहभावी गुण इत्यभिधीयते; पर्यायशब्देन तु पर्यायसामान्यस्य स्वव्यक्तिव्यापिनोऽभिधानान्न दोषः । ननु द्रव्यपर्यायव्यतिरिक्तौ सामान्यविशेषौ वि-

द्येते ततस्तद्गोचरमपरमपि नयद्वयं प्राप्नोतीति चेत्। नैतदनुपद्रवम्। द्रव्यपर्यायाभ्यां व्यतिरिक्तयोः सामान्यविशेषयोरप्रसिद्धेः। तथाहि-द्विप्रकारं सामान्यमुक्तम्-ऊर्द्धतासामान्यं, तिर्यक्सामान्यं च। तत्रोर्द्धतासामान्यं द्रव्यमेव; तिर्यक्सामान्यं तु प्रतिव्यक्तिसदृशपरिणामलक्षणं व्यञ्जनपर्याय एव। स्थूलाः कालान्तरस्थायिनः शब्दानां सङ्केतविषया व्यञ्जनपर्याया इति प्रावचनिकप्रसिद्धेः। विशेषोऽपि वैसदृश्यविवर्तलक्षणः पर्याय एवान्तर्भवतीति नैताभ्यामधिकनयावकाशः॥ ५॥

द्रव्यार्थिकभेदानाहुः-

आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा॥ ६॥

आद्यो द्रव्यार्थिकः॥ ६॥

तत्र नैगमं प्ररूपयन्ति-

धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः॥ ७॥

पर्यायवोर्द्रव्ययोर्द्रव्यपर्याययोश्च मुख्यामुख्यरूपतया यद्विवक्षणं स एवंरूपो नैके गमा बोधमार्गा यस्याऽसौ नैगमो नाम नयो ज्ञेयः॥७॥

अथास्योदाहरणाय सूत्रत्रयीमाहुः-

सच्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः॥ ८॥

प्रधानोपसर्जनभावेन विवक्षणमितीहोत्तरत्र च सूत्रद्वये योजनीयम्। अत्र चैतन्याऽऽख्यस्य व्यञ्जनपर्यायस्य प्राधान्येन विवक्षणम्, विशेष्यत्वात्। सत्ताऽऽख्यस्य तु व्यञ्जनपर्यायस्योपसर्जनभावेन; तस्य चैतन्यविशेषणत्वादिति धर्मद्वयगोचरो नैगमस्य प्रथमो भेदः॥ ८॥

वस्तुपर्यायवद् द्रव्यमिति धर्मिणोः॥ ९॥

अत्र हि पर्यायवद् द्रव्यं वस्तु वर्त्तत इति विवक्षायां पर्यायवद् द्रव्याऽऽख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन प्राधान्यम्, वस्त्वाख्यस्य तु विशेषणत्वेन गौणत्वम्। यद्वा-किं वस्तु पर्यायवद् द्रव्यमिति विवक्षायां वस्तुनो विशेष्यत्वात् प्राधान्यम्, पर्यायवद् द्रव्यस्य तु विशेषणत्वाद् गौणत्वमिति धर्मियुग्मगोचरोऽयं नैगमस्य द्वितीयो भेदः॥९॥

क्षणमेकं सुखी विषयाऽऽसक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः॥ १०॥

अत्र हि विषयाऽऽसक्तजीवाऽऽख्यस्य धर्मिणो मुख्यता, विशेष्यत्वात्, सुखलक्षणस्य तु धर्मस्याप्रधानता, तद्विशेषणत्वेनोपात्तत्वादिति धर्मधर्म्यालम्बनोऽयं नैगमस्य तृतीयो भेदः। न चास्यैवं प्रमाणाऽऽत्मकत्वानुषङ्गो धर्मधर्मिणोः प्राधान्येनात्र ज्ञप्तेरसंभवात् तयोरन्यतर एव हि नैगमनयेन प्रधानतयाऽनुभूयते। प्राधान्येन द्रव्यपर्यायहयाऽऽत्मकं चार्थमनुभवद्विज्ञानं प्रमाणं प्रतिपत्तव्यं नान्यत्॥ १०॥ (रत्ना०)

अथ संग्रहस्वरूपमुपवर्णयन्ति-

सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः॥ १३॥

सामान्यमात्रमशेषविशेषरहितं सत्त्वद्रव्यत्वाऽऽदिकं गृह्णातीत्येवंशीलः, समेकीभावेन पिण्डीभूततया विशेषराशिं गृह्णातीति संग्रहः। अयमर्थः-स्वजातेर्दृष्टेष्टाभ्यामविरोधेन विशेषाणामेकरूपतया यद् ग्रहणं स संग्रह इति॥ १३॥

अमुं भेदतो दर्शयन्ति-

अयमुभयविकल्पः-परोऽपरश्च॥ १४॥

तत्र परसंग्रहमाहुः-

अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परसंग्रहः॥ १५॥

परामर्श इत्यग्रेतनेऽपि योजनीयम्॥ १५॥

उदाहरन्ति-

विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा॥ १६॥

अस्मिन् उक्ते हि सदिति ज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वेनैकत्वमशेषार्थानां संगृह्यते॥ १६॥ (रत्ना०)

अथापरसंग्रहमाहुः-

द्रव्यत्वाऽऽदीन्यवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः॥ १९॥

द्रव्यत्वमादिर्येषां पर्यायत्वप्रभृतीनां तानि तथा, अवान्तरसामान्यानि सत्ताऽऽख्यमहासामान्यापेक्षया कतिपयव्यक्तिनिष्ठानि तद्भेदेषु द्रव्यत्वाऽऽद्याश्रयभूतविशेषेषु द्रव्यपर्यायाऽऽदिषु गजनिमीलिकामुपेक्षाम्॥ १९॥

उदाहरन्ति-

धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामैक्यं द्रव्यत्वाभेदादित्यादिर्यथा॥ २०॥

अत्र द्रव्यं द्रव्यमित्यभिन्नज्ञानाभिधानलक्षणलिङ्गानुमितद्रव्यत्वाऽऽत्मकत्वेनैक्यं षण्णामपि धर्माऽऽदिद्रव्याणां संगृह्यते। आदिशब्दाच्चेतनाचेतनपर्यायाणां सर्वेषामेकत्वम्; पर्यायत्वाविशेषादित्यादि दृश्यम्॥ २०॥ (रत्ना०)

अथ व्यवहारनयं व्याहरन्ति-

संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः॥ २३॥

संग्रहगृहीतान् सत्ताऽऽद्यर्थान् विधाय, न तु निषिध्य यः परामर्शविशेषः, तानेव विभजते, स व्यवहारनयस्तज्ज्ञैः कीर्त्यते॥ २३॥

उदाहरन्ति-

यथा यत्सत्तद् द्रव्यं पर्यायो वेत्यादिः॥ २४॥

आदिशब्दादपरसंग्रहगृहीतार्थगोचरव्यवहारोदाहरणं दृश्यम्। यद् द्रव्यं तज्जीवाऽऽदि षड्विधं, यः पर्यायःस द्विविधः-क्रमभावी, सहभावी चेति। एवं यो जीवः मुक्तः संसारी च, यः क्रमभावी पर्यायः स क्रियारूपः, अक्रियारूपश्चेत्यादि॥ २४॥ (रत्ना०)

द्रव्यार्थिकं त्रेधाऽभिधाय पर्यायार्थिकं प्रपञ्चयन्ति-

पर्यायार्थिकश्चतुर्द्धा-ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः, एवंभूतश्च॥ २७॥

एषु ऋजुसूत्रं तावद्वितन्वन्ति-

ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः॥ २८॥

ऋजु अतीतानागतकालक्षणलक्षणकौटिल्यवैकल्यात् प्राञ्जलम्; अयं हि द्रव्यं सदपि गुणीभावान्नार्पयति, पर्यायांस्तु क्षणध्वंसिनः प्रधानतया दर्शयतीति॥ २८॥

उदाहरन्ति-

यथा सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्तीत्यादिः ॥ २९ ॥

अनेन हि वाक्येन क्षणस्थायिसुखाऽऽख्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येन प्रदर्श्यते, तदधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्प्यते; आदि-शब्दाद् दुःखपर्यायोऽधुनाऽस्तीत्यादिकं प्रकृतनयनिदर्शनमभ्यूहनीयम् ॥ २९ ॥ (रत्ना०)

शब्दनयं शब्दयन्ति-

कालाऽऽदिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः ॥ ३२ ॥

कालाऽऽदिभेदेन कालकारकलिङ्गसंख्यापुरुषोपसर्गभेदेन ॥३२॥

उदाहरन्ति-

यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः ॥ ३३ ॥

अत्राऽतीतवर्तमानभविष्यल्लक्षणकालत्रयभेदात् कनकाऽचलस्य भेदं शब्दनयः प्रतिपद्यते। द्रव्यरूपतया पुनरभेदममुष्योपेक्षते। एतच्च कालभेदे उदाहरणम्। करोति क्रियते कुम्भ इति कारकभेदे; तटस्तटी तटमिति लिङ्गभेदे, दाराः कलत्रमित्यादि संख्याभेदे, एहि मन्थे रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पितेति पुरुषभेदे, संतिष्ठतेऽवतिष्ठत इत्युपसर्गभेदे ॥ ३३ ॥ (रत्ना०)

समभिरूढनयं वर्णयन्ति-

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः ॥ ३६ ॥

शब्दनयो हि पर्यायभेदेऽप्यर्थाभेदमभिप्रैति, समभिरूढस्तु पर्यायभेदे भिन्नानर्थानभिमन्यते, अभेदं त्वर्थगतं पर्यायशब्दानामुपेक्षत इति॥ ३६ ॥

उदाहरन्ति-

इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिषु यथा ॥ ३७ ॥

इत्यादिषु पर्यायशब्देषु यथा निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन्नभिप्रायविशेषः समभिरूढः, तथाऽन्येष्वपि घटकुटकुम्भाऽऽदिषु द्रष्टव्यः ॥ ३७ ॥ (रत्ना०)

एवंभूतनयं प्रकाशयन्ति-

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाऽऽविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाऽभ्युपगच्छन्नेवंभूतः ॥ ४० ॥

समभिरूढनयो हीन्दनाऽऽदिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवाऽऽदेरर्थस्येन्द्राऽऽदिव्यपदेशमभिप्रैति, पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत् तथा रूढेः सद्भावात्। एवम्भूतः पुनरिन्दनाऽऽदिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्राऽऽदिव्यपदेशभाजमभिमन्यते; न हि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति, गौरश्व इत्यादिजातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वाद् गच्छतीति गौः, आशुगामित्वादश्व इति। शुक्लो नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव-शुचिभवनात् शुक्लो, नीलनान्नील इति। देवदत्तो यज्ञदत्त इति यदृच्छाशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव-देव एनं देयात्, यज्ञ एनं देयादिति। संयोगिद्रव्यशब्दाः समवायिद्रव्यशब्दाश्चाभिमताः क्रियाशब्दा एव-दण्डोऽस्याऽस्तीति दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यस्ति क्रियाप्रधानत्वात्। पञ्चतयी तु शब्दानां व्यवहारमात्राद् न निश्चयादित्ययं नयः स्वीकुरुते ॥ ४० ॥

उदाहरन्ति-

यथेन्द्रनमनुभवन्निन्द्रः, शकनक्रियापरिणतः शक्रः, पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते ॥ ४१ ॥ रत्ना० ७ परि०।

(६) ननु सर्वत्र वास्तव्येवापेक्षा नयप्रवृत्तिहेतुः, उत वैज्ञानिक्य-पि ? उच्यते-क्वचिद् वैज्ञानिक्यपि, यत्र मतभेदोऽध्यवसायः। तथा चाऽऽह-

नानानयमयो व्यक्तो, मतभेदो ह्यपेक्षया।
कोट्यन्तरनिषेधस्तु, प्रस्तुतोत्कटकोटिकृत् ॥ ४ ॥

(नानेति) हि निश्चितं मतभेदः-बौद्धौपनिषदादिदर्शनभेदः, नानानयमयः-स्वेच्छानिवेशितत्वेनाऽनेकनयविकाररूपः, वस्तुत्वप्रकृतिरूपो वा; अपेक्षया व्यक्तः, शुद्धपर्यायशुद्धद्रव्याऽऽद्यपेक्षयैव तत्तदर्थव्यवस्थितेः। नयविशेषतात्पर्यमेतद्, न त्वपेक्षेति चेत्। न। तात्पर्यस्याऽपि वस्तुसंबन्धरूपापेक्षामालम्ब्य प्रवृत्तेः, असति संबन्धे तात्पर्यस्य प्रामाण्याप्रसरात्। सा चेयमपेक्षा वैजातिकः संबन्धः; अत एव विकल्पसिद्धस्य धर्मिणः प्रतिषेधाऽऽदिसाधनमामनन्ति साम्प्रदायिकाः। ईश्वरो नास्ति, प्रकृतिर्नास्तीत्यादौ विशिष्टज्ञानाऽऽकारविषयत्वेन तत्र धर्मिणो विकल्पसिद्धत्वाद्विशिष्टवस्तुसिद्धौ कथं विशिष्टाऽऽकारो भवेदिति चेत् ? यथा तत्र विशिष्टानतिरेकेऽपि विशिष्टाभावोऽतिरिक्तः प्रतिबिम्बबलात् सिद्धः, तथा मम विशिष्टाऽऽकारोऽपीति किं बाधकम् ? खण्डशः प्रसिद्धधर्मधर्मिरूपसदुपरागेणासदाकारोत्पत्तेर्नास्त्यस्यातिप्रसङ्गः ? यद्वा-आलयविज्ञानसन्ततिरूप आत्माऽपि यदि क्षणिकः, किं पुनर्वाच्यं बाह्यवस्तुष्विति वैराग्यप्रतिपन्थितृष्णोच्छेदकानित्यभावनोद्देशेन बौद्धदर्शनस्य ? मुमुक्षुणा सर्वं परित्यज्य स्वात्मनिष्ठेन भवितव्यम्; स च एक एवेति शोकद्वेषाऽऽदिनिबन्धनानेकसंबन्धबुद्धिमलप्रक्षालनगङ्गाजलसमानिकत्वभावनोद्देशेन च वेदान्तिकदर्शनस्य प्रवृत्तेः; तत्तद्दर्शनार्थज्ञानेषु तत्तद्भावनोद्देशप्रयुक्तमेवा-पेक्षात्वं, तेनैव तस्य सुनयत्वव्यवस्थितेः। अन्यथा बौद्धसिद्धान्ते बाह्यार्थज्ञानाऽऽदिवादानां, वेदान्तिसिद्धान्ते च प्रतिबिम्बाभासावच्छेददृष्टिसृष्टिवादाऽऽदीनामन्योऽन्यविप्रतिषिद्धत्वेन जात्या दुर्न-यत्वं सम्यग्दृष्टिपरिग्रहेणाऽपि निराकर्तुमशक्यत्वात्। न हि जात्या हलाहलं सद्वैद्यहस्तोपादानमात्रेणाऽमृतायते, रसायनीकरणं तु तस्योक्तापेक्षयैवेति दृढतरमवधेयम्।

ननूक्तापेक्षयाऽतिशुद्धर्जुसूत्राऽऽदीनामितरनयार्थप्रतिषेधवृत्तौ कथं न दुर्नयत्वम् ? इतरांशौदासीन्यस्येव सुनयलक्षणत्वात्। दृश्यन्ते च ते नयाः स्वसमये, परसमये च स्वेतरनयार्थबाधेनेव प्रगल्भमाना इत्याशङ्क्याऽऽह-कोट्यन्तरस्येतरनयार्थस्य, निषेधो निराकरणं, प्रस्तुता या उत्कटकोटिस्तत्कारी, विशिष्टविधैर्विशेषणविश्रामेण प्रस्तुतकोटेरुत्कटत्वकृदित्यर्थः। अयं भावः-यदीतरनयार्थप्रतिषेधो द्वेषबुद्ध्या तदा दुर्नयत्वमेव, यदि चोक्तभावानदार्ढ्यानुगतस्वविषयोत्कर्षाऽऽधानाय, तदा सुनयत्वमेव, जात्या दुर्नयस्याऽपि चिन्ताज्ञानेन फलतः सुनयीकरणाद्, भावनाज्ञानेन ऐदम्पर्यार्थप्रधानकरणप्रमाणवाक्यैकदेशत्वाऽऽपादनाच्च।

तदाहुः श्रीहरिभद्रसूरयः षोडशप्रकरणे-

''ऐदम्पर्यं शुद्ध्यति, यत्राऽसावागमः सुपरिशुद्धः।
तदभावे तद्देशः, कश्चित् स्यादन्यथाग्रहणात् ॥ १२ ॥''

अस्य व्याख्या-ऐदम्पर्यं तात्पर्यं पूर्वोक्तं, शुध्यति स्फुटीभवति यत्राऽऽगमे, असावागमः सुपरिशुद्धः प्रमाणभूतः, तदभावे ऐदम्पर्यशुद्ध्यभावे, तद्देशः परिशुद्धाऽऽगमैकदेशः, कश्चिदन्य आगमः स्यात्, न तु मूलाऽऽगम एव, अन्यथाग्रहणाद् मूलाऽऽगमैकदेशस्य सतो विषयस्याऽन्यथाप्रतिपत्तेर्यतः समतामवलम्बमानास्तेऽपि तथेच्छन्ति॥ १२॥ (षो० १६ विव०) तत्राऽपि च न द्वेषः कार्यो, विषयस्तु यत्नतो मृग्यः, तस्याऽपि न सद्वचनं सर्वं यत्प्रवचनादन्यदिति।

नन्वयं स्वसमयनयवाक्येभ्यः परसमयनयवाक्यानां को विशेषः, फलतो जातितश्च शुद्ध्यशुद्ध्योरविशेषात् ? न हि ज्ञानदर्शनलिङ्ग-चारित्राऽऽदिवादेषु स्वसमये स्थितपक्षोऽपि स्वविषये प्राधान्यं विदधानः ज्ञानाऽऽदिनयविषये च तन्निराकुर्वाणो जात्या शुद्धत्वमङ्गीकुरुते। तथा च स्थितपक्षवचनम्-'' जम्हा दंसणनाणा, संपुण्णफलं न दिंति पत्तेयं। चारित्तजुआ दिंति उ, विसिस्सए तेण चारित्तं '' ॥ १॥ इति। अत्र हि ज्ञानाऽऽदिनये नैतदुक्तुं शक्यम्, यथा त्वया संपूर्णफलप्रापकत्वेन चारित्रमुत्कृष्यते, तथा मया तदुपनायकत्वेन '' दासेण मे खरो कीओ, दासो वी मे खरो वि मे '' इति-न्यायः। इत्यादिन्यावाद् व्यापारतया चारित्रान्यथासिद्ध्यापादनाच्च ज्ञानाऽऽदिकमेवोत्कर्षमारोपणीयमिति। विजृम्भितं चेदमध्यात्ममतपरीक्षायां बहुधाऽस्माभिः। तथा च प्राधान्यस्याप्यव्यवस्थितत्वात् कुत्र केन नयेन जात्या व्यवस्थेयम् ? फलतः शुद्धिस्तु स्वपर-समययोरविशिष्टेति चेत्, अत्रास्माकमाभाति-यथा देशप्रदेश-खण्डपरमाणुवादीनां स्कन्ध(संबन्ध) संबन्धाभ्यां भेदः, तथा स्व-समयपरसमयस्थविचित्रनयानां प्रमाणवाक्यान्तर्भावबहिर्भावाभ्याम्। तौ च पदार्थवाक्यार्थाऽऽदिभावेन साकाङ्क्षतया स्वान्त्र्येण निराकाङ्क्षतया चेति न जातिभेदाऽनुपपत्तिः। स्वसमये नयेषु निराकाङ्क्षप्रमाणबोधपर्यवसाने तदत्यन्तोत्कर्षरूपके वलज्ञानफलोद्देशः, परसमये नयेषु च उक्तभावनामात्रफलोद्देश इति फलतोऽपि भेदो व्यक्त एवेति सर्वमवदातम्।

ननु यद्येवं नयार्था आपेक्षिकाः, तदा अवयव्येकत्वमपि द्वित्वाऽऽदिवद्बुद्धिजन्यमेव स्यात्; उभयमपि वा ज्ञानाऽऽकारमात्रं इति चेत्। न। एकत्वद्वित्वाऽऽदीनामनन्तानां संख्यापर्यायाणामेकद्रव्यवृत्तीनामेव सतां यथा क्षयोपशमबुद्धिविशेषेण प्रतिनियतानामेव ग्रहणमित्यभ्युपगमात्। युक्तं चैतत्। अन्यथा एकत्रैव घटे तद्रूपतद्रसवतोरैक्यमित्यादिना द्विवचनप्रयोगस्य, बहुषु करि-तुरग-रथ-पदातिषु सेनेत्येकवचनप्रयोगस्याऽनुपपत्तेः। अथैकत्वद्वित्वाऽऽदितत्तद्धर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्वाऽऽदिकं गौणमेव द्वित्वाऽऽदिव्यवहारनिमित्तं, तच्च तत्तद्धर्मावच्छेदेन पर्याप्तमिति नैको द्वावित्यादेः प्रसङ्गः; मुख्यं तु द्वित्वमपेक्षाबुद्धिजन्यं द्वित्वमन्यदेवेति न दोष इति चेत्। न। उक्तविषयतारूपद्वित्वाऽऽदेरप्येकत्वपर्याप्तत्वात् तत्तद्धर्मप्रकारतानिरूपितत्वविशिष्टविषयताया अपि क्वचित्संबन्धाऽऽदिभेदेन प्रकारताभेदादेकस्या अभावात्; भावेऽपि च द्वयस्य प्रत्येकानतिरिक्तत्वेन एकधर्मावच्छेदेन द्वित्वाऽऽदिपर्याप्तिप्रसङ्गाद्, धर्मगतद्वित्वस्यैव तत्पर्याप्त्यवच्छेदकताऽवच्छेदकत्वस्वीकारे च तत्राऽपि द्वित्वस्य वास्तवस्याऽभावाद् रूपत्वरसत्वाऽऽदिप्रकारकबुद्धिविषयत्वस्यैव गौणस्य स्वीकारे, तत्पर्याप्त्यवच्छेदकाऽऽदिगवेषणेऽनवस्थिते वास्तवद्वित्वाऽऽद्यभावे ज्ञानाऽऽकारतापर्यवसानेन साकारवादप्रसङ्गात्। तस्माद् द्रव्यत्वावच्छिन्नैकत्वाऽऽदेः पर्याप्तिस्वीकारेऽनेकान्तवाद एवानाविला व्यवस्थेति ध्येयम्। अत एव-'' दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठयाए बुवे अहं। '' इत्यादि पारमर्षम्।

इदमप्यत्र विचार्यते-द्वित्वाऽऽदिकमपेक्षाबुद्ध्या जन्यं वा, व्यङ्ग्यं वेति ? तत्र जन्यमेवेति नैयायिकाः। व्यङ्ग्यमिति प्राभाकराः। तत्र नैयायिकानमयमाशयः-द्वित्वस्य व्यङ्ग्यत्वनये अपेक्षाबुद्धेर्द्वित्वत्वप्रकारकलौकिकप्रत्यक्षत्वकार्यताऽवच्छेदकत्वं वाच्यम्, जन्यत्वनये तु द्वित्वमेवेति लाघवम्। न च व्यङ्ग्यत्वनयेऽपि लौकिकप्रकारतासंबन्धेन द्वित्वमेव तत्कार्यताऽवच्छेदकं वक्तुं शक्यम्, गुणत्वसंख्यात्वतद्व्यक्तित्वाऽऽदिना विनाऽप्यपेक्षाबुद्धिं तत्प्रत्यक्षप्रसङ्गात्, तेन रूपेण तत्प्रत्यक्षं प्रति तस्याहेतुत्वकल्पने चातिगौरवात्। न च स्वाश्रयविषयतया द्वित्वत्वस्य कार्यताऽवच्छेदकतया न दोष इति वाच्यम्। तथाऽपि व्यङ्ग्यत्वनये स्वाश्रयविषयत्वं कार्यताऽवच्छेदकताऽवच्छेदकः संबन्धः, जन्यत्वनये तु समवाय इति जन्यत्वपक्ष एव श्रेयान्, लाघवात्। अथ द्वित्वप्रत्यक्षेऽपि प्रत्यक्षत्वमेव कार्यताऽवच्छेदकम्, द्वित्ववृत्तिविषयतायाः कार्यताऽवच्छेदकसंबन्धत्वेनैवानतिप्रसङ्गात्। अन्यथा द्वित्वप्रत्यक्षस्य विषयतया द्वित्वत्वाऽऽदावपि जायमानत्वेन व्यभिचारात् अपेक्षाबुद्धित्वं कारणताऽवच्छेदकं, तच्च मानसत्वव्याप्यो जातिविशेषः, कारणताऽवच्छेदकः संबन्धः स्वविषयपर्याप्तित्वम्, तेन घटपटैकत्वबुद्धित्वेनाऽपेक्षाबुद्धेर्घटपटद्वित्वप्रत्यक्षहेतुत्वेऽनन्तकार्यकारणभावाऽऽपत्तिः, द्वित्वप्रत्यक्षताऽवच्छिन्नेऽपेक्षाबुद्धित्वेन सामान्यतो हेतुत्वेऽपि घटपटद्वित्वप्रत्यक्षकाले घटकुड्यद्वित्वप्रत्यक्षाऽऽपत्तिः, स्वविषयवृत्तित्वसंबन्धेनापेक्षाबुद्धेस्तत्राऽपि सत्त्वादित्यादिदूषणानवकाशः। घटपटैकत्वबुद्धेर्घटकुड्यद्वित्वे स्वविषयपर्याप्तत्वसंबन्धेनाऽसत्त्वादिति व्यङ्ग्यत्वनयेऽपि न गौरवमिति चेत्। न। एवं सति प्रत्यक्षत्वं वा कार्यताऽवच्छेदकं, ज्ञानत्वं वाऽनुभवत्वं वेत्यादौ विनिगमकाभावात्। किञ्च-व्यङ्ग्यत्ववादिना मैत्रीयापेक्षाबुद्ध्या संनिकर्षाऽऽदिवशाद् चैत्रीयप्रत्यक्षोत्पत्तिवारणाय चैत्रीयापेक्षाबुद्धित्वस्य चैत्रीयप्रत्यक्षत्वाऽऽदिना कार्यकारणभावो वाच्य इति गौरवमेव। अथ तव पुरुषान्तरापेक्षाबुद्धिजनितद्वित्वस्य पुरुषान्तराप्रत्यक्षत्वाय द्वित्वनिष्ठविषयतासंबन्धेन चैत्रीयप्रत्यक्षे मैत्रीयद्वित्वाऽऽदिभेदस्याऽपि हेतुत्वं कल्पनीयम्। यद्वा-चैत्रीयद्वित्वप्रत्यक्षं प्रति चैत्रापेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वेन हेतुता कल्पनीया, कार्यताऽवच्छेदकः संबन्धो द्वित्वनिष्ठविषयताकारणताऽऽवच्छेदकस्तादात्म्यम्। अत एव-चैत्रमैत्रापेक्षाबुद्धिभ्यां तुल्यविषयाभ्यां युगपदुत्पन्नाभ्यामुत्पादितं द्वित्वमेकमेवेति मतेऽपि न क्षतिरिति कल्पनायामधिकं गौरवमिति चेत्। न। तद्गौरवस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वात्। यद्यपि द्वित्वाऽऽदावपेक्षाबुद्धेर्नैकत्वावगाहिबुद्धित्वेन हेतुता, अयं घट एक इति बुद्धितोऽपि द्वित्वोत्पत्त्यापत्तेः; नाऽपि नैकत्वावगाहिबुद्धित्वेन, अयमेकश्चिरनष्टो घटश्चैक इति बुद्धितोऽपि तदापत्तेः; तथाऽपि द्वित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदका मानसत्वव्याप्या नानाजातयो वाच्याः, अन्यदा कदाचिद् द्वित्वं कदाचित्त्रित्वमिति नियमो न स्यात्। न च स्मृतित्वव्याप्यत्वमेव तासां न कुतः ? इति वाच्यम्; यद्व्यक्तिविशेष्यत्वैकस्मरणं कस्याऽपि न जातं, तत्र स्मरणाऽनुभवकार्यकारणभावकल्पने संस्कारव्यवधानेन क्षणविलम्बे च गौरवात्, स्मृतित्वव्याप्यत्वेऽपि स्मरणाऽऽत्मैकत्वबुद्धिकल्पनाक्षणे मानसोत्पत्तौ बाधकाभावादुपनायकज्ञानघटितसामग्रीसत्त्वात् मानसं प्रति तत्तत्स्मृतिसामग्र्या प्रतिबन्धकत्वकल्पने च महागौरवात्। सन्तु वा चाक्षुषत्वाऽऽदि-

व्याप्या नानाजातयः, द्वित्वाऽऽदौ मानाभावाद् द्वौ त्रय इत्यादिविलक्षणबुद्धेर्विजातीयज्ञानं प्रकारभेदं विनाऽसंभवात्। अन्यथा-सर्वत्र विषयनिरपेक्षैरेव ज्ञानैरस्तद्व्यवहारजननप्रसङ्गात्। न च द्वा-वित्यादिबुद्धेर्विजातीयज्ञानं विषयः, अचाक्षुषत्वाऽऽपत्तेः। न च '' इमौ द्वौ मधुपौ; एते त्रयः कमलकह्लारकलहंसाः '' इत्यादौ युगपदेव द्वित्वत्रित्वप्रतीतेः, एकत्र बुद्धौ द्वित्वजनकताऽवच्छेदकजात्यभ्युपगमे जातिसंकरप्रसङ्ग इति वाच्यम्; द्वित्वत्रित्वोत्पादकापेक्षाबुद्धेरुत्पादे सूक्ष्मकालभेदकल्पनात्, ' गिरिरयं वह्निमान्, अहं तदज्ञानवान् ' इत्यनुमितिप्रत्यक्षयोरिव। अथ तत्र भिन्नविषयेऽनुमितिसामग्र्या प्रतिबन्धं प्रतिबन्धकत्वादस्तु तयोर्युगपदनुत्पादः, न तु प्रकृते इति चेत्, तर्हि प्रतिबन्धकं किञ्चिदत्राऽपि कल्प्यताम्, अन्यथाऽनुपपत्तेर्बलीयस्त्वात्। अस्तु वा तदत्रापेक्षाबुद्धावुभयजनकताऽवच्छेदको जातिविशेषः; स च द्वित्वत्रित्वयोस्तज्जन्यताऽवच्छेदको जातिविशेषः। एतेन समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानामविशिष्टत्वे द्वित्वत्रित्वाऽऽद्युत्पत्ति नियमे किं कारणम्? द्वाभ्यामेकत्वाभ्यां द्वित्वं त्रिभिस्त्रित्वमारभ्यते इति वक्तुमशक्यत्वात्, एकत्वेषु द्वित्वाऽऽदेरभावात्। न च शुद्धनयापेक्षा बुद्ध्या द्वित्वं, द्वित्वसहितया च तया त्रित्वमुत्पाद्यते इत्यपि सुवचम्, द्वित्वत्रित्वयोर्युगपदेव तत्प्रत्ययविषयत्वात्। न चैकत्वेष्विव द्वित्वाऽऽदिजनकताऽवेच्छदका जातिविशेषा अभ्युपेयाः, तत एव द्वित्वाऽऽदिव्यवहारोपपत्तौ द्वित्वाऽऽद्युच्छेदप्रसङ्गादित्यादिपर्यनुयोगो निरस्तः; अपेक्षाबुद्धिनिष्ठद्वित्वत्रित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदकजातिभेदेनैव ततः सामग्रीभेदात् एकापेक्षाधीजन्यद्वित्वत्रित्वयोरप्यन्यत्र परिपुष्टभेदवज्जातीयत्वेनैव भेदात्॥ उदयनाऽऽचार्याःतद् द्वित्वप्रागभावगर्भैव द्वित्वसामग्री, त्रित्वप्रागभावगर्भा च त्रित्वसामग्रीति तयोर्विशेषः। इतोऽपि हि प्रागभावसिद्धिः; अन्यथा तयोर्विशेषो न स्यात्, पर्याप्तिसंबन्धेन द्वित्वाऽऽदिकं प्रति पर्याप्तिसंबन्धेन तत्प्रागभाव एव नियामकः; अत एवैकस्मिन्नपर्याप्तिसंबन्धेन द्वित्वाऽऽदिप्रत्ययः तत्प्रागभावस्यैकस्मिन्पर्याप्तभावेन तस्यापि तदभावादित्याहुः। अथापेक्षाबुद्धिजन्यत्वे द्वित्वस्य ' द्वे द्रव्ये ' इति लौकिकप्रत्यक्षानुपपत्तिः; अपेक्षाबुद्धिरथ द्वित्वम्, अथ द्वित्वत्वं निर्विकल्पकं, ततो द्वित्वत्वविशिष्टं प्रत्यक्षं, तदेव च द्वित्वत्वनिर्विकल्पकेन स्वोत्तरवृत्तिविशेषगुणविधया जनितोऽपेक्षाबुद्धिविनाशः, ततश्च 'द्वे द्रव्ये ' इति लौकिकप्रत्यक्षं, तदेव चापेक्षाबुद्धिविनाशाद् द्वित्वविनाश इति द्वित्वत्वाऽभिमता व्यवस्था, साऽत्रानुपपन्ना; अपेक्षाबुद्धेस्तज्जन्यसंस्कारेण द्वित्वनिर्विकल्पकोत्पत्तिक्षण एव नाशात्। योन्यविभुविशेषगुणनाशं प्रति स्वोत्तरवृत्तियोग्यजातीयविभुविशेषगुणत्वेन हेतुत्वात् सुषुप्तिप्राक्कालवर्तिज्ञाननाशकतयैव तत्सिद्धेः, अन्यथाऽनुभवध्वंसेनैव संस्काराऽन्यथासिद्धेरिति चेत्। न। अपेक्षाबुद्धेः संस्काराजनकत्वादपेक्षाबुद्धिभिन्नत्वस्यापि संस्कारजनकताऽवच्छेदककोटिप्रदेशात्। न चैवमप्यपेक्षाबुद्धिजनितैकत्वाऽऽदिविशिष्टबुद्ध्या अपेक्षाबुद्धिनाशयसङ्गः। तदुक्तम्-'' अपेक्षाबुद्धिः संस्कारान् माकार्षीत्, विशिष्टबुद्धिस्तु कुर्यादेव '' इति वाच्यम्; विशिष्टबुद्धिजननेऽपि द्वित्वसामग्र्यादेरेव फलबलेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्। वस्तुतोऽपेक्षाबुद्धिनाशे द्वित्वलौकिकप्रत्यक्षस्य विशिष्य कारणत्वकल्पनान्न दोषः। न च तथाऽपि पूर्वापेक्षाजनितद्वित्वनिर्विकल्पकेन स्वद्वितीयक्षणोत्पन्नेनापेक्षाबुद्धेस्तृतीयक्षणे नाशप्रसङ्गः, प्रतियोगितयाऽपेक्षाबुद्धिनाशे स्वविषयजनकत्वसंबन्धेन द्वित्वलौकिकप्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वात्। नन्वेवमपि ' द्वे द्रव्ये ' इति लौकिकप्रत्यक्षं कथं, तदुत्पत्तिक्षणे द्वित्वनाशादिति चेत्? मैयम्। द्वित्वस्य हि तत्प्रत्यक्षे विषयविधया हेतुत्वं, न तु कार्यसहवर्तितयेति दोषाभावात्। न हि सर्वेषां कारणानां कार्यसहवर्तितयैव हेतुत्वम्, प्रागभाव-पक्षताऽऽदेरहेतुत्वप्रसङ्गादिति॥ प्राभाकरवृद्धानुसारिणस्तुसोऽयं नैयायिकाऽऽशयो न युक्तः, अनन्तद्वित्वाऽऽदिध्वंसप्रागभावाऽऽदिकल्पनायां गौरवात्, तद्व्यङ्ग्यत्वपक्षस्यैव युक्तत्वात्। अन्यथा नानापुरुषीयक्रमे काऽपेक्षाबुद्धिः? समसंख्यतुल्यव्यक्तिकनानाद्वित्वाऽऽदिकल्पनेऽपि महागौरवात्। मम तु नित्यानामेव तेषां तत्तदपेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वाद् दोषाभावात्। न चैवं तेषां जातित्वाऽऽपत्तिः, असमवायित्वे सत्यनेकसमवेतत्वस्य, समवेतत्वस्यैव वा जातिव्यवहारनिमित्तत्वात्। न च विशेषेऽतिप्रसङ्गः, तत्र मानाभावात्। किञ्चद्वित्वाऽऽदेर्जन्यत्वे प्रतियोगितया नाशाजन्यतन्नाशे स्वप्रतियोगिजन्यत्वसंबन्धेनापेक्षाबुद्धिनाशत्वेन हेतुता वाच्या; तथा च-द्व्यणुकपरिणामहेतुपरमाणुद्वित्वस्येश्वरापेक्षाबुद्धिजन्यस्य नाशानुपपत्तिः। न च चैत्रीयद्वित्वनाशे चैत्रापेक्षाबुद्धिनाशो हेतुरित्येवं विशेष्यैव कल्प्यते; परमाणुद्वित्वे तु यादृशोपाधिविशिष्टाया ईश्वरापेक्षाबुद्धेर्हेतुत्वं, तादृशोपाधिनाशादेव तन्नाशः, अविशिष्टायास्तस्या हेतुत्वे सर्वथा द्वित्वोत्पत्तिप्रसङ्गादिति वाच्यम्; स्वाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्नत्वेनैव तस्यापेक्षाबुद्धित्वमिति तन्नाशात्परमाणुद्वित्वनाशे तस्य क्षणिकत्वप्रसङ्गात्, अतिरिक्तानुगतोपाधेश्चानिर्वचनात्। अपि च-एवं तत्तद्वित्वनाशे तत्तदपेक्षाबुद्धिनाशत्वेन हेतुत्वे महागौरवम्। न च फलमुखत्वादस्यादोषत्वम्, अस्यां कल्पनायामेव तावद् गुरुतरं कल्पनीयमिति प्रागेवोपस्थितौ तद्दोषताया वज्रलेपत्वात्, तददोषत्वेप्रागनुपस्थितेरेव बीजत्वात्। अपि च-मानसत्वाऽऽदिव्याप्यजातिविशेषेणापेक्षाबुद्धेर्द्वित्वाऽऽदिहेतुत्वे ईश्वरापेक्षाबुद्ध्या परमाणुद्वित्वाऽऽदिजननापत्तिः, ईश्वरज्ञानसाधारणद्वित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदकजातिस्वीकारे च जन्यसाक्षात्कारित्वाऽऽदिना साङ्कर्यम् त्रित्वाऽऽद्युत्पत्तिकाले द्वित्वाऽऽद्यापत्तिश्च दुर्निवारा। एतेन द्वित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदकतयाऽपेक्षाबुद्धिनिष्ठलौकिकविषयत्वस्वीकारोऽपि निरस्तः, परार्धाऽऽदिसंख्याऽनुत्पत्तिप्रसक्तेश्च, तदाश्रययावद्द्रव्यवृत्तिलौकिकविषयताया असंभवात्, ईश्वरीयापेक्षाबुद्धेश्चैव तदुत्पत्त्यङ्गीकारे चाऽन्यत्रापि कारणान्तरोच्छेद इति न किञ्चिदेतदित्याहुः॥ केचित्तु द्वित्वत्रित्वाऽऽदिकं तुल्यव्यक्तिवृत्तिकमेव सामान्यम्, अनित्यस्य संयोगाऽऽदेरिव नित्यस्याऽपि द्वित्वाऽऽदेर्व्यासज्यवृत्तित्वे विरोधाभावात्, भिन्नेन्द्रियग्राह्याणां रूपरसाऽऽदीनामिव समानेन्द्रियग्राह्याणामपि सत्यप्येकावच्छेदेन समानदेशत्वे प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वे विरोधाभावात्, सहचारदर्शनमात्रस्याकिञ्चित्करत्वात्। भेदश्च विरुद्धधर्माऽध्यासात्। स च न्यूनाधिकदेशपर्याप्तवृत्तिकत्वमित्याहुः॥ परे तु घटकुटकुड्यकुशलेषु द्वित्वत्रित्वाऽऽदिप्रतीतावेकतरनाशे तद्वृत्तेर्द्वित्वाऽऽदेरपि संयोगाऽऽदेरिव विनाशप्रत्ययादनित्यवृत्तिनानाव्यक्तिकमेव द्वित्वाऽऽदिकम्, आश्रयविनाशोत्पादाभ्यामेव तस्योत्पादविनाशौ। असमवायिकारणं तु चाऽऽश्रयस्यैकत्वं, परिणामं वा, एकवृत्तिकमेकत्वमिव तुल्यव्यक्तिवृत्तिकं द्वित्वाऽऽद्यपि नाऽनेकम्, तुल्यव्यक्तिवृत्तिकद्वित्वाऽऽदेः प्रतिबन्धकत्वात्। बुद्धिविशेषस्तद्व्यञ्जको, न तूत्पादको, नित्येषु चैकव्यक्तिकमनेकव्यक्तिकं वा नित्यमित्याहुः॥ वयं तु ब्रूमः-जन्यत्वनये अपेक्षाबुद्धेर्जन्यता-

वच्छेदकमेकत्वान्यसंख्यात्वं वाच्यम् । यद्वा-एकत्वजन्यतावच्छेदकतया द्वित्वमारभ्य परार्द्धपर्यन्तमेका जातिः सिध्यति, लाघवात् । ननु जन्यसंख्यात्वमेवैकत्वजन्यताऽवच्छेदकं, कारणकार्यैकार्यप्रत्यासत्तिभेदात् इति तस्यैव द्वित्वाऽऽदिपरार्द्धपर्यन्तसंख्यावृत्तिजातिविशेषितस्य तथात्वम् । व्यङ्ग्यत्वनये चैकत्वाऽन्यसंख्याप्रत्यक्षत्वम् , उक्तजातिविशेषप्रत्यक्षत्वं वाऽपेक्षाबुद्धेर्जन्यताऽवच्छेदकं वाच्यम् । द्वयोरप्यनयोर्मतयोरेको धान्यराशिरित्यादिप्रत्ययसिद्धेः सामूहिकैकत्वे व्यभिचारः । न च तत्रैकत्वं गौणमेव; वस्तुतस्त्वपेक्षाबुद्ध्या राशिसेनावनाऽऽदौ बहुत्वविशेष एवोत्पाद्यते, व्यज्यते वेति वाच्यम्; स्वारसिकैकत्वानुभवविरोधात् । एते बहवः कणाः, एते बहवः करि-तुरग-रथ-पदातयः, एते बहव आम्र-निम्ब-धव-खदिरा इत्यादौ राशित्व-सेनात्व-वनत्वाऽऽद्यनापत्तेश्च । अपेक्षाबुद्ध्या तत्र राशित्वाऽदिरूपस्यैव बहुत्वमेकत्वद्वित्वान्यसंख्यात्वं त्रित्वमारभ्य परार्द्धपर्यन्तवृत्ति जातिविशेषो वा, राशित्वाऽऽदिरूपबहुत्वे चापेक्षाबुद्धिविशेषजन्यताऽवच्छेदकस्तद्व्याप्य एव जातिविशेषः । बहुत्वं च तदवच्छिन्नोपस्थितिश्चैकवचनान्तराश्यादिपदं वेति शाब्दबोधस्थले नानुपपत्तिः । प्रत्यक्षे च बहव इत्यादौ क्वचिद् दोषवशात्तदग्रहान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम्; अनुभूयमानैकत्वप्रतीतेर्बहुत्वविशेषेण समर्थने द्वित्वाऽऽदिप्रतीतेरप्येकत्वविशेषेणैव समर्थयितुं शक्यत्वाद् ; वास्तवाभावे गौणानुपपत्तेरप्युक्तत्वाच्च । न च ' ताविमौ नीलपीतौ ' इति गौणद्वित्वाऽऽदिलक्षणं द्वाविमौ घटपटावित्यत्र द्वित्वमनुभूयते । न चैकत्र ज्ञाने द्वित्वं प्रकारः, अन्यत्र तु नेत्यपि विनिगन्तुं शक्यम् ; विजातीयज्ञानविषयत्वसंबन्धेन स्वस्थितस्वप्रकारतया बुद्धिवैलक्षण्योपपादनमप्युभयत्र तुल्ययोगक्षेमम् । एकत्राऽपि च घटे नीलत्वघटत्वाभ्यां द्वित्वमनुभूयत एव, अनुभूयते एव चैते बृक्षा वनमिति बहुत्वाऽवच्छिन्नेऽपि केनचिदुपाधिना एककारत्वमिति स्वसामग्रीप्रभवैकत्वंद्वित्वानन्तपर्यायोपेत-द्रव्य एवाक्षाबुद्धिहेतोरपेक्षाऽऽत्मकभावपथाक्षयोपशमं कदाचिदे-कत्वप्रकारकं कदाचिच्च द्वित्वाऽऽदिप्रकारकं ज्ञानं जायते, इत्य-पेक्षाबुद्धिगम्यत्वमेव द्वित्वाऽऽदेर्युक्तम् । अत एव नयरूपत्वादस्या नयान्तरसंयोजनया सप्तभङ्गीरीतिरपि संगता । यादृशविषयता-विशिष्टाया अपेक्षाबुद्धेः परैर्जनकत्वं व्यञ्जकत्वं वा स्वीक्रियते, तादृशविषतानिरूपितापेक्षात्वाऽऽख्यविषयता द्वित्वाऽऽदौ नाऽ-स्माकमसुलभा । सामान्यविशेषत्वाऽऽदेरापेक्षिकत्वेऽपीयमेवरीतिरनुसर्तव्या । न चैवमनपेक्षैकत्वद्वित्वाऽऽदिप्रत्यक्षाऽनुपपत्तिः, द्रव्यनयावलम्बनेनानपेक्षाऽऽत्मकविषयतान्तरस्याऽपि स्वीकारा-त् । अत एव सापेक्षत्वमपि स्याद्वादः, अस्मदुक्तपक्ष एवापेक्षाबुद्धिद्वित्वबुद्ध्योः पौर्वापर्यानवभासोपपत्तिः, अनन्तकार्यकारणभावप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाऽऽदिकल्पनागौरवदूषणानवकाशश्चेति सर्वमवदातम् ।

(७) तस्मात्स्वसमये परसमये एकत्वद्वित्वाऽऽदिप्रकारकनानाविधलौकिकव्यवहारे च नयापेक्षयैव विविक्तो बोध इति स्थितम् । फलितमाह-

तेन सापेक्षभावेषु, प्रतीत्यवचनं नयः ।
अभावाऽभावरूपत्वात् , सापेक्षत्वं विधावपि ॥ ५ ॥

(तेनेति) तेनोक्तहेतुना सापेक्षत्वभावेषु परस्परप्रतियोगिषु धर्मेषु प्रतीत्यवचनमपेक्षाऽऽत्मकं वाक्यं नय इति सिद्धम् । नन्वेवं स्यान्नाऽस्त्येवेत्येकवचनं नयः स्यात् , न तु स्यादस्त्येवेति; तदर्थस्य विधेरप्रतियोगिकत्वात् । अत एवाऽऽह-विधावपि-अस्तित्वाऽऽदिभावेऽपि, अभावाभावरूपत्वान्नास्तित्वाऽऽद्यभावरूपत्त्वात्तेन रूपेण प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणतया सापेक्षत्वमस्त्येव ।

अयं भावः-अभावज्ञानेऽपि न सर्वत्र प्रतियोगिज्ञानापेक्षा, प्रतियोगिज्ञानं विनाऽपीदन्त्वप्रमेयत्वाऽऽदिनानाभावमानस्य सार्वजनीनत्वात् । घटाभावत्वाऽऽदिना घटाऽभावाऽऽदिज्ञाने घटज्ञानाऽऽद्यपेक्षाप्रतियोगिनिरूपणेन तेषां सप्रतियोगिकत्वं ग्रहीष्यते, तर्हि नास्तित्वाभावत्वाऽऽदिनाऽस्तित्वाऽऽदीनां तेन रूपेण तथात्वे तुल्यमभावाभावः प्रतियोग्येवेति परेषामपि मूलसिद्धान्तात् संयोगाऽऽदावेव विशेषणतात्वकल्पनया निर्वाहेण नास्तीति प्रतीतिबलादतिरिक्त एव स इति नव्यमतनिर्युक्तिकत्वात् । तस्मात्स्वरूपतोऽभावाभावत्वयोरपि निष्प्रतियोगिकत्वं, विशिष्टतया तु द्वयोरपि सप्रतियोगिकत्वमिति स्याद्वाद एव श्रेयान् । अथ निष्प्रतियोगिकाभावपक्षे प्रतियोगिज्ञानस्याऽभावं प्रत्यहेतुत्वे विना प्रतियोगिज्ञानेनेत्याकारकप्रत्ययाऽऽपत्तिः । न चाभावत्वस्याऽपीदन्त्वेन ग्रहादापादकाभावः प्रथममभावाभावत्वयोर्निर्विकल्पकेऽभाव इत्याकारकप्रत्यक्षाऽऽपत्तेर्दुर्वारत्वादिन्द्रियस्य चक्षुस्त्वगादिभेदभिन्नत्वेन महागौरवम् । न च पृथग्प्रतियोगिधीहेतुत्वेऽपि नेत्याकारकप्रत्यक्षाऽऽपत्तिः, उपस्थितस्य प्रतियोगिनोऽभावे वैशिष्ट्यामाने बोधकाभावात् । न चाऽभावो न घटीय इत्यादिबाधधीदशायां तदापत्तिः, अभावत्वावच्छेदेनाभावे तादृशबाधधिय आहार्यत्वात् , अभावत्वसामानाधिकरण्येन च तद्दशायामपि प्रतियोगिवैशिष्ट्यामानसंभवात् । यद्वा-घटत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताकस्य प्रत्यक्षे घटाऽऽदिधियो हेतुत्वम् , अन्यथा घटाऽऽद्यभाव इत्याकारकप्रत्यक्षं च न जायते, निखिलप्रतियोगिज्ञानकार्यताऽवच्छेदकाऽऽक्रान्तिदृशप्रत्यक्षं यत्किञ्चित्प्रतियोगिज्ञाने असंभवात्, यावत्प्रतियोगिज्ञानस्य चाऽसंभवात् , अभावत्वांशे निर्विकल्पकत्वं, भावांशे यत्किञ्चित्प्रतियोगिविशिष्टविषयत्वाद् यत्किञ्चित्प्रतियोगित्वात् साध्यमेवेति नानुपपत्तिरिति चेत् । न । प्रतियोगिज्ञानाभावेऽप्यभावत्वमात्रेण प्रत्यक्षस्येष्टत्वात्, शून्यमिदं दृश्यते इत्यादिप्रत्ययात् तत्स्यमेवाभावत्वस्य भावभेदस्य पिशाचाऽऽदिभेदवद् योग्यस्य घटो नाऽस्तीत्यादौ स्वरूपतो भानमिति प्राचां वचनस्योपपत्तेः । न नूल्लेखस्तु प्रतियोगिवाचकपदनियतो न सार्वत्रिकः । किञ्च-उक्तरीत्या प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वे केवला-ऽभावत्वनिर्विकल्पकाऽऽपत्तिः, अभावत्वस्याखण्डत्वात् । अन्य-थाऽभावविशिष्टबुद्धावपि तन्निर्विकल्पकायोगात् । अपि च-घटपटौ नेत्यादि प्रत्यक्षं घटज्ञानपटज्ञानाऽऽदिकार्यताऽवच्छेदकाऽनाऽऽक्रान्ततया तद्विरहेऽपि स्यात्, तस्माद् घटपटत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविषयताकप्रत्यक्षत्वमेव लाघवाद् घटाऽऽदिधीकार्यताऽवच्छेदकं युक्तमिति घटाऽस्तित्वनास्तित्वयोः सप्रतियोगिताऽप्रतियोगिकत्वे तुल्ययोगक्षेमे; त्वदुक्तहेतुसद्भावेऽपि लाघवाद् भावांशत्यागेन केवलाऽभावस्यैव केवलभावस्याऽपि न भानमिति वक्तुं शक्यत्वात् , निर्विकल्पके प्रमाणाभावात् क्षयोपशमविशेषेणैव तत्तद्विशिष्टज्ञानोपपत्तौ तस्य तदकल्पकत्वात् । अत एव '' द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः । क्व कदा केन किंरूपाः, दृष्टा मानेन केन वा ? '' ॥ १ ॥ इत्यस्मत्संप्रदायवृद्धाः संगिरन्ते । शुद्धाभावप्रत्यक्षप्रतियोगितासंबन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताकप्रत्यक्ष एव विशेषणताया हेतुत्वान्न भवतीत्यपि रिक्तं वचः; प्रतियोगितामात्रेण द्रव्यं नास्ति, मेयं नास्तीत्यादे-

रापत्तेः; प्रकारीभूतकिञ्चिद्धर्माऽवच्छिन्नस्यैव प्रतियोगितावि शेषणेऽपि न विस्तारः, घटाऽभावपटाऽभावयोरुभयोः संनिकर्षे घटाऽभावांशे प्रतियोगिविशेषितस्य पटाभावांशे च तदविशेषितस्य समूहाऽऽलम्बनस्य प्रमाणात्। किञ्चैवमिदन्त्वादिनाऽभावप्रत्यक्षं न स्यात्, न स्याच्चाभाव-प्रतियोगिघट इत्याद्याकारं, तादृशप्रत्यक्षेष्वपि पृथक्कारणत्वकल्पने चाऽतिगौरवम्। तस्मात्सन्निकर्षमात्रस्यैव किञ्चिद्धर्माविच्छिन्नविषयता-निरूपितविषयताकप्रत्यक्षत्वाऽवच्छिन्ने, विशिष्टाऽऽकारप्रत्यक्षत्वाऽ-वच्छिन्ने वा हेतुत्वम्। अतो नायमात्रस्य विचारजन्यचरमशुद्धद्रव्योप-योगितुल्यतेति भावांशेऽभावांशे वा न शुद्धविषयकं प्रत्यक्षमित्यभाव एव सापेक्षो, न भाव इति किमिदमर्द्धजरतीयम्। एतेनाऽभावलौकिक-प्रत्यक्षस्य घटाऽऽद्यन्यतमविशिष्टविषयकत्वनियमाद्विशेषसामग्रीं विना सामान्य-सामग्रीमात्रात् कार्यानुत्पत्तेर्नाभावनिर्विकल्पकं, नेत्याकार-कप्रत्यक्षं वा; विशेषणाऽऽदिज्ञानरूपविशेषसामग्र्यभावात्। न चाऽभा-वलौकिकप्रत्यक्षत्वघटत्वाऽऽदिविशिष्टविषयकप्रत्यक्षत्वयोर्व्याप्य-व्यापकभावाऽभावात्कथं विशेषसामग्रीत्वमिति वाच्यम्; कार्यता-ऽवच्छेदकीभूततद्धर्माऽऽश्रययत्किञ्चिद्व्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपित-कारणताऽवच्छेदकयावत्प्रत्येकतत्तदवच्छिन्नसामग्रीत्वादवश्यं कार्यतद्धर्माविच्छिन्नोत्पत्तिरित्येव नियमात्, तद्धर्मव्याप्यधर्माऽव-च्छिन्नयत्किञ्चिद्व्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपितेत्याद्युक्तौ व्याप्तिज्ञान-परामर्शयोः सत्त्वे बाधधीसत्त्वेऽप्यनुमित्यापत्तौ (सद्धर्म) तद्धर्मव्या-प्यव्यापकधर्माऽवच्छिन्नयत्किञ्चिद्व्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपिते-त्याद्युक्तौ गौरवात्। घटत्वाऽऽदिविशिष्टवैशिष्ट्यविषयकप्रत्यक्षत्व-स्याऽभावलौकिकप्रत्यक्षत्वव्याप्यतत्तदभावलौकिकप्रत्यक्षत्व-व्याप्यतत्तदभावलौकिकप्रत्यक्षत्वव्यापकत्वात्प्रकृतसिद्धेश्चेत्यादि नव्यकल्पनाऽपि निरस्ता। एवं सति द्रव्यविषयकप्रत्यक्षस्य, वस्तु-विषयकप्रत्यक्षस्य वा यत्किञ्चित्पर्याप्तिविशिष्टविषयकत्वनियमेन भावनिर्विकल्पकस्य शुद्धभावप्रत्यक्षस्याऽपि चाऽसंभवात्। अत एव सविचारया सामान्यदृष्ट्या सर्वं निर्विकल्पकम्, विशेषदृष्ट्या च सर्वं सविकल्पकमित्यनेकान्तः पुरुषदृष्टान्तेन सम्मतौ प्रतिपा- दितः।

तथाहि-

'' वंजणपज्जायस्स उ, पुरिसो पुरिसो त्ति निच्चमविअप्पो।
बालाऽऽइवियप्पं पुण, पासइ से अत्थपज्जाओ॥ ३४॥
सविअप्प णिव्विअप्पं, इय पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्पं।
सविअप्पमेव वा णिच्छएण ण य णिच्छिओ समए॥ ३५॥ ''

व्याख्या-व्यञ्जयति न्यनक्ति अर्थानिति व्यञ्जनं शब्दः, न पुनः शब्दनयः, तस्य ऋजुसूत्रसमानपर्यायविषयत्वात्। तस्य पर्यायो वाच्यता तद्ग्राहक नयेन पुरुषः पुरुष इति पुरुषत्वप्रकारकज्ञानविषय इति नित्यमाजन्मनो मरणान्तं यावदविकल्पः पुरुषत्वाऽतिरिक्तप्रकारक-ज्ञानविषयः। इदमुपलक्षणम्-द्रव्यवस्तुत्वाऽऽदिनाऽप्यविकल्पत्वस्य शुद्धद्रव्योपयोगे तु पदद्वयस्य निर्धर्मकत्वलक्षणया शुद्धधर्मिविषयक-भानविषयत्वमेवाविकल्पकत्वं द्रष्टव्यम्। ' से ' तस्य पुरुषस्याऽर्थपर्याय ऋजुसूत्राद्यर्थग्राहकनयः पुनर्बालाऽऽदिविकल्पमेव वा, निश्चयमविकल्पं स्यात्काराऽङ्कितततदुभयपदघटितमहावाक्यबोधस्वरूपपुरुषद्रव्यं यो भणेद्-अविकल्पमेव सविकल्पमेव वा निश्चयेनैकान्तेन स्वसमये परनार्थे न निश्चितः-निश्चयो निश्चितं तदस्यास्तीति निश्चितः, अर्श आदित्वादच्-प्रत्ययो, न तदन्यथेत्यर्थः। दुर्नयानिवेशान्नयज्ञत्वाद्वा संपूर्णनिका-न्तवस्तुस्वरूपापरिच्छेदादिति रहस्यम्॥ तदेवं निषेधवद् विधावपि पक्षत्वं प्रतिपादितम्। एवं स्वद्रव्याऽऽद्यपेक्षया सन् परद्रव्याऽऽद्यपेक्षयाऽसन् इति तृतीयोल्लिख्यमानावच्छेदकप्रतीत्याऽपि सापेक्षत्वं भावनीयम्। अत एव परेऽपि व्याप्यवृत्तावव्याप्यवृत्ताविव प्रतीतिबलात् तत्तदवच्छिन्नवृत्ति-कल्पनं स्वीकुर्वते इति दिक्। नयो०। रत्ना०।

(८) सामान्यविशेषः। एवं निर्विकल्पसविकल्पस्वरूपे प्रतिपा-दयैव पुरुषाऽऽदिवस्तुनि तद्विपर्ययेण तद्वस्तु प्रतिपादयन् वस्तुस्व-रूपानबोधस्वात्मनि ख्याप्रयतीति दर्शनार्थमाह-

सविअप्पणिव्विअप्पं, इय पुरिसं जो भणेज्ज अविअप्पं।
सविअप्पमेव वा णि-च्छएण ण य निच्छिओ समए॥ ३५॥

सविकल्पनिर्विकल्पं स्यात्कारपदलाञ्छितं पुरुषं द्रव्यं यः प्रति-पादकस्तद्वस्तु ब्रूयादविकल्पमेव सविकल्पमेव वा, निश्चयेनेत्य-वधारणेन, स यथाऽवस्थितवस्तुप्रतिपादने प्रस्तुतेऽन्यथाभूतं वस्तुतत्त्वं प्रतिपादयन्न निश्चित इति निश्चितं तदस्यास्तीति निश्चितः, अर्श आदित्वादच्। समये परमार्थिनो वस्तुसत्त्वस्य परिच्छेत्तेति यावत्। तथाहि-प्रमाणपरिच्छिन्नं तथैव वादिसुसंवादि वस्तु प्रतिपादयन् वस्तुनः प्रतिपादक इत्युच्यते। न च तथाभूतं वस्तु केनचित्कदाचित् प्रतिपन्नं प्राप्यते वा, येन तथाभूतं तद्वचस्तत्र प्रमाणं भवेत्; तथाभूतवचना-भिधानात्। च चाप्रमाणतया लोके व्यपदेशमासादयेत्।

परस्परान्तभेदाभेदाऽऽत्मकस्य वस्तुनः सदसद्भावमभिधा-यकस्य वचसः पुरुषस्याऽपि तदभिधानद्वारेण सम्यग् मिथ्यावादि-त्वं प्रतिपाद्याधुना भावविषयं तत्रैवैकान्तानेकान्ताऽऽत्मकमंशं प्रतिपादयतो विवक्षया सुनयदुर्नयप्रमाणरूपतां तत्प्रतिपादकं वचो यथाऽनुभवति, तथा प्रपञ्चतः प्रतिपादयितुमाह। यद्वा-यथैव तद्वस्तु व्यवस्थितं तथैव वचनात्प्रतिपादयतो निपुणत्वं भवति। अन्यथा साङ्ख्यबौद्धकण-भुजामिव भिन्नभिन्नपरस्परनिरपेक्षोभय-वस्तुस्वरूपाभिधानायाव-स्तुधर्महन्मतानुसारिणामपि स्यादस्तीत्यादिसप्तविकल्परूपता-मनापन्नवचनलक्षणस्यात्कारपदलाञ्छितवस्तुधर्मप्रतिपादयता-मनिपुणता भवेदिति प्रपञ्चतः सप्तविकल्पोत्थाननिमित्तमुपदर्शयितुं गाथासमूहमाह-

अत्थंतरभूएहि अ, नियएहि य दोहि समयमाईहिं।
वयणविसेसाऽऽईयं, दव्वमवत्तव्वयं पडइ॥ ३६॥

अस्यास्तात्पर्याऽर्थः-अर्थान्तरभूतः पटाऽऽदिः, निजो घटः, ताभ्यां निजार्थान्तरभूताभ्यां सदसत्त्वं घटवस्तुनः प्रथमद्वितीय-भङ्गनिमित्तं प्रधानगुणभावेन भवतीति प्रथमद्वितीयौ भङ्गौ। यदा तु द्वाभ्यामपि युगपत्तद्वस्त्वभिधातुमभीष्टं भवति, तदाऽवक्तव्यभङ्ग-कनिमित्तं तथाभूतस्य वस्तुनोऽभावात् तत्प्रतिपादकवचना- तीतवत् तृतीयभङ्गसद्भावो, वचनस्य वा तथाभूतस्याभावाद-वक्तव्यं वस्तु। तथाहि-असत्त्वोपसर्जनसत्त्वप्रतिपादने प्रथमो भङ्गः, तद्विपर्ययेण तत्प्रतिपादने द्वितीयः, द्वयोस्तु धर्मयोः प्राधान्येन गुणभावेन च प्रतिपादने न किञ्चिद्वचः समर्थं, यतो न तावत्समासवचनं तत्प्रतिपादकम्; नापि वाक्यं संभवति। स-मास षड्विधः। तावन्न बहुव्रीहिरत्र समर्थः, तस्याऽन्यपदार्थ-प्रधानत्वात्, अत्र चोभयप्रधानत्वात्। अव्ययीभावोऽपि नात्र प्रवर्त्तते, तस्यात्रार्थऽसंभवात्। द्वन्द्वसमासे तु यद्यप्युभयपद-

प्राधान्यं, तथाऽपि द्रव्यवृत्तिस्तावन्न प्रकृतार्थप्रतिपादकः, गुणवृत्तिरपि द्रव्याऽऽश्रितगुणप्रतिपादको, द्रव्यमन्तरेण गुणानां तेषूत्पादादिक्रियाऽऽधारत्वासंभवात्तस्या द्रव्याऽऽश्रित्वाद् न प्रधानाऽऽश्रितयोर्गुणयोः प्रतिपाद्यत्वम्। तत्पुरुषोऽपि नाऽत्र विषये प्रवर्त्तते, तस्याऽप्युत्तरपदार्थप्रधानत्वात्। नाऽपि द्विगुः, संख्यावाचिपूर्वपदत्वात्तस्य। कर्मधारयोऽपि न, गुणाऽऽधारद्रव्याऽऽश्रयत्वात्। न च समासान्तरसद्भावः, येन युगपद्गुणद्वयं प्रधानभावेन समासपदवाच्यं स्यात्। अत एव न वाक्यमपि तथाभूतगुणद्वयप्रतिपादकं संभवति, तस्यापि वृत्त्यभिन्नार्थत्वात्। न च केवलं पदं वाक्यं वा लोकप्रसिद्धम्, तस्याऽपि परस्परापेक्षद्रव्याऽऽदिविषयतया तथाभूतार्थप्रतिपादकत्वायोगात्। न च-'' तौ सत् ''॥ ३। २। १७७॥ (पाणि०) इति शतृशानचोरिव साङ्केतिकपदवाच्यत्वम्, विकल्पप्रभवशब्दवाच्यत्वप्रसक्तेः, विकल्पानां च युगपदप्रवृत्तेर्नैकदा तयोस्तद्वाच्यतासंभवः, न च तेनार्थान्तरैकान्ताभ्युपगमेऽप्यर्थस्य पाच्यता, तथाभूतस्यात्यन्तासत्त्वात्, सर्वथा सत्त्वेऽनयोर्व्यावृत्तत्वान्महासामान्यवद्घटार्थत्वानुपपत्तेः, अर्थान्तरत्वे पररूपादिव स्वरूपादपि व्यावृत्तौ खरविषाणवदसत्त्वादवाच्यतैव। न च घटत्वे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते विधिरूपे सिद्धे असंबद्ध एव अर्थान्तरत्वे पररूपादपि तत्र पटाऽऽद्यर्थप्रतिषेध इति वाच्यम्, पटाऽऽदेस्तत्राभावाभावत्वे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य घटत्वस्यैवासिद्धेः, शब्दानां चार्थज्ञापकत्वं न कारकत्वमिति तथाभूतार्थप्रकाशेन तथाभूतेन शब्देन विज्ञेयमिति नासंबद्धस्तत्र पटाऽऽद्यर्थप्रतिषेधः। अथवा-सर्वं सर्वाऽऽत्मकमिति साङ्ख्यमतव्यच्छेदार्थं तत्प्रतिषेधो विधीयते, तत्र तस्य प्रतीत्यभावात्। यद्वा-नामस्थापनाद्रव्यभावभिन्नेषु विधित्सितविधित्सितप्रकारेण प्रथमतृतीयौ भङ्गौ, न च तत्प्रकाराभ्यां युगपदादिष्टोऽयम्, तथाऽभिधेयपरि-णामरहितत्वात्तस्य, यतो यद्यपि विधित्सितरूपेणाऽपि घटः स्यात्; प्रतिनियतनामाऽऽदिभेदव्यवहाराभावप्रसक्तिः। तथा च विधि-त्सितस्याऽपि नाऽऽत्मलाभ इति सर्वाभाव एव भवेत्। तथा यद्यविधित्सितप्रकारेणाऽप्यघटः स्यात्, तदा तन्निबन्धनव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरेव, एकपक्षाऽभ्युपगमेऽपि तदितराभावे तस्याप्यभाव इत्यपि वाच्यः। अथवा-स्वीकृतप्रतिनियतप्रकारे तत्रैव नामाऽऽदिके यः संस्थानाऽऽदिस्तत्स्वरूपेण घटः, इतरेण चाघट इति प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यः। विवक्षितसंस्थानाऽऽदिनेव यदीतरेणाऽपि; घटरूपादेकस्य सर्वघटाऽऽत्मकत्वप्रसक्तिः। अथ विवक्षितेन, अघटे पटाऽऽदाविव घटार्थिनस्तत्राऽप्यवृत्तिप्रसक्तिः। एकान्ताभ्युपगमेऽपि तथाभूतस्य प्रमाणाऽविषयत्वतोऽसत्त्वादवाच्यः॥ ३॥ यदि वा-स्वीकृतप्रतिनियतसंस्थानाऽऽदौ मध्यावस्थायां निजरूपम्, कुशूलकपालाऽऽदिलक्षणे पूर्वोत्तराऽवस्थेऽर्थान्तररूपम्, ताभ्यां सदसत्त्वे प्रथमद्वितीयौ, युगपत्ताभ्यामभिधातुमसामर्थ्यादवाच्यलक्षणस्तृतीयो भङ्गः। तथाहि-मध्यावस्थावदितरावस्थायामपि यदि घटः स्यात्तस्याऽऽद्यनन्तत्वप्रसक्तिः। अथ मध्यावस्थारूपेणाऽप्यघटः, सर्वदा घटाभावप्रसक्तिः। अतीतानागतवर्तमानक्षणरूपतया सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयभङ्गौ, ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यलक्षणस्तृतीयः। तथाहि-यदि वर्त्तमानक्षणवत्पूर्वोत्तरक्षणयोरपि घटः स्याद्वर्त्तमानक्षणत्वमेवाऽसौ जातः, पूर्वोत्तरयोर्वर्त्तमानताप्राप्तेः। न च वर्त्तमानक्षणमात्रमपि, पूर्वोत्तरापेक्षस्य तदभावेऽभावात्। अथाऽतीतानागतवर्त्तमानक्षणरूपतयाऽप्यघटः, एवं सति सर्वदा तस्याभावप्रसक्तिः, एकान्तपक्षेऽप्ययमेव दोष इत्यभावादेवावाच्यः॥४॥ यद्वाक्षणपरिणतिरूपे घटे लोचनजप्रतिपत्तिविषयत्वाभ्यां निजार्थान्तरभूताभ्यां सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयौ भङ्गौ, ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्योऽवाच्यः। तथाहि-लोचनजप्रतिपत्तिविषयत्वेनेव यदीन्द्रियान्तरजप्रतिपत्तिविषयत्वेनाऽपि घटः स्यादिन्द्रियान्तरकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिः, इन्द्रियसङ्करप्रसक्तिश्च। अथेन्द्रियान्तरजप्रतिपत्तिविषयत्वेनेव चक्षुर्जप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि न घटः, तर्हि तस्याऽरूपत्वप्रसक्तिरेकान्तवादेऽपि तदितराभावे तस्याप्यभावादवाच्य एव। अथवा-लोचनजप्रतिपत्तिविषये तस्मिन्नेव घटे घटशब्दवाच्यता निजं रूपं, कुटशब्दाभिधेयत्वमर्थान्तरभूतं रूपं, ताभ्यां प्रथमद्वितीयौ, युगपत्ताभ्यामभिधातुमिष्टोऽवाच्यः। यदि हि घटशब्दवाच्यत्वेनेव कुटशब्दवाच्यत्वेनापि घटः स्यात्तर्हि त्रिजगत एकशब्दवाच्यताप्रसक्तिः, घटस्य वाऽशेषपटाऽऽदिशब्दवाच्यत्वप्रतिपत्तौ समस्ततद्वाचकशब्दप्रतिपत्तिप्रसङ्गश्च। तथा घटशब्देनाऽपि यद्यवाच्यः स्याद्, घटशब्दोच्चारणवैयर्थ्यप्रसक्तिः। एकान्ताभ्युपगमेऽपि घटस्यैव सत्त्वात्सङ्केतद्वारेणाऽपि न तद्वाचकः कश्चिच्छब्द इत्यवाच्य एव। अथवा-घटशब्दाभिधेये तत्रैव घटे हेयोपादेयान्तरङ्गबहिरङ्गोपयोगायोगरूपतया सदसत्त्वात्प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः। यदि हि हेयबहिरङ्गानर्थक्रियाकार्यसन्निहितरूपेणार्थक्रियाक्रमाऽऽदिरूपेणेव घटः स्यात्, तदा पटाऽऽदीनामपि घटत्वप्रसक्तिः, तर्हि घटोपादेयसन्निहिताऽदिरूपेणाप्यघटः स्यात्। अन्तरङ्गस्य वक्तृगतहेतुफलभूतघटाकारावबोधकत्वे तस्योपयोगस्याऽप्यभावे घटस्याऽप्यभावप्रसङ्ग इत्यवाच्यः, एकान्ताभ्युपगमेऽप्ययमेव प्रसङ्ग इत्यवाच्यः। अथवा-तत्रैवोपयोगवदर्थावबोधकत्वानभिमतार्थाऽनवबोधकत्वेन सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः, विवक्षितार्थप्रतिपादकत्वेनेवेतरेणाऽपि यदि घटः स्यात्प्रतिनियतोपयोगाभावः, तथाऽभ्युपगमे प्रतिनियतरूपोपयोगप्रतिपत्तिर्न भवेत्। तदुपयोगरूपेणापि यद्यघटो भवेत्, तदा सर्वाभावो, विशेषप्रसङ्गो वा। न चैवम्, तथाऽप्रतीतेः; एकान्त-पक्षेप्ययमेव प्रसङ्ग इत्यवाच्यः॥ ६॥ अथवा सत्त्वमसत्त्वं वाऽर्थान्तरभूतं, निजं घटत्वं, ताभ्यां प्रथमद्वितीयाभेदेन, ताभ्यामनिर्दिष्टो घटोऽवक्तव्यो भवति। तथाहि-यदि सत्त्वमा-साद्य घटत्वं विधीयते तदा सत्त्वस्य घटत्वव्याप्तेर्घटस्य सर्वगतत्वप्रसङ्गः, तथाऽभ्युपगमे प्रतिभासबाध्यव्यवहारविलोपश्च। तथाऽसत्त्वमर्थमप्यनूह्य यदि घटत्वं विधीयते, तर्हि प्राग-भावाऽऽदेश्चतुर्विधस्याऽपि घटेन व्याप्तेरघटत्वप्रसङ्गः, अघटत्वमनूह्य सत्त्वं विधीयते तदा घटत्वं यत्तदेव सदसत्त्वे प्रसज्येत। तथा च-पटाऽऽदीनां प्रागभावाऽऽदीनां वा भावप्रसक्तिरिति प्राक्तनन्यायेन विशेषणविशेष्य-लोपात्स न घट इत्येवमवक्तव्योऽघट इत्येवमप्यवक्तव्यः; चैतत्तो वाच्यः, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवाच्य इति न कश्चिद्दोषः॥ १०॥ यद् व्यञ्जनपर्यायोऽर्थान्तरभूतस्तदतद्विषयत्वात्तस्य घटार्थपर्यायस्त्वन्यत्राप्रवृत्तेर्निजः, ताभ्यां प्रथमद्वितीयाभ्यां भेदेन ताभ्यां निर्देशो वक्तव्यः, यतोऽत्रापि यदि व्यञ्जनमत्तर्ह्यघटपर्यायविधिः, तदा तस्याऽशेषघटाऽऽत्मकत्वाप्रसक्तिरिति भेदनिबन्धनतद्व्यवहारविलोपः। अथाऽर्थपर्यायमनूह्य व्यञ्जनपर्यायविधिः, तत्रापि कार्यकारणव्यतिरेकाभावप्रसक्तिः, सिद्धविशेषानुवादेन घटत्वसामान्य-

विधाने तस्याकार्यत्वात् । एवं च घटस्याभावादवाच्यः, अनेकान्तपक्षेऽपि युगपदभिधातुमशक्यत्वात् कथञ्चिदवाच्यः सिद्धः ॥११॥ यद्वा-सर्वमर्थान्तरभूतं, तस्य विशेषवदेकत्वादनन्वयिरूपता, अत एव न तावद्वाच्यमन्त्यविशेषवत्, अन्त्यविशेषस्तु निजः सोऽप्यवाच्यः, अनन्वयात् । प्रत्येकवक्तव्याभ्यां ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवक्तव्यः । अथवा-सद्भूतरूपाः सत्त्वाऽऽदयो घट इत्यत्र दर्शने अर्थान्तरभूताः सत्त्वाऽऽदयो निजसद्भूतरूपत्वाभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, यतः सद्भूतरूपस्य सत्त्वरजस्तमःस्वरूपत्वे रजस्तमसामभावप्रसक्तिः, तेषां परवैलक्षण्येनैव सत्त्वात्सद्भूतरूपत्वे च वैलक्षण्यभावादभाव इति विशेष्याभावादवाच्यः । असत्त्वे त्वसत्कार्योत्पादप्रसङ्गः । न चैतदभ्युपगम्यते, अभ्युपगमेऽपि विशेषणाभावादवाच्यः । अथैवं रूपाऽऽदयोऽर्थान्तरभूता असद्भूतरूपमेवं निजं, ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः, यथा ह्यरूपाऽऽदिव्यावृत्ता रूपाऽऽदयः, त एव च रूपाऽऽदीनां घटतामवाच्याः, रूपाऽऽदित्वाद् घटस्य, न हि परस्परविलक्षणबुद्धिग्राह्या रूपाऽऽदय एकानेकाऽऽत्मकप्रत्ययग्राह्यरूपाऽऽदिरूपघटतां प्रतिपद्यन्ते, इयं घटता अवाच्यरूपाऽऽदित्वाद् घटस्य न हि परस्परविलक्षणेति विशेष्यलोपादवाच्यः । यदि वा-रूपाऽऽदयोऽर्थान्तरभूताः, असद्भूतार्थो निजः, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, रूपाऽऽद्यात्मकैराभासप्रत्ययविषयव्यतिरेकेणापरसंबन्धान्नयगतेर्विशेष्याभावाद्रूपाऽऽदिमान् घट इत्यबाह्यगतैवाकारप्रतिभासाद् व्यतिरेकेणापररूपाऽऽदिप्रतिभास इति विशेषणाभावादप्यवाच्यः, अनैकान्ते तु कथञ्चिदवाच्यः ॥ १५ ॥ अथवा-बाह्योऽर्थान्तरभूतः, उपयोगस्तु निजः, ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः । तथाहि-य उपयोगः स घट इति यद्युपेतः, तर्ह्युपयोगमात्रकमेव घट इति सत्त्वोपयोगस्य घटत्वप्रसक्तिरिति प्रतिनियतस्वरूपाभावादवाच्यः । अथाऽयं घटस्य उपयोग इत्युच्यते, तथाऽप्युपयोगस्यार्थत्वप्रसक्तिरित्युपयोगाभावे घटस्याऽप्यभावः, ततश्च कथञ्चिदवाच्यः ॥ १६ ॥ एते च त्रयो भङ्गा गुणप्रधानभावेन सकलधर्माऽऽत्मकैकवस्तुप्रतिपादकाः स्वयं तथाभूताः सन्तो निरवयवप्रतिपत्तिद्वारेण सकलादेशाः । वक्ष्यमाणास्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारेणाशेषधर्म्माऽऽक्रान्तं वस्तु प्रतिपादयन्तोऽपि विकलादेशा इति केचित्प्रतिपन्नाः । वाक्यं च सर्वमेकानेकाऽऽत्मकं सत्स्वाभिधेयमपि तथा-भूतमवबोधयति, यतो न तावन्निरवयवेन वाक्येन वस्तुस्वरूपाभिधानं संभवति । अनन्तधर्माऽऽक्रान्तैकाऽऽत्मकत्वाद्वस्तुनो निरवयववाक्यस्य त्वेकस्वभाववस्तुविषयत्वात्तथाभूतस्य च वस्तुनोऽसंभवान्निरवयवस्य तस्य वाक्यमभिधायकम्, नाऽपि सावयवं वाक्यं वस्त्वभिधायकं संभवति; वस्तुन एकत्वात्। न च वस्तुनो व्यतिरिक्तास्तद्देशाः, तद्व्यतिरेकेण तेषामप्रतीतेरेकस्वरूपव्याप्त्याऽनेकांशप्रतिभासः, न च तदेकाऽऽत्मकमेव, अनेकांशानुरक्तस्यैवैकाऽऽत्मनः प्रतिभासात्, अतो वस्तुन एकानेकस्वभावत्वात्तथाभूतवस्त्वभिधायकाः शब्दा अपि तथाभूता एव, नैकान्ततः सावयवाः, उत नैकान्ततो निरवयदरूपा वा; तत्र विवक्षाकृतप्रधानभावः सदेकधर्माऽऽत्मकस्यापेक्षितोऽपराशेषधर्मक्रोडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यताप्रतीतेः, स्यादस्ति घटः, स्यान्नाऽस्ति घटः, स्यादवक्तव्यो घटः, इत्येते त्रयो भङ्गा इति सकलादेशाः । विवक्षाविरचिताद्विचित्रधर्मानुरक्तस्य स्यात्- कारपदसंसूचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य प्रतिपत्तेश्चत्वारो वक्ष्यमाणका विकलादेशाः-स्यादस्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलाऽऽदेशः, स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः, स्यान्नास्ति चाऽवक्तव्यश्च घट इति तृतीयः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति चतुर्थः । एत एव सप्त भङ्गाः स्यात्पदलाञ्छनविरहिणोऽवधारणैकस्वभावा विषयाभावतो दुर्नया भवन्ति । धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाकरणात् स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवणा एत एव सुनयरूपतामासादयन्ति; स्यात्पदलाञ्छनविवक्षितैकधर्मावधारणवशाद्वा सुनयाः । द्रव्यादेरेकदेशस्य व्यवहारनिबन्धनत्वेन विवक्षितत्वाद् धर्म्मान्तरस्य वा निषिद्धत्वादतः स्यादस्तीत्यादिप्रमाणमस्त्येवेत्यादिदुर्नयः, अस्तीत्यादिकः सुनयाः ।

ननु संव्यवहारात् स्यादस्त्येवेत्यादिः सुनय एव व्यवहारकारणम्, स्वपराव्यावृत्तवस्तुविषयप्रवर्त्तकवाक्यव्यवहारकारणत्वात्, अन्यथाऽतद्योगादेवं निरवयववाक्यस्वरूपं दर्शयितुमाह-

अह देसो सब्भावे, देसोऽसब्भावपज्जवे णियओ ।
तं दवियमत्थि नत्थि य, आएसविसेसियं जम्हा ॥ ३७ ॥

(अथेति) यदा देशो वस्तुनोऽवयवसद्भावेऽस्तित्वे नियतः सन्नेवायमित्येवं निश्चितोऽपरश्च देशोऽसद्भावे एव पर्याये नास्तित्व एव नियतोऽसन्नेवायमित्यवगतः; अवयवेभ्योऽवयविनः कथञ्चिदभेदादवयवधर्मैस्तस्याऽपि तथाव्यपदेशो यथा कुण्डो देवदत्त इति; ततोऽवयवसत्त्वासत्त्वाभ्यामवयव्यपि सन् न संभवति । ततस्तद् द्रव्यमस्ति च नास्ति चेति भवत्युभयप्रधानावयवभागेन विशेषितं यस्मात् । तथाहि-यदवयवो न विशिष्टधर्मिणोऽस्ति, परद्रव्याऽऽदिरूपेण च स एव नाऽस्ति । तथा च पुरुषाऽऽदिवस्तुविवक्षितपर्यायेण बालाऽऽदिना परिणतं, कुमाराऽऽदिना वा परिणतमित्यादि-दिष्टमिति योज्यम् ।

पूर्वभङ्गकप्रदर्शितन्यायेन पञ्चमभङ्गकप्रदर्शनमाह-

सब्भावे आइट्ठो, देसो देसो य उभयहा जस्स ।
तं अत्थि अवत्तव्वं, च होइ दविअं वियप्पवसा ॥ ३८ ॥

सद्भावेऽस्तित्वे यस्य यस्य संभवति घटाऽऽदेर्धर्मिणो देशो धर्म आदिष्टोऽवक्तव्यानुविद्धस्वभावः, अन्यथा तदसत्त्वात्, न ह्यपरधर्माप्रविभक्ततामन्तरेण विवक्षितधर्मास्तित्वमस्य संभवति । खरविषाणाऽऽदेरिव तस्यैवापरो देश उभयथाऽस्तित्वनास्तित्वप्रकाराभ्यामेकदैव विवक्षितोऽस्तित्वानुविद्ध एवावक्तव्यस्वभावः; अन्यथा तदसत्त्वप्रसक्तिः । न ह्यस्तित्वाभावे उभयातिरिक्तता शशशृङ्गाऽऽदेरिव तस्य संभवति, प्रथमतृतीयकेवलभङ्गव्युदासस्तथा-विवक्षावशात्कृतो द्रष्टव्यः, तत्र प्रथमतृतीययोर्भङ्गकयोः परस्पराविशेषणभूतयोः प्रतिपाद्येनाधिगन्तुमिष्टत्वात्, प्रतिपादकेनाऽपि तथैव विवक्षितत्वाद्, तत्र तु तद्विपर्ययादतद्धर्माऽऽत्मकस्य धर्मिणः प्रतिपाद्यानुरोधेन तथाभूतधर्माऽऽक्रान्तत्वेन च वक्तुमिष्टत्वात्तद्द्रव्यमस्ति चाऽवक्तव्यम्, तद्धर्मविकल्पनवशात्।

धर्मयोस्तथापरिणतयोस्तथा व्यपदेशे धर्मोऽपि तद्द्वारेण तथैव व्यवदिश्येतेति षष्ठभङ्गकं दर्शयितुमाह-

आइट्ठोऽसब्भावे, देसो देसो अ उभयहा जस्स ।
तं णऽत्थि अवत्तव्वं, च होइ दवियं वियप्पवसा ॥ ३९ ॥

आदेशमन्तरेण विवक्षितधर्म्मास्तित्वमस्य न संभवति, यस्य वस्तुनो देशोऽसत्वे निश्चितोऽसन्नेवायमित्यवक्तव्याऽनुविद्धोऽपरस्मादनुविद्ध उभयथा सन्नसँश्चेत्येवं युगपन्निश्चितस्तदा तद्द्रव्यं नास्ति चावक्तव्यं च भवति, विकल्पवशाद् व्यपदेशाद् द्रव्यमपि तद्व्यपदेशमासादयति। केवलद्वितीयतृतीयभङ्गकव्युदासेन षष्ठभङ्गः प्रदर्शितः।

सप्तमप्रदर्शनायाऽऽह-

सब्भावाऽसब्भावे, देसो देसो य उभयहा जस्स।
तं अत्थि णत्थिऽवत्त-व्वयं च दवियं वियप्पवसा॥ ४०॥

यस्य देशिनो देशोऽवयवो देशो धर्मो वा सद्भावे नियतो निश्चितोऽपरस्त्वसद्भावादभावेऽसत्त्वे, तृतीयश्चोभयथेत्येव देशानां सद-सन्न वक्तव्यः, व्यपदेशात्तदपि द्रव्यमस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च भवति, विकल्पवशात्; तथाभूतविशेषणाध्यासितस्य द्रव्यस्यानेन प्रतिपादनादपरसङ्गव्युदासः। एते च परस्परूपापेक्षया सप्तभङ्गाऽऽत्मकाः प्रत्येकं स्वार्थं प्रतियन्ति, नान्यथेति प्रत्येकं तत्समुदायो वा सप्तभङ्गाऽऽत्मकः प्रतिपाद्यमपि तथाभूतं दर्शयतीति व्यवस्थितमत्र चाऽऽद्यभङ्गकस्त्रिधा; द्वितीयोऽपि त्रिधैव; तृतीयो दशधा; चतुर्थोऽपि दशधैव; पञ्चमाऽऽदयस्तु त्रिंशदधिकशतपरिमाणाः। प्रत्येकं श्रीमन्मल्लवादिप्रभृतिभिर्दर्शिताः, पुनश्च षट्त्रिंशत्यधिकाः चतुर्दशशतपरिमाणास्त एव च द्व्यादिसंयोगकल्पनया कोटिशो भवन्तीत्यमिहितं तैरेव। अत्र तु ग्रन्थविस्तरभयात्तथा न प्रदर्शिताः, तत एवावधार्याः। अथानन्तधर्माऽऽत्मके वस्तुनि तत्प्रतिपादक-वचनस्य सप्तधा कल्पनेऽष्टमवचनविकल्पपरिकल्पनमपि किं न क्रियते? इति न वक्तव्यम्, तत्परिकल्पननिमित्ताभावात्। तथाहि-नैतत्साऽवयवाऽऽत्मकादपरं निमित्तं तत्परिकल्पयितुं युक्तम्, चतुर्थाऽऽदिवचनविकल्पेषु तस्यान्तर्भावप्रसक्तेः। नाऽपि निरवयवाऽऽत्मकमन्योन्यनिमित्तकं तत्परिकल्पनामर्हति, प्रथमाऽऽदिषु तत्पूर्वप्रसक्तेः। न च गत्यन्तरमस्तीति नाऽष्टमभङ्गपरिकल्पना युक्ता। किञ्चाऽसौ क्रमेण वीतधर्मद्वयं प्रतिपादयति, यौगपद्येन वा प्रथमपक्षे गुणप्रधानभावेन तत्प्रतिपादने प्रथमद्वितीययोरन्तर्भावः। प्रधानभावेन तत्प्रतिपादने भङ्गान्तरकल्पनायां प्रथमद्वितीयभङ्गक एव प्रसज्यते। प्रथमतृतीयसंयोगात्पञ्चप्रसक्तिः, द्वितीय-तृतीयसंयोगात् षष्ठप्रसक्तिः, प्रथमद्वितीयतृतीयसंयोगात्सप्तमः, प्रथमसंयोगे द्विसंयोगकल्पनायां पुनरुक्तदोषः, तस्मान्न कथञ्चिदष्टमभङ्गसंभव इत्युक्तन्यायाद्वस्तुप्रतिपादने सप्तविध एव वचनमार्गः।

अन्योऽन्यापरित्यागव्यवस्थितस्वरूपवाक्यनयानां शुद्ध्यशुद्धिविभागेन संग्रहाऽऽदिव्यपदेशमासादयतां द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयावेव मूलाधार इति प्रदर्शनार्थमाह-

एवं सत्तवियप्पो, वयणपहो होइ अत्थपज्जाए।
वंजणपज्जाए पुण, सवियप्पो णिव्वियप्पो उ॥ ४१॥

एवमित्यनन्तरोक्तप्रकारेण सप्तविकल्पः सप्तभेदः वचनमार्गो वचनपथो भवत्यर्थपर्यायेऽर्थनये संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणे सप्ताप्यनन्तरोक्ता भङ्गका भवन्ति। तत्र प्रभूमः संग्रहे सामान्यग्राहिणि, द्वितीयस्तु नास्तीत्ययं तु व्यवहारे विशेषग्राहिणि, ऋजुसूत्रे तृतीयः, चतुर्थः संग्रहव्यवहारयोः, पञ्चमः संग्रहऋजुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहारऋजुसूत्रयोः, सप्तमः संग्रहव्यवहारऋजुसूत्रेषु। व्यञ्जनपर्याये शब्दनये सविकल्पः, प्रथमे पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावेऽप्यर्थस्यैकत्वात्। द्वितीयतृतीये निर्विकल्पः, द्रव्यार्थसामान्यलक्षणान्तर्गतपर्यायाभिधायकत्वात्, समभिरूढस्य पर्यायभेदभिन्नार्थत्वात्, एवंभूतास्याऽपि विवक्षितक्रियाकालार्थत्वाल्लिङ्गसंज्ञाक्रियाभेदेन भिन्नस्यैकशब्दवाच्यत्वात् शब्दाऽऽदिषु तृतीयः, प्रथमद्वितीयसंयोगे चतुर्थः, तेष्वेव चानभिधेयसंयोगे पञ्चमषष्ठसप्तमा वचनमार्गा भवन्ति। अथवा-प्रदर्शितस्वरूपा सप्तभङ्गी संग्रहव्य-वहारर्जुसूत्रेषु चार्थनयेषु भवतीत्याह-'' एवं सत्तवियप्पा '' इत्या-दिगाथाम्। अस्यास्तात्पर्याऽर्थः-अर्थनय एव सप्तभङ्गाः, शब्दाऽऽदिषु त्रिषु नयेषु प्रथमतृतीयावेव भङ्गौ। यो ह्यर्थमाश्रित्य वक्तृस्थसंग्रहव्यवहारसूत्राऽऽख्यप्रत्ययः प्रादुर्भवति सोऽर्थनयः, अर्थवशेनतदुत्पत्तेः, अर्थं प्रधानतयाऽसौ व्यवस्थापयतीति कृत्वा। शब्दं तु स्वप्रभवमुपसर्जनतया व्यवस्थापयति, तत्प्रयोगस्य परार्थत्वात्। यस्तु श्रोतरि तच्छब्दश्रवणादुद्गच्छति शब्दसमभिरूढ एवं-भूताऽऽख्यः प्रत्ययस्तस्य शब्दप्रधानं, तद्वशेन तदुत्पत्तेरर्थः प्रधानं तथाऽप्युपसर्जनं तदुत्पत्तावनिमित्तत्वात्, स शब्दनय उच्यते। तत्र च वचनमार्गः सविकल्पनिर्विकल्पतया द्विविधःसविकल्पं सामान्यनिर्विकल्पपर्यायः, तदभिधानाद्वचनमपि तथा व्यपदिश्य ते। तत्र शब्दसमभिरूढौ संज्ञाक्रियाभेदेऽप्यभिन्नमर्थं प्रतिपादयत इति तदभिप्रायेण सविकल्पो वचनमार्गः प्रथमभङ्गकरूपः। एवं-भूतस्तु क्रियाभेदाद्भिन्नमेवार्थं तत्क्षणे प्रतिपादयतीति निर्विकल्पो द्वितीयभङ्गकरूपस्तद्वचनमार्गः। अवक्तव्यभङ्गकस्तु व्यञ्जननये न संभवत्येव, यतः श्रोत्रभिप्रायो व्यञ्जननयः, स च शब्दश्रवणादर्थं प्रतिपद्यते, न शब्दाश्रवणात्। अवक्तव्यस्तु शब्दाभावविषय इति नावक्तव्यभङ्गको व्यञ्जनपर्याये संभवतीत्यभिप्रायवता व्यञ्जनप-र्याये तु सविकल्पनिर्विकल्पौ प्रथमद्वितीयवेव भङ्गावभिहितावाचार्येण। तुशब्दस्य गाथायामेवकारार्थत्वात्।

इदानीं परस्परूपापरित्यागप्रवृत्तसंग्रहाऽऽदिनयप्रादुर्भूततथाविधा एव वाक्यनयास्तथाविधार्थप्रतिपादका इत्येतत्प्रतिपाद्यान्यथाऽभ्युपगमे तेषामप्यध्यक्षविरोधतोऽभाव एवेत्येतदुपदर्शनाय केवलानां तेषां तावन्मतमुपन्यस्यति-

जह दवियप्पियं तं, तहेव अत्थि त्ति पज्जवणयस्स।
ण य स समयपन्नवणा, पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा॥ ४२॥

यथा वर्त्तमानकालसंबन्धितया यद् द्रव्यमर्पितं प्रतिपादयितुमभीष्टं, तत्तथैवाऽस्ति, नान्यथा, अनुत्पन्नविनष्टनयभाविभूतयोरविद्यमानत्वेनाप्रतिपत्तेः; अप्रतीयमानयोश्च प्रतिपादयितुमशक्तेरिति प्रसङ्गात् वर्त्तमानसंबन्धेनैव तस्य प्रतीतेरिति पर्यायार्थिकनयवाक्यस्याऽभिप्रायः। एतदेकान्तवादी दूषयितुमाह-नेति प्रतिषेधे, स इति तथाविधो वाक्यनयः परामृश्यते, समय इति सम्यङ् मीयते परिच्छिद्यत इति समयोऽर्थः, तस्य प्रज्ञापना प्ररू-पणा, पर्यायनयमात्रे द्रव्यनयनिरपेक्षे पर्यायनये प्रतिपूर्णा पुष्कला संपद्यते। न स वाक्यनयः सम्यगर्थप्रत्यायनं पूरयतीति पर्यायनयस्य साधारणैकान्तप्रतिपादनरूपस्याध्यक्षबाधनात्। तद्बाधां चाग्रतः प्रतिपादयिष्यते।

द्रव्यार्थिकवाक्यनयेऽप्ययमेष न्याय इति तदभिप्रायं तावदाह-

पडिपुण्णजोव्वणगुणो, जह लज्जइ बालभावचरिएहिं ।
कुणइ य गुणपणिहाणं, अणागयसुहोवहाणत्थं ॥ ४३ ॥

प्राप्तयौवनगुणः पुरुषो लज्जते बालभावसंवृत्ताऽऽत्मीयानुष्ठानस्मरणात्-पूर्वमहमप्यस्पृश्यसंस्पर्शाऽऽदिव्यवहारमनुष्ठितवान् । यथेत्युदाहरणार्थो गाथायामुपन्यस्तः, यथैवं ततोऽतीतवर्त्तमानयोरेकत्वमवसीयते । करोति च गुणेषूत्साहाऽऽदिषु प्रणिधानमेकाग्र्यम, अनागतं यत्सुखं तस्योपधानं प्राप्तिः, तस्यै तदर्थमपि, तस्मा-त्सुखसाधनात्सुखं प्राप्तव्यमिति, यतश्चैवमतोऽनागतवर्तमानयोरैक्यम् ।

अत्राऽपि मते यथाऽवस्थितवस्तुस्वरूपप्ररूपणा न प्रतिपूर्यत इति सूत्रान्तरेण दर्शयति-

ण य होइ जोव्वणत्थो, बालो अण्णो वि लज्जइ ण तेण ।
ण वि य अणागयवयगुण-पसाहणं जुज्जइऽविभत्ते ॥ ४४ ॥

न च भवति यौवनस्थः पुरुषो बालः, अपि त्वन्य एव, अन्योऽपि न लज्जते बालचरितेन पुरुषान्तरवत् , तेनाऽन्येन । अथाऽनागतवृद्धावस्थायां सुखप्रसाधनार्थमुत्साहस्तस्य युज्यते अत्यन्तभेदे । एतदेवाऽऽह-विभक्त इति । विभक्तिर्भेदः । अकारप्रश्लेषादविभक्ते भेदाभावे अविचलितस्वरूपतया तत्प्रसाधकगुणयत्नासंभवात् , तस्मान्नाभेदमात्रं तत्त्वं, कथञ्चिद्भेदव्यवहृतिप्रतिभासबाधितत्वा-त् , नापि भेदमात्रम् , एकत्वव्यवहारप्रतिपत्तिनिराकृतत्वादिति भेदाभेदाऽऽत्मके तत्त्वमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः ।

एवमभेदभेदाऽऽत्मकस्य पुरुषतत्त्वस्य यथाऽतीतानागतदोषगुणनिन्दाऽभ्युपगमाभ्यां संबन्धः, तथैव भेदाऽभेदाऽऽत्मकस्य तस्य संबन्धाऽऽदिभियोग इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसंहारार्थमाह-

जाइकुलरूवलक्खण-सण्णासंबधओ अहिगयस्स ।
बालाऽऽइभावदिट्ठवि-गयस्स जह तस्स संबंधो ॥ ४५ ॥

जातिः पुरुषत्वाऽऽदिका, कुलं प्रतिनियतपुरुषजन्यत्वम्, रूपं सुरूपकुरूपाऽऽदित्वं, लक्षणं तिलकाऽऽदि सुखाऽऽदिसूचकम्, संज्ञा प्रतिनियतशब्दाभिधेयत्वम् । एभिर्यः संबन्धस्तदात्मपरिणामः, ततस्तमाश्रित्याधिगतस्य ज्ञानस्य तदात्मकत्वेनाभिन्नावभासविषयस्य । यद्वा-संबन्धो जन्यजनकभावः, एभिरधिगतस्य लक्षणतत्स्वभावस्यैकाऽऽत्मकस्येति यावत् । बालाऽऽदिभावैर्दृष्टविगतस्य तैरुत्पादविगमाऽऽत्मकस्य तथा भेदप्रतीतेस्तस्य, यथा तस्य संबन्धो भेदाभेदपरिणतिरूपो, भेदाभेदाऽऽत्मकत्वप्रतिपत्तेर्बाह्याध्यक्षेणाध्यात्मिकाऽध्यक्षतोऽपि तथा प्रतीतेः ।

तथारूपं तद्वस्त्विति प्रतिपादयन्नाह दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसंहारेण-

तेहिंअतीतानागय-दोसगुणदुगंछणब्भुवगमेहिं ।
तह बंधमोक्खसुहदु-क्खपत्थणा होइ जीवस्स ॥ ४६ ॥

ताभ्यामतीतानागतदोषगुणजुगुप्साऽभ्युपगमाभ्यां यथा भेदाभेदाऽऽत्मकस्य पुरुषत्वस्य सिद्धिः, तदा दार्ष्टान्तिकेऽपि (तह बंधमोक्खसुहदुक्खपत्थणा होइ जीवस्स इति) तथा बन्धमोक्षसुखदुःखप्रार्थना; तत्र च बन्धनोपादानपरित्यागद्वारेण भेदाभेदाऽऽत्मकस्यैव जीवद्रव्यस्य भवति, बालाऽऽद्यात्मकपुरुषद्रव्यवत् । ततो जीवस्य पूर्वोत्तरभावानुभवितुरभावाद्बन्धमोक्षभावाभावः, उत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकतयाऽनाद्यनन्तस्य प्रसाधितत्वात् । तथाहि-मरणचित्तं भावाऽऽद्युत्पादस्थित्यात्मकं, मरणचित्तत्वात् , जीवदवस्थाविनाशचित्तवत् । तथा जन्माऽऽदौ चित्तप्रादुर्भावोऽतीतचित्तस्थितिविनाशाऽऽत्मकः, चित्तप्रादुर्भावत्वात् , मध्यावस्थाचित्तप्रादुर्भाववत् । अन्यथा तस्याप्यभावप्रसक्तिः । न चास्याभावः, हर्षविषादाऽऽद्यनेकविवर्त्ताऽऽत्मकस्यानन्यत्वात् बाह्यस्यान्तर्मुखाऽऽकारतया स्वसंवेदनाऽध्यक्षतः शरीरवैलक्षण्यतोऽनुभूतेः । न च तथा प्रतीयमानस्याप्यभावः, शरीराऽऽदेरपि बहिर्मुखाऽऽकारतया प्रतीयमानस्याऽभावप्रसक्तेः । न च नित्यैकान्तरूपे आत्मनि जन्ममरणेऽप्यसंभवे, कुतो बन्धमोक्षप्रसक्तिः ? न च नित्यस्याऽप्यात्मनोऽभिनवबुद्धिशरीरेन्द्रियैर्योगो जन्म, तद्वियोगो मरणमितिकल्पना संगता, अस्याः पूर्वं निषिद्धत्वात् । न चैकान्तोत्पादविनाशाऽऽत्मके विषये इहलोके परलोके च परलोकव्यवस्था, बन्धाऽऽदिव्यवस्था वा युक्ता । यत ऐहिककायत्यागे-नाऽऽमुष्मिकतदुपादानमेकस्यापरलोकः, पूर्वग्रामपरित्यागादथ तदितरैकपुरुषरूपवत् । न च दृष्टान्तेऽप्येकत्वमसिद्धम् , उभयावस्थायास्तस्यैकत्वेन प्रतिपत्तेः । न चेयं मिथ्या, बाधकाभावात् , विरुद्धधर्मसंसर्गाऽऽदेः बाधकस्याऽध्यक्षबाधाऽऽदिना निरस्तत्वात् । न च पूर्वावस्थात्याग एकस्योत्तरावस्थोपादानमन्तरेण दृष्टः, पृथुबुध्नोदराऽऽद्याकारविनाशवन्मृद्द्रव्यस्य कपालोत्पादनमन्तरेण दर्शनात् । न च कपालोत्पादनमन्तरेण घटविनाश एव न सिद्धः, घटकपालव्यतिरेकेणाऽपरस्य नाशस्याप्रतीतेरिति वक्तव्यम् , कपालोत्पादस्यैव कथञ्चिद् घटविनाशाऽऽत्मकतया प्रतिपत्तेः, अत एव सहेतुकत्वं विनाशस्य, कपालोत्पादस्य सहेतुकत्वात् । न च कपालानां भावरूपतैव केवला, घटानिवृत्तौ तद्विविक्तताया नेष्टभावप्रसक्तेः । न चैकस्योभयत्र व्यापारविरोधः, दृष्टत्वात् । न च घटनिवृत्तिकपालयोरैकान्तेन भेदः, कथञ्चिदेकत्वप्रतीतेः । न च मुद्गराऽऽदेर्नाशं प्रत्यव्यापारे क्वचिदभ्युपयोगे कपालेषु न तदुपयोगः, अन्त्यावस्थायामपि घटक्षणान्तरीत्पत्तिप्रसक्तेः, तस्य तदुत्पादनसामर्थ्यविनाशात्, तस्य स्वर(स)तो विनाशात्तदव्यतिरेकसामर्थ्यस्याविनाशः । न पूर्वं तद्विनाशेऽपि तस्याविनाशो विरोधिमुद्गरसन्निधानात् । ननु समानजातीया क्षणान्तरं जनयतीति चेत् । न । घटविरोधी न च तद्विनाशयतीति व्याहतत्वात् । न च तद्धेत्वभावात्सामर्थ्याभावः, तथाविधकार्यजननसमर्थहेतोर्भावात् । अन्यथा प्रागपि तथाविधफलोत्पत्तिर्न भवेत् । न च स्वहेतुनिर्वर्तित एव दण्डाऽऽदिसन्निधौ सामर्थ्याभावः, दण्डाऽऽदिसन्निधिमपेक्षमाणस्य तस्य तद्धेतुत्वोपपत्तेः, अन्यत्रापि तद्भावस्य तन्मात्रनिबन्धनत्वात् । न च तद्व्यापारानन्तरं तदुपलम्भात्तस्य तत्कार्यत्वे मृद्द्रव्यस्याऽपि तत्कार्यताप्रसक्तिः, तस्य सर्वदोपलम्भात् , सर्वदा तस्यानभ्युपगमे उत्पादविनाशयोरभावप्रसक्तिश्चेति प्रतिपादितत्वाच्च; तस्यैव तद्रूपतया परिणतौ कथञ्चिदुत्पादस्यापीष्टत्वात् । यदि च पूर्वोत्तराऽऽकारत्यागोपादानतयैकं मृदादिवस्त्वध्यक्षतोऽनुभूयते, तदा तत्तदपेक्षकारणं कार्यविनष्टं च उत्पन्नमनुत्पन्नं चैककालमनेककालं च भिन्नमभिन्नं चेति कथं नाभ्युपगमविषयः ? न चाऽत्र विरोधः, मृद्व्यतिरिक्ततया घटकपालयोरुत्पन्नविनष्टस्थितिस्वभावतया प्रतीतेः । न च प्रतीयमाने वस्तुस्वरूपे विरोधः, अन्यथा ग्राह्यग्राहकाऽऽकाराभ्यामेकत्वेन स्वसंवेदनाऽध्यक्षतः प्रतीयमानस्य संवेदनस्य विरोधप्रसक्तेः । न च संशयदोषप्रसक्तिरिति, उत्पत्तिस्थितिनिरोधनां निश्चितरूपतया वस्तुन्यविगमात् । न च स्थाणुर्वा

पुरुषो वेति प्रतिपक्षादिव प्रकृतानिश्चये सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशय इति निमित्तमस्ति। न च व्यधिकरणेनादोषप्रसक्तिरिति, घटकपालविनाशोत्पादयोर्मृद्द्रव्याऽऽधिकरणतया प्रतिपत्तेः। न चोभयदोषानुषङ्गः, त्र्यात्मकस्य वस्तुनो जात्यन्तरत्वात्। सङ्करदोषप्रसक्तिरपि नास्ति, अनुगतव्यावृत्तेस्तदात्मके वस्तुनि स्वस्वरूपेणैव प्रतिभासनात्। अनवस्थादोषोऽपि न संभवी, भिन्नोत्पादव्ययध्रौव्यव्यतिरेकेण तदात्मकस्य वस्तुनोऽध्यक्षे प्रतिभासनात् स्वयमतदात्मकस्याऽपरयोगेऽपि तदात्मकताऽनुपपत्तेः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। तथा प्रतिभासादेवाभावाद्दोषोऽपि न संभवी, अबाधितप्रतिभासस्य तदभावेऽभावाद्, भावे वा न तावदवस्तुव्यवस्थितिरिति सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। न च त्र्यात्मकत्वमन्तरेण घटस्य कपालदर्शनाद्विनाशानुमानं संभवति, तत्र तेषां प्रतिबन्धानवकाशात्। न हि तद्विनाशनिमित्तानि मुद्गराऽऽदीनि, हेतुत्वाद् भावस्य कारणत्वात्सत्त्वासत्त्वाच्च यद्यपि घटहेतुकानि तानि, तथाऽपि घटसद्भावमेव गमयेयुर्न तदभावम्, न हि धूमः पावकहेतुकस्तदभावगमक उपलब्धः, न वा भिन्ननिमित्तजन्यता तयोः प्रतिबन्धः, भावस्यांशकार्यताऽभ्युपगमात्। नाऽपि तादात्म्यलक्षणः, तयोस्तादात्म्यायोगात्। न च घटस्वरूपव्यावृत्तत्वात्तेषां तदभावप्रतिपत्तिजनकत्वम्, सकलत्रैलोक्याभावप्रति-पत्तिजनकत्वप्रसक्तेः, तेषां ततोऽपि व्यावृत्तस्वरूपत्वात्। न च घटविनाशरूपत्वात्तेषां वायं दोषः, तेषां वस्तुरूपत्वाद्विनाशस्य च निःस्वभावत्वात्, तथा च तादात्म्यविरोधः, अन्यथा घटानुपलम्भवत्तेषामपि तदनुपलब्धिर्भवेत्, तस्मात्प्रागभावाऽऽत्मकः सन घटः प्रध्वंसाभावाऽऽत्मकतां प्रतिपद्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तिः। सत्त्वलक्षणस्याऽपि हेतोर्गमकत्वमनेनैव प्रकारेण संभवति। अन्यथोत्पत्त्यभावादस्वित्वाभावः, तदभावे विनाशस्याऽप्यभावः, असतो विनाशायोगादिति त्र्यात्मकमेकं वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा तदनुपपत्तेरिति प्राक् *प्रदर्शितत्वाद् न पुनरुच्यते। यथा चाऽऽत्मनः परलोकगामित्वं* शरीरमात्रव्यापकत्वं च तथा प्रतिपादितमेव। ननु शरीरमात्रव्यापित्वे तस्य गमनाभावाद्देशान्तरे तद्ग्रहणोपलब्धिर्न भवेत्, न च तदधिष्ठितशरीरस्य गमनाविरोधात्पुरुषाधिष्ठितदारुयन्त्रवत्। न च मूर्त्तामूर्त्तयोर्घटाऽऽकाशयोरिव प्रतिबन्धाभावान्मूर्त्तशरीरगमनेऽपि नामूर्त्तस्याऽऽत्मनो गमनमिति वक्तव्यम्, संसारिणस्तस्यैकान्तेनामूर्त्तत्वासिद्धेस्तव प्रतिबद्धत्वाभावासिद्धेः।

एतदेवाऽऽह-

अण्णोणाऽणुगयाणं, इमं व तं व त्ति विभयणमजुत्तं।
जह दुद्धपाणियाणं, जावंतविसेसपज्जाया॥ ४७॥

अन्योन्यानुगतयोः परस्परानुप्रविष्टयोरात्मकर्मणोरिदं वा तद्वेतादं कर्म अयमात्मेति यद्विभजनं पृथक्करणं तदयुक्तमघटमानकम्, प्रमाणाभावेन कर्तुमशक्यत्वात्, यथा दुग्धपानीययोः परस्परप्रवेशानुप्रविष्टयोः। किंपरिमाणोऽयमविभागो जीवकर्मप्रदेशयोरित्याह-यावन्तो विशेषपर्यायाः, तावान्, अत एवमवस्तुत्वप्रसक्तेरन्त्यविशेषपर्यन्तत्वात्सर्वविशेषाणाम्।

अन्त्य इति विशेषणाऽन्यथाऽनुपपत्तेर्जीवकर्मणोरन्योऽन्यानुप्रवेश इत्याह-

रूवाऽऽइपज्जवा जे, देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि।
ते अण्णोण्णाऽणुगया, पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि॥ ४८॥

रूपरसगन्धस्पर्शाऽऽदयो ये पर्याया देहाऽऽश्रिता जीवद्रव्ये विशुद्धरूपे च ये ज्ञानाऽऽदयस्तेऽन्योन्यानुगता जीवे रूपाऽऽदयो देहे ज्ञानाऽऽदय इति प्ररूपणीया भयस्थे संसारिणि, अकारप्रश्लेषाद्वाऽसंसारिणि। न च संसारावस्थायां देहाऽऽत्मनोरन्योन्यानुबन्धादूपाऽऽदिभिस्तद्व्यपदेशः, मुक्तावस्थायां तु तदभावान्नासौ युक्त इति वक्तव्यम्, तदवस्थायामपि देहाऽऽद्याश्रितरूपाऽऽदिग्रहणपरिणतज्ञानदर्शनपर्यायद्वारेणाऽऽत्मनस्तथाविधत्वात्, तथा व्यपदेशसंभवादात्मपुद्गलयोश्च रूपाऽऽदिज्ञानाऽऽदीनामन्योऽन्यानुप्रवेशात्कथञ्चिदेकत्वमनेकत्वं च मूर्त्तत्वममूर्त्तत्वं वा व्यतिरेकात्सिद्धमिति।

एतदेवाऽऽह-

एवं एगे आया, एगे दंडो य होइ किरियाए।
करणविसेसेण य तिवि-हजोगसिद्धी उ अविरुद्धा॥ ४९॥

एवमित्यनन्तरोदितप्रकारेण मनोवाक्कायद्रव्याणामात्मन्यनुप्रवेशादात्मैव, न तद्व्यतिरिक्तास्त इति तृतीयाङ्गैकस्थाने (एगे आया इति) प्रथमस्तत्र प्रतिपादितः सिद्ध एक आत्मा एको दण्ड एका क्रियेति भवति, मनोवाक्कायेषु दण्डक्रियाशब्दौ प्रत्येकमभिसंबन्धनीयौ, करणविशेषेण च मनोवाक्कायस्वरूपेणाऽऽत्मन्यप्रवेशावासविविधयोगस्वरूपत्वात्त्रिविध-योगसिद्धिरपि आत्मनोऽविरुद्धैवेति। एकस्य सतस्तस्य त्रिविधयोगाऽऽत्मकत्वादनेकान्तरूपता व्यवस्थितैव; न चाऽन्योन्यानुप्रवेशादेकाऽऽत्मकत्वे बाह्याभ्यन्तरविभागाभाव इति। अत्र हर्षविषादाऽऽद्यनेकविवर्त्ताऽऽत्मकमेकं चैतन्यं, यथेह बालकुमारयौवनाऽऽद्यनेकावस्थैकाऽऽत्मकमेकं शरीरमध्यक्षतः संवेद्यत इत्यस्याविरोधः, बाह्याभ्यन्तरविभागावपि निमित्तान्तरतद्व्यपदेशसंभवात्।

एतदेवाऽऽह-

ण य बाहिरओ भावो, अब्भिंतरओ य अत्थि समयम्मि।
णो इंदियं पुण पडुच्च होइ अब्भिंतरो भावो॥ ५०॥

आत्मपुद्गलयोरन्योऽन्यानुप्रवेशादुक्तप्रकारेणार्हत्प्रणीतशासनेन बाह्यो भावोऽभ्यन्तरो वा संभवति, मूर्तामूर्त्युत्पादितत्वादनेकाऽऽत्मकत्वाच्च, संसारोदरवर्तिनः सकलवस्तुनोऽभ्यन्तर इति व्यपदेशस्तु नोइन्द्रियमनःप्रतीतस्याऽऽत्मपरिणतिरूपस्य पराप्रत्यक्षत्वाच्छरीरवानिव। न च शरीराऽऽत्मावयवयोः परस्परानुप्रवेशात् शरीराभेदे आत्मनोऽपि तद्वत्परप्रत्यक्षताप्रसक्तिः, इन्द्रियज्ञानस्याशेषपदार्थस्वरूपग्राहकत्वायोगादित्यस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। अतः शरीरप्रतिबद्धत्वमात्मनो न भवति, अमूर्त्तत्वात्। अत्र योगे हेतुरसिद्धः, यदि चात्मपरिणतिरूपमनसः शरीरादाव्यन्तिको भेदः स्यात्तद्विकाराविकाराभ्यां शरीरस्य तत्त्वं न स्यात्, तदुपकारापकाराभ्यां वा आत्मनः सुखदुःखानुभवश्च न भवेत्, शरीरविघातकृतश्च हिंसकत्वमनुपपन्नं भवेत्! शरीरपुष्ट्यादेरागाऽऽद्युपचयहेतुत्वं, शरीरस्य कृशोऽहं स्थूलोऽहमिति प्रत्ययविषयत्वं च दूरोत्सारितं भवेत्। पुरुषान्तरशरीरस्येव घटाऽऽकाशयोरपिप्रदेशोऽन्योन्यप्रदेशलक्षणो बन्धोऽस्त्येवेत्ययुक्तो दृष्टान्तः, अन्यथा घटस्यावस्थितिरेव न भवेत्, न वाऽन्योन्यानुप्रवेशसद्भावेऽप्याकाशवच्छरीरपरतन्त्रताऽऽत्मनोऽनुपपन्ना, मिथ्यात्वाऽऽदेः पारतन्त्र्यनिमित्तस्याऽऽत्मनि भावात्, आकाशे

च तदभावात् । न च शरीराऽऽवत्तत्वे सति तस्य मिथ्यात्वाऽऽदिबन्धहेतुभिर्योगः, तस्माच्च तत्प्रतिबद्धमितीतरेतराश्रयत्वम् , अनादित्वाभ्युपगमेनास्य निरस्तत्वात् । न च शरीरसंबन्धात् प्रागात्मनोऽमूर्त्तत्वम् , सदा तैजसकार्मणः शरीरसंबन्धात् प्रागात्मनोऽमूर्त्तत्वम्, सदा तैजसकार्मणः शरीरसंबन्धात् संसारावस्थायां तस्यान्यथाभावात् स्थूलशरीरसंबन्धित्वायोगात् । पुद्गलोपष्टम्भव्यतिरेकेणोर्द्धगतिस्वभावस्यापरदिग्गमनासंभवात्स्थूलशरीरेणातिसूक्ष्मस्य रज्ज्वादिनेवाऽऽकाशस्य संबन्धायोगात् संसारिशून्यमन्यया जगत्स्यादिति संसार्यात्मनः सूक्ष्मशरीरसंबन्धित्वं सर्वदाऽभ्युपगन्तव्यम्। अथ शरीराऽऽत्मनोस्तादात्म्ये शरीरावयवच्छेदे आत्मावयवस्यापि छेदप्रसक्तिः, अच्छेदे तयोर्भेदप्रसङ्गः । न। कथञ्चिच्छेदस्याभ्युपगमाद् , अन्यथा शरीरात्पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न भवेत् । न च छिन्नावयवानुप्रविष्टस्य पृथगात्मत्वप्रसक्तिः, तत्रैव पश्चादनुप्रवेशाच्छिन्ने हस्ताऽऽदौ कम्पाऽऽदितल्लिङ्गादर्शनादियं कल्पना । न चाऽन्यत्र गमनात् तस्य तल्लिङ्गानुपलब्धिरेकत्वादात्मनः, शेषस्याऽपि तेन सह गमनप्रसक्तावेकत्र संतातावनेक आत्मेत्येकज्ञानवद् ज्ञानिनामेकत्राऽनुभवाधारे प्रतिभासप्रसक्तेः, शरीरान्तरव्यवस्थितात्मान्तरवत्। न च पृथग्भूतहस्ताऽऽद्यवयवव्यवस्थितोऽसौ, न तत्रैव विनष्ट इति कल्पनाऽपि युक्तिसंगता, शेषस्याऽप्येकत्वेन तद्वद्विनाशप्रसक्तेः । ततोऽन्यत्रागतेस्तत्रासत्त्वादविनष्टत्वाच्च तदनुप्रवेशोऽवसीयते, गत्यन्ताभावात् । न चैकत्वे आत्मनो विभागाभावात् छेदाभाव इति वक्तव्यम् , शरीरद्वारेण तस्यापि सविभागत्वात् । अन्यथा सावयवशरीरव्यापिता तस्य कथं भवेत् ? न चामूर्तद्रव्याऽऽदिव्यवच्छिन्नावयवस्य सर्वदैव तस्य तथाभावः, उत्तरकालमपि तदवयवोपष्टम्भोपलब्धस्यार्थस्य तथैव स्मरणादन्यथा त्वतद्दर्शनात् । न चासावारभ्य मूर्तद्रव्यवद्द्व्यणुकाऽऽदिप्रक्रमेणावस्थितसंयोगैस्तैरभावः, येन तद्वत्त्वस्य तथैव भावप्रसक्तिः । न चानारब्धत्वात्तस्य निरवयवत्वं, शरीरसर्वगतत्वाभावप्रसक्तेः । न च शरीरासर्वगतोऽसौ, तत्र सर्वत्रैव स्पर्शोपलम्भात् । न तद्व्यापकस्य तच्छेदे छेदः, अतिप्रसङ्गात् । न च तदवयवच्छेदेन छिन्नः, तत्र कम्पाऽऽद्युपलब्धेरतस्तत्रैवानुप्रविष्ट एकत्वादिति ज्ञायते कथं छिन्नाछिन्नयोः संघटनं पश्चादिति । न चैकान्तेन च्छेदाभावात्पद्मनालतन्तुवद् विच्छेदाभ्युपगमाद् विघटनमपि तथाभूतादृष्टवशादविरुद्धमेव । न चाऽऽत्मनः शरीरमात्रव्यापकत्वेऽन्यशरीरगत्यन्तरसंबन्धान्यथानुपपत्त्या गतिक्रियाप्रसक्तेरनित्यत्वप्रसक्तिर्दोषः, कथञ्चित्तस्येष्टत्वात्, गृहान्तर्गतप्रदीपप्रभावत् संकोचविकाशाऽऽत्मकत्वेन तस्य न्यायप्राप्तत्वात्। न च देहाऽऽत्मनोरन्योन्यानुबद्धत्वे देहे भस्मसाद्भावे आत्मनोऽपि तथात्वप्रसक्तिः, क्षीरोदकवृत्तयोर्लक्षणभेदान्नाभेदात् । न हि भिन्नस्वरूपयोरन्योन्यानुप्रवेशे सत्यप्येकक्षयोऽपरस्य क्षयाय, यथा पच्यमाने क्षीरे प्रथममुदकक्षयोऽपि न क्षीरक्षयाय । न चेह लक्षणभेदो नास्ति । तथाहि-रूपरसगन्धस्पर्शाऽऽदिधर्मवन्तः पुद्गलाः, चेतनालक्षणश्चात्मेति सिद्धस्तयोर्लक्षणभेदः । यथा चैकान्तामूर्ताऽऽदिरूपत्वेऽर्थक्रियाऽऽदेर्व्यवहारस्याभावस्तथा प्रतिपादितमनेकधेति मूर्त्तामूर्त्ताद्यनेकान्ताऽऽत्मकत्वमात्मनोऽभ्युपगन्तव्यम्।

अस्य च मिथ्यात्वाऽऽदिपरिणतिवशोपात्तपुद्गलान्तराद् विभागलक्षणो बन्धः, तद्वशोपनतसुखदुःखाऽऽद्यनुभवस्वरूपश्च भोगोऽनेकान्ताऽऽत्मत्वे सत्युपपद्यते । अन्यथा तयोरयोग इति प्रतिपादनार्थमाह-

(दव्वट्ठियस्सेत्यादि) अथवा परस्परसापेक्षद्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकयोः प्ररूपणा प्रदर्शितन्यायेन संभविनी, निरपेक्षयोः कथंसा ? इत्याह-

दव्वट्ठियस्स आया, बंधइ कम्मं फलं च वेएइ।
विइयस्स भावमेत्तं, ण कुणइ ण य कोइ वेएइ ॥ ५१ ॥

द्रव्यास्तिकस्येयं प्ररूपणाऽऽत्मैकस्थायी कर्म ज्ञानाऽऽदिनिब-न्धकं बध्नाति स्वीकरोति, तस्य कर्मणः फलं च कार्यभूतं वेदयते भुङ् क्ते आत्मैव । द्वितीयस्य तु पर्यायार्थिकस्येयं प्ररूपणानैवाऽऽत्माप्यस्ति, किं तु भावमात्रं विज्ञानमात्रमिति न करोति, न च कश्चिद्वेदयते, उत्पत्तिक्षणानन्तरध्वंसिनः कर्तृत्वानुभवितृत्वायोगात्।

तथेयमपि तयोर्भूतयोः प्ररूपणेत्याह-

दव्वट्ठियस्स जो चेव कुणइ सो चेव वेयई णियमा।
अण्णो करेइ अण्णो, परिभुंजइ पज्जवणयस्स ॥ ५२ ॥

य एव करोति स एव वेदयते, नित्यत्वात् , द्रव्यास्तिकस्यैतन्मतम्। अन्यः करोत्यन्यश्च भुङ्क्ते, क्षणिकत्वात् , पर्यायस्य नयस्यैतन्मतम्। ननु पूर्वगाथोक्तमेव पुनरपि तदेव तावत्पिष्टपेषणमाचार्येण कृतं भवेत्। न। उत्पत्तिसमनन्तरमेव करणं भोगो वा संभवीति प्राक् प्रतिपादितम्, इहोत्पत्तिक्षण एव कर्त्ता तदनन्तरक्षणश्च भोक्तेति न पुनरुक्तम्। भोक्तृत्वं च परैः भुक्तिर्येषां क्रिया सैव कारकः सैव चोचित इति।

इयमसंयुक्तयोरनयोः स्वसमयप्ररूपणा न भवति, या तु स्वसमयप्ररूपणा, तामाह-

जं वयणिज्जवियप्पा, संजुज्जंतेसु होंति एएसु।
सा ससमयपण्णवणा, तित्थयरासायणा अन्ना ॥ ५३ ॥

ये वचनीयस्याभिलापस्य विकल्पास्तत्प्रतिपादका अभिधानभेदाः, संयुज्यमानयोरन्योऽन्यसंबद्धयोर्भवन्त्यनयोर्द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकवाक्यनययोः, ते च कथञ्चिन्नित्य आत्मा कथञ्चिदमूर्त इत्येवमादयः, सैषा स्वसमयस्येति तदर्थस्य प्रज्ञापना निदर्शना। अन्या तु निरपेक्षयोरनयोरेव नयोर्या प्ररूपणा तीर्थकरस्याऽऽसादनाऽधिक्षेपः। '' एगमेगेणं जीवस्य पएसे अणंतेहिं णाणावरणिज्जपोग्गलेहिं आवेढिए पवेढिए '' इति तीर्थकृद्वचने प्रमाणोपपन्ने सत्यपि '' नामूर्त्त मूर्ततामेति, मूर्त्त नायात्यमूर्त्तताम् । द्रव्यं कालत्रयेऽपीत्थं, च्यवते नात्मरूपतः ''॥ १ ॥ इति तीर्थकृन्मतमेवैतन्नयवादनिरपेक्षमिति कैश्चितप्रतिपादयद्भिस्तस्याधिक्षेपप्रदानात् परस्परनिरपेक्षयोः नययोः प्रज्ञापना तीर्थकराऽऽसादनेति।

अस्थापवादमाह-

पुरिसज्जायं तु पडुच्च जाणओ पण्णविज्ज अण्णयरं।
परिकम्मणानिमित्तं, दाएहा सो विसेसं पि ॥ ५४ ॥

पुरुषजातं प्रतिपन्नपर्यायान्यतरस्वरूपं श्रोतारं वा प्रतीत्याऽऽश्रित्य ज्ञायकः स्याद्वादवित् , प्रज्ञापयेदवक्षीत, अन्यतरत् पर्यायं द्रव्यं वाऽभ्यु-पेतपर्यायं द्रव्यमेवाङ्गीकृतद्रव्यार्थ च पर्यायमेव कथयेत् । किमित्येकमेव कथयेत् ? परिकर्म्मनिमित्तं बुद्धिसंस्कारार्थं, परिकर्मितमते दर्शयिष्यते । सः स्याद्वादाभिज्ञः विशेषमपि द्रव्यपर्याययोः परस्पराविनिर्भागरूपम् , एकांशविषयविज्ञानस्यान्यथा विपर्ययरूपताप्रसक्तिः स्यात् ; तदितराभावे तद्विषयस्याऽ-

प्यभावात्। सम्म० १ काण्ड। स्था०। (सप्तभङ्गीवक्तव्यता तु ' सत्तभंगी ' शब्दे वक्ष्यते)

(६) अथ सप्तभङ्ग्यामित्थं नवविभागमुपदर्शयन्ति श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः-

''एवं सत्तविअप्पो, वयणपहो होइ अत्थपज्जाए।
वंजणपज्जाए पुण,सविअप्पो णिव्विअप्पो उ''॥४१॥(स०१ का०)

एवमनन्तरोक्तप्रकारेण सप्तविकल्पः सप्तभेदो वचनपथो भवत्यर्थपर्यायेऽर्थनये संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणे। तत्र प्रथमो भङ्गः संग्रहे सामान्यग्राहिणि, द्वितीयस्तु नास्तीत्ययं व्यवहारे विशेषग्राहिणि ऋजुसूत्रे तृतीयः, चतुर्थः संग्रहव्यवहारयोः, पञ्चमः संग्रहर्जुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयोः, सप्तमः संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रेष्विति। प्रयोगश्चैतैश्चतुर्थतृतीययोर्व्यत्यये नेष्यते इति न तृतीये ऋजुसूत्रयोजनाऽनुपपत्तिः। अत्र यद्धर्मप्रकारकः संग्रहाऽऽख्यो बोधः प्रथमभङ्गफलत्वेनाभिमतः, तद्धर्माभाव-प्रकारको व्यवहाराऽऽख्यो बोध एव द्वितीयभङ्गफलत्वेनेष्टव्यः। तेन स्याद् घटः स्वान्नीलघट इत्यादिसामान्यविशेषसंग्रहव्यवहाराभ्यां न सप्तभङ्गीप्रवृत्तिः; न वैकवचनबहुवचनाऽऽदिना भङ्गान्तरवृद्धिरित्यवधेयम्। अथ तृतीयभङ्गस्यर्जुसूत्रनिमित्तकतायां किं बीजम् ? युगपत्सत्त्वाभ्यासात्, इष्टं हि सङ्ग्रहव्यवहाराव-प्यवक्तव्यमेव ब्रूतः, संग्रहव्यवहारौ युगपदुभयथा दिशत एव नेति चेत्, ऋजुसूत्रोऽपि कथं तथा देष्टुं प्रगल्भताम् ? मध्यमक्षणरूपायाः सत्तायास्तेनाप्यभ्युपगमात् सङ्ग्रहाभिमतयावदनुवृत्तसामान्यानभ्युपगमात्। ऋजुसूत्रेणावक्तव्यभङ्ग उत्थाप्यत इति चेत्, सोऽयं प्रत्येकावक्तव्यत्वकृतोऽवक्तव्यत्वभङ्गः, तदुत्थापने च सङ्ग्रहोऽपि समर्थः। ऋजुसूत्राभिमतमध्यमक्षणरूपसत्तानभ्युपगन्तृनाऽपि तदुत्थापनस्य सुकरत्वादिति चेत्। अत्रेदमाभाति-संग्रहव्यवहारौ युगपन्नोभयथा देष्टुं प्रगल्भेते, स्वानभिमतांशादेशेऽनिष्टसाधनत्वप्रतिसंधानात्, ऋजुसूत्रस्य तु वर्तमानपर्यायमात्रग्राहिणस्तिर्यगूर्द्धताऽऽधारांशान्यतररूपं सामान्यम्, अन्यापोहरूपो विशेषश्चेति द्वावपि संवृतावेवेति तदपेक्षया युगपदुभयथाऽऽहार्यतदादेशसंभवादवक्तव्यभङ्गोत्थानमनाबाधम्। न चैवमपि तज्जनितबोधस्य प्रसङ्गरूपत्वाद् विपर्ययपर्यवसाने संग्रहव्यवहारान्यतरसामान्यमिति वाच्यम्, विषयाबाधे कूटलिङ्गजाऽनुमितिरिव प्रकृतिभङ्गजबोधस्य प्रमात्वेन विपर्ययपर्यवसानकदर्थनाऽनवकाशात्, व्यञ्जनपर्याये शब्दनये पुनः सविकल्पः, प्रथमे पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावादर्थस्यैकत्वाच्च, द्वितीय-तृतीययोर्निर्विकल्पश्च, द्रव्यार्थात्सामान्यलक्षणान्निर्गतस्य पर्यायरूपस्य विकल्पस्याभिधायकत्वात्तयोः। तथा च घटो नाम घटशब्दवाचकयावच्छब्दवाच्यः। शब्दनयेऽस्त्येव समभिरूढैवंभूतयोर्नास्त्येवेति द्वौ भङ्गौ लभ्येते, लिङ्गसंज्ञाक्रियाभेदेन भिन्नस्यैकशब्दवाच्यत्वात् शब्दाऽऽदिषु तृतीयः, प्रथमद्वितीयसंयोगाच्चतुर्थः, तेष्वेव चानभिधेयसंयोगे पञ्चमषष्ठसप्तमा वचनमार्गा भवन्ति। अथवा शब्दनये पर्यायान्तरसहिष्णौ सविकल्पो वचनमार्गः, तदसहिष्णौ तु निर्विकल्प इति द्वावेव भङ्गौ, अवक्तव्यभङ्गस्तु व्यञ्जनेनये न संभवत्येव, श्रोतरि शब्दोपरक्तार्थबोधनस्यैव तत्प्रयोजनत्वात्, अवक्तव्यबोधनस्य च तन्नये संप्रदायविरुद्धत्वेन तथाबुबोधयिषाया एवासंभवादिति। अधिकमस्मत्कृतानेकान्तव्यवस्थायाम्॥ तदेवं प्रतिपर्यायं सप्तप्रकारकबोधजनकतापर्याप्तिमद्वाक्यं प्रमाणवाक्यमिति लक्षणं सिद्धम्॥ इत्थं च तदन्तर्भूत-स्य तद्बहिर्भूतस्य वाऽन्यतरभङ्गस्य प्रदेशपरमाणुदृष्टान्तेन नयवाक्यत्वमेवेत्यर्थतो लभ्यते। इतरप्रतिक्षेपी तु नयो नयाभासो, दुर्नयो वेत्युच्यते॥ मलयगिरिचरणास्तुनयो दुर्नयः सुनयश्चेति दिगम्बरिव्यवस्था, न त्वस्माकम्, नयदुर्नययोरर्थाविशेषात्स्याच्छब्देन विवक्षितधर्मोपरागेण कालाऽऽदिभिरेतद्वृत्त्याऽभेदोपरागाद्वाऽनन्तधर्माऽऽत्मकवस्तुप्रतिपादने प्रमाणवाक्यस्यैव व्यवस्थितेः। अत एव स्याच्छब्दलाञ्छिततयैव सर्वत्र साधूनां भाषाविनयो विहितः। अवधारणीयभाषा च निषिद्धा; तस्या नयरूपत्वात्, नयानां च सर्वेषां मिथ्यादृष्टित्वात्। तथा चानुस्मरन्ति- '' सव्वे णया मिच्छावाइणो त्ति। '' न च सप्तभङ्ग्यात्मकं प्रमाणवाक्यम्, एकभङ्ग्यात्मकं च नयवाक्यमित्यपि नियन्तुं शक्यम्, सप्तभङ्ग्याः सप्तविधजिज्ञासोपाधिनिमित्तत्वात्। न च तासां सार्वत्रिकत्वम्। ' को जीवः ?' इति प्रश्ने लक्षणमात्रजिज्ञासया '' स्याद् ज्ञानाऽऽदिलक्षणो जीवः '' इति प्रमाणवाक्यरूपस्योत्तरस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात्। स्यात्पदस्य चात्राऽनन्तधर्माऽऽत्मकत्वद्योतकत्वेन प्रमाणाङ्गत्वम्। द्योतकत्वं चात्रोपसंपादनकी शक्तिर्लक्षणा वेत्यन्यदेतत्। तत्र च श्रुतपदप्रतिपादनधर्माशे लौ-किकी विषयता स्यात्पदद्योत्या; अन्तधर्माऽऽत्मकत्वांशे च लोकोत्तरेति विशेष इत्यपि निःसंदधेते। तन्मतमनुरुद्धप्रमाणलक्षणान्तरं समुच्चिनोति च पुनर्वाक्यमेकधर्मकं प्रतिनियतैकधर्मप्रतिपिपादयिषया प्रयुक्तं स्यात्पदादपरे येऽनन्ता धर्मास्तानुल्लिखतीत्येवंशीलं वाक्यं तदपि प्रमाणवाक्यं व्यवहर्तव्यमित्यर्थः। अयं च समुच्चयद्रव्यमपि संप्रदायमतमिति कृत्वा समुन्नीतः। वस्तुतो नयदुर्नयप्रमाणविभागेनैवादर एव। हेमसूरिभिरपि- '' सदेव सत्स्यात्सदिति त्रिधाऽर्थो, मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः २८ '' (स्या०) इत्यादिविभज्याभिधानात्; आकरे नयतदाभासानां व्यक्तेरुदाहृतत्वाच्च। अवधारणी च भाषा एकान्तवादाऽऽत्मिकैव निषिद्धा, न तु नयरूपाणि, तस्याः प्रमाणपरिकल्पितत्वेन तत्रावधारणीयत्वस्य निश्चायकत्वरूपभाषालक्षणान्वयेनैव सिद्धान्तसिद्धत्वात्। अत एव निराकाङ्क्षानासन्नाऽऽदिस्थले शाब्दसमानाकारमानसस्वीकारे किमपराद्धं शाब्दबोधनेति पर्यनुयोगो मानसस्य संशयाऽऽकारस्यापि संभवान्निश्चायकरूपशाब्दबोधानुपपत्तेरेव यौक्तिकैर्निराकृतः। न च भाषामात्रस्यावधारणीयत्वेऽप्याराधकत्वविराधकत्वतदुभयानुभयैः सत्याऽऽदिभेदचतुष्टयोपदेशान्नयभाषाया देशाऽऽराधकत्वेन तृतीयभङ्गः एव निक्षेपात्साधूनामनादरणीत्वमित्यपि युक्तम्, चतुर्धा विभागस्य द्रव्यभावभाषायामेवोपदेशात्, तत्र च परिगणितमिश्रभाषाभेददशकानामन्तर्भावादेव नयभाषायां दोषाभावात्, श्रुतभावभाषायां च तृतीयभाषायामेवानधिकृतत्वाच्चारित्रभावभाषायामाद्यन्तयोर्भाषयोरधिकृतत्वेऽप्यायुक्ततया चतसृणामपि भाषणेऽप्याराधकत्वाविरोधस्य प्रज्ञापनाऽऽदावुक्तत्वात्। किञ्चप्रतीत्यसत्यात्वलक्षणमत्र स्फुटमेव किं नोन्नीयते ? न च सप्तभङ्ग्यात्मकवाक्यस्यैव प्रतीत्यसत्यात्वम्; अपेक्षाऽऽत्मकबोधजनकवाक्यत्वस्यैव तल्लक्षणत्वात्, अन्यथैकत्रापेक्षया ह्रस्वदीर्घाऽऽदिलौकिकवचनस्यालक्ष्यत्वाऽऽपत्तेः। न च सत्या सर्वत्रालौकिक्येव लक्ष्या, जनपदसत्याऽऽदिभेदानामसंग्रहाऽऽपत्तेः। ननु तथाऽप्युत्सर्गतोऽनादरणीयनयदुर्नयभावयोरविशेषः। तथोक्तं वादिना- '' सीसमईवित्थारणमित्तत्थोऽयं कओ समुल्लावो। इहरा कहामुहं चेव णत्थि एवं ससमयम्मि॥२५॥'' (सम्म०३काण्ड)इति चेत्। न।

शिष्यमतिविस्तारकत्वं हि नयवाक्यस्य प्रमाणाऽऽत्मकमहावाक्यजन्यशाब्दबोधजनकावान्तरवाक्यार्थज्ञानजनकत्वं, तदनुकूलाऽऽकाङ्क्षोत्थापकत्वं वा, तेन तस्याऽऽदरणीयत्वस्यैव सिद्धेः। तदुक्तं वादिनैव-'' पुरिसज्जायं तु पडुच्च जाणओ पन्नविज्ज अण्ण-यरं। परिकम्मणानिमित्तं, दाएहा सो विसेसं पि ''॥ ५४ ॥ (सम्म० १ का०) इति। प्रमाणवाक्यमपि ह्यनेकान्तरुचिशालिनं पुरुषविशेषमधिकृत्यैव प्रयुज्यते, तदनयोर्द्वयोरपि कारणिकत्वे प्राप्ते स्वस्वकाले औत्सर्गिकत्वमेव न्यायसिद्धम्; विप्रतिषिद्धकारणविधिस्थले तथाव्युत्पत्तेः। तस्मात् '' स्याद् ज्ञानाऽऽदिलक्षणो जीवः'' इत्यपि सुनयवाक्यमेव, एकभङ्गरूपत्वात्। प्रमाणवाक्यता तत्राऽप्युत्थाप्याऽऽकाङ्क्षाक्रमेण भङ्गषट्कसंयोजनयैव। सकलाऽऽदेशत्वं च प्रतिभङ्गमनन्तधर्माऽऽत्मकत्वद्योतनेन; अन्यथा च विकलाऽऽदेशत्वमित्येके ॥ अखण्डवस्तुविषयत्वेन त्रिष्वेवाऽऽद्यभङ्गेषु तत्, चतुर्षु चोपरितनेषु एकदेशविषयत्वेन विकलाऽऽदेशत्वमित्यन्ये ॥ अयं व्युत्पत्तिविशेषः सर्वसप्तभङ्गीसाधारणः, स्याच्छब्दलाञ्छितैकमात्रेण तु न प्रमाणवाक्यविश्रामः, सुनयवाक्यार्थस्यैव ततः सिद्धेः। अत एव कृष्णः सर्प इत्यादिविशेषणविशेष्यभावबोधकवाक्येऽपि सर्पमात्रे कृष्णत्वस्याभावादनन्ते व्यभिचारात् पृष्ठावच्छेदेन कृष्णोऽप्युदरावच्छेदेन शुक्लत्वोपलम्भात् स्याच्छब्दसंयोजनया नयवाक्यत्वमित्याह समन्तभद्रः। लक्ष्यलक्षणाऽऽदिव्यवहारोऽपि नयवाक्यैरेव सिद्ध्यति, उद्देश्यलौकिकबोधस्थानतिप्रसक्तस्य तेभ्य एव सिद्धेः। प्रमाणवाक्यत्वं लौकिकबोधार्थं सप्तभङ्ग्यात्मकमेवाऽऽश्रयणीयम्। अत एव तद्व्यापकत्वं सम्मत्यादौ महता च यत्नेन साधितमिति किमतिविस्तरेण ? ॥ ६ ॥

(१०) नन्वेकत्र वस्तुन्यनेकाऽऽकारा प्रमाणधीः, एकाऽऽकारा च नयधीः कथमुत्पद्यते ? इति जिज्ञासायामाह-

यथा नैयायिकैरिष्टा, चित्रेऽनेकैकरूपधीः।
नयप्रमाणभेदेन, सर्वत्रैव तथाऽऽर्हतैः ॥ ७ ॥

(यथेति) यथा नैयायिकैश्चित्रे नीलपीताऽऽदिना शबले घटाऽऽदावनेकरूपा नीलपीताऽऽद्याकारा, एकरूपा च चित्राऽऽकारा धीरिष्टाऽभ्युपगता, तथाऽनुभवात्, स्यान्मतभेदाऽऽश्रयणाद्वा, तथा सर्वत्रैव वस्तुन्येकानेकरूपतया चित्रे प्रमाणनयभेदेन द्विविधा बुद्धिरार्हतैरिष्टा, अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधाभावादिति भावः। यथा च सर्वस्य वस्तुनश्चित्रत्वं तथोक्तमस्माभिरात्मख्यातौ, विस्तरभिया नेह प्रतन्यते।

चित्ररूपे तु मतभेदं तर्करसिकव्युत्पत्त्यर्थमुपदर्शयामः-तत्र नीलं नीलान्यरूपासमवायिकारणं न वेति चित्ररूपे विप्रतिपत्तिः, विधिकोटिः सामानाधिकरण्येन, निषेधकोटिरवच्छेदकावच्छेदेन। तेन नांऽशतो बाधः, सिद्धसाधनं वा। यत्तु नीलरूपासमवायिकारणकं पीतरूपासमवायिकारणकं न वेति प्रतिपत्तिरिति। तन्न। नीलरूपासमवायिकारणस्य नीलस्य पक्षत्वे बाधात्। चित्ररूपस्य पक्षत्वे आश्रयासिद्धेः। यदपि नीलरूपासमवायिकारणकवृत्तित्वविशिष्टरूपत्वं पीतरूपासमवायिकारणवृत्ति न वेति केषाञ्चिद्विप्रतिपत्त्युद्भावनम्। तदपि न रमणीयम्। विशिष्टस्य, विशिष्टाऽऽधेयताया वाऽनतिरिक्तत्वादिति दिक्।

तत्र साम्प्रदायिकाः-नानारूपवदवयवाऽऽरब्धे वस्तुनि नीलपीताऽऽदिभिरेकं संभूय चित्ररूपमारभ्यते। न च सामग्रीसत्त्वान्नीलाऽऽदिभिर्नीलाऽऽदेरपि तत्र जनन्नाऽऽपत्तिः, अगत्या नीलेतररूपाऽऽदेर्नीलाऽऽदिकप्रतिबन्धकत्वकल्पनात्; प्रतिबन्धकताऽवच्छेदकः संबन्धः स्वसमवायिसमवेतत्वम्, प्रतिबद्ध्यतावच्छेदकश्च समवायः। चित्रत्वावच्छिन्नेऽपि नीलेतरपीतेतररूपत्वाऽऽदिनैव हेतुता, तेन न केवलनीलकपालाऽऽरब्धे चित्रोत्पत्तिप्रसङ्गः। यत्त्ववयवनिष्ठनीलाभावाऽऽदिषट्कस्यैव चित्रं प्रति हेतुत्वमिति। तन्न। नीलपीतोभयकपालाऽऽरब्धे घटपाकनाशितावयवपीते स्वचित्रेऽवयवे व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिकाले चित्रोत्पत्त्यापत्तेः। न च कार्यसहभावेन नीलाभावाऽऽदीनां तद्धेतुत्वादयमदोषः, नीलपीतश्वेतत्रितयकपालाऽऽरब्धे पीतश्वेतयोः क्रमेण नाशे श्वेतनाशकालेऽपि तदापत्तेरिति; पाकजचित्रे च न व्यभिचारः। पाकादवयवे नानारूपः, अन्यत्रानन्तरमेवावयविनि चित्रस्वीकारात; पाकचित्रस्वी-कारे च विजातीयचित्रं प्रति नीलेतरत्वाऽऽदिना हेतुता, अग्निसंयोगजचित्रे चावच्छेदकत्वसंबन्धावच्छिन्न(प्रति)योगिताका नीलजनकाग्निसंयोगाऽऽदेरभावरूपजनकविजातीयाग्निसंयोगाश्च हेतवः। अस्तु वा तेजःसंयोगमात्रजन्ये विजातीये चित्रे विजातीयतेजःसंयोगस्य हेतुत्वं, पाकयोरुभयजन्ये विजातीये चित्रे चोभयोरेव रूपमात्रजाऽतिरिक्त एव वा विजातीयतेजःसंयोगो हेतुः, फलबलेन वैजात्यकल्पनात्। न चाग्निसंयोगजमात्रातिरिक्ते रूपमेव हेतुरस्तु इति विनिगमकाभावः। उभयस्थले नीलेतराऽऽदिसमाजाभावस्यैव विनिगमकत्वादित्याहुः ॥ शिरोमणिभट्टाऽऽचार्यमतानुसारिणस्तु-चित्रघटेऽव्याप्यवृन्येव नीलपीताऽऽदीनि नानारूपाणि, एकरूपमिति-प्रतीतेरेकोऽन्नराशिरितिवत्समूहैकत्वविषयत्वात्; सविषयावृत्तिव्याप्यवृत्तिजातेरव्याप्यवृत्तित्वविरोधस्तु प्रामाणिक एव। अत एव '' लोहितो यस्तु वर्णेन, मुखे पुच्छे च पाण्डुरः। श्वेतः खुरविषाणाभ्यां, स नीलो वृष उच्यते '' ॥ १ ॥ इति स्मृतिरप्युपपद्यते। अथाऽव्याप्यवृत्तिनीलाऽऽदिकल्पने गौरवम्। तथाहि-अवच्छेदकतासंबन्धेन नीलाऽऽदिकं प्रति समवायेन नीलेतररूपाऽऽदीनां प्रतिबन्धकत्वमस्मिन् पक्षे वाच्यम्, अन्यथा पीतावयवावच्छेदेन नीलोत्पत्तिप्रसंगात्। न च नीलस्य स्वाश्रयावच्छेदेन नीलजन्यत्वस्वाभाव्यादेव न तदापत्तिः, विनैतादृशप्रतिबध्यप्रतिन्धक भावं तथा स्वाभाव्यानिर्वाहात्। ननु समवायेन नीलं जायत एव पीतावयवावच्छेदेनेत्यत्र चाऽऽपादकाभाव इति चेत्। न। समवायस्येवावच्छेदकताया अपि कारणनियम्यत्वात्। एवं च नीलाऽऽदौ नीलेन रूपाऽऽदीनां, नीलेतररूपाऽऽदौ वा नीलाऽऽदीनां प्रतिबन्धकत्वे विनिगमकाभावः। मम नीलेतररूपाऽऽदौ नीलाऽऽदीनां न प्रतिबन्धकत्वम्। नीलपीताऽऽरब्धे नीलरूपत्वप्रसङ्गस्य बाधकत्वादिति चेत्। मैवम्। ममाऽपि नीलत्वाऽऽदिकमेव प्रतिबध्यताऽवच्छेदकं, न तु नीलेतररूपत्वाऽऽदि; गौरवादिति वक्तुं शक्यत्वात्। न च नीलत्वेन प्रतिबन्धकत्वं, न तु नीलेतरत्वेन, गौरवादित्येव किं न स्यादिति वाच्यम्; प्रतिबन्धकताऽवच्छेदकगौरवस्यादोषत्वात्। अस्तु वाऽवच्छेदकतया नीलाऽऽदौ समवायेन नीलाऽऽदीनामेव हेतुत्वम्। न च नानारूपवत्कपालाऽऽरब्धघटनीलस्य तत्कपालावच्छेदेनोत्पत्तिप्रसङ्गः, केवलनीलत्वाऽऽदिनैव तद्धेतुत्वात्। न च केवलत्वं नीलाभविसमानाधिकरणत्वमिति गौरवम्, अनवच्छिन्नसमवायेन नीलाऽऽदिहेतुत्वस्यैव तदर्थत्वात्। समवायेन नीलाऽऽदौ च स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्धेन नीलाऽऽदिनां हेतुत्वं, व्याप्यव-

त्तिनीलस्थलेऽव्याप्यवृत्तित्ववारणाय चावच्छेदकतया नीलाऽऽदौ स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायित्वसंबन्धेन नीलेतररूपाऽऽदीनां हेतुत्वमित्यव्याप्यवृत्तित्वपक्षेऽष्टादश कार्यकारणभावाः, चित्ररूपपक्षेऽप्येतावन्त एव। चित्ररूपे नीलेतररूपाऽऽदीनां षट्कस्य, नीलाऽऽदौ च नीलाऽऽदिषट्कस्य हेतुत्वम् , नीलेतराऽऽदिषट्कस्य च नीलाऽऽदौ प्रतिबन्धकत्वमित्यादिनाऽऽधिक्याभावात् । वस्तुतोऽवच्छेदकतया नीलाऽऽदौ स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिसमवेतत्वसंबन्धेन नीलेतररूपाविशिष्टनीलत्वाऽऽदिनैव हेतुत्वम्। न च नीलेतरत्वाऽऽद्यवच्छिन्नं प्रति नीलविशिष्टनीलेतरत्वाऽऽदिना हेतुत्वे विनिगमकाभावः, नीलत्वापेक्षया नीलेतरत्वस्य गुरुत्वात् , इत्थं चाभिनिष्कर्षऽस्माकं द्वादशैव कार्यकारणभावा इति लाघवादित्याहुः । तदसत् । चित्ररूपस्वीकारपक्षेऽपि नीलाऽऽदौ नीलेतराऽऽदिप्रतिबन्धकत्वेनैव शुक्लावयवमात्राऽऽरब्धे नीलाऽऽद्यनुत्पत्तिनिर्वाहात्, नीलाऽऽदौ नीलाऽऽदिहेतुत्वाकल्पनात् , कार्यकारणभावसंख्यासाम्यादव्याप्यवृत्तिनानारूपतत्प्रागभावभावावध्वंसाऽऽदिकल्पने परं परस्यैव गौरवात् । किञ्च-अव्याप्यवृत्तिरूपपक्षेऽवच्छेदकतासंबन्धेन रूपे उत्पन्ने पुनस्तेनैव संबन्धेनावयवे रूपोत्पत्तिवारणायावच्छेदकतासंबन्धेन रूपं (प्रत्यवच्छेदकतासंबन्धेन रूपं) प्रतिबन्धकं कल्पनीयमिति गौरवम्। न चावयविनि समवायेनोत्पद्यमानमवयवेऽवच्छेदकतयोत्पत्तुमर्हतीत्यवयविनि रूपस्य प्रतिबन्धकस्य सत्त्वेन रूपसामग्र्यभावादेव नावयवेऽवच्छेदकतया तदा रूपोत्पत्त्यापत्तिरिति वाच्यम्। एवं ह्यवयविनिष्ठरूपाभावोऽवच्छेदकतासंबन्धेन रूपं प्रति हेतुर्वाच्यः, तथा च नानारूपवत्कपालाऽऽरब्धघटस्य नीलरूपाऽऽदेर्नीलकपालिकाऽवच्छेदेनानुत्पत्तिप्रसङ्गात् , तदवयविनि कपाले रूपसत्त्वात् । अपि च-नीलपीतवत्यग्निसंयोगात्कपालनीलनाशात्तदवच्छेदेनानुत्पत्तिर्न स्यात् , समवायेन रूपं प्रति तेन रूपस्य प्रतिबन्धकत्वात् , तदवच्छिन्नरूपे तदवच्छिन्नरूपस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पने चाति-गौरवम् । अथावच्छिन्ननीलाऽऽदौ नीलाभावाऽऽदिषट्कमवयवगतमवयविगतं च हेतुः, रक्तनीलाऽऽरब्धे रक्तनाशकपाकेन व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तौ चावयविनि नीलाभावाभावानवच्छिन्ननीलोत्पत्तिः, केवलनीले पाकेन क्वचिद्रक्तोत्पत्तौ च प्राक्तननीलनाशादेवावच्छिन्ननीलोत्पत्तिरिति चेत् । न । नीलपीतश्वेताऽऽद्यारब्धे श्वेताऽऽद्यवच्छेदेन नीलजनकपाके सति प्राक् तननीलनाशेन तत्तदवच्छिन्ननानानीलकस्य नाशापेक्षया एकचित्रकल्पनाया एव लघुत्वा-त्। अथ व्याप्यवृत्तिरूपस्या(व्य)वच्छेदकस्वीकारादवच्छेदकतया नीलाऽऽदिकं प्रत्येव समवायेन नीलाऽऽदेर्हेतुत्वम्। न चैवं घटेऽपि तया नीलाऽऽद्युपपत्तिः; अवयवनीलत्वेन, दव्यविशिष्टनीलत्वेन वा तद्धेतुत्वात्। न च नीलमात्रपीतमात्रकपालिकाद्वयाऽऽरब्धनीलपीतकपाले तदापत्तिः, नीलकपालिकाऽवच्छिन्नतदवच्छेदेन तदुत्पत्तेरिष्टत्वात् , अस्तु वा तया नीलाऽऽदौ नीलेतररूपाऽऽदेरेव विरोधित्वमिति चेत् । न । नीलाऽऽदौ नीलेतररूपाऽऽदिप्रतिबन्धकतयैवोपपत्तौ तत्र नीलाऽऽदिहेतुतायां मानाभावान्नानारूपवदवयवाऽऽरब्धे चित्ररूपस्यैव प्रामाणिकत्वाद् व्याप्यवृत्तेरवच्छेदका-योगान्नीलेतराऽऽदौ नीलाऽऽदेः प्रतिबन्धकत्वेऽविनिगमाच्च । यदि च-स्वाऽऽश्रयसंबन्धेन नीलं प्रति स्वव्यापकसमवायेन नीलरूपं हेतुरुपेयते, नीलपीताऽऽद्यारब्धस्थले च स्वाऽऽश्रयसबन्धेन नीलरूपस्य पीतकपालेऽपि संभवेन व्यभिचारात्। उक्तसंबन्धेन हेत्वभावादेव न तत्र नीलोत्पत्तिरिति विभाव्यते, तदा नीलं प्रति नीलेतररूपाऽऽदेः प्रतिबन्धकत्वे चित्ररूपत्वाऽऽदिना न कल्पनीयमित्यतिलाघवम् । एवं च सामानाधिकरण्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको नीलेतराभावः समानावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्या नीलहेतुरित्यपि निरस्तम्; समानाधिकरणस्य व्याप्यवृत्तित्वेन तत्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावासत्त्वाच्चेति बहवः संप्रदायं समादधते। केचित्तुविजातीयचित्रं प्रति स्वविजातीयत्वस्वसंवलितत्वोभयसंबन्धेन रूपविशिष्टरूपत्वेनैव हेतुत्वम् । स्ववैजात्यं च चित्रत्वाव्यतिरिक्तं यत्स्ववृत्ति तदभिन्नधर्मसमवायित्वम्, स्वसंबलितत्वं च स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वम्। न च सत्त्वाननुगमः, संबन्धमध्ये तत्तत्प्रवेशात्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां हेतुत्वादित्याहुः ॥ परे तु नीलपीतोभयाभावपीतरक्तोभयाभावाऽऽदीनां स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकानां समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां विजातीयपाकोभयाभावाऽऽदीनां यावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक एको भावश्चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुरित्याहुः ॥ रूपत्वेनैव चित्रं प्रति हेतुत्वम्, कार्यसहभावेनचित्रतेराभावस्याहेतुत्वेनानतिप्रसङ्गादित्यन्ये ॥ परे तु-चित्रत्वावच्छिन्ने रूपत्वेनैव हेतुत्वम्, नीलपीतोभयाऽऽरब्धवृत्तिचित्रत्वावान्तरवैलक्षण्यावच्छिन्ने च नीलपीतोभयत्वेन हेतुता । एवं तत्त्रितयाऽऽरब्धे तत्त्रितयत्वेन, नीलपीतोभयाऽऽदिमात्राऽऽरब्धे च नीलपीतान्यतरादितररूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वान्नत्रितयारब्धचित्रवति द्वितयाऽऽरब्धसंप्रयोगः । न चैवं गौरवम्, प्रामाणिकत्वात् । वस्तुतः समवायेन द्वितयजचित्रादौ स्वाधिकरणपर्याप्तवृतिकत्वसंबन्धेनैव द्वितयाऽऽदीनांहेतुत्वम्, नातःप्रागुक्तप्रतिबन्धकत्व-कल्पनागौरवमित्याहुः। उच्छृङ्खलास्तु नीलपीतरक्ताऽऽद्यारब्धघटाऽऽदौ नीलपीतरक्ताऽऽदि ष्वेवनीलपीतोभयजपीतरक्तोभयजतत्त्रितयजादीनामुत्पत्तिः, सर्वेषां सामग्रीसत्त्वात् । नात्र चरमं व्याप्यवृत्ति, इतराणि त्वव्याप्यवृत्तीनीति विशेषः। न चैकमेव तदस्त्विति वाच्यम् , तत्तदवयवद्वयमात्रावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षे विलक्षणविलक्षणचित्रोपलम्भात्। न च नीलपीताऽऽदिविशिष्टचित्रेणावान्तरचित्रप्रतीतसंभवोऽखण्डोऽत्र, सामान्यचित्रत्वेनाखण्डावान्तरचित्रत्वानां सामानाधिकरण्यप्रत्ययात्। न चेदेवं तदा नीलाऽऽद्यविशेषिता ये नीलाऽऽदिभेदास्तत्तदाश्रयरूपसमुदायेनानुगतचित्रप्रतीतेश्चित्रत्वं नीलाऽऽदिभेदसमुदायेन नीलाऽऽद्यनुगतप्रतीतिसम्भवान्नीलत्वाऽऽदिकमपि च विलीयेतेति जातेरव्याप्यवृत्तित्वे पुनरस्त्वेकमेव यत्किञ्चिदवच्छेन तत्र नीलत्वपीतत्वरक्तत्वविलक्षणचित्रत्वाऽऽदिसंभवादित्याहुः ॥ तदिदमखिलमशिक्षितप्रलापमात्रम्॥ चित्रपटोचिते च रूपाप्रतिपत्तेरनुभवविरुद्धत्वात्, शुक्लाऽऽदिरूपाणामपि परस्परभिन्नानां साक्षात्संबन्धेन निर्विगानं तत्र प्रतीतेः, प्रत्येतव्यकल्पनागौरवेण प्रतीतिवाधे रूपाऽऽदेस्तु तन्मात्रगतत्वाऽऽपत्तेः । तदिदमाहुःसंमतिटीकाकृतः-'' न च चित्रपटाऽऽदावपास्तशुक्लाऽऽदिविशेषरूपमात्रं तदुपलम्भान्यथानुपपत्त्याऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् , कथं चित्ररूपः पट इति प्रतिभासाभावप्रसक्तेरिति, एकाधिकरण्यावच्छिन्नशुक्लाऽऽद्यवयवावच्छेदः, एवं कथञ्चित्समुदाय्यतिरिक्तचित्रमिति, तत्र शुक्लाऽऽद्यग्रहे चित्राग्रहप्रसक्तिरित्येव तात्पर्यम्। किञ्चिच्छुक्लावयवावच्छेदेनाऽपि चक्षुः-संनिकर्षेण चित्रोपलम्भःस्यात्; अथ चित्रत्वग्रहे परम्परयाऽवयवगतनीलेतररूपपीतेतररूपाऽऽदिमत्त्वग्रहो हेतुः, अतएव त्र्यणुकचित्रं चक्षुषा न गृह्यत इत्याचार्याः। न च चित्रत्वनिष्ठविषयतया चित्र-

त्वग्रहे स्वविशेषसमवेतत्वसंबन्धेनोक्तस्य हेतुत्वे घटावयवगततद्ग्रहात् शुक्लावयवावच्छेदेन चित्रपटसन्निकर्षेऽपि तद्रूपचित्रत्वप्रत्यक्षाऽऽपत्तिरिति वाच्यम्, विशेष्यतया चित्रत्वप्रकारकप्रत्यक्ष एव चरमसमवेतत्वविनिर्मुक्तसंबन्धेन तद्धेतुत्वात्। न च नीलेतररूपत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारताग्रहो न हेतुर्नीलपीतत्वाऽऽदिनाऽवयवगतनीलपीताऽऽदिग्रहेऽप्यवयविचित्रप्रत्यक्षोत्पादादिति वाच्य म् , विलक्षणचित्रप्रत्यक्षे तेन तेन रूपेण तत्तद्ग्रहस्यापि हेतुत्वात्। वस्तुतो नीलेतररूपत्वाऽऽदिव्याप्यत्वेन नीलेतररूपत्वपीतत्वाऽऽद्यनुगमान्न क्षतिरिति चेत्। न। त्र्यणुकचित्ररूपाग्रहे चतुरणुकचित्रप्रत्यक्षानुपपत्तेः, चित्रावयवाऽऽरब्धे चित्रग्रहेऽवयवविषयकनीलेतररूपत्वाऽऽदिव्याप्यचित्रत्वावच्छिन्नप्रकारकग्रहस्यैव हेतुत्वात्। यदि च नीलेतररूपपीतेतररूपाऽऽदिमदवयवावच्छिन्नेन्द्रियसंनिकर्षस्याववयवनीलाऽऽदिगतनीलत्वाऽऽदिग्रहप्रतिबन्धकदोषाभावानां च चित्रप्रत्यक्षेहेतुत्वम्, अतस्त्रसरेणुचित्रस्याऽपि चक्षुषा ग्रह इत्युद्भाव्यते, तदाऽनन्तहेतुहेतुमद्भावकल्पनागौरवात्। चित्रत्वं व्यासज्यवृत्त्यैव, तत्र च समानाधिकरणनानारूपग्रहव्यङ्ग्यत्वमित्येव कल्प्यमानं शोभते। न ह्येवं गौरवं, चित्रत्वग्रहे सामानाधिकरण्येन रूपविशिष्टरूपग्रहत्वेनैव हेतुत्वादुक्तहेत्वभावे चित्रत्वविनिर्मुक्तचित्रप्रत्यक्षस्य चोभयोस्तुल्यत्वात्। यदि च ना-नाऽवयवावच्छिन्नपर्या-(य)प्रवृत्ति एकं चित्रमप्यनुभूयतेऽत एवैकावयवावच्छेदेन चित्राभावप्रतीतेरप्युपपत्तिरिति स्वीक्रियते, तदैकानेकचित्रद्रव्यस्वभावाभ्युपगमं विना न काऽप्युपपत्तिः, देशस्कन्धनियतधर्माणां तद्ग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वेनैवोक्तोपपत्तेः। देशस्कन्धपरिमाणविशेषग्रहेऽपीयमेव गतिरिति दिक्। किञ्च-नीलेतररूपाऽऽदिषट्कस्यैव चित्ररूपे हेतुत्वमित्येतावतैव नोपपत्तिः, अवयवगतोत्कृष्टापकृष्टनीलाभ्यामपि चित्रसंभवात्। ते चोत्कर्षापकर्षा विचार्यमाणा अनन्ता एव।

तदाह श्रीसिद्धसेनः-

'' पच्चुप्पण्णम्मि वि प-ज्जयम्मि भयणागइं पडइ दव्वं।
जं एगगुणाऽऽईया, अणंतकप्पा गुणविसेसा ''॥६॥ (स०३का०)

व्याख्या-प्रत्युत्पन्ने वर्त्तमानेऽपि पर्याये भजनागतिं भेदाभेदप्रकारं पतत्यासादयति द्रव्यम्, यस्मादेकगुणाऽऽदयः कृष्णत्वाऽऽदयोऽनन्तप्रकारास्तत्र गुणविशेषाः प्रकारवाचिनः।

तेषां च मध्ये केनचिदेव गुणविशेषेण युक्तं तदिति कृष्णं हि द्रव्यं द्रव्यान्तरेण तुल्यमधिकमूनं वा भवेत् , प्रकारान्तराभावात्। आद्ये सर्वतुल्यत्वे तदेकताऽऽपत्तिः। उत्तरयोः संख्येयाऽऽदिभागगुणवृद्धिहानिभ्यां षट्स्थानकप्रतिपत्तिरवश्यंभाविनी। तथा च प्रतिनियतहानिवृद्धियुक्तकृष्णाऽऽदिपर्यायेण सत्त्वं, नाऽन्येनेति। इत्थं च नीलत्वाऽऽद्यवान्तरजातीनामनन्तत्वात् तरतमशब्दमात्रेण तदनुगमस्य कर्तुमशक्यत्वात्। तत्तदवान्तरजातीयनीलपीताऽऽदीनामनन्तचित्रहेतुत्वकल्पने गौरवमिति षट्स्थानपतितवर्णपर्यायेण चित्रद्रव्यमेव स्वसामग्रीप्रभवमभ्युपगन्तव्यम्; आर्यसमाजसिद्धधर्मस्याऽपि तथा भव्यत्वकार्यतावच्छेदकत्वस्वीकारात्। एतेन चित्रप्रत्यक्षमनेकताऽवच्छेदकमपि चक्षुःसंयोगनिष्ठं वैजात्यं स्वीकर्त्तव्यमित्यपि निरस्तम्। सूक्ष्मेक्षिकयाऽनन्तावान्तरचित्रानुभवादनन्तवैजात्यकल्पनाऽऽपत्तेरत्यन्ताप्रामाणित्वादिति द्रष्टव्यम्। अव्याप्यवृत्तिरूपपक्षेऽप्यवयवगतोत्कृष्टापकृष्टनीलाभ्यामवयविनीलेतरयोरवच्छिन्नयोः सामान्यसामग्रीवशादर्थादनवच्छिन्नस्य नीलस्योत्पत्तिप्रसङ्गोऽवयविनीलेतरत्वाऽऽद्यवच्छिन्न एवावयवनीलेतरत्वाऽऽदिना हेतुत्वे नीलत्वावच्छिन्नस्याऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गः। किमाकस्मिकत्वमिति चेत् ? तद्धर्मावच्छिन्नार्थे तयाप्रवृत्तिविरहः, एतत्कारणसत्त्वे नीलत्वावच्छिन्नस्यावश्यमुत्पत्तिरित्यनिश्चयश्च प्रतीयते। तत्र नीलसामान्यमनवच्छिन्नम्, अवच्छिन्नाश्च तद्विशेषाः। केवलशुक्लेऽपि च स्वल्पबह्ववयवावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षेऽणुमहत्त्वोपेतशुक्लविशेषाः, तदनुवृत्तं शुक्लसामान्यं चेत्येकानेकवर्णविशिष्टद्रव्यपरिणामाभ्युपगमं विना न कथमपि विस्तारः। एतेनाऽव्याप्यवृत्तिनीलाऽऽदिकल्पने ग्राहकान्तरकल्पने अव्याप्यवृत्तिद्रव्यसमवेतप्रत्यक्षत्वाऽवच्छिन्नं प्रति चक्षुःसंयोगकावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसंबन्धावच्छिन्नाऽऽधारतासंनिकर्षेण, संयोगाऽऽदिप्रत्यक्षस्थले क्लृप्तेनैवानतिप्रसङ्गात्। नीलपीतोभयकपालाऽऽरब्धघटीयनीले च नीलकपालिक्येव परम्परयाऽवच्छेदिकेत्यभ्युपगमादित्यादि निरस्तम्। शाखामूलोभयावच्छिन्नदीर्घतन्तुतरुसंयोगवन्नीलेतरोभयाऽऽद्यवयवावच्छिन्नविलक्षणरूपस्याऽनुभवसिद्धत्वेन तद्ग्राहकोभयाऽऽदिपर्याप्तावच्छेदकताकाऽधिकरणतागर्भसंनिकर्षाऽऽदिकल्पनाया अप्यावश्यकत्वादुपदर्शितसंयोगस्थलेऽपि एकैकावच्छिन्नसंयोगद्वयस्वीकारे च तद्वृत्तिकृता सर्वैश्च नीलेतराऽऽरब्धेऽवयविनि नीलानीलं स्वस्वावच्छेदेन समुत्पद्यमानं रूपमविरोधाद् व्यापकमेवोत्पद्यते, सजातीयविजातीयेषु नानापदार्थेषु जायमानं समूहाऽऽलम्बनमिवैकं ज्ञानमिति सर्वं विलूनशीर्णं स्यात् , यथा दर्शनसंस्कारतात्पर्याभ्यां नानैकसंयोगरूपाभ्युपगमे व्यञ्जितं स्याद्विनैव ? एतेन नानारूपवदवयवाऽऽरब्धे व्याप्यावृत्तीन्येव नीलपीताऽऽदीन्युत्पद्यन्ते, नीलाऽऽदिकं प्रति नीलेतराऽऽदिप्रतिबन्धकत्वनीलाऽऽदिकारणत्वकल्पनापेक्षया व्याप्यवृत्तिनीलपीताऽऽदिकल्पनाया एव न्याय्यत्वादित्यपि परेषां मतं निरस्तम्; नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे पीताऽऽदेरुपलम्भाऽऽपत्तेरपि तत्र दोषत्वात्। तदाह सम्मतिटीकाकारः- ''आश्रयव्यापित्वेऽप्येकावयवसहितेऽप्यवयविन्युपलभ्यमाने-ऽपरावयवानुपलब्धावप्यनेकरूपप्रतिपत्तिः स्यात् , सर्वरूपाणामाश्रयव्यापित्वादिति।'' न च नीलाऽऽद्यवयवावच्छिन्नसन्निकर्षस्य नीलाऽऽदिग्राहकत्वकल्पनाददोषः, पीतकपालिकाऽवच्छिन्ननीलपीतोभयकपालावच्छेदेन संनिकर्षेऽपि नीलग्रहप्रसङ्गात्। न च केवलनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्ष एव ग्राहक इति वाच्यम् , नीलपीतोभयद्व्यणुकाऽऽरब्धत्रसरेणुनीलप्रत्यक्षाऽऽपत्तेः। परमाणुसंनिकर्षेऽस्यैव परमाण्ववच्छिन्नसंनिकर्षस्याऽपि द्रव्याग्राहकत्वेन तद्गतरूपाग्राहकतया चित्रस्वभावत्वमानुभविकम्, तथा ग्राहके ज्ञानेऽपि तत्राखण्डाया एकाऽऽकारतायाः, सखण्डानां च नानाऽऽकारताविशेष्यतासांसर्गिकविषयतानां नयनिरूपितानां शुद्धानां चानुलोमप्रतिलोमभावेन समानम् , संवित्संवेद्यतानियामकवैचित्र्यशालिनीनां च ब्रह्मीनामनुभवात्। अत एव '' सावज्जजोगविरओ, तिसु गुत्तो छसु सुसंजुतो। उवउतो जयमाणो, आया सामाइयं होइ॥ १॥ '' इति सप्तनयाऽऽत्मकमहावाक्यार्थजज्ञाने एकाऽवशिष्टा प्रमाणाऽऽकारता, अनेकाश्चांशिक्यो नयविषयतापरस्परसंयोगजाश्च ब्रह्मयोऽनुभूयन्ते। नैयायिकास्तुविशेषणं, तत्र च विशेषणान्तरम् १, विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम् २, एकविशिष्टेऽपरवैशिष्ट्यम् ३, एकत्र द्वयम् ४, इत्येवं चतुर्द्धा

विशिष्टा वैशिष्ट्यबुद्धिः । तत्र मध्यमद्वये विशेषेण विशेष्यताऽवच्छेदकप्रकारकनिश्चयत्वाभ्यां हेतुता, इतरद्वये तु विशेषणाज्ञानासंसर्गग्रहयोः, विशेष्ये विशेषणामितिरीत्या बुद्धित्वंरक्तत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितदण्डत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारकबुद्धित्वम्, तेन दण्डो रक्तो दण्डवात्पुरुष इति समूहाऽऽलम्बने नातिप्रसङ्गः, तत्र दण्डत्वावच्छिन्नप्रकारतायाः रक्तत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित-त्वात्। न च विशिष्टवैशिष्ट्यविषयतास्वीकारे रक्तदण्डवानित्यत्र विशेष्ये विशेषणमितिविषयितायां दण्डो रक्तो दण्डवात्पुरुष इति समूहालम्बनव्यावृत्तायां मानाभावः । रक्तरूपदण्डत्वोभयावच्छिन्नदण्डनिष्ठप्रकारताभिन्नाया रक्तरूपत्वाऽवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितशुद्धदण्डत्वावच्छिन्नप्रकारताया आनुभविकत्वम् । किञ्च-रक्तदण्डवानित्यादिवाक्यादयुगपदुपस्थितस्वघटकाखिलपदार्थाज्ञायमानाया अनन्वितान्वयबुद्धेः रक्तो दण्डो दण्डवात्पुरुष इति वाक्यजसमूहाऽऽलम्बनावैलक्षण्ये रक्तदण्डाभाववानित्यादिबाधधीकालेऽप्युत्पत्त्यापत्तिरिति तत्प्रतिबध्यताऽवच्छेदकतयैव तत्सिद्धिरुक्तबाधधिया रक्तरूपत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितशुद्धदण्डत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपुरुषत्वाऽवच्छिन्नविशेष्यताक-धियैव प्रतिबद्धत्वाविशिष्टवैशिष्ट्यविषयतायाः बाधप्रतिबध्यता-वच्छेदकत्वे उक्तस्थल एवानुपपत्तेः । अपि च-विशकलितज्ञानाद् व्यापकविषयताशालिमानसस्वीकारेण तत्साधारण्येनैव प्रतिबद्धत्वं युक्तिमत्। अथैवं दण्डो रक्तो न वेति संशयकाले उक्तवाक्याद्विशेष्ये विशेषणमिति रीत्याऽन्वयबोधाऽऽपत्तिरिति चेत्। न। प्रथममिष्टत्वात्, अनन्तरं च विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमिति रीत्याऽन्वयधियः संभवात्। तदनुभवोऽप्यविरुद्धः, प्रात्यक्षिकी बुद्धिरप्युक्तसंशयकाले रक्तत्वांशे संशयाकारा इष्टैव। यत्तु घटघटत्वाऽऽदिनिर्विकल्पकोत्तरं घटवदित्याकारा धीर्विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या जायत इति। तत्र घटाऽऽद्यंशे तद्धीप्रकारताया निरवच्छिन्नत्वेऽपसिद्धान्तः, जात्यतिरिक्तस्य किञ्चित्प्रकारेणैव भानात्। तादृशधीविरोधिनोऽसंसर्गग्रहस्यासंभवात्तथा विशेषणधियोऽहेतुत्वाच्च। तस्या घटत्वाऽऽद्यवच्छिन्नत्वे तु तद्धियो घटो नास्तीत्यादिबुद्धिवद्विशिष्टवैशिष्ट्यधीत्वस्यैवाध्यवसितप्रकारकज्ञानमेवोपनायकम्, तस्य च कार्यतावच्छेदकं लौकिकविषयिताशून्यम्, तद्विषयिकज्ञानत्वापेक्षया लाघवाद्विशिष्टवैशिष्ट्याऽऽख्यविषयताशालिप्रत्यक्षत्वमेवेति घटत्वप्रकारकज्ञानोत्तरं जायमानायां घटवदिति बुद्धौ विशिष्टवैशिष्ट्यधीत्वमेव; निर्विकल्पकोत्तरं तु विशेष्ये विशेषणमितिरीत्या लौकिकविषयताशालिज्ञानस्यैव स्वीकारात्। न च दण्ड इत्याद्यात्मकमानसबोधासंग्रहः, तत्र ज्ञानांशे दण्डस्य प्रकारकत्वात्। न चात्मन्युपनीतभावे च ज्ञानाभावेऽपि तत्रागत्या लौकिकविषयाशून्यत्वं निवेशनीयम्; तादात्म्येन स्वस्मिन् स्वप्रकारकत्वाभ्युपगमादित्यादिनिरस्तम्। नव्यनये निर्विकल्पकसाधारप्रत्यासत्तिस्वीकारेणोपनयकार्यताऽवच्छेदके लौकिकविषयिताशून्यत्वस्यैव निवेशात् घटवदित्यादौ सर्वत्र विशेष्ये विशेषणमिति-रीत्या विषयतायां प्रागसकृदुक्तबाधकस्यैव न साम्राज्यार्थवेति ? भावः, दण्डी न वेति संशयकाले दण्डाभाववदितिधीर्विशिष्ये विशेषणमिति रीत्या स्यात्, तयाऽभावे प्रतियोगिताऽवच्छेदकविशिष्टप्रतियोगिनो बुद्धेरप्रसिद्ध्या तत्प्रतिबन्धकत्वस्याप्ययोगादिति चेत्। न। तादृशबुद्धेरप्रसिद्धत्वे दण्डाभावसंसर्गाग्रहाऽऽदिसामान्य-सामग्र्या विशिष्टवैशिष्ट्यविषयिताबोध एव हेतुत्वात्, तादृशबुद्धेरापादकाभावाद्विशेष्ये विशेषणमिति विषयितायाः वैशिष्ट्यविषयिताकबोध एव हेतुत्वात्, तादृशबुद्धेरापादकाभावाद्विशेष्ये विशेषणमिति विषयितायाविशिष्टवैशिष्ट्यविषयिताव्यापकत्वे दण्डाभाववदिति ज्ञानेऽपि तस्याः सत्त्वेन तदवच्छिन्नं प्रति प्रतिबन्धकत्वसंभवाच्च। अत एव दण्डो रक्तो न वेति संशयकाले यदि विशेष्ये विशेषणमिति रीत्याऽपि रक्तदण्डवानिति धियो नोत्पत्तिः, तदा तत्र दण्डो रक्त इत्यादिनिश्चयाभावविशिष्टो दण्डो रक्तो न वेत्यादिसंशयः प्रतिबन्धकः स्वीक्रियते। इत्थं च व्यापकत्वाद् विशिष्ये विशेषणमिति रीत्या विषयतैवानुमितिप्रवृत्त्यादिजनकताऽवच्छे-दिका। विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वं तु रक्तदण्डात्वाऽऽदिविशिष्टपर्याप्तिप्रकारताकबुद्धित्वं रक्तदण्डेन जानामीति प्रतीतेरिति संप्रदायविदः। तदसत्। अस्या एवाऽनुमित्यादिजनकताऽवच्छेदकत्वे विशिष्टवैशिष्ट्यविषयितायां मानस्य दूरापास्तत्वात्। रक्तदण्डवानित्यादिज्ञानेऽपि रक्तत्वाऽऽदिप्रकारतानिरूपितदण्डाऽऽदिनिष्ठविशेष्यताया एवानुभवात् रक्ताऽऽदेर्दण्डाऽऽदिविशेष्य इत्येव प्रतीतेः। तस्माद्विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताकबुद्धित्वमेवानुमित्यादिजनकताऽवच्छेदकम्। विशेष्ये विशेषणमिति बुद्धित्वं तु विशेषणताऽवच्छेदकसंशयकालीनज्ञानसाधारणमित्यलं संशयप्रतिबन्धकत्वेन, विशिष्टपर्याप्तप्रकारत्वासंभवभिया परामर्शवैशिष्ट्यबुद्धित्वमित्यपि न युक्तम्। वह्निव्याप्ये धनवानित्यादौ विशिष्टव्याप्तेरसिद्धत्वेन प्रकारत्वासंभवभिया परामर्शः, दीधितौ खण्डशो निरुक्तेरानर्थक्याऽऽपातात्। अनेन वैशिष्ट्यं च वैज्ञानिकम्, तेन लोहितवह्निमानित्यादौ न विशिष्टवैशिष्ट्यबोधानुपपत्तिरितिमथुरानाथाद्युक्तमपास्तम्। विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताविशेषणताऽवच्छेदकसंबन्धभेदेन भिन्नेति सर्वैः स्वीकारेण समवायाऽऽदिघटिततदसंभवस्य वैज्ञानिकसंबन्धेन समाधातुमशक्यत्वाच्च, तत्तत्संबन्धेन विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य तत्तत्संबन्धनिरूपितवैज्ञानिकसंबन्धेनैव विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वाऽवच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पने त्वतिगौरवम्, संशयदशायामपि शुद्धसंबन्धेन कार्याऽऽपत्तिश्च। न चेष्टापत्तिः, अनुभवविरोधात्। अन्यथा विशिष्टवैशिष्ट्यं न कार्यतावच्छेदकम्, अर्थसमाजसिद्धत्वाद्विशेषणज्ञानद्वयादेव तादृशबोधाऽऽपत्तिरिति मिश्रमतसाम्राज्याऽऽपत्तिः, दण्डी रक्तो न वेति सशयानन्तरमजायमानस्य, दण्डो रक्त इति निश्चयानन्तरं च जायमानस्य बोधस्याऽनुभवसिद्धत्वात्। एवं हि तत्रोक्तकार्यकारणभावेन तन्मतं निराक्रियते, नियतसंबन्धगर्भत्वेऽपीयमेव युक्तिरिति। इदं तु स्याद्रक्तदण्डवानित्यत्र दण्डाऽऽश्रितैव प्रकारता, तदवच्छेदकता च रक्तदण्डत्वे च पर्याप्ता, रक्तेन दण्डत्वेन चामुमत्र जानामीति प्रतीते-र्व्यधिकरणस्याप्यवच्छेदकत्वात्। तत्वावच्छेदकत्वाऽऽदिकम् इदं रजतमित्यादि पीतशङ्खवदित्यादिभ्रमवदविरुद्धम्। साऽवच्छेदकता तत्तद्धर्मांशे समानाधिकरणव्यधिकरणतत्तत्संबन्धावच्छिन्ना, तत्र निरूपकबुद्धित्वं, विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वं बह्निव्याप्ये धनवानित्यादावपि संभवतीत्यलं दीधितिकृतः खण्डशो निरुक्ताः, इयमेवानुमित्यादिजनकताऽऽवच्छेदिका नानाप्रकारताऽऽदिघटितधर्मस्य जनकताऽऽद्यवच्छेदकत्वे गौरवादिति। अथ दण्डो रक्त इति निर्णयस्य रक्तत्वदण्डत्वोभयधर्माऽवच्छिन्नप्रकारताकत्वं जन्यताऽवच्छेदकमित्यभ्युपगमेऽपि रक्तत्वधर्मिताऽवच्छेदकदण्डत्वप्रकारकनिर्णयजन्ये दण्डरक्तवानिति विशिष्टवैशिष्ट्यबोधे व्यभिचार इति चेत्। न। रक्तत्वप्रकारतानिरूपितदण्डत्वावच्छिन्न-

विशेष्यताशालित्वस्याऽपि तादृशनिर्णयजन्यतावच्छेदके प्रवेशात्, उक्तस्थले दण्डत्वप्रकारतानिरूपितरक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यताया एव सत्त्वात्। उभयधर्मावच्छिन्नप्रकारतां परित्यज्योभयपर्याप्तप्रकारतानिवेशेन हेतुत्वस्वीकारे तु पर्वतो लौहित्याभाववानिति ज्ञानकाले लोहितवह्निमानिति विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्ध्यवगमाऽऽपत्तिः; पर्वतो न लोहित इति ज्ञानस्य लौहित्यप्रकारकपर्वतविशेष्यकज्ञान एव प्रतिबन्धकत्वात्। न च रक्तत्वावच्छिविशेष्यताकरक्तप्रकारकस्य रक्तो रक्त इति स्मरणस्य प्रसङ्गः, तत्र तथा निर्णयस्य हेतुत्वादिति वाच्यम्; रक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यतायास्तत्र रक्तत्वप्रकारतानिरूपितत्वेऽपि रक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यतात्वे तस्यास्तादृशप्रकारतानिरूपितत्वानभ्युपगमात्, तेन रूपेण रक्तत्वप्रकारतानिरूपितत्वेऽपि रक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यतात्वे तच्छालिन्यं ज्ञानस्यैव, रक्तो रक्त इत्याकारकस्मृतिजनकतया तादृशस्मरणाऽऽपत्त्यसंभवात्। दण्डो रक्तो न वेति संशयानुव्यवसायस्तु वस्तुत्वविशिष्टदण्डवैशिष्ट्यावगाही रक्तदण्डेन संदेह्मीत्यप्रत्ययात्, किं तु रक्तत्वतदभावप्रकारकत्वदण्डविशेष्यकत्वावगाही रक्तत्वेन तदभावेन च दण्डं संदेह्मीति प्रत्ययादिति न तत्र व्यभिचार इति केचित्। तच्चिन्त्यम्। समुच्चयानुव्यवसायवत्तत्तद्विशेषणद्वयनिरूपितवैशिष्ट्यविषयताशालित्वस्यैव वक्तुं शक्यत्वात्। रक्तदण्डे न संदेह्मीत्यनभिलापस्य दण्डिनं जानामीत्यनभिलापवदेवोपपत्तेर्ज्ञानत्वेन संदेहाऽनुव्यवसाये चोक्तप्रकाराभावाद्विशेषणोपर्युल्लेख्यमानस्य विशेषणताऽवच्छेदकस्य विशेष्यनिष्ठसंबन्धावगाहिताया एवोक्तज्ञाने समर्थने चान्यत्राप्यतिप्रसङ्गात्। तस्माद्विशेष्ये विशेषणमिति रीत्यैव संशयानुव्यवसाय इति न व्यभिचार इति बहवः। न च संदेह्मीत्यनुव्यवसायस्य विशेषणमिति रीत्याऽभ्युपगमे रक्तदण्डो द्रव्यमिति व्यवसायानन्तरमपि रक्तदण्डं जानामीत्यनुव्यवसायप्रसङ्ग इति वाच्यम्, रक्तविशिष्टप्रकारतानिरूपितविषयित्वसांसर्गिकविषयितानिरूपितविशेष्यतासंबन्धेनाऽव्यवसायं प्रति रक्तत्वप्रकारतानिरूपितदण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यताकत्वेन व्यव-सायहेतुताया आवश्यकत्वात्। अन्यथा रक्तो दण्ड इति प्रत्यक्षानन्तरं रक्तवान् दण्डश्चेति समूहाऽऽलम्बनस्मरणाऽऽदिस्थले रक्तदण्डं स्मरामीत्यनुव्यवसायोपपत्तेः। न च दण्डो रक्त इति ज्ञानोपरमेऽपि रक्तदण्डं करोमीत्याकारककृतिसाक्षात्कारोत्पत्त्या व्यभिचारः, हेतुताऽवच्छेदके ज्ञानज्ञानिनिवेशे च रक्तदण्ड इत्यनुद्बुद्धसंस्काराद्रक्तत्वनिर्विकल्पकदशाया विशिष्टबोधाऽऽपत्तिः, उद्बोधकानां संस्कारजविशिष्टवैशिष्ट्यबोधहेतुत्वेऽपि तदभावे सामान्यसामग्र्या फलजननेनाबाधकभावादिति वाच्यम्, कृतिसाक्षात्कारपूर्वं नियमतो दण्डो रक्त इति स्मरणानभ्युपगमात्। वस्तुतः संस्कारव्यावृत्तज्ञानेच्छाकृतिवृत्तिजातिविशेषं कल्पयित्वा विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकविजातीयगुणत्वेनैव हेतुत्वं स्वीक्रियते, अनन्तस्मृतिव्यक्तिताद्धेतुत्वकल्पनापेक्षया तादृशजातिकल्पानाया एवोचितत्वात्। न च कृतिसाक्षात्कारपूर्वं विषयस्मृतिकल्पनमावश्यकम्, अन्यथोपनायकज्ञानविरहेण विषयभानासंभवेन कृतिसाक्षात्कारानुदयप्रसङ्गादिति वाच्यम्; ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तेरपीच्छाकृतिसाधारणतद्विषयकविजातीयगुणत्वेनैव हेतुत्वोपगमात्। अवश्यं च गुणमानसजनकावच्छेदकतया संस्काराऽऽदिव्यावत्तजातिविशेषकल्पनम्। अन्यथा संस्काराऽऽदिमानसताऽऽपत्तेरिति विशिष्टवैशिष्ट्यानुभवत्वमेव च जन्यताऽवच्छेदकमास्थीयते, स्मरणे च तादृशविषयतानियामक इति बहवः। केचित्तु अनुभवत्वजातौ मानाभावेन ज्ञानत्वस्याऽपि नित्यसाधारणतया जन्यताऽवच्छेदकत्वाज्जन्यप्रत्यक्षवृत्तिजातिविशेष एव विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकनिर्णयजन्यताऽवच्छेदकोऽनुमित्यादौ च परामर्शाऽऽदिरेव तादृशविषयतानियामकः, एवं शाब्दबोधेऽवान्तरवाक्यार्थबोध एव, तथाऽप्यविजातीयप्रत्यक्षत्वस्य तज्जन्यताऽवच्छेदकत्वे इतरव्यापकीभूताभावप्रतियोगिपृथिवीत्ववति पृथिवीत्याकारकपरामर्शादितरभेदत्वप्रकारकज्ञानदशायामिव तच्छून्यदशायामपि पृथिवीतरभेदवतीत्याकारकविशिष्टवैशिष्ट्यविषयताशालिनाऽनुमितेरापत्तिः, तादृशानुमितान्वयव्याप्तिज्ञानस्यैव हेतुत्वान्नापत्तिरित्युक्तौ च स्वातन्त्र्येणतरभेदत्वप्रकारकज्ञानस्य सत्त्वे तादृशानुमित्यनुदयाऽऽपत्तिः। न च पृथिव्यामितरभेदविशेष्यकानुमितेरेव स्वीकारान्नेयमापत्तिः, साध्यविशेष्यकानुमितौ साध्यप्रसिद्धेर्विरोधितया तत्र तादृशानुमित्युत्पादासंभवात्। न च विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या पृथिवीतरभेदवतीत्याकारानुमितिस्तत्र जायत एवेति वाच्यम्, तथा सति साध्यज्ञानशून्यकाले तादृशपरामर्शात्पृथिव्यामितरभेदः पृथिवीतरभेदवतीत्याद्याकारकद्विविधविषयताशालिन्या अनुमितेरापत्तेः। न च विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानस्य हेतुत्वान्नेयमापत्तिः, एवमपि प्रमेयत्वेनेतरभेदज्ञानकाले तथाविधानुमितेरापत्तिसंभवात्। न च प्रमेयत्वाऽऽदिना साध्यज्ञानकाले साध्यविशेष्यकानुमितिप्रतिबन्धकीभूतसाध्यसिद्धिसत्त्वे तत्र तथाविधविषयताशाल्यनुमित्यापत्तिरिति वाच्यम्, साध्यताऽवच्छेदकप्रकारकसिद्धेरेव साध्यविशेष्यकानुमितिविरोधित्वात्। अन्यश्चेतरभेदत्वरूपेण भेदान्तरावगाहिसिद्धिकाले तादृशानुमितिवारणाय तत्र पक्षविषयतानिवेश्यसिद्धेः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावान्तराऽऽपत्तेः, तस्मादितरभेदत्वप्रकारकज्ञानकालीनव्यतिरेकव्याप्तिज्ञानजन्यानुमितिविशिष्टवैशिष्ट्यविषयतास्वीकार आवश्यकः, तत्साधारण्यं च विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकज्ञानजन्यताऽवच्छेकस्यावश्यकम्। तथा च सतीतरभेदत्वप्रकारकज्ञानशून्यकाले विशेष्ये विशेषणमिति रीत्येत्तरभेदत्वप्रकारकद्विविधविषयताशाल्यनुमित्यापत्तिः, विशिष्टवैशिष्ट्यानवगाहिन्या विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या जायमानाया अनुमितेरप्रसिद्धेः। विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिन्यां च विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकनिर्णयस्य हेतुत्वादिति चेत्, एवमप्यनुमितौ स्वातन्त्र्येणैव हेतुत्वम्, अनुमितिसाधारणजन्यताऽवच्छेदकत्वे नित्यव्यावर्तनाय जन्यत्वनिवेशस्यावश्यकत्वम्, मिथो विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेण नानाकार्यकारणाभावस्याऽऽवश्यकत्वादवच्छेदकप्रकारकज्ञानशून्यकालीनस्मरणेईश्वरज्ञाने च विशेष्ये विशेषणमित्येतादृशविषयतामात्रमभ्युपेयते, अतो न व्यभिचारः, न वा नित्यसाधारणमित्याहुः। केचित्तु-विशेषणताऽवच्छेदकसंशयकाले विशिष्टवैशिष्ट्य- बोधं स्वीकृत्य विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेनैव हेतुत्व-माहः। तदसत्। संशयसाधारणज्ञानस्य हेतुत्वेऽप्रामाण्यनिर्णयस्यैवोत्तेजकतया निर्णयत्वेन हेतुत्वे त्वप्रामाण्यज्ञानस्यैव तथात्वे निर्णयत्वेन हेतुत्वकल्पनाया एवोचितत्वात्। अन्यथा विशेषणताऽवच्छेदप्रकारकज्ञानीयनिर्णयत्वापेक्षया गुरुशरीरस्याप्रामाण्यज्ञाननिर्णयत्वस्य निवेशने महागौरवप्रसङ्गात्। अथ विशेषणताऽवच्छेदकसंशयकाले तत्र चाप्रामाण्यशङ्कायां भवन्मतस्य

इव ममापि विशिष्टवैशिष्ट्यबोधो न जायते, इत्यप्रामाण्यज्ञानत्वावच्छिन्नाभावस्यैव निवेशे क्व दोषः ? इति चेत् , एवमपि संशयसाधारणज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यबोधहेतुत्वेऽनुमित्यादिकं प्रति परामर्शहेतुत्वे व्याप्त्याद्यंशे निर्णयत्वनिवेशे महागौरवाद्विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य चानाहार्यस्यैव हेतुत्वस्वीकारादाहार्यतदुत्तरोत्पन्नज्ञाने व्याप्त्यंशे निर्णयत्वनिवेशानावश्यकत्वात् । ननु तयाऽपि विशेष्ये विशेषणमितिज्ञानसाधारण्ये चाऽतिरिक्तप्रकारिताऽस्तु, तदवच्छिन्नेऽप्रामाण्यनिश्चयाभावकूटविशिष्टसंशयाभावस्य नियामकस्याप्रामाण्यज्ञानाभावकूटविशिष्टनिश्चयत्वावच्छिन्नतो लघुत्वादियमेव योग्यता ज्ञानाऽऽदिनिष्ठहेतुताऽवच्छेदिका, बाधाऽऽदिप्रतिबन्धकताऽवच्छेदिका च । अत एवानन्वितान्वयबुद्धेर्बाधाऽऽदिप्रतिबद्धत्वप्रतिबन्धकत्वे, अत एव च व्याप्तिप्रकारकं निश्चयोत्तरमपि व्याप्त्यभावांशे आहार्यसंशयाऽऽत्मक-तथाविधज्ञानादनुमित्यनापत्तिः, कार्यतासहभावेन तथाविधसंशयस्य प्रतिबन्धकत्वादिति चेत् । न । अप्रामाण्यनिश्चयत्वावच्छिन्नाभावविशिष्टनिरुक्तसंशयाभावत्वेन हेतुत्वे गौरवात्, प्रतियोगिताऽवच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य प्रतियोगिताऽवच्छेदकविशिष्टविषय-केऽभावस्य प्रत्यक्षे हेतुत्वं कल्पमानमभावांशाप्रवेशेन लाघवात्तादृशज्ञान एव युक्तमिति तद्बलेन निश्चयजन्यताऽवच्छेदकविशिष्टवैशिष्ट्यविषयतासिद्धेश्च; शाकपाकजत्वाऽऽदौ साध्यव्यापकत्वसंदेहेनाहिते हेतौ साध्यव्यापकत्वव्यभिचारसंदेहः; उपाधिदीधित्युक्तस्तु फलीभूतसंदेहे शाकपाकजत्वविशिष्टे साध्यव्यापकस्याऽविशेषणात्। अन्यथा तु द्रव्यत्वाऽऽदौ तस्य निश्चयात्तत्र तद्विशेषणे तु साध्यव्यापकत्वांशे विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या संशयाऽऽकार एव स रक्तो दण्डो न वेति संशयकालीनो रक्तो दण्डवानिति प्रात्यक्षिकबोध इव रक्तत्वांश इति द्रष्टव्यम् । इदं तु बोध्यम्-किञ्चि-द्धर्मावच्छिन्ने *यद्विशेषणताऽवच्छेदकं तत्प्रकारकनिश्चयत्वेनैव हेतुत्वमन्तरा धर्मिताऽवच्छेदकानियन्त्रितस्थले* दण्डवदित्यादौ तु दण्डत्वाऽऽदिप्रकारकज्ञानत्वेनैव निर्द्धर्मिताऽवच्छेदकनिश्चयत्वस्य दुर्वचत्वात् , तत्प्रवेशे वैयर्थ्याच्चेति । विशिष्टवैशिष्ट्यमिति बुद्धित्वं तु रक्तदण्डत्वोभयधर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितप्रकारता-शालिबुद्धित्वम्। कारणता च तत्र दण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरू-पितरक्तत्वप्रकारताशालिनिर्णयत्वेन। कार्यता च रक्तत्वविशिष्ट-दण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यताशालिज्ञानत्वेनैव। तेनैकद्वयमिति रीत्या दण्डो रक्तोऽप्रमेयश्चेति ज्ञाने न व्यभिचारः, तत्र दण्डत्वविशिष्ट-विशेष्यताया रक्तत्वानवच्छिन्नत्वेन, रक्तत्वं धर्मितावच्छेदकीकृत्य प्रमेयत्वाऽऽदिबाधकालेऽपि तथाविधज्ञानाऽऽपत्तिरिति तादृश-विशेष्यताया रक्तत्वावच्छिन्नत्वमावश्यकमिति वाच्यम्। एकाऽपि प्रमेयत्वाऽऽदिप्रकारतानिरूपितदण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यताभिन्नाया एव रक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यताया अभ्युपगमादेकस्याविशेष्यताया रक्तदण्डत्वोभयानवच्छिन्नत्वेनाव्यभिचारात्; तत्रापि रक्तत्वधर्मि-ताऽवच्छेदकदण्डत्वप्रकारकनिर्णयजन्ये दण्डो रक्तः प्रमेय इत्येता-दृशबोधे व्यभिचारवारणाय तादृशविशेष्यतायां रक्तप्रकारकताऽऽ-दिनिरूपितदण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यताभिन्नत्वं निवेशनीयम् । एकत्र द्वयमिति विषयिता च प्रकारिताद्वयावच्छिन्नविशेष्यतारूपा । यथा-चैत्रो दण्डी कुण्डलीत्यत्र । न चैकमेकत्र त्रयादिकमप्यतिरिच्येत, एकत्र द्वयमिति संज्ञयैव संग्रहात् । अयं च दण्डी चैत्रो न कुण्डली, दण्डी चैत्रः कुण्डलीत्युभयत्र सत्त्वादुद्देश्यताऽवच्छेदकत्वविधेयत्वयोः प्रकारताविशेषत्वात् तादृशबाधधीप्रतिबद्ध्यताऽवच्छेदकत्वादेव चास्याश्चैत्रत्वेन शरीरद्वयेनेदं कुण्डलग्रहादेकत्र चैत्रो दण्डी कुण्डली चेति विधियो विशेषो रक्तदण्डाभावधियः समूहालम्बनादिव, इयं चैकविशिष्टेऽपरवैशिष्ट्यविषयिताव्यापिका दण्डी कुण्डली चैत्रो द्रव्यमित्यत्रेव दण्डी कुण्डली चैत्र इत्यत्राऽपि सत्त्वात्तत्प्रयो-जकसामग्रीव्यापकसामग्रीकत्वाचेति वदन्ति । तदसत् । सामान्य-विशेषापेक्षयैकानेकाऽऽत्मकवस्त्वनभ्युपगमे एकान्तवादस्य कुत्राप्यघटमानत्वात्। विशिष्टबुद्धिष्वपि हि सामान्यत एका, विशेषतश्च परनिरूपितत्वेन बहुतरा अपि विषयता अनुभूयन्त इति चतुर्द्धेवेति कोऽभिनिवेशः ? अत एवैकत्र द्वयस्थलेऽप्येकत्र भासमानयोर्विशेषणयोः परस्परमपि सामानाधिकरण्येन वैशिष्ट्यभानाद्विषयताभेदः, यदि च तत्र प्रकारकतया तयोर्निरूपितत्वविशेषान्नातिरेकः, तदा विशिष्टवैशिष्ट्यस्थलेऽपि एकप्रकारताऽवच्छिन्नापरप्रकार-तयोपपत्तावतिरेके किं मानम् ? विशेष्ये विशेषणमिति स्थले हि रक्तत्वप्रकारतानिरूपिता दण्डत्वावच्छिन्ना प्रकारता, विशिष्टवैशिष्ट्यस्थले च रक्तप्रकारताऽवच्छिन्ना दण्डत्वावच्छिन्ना प्रकार-तेत्येवं विशेषसंभवात् । स्वीक्रियतां वा तत्रावच्छेदकत्वाऽऽदेरित्येव प्रकारताप्रकारताद्वयघटितरूपेण तु यथा हेतुतावच्छेदकत्वं तथा प्रागुक्तमेव, यथा संनिवेशधौव्येणेति न रक्तत्वदण्डत्वोभयावच्छिन्नप्रकारतयैव रक्तदण्डस्यैव विशिष्टवैशिष्ट्यविषयता । अन्यथा रक्तदण्डद्रव्यवानित्यतो रक्तदण्डवानित्यस्य वैलक्षण्यात् रक्तत्वदण्ड-स्वैत्वनिष्ठद्वित्वावच्छिन्नपर्याप्तधीरनाकारवच्छेदकताकप्रकारताऽऽश्रयणेऽतिगौरवात् । गुणवान् दण्डवानित्यतो वैलक्षण्यसंपादनाय रक्तत्वत्वविशिष्टदण्डत्वोभयापर्याप्तावच्छेदताकप्रकारकतानुधावने रक्तत्वेन दण्डो, पीतावगाहिनि तादृशबोधेऽवगतेश्च तस्माद् रक्तत्वा*वच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपकदण्डत्वावच्छिन्नप्रकारताकबुद्धित्वमेव* रक्तदण्डवानिति विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वमाश्रयणीयम्, अनुमितिहेतुपरामर्शोऽपि हेतुताऽवच्छेदकतानिरूपितप्रतियोगित्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताधिकरणनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताधेयत्वावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपितहेतुताऽवच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकत्वमेव निवेश्यताम्। न च यत्र व्याप्तिधूमत्वयोरैक्ये द्वयमिति रीत्यैव हेतुनिष्ठप्रकारताऽवच्छेदकत्वे तादृशपरामर्शादनुमित्यापत्तिः, इष्टापत्तौ च विरोधव्यभिचारयोर्हेत्वाभासत्वानुपपत्तिः, तादृशज्ञानस्य तदज्ञानाप्रतिबध्यत्वादिति तत्साधारणाय व्याप्तिप्रकारतानिरूपितविशेष्य-तात्वेन धूमत्वावच्छिन्नप्रकारता निवेशनीया । तत्त्वेन धूमत्वावच्छिन्नत्वं च धूमप्रकारतायां तत्रैव यत्र धूमत्वस्य व्याप्तिधर्मिताऽवच्छेदकत्वम्; अन्यत्र तु धूमप्रकारकत्वेनैवेति नाऽतिप्रसङ्गः । तथा च-प्रागुक्तरीत्या व्याप्त्वाऽवच्छिन्ननिवेशस्यैवौचित्यात्। न चाऽयमेकान्तोऽपि युक्तः, परस्परानिरूपितावान्तरावयवैः स्थानीयविषयताया अप्यनुभवात्। न च विशिष्टपर्याप्तप्रकारतैकान्तपक्षोऽपि युक्तः, विशिष्टविशिष्टपर्याप्तप्रकार-तान्तरस्याऽपि सिद्ध्यापत्तेः, तत्सिद्धाविष्टापत्तिः। दण्डविशिष्ट-पुरुषविशिष्टभूतलपर्याप्तप्रकारताकबुद्धौ च दण्डांशे निश्चयाऽऽत्मकदण्डविशिष्टपुरुषवद् भूतलमिति निश्चयो हेतुः, अत एव दण्डांशे पुरुषांशे च संशयनिश्चयाऽऽत्मकतादृशज्ञानादण्डांशे विज्ञेप्ये विशेषणमिति रीत्या पुरुषांशे विशिष्टनिरूपितवैशिष्ट्यविषयताशालिज्ञानाऽऽपत्तिरित्यभ्युपगमे च विशेषणविशिष्टवै-

शिष्यबुद्धिस्थले नवत्यंशे निश्चयाऽऽत्मकमेकं ज्ञानं हेतुभूतं कल्पनीयम्। ततः पूर्वं चैकै कहासेनाष्टानवतिज्ञानानि पश्चानुपूर्व्या हेतुभूतानि कल्पनीयानीति सर्वमिदमनुभवसिद्धम्। तत्र विशृङ्खलोपस्थितवद्विशेषणमिति रीत्या बोधस्वीकारे च तत्र दण्डांशेऽनुभूयमानस्य निश्चयाऽऽकारस्य नियामकः, तत्र संशयसामग्र्यभाव एवाऽवाच्यः। तथा च-विशिष्टवैशिष्ट्यविषयिता वह्निव्याप्यतदभाववद-धूमवानित इव पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्न वेत्यादितोऽपि व्यावृत्ताऽस्तु, तदवच्छिन्ननियामकश्च तत्तत्संशयसामग्र्यभाव एवेति विषयताविशेषपर्यनुयोगे किमुत्तरम् ? तस्मात् क्षयोपशमविशेषजन्यताऽवच्छेदिकाः समनियता एवैता विषयिताः, अत्राऽपेक्षाभेदेन प्रतीयमाना असमुदितपर्याप्ता अनेकाः प्रतिपत्तव्याः, ग्राह्यस्येव ग्राहकस्य चित्रस्वभावस्यापेक्षयैव विवेचयितुं शक्यत्वात्। हन्तैवमखण्डोऽपि विषयताविशेषः सिद्धयेत्, सामान्यदृष्ट्या तथाऽप्यनुभवात्। तथा च-एतेनैव परामर्शाऽदेर्हेतुत्वाऽऽपत्तिरिति चेत्। सत्यम्। भावसंग्रहेण विषताविशेषणे शक्तिविशेषणे वा हेतुत्वेऽभावसंग्रहेण चाभावविशेषणे तथात्वे बाधकाभावाद् व्यवहारोच्छेदस्य व्यवहारनयसिद्धकार्यकारणभावे तैरेव निराकरणात्। अनुभवसिद्धास्तु ग्राह्यग्राहकनिष्ठाः सामान्यविशेषधर्मा न कल्पनामात्रेणाऽऽपादितुं शक्या इति दिक्।

'' उत्तिष्ठन्तु विकल्पवीचिनिचयाः पर्यायमर्यादया,
द्रव्यार्थाऽऽदियुते तु चेतसि चिरं शाम्यन्तु तत्रैव ते।
वस्तु प्रस्तुतमस्तु सागरसमं सर्वोपपत्तिक्षमं,
बाह्यं वा स्फुटमान्तरं समुचितस्याद्वादमुद्राङ्कितम्॥ १॥
ईहाऽपायपरम्परापरिचयः सर्वोऽप्ययं युज्यते,
वस्त्वंशेऽप्युपयोगमाकलयतामन्तर्मुहूर्तावधि।
अन्येषां तु विकल्पशिल्पघटितो बोधस्तृतीयक्षण-
ध्वंसी ध्वस्तसमस्तहेत्वमिलितः कस्मिन् विचारे क्षमः ?॥ २॥

तदेवमेकानेकरूपा नयप्रमाणप्रतिपत्तयः प्रामाणिका इति स्थि-तम्॥ ७॥ नयो०।

(११) ननु यदि प्रमाणं नयाः तर्हि ' प्रमाणनयैरधिगमः ' इति प्रमाणनयभेदकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिः। अथाप्रमाणं, तथाऽप्यधिगमानुपपत्तिः; तत्पृथग्भूतस्यापरस्यासंवेदनात्, प्रमाणाभावाप्रसक्तिश्च। असदेतत्। यतोऽप्रमाणं नयाः, नयन्तीतररूपसापेक्षं स्वविषयं परिच्छिन्दन्तीति नया इति व्युत्पत्तेः। न चापरिच्छेदकाः, नयतेर्गत्यर्थत्वेन ज्ञानार्थत्वात्, ज्ञानस्य च परिच्छेदाऽऽत्मकत्वा-त्। न च परिच्छेदाऽऽत्मकत्वेऽपि प्रमाणता, समस्तनयविषयी-कृतानेकान्तवस्तुग्राहकत्वेन प्रकृष्टं मानं प्रमाणम्, इतरांशसव्य-पेक्षस्वांशग्राही नव इति, तत्स्वतस्त्ववस्थितेः। न चाऽनेकान्ता-ऽऽत्मकवस्तुग्राहिणो नया न भवन्ति, प्रत्येकं स्वविषयनियतत्वात् तेषां तद्व्यतिरिक्तस्य वाऽन्यस्य तद्विषयस्याऽननुभवात्। प्रमाणा-भावोऽपि न आत्मनः, कथञ्चित् तद्व्यतिरिक्तस्य प्रमाणत्वेनानु-भवसिद्धत्वात्। तत्तन्नयविषयीकृताशेषवस्त्वंशाऽऽत्मकैकद्रव्यग्राहकत्वस्य तत्र प्रतीतेः। न च संशयाऽऽदिज्ञानैरात्मनः प्रमाणात्वेऽतिप्रसङ्गः, प्रमीयतेऽनेन प्रमिणोतीति वा प्रमाणमिति प्रशब्देन तस्य निरस्तत्वात्। न चाऽऽत्मनः कर्तृत्वात् करणरूपप्रमाणताऽनुपपत्तिः, उत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकस्य तस्याऽनेककयत्वेन कर्तृकरणभावाविरोधात्। एतेन प्रत्येकं मिथ्यादृष्टयो नयाः समुदिताः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्त इत्यत्र नयसमुदायार्थ दृष्टे प्रत्येकमदृष्टत्वाद् जात्यन्धसमूहवदित्येतन्निरस्तम्, अदृष्टतत्समूहसम्यक्त्वानभ्युप-गमात्; स्वविषयपरिच्छेदकत्वाच्च नयानामदृष्टत्वाच्च। नयानाम-दृष्टत्वादिति हेतुरसिद्धिः, परिपूर्णवस्त्वनधिगन्तृत्वाऽऽदिहेतौ प्रतिज्ञार्थकदेशाऽसिद्धिः, सिद्धसाध्यता च समुदायिनो दृष्टत्वनिषेधे साध्ये; अथ तत्समुदायस्य दृष्टत्वनिषेधः साध्यः, तदाऽध्यक्ष-विरोधः, समुदाय्यतिरिक्तस्यैकान्तेन समुदायस्याभावात् धर्मिणो-ऽप्रसिद्धिः, साध्यतावचनसमुदायाभावे नया एव परस्परव्यावृत्त-स्वरूपा इति न क्वचित् सम्यक्त्वम्, नयप्रमाणाऽऽत्मकै कवैष-म्यप्रतिपत्तेः, रत्नावलीवदिति।

एतदाह-

जहऽणेगलक्खणगुणा, वेरुलियाऽऽईमणी विसंजुत्ता।
रयणावलिववएसं, न लहंति महग्घमुल्ला वि॥ २२॥

यद्वा-यत् प्रत्येकं न नयेषु सम्यक्त्वं तत्तेषां समुदायेऽपि न भवति, यथा सिकतासु प्रत्येकमभवत् तैलं तासां समुदायेऽपि न भवति। अत्र हेतोरनैकान्तिकताप्रतिपादनार्थमाह-(जहऽणेगलक्खणे-त्यादि) यथाऽनेकप्रकाराः-विविधानि हेतुत्वाऽदीनि लक्षणानि नीलत्वाऽऽदयश्च गुणा येषां ते, वैडूर्याऽऽदयोऽनध्यंमणयः पृथग्भूता रत्नावलीव्यपदेशं न लभन्ते महार्घमूल्या अपि।

तहणिययवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्णपक्खणिरवेक्खा।
सम्मद्दंसणसद्दं, सव्वे वि णया णं पावेंति॥ २३॥

तथा प्रमाणावस्थायामितरसव्यपेक्षस्वविषयपरिच्छेदकाले वा स्वविषयपरिच्छेदकत्वेन सुनिश्चिता अप्यन्योऽन्यपक्षनिरपेक्षाः प्रमाणमित्याख्यां सर्वेऽपि नया न प्राप्नुवन्ति निजकवादनिरपेक्षाः, सामान्याऽऽदिवादे सुविनिश्चिता हेतुप्रदर्शनकुशला अन्योऽन्यपक्षनिरपेक्षत्वात् सम्यग्दर्शनशब्दं सुनया इत्येवं रूपं सर्वेऽपि संग्रहा-ऽऽदयो नया न प्राप्नुवन्ति।

जह पुण ते चेव मणी, जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा।
रयणावलि त्ति भण्णइ, जहंति पाडिक्कसण्णाओ॥ २४॥

यथा पुनस्त एव मणयो यथा गुणविशेषपरिपाट्या प्रतिबद्धा रत्नावलीत्याख्यामासादयन्ति, प्रत्येकाभिधानानि च त्यजन्ति, रत्नानुबिद्धतया रत्नावल्यास्तदनुबिद्धतया च रत्नानां प्रतीतेः, रत्नावलीति तत्र व्यपदेशः, न पुनः प्रत्येकाभिधानम्॥ २४॥

तह सव्वे णयवाया, जहाऽणुरूवं णिउत्तवत्तव्वा।
सम्मद्दंसणसद्दं, लहंति ण विसेससण्णाओ॥ २५॥

तथा सर्वे नयवादा यथाऽनुरूपं विनियुक्तवक्तव्या इति। यथे- ति वीप्साऽर्थे, अनुरिति सादृश्ये, रूपमिति स्वभावः, तेनानुरूपमित्यव्ययीभावः। पुनर्यथाशब्देन स एव '' यथा सादृश्ये ''। २। १। ७। (पाणि०) इत्यनेन। यद्यदनुरूपं तत्र विनियुक्तं वक्तव्यम्, उपचारात्त-द्वाचकः शब्दो येषां ते तथा, यथाऽनुरूपं द्रव्यध्रौव्याऽऽदिषु प्रमाणाऽऽत्मकत्वेन व्यवस्थिताः सम्यग्दर्शनं प्रमाणमित्याख्यां लभन्ते, न विशेषसंज्ञाः पृथग्भूताभिधानानि; एकाऽऽत्मकत्वेन चैतन्य-प्रतिपत्तेः; अन्यथा चाऽप्रतिपत्तेरिति। ननु नयप्रमाणाऽऽत्मकचैतन्यस्याध्यक्षसिद्धत्वेन रत्नावलीतिदृष्टान्तोपादानं व्यर्थम्, न। अध्यक्षसिद्धमप्यनेका-

न्तमनभ्युपगच्छन्तं प्रति व्यवहारसाधनाय दृष्टान्तोपादानस्य साफल्यात्। प्रवर्तितश्च तेनाऽपि तत्रानेकान्तव्यवहारः।

दृष्टान्तगुणप्रतिपादनायाऽऽह-

लोइयपरिच्छियसुहो-ऽनिच्छयवयणपडिवत्तिमग्गो य।
अह पण्णवणाविसओ, त्ति तेण वीसत्थमुवणीओ ॥ २६ ॥

व्युत्पत्तिकलनाद् युक्तं प्राणिसमूहसुखग्राह्यत्वमेकानेकाऽऽत्मकभावविषयवचो वाऽऽगमजनकत्वं वा। अथेत्यवधारणार्थः, अनन्तधर्माऽऽत्मकवस्तुप्ररूपकवाक्यविषयत्वं दृष्टान्तस्यैव तैः कारणैः शङ्काव्यवच्छेदेनायमुपदर्शित इति गाथातात्पर्यार्थः।

न चाऽऽवल्यवस्थायाः प्रागुत्तरकालं च रत्नानां पृथगुपलम्भादिह च सर्वदा तथोपलम्भाभावाद्विषममुदाहरणमिति वक्तव्यम्, अवस्थाया उदाहरणत्वेनोपन्यासात्। न च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वथा साम्यम्, तत्र तदभावानुपपत्तेः। रत्नाऽऽदिकारणेष्वावल्यादि कार्यं सदैवेति साङ्ख्यः, तेषामेवानेन रूपेण व्यवस्थितत्वात्। तदव्यतिरिक्तं विकारमात्रं कार्यं तदेवेति सांख्यविशेष एव। न कार्यं कारणे विद्यते इति तेभ्यस्तत् पृथग्भूतं, न हि कारणमेव कार्यरूपेण व्यवतिष्ठते परिणमते इति वैशेषिकाऽऽदयः। न च कार्यं कारणं वाऽस्ति, द्रव्यमात्रमेव तत्त्वमित्यपरः। एवंभूताभिप्रायवन्त एकान्तवादिनो दृष्टान्तस्य साध्यसमतां मन्यन्ते। तान् प्रत्याह-

इहरा समूहसिद्धो, परिणामकउ व्व जो जहिं अत्थो।
ते तं च ण तं तं चेव व त्ति नियमेण मिच्छत्तं ॥ २७ ॥

इतरथोक्तप्रकारादन्यथा, समूहे रत्नानां, सिद्धो निष्पन्नः परिणामकृतो वा मण्यादिष्वावल्यादिः, क्षीराऽऽदिषु दध्यादिर्वा। यो यत्राऽर्थः तं ते मण्यादय आवल्यादिकार्यं, क्षीरं दध्यादिकं, तत्र तत्सद्भावात्, तस्य तत्परिणामरूपत्वात् समूहः सिद्धः परिणाम-कृतो वेति च द्वयोरुपादानं लौकिकव्यवहारापेक्षया। परमार्थतस्तु परमाणुसमूहपरिणामाऽऽत्मकत्वात् सर्व एव समूहकृतः, परिणामकृतो वेति न भेदः। अयं चाभ्युपगमो मिथ्या (मिथ्यात्वं च सम्मतौ विवृतम्)। सम्म० १ काण्ड।

(१२) ननु नयग्रन्थे सम्मत्यादौ बौद्धाऽऽदिदर्शनपरिग्रहेण नैयायिकाऽऽदिदर्शनखण्डनं श्रूयते, तत्र दुर्नयपरिग्रहे किं न मिथ्यात्वै-कान्त इत्याशङ्क्याऽऽह-

बौद्धाऽऽदिदृष्टयोऽप्यत्र, वस्तुस्पर्शेन नाऽप्रमाः।
उद्देश्यसाधने रत्न-प्रभायां रत्नबुद्धिवत् ॥ ११ ॥

(बौद्धाऽऽदीति) अत्र नयग्रन्थे उद्देश्यं यदपि निविष्टतरनयखण्ड-नं, तत्साधने तत्साधननिमित्तं, बौद्धाऽऽदिदृष्टयोऽपि बौद्धाऽऽदिनयपरिग्रहा अपि, वस्तुस्पर्शेन शुद्धपर्यायाऽऽदिवस्तुप्राप्त्या, नाप्रमाः फलतो न मिथ्यात्वरूपा इत्यर्थः। किंवत्? रत्नप्रभायां रत्नबुद्धिवत्। यथा हि तत्राऽरत्ने रत्नावगाहितया स्वरूपतो न प्रामाण्यम्, दूरविप्रकर्षात्तु वस्तुप्रापकतया फलतः प्रमाण्यम्, तथा दुर्नयान्तरच्छेदाय दुर्नयान्तरपरिग्रहेऽपीति न कश्चिद्दोषः ॥ ११ ॥

(१३) एवं सामान्यलक्षणं विचिन्त्य तद्विभागमाह-

अयं संक्षेपतो द्रव्य-पर्यायार्थतया द्विधा।
द्रव्यार्थिकमते द्रव्यं, तत्त्वं नेष्टमतः पृथक् ॥ १२ ॥

(अयमिति) अयं सामान्यलक्षणलक्षितो नयः संक्षेपतोऽवान्तरभेदापरिग्रहेण द्रव्यपर्यायतया द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति द्विधा द्विप्रकारः, तीर्थङ्करवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारमूलत्वेनेत्थमेव मूलनयविभजनात्। तदाह वादी-'' तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी। दव्वट्ठिओ य पज्ज-वणओ य सेसा विगप्पा सिं ॥३॥'' इति। (सम्म० १ काण्ड) तत्राऽऽदौ द्रव्यार्थिकमत आह-द्रव्या-र्थिकस्य मते द्रव्यं तत्त्वं परमार्थं सदतः द्रव्यात् पृथग् भिन्नं विकल्प-सिद्धं गुणपर्यायस्वरूपं तत्त्वं नेष्टम् संप्रति सतोऽपि तस्य परमार्थ-तोऽसत्त्वादिति भावः ॥ १२ ॥ नयो०। द्रव्या०।

(१४) अत्र कुण्ठधियोऽप्यन्तेवासिनो योग्यताप्रतिपादनार्थः प्रकरणाऽऽरम्भः प्रतिपादितः। सा च विशिष्टसामान्यविशेषाऽऽत्मकतदुपायभूतार्थप्रतिपादनमन्तरेणातः प्रकरणान्न संपद्यत इति प्रकरणाभिधेयं योग्यतोपायभूतमर्थम्-

तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जव-णओ य सेसा विगप्पा सिं ॥ ३ ॥

इत्यनया गाथया निर्दिशति। अस्याश्च समुदायार्थः पातनिकयैव प्रतिपादितः। अवयवार्थस्तु-तरन्ति संसारार्णवं येन तत्तीर्थं द्वाद-शाङ्गम्, तदाधारो वा सङ्घः, तत्कुर्वन्त्युत्पद्यमानमुत्पादयन्ति तत्स्वाभाव्यात्तीर्थकरनामकर्मोदयाद्वेति हेत्वाद्यर्थे टच्। तीर्थकराणां वचनमाचाराऽऽदि, अर्थतस्तस्य तदुपदिष्टत्वात्, तस्य संग्रहवि-शेषौ द्रव्यपर्यायौ सामान्यविशेषशब्दवाच्यावभिधेयौ, तयोः प्रस्ता-रः-प्रस्तार्यते येन नयराशिना संग्राहाऽऽदिकेन स प्रस्तारः, तस्य संग्रहव्यवहारप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी आद्यवक्ता ज्ञाता वा द्रव्या-स्तिकः द्रुतिर्भवनं द्रव्यं सत्तेति यावत्। तत्राऽस्तीति मतिरस्य द्रव्या-स्तिकः '' सह सुपा '' । २ । १ । ४ । इत्यत्र '' सूपा सह '' इति योगविभागाद्, मयूरव्यंसकाऽऽदित्वाद्वा द्रव्यास्तिकशब्दयोः स-मासः। द्रव्यमेव वाऽर्थोऽस्येति द्रव्यार्थिकः, द्रव्ये वा स्थितो द्रव्य-स्थितः। परि समन्तादवनमवः पर्यवो विशेषः, तद् ज्ञाता वक्ता वा यो नयः नीतिः स पर्यवनयः। अत्र छन्दोभङ्गभयात्पर्यायास्तिक इति वक्तव्ये पर्यवनय इत्युक्तम्, तेनाऽत्राऽपि पर्याय एवाऽस्तीति द्रव्यास्तिकवद् व्युत्पतिर्द्रष्टव्या। स च विशेषप्रस्तारस्य ऋजुसूत्रशब्दाऽऽदेराद्यो वक्ता। ननु च मूलव्याकरणीति, अस्य द्रव्यास्तिकपर्यायनयावभिधेयाविति द्विवचनेन भाव्यं, न प्रत्येकं, वाक्यपरिसमाप्तेः। अत एव चकारद्वयं सूत्रनिर्दिष्टम्। शेषास्तु नैगमाऽऽदयो विकल्प्या भेदाः, अनयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोः (सिमिति) प्राकृतशैल्या '' बहुवयणेण दुवयणं '' इति द्विवचनस्य बहुवचन-म्। तथाहि-परस्परविविक्तसामान्यविशेषविषयत्वाद् द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकावेव नयौ। न च तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति, यद्विषयोऽ-न्यस्ताभ्यां व्यतिरिक्तो नयः स्यात्। तृतीयविषयस्य चाऽसंभवः, भेदाभेदविनिर्मुक्तस्य भावात् प्रकृतविकल्पानतिवृत्तेः; तत्स्वभा-वातिक्र मे वा खपुष्पसदृशत्वप्रसक्तेः, ताभ्यां तद्व्यतोऽर्थान्तरस्य सर्व-था संबन्धप्रतिपादनापायासंभवात्समयस्य तैरसंबन्धे तद्व्यपदेशानुपपत्तेः समवायान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेर्विशेषणविशे-ष्यसंबन्धकल्पनायामप्यपरापरतत्कल्पनाप्रसक्तेर्न संबन्धसिद्धिः। ततः स्थितमेतन्न किञ्चिन्नयद्वयबहिर्भाविभावस्वभावान्तरविकल्पनाऽऽविलं विलम्बि प्ररूपणान्तरमिति। केवलं तयोरेव शुद्ध्य-

शुद्धिभ्यामनेकधा वस्तुस्वभावनिरूपणविकल्पाऽभिधानवृत्तयो व्यतिष्ठन्ते। तत्र शुद्धो द्रव्यास्तिको नयग्रहनयाभिमतविषयप्ररू-पकः। तथा च-संग्रहनयाभिप्रायः-सर्वमेव सत्, अविशेषात्। सम्म० १ काण्ड। विशे०। (द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकयोर्मतम् ' दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठिय ' शब्दयोर्द्रष्टव्यम्)

(१५) तदेवमुक्तौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकलक्षणौ मूलनयभेदौ, अनयोर्नैगमाऽऽदिषु मतभेदेन यथाऽन्तर्भावस्तथाऽऽह-

तार्किकाणां त्रयो भेदाः, आद्या द्रव्यार्थतो मताः।
सैद्धान्तिकानां चत्वारः, पर्यायार्थगताः परे॥ १८॥

(तार्किकाणामिति) तार्किकाणां वादिसिद्धसेनमतानुसारिणा-माद्यास्त्रयो भेदाः नैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणाः द्रव्यार्थतो मता द्रव्य-मेवार्थं विषयीकृत्याभिप्रेताः, आद्यास्त्रयो भेदास्तार्किकमते द्रव्या-र्थिका इति संमुखोऽर्थः। सैद्धान्तिकानां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण-वचनानुसारिणां चत्वार आद्या ऋजुसूत्रसहिताः, द्रव्यार्थिका इति शेषः। परे तु उक्तशेषाः, उभयेषामपि पर्यायार्थगताः पर्यायार्थिकाः-ऋजुसूत्राऽऽदयश्चत्वारः पर्यायार्थिका वादिनः, शब्दाऽऽदयस्त्रय एव च क्षमाश्रमणानामिति निर्गलितोऽर्थः। ऋजुसूत्रो यदि द्रव्यं नाभ्यु-पेयात्, तदा '' उजुसुयस्स एगे अणुवउत्ते एगं दव्वावस्सयं पुहत्ते णेच्छइ '' इति सूत्रं विरुध्येतेति सैद्धान्तिकाः। तार्किकानुसारिण-स्तु-अतीतानागतपरकीयभेद-पृथक्त्वपरित्यागादनुसूत्रेण स्व-कार्यसाधकत्वेन स्वकीयप्रवर्तमान-वस्तुन एवोपगमान्नास्य तुल्यां-शध्रुवांशलक्षणद्रव्याभ्युपगमः, अत एव नास्यासद्घटितभूतभावि-पर्यायकारणत्वद्रव्यत्वाभ्युपगमोऽपि, अध्रुवधर्माऽऽधारांशे द्रव्य-मपि नास्य विषयः, शब्दनयेष्वतिप्रसङ्गात्। उक्तसूत्रं त्वनुपयोगां-शमादाय वर्त्तमानाऽऽवश्यकपर्यायद्रव्यपदोप-चारात्समाधेयम्, पर्यायार्थिकेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव प्रतिक्षेपात्। यदि चैवमप्येको-ऽनुपयुक्त एकं द्रव्यावश्यकमित्यत्रानुपयोगस्य विषयनिय-न्त्रितत्वे-नार्थैक्यादुद्देश्यविधेयभावानुपपत्तिरिति विभाव्यते, यथा द्रव्याऽऽ-वश्यकपदं द्रव्याऽऽवश्यकत्वेन व्यवहर्तव्यम्, परं विवरणपरतया चैतदयोजनीयमिति न कश्चिद् दोष इत्यालोचयामः॥ १८॥ (नयो०) सर्वधर्मविरहः शून्यतेति शुद्धतरपर्यायास्तिकमतावलम्बी ऋजुसूत्र एव व्यवस्थितः, अथवा सौत्रान्तिकवैभाषिकौ बाह्यार्थमा-श्रितावृजु-सूत्रशब्दौ, यथाक्रमं वैभाषिकेण नित्याऽनित्यशब्दवाच्य-पुद्गलस्या-ऽभ्युपगमात्। शब्दनये तु प्रवेशः, तस्य चार्यप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रसम-भिरूढो योगाचारः, एकानेकधर्मविकलतया विज्ञा-नमात्रस्याप्यभाव इत्येवंभूतो व्यवस्थितः, एवंभूतो माध्यमिक इति व्यवस्थितमेतत्। तस्य तु शब्दाऽऽदयः शाखाः सूक्ष्मभेदा इति न योगद्वारवत्, शेषास्तु योगद्वारेष्वपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ मूलव्याकरणिनाविति दर्शयत्यन-योर्व्यापकताम्। सम्म० १ काण्ड। अनु०। विशे०।

(१६) नैगमाऽऽदयो मूलनयाः-

से किं तं णए? सत्त मूलणया पण्णत्ता। तं जहा-णेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूए॥ अनु०।

नैगमः संग्रहश्चैव, व्यवहारर्जुसूत्रकौ।
शब्दः समभिरूढाऽऽख्यः, एवं भूतश्च सप्त ते॥ १९॥

(नैगम इति) स्पष्टः, ते मूलनयप्रभेदाः॥ १९॥ नयो०। अनु०। विशे०। दश०। स्था०। ज्ञा०। ग०। अष्ट०। प्रव०। आ० म०।

तत्र नैगमनस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावात्, शेषाणा संग्रहाऽऽदीनां षण्णां नयानां संक्षिप्य मतं तावदुपदर्शयन्नाह-

सामन्नमह विसेसो, पच्चुप्पन्नं च भावमेत्तं च।
पइसद्दं च जहत्थं, च वयणमिह संगहाऽऽईणं॥ ३५८६॥

इह सामान्यमेवास्ति न विशेष इति संग्रहस्य वचनम्, विशेषा एव सन्ति न सामान्यमिति व्यवहारस्य वचः। प्रत्युत्पन्नं च वर्तमानमेव वस्त्वस्ति न त्वतीतमनागतं चेति ऋजुसूत्रस्य वचनम्। नामाऽऽ-दिनिक्षेपाणां मध्ये भावेन्द्राऽऽदिकं भावनिक्षेप एवास्ति, न नामा-ऽऽदिक्षेपा इति शब्दनयस्य वचः। इन्द्रशक्रपुरन्दराऽऽदिशब्दानां प्रतिशब्दमन्यान्य एवाऽर्थो वाच्यः, न त्वेक एवेति समभिरूढस्य वचः। यथार्थमेव स्वाभिधायकशब्दवाच्यमर्थं कुर्वदेव घटाऽऽदिकं वस्तु भवति, नाऽन्यथा, इत्येवंभूतनयस्य वचनम्। इत्युक्तप्रकारं संग्रहाऽऽदीनां वचनं मतं संक्षेपेणावगन्तव्यमिति॥३५८६॥ विशे०।

स्वरूपमाह-

नैगमो देशसंग्रही, व्यवहारर्जुसूत्रकौ।
शब्दः समभिरूढश्चे-त्येवमेते प्रचक्षते॥ ४५॥

(नैगम इति) नैगमो नैगमनयः देशसंग्राही अवान्तरसंग्रहः, सर्व-संग्रहस्य सन्मात्रार्थत्वात् तत्त्यागः। व्यवहारर्जुसूत्रकौ व्यवहारनय ऋजुसूत्रनयश्च शब्दः समभिरूढश्चेत्येत नया एवं प्रचक्षते॥ ४५॥

भावमौदयिकं गृह्ण-न्नेवंभूतो भवस्थितम्।
जीवं प्रवक्त्यजीवं तु, सिद्धं वा पुद्गलाऽऽदिकम्॥ ४६॥

(भावमिति) एवंभूतनयस्तु औदयिकं भावं व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्ततया गृह्णन् भवस्थितं संसारिणं जीवं प्रवक्ति-जीव-शब्देन व्यपदिशति, अजीवमजीवपदार्थं तु सिद्धं वा पुद्गलाऽऽ-दिद्रव्यं वेच्छत्यसौ॥ ४६॥

नो अजीवश्च नो जीवो, न जीवाऽजीवयोः पृथक्।
देशप्रदेशौ नास्येष्टा-विति विस्तृतमाकरे॥ ४७॥

(नो इति) नो जीवो नो अजीवश्च एतन्नये जीवाजीवयोर्वक्तव्ययोः सतोः पृथग् न पार्थक्यं नापद्यते, यतोऽस्य नयस्य देशप्रदेशौ नेष्टा-विति, नोशब्दः सर्वनिषेधार्थ एव घटते, इत्येतदाकरेऽनुयोगद्वारा-ऽऽदौ विस्तृतम्॥ ४७॥

इत्थं स्वसमयसिद्धामेवंभूतनयार्थप्रक्रियामुपपाद्य, तया दि-गम्बरोक्तप्रक्रियां दूषयति-

सिद्धो निश्चयतो जीवः, इत्युक्तं यद्दिगम्बरैः।
निराकृतं तदेतेन, यन्नयेऽन्त्येऽन्यथा प्रथा॥ ४८॥

(सिद्ध इति) एतेन पूर्वोक्तेन सिद्धो निश्चयतो जीव इति यद्दिग-म्बरैरुक्तम्- '' तिक्काले चदुपाणा, इंदियबलमाउ आणपा-

णा य। ववहारा सो जीवो, णिच्छयदो दुचेदणा जस्स ॥ १ ॥ '' इतयदिना, तन्निराकृतम् । यद् यस्मादन्त्ये एवंभूतनयेऽन्यथा प्रथाऽप्रसिद्धो जीव इत्येव प्रसिद्धिः, शुद्धनिश्चयश्च स एवेति कथं निश्चयतः सिद्धो जीव इति वक्तुं शक्यमिति ? ॥ ४८ ॥

नन्वेवंभूतः पर्यायार्थिकेष्वेव शुद्धनिश्चयस्तेनाऽस्मदुक्तावनुपपत्तावपि द्रव्यार्थिकप्रभेदेन सर्वसंग्रहनयेन शुद्धनिश्चयेन तदुपपादयिष्याम इत्याकाङ्क्षायामाह-

आत्मत्वमेव जीवत्व-मित्ययं सर्वसंग्रहः ।
जीवत्वप्रतिभूः सिद्धेः, साधारण्यं निरस्य न ॥ ४९ ॥

(आत्मत्वमिति) आत्मत्वमेव जीवत्वं जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तं, पारिणामिकभावस्य कालत्रयानुगतत्वेन सत्यत्वात्, औदयिक-भावस्य चौपाधिकत्वेन कालत्रयानुगतत्वेन च तुच्छत्वादित्यर्थः। सर्वसंग्रहनयस्तु सिद्धिसाधारण्यं भवस्थतौल्यं निरस्य जीवत्व-साधने न प्रतिभूः, सर्वत्र तुल्यजीवत्वादेवैको व्यवहारतो जीवोऽन्यश्च निश्चय इति विभागकरणमसमीक्षिताभिधानमेवाऽऽपद्येत, सर्वसंग्रह एव हि कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकः, तेन च संसारि चैतन्यमपि निरुपरागं शुद्धमिति परिणेष्यत एव। तदुक्तं द्रव्यसंग्रहे-'' मग्गणगुणठाणेहि अ,चउ दस य हवंति तह असुद्धणया। विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा उ सुद्धणया ॥ १ ॥ '' इति। न च संसारिचैतन्यस्य संग्रहनयेन शक्त्या शुद्धचैतन्यं, निश्चयेऽपि व्यक्त्या शुद्धचैतन्यस्य सिद्ध एव निश्चयान्न साधारण्यमिति शङ्कनीयम्, संग्रहस्य शक्तिग्राहकत्वेन शक्तिग्राहकताया व्यवहार एव विश्रान्तेर्निश्चयतो हि चेतनाशाली सिद्ध एव जीव इत्यस्य व्याघातात् ॥ ४९ ॥

नन्वेवं निश्चयतः सिद्धस्याऽजीवत्वे भवद्भिरिष्यमाणे भवतामेव ग्रन्थे संसारिसिद्धसाधारणजीवपदार्थाभिधानं कथमित्याशङ्काया-माह-

यज्जीवत्वं क्वचिद् द्रव्य-भावप्राणान्वयात् स्मृतम् ।
विचित्रनैगमाऽऽकूतात्, तद् ज्ञेयं न तु निश्चयात् ॥ ५० ॥

(यदिति) यज्जीवत्वं क्वचिद् ग्रन्थे द्रव्यप्राणानां भावप्राणानां चान्वयादेवीकरणात् स्मृतं, संसारिसिद्धसाधारण्यमिति विशेषः। तद्विचित्रो विविधावस्थो यो नैगमस्तस्याऽऽकूतादभिप्रायाद् ज्ञेयं, न तु निश्चयादेवंभूतनयात्, तथा चैवंभूतनयेनैव सिद्धमजीवं वयं प्रतिजानीमहे, न तु नयान्तराभिमतेन जीवत्वेऽपि विप्रतिपद्यामहे, इति शुद्धाशुद्धेन नैगमनयेन साधारणजीवत्वाभ्युपगमेऽपि न क्षतिः। इयांस्तु विशेषःप्रसिद्धनैगम औदयिकभावोपलक्षितमात्मत्वाऽऽख्यं पारिणामिकभावमेव जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तमभ्युपैति, तद्विशेषश्च क श्चिदुपचारोपजीवी द्रव्यभावप्राणान्यतरवत्त्वेनानुगतमौदयिकक्षायिकभावद्वयमिति नेदं सिद्धान्तार्णणे नयविकल्प-कल्लोलवैचित्र्य तत्संप्लवव्यसनविक्षोभाऽऽवहम् ॥ ५० ॥

ननु ' जीव ' प्राणधारणे इत्यत्र भावप्राणधारणत्वमेव धात्वर्थस्य विवक्षितत्वाद्, निश्चयतः सिद्धस्य जीवत्वं समर्थयिष्याम इत्याकाङ्क्षायामाह-

धात्वर्थे भावनिक्षेपा-त्परोक्तं न च युक्तिमत् ।
प्रसिद्धार्थोपरोधेन, यन्नयान्तरमार्गणा ॥ ५१ ॥

(धात्वर्थ इति) धात्वर्थे जीवत्यर्थे भावनिक्षेपाद् भावसंकेतग्रहात् परोक्तं निश्चयतः सिद्ध एव जीव इति दिगम्बरोक्तं न च नैव युक्ति-मत्। यद् यस्मात्प्रसिद्धोऽनादिधातुपाठाऽऽदिप्रतीयमानो योऽर्थ-स्तदनुरोधेन नयान्तरस्य मार्गणा विचारणा भवति । यथा च यादृशधात्वर्थमुपलक्षणीकृत्येतरनयार्थप्रतिसन्धानं तादृशधात्वर्थप्रकारकजिज्ञासयैवंभूताऽभिधानस्य सांप्रदायिकत्वान्न तत्र भावनिक्षेपाऽऽश्रयणं युक्तमित्यर्थः । अन्यथा तत्राऽपि निक्षेपान्तराऽऽश्रयणेऽनवस्थानात्प्रकृतमात्रापर्यवसानादन्ततो ज्ञानाद्वैते शून्यतायां वा पर्यवसानात् । किञ्चैतादृगुपरितनैवंभूतस्य प्राक्तनैवंभूताभिधानात् पूर्वमेवाभिधानं युक्तम्, अन्यथाऽप्राप्तकालत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् व्यवहाराऽऽद्यभिमतव्युत्पथ्यनुरोधेनौदयिकभावग्राहकत्वमेवास्य सूरिभिरुक्तं युक्तमिति स्मर्तव्यम् । न चेन्द्रियरूपप्राणानां क्षयोपशमिकत्वात्कथमेवंभूतस्यौदयिकभावमात्रग्राहकत्वमित्यप्याशङ्क-नीयम्, प्राधान्येनायुःकर्मोदयलक्षणस्यैव जीवनार्थस्य ग्रहणात्। उपहतेन्द्रियेऽप्यायुरुदयेनैव जीवननिश्चयादिति दिक् ॥ ५१ ॥

शङ्काशेषमुपन्यस्य परिहरति-

शैलेश्यन्त्यक्षणे धर्मो, यथा सिद्धिस्तथाऽसुमान् ।
वाच्यं नेत्यपि यत्तत्र, फले चिन्तेह धातुगा ॥ ५२ ॥

(शैलेश्यन्त्यक्षण इति) शैलेश्या अयोगिगुणस्थानस्यान्त्यक्षणे चरमक्षणे यथा निश्चयतो धर्मस्तदर्वाक्तनकालभावी तु व्यवहारत एव। तदुक्तं धर्मसंग्रहण्यां हरिभद्राऽऽचार्यैः-'' सो उभयक्खयहेऊ, सेलेसीचरमसमयभावी जो। सेसो पुण णिच्छयओ, तस्सेह पसा-हगो भणिओ ''॥ १ ॥ इति । तथाऽसुमान् जीवोऽपि निश्चयतः सिद्ध एव भविष्यतीत्यपि न वाच्यम् । यतस्तत्र-'' सो उभयक्ख-य '' इत्यादिगाथायां धारयति सिद्धिगतावात्मानमिति धर्मः, इति फले फलरूपे धात्वर्थे चिन्ता। सा च कुर्वद्रूपत्वेन कारणत्वं वदत एवंभूतनयस्य मते शैलेश्यन्त्यक्षण एव धर्मपदार्थसिद्धिसाक्षिणि, तदनन्तरं सिद्धिसाधारणरूपसाफल्यव्यवधानात्, इह तु धातुगा धात्वर्थविच्छिन्नस्वरूपविषयिणी चिन्ता, सा च केन सहाव्यवधानं गवेषयत् ? स्वरूपं तु प्रसिद्ध्यनुरोधेन संसारिण्येव पर्यवसाययेन्न तु सिद्ध इति महान् विशेषः। स्यादेतत्। धर्मपदेऽपि धात्वर्थो धा-रणसामान्यमेव, तच्च यतो विशेषतात्पर्यवशात्सिद्धिसाधारणरूप-विशेषे पर्यवस्यति, तथा जीवपदार्थोऽपि विशेषे पर्यवस्यति, सिद्ध एव दत्तपदो भविष्यति। मैवम्। ' जीव ' प्राणधारणे इत्यत्र प्राण-पदसमभिव्याहृतसाधारणस्य भूरिप्रयोगवशादौदयिकप्राणधारण एव पर्यवसानात्। अत एव गोपदस्य नानाऽर्थत्वेऽपि ततो भूरिप्रयो-गवशात्सास्नाऽऽदिमत एवोपस्थितेः, अश्वाऽऽदेस्तु पदान्तरसम-भिव्याहाराऽऽदिनेति तान्त्रिकाः। तदेवमेवंभूतनयाभिप्रायेण सिद्धो न जीव इति व्यवस्थापितम्। यदि पुनः प्रस्थकन्यायाद्विशुद्धतरनैगमभेदमाश्रित्य प्रागुक्तस्वग्रन्थगाथाव्याख्यायते परैः तदा न किञ्चिदस्माकं दुष्यतीति किमल्पीयसि दृढतरक्षोदेन ?

'' ऐन्द्री ततिः प्रणयिपुण्यमिवाङ्कुरायै-
र्यत्पादपद्मकिरणैः कलयत्युदीतम्।
स्नात्राम्भसा दलितयादवदुष्टकष्टं,
शङ्खेश्वरप्रभुमिमं शरणीकरोमि ॥ ५२ ॥ ''

(' जीव ' शब्दे १५२१ पृष्ठेऽयं विषयः प्रासङ्गिकत्वेनोक्तोऽपि जयपरत्वेन पात्रोपेतितः)

(१७) सिद्धसेनीयाः पुनः षमेव नयानभ्युपगवन्तः, नैगमस्य संग्रहस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावविवक्षणात् । तथाहि-यदा नैगमः सामान्यप्रतिपत्तिपरस्तदा संग्रहेऽन्तर्भवति, सामान्याभ्युपगमपरत्वात्। विशेषाभ्युपगमनिष्ठस्तु व्यवहारे।

आह च सिद्धसेनीयमतमुपसंजिघृक्षुर्भाष्यकृत्-

जो सामन्नग्गाही, स नेगमो संगहं गतो अहवा ।
इअरो ववहारमितो, जो तेण समाणनिद्देसो ॥ ३६ ॥

आ० म० १ अ० १ खण्ड । विशे० ।

(नैगमाऽऽदीनां नयानां पृथक् पृथङ् मतं स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यम्)

(१८) शुद्ध्यशुद्धी नयानां, प्रस्थकाऽऽदिदृष्टान्तश्च-

से किं तं णयप्पमाणे ? णयप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-पत्थगदिट्ठंतेणं, वसहिदिट्ठंतेणं, पएसदिट्ठंतेणं ।

(से किं तं णयप्पमाणे इत्यादि) अनन्तधर्मणो वस्तुन एकांशेन नयनं नयः, स एव प्रमाणं नयप्रमाणं त्रिविधं प्रज्ञप्तमिति। यद्यपि नैगमसंग्रहाऽऽदिभेदतो बहवो नयाः, तथाऽपि प्रस्थकाऽऽदिदृष्टान्तत्रयेण सर्वेषामिह निरूपयितुमिष्टत्वात् त्रैविध्यमुच्यते। तथा चाऽऽह। तद्यथा-प्रस्थकदृष्टान्तेनेत्यादि प्रस्थकाऽऽदिदृष्टान्तत्रयेण हेतुभूतेन त्रिविधं नयप्रमाणं भवतीत्यर्थः।

(१९) प्रस्थकदृष्टान्तं दर्शयति-

से किं तं पत्थगदिट्ठंतेणं ? पत्थगदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ पुरिसे परसुं गहाय अडवीसंमुहत्तो गच्छेज्जा, तं पासित्ता कोइ वएज्जा-कहिं भवं ! गच्छसि ? अविसुद्धो नेगमो भणइ-पत्थयस्स गच्छामि । तं च कोइ छिंदमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं ! छिंदसि ? विसुद्धो नेगमो भणइ-पत्थयं छिंदामि । तं च कोइ तच्छमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं तच्छसि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-पत्थयं तच्छामि । तं च कोइ उक्कीरमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं ! उक्कीरसि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-पत्थयं उक्कीरामि । तं च कोइ लिहमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं ! लिहसि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-पत्थयं लिहामि । एवं विसुद्धतरणेगमस्स नामाउट्टिओ पत्थओ । एवामेव ववहारस्स वि संगहस्स मिउमेज्जसमारूढो पत्थओ । उज्जुसुयस्स पत्थओ वि पत्थओ, मेज्जं पि पत्थओ, तिण्हं सद्दनयाणं पत्थयस्स अत्थाहिगारं जाणओ, जस्स वा वसेणं पत्थओ निप्फज्जइ, से तं पत्थयदिट्ठंतेणं ।

तद् यथा नाम-कश्चित्पुरुषः परशुं कुठारं गृहीत्वा, अटवीसंमुखो गच्छेदित्यादि । इदमुक्तं भवति-प्रस्थको मागधदेशप्रसिद्धो धान्यमानविशेषः । तद्धेतुभूतकाष्ठकर्तनाय कुठारमभ्यप्रहस्तं तक्षाऽऽदिपुरुषमटवीं गच्छन्तं दृष्ट्वा कश्चिदन्यो वदेत्-क्व भवान् गच्छति ? तत्राऽविशुद्धनैगमो भणति, अविशुद्धनैगमनयमतानुसारी सन्नसौ प्रत्युत्तरयतीत्यर्थः। किमित्याह-प्रस्थकस्य गच्छामि। इदमुक्तं भवति-नैको गमो वस्तुपरिच्छेदो यस्याऽपि तु बहवः, स निरुक्तवशात्ककारलोपतो नैगम उच्यते । अतो यद्यप्यत्र प्रस्थककारणभूतकाष्ठनिमित्तमेव गमनं, न तु प्रस्थकनिमित्तम् , तथाऽप्यनेकप्रकारवस्त्वभ्युपगमपरत्वात्कारणे कार्योपचारः । तथा व्यवहारदर्शनादेवमप्यभिधत्तेऽसौ-प्रस्थकस्य गच्छामि इति । तं च कश्चित् छिन्दन्तं वृक्षं पश्येद् , दृष्ट्वा च वदेत् किं भवाँश्छिनत्ति ? ततः प्राक्तनात्किञ्चिद्विशुद्धनैगमनयमतानुसारी सन्नसौ भणति-प्रस्थकं छिनद्मि। अत्रापि कारणे कार्योपचारात् तथा व्यवहतिदर्शनादेव काष्ठेऽपि छिद्यमाने प्रस्थकं छिनद्मीत्युत्तरं, केवलं काष्ठस्य प्रस्थकं प्रति कारणताभावस्याऽत्र किञ्चिदासन्नत्वाद्विशुद्धत्वं प्राक्तनरतिव्यवहितत्वाद् मलीमसत्वम् , एवं पूर्वपूर्वापेक्षया यथोत्तरस्य विशुद्धता भावनीया, नवरंतक्ष्णन्तं तनूकुर्वन्तम् , उत्किरन्तं वेधनकेन मध्याद्विकिरन्तं लेखन्या मृष्टं कुर्वाणम् । एवमेतेन प्रकारेण तावन्नेयं यावद्विशुद्धतरनैगमस्य (नामाउट्ठिओ त्ति) आकुट्टितनामा प्रस्थकोऽयमित्येवं नामाङ्कितो निष्पन्नः प्रस्थक इति । एवमेव व्यवहारस्याऽपीति लोकव्यवहारप्राधान्येन यो व्यवहारनयः, लोके च पूर्वोक्तावस्थासु सर्वत्र प्रस्थकव्यवहारो दृश्यते, अतो व्यवहारनयोऽप्येवमेव प्रतिपद्यते इति भावः । (संगहस्सेत्यादि) सामान्यरूपतया सर्वं वस्तु संगृह्णाति क्रोडीकरोतीति संग्रहः, तस्य मतेन चिताऽऽदिविशेषणविशिष्ट एव प्रस्थो भवति, नान्यः । तत्र चितो धान्येन व्याप्तः । स च देशतोऽपि भवत्यत आहमितः पूरितः । अनेनैव प्रकारेण मेयं समारूढं यत्र स आहिताऽऽदेराकृतिगणत्वाद् मेयसमारूढः । अयमत्र भावार्थः-प्राक्तननयद्वयस्याऽविशुद्ध-त्वात्प्रस्थककारणमपि प्रस्थक उक्तो निष्पन्नः प्रस्थकोऽपि स्वकार्याकरणकालेऽपि प्रस्थक इष्टः, अस्य तु ततो विशुद्ध-त्वाद्धान्यमानलक्षणं स्वार्थं कुर्वन्नेव प्रस्थकः, तस्य तदर्थत्वात् । तदभावे च प्रस्थकव्यपदेशेऽतिप्रसङ्गादिति यथोक्त एव प्रस्थकः । सोऽपि प्रस्थकसामान्याद् व्यतिरेकाद् व्यतिरेकप्रस्थकत्वप्रसङ्गात्सर्व एक एव प्रस्थकइति प्रस्तुतनयो मन्यते, सामान्यवादित्वादिति । (उज्जुसुयस्सेत्यादि) ऋजुसूत्रः पूर्वोक्तशब्दार्थः, तस्य निष्पन्नस्वरूपोऽर्थक्रियाहेतुः प्रस्थकोऽपि प्रस्थकः, तत्परिच्छिन्नं धान्याऽऽदिकमपि वस्तु प्रस्थकः, उभयत्र प्रस्थकोऽयमिति व्यवहारदर्शनात्तथा प्रतीतेः । अपरं चाऽसौ पूर्वस्माद्विशुद्धत्वाद्वर्तमाने एवमानमेवे प्रस्थकत्वेन प्रतिपद्यते, नाऽतीताऽनागतकाले, तयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वादिति । (तिण्हं सद्दनयाणं इत्यादि) शब्दप्रधाना नयाः शब्दनयाः शब्दसम-भिरुढैवंभूताः, शब्देऽन्यथा स्थितेऽर्थमन्यथा नेच्छन्त्यमी, किंतु यथैवशब्दो व्यवस्थितस्तथैव शब्देनार्थं गमयन्तीत्यतः शब्दनया उच्यन्ते । आद्यास्तु यथा कथञ्चिच्छब्दाः प्रवर्तन्तामर्था एव प्रधानमित्यभ्युपगमपरत्वादर्थनयाः प्रकीर्त्यन्ते । अत एषां त्रयाणां शब्दनयानां प्रस्थकार्थाधिकारज्ञः प्रस्थकस्वरूपपरिज्ञानोपयुक्तः प्रस्थकः । भावप्रधानात्तुते नया इत्यतो भावप्रस्थकमेवेच्छन्ति, भावप्रस्थकोपयोगोऽतः स प्रस्थकः, तदुपयोगवानपि च, ततोऽव्यतिरेकात्प्रस्थकः । यो हि यत्रोपयुक्तः सोऽमीषां मते स एव भवति, उपयोगलक्षणो जीवः, उपयोगश्चेत्प्रस्थकाऽऽदिविषयतया परिणतः किमन्यजीवस्य रूपान्तरमस्ति ? यत्र व्यपदेशान्तरं स्यादिति भावः। (जस्स वा वसेणेत्यादि) यस्य वा प्रस्थककर्तृगतस्योपयोगस्य वशेन प्रस्थको निष्पद्यते, तत्रोपयोगे वर्त्तमानः कर्ता प्रस्थकः । न हि प्रस्थकेऽनुपयुक्तः

प्रस्थकं निर्वर्तयितुं कर्ता समर्थः, ततस्तदुपयोगानन्यत्वात्स एव प्रस्थकः। इमां च तेऽत्र युक्तिमभिदधतिसर्वं वस्तु स्वात्मन्येव वर्तते, न त्वात्मव्यतिरिक्ते आधारे वक्ष्यमाणयुक्त्या, एतन्मतेनाऽन्यस्याऽन्यत्र वृत्त्ययोगात्, प्रस्थकश्च निश्चयाऽऽत्मकं मानमुच्यते, निश्चयश्च ज्ञानम्, तत्कथं जडाऽऽत्मनि काष्ठभाजने वृत्तिमनुभविष्यति ? चेतनाचेतनयोः सामानाधिकरण्याभावात्, तस्मात्प्रस्थकोपयुक्त एव प्रस्थकः।'' से तं '' इत्यादि निगमनम्। अनु०।

प्रस्थकदृष्टान्तं विवेचयति-

प्रस्थकार्थं व्र जामीति, वने गच्छन् ब्रवीति यत्।
आदिमो ह्युपचारोऽसौ, नैगमव्यवहारयोः॥ ६२॥

(प्रस्थकार्थमित्यादि) प्रस्थको मगधदेशप्रसिद्धो धान्यमानहेतुर्द्रव्यविशेषः, तदर्थं व्रजामीति वने गच्छन् यद् ब्रवीति कश्चित्, असौ नैगमव्यवहारयोर्हि निश्चितमादिम उपचारः॥ ६२॥

नन्वत्र प्रस्थकार्थं वने गच्छतः प्रस्थकेच्छाया मुख्यार्थस्याबाधितत्वात्कथं प्रस्थकपदस्योपचार इति ?

अत्र आह-

अत्र प्रस्थकशब्देन, क्रियाऽऽविष्टवनैकधीः।
प्रस्थकेऽहं व्रजामीति, ह्युपचारोऽपि च स्फुटः॥ ६३॥

(अत्रेति) अत्राधिकृतप्रयोगे क्वेत्यधिकरणाकाङ्क्षया, प्रस्थकार्थमिति चतुर्थी, प्रकृतार्थेनैव निवृत्तेः प्रस्थकदलयोग्यवृक्षप्राप्ति-रूपक्रियाऽऽविष्टवनस्यैकाऽद्वितीया धीरिति, तत्रोपचार आवश्यक इत्यर्थः। ननु तथाऽपि सप्तम्यन्तप्रश्ने सप्तम्यन्तमेवोत्तरमुचितमित्यत आह-क्व भवान् गच्छतीति प्रश्ने प्रस्थकेऽहं व्रजामीति सप्तम्यन्तप्रस्थकपदस्योपचारोऽपि वने स्फुट एव दृश्यत इत्यर्थः। तथा च वनगमने प्रस्थकशब्देन वनाभिधानं नैगमव्यवहारयोः प्रथम उपचार इति सिद्धम्॥ ६३॥

छिनद्मि प्रस्थकं तक्ष्णो-म्युत्किराम्युल्लिखामि च।
करोमि चेति तदनू-पचाराः शुद्धताभृतः॥ ६४॥

(छिनद्मीति) किं भवान् छिनत्तीति प्रश्ने प्रस्थकं छिनद्मीत्युत्तरे प्रस्थकपदस्य च्छेदकयोग्ये काष्ठे उपचारः, स पूर्वस्मात् शुद्धः। एवं क्रमेण किं भवान् तक्ष्णोति, उत्किरति, उल्लिखति, करोतीति प्रश्नेषु, प्रस्थकं तक्ष्णोमि, उत्किरामि, उल्लिखामि, करोमीत्युत्तरेषु प्रस्थकपदस्य तक्ष्णाऽऽदिक्रियायोग्यकाष्ठेषूपचाराद् यथोत्तरं भवन्तः क्रमेण शुद्धताभृतो भवन्ति। ननु सर्वत्र प्रस्थकपदस्य प्रस्थकयोग्यकाष्ठ एक एवोपचारः, तत्क्रियाविशेषितार्थधीश्च तत्तत्क्रियावाचकपदसमभिव्याहारादेव भविष्यतीति कथमेतावन्त उपचारा यथाक्रमशुद्धा उच्यन्त इति चेत् ? सत्यम्। दुग्धमायुर्दध्यायुर्घृतमायुरित्यादौ दुग्धाऽऽदिकारणे आयुःकार्योपचारस्यातिशयविशेषेण तारतम्यवत् प्रकृतेऽपि छेदनाऽऽदिक्रियाव्यापाराऽऽवेशेन तज्जन्यावयवसंयोगाऽऽदिविशेषजन्यतया वा विलक्षणेषु काष्ठद्रव्येषु काष्ठप्रस्थकपर्यायोत्पत्तिव्यवधानाऽव्यवधानाभ्यां प्रस्थकपदोपचारतारतम्यस्यानुभवसिद्धत्वात्॥ ६४॥

तमेतावतिशुद्धौ तू-त्कीर्णनामानमाहतुः।
चितं मितं तथा मेया-रूढमेवाऽऽह संग्रहः॥ ६५॥

(तमिति) अतिशुद्धौ त्वेतौ नैगमव्यवहारनयौ तं प्रस्थकमुत्कीर्णनामानं प्रस्थकपर्यायवन्तं प्रस्थकमाहतुः, अनुत्कीर्णनाम्नोऽद्रव्यादविशेषादिति भावः। संग्रहनयस्तु चितमासादितं प्रस्थक-पर्यायं, मितमाकुट्टितनामानं, मेयं धान्यविशेषम्, आरूढं प्रस्थकमाह, मेयारूढपदेन तदनारूढस्यान्यद्रव्याविशिष्टस्यासंग्रहाद् नैग-मोपदर्शितार्थसंकोचकत्वेन स्वनाम्नोऽन्वर्थत्वसिद्धेः। अयं हि विशुद्धत्वात् कारणे कार्योपचारं कार्यकारणकाले प्रस्थकं च नाङ्गी-कुरुते। न च तदा तस्य घटाऽऽद्यात्मकत्वप्रसङ्गः, तदर्थक्रियां विना तत्त्वायोगात्। घटाऽऽदिशब्दार्थक्रिया यथा कथञ्चित्तत्रास्त्येवेति चेत्, साधारणतदर्थक्रियाकारित्वस्यैव तदात्मकत्वप्रयोजकत्वात्, तथाऽपि प्रस्थकक्रियाविरहेनाऽयं प्रस्थको घटाऽऽद्यनात्म-कत्वाच्च नाप्रस्थक इत्यनुभयरूपः स्यान्न स्यात्, प्रतियोगिकोटौ स्वस्याऽपि प्रवेशेन यावद् घटाऽऽद्यनात्मकत्वासिद्धेः। अर्थक्रिया-भावाभावाभ्यां द्रव्यभेदाभ्युपगमे ऋजुसूत्रमतानुप्रवेश इति चेत्। न। नैगमनयोपगतार्थसंकोचनाय कादाचित्कतयोपगमेऽपि सर्वत्र तथाऽभ्युपगमाभावेन तदननुप्रवेशात्, इत्थं चार्थक्रियाकारितदकारिप्रस्थकव्यक्तिभेदादर्थक्रियाजनकप्रस्थकव्यक्तौ प्रस्थकत्वसामान्यमपि नास्तीत्यभ्युपगमेऽपि न कश्चिद्दोषः। वस्तुतो व्यावृत्तिविशेषाऽऽद्यतिरिक्तेन नैयायिकाऽऽदिकल्पितसामान्येन क्वचिदपि निर्वाहः, तन्मते घटत्वाऽऽदिसामान्यस्याऽपि समर्थयितुमशक्यत्वात्। मृत्स्वर्णरजतपाषाणाऽऽदिघटेषु मृत्त्वस्वर्णत्वाऽऽदिना साङ्कर्येण तदसिद्धेः, अस्तु मृत्त्वे स्वर्णत्वाऽऽदिव्याप्यता, नैवं घटत्वम्। कुलालस्वर्णकारजन्यताऽऽद्यवच्छेदकतया तन्नानात्वस्याऽऽवश्यकत्वात्। न हि स्वर्णघटाऽऽदौ चक्राऽऽदिकं मृद्घटाऽऽदौ च लोहवर्तुलाऽऽदिकं हेतुः, अननुगतधीस्तु कथञ्चित् सौसादृश्यात्, घटपदं तु नानार्थकमित्यभ्युपगमे कथञ्चिदित्याद्यनिर्वचनेनै-वाशक्तिराविष्क्रियते। अननुगतानां जातीनामिव व्यक्तीनामपि सौ-सादृश्येनैवानुगमसंभवेन जात्युच्छेदाऽऽपत्तिः, घटपदस्य नानार्थत्वे स्पष्ट एव लौकिकव्यवहारबाधश्च, घटत्वाऽऽदिकर्मकत्ववृत्त्यैव मृत्त्वाऽऽदिकमेव वा, तथा कुम्भकारस्वर्णकाराऽऽदेर्विजातीय-कृतिमत्त्वेन चक्राऽऽदिवर्तुलाऽऽदेश्च कथञ्चिद्विजातीयव्यापारकत्वेन हेतुत्वमित्यादिनवीनकल्पना तु ? दोषादेकत्वाग्रहेऽपि घटत्वाऽऽदिग्रहादेकत्वस्यैकत्वात्प्रसिद्धरूपेण कार्यकारणभावोच्छेदे व्यवहारविलोपाद्यानुपपत्तेरिति नयविशेषेण तत्र तत्र व्यावृत्तिविशेषरूपसामान्याभ्युपगमं विना न निर्वाह इति प्रकृते कार्याकरणकाले व्यावृत्तिविशेषरूपप्रस्थकत्वसामान्याभावाभ्युपगमे न क्षतिरिति किमति प्रपञ्चितेन ?॥ ६५॥

प्रस्थकश्चर्जुसूत्रस्य, मानं मेयमिति द्वयम्।
न ज्ञकर्तृगताद्भावा-च्छब्दानां सोऽतिरिच्यते॥ ६६॥

(प्रस्थक श्चेति) ऋजुसूत्रस्य मानं मेयं चेति द्वयमेव प्रस्थकस्वरूपं, तन्मेयधान्यं च समवहित एव प्रस्थकव्यवहारादेकतरविनाशभावे तत्परिच्छेदासंभवात्। किञ्चमेयाऽऽरूढः प्रस्थकः प्रस्थकत्वेन व्यपदेश्य इति संग्रहनयमते मेयारूढः प्रस्थकः, प्रस्थकाऽऽरूढं मेयं वा, तथेत्यत्र विनिगमकाभावादुभयत्रैव प्रस्थकपदशक्तेर्व्यासज्यवृत्तित्वं युक्तम्। कथं तर्हि प्रस्थकेन धान्यं मीयत इति प्रयोग एकोत्तरोभयवाचकपदेनैकस्यानुपस्थापनादिति चेत्। न। एतन्नयेन कथञ्चित्प्रस्थकपदशक्यताऽवच्छेदकस्य व्यासज्यवृत्तित्वेन विवक्षाभेदात् करणरूपानुप्रवेशस्या-

ऽपि संभवान्न तदनुपपत्तिरिति द्रष्टव्यम् ॥ शब्दानां शब्दसमभिरूढैवंभूताऽऽख्यानां त्रयाणां नयानां मते स प्रस्थकः ज्ञकर्तृगताद्भावान्नातिरिच्यते न भिद्यते । ज्ञश्च कर्ता च ज्ञकर्त्तारौ, ज्ञकर्त्रर्गतो ज्ञकर्तृगतः, तस्मादिति समासः । प्रस्थकाद् ज्ञगताद् प्रस्थककर्तृगताद्वा प्रस्थकोपयोगादतिरिक्तं प्रस्थकं ते न सहन्ते निश्चयज्ञानात्मकप्रस्थकस्य जडवृत्तित्वायोगाद् बाह्यप्रस्थकस्याऽप्यनुपलम्भकालेऽसत्त्वेनोपयोगानतिरेकाऽऽश्रयणादन्ततो ज्ञानद्वैताय पर्यवसानाद्वा । न च ज्ञानाऽऽत्मकत्वोभयनयविषयसमावेशविरोधात्प्रत्येकमनयत्वमाशङ्कनीयम्, तादात्म्येनोभयरूपासमावेशेऽपि विषयत्वतादात्म्याभ्यां तदुभयसमावेशात् । विषयत्वमपि कथञ्चित्तादात्म्यमिति तु नयान्तराऽऽकृतम्, यदाश्रयेण ' अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः ' इति प्राचीनैर्गीयत इति दिग् ॥ ६६ ॥ विवेचितः प्रस्थकदृष्टान्तः । नयो० । विशे० ।

(२०) वसतिदृष्टान्तः-

से किं तं वसहिदिट्ठंतेणं ? वसहिदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ पुरिसे किंचि पुरिसं वएज्जा-कहिं भवं वससि ? अविसुद्धो णेगमो भणइ-लोगे वसामि । लोगे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-उड्ढलोए, अहोलोए, तिरिअलोए । तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धो णेगमो भणइ-तिरिअलोए वसामि । तिरिअलोए जंबुद्दीवाऽऽइआ सयंभूरमणपज्जवसाणा असंखिज्जा दीवसमुद्दा पण्णत्ता, तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-जंबु-द्दीवे वसामि । जंबुद्दीवे दस खेत्ता पण्णत्ता । तं जहा-भरहे, एरवए, हेमवए, एरण्णवए, हरिवस्से, रम्मगवस्से, देवकुरू, उत्तरकुरू, पुव्वविदेहे, अवरविदेहे । तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-भरहे वासे वसामि । भरहे वासे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-दाहिणड्ढभरहे, उत्तरड्ढभरहे अ । तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-दाहिणड्ढ-भरहे वसामि । दाहिणड्ढभरहे अणेगाइं गामागरणगरखेडकव्व-डमडंवदोणमुहपट्टणासमसंवाहसण्णिवेसाइं, तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-पाडलिपुत्रे वसामि । पाडलिपुत्ते अणेगाइं गिहाइं, तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धो णेगमो भणइ-गब्भघरे वसामि । एवं विसुद्धस्स णेगमस्स वस-माणो वसइ । एवमेव ववहारस्स वि । संगहस्स संथारसमारूढो वसइ । उज्जुसुअस्स जेसु आगासपएसेसु ओगाढो तेसु वसइ । तिण्हं सद्दनयाणं आयभावे वसइ । सेत्तं वसहिदिट्ठंतेणं ।

(से किं तं वसहीत्यादि) वसतिर्निवासः, तद्दृष्टान्तेन नयविचार उच्यते । तद्यथानामकः कश्चित्पुरुषः पाटलिपुत्राऽऽदौ वसन्तं कश्चित्पुरुषं वदेत्-क्व भवान् वसति ? तत्राविशुद्धो नैगमो भवति-अविशुद्धनैगमनयमतानुसारी सन्नसौ प्रत्युत्तरं प्रयच्छतिलोके वसा-मि । तन्निवासक्षेत्रस्याऽपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकादनर्थान्तरत्वात् ; इत्यमपि च व्यवहारदर्शनाद् । विशुद्धनैगमस्त्वतिव्याप्तिपरत्वादिदमसङ्गतं मन्यते । ततस्तिर्यग्लोके वसामीति संक्षिप्योत्तरं ददाति विशुद्धतरस्त्विदम् । अथातिविशुद्धतरस्त्विदमप्यतिव्याप्तिनिष्ठं मन्यते । ततो जम्बूद्वीपे वसामीति संक्षिप्ततरमाह । एवं भारतवर्षदक्षिणार्द्धभरतपाटत्रिपुत्रदेवदत्तगृहगर्भगृहेष्वपि भावनीयम् । (एवं विसुद्धस्स णेगमस्स वसमाणो वसइ त्ति)

एवमुत्तरोत्तरभेदापेक्षया विशुद्धतरनैगमस्य वसन्नेव वसति, नान्यथा । इदमुक्तं भवति-यत्र गृहाऽऽदौ सर्वदा निवासत्वेनाऽसौ विवक्षितस्तत्र तिष्ठन्नेव एष तत्र वसतीति व्यपदिश्यते । यदि पुनः कारणवसतोऽन्यत्र रथ्यादौ वर्तते, तदा तत्र विवक्षते गृहाऽऽदौ वसतीति न प्रोच्यते, अतिप्रसङ्गादिति भावः । (एवमेवेत्यादि) लोकव्यवहारनिष्ठो हि व्यवहारनयः लोके च नैगमोक्तप्रकाराः सर्वेऽपि दृश्यन्ते इति भावः । अथ चरमनैगमोक्तप्रकारो लोके नेष्यते, कारणतो ग्रामाऽऽदौ वर्तमानेऽपि देवदत्ते पाटलिपुत्रे एष वस- तीति व्यपदेशदर्शनादिति चेत् । नैतदेवम् । प्रोषिते देवदत्ते स इह वसति न वेति केनचित् पृष्टो, प्रोषितोऽसौ नेव वसतीत्यस्याऽपि लोकव्यवहारस्य दर्शनादिति । (संगहस्सेत्यादि) प्राक्तनाविशुद्धत्वात्संग्रहनयस्य गृहाऽऽदौ तिष्ठन्नपि संस्तारकाऽऽरूढ एव शयनक्रियावान् वसतीत्युच्यते । इदमुक्तं भवति-संस्तारेऽवस्थानादन्यत्र निवासार्थं एव न घटते, चलनाऽऽदिक्रियावत्त्वान्मार्गाऽऽदिप्रवृत्तवत् । संस्तारके च वसतो गृहाऽऽदौ वसतीति व्यपदेशायोग एव, अतिप्रसङ्गात् । तस्मात् क्वाऽसौ वसतीति निवासजिज्ञासायां संस्तारके शय्यामात्रस्वरूपे वसतीत्येतदेवास्य मतेनोच्यते, नान्यदिति भावः । स च नानादेशाऽऽदिगतोऽप्येक एव, संग्रहस्य सामान्यवादित्वादिति । ऋजुसूत्र-स्य तु पूर्वस्माद्विशुद्धत्वाद् येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढः, तेष्वेव वसतीत्युच्यते, न संस्तारके; सर्वस्याऽपि वस्तुवृत्त्या नभस्येवावगाहात् । येषु प्रदेशेषु संस्तारको वर्त्तते, संस्तारकेणैवाऽऽक्रान्तस्ततो येष्वेव प्रदेशेषु स्वयमवगाढस्तेष्वेव वसतीत्युच्यते । स च वर्तमानकाले एवास्ति, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्न-त्वेनैतन्मतेऽसत्वादिति । त्रयाणां शब्दनयानामात्मभावे स्वस्वरूपे सर्वोऽपि वसति, अन्यस्याऽन्यत्र वृत्त्ययोगात् । तथाहि-अन्योऽन्यत्र वर्तमानः किं सर्वाऽऽत्मना वर्त्तते ? देशाऽऽत्मना वा ? यद्याद्यः पक्षस्तर्हि तस्याऽऽधारव्यतिरेकिणा स्वकीयरूपेणाप्रतिभासनप्रसङ्गः । यथाहि-संस्तारकाऽऽद्याधारस्य स्वरूपं सर्वाऽऽत्मना तत्र वृत्तं न तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यते, एवं देवदत्ताऽऽदिरपि सर्वाऽऽत्मना तत्राधीयमानस्तद्व्यतिरेकेण नोपलभ्यते । अथ द्वितीयो विकल्पः स्वीक्रियते, तर्हि तत्राऽपि देशेऽनेन वर्तितव्यम् । ततः पुनरपि विकल्पद्वयम्- किं सर्वा-ऽऽत्मना वर्तते, देशाऽऽत्मना वेति ? सर्वाऽऽत्मपक्षे देशिनो देशरूपताऽऽपत्तिः । देशाऽऽत्मपक्षे तु पुनस्तत्रापि देशे देशिना वर्तितव्यं, ततः पुनरपि तदेव विकल्पद्वयमः तदेव दूषणमित्यनवस्था । तस्मात्सर्वोऽपि स्वस्वभाव एव निवसति, तत्परित्यागेनान्यत्र निवासे तस्य निःस्वभावताप्रसङ्गादित्यलं बहुभाषितया । ''सेत्तं'' इत्यादि निगमनम् । अनु० । नयो० । ननु वसनं नाम वर्त्तनमुच्यते । तथा च-देवदत्तो गृहे वसती- ति । किमुक्तं भवति ? देवदत्तो गृहे वर्तते, तच्च वर्त्तनं सर्वस्याऽपि वस्तुनः स्वस्वरूप एव, नाऽन्यत्र, तथा प्रत्यक्षत उपलभ्यमानत्वात् । तथाहि-यद् घटगतं स्वरूपं तत् घटे एव व- र्त्तते, नाऽन्यत्र भूतले पटाऽऽदौ वेति । प्रसिद्धमेतत्, देवद-

त्ताऽऽदिलक्षणं वस्तु स्वरूपमपहाय कथमन्यत्र विलक्षणस्वरूपे वस्तुनि आकाशलक्षणे वर्त्तितुमुत्सहते । तथा चाऽत्र प्रयोगः-यद्वस्तु सत् तत् सर्वमात्मस्वरूपे वर्त्तते, यथा चेतना जीवे, वस्तु च देव-दत्ताऽऽदिकमिति तदपि स्वस्वरूप एव वर्त्तते, नान्यत्रेति । अथवा-ऽयं व्यतिरेकमुखेन प्रयोगः-विवादाऽऽस्पदीभूतो देवदत्तो नाऽऽ-काशप्रदेशेष्ववतिष्ठते, ततो विलक्षणत्वात् , यद् यतो विलक्षणं न तत्तत्र वर्त्तते, यथा छाया आतपे, विलक्षणाश्चाचेतनत्वेन देवदत्ता-दाकाशाप्रदेशा इति नासौ तत्र वर्त्तते ।

उक्तं च भाष्यकारैः-

'' आगासे वसइ त्ति य, भणिए भणइ किह अन्नमन्नम्मि ।
मोत्तूणाऽऽयसहावं, वसेज्ज वत्थु विहम्मम्मि ॥ २२४१ ॥
वत्थुं वसइ सहावे, सत्ताओ चेयणा व जीवम्मि ।
न विलक्खणत्तणाओ, भिन्ने छायातवे चेव ॥ २२४२ ॥
एष वसतिदृष्टान्तः ।

(२१) संप्रति प्रदेशदृष्टान्तभावना-

तत्र प्रकृष्टो देशः प्रदेशः, स एव दृष्टान्तः प्रदेशदृष्टान्तः । स चायम्-नैगमो वदति-षण्णां जगति प्रदेशः । तद्यथा-धर्मास्तिकायप्रदेशः, अधर्मास्तिकायप्रदेशः, आकाशास्तिकायप्रदेशः, जीवप्रदेशः, स्कन्धप्रदेशः, स्कन्धगतैकदेशप्रदेशश्च । सर्वत्र षष्ठीतत्पुरुषः समा-सः । यथा धर्मास्तिकायस्य प्रदेशो धर्मास्तिकायप्रदेशः । एवं सर्व-त्रापि । स च धर्मास्तिकायप्रदेशाऽऽदिः सामान्यविवक्षया एको, विशेषवि-वक्षयाऽनेक इति । एवं वदति नैगमे संग्रहो वदति-यद् ब्रूवे-षण्णां प्रदेश इत्यादि । तन्न भवति । यस्माद् सः स्कन्धगतैकदेश-प्रदेशः, स तस्यैव स्कन्धस्य प्रदेशः, देशस्य स्कन्धाव्यतिरिक्तत्वात् । तथा च लोकेऽपि वक्तारः-'' दासेन मे खरः क्रीतो, दासो-ऽपि मे खरोऽपि मे । '' एवं यत्स्कन्धस्य संबन्धिनो देशस्य प्रदेशः, स तस्यैव स्कन्धस्य । ततो मैवं वादीः-यदुत षण्णां प्रदेश इत्यादि, किं त्वेवं वद-यथा पञ्चानां प्रदेशः । तद्यथा-धर्मास्तिकायप्रदेशः, अधर्माऽस्तिकायप्रदेशः, आकाशास्ति-कायप्रदेशः, जीवप्रदेशः, स्कन्धप्रदेश इति । अयं च धर्मास्तिकायप्रदेशः स्वस्वधर्मास्ति-कायाऽऽद्यनुगतः सर्वोऽप्येक एव द्रष्टव्यः, सामान्यवि-वक्षणात् । एवं च संग्रहोऽविशुद्धः प्रतिपत्तव्यः, अपरसामान्याभ्युपगमात् । एवम-भिदधानं संग्रहं प्रति व्यवहारोऽभिधत्तेयद्वदति भवान् पञ्चानां प्रदेश इति, नान्यथा । न चैतदस्ति । तस्मादेवं वक्तव्यम्-पञ्चविधः प्रदे-शः । तद्यथा-धर्मास्तिकायप्रदेशो यावत् स्कन्धप्रदेश इति । एवमुक्ते व्यवहारेण ऋजुसूत्रो वदति-यद्भाषते भवान्-पञ्चविधः प्रदेश इ-त्यादि । तदसम्यक् । तत्राऽपि शब्दार्थे विचार्यमाणेऽतिप्रसङ्गदोषा-पत्तेः । तथाहि-पञ्चविधः प्रदेश इत्युक्ते शब्दार्थपर्यालोचनायां यो यः प्रदेशः स पञ्चविध इति प्राप्तम् , एवं च सत्येकैकः प्रदेशः पञ्च-विंशतिविधः प्रदेशः प्रसक्तः । न चैतदस्ति । तस्मादेवमत्र वक्तव्यम्- भाज्यः प्रदेशः । तद्यथा-स्याद्धर्मास्तिकायप्रदेशः, स्यादधर्मा-स्तिकायप्रदेशः, स्यादाकाशा-स्तिकायप्रदेशः, स्याज्जीवप्रदेशः, स्यात् स्कन्धप्रदेशः । एवमाचक्षाण-मृजुसूत्रं शब्दनयः प्रत्याचष्टे-यद्वदसि भाज्यः प्रदेश इत्यादि । तन्न भवति । कथमुच्यते ? यदि भाज्यः प्रदेश इति समं ततः स्यात्पदलाञ्छने प्रतिनियते धर्मा-स्तिकायाऽऽद्यनुगतप्रदेशस्वरूपावधारणासंभवात् , धर्मास्तिका-यप्रदेशोऽपि स्यादधर्मास्तिकायप्रदेशः, अधर्मास्तिकाय-प्रदेशोऽपि स्याद्धर्मास्तिकायप्रदेश इत्यादि । तत एवं वक्तव्यम्-धर्मास्तिकायः प्रदेशः प्रदेशोऽधर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः प्रदेशः प्रदेशो धर्मास्तिकाय इत्यादि । एवं हि वदतः शब्दनयस्यायमभिप्रायः-य एव धर्मास्तिकायाऽऽदिरूपो देशी स एव देशः प्रदेशो वा न स्यात् , तदव्यतिरिक्तत्वात् । न खलु देशिनो भिन्नो देशः प्रदेशो वा भवितु-मर्हति, भेदे सति तस्याऽसौ देशः प्रदेशो वेति संबन्धानुपपत्तेः । न हि घटः पटस्येति सचेतसा वक्तुं शक्यम् , संबन्धश्चेत्तर्हि संबन्धस्या-ऽन्यथाऽनुपपद्यमान-त्वाद्देशः प्रदेशो वा देशिनः सकाशादभिन्नः प्रतिपत्तव्यः, तथा च सति य एव देशी स एव देशः प्रदेशश्चेति सिद्धं सामानाधिकरण्यम् । एतदेव च सामाधिकरण्यं समभिरूढोऽपि मन्यते । एवंभूतस्तु प्रदेशवस्तुनो देशः प्रदेशो वा, युक्त्यायोगात् । तथाहि-देशः प्रदेशो वा देशिनो भिन्नोऽभिन्नो वा, गत्यन्तराभावात् । यदि भेदस्तस्येति संबन्धानुपपत्तिः । अथाभेद-स्ततो देशः प्रदेशो वा देश्येव, तदव्यतिरिक्तत्वात् , स्वरूपवत् । तथा च सति यौ देशप्रदेशशब्दौ तौ परमार्थतो धर्मास्तिकायाऽऽदिदेश-प्रतिपादकौ, ततो यथा पर्यायशब्दत्वादेककालमेकस्मिन् वस्तुनि घटकुटौ नो-च्चार्येते, एकेनाऽपि शब्देन तदर्थस्य प्रतिपादने द्वितीयशब्दप्रयोगस्य नैरर्थक्यात् । एवमिहापि धर्मास्तिकायाऽऽदिरूपे वस्तुनि धर्मास्तिकायाऽऽदिशब्दो देशप्रदेशाऽऽदिशब्दश्च नैककालमुच्चा-रणम-र्हतः, द्वयोरप्येकार्थतयैकेनापि तदर्थस्याऽभिधानत्वेऽपरशब्द-प्रयोगस्य वैयर्थ्यात् । तथा च सति धर्मास्तिकायप्रदेशः, अधर्मा-स्तिकायप्रदेश इत्यादि वचनजातं सर्वमुपपन्नम् । देशप्रदेशशब्दयोः परमार्थतो धर्मास्तिकायाऽऽदिरूपदेशिवाचकतया पौनरुक्त्य-दोषानुषङ्गात् । योऽपि च नोशब्द एकदेशवचनः, सोऽप्येतन्मते सर्व-थाऽनुपपन्नः, तत्राप्युक्तदोषानतिक्रमात् । तथाहि-नोशब्दः सम्पूर्ण वस्त्वभिदध्यात् , वस्त्वेकदेशं वा ? यदि सम्पूर्णं, ततस्तस्य प्रयोगो निरर्थकः, धर्मास्तिकायाऽऽदिपदेनैव तस्याऽभिधानात् । अथ वाऽस्त्वेकदेशमिति पक्षः । सोऽप्यसमीचीनः, वस्तुनो देशाभावात् । न हि वस्तुनो भिन्नो देश उपपन्नते, तस्येति संबन्धाऽभावात् । अभेदे तु देश्येव, न देश इत्युपपादितमेतत् ।

उक्तं च भाष्यकारैः -

'' नो सद्दो वि समत्तं, देसं व भणिज्ज जइ समत्तं तो ।
तस्स पओगोऽणत्थो, अह देसो तो न सो वत्थुं ॥ २२५६ ॥''

अत्र (न सो वत्थु त्ति) न स देशो वस्तु, भेदपक्षेऽभेदपक्षे वा, तस्यासंभवादिति । येऽपि च नीलोत्पलाऽऽदयः शब्दा लोकप्रसिद्धाः, तेऽप्येतन्मतेन विचार्यमाणाः सर्वथाऽनुपपन्नाः । तथाहि-तन्मतेन सर्व वस्तु प्रत्येकमखण्डरूपं, न तस्य गुणाः पर्याया वा देशाः प्रदेशा वा सर्वथा कथञ्चिद्वा वस्त्वन्तररूपा वर्तन्ते, ततो नीलशब्देनाऽपि तदेव वस्त्व-खण्डमभिधीयते, उत्पलशब्देनाऽपि तदेवेति, नीलोत्पलशब्दयोरन्यत-रशब्देन तदर्थस्याऽभिधानात् । द्वितीयशब्दप्रयोगो व्यर्थ इत्ययुक्ता नीलोत्पलाऽऽदयः शब्दाः । प्रकृते प्रदेशदृष्टान्तभावनाऽपि तथैव । तदेवमुक्ता नयाः । एतेषां च नयानामाद्याश्चत्वारो नया अर्थनयाः, मुख्यवृत्त्या जीवाऽऽद्यर्थ-समाश्रयणात् । शेषास्तु त्रयः शब्दाऽऽदयो नयाः शब्दनयाः, शब्दत एवार्थभेदोपयोगात् ।

उक्तं च-

'' चत्वारोऽर्थनया ह्येते, जीवाऽऽद्यर्थविनिश्चयात् ।
त्रयः शब्दनयाः सत्य-पदविद्यां समाश्रिताः '' ॥ १ ॥

तत्र (सत्यपदविद्यां समाश्रिता इति) सत्यानि अविपरीतानि, शब्दानुशासनोपदर्शितयथोक्तलक्षणोपेतानीति भावः। तानि च ता-नि पदानि सत्यपदानि, तेषां विद्या परिज्ञानं कालकारकाऽऽदिभेद-तोऽवगमः। तां समाश्रिताः, तद्वशादर्थभेदमभ्युपगतवन्त इत्यर्थः।

संप्रत्येतेषामेव नयानां प्रभेदसंख्याप्रदर्शनार्थमाह निर्युक्ति-कारः-

इक्केक्को य सयविहो, सत्त नयसया हवंति एमेव।
अन्नो वि य आएसो, पंचेव सया नयाणं तु॥ २२६४॥

नया मूलभेदापेक्षया यथोक्तरूपा नैगमाऽऽइयः सप्त, एकैकश्च प्रभेदतः शतविधः शतभेदः, ततः सर्वप्रभेदगणनया सप्त नयशतानि भवन्ति। एवमन्येऽपि च आदेशाः पञ्चशतानि भवन्ति नयानां शब्दाऽऽदीनामे-कत्वादेकैकस्य च शतषिधत्वादिति हृदयम्। अपि-शब्दात् षट् चत्वारि द्वे वा शते। तत्र षट् शतान्येवम्-नैगमः सामान्यग्राही संग्रहे प्रविष्टो, विशेषग्राही व्यवहारे। उक्तं च भाष्यकारैः- ''जो सामन्नग्गाही, स नेगमो संगहं गतो अहवा। इयरो ववहारमि-तो, जो तेण समाणनिद्देसो'' ॥ ३६ ॥ ततः षडेव मूलनयाः, एकै-कश्च प्रभेदतः शतभेदः, इति षट् शतानि। अपरादेशाः संग्रहव्य-वहारर्जुसूत्रशब्दा इति चत्वार एव मूलनयाः, एकैकश्च शतविध इति चत्वारि शतानि। शतद्वयं तु नैगमाऽऽदीनामृजुसूत्रपर्यन्तानां द्रव्यास्तिकत्वात्, शब्दाऽऽदीनां तु पर्यायास्तिकत्वात्, तयोश्च प्रत्येकं शतभेदत्वात्। अथ वा यावन्तो वचनपथाः, तावन्तो नया इत्यसंख्याताः प्रतिपत्तव्याः। आ० म० १ अ० २ खण्ड।

प्रदेशदृष्टान्तस्तु-

से किं तं पएसदिट्ठंतेणं ? पएसदिट्ठंतेणं णेगमो भणइ-छण्हं पएसो। तं जहा-धम्मपएसो, अधम्मपएसो, आगासपएसो, जीवपएसो, खंधपएसो, देसपएसो। एवं वयंतं णेगमं संगहो भणइ-जं भणसि छण्हं पएसो, तं न भवइ, कम्हा ? जम्हा देसपएसो, सो तस्स दव्वस्स एव, जहा को दिट्ठंतो-'' दासेण मे खरो कीओ, दासो वी मे खरो वि मे।'' तं मा भणहि छण्हं पएसो, भणाहि-पंचण्हं पएसो। तं जहा-धम्मपएसो, अधम्म-पएसो, आगासपएसो, जीवपएसो, खंधपएसो। एवं वयंतं संगहं ववहारो भणइ-जं भणसि-पंचण्हं पएसो, तं न भवइ, कम्हा ? जइ जहा पंचण्हं गोट्ठिआणं पुरिसाणं केइ दव्वजाए सामण्णे भवइ। तं जहा-हिरण्णे वा, सुवण्णे वा, धणे वा, धण्णे वा, तहा पंचण्हं पएसो, तं मा भणिहि पंचण्हं पएसा भणाहि-पंचविहो पएसो। तं जहा-धम्मपएसो, अधम्मपएसो, आगासपएसो, जीवपएसो, खंधपएसो। एवं वयंतं ववहारं उज्जुसुओ भणइ-जं भणसि-पंचविहो पएसो, तं न भवइ, क-म्हा ? जइ ते पंचविहो पएसो, एवं ते एक्केको पएसो पंचविहो, एवं ते पणवीसविहो पएसो भवइ, तं मा भणाहि पंचविहो प-एसो, भणाहि-भइयव्वो पएसो, सिअ धम्मपएसो, सिअ अध-म्मपएसो, सिअ आगासपएसो, सिअ जीवपएसो, सिअ खंध-पएसो। एवं वयंतं उज्जुसुयं पइ सद्दनओ भणइ-जं भणसि-भइयव्वो पएसो, तं न भवइ, कम्हा ? जइ भइअव्वो पएसो, एवं ते धम्मपएसो वि सिअ अधम्मपएसो सिअ आगासपएसो सिअ जीवपएसो सिअ खंधपएसो; अधम्मपएसो वि सिअ धम्मपएसो० जाव खंधपएसो। जीवपएसो वि सिअ धम्मपए-सो० जाव सिअ खंधपएसो, खंधपएसो वि सिअ धम्मपएसो० जाव सिअ खंधपएसो। एवं ते अणवत्था भविस्सइ, तं मा भ-णाहि भइयव्वो पएसो, भणाहि-धम्मे पएसे से पएसे धम्मे, अहम्मे पएसे से पएसे अहम्मे, आगासे पएसे से पएसे आगासे, जीवे पएसे से पएसे नो जीवे, खंधे पएसे से पएसे नो खंधे। एवं वयंतं सद्दनयं समभिरूढो भणइ-जं भणसि-धम्मे पएसे से पएसे धम्मे, जीवे पएसे से पएसे नोजीवे, खंधे पएसे से पएसे नोखंधे, तं न भवइ, कम्हा ? इत्थं खलु दो समासा भवंति। तं जहा-तप्पुरिसे अ, कम्मधारए अ। तं ण णज्जइ कयरेणं समा-सेणं भणसि, किं तप्पुरिसेणं ? किं कम्मधारएणं ? जइ तप्पुरि-सेणं भणसि, तो मा एवं भणाहि, अह कम्मधारएणं भणसि, तो विसेसओ भणाहि-धम्मे अ से पएसे अ मे से पएसे धम्मे, अहम्मे अ से पएसे अ मे से पएसे अहम्मे, आगासे अ से पएसे अ मे से पएसे आगासे, जीवे अ से पएसे अ मे से पएसे नो जीवे, खंधे अ से पएसे अ मे से पएसे नो खंधे। एवं वयंतं समभिरूढं पइ एवं-भूओ भणइ-जं जं भणसि तं तं सव्वं कसिणं पडिपुण्णं निरव-सेसं एगगहणगहितं, देसे वि मे अवत्थू, पएसे वि मे अवत्थू। से तं पएसदिट्ठंतणं। से तं नयप्पमाणे॥

(से किं तं पएसदिट्ठंते णमित्यादि) प्रकृष्टो देशः प्रदेशो, निर्विभागो भाग इत्यर्थः। स एव दृष्टान्तः, तेन नयमतानि चिन्त्यन्ते। तत्र नैगमो भणति-षण्णां प्रदेशः। तद्यथा-(धम्मपएस इत्यादि) धर्मशब्देन धर्मास्तिकायो गृह्यते, तस्य प्रदेशो धर्मप्रदेशः। एवमधर्माऽऽकाशजीवास्तिकायेष्वपि योज्यम्। स्कन्धं पुद्गलद्रव्यनिचयः, तस्य प्रदेशः स्कन्धप्रदेशः, देश एषामेव पञ्चानां धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्याणां प्रदेशद्वयाऽऽदिनिर्वृत्तोऽ-वयवः, तस्य प्रदेशो देशप्रदेशः। अयं च प्रदेशसामान्याव्यभिचारात् षण्णां प्रदेश इत्युक्तम्, विशेषविवक्षायां तु षट् प्रदेशाः, एवं वदन्तं नैगमं प्रति निपुणतरः संग्रहो भणति, यद्भणसि-षण्णां प्रदेश इति, तन्न भवति तत्र यु-ज्यते। कस्माद् ? यस्माद्यो देशप्रदेश इति षष्ठे स्थाने भवतां प्रति-पादितं, तदसङ्गतमेव। यतो धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्यस्य संबन्धी यो देशस्तस्य यः प्रदेशः, स वस्तुवृत्त्या तस्यैव द्रव्यस्य यत्संबन्धी देशो विवक्ष्यते, द्रव्याव्यतिरिक्तस्य देशस्य यः प्रदेशः स द्रव्यस्यैव भवति। यथा कोऽत्र दृष्टान्त इत्याह-''दासेणेत्यादि'' लोकेऽ-

प्येवं व्यवहृतिर्दृश्यते। यथा कश्चिदाह-मदीयदासेन खरः क्रीतः, तत्र दासोऽपि मदीयः, खरोऽपि मदीयः, दासस्य मदीयत्वात् तत्- क्रीतः खरोऽपि मदीय इत्यर्थः। एवमिहाऽपि देशस्य द्रव्यसंबन्धित्वात् तत्प्रदेशोऽपि द्रव्यसंबन्ध्येवेति भावः। तस्मान्मा भणषण्णां प्रदेशः, अपि त्वेवं भण-पञ्चानां प्रदेश इति, त्वदुक्तषष्ठदेशस्यैवाऽघटनादित्यर्थः। तदेव दर्शयति-तद्यथा-धर्मप्रदेश इत्यादि। एतानि पञ्च द्रव्याणि, तत्प्रदेश-श्चेत्येवमविशुद्धसंग्रह एवं मन्यते, अवान्तरद्रव्यसामान्याऽऽद्यभ्युपगमात्। विशुद्धस्तु द्रव्यबाहुल्यं प्रदेशकल्पनां च नेच्छत्येव, सर्वस्यैव वस्तुसामा-न्यक्रोडीकृतत्वेनैकत्वादित्यलं प्रसङ्गेन। प्रकृतमुच्यते-एवं वदन्तं संग्रहं ततोऽपि निपुणो व्यवहारो भणति-यद्भणसि-पञ्चानां प्रदेश इति, तन्न भवति न युज्यते, कस्मात् ? यदि यथा पञ्चानां गोष्ठिकानां पुरुषाणां किञ्चित् द्रव्यं सामान्यमेकं भवति। तद्यथा-हिरण्यं वेत्यादि। एवं यदि प्रदे-शोऽपि स्यात्ततो युज्यते वक्तुं पञ्चानां प्रदेश इति। इदमुक्तं भवति-यथा केषाञ्चित्पञ्चानां पुरुषाणां साधारणं किञ्चिद्धिरण्याऽऽदि भवति, एवं पञ्चानामपि धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्याणां यद्येकः कश्चित्साधारण-प्रदेशः स्यात्तदेयं वाचो युक्तिर्घटेत; न चैतदस्ति, प्रतिद्रव्यं प्रदेशभेदात्। तस्मान्मा भणपञ्चानां प्रदेशः। अपि तु पञ्चविधः पञ्चप्रकारः प्रदेशः, द्रव्यलक्षणस्याऽऽश्रयस्य पञ्चविधत्वादिति भावः। तदेवाऽऽह-धर्मप्रदेश इत्यादि। एवं वदन्तं व्यवहारमृजुसूत्रो भणति-यद्भणसिपञ्चविधः प्रदेशः, तन्न भवति, कस्मात् ? यस्मादेव पञ्चविधः प्रदेशः, एवमेकैको धर्म्मा-स्तिकायाऽऽदिप्रदेशः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, शब्दादत्र वस्तुव्यवस्था, शब्दे त्वेवमेव प्रतीतर्भवति। एवं च सति पञ्चविंशतिविधः प्रदेशः प्राप्नोति। तन्मा भणपञ्चविधः प्रदेशः, किं त्वेवं भण-भाज्यः प्रदेशः स्याद्धर्मप्रदेश इत्यादि। इदमुक्तं भवति-भाज्यो विकल्पनीयो विभजनीयः प्रदेशः कियद्भिर्विभागैः स्याद्धर्म्मप्रदेश इत्यादि पञ्चभिः, ततश्च पञ्चभेद एव प्रदेशः सिद्ध्यति। स च यथा स्वमात्मीयमात्मीय एवाऽस्ति, न परकीयः, तस्यार्थक्रियासाधकत्वात्, प्रस्तुतनयमतेनासत्त्वा-दिति। एवं भणन्त-मृजुसूत्रं प्रति शब्दनयो भणति-यद्भणसि-भाज्यः प्रदेशः, तन्न भणति, कुतः ? यदि भाज्यः प्रदेशः, एवं ते धर्मास्तिकायप्रदेशोऽपि कदाचिदधर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशः स्यात्, अधर्मास्तिकायप्रदेशोऽपि कदाचिद्धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशः स्यात्, इत्थमपि भजनाया अनिवारितत्वात्, यथा एकोऽपि देव-दत्तः कदाचिद्राज्ञो भृत्यः, कदाचिदमात्याऽऽदेरिति। एवमाकाशास्तिकायाऽऽदिप्रदेशेऽपि वाच्यम्। तदेवं नैयत्याभावादनवस्था प्रपद्यते। तन्मैवं भण-भाज्यः प्रदेशः, अपि तु इत्थं भण-'' धम्मे पएसे से पएसे धम्मे '' इत्यादि। इदमुक्तं भवति-धर्म्मप्रदेश इति, धर्म्माऽऽत्मकः प्रदेश इत्यर्थः। अत्राऽऽह-नन्वयं प्रदेशः सकल-धर्म्मास्तिकायादव्यतिरिक्तः सन् धर्म्माऽऽत्मक इत्युच्यते, आहो-स्वित् तदेकदेशाव्यतिरिक्तः सन्, यथा सकलजीवास्तिकायैक-देशैकजीवद्रव्याव्यतिरिक्तः संस्तत्प्रदेशो जीवाऽऽत्मक इति व्यप-दिश्यत इत्याह-(से पएसे धम्मे त्ति) स प्रदेशो धर्मः, सकलधर्मा-स्तिकाया-दव्यतिरिक्त इत्यर्थः। जीवास्तिकाये हि परस्परं भिन्ना-न्येवानन्तानि जीवद्रव्याणि भवन्त्यतो य एकजीवद्रव्यस्य प्रदेशः, स निःशेषजीवास्ति-कायैकदेशवृत्तिरेव सन जीवाऽऽत्मक इत्यु-च्यते। अत्र तु धर्मास्तिकाय एकमेव द्रव्यं, ततः सकलधर्म्मास्ति-कायाव्यतिरिक्त एव संस्तत्प्रदेशो धर्म्मात्मक उच्यत इति भावः। अधर्माऽऽकाशास्तिकाययोरप्येकैक-द्रव्यत्वादेवमेव भावनीयम्। जीवास्तिकाये तु (जीवे पएसे पएसे नो जीवे त्ति) जीवः प्रदेश इति, जीवास्तिकायाऽऽत्मकः प्रदेश इत्यर्थः। स च प्रदेशो नोजीवः, नोशब्दस्येह देशवचनत्वात्, सकलजीवास्तिकायै-कदेशवृत्तिरित्यर्थः। यो ह्येकजीवो द्रव्याऽऽत्मकः प्रदेशः स कथमनन्तजीवद्रव्याऽऽत्मके समस्तजीवास्तिकाये वर्तेत इति भावः। एवं स्कन्धाऽऽत्मकः प्रदेशो नोस्कन्धः, स्कन्धद्रव्याणामनन्त-त्वादेकदेशवर्त्तिरित्यर्थः। एवं वदन्तं शब्दनयं नानार्थसमभिरोहणा-त्समभिरूढः प्राऽऽह-यद्भणसिधर्म्मः प्रदेशो धर्म्म इत्यादि, तन्न भवति न युज्यते, कस्मात् ? इत्याह-इह खलु द्वौ समासौ भवतः। तद्यथा-तत्पुरुषः, कर्मधारयश्च। इदमुक्तं भवति-'' धम्मे पएसे से पएसे धम्मे '' इत्युक्ते समासद्वयाऽऽरम्भकवाक्यद्वयमत्र संभाव्यते। तथाहि-यदि धर्म्मशब्दात् सप्तमीयं तदा सप्तमीतत्पुरुषस्याऽऽरम्भकमिदं वाक्यम्। यथा वने हस्तीत्यादि। अथवा-प्रथमा, तदा कर्म्मधारयस्य। यथा-नीलमुत्पलमित्यादि। ननु यदि वाक्यद्वयमेवाऽत्र संभाव्यते, तर्हि कथं द्वौ समासौ भवत इत्युक्तम् ? उच्यतेसमासाऽऽरम्भकवाक्ययोः समासोपचारात्। अथवा-अलुक्समासविवक्षया समासावप्येतौ भवतः, यथा-कण्ठे काल इत्यादी-त्यदोषः। यदि नाम द्वौ समासावत्र भवतः, ततः किमित्याह-तन्न ज्ञायते कतरेण समासेन भणसि ? किं तत्पुरुषेण ? कर्मधारयेण वा ? यदि तत्पुरुषेण भणसि, तन्मैवं भण, दोषसंभवादिति शेषः। स चाऽयं दोषः धर्मे प्रदेश इति भेदाऽऽपत्तिः, यथा कुण्डे बदराणी-ति। न च प्रदेशप्रदेशिनौ भेदेनोपलभ्येते। अथ अभेदेऽपि सप्तमी दृश्यते। यथा-घटे रूपमित्यादि। एवमुभयत्र दर्शनात्संशयलक्षणो दोषः स्यात्। अथ कर्मधारयेण भणसि, ततो विशेषेण (धम्मे अ से पएसे अ से त्ति) धर्मश्च स प्रदेशश्च स इति समानाधिकरणः कर्मधारयः। एवं च सप्तम्याशङ्काऽभावतो न तत्पुरुषसंभव इति भावः। आह-नन्वयं प्रदेशः समस्तादपि धर्मास्तिकायादव्यतिरिक्तः सन् समानाधिकरणतया निर्दिश्यते, उत चदेकदेशवृत्तिः सन् ? यथा जीवास्तिकायैकदेशवृत्ति-र्जीवप्रदेश इत्याशङ्क्याऽऽह-(मे से पएसे धम्मे त्ति) स च प्रदेशः सकलधर्मास्तिकायाऽऽदिव्यतिरिक्तो, न पुनस्तदेकदेशवृत्तिरित्यर्थः। शेषभावना पूर्ववत्। '' से पएसे नो जीवे से पएसे नो खंधे '' इत्यत्राऽपि पूर्ववदेवार्थकथनम्। एवं वदन्तं समभिरूढं प्रत्येवंभूतो भणति-यद्यद् धर्मास्तिकायाऽऽदिकं वस्तु भणसि, तत्तत्सर्वं समस्तं कृत्स्नं देशप्रदेश-कल्पनारहितं प्रतिपूर्णमात्मस्वरूपेणाऽविकलं निरवशेषं तदेवैकत्वा-न्निरवयवम्, एकग्रहणगृहीतम् एकाभिधानाभिधेयं, नामानि ह्येकस्मिन्नर्थे नेच्छन्ति, अभिधानभेदे वस्तुभेदाभ्युपगमात्। तदेवंभूतं तद् धर्मास्तिकायाऽऽदिकं वस्तु भण, न तु प्रदेशाऽऽदिरूपतया, यतो देशप्रदेशौ ममाप्रदेशौ अवस्तुभूतौ, अखण्डस्यैव वस्तुनः सत्त्वेनोपगात्। तथा-हि-प्रदेशप्रदेशिनोर्भेदोऽभेदो वा ? यदि प्रथमः पक्षः, तर्हि भेदे-नोपलब्धिप्रसङ्गः, न च तथोपलब्धिरस्ति। अथाऽभेदस्तर्हि धर्मप्रदेशशब्दयोः पर्यायतैव प्राप्ता, एकार्थविषय-त्वात्। न च पर्यायशब्दयोर्युगपदुच्चारणं युज्यते, एकेनैव तदर्थप्रतिपादने

द्वितीयस्य वैयर्थ्यात् , तस्मादेकाभिधानाभिधेयं परिपूर्णमेकमेव वस्त्विति । तदेवमेते निजनिजार्थसत्यताप्रतिपादनपरा विप्रतिपद्यन्ते नयाः । एते च परस्परं निरपेक्षा दुर्नयाः सौगताऽऽदिसमयवत् , परस्परसापेक्षास्तु सुनयाः, तैश्च परस्परसापेक्षैः समुदितैरेव संपूर्णजिनमतं भवति, नैकैकावस्थायाम् ।

उक्तं च स्तुतिकारेण-

'' उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ''॥१॥

एते च नया ज्ञानरूपाः, ते जीवगुणत्वेन यद्यपि गुणप्रमाणेऽन्तर्भवन्ति, तथाऽपि प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणेभ्यो नयरूपतामात्रेण पृथक् सिद्धत्वाद् बहुविचारविषयत्वाज्जिनाऽऽगमे प्रतिस्थानमुपयोगित्वाच्च गुणप्रमाणाः पृथगुक्ताः, तदेतत्प्रदेशदृष्टान्तेनेति निगमनम् । प्रस्थकाऽऽदिदृष्टान्तत्रयेणैव नयप्रमाणं प्रतिपाद्योपसंहरति-तदेत-न्नयप्रमाणमिति । अनेन च दृष्टान्तत्रयेण दिग्मात्रदर्शनमेव कृतं, यावता यत्किमपि जीवाऽऽदिवस्त्वस्ति, तत्र सर्वत्र नयविचारः प्रवर्तते, इत्यलं बहुजल्पितेनेति । अनु० ।

(२२) एतैर्दृष्टान्तैरयमस्मान्नयाच्छुद्ध इति कथं ज्ञेयम् ? इत्याह-

शुद्धा ह्येतेषु सूक्ष्मार्थाः, अशुद्धाः स्थूलगोचराः ।
फलतः शुद्धतां त्वाहु-र्व्यवहारे न निश्चये ॥ ७४ ॥

(शुद्धा ह्येति) एतेषु नयेषु उक्तदृष्टान्तरीत्या ये यतः सूक्ष्मार्थाः ते ततः शुद्धाः, ये च यतः स्थूलगोचराः ते ततोऽशुद्धाः, सूक्ष्मत्वं स्थूलत्वं चाऽर्थानां तादृशतादृशबुद्धिविषयत्वेनानुगमनीयम् , न तु बह्वल्पविषमभावेन, तथासत्युत्तरोत्तरेभ्यः पूर्वपूर्वेषां सूक्ष्मार्थत्वप्राप्तेः । यत उक्तम् (प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे)-' पूर्वः पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः, परः परस्तु परिमितविषयः ॥ ४६ ॥ सन्मात्रगोचरात् संग्रहान्नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः ॥ ४७ ॥ सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् बहुविषयः ॥ ४८ ॥ वर्तमानविषयादृजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयाऽवलम्बित्वादनल्पार्थः ॥ ४९ ॥ कालाऽऽदिभेदेन भिन्नार्थापदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थः ॥ ५० ॥ प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययानुया-यित्वात्प्रभूतविषयः ॥ ५१ ॥ प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात् समभिरूढस्तदन्यथाऽर्थस्थापकत्वाद् महागोचरः ॥ ५२ ॥ '' इति । एवं सदृजुसूत्राऽऽदेर्व्यवहारस्य बह्वर्थत्वेन सूक्ष्मार्थत्वं स्यादिति बहुविचारसहत्वं सूक्ष्मार्थत्वम्, अल्पविचारसहत्वं च स्थूलार्थत्वमित्यादिकं वा यथासमयं परिभाषणीयम् , इत्थं च निश्चयनया एवैतेषु शुद्धाः, व्यवहारनयाश्चाशुद्धा इति फलितम् । निश्चयत्वं च व्यवहारतदुपजीवनयान्यनयत्वं व्यवहारतदुपजीवितयाऽन्यतरत्वमिति विवेकः । ''अहवा सव्वणयमयं, विणिच्छओ इगमयं च ववहारो (विशे०)'' इति भाष्योक्तं पक्षान्तरं च निश्चयस्य सप्तभङ्ग्यादिविशेषिततयोपपादनीयम् । अयं च निश्चयव्यवहारयोः शुद्धाशुद्धत्वोपन्यासः स्वरूपतः; फलतः शुद्धतां त्वभियुक्ता च व्यवहारनये प्राहुर्न तु निश्चये ॥ ७४ ॥ नयो० । व्य० ॥

(२३) के पुनस्ते प्रभेदाः ? इत्याह-

इक्किक्को य सयविहो, सत्त नयसया हवंति एमेव ।
अन्नो वि य आएसो, पंचेव सया नयाणं तु ॥ २२६४ ॥

एतेषां मूलजातिभेदतः सप्तानां नैगमाऽऽदिनयानामेकैकः प्रभेदतः शतविधः शतभेदः । एवं च सर्वैरपि प्रभेदैः सप्त नयशतानि भवन्ति । अन्योऽपि चाऽऽदेशः प्रकारः, तेन पञ्च नयशतानि भवन्ति । शब्दाऽऽदिभिस्त्रिभिरपि नयैर्यदा एक एव शब्दनयो विवक्ष्यते तदा पञ्चैव मूलनया भवन्ति, एकैकस्य च शतविधत्वात्पञ्चशतविधत्वं नयानाम् । (अन्नो वि य त्ति) अपिशब्दात्षट्, चत्वारि, द्वे वा शते नयानाम् । तत्र यदा सामान्यग्राहिणो नैगमस्य संग्रहे, विशेषग्राहिणस्तु व्यवहारेऽन्तर्भावो विवक्ष्यते, तदा मूलनयानां षड्विधत्वादेकैकस्य च शतभेदत्वात्षट् शतानि नयानाम् ; यदा तु संग्रहव्यवहारऋजुसूत्रलक्षणास्त्रयोऽर्थनयाः विवक्ष्यन्ते, एकस्तु शब्दनयः पर्यायास्तिकस्तदा चत्वारो मूलनया भवन्ति, प्रत्येकं च शतभेदत्वाच्चत्वारि नयशतानि । यदा तु नैगमाऽऽदयश्चत्वारोऽप्येको द्रव्यास्तिकः, शब्दनयास्तु त्रयोऽप्येक एव पर्यायास्तिक इत्येवं द्वावेव नयौ विवक्ष्येते, तदा अनयोः प्रत्येकं शतभेदत्वाद्वे नयशते भवतः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २२६४ ॥

(२४) अथवा किमनेन स्तोकभेददर्शनेन ? उत्कृष्टतोऽसंख्याता अपि नया भवन्ति, तेऽपि चापिशब्दाद् द्रष्टव्या इति दर्शयन्नाह-

जावंतो वयणपहा, तावंतो वा नया विसट्ठाओ ।
ते चेव य परसमया, सम्मत्तं समुदिया सव्वे ॥ २२६५ ॥

' वा ' अथवा, यावन्तो वचनपथा वचनमार्गाः, वचनप्रकारास्तेऽपीहापिशब्दात्संगृहीताः । य एव च नयास्त एव च सावधारणाः सर्वेऽपि परसमयास्तीर्थिकसिद्धान्ताः, समुदितास्तु निरवधारणाः स्याच्छब्दलाञ्छिताः सर्वेऽपि नयाः सम्यक्त्वं जिनशासनभावं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । आह च स्तुतिकारः-'' उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः । न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ''॥ १ ॥ इति ॥ २२६५ ॥

एतदक्षममाणः परः प्राऽऽह-

न समेंति न य समेया, सम्मत्तं नेव वत्थुणो गमगा ।
वत्थुविघायाय नया, विरोहओ वेरिणो चेव ॥ २२६६ ॥

न समयन्ति न समुदायभावमापद्यन्ते नयाः, नाऽपि समेतास्ते सम्यक्त्वं भवन्ति, प्रत्येकावस्थायां मिथ्यादृष्टित्वात्, तत्समुदाये महामिथ्यात्वप्रसङ्गात् , प्रचुरविषलवसमुदाये विषप्राचुर्यवत् । नाऽपि ते समेता वस्तुनो गमकाः, प्रत्येकावस्थायां तदगमकत्वात् । समुदिताश्च ते विवदमानाः प्रत्युत वस्तुविघातायैव भवन्ति, न पुनस्तद्गमकाः । कुतः पुनस्ते न समयन्ति ? न च समुदिताः सम्यक्त्वं, नाऽपि वस्तुगमकाः ? इत्याह-विरोधित्वाद्वैरिवदिति ॥ २२६६ ॥

अत्रोत्तरमाह-

सव्वे समयंति सम्मं, चेगवसाओ नया विरुद्धा वि ।
मिच्चववहारिणो इव, राओदासीणवसवत्ती ॥ २२६७ ॥

परस्परविरुद्धा अपि नयाः सर्वेऽपि समयन्ति समुदिता जायन्ते, सर्वे च सम्यक्त्वं भवन्ति । कुतः ? इत्याह-एकस्य जिनसाधोर्वशवर्तित्वाद् , राजवशवर्तिनानाऽभिप्रायभृत्यवर्गवत् । अथवाव्यवहारिण इवोदासीनवशवर्तिनः । इदमुक्तं भवति-यथा नयदर्शिना आज्ञासारेण एकेन राज्ञा विरोधाऽऽदिभावमा-

पन्ना बहवोऽपि भृत्याः सम्यगुपायतो विरोधाऽऽदिकारणान्यपनीय एकत्र मील्यन्ते, सत्प्रवृत्तिं च कार्यन्ते; यथा वा धनधान्यभूम्याद्यर्थे परस्परं विवदमाना बहवोऽप्यर्थिप्रत्यर्थिलक्षणा व्यवहारिणः सम्यग् न्यायदर्शिना केनाऽप्युदासीनेन युक्तिभिर्विवादकारणान्यपनीय मील्यन्ते, सन्मार्गं च ग्राह्यन्ते, तथेहापि परस्परविरुद्धान्बहूनपि नयान् सम्यग्ज्ञानी जैनसाधुस्तेषां सावधारणतालक्षणं विरोधकारणमपनीय एकत्र मीलयति, सावधारणत्वे च मिथ्यात्वकारणेऽपनीते तान् सम्यग्रूपतां ग्राहयति । प्रचुरविषलवा अपि हि प्रौढमन्त्रवादिना निर्विषीकृत्य कुष्ठाऽऽदिरोगिणो दत्ता अमृतरूपतां प्रतिपद्यन्त एवेति ॥ २२६७ ॥

प्रत्येकावस्थायामेकैकांशग्राहित्वात्समुदिता अपि कथं ते वस्तुगमकाः ? इत्याह-

देसगमगत्तणाओ, गमग च्चिय वत्थुणो सुयाऽऽइ व्व ।
सव्वे समत्तगमगा, केवलमिव सम्मभावम्मि ॥ २२६८ ॥

इह नया वस्तुनस्तावत्सामान्येन गमका अवबोधकाः, प्रापका इति पक्षः, तद्देशगमकत्वात् । ननु वस्तुनो देशमात्रमेव प्रत्येकममी गृह्णन्ति, तत्कथं वस्तुगमका उच्यन्ते ? इत्याह-श्रुताऽऽदिवत् । इदमुक्तं भवति-घटाऽऽदीनां रूपमात्रमेव चक्षुर्गृह्णाति, न रसाऽऽदिधर्मान् ; पर्वताऽऽदीनां चार्वाग्देशमात्रमेव गृह्णाति,न परभागमिति । एवं देशग्राहकमपि सद्वस्तु गमयत्येव, एवं नया अपि । किञ्च-एत एव सर्वे नयाः मिथ्यात्वापगमेन सम्यक्त्वसद्भावे क्रमेण विशुद्ध्यमानाः सर्वाऽऽवरणप्रतिबन्धाभावात्समस्तवस्तुगमका भवन्ति, केवलज्ञानमिवेति ॥ २२६८ ॥

आह-ननु यदि ते प्रत्येकमपि वस्तुगमकाः, तर्हि मिथ्यादृष्टयः कथम् ? इत्याह-

जमणेगधम्मणो व-त्थुणो तदंसे च सव्वपडिवत्ती ।
अंध व्व गयावयवे, तो मिच्छद्दिट्ठिणो वीसुं ॥ २२६९ ॥

यद्यस्मादनेकधर्मस्यानेकधर्माऽऽत्मकस्य वस्तुनस्तदंशेऽपि गृहीतेऽनित्यत्वादेकधर्ममात्रेऽपि परिच्छिन्ने बौद्धाऽऽदेर्नयवादिनः '' समस्तं वस्तु मया गृहीतम् '' इत्येवंभूता प्रतिपत्तिर्भवति; ततस्तस्माद्विष्वक्पृथगेकैकशो मिथ्यादृष्टयः, विपर्यस्तबुद्धित्वात् , एकस्मिन्पुच्छपादाऽऽद्यवयवे समस्तगजप्रतिपत्तारोऽन्धा इवेति ॥ २२६९ ॥

समुदिता अपि तर्हि कथं ते सम्यग्दृष्टयः ? इत्याह-

जं पुण समत्तपज्जा-यवत्थुगमग त्ति समुदिया तेणं ।
सम्मत्तं चक्खुमओ, सव्वगयावयवगहणे व्व ॥ २२७० ॥

यस्मात् तु समुदिता नयाः समस्तपर्याया यस्य वस्तुनः तत्समस्तपर्यायं वस्तु, तस्य गमकाः प्रापकाः भवन्ति । तेन ते सम्यक्त्वं सम्यग्वादिनो व्यपदिश्यन्ते । यथा समस्तगजावयवग्रहणे सर्वगजावयवसमुदायाऽऽत्मकगजवादिनश्चक्षुष्मन्तः । निरवधारणोऽपरनयसापेक्षः स्यात्पदलाञ्छित एकोऽपि नथः सम्यग्वादी, ये तु सावधारणा अन्योन्यमनपेक्षाः स्यात्पदलाञ्छिताः ते बहवोऽपि समुदिता मिथ्यादृष्टय एवेतीह तात्पर्यम् । अत एव ये सावधारणास्ते बहवोऽपि समुदितव्यपदेशं न लभन्ते, तत्त्वतस्तेषामसमुदितत्वा-त् । निरवधारणास्तु नयाः पृथगपि स्थिताः परस्परं सापेक्षत्वेन समुदिता भण्यन्त इति ॥ २२७० ॥

दृष्टान्तान्तरेणाऽपि समुदितानां समस्तवस्तुगमकत्वं समर्थयन्नाह-

न समत्तवत्थुगमगा, वीसुं रयणाऽऽवलीऐं मणओ व्व ।
सहिया समत्तगमगा, मणओ रयणाऽऽवलीए व्व ॥ २२७१ ॥

न समस्तवस्तुगमकाः पृथग्भूता नयाः, परस्परनिरपेक्षत्वात् , पृथक्स्थितरत्नावलीव्यपदेशानर्हमणय इव । त एव समुदिताः समस्तवस्तुगमकाः, यथास्थानविनियोगेन परस्परसापेक्षत्वाद्, एकसूत्रक्रमप्रोतरत्नावलीमणय इवेति ॥ २२७१ ॥

अथ परस्परं विवदमानान्नयान्समीक्ष्य ये मुह्यन्ति, ' न किञ्चिदिह परस्परं मिलति ' इत्यादि भाषणतः समयाऽऽसातनां च कुर्वन्ति, तदुपदेशगर्भमुपसंहरन्नाह-

एवं सविसयसच्चे, परविसयपरंमुहत्तए नाउं ।
नेएसु न संमुज्झइ, न य समयाऽऽसायणं कुणइ ॥ २२७२ ॥

एवमुक्तप्रकारेण यो यस्य द्रव्यास्तिकायाऽऽदिनयस्याऽऽत्मीयो नित्यत्वाऽऽदिको विषयस्तन्मात्रप्रतिपादने सत्योऽवितथो नयः, परस्य तु पर्यास्तिकाऽऽदिनयस्य योऽनित्यत्वाऽऽदिको विषयस्तत्र पराङ्मुखः, न तं निराकरोति, निरवधारणत्वेन सम्यग्नयत्वात् , नाऽपि तं स्थापयति, नयत्वेनैकांशग्राहित्वादित्यर्थः । एवंभूतान् सर्वानपि नयान् ज्ञात्वाऽन्योऽन्यरूपतया तेषां स्वविषयप्रतिपादनेऽपि नयविधिज्ञः साधुर्ज्ञेयेषु वस्तुषु न संमुह्यति, न दोलायमानमानसो भवति । नाऽपि निन्दाऽऽदिभिः समयाऽऽशातनां विधाय मिथ्यात्वमुपगच्छति, किं तु ' कथञ्चिदेतदप्यस्ति, कथञ्चिदिद-मपि च घटते ' इत्यादिरूपतया नयान्विषयविभागेन व्यवस्थाप्य वस्त्वर्थं गमयतीति ॥ २२७२ ॥ विशे० । उत्त० । स्था० ।

(२५) वस्तुनिबन्धनाऽध्यवसायनिमित्तव्यवहारमूलकारणतामनयोः प्रतिपाद्याधुनाऽध्यारोपितानध्यारोपितनामस्थापनाद्रव्यभावनिबन्धनव्यवहारनिबन्धनतामनयोरेव प्रतिपादयन्नाहाऽऽचार्यः-

नामं ठवणा दविए, तिएसु दव्वट्ठियस्स निक्खेवो ।
भावो उ पज्जवट्ठिअ-परूवणा एस परमत्थो ॥ ६ ॥

(नामं ठवणेत्यादि) अस्याश्च समुदायार्थः-नामस्थापनाद्रव्यमित्येष द्रव्यार्थिकस्य निक्षेपः । भावस्तु पर्यायार्थिकनिरूपणाया निक्षेप इत्येव परमार्थः । सम्म० १ काण्ड । (नामाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने । नामस्थापनाद्रव्यभावनयानां स्वस्वस्थाने मतानि)

तदेवं नामाऽऽदिनयानां परस्परविप्रतिपत्तिमुपदर्श्य उपसंहारपूर्वकं मिथ्येतरभावं दर्शयितुमाह-

एवं विवयंति नया, मिच्छाऽभिनिवेसओ परोप्परओ ।
इयमिह सव्वनयमयं, जिणमयमणवज्जमच्चंतं ॥ ७२ ॥

एवमुक्तप्रकारेण परस्परतो मिथ्याभिनिवेशाद् विवदन्ते विवादं कुर्वन्ति नामनयाऽऽदयो नयाः । ततश्च मिथ्यादृष्टय एते, असंपूर्णार्थग्राहित्वात्, गजगात्रभिन्नदेशसंस्पर्शने बहुविधविवादमुखरजात्यन्धवृन्दवत् । यदि नामैते मिथ्यादृष्टयः, तर्हि निर्मिथ्यं किम् ? इत्याह-इदमिहैव लोके वर्त्तमानमनुभवप्रत्यक्षसिद्धं जिनमतं जैनाऽभ्युपगमरूपम् । कथंभूतम् ? सर्वनयमयं निःशेषनयसमूहाभ्युपगमनिर्वृत्तम् , अत्यन्तमनवद्यं नामाऽऽदिनयपरस्परोद्भाविताऽविद्यमाननिःशेष-

दोषम् , सम्पूर्णाऽर्थग्राहित्वात् , चक्षुष्मतां समन्तात् समस्तहस्ति-शरीरदर्शनोल्लापवत् ॥ इति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

तथा च सम्पूर्णाऽर्थग्रहरूपं जिनमतमेव दर्शयति-

नामाऽऽभेअसद्द-त्थबुद्धिपरिणामभावओ नियय ।
जं वत्थुमत्थि लोए, चउपज्जायं तयं सव्वं ॥ ७३ ॥

घटपटाऽऽदिकं यत् किमपि वस्त्वस्ति लोके, तत् सर्वं प्रत्येकमेव नियतं निश्चितं चत्वारः पर्याया नामाऽऽकारद्रव्यभावलक्षणा यत्र तच्चतुष्पर्यायम्; न पुनर्यथा नामाऽऽदिनयाः प्राहुः, यथा-केवल-नाममयं वा, केवलाऽऽकाररूपं वा, केवलद्रव्यताश्लिष्टं वा, केवल-भावाऽऽत्मकं वेति भावः । कुतश्चतुष्पर्यायमेव ? इत्याह-(नामादि-भेअ इत्यादि) नामाऽऽदिभेदेष्वेकत्वपरिणतिसंवलितनामाऽऽकारद्रव्यभावेष्वेवेत्यर्थः । शब्दश्चार्थश्च बुद्धिश्च शब्दार्थऽबुद्धय-स्तासां परिणामस्तस्य भावः सद्भावस्तस्मात् , नामाऽऽदिभेदेषु समुदितेष्वेव योऽयं शब्दाऽर्थबुद्धीनां परिणामसद्भावस्तस्माद्धेतोः सर्वं चतुष्पर्यायं वस्त्विति वाक्यार्थः । प्रयोगः-यत्र शब्दार्थबुद्धिपरिणामसद्भावः, तत् सर्वं चतुष्पर्यायम्, चतुष्पर्यायत्वाभावे शब्दाऽऽदिपरिणामभावोऽपि न दृष्टः, यथा शशशृङ्गे, तस्माच्छब्दाऽऽदिपरि-णामसद्भावे सर्वत्र चतुष्पर्यायत्वं निश्चितमिति भावः । इदमुक्तं भवति-अन्योऽन्यसंवलितनामाऽऽदिचतुष्टयाऽऽत्मन्येव वस्तुनि घटाऽऽदिशब्दस्य तदभिधायकत्वेन परिणतिर्दृष्टा, अर्थस्याऽपि पृथुबुध्नोदराऽऽद्याकारस्य नामाऽऽदिचतुष्टयाऽऽत्मकतयैव परि-णामः समुपलब्धः, बुद्धेरपि तदाकारग्रहणरूपतया परिणतिस्तदा-त्मन्येव वस्तुन्यवलोकिता । न चेदं दर्शनं भ्रान्तम् , बाधकाऽभावात् । नाऽप्यदृष्टाऽऽशङ्क्याऽनिष्टकल्पना युक्तिमती, अतिप्रसङ्गात् , न हि दिनकराऽस्तमयोदयोपलब्धरात्रिन्दिवाऽऽदिवस्तूनां बाधकसम्भावनयाऽन्यथात्वकल्पनासङ्गतिमावहति । न चेहाऽपि दर्शनाऽदर्शने विहायाऽन्यद् निश्चायकं प्रमाणमुपलमामहे, तस्मादेकत्वपरिणत्यापन्ननामाऽऽदिभेदेष्वेव शब्दाऽऽदिपरिणतिदर्शनात् सर्वं चतुष्पर्यायं वस्त्विति स्थितम् । इति गाथाऽर्थः ॥ ७३ ॥

आह-ननु यदि नामाऽऽदिचतुष्पर्यायं सर्वं वस्तु, तर्हि किं नामा-ऽऽदीनां भेदो नास्त्येव ? इत्याह-

इय सव्वभेअसंघा-यकारिणो भिन्नलक्खणा एते ।
उप्पाया इति जं पि व, धम्मा पइवत्थुमाउज्जा ॥ ७४ ॥

इत्येवं ये पूर्वं भिन्नलक्षणा भिन्नस्वरूपा धर्मा नामाऽऽदयः प्राक्तोः, ते प्रतिवस्त्वायोज्या आयोजनीया इति सम्बन्धः । कथम्भूताः सन्तः ? इत्याह-भेदश्च सङ्घातश्च भेदसङ्घातौ, सर्वस्य स्वाऽऽश्रय-भूतवस्तुनो भेदसङ्घातौ, तौ कर्त्तुं शीलं येषां ते सर्वभेदसङ्घातकारिणो, निजाऽऽश्रयस्य सर्वस्याऽपि वस्तुनः कथञ्चिद् भेदकारिणः, कथञ्चित्त्वभेदकारिण इत्यर्थः । तथाहि-केनचिदिन्द्र इत्युच्चरिते अन्यः प्राऽऽह-किमनेन नामेन्द्रो विवक्षितः, आहोस्वित् स्थापनेन्द्रः, द्रव्येन्द्रः, भावेन्द्रो वा ? नामेन्द्रोऽपि द्रव्यत किं गोपालदारकः, हालिकदारकः, क्षत्रियदारकः, ब्राह्मणदारकः, वैश्यदारकः, शूद्रदारको वा ? इत्यादि । तथा क्षेत्रतोऽपि नामेन्द्रः, किं भारतः, ऐरवतः, महाविदेहजो वा ? इत्यादि । कालतोऽपि किम-तीतकालसंभवी, वर्त्तमानकालभावी, भविष्यन् वा ? इत्यादि; अतीतकालभाव्यपि किमितोऽनन्ततम-समयभावी, असङ्ख्यात-तमसमयभावी, संख्याततमसमयभावी वा ? इत्यादि । भावतोऽपि किं कृष्णवर्णः, गौरवर्णः, दीर्घः, मन्थरो वा ? इत्यादि । तदेवमेको-ऽपि नामेन्द्रस्याऽऽश्रयभूतोऽर्थस्तावद् द्रव्य-क्षेत्रकालभावभेदाऽधिष्ठितोऽनन्तभेदत्वं प्रतिपद्यते । तथा स्थापना-द्रव्य-भावाऽऽश्रयस्याऽप्युक्ताऽनुसारतः प्रत्येकमनन्तभेदत्वमनुसरणीयम् । इत्येवमेते नामाऽऽदयो भेदकारिणः । अभेदकारिणस्तर्हि कथम् ? इति चेत् । उच्यते-यदैकस्मिन्नपि वस्तुनि नामाऽऽदय-श्चत्वारोऽपि प्रतीयन्ते, तदाऽभेदविधायिनः । तथाहि-एकस्मिन्नपि शचीपत्यादौ 'इन्द्र' इति नाम, तदाकारस्तु स्थापना, उत्तरावस्थाकारणत्वं तु द्रव्यत्वम् , दिव्यरूपसम्पत्तिकुलिशधारण-परमैश्वर्याऽऽदिसंपन्नत्वं तु भाव इति चतुष्टयमपि प्रतीयते । तस्मादेवं सर्वस्य स्वाऽऽश्रयभूतस्य वस्तुनो भेदसङ्घातकारिणो भिन्नलक्षणा एते नामाऽऽदयो धर्मा उत्पादव्ययध्रौव्यत्रिकवत् प्रतिवस्तु आयोजनीयाः पर-स्परा-ऽविनाभाविनः प्रतिवस्तु द्रष्टव्या इति तात्पर्यम् । इति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

''नत्थि नएहिंविहूणं, सुत्तं अत्थो अ जिणमए किंचि ।
आसज्जउ सोयारं, नएण य विसारओ बूया ''॥ १ ॥

इतिवचनाज्जिनमते सर्वं वस्तु प्रायो नयैर्विचार्यते,
अतो नामस्थापनाऽऽदीनपि प्रस्तुतान्
नयैर्विचारयन्नाह-

नामाऽऽइतियं दव्व-ट्ठियस्स भावो य पज्जवनयस्स ।
संगहववहारा पढ-मगस्स सेसा य इयरस्स ॥ ७५ ॥

एतेषु नामाऽऽदिषु मध्ये नामस्थापना-द्रव्यनिक्षेपत्रयं द्रव्यास्तिकनयस्यैवाऽभिमतं, न पर्यायास्तिकस्य, नामाऽऽदिनिक्षेपत्रयस्य विवक्षितभावशून्यत्वात् , पर्यायास्तिकस्य तु भावग्राहित्वादिति । भावो भावनिक्षेपः पुनः पर्यायास्तिकनयस्याऽभिमतो नेतरस्य, तस्य द्रव्यमात्रग्राहित्वेन भावाऽनवलम्बित्वादिति । आहननु नया नैगमाऽऽदयः प्रसिद्धाः, ततस्तैरेवाऽयं विचारो युज्यते, अथ तेऽत्रैव द्रव्य-पर्यायास्तिकनयद्वयेऽन्तर्भवन्ति, तर्ह्युच्यतां कस्य कस्मिन्नन्तर्भावः ? इत्याशङ्क्याऽऽह-(संगहेत्यादि) नैगमस्तावत् सामान्यग्राही संग्रहेऽन्तर्भवति, विशेषग्राही तु व्यवहारे, संग्रहव्यव-हारौ तु प्रस्तुतनयद्वयस्य मध्ये प्रथमकस्य द्रव्यास्तिकस्य मतम-भ्युपगच्छतः द्रव्यास्तिकमतेऽन्तर्भवत इति तात्पर्यम् । शेषास्तु ऋजुसूत्राऽऽदय इतरस्य द्वितीयस्य पर्यायास्तिकस्य मतमभ्युप-गच्छन्तोऽत्रैवाऽन्तर्भवन्तीति हृदयम् । आचार्यसिद्धसेनमतेन चेह ऋजुसूत्रस्य पर्यायास्तिकेऽन्तर्भावो दर्शितः, सिद्धान्ताऽभिप्रायेण तु संग्रहव्यवहारवद् ऋजुसूत्रस्याऽपि द्रव्यास्तिक एवान्तर्भावो द्रष्टव्यः । तथा चोक्तं सूत्रे-'' उज्जुसुयस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगं दव्वावस्सयं पुहत्तं नेच्छइ '' इति ।

(अस्याऽर्थः-ऋजुसूत्रस्यैकोऽनुपयुक्त आगमत एकं द्र- व्यावश्यकं पृथक्त्वं नेच्छति । अनुयोगद्वारसूत्रस्योऽयं पाठः । तट्टीका चेयम्- '' उज्जुसुयस्सेत्यादि '' ऋजु अतीताऽनागतपरकीयपरिहारेण प्राञ्जलं वस्तु सूत्रयत्यभ्युपच्छतीति ऋजुसूत्रः, अयं हि वर्तमानकालभाव्येव वस्तु अभ्युपगच्छति, नाऽतीतम्; विनष्टत्वात्; नाऽप्यनागतम्, अनुत्पन्नत्वात्; वर्तमानकालभाव्यपि स्वकीयमेव मन्यते, स्वकार्यसाधकत्वा-

त्, स्वधनवत् , परकीयं तु नेच्छति, स्वकार्याऽऽप्रसाधकत्वात् , परधनवत् । तस्मादेको देवदत्ताऽऽदिरनुयुक्तोऽस्य मते आगमत एकं द्रव्याऽऽवश्यकमिति । '' पुहत्तं नेच्छइ त्ति '' अतीताऽनागतभेदतः परकीयभेदतश्च पृथक्त्वं पार्थक्यं नेच्छत्यसौ, किं तर्हि ? वर्तमानकालीनं स्वकमेव चाऽभ्युपैति, तच्चैकमेवेति ।)

तदनेनाऽस्य द्रव्यवादित्वं दर्शितम् , इति कथं पर्यायास्तिकेऽन्तर्भावः स्यात् ? इति गाथाऽर्थः ॥ ७५ ॥

आह-ननु संग्रहाऽऽदिनया नामनिक्षेपं सर्वमप्येकत्वेनेच्छन्ति; भेदेन वा ? एवं स्थापनाऽऽदिनिक्षेपेष्वपि प्रत्येकं वक्तव्यम् , इत्याशङ्क्याऽऽह-

जं सामन्नग्गाही, संगिण्हइ तेण संगहो निययं ।
जेण विसेसग्गाही, ववहारो तो विसेसेइ ॥ ७६ ॥
सद्दुज्जुसुया पज्जा-यवायगा भावसंगहं वेंति ।
उवरिमया विवरीआ, भावं भिंदंति तो निययं ॥ ७७ ॥

यद् यस्मात् कारणात् संग्रहनयः सामान्यग्राही सामान्यवादी, तेन कारणेन संगृह्णात्येकत्वेनाऽध्यवस्यति प्रत्येकं त्रितयं नामस्थापनाद्रव्यनिक्षेपलक्षणं यानि कानिचिद् नाममङ्गलानि तत् सर्वमप्येकं नाममङ्गलम्, तथा स्थापनामङ्गलान्यशेषाण्यप्येकं स्थापनामङ्गलम् , एवं द्रव्यमङ्गलान्यपरिशिष्टान्यप्येकं द्रव्यमङ्गलमित्यर्थः । व्यवहारनयस्तु येन कारणेन विशेषग्राही, ततो नामाऽऽदिनिक्षेपान् विशेषयति भेदेनेच्छति नाममङ्गलानि सर्वाण्यपि पृथक् नाममङ्गलत्वेनेच्छति, एवं स्थापनाऽऽदिनिक्षेपेष्वपि वाच्य- म् ॥ ७६ ॥ (सद्दुज्जुसुयेत्यादि) शब्दर्जुसूत्रनयौ पुनः पर्यायैरेकार्थ-भिन्नाऽभिधानैर्वस्तु वक्तुं शीलं ययोस्तौ पर्यायवाचिनौ सन्तौ नाम-स्थापनाद्रव्यनिक्षेपपरिहारेणैकस्यैव भावस्य भावनिक्षेपस्य संगृ-हीतिः संग्रहोऽभिन्नत्वमेकत्वं भावसंग्रहस्तं ब्रूतः प्रतिपादयतः । इदमुक्तं भवति-ऋजुसूत्रशब्दनयौ पूर्वनयेभ्यो विशुद्धत्वाद् नाम-स्थापनाद्रव्यनिक्षेपं तावद् नेच्छतः, किन्त्वेकमेव भावनिक्षेपमभ्युपग-च्छतः, केवलं समभिरूढैवंभूतनयाऽपेक्षयाऽविशुद्धत्वाद् विभिन्नाऽनेकपर्यायाऽभिधेयत्वेऽपि भावनिक्षेपस्य संग्रहमेकत्वमेव प्रतिपद्यते, न भिन्नत्वमिति भावः । ततश्चैतन्मतेन यदेव मङ्गलशब्दवाच्यं भावमङ्गलं प्रत्यूहोपशमकाऽनिष्टविघातकृद् विघ्नापहरणाऽऽदि-शब्दानामपि तदेव वाच्यम् , न भिन्नम् , इति तात्पर्यम् । (उवरिमया विवरीआ इत्यादि) उपरितनौ तु समभिरूढैवंभूतौ नयौ ऋजुसूत्र-शब्दनयाऽपेक्षया विपरीतौ भिन्नाऽनेकपर्यायाऽभिधेयस्य भावस्यैकत्वं नेच्छतः, किन्तु भिन्नत्वमभ्युपगच्छतः । तथाहि-समभिरूढ-मतेनाऽन्यदेव मङ्गलशब्दवाच्यं भावमङ्गलम् , अन्यच्च प्रत्येकं प्रत्यूहोपशकाऽऽदिपर्यायवाच्यम् । एवम्भूतस्याऽप्येवमेव, केवलमयं पूर्वस्माद् विशुद्धत्वादेकपर्यायाभिधेयमपि भावमङ्गलं भावमङ्गल-कार्यं कुर्वदेव मन्यते, नाऽन्यदा, यथा धर्मोपकरणाऽन्वितः सम्यक् चारित्रोपयोगे वर्त्तमानः साधुरिति । तदेवमृजुसूत्रशब्दनयाऽभ्युपगमापेक्षया विपरीताऽभ्युपगमपरत्वाद् विपरीतावेतौ (तो त्ति) तस्माद् भावं भावमङ्गलाऽऽदिकमर्थं नियतं निश्चितं पर्यायभेदाद् भिन्तः-भेदेनेच्छत इत्यर्थः । यदि हि पर्यायभेदेऽपि वस्तुनो न भेदः, तर्हि घटपटऽऽदीनामपि स न स्यादित्यादियुक्तेः पर्यायभेदेन भिन्नमेव भावमङ्गलमभ्युपगच्छत इति भावः । इति गाथाद्वयाऽर्थ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ विशे० ।

(२६) परस्परं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ-

तत्क्षणक्षयप्रधाने प्रत्यक्षाऽऽदेः प्रमाणस्थानवताराद्बाधकत्वेन च तस्यैकत्वाध्यवसायिनः प्रवृत्तिप्रतिपादनाद् न पर्यायास्तिकाभिमतपूर्वापरक्षणविविक्तमध्यक्षणमात्रं वस्तु, किं त्वतीताऽनागतपर्यायाऽऽधारमेकं द्रव्यं वस्त्विति द्रव्यार्थिकनिक्षेपः सिद्धः, द्रव्यं वा न भूतपर्यायमनुभविष्यत्, पर्यायं चैकमेव, तेनाऽनुभूतपर्यायशब्देन तत्कदाचिदभिधीयते, कदाचिच्चानुभविष्यत्पर्यायशब्देन, यथाऽतीतघृतसंबन्धो घटो घृतघट इत्यभिधीयते; भविष्यत्तत्सं-बन्धोऽपि तथैवाभिधानगोचरचारी, शुद्धतरपर्यायास्तिकेन च नि-राकारस्य ज्ञानस्याऽर्थग्राहकत्वाऽसंभवात् , साकारस्य ज्ञानार्थ-ग्राहकत्वासंभवात् साकारं ज्ञानमभ्युपगतं, तत्संवेदनमेव वाऽर्थ-संवेदनं ज्ञानाऽनुभवव्यतिरेकेणाऽपरस्याऽर्थानुभवस्याभावाद् घटोपयोग एव घटः, तन्मतेन तत्पर्यायेणाऽतीतेन परिणश्यद्वा द्रव्यं तच्छब्दवाच्यं द्रव्यार्थिकमतेन व्यवस्थितं पूर्ववत् , अत एव घटाऽऽद्यर्थाभिज्ञस्तत्र चानुपयुक्तो द्रव्यमिति प्रतिपादितो द्रव्यार्थिकनिक्षेपश्च, द्रव्यमागमे वाच्यमनेकधा प्रतिपादितम्, इह तु युक्तिसंस्पर्शमात्रमेवप्रदर्श्यते । तदर्थत्वात्प्रयासस्य । भवति विवक्षितवर्तमान-समयपर्यायरूपेणोत्पद्यत इति भावः '' विभाषा ग्रहः '' ॥ ३ । १ । १४३ ॥ (पाणि०) इत्यत्र सूत्रे केचिद्भवतेश्चेत्यपीष्यते । अथवा-भूतिर्भावो वज्रकिरीटाऽऽदिधारणवर्त्तमानपर्यायेण इन्द्राऽऽदिरूपतया वस्तुनो भवनं, तद्ग्रहणपर्यायेण वा ज्ञानस्य भवनं, यथा चायं पर्यायार्थिकप्ररूपणा तथा प्रदर्शित एव प्राक्, न पुनरुच्यते । एष एव नयनिक्षेपानुयोगः प्रतिपादितः, उभयप्रविभागः परमार्थः, परमं हृदयमागमस्यैतदव्यतिरिक्तविषयत्वात्सर्वनयवादानाम्, न हि शास्त्रपरमहृदयनयव्यतिरिक्तः कश्चिन्नयो विद्यते । सामान्यविशेषस्वरूपविषयद्वयव्यतिरिक्तविषयोऽन्तराभावाद्विषयिणोऽप्यपरस्य नयान्तरस्याऽभाव इति प्राक् प्रतिपादितम् ।

एतदपि नयद्वयं शास्त्रस्य परमहृदयम्-द्रव्यं पर्यायाशून्यं, पर्यायाश्च द्रव्याविरहिण इत्येवंभूतार्थप्रतिपादनपरम् , नाऽन्यथेत्येतस्याऽर्थस्य प्रदर्शनार्थमाह-

पज्जवनिस्सामण्णं, वयणं दव्वट्ठियस्स अत्थि त्ति ।
अवसेसो वयणविही, पज्जवभयणा सपडिवक्खो ॥ ७ ॥

परस्परनिक्षेपस्य नयद्वयस्य प्रत्येकमेवं वचनविधिः-द्रव्यास्तिकस्यानुषक्तविशेषं वचनमस्तीत्येतायन्मात्रं पर्यायास्तिकस्य स्वपरामृष्टसत्तास्वभावं द्रव्यं पृथिवी घटः शुक्ल इत्याद्याश्रितपर्यायं परस्परनिरपेक्षं चोभयनयवचोऽसदेव, वचनार्थासत्त्वाद्वचनमसदर्थमिति तदर्थस्याऽप्यसत्त्वमावेदितं भवतीति समुदायार्थः ।

अवयवार्थस्तु-पर्यायनयेन सह निःसामान्यमसाधारणं वचनं द्रव्यास्तिकस्याऽस्तीत्येतद् भेदवाद्यभ्युपगतस्य, विशेषस्य त्वनुरूपानुप्रवेशात् , एतच्च वचो निर्विषयं निर्विशेषत्वाद् विवत्कुसुमाऽभिधानवत् । '' निर्विशेषं सामान्यं, भवेत् शशविषाणवत् । '' इति प्रसाधितत्वात् नाव्यासिः, हेतोरसिद्धिः पराऽभ्युपगमादेव परिहृता । तन्न । एकान्तभावनाप्रवृत्तस्य द्रव्यास्तिकनयस्य परमार्थिता, पर्यायास्तिकस्याऽप्येवंप्रवृत्तस्य न सेति

पश्चार्द्धेन प्रतिपादयति-अवशेष इति शेषः, स चोपयुक्तादन्यः; वचनविधिर्वचनभेदः सत्ताविकलविशेषप्रतिपादकः; पर्यायेषु सत्ताव्यतिरिक्तेष्वसत्सुभजनात् सत्ताया आरोपणात् , सत्प्रतिपक्ष इति-सतः प्रतिपक्षो विरोध्यसन् भवति ॥ तथाहि-प्रतिपादको वचनविधिरवस्तुविषयो, निःसामान्यत्वात् , खपुष्पवत् । भावना तु द्रव्यार्थिकवचनविपर्ययेण प्रयोगस्य कार्या । अथवा-अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया इत्यनयोः स्वरूपमभिधायाभिधानस्य द्रव्यास्तिकस्वरूपस्य तदभिधायकस्य प्रतिपादनार्थमाह-(पज्जवणिस्सामण्णमित्यादि) पर्यायान्निष्क्रान्तं तद्विकलं, सामान्यं संग्रहस्वरूपं यस्मिन् वचने तत्पर्यायानिःसामान्यं वचनम् । किं पुनस्तदित्याह-अस्तीति, तच्च द्रव्यार्थिकस्य रूपं, प्रतिपादकं वा। यद्वा-पर्यायऋजुसूत्रनयविषयादन्यो द्रव्यत्वाऽऽदिविशेषः, स एव च निश्चितं सामन्यं वचन, द्रव्यत्वाऽऽदिसामान्यविशेषा-ऽभिधायीति यावत् । तच्चाशुद्धद्रव्यार्थिकसंबन्धि, तत्प्रतिपाद-कत्वेन तत्स्वरूपत्वेन वा अवशेषो वचनविधिर्वर्णपद्धतिः, स प्रतिपक्षोऽस्य वचनस्य पर्यायार्थिकनयरूपः, तत्प्रतिपादको वा पर्यायमेव, अन्यथा कथमवशेषवचनविधिः स्यात् , यदि विशेषं नाऽश्रयेत् ?

एवं तायद् द्रव्यार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्यानेकान्तभावाभावतयैवेषां सत्यता नास्त्येतत्प्रतिपादनार्थं ज्ञानानेकान्तमेव तावदाह-

पज्जवणयवोक्कंतं, वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं ।
जाव दविओवओगो, अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ॥ ८ ॥

द्रव्यास्तिकस्य वक्तव्यं परिच्छेद्यो विषयो, निश्चयकर्तृवचनं च विकल्पनिर्वचनं, विद्यते पश्चिमं यस्मिन् विकल्पनिर्वचने तत्तथा, ततः परं विकल्पवचनाप्रवृत्तेः, यावदपश्चिमविकल्पनिर्वचनो द्रव्यो-पयोगः प्रवर्तते, तावद् द्रव्यार्थिकस्य विषयो वस्तुतत्त्वपर्यायाऽऽ-क्रान्तमेव । अन्यथा ज्ञानार्थयोरप्रतिपत्तेरसत्त्वप्रसक्तिः । न हि पर्यायानाक्रान्तसत्तामात्रसद्भावग्राहकं प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रमाणमस्ति, द्रव्याऽऽदिपर्यायाऽऽक्रान्तस्यैव सर्वदा सत्तारूपस्य ताभ्यामवगतेः। यद्वा-यद्वस्तु सूक्ष्मतरतमाऽऽदिबुद्धिना पर्यायनयेन स्थूलरूपत्यागेनोत्तरतत्तत्सूक्ष्मरूपाऽऽश्रयणाद् व्युत्क्रान्तं गृहीतत्यक्तम् , यथा किमिदंभूतसामान्यं घटाऽऽदिभिर्विना प्रतिपत्तिविषयः, तावत् शुक्लतमरूपस्वरूपोऽन्यो विशेष एव, न द्रव्यार्थिकस्य वस्तुविषयो, यतो यावदपश्चिमविकल्प-निर्वचनोऽन्यो विशेषस्तावद् द्रव्योपयोगो द्रव्यज्ञानं प्रवर्तते । न हि द्रव्याऽऽदयो विशेषान्ताः सदादिप्रत्यया विशिष्टैकान्तव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यतया प्रतीयन्ते, तथाऽप्रतीयनास्तथाऽभ्युपगमार्हाः, अतिप्रसङ्गात् ।

तदेवं न सत्ता विशेषविरहिणी, नाऽपि विशेषाः सत्ताविकला इति प्रदर्श्योपसंहरन्नाह-

दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा, नत्थि णओ नियम सुद्धजाईओ ।
न य पज्जवट्ठिओ णा-म को य भयणाय उ विसेसो ॥ ९ ॥

तस्माद् द्रव्यार्थिक इति नयः शुद्धजातीयो विशेषविनिर्मुक्तो नास्ति नियमेनेत्यवधारणार्थः, विषयाभावेन विषयिणोऽप्याभावात् । न च पर्यायार्थिकोऽपि कश्चिन्नयो नामेति प्रसिद्धार्थो नियमेन शुद्धस्वरूपः संभवति, सामान्यविकलात्यन्तव्यावृत्तविशेषविषयाभावेन विषयिणोऽप्यभावात् । यदि विषयाभावादिमौ नयौ न स्तः, यदुक्तम्- ' तीर्थकरवचनसंग्रह ' इत्यादि, तद्विरुध्यते इत्याह-(भयणाय उ विसेसो त्ति) भजनायास्तु विवक्षाया एव विशेष इदं द्रव्यमयं पर्याय इत्ययं भेदः, तथा तद्भेदाद्विषयिणोऽपि तथैव भेद इत्यभिप्रायः । भजना च सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुतत्त्वे उपसर्जनीकृतविशेषं यदन्वयिरूपं तद्द्रव्यम् इति विवक्ष्यति यदा तदा द्रव्यार्थिकविषयः, यदा तूपसर्जनीकृतान्वयिरूपं तस्यैव वस्तुनो यदसाधारणं रूपं तद्विवक्ष्यते तदा पर्यायनयविषयस्तद्- भवतीति।

एवंरूपभजनाकृतमेव भेदं दर्शयितुमाह-

दव्वट्ठियवत्तव्वं, अवत्थु णियमेण होइ पज्जाए ।
तह पज्जव वत्थु अव-त्थुमेव दव्वट्ठियनयस्स ॥ १० ॥

पर्यायास्तिकस्य द्रव्यास्तिकाभिधेयमस्तित्वमवस्त्वेव, भेदरूपापन्नत्वात् , द्रव्यास्तिकस्याऽपि पर्यायास्तिकाभ्युपगता भेदा अवस्तुरूपा एव भवन्ति, सत्तारूपाऽऽपन्नत्वात् । अतो भजनामन्तरेणैकत्र सत्ताया अपरत्र भेदानां नष्टत्वादिदं द्रव्यमेते च पर्याया इति नास्ति भेदः । न च प्रतिभासमानयोर्द्रव्यपर्याययोः कथं पर्यायास्तिकद्रव्यास्तिकाभ्यां प्रतिवक्तव्यम् ? यतः प्रतिभासोऽप्रतिभासस्य बाधकः, न तु मिथ्यात्वस्य, मिथ्यारूपस्यापि प्रतिभासनात्। तथाहि-पर्यायास्तिकः प्राऽऽह-न मया द्रव्यप्रतिभासो निषिध्यते, तस्याऽनुभूयमानत्वात् , किं तु विशेषव्यतिरेकेण द्रव्यस्याप्रतिभासनाद्व्यतिरेके तु व्यक्तिस्वरूपवत्तस्यानन्वयात् , उभयरूपतायाश्चैकत्र विरोधाऽऽदिगत्यन्ताभावाद् द्रव्याऽप्रतिभासस्तत्र मिथ्यैव, विशेषप्रतिभासस्त्वन्यथा, बाधकाभावात् , यतः प्रतिक्षणं वस्तुनो वृत्तेर्नाशोत्पादौ पर्यायलक्षणं न स्थितिः । द्रव्यार्थिकस्तु भजनोत्थापितास्वरूपः प्राऽऽह-अस्माकमप्ययमेवाभ्युपगमः, न विशेषप्रतिभासप्रतिक्षेपः, किं तु तस्य भेदोभयविकल्पैर्बाध्यमानत्वाद् मिथ्यारूपतैव, अभेदप्रतिभासस्त्वनुत्पादव्ययलक्षणस्य द्रव्यत-द्विषयसर्वदाऽवस्थितेरबाध्यमानत्वात् सत्य इति कल्पना ।

व्यवस्थापितपर्यायास्तिकद्रव्यास्तिकयोरेवंलक्षणप्रदर्शितस्वरूपयोर्मिथ्यारूपताप्रतिपत्तिः सुकरा भविष्यतीत्याह-

उप्पज्जंति वयंति अ, भावा नियमेण पज्जवणयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥ ११ ॥

उत्पद्यन्ते प्रागभूत्वा भवन्ति, विशेषेण निरन्वयरूपतया व्रजन्ति गच्छन्ति नाशमनुभवन्ति भावाः पदार्था नियमेन इति अवधारणे । पर्यायनयस्य मतेन प्रतिक्षणमुत्पादविनाशस्वभावा एव भावाः पर्यायस्याऽभिमताः, द्रव्यार्थिकस्य सर्वं वस्तु सदाऽनुत्पन्नमविनष्टम् , आकालं स्थितिस्वभावमेवेति मतम् । एतच्च नयद्वयस्याऽभिमतवस्तुकस्य सर्वं वस्तु सदाऽनुत्पन्नमिति प्राक् प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते।

परस्परनिरपेक्षे च उभयनयप्रदर्शितं वस्तु प्रमाणाभावतो न संभवतीत्याह-

दव्वं पज्जवविजुयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ॥ १२ ॥

द्रव्यं पर्यायविमुक्तं नास्ति, मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलाऽऽद्यनुगतमृत्सामान्यप्रतीतेः। द्रव्यविरहिताश्च पर्याया न सन्ति, अनुगतैकाऽऽकारमृत्सामान्यात् तु विरुद्धतया मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलाऽऽदीनां विशेषाणां प्रतिपत्तेः । अतो द्रव्यार्थिकाभिमतं वस्तु पर्यायाऽऽक्रान्तमेव, न तद्विविक्तं पर्यायाऽभिमतमपि द्रव्यार्थानुषक्तं तद्विकलं, परस्परविविक्तयोः कदाचिदप्यप्रतिभासनात् । किं-

भूतं पुनर्द्रव्यमस्ति ? इत्याह-उत्पादस्थितिभङ्गा यथा व्यावर्णितस्वरूपाः परस्पराविनिर्भागवर्तिनः, हन्दीत्युपप्रदर्शने । द्रव्यलक्षणं द्रव्यास्तित्वव्यवस्थापको धर्म एव दृश्यताम् , यतः पूर्वोत्तरपर्यायपरित्यागोत्पादाऽऽत्मकैका स्वयं प्रतिपत्तिः तथाभूतद्रव्यसत्त्वं प्रतिपादयतीति उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्। एतच्च त्रितयं परस्परानुबिद्धम् , अन्यतमाभावे तदितरयोरप्यभावात्। सम्म० १ काण्ड।

(२७) एते च परस्परसव्यपेक्षा द्रव्यलक्षणं च स्वतन्त्रा इति प्रदर्शनायाऽऽह-

एए पुण संगहओ, पाडिक्कमलक्खणं दुविण्हं पि ।
तम्हा मिच्छदिट्ठी, पत्तेयं दो वि मूलणया ॥ १३ ॥

एते उत्पादादयः संग्रहतः शिविकोद्वाहिपुरुषा इव परस्परस्वरूपोपादानेनैव लक्षणं, प्रत्येकमेकका उत्पादादयो द्वयोरपि द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकयोरलक्षणम्, उक्तवत्तथाभूततद्विषयाभावे तद्ग्राहकयोरपि तथाभूतयोरभावात्, उत्पादादीनां च परस्परविविक्तरूपाणामसंभवात् । तस्मान्मिथ्यादृष्टी एव प्रत्येकं परस्परविविक्तौ द्वावप्येतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकस्वरूपौ मूलनयौ समस्तनयराशिकारणभूतस्योत्पादे ।

तद्भवतु परस्परनिरपेक्षयोर्मिथ्यात्वम् , उभयनयाऽऽश्रयस्त्वेकः सम्यग्दृष्टिर्भविष्यतीत्याह-

ण य तईओ अत्थि णओ, ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपण्णं ।
जेण दुवे एगंता, विभज्जमाणा अणेगंता ॥ १४ ॥

न च तृतीयः परस्परसापेक्षोभयथाऽस्ति नयः कश्चित् , तथाभूतार्थस्यानेकान्ताऽऽत्मकत्वात्तदग्राहिणः प्रत्ययस्य नयाऽऽत्मकत्वानुपपत्तेः । न च सम्यक्त्वं न तयोः प्रतिपूर्णम् , प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थविगतेः, अशेषं हि प्रामाण्यं सापेक्षं गृह्यमाणयोरेव विषययोर्व्यवस्थितम्, येन द्वावप्येकान्तरूपतया व्यवस्थितौ मिथ्यात्वनिबन्धनतत्परित्यागेनान्वयव्यतिरेकौ विशेषेण परस्परात्यागरूपे-ण भज्यमानौ गृह्यमाणावनेकान्तौ भवत इति सम्यक्त्वहेतुत्वमेत-योरिति । एवं सापेक्षद्वयग्राहिणो नयत्वानुपपत्तेस्तृतीयनयाभावः ।

प्रदर्शितनिरपेक्षग्राहिणा तु मिथ्यात्वं दर्शयितुमाह-

जह एए तह अण्णे, पत्तेयं दुण्णया णया अन्ने ।
हंदि हु मूलणयाणं, पण्णवणा वावडा ते वि ॥ १५ ॥

यथैतौ निरपेक्षद्वयग्राहिणौ मूलनयौ मिथ्यादृष्टी, तथा उभयवाद-रूपेण व्यवस्थितानामपि परस्परनिरपेक्षत्वस्य मिथ्यात्वनिबन्धनस्य तुल्यत्वात् प्रत्येकमितरानपेक्षा अन्येऽपि दुर्नयाः । न च प्रकृतनयद्वयव्यतिरिक्तनयान्तराऽऽश्रयत्वादुभयवादस्य नयानामपि वैचित्र्यादन्यत्राऽऽरोपयितुमशक्यत्वात् तद्रूपस्यान्ये सम्यक् प्रत्य-या भविष्यन्तीति वक्तव्यम् , यतः हन्दीत्येवं गृह्यताम, हुरिति हेतौ, मूलनयद्वयपरिच्छिन्नवस्तुनि ये व्यापृतास्तेऽपि तद्विषयव्यतिरिक्तविषयान्तराऽभावात् सर्वनयवादानां च सामान्यविशेषोभयैकान्तविषयत्वात् तन्न नयान्तरसद्भावः, यतस्तदारब्धोभयवादे नयान्तरं भवेत्।

ननु संग्रहाऽऽदिनयसद्भावात् कथं तद्व्यक्तिनयान्तराभावः ? सत्यम् । सन्ति संग्रहाऽऽदयः, किं तु तद्विषयव्यतिरिक्तविषयान्त-राभावतस्तद्वितविषयास्तेऽपि तद्दूषणेनैव दूषिता यतो न मूलच्छेदे तच्छाखास्तदवस्थाः संभवन्तीत्याह-

सव्वणयसमूहम्मि वि, णत्थि णओ उभयवायपण्णवओ ।
मूलणयाण उ आणं, पत्तेयविसेसियं विंति ॥ १६ ॥

संग्रहाऽऽदिसकलनयसमूहेऽपि नास्ति कश्चिन्नय उभयवादप्ररू-पकः, यतो मूलनयाभ्यामेव यत् प्रतिज्ञातं वस्तु तदेवाऽऽश्रित्य प्रत्येकरूपाः संग्रहाऽऽदयः पूर्वपूर्वनयाधिगतांशविशिष्टमंशान्तरमधिगच्छन्तीति न विषयान्तरगोचरः ।

अतोऽवस्थितं परस्परात्यागप्रवृत्तसामान्यविशेषविषयसंग्रहाऽऽद्यात्मकनयद्वयद्वयाधिगमाऽऽत्मकत्वात् वस्त्वप्युभयाऽऽत्मकं न केवलं बाह्यघटाऽऽदि वस्तु उभयात्मकं, तथाविधप्रमाणग्राह्यत्वात् किन्त्वान्तरमपि, हर्षशोकभयकरुणौदासीन्याऽऽद्यनेकाऽऽकारविवर्ताऽऽत्मकैकचेतनास्वरूपं तदात्मकहर्षाऽऽद्यनेकविकाराऽनेकाऽऽत्मकं च स्वसंवेदाध्यक्षप्रतीतं, तस्य भेदैकान्तैकरूपताऽभ्युपगमे दृष्टाऽदृष्टविषयसुखदुःखसाधनस्वीकारत्यागार्थप्रवृत्तिनिवृत्तिस्वरूपसकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरिति प्रतिपादयितुमाह-

ण य दव्वट्ठियपक्खे, संसारो णेव पज्जवणयस्स ।
सासयवियत्तिवाई, जम्हा उच्छेअवाईआ ॥ १७ ॥

द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयाऽभिमते वस्तुनि न संसारः संभव-ति, शाश्वतव्यक्तिप्रतिक्षणान्यत्वैकान्ताऽऽत्मकचैतन्यग्राहकविषयीकृतत्वात्, पावकज्ञानविषयीकृते उदकवत्। तथाहि-संसारः संसृतिः, सा चैकान्तनित्यस्य पूर्वावस्थापरित्यागे सति न संभवति; तत्परित्यागेनैव गतेर्भवान्तराऽऽपत्तेर्वा संसृतेः संभवात्। नाऽप्यु-च्छेदे उत्पत्त्यनन्तरनिरन्वयध्वंसलक्षणे संसृतिः संभवति, गतेर्भावान्तरापत्तेर्वा कथञ्चिदन्वयिरूपमन्तरेणायोगात् । अथैकस्य पूर्वापरशरीराभ्यां वियोगयोगगौ संसारः, असावपि सदाऽविकारिणि न संभवति, नित्यस्य पूर्वाऽपरशरीराभ्यां वियोगयोगाऽनुपपत्तेः । निरन्वयक्षणध्वंसिनोऽप्येकाधिकरणत्वाऽसंभवान्न तल्लक्षणः संसारः, न चाऽमूर्तस्याऽऽत्मनः सर्वगतैकमनोऽभिष्वक्तशरीरेण विशिष्टयोगयोगौ संसारो, मनसोऽकर्तृकत्वेन शरीरसंबन्धस्याऽनुपपत्तेः । यो ह्यदृष्टस्य विधाता स तन्निर्वर्तितशरीरेण सह संबध्यते, न चैवं मनः । न च मनसः शरीरसंबन्धेऽपि तत्कृतसुखदुःखोपभो-क्तृत्वमात्मनि तस्याऽपगमात्, तदर्थं च शरीरसंबन्धोऽभ्युपगम्यत इति तत्संबन्धपरिकल्पनं मनसोव्यर्थम्, मनसि सुखदुःखोपभो-क्तृत्वाभ्युपगमे वा आत्मनः कल्पनावैयर्थ्यम्, मनस आत्मसि-द्धेः ॥ १७ ॥

सुहदुक्खसंपओगो, ण जुज्जई णिच्चवायपक्खम्मि ।
एगंतच्छेयम्मि वि, सुहदुक्खवियप्पणमजुत्तं ॥ १८ ॥

सुखेनाऽबाधस्वरूपेण, दुःखेन बाधनालक्षणेनं, संप्रयोगः संब-न्धो, न युज्यते न घटते आत्मनः नित्यवादपक्षे द्रव्यास्तिकाभ्यु-पगमे सुखस्वभावस्याऽविचलितरूपत्वात् सदा सुखरूपतैवाऽऽ-त्मनो न दुःखसंप्रयोगः, दुःखस्वभावत्वे तद्रूपतैव, तत्त्वादेव, एका-न्तोच्छेदे च पर्यायास्तिकपक्षे सुखदुःखसंप्रयोगो न युज्यत इति संबन्धः । तथा पक्षद्वयेऽपि सुखार्थं दुःखवियोगार्थं च विशिष्टनयनं कल्पतेरन्न यतनार्थत्वात्, अयुक्तमघटमानकं सुखदुःखोपादानत्यागार्थप्रयत्नस्याप्ययुक्तत्वम् , उक्तन्यायात् । संसरति निरुपभोगभावैरधिवासितं लिङ्गमिति साङ्ख्यमतमपि निरस्तम्, न्यायस्य सर्वैकान्तसाधारणत्वात्।

एकान्तपक्षे आत्मसुखदुःखोपभोगनिर्वर्तकशरीरसंबन्धहेत्वदृष्टोत्पादकनिमित्तानामप्यसंभवं दर्शयन्नाह-

कम्मं जोगनिमित्तं, वज्झइ बंधट्ठिई कसायवसा।
अपरिणउच्छिण्णेसु य, बंधट्ठिइकारणं णत्थि॥ १९॥

कर्म्मादृष्टं योगनिमित्तं मनोवाक्कायव्यापारनिमित्तं, बध्यते आदीयते, बध्यत इति बन्धोऽदृष्टमेव, तस्य स्थितिः कालान्तरफलदातृत्वेनाऽऽत्मन्यवस्थानम्, सा कषायवशात्क्रोधाऽऽदिसामर्थ्यात्। एतदुभयमप्येकान्तवाद्यभ्युपगत आत्मचैतन्यलक्षणे भावे अपरिणते उत्सन्ने च बन्धस्थितिकारणम्, नास्ति। न ह्यपरिणामिन्यत्यन्तानाधेयातिशये आत्मनि क्रोधाऽऽदयः संभवन्ति। नाऽप्येकान्तोत्सन्नेऽनुसन्धानविकले अहमनेनाक्रुष्ट इति द्वेषसंभवः। तथा चाऽन्य आक्रुष्टोऽन्यो व्यापृतोऽपरो बद्धोऽपरश्च मुक्त इति कुशलाऽकुशलकर्मगोचरप्रवृत्याद्यारम्भवैफल्यशक्तिः, न ह्येकसन्ततिनिमित्तोऽयं व्यवहारः, क्षणिकैकान्तपक्षे सन्ततिकल्पनाबीजभूतोपादानोपादेयभावस्यैवाऽघटमानत्वात्। न चेयमनुसन्धानप्रतिपत्तिः, मिथ्याद्वेषगर्वशाठ्यासन्तोषाऽऽदीनामन्योन्यविरुद्धस्वभावानां क्रमवर्तिनां चिद्विवर्तानां स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धानां तथा तथाऽनुभवितुश्च संशयविपर्यासादृढज्ञाना गोचरीकृतस्यैकस्य चैतस्यानुभवात्। न च बाधारहितानुभवविषयस्यापह्नवः, सुखाऽऽदेरप्यनुभवविषयस्यापह्नुतिप्रसङ्गात्। तथा च प्रमाणप्रमेयाऽऽदिव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। यदपि मिथ्याऽध्यारोपाहानार्थं यत्ने सत्यपि नोक्तरीत्युक्तं, तदप्यनेनैव प्रतिविहितम्, यथोक्तप्रतिपत्तेर्मिथ्यात्वासिद्धेः। न चाऽनुमाननिश्चितेऽर्थे आरोपबुद्धेरुत्पत्तिर्धूमनिश्चया-वगतधूमध्वज इव। न च मिथ्याज्ञानस्य सहजत्वाविपरीतार्थोप-स्थापकानुमानप्रवृत्तिः, तथाऽभ्युपगमे बोधसन्तानवर्त्तस्य सर्वदा-ऽनिवृत्तिरित्यनुमितिप्रसक्तिः, असहजं तु तत्त्वज्ञानप्रादुर्भावोऽवश्यं निवर्तते शुक्तिकावगमे रजतभ्रम इव, अनिवृतौ वा न प्रमाणबाधकं भवेत्। न च क्षणक्षयनिश्चये स एवाऽहमितिप्रत्ययो युक्तः, अपि तु स इवेति स्यात्, न हि गवयनिश्चये गौरेवेति प्रत्ययो दृष्टः, अपि तु गोरिवेति। न च क्रमवर्त्तिष्वभिष्वङ्गद्वेषाऽऽदिपर्यायेषु चैतन्याऽनुस्यूतिप्रत्ययस्य मानसत्वमात्मनि क्षणक्षयम्, अनुमानानिश्चितत्वेऽपि तदेव स्पष्टमनुभूयमानत्वाद्, विकल्पद्वयस्य युगपदुत्पत्तिः परैर्नेष्टेति विकल्परूपत्वे एकत्वप्रत्ययस्य क्षणिकत्वनिश्चयसमये सद्भावो न भवेदित्येकान्तनित्याऽनित्यच्युतोभयपक्ष एव बन्धस्थितिकारणं युक्तिसङ्गतम्।

किञ्चैकान्तवादिनां संसारनिवृत्तिस्तत्सुखमुक्तिप्राप्त्यर्था प्रवृत्तिश्चासङ्गतेत्याह-

बंधम्मि अपूरंते, संसारभओहदंसणं मोक्खं।
बंधं च विणा मोक्खसु-हपत्थणा णत्थि मोक्खो य॥ २०॥

बन्धे चासति संसारो जन्ममरणाऽऽदिप्रबन्धः, तत्र तत्कारणे वा मिथ्यात्वाऽऽदावुपचारात् तच्छब्दवाच्ये भयौघो भीतिप्राचुर्यं, तस्य दर्शनम्-सर्वं चतुर्गतिपर्यटनं दुःखाऽऽत्मकमिति पर्यालोचनं, मौढ्यं मूढताऽनुपपद्यमानं संसारदुःखोऽप्यविषयत्वाद् मिथ्याज्ञानं बन्ध्यासुतजनितबाध्यगोचरभीतिविषयपर्यालोचनविद्, मिथ्याज्ञानपूर्विका च प्रवृत्तिर्विसंवादिन्येव बन्धं विना संसारनिवृत्तिः, तत्सुखप्रार्थना च न भवत्येव। अथ मोक्षस्याऽनुपपत्तौ निरपराधपुरुषवदबद्धस्य मोक्षसंभवात्, बन्धाभावश्च योगकषाययोः, प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाऽऽत्मकबन्धहेत्वोरेकान्तपक्षे विरुद्धत्वात्। न चैकरूपत्वाद् ब्रह्मणो बन्धाऽऽद्यभावप्रेरणा न दोषाय, चेतनाऽचेतनाऽऽदिभेदरूपतया जगतः प्रतिपत्तेः। न च भेदप्रतिपत्तिर्मिथ्याऽविद्यानिर्मितत्वादिति वक्तव्यम्, अविद्यायाः प्रतिपत्तिजननविरोधात्, अविरोधे विद्यारूपताप्राप्तेः द्वैतप्राप्तिरिति प्रतिविहितश्चाद्वैतवाद इति न पुनः प्रतन्यते।

तदेवमेकान्ताभ्युपगमे बन्धहेत्वाद्यनुपपत्तेरैहिकाऽऽमुष्मिकसर्वव्यवहारविलोप इत्येकान्तव्यवस्थापकाः सर्वेऽपि मिथ्यादृष्टयो नयाः, अन्योऽन्यविषयापरित्यागवृत्तयस्तु त एव सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्त इत्युपसंहरन्नाह-

तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण, हवंति सम्मत्तसब्भावा॥ २१॥

यस्मादेकान्तनित्याऽनित्यवस्त्वभ्युपगमो बन्धाऽऽदिकारणयोगकषायाऽभ्युपगमबाधितः, तदभ्युपगमोऽपि नित्याऽऽद्येकान्ताऽभ्युपगमप्रतिहत इत्येवंभूतपूर्वोत्तराभ्युपगमस्वरूपाः, तस्मान्मिथ्यादृष्टयः सर्वेऽपि नयाः स्वपक्षप्रतिबद्धाः-स्व आत्मीयः पक्षोऽभ्युपगमः, तेन प्रतिबद्धाः प्रतिहता ये ते इति, नयज्ञानानां च मिथ्यात्वे तद्विषयस्य तदभिधानस्य च मिथ्यात्वमेव। तेनैवं प्रयोगः-मिथ्या सर्वनयवादाः, स्वपक्षेणैव प्रतिहतत्वात्, चौरवाक्यवत्॥ अथ तेषां मिथ्यात्वे बन्धाऽऽद्यनुपपत्तौ सम्यक्त्वाऽनुपपत्तिः सर्वत्रेत्याह-अन्योऽन्यनिःसृताः परस्परापरित्यागेन व्यवस्थिताः, पुनरिति त एव सम्यक्त्वस्य यथाऽवस्थितवस्तुप्रत्ययस्य सद्भावा भवन्तीति न बन्धाऽऽद्यनुपपत्तिः। ननु यदि नयाः प्रत्येक सन्ति, कथं प्रत्येकावस्थायां तेषां सम्यक्त्वाभावः? स्वरूपव्यतिरेकेणा-परसम्यक्त्वाभावात्, तस्य च तेष्वभ्युपगमात्। अथ न सन्ति, कथं तेषां समुदायः सम्यक्त्वनिबन्धनो भवेत्, असतां समुदाया-नुपपत्तेः? न चाऽसतोऽपि सम्यक्त्वं, नयवादिष्वपि सम्यक्त्व-प्रसक्तेः। न च प्रत्येकं तेषां सतामसम्यक्त्वेऽपि तत्समुदाये सम्य-क्त्वं भविष्यति, ''दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा, णत्थि णओ'' (९) इत्याद्युपसंहारः, तत्र विरोधात्। न च प्रत्येकमेकैकांशग्राहिणः संपूर्णवस्तुग्राहकाः समुदिता इति सम्यक्त्वव्यपदेशमासादयन्ति, तत्तत्स्वगोचरापरित्यागेन तत्राऽपि विषयान्तरे तेषामप्रवृत्तेः। न च प्रत्येकमसम्यक्त्वे समुदायेऽपि सम्यक्त्वं युक्तम्, सिकतासु तैल-वत् असतः सदुत्पत्तेर्विरोधाच्च। अत्राऽभिधीयते-प्रत्येकमप्यपेक्षितेतरांशस्वविषयग्राहकतयैव सन्तो नयाः, तद्व्यतिरिक्तरूपतया त्वसन्त इति सतां तत्समुदाये सम्यक्त्वे न कश्चिद्दोषः। नन्वितरेतरविषयापरित्यागवृत्तीनां ज्ञानानां कथं समुदायः संभवी? येन तत्र सम्यक्त्वमभ्युपगम्येत? अनुक्तोपालम्भ एषः न ह्येकज्ञानोत्पाद-तस्तेषां समुदायो विवक्षितोऽपि तु स्वपरित्यक्तेतररूपविषयाध्यव-साय एव समुदायः, '' अन्योऽन्यनिश्रिताः '' इत्यनेनानेकार्थः प्रतिपादितः। न हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यामत्यन्तपृथग्भूताभ्यामङ्गुलिद्वयसंयोगवदुभयवादोऽपरप्रारब्धः। सम्म०१ काण्ड।

(२८) अथ दर्शनयोजनामभिधित्सुराह-

जातं द्रव्यास्तिकाच्छुद्धा-द्दर्शनं ब्रह्मवादिनाम्।
तत्रैके शब्दसन्मात्रं, चित्सन्मात्रं परे जगुः॥ ११०॥

(जातमित्यादि) शुद्धाद् द्रव्यास्तिकाद् ब्रह्मवादिनां दर्शनं जातम्। तदाह वादी-'' दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणा विसओ॥ '' (४) इति। तत्रैके ब्रह्मवादिनः शब्दसन्मात्रमिच्छन्ति, अन्ये च चित्सन्मात्रम्। तत्राऽऽद्यमतावलम्बी शब्दस्वभावं ब्रह्म सर्वेषां शब्दानां सर्वेषां चार्थानां प्रकृतिरित्यभ्युपैति। नयो०। सम्म०। सर्वमेकं सत्, अविशेषादिति द्रव्यास्तिकाऽभिप्रायः। सम्म० ३ काण्ड। स्या०। (शब्दब्रह्मवादिनां मतम् 'सद्द' शब्दे वक्ष्यते)

(२६) अथवा व्यवहारनिश्चयनयद्वये तेषां समवतारोऽतस्तस्यैव व्यवहारनिश्चयनयद्वयस्य स्वरूपमुपदर्शयन्नाह-

लोगव्ववहारपरो, ववहारो भणइ कालओ भमरो।
परमत्थपरो मण्णइ, निच्छइओ पंचवण्णो त्ति॥ ३५८६॥

लोकव्यवहाराऽभ्युपगमपरो नयो व्यवहारनय उच्यते। स च कालवर्णस्यैव उत्कटत्वेन लोके व्यवह्रियमाणत्वाद्भणति प्रति-पादयति कालको भ्रमर इति। परमार्थपरस्तु पारमार्थिकार्थवादी नैश्चयिको निश्चयनय उच्यते। स पुनर्मन्यते-' पञ्चवर्णो भ्रमरः ' बादरस्कन्धत्वेन तच्छरीरस्य पञ्चवर्णपुद्गलैर्निष्पन्नत्वात्, शु-क्लाऽऽदीनां च न्यग्भूतत्वेनानुपलक्षणादिति॥ ३५८६॥ विशे०।

निश्चयव्यवहारौ हि, द्वौ च मूलनयौ स्मृतौ।
निश्चयो द्विविधस्तत्र, शुद्धाऽशुद्धविभेदतः॥ १॥

(निश्चय इति) हि निश्चितम्, अध्यात्मभाषायां मूलनयौ द्वौ स्मृ-तौ। तौ च निश्चयव्यवहारौ, निश्चिनोति तत्त्वमिति निश्चयः। १। व्यवह्रियते इति व्यवहारः। २। तत्राऽपि निश्चयो नाम द्विविधोः द्विप्रकारःस, एकः शुद्धनिश्चयनयः, द्वितीयोऽशुद्धनिश्चयनयः। एवं द्विप्रकारो ज्ञेयः॥ १॥

यथा केवलज्ञानाऽऽदि-रूपो जीवोऽनुपाधिकः।
शुद्धो मत्यादिकस्त्वात्मा-ऽशुद्धः सोपाधिकः स्मृतः॥ २॥

यथा हि केवलज्ञानाऽऽदिरूपो जीवोऽनुपाधिकः, उपाधिः कर्म-जन्यः, तेन विहीनोऽनुपाधिकः, शुद्ध इति शुद्धनिश्चयभेदेन प्रथ-मः। अत्र हि केवलज्ञानमासाद्य शुद्धगुणमयाऽऽत्मकरूपेण जीव-स्याऽभेदो दर्शितः। तथा च मतिज्ञानाऽऽदिक आत्मा अशुद्धनि-श्चयभेदेन द्वितीयः। अत्र हि आत्मनः सोपाधिकस्याऽऽवरणक्षय-जनितज्ञानविकल्पेनाऽऽत्मा मतिज्ञानी अशुद्ध उपलक्ष्यते। सोपा-धिकत्वात् केवलज्ञानाऽऽख्यो गुणः शुद्धगुणस्तदुपेत आत्माऽपि शुद्धस्तन्नामनयोदयात् शुद्धनिश्चयनयः। १। मतिज्ञानाऽऽदिगुणो-ऽशुद्धस्तदुपेत आत्माऽप्यशुद्धस्तदाख्यया नयोऽपि अशुद्धनिश्चय इति। निश्चयशब्द आत्ममात्रपरः, शुद्धशब्दः कर्माऽऽवरणविशि-ष्टः। आवणक्षये शुद्धः, सति तस्मिन्नशुद्धः॥ २॥

अथ व्यवहारस्य भेदं दर्शयति-

सद्भूतश्चाऽप्यसद्भूतो, व्यवहारो द्विधा भवेत्।
तत्रैकविषयस्त्वाद्यः, परः परगतो मतः॥ ३॥

व्यवहारोऽपि सद्भूतः पुनरसद्भूत इति भेदाभ्यां द्विधा द्विप्रकारः। तत्र आद्यः प्रथम एकविषय एकद्रव्याऽऽश्रितः सद्भूतव्यव-हारः। परः परविषयः परद्रव्याऽऽश्रितोऽसद्भूतव्यवहार इति॥३॥

उपचरितसद्भूता-नुपचरितभेदतः।
आद्यो द्विधा च सोपाधि-गुणगुणिनिदर्शनात्॥ ४॥

उपचरितसद्भूतभेदेन, अनुपचरितसद्भूतभेदेन च आद्यः एक-द्रव्याऽऽश्रितसद्भूतव्यवहारो द्विधा द्विप्रकारः। तत्र च सोपाधिक-गुणगुणिभेदात् प्रथमो भेदो भवति॥ ४॥

यथोपचारतो लोके, जीवस्य मतिरुच्यते।

यथा जीवस्य मतिज्ञानम्। अत्र हि मतिरुपाधिः कर्माऽऽवरणक-लुषिताऽऽत्मनः सकलज्ञानत्वेन ज्ञानमिति कल्पनं सोपाधिकम्, उपचारतो जातमिदम्।

अथ द्वितीयभेदमाह-

अनुपचरितसद्भूतो-ऽनुपाधिगुणतद्वतोः॥ ५॥

उपाधिरहितेन गुणेन अनुपाधिक आत्मा यदा संपद्यते, तदा अनु-पाधिकगुणगुणिनोर्भेदाभिन्नोऽनुपचरितसद्भूतोऽपि द्वितीयो भेदः समुत्पद्यते इति॥ ५॥

अथास्योदाहरणं श्लोकार्द्धेनाऽऽह-

केवलाऽऽदिगुणोपेतो, गुण्यात्मा निरुपाधिकः।

केवलाऽऽदिगुणोपेतः केवलज्ञानसहितः कर्मक्षयाविर्भूतप्रभूता-नुभवभावाऽऽत्मको जीवो निरुपाधिकगुणोपेतो निरुपाधिको गुणी भवति। आत्मा हि संसारावस्थायाम् अष्टकर्मजनिताऽऽवरणपरि-स्फुटप्रभावभावितः सोपधिकगुणैर्मत्यादिभिस्तद्वानिति सोपाधिक आत्मेति व्यपदेशभाग् भवति। अत्र तु तदभावे तदभावाद् निरुपाधिक-गुणगुणिभेदभावनासमुत्पादादनुपचरितसद्भूतभेदोऽपि समुत्पन्नः। केवलाऽऽदिरिति केवलस्यैकत्वात् आदिरिति तदुत्थानन्तगुणोदयात् केवलादिरिति कथनम्।

अथाऽसद्भूतव्यवहारस्यापीत्थमेव भेदद्वयं प्रकटयन्नाह श्लोकार्द्धेन-

असद्भूतव्यवहारो, द्विधैवं परिकीर्तितः॥ ६॥

(असद्भूतेति) असद्भूतव्यवहारोऽपि एवं पूर्वोक्तसद्भूतवद् द्विधा द्विप्रकारः परिकीर्तितः कथित इति॥ ६॥

अथैतस्यासद्भूतव्यवहारस्य भेदद्वयं सोदाहरणं पूर्वकं प्रकटयन्नाह-

असंश्लेषितयोगेऽग्न्यो, देवदत्तधनं यथा।
स्यात्संश्लेषितयोगेऽन्यो, यथाऽऽस्ते देहमात्मनः॥ ७॥

(असंश्लेषितेति) अत्र द्वयोरपि भेदयोर्मध्ये, अग्र्यः अग्रे भवो-ऽग्र्यो मुख्यः प्रथमः, असंश्लेषितयोगे कल्पिसंबन्धविषये उप-चरितासद्भूत-व्यवहारो भवेत्। यथा-देवदत्तधनम्। इह धनेन देवदत्तस्य संबन्धः स्वस्वामिभावरूपश्च जायते, तदपि कल्पितत्वात् उपचरितम्। यतो देवदत्तः पुनर्धनं चैकद्रव्यं, न हि तस्माद्भिन्नद्रव्यत्वादसद्भूतभावना-करणेनासद्भूतव्यवहार इति। तथा द्वितीयोऽन्यः संश्लेषितयोगे कर्मजसंबन्धे भवति। यथा आत्मनो जीवस्य देहमिति आस्ते तिष्ठति। अत्र हि आत्म-देहयोः संबन्धे देवदत्तधनसंबन्धमिव कल्पनं नास्ति विपरीत-भावनानिवर्त्यत्वाद् यावज्जीवस्थायित्वादनुपचरितं, तथा भिन्न-विषयत्वादसद्भूतव्यवहार इति॥ ७॥

अथोक्तविषयस्वामित्वमाह-

नयाश्चोपनयाश्चैते, तथा मूलनयावपि ।
इत्थमेव समादिष्टं, नयचक्रेऽपि तत्कृता ॥ ८ ॥

(नयेति) एते नया उक्तलक्षणाः, च पुनरुपनयास्तथैव द्वौ मूलनयौ, अपि निश्चयेन इत्थममुना प्रकारेण एव, नयचक्रेऽपि दिगम्बरदेवसेनकृते शास्त्रे नयचक्रेऽपि, तत्कृता तस्य नयचक्रस्य कृता उत्पादकेन समादिष्टं कथितम् । एतावता दिगम्बरमतानुगतनय-चक्रग्रन्थपाठपठितनयोपनयमूलनयाऽऽदिकं सर्वमपि सर्वज्ञप्रणीत-सदागमोक्तयुक्तियोजनासमानतन्त्रत्वमेवाऽऽस्ते, न किमपि विसं-वादितयाऽस्तीति । ८ ।

अथ पुनरपि श्वेताम्बरदिगम्बरयोः समानतन्त्रत्वमुपदिशन्नाह-

यद्यपीहार्थभेदो न, तस्याऽस्माकमपि स्फुटम् ।
तथाऽप्युत्क्रमशैल्याऽसौ, दह्यते चाऽन्तराऽऽत्मना ॥ ९ ॥

यद्यपि तस्य देवसेनस्य दिग्वाससोऽपि, तथा अस्माकं श्वेतभि-क्षूणां, स्फुटं प्रकटं यथा स्यात्तथा, इह द्रव्याऽऽदिपरिज्ञानोपयोगि-नि नयविचारे, अर्थभेदो विषयभेदो नास्ति, उभयोरप्यर्थाऽऽदेशे विषयाभेदत्वमेव, शब्दाऽऽदेशे किमपि पाठान्तरत्वाद् न किमपि दोषः । यथा हि अर्थे प्रयोजनवन्तस्तार्किकाः, शब्दस्याऽप्रयोजक-त्वात् । तथाऽप्यसौ देवसेनो दिगम्बर उत्क्रमशैल्या विपरीतपरि-भाषया अर्थस्य तादृशत्वेन शब्दस्यातादृशत्वेन च उत्क्रमशैल्या कृत्वा, अन्तराऽऽत्मना अन्तरङ्गपरिणामेन ईर्ष्यालुत्वाद् , दह्यते खिद्यते । ईर्ष्यालवो हि अन्तरुपतापपरा एव भवन्ति निष्कारण-मेवेति । यतः-'' यद्यपि न भवति हानिः, परकीयां चरति रासभो द्राक्षाम् । असमञ्जसं तु दृष्ट्वा, तथाऽपि परिखद्यते चेतः ॥ १ ॥ '' इति वचनाद् यथोक्तभागवतसिद्धान्त-शुद्धपरिभाषां त्यक्त्वा स्वकपोलकल्पितसंस्कृतभाषया श्रीवीतरागोक्तार्थविषयमङ्गीकृत्य नवीनग्रन्थं विरचय्य प्रभावं ख्यापयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

(३०) अथ वोटिकमताऽभिमतविपरीतपरिभाषां दर्शयन्नाह-

तत्त्वार्थेऽपि नयाः सप्त, पञ्चाऽऽदेशान्तरेऽपि वा ।
अन्तर्भूतौ समुद्धृत्य, नवेति किमु कल्पते ? ॥ १० ॥

तत्त्वार्थसूत्रे नयाः सप्त उक्ताः, पुनरादेशान्तरे मतान्तरे तत्रैव नयाः पञ्च प्रतिपादिताः । तथा च तत्सूत्रम्- ''सप्त मूलनयाः, पञ्च इत्या-देशान्तरे'' इति । शब्दः, समभिरूढः, एवंभूत इति नयत्रिकं शब्द-नय इति नाम्ना संगृहीतानां त्रयाणामेवैकं नाम शब्दनय इति जायते, ततः प्रथमे चत्वारोऽतस्तैः सह पञ्च नया इति । अथैकैकस्य भेदानां शतमस्ति, तत्र च सप्तशतं तथा पञ्चशतम् , एवं मतद्वयेऽपि भेद-कल्पनम् । तथोक्तमावश्यके-'' इक्किको य सयविहो, सत्त णयसया हवंति एमेव । अण्णो वि हु आएसो, पंचेव सया णयाणं तु ''॥ (२२६४) एतादृशीं शास्त्रपरिभाषां त्यक्त्वा द्रव्यार्थिकपर्यायार्थि-कनामानौ एष्वन्तर्भावितावेव उद्धृत्य दूरे कृत्वा नव नयाः कथिताः, इति किमु कल्पते देवसेनेन कः प्रपञ्चः क्रियते ? ॥ १० ॥

पुनश्चर्यां कथयन्नाह-

यदि पर्यायद्रव्यार्थ-नयौ भिन्नौ विलोकितौ ।
अर्पितानर्पिताभ्यां तु, स्युर्नैकादश तत्कथम् ? ॥ ११ ॥

(यदीति) यदि पर्यायार्थद्रव्यार्थनयौ भिन्नौ विलोकितौ पृथक् दृष्टौ, तत्तस्मान्नव नया इति कथम् ? अर्पितानर्पिताभ्यां सह एका-दश नया इति कथं न स्युः, अपि तु स्युः । भावार्थस्त्वयम्-नैगम-संग्रहव्यवहारभेदाद् आद्यो द्रव्यार्थिकस्त्रिधा, पर्यायार्थिकश्चतुर्द्धा-ऋजुसूत्रं, शब्दः, समभिरूढः, एवंभूतश्चेति । अर्पितानर्पिताभेदावपि सामान्यविशेषपर्यायौ, तौ च द्रव्यपर्याययोश्चेति । तथाहि-सामान्यं द्विप्रकारम् , ऊर्द्धतासामान्यं, तिर्यक्सामान्यं च । तत्र ऊर्द्धतासामान्यं द्रव्यमेव, तिर्यक्सामान्यं तु प्रतिव्यक्ति सदृशपरिणतिलक्षणं व्यञ्जनपर्याय एव, स्थूलाः प्रावचनिकप्रसिद्धेः । विशेषोऽपि वैसदृश्यविवर्त्तलक्षणः पर्याय एवान्तर्भवतीति, नैताभ्यामधिकनयावकाशः ॥ ११ ॥

संग्रहे व्यवहारे च, यदीमौ युङ्क्थ केवलम् ।
तदाद्यन्तनयस्तोके, किं न युङ्क्थ हि तावपि ? ॥ १२ ॥

अथ संग्रहे च पुनर्व्यवहारे यदि इमौ अर्पितानर्पितौ युङ्क्थ, तर्हि आद्यन्तनयस्तोके तावपि(द्रव्यपर्यायौ)किं न युङ्क्थ इति ? यदि एवं कथयथ अर्पितानर्पितसिद्धेरित्यादिसूत्रेषु अर्पिता विशेषाः, अनर्पिताः सामान्याः । तत्र अर्पिता व्यवहाराऽऽदिविशेषनयेषु अन्तर्भवन्ति, अनर्पिताः संग्रहेऽन्तर्भवन्ति, तदा आद्येषु प्रथमेषु, अन्त्येषु पाश्चात्येषु नयस्तोकेषु इमौ द्रव्यपर्यायौ कथं न युञ्जीत सप्तनयसंबन्धसिद्धेरिति विचारणीयम् ? सिद्धान्ते श्रीजिनवाणी सप्तनयाऽवतारिका एवाऽस्ति, न न्यूनाधिका । यतः-'' से किं तं नए ? सत्त मूलनया पण्णत्ता । तं जहा-णगमे १, संगहे २, ववहारे ३, उज्जुसुए ४, सद्दे ५, समभिरूढे ६, एवंभूए ७ । '' इत्यादिसूत्र-पाठोऽपि ज्ञेयोऽतस्तत्सूत्रमार्गं त्यक्त्वा नया नव इत्यधिकयोजना न साधीयसी । अथ अन्तर्भूतानां पृथक्करणमपि पिष्टपेषणमेवेति ॥ १२ ॥ द्रव्या० ८ अध्या० ।

(३१) व्यवहारनयात्साङ्ख्यम्-

अशुद्धाद् व्यवहाराख्या-त्ततोऽभूत्साङ्ख्यदर्शनम् ।
चेतनाऽचेतनद्रव्या-ऽनन्तपर्यायदर्शकम् ॥ १११ ॥

(अशुद्धादिति) व्यवहाराऽऽख्याद् व्यवहारनामधेयादशुद्धात्ततो द्रव्यार्थिकनयात् साङ्ख्यदर्शनमभूत् । कीदृशं तत् ? चेतनश्चाचेतनद्रव्यं चानन्तपर्यायाश्चाविर्भावतिरोभावाऽऽत्मकास्तेषां दर्शकं प्रतिपादकमिति । (१११) नयो० । अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयमतार्थावलम्बी एकान्तनित्यचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसाङ्ख्यदर्शनाश्रितोऽत एव तन्मताऽनुसारिणः साङ्ख्याः । सम्म० १ काण्ड ।

(३२) अथ वेदान्तिसाङ्ख्यदर्शनयोः शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतिकत्वं यदुक्तं, तत्राऽविशेषदृष्ट्या भेदबीजाभावमाशङ्कते-

यद्यप्येतन्मतेऽप्यात्मा, निर्लेपो निर्गुणो विभुः ।
अध्यासाद् व्यवहारश्च, ब्रह्मवादेऽपि संमतः ॥ ११२ ॥

(यद्यपीत्यादि) यद्यपि एतन्मतेऽपि साङ्ख्यमतेऽप्यात्मा निर्लेपः कर्तृत्वाऽऽदिलेपरहितो निर्गुणो गुणस्पर्शशून्यो विभुर्व्यापकश्चेति शुद्धाऽऽत्माऽभ्युपगमेनोभयत्र शुद्धितौल्यम् । न च

भोक्तृत्वस्योपचरितस्याऽऽत्मन्यभ्युपगमेन साङ्ख्यदर्शने वेदान्तदर्शनापेक्षयाऽशुद्धत्वम्, यतोऽध्यासाद् व्यवहारो ब्रह्मवादेऽपि संमतः, ब्रह्मवादिनोऽपि हि बुद्धिगुणान् ज्ञानाऽऽदीनात्मनि कल्पितानेवाऽभ्युपयन्ति, न पारमार्थिकानिति नायमपि प्रकार उभयोः शुद्ध इति विशेषः ॥ ११२ ॥

प्रत्युताऽऽत्मनि कर्तृत्वं, साङ्ख्यानां प्रातिभासिकम् ।
वेदान्तिनां त्वनिर्वाच्यं, मतं तद् व्यावहारिकम् ॥ ११३ ॥

(प्रत्युतेति) प्रत्युत वैपरीत्येन साङ्ख्यानां मते कर्तृत्वम्, उपलक्षणाद्भोक्तृत्वाऽऽदि च, प्रातिभासिकमन्यस्थमेवान्यत्राऽऽरोपितम् । वेदान्तिनां तु मतेनान्तःकरणधर्माणां कर्तृत्वाऽऽदीनां कर्तव्यम् , तच्च परमार्थतोऽसदपि व्यवहारतः सदिति स्थूलव्यवहाराऽनुरोधाद्वेदान्तदर्शन एवाशुद्धत्वं स्यात्, अविद्ययाऽप्यन्यधर्ममात्मन्यस्पर्शयत्युपचारेण च व्यवहारबलं कुण्ठगतिनिश्चयबलं चोत्तेजति साङ्ख्यदर्शन एव शुद्धत्वं स्यादिति भावः ॥ ११३ ॥

किञ्च-सत्कार्यवादित्वादपि साङ्ख्यस्य न व्यवहाराऽनुरोधि-त्वम् , व्यवहारनयो हि कारणव्यापारानन्तरमेव कार्योत्पत्तिं पश्यन्न सत्कार्यपक्षमेवाऽऽश्रयते, न च क्षणिकासत्कार्यानभ्युपगममात्रेणास्य व्यवहारपक्षपातित्वम्, तदनभ्युपगमेऽप्युत्पत्यनभ्युपगमेन व्यवहारबहिर्भावादित्यभिप्रायस्पष्टीकरणपूर्वं निगमयन्नाह-

अनुत्पन्नत्वपक्षश्च, निर्युक्तौ नैगमे श्रुतः ।
नेति वेदान्तिसाङ्ख्योक्त्योः, संग्रहव्यवहारता ॥ ११४ ॥

अनुत्पन्नपक्षश्च निर्युक्तौ नमस्कारनिर्युक्तौ नैगमे नैगमनये अतः '' उप्पन्नाणुप्पन्नो, इत्थ णया नेगमस्सऽणुप्पन्नो । सेसाणं उप्पन्नो, जइ कत्तो तिविहसामित्ता ? ॥ २८०६ ॥ '' इति (आवश्यकनिर्युक्ति-) वचनात् । तथा चानुत्पत्तिवादी साङ्ख्यो नैगमनयमेवोपजीवी, व्यावहारिकोत्पत्तिवादी वेदान्ती च व्यवहारनयमिति भावः । इति हेतोर्वेदान्तिसाङ्ख्योक्त्योस्तद्दर्शनयोः संग्रहव्यवहारता संग्रहव्यवहाराऽऽख्यशुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतिकता न भवति । तथा च संमतौ तथोक्तेः का गतिरिति भावः ? ॥ ११४ ॥

समाधत्ते तथापीतिद्वयेन-

तथाऽप्युपनिषद् दृष्टि-सृष्टिवादाऽऽत्मिका परा ।
तस्यां स्वप्नोपमे विश्वे, व्यवहारलवोऽपि न ॥ ११५ ॥

तथाऽपि उपनिषद्वेदान्तदर्शनप्रवृत्तिः दृष्टिसृष्टिवादाऽऽत्मिका परा उत्कृष्टा मूलाभियुक्ता, अभ्युपगतत्वात् , तस्यां चाज्ञातसत्त्वाभावेन स्वप्नोपमे विश्वे जगति सति व्यवहारस्य लवोऽपि लेशोऽपि नाऽस्ति, तन्मते जाग्रद्व्यवहारस्य स्वप्नव्यवहारतुल्यत्वात् । तथा च मौलस्य वेदान्तदर्शनस्य व्यवहारापेतत्वे न व्यवहारप्रकृतिता, किं त्वेकाऽऽत्मसंग्रहप्रवणतया संग्रहप्रकृतितैवाऽऽकाशोदकपातकल्पमूलदर्शनप्रवृत्तावेव चेयं नयप्रकृतिचिन्तेति नार्वाचीनवेदान्तिनां मिथो विरुद्धकल्पनाकोटिक्लेशपराहतानां व्यवहाराभ्याससमर्थनेनाऽपि प्रतिश्रुतव्याहतिरिति हृदयम् ॥ ११५ ॥

साङ्ख्यशास्त्रे च नानाऽऽत्म-व्यवस्था व्यवहारकृत् ।
इत्येतावत्पुरस्कृत्य, विवेकः संमतावयम् ॥ ११६ ॥

(साङ्ख्येति) साङ्ख्यशास्त्रे च नानाऽऽत्मनां व्यवस्था प्रतिनियतजन्ममरणाऽऽदि व्यवहारकृद्भवति इत्येतावत्पुरस्कृत्य तात्पर्यविषयीकृत्वाऽयं विवेकः सम्मतौ । यदुतव्यवहारप्रकृतिकं साङ्ख्यदर्शनं, संग्रहप्रकृतिकं च वेदान्तदर्शनमिति वेदान्तप्रकृतिभूतसंग्रहनयेनैव तथाविषयीकृतस्याऽऽत्मनो भेदकरणेन संग्रहविषयभेदकत्वलक्षणसमन्वयाद् व्यवहारप्रकृतिकत्वं साङ्ख्यदर्शनस्य विवक्षितमिति तात्पर्यम् । तेन सत्कार्याऽऽद्यंशे व्यवहारप्रकृतित्वाऽभावेऽपि न क्षतिः, आत्मन एव सकलशास्त्रप्रयोजनभागित्वेन मुख्यत्वात्, मुख्योद्देशेनैव च नयानां प्रकृतिविकृतिचिन्ताया युक्तत्वादिति भावः ॥ ११६ ॥ नयो० । अत्र च नैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणास्त्रयो नयाः शुद्ध्यशुद्धिभ्यां द्रव्यास्तिकमतमाश्रिताः, ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतास्तु शुद्धितारतम्यतः पर्यायनयभेदाः । तथाहि-संग्रहमतं तावत्प्रदर्शितमेव । येषां तु मते न नैगमनयस्य सद्भावस्तस्य स्वरूपमेव वर्णितम् , राश्यन्तरोपल-ब्धंक नित्यत्वमनित्यत्वं च नयतीति निगमव्यवस्थाभ्युपगमपरो नैगमव्यः । निगमो हि नित्याऽनित्यसदसत्कृतकाकृतकस्वरूपेषु भावेष्वपास्तसाकार्यस्वभावः सर्वथैव धर्मधर्मिभेदेन संपद्यत इति । स पुननैंगमोऽनेकधा व्यवस्थितः, प्रतिपत्तुरभिप्रायवशान्नयव्यवस्थानात् । प्रतिपत्तारश्च नानाभिप्रायाः । यतः केचिदाहुः- '' पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि '' यदाश्रित्योक्तम्-'' ऊर्द्धमूलमधः शाख-मश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥ '' पुरुषोऽप्येकत्वनानात्मभेदात्कैश्चिदभ्युपगतो द्वेधा, नानात्वेऽपि तस्य कर्तृत्वाऽकर्तृत्वभेदोऽपरैराश्रितः । कर्तृत्वेऽपि सर्वगतेरभेदः, असर्वगतत्वेऽपि शरीरव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां भेदः, व्यापिमूर्ततरविकल्पाद्भेद एव । अपरैस्तु प्रधानकारणिकं जगदभ्युपगतं, तत्राऽपि सेश्वरनिरीश्वरभेदाद्भेदोऽभ्युपगतः, अन्यैस्तु परमाणुप्रभवत्वमभ्युपगतं जगतः, तत्रापि सेश्वरनिरीश्वरभेदाद्भेदोऽभ्युपगतः, सेश्वरपक्षेऽपि स्वकृतकर्मसापेक्षानपेक्षत्वाभ्यां तदवस्थ एव भेदाभ्युपगमः । कैश्चित्स्वभावकालयदृच्छाऽऽदिवादाः समाश्रिताः, तेष्वपि सापेक्षत्वानपेक्षत्वाभ्युपगमाद् भेदव्यवस्थाऽभ्युपगतैव । तथा कारणं नित्यं कार्यमनित्यमित्यपि द्वैतं कैश्चिदभ्युपगतम् , तत्राऽपि कार्यं स्वरूपं नियमेन त्यजति, न वेत्ययमपि भेदाभ्युपगमः । एवं मूर्तैरेव मूर्तमारभ्यते, मूर्तैर्मूर्तं मूर्तैरमूर्तमित्याद्यनेकधा प्रतिपत्त्रभिप्रायतोऽनेकधा निगमनान्नैगमोऽनेकभेदः । व्यवहारनयस्त्वपास्तसमस्तभेदादेकमभ्युपगच्छतोऽध्यक्षीकृत्तभेदनिबन्धनव्यवहारविरोधप्रशक्तेः कारकज्ञापकभेदे परिकल्पनाऽनुरोधेन व्यवहारमारचयन् प्रवर्तते इति कारणस्याऽपि न सर्वदा नित्यत्वं, कार्यस्याऽपि नैकान्ततः प्रक्षय इति । ततश्च न कदाचिदनीदृशं जनदिति प्रवृत्तोऽयं व्यवहारो न केनाऽपि प्रवर्त्यते, अन्यथा प्रवर्तकावस्थाप्रसक्तिः, ततो व्यवहाराशून्यं जगत् । न च प्रमाणाविषयीकृतः पक्षोऽभ्युपगन्तुं युक्तः, अदृष्टपरिकल्पनाप्रसक्तेः । दृष्टानुरोधेन ह्यदृष्टमपि वस्तु कल्पयितुं युक्तम् , अन्यथा कल्पनासंभवादिति । संग्रहनैगमाभ्युपगतवस्तुविवेकाल्लोकप्रतीतपथाऽनुसारेण प्रतिपत्तिः, गौरवपरिहारेण प्रमाणप्रमेयप्रमितिप्रतिपादनं व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं परीक्षकैः समाश्रितमिति व्यवहारनयाभिप्रायः । ततः स्थितं नैगमसंग्रहव्यवहाराणां द्रव्यास्तिकनवप्रभेदत्वं, विषयभेदश्चैयां प्रतिपादितः ।

तदुक्तम्-

'' शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य, संग्रहस्तदशुद्धितः।
नैगमव्यवहारी स्तां, शेषाः पर्यायमाश्रिताः ॥ १ ॥
अन्यदेव हि सामान्य-मभिन्नज्ञानकारणम्।
विशेषोऽप्यन्य एवेति, मन्यते नैगमो नयः ॥ २ ॥
सद्रूपताऽनतिक्रान्त-स्वस्वभावमिदं जगत्।
सत्तारूपतया सर्वं, संगृह्णन् संग्रहो मतः ॥ ३ ॥
व्यवहारस्तु तामेव, प्रतिवस्तुव्यवस्थिताम्।
तथैव दृश्यमानत्वाद्, व्यवहारयति देहिनः '' ॥ ४ ॥ इति।

पर्यायनयभेदा ऋजुसूत्राऽऽदयः।

'' तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्या-च्छुद्धपर्यायसंश्रिता।
नेश्वरस्यैव भावस्य, भावस्थितिवियोगतः '' ॥ १ ॥ सम्म० १ काण्ड।

(३३) यद्येवं संग्रहव्यवहारौ वेदान्तिसाङ्ख्यपदर्शनप्रवर्तकौ, नेगमनयस्तर्हि कस्य दर्शनस्य प्रवर्तकः ? इति जिज्ञासायामाह-

हेतुर्मतस्य कस्याऽपि, शुद्धाऽशुद्धो न नैगमः।
अन्तर्भावो यतस्तस्य, सङ्ग्रहव्यवहारयोः ॥ ११७ ॥

(हेतुरिति) सामान्यविशेषाऽऽद्युभयग्राहित्वेन शुद्धाशुद्धो नैगम-नयः कस्याऽपि मतस्य दर्शनस्य न हेतुर्न प्रकृतिः, यतः सामा-न्यग्रहाय प्रवृत्तस्य संग्रह एव, विशेषग्रहाय च प्रवृत्तस्य व्यवहार एवान्तर्भाव इति। तदुभयभिन्नं स्वात्मानमेवालभमानस्य न भिन्न-दर्शनप्रकृतित्वमभिधातुं युज्यत इति ॥ ११७ ॥

कुतस्तर्हि वैशेषिकदर्शनमुत्पन्नं, कथं वा तस्य न सम्यक्त्वम् ? इत्याकाङ्क्षायामाह-

द्वाभ्यां नयाभ्यामुन्नीत-मपि शास्त्रं कणाऽशिना।
अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वा-न्मिथ्यात्वं स्वमताग्रहात् ॥ ११८ ॥

(द्वाभ्यामिति) द्वाभ्यां सामान्यविशेषग्राहिभ्यां संग्रहव्यवहाराभ्यां नयाभ्यामुन्नीतं पृथग् व्यवस्थापितमपि कणाऽशिना कणादमुनिना शास्त्रम्, अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वात्परस्परविविक्तद्रव्यपर्यायोभयावगाहित्वात् स्वमताग्रहात् स्वकल्पनाऽभिनिवेशान्मिथ्यात्वम् ॥ न हि नयद्वयावलम्बनमेव शास्त्रस्य सम्यक्त्वप्रयोजकं, किं तु यथास्थाने तद्विनियोगः। स च स्वप्रयुक्तभङ्गद्वयेतरयावद्भङ्गानां स्याद्वादलाञ्छितानां परस्परसाकाङ्क्षाणां तात्पर्यविषयतया संपद्यते, एकतरस्याऽप्यतात्पर्ये सिद्धान्तविराधनाया अपरिहारात्। तदाह-'' जे वयणिज्जविअप्पा, संजुज्जतेसु होंति एएसु। सा ससम-यपण्णवणा, सिद्धंतविराहणा अण्णा '' ॥ १ ॥ इति। तदिह सामान्यविशेषयोगः कुतस्तरामन्येषां भङ्गानामिति स्फुटमेव मिथ्यात्वम्, अतिरिक्तसामान्यविशेषापेक्षां विना महासामान्यान्त्यविशेषयोरिव वस्तुमात्रस्य स्वत एव सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वमित्यर्थस्यैव यथावन्नयद्वयविनियोगरूपत्वात्, अन्यथाऽनवस्थानात्। तदिदमुक्तम्- '' स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो, भावा न भावान्तरनेयरूपाः। पराऽऽत्मतत्त्वादतथाऽऽत्मतत्त्वाद्, द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥ ४ ॥ '' (स्या०) इति। एतेन नैयायिकदर्शनमपि व्याख्यातम्, पदार्थप्रमाणाऽऽदिभेदं विना प्रायस्तस्य वैशेषिकदर्शनसमानविषयत्वादिति दिग् ॥ ११८ ॥

ननु संग्रहव्यवहारयोरेव विषयविवेकेन नैगमस्याऽन्तर्भावे तस्य पार्थक्ये किं बीजम् ? अदर्शनेऽपि किञ्चित्कल्पयिष्याम इति चेत्, तर्हि दृष्टं स्वतन्त्रद्रव्यपर्यायोभयविषयत्वमेव तथाऽस्तु। तथा च तत एव कणादमतोत्पत्तिर्युक्तेति परीक्षापूर्वमाह-

स्वतन्त्रव्यक्तिसामान्य-ग्रहा येऽत्र तु नैगमे।
औलक्यसमयोत्पत्तिं, ब्रूमहे तत एव हि ॥ ११९ ॥

(स्वतन्त्रेति) स्पष्टः। अत्र चार्थे प्रदर्शितन्यायेन द्रव्यपर्यायरूपमुभयमपि परस्परविविक्तमेकत्र विद्यत इत्यभिप्रायो नैगमोऽशुद्धद्रव्यास्तिकप्रकृतिरिति सम्मतिवृत्तिस्वरसोऽपीति ध्येयम् ॥११९॥

ऋजुसूत्राऽऽदितः सौत्रा-न्तिकवैभाषिकौ क्रमात्।
अभुवन् सौगता योगा-चारमाध्यमिकाविति ॥ १२० ॥

(ऋजुसूत्राऽऽदित इति) ऋजुसूत्राऽऽदित ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतेभ्यः क्रमात् सौत्रान्तिक वैभाषिकयोगाचारमाध्यमिका इति चत्वारः सौगता अभूवन्नुदपद्यन्त।

एतेषां स्वरूपमेतेन काव्येन ज्ञेयम्-

'' अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणेक्ष्यते,
प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः।
योगाऽऽचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा,
मन्यन्ते वत मध्यमाः कृतधियः स्वच्छां परां संविदम्'॥१॥ इति।

एतद्विशेषाऽवगमपुष्पमदार्थिना तु मत्कृतलताद्वयं परिशीलनीयम्। अत्र वैभाषिकस्य शब्दनयपक्षपातित्वं, नित्यानित्यशब्दवाच्यपुद्गलाभ्युपगमात्, ज्ञानार्थलक्षणयौगपद्यरूपत्वं जनपर्यायप्रधानत्वाचावगन्तव्यम्। योगाचारमाध्यमिकयोश्च शुद्धशुद्धतर-त्वेन समभिरूढैवंभूतपक्षवर्तित्वमिति ॥ १२० ॥

नयसंयोगजः शब्दा-लङ्काराऽऽदेश्च विस्तरः।
कियान् वाच्यो वचस्तुल्यसंख्या ह्यभिहिता नयाः ॥१२१॥

(नयेति) शब्दालङ्काराऽऽदेर्व्याकरणसाहित्याऽऽदिशास्त्रस्य च विस्तरो नयसंयोगजो नानानयमयः, आदित एव तत्प्रवृत्तौ नानानयविवक्षायामुपजीवनात्। अन्यथा सार्वपार्षदत्वानुपपत्तिः। अत एव मीमांसका अपि द्रव्यपर्याययोः सार्वजनीनभेदाभेदाऽऽद्युपपत्तये व्यवहारनयमानन्त्यव्यभिचाराभ्यां विभ्यतो व्यक्तिशक्तिमपहाय जातौ शक्तिव्युत्पत्तये संग्रहनयं चाद्रियमाणाः स्वमतप्रवृत्तौ नयसंयोगमेवाऽऽदावपेक्षन्ते। यत्तु मीमांसकमतस्याशुद्धद्रव्यास्तिकव्यवहारनयप्रकृतित्वं सम्मतिवृत्तौ नामनिक्षेपावसरे भाषितं, '' तच्छब्दार्थयोर्नित्यसंबन्धमात्रवादापेक्षया, औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः '' इति, तत्सूत्रे औत्पत्तिक इत्यस्य विपरीतलक्षणया नित्य इति व्याख्यानात् पूर्वपूर्वसंकेतापेक्षायामनवस्थानां नित्यपदसंबन्धाभ्युपगम एव। प्रवृत्तिमूलव्यवहाराऽऽदन्तशुद्धशास्त्रैद-म्पर्यपर्यालोचनायां तु तस्य नयसंयोगत्वमेवमुक्तम्। अन्यथाशब्दानुशासनेऽपि स्फीटविचारे शब्दसन्मात्रसंग्रहप्राधान्येन नयसंयोगजत्वं न स्यात्, नयसंयोगजत्वे शब्दाऽऽदीनां कथं न स्व-समयतुल्यत्वमिति चेत्, मूढनयानां तेषां यथावद्विभागाकरणात्। अत एव यथावन्नयविभागचिकीर्षया '' सिद्धिः स्याद्वादात् '' ॥ १। १। २ ॥ इति (हैम०) सूत्रमुपन्यस्य श्रीहेमसूरयः स्वोपज्ञशब्दानुशासनस्य स्वसमयान्तर्भावेन दृढप्रामाण्यमाविश्चक्रुः। संक्षेपमभिप्रेत्याह उक्तो विस्तरः कियान् वाच्यो, हि यतः, वचस्तुल्यसंख्या नया अभिहिता ॥ १२१ ॥

स्याद्वादनिरपेक्षैश्च, तैस्तावन्तः परागमाः।
ज्ञेयोपयुज्य तदियं, दर्शने नययोजना ॥ १२२ ॥

(स्याद्वादेति) तैर्नयैः स्याद्वादनिरपेक्षैः स्याद्वादैकवाक्यतारहितैस्तावन्तो वचस्तुल्यसंख्या एव परागमाः परसिद्धान्ता भवन्ति, अभिनिवेशान्वितनयत्वस्यैव परसमयलक्षणत्वात्। इदमुक्तं सम्मतितृतीयकाण्डे-'' जावइया वयणपहा, तावइआ चेव हुंति णयवाया। जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया ''॥ ४७ ॥ एतावत्सु नयेष्विच्छाकल्पितसंयोगजभेदेऽपि समवायान्तराक्षेपकः सुलभ एव, इयं दर्शने नययोजनोपयुज्य ज्ञेया, न त्वापातत एव; आपातज्ञानस्य स्वसमयपरसमयविपर्यासफलत्वात्। अत एव वस्तुस्थितिविचारे-'' जे पज्जवेसु णिरदा, जीवा परसमयगतिविणिद्दिट्ठा। आयसहावम्मि ठिया, ते सगसमया मुणेयव्वा ''॥ १ ॥ इति दैगम्बरं वचनं वक्तुः सम्यक् स्वसमयनिष्णाततामभिव्यञ्जयति। द्रव्यास्तिकाभिप्रायः स्वसमयः, पर्यायास्तिकाभिप्रायः परसमय इत्यस्य स्याद्वादनिरपेक्षत्वान्नयवाक्यमेवैतदिति चेत्, तर्हि प्रवचनप्रक्रियाव्युत्पादने क इवास्योपयोगः ? स्थूलसूक्ष्मनयार्थानां क्रमव्युत्पादनस्यैव शास्त्रार्थत्वादिति मुग्धबन्धनमात्रमेतत्। यदपि प्रावचनिकानां जिनभद्रसिद्धसेनप्रभृतीनां स्वस्वतात्पर्यविरुद्धविषये सूत्रे परतीर्थिकवक्तव्यताप्रतिबन्धप्रतिपादनं, तदप्यभिनिवेशेन चेत्तदा प्रावचनिकत्वक्षतिरिति। तत्र परतीर्थिकपदं भिन्नपरम्परायाततात्पर्यानुसारिपदम्; अत एव नयाभिप्रायेण प्रवृत्तत्वादिति हेत्वभिधानोपपत्तिः। अत एव च नयाभिप्रायेणोभयसमाधानमस्माभिर्ज्ञानबिन्दौ विहितमिति। एवमन्यत्राऽपि दर्शनप्रयोजनाभ्यामुपयोगो विधेयः समयनिष्णातैः ॥ १२२ ॥ नयो०।

(३४) के पुनरेषु नयेष्वर्थप्रधानाः, के च शब्दनया इति दर्शयन्ति-

एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयाः ॥ ४४ ॥
शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्याऽर्थगोचरतया शब्दनयाः ॥ ४५ ॥

कः पुनरत्र बहुविषयः, को वाऽल्पविषयो नय इति विवेचयन्ति-

पूर्वः पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः, परः परस्तु परिमितविष- यः ॥ ४६ ॥

तत्र नैगमसंग्रहयोस्तावन्न संग्रहो बहुविषयो नैगमात्परः, किं तर्हि नैगम एव संग्रहात्पूर्व इत्याहुः-

सन्मात्रगोचरात्संग्रहान्नैगमो भावाऽभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः ॥ ४७ ॥

भावाऽभावभूमिकत्वाद्भावाऽभावविषयत्वाद्, भूमविषयो बहुविषयः ॥ ४७ ॥

संग्रहाद् व्यवहारो बहुविषय इति विपर्ययमपास्यन्ति-

सद्विशेषप्रकाशकाद्व्यवहारतः संग्रह समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् बहुविषयः ॥ ४८ ॥

व्यवहारो हि कतिपयान् सत्प्रकारान् प्रकाशयतीत्यल्पविषयः, संग्रहस्तु सकलसत्प्रकारायां समूहं ख्यापयतीति बहुविषयः ॥४८॥

व्यवहारात् ऋजुसूत्रो बहुविषय इति विपर्यासं निरस्यन्ति-

वर्त्तमानविषयादृजुसूत्राद्व्यवहारस्त्रिकालविषयाऽवलम्बित्वादनल्पार्थः ॥ ४९ ॥

वर्तमानक्षणमात्रस्थायिनमर्थमृजुसूत्रः सूत्रयतीत्यसावल्पविषयः, व्यवहारस्तु कालत्रितयवर्त्यर्थजातमवलम्बत इत्ययमनल्पार्थ इति॥ ४९ ॥

ऋजुसूत्राच्छब्दो बहुविषय इत्याशङ्कामपसारयन्ति-

कालाऽऽदिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थः ॥ ५० ॥

शब्दनयो हि कालाऽऽदिभेदाद्भिन्नमर्थमुपदर्शयतीति स्तोकविषयः, ऋजुसूत्रस्य कालाऽऽदिभेदतोऽप्यभिन्नमर्थं सूचयतीति बहुविषय इति ॥ ५० ॥

शब्दात्समभिरूढो महार्थ इत्यारेकां पराकुर्वन्ति-

प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययाऽनुयायित्वात् प्रभूतविषयः ॥ ५१ ॥

समभिरूढनयो हि पर्यायशब्दानां व्युत्पत्तिभेदेन भिन्नार्थतामर्थयत इति तनुगोचरोऽसौ, शब्दनयस्तु तेषां तद्भेदेनाऽप्येकार्थतां समर्थयत इति समधिकविषयः ॥ ५१ ॥

समभिरूढादेवम्भूतो भूमविषय इत्यप्याकूतं प्रतिक्षिपन्ति-

प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात्समभिरूढस्तदन्यथाऽर्थस्थापकत्वान्महागोचरः ॥ ५२ ॥

एवंभूतनयो हि क्रियाभेदेन भिन्नमर्थं प्रतिजानीत इति तुच्छविषयोऽसौ, समभिरूढस्तु तद्भेदेनाऽप्यभिन्नं भावमभिप्रैतीति प्रभूतविषयः ॥ ५२ ॥

अथ यथा नयवाक्यं प्रवर्त्तते तथा प्रकाशयन्ति-

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्त्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥

नयवाक्यम्-प्राग्लक्षितविकलाऽऽदेशस्वरूपं; न केवलं स कलाऽऽदेशस्वभावं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दोऽर्थः। स्वविषये स्वाऽभिधेये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां परस्परविभिन्नार्थनय-युग्मसमुत्थविधाननिषेधाभ्यां कृत्वा सप्तभङ्गीमनुगच्छति, प्रमाणसप्तभङ्गीवदेतद्विचारः कर्त्तव्यः, नयसप्तभङ्गीष्वपि प्रतिभङ्गं स्यात्कारस्यैवकारस्य च प्रयोगसद्भावात्। तासां विकलाऽऽदेशत्वादेव सकलाऽऽदेशाऽऽत्मिकायाः प्रमाणसप्तभङ्ग्या विशेषव्यवस्थापनात्। विकलाऽऽदेशस्वभावा हि नयसप्तभङ्गी, वस्त्वंशमात्रप्ररूपकत्वात्; सकलाऽऽदेशस्वभावा तु प्रमाणसप्तभङ्गी सम्पूर्णवस्तुस्वरूपप्ररूपकत्वादिति ॥ ५३ ॥ रत्ना० ७ परि०।

यावदेवंभेदाभेदरूपं वस्तूपदर्श्य भेदस्य पर्यायार्थिकविषयस्य द्वैविध्यमाह-

सो पुण समासओ चिय, वंजणणियओ य अत्थणियओ य।
अत्थगओ य अभिण्णो, भइयव्वो वंजणवियप्पो ॥ ३० ॥

स पुनर्विभागः समासतः संक्षेपतो व्यञ्जननियतः शब्दनयनिबन्धनोऽर्थनियतश्चार्थनयनिबन्धनश्च, तत्राऽर्थगतस्तु विभागोऽभिन्नः संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रार्थप्रधाननयाविषयोऽर्थपर्यायोऽभिन्नोऽसदद्रव्यातीतानागतव्यवर्च्छिन्नाभिन्नार्थपर्यायरूपत्वात्तद्विषया नया अप्यर्थगतो विभागोऽभिन्न इत्युच्यते।

भाज्यो व्यञ्जनविकल्प इति विकल्पितः शब्दपर्यायो भिन्नोऽभिन्नश्चानेकाभिधान एकः, एकाभिधानश्चैक इति कृत्वा समानलिङ्गसंख्याकालाऽऽदिरनेकशब्दो घटः कुटः कुम्भ इत्यादिक एकार्थ इति शब्दनयः। समभिरूढस्तु-भिन्नाभिधेयौ घटकुटशब्दौ भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वाद्रूपरसाऽऽदिशब्दवदित्येकार्थ एकशब्द इति मन्यते। एवंभूतस्तु चेष्टासमय एव घटो घटशब्दवाच्यः, अन्यथा-ऽतिप्रसङ्गात्।

तदेवमभिन्नोऽर्थो वाच्योऽस्य त्वभिन्नार्थो घटशब्द इति
मन्यते यत्तदन्यतो विभक्तेन स्वरूपेणैकमनेकं च
वस्तूक्तं तदनन्तप्रमाणमित्याख्यातुमाह-

एगदवियम्मि जे अ-त्थपज्जवा वयणपज्जवा वा वि।
तीयाऽणागयभूया, तावइयं तं हवइ दव्वं॥ ३१॥

एकस्मिन् जीवाऽऽदौ द्रव्येऽर्थपर्याया अर्थग्राहकाः सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्यास्तद्ग्राह्या वाऽर्थभेदा वचनपर्यायाः शब्दनयाः शब्दसमभिरूढैवंभूतास्तत्परिच्छेद्या वस्त्वंशा वा, ते चातीताऽनागतवर्त्तमानरूपतया सर्वदा विवर्तन्ते, विवृताः, विवर्तिष्यन्त इति, तेषामानन्त्याद्वस्त्वपि तावत्प्रमाणं भवति॥ तथाहि-अनन्तकालेन सर्वेण वस्तुना सर्वावस्थानां परस्परानुगमेनासादितत्वादवस्था-तुश्चावस्थानां कथञ्चिदनन्यत्वाद् घटाऽऽदिवस्तु कुट्पुरुषाऽऽदिरूपेणाऽपि कथञ्चिद्विकृतमिति सर्वं सर्वाऽऽत्मकं कथञ्चिदिति स्थितम्। दृश्यते चैकं पुद्गलद्रव्यमतीतानागतवर्त्तमानद्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषपरिणामाऽऽत्मकं युगपत्क्रमेणापि तत्तथाभूतमेव, एकान्तासत उत्पादायोगात्, सतश्च निरन्वयविनाशासंभवादिति प्रतिपादितत्वात्।

एवं तावद् बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधस्याऽपि वस्तुनोऽनेकान्ताऽऽत्मकत्वं प्रतिपाद्य तत्प्रतिपादनवाक्यनयानामपि तथाविधमेव स्वरूपं नान्यादृग्भूतमस्तीति प्रतिपादयन्नाह-

पुरिसम्मि पुरिससद्दो, जम्माऽऽई मरणकालपज्जंतो।
तस्स उ बालाऽऽईया, पज्जवजोया बहुवियप्पा॥ ३२॥

अथवा-अर्थव्यञ्जनपर्यायैः शक्तिव्यक्तिरूपैरनन्तरैरनुगतोऽर्थः सविकल्पो, निर्विकल्पकश्च। प्रत्यक्षतोऽवगत इति इदानीं पुरुषदृष्टान्तद्वारेण व्यञ्जनपर्यायं तदविकल्पत्वनिबन्धनमर्थपर्यायं च। तत्र सविकल्पत्वनिमित्तमाह-'' पुरिसम्मि '' इत्यादिना सूत्रेण, अतीतानागतवर्तमानानन्तार्थव्यञ्जनपर्यायाऽऽत्मके पुरुषवस्तुनि पुरुष इति शब्दो यस्याऽसौ पुरुषशब्दस्तद्वाच्योऽर्थो जन्माऽऽदिर्मरणपर्यन्तोऽभिन्न इत्यर्थः, पुरुष इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययव्यवहारप्रवृत्तेः। तस्यैव बालाऽऽदयः पर्याययोगाः परिणतिसंबन्धा बहुविकल्पा अनेकभेदाः प्रतिक्षणसूक्ष्मपरिणामान्तर्भूता भवन्ति, तत्रैव तथा व्यतिरेकज्ञानोत्पत्तेः। एवं च स्यादेक इत्यविकल्पः, स्यादनेक इति सविकल्पः सिद्धः। अन्यथाऽभ्युपगमे तदभाव एवेति विपक्षः '' अत्थि त्ति णिव्वियप्पं (३३)'' इत्यनन्तरगाथया बाधां दर्शयिष्यति, द्वितीयपातनिकया न। गाथार्थस्तु-पुरुषवस्तुनि पुरुषध्वनिर्व्यञ्जनपर्यायः, शेषो बालाऽऽदिधर्म्मकलापोऽर्थपर्याय इति गाथासमुदायार्थः। ननु कोऽयं पुरुषशब्दः, कथं वा शब्दोऽर्थस्य पर्यायः, ततोऽत्यन्तभिन्नत्वाद् घटस्येव पटः॥ (३२) सम्म० १ काण्ड।

यच्च कथं शब्दो वस्त्वन्तरत्वात्पुरुषाऽऽदेर्वस्तुनो धर्मः? येनाऽसौ तस्य व्यञ्जनपर्यायो भवेदित्युक्तम्। तत्र नामनयाऽभिप्रायात् '' नामनामवतोरभेदात् '' पुरुषशब्द एव पुरुषार्थस्य व्यञ्जनपर्यायः। यद्वा-पुरुष इति शब्दो वाचको यस्याऽर्थगततद्वाच्यधर्मस्यासौ पुरुषशब्दः, स चाभिधेयपरिणामरूपो व्यञ्जनपर्यायः कथं नाऽर्थधर्म्मः, स च व्यञ्जनपर्यायः पुरुषोत्पत्तेरारभ्याऽऽपुरुषविनाशाद्- भवतीति जन्माऽऽदिर्मरणसमयपर्यन्त उक्तः, तस्य तु बालाऽऽदयः पर्याययोगा बहुविकल्पाः, तस्य पुरुषाभिधेयपरिणामवतो बाल-कुमाराऽऽदयस्तत्रोपलभ्यमाना अर्थपर्याया भवन्त्यनन्तरूपाः।

एवं च पुरुषो व्यञ्जनपर्यायेणैको, बालाऽऽदिभिस्त्वर्थपर्यायैरनेको, यथा पुरुषस्तथा सर्वं वस्त्वेकमनेकं वा, सर्वस्य तथैवोपल-ब्धेः, अन्यथाऽभ्युपगमे एकान्तरूपमपि तन्न भवेदिति दर्शयन्नाह-

अत्थि त्ति णिव्वियप्पं, पुरिसं जो भणइ पुरिसकालम्मि।
सो बालाऽऽइवियप्पं, न लहइ तुल्लं वयावेज्जा॥ ३३॥

अस्तीत्येवं निर्विकल्पं निष्क्रान्ताशेषभेदस्वरूपं पुरुषमेकरूपं पुरुषद्रव्यं यो ब्रवीति पुरुषकाले पुरुषोत्पत्तिक्षण एवाऽसौ बालाऽऽदिभेदं न लभते, बालाऽऽदिभेदरूपतया नाऽसौ स्वयमेव व्यवस्थितिं प्राप्नुयात्, नाऽपि तद्रूपतया अपरमसौ पश्येदेवं वा भेदरूपमेव तत् पुरुषवस्तु प्रसज्येत, तुल्यं वा प्राप्नुयात्, तदप्यभेदरूपं बालाऽऽदितुल्यत्वमेव भावरूपतया प्राप्नुयाद्भेदाप्रतीतावभेदस्याप्यप्रतीतेरभाव इति भावः। यद्वा-अस्तीत्येवं निर्विकल्पनिश्चिनोति विकल्पो भेदो यस्मिन् पुरुषद्रव्ये तन्निर्विकल्पं भेदरूपं पुरुषं तत्स्वरूपलाभकाले भणत्यसौ बालाऽऽदिविकल्पं न लभेत तुल्य-मिति द्रव्यतुल्यतामेवाऽसौ प्राप्नुयात्, अत्राऽपि पूर्ववत् तदग्रहे तदग्रहाद्भेदरूपताया अप्यभाव इति भावः। न चैवमेवास्तीति वक्तव्यम्, सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेरिति भेदाऽभेदरूपमेव वस्तु।

अस्यैवोपसंहारार्थमाह-

वंजणपज्जायस्स उ, पुरिसो पुरिसो त्ति णिच्चमवियप्पो।
बालाऽऽइवियप्पं पुण, पासइ से अत्थपज्जाओ॥ ३४॥

शब्दपर्यायेणविकल्पः पुरुषः, बालाऽऽदिना त्वर्थपर्यायेण सविकल्पः सिद्ध इति गाथातात्पर्यार्थः। यञ्जयति, व्यनक्ति वाऽर्थानिति व्यञ्जनं शब्दो, न पुनः शब्दनयः, तस्य ऋजुसूत्रार्थनय-विषयत्वादिति केचित्। तस्य पर्याय आ जन्मनो मरणान्तं यावद-भिन्नस्वरूपपुरुषद्रव्यप्रतिपादकत्वं, तद्वशेन तत्प्रतिपाद्यं वस्तु-स्वरूपमत्र-ग्राह्यम्, उपचारात्। एवं च द्वितयमप्येतत्पुरुषः पुरुष इत्यभेदरूपतया न भिद्यते, व्यञ्जनपर्यायमतेन पुरुषवस्तु सदाऽविकल्पं, भेदं न प्रतिपद्यत इति यावत्। बालाऽऽदिविकल्पं बालाऽऽदिभेदं पुनस्तस्यैव पश्यत्यर्थपर्याय ऋजुसूत्राऽऽद्यर्थनयः। अत्रापि विषयिणा विषय ऋजुसूत्राऽऽद्यर्थनय-विषयेऽभिन्ने पुरुषरूपे भेदे स्वरूपो निर्दिष्टः, उपचारात्। एवं चाभिन्नं पुरुषवस्तु भेदं प्रतिपद्यत इति यावत्। सम्म० १ काण्ड। स्था०।

(३५) नयेषु मिथ्यात्वसम्यक्त्वे। अथ नयोत्पादितेष्वपरिमितेषु दर्शनेषु कस्मिन् मिथ्यात्वं, कस्मिंश्च सम्यक्त्वमिति जिज्ञासायामाह-

नास्ति नित्यो न नो कर्ता, न भोक्ताऽऽत्मा न निर्वृतिः।
तदुपायश्च नेत्याहु-र्मिथ्यात्वस्थानकानि षट्॥ १२३॥

(नास्तीत्यादि) नाऽस्त्यात्मेति चार्वाकमते, न नित्य इति क्षणि-कवादिमते, न कर्ता न भोक्तेति साङ्ख्यमते। यद्वा-न कर्तेति साङ्ख्यमते, न भोक्तेत्युपचरितभोक्तृत्वस्यानभ्युपगमात् वेदान्तिमते, नास्ति निर्वृत्तिः सर्वदुःखविमोक्षलक्षणेति नास्तिकप्रायाणां सर्वज्ञानभ्युपगन्तृणां यज्वनां मते, अस्ति मुक्तिः परं तदुपायो नास्ति, सर्वभावानां नियतत्वेनाकस्मादेव भावादिति नियतिवादिमते। इत्येतानि षट् मिथ्यात्वस्थानकान्याहुः पूर्वसूरयः॥ १२३॥

षडेतद्विपरीतानि, सम्यक्त्वस्थानकान्यपि।
मार्गत्यागप्रवेशाभ्यां, फलतस्तत्त्वमिष्यते॥ १२४॥

(षडेतदिति) एतेभ्यः प्रागुक्तेभ्यो विपरीतानि षट् सम्यक्त्वस्थानकान्यपि भवन्ति-अस्त्यात्मा नित्यः कर्ता साक्षाद्भोक्ता, अस्ति मुक्तिरस्ति च तत्कारणं रत्नत्रयसाम्राज्यमिति। तदिदमुक्तम्- '' अत्थि जिओ तह णिच्चो, कत्ता भुत्ता स पुन्नपावाणं। अत्थि धुवं णिव्वाणं, तस्सोवाओ अ छट्ठाणा॥ १॥ '' इति चार्वाकाऽऽदिपक्षनिरासश्चातिभूयानिति लताऽऽदित एव तदवगमो विधेयः। नयो०।

नयाः समुदिताः सम्यक्त्विनः। आद्यस्तुतिकारोऽप्यवोचत-
'' नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे,
रसोपविष्टा इव लोहधातवः।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो,
भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः॥१॥''आ० म० १ अ०१ खण्ड।

अधुना परदर्शनानां परस्परविरुद्धाऽर्थसमर्थकतया मत्सरित्वं प्रकाशयन् सर्वज्ञोपज्ञसिद्धान्तस्यान्योऽन्यानुगतसर्वनयमयतया मात्सर्यभावमाविर्भावयति-

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्,
यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्-
न्न पक्षपाती समयस्तथा ते॥ ३०॥

प्रकर्षेणोद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादाः। यथा येन प्रकारेण, परे भवच्छासनादन्ये, प्रवादाः दर्शनानि मत्सरिणः-अतिशायने मत्वर्थीयविधानात् सातिशयाऽसहनताशालिनः क्रोधकषायकलुषितान्तःकरणाः सन्तः पक्षपातिनः इतरपक्षतिरस्कारेण स्वकक्षीकृतपक्षव्यवस्थापनप्रवणा वर्तन्ते। कस्माद्धेतोर्मत्सरिणः ? इत्याह-अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्। पच्यते व्यक्तीक्रियते साध्यधर्मवैशिष्ट्येन हेत्वादिभिरिति पक्षः-कक्षीकृतधर्म-प्रतिष्ठापनाय साधनोपन्यासः। तस्य प्रतिकूलः पक्षः प्रतिपक्षः। पक्षस्य प्रतिपक्षो विरोधी पक्षः, तस्य भावः पक्षप्रतिपक्षभावः। अन्योऽन्यं परस्परं यः पक्षप्रतिपक्षभावः पक्षप्रतिपक्षत्वमन्योऽन्य-पक्षप्रतिपक्षभावस्तस्मात्। तथाहि-य एव मीमांसकानां नित्यः शब्दः इति पक्षः, स एव सौगतानां प्रतिपक्षः, तन्मते शब्दस्याऽ-नित्यत्वात्। य एव सौगतानाम्-अनित्यः शब्दः इति पक्षः, स एव मीमांसकानां प्रतिपक्षः। एवं सर्वप्रयोगेषु योज्यम्। तथा तेन प्रकारेण, ते तव, सम्यग् एति गच्छति शब्दोऽर्थमनेनेति '' पुन्नाम्नि घः '' ॥ ५। ३। १३०॥ समयः सङ्केतः। यद्वा-सम्यगवैपरीत्येनाऽऽय्यन्ते ज्ञायन्ते जीवाऽजीवाऽऽदयोऽर्था अनेनेति समयः सिद्धान्तः। अथवा-सम्यगयन्ते गच्छन्ति जीवाऽऽदयः पदार्थाः स्वस्मिन् रूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन्निति समय आगमः। न पक्षपाती नैकपक्षानुरागी। पक्षपातित्वस्य हि कारणं मत्सरित्वं परप्रवादेषु-क्तम्। त्वत्समयस्य च मत्सरित्वाभावान्न पक्षपातित्वम्। पक्षपातित्वं हि मत्सरित्वेन व्याप्तम्। व्यापकं च निवर्तमानं व्याप्यमपि निवर्तयतीति मत्सरित्वे निवर्त्तमाने पक्षपातित्वमपि निवर्तत इति भावः। ' तव समयः ' इति वाच्यवाचकभावलक्षणे संबन्धे षष्ठी। सूत्रा-पेक्षया गणधरकर्तृकत्वेऽपि समयस्याऽर्थापेक्षया भगवत्कर्तृकत्वाद्वाच्यवाचकभावो न विरुध्यते-'' अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं। '' (१११६) इति (भाष्य) वचनात्। अथवा-उत्पादव्ययध्रौव्यप्रपञ्चः समयः, तेषां च भगवता साक्षान्मातृकापदरूपतयाऽभिधानात्। तथा चार्षम्-'' उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा '' इत्यदोषः। मत्सरित्वाभावमेव विशेषणद्वारेण समर्थयति-'' नयानशेषानविशेषमिच्छन् '' इति। अशेषान् समस्तान्नयान् नैगमाऽऽदीन् अविशेषं निर्विशेषं यथा भवत्येवमिच्छन्नाकाङ्क्षन्, सर्वनयाऽऽत्मकत्वादनेकान्तवादस्य। यथा विशकलितानां मुक्तामणीनामेकसूत्रानुस्थूतानां हारव्यपदेशः, एवं पृथगभिसंधीनां नयानां स्याद्वादलक्षणैकसूत्रप्रोतानां श्रुताऽऽख्यप्रमाणव्यपदेश इ-ति। ननु प्रत्येकं नयानां विरुद्धत्वे कथं समुदितानां निर्विरोधिता ? उच्यते-यथा हि समीचीनं मध्यस्थं न्यायनिर्णेतारमासाद्य परस्परं विवदमाना अपि वादिनो विवादाद्विरमन्ति, एवं नया अन्योऽन्यं वैरायमाणा अपि सार्वज्ञं शासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयोगोपशमितविप्रतिपत्तयः सन्तः परस्परमत्यन्तसुहृद्भूपतयाऽवतिष्ठन्ते। एवं च सर्वनयाऽऽत्मकत्वे भगवत्समयस्य सर्वदर्शनमयत्वमविरुद्धमेव, नयरूपत्वाद्दर्शनानाम्। न च वाच्यम्, तर्हि भगवत्समयस्तेषु कथं नोपलभ्यत इति ? समुद्रस्य सर्वसरिन्मयत्वेऽपि विभक्तासु तास्वनुपलम्भात्।

तथा च वक्तृवचनयोरैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः-
'' उदधाविव सर्वसिन्धवः,
समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते,
प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ''॥ १॥

अन्ये त्वेवं व्याचक्षते-यथा-' अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्परे प्रवादा मत्सरिणस्तथा तव समयः सर्वनयान् मध्यस्थतयाऽङ्गीकुर्वाणो न मत्सरी। यतः कथंभूतः ? पक्षपाती, पक्षमेकपक्षाभिनिवेशं पातयतीतिरस्करोतीति पक्षपाती, रागस्य जीवनाशं नष्टत्वात्।' अत्र च व्याख्याने मत्सरीति विधेयपदं, पूर्वस्मिंश्च पक्षपातीति विशेषः। अत्र च क्लिष्टाक्लिष्टव्याख्यानविवेको विवेकिभिः स्वयं कार्य इति काव्यार्थः॥ ३०॥ स्या०। अष्ट०। सम्म०। न कारणमेव कार्यं परिणामो वा, परिणामो न कार्यं नापि कारणम्, अपि तु द्रव्यमात्रं तत्त्वमिति, तदेव वेति नियमेनैकान्ताभ्युपगमे सर्वं एवैते मिथ्यावादाः, उक्तन्यायेन नियमेन मिथ्यात्वमित्यभिधानात्। कथञ्चिदभ्युपगमे सम्यग्वाद एवैते। इत्युक्तं भवति-यत उत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकत्वे वस्तुनः स्थिते, तद्वस्तु तत्तदपेक्षया कार्यमकार्यं च कारणमकरणं च कारणे कार्यं सच्चासच्च कारणं कार्यकाले विनाशवदविनाशवच्च, तथैव प्रतीतेः, अन्यथा चाप्रतीतेः। अत एकान्तरूपस्य वस्तुनोऽभावात् सर्वेऽपि नयाः

स्वविषयपरिच्छेदसमर्था अपीतरनयविषयव्यवच्छेदेन स्वविषये वर्त्तमाना मिथ्यात्वं प्रतिपद्यन्त इत्युपसंहरन्नाह-

णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वनया परवियालणे मोहा।
ते पुण ण दिट्ठसमओ, विभइ य सच्चे व अलिए वा॥ २८॥

निजकवचनाये स्वांशे परिच्छेद्ये सत्याः सम्यग्ज्ञानरूपाः सर्व एव नयाः संग्रहाऽऽदयः परविचालने परविषयोत्खनने मोहाः मह्यन्तीति मोहा मिथ्याप्रत्ययाः, परविषयस्याऽपि सत्यत्वेनोन्मूलयितुमशक्यत्वात् तदभावे स्वविषयस्याऽप्यव्यवस्थितेस्ततश्च परविषयस्यासत्त्वे स्वविषयस्याप्यसत्त्वात्। तत्प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमेव, तद्व्यतिरिक्तग्राह्य-ग्राहकप्रमाणस्य वा भावात्तानेव नयान् पुनः-शब्दस्यावधारणार्थत्वात्, नेति प्रतिषेधे, विभजनक्रियाया दृष्टः समयः सिद्धान्तवाच्यमनेकान्ताऽऽत्मकं वस्तुतत्त्वं येन पुंसा स तथा सन् विभजते सत्येतरतया स्वेतर-विषयमवधारयमाणोऽपि तथा तन्नैव विभजते। अपि त्वितरनय-विषयसव्यपेक्षमेव स्वनयाऽभिप्रेतं विषयं सत्यमेवावधारयतीति यावद् ग्राह्यसत्यासत्ये इत्येव-मभिधानम्। तच्च दृष्टाऽनेकान्तत्वस्य विभजनम्, स्यादस्त्येव द्रव्यार्थत इत्येवंरूपः।

अतो नयप्रमाणाऽऽत्मकैकरूपताव्यवस्थितमात्मस्वरूपमनुगत-व्यावृत्ताऽऽत्मकमुत्सर्गापवादरूपग्राह्यग्राहकाऽऽत्मकत्वाद् व्यवतिष्ठत इत्यर्थप्रदर्शनायाऽऽह-

दव्वट्ठियवत्तव्वं, सव्वं सव्वेण णिच्चमवियप्पं।
आरद्धो अविभागो, पज्जववत्तव्वमग्गो य॥ २९॥

यत् किञ्चिद् द्रव्यार्थिकस्य संग्रहाऽऽदेः सदादिरूपेण व्यवस्थितं वस्तु वक्तव्यं परिच्छेद्यं तत्सर्वं सर्वेण प्रकारेण नित्यं सर्वकालमविकल्पं निर्भेदं, सर्वस्य सदविशेषाऽऽत्मकत्वात्। तच्च भेदेन संपृक्तमिति दर्शयितुमाह-आरब्धश्चाविभागः, स एवाविभागः सत्तारूपो यो द्रव्याऽऽदिनाऽऽकारेण प्रस्तुतः, चशब्दस्य प्रक्रान्ताविभागान्न कर्षणार्थत्वात्; पर्यायवक्तव्य-मार्गश्च पर्यायार्थिकस्य यद्वक्तव्यं विशेषस्तस्य मार्गः पन्थाः जातः पर्यायार्थिकपरिच्छेद्यस्वभावो विशेषः संपन्न इति। सम्म० १ काण्ड।

(३६) एवं नयस्य लक्षणसंख्याविषयान् व्यवस्थाप्येदानीं फलं स्फुटयन्ति-

प्रमाणवदस्य फलं व्यवस्थापनीयम्॥ ५४॥

प्रमाणस्येव प्रमाणवत्, अस्येति नयस्य, यथा खल्वानन्तर्येण प्रमाणस्य संपूर्णवस्त्वज्ञाननिवृत्तिः फलमुक्तम्, तथा नयस्याऽपि वस्त्वेकदेशाज्ञाननिवृत्तिः फलमानन्तर्येणावधार्यम्। यथा च पार-म्पर्येण प्रमाणस्योपादानहानोपेक्षाबुद्धयः संपूर्णवस्तुविषयाः फल-त्वेनाभिहिताः, तथा नयस्याऽपि वस्त्वंशविषयाः, ताः परम्परा-फलत्वेनावधारणीयाः। तदेतद् द्विप्रकारमपि नयस्य फलं, ततः कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नं वाऽवगन्तव्यम्, नयफलत्वान्यथाऽनुपपत्तेः। कथञ्चिद्भेदाभेदप्रतिष्ठा च नयफलयोः प्रागुक्तप्रमाणफलयोरिव कुशलैः कर्त्तव्या। रत्ना० ७ परि०।

नन्वनेन संमोहहेतुना नयविचारेण मूलत एव किं प्रयोजनम्? इत्याह-

अत्थं जो न समिक्खइ, निक्खेवनयप्पमाणओ विहिणा।
तस्साजुत्तं जुत्तं, जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ॥ २२७३॥
परसमएगनयमयं, तत्पडिवक्खनयओ निवत्तेज्जा।
समए व परिग्गहियं, परेण जं दोसबुद्धीए॥ २२७४॥

यो नामस्थापनाऽऽदिद्वारेण, तथा नैगमाऽऽनियैः, प्रत्यक्षाऽऽदि-भिश्च प्रमाणैरर्थं सूक्ष्मेक्षिकया विचार्य न समीक्षते न परिभावयति, तस्याऽविचारितरमणीयतया अयुक्तं युक्तं प्रतिभाति, युक्तमपि वाऽन्यतयाऽयुक्तं प्रतिभाति, अतः कर्तव्यो नयविचारः॥२२७३॥ किञ्च-बौद्धाऽऽदिपरसमयरूपमनित्यत्वाऽऽदिप्रतिपादकस्य ऋजुसूत्राऽऽ-दिकनयस्य यन्मतं तन्नयविधिज्ञः साधुः (तप्पडिवक्ख-नयओ त्ति) तस्यानित्यत्वाऽऽदिप्रतिपादकनयस्य प्रतिपक्षभूतो नित्यत्वाऽऽदि-प्रतिपादको यो द्रव्यास्तिकाऽऽदिनयस्तस्मात्ततो निवर्त्तयेन्निराकुर्यात्। अथवा-समये स्वसिद्धान्ते, जैनागमेऽपीत्यर्थः। यदज्ञानद्वेषाऽऽदि-दोषकलुषितेन परेण दोषबुद्ध्या किमपि जीवाऽऽदिकं वस्तु परिगृहीतं भवति, तदपि नयविधिज्ञो निवर्त्तयेत्-नयोक्तिभिर्गुणरूपतया तत्स्थापयेदित्यर्थः। अस्मात्कर्त्तव्यो नयविचार इति गाथा (द्वया) ऽर्थः॥ २२७४॥

आह-किं सर्वत्र सर्वदा सर्वोऽपि कर्तव्यो नयविचा-रः? न, इत्याह-

एएहिं दिट्ठिवाए, परूवणा सुत्त-अत्थकहणा य।
इह पुण अणब्भुवगमो, अहिगारो तीहिं ओसन्नं॥ २२७५॥

एभिर्नैगमाऽऽदिभिर्नयैः सप्रभेदैर्दृष्टिवादे सर्ववस्तुप्ररूपणा सूत्रा-ऽर्थकथना च, क्रियते इति शेषः। इह पुनः कालिकश्रुतेऽनभ्युप-गमो, नावश्यं नयैर्व्याख्या कार्या। यदि च-श्रोत्रपेक्षया नवविचारः क्रियते, तदा त्रिभिराद्यैरुत्सन्नं प्रायेणात्राधिकार इति निर्युक्तिगाथार्थः॥ २२७५॥

किमिति त्रिभिरेवाऽऽद्यनयैरिहाधिकारो, न शेषैः? इत्याह-

पायं संववहारो, ववहारं तेहिंतिहिं य जं लोए।
तेण परिकम्मणत्थं, कालियसुत्ते तदहिगारो॥ २२७६॥

सुगमा। नवरं शिष्यमतिपरिकर्मणार्थं तैः स्थूलसंव्यवहारार्थ-प्रतिपादकैरेव नैगमसंग्रहव्यवहारनयैरिहाधिकार इति गाथार्थः॥ २२७६॥

आह-नन्विह पुनर्नाभ्युपगम इत्यभिधाय पुनस्त्रिनयानुज्ञा किमर्थम्? इत्याह-

नत्थि नएहिं विहूणं, सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि।
आसज्ज उ सोयारं, नए नयविसारओ बूया॥ २२७७॥

सूत्रमर्थो वा नास्ति जिनमते नयैर्विहीनं किञ्चिदपि, तथाऽप्या-चार्यशिष्याणां मतिमान्द्यापेक्षया सर्वनयविचारनिषेधः कृतः। वि-मलमतिं श्रोतारं पुनरासाद्य नयविशारदः सूरिः समनुज्ञातमाद्यन-यत्रयं शेषान् वा नयान् ब्रूयादिति निर्युक्तिगाथार्थः॥ २२७७॥

अत्र भाष्यम्-

भासिज्ज वित्थरेण वि, नयमयपरिणामणासमत्थम्मि।
तदसत्ते परिकम्मण-मेगनएणं पि वा कुज्जा॥ २२७८॥

सुगमा। नवरं वाशब्दान्नयद्वयेन त्रयेण वा शिष्यमतिपरिक-

र्मणां कुर्यात्, तथाविधमतिमान्द्ये तु नैकमपि नयं भावेत, इत्येत-दपि द्रष्टव्यमिति ॥ २२७८ ॥ तदेवमुक्तं नयद्वारम्। विशे०। अनु०।

(३७) अथवा ज्ञानक्रियानयद्वये संग्रहाऽऽदीनां समवता-रोऽतस्तत्स्वरूपमाह-

नाणाहीणं सव्वं, नाणनओ भणइ किं व किरियाए।
किरियाए करणनओ, तदुभयगाहो य सम्मत्तं ॥ ३५९१ ॥

ज्ञानाधीनमेव सर्वमैहिकाऽऽमुष्मिकं सुखम्, किमत्र क्रियया कर्तव्यम् ? युक्तिश्चैहानन्तरमेव वक्ष्यति। करणनयस्तु क्रियानयो वक्ष्यमाणयुक्तेरेव सर्वमैहिकाऽऽमुष्मिकं सुखं क्रियाया एवाऽऽधीनमिति भणति। उभय-ग्राहश्चेद सम्यक्त्वं स्थितपक्ष इति ॥ ३५९१ ॥ विशे०। आव०। सूत्र०। सम्म०। नि० चू०। अनु०। आचा०। आ० म०। विपा०। आ० चू०। (ज्ञानक्रियानयशब्दयोर्मतमनयोरवलोकनीयम्। ' अणुओग ' शब्दे प्रथमभागे ३५८ पृष्ठे ' अज्जरक्खिय ' शब्दे २१४ पृष्ठे च नयानां पार्थक्यमार्यवैरेण कृतम्)

(३८) क्वैतेषां नयानां समवतारः, क्व वाऽनवतारः ?
इति संशयापनोदार्थमाह-

मूढनइयं सुयं का-लियं तु न नया समोयरंति इहं।
अपुहत्तें समोयारो, नत्थि पुहत्ते समोयारो ॥ २२७९ ॥

मूढा अविभागस्था नया यत्र तन्मूढनयं, तदेव मूढनयिकम्, किं तत् ? कालिकं श्रुतम्-काले प्रथमचरमपौरुषीलक्षणे कालग्रहणपूर्वकं पठ्यत इति कालिकं, तत्र न नयाः समवतरन्त्यत्र प्रतिपदं न भण्यन्त इत्यर्थः। क्व पुनस्तर्ह्यमीषां समवतार आसीत्, कदा चाऽयमनवतारस्तेषामूद् ? इत्याह-(अपुहत्ते इत्यादि) चरणकरणाऽनुयोगधर्मकथाऽनुयोग-गणिताऽनुयोगद्रव्याऽनुयोगानामपृथग्भावोऽपृथक्त्वं प्रतिसूत्रमविभागेन वक्ष्यमाणेन विभागाभावेन प्रवर्तनं प्ररूपणमित्यर्थः। तस्मिन्नपृथक्त्वे नयानां विस्तरेणाऽऽसीत् समवतारः। चरणकरणाऽऽद्यनुयोगानां पुनर्वक्ष्यमाणलक्षणे पृथक्त्वे नाऽस्ति समवतारो नयानाम्, भवति वा क्वचित्पुरुषापेक्षोऽसौ। इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २२७९ ॥

भाष्यकारव्याख्या-

अविभागत्था मूढा, नय त्ति मूढनइयं सुयं तेण।
न समोयरंति संता, पइप्पयं जं न भण्णंति ॥ २२८० ॥
अपुहत्तमेगभावो, सुत्ते सुत्ते सवित्थरं जत्थ।
भण्णंतणुओगा चर-णधम्मसंखाण दव्वाणं ॥ २२८१ ॥
तत्थेव नयाणं पि हु, पइवत्थुं वित्थरेण सव्वेसिं।
देसिंति समोयारं, गुरवो भयणा पुहत्तम्मि ॥ २२८२ ॥
एगो च्चिय देसिज्जइ, जत्थऽणुओगो न सेसया तिण्णि।
संता वि तं पुहत्तं, तत्थ नया पुरिसमासज्ज ॥ २२८३ ॥

चतस्रोऽपि गतार्थाः, नवरं प्रथमगाथोत्तरार्द्धे यद्यस्मात्सन्तोऽपि प्रतिपदं न भण्यन्ते, अपृथक्त्वं किमुच्यते ? इत्याह-एक-भावः। एकभावमेव विवृणोति-(सुत्ते सुत्त इत्यादि) यत्र सूत्रे सूत्रेऽनुयोगा व्याख्यानानि भण्यन्ते। केषाम् ? इत्याह-(चरणेत्यादि) संख्यानं गणितमुच्यते। ततश्चेदमत्र हृदयम्-यत्रैकैकस्मिन् सूत्रे चरणकरणाऽनुयोगः, धर्म्मकथानुयोगः, गणितानुयोगः, द्रव्यानु-योगश्च सविस्तरं व्याख्यायते, न तु वक्ष्यमाणेन पार्थक्येन तदपृथ-क्त्वमिति शेषः। पृथक्त्वं तु किमुच्यते ? इत्याह-(एगो च्चिय इत्यादि) इदं च '' कालियसुयं च '' (२२९४) इत्यादिवक्ष्यमाणगाथायां व्यक्तीभविष्यतीति इयं च गाथा ग्रन्थतोऽवसेया, नेह गृहीता ॥ २२८० ॥ २२८१ ॥ २२८२ ॥ २२८३ ॥

आह-क्रियन्तं कालं यावत्पुनरिदं पृथक्त्वमासीत् ? कुतो वा पुरुषविशेषादारभ्य पृथक्त्वमभूदित्याह-

जावंति अज्जवइरा, अपुहत्तं कालियाऽणुओगस्स।
तेणाऽऽरेण पुहत्तं, कालियसुय दिट्ठिवाए य ॥ २२८४ ॥

यावदार्यवैरा गुरवो महामतयस्तावत्कालिकश्रुताऽनुयोगस्या-पृथक्त्वमासीत्, तदा व्याख्यातृणां च तीक्ष्णप्रज्ञत्वात्। कालिकग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यथोत्कालिकेऽपि सर्वत्र प्रतिसूत्रं चत्वारोऽप्यनुयोगास्तदानीमासन्नेवेति। तदारतस्त्वार्यरक्षितेभ्यः समारभ्य कालिकश्रुते दृष्टिवादे चाऽनुयोगानां पृथक्त्वमभूत्। इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २२८४ ॥

भाष्यम्-

अपुहत्तमासि वइरा, जावं ति पुहत्तमारओऽमिहिए।
के ते आसि कया वा, पसंगओ तेसिमुप्पत्ती ॥ २२८५ ॥

आर्यवैराद् यावदपृथक्त्वमासीत्, तदारतस्तु पृथक्त्वमुक्तम्; एतस्मिं-श्चाऽभिहिते क एते आर्यवैराः, कदा च ते आसन् ? इति विनेयपृच्छायां प्रसङ्गत आर्यवैराणामुत्पत्तिरुच्यत इति गाथार्थः ॥ २२८५ ॥ विशे०। ('अज्जरक्खिय ' शब्दे २१२ पृष्ठे सर्वं वृत्तम्)

नयविभागे विशेषतः कारणमाह-

सविसयमसद्दहंता, नयाण तम्मत्तयं च गिण्हंता।
मण्णंता य विरोहं, अपरीणामाऽतिपरिणामा ॥ २२९२ ॥
गच्छेज्ज मा हु मिच्छं, परिणामा य सुहुमाइबहुभेए।
होज्जाऽसत्ते घेत्तुं, न कालिए तो नयविभागो ॥ २२९३ ॥

(सविसयेत्यादि) इह शिष्यास्त्रिविधाः। तद्यथा-अपरिणामाः, अतिपरिणामाः, परिणामाश्चेति। तत्राऽविपुलमतयोऽगीतार्था अप-रिणतजिनवचनरहस्या अपरिणामाः। अतिव्याप्त्याऽपवाददृष्टयो-ऽतिपरिणामाः। सम्यक्परिणतजिनवचनास्तु मध्यस्थवृत्तयः परिणामाः। तत्र ये अपरिणामास्ते नयानां यः स्वः स्व आत्मीय आत्मीयो विषयो '' ज्ञानमेव श्रेयः क्रिया चाऽश्रयेः '' इत्यादिकः, तमश्रद्दधानाः। ये त्वतिपरिणामास्तेऽपि यदेवैकेन नयेन क्रिया-ऽऽदिकं वस्तु प्रोक्तं तदेव तन्मात्रं प्रमाणतया गृह्णन्त एकान्तनित्याऽऽदिकवस्तुप्रतिपादकनयानां च परस्परविरोधं मन्वाना मिथ्यात्वमागच्छेयुः, येऽप्युक्तस्वरूपाः परिणामाः शिष्यास्ते यद्यपि मिथ्यात्वं न गच्छन्ति, तथाऽपि विस्तरेण नयैर्व्याख्यायमानैर्ये सूक्ष्माः सूक्ष्मतराश्च तद्भेदाः, तान् गृहीतुमशक्ता असमर्था भवेयुरिति मत्वा तत आर्यरक्षितसूरिभिः कालिक इत्युपलक्षणत्वात्सर्वस्मिन्नपि श्रुते नयविभागो विस्तरव्याख्यारूपो न कृत इति गाथा (द्वया) र्थः ॥ २२९२ ॥ २२९३ ॥ विशे०। आ० चू०। आ० क०। आ० म०। अभिप्रायविशेषे, चं० प्र० १ पाहु०। आ० म०। न्याये, औ०। नीतौ च। विशे०।

(३६) तमेव नयमष्टप्रकारमाह-

आलोयणा य विणए, खेत्त दिसाऽभिग्गहे य काले य।
रिक्खगुणसंपदा वि य, अभिवाहारे य अट्ठमए॥ ३३६६॥

इहाऽऽभिमुख्येन गुरोरात्मदोषप्रकाशनमालोचना; विनयश्च बाह्य आसनादानाभ्युत्थानाऽऽदिः, अन्तरङ्गस्तु बहुमानाऽऽदिः; तथा क्षेत्रभिक्षुक्षेत्राऽऽदि, तथा दिगभिग्रहश्च वक्ष्यमाणलक्षणः, कालश्च दिवसाऽऽदिः, तथा ऋक्षसंपन्नक्षत्रसंपदिति, गुणाः प्रियधर्मत्वाऽऽदयः, तत्संपत्प्राप्तिरिति; अभिव्यावहरणमभिव्याहारः कालिकाऽऽदिश्रुतविषय उद्देशसमुद्देशाऽऽदिरिति। अयं चाऽष्टमो नय इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः॥ ३३६६॥ विशे०। आ० म०। औ०। (आलोचनाऽऽदिनयानां विवरणं 'सामाइय' शब्दे दर्शयिष्यामि) द्यूतभेदे, कर्त्तरि अच्। नेतरि, न्याय्ये च। त्रि०। वाच०।

णयकप्प पुं०(नयकल्प) नयतत्त्वसमाचारे, पं० चू०।

....., णयकप्पमियाणि वोच्छामि॥
सव्वेसिं पि णयाणं, आदेसणयंतरं पि सट्ठाणे।
एस णयंतरकप्पो, पुव्वणएँ विसालमादीसुं॥
सव्वे वि णेगमाऽऽदी, आदिस्सति जो णयो स आदेसो।
णयतो अण्हो वि णओ, णयंतरं होति णायव्वं॥
सट्ठाणे सट्ठाणे, सव्वे वलिया हंति सव्विसए।
एसो णयकप्पो तू, पुव्वगतम्मी समक्खाओ॥
उप्पयपुव्व विसालं, तमादि काउं तु सव्वपुव्वेसु।
भणतो तु णयविभागो, पच्छं चोदेति अह सीसो॥
कम्हा कालियसुत्ते, ण णया तु समोयरंति हु कहं वा ?
नयविगलें होति साहण-मोक्खस्स तु भण्हति सुणाहि॥
णयवज्जिओ वि हु अलं, दुक्खक्खयकारओ जतिजणस्स।
चरणकरणाणुओगो, तेण उ पढमं कयं दारं॥
आयारपकप्पधरो, कप्पव्ववहारधारओ अज्जो!
णयसुत्तवज्जिओ वि हू, गणपरियट्टी अणुण्हातो॥
पच्छित्तकरण अणुपालणा य भणिता उ कप्पववहारे।
एतेण सत्थधारी, गणधारी जो चरणधारी॥
अज्जो! त्ती आमंतण-णिद्देसे वा णयस्स सुत्ताइं।
जातिं तु दिट्ठिवाते, पच्छित्तं दिज्जते तह तु॥
तेहिं विणा विजाणति, आयारपकप्पधारओ जम्हा।
तम्हा तु अणुण्हातो, गणपरियट्टी तु सो णियमा॥
करणाऽणुपालयालं, पज्जवकसिणं समासतो णाणं।
करणाऽणुपालणजुतं, पज्जवकसिणं भवे तिविहं॥
दु-त्ति-पण-छक्कणयं-तरेसु सोलस हवंति ठाणाइं।
करणट्ठाणपसत्था, करणट्ठाणा उ अपसत्था॥
एयाइं ठाणाइं, दोहि वि गाहाहिँ जाइँ भणिताइं।
तेसि परूवणमिणमो, समासतो होति बोधव्वा॥
करणं तु किया होती, पडिलेहणमादि सामयारी तु।
तं पालेज्ज तु णाणेण तं च दुविहं मुणेयव्वं॥ दारं।
पज्जवकसिण समासो, पज्जवकसिणं तु चोद्दसं पुव्वा।
सामासियं पकप्पो, होति समासो मुणेयव्वो॥
पज्जवकसिणं तिविहं, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव।
एमेव समासो वि हु, तेहिँ तु पालिज्जए चरणं॥
तस्स णएहिं मग्गण, ते उ समासेण होंति दुविहा तु।
दव्वट्ठपज्जवट्ठिय-णया उ अविसेसियविसिट्ठा॥
वण्हादिससमुदियं तू, दव्वट्ठी दव्वमिच्छते णियमा।
तं चेव पज्जवणओ, दव्वाइविसेसियं इच्छे॥
अहवा वि तिण्हि वि णया, दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठिय-गुणट्ठी।
पज्जायविसेस च्चिय, सुहुमतरागा गुणा होंति॥
एगगुणकालगाऽऽदिसु, परिसंखगुणट्ठितो तु णायव्वो।
दव्वा उ गुणो णण्हे, गुणा विसेस त्ति एगट्ठा॥
आदिण्ह तिण्हि तु णया, एक्को वितिओ य होति उज्जुसुओ।
सद्दादि तिण्हि चेक्को, तिण्हि णया होंति एवं वा॥
अहवा णिग्गमसंगह-ववहारुज्जुसुएँ होंति चउरेते।
सद्दणया तिण्हि एक्को, पंच णया होंति एवं तु॥
अहवा वि होज्ज छक्कं, णेगमोँ संगाहिगो असंगाही।
संगहिगो संगहं तू, ववहारपविट्ठऽसंगाही॥
तम्हा तु संगहणओ, ववहारो चेव होति उज्जुसुओ।
सद्दो य समभिरूढो, एवंभूतो य छ त्तु णया॥
एतेहिं पुण सव्वे, वी दुग-तिग-पण-छक्क-मेलिया संता।
सोलस णयंतराइं, समासओ होंति एयाइं॥
जदि कुणति दवियकप्पं, एतेहिँ णयंतरेहिँ तु विसुद्धं।
करणट्ठाणेँ पसत्था, ते खलु होंती मुणेयव्वा॥
अकरंते अपसत्था, कप्पे स णयंतरे समक्खाओ। पं० भा०।

इयाणिं नवंतरकप्पो-गाहा-(सव्वेसिं पि नयाणं) आदेसनओजो जाणओ आइस्सइ। नयंतरं नाम-नयाओ नयस्स अंतरं। एस णयंतरकप्पो पुव्वनए भणिओ विसालाइसु, उप्पयपुव्वमेव विसालं। तत्थ किर सव्वाणि वि आकरिरिसिज्जंति। आह-कालियसुत्ते कम्हा नया न समोयरंति? उच्यते-(नयवज्जिओ वि हु अलं गाहा) सिद्धम्, नयाइति कोऽर्थः? नयन्तीति नयाः। अथवा-नयः नीतिमार्गः, पन्थाः, दृष्टिग्राहक इत्यर्थः। ते च नैगमाऽऽद्याः जीवाऽऽदयः पदार्थाः विविधैः प्रकारैः नयन्ति उववादयंति उपदर्शयन्तीत्यर्थः। तेषां च दृष्टिवादे समवतारः। आह-अस्मिन् चरणकरणाऽनुयोगनयवादेऽप्यनभिज्ञानां कथं चरणविशुद्धिर्भवति? उच्यते-श्रूयताम्। (आयारपकप्पधरो गाहा) आचरणमाचारः, क्रिया इत्यर्थः। स चाऽष्टप्रकारः-पञ्चसमितयः, गुप्तित्रयम्। एष चारित्राचारः। आचारप्रकल्पधरो नाम-निशीथेषु सूत्रार्थधर इत्यर्थः। किं च-कल्पव्यवहारधरश्च। अज्जो! त्ति आमन्त्रणे निर्देशो वा(नयसुत्तवज्जिओ त्ति) नयन्तीति नयाः, हुः पादपुरणे। दुक्खक्खयकारओ जम्हा एएण गणपरियट्टी अणुण्हाओ। आह-कहमनुज्ञातः? गाहा-(पच्छित्तकरण) जम्हा पायच्छित्तकरणं अणुपालयंति, तम्हा यणो

अणुपालिज्जइ, तं पकप्पयकप्पववहारेसु भणियं, एएण सत्थधारी जो सो गणपरियट्टी अणुण्हाओ चरणजुत्तो जइ भवइ । गाहा-(करणाणुपालगाणं) तं दुविहं-पज्जवकसिणं, समासतश्च । पज्जवकसिणं नामचोद्दसपुव्वाणि समासओ आयारपकप्पो, समासः संक्षेप इत्यर्थः । यथा समुद्रभूतस्तडागः, चन्द्रमुखी देवदत्ता, सिंहो माणवकः; एकदेशेनाप्यौपम्यं क्रियते । चतुर्दशपूर्वधरः, सर्वपर्यायेषु सूत्रार्थेषु ये चरणकरणाऽऽदयः पदार्थाः, तान् प्रज्ञापयितुं समर्थः । आचारकल्पधरस्त्वेकदेशतः । दोण्ह वि चरणकरणं अणुपालेउं समत्था । तेनैकदेशाऽभिज्ञत्वं प्रतीत्य यथा समासतोऽप्यर्थधराः कल्पव्यवहाराऽऽदयो गणपरिपालनसमर्था भवन्ति । (पज्जवकसिणं तिविहं, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव) गाहा-(तिगपणग) तिगं ति दव्वट्ठियपज्जवट्ठियगुणट्ठिया । अहवा-नेगमसंगहववहारा एगं चेव, उज्जुसुओ विइओ, तइओ सद्दो । अहवा पंचनेगमसंगहववहारा, उज्जसुओ, सद्दो (छक्को त्ति) नेगमो दुविहो-संगहिओ, असंगहिओ य । संगहिओ संगहं पविट्ठो, असंगहिओ ववहारे । एए छ भवंति । एएसु नयंतरेसु सोलस ठाणाइं भवति । कयराइं ताइं सोलस ? उच्यते-छव्विहकप्पे सोलस सोलसविहो अजीवदवियकप्पो । आ-हाराइ जीवकप्पं न सोहणे त्ति । एयाइं जह करेंतो करणट्ठाणाइं पसत्थाइं, अकरेंतस्स ताणि चेव अप्पसत्थाणि । एस नयकप्पो । पं० चू० ।

णयगइ स्त्री०(नयगति) नयानां सर्वेषां परस्परसापेक्षाणां प्रमाणावाधितवस्तुव्यवस्थापने, नैगमाऽऽदीनां नयानां स्वस्वमतपोषणे च । प्रज्ञा० १६ पद ।

णयचंदसूरि पुं०(नयचन्द्रसूरि) हम्मीरमहाकाव्यरम्भामञ्जर्य्याद्यनेकग्रन्थकर्त्तर्य्याचार्य, जै० इ० ।

णयचक्क न०(नयचक्र) दिगम्बरदेवसेनकृते नयप्रतिपादके शास्त्रे, द्रव्या० ८ अध्या० । पूर्वविद्भिः सकलनयसंग्राहीणि सप्तनयशतान्युक्तानि, यत्प्रतिपादकं सप्तशतारं नयचक्राध्ययनमासीत् । उक्तं च-'' इक्केको य सयविहो, सत्त नयसया हवंति एमेव । '' (२२६४) इत्यादि । सप्तानां च नयशतानां संग्राहकाः पुनरपि विध्यादयो द्वादश नयाः, यत्प्ररूपकमिदानीमपि द्वादशारं नयचक्रमस्ति । अनु० ।

णयण न०(नयन) नी-ल्युट् । प्रापणे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । उत्त० । करणे ल्युट् । नीत्वा निवेशने, पं० सं० ५ द्वार । विशे० । लोचने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । को० । '' **वाऽक्ष्यर्थवचनाऽऽद्याः** '' ॥ ८ । १ । **३३** ॥ इति नयनशब्दस्य प्राकृते स्त्रीत्वमपि-'' नयना नयनाइं '' प्रा० १ पाद ।

णयणकीया स्त्री०(नयनकीका) नेत्रमध्यतारायाम् , रा० । ज्ञा० । औ० ।

णयणभूसणकर त्रि०(नयनभूषणकर) ६त० । नेत्राऽऽनन्दकरे, नयनयोर्हि आनन्द एव भूषणम् । कल्प० ३ क्षण ।

णयणमाला स्त्री०(नयनमाला) श्रेणीभूतजननेत्रपङ्क्तौ, भ० ६ श० ३३ उ० ।

णयणविस न०(नयनविष) दृष्टिविषे, रोषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । भ० ।

णयणामय पुं०(नयनामय) कामलाऽऽदौ नेत्ररोगे, व्य० ६ उ० ।

णयणिउण त्रि०(नयनिपुण) नैगमाऽऽदिषु नयेषु निपुणे, सम्म । नयनिपुणतया नयवक्तव्यताऽवसरे सम्यक् सप्रपञ्चवैविक्त्येन नयानभिधत्ते । सम्म० १ काण्ड ।

णयण्णु त्रि०(नयज्ञ) सर्वनयरहस्यविज्ञे, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

णयप्पमाण न०(नयप्रमाण) नया नैगमाऽऽदयः सप्त, द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकभेदात् । ज्ञाननयक्रियानयभेदाद् वा द्वौ तौ एतावेव वा प्रमाणं वस्तुतत्त्वपरिच्छेदनं नयप्रमाणम् । आपेक्षिकप्रमाकरणे, स० ५ अङ्ग । (प्रस्थाऽऽदिदृष्टान्तैर्नयप्रमाणं ' णय ' शब्दे १८७६ पृष्ठे उक्तम्)

णयप्पहाण त्रि०(नयप्रधान) नैगमाऽऽदिभिः सप्तभिः प्रत्येकं शतविधैर्नयैः शेषजनप्रधाने, यस्य वा नयाः प्रधानास्तस्मिन् , रा० ।

णयररक्खणपुर न०(नगररक्षणपुर) नासिक्यपुरस्थानभेदे, ती० २७ कल्प ।

णयरवलीवद्द पुं०(नगरबलीवर्द) वर्द्धितगवे, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

णयरी स्त्री०(नगरी) राजधानीकल्पे नगरे, यथा-आमलकल्पा । (रा०) चम्पा । औ० । सू० प्र० ।

णयविजय पुं०(नयविजय) तपागच्छे श्रीविजयदेवसूरिवराणां शिष्ये यशोविजययोपाध्यायगुरौ, श्रीहीरविजयसूरिशिष्यकल्याणविजयशिष्यलाभविजयशिष्यजीतविजयसतीर्थ्ये स्वनामख्याते आचार्ये, द्वा० ।

'' प्रकाशार्थं पृथ्व्यास्तरणिरुदयाद्रेरिह यथा,
यथा वा पाथोभृत्सकलजगदर्थं जलनिधेः ।
तथा वाराणस्याः सविधमभजन् ये मम कृते,
सतीर्थ्यास्ते तेषां नयविजयविज्ञा विजयिनः ''॥ ५ ॥ (इति यशोविजयोक्तेः) द्वा० ३२ द्वा० । प्रति० । अष्ट० । नय० ।

णयविहि पुं०(नयविधि) नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतेषु नयभेदेषु, उत्त० २८ अ० ।

णयविहिण्णु त्रि०(नयविधिज्ञ) नैगमाऽऽदीनां नयानां नीतीनां वा प्रकारज्ञे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णयसार पुं०(नयसार) प्रथमभवे पश्चिममहाविदेहे स्वनामख्याते वीरस्वामिजीवे, कल्प० २ क्षण । आ० क० ।

णयाभास पुं०(नयाऽऽभास) नयान्तरनिरक्षेपे नये दुर्नये, आ० म० १ अ० २ खण्ड । स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापिनि नये, स्या० ।

नयाऽऽभासं दर्शयन्ति-

स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाऽऽभासः ॥ २ ॥

पुनःशब्दो नयाद् व्यतिरेकं द्योतयति । नयाऽऽभासो नयप्रतिबिम्बाऽऽत्मा दुर्नय इत्यर्थः । यथा तीर्थिकानां नित्याऽनित्याऽऽद्येकान्तप्रदर्शकं सकलं वाक्यमिति ॥ २ ॥ (रत्ना०)

अथ नैगमाऽऽभासमाहुः-

धर्मद्वयाऽऽदीनायैकान्तिकपार्थक्याधिपन्धिर्नैगमाऽऽभावः ॥११॥

आदिशब्दाद् धर्मिद्वयधर्मधर्मिद्वययोः परिग्रहः । ऐकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिरैकान्तिकभेदाऽभिप्रायो नैगमाऽऽभासो नैगमदुर्नय इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अत्रोदाहरन्ति-

यथाऽऽत्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादिः ॥ १२ ॥

आदिशब्दाद्वस्त्वाख्यपर्यायवद् द्रव्याऽऽख्ययोर्धर्मिणोः सुखजीवलक्षणयोर्धर्मधर्मिणोश्च सर्वथा पार्थक्येन कथनं तदाभासत्वेन द्रष्टव्यम् । नैयायिकवैशेषिकदर्शनं चैतदाभासतया ज्ञेयम् ॥ १२ ॥ (रत्ना०)

संग्रहाऽऽभासमाहुः-

सत्ताऽद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणस्तदाभासः ॥ १७ ॥

अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानो हि परामर्शविशेषः संग्रहाख्यां लभते, न चाऽयं तथेति तदाभासः ॥ १७ ॥

उदाहरन्ति-

यथा सत्तैव तत्त्वं ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शना त् ॥ १८ ॥

अद्वैतवादिदर्शनान्यखिलानि साङ्ख्यदर्शनं चैतदाभासत्वेन प्रत्येयम् । अद्वैतवादस्य सर्वस्याऽपि दृष्टेष्टाभ्यां विरुध्यमानत्वात् ॥ १८ ॥ (रत्ना०)

व्यवहाराऽऽभासं वर्णयन्ति-

यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः ॥ २५ ॥

यः पुनः परामर्शविशेषः कल्पनाऽऽरोपितद्रव्यपर्यायप्रविवेकं मन्यते, सोऽत्र व्यवहारदुर्नयः प्रत्येयः ॥ २५ ॥

उदाहरन्ति-

यथा चार्वाकदर्शनम् ॥ २६ ॥

चार्वाको हि प्रमाणप्रतिपन्नं जीवद्रव्यपर्यायाऽऽदिप्रविभागं कल्पनाऽऽरोपितत्वेनापह्नुते, अविचारितरमणीयं भूतचतुष्टयप्रविभागमात्रं तु स्थूललोकव्यवहारानुयायितया समर्थवत इत्यस्य दर्शनं व्यवहारनयाऽऽभासतयोपदर्शितम् ॥ २६ ॥ (रत्ना०)

ऋजुसूत्राऽऽभासं ब्रुवते-

सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः ॥ ३० ॥

सर्वथा गुणप्रधानभावाभावप्रकारेण तदाभास ऋजुसूत्राऽऽभासः ॥ ३० ॥

उदाहरन्ति-

यथा तथागतमतम् ॥ ३१ ॥

तथागतो हि प्रतिक्षणविनश्वरान् पर्यायानेव पारमार्थिकतया समर्थयते, तदाधारभूतं तु प्रत्यभिक्षाऽऽदिप्रमाणप्रसिद्धं त्रिकालस्थायि द्रव्यं तिरस्कुरुत इत्येतन्मतं तदाभासतयोदाहृतम् ॥ ३१ ॥ (रत्ना०)

शब्दाऽऽभासं ब्रुवते-

तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः ॥ ३४ ॥

तद्भेदेन कालाऽऽदिभेदेन तस्य ध्वनेस्तमेवार्थभेदमेव, तदाभासः शब्दाभासः ॥ ३४ ॥

उदाहरन्ति-

यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यावयो स्त्रिकालाः शब्दा भिन्नमेवाऽर्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात् , तादृक् सिद्धान्यशब्दवदित्यादिः ॥ ३५ ॥

अनेन हि तथाविधपरामर्शोत्थेन वचनेन कृत्तनावऽदिभेदाद्भिन्नस्यैवाऽर्थस्याऽभिधायकत्वं शब्दानां व्यञ्जितम् । एतच्च प्रमाणविरुद्धमिति तद्वचनस्य शब्दनयाऽऽभासत्वम् । आदिशब्देन करोति क्रियते कट इत्यादिशब्दनयाभासोदाहरणं सूचितम् ॥ ३५ ॥ (रत्ना०)

समभिरूढनयाऽऽभासमाभाषन्ते-

पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः ॥ ३८ ॥

तदाभासः समभिरूढाऽऽभासः ॥ ३८ ॥

उदाहरन्ति-

यथेन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दया भिन्नाऽभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करिकुरङ्गतुरङ्गशब्दवदित्यादिः ॥३९॥ (रत्ना०)

एवंभूताऽऽभासमाचाक्षते-

क्रियाऽनाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपस्तु तदाभासः ॥ ४२ ॥

क्रियाऽऽविष्टं वस्तु ध्वनीनामभिधेयः प्रतिजानानोऽपि यः परामर्शस्तदनाविष्टं तत्तेषां तथा प्रतीतिपतिं न तूपेक्षते, स एवंभूतनयाऽऽभासः, प्रतीतिविघातानाऽपि ॥ ४२ ॥

उदाहरन्ति-

यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाऽऽख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्, पटवदित्यादिः ॥ ४३ ॥

अनेन हि वचसा क्रियाऽनाविष्टस्य घटाऽऽदेर्वस्तुनो घटाऽऽदिशब्दवाच्यतानिषेधः क्रियते, स च प्रमाणबाधित इति तद्वचनमेवंभूतनयाऽऽभासोदाहरणतयोक्तम् ॥ ४३ ॥ रत्ना० ७ परि० ॥

णर पुं०(नर) नृणन्ति विवेकमासाद्य नयधर्मपरा भवन्तीति नराः । कर्म० ४ कर्म० । **"वाऽऽदौ"** ॥ ८ । १ । २२९ ॥ असंयुक्तस्याऽऽदौ वर्तमानस्य नस्य णः । इति नस्य णः । प्रा० १ पाद । मनुष्ये, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आचा० । औ० । प्रश्न० । कर्म० । रा० । नराश्चतुर्विधाः-सम्मूर्छिमाः, कर्मभूमिकाः, अकर्मभूमिकाः, अन्तर्भूमिकाः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । सामान्यमनुष्ये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । रा० । प्राकृतपुरुषे, शास्त्रावबोधविकले, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । पुरुषे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । पुंसि, ध० १ अधि० । औ० ।

णरउसभ पुं०(नरवृषभ) अङ्गीकृतकार्यभरनिर्वाहकत्वाद् वृषभो-पडिते नरे, औ० ।

णरकंतप्पवाय पुं०(नरकान्तप्रपात) जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरतो रम्यकवर्षे नरकान्तानद्या उद्गमप्रपातह्रदे, स्था० ठा० ३ उ० ।

णरकंता स्त्री०(नरकान्ता) रम्यकवर्षे पूर्वार्ऽणवगामिन्यां महानद्याम्, जं० ४ वक्ष० । नरकान्ता महापुण्डरीकह्रदाद्दक्षिणतोरणेन विनिर्गत्य रम्यकवर्षं भजतीति हरिकान्तातुल्यवक्तव्या पूर्वसमुद्रमधिगता । स्था० २ ठा० ३ उ० । रा० । जं० । स० ।

णरकंताकूड न०(नरकान्ताकूट) जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरेण रुक्मिवर्षधरपर्वतस्य चतुर्थे कूटे, स्था० ८ ठा० ।

णरकिंदग पुं०(नरकेन्द्रक) सीमान्तकाऽऽदिषु नरकवरेषु, स्था० ६ ठा० ।

णरग पुं०(नरक) नरान् कायन्ति शब्दयन्ति योग्यताया अनतिक्रमेणाऽऽकारयन्ति जन्तून् स्वस्वस्थाने इति नरकाः । नं० । आ० म० । 'कै' 'गै' 'रै' शब्द इति धातोः नरान् शब्दयन्तीत्यर्थः । आव० १ अ० । पापकर्मिणां यातनास्थानेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । निरये, स्था० ४ ठा० १ उ० । रत्नप्रभाऽऽदिषु नारकोत्पत्तिस्थानेषु, उत्त० ३ अ० ।

(१) नरकपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह-

णिरए छक्कं दव्वं, णिरयाउ इहेव जे भवे असुभा ।
खेत्तं णिरओगासो, कालो णिरएसु चेव ठिई ॥ ६४ ॥
भावे उ णिरयजीवा, कम्मुदओ चेव णिरयपाओग्गो ।
सोऊण णिरयदुक्खं, तवचरणे होइ जइयव्वं ॥ ६५ ॥

''णिरए छक्कं'' इत्यादि गाथाद्वयम् । तत्र नरकशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे । द्रव्यनरक आगमतः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यक्तिरिक्तः । इहैव मनुष्यभवे, तिर्यग्भवे, केचनाऽशुभकारित्वादशुभाः सत्त्वाः कालकसौकरिकाऽऽदय इति । यदि वा-यानि कानिचिदशुभानि स्थानानि चारकाऽऽदीनि, याश्च नरकप्रतिरूपा भेदनाः, ताः सर्वा द्रव्यनरका इत्यभिधीयन्ते । यदि वा-कर्मशयनो-कर्मद्रव्यभेदाद् द्रव्यनरको द्वेधा-तत्र नरकवेद्यानि यानि बद्धानि तानि चैकभविकस्य बद्धायुष्कस्याऽभिमुखनामगोत्रस्य चाऽऽश्रित्य द्रव्यनरको भवति । नोकर्मद्रव्यनरकस्त्विहैव येऽशुभा रूपरसगन्धवर्णशब्दस्पर्शा इति ॥ क्षेत्रनरकस्तु नरकावकाशकालमहा-कालरौरवमहारौरवप्रतिष्ठानाऽभिधानाऽऽदिनरकाणां चतुरशीतिलक्षसंख्यानां विशिष्टो भूभागः ॥ कालनरकस्तु यत्र यावती स्थितिरिति ॥ भावनरकस्तु ये जीवा नरकाऽऽयुष्कमनुभवन्ति । तथा नरकप्रायोग्यः कर्मोदय इति । एतदुक्तं भवतिनरकान्तर्वर्तिनो जीवास्तथा नरकाऽऽयुष्कोदयाऽऽपादिताऽसातावेदनीयाऽऽदिकर्मोदयाश्चैतद् द्वितयमपि भावनरक इत्यभिधीयते । तदेवं श्रुत्वाऽवगम्य तीव्रमसह्यं नरकदुःखं क्रकचपाटनकुम्भीपाकाऽऽदिकं परमाऽधर्मिकाऽऽपादितं परस्परोदीरणाकृतं च, तपश्चरणे संयमाऽनुष्ठाने नरकपातपरिपन्थिनि स्वर्गापवर्गगमनैकहेतोर्वाऽऽत्महितमिच्छता प्रयतितव्यम्-परित्यक्तान्यकर्तव्येन यत्नो विधेय इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । नरकविभक्तिः समाप्ता ।

(२) नरकपृथिव्यः सप्त-

रयणप्पभा, सक्करप्पभा, वालुकप्पभा, पंकप्पभा, धूमप्पभा, तमप्पभा, तमतमप्पभा । प्रज्ञा० २ पाद ।

(३) साम्प्रतं पृथ्वीनामगोत्रं वक्तव्यम् -

पढमा णं भंते ! पुढवी किंनामा ? किंगोत्ता पण्णत्ता ? गोयमा ! घम्मा नामेणं, रयणप्पभा गोत्तेणं । दोच्चा णं भंते ! पुढवी किंनामा किंगोत्ता पण्णत्ता ? गोयमा ! वंसा नामेणं, सक्करप्पभा गोत्तेणं । एवं एतेणं अभिलावेणं सव्वासिं पुच्छा । नामाणि इमाणि-सेला तच्चा, अंजणा चउत्था, रिट्ठा पंचमा, मघा छट्ठा, माघवती सत्तमा । बालुयप्पभा० जाव तमतमप्पभा गोत्तेणं पण्णत्ता ।

तत्र नामगोत्रयोरयं विशेषः-अनादिकालप्रसिद्धमन्वर्थरहितं नाम, सान्वर्थं नाम गोत्रमिति । तत्र नामगोत्रप्रतिपादनार्थमाह-(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी किंनामा किमनादिकालप्रसिद्धान्वर्थरहितनामा ? किंगोत्रा किमन्वर्थयुक्तनामगोत्रा ? भगवानाह-गौतम ! नाम्ना घर्मेति प्रज्ञप्ता, गोत्रेण रत्नप्रभा । तथा चात्रान्वर्थमुपदर्शयन्ति पूर्वसूरयः-रत्नानां प्रभा बाहुल्यं यत्र सा रत्नप्रभा, रत्नबहुलेति भावः । एवं शेषसूत्राण्यपि प्रति-पृथिवीप्रश्ननिर्वचनरूपाणि भावनीयानि । नवरं शर्कराप्रभाऽऽदी-नामियमन्वर्थभावनाशर्कराणां प्रभा बाहुल्यं यत्र सा शर्कराप्रभा । एवं बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा इत्यपि भावनीयम् । तथा धूमस्येव प्रभा यस्यां सा धूमप्रभा । तथा तमसः प्रभा बाहुल्यं यत्र सा तमःप्रभा, तमस्तमसः प्रकृष्टतमसः प्रभा बाहुल्यं यत्र सा तमस्तमःप्रभा ।

अत्र केषुचित् पुस्तकेषु संग्रहणी गाथे-

''घम्मा वंसा सेला, अंजण रिट्ठा मघा य माघवती ।
सत्तण्हं पुढवीणं, एए नामा उ नायव्वा ॥ १ ॥
रयणा सक्कर-वालुय-पंका धूमा तमा तमतमा य ।
सत्तण्हं पुढवीणं, एए गोत्ता मुणेयव्वा'' ॥ २ ॥

(४) अधुना प्रतिपृथिवीबाहल्यमभिधित्सुराह-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी केवतिया बाहल्लेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! इमा णं रयणप्पभा पुढवी असीउत्तरं जोयणसयसहस्सं बाहल्लेणं पण्णत्ता ।

एवं एतेणं अभिलावेणं इमा गाथा अणुगंतव्वा-
'' आसीतं बत्तीसं, अट्ठावीसं तहेव वीसं च ।
अट्ठारस सोलसगं, अट्ठुत्तर हेट्ठिमया '' ॥ १ ॥

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कियद् बाहुल्येन प्रज्ञप्ता ? अत्र गोत्रेण प्रश्नो नाम्नो गोत्रं प्रधानम्, न च प्रश्नोपपन्नमिति न्यायप्रदर्शनार्थः । उक्तं च-'' न हीना वाग् सदा सतामिति । '' भगवानाह-अशीत्युत्तरम्-अशीतियोजनसहस्राभ्यधिकं योजनशतसहस्रं बाहल्येन प्रज्ञप्ता । एवं सर्वाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि ।

अत्र संग्रहणी गाथा-

''आसीणं बत्तीसं, अट्ठावीसं तहेव वीसं च ।
अट्ठारस सोलसगं, अट्ठुत्तरमेव हेठिमया ॥ १ ॥''

(५) काण्डानि-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी कतिविधा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविधा पण्णत्ता । तं जहा-खरकंडे, पंकबहुले कंडे, आवबहुले कंडे ।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कतिविधा कतिप्रकारा-कतिविभागा प्रज्ञप्ता ? भगवानाह-गौतम ! त्रिधा त्रिविभागा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-(खरकंडमित्यादि) काण्डं नाम-विशिष्टो भूभागः, खरं कठिनं पङ्कबहुलमब्बहुलं चान्वर्थतः प्रतिपत्तव्यम्। क्रमश्चैतेषामेवमेव। तद्यथा-प्रथमं खरकाण्डं, तदनन्तरं पङ्कबहुलं, ततोऽब्बहुलमिति।

(६) खरकाण्डवक्तव्यतामाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! सोलसविधे पण्णत्ते। तं जहा-रयणे, वइरे, वेरुलिए, लोहितक्खे, मसारगल्ले, हंसगब्भे, पुलए, सोइंधिए, जोतिरसे, अंजणे, अंजणपुलए, रयते, जातरूवे, अंके, फरिहे, रिट्ठे कंडे ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डं कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-गौतम ! षोडशविधं षोडशविभागं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा-(रयणे इति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् रत्नकाण्डम्-तच्च प्रथमम्, द्वितीयं वज्रकाण्डम्, तृतीयम्-वैडूर्यकाण्डम्, चतुर्थम्-लोहिताक्षकाण्डम्। पञ्चमम्-मसारगल्लकाण्डम्, षष्ठम्-हंसगर्भकाण्डम्, सप्तमम्-पुलककाण्डम्, अष्टमम्-सौगन्धिककाण्डम्, नवमम्-ज्योतीरसकाण्डम्, दश-मम्-अञ्जनकाण्डम्, एकादशमम्-अञ्जनपुलाककाण्डम्, द्वा-दशम्-रजतकाण्डम्, त्रयोदशम्-जातरूपकाण्डम्, चतुर्दशम्-अङ्ककाण्डम्, पञ्चदशम्-स्फटिककाण्डम्, षोडशम्-रिष्टकाण्डम्॥ तत्र रत्नानि कर्कतनाऽऽदीनि तत्प्रधानं काण्डं रत्नकाण्डम्, वज्ररत्नप्रधानं काण्डं वज्रकाण्डम्। एवं शेषाण्यप्येकैकं च काण्डं योजनसहस्रबाहुल्यम्।

(७) रत्नकाण्डवक्तव्यतामाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते। एवं० जाव रिट्ठे।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पंकबहुले कडे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए आवबहुले कंडे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते।

सकरप्पभाए णं भंते ! पुढवी कतिविधा पण्णत्ता ? गोयमा ! एगागारा पण्णत्ता। एवं० जाव अहे सत्तमाए।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां रत्नकाण्डं कतिविधं कतिप्रकारं, कतिविभागमिति भावः। प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-एकाकारं प्रज्ञप्तम्। एवं शेषकाण्डविषयाण्यपि प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि क्रमेण भणनीयानि। एवं पङ्कबहुलाऽब्बहुल-विषयाण्यपि। जी० ३ प्रति०। प्रज्ञा०।

(८) संप्रति प्रतिपृथिवीनरकाऽऽवाससंख्याप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए केवतिया णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! तीसं निरयावाससतसहस्सा पण्णत्ता। एवं एतेणं अभिलावेणं सव्वासिं पुच्छा।

इमा गाथा अणुगंतव्वा-

'' तीसा य पण्णवीसा, पण्णरस दसेव तिण्णि य हवंति।
पंचूण सतसहस्सं, पंचेव अणुत्तरा णरगा॥ १॥ ''

०जाव अहे सत्तमाए पंच अणुत्तरा महतिमहालया महाण-रगा पण्णत्ता। तं जहा-काले, महाकाले, रोरुए, महारोरुए, अपतिट्ठाणे॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) सुगमम्। नवरमियमत्र सङ्ग्रहणी गाथा-'' तीसा य पण्णवीसा, पण्णरस दसेव सयसहस्साइं। तिण्णेगं पंचूणं, अणुत्तरा णिरया॥ १॥ '' अधः सप्तम्यां च पृथिव्यां कालाऽऽदयो महा नरका अप्रतिष्ठानाऽभिधानकस्य नरकस्य पूर्वाऽऽदिक्रमेण। उक्तं च-'' पुव्वेण होइ कालो, अवाइणा अप्पइट्ठ महकालो। रोरू दाहिणपासे, उत्तरपासे महारोरू॥ १॥ '' रत्नप्रभाऽऽदिषु च तमःप्रभापर्यन्तासु षट्सु पृथिवीषु प्रत्येकं नरकाऽऽवासा द्विविधाः। तद्यथा-आवलिकाप्रविष्टाः, प्रकीर्णकरूपाश्च।

तत्र रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रयोदश प्रस्तटाः। प्रस्तटा नामवेश्मभूमिकाकल्पाः। तत्र प्रथमे प्रस्तटे पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु प्रत्येकमेकोनपञ्चाशत् नरकाऽऽवासाः, चतसृषु च विदिक्षु प्रत्येकमष्टचत्वारिंशत्, मध्ये च सीमान्तकाऽऽख्यो नरकेन्द्रकः, सर्वसंख्यया प्रथमप्रस्तटे नरकाऽऽवासानामावलिकाप्रविष्टानामेकोननवत्यधिकानि त्रीणि शतानि ३८९, शेषेषु व द्वादशसु प्रस्तटेषु प्रत्येकं यथोत्तरं दिक्षु विदिक्षु च एकैकनरकाऽऽवासहानिभावात् अष्टकाष्टकहीना नरकाऽऽवासा द्रष्टव्याः। ततः सर्वसंख्यया रत्नप्रभायां पृथिव्यामावलिकानरकाऽऽवासाश्चतुश्चत्वारिंशत् शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि ४४३३। शेषासु एकोनत्रिंशल्लक्षणानि पञ्चनवतिसहस्राणि पञ्चशतानि सप्तषष्ट्यधिकानि २९९५५६७ प्रकीर्णकाः। तथा चोक्तम्-'' सत्तट्ठी पंच सया, पणनउइ सहस्स लक्ख गुणतीसं। रयणाए सेढिगया, चोयालसया उ तेत्तीसं॥ १॥'' उभयमीलने त्रिंशल्लक्षा नरकाऽऽवासानाम् ३०००००।

शर्कराप्रभायामेकादश प्रस्तटाः; नरकपटलानि अधोऽधो द्वन्द्वहीनानीति वचनात्। तत्र प्रथमे प्रस्तटे चतसृषु दिक्षु षट्त्रिंशत् आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः, विदिक्षु पञ्चत्रिंशत्, मध्ये चैको नरकेन्द्रकः। सर्वसंख्यया द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके २८५, शेषेषु दशसु प्रस्तटेषु प्रत्येकं क्रमेणाधोऽधोऽष्टकाष्टकयानिः, प्रतिदिक् २ एकैकनरकाऽऽवासहानेः, ततस्तत्सर्वसंख्यया आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः षट्विंशतिशतानि पञ्चनवत्यधिकानि २६९५, शेषाश्चतुर्विंशतिलक्षाः सप्तनवतिसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि २४९७३०५ पुष्पावकीर्णकाः। उक्तं च-''सत्ताणउइ सहस्सा, चउवीसलक्ख तिसयपंचविहं। वीयाए सेढिगया, छव्वीससया उ पणनउया''॥ १॥ उभयमीलने पञ्चविंशतिलक्षा नरकाऽऽवासानाम् २५००००।

बालुकाप्रभायां नव प्रस्तटाः । प्रथमे च प्रस्तटे एकैकस्यां दिशि आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः पञ्चविंशतिः २, विदिशि चतुर्विंशतिः, मध्ये चैको नरकेन्द्रक इति। सर्वसंख्यया सप्तनवतिशतम्। शेषेषु चाष्टसु प्रस्तटेषु प्रत्येकं क्रमेणाऽधोऽधोऽष्टकहानिः। तत्र च कारणं प्रागेवोक्तम्। ततः सर्वसंख्ययाः तत्राऽऽवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाश्चतुर्दश शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि १४८५ । शेषास्तु पुष्पावकीर्णकाः चतुर्दशलक्षा अष्टानवतिसहस्राणि पञ्च शतानि पञ्चदशाऽधिकानि १४९८५१५। उक्तं च-'' पंचसया पन्नरसा, अट्ठनवइ सहस्स लक्ख चोद्दसया। तइयाए सेढिगया, पणसीया चोद्दससया उ ॥ १ ॥ '' उभयमीलने पञ्चदश लक्षा नरकाऽऽवासा-नाम् १५०००००। पङ्कप्रभायां सप्त प्रस्तटाः। प्रथमे च प्रस्तटे प्रत्येकं दिशि षोडश आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः, विदिशि पञ्चदश, मध्ये चैको नरकेन्द्रकः। सर्वसंख्यया पञ्चविंशं शतम् १२५। शेषेषु षट्सु प्रस्तटेषु पूर्ववत् प्रत्येकं क्रमेणाधोऽधोऽष्टकाष्टकहानिः, ततः सर्वसंख्यया तत्राऽऽवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः सप्त शता-नि सप्तोत्तराणि ७०७ । शेषास्तु पुष्पाऽवकीर्णका नव लक्षा नवनव-तिसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्यधिके ९९९२९३ । उक्तं च-'' ते णउया दोन्नि सया, नवनउयसहस्स नव य लक्खा य। पंकाए सेढिगया, सत्त सया दोतिसत्तहिया ॥ १ ॥ '' उभयमीलने नरकाऽऽवासानां दश लक्षाः १०००००० ।

धूमप्रभायां पञ्च प्रस्तटाः । प्रथमे च प्रस्तटे एकैकस्यां दिशि नव नव आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासा, विदिशि अष्टौ, मध्ये चैको नरकेन्द्रकः । इति सर्वसंख्यया एकोनसप्ततिः ६९ । शेषेषु च चतुर्षु प्रस्तटेषु पूर्ववत् प्रत्येकं क्रमेणाधोऽधोऽष्टकहानिः, ततः सर्वसंख्यया तत्राऽऽवलिका-प्रविष्टा नरकाऽऽवासा द्वे शते पञ्चषष्ट्यधिके, शेषाः पुष्पाऽऽवकीर्णकाः द्वे लक्षे नवनवतिसहस्राणि सप्त शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि २९९७३५ । उक्तं च-'' सत्त सया पणतीसा, नवनवइ सहस्स दो य लक्खा य। धूमाए सेढिगया, पण्णट्ठा दो सया होंति ॥ १ ॥'' सर्वसंख्यया तिस्रो लक्षा नरकाऽऽवासानाम् ।

तमःप्रभायां त्रयःप्रस्तटाः । तट प्रथमे प्रस्तटे प्रत्येकं दिशि चत्वार आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः, विदिशि त्रयः त्रयः, मध्ये चैको नरकेन्द्रक इति। सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशत् २९, शेषयोस्तु प्रस्तटयोः प्रत्येकं क्रमेणाऽधोऽधोऽष्टकहानिः, ततः सर्वसंख्यया आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासास्त्रिषष्टिः । शेषास्तु नवनवतिसहस्राणि नव शतानि द्वात्रिंशत्यधिकानि पुष्पावकीर्णकाः ९९९३२। उक्तं च-'' नवनउइसय-सहस्सा, नव चेव सया हवंति बत्तीसा। पुढवीए छट्ठीए, पइण्णगाणेस संखेवो॥ १॥'' उभयमीलने पञ्चोनं नरका-ऽऽवासानां लक्षम्। ९९९९५ ।

(९) संप्रति प्रतिपृथिवीघनोदध्यस्तित्वप्रतिपादनार्थमाह-

अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे घणोदधि त्ति वा घणवाते ति वा तणुवाते ति वा उवासंतरे ति वा ? हंता अत्थि एवं० जाव अहे सत्तमा।

(अत्थि णं भंते ! इत्यादि) अस्ति भदन्त ! अस्याः प्रत्यक्षत उप-लभ्यमानाया रत्नप्रभायाः पृथिव्या अधो घनः स्त्यानीभूतोदक उदधिर्घनोदधिरिति वा, घनः पिण्डीभूतो वातो घनवात इति वा, तनुवात इति वा, अवकाशान्तरमिति वा। अवकाशान्तरं नामशुद्धमाकाशम् ? भगवानाह-हन्त अस्ति; एवं प्रतिपृथिवी तावद्वाच्यं यावदधः सप्तम्याः।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे केवतियं बाह-ल्लेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः संबन्धि यत् प्रथमं खरं खराऽभिधानं काण्डं तत् क्रियद् बाहल्येन प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-गौतम ! षोडशयोजनसहस्राणि बाहल्येन प्रज्ञप्तम्।

(१०) रत्नकाण्डम्-

इमीसे णं भंतें ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडे केवतियं बाह-ल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! एक्कजोयणसहस्सबाहल्लेणं पण्णत्ते एवं० जाव रिट्ठे।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नं रत्नाऽभिधानं काण्डं तत् कियत् बाहल्येन प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-गौतम ! एकं योजनसहस्रम् । शेषाण्यपि काण्डानि वक्तव्यानि, यावत् रिष्टं रिष्टाऽभिधानं काण्डम्। एवं पङ्कबहुलाब्बहुलकाण्डसूत्रे अपि व्याख्येये।

(११) पङ्कबहुलम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पंकबहुले कंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! चतुरसीतिजोयण सहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

पङ्कबहुलं काण्डं चतुरशीतियोजनसहस्राणि बाहल्येन।

(१२) अब्बहुलं काण्डम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए अब्बहुले कंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! असीतिं जोयणसहस्साइं बाह-ल्लेणं पण्णत्ते।

अशीतियोजनसहस्राणि सर्वसंख्यया रत्नप्रभायां बाहल्यमशीतिस-हस्राधिकं लक्षम्।

(१३) घनोदधिघनवातयोर्बाहल्यम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधि केवतियं बाह-ल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! वीसं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवाते केवतियं बाह-ल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं बाह-ल्लेणं पण्णत्ताइं। एवं तणुवाते वि, एवं उवासंतरे वि।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधि केवतियं बाहल्ले-णं पण्णत्ते ? गोयमा ! वीसं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्ण-त्ताइं।

सकरप्पभाए पुढवीए घणवाते केवइए पण्णत्ते ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ताइं।

एवं तणुवाए वि, उवासंतरे वि, जहा सक्करप्पभाए पुढवीए। एवं० जाव अहे सत्तमाए।

तस्या अधो घनोदधिः विंशतियोजनसहस्राणि बाहल्येन, तस्या अधो घनवातोऽसंख्येयानि योजनसहस्राणि बाहल्येन, तस्या अप्यधोऽसंख्येयानि योजनसहस्राणि तनुवातो बाहल्येन, तस्या अप्यधोऽसंख्येयानि योजनसहस्राणि बाहल्येनावकाशान्तरम्। एवं शेषाणामपि पृथिवीनां घनोदध्यादयः प्रत्येकं तावद्वक्तव्या यावदधः सप्तम्याः।

(१४) क्षेत्रच्छेदेन छिद्यमानायाः पृथिव्याः-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसतसहस्सबाहल्लाए खेत्तछित्तेणं छिज्जमाणाए अत्थि दव्वाइं वण्णतो-कालनीललोहितहालिद्दसुक्किलाइं, गंधतो-सुब्भिगंधाइं, दुब्भिगंधाइं, रसतो-तित्तकडुयकसायअंबिलमहुराइं, फासओ-कक्खडमउयगरुलहुयसीतउसिणणिद्धलुक्खाइं, संठाणतोपरिमंडलवट्टतंसचउरंसआययसंठाणपरिणयाइं अण्णमण्णबद्धाइं अण्णमण्णपुट्ठाइं अण्णमण्णओगाढाइं अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धाइं अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठंति ? हंता ! अत्थि।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यामशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रबाहल्यायां क्षेत्रच्छेदनबुद्ध्यामतरकाण्डविभागेन छिद्यमानायाम्, अस्तीति निपातोऽत्र बहुवचनार्थगर्भः-सन्ति द्रव्याणि, वर्णतः-कालानि नीलानि लोहितानि हारि-द्राणि, शुक्लानि, गन्धतः-सुरभिगन्धीनि, दुरभिगन्धीनि च, रस-तः-तिक्तरसानि, कटुकानि, कषायाणि, अम्लानि, मधुराणि, स्पर्शतः-कर्कशानि, मृदूनि, गुरुकाणि, लघूनि, शीतानि, उष्णा-नि, स्निग्धानि, रूक्षाणि, संस्थानतः-परिमण्डलानि, वृत्तानि, त्र्यस्राणि, चतुरस्राणि, आयतानि। कथंभूतान्येतानि सर्वाण्यपी-त्यत आह-(अण्णमण्णपुट्ठाइं इत्यादि) अन्योऽन्यं परस्परं स्पृष्टानि स्पर्शमात्रोपेतानि। तथा-अन्योऽन्यं परस्परमवगाढानि यत्रैकं द्रव्यमवगाढं तत्राऽन्यदपि देशतः, क्वचित्सर्वतोऽवगाढमित्यर्थः। तथाऽन्योऽन्यं परस्परं स्नेहेन प्रतिबद्धानि येनैकस्मिन् चाल्यमाने गृह्यमाणे वा अपरमपि चलनाऽऽदिधर्मोपेतं भवति। (एवमण्णोऽण्णघडत्ताए चिट्ठंति इति) अन्योऽन्यं परस्परं घटन्ते संबध्नन्तीति अन्योऽन्यघटाः, तद्भावोऽन्योऽन्यघटता, तया परस्परं संबद्धतया तिष्ठन्ति। भगवानाह-(हंता ! अत्थि) हन्तेति प्रत्यवधारणे, सु-न्त्येवेत्यर्थः।

(१५) खरकाण्डस्य-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरस्स कंडस्स सोलसजोयणसहस्सबाहल्लस्स खेत्तछित्तेणं छिज्जंतं चेव० जाव हंता अत्थि, एवं० जाव रिट्ठस्स॥

एवमस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डस्य षोडशयोजनसहस्रप्रमाणबाहल्यस्य, तदनन्तरं रत्नकाण्डस्य योजनसहस्रबाहल्यस्य ततो वज्रकाण्डस्य० यावद्रिष्टकाण्डस्य।

(१६) पङ्कबहुलस्य-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पंकबहुलस्स कंडस्स चउरसीतिं जोयणसहस्सबाहल्लस्स खेत्तं तं चेव। एवं आबबहुलस्स वि असीतिजोअणसहस्सबाहल्लस्स॥

तदनन्तरमस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां पङ्कबहुलकाण्डस्य चतुरशीतियोजनसहस्रबाहल्यस्य तदनन्तरमब्बहुलकाण्डस्य अशीतियोजनसहस्रबाहल्यस्य।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदहिस्स वीसं जोयणस्स बाहल्लेस्स खेत्तच्छेदे तहेव। एवं घणवातस्स असंखेज्जजोयणस्स बाहल्लस्स तं चेव।

तदनन्तरमस्या एव रत्नप्रभाया घनोदधेर्योजनविंशतिसहस्रप्रमाणबाहल्यस्य, ततोऽसंख्यातयोजनप्रमाणबाहल्यस्य घनवातस्य तत एतावत्प्रमाणबाहल्यस्य तनुवातस्य, ततोऽवकाशान्तरस्य तावत्प्रमाणस्य।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए खेत्तच्छेदेणं छिज्जमाणाए अत्थि दव्वाइं, वण्णतो० जाव घडत्ताए चिट्ठंति ? हंता ! अत्थि। एवं घणोदहिस्स वीसं जोअणसहस्सबाहल्लस्स घणवातस्स असंखेज्जजोयणसहस्सबाहल्लस्स। एवं० जाव उवासंतरस्स जहा सक्करप्पभाए, एवं० जाव अहे सत्तमाए।

ततः शर्कराप्रभायाः पृथिव्याः द्वात्रिंशत्सहस्रोत्तरयोजनसतसहस्रबाहल्यपरिमाणायाः तस्या एवाधस्ताद् यथोक्तबाहल्यानां घनवाततनुवाताऽवकाशान्तराणामेवं यावदधः सप्तम्याः पृथिव्या अष्टसहस्राधिकयोजनशतसहस्रपरिमाणाबाहल्यायास्ततः तस्या एवाऽधः सप्तमपृथिव्या अधस्तान्मध्ये घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणां प्रश्ननिर्वचश्नसूत्राणि यथोक्तद्रव्यविषयाणि भावनीयानि।

(१७) सम्प्रति संस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किंसंठिता पण्णत्ता ? गोयमा ! झल्लरिसंठिया पण्णत्ता।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरे कंडे किंसंठिते पण्णत्ते ? गोयमा ! झल्लरिसंठिते पण्णत्ते।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणे कंडे किंसंठिते पण्णत्ते ? गोयमा ! झल्लरिसंठिते पण्णत्ते। एवं० जाव रिट्ठे। एवं पंकबहुले आबबहुले वि। घणोदधि वि, घणवाए वि, उवासंतरे वि, सव्वे झल्लरिसंठिया पण्णत्ता।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवी किंसंठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! झल्लरिसंठिया पण्णत्ता।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधि किंसंठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! झल्लरिसंठिए पण्णत्ते। एवं० जाव उवासंतरे जहा सक्करप्पभाए वत्तव्वता, एवं० जाव अहे सत्तमाए वि।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं प्रत्यक्षत उपलभ्यमाना, णमिति वाक्यालङ्कृतौ। रत्नप्रभा पृथिवी, किमिव संस्थिता प्रज्ञप्ता ? भगवानाह-गौतम ! झल्लरीव संस्थिता प्रज्ञप्ता; विस्तीर्णवलयाऽऽकारत्वात्। एवमस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डं, तत्राऽपि रत्नकाण्डं, ततो वज्रकाण्डम्, ततो यावत्

रिष्टकाण्डम् , तदनन्तरं पङ्कबहुलं काण्डम् , ततो जलकाण्डम् , तदनन्तरमस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या अधस्तात् क्रमेण घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणि, एवं यावदधः सप्तमी पृथिवी। तस्या अधस्तात् क्रमेण घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणि झल्लरीसंस्थानानि वक्तव्यानि । ननु चैताः सप्तापि पृथिव्यः सर्वासु दिक्षु किमलोकस्पर्शिन्यः ? उत नेति ब्रूमः । यद्येवं ततः ।

(१८) लोकान्तादबाधा-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ केवतियं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते ? गोयमा ! दुवालसहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते । एवं दाहिणिल्लातो पच्चच्छिमिल्लातो उत्तरिल्लाओ ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ केवतिअं अवाहाए लोयंते पण्णत्ते ? गोयमा ! तिभागूणेहिं तेरसहिं जोयणेहिं अवाहाए लोयंते पण्णत्ते, एवं चउद्दिसिं ।

बालुयप्पभाए णं भंते ! पुढवीए पुरच्छिमिल्लाओ पुच्छा ? गोयमा ! सतिभागेहिं तेरसेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते । एवं चउद्दिसिं पि, एवं सव्वासिं चउसु विदिसासु पुच्छियव्वं ।

पंकप्पभाए चोद्दसहिं जोयणेहिं अबाहाए लोयंते पण्णत्ते ।

धूमप्पभाए तिभागूणेहिं पण्णरसेहिं जोयणेहिं अबाहाए लोयंते पण्णत्ते । छट्ठी सतिभागेहिं पण्णरसेहिं जोयणेहिं अबाहाए लोयंते पण्णत्ते । सत्तमाए सोलसएहिं जोयणेहिं अबाधाए लोयंते पण्णत्ते, एवं० जाव उत्तरिल्लातो ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः (पुरच्छिमिल्लाओ इति) पूर्वदिग्भाविनश्चरमान्तात् (केवइयाए इति) कियत्या अबाधया अपान्तरालरूपया लोकान्तोऽलोकाव-धिपरिच्छिन्नः प्रज्ञप्तः ? भगवानाह-द्वादशयोजनानि, द्वादशयोजनप्रमाणो य इत्यर्थः । अबाधया लोकान्तः प्रज्ञप्तः । किमुक्तं भवति ? रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पूर्वस्यां दिशि चरमपर्यन्तात् परतो लोकादर्वाग् अपान्तरालं द्वादशयोजनानि, एवं दक्षिणस्यामपरस्यामुत्तरस्यां चापान्तरालं वक्तव्यम् । दिग्ग्रहणं चोपलक्षणम् , तेन सर्वास्वपि विदिक्ष्वपि यथोक्तमपान्तरालमवसातव्यम्। शेषाणां तु पृथिवीनां सर्वासु दिक्षु च चरमपर्यन्तादलोकः क्रमेणाधोऽधस्त्रिभागोनेन योजनेनाधिकैर्द्वादशभिर्योजनैरवगन्तव्यः । तद्यथा-शर्कराप्रभायाः पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च चरमपर्यन्तादलोकादर्वागपान्तरालं त्रिभागोनानि त्रयोदश योजनानि । बालुकाप्रभायाः सत्रिभागानि त्रयोदश योजनानि । पङ्कप्रभायाः परिपूर्णानि चतुर्दश योजनानि, धूमप्रभायास्त्रिभागोनानि पञ्चदश योजनानि । अधः सप्तमपृथिव्याः परिपूर्णानि षोडश योजनानि । सूत्राक्षराणि पूर्ववद् योजनीयानि । जी० ३ प्रति० ।

(१९) रत्नप्रभादीनामधः-

अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे गेहाइ वा, गेहावणाइ वा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए इमीसे अहे गामाइ वा० जाव सण्णिवेसाइ वा ? णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे उराला बलाहया संसेयंति संमुच्छंति वासं वासंति ? हंता ! अत्थि, तिण्णि वि पकरेइ, देवो वि पकरेइ, असुरो वि, नागो वि । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बादरे थणियसद्दे ? हंता अत्थि तिण्णि वि पकरेंति । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बादरे अगणिकाए ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, णण्णत्थ विग्गहगइसमावण्णएणं । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए चंदिम० जाव तारारूवा ? णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए चंदाभाइ वा ? णो इणट्ठे समट्ठे । एवं दोच्चाए पुढवीए भाणियव्वं, एवं तच्चाए वि भाणियव्वं । णवरं देवो वि पकरेइ, असुरो वि पकरेइ, नो नाओ पकरेइ, चउत्थीए वि, नवरं देवो एक्को पकरेइ, नो असुरो, नो नाओ, एवं हेट्ठिल्लासु देवो एक्को पकरेइ ।

(बादरे अगणिकाए इत्यादि) ननु यथा बादराग्नेर्मनुष्यक्षेत्र एव तद्भावान्निषेध इहोच्यते, एवं बादरपृथिवीकायस्याऽपि निषेधो वाच्यः स्यात् , पृथिव्यादिष्वेव स्वस्थानेषु तस्य भावादिति । सत्यम् । किं तु नेह यद्यत्र नास्ति तत्तत्र सर्वं निषिध्यते, मनुष्याऽऽदिवत् , विचित्रत्वात् सूत्रगतेरतोऽसतोऽपीह पृथिवीकायस्य न निषेध उक्तः । अप्कायवायुवनस्पतीनां त्विह घनोदध्यादिभावेन भावान्निषेधाभावः सुगम एवेति । (नो नाओ त्ति) नागकुमारस्य तृतीयायाः पृथिव्या अधो गमनं नास्तीत्यत एवाऽनुमीयते । (नो असुरो नो नागो त्ति) इहाप्यत एव वचनाच्चतुर्थ्यादीनामधोऽसुरकुमारनागकुमारयोर्गमनं नाऽस्तीत्यनुमीयते । भ० ६ श० ८ उ० ।

(२०) अथाऽमूनि रत्नप्रभाऽऽदीनां द्वादशयोजनप्रमाणाऽऽदीनि अपान्तरालानि किमाकाशरूपाणि, उत घनोदध्यादिव्याप्तानि ? उच्यते-घनोदध्यादिव्याप्तानि, तत्र कस्मिन्नपान्तराले कियान् घनोदध्यादिरिति प्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-घणोदधिवलए, घणवायवलए, तणुवातवलए ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए दाहिणिल्ले चरिमंते कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविधे पण्णत्ते । तं जहा, एवं चेव० जाव उत्तरिल्ले, एवं सव्वासिं० जाव अहे सत्तमाए उत्तरिल्ले ।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पूर्वदिग्भावी चरमान्तोऽपान्तरालक्षणः कतिविधः कतिप्रकारः, कतिविभाग इत्यर्थः । प्रज्ञप्तः ? भगवानाह-गौतम ! त्रिविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-घनोदधिवलयो वलयाऽऽकारघनोदधिरूप इत्यर्थः । एवं घनवातवलयस्तनुवातवलयश्च । इय- मत्र भावनासर्वासां पृथिवीनामधो यत् प्राक् बाहुल्येन

घनोदध्यादीनां परिमाणमुक्तं, तन्मध्यभागे द्रष्टव्यम्। ते हि मध्यभागे यथोक्तप्रमाणबाहल्याः, ततः प्रदेशहान्या प्रदेशहान्या हीयमानाः स्वस्वपृथिवीपर्यन्तेषु तनुतरभूताः, तनुतरीभूत्वा स्वस्वपृथिवीवलयाऽऽकारेण वेष्टयित्वा स्थिताः। अत एवामूनि वलयान्युच्यन्ते, तेषां वलयानामुच्चैस्त्वं सर्वत्र स्वस्वपृथिव्यनुसारेण परिभावनीयम्, तिर्यग्बाहल्यं पुनरग्रे वक्ष्यते। इदानीं तु विभागमात्रमेवापान्तरालस्य प्रतिपादयितुमिष्टमिति तदेवोक्तम्, एवमस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्याः शेषासु दिक्षु, एवं शेषाणामपि पृथिवीनां चतसृष्वपि दिक्षु प्रत्येकं विभागसूत्रं भणितव्यम्।

(२१) संप्रति घनोदधिवलयस्य तिर्यग्बाहल्यमानमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! छज्जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु चरमान्ते घनोदधिवलयः कियद् बाहल्येन तिर्यग् बाहल्येन प्रज्ञप्तः ? भगवानाह-गौतम ! षड् योजनानि बाहल्येन प्रज्ञप्तः।

तत ऊर्ध्वं प्रतिपृथिवि योजनस्य विभागो वक्तव्यः। तद्यथा-

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधिवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! सतिभागाइं छज्जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। बालुयप्पभाए पुच्छा ? गोयमा ! तिभागूणाइं सत्त जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। एवं एतेणं अभिलावेणं पंकप्पभाए सत्त जोयणाइं बाहल्लेणं, धूमप्पभाए सतिभागाइं सत्त जोयणाइं पण्णत्ते। तमप्पभाए तिभागूणाइं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते। अहे सत्तमाए अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

शर्कराप्रभायाः सत्रिभागानि, बालुकाप्रभायास्त्रिभागोनानि सप्त योजनानि, पङ्कप्रभायाः परिपूर्णानि सप्त योजनानि, धूमप्रभावाः सत्रिभागानि सप्त योजनानि, तमःप्रभायाः त्रिभागोनानि अष्टौ योजनानि, अधः सप्तमपृथिव्याः परिपूर्णानि अष्टौ योजनानि। सूत्राक्षराणि तु सर्वत्र पूर्ववद् योजनीयानि।

(२२) संप्रति घनवातवलयस्य तिर्यग् बाहल्यपरिमाण-प्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवातवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! अद्धपंचमाइं जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

सक्करप्पभाए पुच्छा ? गोयमा ! कोसूणाइं पंच जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

एवं एएणं अभिलावेणं बालुयप्पभाए पंच जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

पंकप्पभाए सक्कोसाइं पंच जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

धूमप्पभाए अद्धछट्ठाइं जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

तमप्पभाए कोसूणाइं छ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

अहे सत्तमाए छ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्याः घनवातवलयः तिर्यग् बाहल्येन अर्द्धपञ्चमानि सार्द्धानि चत्वारि योजनानि प्रज्ञप्तः। अत ऊर्ध्वं तु प्रतिपृथिवि गव्यूतं वर्द्धनीयम्। तथा चाऽऽह-द्वितीयस्याः पृथिव्याः क्रोशोनानि पञ्च योजनानि, तृतीयस्याः पृथिव्याः परिपूर्णानि पञ्च योजनानि, चतुर्थ्याः पृथिव्याः सक्रोशानि पञ्च योजनानि, पञ्चम्याः पृथिव्या अर्द्धषष्ठानि सार्द्धानि पञ्च योजनानि, षष्ठ्याः पृथिव्याः क्रोशोनानि षड् योजनानि, सप्तम्याः पृथिव्याः परिपूर्णानि षड् योजनानि।

(२३) संप्रति तनुवातवलयस्य तिर्यग् बाहल्यपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तणुवातवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! छक्कोसेणं बाहल्लेणं पण्णत्ते।

एवं एतेणं अभिलावेणं सक्करप्पभाए सतिभागे छक्कोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते।

वालुयप्पभाए तिभागूणे सत्तकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते।

पंकप्पभाए पुढवीए सत्तकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते।

धूमप्पभाए सतिभागे सत्तकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते।

तमप्पभाए तिभागूणे अट्ठकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते।

अहे सत्तमाए पुढवीए अट्ठकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्यास्तनुवातवलयः कियत् किंप्रमाणं बाहल्येन प्रज्ञप्तः ? भगवानाह-षट्क्रोशं बाहल्येन प्रज्ञप्तः। अत ऊर्ध्वं तु पृथिवीक्रोशस्य त्रिभागो बर्द्धनीयः। तथा चाऽऽह-द्वितीयस्याः पृथिव्याः सत्रिभागोनान् षट् क्रोशान् बाहल्येन प्रज्ञप्तः। तृतीयस्याः पृथिव्याः त्रिभागोनान् सप्त क्रोशान्, चतुर्थ्याः पृथिव्याः परिपूर्णान् सप्त क्रोशान्, पञ्चम्याः पृथिव्याः सत्रिभागान् सप्त क्रोशान्, षष्ठ्याः पृथिव्याः त्रिभागोनान् अष्टौ क्रोशान्, अधः सप्तम्याः पृथिव्याः परिपूर्णान् अष्टौ क्रोशान्।

उक्तं च-

"छच्चेव अद्ध पंचम, जोयणसद्धं च होइ रयणाए।
उदहीघणतणुवाया, जहसंखेणं विणिद्दिट्ठा ॥ १ ॥
तिभागो गाउयं चेव, तिभागो गाउयस्स य।
आइ धुवे पक्खेवो, अम्हें अहो जाव सत्तमिया ॥ २ ॥"

एतेषां च त्रयाणामपि घनोदध्यादिविभागानाम् एकत्र मीलने प्रतिपृथिवि यथोक्तमपान्तरालमानं भवति।

(२४) संप्रति एतेष्वेव घनोदध्यादिवलयेषु क्षेत्रच्छेदेन कृष्ण-वर्णाऽऽद्युपेतद्रव्यास्तित्वप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलयस्स छज्जोयणबाहल्लस्स खेत्तच्छेएणं छिज्जमाणस्स अत्थि दव्वाइं वण्णओ काल० जाव हंता अत्थि।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधिवलयस्स सतिभाग-

छज्जोयणबाहल्लस्स खेत्तच्छेएणं छिज्जमाणस्स० जाव हंता अत्थि, एवं० जाव अहे सत्तमाए जं जस्स बाहल्लं।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवायवलयस्स अद्धपंचमजोयणबाहल्लस्स खेत्तच्छेदेण छिज्ज० जाव हंता अत्थि एवं० जाव अहे सत्तमाए जं जस्स बाहल्लेणं, एवं तणुवातवलयस्स वि० जाव अहे सत्तमा जं जस्स बाहल्लं।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलए किंसंठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! वट्टवलयागारसंठाणसंठिते पण्णत्ते। जेणं इमं रयणप्पभं पुढविं सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठति। एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए घणोदधिवलए, णवरं अप्पाणं पुढविं संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठंति।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवातवलए किंसंठिते पण्णत्ते ? गोयमा ! वट्टवलयागारे तहेव० जाव जेणं इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलयं सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठइ। एवं० जाव अहे सत्तमाए घणवातवलयं। इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तणुवातवलए किंसंठिते पण्णत्ते ? गोयमा ! वट्टवलयागारसंठाणसंठिए० जाव जेणं इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवातवलयं सव्वतो समंता संपरिखिवित्ता णं चिट्ठंति। एवं० जाव अहे सत्तमाए तणुवातवलयं॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः घनोदधिवलयः किमिव संस्थितः किंसंस्थितः प्रज्ञप्तः ? भगवानाह-गौतम ! वृत्तः चक्रबालतया परिवर्तुलो वलयस्य मध्ये शुषिरवृत्तविशेषस्याऽऽकार आकृतिर्वलयाऽऽकार इव संस्थानं वलयाऽऽकारसंस्थानं, तेन संस्थितो वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितः। कथमेवं गम्यते ?-वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थित इति ? तत आह-(जेणमित्यादि) येन कारणेन इमां रत्नप्रभां पृथिवीं सर्वतः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च संपरिक्षिप्य सामस्त्येन वेष्टयित्वा तिष्ठति वर्तते, तेन कारणेन वलयाऽऽकारसंस्थासंस्थितः प्रज्ञप्तः।

एवं घनवातवलयसूत्रं, तनुवातवलयसूत्रं च परिभावनीयम्। नवरं घनवातवलयो घनोदधिवलयं संपरिक्षिप्येति वक्तव्यम्। तनुवातवलयो घनवातवलयं संपरिक्षिप्येति। एवं शेषास्वपि पृथिवीषु प्रत्येकं त्रीणि सूत्राणि भावनीयानि।

(२५) आयामविष्कम्भौ पृथ्वीनाम्-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी केवतियं आयामविक्खंभेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ता। एवं० जाव अहे सत्तमा॥

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कियता आयामविष्कम्भेण, समाहारो द्वन्द्वः। आयामविष्कम्भाभ्यां प्रज्ञप्ता। भगवानाह-असंख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेन। किमुक्तं भवति ? असंख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेन। किमुक्तं भवति ?-असंख्येयानि योजनसहस्राणि आयामतोऽसंख्येयानि योजनसहस्राणि विष्कम्भेन, आयामविष्कम्भयोस्तु परस्परमल्पबहुत्वचिन्तने तुल्यत्वम्, तथा असंख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण परिधिना प्रज्ञप्ता। एवमेकैका पृथिवी तावद्वक्तव्या यावदधः सप्तमी पृथिवी।

(२६) अन्तर्बहिर्वा समाः पृथ्व्यः-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी अंते य मज्झे य सव्वत्थ समा बाहल्लेणं पण्णत्ता ? हंता गोयमा ! इमा णं रयणप्पभा पुढवी अंते य मज्झे य सव्वत्थ समा बाहल्लेणं एवं० जाव अहे सत्तमा।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी अन्ते च मध्ये च सर्वत्र समा बाहल्येन पिण्डभावेन प्रज्ञप्ता ? भगवानाह-(गौतम ! इत्यादि) सुगमम्। एवं क्रमेणैकैका पृथिवी तावद्वक्तव्या यावत्सप्तमी।

(२७) पृथिवीषु जीवाः सर्वत्र उपपन्नपूर्वाः-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सव्वजीवा उववन्नपुव्वा सव्वजीवा उववन्ना ? गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए सव्वजीवा उववण्णपुव्वा, नो चेव णं सव्वजीवा उववण्णा, एवं० जाव अधे सत्तमाए पुढवीए॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वजीवाः सामान्येन उपपन्नपूर्वाः कालक्रमेण तथा सर्वजीवा उपपन्ना उत्पन्ना युगपत्। भगवानाह-गौतम ! अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वजीवाः सांव्यवहारिकजीवराश्यन्तर्गताः प्रायो वृत्तिमाश्रित्य सामान्येन उपपन्नपूर्वा उत्पन्नपूर्वाः कालक्रमेण संसारस्याऽनादित्वात्, न पुनः सर्वजीवा उपपन्ना उत्पन्ना युगपत्, सकलजीवानामेककालं रत्नप्रभापृथिवीत्वेनोत्पादे सकलदेवनारकाऽऽदिभेदाभावप्रसक्तेः। चैतदस्ति, तथा जगत्स्वाभाव्यात्। एवमेकैकस्याः पृथिव्यास्तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तम्याः।

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा सव्वजीवेहिं विजढा ? गोयमा ! इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा, नो चेव णं सव्वजीवेहिं विजढा, एवं० जाव अहे सत्तमा॥

(इमा णं इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी (सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा इति) सर्वजीवैः कालक्रमेण परित्यक्तपूर्वा, तथा सर्वजीवैर्युगपद् विजडा परित्यक्ता। भगवानाह-गौतम ! इयं रत्नप्रभा पृथिवी प्रायो वृत्तिमाश्रित्य सर्वजीवैः सांव्यवहारिकैः कालक्रमेण परित्यक्तपूर्वा, न तु युगपत्, परित्यागस्यासंभवात् तथानिमित्ताभावात्, एवं तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तमी पृथ्वी।

(२८) पृथ्वीषु सर्वे जीवाः प्रविष्टपूर्वाः-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सव्वपोग्गला पविट्ठपुव्वा, सव्वपोग्गला पविट्ठा ? गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए सव्वपोग्गला पविट्ठपुव्वा, नो चेव

णं सव्वपोग्गला पविट्ठा, एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए ॥

(इमीसे णं इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वे पुद्गला लोकोदरविवरवर्तिनः कालक्रमेण प्रविष्टपूर्वाः, तद्भावेन परिणतपूर्वाः; तथा सर्वे पुद्गला प्रविष्टा एककालं तद्भावेन परिणताः ? भगवानाह-गौतम ! अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वे पुद्गला लोकवर्तिनः प्रविष्टपूर्वाः-तद्भावेन परिणतपूर्वाः, संसारस्याऽनादित्वाद्, न पुनरेककालं सर्वपुद्गलाः प्रविष्टाः-तद्भावेन परिणताः, सर्वपुद्गलानां तद्भावेन परिणतौ रत्नप्रभाव्यतिरेकेणाऽन्यत्र सर्वत्राऽपि पुद्गलाभावप्रसक्तेः, न चैतदस्ति, तथाजगत्- स्वाभाव्यात्। एवं सर्वासु पृथिवीषु क्रमेण वक्तव्यं, यावदधः सप्तम्यां पृथिव्यामिति।

(२९) सर्वे पुद्गलाः त्यक्तपूर्वाः-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वपोग्गलेहिं विजढपुव्वा, सव्वपोग्गले विजढा ? गोयमा ! इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वपोग्गलेहिं विजढपुव्वा, नो चेव णं सव्वपोग्गले विजढा, एवं० जाव अहे सत्तमा ॥

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी सर्वपुद्- गलैः कालक्रमेण (विजढपुव्वा इति) परित्यक्तपूर्वा, तथा सर्वपुद्- गलैरेककालं परित्यक्ता ? भगवानाह-गौतम ! इयं रत्नप्रभा पृथिवी सर्वपुद्गलैः कालक्रमेण परित्यक्तपूर्वा, संसारस्याऽनादित्वात्, न पुनः सर्वपुद्गलैरेककालं परित्यक्ता, सर्वपुद्गलैरेककालं परित्यागे तस्याः सर्वथा स्वरूपाभावप्रसक्तेः। न चैतदस्ति, तथा जगत्स्वाभाव्यतः शाश्वतत्वात्। एतच्चानन्तरमेव वक्ष्यति। एवमेकैका पृथिवी क्रमेण तावद्वाच्या, यावदधः सप्तमी पृथिवी।

(३०) शाश्वती, अशाश्वती वा रत्नप्रभा ?-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासता, असासता ? गोयमा ! सिय सासता, सिय असासता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सिय सासता, सिय असासता ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासता, वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति-तं चेव० जाव सिय असासता, एवं० जाव अहे सत्तमा।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी किं शाश्वती, अशाश्वती ? भगवानाह-गौतम ! स्यात् कथञ्चित् , कस्याऽपि नयस्याऽभिप्रायेत्यर्थः। शाश्वती। स्यात् कथञ्चित् अशाश्वती। एतदेव सविशेषं जिज्ञासुः पृच्छति-(से केणट्ठेणमित्यादि) ' से ' शब्दोऽथशब्दार्थः। स च प्रश्ने, केन अर्थेन कारणेन भदन्त ! एवमुच्यते-यथा स्यात् शाश्वती, स्यादशाश्वतीति ? भगवानाह-गौतम ! (दव्वट्ठयाए इत्यादि) द्रव्यार्थतया शाश्वती, तत्र द्रव्यं सर्वत्राऽन्वयि सामान्यमुच्यते, द्रवति गच्छति तान् तान् पर्यायान् विशेषानिति वा द्रव्यमिति व्युत्पत्तेः, द्रव्यमेवाऽर्थः तात्त्विकपदार्थो यस्य, न तु पर्यायाः, स द्रव्यार्थो द्रव्यमात्रास्तित्वप्रतिपादको नयविशेषः, तद्भावो द्रव्यार्थता, तथा द्रव्यमात्रास्तित्वप्रतिपादकतयाऽभिप्रायेणेति यावत् । शाश्वती द्रव्यार्थिकनयमतपर्यालोचनायामेवंविधस्य रत्नप्रभायाः पृथिव्या आकारस्य सदाभावाद् वर्णपर्यायैः कृष्णाऽऽदिभिः, गन्धपर्यायैः सुरभ्यादिभिः, रसपर्य्यायैस्तिक्ताऽऽदिभिः स्पर्शपर्यायैः कठिनत्वा-ऽऽदिभिः, अशाश्वती अनित्या, तेषां वर्णाऽऽदीनां प्रतिक्षणं कियत्कालानन्तरं वाऽन्यथा-न्यथाभवनात्, अतादवस्थ्यस्य चाऽनित्यत्वात् । न चैवमपि भिन्नाधिकरणे नित्यत्वाऽनित्यत्वे द्रव्यपर्याययोर्भेदाभेदोपगमात्, अन्ययोभयोरप्यसत्त्वाऽऽपत्तेः। तथाहि-शक्यते वक्तुं पर-परिकल्पितं द्रव्यमसत् , पर्यायव्यतिरिक्तत्वात् , बालत्वाऽऽदिपर्यायशून्यबन्ध्यासुतवत् , तथा परपरिकल्पिताः पर्याया असतः द्रव्यत्वव्यतिरिक्तत्वात् , बन्ध्यासुतगतबालत्वाऽऽदिपर्यायवत्। उक्तं च-'' द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः । क्व कदा केन किंरूपाः, दृष्टा मानेन केन वा ? ॥ १ ॥ '' इति कृतं प्रसङ्गेन। विस्तरार्थिना धर्मसंग्रहणिटीका निरूपणीया । '' (से एएणऽट्ठेण-मित्यादि) उपसंहारमाह- ' से ' शब्दोऽथशब्दार्थः। स चाऽत्र वाक्योपन्यासे, अथ एतेनाऽनन्तरोदितेन कारणेन गौतम ! एवमुच्यतेस्यात् शाश्वती, स्यादशाश्वती। एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तमी पृथिवी। इह यद् यावत्संभवाऽऽस्पदं तच्च तावन्तं कालं शश्वद्भवति, तदा तदपि शाश्वतमुच्यते । यथा तन्त्रान्तरे-'' आकप्पट्ठाई पुढवी सासया '' इत्यादि। ततः संशये किमेषा रत्नप्रभा पृथिवी सकलकालवस्थाचिन्तया शाश्वती ? उताऽन्यथा ? यथा तन्त्रान्तरीयैरुच्यते इति, ततस्तदप-नोदार्थं पृच्छति।

(३१) कालस्थितिः-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी कालतो केवचिरं होति ? गोयमा ! ण कदा वि ण आसि, ण कदा वि णत्थि, ण कदा वि ण भविस्सति, भूविं य, भवति य, भविस्सति य, धुवा णियता सासता अक्खया अव्वया अवट्ठिता णिच्चा एवं० जाव अहे सत्तमा।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कालतः कियच्चिरं कियन्तं कालं यावद्भवति ? भगवानाह-गौतम ! न कदाचिन्नासीत् , सदैवासीदिति भावः। अनादित्वात्। तथा न कदाचिन्न भवति, सर्वदैव वर्तमानकालचिन्तायां भवतीति भावः । अत्रापि स एव हेतुः, सदा भावादिति । तथा न कदाचिन्न भविष्यति, भविष्यच्चिन्तायाः सर्वदैव भविष्यतीति भावः, अपर्यवसितत्वात् । तदेवं कालत्रयचिन्तायां नास्तित्वप्रतिषेधं विधाय संप्रत्यस्तित्वं प्रतिपादयति-(भुविं चेत्यादि) अभूत्, भवति, भविष्यति च। एवं त्रिकालभावित्वेन ध्रुवा, ध्रुवत्वादेव नियता नियतावस्थाना, धर्मास्तिकायाऽऽदिवत्, नियतत्वादेव च शाश्वती शश्वद्भावे प्रलयाभावात्, शाश्वतत्वादेव च सततं गङ्गासिन्धु-प्रवाहप्रवृत्तावपि पौण्डरीकह्रद इवान्यतर-पुद्गलविचटनेऽप्यन्यतर-पुद्गलोपचयभावादक्षया, अक्षयत्वादेव चाव्यया मानुषोत्तराद् बहिः समुद्रवत्, अव्ययत्वादेवावस्थिता स्वप्रमाणावस्थिता सूर्यमण्डलाऽ-ऽदिवत् , एवं सदाऽवस्थानेन चिन्त्यमाना नित्या जीवस्वरूपवत्। यदि वा ध्रुवाऽऽदयः शब्दा इन्द्रशक्राऽऽदिवत् पर्यायशब्दा नानादेशजविनेया-नुग्रहार्थमुपन्यस्ता इत्यदोषः। एवमेकैका पृथिवी क्रमेण तावद्वक्तव्या, या-

वदधः सप्तमी। (पृथिवीषु विभागतोऽन्तरवक्तव्यता ' अंतर ' शब्दे प्रथमभागे ७१ पृष्ठे गता)

(३२) पृथिव्यो बाहल्येन तुल्याः-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला विसेसाहिया संखेज्जगुणा, वित्थारेणं किं तुल्ला विसेसहीणा संखेज्जगुणहीणा ? गोयमा ! इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं णो तुल्ला, विसेसाहिता, नो संखेज्जगुणा, वित्थारेणं णो तुल्ला विसेसहीणा, णो संखेज्जगुणहीणा। दोच्चा णं भंते ! पुढवी तच्चं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला, एवं चेव भाणियव्वा। एवं तच्चा चउत्थी पंचमी छट्ठी। छट्ठी णं भंते ! पुढवी सत्तमिं पुढविं पणिहाय बाह-ल्लेणं किं तुल्ला विसेसाहिया संखेज्जगुणा, एवं चेव भाणियव्वं, सेवं भंते ! भंते ! त्ति।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी द्वितीयां शर्कराप्रभां प्रणिधायाऽऽश्रित्य बाहल्येन पिण्डभावेन किं तुल्या, विशेषाधिका, संख्येयगुणा ? बाहल्यमधिकृत्येदं प्रश्नत्रयम्। ननु एकाऽशीत्युत्तरयोजनलक्षमाना, अपरा द्वात्रिंशदुत्तरयोजनलक्षमाना इत्युक्तम्, तत्तदर्थावगमे सत्युक्तलक्षणं प्रश्नत्रयमयुक्तम्, विशेषाधिकेति स्वयमेवाऽर्थपरिज्ञानात्। सत्यमेतत्। केवलज्ञप्रश्नोऽयं तदन्यमोहाऽपोहार्थः। एतदपि कथमवसीयते ? इति चेत्, स्वावबोधाय प्रश्नान्तरोपन्यासात्। तथा चाऽऽह-विस्तरेण विष्कम्भेन किं तुल्या, विशेषहीना, संख्येयगुणहीनेति ? भगवानाह-गौतम ! इयं रत्नप्रभा पृथिवी द्वितीयां पृथिवीं प्रणिधाय बाहल्येन न तुल्या, किं तु विशेषाधिका, नाऽपि संख्येयगुणा। कथमेतदेवमिति चेत् ? उच्यते-इह रत्नप्रभा पृथिवी अशीत्युत्तरयोजनलक्षमाना, शर्कराप्रभा द्वात्रिंशदुत्तरयोजनलक्षमाना, तदत्रान्तरमष्टाचत्वारिंशद् योजनसहस्राणि, ततो विशेषाधिका घटते, न तुल्या, नाऽपि संख्येयगुणा; विस्तरेण न तुल्या, किं तु विशेषहीना, नाऽपि संख्येयगुणा, प्रदेशाऽऽदिवृद्ध्या प्रवर्द्धमाने तावति क्षेत्रे शर्कराप्रभाया एव वृद्धिसंभवात्। एवं सर्वत्र भावनीयम्। जी० ३ प्रति० १ उ०।

(३२) संप्रति कस्यां पृथिव्यां कस्मिन् प्रदेशे नरकाऽऽवासा इत्येतत् प्रतिपादनार्थं तावदिदमाह-

कइ णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-रयणप्पभा० जाव अहे सत्तमा।

(कइ णं भंते ! इत्यादि) कति भदन्त ! पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः ? इति विशेषाऽभिधानार्थमेतदभिहितम्। उक्तं च-'' पुव्वभणियं जं भण्ण-इ तत्थ कारणं अत्थि पडिसेहो, अणुण्णा, कारणविसेसोवलंभो वा ''। भगवानाह-गौतम ! सप्त पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-रत्नप्रभा, यावत्तमस्तमःप्रभा।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसतसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवतियं ओगाहित्ता, हेट्ठा केवतियं वज्जेत्ता, मज्झे केवतिए केवतिया निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तर-जोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता हेट्ठा वि एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठुत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं रयणप्पभाए पुढवीए नेरतियाणं तीसं निरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या उपरि क्रियत् किंप्रमाणमवगाह्य, उपरितनभागात् कियत् अतिक्रम्येत्यर्थः। अधस्तात् कियत् किंप्रमाणं वर्जयित्वा, मध्ये कियति किंप्रमाणे कियन्ति नरकाऽऽवासाः शतसहस्राणि प्रज्ञप्ताः ? भगवानाह-गौतम ! अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्या अशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रबाहल्याया उपरि एकं योजनसहस्रमवगाह्य, अधस्तादेकं योजनसहस्रं वर्जयित्वा, मध्ये मध्यभागे अष्टसप्तत्युत्तरे अष्टसप्ततिसहस्राधिके योजनशतसहस्रम्, अत एतस्मिन् रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकाणां योग्यानि त्रिंशन्नरकाऽऽवास-शतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातं मया, शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, अनेन सर्वतीर्थकृतामविसंवादिवचनता प्रवेदिता।

(३४) वर्णकः-

ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा० जाव असुभा णरएसु वेयणा, एवं एएणं अभिलावेणं उववज्जिऊण भाणियव्वं, ठाण-पयाणुसारेणं जत्थ जं बाहल्लं जत्तिया वा णेरइयावाससय-सहस्सा० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए, अहे सत्तमाए मज्झे केव-तिए कति अणुत्तरा महतिमहालया महाणिरया पण्णत्ता ? एवं पुच्छियव्वं वागरेयव्वं पि तहेव छट्ठी सत्तमासु काओअगणिव-ण्णाभा भाणियव्वा।

(ते णं णरगा इत्यादि) ते नरका अन्तर्मध्यभागे वृत्ता वृत्ताकारा बहिर्बहिर्भागे चतुरस्राः चतुरस्राऽऽकाराः, इदं च पीठोपरिवर्तिनं मध्यभागमधिकृत्य प्रोच्यते। सकलपीठाऽऽद्यपेक्षया तु आवलिकाप्रविष्टा वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रसंस्थानाः, पुष्पावकीर्णास्तु नानासंस्थानाः प्रतिपत्तव्याः। एतच्चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यति-(अहे खुरप्पसंठाणसंठिया इति) अधो भूमितले क्षुरप्रस्येव प्रहरण-विशेषस्य यत् संस्थानमाकारविशेषः-तीक्ष्णतालक्षणः, तेन संस्थिताः क्षुरप्रसंस्थानसंस्थिताः। तथाहि-तेषु नरकाऽऽवा- सेषु भूमितले मसृणत्वाभावतः शर्करिले पादेषु न्यस्यमानेषु शर्क-रामात्रसंस्पर्शेऽपि क्षुरप्रेच पादाः क्षत्यन्ते (कृत्यन्ते) (निच्चध-कारतमसा इति) नित्यान्धकारा उद्द्योताभावतो यत्तमस्तेन तमसा नित्यं सर्वकालमन्धकारो येषु नित्यान्धकाराः। तत्रापवरकाऽऽदिष्वपि नामान्धकारोऽस्ति, केवलं बहिः सूर्यप्रकाशे मन्दं तमो भवति, नरकेषु तु तीर्थकरजन्मदीक्षाऽऽदिकालव्यतिरेके-णान्यदा सर्वकालमपि उद्द्योतलेशस्याऽप्यभावतो जात्यन्धस्येव मेघच्छन्नकालाऽर्द्धरात्र इवातीव बहलतरो भवति। तत उक्तं-तमसा नित्यान्धकाराः, तमश्च तत्र सदावस्थितम्, उद्द्योतकारिणामभावात्। तथाऽऽह-(ववगयगह-चंदसूरनक्खत्तजोइ-सपहा) व्यपगतः परिभ्रष्टो ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्ररूपा-णाम्, उपलक्षणमेतत्तारारूपाणां ज्योतिष्काणां पन्था मार्गो यत्र व्यपगत-सूर्यनक्षत्रज्योतिष्कपथाः। तथा-(मेययवसापूयरुहिरमंस-

चिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला इति) स्वभावतः संपन्नैर्मेदोवसा-पूतिरुधिरमांसैर्यश्चिक्खिल्लः कर्दमस्तेन लिप्तमुपदिग्धमनुलेपनेन सकृल्लिप्तस्य पुनःपुनरुपलेपनेन तलं भूमिका येषां ते मेदोवशा-पूतिरुधिरमांसचिक्खिल्ललिप्तानुलेपनतलाः, अत एवाशुचयोऽपवित्राः, वीभत्सा दर्शनेष्वतिजुगुप्सोत्पत्तेः, परमदुरभिगन्धा मृतगवादिकडेवरेभ्योऽप्यतीवानिष्टदुरभिगन्धाः (काओअगणिवण्णाभा इति) लोहे धम्यमाने यादृक्कपोतो बहुकृष्णरूपोऽग्नेर्वर्णः। किमुक्तं भवति ?-यादृशी बहुकृष्णवर्णरूपा अग्निज्वाला विनिर्गच्छतीति तादृशी आभा वर्णस्वरूपं येषां ते कपोताग्निवर्णाभाः, तथा कर्कशोऽतिदुस्सहोऽसिपत्रस्येव स्पर्शो येषां ते कर्कशस्पर्शाः, अत एव-(दुरहियासा इति) दुःखेनाध्यस्यन्ते दुरध्यासाः, अशुभा दर्शनतो नरकास्तथा गन्धरसस्पर्शशब्दैरशुभा अतीवासातरूपाः नरकेषु वेदनाः, एवं सर्वास्वपि पृथिवीष्वालापको वक्तव्यः। जी० ३ प्रति०। (' ठाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०० पृष्ठे दर्शित आलापः) (नरकाऽऽवाससंख्या उपर्यधश्चैकैकं योजनसहस्रं मुक्त्वा यावत्प्रमाणं नरकाऽऽवासयोग्यं पृथिवीबाहल्यं, तत्सर्वं संग्रहणीगाथाभिः' ठाण ' शब्दे १७०२ पृष्ठे प्रतिपादितम्)

(३५) संप्रति नरकाऽऽवाससंस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा किंसंठिता पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविधा पण्णत्ता। तं जहा-आवलियपविट्ठा य, आवलियबाहिरा य। तत्थ णं जे ते आवलियपविट्ठा ते तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-वट्टा, तंसा, चउरंसा। तत्थ णं जे ते आवलियबाहिरा, ते णाणासंठाणसंठिता पण्णत्ता। तं जहा-अयकोट्ठसंठिया, पिट्ठपयणगसंठिया, कंडूसंठिया, लोहीसंठिया, कडाहसंठिया, थालीसंठिया, पिहडगसंठिया, किण्डगसंठिया, उडजसंठिया, मुरयसंठिया, मुइंगसंठिया, णंदिमुइंगसंठिया, आलिंगसंठिया, सुघोससंठिया, दद्दरसंठिया, पणवसंठिया, पडहसंठिया, भेरीसंठिया, झल्लरिसंठिया, कुत्थुंबकसंठिया, नालीसंठिया, एवं० जाव तमाए।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः किमिव संस्थिताः प्रज्ञप्ताः ? भगवानाह-गौतम ! नरका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः ? तद्यथा-आवलिकाप्रविष्टाश्च, आवलिकाबाह्याश्च। चशब्दावुभयेषामप्यशुभतासूचकौ। आवलिकाप्रविष्टा नामअष्टासु दिक्षु समश्रेण्या व्यवस्थिताः, आवलिकासु श्रेणिषु प्रविष्टा व्यवस्थिता आवलिकाप्रविष्टाः, ते संस्थानमधिकृत्य त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-वृत्ताः त्र्यस्राः, चतुरस्राः। तत्र ये ते आवलिकाबाह्याः, ते नानासंस्थानसंस्थिता प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-अयःकोष्ठो लोहमयकोष्ठस्तद्वत् संस्थिताः (पिट्ठपयणगसंठिया इति) यत्र सुरासंधानाय पिष्टं पच्यते तत् पिष्टपचनकं, तद्वत् संस्थिताः।

अत्र संग्रहणीगाथे-

'' अयकोट्ठपिट्ठपयणग-कंडूलोहीकडाहसंठाणा।
थालीपिहडगकिण्हग-उडए मुरए मुइंगेसु।
नंदिमुइंगे आलिं-गि सुघोसे दद्दरे व पणवे य।
पडहगझल्लरिभेरी-कुत्थुंवगनालिसंठाणा ''॥

कण्डूः पाकसंस्थानं, लोहीकटाहौ प्रतीतौ, तद्वत्संस्थानाः, स्थाली उषा, पिहमगं यत्र प्रभुतजनयोग्यं धान्यं पच्यते, उटजस्तापसाऽऽश्रमः, मुरजो मर्दलविशेषः, नन्दीमृदङ्गो द्वादशविधतूर्यान्तर्गतो मृदङ्गः। स च द्विधा। तद्यथा-मुकुन्दो, मर्दलश्च। तत्रोपरि संकुचितोऽधो विस्तीर्णो मुकुन्दः, उपर्यधश्च समो मर्दलः। आलिङ्गो मृन्मयो मुरजः, सुघोषो देवलोकप्रसिद्धो घण्टाविशेषः, आतोद्यविशेषो वा, दर्दरो वाद्यविशेषः, पणवो भाण्डानाम, पटहः प्रतीतः, भेरी ढक्का, झल्लरी चर्मावनद्धा विस्तीर्णवलयाऽऽकारा, कुस्तुम्बकः संप्रदायगम्यः, नाडी घटिका। एवं शेषास्वपि पुथिवीषु तावद् वक्तव्यं यावत् षष्ठ्याः। सूत्रपाठस्त्वेवम्-'' सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए णरगा किंसंठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-आवलियापविट्ठा य, आवलियाबाहिराय।'' इत्यादि।

(३६) अधः सप्तमीविषयं सूत्रं साक्षादुपदर्शयति-

अहे सत्तमाए णं भंते ! पुढवीए णरगा किंसंठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-वट्टे य, तंसा य।

(अहे सत्तमाए णं भंते ! इत्यादि) अधः सप्तम्यां भदन्त ! पृथिव्यां नरकाः किमिव संस्थिताः ? भगवानाह-गौतम ! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-(वट्टे य तंसा य इति) अधः सप्तम्यां हि पृथिव्यां नरका आवलिकाप्रविष्टा एव, नावलिकाबाह्याः, आवलिकाप्रविष्टा अपि पञ्च, नाधिकाः, तत्र मध्ये अप्रतिष्ठानाभिधाननरकेन्द्रको वृत्तः, सर्वेषामपि नरकेन्द्रकाणां वृत्तत्वात्। शेषास्तु चत्वारः पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु ते त्रयस्त्र्यस्राः, तत उक्तं-वृत्ताश्च त्र्यस्राश्च।

(३७) संप्रति नरकाऽऽवासानां बाहल्यप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरया केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! तिण्णि जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ता। तं जहा-हेट्ठिल्ले चरिमंते घणा सहस्सं, मज्झे सुसिरा सहस्सं, उप्पिं संकुइया सहस्सं, एवं० जाव अहे सत्तमाए॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः कियद् बाहल्येन बहलस्य भावो बाहल्यंपिण्डभावः, उत्सेध इत्यर्थः। तेन प्रज्ञप्ताः ? भगवानाह-गौतम ! त्रीणि योजनसहस्राणि बाहल्येन प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-अधस्तात् पादपीठे घना निचिताः सहस्रं योजनसहस्रं मध्ये पीठस्योपरि मध्यभागे शुषिराः सहस्रं योजनसहस्रं (तत उप्पिं ति) उपरि संकुचिताः शिखरीकृत्य संकोचनमुपगता योजनसहस्रं, तत एवं सर्वसंख्यया नरकाऽऽवासानां त्रीणि योजनसहस्राणि बाहल्यतो भवन्ति, एवं पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तम्याम्।

तथा चोक्तमन्यत्रापि-

'' हेट्ठा घणा सहस्सं, उप्पिं संकोचतो सहस्सं तु।
मज्झे सहस्स सुसिरा, तिण्णि सहस्सूसिया णरया॥ १॥ ''

(३८) संप्रति नरकाऽऽवासानामायामविष्कम्भप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरगा केवतियं आयामविक्खंभेणं, केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविधा पण्णत्ता। तं जहा-संखेज्जवित्थडा य, असंखेज्ज-

वित्थडा य । तत्थ णं जे ते संखेज्जवित्थडा ते णं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ता । तत्थ णं जे ते असंखेज्जवित्थडा ते णं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ता । एवं० जाव तमाए ॥

(इमीसे ण भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः किंप्रमाणमायाविष्कम्भेन, समाहारो द्वन्द्वः, आयामविष्क-म्भाभ्यामित्यर्थः । कियत् परिक्षेपेण परिरयेण प्रज्ञप्ताः ? भगवानाह- गोयमा ! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-संख्येयविस्तृताश्च, असंख्येयविस्तृताश्च । संख्येयं संख्येययोजनप्रमाणं विस्तृतं विस्तारो येषां ते संख्येयविस्तृताः, एवमसंख्येयं विस्तृतं येषां तेऽसंख्येयविस्तृताः । चशब्दौ स्वगतानेकभेदप्रकाशनपरौ । तत्र ये ते संख्येयविस्तृतास्ते संख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेण, संख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण । तत्र ये तेऽसंख्येयविस्तृतास्ते असंख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेण, असंख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः । एवं प्रतिपृथिवि तावद् वक्तव्यं यावत् षष्ठी पृथ्वी । सूत्रपाठस्त्वेवम्-'' सक्करप्पभाए णं पुढवीए नरगा केवइयं आयामविक्खंभेणंय, केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संखेज्जवित्थडा य, असंखेज्जवित्थडा य । '' इत्यादि ॥

अहे सत्तमाए णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! दुविधा पण्णत्ता ? तं जहा-संखेज्जवित्थडे य, असंखेज्जवित्थडा य । तत्थ णं जे से संखेज्जवित्थडे, से णं एक्कं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं, तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि कोसे अट्ठावीसं धणुसयाइं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलयं च किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते । तत्थ णं जे ते असंखेज्जवित्थडा, ते णं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाइं० जाव परिक्खेवेणं पण्णत्ता ।

(अहे सत्तमाए णं भंते ! इत्यादि) अधः सप्तम्यां भदन्त ! पृथिव्यां नरकाः कियदायामविष्कम्भेण, कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः ? भगवानाह-गौतम ! द्विविधाः । तद्यथा-सङ्ख्येयविस्तृत एकः, स चाप्रतिष्ठानाऽभिधानो नरकेन्द्रकोऽवसातव्यः । असंख्येयविस्तृ-ताश्चत्वारः । तत्र योऽसौ संख्येयविस्तृतोऽप्रतिष्ठानाऽभिधानो नरकेन्द्रकः, स एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भेण, त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशे सप्तविंशत्यधिके त्रयः कोशा अष्टाविंशं धनुश्शतं त्रयोदश अङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः । इदं परिक्षेपपरिमाणं गणितभावनया जम्बूद्वीपपरिक्षेपपरिमाणवद्भावनीयम् । ये ते शेषाश्चत्वारोऽसंख्येयविस्तृतास्तेऽसंख्येयानि योजनशतसह-स्राण्यायामविष्कम्भेण, असंख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः ।

(३६) संप्रति नरकाऽऽवासानां वर्णप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं रयप्पभाए पुढवीए नरया केरिसया वण्णेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! काला, कालावभासा, गंभीरलोमहरिसा भीमा उत्तासणया परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता, एवं० जाव अहे सत्तमाए ।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः कीदृशा वर्णेन प्रज्ञप्ताः ? भगवानाह-गौतम ! कालाः, तत्र कोऽपि निष्प्रभतया मन्दकालोऽपि आशङ्क्येत, ततस्तदाशङ्काव्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह-कालाऽवभासाः कालः कृष्णोऽवभासः प्रतिभा-विनिर्गमो येभ्यस्ते कालावभासाः, कृष्णप्रभापटलोपचिता इति भावः । अत एव गम्भीररोमहर्षाः-गम्भीरोऽतीवोत्कटो रोमहर्षो भयवशाद् येभ्यस्ते गम्भीररोमहर्षाः । किमुक्तं भवति ?-एवं नाम ते कृष्णाः कृष्णाऽवभासाः, यद्दर्शनमात्रेण नारकजन्तूनां भयसंपादनेन रोमहर्षमुत्पादयन्तीति । अत एव भीमा भयानकाः, भीमत्वादेव उत्त्रास्यन्ते नारका जन्तव एभिरिति उत्त्रासनाः, उत्त्रासना एव उत्त्रासनकाः, वर्णेन वर्णमधिकृत्य परमकृष्णाः प्रज्ञप्ताः; यत ऊर्द्धं न किमपि भयानकं कृष्णमस्तीति भावः । एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तम्याम् ।

(४०) गन्धमधिकृत्याऽऽह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा केरिसया गंधेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! से जहानामए अहिमडे ति वा, गोमडे ति वा, सुणमडे ति वा, मज्जारमडे ति वा, मणुस्समडे ति वा, महिसमडे ति वा, मुसगमडे ति वा, आसमडे ति वा, हत्थिमडे ति वा, सीहमडे ति वा, वग्घमडे ति वा, विगमडे ति वा, दीवयमडे ति वा, मयकुहियचिरविनट्ठकुणिमवावण्णदुरभिगंधे असुइचिलीणविगयवीभच्छदरिसणिज्जे किमिजालाउलसंसत्ते । भवे एयारूवे सिया ? णो इणट्ठे समट्ठे गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा एत्तो अणिट्ठतरका चेव अकंततरका चेव० जाव अमणामतरा चेव गंधेणं पण्णत्ता । एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! तद्यथा नाम-अहिमृत इति वा, अहिमृतो नाम-मृताहिदेहः, एवं सर्वत्र भावनीयम् । गोमृत इति वा, श्वमृत इति वा, मार्जारमृत इति वा, हस्तिमृत इति वा, सिंहमृत इति वा, व्याघ्रमृत इति वा, द्वीपकमृत इति वा, द्वीपकश्चित्रकः । सर्वत्र अहिश्चासौ मृतश्च अहिमृत इत्येवं विशेषणसमासः । इह मृतकं सद्यःसंपन्नं न विगन्धि भवति । तत आह-(मयकुहियचिरविणट्ठकुणिमवावण्णेत्यादि) मृतः सन् कुथितः पूतिभावमुपगतो मृतकुथितः, स चोच्छूनावस्थामात्रगतोऽपि भवति । न च स तथा विगन्धस्तत आह-चिरविनष्ट उच्छूनावस्थां प्राप्य स्फुटित इति भावः । सोऽपि तथा दुरभिगन्धः, तथा न भवति, तत आह-(कुणिमवावण्णेति) व्यापन्नं विशरारुभूतं कुणिमं मांसं यस्य स तथा । ततो विशेषणसमासः । दुरभिगन्ध इति । दुरभिः सर्वेषामाभिमुख्येन दुष्टो गन्धो यस्याऽसौ दुरभिगन्धः । अशुचिश्चिलीनो मनसः कलिमलप-

रिणामहेतुः (विगयं इति) विप्रनष्टं तदभिमुखतया प्राणिनां गतं गमनं यस्मिन् स तथा, बीभत्सया निन्दयाऽदर्शनीयो बीभत्सादर्शनीयः, ततो विशेषणसमासः, अशुचिर्विगतबीभत्सादर्शनीयः (किमिजालाउलसंसत्ते इति) संसक्तः सन् कृमिजालाकुलो जातः कृमिजालाकुलसंसतः, मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात् समासः, संसक्तशब्दस्य च परनिपातः। एतावदुक्ते गौतम ! आह-(भवे एयारूवे सिया इति) स्याद्भवेदेतद् यदुत भवेयुरेतद्रूपा यथोक्तविशेषणविशिष्टाऽहिमृताऽऽदिरूपगन्धेनाधिकृता नरकाः, सूत्रे च बहुवचनेऽपि एकवचनं प्राकृतत्वात्। भगवानाह-गौतम ! नायमर्थः समर्थःनायमर्थ उपपन्नः, यतोऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरका इतो यथोक्तविशेषणविशिष्टाऽहिमृतादनिष्टतरा एव, तत्र किञ्चिद्भव्यमपि कस्याऽप्यनिष्टतरं भवति। तत आह-अकान्ततरा एव स्वरूपतोऽप्यकमनीयतरा एव, अभव्या एवेति भावः। तत्राकान्तमपि कस्याऽपि प्रियं भवति, यथा गर्ताशुकरस्याशुचिः, तत आह-अप्रियतरा एव, न कस्यापि प्रिया इति भावः। अत एवामनोज्ञतरा एव गन्धमधिकृत्य प्रज्ञप्ताः, तत्र मनोज्ञं मनोऽनुकूलमात्रं यत् पुनः स्वविषये मनोऽत्यन्तमासक्तं करोति तद्, न मनोज्ञममनोज्ञम्। एकार्थिका वा एते सर्वे शब्दाः शक्रेन्द्रपुरन्दराऽऽदिवद् नानादेशजविनेयजनानुग्रहार्थमुपात्ताः, एवं पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्त-म्याम्।

(४१) स्पर्शमधिकृत्याऽऽह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरया केरिसया फासेणं पण्णत्ता ? गोयमा ! से जहानामए असिपत्तेइ वा खुरपत्तेइ वा कलंवचीरियापत्तेइ वा सत्तग्गेति वा कुंतग्गेति वा तोमरग्गेति वा नारायग्गेति वा मूलग्गेति वा लउडग्गेति वा भिंडिमालग्गेति वा सूचिकलाएति वा कविकच्छुत्ति वा विच्छुकंटेति वा इंगालेति वा जालाएति वा मुम्मुरएति वा अच्चि त्ति वा अलाएति वा सुद्धागणिएति वा। भवे एयारूवे सिया ? णो इणट्ठे समट्ठे। गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा एतो अणिट्ठतरा चेव० जाव अमणामतरा चेव वा फासेणं पण्णत्ता। एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए॥

(इमीसे णमित्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह-गौतम ! तद्यथा नाम-असिपत्रमिति वा-असिः खड्गः, तस्य पत्रमसिपत्रं, क्षुरपत्रमिति वा, कदम्बचिरिकापत्रमिति वा, कदम्बचिरिका तृणविशेषः-स च दर्भादप्यतीव तुदकः, शक्तिः प्रहरणविशेषः, तदग्रमिति वा, कुन्ताग्रमिति वा, तोमराग्रमिति वा, भिण्डिमालः प्रहरणविशेषः, तदग्रमिति वा, सूचीकलाप इति वा, कपिकच्छूरिति वा, कपिकच्छूः कण्डूतिजनको वल्लीविशेषः, वृश्चिकदंश इति वा, अङ्गार इति वा, अङ्गारो निर्धूमाग्निः, ज्वालेति वा, ज्वाला अनलसंबद्धा (मुम्मुर इति वा) मुर्मुरः फुम्फुकाऽऽदौ मसृणोऽग्निः, अर्चिरिति वा, अर्चिरनलविच्छिन्ना ज्वाला, अलातमुल्मुकम्, शुद्धाग्निरयःपिण्डानुगतोऽग्निः, विद्युदादिर्वा, इतिशब्दः सर्वत्रापि उपमाभूतवस्तुस्वरूपपरिसमाप्तिद्योतकः, वाशब्दः परस्परसमुच्चये। इह कस्याऽपि नरकस्य स्पर्शः शरीरावयवच्छेदकोऽपरस्य भेदकोऽन्यस्य व्यथाजनकोऽपरस्य दाहक इत्यादि। ततः साम्यप्रतिपत्त्यर्थमसिपत्राऽऽदीनां नानाविधानामुपमानानामुपादानम् (भवे एयारूवे सिया इत्यादि) प्राग्वत्।

(४२) संप्रति नरकाऽऽवासानां महत्त्वमभिधित्सुराह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरगा किं महालया पण्णत्ता ? गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए सव्वखुद्दाए वट्टे तेल्लापूत (तेल्लपूप)(तेल्लापूप) संठाणसंठिते वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिते वट्टे रहचक्कबालसंठाणसंठिते वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिते एक्कं जोयणसतसहस्सं आयामविक्खंभेणं० जाव किंचि विसेसा-हिए परिक्खेवेणं, देवे णं महिड्ढिए० जाव महाणुभागे० जाव इणामेव त्ति कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं तिहिं अच्छराणि वा तिहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए सिग्घाए जइणाए छेइयाए उद्धुयाए दिव्वाए देवगईए वीतीवयमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा, उक्कोसेणं छम्मासे वीईवएज्जा, अत्थेगतिए णरगे वीईवएज्जा, अत्थेगतिए णो वीतीवएज्जा, महालया णं गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा पण्णत्ता। एवं० जाव अहे सत्तमाए अत्थेगतियं नरगं वीईवएज्जा, अत्थेगइयं नरगं नो वीईवएज्जा।

(इमीसे णं इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः किं महान्तः किंप्रमाणा महान्तः प्रज्ञप्ताः ? पूर्वं त्वसंख्येयविस्तृता इति कथितं, तच्चासंख्येयत्वं नावगम्यते इति भूयः प्रश्नः। अत एवाऽत्रनिर्वचनं भगवानुपमयाऽभिधत्ते-गौतम ! अयमिति यत्र स्थिता वयं, णमिति वाक्यालङ्कारे, अष्टयोजनोच्छ्रितया रत्नमय्या जम्ब्वा उपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपः, सर्वद्वीपसमुद्राणां धातकीखण्डलवणाऽऽदीनां सर्वाभ्यन्तर आदिभूतः, सर्वक्षुल्लकः सर्वेभ्यो द्वीपसमुद्रेभ्यः क्षुल्लको ह्रस्वः सर्वक्षुल्लकः। तथाहि-सर्वे लवणाऽऽदयः समुद्राः सर्वे धातकीखण्डाऽऽदयो द्वीपा अस्माद् जम्बूद्वीपादारभ्य प्रवचनोक्तक्रमेण द्विगुणद्विगुणाऽऽयामविष्कम्भपरिधयः, ततोऽयं शेषसर्वद्वीपसमुद्रापेक्षयाः सर्वलघुरिति, तथा वृत्तो, यतस्तैलापूपसंस्थानसंस्थितः, तैलेन पक्वोऽपूपस्तैलापूपः, तैलेन हि पक्वोऽपूपः प्रायः परिपूर्णवृत्तो भवति, न घृतेन पक्व इति तैलविशेषणं, तस्येव संस्थान, तेन संस्थितस्तैलापूपसंस्थानसंस्थितः, तथा वृत्तो, यतः पुष्करकर्णिकासंस्थानसंस्थितः, तथा वृत्तो, यतो रथचक्रवालसंस्थानसंस्थितः, तथा वृत्तो, यतः परिपूर्णचन्द्रसंस्थानसंस्थितः, अनेकधोपमानोपमेयभावो नानादेशजविनेयप्रतिपत्त्यर्थः। एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भेण, त्रीणि योजनशतनैव स्राणि षोडश सहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशे त्रय शा अष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदश अङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलानि किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः। परिक्षेपपरिमाण भावना क्षेत्रसमासटीकातो, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीक-

दितव्या। (देवे य णमित्यादि) देवश्च, णमिति वाक्यालङ्कारे। मह-र्द्धिकः महती ऋद्धिर्विमानपरिवाराऽऽदिका यस्य स महर्द्धिकः, महती द्युतिः शरीराभरणविषया यस्य स महाद्युतिकः, महद् बलं शरीरं प्राणा यस्य स महाबलः, महद् यशः ख्यातिर्यस्य स महायशाः, तथा (महेसक्खे इति) महेश इति महान् ईश्वर इत्याख्या यस्य स महेशाख्यः। अथवा-ईशनमीशो भावे घञ्प्रत्ययः, ऐश्वर्यमित्यर्थः, ' ईश ' ऐश्वर्ये इति-वचनात्। तत ईशमैश्वर्यमात्मनः ख्यातिः, अन्तर्भूतण्यर्थतया ख्यापयति प्रथयति, ईशाख्यः महाँश्चासावीशाऽऽख्यश्च महेशाख्यः। क्वचित् '' महासोक्खे '' इति पाठः। तत्र महत् सौख्यं यस्य प्रभूतसद्वेद्योदयवशात् स महासौ-ख्यः। अन्ये पठन्ति-'' महासक्खे इति '' तत्रायं शब्दसंस्कारो महाश्वाक्षः। इयं चात्र पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शिता व्युत्पत्तिः, आशुगमनादश्वो मनः, अक्षाणि इन्द्रियाणि स्वविषयव्यापकत्वात्, अश्वश्चाक्षाणि च अश्वाक्षाणि, महान्ति अश्वाक्षाणि यस्याऽसौ महाश्वाक्षः। तथा-(महाणुभागे इति) अनुभागो विशिष्टवैक्रियाधिकरणविषया अचिन्त्या शक्तिः, '' भागो चिंता सत्ती '' इति वचनात्। महान् अनुभागो यस्य स महानुभागः। अमूनि महर्द्धिक इत्यादीनि विशेषणानि तत्सामर्थ्यातिशय-प्रतिपादकानि। यावदिति चप्पुटिकात्रयकरणकालावधिप्रदर्शनपरम्। '' इणामेव त्ति कट्टु '' एव-मेव मुधिकया, '' एमेव मोरकल्ला (कुल्ला), मुहा य मुहिय त्ति नायव्वा। '' इति वचनात्। अवज्ञयेति भावः। उक्तं च मूलटीका-याम्-(इणामेवेति कट्टु) एवमेव मुधिकया अवज्ञयेति इतिकृत्वेति हस्तदर्शितचप्पुटिकात्रयकरणसूचकम्, केवलकल्पं परिपूर्णं जम्बू-द्वीपं त्रिभिरप्सरोनिपातैः। अप्सरोनिपातो नामचप्पुटिका, तत्र तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरिति द्रष्टव्यम्। चप्पुटिकाश्च कालोपलक्षणं, ततो यावता कालेन तिस्रश्चप्पुटिकाः पूर्यन्ते, तावत्कालमध्ये इत्यर्थः। त्रिःसप्तकृत्व एकविंशतिवारान्, अनुपरिवर्त्य सामस्त्येन परिभ्रम्य, ' हव्वं ' शीघ्रमागच्छेत्, स इत्थम्भूतगमनशक्तियोग्यो देवस्तया देवजन-प्रसिद्धया उत्कृष्टया प्रशस्तविहायोगतिनामोदयात् प्रशस्तया, शीघ्रसंचरणात् त्वरितया, त्वरा संजाता अस्यामिति त्वरिता, तया त्वरितया, शीघ्रतरमेव तया प्रदेशान्तराक्रमणमिति; चपलेव चपला, तया, क्रोधाविष्टस्येव श्रमासंवेदनात् चण्डेव चण्डा, तथा, निरन्तरं शीघ्रगुणयोगात् शीघ्रा, तया शीघ्रया, परमोत्कृष्टवेगपरिणामोपेता जवना, तया। अन्ये तु जैनया विपक्षजेतृत्वेनेति व्याचक्षते; छेकया निपुणया, वातोद्धूतस्य दिगन्तव्यापिनो रजस इव या गतिः सा उद्धूता, तथा। अन्ये त्वाहुः-उद्धूतया तदर्थातिशयेनेति, दिव्या दिवि देवलोके भवा दिव्या, तया, देवगत्या व्यतिव्रजन् जघन्यत एकाहं वा एकमहर्ष्यावत्, एवं द्व्यहं त्र्यहमुत्कर्षतः षण्मासान् यावत् व्यतिव्रजन्, तत्रास्त्येतद् यदुत एककान् काँश्चँन नरकान् व्यतिव्रजेत् उल्लङ्घ्य परतो गच्छेत्, तथा-ऽस्त्येतत् यदुत-इत्थंभूतयाऽपि गत्या षण्मासानपि यावद् निरन्तरं गच्छन् एककान् काँश्चन नरकान् न व्यतिव्रजेत् नोलङ्घ्य परतो गच्छेत्, अतिप्रभूतायामतया तेषामन्तस्य प्राप्तुमशक्यत्वात्, एतावन्तो महान्तो गौतम ! अस्यां रत्नप्रभायां नरकाः प्रज्ञप्ताः। एवमेकैकस्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं, यावदधः सप्तम्यां, नवरमधः सप्तम्यामेवं वक्तव्यम्-'' अत्थेगइयं णरगं वीईवएज्जा, अत्थेगइए नरगे नो वीईवएज्जा। '' अप्रतिष्ठानाऽभिधस्यैकस्य नरकस्य लक्षयोजनाऽऽयामविष्कम्भतया अन्तस्य प्राप्तुं शक्यत्वात्, शेषाणां च चतुर्णामपि प्रभूतासंख्येययोजन-कोटीकोटीप्रमाणत्वेनान्तस्य प्राप्तुमशक्यत्वात्।

(४३) संप्रति किंमया नरकाः ?, इति निरूपणार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरगा किंमया पण्णत्ता ? गोयमा ! सव्ववइरामया पण्णत्ता। तत्थ णं णरएसु बहवे जीवा य पोग्गला य अवक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उववज्जंति, सासता णं ते नारगा दव्वट्ठया ए वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रस-पज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता, एवं० जाव अहे सत्तमा॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः किम्मयाः किंविकाराः प्रज्ञप्ताः ? भगवानाह-गौतम ! (स-व्ववइरामया इति) सर्वाऽऽत्मना वज्रमयाः प्रज्ञप्ताः, वज्रशब्दस्य सूत्रे दीर्घता प्राकृत-त्वात्। तत्र च येषु नरकेषु णमितिवाक्यालङ्कारे, बहवो जीवाश्च खरबादरपृथिवीकायिकरूपा, पुद्गलाश्च अपक्रामन्ति, च्यवन्ते, उत्पलन्ते। एतदेव शब्दद्वयं यथाक्रमं पर्यायद्वयेन व्याचष्टे-(चयंति उववज्जंति) च्यवन्ते, व्युत्क्रामन्ति उत्पद्यन्ते। किमुक्तं भवति ?-एके जीवाः पुद्गलाश्च यथायोगं गच्छन्ति, अपरं त्वागच्छन्ति। यस्तु प्रतिनियतसंस्थानाऽऽदिरूप आकारः स तदवस्थ एवेति। अत एवाऽऽह-(सासता समिति) पूर्ववत्, ते नरका द्रव्यार्थतया तथाविधप्रतिनियत-संस्थानाऽऽदिरूपतया वर्णपर्यायैः गन्धपर्यायैः रसपर्यायैः स्पर्शपर्यायैः पुनरशाश्वता वर्णाऽऽदीनामन्यथाभवनात्। एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तमी पृथिवी। जी० ३ प्रति०।

(४४) किंप्रतिष्ठिता नरकाः ?-

तिपइट्ठिया णरगा पण्णत्ता। तं जहा-पुढवीपइट्ठिया णरगा आगासपइट्ठिया, आयपइट्ठिया। णेगमसंगहववहाराणं पुढ-विपइट्ठिया, उज्जुसुयस्स आगासपइट्ठिया, तिण्हं सद्दणयाणं आयपइट्ठिया।

स्फुटं केवलं नारका नरकाऽऽवासा आत्मप्रतिष्ठिताः स्वरूपप्रतिष्ठिताः। तत्प्रतिष्ठानं नयैराह-(णेगमेत्यादि) नैकेन सामान्यविशेषग्राहकत्वात् तस्याऽनेकेन ज्ञानेन मिनोति परिच्छिनत्तीति नैगमः। अथवा-निगमा निश्चितार्थबोधाः, तेषु कुशलो भवो वा नैगमः। अथवा-नैको गमोऽर्थमार्गो यस्य स प्राकृतत्वेन नैगमः॥ १॥ संग्रहणं भेदानां संगृह्णाति वा तान् संगृह्यन्ते वा ते येन स संग्रहः, सामान्यमात्राभ्युपगमपर इति॥ २॥ व्यवहरणं व्यवहियते वा तेन विशेषेण वा सामान्येन व्यवहियते निराक्रियतेऽनेनेति लोकव्यव-हारपरो व्यवहारो विशेषमात्राभ्युपगमपरः॥ ३॥ एतेषां नयानां मतेनेति गम्यम्। ऋजु अवक्रमभिमुखं श्रुतं श्रुतज्ञानं यस्येति ऋजु-श्रुतः, ऋजु वाऽतीतानागतवक्रपरित्यागाद् वर्तमानं वस्तु सूत्रयति गमयतीति ऋजुसूत्रः, स्वकीयं सांप्रतं च वस्तु नान्यदित्यभ्युपगमपरः। शब्द्यते अभिधीयते अभिधेयमनेनेति शब्दो वाचको ध्वनिः, नयन्ति परिच्छिन्दन्ति अनेकधर्माऽऽत्मकं सद् वस्तु सावधारणतयैकेन धर्मेणेति नयाः शब्दप्रधाननयाः। ते च त्रयः-शब्दसमभिरूढैवंभूताऽऽख्याः। तत्र शपनमभिधानं, शप्यते वा येन वस्तु स शब्दः, तदभिधेयविमर्शनपरो नयोऽपि श-

ब्द एवेति। स च भावनिक्षेपरूपं वर्तमानमभिन्नलिङ्गवाचकं बहुपर्यायमपि च वस्त्वभ्युपगच्छतीति। वाचकं वाचकं प्रति वाच्यभेदं समभिरोहत्याश्रयति यः स समभिरूढः। स ह्यनन्तरोक्तविशेषणस्याऽपि वस्तुनः शक्रपुरन्दराऽऽदिवाचकभेदेन भेदमभ्युपगच्छति, घटपटाऽऽदिवदिति। यथा शब्दार्थो घटते चेष्टत इति घट इत्यादि-लक्षण एवमिति तथाभूतः सत्यो घटाऽऽदिरर्थो, नान्यथेत्येवमभ्युपगमपर एवंभूतो नयः। अयं हि भावनिक्षेपाऽऽदिविशेषणोपेतं व्युत्पत्त्यर्थाऽऽविष्टमेवार्थमिच्छति, जलाऽऽहरणाऽऽदिचेष्टावन्तं घटमेवेति। तत्राऽऽद्यत्रयस्याऽशुद्धत्वात् प्रायो लोकव्यवहारपरत्वाच्च पृथिवीप्रतिष्ठितत्वं नारकाणामिति तत्त्वम्, चतुर्थस्य शुद्धत्वात् आकाशस्य च गच्छतां तिष्ठतां वा सर्वभावानामैकान्तिकाऽऽधारत्वाद् भुवोऽनैकान्तिकत्वाच्चाऽऽकाशप्रतिष्ठितत्वमिति, त्रयाणां तु शुद्धतरत्वात् सर्वभावानां स्वभावलक्षणाऽधिकरणस्याऽन्तरङ्गत्वादव्यभिचारित्वाच्च आत्मप्रतिष्ठितत्वमिति। न हि स्वस्वभावं विहाय परस्वभावाधिकरणा भावाः कदाचनाऽपि भवन्तीति। यत आह भाष्यकारः-'' वत्थुं वसइ सहावे, सत्ताओ चेयण व्व जीवम्मि। न विलक्खणत्तणाओ, भिन्ने छायातवे चेव '' ॥ २२४२ ॥ (विशे०) इति। स्था० ३ ठा० ३ उ० (उपपातः ' उववाय ' शब्दे द्वितीयभागे ६१५ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्यः) (एवं शरीरावहारणावगाहने-ऽपि स्वस्थाने)

(४५) नरकदुःखवर्णनम्-

पुच्छिस्सहं केवलिणं महेसिं,
कहंऽभितावा णरगा पुरत्था।
अजाणओ मे मुणि ! वूहि जाणं,
कहिं नु बाला नरए उविंति ? ॥ १ ॥

जम्बूस्वामिना सुधर्मस्वामी पृष्टः। तद्यथा-भगवन्! किंभूता नारकाः, कैर्वा कर्मभिरसुमतां तेषूत्पादः, क्रीदृश्यो वा तत्रत्या वेदनाः ? इत्येवं पृष्टः सुधर्मस्वाम्याह-यदेतद्भवताऽहं पृष्टस्तदेतत् केवलिनमतीतानागतवर्तमानसुक्ष्मव्यवहितपदार्थवेदिनं, महर्षिमुग्रतपश्चरणकारिणमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुं श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनं, पुरस्तात् पूर्वं पृष्टवानस्मि। यथा-कथं किं-भूता अभितापान्विता नरका नरकावासा भवन्ति ? इत्येतदजानतो मे मम हे मुने ! जानन् पूर्वमेव केवलज्ञानेनावगच्छन्, ब्रूहि कथय। कथं नु केन प्रकारेण किमनुष्ठायिनः ? नुरिति वितर्के। बाला अज्ञा हिताहितप्राप्तिविवेकरहिताः, तेषु नरकेषूपसामीप्येन तद्योग्यकर्मोपादानतया, यान्ति गच्छन्ति। १।

(४६) किंभूताश्च तत्र गतानां वेदनाः प्रादुःषन्तीत्येतद्याऽऽह-

एवं मए पुट्ठेमहाणु भवे,

एवं मए पुट्ठेमहाणुभावे,
इण मोऽब्ववी कासवेंआसुपन्ने।
पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं,
आदीणिणं दुक्कमिणं पुरत्था ॥ २ ॥

एवमनन्तरोक्तं, मया विनेयेनोपगम्य पृष्टो महाँश्चतुस्त्रिंशदतिशयरूपोऽनुभावो माहात्म्यं यस्य स तथा। प्रश्नोत्तरकालं चेदं वक्ष्यमाणम्, ''मो'' इति वाक्यालङ्कारे, केवलाऽऽलोकेन परिज्ञाय मत्प्रश्ननिर्वचनम-ब्रवीदुक्तवान्। कोऽसौ ? काश्यपो वीरो वर्द्धमानस्वामी, आशुप्रज्ञः, सर्वत्र सदोपयोगात्, स चैवं मया पृष्टो भगवानिदमाह-यथा यदेतद्भवता पृष्टं तदहं प्रवेदयिष्यामि कथयिष्या-म्यग्रतो दत्तावधानः शृण्विति। तदेवाऽऽह-दुःखमिति नरकं दुःख-हेतुत्वात् असदनुष्ठानम्। यदि वा नरकाऽऽवास एव दुःखयतीति दुःखम्। अथवा-असातावेदनीयोदयात् तीव्रपीडाऽऽत्मकं दुःख-मित्येतद्याऽर्थतः परमार्थतो विचार्यमाणं दुर्गं गहनं विषमं दुर्विज्ञेयम् असर्वज्ञेन, तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावादित्यभिप्रायः। यदि वा (दुह-मट्ठदुग्गं ति) दुःखमेवार्थो यस्मिन् स दुःखनिमित्तो वा दुष्प्रयोजनो वा दुःखार्थो नरकः, स च दुर्गो विषमो दुरुत्तरत्वात्, तं प्रतिपाद-यिष्ये। पुनरपि तमेव विशिनष्टि-आ समन्ताद्दीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन् स आदीनिको ऽत्यन्तदीनसत्त्वाऽऽश्रयः तद्, दुष्कृतमस-दनुष्ठानं पापं वा तत्फलं वा, असातावेदनीयोदयरूपं तद्विद्यते यस्मिन् स दुष्कृतिकः, तं, पुरस्तादग्रतः प्रतिपादयिष्ये। पाठान्तरं वा-(दुक्कडिणं ति) दुष्कृतं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनो नारकास्तेषां संबन्धि चरितं पुरस्तात् पूर्वस्मिन् जन्मनि नरकगतिगमनयोग्यं यत्कृतं प्रतिपादयिष्यत इति।

यथाप्रतिज्ञातमेवाऽऽह-

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइँ कम्माइँ करंति रुद्दा।
ते घोररूवे तडिसंघयारे, तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥ ३ ॥

ये केचन महारम्भपरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधपिशितभक्षणाऽऽदिके सावद्यानुष्ठाने प्रवृत्ता बाला अज्ञा रागद्वेषोत्कटास्तिर्यग्मनुष्याः, इहास्मिन् संसारेऽसंयमजीवितार्थिनः पापोपादानभूतानि कर्मण्यनुष्ठानानि रौद्राः प्राणिनां भयोत्पादकत्वेन भयानकहिंसाऽनृताऽऽदीनि कर्माणि कुर्वन्ति, त एवंभूतास्तीव्रपापोदयवर्तिनो घोररूपेऽत्यन्तभयानके (तमिसंघयारे ति) बहुलतमोऽन्धकारे यत्राऽऽत्माऽपि नोपलभ्यते-चक्षुषा केवलमवधिनाऽपि मन्दं मन्दमुलूका इवाह्नि पश्यन्ति। तथा चाऽऽगमः-'' कण्हलेस्से णं भंते ! णेरइए कण्ह-लेस्सं णेरइयं पाणयाए ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे केवइयं खेत्तं जाणइ, केवइअं खेत्तं पासइ ? गोयमा ! नो बहुययरं खेत्तं जाणइ, णो बहययरं खेत्तं पासइ। इत्तरियमेव खेत्तं जाणइ, इत्तरिअमेव खेत्तं पासइ। '' इत्यादि। तथा तीव्रो दुःसहः खदिराङ्गारमहाराशितापादनन्तगुणोऽभितापः संतापो यस्मिन् स तीव्राभितापस्तास्मिन् एवंभूते नरके बहुवेदनेऽपरित्यक्तविषयाऽभिष्वङ्गाः स्वकृतकर्मगुरवः पतन्ति, तत्र च नानारूपा वेदनाः समनुभवन्ति च।

तथा चोक्तम्-

'' अच्छंदियविसयसुहे, पडइ अविज्झायसिहिसिहाणिवहे।
संसारोदहिवलए-ऽसुहम्मि दुक्खाऽऽगरे निरए ॥ १ ॥
पूयक्कनीरथलगुह-कुहरुच्छलिए रुहिरगंडूसे।
कक्खत्तिकत्तियदुहा-विरिक्कविवइण्णदेहद्धे ॥ २ ॥
जंतंतरभिज्जंतु-च्छलंतसंसहभरियदिसिविवरे।
मज्जंतुप्फिडियसमु-च्छलंतसीसद्विसंघाए ॥ ३ ॥
सुक्कक्कंदकडाहु-क्कढंतदुक्कयकयंतकम्मंते।
मूलविभिन्नुखित्तु-द्धदेहणित्तंतपब्भारे ॥ ४ ॥
बद्धंधयारदुग्गं-धबंधणायारदुद्धरकिलेसे।
भिन्नकरचरणसंकर-रुहिरवसादुग्गमप्पवहे ॥ ५ ॥

गिद्धमुहणिद्दउक्खि-त्तबंधणोम्मुद्दकंधरकबंधे।
दढगहियतत्ततंडा-सयग्गविसमुक्खुडियजीहे॥ ६॥
तिक्खंकुसग्गकड्ढिय-कंटयरुक्खग्गजज्जरसरीरे।
निमिसंतरं पि दुल्लह-सुक्खेऽवक्खेवदुक्खम्मि॥ ७॥
इय भीसणम्मि णिरए, पडंति जे विविहसत्तवहनिरया।
सव्वब्भट्ठा य नरा, जयम्मि कयपावसंघाया॥ ८॥'' इत्यादि।

किञ्चान्यत्-

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसति आयसुहं पडुच्च।
जे लुसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि॥ ४॥

(तिव्वं तसेत्यादि) तथा तीव्रमतिनिरनुकम्पं रौद्रपरिणामतया हिंसायां प्रवृत्तः, त्रस्यन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियाऽऽदयः, तान्, तथा स्थावराँश्च पृथिवीकायाऽऽदीन्, यःकश्चिन्महामोहोदयवर्ती, हिनस्ति व्यापादयति, आत्मसुखं प्रतीत्य, स्वशरीरसुखकृते नानाविधैरुपायैर्यः प्राणिनां लूषक उपमर्दकारी भवति, तथा अदत्तमपहर्तुं शीलमस्यासावदत्तहारी परद्रव्यापहारकः, तथा न शिक्षते नाभ्यसति नादत्ते (सेववियस्स त्ति) सेवनीयस्याऽऽत्महितैषिणा सदनुष्ठाने यस्य संयमस्य किञ्चिदिति। एतदुक्तं भवतिपापोदयाद् विरतिपरिणामं काकमांसाऽऽदेरपि मनागपि न विधत्ते इति॥ ४॥

तथा-

पागब्भि पाणे बहुणं-तिवाती,
अनिव्वते घातमुवेति बाले।
णिहो णिसं गच्छति अंतकाले,
अहो सिरं कट्टु उवेइ दुग्गं॥ ५॥

प्रागल्भ्यं धार्ष्ट्यं तद्विद्यते यस्य स प्रागल्भी, बहूनां प्राणिनां प्राणानतीव पातयितुं शीलमस्य स भवत्यतिपाती। एतदुक्तं भवति-अतिपात्यपि प्राणिनः प्राणानतिधार्ष्ट्याद् वदति-यथा वेदाऽभिहिता हिंसा अहिंसैव भवति, तथा राज्ञामयं धर्मो यदुत आखेटकेन विनोदक्रिया। यदि वा-'' न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ''॥ १॥ इत्या-दि। तदेवं क्रूरसिंहकृष्णसर्पवत् प्रकृत्यैव प्राणातिपातानुष्ठायी, अनिर्वृतः कदाचिदप्यनुपशान्तः क्रोधाग्निना दह्यमानः। यदि वा लुब्धकमत्स्या-ऽऽदिवधकजीविकाप्रसक्तः सर्वदा परिणामपरिणतोऽनुपशान्तो, हन्यते प्राणिनः स्वकृतकर्मविपाकेन यस्मिन् स घातो नरकस्तमुपसामीप्येन एति याति कः ? बालोऽज्ञोरागद्वेषोदयवर्ती, सोऽन्तकाले मरणकाले (निहो त्ति) न्यग्धस्तात् (सिणं ति) अधोऽन्धकारं गच्छतीत्यर्थः, यथा तेन दुश्चरितेन अधः शिरः कृत्वा दुर्गं विषमं यातनास्थानमुपैति; अवाक्शिरा नरके पतती-त्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

(४७) दशविधवेदनाः-

नेरइया णं दसविहं वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति। तं जहा-सीयं, उसिणं, खुहं, पिवासं, कंडुं, परब्भं, भयं, सोगं, जरां वाहिं॥

'' नेरइया '' इत्यादि कण्ठ्यम्। नवरं वेदनां पीडां, तत्र शीत-स्पर्शजनिता शीता, तां, सा च चातुर्थ्यादिनरकपृथिवीष्विति। एवमुष्णां प्रथमाऽऽदिषु, क्षुधं बुभुक्षां, पिपासां तृषं, कण्डूं खर्जूम, (परब्भं ति) परतन्त्रतां, भयं भीतिं, शोकं दैन्यं, जरां वृद्धत्वं, व्याधिं ज्वरकुष्ठाऽऽ-दिकमिति। स्था० १० ठा०।

(४८) साम्प्रतं पुनरपि नरकवर्तिनो नारका यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह-

हण छिंदह भिंदणं दहेति,
सद्दे सुणिंता परहम्मिया णं।
ते नारगाओ भयभिन्नसन्ना,
कंखंति कं नाम दिसं वयामो ?॥ ६॥

तिर्यङ्मनुष्यभवात् सत्त्वा नरकेषूत्पन्ना अन्तर्मुहूर्तेन निर्लूनाण्ड-जसन्निभानि शरीराण्युत्पादयन्ति पर्याप्तिभावमागताश्चातिभयानकान् शब्दान् परमाधार्मिकजनितान् शृण्वन्ति। तद्यथा-हत मुद्गराऽऽदिना, छिन्त खड्गाऽऽदिना, भिन्त शूलाऽऽदिना, दहत मुर्मुराऽऽदिना, णमिति वाक्यालङ्कारे। तदेवंभूतान् कर्णासुखान् शब्दान् भैरवान् श्रुत्वा, ते तु नारका भयोद्भ्रान्तालोचना भयेन भीत्या भिन्ना नष्टा संज्ञाऽन्तःकरण-वृत्तिर्येषां ते तथा, नष्टसंज्ञाश्च कां दिशं व्रजामः ? कुत्र गतानामस्माकमे-वंभूतस्याऽस्य महाघोरारवदारुणस्य दुःखस्य त्राणं स्यादित्येतत् काङ्क्षन्तीति।

(४९) ते च भयोद्भ्रान्ता दिक्षु नष्टा यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह-

इंगालरासिं जलियं सजोतिं,
तेणोवमं भूमिमणुक्कमंता।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति,
अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठितीया॥ ७॥

(इंगालेत्यादि) अङ्गारराशिं खदिराङ्गारपुञ्जं ज्वलितं ज्वालाऽऽकुलं, तथा सह ज्योतिषोद्द्योतेन वर्तत इति सज्योतिर्भूमिस्तेनोपमा यस्याः सा तदुपमा, तामङ्गारसन्निभां भूमिमाक्रमन्तस्ते नारका दन्दह्यमानाः करुणं दीनं स्तनन्त्याक्रन्दन्ति। तत्र बादराग्नेरभावात्, तदुपमां भूमिमित्युक्तम्। एतदपि दिग्दर्शनार्थमुक्तम्, अन्यथा नारकतापस्येह-त्याग्निना नोपमा घटते। ते च नारका महानगरदाहाधिकेन तापेन दह्यमाना अरहःस्वरा अप्रकटस्वरा महाशब्दाः सन्तः, तत्र तस्मिन्नरकावासे, चिरं प्रभूतं कालं स्थितिरवस्थानं येषां ते, तथा ह्युत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि तिष्ठन्तीति।

जइ ते सुया वेयरणीऽभिदुग्गा,
णिसिओ जहा खुर इव तिक्खसोया।
तरंति ते वेयराणिंऽभिदुग्गां,
उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा॥ ८॥

(जइ ते सुया इत्यादि) सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रतीदमाह-यथा भगवतेदमाख्यातम्-यदि ते त्वया श्रुता श्रवणपथमुपागता वैतरणी नाम क्षारोष्णरुधिराऽऽकारजलवाहिनी नदी आभिमुख्येन दुर्गाऽभिदुर्गा दुःखोत्पादिका। तथा निशितो यथा क्षुरस्तीक्ष्णानि शरीरावयवानां कर्तकानि स्रोतांसि यस्याः सा तथा, ते च नारकास्तामङ्गारसन्निभां भूमिं विहायोदकं पिपासवोऽभितप्तः सन्तस्तापापनोदायाभिषिषिक्षवो वा तां

वैतरणीमभिदुर्गा तरन्ति। कथंभूताः ? इषुणा शरेण प्रतोदेनेव चोदिताः प्रेरिताः, शक्तिभिश्च हन्यमानास्तामेव भीमां वैतरणीं तरन्ति। तृतीयार्थे सप्तमी ॥ ८ ॥

किञ्च-

कीलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा,
नावं उविंते सइविप्पहूणा।
अन्ने तु सूलाहिं तिसूलियाहिं,
दीहाहि विद्धूण अहे करंति ॥ ९ ॥

ताँश्च नारकानत्यन्तक्षारोष्णेन दुर्गन्धेन वैतरणीजलेन अभितः स्नायसकीलाकुलां नावमुपगच्छन्तः पूर्वाऽऽरूढा असाधुकर्माणः परमाधार्मिकाः कीलेसु कण्टकेषु विध्यन्तीति, ते च विध्यमानाः कलकलायमानेन सर्वस्रोतोऽनुयायिना वैतरणीजलेन नष्टसंज्ञा अपि सुतरां स्मृत्या विप्रहीणा अपगतकर्तव्यविवेका भवन्ति। अन्ये पुनर्नरकपाला नारकैः क्रीडन्तस्तान्नष्टाँस्त्रिशूलिकाभिर्दीर्घिकाभिरायताभिर्विद्धा अधो भूमौ कुर्वन्तीति ॥ ९ ॥

अपि च-

केसिं च बंधित्तु गले सिलाओ,
उदगंसिं बोलंति महालयंसि।
कलंबुयावालुएँ मुम्मुरे य,
लोलंति पच्चंति अ तत्थ अन्ने ॥ १० ॥

(केसिं च इत्यादि) केषाञ्चिन्नारकाणां परमाधार्मिकाणां महतीं शिलां गले बध्वा महत्युदके (बोलंति त्ति) निमज्जयन्ति, पुनस्ततः समाकृष्य वैतरणीनद्याः कलम्बुकावालुकायां मुर्मुराग्नौ च लोलयन्ति अतितप्तबालुकायां चणकानिव समन्ततो लोलयन्ति, तथाऽन्ये तत्र नरकाऽऽवासे स्वकर्मपाशावपाशितान् नारकान् शूलके प्रोतकमांसपेशवित् पचन्ति भर्जयन्तीति ॥ १० ॥

तथा-

असूरियं नाम महाभितावं,
अंधंतमं दुप्पतरं महंतं।
उड्ढं अहेयं तिरिअं दिसासु,
समाहिओ जत्थऽगणी झियाइं ॥ ११ ॥

(असूरियमित्यादि) न विद्यते सूर्यो यस्मिन् सोऽसूर्यो नरको बहलान्धकारः कुम्भीपाकाऽऽकृतिः, सर्व एव वा नरकाऽऽवासोऽसूर्यो व्यपदिश्यते। तमेवंभूतं महाभितापमन्धतमसं दुष्प्रतरं दुरुत्तरं महान्तं विशालं नरके महापापोदयाद् व्रजन्ति। तत्र च नरके ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च सर्वतः समाहितः सम्यगाहितो व्यवस्थापितोऽग्निर्जाज्वलतीति। पठ्यते च-(समूसिओ जत्थऽगणी झियाइं) यत्र नरके सम्यगूर्ध्वं श्रितः समुच्छ्रितोऽग्निः प्रज्वलति, तं तथाभूतं नरकं वराका भवन्ति ॥ ११ ॥

किञ्चान्यत्-

जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे,
अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो।
सया य कलुणं पुण घम्मठाणं,
गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ॥ १२ ॥

(जंसी गुहाए इत्यादि) यस्मिन्नरकेऽतिगतोऽसुमान् गुहायामित्युष्ट्रिकाकृतौ नरके प्रवेशितो ज्वलनेऽग्नावतिवृतो वेदनाऽभिभूतत्वात् स्वकृतं दुश्चरितमजानन् लुप्तप्रज्ञोऽपगतावधिविवेको दन्दह्यते। तथा सदा सर्वकालं पुनः करुणप्रायं कृत्स्नं वा धर्मस्थानमुष्णस्थानं, तापस्थानमित्यर्थः। (गाढं ति) अत्यर्थमुपनीतम् ढौकितं दुष्कृतकर्मकारिणां यत् स्थानं तत्ते व्रजन्ति। पुनरपि तदेव विशिनष्टि-अतिदुःखरूपो धर्मः स्वभावो यस्मिन्निति। इदमुक्तं भवति-अक्षिनिमेषमात्रमपि कालं न तस्य दुःखस्य विश्राम इति। तदुक्तम्-

'' अच्छिनिमीलणमेत्तं, णत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं।
णिरए णेरइयाणं, अहोणिसं पच्चमाणाणं ''॥ १ ॥ १२ ॥

अपि च-

चत्तारि अगणिओ समारभित्ता,
जेहिं कुरकम्माऽभितविंति बालं।
ते तत्थ चिट्ठंतिऽभितप्पमाणा,
मच्छा व जीवंतुवजोतिपत्ता ॥ १३ ॥

चतसृष्वपि दिक्षु चतुरोऽग्नीन् समारभ्य प्रज्वाल्य, यस्मिन्नरकाऽऽवासे क्रूरकर्माणो नरकपाला आभिमुख्येनात्यर्थं तापयन्ति भर्त्सनवत्पचन्ति बालमज्ञं नारकं पूर्वकृतदुश्चरितं, ते तु नारकजीवा एवमभितप्यमानाः कदर्थ्यमानाः स्वकर्मनिगमिताः तत्रैव प्रभूतं कालं महादुःखाऽऽकुले नरकेतिष्ठन्ति। दृष्टान्तमाह-यथा जीवन्तो मत्स्या मीना उपज्योतिरग्नेः समीपे प्राप्ताः परवशत्वादन्यत्र गन्तुमसमर्थाः, तत्रैव तिष्ठन्त्येवं नारका अपि, मत्स्यानां तापासहिष्णुत्वादग्नावत्यन्तं दुःखमुत्पद्यत इत्यतस्तद्ग्रहणमिति ॥ १३ ॥

किञ्चान्यत्-

संतच्छणं णाम महाहितावं,
ते नारया जत्थ असाहुकम्मा।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं,
फलगं व तच्छंति कुहामहत्था ॥ १४ ॥

(संतच्छमित्यादि) समेकीभावेन तक्षणं संतक्षणं, नामशब्दः संभावनायां, यदेत्संतक्षणं तत्सर्वेषां प्राणिनां महाभितापं महादुःखोत्पादकमित्येवं संभाव्यते। यदेवं ततः किमित्याह-ते नारका नरकपाला यत्र नरकाऽऽवासे स्वभवनादागता असाधुकर्माणः क्रूरकर्माणो निरनुकम्पाः कुठारहस्ताः परशुपाणयः, तान्नारकानत्रा-णान् हस्तैः पादैश्च बध्वा संयम्य फलकमिव काच्छशकलमिव, तक्षणुवन्ति तनूकुर्वन्ति, छिन्दन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

अपि च-

रुहिरे पुणो वच्चसमुच्छिअंगे,
भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता।
पयंति णं णेरइए फुरंते,
सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥ १५ ॥

ते परमाधार्मिकास्तान् नरकान् स्वकीये रुधिरे तप्तकवल्यां प्रक्षिप्ते पुनः पचन्ति। वर्चःप्रधानानि समुच्छ्रितान्यन्त्राणि अङ्गानि वा येषां ते तथा तान्, भिन्नं चूर्णितमुत्तमाङ्गं शिरो येषांते तथा, तानिति। कथंपचन्तीत्याह-परिवर्तयन्त

उत्तानानवाङ्मुखान् वा कुर्वन्तः, णमिति वाक्यालङ्कारे। तान् स्फुरत इतश्चेतश्च विह्वलमात्मानं निक्षिपतः सजीवमत्स्यानिवाऽऽयसकवल्यामिति ॥ १५ ॥

णो चेव ते तत्थ मसीभवंति,
ण मिज्झती तिव्वऽभिवेयणाए।
तमाणुभागं अणुवेदयंता,
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कमेणं ॥ १६ ॥

(णो चेवेत्यादि) ते च नारका एवं बहुशः पच्यमाना अपि (नो) चैव तत्र नरके पाके वा नरकानुभवे वा सति मषीभवन्ति नैव भस्मसाद्भवन्ति। तथा तत्तीव्राभिवेदनया नापरमग्निप्रक्षिप्तमत्स्याऽऽदिकमप्यस्ति, यन्मीयते उपमीयते; अनन्यसदृशीं तीव्रां वेदनां वाचामगोचरामनुभवन्तीत्यर्थः। यदि वा-तीव्राभिवेदनयाऽप्यननुभूतस्वकृतकर्मत्वान्न म्रिन्यते इति। प्रभूतमपि कालं यावत्तत्तादृशं शीतोष्णवेदनाजनितं, तथा दहनच्छेदनभेदनतक्षणत्रिशूलाऽऽरोपणकुम्भीपाकशाल्मल्यारोहणाऽऽदिकं परमाधार्मिकजनितं परस्परोदीरणनिष्पादितं चानुभागं कर्मणां विपाकमनुवेदयन्तः समनुवेदयन्तः समनुभवन्तस्तिष्ठन्ति। तथा स्वकृतेन हिंसाऽऽदिनाऽष्टादशपापस्थानरूपेण सततोदीर्णदुष्कृतेन दुःखिनो दुःखयन्ति पीडयन्ते; नाक्षिनिमेषमपि कालं दुःखेन मुच्यन्त इति ॥ १६॥

किञ्चान्यत्-

तेहिं च ते लोलणसंपगाढे,
गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति।
न तत्थ सायं लहतीऽभिदुग्गे,
अरहियाऽभितावा तह वी तविंति ॥ १७ ॥

तस्मिँश्च महायातनास्थाननरके, तमेव विशिनष्टि-नारकाणां लोलने सम्यक् प्रगाढो व्यासो भृतः स तथा तस्मिन् नरके, शीतार्ताः सन्तो गाढमत्यर्थं सुष्ठु तप्तमग्निं व्रजन्ति। तत्राऽप्यग्निस्थानेऽभिदुर्गे दह्यमानाः सातं सुखं मनागपि न लभन्ते, अरहितो निरन्तरोऽभितापो दाहो येषां ते अरहिताभितापास्तथाऽपि तान्नारकाँस्ते नरकपालास्तापयन्तीत्यर्थः, तप्ततैलाग्निना दहन्तीति ॥ १७ ॥

अपि च-

से सुच्चई नगरवहे व सद्दे,
दुहोवणीयाणि पयाणि तत्थ।
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा,
पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति ॥ १८ ॥

'से' शब्दोऽथशब्दार्थे। अथाऽनन्तरं तेषां नारकाणां नरकपालैः रौद्रैः कदर्थ्यमानानां भयानको हाहारवप्रचुर आक्रन्दनशब्दो नगरवध इव श्रूयते समाकर्ण्यते, दुःखेन पीडयोपनीतानि उच्चरितानि करुणाप्रधानानि यानि पदानि-हा मातस्तात! कष्टम् अनाथोऽहं शरणाऽऽगतस्तव त्रायस्व मामित्येवमादीनां पदानां तत्र नरके शब्दः श्रूयते, उदीर्णमुदयप्राप्तं कटुविपाकं कर्म येषां तथोदीर्णकर्माणो नरकपाला मिथ्यात्वव्यवहारस्यरत्यादीनामुदये वर्तमानाः पुनः पुनर्बहुशस्ते (सरहं ति) सरभसं सोत्साहं नारकान् दुःखयन्त्यतस्तदसह्यं नानाविधैरुपायैर्दुःखमसातवेदनीयमुत्पादयन्तीति ॥ १८ ॥

तथा-

पाणेहि णं पाव विओजयंति,
तं भे एवक्खामि जहातहेणं।
दंडेहिंतत्था सरयंति बाला,
सव्वेहिं दंडेहिंपुराकडेहिं ॥ १९ ॥

(पाणेहि णमित्यादि) णमिति वाक्यालङ्कारे। प्राणैः शरीरेन्द्रियाऽऽदिभिस्ते पापाः पापकर्माणो नरकपाला वियोजयन्ति शरीरावयवानां पाटनाऽऽदिभिः प्रकारैर्विकर्तनादवयवान् विश्लेषयन्ति। किमर्थमेवं कुर्वन्तीत्याह-तद् दुःखकारणं 'भे' युष्माकं प्रवक्ष्यामि याथातथ्येनावितथं प्रतिपादयामीति। दण्डयन्ति पीडामुत्पादयन्तीति दण्डा दुःखविशेषास्तैर्नारकाणामापादितैर्बाला निर्विवेका नरकपालाः पूर्वकृतं स्मारयन्ति। तद्यथा-तदा रुष्टस्त्वं खादसि समुत्कृत्य प्राणिनां मांस, तथा पिबसि तद्रसं, मद्यं च, गच्छसि परदारान्, साम्प्रतं तद्विपाकापादितेन कर्मणाऽभितप्यमानः किमेवं रारटीषीत्येवं सर्वैः पुराकृतैर्दण्डैर्दुःखावशेषैः स्मारयन्तस्तादृग्भूतमेव दुःखविशेषमुत्पादयन्तो नरकपालाः पीडयन्तीति ॥ १९ ॥

तथा-

ते हम्ममाणा णरगे पडंति,
पुन्ने दुरूवस्स महाऽभितावे।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी,
तुट्टंति कम्मोवगया किमीहिं ॥ २० ॥

(ते हम्ममाणा इत्यादि) ते वराका नारका हन्यमानास्तोद्यमाना नरकपालेभ्यो नरकेऽन्यस्मिन् घोरतरे नरकैकदेशे पतन्ति गच्छन्ति। किंभूते नरके ? पूर्णे भृते, दुष्टं रूपं यस्य तद् दुरूपं विष्ठाऽसृङ्मांसाऽऽदिकं मलं तस्य भृते, तथा महाभितापिते सन्तापोपेते, ते नारकाः स्वकर्मावबद्धास्तत्रैवंभूते नरके, दुरूपभक्षिणोऽशुच्यादिभक्षकाः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति। तथा कृमिभिः नरकपालाऽऽपादितैः परस्परकृतैश्च स्वकर्मोपगताः स्वकर्मढौकितास्तुद्यन्ते व्यथ्यन्ते इति। तथा चाऽऽगमः-''छट्ठीसत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया महंताइं लोहिकुंथुरूवाइं विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं समचउरंगेमाणा २ अणुज्झायमाणा अणुज्झायमाणा चिट्ठंति ॥ २० ॥

किञ्चान्यत्-

सया कसिणं पुण घम्मठाणं,
गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं।
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं,
वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥ २१ ॥

(सया कसिणमित्यादि) सदा सर्वकालं, कृत्स्नं संपूर्णं, पुनस्तत्र नरके घर्मप्रधानम् उष्णप्रधानं स्थितिः स्थानं नारकाणां भवति। तत्र हि प्रलयातिरिक्ताग्निवाताऽऽदीनामत्यन्तोष्णरूपत्वात् तच्च दृढैर्निधत्तनिकाचितावस्थैः कर्मभिर्नारकाणामुपनीतं ढौकितम्। पुनरपि विशिनष्टिअतीव दुःखमसातावेदनीयः धर्मः स्वभावो यस्य तत्तथा, तस्मिँश्चैवंविधे स्थाने स्थितोऽसुमान् अन्दुषु निगमेषु देहं विहत्य प्रक्षिप्य च यथा

शिरश्च ' से ' तस्य नारकस्य वेधेन रन्ध्रोत्पादनेनाऽभितापयन्तीति ॥ २१ ॥

अपि च-

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं,
उट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कन्ने ।
जिब्भं विणिकस्स विहत्थिमित्तं (वितस्ति-वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे हः ॥ ८ । १ । २१४ ॥),
तिक्खाहि सूलाहिऽभितावयंति ॥ २२ ॥

(छिंदंति बालस्सेत्यादि) ते परमाधार्मिकाः पूर्वदुश्चरितानि स्मरयित्वा बालस्याज्ञस्य निर्विवेकस्य प्रायशः सर्वदा वेदनासमुद्घातोपगतस्य क्षुरप्रेण नासिकां छिन्दन्ति । तथोष्ठावपि, द्वावपि कर्णौ छिन्दन्ति, तथा मद्यमांसरसाभिलिप्सोर्मृषा भाषिणो जिह्वां वितस्तिमात्रामाक्षिप्य तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्त्यपनयन्ति ॥ २२ ॥

तथा-

ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व,
राइंदियं तत्थ थणंति बाला ।
गलंति ते सोणियपूयमंसं,
पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥ २३ ॥

(ते तिप्पमाणेत्यादि) ते छिन्ननासिकौष्ठजिह्वाः सन्तः शोणितं तिप्यमानाः क्षरन्तो यत्र यस्मिन् प्रदेशे रात्रिन्दिवं गमयन्ति, तत्र बाला अज्ञास्तालसंपुटा इव पवनेरितशुष्कतालपत्रसंचया इव सदा स्तनन्ति दीर्घविस्वरमाक्रन्दन्तस्तिष्ठन्ति । तथा प्रद्योतिता वह्निना ज्वलिताः, तथा क्षारेण प्रदिग्धाङ्गाः शोणितं पूयं मांसं च अहर्निशं गलन्तीति ॥ २३ ॥

किञ्च-

जइ ते सुता लोहितपूअपाई,
बालागणीतेअगुणा परेणं ।
कुंभी महंताऽहियपोरिसीया,
समूसिता लोहियपूयपुण्णा ॥ २४ ॥

(जइ ते सुता इत्यादि) पुनरपि सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य भगवद्वचनमाविष्करोति-यदि ते त्वया श्रुता आकर्णिता, लोहितं रुधिरं पूयं रुधिरमेव पक्वं, ते द्वे अपि पक्तुं शीलं यस्यां सा लोहितपूयपाचिनी कुम्भी । तामेव विशिनष्टिबालोऽभिनवः प्रत्यग्रोऽग्निस्तेन तेजोऽभितापः स एव गुणो यस्याः सा बालाग्नितेजोगुणा, परेण प्रकर्षेण तप्तेत्यर्थः । पुनरपि तस्या एव विशेषणम्- महती बृहत्तरा (अहियपोरिसीयं ति) पुरुषप्रमाणाधिका समुच्छ्रि-तोष्ट्रिकाऽऽकृतिरूर्ध्वं व्यवस्थिता, लोहितेन पूयेन च पूर्णा सैवंभूता कुम्भी समन्ततोऽग्निना प्रज्वलिता अतीव वीभत्सदर्शनेति भावः ॥ २४ ॥

(५०) तासु च यत् क्रियते तद्दर्शयितुमाह-

पक्खिप्प तासुं पवयंति बाले,
अट्टस्सरे ते कलुणं रसंते ।
तण्हाइया ते तउयं च तत्तं,
पज्जिज्जमाणाऽऽइतरं रसंति ॥ २५ ॥

(पक्खिप्प इत्यादि) तासु प्रत्यग्निना दीप्तासु लोहितपूयशरीरावयवकिल्विषपूर्णासु दुर्गन्धासु च बालान्नारकॉस्त्राणरहितानार्त-स्वरान् करुणं दीनं रसतः प्रक्षिप्य प्रपचन्ति, ते च नारकास्तथा कदर्थ्यमाना विरसमाक्रन्दन्तः तृषार्त्ताः सलिलं प्रार्थयन्तो मद्यं ते अतीव प्रियमासीदित्येवं स्मरयित्वा तप्तं त्रपु पाय्यमाना आर्ततरं रसन्ति रारटन्तीति ॥ २५ ॥

उपसंहारमाह-

अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता,
भवाहमे पुव्वसते सहस्से ।
चिट्ठंति तत्था बहु कूरकम्मा,
जहा कडं कम्म तहा सि भारे ॥ २६ ॥

(अप्पेणेत्यादि) इहाऽस्मिन् मनुष्यभवे आत्मना परवञ्चनप्रवृत्तेन स्वत एव परमार्थत आत्मानं वञ्चयित्वा अल्पेन स्तोकेन परोपघातसुखेन आत्मानं वञ्चयित्वा बहुशो भवानां, मध्ये अधमा भवाधमा मत्स्यबन्धकलुब्धकाऽऽदीनां भवास्तान् पूर्वजन्मसु शतसहस्रशः समनुभूय तेषु भवेषु विषयोन्मुखतया सुकृतपराङ्मुखत्वेन वाऽवाप्य महाघोरमतिदारुणं नरकवासं तत्र तस्मिन् मनुष्याः क्रूरकर्माणः परस्परतो दुःखमुदीरयन्तः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति ।

अत्र कारणमाह-यथा पूर्वजन्मसु यादृग्भूतेन अध्यवसायेन जघन्यजघन्यतराऽऽदिना कृतानि कर्माणि, तथा तेनैव प्रकारेण (से) तस्य नारकजन्तोर्भारा वेदनाः प्रादुर्भवन्ति स्वतः, परतः, उभयतो वेति ।

तथाहि-मांसादाः स्वमांसान्येवाग्निना प्रताप्य भक्षन्ते, तथा मांसरसपायिनो निजपूयरुधिराणि तप्तत्रपूणीव पाय्यन्ते, तथा मत्स्यघातकलुब्धकाऽऽदयस्तथैव छिद्यन्ते भिद्यन्ते यावन्मार्यन्ते, तथाऽनृतभाषिणां तत्स्मारयित्वा जिह्वाश्चेच्छिद्यन्ते, तथा पूर्वजन्मनि परकीयद्रव्यापहारिणामङ्गोपाङ्गान्यपह्रियन्ते, तथा पारदारिकाणां वृषणच्छेदः शाल्मल्युपगूहनाऽऽदि च तैः कार्यन्ते । एवं महापरिग्रहाऽऽरम्भवतां क्रोधमानमायालोभिनां च जन्मान्तरस्वकृतक्रौधाऽऽदिदुष्कृतस्मारणेन तादृग्विधमेव दुःखमुत्पाद्यत इति कृत्वा सुष्ठुच्यते तथाविधं कर्म तादृग्विधभूत एव तेषां तत्कर्मविपाकाऽऽदितो भार इति ॥ २६ ॥

तत्र किञ्चान्यत्-

समज्जिणित्ता कलुसं अणज्जा,
इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा ।
ते दुब्भिगंधे कसिणे अफासे,
कम्मोवगा कुणिमे आवसंति ॥ २७ ॥

(समज्जिणित्ता इत्यादि) अनार्या अनार्यकर्मकारित्वाद् हिंसाऽनृतस्तेयाऽऽदिभिराश्रवद्वारैः कलुषं पापं समर्ज्यांशुभकर्मापचयं कृत्वा, ते क्रूरकर्माणो दुरभिगन्धे नरके आवसन्तीति संटङ्कः । किंभूताः ?- इष्टैः शब्दाऽऽदिभिर्विषयैः कान्तैः कमनीयैः

विविधं प्रकर्षेण हीना विप्रमुक्ता नरके वसन्ति, यदि वा यदर्थं कलुषं समर्जयन्ति, तैर्मातापुत्रकलत्राऽऽदिभिः कान्तैश्च विषयैर्विप्रमुक्ता एकाकिनस्ते दुरभिगन्धेन कुथितकलेवरातिशायिनि नरके कृत्स्ने संपूर्णऽत्यन्ताशुभस्पर्शे एकान्तोद्वेजनीये शुभकर्मापगताः (कुणिमे त्ति) मांसपेशीरुधिरपूयान्त्रफिफिसकल्मषाऽऽकुले सर्वामेध्याधमे वीभत्सदर्शने हाहाऽऽरवाऽऽकन्देन कष्टं मा तावदित्यादिशब्दावधीरितदिगन्तराले परमाधमे नरकाऽऽवासे आ समन्तादुत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्यस्यां वा नरकपृथिव्यां यावदायुस्तावद्वसन्ति तिष्ठन्ति। (नैरयिकानामुद्वर्तना ' उव्वट्टणा ' शब्दे १११ पृष्ठे द्वितीयभागे, उपपातश्च ' उववाय ' शब्दे ६२५ पृष्ठे उक्तः। नैरयिकविषयादुद्वर्त्य तीर्थकृत्त्वाऽऽदिलाभः, अन्तक्रियाश्च 'अंतकिरिया' शब्दे प्रथमभागे ५६ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

(५१) संप्रति नरकेषु पृथिव्यादिस्पर्शस्वरूपमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसयं पुढवीफासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ?

गोयमा ! अणिट्ठं० जाव अमणामं एवं० जाव अहे सत्तमाए।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसयं आउफासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ?

गोयमा ! अणिट्ठं० जाव अमणामं, एवं० जाव अहे सत्तमाए, एवं० जाव वणस्सई फासं अहे सत्तमाए पुढवीए।

(रयणप्पभेत्यादि) रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त ! कीदृशं पृथिवीस्पर्शं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति ? भगवानाह-गौतम ! (अनिट्ठं अकंतं अप्पियं अमणुण्णं अमणामं) अस्यार्थः प्राग्वत्। एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावत् तमस्तमायाम्। एवमप्तेजोवायुवनस्पतिस्पर्शसूत्राण्यपि भावनीयानि। नवरं तेजःस्पर्शउष्णरूपतापरिणतनरककुट्यादिस्पर्शः, परोदीरितवैक्रियरूपो वा वेदितव्यः, न तु साक्षाद् बादराग्निकायस्पर्शः, तत्राऽसंभवात्।

(५२) पृथ्वीनां बाहल्याऽऽदि-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए दोच्चं पुढविं पणिहाय सव्वमहंतिया बाहल्लेणं, सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु ? हंता गोय-मा !

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए दोच्चं पुढविं पाणिहाय० जाव सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु ? हंता गोयमा !

दोच्चा णं भंते ! पुढवी तच्चं पुढविं पणिहाय सव्वमहंतिया बाहल्लेणं पुच्छा ? हंता गोयमा !

दोच्चा णं पुढवी० जाव खुड्डिया सव्वंतेसु, एवं एएणं अभिलावेणं० जाव छट्ठिया पुढवी अहे सत्तमिं पुढविं पणिहाय० जाव सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु॥

(५३) महाकर्ममया वेदनाश्च-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए निरयपरिसामंतेस जे पुढवीकाइया० जाव वणस्सइकाइया ते णं भंते ! जीवा महाकम्मतरा चेव, महाआसवतरा चेव, महावेयणतरा चेव ? हंता गोयमा !

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए निरयपरिसामंतेसु तहेव० जाव महावेयणतरका चेव, एवं० जाव अहे सत्तमाए॥

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससय-सहस्सेसु एक्कमेक्कंसि निरयावासंसि सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकाइयत्ताए णेरइयत्ताए उववन्नपुव्वा ?

हंता गोयमा ! असइं, अदुवा अणंतखुत्तो, एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए, णवरं जत्थ जत्तिया णरगा।

(इमीसे णं इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रिंशति नरकावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् नरकाऽऽवासे सर्वे प्राणा द्वीन्द्रियाऽऽदयः सर्वे भूता वनस्पतिकायिकाः, सर्वे सत्त्वाः पृथिव्यादयः सर्वे जीवाः पञ्चेन्द्रियाऽऽदयः।

उक्तं च-

'' प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ताः, भूताश्च तरवः स्मृताः।
जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः॥ १॥ ''

पृथिवीकायिकतया अप्कायिकतया वायुकायिकतया वनस्पतिकायिकतया नैरयिकतया उपपन्नपूर्वाः। भगवानाह-(हंतेत्यादि) हन्तेतिप्रत्यवधारणे। गौतम ! असकृत् अनेकवारम्, अथवा-अनन्तकृत्वोऽनन्तान् वारान् संसारस्यानादित्वात्। एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यम्, यावदधः सप्तमी पृथिवी। नवरं यत्र यावन्तो नरकास्तत्र तावन्त उपयुज्य वक्तव्याः।

क्वचिदिदमपि सूत्रं दृश्यते-

'' इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरयपरिसामंतेसु णं जे बायरपुढविकाइया० जाव वणस्सइकाइया ते णं भंते ! जीवा महाकम्मतरा चेव महाकिरियतरा चेव महावेयणतरा चेव ? हंता गोयमा !० जाव महावेयणतरा चेव, एवं० जाव अहे सत्तमा। ''

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकपरिसमन्तेषु नरकाऽऽवासपर्यन्तवर्तिषु प्रदेशेषु बादरपृथिवीकायिकाः (०जाव वणस्सइकाइया इति) बादराप्कायिकाः बादरवायुकायिका बादरवनस्पतिकायिकास्ते भदन्त ! जीवा महाकर्मतरा एव महत् प्रभूतमसातवेदनीयं कर्म येषां ते महाकर्माणः, अतिशयेन महाकर्माणो महाकर्मतराः, चेत्यवधारणे। महाकर्मतरा एव कुत इत्याह-(महाकिरियतरा एव) महती क्रिया प्राणातिपाताऽऽदिका आसीत्प्राग्जन्मनि, तद्भवे तु तदध्यवसायानिवृत्त्या येषां ते महाक्रियाः, अतिशयेन महाक्रियतराः '' निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम् '' इति न्यायात्। हेतावत्र प्रथमा। ततोऽयमर्थः-यतो महाकर्मतरा एव। महाक्रियतरत्वमपि कुत इत्याह-महाश्रवतरा एव महान्त आश्रवाः पापोपादानहेतव आरम्भाऽऽदयो येषामासीरन् ते महाश्रवा अतिशयेन महाश्रवा महाश्रवतराः, चैवेति पूर्ववत्, तदेवं यतो महाकर्मतरा एव, ततो महावेदनतरा एव, नरकेषु क्षेत्रस्वभावजायाः अपि वेदनाया अतिदुःसहत्वात्। भगवानाह-गौतम ! (ते णं

जीवा महाकम्मतरा चेवेत्यादि) प्राग्वत्। एवं प्रतिपृथिवि तावद् वक्तव्यं यावदधः सप्तमी। जी०।

(एकैकस्मिन् नरके सर्वे जीवा उपपन्नपूर्वा इति ' उववाय ' शब्दे द्वितीयभागे ६८० पृष्ठे चिन्तितम्)

(५४) संप्रत्युद्देशकार्थसंग्रहणिगाथाः प्राऽऽह-

पुढविं ओगाहित्ता, नरगा संठाणमेव बाहल्ले।
विक्खंभपरिक्खेवो, वण्णो गंधो य फासो य॥ १॥
तासे महालयाए, उवमा देवेण होइ कायव्वा।
जीवा य पोग्गलाऽवक्कमंति तह सासया निरया॥ २॥
उववायपरीमाणं, अवहारुच्चत्तमेव संघयणं।
संठाणवण्णगंधा, फासा ऊसासमाहारे॥ ३॥
लेस्सा दिट्ठी णाणे, जोगुवओगे तहा समुग्घाए।
तत्तो खुहा पिवासा, विउव्वणा वेयणा य भए॥ ४॥
उववाओ पुरिसाणं, ओवम्मं वेयणाऐं दुविहाए।
ठिइ उव्वट्टण फासो, उववाओ सव्वजीवाणं॥ ५॥

आसामक्षरमात्रगमनिका-(पुढवीओ इति) पृथिव्य अभिधेयाः। तद्यथा-(कइ णं भंते! पुढवीओ पण्णत्ताओ? इत्यादि) तदनन्तरम् (ओगाहित्ता नरगा इति) यस्यां पृथिव्यां यदवगाह्य यादृशाश्च नरकाः, तदभिधेयम् (इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवइयं ओगाहित्ता? इत्यादि) ततो नरकाणां संस्थानम्, ततो बाहल्यं, तदनन्तरं विष्कम्भपरिक्षेपौ, ततो वर्णः, ततो गन्धः, तदनन्तरं स्पर्शः, ततस्तेषां नरकाणां महत्तायामुपमा देवेन भवति कर्तव्या, ततो जीवाः पुद्गलाश्च तेषु नरकेषु व्युत्क्रामन्तीति, तथा शाश्वताश्च नरका इति वक्तव्यं, तत उपपातो वक्तव्यः। तद्यथा-(इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए कतो उववज्जंति? इत्यादि) तत एकसमयेनोत्पद्यमानानां परिमाणं, ततोऽपहारः, तत उच्चत्वं, तदनन्तरं संहननं, ततः स्थानं, ततो वर्णः, तदनन्तरं गन्धः, ततः स्पर्शः, तत उच्छ्वासवक्तव्यता, तदनन्तरमाहारः, ततो लेश्या, ततो दृष्टिः, तदनन्तरं ज्ञानं, ततो योगः, तत उपयोगः, तदनन्तरं समुद्घातः, ततः क्षुत्पिपासे, ततो विकुर्वणाः। तद्यथा-(रयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते! किं एगत्तं पभू विउव्वित्तए पहुत्तं पभू विउव्वित्तए इत्यादि) ततो वेदना, ततो भयं, तदनन्तरं पुरुषाणां पञ्चानामधः सप्तम्यामुपपातः, तत औपम्यं वेदनाया द्विविधायाः, शीतवेदनाया उष्णवेदनायाश्चेत्यर्थः। ततस्तत्स्थितिर्वक्तव्या, तदनन्तरमुद्वर्तना, ततः स्पर्शः-पृथिव्यादिस्पर्शा वक्तव्यः, ततः सर्वजीवानामुपपातः। तद्यथा-(इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि सव्वे पाणा सव्वे भूया इत्यादि) जी० ३ प्रति० २ उ०।

(५५) पुद्गलपरिणामः-

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसयं पुग्गलपरिणामं पच्चणुभवमाणा विहरंति? गोयमा! अणिट्ठं० जाव अमणामं, एवं० जाव अहे सत्तमाए एवं णेयव्वं।

(रयणप्पभेत्यादि) रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त! कीदृशं पुद्गलपरिणाममाहाराऽदिपुद्गलविपाकं प्रत्यनुभवन्तः प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्ति? भगवानाह-गौतम! अनिष्टमित्यादि प्राग्वत्, एवं प्रतिपृथिवि तावद् वक्तव्यं, यावदधः सप्तमी। एवं वेदनालेश्यानामगौत्रारतिभयशोकक्षुत्पिपासाव्याध्युच्छ्वासानुतापक्रोधमानमायालोभऽऽहारमैथुनपरिग्रहसंज्ञासूत्राणि वक्तव्यानि।

अत्र संग्रहणीगाथे-

पोग्गलपरिणामं वेयणा य लेसा य णामगोए य।
अरई भए य सोए, खुहा पिवासा य वाही य॥ १॥
उस्सासे अणुतावे, कोहे माणे य मायेँ लोभे य।
चत्तारि य सन्नाओ, नेरइयाणं तु परिणामा॥ २॥

(५६) संप्रति सप्तमनरकपृथिव्यां ये गच्छन्ति, तान् प्रतिपादयति-

एत्थ किर अतिवतंती, णरवसभा केसवा जलयरा य।
मंडलिया रायाणो, जे य महारंभ कोडुंबी॥ ३॥

(एत्थ किरेत्यादि) इह परिग्रहसंज्ञापरिणामवक्तव्यतायां चरमसूत्रं सप्तमनरकपृथिवीविषयं, तदनन्तरं च इयं गाथा, तत '' एत्थ '' इत्यनन्तरमुक्ताधः सप्तमी पृथिवी परामृश्यते। तत्र अधः सप्तमनरकपृथिव्यां, किलेत्याप्तवादस्तवने, आप्तवचनमेतदिति भावः। अतिव्रजन्ति अतिशयेन बाहुल्येन गच्छन्ति, नरवृषभाः केशवा वासुदेवा जलचराश्च तन्दुलमत्स्यप्रभृतयो, मण्डलिका वसुप्रभृतय इव, राजानश्चक्रवर्तिनः सुभूमाऽऽदय एव, ये च महारम्भाः कुटुम्बिनः कालसौकरिकाऽऽदय इव॥ ३॥

संप्रति नरकेषु प्रस्तावात् तिर्यगादिषु चोत्तरवैक्रियावस्थानकालमानमाह-

भिन्नमुहुत्तो नरए-सु तिरियमणुएसु होइ चत्तारि।
देवेसु अद्धमासो, उक्कोसविउव्वणा भणिया॥ ४॥

(भिन्नमुहुत्तो निरएसु इत्यादि) भिन्नः खण्डो मुहूर्तो भिन्नमुहूर्तः, अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः। नरकेषूत्कर्षतो विकुर्वणा स्थितिकालः, तिर्यङ्मनुष्येषु चत्वारि, अन्तर्मुहूर्तानि देवेष्वर्द्धमासः, उत्कर्षतो विकुर्वणाऽवस्थानकालो भणितः तीर्थकरगणधरैः॥ ४॥

संप्रति नरकेषु आहाराऽऽदिस्वरूपमाह-

जे पोग्गला अनिट्ठा, णियमा सो तेसिँहोइ आहारो।
संठाणं पि य तेसिं, नियमा हुंडं तु णायव्वं॥ ५॥

(जे पोग्गलेत्यादि) ये पुद्गला अनिष्टाः नियमात् स तेषां भवत्याहारः, संस्थानं तु संस्थानं पुनः हुण्डं हुण्डमपि जघन्यमतिनिकृष्टं वेदितव्यम्। एतच्च भवधारणीयशरीरमधिकृत्य वेदितव्यम्, उत्तरवैक्रियसंस्थानस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। इयं च प्रागुक्तार्थसंग्रहगाथा, ततो न पुनरुक्तदोषः॥ ५॥

संप्रति विकुर्वणास्वरूपमाह-

असुभा विउव्वणा खलु, नेरइयाणं तु होइ सव्वेसिं।
वेउव्वियं सरीरं, ऽसंघयणं हुंडसंठाणं॥ ६॥

सर्वेषां नैरयिकाणां विकुर्वणा खलु निश्चितमशुभा भवति। यद्यपि शुभं विकुर्वणेयं चिन्तयति, तथाऽपि तथाविधप्रतिकूलकर्मोदयतस्तेषामशुभैव विकुर्वणा भवति, तदपि च वैक्रियमुत्तरवैक्रियं शरीरमसंहननम्, अस्थ्यभावात्, उपलक्षणमेतत्, भवधारणीयं च वैक्रियशरीरं च संहननं, तथा हुण्डसंस्थानं तत उत्तरवैक्रियं शरीरं हुण्डस्थाननाम्न एव भवप्रत्यय उदयभावात्॥ ६॥

अस्साओ उववन्नो, अस्साओ चेव जहइ निरयभवं।
सव्वपुढवीसु जीवा, सव्वेसु ठिई विसेसेसु॥ ७॥

(अस्साओ उववण्णो इत्यादि) कश्चिद् जीवः सर्वास्वपि पृथिवीषु रत्नप्रभाऽऽदिषु तमस्तमापर्यन्तासु, सर्वेष्वपि च स्थितिविशेषेषु जघन्याऽऽदिरूपेषु असातोऽसातोदयकलित उपपन्न उत्पत्तिकालेऽपि प्राग्भवमरणकाले भूतमहादुःखानुवृत्तिभावात्, उत्पत्त्यनन्तरमपि असात एवासातोदयकलित एव, सकलमपि निरयभवं (जहइ) त्यजति क्षपयति, न तु जातुचिदपि सुखलेशमप्यास्वादयति। आह-किं तत्र कदाचित् सातोदयोऽपि भवति येनैवमुच्यते? उच्यते-भवति॥ ७॥

तथा चाऽऽह-

उववाएण च सातो, नेरइओ देवकम्मुणा वा वि।
अज्झवसाणनिमित्तं, अहवा कम्माणुभावेण॥ ८॥

(उववाएणेत्यादि) "उववाएणं" इत्यत्र सप्तम्यर्थे तृतीया, उपपातकाले सातं सातवेदनीयकर्मोदयं कश्चिद्वेदयते, यः प्राग्भवे दाहच्छेदाऽऽदिव्यतिरेकेण मरणमुपगतोऽनतिसंक्लिष्टाध्यवसायी समुत्पद्यते, तदा न हि तस्य प्राग्भवानुबद्धमाधिरूपं दुःखं, नाऽपि क्षेत्रस्वभावजं, नाऽपि परमाधार्मिककृतं, नाऽपि परस्परोदीरितम्। तत एवंविधदुःखाभावादसौ सातं वेदयते इत्युच्यते। (देवकम्मुणा वा वि इति) देवकर्मणा पूर्वसामन्तिकदेवप्रयुक्तया क्रियया। तथाहि-गच्छति पूर्वं सामन्तिको देवः, पूर्वपरिचितस्य नैरयिकस्य वेदनोपशमनार्थं, यथा बलदेवकृष्णवासुदेवस्य। स च वेदनोपशमो देवकृतो मनाक् कालमात्र एव भवति। तत ऊर्द्धं नियमात् क्षेत्रस्वभावजा, अन्या वा वेदना प्रवर्तते, तथास्वभाव्यात्। (अज्झवसाणनिमित्तमिति) अध्यवसाननिमित्तं सम्यक्त्वोत्पादकाले, तत ऊर्ध्वं वा कदाचित् तथाविधिविशिष्टशुभाध्यवसायप्रत्ययं कश्चिन्नैरयिको बाह्यक्षेत्रस्वभावजवेदनासद्भावेऽपि सातोदयमेवानुभवति, सम्यक्त्वोत्पादकाले हि जात्यन्धस्य चक्षुर्लाभ इव महान् प्रमोद उपजायते, तदुत्तरकालमपि कदाचित् तीर्थकरगुणानुमोदनाऽऽद्यनुगतां विशिष्टां भावनां भावयतः, ततो बाह्यक्षेत्रस्वभावजवेदनासद्भावेऽप्यन्तःसातोदयो विजृम्भमाणो न विरुध्यते। (अहवा कम्माऽणुभावेणमिति) अथवा कर्मानुभावेन बाह्यतीर्थकरजन्मदीक्षाज्ञानापवर्गकल्याणसंभूतिलक्षणसंज्ञानिमित्तमधिकृत्य तथाविधस्य सातवेदनीयस्य कर्मणोऽनुभावेन विपाकोदयेन कश्चित् सातं वेदयते। न चैतद् व्याख्यानमनार्यम्। यत उक्तं वसुदेवचरिते-इह नैरयिकाः कुम्भ्यादिषु पच्यमानाः कुन्ताऽऽदिभिर्भिद्यमाना वा भयोत्त्रस्तास्तथाविधप्रयत्नवशादूर्ध्वमुत्प्लवन्ते॥ ८॥

ततस्तदुत्पातपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह-

नेरइयाणुप्पाओ, उक्कोसं पंचजोयणसयाइं।
दुक्खेणऽभिद्दुयाणं, वेयणसतसंपगाढाणं॥ ९॥

(नेरइयाणुप्पाओ इति) नैरयिकाणां दुःखेनाऽभिद्रुतानां सर्वाऽऽत्मना व्याप्तानां वेदनाशतसंप्रगाढानां वेदनाशतानि अपरिमिता वेदनाः संप्रगाढानि अवगाढानि येषां ते वेदनाशतसंप्रगाढाः। सुखाऽऽदिदर्शनाद् निष्ठान्तस्य परनिपातः। तेषां, हेतुहेतुमद्भावश्चात्रयतो वेदनाशतसंप्रगाढाः ततो दुःखेनाऽभिद्रुताः। तेषां जघन्यत उत्पातो गव्यूतमात्रम्, एतच्च संप्रदायादवसीयते, तथा च दृश्यते क्वचिदेवमपि पाठः-"नेरइयाणुप्पाओ, गाउयउक्कोसपंचजोयणसयाइं।" इति। उत्कर्षतः पञ्चयोजनशतानि दुःखेनाऽभिहतानामित्युक्तम्॥ ९॥

ततो दुःखमेव निरूपयति-

अच्छिनिमीलणमेत्तं, नत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं।
नरए नेरइयाणं, अहोनिसं पच्चमाणाणं॥ १०॥
अतिसीयं अतिउण्हं, अइतण्हा अइखुहा अइभयं च।
नरए नेरइयाणं, दुक्खसताइं अविस्सामं॥ ११॥

(अच्छिनिमीलणमेत्तमित्यादि) नरके नैरयिकाणामुष्णवेदनायाः शीतवेदनाया वा अहर्निशं पच्यमानानां नाऽक्षिनिमीलनमात्रमपि अक्षिनिकोचकालमात्रमपि अस्ति सुखं, किं तु दुःखमेव केवलं प्रतिबद्धमनुबद्धं, सदाऽनुगतमिति भावः॥ १०॥ ११॥

अथ यत्तेषां वैक्रियशरीरं तत्तेषां मरणकाले कथं भवतीति निरूपणार्थमाह-

तेयाकम्मसरीरा, सुहुमसरीरा य जे अपज्जत्ता।
जीवेण विप्पमुक्का, वच्चंति सहस्ससो भेदं॥ १२॥

(तेयाकम्मेत्यादि) तैजसकार्मणशरीराणि यानि सूक्ष्मशरीराणि सूक्ष्मनामकर्मोदयवतां पर्याप्तानामपर्याप्तानां चौदारिकशरीराणि वैक्रियाऽऽहारकशरीराणि च तेषामपि प्रायो मांसचक्षुरग्राह्यतया सूक्ष्मत्वात्, तथा यानि अपर्याप्तानि अपर्याप्तशरीराणि, तानि जीवेन मुक्तमात्राणि सन्ति सहस्रसो भेदं व्रजन्ति; विशकलितास्ततत्परमाणुसङ्घाता भवन्तीत्यर्थः॥ १२॥

एतासामेव गाथानां संग्राहिकां गाथामाह-

एत्थ य भिन्नमुहुत्तो पुग्गल असुभा य होइ अस्साओ।
उववाओ उप्पाओ, अत्थिसरीरा य नायव्वा॥ १३॥

(एत्थ य भिन्नेत्यादि) प्रथमा गाथा (एत्थ) इतिपदोपलक्षिता। द्वितीया-(भिन्नमुहुत्तो इति) तृतीया-(पोग्गला इति) (जे पोग्गला अनिट्ठा इत्यादि) चतुर्थी-(असुभा इति) (असुभा विउव्वणा खलु इत्यादि) एवं शेषपदान्यपि भावनीयानि॥ १३॥ जी० ३ प्रति० ३ उ०। (स्त्रीणां सप्तमनरकपृथिवीगमनविचारः 'इत्थिलिंगसिद्ध' शब्दे द्वितीयभागे ५६१ पृष्ठे गतः)

सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा॥ १२॥

'मे' मया नरके स्थानानि श्रुतानि, या गतिर्नरकाऽऽदि अशीलानां गतिर्विद्यते। यत्र यस्यां गतौ क्रूरकर्मणां बालानां मूर्खाणाम् आत्महितविध्वंसकानां प्रगाढा वेदनाऽस्ति॥ १२॥ उत्त० ५ अ०।

विषयसूची-

(१) नरकनिक्षेपः।
(२) सप्तनरकपृथिवीनामानि।
(३) पृथ्वीनामगोत्रनिरूपणम्।
(४) प्रतिपृथिवि बाहल्यप्ररूपणम्।
(५) त्रिविधकाण्डप्रतिपादनम्।
(६) तत्र खरकाण्डवक्तव्यता।
(७) रत्नकाण्डविचारः।
(८) प्रतिपृथिवि नरकावाससंख्यासंख्यानम्।
(९) प्रतिपृथिवि घनोदध्यस्तित्वप्ररूपणा।
(१०) रत्नकाण्डबाहल्याऽऽख्यानम्।
(११) पङ्कबहुलकाण्डवक्तव्यता।
(१२) अब्बहुलकाण्डस्य बाहल्यम्।
(१३) घनोदधिघनवातयोर्बाहल्यम्।
(१४) क्षेत्रच्छेदेन छिद्यमानायाः पृथिव्या द्रव्याणां वर्णगन्धरससस्पर्शसंस्थानवर्णनम्।
(१५) खरकाण्डाऽऽदीनां बाहल्यवर्णाऽऽदिप्ररूपणम्।
(१६) पङ्कबहुलकाण्डाऽऽदीनां बाहल्यवर्णाऽऽदिनिरूपणम्।
(१७) रत्नप्रभाऽऽदीनां संस्थानप्रतिपादनम्।
(१८) लोकन्तादबाधा।
(१९) रत्नप्रभापृथिव्यादीनामधो गृहाऽऽदिसत्तानिराकरणम्।
(२०) अमूनि रत्नप्रभाऽऽदीनामपान्तरालानि घनोदध्यादिव्याप्तानि, तत्र कस्मिन्नपान्तराले कियान् घनोदध्यादिरिति प्रतिपादनम्।
(२१) घनोदधिबलयस्य तिर्यग्बाहल्यमानम्।
(२२) घनवातवलयस्य तिर्यग्बाहल्यपरिमाणप्रतिपादनम्।
(२३) तनुवातवलयस्य तिर्यग्बाहल्यपरिमाणनिरूपणम्।
(२४) एष्वेव घनोदध्यादिबलयेषु क्षेत्रच्छेदेन कृष्णवर्णाऽऽद्युपेतद्रव्यास्तित्वप्ररूपणम्।
(२५) पृथ्वीनामायामविष्कम्भौ।
(२६) पृथ्व्यः समा अन्तर्बहिर्वा।
(२७) पृथिवीषु जीवाः सर्वत्र उपपन्नपूर्वाः।
(२८) सर्वे जीवाः पृथ्वीषु प्रविष्टपूर्वाः।
(२९) त्यक्तपूर्वाः सर्वे पुद्गलाः।
(३०) रत्नप्रभायाः शाश्वतत्वाशाश्वतत्वविचारः।
(३१) रत्नप्रभायाः कालस्थितिः।
(३२) पृथिव्यो बाहल्येन तुल्याः।
(३३) यस्यां पृथिव्यां यस्मिन् प्रदेशे नरकाऽऽवासास्तत्प्रतिपादनम्।
(३४) नरकवर्णकः।
(३५) नरकावाससंस्थानविवरणम्।
(३६) अधःसप्तमीविषयं संस्थानवर्णनम्।
(३७) नरकावासानां बाहल्यप्रतिपादनम्।
(३८) नरकावासानामायामविष्कम्भप्ररूपणम्।
(३९) नरकावासानां वर्णप्रतिपादनम्।
(४०) तत्र गन्धविवेकः।
(४१) तथा स्पर्शप्ररूपणम्।
(४२) नरकावासानां महत्त्वाभिधानम्।
(४३) नरका यन्मयास्तत्प्ररूपणम्।
(४४) नरका यत्प्रतिष्ठितास्तत्प्रतिपादनम्।
(४५) नरकदुःखवर्णनम्।
(४६) तत्र गतानां यादृशी वेदना प्रादुर्भवति तन्निरूपणम्।
(४७) दशविधवेदनावर्णनम्।
(४८) नरकवर्तिनां नारकाणां वेदनानुभवस्य प्रतिपादनम्।
(४९) नारका भयोद्भ्रान्ता दिक्षु नष्टा यदनुभवन्ति तत्प्ररूपणम्।
(५०) कुम्भ्यादिषु यत् क्रियते तत्प्रदर्शनम्।
(५१) नरकेषु पृथिव्यादिस्पर्शस्वरूपनिरूपणम्।
(५२) पृथ्वीनां बाहल्याऽऽदिप्ररूपणम्।
(५३) महाकर्ममया वेदनाः।
(५४) पूर्वोक्तार्थप्रतिपादिकाः संग्रहगाथाः।
(५५) पुद्गलपरिणामः।
(५६) सप्तमनरकपृथिव्यां ये गच्छन्ति तेषां प्रतिपादनं, तत्प्रस्तावादाहारविकुर्वणातदुत्पातपरिमाणाऽऽदिनिरूपणम्।

णरगगइ स्त्री०(नरकगति) नृणन्ति विवेकमासाद्य नयधर्मपरा भवन्तीति नरा मनुष्याः, तेषु विषये गतिर्नरकगतिः (कर्म०) नरानुपलक्षणत्वात्तिरश्चोऽपि प्रभूतपापकारिणः कायन्तीवाऽऽह्वयन्तीवेति नरका नरकावासाः, तत्रोत्पन्ना जन्तवोऽपि नरकाः, नरको वा विद्यते येषां ते '' अभ्राऽऽदिभ्यः ''।७।२।४६। (हैम०) इत्यप्रत्यये नरकाः, तेषु विषये गतिर्नरकगतिः। गतिभेदे, कर्म० ४ कर्म०। आव०।

णरगछिद्द त्रि०(नरकछिद्र) नरकगतिनिवारके, अष्ट० २० अष्ट०।

णरगजायणा स्त्री(नरकयातना) नरकेषु दुःखभोगे, नरकपीडायाम् (उत्त०)
'' प्रदीप्ताङ्गारकल्येषु, वज्रकुण्डेष्वसन्धिषु।
कूजन्तः करुणं केचिद्, दह्यन्ते नरकाग्निना॥ १॥
अग्निभीताः प्रधावन्तो, गत्वा वैतरणीं नदीम्।
शीततोयामिमां ज्ञात्वा, क्षाराम्भसि पतन्ति ते॥ २॥
क्षारदग्धशरीराश्च, मृगवेगोत्थिताः पुनः।
असिपत्रवनं यान्ति, छायायां कृतबुद्धयः॥ ३॥
शक्त्यसिप्रासकुन्तैश्च, खड्गतोमरपट्टिशैः।
छिद्यन्ते कृपणास्तत्र, पतद्भिर्वातकम्पितैः॥४॥'' उत्त० ३ अ०।

णरगतिग न०(नरकत्रिक) नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुस्स्वरूपे नरकत्रये, कर्म० ३ कर्म०। पं० सं०।

णरगपुढवी स्त्री०(नरकपृथिवी) रत्नप्रभाऽऽद्यासु पृथिवीषु, उत्त० ३६ अ०। प्रव०।

णरगवाल पुं०(नरकपाल) पञ्चदशप्रकारे परमाधार्मिके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

णरगविभत्ति स्त्री०(नरकविभक्ति) नरकाणां विभागो विभजनं विभक्तिः। नरकप्रविभागे, तदर्थप्रतिपादके सूत्रकृतः प्रथमश्रुतस्कन्धस्य पञ्चमेऽध्ययने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। आ० चू०। स०। '' पुढवीफासं अण्णाणुवक्कमं णिरयवालवहणं च। तिसु वेदंति अताणा, अणुभग्गं

चेव सेसासु ॥ ६७ ॥'' सूत्र० नि० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। (नरकविभक्तिवर्णकः 'णरग' शब्दे १९०४ पृष्ठे गतः)

णरगाउ न०(नरकायुष्) नारकायुष्के, कर्म० १ कर्म०।

णरगावास पुं०(नरकावास) नरकरूपे आवासे, स्था० ८ ठा०।

णरगिंद पुं०(नरकेन्द्र) बृहत्त्वात्प्रधानत्वाच्च तथाविधे नरकेचतुर्थ्यां नरकपृथ्व्यां सप्त नरकेन्द्रकाः। यथोक्तम्-'' आरे मारे णारे, तच्छे य तमए य बोधव्वे। क्खोडक्खडे य खडखडे, इंदयनिरया चउत्थीए ॥ १ ॥'' स्था० ६ ठा०।

णरणारीसंपडिवुड त्रि०(नरनारीसंपरिवृत) नरैर्नारीभिश्च समन्तात् परिवृते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

णरदत्ता स्त्री०(नरदत्ता) श्रीमुनिसुव्रतस्य शासनदेव्याम्, प्रव० २७ द्वार। ती०।

णरदुग न०(नरद्विक) नरगतिनरानुपूर्वीलक्षणे, कर्म० ३ कर्म०।

णरदेव पुं०(नरदेव) नराणां देवाः नरदेवाः। चक्रवर्तिषु, स्था० ५ ठा० १ उ०। '' पोग्गलपरियट्टुद्धं, जं नरदेवंतरं सुए भणियं।'' (८०५) विशे०। स्वनामख्याते श्रीऋषभदेवपुत्रे, कल्प० ७ क्षण।

णरभव पुं०(नरभव) ६त०। मनुष्याणां जन्मसु, कर्म० ५ कर्म०।

णररुहिर न०(नररुधिर) मनुष्यरुधिरे, तद्धि लोहितवर्णोत्कटमिति रक्तत्वेनोपमीयते। रा०।

णरवइ पुं०(नरपति) राजनि, रा०। दश०। औ०। स्था०। आव०। विश्रुते राजनि, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार। नरनायके, नरस्वामिनि, स०। औ०। ज्ञा०।

णरवइदत्तपयार पुं०(नरपतिदत्तप्रचार) नृपानुज्ञातकामचारे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

णरवइदिन्नपयार पुं(नरपतिदत्तप्रचार) नृपानुज्ञातकामचारे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

णरवरीसर पुं०(नरवरेश्वर) नराणां श्रेष्ठराजानि, '' सगरंतं चइत्ता णं, भरहं नरवरीसरो।'' उत्त० १८ अ०। उत्क्षिप्तकार्ये भारनिर्वाहकत्वात्। स०।

णरवसह पुं०(नरवृषभ) नराणां मध्ये गुणैः प्रधानत्वात् (प्रश्न० ४ आश्र० द्वार) धराभारधुरन्धरत्वाद् वृषभकल्पे, कल्प० ३ क्षण।

णरवाहण पुं०(नरवाहन) स्वनामख्याते भृगुकच्छनरेश्वरे, आव० १ अ०। ती०। आ० म०। आ० चू०। कुबेरे, वाच०। (स च महाधनः शालिवाहनेन रुद्ध इति 'पणिहि' शब्दे वक्ष्यते)

णरवाहणा स्त्री०(नरवाहना) कुबेरायां देव्याम्, ती० ८ कल्प।

णरविग्गहगइ स्त्री०(नरविग्रहगति) निरयविग्रहगतौ, स्था० १० ठा०।

णरवेय पुं०(नरवेद) पुरुषस्य स्त्रियं प्रत्यभिलाषे, कर्म० ४ कर्म०।

णरसंघाडग न०(नरसंघाटक) नरयुग्मे, जं० १ वक्ष०।

णरसीह पुं०(नरसिंह) शूरत्वात् (प्रश्न० ४ आश्र० द्वार) दुःसहपराक्रमत्वात् (कल्प० ३ क्षण) विक्रमयोगात् (स०) सिंहत्वोपमिते नरे, शरीरार्द्धतो नरे शरीरार्द्धतः सिंहे च। ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। विशे०। मानतुङ्गसूर्यन्ववाये जाते स्वनामख्याते सूरौ, ''श्रीदेवानन्दगुरुर्विक्रमसूरिर्गुरुश्च नरसिंहः। बोधितसिंहकयक्षः''। ग० ४ अधि०।

णरसुंदर पुं०(नरसुन्दर) ताम्रलिप्तीनगरीश्वरे स्वनामख्याते राजनि, (ध० र०)

तत्कथा पुनरेवम्-

'' पयडियउदया बहुविह-सत्ता वरकम्मगंथवित्ति व्व।
नवरं बंधविमुक्का, अत्थि पुरी तामलित्तीह ॥ १ ॥
सम्मंपरिणयजिणसमय-अमयरसहणियविसयविसपसरो।
गिहिवाससिढिलचित्तो, राया नरसुंदरो तत्थ ॥ २ ॥
निरुवमलवणिमरूवा, बंधुमई नाम आसि से भइणी।
उज्जेणिसामिणा सा, अवंतिनाहेण परिणीया ॥ ३ ॥
सो तीए अणुरत्तो, आसत्तो मज्जपाणवसणम्मि।
जूयम्मि अइपसत्तो, मत्तो वोलेइ बहुकालं ॥ ४ ॥
तम्मि निवम्मि पमत्ते, रज्जे रट्ठे विसीयमाणम्मि।
रज्जपहाणनरेहिं, सचिवेहि य मंतियं सम्मं ॥ ५ ॥
पुत्तं ठवेमि रज्जे, मज्जं पाइत्तु निसि पसुत्तो सो।
देवीइ समं नियमा-णुसेहिंउज्जाविओ रत्ने ॥ ६ ॥
चेलंचले य बद्धो, लेहोऽणागमणसूयगो तस्स।
अह गोसे पडिबुद्धो, जा दिसिचक्कं नियइ राया ॥ ७ ॥
हरिहरिणरुद्दसद्दू-लसंकुलं सव्वओ पि ता रन्नं।
तं लेहं च निरिक्खिय, सविसाओ भणइ इय दइयं ॥ ८ ॥
ओ पिच्छ पिच्छु पावा-ण ताण सामंतमंतिपमुहाणं।
तह तह उवयरियाणं, वियरियगुरुदाणमाणाणं ॥ ९ ॥
निच्चं गुरुगुरुतरबहु-पसायपावियपसिद्धिरिद्धीणं।
अवराहपए वि सया, सिणिद्धदिट्ठीइ दिट्ठाणं ॥ १० ॥
अविभिन्नरहस्साणं, संसइयत्थेसु पुच्छिणिज्जाणं।
नियकुलकमाणुरूवं, चिट्ठियमेवंविहं सुयणु ! ॥ ११ ॥
इय विरसं जंपंतो, अविभावियदुट्ठदिव्वपरिणामो।
राया बंधुमईए, सुजुत्तिजुत्तं इमं वुत्तो ॥ १२ ॥
किं चिंतिएण सामिय ! विहलीकयसयलपुरिसयारस्स।
अघडंतघडणरुइणो, हयविहिणो विलसिएणिमिणा ? ॥ १३ ॥
लहु पहु ! चयसु विसायं, गच्छामो तामलित्तिनयरीए।
नरसुंदरनरनाहं, पिच्छामो तत्थ सप्पणयं ॥ १४ ॥
रन्ना पडिवन्नमिणं, गंतु पयट्टाइँ ताइँ तो कमसो।
पत्ताइँ तामलित्ती, पुरी समीवट्ठउज्जाणे ॥ १५ ॥
अह बंधुमई जंपइ, इहेव चिट्ठेसु सामि ! खणमेगं।
तुह आगमणं गंतूण भाउणो जाव साहेमि ॥ १६ ॥
कह कह वि होउ एवं, ति जंपिए नरवरेण अह पत्ता।
निविडपडिबंधबंधुर-बंधवगेहम्मि बंधुमई ॥ १७ ॥
तत्थ य महंतसामं-तविंदसेविज्जमाणपयजुयलो।
पासट्ठियपणतरुणी-करचालियचामरुप्पीलो ॥ १८ ॥
जय जीव जीव इय से-वगेहिंवुच्चंतओ य पइवयणं।
सिंघासणोवविट्ठो, दिट्ठो नरसुंदरो तीए ॥ १९ ॥

तेण वि विम्हियमणसा, भगिणी अवितक्कियागया दट्ठुं।
उचियपडिवत्तिपुव्वं, पुट्ठा सयलं पि वुत्तंतं ॥ २० ॥
तो तीइ वि सो कहिओ, उज्झाणे जाव चिट्ठइ निवुत्ति।
सव्विड्ढीइ तओ सो, तयभिमुहं पट्ठिओ झत्ति ॥ २१ ॥
सो पुण अवंतिणाहो, अइगाढछुहाइ पीडिओ तइया।
वालुंकिडक्खणत्थं, एगम्मि अ चिभिमीकच्छे ॥ २२ ॥
अवदारेणं चोरु, व्व पविसमाणो स कत्थ य नरेण।
मम्मपएसम्मि हओ, मुट्ठीए तह य लट्ठीए ॥ २३ ॥
निट्ठुरपहारविहुरो, पलायमाणो तओ इमो तुरियं।
धरणीवट्टे पडिओ, निचिट्ठो कट्ठघडिउ व्व ॥ २४ ॥
इत्तो नरसुंदरनर-वरो वि नियविजयरहवरारुढो।
भगिणीवइस्सऽभिमुहं, तम्मि पएसम्मि संपत्तो ॥ २५ ॥
नवरं तरलतुरंगम-निट्ठुरखुरखणियरेणुपूरेण।
उद्धुरतिमिरक्कंतं, व नहयलं तक्खणे जायं ॥ २६ ॥
तो दंसणविरहाओ, नरवररहतिक्खचक्कधाराए।
तह निवडियस्स कंठो, दुहा कओऽवंतिनाहस्स ॥ २७ ॥
अह पुव्वुत्तुज्झाणे, अवंतिनाहं निवो अपिच्छंतो।
संभंतो भइणीए, वुत्तंतमिमं कहावेइ ॥ २८ ॥
हा दिव्व ! दिव्व ! किमिअं, ति संममुब्भंततरलतारच्छी।
बंधुमई बंधुगिरं, निसामिउं आगया तत्थ ॥ २९ ॥
तो अवलोयंतीए, पणट्ठरयणं व निउणदिट्ठीए।
कह कहमवि तमवत्थं, संपत्तो तीइ सो दिट्ठो ॥ ३० ॥
अह नाउ मयं सपइं, गुरुमुग्गरचूरिय व्व सा सहसा।
पडिया अतुच्छमुच्छा-निमीलियच्छी महीपीढे ॥ ३१ ॥
पासट्ठियपरियणविहि-यसिसिरउवयारलद्धचेयन्ना।
परिमुक्कपिक्कमुक्कं, एवं विलवेइ दीणमणा ॥ ३२ ॥
हा हियय ! दइय ! पिययम ! गुणनिवहनिवास ! पणयकयतोस !
केणं पाविट्ठेणं, एयमवत्थं तुमं नीओ ? ॥ ३३ ॥
हा नाह ! तायसु महं, विओगवज्जासणीइ भिज्जंतं।
हियय हिययसुहावह ! कीस उविक्खेसि चिरकालं ? ॥ ३४ ॥
हयदिव्व ! किं न तुट्ठो, रज्जवहारेण देसचाएण।
सुहिजणविओयणेण य, जमेयमवि ववसिओ पाव ! ॥ ३५ ॥
इच्चाइविलवमाणी, वारिज्जंती वि बंधवनिवेण।
सा णियपइणा सद्धिं, पडिया जालाउले जलणे ॥ ३६ ॥
अह निव्वेओवगओ, राया नरसुंदरो विचिंतेइ।
अविचिंतणीयरूवा, अहो अणिच्चा जयस्स ठिई ॥ ३७ ॥
जत्थ सुही वि हु दुहिओ, निवो वि रोरो सुमित्तमवि सत्तू।
संपत्ती वि विवत्ती, निमेसमित्तेण परिणमइ ॥ ३८ ॥
कहमहुणा भइणीए, चिरकालाओ समागमो जाओ ?
कहमिण्हिं पि विओगो, धिरत्थु संसारवासस्स ॥ ३९ ॥

अवि य-

जे खलु तिहुयणजणपलय-ताणकरणक्खडा जिणवरिंदा।
सयय अणिच्चयाए, उररीकीरंति ते वि हहा ! ॥ ४० ॥
रणसवडंमुहउब्भड-भिडंतरिउसुहडचक्कअक्कमणे।
जे पहुणो ते वि खणे-ण चक्किणो जंति हा निहणं ॥ ४१ ॥
जे गुरुभुयबलबलभ-द्दसंगया दलियदक्खपडिवक्खा।
ते वि हु हरिणो हरिणु, व्व हरेह हा हा कयंतहरी ॥ ४२ ॥
मन्ने करिकन्नसुरिं-दचावतडिचावलेन निम्मवियं।
इत्थं वत्थुसमत्थं, तेणं खणदिट्ठवट्ठं ति ॥ ४३ ॥
एवंविहे य जं इह, खणमवि निवसंति मुणियपरमत्था।
वीसत्था सगिहेसुं, अहह महाधिट्ठिमा तेसिं ॥ ४४ ॥
इय सो विरत्तचित्तो, संबद्धो वि हु घणाइसु कहं पि।
भावण अपडिबद्धो, गेहम्मि गमेइ कइ वि दिणे ॥ ४५ ॥
कालेण नंदणे र-ज्जभारधरणुद्धुरे ठविय रज्जं।
सिरिसेणगुरुसमीवे, दिक्खं गिण्हइ महीनाहो ॥ ४६ ॥
वत्थाइसु गामाइसु, समयाइसु कोहमाणमाईसु।
दव्वे खित्ते काले, भावे परिमुक्कपडिबंधो ॥ ४७ ॥
काऊण अणसणं सा-सणं मणे जिणवराण धारंतो।
देहे वि अपडिबद्धो, मरिउं गेवे सुरो जाओ ॥ ४८ ॥
तत्तो य उत्तरुत्तर-सुरनरसिरिमणुहवित्तु कइ वि भवे।
पव्वज्जं पडिवज्जिय, सो संपत्तो पयं परमं ॥ ४९ ॥
श्रुत्वैवं, नरसुन्दरस्य चरितं, हेतोर्गरीयस्तरात्,
कस्मादप्यनलंभविष्णुमनसो, दीक्षां गृहीतु द्रुतम्।
संबद्धा अपि देहगेहविषय-द्रव्याऽऽदिषु द्रव्यतो,
भावेन प्रतिबन्धबुद्धिमसमां, मैतेषु भव्याः ! कृत ॥ ५० ॥
ध० र० ७४ गाथा ॥

णराअ न०(नाराच) ''वाऽव्ययोत्खातादावदातः'' । ८ । १ । ६७ । इत्यातोऽन्वम्। (' णाराय ' प्रकरणे वक्ष्यमाणेर्थे) प्रा० १ पाद।

णराहिव पुं०(नराधिप) राजनि, उत्त० ६ अ०। '' कुंथू नाम नराहिवो।'' उत्त० ६ अ०।

णरिंद पुं०(नरेन्द्र) नराणामिन्द्रो नरेन्द्रः। दशा० १० अ०। '' ह्रस्वः संयोगे दीर्घस्य '' । ८ । १ । ८४ । इति ह्रस्वः। प्रा० १ पाद। परमैश्वर्ययोगात् (स० । औ०) समस्तभरताधिपे (प्रश्न० ४ आश्र द्वार) राजनि, औ०। चक्रवर्त्यादौ, ध० २ अधि०। आ० म०। उत्त०। प्रजापतौ, व्य० २ उ०। बृ०।

णरिंदप्पह पुं०(नरेन्द्रप्रभ) हर्षपुरीयगच्छोद्भवे ताराचन्द्रसूरिशिष्ये, अनेन अलङ्कारमहोदधिः, काकुत्स्थकेलिश्चेति द्वौ ग्रन्थौ रचितौ। जै० इ०।

णरिंदवसह पुं०(नरेन्द्रवृषभ) राजमुख्ये, उत्त० १५ अ०। '' एवं नरिंदवसहा, निक्खंता जिणसासणे।'' उत्त० ६ अ०।

णरिंदसमणी स्त्री०(नरेन्द्रश्रमणी) मासराजकुलपालितायां श्रमण्याम्, सा चाऽदत्ताऽऽदानेन संसारं पर्यटितेति।

सा उण लहिऊण अदत्तादाणगं मासरायकुलवालिया णरिंदसमणी गोयमा ! तेणं मायासल्लभावदोसेणं उववन्ना विज्जुकुमाराणं वाहणत्ताए नउलीरूवेणं किंकरी देवेसु तओ चूया समाणी पुणो पुणो उववज्जंती वावज्जंती आहिंडियमाणुसतिरियच्छेसु सयलदोहग्गस्स दुक्खदारिद्दपरिगया सव्वलोयपरिभूया सकम्मफलमणुभवमाणी गोयमा ! ०जाव णं कह वि कम्माणं खओवसमेणं बहुभवंतरेसु तं आयरिय य पाविऊण निरइयारसामण्णपरिवालणेणं सव्वत्थामेसुं च सव्वए मायालंबणविप्पमुक्केणं तु उज्झमिऊणं निद्दड्ढावसेसीकयभवंकुरे तहा वि गोयमा ! जा सा सरागा चक्खुणाऽऽलोइया तक्कमदोसेणं माहणिच्छित्ताए परिनिव्वुमेणं से रायकुलवालियाणरिंदसमणीजीवे। महा० २ चू०।

णरीसर पुं०(नरेश्वर) नृपे, ''इक्खागुरायवसहो, कुंथू नाम नरीसरो।'' उत्त० १८ अ०।

णरीसरत्तण न०(नरेश्वरत्व) नृपत्वे, पञ्चा०।

सामण्णे मणुयत्ते, धम्माओ णरीसरत्तणं णेयं।
इव मुणिऊणं सुंदर! जत्तो एयम्मि कायव्वो॥ १७॥

सामान्ये बहूनां प्राणिनां साधारणे, मनुजत्वे नरत्वे, धर्मात् कुशलकर्मणः नरेश्वरत्वं नृपत्वं भवतीति ज्ञेयं ज्ञातव्यम्। इत्येतद् ज्ञात्वा अवगम्य, सुन्दर! नरप्रधान! यत्न उद्यमः, अत्र धर्मे, कर्तव्यो विधेयो भवति। इति गाथार्थः॥ १७॥ पञ्चा० ६ विव०।

णरोत्तम पुं०(नरोत्तम) श्रीऋषभदेवस्य चतुश्चत्वारिंशे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण।

णल पुं०(नड) नस्य णः, डस्य तु ''डो लः''। ८। १। २०२। इति लः। प्रा० १ पाद। तृणविशेषे, जी० ३ प्रति० २ उ०। प्रज्ञा०। आचा०। शुषिरशराऽऽकारे यवाऽऽदीनां कडङ्गरे, स्था० ५ ठा० २ उ०। चन्द्रवंश्ये नृपभेदे, वानरभेदे, श्राद्धदेवे, पितृगणभेदे, दैत्यभेदे, पद्मे, न०। वाच०।

णलकूवर पुं०(नलकूवर) नलः कूवरो युगन्धरोऽस्य। कुबेरपुत्रे, वाच०। ''अट्ठपुत्ते पयाहिसि सिरीए नलकूवरसमाणे।'' आ० म० १ अ० २ खण्ड।

णलगिरि पुं०(नलगिरि) प्रद्योतनृपतेर्हस्तिरत्ने, अनलगिरिरिति तन्नामान्तरम्। आ० क०। आ० म०। आ० चू०। नि० चू०। आव०।

णलत्थंभ पुं०(नलस्तम्भ) वृक्षविशेषे, आव० ३ अ०।

णलदाम(ण्) न०(नलदामन्) स्वनामख्याते कुविन्दे, स्था० ४ ठा० ३ उ०। दश०। व्य०। आ० म०। (अधर्मयुक्ते हेतौ नलदामकुविन्दोदाहरणम् 'अधम्मजुत्त' शब्दे प्रथमभागे ५६७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

णलय पुं०(नलद) देशी-उशीरे, दे० ना० ४ वर्ग।

णलागणि पुं०(नलाग्नि) नलदहनप्रवृत्तेऽग्नौ, स्था० ५ ठा० २ उ०।

णलाड न०(ललाट) ''ललाटे लडोः''॥ ८। २। १२३॥ इति ललाटशब्दे डलयोर्व्यत्ययः। ''णलाडं। णमालं'' प्रा० २ पाद।

णलिअ (देशी) गृहे, दे० ना० ४ वर्ग।

णलिण न०(नलिन) ईषद्रक्ते कमले, चं० प्र० १ पाहु० १ पाहु० पाहु०। रा०। ईषद्रक्तपद्मे, रा०। जं०। आ० म०। प्रज्ञा०। ईष-न्नीले पद्मे, जं० १ वक्ष०। जलजकुसुमविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। आचा०। चतुरशीतिलक्षगुणिते नलिनाङ्गे, भ० ६ श० ७ उ०। जी०। ज्यो०। जं०। अनु०। स्था०। कच्छाऽऽदिषु द्वात्रिंशे विजयक्षेत्रयुगले, ''दो णलिणा।'' स्था० २ ठा० ३ उ०। स्वनामख्याते विमाने, स० १८ सम०। स्था०। रुचकपर्वतस्य दाक्षिणात्ये कूटे, द्वी०। स्था०। जम्ब्वाः सुदर्शनायाः पूर्वस्यां दिशि पुष्करिण्याम्, जं० ४ वक्ष०। जी०।

णलिणंग न०(नलिनाङ्ग) चतुरशीतिलक्षगुणिते पद्मशतसहस्रे, जी० ३ प्रति० ४ उ०। अनु०। जं०। स्था०।

णलिणकूड पुं०(नलिनकूट) जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां शीतायां महानद्या उत्तरकूले वक्षस्कारपर्वते, स्था० ३ ठा० ३ उ०। ''दो णलिणकूडा।'' स्था० २ ठा० ३ उ०।

कहि णं भंते! महाविदेहे वासे णलिणकूडे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते? गोयमा! णीलवंतस्स दाहिणेणं सीआए उत्तरेणं मंगलावत्तस्स विजयस्स पच्चच्छिमेणं आवत्तस्स विजयस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं महाविदेहे वासे णलिणकूडे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते। उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणवित्थिण्णे सेसं जहा चित्तकूडस्स० जाव आसयंति। णलिणकूडे णं भंते! कति कूडा पण्णत्ता? गोयमा! चत्तारि कूडा पण्णत्ता। तं जहा-सिद्धाययणकूडे, णलिणकूडे, आवत्तकूडे, मंगलावत्तकूडे, कूडा पंचसइआ रायहाणीओ उत्तरेणं। जं० ४ वक्ष०।

णलिणगुम्म न०(नलिनगुल्म) श्रेणिकभार्यायां नलिनगुल्माया अपत्ये, स च वीरजिनान्तिके प्रव्रजितस्त्रीणि वर्षाणि प्रव्रज्यापर्यायं परिपाल्य सहस्रारे उपपन्नः, ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यति, इति कल्पावतंसिकाया अष्टमेऽध्ययने सूचितम्। नि० १ श्रु० १ वर्ग० ८ अ०। अर्हता महापद्मेन प्रव्राजिष्यमाणे स्वनामख्याते राजनि, स्था० ८ ठा०। अष्टमदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० १८ सम०। ''णलिणगुम्मे विमाणे देवत्ताए उववण्णा।'' आ० चू० १ अ०। उत्त०। नलिनीगुल्ममप्यत्र। विशे०। स्वनामख्याते अध्ययने च। '' अन्नया पदोसकाले आयरिया णलिणगुम्मं अज्झयणं परियट्टंति।'' आव० ४ अ०।

णलिणवण न०(नलिनवन) पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्या नगर्या उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे स्वनामख्याते वने, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। आ० म०। उत्त०। अनु०।

णलिणावई स्त्री०(नलिनावती) कच्छाऽऽदिषु चतुर्विंशे विजयक्षेत्रयुगले, स्था० २ ठा० ३ उ०। ज्ञा०।

णलिणी स्त्री०(नलिनी) पद्मिन्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रज्ञा०। आ० क०।

णलिणीकुमार पुं०(नलिनीकुमार) महापद्मतीर्थकृतः प्रथमपुत्रे, ''जेट्ठं णलिणकुमारं, रज्जे ठाइत्तु तं महापउमो।'' ति०।

णलिणोदग न०(नलिनोदक) समुद्रभेदे, '' गोतित्थेहि विरहियं, खेत्तं नलिणोदगसमुद्दे।'' द्वी०।

णव त्रि०(नव) संख्याविशेषे ९ विशिष्टे, नि० चू० १ उ०। ''नव खोडा।'' प्रतिलेखनायाम्, नव खोडकाः, ते च त्रयस्त्रयः प्रमार्जनानां त्रयेण त्रयेण अन्तरिताः कार्याः, इति पदद्वयेनाऽपि पञ्चमी अप्रमादप्रत्युपेक्षणोक्ता। स्था० ६ ठा०। ध०। नि० चू०। प्रत्यग्रे, दश० १ अ०। चं० प्र०। सूत्र०। अपूर्वे, बृ० १ उ०। अजीर्णे, जं० ३ वक्ष०। अभिनवे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०। नवकर्मणामनादानम्। नवान्युपचीयमानानि। आव० ४ अ०। '' ते वरिसो होइ नवो।'' *प्रव्रज्यापर्यायेण यस्य त्रीणि वर्षाणि नाधिकमित्येव त्रिवर्षो भवति नवः।* व्य० ३ उ०। '' नवहरियभासंतपत्तंधयारगंभीरदरिसणिज्जा'' इति। नवेन

प्रत्यग्रेण हरितेन नीलेन मासमनेन स्निग्धत्वाद्देदीप्यमानेन पत्रभारेण दलसंचयेन यो जातोऽन्धकारस्तेन गम्भीरा अलब्धमध्यभागाः सन्तो दर्शनीयाः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । ''नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे ।'' नवमिव प्रत्यग्रमिव हेम यत्र ते नवहेमनी, नवहेमभ्यां चारु चित्राभ्यां चञ्चलाभ्यां कुण्डलाभ्यां विलिख्यमानौ गण्डौ यस्य स तथा । जी० ४ प्रति० २ उ० ।

***नम्** धा० । प्रह्वत्वे शब्दे, **'' रुदनमोर्वः ''॥ ८ । ४ । २२६ ॥** इत्यनेन अन्त्यस्य नस्य वः । ' नवइ ' नमति । प्रा० ४ पाद ।

णवंगसुत्तपडिबोहिया स्त्री०(नवाङ्गसुप्तप्रतिबोधिता) नवाङ्गानि श्रोत्र २ चक्षु २ घ्राण २ रसनात्वग्मनोलक्षणानि सुप्तानि सन्ति प्रतिबोधितानि यौवनेन यस्याः सा तथा । विपा० २ श्रु० १ अ० । नवयौवनायाम् , ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । विपा० । औ० । '' नवंगसुत्तपडिबोहियाए । '' द्वे अक्षिणी द्वौ कर्णौ द्वौ नासापुटौ जिह्वास्पर्शने नवमं मनः, एतानि नव अङ्गानि यावद्यापि यौवनं न भवति तावत्सुप्तानि भवन्ति, न खलु तदानीमेतेषामतीचाराभिष्वङ्गसुखं भवति, ततःसुप्तानीति व्यपदिश्यन्ते, यौवने तु प्राप्तस्वकल्पगुणेन प्रतिबुद्धानि जायन्ते । व्य० १० उ० ।

णवकोडिपरिसुद्ध त्रि०(नवकोटिपरिशुद्ध) ३त० । नवभिर्विभागैर्निर्दोषे, '' नवकोडीपरिसुद्धे, भिक्खे पण्णत्ते । '' नवभिर्विभागैर्निर्दोषे, स्था० ६ ठा० ।

णवक्ख त्रि०(नव) **'' शीघ्राऽऽदीनां बहिल्लाऽऽदयः '' ॥ ८ । ४ । ४२२ ॥** इत्यपभ्रंशे नवशब्दस्य णवक्खाऽऽदेशः । प्रत्यग्रे, प्रा० ४ पाद ।

णवगणिवेस पुं०(नवकनिवेश) प्रथमावासे, नि० चू० ।

जे भिक्खू नवआसु गामंसि वा णगरंसि वा (णगारंसि वा)० जाव सन्निवेसंसि वा अणुप्पविसित्ता असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥ नि० चू० ५ उ० ।

(अत्र ' गोयरचरिया ' शब्दः तृतीयभागे ६६१ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

णवग्गह पुं०(नवग्रह) अभिनवग्रहणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

णवच्छिद्द त्रि०(नवच्छिद्र) नवरन्ध्रोपेते, तं० ।

णवजोयणिम त्रि०(नवयोजनिक) नवयोजनाऽऽयामे, '' जंबूदीवे णं दीवे नवजोयणिया मच्छा । '' स्था० ६ ठा० ।

णवणवमिया स्त्री०(नवनमिका) नव नवमानि दिनानि यस्यां सा नवनवमिका, नव नवमानि च भवन्ति नवसु नवकेष्विति तत्परिमाणेयमिति । एकाशीतिदिनैः समाप्येऽभिग्रहविशेषे, (स्था०)

णवणवमिया णं भिक्खुपडिमा एकासीएहिं राइंदिएहिं चउहि य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं अहासुत्ता० जाव आराहिया यावि भवइ ॥

(णवणवमिया णं) इत्यादि कण्ठ्यं, नवरं नव नवमानि दिनानि यस्यां सा नवनवमिका, नव नवमानि च भवन्ति नवसु नवकेष्विति तत्परिमाणेयमिति, नव च नवकान्येकाशीतिरिति कृत्वा एकाशीत्या रात्रिन्दिवैरहोरात्रैर्भवति । तथा प्रथमनवके प्रतिदिनमेका दत्तिः पानकस्य भोजनस्य चेत्येवमेकोत्तरया वृद्ध्या नवमे नवके नव दत्तयः । ततश्च सर्वसङ्कलनया चतुर्भिश्च पञ्चोत्तरैर्भिक्षाशतैर्यथासूत्रं यथा-कल्पं यथामार्गं यथातत्त्वं सम्यक्कायेन स्पृष्टा पालिता शोभिता तीरिता कीर्तिता आराधिता चाऽपि भवतीति । स्था० ६ ठा० । प्रव० । स० । औ० । अन्त० ।

णवणवसंवेग पुं०(नवनवसंवेग) अपूर्वापूर्वे वैराग्ये, (बृ०)

अथ '' नव नवो य संवेगो '' इति व्याख्यानयन्नाह-

जइ जह सुयमोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं ।
तह तह पल्हाइ मुणी, णवणवसंवेगसद्धाओ ॥

यथा यथा श्रुतमागमं पूर्वमगाहते, कथंभूतम् ?-अतिशयरसप्रसरसंयुतम् । अतिशया अर्थविशेषास्तेषु यो रसः श्रीतृणामाक्षेपकारी गुणविशेषः, तस्य यः प्रसरः अतिरेकः, तेन संयुतं युक्तम् । यद्वा-श्रवणं श्रुतं, तत्कथभूतम् ?-अतिशयस्याऽर्थस्यरस आस्वादनं तत्र यः प्रसरो गमनं तेन संयुतम् , अपूर्वं यथा यथाऽवगाहते तथा तथा मुनिः प्रह्लादते शुभभावसुखासिकया मोदते । कथंभूतः ? इत्याह-नवनवोऽपूर्वापूर्वो यः संवेगो वैराग्यं, तद्भवा श्रद्धा मुक्तिमार्गाभिलाषलक्षणा यस्य स नवनवसंवेगश्रद्धाक इति । गतं नवनवसंवेगद्वारम् । बृ० १ उ० ।

णवणवसंवेगो खलु, णाणावरणक्खओवसमभाओ ।
तत्ताहिगमो य तहा, जिणवयणायन्नणस्स गुणा ॥ ३ ॥

नवनवसंवेगः प्रत्यग्रः प्रत्यग्रः संवेग आर्द्रान्तःकरणता, मोक्षसुखाऽभिलाष इत्यन्ये । खलुशब्दः पूरणार्थः; संवेगस्य शेषगुणनिबन्धनत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थो वा । तथा ज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमभावः ज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमसत्ता संवेगादेव । तत्त्वाधिगमश्च तत्त्वाऽतत्त्वपरिच्छेदश्च तथा, जिनवचनाऽऽकर्णनस्य तीर्थकरभाषितश्रवणस्य एते गुणा इति ॥ ३ ॥ श्रा० ।

णवणाम(ण्) न०(नवनामन्) नवपदार्थनामनि, अनु० ।

नवनामनिदर्शयन्नाह-

से किं तं णवणामे ? णवणामे णव कव्वरसा पण्णत्ता ।

तं जहा-

वीरो सिंगारो अ-ब्भुओ य रोद्दो अ होइ बोद्धव्वो ।
वीलणओ वीभच्छो, हासो कलुणो पसंतो अ ॥ १ ॥

(से किं तं णवणामे इत्यादि) नवनामे नव काव्यरसाः प्रज्ञप्ताः । तत्र कवेरभिप्रायः काव्यं, रस्यन्तेऽन्तराऽऽत्मनाऽनुभूयन्त इति रसाः, तत्सहकारिकारणसन्निधानोऽद्भूताः चेतोविकारविशेषा इत्यर्थः । उक्तं च-'' बाह्यार्थाऽऽलम्बनो वस्तुविकारो मानसो भवेत् । स भावः कथ्यते सद्भिः, तस्योत्कर्षो रसः स्मृतः ॥ १ ॥ '' काव्येषूपनिबद्धा रसाः काव्यरसाः, वीरशृङ्गाराऽऽदयः । तानेवाऽऽह-(वीरो सिंगारो) इत्यादि । गाथा सुगमा, नवरम् 'शूर वीर' विक्रान्तौ, इति वीरयति विक्रामय-

ति रागतपोवैरिनिग्रहेषु प्रेरयति प्राणिनमिति उत्तमप्रकृतिपुरुषचरित्रश्रवणाऽऽदिहेतुसमुद्भूतो दानाऽऽद्युत्साहप्रकर्षाऽऽत्मको वीरो रसः, इतिः सर्वत्र गम्यते॥ १॥ शृङ्गं सर्वरसेभ्यः परमप्रकर्षकोटिलक्षणमियर्ति गच्छतीति कमनीयकामिनीदर्शनाऽऽदिसंभवो रतिप्रकर्षाऽऽत्मकः शृङ्गारः सर्वरसप्रधान इत्यर्थः। अत एव '' शृङ्गारहास्यकरुणाः, रौद्रवीरभयानकाः। वीभत्साद्भुतशान्ताश्च, नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥ १॥'' इत्यादिष्वयं सर्वरसानामादावेव पठ्यते। अत्र तु त्यागतपोगुणौ वीररसे वर्तेते, त्यागतपसी च '' त्यागो गुणो गुणशतादधिको मतो मे।'' '' परं लोकातिगं धाम, तपः श्रुतमिति द्वयम्। '' इत्यादि-वचनात् समस्तगुणप्रधान इत्यनया विवक्षया वीररसस्याऽऽदावुपन्यास इति श्रुतम्॥ २॥ शल्यं त्यागतपःशौर्यकर्माऽऽदि वा सकलभुवनातिशायि किमप्यपूर्वं वस्त्वद्भुतमुच्यते; तद्दर्शनश्रवणाऽऽदिभ्यो जातो रसोऽप्युपचारात् विस्मयरूपोऽद्भुतः॥ ३॥ रोदयत्यतिदारुणतया अश्रूणि मोचयति इति रौद्रं, रिपुजनमहदारण्यान्धकाराऽऽदितद्दर्शनाऽऽद्युद्भवो विकृताध्यवसायरूपो रसोऽपि रौद्रः॥ ४॥ व्रीडयति लज्जामुत्पादयति लज्जनीयवस्तुदर्शनाऽऽदिप्रभवो मनोव्यलीकताऽऽदिस्वरूपो व्रीडनकः, अस्य स्थाने भयजनकसंग्रामाऽऽदिवस्तुदर्शनाऽऽदिप्रभवो भयानको रसः पठ्यतेऽन्यत्र, स चेह रौद्ररसान्तर्भावविवक्षणात् पृथग् नोक्तः॥ ५॥ शुक्रशोणितोच्चारप्रश्रवणाऽऽद्यनिष्टमुद्वेजनीयं वस्तु वीभत्समुच्यते, तद्दर्शनश्रवणाऽऽदिप्रभवो जुगुप्साप्रकर्षस्वरूपो रसोऽपि वीभत्सः॥ ६॥ विकृतासंबद्धपरवचनवेषालङ्काराऽऽदिहास्यार्हपदार्थप्रभवो मनःप्रकर्षाऽऽदिचेष्टाऽऽत्मकोऽपि रसो हास्यः॥ ७॥ कुत्सितं रौत्यनेनेति निरुक्तवशात् करुणः, करुणाऽऽस्पदत्वात् करुणः प्रियविप्रयोगाऽऽदिदुःखहेतुसमुत्थः शोकप्रकर्षस्वरूपः करुणो रस इत्यर्थः॥ ८॥ प्रशाम्यति क्रोधाऽऽदिजनितौत्सुक्यरहितो भवत्यनेनेति प्रशान्तः, परमगुरुवचःश्रवणाऽऽदिहेतुसमुल्लसित उपशमप्रकर्षाऽऽत्मा प्रशान्तो रस इत्यलं विस्तरेण॥ ९॥ अनु०। (एषां नवनाम्नां नवकाव्यरसानां लक्षणानि स्वस्वशब्दे द्रष्टव्यानि)

णवणिहि पुं०(नवनिधि) अजागृहतीर्थे पार्श्वनाथप्रतिमायाम्, ती० २ कल्प।

णवणीइया स्त्री०(नवनीतिका) पुष्पप्रधाने वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। '' णवणीइया गुम्मा।'' जं० २ वक्ष०।

णवणीय न०(नवनीत) म्रक्षणे, औ०। नि०। आ० चू०। आव०। स्था०। ज्ञा०। (मक्खन)(नेनू)(मसका) इतिख्याते, ध० २०। रा०। प्रश्न०। जं०। नि० चू०। भ०। कल्प०। पञ्चा०। जी०। आ० म०। '' नवनीतं यथा दध्नश्चन्दनं मलयादिव। ब्रह्माण्डं वै पुराणेभ्यस्तथा प्राहुर्मनीषिणः॥ १॥'' उत्त० २५ अ०। नवनीतं हि महाविकृतितया निर्विकृतिकैरभक्ष्यम्। स्था० ६ ठा०। नवनीतमपि गोमहिष्यजाऽविसंबन्धेन चतुर्द्धा, तदपि सूक्ष्मजन्तुराशिखनित्वात्त्याज्यमेव। यतः-'' अन्तर्मुहूतात्परतः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः। यत्र मूर्छन्ति तन्नाद्यं, नवनीतं विवेकिभिः॥ १॥'' इति। ध० २ अधि०।

णवत्तयकुसंत पुं०(नवत्वक्कुशान्त) नवा त्वक् येषां ते नवत्वचः कुशान्ता दर्भपर्यन्ताः, नवत्वचश्च ते कुशान्ताश्च नवत्वक्कुशान्ताः। प्रत्यक्त्वग्दर्भपर्यन्ते, रा०। जी०।

णवधम्म(ण्) त्रि०(नवधर्मन्) अभिनवश्रावके, बृ० १ उ०।

णवपज्जवण न०(नवपायन) नवं प्रत्यग्रं ' पज्जणं ति ' प्रतापितस्याऽयोधनकुट्टनेन तीक्ष्णीकृतस्य पायनं जलनिवोलनं यस्य तन्नवपायनम्, सद्याऽग्नितप्ते तीक्ष्णीकृते जलक्षेपेण शीतीकृते, ''णवपज्जणएणं असिपएणं पडिसाहरिया।'' भ० १४ श० ७ उ०।

णवपुव्वि(ण्) पुं०(नवपूर्विन्) परिपूर्णनवपूर्वधरे, इहासतां नवपूर्विणः परिपूर्णनवपूर्वधराः, किं तु नवमस्य पूर्वस्य यत्तृतीयमाचारनामकं वस्तु, तावन्मात्रधारिणोऽपि नवपूर्विणः। व्य० १ उ०।

णवबंभचरेगुत्त त्रि०(नवब्रह्मचर्यगुप्तिगुप्त) नवब्रह्मचर्याणि गुप्तिशब्दलोपाद् वसतिकथाद्या नवब्रह्मचर्यगुप्तयस्ताभिर्गुप्तः संरक्षितो नवब्रह्मचर्यगुप्तिगुप्तः। पा०। नवभिर्मैथुनव्रतस्य रक्षाप्रकारैः सुसंवृत्ते, पा०। नि० चू०।

णवम त्रि०(नवम) नवसंख्यापूरके, उत्त० १ अ०। स्था०।

णवमल्लइ पुं०(नवमल्लकिन) क्षत्रियविशेषजातीये, वीरस्वामिमोक्षगमनतिथिरात्रौ नवमल्लकिभिः पोषधोपवासः कृतः, तत्र नवमल्लकिजातीयाः काशिदेशस्य राजानः। कल्प० ६ क्षण।

णवमालिया स्त्री०(नवमालिका) (नेवारी) पुष्पप्रधाने वनस्पतिभेदे, कल्प० ३ क्षण। आचा०।

णवमिया स्त्री०(नवमिका) सुपुरुषस्य किम्पुरुषेन्द्रस्य द्वितीयायामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ। भ। ती। (अस्या पूर्वभवः 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे गतः) शक्रस्य देवेन्द्रस्य षष्ठ्यामग्रमहिष्याम्, (अस्याः पूर्वभवकथा ' अग्गमहिसी ' शब्दे प्रथमभागे १७३ पृष्ठे उक्ता) मन्दरस्य पश्चिमे रुचकवरपर्वतस्य रुचकोत्तमकूटे परिवसन्त्यां दिक्कुमार्याम्, स्था० ८ ठा०। आव०। आ० चू०। जं०। आ० म०।

णवमी स्त्री०(नवमी) अष्टमीदशम्यन्तराले तिथौ, द० प०। विशे०। ज्यो०।

णवमीपक्ख पुं०(नवमीपक्ष) नवम्यास्तिथेः पक्षो ग्रहो यस्य तिथिमेलपाताऽऽदिषु तथादर्शनात् तिथिपाते यत्कृत्यस्याष्टमे च क्रियमाणत्वात् स नवमीपक्षः। अष्टमे दिवसे, ''चित्तबहुलस्स णवमीपक्खेणं।'' जं० ३ वक्ष०।

णवय पुं०(नवत) ऊर्णविशेषमये ' जीन ' इति लोकप्रसिद्धेऽर्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आचा०।

णवयारचिंतणाइय त्रि०(नमस्कारचिन्तनाऽऽदिक) परमेष्ठिपञ्चक नमस्कृतिध्यानप्रभृतिके, पञ्चा० १ विव०।

णवरं अव्य०(नवरम्) केवलमित्यर्थे, पञ्चा० १८ विव०। ग०। प्रश्न०। विपा०। स्था०। **'' णवरं केवले ''॥ ८। २। १८७॥** इति केवलेऽर्थे णवरमिति प्रयोगः। '' णवरं पि आइचिअणिव्वमं ति।'' प्रा० २ पाद। दे० ना०।

णवरि अव्य०(नवरि) आनन्तर्ये, **'' आनन्तर्थे णवरिं ''॥ ८। २। १८८॥** आनन्तर्ये णवरीति प्रयोक्तव्यमिति। तथा प्रयोगः-'' ण-

वरि अ से रहुवइणा।'' केचित्तु केवलानन्तर्यार्थयोर्णवरणवरीत्येकमेव सूत्रं कुर्वते, तन्मते तु उभावप्युभयार्थौ। प्रा० २ पाद। दे० ना०।

णवरिअ (देशी) सहसार्थे, दे० ना० ४ वर्ग।

णवलग पुं०(नवलक) वस्त्रमये पक्कदोरकजालकमये वा (नवली वसनी खरिया जाली जावी इति ख्याते) मुद्राकोशे, कोऽपि कस्याऽपि पार्श्वे सुवर्णपणभृतं नवलकं क्षिप्तवान्। नं०।

णवलया (देशी) नियमविशेषे, दे० ना० ४ वर्ग।

णवल्ल त्रि०(नव) **'' ल्लो नवैकाद् वा ''** ॥ ८। २। १६५॥ इति स्वार्थे ल्लः। नूले, प्रा० २ पाद।

णवविगइ स्त्री०(नवविकृति) नवसु क्षीराऽऽदिविकृतिषु, '' णव-विगईओ पण्णत्ताओ। तं जहा-खीरं, दहि, णवणीयं, सप्पिं, तिल्लं गुलो, महुं, मज्जं, मंसं।'' स्था० ६ ठा०। (एतासां विस्तरः 'विगइ' शब्दे वक्ष्यते)

णवसुत्त त्रि०(नवसूत्र) नवं सूत्रं वल्कलाऽऽदि यस्मिन् स तथा। नवसूत्ररचिते, '' आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए।'' (१५) सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

णवसोयपरिस्सवा स्त्री०(नवश्रोतःपरिस्रवा) नवभिः श्रोतोभिः छिद्रैः परिस्रवति मलं क्षरति इति नवश्रोतःपरिस्रवा। छिद्रनवकेन मलं क्षरन्त्याम्, स्था०।

णवसोयपरिस्सवा वोंदी पण्णत्ता। तं जहा-दो सोया, दो णित्ता, दो घाणा, मुहं, पोसए, वाऊ।

(एवेत्यादि) नवभिः श्रोतोभिः छिद्रैः परिस्रवति मलं क्षरतीति नवश्रोतःपरिस्रवा वोन्दी शरीरमौदारिकमेवैवंविधं, द्वे श्रोत्रे कर्णौ, नेत्रे नयने, घ्राणे नासिके, मुखमास्यम्, (पोसए त्ति) उपस्थम्, पायुरपानमिति। स्था० ६ ठा०।

णवा स्त्री०(नवा) प्रत्यग्रयौवनायाम्, अतिनवोढायां वा स्त्रियाम्। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। व्रतपर्यायेण यावत्त्रिवर्षायां श्रमण्याम्, व्य० ४ उ०।

णवि (अव्य) वैपरीत्ये, **'' णवि वैपरीत्ये ''** ॥ ८। २। १७८॥ णवीति वैपरीत्ये प्रयोक्तव्यमिति। '' णवि हावणे।'' प्रा० २ पाद। दे० ना०।

णविअ न०(नत) **'' क्ते ''** ॥ ८। ३। १५६॥ इत्यत इत्त्वम्। नमने, प्रा० ३ पाद।

णविय त्रि०(नव्य) अभिनवे, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ०।

णवोद्धरण (देशी) उच्छिष्टे, दे० ना० ४ वर्ग।

णवोद्धुर (देशी) उच्छिष्टे, दे० ना० ४ वर्ग।

णव्व त्रि०(नव्य) तत्कालमुत्पन्ने, ध० २ अधि०।

णव्वाउत्त (देशी) ईश्वरे, दे० ना० ४ वर्ग।

णसंतिपरलोगवाइ(ण्) पुं०(नशान्तिपरलोकवादिन्) न विद्यते शान्तिश्च मोक्षः परलोकश्च जन्मान्तरमित्येवं यो वदति स तथा। अक्रियावादिभेदे, (स्था०) तथाहि-नास्त्यात्मा, प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणाविषयत्वात्, खरविषाणवत्, तदभावान्न पुण्यपापलक्षणं कर्म तदभावान्न परलोको, नाऽपि मोक्ष इति। यच्चैतच्चैतन्यं तद् भूतधर्म इति। अस्याऽक्रियावादिता स्फुटैव। न चैतस्य मतं संगच्छते, प्रत्यक्षाऽऽद्यप्रवृत्त्या आत्माऽऽदीनां निराकर्तुमशक्यत्वात्, सत्यपि वस्तुप्रमाणप्रवृत्तिदर्शनादागमविशेषसिद्धत्वाच्च, भूतधर्मताऽपि न चैतन्यस्य, विवक्षितभूताभावेऽपि जातिस्मरणाऽऽदिदर्शनादिति। स्था० ८ ठा०।

णसण न०(न्यसन) व्यवस्थापने, विशे०। न्यासे, आरोपणे, जी० १ प्रति०।

णस्समाण त्रि०(नश्यत्) **'' नशेर्णिरिणासणिवहावसेहपडिसासेहावहराः ''** ॥ ८। ४। १७८॥ इति नशेर्णिर्याद्यादेशाभावे। प्रा० ४ पाद। **'' शकाऽऽदीनां द्वित्वम् ''** ॥ ४। ४। २३०॥ इति सद्वित्वम्। सन्मार्गात् च्यवमाने, उपा० ७ अ०।

णह पुं०(नख) खुराग्रभागे, भ० १२ श० ७ उ०। करजे, तं०। प्रश्न०। स०। प्रव०। पाणिपादजे, प्रव० ४० द्वार। गन्धद्रव्यभेदे च। ल० प्र०।

***णभस्** न०। **'' स्नमदामशिरोनभः ''** ॥ ८। १। ३२॥ इतिनभः पर्युदासान्नपुंसकत्वम्। प्रा० १ पाद। आकाशे, दश० ७ अ०। कल्प०।

णहच्छेज्ज न०(नखच्छेद्य) नखच्छेदनविधिविशेषे कलाभेदे, कल्प० ७ क्षण।

णहच्छेदणय न०(नखच्छेदनक) नखकर्त्तन्याम्, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ०।

णहमुह (देशी) घूके, दे० ना० ४ वर्ग।

णहयल न०(नभस्तल) व्योम्नि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रश्न०। ''ओविरएमि नहयले।'' प्रा० २ पाद।

णहरी (देशी) क्षुरिकायाम्, दे० ना० ४ वर्ग।

णहरणी स्त्री०(नखरदनी) वेण्वादिमय्यां नखशोधन्याम्, प० व० ३ द्वार।

णहवाहण पुं०(नभोवाहन) स्वनामख्याते भरुकच्छराजे पद्मावतीपतौ, यद्भार्यया पद्मावत्याः काव्यश्रवणेन पूर्वं मानितः पश्चात्तिरस्कृतोऽपरिवारो वज्रभृतिराचार्यः। व्य० ३ उ०। आव०। विशे०।

णहसिर न०(नखशिरस्) नखाग्रे, भ० ५ श० ४ उ०।

णहसिहा स्त्री०(नखशिखा) नखाग्रभागे, कल्प० ६ क्षण। नि० चू०।

णहसेण पुं०(नभःसेन) उग्रसेनतनये कमलायाः पत्यौ, विशे०।

णहहरणी स्त्री०(नखहरणी) नखकर्तन्याम्, यया नखा उद्धियन्ते। बृ० ३ उ०।

णहि(ण्) त्रि०(नखिन्) नखप्रधाने, अनु०।

णहु अव्य०(नहु) नैवेत्यर्थे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। आव०। व्य०।

णाअ त्रि०(ज्ञात) **'' ज्ञो जाणमुणौ ''** ॥ ८। ४। ७॥ इति ज्ञाधातोर्जाणमुणाऽऽदेशाभावे 'णाअं'। अवबुद्धे, प्रा० ४ पाद।

णाआ (देशी) गर्विष्ठे, दे० ना० ४ वर्ग।

णाइ स्त्री०(ज्ञाति) पूर्वापरसंबद्धे स्वजने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। भ०। समानजातौ, नि० १ श्रु० १ वर्ग ५ अ०। कल्प०। औ०। विपा०। अष्ट०। सूत्र०। मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। उत्त०। ज्ञा०। ज्ञाने, संविदि, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

णाइं (अव्य) नञर्थे, **''अणणाइं नञर्थे ''** ॥ ८। २। १६० ॥ इति नञर्थे ' णाइं ति ' प्रयोगः। '' णाइं करेमि रोसं। '' प्रा० २ पाद।

णाइमट्टिअ त्रि०(नातिमृत्तिक) नातिकर्दमे, भ० १५ श०।

णाइय त्रि०(नादित) ध्वनिमात्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। विपा०। भ०। प्रतिशब्दे, कल्प० ५ क्षण। रा०। जं०। लपिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०।

णाइल पुं०(नागिल) आर्यवज्रसेनस्यान्तेवासिनि, यत आर्यनागिला शाखा निर्गता। कल्प० ८ क्षण। आ० चू०। नागिलकुलवशवर्तिनां साधूनामाचारादारभ्य यावदनुत्तरोषपातिकदशास्तावन्नास्ति आचाम्लम्। व्य० १ उ०। दुष्प्रसहानगारसमये भविष्यति श्रावके, यदनुशिष्टो दुष्प्रसहोऽनगारः प्रव्रजिष्यति। ति०। महा०। '' सड्ढी य नाइलो नाम गाहवती सावगाण पच्छिमओ।'' (३४) ति०। ती०। '' पविरलगामे जणवए, पविरलमणुएसु नाम दोसेसु। नामेण नाइलो नाम गणहरो होहिइ महप्पा ॥ २० ॥'' ति०। इति भविष्यत्यनगारे सुमतिभ्रातरि, महा०।

अत्थि इहेव भारहे वासे मगहा णाम जणवओ। तत्थ कुसत्थलं नाम पुरं। तम्मि य उवलद्धपुन्नपावे सुमुणियजीवाऽऽदिपयत्थे सुमइ-णाइल-णामधिज्जे दुबे सहोयरे महिड्ढिए सड्ढगे अहेसि। अहन्नया अंतरायकम्मोदएणं वियलियं विहवं तेसिं, ण उण सत्तं परक्कमं ति। एवं अचलियसत्तपरक्कमाणं तेसिं अचंतपरलोगभीरूणं विरयकूडकवडालीयाणं पडिवन्नजहोवइट्ठदाणाइचउक्खंधउवासगधम्माणं अपिसुणामच्छरीणं अमायावीणं किं बहुणा ? गोयमा ! ते उवासगे णं आवसहगुणरयणाणं पभवा खंतीनिवासे सुयणमेत्तीणं, एवं तेसिं बहुवासरवन्नणिज्जगुणरयणाणं पि जाहे असुहकम्मोदएणं न बहुप्पए संपया ताहे ण पहुप्पंति अट्ठाहियामहिमादओ इट्ठदेवयाणं जहिच्छिए पूयासक्कारे साहम्मियसम्माणे बंधुजणसंववहारे य। अहन्नया अचलंतेसु अतिहिसक्कारेसु अपूरिज्जमाणेसु पणइजणमणोरहेसु विहडंतेसु य सुहिसयणमित्तबंधवकलत्तपुत्तणत्तुयगणेसुं विसायमुवगएहिं गोयमा ! चिंतियं तेहिं सड्ढगेहिं। तं जहा-

'' जा विहवो ता पुरिसस्स होइ आणापडिच्छओ लोओ।
गलिओदयं घणं विज्जुला व दूरं परिच्चयइ ''॥ १ ॥
एवं च चिंतिऊण परोप्परं भणिउमारद्धे।

तत्थ पढमो-

'' पुरिसेण माणधणव-ज्जिएण परिहीणभागधेज्जेणं।
ते देसा गंतव्वा, जत्थ ण वासादि दीसंति '' ॥ १ ॥

तह बीओ-

'' जस्स घणं तस्स जणो, जस्सऽत्थो तस्स बंधवा बहवे।
घणरहिओ उ मणूसो, होइ समो दासपेसेहिं '' ॥ २ ॥

अह एवं परोप्परं संजोज्जेऊण गोयमा ! कयं देसपरिच्चायनिच्छयं तेहिं ति।

जहा-

'' वच्चामो देसंतरं, ति तत्थ णं कयाइ पुज्जंति।
चिरचिंतिए मणोरहे, हवइ पवज्जाएँ सह संजोगो '' ॥ १ ॥

जइ दिव्वो बहु मन्नेज्जा जाव णं उज्जिण्णंतंकगयं कुसत्थलं, पडिवन्नं विदेसगमणं। अहन्नया अणुप्पेहेणं गच्छमाणेहिं दिट्ठं पंच साधुणो (छिट्ठं समणो) वासगं ति। तओ भणिअं णाइलेण। जहा-भो भो सुमती भद्दमुह ! पेच्छ केरिसो साहुसत्थो ? ता एएणं चेव साहुसत्थेणं गच्छामो, जइ पुणो वि तए गंतव्वं। तेण भणियं-एवं होउ त्ति। तओ सम्मिलिया तत्थ सत्थे जाव णं पयाणगमावहंति, ताव णं भणिओ-सुमती णाइलेणं। जहा-णं भद्दमुह ! मए हरिवंसतिलयमरगयछविणो सुगहियनामधेज्जवाकिंसतमतित्थगरस्स णं अरिट्ठनेमिनाहस्स पायमूले सुहनिसन्नेणं एवमवधारियं आसी। जहा-जे एवंविहे अणगाररूवे भवंति, ते य कुसीले, ते दिट्ठीए वि निरिक्खिउं न कप्पंति, ता एते साहुणो तारिसे, ण कप्पइ एतेसिं समं अम्हाण गमणं, संसग्गं वा। ता वयंतु एते, अम्हे अप्पसत्थेणं चेव वइस्सामो, न कीरइ तित्थयरवयणस्सातिक्कमो, जओ णं ससुरासुरस्सावि जगस्स अलंघणिज्जा तित्थयरवाणी, अन्नं च जाव एतेहिं संघं गच्छइ, ताव णं चिट्ठउ, ताव दरिसणआलावादीणि य मा भवंतु, ता किं तुम्हेहिं तित्थयरवाणिं उल्लंघियत्ता णं गंतव्वं। एवं तमणुभाणिऊण तं सुमतिं हत्थे गहाय निव्वडिओ णाइलो साहुसत्थाओ, निव्विट्ठो य चक्खुविसोहिए फासुगभूपएसे। तओ भणियं सुमइणा।

जहा-

'' गुरुणो मायापित्तस्स जेट्ठभाया तहेव भइणीणं।
जत्थुत्तरं न दिज्जइ, हा देव ! भणामि किं तत्थ ? ॥ १ ॥
आएसमवी माणं, पमाणपुव्वं तह त्ति नायव्वं।
मंगलममंगलं वा, तत्थ वियारो न कायव्वो ॥ २ ॥
णवरं एत्थ य णं मे, दायव्वं अज्जमुत्तरमिमस्स।
खरफरुसकक्कसानिट्ठदुट्ठनिट्ठुरसरेहिं तु ॥ ३ ॥

अहवा कह उच्छल्लउ, जीहा मे जिट्ठभाउणो पुरओ।
जस्सुच्छंगे वि णियं, मए सदेहं असुइविलित्तं ? ॥ ४ ॥
अहवा कीस ण लज्जइ, एस सयं चेव एव पभणंतो।
जं तु कुसीले एते, दिट्ठीए वी ण दट्ठव्वे'' ॥५॥ साहुणो त्ति।
जाव न वयइ ताव णं इंगियागारकुसलेणं मुणियं णाइलेण-जहा णं अलीयकसाइओ एस मणगं सुमती, ता किमहं पडि-भणामि त्ति चिंतिउं समाढत्तो।

जहा-

'' कज्जेण विणा अकडे, एस पकुविओ हु ताव संचिट्ठे।
संपइ अणुणिज्जंतो, ण जाणिमो किं च बहु मन्ने ? ॥ १ ॥
ता किं अणुणेमि इमं, उयाहुबोलउखणद्धताऽलं वा।
जेणुवसमियकसाओ, पडिवज्जइ तं तहा सव्वं ॥ २ ॥
अहवा पत्थावमिणं, एयस्स वि संसयं अवहरेमि।
एस ण जाणइ भद्दं, जाव विसेसं ण परिकहियं ''॥ ३ ॥

इति चिंतिऊण भणिउमाढत्तो-

'' णो देमि तुज्झ दोसं, ण यावि कालस्स देमि दोसमहं।
जं पियबुद्धीऍ सहोयरा वि भणिया पकुव्वंति ॥ १ ॥
जीवाणं वि ण एत्थं, दोसं कम्मट्ठजालकसिणाणं।
जं चउगइनिप्फिडिणं, हिओवएसं न बुज्झंति ॥ २ ॥
घणरागदोसकुग्गा-हमोहमिच्छत्तखवलियमणा णं।
भावियविसकालउडं, हिओवएसाइ मन्नंति '' ॥ ३ ॥

एवमाइ सुणिऊण तओ भणिअं सुमइणा-जहा तुमं चेव सत्थवादी भणसु एयाए, णवरं ण जुत्तमेयं जं साहूणं अवण्णवायं भासिज्जइ, अन्नं तु किं न पेच्छसि तुमं एएसिं महाणुभागाणं चेट्ठियं-छट्ठऽट्ठमदसमदुवालसमासखमणाईहिं आहारग्गहणं, गिम्हे ता वणट्ठाणं वीरासणउक्कुडुयासणनाणाभिग्गहधारणेणं च कट्ठतवोऽणुचरणेणं च सुक्कं मंससोणियं ति, महाउवासगो-ऽसि तुमं, कहं महाभासासमिती विहिया तए, जेण एरिसगुण-जुत्ताणं पि महाणुभागाणं साहूणं कुसील त्ति नामं संकप्पियं ति। तओ भणियं णाइलेणं जहा-मा वच्छ ! तुमं एतेणं परितो-समुवयासु जहा अहयं अतिचारेणं परिमुसिओ, अकामनिज्ज-राए वि किंचि कम्मक्खयं भवइ, किं पुण जं बालतवेणं, ता एते बालतवस्सिणो दट्ठव्वे, जओ ण किंचि उस्सुत्तं मग्गं आयारियं एएसिं पओसे, अन्नं च वच्छ ! सुमइ ! णत्थि ममं इमाणोवरि को वि सुहूमो वि मणसा वि पओसो, जेणाहमेएसिं दोसग्गहणं करेमि, किं तु मए भगवओ तित्थयरस्स सगासे एरिसमवधा-रियं जहा-कुसीले अदट्ठव्वे। ताहे भणिअं सुमइणा जहा-जारिसो तुमं निबुद्धीओ, तारिसो सो वि तित्थयरो, जेणं तुज्झमेयं वायरियं ति। तओ एवं भणमाणस्स सहत्थेणं झंपिअं मुहकुहरं सुमइस्स नाइलेणं, भणिओ य जहा-भद्दमुह ! मा जगेक्कगुरुणो तित्थयरस्सासायणं कुणसु, मए पुण भणसु जहिच्छियं, नाहं ते किं वि पडिभणामि। तओ भणियं सुमइणा जहा-जइ एते वि साहुणो कुसीला, ता एत्थ जगे ण कोइ सुसीलो अत्थि। तओ भणिअं णाइलेण जहा-भद्दमुह सुमइ ! इत्थ जयाऽलं घणिज्जवक्कस्स भगवओ वयणमायरेयव्वं जं वच्छ ! कयाइ ण विसंवएज्जा णो णं बालतवस्सीणं चेट्ठियं, जओ णं जिणिंदवयणेणं नियमओ ताव कुसीले इमे दीसंति, पव्वज्जाए पुण गंधं पि ण दीसइ एएसिं, जेणं पिच्छ पिच्छ तावे-यस्स साहुणो विपज्जयमुहणंतगं दीसइ, ता एस ताव अहिग-परिग्गहदोसेणं कुसीलो, ण एयं साहूणं भगवया इट्ठं जमहिय-परिग्गहविधारणं कीरे, ता वच्छ ! हीणसत्ताणं एस वेसो मण-साऽज्झवसिअं जहा जइ ममेयं मुहणंतगं विप्पणस्सिहिइ, ता कीयं कत्थ पावेज्जा ? नो एवं चिंतेइ मूढो जहा अहिगा-णुवओगोवहिधारणेणं मज्झं परिग्गहवयस्स भंगं होही। अ-हवा किं संजमेऽभिरओ एस मुहणंतगाइसंजमोवओग-धम्मोवगरणेणं विसीएज्जा नियमओ ण विहीए णवर-मत्ताणपहीणसत्तोऽहमिइ पायडे उम्मग्गायरणं च पयंसेइ, पवयणं च मइलेइ त्ति एसो उण पेच्छसि सामन्नवतो एएणं कल्लं तीए वि णीयं सेणाए इत्थीए अंगजट्ठिं निज्झाइऊण जन्नालोइयं पडिक्कंतं तं किं तए ण विन्नायं, एस उण पेच्छसि परूढविप्फोडगविम्हिया णाणा एते य संपयं चेव लोयट्ठाए सहत्थेण अदिन्नं छारगहणं कयं, तए च दिट्ठमेयं ति एसो उ ण पेच्छसि, परूढविप्पोडगं पेच्छसि, संघडियकल्लो पएणं अणुग्गए सूरिए उट्ठेह, वच्चामो उग्गयं सूरियं ति तहा विह-सियमिणं एसो उण पेच्छसि एसिं जिट्ठसेहो एसो अज्ज रय-णीए अणुवउत्तो पसुत्तो विज्जुक्काए फुसिओ ण एतेणं कप्प-गहणं कयं, तहा पभाए हरियतणं वासाकप्पं बलेणं संघ- ट्टियं, तहा बाहिरोदगस्स णं परिभोगं कयं, बीयकायस्सो-यरेणं फरिसं कओ अविहीए, एस खारथंडिलाओ महुरं थंडिलं संकमिओ, तहा पहपडिवन्नेणं साहुणा कम्मसुयाइ कम्मे इरियं पडिक्कमियव्वं, तहा चरेयव्वं, तहा चिट्ठेयव्वं, तहा आसेयव्वं, तहा सएयव्वं, जहा छक्कायमइगयाणं जीवाणं सुहुमवायरपज्ज-त्तापज्जत्तगमागमसव्वजीवपाणभूयसत्ताणं संघट्टणपरियावणा-किलामणोद्दवणं वा ण भवेज्जा। ता एतेसिं पव्वइयाणं एयस्स एक्कमवि ण एत्थ दीसइ, जं पुण मुहणंतगं पडिलेहमाणो अज्ज मए एस चोइओ- जहा एरिसं पडिलेहणं करेइ, जेण वाउक्कायस्स फट्ट-

फडस्स संघट्टेज्जा, सरियं च पडिलेहणाए संतियं कारणं ति जस्सेरिसं, जइ णं एरिसं सोवओगं बहु काहिसि संजमं ण संदेहं जस्सेरिससमाउत्तत्तणं तुज्झं ति, एत्थ च तएहिं विणिवारिओ जहा णं मूगोवाहीणं अम्हाणं साहूहिं समं किंचि भणियव्वं कप्पे ता किमेयं ते विसुमरियं, ता भद्दमुह ! एएणं समं संज-मट्ठाणं नराणं एगमवि णो परिक्खियं, ता किमेस साहू भन्नेज्जा जस्सेरिसं पमत्तत्तणं, णो एस साहू जस्सेरिसं णिद्धम्मसंपलत्तणं, भद्दमुह ! पेच्छ पेच्छ सूणो इव णित्तिं सो छक्कायणिमद्दणा कह अभिरमे एसो। अहवा वरं सूणो, जस्स णं सुहममवि नियवयभंगं णो भवेज्जा, एसो उ णियमभंगं करेमाणो केणं उवमेज्जा, ता वच्छ ! सुमइ ! भद्दमुह ! ण एरिसकत्तव्वायरणाओ भवंति साहु, एतेहिं च कत्तव्वेहिं तित्थयरवयणं सरेमाणो को एतेसिं वंदणगमवि करेज्जा, अन्नं च एएसिं संसग्गेणं कयाइ अम्हाणं पि चरणकरणेसु सिढिलत्तं भवेज्जा, जेणं पुणो पुणो आहिंडिमो घोरभवपरंपरं। तओ भणियं सुमइणा, जहा ण एए कुसीला, जइ एए कुसीले तहा वि मए एएहिं समं पव्वज्जा कायव्वा, जं पुण इमं कहेसि तमेव धम्मं, णवरं को अज्जं तं असुकरं समायरिउं सक्को ? ता मए एतेहिं समं गंतव्वं जाव णो दूरं वयंति से साहुणो त्ति। तओ भणियं णाइलेण-भद्दमुह सुमइ ! णो कल्लाणं एतेहिं समं गच्छमाणस्स तुज्झं ति, अहयं च तुज्झं हियवयणं भणामि एवं, तए जं चेव बहुगुणं तमेवाणुसेवय, णाहं तए दुक्खेण धरेमि। अह अन्नया अणेगोवाएहिं पि णिवारिज्जंतो ण उ ठिओ सो मंदभग्गो सुमती, गोयमा ! पव्वइओ य। अह अन्नया वच्चंतेणं म सपंचगेणं आगओ महारोरवो दुवालससंवच्छरिओ दुब्भिक्खो, तओ ते साहुणो तक्कालदोसेण अणालोइयपडिक्कंता मरिऊण उववन्ने भूयजक्खरक्खसपिसायादीणं वाणमंतरदेवाणं वाहणत्ताए, तओ चविऊणं मच्छजातीए कुणिमाहारकूरज्झवसायदोसओ सत्तमाए, तओ उव्वट्टिऊणं तइयाए चउवीसिगाए संमत्तं पाविहिंति। तओ य संमत्तलब्भभवाओ तइए भवे चउरो सिज्झिहिंति, एगो ण सिज्झिहिइ जो, सो पंचमगो सव्वजेट्ठो, जओ णं से एगंतमिच्छदिट्ठी अभव्वो य। महा० ४ अ०। ग०।

णाइवं त्रि०(ज्ञातिवत्) ज्ञातिर्विद्यते यस्य स ज्ञातिवान्। स्वजनवति, "मित्तवं णाइवं होइ।" उत्त० ४ अ०।

णाइविगट्ठ त्रि०(नातिविकृष्ट) अनत्यन्तदीर्घे, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

णाइसंग पुं०(ज्ञातिसङ्ग) मातापितृकलत्राऽऽदिसङ्गे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

णाइसीय त्रि०(नातिशीत) न विद्यतेऽतिशयेन शीतं यत्र स नातिशीतः। अतिशीताऽऽबाधारहिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

णाउल्ल (देशी) गोमति, दे० ना० ४ वर्ग।

णाउं अव्य०(ज्ञात्वा) विज्ञायेत्यर्थे, पञ्चा० ६ विव०। विनिश्चित्येर्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड।

णाऊण पुं०(ज्ञात्वा) विज्ञायेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद।

णाग पुं०न०(नाक) स्वर्गे, ध० २ अधि०।

***नाग** पुं०। भवनपतिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। प्रव०। जी०। औ०। अनु०। नागकुमारे, नं०। भ०। ज्ञा०। स०। हस्तिनि, भ० १२ श० ८ उ०। नागवेशप्रसूते, औ०। ज्ञा०। उत्त०। आ० क०। प्रज्ञा०। सर्पे, औ०। भद्रिलपुरे नगरे सुलसयाः श्राविकोत्तमायाः पत्यौ, आ० म० १ अ० २ खण्ड। स्था०। अन्त०। कल्प०। आव०। आर्यरक्षस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, कल्प० ८ क्षण। द्रुमविशेषे, रा०। कल्प०। आचा०। ध्रुवकरणानां चतुष्पदाऽऽदीनामन्यतमे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। जं०। विशे०। कल्प०। स्वनामख्याते द्वीपभेदे, समुद्रभेदे च। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। नागकेशरे, नागदन्तके, मुस्तके, देहस्थे उद्गारकारके पवनभेदे, पर्वतभेदे, रङ्गे, सीसके च। वाच०।

णागकुमार पुं०(नागकुमार) नागाश्च ते कुमाराश्च नागकुमाराः। प्रज्ञा० १ पद। द्वितीयभवनपतिषु, स्था० ३ ठा० ४ उ०। प्रज्ञा०। स्या०। स०। (नागकुमारवक्तव्यताऽन्यत्र)

णागकेउ पुं०(नागकेतु) चन्द्रकान्तानगरीराजविजयसेननृपसख-श्रीकान्तव्यवहारिभार्यायाः श्रीसख्याः सुते, येन हि स्तनन्धयेनापि पर्युषणायामष्टमं तपश्चक्रे, (कल्प०) चन्द्रकान्ता नगरी, तत्र विजयसेनो नाम राजा, श्रीकान्ताख्यश्च व्यवहारी, तस्य श्रीसखी भार्या, तया च बहुप्रार्थित एकः सुतः प्रसूतः। स च बालक आसन्ने पर्युषणापर्वणि कुटुम्बकृतामष्टमवार्तामाकर्ण्य जातजातिस्मृतिः स्तन्यपोऽप्यष्टमं कृतवान्। ततस्तं स्तन्यपानमकुर्वाणं पर्युषितमालतीकुसुममिव म्लानमालोक्य मातापितरावनेकान् उपायाँश्चक्रतुः। क्रमाच्च मूर्छां प्राप्तं तं बालं मृतं ज्ञात्वा स्वजना भूमौ निक्षिपन्ति स्म। ततश्च विजयसेनो राजा तं पुत्रं तद्दुःखेन तप्तिपरं च मृतं विज्ञाय तद्वनग्रहणाय सुभटान् प्रेषयामास। इतश्च अष्टमप्रभावात् प्रकम्पिताऽऽसनो धरणेन्द्रः सकलं तत्स्वरूपं विज्ञाय भूमिष्ठं तं बालकममृतच्छट्या आश्वास्य विप्ररूपं कृत्वा धनं गृह्णतस्तान् निवारयामास। तत् श्रुत्वा राजाऽपि त्वरितं तत्रागत्योवाचभो भूदेव ! परम्पराऽऽगतमिदमस्माकमपुत्रधनग्रहणं कथं निवारयसि ? धरणोऽवादीत्-राजन्! जीवत्यस्य पुत्रः। कथं कुत्रास्तीति राजाऽऽदिभिरुक्तः। भूमेस्तं जीवन्तं बालकं साक्षात्कृत्य निधानमिव दर्शयामास। ततः सर्वैरपि सविस्मयैः स्वामिन्! कस्त्वं कोऽयमिति पृष्टे सोऽवदत्-अहं धरणेन्द्रो नागराजः कृताष्टमतपसोऽस्य महात्मनः साहाय्यार्थमागतोऽस्मि। राजाऽऽदिभिरुक्तम्-स्वामिन्! जातमात्रेणानेन अष्टमतपः कथं कृतम् ? धरणेन्द्र उवाच-राजन्! अयं हि पूर्वभवे कश्चिद्ध-णिक्पुत्रो बाल्येऽपि मृतमातृक आसीत्, स च अपरमात्राऽत्यन्तं पीड्यमानो मित्राय स्वदुःखं कथयामास। सोऽपि त्वया पूर्वजन्मनि तपो न कृतं तेनैवं पराभवं लभसे इत्युपदिष्टवान्। ततोऽसौ

यथाशक्ति तपोनिरत आगामिन्यां पर्युषणायामवश्यमष्टमं करिष्या-मिति मनसि निश्चित्य तृणकुटीरे सुष्वाप । तदा च लब्धावसरया विमात्रा आसन्नप्रदीपनकादग्निकणस्तत्र निक्षिप्तः तेन च कुटीरके ज्वलिते सोऽपि मृतः, अष्टमध्यानाच्च अयं श्रीकान्तमहेभ्यनन्दनो जातः । ततोऽनेन पूर्वभवचिन्तितमष्टमतपः साम्प्रतं कृतं, तदसौ महापुरुषो लघुकर्माऽस्मिन् भवे मुक्तिगामी यत्नात् पालनीयः, भवतामपि महते उपकाराय भविष्यतीति उक्त्वा नागराजः स्वहारं तत्कण्ठे निक्षिप्य स्वस्थानं जगाम । ततः स्वजनैः श्रीकान्तस्य मृतकार्यं विधाय तस्य नागकेतुरिति नाम कृतं, क्रमाच्च स बाल्या-दपि जितेन्द्रियः परमश्रावको बभूव । एकदा च विजयसेनराजेन कश्चिद् अचौरोऽपि चौरकलङ्केन हतो व्यन्तरो जातः समग्रनगरवि-घाताय शिलां रचितवान् , राजानं च पादप्रहारेण रुधिरं वमन्तं सिंहाऽऽसनाद् भूमौ पातयामास । तदा स नागकेतुः कथमिमं सङ्घ-प्रासादविध्वंसं जीवन् पश्यामीति बुद्ध्या प्रासादशिखरमारुह्य शिलां पाणिना दध्रे । ततः स व्यन्तरोऽपि तत्तपः-शक्तिमसहमानः शिलां संहृत्य नागकेतुं नतवान् । तद्वचनेन भूपालमपि निरुपद्रवं कृतवान् । अन्यदा च नागकेतुर्जिनेन्द्रपूजां कुर्वन् पुष्पमध्यस्थितसर्पेण दष्टोऽपि तथैवाऽव्यग्रो । भावनाऽऽरूढः केवलज्ञानमासादितवान्, ततः शासनदेवताऽर्पितमुनिवेषश्चिरं विहरति स्म । कल्प० १ क्षण ।

णागकेसर पुं०(नागकेशर) स्वनामख्याते पुष्पप्रधाने वनस्पतौ, वाच० । आव० ।

णागग्गह पुं०(नागग्रह) नागावेशोत्थे ज्वराऽऽदौ, जी० ३ प्रति० ।

णागघर न०(नागगृह) उरगप्रतिमायुक्ते चैत्ये, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णागजण्ण पुं०(नागयज्ञ) नागपूजायाम् , नागोत्सवे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णागजसा स्त्री०(नागयशस्) पन्थकपुत्र्यां ब्रह्मदत्तचक्रिभार्यायाम् , उत्त० १३ अ० ।

णागज्जुण पुं०(नागार्जुन) हिमवदाचार्याणां शिष्ये, (नं०)

मिउमद्दवसंपण्णे, अणुपुव्विं वायगत्तणं पत्ते ।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए वंदे ॥ ४० ॥

(मिउ इत्यादि) मृदुमार्दवसंपन्नान् मृदु कोमलं मनोज्ञं सकल-भव्यजनमनःसन्तोषहेतुत्वाद् यन्मार्दवं चोपलक्षणं, तेन क्षान्ति-मार्दवाऽऽर्जवसन्तोषसंपन्नानिति द्रष्टव्यम् । तथा आनुपूर्व्या वयः पर्यायपरिपाट्या वाचकत्वं प्राप्तान् ; इदं च विशेषणमैदंयुगीनसूरीणां सामाचारीप्रदर्शनपरमवसेयम् । (नं०) तथा ओघश्रुतसमाचारकान् ओघश्रुतमुत्सर्गश्रुतमुच्यते, तत्समाचरन्ति ये ते ओघश्रुतसमाचारकाः, तान् नागार्जुनवाचकान् वन्दे ॥ ४० ॥ नं० ।

आचाराङ्गाऽऽदिषु, नागार्जुनीयानां पाठभेदोऽस्ति, स च नागार्जुनोऽयमेवेति प्रतीयते । अन्योऽपि पादलिप्तसुरीणां शिष्यः श्रावको महाप्रभावकः सिद्धनागार्जुननामा आसीत् । तत्कथा चैवम्-

'' पुरमन्थि पाडलिपुरं, गंधियहट्टं सुरहिगंधड्ढं ।
तत्थ मुरंडो निवई, ईसरसयसहस्सनमियकमो ॥ १ ॥
कयमयणदमो बहुसुद्धआगमो संगमु त्ति वरसूरी ।
दूरीकयपावभरो, विहरंतो तत्थ संपत्तो ॥ २ ॥
गुणवुड्ढिभावकलिओ, सक्किरियालंकिओ रुइरसद्दो ।
लक्खणगंथु व्व सम-त्थि तस्स एगो पवरसीसो ॥ ३ ॥
सो बालो वि अबाल-प्पइभागुणरयणरोहणसमाणो ।
आणिय चउत्थरसियं, कया वि इय कहइ गुरुपुरओ ॥ ४ ॥
अंबं तंबच्छीए, अपुप्फियं-पुप्फदंतपंताए ।
नवसालिकंजियं नव-बहूइ कुडएण मे दिन्नं ॥ ५ ॥
तो गुरुणा संलत्तो, वच्छ ! पलित्तो सि पढसि जं एवं ।
सो आह मह विहिज्जउ, आयारेणं पसाउ त्ति ॥ ६ ॥
तह विहिए गुरुणा तो, जणेण पाणित्तओ त्ति सो वुत्तो ।
बहुसिद्धिजुओ वाई, ठविओ सूरीहिं नियययए ॥ ७ ॥
कइया वि वसहिबाहिं, वक्खित्तो सो कहिं वि कज्जम्मि ।
जा चिट्ठइ ता तहियं, संपत्ता वाइणो के वि ॥ ८ ॥
पुच्छंति सूरिनिलयं, कहइ इमो वंकदीहरपहेण ।
कालविलंबकए लहु, वसहीइ सयं पुणो पत्तो ॥ ९ ॥
दाउ कवाडे कवडेण सुवइ जा मुणिवरो तहिं ताव ।
पत्ता वाई पुच्छंति कत्थ पालित्तओ सूरी ॥ १० ॥
अह पभणंति विणेया, सुहं सुहेणं सुवंति किर गुरुणो ।
उवहासकए विहिओ, कुक्कुडसद्दो तओ तेहिं ॥ ११ ॥
गुरुणा वि विरालीए, सद्दो विहिओ कहंति तो एए ।
लीलाइ तए जिणिया, अम्हे सव्वे वि मुणिनाह ! ॥ १२ ॥
दिज्जउ दंसणमिण्हिं, तो लहु उट्ठेइ सो तयं लहुयं ।
दट्ठुं तज्झिणणत्थं, पवाइणो इय पयंपंति ॥ १३ ॥
पालित्तय ! कहसु फुडं, सयलं महिमंडलं भमंतेण ।
दिट्ठो कह वि सुओ वा, चंदणरससीअलो अग्गी ॥ १४ ॥
'' श्रीकालः सूरिराजो नमिविनमिकुलोत्तंसरत्नायमान-स्तच्छिष्यो वृद्धवादी द्विजकुलतिलकः सिद्धसेनो बभूव ।
बिभ्राणः कूटनिद्रां कपट इति जने विकृतो विश्वरूपः,
संजातः संगमोऽयं तदनु च गणभृत् पादलिप्तस्ततोऽहम् ॥१५॥''
इय जिणपवयणनहयल-ससिणो वरवाइणो महाकविणो ।
कहियनियपुव्वपुरिसे, भणियं पालित्तएणेयं ॥ १६ ॥
अयसाभिघायअभिदु-म्मियस्स पुरिसस्स सुद्धहिययस्स ।
होइ वहंतस्स पुणो, चंदणरससीयलो अग्गी ॥ १७ ॥
इय निज्झिणिया वाए, अपच्चवाए वि वाइणो गुरुणो ।
णवरसतरंगलोला, तरंगलोलाकहा य कया ॥ १८ ॥
समिया य सिरोवियणा, अट्ठस्स मुरुंडराइणो तह य ।
विहियं तं पहुसं (पडम) जं, अज्ज वि कइणो न पावंति ॥ १९ ॥

तथाहि-

दीहरफणिंदनाले, महिहरकेसरदिसामुहदलिल्ले ।
उअ पिअइ कालभमरो, जणमयरंदं पुहइपउमे ॥ २० ॥
जे लद्धलक्खभावेण सूरिणा गूढसुत्तमाईया ।
नाया बहुया भावा, वित्थरगंथाउ ते नेया ॥ २१ ॥
अट्ठमिमाईपव्वसु, पालित्तो लेविऊण नियचलणे ।
रेवयविमलगिरीसुं, वंदइ देवे नहपहेणं ॥ २२ ॥

पुनश्च-

इत्तो सुरट्ठविसए, अज्जुणरससिद्धिलद्धमाहप्पो ।
सव्वत्थ लद्धलक्खो, जोगी णागज्जुणो अत्थि ॥ २३ ॥
सो दट्ठु भणइ सूरिं, वियरसु नियपायलेवसिद्धिं मे ।
गिण्हेसु मज्झ कंचण-सिद्धिं तो भणइ मुणिपवरो ॥ २४ ॥
भो कंचणसिद्ध ! अकिंचणस्स मह कंचणस्स सिद्धीए ।
किं कज्जमवज्जाए, कंचणसिद्धा वि किं वऽत्थि ? ॥ २५ ॥

तुह पायलेवसिद्धिं, सावज्जं तेण न हु पयच्छेमि ।
जं सावज्जुवएसो, मुणीण नो कप्पए भद्द ! ॥ २६ ॥
तत्तो इमो विलक्खो, सुलद्धलक्खो लहुं पि सिक्खेइ ।
समणोवासगकिरियं, चिइवंदणवंदणाईयं ॥ २७ ॥
तित्थागयाण सूरीण वंदणं देइ चरणकमलेसु ।
कुसलत्तणेण पुरओ, ठाउं सव्वेसि सङ्घाणं ॥ २८ ॥
गुरुचरणं तो काउं, नियमउलिं नमइ तयणु गंधेण ।
लक्खइ स लद्धलक्खो, सत्तुत्तरमोसहीण सयं ॥ २९ ॥
तेणं ओसहिनियरेण पायलेवं सयं कुणइ एसो ।
तव्वसओ गयणे कुक्कुडु व्व उप्पडइ पडइ पुणो ॥ ३० ॥
पुणरागएण गुरुणा, दिट्ठो पुट्ठो य कहइ सो एवं ।
पहु ! तुह पायपसायं, गंधेण मए इमं नायं ॥ ३१ ॥
पहु ! पसिव कहसु सम्मं, जोगं जेणं हवेमि सुकयत्थो ।
गुरुउवएसेण विणा, जम्हा ण हवंति सिद्धीओ ॥ ३२ ॥
तो चिंतइ मुणिणाहो, सुलद्धलक्खत्तणं इमस्स अहो !
जं हेलाए नाओ, धम्मो तह ओसहिगणो य ॥ ३३ ॥
अन्नं पि इमो नाही, सुहेण इय चिंतिउं भणइ सूरी ।
जइ होसि मज्झ सीसो, कहेमि तो तुह अहं जोगं ॥ ३४ ॥
सो आह नाह ! नाहं, सत्तो जइधम्मभारमुव्वहिउं ।
किं तु पहु ! तुह समीवे, गिहत्थधम्मं पवज्जिस्सं ॥ ३५ ॥
एवं करेसु इय भणि-य सूरिणा गाहिओ इमो सम्मं ।
सम्मत्तमूलममलं, गिहिधम्मं पभणिओ य इमं ॥ ३६ ॥
सद्धियतं दुलसलिलेण कुणसु तं पायलेवमेयं ति ।
कुणइ तह ब्बियमेसो, जाया नहगमणलद्धी से ॥ ३७ ॥
तीए पभावओ सो, वंदइ उज्जिंतमाइसु जिणिंदे ।
पालित्ता णं च पुरं, संठावइ सूरिनामेणं ॥ ३८ ॥
गिरिनारगिरिसमीवे, तुरगसुरंगा दसारमंडवओ ।
चेइंपमुहं विहियं, तेणं नेमिस्स भत्तीए ॥ ३९ ॥
एवं गिहत्थधम्मं, जिणसासणउण्णइं व काऊण ।
इह परलोए कल्लाण-भायणं एस संजाओ ॥ ४० ॥
नागार्जुनस्येति फलं विशिष्टं, सलब्धलक्ष्यस्य निशम्य सम्यक् ।
गुणेऽत्र निःशेषगुणप्रधाने, कृतप्रयत्ना भविका भवन्तु ''॥ ४१ ॥
ध० र० । आ० क० । स्वनामख्याते काञ्च्यामिभ्यधनेश्वरे,
'' काञ्च्यामिभ्यधनेश्वरेण महता, नागार्जुनेनार्चितः ।
पायात्स्तम्भनके पुरे स भवतः, श्रीपार्श्वनाथो जिनः ॥ १ ॥ ''
ती० ५ कल्प ।

णागणिय न०(नाग्न्य) निर्ग्रन्थभावे संयमानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

णागदंत पुं०(नागदन्त) गजदन्ते, तदाकारे गृहान्निर्गते नकुण्टके, अङ्कुटके, जी० ३ प्रति० । रा० । (वर्णकस्तु ' विजय ' शब्दे विजयद्वारस्य नैषेधिकीवक्तव्यताऽवसरे वर्णयिष्यते)

णागदत्त पुं०(नागदत्त) स्वनामख्याते राजपुत्रे, स च पूर्वभवे क्षुल्ल-क साधुः कोपेन मृतो ज्यौतिष्केषूपपद्य ततश्च्युतो राजसुततयो-त्पन्नः प्रव्रजितः कोपरूपं भावापायं परिहृत्य केवलीभूय सिद्धः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । दश० । (' अपाय ' शब्दे प्रथमभागे ८०३ पृष्ठे अस्य सर्वो वृत्तान्त उदाहृतः) ऋषभपुत्राणामन्यतमे, कल्प० ७ क्षण । प्रतिष्ठानपुरवास्तव्यनागवसुश्रेष्ठिनः सुते, आ० क० । आव० । आ० चू० । (स च प्रव्रज्याऽयोग्योऽपि सन् निष्प्रतिकर्मतां गृहीत्वा पतित इति ' णिप्पडिकम्म(ण्)' शब्दे उदाहरिष्यते) नागदैवता-ऽऽराधनाल्लब्धे लक्ष्मीपुरवास्तव्यदत्तश्रेष्ठिपुत्रे, आ० क० । आव० । आ० चू० । आ० म० । (स च गन्धर्वकलानिपुणो गन्धर्वनागदत्त इति ख्यातः सर्पक्रीडापरः पूर्वभवमित्रदेवसर्पैश्चिक्रीडेति कषाय-प्रतिक्रमणे ' पडिक्कमण ' शब्दे उदाहरिष्यते) बलराजभार्यायाः सुभद्राया आत्मजस्य महाबलकुमारस्य पूर्वभवसत्कजीवे मणि-नागरवास्तव्ये स्वनामख्याते नरे, विपा० २ श्रु० ७ अ० ।

णागदार न०(नागद्वार) ती० ६ कल्प । सिद्धायतनानां पश्चिमदिक्स्थे नागावासभूते द्वारे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णागधर पुं०(नागधर) हस्तिधारकपुरुषे, औ० ।

णागपडिमा स्त्री०(नागप्रतिमा) नागदैवतप्रतिमायाम् , '' तेसि णं जिणपडिमाणं पुरओ दो दो नागपडिमाओ पण्णत्ताओ।'' जी० ३ प्रति० ।

णागपरियावणिया स्त्री०(नागपरिज्ञा) नागा नागकुमारास्तेषां परिज्ञा यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा नागपरिज्ञा । कालिकश्रुतभेदे, तस्याश्चेयं चूर्णिकृता उपदर्शिता भावना-'' जाहे तमज्झयणं समणे णिग्गंथे परियट्टइ ताहे अकयसंकप्पस्स चित्ते नागकुमारा तत्थत्था चेव तं समणं परियाणंति वंदंति नमंसंति बहुमाणं च करेंति सिंगनादित-कज्जेसु य वरदा भवंति।'' नं० । पा० ।

णागपव्वय पुं०(नागपर्वत) जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमेन शीतोदाया महानद्या उत्तरेण वक्षस्कारपर्वते, स्था० ५ ठा० २ उ० । '' दो णागपव्वया । '' स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

णागपुप्फ न०(नागपुष्प) नागकेशरकुसुमे, जं० ४ वक्ष० ।

णागपुर न०(नागपुर) हस्तिनापुरे राजधानीलक्षणे कुरुजनपद-प्रधाननगरे, स्था० १० ठा० । ज्ञा० ।

णागवल्ली स्त्री०(नागवल्ली) ताम्बूलीलतायाम् , आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

णागभद्द पुं०(नागभद्र) सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । नागद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० ।

णागभूय न०(नागभूत) स्थविरादार्यरोहणान्निर्गतस्य उद्देहगणस्य प्रथमे कुले, कल्प० ८ क्षण ।

णागमह पुं०(नागमह) नागदेवताके उत्सवे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

णागमहाभद्द पुं०(नागमहाभद्र) नागाऽऽख्यद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० ।

णागमहावर पुं०(नागमहावर) नागसमुद्राधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० ।

णागमित्त पुं०(नागमित्र) आर्यमहागिरिशिष्याणामन्यतमे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णागर पुं०स्त्री०(नागर) नगरवासिनि, कल्प० ३ क्षण । आ० म० । प्रश्न० । देवरे, नागरङ्गे, जम्बरभेदे, वाच० ।

णागराइ पुं०(नागराज) नागकुमारे, '' वेलंधरनागराईणं '' स० १७ सम० । स्था० । अष्ट० । अनन्ते, सर्पे, ऐरावते, गजे च । वाच० ।

णागरिय त्रि०(नागरिक) नगरधर्मरुपयुक्ते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०।

णागरुक्ख पुं०(नागवृक्ष) स्वनामख्याते वृक्षभेदे, ''णागरुक्खे भुयंगाणं।'' स्था० ८ ठा०। प्रज्ञा०। स०।

णागलया स्त्री०(नागलता) तिर्यक्शाखाप्रसराभावाद् लताकल्पेषु द्रुमविशेषेषु, जं० १ वक्ष०। रा०। जी०। प्रज्ञा०। यस्य तिर्यक् तथाविधा शाखा प्रशाखा वा न प्रसूता सा लतेत्यभिधीयते। रा०। जी०। औ०। प्रज्ञा०।

णागलयामंडवग पुं०(नागलतामण्डपक) नागलतामयमण्डपके, जी० ३ प्रति०।

णागलोगेस पुं०(नागलोकेश) उरगपतौ, अष्ट० २० अष्ट०।

णागवर पुं०(नागवर) प्रधानगजे, औ०। जं०। गजवरे, तं०। हरिप्रधाने, भ० ६ श० ३३ उ०। नागसमुद्राधिपतौ देवे, सू० प्र० १६ पाहु०। चं० प्र०।

णागवसु पुं०(नागवसु) प्रतिष्ठानपुरे नागश्रियाः पत्यौ नागदत्तपितरि, आ० क०। आव०। आ० चू०।

णागवाण पुं०(नागवाण) दिव्याश्वभेदे, जी० ३ प्रति०।

णागवीही स्त्री०(नागवीथी) हयवीथ्यां, ऐरावणपदे, '' भरणीस्वात्याग्नेयं, नागाख्या वीथिरुत्तरे मार्गे।'' स्था० ६ ठा०।

णागसहस्सी स्त्री०(नागसाहस्री) नागकुमारदेवसहस्रे, स० ७२ सम०। नागिलभार्यायां निर्नामिकाया मातरि, आ० क०। आ० चू०। आ० म०।

णागसिरी स्त्री०(नागश्री) प्रतिष्ठाननगरवास्तव्यनागवसुश्रेष्ठिभार्यायां, नागदत्तमातरि, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ०। चम्पानगरवास्तव्यसोमद्विजस्य भार्यायाम्, यथा धर्मरुचये विषयुक्तान्नं दत्तं पश्चाद् भवेषु भ्रान्त्वा द्रौपदीजन्म लब्धम्। आ० क०। आ० चू०।

णागसुदाढ पुं०(नागसुदाढ) सुदाढनामके नागकुमारे, स च पूर्वभवे सिंहरित्रपुष्टेन विदारितो नागकुमारतयोपपन्नो वीरजिनाधिष्ठितां नावं बोलितुमारब्धः। आ० क०।

णागसुहुम न०(नागसूक्ष्म) स्वनामख्याते मिथ्यादृक्परिकल्पिते श्रुते, तच्चेदानीं नोपलभ्यते। अनु०।

णागसेण पुं०(नागसेन) उत्तरचावालायां जाते स्वनामके गृहपतौ, स च उत्तरचावालायां स्वामिनं क्षीरेण प्रतिलम्भितवान् पञ्च दिव्यानि जातानि। कल्प० ६ क्षण। आ० क०। आ० म०। आ० चू०।

णागहत्थि(ण्) पुं०(नागहस्तिन्) आर्यनन्दिलक्षपणशिष्ये, (नं०)

वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्जनागहत्थीणं।
वागरणकरणभंगिय-कम्मप्पयडीपहाणाणं॥ ३४॥

(वड्ढउ इत्यादि) विनेयान् वाचयन्तीति वाचकाः, तेषां वंशः क्रमभाविपुरुषपूर्वप्रवाहः, स वर्द्धतां वृद्धिमुपयातु, मा कदाचिदपि तस्य वृद्धिमुपगच्छतो विच्छेदो भूयादिति यावत्। वर्धतामित्यत्राऽऽशं-सायां पञ्चमी। कथंभूतो वाचकवंशः ? इत्याह-यशोवंशो मूर्तो यशसा वंश इव पर्वप्रवाह इव यशोवंशः, अनेनापयशःप्रधानपुरुष-वंशव्यवच्छेदमाह। तथा ह्यपयशःप्रधानानामपारसंसारसरित्पति- स्रोतःपतितानां परममुनिजनोपधृतलिङ्गविडम्बकानाम् अलं सन्तानपरिवृद्ध्येति। केषां संबन्धी वाचकवंशः परिवर्द्धतामित्यादि। आर्यनागहस्तिनामार्य नन्दिलक्षपणशिष्याणाम्। कथंभूताना-मित्याह-व्याकरणकरणभङ्गी-कर्मप्रकृतिप्रधानानां, तत्र व्याकरणं संस्कृतशब्दव्याकरणं, प्राकृतशब्दव्याकरणं, प्रश्नव्याकरणं च; करणं पिण्डविशुद्ध्यादि। उक्तं च-'' पिंडविसोही ४ समिई ५, भावण १२ पडिमा य १२ इंदियनिरोहो ५। पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३, अभिग्गहा ४ चेव करणं तु '' ॥ १ ॥ भङ्गी भङ्गबहुलं श्रुतं, कर्मप्रकृतिः प्रतीता। एतेषु प्ररूपणामधिकृत्य प्रधानानाम्। नं०। आ० चू०।

णागिंद पुं०(नागेन्द्र) नागराजे नागकुमाराणामिन्द्रे, ''असुरिंद-सुरिंदणागिंदा।'' स०। स्वनामख्याते साधुकुले, ''नागेन्द्रगच्छ-गोविन्दवक्षोऽलङ्कारकौस्तुभाः। ते विश्ववन्द्या नन्द्यासु-रुदय-प्रभसूरयः॥ ६॥'' स्या०। तदुत्पत्तिश्च महा दुर्भिक्षान्ते पोतद्वारा धान्यागमने जाते जिनदत्तः श्रावको नागेन्द्रनामपुत्रसहितो वज्रसेनसूरीणामन्तिके दीक्षां जग्राह, ततो नागेन्द्रशाखा प्रवृत्तेति भाति। कल्प० ८ क्षण।

णागिल पुं०(नागिल) कुमारनन्दिनः स्त्रीलोलसुवर्णकारस्य मित्रे श्रमणोपासके, आ० म० १ अ० २ खण्ड। गच्छविशेषाश्रितेषु साधुषु, कल्प० ८ क्षण। यथा नागिला रजोहरणमूर्ध्वमुखं कृत्वा कायोत्सर्गं कुर्वन्ति। व्य० १ उ०। धातकीखण्डपूर्वविदेहेषु नन्दिग्रामपतौ ललिताङ्गदेवदेव्याः स्वयंप्रभायाः पूर्वभवजीवनिर्नामिकायाः पितरि, आ० क०।

णागी स्त्री०(नागी) सर्पिण्याम्, ''मायामई अ णागी, णियडिकवड-वंचणाकुसला।'' मायाऽऽत्मिका नागी निकृतिकपटवञ्चनाकुशला। आव० ४ अ०।

णाडइज्ज न०(नाटकीय) नाटकप्रतिबद्धपात्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। विपा०।

णाडइणी स्त्री०(नाटकिनी) नर्तक्याम्, बृ० ३ उ०। तत्प्रतिपादके श्रुते च। स्था० ६ ठा०। संथा०। जं०। अनु०। आ० म०। (द्वात्रिं-शद्विधिभिन्नं नाटकं 'नट्ट' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७६८ पृष्ठ उक्तम्)

णाडग न०(नाटक) अभिनयविशेषे, बृ०।

णट्टं होइ अगीयं, गीयजुयं नाडयं तु णायव्वं।

इहागीतं गीतविरहितं नाट्यं भवति, यत्पुनर्गीतयुक्तं तन्नाटकं ज्ञातव्यम्। बृ० १ उ०।

णाहीय पुं०(नाडीक) नाडीवद्यस्य फलानि स नाडीकः। वनस्पति-विशेषे, भ० १० श० ७ उ०।

णाण न०(ज्ञान) ज्ञातिर्ज्ञानम्, भावेऽनट्प्रत्ययः। अथवा ज्ञाय-ते वस्तु परिच्छिद्यतेऽनेनेति ज्ञानम्, करणेऽनट्। नं०। पा०। अनु०। नि० चू०। पं० सं०। सम्म०। कर्म०। **'' ज्ञो जाणमुणौ ''** ॥ ८। ४। ७॥ इति जानातेर्जाणमुणाऽऽदेशस्य बाहुलकत्वा- न्न मुणाऽऽदेशः। प्रा० ४ पाद। **'' म्नज्ञोर्णः ''** ॥ ८। २। ४२॥ इति ज्ञभागस्य णादेशः। प्रा० २ पाद। उत्त०। विमर्शपूर्वके बोधे, उत्त० १ अ०। संविज्ञानमवगमो भावोऽभिप्राय इत्यन-र्थान्तरम्। आ० म० १ अ० १ खण्ड। व्य०। यथास्थि-

तपदार्थपरिच्छेदने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। द्वा०। अष्ट०। स्था०। द्रव्यपर्यायविषये बोधे, स्था० ३ ठा० २ उ०। विशेषावबोधे, औ०। अष्ट०। स्वपरपरिच्छेदिनि जीवस्य परिणामे ज्ञानाऽऽवरणविगमव्यक्ते तत्त्वार्थपरिच्छेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०। अष्ट०। स्था०। औ०। सत्त्वप्रधानायां बुद्धिवृत्तौ, द्वा० २ द्वा०।

(१) पर्यायार्थिकस्य विशेष एव वस्तु, स एव गृह्यते येन तज्ज्ञानमभिधीयते। '' विसेसियं नाणं। '' सम्म० २ काण्ड। ज्ञातिर्ज्ञानं-मिति भावसाधनः, संविदित्यर्थः। ज्ञायते वाऽनेनास्माद्वेति ज्ञानं, तदावरणस्य क्षयः, क्षयोपशमो वा। ज्ञायते वाऽस्मिन्निति ज्ञानमात्मा, तदावरणक्षयक्षयोपशमपरिणामयुक्तो, जानातीति वा ज्ञानम्। स्था० ५ ठा० ३ उ०। '' एगे णाणे। '' नं०। आ० म०। ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनाऽस्मिन् अस्माद्वेति ज्ञानं ज्ञानदर्शनाऽऽवरणयोः क्षयः, क्षयोपशमो वा, ज्ञातिर्वा ज्ञानमावरणद्वयक्षयाऽऽद्यांविर्भूत आत्मपर्यायविशेषः। सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि विशेषांशग्रहणप्रवणः सामान्यांशग्राहकश्च ज्ञानपञ्चकाज्ञानत्रयदर्शनचतुष्टयरूपः, तच्चानेकमप्यवबोधसामान्यात्, एकमुप-योगापेक्षया वा। तथाहि-लब्धितो बहूनां बोधविशेषाणामेकदा संभवेऽप्युपयोगत एक एव संभवत्येकोपयोगत्वाद् जीवानामिति। स्था० १ ठा०। उत्त०।

(२) ज्ञानानि-

णाणं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा-आभिणिबोहियणाणं, सुयणाणं, ओहिणाणं, मणपज्जवणाणं, केवलणाणं।

(णाणं पंचविहं पण्णत्तमित्यादि) ज्ञातिर्ज्ञानं, भावेऽनट्प्रत्ययः। अथवा-ज्ञायते वस्तु परिच्छिद्यतेऽनेनेति ज्ञानं, करणेऽनट्। शेषास्तु व्युत्पत्तयो मन्दमतीनां समोहहेतुत्वान्नोपदिश्यन्ते। पञ्चेति संख्यावाचकः, विधानं विधा, '' उपसर्गादातः '' ॥ ५। ३। ११०॥ इत्यङ्प्रत्ययः। पञ्च विधाः प्रकारा यस्य तत्पञ्चविधं पञ्चप्रकारं, प्रज्ञप्तं प्ररूपितं, तीर्थकरगणधरैरिति सामर्थ्यादवसीयते, अन्यस्य स्वयं प्ररूपकत्वेन प्ररूपणासंभवात्। नं०। ज्ञानं तीर्थकरैरपि सक-लकालाविलम्बिसमस्तवस्तुस्तोमसाक्षात्कारिकेवलप्रज्ञया पञ्च-विधमेव प्राप्तं, गणधरैरपि तीर्थकृद्भिरुपदिश्यमानं निजप्रज्ञया पञ्चविधमेव प्राप्तं, न तु वक्ष्यमाणनीत्या द्विभेदमेवेति। अथवा-प्राज्ञात्तीर्थकरादाप्तं प्राज्ञाप्तं, गणधरैरिति गम्यते। अथवा-प्राज्ञैर्गणधरैराप्तं तीर्थकरादित्यनुमीयते; तद्यथेत्युदाहरणोपदर्शनार्थः। आभिनिबोधिकज्ञानं, श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं, मनःपर्यायज्ञानं, केवलज्ञानं च। नं०। भ०। रा०। कर्म०। सूत्र०। ध० र०। विशे०। आ० म०। आतु०। प्रव०। दर्श०। अनु०।

(३) ज्ञानभेदकारणानि-

ननु सकलमपीदं ज्ञानं ज्ञप्त्येकस्वभावं, ततो ज्ञप्त्येकस्वभावत्वाविशेषे किंकृत एष अभिनिबोधिकाऽऽदिभेदः ? ज्ञेयभेदकृत इति चेत्। तथाहि-वार्तमानिकं वस्त्वाभिनिबोधिकस्य ज्ञानस्य ज्ञेयं, त्रिकालसाधारणः समानः परिणामो ध्वनिगोचरः श्रुतज्ञानस्य, रूपिद्रव्याणि अवधिज्ञानस्य, मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानस्य, समस्तपर्यायान्वितं सर्वं वस्तु केवलज्ञानस्य। तदेतदसमीचीनम्। एवं सति केवलज्ञानस्य भेदबाहुल्यप्रसक्तेः। तथाहि-ज्ञेयभेदाद् ज्ञानस्य भेदः। यानि च ज्ञेयानि प्रत्येकमाभिनिबोधि-काऽऽदिज्ञानानामिष्यन्ते तानि सर्वाण्यपि केवलज्ञानेऽपि विद्यन्ते, अन्यथा केवलज्ञानेन तेषामग्रहणप्रसङ्गादविषयत्वात्, तथा च सति केवलिनोऽप्यसर्वज्ञत्वप्रसङ्गः, आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानचतुष्टयविषयजातस्य तेनाग्रहणात्। न चैतदिष्टमिति। अथोच्येत-प्रति-पत्तिप्रकारभेदतः आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानभेदः। तथाहि-न यादृशी प्रतिपत्तिराभिनिबोधिकस्य ज्ञानस्य तादृशी श्रुतज्ञानस्य, किन्त्वन्यादृशी। एवमबध्यादिज्ञानानामपि प्रतिपत्तव्यं, ततो भवत्येव प्रतिपत्तिभेदतो ज्ञानभेदः। तदप्ययुक्तम्। एवं सत्येकस्मिन् अपि ज्ञानेऽनेकभेदप्रसक्तेः। तथाहि-तत्तद्देशकालपुरुषस्वरूप-भेदेन विविच्यमानमेकैकं ज्ञानं प्रतिपत्तिप्रकारानन्त्यं प्रतिपद्यते, तन्नैषोऽपि पक्षः श्रेयान्। स्यादेतत्, अस्त्यावारकं कर्म, तच्चानेक-प्रकारं, ततस्तद्भेदात्तेनावार्यं ज्ञानमप्येकतां प्रतिपद्यते, ज्ञाना- वारकं च कर्म पञ्चधा, प्रज्ञापनाऽऽदौ तथाऽभिधानात्। ततो ज्ञान-मपि पञ्चधा प्ररूप्यते, तदेतदतीव युक्त्यसङ्गतम्। यत आवार्यापेक्षमावारकमत आवार्यभेदादेव तद्भेदः, आचार्यं च ज्ञप्तिरूपा-पेक्षया सकलमप्येकरूपं, ततः कथमावारकस्य पञ्चरूपता, येन तद्भेदाद् ज्ञानस्यापि पञ्चविधो भेद उद्गीर्येत ? अथ स्वभावत एवाऽऽभिनिबोधाऽऽदिको ज्ञानस्य भेदो, न च स्वभावः पर्यनुयोगमश्नुते, न खलु किमिह दहनो दहति, नाकाशमिति कोऽपि पर्यनुयोगमाचरति। अहो महती महीयसी भवतः शेमुषी। ननु यदि स्वभावत एवाऽभिनिबोधाऽऽदिको ज्ञानस्य भेदः, तर्हि भगवतः सर्वज्ञत्वहानिप्रसङ्गः। तथाहि-ज्ञानमात्मनो धर्मः, तस्य चाभिनिबोधाऽऽदिको भेदः स्वभावत एव व्यवस्थितः, ततः क्षीणाऽऽवरणस्यापि तद्भावप्रसङ्गः। सति च तद्भावेऽस्मादृशस्येव भगवतोऽप्यसर्वज्ञत्वमापद्यते, केवलज्ञानभावतः समस्तवस्तुपरिच्छेदाद् नासर्वज्ञत्वमिति चेत्, ननु यदा केवलोपयोगसंभवः, तदा भवतु भगवतः सर्वज्ञत्वं, यदात्वाभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानोपयोगसंभवः, तदा देशतः परिच्छेदसंभवादस्मादृशस्येव तस्यापि बलादसर्वज्ञ-त्वमापद्यते। न च वाच्यं तस्य तदुपयोग एव न भविष्यत्यात्मनः स्वभावत्वेन तस्याऽपि क्रमेणोपयोगस्य निवारयितुमशक्यत्वात्, केवलज्ञानानन्तरं केवलदर्शनोपयोगवत्, ततः केवलज्ञानोपयोगकाले सर्वज्ञत्वं, शेषज्ञानोपयोगकाले चासर्वज्ञत्वमापद्यते, तच्च विरुद्धमतोऽनिष्टमिति।

आह च-

'' नन्नेगसहावत्ते, आभिणिबोहाइ किं कओ भेओ ?
नेयविसेसाउ चिय, न सव्वविसयं जओ चरिमं ॥ १ ॥
अह पडिवत्तिविसेसा, नेगम्मि अणेगभेयभावाओ।
आवरणविभेओ वि हु, सभावभेयं विणा न भवे ॥ २ ॥
तम्मि य सइ सव्वेसिं, खीणावरणस्स पावई भावो।
तद्धम्मत्ताउ चिय, जुत्तविरोहा स चाणिट्ठो ॥ ३ ॥
अरहा वि असव्वन्नू, आभिणिबोहाइभावओ णियमा।
केवलभावाउ चिय, सव्वन्नू नणु विरुद्धमिणं '' ॥ ४ ॥

तस्मादिदमेव युक्तियुक्तं पश्यामो-यदुतावग्रहज्ञानादारभ्य यावदुत्कर्षप्राप्तपरमावधिज्ञानं तावत्सकलमप्येकं, तच्चासकलसंज्ञितम्, अशेषवस्तुविषयत्वाभावात्। अपरं च केवलिनः, तच्च सकलमसंज्ञितमिति द्वावेव भेदौ। उक्तं च-'' तम्हा अवग्गहाओ, आरब्भ इहेगमेव नाण त्ति। जुत्तं छउमत्थस्सा; सगलं इयरं च केवलिणो ॥ १ ॥''

अत्र-प्रतिविधीयते-तत्र यत्तावदुक्तं सकलमपीदं ज्ञानं ज्ञप्त्येकस्वभावं, ततो ज्ञप्त्येकस्वभावत्वाविशेषे किं कृत एष अभिनिबोधाऽऽदिको भेद इति ? तत्र ज्ञप्त्येकस्व-

भावता किं सामान्यतो भवताऽभ्युपगम्यते, विशेषतो वा ? तत्र न तावदाद्यः पक्षः क्षितिमाधत्ते, सिद्धसाध्यतया तस्य बाधकत्वायोगात्। बोधरूपतारूपसामान्यापेक्षया हि सकलमपि ज्ञानमस्मा-भिरेकमभ्यु-पगम्यत एव, ततः का नो हानिरिति ? अथ द्वितीयः पक्षः, तदयुक्तम्, असिद्धत्वात्। न हि नामविशेषतोऽपि ज्ञानमेकमेवोपलभ्यते, प्रतिप्राणि स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणोत्कर्षदर्शनात्। अथ यद्युत्कर्षापकर्षमात्रभेददर्शनाद् ज्ञानभेदस्तर्हि तावुत्कर्षापकर्षौ प्रतिप्राणि देशकालापेक्षया शतसहस्रशो भिद्येते, ततः कथं पञ्चरूपता ? नैष दोषः। परिस्थूरनिमित्तभेदतः पञ्चधात्वस्य प्रतिपादनात्। तथाहि-सकलघातिक्षयो निमित्तं केवलज्ञानस्य, मनः-पर्यायज्ञानस्य त्वामर्षौषध्यादिलब्ध्युपेतस्य प्रमादलेशेनाप्यकलङ्कितस्य विशिष्टो विशिष्टाध्यवसायानुगतोऽप्रमादः, ''तं संजयस्स सव्वप्पमायरहियस्स विविहरिद्धिमतो।'' इतिवचन-प्रामाण्यात्। अवधिज्ञानस्य पुनस्तथाविधानीन्द्रियरूपिद्रव्य-साक्षादवगम-निबन्धनं क्षयोपशमविशेषः, मतिश्रुतज्ञानयोस्तु लक्षणभेदाऽऽदिकं तथाऽग्रे वक्ष्यते।

उक्तं च-

''नत्थेगसहावत्तं, ओहेण विसेसओ पुण असिद्धं।
एगंततस्सहाव-त्तणे उ कह हाणिवुड्ढीओ ? ॥ १ ॥
जं अविचलियसहावे, तत्ते एगं न तस्सहावत्तं।
न य तं तहोवलद्धा, उक्करिसावगरिसविसेसा ॥ २ ॥
तम्हा परिथूराओ, निमित्तभेयाओ समयसिद्धाओ।
उववत्तिसंगओ वि य, आभिणिबोहाइओ भेओ ॥ ३ ॥
घाइक्खओ निमित्तं, केवलणाणस्स वण्णिओ समए।
मणपज्जवणाणस्स उ, तहाविहो अप्पमाउ त्ति ॥ ४ ॥
ओहिं सोऽण्णस्स तहा, अणिंदिएसं पि जो खओवसमो।
मइसुयनाणाणं पुण, लक्खणभेदादिओ भेओ ॥ ५ ॥''

यदप्युक्तं ज्ञेयभेदकृत इत्यादि, तदप्यनभ्युपगमतिरस्कृतत्वाद् दूरापास्तप्रसरम्। न हि वयं ज्ञेयभेदमात्रतो ज्ञानस्य भेदमिच्छामः, एकेनाऽप्यवग्रहाऽऽदिना बहुविधवस्तुग्रहणोपलम्भात्। यदपि च प्रत्यपादि-प्रतिपत्तिप्रकारभेदकृत इत्यादि तदपि न नो बाधामा-धातुमलम्। यतस्ते प्रतिपत्तिप्रकाराः देशकालाऽऽदिभेदेनाऽऽन-न्त्यमपि प्रतिपद्यमाना न परिस्थूरनिमित्तभेदेन व्यवस्थापितानाभिनिबोधिकाऽऽदीन् जातिभेदा नातिक्रामन्ति, तत्कथमेकस्मिन् एकभेदभावप्रसङ्गः। उक्तं च-'' न य पडिवत्तिविसेसो, एगम्मि अणेगभेयभावो त्ति। जं ते तहा विसिट्ठे, न जाइभेए विलंघेइ ॥ १ ॥'' यदप्यवादीदावार्यापेक्षं ह्यावरकमित्यादि, तदपि न नो मनोबाधा-यै। यतः-परिस्थूरनिमित्तभेदमधिकृत्य व्यवस्थापितो ज्ञानस्य भेदः; ततस्तदपेक्षमावारकमपि तथा भिद्यमानं न युष्मादृशदुर्जन-वचनीयतामास्कन्दति। एवमुक्ते जितो भूयः सावष्टम्भं परः प्रश्न-यति-ननु परिस्थूरनिमित्तभेदव्यवस्थापिता अप्यमी आभिनिबो-धिकाऽऽदयो भेदा ज्ञानस्याऽऽत्मभूताः, उताऽनात्मभूताः ? किं चातः-उभयथाऽपि दोषः। तथाहि-यद्यात्मभूताः, ततः क्षीणाऽऽ-वरणेऽपि तद्भावप्रसङ्गः। तथा चासर्वज्ञत्वं प्रागुक्तनीत्या तस्या-ऽऽपद्यते। अथाऽनात्मभूताः, तर्हि न ते पारमार्थिकाः, ततः कथ-मावार्यापेक्षो वास्तव आवारकभेदः। तदपि न मनोरमम्, सम्यग् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्। इह हि सकलघनपटल-विनिर्मुक्तशारददिनमणिरिव समन्ततः समस्तवस्तुस्तोमप्रकाशनैक-स्वभावो जीवः, तस्य च तथाभूतस्वभावः केवलज्ञानमिति व्यपदिश्यते। स च यद्यपि सर्वघातिना केवलज्ञानाऽऽवरणेन आव्रियते, तथाऽपि तस्या-नन्ततमो भागो नित्योद्घाटित एव, ''अक्खरस्सऽणंतो भागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुणो सो वि आवरिज्जा तेण जीवा अजीवत्तणं पवेज्जा।'' इत्यादिवक्ष्यमाणवचनप्रामाण्यात्। ततस्तस्य केवल-ज्ञानाऽऽवरणाऽऽवृतस्य घनपटलाऽऽच्छादितस्येव सूर्यस्य यो मन्दः प्रकाशः सोऽपान्तरालावस्थितमतिज्ञानाऽऽद्यावरणक्षयोपशम-भेदसंपादितं नानात्वं भजते। यथा घनपटलाऽऽवृतसूर्यस्य मन्द-प्रकाशोऽपान्तरालावस्थितकटकुड्याऽऽद्यावरणं विवरप्रदेशभेद-तः, स च नानात्वं तत्क्षयोपशमानुरूपं तथा प्रतिपद्यमानं तत्क्षयो-पशमानुसारेणाभिधानभेदमश्नुते। यथा-मतिज्ञानाऽऽद्यावरण-क्षयोपशमजनितः स मन्दः प्रकाशो मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानाऽऽवरण-क्षयोपशमजनितः श्रुतज्ञानमित्यादि, तत आत्मस्वभावभूताज्ञान-स्याऽभिनिबोधिकाऽऽदयो भेदाः, ते च प्रवचनोपदर्शितपरिस्थूर-निमित्तभेदतः पञ्चसंख्याः, ततस्तदपेक्षमावारकमपि पञ्चधोप-वर्ण्यमानं न विरुध्यते। न चैवमात्मस्वभावभूतत्वे क्षीणाऽऽवरण-स्याऽपि तद्भावप्रसङ्गः। यत एते मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिक्षयो-पशमरूपोपाधि-संपादितसत्ताकाः, यथा-सूर्यस्य घनपटलाऽऽवृतस्य मन्दःप्रकाशभेदः कटकुड्याऽऽवरणविवरभेदोपाधिसंपादितः। ततः कथं ते तथारूपक्षयोप-शमाभावे भवितुमर्हन्ति, न खलु सकलघनपटलकटकुड्याऽऽद्याव-रणापगमे सूर्यस्य ते तथारूपा मन्दप्रकाशभेदा भवन्ति। उक्तं च-'' कडविवरागयकिरणा, गेहं-तरियस्स जह दिणेसस्स। ते कडमेहावगमे, न होंति जह तह इमाइं पि '' ॥ १ ॥ ततो यथा जन्माऽऽदयो भावा जीवस्य आत्मभूता अपि कर्मोपाधिसंपादितसत्ताकत्वात्तदभावे न सन्ति, तद्वदाभिनिबोधिकाऽऽदयोऽपि भेदा ज्ञानस्याऽऽत्मभूता अपि मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमसापेक्षत्वात् तदभावे केवलिनो न भवन्ति, ततो नासर्वज्ञत्वदोषः। उक्तं च-'' जमिह छउमत्थधम्मा, जम्माईया न होंति सिद्धाणं। इय केवलीणमाभिणिबोहियभावम्मि को दोसो ? ॥ १ ॥'' इति। नं० । आ० म० । आव० । सं- था० । कर्म० । सम्म० । स्था०।

(४) तदेवं ज्ञानपञ्चकस्याऽप्यभिधानार्थं कथिते आह कश्चित्- नन्वादौ मतिश्रुतोपन्यासः किमर्थः ? इति। अत्राऽऽचार्य आह-

जं सामि-काल-कारण-विसय-परोक्खत्तणेहिंतुल्लाइं।
तब्भावे सेसाणि य, तेणाईए मइसुयाइं ॥ ८५ ॥

तेन कारणेनाऽऽदौ मतिश्रुते निर्दिष्टे। येन किम् ? इत्याह-(जं सामीत्यादि) इति संटङ्कः। मतिशब्दोऽत्राभिनिबोधिकसमानार्थो द्रष्टव्यः आभिनिबोधिकं ह्यौत्पत्तिक्यादिमतिप्रधानत्वाद् मतिरि-त्यप्युच्यते। यद् यस्मात् कारणात् स्वामिकालकारणविषयपरो-क्षत्वैस्तुल्ये समानस्वरूपे मतिश्रुते, तेनाऽऽदौ निर्दिष्टे इत्यर्थः। तत्र स्वामी तावदनयोरेक एव, ''जत्थ मइनाणं तत्थ सुयनाणं'' इत्याद्यागमवचनादिति। कालोऽपि द्विधानानाजीवापेक्षया, एकजीवापेक्षया च। स चायं द्विविधोऽप्यनयोस्तुल्य एव नाना-जीवापेक्षया द्वयोरपि सर्वकालमनुच्छेदाद्, एकजीवापेक्षया तूभयोरपि निरन्तरसातिरेकसागरोपमषट्षष्टिस्थितिकत्वेना-त्रैवाभिधास्यमानत्वादिति। कारणमपीन्द्रियमनोलक्षणं, स्वा-

वरणक्षयोपशमस्वरूपं च द्वयोरपि समानम्। उभयस्यापि सर्वद्रव्याऽऽदिविषयत्वाद् विषयतुल्यता। परनिमित्तत्वाच्च परोक्षत्वसमता। ननु यद्येवमनयोः परस्परं तुल्यता, तर्ह्येकत्र द्वयोरप्युपन्यासोऽस्तु, आदावेव तु तदुपन्यासः कथम् ? इत्याह-(तब्भावे इत्यादि) तद्भावे मतिश्रुतज्ञानसद्भाव एव शेषाण्यवध्यादीनि ज्ञानान्यवाप्यन्ते; नाऽन्यथा, न हि स कश्चित् प्राणी भूतपूर्वः, अस्ति, भविष्यति वा, यो मतिश्रुतज्ञाने अनासाद्य प्रथममेवाऽवध्यादीनि शेषज्ञानानि प्राप्तवान्, प्राप्नोति, प्राप्स्यंति वेति भावः। ततस्तदवाप्तौ शेषज्ञानावाप्तेश्चाऽऽदौ मतिश्रुतोपन्यासः। इति गाथाऽर्थः॥ ८५॥

भवतु तर्ह्यादौ मति-श्रुतोपादानं, केवलं पूर्वं मतिः, पश्चात्तु श्रुत-मित्यत्र किं कारणं, यावता विपर्ययोऽपि कस्मान्न भवति ? इत्याह-

मइपुव्वं जेण सुयं, तेणाईए मइ विसिट्ठो वा।
मइभेओ चेव सुयं, तो मइसमणंतरं भणियं॥ ८६॥

मतिः पूर्वं प्रथममस्येति मतिपूर्वं, येन कारणेन श्रुतज्ञानं, तेन श्रुतस्याऽऽदौ मतिः तीर्थकर-गणधरैरुक्तेति शेषः। न ह्यवग्रहाऽऽदिरूपे मतिज्ञाने पूर्वमप्रवृत्ते क्वापि श्रुतप्रवृत्तिरस्तीति भावः। (विसिट्ठो वा, मइभेओ चेव सुयं ति) यदि वा इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तद्वारेणोपजायमानं सर्वं मतिज्ञानमेव, केवलं परोपदेशादागमवचनत्वाच्च भवन् विशिष्टः कश्चिन्मतिभेद एव श्रुतं, नान्यत्। ततो मूलभूताया मतेरादौ विन्यासः, तद्भेदरूपं तु श्रुतज्ञानं तत्समनन्तरं भणितमित्यदोषः। '' मइपुव्वं जेण सुयं। '' इत्यादिकश्चार्थः पुरतः प्रपञ्चेन भणिष्यते। इति गाथार्थः॥ ८६॥

अथ मतिश्रुतानन्तरमवधेस्तत्समनन्तरं च मनःपर्यायज्ञानस्योपन्यासे कारणमाह-

कालविवज्जयसामि-त्तलाभसाहम्मओऽवही तत्तो।
माणसमित्तो छउमत्थविसयभावादिसामण्णा॥ ८७॥

ततो मतिश्रुताभ्यामनन्तरमवधिर्निर्दिष्टः। कुतः ? इत्याह-कालविपर्ययस्वामित्वलाभसाधर्म्यात्। तत्र नानाजीवापेक्षया, एकजीवापेक्षया च मतिश्रुताभ्यां सहावधेः समानस्थितिकालत्वात् कालसाधर्म्यम्। यथा च मिथ्यात्वोदये मतिश्रुतज्ञाने अज्ञानरूपं विपर्ययं प्रतिपद्येते, तथाऽवधिरपि, इति विपर्ययसाधर्म्यम्। य एव च मतिश्रुतयोः स्वामी, स एवावधेरपीति स्वामिसाधर्म्यम्। लाभोऽपि कदाचित्कस्यचिदमीषां त्रयाणामपि ज्ञानानां युगपदेव भवती-ति लाभसाधर्म्यम्। (माणसमित्तो इत्यादि) इतोऽवधेरनन्तरं मनोविषयत्वान्मनसि भवं मानसं मनःपर्यायज्ञानं युक्तम्। कुतः ? इत्याह-छद्मस्थविषयभावाऽऽदिसामान्यात्; आदिशब्दात् प्रत्य-क्षत्वाऽऽदिसामान्यं गृह्यते, समानस्य भावः सामान्यं, साम्यं, तस्मादित्यर्थः। तत्र यथाऽवधिज्ञानं छद्मस्थस्यैव भवति, तथा मनःपर्यायज्ञानमपीति छद्मस्थसाम्यम्। उभयोरपि पुद्गलमात्रविषयत्वाद् विषयसाम्यम्, द्वयोरपि क्षायोपशमिकभाववृत्तित्वाद्भावसाम्यम्, द्वितयस्यापि साक्षाद्दर्शित्वात् प्रत्यक्षत्वसाम्यम्। एवमन्याऽपि प्रत्यासत्तिरभ्युह्येति गाथाऽर्थः॥ ८७॥

अथ केवलज्ञानस्य सर्वोपरि निर्देशे कारणमाह-

अंते केवलमुत्तम-जइसामित्तावसाणलाभाओ।
इत्थं च मइसुयाइं, परोक्खमियरं च पच्चक्खं॥ ८८॥

अन्ते सर्वज्ञानानामुपरि केवलज्ञानमभिहितम्। कुतः ? इत्याह-भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य उत्तमत्वात्, सर्वोत्तमं हि केवलज्ञानम्, अतीतानागतवर्तमाननिःशेषज्ञेयस्वरूपाऽवभासित्वादिति। यथा च मनःपर्यायज्ञानस्य यतिरेव स्वामी, तथा केवलज्ञानस्यापि, ततो यतिस्वामित्वसाम्याद् मनःपर्यायज्ञानाऽनन्तरं केवलज्ञानमभिहि-तम्। तथा समस्ताऽपरज्ञानानामवसान एवाऽस्य लाभादवसान एव निर्देश इति। तदेवमुपन्यासक्रमे समर्थिते सत्याह कश्चित्-नन्वेतानि पञ्च ज्ञानानि किं परोक्षस्वरूपाणि, आहोश्वित् प्रत्यक्षाणि ? इति। अत्राऽऽह-(इत्थं चेत्यादि) एतेषु पञ्चसु ज्ञानेषु मध्ये मतिश्रुते परोक्षे, इतरत्त्ववध्यादिज्ञानत्रयं प्रत्यक्षमिति गाथार्थः॥ ८८॥ विशे०।

(५) तथा चाऽऽगमः-

दुविहे णाणे पण्णत्ते। तं जहा-पच्चक्खे चेव, परोक्खे चेव। पच्चक्खणाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-केवलणाणे चेव, णो केवलणाणे चेव।

ज्ञानं विशेषावबोधः, अश्नाति भुङ्क्ते, अश्नुते वा व्याप्नोति ज्ञानेनार्थानित्यक्ष आत्मा, तं प्रति यद्वर्तते इन्द्रियमनोनिरपेक्षत्वेन तत्प्रत्यक्षमव्यवहितत्वेनार्थसाक्षात्करणादक्षमिति। आह च-'' अक्खो जीवो अत्थ-व्वावणभोयणगुणन्निओ जेणं। तं पइ वट्टइ नाणं, जं पच्चक्खं तमिह तिविहं ''॥ १॥ इति। परेभ्योऽक्षापेक्षया पुद्गलमयत्वेन द्रव्येन्द्रियमनोभ्योऽक्षस्य जीवस्य यत्तत्परोक्षं निरुक्तिवशादिति। आह च-'' अक्खस्स पोग्गलकया, जं दव्विंदियमणापरा तेण। तेहिंतो जं णाणं, परोक्खमिह तमणुमाणं वा''॥१॥ इति। अथवा-परैरक्षं संबन्धनं जन्यजनकभावलक्षणमस्येति परोक्षम्। इन्द्रियमनोव्यवधानेनाऽऽत्मनोऽर्थप्रत्ययकर्मसाक्षात्कारीत्यर्थः। स्था० २ ठा० १ उ०। (प्रत्यक्षज्ञानभेदाः ' पच्चक्ख ' शब्दे वक्ष्यते) प्रत्यक्षं द्विविधं-केवलज्ञानं, नो केवलज्ञानं च। (केवल-ज्ञानभेदाः ' केवलणाण ' शब्दे तृतीयभागे ६४७ पृष्ठे गताः)

(६) केवलणाणे दुविहे पण्णत्ते। ओहिणाणे चेव, मणपज्जवणाणे चेव॥ स्था० २ ठा० १ उ०। आ० म०। आव०। संथा०। कर्म०। सम्म०।

(अवधिज्ञानभेदः ' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १४० पृष्ठे गतः) (मनःपर्यायज्ञानभेदाः ' मणपज्जवणाण ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

परोक्खणाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-आभिणिबोहियणाणे चेव, सुयणाणे चेव।

(परोक्षज्ञानभेदाः ' परोक्खणाण ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(७) स्वाम्यादिभेदाद् मतिश्रुतभेदः। साम्प्रतं '' जं सामिकाल-कारण-विसय-परोक्खत्तणेहिंतुल्लाइं। (८५) '' इति यदुक्तं प्राक्, तदुपजीव्य परः प्राऽऽह-

सामित्ताइविसेसा-भावाओ मइसुएगया नाम।
लक्खणभेयादिकयं, नाणत्तं तयविसेसे वि॥ ९६॥

परः प्राऽऽह-ननु पूर्वं मतिश्रुतयोः स्वामिकालाऽऽदिभिः तुल्यत्वमभिदधानैर्भवद्भिः स्वहस्ताङ्कारोऽऽकर्षणमनुष्ठितम्, यत एवं सति

स्वामित्वाऽऽदिभिर्विशेषाभावान्मतिश्रुतयोरेकतैव प्राप्ता, न भेदः स्यात्; तथा च न ज्ञानपञ्चकसिद्धिः, धर्मभेदे हि वस्तूनां भेदः स्यात्; तदभेदे तु घटतत्स्वरूपयोरिवाभेद एव श्रेयानिति भावः। अत्राऽऽचार्यः प्रत्युत्तरमाह-(लक्खणेत्यादि) तेषां स्वामित्वाऽऽदीनामविशेषस्तदविशेषस्तत्र सत्यपि मतिश्रुतयोर्नानात्वं भिन्नत्वमस्ति। किंकृतम् ? इत्याह-लक्षणभेदाऽऽदिकृतम्, आदिशब्दाद् वक्ष्यमाणकार्यकारणभावाऽऽदिपरिग्रहः। इदमुक्तं भवति-यद्यपि स्वामिकालाऽऽदिभिर्मतिश्रुतयोरेकत्वम्, तथाऽपि लक्षणकार्यकारणभावाऽऽदिभिर्नानात्वमस्त्येव, घटाऽऽकाशाऽऽदीनामपि हि सत्त्वप्रमेयत्वार्थक्रियाकारित्वाऽऽदिभिः साम्येऽपि लक्षणाऽऽदिभेदाद्भेद एव। यदि पुनर्बहुभिर्धर्मैर्भेदे सत्यपि कियद्धर्मसाम्यमात्रादेवार्थानामेकत्वं प्रेर्यते, तदा सर्वं विश्वमेकं स्यात्; किं हि नाम तद्वस्त्वस्ति यस्य वस्त्वन्तरैः सह कैश्चिद्धर्मैर्न साम्यमस्ति ? तस्मात्स्वाम्यादिभिस्तुल्यत्वेऽपि लक्षणाऽऽदिभिर्मतिश्रुतयोर्भेदः। इति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

तान्येव लक्षणाऽऽदीनि पुरतो विस्तराभिधेयात्संपिण्ड्यैकगाथया दर्शयति-

लक्खणभेया हेऊ-फलभावओ भेयइंदियविभागा।
वागऽक्खरमूएयर-भेया भेओ मइसुयाणं ॥ ९७ ॥

लक्षणभेदाद्भिन्नलक्षणत्वाद् मतिश्रुतयोर्भेदः। तथा-मतिज्ञानं हेतुः, श्रुतं तु तत्फलं तत्कार्यम्; इति हेतुफलभावात् तयोर्भेदः। तथा-(भेय त्ति) विभागशब्दोऽत्रापि योज्यते, ततश्च भेदानां विभागो विशेषो भिन्नत्वं भेदविभागः, तस्मादपि मतिश्रुतयोर्भेदः, अवग्रहा-ऽऽदिभेदादष्टाविंशत्यादिभेदं हि मतिज्ञानं वक्ष्यते ''अक्खर सण्णी सम्मं'' इत्यादिवक्ष्यमाणवचनाच्चतुर्दशाऽऽदिभेदं च श्रुतज्ञानमिति भेदविभागात्तयोर्भेद इति भावः। (इंदियविभाग त्ति) तत्त्वतः श्रोत्रविषयमेव श्रुतज्ञानम्, शेषेन्द्रियविषयमपि मतिज्ञानम्, इत्येवं वक्ष्यमाणादिन्द्रियविभागाच्च तयोर्भेदः। (वागेत्यादि) वल्काश्चाक्षरं च मूकं च वल्काऽऽदिप्रतिपक्षभूतानीतराणि च वल्काक्षरमूकेत-राणि, तैर्योऽसौ भेदः तस्मादपि मतिश्रुतयोर्भेद इत्यर्थः। तथाहि-'' अन्ने मग्गंति मई, वग्गसमा सुबसरिसयं तु सुयं। (१५४)'' इत्यादिना ग्रन्थेन कारणत्वाद् वल्कसदृशं मतिज्ञानं, शुम्बसदृशं तु श्रुत-ज्ञानम्, कार्यत्वादित्यत्रैव वक्ष्यते। तत्र वल्कः पलाशाऽऽदित्वग्रन्थः, शुम्बं तु इतरशब्देनेहोपात्तं तज्जनिता दवरिकोच्यते। तत-श्चायमभिप्रायः-यथा वलनाऽऽदिसंस्कृतो विशिष्टावस्थाऽऽपन्नः सन् वल्को दवरिकेत्युच्यते, तथा परोपदेशार्हद्रव्यनसंस्कृतं विशि-ष्टावस्थाप्राप्तं सद् मतिज्ञानं श्रुतमभिधीयते, इत्येवं वल्केतरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः। तथा-''अन्ने अणक्खरऽक्खरविसेसओ मइसुयाइँ भिंदंति। जं मइनाणमणक्खर-मक्खरमियरं च सुयनाणं '॥ १६१ ॥ इत्यादि ग्रन्थेन वक्ष्यमाणदक्षरेतरभेदात्तयोर्भेदः। तथा-'' सपरप्पच्चायणओ, भेओ मूएयराण वाऽभिहिओ। जं तु सुयं, मइनाणं, सपरप्पच्चायगं सुत्तं '' ॥ १७१ ॥ इत्याद्यभिधास्यमानवचनान्मूकेतरभेदान्मतिश्रुतयोर्भेदः। इति गाथासंक्षेपार्थः। विस्तारार्थं तु भाष्यकारः स्वत एव वक्ष्यति। इयं च गाथा बहुष्वादर्शेषु न दृश्यते, केवलं क्वचिदादर्शेऽपि दृष्टा, अतीव सोपयोगा च, इत्यस्माभिः किञ्चिद् व्याख्यातेति ॥ ९७ ॥

तत्र '' यथोद्देशं निर्देशः '' इति कृत्वा लक्षणभेदं तावदाह-

जमभिनिबुज्झइ तमभिनि-बोहो जं सुणइ तं सुयं भणियं।
सद्दं सुणइ जइ तओ, नाणं तो नाऽऽयभावो तं ॥ ९८ ॥

यज्ज्ञानं कर्तृ, वस्तु कर्मताऽऽपन्नमभिनिबुध्यते अवगच्छति, तज्ज्ञानमभिनिबोधः तदाभिनिबोधिकं तन्मतिज्ञानमिति यावत्। (जं सुणइ इत्यादि) यत्पुनर्जीवः शृणोति तच्छ्रुतम्; इत्येवं सूत्रोक्तलक्षणभेदान्मतिश्रुतयोर्भेदः। तथा च सूत्रम्-'' जइ वि सामित्ता-ईहिं अविसेसो, तह वि पुणोऽत्थाऽऽयरिया णाणत्तं पण्णवयंति। तं जहा-अभिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहियं, सुणेइ त्ति सुयं।'' इत्या-दि। अत्राऽऽह प्रेरकः-यदि नाम यदात्मा शृणोति तत् श्रुतमिति श्रुतज्ञानस्य लक्षणमुच्यते, हन्त ! तर्हि शब्दमेव शृणोति जीव इति सकलजगत्प्रतीतमेव। ततः किं क्षूयते ? इत्याह-(जइ तओ इत्यादि) यदि च सकः स शब्दो ज्ञानं श्रुतरूपम्, (तो त्ति) ततो नाऽऽत्मनो जीवस्य भावः परिणामः तच्छ्रुतं प्राप्नोति, शब्दस्य श्रुतत्वेनेष्टत्वात्, तस्य च पौद्गलिकत्वेन मूर्तत्वात्, आत्मनस्त्वमूर्तत्वाद्, मूर्तस्य चामूर्तपरिणामत्वायोगाद्, आत्मनः परिणामश्च श्रुतज्ञानमिष्यते तीर्थकराऽऽदिभिः, इति कथं न विरोधः ? इति भावः। इति गाथार्थः ॥ ९८ ॥

अत्राऽऽचार्यः प्रत्युत्तरयति-

सुयकारणं जओ सो, सुयं च तक्कारणं ति तो तम्मि।
कीरइ सुओवयारो, सुयं तु परमत्थओ जीवो ॥ ९९ ॥

यतो यस्मात् कारणात् स शब्दो वक्त्राऽभिधीयमानः श्रोतृगतस्य श्रुतज्ञानस्य कारणं निमित्तं भवति, श्रुतं च वक्तृगतश्रुतोपयोगरूपं व्याख्यानकरणाऽऽदौ तस्य वक्त्राऽभिधीयमानस्य शब्दस्य कारणं जायते, इत्यतः तस्मिन् श्रुतज्ञानस्य कारणभूते कार्यभूते वा शब्दे श्रुतोपचारः क्रियते। ततो न परमार्थतः शब्दः श्रुतं, किं तूपचारत् इत्यदोषः। परमार्थतस्तर्हि किं श्रुतम् ? इत्याह-(सुयं त्वित्यादि) परमार्थतस्तु जीवः श्रुतं, ज्ञानज्ञानिनोरनन्यभूतत्वात्। तथा च पूर्वमभिहितम्-शृणोतीति श्रुतमात्मैवेति। तस्माच्छ्रूयत इति श्रुत-मिति कर्मसाधनपक्षे द्रव्यश्रुतमेवाऽभिधीयते, शृणोतीति श्रुतमिति; कर्तृसाधनपक्षे तु भावश्रुतमात्मैव; इति न काचिदनात्मभावता श्रुतज्ञानस्य। इति गाथार्थः ॥ ९९ ॥

(८) अथ प्रकारान्तरेणाऽपि मतिश्रुतयोर्लक्षणभेदमाह-

इंदियमणोनिमित्तं, जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं।
नियययुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई सेसं ॥ १०० ॥

इन्द्रियाणि च स्पर्शनाऽऽदीनि, मनश्च, इन्द्रियमनांसि, तानि निमित्तं यस्य तदिन्द्रियमनोनिमित्तम्, इन्द्रियमनोद्वारेण यद्विज्ञानमुपजायत इत्यर्थः। तत् किम् ? इत्याह-तद्भावश्रुतं श्रुतज्ञानमित्यर्थः। इन्द्रियमनोनिमित्तं च मतिज्ञानमपि भवति, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह-श्रुतानुसारेणेति श्रूयत इति श्रुतम्। द्रव्यश्रुतरूपं शब्द इत्यर्थः, स च सङ्केतविषयपरोपदेशरूपः श्रुतग्रन्थाऽऽत्मकश्चेह गृह्यते, तदनुसारेणैव यदुत्पद्यते तत् श्रुतज्ञान, नान्यत्। इदमुक्तं भवति-सङ्केतकालप्रवृत्त, श्रुतगन्थसंबन्धिनं वा घटाऽऽदि-

शब्दमनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन संयोज्य ' घटो घटः ' इत्याद्यन्तर्जल्पाकारमन्तःशब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियाऽऽदिनिमित्तं यज्ज्ञान-मुदेति तच्छ्रुतज्ञानमिति । तच्च कथंभूतम् ? इत्याह-' निजकाऽऽर्थोक्तिसमर्थमिति ' निजकः स्वस्मिन् प्रतिभासमानो योऽसौ घटाऽऽदिरर्थः तस्योक्तिः परस्मै प्रतिपादनं तत्र समर्थं क्षमं निजकार्योक्तिसमर्थम् । अयमिह भावार्थः-शब्दोल्लेखसहितं विज्ञानमुत्पन्नं स्वप्रतिभासमानार्थप्रतिपादकं शब्दं जनयति, तेन च परः प्रत्याय्यते, इत्येवं निजकार्योक्तिसमर्थमिदं भवति, अभिलाप्यवस्तुविषयमिति यावत्। स्वरूपविशेषणं चैतत्, शब्दानुसारेणोत्पन्नज्ञानस्य निजकार्योक्तिसामर्थ्याऽव्यभिचारादिति। (मइसेसं ति) शेषमिन्द्रियमनोनिमित्तश्रुतानुसारेण यदवग्रहाऽऽदिज्ञानं तन्मतिज्ञानमित्यर्थः । अत्राऽऽह कश्चित्-ननु यदि शब्दोल्लेखसहितं श्रुतज्ञानमिष्यते, शेषं तु मतिज्ञानम्, तदा वक्ष्यमाणस्वरूपोऽवग्रह एव मतिज्ञानं स्यात्, न पुनरीहापायाऽऽदयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वात्; मतिज्ञानभेदत्वेन चैते प्रसिद्धाः, तत् कथं श्रुतज्ञानलक्षणस्य नातिव्याप्तिदोषः ? कथं च न मतिज्ञानस्याव्याप्तिप्रसङ्गः ? अपरं च-अङ्गानङ्गप्रविष्टाऽऽदिषु '' अक्खर सन्नो सम्मं, साईयं खलु सपज्जवसियं च । '' इत्यादिषु च श्रुतभेदेषु मतिज्ञानभेदस्व-रूपाणामवग्रहेहाऽऽदीनां सद्भावात् सर्वस्याऽपि तस्य मतिज्ञानत्वप्रसङ्गात्, मतिज्ञानभेदानां चेहापायाऽऽदीनां साभिलापत्वेन श्रुतज्ञानत्वप्राप्तेरुभयलक्षणसंकीर्णतादोषश्च स्यात् । अत्रोच्यते-यत्तावदुक्तम्-अवग्रह एव मतिज्ञानं स्यात्, न त्वीहाऽऽदयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वात् । तदयुक्तम् । यतो यद्यपि ईहाऽऽदयः साभिलापाः, तथाऽपि न तेषां श्रुतरूपता, श्रुतानुसारिण एव साभिलापज्ञानस्य श्रुतत्वात्। अथावग्रहाऽऽदयः श्रुतनिश्रिता एव सिद्धा-न्ते प्रोक्ताः, युक्तितोऽपि चेहाऽऽदिषु शब्दाभिलापः संकेतकालाऽऽद्याकर्णितशब्दानुसरणमन्तरेण न संगच्छते, अतः कथं न तेषां श्रुतानुसारित्वम् ? तदयुक्तम्। पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेरेवैते समुप-जायन्त इति श्रुतनिश्रिता उच्यन्ते, न पुनर्व्यवहारकाले श्रुतानुसारित्वमेतेष्वस्ति। वक्ष्यते च-'' पुव्वं सुयपरिकम्मिय-मइस्स जं संपयं सुयाऽऽईयं। तं सुयनिस्सियं '' इत्यादि। यदपि युक्तितोऽपि चेत्याद्युक्तम्, तदपि न समीचीनम् , संकेतकालाऽऽद्याकर्णितशब्दपरिकर्मितबुद्धीनां व्यवहारकाले तदनुसरणमन्तरेणाऽपि विकल्पपरम्परापूर्वकविविधवचनप्रवृत्तिदर्शनात्, न हि पूर्वप्रवृत्तसंकेताः, अधीतश्रुतग्रन्थाश्च व्यवहारकाले प्रतिविकल्पन्ते-एतच्छब्दवाच्यत्वेनैतत् पूर्वं मयाऽवगतमित्येवंरूपं संकेतम् , तथाऽमुकस्मिन् ग्रन्थे एतदित्थमभिहितमित्येवं श्रुतग्रन्थं चाऽनुसरन्तो दृश्यन्ते, अभ्यासपाटवबशात् तदनुसरणमन्तरेणाऽप्यनवरतं विकल्पभाषणप्रवृत्तेः । यत्र तु श्रुतानुसारित्वं तत्र श्रुतरूपताऽस्माभिरपि न निषिध्यते। तस्मात् श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतत्वाभावादीहापायधारणानां सामस्त्येन मतिज्ञानत्वान्न मतिज्ञानलक्षणस्याव्याप्तिदोषः, श्रुतरूपतायाश्च श्रुतानुसारिष्वेव साऽभिलापज्ञानविशेषेषु भावाद् न श्रुतज्ञानलक्षणस्याऽतिव्याप्तिकृतो दोषः। अपरं च-अङ्गाऽनङ्गप्रविष्टाऽऽदिश्रुतभेदेषु ' मतिपूर्वमेव श्रुतम् ' इति वक्ष्यमाणवचनात्प्रथमं शब्दाऽऽद्यवग्रहणकालेऽवग्रहाऽऽदयः समुपजायन्ते, एते चाश्रुतानुसारित्वान्मतिज्ञानम्, यस्तु तेष्वङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतभेदेषु श्रुताऽनुसारी ज्ञानविशेषः स श्रुतज्ञानम् । ततश्च-अङ्गानङ्गप्रविष्टाऽऽदिश्रुतभेदानां सामस्त्येन मतिज्ञानत्वाभावाद् , ईहाऽऽदिषु च मतिभेदेषु श्रुताऽनुसारित्वाभावेन श्रुतज्ञानत्वाऽसंभवान्नोभयलक्ष-णसंकीर्णतादोषोऽप्युपपद्यत इति सर्वं सुस्थम्। न चेह मतिश्रुतयोः परमाणुकरिणोरिवाऽऽत्यन्तिको भेदः समन्वेषणीयः, यतः प्रागिहैवोक्तम्-विशिष्टः कश्चिन्मतिविशेष एव श्रुतं, पुरस्तादपि च वक्ष्यते-वल्कसदृशं मतिज्ञानं तज्जनितदवरिकारूपे श्रुतज्ञानम् , न च वल्कशुम्बयोः परमाणुकुञ्जरवदात्यन्तिको भेदः, किं तु कारण-कार्यभावकृत एव, स चेहाऽपि विद्यते, मतेः कारणत्वेन, श्रुतस्य तु कार्यत्वेनाभिधास्यमानत्वात्। न च कार्यकारणयोरैकान्तिको भेदः; कनककुण्डलाऽऽदिषु, मृत्पिण्डकुण्डाऽऽदिषु च तथाऽदर्शनात्। तस्मात्तदवग्रहापेक्षयाऽनभिलापत्वाद् , ईहाऽऽद्यपेक्षया तु साभिलापत्वात् साभिलापानभिलापं मतिज्ञानम् , अश्रुतानुसारि च; सङ्केतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसंबन्धिनो वा शब्दस्य व्यवहार-काले अननुसरणात् । श्रुतज्ञानं तु साभिलापमेव, श्रुतानुसार्येव च, सङ्केतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसंबन्धिनो वा शब्दरूपस्य श्रुतस्य व्यवहारकालेऽवश्यमनुसरणादिति स्थितमिति गाथार्थः ॥ १००॥

अथ श्रुतज्ञानलक्षणस्याऽव्याप्तिदोषमुद्भावयन्नाह परः-

जइ सुयलक्खणमेयं, तो न तमेगिंदियाण संभवइ ।
दव्वसुयाणुभावम्मि वि, भावसुयं सुत्तजइणो व्व ॥ १०१ ॥

यदि श्रुतज्ञानस्येदमनन्तरगाथोक्तं लक्षणमिष्यते-श्रुतानुसारि ज्ञानं यदि श्रुतमभ्युपगम्यत इत्यर्थः, तदा तदेकेन्द्रियाणां न संभवति न घटते, शब्दानुसारित्वस्य तेष्वसंभवात्; तदसंभवश्च मनः-प्रभृतिसामग्र्यभावात्। इष्यते चाऽऽगमे-'' एगिंदिया नियमं दुयण्णाणी । तं जहा-मइअण्णाणी य, सुयअन्नाणी य '' इति वचनादेकेन्द्रियाणामपि श्रुतमात्रम् , इत्यव्यापकमेवैतद् लक्षणम्। अत्रो-त्तरमाह-(दव्वसुयेत्यादि) द्रव्यश्रुतं शब्दस्तस्याभावेऽप्येकेन्द्रियाणां भावश्रुतमभ्युपगन्तव्यम् , सुप्तयतेरिव। इदमुक्तं भवति-यद्य-प्येकेन्द्रियाणां कारणवैकल्याद् द्रव्यश्रुतं नास्ति, तथाऽपि स्वापा-ऽऽद्यवस्थायां साध्वादेरिवाशब्दकारणम् , अशब्दकार्यं च श्रुताऽऽ-वरणक्षयोपशममात्ररूपं भावश्रुतं केवलिदृष्टममीषां मन्तव्यम्; न हि स्वापाऽऽद्यवस्थायां साध्वादिः शब्दं न शृणोति, न विकल्पयतीत्येतावन्मात्रेण तस्य श्रुतज्ञानाभावो व्यवस्थाप्यते, किं तु स्वापाऽऽद्यवस्थोत्तरकालं व्यक्तीभवद्भावश्रुतं दृष्ट्वा पयसि सर्पि-रिव प्रागपि तस्य तदासीदिति व्यवह्रियते, एवमेकेन्द्रियाणामपि सामग्रीवैकल्याद् यद्यपि द्रव्यश्रुताभावः, तथाऽप्यावरणक्षयोपश-मरूपं भावश्रुतमवसेयम्, परमयोगिभिर्दृष्टत्वाद् वल्ल्यादिष्वाहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाऽऽदेस्तल्लिङ्गस्य दर्शनाच्चेति। आहननु सुप्तयतिलक्षणदृष्टान्तेऽपि तावद्भावश्रुतं नावगच्छामः । तथाहि-श्रुतोपयोगपरिणत आत्मा शृणोतीति श्रुतं, श्रूयते तदिति वा श्रुत-मित्यनयोर्मध्ये कया व्युत्पत्त्या सुप्तसाधोः श्रुतमभ्युपगम्यते ? तत्रा-ऽऽद्यपक्षो न युक्तः, सुप्तस्य श्रुतोपयोगासंभवात्। द्वितीयोऽपि न संगतः, तत्र शब्दस्य वाच्यत्वात्, तस्यापि च स्वपतोऽसंभवादि-ति। सत्यम्। किं तु शृणोत्यनेन, अस्माद्, अस्मिन्वेति व्युत्पत्ति-रिहाश्रीयते, एवं च श्रुतज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमो वाच्यः संपद्यते, स च सुप्तयतेः, एकेन्द्रियाणां चास्तीति न किञ्चित्परिहीयते। इति गाथार्थः ॥ १०१ ॥

अथ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्याऽऽपादनेनैकेन्द्रियाणां श्रुतसद्भावं विघटयन्नाह-

भावसुयं भासासोयलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स।
भासाऽभिमुहस्स जयं, सोऊण य जं हवेज्जाहि॥ १०२॥

भावश्रुतं युज्यत इति संबन्धः। कस्य युज्यते ? इत्याह-भाषाश्रोत्रलब्धिमतः-भाषालब्धिमतः, श्रवणेन्द्रियलब्धिमतश्चेत्य- र्थः। कथंभूतं यद्भावश्रुतम् ? इत्याह-भाषाऽभिमुखस्य शब्द-मभिधित्सोः 'प्रथममेव मध्ये एतत्प्रतिपादयामि' इत्युपयोगरूपं यद्भवेत्, श्रुत्वा वा परोदीरितां भाषां यद्भवेद् 'एतदनेन प्रतिपादितमिति।' इह च यथासंख्यमवगन्तव्यम्-भाषालब्धिमतः प्रथमं भवेत्, श्रवणेन्द्रियलब्धिमतस्तु द्वितीयं भवेदिति। (न इयरस्स त्ति) इतरस्य तु भाषाश्रोत्रलब्धिरहितस्य भावश्रुतं न युज्यते। अयमभिप्रायः-यस्य सुप्तसाधोर्भाषाश्रोत्रलब्धिरस्ति, तस्योत्थितस्य परप्रतिपादनपरोदीरितशब्दश्रवणाऽऽदिलक्षणं भावश्रुतकार्यं दृश्यते, तद्दर्शनाच्च सुप्तावस्थायामपि तस्य लब्धिरूपतया तदाऽऽसीदित्यनुमीयते, यस्य त्वेकेन्द्रियस्य भाषाश्रोत्रलब्धिरहितत्वेन कदाचिदपि भावश्रुतकार्यं नोपलभ्यते, तस्य कथं तदस्तीति प्रतीयेत ? इति गाथाऽर्थः॥ १०२॥

अत्रोत्तरमाह-

जह सुहमं भाविंदिय-नाणं दव्विंदियावरोहे वि।
तह दव्वसुयाभावे, भावसुयं पत्थिवाइणं॥ १०३॥

इह केवलिनो विहाय शेषसंसारिजीवानां सर्वेषामप्यतिस्तोकबहुबहुतरबहुतमाऽऽदितारतम्यभावेन द्रव्येन्द्रियेष्वसत्स्वपि लब्धीन्द्रियपञ्चकाऽऽवरणक्षयोपशमः समस्त्येवेति परममुनिवचनम्। ततश्च यथा येन प्रकारेण पृथिव्यादीनामेकेन्द्रियाणां श्रोत्रचक्षु-र्घ्राणरसनलक्षणानां प्रत्येकं निर्वृत्युपकरणरूपाणां द्रव्येन्द्रियाणां तत्प्रतिबन्धककर्माऽऽवृतत्वादवरोधेऽप्यभावेऽपि सूक्ष्ममव्यक्तं लब्ध्युपयोगरूपं श्रोत्राऽऽदि भावेन्द्रियज्ञानं भवति, लब्धीन्द्रिया-ऽऽवरणक्षयोपशमसंभूताणीयसी ज्ञानशक्तिर्भवतीत्यर्थः। तथा तेनैव प्रकारेण द्रव्यश्रुतस्य द्रव्येन्द्रियस्थानीयस्याभावेऽपि भावश्रुतं भावेन्द्रियज्ञानकल्पं पृथिव्यादीनां भवतीतिप्रतिपत्तव्यमेव। इदमुक्तं भवति-एकेन्द्रियाणां तावच्छोत्राऽऽदिद्रव्येन्द्रियाभावेऽपि भावेन्द्रियज्ञानं किञ्चिद् दृश्यते एव, वनस्पत्यादिषु स्पष्टतल्लिङ्गो-पलम्भात्। तथाहि-कलकण्ठोद्गीर्णमधुरपञ्चमोद्गारश्रवणात्सद्यः कुसुमपल्लवाऽऽदिप्रसवो विरहकवृक्षाऽऽदिषु श्रवणेन्द्रिय-ज्ञानस्य व्यक्तं लिङ्गमवलोक्यते। तिलकाऽऽदितरुषु पुनः कमनी-यकामिनीकमलदलदीर्घशरदिन्दुधवललोचनकटाक्षविक्षेपात् कुसुमाऽऽद्याविर्भावश्चक्षुरिन्द्रियज्ञानस्य, चम्पकाऽऽद्यहिपेषु तु विविधिसुगन्धिगन्धवस्तुनिकुरम्बोन्मिश्रविमलशीतलसलिलसेकात्तत्प्रकटनं घ्राणेन्द्रियज्ञानस्य, बकुलाऽऽदिभूरुहेषु तु रम्भाऽतिशायिप्रवररूपवरतरुणभामिनीमुखप्रदत्तस्वच्छसुस्वादुसुरभिवारुणीगण्डूषाऽऽस्वादनात् तदाविष्करणं रसनेन्द्रियज्ञानस्य, कुरबकाऽऽदिविटपिष्वशोकाऽऽदिद्रुमेषु च घनपीनोन्नतकठिनकुचकुम्भविभ्रमापभ्राजितकुम्भीनकुम्भरणन्मणिवलयक्वणत्कङ्कणाऽऽभरणभूषितभव्यभामिनीभुजलताऽवगूहसुखाभिव्यक्तं स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्य स्पष्टं लिङ्गमभिवीक्ष्यते। ततश्च यथैतेषु द्रव्येन्द्रियासत्त्वेऽप्येतद्भावेन्द्रियजन्यं ज्ञानं सकलजनप्रसिद्ध-मस्ति, तथा द्रव्यश्रुताभावे भावश्रुतमपि भविष्यति। दृश्यते हि जलाऽऽद्याहारोपजीवनाद्वनस्पत्यादीनामाहारसंज्ञा, संकोचनवल्ल्यादीनां तु हस्तस्पर्शाऽऽदिभीत्याऽवयवसंकोचनाऽऽदिभ्यो भयसंज्ञा, विरहकतिलकचम्पककेशराशोकाऽऽदीनां तु मैथुन-संज्ञा दर्शितैव; विल्वपलाशाऽऽदीनां तु निधानीकृतद्रविणोपरि पादमोचनाऽऽदिभ्यः परिग्रहसंज्ञा। न चैताः संज्ञाः भावश्रुतमन्तरेणोपपद्यन्ते। तस्माद्भावेन्द्रियपञ्चकाऽऽवरणक्षयोपशमाद्भावे-न्द्रियपञ्चकज्ञानवद्-भावश्रुताऽऽवरणक्षयोपशमसद्भावाद् द्रव्य-श्रुताभावेऽपि यच्च यावच्च भावश्रुतमस्त्येवैकेन्द्रियाणाम्, इत्यलं विस्तरेण। तर्हि-'' जं विन्नाणं सुयानुसारेणं ''(१००) इति श्रुत-ज्ञानलक्षणं व्यभिचारि प्राप्नोति, श्रुतानुसारित्वमन्तरेणाऽप्येकेन्द्रियाणां भावश्रुताभ्युपगमादिति चेत्। नैवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, शब्दोल्लेखसहितं विशिष्टमेव भावश्रुतमाश्रित्य तल्लक्षणमुक्तम्, यत्त्वेकेन्द्रियाणामौधिकमविशिष्टभावश्रुतमात्रं तदावरण-क्षयोपशमस्वरूपम्, तच्छ्रुतानुसारित्वमन्तरेणाऽपि यदि भवति, तथाऽपि न कश्चिद् व्यभिचारः। इति गाथार्थः॥ १०३॥

पुनरप्याह परः-

एवं सव्वपसंगो, न तदावरणाणमक्खओवसमा।
मइसुयनाणाऽऽवरण-क्खओवसमओ मइसुयाइं॥ १०४॥

यदि भाषाश्रोत्रलब्धिरहितानामपि काष्ठकल्पानां पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां स्पष्टं किमप्यनुलभ्यमानमपि केनाऽपि वागाडम्बरमात्रेण ज्ञानं व्यवस्थाप्यते, तर्हि सर्वेषामपि केवलज्ञानपर्यन्तानां पञ्चाना-मपि ज्ञानानां प्रसङ्गः सद्भावस्तेषां प्राप्नोतीत्यर्थः। पञ्चापि ज्ञानानि एकेन्द्रियाणां सन्ति, इत्येतदपि कस्मान्नोच्यते ? स्पष्टानुपलम्भस्य विशेषाभावादिति भावः। अत्रोत्तरमाह-तदेतन्न। कुतः ? इत्याह-तदावरणानामवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानाऽऽवारक-कर्मणामक्षयोपशमादिति, अक्षयाच्चेति स्वयमपि द्रष्टव्यम्। इदमुक्तं भवति-केवलज्ञानं तावत् स्वावारककर्मणः क्षय एव जायते, अव-धिमनःपर्यायज्ञाने तु तस्य क्षयोपशमे भवतः, एतच्चैकेन्द्रियाणां नास्ति, तत्कार्यादर्शनाद्, आगमेऽनुक्तत्वाच्च; इति न सर्वज्ञानप्रसङ्गः। मतिश्रुतेऽपि तर्हि मा भूताम्, इति चेत्। इत्यत्राऽऽह-(मईत्यादि) मतिश्रुतज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमस्त्वेकेन्द्रियाणामस्त्येव, तत्कार्यदर्शनात्, सिद्धान्तेऽभिहितत्वाच्च। ततश्च तत्क्षयोपशमसद्भावन्मतिश्रुते भवत एव तेषाम्। इति गाथाऽर्थः॥ १०४॥

तदेवं सप्रसङ्गः प्रदर्शितो लक्षणभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः, साम्प्रतं हेतुफलभावात् तमुपदर्शयन्नाह-

मइपुव्वं सुयमुत्तं, न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं।
पुव्वं पूरणपालण-भावाओ जं मई तस्स॥ १०५॥

'' मइपुव्वगं सुत्तं '' इति वचनादागमे मतिः पूर्वं यस्य तद् मतिपूर्वं श्रुतमुक्तम्, न पुनर्मतिः श्रुतपूर्विका, इत्यनयोरयं विशेषः। यदि ह्येकत्वं मतिश्रुतयोर्भवेत्, तदा एवंभूतो नियमेन पूर्वपश्चाद्भावो घटतत्स्वरूपयोरिव न स्याद्, अस्ति चाऽयम्, ततो भेद इति भावः। किमिति पुनर्मतिपूर्वमेव श्रुतमुक्तम् ? इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् तस्य श्रुतस्य मतिः पूर्वं प्रथममेवोपपद्य-

ते कुतः ? इत्याह-पूरणेत्यादि 'पॄ' धातुः पालनपूरणयोरर्थरयोः पठ्यते, तस्य च पिपर्तीति पूर्वमिति निपात्यते। ततश्च शतस्य पूरणात् पालनाच्च मतिर्यस्मात्पूर्वमेव युज्यते, तस्मान्मतिपूर्वमेव श्रुतमुक्तम्, पूर्वशब्दश्चायमिह कारणपर्यायो द्रष्टव्यः, कार्यात् पूर्वमेव कारणस्य भावात्, '' सम्यग्ज्ञानपूर्विका पुरुषार्थसिद्धिः '' इत्यादौ तथादर्शनाच्च। ततश्च मतिपूर्वं श्रुतमिति कोऽर्थः ? श्रुतज्ञानं कार्यम्, मतिस्तु तत्कारणम्, कार्यकारणयोश्च मृत्पिण्डघटयोरिव कथ-ञ्चिद् भेदः प्रतीत एवेति भावः। इति गाथाऽर्थः॥ १०५॥

पूरणाऽऽदिधर्मानेव मतेर्भावयन्नाह-

पूरिज्जइ पाविज्जइ, दिज्जइ वा जं मईए नाऽमइणा।
पालिज्जइ य मईए, गहियं इहरा पणस्सेज्जा॥ १०६॥

अनुप्रेक्षाऽऽदिकाले अभ्यूह्य श्रुतपर्यायवर्द्धनेन मत्यैव श्रुतज्ञानं पूर्यते पोष्यते पुष्टिं नीयत इत्यर्थः, तथा मत्यैवान्यतः तत् प्राप्यते गृह्यते, तथा मत्यैव तदन्यस्मै दीयते व्याख्यायते, नामत्या न मति-मन्तरेणेत्यर्थः, प्राकृतत्वात्पुँल्लिङ्गनिर्देशः। तथा गृहीतं सदेत-त्परावर्तनचिन्तनद्वारेण मत्यैवं पाल्यते स्थिरीक्रियते, इतरथा मत्यभावे तद् गृहीतमपि प्रणश्येदेवेत्यर्थः। श्रुतज्ञानस्यैतं पूरणाऽऽदयोऽर्था विशिष्टाभ्यूहधारणाऽऽदीनन्तरेण कर्तुं न शक्यन्ते, अभ्यूहाऽऽदयश्च मतिज्ञानमेव, इति सर्वथा श्रुतस्य मतिरेव कारणम्, श्रुतं तु कार्यम्, कार्यकारणभावश्च भेदे सत्येवोपपद्यते, अभेदे पटतत्स्वरूपयोरिव तदनुपपत्तेः। तस्मात् कारणकार्यरूपत्वाद् मतिश्रुतयोर्भेदः। इति गाथाऽर्थः॥ १०६॥

अथ श्रुतस्य मतिपूर्वतां विघटयन्नाह-

णाणाणऽण्णाणाणि य, समकालाइं जओ मइसुयाइं।
तो न सयं मइपुव्वं, मइणाणे वा सुयन्नाणं॥ १०७॥

इत मतिश्रुते वक्ष्यमाणयुक्त्या द्विविधे-सम्यग्दृष्टेर्ज्ञा नस्वरूपे, मिथ्यादृष्टेरज्ञानस्वभावे। तत्र ज्ञाने अज्ञाने चैते प्रत्येकं समकाल-मेव भवतः, तत्क्षयोपशमलाभस्यापगमे युगपदेव निर्देशात्। यत-श्चैते ज्ञाने अज्ञाने च मतिश्रुते पृथक् समकाले भवतः, ततो न श्रुतं मतिपूर्वं युज्यते, न हि सममेवोत्पन्नयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव पूर्वपश्चाद्भावः सङ्गच्छते। अथोत्सूत्रोऽप्यसदाग्रहवशात्स न त्यज्यते, इत्याह-(मइनाणे वा इत्यादि) इदमुक्तं भवतिमतिज्ञाने समुत्पन्ने तत्समकालं च श्रुतज्ञानेऽनभ्युपगम्यमाने श्रुताऽज्ञाने जीवस्य प्रसज्यते, श्रुतज्ञानानुत्पादेऽद्यापि तदनिवृत्तेः, न च ज्ञानाऽज्ञानयोः समकालमवस्थितिरागमे क्वचिदप्यनुमन्यते, विरोधात्-ज्ञानस्य सम्यग्दृष्टिसंभावित्वात्, अज्ञानस्य तु मिथ्या-दृष्टिभावित्वादिति गाथार्थः॥ १०७॥

अत्र प्रतिविधानमाह-

इह लद्धिमइसुयाइं, समकालाइं न तूवओगो सिं।
मइपुव्वं सुयमिह पुण, सुओवओगो मइप्पभवो॥ १०८॥

ननु ध्यान्ध्यविजृम्भितमिदं परस्य, अभिप्रायापरिज्ञानात्। त-थाहि-द्विविधे मतिश्रुते तदावरणक्षयोपशमरूपलब्धितः, उप-योगतश्च। तत्रेह लब्धितो ये मतिश्रुते ते एव समकालं भवतः, यस्त्व-नयोरुपयोगः स युगपन्न भवत्येव, किं तु केवलज्ञानदर्शनयोरिव तथास्वाभाव्यात् क्रमेणैव प्रवर्तते। अत्र तर्हि लब्धिमङ्गीकृत्य मति-पूर्वता श्रुतस्योक्ता भविष्यतीति चेत्। नैवम्, इत्याह-मतिपूर्वं श्रुतम्, इह तु श्रुतोपयोग एव मतिप्रभवोऽङ्गीक्रियते, न लब्धिरिति भावः। श्रुतोपयोगो हि विशिष्टमन्तर्जल्पाऽऽकारं श्रुतानुसारि ज्ञानमभिधीयते, तच्चावग्रहेहाऽऽदीनन्तरेणाऽऽकस्मिकं न भवति, अवग्रहाऽऽदयश्च मतिरेव, इति तत्पूर्वता श्रुतस्य न विरुध्यते। इति गाथार्थः॥ १०८॥

तदेवं मतिपूर्वं श्रुतमिति समर्थितम्, परस्तु मतेरपि श्रुतपूर्वताऽऽपादनेनाऽविशेषमुद्भावयन्नाह-

सोऊण जा मई भे, सा सुयपुव्व त्ति तेण न विसेसो।
सा दव्वसुयप्पभवा, भावसुयाओ मई नत्थि॥ १०९॥

परस्माच्छब्दं श्रुत्वा तद्विषया (भे) भवतामपि या मतिरुत्पद्यते सा श्रुतपूर्वा श्रुतकारणैव, शब्दस्य श्रुतत्वेन प्रागुक्तत्वात्, तस्याश्च मतेः तत्प्रभवत्येन भवतामपि सिद्धत्वात्। ततश्च (न विसेसो त्ति) अन्योऽन्यपूर्वभावितायां मतिश्रुतयोर्न विशेष इत्यर्थः। तथा च सति '' न मई सुयपुव्विय त्ति '' यदुक्तं प्राक्, तदयुक्तं प्राप्नोतीति भा-वः। अत्रोत्तरमाह-परस्माच्छब्दमाकर्ण्य या मतिरुत्पद्यते, सा ह-न्त! शब्दस्य द्रव्यश्रुतमात्रत्वाद् द्रव्यश्रुतप्रभवा, न भावश्रुतकारणा, एतत्तु न केनाऽपि वार्यते, किं त्वेतदेव वयं ब्रूमो यदुत-भावश्रुताद् मतिर्नास्ति, भावश्रुतपूर्विका मतिर्न भवतीत्यर्थः, द्रव्यश्रुतप्रभवा तु भवतु; को दोष ? इति गाथाऽर्थः॥ १०९॥

ननु भावश्रुतादूर्ध्वं मतिः किं सर्वथा न भवति ? इत्याह-

कज्जतया न उ कमसो, कमेण को वा मइं निवारेइ ?
जं तत्थावत्थाणं, सुयस्स सुत्तोवओगाओ॥ ११०॥

भावश्रुताद् मतिः कार्यतयैव नास्तीत्यनन्तरोक्तगाथाऽवयवेन संबन्धः (न उ कमसो त्ति) क्रमशस्तु मतिर्नास्तीत्येवं न, किं तर्हि ? क्रमशः साऽस्ति, इत्येतत् सर्वाऽपि मन्यते, अन्यथा आम-रणावधि श्रुतमात्रोपयोगप्रसङ्गात्। यदि क्रमशः साऽस्ति, तर्हि क्रमेण भवन्त्यास्तस्या भवन्तः किं कुर्वन्ति ? इत्याह-(कमेणे-त्यादि) वाशब्दः पातनार्थे, सा च कृतैव, क्रमेण भवन्तीं मतिं को निवारयति ? मत्या श्रुतोपयोगो जन्यते, तदुपरमे तु निजकारण-कलापात् सदैव प्रवृत्ता पुनरपि मतिरवतिष्ठते, पुनस्तथैव श्रुतम्, तथैव च मतिः, इत्येवं क्रमेण भवन्त्या मतेर्निषेधका वयं न भवाम इत्यर्थः। किमिति ? इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् तत्र तस्यां मतौ अवस्थानं स्थितिर्भवति, श्रुतोपयोगात् च्युतस्य ततः क्रमेण मतिं न निषेधयामः। इदमुक्तं भवति-यथा सामान्यभूतेन सुवर्णेन स्वविशेषरूपाः कङ्कणाङ्गुलीयकाऽऽदयो जन्यन्ते, अतस्ते तत्कार्यव्यपदेशं लभन्त एव, सुवर्णं त्वतज्जन्यत्वात् तत्कार्यतया न व्यवह्रियते, तस्य कारणान्तरेभ्यः सिद्धत्वात्, कङ्कणाऽऽदिविशेषोपरमे तु सुवर्णावस्थानं क्रमेण न निवार्यते; एवं मत्याऽपि सामान्यभूतया स्वविशेषरूपश्रुतोपयोगो जन्यते, अतस्तत्कार्यं स उच्यते, मतिस्त्वतज्जन्यत्वात्तत्कार्यतया न व्यपदिश्यते, तस्या हेत्वन्तरात् सदा सिद्धत्वात्, स्वविशेषभूतश्रुतोपयोगपरमे तु क्रमाऽऽयातं मत्यवस्थानं न निवार्यते, आमरणान्तं केवलश्रुतोपयोगप्रसङ्गादिति गाथार्थः॥ ११०॥

तदेवं भावश्रुतं मतिपूर्वं व्यवस्थाप्य मतान्तरमुपदर्शयन्नाह-

दव्वसुयं मइपुव्वं, भासइ जं नाऽविचिंतियं केइ।

भावसुयस्सामावो, पावइ तेसिं न य विसेसो ॥ १११ ॥

(केइ त्ति) मतिपूर्वं श्रुतमित्यत्राऽऽगमवचने केचिदेवं व्याचक्षते। किम् ? इत्याह-द्रव्यश्रुतं शब्दरूपं मतिपूर्वम, न भावश्रुतम् । तत्र युक्तिमाह-(भासइ जं नाविचिंतियं ति) यद् यस्मात् कारणादविचि-न्तितम् अविवक्षितं न कोऽपि भाषते न शब्दमुदीरयति, यच्च विव-क्षाज्ञानं तत् किल मतिरिति तेषामभिप्रायः, ततश्च मतिपूर्वं द्रव्य-श्रुतं सिद्धं भवति। एतस्मिन् व्याख्याने दोषमाह-तेषामेवं व्याख्या-तृणां भावश्रुतस्य सर्वथैवाभावः प्राप्नोति, यतो वक्तृगतं विवक्षोप-योगज्ञानं तैरेव मतित्वेन व्याख्यातम् , अन्यथा शब्दस्य मतिपूर्व-कत्वाभावात् , श्रोतुरपि शब्दं श्रुत्वा प्रथमं यदवग्रहाऽऽदिज्ञानं तत्तावन्मतिरेव, ऊर्ध्वमपि च तस्या भावश्रुतं नाभ्यपगन्तव्यम्, मति-पूर्वं भावश्रुतमित्यस्मत्पक्षवर्तित्व-प्रसङ्गात् । यदशृण्वतोऽभाषमाणस्य चानुप्रेक्षाऽऽदिष्वन्तर्जल्पारूपितं ज्ञानं विपरिवर्तते तद्भाव-श्रुतं भविष्यतीति चेत्। तदयुक्तम् , यतस्तदपि यद्यवग्रहाऽऽद्यात्मकमतिपूर्वं तदा भावश्रुतं नेष्टव्यम् , अस्मत्पक्षाभ्युपग-मप्राप्तेरेव। अथ मतिपूर्वं तन्नेष्यते, तथाऽपि तत्सविकल्पकत्वेन मतिरेव, शब्द-विवक्षाज्ञानवत् ; शब्दविवक्षाज्ञानेऽपि हि शब्दविकल्पोऽस्ति, तमन्तरेण शब्दाभिधानासंभवात्। न चाऽसौ भावश्रुतत्वेनेष्टः; तस्माद् मतेरनन्तरं सर्वत्र शब्दमात्रस्यैवोत्थानम्, न भावश्रुतस्य; अस्मत्पक्षाङ्गी-करणप्रसङ्गात्। विकल्पज्ञानानि च विवक्षाज्ञानवन्मतित्वेनोक्तान्येव, इति सर्वत्र भावश्रुताभावः प्रसजति। भवतु स तर्हि, इति चेत्। इत्याह-(न य विसेसो त्ति) भावश्रुताभावे मति-श्रुतयोर्विशेषो भेदश्चिन्तयितव्यो न स्यात्, स हि द्वयोरेवोपपद्यते। यदा च मतिरेवाऽस्ति, न भावश्रुतम् , तदा तस्याः केन सह भेदचिन्ता युज्येत ? इति भावः। द्रव्यश्रुतरूपेण शब्देन सह मतेर्भेदचिन्ता भविष्यतीति चेत्। तदयुक्तम्। ज्ञानपञ्चक-विचारस्य इहा-धिकृतत्वात् , तदधिकारे च शब्देन सह भेदचिन्ताया अप्रस्तुतत्वात्। चिन्त्यतां वा 'मतिपूर्वं द्रव्यश्रुतम्' इत्येवं मतेः शब्देनापि सह विशेषः, किं तु सोऽपि न घटते। इति गाथाऽर्थः ॥ १११ ॥

कुतो न घटते ? इत्याह-

दव्वसुयं बुद्धीओ, सा वि तओ जमविसेसओ तम्हा।
भावसुयं मइपुव्वं, दव्वसुयं लक्खणं तस्स ॥ ११२ ॥

यदिति यस्मात् कारणाद् यथा द्रव्यश्रुतं शब्दो बुद्धेर्मतेः सकाशाद् भवतीति भवद्भिः प्रतिपाद्यते, तथा हन्त ! साऽपि बुद्धिस्ततः शब्दात् श्रोतुर्भवत्येव । ततश्च ''मइपुव्वं सुयमुत्तं, न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं ।'' (१०५) इति मतिश्रुतयोर्भेदप्रतिपादनार्थं योऽसौ विशेषोऽत्र प्रतिपादयितुं प्रस्तुतः, स द्वयोरप्यन्योन्यं पूर्वभावितायाः समानत्वान्न प्राप्नोति, इत्यनन्तरगाथापर्यन्तावयवेन संबन्धः । तस्मात्तेषां मतेऽविशेषतः कारणाद् यदस्माभिः प्राक् समर्थितम्भावश्रुतं मतिपूर्वमिति, तदेव युक्तियुक्तम्। शब्दलक्षणं तु द्रव्यश्रुतं तस्य भावश्रुतस्य लक्ष्यते गम्यतेऽनेनेति लक्षणं लिङ्गमिति गाथाऽर्थः ॥ ११२ ॥

कुतस्तत्तस्य लक्षणम् ? इत्याह-

सुयविन्नाणप्पभवं, दव्वसुयमियं जओ विचिंतेउं।
पुव्वं पच्छा भासइ, लक्खिज्जइ तेण भावसुयं ॥ ११३ ॥

श्रुतविज्ञानप्रभवं सविकल्पकविवक्षाज्ञानकार्यं शब्दरूपं द्रव्यश्रुतमिदं यत्परैर्मतिपूर्वत्वेन इष्यते, कथं पुनस्तद्भावश्रुतप्रभवं विज्ञायते ? इत्याह-यतः सर्वोऽपि पूर्वं विचिन्त्य वक्तव्यमर्थं चित्ते विकल्प्य पश्चात् शब्दं भाषते, यच्च तच्चिन्ताज्ञानं तत् श्रुतानुसारित्वाद् भावश्रुतम् , इति भावश्रुतप्रभवता द्रव्यश्रुतस्य विज्ञायते; यच्च यस्मात् प्रभवति तत्तस्य कार्यम्, यतस्तेन कार्यभूतेन द्रव्यश्रुतेन स्वकारणभूतं भावश्रुतं लक्ष्यत इति तत् तस्य लक्षणमुक्तम् , अस्ति भावश्रुतमत्र, तत्कार्यस्य शब्दस्य श्रवणाद् , इत्येवं तेन भावश्रुतस्य लक्ष्यमाणत्वादिति । द्रव्यश्रुतस्य च भावश्रुतलक्षणता मतान्तरवादिनां विपर्यस्तत्वप्रतिपादनार्थमुपदर्शिता, भावश्रुतप्रभवस्याऽपि शब्दस्य तैर्मतिपूर्वत्वप्रतिपादनादिति गाथाऽर्थः ॥ ११३॥

अथ यथा मतिश्रुतयोः कार्यकारणभावद् भेदः, तथा तयोः प्रत्येकं स्वस्थानेऽपि सम्यक्त्वमिथ्यात्वपरिग्रहाद् भेद एवेत्यनुषङ्गतो दर्शयितु नन्द्यध्ययनाऽऽगमे मतिश्रुतयोः कार्यकारणभावेन भेदप्रतिपादनानन्तरमिदं सूत्रमस्ति।

तद्यथा-

'' अविसेलिया मई-मइनाणं च, मइअन्नाणं च। विसेसिया मई-सम्मदिट्ठिस्स मई मइनाणं, मिच्छादिट्ठिस्स मई मइअनाणं । एवं अविसेसियं सुयं सुयनाणं, सुयअन्नाणं च, विसेसियं सुयं-सम्मदि-ट्ठिस्स सुयं सुयनाणं, मिच्छादिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं। ''

सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिसंबन्धतोऽविशेषितेन मतिशब्देन मतिज्ञानं, मत्यज्ञानं च द्वे अपि प्रतिपाद्येते, सम्यग्दृष्टित्वविशेषितेन तु मति-ध्वनिना मतिज्ञानमेवोच्यते, मिथ्यादृष्टित्वविशेषितेन तु तेनैव मत्यज्ञानमेवाभि-धीयते, एवं श्रुतेऽपि वाच्यमिति सूत्रभावार्थः।

तदेतदानुषङ्गिकं सूत्रोक्तमनुवर्तमानो भाष्यका-रोऽप्याह-

अविसेसिया मइ चिय, सम्मद्दिट्ठिस्स सा मइन्नाणं।
मइअण्णाणं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव ॥ ११४ ॥

सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिभावेनाविशेषिता मतिर्मतिरेवोच्यते, न तु मतिज्ञानं मत्यज्ञानं चेति निर्द्धार्यं व्यपदिश्यते, सामान्यरूपायां तस्यां ज्ञानाज्ञान-विशेषयोर्द्वयोरप्यन्तर्भावाद् । यदा तु सम्यग्दृष्टिरेव संबन्धिनी सा मतिर्विवक्ष्यते, तदा मतिज्ञानमिति निर्दिश्यते । यदा तु मिथ्यादृष्टि-संबन्धिनी तदा मत्यज्ञानम्। एवं श्रुतमप्यविशेषितं श्रुतमेव, विशेषितं तु सम्यग्दृष्टेः श्रुतज्ञानम् , मिथ्यादृष्टेस्तु श्रुता-ज्ञानम् , सम्यग्दृष्टिसंबन्धिनो बोधस्य सर्वस्यापि ज्ञानत्वात् ; मिथ्यादृष्टिसत्कस्य त्वज्ञानत्वादिति गाथाऽर्थः ॥ ११४ ॥

ननु यथा मतिश्रुताभ्यां सम्यग्दृष्टिर्घटाऽऽदिकं जानीते, व्यवहरति च; तथा मिथ्यादृष्टिरपि, तत्किमति तस्य सत्कं सर्वमप्यज्ञान-मुच्यते ? इत्याशङ्क्याऽऽह-

सदसदविसेसणाओ, भवहेउजदिच्छिओवलंभाओ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥ ११५ ॥

सच्चासच्च सदसती, तयोरविशेषणमविशेषतः, तस्माद्धेतोः,

मिथ्यादृष्टेः संबन्धि व्यवहारमात्रेण ज्ञानमपि निश्चयतोऽज्ञान-मुच्यते, सतो ह्यसत्त्वेन असद् विशिष्यते, असतोऽपि च सत्त्वेन सद्भिद्यते। मिथ्यादृष्टिश्च घटे सत्त्वप्रमेयत्वमूर्तत्वाऽऽदीन्, स्तम्भरम्भाऽम्भोरुहाऽऽदिव्यावृत्यादीश्च पटाऽऽदिधर्मान् सतोऽप्यसत्त्वेन प्रतिपद्यते, ' सर्वप्रकारैर्घट एवायम् ' इत्यवधारणात्। अनेन ह्यवधारणेन सन्तोऽपि सत्त्वप्रमेयत्वाऽऽदयः पटाऽऽदिधर्मा न सन्तीति प्रतिपद्यते, अन्यथा सत्त्वप्रमेयत्वाऽऽदिसामान्यधर्मद्वारेण घटे पटाऽऽदीनामपि सद्भावात् ' सर्वथा घट एवायम् ' इत्यव-धारणानुपपत्तेः, ' कथञ्चिद् घट एवायं ' इत्यवधारणे त्वनेकान्त-वादाभ्युपगमेन सम्यग्दृष्टित्वप्रसङ्गात्, तथा पटपुटनटशकटाऽऽ-दिरूपं घटेऽसदपि सत्त्वेनायमभ्युपगच्छति ' सर्वैः प्रकारैर्घटोऽस्त्ये-व ' इत्यवधारणात्, ' स्यादस्त्येव घटः ' इत्यवधारणे तु स्याद्वादाऽऽश्रयणात् सम्यग्दृष्टित्वप्राप्तेः। तस्मात्सदसतोर्विशेषाभावादु-न्मत्तकस्येव मिथ्यादृष्टेर्बोधोऽज्ञानम्। तथा विपर्यस्तत्वादेव भवहेतुत्वात् तद्बोधोऽज्ञानम्। तथा पशुवधहेतुत्वात् तद्बोधोऽज्ञानम्। तथा पशुवधतिलाऽऽदिदहनजलाऽऽद्यवगाहनाऽऽदिषु संसारहेतुषु मोक्षहेतुत्व-बुद्धेः, दयाप्रशमब्रह्मचर्याऽकिञ्चन्यादिषु तु मोक्षकारणेषु भवहेतुत्वाध्यवसायतो यदृच्छोपलम्भात् तस्याऽज्ञानम्। तथा विरत्यभावेन ज्ञानफलाभावाद् मिथ्यादृष्टेरज्ञानमिति गाथाऽर्थः ॥ ११५ ॥

तदेवं सप्रसङ्गः प्रतिपादितो हेतुफलभावादपि मतिश्रुतयो-
र्भेदः, साम्प्रतं भेदभेदात्तयोस्तमभिधातुमाह-

भेयकयं च विसेसण-मट्ठावीसइविहंगभेयाइं।
इंदियविभागओ वा, मइसुयभेओ जओऽभिहियं ॥ ११६ ॥

भेदाऽवग्रहाऽऽदयः, अङ्गानङ्गप्रविष्टत्वाऽऽदयश्च, तत्कृतं वा मतिश्रुतयोर्विशेषणं भेदः, यतोऽवग्रहाऽऽदिभेदादष्टाविंशत्यादिविधं मतिज्ञानं, ' वक्ष्यते ' इति शेषः। श्रुतज्ञानं त्वङ्गानङ्गप्रविष्टत्वाऽऽदिभेदमभिधास्यते। अथवा-इन्द्रियविभागान्मतिश्रुतयोर्भेदः, यतोऽन्यत्र पूर्वगतेऽभिहितमिति गाथाऽर्थः ॥ ११६ ॥

किमभिहितम् ? इत्याह-

सोइंदिओवलद्धी, होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं।
मोत्तूणं दव्वसुयं, अक्खरलंभो य सेसेसु ॥ ११७ ॥

इन्द्रो जीवः, तस्येदमिन्द्रियम्, श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम, तच्च तदिन्द्रियं चेति श्रोत्रेन्द्रियम्, उपलम्भनमुपलब्धिर्ज्ञानम्, श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरिति तृतीयासमासः; श्रोत्रेन्द्रियस्य वा उपलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरिति षष्ठीसमासः; श्रोत्रेन्द्रियद्वारकं ज्ञानमित्यर्थः। श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिर्यस्येति बहुव्रीहिणाऽन्यपदार्थे शब्दोऽप्यधिक्रियते। ततश्चाऽऽद्यसमासद्वये श्रोत्रेन्द्रियद्वारकमभि-लापप्लावितोपलब्धिलक्षणं भावश्रुतमुक्तं द्रष्टव्यम्, बहुव्रीहिणा तु तस्यां भावश्रुतोपलब्धावनुपयुक्तस्य वदतो द्रव्यश्रुतम्, तदुपयुक्त-स्य तु वदत उभयश्रुतमभिहितं वेदितव्यम्। इह च व्यवच्छेदफलत्वात् सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति, इष्टश्चावधारणविधिः प्रवर्तते; ततः 'चेत्रो धनुर्धर एव' इत्यादिष्विवेहायोगव्यवच्छेदेनाव-धारणं द्रष्टव्यम्। तद्यथा-श्रुतं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव, न तु श्रोत्रे-न्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेवेति; श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिस्तु श्रुतं मतिर्वा भव-ति, यथा धनुर्धरयचैत्रोऽन्यो चेति, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धेरवग्रहेहाऽऽदिरूपाया मतित्वात्, श्रुतानुसारिण्यास्तु श्रुतत्वादिति। यदि पुनः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेवेत्यवधार्यते, तदा तदुपलब्धेर्मतित्वं सर्वथैव न स्यात्, इष्यते च कस्याश्चित् तदपीति भावः। यदि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतं, तर्हि शेषं किं भवतु ? इत्याह-(सेसयं त्वित्यादि) श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिं विहाय ' शेषकं ' यच्चक्षुरादीन्द्रिय-चतुष्टयोपलब्धिरूपं तन्मतिज्ञानं, भवति इति वर्तते। तुशब्दः समु-च्चये, स चैवं समुच्चिनोति, न केवलं शेषेन्द्रियोपलब्धिर्मतिज्ञानं, किं तु श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिश्च काचिदवग्रहेहाऽऽदिमात्ररूपा मतिज्ञानं भवति; तथा च सत्यनन्तरमवधारणव्याख्यानमुपपन्नं भव-ति। '' सेसयं तु मइनाणं '' इति सामान्येनैवोक्ते शेषस्य सर्वस्या-प्युत्सर्गेण मतित्वे प्राप्ते सत्यापवादमाह-(मोत्तूणं दव्वसुयं ति) पुस्तकाऽऽदिलिखितं यद् द्रव्यश्रुतं तन्मुक्त्वा परित्यज्यैव शेषं मतिज्ञानं द्रष्टव्यम्, पुस्तकाऽऽदिन्यस्तं हि भावश्रुतकारणत्वात् शब्दवत् द्रव्यश्रुतमेव, इति कथं मतिज्ञानं स्याद् ? इति भावः। न केवलं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतम्, किं तु यश्च शेषेषु चतुर्षु चक्षुरादीन्द्रियेषु श्रुतानुसारिसाभिलापविज्ञानरूपोऽक्षरलाभः सोऽपि श्रुतम्, न त्वक्षरलाभमात्रं, तस्येहापायाऽऽद्यात्मके मतिज्ञानेऽपि सद्भावादिति। आह-यदि चक्षुरादीन्द्रियाक्षरलाभोऽपि श्रुतं, तर्हि यदाद्यगाथाऽवयवे ' श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव श्रुतम् ' इत्यवधारणं कृतम्, तन्नोपपद्यते। शेषेन्द्रियोपलब्धेरपीदानीं श्रुतत्वेन समर्थितत्वा-त्। नैतदेवम्, शेषेन्द्रियाक्षरलाभस्याऽपि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरूपत्वात्। स हि श्रुतानुसारिसाभिलापज्ञानरूपोऽत्राधिक्रियते, श्रोत्रे-न्द्रियोपलब्धिरपि चैवंभूतैव श्रुतमुक्ता। ततश्च साभिलापविज्ञानं शेषेन्द्रियद्वारेणाऽप्युत्पन्नं योग्यतया श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव मन्तव्यम्, अभिलापस्य सर्वस्यापि श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्यत्वादिति। अत्राऽऽहनन्नु '' सोइंदिओवलद्धी होइ सुयं। '' तथा-'' अक्खरलंभो य सेसेसु। '' इत्युभयवचनात् श्रुतज्ञानस्य सर्वेन्द्रियनिमित्तता सिद्धा। तथा-'' सेसयं तु मइनाणं '' इति वचनात्, तुशब्दस्य समुच्चयाच्च मतिज्ञानस्यापि सर्वेन्द्रियकारणता प्रतिष्ठिता; भवदभिस्तु इन्द्रियविभागाद् मतिश्रुतयोर्भेदः प्रतिपादयितुमारब्धः, स चैवं न सिद्धयति, द्वयोरपि सर्वेन्द्रियनिमित्ततायास्तुल्यत्वप्रतिपादनादिति। अत्रोच्यते-साधूक्तं भवता, किं तु यद्यपि शेषेन्द्रियद्वाराऽऽयातत्त्वात्तदक्षरलाभः शेषेन्द्रियोपलब्धिरुच्यते, तथाऽप्यभिलापाऽऽत्मकत्वादसौ श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्य एव, ततश्च तत्त्वतः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेवाऽयम्। यथा च सति परमार्थतः सर्वं श्रोत्र-विषयमेव श्रुतज्ञानम्, मतिज्ञानं तु तद्विषयं शेषेन्द्रियविषयं च सिद्धं भवति, अत इत्थमिन्द्रियविभागान्मतिश्रुतयोर्भेदो न विहन्यते; इत्यलं विस्तरेण। इति पूर्वगतगाथासंक्षेपार्थः ॥ ११७ ॥

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुर्भाष्यकार एव परेण पूर्वपक्षं
कारयितुमाह-

सोओवलद्धि जइ सुयं, न नाम सोउग्गहाइओ बुद्धी।
अह बुद्धीओ न सुयं, अहोभयं संकरो नाम ॥ ११८ ॥

' श्रोत्रोपलब्धिरेव श्रुतम् ' इत्यवधारणार्थमनवगच्छतः ' श्रुतमेव तदुपलब्धिः ' इत्येवं च तदर्थमवबुध्यमानस्य परस्य वचनमिदम्। तद्यथा-यदि श्रोत्रोपलब्धिः श्रुतमेव, तर्हि ' नाम '

इति कोमलाऽऽमन्त्रणे, अहो ! श्रोत्रेन्द्रियद्वारोत्पन्ना अवग्रहेहाऽऽ-दयो बुद्धिर्मतिज्ञानं न प्राप्नुवन्ति, तदुपलब्धेः सर्वस्याऽपि श्रुत-त्वेनावधा-रणात्। मा भूवँस्ते मतिज्ञानम्, किं नः क्षूयते ? इति चे-त्, नैवम्। तथा सति तस्य वक्ष्यमाणाष्टाविंशतिभेदभिन्नत्वहानेः। अथैतद्दोषभयाद् बुद्धिस्तेऽभ्युपगम्यन्ते, ततस्तर्हि न ते श्रुतम्, तथा च सति-'' सोइंदिओवलद्धी, होइ सुयं '' (११७) इत्यसङ्गतं प्राप्नोति। अथोभयदोषपरिहारार्थम्, ' उभयं बुद्धिश्च श्रुतं च ते इष्यन्ते, तर्हि एवं सत्येकस्थानमीलितक्षीरनीरयोरिव संकरः, संकीर्णता मतिश्रुतयोरा-प्नोति, न पृथग्भावः। अथ वा-' यदेव मतिः, तदेव च श्रुतं, यदेव च श्रुतं तदेव मतिः, इत्येवमभेदोऽप्यनयोः स्याद्, इति स्वयमेव द्रष्टव्यम्। भेदश्चेह तयोः प्रतिपादयितुं प्रस्तुतः, तदेतत् शान्तिकरणप्रवृत्तस्य वेतालोत्था-नमिति प्रेरकगाथार्थः ॥ ११८ ॥

तदेतत्प्रेर्यं केचित यथा परिहरन्ति, तथा तावद्दर्शयन्नाह-

केई वेंतस्स सुयं, सद्दो सुणओ मइ त्ति तं न भवे।
जं सव्वो च्चिय सद्दो, दव्वसुयं तस्स को भेदो ? ॥ ११९ ॥

'' सोइंदियोवलद्धी '' (११७) इत्यत्र श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिर्य-स्येति केवलबहुव्रीह्याश्रयणात् श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः शब्द एवेति केचिन्मन्यन्ते, स च प्रज्ञापकस्य ब्रुवतः श्रूयत इति कृत्वा श्रुतम्, शृण्वतस्तु श्रोतुरवग्रहेहापायाऽऽदिरूपेण मन्यते ज्ञायत इति मतिः। एवं च सत्युभयमुपपन्नं भवति, श्रोत्रगतावग्रहाऽऽदीनां च श्रुत-त्वं परिहृतं भवति। आचार्यः प्राऽऽह-' तं न भवे त्ति ' तदेतत् केषाञ्चिद् मतं युक्तं न भवति। कुतः ? इत्याह-यद्यस्मात् कारणात् ब्रुवतः श्रोतुश्च संबन्धी सर्व एव शब्दो द्रव्यश्रुतम्, द्रव्यश्रुतमात्रत्वेन च सर्वत्र तुल्यस्य सतस्तस्य शब्दस्य को भेदः को विशेषः ? येनासौ वक्तरि श्रुतम्, श्रोतरि तु मतिः स्यात्। यदपि श्रूयत इति श्रुतम्, मन्यते इति मतिः। उच्यते-तत्रापि धात्वन्तरमात्रकृत एव विशेषः, शब्दस्तु स एव श्रूयते स एव मन्यते, इति न क्वचिदुभयं दृश्यते। इति गाथाऽर्थः ॥ ११९ ॥

दूषणान्तरमप्याह-

किं वा णाणेऽहिगए, सद्देणं जइ य सहविन्नाणं।
गहियं तो को भेदो, भणओ सुणओ व जो तस्स ? ॥ १२० ॥

यदि वा ज्ञाने ज्ञानविचारे अधिकृते किं पुद्गलसंघातरूपेण शब्देन गृहीतेन कार्यम्, अप्रस्तुतत्वात् ? अथ श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिशब्देन शब्दविज्ञानं गृह्यत इति। अत्राऽऽह-(जइ येत्यादि) यदि च श्रोत्रे-न्द्रियोपलब्धेः शब्दस्य कारणभूतत्वात् कार्यभूतत्वाच्चोपचारतो वक्तृगतं श्रोतृगतं च शब्दविज्ञानं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिशब्दवाच्यत्वेन गृहीतम्, तच्च ब्रुवतः श्रुतं, शृण्वतस्तु मतिरित्युच्यते। हन्त ! तत-स्तर्हि तस्य विज्ञानस्य ब्रुवतः शृण्वतो वा यो भेदो विशेषः, स कः ?इति कथ्यतां, येन तद्वक्तुः श्रुतं, श्रोतुश्च मतिः स्यात् ? इति नास्त्यसौ विशेषः, शब्दज्ञान-त्वाविशेषादिति भावः। किं च-एवं सति श्रोतुरपि कदाचित् श्रुत्यनन्तरमेव ब्रुवतः सैव शब्दजनिता तन्मतिस्वशिष्टा श्रुतं प्रसजति, ''वेंतस्स, सुयं'' (११९) ''सु-णओ मइ '' (११९) इत्यभ्युपगमात्; ततश्च तदेवैकत्वं मतिश्रुतयोः, इति कोऽतिशयः कृतः स्याद् ? इति। किंच-यदि-शृण्वतः सर्वदैव मतिरित्ययमेकान्तः, तर्हि यदेतद् व्यक्तं सर्वत्रोच्यते-आ-चार्यपारम्पर्येणेदं श्रुतमायातमिति, तदसत् प्राप्नोति, तीर्थकरा-दर्वाक् सर्वेषामपि श्रोतृत्वेन मतिज्ञानस्यैवोपपत्तेः। अथ नैवम्, तर्ह्येकत्वं मतिश्रुतयोरिति गाथाऽर्थः ॥ १२० ॥

तदेवम्-'' केई वेंतस्स सुयं ''(११९) इत्यादि
दूषयित्वा प्रस्तुतप्रकरणोपसंहारव्याजेन
परमेव शिक्षयन्नाह-

भणओ सुणओ व सुयं, तं जमिह सुयाणुसारिविन्नाणं।
दोण्हं पि सुयाईयं, जं विन्नाणं तयं बुद्धी ॥ १२१ ॥

तस्माद् ब्रुवतः श्रुतम्, शृण्वतस्तु मतिः, इत्येतन्न युक्तम्, उक्त-दूषणाद्, अनागमिकत्वाच्च। किं तर्हि युक्तम् ? इति चेत्। उच्यते-भणतः शृण्वतो वा यत्किमपि श्रुतानुसारि परोपदेशार्हद्वचनानुसारि विज्ञानम्, तदिह सर्वं श्रुतम्, यत्पुनर्द्वयोरपि वक्तृश्रोत्रोः श्रुतातीतं हृषीकमनोमात्र-निमित्तमवग्रहाऽऽदिरूपं विज्ञानम्, तत्सर्वं बुद्धि-र्मतिज्ञानमित्यर्थः। तदेवं द्वयोरपि वक्तृश्रोत्रोः प्रत्येकं मतिश्रुते यथो-क्तस्वरूपे अभ्युपगन्तव्ये, न पुनरेकैकस्यैकैकमिति भावः। इति गाथाऽर्थः ॥ १२१ ॥

भवत्वेवम्, किं तु-'' सोओवलद्धि जइ सुयं, न नाम सो-उग्गहादओ बुद्धी '' (११८) इत्यादिना यः परेण पूर्व-पक्षोऽभ्यधायि,
तस्य तर्हि कः परिहारः ? इत्या-
शङ्क्य भाष्यकार एवेदानीम् '' सोइंदिओवल-
द्धी, होइ सुयं '' (११७) इत्यादिमूलगा-
थां विवृण्वन्नाह-

सोइंदियोवलद्धी, चेव सुयं न उ तई सुयं चेव।
सोइंदिओवलद्धी, वि काइ जम्हा मइन्नाणं ॥ १२२ ॥

इह श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिशब्दस्य तृतीयाषष्ठीसमासः, बहुव्रीहिश्च; आद्यसमासद्वयेन भावश्रुतम्, बहुव्रीहिणा तु भावश्रुतानुपयुक्तस्य वदतो द्रव्यश्रुतम्, तदुपयुक्तस्य तु ब्रुवत उभयश्रुतं गृहीतमिति प्राग् वृत्तौ दर्शितं सर्वं द्रष्टव्यम्। अवधारणविधिमपि प्रागुपदर्शितमाह-श्रोत्रेन्द्रियोप-लब्धिरेव श्रुतम्, इत्येवमवधारणीयम्। (न उ तइ त्ति) न पुनः सा श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेवेति। कुतो नैवमवधा-र्यते ? इत्याह-यस्मात् श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरपि काचित् श्रुतानुसा-रिणी अवग्रहेहाऽऽदिमात्ररूपा मतिज्ञानमेव, अतः ' श्रोत्रेन्द्रियोप-लब्धिः श्रुतमेव ' इति नावधार्यत इति भावः। एवं च सति '' न नाम सोउग्गहादओ बुद्धी ''(११८) इत्यादि परेण यत्प्रेरितम्, तत्परि-हृतं भवति, श्रोत्रावग्रहाऽऽदीनामपि बुद्धिरूपतायाः समर्थितत्वा-दिति गाथाऽर्थः ॥ १२२ ॥

तदेवमवधारणविधिना श्रोत्रावग्रहाऽऽदीनां मतित्वं स-
मर्थितं, यदि वा '' सेसयं तु मइनाणं '' (११७)
इत्यत्र योऽसौ तुशब्दः, ततोऽपि तेषां तत्स-
मर्थ्यते इति दर्शयन्नाह-

तुसमुच्चयवयणाओ, व काइ सोइंदिओवलद्धी वि।
मइरेवं सइ सोउ-ग्गहादओ हुंति मइभेया ॥ १२३ ॥

'' सेसयं तु मइनाणं '' (११७) इत्यत्र योऽसौ तुशब्दः स-मुच्चयवचनः, ततश्च किमुक्तं भवति ?- शेषकं मतिज्ञानम्, काचिदनपेक्षितपरोपदेशार्हद्वचना श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिश्च मति-

ज्ञानमित्येवं वा श्रोत्रावग्रहाऽऽदयो भवन्ति मतिभेदाः । तथा च सति मतेरष्टाविंशतिभेदत्वं न परिहीयते, ततश्च ''न नाम सोऽग्गहादयो बुद्धी'' (११८) इत्यादि परप्रेर्यं प्रतिक्षिप्तमेवेति गाथार्थः ॥१२३॥

मूलगाथाया व्याख्यातशेषं व्याख्यानयन्नाह-

पत्ताइगयं सुयका-रणं ति सद्दो व्व तेण दव्वसुयं ।
भावसुयमक्खराणं, लाभो सेसं मइन्नाणं ॥ १२४ ॥

मूलगाथायां ' श्रोत्रावग्रहाऽऽदयः, शेषकं च मतिज्ञानम् ' इत्युक्ते शेषस्य सर्वस्यापि उत्सर्गतो मतित्वे प्राप्ते, अपवादः-'' मोत्तूणं दव्वसुयं ति '' (११७) इत्युक्तम् । तत्र किं तद् द्रव्यश्रुतं यदिह वर्ज्यते ? इत्याह भाष्यकारः-पत्राऽऽदिगतं पुस्तकपत्राऽऽदिलिखितम् , तेन कारणेन द्रव्यश्रुतम् ; येन किम् ? इत्याह-श्रुतकारण-मिति। किंचद् ? इत्याह-शब्दवदिति यथा भावश्रुतकारणत्वात् शब्दो द्रव्यश्रुतम्, तथा-पुस्तक-पत्राऽऽदिन्यस्तमपि तत्कारणत्वाद् द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । तन्मुक्त्वा शेषचक्षुरादीन्द्रियोपलब्धिरूपं मतिज्ञानम्। (भावस्सुयमक्खराणमित्यादि) न केवलं श्रोत्रेन्द्रियो-पलब्धिः श्रुतम् , यश्च श्रुतानुसारित्वाद् भावश्रुतं भावश्रुतरूपः, शेषेषु चक्षुरादीन्द्रियेष्वक्षराणां लाभः परोपदेशार्हद्वचनानु-सारिण्य-क्षरोपलब्धिरित्यर्थः, सोऽपि श्रुतम् , इत्येवं मूलगाथायां संबन्धः कार्यइति हृदयम्, स व प्राग् वृत्तौ कृत एव। तस्माच्चाक्षरलाभाच्चक्षुरादीन्द्रियेषु यच्छेषमश्रुतानुसार्यवग्रहेहाऽऽद्युपल-ब्धिरूपम् , तन्मतिज्ञानम् , इत्येवमिहाप्येतत् संबध्यते। इति गाथाऽर्थः ॥ १२४ ॥

अथ परः पूर्वापरविरोधमुद्भावयन्नाह-

जइ सुयमक्खरलाभो, न नाम सोओवलद्धिरेव सुयं ।
सोओवलद्धिरेव-क्खराइँ सुइसंभवाओ त्ति ॥ १२५ ॥

इयमपि प्राग् मूलगाथावृत्तौ दर्शितार्थैव, तथाऽपि विस्मरणशीलानाम-नुग्रहार्थं किञ्चिद् व्याख्यायते-ननु यद्युक्तन्यायेन शेषे-न्द्रियाक्षरलाभोऽपि श्रुतम् , तर्हि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव श्रुतम् , इति यदवधारणं कृतम् , तदसङ्गतं प्राप्नोति, शेषेन्द्रियाक्षरलाभ-स्यापि श्रुतत्वात्। अत्रोत्तरमाह-''सोओवलद्धिरेवेत्यादि।'' यद्यसौ शेषेन्द्रियाक्षरलाभोऽपि श्रोत्रेन्द्रियो-पलब्धिर्न स्यात् , तदा स्यादेवावधारणमसङ्गतम् , तच्च नास्ति, यतः शेषेन्द्रियद्वाराऽऽयातज्ञानेऽपि प्रतिभासमानान्यक्षराणि श्रोत्रेन्द्रियोप-लब्धिरेव । अहो ! महदाश्चर्यम् , यतो यदि शेषेन्द्रियाक्षरलाभः, कथं श्रोत्रोपलब्धिः ?, सा चेत्, कथं शेषेन्द्रियाक्षरलाभः ? इत्याशङ्क्याऽऽह-(सुइसंभवाओ त्ति) शेषेन्द्रियज्ञानप्रतिभासभाज्यक्षराणि श्रोत्रो-पलब्धिरेव । कुतः ? इत्याह-तेषां श्रुतेः श्रवणस्य संभवात्। इद-मुक्तं भवति-अभिलापरूपाणि हि एतानि अक्षराणि, अभिलापश्च तस्मिन् वा विवक्षिते काले, अन्यदा वा; तत्र वा विवक्षिते पुरुषे, अन्यत्र वा श्रवणयोग्यत्वात् श्रोत्रेणोपलभ्यते । अतः श्रोत्रोपलम्भ-योग्यत्वेन श्रुतिसंभवात् सर्वोऽप्यभिलापः श्रोत्रोपलब्धिरेव; इति न किञ्चिदवधारणं विरुध्यते। इति गाथाऽर्थः ॥ १२५ ॥

किं सर्वोऽपि शेषेन्द्रियाक्षरलाभः श्रुतम् , आहोस्वित् क-श्चिदेव ? इत्याह-

सो वि हु सुयऽक्खराणं, जो लाभो तं सुयं मई सेसा ।
जइ वा अणक्खर च्चिय, सा सव्वा न प्पवत्तेज्जा ॥ १२६ ॥

सोऽपि च शेषेन्द्रियाक्षरलाभः स एव श्रुतम् , यः किम् ? इत्याह-यः श्रुताक्षराणां लाभः, न सर्वः, यः संकेतविषयशब्दानुसारी, सर्व-ज्ञवचनकारणो वा विशिष्टः श्रुताक्षरलाभः, स एव श्रुतम् , न त्व-श्रुतानुसारी; ईहाऽपायाऽऽदिषु परिस्फुरदक्षरलाभमात्रमित्यर्थः । (जइ व त्ति) यदि पुनरक्षरलाभस्य सर्वस्याऽपि श्रुतेन क्रोडीकरणादनक्षरैव मतिरभ्युपगम्येत तदा सा यथाऽवग्रहेहाऽपायधारणरूपा सिद्धान्ते प्रोक्ता, तथा सर्वाऽपि न प्रवर्तेत, सर्वाऽपि मतित्वं नानुभवेदित्यर्थः, किं त्वनक्षरत्वादवग्रहमात्रमेव मतिः स्यात् , न त्वीहाऽऽदयः, तेषामक्षर-लाभाऽऽत्मकत्वात्। तस्मात् श्रुतानुसार्यवा-क्षरलाभः श्रुतम् , शेषं तु मतिज्ञानमिति गाथाऽर्थः ॥ १२६ ॥

तदेवं व्याख्याता भाष्यकृताऽपि '' सोइंदिओवलद्धी '' (११७) इत्यादिगाथा, साम्प्रतं त्वस्यां यः श्रुतविषयः पर्यवसितोऽर्थः प्रोक्तो भवति, तं संपिण्ड्योपदर्शयति-

दव्वसुयं भावसुयं, उभयं वा किं कहं व होज्ज त्ति ।
को वा भावसुयं सो, दव्वाइसुयं परिणमेज्जा ? ॥ १२७ ॥

इह '' सोइंदियोवलद्धी '' (११७) इत्येतस्यां गाथायां '' मोत्तूणं दव्वसुयं '' (११७) इत्यनेन पुस्तकाऽऽदिन्यस्तं द्रव्यश्रुतमुक्तम् , अक्षरलाभवचनात्तु भावश्रुतम् , श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिवचनेन तु शब्दः, तद्विज्ञानं चेत्युभयश्रुतमुक्तम् । तत्रानन्तरवक्ष्यमाणपूर्वगतगाथा-यामेतच्चिन्त्यते-किं तद् द्रव्याऽऽदिश्रुतम् ? कथं वा तद्भवति ? को वा कियान् वा इत्यर्थः, भावश्रुतस्यांशो भागो द्रव्यश्रुतं द्रव्यश्रुत-रूपतया, आदिशब्दादुभयश्रुतरूपतया वा परिणमेदिति गाथाऽ-र्थः ॥ १२७ ॥

का पुनरसौ पूर्वगतगाथा ? इत्याह-

बुद्धिदिट्ठे अत्थे, जे भासइ तं सुयं मईसहियं ।
इयरत्थ वि होज्ज सुयं, उवलब्धिसमं जइ भणेज्जा ॥ १२८ ॥

मतिश्रुतयोर्भेदोऽत्र विचार्यत्वेन प्रस्तुतः, इत्यतः केचिदेनां गाथां तदनुयायित्वेन व्याख्यानयन्ति; भाष्यकारस्तु तेना- पि प्रकारेण पश्चाद् व्याख्यास्यति, साम्प्रतं प्रस्तावानुयायित्वेन तावद् व्याख्यायते-तत्र बुद्धिः श्रुतरूपेह गृह्यते, तया दृष्टा गृहीताः पर्यालोचिता बुद्धिदृष्टा अभिलाप्या अर्थाः पदार्थाः, ते च बहवः सन्ति, अतस्तन्मध्याद् वक्ता यान् भाषते वक्ति तद् श्रुतम् । कथं यान् भाषते ? इत्याह-मतिः श्रुतोपयोगरूपा त-त्सहितं यथा भवति । एवं यान् भावान् भाषते तत् श्रुतमुभय- रूपमित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-श्रुताऽऽत्मकबुध्र्युपलब्धान-र्थान् तदुपयुक्तस्यैव वदतो द्रव्यश्रुतभावश्रुतरूपमुभयश्रुतं भ- वति, तत् श्रुतमित्युक्तेऽपि सामर्थ्यादुभयश्रुतं लभ्यते '' जे भा-सइ '' इत्यनेन शब्दरूपस्य द्रव्यश्रुतस्य सूचितत्वात् '' बुद्धिदिट्ठे अत्थे '' इत्यनेन '' मइसहियं '' इत्यनेन च भावश्रुतस्याऽभिधित्सितत्वा-दिति । तदेतावता ''सोइंदिओवलद्धी'' (११७) इत्यादिगाथोक्तस्य उभयश्रुतस्य स्वरूप-मुक्तम्; यान् पुनः प्रथमं श्रुतबुद्ध्या दृष्टामपि पश्चादभ्यासबलादेवानुपयुक्तो वक्ति, तद् द्रव्यश्रुतम्, इत्येता-वद्गाथायामनुक्तमपि सामर्थ्याद् गम्यते; तथा यान् श्रुतबुद्ध्या पश्यत्येव, न तु मनसि स्फुरतोऽपि भाषते तद्भावश्रुतम् , इतीदमपि स्व-

यमेवावगन्तव्यम् । तदेतावता किं तद् द्रव्याऽऽदिश्रुतम् ? कथं वा तद्भवति ? इत्येवं चिन्तितम् । अथ-'' को वा भावसुयं सो '' (१२७) इत्यादि चिन्त्यते-तत्र भावश्रुतमुभयश्रुताद् द्रव्यश्रुताच्चा-नन्तगुणम् , एतस्मात् तु उभयश्रुतं द्रव्यश्रुतं चानन्ततमे भागे वर्तत इति भावनीयम् , वाचः क्रमवर्तित्वात् , आयुषश्च परिमितत्वात् सर्वेषामपि भावश्रुतविषय-भूतानामर्थानामनन्ततममेव भागं वक्ता भाषत इति भावः । ततश्च भावश्रुतस्यानन्ततम एव भागो द्रव्यश्रुत-त्वेन उभयश्रुतत्वेन च परिणमतीत्युक्तं भवति । एतच्च सर्वमनन्तर-मेव भाष्यकारः स्वयमेव विस्तरतो भणिष्यति, इत्यलं विस्तरेण ।

आह-ननु यानुपयुक्तो भाषते तदुभयश्रुतम् , याँस्त्वनुपयुक्तो वक्ति तद् द्रव्यश्रुतमित्युक्तम् ; याँस्तर्हि न भाषते, केवलं श्रुतबुद्ध्या पश्य-त्येव, तत्राऽपि द्रव्यश्रुतरूपता, उभयश्रुतरूपता च किमिति नेष्य-ते ? इत्याशङ्क्याऽऽह-'' इयरत्थ वि '' इत्याद्युत्तरार्द्धम् । '' जे भासइ तं च सुयं '' इत्युक्ते तत्प्रतियोगिस्वरूपमभाषमाणावस्था-भावि भावश्रुतमेव इतरत्र शब्दवाच्यं भवति । ततश्चायमर्थः-द्रव्य-श्रुतोभयश्रुताभ्यामित-रत्राऽपि भावश्रुते भवेत् श्रुतम्-द्रव्यश्रुतरूप-ता, उभयश्रुतरूपता वा भवेदित्यर्थः । यदि किं स्याद् ? इत्याह-उपलम्भनमुपलब्धिः, तत्समं तत्प्रमाणं यदि भणेत्-यावद्वस्तुनि-कुरम्बमुपलभते तावत्सर्वमुपयुक्तोऽ-नुपयुक्तो वा यदि वदेदित्यर्थः । एतच्च नास्ति, श्रुतोपलब्ध्या उपलब्धानामर्थानामनन्तत्वात् , वाचः क्रमवर्तित्वाद् , आयुषश्च परिमितत्वादिति । तस्मादभिला-प्यानां श्रुतोपलब्ध्या समुपलब्धानां भावानां मध्यात् सर्वेणापि जन्मना अनन्ततममेव भागं भाषते वक्ता, अतस्तत्रैवानुपयुक्तस्य वदतो द्रव्यश्रुतरूपता, उपयुक्तस्य तु वदत उभयश्रुतरूपता भवेत् , नेतरत्र भावश्रुते, भाषणस्यैवासंभवात् । इति पूर्वगतगाथाऽर्थः ॥ १२८ ॥

तदेवं व्याख्याताऽस्माभिरियं गाथा, सा-म्प्रतं भाष्यकारस्तद्व्याख्यानमाह-

जे सुयबुद्धिदिट्ठे, सुयमइसहिओ पभासई भावे ।
तं उभयसुयं भन्नइ, दव्वसुयं जे अणुवउत्तो ॥ १२९ ॥

गतार्थैव । नवरं सुखार्थं किञ्चिद् व्याख्यायते-श्रुतरूपा यका बुद्धि-स्तया दृष्टाः पर्यालोचिता ये भावास्तन्मध्याद् '' मइसहियं '' (१२८) इत्यस्य तात्पर्यव्याख्यानमाह-श्रुताऽऽत्मकमतिसहितः, श्रुतोपयुक्त इति यावत् । यान् भावान् प्रभाषते तद् द्रव्यभावरूप-मुभयश्रुतं भण्यते । यान् पुनरनुपयुक्तो भाषते तद् द्रव्यश्रुतं, शब्द-मात्रमेवेत्यर्थः । याँस्तु श्रुतबुद्ध्या पर्यालोचयत्येव केवलम् , न तु भाषते, तद्भावश्रुतमित्यर्थाद् गम्यते । इति गाथाऽर्थः ॥ १२९ ॥

उत्तरार्द्धव्याख्यानमाह-

इयरत्थ वि भावसुए, होज्ज तय तस्समं जइ भणिज्जा ।
न य तरइ तत्तियं सो, जमणेगगुणं तयं तत्तो ॥ १३० ॥

यद्भाषते तदुभयश्रुतं, द्रव्यश्रुतं वेत्युक्ते भावश्रुतमेवेतरत्र शब्द-वाच्यं गम्यते । ततश्चेतरत्रापि भावश्रुते भवेत् तद् द्रव्यश्रुतमुभयश्रुतं वा, यदि तत्समपुपलब्धिसमं भणेत् , तच्च नास्ति, यस्माच्छ्रुत-ज्ञानी स्वबुध्या यावदुपलभते तावद्वक्तुं ' न तरति ' न शक्नोति । कुतः ? इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् ततो भाषाविषयीकृतात् श्रुतात् तदशक्यभाषणक्रियं भावश्रुतमनेकगुणमनन्तगुणम् , अतो नोपलब्धिसमं भणतीति गाथाऽर्थः ॥ १३० ॥

उपलब्धिसममित्येतस्य समासविधिमाह-

सह उवलद्धीए वा, उवलद्धिसमं तथा व जं तुल्लं ।
जं तस्समकालं वा, न सव्वहा तरइ वोत्तुं जे ॥ १३१ ॥

यद् भाषणमुपलब्ध्या सह वर्तने तदुपलब्धिसमम् , प्राकृतशैली-निपातनात् सहस्य समभावः, या या श्रुतोपलब्धिस्तया तया सह यद्भाषणं तदुपलब्धिसममित्यर्थः । (तया व जं तुल्ल ति) तया चोपलब्ध्या यत् तुल्यं समानं तदुपलब्धिसमम्-यावती काचित् श्रुतोपलब्धिस्तत्तुल्यं तत्संख्यं यद्भाषणं तद्वोपलब्धिसममित्य-र्थः । (जं तस्समकालं वेति) तया उपलब्ध्या समकालं वा यद्- भाषणं तदुपलब्धिसमम् । यथा मध्ये शूलं वेदयतस्तत्समकाल-मेवान्यस्मै तद्व्यथाकथनम् , एवमन्तः सर्वामपि श्रुतोपलब्धिमनु-भवतस्तत्समकालमेव यद् भाषणं तद्वा उपलब्धिसममिति भावः । किं बहुना ? सर्वथा सर्वस्मिन्नपि समासविधावयं तात्पर्यार्थः । कः ? इत्याह-श्रुतज्ञानी यावत् श्रुतबुद्ध्या समुपलभते, तावत्सर्वं न तरति न शक्नोति वक्तुं (जे इति) अलङ्कारमात्रे । इति गाथा-ऽर्थः ॥ १३१ ॥

(६) अथ कथं पुनरन्ये एतां गाथां मतिश्रुतभेदार्थे व्याख्यानयन्ति ? इत्याह-

केई बुद्धिदिट्ठे, महसहिए भासओ सुयं तत्थ ।
किं सद्दो मइरुभयं, भावसुयं सव्वहा जुत्तं ॥ १३२ ॥

इह केचनाप्याचार्या मतिश्रुतयोर्भेदं प्रतिपिपादविषयो '' बुद्धि-दिट्ठे अत्थे, जे भासइ '' (१२८) इत्यादि मूलगाथायां बुद्धिः श्रुत-बुद्धिरिति न व्याख्यानयन्ति, किं तु ' बुद्धिर्मतिरिति ' व्याचक्षते । ततश्च बुद्ध्या मत्या दृष्टेषु बहुष्वर्थेषु मध्ये काँश्चित् तद्दृष्टानर्थान्मतिसहितान् भाषमाणस्य श्रुतं भवति । आह-ननु मतिज्ञान्येव मतिसहितो भवति, तत्कथमर्थानां मतिसहितत्वं विशेषणम् ? स-त्यम् , किं तु मूलगाथायां '' मइसहियं '' (१२८) इति वचनान्म-त्युपयोगे वर्तमानोऽत्र वक्ता गृह्यते, अतस्तस्य मत्युपयोगसहित-त्वादर्थानामप्युपचारस्ततस्तत्स-हितत्वमुच्यते । तस्मान्मतिज्ञान-दृष्टानर्थान् तदुपयुक्तस्यैव भाषमाणस्य श्रुतं भवतीति तात्पर्यम् ; अनुपयुक्तस्य तु वदतो द्रव्यश्रुतम् , पारिशेष्यादभाषमाणस्य पदा-र्थपर्यालोचनमात्ररूपं मतिज्ञानम् , इति मतिश्रुतयोर्भेदः । तदेवं कैश्चिन्मूलगाथायाः पूर्वार्द्धं व्याख्याते सूरिर्दूषणमाह-(तत्थ किं-सद्दो इत्यादि) तत्रं तैरेवं व्याख्याते भावश्रुतं सर्वथैवायुक्तं स्यात् सर्वथा तदभावः प्राप्नोतीत्यर्थः । तथाहि-किं भाष्यमाणः शब्दो भावश्रुतम् , मतिर्वा, उभयं वा ? इति त्रयी गतिः । अस्य च त्रितयस्य मध्ये नैकमपि भावश्रुतं युक्तमिति भावः । इति गाथा-ऽर्थः ॥ १३२ ॥

कथम् ? इत्याह-

सद्दो वा दव्वसुयं, मइराभिणिबोहियं न वा उभयं ।
जुत्तं उभयाभावे, भावसुयं कत्थं तं किं वा ? ॥ १३३ ॥

मत्युपयुक्तस्य शब्दमुदीरयतो यस्तावत् शब्दः स द्रव्यश्रुत-मेव, इति कथं भावश्रुतं स्यात् ? मतिस्त्वाभिनिबोधिकज्ञानम् । भवतु तर्हि मतिशब्दलक्षणमुभयं समुदितं भावश्रुतम् , इत्या-

ह-(न वा उभयं, जुत्तं ति) नैव यथोक्तमुभयं समुदितमपि भावश्रुतं युक्तम्, प्रत्येकावस्थायां तद्भावाभावात्, न हि प्रत्येकं सिकता-कणेषु असत्तैलं समुदितावस्थायामपि भवतीति भावः। तदेवमुभय-स्य स्वतन्त्रस्याऽस्वतन्त्रस्य वा भावश्रुतत्वेनाभावे सति तद् भाव-श्रुतं क्व शब्दाऽऽदौ ? किं वा तत् ? न किञ्चिदिति भावः। इति गाथाऽर्थः ॥ १३३ ॥

अथ भाषापरिणतिकाले मतेः किमप्याधिक्यमुपजायते, इति उभयस्य श्रुतत्वं न विरुध्यते, इत्याह-

भासापरिणइकाले, मईऍ किमहियमहऽण्णहत्तं वा।
भासासंकप्पविसे-समेत्तओ वा सुयमजुत्तं ॥ १३४ ॥

मतेरन्तर्विज्ञानविशेषस्य भाषापरिणतिकाले शब्दप्रारम्भवेलायां पूर्वावस्थानः किमधिकं रूपं संपद्यते ? येनोभयावस्थायां सा ज्ञानान्तरं स्यात्, श्रुतव्यपदेशः स्यादित्यर्थः। (अहऽण्णहत्तं वेति) अथवा-अन्यथात्वं किं मतेर्भाषापरिणतिकाले निर्मूलत एव अन्य-थाभावः कः, येन श्रुतत्वं स्यात् ? न कश्चिदिति भावः। भाषाऽऽ-रम्भ एवात्र विशेषः, इति चेत् ? इत्याह-(भासेत्यादि) भाषायाः संकल्पः प्रारम्भः, स एव विशेषमात्रम्, मात्रशब्दो मनागपि विकार-भवननिषधार्थः, तस्माद् भाषासंकल्पविशेषमात्राद् मतेः श्रुतत्व-मयुक्तम्। एतदुक्तं भवति-अन्तर्विज्ञानस्य स्वयमविशिष्टस्य बाह्य-क्रियाऽऽरम्भादत्यन्तजाति-भेदाभ्युपगमे धावनवल्गनकराऽऽस्फोटनाऽऽदिबाह्यक्रियाऽऽनन्त्या-न्मतेरानन्त्यमेव स्यात्, स्वयं चाऽनुपजातविशेषाणां ज्ञानानां शब्दप-रिणतिसन्निधानमात्रत एव ज्ञानान्तरत्वेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, अवध्यादि-ष्वपि तथाप्राप्तेरिति गाथाऽर्थः ॥ १३४ ॥

तदेवं कैश्चिद्विहितं मूलगाथायाः पूर्वार्द्धव्याख्यानं दूषितम्, अथोत्तरार्द्धव्याख्यानमुपदर्श्य दूषयितुमाह-

इयरत्थ वि मइनाणे, होज्ज सुयं ति किह तं सुयं होइ ?
किह व सुयं होइ मई, सलक्खणाऽऽवरणभेयाओ ॥ १३५ ॥

'' बुद्धिर्दिट्ठे अत्थे '' (१२८) इत्यत्र बुद्धिर्यैर्मतिज्ञानं व्याख्या-तम्, तन्मतेन '' इयरत्थ वि होज्ज सुयं, उवलद्धिसमं जइ भणे- ज्जा। '' (१२८) इत्युत्तरार्द्धगतस्य इतरत्रशब्दस्य मतिज्ञानमेव वाच्यम्, शब्दसहितमतेर्द्रव्यभावश्रुतत्वेनोक्तत्वात्, तदितरस्य मतिज्ञानस्यैव तत्र संभवात्। ततश्च तद्व्याख्यानमनूद्य दूषयति-इतरत्रापि मतिज्ञाने श्रुतं भवेद् यद्युपलब्धिसमं भाषेत, इति यत्तैं-रुच्यते, तदयुक्तम्, यतो हन्त! यन्मतिज्ञानम्, तत्कथं श्रुतं भवि-तुमर्हति ? श्रुतं चेत्, कथं वा तन्मतिर्भवेत् ? कुतः पुनरित्थं न भवति ? इत्याह-मतिश्रुतयोर्यत् स्वकीयं लक्षणम्, कर्म चाऽऽ-वारकम्, तयोर्भेदेनाऽऽगमे प्रतिपादनात्। यदि च यदेव मतिज्ञानं तदेव श्रुतम्, यदेव च श्रुतं तदेव मतिज्ञानं स्यात्, तदा लक्षणाऽऽ-वरणभेदोऽपि तयोर्न स्यादिति गाथाऽर्थः ॥ १३५ ॥

तदेवम्-'' बुद्धिर्दिट्ठे अत्थे, जे भासइ '' (१२८) इत्यादि मूल-गाथां मतिश्रुतभेदप्रतिपादनपरतया व्याचिख्यासोः परस्य मति-र्भावश्रुतं न युज्यत इति प्रतिपादितम्। यदि तु द्रव्यश्रुतं साऽभ्यु-पगम्यते तदा न दोषः, इत्युपदर्शयन्नाह-

अहव मई दव्वसुय-त्तमेउ भावेण सा विरुज्झेज्जा।
जो असुयक्खरलाभो, तं मइसहिओ पभासेज्जा ॥ १३६ ॥

अथवा मतिर्द्रव्यश्रुतत्वमेतु आगच्छतु, न तत्र वयं निषेद्धारः, केव-लमेतदेव निर्बन्धेनाभिदध्मो यदुत-भावेन भावश्रुतत्वेन सा मति-र्विरुध्येत दर्शितन्यायेन विरोधमनुभवेत्। इदमुक्तं भवति-'' केइं बुद्धिर्दिट्ठे, मइसहिए भासओ सुयं '' (१३२) इत्यत्र गाथार्द्धे योऽसौ श्रुतशब्दः स यदि द्रव्यश्रुतवाचित्वेन व्याख्यायते तदा विरोधो न भवति। कथम् ? इति चेत्। उच्यते-बुद्धिर्मतिस्तद्दृष्टान् मत्युप-योगसहितानर्थान् भावमाणस्य सा मतिः शब्दलक्षणस्य द्रव्यश्रुत-स्य कारणत्वाद्द्रव्यश्रुतम्, अभाषमाणस्य तु मतिज्ञानम्, इत्येवं मतिद्रव्यश्रुतयोर्भेदः प्रोक्तो भवति, न तु मतिश्रुतज्ञानयोः केवलं विरोधपरिहारमात्रमित्थमुपकल्पितं भवति। अत्राऽऽह कश्चित्-ननु यदि मत्युपयोगे वर्तमानो भाषेत कश्चित्, तदा द्रव्यश्रुतकारणत्वाद् मतिः स्याद् द्रव्यश्रुतम्, एतच्च न भविष्यति, इत्याह-(जो असुये-त्यादि) योऽश्रुतानुसार्यक्षरलाभः, तं मत्युपयोगे वर्तमानो भाषेत वक्ता, नाऽव कश्चित् संदेहः; यस्तु श्रुतानुसार्यक्षरलाभस्ते श्रुतोप-योगे एव वर्तमानो भाषेत, अतो न तच्छब्दस्य मतिः कारणम्, श्रुतपूर्वत्वात्तस्येति भावः। इदमुक्तं भवति-यः परोपदेशार्हद्वचन-लक्षणं श्रुतमनुश्रित्याक्षरलाभोऽन्तः स्फुरति तं श्रुतोपयोगे एव वर्त-मानो भाषेत, यस्त्वश्रुतानुसारी स्वमत्यैव पर्यालोचित ईहाऽपायेषु स्फुरत्यक्षरलाभः, तं यदा मत्युपयोगसहित एव भाषते, तदा तस्य शब्दलक्षणस्य द्रव्यश्रुतस्य कारणत्वाद् भवत्येव मतिर्द्रव्यश्रुतम्। इति गाथाऽर्थः ॥ १३६ ॥

अथास्मिन्नेव मतेर्द्रव्यश्रुतत्वपक्षे '' इयरत्थ वि होज्ज सु-यं '' (१२८) इत्यादौ मूलगाथाया उत्तरार्द्धे योऽर्थः संपद्यते, तमाचार्यः प्रदर्शयन्नाह-

इयरम्मि वि मइनाणे, होज्ज तयं तस्समं जइ भणेज्जा।
न य तरइ तत्तियं सो, जमणेगगुणं तयं तत्तो ॥ १३७ ॥

भाषमाणस्य मतिर्द्रव्यश्रुतमित्युक्तम्, अतोऽभाषमाणावस्था-भावि मतिज्ञानमितरत्र शब्दवाच्यं भवति। ततश्चेतरत्राप्यभाष-माणावस्था-भाविनि मतिज्ञाने भवेत् तद् द्रव्यश्रुतं यदि तत्समं मतिज्ञानोपलब्धिसमं भणेत्, यावद् मतिज्ञानेनोपलभते तावत्सर्वं वदेदित्यर्थः; एतच्च नास्ति। कुतः ? इत्याह-(न च) नैव ' तरति ' शक्नोति स यावन्मतिज्ञानेनो-पलभते तावद् वक्तुम्। कुतः ? इत्याह-यद् यस्मात् ततो वक्तुं शक्या-त्तत्सर्वमपि मतिज्ञानोपलब्धमनेकगुणमनन्तगुणमिति गाथाऽर्थः ॥ १३७ ॥

अत्र विनेया प्राऽऽह-

कह मइसुओवलद्धा, तीरंति न भासिउं बहुत्ताओ।
सव्वेण जीविएण वि, भासइ जमणंतभागं सो ॥ १३८ ॥

नन्वनन्तरगाथायां मत्युपलब्धाः सर्वेऽपि वक्तुं न शक्यन्त इत्यु-क्तम्, पूर्वं तु श्रुतोपलब्धा अपि सर्वेऽभिधातुं न पार्यन्त इत्यभिहि-तम्; तदेतत्कथम्, यन्मतिश्रुतोपलब्धा भावा न तीर्यन्ते भाषि-तुम् ? अत्राऽऽह-बहुत्वात्-प्राचुर्यात्। तत्रैतत् स्यात्-कुतः पुनरे-तावद्बहुत्वं तेषां निश्चितम् ? इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् सर्वे-णाऽप्यायुषा सः मतिश्रुतज्ञानी समुपलब्धानामर्थानामनन्ततम-मेव भागं भाषत इत्यागमे निर्णीतम्, तस्माद् बहुत्वावगमः। इति गाथाऽर्थः ॥ १३८ ॥

अथ मत्याद्युपलब्धार्थानां सामस्त्येनाभिधानाशक्यत्वे पूर्वोक्तम्, अपरमपि च हेतुं विषयविभागेनाभिधित्सुराह-

तीरंति न वोत्तुं जे, सुओवलद्धा बहुत्तभावाओ।
सेसोवलद्धभावा, सा भव्वबहुत्तओऽभिहिया॥ १३९॥

सर्वेऽपि श्रुतोपलब्धा भावा न तीर्यन्ते न पार्यन्ते वक्तुम्। 'जे' इति पूर्ववदेव। कुतस्ते वक्तुं न पार्यन्ते ? इत्याह-बहुत्वभावाद् बहुत्वसद्भावादेवेत्यवधारणीयम्, न तु तत्स्वाभाव्यादित्यभिप्रायः। (सेसोवलद्धभावा, सा भव्व त्ति) शेषं श्रुतादन्यत् प्रस्तुतं मतिज्ञानम्, समानवक्तव्यताप्रस्तावलब्धानि मत्यवधिमनःपर्यायकेवलानि वा शेषाणि, तेन तैर्वा उपलब्धा ज्ञाताः शेषोपलब्धाः, ते च ते भावाश्चेति समासः, स्वाभाव्यादेव अनभिलाप्याऽऽत्मक-त्वादेव न तीर्यन्ते भावितुम्। आह-नन्वेते यथाऽनभिलाप्यत्वा-दभिधातुं न शक्यन्ते, तथा बहुत्वादपि, तत् किमित्यनभिलाप्य-स्वभावत्वमेवैकमत्र हेतुत्वेनोच्यते ? सत्यम्, किं त्वभिलाप्यत्वे सति बहुत्वाल्पत्वचिन्ता क्रियमाणा विभ्राजते, ये तु मूलत एवान-भिलाप्यास्तेषु बहुत्वलक्षणो हेतुरुच्यमानोऽपि निष्फल एव, अन-भिलाप्याऽऽत्मकत्वेनेवाभिधानाशक्यत्वस्य सिद्धत्वादिति। किं च-(बहुत्तओऽभिहिय त्ति) बहुत्वाच्छेषोपलब्धा भावा यथा वक्तुं न शक्यन्ते, तथा '' कह मइसुओवलद्धा, तीरंति न भासिउं बहुत्ताओ। '' (१३८) इत्याद्यनन्तरगाथायामभिहिता एव, इति किं बहुत्वहेतूपन्यासेन ? पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। शेषज्ञानेषु मध्ये मतिरेव स तत्र प्रोक्तः, अत्र त्ववध्यादीन्यपि गृहीतानि सन्ति, अतस्तदर्थमयमिहापि वक्तव्य इति चेत्, नैवम्, मतेरुपलक्षणत्वेनावध्यादिष्वप्यसौ तत्र द्रष्टव्य इत्यदोषः। यद्येवम्, तर्हि श्रुतस्यापि बहुत्वलक्षणो हेतुः प्रागुक्त एव, किमितीह पुनरप्युच्यते ? इति चेत्। सत्यम्, किं तु श्रुतोपलब्धा बहुत्वात्, शेषोपलब्धास्तु तत्स्वाभाव्यान्न शक्यन्ते अभिधातुम्, इति विषयविभागदर्शनार्थं तस्येह पुनरुपन्यासः। अपरस्त्वाहननु मत्याद्युपलब्धानामपि केषाञ्चि-दभिलाप्यत्वात् किमुच्यते ?-(सेसोवलद्धभावा, सा भव्व त्ति) सत्यम्, किं तु तेषां श्रुतविषयत्वेनैवाभिधानाशक्यत्वस्योक्तत्वाद-दोषः। इति गाथाऽर्थः॥ १३९॥

विनेयः पृच्छति-

कत्तो एत्तियमेत्ता, भावसुयमईण पज्जया तेसिं।
भासइ अणंतभागं, भण्णइ जम्हा सुएऽभिहियं॥ १४०॥

कुतः पुनरेतावन्तो भावश्रुतमत्योः पर्याया उपलब्धार्थविषया विशेषाः, येषां सर्वेणापि जन्मनाऽनन्तभागमेव जानीत इति प्रागुक्तम् ? अत्र गुरुराह-भण्यतेऽत्रोत्तरम्-यस्मात् सूत्रे आगमे वक्ष्यमाणमभिहितम्, तस्मात् तयोरेतावन्तः पर्यायाः। इति गाथाऽर्थः॥ १४०॥

किं तत्सूत्रेऽभिहितम् ? इत्याह-

पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुयनिबद्धो॥ १४१॥

प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्त इति प्रज्ञापनीया वचनपर्यायत्वेन श्रुतज्ञानगोचरा इत्यर्थः। के ? भावा ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान्तर्निविष्टभूभवनविमानग्रहनक्षत्रतारकार्कत्वादयस्ते सर्वेऽपि मिलिताः किम् ? इत्याह-अनन्ततम एव भागे वर्तन्ते। केषाम् ? अत्राऽऽहअनभि-लाप्यानामर्थपर्यायत्वेनावचनगोचराऽऽपन्नानामित्यर्थः, अनभिलाप्यवस्तुराशेरभिलाप्यपदार्थसार्थः सर्वोऽप्यनन्ततम एव भागे वर्तत इत्यर्थः। प्रज्ञापनीयपदार्थानां पुनरनन्तभाग एव चतुर्दशपूर्व-लक्षणे श्रुते निबद्धो भगवद्भिर्गणधरैः साक्षाद् ग्रथितः। इति गाथाऽर्थः॥ १४१॥

कुतः पुनरेतद् विज्ञायते यदुत-प्रज्ञापनीयानामनन्तभाग एव श्रुतनिबद्धः ? इत्याह-

जं चोद्दसपुव्वधरा, छट्ठाणगया परोप्परं होंति।
तेण उ अणंतभागो, पण्णवणिज्जाण जं सुत्तं॥ १४२॥

यद् यस्मात् कारणात् चतुर्दशपूर्वधराः षट्स्थानपतिताः परस्परं भवन्ति, हीनाधिक्येनेति शेषः। तथाहि-सकलाभिलाप्यवस्तु-वेदितया य उत्कृष्टः चतुर्दशपूर्वधरः, ततोऽन्यो हीनहीनतराऽऽदिः, आगमे इत्थं प्रतिपादितः। तद्यथा-'' अणंतभागहीणे वा, असंखे-ज्जभागहीणे वा, संखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा, असंखे-ज्जगुणहीणे वा, अणंतगुणहीणे वा। '' यस्तु सर्वस्तोकाऽभिलाप्य-वस्तुज्ञायकतया सर्वजघन्यः, ततोऽन्य उत्कृष्ट उत्कृष्टतराऽऽदि-रप्येवं प्रोक्तः। तद्यथा-'' अणंतभागब्भहिए वा, असंखेज्जभागब्भ-हिए वा, संखेज्जभागब्भहिए वा, संखेज्जगुणब्भहिए वा, असंखेज्ज-गुणब्भहिए वा, अणंतगुणब्भहिए वा। '' तदेवं यतः परस्परं षट्- स्थानपतिताः चतुर्दशपूर्वविदः, तस्मात् कारणाद् यत्सूत्रं चतुर्दशपूर्वलक्षणं तत् प्रज्ञापनीयानां भावानामनन्तभाग एवेति। यदि पुन-र्यावन्तः प्रज्ञापनीया भावास्तावन्तः सर्वेऽपि सूत्रे निबद्धा भवेयुः, तदा तद्वेदिनां तुल्यतैव स्यात्, न षट्स्थानपतितत्वमिति भावः। इति गाथाऽर्थः॥ १४२॥

आह-ननु यदि सर्वेऽपि चतुर्दशपूर्वविदः, तर्हि कथं तेषां परस्परं हीनाऽऽधिक्यम् ? इत्याह-

अक्खरलंभेण समा, ऊणऽहिया होंति मइविसेसेहिं।
ते वि अ मईविसेसे, सुयनाणऽब्भंतरे जाण॥ १४३॥

चतुर्दशपूर्वगतसूत्रलक्षणेनाक्षरलाभेन समास्तुल्याः सर्वेऽपि चतुर्दशपूर्वविदः, ऊनाधिकास्ते मतिविशेषैर्भवन्ति क्षयोपशमवैचित्र्याद् यथोक्ताक्षरलाभानुसारिभिरेव तैस्तैर्गम्यार्थविषयैर्विचित्रैर्बुद्धिविशेषैर्हीनाधिका भवन्तीत्यर्थः। इह च मतिशब्दोपादानविभ्रमात् ते मतिविशेषा मा भूवन्नाभिनिबोधिकज्ञानविशेषाः, इत्यह आह-'ते वि येत्यादि'। इदमुक्तं भवति-मतिशब्देनेह श्रुतमतिर्विवक्षिता, न त्वाभिनिबोधिकमितिः। ततश्च यैश्चतुर्दशपूर्वविदो हीनाधिका-स्तानपि च मतिविशेषान् श्रुतज्ञानाभ्यन्तरे जानीहि श्रुतज्ञानान्त-र्भाविन एव विद्धि, न त्वाभिनिबोधिकान्तर्वर्तिन इति भावः। यद्येवम् '' ते वि य मईविसेसे, सुयनाणं चेव जाणाहि। '' इत्येवमेव प्रगुणे कस्मान्नोक्तम्, किमभ्यन्तरशब्दोपादानक्लेशेन ? नैतदेवम्, अस्याऽपि न्यायस्य दृष्टत्वाद्, अङ्गाभ्यन्तराऽऽदिव्यपदेशवद्, यथा ह्यङ्गमेवाङ्गाभ्यन्तरम्, एवं श्रुतमेव श्रुताभ्यन्तरामित्युक्तं भवति। अथवा-छन्दोभङ्गभयादभ्यन्तरग्रहणं, यदि वा-'' सुयनाण-'' इत्यनेन चतुर्दशपूर्वलक्षणं श्रुतमधिक्रियते, ततश्च तानपि गम्यान् मतिविशेषाँश्चतुर्दशपूर्वाक्षरलाभरूपस्य श्रुतस्यैवाभ्यन्तरे जानीहि त्वम्, न व्यतिरिक्तानिति शिष्योपदेशः, चतुर्दशभिरपि हि पूर्वैः कश्चित् साक्षात्, कश्चित्तु गम्यतया सर्वोऽप्यभिलाप्य

पदार्थोऽभिधीयत एव; ततश्च गम्या अपि मतिविशेषास्तदन्तर्भाविन एव, तदनुसारित्वादिति गाथाऽर्थः ॥ १४३ ॥

चतुर्दशपूर्वलक्षणश्रुतानुसारित्वेन यदेतद् मतिविशेषाणां तदन्तर्भावित्वमुक्तम् , तदेव समर्थयन्नाह-

जे अक्खरानुसारेण मइविसेसा तयं सुयं सव्वं ।
जे उण सुयनिरवेक्खा, सुद्धं चिय तं मइन्नाणं ॥ १४४ ॥

ये अक्षरानुसारेण श्रुतग्रन्थमनुसृत्य जायन्ते मतिविशेषाः तत्सर्वं श्रुतमेव, इत्यसकृदुक्तम् । ये तु यथोक्तश्रुतनिरपेक्षाः स्वयमेवोत्प्रेक्षितवस्तुतत्त्वा मतिविशेषाः समुत्पद्यन्ते तच्छुद्धं मतिज्ञानमेव, इत्येतदप्यनेकधा प्राग्प्यभिहितम् । तस्माच्चतुर्दशपूर्वगताक्षरानुसारेण जायमानाः प्रस्तुतमतिविशेषाः सर्वे, श्रुतमेवेति गाथाऽर्थः ॥ १४४ ॥

(१०) तदेवं द्रव्यश्रुताऽऽदिश्रुतस्वरूपप्रतिपादनप्रकारेण '' बुद्धिर्दिट्ठे अत्थे जे भासइ '' (१२८) इत्यादि मूलगाथां व्याख्याय '' केई बुद्धिर्दिट्ठे, मइसहिए भासओ '' (१३२) इत्यादिना दर्शितमपि विशेषदूषणाऽभिधित्सया पुनरपि मतान्तरमुपदर्शयन्नाह-

केइ अभासिऊंता, सुयमणुसरओ वि जे मइविसेसा ।
मन्नंति ते मइ चिय, भावसुयाभावओ तन्नो ॥ १४५ ॥

केचिद् व्याख्यातारः (मन्नंति ते मइ चिय त्ति) तान् मतिविशेषान् श्रुतमनुसरतोऽपि मतिरेवेति मन्यन्ते । ये किम् ? इत्याह-येऽभाष्यमाणाः, येषु शब्दप्रवृत्तिर्नास्तीत्यर्थः । श्रुतानुसारिणोऽपि मतिविशेषा ये प्रवृत्तिरहिताः केवलं हृद्येव विपरिवर्तन्ते, ते मतिज्ञानमेवेति केचिद् मन्यन्त इति भावः । तदेतद् न । कुतः ? इत्याह-भावश्रुताभावप्रसङ्गात् , तदभावश्च '' किं सद्दो मइरुभयं, भाव-सुयं सव्वहा जुत्तं । (१३२) '' '' सद्दो ता दव्वसुयं, मइराभिणिबोहियं न वा उभयं । '' (१३२) इत्यादि पूर्वोक्तग्रन्थाद् भावनीयम् । इति गाथाऽर्थः ॥ १४५ ॥

किं च-

किह मइसुयनाणविऊ, छद्वाणगया परोप्परं होज्जा ।
भासिज्जंतं मोत्तुं, जइ सव्वं सेसयं बुद्धी ॥ १४६ ॥

यदि भाष्यमाणं मुक्त्वा शेषकं सर्वमपि बुद्धिर्मतिज्ञानमित्यर्थः, तर्हि मतिश्रुतज्ञानाभ्यां विदन्तीति मतिश्रुतज्ञानवेदिनः परस्परं स्वस्थाने परस्थाने च कथं षट्स्थानपतिताः स्युः ? न कथञ्चिदित्यर्थः । तथाहि-सर्वेणापि जन्मना मतिश्रुतोपलब्धानामर्थानामनन्तभाग एव भाष्यत इति प्रागेहैवोक्तम् । ततश्च मतिज्ञानी श्रुतज्ञानिनः सकाशात् सदैवानन्तगुणाधिकः, श्रुतज्ञानी त्वितरस्मान्नित्यमनन्तगुणहीण एव प्राप्नोति इति न तावत्परस्थाने षट्स्थानपतितत्वम् । स्वस्थानेऽपि श्रुतज्ञानी अन्यस्मात् श्रुतज्ञानिनः संख्यातेनैव हीनोऽधिको वा स्यात्, न त्वसंख्यातेन, अनन्तेन वा, भाषकचतुर्दशपूर्वविदां संख्येयवर्षाऽऽयुष्कत्वेन असंख्येयस्यानन्तस्य वा भाषणस्यैवासंभवादिति । अस्येव च विशेषदूषणस्याभिधानार्थं पुनरत्रेदं मतान्तरमुपन्यस्तम् । अन्यथा हि-'' केई बुद्धिर्दिट्ठे, मइसहिए भासओ सुयं (१३२) '' इत्यादिना सर्वमिदं प्रागभिहितमेवेति गाथाऽर्थः ॥ १४६ ॥

तदेवं '' बुद्धिर्दिट्ठे अत्थे '' (१२८) इत्यादिपूर्वगतगाथाश्रुतस्वरूपाभिधायिना प्रकारेण व्याख्याता, मतिश्रुतयोश्च भेदस्य व्याख्येयत्वेन प्रस्तुतत्वात्तदभिधायकत्वेनाऽपि मतान्तरेण व्याख्याता, तच्च व्याख्यानमयुक्ततत्वाद् दूषितम् । अथाऽऽत्माऽभिमतेन निरवद्यमतिश्रुतभेदप्रकारेणैतां व्याख्यातुमाह-

सामन्ना वा बुद्धी, मइसुयनाणाइँ तीऍ जे दिट्ठा ।
भासइ संभवमित्तं, गहियं न उ भासणामित्तं ॥ १४७ ॥
मइसहियं भावसुयं, तं नियममभासओ वि मइरन्ना ।
मइसहियं ति जमुत्तं, सुओवउत्तस्स भावसुयं ॥ १४८ ॥

स्वविहितप्रथमव्याख्यानापेक्षया वाशब्दो यदि वेत्यर्थः, '' बुद्धिर्दिट्ठे अत्थे (१२८) '' इत्यत्र येयं बुद्धिः, असौ सामान्या गृह्यते, ततः किम् ? इत्याह-(मइसुयनाणाइं ति) मतिश्रुतज्ञाने द्वे अपि बुद्धिरिहेत्यर्थः, तथा बुद्धिश्रुतज्ञानाऽऽत्मिकया बुद्ध्या ये दृष्टा भावास्तेषु मध्ये यान् भाषते तद्भावश्रुतमित्युत्तरगाथायां संबन्धः । भाषत इत्यत्र च भाषणस्य संभवमात्रं गृहीतम्, न तु भाषणमात्रम् । ततश्चेदमुक्तं भवति-तत्रान्यत्र वा देशे, तदाऽन्यदा वा काले, स चान्यो वा पुरुषः, सति सामग्रीसंभवे निश्चयेनैतान् भाषत एव, इत्येवं यान् भावानन्तर्विकल्पे प्लवमानान् भाषणयोग्यतायां व्यवस्थापयति, ते ऽभाष्यमाणा अपि भाषणयोग्याः सन्तो भावश्रुतं भवन्ति, न तु भाष्यमाणा एवेति भावः । एवं च सति मत्युपलब्धानामनभिलाप्यानामर्थानां भावणायोग्यत्वाद्भावश्रुतत्वमपाकृतं भवति । भाषणयोग्यानां त्वभाष्यमाणानामपि सर्वेषां विकल्पप्रतिभासिनामर्थानां भावश्रुतत्वमावेदितं भवति ॥ १४७ ॥ अत एव पर्यवसितमर्थं द्वितीयगाथायामाह-नियतं निश्चितं तद्भावश्रुतमभाषमाणस्याऽपि भवति, योग्यतामात्रेणैव भाषणस्य गृहीतत्वा-दिति भावः । आह-ये सामान्यबुद्धिदृष्टा अर्था ये भाषणयोग्याः, यदि तेषां भावश्रुतत्वम्, तर्हि मतिज्ञानान्तर्वर्त्यपायविकल्पावभासिनामपि तत्प्रसङ्गः, न हि तेऽपि न भाषणयोग्याः, इत्याशङ्क्याऽऽह-'' मतिसहितमिति । '' अस्य व्याख्यानमाह-(मइ-सहियं तीत्यादि) मतिसहितमिति यदुक्तं तस्य कस्तात्पर्यार्थः ? इत्याह-श्रुतोपयुक्तस्यैव भाषमाणस्य, अभाषमाणस्य वा भावश्रुतं भवति नान्यस्य । इदमुक्तं भवति-मतिसहितमिति श्रुतमतिसहितं यथा भवति, एवं यान् भाषते त एव भावश्रुतम्, नान्ये, ततश्च श्रुतोपयुक्तस्यैव भाषणयोग्यानर्थान् विकल्पयतो भावश्रुतं सिद्धं भवति । एवं च सति श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतोपयुक्तत्वस्याऽसंभवाद् मतिविकल्पस्य भाषणयोग्यत्वे सत्यपि कुतो भावश्रुतत्वम् ? इति । आहनन्वनु मतिदृष्टत्वमर्थानां संभवति ? श्रुतबुद्धिदृष्टत्वस्यैव तत्र संभवात् । नैतदेवम् , मतिपूर्वं हि श्रुतम् , ततो यत्र श्रुतबुद्धिदृष्टत्वं तत्र मतिदृष्टत्वमस्त्येव, इति न काचित् क्षतिः, इत्यलमतिचर्चितेन् । तदेवं श्रुतज्ञानोपयुक्तः सामान्यबुद्धिदृष्टानर्थान् संभवतो यान् भाषते तद्भावश्रुतमिति स्थितम् । नन्वर्थानां कथं भावश्रुतत्वम् ? ज्ञानस्यैव तत्संभवात् । सत्यम्, किंतु विषयविषयिणोरभेदोपचाराद् भावश्रुते प्रतिभासमाना अर्था अपि भावश्रुतम्, इत्यदोषः । (मइरन्न त्ति) यथोक्ताद्भावश्रुतादन्या व्यतिरिक्ता मतिर्द्रष्टव्या । इदमुक्तं भवतियेऽभिलाप्या अपि

सन्तो घटाऽऽदयः श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतोपयुक्तैर्न विकल्प्यन्ते, ये चाऽर्थपर्यायत्वेन वाचकध्वनेरभावाद् मूलत एवाभिलपितुमशक्या अनभिलाप्याः, ते यस्यां विज्ञप्तौ प्रतिभासन्ते सा मतिरित्यवगन्तव्या, न तु श्रुतम्, अभिलाप्यवस्तुविषयायां श्रुतानुसारित्वाभावाद् , अनभिलाप्यवस्तुविषयायां तु भाषणायोग्यत्वादिति गाथाद्वयार्थः ॥ १४८ ॥

अथेष्टतोऽवधारणविधिमुपदर्शयन्नाह-

जे भासइ चेय तयं, सुयं तु न तु भासओ सुयं चेव ।
केइ मइए वि दिट्ठा, जं दव्वसुयत्तमुवयंति ॥ १४९ ॥

''बुद्धिदिट्ठे अत्थे, जे भासइ'' (१२८) इत्यत्र यान् कदाचित् संभवमात्रेण भाषत एव तत् श्रुतमित्येवमेवावधारणीयम् , न तु भाषमाणस्य श्रुतमेवेति यान् भाषते तत् श्रुतमेवेत्येवं नावधार्यत इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् केचिदभिलाप्याः पदार्था मत्याऽपि दृष्टा अवग्रहेणावगृहीताः, ईहया त्वीहिताः, अपायविकल्पेन तु निश्चिता इत्यर्थः, द्रव्यश्रुतत्वमुपयान्ति, शब्दलक्षणेन द्रव्यश्रुतेन भाष्यन्त इत्यर्थः । यदि च भाषमाणस्य श्रुतमेवेत्यवधार्येत, तदा एषामपि श्रुतत्वं स्यात्, न चैतदिष्यते, श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतोपयुक्तत्वस्य तेष्वसंभवात्, तस्माद् यथोक्तमेवावधारणमिति गाथाऽर्थः ॥ १४९ ॥

अथ यथोक्तव्याख्यानलब्धमतिश्रुतभेदोपदर्शनपूर्वकमुपसंहरन्नाह-

एवं धणिपरिणामं, सुयनाणं उभयहा मइन्नाणं ।
जं भिन्नसहावाइं, ताइं तो भिन्नरूवाइं ॥ १५० ॥

एवं प्रागुक्तप्रकारेण केवलाऽभिलाप्यार्थविषयत्वात् सर्वमपि श्रुतज्ञानं ध्वनिपरिणाममेव, ध्वनेः शब्दस्य परिणमनं विपरिवर्तनं परिणामो यत्र तद् ध्वनिपरिणामं भवत्येव, श्रुतानुसारित्वेनोत्पन्नमेव ह्येतदिष्यते, श्रुतं च संकेतकालभाविपरोपदेशरूपः, श्रुतग्रन्थरूपश्च द्विविधः शब्दोऽत्राधिकृतः, तदनुसारेण चोत्पन्ने ज्ञाने ध्वनिपरिणामो भवत्येवेति। मतिज्ञानं तूभयथाऽपि भवति-शब्दपरिणामम् , अशब्दपरिणामं च, अभिलाप्यानभिलाप्यपदार्थविषयं ह्येतत् । ततश्च श्रुतानपेक्षस्वमत्यैव विकल्प्यमानेष्वभिलाप्येषु ध्वनिपरिणामोऽस्मिन्नपि प्राप्यते । अनभिलाप्यविषयतायां तु नाऽसौ तत्र लभ्यते । अनभिलाप्यपदार्था हि स्वयमेव बुद्ध्यमाना अपि वाचकध्वनेरभावाद्विकल्पयितुं, परस्मै प्रतिपादयितुं वा न शक्यन्ते, यथा नालिकेरद्वीपाऽऽयातस्य वह्न्यादयः क्षीरेक्षुगुडशर्करा-ऽऽदि-माधुर्यतारतम्याऽऽदयो वा; इति कुतस्तद्विषतायां ध्वनिपरिणामः ? अभिलाप्यपदार्थेभ्योऽनन्तगुणाश्चानभिलाप्याः सन्ति, ततोऽभिलाप्यानभिलाप्यवस्तुविषयत्वात् शब्दाशब्दपरिणामं मतिज्ञानमिति स्थितम् । अथोपसंहरति-(तो त्ति) तस्मात्ते मतिश्रुते स्वामिकालाऽऽदिभिरविशेषेऽपि भिन्नरूपे भेदवती मन्तव्ये । कुतः ? इत्याह-यद् यस्मात् कारणाद् द्वे अपि भिन्नस्वभावे, उक्तन्यायेनैकस्य ध्वनिपरिणामित्वात् , अपरस्य तूभयस्वभावत्वादिति गाथाऽर्थः ॥ १५० ॥

तदेवं मूलगाथायाम्-''बुद्धिदिट्ठे अत्थे, जे भासइ तं सुयं मईसहियं।'' (१२८) इत्येतत् पूर्वार्द्धम्-'' सामण्णा वा बुद्धी '' (१४७) इत्यादिना व्याख्यातम्। अथ-''इयरत्थ वि होज्ज सुयं, उवलद्धिसमं जइ भणेज्जा ।'' (१२८) इत्येतदुत्तरार्द्धं व्याचिख्या-सुराह-

इयर त्ति मइन्नाणं, तओ वि जइ होइ सद्दपरिणामो ।
तो तम्मि वि किं न सुयं, भासइ जं नोबलद्धिसमं ? ॥ १५१ ॥

'' इयरत्थ वि होज्ज सुयं '' (१२८) इति मूलगाथोत्तरार्द्धे इतरशब्दस्य किं वाच्यम् ? इत्याह-इतरदिति मतिज्ञानं तत्राऽभिसंबध्यते, इत्याचार्येणोक्ते परः प्राऽऽह-(तओ वि जइ होइ सद्दपरिणामो। तो तम्मि वि किं न सुयं ति) तत इति सप्तम्यन्तात्तस्प्रत्ययः, ततश्च-'' उभयहा मइन्नाणं '' (१५०) इति वचनाद् यदि तस्मिन्नपि मतिज्ञाने शब्दपरिणामो भवति, ततस्तस्मिन्नपि किं न श्रुतंतदपि भावश्रुतरूपतां किं न प्रतिपद्यते ? इत्यर्थः शब्दपरिणामस्य श्रुतत्वेन उक्तत्वादिति भावः । अत्राऽऽचार्य उत्तरमाह-(भासइ जं नोवलद्धिसमं ति) यद् यस्मात कारणादुपलब्धिसमं मतिज्ञानी न भाषते, ततो न मतिज्ञानस्य श्रुतरूपतेति गाथाऽर्थः ॥ १५१ ॥

कथं पुनरुपलब्धिसममसौ न भणति ? इत्याह-

अभिलप्पाऽणभिलप्पा, उवलद्धा तस्समं च नो भणइ ।
तो होउ उभयरूवं, उभयसहावं ति काऊणं ॥ १५२ ॥

प्रागुक्तन्यायेन अभिलाप्यानभिलाप्याः पदार्था मतिज्ञानोपलब्धाः, एवंभूतोपलब्ध्या च समं भणितुं न शक्नोत्येव, अनभिलाप्यानां सर्वथैव वक्तुमशक्यत्वादिति भावः । अत्र परः प्राऽऽह-(तो होउ इत्यादि) ततस्तर्हि भवतु मतिज्ञानमुभयरूपं श्रुतमतिरूपम् । कुतः ? इत्याह-उभयस्वभावमिति कृत्वा, अभिलाप्यानभिलाप्यवस्तुविषयत्वेन द्विस्वभावत्वादित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-यदभिलाप्यपदार्थान् उपलभते भाषते च, तत् श्रुतज्ञानमस्तु, अनभिलाप्यपदार्थांस्तु भाषणायोग्यान् यदवगच्छति, तन्मतिज्ञानं भवति । इति गाथाऽर्थः ॥ १५२ ॥

अत्रोत्तरमाह-

जं भासइ तं पि जओ, न सुयाऽऽदेसेण किं तु समईए ।
न सुओवलब्धितुल्लं, ति वा जओ नोवलद्धिसमं ॥ १५३ ॥

यदपि किञ्चिदभिलाप्यवस्तूपलब्धं मतिज्ञानी भाषते तदपि यतो न श्रुताऽऽदेशेन, किं तु स्वमत्या, अतो न तत् श्रुतमिति। इदमुक्तं भवति-परोपदेशः, श्रुतग्रन्थश्च श्रुतमिहोच्यते, तदादेशेन तु तदनुसारेण विकल्प्य यदा भाषते, तदा श्रुतोपयुक्तस्य भाषणात् श्रुतमुपपद्यत एव; यत्र तु स्वमत्यैव पर्यालोच्य भाषते न तु श्रुतानुसारेण, तत्र श्रुतोपयुक्तत्वाभावान्मतिज्ञानमेव। तदेवम्-'' भासइ जं नोवलद्धिसमं '' (१५१) इत्यस्य गाथाऽवयवस्य ''अभिलाप्पाणभिलप्पा, उवलद्धा'' (१५२) इत्यादिना व्याख्यानं कुर्वताऽऽचार्येण मतिज्ञानी मतिज्ञानोपलब्ध्या समं न भाषते, अतस्तत्रोपलब्धिसमं भाषणं न भवति, इत्यतो न मतिज्ञाने श्रुतरूपतेत्युक्तम्; श्रुतज्ञानी त्वभिलाप्यानुपलभते, ताँश्च भाषतेऽतस्तत्रैवोपलब्धिसमत्वस्य सद्भावात् श्रुतरूपतेति भावः । साम्प्रतं तु मतिज्ञानी श्रुतोपलब्ध्या तुल्यं समं न भाषते, इत्येवमुपलब्धिसमत्वाभावमुपदर्शयनाह-(न सुओवलद्धीत्यादि) वाशब्दः प्रकारान्तरद्योतकः, ततश्च न श्रुतोपलब्ध्या तुल्यं मतिज्ञानी भाषत

इति वा, यतो यस्मात् कारणात् नोपलब्धिसमं मतिज्ञानिनो भाषणम्, तस्मान्न तत्र श्रुतरूपता। इदमुक्तं भवति-श्रुतोपलब्धौ परोपदेशार्हद्वचनलक्षणश्रुतानुसारेणोपलब्धानर्थान् भाषते, मत्युपलब्धौ तु तदुपलब्धानेव, इत्यतो मतिज्ञानिनो भाषणं श्रुतोपलब्धिसमम्, ततश्च न तत्र श्रुतसंभवः। इति गाथाऽर्थः॥ १५३॥

तदेवम्-'' सोइंदिओबलद्धी होइ सुयं ''(११७) इत्यादिमूल-गाथया तत्त्वतः श्रोत्रेन्द्रियविषयमेव श्रुतज्ञानम्, सर्वेन्द्रियविषयं च मतिज्ञानमित्येवं मतिश्रुतयोर्भेदः प्रतिपादितः; तत्प्रतिपादनक्रमे च '' बुद्धिट्ठिट्ठे अत्थे, जे भासइ '' (१२८) इत्यादिगाथा समायाता, सा च द्रव्यभावोभयश्रुतरूपाऽभिधायकत्वेन मतिश्रुतयोर्भेदाऽभिधानपरतया च व्याख्याता, तद्व्याख्याने चावसिते इन्द्रियविभागादपि मतिश्रुतयोर्भेदः।

साम्प्रतं वल्कशुम्बोदाहरणात्तमभिधित्सुराह-

अन्ने मन्नंति मई, वग्गसमा सुंबसरिसयं सुत्तं।
दिट्ठंतोऽयं जुत्तिं, जहोवणीओ न संसहइ॥ १५४॥

अन्ये केचनाप्याचार्या मन्यन्ते। किम् ? इत्याह-वल्कसमा वल्कसदृशी मतिः, ततः सैव यदा शब्दतया संदर्भिता भवति-तज्जनितो यदा शब्द उत्तिष्ठतीत्यर्थः, तदा तदुत्थशब्दसहिता श्रुतमुच्यते, तच्च शुम्बसदृशं वल्कजनितदवरिकातुल्यं श्रुतं भवति, एवं तदभ्युपगमः शोभन इति चेत्, नैवमित्याह-(दिट्ठंतोऽयमित्यादि) अयं वल्कशुम्बदृष्टान्तो यथा तैरुपनीतः-उक्तप्रकारेण प्रकृते योजितः, तथा युक्तिं न सहतेन क्षमते, अन्यथा त्वस्मदभिमतवक्ष्यमाणप्रकारेणोपनीयमान एषोऽपि युक्तिक्षमो भविष्यतीति भावः। इति गाथाऽर्थः॥ १५४॥

कुतो न संसहते ? इत्याह-

भावसुयाभावाओ, संकरओ निव्विसेसभावाओ।
पुव्वुत्तलक्खणाओ, सलक्खणाऽऽवरणभेयाओ॥ १५५॥

नैष दृष्टान्तो युक्तिं क्षमत इति सर्वत्र साध्यम्, मतेरनन्तर शब्द-मात्रस्यैव भावेन भावश्रुतस्याभावप्रसङ्गात्। अथ मतिसहितोऽयं शब्दो न केवल इति तत्र भावश्रुतत्वं भविष्यति। तदयुक्तम्। कुतः ? इत्याह-संकरः साङ्कर्यम्, संकीर्णत्वम्, मिश्रत्वमिति यावत्, मतिश्रुतयोस्तस्य प्राप्तेः। निर्विशेषभावाद् वायदेव मतिज्ञानम्, तदेव भावश्रुतमिति प्रतिपादनादेकमेव किञ्चित्स्यात्, नोभयमिति भावः। अस्तु विशेषाभाव इति चेत्, नैवम्। कुतः ? इत्याह-स्वलक्षणाऽऽवरणभेदात्। कथम्भूतात् ? इत्याह-पूर्वोक्तलक्षणात् ''किह व सुयं होइ मई, सलक्खणाऽऽवरणभेयाओ।'' (१३५) इति पूर्वाभिहितगाथाऽवयवोक्तस्वरूपात्। इदमुक्तं भवति-अभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिकम्, श्रूयत इति श्रुतम्, इत्यादिकं मतिश्रुतयोर्यत् स्वकीयं स्वकीयं लक्षणम्, आवारकं च कर्म, तयोर्भेदात् पूर्वाऽभिहितस्वरूपाद् मतिश्रुतयोर्निर्विशेषभावो न युज्यते। यदि हि तयोर्निर्विशेषता एकत्वं स्यात्, तदा लक्षणभेदः, आवरणभेदश्च पूर्वोक्तस्वरूपो न स्यादिति भावः। इति गाथाऽर्थः॥ १५५॥

अथ द्रव्यभावश्रुतयोरनेन दृष्टान्तेन भेदः प्रतिपाद्यते, सोऽपि न युक्तः, इति दर्शयन्नाह-

कप्पेजेज्ज व सो भावदव्वसुत्तेसु तेसु वि न जुत्तो।
मइसुयभेयावसरे, जम्हा किं सुयविसेसेणं ?॥ १५६॥

यदि वा भावद्रव्यश्रुतयोः सः-वल्कशुम्बोदाहरणाद् भेदः कल्पेत-भावश्रुतं हि कारणत्वात् किल वल्कसदृशम्, शब्दलक्षणं तु द्रव्यश्रुतं कार्यत्वात् शुम्बप्रतिमम्, इत्येवमनयोर्भेद इष्येतेति भावः। तयोरप्यसौ न युक्तः। कुतः ? इत्याह-यस्मान्मतिश्रुतयोर्भेदाभिधानेऽवसरप्राप्ते (किं सुयविसेसेणं ति) श्रुतयोर्द्रव्यभावश्रुतलक्षयोर्विशेषो भेदः श्रुतविशेषस्तेनाऽभिहितेन किम् ? असंबद्धत्वान्न किञ्चिदित्यर्थः। इति गाथाऽर्थः॥ १५६॥

अथान्यथा पराभिप्रायमाशङ्कमानः प्राऽऽह-

असुयऽक्खरपरिणामा, व जा मई वग्गकप्पणा तम्मि।
दव्वसुयं सुंबसमं, किं पुण तेसिं विसेसेणं ?॥ १५७॥

श्रुतानुसार्यक्षरपरिणामो यस्यां सा श्रुतानुसार्यक्षरपरिणामा, न तथा-श्रुतानुसारित्वरहितशब्दमात्रपरिणामान्विता या मतिरित्यर्थः। तस्यां वा वल्ककल्पना क्रियते, तज्जनितशब्दरूपं तु द्रव्यश्रुतं शुम्बसदृशम्, अतस्तयोः प्रस्तुतोदाहरणाद् भेदो युक्तियुक्तो भविष्यति। श्रुतानुसार्यक्षरपरिणामा मतिर्भावश्रुतमेव स्याद्, अतः पूर्वस्मान्न विशेष्येत, इत्यश्रुताक्षरपरिणामित्वं विशेषणम्। सा च पर्युदासाऽऽश्रयणादश्रुतानुसारिणा शब्देनैवान्विता गृह्यते, न तु शब्दपरिणामरहिताऽवग्रहरूपा, तस्याः शब्दजनकत्वाभावेनानन्तरं शुम्बसदृशद्रव्यश्रुताभावादिति। अत्रोत्तरमाह-(किं पुण तेसिं विसेसेणं ति) किं पुनस्तयोर्यथोक्तमतिद्रव्यश्रुतयोर्विशेषेण भेदेनोक्तेन ? अप्रस्तुतत्वान्न किञ्चिदित्यर्थः। श्रुतज्ञाननैव सहात्र मतेर्भेदो विचारयितुं प्रक्रान्तः, इत्यतः किं द्रव्यश्रुतेन सह तच्चिन्तया ? इति भावः। इति गाथाऽर्थः॥ १५७॥

एतदेव भावयन्नाह-

इहइं जेणाहिकओ, नाणविसेसो न दव्वभावाणं।
न य दव्वभावमेत्ते, वि जुज्जए सोऽसमंजसओ॥ १५८॥

इहास्मिन् प्रक्रमे येन कारणेन ज्ञानयोरेव मतिश्रुतलक्षणयोर्विशे-षो भेदोऽधिकृतो न तु द्रव्यभावयोर्मतिज्ञानद्रव्यश्रुतलक्षणयोः, इत्यतः किं तद्भेदाभिधानेन ? इति। न च यथोक्तद्रव्यभावयोरप्यसौ युज्यते। कुतः ? इत्याह-असमञ्जसतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैसदृश्यादिति गाथाऽर्थः॥ १५८॥

तथाहि-

जह वग्गा सुंबत्तण-मुविंति सुंबं च तं तओऽणण्णं।
न मइ तहा धणित्तण-मुवेइ जं जीवभावो सा॥ १५९॥

यथा वल्काः शुम्बत्वमुपयान्ति आत्माऽव्यतिरिक्तशुम्बपरिणामाऽऽपन्नाः शुम्बमित्युच्यन्ते, न तु शुम्बाद् व्यतिरिक्ताः; तदपि च शुम्बं तेभ्यो वल्केभ्योऽनन्यरूपमव्यतिरिक्तं, न तथा मतिर्धनित्वमुपैति, यद् यस्माद् कारणाद् सा मतिराभिनिबोधिकज्ञानत्वेन जीव-भावो जीवपरिणामः, शब्दस्तु मूर्तत्वान्न जीवभावः; इत्यतः कथममूर्तपरिणामा मतिर्मूर्तध्वनिपरिणाममुपगच्छेत् ? अमूर्तस्य मूर्तपरिणामविरोधात्। तस्माद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यादिदमपि व्याख्यानमुपेक्षणीयमिति गाथाऽर्थः॥ १५९॥

पुनः परवचनमाशङ्क्य तस्यैव शिक्षणार्थमाह-

अह उवयारो कीरइ, पभवइ अत्थंतरं पि जं जत्तो।

तं तम्मयं ति भण्णइ, तो मइपुव्वं जओ भणियं ॥ १६० ॥
भावसुयं तेण मई, वग्गसमा सुंबसरिसयं तं च ।
जं चिंतिऊण य तया, तो सुयपरिवाडिमणुसरइ ॥ १६१ ॥

अथोपचारः क्रियते-उपचारविधिराश्रयिते, ततश्चार्थान्तरमपि यद् यस्मात् प्रभवति तत्तन्मयमिति भण्यते, यथा-'तदपथ्यमियन्तं विक्रियाविस्तरमुपगतम्' 'तदेकं वचनमेतावन्तं विपाकमापन्नम्' इत्यादि; ततश्चातन्मयेऽपि ध्वनौ मतिगता ज्ञानमयतोपचर्यते। तथा च सति वल्कशुम्बसादृश्येन मतिश्रुतयोरयं भेदः सिद्धो भवति। एवमुक्ते आचार्यः सुहृद् भूत्वा परं शिक्षयति-(तो मइपुव्वं इत्यादि) हन्त ! यद्युपचारवादी भवान्, ततो मतिपूर्वं भावश्रुतं यस्मादागमे भणितम, तेन कारणेन मतिर्वल्कसमा, तच्च भावश्रुतं शुम्बसदृशम्, इत्येवं दृष्टान्तोपनयं कुरु, येनोपचारमन्तरेणाऽपि सर्वं सुस्थं भवति, यथा हि वल्काः शुम्बकारणम्, तथा मतिरपि भावश्रुतस्य, यथा च शुम्बं वल्कानां कार्यं तथा भावश्रुतमपि मतेः। कुतः ? इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् तया मत्या चिन्तयित्वा ततः श्रुतपरिपाटीमनुसरति-वाच्यवाचकभावेन परोपदेशश्रुतग्रन्थयोजनां वस्तुनि करोति; तस्मान्मतिश्रुतयोर्वल्कशुम्बयोरिव कार्यकारणभावाद् भेदसिद्धिः, इत्येवं दृष्टान्तोपनयो युक्तिं संसहते, न तु परोक्तप्रकारेणेति गाथाऽर्थः ॥ १६० ॥ १६१ ॥

तदेवं वल्कशुम्बोदाहरणादप्यभिहितो मतिश्रुतयोर्भेदः; साम्प्रतं त्वक्षरानक्षरभेदात्तमभिधित्सुः पराभिप्रायं तावदुपन्यस्यन्नाह-

अण्णे अणक्खरऽक्खर-विसेसओ मइसुयाइँ भिंदंति ।
जं मइनाणमणक्खर-मक्खरमियरं च सुयनाणं ॥ १६२ ॥

अन्ये केचनाऽपि सूरयोऽनक्षराक्षरवद्विशेषतो मतिश्रुते भिन्दन्ति, यद् यस्मात् किल मतिज्ञानमनक्षरम्, श्रुतज्ञानं त्वक्षरवद्भवति, इतरच्चानक्षरवदुच्छ्वसितादीत्यर्थः। इति गाथाऽर्थः ॥ १६२ ॥

अत्राऽऽचार्यो दूषणमाह-

जइ मइरणक्खर च्चिय, भविज्ज नेहाऽऽदओ निरभिलप्पे ।
थाणुपुरिसाइपज्जायविवेगो किह णु होज्जाहि ? ॥ १६३ ॥

यदि हन्त ! मतिरनक्षरैव स्यात्-अक्षराभिलापरहितैव भवताऽभ्युपगम्यते, तर्हि निरभिलाप्ये प्रतिभासमानाऽभिलापे स्थाण्वादिके वस्तुनि ईहाऽऽदयो न प्रवर्तेरन्। ततः किम् ? इत्युच्यतेतस्यां मतावनक्षरत्वेन स्थाण्वादिविकल्पाभावात् ' स्थाणुरयं पुरुषो वा ' इत्यादि-पर्यायाणां वस्तुधर्माणां विवेको वितर्कोऽन्वयव्य-तिरेकाऽऽदिना परिच्छेदो न स्यात्। तथाहि-यदनक्षरं ज्ञानं न तत्र स्थाणुपुरुषपर्यायाऽऽदिविवेकः, यथाऽवग्रहे, तथा चेहाऽऽदयः, तस्मात्तेष्वपि नासौ प्राप्नोतीति गाथाऽर्थः ॥ १६३ ॥

अथ विभ्रान्तस्य परस्योत्तरमाह-

सुयणिस्सियवयणाओ, अह सो सुयओ मओ न बुद्धीओ ।
जइ सो सुयवावारो, तओ किमन्नं मइन्नाणं ? ॥ १६४ ॥

आगमे मतिज्ञानं द्विधा प्रोक्तम्-श्रुतनिःश्रितमवग्रहेहाऽऽदिचतुष्कम्, अश्रुतनिश्रितं चौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयम्। ततश्च सूरिरित्थं पराभिप्रायमाशङ्कते-अथैवं परो ब्रूयात्-आगमे श्रुतनिःश्रितत्वेनाऽपि मतिज्ञानस्य भणनात् श्रुतात् श्रुततोऽक्षराऽऽत्मकादसौ स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकः मतः, न बुद्धेर्न मतेः सकाशात्, तस्याः स्वयमनक्षररूपत्वात्। अत्रोत्तरमाह-(जइ सो इत्यादि) यदि हन्त ! स स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकः श्रुतव्यापारस्तर्ह्यवग्रहं मुक्त्वा किमन्यद् मतिज्ञानम् ? न किञ्चिदित्यर्थः। यदि स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकोऽक्षराऽऽत्मकत्वात् श्रुतव्यापार इष्यते, तदेहाऽपायाऽऽदयो मतिभेदाः सर्वेऽप्यक्षराऽऽत्मकत्वात् श्रुतत्वमापन्नाः, इत्यतोऽक्षराभिलापरहितमवग्रहं मुक्त्वाऽशेषस्येहाऽऽदिभेदभिन्नस्य सर्वस्याऽपि मतिज्ञानस्याभावप्रसङ्गः। इति गाथाऽर्थः ॥ १६४ ॥

अथाऽन्यथा परस्य वचनमाशङ्क्य दूषयितुमाह-

अह सुयओ वि विवेगं, कुणओ न तयं सुयं सुयं नत्थि ।
जो जो सुयवावारो, अन्नो वि तओ मई जम्हा ॥ १६५ ॥

अथ श्रुतादपि स्थाणुपुरुषाऽऽदिविवेकं कुर्वतः प्रमातुर्न तत् श्रुत-म्, किं तु मत्यभावभीत्या मतित्वेनाभ्युपगम्यते, हन्त ! तर्ह्येकत्र सन्धित्सतोऽन्यतः प्रच्यवते; यत एवं सति श्रुतं क्वचिदपि नास्ति-श्रुताभावः प्राप्नोतीत्यर्थः। कुतः ? इत्याह-यो यश्चरणकरणाऽऽदिप्रतिपादनलक्षणोऽन्योऽपि श्रुतस्याऽऽचाराऽऽदेर्व्यापारः सकोऽसौ यस्मान्मतिज्ञानमेव, अक्षराऽऽत्मकत्वात्, स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकवदिति गाथाऽर्थः ॥ १६५ ॥

अथ स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेको मतिश्च श्रुतं च भविष्यति; अतो नैकस्याप्यभावप्रसङ्ग इत्याह-

मइकाले वि जइ सुयं, तो जुगवं मइसुओवओगा ते ।
अह नेवं एगयरं, पवज्जओ जुज्जए न सुयं ॥ १६६ ॥

स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकलक्षणे मतिकालेऽपि यदि श्रुत-व्यापार इष्यते, ततो युगपदेव मतिश्रुतोपयोगौ ते तव प्रसज्जते, न चैतत् युक्तम्, समकालं ज्ञानद्वयोपयोगस्य निषिद्धत्वात्। अथैतद्दोषभयाद् नैवमुपयोगद्वयं युगपदभ्युपगम्यते, तर्ह्येकतरं प्रतिपद्यमानस्य स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेककाले मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं वा इच्छतो भवत इत्यर्थः, किम् ? इत्याह-(जुज्जए न सुयं ति) श्रुतमिह प्रतिपत्तुं न युज्यते, किं तु मतिज्ञानमेव। इदमुक्तं भवति-'' सावकाशानवकाशयोरनवकाशो विधिर्बलवान् '' इति न्याया-दन्यत्रानवकाशं मतिज्ञानमेवैकं तवैकतरं प्रतिपद्यमानस्येह प्रतिपत्तुं युज्यते; न तु श्रुतं, तस्याऽन्यत्र श्रुतानुसारिण्याचाराऽऽदिज्ञानविशेषे सावकाशत्वात्। एवं च सति स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेको मतेरेव, न तु श्रुतात्, स चाऽक्षराभिलापसमनुगत एव, इति नैकान्तेन मतिज्ञानमनक्षरमिति भावः। इति गाथाऽर्थः ॥ १६६ ॥

किं च-अक्षरानुगतत्वमात्रमुपलभ्य स्थाणुपुरुषाऽऽदि-पर्यायविवेको भवता श्रुतनिश्रित उक्तः, एव चातिप्रसङ्गः प्राप्नोतीति दर्शयति-

जइ सुयनिस्सियमक्खरमणुसरओ तेण मइचउक्कं पि ।
सुयनिस्सियमावन्नं, तुह तं पि जमक्खरप्पभवं ॥ १६७ ॥

यदि स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकविधानेनाक्षरमनुसरतः प्रमातुर्ज्ञानं श्रुतनिश्रितं भवता प्रोच्यते, तेन तर्ह्यौत्पत्तिक्यादिमतिचतुष्कमपि तव श्रुतनिश्रितमापन्नम्, यस्मात्तदप्यक्षरप्रभवं वर्णाऽऽलिङ्गितमित्यर्थः। तदपि हि नेहाऽऽदिविरहेण जायते, ईहाऽऽदयश्च न वर्णाऽभिलापमन्तरेण संभवन्ति; तस्मान्मतिचतु-

ष्कमपि त्वदभिप्रायेण श्रुतनिश्रितमायातम्, न चैतदस्ति, आगमेऽश्रुतनिश्रितत्वेन तस्याभिधानात्। तस्माद्देवानां प्रियेणाद्यापि श्रुतनिश्रितस्य स्वरूपमेव नावगम्यते; तत् किं वयं ब्रूमः ? इति गाथाऽर्थः ॥ १६७ ॥

तदेवं श्रुतनिश्रितवचनश्रवणमात्राद्विभ्रान्तस्तत्स्वरूपमजानानः परो युक्तिभिर्निराकृतोऽपि विलक्षीभूतः प्राऽऽह-

जइ तं सुएण न तओ, जाणइ सुयनिस्सियं कहं भणियं ?
जं सुयकओवयारं, पुव्विं इण्हिं तयणवेक्खं ॥ १६८ ॥

यदि तं स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकसंघातं श्रुतेन न जानाति सकोऽसौ ज्ञानी, तर्हि श्रुतनिश्रितमेवावग्रहाऽऽदिकं सूत्रे कथं केन प्रकारेण भणितम् ?-मतिः स्वयमनक्षरैव, यस्त्विहाक्षरोपलम्भः स यदि श्रुतनिश्रितो नेष्यते, तर्हि कथमन्यथाऽसौ अटिष्यते ? इति विस्मयभयाऽऽपूरितहृदयस्य परस्याऽयं प्रश्न इति भावः। अत्रोच्यतेननु भवानेव प्रष्टव्यो योऽसमीक्षितमित्थं प्रभाषतेयोऽक्षरोपलम्भः स सर्वोऽपि श्रुतनिश्रय इति। अथ न ज्ञायते भवता, तर्हि वयमेवं ब्रूमः, श्रूयतम् (जं सुए इत्यादि) श्रुतं द्विविधम्-परोपदेशः, आगमग्रन्थश्च। व्यवहारकालात् पूर्वं तेन श्रुतेन कृत उपकारः संस्काराऽऽधानरूपो यस्य तत् कृतश्रुतोपकारम्, यद् ज्ञानमिदानीं तु व्यवहारकाले तस्य पूर्वप्रवृत्तस्य संस्काराऽऽधायकश्रुतस्यानपेक्षमेव प्रवर्तते तत् श्रुतनिश्रितमुच्यते, न त्वक्षराभिलापयुक्तत्वमात्रेणेति भावः। इति गाथाऽर्थः ॥ १६८ ॥

एतदेव भावयन्नाह-

पुव्वं सुयपरिकम्मिय-मइस्स जं संपयं सुयाऽऽईयं।
तं निस्सियमियरं पुण, अणिस्सिअं मइच उक्कं तं ॥ १६९ ॥

व्यवहारकालात् पूर्वं यथोक्तरूपेण श्रुतेन परिकर्मिता-आहित-संस्कारा मतिर्यस्य स तथा तस्य साध्वादेर्यन्साम्प्रतं व्यवहारकाले श्रुतातीतं श्रुतनिरपेक्षं ज्ञानमुपजायते तच्छ्रुतनिश्रितमवग्रहाऽऽदिकं सिद्धान्ते प्रतिपादितम्। इतरत्पुनरश्रुतनिश्रितम्, तच्चौत्पत्तिक्यादिमतिचतुष्कं द्रष्टव्यम्, श्रुतसंस्कारानपेक्षया सहजत्वात् तस्य। अत्राऽऽहननु ''भरनित्थरणसमत्था, तिवग्गसुत्तत्थ-गहियपेयाला। उभयलोगे फलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी ॥ १ ॥'' इत्यादिवचनात् तत्राऽपि मतिचतुष्के वैनयिकी मतिः श्रुत-निश्रिता समस्ति। सत्यम्, किंतु सकृत् श्रुतनिश्रित्वे सत्यपि बाहुल्यमङ्गीकृत्याश्रुतनिश्रितं तदुच्यते इत्यदोषः। (इममेवाऽभिप्रायं नन्द्यध्ययने अस्या एव गाथाया विवरणस्थले श्रीमन्मलयगिरिसूरिरप्याह। तथाहि-'' नन्वश्रुतनिश्रिता बुद्धयो वक्तुमभिप्रेताः, ततो यद्यस्यास्त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वम्, ततोऽश्रुतनिश्रित्वे नोपपद्यते, न हि श्रुताभ्यासमन्तरेण त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वं संभवति। अत्रोच्यते-इह प्रायो वृत्तिमाश्रित्याऽश्रुतनिश्रितत्वमुक्तम्, ततः स्वल्पश्रुतभावेऽपि न कश्चिद्दोषः '' इति।

''इहातिगुरुकार्यं दुर्निर्वहत्वाद् भर इव भरस्तन्निस्तरणे समर्था भरनिस्तरणसमर्थाः, वयो वर्गास्त्रिवर्गा लोकरूढ्याऽर्थधर्मकामास्तदर्जनोपायप्रतिपादकं यत् सूत्रं यश्च तदर्थस्तौ त्रिवर्गसूत्रार्थौ, तयोर्गृहीतं 'पेयालं' प्रमाणं सारो वा यथा सा तथाविधा।'' इति नन्दिटीकायां व्याख्यातोऽस्या अर्थः।) तस्माद् यदुक्तम्- ''जं मइनाणमणक्खरमियरं सुयनाणमिति'' (१६२) तदयुक्तम्, मतेरनक्षरत्वे स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकाभावप्रसङ्गात्, श्रुतनिश्रितत्वस्य चान्यथा समर्थितत्वादिति स्थितम्। इति गाथाऽर्थः ॥ १६९ ॥

यद्यनक्षरा मतिर्न भवति, तर्हि '' लक्खणभेया हेऊ, फलभावओ (९७) '' इत्यादिगाथायां प्रतिज्ञातोऽक्षरानक्षरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः कथं गमनीयः ? इत्याह-

उभयं भावऽक्खरओ, अणक्खरं होज्ज वंजणऽक्खरओ।
मइनाणं सुत्तं पुण, उभयं पि अणक्खरऽक्खरओ ॥ १७० ॥

इहाक्षरं तावद् द्विविधम्-द्रव्याक्षरम्, भावाक्षरं च। तत्र द्रव्याक्षरं पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताऽऽकाराऽऽदिरूपम्, ताल्वादिकारणजन्यः शब्दो वा; एतच्च व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनाक्षरमप्युच्यते। भावाक्षरं त्वन्तःस्फुन्दकाराऽऽदिवर्णज्ञानरूपम्। एवं च सति (भाव-ऽक्खरओ त्ति) भावाक्षरमाश्रित्य मतिज्ञानं भवेत्। कथंभूतम् ? इत्याह-(उभयं ति) उभयरूपम्-अक्षरवत्, अनक्षरं चेत्यर्थः; मतिज्ञानभेदे ह्यवग्रहे भावाक्षरं नास्तीति तदनक्षरमुच्यते, ईहाऽऽदिषु तु तद्भेदेषु तदस्तीति मतिज्ञानमक्षरवत् प्रतिपाद्यत इति भावः। (अणक्खरं होज्ज वंजणऽक्खरओ त्ति) व्यञ्जनाक्षरं द्रव्याक्षरमित्यनर्यान्तरम्, तदाश्रित्य मतिज्ञानमनक्षरं भवेत्, न हि मतिज्ञाने पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताकाराऽऽदिकं शब्दो वा व्यञ्जनाक्षरं विद्यते, तस्य द्रव्यश्रुतत्वेन रूढत्वात्, द्रव्यमतित्वेनाप्रसिद्धत्वादिति। (सुत्तं पुणेत्यादि) सूत्रं श्रुतज्ञानम्, पुनरुभयमपि-द्रव्यश्रुतम्, भावश्रुतं च इत्यर्थः, प्रत्येकमनक्षरतः, अक्षरतश्च भवेत्। इद-मुक्तं भवति-'' ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च। निस्सिंघियमनुसारं, अणक्खरं छेलियाईयं '' ॥ १ ॥ इत्यादि-वचनाद् द्रव्यश्रुतमनक्षरम्-पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षररूपम्, शब्दरूपं च; तदेव साक्षरं भावश्रुतमपि श्रुतानुसार्यकारादिवर्णविज्ञानऽऽत्मकत्वात्साक्षरम्, पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताकाराऽऽद्यक्षररहितत्वात् शब्दाभावाच्च तदेवानक्षरम्, पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षरस्य शब्दस्य च द्रव्यश्रुतान्तःपातित्वेन भावश्रुतेऽसत्त्वात्; तदेवं मतेर्भावश्रुतस्य च साक्षरानक्षरकृतो नास्ति विशेषः; प्रत्येकं द्वयोरप्यक्षरानक्षररूपत्वेनोक्तत्वात्; केवलं सामान्येन' श्रुतम्' इत्युक्ते तन्मध्ये द्रव्यश्रुतं लभ्यत इति कृत्वा तत्र द्रव्यश्रुतमाश्रित्य द्रव्याक्षरमस्ति, मतौ तु तन्नास्ति, तस्या द्रव्यमतित्वेनाऽऽरूढत्वादिति। एवमनयोर्द्रव्याक्षरापेक्षया साक्षरानक्षरत्वकृतो भेदः। इति गाथाऽर्थः ॥ १७० ॥

तदेवमक्षरेतरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदमभिधाय मूकेतरभेदात् तमभिधित्सुराह-

सपरप्पच्चायणओ, भेओ मूएयराण वाऽभिहिओ।
जं मूयं मइनाणं, सपरप्पच्चायगं सुत्तं ॥ १७१ ॥

अन्यैस्तु कैश्चिदाचार्यैः स्वपरप्रत्यायनतो मतिश्रुतयोर्भेदोऽभिहितः। कयोरिव ? इत्याह-मूकेतरयोरिव, यथा हि मूकः स्वमात्मानमेव प्रत्याययति प्रतीतिपथं नयति, न तु परम्, तत्प्रत्ययानहेतुवचनाभावाद्; इतरस्त्वमूकः स्वं परं च प्रत्याययति, वचनसद्भावात्। तथा सति यथा मूकमुखरयोर्भेदः, एवं मतिश्रुतयोरपि, यद् यस्मात् परप्रत्यायनहेतुद्रव्याक्षराभावाद् मूकं मतिज्ञानम्, मुखरं तु श्रुतज्ञानम्,

कुतः ? स्वपरप्रत्यायकत्वाद्-द्रव्याक्षरसद्भावेन परप्रत्यायक-त्वस्यापि तत्र लभ्यमानत्वादिति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ १७१ ॥

एतदाचार्यो मतिश्रुतयोस्तुल्यताऽऽपादनेन किञ्चिद् दूषयितु-माह-

सुयकारणं ति सद्धो, सुयमिह सो य परबोहणं कुणइ ।
मइहेयवो वि हि परं, बोहिंति कराइचेट्ठाओ ॥ १७२ ॥

इह तावद्भवन्तं पृच्छामः-हन्त ! शब्दः श्रुतमुच्यते, उपलक्षण-त्वात्पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षरविन्यासश्च श्रुतमभिधीयते (सुयकारणं ति) श्रुतकारणत्वात्-कारणे कार्योपचारादिति भावः । स च शब्दः, पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षरविन्यासश्च परबोधनं परप्रत्यायनं करो-तीत्येवं परतः श्रुतज्ञानं परप्रत्यायकमुच्यते, न तु स्वतः; इति तावद्भवतोऽ-भिप्रायः । एतच्च मतिज्ञानेनाऽपि समानम् । कुतः ? इत्याह-हि यस्मान्म-तिहेतवोऽपि मतिजनका अपि कराऽऽदिचेष्टाविशेषाः परं बोधयन्त्येव । तथाहि-अक्षराऽऽत्मकत्वात् किलशब्दः, पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षर-विन्यासश्च श्रुतस्य कारणं, करशीर्षाऽऽदिचेष्टास्त्वक्षररहितत्वात् किल मतिज्ञानस्य हेतवः-करवक्त्रसंयोगे हि कृते भुजिक्रियाविषया किल मतिरुत्पद्यते, शीर्षे च धूनिते निवृत्तिप्रवृत्तिविषया सा समुपजायते, इत्येवं मतिहेतवः कराऽऽदिचेष्टाऽपि परप्रबोधिका एवेति गाथाऽर्थः ॥ १७२ ॥

यदि मतिहेतवोऽपि परं प्रबोधयन्ति, ततः किम् ? इत्याह-

न परप्पबोहयाइं, जं दो वि सरूवओ मइसुयाइं ।
तक्कारणाइँ दोण्ह वि, बोहेंति तओ न भेओ सिं ॥ १७३ ॥

मतिहेतूनामपि परप्रबोधकत्वे सति न (भेओ सिं) अनयोर्मतिश्रुतयोर्न भेदः । कुतः ? इत्याह-(तउ त्ति) ततस्तस्मात् कारणात् । कस्मात् ? इत्याह-यद् यस्माद् द्वे अप्येते मतिश्रुते स्वरूपतो विज्ञानाऽऽत्मना न परप्रबोधके, विज्ञानस्य मूकत्वेन परप्रबोधकत्वायोगात् , अवध्यादिव-दिति । अथ श्रुतस्य यत्कारणं शब्दाऽऽदिकं तत्परप्रबोधकम् , इत्येतावता मतिज्ञानाद् विशिष्यते श्रुतज्ञानम् । नन्चेतद् मतिज्ञानेऽपि समानम् , तत्कारणस्याऽपि करचेष्टाऽऽदेः परावबोधकत्वादिति । एतदेवाऽऽहतानि च तानि पूर्वोक्तरूपाणि कारणानि च तत्कारणानि द्वयोरपि मतिश्रुतज्ञान-योर्यथासंख्यं शब्दाऽऽदीनि, कर चेष्टाऽऽदीनि च परं बोधयन्त्येव, इति कोऽनयोर्विशेषः ? न कश्चिदित्यर्थः । इति किमुच्यतेमूकेतरभेदाद् भेदः ? इति गाथार्थः ॥ १७३ ॥

तदेवं परोक्ते व्यभिचारिते ततो निरुत्तरं विलक्षीभूतं
तूष्णींभावमापन्नं परमवलोक्य संजातकारुण्यः
स्वयमेव सूरिरुत्तरमाह-

दव्वसुयमसाहारण-कारणओ परविबोहयं होज्जा ।
रूढं ति व दव्वसुयं, सुयं ति रूढा ण दव्वमई ॥ १७४ ॥

द्रव्यश्रुतं पुस्तकन्यस्ताक्षरशब्दरूपं श्रुतज्ञानस्यैव कारणम् , न तु मतेः, इति श्रुतज्ञानं प्रत्यसाधारणकारणत्वाद् द्रव्यश्रुतं परप्रबोधकं भवेत्, न तु कराऽऽदिचेष्टाः, तासां मतिश्रुतोभयकारणत्वेन साधारणकारणत्वा-दिति भावः । इदमुक्तं भवति-पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षररूपं, शब्दाऽऽत्मकं च द्रव्यश्रुतम्, श्रुतज्ञानस्य मतिपूर्वकत्वाद् यद्यप्यानन्तर्येणाऽवग्रहेहाऽऽदीन् जनयति, तथाऽप्यक्षररूपत्वाद् मुख्यतया श्रुतज्ञानस्यैव किलासाधारणं कारणमुच्यते, कारणत्वेनोपचारतः श्रुतज्ञानेऽन्तर्भवति, परप्रबोधकत्वेन च तत्सर्वस्यापि विदितमिति । एवं कारणस्य परप्रबोधकत्वात् श्रुतज्ञानं परप्रबोधकं घटते, कराऽऽदिचेष्टास्तु मतिज्ञानस्यासाधारणकारणं न भवन्ति, श्रुतज्ञानहेतुत्वादपि करवक्त्रसंयोगाऽऽदिकायां हि करचेष्टायां दृष्टात्वं न केवलं तद्विषयाऽवग्रहाऽऽदय उत्पद्यन्ते, किं तु-''भोक्तुमिच्छ-त्ययम्'' इत्यादिश्रुतानुसारिविकल्पाऽऽत्मकं श्रुतज्ञानमप्युपजायते इति । अतोऽसाधारणकारणत्वाभावात् कराऽऽदिचेष्टाः परमार्थतो मतिज्ञानस्य कारणमेव न संभवन्ति, ततश्च न तत्रान्तर्भवन्ति; तथा च सति न मतिज्ञानं परप्रबोधकम् । अथवा-(दव्वसुयमसाहारणकारणओ त्ति) द्रव्यश्रुतं पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताऽऽचाराऽऽदिग्रन्थाक्षररूपम् , गुरुजनोदीरितदेशनाशब्दस्वरूपं च परप्रबोधकंभवेत् । कुतः ? इत्याह-असा-धारणस्य मोक्षं प्रत्यनन्यसाधारणकारणस्य क्षायिकज्ञानदर्शन-चारित्रलक्षणस्य वस्तुकलापस्य कारणत्वाद् हेतुत्वात् ; ततश्च तद्द्वारेण श्रुतज्ञानमपि परप्रबोधकं घटते, कराऽऽदिचेष्टास्तु यद्यपि मतिज्ञानस्य कारणम् , तथाऽपि यथोक्तो विशिष्टः परप्रबोधस्तासु प्रायो न संभवति, अतो विशिष्टपरप्रबोधाभावाद् न ताः परप्रबो-धिकाः, तथा च सति न तद्द्वारेणापि मतिज्ञानं परप्रबोधकम् । इति सूत्रस्य सूचकत्वात् सोपस्कारः पूर्वार्द्धस्यार्थोऽवसेयः । अथोत्तरार्द्धस्य व्याख्या प्रस्तूयते-(रूढं ति वेत्यादि) वेत्यथवा, भवतु मतिज्ञानस्य कारणं कराऽऽदिचेष्टा, तथापि सा ' द्रव्यमतिः ' इत्ये-वमागमे क्वचिदपि न रूढाः; द्रव्यश्रुतं पुनः पूर्वोक्तस्वरूपं ' श्रुतम् ' इत्येवं सर्वत्र रूढम् । ततश्च यद्यपि कराऽऽदिचेष्टा मतिज्ञानस्य कारणम् , परप्रबोधिका च; तथापि द्रव्यमति-त्वेनाऽऽरूढत्वात् कारणे कार्योपचारतो मतिरूपतया न व्यवह्रियते । अतो मतिज्ञानात् त-स्याः पृथग्भूतत्वाद् न तद्द्वारेण तस्य परप्रबोधकत्वम् , द्रव्यश्रुतं तु कारणे कार्योपचारतः श्रुतज्ञानत्वेन प्ररूप्यते, इति तद्द्वारेणा-स्य परप्रबोधकमुपपद्यते एव । इति युक्तो मूकेतरभेदाद् मतिश्रुतयो-र्भेदः । ततश्च-'' तक्कारणाइं दोण्ह, वि बोहिंति तओ न भेओ सिं । '' (१७३) इत्येतदपास्तं भवतीति गाथाऽर्थः ॥ १७४ ॥

(११) तदेवं कराऽऽदिचेष्टाया मतिकारणत्वमभ्युपगम्योक्तम् ,
साम्प्रतं सा मतेः कारणमेव न भवति, किं तु
श्रुतस्येति दर्शयन्नाह-

सा वा सद्दत्थो च्चिय, तया वि जं तम्मि पच्चओ होइ ।
कत्ता वि हु तदभावे, तदभिप्पाओ कुणइ चिट्ठं ॥ १७५ ॥

यदि वा सा कराऽऽदिचेष्टा करवक्त्रसंयोगाऽऽदिलक्षणा । किम् ? इत्याह-शब्दार्थ एव शब्दो वक्तृसमुदीरितवचनरूपः, तस्यार्थः शब्दार्थः श्रोतृगतज्ञाने प्रतिभासमानतदभिधेयवस्तुरूपः श्रुतज्ञानमिति तात्पर्यम् । किमित्यसौ शब्दार्थ एव ? इत्याह-यद् यस्मात्ः कारणात् तयाऽपि कर्त्रा विहितया तस्मिन् शब्दार्थभोजनेच्छाऽऽदिलक्षणे प्रतिपत्तुः प्रत्ययो भवति । तथा कर्ताऽपि तदभावे शब्दाभावे जिह्वारोगाऽऽदिसद्भावात् शब्दोदीरणसार्थ्याभाव इत्यर्थः । (तदभिप्पाउ त्ति) तस्मिन् शब्दार्थे भोजनेच्छाऽऽदिलक्षणे परस्मै प्रतिपादयितव्येऽभिप्रायो मनोवि-कल्पो यस्यासौ तदभिप्रायः करोति चेष्टां करवक्त्रसंयोगाऽऽदि

लक्षणाम् । इदमुक्तं भवति-यद्यपि कराऽऽदिचेष्टाऽनन्तरभावेनाऽवग्रहाऽऽदीन् जनयति, तथाऽपि शब्दार्थ एव सा श्रुतज्ञानमेवेत्यर्थः, यस्मात् तयाऽपि विहितया तत्र शब्दार्थप्रत्ययो भवति, अतः शब्दार्थप्रत्ययजनकत्वात् कारणे कार्योपचारात् शब्दार्थप्रत्यय एव सा, न पुनर्मतिः, तथा कर्ताऽपि 'भोक्तुमिच्छत्यसौ' इत्यादिप्रतिपत्ता जानात्वित्यभिप्रायवानेव भाषणशक्त्यभावे कराऽऽदिचेष्टां करोति। ततश्च कर्त्राऽपि शब्दार्थद्योतनाभिप्रायेण क्रियमाणत्वात् कराऽऽदिचेष्टा शब्दार्थ एव । ततश्च एषाऽपि श्रुतकारणत्वात् श्रुत एवान्तर्भवति, शब्दवत् , न मतौ, तथा च सत्येषा परमार्थतो मतेः कारणमेव न भवत्यतः कारणद्वारेणाऽपि न परप्रत्यायकं मतिज्ञानम् , श्रुतं तु तद्द्वारेण परावबोधकम्। इति युक्तो मूकेतरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः ॥ १७५ ॥ विशे० । स्था० । आ० म० । कर्म० । नं० ।

(१२) श्रुतानन्तरमवधिज्ञानस्य विवेकः-

कालविपर्ययस्वामित्वलाभसाधर्म्याद् मतिश्रुतानन्तरमवधि-ज्ञानमुक्तम् । प्रवाहापेक्षया, अप्रतिपतितैकसत्त्वाऽऽधारापेक्षया वा यावान् मतिश्रुतयोः स्थितिकालः तावानेवावधिज्ञानस्याऽपि तथा यथैव मतिश्रुतज्ञाने मिथ्यादर्शनोदयतो विपर्ययरूपतामासादयतः, तथाऽविधज्ञानमपि । तथाहि-मिथ्यादृष्टेः सतस्तान्येव मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मत्यज्ञाने श्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानि भवन्ति । उक्तं च-'' आद्यत्रयमज्ञानम्-पि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् । '' इति । तथा य एव मतिश्रुतज्ञानयोः स्वामी स एवावधिज्ञानस्याऽपि । तथा विभङ्गज्ञानिनः त्रिदशाऽऽदेः सम्यग्दर्शनावाप्तौ युगपदेव मतिश्रुतावधिज्ञानानां लाभसंभवस्ततो लाभसाधर्म्यम् अवधिज्ञानानन्तरं च छद्मस्थविषयभावप्रत्यक्षत्वसाधर्म्याद् मनःपर्यायज्ञानमुक्तम् । तथाहि-यथाऽवधिज्ञानं छद्मस्थस्य भवति, तथा मनःपर्यवज्ञानमपीति छद्मस्थसाधर्म्यम्। तथा यथाऽवधिज्ञानं रूपिद्रव्यविषयं तथा मनःपर्यायज्ञानमपि, तस्य मनःपुद्गलाऽऽलम्बनत्वादिति विषयसाधर्म्यम्। तथा यथाऽवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्तते, तथा मनःपर्यायज्ञानमपीति भावसाधर्म्यम्। यथा चाऽवधिज्ञानं प्रत्यक्षं तथा मनःपर्यायमपीति प्रत्यक्षत्वसाधर्म्यम्। उक्तं च- ''कालविवज्जयसामित्तलाभसाहम्मओऽवही तत्तो। माणसमित्तो छउमत्थविसयभावाइँ साहम्मा'' ॥ ८७ ॥ (विशे०) तथा मनःपर्यायज्ञानानन्तरं केवलज्ञानस्योपन्यासः, सर्वोत्तमत्वात् , अप्रमत्तयतिस्वामिसाधर्म्यात् सर्वावसानलाभाच्च । तथाहि-सर्वाण्यपि मतिज्ञानाऽऽदीनि ज्ञानानि देशतः परिच्छेदकानि, केवलज्ञानं तु सकलवस्तुस्तोमपरिच्छेदकं सर्वोत्तमं, सर्वोत्तमत्वात् चान्ते सर्वशिरःशेखरकल्पे उपन्यस्तम् । तथा-यथा मनःपर्यायज्ञानमप्रमत्तयतेरेवोदयते, तथा केवलमप्यप्रमादभावमुपगतस्यैव यतेर्भवति, नान्यस्य, ततोऽप्रमत्तयतिसाधर्म्यम् । तथा यः सर्वाण्यपि ज्ञानानि समासादयितुं योग्यः स नियमात् सर्वज्ञानावसाने केवलज्ञानमवाप्नोति, ततः सर्वान्ते केवलमुक्तम् । उक्तं च-''अन्ते केवलमुत्तं, जइ सामित्तावसाणलाभाओ ।'' इति । तथा यथा मनःपर्यायज्ञानं न विपर्ययमासादयति, तथा केवलज्ञानमपि।ते । विपर्ययाभावसाधर्म्याच्च मनःपर्यायज्ञानानन्तरं केवलज्ञानमुक्तमिति कृतं प्रसङ्गेन। नं०। '' खइयं खओवसमियं, दुविहं नाणं मुणेयव्वं। खइयं केवलनाणं, खओवसमियाइँ सेसणाणाइं ॥ १ ॥ '' पं० भा० ।

(१३) ज्ञानं प्रत्यक्षं परोक्षं च। तथाहि-

तं समासओ दुविहं पण्णत्तं । तं जहा-पच्चक्खं च, परोक्खं च ।

तत्पञ्चप्रकारमपि ज्ञानं समासतः संक्षेपेण द्विविधं द्विप्रकारं प्रज्ञ-प्तं, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । प्रत्यक्षं च, परोक्षं च । नं० । आ० म० । आ० चू० । स्था० । (प्रत्यक्षवक्तव्यता ' पच्चक्ख ' शब्दे) (परोक्षभेदाः ' परोक्ख ' शब्दे वक्ष्यन्ते) (अवध्यादिज्ञानानां व्याख्या स्वस्वस्थाने) (तृतीयभागे ' ओहि ' शब्दे द्वितीयभागे २५५ पृष्ठे संशयाऽऽदीनामपि ज्ञानवत्त्वमावेदितम्)

(१४) न ज्ञानमात्मव्यतिरेकेण गुणः-

ननु चैतन्यं ज्ञानमात्मनः क्षेत्रज्ञादन्यदत्यन्तव्यतिरिक्तम्, असमासकरणादत्यन्तमिति लभ्यते । अत्यन्तभेदे सति कथमात्मनः संबन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः ? इति पराशङ्कापरिहारार्थमौपाधिकमिति विशेषणद्वारेण हेत्वभिधानम् । उपाधेरागतमौपाधिकम् । समवायसंबन्धलक्षणेनोपाधिना आत्मनि समवेतमात्मनः स्वयं जडरूप-त्वात् समवायसंबन्धोपढौकितमिति यावत् । यद्यात्मनो ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वमिष्यते, तदा दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद् बुध्यादीनां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदावसरे आत्मनोऽप्युच्छेदः स्यात् । तदव्यतिरिक्तत्वात् । अतो भिन्नमेवाऽऽत्मनो ज्ञानं यौक्तिकमिति । (स्या०) अत्राह-ज्ञानमपि यद्येकान्तेनाऽऽत्मनः सकाशाद्भिन्नमिष्यते, तदा तेन चैत्रज्ञानेन मैत्रस्येव नैव विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः । अथ यत्रैवा-ऽऽत्मनि समवायसंबन्धेन समवेतं ज्ञानं तत्रैव भावावभासं करो-तीति चेत्। न। समवायस्यैकत्वाद् नित्यत्वाद् व्यापकत्वात् च सर्वत्र वृत्तेरविशेषात् समवायवदात्मनामपि व्यापकत्वादेकज्ञानेन सर्वेषां विषयावबोधप्रसङ्गः । यथा च घटे रूपाऽऽदयः समवायसंबन्धेन समवेताः, तद्विनाशे च तदाश्रयस्य घटस्याऽपि विनाशः । एवं ज्ञानमप्यात्मनि समवेतं, तच्च क्षणिकं, ततस्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशाऽऽपत्तेरनित्यत्वाऽऽपत्तिः । अथाऽस्तु समवायेन ज्ञानाऽऽत्मनोः संबन्धः, किं तु स एव समवायः केन तयोः संबध्यते ? सम-वायान्तरेण चेदनवस्था, स्वेनैव चेत् , किं न ज्ञानाऽऽत्मनोरपि तथा । अथ यथा प्रदीपस्तत्स्वाभाव्यादात्मानं परं च प्रकाशयति, तथा समवायस्येदृगेव स्वभावो यदात्मानं, ज्ञानात्मानौ च संबन्धयतीति चेत्-ज्ञानात्मनोरपि किं न तथास्वभावता, येन स्वयमेवैतौ संबध्येते ? किञ्च-प्रदीपदृष्टान्तोऽपि भवत्पक्षे न जाघटीति । यतः प्रदीपस्तावद् द्रव्यम् , प्रकाशश्च तस्य धर्मः, धर्मधर्मिणोश्च त्वयाऽत्यन्तं भेदोऽभ्युपगम्यते; तत्कथं प्रदीपस्य प्रकाशाऽऽत्मकता ? तदभावे च स्वपरप्रकाशकस्वभावताभणितिर्निर्मूलैव । यदि च प्रदीपात्प्रकाशस्यात्यन्त भेदेऽपि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकत्वमिष्यते, तदा घटाऽऽदीनामपि तदनुषज्यते, भेदाविशेषात् । अपि चतौ स्वपरसंबन्धनस्वभावौ समवायाद्भिन्नौ स्याताम् , अभिन्नौ वा ? यदिभिन्नौ, ततस्तस्यैतौ स्वभावाविति कथं संबन्धः ? संबन्धिनिबन्धनस्य समवायान्तरस्यानवस्थाभयादनभ्युपगमात्। अथाऽभिन्नौ, ततः समवायमात्रमेव, न तौ। तदव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवदिति । किञ्च-यथेह समवायिषु समवाय इति मतिः

समवायं विनाऽप्युपपन्ना, तथेहाऽऽत्मनि ज्ञानमित्ययमपि प्रत्ययस्तं विनैव चेदुच्यते, तदा को दोषः ? अथाऽऽत्मा कर्ता, ज्ञानं च करणम्, कर्तृकरणयोश्च वर्द्धकिवासीवद्भेद एव प्रतीततः, तत्कथं ज्ञानाऽऽत्मनोरभेदः ? इति चेत्। न। दृष्टान्तस्य वैषम्यात्। वासी हि बाह्यं करणम्, ज्ञानं चाभ्यन्तरं, तत्कथमनयोः साधर्म्यम् ? न चैवं करणस्य द्वैविद्ध्यमप्रसिद्धम्। यदाहुर्लाक्षणिकाः-'' करणं द्विविधं ज्ञेयं, बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः। यथा लुनाति दात्रेण, मेरुं गच्छति चेतसा ''॥ १॥ यदि हि किञ्चित्करणमान्तरमेकान्तेन भिन्नमुपदर्श्यते, ततः स्याद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यम्, न च तथाविधमस्ति। न च बाह्यकरणगतो धर्मः सर्वोऽप्यान्तरे योजयितुं शक्यते। अन्यथा दीपेन चक्षुधा देवदत्तः पश्यतीत्यत्रापि दीपाऽऽदिवच्चक्षुषोऽप्येकान्तेन देवदत्तस्य भेदः स्यात् ; तथा च सति लोकप्रतीतिविरोध इति। अपि च-साध्यविकलोऽपि वासिवर्द्धकिदृष्टान्तः। तथाहि-नायं वर्द्धकिः काष्ठमिदमनया वास्या घटयिष्यते इत्येवं वासिग्रहणपरिणामेनापरिणतः सन् तामगृहीत्वा घटयति, किं तु तथापरिणतस्तां गृहीत्वा। तथापरिणामे च वासिरपि तस्य काष्ठस्य घटने व्याप्रियते, पुरुषोऽपि। इत्येवं लक्षणैकार्थसाधकत्वाद् वासिवर्द्धक्योरभेदोऽप्युपपद्यते, तत्कथमनयोर्भेद एवेत्युच्यते ? एवमात्माऽपि-'विवक्षितमर्थमनेन ज्ञानेन ज्ञास्यामि' इति ज्ञानग्रहणपरिणामवान् ज्ञानं गृहीत्वाऽर्थं व्यवस्यति, ततश्च ज्ञानाऽऽत्मनोरुभयोरपि संवित्तिलक्षणैककार्यसाधकत्वादभेद एव। एवं कर्तृकरणयोरभेदे सिद्धे संवित्तिलक्षणं कार्यं किमात्मनि व्यवस्थितम्, आहोस्विद् विषये इति वाच्यम् ? आत्मनि चेत्-सिद्धं नः समीहितम्। विषये चेत्, कथमात्मनोऽनुभवः प्रतीयते ? अथ विषयस्थितसंवित्तेः सकाशादात्मनोऽनुभवस्तर्हि किं न पुरुषान्तरस्यापि ? तद्भेदाविशेषात्। अथ ज्ञानाऽऽत्मनोरभेदपक्षे कथं कर्तृकरणभाव इति चेत् ? ननु यथा सर्प आत्मानमात्मना वेष्टयतीत्यत्राभेदे यथा कर्तृकरणभावस्तथाऽत्रापि। अथ परिकल्पितोऽयं कर्तृकरणभाव इति चेद्वेष्टनाऽवस्थायां प्रागवस्थाविलक्षणगतिनिरोधलक्षणार्थक्रियादर्शनात् कथं परिकल्पितत्वम् ? न हि परिकल्पनाशतैरपि शैलस्तम्भ आत्मानमात्मना वेष्टयतीति वक्तुं शक्यम्। तस्मादभेदेऽपि कर्तृकरणभावः सिद्ध एव। किञ्च-चैतन्यमिति शब्दस्य चिन्त्यतामन्वर्थः-चेतनस्य भावश्चैतन्यम्। चेतनश्चात्मा त्वयाऽपि कीर्त्यते, तस्य भावः स्वरूपं चैतन्यम्। यच्च यस्य स्वरूपं न तत्ततो भिन्नं भवितुमर्हति, यथा वृक्षाद् वृक्षस्वरूपम्। अथास्ति चेतन आत्मा, परं चेतनासमवायसंबन्धाद्, न स्वतः; तथा प्रतीतेरिति चेत्। तदयुक्तम्। यतः प्रतीतिश्चेत् प्रमाणीक्रियते, तर्हि निर्बाधमुपयोगाऽऽत्मक एवाऽऽत्मा प्रसिध्यति। न हि जातु-चित् स्वयमचेतनोऽहं चेतनायोगात् चेतनः। अचेतने वा मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति; ज्ञाताऽहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः। भेदे तथा प्रतीतिरिति चेत्। न। कथञ्चित्तादात्म्याभावे सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनात्। यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद् दृष्टा, न पुनस्तात्त्विकी। उपचारस्य तु बीजं-पुरुषस्य यष्टिगतस्तब्धत्वाऽऽदिगुणैरभेदः, उपचारस्य मुख्यार्थस्पर्शित्वात्। तथा चाऽऽत्मनि ज्ञाताऽहमिति प्रतीतिः कथञ्चिच्चेतनाऽऽत्मतां गमयति, तामन्तरेण ज्ञाताऽहमिति प्रतीतेरनुपपद्यमानत्वाद्, घटाऽऽदिवत्। न हि घटाऽऽदिरचेतनाऽऽत्मको ज्ञाताऽहमिति प्रत्येति। चैतन्ययोगाभावादसौ न तथा प्रत्येतीति चेत्। न। अचेतनस्यापि चैतन्ययोगाच्चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वात्, इत्यचेतनत्वं सिद्धम्-आत्मनो जडस्याऽर्थपरिच्छेदं पराकरोति, तं पुनरिच्छता चैतन्यस्वरूपताऽस्य स्वीकरणीया। ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः, अन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनधनवतोर्भेदाभावनुषङ्गः। तदसत्। य तो ज्ञानवानहमिति नाऽऽत्मा भवन्मते प्रत्येति, जडत्वैकान्तरूप-त्वात्, घटवत्। सर्वथा जडश्च स्यात्-आत्मा ज्ञानवानहमिति प्रत्ययश्च स्यादस्य विरोधाभावात्, इति मा निर्णषीः; तस्य तथो-त्पत्त्यसंभवात्। ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नागृहीते ज्ञानाऽऽख्ये विशेषणे विशेष्ये चाऽऽत्मनि जातूत्पद्यते, स्वमतविरोधात्; ''नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः'' इति वचनात्। गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यत इति चेत्-कुतस्तद्ग्रहीतिः ? न तावत् स्वतः, संवेदनाऽनभ्युपगमात्। स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते, नाऽन्यथा, सन्तानान्तरवत्। परतश्चेत्तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं ना-गृहीते ज्ञानत्वविशेषणे गृहीतुं शक्यम्। गृहीते हि घटत्वे घटग्रहण-मिति ज्ञानान्तरात्तद्ग्रहणेन भाव्यम्, इत्यनवस्थानात् कुतः प्रकृ-तप्रत्ययः ? तदेवं नाऽऽत्मनो जडस्वरूपता संगच्छते। तदसङ्गतौ च चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यदिति वाङ्मात्रम्। स्या०। आचा०। विपा०। ('आता' शब्दे द्वितीयभागे २०० पृष्ठे ज्ञानज्ञानिनोरभेदविचारोऽदर्शि)

(१५) ज्ञानज्ञानिनोरन्यत्वे बन्धमोक्षपरामर्शः-

चेयण्णस्स उ जीवा, जीवस्स उ चेयणाउ अन्नत्ते।
दवियं अलक्खणं खलु, हविज्ज न य बंधमोक्खाओ॥

चैतन्यस्य जीवाज्जीवस्य चेतनाया अन्यत्वे द्रव्यं जीवद्रव्यमलक्षणं 'चेतनालक्षणो जीवः' इति लक्षणरहितं भवेत्, चेतनाया घटाऽऽदिवद् जीवादप्येकान्तव्यतिरिक्तत्वाद्, लक्षणाभावे च लक्ष्यस्याप्यभाव इति, खरशृङ्गवत्। अत्यन्तासन् जीवो न बध्यते, बन्धस्य वस्तुधर्मत्वात्। नापि मुच्यते, बन्धाभावादिति बन्धमोक्षावपि न स्याताम्। अथ मन्येथा अचेतनोऽपि स बध्यते, मुच्यते चेति। तदप्ययुक्तम्। अचेतनानामप्येव धर्मास्तिकायाऽऽदीनां बन्धमोक्षप्रसक्तेः। बृ० १ उ०। विशे०।

(१६) बोधमात्रं, सकारो वा बोधः प्रमाणम्-

तथाहि-'' बोधः प्रमाणम् '' इति वदन्तो वैभाषिकाः पर्यनुयोज्याः। किं बोधमात्रस्य प्रामाण्यम्, आहोस्विद् बोधविशेषस्य ? यदि बोधमात्रस्य, तदा तल्लक्षणमयुक्तम्; व्यवच्छेद्याभावात्। अबोधस्य व्यवच्छेद्यत्वेऽपि संशयविपर्ययाऽऽदीनां बोधस्वभावत्वात् प्रमाणताप्रसक्तिः। न च संशयाऽऽदीनामपि प्रमाणता, लोकशास्त्रविरोधात्। लोकप्रसिद्धं च प्रमाणं व्युत्पादयितुमारब्धम्, तत्र चेन्द्रियाऽऽदेरपि प्रमाणतायाः प्रसिद्धेः बोधस्य प्रामाण्येऽव्याप्तिश्च लक्षणदोषः। न चाबोधरूपस्येन्द्रियाऽऽदेर्लोकप्रमाणता न व्यपदिशति, प्रदीपेनोपलब्धं चक्षुषा दृष्टं धूमेनावगतमिति लौकिकव्यवहारदर्शनात्। न चौपचारिकं प्रामाण्यम्, प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वेन मुख्यप्रामाण्योपपत्तेः। अत एव शास्त्रान्तरेष्वपि विशेष्योपलब्धिजनकस्य बोधाबोधरूपविशेषत्यागेन, सामान्यतो '' लिखितं साक्षिणो भुक्तिः, प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् '' इत्युक्तिः। किं च-प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणशब्दः करणविशेषप्रतिपादकः। करणविशेषत्वं चास्य विशेष्योपलब्धिजनकस्य बोधाबोधरूपविशेषत्यागेन सामान्यतो

लिखितस्वरूपकार्यजनकत्वेन कार्यस्य चाव्यभिचाराऽऽदिस्वरूपत्वात् तज्जनकत्वेनापरेण साधकतमेन भाव्यम्, एकस्यैव स्वात्मनि करणक्रियाविरोधात्। ततो बोधाबोधरूपस्य प्रमितिजनकस्य प्रमाणतोपपत्तेर्बोधमात्रं प्रमाणमित्यत्राव्याप्तिर्लक्षणदोषः प्राप्नोतीति स्थितम्।

अथ बोधविशेषः प्रमाणं, तदाऽत्रापि वक्तव्यम् कः पुनरसौ बोधस्य विशेषः ? यद्यव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टत्वं, तदा प्रमितिस्वभावस्य तस्य प्रमाणताप्रसक्तिः। न चाभ्युपगम्यत एवेति वाच्यम्, करणविशेषस्य प्रमाणव्यवस्थितेः। अत एव ' निराकारो बोधोऽर्थसहभाव्येकसामग्यधीनस्तत्रार्थे प्रमाणम् ' इति वैभाषिकोक्तमसङ्गतम्। अपि च-कर्मण्यसौ प्रमाणमभ्युपेयते। यत उक्तम्- '' सव्यापारमिवाऽऽभाति, व्यापारेण स्वकर्मणि। '' इति। कर्मता च बोधसहभाविनोऽर्थस्य तद्बोधापेक्षया न संभवति, तत्समानकालस्य तत्कृतविकार्यत्वात्। द्वयोः कर्मरूपत्वे च तत्र करणक्रिययोः कथं प्रतिनियमः ? तदभावे चैकस्य सामग्यधीनतायामपि सर्वः सर्वस्य बोधो भवेत्। किञ्चैकसामग्यधीनत्वस्य द्वयोरप्यविशेषाद्यथा बोधार्थस्य ग्राहकः, तथाऽर्थोऽपि बोधस्य किं न भवेत् ? तन्न ' निराकारो बोधः प्रमाणं ' संभवति। अथ स्यान्नि-राकारो बोधः, प्रमाणं माऽस्त्वसौ, प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वात् प्रमाणम्। ननु च बोधस्य प्रमाणस्वरूपत्वादर्थाऽऽकाराऽऽत्मकत्वमयुक्तम्, प्रमेयरूपताऽऽपत्तेः। न च प्रमेयरूपमेव प्रमाणं भवितुमर्हति, प्रमाणस्य तद्ग्राहकत्वेन प्रतिभासनात्। न च तथात्वेन प्रतिभासमानमपि प्रमेयरूपं युक्तम्, प्रमाणप्रमेययोरन्तर्बहि-र्व्यवस्थितत्वेनावभासनात्। भेदेन च प्रतिभासमानं नान्यथाऽधिगन्तुं युक्तम्। न हि प्रतिभासः साक्षात् कारणाऽऽकारत्वात् प्रत्यक्षरूपोऽर्थव्यवस्थापकः प्रमाणान्तराद्यनुग्रहं, बाधां वा प्रतिपद्यते। उक्तं च-'' प्रमाणस्य प्रमाणेन, न बाधा नाप्यनुग्रहः। बाधायाम-प्रमाणत्वमानर्थक्यमनुग्रहे ॥ १ ॥ '' इति। सर्वदा बहिर्व्युच्छिन्नार्थविभासिनोऽध्यक्षस्याप्रमाणत्वे प्रमाणान्तराप्रवृत्तिरेव। न चाध्यक्षेण ज्ञानमेव बहिरर्थाकारं प्रतिपद्यते, न बाह्योऽर्थः, इति कथं निराकारता तस्येति वक्तव्यम् ? ज्ञानरूपताया बोधस्याध्यक्षे प्रति-भासनात् अर्थस्य च ज्ञानरूपतायाः प्रतिपत्तेः। न ह्यनहङ्काराऽऽस्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासे अहङ्काराऽऽस्पदबोधरूपस्यैव ज्ञानरूपता युक्ता। यदि त्वहङ्काराऽऽस्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासः स्यात्तदा रूपादभिन्नत्वात्तदात्मनोऽहं घट इति प्रतिभासः स्यात्। न चान्यथाभूता प्रतिपत्तिरन्यथाभूतमर्थं व्यवस्थापयितुं शक्ता, प्रतिपत्तिव्यतिरेकेणाप्यर्थव्यवस्थितिप्रसक्तिश्च; नीलप्रतिपत्तेरपि पीताऽऽदिव्यवस्थापनाप्रसङ्गात्। अथ साकारविज्ञानमाकारप्रतिनियमात् तत्प्रतिपत्त्यैवार्यस्तदाकारतां तज्जनकस्याऽर्थस्य व्यवस्थापयेदिति प्रतिकर्मव्यवस्था सिध्यति; निराकारं तु विज्ञानं बोधमात्रतया व्यवस्थितम्, सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वात्। नीलस्येदं संवेदनं न पीतस्येति प्रतिकर्मव्यवस्थानिबन्धनं न भवेदिति साकारं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्। असदेतत्। सर्वार्थान् प्रति बोधमात्रतया निराकारस्याविशिष्टत्वादिति हेतोर्निराकारत्वमपि चक्षुरादिवृत्त्या बोधस्य तत्रैव नियमितत्वात्। न च नियतत्वस्य सर्वार्थेषु नीलाऽऽदावेव तस्य प्रतीतिः, समानत्वेऽपि वा पुरोवर्तिन्येव नीलाऽऽदौ समानत्वस्य संभवात् न सर्वार्थसाधारणी प्रतिपत्तिः निराकारज्ञानवादिनो न काचित् क्षतिः, तथादृष्टत्वात्। न हि दृष्टेरनुपपन्नं नाम निराकारत्वे किमिति पुरोवर्तिन्येव नीलाऽऽदौ प्रवर्तते, विज्ञानं चक्षुरादिभिस्तत्रैव नियमितत्वादिति प्रतिपादितं प्राक्। कस्मात्तैः तत्र नियम्यत इति चेत् ? अत्र वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यम्। न हि कारणानि कार्यजननप्रतिनियमे पर्यनुयोगमर्हन्ति, तत्र तस्य वैफल्यात्। साकारत्वेऽपि चाऽयं पर्यनुयोगः समानः। तथाहि-साकारमपि ज्ञानं किमिति नीलाऽऽदिकमेव पुरोवर्ति, सन्निहितमेव च व्यवस्थापयति, तेनैव तथा तस्य जननाऽऽदिवत् समानमेतन्निराकारत्वेऽपि। किञ्च-चक्षुरादिजन्यं तद्विज्ञानमिति चक्षुराद्याकारं न भवतीति पर्यनुयोगे भवताऽपि वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यमिति वक्तव्यम्, तदस्माभिरभिधीयमानं किमित्यसाङ्गत्यं भवतः प्रतिभाति ? अपि च-साकारता विज्ञानस्य किं साकारेण प्रतीयते, आहोस्वित् निराकारेण ? यदि साकारेण, तदा तत्राऽपि प्रतिपत्तावाका-रान्तरपरिकल्पनमित्यनवस्थाप्रसक्तिः। निराकारेण चेत्, बाह्यार्थस्याऽपि तथाभूतेनैव प्रतिपत्तिप्रसक्तिः। न च बाह्ये प्रत्यासत्तिनियमाभावान्न तथाभूतेन प्रतिपत्तिरिति वाच्यम्, इतरत्रापि प्रत्यासत्तिनियमाभावस्य तुल्यत्वात्। शुक्ले पीताऽऽकारदर्शनादभ्रान्तेन प्रतिनियमाभाव इति चेत्, निराकारेऽपि तर्ह्यभ्रान्ततत्त्वादेव प्रतिनियमो भविष्यतीति किमाकारपरिकल्पनया ? कथमाकारमन्तरेण प्रतिनियम इति न वाच्यम्, आकारेऽप्यस्य समानत्वात्। तथाहि-साकारवादिनोऽपि कथं प्रतिनियम इति प्रेरणायां प्रतिनियताऽऽकारपरिग्रह एव प्रतिनियम इति नोत्तरं युक्तम्, प्रतिनियताऽऽकारपरिग्रहस्यैव प्रतिनियमरूपतयोपन्यस्तस्याद्यापि चिरायमाणत्वात् अथ चानुमानाद्बाह्योऽर्थः प्रतीयते, तर्हि प्रतिबन्धसिद्धिर्वक्तव्या। न च बाह्योऽर्थोऽध्यक्षतः कदाचनाऽपि सिद्धो, नापि तत्प्रतिबद्धो ज्ञानाऽऽकार इति न प्रतिबन्धसिद्धिः, तामन्तरेण न चानुमानप्रवृत्तिरिति कथं बाह्यार्थसिद्धिः ? यथाऽर्थापत्त्या बाह्योऽर्थोऽधिगम्यते, तथाऽपत्त्याऽर्थस्वरूपप्रतिपत्तौ तस्याः प्रत्यक्षरूपताप्रसक्तेः। न च स्वरूपप्रतिपत्तिमन्तरेणाप्यनुमानवत्तस्याप्रामाण्यम्, अनुमानस्यावगतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवत्वेन प्रामाण्यात्, अत्र च तदभावात्। न चाऽत्यन्तपरोक्षस्यार्थस्य केनचिदाकारेण विषयीकरणमिति न तस्य प्रतिपत्तिविषयता, अनुमानविषयस्य तु पूर्वदृष्टत्वात्। इदं तदित्याकारेण प्रतिपत्तिविषयता संभवत्यपीति नार्थापत्त्याऽप्यर्थप्रतीतिः। अथ दूरस्थितवृक्षाऽऽदौ मृत्पिण्डाऽऽकारो यथा बाह्यवृक्षाऽऽद्यर्थव्यतिरेकेण न प्रति-भासविषयः, तद्वत्पुरोवर्तिनि स्तम्भाऽऽदौ तदाकारः सत्येव बाह्ये स्तम्भाऽऽद्यर्थे इति सिद्ध एव बाह्यार्थः। न च वृक्षाऽऽदावपि पिण्डाऽऽद्याकारि एव वृक्षाऽऽदिः, तस्य स्वपरावभासस्यान्यथा-प्रतीतेः। असदेतत्। यतः-स्वपराभ्यामसौ सन्निहितः प्रतीयमानः साकारेण वा ज्ञाने प्रतीयते ? निराकारेण वा ? यदि साकारेणेति पक्षः, तदाऽसावपि ज्ञानाऽऽकार एव, न बाह्योऽर्थ इति क्वचिदप्यर्थासिद्धेरसिद्धो दृष्टान्तः। तथा च-प्रतिबन्धाप्रसिद्धेन ज्ञानाऽऽकाराद् बाह्यार्थसिद्धिः। अथ निराकारेण तेनार्थः स्वपराभ्यां प्रतीयत इति प्रतिबन्धसिद्धिरिभ्युपगम्यते पिण्डाऽऽद्याकारस्य बाह्यार्थेन सह (?) नन्वेवं निराकारज्ञानं बाह्यार्थग्राहकं सिद्धमिति व्यर्थं ज्ञानाकारकल्पनम्। न च तत्राऽपि प्रतिभासमानो वृक्षो ज्ञानाकार एवेत्यपरमर्थं सावयति, तत्राप्यपरापरार्थकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् कुतोऽर्थसिद्धिः ? ज्ञानाऽऽकाराऽऽदिभिरिति चेत्, ननु प्रतिबन्धाग्रहणे कथं तदा तत्सिद्धिः ? इति पुनरपि तदेव वक्तव्यमित्यपर्यवसिता पर्यनुयोगानवस्था।

तस्माद् निराकारादेव ज्ञानाद् बाह्यार्थसिद्धिरभ्युपगन्तव्या । अथ निराकारं ज्ञानं नीलाऽऽदावर्थे सव्यापारं निर्व्यापारमिति कल्पनाद्वयम्। प्रथमकल्पनायामप्यव्यतिरिक्तव्यापारवत्, उत व्यतिरिक्तव्यापारवत् ? इति कल्पनाद्वयम् । आद्यविकल्पेज्ञानरूपमेव व्यापारःकश्चित् । न च व्यापारतद्वतोरभेदो युक्तो, धर्मधर्मितया प्रतीतेः । द्वितीयविकल्पेऽपि संबन्धासिद्धिः, ततस्तस्योपकाराभावात् । उपकारेऽपि तस्य तन्निर्वर्तितेऽपरो व्यापारः कल्पनीय इत्यनवस्था । व्यापारस्यापि चार्थग्रहणव्यापृतावपरो व्यापारः कश्चित् परिकल्पनीय इत्यत्राप्यनवस्था । निर्व्यापारस्यार्थव्यापृतावर्थस्यापि ज्ञानग्रहणे व्यापृतिप्रसक्तिरित्यर्थस्यापि ज्ञानं प्रति ग्राहकता स्यात् । न च निराकारो बोधो निर्व्यापारोऽपि बोधस्वरूपत्वादर्थग्राहकोऽर्थस्याप्यर्थरूपतया बोधं प्रति ग्राहकतो ग्राह्यरूपासंस्पर्शान्न बोधकस्य ग्राहकता (?) न च ग्राह्यार्थरूपान्यथाऽनुपपत्त्या बोधस्याग्राहकताव्यवस्था, इतरेतराऽऽश्रयदोषप्रसक्तेः । तथाहि-ग्राह्यरूपव्यवस्था ग्राहकरूपसंस्पर्शात्, ग्राहकरूपव्यवस्थापि ग्राह्यरूपसंस्पर्शादिति कथं नेतरेतराश्रयदोषः ? न च समानकालयोर्नीलबोधयोर्ग्राह्यग्राहकभावव्यवस्था, कर्मकर्तृरूपत्वासिद्धेः । न हि समानकालतायां निर्वर्त्यविकार्यप्राप्यरूपकर्मतासंभवः, समानकालस्य निर्वर्त्यविकार्यताऽयोगात् । प्राप्यरूपता च न तद्व्यतिरिक्ता संभवति, समानकालयोर्द्वयोरपि ग्राह्यग्राहकभावाविशेषात् । तन्न निराकारस्याप्यर्थव्यवस्थापकत्वं बोधस्येति विज्ञप्तिमात्रमेव नार्थव्यवस्येति विज्ञानवादिनोक्तमेतत्, सप्रतिघरूपतयाऽध्यक्षतो बाह्यस्य सिद्धविज्ञप्तिमात्रत्वे तद्रूपताऽभावप्रसक्तिर्भवेत्। न चाध्यक्षतः सप्रतिघबाह्यरूपतया प्रतीयमानस्य विज्ञप्तिरिति नामकरणे काचिन्न क्षतिः, नामकरणमात्रेण सप्रतिघत्वबाह्यरूपत्वाऽऽदेरर्थधर्मस्याव्यावृत्तेः। अतः सप्रतिघत्वाऽऽदिरूपो बाह्योऽर्थः, तद्विपरीतश्चान्तरो बोध इति कथं विज्ञप्तिमात्रम् ? न च सप्रतिघाऽऽकारतया बोधप्रतिपत्तिः, तद्विषयतया तु तस्य प्रतिपत्तिरस्त्येव, नीलविषयो बोधो मयाऽनुभूयते इति निश्चयोत्पत्तेः। न च प्रतिभासनिश्चयमन्तरेणापरस्य पदार्थस्वरूपव्यवस्थितौ निबन्धनमुत्पश्यामः, ततो निराकारादेव बोधाद् बाह्यार्थसिद्धिरभ्युपेया। असदेतत्। यतो निराकारं ज्ञानमर्थव्यवस्थापकमिति किं प्रत्यक्षतोऽवगम्यते, आहोस्विदनुमानतः, उतार्थापत्तेरिति विकल्पः ? तत्र न तावत् प्रत्यक्षतस्तत्प्रतिपत्तिः, प्रतिभासमानशरीरस्तम्भाऽऽदिव्यतिरिक्तस्यापरस्य ज्ञानस्यानुपलम्भेनासत्त्वात्। न च सुखाऽऽद्यान्तररूपेणाहङ्काराऽऽस्पदतया स्वसंवेदनाध्यक्षतो ज्ञानरूपं प्रतीयत एवेति कथं तस्यानुपलम्भः ? यतः सुखाऽऽदयो नान्तःस्पृष्टशरीराः, नातिरिच्यमानतनवःप्रतिभान्ति । अहमिति प्रत्ययोऽपि तथाभूतशरीराऽऽलम्बनतया संवेद्यत इति। न च व्यतिरिक्तो बोधाऽऽत्मा स्वप्नेऽप्यनुभवविषय इति न प्रत्यक्षतो ग्राह्यव्यतिरिक्तवद् ग्राहकस्वरूपमवभासते । अथाभूतशरीराऽऽलम्बनतया संवेद्यत इति न तत्प्रत्यक्षावसेयम्, नाऽप्यनुमानाधिगम्यम्, प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्य तत्र तस्याप्यप्रवृत्तेः । नाप्यर्थापत्तिस्तद्भावमवगमयति, तस्याः प्रामाण्यानुपपत्तेः। किञ्च-अनुस्मरणमात्रमर्थापत्तिः, न चेदं तदित्युल्लेखवदनुस्मरणमदृष्टेऽर्थमासादयति। न च ज्ञानस्वरूपं कदाचनापि दृष्टं, दृष्टे वा तत एव तत्सिद्धेः, किमर्थापत्त्या ? अथार्थस्य ज्ञानमिति निराकारस्य ज्ञानस्य प्रतीतेस्तत्सद्भावः । न चार्थग्राहकत्वेन सर्वत्राऽर्थस्य ज्ञानमित्येवं-प्रतीयमानस्याविसंवादिप्रत्ययविषयस्य तस्याभावः, संवेदनमात्रस्याप्यभावप्रसक्तेः। अतो निराकाराऽविसंवादिप्रत्ययविषया बुद्धिः सिद्धेति युक्तमुक्तम् निराकरा नो बुद्धिरिति । असदेतत्। यतो निराकराऽर्थबुद्धिर्मया प्रतीयत इत्यपरा बुद्धेस्तदर्थस्य च ग्राहिका बुद्धिः प्रसज्येत। तथा च सत्याकारमन्तरेण केनाऽऽकारेण बुद्धिरर्थस्येति योग्या प्रतीयेत ? न हीदं तदित्यतिरूपिताऽऽकारमाकारान्तरेण योजनामर्हति । न च तथाऽप्रतीयमाना बुद्धिरिति व्यपदेशमासादयति, शशशृङ्गाऽऽदेरपि बुद्धित्वप्रसङ्गोक्तेः । अथाऽपि स्वात्मनाऽर्थबुद्धिरासीदिति नार्थाऽऽकारव्यतिरिक्ता सा प्रतिभाति, किंतु पृथगपोद्धारपरिकल्पनया प्रकाशरूपतया व्यवस्थापिता बुद्धिरिति व्यपदिश्यते । अयुक्तमेतत् । यतो नाव्यतिरेकेण प्रतीयमाना बुद्धिर्विकल्पेनापोद्धर्तुं शक्या; न च पृथक् प्रतीयते सेत्युक्तम् । अथ सुखस्तम्भाऽऽद्याकारतयाऽयं तदन्तःस्पृष्टविरूपाऽऽदिकमेव ज्ञानं प्रतिभाति न पुनस्ततो व्यतिरिक्तमपरं ज्ञानम्, तथा सति संवेदनमात्रमेव प्रसक्तम् । एवं च चक्षुरादिना मया रूपं प्रती यत इति संबन्धाभावात्कथं प्रतीतिः ? अस्ति चेयं प्रतीतिः । तस्मादुपलब्धेऽत्र रूपाऽऽदिकेऽभिमुखीभूतं चक्षुरस्तत्प्रकाशत्वं विदधाति, स वै बुद्धिरुच्यते । न च नीलाऽऽद्याकारमविद्यमानमेव तत्र प्रकाशत्वमुत्पन्नमिति वक्तव्यम्, व्यज्यमाननीलाऽऽदिविषयचक्षुरादिव्यापाराऽऽदिव्यज्यमानस्य प्रकाशत्वस्यैव तत्रोत्पत्तेः, नीलाऽऽदेस्तु पूर्वमेव भावात्। तथा च सत्यर्थस्य बुद्धिरिति व्यपदेशः सिद्ध एव। अत एवोक्तम्बुद्धिरुपल-बिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरमिति। एतदप्यसत्। यतो न प्रकाश-व्यतिरेकेण नीलाऽऽदिरुपलभ्यत इति कुतः पूर्वव्यवस्थिते एव नीलाऽऽदौ प्रकाशता चक्षुरादेरुदयतीति वक्तुं शक्यम् ? न हि प्रकाशतारहितं कदाचिदुपलब्धं नीलाऽऽदिकम्, उपलम्भे वा सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसक्तिः । अथ नीलस्य प्रकाश इति व्यतिरेक उपलभ्यत एव। न। शिलापुत्रकस्य शरीरं स्तम्भस्य स्वरूपमित्यत्रापि व्यतिरेकोपलब्धेर्व्यतिरेकः स्यात्, प्रकाशस्य प्रकाशतेति चादृष्टो भेदः प्रकाशतायाः स्यात्। अथात्रैकैव प्रकाशतोपलभ्यते नापरा इति न प्रकाशस्यापरः प्रकाशः, व्यतिरेकोपलम्भस्य प्रत्यक्षबाधित्वात्, तर्हि नीलप्रकाशयोरपि न प्रत्यक्षप्रतीतो भेद इति, तत्राऽपि समानन्यायतो व्यतिरेकस्यासिद्धेः। नीलाऽऽद्याकारैव प्रकाशिता, सा च बुद्धिरिति सिद्धा साकारता ज्ञानस्य । अथ परोक्षा बुद्धिः निराकारा च ततः साकारस्य बोधस्य बुद्धिरिति विकल्पेऽप्यप्रतिभासनात्, अर्थापत्तेश्च प्रक्षयः, प्रकाशमात्रेणार्थस्य सिद्धत्वाद् व्यर्थं तदपरबुद्धिपरिकल्पनम्। ततश्च यदुक्तम्निराकारमेव ज्ञान-मर्थोन्मुखमुपलभ्यमानं प्रतिनियमेन कथं सर्वसाधारणम् ? इति सिद्धः प्रतिकर्मप्रत्यय इति। तदप्ययुक्तम्। यतो न किञ्चिन्नीलाऽऽद्याकारप्रकाशिताव्यतिरेकेणोपलभ्यतेऽपर- मिति कस्यार्थे प्रत्यासन्नता परैः परिकल्प्यते ? प्रकाशता तु यदि निराकरा स्यात्, प्रतिकर्मव्यवस्था न भवेत्। न ह्यालोकमात्रेणामिश्रितघटाऽऽदिरूपेण तद्रूपप्रकाशनं युक्तं, कथं तर्हि चक्षुरादिना घटादिरुपलभ्यत इति व्यवस्था ? बाह्यार्थवादि-परिकल्पिते परोक्षे रूपाऽऽदितदाकारा प्रकाशता चक्षुरादिना जन्यत इति तथा व्यपदेशः संभवी; प्रकाशिता चापोद्धारपरि-कल्पनयाऽनादिवासनानियमाद् भिन्ना व्यपदिश्यत इति न किञ्चिदयुक्तम्। यद्वापूर्वसमग्रीतश्चक्षुरादिरूपाऽऽद्याकारप्र-

काशतावुद्धिस्वभावोपजायत इत्येकसामग्र्यधीनया तया व्यप- देशः। दृश्यते हि प्रदीपप्रकाशयोः समानकालयोः प्रदीपनघटप्रका-शन इत्येकसामग्र्यधीनया व्यपदेशः। न ह्येककालयोरपि प्रकाश्य-प्रकाशकयोः कार्यकारणभावमुपपद्यते। ननु यदि साकारं विज्ञान-मभ्युपगम्यते, तदा चक्षुरादिकोऽर्थः प्रतिक्षिप्त एव, चक्षुराद्याकारस्य संवेदनमात्रस्यैवोपलब्धेर्न तदाकाराऽर्थव्यवस्था स्यात्। यतो न बाह्यार्थः, तदाकारं च विज्ञानद्वयमुपलम्भविषयः, तत्त्वे चाज्ञानमेव, तत्रापि साकारं तत्राप्यर्थस्य पुनरुपलब्ध्याऽभ्युपगमे ज्ञानाऽऽकारेऽनुभव इति न कदाचित्स्वरूपेणोपलब्धिर्धर्मवेदिति नार्थव्यवस्था। असदेतत्। कार्यव्यतिरेकेण बाह्यार्थपरिकल्पनाऽर्थापत्त्या वा परेषामभिगतेति तदभ्युपगमादर्थस्यायमाकारं प्रकाशकमनुप्रविष्ट इत्यभिधानार्थोक्त-दोषानुपपत्तेः। अथवा-विज्ञानवादेऽर्थासिद्धिप्रेरणं सिद्धसाधनदोषाऽऽ-वहमिति साकारमेव ज्ञानं प्रमाणमभ्युपपन्नाः सौत्रान्तिकयोगाचाराः।

अत्र प्रतिविधीयते-निराकारं विज्ञानमर्थग्राहकमिति न प्रत्यक्षतः प्रतीयते, शरीरस्तम्भाऽऽदिव्यतिरेकेण उपलम्भस्यासत्त्वादिति। तस्यासत्त्वादित्यत्र हेतुरसिद्धः, अहङ्कारस्य सुखाऽऽदेर्ज्ञानविशेष-स्यान्तःस्वसंवेदनप्रत्यक्षानुभूयमानस्य सत्त्वात्। न च स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसिद्धस्याप्यसत्त्वम्, स्तम्भाऽऽद्याकारस्यापि ज्ञानस्या-सत्त्वप्रसक्तेः। न हि तथाप्रतिभासव्यतिरेकेणापरमत्रापि सत्त्वन-बन्धनम्। न चाहमिति प्रत्ययोऽन्तःस्पृष्टशरीराऽऽद्यालम्बनः; शरीरस्य सप्रतिघत्वेन, अपरप्रत्यक्षविषयत्वेन वाऽज्ञानरूपतया सुख्यहंप्रत्यय-विषयत्वानुपपत्तेः ज्ञानस्यैवाप्रतिघातसंवेद्यरूपस्यान्तःसुखाऽऽकारस्य सुख्यहंप्रत्ययविषयत्वात्, अहं कृशः स्थूल इत्यादिशरीराऽऽलम्बनत्व-स्याहंप्रत्ययस्यौपचारिकत्वादुपचारनिबन्धनत्वस्य च प्राक् प्रतिपादितत्वात्। तेन निराकारस्य ज्ञानस्य स्वप्नेऽप्यसंवेदनान्न प्रत्यक्षतो बाह्यव्यतिरिक्तं ग्राहकस्वरूपं प्रतिभातीति प्रत्युक्तम्, नीलमहं वेद्मीति बाह्यनीलार्थग्राहकस्यान्तर्ग्राह्यव्यतिरिक्तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतो ज्ञानस्याहमहमिकया प्रतीतेः। न चान्तः सुखाऽऽदयो बहिश्च नीलाऽऽदयः परिस्फुटवपुषः स्वयं विदिताः प्रतिभान्ति, न पुनस्तद्व्य-तिरिक्तंनिराकारज्ञानस्वरूपमर्थग्राहकमाभाति, सुखाऽऽदेरर्थग्राहकत्वा-योगादिति वक्तव्यम्। यतो बाह्यं प्रति सुखाऽऽदीनां नैवास्माभिरपि ग्रा-हकत्वमभ्युपगम्यते। न हि सुखाऽऽदयो भावनोपनेयजन्मानो बहि-रर्थसन्निधिमन्तरेणाऽपि प्रादुर्भवन्तः पदार्थव्यक्तीनां नियमेनोद्-द्योतकाः, स्ववपुःपर्यवसितस्वरूपत्वात् तेषां, चक्षुरादिप्रभवास्तु संविदो बहिरर्थमुद्भासयन्त्यः स्पष्टावभासा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथगवसीयन्त इति पदार्थग्राहिण्यस्ता एवाभ्युपगमनीयाः। सुखाऽऽदिवेदिनं तु हृदि परिवर्तमानं बाह्याऽर्थसंविद पृथगेव, न तद् बाह्यार्थग्राहकतयाऽभ्युप-गमविषयः। तदेवं ग्राह्याव्यतिरेकेण निराकारज्ञानस्य संवेदनाध्यक्षसिद्ध-त्वादनुमानमपि तत्सत्त्वप्रतिपादकत्वेन प्रवर्तत एव विप्रतिपत्तिसद्भावे। यच्चार्थापत्त्यप्रामाण्यान्नाऽतस्तत्प्रतिपत्तिरिति। तत्सिद्धसाधनमेव। यदपि निराकारा मया बुद्धिः प्रतीयत इति बुद्धेरप्यपरा बुद्धिर्ग्राहिकेत्या-द्युक्तम्। तदप्य-सङ्गतमेव; यतः स्वपरार्थग्राहकं बुद्धेः स्वरूपं, तेन च रूपेण स्व-संविदि प्रतिभासमाना कथं शशशृङ्गाऽऽदिवदव्यवस्थितरूपा भवे-त् ? यदपि तदव्यतिरिक्ततया प्रतीयमाना न विकल्पेनाप्यपोद्धर्तुं शक्या इति। तदप्यसङ्गतम्। ग्राह्यस्वरूपवक्तव्यतया स्वरूपेण तत्प्रतिभासनस्य प्रतिपादितत्वात्। यदपि प्रकाशतारहितं नीला-ऽऽदिकं नोपलभ्यते, तथोपलम्भे सर्वं सर्वदा भवेदिति तत्राऽपि यदि ज्ञानं विना नीलाऽऽदिकं नोपलभ्यते इत्युच्यते, तदा सिद्धसाध्यता, तदन्तरेण तदुपलम्भस्यानिष्टेः। अथ नीलमेव प्रकाशरूपमिति प्रतिपाद्यते। तदयुक्तम्। नीलस्य जडतया प्रकाशरूपत्वानुपपत्तेः परस्परपरिहार-स्थितलक्षणतया जडाजडयोरेकत्वयोगात्। यदपि नीलस्य प्रकाश इति व्यतिरेकः शिलापुत्रस्य शरीरमित्यादावभेदेऽपि संभवीति। तदपि न सम्यक्। दृष्टान्ते हि प्रत्यक्षावगतो भेदप्रतिभासः स्यात् वाक्ये न तु दार्ष्टान्तिके प्रत्यक्षारूढे तदेव प्रतिभासः समस्ति। तथाहि-ग्राह्यरूपस्त-म्भाऽऽद्यनन्यव्यावृत्तत्वेन ग्राह्यतयाऽध्यक्षे प्रतिभाति प्रकाशितुं, स्तम्भाऽऽदिकर्मणि व्यावृत्तत्वेन ग्राहकतया प्रतिभाति। तेन स्तम्भतत्-संवेदनयोरभेदावभासोऽध्यक्षाऽऽरूढोऽवभाति। न केवलं ग्राह्याऽऽकारो-ऽन्यव्यावृत्तत्वेन ग्राह्यतयाऽध्यक्षे प्रतिभाति प्रकाशितुं, स्तम्भाऽऽदि-कर्मणि व्यावृत्तेन ग्राहकतया प्रतीतेर्न स्तम्भः प्रतिभाति, किं त्वाह्लादा-ऽऽदिस्वभावतयाऽहङ्काराऽऽस्पदश्च प्रतिभासनिश्चयाभ्यामवसीयते, तद्ग्राह्यस्तु तद्विपरीतत्वेन। न चाध्यक्षसिद्धभेदयोर्नीलतत्संवेदनयोः कुतश्चित् प्रमाणाऽऽदिकताऽवसातुं शक्येति न भेदप्रतिभासस्य बाधा। न च नीलाऽऽदिरेव ज्ञानरूपः, अहं नीलाऽऽदिरित्यनवगमात्। तेन नीलाऽऽद्याकारैव प्रकाशिता, सा च बुद्धिरिति साकारता ज्ञानस्येति यदुक्तं, तदपि निरस्तं द्रष्टव्यम्। यदपि प्रकाशतामात्रेणार्थस्य सिद्धत्वाद् व्यर्थं तदपरबुद्धिपरिकल्पनम्, तदपि सिद्धमेव साधितम्; अर्थप्रकाश-ताया अर्थव्यतिरिक्ताया बुद्धित्वेन तदपरिकल्पनाया असिद्धत्वात्। यदपि नायमाकारं नीलाऽऽद्या-कारप्रकाशिताव्यतिरेकेणोपलभ्यत इति कस्यार्थे प्रत्यासन्नता परैः परिकल्प्यते, तदपि नीलाऽऽद्यर्थग्रहणपरिणते ज्ञानस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः सिद्धेरयुक्ततया स्थितम्। प्रकाशता तु यदि निराकारा भवेत्, प्रतिकर्मव्यवस्था न स्यादिति यदुक्तं, तदप्यसङ्गतमेव। यतः प्रकाशता किं नीलाऽऽकारा ? आहोस्विद् ग्राह्याऽऽकाराऽ-भ्युपगम्यते ? यदि प्रथमो विकल्पस्तदा वक्तव्यम्-किमेकदेशेन नीलाऽऽद्याकारा प्रकाशता ? आहोस्वित् सर्वाऽऽत्मनेति ? तत्र यद्येकदेशेन नीलाऽऽद्याकारा प्रकाशता, तदा स्वांशैकप्रकाशता-प्रसक्तेरित्यनेकान्तसिद्धिः। अथ सर्वाऽऽत्मना, तदा प्रकाशताया जडरूपनीलाऽऽदिस्वभावत्वाद्विज्ञप्तिरूपताऽभावप्रसक्तिः, जड-स्य प्रकाशरूपताऽयोगादग्राह्याकारित्वमपीतरेतराश्रयत्वम्। न हि देवदत्तस्य प्रतिनियताऽऽकारतासिद्धौ यज्ञदत्तस्य तदाकारतासिद्धिर्दृष्टा। न च प्रकाशता साकारतासिद्धिमन्तरेणापि ग्राह्यस्य प्रतिनियतरूपसिद्धिर्नि-राकारा, ज्ञानस्य प्रतिकर्मव्यवस्थाहेतुत्वप्रसक्तेः। न च यद् यदाकारं तत्तस्य ग्राहकमिति व्याप्तिसिद्धिः, अन्यथोत्तरनीलक्षणपूर्वनीलक्षणस्य ग्राहकः स्यात्। न च तस्याज्ञानरूपत्वाद् नायं दोषः, देवदत्तनीलज्ञानस्य यज्ञदत्तनीलज्ञानग्राहकताप्रसक्तेः। न च तयोः कार्यकारणभावाभावान्नायं दोषः, सदृशसमनन्तरज्ञानं प्रति उत्तरज्ञानक्षणस्य ग्राहकताप्रसक्तेः। अथ तत्र तादृग्विधसारूप्याभावाद् नायं दोषः। ननु तथाविधं यदि कथञ्चित् सारूप्यमभिधीयते, तदाऽनेकान्तवादाऽऽपत्तिः। अथ सर्वात्मना सारूप्यं, तदोत्तरक्षणस्यापि पूर्वक्षणरूपताप्रसक्तिरित्येकक्षण-

मात्रं सर्वः सन्तानो भवेत् । न च पूर्वोत्तरक्षणयोः परपक्षे भिन्नमभिन्नं वैकान्ततः सारूप्यं संभवति, भेदपक्षे सामान्यवादप्रसक्तेः, अभेदपक्षे तु तदभावप्रसक्तेः । न च परपक्षे सारूप्यग्रहणोपायः संभवतीत्युक्तम् । किञ्च-यदि नीलाऽऽकारं ज्ञानमनुभूयत इति बाह्योऽप्यर्थो नीलतया व्यवस्थाप्यते, तर्हि त्रैलोक्यगतनीलार्थव्यवस्थितिस्ततो भवेत्, सर्वनीलार्थसाधारणत्वात् तस्य । अथ नीलाऽऽकारताविशेषेऽपि कश्चित्प्रतिनियमहेतुस्तत्र विद्यते, यतः पुरोवर्तिन एव नीलाऽऽदेस्ततो व्यवस्था, तर्ह्यनाकारत्वेऽपि ज्ञानस्य तत एव नियमहेतोः प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वं भविष्यतीति तत्साकारपरिकल्पनं व्यर्थम् । यदपि चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यत इति व्यपदेशनिबन्धनं जन्यत्वं रूपाऽऽकारप्रकाशस्योक्तम्, तदपि स्वजाड्याऽऽविष्करणमात्रम् । यतो यथा प्रत्यासत्त्या चक्षुरादिकं समानकालं भिन्नकालं वा भिन्नं रूपाऽऽद्याकारं ज्ञानं भवति, तथैव निराकारमपि ज्ञानं समानकालं भिन्नकालं वा स्वग्राह्यं भिन्नमपि ग्रहीष्यति । न हि चक्षुरादेर्विभिन्न-कार्योत्पादनवद् विभिन्नग्राह्यग्रहणे शक्तिप्रक्षयः कश्चिद् ज्ञानस्य संभवी । अथ विभिन्नकार्योत्पादनमप्यसंभवी नाऽभ्युपगम्यते, तर्हि ' प्रमाणम-विसंवादि ' इति प्रमाणलक्षणप्रणयनमनर्थकं धर्मकीर्तेराप्यते, अविसंवादित्वस्याऽर्थक्रियाज्ञानजनकत्वलक्षणस्याऽभावात् । अथ व्यावहारिकमेतद् लक्षणं न पारमार्थिकम् ,किं तर्हि पारमार्थिकमिति वक्तव्यम् ? ....., अज्ञातार्थप्रकाशो वेति चेत्, तत्रापि यद्यज्ञात-स्याऽर्थस्य प्रकाशः स्वसंविदितोऽर्थग्रहणपरिणाम आत्मसंबन्धी, तदाऽऽस्मन्मताभ्युपगम इति न कश्चिद्दोषः । अथ ''स्वरूपस्य स्वतो गतिः'' इति वचनादज्ञातार्थप्रकाशः स्वरूपसंवेदनमात्रं, तदाऽध्यक्षबाध-दोषः, स्वपरसंवेदकत्वेन ज्ञानस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रतिपत्तेरिति प्रतिपादकत्वात्, प्रतिपादितत्वात्, प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च । एतेन एकसामग्र्यधीनतया चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यत इति व्यपदेश इत्येतदपि निरस्तम् । भिन्नानामेकसामग्र्यधीनत्वलक्षणप्रतिबन्धाविरोधे ग्राह्यग्रा-हकलक्षणस्यापि तस्याविरोधात् । यथा चैकसामग्र्यधीनानां चक्षुरादीनां समानसमयेऽपि स्वरूपप्रतिनियमः, तथा ग्राह्यग्राहकयोरपि समान-कालत्वाविशेषेऽपि विज्ञानग्राहकमेव, अर्थस्तु ग्राह्य एवेति प्रतिनियमो भविष्यति । अथ एकसामग्र्यधीनत्वं रूपप्रतिनियमश्चक्षुरादेर्नेष्यते, तर्हि प्रमा-णाऽऽदिव्यवहारस्य सकलस्य विलोपात्साकारज्ञानाऽभ्युपगमो-ऽसङ्गत एव स्यात् । यदपि कार्यव्यतिरेकेण बाह्यार्थकल्पताऽर्थापत्त्या च परेषामिति तदभ्युपगमेनोच्यते-अर्थस्यायमाकारः प्रकाशतामनुप्रविष्ट इत्युक्तम्, तदपि परदर्शनानभिज्ञतां ख्यापयति । न हि जैनानां कार्यव्य-तिरेकादर्थापत्त्या वाऽर्थपरिकल्पना, किं तु तद्ग्राहिप्रतिभासवशात् । साकारज्ञानवादिनस्तु-यदि ज्ञानाऽऽकारोऽर्थव्यतिरेकेण नोपपद्यत इत्यर्थव्यवस्थापकः, तदा नियतार्थव्यवस्थापकः स्यात् । जनकस्यैव व्यवस्थापक इति चेत् । न । चक्षुरादेरपि व्यवस्थापकः स्यात् । तज्जनकत्वेऽपि चक्षुरादेरनाकारत्वान्नेति चेत्, ननु चक्षुरादिजन्यत्वेऽपि किमिति तज्ज्ञानं तदाकारं न भवति चक्षुरादि वा साकारज्ञानजनकमिति वक्तव्यम् ? स्वहेतुबलाऽऽयाततत्स्वभावत्वात् तयोरिति चेत् । ननु निराकारज्ञानपक्षेऽपि तत्स्वाभाव्याद् ज्ञानमेव चक्षुरादिव्यतिरेकेण स्वजनकार्थव्यवस्थापकमिति किन्नाभ्युपगम्यते ? न्यायस्य समान-त्वात् । किञ्चग्राहकस्यार्थजन्यत्वेन साकारता, सा च प्रतिभासगोचरा, एवं च ग्राहके आकारस्य जनकस्यैव प्रतिभासविषयत्वेऽन्यस्य तज्जनकस्य कल्पनाप्रसक्तिस्तत्राप्येवमित्यनवस्था भवेत् । तत्र साकारज्ञानानुभववशादर्थव्यवस्थाप्रकाशताऽनुप्रविष्टताऽर्थाऽऽ-कारस्यायुक्तैव, वस्त्वन्तरानुप्रवेशासंभवात् । संभवे वा प्रकाशताया अपि चैतन्यरूपतायाः पृथिव्याद्यनुप्रवेशात् परलोकाय दत्तो जलाञ्जलि-र्भवेत् । यदप्यर्थवादिन एवाऽयं दोषो, ज्ञानवादे तु सिद्धसाध्यतेति, तदपि न्यायबहिष्कृतम् । प्रमाणसिद्धस्याप्यर्थस्याभावो यदि न दोषाय भवेत्, ज्ञानाभावोऽपि न दोषाय स्यात् । न च शून्यताऽभ्युपगमात् तदभावोऽपि न दोषाऽऽवह इति वक्तव्यम्, तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावाद् न तेन साकारज्ञानप्रमाणवादोऽभ्युपगमार्हः, अनेकदोष-दुष्टत्वादिति स्थितम् । सम्म० २ काण्ड ।

(१७) जैमिनीयाऽभिमतस्य तु ज्ञातृव्यापारस्य फलानुमेयस्य यथा प्रमाणता न संभवति, तथा स्वतः प्रामाण्यं निराकुर्वद्भिः प्रदर्शितमिति न पुनः प्रतन्यते । यदप्यनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं ज्ञातृव्यापारविशेषणत्वेन प्रतिपादितम्, तदप्यसङ्गतमेव । यतः प्रमाणं वस्तुव्यधिगतेऽनधिगते वा व्यभिचाराऽऽदिविशिष्टां प्रमां जनयन्नोपालम्भविषयः । न चाऽधिगते वस्तुनि किञ्चित्तत्प्रमाणतामाप्नोतीति वक्तव्यम्, विशिष्टतां विदधानस्य प्रमाणताप्रतिपादनात् । न च पूर्वोऽसन्नेव प्रमाणेन जन्यते, प्रमित्यन्तरो-त्पादकत्वेन प्रमाणत्वात् । न च प्रमित्यन्तरजनकत्वेऽधिगते विषये तस्याकिञ्चित्करत्वेनोपलम्भविषयताऽनुपपत्तिः । न च एकान्ततोऽन-धिगतार्थाधिगन्तृत्वे प्रामाण्यं तस्यावसातुं शक्यम्, तद् व्यर्थं तथाभावित्वलक्षणं संवादादवसीयते, स च तदर्थान्तरज्ञानवृत्तिः । न चानधिगतार्थाधिगन्तुरेव प्रामाण्ये संवादप्रत्ययस्य प्रामाण्यमुपपन्नम् । न च प्रमाणेन संवादप्रत्ययेन प्राक्तनस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयितुं शक्यम्, अतिप्रसङ्गात् । अतो यथाऽधिगतार्थाधिगन्तुरर्थक्रियानिर्भासिनः सिद्धं ज्ञानस्य प्रामाण्यं, तथा साधननिर्भासिनोऽप्यभ्युपगन्तव्यम् । न च सामान्यविशेषतादात्म्यवादिन एकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं प्रमाणस्य संभवति, इदानीन्तनास्तित्वस्य पूर्वास्तित्वाभेदात्, तस्य च पूर्वमप्यधिगतत्वसंभवात् कथञ्चिदनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभ्युपगमेऽ-स्मन्मतानुप्रवेशप्रसक्तिः । अथाप्रेक्षापूर्वकारितया प्रमाणस्याऽनुपालम्भ-विषयत्वेऽपि पुरुषस्य प्रेक्षापूर्वकारिणोऽधिगतविषयमपि प्रमाणं पर्येषमाणस्योपालम्भविषयता । स हि पूर्वाधिगते वस्तुनि प्रेक्षापूर्वकारी किमित्यधिगमाय प्रमाणान्तरमन्वेषते ? निष्पन्नप्रयोजनापेक्षया हेतुव्यापारतः प्रेक्षापूर्वकारित्वहानिप्रसक्तेः । नैतादिदम् । यतो यदर्थं प्रमाणोत्पत्त्यतिशयजनकत्वेन सप्रयोजनत्वात् प्रमाणान्वेषणस्य न तदन्वेष्टुः पुरुषस्योपालम्भार्हता । न च निश्चिते विषये न किञ्चिन्निश्चया-न्तरेण प्रयोजनम्, यतस्तदर्थं प्रमाणान्वेषणं न वैयर्थ्यमनुभवेत् । यतो भूय उपलभ्यमाने दृढतरा प्रतिपत्तिर्भवतीति सुखसाधनं तथैव निश्चित्योपादत्ते, दुःखसाधनं च तथात्वेन सुनिश्चितं परित्यजेत् । अन्यथा विपर्ययेणाप्युपादानत्यागौ भवेताम् । अत एवैकविषयाणामपि शब्दाऽनुमानाध्यक्षाणां प्रामाण्यमुपपन्नम्, प्रतिपत्तिविशेषस्य, प्रीत्यतिशयादेश्च सद्भावात् । न च प्रथमप्रत्यये नैवाऽर्थ-क्रियासमर्थप्रदर्शने प्रवर्तितः पुरुषः, प्रापितश्चार्थ इति तज्ज्ञापक-

प्रमाणान्वेषणं वैयर्थ्यमनुभवेत् ; भूयो भूय उपलभ्यमाने दृढतरा प्रतिपत्तिर्भवतीति सुखसाधनं तथैव निश्चित्योपादत्ते, दुःखसाधनं च तथात्वेन सुनिश्चितं परित्यजेत्, अन्यथा विपर्यवेणाप्युपादा-नत्यागौ भवेताम्। अत एवैकविषयाणामपि पुरुषप्रवृत्तेः प्रमाणा-धीनत्वाभावाद् विशिष्टप्रमाया एव प्रमाणाधीनत्वात् , तां च जन-यत उपेक्षणीयाऽऽदौ विषये प्रमाणस्याप्रवर्तकस्यापि प्रमाणत्वेन लोके प्रसिद्धत्वात् , प्रवृत्तेस्तु पुरुषेच्छानिबन्धनत्वात् तदभावेनोक्तफलजनकस्य प्रमाणत्वव्याघातः। न च पुरुषार्थसाधनप्रवर्तकत्वमेव तस्य प्रवर्तकत्वं, तत् सद्भावेऽपि प्रवर्तितोऽहमत्र नात्रेति तद्ग्रहणे भावेच्छाप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः। न च प्रवृत्त्यभावे तस्य प्रदर्शकत्वान्न तत्प्रदर्शकमिति लोकप्रतीतिः। तन्नानधिगतार्थाधिगन्तृत्वमपि ज्ञातृव्यापारविशेषणमुपपत्तिमत्। अतोऽनधिगतार्थाधिगन्तृज्ञातृव्यापारोऽर्थप्रकटताऽऽख्यफलानुमेयो जैमिनीयपरिकल्पितो न प्रमाणमिति स्थितम्।

(१८) सौगतैस्तु 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' इति वचनादविसं-वादकत्वं प्रमाणलक्षणमुक्तम्। अविसंवादकत्वं च प्राप्तिनिमित्तं प्रवृ-त्तिहेतुभूतार्थक्रियाप्रसाधकार्थप्रदर्शकत्वम्। यतोऽर्थक्रियाऽर्थी पु-रुषस्तन्निर्वर्तनक्षममर्थमवाप्तुकामः प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेषते। यदेव चार्थक्रियानिर्वर्तकवस्तुप्रदर्शकं तदेव तेनान्विष्यते। प्रत्यक्षानुमाने एव च तथाभूतार्थप्रदर्शके, न ज्ञानान्तरमिति। ते च लक्षणार्हे, तयोश्च द्वयोरप्यविसंवादकत्वमस्ति लक्षणम्। प्रत्यक्षेण ह्यर्थक्रियासाधनं दृष्टतयाऽवगतं प्रदर्शितं भवति; अनुमानेन तु दृष्टलिङ्गाव्यभिचारतयाऽ-ध्यवसितमित्यनयोः प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम्। न ह्याभ्यां प्रदर्शितेऽर्थे प्रवृत्तौ न प्राप्तिरिति नान्यत् प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण प्रापकत्वम् , तच्च शक्तिरूपम्। उक्तं च-'प्रापणशक्तिः प्रामाण्यं, तदेव च प्रापकत्वम्'। अन्यथा ज्ञानान्तरस्वभावत्वेन व्यवस्थितायाः प्राप्तेः कथं प्रवर्तकज्ञान-शक्तिस्वभावता। तत्र यद्यपि प्रत्यक्षं वस्तु क्षणग्राहि, तद्ग्राहकत्वं च तस्य प्रदर्शकत्वं, तथापि क्षणिकत्वेन तस्याप्राप्तेस्तत्सन्तान एव प्राप्यत इति सन्तानाध्यव-सायोऽध्यक्षस्य प्रदर्शकव्यापारो द्रष्टव्यः। अनुमानस्य तु वस्त्वग्राहकत्वात् तत्प्रापकत्वं यद्यपि न संभवति, तथाऽपि स्वाकारस्य बाह्यवस्त्वध्यवसायेन पुरुषप्रवृत्तौ निमित्तभावोऽस्तीति तस्य तत्-प्रापकमुच्यते। एतदुक्तं भवति-प्रत्यक्षस्य हि क्षणो ग्राह्यः, स च निवृत्तत्वान्न प्राप्तिविषयः, सन्तानस्त्वध्यवसेयः प्रवृत्तिपूर्विकायाः प्राप्तेर्विषय इति तद्विषयं प्रदर्शितार्थप्रापकत्वमध्यक्षस्य प्रामाण्यम्। अनुमानेन त्वारोपितं वस्तु गृहीतं, स्वाकारो वा, तयोर्द्वयोरप्यवस्तुत्वान्न प्रवृत्तिविषयतेति न तद्विषयं तस्य प्रापकत्वम्। अपि त्वारोपिततबाह्य-व्यापारभेदाध्यवसायेन वस्तुन्येव प्रवर्तकत्वप्रापकत्वेऽस्य द्रष्टव्ये। तेनानुमानस्य ग्राह्योऽनर्थः, प्राप्यस्तु बाह्यः स्वाकारो भेदेनाध्यवसित इति तद्विषयमस्यापि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यमुक्तम्। तथा परमप्युक्तम्-'न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते' इति। अत्र च प्रत्यक्षानुमानयो-र्द्वयोरपि छेदसन्तानविषयो-ऽध्यवसायो द्रष्टव्यः। तथा प्रामाण्यं वस्तुविषयं द्वयोरिति चोक्तम्। अत्रापि सन्तानविषयित्वेन वस्तु-विषयत्वं द्वयोरित्युक्तम्। लौकिकं चैतदविसंवादकत्वं प्रामाण्यं, यतो लोके प्रतिज्ञातमर्थं प्रापयन् पुरुषः संवादकः प्रमाणमुच्यते, तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्। न च क्षणिकस्य ज्ञानस्याऽर्थप्राप्तिकालं यावदनवस्थितेः कथं प्राप्यते ? इत्याशङ्कनीयम्, प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण तस्यास्तत्रासंभवादित्युक्तत्वात्। न चान्यस्य ज्ञानान्तरस्य प्राप्तौ सन्निकृष्टत्वात् तदेव प्रापकमित्याशङ्कनीयम्। यतो यद्यप्यनेकस्माद् ज्ञानक्षणात् प्रवृत्तावर्थप्राप्तिः, तथाऽपि पर्यालोच्यमान-मर्थप्रदर्शकत्वमेव ज्ञानस्य प्रापकत्वम्, नान्यत्। तच्च प्रथमज्ञान-क्षण एव संपन्नमिति नोत्तरोत्तरज्ञानक्षणानां तदुपयोगि, प्राप्यमाणं च वस्तु नियतदेशकालाऽऽकारं प्राप्यत इति तथाभूतवस्तुप्रदर्शकयोरेव प्रामाण्यं, न ज्ञानान्तरस्य। तेन प्रदर्शितप्रापकत्वलक्षणे प्रामाण्ये पीतसंवादिग्राहिज्ञानानामपि प्रापकत्वात् प्रामाण्यप्रसक्तिर्न भवेत् ; तर्हि तानि प्रदर्शितमर्थं प्रापयन्ति; यद्देशकालाऽऽकारं वस्तु तैः प्रदर्शितं न तत्तथा प्रापयति, यथा प्राप्यते न तैस्तथा प्रदर्शितम्। देशाऽऽदिभेदेन वस्तुभेदस्य निश्चितत्वान्न तेषां प्रदर्शितार्थप्रापकता। एवमपि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वे जलाऽऽदिप्रदर्शकस्य मरीच्यादिवस्त्वन्तरप्राप्तौ प्रदर्शितप्रापकत्वेन प्रामाण्य-प्रसक्तिरिति न किञ्चिदप्रमाणं भवेत्। प्रमाणद्वयातिरिक्तं च ज्ञानं नियतप्रदर्शितार्थप्रापकम्। तेन हि भावाभावसाधारणोऽनियतोऽर्थः प्रदर्शितः। स च तथाभूतोऽसत्त्वात् न प्राप्तुं शक्य इति। न च तत्प्रदर्शितार्थप्रापकत्वेन प्रमाणम्। अनियतार्थप्रदर्शकत्वं च शब्दाऽऽदेः साक्षात्, पारम्पर्येण वा प्रतिपाद्या-दर्थादनुत्पत्तेः। तत् स्थितं प्रापणशक्तिस्वभावमविसंवादकत्वं प्रामाण्यं द्वयोरेव। प्रापणशक्तिश्च प्रमाणस्यार्थाविनाभावनिमित्ता दर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन निश्चीयते। तथाहि-दर्शनं यतोऽर्थादुत्पन्नं तद्दर्शकमात्मानं स्वानुरूपावसायोत्पादनाद् निश्चिततदर्थाविनाभावित्वं प्रमाणशक्ति-निमित्तं प्रामाण्यं स्वतो निश्चिनोतीत्युच्यते, न पुनर्ज्ञानान्तरं तन्निश्चायक-मपेक्ष्यते। अर्थानुभूताविव ततोऽविसंवादकत्वमेव प्रमाणलक्षणमुक्तम्। एतदप्ययुक्तम्। यतो नार्थप्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वं, पुरुषेच्छाऽधीन-प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्। सति वस्तुन्यर्थप्रापकत्वं पुरुषेच्छाऽऽप्तेः। एतच्च प्राक् प्रतिपादितम्। उपेक्षणीये च विषये पुरुषस्य तद्विषयार्थित्वाऽऽद्यभावे प्राप्तिपरित्यागयोरभावेऽपि तत्प्रदर्शकत्वलक्षणस्य प्रामाण्ये न कश्चिद् व्याघात उपलभ्यते। अथेष्टानिष्टसाधनार्थव्यतिरेकेणोपेक्षणीयस्याऽ-र्थान्तरस्याभावाद् न तत्प्रदर्शकं किञ्चिद् ज्ञानं समस्तीति कथं प्रापकत्वाभावेऽपि प्रदर्शकत्वस्य संभवने दोषाऽऽपादनं क्रियते। तथा च तृतीयविषयाभावमवगत्यैवोक्तम्-अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानायत्तत्वात्। तथा-हिताहितप्राप्तिपरिहारयोरिति च, तृतीयाविषयाभावश्च सर्वस्य वस्तुनो राशिद्वयेन भावात्। तथाहि-तृतीयं वस्तु नेष्टसाधनम् , उपेक्षणीयत्वात्। यच्च तत्साधनं न भवति तस्याऽनिष्टसाधनरा-शावन्तर्भावः। एतच्चाऽयुक्तम्। स्वसंविदितवस्त्वपह्नवस्य युक्तिशतेनापि कर्तुमशक्यत्वात्। तथाहि-यद्वा तद् वस्त्विष्टसाधनं न भवति, तथाऽ-निष्टसाधनमपि न भवति, इष्टानिष्टसाधनयोर्यत्नोपादेयत्वहेयत्वदर्शनात्। उपेक्षणीयस्य चायत्नसाध्योपादानत्यागविषयत्वात् कथमिष्टानिष्टसाधन-योरन्तर्भावः ? तत्र प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वं, बौद्धाभ्युपगमे न प्रदर्शिता-र्थप्रापकत्वं क्वचिदपि ज्ञाने संभवति। तद्धि संतानाऽऽश्रयेण सौगतैः परिकल्प्यते, न च संतानः संभवति। स हि स्वरूपेण वा वस्तु सन् भवेत्, सन्तानिरूपेण वा ? न तावत्स्वरूपेण, सन्तानिव्यतिरेकेण तस्य वस्तुनोऽ-सतोऽनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा क्षणिकवादहानिप्रसक्तिः, सामा-

न्यानभ्युपगमश्च निर्निबन्धनो भवेत् । इति न तस्य स्वरूपेण प्रवृत्त्यादिविषयता, सन्तानरूपेणाऽपि तस्य सत्त्वे सन्तानिन एव तथाभूतानव्यतिरिक्तः सन्तानः प्रवृत्त्यादिविषयः, सन्तानिनां चोत्पत्त्यनन्तरध्वंसित्वाद् न तद्विषयस्य विज्ञानस्य प्रदर्शितार्थप्रापक-त्वम्, दृश्यप्राप्ययोः क्षणयोरत्यन्तभेदात् । यत्र हि देशकालभेदेन प्रतीयमानस्याऽपि वस्तुनो भेदोऽभ्युपगम्यते, तत्र स्वरूपेण भिन्नयोः पूर्वोत्तरक्षणयोः कथमभेदः ? येन प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं साधननिर्भासिज्ञानस्य युक्तिसंगतं भवेत् । अथ संवृत्या सन्तानस्य स्वरूपसिद्धिः पूर्वोक्तमदूषणतया च प्रतिपादितम् । सांव्यवहारिकस्य च प्रमाणस्यैतल्लक्षणम्, न त्वेवं लोकव्यवहारानुरोधेन यदि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं साधननिर्भासिज्ञानस्य युक्तिसङ्गतं भवेत्। अथ संवृत्या प्रमाणस्याऽभ्युपगम्यते, तदा नित्यानित्यवस्तुप्रदर्शकस्य तदभ्युपगम्यताम् , लोकव्यवहारस्य तत्रैवोपपत्तेः । न च तथाभूत-सद्ग्राहकस्य युक्तिबाधितत्वाद् निर्विषयम् , सन्तानविषयस्यैव पूर्वोक्तन्यायेन युक्तिबाधितत्वोपपत्तेः । तन्नाध्यासितार्थप्रापकं प्रत्यक्षं पराभ्युपगमेन संभवति । तथाहि-यदेवाध्यक्षेणोपलब्धं तदेव तेनाध्यवसितम् । न च सन्तानस्तेन पूर्वमुपलब्ध इति कथमसावध्यवसीयते ? न हि क्षणमात्रभाविनां सन्तानिनां दर्शनविषयत्वे तत्पृष्टभाविनाऽध्यवसायेः दृष्टस्यैव विषयीकरणम् । न चाऽन्यथा-भूतस्य वस्तुग्रहणेऽन्यथाभूताऽध्यवसायिनः प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यं युक्तम्, तथाऽभ्युपगमे शुक्तिकायां रजताध्यवसायिनोऽपि तत् स्यात् । अथाऽत्र प्रवृत्ते रजतं न प्राप्यत इति न प्रदर्शितार्थप्रा-पकत्वं, तर्हि सन्तानेऽध्यवसितेक्षणः प्राप्यत इति प्रकृतेऽपि न प्रदर्शितार्थप्रापकत्वम् । अथाऽत्र सन्तान एव प्राप्यते, तर्हि स एव वस्तु सन् भवेदिति न सामान्यधर्माः स्वरूपेणासन्तोऽभ्युपगन्तव्याः, अक्षणिकस्य च वस्तुनः सिद्धेः । यदुक्तं भवद्भिः-दर्शनेन क्षणिकाक्षणिकत्वसाधारणस्यार्थस्य विषयीकरणात् कुतश्चिद्भूमनिमित्तादक्षिवत्त्वारोपेऽपि न दर्शनमक्षणिकत्वे प्रमाणम् , किं तु प्रत्यक्षाप्रमाणम् , विपरीताध्यवसायाऽऽक्रान्तत्वात् । क्षणिकत्वे-ऽपि न तत् प्रमाणम्, अनुरूपाध्यवसायाजननात् । नीलरूपे तु तथाविधनिश्चयकरणात् प्रमाणमिति हि विरुध्यते । किञ्च-एवंवा-दिन एकस्यैव दर्शनस्य क्षणिकत्वाक्षणिकत्वयोरप्रामाण्यम्, नीलाऽऽदौ तु प्रामाण्यं प्रसक्तमित्यनेकान्तवादाभ्युपगमो बलादापतति । न क्षणग्रहणे तद्विपरीतसन्तानाध्यवसायोत्पत्तौ दर्शनस्य प्रामाण्यं युक्तम्, मरीचिका स्वलक्षणग्रहणे जलाध्यवसायिन इव । यतो यदेव मायात्वतो दृष्टं, तदेव प्राप्तमित्यध्यवसाये तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते । न च दृष्टस्य क्षणिकसन्तानिस्वरूपेण सन्तानस्य प्राप्तिरिति प्राक् प्रतिपादितम्, स्वरूपेण तु तस्यासत्त्वात् प्राप्त्यविषयतैवेति न धर्मोत्तरमतपर्यालोचनया किञ्चित् परमार्थतः प्रदर्शितार्थप्रापकं प्रमाणं संभवति; अतः संवादकत्वमपि तन्मतेन प्रमाणलक्षणमयुक्तम् ।

(१६) नैयायिकास्तु-''अव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणम्'' इति प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रतिपन्नाः, तज्जनकत्वमेव प्रामाण्यमिति च । अथ सामग्र्या प्रमाणत्वे साधकतमत्वमनुपपन्नम् । सामग्री ह्यनेककारकस्वभावा, तत्र चानेकसमुदाये कस्य स्वरूपेणातिशयो वक्तुं शक्यते ? तथाहि-सर्वस्मात् कारणकलापात् कार्यमुपजायमानमुपलभ्यते । तदन्यतमापायेऽप्यनुपजायमानं कस्य कार्योत्पादने साधकतमत्वमावेदयतु ? न च समस्तसामग्र्याः साधकतमत्वम्, अपरस्यासाधकतमस्याभावे तदपेक्षया साधकतमत्वस्यानुपपत्तेः, असाधकतममपेक्ष्य साधकतमत्वव्यवस्थितेः । न चानेककारकजन्यत्वेऽपि कार्यस्य ''विवक्षातः कारकाणि भवन्ति'' इति न्यायात् साधकतमत्वं विवक्षितमिति वक्तव्यम्, पुरुषेच्छानिबन्धनत्वेन वस्तुव्यवस्थितेरयोगात् । अथ कर्मकर्तृविलक्षणस्याऽव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टोपलब्धिजनकस्य प्रमाणत्वान्न यथोक्तदोषानुषङ्गः । असदेतत् । अनेकसन्निधानात् कार्यस्य स्वरूपालाभे एकस्य तदुत्पत्तौ वैलक्षण्याभावे साधकतमत्वानुपपत्तेः । तत्र कर्मकर्तृवैलक्षण्यमपि साधकतमत्वम् । अत्र चाऽनेकपक्षानुद्भाव्योद्द्योतकरोत्तराध्ययनकारप्रभृतिभिः साधकतमत्वं निरस्तम् , ते च पक्षा ग्रन्थगौरवभयाद् नेह प्रदर्श्यन्ते । सन्निपत्य जनकत्वे पूर्वोदितदोषाभावः । तथाहि-अनेकस्मिन् सन्निधौ कार्यनिष्पत्तेः साधकतमत्वानुपपत्तिः, तस्मिंस्तु सति यदा नियमेन कार्यमुपजायते तदा कथं न तस्य साधकतमत्वोपपत्तिः ? असदेतत् । एवं प्रमाणत्वस्याव्यवस्थितिप्रसक्तेः । तथाहि-दीपाऽऽप्रकाशस्य सामग्र्येकदेशस्य कस्याश्चिदवस्थायां प्रमाणितऽभिमतस्य सद्भावेऽपि प्रमेयाभावात् कार्यानिष्पत्तौ तत्सद्भावे तु तन्निष्पत्तौ तस्यापि प्रदीपवदसन्निपत्यकारकत्वात् प्रमाणताप्रसक्तिर्भवेत् । तथा प्रमातुरपि मूर्छाऽऽद्यवस्थायाम् , अनवधाने वाऽन्यकारकसन्नि-धानेऽपि कार्यानुपपत्तौ तदवधानाऽऽदिसन्निधाने तज्जन्यकार्यनि-ष्पत्तेः । सन्निपत्य जनकत्वेन साधकतमत्वप्रसक्तिः । अत्र कारक-साकल्यस्य साधकतमत्वेनाऽभ्युपगमात् पूर्वोक्तदोषाभावं केचिन् मन्यन्ते । तथाहि-नैकस्य प्रदीपाऽऽदेः सामग्र्यैकदेशस्य करणता, अपि तु कारकसाकल्यस्य, तदभावे कारकसाकल्यानभिमतकार्यासत्त्वमिति प्रमातृप्रमेयसदभावे कारकसाकल्यस्तोत्पत्तौ प्रमितिलक्षणस्य कार्यस्य भाव एव । अथ मुख्यप्रमातृप्रमेयसद्भावेऽपि पूर्वोदितस्य नियमस्य तुल्यता, न कारकसाकल्पभावाभावनिमित्तत्वात् तन्मुख्या गौणभावस्य । तथाहि-कथञ्चित् कारकवैकल्ये तयोः सत्त्वेऽपि गौणता । तत्साकल्ये कुतश्चिन्निमित्तान्तराद् यथोक्तप्रमितिलक्षणकार्यनिष्पत्तावगौणता प्रमातृप्रमेययोः, तयोश्चानुपपत्तौ साकल्यस्यासत्त्वम्, अतः कारकसाकल्ये कार्यस्यावश्यंभाव इति तस्यैव साधकतमत्त्वम् । अनेककारकसन्निधाने उपजायमानोऽतिशयः सन्निपत्य जननं साधकतमत्वं यद्युच्येत, तदा न कश्चिद् दोषः । तथाहि-सामग्र्येकदेशकारकसहभावेऽपि प्रमि-तिकार्यस्याऽनुपपत्तेरेकदेशस्य न प्रमाणता, सामग्रीसद्भावे त्ववश्यंतया विशिष्टप्रमितिस्वरूपोपपत्तेः । एकदेशापेक्षया तस्या एव सन्निपत्य जनकत्वमेव साधकतमता । न चाऽत्र किमपेक्षया तस्याः साधकतमत्वम् ? अन्यस्मिन्नसाधकतमे साधके साधकतरे वा सति तदपेक्षया तस्याः साधकतमत्वमुपपत्तिमदिति प्रेरणीयम्; यतो न सामग्र्यन्तर्गतानामेकदेशानां जनकत्वव्याघातः, तेषामेव धर्ममात्रत्वात् सामग्र्यस्येति जनकैकदेशापेक्षया तत्सामग्र्यस्य साधकतमत्वात् प्रमाणत्वमुपपन्नमेव । एतेन यत्परैः प्रेरितं किल सामग्रीकारणं तच्च कर्तृकर्मापेक्षं, सामग्रीजन-कत्वेन चेत्, तयोर्व्यापृतेरर्थान्तरभूतयोरभावात् किमपेक्ष्य साधकतमवमासाद-

येदिति ? तदपि निरस्तम् । यतः कर्तृकर्मणोः सामग्रीजनकत्वेन स्थितयोः कथमसत्त्वम् ? तत्सद्भावे च तदपेक्षया कथं न तस्याः करणता ? अथापि स्यात् तस्यास्तज्जन्यत्वे करणत्वव्याघातः, अन्यतः सिद्धस्य करणत्वसद्भावात् । असदेतत् । यतो दृश्यत एव प्रदीपाऽऽदेस्तज्जन्यत्वे करणत्वव्याघातेऽन्यस्यापि करणत्वसद्भाव इति न कश्चिद् व्याघातः । तज्जन्यत्वकरणत्वयोस्ततोऽव्यभिचाराऽऽदिभिर्विशेषणार्थोपलब्धिजनिका सामग्री बोधस्वभावा तदेकदेशभूतकारकजन्या प्रमाणविशेषिका अप्येतदेव प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रतिपादयन्ति । एतत्कार्यभूता वा यथोक्तविशेषके विशिष्टोपलब्धिः प्रमाणसामान्यलक्षणम् , तथा स्वकारणस्य प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिद्यमानत्वात् । इन्द्रियजत्वाऽऽदिविशेषणविशेषिता सैवोपलब्धिः प्रमाणस्य विशेषलक्षणमिति स्थितं सामग्रीप्रमाणमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते-यत्तावदुक्तं कारकसाकल्यकरणत्वेनाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषाभाव इति । अत्र वक्तव्यम्-किमिदं कारकसाकल्यम्- किं सकलान्येव कारकाणि, आहोस्वित्तद्धर्मः, उत तत्कार्यम् , किं वा पदार्थान्तरम् ? इति पक्षाः । तत्र न तावत् सकलान्येव कारकाणि साकल्यं, कर्तृकर्मभावे तेषां करणत्वानुपपत्तेः; तत्सद्भावे वा नान्येषां कर्तृकर्मरूपता, तेषां करणत्वाभ्युपगमात् । न च कर्तृकर्मरूपाणामपि तेषां करणत्वम्, तेषां परस्परविरोधात् । तथा-हि-ज्ञानचिकीर्षाऽऽधारता, स्वातन्त्र्यं वा कर्तृता; निर्वर्त्याऽऽदि-धर्मयोगित्वात् कर्मत्वम् , प्रधानक्रियाऽनाधारत्वं करणत्वम् , एता-नि परस्परविरुद्धानि कथमेकत्र संभवन्ति ? अथापरापरनिमित्त-भेदाऽऽदेः कर्तृकर्मकरणरूपताया अविरोधः । ननु तान्यपि निमि-त्तानि सकलकारकेभ्यो व्यतिरिक्तानि, उताव्यतिरिक्तानि ? इति वाच्यम् । यदि-श्चव्यतिरिक्तानीति पक्षः, तदा तद्भेदे तेषामप्यभेदः, तेषां वा भेदे कारकस्याऽपि भेदः, अन्यथा व्यतिरेकासिद्धेः । अथ व्यतिरिक्तानि तदा संबन्धासिद्धिः । न च समवायलक्षणः संबन्धः, तस्य निषिद्धत्वात् , निषेत्स्यमानत्वाच्च । न चैकान्तभेदे विशेषण-विशेष्यभावाऽऽदिकोऽपि संबन्धः कश्चित्संभवति, तत्रापि संबन्धान्तरकल्पनातोऽनवस्थाप्रसक्तेः । न च तस्य संबन्धरूपत्वात् संबन्धान्तरमन्तरेणाऽपि संबन्धत्वानवस्था, एकान्तभेदे संबन्धरूपताया एवायोगात्, कथञ्चिन्निमित्तानां कारकेभ्योऽभेदे अनेकान्तवादाऽऽपत्तिः, तत्र सकलकारकाणि साकल्यम् । अथ कारणधर्मसाकल्यम्ननु सोऽपि यदि कारकाव्यतिरिक्तस्तदा धर्ममात्रं, कारकमात्रं वा ? अथ व्यतिरिक्तस्तदा सकलकारकधर्मः साकल्य-मिति संबन्धासिद्धिः । संबन्धेऽपि यदि सर्वकारकेषु युगपदसौ संबध्यते, तदा बहुत्वसंख्यया तत्पृथक्त्वसंयोगविभागसामान्यानामन्यतमस्वरूपाऽऽपत्तिस्तस्येति तद्दूषणेन तस्य दूषितत्वान्न साधकतमत्वमुपपत्तिमत् । अथ तत्कार्यं साकल्यम् । तदप्ययुक्तम् । नित्यानां साकल्यजननस्वभावत्वे सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसक्तेः । ततश्चैकप्रमाणोत्पत्तिसमये सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः । तज्जनकस्वभावस्य कारणेषु पूर्वोत्तरकालभाविनां सर्वप्रमाणानां तदा नित्याभिमतं जनकमात्माऽऽदिकं कारणमिति कथं न तदैव सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः ? अथाऽऽत्माऽऽदिके सत्यपि तदा तानि न भवन्ति, न तर्हि तत् तत्कारणं, नापि तानि तत्कार्याणीति सकृदपि तानि ततो न भवेयुरिति सकलं जगत्प्रमाणविकल्पमापद्यते । न चाऽऽत्माऽऽदिके तत्करणसामर्थ्ये सत्यपि स्वयमेव यथाकालं तानि भवन्तीति वक्तव्यम्, तेषां तत्कार्यताभाव-प्रसक्तेः, तस्मिन् सत्यपि तदाभावात् स्वयमेवान्यदा च भावात् । न च स्वकालेऽपि कारणे सत्येव भवन्तीति तत्कार्यता, गगनाऽऽदि-कार्यताप्रसक्तेः, गगनाऽऽदावपि सत्येव तेषां भावात् । न च गगना-ऽऽदेरपि तत्प्रति कारणत्वस्येष्टे नाऽयं दोषः, प्रमितिलक्षणस्य तत्फलस्याऽपि व्योमाऽऽदिजन्यतयाऽऽत्मनाऽऽत्मविभागाभावप्रसक्तेः । अथ यत्र प्रमितिः समवेता, स एवाऽऽत्मा, न व्योमाऽऽदिरिति न तद्विभागाभावः । ननु समवेत इति कोऽर्थः ? समवायेन संबद्ध इति चेत् । ननु तस्य नित्यसर्वगतैकत्वेन व्योमाऽऽदावपि प्रमितः संबन्धान्न तत्परिहारेणाऽऽत्मनो विभागः । न च समवाय-विशेषे समवायिनो विशेषान्नायं दोषः, समवायस्याभावप्रसक्तेः । अथ यदा यत्र यथा यद् भवति तदा तत्र तथा तदात्माऽऽदिकं कर्तुं समर्थमिति नैकदा सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः । न । स्व-भावभूतसामर्थ्यमन्तरेण् कार्यस्य कालाऽऽदिभेदायोगात् । अन्यथा दृश्यपृथिव्यादिमहाभूतकार्यनानात्वस्य कारणं किमदृष्टपृथिवीपर-माण्वादिचतुर्विधमभ्युपेयते, एकमेवानन्तं नित्यं सर्वगं सर्वोत्पत्तिमतां समवायिकारणमभ्युपगतम् ? अथ कारणजातभेदमन्तरेण न कार्यभेदउपपद्यते, तर्हि कारणशक्तिभेदमन्तरेणाऽपि न कार्यभेद उपपद्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम् । अथ यथा शक्त्यैकमनेका शक्तिर्विभक्तिः, तत्राप्यनेकशक्तिपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसक्तेः । न च तदाऽनेकं कार्यं विधास्यतीति न शक्तिभेदपरिकल्पना । असदेतत् । यतो न जैनस्यायमभ्युपगमः-यदुत भिन्नाः शक्तीः कयाचित् प्रत्यासत्ति-लक्षणया शक्त्या एकः कश्चिद्धारयतीति, किं तु यत्तदात्मकं तदपि तथाविधं न कस्याश्चित् शक्तेः, अपि तु स्वकारणवशात् । न चैक-स्यानेकाऽऽत्मकत्वमदृष्टमेव परिकल्प्यते, अनेकरूपाऽऽद्यात्मकस्यैकस्य पटाऽऽदेः प्रमाणतः प्रतिपत्तेः । अन्यथा गुणगुणिभाव एव न भवेत् , समवायस्य तन्निमित्तस्याभावात् । सकलकारणानि सा-कल्यजननस्वभावानि, सकलकालभाविसाकल्यस्य तदैवोत्प-त्तिप्रसक्तेः । न चातज्जननस्वभावानि नैकदाऽपि तदुत्पत्तिः, अतज्जननस्वभावात् सकृदपि तस्यानुपपत्तेः । न च सहकारिसव्यपेक्षाणि तानि तज्जनयन्ति, नित्यस्यानुपकार्यतया सहकार्यपेक्षायोगात् । न च संभूयैककार्यकारित्वं तेषां सहकारित्वम् , एकान्तनित्यवादे तस्यापि निषिद्धत्वात् । तत्र सकलकार्यकारणमपि साकल्यं संभ-वति । किञ्च-सकलानि कारणानि साकल्यं जनयन्ति, उतासक-लानि ? न तावदसकलानि, अतिप्रसङ्गात् । नापि सकलानि, साकल्यमन्तरेण सकलानीति व्यपदेशाभावात् । भावे वाऽकिञ्चि-त्करं साकल्यमिति तत्परिकल्पना व्यर्था । किञ्च-यथा प्रत्यासत्त्या तानि साकल्यं जनयन्ति तथैव प्रमितिमप्युत्पादयिष्यन्तीति व्यर्था साकल्यपरिकल्पना । अथ साकल्यस्य साधकतमत्वात् तदभावेनाकरणिका प्रमित्युत्पत्तिः, तर्हि साकल्योत्पत्तावपि तेषां न परं साकल्यलक्षणं करणमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा-अकरणिका साकल्यस्यापि कथमुत्पत्तिः ? अथ तदुत्पत्तावपि करणाभ्युपगमस्तर्हि तदुत्पत्तावप्यपरं करणमभ्युपगन्तव्यमित्यनवस्था । अथ करणोत्पत्तौ नापरं करणमभ्युपगम्यत इति नानवस्था, तर्हि उपलब्ध्युत्पत्तावपि न करणमभ्युपगन्तव्यमिति न साकल्यप्रमाणपरिकल्पना युक्तिसङ्गता । न च साकल्यस्याध्यक्षाऽऽदिप्रमाणसिद्धत्वादध्यक्षबाधितोऽयं विकल्पकलापः, आत्माऽन्तःकरणतत्संयोगाऽऽदे करणसाकल्यातीन्द्रियत्वेनाध्यक्षाविषयत्वात्

तत्पूर्वकत्वेन पूर्ववदादेरनुमानस्याप्यभ्युपगमान्न ततोऽपि साकल्यसिद्धिः । केवलं विशिष्टार्थोपलब्धिलक्षणमध्यक्षसिद्धं कार्यं करणमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्परिकल्पना, तच्च साकल्यमिति न कल्पयितुं शक्यमात्माऽऽदिकरणसद्भावे कार्यस्योपपत्तावपरपरिकल्पनेऽदृष्टपरिकल्पनाप्रसक्तिः, ततोऽपरापरदृष्टिपरिकल्पनयाऽनवस्थाप्रसक्तेः । तन्न सकलकारणकार्यमपि साकल्यम् । अथ पदार्थान्तरं सकलकारणेभ्यः साकल्यं, तदा यत् किञ्चित् पदार्थान्तरं तत्साकल्यं प्रसज्येत, इति यस्य कस्यचित्पदार्थान्तरस्य सद्भावेऽर्थोपलब्धिर्भवेदिति सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञताप्रसक्तिः; तन्न कारकसाकल्यं प्रमाणम् । तेन प्रमातृप्रमेययोरभावः साकल्याभाव इत्यादि प्रतिक्षिप्तम् , तत्सद्भावेऽपि भवदभिप्रायेण साकल्यानुपपत्तेः । यदपि मुख्यगौणभावस्य कारकसाकल्याभावाभावनिमित्तत्वादित्यादि । तदपि व्योमकुसुमावतंसकभावकृद्वेदत्तसौभाग्यासौभाग्यप्रख्यं द्रष्टव्यम् । तेन सन्निपत्य जननं साधकतमत्वं यद् व्याख्यातम् । तदपि निरस्तम् । तस्याऽपि साकल्यार्थत्वात् । यदपि साकल्यं हि तेषामेव धर्ममात्रं नैकान्तेन वस्त्वन्तरमित्यभिधेयशून्यं वचः, वस्त्वन्तरपक्षे तु दोषाः प्रतिपादिता एव । यदपि प्रमातृप्रमेयजन्यत्वेऽपि सामग्र्या न करणत्वव्याहतिरिति । तदपि न सङ्गतम् । सामग्र्यास्तज्जन्यत्वेऽनवस्थाऽऽद्यनेकदोषाऽऽपत्तेः प्रतिपादनात् । यदप्यव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणमित्युक्तम् । तदप्यसङ्गतम् । अव्यभिचारादेकोपलब्धिविशे-षणस्य भवदभिप्रायेणायोगात् । (यथा च तस्यायोगस्तथा प्रत्यक्षलक्षणे प्रदर्शयिष्यामः / प्रत्यक्षलक्षणं सम्मतौ द्रष्टव्यम्) सामग्री च तज्जनिका यथा न संभवति तथाऽभिहितमेव साकल्यं विचारयद्भिः । यच्चाबोधस्वभावस्यापि प्रदीपाऽऽदेः प्रमाणत्वं प्रतिपाद्यते । तदप्यसङ्गतम् । बोधस्वभावस्य तस्य प्रमितिक्रियायां साधकतम-त्वायोगात् । यच्च लोकस्तेषां प्रामाण्यं दीपेन मया दृष्टं, चक्षुषाऽवगतं, धूमेन प्रतिपन्नमिति व्यवहरतीति तदुपचारतः, यथा ममाऽयं पुरुषश्चक्षुरिति, न तु मुख्यतः । मुख्यतस्तु बोधस्यैव प्रमितिं प्रति तादात्म्यादव्यवहितं साधकतमत्वम् । चक्षुरादेस्तु बोधव्यवधानाद् गौणम् । न च व्यपदेशमात्रपरतया न पारमार्थिकवस्तुव्यवस्था, उपचारतोऽपि नड्वलोदकं पादरोग इत्यादिव्यपदेशप्रवृत्तेः । न च प्रमाणस्य प्रमितिरूपता विरुद्धा, स्वरूपे विरुद्धासिद्धिः । न च प्रमाणप्रमित्योरेकान्ततो भेद एवाभ्युपगम्यते, कथञ्चिद् बोधादर्थपरिच्छित्तिविशेषस्य भेदात् प्राक्तनपर्यायनिरोधेन कथञ्चिदवस्थितस्यैव बोधस्याऽर्थपरिच्छित्तिविशिष्टरूपतयोत्पत्तेः । अन्यथा कार्यकारणभावविरोधादित्यसकृत् प्रतिपादितत्वात् । एतेन ''लिखितं साक्षिणो भुक्तिः, प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्'' इति यत् शास्त्रान्त-रेषु बोधाबोधरूपस्य प्रमाणत्वाऽभिधानं तदप्युपचारेण व्याख्येय-मित्युक्तं भवति । अन्यथा प्रमाणविरोधप्रदर्शितन्यायेन.....(?) यदपि तत्कार्यभूता चोदितविशेषणोपलब्धिस्तस्य सामान्यलक्षणमित्युक्तम् । तदप्यसङ्गतम् । न हि यथोक्तविशेषणोपलब्धिः पराभ्युपगमे न संभवति, नाऽपि पराभ्युपगतप्रमाणकार्यतयाऽसौ सिद्धा, येन स्वकारणं प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिद्यात् । तन्नाक्षपाद-कणभुङ्मतानुसारिपरिकल्पितमपि प्रमाणसामान्यलक्षणमुपपत्तिक्षमम् । तस्मात् 'प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम् ' इत्येतदेव प्रमाणसामान्यलक्षणमनवद्यम् । ननु चात्रापि स्वग्रहणविधुरस्य ज्ञानस्य नैयायिकाऽऽदिभिरभ्युपगमाद् बौद्धैस्त्वर्थग्रहणविधुर-स्येति स्वार्थनिर्णीतिस्वभावताऽसिद्धा । सम्म० २ काण्ड ।

'' ज्ञानं स्वस्थं परस्थं वा, यथा ज्ञानेन गृह्यते ।
ज्ञाता स्वस्थः परस्थो वा, तथा ज्ञानेन गृह्यताम् ''॥१॥ उत्त० २ अ० ।

(२०) अनुव्यवसायप्रकाश्यं ज्ञानम्-

तथाहि नैयायिकाः प्रतिपादयन्ति-घटाऽऽदिज्ञानं स्वग्राह्यं न भवति, ज्ञानान्तरग्राह्यं वा, ज्ञेयत्वात्, घटाऽऽदिवत् । अत्र प्रयोगे हेतुः स्वरूपासिद्धः, आश्रयासिद्धश्च । धर्मिणो ज्ञानस्याऽप्रतिपत्तौ तदाश्रितज्ञेयत्वधर्माप्रतिपत्तेः । न चाऽऽश्रयासिद्धस्य परैर्धार्मिकत्वमभ्युपगम्यते । अन्यथा सामान्याऽऽदिनिषेधे सामान्यस्याऽसिद्धौ परं प्रत्याश्रयासिद्धो हेतुरिति दोषोद्भावनं युक्तियुक्तं भवेत् । घटाऽऽदिज्ञानस्य प्रमाणतः प्रसिद्धेर्नायं दोषः । ननु तत्प्रसिद्धिरध्यक्षतोऽनुमानतो वा ? प्रमाणान्तरस्यात्रानधिकारात् । न तावदध्यक्षतः, तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वाभ्युपगमात् । न च ज्ञानस्य चक्षुरादीन्द्रियेण सन्निकर्षो, न च तद्व्यतिरिक्तमिन्द्रियान्तरमस्ति, अथ मनोलक्षणमन्तःकरणमस्ति, तस्य च ज्ञानेन संयुक्तसमवायः सन्निकर्ष इति तत्प्रभवमध्यक्षं तत्र प्रवर्तत इति । तथाहि-आत्मना मनः संयुक्तम् , आत्मनि च समवेतं ज्ञानमिति मनोज्ञानेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतदेकार्थसमवेताध्यक्षग्राह्यत्वाद् घटाऽऽदिज्ञानस्य कथमाश्रयासिद्धत्वाऽऽदिर्हेतोर्दोषः ? अयुक्तमेतद् यदीन्द्रियं मनः सिद्धं भवेत् । अथानुमानात्तत्सिद्धिः । तथाहि-घटाऽऽदिज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं, प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वाच्चक्षुरादिप्रभवरूपाऽऽदिज्ञानवन्नास्य हेतोरप्रसिद्धविशेषणत्वम् । न हि घटाऽऽदिज्ञानस्याध्यक्षत्वं सिद्धम् , इतरेतराश्रयत्वात् । तथाहि-मनस इन्द्रियसिद्धावस्याध्यक्षत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सविशेषणहेतुसिद्धेर्मनस इन्द्रियसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । न च घटज्ञानाद् भिन्नमपरं ज्ञानं तद्ग्राहकमनुभूयत इति विशेष्यासिद्धश्च हेतुः, सुखाऽऽदिसंवेदनेन व्यभिचारी च । तथाहि-तत्संवेदनमध्यक्षत्वे सति ज्ञानं च तज्ज्ञन्यमिति व्यभिचारः । अथास्यापि पक्षीकरणाददोषः । तथा सुखाऽऽदिसंवेदनमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजमध्यक्षज्ञानत्वाच्चक्षुरादिप्रभवरूपाऽऽदिवेदनवत्, सुखाऽऽदिर्वा भिन्नज्ञानवेद्यो, ज्ञेयत्वात्, घटवत् । नन्वेवं व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणे न कश्चिद् हेतुर्व्यभिचारी स्यात् । तथाहि-अनित्यः शब्दः, प्रमेयत्वाद्, घटवदित्यत्राप्यात्माऽऽदेर्व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणाद् न व्यभिचारः । शक्यं ह्यत्राऽपि वक्तुम्-अनित्य आत्माऽऽदिः, प्रमेयत्वाद्, घटवत् । न चाऽत्र प्रत्यक्षबोधः, अन्यत्राऽपि तस्य समानत्वात् । न हि सुखाऽऽद्यविदितस्वरूपं पूर्वं घटाऽऽदिवदुत्पन्नं पुनरिन्द्रियसंबन्धोपजातज्ञानान्तराद्वेद्यत इति लोकप्रतीतिः, अपि तु प्रथममेव स्वप्रकाशरूपं तदुदयमासादयदुपलभ्यते आत्मनि त्रिविध इति चेत् । न । स्वरूपेण पदार्थस्य विरोधाभावात् । अन्यथा प्रदीपाऽऽदेरप्यपरप्रकाशविकलस्वरूपप्रकाशविरोधः स्यात् । तस्य तत्स्वरूपं कुतः सिद्धमिति चेत् ? प्रदीपाऽऽदौ कु तस्तथा दर्शनमितरत्रापि समानम् । न चैकस्य स्वभावोऽपरत्राप्यभ्युपगमार्हः, अन्यथा स्वपरप्रकाशस्वभावो घटगतः प्रदीपेऽभ्युपगते तयोर्भवेत् । न च तदवगमात् पूर्वमप्रतीयमानमपि सुखाऽऽद्यभ्युपगन्तुं युक्तम्; श्रवणसमवात् प्राक् पश्चाच्च शब्दस्य सत्ताऽभ्युपगमप्रसङ्गतो नित्यत्वाऽऽपत्तेः । न चाऽऽत्मनो

ज्ञानाद्यार्थान्तभूता एव सुखाऽऽदयोऽनुग्रहाऽऽदिविधायिनो भवे-युः इतरथाऽयोगिनोऽपि ते तथा स्युः। न च तेषां तत्रासमवायान्नायं दोषः, समवायस्य निषिद्धत्वात्। सुखाऽऽदिग्रहणे मनस इन्द्रियसिद्धिः। अत एव चाऽऽत्मा मनसा युज्यते, तत्र च समवेताः सुखाऽऽदय इत्यादिक्रिया अनुपपन्नैव। न च निरंशयोरात्ममनसोः संयोगः संभवी, एकदेशेन तत्संयोगे सांशत्वप्रसक्तेः, सर्वाऽऽत्मना संयोगे उभयोरेकत्वप्राप्तेः। यदि च यत्र मनः संयुक्तं तत्र समवेतं ज्ञानं समुत्पादयति, तदा सर्वाऽऽत्मना व्याप्तितया सामान्यदेशत्वेन मनसः तैः संयुक्तत्वात् सर्वाऽऽत्मसमवेतसुखाऽऽदिषु द्विधैवैकं ज्ञानमुत्पादयतीति प्रतिप्राणि भिन्नं मनःपरिकल्पनमनर्थमा-सज्येत। न च यस्य संबन्धि यन्मनः, तत्समवेतसुखाऽऽदिज्ञाने तदेव हेतुरिति नायं दोषः, प्रतिनियताऽऽत्मसंबन्धित्वस्यैव तत्रासिद्धेः। न हि तत्कार्यत्वेन तत्संबन्धेन तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् तत्र चानाधेया-प्रहेयाऽतिशये तत्कार्यतायोगान्नापि तत्संयोगात् तस्याऽपि तत्रैकदेशेन सर्वाऽऽत्मना वा योगात्। योगेऽपि व्यापकत्वेन समानदेशि-सर्वाऽऽत्म-भिर्युगपत् संयोगेन प्रतिनियताऽऽत्मसंबन्धित्वानुपपत्तेः। न च यददृष्टप्रेरितं तत्प्रवर्तते तत्संबन्धीति वक्तव्यम्, अदृष्टस्याचेतनत्वेन प्रतिनियतविषयतया तत्प्रेरकत्वायोगात्। प्रेरकत्वे वा ईश्वरपरिक-ल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तेः। न चेश्वरप्रेरितयैवासौ तत्प्रेरक इति न तत्परिकल्प-नावैयर्थ्यम्, अदृष्टप्रेरणामन्तरेण ईश्वरस्य साक्षान्मनःप्रेरकत्वोपपत्तेर-दृष्टपरिकल्पनावैयर्थ्यं पुनः प्रसज्यते। न च प्रतिनियतनिमित्तमदृष्ट परिकल्पना, तस्यापि स्वतः प्रतिनियतत्वासिद्धेः। येनाऽऽत्मना यददृष्टं निर्वर्तितं तत्तस्य इति प्रतिनियमसिद्धिरिति चेत्, ननु किमिदमात्म-नोऽदृष्टनिर्वर्तकत्वम् ? तदा-धारभाव इति चेत्, ननु समवायस्यैकत्वे आत्मनां च व्यापकत्वेन एकदेशत्वे प्रतिनियत एव आत्मा प्रतिनियता-दृष्टाऽऽधार इत्येतदेव दुर्घटम्, समवायाविशेषेऽपि समवायिनोर्विशेषात् प्रतिनियमे सम-वायप्रसक्तेरित्यात्मसुखाऽऽद्योस्तत्संवेदनस्य कथञ्चित् तादा-त्म्यमभ्युपेयम्। अन्यथा तदेकार्थसमवेतग्राह्यज्ञानत्वेन सुखाऽऽ-दयो न सिद्धिमासादयेयुः। तत्रादृष्टमपि मनसः प्रतिनियमहेतुः, न च येनाऽऽत्मना यन्मनः प्रेर्यते तत् तत्संबन्धीति प्रतिनियमः, अदृ-ष्टत्वादात्मनोऽप्यचेतनत्वेन तत्प्रत्ययप्रेरकत्वात्। चेतनत्वेऽपि नानुपल-भ्यस्य प्रेरणमिति न नियतं मनः सिध्यतीति। एकस्मात् ततो युगपत् सर्वसुखाऽऽदिसंवेदनप्रशक्तिः, इत्युक्तन्यायेन सुखाऽऽदिसंवेदनस्येन्द्रि-यार्थसन्निकर्षजन्यत्वाभावाद् हेतुरनेन व्यभिचारी। किञ्चस्वसंविदित-विज्ञानानभ्युपगमे सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानाऽऽलम्बनोऽनेकत्वात् पश्चाङ्गुलिवदित्यत्र पक्षीकृतैकदेशेन व्यभिचारः, तज्ज्ञानान्यत्वे सदसद्वर्गयोरनेकत्वाविशेषेऽप्येकज्ञानाऽऽलम्बनत्वाभावात्, एकशाखा-प्रभवत्वानुमानवत्। अथ सर्वज्ञज्ञानस्वसंविदितमिति नानेकत्वानु-मानस्य व्यभिचारः, तर्हि तज्ज्ञानवदन्यज्ञानस्यापि न स्वाऽऽत्मनि क्रियाविरोध इति सर्वज्ञानं स्वसंविदितं ज्ञानत्वात् सर्वज्ञज्ञानवदिति तत् दृष्टान्तबलात् स्वसंविदितसकलज्ञानसिद्धिः। घटाऽऽदिज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यं, ज्ञेयत्वाद्, घटवदित्यत्र च व्यभिचारः। सम्म० २ काण्ड।

ननु ''जुगवं दो णत्थि उवओगा'' इति वचनाद् भवतोऽपि युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिः सिद्धैव। न। मानसविकल्पद्वययौगपद्यनिषेधपरत्वादस्य, नेन्द्रियमनोविज्ञानयोर्यौगपद्यनिषेधः। न च विवादाऽऽस्पदीभूतानि ज्ञानानि क्रमभावीनि ज्ञानत्वाद् मानसविकल्पद्वयवदित्यतोऽनुमानत-द्विभ्रमसिद्धिः, अस्य प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वात्। न चैतदनुमान-बाधितत्वाद् युगपत्प्रतिपत्त्यनुभवः प्रत्यक्षमेव न भवति, अश्रावणः शब्दः, सत्त्वात्, घटवदित्यनुमानबाधि-तत्वात् श्रावणशब्दज्ञानस्याप्यप्रत्यक्षताप्रसक्तेः। न च सौगतमतमेतद् जैनमतमिति वक्तव्यम्, -'' सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविनः पर्यायाः '' इति जैनैरभिधानात्।

तथा सहभावित्वं गुणानां प्रतिपादयता दृष्टान्तार्थमुक्तम्-

'' सुखमाह्लादनाऽऽकारं, विज्ञानमयबोधनम्।
शक्तिः क्रियाऽनुमेया स्याद्, यूनः कान्तासमागमे '' ॥ १ ॥

तदेवं मनसोऽसिद्धेन घटाद् विज्ञानं, तेन सन्निकृष्टमिति कुतस्त-त्राऽध्यक्षज्ञानोत्पत्तिरिति यतस्ततस्तत् प्रतीयते ? न चान्यत्तदुत्प-त्तौ पराभ्युपगमे निमित्तमस्ति, सद्भावे चेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्प-न्नत्वाऽऽदिना तव ग्राहिणोऽध्यक्षता विरुध्यते। अथ ज्ञानान्तरेऽ-स्यानध्यक्षत्वेऽपि घटज्ञानग्राहकता भविष्यतीति न धर्म्यसिद्धेरा-श्रयासिद्धो हेतुर्भविष्यति, घटज्ञानस्य ततः सिद्धेः। असदेतत्। स्वयमसिद्धेन ज्ञानेन गृहीतस्याप्यगृहीतरूपत्वात्। अन्यथा सर्व-ज्ञज्ञानगृहीतस्य रथ्यापुरुषज्ञानगृहीतत्वं भवेदिति तस्याऽपि सर्व-ज्ञताप्रसक्तिः। न च स्वज्ञानगृहीतादगृहीतमिति नायं दोषः, स्व-संविदितज्ञानाभावे स्वज्ञानमित्यस्यैवासिद्धेः। स्वस्मिन् समवेत-स्वज्ञानमभिधीयत इति नायं दोष इति चेत्। न। तस्याभावात्, भावेऽप्यविशिष्टत्वाच्च। न य स्वोत्पादितं स्वमिति वक्तव्यम्, तदु-त्पादस्य परदर्शने तदाधेयत्वेन प्रसिद्धत्वात्। समवायाभावे च त-स्याऽप्यसिद्धत्वाद् नित्यस्य चेश्वरज्ञानस्य तदसिद्धिः। न च स्व-संविदितज्ञानवादेऽपि स्वसंविदितत्वाविशेषाद्देवदत्तज्ञानं प्रसज्येत, यज्ञदत्तज्ञानस्य देवदत्तासंविदितत्वात् स्वज्ञानस्य कथञ्चित् स्वा-त्मना तादात्म्यात् तस्यैव तद्रूपतया परिणतेरिति प्रसाधितत्वात्। ज्ञानान्तरेण तस्यासंवेदनाद् नागृहीतत्वमिति चेत्। न। तस्याऽपि ज्ञानान्तरेण ग्रहणेऽनवस्थाप्रसक्तेः। अग्रहणेऽगृहीतवेदनेन गृहीतस्य द्वितीयज्ञानस्या-गृहीतरूपत्वाद् न तेन प्रथमग्रहणमिति तदवस्था धर्मसिद्धिः। तेन घटाऽऽदिज्ञानस्य धर्मिणा द्वितीयेन तस्याऽपि तृतीयेन ग्रहणादर्थ-सिद्धेर्नापरज्ञानकल्पनमिति नानवस्थेति यदुक्तम्। तदप्यसंगतम्। तृतीयाऽऽदेर्ज्ञानस्याग्रहणे प्रथमस्याप्यसिद्धेः। उक्तन्यायाद् यदि पुनस्तृतीयज्ञानेन स्वयमसिद्धेनापि द्वितीयं गृह्यते, द्वितीयेन तथाभूतेनैव प्रथमं, तेनाऽपि तथाभूतेनैवार्थो ग्रहीष्यत इति द्वितीयज्ञानपरि-कल्पनमपि व्यर्थमासज्येत। न च विदितोऽर्थ इति ज्ञानविशेषणस्यार्थस्य प्रतिपत्तेरगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिर्नोपजायत इति विशेषणग्राहिज्ञानं द्वितीयं परिकल्प्यते। न च विशेषणस्याप्युपरि विशेषणसविशिष्टता प्रतीयते, येन तृतीयाऽऽदिज्ञानपरिकल्पना युक्तिसङ्गता भवेदिति वक्तव्यम्; विशेषणस्यैव तृतीयाऽऽदिज्ञानपरिकल्पनामन्तरेण ग्रहणासंभवादित्युक्तेः। स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगम एव ज्ञानविशेषण-विशिष्टार्थप्रतिपत्तिः संभवति, अन्यथा तदयोगादनवस्थानिवृत्तेः। न च विषयान्तरसंचारादनवस्थानिवृत्तिः, यतो धर्मिज्ञानविषयात् साधनाऽऽदिर्विषयान्तरं, तत्र ज्ञानस्योत्पत्तिर्विषयान्तरसंचारः। न चाप-

रापरज्ञानग्राहिज्ञानसमुत्पत्तावश्यंभाविबाह्यसाधनो विषयसन्निधानं, येन तत्र ज्ञानस्य संचारो भवेत्, सन्निधानेऽप्यन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गस्यैव बलीयस्त्वान्नान्तरङ्गविषयपरिहारेण बाह्यविषयज्ञानोत्पत्तिर्भवेदिति कुतोऽनवस्थानिवृत्तिः ? न चादृष्टवशादनवस्थानिवृत्तिः, स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगमेनाप्यनवस्थानिवृत्तेःसंभवात् । अन्यथा कार्येऽनुपपद्यमानेऽदृष्टपरिकल्पनाया उपपत्तेः, स्वसंवेदनेऽपि चादृष्टस्य शक्तिप्रत्यक्षाभावात्। एतेन ईश्वराऽऽदेरनवस्थानिवृत्तिरिति प्रतिविहितम्, तस्यादृष्टकल्पनायाः प्रतिषिद्धत्वाच्चतुर्थज्ञानाऽऽदेरनुत्पत्तेरनवस्थानिवृत्तेः, धर्मिग्रहणस्यैवमभावाऽऽपत्तेः । किञ्चशक्तिर्यद्यात्मनोऽव्यतिरिक्ता, तदा तत्क्षये आत्मनेऽपि क्षयाऽऽपत्तिः । व्यतिरिक्ता चेत्, तत एव ज्ञानोत्पत्तेर-नर्थक आत्मा भवेत्। न च सा तस्येति नात्माऽऽनर्थक्यम्, सम-वायाभावे तस्याप्यसिद्धेः । किञ्च-यदि सिद्धिप्रक्षपादनवस्थातिवृत्तेर्बाह्यविषयमपि ज्ञानं न भवेत्, शक्तिप्रक्षयादेव । न च चतुर्थाऽऽदिज्ञानजननशक्तेरेव प्रक्षयः । न । बाह्यविषयज्ञानशक्तेर्युगपदनेकशक्त्यभावात् । भावे वा युगपदनेकज्ञानीत्पत्तिप्रसक्तिः, सहकार्यपेक्षाऽपि नित्यस्यासंभविनी, प्रतिपादितक्रमेण शक्तिभावे कृतः स इति वक्तव्यम् ? आत्मन इति चेत् । न । अपरशक्तिवैकल्यात् । ततस्तदभावादपरशक्तिपरिकल्पते तदभावेऽप्यपरशक्तिपरिकल्पनमित्यनवस्था । तदेवं स्वसंविदितविज्ञानाभ्युपगमे कथञ्चिद् घटाऽऽदिज्ञानस्यासिद्धेराश्रयासिद्धो ज्ञेयत्वादिति हेतुः, स्वरूपासिद्धश्चेति व्यवस्थितमेतत् स्वनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानमिति। सम्म० २ काण्ड। (युगपद् ज्ञानद्वयानुभवो ' दोकिरिय ' शब्दे निषेत्स्यते)

(२१) ज्ञानस्य स्वप्रकाशकत्वम्-

अस्त्येव प्रदीपाऽऽदिलक्षणो दृष्टान्तो ज्ञानस्य प्रकाशं प्रति सजातीयापरानपेक्षणे साध्ये । तथाहि-यथा प्रदीपाऽऽद्यालोको न स्वप्रतिपत्तावालोकान्तरमपेक्षते, तथा ज्ञानमपि स्वप्रतिपत्तौ न समानजातीयज्ञानापेक्षम् । एतावन्मात्रेणाऽऽलोकस्य दृष्टान्तत्वम्, न पुनस्तस्यापि ज्ञानत्वमासाद्यते । येनेन्द्रियाग्राह्यत्वाच्च क्षुष्मतामिवान्धानामपि तत्प्रतीतिवसङ्ग इति प्रेर्यते । न हि दृष्टान्ते साध्यधर्मिधर्माः सर्वेऽप्यासञ्जयितुं युक्ताः, अन्यथा घटेऽपि शब्दधर्माः शब्दत्वाऽऽदयः प्रसज्येरन्निति तस्याऽपि श्रोत्रग्राह्यत्वप्रसङ्गः । न च साधर्म्यदृष्टान्तमन्तरेण प्रमाणप्रतीतस्याप्यर्थस्याप्रसि-द्धिरिति शक्यं वक्तुम्। अन्यथा जीवच्छरीरस्यापि सात्मकत्वे साध्ये तत्प्रसिद्धदृष्टान्तस्याभावात् प्राणाऽऽदिमत्त्वाऽऽदेन्तत्सिद्धिर्न स्यात्। अथ साधर्म्यदृष्टान्ताभावेऽपि दृष्टवैधर्म्यदृष्टान्तस्य घटा-ऽऽदेः सद्भावात् केवलव्यतिरेकिबलात्तत्र तत्सिद्धिः तर्हि यत्र स्वप्रकाशकत्वं नास्ति तत्रार्थप्रकाशकत्वमपि नास्ति, यथा घटाऽऽदाविति व्यतिरेकदृष्टान्तसद्भावादर्थप्रकाशकत्वलक्षणाद्धेतोः स्वप्रकाशकत्वं विज्ञानस्य किमिति न सिद्धिमासादयति ? यत्तूक्तं-कस्यचिदर्थस्य काचित्सामग्री, तेन प्रकाशः प्रकाशान्तरनिरपेक्ष एव स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभाति । तदयुक्तमेव । यथा हि स्वसामग्रीत उपजायमानाः प्रदीपाऽऽलोकाऽऽदयो न समानजातीयमालोकान्तरं स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभासमाना अपेक्षन्ते, तथा स्वसामग्रीत उपजायमानं विज्ञानं स्वार्थप्रकाशस्वभावं स्वप्रतिपत्तौ न ज्ञानान्तरमपेक्षते, प्रतिनियतत्वात् स्वकारणाऽऽयत्तजन्मनां भावशक्तिनाम्। यत्तुप्रदीपाऽऽलोकाऽऽदिकं सजातीयाऽऽलोकान्तरनिरपेक्षमपि स्वप्रतिपत्तौ ज्ञानमपेक्षते, तत्तस्याज्ञानरूपत्वात्; ज्ञानस्य च तद्विपर्ययस्वभावत्वाद् युक्तियुक्तमिति नैकत्र दृष्टः स्वभावोऽन्यत्राऽऽसञ्जयितुं युक्त इति पूर्वपक्षवचो निःसारतया व्यवस्थितम् । अथाऽऽलोकस्य तदन्तरनिरपेक्षा प्रतिपत्तिरुपलब्धेति न तद्दृष्टान्तबलाद् ज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरनिरपेक्षा प्रतिपत्तिः; अदृष्टत्वात्, स्वात्मनि क्रियाविरोधाच्च । नन्वेवमुपलभ्यमानेऽपि वस्तुनि यद्यदृष्टत्वं, विरोधश्चोच्येत, तदा स्वात्मवद् घटाऽऽदेरपि बाह्यस्य न ग्राहकं ज्ञानम्। अदृष्टत्वात्, जडस्य प्रकाशायोगाच्चेत्यपि वदतः सौगतस्य न वक्त्रवक्रता समुपजायते । तथाहि-असावप्येवं वक्तुं समर्थःजडं वस्तु न स्वतः प्रकाशते, विज्ञानवद्, जडत्वहानिप्रसङ्गात्। नाऽपि परतः प्रकाशमानम्, नीलसुखाऽऽदिव्यतिरिक्तस्य विज्ञानस्यासंवेदनेनासत्त्वात् । अथ नीलस्य प्रकाश इति प्रकाशमाननीलाऽऽदिव्यतिरिक्तस्तत्प्रकाशः । अन्यथा भेदेनास्याप्रतिपत्तौ संवेदनस्य तत्प्रतिभासो न स्यात् । ननु न नीलतद्वेदनयोः पृथगवभासः प्रत्यक्षसंभवी, प्रकाशविविक्तस्य नीलाऽऽदेरननुभवात् तद्विवेकेन च बोधस्याप्रतिभासनात् । न चाध्यक्षतो विवेकेनाप्रतीयमानयोर्नीलतत्संविदोर्भेदो युक्तः, विवेकादर्शनस्य भेदविपर्ययाऽऽश्रयत्वान्नीलतत्स्वरूपवत् । अथापि कल्पना नीलतत्संविदोर्भेदमुल्लिखति-नीलस्यानुभव इति । नन्वभेदेऽपि भेदोल्लेखो दृष्टः, यथा शिलापुत्रकस्य वपुः, नीलस्य वा स्वरूपमिति। अथ तत्र प्रत्यक्षाऽऽरूढो भेदो बाधक इति न भेदोल्लेखः सत्यः, स तर्हि नीलसंविदोरपि प्रत्यक्षाऽऽरूढो भेदोऽस्तीति न भेदकल्पना सत्या। तदेवं नीलाऽऽदिकं सुखाऽऽदिकं वस्तु प्रकाशवपुः प्रतिमातीति स्थितम्। तद्व्यतिरिक्तस्य प्रकाशस्य प्रतिभासनेनाभावात्। भवतु वा व्यतिरिक्तो बोधः, तथाऽपि न तद्ग्राह्या नीलाऽऽदयो युक्ताः । तथाहि-तुल्यकालो वा बोधस्तेषां प्रकाशकः, भिन्नकालो वा ? तुल्यकालोऽपि परोक्षः, स्वसंविदितो वा ? न तावत्परोक्षः, यतोऽप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यतीत्यादिना स्वसंविदितत्वं ज्ञानस्य प्रसाधयन्त एतत्पक्षं निराकरिष्यामः (निराकरणं ग्रन्थतोऽवसेयम्।) नाऽपि ज्ञानान्तरवेद्यः, अनवस्थाऽऽदिदूषण-स्यात्र पक्षे प्रदर्शयिष्यमाणत्वात्। स्वसंवेदनपक्षे तु यथाऽन्तर्नि-लीनो बोधः स्वसंविदितः प्रतिभाति; तथा तत्काले स्वप्रकाशव-पुषो नीलाऽऽदयो बहिर्देशसंबन्धितया प्रतिभान्ति, इति समान-कालयोर्नीलतत्संवेदनयोः स्वतन्त्रयोः प्रतिभासनात्सव्येतरगो-विषाणयोरिव न वेद्यवेदकभावः । समानकालस्यापि बोधस्य नीलं प्रति ग्राहकत्वे नीलस्यापि संप्रात ग्राहताप्रसङ्गः । समानकालप्रतिभासाविशेषेऽपि बुद्धिर्नीलाऽऽदीनां ग्रहणमुपरचयतीति ग्राहिका, नीलाऽऽदयस्तु ग्राह्याः । नैतदपि युक्तम्। यतो नीलबोधव्यतिरिक्ता न ग्रहणक्रिया प्रभाति । तथाहि-बोधः सुखाऽऽस्पदीभूतो हृदि, बहिः स्फुटमुद्भासमानतनुश्च नीलाऽऽदिराभाति, न त्वपरा ग्रहणक्रिया प्रतिभासविषया । तदनवभासे च न तया व्याप्यमानतया नीलाऽऽदेः कर्मता युक्ता। भवतु वा नील-बोधव्यतिरिक्ता क्रिया, तथाऽपि किं तस्या अपि स्वतः प्रतीतिः यद्वा अन्यतः ? तत्र यदि स्वतो ग्रहणक्रिया प्रतिभाति; तथा सति बोधो, नीलम् ग्रहणक्रिया चेति त्रयं स्वरूपनिमग्नमेककालं प्रतिभातीति न कर्तृकर्मक्रियाव्यवहृतिः । अथान्यतो ग्रहणक्रिया प्रतिभाति, न तु तत्राप्यपरा ग्रहणक्रियोपेया, अन्यथा तस्या ग्राह्यतसिद्धे; पुनरस्तत्राप्यपरा कर्मतानिबन्धनं क्रियोपेयेत्यन-

वस्था । तत्र ग्रहणक्रियाऽपराऽस्ति, तत्स्वरूपानवभासनात् । ततश्चान्तः संवेदनम् , बहिर्नीलाऽऽदिकं च स्वप्रकाशमेवेति स्वसंवित्तिमात्रवादः साधीयान् यदि, तर्ह्यन्तर्निलीनो बोधो नीलाऽऽदेर्न बोधकः, किं तु स्वप्रकाश एवाऽसौ । तथा सति नीलमहं वेद्मीति कर्मकर्तृभावाभिनिवेशो प्रत्ययो न भवेत् , विषयस्य कर्मकर्तृभावस्याभावात् । ननु विषयमन्तरेणापि प्रत्ययो दृष्ट एव,यथा शुक्तिकायां रजतावगमः । अथ बाधकोदयात् पुनर्भान्तिरसौ, नीलाऽऽदौ तु कर्मताऽऽदेर्न बाधाऽस्तीति सत्यता । नन्वत्रापि बोधनीलाऽऽदेः स्वरूपासंसक्तस्य द्वयस्य स्वातन्त्र्योपलम्भोऽस्ति बाधकः कर्मकर्तृभावोल्लेखस्य । अथ किमस्या भ्रान्तेर्निबन्धनम् ? न हि भ्रान्तिरपि निर्बीजा भवति । ननु पूर्वभ्रान्तिरेवोत्तरकर्मकर्तृभावा-वगतेर्निबन्धनम् । पूर्वभ्रान्तिकर्मताऽऽदेरप्यपरा पूर्वभ्रान्तिरित्यना-दिभ्रान्तिपरम्पराकर्मताऽऽदिर्न तत्त्वम् । अथवा नीलमिति प्रतीतिस्तावन्मात्राध्यवसायिनी पृथग्, अहमित्यपि मतिरन्तरुल्लेखमुद्वहन्ती भिन्ना; वेद्मीत्यपि प्रतीतिरपरैव । ततश्च परस्परासंसक्त-प्रतीतित्रितयं क्रमवत्प्रतिभाति, न कर्मकर्तृभावः, तुल्यकालयो-स्तस्यायोगात् । भिन्नकालयोरप्यनवभासनाद् न कर्मताऽऽदि-गतिः कथञ्चित् संभविनी । अथापि दर्शनात्प्राक् सन्नपि नीलाऽऽत्मा न भाति, तदुदये च भातीति कर्मता तस्य । नैतदपि साधीयः । यतः प्राग्भावोऽर्थस्य न सिद्धः । दर्शनेन स्वकालावधेरर्थस्य ग्रहणात् । दर्शनकाले हि नीलमाभाति, न तु ततः प्राक्, तत्कथं पूर्वभावोऽर्थस्य सिध्येत् ? तस्य दर्शनस्य पूर्वकाले विरहात् । न च तत्काले दर्शनं प्रागर्थसन्निविं व्यनक्ति, सर्वदा तत्प्रतिभासप्रसङ्गात् । अथान्येन दर्शनेन प्रागर्थः प्रतीयते । ननु तद्दर्शनादपि प्राग् सद्भावोऽर्थस्यान्येनावसेय इत्यनवस्था । तस्मात्सर्वस्य नीला-ऽऽदेर्दर्शनकाले प्रतिभासनाद् न तत्पूर्व सता सिद्ध्यति । अथापि पूर्वदृष्टं पश्यामीति व्यवसायात् प्रागर्थः सिद्ध्यति, प्रागर्थसत्तां विना दृश्यमानस्य पूर्वदृष्टेन एकत्वगतेरयोगात् । केन पुनरेकत्वं तयोर्गम्यते ? किमिदानीन्तनदर्शनेन, पूर्वदर्शनेन वा ? न तावत्पूर्वदर्श-नेन, तत्र तत्कालावधेरेवार्थस्य प्रतिभासनात् । न हि तेन स्वप्रति-भासिनोऽर्थस्य वर्तमानकालदर्शनव्यावृत्तिरवसीयते, तत्काले सा-म्प्रतिकदर्शनाऽऽदेरभावात् । न चासत्प्रतिभाति, दर्शनस्य वितथ-त्वप्रसङ्गात् । नापीदानीन्तनदर्शनेन पूर्वदर्शनाऽऽदिव्यावृत्तिर्नीलाऽऽदेरवसीयते, तद्दर्शनकाले पूर्वदृक्कालस्यास्तमयात् । न चास्तमितपूर्वदर्शनाऽऽदिसंस्पर्शमवतरति प्रत्यक्षम, वितथत्वप्रसङ्गा- देव । तस्मादपास्ततत्पूर्वदृगादियोगं सर्वं वस्तु दृशा गृह्यते, पूर्वदृष्टतां तु स्मृतिरुल्लिखति । तदपास्तम् । दृष्टतोल्लेखाभावात् । न च स एवायमिति प्रतीतिरेका । स इति स्मृतिरूपम् ,अयमिति तु दृशः स्वरूपं; तत्परोक्षापरोक्षाऽऽकारत्वाद् नैकस्वभावो प्रत्ययौ; तत्कृतस्तत्त्व-सिद्धिः ? अथानुमानात्प्राग्भावोऽर्थस्य सिद्ध्यति, प्राक् सत्तां विना पश्चाद्दर्शनायोगादिति । तदप्यसत् । यतः पश्चाद्दर्शनस्य प्राक् सत्तायाः संबन्धो न सिद्धः, प्राक् सत्तायाः कथञ्चिदप्यसिद्धेः । न चासिद्धया सत्तया व्याप्ते पश्चाद्दर्शनं सिद्ध्यति; येन ततस्तत्सिद्धिः । अथ यदि प्रागर्थमन्तरेण दर्शनमुदयमासादयति, तथा सति नियामकाभावात्सर्वत्र सर्वदा सर्वाऽऽकारं तद्भवेत् । नायमपि दोषः, नियतवासनाप्रबोधेन संवेदननियमात् । तथाहि-स्वप्नावस्थायां वासनाबलाद्दर्शनस्य देशकालाऽऽकारनियमो दृष्ट इति जाग्रद्दशायामपि तत एवासौ युक्तः । अर्थस्य तु न सत्ता सिद्धा । नापि तद्भेदात् संवित्तिनियम इति तन्न ततः संविद्वैचित्र्यम् । तस्मान्न कथञ्चिदपि नीलाऽऽदेः प्राक् सत्तासिद्धिः । अथ पूर्वसत्ताविरहे किं प्रमाणम् ? नन्वनुपलब्धिरेव प्रमाणम् । यदि नीलं पूर्वकालसंबन्धिस्वरूपं स्यात्तेनैव रूपेणोपलभ्येत, न च तथा दर्शनकालभुवः सर्वदाऽप्रतिभासनात् । यच्च येनैव रूपेण प्रातभाति, तत्तेनैव रूपे-णास्ति । यथा नीलं नीलरूपतयाऽवभासमानं तथैव सद् न पीताऽऽदिरूपतया । सर्वं चोपलभ्यमानं रूपं वर्तमानकालतयैव प्रतिभाति, न पूर्वाऽऽदितया, तन्न पूर्वं सत्ताऽर्थस्य । अथ नीलं, तद्दर्शनविरतावपि परदृशि प्रतिभातीति साधारणतया ग्राह्यम्; विज्ञानं त्वसाधारणतया प्रकाशकम् । नैतदपि युक्तम् । यतो नीलस्य न साधारणतया सिद्धः प्रतिभासः, प्रत्यक्षेण स्वप्रतिभासिताया एवावगतेः । न हि नीलं परदृशि प्रतिभातीत्यत्र प्रमाणमस्ति, परदृशोऽनधिगमे नीलाऽऽदेस्तद्वेद्यताऽनधिगतेः । अथानुमानेन नीलाऽऽदीनां साधारणता प्रतीयते । यथैव हि स्वसंताने नीलदर्शनात्तदा दानार्था प्रवृत्तिस्तथाऽपरसन्तानेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात् , तद्विषयं दर्शनमनुमीयते । नैतदप्यस्ति । अनुमानेन स्वपरदर्शनभृतो नीलाऽऽदेरेकताऽसिद्धेः; तद्विसदृशव्यवहारदर्शनादुपजायमानं स्वदृष्टसदृशतां परदृष्टस्य प्रतिपादयेत् । यथाऽपरधूमदर्शनात् पूर्वसदृशं दहनमधिगन्तुमीशो, न तु तमेव पूर्वदृष्टम्, सामान्येनान्वयपरिच्छेदात् । नानुमानतोऽपि ग्राह्याऽऽकारस्यैकता । ननु भेदोऽप्यस्य न सिद्ध एव । प्रतिभासभेदे सति कथमसिद्धः ? परप्रतिभासपरिहारेण स्वप्रतिभासात्, स्वप्रतिभासपरिहारेण च परप्रतिभासात् , विवेकस्वभावान् व्यतिरेचयति ? अन्यथा तस्यायोगात् । ततः स्वपरदृष्टस्य नीलाऽऽदेः प्रतिभासभेदाद् व्यवहारे तुल्येऽपि भेद एव । इतरथा रोमाञ्चनिकरसदृशकार्यदर्शनात् सुखाऽऽदेरपि स्वपरसन्तानभुवस्तत्त्वं भवेत् । अथापि सन्तानभेदात् सुखाऽऽदेर्भे-दः । ननु सन्तानभेदोऽपि किमन्यभेदात् ? तथा चेदनवस्था । अथ तस्य स्वरूपभेदाद्भेदः, सुखाऽऽदेरपि तर्हि स एवास्तु, अन्यथा भेदासिद्धेः । न ह्यन्यभेदादन्यद्भिन्नम् , अतिप्रसङ्गात् । नीलाऽऽदेरपि स्वपरभासिनः प्रतिभासभेदोऽस्तीति नैकता । अथ देशैकत्वादेकत्वम् । ननु देशस्यापि स्वपरदृष्टस्यानन्तरोक्तन्यायाद् नैकतायुक्ता । तस्माद् ग्राहकाऽऽकारवत् प्रतिपुरुषमुद्भासमाननीलाऽऽदिकमपि भिन्नमेव । तच्चैककालोपलम्भात् , ग्राहकवत् स्वप्रकाशम् । अथ ग्राहकाऽऽकारश्चिद्रूपत्वाद् वेदको, नीलाऽऽका-रस्तु जडत्वाद् ग्राह्यः । अत्रोच्यते-किमिदं बोधस्य चिद्रूपत्वम् ? यदि अपरोक्षं स्वरूपं, नीलाऽऽदेरपि तर्हि तदस्तीति न जडता । अथ नीलाऽऽदेरपरोक्षस्वरूपमन्यस्माद्भवतीति ग्राह्यम् । ननु बोधस्याऽपि स्वस्वरूपमिन्द्रियाऽऽदेर्भवतीति ग्राह्यं स्यात् । अथ यदीन्द्रियाऽऽदिकार्यं न तद्वेद्यं; नीलाऽऽदिकमपि तर्हि नयनाऽऽदिकार्यमस्तु न तु ग्राह्यम् । अथापि बोधो बोधस्वरूपतया नित्यः, नीलाऽऽदिकस्तु प्रकाश्यरूपतया अनित्य इति ग्राह्यः । तदप्यसत् । स्तम्भाऽऽदेर्नयनाऽऽदिबलादुदेति रूपमपरोक्षत्वम् । तदनित्यः स्तम्भाऽऽदिर्भवतु, ग्राह्यस्तु कथम् ? न हि यद् यस्मादुत्पद्यते तत्तस्य वेद्यम् । अतिप्रसङ्गात् । तस्मादपरोक्षस्वरूपाः स्तम्भाऽऽदयः स्वप्रकाशाः, बोधस्तु नित्योऽनित्यो वा तत्काले केवल-

मुद्भाति, न तु वेदकः; द्वयोरपि परस्परं ग्राह्यग्राहकताऽऽपत्तेः। अथ नीलोन्मुखत्वाद् बोधो ग्राहकः। किमिदं तदुन्मुखत्वं नाम बोधस्य? यदि नीलकाले सत्ता, सा नीलस्याऽपि तत्काले समस्तीति नीलमपि बोधस्य वेदकं स्यात्। अथान्यदुन्मुखत्वं तत्,तर्हि स्वरूपनिमग्नं चकासत्तृतीयस्वरूपं भवेत्। तथाहि–तस्य तदुन्मुखत्वं तद् व्यापारः। स च व्यापारो यदि नीले व्याप्रियते, तदा तत्राप्यपरो व्यापार इत्यनवस्था। अथ न व्याप्रियते, न तद् बलात् बोधस्य ग्राहकत्वं, नीलाऽऽदेस्तु ग्राह्यत्वम्। अथ व्यापारस्यापर–व्यापारव्यतिरेकेणापि नीलं प्रति व्यापृतिरूपता, तस्य तद्रूपत्वात्। ननु नीलस्यापि स्वं स्वरूपं विद्यत इति बोधं प्रति ग्रहणव्यापृतिः स्यात्। किञ्च–बोधेन यदि नीलं प्रति ग्रहणक्रिया जन्यते सा नीलाद्भिन्ना, अभिन्ना वा? भिन्ना चेत्, न तया तस्य ग्राह्यत्वम्। भिन्नत्वादेव। अथाभिन्ना, तर्हि नीलाऽऽदेर्ज्ञानरूपता, ज्ञानजन्यत्वादुत्तरज्ञानक्षणवत्। अथ ज्ञानस्य एवंभूतां शक्तिर्येन तस्य नीलं प्रति ग्राहकता, नीलाऽऽदेस्तु तं प्रति ग्राह्यता। ननु बोधस्य ग्राहकत्वे, नीलाऽऽदेस्तु ग्राह्यत्वे सिद्धे शक्तिपरिकल्पना युक्ता, शक्तेः कार्यानुमेयत्वात्। तदसिद्धौ तु तत्परिकल्पनमयुक्तम्, इतरेतराऽऽश्रयप्रसङ्गात्। तथाहि–बोधस्य शक्तिविशेषसिद्धेर्नीलं प्रति ग्राहकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च तच्छक्तिसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराऽऽश्रयत्वम्; तन्न बोधत्व नीलं प्रति ग्राहकत्वसिद्धिः। तस्माद् व्यतिरिक्तऽपि बोधेऽभ्युपगते सहोपलम्भनियमात् स्वसंवेदनमेव युक्तम्। परमार्थतस्तु सुखाऽऽदयो नीलाऽऽदयश्चापरोक्षा इत्येतावदेव भाति। निराकारस्तु बोधः स्वप्नेऽपि नोपलभ्यत इति न तस्य सद्भाव इति कथं तस्यार्थग्राहकत्वम्? अत एव ते प्रमाणयन्ति–इह खलु यत् प्रतिभाति, तदेव सद् व्यवहृतिपशमवतरति; यथा हृदि प्रकाशमानवपुः सुखं, न तत्काले पीडाऽनुद्भासमाना समस्ति, विज्ञप्तिरेव च नीलाऽऽदिरूपतया सकलतनुभृतामाभातीति स्वभावहेतुः। तदेवमर्थग्राहकत्वस्याप्यसिद्धेः, जडस्य प्रकाशविरुद्धत्वाच्च नार्थग्राहकत्वमपि बौद्धदृष्ट्या युक्तम्। अथ बहिर्देशसंबद्धस्य जडस्यापि नीलाऽऽदेरनुभवाद् न नीलाऽऽदिप्रकाशस्य तद् ग्राहकत्वमसिद्धम्, नाप्यनुभूयमाने स्तम्भाऽऽदिके जडे प्रकाशविषयत्वविरोधोद्भावनं युक्तिसङ्गतम्। प्रत्यक्षसिद्धे स्वभावे च सति तद्विरुद्धस्वभावाऽऽवेदकस्यानुमानस्य प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तकालात्ययापदिष्टत्वदोषदुष्टहेतुप्रभवत्वेनानुमानाऽऽभासत्वात्। न च प्रत्यक्षसिद्धे स्वभावे विरोधः सिद्ध्यति, अन्यथा ज्ञानस्यापि ज्ञानत्वविरोधप्राप्तिः। नन्येवं नीलाऽऽदिसंवेदनस्याऽपि हृदि स्वसंवेदनविषयतयाऽनुभवाद् न स्वसंवेदितत्वमसिद्धम्, नापि स्वाऽऽत्मनि क्रियाविरोधोद्भावनं युक्तियुक्तम्, अनुभूयमाने विरोधासिद्धेः। अस्वसंवेदनज्ञानसाधकत्वेनोपन्यस्यमानस्य च हेतोः प्रत्यक्षनिराकृतपक्षविषयत्वेन न साध्यसाधकत्वमित्यपि समानम्। किञ्चस्वसंविदितज्ञानानभ्युपगमे प्रतीयतेऽयमर्थो बहिर्देशसंबन्धितयेत्यत्र प्रतीतेर्व्यवस्थापिकाया अप्रतीतत्वेनाव्यवस्थितौ व्यवस्थाप्यस्यार्थस्य न व्यवस्थितिः स्यात्। न हि स्वयमव्यवस्थितं खरविषाणाऽऽदि कस्यचिद् व्यवस्थापकमुपलब्धम्। अथ प्रतीतेरसंविदितत्वेऽपि एकार्थसमवेतानन्तरप्रतीतिव्यवस्थापितत्वेन नाव्यवस्थितत्वं, तर्हि तदेकार्यसमवेतानन्तरप्रतीतेरप्यपरतथाभूतप्रतीत्यवस्थापितत्वेनार्थव्यवस्थापनप्रतीतिव्यवस्थापकत्वमिति पुनरपि तथाभूताऽपरा प्रतीतिः प्रतीतिव्यवस्थापिकाऽभ्युपगन्तव्येत्यनवस्था। अथ प्रतीतिव्यवस्थापिका प्रतीतिः स्वसंविदितत्वेन स्वयमेव व्यवस्थितेति नायं दोषः, तर्ह्यर्थव्यवस्थापिकाऽपि प्रतीतिः तथा किं नाभ्युपगम्यते? न्यायस्य समानत्वात्। अथ प्रतीतिरप्रतीताऽपि प्रतीत्यन्तरव्यवस्थापिका, तर्हि प्रथमप्रतीतिरप्यव्यवस्थिताऽप्यर्थव्यवस्था–पिका भविष्यतीति 'नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः' इति वचः कथं न परिप्लवेत्?; प्रतीतोऽर्थ इति विशेष्यप्रतिपत्तौ प्रतीतिविशेषणानवगमेऽपि विशेष्यप्रतिपत्त्यभ्युपगमात्। अपि च–यदि तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरग्राह्यं ज्ञानमर्थग्राहकमभ्युपगम्यते, तदा पूर्वपूर्वज्ञानोपलम्भनस्वभावानामुत्तरोत्तरज्ञानानामनवरतमुत्पत्तेर्विष्यान्तरसंचारो ज्ञानानां न स्यात्; विषयान्तरसन्निधानेऽपि पूर्वज्ञानलक्षणस्य तदेकार्थसमवेतस्यान्तरङ्गत्वेनातिसन्निहिततरस्य विषयस्य सद्भावात्। यस्त्वाह–विषयोपलम्भनिमित्तमात्रप्रतिपत्तौ प्रतीतिविशेषणस्यार्थस्य सिद्धत्वाद् नानवस्था। तदे–तदेव न संगच्छते। स्वसंवेदनज्ञानानभ्युपगमात्। एतच्च प्रतिपादितम्। अपि च–प्रमाणसंप्लवाऽऽदिना नैयायिकेन प्रत्यक्षशाब्दज्ञानयोरेकविषयत्वमभ्युपगतम्, तथा चाध्यक्षज्ञानवत् शाब्देऽपि तस्यैवान्यूनातिरिक्तस्य विषयस्याधिगमे न प्रतिपत्तिभेद इत्यध्यक्षवच्छाब्दमपि स्पष्टप्रतिभासं स्वात्। अथैकविषयत्वे सत्यपि इन्द्रियसंबन्धाभावात् शब्दविषये प्रतिपत्तिभेदः। नन्वक्षैरपि विषयस्वरूपमुद्भासनीयम्। तच्च यदि शाब्देनापि प्रदर्श्यते, तथा सतीन्द्रियसंबन्धाभावेऽपि किमिति न स्पष्टावभासः शाब्दस्य? न हि विषयभेदमन्तरेण ज्ञानावभासभेदो युक्तः। अन्यथा ज्ञानावभासभेदाद् विषयभेदव्यवस्था न स्यात्। नहि बहिरपि तदवभासभेद–संवेदनव्यतिरेकेणान्यद् भेदव्यवस्थानिबन्धनमुत्पश्यामः। अन्य–च्च प्रत्यक्षेऽपि साक्षादिन्द्रियसंबन्धोऽस्तीति न स्वरूपेण ज्ञातुं शक्यः। तस्यातीन्द्रियत्वात्, किं तु स्वरूपप्रतिभासात् कार्यात्। तच्चाविकलं यदि शाब्देऽपि वस्तुस्वरूपं प्रतिभाति, तदा तत एवेन्द्रियसंबन्धस्तत्राऽपि किं नाभ्युपगम्यते? अथ तत्र स्पष्टप्रतिभासाभावाद् नासावनुमीयते। ननु तदभावस्तदक्षसंगतिविरहात्, तदभावश्च स्फुटप्रतिभासाभावादिति सोऽयमितरेतराऽऽश्रयदोषः। तस्माद् विषयभेदनिबन्धन एव ज्ञानप्रतिभासभेदाध्यवसायोऽभ्युपगन्तव्यः। स च एकविषयत्वे शाब्दाऽध्यक्षशानयोर्न संगच्छते। अथ शब्दैर्वस्तुरूपावभासेऽपि न सकलतद्गतविशेषावभास इत्यस्पष्टप्रतिभासं तत्। नन्वेवं प्रत्यक्षावभासिनो विशेषस्यार्थक्रियाक्षमस्य तत्राप्रतिभासनात् तदेव भिन्नविषयत्वं शाब्दाध्यक्षयोः प्रसक्तम्। अथोभयत्रापि व्यक्तिस्वरूपमेकमेव नीलाऽऽदित्वं प्रतिभाति, विशदाविशदौ वाऽऽकारौ ज्ञानाऽऽत्मभूतौ। नन्वेवमक्षसंबद्धे विषये प्रतिभासमाने तत्कालः स्पष्टत्वावभासो ज्ञानावभास इति प्राप्तम्, विशिष्टसामग्रीजन्यस्य ज्ञानस्य विशदत्वात्। तदवभासव्यतिरेकेण त्वक्षसंबद्धनीलप्रतिभासकालेऽन्यस्य भवदभ्युपगमेन वैशद्यप्रतिभासनिमित्तस्यासंभवात्। अथ भवतु विशदज्ञानप्रतिभासनिमित्त एव तत्र वैशद्यप्रतिभासव्यवहारः, तथाऽपि न स्वसंविदिततज्ज्ञानसिद्धिः, तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽपि तद्व्यवहारस्य संभवात्। एककालावभासव्यवहारस्तु लघुवृत्तित्वाद् मनसः क्रमानुपलक्षणनिमित्तः, उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्। नन्वेवं सत्यङ्गुलि–

पश्चकस्यैकज्ञानावभासोऽपि क्रमावभासे सत्यपि तत एव क्रमप्रतिभासानुपलक्षणकृत इति सदसद्वर्गः सर्वः कस्यचिदेकज्ञानप्रत्यक्षः प्रमेयत्वात् पश्चाङ्गुलिवदिति सर्वज्ञसाधकप्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यविकलताप्रसक्तिः। तथा समस्तसदसद्वर्गग्राहकेण सर्वविद्– ज्ञानेन ज्ञानाऽऽत्मा गृह्यते, उत नेति? यदि न गृह्यते, तदा तस्य प्रमेयत्वे सति तेनैव प्रमेयत्वलक्षणो हेतुर्व्यभिचारी, अप्रमेयत्वे तस्य भागासिद्धो हेतुः। अथ सर्वज्ञज्ञानेन सर्वपदार्थग्राहिणा आत्माऽपि गृह्यत इति नानैकान्तिकः। नन्वेवं सति यथा ईश्वरज्ञानं ज्ञानत्वेऽप्यात्मानं स्वयं गृह्णाति, न च तत्र स्वात्मनि क्रियाविरोधः, तथाऽस्मदादिज्ञानमप्येवं भविष्यतीति न कश्चिद् विरोधः। किञ्चएवमभ्युपगमे ज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यं प्रमेयत्वाद् घटवदित्यत्र प्रयोगे ईश्वरज्ञानस्य प्रमेयत्वे सत्यपि ज्ञानान्तरग्राह्यत्वाभावात् तेनैवा–नैकान्तिकः प्रमेयत्वादिति हेतुः। तस्मात् ज्ञानस्य ज्ञानान्तरग्रा–ह्यत्वेऽनेकदोषसंभवात् स्वसंविदितं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्। ज्ञानस्वरूपश्चाऽऽत्मा। अन्यथा भिन्नज्ञानसद्भावादाकाशस्येव तस्य ज्ञातृत्वं न स्यात्। न चाऽऽकाशव्यतिरेकेण ज्ञानमात्मन्येव समवेतमिति तस्यैव ज्ञातृत्वं नाऽऽकाशाऽऽदेरिति वक्तुं युक्तम्, समवायस्य निषेत्स्यमानत्वात्। ज्ञानस्य च स्वसंविदितत्वे सिद्धे आत्मनोऽपि तदव्यतिरिक्तस्य तत्सिद्धमिति कथं न स्वसंवेदन–प्रत्यक्षसिद्धत्वमात्मनः? तन्न प्रथमपक्षस्य दुष्टत्वम्। द्वितीयपक्षे–ऽपि यदुक्तम्– न हि कश्चित्पदार्थः कर्तृरूपः, करणरूपो वा स्वा–ऽऽत्मनि कर्मणीव सव्यापारो दृष्ट इति। तदप्यसङ्गतम्। भिन्नव्या–पारव्यतिरेकेणापि आत्मनः कर्तुः, प्रमाणस्य च ज्ञानस्य स्वसंवि–दितत्वप्रतिपादनात्। एकस्यैव च लिङ्गाऽऽदिकरणमपेक्ष्यावस्थाभेदेन यथा प्रमातृत्वं, प्रमेयत्वं च भवद्विरविरुद्धत्वेनाभ्युपगम्यते, तथैकदाऽप्येकस्याऽऽत्मनोऽनेकधर्मसद्भावात् प्रमातृत्वप्रमाण–त्वप्रमेयत्वान्यविरुद्धानि किं नाभ्युपगम्यते? तत्तद्धर्मयोगात् तत्तत्स्वभावत्वस्य प्रमाणनिश्चितत्वेनाविरोधात्। यच्चोक्तम्–प्रमाणाविषयत्वेऽप्यपरोक्षतेत्यस्यकोऽर्थ इत्यादि। तदप्यसारम्। ज्ञातृतया प्रमाणत्वेन च स्वरूपावभासनस्य प्रतिपादितत्वात्। न च घटाऽऽदेः स्वरूपस्य भिन्नज्ञानग्राह्यत्वात् प्रमातुः, प्रमाणस्य च स्वरूपं भिन्नज्ञानग्राह्यम्। तयोश्चिद्रूपत्वेन घटाऽऽदेस्तु तद्विपर्ययेण स्वरूपसिद्धत्वात्। न च प्रमाणप्रमातृस्वरूपग्राहकस्य प्रत्यक्षस्य तल्लक्षणेनासंग्रहः, तत्संग्राहकस्य लक्षणस्य प्रदर्शितत्वात्। यदपि घटमहं चक्षुषा पश्यामीत्यनेनातिप्रसङ्गाऽऽपादनं कृतम्। तदप्यसङ्गतम्। न हि चक्षुषो जडरूपस्यास्वसंविदितत्वे प्रमातृप्रामत्यो–रपि चिद्रूपयोरस्वसंविदितत्वं युक्तम्, अन्यस्वभावत्वानुपपत्तेः। यत्तूक्तम्–इन्द्रियव्यापारे सति शरीराद् व्यवच्छिन्नस्य विषयस्यैव केवलस्याऽवभासनमिति। तदत्यन्तमसङ्गतम्। विषयस्येव तदवभाससंवेदनस्यापि व्यवस्थापितत्वात्; तदभावे विषयावभास एव न स्यादित्यस्य चातः प्रमात्रवभास उपपन्न एव। सम्म०१ काण्ड। स्था०।

(२२) साम्प्रतं नित्यपरोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकभेदभट्टानाम्, एकाऽऽत्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादिनां च यौगानां मतं विकुट्टयन्नाह–

स्वार्थविबोधक्षम एव बोधः,
प्रकाशते नार्थकथाऽन्यथा तु।
परे परेभ्यो भयतस्तथाऽपि,
प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम्॥१२॥

बोधो–ज्ञानं, स च स्वार्थाविबोधक्षम एव प्रकाशते, स्वस्याऽऽत्म–स्वरूपस्य, अर्थस्य च पदार्थस्य, योऽवबोधः–परिच्छेदः, तत्र क्षम एवसमर्थ एव प्रतिभासते; इत्ययोगव्यवच्छेदः। प्रकाशत इति क्रि–ययाऽवबोधस्य प्रकाशरूपत्वसिद्धेसर्वप्रकाशानां तु स्वार्थप्रकाशकत्वेन, बोधस्यापि तत्सिद्धिः। विपर्यये दूषणमाह–नार्थकथा–ऽन्यथा त्विति। अन्यथेति–अर्थप्रकाशनेऽविवादाद्, ज्ञानस्य स्व–संविदितत्वानभ्युपगमेऽर्थकथैव न स्यात्। अर्थकथा पदार्थसंब–न्धिनी वार्ता, सदसद्रूपाऽऽत्मकं स्वरूपमिति यावत्। तुशब्दोऽ–वधारणे भिन्नक्रमश्च, स चार्थकथया सह योजित एव। यदि हि ज्ञानं स्वसंविदितं नेष्यते, तदा तेनाऽऽत्मज्ञानाय ज्ञानान्तरमपेक्षणीयम्, तेनाप्यपरमित्याद्यनवस्था, ततो ज्ञानं–तावत्स्वावबोध–व्यग्रतामग्नम्; अर्थस्तु–जडतया स्वरूपज्ञापनासमर्थ इति को नामार्थस्य कथामपि कथयेत्? तथाऽपि–एवं ज्ञानस्य स्वसंवि–दितत्वे युक्त्या घटमानेऽपि, परेतीर्थान्तरीयाः, ज्ञानं–कर्मताऽऽ–पन्नम्, अनात्मनिष्ठं न विद्यत आत्मनः स्वस्य निष्ठा निश्चयो यस्य तदनात्मनिष्ठम्, अस्वसंविदितमित्यर्थः, प्रपेदिरे–प्रपन्नाः। कुतः? इत्याह–परेभ्यो भयतः; परेपूर्वपक्षवादिनः, तेभ्यः सकाशाद् ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वं नोपपद्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्यु–पालम्भसंभावनासंभवं यद्भयं, तस्मात्, तदाश्रित्येत्यर्थः। इत्थ–मक्षरगमनिकां विधाय भावाऽर्थः प्रपञ्च्यते–भट्टास्तावदिदं वदन्ति–यद् ज्ञानं स्वसंविदितं न भवति–स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। न हि सुशिक्षितोऽपि नटवटुःस्वस्कन्धमधिरोढुं पटुः, न च सुती–क्ष्णाऽऽप्यसिधारा स्वेछेत्तुमाहितव्यापारा; ततश्च परोक्षमेव ज्ञानमिति। तदेतन्न सम्यक्। यतः–किमुत्पत्तिः स्वात्मनि विरुध्यते, ज्ञप्तिर्वा? यदि उत्पत्तिः, सा विरुध्यतां, न हि वयमपि ज्ञानमात्मानमुत्पादयतीति मन्यामहे। अथ ज्ञप्तिः–नेयमात्मनि विरुद्धा; तदाऽऽत्मनैव ज्ञानस्य स्वहेतुभ्य उत्पादात्, प्रकाशाऽऽ–त्मनेव प्रदीपाऽऽलोकस्य। अथ प्रकाशाऽऽत्मैव प्रदीपाऽऽलोक उत्पन्न इति परप्रकाशकोऽस्तु, आत्मानमप्येतावन्मात्रेणैव प्रका–शयतीति कोऽयं न्याय? इति चेत्; तत्किं तेन वराकेणाप्रकाशिते–नैव स्थातव्यम्, आलोकान्तराद्वाऽऽस्य प्रकाशेन भवितव्यम्? प्रथमे प्रत्यक्षबाधो, द्वितीयेऽपि–सैवानवस्थाऽऽपत्तिश्च। अथ नासौ स्वमपेक्ष्य कर्मतया चकास्तीत्यस्वप्रकाशकः स्वीक्रियते, आत्मानं न प्रकाशयतीत्यर्थः; प्रकाशरूपतया तूत्पन्नत्वात् स्वयं प्रकाशत एवेति चेच्चिरं जीवः न हि वयमपि ज्ञानं कर्मतयैव प्रतिभासमानं स्वसंवेद्यं ब्रूमः; ज्ञानं स्वयं प्रतिभासत इत्यादावकर्मकस्य तस्य चकासनात्। यथा तु ज्ञानं स्वं जानामीति कर्मतयाऽपि तद्भाति, तथा प्रदीपः स्वं प्रकाशयतीत्ययमपि कर्मतया प्रथित एव। यस्तु स्वात्मनि क्रियाविरोधो दोष उद्भावितः–सोऽयुक्तः; अनुभवसिद्धे–ऽर्थे विरोधासिद्धेः; 'घटमहं जानामि' इत्यादौ कर्तृकर्मवद् ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात्। स्या०१२ श्लोक। (अतीन्द्रियान् धर्मा–स्तिकायाऽऽदीन् छद्मस्थो न जानातीति 'छउमत्थ' शब्दे तृतीयभागे १३३६ पृष्ठे उक्तम्)

(२३) अथ ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च निरूपयन्नाह–

जीवा णं भंते! किं णाणी, किं अण्णाणी? गोयमा! जीवा णाणी वि, अण्णाणी वि। जे णाणी, ते अत्थे–

गइया दुयणाणी, अत्थेगइया तिण्णाणी, अत्थेगइया चउणाणी, अत्थेगइया एगणाणी। जे दुयणाणी, ते आभिणि–बोहियणाणी य, सुयणाणी य। जे तिण्णाणी, ते आभिणि–बोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी। अहवा–आभिणिबो–हियणाणी, सुयणाणी, मणपज्जवणाणी। जे चउणाणी, ते आभिणिबोहिय-णाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी। जे एगणाणी, ते नियमा केवलणाणी। जे अणाणी, ते अत्थेगइया दुअण्णाणी, अत्थेगइया तिअण्णाणी। जे दुअण्णाणी, ते मइअण्णाणी य, सुयअणाणी य। जे तिअण्णाणी, ते मइअण्णाणी, सुयअण्णाणी, विभंगणाणी।

(२४) नैरयिकजीवानधिकृत्याऽऽह–

णेरइयाणं भंते ! किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! णाणी वि, अणाणी वि। जे णाणी, ते नियमा तिण्णाणी। तं जहा–आभि–णिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी। जे अण्णाणी, ते अत्थेगइया दुअण्णाणी, अत्थेगइया तिअण्णाणी, एवं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

इह च नारकाधिकारे–''जे नाणी, ते नियमा तिण्णाणी'' इति। सम्यग् दृष्टिनारकाणां भवप्रत्ययमवधिज्ञानमस्तीत कृत्वा ते नियमात् त्रिज्ञानिनः। ''जे अण्णाणी ते अत्थेगइया दुअण्णाणी'' इति। कथमुच्यते? असंज्ञिनः सन्तो ये नारकेषूत्पद्यन्ते, तेषामपर्याप्तकाव-स्थायां विभङ्गाभावादाद्यमेवाज्ञानद्वयमिति ते द्व्यज्ञानिनः। ये तु मिथ्यादृष्टिसंज्ञिभ्य उत्पद्यन्ते, तेषां भवप्रत्ययो विभङ्गो भवतीति तेऽज्ञानिनः। एतदेव निगमयन्नाह–(एवं तिण्णि अण्णाणाणि भयणाए त्ति)

असुरकुमाराणं भंते ! किं णाणी, अण्णाणी ? जहेव णेरइया तहेव तिण्णि णाणाणि नियमा, तिणि अण्णाणि भयणाए, एवं० जाव थणियकुमारा।

पुढविकाइयाणं भंते ! किं णाणी, अण्णाणी? गोयमा ! नो णाणी, अण्णाणी। नियमा दुअण्णाणी–मतिअण्णाणी, सुय–अण्णाणी य। एवं०जाव वणस्सइकाइया।

(२५) द्वीन्द्रियाः सिद्धपर्यन्ताः–

वेइंदियाणं पुच्छा? गोयमा ! णाणीवि, अण्णाणी वि। जेणाणी, ते णियमा दुण्णाण। तं जहा–आभिणिबोहियणाणी य, सुयणाणीय। जे अण्णाणी, ते नियमा दुअण्णाणी। तं जहा–मइअण्णाणी य, सुयअण्णाणी य। एवं तेइंदियचउरिंदिया वि। पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा? गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि। जे णाणी, ते अत्थेगइया दुन्नाणी, अत्थेगइया तिण्णाणी। एवं तिण्णि णाणाणि, तिण्णि अण्णाणाणि भयणाए। मणुस्सा जहा जीवा तहेव पंच णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाणि भयणाए। वाणमंतरा जहा णेरइया, जोइसियवेमाणियाणं तिण्णि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं नियमा। सिद्धाणं भंते ! पुच्छा? गोयमा ! णाणी, नोअण्णाणी, नियमा एगणाणी, केवलणाणी।

(वेइंदियाणमित्यादि) द्वीन्द्रियाः केचिद् ज्ञानिनोऽपि सासादन–सम्यग्दर्शनभावेनापर्याप्तकावस्थायां भवन्तीत्यत उच्यते–(नाणी वि, अण्णाणी वि त्ति) अनन्तरं जीवाऽऽदिषु षड्विंशतिपदेषु ज्ञान्यज्ञानि-नश्चिन्तिताः।

(२६) अथ तान्येव गतीन्द्रियकायाऽऽदिद्वारेषु चिन्तयन्नाह–

निरयगइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि, तिण्णि णाणाइं नियमा, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। तिरियगइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी? दो णाणा, दो अण्णाणा नियमा। मणुस्सगइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी? तिण्णि णाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियमा। देवगतिया जहा निरयगतिया। सिद्धगइया णं भंते ! ?; जहा सिद्धा।

गत्यादिद्वाराणि चैतानि–

''गइ इंदिए य काए, सुहुमे पज्जत्तए भवत्थे य।
भवसिद्धिए य सन्नी, लद्धी उवओगजोगे य ॥१॥
लेस्सा कसाय वेए, आहारे नाणगोयरे काले।
अंतर अप्पाबहुयं, च पज्जवा चेह दाराइं ॥२॥''

तत्र च निरये गतिर्गमनं येषां ते निरयगतिकाः, तेषामिह च सम्यग्दृष्टयो, मिथ्यादृष्टयो वा ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वा ये पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्येभ्यो नरके उत्पत्तुकामा अन्तरगतौ वर्तन्ते, ते निरयगतिका विवक्षिताः, एतत्प्रयो-जनत्वाद् गतिग्रहणस्येति। (तिण्णि णाणाइं नियम त्ति) अवधेर्भव-प्रत्ययत्वेनान्तरगतावपि भावात्। (तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए त्ति) असंज्ञिनां नरके गच्छतां द्वे अज्ञाने, अपर्याप्तकत्वे विभङ्गस्याभावात्। संज्ञिनां तु मिथ्यादृष्टीनां त्रीणे अज्ञानानि, भवप्रत्ययविभङ्गस्य सद्भावात्। अतस्त्रीणि अज्ञानानि भजनयेत्युच्यत इति। (तिरियगइयाणं ति) तिर्यक्षु गतिर्गमनं येषां ते तिर्यग्गतिकाः, तेषां तदयान्तरालवर्तिनाम् (दो णाण त्ति) सम्यग् दृष्टयो हि अवधिज्ञाने प्रतिपतित एव तिर्यक्षु गच्छन्ति, तेन तेषां द्वे एव ज्ञाने (दो अन्नाणेति) मिथ्यादृष्टयोऽपि विभङ्गज्ञाने प्रतिपतित एव तिर्यक्षु गच्छन्ति, तेन तेषां द्वे अज्ञाने इति। (मणुस्सगइयाणामित्यादि) (तिण्णि नाणाइं भयणाए त्ति) मनुष्यगतौ हि गच्छन्ति केचिज्ज्ञानिनोऽ-वधिना सहैव गच्छन्ति, तीर्थकरवत् केचिच्च तद्विमुच्यन्ते, तेषां त्रीणि वा द्वे वा ज्ञाने स्याता–मति, ये पुनरज्ञानिनो मनुष्यगतावुत्पत्तुकामास्तेषां प्रतिपतित एव विभङ्गे तत्रोत्पत्तिः स्यादित्यत उक्तम्। (दो अन्नाणाइं नियम त्ति) (देवगइया जहा निरयगइय त्ति) देवगतौ ये ज्ञानिनो यातुकामा–स्तेषामवधिर्भवप्रत्ययो देवायुःप्रथमसमय एवोत्पद्यते, अतस्तेषां नाणकाणामिवोच्यते– ''तिण्णि नाणाइं नियम त्ति। ये

निनस्तेऽसंज्ञिभ्य उत्पद्यमाना द्व्यज्ञानिनोऽपर्याप्तकत्वे विभङ्ग-स्याभावात्, संज्ञिभ्य उपद्यमानास्तु त्र्यज्ञानिनो भवप्रत्ययविभङ्गस्य सद्भावात्, अतस्तेषां नारकाणामिवोच्यते-''तिण्णि अन्नाणाइं भयणाए त्ति'' (सिद्धगइयाणं इत्यादि) यथा सिद्धाः केवलज्ञानिन एव, एवं सिद्धिगतिका अपि वाच्या इति भावः। यद्यपि च सिद्धानां सिद्धिगतिकानां चान्तर्गत्यभावाद् न विशेषोऽस्ति, तथाऽपीह गतिद्वारबलाऽऽयातत्वात् ते दर्शिताः, एवं द्वारान्तरेष्वपि परस्परान्तर्भावेऽपि तत्तद्विशेषापेक्षयाऽपौनरुक्त्यं भावनीयमिति।

(२७) अथेन्द्रियद्वारे-

सइंदियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! चत्तारि नाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। एगिंदिया णं भंते! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी? जहा पुढविकाइया। वेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं दो णाणा, दो अण्णाणा नियमा। पंचिंदिया जहा सइंदिया। अणिंदियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी ? जहा सिद्धा॥

(सइंदियेत्यादि) सेन्द्रिया इन्द्रियोपयोगवन्तः, ते च ज्ञानिनः, अज्ञानिनश्च। तत्र ज्ञानिनां चत्वारि, ज्ञानानि भजनया, स्याद् द्वे, स्यात् त्रीणि, स्यात् चत्वारि। केवलज्ञानं तु नास्ति, तेषामतीन्द्रियज्ञानत्वात्, तस्य द्व्यादिभावश्च ज्ञानानां लब्ध्यपेक्षया, उपयोगापेक्षया तु सर्वेषामेकदैकमेव ज्ञानम्। अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैव, स्याद् द्वे, स्यात् त्रीणीति। (जहा पुढविकाइय त्ति) एकेन्द्रिया मिथ्यादृष्टित्वादज्ञानिनः, ते च द्व्यज्ञाना एवेत्यर्थः। (वेइंदियेत्यादि) एषां द्वे ज्ञाने सासादनस्तेषूत्पद्यत इति कृत्वा सासादनश्चोत्कृष्टतः षडावलिकामानः, अतो द्वे ज्ञाने तेषु लभ्येते इति। (अणिंदिय त्ति) केवलिनः।

(२८) कायद्वारे-

सकाइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! पंच नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। पुढविकाइया०जाव वणस्सइकाइया, नो नाणी, अण्णाणी, नियमा दुअण्णाणी। तं जहा-मइअण्णाणी य, सुयअण्णाणी य। तसकाइया जहा सकाइया। अकाइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी? जहा सिद्धा॥

(सकाइयाणमित्यादि) सह कायेनौदारिकाऽऽदिना शरीरेण पृथिव्यादिषट्कायान्यतरेण वा कायेन ये ते सकायास्त एव सकायिकाः; ते च केवलिनोऽपि स्युरिति सकायिकानां सम्यग्दृशां पञ्च ज्ञानानि, मिथ्यादृशां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनया स्युरिति। (अकाइयाणं ति) नास्ति काय उक्तलक्षणो येषांह तेऽकायाः,त एवाकायिकाः सिद्धाः।

(२९) सूक्ष्मद्वारे-

सुहुमाणं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी ? जहा पुढविकाइया। बादराणं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी ? जहा सकाइया। नो सुहुमा नो बादरा णं भंते ! जीवा ? जहा सिद्धा॥

(जहा पुढविकाइया त्ति)द्व्यज्ञानिनः सूक्ष्माः, मिथ्यादृष्टित्वादित्यर्थः। (जहा सकाइय त्ति) बादराः केवलिनोऽपि भवन्तीति कृत्वा ते सकायिकवद्वजनया पञ्च ज्ञानिनस्त्र्यज्ञानिनश्च वाच्या इति।

(३०) पर्याप्तकद्वारे-

पज्जत्ताणं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी ? जहा सकाइया। पज्जत्ता णं भंते ! नेरइया किं णाणी, किं अण्णाणी? तिण्णि नाणा, तिण्णि य अण्णाणा नियमा जहा नेरइया, एवं० जाव थणियकुमारा। पुढविकाइया जहा एगिंदिया, एवं०जाव चउरिंदिया। पज्जत्ताणं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं णाणी, किं अण्णाणी? तिण्णि णाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए, मणुस्सा जहा सकाइया वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा नेरइया। अपज्जत्ताणं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी? तिण्णि णाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए। अपज्जत्ता णं भंते ! नेरइया किं णाणी, किं अण्णाणी ? तिण्णि णाणा नियमा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए, एवं०जाव थणिय-कुमारा, पुढविकाइया०जाव वणस्सइकाइया, जहा एगिंदिया। वेइंदियाणं पुच्छा? दो णाणा, दो अण्णाणा नियमा, एवं०जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अपज्जत्तगाणं भंते ! मणुस्सा किं णाणी, किं अण्णाणी ? तिण्णि नाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियमा। वाणमंतरा जहा नेरइया अपज्जत्तगा, जोइसियवेमाणियाणं तिण्णि नाणा, तिण्णि अण्णाणा नियमा। नो पज्जत्तगा, नो अपज्जत्तगा णं भंते ! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी? जहा सिद्धा॥

(जहा सकाइय त्ति) पर्याप्तकाः केवलिनोऽपि स्युरिति ते सकायिकवत्पूर्वोक्तप्रकारेण वाच्याः, पर्याप्तकद्वार एव चतुर्विंशतिदण्डके पर्याप्तकनारकाणां (तिन्नि य अन्नाणा णियम त्ति) अपर्याप्तकानामेवासंज्ञिनारकाणां विभङ्गाभाव इति पर्याप्तकावस्थायां तेषामज्ञानत्रयमेवेति। (एवं०जाव चउरिंदिय त्ति) द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः पर्याप्तकाः, द्व्यज्ञानिन एवेत्यर्थः। (पज्जत्ता णं भंते! पंचिंदियतिरिक्खेत्यादि) पर्याप्तक पञ्चेन्द्रियतिरश्चामवधिर्विभङ्गो वा केषाञ्चित् स्यात्, केषाञ्चित्पुनर्नेति त्रीणि ज्ञानानि, अज्ञानानि वा द्वे वा ज्ञाने अज्ञाने वा तेषां स्यातामिति। (वेइंदियाणं दो णाणेत्यादि) अपर्याप्तकद्वीन्द्रियाऽऽदीनां केषाञ्चित्सासादनसम्यग्दर्शनस्य सद्भावाद् द्वे ज्ञाने, केषाञ्चित् पुनः तस्यासद्भावाद् द्वे एवाज्ञाने, अपर्याप्तकमनुष्याणां पुनः सम्यग्दृशामवधिभावे त्रीणि ज्ञानानि, यथा तीर्थकराणां, तदभावे तु द्वे ज्ञाने, मिथ्यादृशां तु द्वे एवाज्ञाने, विभङ्गस्यापर्याप्तकत्वे तेषामभावात्। अत एवोक्तम्-(तिण्णि नाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियम त्ति)(वाणमंतरेत्यादि) व्यन्तरा अपर्याप्तका नारका इव त्रिज्ञाना द्व्यज्ञानास्त्र्यज्ञाना वा वाच्याः। तेष्वण्यसंज्ञिभ्य उत्पद्यमानानामपर्याप्तकानां विभङ्गाभावात्, शेषाणां चावधेर्विभङ्गस्य वा भावात्। (जोइसियेत्यादि) एतेषु हि संज्ञिभ्य एवोत्पद्यन्ते,

तेषां चापर्याप्तिकत्वेऽपि भवप्रत्ययस्यावधेर्विभङ्गस्य चावश्य भावात्, त्रीणि ज्ञानान्यज्ञानानि वा स्युरिति। (नोपज्जत्तगनोअपज्जत्तग त्ति) सिद्धाः।

(३१) भवस्थद्वारे–

निरयभवत्थाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? जहा निरयगइया। तिरियभवत्थाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? तिण्णि णाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए, मणुस्सभवत्था जहा सकाइया। देवभवत्थाणं भंते ! जहा निरय–भवत्था, अभवत्था ? जहा सिद्धा॥

(निरयभवत्थाणमित्यादि) निरयभवे तिष्ठन्तीति निरयभवस्थाः प्राप्तोत्पत्तिस्थानाः, ते च यथा निरयगतिकाः त्रिज्ञानाः, द्व्यज्ञाना–स्त्र्यज्ञानाश्चोक्ताः, तथा वाच्या इति।

(३२) भव्यद्वारे–

भवसिद्धिया णं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? जहा सकाइया। अभवसिद्धियाणं पुच्छा? गोयमा ! नो णाणी, अण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए, नो भवसिद्धिया, नो अभवसिद्धियाणं जीवा जहा सिद्धा।

भवसिद्धिकाः केवलिनोऽपीति ते सकायिकवद् भजनया पञ्चज्ञानाः, तथा यावत्सम्यक्त्वं न प्रतिपन्नास्तावद्भजनयैव त्र्यज्ञानाश्च वाच्या इति। अभवसिद्धिकानां त्वज्ञानत्रयं भजनया स्यात्, सदा मिथ्यादृष्टित्वात् तेषाम्। अत उक्तम्–''नो णाणी, अण्णाणी'' इत्यादीति।

(३३) संज्ञिद्वारे–

सण्णीणं पुच्छा? जहा सइंदिया, असण्णी जहा वेइंदिया, नो सण्णी, नो असण्णी, जहा सिद्धा।

ज्ञानानि चत्वारि भजनया, अज्ञानानि च त्रीणि तथैवेत्यर्थः।(असन्नी जहा वेइंदिय त्ति) अपर्याप्तकावस्थायां ज्ञानद्वयमपि सासादनतया स्यात्, पर्याप्तकावस्थायां त्वज्ञानद्वयमेवेत्यर्थः। भ०८श०२उ०। (लब्धिभेदा 'लद्धि' शब्दे दर्शयिष्यन्ते)

(३४) लब्धिद्वारे–

णाणलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी? गोयमा ! णाणी, नो अण्णाणी, अत्थेगइया दुणाणी, एवं पंच णाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी? गोयमा ! णो णाणी, अणाणी, अत्थेगइया दुअण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। आभिणिबोहियणाणलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी, अत्थेगइया दुणाणी, चत्तारि णाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धि–याणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी? गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि। जे णाणी, ते नियमा एगणाणी, केवलणाणी। जे अण्णाणी, ते अत्थेगइया दुअण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। एवं सुयणाणलद्धिया वि। तस्स अलद्धिया वि जहा आभिणिबोहियणाणस्स लद्धिया। ओहिणाणलद्धियाणं पुच्छा? गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी, अत्थेगइया तिण्णाणी, अत्थेगइया चउणाणी, जे तिण्णाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी। जे चउणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी। तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि, ओहिणाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। मणपज्जवणाणलद्धियाणं पुच्छा? गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी, अत्थेगइया तिण्णाणी, अत्थेगइया चउणाणी। जे तिण्णाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, मणपज्जवणाणी। जे चउणाणी, ते आभिणिबोहिय-णाणी सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी। तस्स अलद्धियाणां पुच्छा ? गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि। मणपज्जवणाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। केवलणाणलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी नियमा एगणाणी, केवलणाणी। तस्स अलद्धियाणं पुच्छा? गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि, केवलणाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। अण्णाणलद्धियाणं भंते ! पुच्छा? गोयमा ! नो णाणी, अण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं भंते ? गोयमा ! णाणी, नो अण्णाणी, पंच नाणाइं भयणाए, जहा अण्णाणस्स लद्धिया अलद्धिया भणिया, एवं मइअण्णाणस्स, सुयअण्णा–णस्स य लद्धिया अलद्धिया य भाणियव्वा। विभंगणालद्धियाणं तिण्णि अण्णाणाइं नियमा। तस्स अलद्धियाणं पंच णाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियमा। दंसणलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि, पंच णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं भंते! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! तस्स अलद्धिया नत्थि। सम्मद्दंसणलद्धियाणं पंच नाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। मिच्छादंसणलद्धियाणं भंते ! पुच्छा? गोयमा ! नो नाणी, अन्नाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं भंते ! किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि। पंच नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। सम्मामिच्छा-दंसणलद्धिया अलद्धिया य जहा मिच्छादंसणलद्धिया अलद्धिया य तहेव भाणियव्वा।

(तस्स अलद्धियाणं ति) तस्य ज्ञानस्य अलब्धिका अलब्धिमन्तो, ज्ञानलब्धिरहिता इत्यर्थः। (आभिणिबोहियणाणेत्यादि) आभिनिबोधिकज्ञानलब्धिकानां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, केवलिनो नास्त्याभिनिबोधिकज्ञानमिति। मतिज्ञान स्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्ते केवलिनः, ते चैकज्ञानिन एव; ये त्वज्ञानिनस्तेऽज्ञानद्वयवन्तोऽज्ञानत्रयवन्तो वा; एवं श्रुतेऽपि। (ओहिणाणलद्धीत्यादि) अवधिज्ञानलब्धिकाः त्रिज्ञानाः, केवलमन पर्यायसद्भावे चतुर्ज्ञाना वा; केवलाभावात्, अवधिज्ञानस्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्ते द्विज्ञाना मतिश्रुतभावात्, त्रिज्ञाना वा मतिश्रुतमनः पर्यायभावात्, एकज्ञाना वा केवलभावात्। ये त्वज्ञानिनस्ते द्व्यज्ञाना मत्यज्ञानश्रुताज्ञानभावात्, त्र्यज्ञाना वा त्रयस्यापि भावात्। (मणपज्जवेत्यादि) मनःपर्यवज्ञानलब्धिकास्त्रिज्ञानाः, अवधि केवलाभावात्, चतुर्ज्ञाना वा केवलस्यैवाभावात्। मनःपर्यवज्ञानस्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्ते द्विज्ञानाः, आद्यद्वयभावात्, त्रिज्ञाना वा आद्यत्रयभावात्, एकज्ञाना वा केवलस्यैव भावात्, ये त्वज्ञानिनः ते द्व्यज्ञाना आद्याज्ञानद्वयभावात्, त्र्यज्ञाना वा अज्ञानत्रयस्यापि भावात्। (केवलनाणेत्यादि) केवलज्ञानलब्धिका एवाज्ञानिनः, ते च केवलज्ञानिन एव, केवलज्ञानस्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्तेषामाद्यज्ञानद्वयं तत्त्रयं मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानानि वा केवलज्ञानवर्जानि चत्वारि वा ज्ञानानि भवन्ति। ये त्वज्ञानिन–स्तेषामाद्यमज्ञानद्वयं, तत्त्रयं वा भवतीत्येवं भजनाऽवसेयेति। (अण्णाणलद्धियाणमित्यादि) अज्ञानलब्धिका अज्ञानिनस्तेषां च त्रीण्यज्ञानानि भजनया, द्वे अज्ञाने, त्रीणि वा अज्ञानानीत्यर्थः। अज्ञानालब्धिकास्तु ज्ञानिनस्तेषां च पञ्च ज्ञानानि भजनया पूर्वोपदर्शितया वाच्यानि। (जहा अण्णाणेत्यादि) अज्ञानजब्धिकानां त्रीणि अज्ञनानि भजनयोक्तानि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानलब्धिकानामपि तानि तथैव। तथा अज्ञानालब्धिकानां पञ्च ज्ञानानि भजनयोक्तानि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानलब्धिकानामपि पञ्च ज्ञानानि भजनयैव वाच्यानीति। (विभंगेत्यादि) विभङ्गज्ञानलब्धिकानां तु त्रीण्यज्ञानानि नियमात्, तदलब्धिकानां ज्ञानिनां पञ्च ज्ञानानि भजनया, अज्ञानिनां च द्वे अज्ञाने नियमादिति। (दंसणलद्धीत्यादि) दर्शनलब्धिकाः श्रद्धानमात्रलब्धिका इत्यर्थः, ते च सम्यक् श्रद्धानवन्तो ज्ञाननः, तदितरे त्वज्ञानिनः, तत्र ज्ञानिनां पञ्च ज्ञानानि भजनया, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैवेति।(तस्स अलद्धिया नत्थि त्ति) तस्य दर्शनस्य येषामलब्धिः, ते न सन्त्येव, सर्वजीवानां रुचिमात्रस्यास्तित्वादिति। (सम्मद्दंसणलद्धियाणं ति) सम्यग्दृष्टीनाम्। (तस्स अलद्धियाणमित्यादि) तस्यालब्धिकानां सम्यग् दर्शनस्यालब्धिमतां मिथ्यादृष्टीनां मिश्रदृष्टीनां च त्रीण्यज्ञानानि भजनया, यतो मिश्रदृष्टीनामप्यज्ञानमेव तात्त्विकसद्बोधाहेतुत्वाद् मिश्रस्येति। (मिच्छादंसणलद्धियाणं ति) मिथ्यादृष्टीनाम्। (तस्स अलद्धियाणमित्यादि) तस्यालब्धिकानां मिथ्यादर्शनस्यालब्धिमतां सम्यग्दृष्टीनां मिश्रदृष्टीनां च क्रमेण पञ्च ज्ञानानि, त्रीण्यज्ञानानि च भजनवेति। भ०८ श०२ उ०। (निर्ग्रन्थानां 'णिग्गंथ' शब्दे तथा संयतानां 'संजय' शब्दे वक्तव्यता)

चरित्तलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! पंच नाणाइं भयणाए, तस्स अलद्धिआणं मणपज्जवणाणवज्जाइं चत्तारि नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। सामाइय–चरित्तलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! चत्तारि णाणाइं भयणाए, तस्स अलद्धियाणं पंच नाणाइं, तिण्णि य अण्णाणाइं भयणाए। एवं जहा सामाइयचरित्तलद्धिया अलद्धिया य भणिया एवं०जाव अहक्खायचरित्तलद्धिया अलद्धिया य भाणियव्वा, नवरं अहक्खायचरित्तलद्धियाणं पंच नाणाइं भयणाए। चरित्ताचरित्तलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा ! नाणी, नो अण्णाणी, अत्थेगइया दुनाणी, अत्थेगइया तिण्णाणी, जे दुनाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी य। जे तिण्णाणी, ते आभिणिबोहियणाणी य, सुयणाणी य, ओहिणाणी य। तस्स अलद्धियाणं पंच नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

(चरित्तलद्धियाणमित्यादि) चरित्रलब्धिका ज्ञानिन एव, तेषां च पञ्च ज्ञानानि भजनया, यतः केवल्यपि चारित्री, चरित्रलब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्तेषां मनःपर्यववर्जानि चत्वारि ज्ञानानि भजनया भवन्ति, कथमसंयतत्थे आद्यं ज्ञानद्वयं, तत्त्रयं वा; सिद्धत्वे च केवलज्ञानं, सिद्धानामपि चरित्रलब्धिशून्यत्वात्, यतस्ते नो चरित्रिणो नोऽचरित्रिण इति। ये त्वज्ञानिनस्तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनया। (सामाइयेत्यादि) सामायिकचरित्रलब्धिका ज्ञानिन एव, तेषां च केवलज्ञानवर्जानि चत्वारि ज्ञानानि भजनया, सामायिकचरित्रालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनः तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया छेदोपस्थापनीयाऽऽदिभावेन, सिद्धभावेन वा;ये त्वज्ञानिनः तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनया, एवं छेदोपस्थापनीयाऽऽदिष्वपि वाच्यम्। एतदेवाऽऽह–(एवमित्यादि) तत्र छेदोपस्थापनीयाऽऽदि चरित्रत्रयलब्धयो ज्ञानिन एव, तेषां चाऽऽद्यानि चत्वारि ज्ञानानि भजनया, तदलब्धयो यथाख्यातचरित्रालब्धयश्च ये ज्ञानिनः, तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, ये त्वज्ञानिनस्तेषामज्ञानत्रयं भजनयैव, यथाऽऽख्यातचरित्रलब्धिकानां तु विशेषोऽस्ति, अतः तद्दर्शनायाऽऽह–(नवरमहक्खाये-त्यादि) सामायिकाऽऽदिचरित्रचतुष्टयलब्धिमतां छद्मस्थत्वेन चत्वार्येव ज्ञानानि भजनया, यथाख्यातचरित्रलब्धिमतां छद्मस्थेतरभावेन पञ्चापि भजनया भवन्तीति तेषां तथैव तानि उक्तानीति। ''चरित्ताचरित्त'' इत्यादौ (तस्स अलद्धिय त्ति) चरित्राचरित्रस्यालब्धिकाः श्रावकादन्ये ते च ये ज्ञानिनस्तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, ये त्वज्ञानिनस्तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनयैव।

दाणलद्धियाणं पंच णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? गोयमा ! नाणी, नो अन्नाणी णियमा एगणाणी केवलणाणी। एवं०जाव वीरियलद्धिया, अलद्धिया भाणियव्वा। बालवीरियलद्धियाणं तिण्णि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं पंच नाणाइं भयणाए। पंडियवीरियलद्धियाणं

पंच नाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं मणपज्जवनाणवज्जाइं नाणाइं अण्णाणाइं तिण्णि य भयणाए। बालपंडियवीरियलद्धियाणं तिण्णि नाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं पंच णाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

(दाणलद्धियाणमित्यादि) दानान्तरायक्षयक्षयोपशमाद्दाने दातव्ये लब्धिर्येषां ते दानलब्धयः, ते च ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च। तत्र ये ज्ञानिनः तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, केवलज्ञानिनामपि दानलब्धियुक्तत्वात्। ये तु अज्ञानिनः तेषां त्रीणि अज्ञानानि भजनयैव, दानस्यालब्धिकास्तु सिद्धाः, ते च दानान्तरायक्षयेऽपि दातव्याभावात् संप्रदानासत्त्वात् दानप्रयोजनाभावाच्च दानालब्धय उक्ताः, ते च नियमात् केवलज्ञानिन इति, लाभभोगोपभोगवीर्यलब्धिः सेतरा। अतिदिशन्नाह–(एवमित्यादि) इह चालब्धयः सिद्धानामेवोक्तन्यायादवसेयाः। ननु दानाऽऽद्यन्तरायक्षयात्केवलिनां दानाऽऽदयः सर्वप्रकारेण कस्मान्न भवन्तीति? उच्यते–प्रयोजना–भावात्, कृतकृत्या हि ते भगवन्त इति। (बालवीरियलद्धियाण–मित्यादि) बालवीर्यलब्धयोऽसंयताः, तेषां च ज्ञानिनां त्रीणि ज्ञानानि, अज्ञानिनां च त्रीण्यज्ञानानि भजनया भवन्ति, तदल–ब्धिकास्तु संयताः, संयतासंयताश्च, ते च ज्ञानिन एव; तेषां च पञ्च ज्ञानानि भजनया। ''पंडियवीरिय'' इत्यादौ (तस्स अलद्धियाणं ति) असंयतानां संयतासंयतानां सिद्धानां चेत्यर्थः, तत्रासंयता–नामाद्यज्ञानत्रयमज्ञानत्रयं च भजनया, संयतासंयतानां तु ज्ञानत्रयं भजनयैव भवति, सिद्धानां तु केवलज्ञानमेव, मनःपर्यायज्ञानं तु पण्डितवीर्यलब्धिवतामेवेति, नान्येषाम्। अत उक्तम्–(मणपज्ज–वेत्यादि) सिद्धानां च पण्डितवीर्यालब्धिकत्वं पण्डितवीर्यवाच्ये प्रत्युपेक्षणाऽऽद्यनुष्ठाने प्रवृत्त्यभावात्। ''बालपंडिय'' इत्यादौ (तस्स अलद्धियाणं ति) अश्रावकाणामित्यर्थः।

इंदियलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? गोयमा! चत्तारि नाणाइं, तिण्णि य अन्नाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं पुच्छा? गोयमा ! नाणी नो अण्णाणी नियमा एगनाणी केवलणाणी। सोइंदियलद्धियाणं जहा इंदियलद्धिया, तस्स अलद्धियाणं पुच्छा? गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणी वि। जे नाणी, ते अत्थेगइया दुनाणी, अत्थेगइया एगनाणी। जे दुनाणी, ते आभिणिबोहियनाणी, सुयणाणी। जे एगनाणी, ते केवलनाणी, जे अण्णाणी, ते नियमा दुअण्णाणी। तं जहा–मतिअण्णाणी, सुयअण्णाणी। चक्खिंदियघाणिंदियलद्धियाणं अलद्धियाण य जहेव सोइंदियलद्धिया अलद्धिया। जिब्भिं–दियलद्धियाणं चत्तारि नाणाइं, तिण्णि अन्नाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? गोयमा ! नाणी वि, अन्नाणी वि। जे नाणी, ते नियमा एगनाणी केवलनाणी, जे अन्नाणी, ते णियमा दुअण्णाणी। तं जहा–मइअन्नाणी य, सुयअन्नाणी य। फासिंदियलद्धिया य, अलद्धिया य जहा इंदियलद्धिया अलद्धिया य।

(इंदियलद्धियाणमित्यादि) इन्द्रियलब्धिका ये ज्ञानिनः, तेषां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, केवलं तु नास्ति, तेषां केवलिनामि–न्द्रियोपयोगाभावात्। ये त्वज्ञानिनः, तेषामज्ञानत्रयं भजनयैवेति। इन्द्रियालब्धिकाः पुनः केवलिन एवेत्येकमेव तेषां ज्ञानमिति। (सोइंदिय इत्यादि) श्रोत्रेन्द्रियलब्धय इन्द्रियलब्धिका इव वाच्याः, ते च ये ज्ञानिनः, ते अकेवलित्वादाद्यज्ञानचतुष्टयवन्तो भजनया भवन्ति, अज्ञानिनस्तु भजनया त्र्यज्ञानाः, श्रोत्रेन्द्रियालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनः ते आद्यद्वि–ज्ञानिनः, ते च अपर्याप्तकाः सासादनसम्यग्दर्शनिनो विकलेन्द्रिया एकज्ञानिनो वा केवलज्ञानिनः, ते हि श्रोत्रेन्द्रियालब्धिका इन्द्रियोपयोगा–भावात्, ये त्वज्ञानिनः ते पुनराद्याज्ञानद्वयवन्त इति। (चक्खिंदिय इत्यादि) अयमर्थः–यथा श्रोत्रेन्द्रियलब्धिमतां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, त्रीणि चाज्ञानानि भजनयैव, तदलब्धिकानां च द्वे ज्ञाने, द्वे चाज्ञाने, एकं च ज्ञानमुक्तम्। एवं चक्षुरिन्द्रियलब्धिकानां घ्राणेन्द्रिय–लब्धिकानां तदलब्धिकानां च वाच्यम्, तत्र चक्षुरिन्द्रियलब्धिका घ्राणेन्द्रियलब्धिकाश्च ये पञ्चेन्द्रियाः, तेषां केवलवर्जानि चत्वारि ज्ञानानि, त्रीणि चाज्ञानानि भजनया, ये तु विकलेन्द्रियाः चक्षुरिन्द्रिय–घ्राणेन्द्रियलब्धिकाः, तेषां सासादनसम्यग्दर्शनभावे आद्यं ज्ञानद्वयं, तदभावे त्वाद्यमेवा–ज्ञानद्वयम्, चक्षुरिन्द्रियघ्राणेन्द्रियालब्धिकास्तु यथा–योगं त्रिद्व्येकेन्द्रियाः केवलिनश्च, तत्र त्रिद्वीन्द्रियाऽऽदीनां सासादनभावे आद्यज्ञानद्वयसंभवः, तदभावे त्वाद्याज्ञानद्वयसंभवः, केवलिनां त्वेकं केवलज्ञानमिति। ''जिब्भिंदिय'' इत्यादौ (तस्स अलद्धिय त्ति) जिह्वालब्धिवर्जिताः, ते च केवलिन एकेन्द्रियाश्चेत्यत आह–(नाणी वीत्यादि) ये ज्ञानिनस्ते नियमात् केवलज्ञानिनः, येऽज्ञा–निनस्ते नियमाद् द्व्यज्ञानिनः, एकेन्द्रियाणां सासादनभावतोऽपि सम्यग्दर्शनस्याभावात्, विभङ्गाभावाच्चेति। (फासिंदिय इत्यादि) स्पर्शनेन्द्रियलब्धिकाः केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कवन्तो भजनया, तथैवाज्ञानत्रयवन्तो वा; स्पर्शनेन्द्रियालब्धिकास्तु केवलिन एव। इन्द्रियलब्ध्यलब्धिमन्तोऽप्येवंविधा एवेत्यत उक्तम्–(जहा इंदिय इत्यादि)

(३५) उपयोगद्वारे–

सागारोवउत्ताणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ?पंच णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। आभिणिबोहियणाण–सागारोवउत्ताणं भंते ! चत्तारि णाणाइं भयणाए। एवं सुयणाण–सागारोवउत्ता वि। ओहिणाणसागारोवउत्ता जहा ओहिणाण–लद्धिया। मणपज्जवणाणसागारोवउत्ता जहा मणपज्जवणाण–लद्धिया। केवलणाणसागारोवउत्ता जहा केवलणाणलद्धिया। मइअण्णाणसागारोवउत्ताणं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। एवं सुयअण्णाणसागारोवउत्ता वि। विभंगणाणसागारोवउत्ताणं तिण्णि अण्णाणाइ नियमा। अणागारोवउत्ताणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? पंच नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। एवं चक्खुदंसणअचक्खुदंसण अणागारोवउत्ता वि, नवरं चत्तारि नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। ओहिदंसण अणागारोवउत्ताणं पुच्छा ?

गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणी वि, जे नाणी, ते अत्थेगइया तिनाणी, अत्थेगइया चउनाणी, जे तिनाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी। जे चउनाणी, ते आभिणिबोहियणाणी०जाव मणपज्जवणाणी। जे अण्णाणी, ते नियमा तिअण्णाणी। तं जहा–मइअण्णाणी, सुयअण्णाणी, विभंगणाणी। केवलदंसणअणागारोवउत्ता जहा केवलणाण–लद्धिया ॥

(सागारोवउत्ता इत्यादि) आकारो विशेषः, तेन सह यो बोधः स साकारो, विशेषग्राहिको बोध इत्यर्थः। तस्मिन्नुपयुक्ताः तत्संवेदका ये ते साकारोपयुक्ताः, ते च ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च, तत्र ज्ञानिनां पञ्च ज्ञानानि भजनया, स्यात् द्वे, स्यात् त्रीणि, स्यात् चत्वारि, स्यादेकं, यच्च स्यात् द्वे इत्याद्युच्यते, तल्लब्धिमात्रमङ्गीकृत्य, उपयोगापेक्षया त्वेकदैकमेव ज्ञानमज्ञानं चेति, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैवेति। अथ साकारोपयोगभेदापेक्षमाह–(आभि–णीत्यादि) (ओहिणाणसागारे-त्यादि) अवधिज्ञानसाकारोपयुक्ता यथा अवधिज्ञानलब्धिकाः प्रागुक्ताः, स्यात् त्रिज्ञानिनो मतिश्रुतावधियोगात्, स्याच्चतुर्ज्ञानिनो मतिश्रुतावधिमनः पर्यवयोगात् तथा वाच्याः। (मणपज्जव इत्यादि) मनः पर्यवज्ञानसाकारोपयुक्ता यथा मनःपर्यवज्ञानलब्धिकाः प्रागुक्ताः, स्यात् त्रिज्ञानिनो मतिश्रुतमनः पर्यवयोगात्, स्याच्चतुर्ज्ञानिनः केवलवर्जज्ञान-योगात् तथा वाच्या इति। (अणागारोवउत्ताणमित्यादि) अविद्यमान आकारो यत्र तदनाकारं दर्शनं, तत्रोपयुक्ताः तत्संवेदका ये ते तथा, ते च ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च, तत्र ज्ञानिनां लब्ध्यपेक्षया पञ्च ज्ञानानि भजनया, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैव। (एवमित्यादि) यथा अना-कारोपयुक्ता ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चोक्ताः,एवं चक्षुर्दर्शनाऽऽद्युपयुक्ता अपि (नवरं ति) विशेषः पुनरयम्– चक्षुर्दर्शनेतरोपयुक्ताः केवलिनो न भवन्तीति तेषां चत्वारि ज्ञानानि भजनयेति।

(३६) योगद्वारे–

सजोगीणं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ? जहा सकाइया। एवं मणजोगी, वयजोगी वि, कायजोगी वि, अजोगी जहा सिद्धा।

(सजोगीणमित्यादि) (जहा सकाइय त्ति) प्रागुक्ते कायद्वारे यथा सकायिका भजनया पञ्च ज्ञानाः त्र्यज्ञानाश्चोक्ताः, तथा सयोगा अपि वाच्याः। एवं मनोयोगाऽऽदयोऽपि, केवलिनोऽपि, मनोयोगाऽऽदीनां भावात्। तथा मिथ्यादृशां मनोयोगाऽऽदिमतामज्ञानत्रयभावाच्च। (अजोगी जहा सिद्ध त्ति) अयोगिनः केवललक्षणैकज्ञानिन इत्यर्थः।

(३७) लेश्याद्वारे–

सलेस्साणं भंते ? जहा सकाइया। किण्हलेस्साणं भंते ? जहा सकाइया सइंदिया। एवं०जाव पम्हलेस्सा, सुक्कलेस्सा, जहा सलेस्सा। अलेस्सा ? जहा सिद्धा।

(जहा सकाइय त्ति) सलेश्याः सकायिकवद्बहुजनया पञ्च ज्ञानाः, त्र्यज्ञानाश्च वाच्याः, केवलिनोऽपि शुक्ललेश्यासम्भवेन सलेश्यत्वात्। (कण्हलेस्सेत्यादौ) (जहा सइंदिय त्ति) कृष्णलेश्याश्चतुर्ज्ञानिनः त्र्यज्ञानिनश्च भजनयेत्यर्थः। (सुक्कलेस्सा जहा सलेस्स त्ति) पञ्च ज्ञानिनो भजनया त्र्यज्ञानिनश्चेत्यर्थः। (अलेस्सा जहा सिद्ध त्ति) एकज्ञानिन इत्यर्थः।

(३८) कषायद्वारे–

सकसाइयाणं भंते ! जहा सइंदिया। एवं०जाव लोहकसाइ-याणं। अकसाइयाणं भंते ! किं णाणी, अण्णाणी ? पंच नाणाइं भयणाए।

(सकसाइया जहा सइंदिय त्ति) भजनया, केवलिवर्जचतुर्ज्ञानि-नस्त्र्यज्ञानिनश्चेत्यर्थः। (अकसाइयाणमित्यादि) अकषायिणां पञ्च ज्ञानानि भजनया, कथमुच्यते? छद्मस्थो वीतरागः केवली चाकषायः, तत्र छद्मस्थवीतरागस्याऽऽद्यज्ञानचतुष्कं भजनया भवति, केवलिनस्तु पञ्चमिति।

(३९) वेदद्वारे–

सवेदगाणं भंते ! जहा सइंदिया। एवं इत्थिवेदगा वि, एवं पुरिसवेदगा पि, नपुंसगवेदगा वि। एवं अवेदगा, जहा अकसाइया।

(जहा सइंदिय त्ति) सवेदकाः सेन्द्रियवद्बहुजनया केवलिवर्जचतु-र्ज्ञानिनः, त्र्यज्ञानिनश्च वाच्याः। (अवेदगा जहा अकसाइय त्ति) अवेदका अकषायिवद्बहुजनया पञ्चज्ञाना वाच्याः, यतोऽनिवृत्तिबादरयराऽऽदयोऽ-वेदका भवन्ति, तेषु च छद्मस्थानां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, केवलिनां तु पञ्चममिति।

(४०) आहारकद्वारे–

आहारगाणं भंते ! जीवा? जहा सकसाइया, नवरं केवलनाणं पि। अणाहारगाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? मणप–ज्जवनाणवज्जाइं नाणाइं अन्नाणाइं तिण्णि भयणाए।

(आहारगेत्यादि) सकषाया भजनया चतुर्ज्ञानास्त्र्यज्ञानाश्चोक्ताः, आहारका अप्येवमेव, नवरमाहारकाणां केवलमप्यस्ति, केवलिन आहारकत्वादपीति। (अणाहारगाणमित्यादि) मनःपर्यवज्ञानमाहार-काणामेवाऽऽद्यं पुनर्ज्ञानत्रयमज्ञानत्रयं च विग्रहे केवलं च केवलिनः समुद्घातशैलेशीसिद्धावस्थास्वनाहारकाणामपि स्यात्। अत उक्तम्– (मणपज्जवेत्यादि) भ०८ श०२ उ०। प्रज्ञा०। अष्ट०। कर्म०। (गुणस्थानकमाश्रित्य ज्ञानविचारो 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ६२७ पृष्ठे कृतः) ''मागहा इंगिएणं तु, पेहिएण य कोसला। अद्धुत्तेण उ पंचाला, नाणुत्तं दक्खिणावहा ॥१॥'' व्य०१० उ०। (आभिनिबोधिकाऽऽ-दिज्ञानानां विषयाः 'आभिणिबोहियणाण' इत्यादिशब्दे द्रष्टव्याः) (कायस्थितिः 'कायट्ठिइ' शब्दे तृतीयभागे ४५८ पृष्ठे उक्ता) ('पज्जव' शब्दे आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानपर्यवा द्रष्टव्याः) (जीवाः प्रत्याख्यानं जानन्तीति 'पच्चक्खाण' शब्दे वक्ष्यते)

(४१) तत्त्वसंवेदनं ज्ञानम्–

विषयप्रतिभासं चाऽऽत्मपरिणतिमत्तथा।
तत्त्वसंवेदनं चैव, ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥१॥

विषयः श्रोत्राऽऽदीन्द्रियज्ञानगोचरः शब्दाऽऽदिः, तस्यैव न पुन-स्तत्प्रवृत्तौ तज्जन्यस्याऽऽत्मनोऽर्थानर्थसद्भावस्य, प्रतिभासः प्रति–

भासनं परिच्छेदो यत्र तद् विषयप्रतिभासमैहिकाऽऽमुष्मिकेषु छाद्मस्थिकज्ञानविषयेषु अर्थेषु प्रवृत्तावात्मनस्तात्त्विकार्थानर्थप्रतिभासशून्यमित्यर्थः । ज्ञानमाहुरिति संबन्धः, चशब्द उत्तरज्ञानविशेषापेक्षया समुच्चयार्थः । इदं च मिथ्यादृशां भवतीति । तथा आत्मनो जीवस्य परिणतिरनुष्ठानविशेषसंपाद्यःपरिणामविशेषः, सैव ज्ञेयतया यस्मिन्नस्ति ज्ञाने न पुनस्तदनुरूपप्रवृत्तिनिवृत्ती अपि तदात्मपरिणतिमत् । तथोत समुच्चये । इदं चाविरतसम्यग्दृष्टीनां भवति, तत्त्वं परमार्थः, तत् सम्यक् विद्यते ज्ञायते येन तत्तत्त्वसंवेदनं, हेयोपादेयार्थप्रवृत्तिनिवृत्तिसंपादकमित्यर्थः । चशब्दः समुच्चये,एवकारोऽवधारणे । तस्य चैवं प्रयोगः–तत्त्वसंवेदनमेव च, नोक्तव्यतिरिक्तम्, इदं च विशुद्धचारित्रिणां स्यात्, ज्ञानं बोधम्, आहुर्ब्रुवते, महर्षयो महामुनयः, एते च त्रयोऽपि ज्ञानभेदा मत्यादिविशेषा एवेति ॥१॥

आद्यस्वरूपमाह–

विषकण्टकरत्नाऽऽदौ, बालाऽऽदिप्रतिभासवत् ।
विषयप्रतिभासं स्यात्, तद् धेयत्वाऽऽद्यवेदकम् ॥२॥

विषं च शृङ्गिकाऽऽदिकम्, कण्टकाश्च बब्बूलाऽऽद्यवयवविशेषा इति हेयं वस्तु, रत्नानि च मरकताऽऽदीनि तानि चोपादेयं, विषकण्टकरत्नानि तानि आदिर्यस्य तत्तथा, तत्र विषकण्टकरत्नाऽऽदौ द्रष्टव्ये, इहाऽऽदिशब्दाद् हेयोपादेयरूपवस्त्वन्तरपरिग्रहः, उपेक्षणीयपरिग्रहो वा । बालः शिशुरादिर्येषां ते बालाऽऽदयः, आदि–शब्दादतिमुग्धपरिग्रहः । तेषां प्रतिभासो वस्तुबोधो बालाऽऽदि–प्रतिभासः, स इव बालाऽऽदि प्रतिभासवत्, तत्तुल्यमित्यर्थः । विषयप्रतिभासमुक्तनिर्वचनं ज्ञानं, स्याद् भवेत् । कथं बालाऽऽदिप्रतिभासतुल्यत्वमस्येत्याह–तेषां ज्ञेयविषयाणां, हेयत्वाऽऽदि–हेयत्वमुपादेयत्वमुपेक्षणीयत्वं चेत्यर्थः । तस्यावेदकमनिश्चायकं तद्धेयत्वाऽऽद्यवेदकं यथा बालाऽऽदिप्रतिभासो विषाऽऽदिविषयस्य रूपाऽऽदिमात्रमेवाध्यवस्यति, न तु हेयत्वाऽऽदिकं तद्धर्मम्, एवं यद् ज्ञानं बहुश्रुतानामप्यभिन्नग्रन्थीनां मोहमलमलीमसमानसत्वेनातत्त्वानां हेयतायास्तत्त्वानां चोपादेयताया विमर्शक्षमं तत्त्वातत्त्वयोः समताऽवभासकं विपर्ययावभासकं वा तद्विषयप्रतिभासमिति भावना । उक्तं च–''विसयपडिभासमित्तं, बालस्सेवऽक्खरयणविसयं ति । वयणाऽऽइएसु नाणं, सव्वत्थाणाभो णेयं'' ॥१॥ (वयणाइएसु त्ति) सूत्रार्थाऽऽदिष्विति ।

इदमेव लिङ्गाऽऽदिभिर्निरूपयन्नाह–

निरपेक्षप्रवृत्त्यादि–लिङ्गमेतदुदाहृतम् ।
अज्ञानाऽऽवरणापायं, महापायनिबन्धनम् ॥३॥

निर्गता अपेता अपेक्षा ऐहिकाऽऽमुष्मिकापायशङ्का यस्याः सा तथा निरपेक्षा, प्रवृत्तिः प्रवर्तनमादिर्यस्य निवृत्त्यादेः तन्निरपेक्षप्रवृत्त्यादि, निरपेक्षस्य वा निराशङ्कस्य प्रवृत्त्यादि निरपेक्षप्रवृत्त्यादि, तल्लिङ्गं चित्रं यस्य तन्निरपेक्षप्रवृत्त्यादिलिङ्गम्, एतदनन्तरोदितं विषयप्रतिभासं ज्ञानम्, उदाहृतम् आप्तैरुपदिष्टम् । अथ किंहेतु–कमिदमित्यत आह–न ज्ञानमज्ञानं मिथ्यात्वोदय इति, ते मतिश्रुते, अवधिश्च, नञः कुत्सार्थत्वात् । आह च–

''अविसेसिया मइ चिय, सम्मद्दिट्ठिस्स सा मइण्णाणं ।
मइअण्णाणं मिच्छा–दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव ॥११४॥''

तथा–

''सदसद्ववि़सेसणाओ, भवहेऊ जहिच्छिओवलंभाओ ।
णाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाणं ॥५२१॥''(विशे०)

तस्याज्ञानस्य मत्यज्ञानाऽऽदिलक्षणस्याऽऽवरणमावृत्तिकारणं कर्म अज्ञानाऽऽवरणं, तस्यापायोऽपगमः क्षयोपशमो यस्मिन् तदज्ञानाऽऽवरणापायं, मत्यज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमहेतुकमित्यर्थः । अथवा–अविद्यमानो ज्ञानाऽऽवरणापायो यत्र तत्तथा । अथ किंफलमिदमित्याह–महान्तश्च ते गुरुका अपायाश्च स्वपरगतैहिकाऽऽमुष्मिकप्रत्यपायास्तेषां निबन्धनं हेतुर्महापायनिबन्धनम् । इदं च भावतोऽज्ञानमेव, भवति चाज्ञानं महापायनिबन्धनम् । यत आह–''अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधाऽऽदिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः । अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनाऽऽवृतो लोकः ॥१॥''

अथ द्वितीयज्ञाननिरूपणायाऽऽह–

पाताऽऽदिपरतन्त्रस्य, तद्दोषाऽऽदावसंशयम् ।
अनर्थाऽऽद्याप्तियुक्तं चाऽऽत्मपरिणतिमन्मतम् ॥४॥

पातोऽधःपतनम्, आदिर्यस्य ऊर्द्धतिर्यगाकर्षणविपरीतशिक्षाऽश्वोद्वहनाऽऽदेःतत्पाताऽऽदि, तेन तस्य वा परतन्त्रः पराऽऽयत्तः, पाताऽऽदिपरतन्त्र इव पाताऽऽदिपरतन्त्रः, तस्य विषयकषायाऽऽदिवशीकृतस्य देहिनः, तस्मिन् पाताऽऽदौ यो दोषोऽङ्गभङ्गमरणाऽऽदिलक्षणः स आदिर्यस्य रूतोत्करमृदुस्पर्शाऽऽदिगुणस्य स तथा, तत्र दोषाऽऽदौ, दार्ष्टान्तिकेतु कर्मबन्धदुर्गत्यादिदोषे गुणे च अभ्युदयाऽऽदौ ज्ञेयेऽसंशयम्, उपलक्षणमेतत्– अविद्यमानसंदेहविपर्ययं विलीनमोहग्रन्थित्वेन यथावन्निश्चयस्य स्वरूपमित्यर्थः । अनर्थोऽपायोऽङ्गभङ्गाऽऽदिरादिर्यस्य सुखस्पर्शाऽऽदेरर्थस्य तथा तस्याऽऽप्तिः प्राप्तिः तया युक्तम् अन्वितम् अनर्थाऽऽद्याप्तियुक्तम् । इह च यद्यपि पुरुषस्यैवानर्थाऽऽद्याप्तियोगस्तथाऽपि ज्ञानाव्यतिरिक्तत्वात् तस्याज्ञानमेवानर्थाऽऽद्याप्तियुक्तमुक्तम्, दार्ष्टान्तिके त्वनर्थाऽऽद्याप्तिः कर्मबन्धदुर्गतिगमनपरम्परावर्गाऽऽगमनरूपाऽवगन्तव्या, चशब्दो विशेषणान्तरसमुच्चयार्थः । तदेवंविधं ज्ञानमात्मपरिणतिमत् प्रतिपादितं निर्वचनं मतमभिमतमध्यात्मतत्त्वविदुषामिति । इह च संवादगाथे–

''भिन्ने उ तए नाणं, जहऽक्खरयणेसु तग्गयं चेव ।
पडिबंधम्मि वि सद्धाऽऽइभावओ सम्मरूवं तु ॥१॥''

भिन्ने तु, कस्मिन्? मोहग्रन्थावित्यर्थः । (तग्गयं चेव त्ति) अक्षे अक्षगतमेव, रत्ने रत्नगतमेव, प्रतिबन्धेऽपि सदनुष्ठानव्याघातेऽपीत्यर्थः ।

''जमिणं असप्पवित्ती–इ दव्वओ संगयं पि नियमेण ।
होइ फलगं असुहाणुबंधवोच्छेयभावाओ ॥१॥'' इति ।

एतदेव लिङ्गाऽऽदिभिर्निरूपयन्नाह–

तथाविधप्रवृत्त्यादि–व्यङ्ग्यं सदनुबन्धि च ।
ज्ञानाऽऽवरणह्रासोत्थं, प्रायो वैराग्यकारणम् ॥५॥

तथा तत्प्रकारा विधा स्वरूपं यस्याः सा तथाविधा–''हियए जिणाण आणा, चरियं मह एरिसं अओऽन्नस्स । एयं आलप्पालं, अव्वो ! दूरं विसंवयइ ॥१॥'' इत्यादिभावनया असंक्लिष्टा चासौ प्रवृत्तिश्च हिंसाऽऽदिषु वर्तनं तथाविधप्रवृत्तिः, स आदिर्यस्य निवृत्तिप्राप्त्यादेः तत्तथाविधप्रवृत्त्यादि, तेन व्यज्यते व्यक्तीक्रियते यत्तत्तथाविधप्रवृत्त्यादिव्यङ्ग्यं; तथा सन् शोभतोऽनुबन्धः परम्परया मो–

क्षफलप्रदायकत्वं सदनुबन्धः, सोऽस्यास्तीति सदनुबन्धि, चशब्दो विशेषणसमुच्चये । किंहेतुकमिदमित्याह–ज्ञानाऽऽवरणं मत्याद्यावारकं कर्म, तस्य ह्रासः क्षयोपशमः, तस्मादुत्तिवृत उत्पद्यते यत्तद् ज्ञानाऽऽवरणह्रासोत्थम्। कथमिदं सदनुबन्धीत्यत आहप्रायो बाहुल्येन वैराग्यकारणं सद्भावनानिमित्तं यतो भवतीति गम्यते। यदाह–''बालधूलीगृहक्रीडातुल्याऽस्यां भाति धीमताम् । तमोग्रन्थिविभेदेन, भवचेष्टाऽखिलैव हि ॥१॥'' प्रायोग्रहणं च कषायोदयविशेषे सति तद्वैराग्यकारणं न स्यादपि राज्याऽऽदिप्रसाधानप्रवृत्तभरताऽऽदेरिवेति प्रतिपादनार्थमिति ॥५॥

तृतीयप्रतिपादनायाऽऽह–

स्वस्थवृत्तेःप्रशान्तस्य, तद्धेयत्वाऽऽदिनिश्चयम्।
तत्त्वसंवेदनं सम्यग्, यथाशक्ति फलप्रदम् ॥६॥

स्वस्था अनाकुला वृत्तिर्वचनकायव्यापाररूपं वर्तनं यस्य स तथा तस्य स्वस्थवृत्तेः। एतदेव कुत इत्याह–प्रशान्तस्य रागद्वेषाऽऽद्यु–पशमप्रकर्षवतः, तत्त्वसंवेदनं भवतीति क्रिया । किंभूतमिति ? आह–तेषां ज्ञेयवस्तुतत्त्वानां हेयत्वं त्यजनीयत्वम्, आदिशब्दादुपादेयत्वोपेक्षणीयत्वपरिग्रहः । तत्र निश्चयो निर्णयो यस्य तत्तद्धेयत्वाऽऽदिनिश्चयमिति यथा वा यदिति शेषः । ततश्च स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य पुंसो यद् ज्ञानं तत्तत्त्वसंवेदनमिति योगः । तत्त्वसंवेदनमुक्तनिर्वचनं सम्यक् समीचीनतया यथाशक्ति पुरुषस्य संहननाऽऽदिसामर्थ्यानुसारतः फलप्रदं स्वप्रयोजनप्रसाधकम्, ज्ञानस्य चानन्तरफलं विरतिः, परम्परफलं त्वपवर्ग इति ॥६॥

एतस्य लिङ्गाऽऽदि प्रतिपादयन्नाह–

न्याय्याऽऽदौ शुद्धवृत्त्यादि–गम्यमेतत् प्रकीर्तितम्।
सज्ज्ञानाऽऽवरणापायं, महोदयनिबन्धनम् ॥७॥

न्यायो नीतिः तस्मादनपेतो न्याय्यः–सम्यग्दर्शनाऽऽदित्रयरूपो मोक्षमार्गः, स आदिर्यस्य न्यायस्य मिथ्यादर्शनाऽऽदिरूपस्य भवमार्गस्य स न्याय्याऽऽदिः, तत्र शुद्धवृत्तिर्निरतिचारप्रवृत्तिः, आदिर्यस्या निवृत्तेः सा तथा तया, गम्यमनुमेयं शुद्धवृत्त्यादिगम्यम् । एतदनन्तरोदितस्वरूपं तत्त्वसंवेदनज्ञानं, प्रकीर्तितम् ज्ञानस्वरूपविद्भिः संशाब्दितम्। किंहेतुकमिति? आह सत् शोभनं प्रकृष्टं यद् ज्ञानमाभिनिबोधिकाऽऽदि, तस्य यदावरणं, तस्यापायोऽपगमः क्षयः क्षयोपशमलक्षणो यस्मिन् तद् ज्ञानाऽऽवरणापायम् । अथवा–सन् विद्यमानो ज्ञानाऽऽवरणापायो यत्र तत्तथा फलमस्य। आह–महोदयो महाभ्युदयो निर्वाणं, तस्य निबन्धनमक्षेपेण कारणं महोदयनिबन्धनमिति ॥७॥

उपसंहरन्नुपदेशमाह–

एतस्मिन् सततं यत्नः, कुग्रहत्यागतो भृशम्।
मार्गश्रद्धाऽऽदिभावेन, कार्य आगमतत्परैः ॥८॥

एतस्मिन्ननन्तरोक्ते तत्त्वसंवेदनज्ञाने, सततमनवरतं, यत्न आदरः, कार्य इति संबन्धः। कुतः ? कुग्रहत्यागतः शास्त्रबाधिताभिनिवेशपरित्यागेन, भृशमत्यर्थं , केन करणभतेन कार्यो यत्न इत्याह–मार्गो मोक्षमार्गः श्रद्धाऽऽदिर्मार्गश्रद्धाऽऽदिः तद्रूपो भाव आत्मपरिणामो मार्गश्रद्धाऽऽदिभावः तेन, तत्र श्रद्धा श्रद्धानम्, आदिशब्दाद् ज्ञानमासेवनं चेति कार्यो विधेयः। कैरिति? आह–आगमतत्परैरागमप्रवचनप्रधानैरिति ॥८॥ इति । हा०६ अष्ट० द्वा०। अत उक्तम्–''तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः । तमसः कुतोऽस्ति शक्तिः, दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ? ॥१॥'' नं० आचा० ध०।

गुरुपारतंतनाणं, (सद्दहणं एयसंगयं चेव) (७)

गुरुपारतन्त्र्यं ज्ञानाधिकाऽऽचार्याऽऽयत्तत्वं यत्तद् ज्ञानं बोधो विशिष्टज्ञानविकलानामपि गुरुपारतन्त्र्यस्य ज्ञानफलसाधकत्वात्। यदाह–

''यो निरनुबन्धदोषात्, श्राद्धोऽनाभोगवान् वृजिनभीरुः ।
गुरुभक्तो ग्रहरहितः, सोऽपि ज्ञान्येव तत्फलतः ॥१॥
चक्षुष्मानेकः स्यादन्धोऽन्यस्तन्मतानुवृत्तिपरः ।
गन्तारौ गन्तव्यं, प्राप्नुत एतौ युगपदेव ॥२॥''पञ्चा०११ विव०।

''णाणाहिओ वरचरण–हीणो वि हु पवयणं पभासंतो ।
ण य दुक्करं करेंतो, सुट्ठु वि अप्पागमो पुरिसो ॥१॥''

तथा–''हीणस्स वि सुद्धपरू–वगस्स नाणाहियस्स कायव्वं।''

द्रव्या ०१ अध्या० स्था०। (प्रत्यक्षाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) आगमपूर्वके बोधे, द्वा०२३ द्वा०। ''अन्नाणं परियाणामि ।''

(४२) अज्ञानं सम्यग् ज्ञानादन्यद्, ज्ञानं तु भगवद्वचनम्। ध०३ अधि०।

अत्र यशोविजयोपाध्यायकृतमष्टकम्–

मज्जत्यज्ञः किलाज्ञाने, विष्ठायामिव शूकरः ।
ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने, मराल इव मानसे ॥१॥
निर्वाणपदमप्येकं, भाव्यते यन्मुहुर्मुहुः ।
तदेव ज्ञानमुत्कृष्टं, निर्बन्धो नास्ति भूयसा ॥२॥
स्वभावलाभसंस्कार–स्मरणं ज्ञानमिष्यते ।
ध्यानध्यमात्रमतस्त्वन्यत्तथा चोक्तं महात्मना ॥३॥
(हरिभद्राचार्येण ।' अकुत्थासंजतं नाणं, सुयपाढउ व्व विण्णेयं'।)
वादाँश्च प्रतिवादाँश्च, वदन्तोऽनिश्चितांस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद्गतौ ॥४॥
स्वद्रव्यगुणपर्याय–चर्यावर्या पराऽन्यथा ।
इति दत्ताऽऽत्मसन्तुष्टिर्मुष्टिज्ञानस्थितिर्मुनेः ॥५॥
अस्ति चेद् ग्रन्थिभिद् ज्ञानं, किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणैः ।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते, तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत्? ॥६॥
मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिद्, ज्ञानदम्भोलिशोभितः ।
निर्भयः शक्रवद् योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥७॥
पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम् ।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं , ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥८॥ अष्ट०५अष्ट०।

''जो विणओ तं नाणं, जं नाणं सो अ वुच्चई विणओ ।
विणएण लहइ नाणं, नाणेण वि जाणई विणयं'' ॥६२॥ द०प०।

(वचनानुष्ठानं चारित्रवतो नियोगेनेत्युक्तम् 'अणुट्ठाण' शब्दे प्रथमभागे ३७७ पृष्ठे)

(४३) तत्र ज्ञानयोजनामाह–

श्रुतमयमात्रापोहात्, चिन्तामयभावनामये भवतः ।
ज्ञाने परे यथार्हं , गुरुभक्तिविधानसल्लिङ्गे ॥१२॥

श्रुतेन निर्वृत्तं श्रुतमयं, तदेव तन्मात्रमवधृतस्वरूपमन्यज्ञानद्व–

यनिरपेक्षम्, तदपोहात्तन्निरासात्। अन्यज्ञानद्वयसापेक्षं तु श्रुतमयं न निरस्यत इति ज्ञेयम्। चिन्तामयभावनामये वक्ष्यमाणस्वरूपे नयप्रमाणसूक्ष्मयुक्तिचिन्तानिर्वृत्तं चिन्तामयं हेतुस्वरूपफलभेदेन कालत्रयविषयं भावनामयं, ते भवतो जायेते ज्ञाने परे प्रधाने यथार्हमौचित्येन गुरुभक्तिविधानं सच्छोभनं लिङ्गं ययोर्गुरुभक्तिविधानसल्लिङ्गे ॥१२॥

ज्ञानत्रयं सफलं दृष्टान्तद्वारेण प्रतिपिपादयिषुराह–

उदकपयोऽमृतकल्पं, पुंसां सज्ज्ञानमेवमाख्यातम्।
विधियत्नवत्तु गुरुभिर्विषयतृडमपहारि नियमेन ॥१३॥

उदकपयोऽमृतकल्पमुदकरसाऽऽस्वादकल्पं पयोरसाऽऽस्वादकल्पम् अमृतरसाऽऽस्वादकल्पं, पुंसां विद्वत्पुरुषाणाम्, सज्ज्ञानं सम्यग् ज्ञानम्, एवमाख्यातं स्वरूपतो, विधियत्नवत्तु विधौ यत्नः स विद्यते यस्मिंस्तद्विधियत्नवदेव, न विधियत्नशून्यं, गुरुभिराचार्यैराख्यातं विषयतृडपहारि विषयतृषमपहर्तृ शीलमस्येति, नियमेन अवश्यं तया, श्रुतज्ञानं स्वस्थस्वादुपथ्यसलिलाऽऽस्वादतुल्यं, चिन्ताज्ञानं तु क्षीररसाऽऽस्वादतुल्यं, भावनाज्ञानममृतरसाऽऽस्वादतुल्यमितित्युक्तं भवति, विषयतृडपहारीत्युक्तम् ॥१३॥

यस्य तु विषयाभिलाषातिरेकः स ज्ञानत्रयवानेष, फलाभावाद् न भवतीत्ययोग्यत्वप्रतिपादनाय तस्येदमाह–

शृण्वन्नपि सिद्धान्तं, विषयपिपासाऽतिरेकतः पापः।
प्राप्नोति न संवेगं, तदाऽपि यः सोऽचिकित्स्य इति ॥१४॥

शृण्वन्नपि तीर्थकराभिहितमर्थतः सिद्धान्तं प्रतिष्ठितपक्षरूपं गणधराऽऽद्युपनिबद्धमागमं विषयपिपासाऽतिरेकतो रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाभिलाषातिरेकेण पापः संक्लिष्टाध्यवसायत्वाद् न प्राप्नोति संवेगं मोक्षाभिलाषं, तदाऽपि सिद्धान्तश्रवण कालेऽपि, आस्तां तावदन्यदा, य एवंविधः, सोऽचिकित्स्य इत्यचिकित्सनीयः, स वर्त्तते, शास्त्रविहितदोषचिकित्साया अनर्हत्वादिति ॥१४॥

इत्थं कर्मदोषवतः किं कर्तव्यम्? इत्याह–

नैवंविधस्य शस्तं, मण्डल्युपवेशनप्रदानमपि।
कुर्वन्नेतद् गुरुरपि, तदधिकदोषोऽवगन्तव्यः ॥१५॥

न प्रतिषेधे, एवंविधस्य, पुरुषस्य शस्तं प्रशस्तमनुज्ञातमित्यर्थः। मण्डल्युपवेशनप्रदानमपि अर्थमण्डल्यां यदुपवेशनं श्रवणार्थं तत्प्रदानमपि कुर्वन् संपादयन्नेतत् पूर्वोक्तं गुरुरपि प्रस्तुतोऽर्थाभिधायी तदधिकदोषोऽयोग्यपुरुषाधिकदोषोऽवगन्तव्योऽवबोधव्यः; सिद्धान्तावज्ञाऽऽपादनादिति ॥१५॥

पूर्वोक्तार्थं व्यतिरेकेणाऽऽह–

यः शृण्वन् संवेगं, गच्छति तस्याऽऽद्यमिह मतं ज्ञानम्।
गुरुभक्त्यादिविधानात्, कारणमेतद् द्वयस्येष्टम् ॥१६॥

यः कश्चिद् योग्यः शृण्वन्, सिद्धान्तमिति संबध्यते। संवेगं गच्छति आस्कन्दति। तस्य योग्यस्याऽऽद्यमिह प्रथममिह मतं ज्ञानं श्रुतज्ञानम्। गुरुभक्त्यादिविधानाद् गुरुभक्तिविनयबहुमानाऽऽदिकरणात्, कारणमेतद् द्वयस्येष्टं चिन्तामयभावनामयज्ञानद्वयस्य हेतुरेतत् श्रुतज्ञानमिष्टम्। तस्माज्ज्ञानत्रयेऽपि रत्नत्रयकल्पे परमाऽऽदरो विधेय इति ॥१६॥ षो०१० विव०। (सुस्सूसा शब्दे शुश्रूषाविवेचनम्)

(४४) इदानीं त्रयाणां श्रुताऽऽदिज्ञानानां किञ्चिद्विभागमु–पदर्शयति–

ऊहाऽऽदिरहितमाद्यं, तद्युक्तं मध्यमं भवेद् ज्ञानम्।
चरमं हितकरणफलं, विपर्ययो मोहतोऽन्य इति ॥६॥

ऊहो वितर्कः, ऊहाऽपोहविज्ञानाऽऽदिरहितमाद्यं प्रथमं श्रुतमयं, तद्युक्तमूहाऽऽदियुक्तं मध्यमं चिन्तामयं भवेद् ज्ञानं द्वितीयं, चरमं भावनामयं तृतीयं हितकरणफलं हितकरणं फलमस्येति स्वहितनिर्वर्तनफलं, विपर्ययो विपर्यासो मिथ्याज्ञानं, मोहतो मोहान्मिथ्यात्वमोहनीयोदय द् ज्ञानत्रयादन्योऽबोध इति ॥६॥

(४५) श्रुतमयज्ञानस्य लक्षणमाह–

वाक्यार्थमात्रविषयं, कोष्ठकगतबीजसन्निभं ज्ञानम्।
श्रुतमयमिह विज्ञेयं, मिथ्याऽभिनिवेशरहितमलम् ॥७॥

सकलशास्त्रगतवचनाविरोधिनिर्णीतार्थवचनं वाक्यं, तस्यार्थमात्रं प्रमाणनयाधिगमरहितम्, तद्विषयं तद्गोचरम्– वाक्यार्थमात्रविषयं, न तु परस्परविभिन्नविषयशास्त्रावयवभूतपदमात्रवाच्यार्थविषयम्। कोष्ठके लोहकोष्ठकाऽऽदौ गतं स्थितं यद् बीजं धान्यं तत्सन्निभमविनष्टत्वात्– कोष्ठकगतबीजसन्निभंज्ञानं श्रुतमयमिह प्रक्रमे, विज्ञेयं वेदितव्यम्, मिथ्याऽभिनिवेशोऽसदभिनिवेशः, तेन रहितं विप्रमुक्तम्, अलमत्यर्थम्॥७॥

(४६) चिन्तामयज्ञानस्य लक्षणमाह–

यत्तु महावाक्यार्थज–मतिसूक्ष्मसुयुक्तिचिन्तयोपेतम्।
उदक इव तैलविन्दुर्विसर्पि चिन्तामयं तत्स्यात् ॥८॥

यत्तु यत्पुनर्महावाक्यार्थजमाक्षिप्तेतरसर्वधर्माऽऽत्मकत्ववस्तुप्रतिपादकानेकान्तवादविषयार्थजन्यमतिसूक्ष्मा अतिशयसूक्ष्मबुद्धिगम्याः शोभना अविसंवादिन्यो या युक्तयः सर्वप्रमाणनयगर्भाः, तच्चिन्तया तदालोचनयोपेतं युक्तम्। उदक इव सलिल इव तैलबिन्दुस्तैललवो विसर्पणशीलं विसर्पि विस्तारयुक्तम्, चिन्तया निर्वृत्तं चिन्तामयं, तज्ज्ञानं स्याद्भवेत् ॥८॥

(४७) भावनाज्ञानलक्षणमाह–

ऐदम्पर्यगतं यद्, विध्यादौ यत्नवत्तथैवोच्चैः।
एतत्तु भावनामयमशुद्धसद्रत्नदीप्तिसमम् ॥९॥

ऐदम्पर्यं तात्पर्यं सर्वज्ञेयक्रियाविषये सर्वज्ञाज्ञैव प्रधानं कारणमित्येवंरूपं तद्गतं तद्विषयं यद् ज्ञानं विध्यादौ विधिद्रव्यदातृपात्राऽऽदौ, यत्नवत्परमाऽऽदरयुक्तं, तथैवोच्चैः–ऐदम्पर्यवत्त्वापेक्षया यत्नवत्त्वस्य समुच्चयार्थं तथैवेत्यस्य ग्रहणम्। एतत्तु एतत्पुनर्भावनया निर्वृत्तं भावनामयं ज्ञानम्। अशुद्धस्य सद्रत्नस्य जात्यरत्नस्य स्वभावत एव क्षारमृत्पुटपाकाऽऽद्यभावेऽपि भास्वररूपस्य या दीप्तिस्तया सममशुद्धसद्रत्नदीप्तिसमम्। यथाहि जात्यरत्नस्य स्वभावत एवान्यरत्नेभ्योऽधिका दीप्तिर्भवति, एवमिदमपि भावनाज्ञानमशुद्धसद्रत्नकल्पस्य भव्यजीवस्य कर्ममलमलिनस्यापि शेषज्ञानेभ्योऽधिकप्रकाशकारि भवति। अनेन हि ज्ञानं ज्ञातं नाम क्रियाऽप्येतत्पूर्विकैव मोक्षायाऽऽक्षेपेण संपद्यत इति ॥९॥

साम्प्रतं त्रयाणां श्रुतचिन्ताभावनामयज्ञानानां विषय–विभागार्थं फलाभिधानाय प्रक्रमते कारिकाद्वयेन–

आद्य इह मनाक् पुंसः, तद्रागात् दर्शनग्रहो भवति।

न भवत्यसौ द्वितीये, चिन्तायोगाद् कदाचिदपि ॥१०॥

आद्ये श्रुतज्ञाने, इह प्रवचने, मनागीषत्, पुंसः पुरुषस्य, तद्रागात् श्रुतमयज्ञानानुरागात्, दर्शनग्रहो भवति, दर्शनं मतं श्रुतमिति एकोऽर्थः। तद् ग्रहः तदाग्रहो यथेदमत्रोक्तमिदमेव च प्रमाणं नान्यदित्येवंरूपो, न भवत्यसौ दर्शनग्रहो यथेदमस्मदीयं दर्शनं शोभनमन्यदीयमशोभनमित्येवंरूपो, द्वितीये चिन्तायोगादतिसूक्ष्मसुयुक्तिचिन्तनसंबन्धात् कदाचिदपि काले नयप्रमाणाधिगमसमन्वितो हि विद्वान् प्रेक्षावत्तया स्वपरतन्त्रोक्तं न्यायबलाऽऽयातमर्थं सर्वं प्रतिपद्यते, तेनास्य दर्शनग्रहो न भवति ॥१०॥

चारिचरकसञ्जीव–न्यचरकचारणविधानतश्चरमे।
सर्वत्र हिता वृत्तिर्गाम्भीर्याद् समरसापत्त्या ॥११॥

चारेश्चरको भक्षयिता संजीविन्या औषधेश्चरकोऽनुपभोक्ता, तस्य चारणमभ्यवहारणं, तस्य विधानं संपादनं, तस्माच्चारिचर–कसञ्जीवन्यचरकचारणविधानतश्चरमे भावनामयज्ञाने सति सर्वत्र सर्वेषु जीवेषु हिता वृत्तिः हितहेतुः प्रवृत्तिर्न कस्यचिदहिता। गाम्भीर्यादाशयविशेषात् समरसापत्त्या सर्वानुग्रहरूपया ''कयाचित् स्त्रिया कस्यचित् पुरुषस्य वशीकरणार्थं परिव्राजिकोक्ता–यथेमं मम वशवर्तिनं वृषभं कुरु, तथा च किल कुतश्चित् सामर्थ्यात् स वृषभः कृतः, ते चारयन्ती पाययन्ती चास्ते। अन्यदा च वटवृक्षस्य अधस्तान्निषण्णे तस्मिन् पुरुषगवे, विद्याधरीयुग्ममाकाशमागमत्, तत्रैकयोक्तम्–अयं स्वाभाविको न गौः, द्वितीययोक्तम्–कथमयं स्वाभाविको भवति ? तत्राऽऽद्ययोक्तम्– अस्य वटस्याधस्तात् संजीवनी नामौषधिरस्ति। यदि तां चरति, तदाऽयं स्वाभाविकः पुरुषो जायते। तच्च विद्याधरीवचनं तया स्त्रिया समाकर्णितं, तया चौषधिं विशेषतोऽजानानया सर्वामेव चारिं तत्प्रदेशवर्तिनीं सामान्येनैव चारितः, यावत्संजीवनीमुपभुक्तवान्। तदुपभोगानन्तरमेवासौ पुरुषः संवृत्तः।'' एवमिदं लौकिकमाख्यानकं श्रूयते। यथा तस्याः स्त्रियाः तस्मिन् पुरुषगवे हिता प्रवृत्तिरेवं भावनाज्ञानसमन्वितस्यापि सर्वत्र भव्यसमुदायेऽनुग्रहप्रवृत्तस्य हितैव प्रवृत्तिरिति ॥११॥

विपर्ययो मोहतोऽन्य इत्युक्तम्, स पुनः कः? इत्याह–

गुर्वादिविनयरहितस्य यस्तु मिथ्यात्वदोषतो वचनात्।
दीप इव मण्डलगतो, बोधः स विपर्ययः पापः ॥१२॥

गुर्वादिविनयरहितस्य गुरूपाध्यायाऽऽदिविनयविकलस्य यस्तु यः पुनर्मिथ्यात्वदोषतो मिथ्यात्वदोषात् तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपाद् वचनादागमाद् दीप इव, मण्डलगतो मण्डलाऽऽकारो बोधोऽवगमस्तैमिरिकस्येव स तथविधो, बोधो वचनाद् भवन्नप्यध्यारोपदोषतो विपर्ययो मिथ्याप्रत्ययरूपः पदमात्रवाच्यार्थविषयः पापः स्वरूपेण वर्तते ॥१२॥

विपर्यय एव प्रस्तुते दृष्टान्तगर्भमुपनयमाह कारिकाद्वयेन–

दण्डीखण्डनिवसनं, भस्माऽऽदिविभूषितं सतां शोच्यम्।
पश्यत्यात्मानमलं, गृही नरेन्द्रादपि ह्यधिकम् ॥१३॥
मोहविकारसमेतः, पश्यत्यात्मानमेवमकृतार्थम्।
तद् व्यत्ययलिङ्गरतं, कृतार्थमिति तद् ग्रहादेव ॥१४॥

दण्डीखण्डं प्रसिद्धं, निवसनं परिधानमस्येति दण्डीखण्डनिवसनः, तं भस्माऽऽदिभिर्विभूषितं विच्छुरितं भस्माऽऽदिविभूषितं सत्पुरुषाणां शोच्यं शोचनीयं पश्यत्यवलोकयत्यात्मानमलमत्यर्थं, गृही गृहवान्, नरेन्द्रादपि ह्यधिकं चक्रवर्तिनोऽप्यधिकं यथेति गम्यते ॥१३॥ मोहविकारसमेतो मनोविभ्रमदोषसमन्वितः पश्यत्यात्मानमेवमकृतार्थं सन्तं विपर्य्यबोधवान् कृतार्थमिति पश्यति, तस्य कृतार्थस्य व्यत्ययेन यानि लिङ्गानि तेषु रतस्तं तद्व्यत्ययलिङ्गरतम्। अनेनाकृतार्थत्वमेव वस्तुवृत्त्या दर्शयति। एवंविधोऽपि कृतार्थमिति कुतो मन्यते? तद् ग्रहादेव, स चासौ ग्रहश्च, तस्मादेव विवक्षितग्रहाऽऽवेशादेव। एवं ग्रहगृहीतेन विपर्ययवत उपनयः कृतः ॥१४॥

ज्ञानविपर्ययोः स्वाम्युपदर्शनार्थमिदं कारिकाद्वयमाह–

सम्यग्दर्शनयोगाद्, ज्ञानं तद् ग्रन्थिभेदतः परमम्।
सोऽपूर्वकरणतः स्याद्, ज्ञेयं लोकोत्तरं तच्च ॥१५॥

सम्यग्दर्शनयोगात्तत्त्वार्थश्रद्धानसंबन्धाद् ज्ञानं सम्यग् ज्ञानं, तत् सम्यग् दर्शनं ग्रन्थिभेदतो ग्रन्थिभेदात्, परमं प्रधानं स्वरूपतो वर्तते, स ग्रन्थिभेदो नियमत एवापार्द्धपुद्गलपरावर्ताधिकसंसारच्छेदी, अपूर्वकरणतः स्यादपूर्वपरिणामाद् भवेत्, ज्ञेयं लोकोत्तरं तच्च, तच्चापूर्वकरणं लोकात् सर्वस्मादप्युत्तरं प्रधानं ज्ञेयम्। अपूर्वकरणमपूर्वपरिणामः शुभोऽनादावपि संसारे तेषु तेषु धर्मस्थानेषु सूत्राऽर्थग्रहणाऽऽदिषु वर्तमानस्याप्यसंजातपूर्व इति कृत्वा ॥१५॥

लोकोत्तरस्य तस्माद्, महानुभावस्य शान्तचित्तस्य।
औचित्यवतो ज्ञानं, शेषस्य विपर्ययो ज्ञेयः ॥१६॥

लोकादुत्तरःप्रधानो ज्ञानवानिह गृह्यते, तस्य लोकोत्तरस्य तस्मादिति निगमने महानुभावस्याचिन्त्यशक्तेः शान्तचित्तस्योपशान्तमनसः। औचित्यवत औचित्ययुक्तस्य ज्ञानमनेन ज्ञानस्वामी निदर्शितः। शेषस्योक्तगुणविपरीतस्य विपर्ययो ज्ञेयो ज्ञानत्रयादन्यः पदमात्रवाच्यार्थविषयः पूर्वोक्त इति ॥१६॥ षो० ११ विव०।

(४८) ज्ञानं किमिहभविकं परभविकं वा–

इहभविए भंते ! णाणे, परभविए णाणे, तदुभयभविए णाणे ? गोयमा ! इहभविए वि णाणे, परभविए वि णाणे, तदुभयभविए वि णाणे य।

''इहभविए'' इत्यादि व्यक्तम्, नवरम् इह च भवे वर्तमानजन्मनि यद्वर्तते, न तु भवान्तरे तदैहभविकम्, काकुपाठाच्चेह प्रश्नताऽवसेया, तेन किमैहभविकं ज्ञानमुत–(परभविए त्ति) परभवे वर्तमानानन्तरभाविन्यनुगामितया यद्वर्तते तत्पारभविकम्, आहोस्वित्–(तदुभयभविए त्ति) तदुभयरूपयोरिहपरलक्षणयोर्भवयोर्यदनुगामितया वर्तते तत्तदुभयभविकम्, इदं चैवं न पारभविकाद्विद्यत इति। परतरभवेऽपि यदनुयाति तद् ग्राह्यम्, इहभवव्यतिरिक्तत्वेन परतरभवस्यापि परभवत्वात्, ह्रस्वतानिर्देशश्चेह सर्वत्र प्राकृतत्वादिति, प्रश्ननिर्वचनमपि सुगमं, नवरम्–(इहभविए वि त्ति) ऐहभविकं यदिहाधीतं, नानन्तरभवेऽनुयाति, पारभविकं यदनन्तरभवेऽनुयाति, तदुभयभविकं तु यदिहाधीतं परभवे परतरभवे चानुवर्तत इति। भ०१ श०१उ०। शास्त्राभ्यासे, दर्श०५ तत्त्व। ज्ञानमागमितमित्येकोऽर्थः। व्य०१०उ०। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञेयप्र–

काशके दीपकल्पे आचाराङ्गश्रुताऽऽदौ, हा०३० अष्ट०। बृ०। ''तम्हा धिइउट्ठाणुच्छाहकम्मबलविरियसिक्खियं नाणं। धारेयव्वं नियमा, न य अविणीएसु दायव्वं ॥५॥'' अत्र ज्ञानं चन्द्रप्रज्ञप्तिलक्षणम्। चं०प्र०२० पाहु०।

छउमत्थे णं भंते ! मणूसे परमाणुपोग्गलं किं जाणइ, पासइ, उदाहु न जाणइ, न पासइ? गोयमा ! अत्थेगइए जाणइ, ण पासइ, अत्थेगइए ण जाणइ, ण पासइ। छउमत्थे णं भंते ! दुपदेसियं खंधं किं जाणइ, पासइ? एवं चेव। एवं०जाव असंखेज्जपएसियं। छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से अणंतपएसियं खंधं किं पुच्छा? गोयमा ! अत्थेगइए जाणइ, पासइ, अत्थेगइए जाणइ, ण पासइ, अत्थेगइए ण जाणइ, पासइ, अत्थेगइए ण जाणइ, ण पासइ। आहोहिएणं मणुस्से परमाणु०जहा छउमत्थे एवं आहोहिए वि०जाव अणंतपदेसियं। परमाहोहिए णं भंते ! मणूसे परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ, तं समयं पासइ, जं समयं पासइ, तं समयं जाणइ? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–परमाहोहिए णं मणूसे परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ, णो तं समयं पासइ, जं समयं पासइ, णो तं समयं जाणइ ? गोयमा ! सागारे से णाणे भवइ, अणागारे से दंसणे भवइ, से तेणट्ठेणं०जाव णो तं समयं जाणइ, एवं०जाव अणंतपएसियं। केवलीणं भंते ! मणूसे जहा परमाहोहिए तहा केवली वि०जाव अणंतपएसियं।

(छउमत्थेत्यादि) इह छद्मस्थो निरतिशयो ग्राह्यः। (जाणइ, न पासइ त्ति) श्रुतोपयुक्तः श्रुतज्ञानी, श्रुते दर्शनाभावात्, तदन्यस्तु ''न जाणइ न पासइ त्ति'' अनन्तप्रदेशिकसूत्रे चत्वारो भङ्गा भवन्ति, जानाति स्पर्शनाऽऽदिना, पश्यति च चक्षुषेत्येकः। तथाऽन्यो जानाति स्पर्शनाऽऽदिना, न पश्यति च चक्षुषा, चक्षुषोऽभावादिति द्वितीयः। तथाऽन्यो न जानाति स्पर्शाद्यगोचरत्वात्, पश्यति चक्षुषेति तृतीयः। तथाऽन्यो न जानाति न पश्यति चाविषयत्वादिति चतुर्थः। छद्मस्थाधिकाराच्छद्मस्थविशेषभूताधोऽवधिकपरमाधोऽवधिकसूत्रे परमावधिकश्चावश्यमन्तर्मुहूर्तेन केवली भवतीति केवलिसूत्रम्। तत्र च (सागारे से नाणे भवइ त्ति) साकारं विशेषग्रहणस्वरूपम्। 'से' तस्य परमाधोऽवधिकस्य तद्वा, ज्ञानं भवति, तद्विपर्ययभूतं च दर्शनमतः परस्परविरुद्धयोरेकसमये नास्ति संभव इति। भ० १८ श०८उ०। व्रतभङ्गभेदादतीचाराणां सम्यगवबोधे, ध०४अधि०।

संप्रति (व्रतकर्मणि) ज्ञानाऽऽख्यं द्वितीयभेदं व्याचिख्या सुर्गाथोत्तरार्द्धमाह–

भंगयभेयइयारे, वयाण सम्मं वियाणेइ ॥३५॥

व्रतानामणुव्रताऽऽदीनामिहैव गाथार्द्धे भेदातिचारप्रस्तावे वक्ष्यमाणस्वरूपाणां भङ्गकान् द्विविधत्रिविधेत्यादीननेकप्रकारान्(सम्मं ति) सम्यक् समयोक्तेन विधिना विजानात्यवबुध्यते (३५) ध०२०३५ गाथा। (भङ्गसङ्ख्याप्रदर्शनमनुपयुक्तत्वान्नेह प्रतन्यते)

विषयसूची–

(१) सव्युत्पत्तिकं ज्ञाननिर्वचनम्।
(२) ज्ञानस्य पञ्चविधत्वम्।
(३) ज्ञानभेदकारणानि।
(४) आदौ मतिश्रुतोपन्यासे कारणनिरूपणानन्तरं मतिश्रुतानन्तरमवधेस्तत्समनन्तरं च मनःपर्यायज्ञानस्योपन्यासकारणनिरूपणं, केवलज्ञानस्य सर्वोपरि निर्देशे कारणं च।
(५) प्रत्यक्षपरोक्षत्वाभ्यां ज्ञानस्य द्वैविध्यं प्ररूप्य केवलनोकेवलज्ञानभेदेन प्रत्यक्षज्ञानस्य द्वैविध्यप्रदर्शनम्।
(६) अवधिमनःपर्यायज्ञानत्वेन केवलज्ञानस्य द्वैविध्यं निरूप्याऽऽभिनिबोधिकश्रुतज्ञानभेदेन परोक्षज्ञानस्य द्वैविध्यप्रदर्शनम्।
(७) स्वाम्यादिभेदाद् मतिश्रुतभेदः।
(८) प्रकारान्तरेणापि मतिश्रुतयोर्लक्षणभेदप्ररूपणा।
(९) आचार्यभेदेन मतिश्रुतभेदार्थे शङ्कननिराकरणे।
(१०) तदनन्तरं विशेषदूषणाभिधित्सया पुनरपि मतान्तरोपन्यासः।
(११) कराऽऽदिचेष्टा मतेःकारणमेव न भवति, किन्तु श्रुतस्येतिशङ्कोद्घाटनम्।
(१२) श्रुतानन्तरमवधिज्ञानस्य विवेकः।
(१३) वस्तुतो ज्ञानस्य द्वैविध्यमेवेतिनिरूपणम्।
(१४) न ज्ञानमात्मव्यतिरेकेण गुणः।
(१५) ज्ञानज्ञानिनोर्भिन्नत्वस्वीकारे बन्धमोक्षाभावपरामर्शः।
(१६) बोधमात्रं प्रमाणं, साकारो वा बोधः प्रमाणमित्यत्र वैभाषिकमतविचारः।
(१७) जैमिनीयस्वीकृतप्रमाणलक्षणनिराकरणम्।
(१८) प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमिति सौगतनिर्मितलक्षणपरामर्शः।
(१९) अव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टाऽर्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणमितिनैयायिकमतव्युदासः।
(२०) अनुव्यवसायप्रकाश्यं ज्ञानमित्यत्र नैयायिकमतमुद्घाट्यपर्यालोचना।
(२१) ज्ञानस्य स्वप्रकाशकत्वे प्रदीपाऽऽदिदृष्टान्तमुपन्यस्य पदार्थपरिशोधनम्।
(२२) नित्यपरोक्षज्ञानवादिनां भट्टानाम्, एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्य-ज्ञानवादिनां यौगानां च मतस्य विकुट्टनम्।
(२३) ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च निरूपणम्।
(२४) तत्र नैरयिकजीवानधिकृत्य प्रदर्शनम्।
(२५) द्वीन्द्रियाः सिद्धपर्यन्ताः।
(२६) तान्येव गतिद्वारमवलम्ब्य चिन्तनम्।
(२७) इन्द्रियद्वारमुपन्यस्य निरूपणम्।
(२८) कायद्वारमुद्भाव्य प्ररूपणम्।
(२९) सूक्ष्मद्वारमुदीर्य प्रदर्शनम्।
(३०) पर्याप्तकद्वारे तत्प्रतिपादनम्।
(३१) भवस्थद्वारतोऽपि तन्निर्देशः।
(३२) भव्यद्वारे ज्ञान्यज्ञानिविचारः।

(३३) संज्ञिद्वारे तेषां निरूपणम्।
(३४) लब्धिद्वारमधिकृत्य तत्परामर्शः।
(३५) उपयोगद्वारमुपन्यस्य तदुपदर्शनम्।
(३६) योगद्वारे सयोग्ययोगिनां तद्विमर्शः।
(३७) लेश्याद्वारे तथैव सलेश्यालेश्यानाम्।
(३८) कषायद्वारे सकायिकाकायिकानाम्।
(३९) वेदद्वारे सवेदकावेदकानाम्।
(४०) आहारकद्वारे आहारकानाहारकाणाम्।
(४१) तत्त्वसंवेदनं ज्ञानमिति चिन्तनम्।
(४२) अज्ञानं सम्यग् ज्ञानादन्यद्, ज्ञानं तु भगवद् वचनम्।
(४३) तत्र ज्ञानयोजना।
(४४) त्रयाणां श्रुताऽऽदिज्ञानानां स्वल्पविभागः।
(४५) तत्र श्रुतमयज्ञानस्य लक्षणम्।
(४६) चिन्तामयज्ञानस्य लक्षणम्।
(४७) भावनाज्ञानलक्षणम्।
(४८) इहभविकपरभविकज्ञानविमर्शः।
(४९) छद्मस्थजीवानधिकृत्य ज्ञानाऽऽदिपरामर्शः।

णात न०(ज्ञात) ज्ञायतेऽस्मिन् सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातम्। दृष्टान्ते, स्था०।

ज्ञायतेऽस्मिन् सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति अधिकरणे क्तप्रत्ययोपादानाद् ज्ञातं दृष्टान्तः–साधनसद्भावे साध्यस्याऽवश्यंभावः, साध्याभावे वा साधनस्यावश्यमभाव इत्युपदर्शनलक्षणः। यदाह–''साध्येनानुगमो हेतोः, साध्याभावे च नास्तिता। ख्याप्यते यः स दृष्टान्तः, स साधर्म्येतरो द्विधा ॥१॥'' इति। तत्र साधर्म्ये दृष्टान्तः–अग्निरत्र, धूमात्, यथा महानस इति। वैधर्म्यदृष्टान्तस्तु–अन्यभावे धूमो न भवति, यथा जलाऽऽशय इति। अथवा–आख्यानकरूपं ज्ञातं, तच्च चरितकल्पितभेदाद् द्विधा–तत्र चरितं यथानिदानं दुःखाय ब्रह्मदत्तस्येव। कल्पितं यथा–प्रमादवतामनित्यं यौवनाऽऽदीनीति। निदर्शनीयं यथा–पाण्डुपत्रेण किसलयानां देशितम्।

तथाहि–

''जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भे वि य होइ हा ! जहा अम्हे।
अप्पा हेइ पमंतं, पंडुयपत्तं किसलयाणं ॥१॥'' इति।

अथवा–उपमानमात्रं ज्ञातम्–सुकुमारः करः किसलयमिवेत्यादिवत्। अथवा–ज्ञातमुपपत्तिमात्रं ज्ञानहेतुत्वात्, कस्मात्? यवाः क्रीयन्ते, यस्मात् मुधा न लभ्यन्ते, इत्यादिवदित्येवमनेकधाऽपि साध्यप्रत्यायनरूपं ज्ञातमुपाधिभेदात् चतुर्विधं दर्शयति। स्था०४ ठा०३उ०। ''चउव्विहे णाणे पण्णत्ते। तं जहा–आहरणे, आहरण–तद्देसे, आहारणतद्दोसे, उववन्नासोवणए।'' स्था०४ ठा०३उ०। (आहरणाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) मनुजक्षेत्रे व्यवस्थितानां मनोमात्रग्राहका ऋजुमतय इति कल्पसूत्रावचूर्ण्यादौ, तथा प्रज्ञापनावृत्तौ मनःपर्यायज्ञातम्, इदं चाद्धतृतीयद्वीपद्विसमुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यावलम्बनमिति व्याख्यानानुसारेण वर्तमानानामेवं संज्ञिनां मनोगतपर्यायावभासो जायत इति। तथा च सति यदुक्तं प्रज्ञापनाटीकायाम् मनःपर्यायज्ञानमपि पल्योपमासंख्येयभागमतीतं जानातीति कथं संगच्छते? इति प्रश्नोत्तरम्–वर्तिपदं मनु–जक्षेत्राधिकक्षेत्रवर्तिसंज्ञिमनागतद्रव्यावबोधनिषेधपरं, न तु वर्तमानसंज्ञिमनोगतद्रव्यावबोधनियमपरम्, तेनावधिज्ञानिवन्मनः पर्यायज्ञान्यपि यथोक्तातीतमनोगतभावान् जानातीति न कश्चिद् विरोध इति। १५८ प्र०। सेन०२ उल्ला०।

णाणंतराय पुं०(ज्ञानान्तराय) ६ त०। श्रुतस्य तद्ग्रहणाऽऽदौ विघ्ने, भ०८श०६उ०।

णाणकप्प पुं०(ज्ञानकल्प) श्रुतज्ञानविषयके कल्पे, पं०भा०।

एत्तो उ णाणकप्पं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए।
सुत्तुद्देसे वायरण–पडिच्छपुच्छपरियट्टअणुपेहा॥
आयरियउवज्झाया, अह होति तु सुत्तकप्पविही।
आयारमादि काउं, सुयं तु जा होति दिट्ठिवादो तु॥
अंगाणंगपविट्ठं, कालियमुक्कालियं वा वि।
तं पुण सव्वं पि भवे, संवादसमुट्ठितं च णिज्जूढं॥
पत्तेयबुद्धभासिएँ, अह व समत्ती य होज्जाहि।
पं०भा०। पं०चू०।

(श्रुतकल्पाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

णाणकसायकुसील पुं०(ज्ञानकषायकुशील) ज्ञानमाश्रित्य कषायकुशीले, भ०२५ श०६ उ०।

णाणकिरियाणय पुं०(ज्ञानक्रियानय) ज्ञानक्रियाद्वयं मोक्षहेतुरिति सिद्धान्तव्यवसिते नये, (रत्ना०)('किरियाणय' शब्दे तृतीयभागे ५५४ पृष्ठे क्रियाप्राधान्यमुक्तम्) ('णाणणय' शब्दे ज्ञानप्राधान्यं वक्ष्यते)

अत्र समुच्चयवादी प्राह–ततः सम्यग्ज्ञानं सम्यक् क्रियासधीचीनमेव फलसिद्धिनिबन्धनमित्यभ्युपगन्तव्यम्, न तु ज्ञानैकान्तः कान्तः। क्रियैकान्तोऽपि भ्रान्त एव। ''यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत्।''(''क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्''। इति पूर्वार्धम्।) इति तु न युक्तम्। यतः सम्यग्ज्ञानकारणैकान्तवादिनामयमुपालम्भो, न पुनरस्माकं, सम्यग्ज्ञानक्रिययोरुभयोरपि परस्परापेक्षयोः कारणत्वस्वीकारात्। न च नितम्बिनीमोदकाऽऽदिगोचरायां प्रवृत्तौ तद्विज्ञानं सर्वथा नास्त्येव, यतः–क्रियाया एव तत्कारणता कल्प्येत। तद्गोचरविज्ञानसनाथैव तत्र प्रवृत्तिः प्रीतिपरम्परोत्पादनप्रत्यला; अन्यथा–उन्मत्तमूर्च्छितालाऽऽदेरपि प्रौढप्रेमपरायणप्रणयिनीनिविडाऽऽश्लेषक्रियाऽपि तदुत्पादाय किं न स्यात्? अथासौ क्रियैव तत्त्वतो न भवति, सैव हि क्रिया तात्त्विकी, या स्वकीयकार्याव्यभिचारिणी; हन्त ! तर्हि तदेव तात्त्विकं ज्ञानं यत् स्वकीयकार्याव्यभिचारीति कथं ''स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञः'' इत्युपालम्भः शोभेत ? ततः कार्यमर्जयन्ती यथा निश्चयनयेन क्रिया क्रियोच्यते, तथा ज्ञानमपि; इति क्वचिद् व्यभिचाराभावाद् द्वयमेवैतत् फलोत्पत्तिकारणमनुगुणमिति। रत्ना०७ परि०।

अत्र यशोविजयोपाध्यायकृतो वेदान्तिभङ्ग्या समुच्चयवादः–

अत्र ज्ञानकर्मसमुच्चयवादे स्वपरसमयवि–

चारः कश्चिद् लिख्यते–

क्रियानयः क्रियां ब्रूते, ज्ञानं ज्ञाननयः पुनः।
मोक्षस्य कारणं तत्र, भूयस्यो युक्तयो द्वयोः॥१२८॥

तत्र मुमुक्षुकर्मव्यापारतन्त्रं तत्त्वज्ञानवृत्ति, न वा? इति विप्रतिपत्तिविधिकोटिरुदयनाचार्याणाम्, निषेधकोटिर्भास्करीयाणाम्।

तत्र भास्करीयाणामयमाशयः तीर्थविशेषस्नानमहादानयमनियमाऽऽदिकर्मणां निःश्रेयसकारणत्वं तावच्छब्दबलादेवावगम्यते। तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वं तु तेषां निःश्रेयसे जनयितव्ये न तावच्छब्द एव बोधयति, तत्र तस्यौदासीन्यात्। न च साक्षात् साधनतावगतेः साधनताप्रतीतेः परम्पराघटकव्यापारमविषयीकृत्य न घटत इत्यपूर्ववाच्यतान्यायेन शब्द एव वस्तुतः तत्त्वज्ञानव्यापारकतां बोधयितुं प्रगल्भते इति शङ्कापदं हृदि निधेयं, सामान्यशब्दोऽन्यतमविशेषबाधे तं त्यजति, न तु विशेषान्तरमुपादित्सितमपि विशिष्य बोधयतीति स्वभावाद् दृष्टान्तस्यैवासंप्रतिपत्तेः। न च कर्मणामाशुतरविनाशित्वेन व्यापारोऽवश्यं स्वीकरणीयः, तत्र दृष्टेन तत्त्वज्ञानेनैवोपपत्तावदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वाद् लाघवसहकृतानुपपत्तिरेव तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वे मानमिति वाच्यम्, तत्त्वज्ञानस्याऽपि व्यवहितत्वेन तत्राऽपि कर्मणोऽदृष्टद्वाराऽऽवश्यकत्वान्निःश्रेयसे द्वारद्वयकल्पने गौरवाद् निःश्रेयसे कर्मणामदृष्टद्वारा हेतुत्वे तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमपि यमनियमाऽऽद्यनुष्ठानं स्यादिति चेत्, स्यादेव; तदानीमपि मुमुक्षाया अधिकारस्याक्षते:। न च तत्त्वज्ञानत्वेनैव मोक्षजनकत्वात् प्राथमिकतत्त्वज्ञानादेव मोक्षोत्पत्तौ क्व कर्मानुष्ठानमिति शङ्कनीयम् ?

''नित्यनैमित्तिकैरेव, कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत्॥१॥
अभ्यासात् पक्वविज्ञानः, कैवल्यं लभते नरः''।

इत्यादि पुराणेषु तदभ्यासश्रवणात्।

श्रुतिरप्यत्र विपक्षबाधकतया प्रमाणमस्ति। तथाहि–''अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।'' अस्या अर्थः–अविद्या कर्म, तदुपासतेज्ञानत्यागेन तत्राऽऽसक्ता भवन्ति ये तेऽन्धंतमः प्रविशन्ति, संसारान्न मुच्यन्ते, तेन केवलकर्मोपासने न जन्माऽऽदिविच्छेदः। ये च विद्यायां रताः, विद्यातत्त्वज्ञानं, तन्मात्राऽऽसक्ताः, उ इत्यव्ययं चकारार्थम्। ते भूयोऽतिशयेन अन्धन्तमः प्रविशन्ति, नित्याकरणे प्रत्यवायस्य बहुतरत्वात्। ननु ''मोक्षाऽऽश्रमश्चतुर्थो वै, यो भिक्षोः परिकीर्तितः'' इत्यागमाच्चतुर्थाऽऽश्रमिणामेव मोक्षेऽधिकारः। तत्र च ''सन्यस्य सर्वकर्माणि'' इति स्मृतेः कर्ममात्रत्यागात् क्व समुच्चयः, क्व वाऽकरणे प्रत्यवाय इति चेत्। न। यानि कर्माणि उपनीतमात्रकर्तव्यत्वेन विहितानि, तत्परित्यागस्याशास्त्रीयत्वात् संकोचे मानाभावात्, निषिद्धानि काम्यानि च बन्धहेतुत्वाद्धनमूलानि च धनत्यागादेव त्यज्यन्त इत्येतावत एव संन्यासपदार्थत्वात्।

तथा च गीतावचनम्–

''काम्यानां कर्मणां न्यासं, संन्यासं कवयो विदुः।''
''नियतस्य तु संन्यासः, कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागः, तामसः परिकीर्तितः॥'' इति।

साक्षात्समुच्चयप्रतिपादिकाऽपि श्रुतिः–''अविद्यां च विद्यां च यस्तद्वेदोभयं त्विह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।'' अत्राविद्यां कर्म, विद्यां च तत्त्वज्ञानं तुल्यं चेह यो वेद प्राप्नोतीति पूर्वार्द्धार्थः। वेदेति प्रयोगाद् विदृ लाभे इति धातोश्छान्दसत्वेन भास्करीयैर्दर्शितत्वात्। ''तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'' ति वाक्यं त्वेवकारस्य विदित्वा इत्यनन्तरं योजनात् तत्त्वज्ञानस्याप्यपवर्गसामग्रीनिवेशननियमपरं, न तु वाक्यान्तरावधृतकारणताकर्मव्युदासपरम्। समुच्चयेऽन्यान्यपि भूयांसि वचनानि सन्ति। तथा च गीतावचनम्–''स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः, संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य, सिद्धिं विन्दति मानवः'' ॥१॥ विष्णुपुराणेऽप्युक्तम्–''तस्मात् तत्प्राप्तये यत्नः, कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः। तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं, कर्म चोक्तं महामते!'' ॥१॥ हारीतः–''उभाभ्यामपि पक्षाभ्यां, यथा खे पक्षिणां गतिः। तथैव ज्ञानकर्मभ्यां, प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥१॥'' श्रुतिश्च–''सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण च'' इति। एतन्मूलकमेव परिज्ञानाद् भवे प्रसिद्धिः ''न ह्येकपक्षो विहगः प्रयाति'' इत्यादि। न च काम्यनिषिद्धनैमित्तिकाभ्यां कर्मभ्यां न समुच्चयः, तयोस्त्यागात्, न नैमित्तिकनित्येनैकैकशो व्यभिचारात् संकल्पेनासंभवात्। नाऽपि यत्याश्रमविहितेन–''न्यायाऽऽगतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः। श्राद्धकृत् सत्यवादी च, गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥१॥'' इत्यागमेन गृहस्थस्यापि मोक्षश्रवणादित्युपपत्तिविरोधादेव न समुच्चय इति वाच्यम्; यत्राऽऽश्रमे यानि मोक्षहेतुतया विहितानि, तैरेव तदाश्रमे तत्त्वज्ञानस्य समुच्चयोपपत्तेः। न च कर्मणां परस्परव्यभिचारान्निःश्रेयसे च स्वर्गवद् वैचित्र्याभावान्न तत् प्रति कारणत्वमिति वाच्यम्, स्वाभाविकविशेषविरहेऽपि प्रतियोगिभेदेन विशेषस्य निःश्रेयसेऽप्यविरोधात्। तत्पुरुषीयमुमुक्षुविहितकर्मत्वेन तत्पुरुषीयविजातीयदुःखध्वंसे हेतुत्वसंभवात्, अवश्यं चाभावरूपे कार्ये प्रतियोगिभेदेन विशेषोऽभ्युपेयः, कथमन्यथा आश्रयनाशपाकयोः रूपनाशकारणत्वमिति। न च ज्ञानस्य विहितत्वाददृष्टजनकत्वेनादृष्टस्यैव प्राधान्यम्, न च रागाऽऽद्यभावाद् योगिनोऽदृष्टोत्पत्त्यसंभवः, मुक्तिविरोध्यपूर्वोत्पत्तावेव रागाऽऽदेः सहकारित्वात् तावतैव मोक्षफलकविध्यनुपपत्तिपरिहारादिति वाच्यम्, मुक्त्यादितत्त्वज्ञानसाध्यतया क्लृप्तेन मिथ्या ज्ञानविध्वंसेन दृष्टेनोपपत्तावदृष्टकल्पनायोगात्। अन्यथा भेषजाऽऽदिष्वपि तत्कल्पनाऽऽपत्तेः। एवं च विहितत्वं तत्रैव व्यभिचारादिति द्रष्टव्यम्। न चावघातवन्नियमादृष्टकल्पना, तत्र वैतुष्यस्याऽन्यथाऽपि संभवेन सा, अत्र तु मिथ्याज्ञानस्य निवृत्तेः, अन्यथाऽसंभवा इति विशेषात्। नन्वत्रापि विरोधिगुण्यन्तरोत्पत्तेरपि मिथ्याज्ञानध्वंसः संभवति। न च मिथ्याज्ञानपदं तद्वासनापरं, तत्त्वज्ञानात् तद् ध्वंसस्यैवाङ्गीकारात्, तस्य चान्यथाऽसंभव एवेति वाच्यम्, अचिकित्स्यरोगाऽऽदिना तस्याऽपि संभवात्। न चेतरवासनानाशेऽपि न ततः संसारवासनाया अनाश इति वाच्यम्, सामान्यावच्छेदेन पाक्षिकप्राप्तेरेव नियममूलत्वात्। अन्यथाऽपूर्वाय व्रीहिविशेषे नखनिर्भेदाप्राप्तेः, तत्राऽपि नियमादृष्टानुपपत्तिरिति चेत्। न। शक्यपरिवर्जनपाक्षिकप्राप्तेरेव नियममूलत्वात्। यथा व्रीहीनवहन्तीत्यत्र पक्षे प्राप्तस्य नखनिर्भेदाऽऽदेः शक्येन परिवर्जनेनावघातो नियम्यते–अवहन्तव्या एव, न नखैर्निर्भेत्तव्या इति नैवमत्र तत्त्वज्ञानेनैव मिथ्याज्ञानं निवर्तयेत्, न विरोधिगुणरागाऽऽदिना इति शक्यं प्रतिज्ञातुम्, तस्यापुरुषतन्त्रत्वात्। अत एव प्रोक्षितव्रीह्यवघातत्वेनेव श्रवणजन्यतत्त्वज्ञानत्वेन नियमादृष्ट–हेतुत्वध्रौव्यमिति निरस्तम्, प्रोक्षणाऽऽदेः प्रधानाङ्गत्वेन प्रधानापूर्वफलकादृष्टजनकत्वात्। तत्र तथोक्तिसंभवेऽप्यत्र प्रधानस्यैव दृष्टफलत्वेन तथा वक्तुमशक्यत्वात्। किञ्च–अत्र विजातीय–

तत्त्वज्ञानत्वेनैव दृष्टद्वारा मुक्तिहेतुत्वाद् न नियमादृष्टकल्पना । तत्र वैजात्येनैव हेतुत्वे तदवच्छिन्ने प्रोक्षणहेतुत्वोक्तौ कण्डने प्रोक्षणबाधाऽऽपत्तेः । न चावहतव्यप्रोक्षणत्वेनाप्यदृष्टहेतुत्वात् तत्राऽपि नियमादृष्टं कल्पनीयम्, दृष्टार्थस्यैव नियमादृष्टार्थस्य सिद्धान्तत्वादित्यन्यत्र विस्तरः ।

उदयनानुसारिणस्तु–अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य ज्ञानार्थिनः तत्प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्तिद्वारा प्रायश्चित्तवत् आरादुपकारकं कर्म, संनिपत्योपकारकं च तत्त्वज्ञानम्, उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य त्वन्तरलब्धदृष्टेः कारीरीसमाप्तिवदारब्धाग्निमपालनं लोकसंग्रहार्थम्, यद्यपि लोकसंग्रहे न प्रयोजनं, सुखदुःखाभावतत्साधनेतरत्वात्, तथाऽप्यकरणे लोकानामनित्यत्वेन यत् ज्ञानं तत्परिहारार्थम्, तत्तद् दुःखयोगेन कर्मनाशार्थं वा तत्। इदमेव च द्वारिद्वारयोः कर्मतत्त्वज्ञानयोः कारणत्वं, तुल्यकक्षतया समुच्चयो नेष्ट इत्यनेन विवक्ष्यते । यद्यपि च तीर्थविशेषस्नानाऽऽदीनां तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वं न शाब्दं, तथाऽपि तीर्थविशेषस्नानाऽऽदीनि तत्त्वज्ञानद्वारकाणि, मोक्षजनककर्मत्वाद्, यमाऽऽदिवदित्यनुमानात्तथात्वसिद्धिः । न च योगत्वमुपाधिः, ''कथयति भगवानिहान्तकाले, भवभयकातरतारकं प्रबोधम्'' इत्यादिपुराणात् ''रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे'' इति श्रुतेश्च काशीप्रयागाऽऽदेः तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वसिद्धौ तत्र साध्याव्यापकत्वादित्याहुः ।

स्वतन्त्रास्तु–तत्त्वज्ञानं प्रत्यङ्गत्वपक्षे कर्मणामपूर्वद्वारा जनकत्वं, दुरितध्वंसकल्पनातो लघुत्वात् । वस्तुतः कर्मणां निःश्रेयसहेतुत्वे तज्जन्यनिःश्रेयसजनकतया तत्त्वज्ञानस्य कर्मव्यापारत्वं वाच्यं, तदेव तु न युक्तम् । ''न कर्मणा न प्रजया धनेन । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय । नास्त्यकृतः कृतेन''। ''कर्मणा बध्यते जन्तु–र्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति, यतयः पारदर्शिनः ॥१॥'' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेन निषेधात्, कर्मजन्यत्वाभावाच्च । ''तपसा कल्मषं हित्वेति। अविद्यया च मृत्युं तीर्त्वा । ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः, कषायपक्तिः कर्मभ्यः'' इत्यादि–भिस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकदुरितनिवृत्त्यैवान्यथासिद्धेः प्रदर्शनात् । न च ''विविदिषन्ति यज्ञेन'' ''सर्वं कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते'' इत्यादिभिः कर्मजन्यताऽपि प्रतीयत इति वाच्यम्। सा हि नापूर्वद्वारा प्रतिबन्धकदुरितानुच्छेदेऽपूर्वसहस्रस्याप्यकिञ्चित्करत्वात्, तदुच्छेदेन तज्जनने तु प्रमाणान्तरावधृतकारणाभावेन प्रतिबन्धकाभावेनैवान्यथासिद्धेः । न चैवं यागाऽऽदेरप्यपूर्वेणान्यथासिद्धिः स्यात्, तस्य यागकारणताग्रहोत्तरकल्प्यत्वेनोपजीव्यापरिपन्थित्वात्, इह तु प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रकारणतायाः प्रागेवावधारणमिति शेषात् । अत एव मङ्गलकारीर्योः प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्तिमात्रफलकत्वं, वृष्टिसमाप्तौ तु स्वकारणादेवेति सिद्धान्तः (नवीनानाम् ।) किञ्च–कर्मकारणताग्रहानुपजीवनेन लौकिकान्वयव्यतिरेकावधृतमिथ्याज्ञाननिवर्तनभावसंभावितस्यमोक्षसाधनत्वस्य ''ज्ञानादेव तु कैवल्यम्, तरति शोकमात्मवित्, ब्रह्मविदाप्नोति परं, ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति,'' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेन तत्त्वज्ञानादिष्टतया ग्रहणात् तदेव मोक्षसाधनम्। कर्माणि तु तत्रैवान्यथासिद्धानीति युक्तं, यथा च न तत्रापि व्यापारः तथोक्तमेव । अत एवार्थविबोधपर्यन्ततोऽध्ययनविधेः, न तु तेन क्रत्वाद्यनुष्ठानेन स्वर्गाऽऽदिफलकत्वमिति संप्रदायः । न च तत्त्वज्ञानस्य कर्मणां निःश्रेयसप्रागभावव्याप्यप्रागभावप्रतियोगित्वरूपतदनुकूलताबोधने एव तात्पर्यात् श्रुत्यन्तरसिद्धेऽन्यथासिद्धत्वे तदन्यथासिद्धताया बोधयितुमशक्यत्वात्तावतैव श्रुतेः कर्मप्रवृत्तिपरतानिर्वाहादित्याहुः ।

अत्र वयं वदामः–मोक्षस्तावत् पुरुषार्थत्वाद् दुःखसाधनकर्मध्वंस एव, न तु दुःखध्वंसः, उत्पन्नानुत्पन्नविवेकिना तद् ध्वंसस्याऽसाध्यत्वात्। तत्र च ज्ञानकर्मणोर्वैजात्येन मुमुक्षुविहितत्वादेव हेतुत्वं तुल्यमेवेत्येकतरपक्षपातो न श्रेयान्। ज्ञाने केवलज्ञानत्वरूपस्य, कर्मणि च यथाख्यातचारित्रत्वरूपस्य वैजात्यस्य कल्पनायाः क्षायिकस्थले क्षायोपशमिकस्थले च तदनुकूलतामात्रस्य द्वयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वात्। एतेन कारणोच्छेदक्रमेण कार्योच्छेदाद् मुक्तिरिति ज्ञानकर्मसहकारित्वं मिथ्याज्ञानोन्मूलने कर्मविनाश–कृतस्यैव तस्य दिग्मोहाऽऽदौ हेतुत्वावधारणाऽऽदि निरस्तम्; मिथ्याज्ञाननाशेऽपि विरोधिगुणमात्रस्य हेतुत्वात्, मिथ्याज्ञानप्रभावासहवृत्तिमिथ्याज्ञानध्वंसे च हेतुताया लोकप्रमाणाविषयत्वेन ज्ञानकर्मणोर्द्वयोरेव कल्पनौचित्यात्। वस्तुत आर्थसमाजसिद्धत्वात् तदूपावच्छिन्नेऽपि न हेतुता, किं तु सामान्यावच्छिन्नध्वंसनये कर्मत्वावच्छिन्नध्वंसे, तत्समं यावत् कर्मक्षयसमनियतक्षायिकसुखत्वावच्छिन्ने वेति न कस्यापि न्यूनत्वम्, पराभिमतद्वारस्थान एव फलाभिषेकात्। एकपुरस्कारेणान्यनिराकरणवचनं च तत्तदर्थवाद एवेति न कर्मकारणताबोधकवचनेऽनुकूलत्वमात्रमर्थः। कारणता शक्तपदस्यानुकूलत्वम्, लक्षणायां गौरवात्। अन्यथा सिद्धिचतुष्टयराहित्यगर्भत्वेन तत्र लाघवमिति दृष्टिदाने च विधिप्रत्ययमात्रार्थाऽपीष्टानुकूलत्वमात्रमेव स्यादिति यागाऽऽदेरप्यपूर्वेणान्यथासिद्धिः कर्मणाम्, न तत्त्वज्ञाने। न च तद् द्वारा मुक्तौ हेतुत्वमित्युक्तम्। तदपि न युक्तम्। प्रतिबन्धकत्वस्य विशिष्य विश्रामेण तदभावकार्यमात्रेऽनुगतहेतुताया अयोगात्, प्रतिबन्ध–कविशेषनिवृत्तिहेतुतायाश्च कर्मकारणताग्रहोत्तरकल्पनीयत्वेन तदन्यथासिद्ध्यनापादकत्वात् । किं च –प्रतिबन्धकनिवृत्त्याऽन्यथासिद्धत्वेन कर्मणोऽहेतुत्वोक्तौ तत्त्वज्ञानस्य सुतरां तथात्वं स्यात्। न हि उत्पन्नकेवलज्ञाना अपि भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयं प्रतिबन्धकमनिवर्तयित्वा सद्य एव मुक्तिमासादयन्तीति मुक्तिप्रतिबन्धककर्मनिवर्तकत्वेन तत्त्वज्ञानस्य कुतोऽनान्यथासिद्धिः? अथ कर्मणो भोगनाश्यत्वेन ज्ञानस्य तदनाशकत्वाद् नान्यथासिद्धिः, न हि भोगस्तत्त्वज्ञानव्यापारः, तथाऽश्रवणात्, तेन विनाऽपि कर्मण एव तदुपपत्तेश्च । न च वासुदेवाऽऽदीनां कायव्यूहश्रवणात् तत्त्वज्ञानेन कायव्यूहमुत्पाद्य भोगद्वारा कर्मक्षयमित्यपि साम्प्रतम्, तपःप्रभावादेव तत्त्वज्ञानस्योत्पादेऽपि कायव्यूहसंभवाद् भोगजननार्थं कर्मभिरवश्यं तत्कार्यनिष्पादनमिति न तत्र तत्त्वज्ञानोपयोगः, यौगपद्यं च कायानां तज्जनककर्मस्वभावात्तपः प्रभावाद्वेति । न च ''तावदेवास्य चिरं यावन्न विमोक्षोऽथ संपत्स्यते कैवल्येन'' इति श्रुतौ तावदेवास्योत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य चिरं विलम्बो यावन्नोत्पन्नकर्मणो विमोक्षः । 'अथ संपत्स्यते कैवल्येन' भोगेन क्षपयित्वेति शेष इति व्याख्यानाद् भोगस्य तत्त्वज्ञानव्यापारत्वं युक्तमेव। न च शेषदाने मानाभावः, सत्यपि ज्ञाने कर्मावस्थाने कृत्स्नसामान्यभोगस्यैव नाशकत्वेनाऽऽक्षेपादिति वाच्यम्, तत्त्वज्ञाने सति तत्त्वज्ञानदशायां न मोक्षः, किं तु तदपि प्रक्षण(?) इत्यर्थनाप्युपपत्तेरिति चेत् । मैवम् । कर्मणो भोगनाश्यत्वेऽपि ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वम्, भोगस्य तत्त्वज्ञानाव्यापारत्वात् । न च तत्त्वज्ञा–

नं विनाऽपि भोगेन कर्मनाशे व्यभिचारः, कर्मप्रागभावासहवृत्तिकर्मनाशे युगपद्भोगे वाच्यव्यभिचाराभावादिति मणिकृतैवोक्तत्वात्।

अस्मत्सिद्धान्तेऽपि नाशार्थिवृत्तौ नाश्यनिश्चयविधयैव केवलज्ञानस्य कर्महेतुत्वमनपायम्। तदुक्तं निर्युक्तौ समुद्घाताधिकारेण–''ऊणवेयणिज्जं अइबहुयं आउयं च थोवगं वंधंति जिणा समुग्घायं।'' अत्र क्त्वाप्रत्ययबलादेव नियतवर्णोपर्यस्यार्थाच्चानन्यसिद्धत्वस्य प्रतीतेः कारणत्वलाभे अन्यदप्याभोगवीर्यस्यैव केवलिनः कर्मक्षयहेतुत्वादाभोगान्वितवीर्यत्वेनैव वीर्यान्विताऽऽभोगत्वेनापि हेतुत्वादुक्तार्थसिद्धिः। यत्पुनः ''दोषपक्तिर्मतिज्ञानात्, अकिञ्चिदपि केवलात्। तमः–प्रचयनिःशेषविशुद्धिफलमेव तत्'' ॥१॥ इत्यनेन केवलज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वमुच्यते, न दोषपक्तिरूपकार्यापेक्षया, न तु पक्वानां भवोपग्राहिणां क्षपणरूपकार्यमप्याश्रित्य, तत्तद् व्यापारस्य सदा जागरूकत्वात्। यदि च स्वरूपशुद्धिग्राहकनयेन १ केवलज्ञानस्य निर्व्यापारत्वं स्वीक्रियते, तदा यथाख्यातचारित्राऽऽत्मकक्रियाया अपि तथात्वमेवाभ्युपगन्तुं युक्तम् ; समुद्घाताऽऽदिना कर्मक्षपणव्यापारस्य योगविशेषेणैव वक्तुं शक्यत्वात्। मुक्तिबन्धहेतुविवेकेन फलशुद्धिग्राहकनयेन तत्र चारित्रहेतुत्वाभ्युपगम्यमानो ज्ञानहेतुतामपि न व्याहन्ति।२। अनन्तकारणग्राहकनयेन तत्र चारित्रमेव हेतुरिति चेत्। न। उत्पत्तावनन्तरत्वस्य यथाऽऽख्यातचारित्रापेक्षया केवलज्ञान एव संभवाद्, व्यापारानन्तर्यस्य च कल्प्यमानस्योभयत्रापि विनिगमात्।३। एतेनाऽऽक्षेपककारणग्राहकनयेन–''जम्हा दंसणनाणा'' इत्यादिवचनाच्चारित्रमेव मुक्तिहेतुरित्यपि निरस्तम्। आक्षेपकत्वं हि स्वेतरसकलकारणसमवधाननियतसमवधानकत्वं, तच्च यथाख्यात इव केवलज्ञानेऽपीत्यविशेषात् क्षयोपशमदशायामप्यपुनर्बन्धकाऽऽदिचारित्रव्यावृत्तजातिविशेषवतश्चारित्रस्यव विषयप्रतिभासाऽऽत्मपरिणामज्ञानोर्ध्वभाविनस्तत्त्वज्ञानस्याऽऽक्षेपकत्वाविशेषात्।४। मुख्यैकशेषनयेन चारित्रमेवोत्कृष्यत इति चेत्। न। तत्र मुख्यत्वस्यैव विनिगन्तुमशक्यत्वात्।५। पुमर्थग्राहकनयेन क्रियायामेव मुख्यत्वं विनिगम्यत इति चेत्। न। परमभावग्राहकनयेन ज्ञान एव तद्विनिगमनायाः सुवचत्वात्।६। ''जं सम्मं ति पासहा, तं मोणं ति पासहा'' इत्यादिवचनात् कारकसम्यक्त्वशरीरनिर्वाहकत्वनयेन चारित्रमेवोत्कृष्यत इति चेत्। न। ''जं अन्नाणी कम्मं खवेइ'' इत्यादिवचनात्। सम्यक्क्रियाशरीरनिर्वाहकत्वनयेन चारित्रमेवोत्कृष्यत इति चेत्। न। ''जं अन्नाणी कम्मं खवेइ'' इत्यादिवचनात् सम्यक्क्रियाशरीरनिर्वाहकत्वनयेन ज्ञानेऽप्युत्कर्षस्य वक्तुं शक्यत्वात्।७। एतेन 'णिच्छयणयस्स चरणस्सुवघाएण नाणदंसणवहो वि।' इत्यादिवचनात् ज्ञानाशव्याप्यनाशप्रतियोगित्वग्राहकशुद्धनयेन ज्ञानातिशयस्याप्यदुर्वत्वात्।८। व्यापारप्राधान्यग्राहकक्रियानयेन चारित्रोत्कर्ष इत्युक्तावपि दर्शनप्रधानग्राहकज्ञाननयेन ज्ञानोत्कर्षः सुवच एव।९। दृष्टान्तौ चात्र पङ्ग्वन्धौ। तयोरन्यतरस्याऽकिञ्चित्करत्वेन संयोगपक्ष एव श्रेयान्। न च कुर्वद्रूपत्वनये शैलेश्यन्त्यक्षणभावे चारित्रमुक्तम्, एवं मुक्तिरूपफलोपधायकत्वेन विशिष्यत इत्यपि शङ्कनीयम्, कुर्वद्रूपक्षणस्य सहकारिसमवधाननियतत्वेन तत्कालनिष्ठानक्षणस्यापि मुक्तिहेतुत्वात्। पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तिपक्षे बीजपाथः पवनाऽऽदीनामेकत्रोपादानत्वेन, अन्यत्र च निमित्तत्वेन हेतुत्वमिति चारित्रलक्षणस्य मुक्तावुपादानत्वेन हेतुत्वाद्विशेष इत्यप्यसाम्प्रतम्, ज्ञानाऽऽदिसंवलितमुक्तिक्षणे संवलितक्षणस्यैव हेतुत्वात्। तच्चाऽतद्व्यावृत्त्या, शक्तिविशेषाऽऽदिना वेत्यन्यदेतत्। कथं तर्हि ''सद् दुज्झुसुआणं पुण, निव्वाणं संजमो चेव।'' इति निर्युक्तिवचनं श्रद्धानम्, तेषां कुर्वद्रूपलक्षणावगाहित्वात्, तत्र चैकान्तस्यानुपपदमेव निरस्तत्वादिति शङ्कनीयम्; एकैकस्य शतभेदत्वेनाक्षेपककारणत्वरूपस्थूलापेक्षयैव तदेकान्ताभिधानोपपत्तेः। अत एव शैलेश्यन्त्यक्षणभाविधर्महेतुत्वमिति विशुद्धैवंभूताऽभिप्रायेणैवास्माभिस्तत्र तत्र समर्थितम्। ये तु मिथ्यादृशो मिथ्याज्ञानोन्मूलनद्वारा तत्त्वज्ञानमेव युक्तिहेतुरिति मन्यन्ते, ते मिथ्याज्ञानोन्मूलनेऽपि तत्तन्मनःप्रणिधानरूपक्रियाया हेतुत्वं कथं न पश्यन्ति? मिथ्याज्ञानवासनोन्मूलनवत्कर्मनिरपेक्षं तत्त्वज्ञानं हेतुरिति चेत्तर्हि अदृष्टपरिकल्पनमेतत्। मिथ्याज्ञानिवासनायाः स्मृत्येकनाश्यत्वात् तत्त्वज्ञानस्य तन्नाशताया लोकेऽदृष्टत्वाद्, अदृष्टकल्पने चाऽऽगमानुसारेणाज्ञानवत्कर्मणोऽपि मलक्षयद्वारा मुक्तिहेतुत्वकल्पनमेव ज्यायः। तथा चाभ्यधात् सूरोऽपि वासिष्ठे–''तन्दुलस्य यथा चर्म, यथा ताम्रस्य कालिका। नश्यति क्रियया पुत्र ! पुरुषस्य तथा मलम्'' ॥१॥ इत्यादि। किं च–विहितत्वेन पुण्यपापक्षयान्यतरहेतुत्वव्याप्ते तत्त्वज्ञानस्य कर्मतुल्यत्वम्। न च किञ्चित्सादावेव व्यभिचारः, मुमुक्षुविहितत्वेन व्याप्तौ व्यभिचाराभावादिति पुष्टिशुद्ध्यनुबन्धद्वारा ज्ञानकर्मणोर्मुक्तौ तुल्यवदेव हेतुतया समुच्चयपक्ष एवानाविल इति सिद्धम्। (नयो०)

ज्ञानमेव शिवस्याध्वा, मिथ्यासंस्कारनाशनात्।
क्रियामात्रं त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवेत् ॥१३२॥
तन्दुलस्य यथा चर्म, यथा ताम्रस्य कालिका।
नश्यति क्रियया पुत्र ! पुरुषस्य तथा मलम् ॥१३३॥
वक्तरश्च (वक्तरश्चेति पाठान्तरम्।)**तपस्वी च, शूरश्चाप्यकृतव्रणः।**
मद्यपा स्त्री सती चेति, राजन् ! न श्रद्दधाम्यहम् ॥१३४॥
ज्ञानवान् शीलहीनश्च, त्यागवान् धनसंग्रही।
गुणवान् भाग्यहीनश्च,राजन् ! न श्रद्दधाम्यहम् ॥१३५॥
इति युक्तिवशात् प्राहुरुभयोस्तुल्यकक्षताम्।
मन्त्रेऽप्याद्धानं देवाऽऽदेः, क्रियायुग् ज्ञानमिष्टकृत् ॥१३६॥
ज्ञानं तुर्ये गुणस्थाने, क्षायोपशमिकं भवेत्।
अपेक्षते फले षष्ठ–गुणस्थानजसंयमम् ॥१३७॥
प्रायः संभवतः सर्व–गतिषु ज्ञानदर्शने।
तत्प्रमादो न कर्तव्यो, ज्ञाने चारित्रवर्जिते ॥१३८॥
क्षायिकं केवलज्ञानमपि मुक्तिं ददाति न।
तावन्नाविर्भवेद् यावच्छैलेश्यां शुद्धसंयमः ॥१३९॥
व्यवहारे तपोज्ञानसंयमा मुक्तिहेतवः।
एकः शब्दर्जुसूत्रेषु, संयमो मोक्षकारणम् ॥१४०॥
संग्रहस्तु नयः प्राऽऽह, जीवो मुक्तः सदा शिवः।

अनवाप्तिभ्रमात् कण्ठ–स्वर्णन्यायात् क्रिया पुनः ॥१४१॥
अनन्तमर्जितं ज्ञानं, त्यक्ताश्चानन्तविभ्रमाः ।
न चित्रं कलयाऽप्यात्मा, हीनोऽभूदधिकोऽपि वा ॥१४२॥
धावन्तोऽपि नयाः सर्वे , स्युर्भवि कृतविश्रमाः ।
चारित्रगुणलीनः स्यादिति सर्वनयाऽऽश्रितः ॥१४३॥
सुनिपुणमतिगम्यं मन्दधीदुष्प्रवेशं,
प्रवचनवचनं न ह्यऽपि हीनं नयौघैः ।
गुरुचरणकृपातो योजयंस्तान् पदे यः,
परिणमयति शिष्यांस्तं वृणीते यशः श्रीः ॥१४४॥
गच्छे श्रीविजयाऽऽदिदेवसुगुरोः स्वच्छे गुणानां गणैः,
प्रौढिं प्रौढिमधाम्नि जीतविजयप्राज्ञाः परामैयरुः ।
तत्सातीर्थ्यभृतां नयाऽऽदिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशुः,
तत्त्वं किञ्चिदिदं 'यशोविजय' इत्याख्याभृदाख्यातवान्१४५
नयो०।
नाणं किरियारहियं, किरियामित्तं च दो वि एगंता ।
असमत्था दाएउं, जम्ममरणदुक्ख मा भाइ ॥६८॥

ज्ञायते यथावद् जीवाजीवाऽऽदितत्त्वमनेनेति ज्ञानम्, क्रियत इति क्रिया यथोक्तानुष्ठानम्, तया रहितं, जन्ममरणदुःखेभ्यो मा भैषीरिति दर्शयितुम्, दातुं वाऽसमर्थम्। न हि ज्ञानमात्रेणैव पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते, क्रियारहितत्वाद्, दृष्टप्रदीपनकप्रपलायमानपङ्गुवत् । क्रियामात्रं वा ज्ञानरहितं न भयेभ्यो मा भैषीरिति दर्शयितुं दातुं वा समर्थम् । न हि क्रियामात्रात् पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते, ज्ञानविकलत्वात्, प्रदीपनकभयप्रपलायमानान्धवत्। तथा चाऽऽगमः–''हयं नाणं कियाहीणं, हया अण्णाणओ किया। पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ'' ॥३६॥ (महा०) ('मोक्ख' शब्दे चैतद् विवेचयिष्यते) उभयसद्भावस्तु तेभ्यो मा भैषीरिति दर्शयितुं समर्थः । तथाहि–सम्यग् ज्ञानक्रियावान् भयेभ्यो मुच्यते, उभयसंयोगत्वात्, प्रदीपनकभयान्धस्कन्धाऽऽरूढपङ्गुवत्। (सम्म० ३ काण्ड)

उक्तंच–

संजोगसिद्ध धीऍ उ गोयमा ! फलं,
न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा,
ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥३७॥
नाणं पसासयं सोहउ, तवो संजमो य गुत्तिकरो ।
तिण्हं पि समाजोगे, गोयम ! मोक्खो न अन्नहा ॥३८॥
महा०१अ०।

(संजोगसिद्धीएत्यादि) तस्मात् सम्यग्ज्ञानाऽऽदित्रितयनयसमूहान्मुक्तिः, नयसमूहविषयं च सम्यग्ज्ञानं श्रद्धानं च, तद्विनयं सम्यग्दर्शनं, तत्पूर्वं चाशेषपापक्रियानिवृत्तिलक्षणं चारित्रं, पिधानोपसर्जनभावेन, मुख्यवृत्त्यावा तत्त्रितयदर्शकं च वाक्यमागमो, नान्यः, एकान्तप्रतिपादकससदर्थत्वेन विसंवादकतया तस्य प्राधान्यानुपपत्तेः। जिनवचनस्य तु तद्विपर्ययेण दृष्टवाददृष्टार्थेऽपि प्रामाण्यसंगतेः। सम्म०३ काण्ड। महा०।

(ज्ञानं शीलं श्रुतं वा श्रेय इत्यन्ययूथिकैः सह 'अण्ण उत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४५८ पृष्ठे चिन्तितम्) आह च–ज्ञानक्रिययोः प्रत्येकं मुक्तेरवापिका शक्तिरसती कथं समुदायेऽपि भवति? न हि शून्येषु प्रत्येकं नास्ति तत्तेषां समुदायेऽपि भवति, यथा प्रत्येकमसत्समुदितास्वपि सिकतासु तैलं, प्रत्येकमसती ज्ञानक्रिययोर्मुक्तेरवापिका शक्तिः। तदुक्तम्– ''पत्तेयमभावाओ, निव्वाणं समुदियासु वि ण जुत्तं । णाणकिरियासु वोत्तुं, सिकयासमुदायतिल्लं व ॥१५॥'' उच्यते– स्यादेवं यदि सर्वथा प्रत्येकं तयोर्मुक्त्यनुपकारितोच्येत, यदा तु तयोः प्रत्येकं देशोपकारिका, समुदाये तु संपूर्णो हेतुतोच्यते, तदा न कश्चिद्दोशः। आह च– ''वीसुं ण सव्वहा चिय, सिकयातेलं व साहणाभावो। देसोवकारिया जा, सा समवायम्मि संपुण्णा ॥१॥'' अतः स्थितमेतद् ज्ञानक्रिये समुदिते एव मुक्तिकारणं, न तु प्रत्येकमिति तत्त्वम्।

तथा च पूज्याः–

णाणाहीणं सव्वं, णाणओ भणइ किं व किरियाए ?
किरियाए करणनओ, तदुभयगाहो य सम्मत्तो ३५९१''(विशे०)
''क्वचित्सौत्र्या शैल्या, क्व वचिदधिकृतप्राकृतभुवा,
क्वचिच्चार्थापत्त्या, क्वचिदपि समारोपविधिना ।
क्वचिच्चाध्याहारात्, क्वचिदविकलप्राक् क्रमबला–
दियं व्याख्या ज्ञेया, क्वचिदपि तथाऽऽम्नायवसतः ॥१॥''
उत्त०१अ० दर्श० आ०क० अष्ट०।

आचार्यः प्राऽऽह–

सव्वेसिं पि नयाणं, बहुविहवत्तव्वयं निसामित्ता ।
तं सव्वनयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठितो साहू ॥

सर्वेषामपि मूलनयानाम्, अपिशब्दात्तद्भेदानामपि नयाछां द्रव्यास्तिकायाऽऽदीनाम्–बहुविधवक्तव्यतां सामान्यमेव, विशेषा एव, उभयमेव वा परस्परनिरपेक्षमित्यादिरूपाम्, अथवा–नामादिनयानां मध्ये को नयः कं साधुमिच्छतीत्यादिरूपां, निशम्य श्रुत्वा, तत्सर्वनयविशुद्धं सर्वनयसम्मतं वचनं, यच्चरणगुणस्थितश्चारित्र–ज्ञानस्थितः साधुर्यस्मात् सर्वैऽपि नया भावनिक्षेपमिच्छन्तीति । बृ०६उ०। तथा चाऽऽगमः–''दोहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं वा चाउरंतसं सारकंतारं वीईवएज्जा। तं जहा–विज्जाए चेव, चरणे चेव।'' स्था०१ठा०। दश०। व्य०।

णाणकुसील पुं०(ज्ञानकुशील) गुरुकज्ञानाऽऽवरणोदयेनाहर्निशं प्रधर्षयति कुत्सितशीले, महा०३अ०।

णाणग न०(नाणक) मुद्रायां, कार्षापणे, पणे च। आ०क०।

''केनापि कस्यचित् प्राज्य–मूल्यनाणकसंभृतः ।
नयस्तो नवलकस्तेनोपात्तास्ते बहुमूल्यकाः ''॥१॥

आ०क०। स्वनामख्याते तीर्थभेदे, मोढेरे वायडे नाणके पल्ल्यां मेत्तुण्डके श्रीमहावीरः। ती०४३ कल्प।

पन्यासजीतविजयगणिकृतप्रश्नः– यथा प्रत्यहं प्रह्लादनविहारे पञ्चशती वीसलप्रियाणां भोगः कथितोऽस्ति, तन्नाणकं किं नामकं कथ्यते? इति प्रश्ने, उत्तरम्–वीसलदेवाऽऽज्ञापातितं वीसलप्रियनामकं तत्कालीनं किञ्चिन्नाणकविशेषं संभाव्यते, तदधुना प्रसिद्धं नास्ति, परं षट्त्रिंशन्मूढकद्रम्मैर्वीसलप्रियनाणकमष्टशतविंशतिसहस्राधिकद्विषष्टिलक्षप्रमाणं कथितमस्तीति ॥४०४॥ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

णाणगुण पुं०(ज्ञानगुण) जीवाऽऽश्रिते ज्ञा तदविनाभाविनि पर्याये ज्ञानमाहात्म्ये, आव०४ अ०।

णाणच्चासायणा स्त्री०(ज्ञानात्याशातना) ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा हीलनायाम्, भ०८ श०६उ०।

णाणजोग पुं०(ज्ञानयोग) ज्ञानमेव योगः कौशलं ब्रह्मप्राप्त्युपायो वा। ब्रह्मलाभोपाये निष्ठाभेदे, वाच०। अष्ट०।

णाणट्ठया स्त्री०(ज्ञानार्थता) ज्ञानमेवार्थो यस्य स ज्ञानार्थस्तद्भावस्तत्ता। ज्ञानार्थित्वे, स्था०५ ठा०२उ०।

णाणड्ढ त्रि०(ज्ञानाढ्य) बह्वागमे, जीवा०१६ अधि०।

णाणड्ढि स्त्री०(ज्ञानर्द्धि) ''पभूणं भंते! चोद्दसपुव्वी।''तथा–''जं अन्नाणी कम्मं'' इत्यादिरूपायामृद्धौ, दश०३ अ०।

णाणणय पुं०(ज्ञाननय) ज्ञानमेव प्रधानमैहिकाऽऽमुष्मिकफलप्राप्तिकारणं युक्तियुक्तत्वादिति सिद्धान्तव्यवस्थिते नये, आव०६ अ०। सम्म०।

एतन्मतं यथा–

इह केचिज् ज्ञानादेव मोक्षमास्थिपत। तथाह्येते ब्रुवतेसव्यग्– ज्ञानमेव फलसंपादनप्रत्यलं, न क्रिया; अन्यथा मिथ्याज्ञानादपि क्रियायां फलोत्पादप्रसङ्गात्।

यदुक्तम्–

''विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता।
मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात्॥१२६॥''(नयो०)

तथा–

''श्रियः प्रसूते विपदो रुणद्धि, यशांसि दुग्धे मलिनं प्रमार्ष्टि।
संस्कारशौचेन परं पुनीते, शुद्धा हि बुद्धिः कुलकामधेनुः॥१॥''
रत्ना०७परि०।

इह कश्चिद् ज्ञानमेव प्रधानमपवर्गबीजमिच्छति;–

यतः किल एवमागमः–

''जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुआहिँ वासकोडीहिं।
तं नाणी तेहिं ती, खवेइ ऊंसासमित्तेणं॥१॥''

तथा–

''सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि।
जीवो तहा ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे॥२॥''

तथा–

''नाणं गिण्हइ नाणं, मुणेइ नाणेण कुणइ किच्चाइं।
भवसंसारसमुद्दं, नाणी नाणड्ढिओ तरइ॥३॥''

तस्माद् ज्ञानमेव प्रधानमपवर्गप्राप्तिकारणमतो ज्ञानिन एव कृतिकर्म कार्यम्। अथाऽनन्तरगाथायामेव द्रव्यभावसमायोगे श्रमण उक्तः। तस्य च कृतिकर्म कार्यमित्युक्तम्।

''चरणं च भावो वर्तते'' इत्युक्ते सत्याह–

कामं वरणं भावो, तं पुण नाणसहिओ समाणेइ
(''समापेः समाणः''॥८।४।१४२॥ समाप्नोतेः समाण आदेशो वा। 'समाणइ। सनावेइ')

न य नाणं तु न भावो, तेन र नाणिं पणिवयामो॥७१॥

काममनुमतमिदं यदुत चरणं चारित्रं भावो भावशब्दो भावलिङ्गोपलक्षणार्थः। तत्पुनर्ज्ञानसहितो ज्ञानयुक्तः समापयति निष्ठां नयति, यतः–इदमित्थमासेवनीयमिति ज्ञानादेवावगम्यते, तस्मात्तदेव प्रधानं, न च ज्ञानं तु न भावः, भाव एव भावलिङ्गान्तर्गतमिति भावना, तेन कारणेन 'र' इति निपातः पूरणार्थः। ज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी, तं ज्ञानिनं, प्रणमामः पूजयामः। इति गाथाऽर्थः॥७१॥

यतश्च बाह्यकरणसहितस्याप्यज्ञानिनश्चरणभाव एवोक्तः–

**तम्हा न बज्झकरणं, मज्झ पमाणं न यावि चारित्तं।
नाणं मज्झ पमाणं, नाणे च ठियं जओ तित्थं॥७२॥**

तस्मान्न बाह्यकरणं पिण्डविशुद्ध्यादिकं मम प्रमाणम्, न चापि चारित्रं व्रतलक्षणं, तज्ज्ञानाभावे तस्याप्यभावात्। अतो ज्ञानं मम प्रमाणं, सति तस्मिँश्चरणस्याऽपि भावात्, ज्ञाने च स्थितं यतस्तीर्थं, तस्याऽऽगमरूपत्वात्। इति गाथाऽर्थः॥७२॥

किञ्च दर्शनं भावयिष्यते, ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' इति वचनात्। तच्च दर्शनं द्विधा–अधिगमजम्, नैसर्गिकं च। इदमपि ज्ञानाऽऽयत्तोदयमेव वर्तते। तथा चाऽऽह–

**नाऊण य सब्भावं, अहिगमसम्मं पि होइ जीवस्स।
जाइस्सरणनिसग्गुगया वि न निरागमा दिट्ठी॥७३॥**

ज्ञात्वा च अवगम्य च सद्भावं सतां भावः सद्भावः, तं, सन्तो जीवाऽऽदयः किमधिगमाद् जीवाऽऽदिपदार्थपरिच्छेदलक्षणात्, सम्यक्त्वं श्रद्धानलक्षणम्, अधिगमसम्यक्त्वम्, इदमधिगमसम्यक्त्वमपि अपिशब्दात् चारित्रमपि, भवति जीवस्य जायते आत्मन इत्यर्थः। नैसर्गिकमाश्रित्याऽऽह– जातिस्मरणात्सकाशान्निसर्गेण स्वभावेनोद्गता संभूता जातिस्मरणनिसर्गोद्गता, असावपि न निरागमा नागमरहिता, दृष्टिः, दर्शनं दृष्टिरिति, यतः स्वयंभूरमणमत्स्याऽऽदीनामपिजिनप्रतिमाऽऽद्याकारमत्स्यदर्शनाद् जातिमनुस्मृत्य भूतार्थलोकनपराणामेव नैसर्गिकं सम्यक्त्वमुपजायते, भूतार्थो लोकनं च ज्ञानं, तस्मादिदमपि ज्ञानाऽऽयत्तोदयमिति कृत्वा ज्ञानस्य प्राधान्याद् ज्ञानिन एव कृतिकर्म कार्यमिति स्थित–मयं गाथाऽर्थः॥७३॥

इत्थं ज्ञानवादिनोक्ते सत्याहाऽऽचार्यः–

**नाणं विसए निययं, न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती।
मग्गन्नू दिट्ठंतो, होइ सचिट्ठो अचिट्ठो अ॥७४॥**

ज्ञानं प्रक्रान्तं स्वविषये नियतं २ स्वविषयः पुनरस्य प्रकाशनमेव, यतश्चैवमतो न ज्ञानमात्रेण कार्यनिष्पत्तिः, मात्रशब्दः क्रियाप्रतिषेधवाचकः। अत्रार्थे मार्गज्ञदृष्टान्तो भवति, सचेष्टः सव्यापारः, अचेष्टश्च अविद्यमानचेष्टश्च। एतदुक्तं भवति–यथा कश्चित् पाटलिपुत्राऽऽदिमार्गज्ञो जिगमिषुश्चेष्टदेशप्राप्तिलक्षणं कार्यं गमनचेष्टोद्यत एव साधयति, न चेष्टाविकलो भूयसाऽपि कालेन तत्प्रभावादेवैवं ज्ञानी शिवमार्गमविपरीतमवगच्छन्नपि संयमक्रियोद्यत एव तत्प्राप्तिलक्षणं कार्यं साधयति, नानुद्यतो ज्ञानप्रभावादेव, तस्मादलं संयमरहितेन ज्ञानेन। इति गाथाहृदयार्थः॥७४॥

प्रस्तुतार्थप्रतिपादकमेव दृष्टान्तान्तरमभिधित्सुराह–

**आउज्जनट्टकुसला, वि नट्ठिआ तं जणं न तोसेइ।
जोगं अजुंजमाणी, निंदं खिंसं च सा लहइ॥७५॥**

आतोद्यानि मृदङ्गाऽऽदीनि, नृत्तं करचरणनयनाऽऽदिविशिष्टपरिस्पन्दविशेषलक्षणम्, आतोद्यैः करणभूतैः नृत्तमातोद्यनृत्तं, तस्मिन् कुशला निपुणा आतोद्यनृत्तकुशला, असावपि नर्तकी,

अपिशब्दाद् रङ्गजनपरिवृत्ताऽपि, तं जनं रङ्गजनं न तोषयति न हर्षं नयतीत्यर्थः । किंभूता सती?–योगमयुञ्जती कायाऽऽदिव्यापार–मकुर्वती, ततश्च अपरितुष्टाद् रङ्गजनाद् न किञ्चिद् द्रव्यजातं लभत इति गम्यते। अपि तु निन्दां च खिंसां च सा लभते रङ्गजनादिति। तत्समक्षमेव या हीलना सा निन्दा, परोक्षं तु खिंसेति गाथाऽर्थः ॥७५॥

इत्थं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनां प्रदर्श–

यन्नाह–

इअ लिंगनाणसहिओ, काइअजोगं न जुंजई जो उ ।
न लहइ स मुक्खसुक्खं, लहइ अ निंदं सपक्खाओ ॥७६॥

'इय' एवं लिङ्गज्ञानाभ्यां सहितो युक्तः लिङ्गज्ञानसहितः काययोगं कायव्यापारं न युङ्क्ते न प्रवर्तयति, यस्तु न लभते न प्राप्नोति, स इत्थंभूतः, किम्? मोक्षसौख्यं सिद्धिसुखमित्यर्थः । लभते च निन्दां स्वपक्षात्, चशब्दात् शिवस्यैव। इह च नर्तकीतुल्यः साधुः, आतोद्यतुल्यं द्रव्यलिङ्गं, नृत्तज्ञानतुल्यं ज्ञानं, योगव्यापारतुल्यं चरणं, रङ्गपरितोष-तुल्यः सङ्घपरितोषः, दानलाभतुल्यः सिद्धिसुखलाभः । शेषं सुगमम्। यत एवमतो ज्ञानचरणसहितस्यैव कृतिकर्म कार्यमिति गाथाभावार्थः ॥७६॥

चरणरहितं ज्ञानमकिञ्चित्करम्, अस्यार्थस्य साधका बहवो दृष्टान्ताः सन्तीति प्रदर्श–

नाय पुनरपि दृष्टान्तमाह–

जाणंतो वि अ तरिउं, काइअजोगं न जुंजई नइए ।
सो वुज्झइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो ॥७७॥

जानन्नपि च तरीतुं यः काययोगं कायव्यापारं न युङ्क्ते नद्यां स पुमान् उह्यते ह्रियते श्रोतसा पयःप्रवाहेन, एवं ज्ञानी चरणहीनः संसारनद्यां प्रमोदश्रोतसोह्यत इत्युपनयः । तस्माच्चरणविकलस्य ज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वात् उभययुक्तस्यैव कृतिकर्म कार्यमिति गाथाऽभिप्रायः ॥७७॥

एवमसहायज्ञानपक्षे, निराकृते, ज्ञानचरणोभयपक्षे च सम–स्थिते सत्यपरस्त्वाह–

गुणअहिए वंदणयं, छउमत्थ गुणागुणे अजाणंतो ।
वंदिज्ज व गुणहीणं, गुणाहिअं वावि वंदावे ॥७८॥

इहोत्सर्गतो गुणाधिके साधौ वन्दनं, कर्तव्यमिति वाक्यशेषः । अयं चार्थः–श्रमणं वन्देतेत्यादिग्रन्थसिद्धः, गुणहीने तु प्रतिषेधः, पञ्चानां कृतिकर्मेत्यादिग्रन्थात् । इदं च गुणाधिकत्वं गुणहीनत्वं च तत्त्वतो दुर्विज्ञेयमतः छद्मस्थस्तत्त्वतो गुणागुणानात्मान्तरवर्तिनोऽजानानोऽनवगच्छन् किं कुर्याद्, वन्देत वा गुणहीनं किञ्चित् गुणाधिकं वाऽपि वन्दापयेत्, उभयथाऽपि च दोषः– एकत्र गुणानुज्ञाप्रत्ययः, अन्यत्र तु विनयत्यागप्रत्ययः, तस्मात्तूष्णींभाव एव श्रेयान्, अलं वन्दनेन । इति गाथाऽभिप्रायः ॥७८॥

इत्थं चोदकेनोक्ते सति व्यवहारनयमतमधिकृत्य गुणाधिक–त्वपरिज्ञानकारणानि प्रतिपादयन्नाहाऽऽचार्यः–

आलएणं विहारेणं, ठाणाचंकमणेण य ।
सक्कासुविहिओ नाउं, भासावेणइएण य ॥७९॥

आलयो वसतिः सुप्रमार्जिताऽऽदिलक्षणा । अथवा–स्त्रीपशु-पण्ढकविवर्जित इति। तेनाऽऽलयेन, नाऽगुणवत एवं खल्वालयो भवति । विहारो आसकल्पाऽऽदिः, तेन विहारेण, स्थानमूर्द्धस्थानं, चङ्क्रमणं गमनं,स्थानं च चङ् क्रमणं चेत्येकवद्भावः । तेन चाविरुद्ध–देशकायोत्सर्गकरणेन युगमात्रावनिप्रलोकनपुरस्सराऽद्रुतगमनेन चेत्यर्थः । शक्यः सुविहितो ज्ञातुम्, भाषावैनयिकेन च–विनय एव वैनयिकम् समालोच्य भाषणेन आचार्याऽऽदिविणयकरणेन चेति भावना । नैतान्येवंभूतानि प्रायशोऽसुविहितानां भवन्तीति गाथाऽर्थः ॥७९॥

इत्थमभिहिते सत्याह चोदकः–

आलएणं विहारेणं, ठाणाचंकमणेण य ।
न सक्का सुविहिओ नाउं, भासावेणइएवण य ॥८०॥

आलयेन विहारेण स्थानचङ्क्रमणेन च न शक्यः सुविहितो ज्ञातुं, भाषावैनयिकेन चोदायिनृपमारकमाथुरकोट्टइल्लाऽऽदिभिर्व्यभिचारात् । तथा च प्रतीतमिदम्–असंयता अपि हीनसत्त्वाः लब्ध्यादिनिमित्तं संयतवच्चेष्टन्ते, संयता अपि च कारणतोऽसंयतवदिति गाथाऽर्थः ॥८०॥

किञ्च–

भरहो पसन्नचंदो, सब्भिंतरवाहिरं उदाहरणं ।
दोसुप्पत्तिगुणकरं, न तेसि बज्झं भवे करणं ॥८१॥

भरतः प्रसन्नचन्द्रः साभ्यान्तरबाह्यमुदाहरणम्–अभ्यन्तरं भरतः, यतस्तस्य बाह्यकरणरहिस्यापि विभूषितस्यैवाऽऽदर्शकग्रहप्रविष्टस्य विशिष्टभावनापरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । बाह्यम्–प्रसन्नचन्द्रः । ('पसण्णचंद' शब्दे प्रसन्नचन्द्रकथाविस्तरः) यतस्तस्योत्कृष्टबाह्य-करणवतोऽप्यन्तःकरणविकलस्याधः सप्तमनरकप्रायोग्यकर्मबन्धो बभूव । तदेवं दोषोत्पत्तिगुणकरं न तयोर्भरतप्रसन्नचन्द्रयोः । (बज्झं भवे करणं ति) छान्दसत्वादभूत् करणं दोषोत्पत्तिकारकं भरतस्य नाभूदशोभनं, बाह्यं करणं गुणकारकं प्रसन्नचन्द्रस्य नाभूच्छोभनमपीति । तस्मादान्तरमेव करणं प्रधानम्, न च तदालयादिनाऽवगन्तुं शक्यते, गुणाधिकं च वन्दनमुक्तमिति कृत्वा भाव एव श्रेयानिति स्थितम्। इत्ययं गाथाऽभिप्रायः ॥८१॥

इत्थं तीर्थाङ्गभूतव्यवहारनयनिरपेक्षं चोदकमवगम्याऽन्येषां पारलौकिकापायप्रदर्शनायाऽऽहाऽऽचार्यः–

पत्तेअबुद्धकरणे, चरणं नासंति जिणवरिंदाणं ।
आहच्चभावकहणे, पंचहिँ ठाणेहिँ पासत्था ॥८२॥

प्रत्येकबुद्धाः पूर्वभवाभ्यस्तोभवकरणा भरताऽऽदयः, तेषां करणं, तस्मिन्नान्तर एव फलसाधके सति मन्दमतयश्चरणं नाशयन्ति जिनवरेन्द्राणां संबन्धिभूतम्, आत्मनः, अन्येषां च। पाठान्तरं वा–''बोहिं नासेंति जिणवरिंदाणं।'' कथम्? ''आहच्चभावकहणे त्ति'' कादाचित्क-भावकथने बाह्यकरणरहितैरेव भरताऽऽदिभिः केवलमुत्पादितमित्यादिलक्षणे, कथं नाशयन्ति? पञ्चभिः स्थानैः प्राणातिपाताऽऽदिभिः पारम्पर्येण करणभूतैः, पार्श्वस्था उक्तलक्षणाः । इति गाथाऽर्थः ॥८२॥

यतश्च–

उम्मग्गदेसणाए, चरणं नासंति जिणवरिंदाणं ।
वावन्नदंसणा खलु, न हु लब्धा तारिसा दट्ठुं ॥८३॥

उन्मार्गदेशनयाऽनयाऽनन्तराभिहितं चरणं नाशयन्ति जिनवरेन्द्राणां संबन्धिभूतमात्मनोऽन्येषां वा; व्यापन्नदर्शनाः खलु विनष्ट–

सम्यग्दर्शना निश्चयतः 'खलु' इत्यपिशब्दार्थो निपातः। तस्य व्यवहितः संबन्धः। तमुपरिष्टाद् दर्शयिष्यामः। (न हु लब्भा तारिसा दट्ठुं ति) नैव कल्पन्ते तादृशा दृष्टुमपि, किंपुनर्ज्ञानाऽऽदिना प्रतिलाभयितुमिति गाथार्थः ॥८३॥ आव०३ अ०। ति०। ('दंसण' शब्दे दर्शनप्राधान्यविचारः)

तत्र ज्ञाननयदर्शनम्–इदं ज्ञानमेवैहिकाऽऽमुष्मिकफलप्राप्तिका–रणं प्रधानं, युक्तियुक्तत्वात्, तथा चाऽऽह निर्युक्तिकारः–

नायम्मि गिण्हियव्वे, अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि।
जइयव्वमेव इइ जो, उवएसो सो नओ नाम ॥३५६२॥

'नायम्मि' ज्ञाते सम्यक् परिच्छिन्ने ग्रहीतव्ये उपादेये (अगिण्हि–यव्वम्मि त्ति) अग्रहीतव्ये अनुपादेये, हेय इति भावः। चशब्दः खलूभयोर्ग्रहीताग्रहीतव्ययोर्ज्ञातव्यानुकर्षणार्थः, उपेक्षणीयवस्तुसमुच्चयार्थो वा। एवकारश्चावधारणार्थः। तस्य चैवं व्यवहितः प्रयोगो द्रष्टव्यः। ज्ञान एव ग्रहीतव्ये, तथाऽग्रहीतव्ये, उपेक्षणीये च ज्ञात एव नाज्ञाते अर्थे ऐहिकाऽऽमुष्मिके। तत्रैहिको ग्रहीतव्यः स्वच्चन्दनाऽऽदिभिः, अग्रहीतव्यो विषशस्त्रकण्टकाऽऽदिः, उपेक्षणीयस्तृणाऽऽदिः। आमुष्मिको ग्रहीतव्यः सम्यग्दर्शनाऽऽदिः, अग्रहीतव्यो मिथ्यात्वाऽऽदिः, उपेक्षणीयो विषयाऽऽदिः, तस्मिन्नर्थे यतितव्यमेव अनुस्वारलोपाद् यतितव्यमेवं क्रमेण ऐहिकाऽऽमुष्मि–कफलप्राप्त्यर्थिना सत्त्वेन प्रवृत्यादिलक्षणो यत्नः कार्य इत्यर्थः। इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्–सम्यगज्ञाते प्रवर्त्तमानस्य फलविसंवाददर्शनात्।

तथा चोक्तमन्यैरपि–

''विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता।
मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात्'' ॥१२६॥(नयो०)

तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनाऽपि ज्ञानादेव यतितव्यम्। (३५६२) आ०म०१ अ०२खण्ड। इह ज्ञाननयो ज्ञानप्राधान्यख्यापनार्थं प्रतिपादयति–नन्वैहिकाऽऽमुष्मिकफलार्थिना तावत् सम्यग् विज्ञात एवार्थे प्रवर्त्तितव्यम्; अन्यथाप्रवृत्तौ फलविसंवाददर्शनात्। तथा चान्यैरप्युक्तम्–''विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता। मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् ॥२२६॥ (नयो०) तथा चाऽऽगमेऽप्युक्तम्–'' ''पढमं नाणं तओ दया'' इत्यादि। ''जं अन्नाणी कम्मं खवेइ'' इत्यादि। तथाऽपरमप्युक्तम्– ''पावाओ विणिवत्ती, पवत्तणा तह य कुसलपक्खम्मि।
विणयस्स वि पडिवत्ती, तिन्नि वि नाणे समप्पंति ॥१॥''

इतश्च ज्ञानस्यैव प्राधान्यम्, यतस्तार्थकरगणधरैरगीतार्थानां केवलानां विहारोऽपि निषिद्धः। तथा च तद्वचनम्–

''गीयत्थो य विहारो, बीयो गीयत्थमीसिओ भणिओ।
एत्तो तइयविहारो, नाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥१॥''

न यस्मादन्धेनान्धः समाकृष्यमाणः सम्यक् पन्थानं प्रतिपद्यत इति भावः। एवं तावत् क्षायोपशमिकं ज्ञानमधिकृत्योक्तम्, क्षायिकमप्यङ्गीकृत्य विशिष्टफलसाधकत्वं तस्यैव ज्ञेयम्, यस्मादर्हतोऽपि भवाम्भोधेः तटस्थस्य दीक्षाप्रतिपन्नस्योत्कृष्टतपश्चरणवतोऽपि न तावदपवर्गप्राप्तिः संजायते, यावदखिलजीवाऽऽदिवस्तुस्तोमसाक्षात्करणदक्षं केवलज्ञानं नोत्पन्नम्। तस्माद् ज्ञानमेव पुरुषार्थसिद्धेर्निबन्धनम्। प्रयोगश्चात्रयद् येन विना न भवति तत्तन्निबन्धनमेव, तथा जीवाऽऽद्यविनाभावी तन्निबन्धन एवाङ् -कुरः, ज्ञानाविनाभाविनी च सकलपुरुषार्थसिद्धिरिति। ततश्चायं नयश्चतुर्विधसामायिके सम्यक्त्वश्रुतसामायिके एवाभ्युपगच्छति, ज्ञानाऽऽत्मकत्वेन तयोरेव मुख्यमुक्तिकारणत्वात्। देशसर्वविरतिसामायिके तु नेच्छति, ज्ञानकार्यत्वेन गौणत्वात्तयोरिति। विशे०। बृ०। सूत्र०। अनु०। आचा०। नि०चू०। दश०। सम्म०।

णाणणिण्हवया स्त्री०(ज्ञाननिह्नवता) ६ त०। श्रुतस्य श्रुतगुरूणां वाऽपलपने, भ०८श०६उ०।

णाणणिव्वत्ति स्त्री०(ज्ञाननिर्वृत्ति) ज्ञानस्य आभिनिबोधिकादितया निष्पत्तौ, सा चाभिनिबोधिकाऽऽदिभेदेन पञ्चविधा। यस्य यावन्ति ज्ञानानि तस्य तावती। भ०२० श०५उ०।

णाणतव न०(ज्ञानतपस्) तीर्थकृतां केवलोत्पत्त्यर्थं कृतेऽष्टमा–ऽऽदितपसि, यथा पार्श्वजिनर्षभस्वामिमल्लिनाथारिष्टनेमीनामष्टमेन वासुपूज्यस्य चतुर्थेन शेषाणामजितस्वाम्यादीनामूनवि–शतिजिनानां षष्ठेन भक्तेन केवलज्ञानमुत्पेदे। प्रव०४५ द्वार।

णाणतह न०(ज्ञानतत्थ) सत्यादिकेन ज्ञानपञ्चकेन यथास्वमवितथे विषयोपलम्भे, सूत्र०१श्रु०१३अ०।

णाणतिग न०(ज्ञानत्रिक) मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानत्रये, कर्म०४ कर्म०।

णाणतिलगगणि पुं०(ज्ञानतिलकगणिन्) पद्मराजगणिशिष्ये गौतमकुलकवृत्तिकारके, स च वैक्रमीये १६६० मिते वत्सरेवर्त्तमान आसीत्। जै०इ०।

णाणत्त न०(नानात्व) नानाभावो नानात्वम्। वर्णाऽऽदिकृते वैचित्र्ये, प्रज्ञा०१५ पद। भ०। नि०चू०। व्य०। स्था०।

णाणत्ता स्त्री०(नानाता) नानाभावो नानाता। विशेषे, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

अथ 'णाणत्त त्ति' नानातालक्षणं विवरीषुराह–

णाणत्त त्ति विसेसो, सो दव्वक्खेत्तकालभावेहिं।
असमाणाणं णेओ, समाणसंखाणमविसेसो ॥२१६१॥
परमाणुदुयणुयाणं, जह नाणत्तं तहाऽवसेसाणं।
असमाणाणं तह खेत्तकालभावप्पभेयाणं ॥२१६२॥

नाना इत्येतस्य भावो नानातावस्तूनां परस्परं भिन्नता, विशेष इत्यर्थः। स च विशेषो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरसमानानामसमानसंख्यानां ज्ञेयोऽवगन्तव्यः, द्रव्याऽऽदिभिः समानसंख्यानां पुनरविशेष इति ॥२१६१॥ अत्रोदाहरणमाह–(परमाणित्यादि) यथा द्रव्यसंख्यया असमानानां परमाणूनां द्व्यणुकस्कन्धानां च, तथाऽवशेषाणां द्व्यणुकानां त्र्यणुकानां च, तथा त्र्यणुकानां चतुरणुकानां च, तथा चतुरणुकानां पञ्चाणुकानां चेत्यादिद्रव्यसंख्ययाऽसमानानां परस्परं नानात्वं विशेषो ज्ञेयः। तथा तेनैव प्रकारेण क्षेत्रकालभावसंख्ययाऽसमानानां क्षेत्रकालभावप्रभेदानामपि परस्परं नानात्वं विशेषो मन्तव्यः; तद्यथा–एकप्रदेशावगाढानां द्व्यादिप्रदेशावगाढानां च, तथैक-समयस्थितिकानां द्व्यादिसमयस्थितिकानां च, तथा एकगुणकालकाऽऽदीनां द्विगुणकालकाऽऽदीनां चेत्यादि। उपलक्षणं चेदमद्रव्यतः समानसंख्यानामपि परमाण्वादीनां क्षेत्रकालभा–

वैर्नानात्वं द्रष्टव्यम् । एवमेकाऽऽदिप्रदेशावगाढानां क्षेत्रावगाढप्रदेशैः समानसंख्यानामपि द्रव्यकालभावैर्नानात्वम्, एकसमयाऽऽदिस्थितीनां च स्थितिसमयैः समानसंख्यानामपि द्रव्यक्षेत्रभावैर्नानात्वम्, एकगुणकालकाऽऽदीनां च वर्णगन्धाऽऽदिगुणैः समानसंख्यानामपि द्रव्यक्षेत्रकालैर्नानात्वमिति ॥२१६२॥ विशे०। आ०चू०।

***ज्ञानात्मन्** पुं० । ज्ञानविशेषत उपसर्जनीकृतदर्शनाऽऽदिरात्मा ज्ञानाऽऽत्मा। सम्यग्दृष्टेरात्मनि, भ०१२ श०१० उ०।

णाणदंसण न०(ज्ञानदर्शन) ज्ञानं च दर्शनं च, ज्ञानेन वा दर्शनं ज्ञानदर्शनम् । ज्ञानदर्शनयुग्मे, ''अत्थि णं मम अइसेसे नाणदंसणे समुप्पन्ने।'' स्था०७ ठा०।

णाणदंसणलक्खणा स्त्री०(ज्ञानदर्शनलक्षणा) ज्ञानं च दर्शनं च लक्षणं स्वरूपं यस्याः सा ज्ञानदर्शनलक्षणा । सम्यग् ज्ञानसम्यग्दर्शनरूपायां मोक्षमार्गगतौ, ''मोक्खमग्गगइं तत्थं, सुणेह जिणभासियं। चउकारणसंजुत्तं, नाणदंसणलक्खणं'' ॥१॥ उत्त०२८ अ०।

णाणदंसणसमग्ग त्रि०(ज्ञानदर्शनसमग्र) ज्ञानदर्शनाभ्यां पूर्णे, ''तत्तो णाणदंसणसमग्गे'' उत्त०८अ०।

णाणदव्व न०(ज्ञानद्रव्य) ज्ञानद्रव्यं देवकार्ये उपयोगि स्यान्न वा, यदि स्यात्तदा देवपूजायां प्रासादाऽऽदौ वेति प्रश्ने, उत्तरम्– ''एकत्रैव स्थानके देवरिक्तं, क्षेत्रद्वय्यामेव तु ज्ञानरिक्तम् । सप्तक्षेत्र्यामेव तु स्थापनीयं, श्रीसिद्धान्तो जैन एवं ब्रवीति ॥१॥'' एतत्काव्यमुपदेशसप्ततिकाप्रान्तेऽस्त्येतदनुसारेण ज्ञानद्रव्यं देवपूजायां प्रासादाऽऽदौ चोपयोगि भवतीति। ८४ प्र०। सेन०२ उल्ला०।

णाणदाण न०(ज्ञानदान) श्रुतज्ञाने, ''अन्येभ्यो भव्यवर्गेभ्योऽध्यापनश्रावणाऽऽदिभिः । यद्दानमागमस्यैतज्ज्ञानदानमुदाहृतम् ॥१॥'' ग०२अधि०।

णाणदिट्ठि स्त्री०(ज्ञानदृष्टि) तत्त्वज्ञानरूपायां दृष्टौ, अष्ट०१ अष्ट०।

णाणदीव पुं०(ज्ञानदीप) अज्ञानध्वान्तनाशात् तत्त्वज्ञानप्रदीपे, द्वा० २५ द्वा०।

णाणधण त्रि०(ज्ञानधन) ज्ञानवित्ते विपश्चिति, आव०४ अ०।

णाणधम्म पुं०(ज्ञानधर्म) वर्धमानसूरिवंशपरम्परायां साधुरङ्गसूरेः शिष्ये, ''तच्छिष्या ज्ञानधर्माख्याः, पाठकाः परमोत्तमाः । जैनाऽऽगमरहस्यार्थदायका गुणनायकाः ॥१॥'' तच्छिष्याणां दीपचन्द्राणां शत्रुञ्जयाऽऽद्यनेकतीर्थेषु प्रतिष्ठाविधायिनां शिष्येण देवचन्द्रेण यथोविजयकृतज्ञानसाराष्टकस्य टीका विरचिता। अष्ट० ३२ अष्ट०।

णाणपज्जव पुं०(ज्ञानपर्याय) ज्ञानविशेषे बुद्धिकृतेऽविभागपलि–च्छेदे, भ०२ श०१उ०।

णाणपडिणीयया स्त्री०(ज्ञानप्रत्यनीकता) ज्ञानस्य श्रुताऽऽदेः तत्साधनस्य पुस्तकाऽऽदेः(कर्म०१कर्म०) तदभेदाद् ज्ञानवतां वा सामान्येन प्रतिकूलतायाम्, भ०८श०९उ०।

णाणपडिसेवणाकुसील पुं०(ज्ञानप्रतिसेवनाकुशील) ज्ञानस्य प्रतिसेवनया कुशीलो ज्ञानप्रतिसेवनाकुशीलः । प्रतिसेवना-कुशीले, भ०२५ श०६उ०।

णाणपरिणाम पुं०(ज्ञानपरिणाम) ज्ञानलक्षणे जीवपरिणामे, प्रज्ञा० १५ पद।

णाणपरीसह पुं०(ज्ञानपरीषह) ज्ञानं मत्यादि तत्परीषहणं च ज्ञानपरीषहः । विशिष्टस्य ज्ञानस्य सद्भावे मदवर्जने अभावे, दैन्यवर्जने, ग्रन्थान्तरे त्वज्ञानपरीषह इति पठ्यते, तथैवास्माभिर्दर्शितम् । भ०८श०८उ०।

णाणपायच्छित्त न०(ज्ञानप्रायश्चित्त) पापं छिनत्तीति । प्रायश्चित्तभेदे, स्था०३ठा०४उ०।

णाणपुरिस पुं०(ज्ञानपुरुष) ज्ञानलक्षणभावप्रधाने पुरुषे, स्था०३ ठा०१उ०।

णाणपेज्जदोष न०(नानाप्रेमदोष) प्रेम च द्वेषश्च प्रेमद्वेषं, नानाप्रकारं प्रेमद्वेषं नानाप्रेमद्वेषम्। अविनयभेदे, स्था०३ ठा० ३उ०।

णाणप्पओस पुं०(ज्ञानप्रद्वेष) श्रुताऽऽदौ ज्ञाने, ज्ञानवत्सु वाऽप्रीतौ, भ०८श०९उ०।

णाणप्पयार त्रि०(नानाप्रकार) विचित्रे, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०। आव०।

णाणप्पवाय न०(ज्ञानप्रवाद) यत्र ज्ञानं मत्यादिकं स्वरूपभेदाऽऽदिभिः प्रोच्यते तज्ज्ञानप्रवादम्। स०। स्था०। ज्ञानं ज्ञानाऽऽदिभेदभिन्नं पञ्चप्रकारं तत्सप्रपञ्चं वदति ज्ञानप्रवादम्। नं०। ज्ञानस्य मतिज्ञानाऽऽदिपञ्चकस्य भेदप्ररूपणा यस्मात् तज्ज्ञानप्रवादम्। चतुर्दशानां पूर्वाणां पञ्चमे, स०। स्था०। तस्य पदपरिमाणमेका पदकोटी । नं०। ''नाणप्पवायस्स णं पुव्वस्स वारस वत्थू पण्णत्ता''। स०।

णाणफल त्रि०(ज्ञानफल) ज्ञानं फलं येषां तानि ज्ञानफलानि । श्रुतज्ञानाऽऽराधनाऽऽदिषु कर्मसु, उत्त०२ अ०।

णाणबल न०(ज्ञानबल) ज्ञानबलमतीताऽऽदिवस्तुपरिच्छेदसामर्थ्यम्, चारित्रसाधनतया मोक्षसाधनसामर्थ्यं वा तस्मिन्। स्था०१० ठा०।

णाणबोहि पुं०(ज्ञानबोधिन्) ज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमभूता ज्ञानप्राप्तिः । स्था०२ ठा०४उ०।

णाणभट्ठ त्रि०(ज्ञानभ्रष्ट) ५ त०। सदसद्विवेकभ्रष्टे, आचा०१ श्रु०६ अ०४उ०।

णाणभाव पुं०(ज्ञानभाव) अधिगमे उपयोगे, नि०चू०२०उ०।

णाणभावणा स्त्री०(ज्ञानभावना) ज्ञानस्य भावना ज्ञानभावना। एवंभूतं मौनीन्द्रं ज्ञानप्रवचनं यथाऽवस्थिताशेषपदार्थाविर्भावकमित्येवंरूपायां भावनायाम्, आचा०२ श्रु०३चू०१ अ०१उ०।

णाणमंजरी स्त्री०(ज्ञानमञ्जरी) यशोविजयोपाध्यायकृत-ज्ञानसाराभिधाष्टकग्रन्थस्य देवचन्द्रगणिकृतायां टीकायाम्, सा चात्यशुद्धेति विद्वज्जनचेतश्चमत्कृतिं नादधाति । ''स्याद्वादसु–

रहस्यानां, ज्ञानाल्लब्धोदयेन च । देवचन्द्रेणः बोधार्थं, सट्टीकेयं विनिर्मिता'' ॥१॥ वैक्रमीये रसनिधिजलधिचन्द्र १७९६ मिते संवत्सरे । अष्ट०३२ अष्ट०।

णाणमंत त्रि०(ज्ञानवत्) ज्ञानशालिनि, नि०चू०१उ०।

णाणमग्ग त्रि०(ज्ञानमग्न) आत्मस्वरूपोपलब्धियुक्ते, अष्ट०२ अष्ट०।

णाणमय पुं०(ज्ञानमद) आत्मनो विज्ञत्वहेतुकेऽहङ्कारे, ''ज्ञानं मददर्पहरं, माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः ? अगदो यस्य विषायति, तस्य चिकित्सा कथं क्रियते?'' ॥१॥ सूत्र०१ श्रु०१३अ०।

***ज्ञानमय** त्रि०। ज्ञानाऽऽत्मके, आव०४अ०।

णाणमूढ पुं०(ज्ञानमूढ) उदितज्ञानाऽऽवरणे, स्था०२ ठा०४ उ०।

णाणमोह पुं०(ज्ञानमोह) ज्ञानविषयके मोहे, स्था०२ ठा०४ उ०। (व्याख्याऽस्य 'मोह' शब्दे द्रष्टव्या)

णाणरासि पुं०(ज्ञानराशि) सद्बोधनिकरे, पञ्चा०१५ विव०।

णाणवल न०(ज्ञानबल) अतीताऽऽदिवस्तुपरिच्छेदसामर्थ्ये, स्था०१० ठा०।

णाणवाइ(ण्) त्रि०(ज्ञानवादिन्) यथाऽवस्थितवस्तुपरिज्ञानादेव मोक्ष इत्येवंवादिनि, सूत्र०१ श्रु० ६ अ०।

णाणवि त्रि०(ज्ञानवित्) ज्ञानं यथाऽवस्थितपदार्थपरिच्छेदकं तद्वेत्तीति ज्ञानवित्। ज्ञानवेत्तरि, ''से आयवि णाणवि'' आचा०१ श्रु०३ अ०१उ०।

णाणविणय पुं०(ज्ञानविनय) ज्ञानमाभिनिबोधिकाऽऽदि पञ्चधा, तदेव विनयो, ज्ञानस्य वा विनयो भक्त्यादिकरणं ज्ञानविनयः। स्था०७ ठा०। ज्ञानानां श्रद्धानभक्तिबहुमानतद् दृष्टार्थभावनाविधिग्रहमत्यादिना-ऽभ्यासे, भ०२५ श०७उ०। ज्ञानविनयः पञ्चधा, ज्ञानस्य पञ्चविधत्वात्। औ०।

ज्ञानविनयमाह–

नाणं सिक्खइ नाणं, गुणेइ नाणेण कुणइ किच्चाइं ।
नाणी नवं न बंधइ, नाणविणीओ हवइ तम्हा ॥८३॥

ज्ञान शिक्षयत्यपूर्वं ज्ञानमादत्ते, ज्ञानं गुणयति गृहीतं सत् प्रत्यावर्तयति, ज्ञानेन करोति कृत्यानि संयमकृत्यानि, एवं ज्ञानी नवं कर्म न बध्नाति, प्राक्तनं च विनयति यस्माद् ज्ञानविनीतो ज्ञानेनापनीतकर्मा भवति, तस्मादिति गाथाऽर्थः ॥८३॥ दश०९ अ०१उ०।

णाणविणयपरिहीण त्रि०(ज्ञानविनयपरिहीन) ज्ञानाऽऽचारपरिहीने, चं०प्र०२० पाहु०।

णाणविमलगणि पुं०(ज्ञानविमलगणिन्) श्रीवल्लभमुनिगुरौ, अयं विक्रमसंवत् १६५४ मिते विद्यमान आसीत्। अनेन महेश्वरसूरिकृतशब्दप्रभेदग्रन्थस्योपरि टीका कृता। जै०इ०।

णाणविराहणा स्त्री०(ज्ञानविराधना) विराधना खण्डना, ज्ञानस्य विराधना ज्ञानविराधना, ज्ञाननिन्दया गुर्वादिनिन्हवेन च ज्ञानखण्डनायाम्, ध०३अधि०। निह्नवाऽऽदिरूपायां ज्ञानप्रत्यनीकतायाम्, स०१सम०।

णाणविसंवायणाजोग पुं०(ज्ञानविसंवादनायोग) ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा व्यभिचारदर्शनाय व्यापारे, भ०८श०९उ०।

णाणविसोहि स्त्री०(ज्ञानविशुद्धि) ज्ञानाऽऽचारपरिपालनतो ज्ञानस्य विशुद्धौ, स्था०१० ठा०।

णाणवुड्ढ पुं०(ज्ञानवृद्ध) ज्ञानं हेयोपादेयवस्तुनिश्चयः, तेन वृद्धा महान्तः। ध०१ अधि०। श्रुतस्थविरेषु, हा०२४ अष्ट०।

ज्ञानबुद्ध पुं०। ज्ञानेन प्रतिबुद्धे, स्था०२ ठा०४उ०। (व्याख्याऽस्य 'बुद्ध' शब्दे द्रष्टव्या)

णाणसंका स्त्री०(ज्ञानशङ्का) श्रुतज्ञानविषयकशङ्कायाम्, सूत्र०१ श्रु०१३अ०।

णाणसंपण्ण पुं०(ज्ञानसंपन्न) श्रुतसंपन्ने, स च दोषविपाकं प्राय–श्चित्तं, चाऽवगच्छतीति आलोचनाऽर्हतयोक्तः। स्था०८ ठा०।

णाणसंपण्णया स्त्री०(ज्ञानसंपन्नता) श्रुतज्ञानसहितत्वे, (उत्त०)

नाणसंपण्णयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? नाणसंपण्णयाए णं जीवे सव्वभावाभिगमं जणयइ, नाणसंपण्णे य णं जीवे चाउरंतसंसारकंतारे न विणस्सइ। ''जहा सूई ससुत्ता पडिया वि न विणस्सई। तहा जीवो ससुत्तो संसारे वि न विणस्सइ'' ॥१॥ नाणविणयतवचरित्तजोगं संपाउणइ, ससमयपरसमयविसारए संघायणिज्जे भवइ ॥५९॥

हे भदन्त ! ज्ञानसंपन्नतया ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य संपन्नता श्रुतज्ञानसंपत्तिः, तया जीवः किं फलं जनयति ? तदा गुरुराह–हे शिष्य ! श्रुतज्ञानसंपन्नतया जीवः सर्वभावाभिगमम्–सर्वे च ते भावाश्च सर्वभावाः जीवाजीवाऽऽदयः, तेषामभिगमः सर्वभावाऽभिगमः, तं सर्वभावाभिगमं जीवाजीवाऽऽदितत्त्वज्ञानं जनयति। तथा ज्ञानसंपन्नो जीवश्चतुरन्तसंसारकान्तारे चतुर्गतिलक्षणे संसारवने न विनश्यति मोक्षाद् विशेषेण दूरं नादृश्यो भवति। तथाहि–ससूत्रा सूचीकच्चवराऽऽदिषु पतिता सती न नश्यति–अदृश्या न भवति, नाशं न प्राप्नोति। तथा जीवोऽपि ससूत्रः श्रुतज्ञानसहितः संसारे विनष्टो न भवतीति भावः। ततश्च श्रुतज्ञानविनयतपश्चारित्रयोगान् संप्राप्नोति। ज्ञानं च विनयश्च तपश्च चारित्रयोगाश्च ज्ञानविनयतपश्चारित्रयोगाः, तान् सम्यक् प्रकारेण प्राप्नोति, तत्र ज्ञानम्– अवध्यादि, विनयः प्रसिद्धः, तपो द्वादशविधम्, चारित्रव्यापारास्तान् सर्वान् लभते, पुनः श्रुतज्ञानी स्वसमयपरसमयसङ्घातनीयो भवति स्वमतपरमतयोः सङ्घातनीयो मीलनीयः स्यात्। एतावता स्वमतपरमताभिज्ञत्वेन प्रधानपुरुषत्वात्, पण्डितेषु गणनीयो भवतीति भावः ॥५९॥ उत्त०२९अ०।

णाणसमाहि पुं०(ज्ञानसमाधि) अपूर्वश्रुतावगाहनपूर्वकभावसमाधौ, ''जह जह सुयमवगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमउव्वं। तह तह पल्हाइ मुणी, णवणवसंवेगसद्धाए ॥१॥'' सूत्र०१ श्रु०१० अ०।

णाणसागर पुं०(ज्ञानसागर) तपागच्छीयसोमसूरीणां शिष्ये, ग०४ अधि०। अनेनाऽऽवश्यकौघनिर्युक्तिचूर्ण्यो, मुनिसुव्रतस्तवनं धनौघनवखण्डपार्श्वनाथस्तवनं चैत्यादयो अन्या रचि–

ताः। अस्य विक्रमसंवत् १४०५ मिते जन्म, १४१७ मिते दीक्षा, १४४१ मिते सूरिपदं, १४६० मिते स्वर्गतिः। जै०इ०।

णाणसार न०(ज्ञानसार) यशोविजयोपाध्यायकृते पूर्णाष्टकाऽऽदिकेऽष्ट-श्लोकाऽऽत्मकद्वात्रिंशदष्टकविभूषिते ग्रन्थविशेषे, अष्ट०१ अष्ट०।

णाणसिद्ध पुं०(ज्ञानसिद्ध) भवस्थकेवलिनि, दश०४अ०।

णाणा अव्य०(नाना) न+नाञ्। विनार्थे, अनेकार्थे, उभयार्थे च। वाच०। ''णाणादुमलयाऽऽइन्नं, णाणापक्खिणिसेविअं। णाणाकुसु मसंछन्नं, उज्जाणं णंदणोवमं।१।'' नानाद्रुमलताकीर्णं विविधवृक्षवल्लीभिर्व्याप्तम्। उत्त०२० अ० सूत्र०। रा० स०।

णाणाइगुणजुय त्रि०(ज्ञानाऽऽदिगुणयुत) सम्यग्ज्ञानश्रद्धानगुरु-भक्तिसत्त्वप्रभृतिगुणसंपन्ने, पञ्चा० २ विव०।

णाणाछंद त्रि०(नानाछन्द) नाना भिन्नश्छन्दोऽभिप्रायो येषां ते तथा। भिन्नाभिप्रायेषु, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

णाणादिट्ठि त्रि०(नानादृष्टि) नानारूपा दृष्टिर्दर्शनं येषां ते तथा। सूत्र०२ श्रु०१ अ०१उ०। नानारूपा दृष्टिरन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा। सर्वज्ञप्रणीताऽऽगमानाश्रयणान्निबन्धनाभावाद् भिन्नदर्शनेषु, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

णाणादुवग्गह पुं०(ज्ञानाऽऽद्युपग्रह) साधुगतज्ञानप्रभृतिगुणोपष्टम्भे, पञ्चा०१२ विव०।

णाणापन्न त्रि०(नानाप्रज्ञ) नानाप्रकारा विचित्रक्षयोपशमात् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा, सा विचित्रा येषां ते तथा। नानामतिषु, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

णाणापिंडरय त्रि०(नानापिण्डरत) नाना अनेकप्रकाराभिग्रहविशेषात् प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिण्ड आहारपिण्डः, नाना चासौ पिण्डश्च नानापिण्डः, अन्तप्रान्ताऽऽदि वा। तस्मिन् रता नानापिण्डरताः। नानापिण्डेऽनुद्वेगवत्सु, ''णाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो।'' दश०१अ०।

णाणाभिगम पुं०(ज्ञानाभिगम) मत्यादिज्ञानेन बोधे, स्था०३ ठा०२उ०।

णाणामणि पुं०(नानामणि) नानाप्रकारेषु मणिषु, रा०।

णाणामणिकणगरयणभूसणविराइयंगमंगाणं।

नानाविधानि मणिकनकरत्नानि येषु भूषणेषु तानि, तैर्नानामणिकनकरत्नभूषणैर्विराजितान्यङ्गोपाङ्गानि यासां तास्तथा तासाम्।

णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहणिउणोचियमिसमिसंत-विरइयमहाभरणकडगतुडियवरभूसणुज्जलंतपीवरपलंवदाहि-णभुयं पसारेति।

नानाविधानि मणिकनकरत्नानि येषु तानि नानामणिकनकरत्नानि, मणयो नानाविधाश्चन्द्रकान्ताऽऽदयः, कनकानि नानावर्णतया, रत्नानि नानाविधानि कर्केतनाऽऽदीनि, तथा विमलानि निर्मलानि, तथा महान्तमुपभोक्तारमर्हति। यदि वामहदुत्सवं क्षणमर्हन्तीति महार्हाणि, तथा निपुणं निपुणबुद्धिगम्यं यथा भवति। रा० भ० जी०। ''णाणामणितित्थसुबद्धाओ।'' नानामणिभिर्नानाप्रकारैर्मणिभिस्तीर्थानि सुबद्धानि यासां ता नानामणितीर्थसुबद्धाः। रा० जी०। ''णाणामणि[illegible]मालंकिया।'' नानामणयो नानामणिमयानि दामानि मालास्तैरलङ्कृतानि नानामणिदामालङ्कृतानि। रा० जी०। नानाजातीयेषु मणिषु, कल्प०२ क्षण।

णाणामल्ल न०(नानामाल्य) नानारूपे पुष्पे, जी०३ प्रति०४ उ०। ''नानामल्लपिणद्धा।'' नानारूपाणि माल्यानि पुष्पाणि पिनद्धानि आविद्धानि यासां ता नानामाल्यपिनद्धाः। क्तान्तस्य परनिपातः, सुखाऽऽदिदर्शनात्। रा०।

णाणामय न०(ज्ञानामृत) ज्ञानमवबोधः, तदेवामृतम्, अविनाशिपदहेतुत्वात्। अष्ट०७ अष्ट०। ज्ञानरूपे पीयूषे, ''पीत्वा ज्ञानामृतं भुक्त्वा, क्रियासुरलताफलम्। साम्यताम्बूलमास्वाद्य, तृप्तिं याति परां मुनिः ॥१॥'' अष्ट०१० अष्ट०।

णाणायार पुं०(ज्ञानाचार) ज्ञानं श्रुतज्ञानं, तद्विषय आचारः। स०२३सम०। श्रुतज्ञानविषये कालाध्ययनविनयाध्यापनाऽऽदिरूपे व्यवहारे, स०१अङ्ग।

साम्प्रतं ज्ञानाऽऽचारमाह–

कालें विणएँ बहुमाणे, उवहाणे तह य अनिण्हवणे।
वंजणअत्थतदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो ॥१६०॥

(काल इति) यो यस्याङ्गप्रविष्टाऽऽदेः श्रुतस्य काल उक्तः, तस्य तस्मिन्नेव काले स्वाध्यायः कर्तव्यो, नान्यदा, तीर्थकरवचनात्। दृष्टं च कृष्यादेरपि कालग्रहणे फलं, विपर्यये च विपर्यय इति। अत्रोदाहरणम्– ''एको साहू पादोसियं कालं घेत्तूण अइक्कंताए वि पढमपोरिसीए अणुवओगेण पढति कालियं सुत्तं। सम्मद्दिट्ठिदेवया चिंतेतिमा अण्णा पंतदेवया छलिज्ज त्ति काउं तक्कं कुंडे घेत्तूण तक्कं तक्कं ति तस्स पुरओ अभिक्खणं २ गयागयाइं करेति। तेण य चिरस्स सज्झायस्स वाघातं करेइ त्ति। भणिया य अयाणिए! को इमो तक्कस्स विक्कयणकालो? वेलं ता पलोवेह। तीए वि भणियं–अहो को इमो कालियसुयस्स सज्झायकालो त्ति? तओ साहुणा णायं–जहा ण एसा पागइत्थि त्ति। उवउत्तो णाओ अद्धरत्ते दिण्णं मिच्छादुक्कडं। देवयाए भणियंमा एवं करेज्जासि, मा पंता छलेज्जा। तओ काले सज्झाइयव्वं, ण उ अकाले त्ति''। दश०। (एतच्च तृतीयभागे ४६६ पृष्ठे 'कालायार' शब्दे द्रष्टव्यम्)

तथा श्रुतग्रहणं कुर्वता गुरोर्विनयः कार्यः, विनयोऽभ्युत्थानपादधावनाऽऽदिः, अविनयगृहीतं हि तदफलं भवति। दश०नि०३अ० आचा०। (एवं विनयबहुमानोपधानानिह्नवाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वशब्दे द्रष्टव्या)

अत्रानाचरणे प्रायश्चित्तम्–

इदाणिं कालाणायाराऽऽदिसु जेऽभिहिता पच्छित्ता, ते केइ मतविसेसिया जहा भवंति न भवंति य, तहा भण्णति–

सुत्तमि एते लहुगा, पच्छित्ता अत्थें गुरुग केसिं वि।
तं तु ण पुज्जति जम्हा, दोण्ह वि लहुआ अणज्झाए ॥२१॥

जे एते पच्छित्ता भणिता ते सुत्ते लहुगा, अत्थे गुरुगा, केसिं मतेणेवं भण्णति। आयरिओ भणतितदिदं केसिं मतं ण जुज्जते, ण य घडए, णोवलंभति पडिच्छति। सीसो भणतिकम्हा? आयरिओ भणतिजम्हा दोण्ह वि लहुता अणज्झाए

अकाले असज्झाइए वा सुत्तत्थाइं करेंताणं सामण्णेण लहुगा भणिता, तम्हा ण घडति।

जे पुण केइ आयरिया लहुगुरुविसेसं इच्छंति, ते इमेण कारणेणं भणंति–

अत्थधरो तु पमाणं, तित्थगरमुहुग्गतो तु सो जम्हा।
पुव्वं च होति अत्था, अत्थे गुरु जेसि तेसेवं ॥२२॥

सुत्तधरे णामेगे, णो अत्थधरे, एवं चउभंगो कायव्वो। कालदावराणं भंगाणं सुत्तत्थप्पत्ते गहियाणं गुरुलाघवं चिंतिज्जति, कुलगण–संघसमितीसु सामायारीपरूवणेसु य सुत्तधराओ अत्थधरो पमाणं भवति। तहा गणाणुण्णाकाले गुरू ततियभंगिल्लासति बितियभंगे अत्थधरे गणाणुण्णं करेंति, ण सुत्तधरे; एवं अत्थधरो गुरुतरो, पमाणं च। किं च–तित्थगरमुहुग्गतो सो अत्थो जम्हा, सुत्तं पुण महत्तगणधरमुहुग्गतं–''अत्थं भासति अरहा गाहा,'' तम्हा गुरुतरो अत्थो।

किं च–

''पुव्वं च होति अत्थो, पच्छा सुत्तं भणंति भणियं च।
अरहा अत्थं भासति, तमेव सुत्तीकरेति गणधारी।
अत्थेण विणा सुत्तं, अणिस्सियं केरिसं होति ? ॥१॥''

(जेसिं त्ति) जेसिं आयरिआणं तेसेवं ति। जगारुद्दिट्ठाणं तगारेणं तिणिद्देसो कीरति। सगारा एगारो पिही पिहो कज्जति–एवं ततो भवति। एवंसद्देण य एवं कारणाणि घोसेंति भणंति य। अत्थे गुरूणि सुत्ते लहुआ पच्छित्ता। इत्ति भणितो अट्ठविहो णाणायारो। नि०चू० १उ०।

णाणारंभ त्रि०(नानाऽऽरम्भ) नानाप्रकार आरम्भो धर्मानुष्ठानं येषां ते नानाऽऽरम्भाः। विभिन्नधर्मकेषु, सूत्र०२ श्रु०१अ०। कृषिपा–शुपाल्यवि-पणिशिल्पिकर्मसेवाऽऽदिषु अन्यतराऽऽरम्भकर्तरि, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

णाणाराहण न०(ज्ञानाऽऽराधन) आगमार्थानुपासने, पञ्चा० १७ विव०। ''नाणाराहणा तिविहा पण्णत्ता। तं जहा–उक्कोसा, मज्झिमा, जहण्णा।''स्था०३ठा०४उ०।

णाणारिय पुं०(ज्ञानार्य) ज्ञानेन आर्यत्वहेतुना। आर्यभेदे, प्रज्ञा०। १ पद। आभिनिबोधिकाऽऽदिभेदात् पञ्चविधा ज्ञानार्याः। प्रज्ञा०१ पद।

णाणारुइ त्रि०(नानारुचि) नानारूपा रुचिः चेतोऽभिप्रायो येषां ते तथा। सूत्र०२ श्रु०१ अ०। विभिन्नाभिप्रायेषु, आहारविहारशयनाऽऽसनाऽऽच्छादनाऽऽभरणयानवाहनगीतवादित्राऽऽदिषु मध्येऽन्यस्यान्या रुचिर्भवति। सूत्र०२ श्रु०२अ०।

णाणावरण न०(ज्ञानाऽऽवरण) ६त०। सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि विशेषग्रहणाऽऽत्मकस्य बोधस्य मतिश्रुतावधिमनः पर्याय–केवललक्षणस्य स्वप्रभावत आच्छादके अष्टानां कर्मणां प्रथमे, प्रव० २१६ द्वार। पं०सं०। उत्त०। बृ०। (ज्ञानाऽऽवरणकर्मणोऽवि–भागपरिच्छेदैरंशैः सर्वजीवानामनन्ततमो भागो नित्यापावृत इति 'अक्खर' शब्दे प्रथमभागे १३६ पृष्ठे उक्तम्) ज्ञानाऽऽवरणं पञ्चधा–मतिज्ञानाऽऽवरणं, श्रुतज्ञानाऽऽवरणम्, अवधिज्ञानाऽऽवरणं, मनः पर्यायज्ञानाऽऽवरणं, केवलज्ञानाऽऽवरणं च। प्रव० २१६ द्वार।(तत्र पञ्चानां ज्ञानानां स्वरूपं यथास्थानं द्रष्टव्यम्)

इदानीमेतेषामावरणमाह–

एसिं जं आवरणं, पडु व्व चक्खुस्स तं तयावरणं। (६)

एषां मतिज्ञानाऽऽदीनां पञ्चानां ज्ञानानां यदावरणमाच्छादकं, पट इव सूत्राऽऽदिनिष्पन्नशाटक इव, चक्षुषो लोचनस्य, तत्तेषां मतिज्ञानाऽऽदीनामावरणं तदावरणमुच्यते। इदमत्र हृदयम्–यथा घनघनतरघनतमेन पटेनाऽऽवृतं सन्निर्मलमपि चक्षुर्मन्दमन्दतरमन्दतमदर्शनं भवति, तथा ज्ञानाऽऽवरणेन कर्मणा घनघनतरघनतमेनाऽऽवृतोऽयं जीवः शारदशशधरकरनिकरनिर्मलतरोऽपि मन्दमन्दतरमन्दतमज्ञानो भवति, तेन पटोपमं ज्ञानाऽऽवरणं कर्मोच्यते। तत्राऽऽवरणस्य सामान्यत एकरूपत्वेऽपि यत्पूर्वोक्तानेकभेदभिन्नस्य मतिज्ञानस्यानेकभेदमेवाऽऽवरणस्वभावं कर्म तन्मतिज्ञानाऽऽवरणमेकग्रहणेन गृह्यते चक्षुषः पटलमिव १। तथा पूर्वाऽभिहितभेदसन्दोहस्य श्रुतज्ञानस्य यदावरणस्वभावं कर्मतत् श्रुतज्ञानाऽऽवरणम् २। तथा प्राक् प्रपञ्चितभेदकदम्बकस्यावधि–ज्ञानस्य यदावरणस्वभाव कर्म तदवधिज्ञानाऽऽवरणम् ३। तथा प्राङ्निर्णीतभेदद्वयस्य मनःपर्यवज्ञानस्य यदावरणस्वभावं कर्म तन्मनःपर्यायज्ञानाऽऽवरणम् ४। तथा पूर्वप्ररूपितस्वरूपस्य केवलज्ञानस्य यदावरणस्वभावं कर्म तत्केवलज्ञानाऽऽवरणम् ५।

उक्तं च बृहत्कर्मविपाके–

''सरउग्गयससिनिम्मल–तरस्स जीवस्स छायणं जमिह।
नाणावरणं कम्मं, पडोवडं होइ एवं तु ॥१॥
जह निम्मला वि चक्खू, पडेण केणावि ठाइया संती।
मंदं मंदतरागं, पिच्छइ सा निम्मला जइ वि ॥२॥
तह मइसुयनाणावर–णअवहिमणकेवलाण आवरणं।
जीवं निम्मलरूवं, आवरइ इमेहिँ भेएहिं ''॥३॥

तदेवमेतानि पञ्चाऽऽवरणान्युत्तरप्रकृतयः, तन्निष्पन्नं तु सामान्येन ज्ञानाऽऽवरणं मूलप्रकृतिः। यथाऽङ्गुलिपञ्चकनिष्पन्नो मुष्टिः, मूलत्वक्पत्रशाखाऽऽदिसमुदयनिष्पन्नो वा वृक्षः, घृतगुडकणिक्काऽऽदिनिष्पन्नो वा मोदक इति; एवमुत्तरत्रापि भावनीयम्। व्याख्यातं पञ्चविधं ज्ञानाऽऽवरणं कर्म। कर्म०१ कर्म०।

णाणआवरणं चेव, आहियं तु दुपंचहा ॥५९॥

ज्ञानाऽऽवरणं द्विपञ्चधा दशप्रकारमाख्यातम्।

तानेव दश भेदान् विवेक्तुमाह–

सोयावरणे चेव वि, णाणावरणं च होइ तस्सेव।
एवं दुयभेएणं, णायव्वं जाव फासो त्ति ॥६०॥

श्रोत्राऽऽवरणं, तथा तस्यैव श्रोत्रस्य ज्ञानाऽऽवरणमेव द्विकभेदेन तावद् ज्ञातव्यं यावत् स्पर्शः। तद्यथा–चक्षुरिन्द्रियाऽऽवरणं चक्षुरिन्द्रियज्ञानाऽऽवरणम्, घ्राणेन्द्रियाऽऽवरणं घ्राणेन्द्रियज्ञानाऽऽवरणम्, रसनेन्द्रियाऽऽवरणं रसनेन्द्रियज्ञानाऽऽवरणम्, स्पर्शेन्द्रियाऽऽवरणं स्पर्शेन्द्रियज्ञानाऽऽवरणमिति। व्य०१०उ०। (सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे रागाऽऽदीनां ज्ञानाऽऽवरणत्वम् (ज्ञानाऽऽवरणीयस्योत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धोदयसत्तास्थानानां संवेधः ''कम्म'' शब्दे तृतीयभागे २९६ पृष्ठे गतः)

णाणावरणिज्ज न०(ज्ञानाऽऽवरणीय) ज्ञानमावृणोतीति ज्ञानाऽऽवरणीयम्। ज्ञानाऽऽवरणकर्मणि, ''सरउग्गयससिणिम्मलतरस्स जीवस्स छायणं जमिह। नाणाऽऽवरणं कम्मं, पडोवमं होइ एवं तु ॥१॥'' स्था०२ ठा०४उ०।

णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–देसणाणाव–

रणिज्जे चेव, सव्वणाणावरणिज्जे चेव, दरिसणावरणिज्जे कम्मे एवं चेव।

देशं ज्ञानस्याऽऽभिबोधिकाऽऽदिमावृणोतीति देशज्ञानाऽऽवरणी–यम्, सर्वं ज्ञानं केवलाऽऽख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानाऽऽवरणीयम्, केवलज्ञानाऽऽवरणं हि आदित्यकल्पकेवलज्ञानरूपस्य जीवस्या–ऽऽच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमिति तत्सर्वं ज्ञानाऽऽवरणम्। मत्याद्यावरणं तु घनाऽऽच्छादिताऽऽदित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवल–ज्ञानदेशस्य कटकुड्याऽऽदिरूपज्ञानाऽऽवरणतुल्यमिति देशाऽऽव–रणमिति। पठ्यते च–''केवलणाणावरणं, दंसणछक्कं च मोहवार–सगं। ता सव्वघाइसन्ना, भवंति मिच्छत्तवीसइमं'' ॥१॥ इति। (अनन्तानु–बन्धाऽऽदीत्यर्थः) अथवा देशोपघाति सर्वोपघाति पड्डुकापेक्षया देशसर्वाऽऽवरणत्वमस्य।

यदाह–

''मइसुयनाणाऽऽवरणं, दंसणमोहं च तदुपघाईणि।
तप्पड्डगाइँ दुविहाइँ देससव्वोपघाईणि ॥१॥
सव्वेसु सव्वघाईसु हएसु देसोवघाइयाणं च।
भोगेहिँ मुच्चमाणो, समए समए अणतेहिं ॥२॥
पढमं लभइ णगारं, एक्केक्कं वन्नमेवमन्नं ति।
कमसो विसुज्झमाणो, लहइ समत्तं णमोक्कारं ॥३॥''

स्था०२ ठा०४उ०।

णाणावरणिज्जवग्ग पुं०(ज्ञानाऽऽवरणीयवर्ग) ज्ञानाऽऽवरण कर्मप्रकृति–समुदाये, क०प्र०।

णाणावरणिज्जकम्मसंघाय पुं०(ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मसङ्घात) ज्ञानघन–कर्मनिवहे, ''सुयदेवया भगवई, नाणावरणीयकम्मसंघायं। तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुयसागरे भत्ती ॥१॥'' पा०।

णाणावरणोदय पुं०(ज्ञानाऽऽवरणोदय) तत्काले ज्ञानाऽऽवरणी–यकर्मविपाके, आव०४अ०।

णाणाविह त्रि०(नानाविध) विविधप्रकारे, तं०। रा०। बहुप्रकारे, सूत्र०२ श्रु०३अ०। स०। ''णाणाविहरागवसणा।''नानाविधो नानाप्रकारो रागो येषां तानि नानाविधरागाणि, तान्येव वसनानि वस्त्राणि संवृततया यासां ता नानाविधरागवसनाः। जी०३ प्रति०४ उ०। आचा०। रा०।''णाणाविहपंचवण्णेहिं उवसोभिए।'' नानाविधा जातिभेदाद् नानाप्रकारा ये पञ्चवर्णा मणयस्तैरुपशोभितः। आ०म०१ अ०१ खण्ड। प्रज्ञा०। ''णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगसोभिया।''प्रत्यासन्ननीनाप्रकारैर्गु–च्छैर्वृन्ताकीप्रभृतिभिर्गुल्मैर्नवमल्लिकाऽऽदिभिर्मण्डपैर्द्राक्षाऽऽदि–मण्डपकैरुपशोभिता नानाविधगुच्छगुल्ममण्डपकशोभिता। जी०३ प्रति०४ उ०। ''णाणाविहरागरंजितउच्छितजज्झयविजयवेजयंती–पडागातिपडागमंडितं करें ति।'' नानाविधा रागा येषु ते नानाविधरागाः, नानाविधरागैरुच्छ्रितैरूर्ध्वीकृते ध्वजैः पताकाऽतिपताकाऽऽदिभिश्च भाण्डतां कुर्वन्ति। जी०३ प्रति०४उ०। ''णाणामणिकणगरयण–खइयउज्जलब लबहुसमसुविभत्तनिचितरमणिज्जकुट्टिमतला।'' नानामणिकनकरत्नानि खचितानि यत्र स नानामणिकनकरत्न–खचितः, निष्ठान्तस्य परनिपातो भार्याऽऽदिदर्शनात्। तथोज्ज्वलो निर्मलो बहुसमोऽत्यन्तसमः सुविभक्तो निचितो निविडो रमणीयश्च भूमिभागो यस्यां सा जी०३प्रति०। रा०। ''णाणाविहरागभूसि–यज्झयपडागमंडियं।'' नानाविधै रागैर्भूषिता ये ध्वजाः सिंहा–ऽऽदिरूपोपलक्षिता बृहत्यः प्रताकाश्च लध्वास्ताभिर्मण्डितं विभूषितम्। कल्प०५ क्षण।

णाणासील त्रि०(नानाशील) नानाप्रकारं शीलमनुष्ठानं येषां ते तथा। अनेकाऽऽचारेषु, सूत्र०२ श्रु०१अ०। परतीर्थिका नानाशीलाः, तत्र शीलं व्रतविशेषः, स च भिन्नस्तेषामनुभवसिद्ध एव। सूत्र०२ श्रु०२अ०।

णाणाहुइमंतपयाभिसित्त त्रि०(नानाऽऽहुतिमन्त्रपदाभिषिक्त) आहुतयो घृतप्रक्षेपाऽऽदिलक्षणाः मन्त्रपदान्यग्नये स्वाहा इत्येवमादीनि, तैरभिषि–क्तम्। दीक्षासंस्कृते, दश०६अ०१उ०।

णाणि(ण्) त्रि०(ज्ञानिन्) ज्ञानं सकलपदार्थाऽऽविर्भावकं विद्यते यस्यासौ ज्ञानी। आचा०१ श्रु०४ अ०२उ०। विशिष्टविवेकवति, सूत्र०१ श्रु०१अ०४उ०। नि०चू०। प्रज्ञा०। यथार्थतत्त्वस्वरूपावबोधिनि, अष्ट०६अष्ट०। परमार्थविदि, आचा०१ श्रु०३अ०३उ०। सूत्र०। जीवस्वरूपतद्बन्धकर्मवेदिनि, सूत्र०१ श्रु०११अ० ''णाणी तु तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं।''सूत्र०२ श्रु०५अ०। अनु०। उत्त०। ''जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुआइँ वासकोडीहिं। तं नाणी तेहिं ती, खवेइ ऊसासमेत्तेणं ॥१॥'' द०प०। स्था०। ('णाणणय' शब्दे १९९० पृष्ठे ज्ञानप्राधान्य–मुक्तम्)

ज्ञानवदवज्ञा यथा–

पढइ नडो वेरग्गं, इच्चाइ निदंसिऊण केइऽत्थ।
नाणङ्गाणमवन्नं, कुणंति नेयं वियाणंति ॥६१॥

पठति नटो वैराग्यमित्यादि निर्दिश्य कथयित्वा, आदिशब्दात्–''णिच्छिज्जिज्जा य बहुजणो जेण तं तह सढो जालेण समोयरइ'' इति दृश्यम्, सुगमं च। केऽपि स्तोका अनाभोगत एव, अनेके च। पकारलोपः पूर्ववत् रूपमिदम्। ज्ञानाऽऽढ्यानां बह्वागमानामवज्ञामश्लाघाऽऽदिरूपां कुर्वन्ति विदधति। नेति निषेधे, इदं च वक्ष्यमाणं, विजानन्ति बुध्यन्ते। इति गाथाऽर्थः ॥६१॥

तदेवाऽऽह–

नाणाहिओ वरतरं, हीणो वि हु पवयणं पभावितो।
न य दुक्करं करिंतो, सुद्धवि अप्पागमो पुरिसो ॥६२॥

सुबोधार्था।

तथा–

छट्ठऽट्ठमदसमदुवालसेहिँ अबहुसुयस्स जा सोही।
एत्तो बहुअरिया पुण, हविज्ज जिमियस्स नाणिस्स ॥६३॥

इयमपि सुगमा।

ननु यद्येवं तर्हि पूर्वोक्तस्य व्याहतिः, सत्यम्, तन्निन्दावाक्यमेवमसौ भण्यते। येन क्रियायामुद्यमं करोति न चाऽसौ गुणविकलः, कथमन्यथा त्वयोक्तं मे ''नाणाहियस्स नाणं पूइज्जइ'' इत्यादि।

अत्रैवार्थे जीवोपदेशमाह–

संसारसंभवाओ, दुहाओ जइ जीव! तं सि निव्विओ।
मा नाणीणमवण्णं, करेसु ता दीवतुल्लाणं ॥६४॥

संसारसंभवाद् भवोद् भूताद् दुःखादसाताद् यदि जीव! त्वं भवान् असि भवसि निर्विण्णः श्रान्तो, मेति निषेधे, तर्हि दीपतुल्यानां दीपसदृशानां, ज्ञानिनां ज्ञानवताम्, अवर्णम–

श्लाघं कुरु । अयमभिप्रायः–ज्ञानवतामवज्ञाऽऽदिकरणाद् ज्ञाना–ऽऽवरणीयं कर्म बध्यते । तथैव दर्शनाऽऽवरणीयं, तेन च मोहनीयं मोहनीयेन वा उदीर्णेनाऽष्टौ कर्माणि,ततश्च भवभ्रमणम्, एतच्च शतकभगवत्यादिषु सूत्रेषु प्रतीतमिति न वितन्यते । अत उक्तम्–ज्ञानाऽऽद्यवज्ञातो भवदुःखमिति गाथार्थः । जीवा०१६ अधि०। ज्ञानक्रियाकर्तरि, व्य०१उ०। (जीवा ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च 'णाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १९७२ पृष्ठे उक्ताः) अवधिज्ञानिनो मनःपर्यव–ज्ञानिनो वा कियन्तो भवान् कुर्वन्तीति प्रश्ने उत्तरम्–''आभिणि–बोहियनाणिस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं०जाव अवड्ढपोग्गल–परिअट्टं च पदेसूणं, सुअनाणिओहिनाणिमणपज्जवनाणीणं एवं चेव, केवलनाणिस्स नत्थि अंतरं।'' इत्यादिभगवतीसूत्राष्टमशतकद्वितीयोद्देशके; एतदक्षरानु-सारेणावधिज्ञानेन मनःपर्यवज्ञानिना वाऽनन्तभवान् कुर्वन्तीति ज्ञायत इति। ३८० प्र०। सेन०३ उल्ला०।

णाणिंद पुं०(ज्ञानेन्द्र) श्रुताऽऽद्यन्यतरज्ञानवशविवेचितवस्तुविशरे केवलिनि, स्था०२ ठा०४उ०। (व्याख्या 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३४ पृष्ठे उक्ता)

णाणुप्पायमहिमा स्त्री०(ज्ञानोत्पादमहिमन्) तीर्थकृतां केवल–ज्ञानोत्पादे च कृतमहोत्सवे, स्था०३ ठा०१उ०।

णाणोवओग पुं०(ज्ञानोपयोग) ज्ञाने व्याप्रियमाणतायाम्, प्रव०१०द्वार।

णाणोवघाय पुं०(ज्ञानोपघात) प्रमादतःश्रुतज्ञानोपघाते, स्था० १०ठा०।

णाणोवसंपया *स्त्री०(ज्ञानोपसंपत्) श्रुतज्ञानार्थमाचार्यान्तरोपसंपत्तौ*, ध०३अधि०। ('उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे ९८५ पृष्ठे तद्विधिः)

णात न०।त्रि०(ज्ञात) दृष्टान्ते, नि०चू०१०उ०। आहरणे, नि०चू० १५ उ०। अनु०। निदर्शने, पञ्चा०४ विव०। ज्ञा०। उदाहरणे, ज्ञाताध्ययने, नं०। सूत्र०। आगमिते, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार। ज्ञातमागमितमित्येकार्थम्। व्य०३उ०। सम्यक् परिच्छिन्ने, त्रि०। आव०६ अ०। आचा०। विदिते, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। उदारक्षत्रिये, बृ०१उ०। आचा०। उत्त०। प्रश्न०। इक्ष्वाकुवंशविशेषभूते, ज्ञा०१ श्रु०८अ०। श्रीऋषभदेवजातीये (कल्प०५ क्षण) क्षत्रियविशेषे, पुं०। सूत्र०१ श्रु० ६ अ०। स्था०। आचा०। यद्वंशे *श्रीवीरस्वामी जज्ञे । स्था०६ ठा०। ज्ञातपुत्रे*, सूत्र०१ श्रु०२ अ०२उ०।आ०चू०।

णातकुमार पुं०(ज्ञातकुमार) राज्यार्हे ज्ञातक्षत्रियकुमारे, ज्ञा०१ श्रु० ८ अ०।

णातकुलचंद पुं०(ज्ञातकुलचन्द्र) ज्ञातकुले चन्द्र इव। महावीर–स्वामिनि, कल्प०५ क्षण। आचा०।

णातखंड न०(ज्ञातखण्ड) स्वनामख्याते वने, यत्र महावीरस्वामी प्रव्रजितः। स्था०१० ठा०। आ०चू०।

णातपुत्त पुं०(ज्ञातपुत्र) ज्ञातः सिद्धार्थः तस्य पुत्रः। कल्प०५ क्षण। सिद्धार्थकक्षत्रियपुत्रे श्रीमहावीरे, ''णातपुत्ते महावीरे, एवमाह, जिणुत्तमे।'' सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०।

णाति स्त्री०(ज्ञाति) स्वजने, सूत्र०१ श्रु०३अ०१उ०।

णादिय त्रि०(नादित) लपिते, जी०३प्रति०४उ०।

णाध पुं०(नाथ) **''थो धः शौरसेन्याम् ।''** ॥८।४।२६७॥ इति प्राकृतसूत्रेण थस्य धकारः। प्रभौ, प्रा०४ पाद।

णाभि पुं०(नाभि) शकटरथाङ्गे, दश० ७ अ०। जठरस्य मध्या–वयवे, उत्त०२ अ०। अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे प्रथमकुलकरे श्रीऋषभदेव-पितरि, आव०१ अ०। नि०। आचा०। ति०। आ०म०। प्रव०। जं०। स्था०।

णाभिचक्क न०(नाभिचक्र) शरीरमध्यवर्तिनि समस्ताङ्गसन्निवेश–मूलभूते देहावयवे, द्वा०२६ द्वा०।

णाभिप्पभव त्रि०(नाभिप्रभव) नभिरुत्पन्ने,तं०।

णाभिरसहरणी स्त्री०(नाभिरसहरणी) नाभिनाले, तं०।

णाभेय पुं०(नाभेय) चतुःसहस्रभूपैः सह श्रीनाभेयजिनो दीक्षां जग्राह, तेषां दीक्षोच्चारः केन कारित इति प्रश्ने, उत्तरम्– ततः श्रीप्रथमजिनेन सह प्रभुवद् व्रतं जगृहुरिति ऋषिचरित्राऽऽदौ। २५६ प्र०। सेन०३ उल्ला०।

णाम पुं०(नाम) नमनं नामः। परिणामे, भावे, (भ०)

कइविहे णं भंते ! णामे पण्णत्ते ? गोयमा ! छव्विहे णामे पण्णत्ते। तं जहा–उदइए०जाव सण्णिवाए। से किं तं उदइए णामे ? उदइए णामे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–उदइए य, उदयणिप्फमो य। एवं जहा सतरसमसए पढमे उद्देसए भावो तहेव इह वि। णवरं इमं णाणत्तं सेसं तहेव०जाव सण्णिवाइए॥

नमनं नामः, परिणामो, भाव इत्यनर्थान्तरम्। (णवरं इमं णाणत्त त्ति) *समदशशते भावमाश्रित्य इदं सूत्रमधीतमिह तु नामशब्दमाश्रि–त्येत्येतावान् विशेष इत्यर्थः*। भ०२५ श०५ उ०।

***नामन्** अव्य०। अलंकृतौ, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। वाक्यालङ्कारे, स्था०४ ठा०१ उ०। सूत्र०। दश०। पादपूरणे, प्रा०३ पाद। विपा०। नि०चू०। शिष्याऽऽमन्त्रणे, जं०१ वक्ष०। विशे०। जीवा०। कोमला–ऽऽमन्त्रणे, बृ०३उ०। तं०। विशे०। संभावनायाम्, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। आचा०। स्था०। ज्ञा०। अनु०। विशे०। दशा०। भ०। प्रसिद्धौ, कल्प०६ क्षण। अभ्यनुज्ञायाम्, विशे०। नमति ज्ञान–रूपाऽऽदिपर्याय-भेदानुसारतो जीवपरमाण्वादिवस्तुप्रतिपादकतया प्रह्वीभवतीति नाम। *तथा चाऽऽह–''जं वत्थुणोऽभिहाणं, पज्जवभेयाणुसारियं नाम। पइभेयं जं नमए, पइभेयं जाइयं भणियं ॥१॥''* उत्त० १अ०। विशे०। सूत्र०। यादृच्छिकाभिधाने, ज्ञा०१ श्रु०१अ०।

सामान्येन नाम्नस्तावल्लक्षणमाह–

पज्जायाणमिधेयं, ठियमण्णत्थे तयत्थनिरवेक्खं।
जाइच्छियं च नामं, जावद्दव्वं च पाएण ॥२५॥

यत् कस्मिँश्चिद् भृतकदारकाऽऽदौ इन्द्राऽऽद्यभिधानं क्रियते, तन्नाम भण्यते। कथंभूतं तत् ? इत्याह– पर्यायाणां शक्रपुरन्दर–पाकशासनशतमखहरिप्रभृतीनां समानार्थवाचकानां ध्वनीनाम–नभिधेयमवाच्यम्, नामवतः पिण्डस्य संबन्धी धर्मोऽयं नाम्न्युपचरितः, स हि नामवान् भृतकदारकाऽऽदिपिण्डः कि–

लैकेन सङ्केतितमात्रेणेन्द्राऽऽदिशब्देनैवाभिधीयते, न तु शेषैः शक्रपुरन्दरपाकशासनाऽऽदिशब्दैः, अतो नामयुक्तपिण्डगतधर्मो नाम्न्युपचरितः पर्यायानभिधेय इति। पुनरपि कथंभूतं तन्नाम? इत्याह–(ठियमण्णत्थे त्ति) विवक्षिताद् भृतकदारकाऽऽदिपिण्डा–दन्यश्चासावर्थश्चान्यार्थो देवाधिपाऽऽदिः, सद्भावतस्तत्र यत् स्थितम्, भृतकदारकाऽऽदौ तु सङ्केतमात्रतयैव वर्तते; अथवा–सद्भावतः स्थितमन्वर्थे–अनुगतः संबद्धःपरमैश्वर्याऽऽदिको ऽर्थो यत्र सोऽन्वर्थः–शचीपत्यादिः। सद्भावतस्तत्र स्थितं भृतकदारकाऽऽदौ तर्हि कथं वर्तते ? इत्याह–तदर्थनिरपेक्षं तस्येन्द्राऽऽदिनाम्नोऽर्थस्तदर्थः परमैश्वर्याऽऽदिस्तस्य निरक्षेपं सङ्केतमात्रेणैव तदर्थशून्ये भृतकदारकाऽऽदौ वर्तते, इति पर्यायानभिधेयम्, स्थितमन्यार्थे, अन्वर्थे वा; तदर्थनिरपेक्षं यत् क्वचिद् भृतकदारकाऽऽदौ इन्द्राऽऽद्यभिधानं क्रियते , तन्नाम, इतीह तात्पर्यार्थः। प्रकारान्तरेणापि नाम्नः स्वरूपमाह–यादृच्छिकं चेति। इदमुक्तं भवति–न केवलमनन्तरोक्तं, किं त्वन्यत्रावर्तमानमपि यदेवमेव यदृच्छया केन चिद् गोपालदारकाऽऽदेरभिधानं क्रियते, तदपि नाम, यथा डित्थो, डवित्थ इत्यादि। इदं चोभयरूपमपि कथंभूतम्? इत्याह–यावद् द्रव्यं च प्रायेणेतियावदेतद्वाच्यं द्रव्यमवतिष्ठते तावदिदं नामाप्यवतिष्ठत इति भावः। किं सर्वमपि ? न इत्याह– प्रायेणेति, मेरु–द्वीपसमुद्राऽऽदिकं नाम प्रभूतं यावद् द्रव्यभावि दृश्यते; किञ्चित्त्वन्यथाऽपि समीक्ष्यते,देवदत्ताऽऽदिनामवाच्यानां द्रव्याणां विद्यमानानामप्यपरापरनामपरावर्तस्य लोके दर्शनात्। सिद्धान्तेऽपि यदुक्तम्–''नामं आवकहियं ति'' तत् प्रतिनियतजनपदाऽऽदि–संज्ञामेवाङ्गीकृत्य, यथोत्तराः कुरव इत्यादि। तदेवं प्रकारद्वयेन नाम्नः स्वरूपमत्रोक्तम्, एतच्च तृतीयप्रकारस्योपलक्षणम्, पुस्तकपत्रचित्राऽऽदिलिखितस्य वस्त्वभिधानभूतेन्द्राऽऽदिवर्णाऽऽवलीमात्रस्थाप्यन्यत्र नामत्वेनोक्तत्वादिति। एतच्च सामान्येन नाम्नो लक्षणमुक्तम्। विशे०। (किञ्चिन्नाम निरर्थकमपि भवतीति 'उस्सारकप्पिय' शब्दे द्वितीयभागे ११७६ पृष्ठे गतम्) सर्वस्यापि घटपटाऽऽदिवस्तुन आत्मीयेऽभिधाने, विशे०। व्य०। संज्ञायाम्, ''यद् वस्तु नोऽभिधानं, स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षः। पर्यायानभिधेयं, च नाम यादृच्छिकं च तथा ॥१॥'' इति। स्था०३ ठा०१ उ०। दश०। आचा०। उत्त०। यत्तु ''णामं आवकहियं'' इति सूत्रे प्रोक्तं, तत्प्रतिनियतजनपदसंज्ञामाश्रित्यैवेति ध्येयम्। ननु 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गापदेन गङ्गातीरमभिधीयते। तत्र किं नामनिक्षेपस्य प्रवृत्तिः, उत निक्षेपान्तरस्य ? नाद्यः। जाह्नव्यादिपर्यायाऽभिधेयत्वेन तत्र नामनिक्षेपाप्रवृत्तेः। न द्वितीयः। प्रसिद्धनिक्षेपान्तराविषये तत्राप्रसिद्धनिक्षेपकल्पने तदियत्ताक्षतिप्रसङ्गादिति चेत्। ''जत्थ य जं जाणिज्जा, णिक्खेवं णिक्खिवे णिरवसेसं।'' इत्यनेन यथापरिज्ञानं निक्षेपान्तरकल्पनाया अप्यनुमतत्वेन दोषाभावात्। अस्तु वा तत्राभिप्रायिकी स्थापनैव, भवतु वा वैज्ञानिको भावनिक्षेपः, एवं गङ्गापदेन तीरे गङ्गाभेदाभिव्यक्तिवृत्त्या गङ्गागतशैत्यपावनत्वाऽऽदिधर्मयोगस्याभिव्यञ्जयितुमशक्यत्वात्, तत्प्रपञ्चितमलङ्कारचूडामणिवृत्तावस्मदादिभिः। तत् किं शक्तिलक्षणाऽन्यतरवृत्तिनिरपेक्षशब्दसङ्केतविषयत्वमेव नामलक्षणं स्थितमन्यार्थ इत्यत्र अनेकार्थवाच्यव्यावृत्तयेऽशक्यार्थ इति करणार्थाच्छक्यस्य पर्यायानभिधेयं चेत्यनेन लक्षणस्य च व्यावृत्तौ तात्पर्यात्। ओमिति चेत्, तर्हि रूपसत्यादिविषयेऽतिव्याप्तिः, तस्य द्रव्यनिक्षेपविषयत्वे च तत्रैव सति चेत्, न, उक्तलक्षण एव भावनिक्षेपविषयाभेदव्यवहारोपयिकरूपराहित्यावशेषण दाने दोषाभावात्। निरूढलक्षणायाः स्वीकारे तु लक्षणाया निरूढत्वज्ञापकवचनमेव निक्षेपः। तद्विषयविशेषस्तु अन्यव्यावृत्त्यादिना यथाव्यवहारं स्वीकार्य इति नातिप्रसङ्ग इति दिक्। नयो०। पारिभाषिक्यां संज्ञायाम्, विशे०। पितृपितामहाऽऽदेर्वाचकेऽभिधाने, अनु०।

गौणाऽऽदि नाम चतुर्द्धा। तद्यथा–गौणं, समयजं, तदुभयजम, अनुभयजं च। तत्र गुणादागतं गौणम्। अथ कोऽसौ गुणः, कथं च तत आगतम्? उच्यते–इह शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं योऽर्थो, यथा ज्वलनस्य दीपनं 'ज्वल' दीप्ताविति वचनात्, स गुणः। गुणश्चेह परतन्त्रो विवक्षितो, न पारिभाषिको रूपाऽऽदिः; तेन यच्छब्दस्य वस्तुनि प्रवर्तमानस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं द्रव्यं, गुणः, क्रिया वा, स गुण इत्यभिधीयते। तत्र द्रव्यं व्युत्पत्तिनिमित्तम्– शृङ्गी, दन्ती, विषाणीत्यादौ। गुणोजातरूपं सुवर्णं, स्वादु रसाश्चेते इत्यादौ। क्रियातपनःश्रमणो दीप्रो हिंस्रो ज्वलन इत्यादौ। जातिश्च नाम्नो व्युत्पत्तिनिमित्तं न भवति, किं प्रवृत्तिनिमित्तं; यथा गोशब्दस्य गोजातिः। तथाहि–गोशब्दस्य गमनक्रिया व्युत्पत्तिनिमित्तं, न गोत्वं, गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तेः केवलमेकार्थसमवायबलाद् गमनक्रियया खुरककुदलाङ्गूलसास्नाऽऽदिमत्त्वं प्रवृत्तिनिमित्तमुपलक्ष्यते, इति गच्छत्यगच्छति वा गोपिण्डे गोशब्दस्य प्रवृत्तिः। एवं सर्वेष्वपि जातिशब्देषु नामसु व्युत्पत्तिनिमित्तवत्सु भावनीयम्। ये तु जातिशब्दा व्युत्पत्तिरहिता यथाकथञ्चित् जातिमत्सु रूढिमुपागतास्तेषु व्युत्पत्तिनिमित्तमेव नास्तीति कुतस्तत्र जातेर्व्युत्पत्तिनिमित्तत्वप्रसङ्गः? तस्मात् जातिः परतन्त्राऽपि शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तमिति न सा गुणग्रहणेन गृह्यते। ये तु गोत्वविशिष्टो गोमानित्यादयो जातिव्युत्पत्तिनिमित्ता, न ते नामरूपा इति न तैर्व्यभिचारः, ततो गुणादागतं गौणं, व्युत्पत्तिनिमित्तं द्रव्याऽऽदिरूपं गुणमधिकृत्य यद्वस्तुनि प्रवृत्तं नाम तद्गुणनामेति भावार्थः। एतदेव नाम लोके यथार्थमित्याख्यायते। तथा–समयजं यदन्वर्थरहितं समय एव प्रसिद्धम्। यथा–ओदनस्य प्राभृतिका इति नाम। उभयजं यद्गुणान्निष्पन्नं समयप्रसिद्धं च, यथा धर्मध्वजस्य रजोहरणमिति नाम। इदं हि समयप्रसिद्धमन्वर्थयुक्तं च। तथाहि–बाह्यम्, आभ्यन्तरं च रजो ह्रियत इत्यनेन रजोहरणम्। तत्र बाह्यं रजोऽपहारित्वमस्य सुप्रतीतम्। आन्तररजोऽपहरणसमर्थाश्च परमार्थतः संयमयोगाः, तेषां च कारणमिदं धर्मलिङ्गमिति कारणे कार्योपचाराद् रजोहरणमित्युच्यते।

उक्तं च–

''हरइ रयं जीवाणं, बज्झं अब्भिंतरं च जं तेणं।
रयहरणं ति पवुच्चइ, कारणकज्जोवयाराओ ॥१॥
संजमजोगा इत्थं, रओहरा तेसि कारणं जेणं।
रयहरणं उवयारा, भन्नइ तेणं रओकम्मं ॥२॥''

अनुभयजं यदन्वर्थरहितं, समयाप्रसिद्धं च। यथा कस्यापि पुंसः शौर्यक्रौर्याऽऽदिगुणासंभवेन उपचाराभावे सिंह इति नाम। यद्वादेवा एनं देयासुरिति व्युत्पत्तिनिमित्तासंभवे

देवदत्त इति नाम । एवं पिण्ड इति वर्णाऽऽवलीरूपमपि नाम गौणाऽऽदिभेदाच्चतुर्द्धा । तत्र यदा बहूनां सजातीयानां विजातीयानां च कठिनद्रव्याणामेकत्र पिण्डने पिण्ड इति नाम प्रवर्तते, तद् गौणम्, व्युत्पत्तिनिमित्तस्य वाच्ये विद्यमानत्वात् । यदा तु समयपरिभाषया पानीयेऽपि पिण्ड इति नाम प्रयुज्यते तदा समयजम्, लोके हि कठिनद्रव्याणामेकत्र संश्लेषे पिण्ड इति प्रतीतं, न तु द्रवद्रव्यसंघाते, ततश्च पिण्डनं पिण्ड इति व्युत्पत्त्यर्थाघटनात् । पिं० नाम च यथार्थाऽऽदिभेदात्त्रिविधम् । तद्यथा–यथार्थम्, अयथार्थम्, अर्थशून्यं च। तत्र यथार्थम्–प्रदीपाऽऽदि, अयथार्थम्–पलाशाऽऽदि, अर्थशून्यम्–डित्थाऽऽदि । स्था०१ ठा० विशे० नामस्थापनाद्रव्यमित्येव द्रव्यार्थिकस्य निक्षेपः ।सम्म०१ काण्ड।

से किं तं णामे ? णामे दसविहे पण्णत्ते । तं जहा–एगणामे, दुणामे, तिणामे, चउणामे, पंचणामे, छणामे, सत्तणामे, अट्ठणामे, नवणामे, दसणामे ।

(णामे इत्यादि) इह जीवगतज्ञानाऽऽदिपर्यायेऽजीवगतरूपाऽऽदिपर्यायानुसारेण प्रतिवस्तु भेदं नमति तदभिधायकत्वेन प्रवर्तत इति नाम, वस्त्वभिधानमित्यर्थः । उक्तं च– ''जं वत्थुणोऽभिहाणं, पज्जयभेयाणुसारियं णामं । पइभेअं जं नमई, पइभेअं जाइयं भणिअं ॥१॥'' अनु० (एकनामाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) विचित्रपर्यायैर्नमयति गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम । कर्म०६ कर्म० पं०सं० स्था० दशा० प्रव० गत्यादिहेतौ कर्मणो मूलप्रकृतिभेदे, कर्म०।

णामकम्म(ण्) न०(नामकर्मन्) क०स०। जीवानां विचित्रपरिणामकर्मणामहेतौ कर्मभेदे, कर्म०।

तद् द्विविधम्–

णामकम्मे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–सुभणामे चेव, असुभणामे चेव ।

विचित्रपर्यायैर्नमयति परिणमयति यज्जीवं तन्नाम ।

एतत्स्वरूपं च–

''जह चित्तयरो निउणो, अणेगरूवाइँ कुणइ रूवाइं ।
सोहणमसोहणाइं, चक्खुमचक्खेहिँ वन्नेहिं ॥१॥
तह नामं पि हु कम्मं, अणेगरूवाइँ कुणइ जीवस्स ।
सोहणमसोहणाइं, इट्ठाणिट्ठाणि लोयस्स '' ॥२॥ इति ।

शुभं तीर्थकराऽऽदि, अशुभमनादेयत्वाऽऽदीति । स्था०२ ठा०४उ०।

नामकर्माभिधित्सुराह–

.....नामकम्म चित्तिसमं ।
बायालतिनवइविहं, तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥२३॥

(नामकम्म चित्तिसमं इत्यादि) नामकर्म भवति चित्रिसमं, चित्रं कर्म, तत् कर्तव्यतया विद्यते यस्य स चित्री चित्रकरः, तेन समं सदृशं चित्रिसमम् । यथा हि चित्री चित्रं चित्रप्रकारं विविधवर्णकैः करोति, तथा नामकर्मापि जीवम्–नारकोऽयम्, तिर्यग्योनिकोऽयम्, एकेन्द्रियोऽयम्, द्वीन्द्रियोऽयमित्यादिव्यपदेशैरनेकधा करोतीति चित्रिसममिदमिति । एतच्चानेकभेदम् । कथमित्याह–(बायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं उ सत्तट्ठि त्ति) अत्र विधाशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्विचत्वारिंशद्विधम् । यद् वात्रिनवतिविधम्, यदि वा–त्र्युत्तरशतविधम्, अथवा–सप्तषष्टिविधम् । चशब्दः समुच्चये व्यवहितसंबन्धश्च, स च तथैव योजितः ॥२३॥ कर्म०१ कर्म०।

नामकम्मे बायालीसविहे पण्णत्ते । तं जहा–गइनामे, जाइनामे, सरीरनामे, सरीरवंगनामे, सरीरबंधणनामे, सरीरसंघायणनामे, संघयणनामे, संठाणनामे, वन्ननामे, गंधनामे, रसनामे, फासनामे, अगुरुलहुयनामे, उवघायनामे, पराघायनामे, आणुपुव्वीनामे, उस्सासनामे, आयवनामे, उज्जोयनामे, विहगगइनामे, तसनामे, थावरनामे, सुहुमनामे,बायरनामे, पज्जत्तनामे, अपज्जत्तनामे, साहारणसरीरनामे, पत्तेयसरीरनामे, थिरनामे, अथिरनामे, सुभनामे, असुभनामे, सुभगनामे, दुब्भगनामे, सुस्सरनामे, दुस्सरनामे, आएज्जनामे, अणाएज्जनामे, जसोकित्तिनामे, अजसोकित्तिनामे, निम्माणनामे, तित्थगरनामे । स० ४२सम०।

अथ नामकर्मणो द्विचत्वारिंशतं भेदान् प्रचिकटयिषुराह–

गइजाइतणुउवंगा, बंधणसंघायणाणि संघयणा ।
संठाणवन्नगंधर–सफासअणुपुव्विविहगगई ॥२४॥

इह नाम्नः प्रस्तावत् सर्वत्र गत्यादिषु नामेत्युपस्कारः कार्यः । तथाहि–गतिनाम, जातिनाम्, तनुनाम, उपाङ्गनाम, बन्धननाम, सङ्घातननाम, संहननानाम, संस्थाननाम, वर्णनाम, गन्धनाम, रसनाम, स्पर्शनाम, आनुपूर्वीनाम, विहायोगतिनामेति । कर्म० १ कर्म०।

उक्ता नामकर्मणो द्विचत्वारिंशद्भेदाः । अथ तस्यैव त्रिनवतिभेदान् प्ररूपयितुकामो गत्यादिपदानां पिण्डप्रकृतिसंज्ञकानां मध्ये येन पदेन यावन्ती भेदाः पिण्डिता वर्तन्ते, तान् भेदान् तेषामाह–

गइयाईण उ कमसो, चउ पण पण ति पण पंच छ च्छक्कं ।
पण दुग पणऽट्ठ चउ दुग, इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥२९॥

गत्यादीनां पिण्डप्रकृतीनां पूर्वप्रदर्शितस्वरूपाणां पुनः क्रमशः क्रमेण, यथासंख्यमिति यावत्, चतुरादयो भेदा भवन्तीति वाक्यार्थः । तथाहि–गतिनाम चतुर्धा, जातिनाम पञ्चधा, तनुनाम पञ्चधा, उपाङ्गनाम त्रिधा, बन्धननाम् पञ्चधा, सङ्घाताननाम पञ्चधा, संहननानाम षोढा, संस्थाननाम षोढा, वर्णनाम पञ्चधा, गन्धनाम द्वेधा, रसनाम पञ्चधा, स्पर्शनाम अष्टधा, आनुपूर्वीनाम चतुर्द्धा, विहायोगतिनाम द्वेधा । एतेषां सर्वमीलने भेदाग्रमाह–(इय त्ति) इत्यमुना चतुरादिभेदमीलनप्रकारेणोत्तरभेदानां पञ्चषष्टिरिति ॥२९॥

अडवीसजुया तिन्नवइ, संते वा पनरबंधणे तिसयं ।
बंधणसंघायगहो, तणूसु सामन्नवन्नचऊ ॥३०॥

एषा पूर्वोक्ता पञ्चषष्टिरष्टाविंशतियुता प्रत्येकप्रकृत्यशीतिशत्या सह मीलने त्रिभिरधिका नवतिस्त्रिनवतिर्भवति । सा च क्वोपयुज्यत इत्याह–(संते त्ति) प्राकृतत्वात् सत्तायां सत्कर्म प्रतीत्य बोद्धव्येत्यर्थः । वाशब्दो विकल्पार्थो व्यवहितसंबन्धश्च । स चैवं योज्यतेपञ्चदशबन्धनैस्त्रिशतं वा पञ्चदशसंख्यैर्वक्ष्यमाणस्वरूपैर्बन्धनैः प्रदर्शितत्रिनवतिमध्ये प्रक्षिप्तैस्त्रिभिरधि–

कं शतं त्रिंशतं वा, सत्तायामधिक्रियत इति शेषः। अथ त्रिनवतिमध्ये पञ्चदशानां प्रकृतीनां प्रक्षेपेऽष्टोत्तरं शतं भवतीति चेत् ।उच्यतेया वक्ष्यमाणाः पञ्चदश बन्धननामप्रकृतयस्तासु मध्यात्सामान्यत औदारिकाऽऽदिबन्धनपञ्चकस्य त्रिनवतिमध्ये पूर्वप्रक्षिप्तत्वाच्छेषाणां दशानां प्रक्षेपे त्रिंशतमेव भवतीति न कश्चिद् विरोधः। सूत्रे च–''पनरबंधणे'' इत्यत्र विभक्तिवचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात्। इत्युक्ता नामकर्मणः त्रिनवतिस्त्र्युत्तरशतं च भेदानाम्। अथ सप्तषष्टिभेदानाह–(बंधणसंघायगहो तणूसु त्ति) बन्धनानि च पञ्चदश सङ्घाताश्च संघातनानि पञ्च बन्धनसंघातास्तेषां ग्रहणं ग्रहो बन्धनसंघातग्रहः। तनुषु शरीरेषु तनुग्रहणेनैव बन्धनसंघाता गृह्यन्ते, न पृथग् विवक्ष्यन्त इत्यर्थः। तथा–(सामन्नवन्नचउ त्ति) सामान्यं कृष्णनीलाऽऽद्य विशेषितं वर्णेनोपलक्षितं चतुष्कं सामान्यवर्णचतुष्कं, गृह्यत इति शेषः। अयमत्राऽऽशयः–इह सप्तषष्टिमध्ये औदारिकाऽऽदितनुपञ्चकमेव गृह्यते, न तद् बन्धनानि तत्संघातनानि च, यत औदारिकतन्वा स्वजातीयत्वादौदारिकतनुसदृशानि तद् बन्धनानि तत्संघाताश्च गृहीताः। एवं वैक्रिया–ऽऽदितन्वाऽपि निजनिजबन्धनसंघाता गृहीता इति न पृथगेते पञ्चदश बन्धनानि पञ्च संघाता गण्यन्ते। तथा–वर्णगन्धरस–स्पर्शानां यथासंख्यं पञ्चद्विपञ्चाष्टभेदैर्निष्पन्नां विंशतिमपनीय तेषामेव सामान्यं वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणं चतुष्कं गृह्यते, ततश्चानन्तरोदितत्र्युत्तरशताद्वर्णाऽऽदिषोडशक बन्धनपञ्चदशक संघातपञ्चक लक्षणानां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामपसारणे सति सप्तषष्टिर्भवतीति ॥३०॥

एतदेवाऽऽह–

इय सत्तट्ठी बंधो–दए य न य सम्ममीसया बंधे।
बंधुदए सत्ताए, वीसदुवीसऽट्ठवन्नसयं ॥३१॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण सप्तषष्टिर्नामकर्मप्रकृतीनां भवति। सा च क्वोपयुज्यते? इत्याह–(बंधोदए य त्ति) बन्धश्च उदयश्च बन्धोदयं, तस्मिन् बन्धोदये, बन्धे चोदये च सप्तषष्टिर्भवति, च–शब्दादुदीरणायां च सप्तषष्टिः। अथ बन्धनसङ्घातनवर्णाऽऽदिविशेषाणां विवक्षावशादेव बन्धेनाधिकार इत्युक्तम्, संप्रति ययोः प्रकृत्योः सर्वथैव बन्धो न भवति, ते आह–(न य सम्ममीसया बंधे त्ति) न च नैव सम्यक् त्वमिश्रके बन्धेऽधिक्रियेते। अयमभिप्रायः–सम्यक्त्वमिश्रयोर्बन्ध एव न भवति, किं तु मिथ्यात्वपुद्गलानामेव। जीवः सम्यक् त्वगुणेन मिथ्यात्वरूपतामपनीय केषाञ्चिदत्यन्तविशुद्धिमापादयति, अपरेषां त्वीषद् विशुद्धिं, केचित्पुनर्मिथ्यात्वरूपा एवावतिष्ठन्ते, तत्र येऽत्यन्तविशुद्धास्ते सम्यक्त्वव्यपदेशभाजः, ईषद् विशुद्धा मिश्रव्यपदेशभाजः, शेषा मिथ्यात्वमिति।

उक्तं च–

''सम्यक्त्वगुणेन ततो, विशोधयति कर्म तत्समिथ्यात्वम्।
यद्वच्छगणप्रमुखैः, शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः ॥१॥
यत्सर्वथाऽपि तत्र विशुद्धं तद्भवति कर्म सम्यक् त्वम्।
मिश्रं तु दरविशुद्धं, भवत्यशुद्धं तु मिथ्यात्वम् ॥२॥''

उदयोदीरणासत्तासु पुनः सम्यक्त्वमिश्रके अप्यधिक्रियेते। एवं च सति ज्ञानाऽऽवरणे पञ्च, दर्शनाऽऽवरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहनीये सम्यक् त्वमिश्रवर्जाः षड् विंशतिः, आयुषि चतस्रः, नाम्नि भेदान्तरसंभवेऽपि प्रदर्शितयुक्त्या सप्तषष्टिः, गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्चेत्येतद् विंशत्युत्तरं प्रकृतिशतं बन्धेऽधिक्रियते। एतदेव सम्यक्त्वमिश्रसहितं द्वाविंशत्युत्तरप्रकृतिशतमुदये, उदीरणायां च। सत्तायां पुनः शेषकर्मणां पञ्चपञ्चाशद् नाम्नः त्रिनवतिरित्यष्टाचत्वारिंशं शतम्। यद्वाशेषकर्मणां पञ्चपञ्चाशद् नाम्नस्त्र्युत्तरशतमित्यष्टापञ्चाशं शतमधिक्रियते, इत्येतदेव मनसिकृत्याऽऽह–(बंधुदए सत्ताए इत्यादि) इह शतशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् यथासंख्यं बन्धे विंशं शतम्, उदये उपलक्षणतवादुदीरणायां च द्वाविंशं शतं, सत्तायामष्टपञ्चाशं शतम्; उपलक्षणत्वादष्टाचत्वारिंशं शतमिति भावना सुकरैव ॥३१॥ कर्म०१ कर्म०। उत्त०।

इदानीं वर्णाऽऽदिचतुष्कोत्तरविंशतिभेदानां शुभाशुभ–

त्वयोरभिधित्सया प्राऽऽह–

नीलकसिणं दुगंधं, तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं।
सीयं च असुहनवगं, इक्कारसगं सुभं सेसं ॥४१॥

नीलकृष्णं नीलकृष्णाऽऽख्ये कर्मणी अशुभे, दुर्गन्धनाम 'तिक्त–कटुकमिति' तिक्तकटुके रसनाम्नी, गुरु खरं रूक्षं शीत चेति चत्वारि स्पर्शनामानि। एतानि च सर्वाण्यपि समुदितानि किमुच्यते? इत्याह–'अशुभनवकम्' नव प्रकृतयः परिमाणमस्य प्रकृतिवृन्दस्य तन्नवकम्, अशुभं च तन्नवकं चाशुभनवकम्। 'एकादशकम्' एकादशप्रकृतिसमूहरूपम्, यथा–रक्तपीतश्वेतवर्णाः, सुरभिगन्धो, मधुराऽऽम्लकषायरसाः, लघुमृदुस्निग्धोष्णस्पर्शा इति शुभं शुभविपाकवेद्यत्वात् शुभस्वरूपम्। कीदृक्षं तदित्याह–'शेषम्,' कुवर्णनवकादवशिष्टं, कोऽर्थः?–कुवर्णनवकाच्छेषा एकादश वर्णाऽऽदिभेदाः शुभवर्णैकादशकमुच्यत इति ॥४१॥ कर्म०१ कर्म०। ननु च शरीरपर्याप्त्यैव शरीरं भविष्यति, किं प्रागभिहितेन शरीरनाम्ना? नैतदस्ति, साध्यभेदात्। तथाहि–शरीरनाम्नो जीवेन गृहीतानां पुद्गलानामौदारिकाऽऽदिशरीरत्वेन परिणतिः साध्या, शरीरपर्याप्तेः पुनरारब्धशरीरस्य परिसमाप्तिरिति। अथ प्रागुक्तेनोच्छ्वासनाम्नैवोच्छ्वसनस्य सिद्धत्वादिहोच्छ्वासपर्याप्ति–र्निर्विषयेति। नैवम्, सतीमप्युच्छ्वासनामोदयेन जनितामुच्छ्वसनलब्धिमात्मशक्तिविशेषरूपामुच्छ्वासपर्याप्तिमन्तरेण व्यापारयितुं न शक्नुयात्। यथाहि–शरीरनामोदयेन गृहीता अप्यौदारिकाऽऽदिपुद्गलाः शक्तिविशेषरूपां शरीरपर्याप्तिं विना शरीररूपतया परिणमयितुं न शक्यन्त इति शरीरनाम्नः पृथगिष्यते शरीरपर्याप्तिः, एवमत्राप्युच्छ्वासनाम्नः पृथगुच्छ्वासपर्याप्तिरेष्टव्या, तुल्ययुक्तित्वादिति ॥४८॥ कर्म०१ कर्म०। स०। श्रा०। आचा०। पं०सं०। (यत्र गुणस्थानके यावत्यः प्रकृतयः संवेधमाश्रित्य भवन्ति, ताः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे ३१३ पृष्ठे दर्शिताः)

णामकरण न०(नामकरण) अभिधानमात्रकरणे, आ०म०१ अ०२ खण्ड। ''नाम्नाऽन्वर्थेन कीर्तिः स्यात्।'' नाम्नाऽन्वर्थेन गुणनिष्पन्नेन कीर्तिः स्यात् तत्कीर्तनमात्रादेव शब्दार्थप्रतिपत्तेर्विदुषां प्राकृतजनस्य च मनःप्रसादाद् यथा भद्रबाहुसुधर्मस्वामिप्रभृतीनाम्। द्वा०२८ द्वा०। न०।

णामगुत्त न०(नामगोत्र) नाम्ना गोत्रमिति प्रसिद्धं यत्कर्म गोत्राऽभिधानं कर्मत्यर्थः। *कल्प०२ क्षण। अन्वर्थयुक्ते नाम्नि, इहान्वर्थयुक्तं नाम* सिद्धान्तपरिभाषया नामगोत्रमित्युच्यते। सू०प्र०१९ पाहु०। रा०।

णामणय पुं०(नामनय) नामरूपमेव सर्वं वस्त्वित्येवं सिद्धान्तं व्यवसिते नये, (नयो०)

नामनयमाह–''यतो नाम विना नास्ति, वस्तुनो ग्रहणं ततः। नामैव तद् यथा कुम्भो, मृदेवान्यो न वस्तुतः ॥१॥'' तथाहि–यत्प्रतीतावेव यस्य प्रतीतिः, तदेव तस्य स्वरूपम्। यथा मृत्प्रतीतावेव प्रतीयमानस्य घटस्य मृदेव रूपं, नामप्रतीतावेव प्रतीयते वस्तु। न च विनाऽपि नाम निर्विकल्पकाविज्ञानेन वस्तुप्रतीतिरस्तीति हेतोरसिद्धता, असर्वसंविदां वाग्रूपत्वात्। तथा च भर्तृहरिः– ''वाग्रूपता चेद् बोधस्य, व्युत्क्रामेतेह शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी''॥१॥ यदि च नामरूपमेव वस्तु न स्यात्, ततश्च तदवगतावपि वस्तु संशयाऽऽदिनामन्यतममेव स्यात् तथा च पूज्याः–''संसयविवज्जया वाऽणज्झवसाओऽहवा जदिच्छाए। होज्जऽत्थे पडिवत्ती, न वत्थुधम्मो जया णामं ॥६२॥'' (विशे०) उत्त०१ अ०।

अस्मिंश्च नामाऽऽदिरूपचतुष्टये नामनयः प्रधानं नामैव मन्यते। तत्र ये सुगतमतानुसारिणो ''न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति'' इत्यादिवचनाद् नाम्नो वस्तुधर्मत्वमेव नेच्छन्ति, तान् प्रति नामनयः प्राऽऽह–

वत्थुसरूवं नामं, तप्पच्चयहेउओ सधम्म व्व।
वत्थुं नाऽणभिहाणा, होज्जाऽभावो विवाऽवच्चो ॥६१॥

नामनयस्यायमभिप्रायः–वस्तुनः स्वरूपं नाम, तत्प्रत्ययहेतुत्वात्, स्वधर्मवत्, इह यद् यस्य प्रत्ययहेतुस्तत् तस्य धर्मः, यथा घटस्य स्वधर्मा रूपाऽऽदयः, यच्च यस्य धर्मो न भवति न तत् तस्य प्रत्ययहेतुः, यथा घटस्य धर्माः पटस्य, संपद्यते च घटाभिधानाद् घटे संप्रत्ययः, तस्मात् तत् तस्य धर्मः; सिद्धश्च हेतुरावयोः, घटशब्दात् पटाऽऽदिव्यवच्छेदेन घट इति प्रतिपत्त्यनुभूतेः। सर्वं च वस्तु नामरूपतां न व्यभिचरतीति दर्शयन्नाह–(वत्थुमित्यादि) यदि वस्तुनो नामरूपता न स्यात्, तदा तद् वस्त्वेव न भवेदिति संबन्धः। कुतः? इत्याह–अनभिधानादभिधानरहितत्वादित्यर्थः। अवाच्योऽभिधानरहितत्वेनाऽनभिधेयो योऽसावभावः षष्ठभूताऽऽदिलक्षणस्तद्वदिति दृष्टान्तः। इह यदभिधानरहितं तद् वस्त्वेव न भवति, यथाऽभिधानरहितत्वेनाऽवाच्यः षष्ठभूतलक्षणोऽभावः; अभिधानरहितं च वस्त्वभ्युपगम्यते परैः, ततोऽवस्तुत्वमेवास्य भवेद्, अवस्तुत्वे च कुतस्तत्प्रत्ययहेतुत्वलक्षणस्य हेतोर्वृत्तिः, येनाऽनैकान्तिकता स्यात्? तत्र तद्वृत्तौ वा तस्यापि वस्तुत्वमेव भवेत्, स्वप्रत्ययजनकत्वात्, घटाऽऽदिवदिति। विपक्ष एव वृत्तेरभावाद् विरुद्धताऽप्यसंभविनीति। तस्माद् वस्तुधर्म एव नामेति स्थितम्। न च 'नद्यास्तीरे गुडभृतशकटम्' इत्यादिशब्दात् प्रवृत्तस्य कदाचिद् वस्त्वप्राप्तेरवस्तुधर्मता तस्येत्याशङ्कनीयम्, प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणानामपि तत्प्रसङ्गात्–तेभ्योऽपि हि प्रवृत्तस्य कदाचिद् वस्त्वप्राप्तेः। अबाधितेभ्यस्तेभ्यः प्रवृत्तौ भवत्येवाऽर्थप्राप्तिरिति चेत् तदेतदिहापि समानम्, सुविवेचितादाप्तप्रणीतशब्दाद् वस्तुप्राप्तेरत्राऽप्यवश्यंभावित्वात्, इत्यादि बहुत्र वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गात्, अन्यत्रोक्तत्वाच्च। इति गाथाऽर्थः ॥६१॥

किं च–

संसयविवज्जया वाऽणज्झवसाओऽहवा जदिच्छाए।
होज्जत्थे पडिवत्ती, न वत्थुधम्मो जया नामं ॥६२॥

यदा वस्तुधर्मो नाम नेष्यते, तदा वक्त्रा घटशब्दे समुच्चारिते श्रोतुः 'किमयमाह? इत्येवं संशय एव स्यात्, न घटप्रतिपत्तिः। अथवा घटशब्दे प्रोक्ते पटप्रतिपत्तिलक्षणो विपर्ययः स्यात्। अथवा–'न जाने किमप्यनेनोक्तम्' इति चित्तव्यामोहेन वस्त्वप्रतिपत्तिरूपोऽनध्यवसायः स्यात्। यदि वा–यदृच्छयाऽर्थे प्रतिपत्तिर्भवेत्–कदाचिद् घटस्य, कदाचित् पटस्य, कदाचित्तु स्तम्भस्येत्यादिः न चैवं भवति, तस्माद् वस्तुधर्म एव नाम। इति गाथाऽर्थः ॥६२॥

अपि च–

वत्थुस्स लक्खलक्खण–संववहाराऽविरोहसिद्धीओ।
अभिहाणाऽहीणाओ, बुद्धी सद्दो य किरिया य ॥६३॥

वस्तुनो जीवाऽऽदेः, किम्? इत्याह–अभिधानाधीना नामाऽयत्ताः। काः? इत्याह–लक्ष्यं च, लक्षणं च, संव्यवहारश्च लक्ष्य लक्षणसंव्यवहाराः, तेषामविरोधेनाऽविपर्ययेण सिद्धयः प्रतिष्ठाः। तत्र लक्ष्यं जीवत्वाऽऽदि, लक्षणमुपयोगः ह, संव्यवहारोऽध्येषणप्रेषणाऽऽदिः। तथा बुद्धिशब्दक्रियाश्च 'अभिधानाऽधीनाः' इत्यत्राऽपि संबध्यते। तत्र बुद्धिर्वस्तुनिश्चयरूपा, शब्दो घटाऽऽदिषु निरूपः, क्रिया चोत्क्षेपणाऽवक्षेपणाऽऽदिका। तस्मादभि व्यक्तं वस्तु सत्, तदाऽऽयत्ताऽऽत्मलाभत्वात् सर्वव्यवहारमानचसि गाथाऽर्थः ॥६३॥ विशे०।

णामणिप्फण्ण पुं०(नामनिष्पन्न) गौणाऽऽदिनामनिष्पन्नं। दश० नि०चू० १उ०।

णामणिमित्तत्त न०(नामनिमित्तत्व) नामनिमित्तं नामहेतुकं तद्भावस्तत्वम्। नामप्रतिपाद्यगुणाऽऽत्मकत्वे, षो० १२ विव०।

णामधेज्ज न०(नामधेय) नामैव नामधेयम्। ''नामरूपभागाद् धेयः'' ॥७।२।१५८॥ इति (हैम०) स्वार्थे धेयप्रत्ययः। सू०प्र० १० पाहु० १३ पाहु०। प्रश्न०। स्था०। प्रशस्ते नामनि, स्था०६ ठा०। दश०। नि०चू०। नं०। ज्ञा०। पर्यायध्वनौ, अनु०।

णामधेज्जवई स्त्री०(नामधेयवती) प्रशस्तनामधेयवत्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

णामपच्चयफड्डगपरूवणा स्त्री०(नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा) नामप्रत्ययस्य बन्धननामनिमित्तस्य शरीरप्रदेशस्पर्धकस्य प्ररूपणायाम्, क०प्र०। नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणायां षडनुयोगद्वाराणि। तद्यथा–अविभागप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, वर्गणापुद्गलस्नेहाविभागसकलसमुदायप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा चेति। (२३ गा०) क०प्र०। (एतत्सर्वं 'बंध' शब्दे स्पष्टीभविष्यति)

णामपुरिस पुं०(नामपुरुष) संज्ञामात्रेण पुरुषे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०। पुरुषेतिनाम्नि, स्था०३ ठा०१ उ०।

णामप्पमाण न०(नामप्रमाण) अर्थाभिधायके शब्दे, (अनु०)

अथ नामप्रमाणम्–

से किं तं णामप्पमाणे ? णामप्पमाणे जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदु–

भयाण वा पमाणे त्ति नाम कज्जइ, से तं णामप्पमाणे।

अथ किं तन्नामप्रमाणम्?–नामैव वस्तुपरिच्छेदहेतुत्वात्प्रमाणं नामप्रमाणम्, तेन हेतुभूतेन किं नाम भवतीति प्रश्नाभिप्रायः। एवमन्यत्रापि भावनीयम् अत्रोत्तरमुच्यतेयस्य जीवस्य वाऽजीवस्य वा जीवानां वाऽजीवानां वा तदुभयस्य वा तदुभयानां वा यत्प्रमाणमिति नाम क्रियते तन्नामप्रमाणं न तत् स्थापनाद्रव्यभावहेतुकम्, अपि तु नाममात्रविरचनमेव तत्र हेतुरिति तात्पर्यम्। अनु०।

णामभेय पुं०(नामभेद) संज्ञाविशेषे, द्वा० १६ द्वा०।

णाममुद्दा स्त्री०(नाममुद्रा) नामाङ्कितायां मुद्रायाम्, उपा०१ अ०। ''अभयस्स कहियं नाममुद्दा।'' आव०६ अ०।

णामय पुं०(नामक) विनयालङ्कृतो गुर्वादावादेशदानोद्यतेऽगदा वाऽऽत्मानं नामयतीति नामकः। सदा गुर्वादौ प्रह्वे साधौ वा, सूत्र० १ श्रु० १६ उ०।

णामवग्ग पुं०(नामवर्ग) नामप्रकृतिसमुदाये, जी०२ प्रति० क०प्र०।

णामवीर पुं०(नामवीर) यस्य जीवस्याजीवस्य वाऽन्वर्थरहितं इति नाम क्रियते स नामवीरः। नामनामवतोरभेदाद् तस्त्रौ वीरश्च नामवीरः। वीरभेदे, सू०प्र० २ पाहु०।

***एवमसत्य** न०। नामाभिधानं तत्सत्यं नामसत्यम्। नाण सत्ये, यथा कुलमवर्धयन्नपि कुलवर्धन उच्यते, एवं धनवर्धन इति। स्था० १० ठा०। ध०। प्रज्ञा०।

णामसम न०(नामसम) नामाभिधानं, तेन समम्। ग०४ अधि०। आ०म०। आ०चू०। स्वकीयेन नाम्ना समे, यथा स्वनाम शिक्षितं तथा तदप्यावश्यकम्। विशे०।

णामसमरण न०(नामस्मरण) चतुर्विंशतिस्तवाऽऽदिनामानु-चिन्तने, नाम्नः स्मरणेन नामिस्मरणे तद्गुणसमापत्त्या फलम्। प्रति०।

णामसव्व न०(नामसर्व) नाम च तत्सर्वं च नामसर्वम्। सचेतनाऽऽदेर्वा वस्तुनो यस्य सर्वमिति नाम तन्नामसर्वम्, नाम्ना सर्वं, सर्वमिति वा नाम यस्येति विग्रहाद् नामशब्दस्य पूर्वनिपातः। स्था० ४ ठा० २ उ०।

णामसुह न०(नामशुभ) तीर्थकराऽऽदिसंबन्धिनि नामकर्मणि, दश० १अ०।

णामाणंतय न०(नामानन्तक) अनन्तकमिति नामभूतायां वर्णानुपूर्व्याम्, यस्य वा सचेतनाऽऽदेर्वस्तुनोऽनन्तकमिति नाम तस्मिन्, स्था० १० ठा०।

णामित्ता स्त्री०(नमयित्वा) नतिं कारयित्वेत्यर्थे, ''णामित्ता गहियाणि पच्छत्तगाणि।'' नि०चू० १उ०।

णामिय न०(नामिक) वाचके पदे, यथा 'अश्व' इत्यादि। आ०म० १अ०२खण्ड। अनु०।

णामिंद पुं०(नामेन्द्र) यथार्थसंज्ञे इन्द्रे, अथवा–इन्द्रार्थशून्यत्वाद् नाममात्रे इन्द्रे, बृ०। ''केवलसन्ना उ नामिंदा।'' केवला एका संज्ञा तदर्थनिरपेक्षा, स नामेन्द्रः। बृ०१ उ०। स्था०। (विस्तरस्तु 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

णामुदय पुं०(नामोदय) कालोदाय्यादीनामन्ययूथिकानामन्यतमे–ऽन्ययूथिके, भ०७ श० १० उ०।

णामोक्कसिअ (देशी) कार्ये, दे०ना० ४ वर्ग।

णाय पुं०(न्याय) 'इण' गतौ निपूर्वः। नितरामीयते गम्यते मोक्षो–ऽनेनेति न्यायः। व्यवहाराध्ययने, व्य० १ उ०। श्रुतोपदेशे, व्य०३ उ०। अभीष्टार्थसिद्धेः सम्यगुपायत्वाद् न्यायः। अथवा–जीवकर्मसंबन्धापनयनाद् न्यायः। आवश्यके, यथा कारुणिकैर्दृष्टो न्यायो द्वयोरर्थिनोर्भूमिद्रव्याऽऽदिसंबन्धिविवादं चिरकालीनमप्यपनयति, एवं जीवकर्मणोरनादिकालीनमप्याश्रयाश्रयिभावसंबन्धमपनयतीत्यावश्यकमपि न्यायं उच्यते। अनु०। विशे०। ''अच्चेति लोगसंजोगं, एस णाए एवुच्चइ।'' योऽयं लोकसंयोगातिक्रम एष न्यायः–एष सन्मार्गो मुमुक्षूणामयमाचारः प्रोच्यतेऽभिधीयते। अथवा–परमात्मानं मोक्षं नयतीति छान्दसत्वात् कर्तरि घञ् न्यायः। यो हि त्यक्तलोकसंयोग एष एव परात्मनो मोक्षस्य न्यायः। आचा० १ श्रु० २ अ०६ उ०। नीयते संवित्तिं प्राप्यते वस्त्वनेनेति न्यायः। प्रस्तुतार्थसाधके प्रमाणे, विशे०। द्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां स्ववृत्त्य–नुष्ठाने, आव०६ अ०। उपपत्तौ, पञ्चा० ४ विव०। अविचलितरूपे मार्गे, षो० १६ विव०। अतिदेशे, प्रति०। न्यायनिर्णायके, औ०। ज्ञा०। नं०। 'णात' शब्दार्थे (दृष्टान्ते), नि०चू० १० उ०।

णायकारि(ण्) त्रि०(न्यायकारिन्) उपपत्तिकारिणि, ''एवं आलोइय पडिक्कंतस्स जो सामाइयं देति सो णायकारी'' आ०चू० १अ०।

णायकुमार पुं०(ज्ञातकुमार) 'णातकुमार' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

णायकुलचंद पुं०(ज्ञातकुलचन्द्र) 'णातकुलचंद' शब्दार्थे, कल्प० ५ क्षण।

णायखंड न०(ज्ञातखण्ड) 'णातखंड' शब्दार्थे, स्था० १० ठा०।

णायग पुं०/स्त्री०(ज्ञातक) पूर्वसंस्तुते, व्य० ६ उ०। मातापित्रादौ, सूत्र०१ श्रु०३ अ०२ उ०। स्वजने, प्रज्ञायमाने, नि० चू० ८ उ०। सूत्र०।

***नायक** त्रि०। प्रभौ, यथा राष्ट्रस्य राष्ट्रमहत्तरकः स० ३० सम०। दशा०। नगरकटकाऽऽदिप्रधाने, औ०। अधिपतौ, स्था० ५ ठा०१ उ०। प्रणेतरि, सूत्र०१ श्रु० १५ अ०। स्वामिनि, स०१ सम०। व्य०। कर्मणां नेतरि, भ० २० श०२ उ०। व्य०। चक्रवर्त्यादौ राजनि, औ०। प्रधाने, आव०५ अ०। ज्ञा०। नयति वृद्धिं प्रापयति यः स नायकः। प्रश्न०५ सम्ब० द्वार। ज्ञानाऽऽदीनां प्रापके, व्य०३ उ०। सूत्र०।

णायज्जियधण न०(*न्यायार्जितधन*) *असिमषीकृतिवाणिज्याऽऽद्युचितकलया परवञ्चननिरपेक्षतयाऽर्जिते द्रव्ये, द्रव्या० ६ अ०।* न्यायार्जितं धनं गृहिधर्मः–

तत्र सामान्यतो गेहि–धर्मो न्यायार्जितं धनम्। (५)

(न्यायर्जितं धनमित्यादि) तत्र स्वामिद्रोहमित्रद्रोहविश्वसितवञ्चनचौर्यादिगर्ह्यार्थोपार्जनपरिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्वस्ववर्णानुरूपः सदाचारो न्यायः, तेनाऽर्जितं संपादितं

धनम्-अयमेव धर्मः। न्यायार्जितं हि धनमशङ्कनीयतया स्वशरीरेण तत्फलभोगाद् मित्रस्वजनाऽऽदौ संविभागकरणाच्चेह लोकहिताय। यदाह-''सर्वत्र शुचयो धीराः, स्वकर्मबलगर्विताः। स्वकर्मनिन्दिताऽऽत्मानः, पापाः सर्वत्र शङ्किताः ॥१॥'' सत्पात्रेषु विनियोगाद् दीनाऽऽदौ कृपया वितरणाच्च परलोकहिताय। पठ्यते च धार्मिकस्य धनस्य शास्त्रान्तरे दानस्थानं यथा-''पात्रे दीनाऽऽदिवर्गे च, दानं विधिवदिष्यते। पोष्यवर्गाविरोधेन, न विरुद्धं स्वतश्च यत् ॥१॥'' अन्यायोपात्तं तु लोकद्वयेऽप्यहितायैव-इह-लोके विरुद्धकारिणो वधबन्धाऽऽदयो दोषाः, परलोके च नरकाऽऽदिगमनाऽऽदयः। यद्यपि कस्यचित् पापानुबन्धिपुण्याभावादैहलौकिकी विपद् न दृश्यते, तथाप्यायत्यामवश्यंभाविन्येव। यतः-''पापेनैवार्थरागान्धः, फलमाप्नोति यत् क्वचित्। वडिशामिष-वत्तत्तमविनाश्य न जीर्यति ॥१॥'' इति न्याय एव परमार्थतोऽर्थोपार्जनोपायोपनिषत्। यदाह-''निपानमिव मण्डूकाः, सरः पूर्णमिवाण्डजाः। शुभकर्माणमायान्ति, विवशाः सर्वसंपदः ॥१॥'' इति। ईदृशं धनं च गार्हस्थ्ये प्रधानकारणत्वेन धर्मतयाऽऽदौ निर्दिष्टम्, अन्यथा तदभावे निर्वाहविच्छेदेन गृहस्थस्य सर्वश्रुतक्रियोपरमप्रसङ्गादधर्म एव स्यात्। पठ्यते च-''वित्तीवोच्छेयम्मी, गिहिणो सीयंति सव्वकिरियाओ। निरवेक्खस्स उ जुत्तो, संपुन्नो संजमो चेव ॥१॥'' इति। ध०१ अधि०।

णायज्जियवित्तेस पुं०(न्यायार्जितवित्तेश) न्यायोपार्जितद्रव्यस्वामिनि, षो० ५ विव०।

णायज्झयण न०(ज्ञाताध्ययन) उत्क्षिप्ताऽऽद्युदाहरणप्रतिपादकेऽध्ययने, ज्ञा०। षष्ठस्याङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धे १९ ऊनविंशति-र्ज्ञाताध्ययनानि।

छट्ठस्स अंगस्स दो सुयक्खंधा पण्णत्ता। तं जहा-णायाणि य, धम्मकहाओ य। पढमस्स ण भंते ! सुयक्खंधस्स समणेणं भगवया महावीरेणं०जाव संपत्तेणं णायाणं कति अज्झयणा पण्णत्ता? एवं खलु जंबू ! ०जाव समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं णायाणं एगूणवीसं अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा-''उक्खित्तणाए संघाडे, अंडे कुम्मे य सेलगे ॥
तुंबे य रोहिणी मल्ली, मायंदी चंदमा इय ॥१॥
दावद्दवे उदगनाए, मंडुक्के तेतली वि य ॥
नंदिफले अवरकंका, आइण्णे सुंसुमा इय ॥२॥
अवरे य पुण्डरीए, णायाए गूणविंसतिमे''॥

(णायाणि त्ति) ज्ञातान्युदाहरणानीति प्रथमः श्रुतस्कन्धः। (धम्मकहाओ त्ति) धर्मप्रधानाः कथाः धर्मकथा इति द्वितीयः। ''उक्खित्त'' इत्यादि श्लोकद्वयं सार्द्धम्। तत्र मेघकुमारजीवेन हस्तिभवे प्रवर्तमानेन यः पाद उत्क्षिप्तस्तेनोत्क्षिप्तेनोपलक्षितं मेघकुमारचरितमुत्क्षिप्तमेवोच्यते। उत्क्षिप्तमेव ज्ञातमुदाहरणं विवक्षितार्थसाधनमुत्क्षिप्तज्ञातम्। ज्ञातता चास्यैवं भावनीयादयाऽऽदिगुणवन्तः सहन्त एव देवदाहकष्टम्, उत्क्षिप्तैकषादौ मेघकुमारजीवहस्तीवेति। एतदर्थाऽभिधायकं सूत्रमधीयमानत्वादध्ययनमुक्तम्; एवं सर्वत्र १, तथा-सङ्घाटक; श्रेष्ठिचौरयोरेकबन्धनबद्धत्वम्, इदमप्यभीष्टार्थज्ञापकत्वाद् ज्ञातम्। एवमौचित्येन सर्वत्र ज्ञातशब्दो योज्यः, यथायथं च ज्ञातत्वं प्रत्यध्ययनं तदर्थावगमादवसेयमिति २, नवरम्-अण्डकं मयूराण्डम् ३, कूर्मश्च कच्छपः ४, शैलको राजर्षिः ५, तुम्बं च अलाबु ६, रोहिणी श्रेष्ठिबधूः ७, मल्ली एकोनविंशतितमजिनस्थानोत्पन्ना तीर्थकरी ८, माकन्दी नाम वणिक्, तत्पुत्रौ माकन्दीशब्देनेह गृहीतौ ९, चन्द्रमा इति च १०, (दावद्दवे त्ति) समुद्रतटे वृक्षविशेषाः ११, उदकं नगरपरिखाजलं, तदेव ज्ञातमुदाहरणमुदकज्ञातम् १२, मण्डूकः नन्दमणिहारश्रेष्ठिजीवः १३, (तेतली वि य त्ति) तेतलीसुताऽभिधानोऽमात्य इति च १४, (नंदिफल त्ति) नन्दिवृक्षाभिधानतरुफलानि १५, अपरकङ्का धातकीखण्डभरतक्षेत्रनराजधानी १६, (आइण्णे त्ति) आकीर्णा जात्याः समुद्रमध्यवर्तिनोऽश्वाः १७, (सुंसमा इय त्ति) सुंसमाऽभिधाना श्रेष्ठिदुहिता १८, अपरं च पुण्डरीकज्ञातमेकोनविंशतितममिति १९। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। आव०। स०।

णायद पुं०(न्यायद) न्यायदर्शिनि, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०।

णायपुत्त पुं०(ज्ञातपुत्र) ज्ञातः सिद्धार्थः तस्य पुत्रः। कल्प०५ क्षण। वीरवर्द्धमानस्वामिनि, सूत्र०१ श्रु० ६ अ०। आचा०। दश०

णायपुत्तवओरय त्रि०(ज्ञातपुत्रवचोरत) भगवद्वर्धमाने वीरे निःसङ्गतापतिपादनपरे सक्ते, दश० ६ अ०।

णायपुत्तवयण न०(ज्ञातपुत्रवचन) श्रीमन्महावीरवचन १० अ०।

णायपुत्तिय न०(ज्ञातपुत्रीय) वीरस्वामिसंबन्धिनि तीर्थ, आचा०१ श्रु०१ अ० ३ उ०।

णायविहि पुं०(ज्ञातविधि) स्वजनभेदे, व्य०।

भिक्षोर्ज्ञातविधिसूत्रम्-

भिक्खू य इच्छेज्जा णायविहिं एत्तए, णो से कप्पति थेरे अणापुच्छित्ता; कप्पति से थेरे आपुच्छित्ता णायविहिं एत्तए, थेरा य से वियरेज्जा एवं से कप्पति णायविहिं एत्तए थेरा य णो से वियरेज्जा एवं से णो कप्पति णायविहिं एत्तए। जे तत्थ थेरेहिं अवितिण्णे णायविहिं एइ, से अंतरा छेदे वा परिहारे वा ॥१॥

णो से कप्पति अप्पस्सुयस्स अप्पागमस्स एगागियस्स णायविहिं एत्तए ।२। कप्पति से जे तत्थ बहुस्सुए बब्भागमे तस्सद्धिं णायविहिं एत्तए; तत्थ णं से पच्छागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे, कप्पति से चाउलोदणे पडिग्गहित्तए, णो से कप्पति भिलिंगसूवे पडिग्गहित्तए ॥३॥ तत्थ से पच्छागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिक्खू भिलिंगसूवे पडिग्गहित्तए, णो से कप्पति चाउलोदणे पडिग्गहित्तए, दो वि पुव्वाउत्ते कप्पति दो वि पडिग्गहित्तए ॥४॥ तत्थ से पच्छागमणेणं दो वि पच्छाउत्ते, णो से कप्पति दो

वि पडिग्गहित्तए ॥५॥ जे से तत्थ पच्छागमणेणं पच्छाउत्ते, से णो कप्पति पडिग्गहित्तए ॥६॥ जे से तत्थ पच्छागमणेणं पुव्वाउत्ते, से कप्पति ॥७॥

भिक्षुः, चशब्दाद् भिक्षुकी च, इच्छेत ज्ञातविधिं स्वजनभेदमागन्तुम्। 'से' तस्य न कल्पते स्थविरान् अनापृच्छ्य ज्ञातविधिमागन्तुम्। ''कप्पति थेरे'' इदं प्राग्वत्। (नो से कप्पइ इत्यादि) न 'से' तस्य कल्पते अल्पश्रुतस्य अगीतार्थस्य अल्पागमस्य बहिः शास्त्रेष्वतिपरिचयस्याऽविद्यमाननिजाऽऽगमस्यैकाकिनो ज्ञातविधिमागन्तुम्। कल्पते 'से' तस्य यस्तत्र गच्छे बहुश्रुतः सूत्रापेक्षया, बह्वागमोऽर्थापेक्षया, तेन सार्द्धं ज्ञातविधिमागन्तुम्। तत्र णमिति वाक्यालङ्कारे, तस्य ज्ञातविधिमागतस्य पश्चादागमनेन आग–मनात् पश्चाद् य पूर्वायुक्तः चाउलोदनः। पूर्वायुक्त इति केचिद् व्याचक्षते–आगमनात्पूर्वं चुल्ल्यामारब्धो रन्धनाय। अपरे व्याचक्षते–आगमनात्पूर्वं पाकाय समीहितम्। एतद् मतद्वयमप्यसङ्गतम्; आरब्धे, समीहिते च पुनः प्रक्षेपसंभवात्। तस्मात् पूर्वायुक्त इति किमुक्तं भवति? आगमनात्पूर्वं गृहस्थैः स्वभावेन रध्यमानः स तन्दुलोदनो, भिल्लिङ्गसूपो नाम 'सस्नेहः सूपः,' स कल्पते प्रतिगृहीतुम्। योऽसौ तत्र पूर्वमागताः साधव इति हेतोः पश्चादायुक्तः प्रवृत्ति दुलोदनो, भिलिङ्गसूपो वा, नासौ कल्पते प्रतिगृहीतुम् द्वय सूत्रसंक्षेपार्थः।

अत्र भाष्यकारो ज्ञातविधिपदं व्याख्यानयति–

अम्मापितिसंबंधो, पुव्वं पच्छा व संथुया जे उ।
एसो खलु णायविहीऽणेगे भेया य एक्केक्के ॥३॥

मातृद्वारेण, पितृद्वारेण च यः संबन्ध एष ज्ञातविधिः। अथवा–ये पूर्वं संस्तुता मातापित्रादयः, ये च पश्चात् संस्तुताः श्वश्रूश्वशुराऽऽदयः। एष समस्तोऽपि ज्ञातविधिः, एकैकस्मिंश्च मातृद्वारे, पितृद्वारे वा, यदि वा–पूर्वसंस्तुते, पश्चात् संस्तुते वाऽनेके भेदाः। अनेन विधिशब्दो भेदवाची व्याख्यातः ॥३॥

अधुना निर्युक्तिविस्तरः–

णायविहिगमणे लहुगा, आणाऽऽदि विराहसंजमाऽऽयाए।
संजमविराहणा खलु, उग्गमदोसा तहिं होज्जा ॥४॥

निष्कारणे विधिनाऽपि ज्ञातविधौ गमनं करोति तर्हि प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, तथा आज्ञाऽऽदयो दोषाः, तथा संयमे आत्मनि च विराधना। तत्र संयमविराधना, यतस्तत्र खलु निश्चितमुद्गमदोषा आधाकर्माऽऽदयो भवेयुः ॥४॥

कथमुद्गमदोषा भवेयुः? अत आह–

दुल्लभलाभा समणा, नीया नेहेण आहकम्मादी।
चिरआगयस्स कुज्जा, उग्गमदोसं तु एगतरं ॥५॥

दुर्लभलाभाः खलु श्रमणाः, तथा महता स्नेहेनास्माकं वन्दा–पनाय नीता निर्गताः, ततश्चिरादागतस्याऽऽत्मस्वजनस्य तस्य प्राघूर्णकत्व–करणायोद्गमदोषमाधाकर्माऽऽदिकमेकतरं कुर्यात् ॥५॥

इति संजमम्मि एसा, विराहणा हो–इमा उ आयाए।
छगलगसेणावतिकलु–णरयणथाले य एमादी ॥६॥

इति एवममुना प्रकारेण, एषा अनन्तरोदिता, संयमे विराधना भवति। आत्मविराधना पुनरियं वक्ष्यमाणाछागदृष्टान्तेन सेनापतौ मृते समागते करुणारोदने, रत्नस्थाले रत्नभृते स्थाले ढौकिते, एवमादौ ॥६॥

तत्र यथा छागदृष्टान्तेनाभिसमीहिते सेनापतौ मृते तस्मिन् आगते आत्मविराधना भवति, तथा भावयति–

जह रण्णो सूयस्सा, मंसं मज्जारएण अक्खित्तं।
सो अद्दण्णो मंसं, मग्गइ इणमो य तत्थाऽऽतो ॥७॥
कडुहंडपोट्टलीए, गलबद्धाए उ छगलओ तत्थ।
सूयेण य सो बहितो, थक्के आत त्ति नाऊणं ॥८॥

यथा राज्ञा सूपस्य सूपकारस्य मांसं माजरिणाऽऽक्षिप्तं नीतं, ततः स सुपकारो भीतोऽर्दनो जातो मांसं मृगयते, तस्मिँश्च मृग्यमाणे तत्र महानसे अयमतर्कितः कटुभाण्डपोट्टलिकया गलबद्धया युक्तश्छाग आयातः सन् सूपेन सूपकारेण मारितः 'थक्के' प्रस्तावे 'आता' इति ज्ञात्वा। एष दृष्टान्तः ॥७।८॥

साम्प्रतमुपनयमाह–

एवं अद्दण्णाइं, ताइं मग्गंति तं समंतेण।
सो य तहिं संपत्तो, ववरोवितो संजमा तेहिं ॥९॥

एवं सूपकार इव तस्य साधोर्ये स्वजनाः, तेषां सेनापतिर्मृतः, ततस्तानि स्वजनरूपाणि मानुषाणि (अद्दण्णाइं इति) अशरणानि तं श्रमणीभूतं सेनापतिभ्रातरमात्मीयं समन्ततो मृगयन्ते, स च मृग्यमाणः तत्रैव संप्राप्तः, ततस्तं समुपस्थिताः स्वजनाः, वयं परिभूता भविष्यामो, न च त्वयि नाथे विद्यमाने परिभवोऽस्माकं युक्तः, तस्मात् कुरु प्रसादमित्येवं तैरुपसर्ग्यमाणः संयमाद् व्यप–रोपितः ॥९॥

संप्रति करणद्वारमाह–

सेणावती मतो तू, भाय–पिया वा वि तस्स जो आसी।
अण्णो य नत्थि अरिहो, नवरि इमो तत्थ संपत्तो ॥१०॥

सेनापतिर्मृतः, तस्य यो भ्राता पिता वा आसीत् सोऽपि तावद् मृतः, अन्यश्च तस्मिन् गृहे अर्हो योग्यः सेनापतित्वस्य, नास्ति, नवरमयमेव योग्यः, स च तत्र संप्राप्तः ॥१०॥

तो कलुणं कंदंता, बिंति अणाहा वयं विणा तुमए।
मा य इमा सेणावति–लच्छी संकामओ अन्नं ॥११॥

ततस्तत्संप्राप्तयनन्तरं ते स्वजनाः करुणं क्रन्दन्तो ब्रुवतेवयम–नाथास्त्वया विना। इयं च प्रत्यक्षत उपलभ्यमाना सेनापतिलक्ष्मीरन्यं पुरुषान्तरं मा संक्रामतु ॥११॥

तं च कुलस्स पमाणं, बलविरियं तुज्झऽधीणमेयं च।
पच्छा वि पुणो धम्मं, काहिसि दाणिं पसीयाहि ॥१२॥

त्वं च कुलस्यास्य समस्तस्यापि कुलस्य प्रमाणम्, एतच्च बलं हस्त्यादि, वीर्यमान्तरोत्साहः समस्तस्यापि कुलस्य, तवाधीनं पश्चादपि त्वं धर्मं करिष्यसि, संप्रति एतदेवार्थाय यत् सेनापतिपदप्रतिपत्त्या प्रसीद ॥१२॥

एवं कारुण्णेणं, इड्ढीए लोभितो तु सो तेहिं।
ववरोविज्जइ ताहे, संजमजीयाउ सो तेहिं ॥१३॥

एवमुपदर्शितेन प्रकारेण कारुण्येन, ऋद्ध्या च तैः स्वजनैः स लोभितो लोभं ग्राहितः, ततो लोभग्रहणानन्तरं स तैः

संयमजीविताद् व्यपरोप्यते ॥१३॥ तदेवं करुणाद्वारं व्याख्यातम्।

अथ रत्नस्थालद्वारमाह–

अविभवअविरेगेणं, विणिग्गतो पच्छ इड्ढिमं जातो।
थालं वसूण पुण्णं, उवणें ती गेण्हिमेतं ति ॥१४॥

कदाचित् स व्रती अविभवेन, दारिद्र्येणेत्यर्थः। रिक्थं च पूर्वपुरुषोपार्जितं विरेकुं स्वजनैः तदा नेष्टं, ततोऽविरेकेण च रोषेण गृहान्निर्गत्य प्रव्रजितोऽभवत्, पश्चाच्च स स्वजनवर्गो भ्रात्रादिक ऋद्धिमान् जातः, ततो वसूनां रत्नानां पूर्णं भृतं स्थालं तस्याऽऽगतस्योपनयन्ति, यथा गृहाण रत्नस्थालमेतदिति ॥१४॥

तस्स वि दट्ठूण तयं, अह लोभकली ततो तु समुदिण्णो।
ववरोवितोॅ संजमतो, एए दोसा हवंति तहिं ॥१५॥

तस्यापि साधोः तत् रत्नभृतं स्थालं दृष्ट्वा, अथानन्तरं ततो रत्नभृतस्थालदर्शनाद् लोभकलिः समुदीर्णः सम्यगुदयं प्राप्तः, ततस्तेन संयमाद् व्यपरोपितः। एते दोषास्तत्र ज्ञातविधिगमने भवन्ति ॥१५॥

संप्रति ''एमादी'' इति व्याख्यानयन् प्रकारान्तरमाह–

अहवा न होज्ज एते, अण्णे दोसा हवंति तत्थ इमे।
जेहिं तु संजमातो, चालिज्जइ सुट्ठितो ठितओ ॥१६॥

अथवा एतेऽनन्तरोदिता दोषा न भवेयुः, अन्ये इमे वक्ष्यमाणास्तत्र ज्ञातविधिगमने दोषा भवन्ति। यैः सुस्थितोऽपि स्थितकः सन् संयमाच्चल्यते ॥१६॥

के ते दोषा इत्यतस्तत्संसूचकं द्वारगाथाद्वयमाह–

अक्कंदट्ठाणे ससुरओव्वरएॅ पेल्लणाएॅ उवसग्गे।
पंथेरोयणभतए, ओभावणेॅ अम्ह कम्मकरा ॥१७॥
छाघातो अणुलोमे, अभिजोग विसे सयं च ससुरेणं।
पंतवणबंधरुंभण, तं वा ते वाऽतिवाएंति ॥१८॥

आक्रन्दस्थानद्वारं प्रथमम्। द्वितीयं श्वशुरेणापवरके क्षिप्त इति द्वारम्। तृतीयं प्रेरणाद्वारम्। चतुर्थमुपसर्गद्वारम्। पञ्चमं पथि रोदनभृतके भार्या इति द्वारम्। षष्ठमपभ्राजनाद्वारम–यथाऽस्माकमेष कर्मकर आसीत्। सप्तमं छागघातद्वारम्। अष्टममनुलोमद्वारम्। नवममभियोग्यद्वारम्। दशमं विषद्वारम्। ततः स्वयं श्वशुरेण प्रान्तापणबन्धरोधनानि क्रियन्ते, ततः कोपात् तं श्वशुरं सोऽतिपातयेद् विनाशयेत्, ते वा श्वशुरप्रभृतयः तं साधुमतिपातयेयुः, इति एकादशं द्वारमिति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः ॥१७।१८॥

साम्प्रतमेतदेव विवरीषुः प्रथमत आक्रन्दस्थानद्वारमाह–

***दीसंता वि हु णीया, पव्वयहिययं पि संपकंपेंति।**
कलुणकिवणाणि किं पुण, कुणमाणा एगसेज्जाए ? ॥१९॥

सेनापतौ मृते स तत्र ज्ञातविधौ गतः, तत्र दृश्यमाना अपि निजकाः पर्वतहृदयमपि पर्वतसदृशमानसमपि साधुं संयमात् संप्रकम्पयन्ति सम्यगन्तर्लीनीभूय प्रकर्षेण च्यावयन्ति, किं पुनरेकस्यां शय्यायां वसतौ करुणकृपणानि रोदनानि कुर्वाणाः? सुतरां संयमाद् भ्रंशयन्ति ॥१९॥

अक्कंदट्ठाणठितो, तेसिं सोचा उ नायगादीणं।
पुव्वावरत्तरोयण, 'जाय अणाहा' वए को वि ॥२०॥

सोऽधिकृतः साधुर्यत्र ते ज्ञातकाः क्रन्दन्ति, तस्मिन्नाक्रन्दस्थाने स्थितः पूर्वरात्रे अपररात्रे च रोदनं तेषां ज्ञातकाऽऽदीनां करुणकृपणं यथा– 'जाता वयमनाथाः, भविष्यामः सर्वेषां परिभवाऽऽस्पदम्' इति श्रुत्वा कश्चिद् व्रजेत् प्रव्रज्यां मुञ्चेदित्यर्थः ॥२०॥ गतमाक्रन्दस्थानम्।

अधुना ''ससुरउव्वरए'' इत्यादि द्वारमाह–

महिलाएॅ समं छोढुं, ससुरेणं ढक्कितो उ उव्वरओ।
नायविहिमागयं वा, पेल्ले उब्भामिगसगाए ॥२१॥

तस्य साधोः श्वशुरकः, तं तत्र समागतं साधुं दृष्ट्वा निजदुहितरं सर्वालङ्कारभूषितां कारयेत्; कारयित्वा च वन्दापनाय, भिक्षार्थं वा तत्र समागतेन श्वशुरकेन महेलया भार्यया सममपवरके क्षिप्त्वा, अपवरको ढक्कितः– स्थगितद्वारः कृतः। तत्र च उपसर्ग्यमाणः कश्चिदुत्प्रव्रजेत्।

प्रेरणाद्वारमाह–ज्ञातविधिमागतं च तं साधुं दृष्ट्वा स्वजनवरस्तस्य स्वकीयया उद्भामिकया भार्यया प्रेरयेत् संयमाद् च्यावयेत् ॥२१॥ गतं प्रेरणाद्वारम्।

साम्प्रतं चतुर्थमुपसर्गद्वारं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह–

मोहुम्मायकराइं, उवसग्गाइं करेइ से विरहे।
भज्जा जेहिॅ तरू विव, वाएणं भज्जते सज्जं ॥२२॥

भार्या 'से' तस्य स्वजनविधिगतस्य सा विरहे मोहोन्मादकरान् उपसर्गान् आलिङ्गनाऽऽदीन् करोति, यैस्तरुरिव वातेन भज्यते सद्यः ॥२२॥

संप्रति 'पंथरोयणभतए' इति व्याख्यानमाह–

कइवेण सभावेण य, भतओ भोइं पहम्मि पंतावे।
हियय अमुंडियं मे, भयवं पंतावए कुवितो ॥२३॥

साधुर्ज्ञातविधिं गतस्तत्र च लज्जया भिक्षां न हिण्डते, तत उद्भ्रमकभिक्षाचर्यायां गतः, तेषां च ज्ञातकानां क्षेत्रं पथि, तत्र कैतवेन वा स्वभावेन वा तस्य भार्या भृतकेन समं क्षेत्रं गता, तत्र स भृतकः कैतवेन स्वभावेन वा कर्मणि भार्यां (?) ॥२३॥

कम्महतो पव्वइतो, भतओ एसऽम्ह आसि मा वंदा।
उब्भामगए खुद्दे, छाघायं तस्स सा देइ ॥२४॥

कदाचित् स प्रव्रजितः कर्मकर आसीत्, ततस्तं बहुजनो दृष्ट्वा ब्रूयात्– एषोऽस्माकं भृतक आसीत्, कर्महतः कर्मभग्नः सन् प्रव्रजितः, तस्माद् मा वन्दिषत।

छागघातद्वारमाह–उद्भ्रामकके उद्भ्रामकभिक्षाचर्यागतेऽधिकृते भृतकरूपे साधौ क्षुद्रे मूर्खे तस्य सा भृत्या छागघातं ददाति, कुपिता सती छागमपि तं घातयतीत्यर्थः ॥२४॥

अधुनाऽनुलोमोपसर्गमाह–

मा छिज्जउ कुलतंतू, धणगोत्तारं तु जणय मेगसुयं।
वत्थनमादीएहिं, अभिजोज्जेउं वसं णेंति ॥२५॥

तस्य ज्ञातविधिगतस्य साधोर्ज्ञातिविधिरेवं ब्रूयात्–मा छिद्यतां छेदं यायात्, कुलतन्तुः कुलसन्तानः, तस्मात् धनरक्षकमेकं सुतं प्रसादं कृत्वा जनय, पश्चात्पुनर्व्रतं गृह्णीथाः, एवमुक्तः सन् कश्चित् उत्प्रव्रजेत्।

अधुना अभियोग्यद्वारमाह–वस्त्राऽऽदिकैः, आदिशब्दात् खादिमस्वादिमाऽऽदिविशेषपरिग्रहः। तैरभियोज्य वशीकृत्य स्वजनस्तमात्मवंशं नयन्ति ॥२५॥

* ''सीदंता'' इति पाठान्तरम्।

विषद्वारमाह–

नेच्छंति देवरा मे, जीवंतें इमम्मि इति विसं देज्जा।
अण्णेण व दावेज्जा, ससुरो वा से करेइ इमं ॥२६॥

तं ज्ञातविधिगतं साधुं दृष्ट्वा तद्भार्यें दं विचिन्तयेत्–अस्मिन् जीवति मां देवरा भोग्यतरा नेच्छन्ति, तस्मान्मारयामि केनाप्युपायेन चैनमिति विचिन्त्य स्वयं वा विषं दद्यात्, अन्येन वा दापयेत्। 'सयं च ससुरेण' इत्यादिद्वारमाह–'से' तस्य साधोः श्वशुरो वा स्वयमिदं कुर्यात्॥२६॥

किं तदित्याह–

पंतवणबंधरुंभण, तस्स वि नीयल्लगा उ खुब्भेज्जा।
अहवा कसाइतो तू, सो वऽतिवाएज्ज एक्कतरं ॥२७॥

श्वशुरस्तं दृष्ट्वा कुप्येत्, यथा–एतेन मम दुहिता जीवच्छल्यी–कृता, ततः कोपात् तस्य साधोः प्रान्तापणं प्रहारदानं, बन्धनं वा निगमाऽऽदिभिः, रोधं वा गृहान्नगराद्वा अनिर्गमनं कुर्यात्, कारयेत् वा। तस्यापि च साधोः, निजका आत्मीयाः, तमेनामवस्थां प्राप्तं दृष्ट्वा, ज्ञात्वा वा क्षुभ्येयुः, क्षोभाच्च श्वशुरेण समं युद्धं कुर्युः, तत्र परस्परमपद्रावणाऽऽदि भूयात्। अथवा स एव साधुः कषायितः कषायोदयं प्राप्तः सन् एकतरं श्वशुराऽऽद्यन्यतममतिपातयेत् ॥२७॥

अत्र प्रायश्चित्तविधिमाह–

एक्कम्मि दोसु तीसु व, मूलऽणवट्ठो तहेव पारंची।
अह सो अतिवाएज्जइ, पावइ पारंचियं ठाणं ॥२८॥

एकस्मिन्नतिपातिते मूलप्रायश्चित्तभाग् भवति, द्वयोरतिपातित–योरनवस्थाप्यः, त्रिषु अतिपातितेषु पाराञ्ची। अथ स एव अतिपात्यते साधुस्तर्हि स यदि कथमपि जीवति ततः पाराञ्चितं स्थानं प्राप्नोति॥२८॥

अन्यान् दोषानाह–

अहवा वि धम्मसड्ढा, साहू तेसिं घरे न गेण्हंति।
उग्गमदोसाऽऽदिभया, ताहे नीया भणंति इमं ॥२९॥

अथ वेति प्रकारान्तरेण दोषकथनोद्द्योतने, साधवो धर्मश्रद्धा उद्गमदोषाऽऽदिभयात् तेषां गृहे न किमपि गृह्णन्ति, ततस्ते निजाः स्वजना इदं भणन्ति ॥२९॥

किं तदित्याह–

अम्हं अणिच्छमाणो, आगमणे लज्जणं कुणति एसो।
ओहावण हिंडंते, अण्णो लोगो व णं भणति ॥३०॥

अस्माकं गृहे किमप्यभिच्छन् एष आगमने लज्जनमयशस्कारं करोति। यतः–अस्मिन् प्रतिगृहमन्यत्र भिक्षां हिण्डमाने महती नूनमस्माकमप-भ्राजना, लोको वाऽन्य इदं भणति ॥३०॥

किं तदित्याह–

नीयल्लस्स वि भत्तं, न तरह दाउं ति तुज्झें किवण त्ति।
गेहे भुंजसु वुत्ते, भणाति नो कप्पियं भुंजे ॥३१॥

तं साधुं भिक्षामटन्तं दृष्ट्वा केचित् अन्ये स्वजनान् प्रति ब्रूयुः– यथा यूयं कृपणा निजकस्याप्येकस्य प्राघूर्णकाऽऽगतस्य भक्तं दातुं न शक्नुथ, ततस्ते एवमुक्ताः सन्तः साधुसमीपमागत्य ब्रुवते–यावन्ति दिनानि यूयमत्र तिष्ठथ, तावन्माऽन्यत्र भिक्षामटत, तु गृहे भुङ्ध्वम्, अन्यत्र भिक्षाटने हि महत्यस्माकमपभ्राजना। स एवमुक्तः साधुर्भणति–युष्मद्गृहे न भुञ्जे, यतः अहं कल्पिकं भुञ्जे, युष्मद् गृहे च उद्गमाऽऽदिदोषाऽऽशङ्का ॥३१॥

एवमुक्ते ते स्वजनाः प्राऽऽहुः–

किं तं ति खीरमादी, ददामों दिन्ने य भातिभज्जाओ।
बेंति सुते जायंते, पडिया णे करा बहू पुत्ता! ॥३२॥

किं तत् कल्पिकं यत्त्वं भुङ्क्षे, ततः साधवो ब्रुवतेयानि युष्माकं यथाप्रवृत्तानि क्षीराऽऽदीनि क्षीरदधिघृतगुडाऽऽदीनि, ततस्ते आहुः– एतानि यथाप्रवृत्तानि दास्यामः। गाथायां ''वर्तमानसामीप्ये वर्तमान-बद्धा'' ॥३।३।१३१॥ इति वचनात् ते दातुं प्रवृत्ताः, ततो दत्ते क्षीराऽऽदिके भ्रातृभार्याः सुतान् क्षीराऽऽदीनि याचमानान् प्रति ब्रुवते-हे पुत्राः! बहवोऽस्माकं कराः पतिताः ॥३२॥

तानेवाऽऽह–

दहिघयगुलतेल्लकरा, तक्ककरा चेव पाडिया अम्हं।
रायकरपेल्लियाणं, समणकरा दुक्करा वोढुं ॥३३॥

दधिकरघृतकरगुडकरतैलकराः, तथा तक्रकराश्च, अस्माकं पातिताः श्रमणैः। राजकरा अस्माकमपतन्, तैः सदैव प्रेरिता वयं वर्तामहे, परं राजकरप्रेरितानामस्माकमयं श्रमणकरो दुष्करो वोढुमिति, प्रभूतसर्वाप-हरणात् ॥३३॥

एए अण्णे य तहिं, नायविहिगमणें हों ति दोसाओ।
तम्हा उ न गंतव्वं, कारणजाते भवे गमणं ॥३४॥

एते अनन्तरोदिताः, अन्ये चानुक्ताः, तत्र ज्ञातविधिगमने, दोषा भवन्ति, तस्माद् ज्ञातविधौ न गन्तव्यम्। एष उत्सर्गः। कारणे पुनर्ग्लानित्वाऽऽ-दिलक्षणे जाते पुनरपवादतो गमनं भवेत् ॥३४॥

तदेवाऽऽह–

गेलण्णकारणेणं, पाउग्गासति तहिं तु गंतव्वं।
जे उ समत्थुवसग्गे, सहिउं ते जंति जयणाए ॥३५॥

ग्लानत्वकारणेन अन्यत्र प्रायोग्यस्य औषधाऽऽदेरसत्यभावे, उपलक्षणमेतद्– वैद्याभावे च तत्र गन्तव्यम्। तत्र वैद्यस्य, प्रायोग्यस्य औषधस्याऽऽसनाऽऽदेश्च प्राप्यमाणत्वात्, तत्र ये उपसर्गान् सोढुं समर्थाः, ते यतनया वक्ष्यमाणया यान्ति गच्छन्ति ॥३५॥

तामेव यतनामाह–

बहिएँ अणापुच्छाए, लहुगा लहुगो य दोच्चऽणापुच्छा।
आयरियस्स वि लघुका, अपरिच्छियपेसवंतस्स ॥३६॥

अत्र इदं सूत्रं पठति–''नो से कप्पति थेरे अणापुच्छित्ता नायविहिं एत्तए'' इत्यादि। तत्र यदि बहिः स्थविराणामनापृच्छया व्रजति, ततस्तस्य प्रायश्चित्तं, चत्वारो लघुकाः, स्थविरान् आपृच्छ्य तैर्विसर्जितो यदि द्वितीयस्थविरान् अनापृच्छ्य व्रजति, ततो द्वितीया–नापृच्छायां मासलघु, आचार्योऽपि यदि अपरीक्षितान् प्रेषयति, ततस्तस्यापरी-क्षितान् प्रेषयतश्चत्वारो लघुकाः प्रायश्चित्तम् ॥३६॥

तम्हा परिच्छियव्वो, सज्झाए चेव भिक्खभावे य।
थिरमथिरजाणणट्ठा, सो उववाएहिमेहिं तु ॥३७॥

यत एवमपरीक्षितप्रेषणे प्रायश्चित्तं, तस्मात् स्थिरास्थिरज्ञानार्थं

स्वाध्याये भिक्षाभावे च परीक्षितव्यः स एभिर्वक्ष्यमाणैरुपायैः ॥३७॥

तानेवाऽऽह–

चरणकरणस्स सारो, भिक्खायरिया तहेव सज्झाओ।
एत्थ परितम्ममाणे, तं जाणसु मंदसंविग्गं ॥३८॥

चरणं व्रतश्रमणधर्माऽऽदि। उक्तं च–''वयसमणधम्म संजमवेयावच्चं च बंभगुत्तीओ। णाणाइतियं तक्कोहनिग्गहा इइ चरणभेयाः ॥१॥''(सम्म०३ काण्ड) करणं पिण्डविशुद्ध्यादि। उक्तं च– ''पिंडविसोही समिती, भावण पडिमा य इंदिय निरोहो। पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु ॥१॥'' (ग०१ अधि०) तस्य चरणकरणस्य सारो भिक्षाचर्या, स्वाध्यायश्च; ततोऽत्र भिक्षाचर्यायां, स्वाध्याये च परिताम्यति क्लेशं मन्यते, तं जानीत मन्दसंविग्नम् ॥३८॥

चरणकरणस्स सारो, भिक्खायरिआ तहेव सज्झाओ।
एत्थ उ उज्जममाणे, तं जाणसु तिव्वसंविग्गं ॥३९॥

चरणकरणस्य सारो भिक्षाचर्या, तथैव स्वाध्यायः, ततोऽत्र भिक्षाचर्याऽऽदावुद्यच्छति, तं जानीत तीव्रसंविग्नं, तदेवं स्थिरा–स्थिरपरिज्ञानार्थं परीक्षा उक्ता ॥३९॥

संप्रति किमेष उपसर्गं सहिष्णुः, किं वा न ? इति परीक्षार्थमाह–

कइवेण सहावेण य, अण्णस्स व साहसं कहिज्जंते।
मायपितिभायभगिणी–भज्जापुत्ताऽऽदिएसुं तु ॥४०॥

यथा स शृणोति तथा कैतवेन स्वभावेन वा अन्यस्य साधोः माता–पितृभ्रातृभगिनीभार्यापुत्राऽऽदिषु विषये साध्वसं कथ्यते ॥४०॥

केन प्रकारेण ? इत्यह आह–

सिरकोट्टणकलुणाणि य, कुणमाणाइं तु पायवडियाइं।
अमुएण न गणियाइं, जो जंपति निप्पिपासो त्ति ॥४१॥

मातापित्रादीनां शिरःकुट्ट न करुणरोदनभाषणानि क्रियमाणानि पादपतितानि वाऽमुकेन न गणितानि, एवं साध्वसे कथ्यमाने, वो जल्पति–अतीव खलु निष्पिपासो घोरहृदयः, न युज्यते तादृशेन सह वक्तुमपीति ॥४१॥

सो भावतो॑ पडिबद्धो, अपडीबद्धो वएज्ज जो एवं।
सोइहिति केत्तियाऊ, नीया जे आसि संसारे? ॥४२॥

स भावतः स्वज्ञातेषु प्रतिबद्धो ज्ञातव्यो, न शक्तः स सोढुमुपसर्गानिति। यस्तु तथा साध्वसे कथ्यमाने,एवं ब्रूते–संसारे सर्व–जीवाः सर्वेषां पुत्रत्वाऽऽदिकमुपगताः, ते आसीरन् संसारेऽनन्ते निजाः, तान् कियतः स शोचयिष्यति ? किं वा मातापित्रादिभिः शोचितैर्यै निजान् संसाराद् न च संजमे पातयन्ति? स ज्ञातव्यो भावतः स्वजनेष्वप्रतिबद्धः समर्थः सोढुमुपसर्गानिति ॥४२॥

मुहरागमादिएहि य, तेसिं नाऊण रागवेरग्गं।
नाऊण थिरं ताहे, ससहायं पेसवेंति ततो ॥४३॥

यस्य ज्ञातविधिजिगमिषोः शोभनो मुखरागः, स ज्ञायते स्व–जनेषु भावतः प्रतिबद्धः, उपसर्गानसहिष्णुश्च; यस्य तु न तथाविधो मुखरागः स्पष्टो लक्ष्यते स ज्ञेयो भावतः स्वजनेष्वप्रतिबद्धः, सहिष्णुश्च उपसर्गान्। एवं मुखरागाऽऽदिभिस्तेषां ज्ञातविधिं गन्तुमिच्छतां रागं वैराग्यं च, तथा स्थिरगुणलक्षणमस्थिरं च ज्ञात्वा, ततः स्थिरं भावतः स्वजनेष्वप्रतिबद्धं ससहायं सुरयः प्रेषयन्ति ॥४३॥

साम्प्रतमल्पश्रुताल्पाऽऽगमपदव्याख्यानार्थमाह–

अबहुस्सुतो अगीतो, बाहिरसत्थेहिँ विरहितो इयरो।
तव्विवरीए गच्छे, तारिसगसहायसहितो वा ॥४४॥

अबहुश्रुतो नामाल्पश्रुतः, स चागीतार्थ उच्यते, इतरोऽल्पागमो यो बाह्यशास्त्रैर्विरहितः, एतादृशो न गच्छेत् स्वजनविधौ, किं तु तद्विपरीतो बहुश्रुते बह्वागमश्च, यदि वा–स्वयमल्पश्रुतोऽल्पाऽऽगमो वा तादृशसहायकसहितः ॥४४॥

बहुश्रुतविशेषमाह–

धम्मकहीवादीहि य, तवस्सिगीएहिँ संपरिवुडो उ।
नेमित्तिएहिँ य तहा, गच्छइ सो अप्पछट्ठो उ ॥४५॥

धर्मकथिभिर्द्वित्रिप्रभृतिभिः वादकुशलैः तपस्विभिः षष्ठाष्टमाऽऽदितपःकारिभिर्गीतार्थैः सूत्रार्थतदुभयनिष्णातैर्निमित्तिकैश्च संपरिवृतो गच्छेत्। अथ धर्मकथ्यादयो बहवो न सन्ति, ततो जघन्य–तोऽप्येकैक-धर्मकथ्यादिसहाय आत्मषष्ठो व्रजेत् ॥४५॥

तत्र प्रवेशविधिमाह–

पत्ताण वेल पविसण, अह पुण पत्ता पगे भविज्जाहि।
तं बाहिरं ठवेउं, वसहिं गेण्हंति अन्नत्थ ॥४६॥

यदि वेलायां स्थानं प्राप्तास्तर्हि समकालमेव सर्वेषां प्रवेशनम्। अथ पुनः प्रगे प्रभात एव प्राप्ता भवेयुस्तदा तं स्वजनं बहिः स्थापयित्वा वसतिमन्यत्र गृह्णन्ति ॥४६॥

पडिपत्तीकुसलेहिं, सहितो ताहे तु वच्चए तहियं।
वास पडिग्गहगमणं, नातिसिणेहाऽऽसणग्गहणं ॥४७॥

अन्यत्र वसतौ गृहीतायां प्रतिपत्तिकुशलैः सहितस्ततो बहिः–स्थानात् तत्र वसतौ व्रजति, तत्र तावदावासो यावद्भिक्षावेलाः, ततः पतद्ग्रहं गृहीत्वा गमनं विधेयम्। तत्र यदि प्राप्तायां भिक्षावेलायां पतद्ग्रहं गृहीत्वा व्रजन्ति, तदा तत्कालमेव गृह्णन्ति भक्ताऽऽदि–कम्, अथ भिक्षावेलायामप्राप्तायां तत्र एतद्ग्रहं गृहीत्वा व्रजन्ति, निमन्त्रयन्ति च ते, तदा तत्क्षणमेव यल्लभन्ते तद् गृह्णन्ति। अथ मुहूर्तानुगुण्यतः कृतभिक्षाकाः तत्र गताः, तर्हि यत्र पतद्ग्रहं न नयन्ति, तत्र च गत्वा नातिस्नेहः स्वज्ञातकालां दर्शनीयः, यदि पुनरतिस्नेहं दर्शयति, ततः–अनुरक्तोऽस्माकमिति ज्ञात्वा ते उप–सर्गयेयुः। तथा तत्र गतेनाऽऽसनपरिग्रहः कर्तव्यः, न पुनरेवं चिन्तनीयम्– ''आसंदीपलियंकेसुमंचमासालयेसु वा। अणायरियम–ज्झाणं, आसइत्तु सइत्तु वा'' ॥१॥ ()आसनपरिग्रहाभावे हि अपभ्राजना भवति। तस्मादासने उपवेष्टव्यम् ॥४७॥

सयमेव उ धम्मकही, सासणपण्णे य निम्मुहे कुणति।
अपडुपण्णे य तहिं, कहेइ तल्लद्धिओ अण्णो ॥४८॥

यदि स स्वज्ञातिकसाधुः धर्मकथायां कुशलप्रायः शासनप्रत्यनीकाँश्च निरुत्तरान् कर्तुं समर्थः, ततः स्वयमेव तस्य धर्मकथा कथनीया भवति। अथ सोऽप्रत्युत्पन्नोऽनागमिकः प्रतिपत्त्यकुशलो वा तदा तस्मिन्नप्रत्युत्पन्नेऽन्यस्तल्लब्धिको धर्मकथालब्धिसंपन्नः प्रत्युत्तर-दानलब्धिसंपन्नश्च कथयति ॥४८॥

मलिया य पीढमद्दा, पव्वज्जाए य थिरनिमित्तं तु।

थावच्चापुत्तेणं, आहरणं तत्थ कायव्वं ॥४९॥

''पीढमद्दा नाम मुखप्पियजंपगा, ते पव्वज्जाओभावणावयणाणि भणिज्जंति, ते य पडिवात्तकुसलेणं कहएणं मलिया मद्दिया भवंति'' इति चूर्णिः। स्थिरीकरणानमित्तं तत्र धर्मकथायां स्थापत्यापुत्रेण ज्ञाताधर्मकथाप्रसिद्धेनाऽऽहरणं कर्तव्यम् ॥४९॥

कहिए व अकहिए वा, जाणणहेउं अइंति भत्तघरं।
पुव्वाउत्तं तहियं, पच्छाउत्तं व जाणंति ॥५०॥

धर्मे कथिते, अकथिते वा भिक्षाग्रहणवेलायामुद्गमाऽऽदिशुद्धिज्ञानार्थं भक्तगृहं महानसं प्रविशन्ति, प्रविश्य च यत्तत्र पूर्वायुक्तं पूर्वप्रवृत्तमुपस्क्रियमाणं,पश्चादायुक्तं यत्तेषु साधुष्वागतेषु तन्निमित्तमुपस्क्रियमाणं तत्परिभावयन्ति ॥५०॥

पूर्वायुक्तमित्यत्र व्याख्यानद्वयं परमतेन दर्शयति–

पुव्वाउत्ताऽऽरुहिते, केसिं वि समीहियं तु जं तत्थ।
एए न होंति दोण्णि वि, पुव्वपवत्तं तु जं तत्थ ॥५१॥

केचिद् व्याचक्षतेपूर्वायुक्तं नाम चुल्यां पाकार्थमारोपितम्। केषाञ्चित्पुनरिदं व्याख्यानम्–यत्तत्र समीहितं पाकाय ढौकितम्। एतौ द्वावप्यादेशौ प्रमाणं न भवतः, तस्मादिदं व्याख्यानम्– यत्तत्र गृहस्थानां पूर्वप्रवृत्तमुपस्क्रियमाणं तत्पूर्वायुक्तमिति ॥५१॥

अथ कस्मादितरदादेशद्वयं न प्रमाणमत आह–

पुव्वाऽऽरुहिते य समी–हिए य किं छुभइ न खलु अण्णं?
तम्हा खलु जं उचियं, तं तु पमाणं न इतरं तु ॥५२॥

पूर्वं चुल्यामारोपिते समीहिते वा किं न क्षिप्यते? इति भावः। तस्मात् खलु यदुचित्तं व्याख्यानं, तत्प्रमाणं, नेतरत् परकीयमादेशद्वयम् ॥५२॥

बालगपुच्छाऽऽदीहिं, नाउं आयरमणायरेहिं च।
जं जोग्गं तं गेण्हइ, दव्वपमाणं च जाणेज्जा ॥५३॥

बालकपृच्छाऽऽदिभिरादिशब्दाद् बालकोल्लापाऽऽदिभिश्च पिण्डनिर्युक्तिप्रसिद्धैः, तथा आदरानादराभ्यां च योग्यमयोग्यं विज्ञाय तत्र च यद् योग्यं श्रमणप्रायोग्यं प्रतिभाति तत् गृह्णाति वरवृषभः। द्रव्यप्रमाणं च जानीयात्–कियत् कुटुम्बमन्यद्वा? भोजनं कियद् वा रद्धमित्येवं यद् यावत् प्रायोग्यं प्रतिभासते, तावद् गृह्णीयात् ॥५३॥

संप्रत्येतदेव सविशेषतरमाह–

दव्वपमाणं गणणा, खारिय फोडिय तहेव अद्धा य।
संविग्ग एगठाणे, अणेगसाहूसु पन्नरस ॥५४॥

द्रव्यं प्रमाणं नाम द्रव्याणां गणना। यथा–एतावन्तोऽत्रौदन भेदाः, एतावन्ति च शाकविधानानि, इयन्तश्च खाद्यविशेषाः, एतावन्ति च द्राक्षापानकाऽऽदीनि, तथा क्षारितानि लवणखरण्टितानि शालकानीत्यर्थः। स्फोटितं जीरकहिङ्गुधूपवासितम्। एतत्सर्वं ज्ञातव्यम्। तथा अद्धा कालो भिक्षायाः ज्ञातव्यः, अन्यथाऽवष्वष्कणाऽऽदयो दोषाः स्युः। तथा संविग्ना एकस्थाना एकसङ्घाटाऽऽत्मकाः प्रविशन्ति, ततः कल्पते, अनेकसाधुषु अनेकेषु साधुसङ्घाटेषु प्रविशत्सु न कल्पते, यतस्तत्र नियमादाधाकर्मसहिता औद्देशिकाऽऽदयः पञ्चदश दोषाः ॥५४॥

एतदेव विवरीषुः प्रथमतो द्रव्यप्रमाणमाह–

सत्तविहमोदणो खलु, साली वीही य कोद्दवे जवे य।
गोहुमरालगआरण्णकूर खज्जा यऽणेगंविहा ॥५५॥

सप्तविधो, मकारोऽलाक्षणिकः, ओदनः कूरः, तथा–शालिःकलमशाल्यादिकूरः, व्रीहिः सामान्यतन्दुलौदनः, कोद्रवकूरो, यवकूरः, गोधूमकूरो, रालककूरः, अकृष्टपच्याऽरण्यव्रीहिकूरश्च, खाद्यानि च अनेकविधानि ॥५५॥

सागविहाणा य तहा, खारियमादीणि वंजणाइं वा।
खंडाऽऽदिपाणगाणि य, नाउं तेसिं तु परिमाणं ॥५६॥

शाकविधानानि प्राजमनकानि, क्षारिताऽऽदीनि, आदिशब्दात् स्फोटितपरिग्रहः, व्यञ्जनानि, तथा खण्डानि, पानकानि, आदिशब्दाद् द्राक्षाऽऽदिपरिग्रहः। तेषामोदनाऽऽदीनां परिमाणं ज्ञात्वा ॥५६॥

किमिति? आह–

परिमियभत्तगदाणे, दसुवक्खमियम्मि एगभत्तट्ठो।
अपरिमिते आरेण वि, गेण्हइ एवं तु जं जोग्गं ॥५७॥

परिमितभक्तदाने परिमितानां भक्तकमेभिर्दातव्यमिति निश्चये यावद्दशानां योग्यमुपस्कृतं तावत्येकभक्तार्थो ग्राह्यः एकयोग्यं तत्र भक्तं ग्राह्यमिति भावः। अपरिमिते अपरिमितभक्तकदाने दशानामारतोऽपि नवानामष्टानां वा योग्यं यदुपस्कृतम्, तत्रैवं स्थानपरिमाणचिन्ताव्यतिरेकेण यद् योग्यं तद् यावत् पर्याप्तं गृह्णाति ॥५७॥

अद्धा य जाणियव्वा, इहरा ओसक्कणाऽऽदयो दोसा।
संविग्गे संघाडो, एगो इयरेसु न विसंता ॥५८॥

अद्धा भिक्षावेला ज्ञातव्या, इतरथाऽवष्वष्कणाऽऽदयो दोषा भवेयुः। तथा 'संविग्गे' संविग्नानामेकः सङ्घाटो यत्र प्रविशति तत्र गन्तव्यम्। इतरेषु यत्र बहवः सङ्घाटकाः प्रविशन्ति, तत्र न गच्छन्ति॥५८॥

तेहिं गिलाणगस्सा, अहागडाइं हवंति सव्वाइं।
अब्भंगसिरावेहो, अपाणछेयावणेज्जाइं ॥५९॥

यदि स्वजनानां संबन्धी कोऽपि ग्लानो वर्तते, ततस्तस्य चिकित्सां वैद्यः करोति। यदि वा–वैद्यः साधुस्वजनानां, स्वजनोऽस्य कस्यापि ग्लानस्य क्रियां करोति, ततस्तत्र ग्लानो ज्ञातविधिं नीयते, यतस्तत्र ग्लानस्याभ्यङ्गं शिरावेधोऽपानमपानकर्म छेदेनापनीयानि छेदापनीयानि, एतानि सर्वाणि यथाकृतानिपुरः कर्मपश्चात्कर्मरहितानि भवन्ति ॥५९॥

एतदेव स्पष्टं भावयति–

जइ नीयाण गिलाणो, नीओ विज्जो व कुणइ अन्नस्स।
तत्थ हु न पच्छकम्मं, जायइ, अब्भंइमाईसु ॥६०॥

यदि निजकानां संबन्धी ग्लानो, वैद्यो वा निजकोऽन्यस्य कुरुते चिकित्सां, तत्र 'हु' निश्चितं, न पश्चात्कर्माभ्यङ्गाऽऽदिषु जायते।

कथं न जायते? इत्याह–

पुव्वं च मंगलट्ठा, उप्पेउं जइ करेइ गिहियाणं।
सिरवेधवत्थिकमाइएसु न उ पच्छकम्मोऽयं ॥६१॥

पूर्वं यदि मङ्गलार्थं साधौ 'उप्पेयं' देशीपदमेतत् अभ्यङ्गं कृत्वा, पश्चाद् गृहिकाणां गृहस्थानां करोत्यभ्यङ्गम्, एतत् पश्चात्कर्म

न भवति। एवं शिरावेधवस्तिकर्माऽऽदिष्वपि पूर्वं साधौ कृत्वा पश्चाद् गृहस्थेषु क्रियमाणेषु न पश्चात्कर्म ॥६१॥

अत्तट्ठा उवणीया, ओसहमादी हवंति ते चेव।
पत्थाऽऽहारो य तहिं, अहाकडो होइ साहुस्स ॥६२॥

आत्मार्थं यान्युपनीतानि औषधाऽऽदीनि गृहस्थैः, तान्यव साधोरपि भवन्ति, पथ्याऽऽहारोऽपि च तत्र साधोर्यथाकृतो भवति, न ततः पश्चात्कर्म ॥६२॥

अगिलाणे उ गिहिम्मी, पुव्वुत्ताए करेंति जयणाए।
अण्णत्थ पुण अलंभे, नायविहिं नेंति अन्नतरं ॥६३॥

यदि निजकानां संबन्धी न कश्चिद् ग्लानो, नाऽपि निजको वैद्योऽन्यश्च चिकित्सां करोति, तदा गृहिणि गृहस्थे अग्लाने, अन्यत्र पूर्वोक्तया यतनयापूर्वं कल्पाध्ययने ग्लानसूत्रे चिकित्सा यतना उक्ता, तया चिकित्सां कुर्वन्ति। तथाऽन्यत्रौषधीनां लाभो नास्ति। तत आह–अन्यत्र पुनरौषधीनामलाभे ज्ञातविधिमन्यतरं तं ग्लानं नयन्ति। तदेवं ग्लानविधिरप्युक्तः ॥६३॥

सम्प्रति लाभचिन्तायामाभवनविधिमाह–

अहुणा तु लाभचिंता, तत्थ गयाणं इमा हवइ तेसिं।
जइसव्वेगाऽऽयरियस्स होंति तो मग्गणा नऽत्थि ॥६४॥

अधुना तेषां तत्र गतानां ज्ञातविधौ गतानामियं लाभचिन्ता भवति। यदि ते धर्मकथ्यादयः सर्वेऽप्येकस्याऽऽचार्यस्य भवन्ति, तर्हि नाऽस्ति मार्गणा; सर्वमाचार्यस्याऽऽभवतीति भावः ॥६४॥

संतासंती अहवा, अण्णगणा जे वितीयगा नीया।
तत्थ इम मग्गणा ऊ, आभव्वे होइ नायव्वा ॥६५॥

सद्भावो नाम–सन्ति साधवः, परं न धर्मकथाऽऽदिषु कुशलाः, असद्भावोमूलत एव न सन्ति साधवः। एवं सद्भावेनासद्भावेन वा येऽन्यगणसत्का द्वितीयका नीताः, तेषामियमाभाव्ये मार्गणा भवति ज्ञातव्या ॥६५॥

तामेवाऽऽह–

जं सो उवासामेती, तन्निस्साए य आगया जे तु।
ते सव्वे आयरितो, लभते पव्वायगो तस्स ॥६६॥

स ज्ञातविधिमागतः सन् यमुपशमयति प्रव्रज्यापरिणामं ग्राहयति, ये च तन्निश्रया तस्य ज्ञातविधिमागतस्य निश्रयास्वजनोऽस्माकमिति बुद्ध्या तत्समीपमागताः, तान् सर्वान्, यो ज्ञातविधिं द्रष्टुमागतः, तस्य साधोर्यः प्रव्राजक आचार्यः, स लभते।

जे पुण अह भावेणं धम्मकही सुंदरो त्ति वा सोउं।
आउ–वसामिय तेहिं, तेसिं चिय ते हवंती उ ॥६७॥

ये पुनः यदि वा ये–सुन्दरो धर्मकथी इति श्रोतुमागताः सन्तः, वैधर्मकथ्यादिभिरुपशामिताः प्रव्रज्यापरिणामं ग्राहिताः, ते तेषामेव भवन्ति ॥६७॥

अण्णेहिँ कारणेहि य, गच्छंताणं तु जयण एसेव।
ववहारो सेहस्स य, ताइं च इमाइँ कज्जाइं ॥६८॥

व्यास्तां स्वजनवन्दापनाय, ग्लानप्रयोजनेन वा ज्ञातविधिं गतानां यतना प्रागुक्ता भवति, अन्यैर्वा कारणैर्वक्ष्यमाणैर्ज्ञातविधिं गच्छतामेषैवाऽनन्तरोदिता यतना–एषैव शैक्षस्य विषये अनन्तरोदित आभवनव्यवहारः। तानि चान्यानि कार्याणि कारणानीमानि ॥६८॥

तान्येवाऽऽह–

तवसोसिय अप्पायण, ओमे य असंथरंत गच्छेज्जा।
रमणिज्जं वा खेत्तं, तिकालजोग्गं तु गच्छस्स ॥६९॥

तपसा विकृष्टेन शोषितस्तपः शौषितः, स्वजनाश्च प्रचुरदानाः, तत आप्यायननिमित्तं सपरिवारो ज्ञातविधिं व्रजेत्। अथवा–अवमं दुर्भिक्षं ज्ञातं, तत्रासंस्तरन्तो ज्ञातविधिं गच्छेयुः, रमणीयं वा तत् क्षेत्रं गच्छस्य त्रिकालयोग्यं, ततो गच्छन्ति ॥६९॥

त्रिकालयोग्यतामेव भावयति–

वासे निचिक्खिल्लं, सीयल दव पउरमेव गिम्हासु।
सिसिरे य घणनिवाया, वसही तह घट्ठ मट्ठा य ॥७०॥

वर्षे वर्षाकाले 'निचिक्खिल्लं' कर्दमाभावः, ग्रीष्मेषु ग्रीष्मकाले प्रचुरं शीतलं द्रवं लभ्यते, शिशिरे शीतकाले घनमतिशयने निर्वाता वसतिर्लभ्यते घृष्टा मृष्टा च ॥७०॥

छिण्णमंडवयं च तयं, सपक्खपरपक्खविरहितोमाणं।
पत्तेय उग्गह त्ति य, काऊणं तत्थ गच्छेज्जा ॥७१॥

यदन्यत् क्षेत्रं गन्तव्यं तच्छिन्नमण्डपं, यत्र तु स्वजनाः सन्ति तत्स्वपक्षपरपक्षकृतापमानविरहितम्। गाथायामपमानशब्दस्याऽन्यथानिपातः प्राकृतत्वात्। प्रत्येकं ग्लानबालाऽऽदीनामवग्रह उपष्टम्भश्च जायते, इति कृत्वा इति हेतोः, तत्र ज्ञातविधौ गच्छेत्।

उवदेसं काहामि य, धम्मं गाहिस्स पव्वयाविस्सं।
सड्ढाणि व वुग्गाहे, भिच्छुगमादी ततो गच्छे ॥७२॥

धर्मोपदेशं वा स्वजनानां करिष्यामि। यदि वा–धर्मं श्रावकधर्मं ग्राहयिष्यामि। अथवा–ते निष्क्रामतुकामा वर्तन्ते, ततः प्रव्राजयिष्यामि, दानश्रद्धानि वा तानि कुलानि भिक्षुकाऽऽदि व्युद् ग्राहयेत्, तत एतैः कारणैर्ज्ञातविधिं गच्छेत्। व्य० ६ उ०।

णायव्व त्रि०(ज्ञातव्य) स्वरूपतोऽवबोधव्ये, आव०५ अ० उत्त०। दर्श०।

णायसंग पुं०(ज्ञातसङ्ग) पुत्राऽऽदिसंबन्धे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०२ उ०। ''विबद्धो नायसंगेहिं।'' ज्ञातसङ्गैर्विबद्धो मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदिमोहितः। सूत्र०१ श्रु०३ अ०२ उ०।

णायसंड न०(ज्ञातखण्ड) कुण्डपुराद् बहिरुद्याने, आ०म०१ अ०२ खण्ड। यत्र वीरस्वामी प्रव्रजितः। आचा०२ श्रु०३ चू०१ अ०। आ०म०। कल्प०।

णायागय त्रि०(न्यायागत) द्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां स्ववृत्त्यनुष्ठानलक्षणेन लोकव्यवहार्येण न्यायेन प्राप्ते, आव०६ अ०।

णायाधम्मकहा स्त्री०(ज्ञाताधर्मकथा) ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा। अथवा–ज्ञातानि ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कन्धे, धर्मकथा द्वितीये यासु ग्रन्थपद्धतिषु ता ज्ञाताधर्मकथाः, पृषोदराऽऽदित्वात् पूर्वपदस्य दीर्घान्तता। षष्ठेऽङ्गे, (ज्ञा०)

तत्र जम्बूस्वामी सुधर्माणं गणधरमेवं पप्रच्छ–

तते णं से अज्जजंबूणामे जायसड्ढे जायसंसए जायकोऊहले संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोऊहले उप्पण्णसड्ढे उप्पण्णसंसए उप्पण्णकोऊहले समुप्पण्णसड्ढे समुप्पण्णसंसए समुप्पण्णकोऊहले उट्ठाए उट्ठेति, उट्ठाए उट्ठित्ता जेणामेव अज्जसुहम्मे

थेरे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अज्जसुहम्मे थेरे तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदति, नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता अज्जसुहम्मस्स थेरस्स नच्चासण्णे नाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे पंजलिउडे विणएणं पज्जुवासमाणे एवं वयासी जति णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं सयंसंबुद्धेणं पुरिसुत्तमेणं पुरिससीहेणं पुरिसपुंडरीएणं पुरिसपुंडरीएणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहेणं लोगहिएणं लोगपईवेणं लोगपज्जोयगरेणं अभयदएणं चक्खुदएणं मग्गदएणं सरणदएणं बोहिदएणं धम्मदयेणं धम्मदेसएणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं अप्पडिहयवरनाणदंसणधरेणं जिणेणं जावएणं बुद्धेणं बोधएणं मुत्तेणं मोयगेणं तिन्नेणं तारएणं सिवमयलमरूवमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तयं सासयं ठाणमुवगएणं पंचमस्स अंगस्स विवाहपन्नत्तीए अयमट्ठे पन्नत्ते। छट्ठस्स णं अंगस्स भंते ! णायाधम्मकहाणं के अट्ठे पण्णत्ते ? जंबू ! ति अज्जसुहम्मे थेरे अज्जजंबूनामं अणगारं एवं वयासी–एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं छट्ठस्स अंगस्स दो सुयक्खंधा पण्णत्ता। तं जहा–नायाणि य, धम्मकहाओ य। ज्ञा० १ श्रु०१ अ०।

('णायज्झयण' शब्देऽत्रैव भागे २००३ पृष्ठे 'धम्मकहा' शब्दे च श्रुतस्कन्धाऽध्ययनानि द्रष्टव्यानि)

विषयः–

से किं तं नायाधम्मकहाओ ? नायाधम्मकहासु णं नायाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइया परलोइया इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ परियाया सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुले पच्चायाइओ पुण बोहिलाभो अंतकिरियाओ आघविज्जंति दस धम्मकहाणं वग्गा। तत्थ णं एगमेगाए धम्मकहाए पंच पंच अक्खाइयासयाइं, एगमेगाए अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयासयाइं, एगमेगाए उवक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइयासयाइं, एवमेव सपुव्वावरेणं अद्धट्ठाओ कहाणगकोडीओ हवंति त्ति मक्खायं। नायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ संखेज्जाओ संगहणीओ संखेज्जाओ पडिवत्तीओ से णं अंगट्ठायाए छट्ठे अंगे दो सुयक्खंधा एगूणवीसं अज्झयणा एगूणवीसं उद्देसणकाला एगूणवीसं समुद्देसणकाला संखिज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंतागमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया एवं नाया एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, सेत्तं नायाधम्मकहाओ ॥६॥

''से किं तं'' इत्यादि। अथ कास्ता ज्ञाताधर्मकथाः? ज्ञातानि उदाहरणानि, तत्प्रधानाः धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथाः। अथवा–ज्ञातानि ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कन्धे धर्मकथा, द्वितीये यासु ग्रन्थपद्धतिषु ता ज्ञाताधर्मकथाः, पृषोदराऽऽदित्वात् पूर्वपदस्य दीर्घान्तता। सूरिराह–ज्ञाताधर्मकथासु, णमितिवाक्यालङ्कारे, ज्ञातानामुदाहरणभूतानां, नगराऽऽदीन्याख्यायन्ते। तथा–(दस धम्मकहाणं वग्गा इत्यादि) इह हि प्रथमश्रुतस्कन्धे एकोनविंशति–र्ज्ञाताध्ययनानि। ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधानान्यध्ययनानि। द्वितीयश्रुतस्कन्धे दश धर्मकथाः धर्मस्याहिंसाऽऽदिलक्षणस्य प्रतिपादिकाः कथाः धर्मकथाः। अथवा–धर्मादनपेता धर्म्याः, धर्म्याश्च ताः कथाश्च धर्मकथाः। तत्र प्रथमे श्रुतस्कन्धे यान्येकोन–विंशतिर्ज्ञाताध्ययनानि, तेषु आदिमानि दश ज्ञातानि ज्ञातान्येव, न तेष्वाख्यायिकाऽऽदिसंभवः। शेषाणि पुनः नव ज्ञातानि, तेष्वेकैकस्मिन् चत्वारिंशानि पञ्च पञ्चाऽऽख्यायिकाशतानि भवन्ति। एकैकस्यां चाख्यायिकायां पञ्च पञ्चोपाख्यायिकाशतानि। एकैकस्यां चोपाख्यायकायां पञ्च पञ्चाऽऽख्यायिकाशतानि। सर्वसंख्यया एकविंशं कोटिशतं लक्षाः पञ्चाशत्। तत एवं स्थिते प्रस्तुतसूत्रस्याऽवतारः। आह च टीकाकृत्– ''इगवीसं कोडिसयं, लक्खा पन्नास चेव होइ बोधव्वा। एवं कए समाणे, अहिगयसुत्तस्स पत्थाओ ॥१॥'' द्वितीयश्रुतस्कन्धे दश कथानां वर्गाः, वर्गः समूहो, दशधर्मकथासमुदाय इत्यर्थः। अत एव च दशाध्ययनानि एकस्यां धर्मकथायां, कथासमूहरूपायामध्ययनप्रमाणायां पञ्च पञ्चाऽऽख्यायिकाशतान्येकैकस्यां चाऽऽख्यायिकायां पञ्चपञ्चोपाख्यायिकाशतानि, एकैकस्यां चोपाख्यायिकायां पञ्चपञ्चाऽऽख्यायिकाशतानि, सर्वसंख्यया पञ्चविंशं कोटिशतम्। इह नव ज्ञाताध्ययनसंबद्धाऽऽख्यायिकाऽऽदिसदृशा या आख्यायिकाऽऽदयः पञ्चाशल्लक्षाधिकैकविंशति कोटिशतप्रमाणाः, ता अस्मात् पञ्चविंशतिकोटिप्रमाणाद्राशेः शोध्यन्ते, ततः शेषा अपुनरुक्ता अर्द्धचतुर्थाः कथानक–कोट्यो भवन्ति। तथा चाऽऽह–एवमेवोक्तप्रकारेणैव गुणने शोधने च कृते सपूर्वापरेण श्रुतस्कन्धाः पूर्वापरश्रुतस्कन्धकथाः समुदिता अपुनरुक्ताः (अद्धट्ठाओ त्ति) अर्द्धचतुर्थाः कथानककोटयो भवन्तीत्याख्यातं तीर्थकरगणधरैः। आह च टीकाकृत्– ''पणवीसं कोडिसयं, एत्थ य समलक्खणा इमा जम्हा।

नव नायासंबद्धा, अक्खाइयमाइया तेणं ॥१॥

ता सोहिज्जंति फुडं, इमाओ रासीओ वेगलाणं तु।

पुणरुत्तवज्जियाणं, पमाणमेयं विणिद्दिट्ठं ॥२॥''

तथा ''नायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा'' इत्यादि सर्वं प्राग्वद् भावनीयम्, यावन्निगमनं, नवरं संख्येयानि पदसहस्राणि, पदाग्रेण पदपरिमाणेन च तानि पञ्च लक्षाः षट्सप्ततिसहस्राः, पदमपि चात्रौपसर्गिकं, नैपातिकं, नामिकमाख्यातिकं, मिश्रं चेति

वेदितव्यम् । तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्– ''पयग्गेणं ति–उवसग्गपयं, निघायपयं, नामियपयं, अक्खायपदं, मिस्सपयं च। एए पए अहि–किच्च पंचलक्खा छावत्तरिसहस्सा पयग्गेणं भवंति ।'' अथवा–इह पदं सूत्रालापकरूपमुपगृह्यते, ततः तथारूपपदापेक्षया संख्येयानि पदसहस्राणि भवन्ति, न लक्षाः । आह च चूर्णिकृत्–''अथवा सुत्तालावगपयग्गेणं संखेज्जाइं पयसहस्साइं भवंति त्ति ।'' न० स० आव० अनु० सूत्र० ग्रन्थान्ते टीकाकारोऽभयदेवसूरिः–समाप्ता चेयं ज्ञाताधर्मकथाप्रदेशटीकेति ।

''नमः श्रीवर्द्धमानाय, श्रीपार्श्वप्रभवे नमः ।
नमः श्रीमत्सरस्वत्यै, सहायेभ्यो नमो नमः ॥१॥
इह हि गमनिकार्थं, यन्मयाऽभ्यूहयोक्तम्,
किमपि समयहीनं, तद्विशोध्यं सुधीभिः ।
न हि भवति विधेया सर्वथाऽस्मिन्नुपेक्षा,
दयितजिनमतानां तायिनां चाङ्गिवर्गे ॥२॥
परेषां दुर्लक्षा भवति हि विवक्षा फुटमिदं,
विशेषाद्बुद्धानामतुलवचनज्ञानमहसाम् ।
निराम्नायाधीभिः पुनरतितरां मादृशजनैः,
ततः शास्त्रार्थे मे वचनमनघं दुर्लभमिह ॥३॥
ततः सिद्धान्ततत्त्वज्ञैः, स्वयमूह्यः स यत्नतः ।
न पुनरस्मदाख्यात, एव ग्राह्या नियोगतः ॥४॥
तथाऽपि माऽस्तु मे पापं, सङ्घ मत्युपजीवनात् ।
वृद्धन्यायानुसारित्वात्, हितार्थं च प्रवृत्तितः ॥५॥
तथाहि किमपि स्फुटीकृतमिह स्फुटेऽप्यर्थतः,
सकष्टमतिदेशतो विविधवाचनातोऽपि यत् ।
समार्थपदसंश्रयाद्विगुणपुस्तकेभ्योऽपि यत्,
पराऽऽत्महितहेतवेऽनभिनिवेशिना चेतसा ॥६॥
यो जैनाभिमतं प्रमाणमनघं व्युत्पादयामासिवान्,
प्रस्थानैर्विविधैर्निरस्य निखिलं बौद्धाऽऽदिसंबन्धि तत् ।
नानावृत्तिकथाः कथापथमतिक्रान्तं च चक्रे तपो,
निःसंबन्धविहारमप्रतिहतं शास्त्रानुसारात्तथा ॥७॥
तस्याऽऽचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वादिप्रतिस्पर्धिनः,
तद्बन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि ।
छन्दोबन्धनिबद्धबन्धुरवचः शब्दाऽऽदिसल्लक्षणः,
श्रीसंविग्नविहारिणः श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणेः ॥८॥
शिष्येणाभयदेवाऽऽख्यसूरिणा विवृतिः कृता ।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य, श्रुतभक्त्या समासतः ॥९॥''

ज्ञा०२ श्रु० १० वर्ग १ अ०।

णारइय पुं०(नारयिक) नैरयिके नरकपृथिवीषूत्पन्ने, प्रा०२ पाद।

णारग पुं०(नारक) नरकेषु भवा नारकाः। नरको वा विद्यते येषां ते नारकाः । नरकपृथिवीषूपपन्नेषु जीवेषु, नं० आ०म० प्रव० कर्म० आव०।

नारकाऽस्तित्वसिद्धिः–

**किं मण्णे नेरइया, अत्थि नऽत्थि त्ति संसओ तुज्झं ।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो ॥१८८७॥**

किं नारकाः सन्ति, न वा? इति त्वं मन्यसे । अयं च तव संशयो विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धनः । तथाहि–''नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति'' इत्यादि । एष ब्राह्मणो नारको जायते यः शूद्रान्नमश्नातीत्यर्थः; इत्यादीनि वाक्यानि नारकसत्ताप्रतिपादकानि, ''न ह वै प्रेत्य नारकाः सन्ति'' इत्यादीनि तु नारकाभावप्रतिपादकानि, तत्रैषां वेदपदानामर्थं, चशब्दाद्युक्तिहृदयं च त्वं न जानासि, यत एतेषामयं वक्ष्यमाणोऽर्थ इति ॥१८८७॥

अत्र भाष्यम्–

**तं मन्नसि पच्चक्खा, देवा चंदाऽऽदओ तहऽन्ने वि ।
विज्जामंतोवायणफलाइसिद्धाऍ गम्मंति ॥१८८८॥
जे पुण सुइमेत्तफला, नेरइय त्ति किह ते गहेयव्वा ।
सक्खमणुमाणओ वाऽणुवलंभा भिन्नजाईया? ॥१८८९॥**

हे आयुष्मन्नकम्पित ! त्वमेवं मन्यसेदेवास्तावच्चन्द्राऽऽदयः प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धा एव, अन्ये त्वप्रत्यक्षा अपि विद्यामन्त्रोपयाचितकाऽऽदिफलसिद्ध्याऽनुमानतो गम्यन्ते, ये पुनः ''नारका'' इत्यभिधानमात्ररूपा श्रुतिरेव फलं येषां, न पुनः तदभिधायकशब्दव्यतिरिक्तोऽर्थः, ते साक्षात्, अनुमानतो वाऽनुपलभ्यमानत्वेन तिर्यङ्नरामरेभ्यः सर्वथा भिन्नजाता याः कथं 'सन्ति' इति ग्रहीतव्याः, खरविषाणवद्? इति ॥१८८८॥ १८८९॥

अथ भगवानुत्तरमाह–

**मह पच्चक्खत्तणओ, जीवाई य व्व णारए गिण्ह ।
किं जं सप्पच्चक्खं, तं पच्चक्खं नवरि इक्कं? ॥१८९०॥
जं कासइ पच्चक्खं, पच्चक्खं तं पि घेप्पइ लोए ।
जह सीहाऽऽइदरिसणं, सिद्धं न य सव्वपच्चक्खं ॥१८९१॥**

हे आयुष्मन् ! अकम्पित ! साक्षादनुपलभ्यमानत्वादित्यसिद्धो हेतुः, यतोऽहं केवलप्रत्यक्षेण साक्षादेव पश्यामि नारकान्, ततो मत्प्रत्यक्षत्वात् 'सन्ति' इति गृहाण प्रतिपद्यस्व नारकान्, जीवा–जीवाऽऽदिपदार्थवत् । अथैवं मन्यसेममाप्रत्यक्षत्वात्कथमेतान् गृण्हामि? ननु दुरभिप्रायोऽयम्, यतः किं यत् स्वस्याऽऽत्मनः प्रत्यक्षं तदेवैकं नवरं प्रत्यक्षमुच्यते? इति काक्वा नेयम् । ननु यदपि कस्यचित् प्रत्ययितपुरुषस्यान्यस्य प्रत्यक्षं, तदपि प्रत्यक्षमिति गृह्यते व्यवहियते लोके । तथाहि– सिंहसरभहंसाऽऽदिदर्शनं सिद्धं प्रसिद्धं लोके, न च सिंहाऽऽदयः सर्वजनप्रत्यक्षाः, देशकालग्राम–नगरसरित्समुद्राऽऽदयश्च न सर्वेऽपि भवतः प्रत्यक्षाः, अथ चान्यस्यापि प्रत्यक्षास्ते प्रत्यक्षतयो व्यवहियमाणा दृश्यन्ते, अतो मत्प्रत्यक्षा नारकाः किमिति प्रत्यक्षतया न व्यवहियन्ते? इति ॥१८९०॥१८९१॥

अथाभिप्रायान्तरमाशङ्क्य परिहरन्नाह–

**अहवा जमिंदियाणं, पच्चक्खं किं तदेव पच्चक्खं?
उवयारमेत्तओ तं, पच्चक्खमणिंदियं तत्थं ॥१८९२॥**

अथवा–किं यदिन्द्रियाणां प्रत्यक्षं तदेव प्रत्यक्षमिष्यते भवता, मदीयं तु प्रत्यक्षं नाभ्युपगम्यते, अतीन्द्रियत्वात्? ननु महानयं विपर्यासः, यस्मादुपचारमात्रत एव तदिन्द्रियप्रत्यक्षं प्रत्यक्षतया व्यवहियते यथाऽनुमाने बाह्यधूमाऽऽदिलिङ्गद्वारेण बाह्यमग्न्यादि वस्तु ज्ञायते, नैवमत्र, तत उपचारात् प्रत्यक्षमिव प्रत्यक्षमुच्यते । परमार्थतस्तुइदमपि परोक्षमेव, यतोऽक्षो जीवः, स चानुमानवदत्रापि वस्तु साक्षाद् न पश्यति, किं

त्विन्द्रियद्वारेणैव, ततोऽतीन्द्रियमेव तथ्यं प्रत्यक्षमवगन्तव्यम्, तत्र जीवेन साक्षादेव वस्तुन उपलम्भादिति ॥१८६२॥ (विश०)

अनुमानं त्विदम्–

पावफलस्स पगिट्ठस्स भोइणो कम्मओऽवसेस व्व।
संति धुवं तेऽभिमया, नेरइया अह मई होज्जा ॥१८६६॥
अच्चत्थदुक्खिया जे, तिरियनरा नारग त्ति तेऽभिमया।
तं न जओ सुरसोक्खप्पगरिससरिसं न तं दुक्खं ॥१६००॥

प्रकृष्टस्य पापफलस्य भोगिनः केचित् ध्रुवं सन्ति (कम्मओ त्ति) कर्मफलत्वात् तस्य इत्यर्थः। अवशेषवदिति–यथा जघन्यमध्यमपापफलभोगिनः शेषाः तिर्यङ् नरा विद्यन्त इत्यर्थः, इति दृष्टान्तः। (तेऽभिमया नेरइय त्ति) ये प्रकृष्टपापफलभोगिनः, ते नारका इति अभिमताः। अथ परस्यैवंभूता मतिर्भवेत्, अत्यर्थं दुःखिता ये तिर्यङ् मनुष्याः, त एव प्रकृष्टपापफलभोगित्वान्नारकव्यपदेशभाजो भविष्यन्ति, किमदृष्टनारककल्पनया? इति तदेतन्न। यतोऽतिदुःखितानामपि तिर्यङ्मनुष्याणां यद् दुःखं तदमरसौख्यप्रकर्षसदृशप्रकर्षवन्न भवति। इदमुक्तं भवति–येषामुत्कृष्टपापफलभोगः, तेषां संभवद्भिः सर्वैरपि प्रकारैर्दुःखेन भवितव्यम्, न चैवमतिदुःखितानामपि तिर्यगादीनां दृश्यते, आलोकतरुच्छायाशीतपवनसरित्सरःकूपजलाऽऽदिसुखस्यातिदुःखितेष्वपि तेषु दर्शनात्–छेदनभेदनपाचनदहनदम्भनवज्रकण्टकशिलाऽऽस्फालनाऽऽदिभिश्च नरकप्रसिद्धैः प्रकारैः दुःखस्यादर्शनाद्, इत्यादिप्रागुक्तानुसारेण स्वयमेवाभ्यूह्य वाच्यमिति। आगमार्थश्चायमवगन्तव्य इति।

''सततमनुबद्धमुक्तं, दुःखं नरकेषु तीव्रपरिणामम्।
तिर्यक्षूष्णभयक्षुत्तृडादिदुःखं सुखं चाल्पम् ॥१॥
सुखदुःखे मनुजानां, मनःशरीराऽऽश्रये बहुविकल्पे।
सुखमेव तु देवानामल्पं दुःखं तु मनसि भवम् ॥२॥''

इति ॥१८६६॥१६००॥

प्रागनेकशोऽभिहितानुमानतोऽपि नारकान् साधयितुमाह–

सच्चं चेदमकंपिय ! मह वयणाओऽवसेसवयणं व।
सव्वण्णुत्तणओ वा, अणुमयसव्वण्णुवयणं व ॥१६०१॥

नारकाः सन्ति इति सत्यमकम्पित ! इदं, मद्वचनत्वात्, यथाऽवशेषं त्वत्संशयाऽऽदिविषयं मद्वचनम्। अथवा–सर्वज्ञवचनत्वाद् इत्येव हेतुर्वक्तव्यः, त्वदनुमतमनुजैमिन्यादिसर्वज्ञवचनवदिति ॥१६०१॥

अपि च–

भयरागदोसमोहा–भावाओ सच्चमणइवाइं च।
सव्वं चिय मे वयणं, जाणयमज्झत्थवयणं व ॥१६०२॥

(१५७८ गाथाऽपीयमेव गता।)प्रागनेकधा व्याख्यातेयम् ॥१६०२॥

अकम्पिताऽभिप्रायमाशङ्क्याऽऽत्मनि सर्वज्ञताऽऽदिसाधनाय भगवानाह–

किह सव्वण्णु त्ति मई, पच्चक्खं सव्वसंसयच्छेया।
भयरोगदोसरहिओ, तल्लिंगाभावओ सोम्म ! ॥१६०३॥

इयमपि व्याख्यातार्था। यदपि ''न ह वै प्रेत्य नारकाः सन्ति'' इत्यादौ नारकाभावः शङ्क्यते भवता, तदप्ययुक्तम्, यतोऽयमत्राभिप्रायो मन्तव्यः–न खलु प्रेत्य परलोके मेर्वादिवच्छाश्वताः केचनाप्यवस्थिता नारकाः सन्ति, किन्तु य इहोत्कृष्टं पापमर्ज–यति, स इतो गत्वा प्रेत्य नारको भवति, अतः केनापि तत्पापं न विधेयं, येन प्रेत्य नारकैर्भूयते। विशे० आ०म०। सूत्रकृदङ्ग प्रथम–श्रुतस्कन्धचतुर्थाध्ययनवृत्तौ–''छिन्नपादभुजस्कन्धाः, छिन्न-कर्णोष्ठनासिकाः। छिन्नतालुशिरोमेढ्राः, भिन्नाक्षिहृदयोदराः'' ॥१॥ इत्युक्तम्, तत्र नारकाणां नपुंसकत्वे छिन्नमेढ्रा इति कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्–नारकाणां नपुंसकत्वेऽपि मेढ्रसत्ता न विरुद्ध्यते, ''महिलासहावो सरवन्नभेओ, मेढिं मउंतं मउआ य वाणी।'' इत्यादिलक्षणस्य पुष्पमालाऽऽदावुक्तत्वादिति। २५६प्र०। सेन०३ उल्ला०। ('णरग' शब्देऽत्रैव भागे १६१७ पृष्ठे सर्वा वक्तव्यतोक्ता)

णारगदुक्खोववण्णण न०(नारकदुःखोपवर्णन) नारकाणामुपलक्षणत्वाद् तिर्यगादीनां चाऽशर्मोपवर्णने, (ध०)

तथा चोक्तं धर्मबिन्दौ–

''नारकदुःखोपवर्णनमिति।'' नरके भवा नारकाः, तेषामुप लक्षणत्वात् तिर्यगादीनां च दुःखान्यशर्माणि, तेषामुपवर्णनं विधेयम्। यथा–

''तीक्ष्णैरसिभिदीप्तैः, कुन्तैर्विषमैः परश्वधैश्चक्रैः।
परशुत्रिशूलतोमरमुद्गरवासीभुसण्डीभिः ॥१॥
संभिन्नतालुशिरसश्छिन्नभुजाश्छिन्नकर्णनासौष्ठाः।
भिन्नहृदयोदरान्त्राः, भिन्नाक्षिपुटाः सुदुःखार्ताः ॥२॥
निपतन्त उत्पतन्तो, निचेष्टमाना महीतले दीनाः।
नेक्षन्ते त्रातारं, नैरयिकाः कर्मपटलान्धाः ॥३॥
क्षुत्तृड्हिमान्युष्णभयार्दितानां,
पराभियोगव्यसनातुराणाम्,
अहो तिरश्चामतिदुःखितानां,
सुखानुषङ्गः किल वार्तमेतत् ॥४॥
मानुष्यकेऽपि दारिद्र्यरोगदौर्भाग्यशोकमौर्ख्याणि।
जातिकुलावयवाऽऽदि–न्यूनत्वं चाश्नुते प्राणी ॥५॥
देवेषु च्यवनवियोगदु खितेषु,
क्रोधेर्ष्यामदमदनार्तितापितेषु।
आर्याः ! नस्तदिह विचार्य संगिरन्तां,
यत्सौख्यं किमपि निवेदनीयमस्ति ॥६॥''इति। ध० १ अधि०।

णारय पुं०(नारद) समुद्रविजयनृपपालिते सौर्यपुरे यज्ञयशसः सुतस्य सोममित्रायां जातस्य यज्ञदत्तस्य सोमयशोनामभार्यायां जाते पुत्रे, आ०क०।

तत्कथा–

''आसीद् यदा सौर्यपुरे, समुद्रविजयो नृपः।
तदा यज्ञयशास्तत्र, तापसस्तस्य वल्लभाः ॥१॥
सोममित्रा सुतो यज्ञदत्तः सोमयशाः स्नुषा।
तत्पुत्रो नारदस्तेषामुञ्छवृत्त्या च भोजनम् ॥२॥
तदप्येकान्तरं ते चाऽशोकाधो नारदं सुतम्।
मुक्त्वोञ्छन्ति दिवा यान्तो, जृम्भकास्तेन वर्त्मना ॥३॥
ते दृष्ट्वाऽवधिना ज्ञात्वा, स्वनिकायच्युतं ततः।
स्तम्भन्ति स्म तरोश्छायां, मा भूत्तापोऽस्य दुःखकृत् ॥४॥
प्रत्यावृत्तैर्ग्रहात्तस्तैः, शिक्षितो व्यक्तचेतनः।
पूर्वप्रेम्णा ददे तस्य, विद्याः प्रज्ञप्तिकाऽऽदिकाः ॥५॥

यति व्योम्ना ततः कृत्वा, पादयोर्मणिपादुके।
सुवर्णकुण्डिकापाणिरन्यदा द्वारकां गतः'' ॥६॥

आ०क० । औ० ब्राह्मणपरिव्राजकभेदे, ती० २७ कल्प० । गन्ध-र्वानीकाधिपतौ गन्धर्वे , स्था०७ ठा० । प्रज्ञा० । नारदाः सर्वेऽपि मोक्ष एव यान्ति, स्वर्गं वेति प्रश्ने, उत्तरम्-नारदा मोक्षं, स्वर्गं च यान्तीति ऋषिमण्डलवृत्तौ । किञ्चते पूर्वं मिथ्यात्विनः पश्चात्सम्यक्त्विन-स्तत्रैवोक्ता इति । अन्यच्च-भीम १ महाभीम २ रुद्र ३ महारुद्र ४ काल ५ महाकाल ६ चतुर्मुख ७ नवमुख ८ उन्मुखा ९ एवंविधानि तेषां नामान्यपि सन्तीति । ७० प्र० सेन०३ उल्ला० । नव नारदाः कस्मिन् वाऽऽरके संजाता? इति साक्षरं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-नव नारदा वासुदेवसमानकालीनाः संभाव्यन्ते, तत्तच्चरित्राऽऽदिषु तदारके तेषां गमनाऽऽगमनाऽऽदि-श्रवणादिति ॥ १०६प्र० सेन०३ उल्ला० ।

णारयपुत्त पुं०(नारदपुत्र) स्वनामके वीरजिनानगारे, भ० ५ श० ७ उ० (स च 'णिग्गंथीपुत्त' शब्दे पुद्गलविषयं प्रश्नं करिष्यति)

णाराचंद पुं०(नाराचन्द्र) हर्षपुरीयगच्छोद्भवे मलधारिदेवप्रभसूरिशिष्ये, अनेन मुरारिकविकृताऽनर्घराघवटीका, न्यायकन्दलीटीका, ज्योतिषसारः, प्राकृतदीपिका च इत्यादयो बहवो ग्रन्था रचिताः । जै०इ० ।

णाराय न०(नाराच) यत्रास्थ्न्योरुभयतो मर्कटबन्ध एव केवलं, न पुनः कीलिका ऋषभसंज्ञपट्टश्च तादृशे तृतीये संहनने, जी०१ प्रति० तं० रा० स्था० चं०प्र० कर्म० सर्वलोहबाणे, पुं० जं०३ वक्ष० तं० स० स्था० ।

णारायण पुं०(नारायण) दशरथपुत्रे रामभ्रातरि लक्ष्मणनामके अवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे अष्टमे वासुदेवे, प्रव० २१० द्वार । ति० स० आव० वासुदेवमात्रे, उत्त० ९ अ० ।

णारिकंतप्पवायदह पुं०(नारिकान्ताप्रपातह्रद) यत्र नारिकान्ता महानदी निपतति, यश्च नारिकान्तादेवीद्वीपेन सभवनेन भूषित-मध्यभागः तस्मिन् रम्यकवर्षीये प्रपातह्रदे, स्था० २ ठा० ३उ० ।

णारिकंता स्त्री०(नारिकान्ता) रम्यकवर्षे अपरार्णवगायां महानद्याम्, जं० ६ वक्ष० स० रा० (नीलवद्वर्षधरपर्वते केशरिह्रदादुत्तरतो निर्गत्य पश्चिमसमुद्रगा नारिकान्ता इति 'णीलवंत' शब्दे व्याख्यास्यते)

णारिकंताकूड न०(नारिकान्ताकूट) जम्बूद्वीपे मन्दरस्य उत्तरेण नीलवतः पर्वतस्य षष्ठे कूटे, स्था०९ ठा० ।

णारी स्त्री०(नारी) नरस्त्रियाम्, बृ०४ उ० ।

निरुक्तिः-

पुरिसे कामरागपडिबद्धे णाणाविहेहिं उवायसयसहस्सेहिं वहबंधणमाणयंति पुरिसाणं नो अन्नो एरिसो अरी अत्थि त्ति नारीओ । तं जहा-नारीसमा न नराणं अरीओ नारीओ ॥

(पुरिसे इत्यादि यावत् नारीओ त्ति) 'नारीओ त्ति' खण्डयति । कथम्? ना-आ-अरि इति । नानाविधैरुपायशतसहस्रैः कामरागप्रतिबद्धे पुरुषे वधबन्धनं प्रति, आ इति-'आणयंति' प्रापयन्ति(अरीति) पुरुषाणां च नान्यसदृशोऽरिः शत्रुः, अस्तीति नार्यः। (तं जह त्ति) तत्पूर्वोक्तं, यथेति दर्शयतिनारीसमा न नराणाम् अरयः सन्तीति नार्यः । तं० । ''जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमता। एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अ नई मया ॥१६॥'' सूत्र०१ श्रु०३ अ०४उ० । उत्त० । (स्त्रीपरिज्ञा 'इत्थी' शब्दे द्वितीयभागे ६२ पृष्ठे दर्शिता)

णारोट (देशी) विले, दे०ना० ४ वर्ग ।

णाल न०(नाल) कन्दोपरिवर्त्यवयवे, जं०४ वक्ष० । उत्पलाऽऽदि-पुष्पाऽऽधारे, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०८ उ० ।

णालंदइज्ज न०(नालन्दीय) नालन्दायां भवं नालन्दीयं, नालन्दा-समीपोद्यानकथनेन वा निर्वृत्तं नालन्दीयम् । सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीय-श्रुतस्कन्धस्य षष्ठेऽध्ययने, सूत्र० ।

साम्प्रतं प्रत्ययार्थं दर्शयितुकाम आह-

नालंदाऍ समीवे, मणोरहे भासि-इंदभूइण्णा ।
अज्झयणं उदगस्स उ, एयं नालंदइज्जं तु ॥४॥

(नालंदाए इत्यादि) नालन्दायाः समीपे मनोरथाऽऽख्ये उद्या-ने इन्द्रभूतिना गणधरेणोदकाऽऽख्यनिर्ग्रन्थपृष्टेन, तुशब्दस्यैवका-रार्थत्वात् तस्यैव, भाषितमिदमध्ययनम् । नालन्दायां भवं नाल-न्दीयम्, नालन्दासमीपोद्यानकथनेन वा निर्वृत्तं नालन्दीयम् । यथा चेदमध्ययनं नालन्दायां संवृत्तं तथा-''पासावच्चिज्जो पुच्छियाइयो अज्जगोयमं ! उदगो। सावगपुच्छाधम्मं, सोउं कहियम्मि उवसंता ॥५॥'' सूत्र० २ श्रु० १७ अ० । स्था० । प्रश्न० ।

णालंदा स्त्री०(नालंदा) प्रतिषेधवाचिनो नकारस्य, तदर्थस्यैवा-लंशब्दस्य, 'हु दाञ्' दाने इत्येतस्य धातोर्मीलनेन नालं ददातीति नालंदा । इदमुक्तं भवति-प्रतिषेधप्रतिषेधेन धात्वर्थस्यैव प्राकृतस्य गमनात् सदाऽर्थिभ्यो यथाभिलषितं ददातीति नालंदा । राजगृहनगर-याहिरिकायाम्, (सूत्र०)

तदिह प्रतिषेधवाचिनाऽलंशब्देनाऽधिकार इत्येतद्

दर्शयितुमाह-

पडिसेहणणगारस्स, इत्थीसद्देण चेव अलसद्दो ।
रायगिहे नयरम्मी, नालंदा होइ बाहिरिया ॥३॥

(पडिसेहणेत्यादि) सत्यप्यलंशब्दस्यार्थत्रये नकारस्य सान्निध्यात् प्रतिषेधविधानादप्येवेह गृह्यते, ततश्च निरुक्तविधा-नादयमर्थः-नालं ददातीति नालंदा बाहिरिका, या स्त्रियोद्देश-कत्वेन च नालशब्दस्य स्त्रीलिङ्गता, सा च सदैवैहिकाऽऽमुष्मिकसुखहेतुत्वेन सुखप्रदा राजगृहनगरबाहिरिका धनकनकसमृद्धत्वेन सत्साध्वाश्रयत्वेन च सर्वकामप्रदेति । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । आ०म० । सा च बाहिरिका राजगृहनगरादुत्तरस्यां दिशि, तत्र श्रीवीरस्वामी चतुर्दशवर्षारात्रान् कृतवान् । कल्प०६ क्षण ।

''नालन्दाऽलंकृते यत्र, वर्षारात्राश्चतुर्दश ।
अवतस्थे प्रभुर्वीरः, तत्कथं नास्तु पावनम् ? ॥२५॥

यस्यां नैकानि तीर्थानि, नालंदा नायनश्रियाम्।
भव्यानां जनिताऽऽनन्दा, नालन्दा नः पुनातु सा''॥२६॥
ती० ११ कल्प।

णालबद्ध पुं०(नालबद्ध) पितृभ्रातृपुत्रप्रभृतिके वल्लीबद्धे, (बृ०) श्रुतोपसंपदि द्वाविंशतिनालवद्धानि लभ्यन्ते, यथा–माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्रो, दुहिता, मातुर्माता, मातुःपिता, मातुर्भ्राता, मातुर्भगिनी। एवं पितुर्माता, पिता, भ्राता, भगिनी, भ्रातृपुत्रो, दुहिता, भगिन्याः पुत्रपुत्रिकाः, पुत्रस्य पुत्रः, पुत्रपुत्रिकाः, दुहितुः पुत्रः। पुत्रिका चेति। बृ०४ उ०। (श्रुतोपसंपद्वर्णने 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे १०१४ पृष्ठे, तथा–'उग्गह' शब्दे ७२० पृष्ठे च विस्तरतो गतः)

णालंपिअ (देशी) आक्रन्दिते, दे०ना० ४ वर्ग।

णालंबी (देशी) कुन्तले, दे०ना० ४ वर्ग।

णालिएर पुं०[नारि(लि)केर] नल–इण्–नालिः, केन वायुना जलेन वा इलति चलति कः। रलयोरैक्यम्। वृक्षभेदे, वाच०। अयं चैक–जीविको वृक्षभेदः। प्रज्ञा०१ पद। आर्द्रे नालिकेरे शुष्के वा कियन्तो जीवाः सन्ति? तथा नालिकेरबीजके संख्याताः, असंख्याताः, अनन्ता वा कियन्तो जीवाः सन्ति? यतस्तत्र केचिदनन्तजीवाऽऽत्मकं प्रतिपादयन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–बीजकसंबद्धे नालिकेरे एक एव जीव इति। २६५ प्र०। सेन०। ३ उल्ला०। नालिकेर्यप्यत्र। स्त्री०। आचा०१ श्रु० १अ० ५ उ०। जं०। प्रज्ञा०। तत्फले, नं०।

णालिएरदीव पुं०(नारिकेलद्वीप) नारिकेलवृक्षप्रधाने द्वीपे, यद्वास्तव्या मनुष्या अस्मद्भाषाऽऽदिव्यवहारं नावबुध्यन्ते। भा० म०१ अ०२ खण्ड।

णालिएरमत्थय न०(नालिकेरमस्तक) नालिकेरवृक्षस्तवके, आचा० २ श्रु० १ चू०१ अ०८ उ०।

णालिया स्त्री०(नालिका) घटिकायाम्, नि०चू०१ उ०। तं०। ताम्रा–ऽऽदिमथयटिकायाम्, अनु०। आव०। प्रज्ञा०।

तया हि कालो मीयते–

णालीएँ परूवणया, जह तीएँ गतो उ नज्झए काला।
तह पुव्वधरा भावं, जाणंति वि सुज्झपज्झेण॥

नालिका नाम घटिका, तस्याः पूर्वं प्ररूपणा कर्तव्या; यथा पाद–लिप्तकृतविवरणे कालज्ञाने। व्य०१ उ०।

संप्रति मानं घटिकाऽऽदीनां वक्तव्यम्–तत्र प्रथमतो नालि–

कायाः संस्थानाऽऽदि विवक्षुराह–

तीसे पुण संठाणं, छिड्डं उदगं च वोच्छामि।

तस्याः पुनर्नालिकायाः संस्थानमाकृतिं, तथा छिद्रं विवरमधोभागे येनोदकं नालिकामध्ये प्रविशति, उदकं च यादृगभूतं छिद्रेण प्रविशति, नालिकां भुक्त्वा यथोक्तनालिका कालविशेषपरिमाण–हेतुर्भवति तादृक् सूत्रं वक्ष्यामि।

तत्र प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुकामः प्रथमतः संस्थानप्ररूपणां,

छिद्रप्रमाणवक्तव्यतोपक्षेपं च कुर्वन्नाह–

दालिमपुप्फाऽऽगारा, लोहमयी नालिगा उ कायव्वा।
तीसे तलम्मि छिद्दं, छिद्दपमाणं कहिएँ मे सुणह॥

नालिका घटिका लोहमयी कर्तव्या, सा च संस्थानमधिकृत्य दाडिमपुष्पाऽऽकारा कर्तव्या, दाडिमपुष्पस्येव आकारः संस्थानं यस्याः सा तथा। तस्याश्चैवंभूताया नालिकाया मूले अधस्तात् छिद्रं कर्तव्यं, तस्य च छिद्रस्य प्रमाणं पूर्वसूरिपरम्परागतं कथयतो मे मम शृणुत।

छिद्रप्रमाणमेव कथयति–

छन्नउयमूलवालेहि, तिवस्सजायाएँ गयकुमारीए।
उज्जुकयपिंडिएहि उ, कायव्वं नालियाछिद्दं॥

त्रिवर्षजातायाः त्रीणि वर्षाणि जातायास्त्रिवर्षजाताः, ''कालो द्विगौ च मैयैः''॥३।१।५७॥ इति तत्पुरुषसमासः। तस्या गजकुमार्याः षण्णवति-संख्यैर्मूलवालैः पुच्छमूलवालैः ऋज्वीकृतपिण्डितैरूर्ध्वमृज्वीकृत्यैकत्र मीलितैर्नालिकाया अधस्तात् तत्तले छिद्रं कर्तव्यम्। किमुक्तं भवति? ऊर्ध्वमृज्वीकृता गजकुमार्याः षण्णवतिसंख्या पुच्छमूलबाला एकत्र पिण्डिता यावत्प्रमाणे छिद्रे परिपूर्णमाति, न चापान्तरालं सूक्ष्ममपि भवति, तावत्प्रमाणं नालिकाया अधो मूले छिद्रं कर्तव्यम्।

प्रकारान्तरेण–छिद्रप्रमाणमाह–

अहवा दुवस्सजायाएँ गयकुमारीएँ पुच्छवालेहिं।
बिहिँ बिहिँ गुणेहिँ तेहिँ उ, कायव्वं नालियाछिद्दं॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतने, गजकुमार्या द्विवर्षजातायाः, तैः प्रागुक्त-संख्याकैः षण्णवत्येत्यर्थः। पुच्छबालैः प्रत्येकं द्वाभ्यां द्वाभ्यां गुणैः गुण्यन्ते स्म, गुणा गुणिता इत्यर्थः; तैः। किमुक्तं भवति?– षण्णवतिसंख्यैर्द्वि-गुणितैर्नालिकाया अधो मूले छिद्रं कर्तव्यमिति भावार्थः प्राग्वदवगन्तव्यः।

प्रकारान्तरेण छिद्रप्रमाणमेवाऽऽह–

अहवा सुवण्णमासेहिँ चउहिँ चउरंगुला कया सूई।
नालियतलम्मि तीए, कायव्वं नालियाछिड्डं॥

अथवेति पूर्ववत्। सुवर्णमाषैर्वक्ष्यमाणप्रमाणैश्चतुर्भिश्चतुः संख्यैः चतुरङ्गुलप्रमाणा या कृता सूची, तथा सूच्या नालिकाया अधस्तात् तले नालिकाछिद्रं नालिकारूपकालविशेषप्रमितये कर्तव्यम्। किमुक्तं भवति? यावत्प्रमाणे छिद्रे यथोक्तप्रमाणा सूचिः प्रविशति, न च मनागप्यपान्तरालं भवति, तावत्प्रमाणं छिद्रं कर्तव्यमिति। ज्यो०२ पाहु०। आचा०। यष्टिविशेषे, चतुर्हस्तप्रमाणयष्टिविशेषरूपायां नालिकायाम्, अनु०। भ०। आत्मप्रमाणचतुरङ्गुलाधिकायां यष्टौ, ओघ०। द्यूतविशेषे, भ० ६ श०७ उ०। कलम्बुकावृक्षे, सू०प्र०४ पाहु०।

णालियाखेड न०(नालिकाखेल) द्यूतविशेषे, मा भूदिष्टदायाद्वि–परितपाशकनिपतनमिति नालिकया यत्र पाशकः पात्यते। जं०२ वक्ष०। ज्ञा०। ओघ०।

णाली स्त्री०(नाडी) ''डो लः''॥८।१।२०२॥ इति डस्यलः। प्रा०१ पाद। देहस्थायां शिरायाम्, गुच्छस्य काण्डे, नाले, व्रणभेदे, गण्ड–दूर्वायाम्, षष्टिपलाऽऽत्मके काले, तृणभेदे, वंशनाल्यां च। वाच०२

नाली स्त्री०। कालभापिकायां घटिकायाम्, जी०३ प्रति० २उ०। नि०चू०। श्रा०। वल्लीभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

णावा स्त्री०(नौ) ''नाव्यावः''॥८।१।१६४॥ इत्यौत आवा-ऽऽदेशः। प्रा०१ पाद। जलतरणसाधने तरणौ, वाच०। आचा०। बृ०। (नावा–रोहणप्रकाराः 'णईसंतार' शब्देऽत्रैव

भागे १७४६ पृष्ठे दर्शिताः। विस्तरस्तु 'पडिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते)

णावापूरग पुं०(नौपूरक) चुलुके, ''तिहिं नावापूरएहिं आयामइ'' नावापूरओ नाम पसती। बृ०।

णावासंतारिम न०(नौसंतार्य) यत्र नावा तरति तावत्युदके, आचा०१ श्रु०१ चू०३ अ०१ उ०।

णाविय पुं०(नापित) नखशोधके वारिके, व्य०६ उ०। कल्प०।

***नाविक** पुं०। नावा जीवति नाविकः। अनु०। नौवाहके, भ० ५ श०४ उ०। कैवर्तके, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०। ''णंदो नाम नाविओ गंगाए लोगं उत्तारेइ।'' आ०म० १अ०२खण्ड। ''णाविओ विव नावं ति।'' नाविक इव नावं द्रोणीम्। भ०५ श०४ उ०। आ०म०।

णास पुं०(नाश) अभावाऽऽपादने, आ०म० १अ०१ खण्ड। उत्त०। ध्वंसे, विशे०। अभावे, (द्रव्या०)

अथ नाशस्वरूपमाह–

नाशोऽपि द्विविधो ज्ञेयो, रूपान्तरविगोचरः।
अर्थान्तरगतिश्चैव, द्वितीयः परिकीर्तितः ॥२५॥

नाशोऽपि द्विविधो ज्ञातव्यः, एकस्तत्र रूपान्तरविगोचरः रूपान्तरपरिणामः, द्वितीयस्तु अर्थान्तरगतिरर्थान्तरभावगमनं चेति। भावार्थस्त्वयम्–

''परिणामो ह्यर्थान्तर–गमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥१॥
सत्पर्यायेण विनाशः, प्रादुर्भावोऽसता च पर्यवतः।
द्रव्याणां परिणामः, प्रोक्तः खलु पर्यवनयस्य ॥२॥''

एतद्वचनं संमतिप्रज्ञापनावृत्तिविषयि–कथञ्चित् सद् रूपान्तरं प्राप्नोति, सर्वथा न विनश्यति यत्तद् द्रव्यार्थिकनयस्य परिणामत्वं कथितम्। पूर्वसत्पर्यायेण विनश्यति, उत्तरासत्पर्यायेणोत्पद्यते यत्तत्पर्यायार्थिकनयस्य परिणामत्वं कथितम्। एतदभिप्रायं विचारयतामेको रूपान्तरपरिणामविनाशः, एकश्चार्थान्तरगमनविनाशः, इत्थं विनाशस्यापि भेदद्वयं संपन्नम् ॥२५॥

पुनराह–

तत्रान्धतमसस्तेजो–रूपान्तरस्य संक्रमः।
अणोरण्वन्तरापातो, ह्यर्थान्तरगमश्च सः ॥२६॥

(तत्र इति) तत्र नाशे अन्धतमसोऽन्धकारस्य तेजोरूपान्तरस्य संक्रम उद्योतताऽवस्थितद्रव्यस्य रूपान्तरपरिणामरूपनाशो ज्ञेयः, च पुनरणोः परमाणोरण्वन्तरापातोऽणोरण्वन्तरसंक्रमो द्विप्रदेशाऽऽदिभावमनुभवन् पूर्वपरमाणुत्वं विगतमित्यनेनाऽर्थान्तरगमः स्कन्धपर्याय उत्पन्नः, तेन कृत्वाऽर्थान्तरगतिरूपनाशस्य स्थितिर्भवति। निष्कर्षस्त्वयम्– यत्रान्धकारस्तत्रापि तदाकारपरमाणुप्रचयो निरन्धतमः खमस्ति, तत्रैव पुनरुद्योतपरमाणुप्रचयसंचारनिरस्तान्धकारपरमाणुत्वतत्स्थानतत्तत्परमाणुसंक्रमित तेजः परमाणुत्वलक्षणो रूपान्तरसंक्रमो जातः, यथा वा-अवयवानां परमाणूनामवयविस्कन्धत्वसंक्रमेणार्थान्तरत्वोद्भावनयाऽर्थान्तरगतिलक्षणो नाशः समुत्पन्न इति ॥२६॥

पुनराह–

रूपान्तराणुसंबन्धात्, स्कन्धत्वं यद्यणोरपि।
तत्संयोगविभागाभ्या–मपि भेदप्रबन्धता ॥२७॥

यद्यपि अणोः रूपान्तरपरमाणुसंबन्धात् स्कन्धत्वमणुसंबद्ध–स्कन्धताऽस्ति, तदिति तथाऽपि संयोगविभागाभ्यां कृत्वा द्रव्योत्पादनाशाभ्यां द्विप्रकाराभ्यामेव भेदप्रबन्धता द्रव्यविनाशद्वैविध्यमेव ज्ञेयम्, एतदुपलक्षणं ज्ञेयम्, यतो द्रव्योत्पादविभागेन यथा पर्यायोत्पादविभागः, तथा द्रव्यनाशविभागेनैव पर्यायनाशविभागो भवेदिति, ततः समुदायविभागः, तथाऽर्थान्तरगमनं चेति द्वयमेव व्यवह्रियते। तत्र प्रथमः तन्तुपर्यन्तपटनाशः, द्वितीयः घटोत्पत्ति–पर्यन्तमृत्पिण्डाऽऽदिनाशश्च ज्ञेयः। उक्तं च सम्मतितृतीयकाण्डे ''विगमस्स वि एस विही, समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो। समुदयविभागमित्तं, अत्थंतरभावगमणं च ॥३४॥'' इत्यादिगाथया ज्ञेयम् ॥२७॥ द्रव्या० ६ अध्या०।

***न्यास** पुं०। निक्षेपे, विशे०। उत्त०। अनु०। स्था०। नामस्थापनाद्रव्यभावैर्वस्तुनो निक्षेपो न्यासः। स०।

णासण न०(नाशन) पलायने, गणादपक्रमणे, राजाऽऽदिभयेनान्तर्धाने, ध०२ अधि०। नृपदायाऽऽदिभयेन चैत्यस्य गर्भगृहाऽऽदिष्वन्तर्धाने, प्रव० ३८ द्वार। कर्मप्रकृतेः स्थित्युत्कसंक्रमणे प्रकृत्यन्तरगमने, आचा०१ श्रु० ६अ०१उ०।

***न्यासन** न०। व्यवस्थापने, अनु०।

णासणिण्हव पुं०(न्यासनिह्नव) न्यस्यते रक्षणायान्यस्मै समर्प्यते इति न्यासः सुवर्णाऽऽदिः, तस्य निह्नवोऽपलापः। न्यासापहारे, ध०२ अधि०।

णासव धा०(नाशि) नश्–णिच्। अभावाऽऽपादने, **''नशेर्विउड–नासव–हारव–विप्पगाल–पलावाः'' ।८।४।३१॥** इति ण्यन्तस्य नशेर्नासवाऽऽदेशः। 'णासवइ' नाशयति। प्रा० ४ पाद।

णासा स्त्री०(नासा) घोणायाम्, तं०। पञ्चा०। प्रज्ञा०। औ०। आ०म०। गन्धग्राहकेन्द्रिये, वाच०।

णासाणिस्सासवोज्झ त्रि०(नासानिश्वासवाह्य) अतिलघुत्वाद् नासानिश्वासवातवाह्ये, भ०६ श० ३३ उ०। जी०।

णासाभेय पुं०(नासाभेद) नासिकाविवरकरणे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

णासावहार पुं०(न्यासापहार) न्यासस्य धनधान्याऽऽदिस्थापनिकाया अपहरणमपलापो न्यासापहारः। ध०२ अधि०। स्थूलमृषावादविरतेः प्रथमेऽतिचारे, स्वामिमित्रविश्वस्तदेवगुरुवृद्धबालद्रोहन्यासापहाराऽऽदीनि तु तद्धत्याप्रायाणि महापातकानि सर्वथा विशिष्य वर्जनीयानि। ध०२ अधि०। उत्त०।

णासि(ण्) त्रि०(नाशिन्) विनशनशीले, स्था०।

णासिक्कपुर न०(नासिक्यपुर) पञ्चवटीविभूषितोत्तरकूलायां गोदावर्यां दक्षिणकूलस्थे स्वनामख्याते नगरे, आ०क०। आ०म०। आ०चू०। नं०।

''चंदप्पहजिणचंदं, वंदिअ जिअभवसयं भणिस्सामि।
नासिअकलिमलनिवहं, नासिक्कपुरस्स कप्पमहं ॥१॥''

''नासिक्कपुरतित्थस्स उप्पत्तिं बंभणाइपरतित्थिया एवं वण्णंतिपुव्विं किर नारयरिसिणा एगया भयवं कमलाऽऽसणो पुट्ठो–

पुण्णभूमिट्ठाणं कत्थ त्ति? कमलाऽऽसणेणं भणिअं जत्थेव इमं मज्झ पउमं पडिहइ, तं चेव पवित्तं भूमिट्ठाणं ति। अण्णया विरंचिणा तं पउमं मुक्कं, पडिअं मरहट्ठजणवयभूमीए अरुणगंगाहिं नईहिं भूसियाए णाणाविहवणरऽसइमणहराए देवभूमिप्पायाए। तत्थ पउमाऽऽसणेण पउमपुरं ति नगरं निवेसियं। तत्थ कयजगे जण्णो आढत्तो पिआमहेण, मिलिआ सुरा सव्वे, असुरा य हक्कारिऊंता वि नाऽऽगया सुरभएणं। ते भणंति–जइ भयवं चंदप्पहसामी अंतरे आगच्छइ,ता अम्हे वीसत्था आगच्छामो, तओ चमक्किअचित्तो चउवयणो जत्थ सामी विहरइ तत्थ गंतूण पणमिऊण जोडियकर–संपुडो विण्णवेइ–भयवं! तत्थाऽऽगच्छह, जहा मज्झ कज्जं सिज्झइ। सामिणा भणियं मह पडिरूवेणावि तं सिज्झिस्सइ। तओ बंभणा चंदकंतिमणिमयं बिंबं सोहम्मिंदाओ घित्तूण तत्थाऽऽणीयं। आगया दाणवा, पारद्धो जण्णमहो अ। तत्थ कारिओ चंदप्पहविहारो पआवइणा सुरदुवारे य सिरिसुंदरो ठाविओ नयररक्खणपुरे। एवं ताव पढमजुगे पउमपुरं ति तित्थं पसिद्धं। तेयाजुगे य दासरही रामो सीयालक्खणसंजुओ पिउआणाए वणवासं गओ, गोयमगंगातीरे पंचवडीआसमे चिरं वण्णहारेणं ठिओ। इत्थंतरे रावणभइणी सुप्पणहा तत्थ पत्ता, रामं दट्ठूण अज्झोववण्णा, पत्थंती रामेण पडिसिद्धा लक्खणमुवट्ठिया। तेण तीए नासिया ठिण्णा, तत्थ नासिक्कपुरं जायं। कमेण सीया रावणेण हरिआ, राहवेण जुद्धे वाघाइओ रावणो, विभीसणस्स दिण्णं लंकारज्जं, तओ नयरिं पइवलंतेण रामेण चंदप्पहसामिणो भवणं उद्धरिअं, एसगमुद्धारो। एवं णासिक्कपुरे संजाए कालंतरे पुण्णभूमिं नाउं आगओ मिहिलाहिंतो तत्थ जणयराओ, तेण य तत्थ दस जण्णा कारिया, जण्णट्ठाणं ति तन्नयरं रूढं।'' (ती०) (नासिक्यपुरस्य जनस्थानमिति नामान्तरं यथाज्ञामिति देवजानीवृत्ते 'जणट्ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३८७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्। तथा 'कुंतीविहार' इत्यपि नाम, तद्वक्तव्यता 'कुंतीविहार' शब्दे तृतीयभागे ५७० पृष्ठे गता) इओ अ दीवायणरिसिणा बारवईए दड्ढिए उवक्खीणप्पाए जायववंसे वज्जकुमारो नाम जायवखत्तिओ आसि। तस्स गब्भवई भज्जा, सा बारवईए डज्झमाणीए बहुभत्तिपुव्वं दीवायणरिसिणा मुक्कलाविता चंदप्पहसामिणं चेव सरणमागया, पुत्ते समए पुत्तवंशं पुत्तं तत्थेव पसूआ, दढप्पहारि त्ति से नामं कयं, सो अ अइक्कं तबालभावो संपत्तजुव्वणो जाओ महारहो, इक्कगेणावि सुअडलक्खेणं समं जुद्धं काउं समत्थो। अन्नया तत्थ चोरेहिं गावीओ हरियाओ। ताओ सव्वाओ वि इक्केण दढप्पहारिणा चोरे निग्गिण्हिऊण वालियाओ। तओ तं अइपयंडपरिक्कमं पासिऊण बंभणाइनरलोएणं तस्स तलारघयं(?) दिण्णं, निग्गहिया तेण चोरवरडाइणो, जाओ सो कमेण महाराया। तत्थेव नयरे लाययवंसस्स भग्गं मूलं उव्वरियं ति सबहुमाणं चंदप्पहसामिणो तेण भवणमुद्धरिअं। एवं तइअजुगे उद्धारो कारावि ओ। पुव्विं किर कल्लाणकडए नयरे परमड्ढी नाम राया रज्जं करेइ। तेण जिणभत्तेण तत्थ पासाए चंदकंतमणिबिंबं सोऊण चिंतिअं–अहमेयं बिंबं नियनयरे आणिऊण देवयावसरे पूइस्सामि त्ति। तओ कहंचि तव्वइयरं नाउं नासिक्कनयरलोएण तंबमयसंपुडमज्झे तं बिंबं निक्खिविय तदुवरि लेवो दिण्णो, जाया लेवमई पडिमा। तओ रण्णा जिणमंदिरमागएण तं बिंबं न दिट्ठं। पुच्छिओ लोओ। तेण जहाट्ठिए विन्नत्ते रण्णा चिंतियं–कहं एगं चेव लेवपडिमं भिंदित्ता मूलबिंबं कड्ढेमि त्ति, तओ णरिंदेण तस्स उद्धारं काउं चउवीसं गामा देवस्स दिण्णा। जं तेसु दविण-मुप्पज्जइ,.....(?) तओ कित्तिए च कालंतरगए आसन्नवत्तितंबयदेवाहिट्ठियमहादुग्गबंभगरिट्ठिओ वाइओ नाम महल्लय-खत्तियजाई वरडो आसि, तेण पासाओ पाडिओ, तं सोऊण पल्लीवाल-वंसावयं ससाहुईसरपुत्तमाणिक्कपुत्तेणं कुच्छिसरोवररायहंसेण साहकुमारसीहेण परमसावएण पासाओ पुण णवो कारिओ। सफलीकयं नायागयं नियवित्तं, उत्तारिओ अप्पा भवसमुद्दाओ। एवमणेगुद्धारं नासिक्कमहातित्थं अज्ज वि जत्तामहूसवकरणेण आराहिंति चाउट्टिसाओ आगंतूण संघा, पभाविंति कलिकालदप्पनिन्नासणं भयवओ सासणं ति''।

''नासिक्कपुरस्स इमं, कप्पं पोराणपरमतित्थस्स।
वायंतपढंताणं, संपज्जइ वंछिया रिद्धी ॥१॥
किंचि परसमइयमुहा, ससमयपारविउमुहाउ तह सोउं।
सिरिजिणपहसूरीहिं, लिहिओ नासिक्कपुरकप्पो ॥२॥''

इतिश्रीनासिक्यपुरकल्पः। ती० २७ कल्प।

णासियासिंघाणग न०(नासिकासिङ्घाणक) घ्राणजमलविशेषे, तं०।

णाह पुं०(नाथ) **''खघथधभाम्''**॥८।१।१८७॥ इति थस्य हः। प्रा०१ पाद। प्रभौ, स०१ सम०। योगक्षेमकृति, नं०। ज्ञा०। स्वामिनि, स्या०।

णाहड पुं०(नाथ) मरुदेशे सत्यपुर (साचोर) नगरे श्री वीरजिन–बिम्बकारके गृहपतौ, ती० १६ कल्प।

णाहल न०(लाहल) ''लाहललाङ्गललाङ्गूले वाऽऽदेर्णः'' ॥८।१।२५६॥ इत्यादेर्लस्य वा णः प्रा०१ पाद। म्लेच्छविशेषे, प्रा० ढुं० १ पाद।

णाहवाइय पुं०(नाथवादिक) पार्श्वस्थे, पार्श्वस्था नाथवादिक-मण्डलचारिणः। सूत्र०१ श्रु० ३अ०४उ०।

णाहसुतेय पुं०(नाथसुतेजस्) अतीतायामुत्सर्पिण्यां भारतातीतजिने, प्रव०७ द्वार।

णाहि अव्य०(नहि) **''किलाऽथवा–दिवा–सहनहेः किराहवइ दिवे सहु नाहिं''॥८।४।४१६॥** इति अपभ्रंशे नहेर्नाहिमादेशः। निश्चिते निषेधे, ''पेक्खु गहीरिम सायरओ एक्क वि कणिय नाहिं ओहट्टइ।'' प्रा०४ पाद।

णाहिय पुं०(नास्तिक) लौकायतिके, स्या०। ''धर्म्यशे नास्तिको ह्योको, बार्हस्पत्यः प्रकीर्तितः। धर्माशे नास्तिका ज्ञेयाः, सर्वेऽपि परतीर्थिकाः ॥१२५॥'' नयो०।

णाहियवाइ(ण्) पुं०(नास्तिकवादिन्) अतिचार्वाके जीवना–स्तित्व-प्रतिपादके, दश०१अ०।

णाहियवाय पुं०(नास्तिकवाद) चार्वाकमताभ्युपगमे, (ग०) धूर्ता-ऽऽख्यानाऽऽदिवदसंबद्धजल्पने, ग०२ अधि०।

णाहिविच्छअ (देशी) जघने, दे०ना० ४वर्ग।

णि अव्य०(नि) नह–डिः। नितरामर्थे, विषा० १श्रु० ६अ०।

उत्त० । नैयत्ये, अनु० निश्चये, आधिक्ये च । उत्त०१ अ० सूत्र० आ०चू० निवेशे, भृशार्थे, नित्यार्थे, संशये, कौशले, क्षेपे, उपरमे, सामीप्ये, आदरे,दाने मोक्षे, अन्तर्भावे, बन्धने, राशौ, अधोभागे, विन्यासे च । वाच०

णिअक्कल (देशी) वर्तुले, दे०ना० ४ वर्ग ३६ गाथा।

णिअच्छ धा०(दृश्) प्रेक्षणे, **''दृशो निअच्छ–पेच्छावयच्छावय–ज्झ–वज्ज–सव्ववदेक्खौ अक्खावक्खावअक्खपुलोएपुल–एनिआवआसपासाः''** ।८।४।१८१। इति सूत्रेण 'निअच्छ' आदेशः। 'निअच्छइ'। पश्यति। प्रा०४ पाद। दे०ना०।

णिअडी (देशी) दम्भे, दे०ना० ४ वर्ग २६ गाथा।

णिअत्थ परिहिते, दे०ना० ४ वर्ग ३३ गाथा।

णिअय (देशी) रते, शयनीये, शाश्वते, घटे च। दे०ना० ४ वर्ग ४८ गाथा।

णिअरिअ (देशी) निकरेण स्थिते, दे०ना० ४ वर्ग ३८ गाथा।

णिअलं (देशी) नूपरे, दे०ना० ४ वर्ग २८ गाथा।

णिअंधण (देशी) वस्त्रे, दे०ना० ४ वर्ग ३८ गाथा।

णिअंसण (देशी) वस्त्रे, दे०ना० ४ वर्ग ३८ गाथा।

णिआणिआ (देशी) कुतृणोद्धरणे, दे०ना० ४ वर्ग ३५ गाथा।

णिआर (देशी) रिपुगृहे, दे०ना० ४ वर्ग २६ गाथा।

णिइय त्रि०(नित्य) सदकारणवति, नं०। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे, सूत्र० १ श्रु० १अ०४ उ०। परिणामानित्यतायामपि द्रव्यार्थतया नियते, सूत्र०२ श्रु० ४ अ०।

णिइयपिंड पुं०(नित्यपिण्ड) निमन्त्रितपिण्डे, पं०चू०।

णिउअ त्रि०(निवृत) **''उदृत्वादौ''** ।८।१।१३१। इति ऋत उत्वम्। नितरां वृते, प्रा०१ पाद।

णिउक्क (देशी) तूष्णीके, दे०ना० ४ वर्ग २७ गाथा।

णिउक्कण (देशी) वायसे, मूके च। दे०ना० ४ वर्ग ५१ गाथा।

णिउज्जम पुं०(निरुद्यम) कार्यमात्रोद्यमरहिते,''णिउज्जमा वणगा समणगा पव्वयंति।'' सूत्र०२ श्रु०२अ०।

णिउज्जमाण त्रि०(नियोजयत्) व्यापारयति, सूत्र०१ श्रु०१० अ०।

णिउड्ड धा०(मस्ज्) बुडने, **''मस्ज्जेराउड्ड- णिउड्ड-वुड्ड–खुप्पाः''** ।८।४।१०१। इति मज्जतेः णिउड्डाऽऽदेशः। णिउड्डइ। मज्जति। प्रा०४ पाद।

णिउण त्रि०(निगुण) नियतगुणे, निश्चितगुणे च। विशे० सुनिश्चिते, पञ्चा० ४ विव०।

***णिपुण** त्रि० कुशले, इति वृद्धोक्तिः। सूक्ष्मदर्शिनि, उपा०७ अ० औ० आव० आचा० सूक्ष्मे, औ० सूक्ष्मज्ञाने, स्था० ८ ठा० उपायाऽऽरम्भके, अनु० नि०चू०। ''सुण ताव सूरपण्णत्तिवण्णणं वित्थरेण जं पिउणं।'' निपुणं निपुणमतिगम्यम्। ज्यो०२ पाहु० रा० ज्ञा०।''सद्धं च णगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं। खंतिं णिउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥२०॥'' निपुणमिव निपुणम्। उत्त० ६अ० उपायविचक्षणे, कल्प०३ क्षण। संयमानुष्ठानकुशले, दश०२ चू०। संगतोपचारकुशले, औ०। ''न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ॥५॥'' उत्त० ३२ अ० अवगततत्त्वे, आचा०१ श्रु०२ अ०२उ०। ''निउणगंधव्वगीयरइया।'' निपुणगन्धर्वगीतरतिकाः–निपुणाः परमकौशलोपेता ये गन्धर्वजातीया देवास्तेषां गीतं तत्र रतिर्येषां ते तथा। जी०३ प्रति० ४उ०। ''निउणगंधव्वसमयकुसलेहिं।'' निपुणं यथा भवति एवं गन्धर्वसमये नाट्यसमये ये कुशलाः। जी० ३प्रति०४ उ०।

णिउणकुसल पुं०(निपुणकुशल) निपुणानां मध्ये अतिशयेन कुशले, रा०।

णिउणणयजुय त्रि०(निपुणनययुत) सूक्ष्मनीतिसंगते, पञ्चा० २ विव०।

णिउणदिट्ठि स्त्री०(निपुणदृष्टि) सूक्ष्मबुद्धौ, पं०व०४ द्वार। पञ्चा०।

णिउणधी त्रि०(निपुणधी) ६ बहु० कुशलबुद्धौ, षो० ६ विव०।

णिउणबुद्धि स्त्री०(निपुणबुद्धि) सूक्ष्मधियाम्, पञ्चा० ११ विव०।

णिउणसिप्पोवगय त्रि०(निपुणशिल्पोपगत) निपुणं यथा भवति एवं शिल्पं क्रियाकौशलमुपगतः। रा०। निपुणानि सूक्ष्माणि यानि शिल्पानि अङ्गमर्दनाऽऽदीनि तान्युपगतोऽधिगतः। ज्ञा०१ श्रु० १अ०। औ०। सूक्ष्मशिल्पसमन्विते, उत्त०५ अ०।

णिउणिय पुं०(नैपुणिक) निपुणं सूक्ष्मं ज्ञानं, तेन चरन्तीति नैपुणिकाः। निपुणा एव वा नैपुणिकाः। निपुणज्ञानेषु निपुणेषु, (स्था०)

नव णिउणिया वत्थू पण्णत्ता। तं जहा–''संखाणे निमित्ते काईए, पोराणे पारिहत्थिए परिपंडिए य वाई य भूइकम्मे तिगिच्छिए'' ॥१॥

निपुणं सूक्ष्मं ज्ञानं, तेन चरन्तीति नैपुणिकाः निपुणा एव वा नैपुणिकाः। (वत्थु त्ति) आचार्याऽऽदिपुरुषवस्तूनि, पुरुषा इत्यर्थः। (संखाणे सिलोगो) सङ्ख्यानं गणितं, तद्योगात् पुरुषोऽपि तथा, सङ्ख्याने वा विषये निपुण इति। एवमन्यत्रापि, नवरं निमित्तं चूडामणिप्रभृतिः, कायिकं शारीरिकन्इडापिङ्गलाऽऽदिप्राणतत्त्वमित्यर्थः। पुराणो बद्धः, स च चिरजीवित्वाद् दृष्टबहुविधव्यतिकरत्वान्नैपुणिक इति, पुराणं वा शास्त्रविशेषः, तज्ज्ञो निपुणप्रायो भवति॥४॥ (पारिहत्थिए त्ति) प्रकृत्यैव दक्षः सर्वप्रयोजनानाम–कालहीनतया कर्तेति च॥५॥ तथा परः प्रकृष्टः पण्डितः प्रपण्डितः, परपण्डितो बहुशास्त्रज्ञः, परो वा मित्राऽऽदिः पण्डितो यस्य स तथा, सोऽपि निपुणसंसर्गान्निपुणो भवति, वैद्यकृष्णकवदिति। वादी वाद–लब्धिसंपन्नो, यः परेण न जीयते, मन्त्रवादी धातुवादी वेति। ज्वराऽऽदिरक्षानिमित्तं भूतिदानं भूतिकर्म, तत्र निपुणः। तथा चिकित्सने निपुणः, अथवाऽनुप्रवादाभिधानस्य नवमपूर्वस्य नैपुणिकानि वस्तूनि अध्ययनविशेषा एवेति। स्था०९ ठा०।

णिउणोचिय त्रि०(निपुणोचित) निपुणेन शिल्पिना परिकर्मिते, भ०९श० ३३ उ०।

णिउत त्रि०(नियुत) नितरां संगते, ज्ञा०१ श्रु० १८ अ०।

णिउत्त त्रि०(नियुक्त) व्यापारिते, पञ्चा० ८ विव० आ०म० उत्त० उचितव्यापारे, नियोगेनार्पिते, अनु०।

णिउर पुं०(निकुर) वृक्षविशेषे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

***नुपुर** न० **''इदेतौ नूपुरे वा''** ॥८।१।१२३॥ इति ऊत इत्त्वम्। स्त्रीणां पादाऽऽभरणे, प्रा०१ पाद।

णिउरंब न०(निकुरम्ब) समूहे, औ० जी० रा० जं० ज्ञा० ''रम्मे महामेहनिउरंबभूए।'' महामेहवृन्दकल्प इत्यर्थः। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

णिएल्लग त्रि०(निजकीय) आत्मीये, ''ताहे जा इच्छंति सव्वे णिएल्लगा।'' आ०म०१अ०१ खण्ड।

णिओग पुं०(नियोग) नियतो निश्चितो हितो वाऽनुकूलः सूत्रस्याभिधेयेन सह यो योगः सम्बन्धः स नियोगः। अनुयोगशब्दस्यार्थे, विशे०।

अधुना नियोगमाह–

अहिगो जोगो निओगो, जहाऽइदाहो भवे निदाहो त्ति।
अत्थनिउत्तं सुत्तं, पसुवइ चरणं जओ मुक्खो॥

निराधिक्ये, अधिको योगो नियोगो, यथाऽतिदाघो निदाघः, कस्य केन सहाऽऽधिक्यमिति चेत्? उच्यते–सूत्रस्यार्थेन। आधिक्येन योगस्य किं फलमिति चेत्? अत आह–अर्थेन समग्राधिक्येन नियुक्तं सूत्रं, चरणं चारित्रं प्रसूते, यतः संसाराद् मोक्षः॥

अत्रैव प्रसवने दृष्टान्तमाह–

वच्छनियोगे खीरं, अत्थनियोगेण चरणमेवं तु।
पत्तग दंडियमुभयं, दंडीसरिसो तहिं अत्थो॥

यथा गौर्वत्सेन नियुक्ता सती क्षीरं प्रसूते, एवमर्थेन समं नियुक्तं सूत्रं चरणं प्रसूते। यदि पुनरेकं केवलं सूत्रं स्यान्नार्थस्तेन संगृहीतो भवेत्, ततश्चरणप्रसवस्याभावः, यथा वत्सनियोगाभावे गोक्षीरप्रसवस्याभावः; अर्थोऽपि केवलः सूत्रविहीनो न कार्यसाधको, यथा केवलो वत्सः। अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह–(पत्तगदंडियउभयं ति) पत्रकंलेखः, दण्डिका लेखस्योपरि मुद्रानियोगः, उभयं–पत्रकं, दण्डिका च। इयमत्र भावना–''तिन्नि पुरिसा रायाणमोलग्गंति, राया तुट्ठो कस्सिइ नगरे पसाओ कओ। तत्थ एगेण पुरिसेण जे तम्मि नयरे रायपुरिसा, तेसिं जोगं पत्तयमाणीयं। विइएणं दंडिया चेव केवला। तइएणोभयं। तत्थ जेण मुद्दारित्तं पत्तयमाणीयं, सो रायपुरिसेहिं भणिओ–नत्थि पत्तगस्सोपरि मुद्दाविणिओग त्ति न मन्ने सो। विइओ भणिओ–अत्थि इयं मुद्दा, परं को रण्णा पसाओ कओ, को वा न कओ त्ति? न जाणामो त्ति, तम्हा न देमो त्ति। तइएणोभयं दरिसियं ति सव्वं जहिच्छियं लद्धं।'' एष दृष्टान्तः। अयमर्थोपनयः–पत्रकसदृशं सूत्रं, दण्डिकासदृशोऽर्थः, यथा पत्रकं केवलं, दण्डिका वा न कार्यस्य प्रसाधिका, उभयं तु साधकम्, एवं सूत्रमर्थश्च पृथक् न चरणप्रसाधकः, उभयं तु प्रसाधकम् बृ० १उ० आ० चू० व्यापारे, व्य०२ उ० पञ्चा० अवश्यतायाम्, पं०व०४ द्वार। पञ्चा० नियमे, पं०व०४ द्वार। द्वा० पञ्चा० निश्चिता आज्ञाऽऽदिना कृतव्यापारा यस्य स नियोगः। राजनि, जीत० ग्रामे, क्षेत्रे च। बृ०१ उ०

णिओगपुर न०(नियोगपुर) नियोगो राजा, तस्य पुरम्। राजधान्याम्, देशे, जनपदे, राज्ये, राष्ट्रे च। जीत०।

णिओजिय त्रि०(नियोजित) व्यापारिते, ''सोऊण जिणागमणं, निउत्तअणिओजियाइएसुं वा।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड।

णिंत त्रि०(नयत्) निर्गच्छति, नि०चू०१उ० आ०म०।

णिंदंत त्रि०(निन्दत्) जुगुप्समाने, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। अन्त०।

णिंदण न०(निन्दन) मनसा कुत्सने, ज्ञा०१ श्रु० ८ अ० स्था० आत्मनैव दोषपरिकुत्सने, भ० १७ श०३ उ० पञ्चात्तापे, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०।

णिंदणा स्त्री०(निन्दना) निन्द–ल्युट्, प्राकृते स्वार्थे तत्। आत्मनैवाऽऽत्मदोषपरिभावने, उत्त०२ अ०। आत्मसाक्षिकमात्मनो निन्दायाम्, उत्त०।

तत्फलम्–

निंदणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? निंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ, पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ, करणगुणसेढिं पडिवण्णे य अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ॥६॥

हे भदन्त! निन्दनया जीवः किं जनयति? गुरुराह–हे शिष्य! आत्मनः पापस्य निन्दनेन पश्चात्तापं जनयति–हा! मया दुष्कृतं कृतमित्यादि बुद्धिमुत्पादयति। पश्चात्तापेन विरज्यमानो वैराग्यं प्राप्नुवन् सन् करणगुणश्रेणिमपूर्वकरणेन पूर्वं कदापि अप्राप्तेन विशदमनःपरिणामविशेषगुणश्रेणिं क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते अङ्गीकुरुते, करणगुणश्रेणिं प्रतिपन्नोऽपूर्वगुणश्रेणिः सन् अनगारः साधुर्मोहनीयं कर्म दर्शनमोहनीयाऽऽदिकं कर्मोद्घातयते अतिशयेन क्षपयति॥६॥ उत्त० २९ अ०।

णिंदा स्त्री०(निन्दा) 'णिदि' कुत्सायाम्, अस्य ''गुरोश्चहलः'' ॥३।३।१०३॥ इत्यप्रत्ययः। मिथ्यादुष्कृते, आव० ४अ० स्व–प्रत्यक्षमेव जुगुप्सायाम्, पा० सूत्र० प्रति० उत्त० आ०म० आव० ''णिंदामि गरिहामि।'' निन्दागर्हाऽभिधेयस्यापि जुगुप्सार्थस्य विशेषतो भेदोऽस्ति। तथाहि– स्वप्रत्यक्षाऽऽत्मसाक्षिकी जुगुप्सा, सा समये सिद्धान्ते निन्दामीत्यनेन गम्यते। या तु गुरुप्रत्यक्षा गुरुसाक्षिकी जुगुप्सा, सा गर्हामीत्यनेन शब्देन गम्यते। विशे०।

सा च नामाऽऽदिभेदतः षोढा भवति। तथा चाऽऽह–

नामं उवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो खलु णिंदाए, निक्खेवो छव्विहो होइ॥६॥

तत्र नामस्थापने क्षुण्णे; द्रव्यनिन्दातापसाऽऽदीनामनुपयुक्तस्य वा सम्यग्दृष्टेर्वा उपयुक्तस्य वा निह्नवस्याशोभनद्रव्यस्य वेति। क्षेत्रनिन्दा–यत्र व्याख्यायते वा क्रियते वा संसक्तस्य वेति। कालनिन्दायस्मिन्नन्दा व्याख्यातेवा दुर्भिक्षाऽऽदेर्वा कालस्य। भावनिन्दाप्रशस्ताप्रशस्तेन द्विभेदा, प्रशस्ता संयमाऽऽद्याचरणविषया, अप्रशस्ता पुनरसंयमाऽऽद्याचरणविषयेति। ''हा दुट्ठु कयं हा दुट्ठु कारियं दुट्ठु अणुमयं ह त्ति। अंतो बाहिर डज्झइ, सुसिरो व्व दुमो वणदवेणं॥१॥'' अथवौघत एवोपयुक्तसम्यग्दृष्टेरिति।

आव० ४ अ० (निन्दायां चित्रकरसुतोदाहरणं 'णग्गइ' शब्देऽत्रैव भागे १७६५ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

णिंदाचाग पुं०(निन्दात्याग) परिवादापनोदे, द्वा० १२ द्वा०।

णिंदित्ता अव्य०(निन्दित्वा) जुगुप्सित्वेत्यर्थे, ''णिंदित्ता गरहित्ता पडिक्कमित्ता अहारिहं उत्तरगुणं पायच्छित्तं।'' आचा०२ श्रु० ३चू० १अ०।

णिंदिया स्त्री०(निन्दिता) एकदा विजातीयतृणाऽऽद्यपनयनेन शोधितायां कृषौ, स्था०४ ठा०४ उ०।

णिंब पुं०(निम्ब) 'नीबडा' इति ख्याते वृक्षविशेषे, प्रज्ञा०१ पद। तत्फले, न०। उज्जयिन्यामम्बर्षिद्विजपुत्रे मालुकाऽऽत्मजे, स च पित्रा सह, प्रव्रजितो दुर्विनीतत्वेन साधुभिस्तिरस्कृत इति विनयोपगते उदाहरणम्। आ०क०। आव०।

णिंबअ पुं०(निम्बक) अभिप्रायवशाद् निम्बक इति नामाभिधेये, अनु०।

णिंबोलिया स्त्री०(निम्बगुलिका) निम्बफले, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०।

णिकरण न०(निकरण) निश्चयेन नितरां नियतं वा क्रियन्ते नाना-दुःखावस्था जन्तवो येन तन्निकरणम्। निकारे, शारीरमानसदुःखोत्पादने, आचा०१ श्रु०२ अ०५ उ०।

णिकाइय त्रि०(निकाचित) निर्युक्तिसंग्रहणीहेतूदाहरणाऽऽदिभिरनेकधा व्यवस्थापिते, नं०। नितरां काचनं बन्धनं निकाचितम्। कर्मणः सर्वकरणानामयोग्यत्वेनावस्थापने, पूर्वबद्धस्य तप्तमिलितसंकुटितलोहशलाकासंबन्धसमाने करणे, स्था०। ''चउव्विहे निकाइए पण्णत्ते। तं जहा–पगइनिकाइए, ठिइनिकाइए, अणुभागनिकाइए, पएसनिकाइए।'' स्था०४ ठा०२ उ०।

णिकाइंसु त्रि०(निकाचितवत्) नितरां बद्धवति, भ०१ श०१उ०। नियमितवति, सूत्र०२ श्रु० १अ०।

णिकाम न०(निकाम) अत्यर्थे, निश्चये, सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

णिकामकामीण न०(निकामकामीन) निकाममत्यर्थं प्रार्थयते यः स निकामकामीनः। आहारोपकरणाऽऽदिकस्यार्थस्य प्रार्थके, सूत्र०१ श्रु० १० अ०।

णिकामचारि(ण्) त्रि०(निकामचारिन्) निकाममत्यर्थं चरति तच्छीलश्च निकामचारी। आधाकर्माऽऽदीनां तन्निमित्तनिमन्त्राणाऽऽदीनां वा ग्रहणशीले, सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

णिकाय पुं०(निकाय) निसर्गतःकाय औदारिकाऽऽदिर्यस्माद् यस्मिन् वा सति स निकायः। मोक्षे, आचा०१ श्रु०१ अ० ३उ०। समूहे, ओघ०। आ०चू०। गणकायनिकायस्कन्धवर्गराश्यादीनि च स्कन्धैकार्थिकानि। विशे०।

साम्प्रतं निकायपदं व्याचिख्यासुराह

निर्युक्तिकृत्–

णामं ठवण सरीरे, गई निकायऽत्थिकाय दविए य।
माउग पज्जव संगह–भारे तह भावकाए य ॥२८७॥

नामस्थापने क्षुण्णे। शरीरकायः शरीरमेव तत्प्रायोग्याऽणुसंघाताऽऽत्मकत्वात्। गतिकायो यो भवान्तरगतौ; स च तैजसकार्मणलक्षणः। निकायकायः षट्जीवनिकायः। अस्तिकायो धर्मास्तिकायाऽऽदिः। द्रव्यकायश्च त्र्यादिघटाऽऽदिसमुदायः। मातृकाकायस्त्र्यादीनि मातृकाऽक्षराणि। पर्यायकायो द्विधा जीवाऽजीवभेदेन–जीवपर्यायकायो ज्ञानाऽऽदिसमुदायः, अजीवपर्यायकायो रूपाऽऽदिसमुदायः। संग्रहकायः संग्रहैकशब्दवाच्यः, त्रिकटुकाऽऽदिवत्। भारकायः कापोती। बृद्धास्तु व्याचक्षते–

एके काओ दुहा जाओ, एगो चिट्ठइ एगो मारिओ।
जीवंतो मएण मारिओ, तल्लव माणव केण हेउणा?॥२८८॥

उदाहरणम्–''एगो काहरो तलाए दो घडा पाणिवस्स भरेऊण कावोडीए वहति, सो एगो आउक्कायकाओ दोसु घडेसु दुहा कओ। तओ सो काहरो गच्छंतो पक्खलिओ, एगो घडो भग्गो। तम्मि जो आउक्काओ सो मओ। इतरम्मि जीवति; तस्स अभावे सो वि भग्गो। ताहे सो तेण पुव्वमएणं मारिओ त्ति भण्णति। अहवाएगो घडो आउक्कायभरिओ, ताहे तमाउक्कायं दुहा काऊण अद्धो ताविओ, सो मओ। अताविओ जीवति। ताहे सो वि तत्थेव पक्खित्तो। तेण मएण जीवंतो मारिओ त्ति। एस भारकाओ गओ।'' भावकायश्चौदारिकाऽऽदिसमुदायः। इह च निकायः काय इत्यनर्थान्तरमिति कृत्वा कायनिक्षेप इत्यदुष्ट एवेति गाथाऽर्थः ॥२८८॥

इत्थं पुण अहिगारो, निकायकाएण होइ सुत्तम्मि।
उच्चरियअत्थसरिसा–ण कित्तणं सेसगाणं पि ॥२८९॥

अत्र पुनः सूत्रे इति प्रयोगः, सूत्र इत्यधिकृताध्ययने। किमित्याह–अधिकारो निकायकायेन भवति। अधिकारः प्रयोजनम्, शेषाणामुपन्यासवैयर्थ्यमाशङ्क्याऽऽह–उच्चरितार्थसदृशानामुच्चरितो निकायः, तदर्थतुल्यानां, कीर्तनं संशब्दनम्; शेषाणामपि नामाऽऽदिकायानां व्युत्पत्तिहेतुत्वात् प्रदेशान्तरोपयोगित्वाच्चेति गाथाऽर्थः ॥२८९॥ दश० ४ अ०।

कायमणिओ वि दुच्चइ, बद्धमवि निकायमाहंसु।

बद्धमपि किञ्चिल्लेखाऽऽदिनिकायम्, (आहंसु त्ति) निकाचितमाख्यातवन्तः। आव०५ अ०। षड्जीवनिकायवन्निकायः। आवश्यके, अनु०। (असुराऽऽदिनिकायेन्द्राणां, सौधर्माऽऽदिदेवलोकेन्द्राणां च नामानि 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३५ पृष्ठे द्रष्टव्यानि)

✱**निकाच** पुं०। निकाचनं निकाचः। छन्दने, निमन्त्रणे, स० १२ सम०।

✱**निकाच्च** अव्य०। व्यवस्थाप्येत्यर्थे, ''णिकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामो।'' आचा०१ श्रु०४ अ०२ उ०।

णिकायकाय पुं०(निकायकाय) षड्जीवनिकाये, दश०४ अ०।

निकायकायः प्रतिपाद्यते–

णिययमहिगो व काओ, जीवनिकाओ निकायकाओ अ ।५।

नित्यः कायो निकायः, नित्यताऽस्य त्रिष्वपि कालेषु भावात् अधिको वा कायो निकायः; यथाऽधिको दाहो निदाह इति। आधिक्यं चास्य धर्माधर्मास्तिकायापेक्षया स्वभेदापेक्षया वा। तथाहि–एकाऽऽदयो यावदसंख्येयाः पृथिवीकायिकास्तावत्कायः स एव स्वजातीयान्यप्रक्षेपापेक्षया निकाय इति; एवमन्येष्वपि विभावनीयमित्येवं जीवनिकायः सामान्येन निकायकायो भण्यते। अथवा–

जीवनिकायः पृथिव्यादिभेदभिन्नः षड्विधोऽपि निकायो भण्यते, तत्समुदाय एव च निकायकाय इति। आव०४ अ०।

णिकायणा स्त्री०(निकाचना) 'कच' बन्धने। नितरां कच्यते स्वयमेव बन्धमायाति कर्म जीवस्य तथाविधसंक्लिष्टाध्यवसायपरिणतस्य, तत्प्रयुङ्क्ते जीव एव, तथानुकूल्येन भवनात्, ततः 'प्रयोक्तृव्यापारे णिच्' (श्रीम०आ–६५) ततो निकाच्यते अवश्यवेद्यतया निबध्यते यया कर्म सा निकाचना। जीववीर्यविशेषपरिणतिरूपे समस्तकरणाऽयोग्यत्वेन व्यवस्थापने, क०प्र०। सूत्र०।

संप्रति निधत्तिनिकाचनाकरणे प्रतिपिपादयिषुराह–

देसोवसमणतुल्ला, होइ निहत्ती निकाइया नवरं।
संकमणं पि निहत्ती–ऐं नत्थि सेसाण विअरस्स ॥१॥

(देसोवसमण त्ति) निधत्तिर्निकाचना च देशोपशमनातुल्या। इदमुक्तं भवतियै देशोपशनाया भेदाः, ये च स्वामिनः, ते अन्थूनातिरिक्ता निधत्तिनिकाचनयोरपि वेदितव्याः। नवरम् अर्थपदं निधत्तिनिकाचनयोरिदं संक्रमणमपि परप्रकृतिसंक्रमणमपि; अपिशब्दादुदीरणाऽऽदीन्यपि निधत्तौ सत्यां न भवन्ति, उद्वर्त्तनाऽपवर्तने पुनर्भवत एव; इतरस्यां निकाचनायां शेषे अपि उद्वर्त्तनापवर्त्तने अपि न भवतः। सकलकरणयोग्यं निकाचितमित्यर्थः ॥७२॥

इह यत्र गुणिश्रेणिस्तत्र प्रायो देशोपशमनानिधत्तिनिकाचनायथाप्रवृत्तसंक्रमा अपि संभवन्ति, ततस्तत्रा–ऽल्पबहुत्वमाह–

गुणिसेढिपएसग्गं, थोवं पत्तेगसो असंखगुणं।
उवसामणाइ तीसु वि, संकमणेऽहप्पवत्ते य ॥२॥

(गुणसेढि त्ति) गुणश्रेणिप्रदेशाग्रं स्तोकम्। ततः प्रत्येकशः प्रत्येकं प्रत्येकमुपशमनाऽऽदिषु त्रिषु यथाप्रवृत्ते च संक्रमणे असंख्येयगुणं वक्तव्यम्। इयमत्र भावनायस्य तस्य वा कर्मणो गुणश्रेणिप्रदेशाग्रं सर्वस्तोकम्, ततो देशोपशमनायामसंख्येयगुणम्। ततो निधत्तमसंख्येयगुणम्। ततोऽपि निकाचितमसंख्येयगुणम्। ततोऽपि यथाप्रवृत्तसंकमेण संक्रान्तमसंख्येयगुणम् ।२। क०प्र०७। ८ प्रक०। पं०सं०। स्था०। ''इच्चेयं महव्वयउच्चारणं णिकायणा।'' निकाचनेव निकाचना, स्वव्रतप्रतिपत्तिदृढतरनिबन्ध इत्यर्थः। शुभकर्मणां वा निकाचनाहेतुत्वान्निकाचनेयमुच्यते, न च सरागसंयमिनामय–मर्थो घटत इति। पा०। ध०। दापने, ''निकायण त्ति वा दावण त्ति वा एगट्ठा।'' नि०चू० ५ उ०। ''जं मासातिआरोवणाए विहीणधियाए वा जहा महाए आरोवणाए आरोवयंति, तं णिकाइतं भण्णति।'' नि०चू० २० उ०।

णिकायपडिवण्ण त्रि०(निकायप्रतिपन्न) निर्गतः काय औदारिकाऽऽदिर्यस्माद् यस्मिन् वा सति स निकायो मोक्षः, तं प्रतिपन्नो निकायप्रतिपन्नः। सम्यग्दर्शनाऽऽदेः स्वशक्त्यनुष्ठानाद् मोक्षं प्रतिपन्ने, आचा०१ श्रु०१ अ०३उ०।

णिकिंचण त्रि०(निष्किञ्चन) निर्गतं किञ्चन हिरण्याऽऽदि येभ्यस्ते निष्किञ्चनाः। आ०म०१अ०१ खण्ड।

णिकूड त्रि०(निष्कूट) अमाये, आव०५ अ०।

णिकेअ पुं०(निकेत) निवासे, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। गृहे, उत्त० २ उ०।

णिक्क (देशी) सर्वथा विगतमले, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

***णिष्क** पुं०। न०। निश्चयेन कायति कैकः। शास्त्रीयषोडशमाषक–परिमितसुवर्णानामष्टाधिकशते, व्यवहारिकरूपके दीनारे, (टाका)। चतुःसुवर्णपरिमिते पलपरिमाणे मानभेदे, षोडशद्रम्मे (काहन) परिमाणे, वक्षोभूषणे, हेमपात्रे, च। वाच०।

णिक्कअ पुं०(निष्क्रय) न विद्यते क्रयो यस्य सः। **''कगटडतदपशषस क पामूर्ध्वं लुक्''** ।८।२।७७॥ इति पलुक्। **''सर्वत्र लवरामचन्द्रे''** ।८।२।७९॥ इति र लुक्, अनादौ द्वित्वम्। **''कगचजतदपयवां प्रायो लुक्''**।।८।१।१७७। इति यलुक्। प्रा० २ पाद। **''ष्कस्कयोर्नाम्नि''** ।८।२।४। इति स्वत्वे न, नाम्नीति तत्र विशेषणात्। क्रयरहिते, प्रा०२ पाद।

णिक्कंकड त्रि०(निष्कङ्कट) निष्कञ्चुके, निरावरणे, निरुपघाते, स०।

णिक्कंकडच्छाय त्रि०(निष्कङ्कटच्छाय) निष्कङ्कटा निष्कवचा निरावरणा निरुपघातेति भावः। छाया दीप्तिर्यस्य तन्निष्कङ्कटच्छायम्। रा०। जं०। औ०। निरावरणदीप्तौ, औ०। स०। प्रज्ञा०। रा०। स्था०। जी०। भ०।

णिक्कंखिय न०(निष्काङ्क्षित) काङ्क्षितं देशसर्वकाङ्क्षाऽऽत्मकं, तत्स्याभावो निष्काङ्क्षितम्। अन्यान्यदर्शनानभिलाषे, उत्त०२ अ०। प्रव०। निर्गता काङ्क्षाऽन्यान्यदर्शनग्रहणरूपा यस्याऽसौ निष्काङ्क्षितः। सूत्र०२ श्रु० ७ अ०। देशसर्वकाङ्क्षारहिते, ध०२ अधि०। ग०। व्य०। रा०। औ०। दर्शनान्तराऽऽकाङ्क्षारहिते, दशा० १० अ०।

णिक्कंत त्रि०(निष्क्रान्त) प्रव्रज्यां गृहीतवति, आचा०१ श्रु०१ अ०३ उ०।

णिक्कंतार न०(निष्कान्तार) कान्तारमरण्यं, निर्गतः कान्तारात् निष्कान्तारः। कान्तारान्निष्क्रान्ते, कंताराओ णिक्कंतारे करेज्ञा।'' निष्कान्तारं निष्क्रामितारं वा। स्था०३ ठा०१उ०।

णिक्कंप पुं०(निष्कम्प) दृढे, द्वा०६ द्वा०। स्थिरचित्तवृत्तौ, बृ०।

अथ निष्कम्पताद्वारमाह–

णाणाऽऽणत्तीऐं पुणो, दंसणतवनियमसंजमे ठिच्चा।
विहरइ विसुज्झमाणो, जावज्जीवं पि णिक्कंपो॥

ज्ञानस्य या आज्ञाप्तिरादेशः–''जाएँ सद्धाएँ निक्कंतो, तामेव मणुपालए।''इत्यादिकः, तया दर्शनप्रधाने तपोनियमरूपे संयमे स्थित्वा कर्ममलेन विशुद्ध्यमानः सन् यावज्जीवमपि निष्कम्पः स्थिरचित्तवृत्तिर्विहरति संयमाध्वनि गच्छतीति। बृ०१ उ०।

णिक्कज्ज (देशी) अनवस्थिते, दे०ना० ४ वर्ग ३३ गाथा।

णिक्कट्ठ त्रि०(निकृष्ट) निष्कर्षिते, तपसा कृशदेहे, स्था०४ ठा०४ उ०।

* श्रीमत्प्रणीतं रुचिरतरमस्त्येव शब्दानुशासनं सवृत्तिकं, तत्र नामाऽऽख्यातकृदाख्यं यथार्थाख्यं प्रकरणत्रयं क्रमेण नवदशषट्पादप्रमाणम्, ततश्चात्र श्रीमलयगिरिपूज्यपादकृतप्रकरणपादसूत्रसंख्यासूचनं क्रमेणावसेयमध्यवसितवाङ्मयसारैः।

***निष्कृष्ट** त्रि०। तपसा कृषीकृते, स्था०४ ठा०४ उ०।

णिक्कड (देशी) कठिने, दे०ना० ४ वर्ग २६ गाथा।

णिक्कमण न०(निष्क्रमण) प्रव्रज्यायाम्, आचा०१ श्रु०५ अ०६ उ०। बृ०। निर्+क्रम–ल्युट्। बहिर्गमने, चतुर्थे मासि शिशोः कर्त्तव्ये संस्कारभेदे च। ''चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं, शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।'' इति मनुः। वाच०।

णिक्कम्म पुं०(निष्कर्मन्) निष्क्रान्तः कर्मणो निष्कर्मा। मोक्षे, सम्बरे, आचा०१ श्रु० ४अ०४उ०।

णिक्कम्मदंसि(ण्) त्रि०(निष्कर्मदर्शिन्) निष्कर्मा मोक्षः, सम्बरो वा, तं द्रष्टुं शीलमस्येति निष्कर्मदर्शी। मोक्षसम्बरतत्त्ववेत्तरि, ''णिक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं कम्माणि सफलत्तं दट्ठु।'' आचा०१ श्रु० ४ अ०४उ०। निष्कर्माणमात्मानं पश्यतीति तच्छीलश्च निष्कर्मदर्शी। कर्मबन्धनविप्रमुक्ते, ''पलिच्छियाणं णिक्कम्मदंसी।'' निष्कर्मत्वादपगताऽऽवरणः सर्वज्ञानी सर्वदर्शी च भवति। आचा०१ श्रु० ३अ० २उ०।

णिक्कल त्रि०(निष्कल) त्रासाऽऽदिदोषरहिते, भ० १५ श०।

णिक्करुण त्रि०(निष्करुण) निर्गता करुणा दया यस्मादसौ निष्करुणः। स्नेहविरहिते, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

णिक्कवय त्रि०(निष्कवच) निरावरणे, स्था०४ ठा०२ उ०।

णिक्कसण न०(निष्कसन) निर्गमने, सूत्र०१ श्रु० १४ अ०।

णिक्कसाय त्रि०(निष्कषाय) कषायरहिते, आतु०। आगमिष्यन्त्या–मुत्सर्पिण्यां भविष्यति त्रयोदशे तीर्थङ्करे, ती०२० कल्प। स०। प्रव०।

णिक्कसिज्जंत त्रि०(निष्कास्यमान) निर्वास्यमाने, निःसार्य माणे, उत्त० १ अ०।

णिक्काम त्रि०(निष्काम) शुभरसगन्धाऽऽद्युपभोगरहिते, बृ०१ उ०।

णिक्कारण न०(निष्कारण) ग्लानाऽऽदिकारणाभावे, आव०६ अ०। व्य०।

णिक्कासिय त्रि०(निष्कासित) विनिर्गते, औ०।

णिक्किंचण त्रि०(निष्किञ्चन) 'णिकिंचण' शब्दार्थे, आ०म०१ अ०१ खण्ड।

णिक्किय– त्रि०(निष्क्रिय) सर्वव्यापित्वेनावकाशभावाद् गमनागमनाऽऽदिक्रियावर्जते, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। षो०।

आत्मा निष्क्रिय इति साङ्ख्याः–

जे ते उ वाइणो एवं, लोऐ तेसिं कओ सिया ?
तमाओ ते तमो जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ॥१४॥

ये एते अकारकवादिन आत्मनोऽमूर्तत्वनित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यो निष्क्रियत्वमेवाभ्युपपन्नाः, तेषां य एष लोको जरामरणशोकाऽऽक्रन्दनहर्षाऽऽदिलक्षणो नरकतिर्यङ् मनुष्यामरगतिरूपः, सोऽयमेवंभूतो निष्क्रिये सत्यात्मन्यप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे कुतः कस्माद्धेतोः स्यात्? न कथञ्चित्कुतश्चित्स्यादित्यर्थः। ततश्च दृष्टेष्टबाधारूपात्तमसोऽज्ञानरूपात्ते तमोऽन्तरं निकृष्टं यातनास्थानं यान्ति। किमिति? यतो मन्दा जडाः प्राण्यपकारकाः, आरम्भनिश्रिताश्च ते इति।१४।

अधुना निर्युक्तिकारोऽकारकवादिमतनिराकरणार्थमाह–

को वेएई अकयं, कयनासो पंचहा गई नऽत्थि।
देवमणुस्सगयागइ, जाईसरणाऽऽइया च ण हि ॥३४॥ नि०।

(को वेएईत्यादि) आत्मनोऽकर्तृत्वात्कृतं नास्ति, ततश्चाकृतं को वेदयते? तथा निष्क्रियत्वे वेदनक्रियाऽपि न घटां प्राञ्चति। अथाऽकृतमप्यनुभूयेत, तथा सत्यकृताऽऽगमकृतनाशाऽऽपत्तिः स्यात्। ततश्च एककृतपातकेन सर्वप्राणिगणो दुःखितः स्यात्, पुण्येन च सुखी स्यादिति। न चैतद् दृष्टमिष्टं वा। तथा व्यापित्वान्नित्यत्वाच्चाऽऽत्मनः पञ्चधा पञ्चप्रकारानारकनिर्यङ् मनुष्यामरमोक्षलक्षणा गतिर्न भवेत्। ततश्च भवतां साङ्ख्यानां काषायचीवरधारणशिरस्तुण्डमुण्डनदण्डधारणभिक्षाभोजित्वपञ्चरात्रोपदेशानुसारयमनियमाऽऽद्यनुष्ठानम्, तथा– ''पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः। जटी मुण्डी शिखी वाऽपि, मुच्यते नात्र संशयः ॥१॥'' इत्यादि सर्वमपार्थकमाप्नोति। तथा–देवमनुष्याऽऽदिषु गत्यागती न स्यातां, सर्वव्यापित्वादात्मनः। तथा नित्यत्वाच्च विस्मरणाभावाद् जातिस्मरणाऽऽदिका च क्रिया नोपपद्यते, तथा–ऽऽदिग्रहणात् प्रकृतिः करोति, पुरुष उपभुङ्क्त इति भुजिक्रिया या समाश्रिता, साऽपि न प्राप्नोति। तस्या अपि क्रियात्वादिति। अथ मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोग इति चेत्, एतत्तु निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, वाङ्मात्रत्वात्; प्रतिबिम्बोदयस्यापि च क्रियाविशेषत्वादेव। तथा नित्ये चाविकारिण्यात्मनि प्रतिबिम्बोदयस्याऽभावाद्यत्किञ्चिदेतदिति ॥३४॥

ननु च भुजिक्रियामात्रेण प्रतिबिम्बोदयमात्रेण च
यद्यप्यात्मा सक्रियः, तथापि न तावन्मात्रेणा–
स्माभिः सक्रियत्वमिष्यते, किं तर्हि
समस्तक्रियावत्त्वे सतीत्येतदा–
शङ्क्य निर्युक्तिकृदाह–

ण हु अफलथोवऽणिच्छित–ऽकालफलत्तणमिहं जदुमहेऊ।
णादुद्धथोवदुद्ध–त्तणेणऽगावित्तणे हेऊ ॥३५॥ नि०।

(ण हु अफलेत्यादि) न हु नैवाऽफलत्वं द्रुमाभावे साध्ये हेतुर्भवति। न हि यदैव फलवांस्तदैव द्रुमोऽन्यदा त्वद्रुम इति भावः। एवमात्मनोऽपि सुप्ताऽऽद्यवस्थायां यद्यपि कथञ्चिन्निष्क्रियत्वं, तथाऽपि नैतावता त्वसौ निष्क्रिय इति व्यपदेशमर्हति। तथा स्तोकफलत्वमपि न वृक्षाभावसाधनाबालम्; स्वल्पफलोऽपि हि पनसाऽऽदिर्वृक्षस्य व्यपदेशभाग्भवति। एवमात्माऽपि स्वल्पक्रियोऽपि क्रियावानेव। कदाचिदेषा मतिर्भवतो भवेत्– स्तोकक्रियो निष्क्रिय एव। यथैककार्षापणधनो न धनित्वमास्कन्दत्येवमात्माऽपि स्वल्पक्रियत्वादक्रिय इत्येतदप्युपचारः। यतोऽयं दृष्टान्तः प्रतिनियतपुरुषापेक्षया चोपगम्यते, समस्तपुरुषाऽपेक्षया वा? तत्र यद्याद्यः पक्षः, तदा सिद्धसाध्यता। यतः–सहस्राऽऽदिधनवदपेक्षया निर्धन एवासौ। अथ समस्तपुरुषापेक्षया। तदसाधु। यतोऽन्यान् जरच्चीवरधारिणोऽपेक्ष्य कार्षापणधनोऽपि धनवानेव तथाऽऽत्मापि यदि विशिष्टसामर्थ्योपेतपुरुषक्रियाऽपेक्षया निष्क्रियोऽभ्युपगम्यते, न काचित्क्षतिः। सामान्यापेक्षया तु क्रियावानेवेत्यलमतिप्रसङ्गेन। एवमनिश्चिताकालफलत्वाऽऽख्यहेतुद्वयमपि न वृक्षाभावसाधकमित्यादि योज्यम् एवमदुग्धत्वस्तोकदुग्धत्वरूपावपि हेतु

न गोत्वाभावत्वं साधयतः। उक्तन्यायेनैव दार्ष्टान्तिकयोजना कार्येति ॥३५॥ सूत्र० नि०१ श्रु० १अ०१ उ०।

णिक्किव त्रि०(निष्कृप) कृपारहिते, गतघृणे, पं० व० ४ द्वार। नि०चू०।

निष्कृपमाह–

चंकमणाऽऽईसत्तो, सुनिक्किवो थावराऽऽइसत्तेसु।
काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्किवो होइ॥

स्थावराऽऽदिसत्त्वेषु चङ्क्रमणं गमनम्, आदिशब्दात् स्थान–शयनाऽऽसनाऽऽदिकं सक्तः क्वचित्कार्यान्तरे व्यासक्तः सन् सुनिष्कृपः सुष्ठु गतघृणो, निः शूकः करोतीति शेषः, कृत्वा च तेषु चङ्क्रमणाऽऽदिकं नानुतप्यते, केनचिन्नोदितः सन् पश्चात्तापपुरस्सरमित्यादुष्कृतं न ददातीत्यर्थः। ईदृशो निष्कृपो भवति। इदं निष्कृपस्य लक्षणमिति भावः। बृ०१ उ०। ''णिक्किव ! अकयण्णुय ! निष्कृप ! मम दुःखिताया अप्रतीकारात्, अकृतज्ञ ! मदीयोपकारस्यानपेक्षणात्। ज्ञा०१ श्रु० ६ अ०।

णिक्कीलिय न०(निष्क्रीडित) गमने, प्रव० २७१ द्वार। औ०। अन्त०।

णिक्कुड पुं०(निष्कुट) तापनायाम्, अनु०। आ०म०।

णिक्कोरण न०(निष्कोलन) दुःसहस्य वस्तुनोऽपनयने, नि० चू०।

जे भिक्खू पादं णिक्कोरेइ, कोरावेइ, कोरियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ॥४६॥

मुहस्स अवणयणं णिक्कोरणं, तं झुसिरं ति काऊण चउलहुं।

गाहा–

कयमुहे अकयमुहे वा, दुविहा णिक्कोरणाऽनुपायम्मि।
मुहकारणे य एवं, चउो भंगा मुणेयव्वा॥१८८॥

पुव्वद्धं कंठं। भायणस्स मुहकारणे, णिक्कोरणे य चउभंगा।

गाहा–

मुहकोरण समणट्ठा, बितिए मुह ततिऐ कोरणं समणे।
दो गुरु ततिए सुत्तं, दोहि गुरु तवेण कालेणं॥१८९॥

तत्थ भावणस्स मुहं समणट्ठा कयं, समणट्ठाए णिक्कोरियं। वितियभंगे समणट्ठाए मुहं कयं, आयट्ठाए णिक्कोरितं। ततियभंगे आयट्ठाए मुहं कयं, समणट्ठाए णिक्कोरितं। चरिमे उभयं तं पि आयट्ठाए। एत्थ आदिमेसु दोसु भंगेसु चउगुरुगापढमवितियभंगेसु चउगुरुगा। ततियभंगेसु सुत्तनिवातो, चउलहुमित्यर्थः। पढमभंगे दोहि वि तवकालेहिं विसिहो, वितियभंगे तवगुरू, ततियभंगे कालगुरू, चउत्थभंगे बीयरहिए वि झुसिरं ति काऊण चउलहुं भवति।

गाहा–

एतेसामण्णतरं, पाथं जो तिविहकरणजोगेणं।
णिक्कोरेती भिक्खू, सो पावति आणमादीणि॥१९०॥

आणादी दोसा; कुंथुमाऽऽदिविराहणे संजमविराहणा; सत्थमादिणा लंछिते आयविराहणा। तत्थ परितावणाऽऽदिणिप्फण्णं। जम्हा एवमाई दोसा, तम्हा जहाकडं मग्गियव्वं, तस्स असति अप्पपरिकम्मं।

एत्थ इमो अववातो। गाहा–

असिवे ओमेयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
सेहे चरित्तसावय–भए व जयणाऐं णिक्कोरे॥१९१॥

जत्थ अहाकडं लब्भति, तत्थ असिवाऽऽदिकारणेहिं आगच्छंतो अप्पबहुं परिकम्मं जयणाए णिक्कोरेइ।

गाहा–

जति नाम पुव्वसुद्धे, कोरिज्जंतम्मि वितिऐं ततिए वा।
ति प्पंच सत्त वीया, होज्जा सुद्धं तहा वि गता॥१९२॥

पुव्वं गहणकाले सुद्धे पच्छा कोरिज्जंते (वितिए त्ति) अप्पपरिकम्मे (ततिए त्ति) बहुपरिकम्मे, जति तिण्णि पंच वा सत्त वा वितिया होज्जा तहा वि सुद्धं। नि०चू० १४ उ०। यत्पुनः पात्रस्य मुखकरणानन्तरं तदप्यन्तरवर्तिनो गिरस्योत्कीर्णनं तन्निष्कोर (ल) णमभिधीयते। बृ० १ उ०।

णिक्ख न०(निष्क) **''ष्कस्कयोर्नाम्नि''॥८।२।४॥** इति ष्कभागस्य खः। सुवर्ण, प्रा०२ पाद।

णिक्खंत त्रि०(निष्क्रान्त) संसाराद् गृहाच्च निःसृते, उत्त० १८ अ०। प्रव्रजिते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। अनु०। प्रव्रज्याप्रतिपत्त्या गृहवासान्निर्गते, हा० २७ अष्ट०।

णिक्खत्त त्रि०(निःक्षत्र) क्षत्रियजातिविहीने, परशुरामेण त्रिः–सप्त–कृत्वो निःक्षत्रिया पृथिवी कृता। सूत्र०१ श्रु० ८ अ०।

णिक्खम न०(निष्क्रम) निष्क्रमणं निष्क्रमः। प्रव्रज्यायाम्, इह च द्विर्भावो, नपुंसकता च प्राकृतत्वात्। निष्क्रमणमेव भवस्थानां सुखम्। सुखभेदे, स्था० १० ठा०। भ०। द्रव्यभावगृहात्प्रव्रज्याग्रहणे, दश० १० अ०।

णिक्खमण न०(निष्क्रमण) सूर्याचन्द्रमसोः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद् बहिर्गमने, सू०प्र० १३ पाहु०। द्रव्यभावसङ्गाद् निष्क्रान्तिरूप–प्रव्रज्यायाम्, पं०व०१ द्वार। अन्त०। बृ०। अगारवासन्निर्गमे, पञ्चा० ६ विव०। बहिर्गमने, नि०चू० १उ०। उद्वर्तने, आचा० १श्रु० १ अ०६उ०।

णिक्खमणचरियणिबद्ध न०(निष्क्रमणचरितनिबद्ध) भगवतो महावीरस्वामिनोऽन्येषां च प्रव्रज्यामहोत्सवचरितनिबद्धे नाट्यविधौ, रा०।

णिक्खमणपवेसं पुं०(निष्क्रमणप्रवेश) निर्गमनागमनयोः, नि०चू०।

जे भिक्खू तं पडुच्च णिक्खमइ वा, पविसइ वा, णिक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ॥१४॥

(पडुच्च त्ति) जाहे सो गिहत्थो काइयादि णिग्गच्छति, ताहे संजतो चिंतेति–एस काइयं गतो, अहमवि एयणिस्साए काइयं गच्छामि, उड्डवेहि वा एहिं वच्चामो।

गाहा–

संवासे जे दोसा, णिक्खमणे पवेसणम्मि ते चेव।
णातव्वा तु मतिमता, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि॥१३५॥

जे संवासे अधिकरणाऽऽदी दोसा भवंति, ते णिग्गच्छंते वि।

इमे अधिकतरा। गाहा–

गिहिसहितो ती संका, आरक्खिगमादिगेण्हणाऽऽदीया।
उभयाचरणे दवाऽसति, अवण्ण अपमज्जऽऽणादीया॥१३६॥

गिहत्थसहितो त्ति काउं चोरपारदारिओ त्ति काउं जाहे संका भवति, ताहे दंडपासियाऽऽदीहिं गेण्हणाऽऽदी दोसा। काइयसण्णा उभयं ते वोसिरंतो दवावि। असतीए उड्डाहो। लोगो अवण्णं भासति, णादथंडिलाऽऽदी ण पमज्जति संजमविराहणा। नि०चू० ८उ०। कल्पसूत्रे सामाचार्याभिकपञ्चाशत्तमसूत्रे–''निक्खमित्तए वा पवि–सित्तए वा'' इति पदद्वयमधिकमिव दृश्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्– ''भत्तपाणपडिआइक्खित्तए'' इति वचनात् कश्चित्सामान्यतो विहितानशनः, कश्चिच्च कृतपादपोपगमनो भिक्षुर्विहर्तुं प्रवर्तितुमिच्छेदित्यर्थः संगच्छते, तदनुसारेण सामान्येन कृतानशनस्य ''निक्खमित्तए वा'' इत्यादिविशेषणानि यथा–संभवं संगच्छन्त एव, न तु कृतपादपोपगमनस्येति न काऽप्यधिकतेति। २२ प्र०। सेन०२ उल्ला०। (स्थविरकल्पिका जिनकल्पिका वा कदा निष्क्रामन्ति, कदा वा प्रविशन्तीति 'थविरकल्प' शब्दे वक्ष्यते) (राज्याभिषेके निष्क्रमणप्रवेशविषयः 'रायाभिसेय' शब्दे द्रष्टव्यः)

णिक्खमणाभिसेय पुं०(निष्क्रमणाभिषेक) निष्क्रमणाभिषेक–सामान्याम, भ० ६ श० ३३ उ०।

णिक्खममाण त्रि०(निष्क्रामत्) निर्गच्छति, आचा०१ श्रु०१ चू०२ अ०३उ०।

णिक्खमित्तए अव्य०(निष्क्रमितुम्) प्रवेष्टुमित्यर्थे, कल्प०६ क्षण। द०प०।

णिक्खम्म अव्य०(निष्क्रम्य) गेहान्निःसृत्य प्रव्रजितो भूत्वेत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु० १० अ०। स्वदर्शनविहितां प्रव्रज्यां गृहीत्वेत्यर्थे, सूत्र० २ श्रु०१ अ०।

णिक्खय (देशी) निहते, दे०ना० ४ वर्ग ३२ गाथा।

णिक्खसरिअ (देशी) मुषिते, दे०ना० ४वर्ग ४१ गाथा।

णिक्खित्त त्रि०(निक्षिप्त) स्वस्थानन्यस्ते, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। विमुक्ते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। सुप्तोत्थिते, दे०ना० ४ वर्ग। व्यवस्था–पिते, आचा०२ श्रु०१ चू०१अ०७उ०। परित्यक्ते, व्य०२ उ०। ''णिक्खित्तं णाम–गरलिगाबद्धं स्थापयति।'' नि०चू०१ उ०। सचित्तस्योपरि स्थापिते, तच्च एषणादोषदुष्टत्वान्न ग्राह्यम्। प्रव० ६७ द्वार। जीत०।

अथ निक्षिप्तद्वारमाह–

सचित्तमीसएसुं, दुविहं काएसु होइ निक्खित्तं।
एक्केक्कं तं दुविहं, अणंतर परंपरं चेव ॥५७२॥

इह कल्पनीयं निक्षिप्तं द्विधा–सचित्तेषु, मिश्रेषु च। एकैकमपि द्विधा। तद्यथा–अनन्तरं, परम्परं च। तत्रानन्तरमव्यवधानेन, परम्परं व्यवधानेन। यथा सचित्तपृथिवीकायस्योपरि स्थापनिका, तस्या उपरि देयं वस्त्विति। इह परिहार्यापरिहार्यविभागं विना सामान्यतो निक्षिप्तं सचित्ताचित्तमिश्ररूपभेदात् त्रिधा। तत्र च त्रयश्चतुर्भङ्गाः। तद्यथा–सचित्ते सचित्तम् १, मिश्रे सचित्तम् २, सचित्ते मिश्रम्३, मिश्रे मिश्रमित्येका चतुर्भङ्गी। तथा–सचित्ते सचित्तम्१, अचित्ते सचित्तम् २, सचित्ते अचित्तम् ३, अचित्ते अचित्तमपि द्वितीया चतुर्भङ्गी। तथा– मिश्रे मिश्रम् १, अचित्ते मिश्रम् २, मिश्रे अचित्तम् ३, अचित्ते अचित्तमिति तृतीया चतुर्भङ्गी।

* पुस्तकान्तरे– ''सचित्तमीसएहिं दुविहं काएहिं'' इतिपाठः।

सम्प्रत्यस्यैवानन्तरपरम्परविभागमाह–

पुढवीआउक्काए–तेऊवाऊवणस्सइतसाणं।
एक्केक्को दुगभेओ–ऽणंतरपरऽगणिम्मि सत्तविहो।५७३।

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायानां सचित्तानां प्रत्येकं सचित्तपृथिव्यादिषु निक्षेपः संभवति, तत्र पृथिवीकायस्य निक्षेपः षोढा। तद्यथा–पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेप इत्येको भेदः, पृथिवीकायस्याप्काये इति द्वितीयः, पृथिवीकायस्य तेजस्काये इति तृतीयः, वातकाये इति चतुर्थः, वनस्पतिकाये इति पञ्चमः, त्रसकाये इति षष्ठः। एवमष्कायाऽऽदीनामपि निक्षेपः प्रत्येकं षोढा भावनीयः। सर्वसङ्कलया षट्त्रिंशत् भङ्गाः। एकैकोऽपि च भेदो द्विधा। तद्यथा–अनन्तरेण, परम्परया च। अनन्तरपरम्परव्याख्यानं च प्रागेव कृतम्। केवलमग्निकाये पृथिव्यादीनां निक्षेपः सप्तधा। एतच्च स्वयमेव वक्ष्यति।

संप्रति पृथिवीकाये निक्षेपस्य यदुक्तं प्रत्येकं षोढात्वं, तत्सूत्रकृत् साक्षाद्दर्शयति–

सचित्तपुढविकाए, सचित्तो चेव पुढवि निक्खित्तो।
आऊतेउवणस्सइ–समीरणतसेसु एमेव ॥५७४॥

सचित्तपृथिवीकाये सचित्तपृथिवीकायो निक्षिप्तः। एवं च पृथिवीकाये इव अप्तेजोवनस्पतिसमीरणत्रसेषु सचित्त एव पृथिवीकायो निक्षिप्त इति पृथिवीकायनिक्षेपः षोढा।

एवं शेषकायेष्वतिदेशमाह–

एमेव सेसयाण वि, निक्खेवो होइ जीवकाएसु।
एक्केक्को सट्ठाणे, परठाणे पंच पंचेव ॥५७५॥

एवमेव पृथिवीकायस्येव, शेषाणामप्कायाऽऽदीनां, निक्षेपो भवति, जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु। तत्र एकैको भङ्गः स्वस्थाने, शेषाः पञ्च पञ्च परस्थाने तथाहि– पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेपः स्वस्थाने, अप्कायाऽऽदिषु शेषेषु पञ्चसु परस्थाने। एवमप्कायाऽऽदीनामपि भावनीयम्। ततः स्वस्थाने एकैको भङ्गः, परस्थाने पञ्च पञ्च। तदेवं प्रथमचतुर्भङ्गिकायाः सचित्ते सचित्तमित्येवंरूपे प्रथमे भङ्गे षट्त्रिंशद् भेदाः।

सम्प्रति प्रथमचतुर्भङ्गया एव शेषं भङ्गत्रयं, द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गयौ चाऽतिदेशतः प्रतिपादयति–

एमेव मीसएसु वि, मीसाण सचेयणेसु निक्खेवो।
मीसाणं मीसेसु य, दोण्हं पि य होइ चित्तेसु ॥५७६॥

एवमेव सचित्तेषु इव मिश्रेष्वपि मिश्रपृथिव्यादिनिक्षेपः षट्त्रिंशद्–भेदोऽवगन्तव्यः। एतेन प्रथमचतुर्भङ्गो व्याख्यातः। एवमेव मिश्राणां पृथिव्यादीनां मिश्रेषु पृथिव्यादिषु निक्षेपः षट्त्रिंशद् भेदः। अनेन प्रथमचतुर्भङ्गयाश्चतुर्थो भङ्गो व्याख्यातः। सर्वसंख्यया प्रथमचतुर्भङ्ग्यां चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतम्। एवमेव द्वयोरपि सचित्तमिश्रयोरचित्तेषु निक्षिप्यमाणयोर्यै द्वे चतुर्भङ्ग्यौ प्रागुक्ते, तत्रापि प्रत्येकं प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतं भवति। सर्वसङ्ख्यया भङ्गानां शतानि चत्वारि द्वात्रिंशदधिकानि भवन्ति। उक्ता निक्षेपस्य भेदाः।

सम्प्रत्यस्यैव निक्षेपस्य पूर्वोक्तं चतुर्भङ्गीत्रयमधिकृत्य कल्प्या–कल्प्यविधिमाह–

जत्थ उ सचित्तमीसे, चउभंगो तत्थ चउसु वि अगेज्झं।

तं तु अणंतर इयरं, परित्तऽणंतं च वणकाए ॥५७७॥

यत्र निक्षेपे सचित्तमिश्रे आद्या चतुर्भङ्गी भवति, प्रथमा चतुर्भङ्गी भवतीत्यर्थः। तत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु, अपिशब्दाद् द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गयोरपि, आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु वर्त्तमानमनन्तरं, परम्परा च। वनस्पतिविषये परीतकमनन्तं वा तत्सर्वमग्राह्यम्, सामर्थ्यत्वात्। द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गयोश्चतुर्थे चतुर्थभङ्गे वर्तमानं ग्राह्यम्, तत्र दोषाभावात्।

सम्प्रति सचित्ताऽऽदिभिस्त्रिभिरपि मतान्तरेण तामेव चतुर्भङ्गीं कल्प्याकल्प्यविधिं प्रदर्शयति–

अहव ण सचित्तमीसे, उ एगओ एगओ य अचित्तो।
एत्थं चउक्कभंगो, तत्थाऽऽइतिए कहा नऽत्थि ॥५७८॥

अथवेति प्रकारान्तरताद्योतकः, णमिति वाक्यालङ्कारे। इह चतुर्भङ्गी प्रतिपक्षपदोपन्यासे भवति। तत्रैकस्मिन् पक्षे सचित्तमिश्रे एकः, एकश्च अचित्तः; तत् प्रागुक्तक्रमेण चतुर्भङ्गी भवति। तद्यथा–सचित्तमिश्रे सचित्तमिश्रम्, सचित्तमिश्रे अचित्तम्, अचित्ते सचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति। अत्राऽपि प्रागिवैकैकस्मिन् भङ्गे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदात् षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद् भेदाः। सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतम्। तत्राऽऽदित्रिके आदिमे भङ्गत्रये, कथा नास्ति ग्रहणे वार्त्ता न विद्यते। सामर्थ्याच्चतुर्भङ्गी कल्पते। तदेवं 'पुढवी' इत्यादिमूलगाथायाः पूर्वार्द्धं व्याख्यातम्।

सम्प्रति ''एक्केक्के दुहाणंतर'' इत्यवयवं व्याचिख्यासुर्द्वितीयचतुर्भङ्गयाः सत्कस्य तृतीयस्य भङ्गस्य सामान्यतोऽशुद्धस्य विषये विशेषं विभणिषुरनन्तरं, परम्परया वा मार्गणां करोति–

जं पुण अचित्तदव्वं, निक्खिप्पइ चेयणेसु दव्वेसु।
तहिँ मग्गणा उ इणमो, अणंतर परंपरं होइ ॥५७९॥

यत्किमपि अचित्तं द्रव्यमोदनाऽऽदि चेतनेषु सचित्तेषु, मिश्रेषु वा निक्षिप्यते, तत्रेयमनन्तरं, परम्परया वा मार्गणा परिभावनं भवति।

ओगाहिमादणंतरं, परंपरं पिढरगाइ पुढवीए।
नवणीयाइ अणंतरं, परंपरं नावमाईसु ॥५८०॥

अवगाहिमाऽऽदि पक्वान्नमण्डकप्रभृति, पृथिव्यामनन्तरनिक्षिप्तम्; पृथिव्या एवोपरि स्थिते पिठरकाऽऽदौ यन्निक्षिप्तमवगाहिमाऽऽदि, तत्परम्परनिक्षेप उक्तः। सम्प्रत्यप्कायमाश्रित्याऽऽह–(नवणीए इत्यादि) नवनीताऽऽदिम्रक्षणस्त्यानीभूतघृताऽऽदिसचित्ताऽऽदिरूपे उदके निक्षिप्तमनन्तरनिक्षिप्तं, तदेव नवनीताऽऽदि, अवगाहिमाऽऽदि वा, जलमध्यस्थितेषु नावादिषु स्थितं परम्परनिक्षिप्तम्।

संप्रति तेजस्कायमधिकृत्यानन्तरपरम्परे व्याख्यानयन् ''अग–णिम्मि सत्तविहो'' इत्यप्यवयवं व्याख्यानयति–

विज्झायमुम्मुरिंगा–लमेव अप्पत्त पत्त समजाले।
वोक्कंते सत्त दुगं, जंतोऽलित्ते य जयणाए ॥५८१॥

इह सप्तधाऽग्निः। तद्यथा–विध्यातो, मुर्मुरोऽङ्गारः, अप्राप्तः, प्राप्तः, समज्वालो, व्युत्क्रान्तश्च। तत्र यः स्पृष्टतया प्रथमतं नोपलभ्यते, पश्चात्त्विन्धनप्रक्षेपे वर्द्धनमपि गच्छति, स व्युत्क्रान्तः। एते सप्त भेदास्तेजस्कायस्य। तत्र एकैकस्मिन् भेदे भेदद्विकम्। तद्यथा–अनन्तरनिक्षिप्तम्; परम्परनिक्षिप्तं च। तत्र यद् विध्याताऽऽदिरूपे वह्नौ मण्डकाऽऽदि प्रक्षिप्यते, तत् अनन्तरनिक्षिप्तम्। यत्पुनरग्नेरुपरि स्थापिते पिठरकाऽऽदौ क्षिप्तं तत्परम्परनिक्षिप्तम् तत्र सप्तानां भेदानां मध्ये यमेव तमेव वाऽधिकृत्य यन्त्रेषु रसपाकस्थाने कट्टाऽऽदौ अवलिप्ते मृत्तिकाखण्टिते यतनया परिशाटिपरिहारेण ग्रहणभिक्षुरसस्य कल्पते।

सम्प्रत्येनामेव गाथां व्याख्यानयन् प्रथमतो विध्यातादीनां स्वरूपं गाथाद्वयेनाऽऽह–

विज्झाओ त्ति न दीसइ, अग्गी दीसेइ इंधणे छूढे।
आपिंगलमगणिकणा, मुम्मुरें निज्जालइंगाले ॥५८२॥
अप्पत्ता उ चउत्थे, जाला पिठरं तु पंचमे पत्ता।
छट्ठे पुण कन्नसमा, जाला समइच्छिया चरिमे ॥५८३॥

सुगमम्, नवरम् (अप्पत्ता उ चउत्थे जाला इति) चतुर्थे अप्राप्ताऽऽख्योभेदः पिठरमप्राप्ता ज्वाला द्रष्टव्या पञ्चममेवमन्यत्राप्यक्षरगमनिका कार्या।

संप्रति ''जंतोऽलित्ते य जयणाए'' इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह–

पासोलित्त कडाहे, परिसाडी नऽत्थि तं पि य विसालं।
सो वि य अचिरच्छूढो, उच्छुरसो नाइउसिणो य ॥५८४॥

इह यदीति सर्वत्राऽध्याहियते, यद् यदि कटाहः पिठरविशेषः, पिठरः पार्श्वेषु मृत्तिकयाऽवलिप्तो भवति, दीयमाने चेक्षुरसे यदि परिशाटिर्नोपजायते, तदपि च कटाहरूपं भाजनं यदि विशालं विशालमुखं भवति, सोऽपि चेक्षुरसोऽचिरक्षिप्त इति कृत्वा यदि नात्युष्णो भवति तदा स दीयमान इक्षुरसः कल्पते। इह यदि दीयमानस्येक्षुरसस्य कथमपि विन्दुर्बहिः पतति, तर्हि स लेप एव वर्त्तते, न तु चुल्लीमध्यस्थितः तेजस्कायमध्यपतितः, पार्श्वोपलिप्त इति कटाहस्य विशेषणमुक्तम्। तथा विशालमुखादाकृष्यमाण उदञ्चनःपिठरस्य कर्णे न लगति, ततो न पिठरस्य भङ्ग इति न तेजस्कायविराधनेति विशालग्रहणम्। अनत्युष्णग्रहणे तु कारणं स्वयमेव वक्ष्यति।

सम्प्रत्युदकमधिकृत्य विशेषमाह–

उसिणोदगं पि घेप्पइ, गुलरसपरिणामियं न अचुसिणं।
जं तु अघट्टियकन्नं, घट्टियपडणम्मि मा अग्गी ॥५८५॥

उष्णोदकमपि गुमरसपरिणामिनमनत्युष्णं गृह्यते। किमुक्तं भवति? यत्र कटाहे गुडः पूर्वं क्वथितो भवति, तस्मिन् निक्षिप्तं जलमीषत्तप्तमपि कटाहसंसक्तगुडरसमिश्रणात् सत्वरमचित्तीभवति, ततस्तदनन्तरमपि कल्पते। अत्राऽपि पार्श्वावलिप्तकटाहस्थितमपरिशाटितमिति विशेषणद्वयमनुपात्तमपि द्रष्टव्यम्। तथा यत् अघटितकर्णम्, न यस्मिन् दीयमाने पिठरस्य कर्णावुदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा घट्येते, तद्दीयमानं कल्पते इत्याह–(घट्टियपडणम्मि मा अग्गी) उदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा पिठरस्य कर्णयोर्घट्यमानयोर्लेपस्योदकस्य वा पतनेन माऽग्निर्विराध्येतेकृत्वा। एतेन च वक्ष्यमाणो षोडशभङ्गानामाद्यो भङ्गो दर्शितः।

सम्प्रति तानेव षोडश भङ्गान् दर्शयति–

पासोलित्त कडाहे, नच्चुसिणो अपरिसाडऽघट्टंते।

---

* 'अहवण त्ति' अखण्डमव्ययपदमथवेत्यस्यार्थे। बृ०१ उ०।

सोलस भंगविगप्पा, पढमेऽणुन्ना न सेसेसु ॥५८६॥

पार्श्वविलिप्तः कटाहः१, अनत्युष्णो दीयमान इक्षुरसाऽऽदिः २, अपरिशाटिः परिशाट्यभावः ३, (अघट्टंते इति) उदश्चनेन पिठर-कर्णाघट्टने ४, इत्येतानि चत्वारि पदान्यधिकृत्य षोडश भङ्गा भवन्ति।

भङ्गानां च नयनार्थमियं गाथा-

पयसमदुग अब्भासे-माणं भंगाण तेसिमह रयणा।
एगंतरियं लहु गुरु, लहुगुरु दुगुणा य वामेसु ॥५८७॥

अस्या व्याख्या-इह यावतां पदानां भङ्गा अमुनेष्यन्ते, तावन्तो द्विका ऊर्द्धाधःक्रमेण स्थाप्यन्ते- २/२, २/२ ततः प्रथमो द्विको द्वितीयेन द्विकेन गुण्यते, जाताश्चत्वारः, तैस्तृतीयो द्विको गुण्यते, जाता अष्टौ, तैरपि चतुर्थो द्विको गुण्यते, जाताः षोडश। एतावन्तश्चतुर्णां पदानां भङ्गा भवन्ति।

तेषां च पुनर्भङ्गानामेषा रचना-प्रथमपङ्क्तावेकान्तरितं लघुगुरुप्रथमं लघु, ततो गुरु, पुनर्लघु, पुनर्गुरु। एवं यावत् षोडशो भङ्गः। ततः प्रज्ञापकापेक्षया वामेषु वामपार्श्वेषु द्विगुणा द्विगुणा लघुगुरवः। तद्यथा-द्वितीयपङ्क्तौ प्रथमं द्वौ लघू, ततो द्वौ गुरू, ततो भूयोऽपि द्वौ लघू, एवं यावत् षोडशो भङ्गः। तृतीयपङ्क्तौ प्रथमं चत्वारो लघवः, ततश्चत्वारो गुरवः, ततश्चत्वारो लघवः, पुनश्चत्वारो गुरवः। चतुर्थपङ्क्त्यां प्रथममष्टौ लघवः, ततोऽष्टौ गुरवः।

स्थापना-अत्र ऋजवोऽशाः शुद्धाः, वक्राश्चाशुद्धाः। इह षोडशानां भङ्गानामाद्ये भङ्गेऽनुज्ञा, न शेषेषु पञ्चदशसु भङ्गेषु।

सम्प्रत्युष्णग्रहणे दोषानाह-

दुविह विराहण उसिणे, छड्डुणे हाणी य भाणभेओ य।

उष्णेऽत्युष्णे इक्षुरसाऽऽदौ दीयमाने द्विधा विराधना-आत्मविराधना, परविराधना च। तथाहि-यस्मिन् भाजने तत्- अत्युष्णं गृह्णाति, तेन तप्तेन सद् भाजनं हस्तेन साधुर्गृण्हन् दह्यते, इत्यात्मविराधना। येनापि स्थालेन दात्री ददाति, तेनाप्यत्युष्णेन सा दह्यत इति। तथा-(छड्डुणे हाणी य त्ति) अत्युष्णमिक्षुरसाऽऽदि कष्टेन दात्री दातुं शक्नोति, कष्टेन च दाने कथमपि साधुसत्कभाजनाद्बहिरुज्झनेहानिर्दीयमानस्येक्षुरसाऽऽदेः, तथा-(भाण-भेओ य इति) तस्य भाजनस्य साधुना वा नयनायोत्पाटितस्य पतद्ग्रहणाऽऽदेर्दात्र्या वा दानायोत्पाटितस्योदश्चनस्य गण्डरहि-तस्य अत्युष्णतया झगिति भूमौ मोचने भङ्गः स्यात्। तथा च षड्- जीवनिकायविराधनेति।

संप्रति वायुकायमधिकृत्यानन्तरपरम्परे दर्शयति-

वाउक्खित्ताऽणंतर-परम्परा पप्पडिय वत्थी ॥५८८॥

वातोत्क्षिप्ताः समीरणोत्पाटिताः पर्पटिकाः शालिपर्पटिका अनन्तरनिक्षिप्तं, परम्परनिक्षिप्तं वस्तीति। विभक्तिलोपाद् वस्तौ। उपलक्षणमेतत्समीरणाऽऽपूरितवस्तिदृतिप्रभृतिव्यवस्थित मण्डकाऽऽदि।

संप्रति वनस्पतिवंशविषयं द्विविधमपि निक्षिप्तमाह-

हरियाइ अणंतरिया, परंपरं पिढरमाइसु वणम्मि।
पूपाइ पीढे ऽणंतर, भरए कुउपाइसू इयरा ॥५८९॥

वने वनस्पतिविषये अनन्तरनिक्षिप्तं हरिताऽऽदिषु सचित्तब्रीहिकाप्रभृतिषु अनन्तरिता निक्षिप्ताः, अपूपाऽऽदय इति शेषः। हरिताऽऽदीनामेवोपरि स्थितेषु पिठराऽऽदिषु निक्षिप्ता अपूपाऽऽदयः परम्परनिक्षिप्तम्। तथा बलीवर्दाऽऽदीनां पृष्ठे अनन्तरनिक्षिप्ता अपूपाऽऽदयः, तत्रानन्तरनिक्षिप्तम्। बलीवर्दाऽऽदिपृष्ठ एव भरके कुतुपाऽऽदिषु वा भाजनेषु निक्षिप्ता मोदकाऽऽदयः परम्परनिक्षिप्तम्। इह सर्वत्रानन्तरनिक्षिप्तं न ग्राह्यम्, सचित्तसंघट्टनाऽऽदिदोषसंभवात्। परम्परनिक्षिप्तं तु सचित्तसंघट्टनाऽऽदिपरिहारेण यतनया ग्राह्यमिति सम्प्रदायः। पिं०। आचा०। पञ्चा०। नि०चू०।

निक्षिप्तं न ग्राह्यम्-

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
उदगम्मि हुज्जा निक्खित्तं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥५९॥

अशनं पानकं वाऽपि खाद्यं स्वाद्यं, तथा उदके भवेन्निक्षिप्तमुत्तिङ्गपनकेषु वा कीटिकानगरोल्लीषु वेत्यर्थः। ''उदयनिक्खित्तं दुविहं-अणंतरं, परंपरं च। अणंतरणवणीतपोग्गलियमादी। परंपरं-जलघडोवरि भायणत्थं दधिमादी''। एवं ''उत्तिंगपणएसु'' भावनीयमिति सूत्रार्थः ॥५९॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥६०॥

तद्भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत-न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थ ॥६०॥

तथा-

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
तेउम्मि हुज्ज निक्खित्तं, तं च संघट्टिया दए ॥६१॥

अशनं पानकं वाऽपि खाद्यं स्वाद्यं, तथा तेजसि भवेद् निक्षिप्तं तेजसीत्यग्नौ, तेजस्काय इत्यर्थः। तच्च संघट्य यावद्भिक्षां ददामि तावत्तापातिशयेन मा भूदुद्वर्त्तिष्यत इत्याघट्य दद्यादिति सूत्रार्थः ॥६१॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥६२॥

तद्भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकम्, अतो ददतीं प्रत्याचक्षीत-न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥६२॥

एवं उस्सिक्किया ओसक्किया उज्जालिया पज्जालिया निव्वा-विया उस्सिंचिया निस्सिंचिया ओवत्तिया ओयारिया दए ॥६३॥

यावद्भिक्षां ददामि तावद् मा भूद् विध्यास्यतीत्युत्सिच्य दद्यात्। (एवं ओसक्किया) अवसर्प्य, अतिदाहभयादुल्मुकान्युत्सार्येत्यर्थः। (एवं उज्जालिया पज्जालिया) उज्ज्वाल्यार्द्धविध्यातं सकृदिन्धनप्रक्षेपण, प्रज्वाल्य पुनः पुनः। एवं (निव्वाविया) निर्वाप्य, दाहभयादेवेति भावः। एवं (उस्सिंचिया निस्सिंचिया) उत्सिच्यातिभृतादुज्झनभयेन, ततो वा दानार्थं तीमनाऽऽदीनि निषिच्य तद्भाजनाद्रहितं द्रव्यमन्यत्र भाजने तेन दद्यात्। उद्वर्तनभयेन वा तद्रहितमुदकेन निषिच्य। एवं (ओवत्तिया ओयारिआ) अपवर्त्य तेनैवाग्निनिक्षिप्तेन भाजनेना-

न्येन वा दद्यात्। तथा अवतार्व दाहभयाद्वानार्थं वा दद्यात्। अत्र तदन्यच्च साधुनिमित्तयोगे न कल्पते ॥६३॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संपयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥६४॥

''तं भवे त्ति'' सूत्रं पूर्ववत्। गोचराधिकार एव गोचरप्रविष्टस्य। ॥६४॥ दश० ५ अ१ उ०।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा०जाव समाणे से जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा अणंतरहियाए पुढवीए०जाव संताणए ओहट्टु २ णिक्खित्ते सिया, असंजए भिक्खुपडियाए उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा सकसाएण वा मत्तेण वा सीतोदएण वा संभोएत्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिएहिं सहिएहिं सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्तत्पानकं सचित्तेष्वव्यवहितेषु पृथिवीकायाऽऽदिषु तथा मर्कटाऽऽदिसन्तानके वाऽन्यतो भाजनादुद्धृत्योद्धृत्य निक्षिप्तं व्यवस्थापितं स्यात्। यदि वा स एवासंयतो गृहस्थो भिक्षुप्रतिज्ञया भिक्षुमुद्दिश्य उदकार्द्रेण गलद्बिन्दुना सस्निग्धेन गलदुदकबिन्दुना सकषायेण सचित्तपृथिव्याद्यवयवगुण्डितेन मात्रेण भाजनेन शीतोदकेन वा (संभा–एत्ता) मिश्रयित्वा, आहृत्य दद्यात्। तथाप्रकारं पानकजातमप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा न परिगृह्णीयात्। एतत्तस्य भिक्षोर्भिक्षुण्या वा सामग्र्यम्– समग्रो भिक्षुभाव इति। आचा०२ श्रु०१ चू० १ अ०७उ०।

से भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अण्णयरं वा पुढवीकायपतिट्ठियं दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२५१॥ जे भिक्खू असणं वा० ४ आउकायपइट्ठियं दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२५२॥ जे भिक्खू असणं वा० ४ तेउकायपइट्ठियं दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२५३॥ जे भिक्खू असणं वा० ४ वणप्फतिकायपइट्ठियं दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥२५४॥

गाहा–

सचित्तमीसएसुं, काएसु य होति दुविह निक्खित्तं।
अणंतर परंपरं वि य, विभासियव्वं जहा सुत्ते ॥५०॥

जे पुढवातीकाया, ते दुविहा–सचित्ता, मीसा वा। सचितेसु अणंतरणिक्खित्तं, परंपरणिक्खित्तं वा। मीसेसु वि अणंतरणिक्खित्तं, परंपरणिक्खित्तं वा। पिंडणिज्जुत्तिगाहासुत्ते जहा, तहा सवित्थरं भाणियव्वं। आयारवितियसुयक्खंधे वा जहा सचित्तपिंडेसणासुत्तं, तहा भाणियव्वं।

गाहा–

सुत्तणिवातो अचि–त्तऽणंतरे तं तु गेण्हती जो उ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥५१॥

परित्तसचित्तेसु अणंतरणिक्खित्ते चउलहुं। एत्थ सुत्तं णिवयति। सचित्तपरंपरे मासलहुं। मीसे अणंतरे मासलहुं। परंपरे पणगं। अणंतरा ते चेव गुरुगा पच्छित्ता।

चोदगाऽऽह–

तत्थ भवे णणु एवं, उक्खिप्पं तम्मि तेसि आसासो।
संजतणिमित्त घट्टण, थेरुवमाएणं तदुत्तं ॥५२॥

पुढवादिकायाण उवरि ट्ठियं जं पि उक्खिप्पं, तेण तेहिं आसासो भवति। आचार्याऽऽह–तम्मि उक्खिप्पंते जा संघट्टणा, सा संजयणिमित्तं। ताण य अप्पसंघयणाण संघट्टणाए महंती वेदणा। भवति। एत्थ थेरुवमा।

गाहा–

जरजज्जरो उ थेरो, तरुणेणं जमलपाणिपुडहंतो।
जारिसवेदण देहे, एगिंदियघट्टिते तह उ ॥५३॥

जहा जराजुण्णदेहो थेरो बलवता तरुणेण जमलपाणिणा सुद्धे आहतो जारिसं वेयणं वेयति, ततो अधिकतरं एगिंदिया संघट्टिता वेयणं अणुहवंति, तम्हा ण जुत्तं जं तुमं भणसि।

इमं वितियपदं। गाहा–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अद्धाणरोहगे वा, जयणा गहणं तु गीयत्थे ॥५४॥

पूर्ववत्।

गीयत्थो इमाए जयणाए गहणं करेति। गाहा–

पुव्वं मीसें परंपर, मीसेऽणंतर सचित्तपरें परए।
तत्तो साचत्तऽणंतरें, एमेव अणंतकाए वि ॥५५॥

पुव्वं मीसे परंपरट्ठितो गेण्हति, ततो मीसे अणंतरो, ततो सचित्ते परपरे, ततो सचित्ते अणंतरे। एवं अणंतकाए वि। एस परित्ताणंतेसु कमो दरिसिओ।

गहणे पुण इमा जयणा–

पुव्विं परित्ते मीसपरंपरट्ठितो गेण्हति, ततो मीसं अणंतरपरंपरं, ततो सचित्तपरित्तपरंपरं, ततो अणंतमीसं अणंतरं, ततो अणंतसचित्तपरंपरं, ततो परित्तसचित्तअणंतरं, ततो अणंतसचित्तअणंतरं आहारे भणियं।

गाहा–

आहारे जो उ गमो, णियमा उवहिम्मि होति सो चेव।
णायव्वा तु मतिमता, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥५६॥

कंठा ॥५६॥ नि०चू० १७ उ०। पावकभाजनादनुद्धृते, औ०।

णिक्खित्तउक्खित्तचरय पुं०(निक्षिप्तोत्क्षिप्तचरक) निक्षिप्तं भोजनपात्र्यामुत्क्षिप्तं च स्वार्थं, तत एव निक्षिप्तोत्क्षिप्तं, चरत्यभिग्रहवशेन इति निक्षिप्तोत्क्षिप्तचरकः। अभिग्रहविशेषेण तथाविधभिक्षाचरके, औ०। स्था०।

णिक्खित्तचरय पुं०(निक्षिप्तचरक) निक्षिप्तं पाकभाजनादनुद्धृतं तदर्थमभिग्रहतश्चरति तद्गवेषणाय गच्छतीति निक्षिप्तचरकः। अभिग्रहविशेषात् तथाभिक्षाचरणशीले, औ०।

णिक्खित्तदंड त्रि०(निक्षिप्तदण्ड) निश्चयेन क्षिप्तः परित्यक्तः कायमनोवाङ्मयः प्राण्युपघातकारी दण्डो यैस्ते तथा।

आचा० १ श्रु० ४ अ०३ उ०। निक्षिप्ताः संयमिता मनोवाक्कायरूपाः प्राण्युपमर्दकारिणो दण्डा यैस्ते तथा। त्रिविधेन करणेन परित्यक्तदण्डेषु, आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०।

णिक्खित्तपुव्व त्रि०(निक्षिप्तपूर्व) पूर्वमेवाऽऽत्मकृते निष्पादिते, आचा०२ श्रु०१ चू०२ अ०३उ०।

णिक्खित्तभर त्रि०(निक्षिप्तभर) न्यस्तकुटुम्बाऽऽदिकार्यभरे, पञ्चा० १० विव०।

णिक्खित्तसत्थमुसल त्रि०(निक्षिप्तशस्त्रमुशल) त्यक्तखड्गाऽऽदि-शस्त्रमुशले, भ०७ श०१ उ०।

णिक्खिप्पमाण त्रि०(निक्षिप्यमाण) स्वस्थाने न्यस्यमाने, ''अग्गपिंडं उक्खिप्पमाणं, अग्गपिंडं णिक्खिप्पमाणं।'' आचा०२ श्रु०१ चू०४ अ०५ उ०।

णिक्खिविअव्व त्रि०(निक्षेप्तव्य) मोक्तव्ये, प्रश्न० १ संव० द्वार।

णिक्खिविउं अव्य०(निक्षिप्य) निक्षेपं कारयित्वेत्यर्थे, व्य०१ उ०।

णिक्खुड (देशी) अकम्पे, दे०ना० ४ वर्ग २८ गाथा।

णिक्खुरिअ (देशी) अदृढे, दे०ना० ४ वर्ग ४० गाथा।

णिक्खेव पुं०(निक्षेप) निक्षेपणं निक्षेपः। शास्त्राऽऽदेर्नामस्थापनाऽऽदिभेदेन न्यासनं व्यवस्थापनं निक्षेपः। निक्षिप्यते नामाऽऽदिभेदैर्व्यवस्थाप्यते अनेनास्मिन्नस्मादिति वा निक्षेपः। अनु०। पिं०। यथाभूतार्थनिरपेक्षमभिधानमात्रे, आचा०१ श्रु० २ अ०१ उ०। स्था०। यथासंभवमावश्यकाऽऽदेर्नामाऽऽदिभेदप्ररूपणे, अनु०। उपक्रमाऽऽनीत-व्याचिख्यासितशास्त्रनामाऽऽदिन्यसने, जं०१ वक्ष०।

अथ निक्षेपस्य निरुक्तिमाह–

निक्खिप्पइ तेण तहिं, तओ व निक्खेवणं व निक्खेवो।
नियओ व निच्छिओ वा, खेवो नासो त्ति जं भणियं ॥९१२॥

निक्षिप्यते शास्त्रमध्ययनोद्देशाऽऽदिकं च नामस्थापनाद्रव्याऽऽदि-भेदैर्न्यस्यते व्यवस्थाप्यते अनेन, अस्मिन्, अस्माद्वेति निक्षेपः, गुरुवाग्योगाऽऽदिविवक्षा तथैव। अथवा–निक्षेपणं शास्त्राऽऽदे-र्नामस्थापनाऽऽदिभेदैर्न्यसनं व्यवस्थापनमिति निक्षेपः। निशब्द-क्षेपशब्दयोरर्थमाह– नियतो निश्चितो वा क्षेपः–शास्त्राऽऽदेर्नामा-ऽऽदिन्यास इति निक्षेप इति यदुक्तम्, भवत्ययं परमार्थ इत्यर्थः ॥९१२॥ विशे० आ०म०। उत्त०।

तत्र जघन्यतोऽप्यसौ चतुर्विधो दर्शनीय इति–

नियमार्थमाह–

जत्थ य जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
जत्थ वि अ न जाणेज्जा, चउक्कगं निक्खिवे तत्थ ॥

यत्र जीवाऽऽदिवस्तुनि यं जानीयान्निक्षेपं न्यासं, यत्तदोर्नित्याभिस-म्बन्धात्, तत्र वस्तुनि तं निक्षेपं निक्षिपेद् निरूपयेन्निरवशेषं समग्रम्। यत्राऽपि च न जानीयान्निरवशेषं निक्षेपभेदजालं, तत्रापि नामस्थापना-द्रव्यभावलक्षणं चतुष्कं निक्षिपेत्। इदमुक्तं भवति–यत्र तावन्नामस्थापना-द्रव्यक्षेत्रकालभवभावाऽऽदिलक्षणा भेदा ज्ञायन्ते, तत्र तैः सर्वैरपि वस्तु निक्षिप्यते, यत्र तु सर्वे भेदा न ज्ञायन्ते, तत्राऽपि नामाऽऽदिचतुष्टयेन वस्तु चिन्तनीयमेव, सर्वव्यापकत्वात् तस्य। न हि किमपि तद्वस्त्वस्ति यन्नामाऽऽदिचतुष्टयं व्यभिचरतीतिगाथाऽर्थः। अनु०। आव०। बृ०। आ०चू०। स०। आचा०। विशे०। नं०। आ०म०।

निक्षेप ओघनिष्पन्नाऽऽदिः–

से किं तं णिक्खेवे? णिक्खेवे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा–ओहनिप्पण्णे, नामनिप्पण्णे, सुत्तालावनिप्पण्णे॥

से किं तं णिक्खेवे इत्यादि) निक्षेपः पूर्वोक्तशब्दार्थस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–ओघनिष्पन्न इत्यादि, तत्रौघः सामान्यमध्ययनाऽऽदिकं श्रुताभिधानं, तेन निष्पन्न ओघनिष्पन्नः, नामश्रुतस्य सामायिका-ऽऽदिविशेषं नाम, तेन निष्पन्नो नामनिष्पन्नः। सूत्राऽऽलापकाः–''करेमि भंते! सामाइयं'' इत्यादिकाः, तैर्निष्पन्नः सूत्राऽऽलाप–कनिष्पन्नः।

एतदेव भेदत्रयं विवरीषुराह–

से किं तं ओहनिप्पण्णे? ओहनिप्पण्णे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–अज्झयणे, अक्खीणे, आए, खवणा॥ अनु०।

(एषां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

नामनिष्पन्नः–

से किं तं नामनिप्पण्णे ? नामनिप्पण्णे सामाइए समासओ चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–णामसामाइए, ठवणासामाइए, दव्वसामाइए, भावसामाइए। अनु०।

नामनिष्पन्ननिक्षेपस्तु गुणनिष्पन्ननामकस्यैवेति। सूत्र० १ श्रु०६ अ०।

सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नः–

से किं तं सुत्तालावगनिप्पण्णे? इआणिं सुत्तालावगनिप्पण्णं निक्खेवं इच्छावेइ, से अ पत्तलक्खणो वि ण णिक्खिप्पइ। कम्हा? लाघवत्थं। अत्थि तइए अणुओगदारे अणुगमे त्ति, तत्थ णिक्खित्ते इहं णिक्खित्ते भवइ, इह वा णिक्खित्ते तत्थ णिक्खित्ते भवइ, तम्हा इहं न निक्खिप्पइ, तहिं चेव निक्खिप्पइ, सेत्तं निक्खेवं। अनु०।

(से किं तं सुत्तालावग इत्यादि) अथ कोऽयं सूत्रालापकनिष्पन्नो निक्षेपः–''करेमि भंते! सामाइयं।'' इदानीं सूत्राऽऽलापकानां स्थापनाऽऽदिभेदभिन्नो यो न्यासः, स सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नो, निक्षेप इति शेषः। अनु०। स्था०। आचा०। आव०। आ०म०। विशे०। नि०चू०। सूत्र०। बृ०। आ०चू०। व्य०। (कस्य नयस्य मते को निक्षेप इति निक्षेपनययोजना 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८८६ पृष्ठे उक्ता) (नामाऽऽदिनिक्षेपस्य नयविचारः 'णमोक्कार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८२४ पृष्ठे गतः) (स्थापनानिक्षेपाऽनुपगन्तॄणां लुम्पकानां मतं 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२०६ पृष्ठे खण्डितम्) अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान्। व्य०१ उ०। विन्यासे, विशे०। प्रश्न०। आ०म०। गणनिक्षेपणे, व्य० ४ उ०। मोक्षे, पं०व०४ द्वार। मोचने, ओघ०। परित्यागे, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०१उ०।

णिक्खेवग पुं०(निक्षेपक) भावे णकप्रत्यय निक्षेपणे (वस्त्रनिक्षेपकः 'वत्थ' शब्दे वक्ष्यते)

णिक्खेवण न०(निक्षेपण) निक्षेपे, स्थापने, प्रव० ६ द्वार।

पृथिव्यादौ निक्षिपति–

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पुढवीए णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ ॥३६॥

जे भिक्खू असणं वा०४ संथारए णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ ॥३७॥

गाहा–

पुढवीतणवत्थादिसु, संथारे तह य होइ वेहासे।
जे भिक्खू णिक्खिवती, सो पावति आणमादीणि ॥६६७॥

पुढविगहणतो ओवट्टगादिभेदा दट्ठव्वा। दब्भाऽऽदितणसंथारए वा, वत्थसंथारए वा, कंवलाऽऽदिफलसंथारे वा, वेहासे वा दोरगेण उल्लंवेइ, एवमादिपगाराण अण्णयरेण जो णिक्खिवइ, तस्स चउलहुं, आणादिया य दोसा, संजमाऽऽयविराहणा॥

तं तत्थ संजमे। गाहा–

तक्केंत परंपरओ, पलोट्ट छिण्णे व भेद कायवहो।
अहिमूसलालविच्छुय–संचयदोसा पसंगो वा ॥६६८॥

सुण्णे भत्तपाणे चउरिंदिया घरकोइला तकेंति, तं पि मज्जारी, एवं तक्केंतपरंपरो दुप्पत्तं वाताऽऽदिवसेण वा पलोट्टेति छक्कायविराहणा, आयपरिहाणी, वेहासट्ठितं मूसगादिछिण्णे भायणभेदो, छक्कायवहो, आयपरिहाणी य। एसा संजमविराहणा। इमा आय–विराहणा–अहिस्स, मूसगादिस्स वा सिंघमाणस्स लाला पडेज्जा, णीससंतो वा विसं वा मुंचेज्ज, विच्छुगाइ वा पडेज्ज, जे वा संणिहि–संचए दोसा, तत्थ वि णिक्खित्ते ते चेव दोसा, पसंगओ संनिहिं पट्ठवेज्जा। किं च–जो भत्तपाणं णिक्खिवइ।

गाहा–

सो समणसुविहियाणं, कप्पातो अववितो त्ति णायव्वा।
दसरायम्मि य पुण्णे, जो उवहि सो उवहतो होति ॥६६९॥

समणकप्पो तम्मि अवविओ अपगतः, समणकप्पातो वा अवगओ, एवं णिक्खिवंतस्स दस राते गते जम्मि पाते तं भत्तादि णिक्खिवइ, तं उवहतं होइ, जो य उवहिणिक्खित्तो अत्थइ, दसराइं अपडिलेहिओ, सो वि उवहतो भवति।

गाहा–

उव्वद्धपीढफलतं–तुसंगतं ठवितभत्तपाणं तु।
सुविहितकप्पा चवितं, सेयत्थि विवज्जए साहू ॥६७०॥

संथारगाऽऽदियाणं बंधे जो पक्खस्स ण मुंचइ सोउब्बद्धो, णिक्खित्तभत्तपाणो य जो सो सुविहितकप्पातो अवगतो, जो सेयत्थी साधू, तेण वज्जेयव्वो, ण तेण सह संभोगो कायव्वो।

इमो अववाओ। गाहा–

वितियपदं गेलण्णे, रोहग अद्धाण उत्तिमट्ठो वा।
एतेहिँ कारणेहिं, जयणाए णिक्खिवे भिक्खू ॥६७१॥

गिलाणकज्जवावडो णिक्खिवति, रोहगे वा संकडवसहीए वेहासे करेति, अद्धाणे वा सागारिए भुंजमाणो उत्तिमट्ठं पवण्णस्स वा करणिज्जं करें तो णिक्खिवति।

एवमादिकारणेहिं णिक्खिवंतो इमाए जयणाए णिक्खिवति। गाहा–

दूरगमणे णिसिं वा, वेहासणे इहरहा तु संथारे।
भूमीए ठवेज्ज व णं, घणबंध अभिक्ख उवओगो ॥६७२॥

दूरं गंतुकामो णिसिं वा जं परिवासिज्जति, तं वेहासे दोरगेण णिक्खिवति (इहरहेति) आसण्णे गंतुकामो आसण्णे वा किंचि लोयमादी काउंकामो तत्थ संथारे भूमीए वा ठवेइ। वकारो विगप्पे, णकारो पादपूरणे, तं पि ठवेंतो घणं चीरेण बंधइ, पिपीलिगभया छगणादीहिं वा लिंपइ, अभिक्खणं च उवओगं करेति।

जे भिक्खू असणं वा०४ उवहासे णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ ॥ नि०चू० १६ उ०।

(उपहासेऽशनाऽऽदिनिक्षेपे प्रायश्चित्तं 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७७ पृष्ठे गतम्)

णिक्खेवणा स्त्री०(निक्षेपणा) दलिकनिक्षेपे, क०प्र० ४–५ प्रक०। प्रक०। ('उव्वट्टणा' शब्दे द्वि०भा० १११० पृष्ठे 'अववट्टणा' शब्दे प्र०भा० ७६६ पृष्ठे च व्याख्यातेयम्)

णिक्खेवणाहिगरण न०(निक्षेपणाधिकरण) प्रतिलेखनाप्रमार्जनाऽऽद्यकरणेनोत्पन्नेऽधिकरणे, नि०चू०४ उ०।

णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगम पुं०(निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम) निक्षेपो नामस्थापनाऽऽदिभेदभिन्नः, तद्विषया या निर्युक्तिः निक्षेपनिर्युक्तिः तस्या वाऽनुगमो निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः। निर्युक्त्यनुगमभेदे, (अनु०)

से किं तं णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगमेए णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगमे अणुगए। सेत्तं णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगमे।

अत्रैव प्रागावश्यकसामायिकाऽऽदिपदानां नामस्थापनाऽऽदिनिक्षेपद्वारेण यद् व्याख्यानं कृतं, तेन निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतः प्रोक्तो द्रष्टव्यः। अनु०।

णिक्खेवय पुं०(निक्षेपक) निक्षेपणं निक्षेपकः। "नाम्नि पुंस च" ॥५।३।१२१॥ इति। (हैम०) भावे णकप्रत्ययः। प्रथमं स्वार्थं निक्षिप्य पश्चात् साधूनामनुज्ञाने, बृ०१ उ०। निगमने, यथा–"एवं खलु जंबू! समणेणं० जाव उवासगदसाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।" उपा०१ अ०।

णिक्खोभ त्रि०(निक्षोभ) निष्प्रकम्पे, दर्श०४ तत्त्व। वादिना क्षोभयितुमशक्ये, स०२ अङ्ग।

णिखव्व न०(निखर्व) शतगुणिते खर्वे, कल्प० ७ क्षण।

णिखिल न०(निखिल) समग्रे, अनु०।

णिग्गच्छमाण त्रि०(निर्गच्छत्) बहिर्गच्छति, नि०चू० ६ उ०।

णिगिज्झिय अव्य०(निगृह्य) निग्रहं कारयित्वेत्यर्थे, "पाए णिगिज्झिय पप्फोडेमाणे।" स्था०७ ठा०।

णिगढ (देशी) धर्मे, दे०ना० ४ वर्ग २७ गाथा।

णिगम पुं०(निगम) प्रभूततरवणिग्वर्णवासे, आचा० १ श्रु० ८ अ०६ उ०। स्था०। अनु०। उत्त०। सूत्र०। प्रश्न०। व्य०। प्रज्ञा०। वणिग्जनप्रधाने स्थाने, भ०१ श०१ उ०। जी०। प्रश्न०। वणिग्जनाधिष्ठिते सन्निवेशे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। प्रज्ञा०। पौरवणिगविशेषे, बृ०३ उ०। वाणिजकसमूहे, स०

३० सम०। आचा०। दश०। दशा०। वणिजि, भ०७ श० ६ उ०। ''णिगमो णेगमवग्गो वसइ जहिं।'' निगमं नाम यत्र नैगमा वाणि–जकविशेषाः, तेषां वर्गः समूहो वसति। अत एव निगमे भवा नैगमा इति व्यपदिश्यन्ते। बृ० १ उ०। आव०। स्था०। कारणिके, भ०७ श० ६ उ०। नि०चू०। सामान्यविशेषाऽऽत्मकस्य वस्तुनो नैकेन प्रकारेणावगमः परिच्छेदो निगमः। सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। आ०म०। निश्चितार्थबोधे, स्था०३ ठा०३ उ०। ''लोगत्थनिबोहा वा णिगमा'' (२१८७) लोकार्थनिबोधाः अर्था जीवाऽऽदयः, तेषु नितरामनेकप्रकारा बोधा लोकस्यार्थनिबोधा लोकार्थनिबोधाः। विशे०। विचित्रेष्वभिग्रहविशेषेषु, रा०।

णिगमण न०(निगमन) निश्चितं गमनं निगमनम्। निश्चितेऽवसाये, तच्चानुमानस्य दशमोऽवयवः। दश०१ अ०। आ०क०। निगमनं लक्षयन्ति–

साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम् ॥५१॥
साध्यधर्मिण्युपसंहरणमिति योगः।
यथा तस्मादग्निरत्र ॥५२॥ रत्ना० ३ परि०।

निगमनाऽऽभासमुदाहरन्ति–

तस्मिन्नेव प्रयोगे तस्मात्कृतकः शब्द इति तस्मात्परिणामी कुम्भ इति च ॥८२॥

अत्रापि साधनधर्मं साध्यधर्मिणि, साध्यधर्मं वा दृष्टान्तधर्मिण्युपसंहरतो निगमनाऽऽभासः। एवं पक्षशुद्ध्याद्यवयवपञ्चकस्य भ्रान्त्या वैपरीत्यप्रयोगे तदाभासपञ्चकमपि तर्कणीयम् ॥८२॥ रत्ना० ६ परि०। विशे०।

णिगर पुं०(निकर) राशिमात्रे, विपा०१ श्रु०६ अ०। ज्ञा०। वृन्दे, दलनिकरो दलवृन्दम्। ज्ञा०१ श्रु०६ अ०। हिरण्यद्रव्याऽऽदिनिकरवन्निकरः। भावस्कन्धे, अनु०।

णिगलिय त्रि०(निगरित) जं०२ वक्ष०। सर्वथा शोधिते सारीकृते, तं०।

णिगाम न०(निकाम) अत्यर्थे, स्था०५ ठा०२ उ०। आव०।

णियामपडिसेविणी स्त्री०(निकामप्रतिसेविनी) निकाममत्यर्थं बीजपातं यावत् पुरुषं प्रतिसेवते इत्येवं शीला निकामप्रतिसेविनी। बीजपातं यावन्मैथुनकर्मकारिकायाम्, सा च पुरुषसंयुक्ताऽपि गर्भं नो धरते। स्था०५ ठा०२ उ०।

णिगामसज्जा स्त्री०(निकामशय्या) शयनं शय्या, निकामं शय्या निकामशय्या। प्रतिदिवसं प्रकामशय्यायाम्, ध०३ अधि०। आव०।

णिगामभोयण न०(निकामभोजन) ''बत्तीसाइपरेणं, पगाम निच्चं तमेव उ निगामं।'' प्रमाणातीतमाहारं प्रतिदिवसमश्नतो भोजने, पिं०।

णिगामसाइ(ण्) पुं०(निकामशायिन्) सूत्रार्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयाने, ''..... णिगामसाइस्स। उच्छोलणापहोअस्स दुल्ला सुगइ तारिसगस्स'' ॥२६॥ दश० ४ अ०।

णिगास पुं०(निकर्ष) सन्निकर्षे, पुलाकाऽऽदिना परस्परेण संयोजने, भ० २५ श०७ उ०।

णिगिज्झ अव्य०(निगृह्य) स्थित्वेत्यर्थे, कल्प० ६ क्षण। व्य०। स्था०।

णिगुंज पुं०(निकुञ्ज) निःशेषेण को जायते जन–डु–पृ०। लता–ऽऽदिपिहितस्थले, वाच०। ओघ०। ''एगम्मि वणनिगुंजे ठविऊण पंथे आगतो।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड।

णिगूढ त्रि०(निगूढ) गुप्ते, मौनिनि च। व्य०७ उ०। कल्प०।

णिगूढजाणु त्रि०(निगूढजानु) गुप्तजानौ, कल्प०२ क्षण।

णिगूहिय त्रि०(निगूहित) गोपिते, आ०म० २अ०। आचा०।

णिगोय पुं०(निगोद) अनन्तकायिके, प्रव० २५५ द्वार। सूक्ष्मबादरा निगोदाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च एकस्मिन्निगोदेऽनन्ताजीवाः, अत्र निगोदः कः? जीवाश्च के? इति प्रश्ने, उत्तरम्–निगोद–शब्देनैकं शरीरं वनस्पतिरूपं साधारणमनन्तजीवजनितमुच्यते, तच्च चानन्ता जीवास्तिष्ठन्ति, अत एव अनन्तकायिका जीवाः साधारणा उच्यन्ते। ६ प्र०। ही०३ प्रका०।

सम्प्रति यथैकस्मिन् निगोदशरीरे अनन्ता जीवाः प–
रिणताः प्रतीतिपथमवतरन्ति, तथा प्रतिपाद–
यन्नाह–

जह अयगोलो धंतो, जाओ तत्ततधणिज्जसंकासो।
सव्वो अगणिपरिणओ, णिओयजीवे तहा जाण ॥१६॥
एगस्स दोण्ह तिण्ह व, संखेज्जाणं व पासिउं सक्का।
दीसंति सरीराइं, णिओयजीवाणऽणंताणं ॥२०॥

''जह अयगोलो'' इत्यादि। यथाऽयोगोलोध्मातः सन् स तप्–तपनीयसङ्काशः सर्वोऽग्निपरिणतो भवति, तथा निगोदजीवान् जानीहि। निगोदरूपेऽप्येकैकस्मिन् शरीरे तच्छरीराऽऽत्मकतया अनन्तान् जीवान् जानीहि ॥१६॥ एवं च सति (एगस्सेत्यादि) एकस्य द्वयोस्त्रयाणां यावत्सङ्ख्येयानां, वाशब्दादसङ्ख्येयानां वा निगोदजीवानां शरीराणि द्रष्टुं न शक्यानि। कुतः? इति चेदुच्यते–अभावात्। न ह्येकाऽऽदि–जीवगृहीतानि अनन्तवनस्पतिशरीराणि सन्ति, अनन्तजीवपिण्डाऽऽत्मकत्वात्तेषाम्, कथं तर्ह्युपलभ्यानीत्यत आह–(दीसंतीत्यादि) दृश्यन्ते शरीराणि निगोदजीवानां बादरनिगोदजीवानां अनन्तानाम्। ननु सूक्ष्मनिगोदजीवानां तेषां शरीराणामनन्तजीवसङ्घाताऽऽत्मकत्वेऽप्यनुपलभ्यस्वभावत्वात्, तथा सूक्ष्मपरिणामपरिणतत्वात्, अथ कथमेतदवसीयते? निगोदरूपं शरीरं नियमादनन्तजीवपरिणामाविर्भावितं भवतीति? उच्यते, जिनवचनात्। तच्चेदम्–''गोला य असंखेज्जा, होंति निगोया असंखया गोले। एक्केक्को य निगोओ, अणंतजीवो मुणेयव्वो ॥१॥'' प्रज्ञा० १ पद।

निगोदभेदान् पृच्छति–

कतिपिहे णं भंते ! णिओया पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–णिओया य, णिओदजीवा य। निओया णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा सुहुमणिओया य, बादरनिओया य। सुहुमनिओया णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य। बायरनिओया वि दुविहा पण्णत्ता। तं जहा पज्जत्तग य , अपज्जत्तगा य। निओदजीवा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहासुहुमनिओदजीवा य, बायरनिओदजीवा य। सुहुमनिगोदजीवा दुविहा पण्णत्ता। तं

जहा–पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । बायरनिगोदजीवा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य ।

''णिओया णं भंते !'' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह– गौतम ! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा–सूक्ष्मनिगोदाश्च, बादरनिगोदाश्च । तत्र सूक्ष्मनिगोदाः सर्वलोकाऽऽपन्नाः सर्वलोकाऽऽपन्नाः, बादरनिगोदाः मूलकन्दाऽऽदयः । (सुहुमनिओया णमित्यादि) सूक्ष्मनिगोदा भदन्त ! कतिविधाः प्रज्ञप्ताः ? भगवानाह– गौतम ! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा– पर्याप्तकाः, अपर्याप्तकाश्च । एवं बादर–निगोदविषयमपि सूत्रं वक्तव्यम् ।

संप्रति सामान्यतो निगोदसंख्यां जिज्ञासिषुः

पृच्छति–

निओदा णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता? गोयमा ! नो संखेज्जा, असंखेज्जा, नो अणंता । एवं पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि । सुहुमनिओदा णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता? गोयमा ! नो संखेज्जा, असंखेज्जा, नो अणंता । एवं पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि, एवं बायरा वि पज्जत्तगा वि अपज्जत्तगा वि, नो संखेज्जा, असंखेज्जा, नो अणंता। निओयजीवा णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता? गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता । एवं पज्जत्ता वि, अपज्जत्ता वि । एवं सुहुमनिओयजीवा वि पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि । बादरनिओयजीवा वि पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि ।

''निओया णं'' इत्यादि । निगोदा जीवाऽऽश्रयविशेषाः । भदन्त ! द्रव्यार्थतया द्रव्यरूपतया किं संख्येया असंख्येया अनन्ताः ? भगवानाह– गौतम ! नो संख्येयाः, अङ्गुलासंख्येयभागवगाहनानां तेषां सर्वलोकाऽऽपन्नत्वात्, किं त्वसंख्येयाः, असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । नाप्यनन्ताः, तथा केवलवेदसाऽनुपलम्भात् । एवमपर्याप्तसामान्यनिगोदसूत्रं पर्याप्तसामान्यनिगोद–सूत्रं भावनीयम् । यथा च सामान्यनिगोदविषयसूत्रत्रयमुक्तमेवं सूक्ष्मनिगोदविषयमपि सूत्रत्रयं बादरनिगोदविषयमपि सूत्रत्रयं पृथक् वक्तव्यम् । भावना च पूर्वानुसारेण स्वयं विधेया । तदेवं द्रव्यार्थताविषयाणि नव सूत्राण्युक्तानि ।

संप्रति प्रदेशार्थताविषयाणि नव सूत्राणि विवक्षुः

प्रथमतः सामान्यतो निगोदविषयं सूत्रमाह–

निओदा णं भंते ! पदेसट्ठयाए किं संखेज्जा पुच्छा ? गोयमा ! णां संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता । एवं पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि । एवं सुहुमनिओया वि पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि, पएसट्ठयाए सव्वे अणंता । एवं बायरनिओया वि पज्जत्तया वि, अपज्जत्तया वि, पएसट्ठयाए सव्वे अणंता । एवं निओदजीवा वि सत्तविहा पएसट्ठयाए सव्वे अणंता ।

''निओदा णं भंते ! पएसट्ठयाए'' इत्यादि । निगोदा उक्तस्वरूपाः, णमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! प्रदेशार्थतया प्रदेशरूपतया चिन्त्यमाना किं संख्येया असंख्येया अनन्ता वा? भगवानाह– गौतम ! नो संख्येया नो असंख्येयाः, किन्तु अनन्ताः, एकैकस्मिन् निगोदे प्रदेशानामनन्तत्वात् । एवं शेषाण्यष्टौ सूत्राणि पूर्वक्रमेण भावनीयानि ।

सम्प्रत्येतेषामेव सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनिगोदानां द्रव्यार्थ–

प्रदेशार्थोभयार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमाह–

एतेसि णं भंते ! निओयाणं सुहुमाणं बायराणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे० २ जाव विसेसाहिया वा? गोयमा ! सव्वत्थोवा बायरनिओया पज्जत्तगा दव्वट्ठयाए, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओया अपज्जत्तगा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओदा पज्जत्तगा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा । एवं पदेसट्ठयाए वि । दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवा बादरनिओया पज्जत्तया दव्वट्ठयाए०जाव सुहुमनिओदा पज्जत्तया दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओएहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बादरनिगोदा पज्जत्ता पएसट्ठयाए अणंतगुणा, बायरणिओदा अपज्जत्तगा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा०जाव सुहुमनिओया पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा । एवं निओयजीवा वि, णवरिं संकमए० जाव सुहुमनिओयजीवेहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बायरनिओया जीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सेसं तहेव० जाव सुहुमनिओयजीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा ।

''एतेसि णं भंते ! निगोदा णं'' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह– गौतम ! सर्वस्तोका बादरनिगोदा मूलकन्दाऽऽदिगताः पर्याप्तका द्रव्यार्थतया, प्रतिनियतक्षेत्रवर्तित्वात्, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, एकैकपर्याप्तबादरनिगोदनिश्रया असंख्येयानामपर्याप्तानां बादरनिगोदानामुत्पादात्, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्तका द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, सकललोकाऽऽपन्नतया क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात्, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वोघतोऽपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानां संख्येयगुणत्वात् । (पएसट्ठयाए इति) अत ऊर्द्धं प्रदेशार्थतया चिन्ता क्रियते, तामेव करोतिसर्वस्तोकाः बादरनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया, द्रव्याणां स्तोकत्वात् । तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, द्रव्याणामसंख्येयगुणत्वात् । एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया संख्येयगुणाः । (दव्वट्ठपएसट्ठयाए इति) अधुना द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया चिन्ता क्रियते– सर्वस्तोका बादरनिगोदाः पर्याप्ताः द्रव्यार्थतया, बादरनिगोदा अपर्याप्ताः द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः । अत्र सर्वत्राऽपि युक्तिः प्राक्तन्येव। तेभ्यो बादरा निगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणाः, एकैक–निगोदस्यानन्ताणुकानन्तस्कन्धनिष्पन्नत्वात् । तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असं–

ख्येयगुणाः, द्रव्याणामसंख्येयगुणत्वात्। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः युक्तिः प्राक्तन्येव। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, द्रव्याणां संख्येगुणत्वात्। तदेवमुक्ता निगोदाः। अधुना निगोदजीवानिधिकृत्य भेदप्रश्नमाह–('एवं निओयजीवा वि' इत्यारभ्य 'पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा' इति यावद् मूले संक्षिप्तमुक्तमिति विभावनीयं सुधीभिः।)''निगोयजीवा णं भंते !'' इत्यादि सुगमम्। भगवानाह– गौतम ! निगोदजीवा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा– सूक्ष्मनिगोदा बादरनिगोदजीवाश्च। चशब्दौ निगोदजीवतया तुल्यता-सूचकौ। एवमन्यत्राऽपि यथायोगं भावनीयौ। ''सुहुमनिगोयजीवा णं भंते !'' इत्यादि पर्याप्तापर्याप्तविषयं सूत्रं त्विदं पाठसिद्धम्। सम्प्रति द्रव्यार्थतया संख्यां पिपृच्छिषुराह–''सुहुमनिगोयजीवा णं भंते ! दव्वट्ठयाए'' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह–गौतम ! नो संख्येया नाप्यसंख्येयाः, किं त्वनन्ताः; प्रतिनिगोदमनन्तानां निगोदजीव-द्रव्याणां भावात्। एवमपर्याप्तसूत्रं वक्तव्यम्। तदेवं सामान्यतो निगोद–द्रव्यविषयं सूत्रकमुक्तम्। एवं सूक्ष्मनिगोदजीवविषयं सूत्रत्रिकं, बादरनिगोदजीवविषयं सूत्रत्रिकं वक्तव्यम्। सर्वसंख्यया नव सूत्राणि। एवमेव प्रदेशार्थताविषयाण्यपि नव सूत्राणि, नानात्वाभावात्। भावना सर्वत्रापि सुप्रतीता। ये किल द्रव्यार्थतयाऽनन्तास्ते प्रदेशार्थतया सुतरामनन्ताः, प्रतिद्रव्यम संख्यातानां प्रदेशानां भावात्। सर्वसंख्यया चामून्यष्टादश सूत्राणि। साम्प्रतमेतेषामेव सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनि-गोदजीवानां द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमाह– ''एएसि णं'' इत्यादि। सर्वस्तोका बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, निगोदानां स्तोकत्वात्, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, निगोदानामसंख्येयगुणत्वात्। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्तका द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणः। कारणं पूर्ववदूह्यम्। प्रदेशार्थतया सर्वस्तोका बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ताः, प्रदेशार्थतया द्रव्याणां स्तोकत्वात्; तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, द्रव्याणामसंख्येयगुणत्वात्। एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता प्रदेशार्थतया, द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया सर्वस्तोकाः, बादरनि–गोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थ-तया संख्येयगुणाः, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, प्रतिबादरनिगोदपर्याप्तजीवमसंख्येयानां प्रदेशानां भावात्, तेभ्यः सूक्ष्मबादरनिगोदजीवाश्च पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदापर्याप्तेभ्यो बादरनिगोदपर्याप्तानाम-संख्यातगुणत्वात्। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्तकाः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया संख्येयगुणाः। भावना प्रागिव।

सम्प्रति सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनिगोदजीवानां द्रव्यार्थप्रदेशार्थो–भयार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमाह–

एतेसि णं भंते ! सुहुमाणं निगोदाणं बायराणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं निओयजीवाणं सुहुमाणं वायराणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे २० जाव विसेसाहिया वा? गोयमा ! सव्वत्थोवा बायरनि–ओया पज्जत्ता दव्वट्ठयाए, बायरनिओदा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिगोदा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखे–ज्जगुणा, सुहुमनिओदा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहु–मनिओएहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बायरनिओदजीवा पज्जत्ता अणंतगुणा, बायरनिओदजीवा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्ज-गुणा, सुहुमनिओयजीवा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओयजीवा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, पएसट्ठयाए, सव्वत्थोवा, वायरनिओदजीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए, बायरनिओ-दजीवा अपज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओयजीवा अपज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओदजीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओदजीवेहिंतो पज्जत्तएहिंतो बायरनिओया पज्जत्ता पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, बायरनिओया अपज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा०जाव सुहुमनिओया पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा, बायरनि-ओया पज्जत्ता दव्वट्ठयाए, बायरनिओदा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा०जाव निगोदा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओएहिंतो पज्जत्तएहिंतो बायरनिओदजीवा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, सेसा तहेव०जाव सुहुमनिओदजीवा पज्जत्तगा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओयजीवेहिंतो पज्जत्तए-हिंतो दव्वट्ठयाए बायरनिओयजीवा पज्जत्ता, पएसट्ठयाए असंखे-ज्जगुणा, सेसं तहेव०जाव सुहुमनिओया पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा।

'एएसि णं' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह–गौतम ! सर्वस्तोका बादरनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽ-संख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाःपर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः। अत्र सर्वत्रापि युक्तिः प्रागुक्तैव। सूक्ष्मनिगोदेभ्यः द्रव्यार्थतया बादरनि-गोदजीवाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तानां जीवानां भावात्, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः, द्रव्यार्थतया असंख्येय-गुणाः, निगोदानामसंख्यातगुणत्वात्। एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः, प्रदेशार्थतया सर्वस्तोकाः, बादरनिगोदजीवाः पर्याप्तकाः प्रदेशार्थतया, निगोदानां स्तोकत्वात्। तेभ्यो बादरनिगोद-जीवाः अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, निगोदानामसंख्येय-गुणत्वात्। एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगु–

णाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया संख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवेभ्यः पर्याप्तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणाः, एकैकस्य निगोदस्य अनन्ताणुकानन्तस्कन्धनिष्ठाऽऽपन्नत्वात्। तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, एकैकबादरपर्याप्तनिगोदनिश्रया संख्यातीतानां बादरापर्याप्तनिगोदानामुत्पादात्। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्यातगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया संख्येयगुणाः, द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया सर्वस्तोकाः, बादरनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः। अत्र युक्तिर्निगोदानां द्रव्यार्थतया चिन्तायामिव। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदभ्यः पर्याप्तेभ्यो बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया अनन्तगुणाः, प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्। तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असंख्येयगुणाः तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः। अत्र युक्तिर्निगोदजीवानां द्रव्यार्थतया चिन्तायामिवा तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवेभ्यः पर्याप्तेभ्यो द्रव्यार्थतया चिन्तितेभ्यो बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, प्रतिबादरनिगोदपर्याप्तजीवमसंख्येयानां लोकाऽऽकाशप्रमाणानां प्रदेशानां भावात्। तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया संख्येयगुणाः। युक्तिरत्र निगोदजीवानां प्रदेशार्थतया संख्येयगुणचिन्तायामिव। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवेभ्यः पर्याप्तेभ्यः प्रदेशार्थतया चिन्तितेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणाः। एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तानामणूनां सद्भावात्। तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया संख्येयगुणाः। अत्र युक्तिर्निगोदानां प्रदेशार्थतया चिन्तायामिव। जी०६ प्रति०। सांव्यवहारिकाः के प्रतिपाद्यन्ते, किं निगोदावस्थात उद्वृताः, उत सूक्ष्मनिगोदेभ्य उद्वृताः, उत सूक्ष्ममात्रोद्वृताः? इति प्रश्ने, उत्तरम्–प्रज्ञापनावृत्तौ निगोदादुद्वृता इति सामान्यं वचो न विशेषबाधां कर्तुं समर्थं स्यात्। सूक्ष्ममात्राणां निगोद इति संज्ञा नाऽस्ति, निगोद इति नाम वनस्पतौ रूढम्, तथा सूत्रेऽपि तथैव दृश्यते, सूक्ष्मनिगोदेभ्य उद्वृताः, अत एव सांव्यवहारिका इति। श्रुतिपरम्परयाऽपि बहुश्रुतानामयं प्रघोषः। यतः–''सर्वे जीवा व्यवहार्यव्यवहारितया द्विधा। निगोदा व्यवहार्यास्ते, चान्येऽपि व्यवहारिणः'' ॥१॥ इति योगशास्त्रवृत्तौ इति। १३७प्र०। सेन०१ उल्ला०। अनादिनिगोदमध्ये यथा भव्यस्य ज्ञानदर्शनचारित्राणां सत्ता, तथा अभव्यस्य भवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–अभव्यस्य ज्ञानाऽऽदिसत्ता भवति, परमभव्यतया सामग्रीसद्भावेन प्रकटीभवति, भव्यस्य तु तद्योगेऽस्याप्रकटीस्यादिति। १२८प्र०। सेन०२ उल्ला०। आवलिकायुःप्रमाणं सूक्ष्मबादरनिगोदयोरुभयोः, किं वाऽऽद्यस्यैत्रेति प्रश्ने, उत्तरम्–सूक्ष्मनिगोदस्य क्षुल्लकभवग्रहणरूपमेवान्तर्मुहूर्त्तमायुर्भवति। बादरनिगोदस्य तु क्षुल्लकभवग्रहणरूपं किञ्चिन्न्यूनमन्तर्मुहूर्त्तरूपं भवति, सामान्येन तूभयोरप्यन्तर्मुहूर्त्तमुच्यत इति १५५ प्र०। सेन०३ उल्ला०। सूक्ष्मनिगोदान्निर्गतो जीवः पुनः सूक्ष्मनिगोदमध्ये याति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम् सूक्ष्मनिगोदान्निर्गतो जीवः पुनरपि सूक्ष्मनिगोदे यातीति। २७३प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

णिगोदजीव पुं०(निगोदजीव) साधारणनामकर्मोदयवर्तिनि जीवे, भ० २५ श०६उ०। नारकजीवेभ्यो निगोदजीवानां दुःखमधिकं, निगोदजीवेभ्यो वा नारकजीवानाम्? इति प्रश्ने, उत्तरम्–निश्चयतो नारकजीवेभ्यो निगोदजीवानां जन्ममरणाऽऽद्येकशरीरानन्तजीवावस्थानाऽऽदिरूपं महद् दुःखं, परं तन्मत्तमूर्च्छिताऽऽदीनामिव नातिदुस्सहम्। व्यवहारतस्तु निगोदजीवेभ्यो नारकजीवानां परमाधार्मिककृतवेदनाऽऽदिरूपं दुःखं प्रति किं साम्यं, हीनाधिकत्वं वा? इति प्रश्ने, उत्तरम् –तेषां व्यवहारेण समानं दुःखमवसीयते, निश्चयस्तु केवलिगम्य इति। ३४३। ३४४। प्र०। अनादिनिगोदजीवाः किं जनितबहुकर्मवशेन तत्र तिष्ठन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–प्रवाहापेक्षया अनादिकर्मसंबन्धेन तत्र तिष्ठन्तीति। ३४५ प्र०। केचन निगोदजीवा लघुकर्मीभूय व्यवहारराशौ समायान्ति, तेषां तत्र लघुकर्म्मीभवने किं कारणमिति प्रश्ने, उत्तरम्–भव्यत्वपरिपाकाऽऽदिकं तेषां लघुकर्मीभवने कारणमिति ३४६प्र०। सेन०३ उल्ला०। मांसमध्ये निगोदजीवा उत्पद्यमानाः कथिताः सन्ति। तथाहि–''आमासु अ पक्कासु अ, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु। उप्पज्जंति अणंता, तव्वण्णा तत्थ जंतूओ''॥१॥ एतद्गाथायां योगशास्त्रतृतीयप्रकाशमध्ये कथितमस्ति, यन्निगोदशब्देन शरीरं कथ्यतेऽतो मांसमध्ये शरीरिणोऽनन्ता जीवा उत्पद्यन्ते, तच्छरीराणिकानि? मांसमेव शरीरतया परिणमति,तद्रूपाणि किं वाऽसंख्यातानि शरीराणि उत्पद्यन्ते तानि, तेषामप्यनन्तशरीरिणामाबाधोत्पद्यते? न वा? इति प्रश्ने–उत्तरम्–मांसमध्ये रसजद्वी-न्द्रियजीवा अनेके उत्पद्यमानाः संभाव्यन्ते, तथा ''आमासु अ पक्कासु अ,''एतद्गाथायां ये निगोदजीवा उत्पद्यमानाः कथिताः सन्ति, तत्र निगोदशब्देन सूक्ष्मजीवा एव अर्थः परम्परया कथ्यमानोऽस्ति, परं साधारणवनस्पतिवदनन्तजीवाऽऽश्रय एकशरीरनिगोद एवं–विधोऽर्थः कथ्यमानो नास्ति। यद्यः प्रतिक्रमणसूत्रवृत्तौ मांसमध्ये तद्वर्णा अनेके जीवा उत्पद्यमानाः कथिताः सन्ति, परमनन्ता असंख्याता न कथिताः सन्ति, तस्मादनन्ता असंख्याता यत्र कथिताः सन्ति, परं तत्रानन्ताऽसंख्यातशब्देन बहव इत्यर्थो ज्ञेयः, एवं परम्पराऽस्ति। तानि च जीवशरीराणि मांसपुद्गलतयाऽन्यपुद्गलतया च मिश्रितानि उत्पद्यमानानि संभाव्यन्ते, तथा तक्राऽऽरनालाऽऽदिषु द्वीन्द्रियजीवा उत्पद्यमानाः कथिताः सन्ति, तद्वत्तेषामपि मांसजीवानामाबाधोत्पद्यते इति संभाव्यते,परमेकशरीरस्थानन्तजीववन्नोद्यन्ते इति ज्ञातं नास्तीति।४४प्र०।सेन० ४ उल्ला०।

णिग्गंथ पुं०(निर्ग्रन्थ) निर्गता ग्रन्था द्रव्यतः सुवर्णाऽऽदिरूपाद् भावतो मिथ्यात्वाऽऽदिलक्षणादिति निर्ग्रन्थः। व्य०३ उ०। स्था०। सूत्र०। निर्गतो बाह्याभ्यन्तरो ग्रन्थो यस्मात्स निर्ग्रन्थः। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। बाह्याभ्यन्तरग्रन्थिरहिते, दश० ६ अ०। जैनसाधौ, दश०३ अ०। स०। स्था०। (व्याख्या

'दिसा' शब्दे द्रष्टव्या) ''णिग्गंथा जिणसासणभवा।'' निर्ग्रन्थास्ते भण्यन्ते, ये जिनशासनभवाः प्रतिपन्नपारमेश्वरप्रवचनमुनयः। प्रव० ६४ द्वार। पञ्चविधाः श्रमणाः, तत्र निर्ग्रन्था जैनसाधवः। आचा० २ श्रु० १ चू० १अ० १ उ०। सूत्र०। स्था०। आ०क०। ज्ञा०। प्रश्न०। आ०चू०। नं०।

(१) निर्ग्रन्थशब्दव्याख्या–

सहिरन्नगा सगंथा, अहिरन्नसुवण्णगा समणा।

सहिरण्यकः सग्रन्थ उच्यते। अत्र हिरण्यग्रहणं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहोपलक्षणं, ततो यः सपरिग्रहः स सग्रन्थः। श्रमणाः पुनरहिरण्यसुवर्णकाः अतो निर्ग्रन्थाः। हिरण्यं रूप्यं, सुवर्णं कनकम्। बृ०१ उ०। (ग्रन्थनिक्षेपो 'गंथ' शब्दे तृ०भा० ७६३ पृष्ठे उक्तः)

प्रस्तुतयोजनामाह–

सावज्जेण विमुक्का, अब्भिंतरबाहिरेण गंथेण।
निग्गहपरमा य वि हु, तेणेवं हों ति निग्गंथा॥

सावद्यः सपापः कर्मोपादाननिबन्धनत्वाद्यो ग्रन्थः, तेन साभ्यन्तरबाह्येन ये मुक्तास्ते निर्ग्रन्था उच्यन्ते। येऽपि चान्तरं ग्रन्थेन न सर्वथा मुक्तास्तेऽपि, ये न विद्वांसः क्रोधाऽऽदिदोषवेदिनः, तथा निग्रहपरमाः, तन्निर्जयप्रधानाः, तेनैवं कारणेन ते निर्ग्रन्था भवन्ति।

(२) अथाऽऽन्तरं ग्रन्थमधिकृत्य ये मुक्ताः, ये चामुक्ताः, तदेत–

दभिधित्सुराह–

केई सव्वविमुक्का, कोहाईएहिँ केइ भइयव्वा।
सेढिदुगं विरचित्ता, जाणसु जो निग्गओ जत्तो॥

क्रोधाऽऽदिभिरन्तरग्रन्थैः केचित्सर्वविमुक्ताः सर्वैरपि विप्रमुक्ताः, केचित्पुनर्भक्तव्या विकल्पनीयाः–कैश्चिद् मुक्ताः, कैश्चिदपि न मुक्ता इत्यभिप्रायः। अत्र शिष्यः प्राऽऽह–कथं नु नामेदं ज्ञास्यते? अमी सर्वथा मुक्ताः, अमी च न मुक्ता इत्युच्यते–श्रेणिद्विकमुपशमश्रेणि–क्षपकश्रेणिलक्षणं, विरचय्य यथोक्तपरिपाट्या स्थापयित्वा ततो जानीहि यो यतः क्रोधाऽऽदेर्निर्गतः, अनिर्गतो वेति। बृ०१ उ० भ०। उत्त०। सूत्र०। (श्रेणिद्वयप्ररूपणा 'खवगसेढि' शब्दे तृ०भा० ७२७ पृष्ठे, 'उवसमसेढि' शब्दे द्वि०भा० १०४३ पृष्ठे च द्रष्टव्या)

(३) एनां क्षपकश्रेणिमध्यासीनेन येन यदनन्तानुबन्ध्यादिकं क्षपितं, स तेन मुक्त इत्यवसातव्यम्। येऽपि श्रेणिद्वयमद्याऽपि न प्रतिपद्यन्ते, किन्तु सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकानामन्यतमस्मिन् संयमे वर्तन्ते, तेऽपि संकलनचतुष्टयवर्जैर्द्वादशभिः कषायैर्मुक्ता इत्यवगन्तव्यम्। यत उक्तम्– ''बारसविहे कसाए, खविए उवसामिए य जोगेहिं। लब्भइ चरित्तलंभो, तस्स विसेसा इमे पंच॥१॥''

ततश्च–

जे वि अ न सव्वगंथे– हि निग्गया होंति केइ निग्गंथा।
ते वि य निग्गहपरमा, हवंति तेसिं खउज्जुत्ता॥

येऽपि च सरागसंयमवर्त्तिनः सर्वेभ्य आभ्यन्तरग्रन्थेभ्यो न निर्गताः तेऽपि तेषां संज्वलनकषायाऽऽदीनां क्षयोद्युक्ता उदयनिरोधोदयप्राप्तविफलीकरणाभ्यां क्षयकरणायोद्यताः सन्तो निग्रहपरमा अन्तरग्रन्थनिग्रहप्रधाना भवन्तीत्यतो निर्ग्रन्था उच्यन्ते।

अपि च–

कलुसफलेन न जुज्झइ, किं चित्तं तत्थ जं विगयरागो।
संते वि जे कसाए, निगिण्हई सो वि तत्तुल्लो॥

कलुषयन्ति सहजनिर्मलं कर्मरजसा मलिनयन्तीति ''अच्'' ॥५।१।४६॥ इति अच्प्रत्यये कलुषा कषायाः, तेषां यत्फलं पुरुषभाषणनयनमुखविकारै रौद्रध्यानानुबन्धाऽऽदिकं, तेन सह यन्न युज्यते न संबन्धमुपयाति, विगतरागो विशेषेणापुनर्भावने गतो रागो यस्मात्स विगतरागः, क्षीणमोह इत्यर्थः। तत्र किं चित्रं किमाश्चर्यं ? कषायलक्षणकारणाभावान्न किञ्चिदित्यर्थः। यस्तु सतोऽपि विद्यमानानपि कषायान्निगृह्णाति, उदीयमानानेव प्रथमतो निरुणद्धि, कथञ्चिदुदयप्राप्तान् वा विफलीकरोति, सोऽपि तत्तुल्यो वीतराग इव निष्कषायो मन्तव्यः, सतामपि कषायाणामसत् कल्पनाकरणात्, अतः सरागसंयतोऽपि निर्ग्रन्थोऽभिधीयते।

अथ परं प्रश्नयति–

जइ अब्भिंतरमुक्का, बाहिरगंथेण मुक्कया किह णु ?
गिण्हंता उवगरणं जम्हा अममत्तया तेसु॥

यद्यनन्तरोक्तप्रकारेणाभ्यन्तरग्रन्थमुक्ताः, ततो वस्त्रपात्राऽऽदिकमुपकरणं गृह्णन् ततः कथं, नुरिति वितर्के। बाह्यग्रन्थेन मुक्ता उच्येरन्? वस्त्राऽऽदेरपि ग्रन्थरूपत्वादित्यभिप्रायः सूरिरहयस्मात्तेषु वस्त्रपात्राऽऽदिषु न विद्यते ममत्वं मूर्च्छा येषां ते अममत्वकाः ''शेषाद्वा'' ॥७।३।१७५॥ इति कच् प्रत्ययः। मूर्च्छारहिताः। तेन बाह्यग्रन्थमुक्ता अप्यभिधीयन्ते। इयमत्र भावनामूर्च्छा परिग्रहो गीयते तनूपकरणाविधारणमात्रम्, ''मुच्छा परिग्गहो वुत्तो'' इति वचनात्। अतः संयमोपष्टम्भाऽऽदिनिमित्तमुपकरणं धारयन्नपि विशुद्धचेतोवृत्तिरपरिग्रह एव ज्ञातव्यः। तदुक्तं परमगुरुभिः– ''अज्झत्थविसोहीए, उवगरणं बाहिरं परिहरंतो। अपरिग्गहो त्ति भणिओ, जिणेहिँ तेलुक्कदंसीहिं'' ॥१॥ बृ०१ उ० भ०। उत्त०। सूत्र०।

(४) अथ निर्ग्रन्थनिक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्–

णिक्खेवो णियंठम्मी, चउविहो दुविहो य होइ दव्वम्मि।
आगम णो आगमओ, णो आगमओ य सो तिविहो॥३२॥ नि०।

निक्षेपो न्यासः (नियंठम्मि त्ति) निर्ग्रन्थे निर्ग्रन्थविषये चतुर्विधः, नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे। द्विविधो भवति द्रव्ये–आगमतो, नो आगमतश्च। तत्राऽऽगमतः प्राग्वत्, नो आगमतश्च स इति निर्ग्रन्थस्त्रिभेद इति गाथाऽर्थः। उत्त० (पाईटीका) ६ उ०। त्रैविध्यमेवाऽऽह– द्रव्यतो एकः, अन्यो न द्रव्यतो भावतः, अपरो द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि। तत्र द्रव्यतो निर्ग्रन्थः स उच्यते, यो लिङ्गसहितो द्रव्यलिङ्गयुक्तो निःशङ्कः सन्नध्यवस्यते, उत्पव्रजतीत्यर्थः। यस्तु प्रव्रज्यायामभिमुखो न तावदद्याऽपि प्रव्रजति, कारणेन वा यः साधुः परलिङ्गे वर्त्तते, स द्वितीयो द्वितीय–भङ्गवर्ती। यस्तु उदयसहितो द्रव्यभावलिङ्गयुक्तः स तृतीयः। उभयथा निर्ग्रन्थ इति भावः। बृ० ३ उ०।

जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य णिण्हवादीसु।
भावम्मि णियंठो खलु, पंचविहो होइ णायव्वो॥३३॥ नि०।

(जाणगसरीरभविए त्ति) ज्ञशरीरनिर्ग्रन्थो, भव्यशरीरनिर्ग्रन्थश्च। पश्चात्कृतपुरस्कृतनिर्ग्रन्थपर्यायतयाऽयं घृतकुम्भ इत्यादिन्यायतः प्राग्वद्भावनीयः। तद्व्यतिरिक्तश्च निह्नवाऽऽदिषु। आदिशब्दात्पार्श्वस्थाऽऽदिपरिग्रहः। भावनिर्ग्रन्थोऽप्यागमतो, नो आगमतश्च, तत्राऽऽगमतस्तथैव। नो आगमतस्तु स्वत एवाऽऽह निर्युक्तिकृत्–भावे निर्ग्रन्थः, खलुर्वाक्यालङ्कारे, पञ्चविधः पञ्चभेदो भवति ज्ञातव्य इति गाथाऽर्थः। उत्त० (पाईटीका) ६ अ०।

(५) पञ्चविधनिर्ग्रन्थस्वरूपं चेदम्–

कइ णं भंते ! णियंठा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंच णियंठा पण्णत्ता। तं जहा–पुलाए, वउसे, कुसीले, णियंठे, सिणाए।

(णियंठ त्ति) निर्गताः सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थादिति निर्ग्रन्थाः साधवः, एतेषां च प्रतिपन्नसर्वविरतीनामपि विचित्रचारित्रमोह–नीयकर्मक्षयोपशमाऽऽदिकृतो भेदोऽवसेयः। तत्र–(पुलाए त्ति) पुलाको निःसारो धान्यकणः, पुलाकवत्पुलाकः संयमसारापेक्षया, स च संयमवानपि मनाक् तमसारं कुर्वन् पुलाक इत्युच्यते। (वउसे त्ति) वकुशं शबलं, कुर्वुरमित्यनर्थान्तरम्, ततश्च वकुशसंयमयोगाद्वकुशः। (कुसीले त्ति) कुत्सितं शीलं चरणमस्येति कुशीलः। (नियंठे त्ति) निर्गतो ग्रन्थान्मोहनीयकर्माऽऽख्यादिति निर्ग्रन्थः। (सिणाए त्ति) स्नात इव स्नातो घातिकर्मलक्षणमलपटलक्षालनादिति। भ० २५ श० ६ उ०।

तओ णियंठा णोसण्णोवउत्ता पण्णत्ता। जहा–पुलाए, णियंठे, सिणाए। तओ णियंठा सण्णणोसण्णोवउत्ता पण्णत्ता। तं जहा–वउसे, पडिसेवणाकुसीले, कसायकुसीले।

(तओ इत्यादि) निर्गता ग्रन्थात् सबाह्याभ्यन्तरादिति निर्ग्रन्थाः संयताः, 'नो' संज्ञायामाहाराऽऽद्यभिलाषरूपायां, पूर्वानुभूतस्मरणानागतचिन्ताद्वारेणोपयुक्ता ये ते नोसंज्ञोपयुक्ताः, तत्र पुलाको लब्ध्युपजीवनाऽऽदिना संयमासारताकारको वक्ष्यमाणलक्षणः, निर्ग्रन्थ उपशान्तमोहः, क्षीणमोहो वेति। स्नातको घातिकर्ममलक्षालनावाप्तशुद्धज्ञानस्वरूपः। तथा त्रय एव संज्ञोपयुक्ताः, नोसंज्ञोपयुक्ताश्चेति संकीर्णस्वरूपाः, तथा स्वरूपत्वात्। तथा चाऽऽह–(सन्न नोसन्नोवउत्त त्ति) संज्ञा चाहाराऽऽदिविषया, नोसंज्ञा च तदभावलक्षणा। संज्ञानोसंज्ञे, तयोरुपयुक्ता इति विग्रहः। पूर्वह्रस्वता प्राकृतत्वादिति। तत्र वकुशः शरीरोपकरणविभूषाऽऽदिना सबलचारित्रपटः, प्रतिसेवनया मूलगुणाऽऽदिविषयया कुत्सितं शीलं यस्य स तथा। एवं कषायकुशील इति। स्था०३ ठा०२ उ०। ध०२०। ध०। पं०भा०। पं०चू०। दर्श०। (पुलाकाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

(६) एते पुलाकाऽऽदयः पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा एभिः संयमा–ऽऽदिभिरनुगमविकल्पैः साध्या भवन्ति–

पण्णवण वेय रागे, कप्प चरित्त पडिसेवणा णाणे।
तित्थे लिंग सरीरे, खित्ते काले गति संजम णिकासे ॥१॥
जोगुवओग कसाए, लेसा परिणाम बंधवेदे य।
कम्मोदीरण उवसं–पजहण्ण सण्णा य आहारे ॥२॥
भव आगरिसे कालं–तरे य समुघाय खेत्त फुसणा य।
भावे परिणामे खलु, अप्पाबहुयं णियंठाणं ॥३॥
भ० २५श० ६ उ०।

(७) तत्र वेदद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं सवेयए होज्जा, अदेदए होज्जा? गोयमा ! सवेयए होज्जा, णो अवेदए होज्जा। जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा, पुरिसवेदए होज्जा, पुरिसणपुंसगवेयए होज्जा? गोयमा ! णो इत्थीवेयए होज्जा, पुरिसवेयए होज्जा, पुरिसणपुंसगवेयए होज्जा। वउसे णं भंते ! किं सवेयए होज्जा, अवेदए होज्जा? गोयमा ! सवेदए होज्जा, णो अवेदए होज्जा। जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेयए होज्जा, पुरिसवेयए होज्जा, पुरिसणपुंसगवेयए होज्जा? गोयमा ! इत्थीवेयए होज्जा, पुरिसवेयए होज्जा, पुरिसणपुंसगवेयए होज्जा। एवं पडिसेवणाकुसीले वि। कसायकुसीले णं भंते ! किं सवेयए पुच्छा? गोयमा ! सवेयए वा होज्जा, अवेदए वा होज्जा। जइ अवेदए होज्जा किं उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए होज्जा ? गोयमा ! उवसंतवेदए वा होज्जा, खीणवेदए वा होज्जा। जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा पुच्छा? गोयमा ! तिसु वि जहा वउसे णियंठे णं भंते ! किं सवेदए पुच्छा? गोयमा ! णो सवेदए होज्जा, अवेदए होज्जा। जइ अवे–दए होज्जा किं उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए वा होज्जा पुच्छा? गोयमा ! उवसंतवेदए वा होज्जा, खीणवेदए वा होज्जा। सिणाए णं भंते ! किं सवेयए होज्जा? जहा णियंठे तहा सिणाए वि, णवरं णो उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए होज्जा।

पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीलानामुपशमक्षपकश्रेण्योरभावात्। (नो इत्थीवेयए त्ति) स्त्रियाः पुलाकलब्धेरभावात्। (पुरिसनपुंसगवेयए त्ति) पुरुषः सन् यो नपुंसकवेदको वर्द्धितकत्वाऽऽदिभावात्। (वेदए वा होज्जा, खीणवेदए वा होज्ज त्ति) सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत्कषायकुशीलो भवति, स च प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणेषु सवेदः, अनिवृत्तिबादरे तूपशान्तेषु क्षीणेषु वा वेदेष्ववेदः स्यात्, सूक्ष्म–सम्पराये चेति। (नियंठे णमित्यादि) (उवसंतवेयए वा होज्जा, खीणवेयए वा होज्ज त्ति) श्रेणिद्वये निर्ग्रन्थत्वभावादिति। (सिणाए णमित्यादि) (णो उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए होज्ज त्ति) क्षपकश्रेण्यामेव स्नातकत्वभावादिति।

(८) रागद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं सरागे होज्जा, वीयरागे होज्जा ? गोयमा ! सरागे होज्जा, णो वीयरागे होज्जा, एवं०जाव

कसायकुसीले । णियंठे णं भंते ! किं सरागे होज्जा पुच्छा? गोयमा ! णो सरागे होज्जा, वीयरागे होज्जा । जइ वीयरागे होज्जा किं उवसंतकसायवीयरागे होज्जा, खीणकसायवीयरागे होज्जा? गोयमा ! उवसंतकसायवीयरागे होज्जा, खीणकसायवीयरागे होज्जा । सिणाते एवं चेव, णवरं णो उवसंतकसायवीयरागे होज्जा, खीणकसायवीयरागे होज्जा ।

(पुलाए णं भंते ! किं सरागे त्ति) सरागः सकषायः ।

(८) कल्पद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं ठियकप्पे होज्जा, अट्ठियकप्पे होज्जा ? गोयमा ! ठियकप्पे वा होज्जा, अट्ठियकप्पे वा होज्जा । एवं०जाव सिणाए । पुलाए णं भंते ! किं जिणकप्पे होज्जा, थेरकप्पे होज्जा, कप्पातीते होज्जा? गोयमा ! णो जिणकप्पे होज्जा, थेरकप्पे होज्जा, णो कप्पातीते होज्जा । वउसे णं भंते पुच्छा? गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा, थेरकप्पे वा होज्जा, णो कप्पतीते होज्जा। एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं पुच्छा? गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा, थेरकप्पे वा होज्जा, कप्पातीते वा होज्जा । णियंठे णं पुच्छा? गोयमा ! णो जिणकप्पे होज्जा, णो थेरकप्पे होज्जा, कप्पातीते होज्जा । एवं सिणाए वि ॥४॥

(किं ठियकप्पे इत्यादि) आचेलक्याऽऽदिषु दशसु पदेषु प्रथम–पश्चिमतीर्थकरसाधवः स्थिता एवाऽवश्यं तत्पालनादिति । तेषां स्थितकल्पः, तत्र वा पुलाको भवेत् । मध्यमतीर्थकरसाधवस्तु तेषु स्थिताश्चास्थिताश्च स्थितास्थिताश्चेत्यस्थितकल्पः, तेषां तत्र वा पुलाको भवेत् । एवं सर्वेऽपि । अथवा–कल्पो जिनकल्पः, स्थविरकल्पश्चैतद् द्विधेति । तमाश्रित्याऽऽह–(पुलाए णं भंते ! किं जिणकप्पे इत्यादि) (कप्पातीते ति) जिनकल्पस्थविरकल्पाभ्यामन्यत्र । (कसायकुसीले णमित्यादि) (कप्पातीते वा होज्ज त्ति) कल्पातीते वा कषायकुशीलो भवेत्, कल्पातीतस्य छद्मस्थतीर्थकरस्य सकषायत्वादिति । (नियंठे णमित्यादि) कप्पातीते होज्ज त्ति) निर्ग्रन्थः कल्पातीत एव भवेत्, अतस्तस्य जिनकल्पस्थविरकल्पधर्मा न सन्तीति ।

(९) चरित्रद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं सामाइयसंजमे होज्जा, छेओवट्ठावणिय–संजमे होज्जा, परिहारविसुद्धियसंजमे होज्जा, सुहुमसंपराय–संजमे होज्जा, अहक्खायसंजमे होज्जा? गोयमा ! सामाइय-संजमे होज्जा, छेओवट्ठावणियसंजमे होज्जा, णो परिहारविसु–द्धियसंजमे होज्जा, णो सुहुमसंपरायसंजमे होज्जा, णो अह–क्खायसंजमे होज्जा । एवं वउसे वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं पुच्छा ? गोयमा ! सामाइयसंजमे वा होज्जा०जाव सुहुमसंपरायसंजमे वा होज्जा, णो अहक्खाय–संजमे होज्जा । णियंठे णं पुच्छा? गोयमा ! णो सामाइयसंजमे वा होज्जा० जाव णो सुहुमसंपरायसंजमे वा होज्जा, अहक्खा–यसंजमे वा होज्जा । एवं सिणाते त्ति ॥५॥

चरित्रद्वारं व्यक्तमेव ।

(१०) प्रतिसेवनाद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा? गोयमा ! पडिसेवए होज्जा, णो अपडिसेवए होज्जा । जइ पडि–सेवए होज्जा, किं मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा? गोयमा ! मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा, मूलगुणपहिसेवमाणे पंचण्हं अणासवाणं अण्णयरं पडिसेवेज्जा, उत्तरगुणपडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अण्णयरं पडिसेवेज्जा । वउसे णं पुच्छा? गोयमा ! पडिसेवए होज्जा, णो अपडिसेवए होज्जा । जइ पडिसेवए होज्जा किं मूल–गुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा? गोयमा ! णो मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा । उत्तरगुण–पडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अण्णयरं पडिसेवेज्जा। पडिसेवणाकुसीले जहा पुलाए । कसायकुसीले पुच्छा? गोयमा! णो पडिसेवए होज्जा । एवं णियंठे वि । एवं सिणाते वि ॥६॥

(पडिसेवए त्ति) संयमप्रतिकूलार्थस्य संज्वलनकषायोदयात्सेवकः प्रतिसेवकः, संयमविराधक इत्यर्थः । (मूलगुणपडिसेवए त्ति) मूलगुणाः प्राणातिपातविरमणाऽऽदयः, तेषां प्रातिकूल्येन सेवकः मूलगुणप्रति-सेवकः । एवमुत्तरगुणप्रतिसेवकोऽपि, नवरमुत्तरगुणाः दशविधप्रत्या-ख्यानरूपाः । (दसविहस्स पच्चक्खाणस्स त्ति) तत्र दशविधं प्रत्याख्या-नम्, 'अणागमइक्कंतं कोडीसहियं' इत्यादिप्राग्व्याख्यातस्वरूपम् । अथवा– ''नवकारपोरिसीए'' इत्याद्यावश्यकप्रसिद्धम् । (अण्णयरं पडिसेवेज्ज त्ति) एकतरं प्रत्याख्यानं विराधयेदुपलक्षणत्वाच्चास्य पिण्डविशुद्ध्यादिविराधकत्वमपि सम्भाव्यत इति ।

(११) ज्ञानद्वारे-

पुलाए णं भंते ! कइसु णाणेसु होज्जा? गोयमा ! दोसु वा तिसु वा होज्जा, दोसु होज्जमाणे दोसु आभिणिबोहियणाणसुअणा–णेसु होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु आभिणिबोहियणाणसुअणा–णओहिणाणेसु होज्जा । एवं वउसे वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं पुच्छा? गोयमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा होज्जा । दोसु होज्जमाणे दोसु आभिणिबोहियणाणसुअणा–णेसु होज्जा । तिसु होज्जमाणे तिसु आभिणिबोहियणाणसुअ–णाणओहिणाणेसु होज्जा, अहवा तिसु आभिणिबोहियणाण–सुअणामणपज्जवणाणेसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु आभि–णिबोहियणाणओहिणाणमणपज्जवणाणेसु होज्जा । एवं णियं–

ठे वि। सिणाते णं पुच्छा? गोयमा ! एगम्मि केवलणाणेसु होज्जा। पुलाए णं भंते ! केवइयं सुयं अहिज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं णवस्स पुव्वस्स ततियं आयारवत्थुं, उक्कोसेणं णवपुव्वाइं अहिज्जेज्जा। वउसे णं पुच्छा? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठ पवयणमायाओ, उक्कोसेणं दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा। एवं पडिसेवणाकुसीले वि। कसायकुसीले णं पुच्छा? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठ पवयणमायाओ, उक्कोसेणं चउद्दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा। एवं णियंठे वि। सिणाते णं पुच्छा? गोयमा ! सुयवतिरित्ते होज्जा ॥७॥

आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानप्रस्तावाद् ज्ञानविशेषभूतं श्रुतं विशेषेण चिन्तयन्नाह–(पुलाए णं भंते ! केवइयं सुयमित्यादि) (जहण्णेणं अट्ठ पवयणमायाओ त्ति) अष्टप्रवचनमातृपालनरूप–त्वाच्चारित्रस्य, तद्वतोऽष्टप्रवचनमातृपरिज्ञानेनाऽवश्यं भाव्यं, ज्ञानपूर्वकत्वाच्चारित्रस्य, तत्परिज्ञानं च श्रुतादतोऽष्टप्रवचनमातृ–प्रतिपादनपरं श्रुतं वकुशस्य जघन्यतोऽपि भवतीति। तच्च ''अट्ठण्हं पवयणमाईणं'' इत्यस्य यद्विवरणसूत्रं तत्सम्भाव्यते। यत्पुनरुत्तराध्ययनेषु प्रवचनमातृप्रतिपादननामकमध्ययनं, तद् गुरुत्वाद्विशिष्टतरश्रुतत्वाच्च न जघन्यतः सम्भवतीति बाहुल्याऽऽश्रयं चेद् श्रुतप्रमाणं, तेन न माषतुषाऽऽदिना व्यभिचार इति।

(१२) तीर्थद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं तित्थे होज्जा, अतित्थे होज्जा? गोयमा ! तित्थे होज्जा, णो अतित्थे होज्जा। एवं वउसे वि। एवं पडिसेवणाकुसीले वि। कसायकुसीले पुच्छा? गोयमा ! तित्थे वा होज्जा, अतित्थे वा होज्जा। जइ तित्थे होज्जा किं तित्थयरे होज्जा, पत्तेयबुद्धे होज्जा? गोयमा ! तित्थयरे वा होज्जा, पत्तेयबुद्धे वा होज्जा। एवं णियंठे वि। एवं सिणाते ॥८॥

(कसायकुसीलेत्यादि) कषायकुशीलश्छद्मस्थानस्थायां तीर्थकरोऽपि स्यादतस्तदपेक्षया तीर्थव्यवच्छेदे च तदन्योऽप्यसौ स्यादिति, तदन्यापेक्षया च ''अतित्थे वा होज्ज त्ति'' इत्युच्यते। अत एवाऽऽह–''जदि तित्थे होज्जा, किं तित्थगरे होज्जा'' इत्यादि।

(१३) लिङ्गद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं सलिंगे होज्जा, अण्णलिंगे होज्जा, गिहिलिंगे होज्जा? गोयमा ! दव्वलिंगं पमुच्च सलिंगे वा होज्जा, अण्णलिंगे वा होज्जा। भावलिंगं पडुच्च णियमं सलिंगे होज्जा, एवं ०जाव सिणाए, ॥९॥

लिङ्गं द्विधा, द्रव्यभावभेदात्। तत्र भावलिङ्गं ज्ञानाऽऽदि, एतच्च स्वलिङ्गमेव, ज्ञानाऽऽदिभावस्यार्हतामेव भावात्। द्रव्यलिङ्गं तु द्वेधा, स्वलिङ्गपरलिङ्गभेदात्। तत्र स्वलिङ्गं रजोहरणाऽऽदि। परलिङ्गं च द्विधा–कुतीर्थिकलिङ्गं, गृहस्थलिङ्गं चेत्यत आह–(पुलाए णं भंते ! किं सलिंगे इत्यादि) त्रिविधलिङ्गेऽपि भवेद् द्रव्यलिङ्ग।–नपेक्षत्वाच्चरणपरिणामस्येति।

(१४) शरीरद्वारे–

पुलाए णं भंते ! कइसु सरीरेसु होज्जा? गोयमा ! तिसु ओरालियतेयाकम्मएसु होज्जा। वउसे णं भंते ! पुच्छा? गोयमा ! तिसु वा चउसु वा होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु ओरालियतेयाकम्मएसु होज्जा। चउसु होज्जमाणे चउसु ओरालियवेउव्वियतेयाकम्मएसु होज्जा। एवं पडिसेवणाकुसीले वि। कसायकुसीले पुच्छा? गोयमा ! तिसु वा चउसु वा पंचसु वा होज्जा। तिसु होज्जमाणे तिसु ओरालियतेयाकम्मएसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु ओरालियवेउव्वियतेयाकम्मएसु होज्जा। पंचसु होज्जमाणे पंचसु ओरालियवेउव्वियआहारगतेयाकम्मएसु होज्जा। णियंठो, सिणाओ य जहा पुलाओ ॥१०॥

शरीरद्वारं व्यक्तम्।

(१५) क्षेत्रद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं कम्मभूमीसु होज्जा? गोयमा ! जम्मणसंतिभावं पडुच्च कम्मभूमीए होज्जा, णो अकम्मभूमीए होज्जा? वउसे णं पुच्छा ? गोयमा ! जम्मणसंतिभावं पडुच्च कम्मभूमीए होज्जा, णो अकम्मभूमीए होज्जा। साहरणं पडुच्च कम्मभूमीए होज्जा, अकम्मभमीए वा होज्जा। एवं ०जाव सिणाए ॥११॥

(पुलाए णं भंते ! किं कम्मभूमीए इत्यादि) (जम्मणसंतिभावं पडुच्च त्ति) जन्म उत्पादः, सद्भावश्च विवक्षितक्षेत्रादन्यत्र, तत्र वा जातस्य, तत्र चरणभावे नास्तित्वम्, एतयोश्च समाहारद्वन्द्वोऽतस्तत्प्रतीत्य पुलाकः कर्म्मभूमौ भवेत् , तत्र जायते, विहरति च तत्रैवेत्यर्थः। अकर्म्मभूमौ पुनरसौ न जायते, तज्जातस्य चारित्राभावात्। न च तत्र वर्त्तते, पुलाकलब्धौ वर्तमानस्य देवाऽऽदिभिः संहर्तुमशक्यत्वात्। वकुशसूत्रे–(नो अकम्मभूमीए होज्ज त्ति) अकर्म्मभूमौ वकुशो न जन्मतो भवति, स्वकृतविहारतश्च, पर कृतविहारतस्तु कर्मभूम्यामकर्म्मभूम्यां च सम्भवतीत्येतदेवाऽऽह–(साहरणं पडुच्चेयादि) इह च संहरणं क्षेत्रान्तरात्क्षेत्रान्तरे देवाऽऽदिभिर्नयनम्।

(१६) कालद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं ओसप्पिणीकाले होज्जा, उस्सप्पिणीकाले होज्जा, णो ओसप्पिणी णो उस्सप्पिणीकाले होज्जा? गोयमा! ओसप्पिणीकाले वा होज्जा, उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा, णो ओसप्पिणी णो उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा। जइ ओसप्पिणीकाले होज्जा किं सुसमसुसमाकाले होज्जा १, सुसमाकाले होज्जा २, सुसमदुस्समाकाले होज्जा३, दुस्समसुसमाकाले होज्जा ४, दुस्समाकाले होज्जा ५, दुस्समदुस्समाकाले होज्जा ६? गोयमा! जम्मणं पडुच्च णो सुसमसुसमाकाले होज्जा१, णो

सुसमाकाले होज्जा २, सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा ३, दुस्स–मसुसमाकाले वा होज्जा ४, णो दुस्समाकाले होज्जा ए,णो दुस्स–मदुस्समाकाले होज्जा ६ । संतिभावं पडुच्च णो सुसमसुसमाए होज्जा १, णो सुसमाए होज्जा २, सुसमदुस्समाए होज्जा ३, दुस्समसुसमाए होज्जा ४, दुस्समाए होज्जा ५, णो दुस्समदुस्स–माए होज्जा ६ । जदि उस्सप्पिणीकाले होज्जा किं दुस्समदुस्स–माकाले होज्जा १, दुस्समाकाले होज्जा २, दुस्समसुसमाकाले होज्जा ३, सुसमदुस्समाकाले होज्जा ४, सुसमाकाले होज्जा ५, सुसमदुस्समाकाले होज्जा ६? गोयमा ! जम्मणं पडुच्च णो दुस्समसुसमाकाले होज्जा १, दुस्समाकाले होज्जा २, दुस्समसुसमा–काले वा होज्जा ३, सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा ४, णो सुस–माकाले वा होज्जा ५, णो सुसमसुसमाकाले वा होज्जा ६ । संतिभावं पडुच्च णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा १ , णो दुस्स–माकाले होज्जा २, दुस्समसुसमाकाले होज्जा ३, सुसमदुस्समा–काले वा होज्जा ४, णो सुसमाकाले होज्जा ५, णो सुसमसुसमा–काले होज्जा ६ । जइ णो ओसप्पिणी णो उस्सप्पिणी काले होज्जा किं सुसमसुसमापलिभागे होज्जा १, सुसमापलिभागे होज्जा २, सुसमदुस्समापलिभागे होज्जा ३, दुस्समसुसमापलिभागे होज्जा ४ ? गोयमा ! जम्मणं संतिभावं पडुच्च णो सुसमसुसमापलिभागे होज्जा १, णो सुसमापलिभागे होज्जा २, णो सुसमदुस्समापलिभागे होज्जा ३, दुस्समसुस-मापलिभागे होज्जा ४ । वउसे णं भंते ! पुच्छा? गोयमा ! ओसप्पिणीकाले वा होज्जा, उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा, णो ओसप्पिणीकाले वा होज्जा, णो उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा । जइ ओसप्पिणीकाले होज्जा किं सुसमसुसमाकाले वा होज्जा पुच्छा ? गोयमा ! जम्मणं संतिभावं पडुच्च णो सुसमसुसमाकाले होज्जा १, णो सुसमाकाले होज्जा २, सुसमदुस्समाकाले होज्जा ३, दुस्समसुसमाकाले वा होज्जा ४, दुस्समाकाले वा होज्जाए, णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा ६ । साहरणं पडुच्च अण्णयरे समाकाले जदि ओसप्पिणीकाले होज्जा किं दुस्समदुस्समाकाले होज्जा? गोयमा ! जम्मणं पडुच्च णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा, जहेव पुलाए। संतिभावं पडुच्च णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा। एवं संतिभावेण वि जहा पुलाए०जाव णो सुसमसुसमाकाले होज्जा। साहरणं पडुच्च अण्णयरे समाकाले होज्जा, जहा णो ओसप्पिणी णो उस्सप्पिणीकाले होज्जा पुच्छा? गोयमा ! जम्मणं संति भावं पडुच्च णो सुसमसुसमापलिभागे होज्जा । जहेव पुलाए०जाव दुस्स–मसुसमापलिभागे होज्जा । साहरणं पडुच्च **अण्णयरे पलिभागे होज्जा, जइ वउसे, एवं पडिसेवणाकुसीले वि। एवं कसाय–कुसीले वि। णियंठो, सिणाओ य जहा पुलाए; णवरं एएसिं अब्भहियं साहरणं भाणियव्वं; सेसं तं चेव ॥१२॥**

त्रिविधः कालोऽवसर्पिण्यादिः। तत्राऽऽद्यद्वयं भरतैरावतयोः, तृतीयस्तु महाविदेहहैमवताऽऽदिष । (सुसमदुस्समाकाले वा होज्ज त्ति) आदिदेवकाले इत्यर्थः। (दुस्समसुसमाकालेवेति) चतुर्थ अरके इत्यर्थः। उक्तात्समाद्वयात्राऽन्यत्राऽसौ जायते । (संतिभावं पडुचेत्यादि) अवसर्पिण्यां सद्भावं प्रतीत्य तृतीयचतुर्थपञ्चमाऽऽरकेषु भवेत्, तत्र चतुर्थारके जातः सन्पञ्चमेऽपि वर्त्तते, तृतीयचतुर्थारकसद्भावस्तु तज्जन्मपूर्वक इति । (जइ उस्सप्पिणीत्यादि) उत्सर्प्पिण्यां द्वितीयतृतीयचतुर्थेष्वरकेषु जन्मतो भवति, तत्र द्वितीयस्याऽन्ते जायते, तृतीये तु चरणं प्रतिपद्यते, तृतीयचतुर्थ–योस्तु जायते, चरणं च प्रतिपद्यत इति । सद्भावं पुनः प्रतीत्य तृतीयचतुर्थयोरेव तस्य सत्ता, तयोरेव चरणप्रतिपत्तेरिति। (जइ णो ओसप्पिणीत्यादि) (सुसमसुसमापलिभागे त्ति) सुषमसुषमायाः प्रतिभागः सादृश्यं यत्र काले स तथा । स च देवकुरूत्तरकुरुषु। एवं सुषमाप्रतिभागो हरिवर्षरम्यकवर्षेषु, सुषमदुःष-माप्रति-भागो हैमवतैरण्यवतेषु, दुःषमसुषमाप्रतिभागो महाविदेहेषु । (नियंठो, सिणाओ य जहा पुलाए त्ति) एतौ पुलाकवद्वक्तव्यौ । विशेषं पुनराह– (नवरं एएसिं अब्भहियं साहरणं भाणियव्वं त्ति) पुलाकस्य हि पूर्वोक्तयुक्त्या संहरणं नास्त्येतयोश्च तत्सम्भवतीति कृत्वा तद्वाच्यं, संहरणद्वारेण च यस्तयोः सर्वकालेषु सम्भवोऽसौ पूर्वसंहृतयोर्निर्ग्रन्थ-स्नातकत्वप्राप्तौ द्रष्टव्यः, यतो नापगतवेदानां संहरणमस्तीति । यदाह''समणीमवगयवेयं, परिहारपुलायमप्पमत्तं च। चोद्दसपुव्विं आहा–रगं च न य कोइ संहरइ ॥१॥''त्ति।

(१७) गतिद्वारे सौधर्माऽऽदिका देवगतिरिन्द्राऽऽदयस्तद्भे–

दास्तदायुश्च पुलाकाऽऽदीनां निरूप्यते–

पुलाए णं भंते ! कालगए समाणे कं गतिं गच्छइ? गोयमा ! देवगतिं गच्छइ। देवगतिं गच्छमाणे किं भवणवासीसु उवव ज्जेज्जा, वाणमंतरेसु उववज्जेज्जा, जोइसियवेमाणिएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! णो भवणवासीणोवाणमंतरणोजाइसिय-वेमाणिएसु उववज्जेज्जा। वेमाणिएसु उववज्जमाणे जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं सहस्सारे कप्पे उववज्जेज्जा। वउसे णं एवं चेव, णवरं उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे । पडिसेवणाकुसीले जहा वउसो । कसायकुसीले जहा पुलाए, णवरं उक्कोसेणं अणुत्तरविमाणेसु य । णियंठे णं भंते ! एवं चेव, जाव० वेमाणिएसु उववज्जमाणे अजहण्णमणुक्कोसं अणुत्तरविमाणेसु उववज्जेज्जा। सिणाए णं भंते ! कालगए समाणे कं गतिं गच्छति? गोयमा ? सिद्धगतिं गच्छति। पुलाए णं भंते !

देवसु उववज्जमाणे किं इंदत्ताए उववज्जेज्जा, तायत्तीसगत्ताए उववज्जेज्जा, लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा? गोयमा ! अविराहणं पडुच्च इंदत्ताए उववज्जेज्जा, सामाणियत्ताए उववज्जेज्जा, तायत्तीसगत्ताए उववज्जेज्जा, लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, णो अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा । विराहणं पडुच्च अण्णयरेसु उववज्जेज्जा । एवं वउसे वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले पुच्छा ? गोयमा ! अविराहणं पडुच्च इंदत्ताए वा उववज्जेज्जा०जाव अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा । विराह णं पडुच्च अण्णयरेसु उववज्जेज्जा । णियंठे पुच्छा ? गोयमा ! अविराहणं पडुच्च णो इंदत्ताए उववज्जेज्जा०जाव णो लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा। विराहणं पडुच्च अण्णयरेसु उववज्जेज्जा। पुलागस्स णं भंते ! देवलोगेसु उववज्जमाणस्स केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमपुहत्तं, उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमाइं। वउसस्स णं पुच्छा? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमपुहत्तं, उक्कोसेणं वायीसं सागरोवमाइं । एवं पडिसेवणाकुसीलस्स वि । कसायकुसीलस्स पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमपुहत्तं, उक्कोसे णं तेत्तीसं सागरोवमाइं । णियंठस्स पुच्छा? गोयमा ! अजहण्णमणुक्कोसं तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥१३॥

तत्र च–(अविराहणं पडुच्च त्ति) अविराधना ज्ञानाऽऽदीनाम् । अथवा लब्धेरनुपजीवनादतस्तां प्रतीत्य अविराधकाः सन्त इत्यर्थः । (अण्णयरेसु उववज्जेज्ज त्ति) भवनपत्यादीनामन्यतरेषु देवेषूत्पद्यन्ते, विराधितसंयमानां भवनपत्याद्युत्पादस्योक्तत्वात् । यच्च प्रागुक्तम्– ''वेमाणिएसु उववज्जेज्ज त्ति'' तत्संयमाऽविराधकत्वमाश्रित्यावसेयम् ।

(१८) संयमद्वारे संयमस्थानानि, तेषां चाल्पत्वाऽऽदि चिन्त्यते–

पुलागस्स णं भंते ! केवइया संजमट्ठाणा पण्णत्ता? गोयमा ! असंखेज्जा संजमट्ठाणा पण्णत्ता । एवं ० जाव कसायकुसीलस्स । णियंठस्स णं भंते ! केवइया संजमट्ठाणा पण्णत्ता ? गोयमा! एगे अजहण्णमणुक्कोसए संजमट्ठाणे पण्णत्ते । एवं सिणायस्स वि । एएसि णं भंते ! पुलागवउसपडिसेवणाकसायकुसीले ण णियंठसिणायाणं संजमट्ठाणाणं कयरे कयरे०जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवे णियंठस्स सिणायस्स एगे अजहण्णमणुक्कोसए संजमट्ठाणे । पुलागस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा । वउसस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा । पडिसेवणाकुसीलस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा । कसायकुसीलस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा ॥१४॥

तत्र–(पुलागस्सेत्यादि) संयमश्चारित्रं, तस्य स्थानानि शुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षकृता भेदाः संयमस्थानानि, तानि च प्रत्येकं सर्वाऽऽकाशप्रदेशाग्रगुणितसर्वाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणपर्य्यवोपेतानि भवन्ति, तानि च पुलाकस्यासङ्ख्येयानि भवन्ति, विचित्रत्वाच्चारित्रमोहनीयक्षयोपशमस्य । एवं यावत्कषायकुशीलस्य । (एगे अजहण्णमणुक्कोसए संजमट्ठाणे त्ति) निर्ग्रन्थस्यैकं संयमस्थानं भवति, कषायाणामुपशमस्य क्षयस्य चाविचित्रत्वेन शुद्धेरेकविधत्वादेकत्वादेव च तदजघन्योत्कृष्टं, बहुष्वेव जघन्योत्कृष्टभावसद्भावादिति। अथ पुलाकाऽऽदीनां परस्परतः संयमस्थानाल्पबहुत्वमाह–(एएसि णमित्यादि) सर्वेभ्यः स्तोकं सर्वस्तोकं निर्ग्रन्थस्य स्नातकस्य च संयमस्थानं, कुतो यस्मादेकं किंभूतं तदित्याह–(अजहण्णेत्यादि) एतच्चैवं शुद्धेरेकविधत्वात्, पुलाकाऽऽदीनां तूत्क्रमेणासंख्येयगुणानि तानि क्षयोपशमवैचित्र्यादिति ।

(१९) अथ निकर्षद्वारम्–तत्र निकर्षः सन्निकर्षः पुलाकाऽऽदीनां परस्परेण संयोजनं, तस्य च प्रस्तावनार्थमाह–

पुलागस्स णं भंते ! केवइया चरित्तपज्जवा पण्णत्ता? गोयमा ! अणंता चरित्तपज्जवा पण्णत्ता । एवं०जाव सिणायस्स । पुलाए णं भंते ! पुलागस्स सट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले, अब्भहिए? गोयमा ! सिय हीणे, सिय तुल्ले, सिय अब्भहिए । जइ हीणे अणंतभागहीणे वा, असंखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा, असंखेज्जगुणहीणे वा, अणंतगुणहीणे वा । अह अब्भहिए अणंतभागमब्भहिए वा, असंखेज्जभागमब्भहिए वा, संखेज्जभागमब्भहिए वा, संखेज्जगुणमब्भहिए वा, असंखेज्जगुणमब्भहिए वा, अणंतगुणमब्भहिए वा । पुलाए णं भंते ! वउसस्स परट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले, अब्भहिए? गोयमा ! हीणे, णो तुल्ले, णो अब्भहिए अणंतगुणे । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कुसायकुसीलेणं समं छट्ठाणवडिए जहेव सट्ठाणे । णियंठस्स जहा वउसस्स । एवं सिणायस्स वि । वउसे णं भंते ! पुलागस्स परट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले, अब्भहिए ? गोयमा ! णो हीणे, णो तुल्ले, अब्भहिए, अणंतगुणमब्भहिए । वउसे णं भंते ! वउसस्स सट्ठाणस्स सण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं पुच्छा? गोयमा ! सिय हीणे, सिये तुल्ले, सिय अब्भहिए। जइ हीणे छट्ठाणवडिए । वउसे णं भंते ! पडिसेवणाकुसीलस्स परट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे छट्ठाणवडिए ? एवं कसायकुसीलस्स वि? वउसे णं भंते ! णियंठस्स परट्ठाणसण्णिगासे णं चरित्तपुच्छा ? गोयमा ! हीणे, णो तुल्ले, णो अब्भहिए अणंतगुणहीणे । एवं सिणायस्स वि । पडिसेवणाकुसीलस्स एवं चेव । वउसस्स वत्तव्वया भाणियव्वा । कसायकुसीलस्स सण्णिगासेणं एस चेव वउसवत्तव्वया, णवरं पुलाएण वि समं छट्ठाणवडिए। णियंठे णं भंते ! पुलागस्स परट्ठा–

णसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं पुच्छा? गोयमा ! णो हीणे, णो तुल्ले, अब्भहिए, अणंतगुणमब्भहिए। एवं०जाव कसायकुसी-लस्स। णियंठे णं भंते ! णियंठस्स सण्णिगासेणं पुच्छा? गोयमा! णो हीणे, तुल्ले, णो अब्भहिए। एवं सिणायस्स वि। सिणाए णं भंते ! पुलागस्स परट्ठाणसण्णिगासेणं, एवं जहा णियंठस्स वत्तव्वया, तहा सिणायस्स वि भाणियव्वा०जाव सिणाए णं भंते ! सिणायस्स सट्ठाणसण्णिगासेणं पुच्छा ? गोयमा ! णो हीणे, तुल्ले, णो अब्भिहिए॥

(पुलागस्सेत्यादि) (चरित्तपज्जव त्ति) चरित्रस्य सर्वविरतिरूपप-रिणामस्य पर्यवा भेदाश्चरित्रपर्यवाः, ते च बुद्धिकृता अविभागपलि-च्छेदाः, विषयकृता वा। (सट्ठाणसन्निगासेणं ति) स्वमात्मीयं सजातीयं स्थानं पर्यवाणामाश्रयः स्वस्थानं पुलाकाऽऽदेः पुलाकाऽऽदिरेव, तस्य सन्निकर्षः संयोजनं स्वस्थानसन्निकर्षः, तेन। (किं हीणे त्ति) विशुद्ध-संयमस्थानसम्बन्धित्वेन विशुद्धतरपर्यवापेक्षया अविशुद्धतरसंयम-स्थानसंबन्धित्वेनाविशुद्धतराः पर्यवा हीनाः, तद्योगात्साधुरपि हीनः। (तुल्ले त्ति) तुल्यशुद्धिकपर्यवयोगात्तुल्यः। (अब्भहिए त्ति) विशुद्धतर-पर्यवयोगादभ्यधिकः। (सिय हीणे त्ति) अशुद्धसंयमस्थानवर्त्तित्वात्। (सिय तुल्ले त्ति) एकसंयमस्थानवर्तित्वात्। (सियअब्भहिए त्ति) विशुद्धतरसंयमस्थानवर्त्तित्वात्। (अणंतभागहीणे त्ति) किलासद्भाव-स्थापनया पुलाकस्योत्कृष्टसंयमस्थानपर्यवाग्रं दश सहस्राणि १०००। तस्य सर्वजीवान्तकेन शतपरिमाणतया कल्पितेन भागे हृते लब्धे शतम् १००। द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं नव सहस्राणि नवशताधि-कानि ९९००। पूर्वभागलब्धं शतं, तत्र प्रक्षिप्तं जातानि दश सहस्राणि, ततोऽसौ सर्वजीवानन्तकभागहारलब्धेन शतेन हीन इत्यनन्तभागहीनः। (असंखेज्जभागहीणे व त्ति) पूर्वोक्तकल्पितपर्यायराशेर्दशसहस्रस्य (१००००) लोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणेनासङ्ख्येयकेन कल्पनया पञ्चाशत्प्रमाणेन भागे हृते लब्धा द्विशती, द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरण-पर्यवाग्रं नव सहस्राण्यष्टौ च शतानि ९८००। पूर्वभागलब्धा च द्विशती, तत्र प्रक्षिप्ता जातानि दश सहस्राणि, ततोऽसौ लोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमा-णाऽसंख्येयकभागहारलब्धेन शतद्वयेन हीन इत्यसङ्ख्येयभागहीनः। (संखेज्जभागहीणे व त्ति) पूर्वोक्तकल्पितपर्यायराशेर्दशसहस्रस्य (१००००) उत्कृष्टसङ्ख्येय-केन कल्पनया दशकपरिमाणेन भागे हृते लब्धं सहस्रम्। द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं नव सहस्राणि ९०००। पूर्वभागलब्धं च सहस्रं तत्र प्रक्षिप्तं, जातानि दश सहस्राणि, ततोऽसावुत्कृष्टसङ्ख्येयकभागहारलब्धेन सहस्रेण हीन इति सङ्ख्येयभाग-हीनः। (संखेज्जगुणहीणे व त्ति) किलैकस्य पुलाकस्य चरणपर्यवाग्रं कल्पनया सहस्रदशकं, द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं च सहस्रं, ततश्चोत्कृष्टसङ्ख्येयकेन कल्पनया दशकपरिमाणेन गुणकारेण हीनोऽन-भ्यस्य इति संख्येयगुणहीनः। (असंखेज्जगुणहीणे व त्ति) किलैकस्य पुलाकस्य चरणपर्यवाग्रं कल्पनया सहस्रदशकं, द्वितीयप्रतियोगिपुला-कचरणपर्यवाग्रं च द्विशती, ततश्च लोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणेना-संख्येयकेन कल्पनया पञ्चाशत्प्रमाणेन गुणकारेण गुणितो द्विशतिको राशिर्जायते दशसहस्राणि, स च तेन लोकाऽऽकाशपरिमाणासंख्येयकेन कल्पनया पञ्चाशत्प्रमाणेन गुणकारेण हीन इति असंख्येयगुणहीनः। (अणंतगुणहीणे व त्ति) किलैकस्य पुलाकस्य चरणपर्यवाग्रं कल्पनया सहस्रदशकं, द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं च शतम्। ततश्च सर्वजीवानन्तकेन कल्पनया शतपरिमाणेन गुणकारेण गुणितः शतिको राशिर्जायते दशसहस्राणि, स च तेन सर्वजीवानन्तकेन कल्पनया शत-परिमाणेन गुणकारेण हीन इत्यनन्तगुणहीनः। एवमभ्यधिकषट्-स्थानकशब्दार्थोऽप्येभिरेव भागापहारगुणकारैर्व्याख्येयः। तथाहि-एकस्य पुलाकस्य कल्पनया दश सहस्राणि चरणपर्यवमानं, तदन्यस्य नवशताधिकानि नव सहस्राणि, ततो द्वितीयापेक्षया प्रथमोऽनन्तभागा-भ्यधिकः। तथा यस्य नवसहस्राण्यष्टौ च शतानि पर्यवाग्रं, तस्मात्प्रथ-मोऽसंख्येयभागाधिकः, तथा यस्य नव सहस्राणि चरणपर्यवाग्रं, तस्मात्प्रथमः संख्येयभागाधिकः, तथा यस्य चरणपर्यवाग्रं सहस्रमानं, तदपेक्षया प्रथमः संख्येयगुणाधिकः, तथा यस्य चरणपर्यवाग्रं द्विशती, तदपेक्षयाऽऽद्योऽसंख्येयगुणाधिकः, तथा यस्य चरणपर्यवाग्रं शतमानं, तदपेक्षयाऽऽद्योऽनन्तगुणाधिक इति। (पुलाए णं भंते ! वउससस्सेत्यादि) (पर-ट्ठाणसन्निगासेणं ति) विजातीययोगमाश्रित्येत्यर्थः। विजातीयश्च पुलाकस्य वकुशाऽऽदिः, तत्र पुलाको वकुशाद् हीनः, तथाविध-विशुद्ध्यभावात्। कसायकुसीलेणं समं छट्ठाणवडिए जहेव सट्ठाणे त्ति) पुलाकः पुलाकापेक्षया यथाऽभिहितः, तथा कषायकुशीलापेक्षयाऽपि वाच्य इत्यर्थः। तत्र पुलाकः कषायकुशीलाद्धीनो वा स्यादविशुद्धसंयम-स्थानवृत्तित्वात्, तुल्यो वा स्यात्समानसंयमस्थानवृत्तित्वात्, अधिको वा स्याच्छुद्धतरसंयमस्थानवृत्तित्वात्। यतः पुलाकस्य, कषायकुशी-लस्य च सर्वजघन्यानि संयमस्थानान्यधः, ततस्तौ युगपदसंख्येयानि तानि गच्छतः, तुल्याध्यवसानत्वात्, ततः पुलाको व्यवच्छिद्यते, हीनपरिणामत्वात्, व्यवच्छिन्ने च पुलाके कषायकुशील एकक एवासंख्येयानि संयमस्थानानि गच्छति, शुभतरपरिणामत्वात्, ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशा युगपदसंख्येयानि संयमस्था-नानि गच्छन्ति, ततश्च वकुशो व्यवच्छिद्यते, प्रतिसेवनाकुशीलकषाय-कुशीलावसंख्येयानि संयमस्थानानि गच्छतः, ततश्च प्रतिसेवनाकुशीलो व्यवच्छिद्यते, कषायकुशीलस्त्वसंख्येयानि संयमस्थानानि गच्छति, ततः सोऽपि व्यवच्छिद्यते, ततो निर्ग्रन्थस्नातकावेकं संयमस्थानं प्राप्नुत इति। (नियंठस्स जहा वउससस्स त्ति) पुलाको निर्ग्रन्थादनन्तगुणहीन इत्यर्थः, चिन्तितः पुलाकोऽवशेषैः स्वहाथ वकुशश्चिन्त्यते-(वउसे णमित्यादि) वकुशः पुलाकादनन्तगुणाभ्यधिक एव, विशुद्धतपरिणाम-त्वात्, वकुशात्तु हीनाऽऽदिर्विचित्रपरिणामत्वात्, प्रतिसेवनाकषायकु-शीलाभ्यामपि हीनाऽऽदिरेव, निर्ग्रन्थस्नातकाभ्यां तु हीन एवेति। (वउसस्स वत्तव्वया भाणियव्व त्ति) प्रतिसेवनाकुशीलस्तथा वाच्यो, यथा वकुश इत्यर्थः। कषायकुशीलोऽपि वकुशवद्वाच्यः, केवलं पुलाकाद्वकुशोऽभ्यधिक एवोक्तः, सकषायस्तु षट्स्थानपतितो वाच्यो हीनाऽऽदिरित्यर्थः, तत्परिणामस्य पुलाकापेक्षया हीनसमाधिकस्व-भावत्वादिति।

(२०) अथ पर्यवाधिकारात्तेषामेव जघन्याऽऽदिभेदानां पुला काऽऽदिसंबन्धिनामल्पत्वाऽऽदि प्ररूपयन्नाह-

एएसि णं भंते ! पुलागस्स वउसपडिसेवणाकुसीलक-

सायकुसीलणिसंठसिणाताणं जहण्णुक्कोसगाणं चरित्तपज्ज–वाणं कयरे कयरे०जाव विसेसाहिया वा? गोयमा ! पुलागस्स कसायकुसीलस्स एएसि णं जहण्णगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला सव्वत्थोवा पुलागस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंत–गुणा। वउसस्स, पडिसेवणाकुसीलस्स य। एएसि णं जहण्णगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला अणंतगुणा। वउसस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा। पडिसेवणाकुसीलस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा, कसायकुसीलस्स उक्कोसगा चरित्त–पज्जवा अणंतगुणा; णियंठस्स, सिणायस्स य एएसि णं अज–हण्णमणुक्कोसगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला अणंतगुणा ॥१५॥

(२१) योगद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा? गोयमा ! सजोगी होज्जा, णो अजोगी होज्जा। जइ सजोगी होज्जा किं मणजोगी होज्जा, वइजोगी होज्जा, कायजोगी होज्जा? गोयमा ! मणजोगी वा होज्जा, वइजोगी वा होज्जा, कायजोगी वा होज्जा। एवं० जाव णियंठे। सिणाए णं पुच्छा? गोयमा ! सजोगी वा होज्जा, अजोगी वा होज्जा। जइ सजोगी होज्जा किं मणजोगी होज्जा?; सेसं जहा पुलागस्स ॥१६॥

इहायोगी शैलेशीकरणे।

(२२) उपयोगद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा, अणागारोवउत्ते होज्जा? गोयमा ! सागारोवउत्ते होज्जा, अणागारोवउत्ते होज्जा। एवं०जाव० सिणाए ॥१७॥

टीका सुगमत्वान्न लिखिता।

(२३) कषायद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं सकसायी होज्जा, अकसायी होज्जा? गोयमा ! सकसायी होज्जा, णो अकसायी होज्जा। जइ सकसायी होज्जा से णं भंते ! कइसु कसाएसु होज्जा? गोयमा ! चउसु कोहमाणमायालोभेसु होज्जा। एवं वउसे वि। एवं पडिसेवणा-कुसीले वि। कसायकुसीले णं पुच्छा? गोयमा ! सकसायी होज्जा, णो अकसायी होज्जा। जइ सकसायी होज्जा से णं भंते ! कइसु कसाएसु होज्जा? गोयमा ! चउसु वा तिसु वा दोसु वा एगम्मि वा होज्जा। चउसु होज्जमाणे चउसु संजलणकोहमाण-मायालोभेसु होज्जा। तिसु होज्जमाणे तिसु संजलणमाणमा-यालोभेसु होज्जा। दोसु होज्जमाणे दोसु संजलणमायालोभेसु होज्जा। एगम्मि होज्जमाणे एगम्मि संजलणलोभेसु होज्जा। णियंठे णं पुच्छा? गोयमा ! णो सकसायी होज्जा, अकसायी होज्जा। जइ अकसायी होज्जा किं उवसंतकसायी होज्जा, खीणकसायी होज्जा? गोयमा ! उवसंतकसायी वा होज्जा, खीणकसायी वा होज्जा। सिणाए एवं चेव, णवरं णो उवसंतकसायी होज्जा, खीणकसायी होज्जा ॥१८॥

(सकसायी होज्ज त्ति) पुलाकस्य कषायाणां क्षयस्योपशमस्य वा भावात्। (तिसु होज्जमाणे इत्यादि) उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा संज्वलने क्रोधे उपशान्ते क्षीणे वा, शेषेषु त्रिषु, एवं माने विगते द्वयोर्मायायां तु विगतायां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके एकत्र लोभे भवेदिति।

(२४) लेश्याद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं सलेस्से होज्जा, अलेस्से होज्जा ? गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा। जइ सलेस्से होज्जा, से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? गोयमा ! तिसु वि सुद्धलेस्सासु होज्जा। तं जहा–तेउलेस्साए, पम्हलेस्साए, सुक्कलेस्साए। एवं वउसस्स वि। एवं पडिसेवणाकुसीले वि। कसायकुसीले पुच्छा? गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा। जइ सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा? गोयमा ! छलेस्सासु होज्जा। तं जहाकण्हलेस्साए०जाव सुक्कलेस्साए। णियंठे णं पुच्छा? गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा। जइ सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा? गोयमा! एगाए सुक्कलेस्साए होज्जा। सिणाए पुच्छा? गोयमा ! सलेस्से वा होज्जा, अलेस्से वा होज्जा। जइ सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा? गोयमा ! एगाए परमसुक्कलेस्साए होज्जा ॥१९॥

(तिसु वि सुद्धलेस्सासु त्ति) भावलेश्यापेक्षया प्रशस्तासु तिसृषु पुलाकाऽऽदयस्त्रयो भवन्ति। कषायकुशीलस्तु षट्स्वपि सकषा-यमेवाऽऽश्रित्य ''पुव्वपडिवण्णओ पुण अण्णयरीए लेस्साए'' इत्येतदुक्तमिति सम्भाव्यते। (एक्काए परमसुक्कलेस्साए त्ति) शुक्ल-ध्यानतृतीयभेदावसरे या लेश्या। सा परमशुक्ला, अन्यदा तु शुक्लैव, साऽपीतरजीवशुक्ललेश्याऽपेक्षया स्नातकस्य परमशु–क्लेति।

(२५) परिणामद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा, किं हीयमाण–परिणामे होज्जा, अवट्ठियपरिणामे होज्जा? गोयमा ! वड्ढमाण–परिणामे वा होज्जा, हीयमाणपरिणामे वा होज्जा, अवट्ठियपरि–णामे वा होज्जा। एवं०जाव कसायकुसीले। णियंठे णं पुच्छा ? गोयमा ! वड्ढमाणपरिणामे होज्जा, णो हीयमाणपरिणामे होज्जा, अवट्ठियपरिणामे होज्जा। एवं सिणाए वि ॥

(वड्ढमाणपरिणामेत्यादि) तत्र वर्द्धमानःशुद्धेरुत्कर्षं गच्छन्, हीयमानस्त्वपकर्षं गच्छन्, अवस्थितस्तु स्थिर इति। तत्र निर्ग्र–

न्थो हीयमानपरिणामो न भवति, तस्य परिणामहानौ कषायकुशीलव्यपदेशात्। स्नातकस्तु हानिकारणाभावान्न हीयमानपरिणामः स्यादिति।

(२६) परिणामाधिकारादेवेदमाह–

पुलाए णं भंते ! केवइयं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा? गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं। केवइयं कालं हीयमाणपरिणामे होज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं। केवइयं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं सत्त समया। एवं० जाव कसायकुसीले वि। णियंठे णं भंते ! केवइयं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं। केवइयं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं। सिणाए णं भंते ! केवइयं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेणं वि अंतो मुहुत्तं। केवइयं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणाई पुव्वकोडी॥२०॥

(पुलाए णमित्यादि) तत्र पुलाको वर्द्धमानपरिणामकाले कषायविशेषेण बाधिते तस्मिंस्तस्यैकाऽऽदिकं समयमनुभवतीत्यत उच्यते– जघन्येनैकं समयमिति। (उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं ति) एतत्स्वभावत्वाद्वर्द्धमानपरिणामस्येति। एवं वकुशप्रतिसेवनाकुशीलकषायकुशीलेष्वपि, नवरं वकुशाऽऽदीनां जघन्यत एकसमयता मरणादपीष्टा, न पुनः पुलाकस्य, पुलाकस्य पुलाकत्वे मरणाभावात्। स हि मरणकाले कषायकुशीलत्वाऽऽदिनाा परिणमति, यच्च प्राक् पुलाकस्य कालगमनं, तद् भूतभावापेक्षयेति। निर्ग्रन्थो जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तं वर्द्धमानपरिणामः स्यात्, केवलज्ञानोत्पत्तौ परिणामान्तरभावात्, अवस्थितपरिणामः पुनः निर्ग्रन्थस्य जघन्यत एकं समयं मरणात्स्यादिति। (सिणाए णं भंते ! इत्यादि) स्नातको जघन्येतराभ्यामन्तर्मुहूर्तं वर्द्धमानपरिणामः, शैलेश्यां तस्यास्तत्प्रमाणत्वात्। अवस्थितपरिणामकालेऽपि जघन्यतस्तस्यान्तर्मुहूर्तम्। कथम्? उच्यतेयः केवलज्ञानोत्पादानन्तरमन्तर्मुहूर्तमवस्थितपरिणामो भूत्वा शैलेशीं प्रपद्यते तदपेक्षयेति। (उक्कोसेणं देसूणाई पुव्वकोडी ति) पूर्वकोट्यायुषः पुरुषस्य जन्मतो जघन्येन नवसु वर्षेष्वतिगतेषु केवलज्ञानमुत्पद्यते, ततोऽसौ तदूनां पूर्वकोटीमवस्थितपरिणामः शैलेशीं यावद्विहरति, शैलेश्यां च वर्द्धमानपरिणामः स्यादित्येवं देशोनामिति॥

(२७) बन्धद्वारे–

पुलाए णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ बंधइ? गोयमा ! आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधइ। वउसे पुच्छा ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठवि हबंधए वा सत्त बंधमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधइ, अट्ठबंधमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ। एवं पडिसेवणाकुसीले वि। कसायकुसीले णं पुच्छा ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा, अट्ठविहबंधए वा, छव्विहबंधए वा, सत्तबंधमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधइ, अट्ठ बंधमाो पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ। छबंधमाणे आउयमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मपगडीओ बंधइ। णियंठे णं पुच्छा ? गोयमा ! एगे वेयणिज्जं कम्मं बंधइ। सिणाए णं पुच्छा ? गोयमा ! एगविहबंधए वा, अबंधए वा। एगबंधमाणे एगं वेयणिज्जं कम्मं बंधइ॥२१॥

(आउयवज्जाओ त्ति) पुलाकस्याऽऽयुर्बन्धो नास्ति, तद्बन्धाध्यवसायस्थानानां तस्याभावादिति। (वउसे इत्यादि) त्रिभागाऽऽद्यवशेषाऽऽयुषो हि जीवा आयुर्बध्नन्तीति। त्रिभागद्वयाऽऽदौ तन्न बध्नन्तीति कृत्वा वकुशाऽऽदयः सप्तानामष्टानां वा कर्मणां बन्धका भवन्तीति। (छबंधमाणे इत्यादि) कषायकुशीलो हि सूक्ष्मसंपरायत्वे आयुर्न बध्नाति, अप्रमत्तान्तत्वात् तद् बन्धस्य, मोहनीयं च बादरकषायोदयाभावान्न बध्नातीति शेषाः षडेवेति। (एगे वेयणिज्जं ति) निर्ग्रन्थो वेदनीयमेव बध्नाति बन्धहेतुषु योगानामेव सद्भावात्। (अबंधए व त्ति) अयोगी बन्धहेतुनां सर्वेषामभावादबन्धक एवेति॥

(२८) वेदनद्वारे–

पुलाए णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ वेदेइ? गोयमा ! णियमं अट्ठ कम्मपगडीओ वेदेइ, एवं०जाव कसायकुसीले। णियंठे णं पुच्छा ? गोयमा ! मोहणिज्जवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ। सिणाए णं पुच्छा ? गोयमा ! वेयणिज्जआउयणामगुत्ताओ चत्तारि कम्मपगडीओ वेदेइ॥२२॥

(मोहणिज्जवज्जाओ त्ति) निर्ग्रन्थो हि मोहनीयं न वेदयति, तस्योपशान्तत्वात् क्षीणत्वाद् वा। स्नातकस्य तु घातिकर्म्मणां क्षीणत्वाद्वेदनीयाऽऽदीनामेव वेदनमत उच्यते– (वेयणिज्जेत्यादि)

(२९) उदीरणाद्वारे–

पुलाए णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ उदीरेइ ? गोयमा ! आउयवेयणिज्जवज्जाओ ब कम्मपगडीओ उदीरेइ। वउसे णं पुच्छा ? गोयमा ! सत्तविहउदीरए वा, अट्ठविहउदीरए वा, छव्विहउदीरए वा, सत्तविहउदीरेमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ उदीरेइ, अट्ठविहउदीरेमाणे परिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ उदीरेइ, छव्विहउदीरेमाणे आउयवेयणिज्जवज्जाओ छकम्मपगडीओ उदीरेइ। पडिसेवणाकुसीले एवं चेव। कसायकुसीले पुच्छा? गोयमा ! सत्तविहउदीरए वा, अट्ठविह उदीरए वा, छव्विहउदीरए वा, पंचविहउदीरए वा, सत्त विहउदीरेमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ उदीरेइ, अट्ठउदीरेमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ उदीरेइ, छ उदीरेमाणे आउ-यवेयणिज्जवज्जाओ छकम्मपगडीओ उदीरेइ। पंच उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जमोहणिज्जवज्जाओ पंच कम्मपगडीओ उदीरेति। णियंठे

णं पुच्छा ? गोयमा ! पंचविहउदीरए वा, दुविहउदीरए वा, पंच उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जमोहणिज्जवज्जाओ पंच कम्मपगडीओ उदीरेइ, दो उदीरेमाणे णामं च गोयं च उदीरेइ। सिणाए णं पुच्छा ? गोयमा ! दुविह उदीरए वा, अणदीरए वा, दो उदीरेमाणे णामं च गोयं च उदीरेति ॥२३॥

(आउयवेयणिज्जवज्जाओ त्ति) अयमर्थः–पुलाक आयुर्वेदनीयप्रकृतीर्नोदीरयति, तथाविधाध्यवसायस्थानाभावात्, किंतु पूर्वं ते उदीर्य पुलाकतां गच्छति, एवमुत्तरत्रापि यो याः प्रकृतीर्नोदीरयति स ताः पूर्वमुदीर्य वकुशाऽऽदितां प्राप्नोति, स्नातकः सयोग्यवस्थायां तु नामगोत्रयोरेवोदीरकः, आयुर्वेदनीये तु पूर्वोदीर्णे एव, अयोग्यवस्थायां त्वनुदीरक एवेति।

(३०) 'उवसंपज्जहण्ण त्ति' द्वारे–

पुलाए णं भंते ! पुलायत्तं जहमाणे किं जहति, किं उवसंपज्जइ? गोयमा ! पुलायत्तं जहति, कसायकुसीलं वा असंजमं वा उवसंपज्जइ। वउसे णं भंते ! वउसत्तं जहमाणे किं जहति, किं उवसंपज्जइ। गोयमा ! वउसत्तं जहति, पडिसेवणाकुसीलं वा कसायकुसीलं वा असंजमं वा संजमा संजमं वा उवसंपज्जइ। पडिसेवणाकुसीले णं भंते ! पुच्छा? गोयमा ! पडिसेवणाकुसीलत्तं जहति, वउसं वा कसायकुसीलं वा असंजमं वा संजमासंजमं वा उवसंपज्जइ। कसायकुसीले पुच्छा ? गोयमा! कसायकुसीलत्तं जहति, पुलायं वा वउसं वा पडिसेवणाकुसीलं वा णियंठं वा असंजमं वा संजमासंजमं वा उवसंपज्जइ! णियंठे णं पुच्छा ? गोयमा ! णियंठत्तं जहति, कसायकुसीलं वा सिणातं वा असंजमं वा उवसंपज्जइ। सिणाए णं पुच्छा ? गोयमा ! सिणायत्तं जहति, सिद्धगतिं उवसंपज्जइ ॥२४॥

उपसम्पदुपसम्पत्तिः प्राप्तिः। (जहण्ण त्ति) हानं त्यागः, उपसं– पद्य हानं च उपसंपद्धानं, किं, पुलाकत्वाऽऽदि त्यक्त्वा, किं, ककषायत्वाऽऽदिकमुपसम्पद्यते इत्यर्थः। तत्र (पुलाए णमित्यादि) पुलाकः पुलाकत्वं त्यक्त्वा संयतः कषायकुशील एव भवति, तत्सदृशसंयमस्थानतस्तद्भावात्। एवं यस्य यत्सदृशानि संयमस्थानानि सन्ति, स तद्भावमुपसम्पद्यते, मुक्त्वा कषायकुशीलाऽऽदीन्। कषायकुशीलो हि विद्यमानस्वसदृशसंयमस्थानकान्युलाकाऽऽदिभावानुपसम्पद्यते, अविद्यमानसमानसंयमस्थानकं च निर्ग्रन्थभावम्, निर्ग्रन्थस्तु कषायित्वं वा स्नातकत्वं वा याति, स्नातकस्तु सिद्धयत्येवेति। निर्ग्रन्थसूत्रे– ''कसायकुसीले वा, सिणायं वा।'' इह भावप्रत्ययलोपात्कषायकुशीलत्वमित्यादि दृश्यम्। एवं पूर्वसूत्रेष्वपि। तत्रोपशमनिर्ग्रन्थः श्रेणीतः प्रच्यवमानः सकषायो भवति, श्रेणीमस्तके तु मृतोऽसौ देवत्वेनोत्पन्नोऽसंयतो भवति नोसंयतासंयतो, देवत्वे तदभावात्। यद्यपि च श्रेणिपतितोऽसौ संयतासंयतोऽपि भवति, तथाऽपि नासाविहोक्तः, अनन्तरतया तदभावादिति।

(३१) संज्ञाद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं सण्णोवउत्ते होज्जा, णो सण्णो वउत्ते होज्जा? गोयमा ! णो सण्णोवउत्ते होज्जा। वउसे णं भंते ! पुच्छा? गोयमा ! सण्णोवउत्ते होज्जा, णो सण्णोवउत्ते होज्जा। एवं पडिसेवणाकुसीले वि। एवं कसायकुसीले वि। णियंठे, सिणाए य जहा पुलाए ॥२५॥

(सण्णोवउत्ते त्ति) इह संज्ञा आहाराऽऽदिसंज्ञा, तत्रोपयुक्तः कथञ्चिदाहाराऽऽद्यभिष्वङ्गवान् संज्ञोपयुक्तः, नो संज्ञोपयुक्तस्तु आहाराऽऽद्युपभोगेऽपि तत्रानभिषक्तः, तत्र पुलाकनिर्ग्रन्थस्नातका नो संज्ञोपयुक्ता भवन्त्याहाराऽऽदिष्वनभिष्वङ्गात्। ननु निर्ग्रन्थस्नातकावेवं युक्तौ, वीतरागत्वात्, न तु पुलाकः, सरागत्वात्, नैवं, न हि सरागत्वे निरभिष्वङ्गता सर्वथा नाऽस्तीति वक्तुं शक्यते, वकुशाऽऽदीनां सरागत्वेऽपि निःसङ्गताया अप्रतिपादितत्वात्। चूर्णिकारस्त्वाह–''नो सण्णा नाणसण्ण त्ति।'' तत्र च पुलाकनिर्ग्रन्थस्नातका नोसंज्ञोपयुक्ता ज्ञानप्रधानोपयोगवन्तो न पुनराहाराऽऽदिसंज्ञोपयुक्ताः। वकुशाऽऽदयस्तूभयथाऽपि तथाविधसंयमस्थानस्वभावादिति।

(३२) आहारकद्वारे–

पुलाए णं भंते ! किं आहारए होज्जा, अणाहारए होज्जा? गोयमा! आहारए होज्जा, णो अणाहारए होज्जा। एवं०जाव णियंठे। सिणाए णं पुच्छा ? गोयमा ! आहारए वा होज्जा, अणाहारए वा होज्जा ॥२६॥

(आहारए होज्ज त्ति) पुलाकाऽऽदिनिर्ग्रन्थान्तस्य विग्रहगत्वादीनामनाहारकत्वकारणानामभावादाहारकत्वमेव। (सिणाए इत्यादि) स्नातकः केवलिसमुद्घाते तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेष्वयोग्यवस्थायां चानाहारकः स्यात्, ततोऽन्यत्र पुनराहारक इति।

(३३) भवद्वारे–

पुलाए णं भंते ! कइ भवग्गहणाइं होज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं भवग्गहणं, उक्कोसेणं तिण्णि। वउसे णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं, उक्कोसेणं अट्ठ। एवं पडिसेवणाकुसीले वि। एवं कसायकुसीले वि। णियंठे जहा पुलाए। सिणाए णं पुच्छा ? गोयमा ! एक्कं ॥२७॥

(पुलाए णमित्यादि) पुलाको जघन्यत एकस्मिन् भवग्रहणे भूत्वा कषायकुशीलत्वाऽऽदिकं संयतत्वानन्तरमेकशोऽनेकशो वा तत्रैव भवे भवान्तरे वाऽवाप्य सिद्धयति, उत्कृष्टतस्तु देवाऽऽदिभवान्तरितान् त्रीन् भवान् पुलाकत्वमवाप्नोति। (वउसेत्यादि) इह कश्चिदेकत्र भवे वकुशत्वमवाप्य कषायकुशीलत्वाऽऽदि च सिद्धयति, कश्चित्त्वेकत्रैव वकुशत्वमवाप्य भवान्तरेषु तदन्यान्येवं सिद्धयतीत्यत उच्यते–(जहण्णेणं एक्कं भवग्गहणं उक्कोसेणं अट्ठ त्ति) किलाऽष्टौ भवग्रहणान्युत्कर्षतया चरणमात्रमवाप्यते, तत्र कश्चित् तान्यष्टौ वकुशतया पर्यन्तिमभवे सकषायत्वाऽऽदियुक्तया, कश्चित्तु प्रतिभवं प्रतिसेवनाकुशीलत्वाऽऽदियुक्तया पूरयतीत्यत उच्यते–(उक्कोसेणं अट्ठ त्ति)

(३४) अथाऽऽकर्षद्वारम्–

पुलागस्स णं भंते ! एगभवग्गहणिया केवइया आगरिसा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्को, उक्कोसेणं तिण्णि। वउसस्स णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्को, उक्कोसे–

णं सयग्गसो । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले एवं चेव । णियंठस्स णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्को, उक्कोसेणं दोण्णि । सिणातस्स णं पुच्छा ? गोयमा ! एक्को० । पुलागस्स णं भंते ! णाणाभवग्गहणिया आगरिसा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं दोण्णि, उक्कोसेणं सत्त । बउसस्स णं पुच्छा ? गोयमा! जहण्णेणं दोण्णि, उक्कोसेणं सहस्सग्गसो । एवं०जाव कसाय-कुसीलस्स । णियंठस्स णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं दोण्णि, उक्कोसेणं पंच । सिणा तस्स णं पुच्छा ? णो एक्को वि ॥२८॥

तत्राऽऽकर्षणमाकर्षः, चारित्रस्य प्राप्तिरिति । (एगभवग्गहणिय त्ति) एकभवग्रहणे ये भवन्ति । (सयग्गसो त्ति) शतपरिमाणेनेत्यर्थः । शतपृथक्त्वमिति भावना । उक्तं च– ''तिण्हसहस्सपुहत्तं, सयपुहत्तं च होइए त्ति ।'' (उक्कोसेणं दोण्णि त्ति) एकत्र भवे वारद्वयमुपशमश्रेणिकरणादुपशमनिर्ग्रन्थत्वस्य द्वावाकर्षाविति । (पुलागस्सेत्यादि) (नाणाभवग्गहणिय त्ति) नानाप्रकारेषु भवग्रहणेषु ये भवन्तीत्यर्थः । (जहण्णेणं दोण्णि त्ति) एक आकर्ष एकत्र भवे, द्वितीयोऽन्यत्रेत्येवमनेकत्र भवे आकर्षा स्याताम् । (उक्कोसेणं सत्त त्ति) पुलाकत्वमुत्कर्षतस्त्रिषु भवेषु स्यात्, एकत्र च तदुत्कर्षतो वारत्रयं भवति । ततश्च प्रथमभवे एक आकर्षोऽन्यत्र च भवद्वये त्रयस्त्रय इत्यादिभिर्विकल्पैः सप्त ते भवन्तीति । (बउसस्सेत्यादि) (उक्कोसेणं सहस्सग्गसो त्ति) बकुशस्याष्टौ भवग्रहणान्युत्कर्षत उक्तानि, एकत्र च भवग्रहणे उत्कर्षत आकर्षशतपृथक्त्वमुक्तम्, तत्र च यदाऽष्टास्वपि भवग्रहणेषूत्कर्षतो नव प्रत्येकमाकर्षशतानि भवन्ति, तदा नवानां शतानामष्टाभिर्गुणनात्सप्त सहस्राणि शतद्वयाधिकानि भवन्तीति । (नियंठस्सेत्यादि) (उक्कोणं पंच त्ति) निर्ग्रन्थस्योत्कर्षतस्त्रीणि भवग्रहणान्युक्तानि, एकत्र च भवे द्वावाकर्षावित्येवमेकत्र द्वावन्यत्र च द्वावपरत्रचैकं क्षपकनिर्ग्रन्थत्वाकर्षं कृत्वा सिद्ध्यतीति कृत्वोच्यते पञ्चेति ।

(३५) कालद्वारे–

पुलाए णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ?गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतो मुहुत्तं । बउसे णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणाइं पुव्वकोडी । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले वि एवं चेव । णियंठे णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं। सिणाए णं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणाइं पुव्वकोडी । पुलागस्स णं भंते ! कालओ केव चिरं होइ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतो मुहूत्तं । बउसा णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! सव्वद्धं एवं०जाव कसाय-कुसीला । णियंठा जहा पुलागा । सिणाता जहा बउसा ॥२९॥

(पुलाए णमित्यादि) (जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं ति) पुलाकत्वं प्रतिपन्नोऽन्तर्मुहूर्त्तापरिपूर्तो पुलाको न म्रियते, नाऽपि प्रतिपततीति कृत्वा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमित्युच्यते, उत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेतत्प्रमाणत्वादेतत्स्वभावस्येति । (बउसेत्यादि) (जहण्णेणमेक्कं समयं ति) बकुशस्य चरणप्रतिपत्त्यनन्तरसमय एव मरणसंभवादिति । (उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडि त्ति) पूर्व कोट्यायुषोऽष्टवर्षान्ते चरणप्रतिपत्ताविति । (नियंठे णमित्यादि) (जहण्णेणं एक्कं समयं ति) उपशान्तमोहस्य प्रथमसमयसमनन्तरमेव मरणसम्भवात् । (उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं ति) निर्ग्रन्थाद्धाया एतत्प्रमाणत्वादिति । (सिणायेत्यादि) (जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं ति) आयुष्कान्तिमान्तर्मुहूर्त्तं केवलोत्पत्तावन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यतः स्नातककालः स्यादिति । पुलाकाऽऽदीनामेकत्वेन कालमानमुक्तम् । अथ पृथक्त्वेनाऽऽह–(पुलागस्सा णमित्यादि) जघन्येनैकं समयमिति । कथम्? एकस्य पुलाकस्य योऽन्तर्मुहूर्त्तकालस्यान्त्यसमयेऽन्यपुलाकत्वं प्रतिपन्न इत्येवं जघन्यत्वविवक्षायां द्वयोः पुलाकयोरेकत्र समये सद्भावो, द्वित्वे च जघन्यं पृथक्त्वं भवतीति । (उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं ति) यद्यपि पुलाका उत्कर्षत एकदा सहस्रपृथक्त्वपरिमाणाः प्राप्यन्ते, तथाऽप्यन्तर्मुहूर्त्तत्वात्तदद्धाया बहुत्वेऽपि तेषामन्तर्मुहूर्त्तमेव तत्कालः, केवलं बहूनां स्थितौ यदन्तर्मुहूर्त्तं तदेकपुलाकस्थित्यन्तर्मुहूर्त्तान्महत्तरमित्यवसेयम् । बकुशाऽऽदीनां तु स्थितिकालः सर्वाद्धा, प्रत्येकं तेषां बहुस्थितिकत्वादिति । (नियंठा जहा पुलाग त्ति) । तच्चैवम्–जघन्यत एकं समयम्, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति ।

(३६) अन्तरद्वारे–

पुलागस्स णं भंते ! केवइयं कालं अंतरं होइ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं । अणंताओ ओसप्पिणीउस्सप्पिणीओ कालओ खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं, एवं०जाव णियंठस्स । सिणायस्स णं पुच्छा ? णत्थि अंतरं । पुलागा णं भंते ! केवइयं कालं अंतरं होइ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वासाइं । बउसाणं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! णत्थि अंतरं, एवं०जाव कसायकुसीलाणं । णियंठाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा । सिणायाणं जहा बउसाणं ॥३०॥

(पुलागस्स णमित्यादि) तत्र पुलाकः पुलाको भूत्वा कियता कालेन पुलाकत्वमापद्यते? उच्यते–जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनः पुलाक एव भवति, उत्कर्षतः पुनरनन्तेन कालेन पुलाकत्वमाप्नोति । कालानन्त्यमेव कालतो नियमयन्नाह– (अणंताओ इत्यादि) इदमेव क्षेत्रतोऽपि नियमयन्नाह– (खेत्तओ इति) स चानन्तः कालः क्षेत्रतो मीयमानः किं मानः? इत्याह–(अवड्ढमित्यादि) तत्र पुद्गलपरावर्त एवं श्रूयतेकिल केनाऽपि प्राणिना प्रतिपदेशं म्रियमाणेन मरणैर्यावता कालेन लोकः समस्तोऽपि व्याप्यते, तावता क्षेत्रतः पुद्गल परावर्तो भवति । स च परिपूर्णोऽपि स्यादत आह– अपार्द्धमपगतार्द्धम्, अर्द्धमात्रमित्यर्थः । अपार्द्धोऽप्यर्द्धतः पूर्णः स्यादतः आह– (देसूणं ति) देशेन भागेन न्यूनमिति । (सिणायस्स नत्थि अंतर त्ति) प्रतिपाताभावात् । एकत्वापेक्षया पुलाकत्वाऽऽदीनामन्तरमुक्तम् । अथ पृथक्त्वापेक्षया तदेवाऽऽह– (पुलाया णमित्यादि) व्यक्तम् ।

(३७) समुद्घातद्वारे–

पुलागस्स णं भंते ! कइ समुग्घाया पण्णत्ता ? गोयमा ! ति–

ण्णि समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा–वेयणासमुग्घाए, कसाय–समुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए । वउसस्स णं भंते ! पुच्छा? गोयमा ! पंच समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा–वेयणासमुग्घाए, ०जाव तेयासमुग्घाए । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीलस्स पुच्छा? गोयमा ! छ समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा–वेयणासमुग्घाए, ०जाव आहारगसमुग्घाए । णियंठस्स णं पुच्छा? गोयमा ! णत्थि एक्को वि । सिणायस्स णं पुच्छा ? गोयमा ! एगे केवलिसमुग्घाए पण्णत्ते ॥३१॥

(कसायसमुग्घाए इत्यादि) चारित्रवतां संज्वलनकषायोदयसम्भवेन कषायसमुद्घातो भवतीति। (मारणंतियसमुग्घाए त्ति) इह च पुलाकस्य मरणाभावेऽपि मारणान्तिकसमुद्घातो न विरुद्धः, समुद्घातान्निवृत्तस्य कषायकुशीलत्वाऽऽदिपरिणामे सति मरणाभावात्। (नियंठस्स त्ति) (नऽत्थि एक्को वि त्ति) तथास्वभावत्वादिति।

(३८) अथ क्षेत्रद्वारम्–

पुलाए णं भंते ! लोगस्स किं संखेज्जइभागे होज्जा, असंखेज्जइलोगे होज्जा, संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, सव्वलोए होज्जा? गोयमा ! णो संखेज्जइभागे होज्जा, असंखेज्जइभागे होज्जा, णो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, णो सव्वलोए होज्जा । एवं०जाव णियंठे । सिणाए णं पुच्छा ? गोयमा ! णो संखेज्जइभागे होज्जा, असंखेज्जइभागे होज्जा, णो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, सव्वलोए वा होज्जा ॥३२॥

तत्र क्षेत्रमवगाहनाक्षेत्रं, तत्र (असंखेज्जइभागे होज्ज त्ति) पुलाकशरीरस्य लोकासङ्ख्येयभागमात्रावगाहित्वात्। (सिणाए णमित्यादि) (असंखेज्जइभागे होज्ज त्ति) शरीरस्थो दण्डकपाटकरणकाले च लोकासङ्ख्येयभागवृत्तिः, केवलिशरीराऽऽदीनां तावन्मात्रत्वात्। (असंखेज्जेसु भागेसु त्ति) मथिकरणकाले बहोर्लोकस्य व्याप्तत्वेन स्तोकस्य चाव्याप्ततयोक्तत्वाल्लोकस्यासङ्ख्येयेषु भागेषु स्नातको वर्तते, लोकापूरणे च सर्वलोके वर्तत इति ॥३२॥

(३९) स्पर्शनाद्वारे--

पुलाए णं भंते ! सव्वलोगस्स किं संखेज्जइभागं फुसइ, असंखेज्जइभागं फुसइ, एवं जहा ओगाहणा भणिया, तहा फुसणा वि भाणियव्वा०जाव सिणाए ॥३३॥

स्पर्शना क्षेत्रवन्नवरं क्षेत्रमवगाढमात्रं, स्पर्शनान्त्ववगाढस्य तत्पार्श्ववर्तिनश्चेति विशेषः ॥३३॥

(४०) भावद्वारे–

पुलाए णं भंते ! कयरम्मि भावे होज्जा ? गोयमा ! खओवसमिए भावे होज्जा, एवं०जाव कसायकुसीले । णियंठे पुच्छा? गोयमा ! उवसमिए वा, खइए वा भावे होज्जा । सिणाए पुच्छा? गोयमा ! खइए भावे होज्जा ॥३४॥

भावद्वारं व्यक्तमेव।

(४१) परिमाणद्वारे–

पुलाया णं भंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा ? गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सयपुहत्तं । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सहस्सपुहत्तं । वउसा णं भंते ! एगसमएणं पुच्छा ? गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सयपुहत्तं । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च जहण्णेणं कोडि–सयपुहत्तं, उक्कोसेण वि कोडिसयपुहत्तं । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीला णं पुच्छा ? गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं कोडिसहस्सपुहत्तं । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च जहण्णेणं कोडिसहस्सपुहत्तं, उक्कोसेण वि कोडिसहस्सपुहत्तं। णियंठा णं पुच्छा ? गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं वावट्ठं सतं, अट्ठसयं खवगाणं चउपण्णं उवसमगाणं। पुव्वपडिवण्णए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जह अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सतपुहत्तं । सिणाता णं पुच्छा ? गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं अट्ठसयं । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च जहण्णेणं कोडिपुहत्तं, उक्कोसेण वि कोडिपुहत्तं ॥३५॥

(पुलाया णमित्यादि) ननु सर्वसंयतानां कोटिसहस्रपृथक्त्वं श्रूयते । इह तु केवलानामेव कषाकुशीलानां तदुक्तं, ततः पुलाकाऽऽदिमानानि ततोऽतिरिच्यन्त इति कथं न विरोधः? उच्यते–कषायकुशीलानां यत्कोटिसहस्रपृथक्त्वं, तद् द्विनाऽऽदिकोटिसहस्ररूपं कल्पयित्वा पुलाकवकुशाऽऽदिसङ्ख्या तत्र प्रवेश्यते, ततः समस्तं संयतमानं यदुक्तं, तन्नातिरिच्यत इति।

(४२) अल्पबहुत्वद्वारे–

एएसि णं भंते ! पुलागवउसपडिसेवणाकुसीलकसायकुसीलणियंठसिणाताणं कयरे कयरे०जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा णियंठा, पुलागा संखेज्जगुणा, सिणाया संखेज्जगुणा, वउसा संखेज्जगुणा, पडिसेवणाकुसीला संखेज्जगुणा, कसायकुसीला संखेज्जगुणा ॥३६॥

(सव्वत्थोवा णियंठ त्ति) तेषामुत्कर्षतोऽपि शतपृथक्त्वसङ्ख्यत्वात्। (पुलागा संखेज्जगुण त्ति) तेषामुत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वसङ्ख्यत्वात्। (सिणाया संखेज्जगुण त्ति) तेषामुत्कर्षतः कोटिपृथक्त्वमानत्वात्। (वउसा संखेज्जगुण त्ति) तेषामुत्कर्षतः कोटिशतपृथक्त्वमानत्वात्। (पडिसेवणाकुसीला संखेज्जगु–

ण त्ति) कथमेतत्? तेषामप्युत्कर्षतः कोटिशतपृथक्त्वमानतयोक्तत्वात्, सत्यम्, किन्तु वकुशानां यत्कोटिशतपृथक्त्वं तद् द्वित्राऽऽदिकोटिशतमानं, प्रतिसेविनां तु कोटिशतपृथक्त्वं चतुःषट्कोटिशतमानमिति न विरोधः। कषायिणां तु सङ्ख्यातगुणत्वं व्यक्तमेव, उत्कर्षतः कोटिसहस्रपृथक्त्वमानतया तेषामुक्तत्वादिति। भ० २५ श०६ उ० उत्त०। ('अणगारधम्म' शब्दे प्र०भा० २७६ पृष्ठे, 'समणधम्म' शब्दे च क्षान्त्यादिर्निर्ग्रन्थधर्मो दृश्यः)

(४३)**चत्तारि णिग्गंथा पण्णत्ता। तं जहा–रायणिए समणे णिग्गंथे महाकम्मे महाकिरिए अणायावी असमिए धम्मस्स अणाराहए भवइ १, रायणिए समणे णिग्गंथे अप्पकम्मे अप्प–किरिए आयावी समिए धम्मस्स आराहए भवइ २, ओमरायणिए समणे णिग्गंथे महाकम्मे महाकिरिए अणायावी असमिए धम्म–स्स अणाराहए भवइ ३, ओमरावणिए समणे णिग्गंथे अप्पकम्मे अप्पकिरिए आयावी समिए धम्मस्स आराहए भवइ ४।**

निगर्ता बाह्याभ्यन्तरग्रन्थाद् निर्ग्रन्थाः साधवः, रत्नानि भावतो ज्ञानाऽऽदीनि, तैर्व्यवहरतीति रात्निकः, पर्यायज्येष्ठ इत्यर्थः, श्रमणो निर्ग्रन्थो, महान्ति गुरूणि स्थित्यादिभिस्तथाविधप्रमाणाऽऽद्यभिव्यङ्ग्यानि कर्माणि यस्य स महाकर्मा। महती क्रिया कायिक्यादिका कर्मबन्धहेतुर्यस्य स महाक्रियः, न आतापयति आतापनां शीताऽऽदिसहनरूपां करोतीत्यनातापी, मन्दश्रद्धत्वादिति। अत एवासमितः समितिभिः। स चैवंभूतो धर्मस्यानाराधको भवतीत्येकः। अन्यस्तु पर्यायज्येष्ठ एवाल्पकर्मा लघुकर्माऽल्पक्रिय इति द्वितीयः। अन्यस्तु अवमो लघुः पर्यायेण रात्निकोऽवमरात्निकः। स्था०४ ठा०३उ०। निर्गतो मोहनीयकर्मलक्षणाद् ग्रन्थादिति निर्ग्रन्थः। निर्ग्रन्थभेदे, भ० २५ श०६ उ० प्रव०।

(४४) स च पञ्चविधः प्रथमसमयाऽऽदिः–

णियंठे पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा–पढमसमयणियंठे, अपढमसमयणियंठे, चरिमसमयणियंठे, अचरिमसमयणियंठे, अहासुहुमणियंठे णामं पंचमे।

निर्गतो ग्रन्थान्मोहनीयाऽऽख्यान्निर्ग्रन्थः क्षीणाकषाय उपशान्तमोहो वा, क्षालितसकलघातिकर्ममलपटलत्वात्। स्था०५ ठा०३ उ०।

(४५) तओ ठाणा णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अहियाए असुहाए अक्खमाए अणिस्सेयसाए अणाणुगामियत्ताए भवइ। तं जहा–कूअणया, कक्करणया, अवज्झाणया। तओ ठाणा णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा हियाए सुहाए खमाए णिस्सेयसाए, अणुगामियत्ताए भवइ। तं जहाअकूयणया, अकक्करणया, अणवज्झाणया।

''तओ'' इत्यादि स्पष्टम्। किन्तु अहिताय अपथ्याय, असुखाय दुःखाय, अक्षमाय अयुक्तत्वाय, अनिःश्रेयसाय अमोक्षाय, अनानुगामिकत्वाय न शुभानुबन्धायेति। कूजनता आर्तस्वरकरणम्, कर्करणता शय्योपध्यादिदोषोद्भावनगर्भप्रलपनम्। अपध्यानता आर्तरौद्रध्यायित्वमिति। उक्तविपर्ययसूत्रं व्यक्तमेव। स्था०३ ठा०३ उ०। (निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनामेकत्र संवसनं 'संवास' शब्दे निषेत्स्यते)

निर्ग्रन्थशब्दस्थविषयसूची–

(१) निर्ग्रन्थशब्दव्याख्यायामहिरण्यसुवर्णकपदोपादानेन बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहशून्यत्वं निर्ग्रन्थस्य लक्षणमुक्तम्।

(२) क्रोधाऽऽदेर्निर्गमानिर्गमाभ्यां क्षपकश्रेणिमुपकल्प्य निग्रन्थविचारः।

(३) ये कषायैर्मुक्ता निर्ग्रन्थास्तेषां कषायाणां क्षयकरणायोद्यतत्वेन निग्रहपरमत्वं प्रसाध्य, सतामपि कषायाणामसत्कल्पनाकरणात् सरागसंयतत्वेन निर्ग्रन्थत्वाभिधानम्।

(४) निर्ग्रन्थनिक्षेपे नामस्थापनाद्रव्यभावानां मध्ये द्रव्यस्यागमनो आगमभेदेन निर्ग्रन्थत्रैविध्यं प्ररूप्य, ज्ञशरीरभव्यशरीराऽऽदिप्ररूपणम्।

(५) पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकभेदेन पञ्चविधनिर्ग्रन्थस्वरूपं निरूप्य, निर्ग्रन्थानां नोसंज्ञोपयुक्तत्वेन पुलाकाऽऽदिभेदत्रयप्ररूपणानन्तरं संज्ञनोसंज्ञोपयुक्तत्वेन वकुशाऽऽदिभेदत्रयप्ररूपणम्।

(६) पुलाकाऽऽदयः पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा यैः साध्या भवन्ति, तेषां निरूपणाय द्वारगाथाः।

(७) वेदद्वारेपुलाकाऽऽदीनां स्त्रीपुन्नपुंसकवेदत्वप्ररूपणम्।

(८) रागद्वारे पुलाकाऽऽदीनां सरागवीतरागत्वविचारः, तथा कल्पद्वारे तेषां स्थितकल्पाऽऽदिविवेकः।

(९) चरित्रद्वारे पुलाकाऽऽदीनां सामायिकच्छेदोपस्थापनीयाऽऽदिविमर्शः।

(१०) प्रतिसेवनाद्वारे प्रतिसेवकाप्रतिसेवकाऽऽदिविचारः।

(११) ज्ञानद्वारे पुलाकाऽऽदीनामाभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञाननिरूपणम्।

(१२) तीर्थद्वारे पुलाकाऽऽदीनां तीर्थातीर्थविचारः।

(१३) लिङ्गद्वारे पुलाकाऽऽदीनां द्रव्यभावलिङ्गं प्रतीत्य सलिङ्गान्यलिङ्गप्ररूपणम्।

(१४) शरीरद्वारे पुलाकाऽऽदीनामौदारिकवैक्रियाऽऽहारकाऽऽदिनिरूपणा।

(१५) क्षेत्रद्वारे पुलाकाऽऽदीनां जन्मास्तिभाव प्रतीत्य, कर्मभूम्यकर्मभूमिप्ररूपणा।

(१६) कालद्वारे पुलाकाऽऽदीनामवसर्पिण्युत्सर्पिणीकालाभिधानम्।

(१७) गतिद्वारे पुलाकाऽऽदीनां देवगत्यादिनिरूपणम्।

(१८) संयमद्वारे पुलाकाऽऽदीनां संयमस्थाननिदर्शनम्।

(१९) निकर्षद्वारे पुलाकाऽऽदीनां चरित्रपर्यवानन्त्यं प्ररूप्य, परस्परेण हीनतुल्याभ्यधिकत्वकथनम्।

(२०) पर्यवाधिकारात् तेषामेव जघन्याऽऽदिभेदानां पुलाकाऽऽदिसंबन्धिनामल्पत्वाऽऽदिप्ररूपणम्।

(२१) योगद्वारे पुलाकाऽऽदीनां सयोग्ययोगित्वं प्रसाध्य, मनोवाक्काययोगित्वप्रसाधनम्।

(२२) उपयोगद्वारे पुलाकाऽऽदीनां साकारानाकारोपयुक्तत्वविचारः।

(२३) कषायद्वारे पुलाकाऽऽदीनां सकषायाकषायत्वं प्ररूप्य, क्रोधमानमायालोभाऽऽदीनां विमर्शः।

(२४) लेश्याद्वारे पुलाकाऽऽदीनां सलेश्यालेश्यत्वं निरूप्य, कृष्णशुक्लाऽऽदिलेश्यानिरूपणम्।

(२५) परिणामद्वारे पुलाकाऽऽदीनां वर्द्धमानहीयमानावस्थितपरिणामत्वप्रदर्शनम्।

(२६) परिणामाधिकारादेव जघन्योत्कर्षाऽऽदिभेदेन कालनिरूपणम्।

(२७) बन्धद्वारे पुलाकाऽऽदीनां कर्मप्रकृतिबन्धविचारः।

(२८) वेदनद्वारे तेषामेव कर्मप्रकृतिवेदविमर्शः।

(२९) उदीरणाद्वारे तेषामेव कर्मप्रकृत्युदीरणाऽध्यवसायः।

(३०) उपसंपद्धानद्वारे पुलाकाऽऽदीनां पुलाकत्वाऽऽदित्यागोपादाननिरूपणम्।

(३१) संज्ञाद्वारे पुलाकाऽऽदीनां संज्ञोपयुक्तनोसंज्ञोपयुक्तत्वविचारणम्।

(३२) आहारकद्वारे पुलाकाऽऽदीनामाहारकानाहारकत्वप्ररूपणम्।

(३३) भवद्वारे पुलाकाऽऽदीनां भवग्रहणनिरूपणम्।

(३४) आकर्षद्वारे जघन्योत्कर्षभेदेनाऽऽकर्षविमर्शः।

(३५) कालद्वारे पुलाकाऽऽदयः कियचिरं भवन्तीति प्रतिपादनम्।

(३६) अन्तरद्वारे जघन्योत्कर्षतः तेषामेवान्तरनिरूपणम्।

(३७) समुद्घातद्वारे तेषां समुद्घातविचारः।

(३८) क्षेत्रद्वारे संख्येयासंख्येयसर्वलोकाऽऽदिभवनभावना।

(३९) स्पर्शनाद्वारे संख्येयासंख्येयभागेन स्पर्शनप्रतिपादनम्।

(४०) भावद्वारे पुलाकाऽऽदीनां क्षायोपशमिकाऽऽदिभावविचारः।

(४१) परिमाणद्वारे तेषामेव परिमाणनिर्देशः।

(४२) अल्पबहुत्वद्वारे पुलाकाऽऽदीनामल्पबहुत्वनिदर्शनम्।

(४३) निर्ग्रन्थानां प्रकारान्तरेण चातुर्विध्यम्।

(४४) प्रथमाप्रथमचरमाचरमसमयथासूक्ष्मनिर्ग्रन्थाऽऽदिभेदेनपञ्चविधत्वम्।

(४५) कूजनताकर्करणताऽपध्यानताऽऽदिभेदेन निर्ग्रन्थानां, निर्ग्रन्थीनामसुखत्वाऽऽदि प्ररूप्य, तद्वैपरीत्येन सुखत्वाऽऽदिनिरूपणम्।

***नैर्ग्रन्थ्य** न०। निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यम्। विशे०। आव०। आर्हते प्रवचने, सूत्र०२ श्रु०६ अ०। आ०म०।

णिग्गंथधम्म पुं०(निर्ग्रन्थधर्म) निर्गतो बाह्याभ्यन्तररूपो ग्रन्थोऽस्यास्तीति निर्ग्रन्थः, स चाऽसौ धर्मश्च निर्ग्रन्थधर्मः। श्रुतचारित्राऽऽख्ये क्षान्त्यादिके वा सर्वज्ञोक्ते धर्म, सूत्र०२ श्रु०६ अ०।

णिग्गंथपावयण न०(नैर्ग्रन्थ्यप्रावचन) निर्ग्रन्थानां साधूनामिदं नैर्ग्रन्थ्यं, प्रावचनमिति प्रकर्षणाभिविधिनोच्यन्ते जीवाऽऽदयो यस्मिन्निति प्रावचनम्। जैनाऽऽगमे,''इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे अट्ठे, सेसमणट्ठे।''आव०४ अ०। स्था०। आ०चू०।

णिग्गंथी स्त्री०(निर्ग्रन्थी) निर्ग्रन्थः साधुः, तेषामियं निर्ग्रन्थी। साध्व्याम्, स्था०२ ठा०१ उ०।

सा चतुर्विधा–

चत्तारि णिग्गंथीओ पण्णत्ताओ, तं जहा–रायणिया समणी णिग्गंथी०जाव आराहिया भवइ ४।

निर्ग्रन्थसूत्रवत्, स्था०४ ठा०३उ०। (निर्ग्रन्थ्या अधिकारा यथा–स्थानमुक्ताः, वक्ष्यन्ते च। यथा 'गहण' शब्दे तृतीयभागे ८५९ पृष्ठे पतन्त्याः प्रस्खलन्त्या ग्रहणमुक्तम्)

नवरमिह–

छहिं ठाणेहिं णिग्गंथे णिग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ। तं जहा–खित्तचित्तं, दित्तचित्तं, जक्खाइट्ठं, उम्मायपत्तं, उवसग्गपत्तं, साहिगरणं। ६ठा०९उ०।

(क्षिप्तचित्ताऽऽदीनां प्ररूपणा 'खित्तचित्त' आदिशब्देषु द्रष्टव्या)

चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथे णिग्गंथिं आलवमाणे वा संलवमाणे वा णाइक्कमइ। तं जहा–पंथं पुच्छमाणे, पंथं देसमाणे, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दलयमाणे वा, दवावेमाणे वा।

''चउहिं'' इत्यादि स्फुटं, किं तु आलपन्नीषत्प्रथमतया वा जल्पन्, संलपन् मिथो भाषणेन, नातिक्रामति न लङ्घयति निर्ग्रन्थाचारम्–''एगो एगत्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे।'' विशेषतः साध्व्या इत्येवं रूपं, मार्गप्रश्नाऽऽदीनां पुष्टाऽऽलम्बनत्वादिति। तत्र मार्गं पृच्छन् प्रश्नीयसाधर्मिकगृहस्थपुरुषाऽऽदीनामभावे–हे आर्ये! कोऽस्माकमितो गच्छतां मार्गः? इत्यादिना क्रमेण मार्गं वा तस्या देशयन्–धर्मशीले! अयं मार्गस्ते इत्यादिना क्रमेण, अशनाऽऽदि च ददद्धर्मशीले! गृहाणेदमशनाऽऽदीत्येवं, तथाऽशनाऽऽदि दापयन्–आर्ये! दापयाम्येतत् तुभ्यम्, आगच्छेह गृहाऽऽदावित्यादिविधिनेति। स्था०४ ठा०२ उ०। (निर्ग्रन्थैर्निर्ग्रन्थिकाभिश्च सह कायोत्सर्गो न कार्यः, इति 'ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६६५ पृष्ठे उक्तम्)

सचेला निर्ग्रन्थी, अचेलश्च निर्ग्रन्थः सह संवसतः–

पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे अचेलए सचेलियाहिं णिग्गंथीहिं सद्धिं संवसमाणे णाइक्कमइ। तं जहा–खित्तचित्ते समणे णिग्गंथे णिग्गंथेहिं अविज्जमाणेहिं अचेलओ सचेलियाहिं णिग्गंथीहिं सद्धिं संवसमाणे नाइक्कमइ। एवमेएणं गमएणं दित्तचित्ते, जक्खाइट्ठे, उम्मायपत्ते, णिग्गंथीपव्वावियए समणे णिग्गंथेहिं अविज्जमाणेहिं अचेलए सचेलियाहिं णिग्गंथीहिं सद्धिं संवसमाणे णाइक्कमइ॥

अचेलः क्षिप्तचित्तत्वाऽऽदिना क्षिप्तचित्तः शोकेन, तत्प्रतिजागरकाः साधवो न विद्यन्ते, ततो निर्ग्रन्थिकाः पुत्राऽऽदिकमिव तं संगोपायन्तीति न ततोऽप्यसावाज्ञामतिक्रामति। दृप्तचित्तो हर्षातिरेकात्, यक्षाऽऽविष्टो देवाधिष्ठितः, उन्मादप्राप्तो वाताऽऽदि–क्षोभात्। निर्ग्रन्थिकया कारणवशात् पुत्राऽऽदिः प्रव्राजितः, स च बालत्वादचेलो महानपि वा तथाविधवृद्धत्वाऽऽदिनेति। स्था०५ ठा०२ उ०। (अथ निर्ग्रन्थीनां मासकल्पविहारवक्तव्यतायां सर्वा वक्तव्यता)

से गामंसि वा०जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंतगिम्हासु दो मासा वत्थए॥८॥

अस्यापि व्याख्या प्राग्वत्, नवरमबाहिरिके क्षेत्रे कल्पते निर्ग्र–न्थीनां हेमन्तग्रीष्मेषु द्वौ मासौ वस्तुमिति।

अथ भाष्यविस्तरः–

एसेव कमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो।
जं इत्थं णाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥१२०७॥

एष एव निर्ग्रन्थसूत्रोक्तः ''पवज्जा सिक्खापय,'' इत्यादिकः क्रमो नियमान्निर्ग्रन्थीनामपि ज्ञातव्यो भवति। यत्पुनरत्र विहारद्वारे नानात्वं, तदहं वक्ष्ये समासेन।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

निग्गंथीणं गणहर–परूवणा खेत्तमग्गणा चेव।
वसही वियार गच्छ–स्स आणणा वारए चेव ॥१२०८॥
भत्तट्ठणए य विही, पडिणीए भिक्खनिग्गमे चेव।
निग्गंथाणं मासो, कम्हा तासिं दुवे मासा? ॥१२०९॥

निर्ग्रन्थीनां यो गणधरो गच्छवर्त्तापकः, तस्य प्ररूपणा कर्त्तव्या। ततः क्षेत्रस्य संयतीप्रायोग्यस्य मार्गणा प्रत्युपेक्षणा वक्तव्या। ततस्तासां योग्या वसतिर्विचारभूमिश्च, संयतीगणधरस्यानयना, ततो वारको लघुघट-स्वरूपं, तदनन्तरं भक्तार्थनं समुद्देशनम्, तस्य विधिर्व्यवस्था, ततः प्रत्यनीककृतोपद्रवतो यथा निवारणं, ततो भिक्षायां निर्गमः, ततो निर्ग्रन्थानां कस्मादेको मासः? तासां च कस्माद् द्वौ मासौ? एतानि द्वाराणि वक्तव्यानीति द्वारगाथाद्वयसमुदायार्थः। (अत्र गणधरलक्षणं 'गणहर' शब्दे तृतीयभागे ८२० पृष्ठे समुक्तम्)

अथ क्षेत्रमार्गणाद्वारमाह–

खित्तस्स उ पडिलेहा, कायव्वा होइ आणुपुव्वीए।
किं वच्चई गणहरो, जो चरई सो तणं वहइ ॥१२१२॥

क्षेत्रस्य संयतीप्रायोग्यस्य, आनुपूर्व्या ''थुइमंगलमामंतण'' इत्यादिना पूर्वोक्तक्रमेण, प्रत्युपेक्षणा गणधरेण कर्त्तव्या। अथ किं केन हेतुना गणधरः स्वयमेव क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय व्रजति? उच्यते–यो बलीवर्दाऽऽदिश्चारिं चरति, स एव तृणभारं वहति, यो निर्ग्रन्थीगणस्याधिपत्यमनुभवति, स एव सर्वमपि तच्चिन्ताभरमुद्वहति।

आह–संयत्यः किमर्थं न गच्छन्ति? इत्युच्यते–

संजइगमणे गुरुगा, आणादी सउणिपेसिपेल्लणया।
लोभे तुच्छा आसिया–वणा य एमाइणो (भवे) दोसा ॥१२१३॥

यदि संयत्यः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुं गच्छन्ति, तत आचार्यस्य चतुर्गुरवः, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः। यथा शकुनिका पक्षिणी श्येनस्य गम्या भवति (पेसि त्ति) यथा वा मांसपेशिका, आम्रपेशिका वा सर्वस्याऽप्य–भिलषणीया, तथा एता अपि। अत एव (पेल्लणय त्ति) विषयार्थिना प्रेर्यन्ते। तथा तुच्छास्ताः, ततो येन तेनाप्याहाराऽऽदिलोभेनोपप्रलोभ्य 'आसियावणं' अपहरणं तासां क्रियते, एवमादयो दोषा भवति।

इदमेव भावयति–

तुच्छेण वि लोभिज्जइ, भरुयच्छाऽऽहरणनिगडिसङ्केणं।
णंतनिमंतणवहणे, चेइयरूढाण अक्खिवणं ॥१२१४॥

तुच्छेनाल्पाऽऽहारवस्त्वादिना स्त्री लोभ्यते, अत्र च भृगुकच्छप्राप्तेन निकृतिश्राद्धेनोदाहरणम्। कथमित्याह–''णंत त्ति'' वस्त्राणि, तैर्निमन्त्रणां कृत्वा, वहने प्रवहणे चैत्यवन्दनार्थमारूढानां संयतीनामा–क्षेपणमपहरणं कृतमिति। ''जहा भरुअच्छे आगंतुगवाणियओ, स च निइयसड्ढो संजईओ रूववईओ दट्ठूण कवडसङ्कत्तणं पडिवण्णो। ताओ सस्स वीसंभियाओ। गमणकाले पवत्तिणि वित्तवेइवहणट्ठाणमंगलट्ठा पडिलेहणं करेमि, तो संजईओ पट्ठवेह, अम्हे वि अणुग्गहिया होज्जामो। तओ पट्ठविया। तत्थ गया कवडसद्धेणं भणंतिपढमं वहणे चेइयाइं वंदह, तो पडिलेहणं करेमि त्ति। ताओ जाणंति–अहो! विवेको। तओ चेइयवंदणत्थमारूढाणं पयट्टियं वहणं०जाव आसियावियाओ''।

एएहि कारणेहिं, न कप्पई संजईण पडिलेहा।
गंतव्व गणहरेणं, विहिणा जो वण्णिओ पुव्विं ॥१२१५॥

एतैः कारणैः संयतीनां क्षेत्रप्रत्युपेक्षा कर्त्तुं न कल्पते, कैः पुनस्तर्हि प्रत्युपेक्षणायां गन्तव्यमित्याहगन्तव्यं गणधरेण विधिना, कः पुनर्विधिरित्याहयः पूर्वमत्रैव मासकल्पः प्रकृते स्थविरकल्पिकविहार-द्वारे वर्णितः।

आह–कीदृशं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षणीयम्? उच्यते–

जत्थाहिवई सूरो, समणाणं सो य जाणइ विसेसं।
एतारिसम्मि खेत्ते, समणाणं होइ पडिलेहा ॥१२१६॥
जहियं दुस्सीलजणो, तक्करसावयभयं च जहिं नत्थि।
निप्पच्चवायखेत्ते, अज्जाणं होइ पडिलेहा ॥१२१७॥

यत्र ग्रामाऽऽदावधिपतिर्भागिकाऽऽदिकः शूरः चौरवरटाऽऽदिभि–रनभिभवनीय इत्यर्थः। स च श्रमणानां साधूनां विशेषं जानातिय–थेदृशममीषां दर्शने व्रतम्, ईदृशश्च समाचारः, एतादृशे क्षेत्रे साध्वीयोग्ये श्रमणानां प्रत्युपेक्षणा भवति। तथा यत्र दुःशीलजनस्तस्करश्वापदभयं वा यत्र नास्ति, ईदृशे निष्प्रत्यपाये क्षेत्रे आर्यिकाणां प्रायोग्ये प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या भवति।

अथ वसतिद्वारमाह–

गुत्ता गुत्तदुवारा, कुलपुत्ते सत्तमंत गंभीरे।
भीयपरिस मद्दविए, ओभासण चिंतणा दोण (पुस्तकान्तरे–'थंडिलआसणबारगमंडलपडिणीयवारणया' इति पाठः।)**॥१२१८॥**

गुप्ता वृत्या, कुड्येन वा परिक्षिप्ता, गुप्तद्वारा कपाटद्वययोपेतद्वारा, यस्यां च शय्यातरः कुलपुत्रकः। कथंभूतः? सत्त्ववान् न केनापि क्षोभ्यते, महदपि च प्रयोजनं कर्त्तुमध्यवस्यति। गम्भीरो नाम–संयतीनां परुषाऽऽद्याचरणं दृष्ट्वाऽपि विपरिणामं न याति। तथा भीता चकिता पर्षत् यस्य स भीतपर्षत्, आज्ञैकसारतया यस्य भृकुटीमात्रमपि दृष्ट्वा परिवारः सर्वोऽपि भयेन कम्पमानस्तिष्ठति, न च क्वचिदन्याये प्रवृत्तिं करोति। मार्दवमस्तब्धता, तद्विद्यते यस्य स मार्दविकः, एवंविधो यदि कुलपुत्रको भवति। ततः (ओभासण त्ति) संयतीनामुपाश्रयस्याववभाषणं कर्त्तव्यम्। अवभाषिते च यद्य–सावुपाश्रयमनुजानीते, ततो भण्यते (चिंतण त्ति) यथा स्वकीयाया दुहितुः, स्नुषाया वा चिन्तां करोषि, तथा यद्येतासामपि प्रत्यनीकाऽऽद्युपसर्गरक्षणे चिन्तां कर्त्तुमुत्सहसे, ततोऽत्र स्थापयामः। स प्राऽऽहवाढं करोमि चिन्तां, परं कथं पुनः संरक्षणीयाः? ततो–

ऽभिधातव्यम्–यथा किलाक्षिणी स्वहस्तेन परहस्तेन वा उपद्रूयमाणे रक्ष्येते, तथैता अपि यद्यात्ममानुषैः, परमानुषैर्वा उपद्रूयमाणा रक्षसि, तत एता रक्षिता भवन्तीति। यद्येवं प्रतिपाद्योपाश्रयस्य दानं करोति, ततः स्थापनीयाः।

अथाप्रतिपद्यमाने स्थापयन्ति, ततश्चत्वारो गुरुकाः–

अन्याऽऽचार्याभिप्रायेणामुमेवार्थमाह–

घणकुड्डा सकवाडा, सागारियमाउभगिणिपेरंता।
निप्पच्चवाय जोग्गा, वित्थिन्नपुरोहडा वसही ॥१२१६॥

घनकुड्या पक्वेष्टकाऽऽदिमयभित्तिका, सकपाटा कपाटोपेतद्वारा, सागारिकसत्कानां मातृभगिनीनां गृहाणि पर्यन्ते पार्श्वतो यस्याः सा सागारिकमातृभगिनीगृहपर्यन्ता। गाथायामनुक्तोऽपि गृहशब्दो द्रष्टव्यः। निष्प्रत्यपाया दुर्जनप्रवेशाऽऽदिप्रत्यपायरहिता, विस्तीर्णं 'पुरोहडं' गृहपश्चाद्भागो यस्यां सा विस्तीर्णपुरोहडा, एवंविधा वसतिः संयतीनां योग्या।

नासन्न–नातिदूरे, विहवापरिणयवयाण पडिवेसे।
मज्झत्थऽवियाराणं, अकुऊहलभावियाणं च ॥१२२०॥

विधवाश्च ताः परिणतवयसश्च थविरस्त्रियः तासां, तथा मध्यस्थानां कन्दर्पाऽऽदिभावविकलानामविकाराणां गीताऽऽदिविकाररहितानाम्, अकुतूहलानाम्– संयत्यो भोजनाऽऽदिक्रियां कथं कुर्वन्तीति कौतुकवर्जितानां, भावितानां साध्वीसामाचारीवासितानां संबन्धि यत्प्रतिवेश्म प्रत्यासन्नगृहं, तत्र नाविदूरे संयतिप्रतिश्रयो ग्राह्यः।

अथान्याऽऽचार्यप्रतिपाद्यशय्यातरस्वरूपमाह–

भोइयमहत्तराऽऽदी, बहुसयणो पिल्लओ कुलीणो य।
परिणतवओ अभीरू, अणभिग्गहिओ अकूतुहली ॥१२२१॥
कुलपुत्त सत्तमंतो, भीयपरिस भद्दओ परिणओ अ।
धम्मट्ठी य विणीतो, अज्जासेज्जायरो भणिओ ॥१२२२॥

यो भोगिकमहत्तराऽऽदिर्बहुस्वजनो बहुपाक्षिकः, तथा प्रेरकः षड्ज्ञाऽऽदीनां स्वगृहे प्रविशन्तीनां निवारकः, कुलीनः, परिणतवयाश्च प्रतीतः, अभीरुरुत्पन्ने महत्यपि कार्ये न बिभेति, कथमेतत् कर्तव्यमिति ? अनभिगृहीत आभिग्रहिकमिथ्यात्वरहितः, अकुतूहली संयतीनां भोजनाऽऽदिदर्शने कौतुकवर्जितः। यस्तु कुलपुत्रकः, सत्त्ववान् न केनाप्यभिभवनीयः, भीतपर्षत् प्राग्वत्, भद्रकः शासने बहुमानवान्, परिणतो वयसा मत्या वा, धर्मार्थी धर्मश्रद्धालुः, विनीतो विनयवान्। एष आर्याणां शय्यातरो भणितस्तीर्थकरैः। गतं वसतिद्वारम्। बृ० १उ०। ('वसहि' शब्दे विशेषविधिः)

अथ विचारद्वारमाह–

अणॉवायमसंलोगा, अणॉवाया चेव होइ संलोगा।
आवायमसंलोगा, आवाया चेव संलोगा ॥१२२३॥

अनापाता असंलोकाः १, अनापाताश्चैव संलोकाः २, आपाता असंलोकाः ३, आपाताः संलोकाश्चेति ४। चतस्रो विचारभूमयः।

एतासु संयतीनां विधिमाह–

बीयारे बहि गुरुगा, अंतो वि य तइयवज्जिते चेव।
तइए वि जत्थ पुरिसा, उवेंति वेसित्थियाओ य ॥१२२४॥

यदि 'पुरोहडे' विद्यमाने संयत्यो ग्रामाद् बहिर्विचारभुवं गच्छन्ति, ततश्चतुर्ष्वपि स्थण्डिलेषु प्रत्येकं चतुर्गुरुकाः, अन्तरेऽपि च ग्रामाभ्यन्तरे पुरोहडाऽऽदौ आपातासंलोकलक्षणं तृतीयस्थण्डिलं वर्जयित्वा शेषेषु त्रिषु स्थण्डिलेषु गच्छन्तीनां त एव चत्वारो गुरुकाः। तृतीयेऽपि स्थण्डिले यत्र पुरुषा वेश्यास्त्रियश्चोपयन्ति आपतन्ति, तत्र चत्वारो गुरुकाः। यत्र तु कुलजानां स्त्रीणामापातो भवति तत्र गन्तव्यम्।

किं पुनः कारणं प्रथमाऽऽदीनि स्थण्डिलानि तासां नानु–

जायन्ते? उच्यते–

जत्तो दुस्सीला खलु, वेसित्थिनपुंसहेट्ठतेरिच्छा।
सा उ दिसा पडिकुट्ठा, पढमा बिइया चउत्थी य ॥१२२५॥

(जत्तो त्ति) यस्यां दिशि दुःशीलाः परदाराभिगामिनः पुरुषाः, तथा वेश्याः स्त्रियो, नपुंसकाश्च (हेट्ठ त्ति) अधो नापिताः, तिर्यञ्चश्च वानराऽऽदय आपतन्ति, सा तु सा पुनर्दिग्, प्रथमा द्वितीया चतुर्थी च प्रतिषिद्धा, प्रथमाऽऽदीनि स्थण्डिलानीत्यर्थः।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याचष्टे–

चारभडघोडमिं ठा, सोलगतरुणा य जे य दुस्सीला।
उब्भामित्थी–वेसी–अपुमे सु उविंति उ तदट्ठा ॥१२२६॥

चारभटा राजपुरुषः, घोटाश्चेटाः, मिण्ठाः गजपरिवर्त्तकाः, सोलास्तुरगचिन्तानियुक्ताः। एवमादयो ये तरुणाः सन्तो दुःशीलाः, ते प्रथमद्वितीययोः स्थण्डिलयोरनापातत्वादेकान्तमिति कृत्वा ढद्भ्रामकस्त्रीषु वा वेश्यासु वा (अपुमे सु त्ति) नपुंसकेषु वा पूर्वाप्राप्तेषु, तदर्थं तेषामुद्भ्रामकस्त्रीप्रभृतीनां प्रतिसेवनार्थमायान्तीति।

चतुर्थे तु स्थण्डिले संलोकत्वादेते दुःशीलाऽऽदयः संयतीवर्गान् पश्येयुः, संयतीवर्गेण वा ते दृश्येरन्नित्यतस्तदपि निषिध्यते–

हिट्ठ उवासणहेउं, णेगाऽऽगमणम्मि गहण उड्डहो।
वानरमयूरहंसा, छाला सुणगादितेरिच्छा ॥१२२७॥

अधस्तादुषासनमध्ये लोचकर्म, तद्धेतोरधो नापिते पूर्वप्राप्ते लघ्वनेकेषां मनुष्याणां मध्ये लोचकर्मकारापकर्मणामागमने सति यद्युदीर्णमोहास्ते संयतिं गृह्णन्ति, ततो ग्रहणे उड्डाहो भवति, तथा वानरमयूरहंसाः, छगलाः, शुनकाऽऽदयश्च तिर्यञ्चस्तत्राऽऽयाताः संयतीमुपसर्गयेयुः।

यत एवं ततः किमित्यत आह–

जइ अंतो वाघाओ, बहिया तासिं तइय अणुन्नाया।
सेसा णाणुन्नाया, अज्जाण वियारभूमीओ ॥१२२८॥

यद्यन्तरे ग्राभ्यन्तरे व्याघातः पुरोहडाऽऽदेरभावः, ततो बहिस्तासां तृतीया विचारभूमिरापातासंलोकरूपाऽनुज्ञाता, तत्राऽपि स्त्रीणामेवाऽऽपातो ग्राह्यो, न पुरुषाणां, शेषा विचारभूमयोऽनापातासंलोकाऽऽद्या आर्यिकाणां नानुज्ञाताः। गतं विचारद्वारम्। बृ०१ उ०। ('वसहि' शब्दे रात्रौ मात्रकयतना)

अथ संयतीगच्छस्याऽऽनयनमिति द्वारमाह–

पडिलेहियं च खेत्तं, संजइवग्गस्स आणणा होइ।

निक्कारणम्मि मग्गओं, कारणें समगं च पुरतो वा ॥१२२६॥

एवं वसतिविचारभूम्यादिविधिना प्रत्युपेक्षितं च संयतीप्रायोग्यं क्षेत्रं, ततः संयतीवर्गस्याऽऽनयनं तत्र क्षेत्रे भवति। कथम् ? इत्याह–निष्कारणे निर्भये, निराबाधे वा सति साधवः पुरतः स्थिताः, संयत्यस्तु मार्गतः पृष्ठतः स्थिता गच्छन्ति, कारणे तु समकं वा साधूनां पार्श्वतः, पुरतो वा साधूनामग्रतः स्थिताः संयत्यो गच्छन्ति।

निप्पच्चवायसंबं–धिभाविए गणहरऽप्पविइ तइए।
तेणादिभए सत्थे–ण सद्धि कयकरणसहिते वा ॥१२३०॥

निष्प्रत्यपाये संयतीनां ये संबन्धिनः स्वज्ञातीयाः, भाविताश्च सम्यक्परिणतजिनवचना निर्विकाराः संयताः, तैः सह गणधर आत्मद्वितीयः, आत्मतृतीयो वा संयतीर्विवक्षितं क्षेत्रं नयति। अथ स्तेनाऽऽदिभयं वर्त्तते, ततः सार्थेन सार्द्धं नयति, यो वा संयतः कृतकरण इषुशास्त्रेण सहितः संयतीस्तत्र नयति, स च गणधरात्स्वयं पुरतः स्थितो गच्छति, संयत्यस्तु मार्गतः स्थिताः।

अत्रैव मतान्तरमुपन्यस्य दूषयन्नाह–

उभयट्ठाइनिविट्ठं, मा पेल्ले वतिणि तेण पुरतेगे।
तं तु न जुज्जइ अविणय, विरुद्ध उभयं च जयणाए ॥१२३१॥

एके सूरयो ब्रुवते उभयं कायिकीसंज्ञे, तदर्थम्, आदिशब्दादपरस्मिन् वा क्वचित्प्रयोजने विनिविष्टमुपविष्टं सन्तं संयतं, व्रतिनी मा प्रेरयतु, इत्यनेन हेतुना संयत्यः पुरतो गच्छन्ति। अत्राऽऽचार्य आह– तत्तुयदुक्तं, न युज्यते कुतः? इत्याह–पुरतो गच्छन्तीनां तासामविनयः साधुषु संजायते, लोकविरुद्धं चैवं परिस्फुटं भवति–अहो ! महेलाप्रधानमासां दर्शनं, यत एवमतो मार्गतः स्थिता एव ता गच्छन्ति, उभयं च कायिकीसंज्ञारूपं यतनया कुर्यात्। का पुनर्यतना? इति चेदुच्यते–यत्रैकः कायिकीं संज्ञां वा व्युत्सृजति, तत्र सर्वेऽपि तिष्ठन्ति, तथास्थितांश्च तान् दृष्ट्वा संयत्योऽपि नाग्रतः समागच्छेयुः, ता अपि पृष्ठत एव शरीरचिन्तां कुर्वन्तीति। गतं गच्छस्याऽऽनयनमिति द्वारम्।

अथ वारकद्वारमाह–

जहियं च आगरिजणो, चोक्खब्भूतो सुईसमायारो।
कुडमुहदद्दरएणं, वारगनिक्खेवणा भणिया ॥१२३२॥

यस्मिंश्च ग्रामाऽऽदावगारीजनोऽविरतिकालोकः, चोक्षभूतः शुचिसमाचारश्च वर्त्तते, तत्र वारकग्रहणं निर्ग्रन्थीभिः कर्त्तव्यम्। अथ न कुर्वन्ति, ततश्चत्वारो गुरवः। यच्च प्रवचनोड्डाहाऽऽदिकं, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। यत एवमतः कुटमुखे घटकण्ठके श्लक्ष्णचीवरदर्दरकेण पिहितस्य वारकस्य निक्षेपणा भणिता भवति।

थीपडिबद्धें उवस्सएँ, उस्सग्गपदेण संवसंतीओ।
वच्चंति काइभूमिं, मत्तगहत्थाण आयमणं ॥१२३३॥

उत्सर्गपदेन संयतीभिः स्त्रीप्रतिबद्धे उपाश्रये वस्तव्यमिति कृत्वा तत्र संवसन्त्यो यदा कायिकीं भूमिं व्रजन्ति, तदा मात्रकहस्तावारैकं हस्ते गृहीत्वा व्रजन्ति, तासामगारीणां प्रत्ययो जायते–एताः कायिकीं कृत्वा पश्चादाचमनं करिष्यन्ति, अहो ! शुचिसमाचारा इति। तत्र च गतास्तासामदर्शनीभूता आचमनं कुर्वन्ति।

स च वारको अन्तर्लिप्तः कर्त्तव्यः; कुतः? इत्यत आह–

दुक्खं विसुयावेउं, पणगस्स य संभवो अलित्तम्मि।
संदंते तसपाणा, आवज्जणतक्कणाऽऽदीया ॥१२३४॥

वारकोऽलिप्तः सन् किम्? (विसुयावेउं ति) शोषयितुं दुःखं दुःखकरो भवति, अलिप्ते च पानकभावितत्वात् पनकस्य संभवः संमूर्छनं भवति, अलिप्तश्च वारकः पानके प्रक्षिप्ते सति स्यन्दते परिगलति, स्यन्दने च त्रसप्राणिनः कीटिकामक्षिकाऽऽदयः समागच्छेयुः। (आवज्जणं ति) यदनन्तकायनिकायविकलेन्द्रियेषु संघट्टनाऽऽदिकमापद्यते, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। (तक्कणाई य त्ति) ततो वारकान् पानकेन परिमलति मक्षिकाः पतन्ति, तासां ग्रसनार्थं गृहकोकिला धावति, तस्या अपि भक्षणार्थं मार्जारीत्येवं तर्कणम्, तदादयो दोषा भवेयुः।

यत्र पुनः कायिकीभूमौ सागारिकं भवति, तत्रेयं यतना–

सागारिए परंमुह–दगसद्दमसंफुसंतिओ णेत्तं।
पुलएज्ज मा य तरुणी, तो अच्छदवं तु जा दिवसो ॥१२३५॥

(''दृशो नियच्छ०'' ॥८।४।१८१॥ इत्यादिना 'पुलए' आदेशः।)

सागारिके सति पराङ् मुखीभूय कायिकीं कृत्वा नेत्रं भगमसंस्पृशन्त्यो दकशब्दं पानकप्रक्षालनानुमापकं कुर्वते, तथा तरुण्यः स्त्रियः किमत्रास्ति पानकं, न वेति जिज्ञासया मा प्रलोकन्तामिति हेतोस्तस्मिन्वारके तावदच्छमकलुषं द्रवं पानकं प्रक्षिप्तं तिष्ठति, यावद्दिवसः, ततः सन्ध्यासमये तत्पानकं पिबन्ति। गतं वारकद्वारम्।

अथ भक्तार्थनाविधिद्वारमाह–

मंडलिठाणस्सऽसती, बला व तरुणीसु अहिपतंतीसु।
पत्तेयकमढभुंजण–मंडलिथेरी उ परिवेसे ॥१२३६॥

यद्यसागारिकं, ततो मण्डल्यां समुद्दिशन्ति, अथ मण्डलीभूमिः सागारिकबहुला, ततो मण्डलिस्थानस्यासति, बलाद्वा प्रणयेन तरुणीष्वभिपतन्तीषु तत्रौर्णिकमल्पमधः प्रस्तीर्य तस्योपरि सौत्रिकं तत्राप्यलावुपात्रकाणि स्थापयित्वा प्रत्येकं कमठकेषु भुञ्जते, प्रवर्त्तिनी च पूर्वाभिमुखा धुरि निविशते, तत एका मण्डलिस्थविरा यमलजननी सहोदरा सर्वासामपि परिवेषयेत्, आत्मनोऽपि योग्यमात्मीये कमठके प्रक्षिपेत्।

ओगाहिमाइविगई, समभाएँ करेइ जत्तिया समणी।
तासिं पच्चयहेतुं, अणहिक्खट्ठा अकलहो अ ॥१२३७॥

अवगाहिमं पक्वान्नम्, आदिशब्दाद् घृताऽऽदिकाश्च विकृतीः, यावत्यः श्रमण्यः, तावतः समभागान्, मण्डलिस्थविरा करोति। किमर्थम्? तासां श्रमणीनां प्रत्ययार्थम्, तथा–(अणहिक्खट्ठ त्ति) अनधिकखादनार्थं, सर्वासमप्यविषमसमुद्देशनार्थम्, अकलहश्चैवं भवति, असंखडं न भवतीत्यर्थः।

ताश्च समुद्देष्टुमुपविशन्त इत्थं ब्रूते–

निव्वीइए विइयाई, विगईओ लंवणा वए विइया।
अण्ण गिलायंविलिया, अज्ज अहं देह अन्नासिं ॥१२३८॥

एका द्व्यादिसंख्याविकृतयो मुत्कलाः, शेषाणां प्रत्याख्यानम्, अपरा भणति–अद्य मामेतावन्तो लम्बनाः कवलाः, इत ऊर्द्धं नियमः। अन्याऽभिधत्ते–अद्याहमन्नग्लाना, ग्लानपर्युषितमन्नं मया भोक्तव्यमित्येवं प्रतिपन्नाभिग्रहा। तदपरा ब्रूते–अद्याहमाचाम्लिका, कृता चाम्लप्रत्याख्याना, अत इदं विकृत्यादिकमन्यासां प्रय–

च्छत, एवं समुद्दिश्य पानकेनाऽऽचमनं कुर्वन्ति, प्रवर्त्तिन्याः कमठकं क्षुल्लका निर्लेपयन्ति, ततः सर्वास्वपि समुद्दिष्टासु मण्डलीषु स्थविरा समुद्दिशति।

एवंविधं दृष्ट्वा किं भवति? इत्याह–

दट्ठूण निहुयवासं, सोयपयत्तं अलुद्धमत्तं च।
इंदियदमं च तासिं, विणयं च जणो इमं भणइ ॥१२३९॥

तासां संयतीनां निभृतवासं विकथाऽऽदिविरहेण निर्व्यापारतयेवाऽऽवस्थानं, शौचप्रयत्नं वारकग्रहणाऽऽदिरूपम्, अलुब्धवत्त्वं च विकृत्यादिप्रत्याख्यानाभिधातम्, इन्द्रियदमं च श्रोत्राऽऽदीन्द्रियनिग्रहणं, विनयं प्रवर्त्तिन्यादिषु अभ्युत्थानाऽऽदिरूपं, दृष्ट्वा जनो लोक इदं ब्रवीति –

सच्चं तवो य सीलं, अणहिक्खाओ अ एगमेगस्स।
जइ बंभं जइ सोयं, एयासु परं ण अन्नासु ॥१२४०॥
बाहिरमलपरिबुद्धा, सीलसुगंधा तवोगुणविसुद्धा।
धन्नाण कुलुप्पन्ना, एआ अ वि होज्ज अम्हं पि ॥१२४१॥

सत्यं वाक्कर्मणोरविसंवादिता, तपोऽनशनाऽऽदि, शीलं सुस्वभावता, अनधिकखादश्चाविषमभोजनम्, एकैकस्याः परस्परमूषाम्, तथा यदि ब्रह्मचर्यं यदि शौचं शुचिसमाचारता। एतानि सत्याऽऽदीनि, यदि परमेतासु संयतीषु दृश्यन्ते, नान्यासु शाक्याऽऽदिपाखण्डिनीषु, ततो यद्यप्येता बाह्यमलेन परिक्षिप्ताः, तथापि शीलेन सुगन्धाः, तपोगुणैरनशनाऽऽदिभिः, यद्वातपसा प्रतीतेन, गुणैश्चोपशमाऽऽदिभिर्विशुद्धाः, धन्यानां कुलोत्पन्नाः, एता येषां कुले उत्पन्नास्तेऽपि धन्या इति भावः। अपिः संभावनायां संभाव्यते। किमर्थः? यदस्माकमपि भगिनी,दुहिता च एतादृशस्वकुलोज्ज्वालनकारिण्यो भवेयुः।

एवं तत्थ वसंती–णुवसंतो सो य सिं अगारिजणो।
गिण्हंति य संमत्तं, मिच्छत्तपरंमुहो जाओ ॥१२४२॥

एवं तत्र वसन्तीनां तासामगारीजन उपशान्तः प्रतिबुद्धः, ततो मिथ्यात्वपराङ्मुखो जातः सन् सम्यक्त्वं गृह्णाति, च–शब्दाद्देशविरतिं वा, कश्चित्तद्गुणग्रामरञ्जितमनाः सर्वविरतिमपि प्रतिपद्यते। गतं भिक्षार्थनाविधिद्वारम्।

अथ प्रत्यनीकद्वारमाह–

तरुणीण अभिद्दवणे, संवरितो संजतो निवारेइ।
तह वि य अठायमाणे, सागारिओ॑ तत्युवालभइ ॥१२४३॥

तरुणीनां संयतीनामभिद्रवणे प्रत्यनीकेन विधीयमाने सति संवृतः संयतीवेषाऽऽच्छादितः संयतो निवारयति, तथाऽपि चातिष्ठति तस्मिन् सागारिकः शय्यातरः, तत्रोपसर्गे, तमुपालभते।

एतामेव निर्युक्तिगाथां भावयति–

गणिणीणऽकहणे॑ गुरुगा, सा वि य न कहेइ जइ गुरूणं तु।
सिद्धम्मि य ते गंतुं, अणुसट्ठी मित्तमाईहिं ॥१२४४॥

कश्चित्तरुणो विषयलोलुपतया संयतीनामुपद्रवं कुर्यात्, ततस्तत्क्षणादेव ताभिः प्रवर्त्तिन्याः कथनीयम्, यदि न कथयन्ति, ततश्चत्वारो गुरवः। सा च प्रवर्त्तिनी यदि गुरूणां न कथयति, तदा चतुर्गुरवः, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः, तस्मात्कथयितव्यम्, ततः शिष्टे कथिते ते आचार्यास्तस्याविरतिकस्य पार्श्वं गत्वा साध्वीशीलभङ्गस्य दारुणविपाकतासूचिकामनुशिष्टिं ददति। यद्युपरमते ततः सुन्दरम्। अथ नोपरमते, ततो यानि तस्य मित्राणि, आदिशब्दाद्ये वा भ्रात्रादयः स्वजनास्तेषां निवेद्यम्, तैः प्रज्ञापिते यदि स्थितः, ततो लष्टम्।

तह वि य अठायमाणे, वसभा भेसिंति तह वि य अठंते।
अमुगत्थ घरे पज्जह, तत्थ य वसभा वतिणिवेसा ॥१२४५॥

तथाऽप्यतिष्ठति तस्मिन् प्रत्यनीके, वृषभा गच्छस्य शुभाशुभकार्यचिन्तानियुक्ताः, तं प्रत्यनीकं भापयन्ति, तथाऽप्यतिष्ठति यस्तरुणः कृतकरणः स संयतीनेपथ्यं कृत्वा तस्य संकेतं प्रयच्छति, यथा–अमुकत्र गृहे समागच्छत, ततो वृषभा व्रतिनीवेषं परिधाय तेन साधुना सह तत्र गत्वा प्रत्यनीकस्य शिक्षां कुर्वन्ति, तथाऽप्यनुपशान्ते तस्मिन् सागारिकस्य निवेद्यते, तेनोपलब्धे यदि स्थितः, ततः सुन्दरम्।

अथ नास्ति तदानीं सन्निहितः–

सागारिए असंते, किच्चकरे भोइयस्स व कहिंति।
अण्णत्थ ठाणे॑ णिंती, खेत्तस्सऽसती सति णिवे वा ॥१२४६॥

सागारिके असंनिहिते कृत्यकरस्य ग्रामचिन्तानियुक्तस्य भोगिकस्य ग्रामस्वामिनः कथयति, तेन शासितोऽपि यदि नोपरमते, ततः संयतीरन्यत्र स्थाने क्षेत्रे नयन्ति। अथ नास्ति संयतीप्रायोग्यमपरं, स्वयं वा संयता ग्लानाऽऽदिकार्यव्यापृता न शक्नुवन्ति क्षेत्रान्तरं गन्तुं, ततो नृपस्य दण्डिकस्य निवेद्यते, स प्रत्यनीकमुपद्रवन्तं निवारयति। गतं प्रत्यनीकद्वारम्। बृ०१ उ० नि०चू०। (''गोयर–चरिया'' शब्दे तृ०भा० ९७९ पृष्ठे भिक्षाविधिरुक्तः)

अथ निर्ग्रन्थीनां मासः। कस्मात्तासां द्वौ मासाविति
दारं व्याख्यायते–शिष्यः पृच्छति–किं निर्ग्रन्थी–
नामभ्यधिकानि महाव्रतानि, येन तासां
द्वौ मासौ, निर्ग्रन्थानामेकं मासमे–
कत्र वस्तुमनुज्ञायते? सूरि–
राह–

जइ वि य महव्वयाइं, निग्गंथीणं न होंति अहियाइं।
तह वि य निच्चविहारे, हवंति दोसा इमे तासिं ॥१२६४॥

यद्यपि च निर्ग्रन्थीनां महाव्रतानि नाधिकानि भवन्ति, तथाऽपि नित्यविहारे मासे मासे क्षेत्रान्तरं संक्रमणे, इमे दोषास्तासां भवन्ति।

मंसाइपेसिसरिसा, वसही खेत्तं च दुल्लभं जोग्गं।
एएण कारणेणं, दो दो मासा अवरिसासु ॥१२६५॥

मांसाऽऽदिपेशीसदृशाः संवत्यः, सर्वस्याप्यभिलषणीयत्वात्, तथा तासां योग्या वसतिर्दुर्लभा, क्षेत्रं च तत्प्रायोग्योपेतं दुर्लभं, ततो यथोक्तगुणविकलायां वसतौ दोषदुष्टे वा क्षेत्रे स्थाप्यमानानां बहवः प्रवचनविराधनाऽऽदयो दोषा उपढौकन्ते। एतेन कारणेन तासामवर्षासु वर्षावासं विमुच्य द्वौ द्वौ मासावेकत्र वस्तुमनुज्ञायते।

अथ द्वयोरुपरि वसन्तीनां दोषान्, द्वितीयपदं चोप–
दर्शयति–

दुण्हं उवरि वसंती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य।
विइयपयं च गिलाणे, वसती भिक्खं च जयणाए ॥१२६६॥

द्वयोर्मासयोरुपरि वसन्ति, ततः प्रायश्चित्तं, दोषाश्च भवन्ति, द्वितीयपदं च ग्लाने च सति वसतिं, भैक्षं च यतनया ग्रहीतव्यम्। भावार्थो निर्ग्रन्थानामिव द्रष्टव्यः।

मासावाससूत्रम्–

से गामंसि वा०जाव रायहाणिंसि वा परिक्खेवंसि वा बाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंतगिम्हासु चत्तारि मासा वत्थए, अंतो दो मासे, बाहिं दो मासे, अंतो वसमाणीणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणीणं बाहिं भिक्खायरिया ॥९॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत्। नवरं सबाहिरिके क्षेत्रे अन्तर्द्वौ मासौ, बहिर्द्वौ मासावित्येवं चतुरो मासान् निर्ग्रन्थीनां वस्तुं कल्पत इति।

अथ भाष्यम्–

एसेव कमो नियमा, सपरिक्खेवे सबाहिरीयम्मि।
नवरं पुण नाणत्तं, अंतो बाहिं चउम्मासा ॥१२६७॥

एष एव पूर्वसूत्रोक्तः क्रमो नियमात् सपरिक्षेपे सबाहिरिके क्षेत्रे वसन्तीनां संयतीनां द्रष्टव्यः, नवरं पुनर्नानात्वं विशेषोऽयम्–अन्तरभ्यन्तरे, बहिर्बाहिरिकायामेवमुभयोश्चत्वारो मासाः पूरणीयाः।

चउण्हं उवरि वसंती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य।
नाणत्तं असईऍं तु, अंतो वसही बहिं चरइ ॥१२६८॥

चतुर्णा मासानामुपरि यदि सबाहिरिके क्षेत्रे संयती वसनि, तदा तदेव प्रायश्चित्तं, त एव दोषाः, द्वितीयमपि तदेव मन्तव्यम्, नानात्वं विशेषः, पुनरबाहिरिकाया वसतेः, शय्यातरस्य वा यथोक्तगुणस्यासत्यभावे, अन्तः प्राकाराभ्यन्तरे, (वसहि त्ति) वसतौ पूर्वस्यामेव स्थिताः, बहिर्बाहिरिकायां चरन्ति भिक्षाचर्यामटन्ति।

जोग्गवसहीऍं असई, तत्थेव ठिया चरंति बाहिं तु।
पुव्वगहिए विगिंचिय, तत्तो च्चिय मत्तगादी वि ॥१२६९॥

बहिः संयतीयोग्याया वसतेरभावे, तत्रैवाभ्यन्तरोपाश्रये स्थिताः सत्यो बहिश्चरन्ति, पूर्वगृहीतं शौचकतृणमगलाऽऽदि परित्यज्य तत एव बाहिरिकाया मात्रकाऽऽदीनप्यानेतव्यानि, न केवलं भिक्षेत्यादिशब्दार्थः।

श्रुतसंहननाऽऽदिविषया सामाचारी, क्षेत्रकालाऽऽदिविषया वा स्थितिः स्थविरकल्पिकानामिव द्रष्टव्या। तदेवमुक्त आर्यिकाणामपि मासकल्पविधिः। बृ०१ उ०। (निर्ग्रन्थीनां दूरतः परिहरणीयत्वं 'वसइ' शब्दे वक्ष्यते)

णिग्गम पुं०(निर्गम) निर्गमनं निर्गमः, कुतः सामायिकं निर्गतमित्येवमादिरूपे निर्गमने, विशे०। अनु०। आ०म०।

निर्गमस्य षड्विधो निक्षेपः–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो उ निग्गमस्स य, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥१५३३॥

नामस्थापनानिर्गमौ नामाऽऽवश्यकाऽऽद्युक्तानुसारेण भावनीयौ। द्रव्याद् द्रव्यस्य वा निर्गमः, क्षेत्रात्क्षेत्रस्य वा, कालात्कालस्य वा, भावाद्भावस्य वा निर्गम इत्यादि वाच्यम्। इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥१५३३॥

विस्तरार्थं तु भाष्यकारः प्राऽऽह–

दव्वाओ दव्वस्स व, विणिग्गमो दव्वनिग्गमो सो य।
तिविहो सचित्ताई, तिविहाओ संभवो नेओ ॥१५३४॥

द्रव्याद् द्रव्यस्य वा निर्गमो द्रव्यनिर्गमः। स च सचित्ताऽऽदिद्रव्यसंबन्धित्वात् सचित्ताऽदिस्त्रिविधः। तस्य च त्रिविधस्य सचित्ताऽऽदेस्त्रिविधादेव सचित्ताऽऽदेर्द्रव्यात्संभव उत्पादो ज्ञेय इति ॥१५३४॥

तथाहि–

पभवो सचित्ताओ, भूमेरंकुरपयंगवप्फाई।
किमिगब्भसोणियाई, मीसाओ थीसरीराओ ॥१५३५॥
किमिघुणघुणचुण्णाई, दारूओ जं व निग्गयं जत्तो।
दव्वं विगप्पवसओ, जह सब्भावोवयारेहिं ॥१५३६॥

सचित्ताद् भूमिद्रव्यात्सचित्तद्रव्यस्याऽङ्कुरस्य प्रभवो निर्गमो ज्ञातव्यः, मिश्रस्य तु पतङ्गद्रव्यस्य, तस्य हि पक्षाऽऽदिप्रदेश अचित्ताः, शेषं तु सचित्तमिति मिश्रता। अचित्तस्य तु वाष्पद्रव्यस्य। तदेवं सचित्तात्सचित्ताऽऽदेस्त्रिविधस्य निर्गम इत्युक्तम्। अथ मिश्रात्स्त्रीशरीरद्रव्यात्सचित्तद्रव्यस्य कृमेर्निर्गमो वेदितव्यः, मिश्रस्य तु गर्भद्रव्यस्य मिम्मरूपस्य, तद्गतकेशाऽऽदीनामचित्तत्वात्, शेषस्य तु सचित्तत्वान्मिश्रताः अचित्तस्य तु शोणितद्रव्यस्य। मिश्रात्सचित्ताऽऽदेर्निगम इत्यपि भावितम्। अचित्तद्रव्याद्दारुणः काष्ठात्सचित्तस्य कृमिद्रव्यस्य निर्गमः, मिश्रस्य तु घुणस्य, पतङ्गवदस्यापि मिश्रत्वात्; अचित्तस्य तु घुणचूर्णस्य घुणाऽऽकृष्ट–श्लक्ष्णतदवयवनिवहस्येत्यर्थः। अचित्तात्सचित्ताऽऽदेः निर्गम इत्यपि गतम्। तथा– 'जं व' इत्यादि। 'यद्वा– द्रव्यं यस्माद् द्रव्याद्विकल्पवशतो मानसकल्पनासमारोपाद्यथा सद्भावेन सद्भूतप्र–कारेण, उपचारेण वा निर्गतम्, सोऽपि द्रव्यान्निर्गमो द्रव्यनिर्गम उच्यते। तत्र यथा सद्भावेन विकल्पवशाद्यथा दुग्धाऽऽदिद्रव्यात् घृताऽऽदिद्रव्यस्य निर्गमः। अत्र हि भूमेः ''संमूर्छजचटकन्यायेन'' दुग्धात् घृताऽऽदिनिर्गमो न दृश्यत इति 'विकल्पवशतः' इत्युच्यते, दुग्धस्य च दधिघृताऽऽदिभावेन परिणामिकारणता समीक्ष्यते, इत्येतावता यथा सद्भावेनेत्यभिधीयते। उपचारेण तु रूपकाऽऽदेर्द्रव्याद्भोजनाऽऽदेर्निर्गम इत्यादि सर्वं यथासंभवमन्यदपि स्वबुद्ध्याऽभ्यूह्य वक्तव्यमिति ॥१५३५॥१५३६॥

क्षेत्रनिर्गममाह–

खित्तस्स विनिग्गमणं, सरूवओ नऽत्थि तं जमक्किरियं।
खेत्ताओ खेत्तम्मि वि, हविज्ज दव्वाइनिग्गमणं ॥१५३७॥
उवयारओ॑ खेत्तस्स य, विनिग्गमो लोगनिक्खुडाणं व।
लद्धं विनिग्गयं ति य, जह खेत्तं राउला उ त्ति ॥१५३८॥

यथा द्रव्यस्यापि क्वचित्कल्पनया निर्गम उच्यते, न तु स्वरूपतः, एवं क्षेत्रस्याऽपि स्वरूपेण कुतोऽपि निर्गमो नास्ति, तस्याऽक्रियत्वेन तदयोगात्। क्षेत्रात्पुनः निर्गमोऽस्ति, यथा आयुःक्षयाऽऽदिसमये ऊर्द्धाधोलोकाऽऽदिक्षेत्राद्देवनारकद्रव्याऽऽदेर्निर्गमः। क्षेत्रेऽपि धान्याऽऽदेर्निर्गमो द्रष्टव्यः, न तु क्षेत्रस्य

स्वरूपेण निर्गमः । किं सर्वथा नास्ति? इत्याह–उपचारतः कल्पनामात्रेण, क्षेत्रस्यापि निर्गमः समस्त्येव, यथा लोकक्षेत्रान्निष्कुटा निर्गता इति; तेषां स्वरूपेणाऽवस्थितानां निर्गमक्रियाभावेऽपि निर्गता इव निर्गता इति निर्गमोपचारः । तथा लब्धं विनिर्गतं क्षेत्रं राजकुलात्, निर्गतं भरताऽऽदिक्षेत्रं दुःषमाऽऽदिकालाद् दुर्भिक्षाऽशिवाऽऽदेर्वेत्यादिति ॥१५३७॥१५३८॥

कालनिर्गममाह–

कालो वि दव्वधम्मो, निक्किरिओ तस्स निग्गमो पभवो ।
तत्तो च्चिय दव्वाओ, पभवइ काले व जं जम्मि ॥१५३९॥
उवयारओ व सरओ, विणिग्गओ णिग्गओ य तत्तोऽहं ।
अहवा दुक्कालाओ, नरो व बालाइकालाओ ॥१५४०॥

कालोऽपि वर्तनारूपो द्रव्यधर्म्म एव । स च स्वरूपेण निष्क्रियः, द्रव्यद्वारेणैव तत्क्रियाप्रवृत्तेः । तस्य च तत एव स्वाश्रयभूताद् द्रव्यान्निर्गमः प्रभव उत्पत्तिः । यथा–हरिताऽऽदिकं यस्मिन् वर्षाऽऽदिके काले प्रभवत्युत्पद्यते स कालनिर्गम इति ।अथवा–उपचारतोऽपि कालनिर्गमो यथा–शरत्समयोऽसौ निर्गत आविर्भूतः, ततो वा शरत्कालाद्, दुष्कालाद्वा निर्गतो निस्तीर्णोऽहं बालाऽऽद्यवस्थातो वा नरो निर्गत इत्याद्युपचारतः कालनिर्गम इति ॥१५३९॥१५४०॥

अथ भावनिर्गममाह–

भावो वि दव्वधम्मो, तत्तो च्चिय तस्स निग्गमो पभवो ।
दव्वस्स व भावाओ, विणिग्गमो भावओऽवगमो ॥१५४१॥
रूवाइपोग्गलाओ, कसायनाणादओ य जीवाओ ।
निंति पभवंति ते वा, तेहिंतो तच्चिओगम्मि ॥१५४२॥

भावोऽपि कालवद् द्रव्यधर्म एव । तस्य च ततो द्रव्याद् यो निर्गमः प्रभवः स भावनिर्गमः, द्रव्यस्य वा भावान्निर्गमो भावनिर्गमः । कः? इत्याह–भावतो भावमाश्रित्य यो द्रव्यस्यापगमो विनाशः । इदमुक्तं भवति–यदा द्रव्यं पूर्वपर्यायेण विनश्यति, अपूर्वपर्यायेण तूत्पद्यते, तदा पूर्वपर्यायात्प्राक्तनभावाद् द्रव्यस्य निर्गतत्वाद्भावान्निर्गमो भावनिर्गम इत्युच्यते । तथा रूपाऽऽदयो भावाः पुद्गलद्रव्यात्, कषायज्ञानाऽऽदयश्च जीवान्निर्गच्छन्ति प्रभवन्तीति भावानां निर्गमो भावनिर्गम उच्यते । (ते वा तेहिंतो त्ति) अथवा ते पुद्गलजीवाऽऽदयः पदार्थास्तेभ्यो रूपाऽऽदिभ्यः कषायाऽऽदिभ्यश्च भावेभ्यस्तद्वियोगे प्राक्तनभावविनाशे निर्गच्छन्तीति भावेभ्यो निर्गमो भावनिर्गम इत्युच्यत इति । तदेवं विनेयमतिव्युत्पादनार्थमभिहितः षड्विधो निर्गमः ॥१५४१॥१५४२॥

इदानीं प्रकृते यावता प्रयोजनं तदुपदर्शयितुं प्रशस्तभावनिर्गमस्वरूपं तावद्दर्शयन्नाह–

तत्थ पसत्थं मिच्छ–त्तण्णाणाविरइभावनिग्गमणं ।
जीवस्स संभवंति य, जं सम्मत्तादओ तत्तो ॥१५४३॥

तत्रानन्तरोक्ते भावनिर्गमे प्रशस्तं शुभं निर्गमनम् । किम्? इत्याह–मिथ्यात्वाऽज्ञानाविरतिलक्षणादप्रशस्तभावात् यन्निर्गमने निःसरणं जीवस्य । किमिति? इत्याह–यद्यस्मात्संभवन्त्येव ततो मिथ्यात्वाऽऽद्यप्रशस्तभावनिर्गमाज्जीवस्य मुक्तिपदप्राप्तिहेतवः सम्यक्त्वाऽऽदयो गुणा इति ॥१५४३॥

भवत्वेवं, प्रस्तुते केन प्रयोजनम्? इत्याह–

एत्थ उ पसत्थभाव–प्पसूइमेत्तं विसेसओऽहिगयं ।
अपसत्थावगमो वि य, सेसा वि तदंगभावाओ ॥१५४४॥

इह च प्रक्रमे सामायिकाध्ययनं प्रस्तुतम् । तच्च क्षायोपशमिके भावे वर्त्तते । अत इह तस्यैव प्रशस्तक्षायोपशमिकभावस्य या प्रसूतिर्महावीरात् तन्निर्गमरूपा, तयैव विशेषतोऽधिकृतमधिकारः। तथाऽप्रशस्तमिथ्यात्वाऽऽदिविषयौदयिकभावस्य योऽपगमो विनाशस्तेनापि चाधिकारः, तदपगमाभावे प्रशस्तभावप्रसूतेरेवायोगादिति । शेषास्तु निर्गमभेदास्तदङ्गभावेन प्रशस्तभावनिर्गमकारणतयाऽऽनन्तर्येण पारम्पर्येण वा कोऽपि कथञ्चिद् व्याप्रियत इतीह निर्दिष्टा इति ॥१५४४॥

तदङ्गत्व मेव द्रव्याऽऽदीनां दर्शयति–

वीरो दव्वं खेत्तं, महसेणवणं पमाणकालो य ।
भावो य भावपुरिसो, समासओ निग्गमंगाइं ॥१५४५॥

यतो द्रव्यात्सामायिकं निर्गतं, तद् द्रव्यमत्र श्रीमन्महावीरो मन्तव्यः, यस्मिँश्च क्षेत्रे तन्निर्गतं, तदिह महसेनवनमवगन्तव्यम् । कालस्तु प्रथमपौरुषीलक्षणः प्रमाणकालः । भावस्तु भावपुरुषो वक्ष्यमाणलक्षणः । एतानि समासतः संक्षेपतः सामायिकस्य निर्गमाङ्गानीति ॥१५४५॥

एतदेव दर्शयति–

सामइयं वीराओ, महसेणवणे पमाणकाले य ।
भावपुरिसा हि भावो, विणिग्गओ वक्खमाणोऽयं ॥१५४६॥

गतार्था, नवरं श्रीमन्महावीरजीवलक्षणाद्भावपुरुषादयं वक्ष्यमाणविस्तरस्वरूपः सामायिकलक्षणो भावो विनिर्गतः, इह च क्षायो–पशमिके भावे वर्त्तमानत्वात् ''सामायिकलक्षणो भावः'' इत्युक्तम् ॥१५४६॥

अथ महावीरलक्षणस्य द्रव्यस्य निर्गमं तावदभिधित्सुराह–

इच्चेवमाइ सव्वं, दव्वाहीणं जओ जिणस्सेव ।
तो निग्गमणं वोत्तुं, वोच्छं सामाइयस्स तओ ॥१५१७॥

इत्येवमादिकं क्षेत्रकालनिर्गमनाऽऽदिकं सामायिकाध्ययनाऽऽवश्यकश्रुतस्कन्धाऽऽचाराऽऽदिकं वा सर्वमपि यतो यस्माद् द्रव्यस्य महावीरलक्षणस्याधीनम्, ततस्तस्यैव महावीरजिनस्य निर्गमनमुक्त्वा, ततः सामायिकस्य निर्गमनं वक्ष्य इति ॥१५४७॥

ननु महावीरजिनस्याऽपि निर्गमनं कथं वक्तव्यम्? इत्याह–

मिच्छत्ताइतमाओ, स निग्गओ जह य केवलं पत्तो ।
जह य पसूयं तत्तो, सामइयं तं पवक्खामि ॥१५४८॥

तमिति तदेतत्सर्वं प्रवक्ष्यामीति गाथार्थः ॥१५४८॥ विशे० अत्र वक्ष्यमाणो भावः सामायिकलक्षणः, एतच्च सर्वं भगवन्महावीरलक्षणद्रव्याधीनमतस्तस्यैव प्रथमतो मिथ्यात्वाऽऽदिभ्यो निर्गममभिधित्सुराह–

पंथं किर देसित्ता, साहूणं अडविविप्पणट्ठाणं ।
संमत्तपढमलंभो, बोधव्वो बद्धमाणस्स ॥१५९॥

पन्थानं किलेत्याप्तवादे, देशयित्वा कथयित्वा, साधुभ्यः सूत्रे षष्ठी प्राकृतत्वात् । (अमवि त्ति) प्राकृतत्वादेवात्र सप्तम्या लोपः। अटव्यां पथो विप्रनष्टेभ्यः परिभ्रष्टेभ्यः, पुनस्तेभ्य एव दे–

शनां श्रुत्वा सम्यक्त्वं प्राप्त एवं सम्यक्त्वप्रथमलाभो बोद्धव्यो वर्द्धमानस्येति गाथाऽक्षरार्थः ॥१४६॥

भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्–''अवरविदेहे एगम्मि गामे वलाहिओ, सो य रायाऽऽएसेण सगडाणि गहाय दारुनिमित्तं महाडविं पविट्ठो। इतो य साहुणो मग्गं पवन्ना सत्थेण समं वच्चंति, सत्थे आवासिए भिक्खं पविट्ठा, सत्थो गतो, ते मग्गतो पहाविया अयाणंता भुल्ला, मूढदिसा पंथं अयाणंता तेण अडविपंथेण मज्झण्हदिवसकाले तण्हाए छुहाए य अपरद्धा तं देसं गया, जत्थ सो सगडसंनिवेसो। सो य बलाहिओ ते पासित्ता महंतं संवेगमावन्नो भणइ–अहो ! इमे साहुणो अदेसिया तवस्सिणो अडविमणुप्पविट्ठा। तेसिं सो परमभत्तीए विउलं असणं पाणं दाऊण आह–एह भगवं ! जेण पंथे समवतारेमि ; पुरतो संपत्थितो, ताहे ते वि साहुणो तस्सेव मग्गेण अणुगच्छंति, ततो गुरू तस्स धम्मं कहेउमारद्धो, सो तस्सुवगतो, ततो पंथं समोयारित्ता नियत्तो। ते पत्ता सदेसं । सो पुण अविरयसम्मद्दिट्ठी कालं काऊण सोहम्मे कप्पे पलिओवमट्ठिइओ देवो जातो।''

एतदेवोपप्रदर्शयन् गाथाद्वयमन्तर्भाष्यकृदाह–

अवरविदेहे गाम–स्स चिंतगो रायदारुवणगमणं ।
साहू भिक्खनिमित्तं, सत्था हीणे तहिं पासे ॥१५०॥
दाणऽन्न पंथनयणं, अणुकंप गुरूण कहण सम्मत्तं ।
सोहम्मे उववन्नो, पलियाउ सुरो महिड्ढीओ ॥१५१॥

अपरविदेहे ग्रामस्य चिन्तकः, (रायदारुवणगमणमिति) अत्र निमित्तशब्दलोपो द्रष्टव्यः–राजदारुनिमित्तं तस्य वनगमनं, स साधून् भिक्षानिमित्तं सार्थाद् भ्रष्टान् तत्र दृष्टवान्, ततोऽनुकम्पा परमभक्त्या दानमन्नपानस्य, नयनं प्रापणं पथि, तदनन्तरं गुरोः कथनं, ततः सम्यक्त्वप्राप्तिः, तत्प्रभान्मृत्वाऽसौ सौधर्मलोके उत्पन्नः पल्योपमायुः सुरो महर्द्धिक इति।

लद्धूण य सम्मत्तं, अणुकंपाए सो सुविहियाणं वि।
भासुरवरबोंदिधरो, देवो वेमाणिओ जातो ॥१५२॥

स ग्रामचिन्तकः सुविहितानामनुकम्पया परमभक्त्या तेभ्यः सम्यक्त्वं लब्ध्वा भासुरां दीप्तिमतीं वरां प्रधानां बोन्दिं तनुं धारयतीति भास्वरवरबोन्दिधरः, देवो वैमानिको जातः। इति निर्युक्तिगाथाऽर्थः ॥१५२॥

चइऊण देवलोगा, इह चेव य भारहम्मि वासम्मि ।
इक्खागुकुले जातो, उसभसुयसुतो मरीइ त्ति ॥१५३॥

ततो देवलोकात् स्वायुःक्षये च्युत्वा इहैव भारते वर्षे इक्ष्वाकुकुले जात उत्पन्न ऋषभसुतसुतो मरीचिः, ऋषभपौत्र इत्यर्थः।

यतश्चैवमतः–

इक्खागुकुले जातो, इक्खागुकुलस्स होइ उप्पत्ती ।
कुलगरवंसेऽतीए, भरहस्स सुओ मरीइ त्ति ॥१५४॥

इक्ष्वाकूणां कुलमिक्ष्वाकुकुलं, तस्मिन् जात उत्पन्नो, भरतस्य सुतो मरिचिरिति योगः तत्र सामान्येन ऋषभपौत्रत्वाभिधाने सतीदं विशेषाभिधानमदुष्टमेव, सामान्याभिधाने सति सर्वत्राऽपि विशेषाभिधानस्य दर्शनात्। स च इक्ष्वाकुकुले जातः, कुलकराः (वक्ष्यमाणलक्षणाः) तेषां वंशः प्रवाहः, तस्मिन्नन्नतिक्रान्ते, यतश्चैवमत इक्ष्वाकुकुलस्य भवति उत्पत्तिर्वाच्येति शेषः।॥१५४॥ आ०म० १अ०१ खण्ड। आ०चू० (कुलकरवक्तव्यता 'कुलगर' शब्दे तृतीयभागे ५९२ पृष्ठे समुक्ता)

णिग्गमग पुं०(निर्गमक) प्रस्थाने, बृ०१ उ०।

णिग्गमण न०(निर्गमन) अपक्रमणे, निस्सरणे, पलायने, व्य०१ उ०। निस्सरणमार्गे , ज्ञा०२ श्रु०१ अ०। (गच्छान्निर्गत्योपसंपद्विधिः 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे १००५ पृष्ठे उक्तः)

णिग्गय त्रि०(निर्गत) निःसृते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। उत्त०। नं०। नि०। अभिनिष्क्रान्ते, आ०म०१ अ०१खण्ड । रहिते, संथा०। पञ्चा०। अविद्यमाने, स्था०१ ठा०। प्रतिपातिते, स०६ अङ्ग। ''उड्ढं मुहे–निग्गयजीहनेते निर्गतजिह्वनेत्रान्। उत्त० ११ अ० ''णिग्गयग्गदंता।'' निर्गता अग्रदन्ता यस्य स निर्गताग्रदन्तः। ज्ञा० १ श्रु०८ अ०। स्थानान्तरप्राप्त्या निश्चितेऽनिश्चिते गमने, भ० १४ श० १उ०।

णिग्गह पुं०(निग्रह) अनाचारप्रवृत्तेर्निषेधने, नि०१ श्रु०१ वर्ग १ अ०। ज्ञा०। अन्यायकारिणां दण्डे, आव०६ अ०। ग०। भ०। रोधे, भ०७ श० ६ उ०। इन्द्रियनोइन्द्रियनियन्त्रणे, उत्त० १७ अ०। आ०चू०।

णिग्गहजुत्त त्रि०(निग्रहयुक्त) इन्द्रियकषायाणां निग्रहसमर्थे, बृ०४ उ०।

णिग्गहट्ठाण न०(निग्रहस्थान) वादकाले वादी प्रतिवादी वा येन निगृह्यते तन्निग्रहस्थानम्। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। वादिवञ्चनार्थके प्रतिज्ञाहान्यादौ न्यायपरिभाषिते पदार्थे , स्था० १ ठा०।

णिग्गहदोस पुं०(निग्रहदोष) निग्रहस्थलाऽऽदिना पराजयस्थानरूपे दोषभेदे, स्था० १० ठा०।

णिग्गहप्पहाण न०(निग्रहप्रधान) अनाचारप्रवृत्तिनिषेधप्रधाने, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। औ०।

णिग्गहसमत्थ पुं०(निग्रहसमर्थ) जितेन्द्रिये, तरुणाऽऽदीना वा संयतीरुपसर्गयितां खरण्टाऽऽदिना शिक्षाकारणदक्षे, बृ०१ उ०।

णिग्गहिय त्रि०(निगृहीत) वादे पराजिते, ''सो वादी णिग्गहितो, पच्छा सावगेहिं गोट्ठामाहिलो धरितो।'' आ०म०२ अ०।

णिग्गा (देशी) हरिद्रायाम्, दे०ना० ४ वर्ग २५ गाथा।

णिग्गाहि(ण) पुं०(निग्राहिण्) निगृह्णाति मनोज्ञवेन वशीकरोतीति निग्राही। निग्रहणशीले उत्त० ४ अ०।

णिग्गिण (देशी) निर्गते, दे०ना० ४ वर्ग ३६ गाथा।

णिग्गुण त्रि०(निर्गुण) निर्गतगुणे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। उत्तरगुणापेक्षया निर्मर्यादे, स्था०३ ठा०२ उ०। भ०। उत्तरगुणविकले, जं०२ वक्ष०। स्था०। गुणव्रतरहिते, ज्ञा०१ श्रु० १८ अ०। तीक्ष्णाऽऽदिगुणाभावात् (दशा० ६ अ०) क्षान्त्यादिगुणाभावाद् गुणविकले, रा०। भ०।

णिग्गुणबंभ न०(निर्गुणब्रह्मन्) योगाऽऽदिरहिते आत्मनि, सत्त्वरजस्तमोरूपगुणरहिते ब्रह्मणि, अष्ट० ८ अष्ट०।

णिग्गूढ त्रि०(निर्गूढ) स्थिरतया स्थापिते, सूत्र० २ श्रु० ७अ०।

णिग्गोह पुं०(न्यग्रोध) वटवृक्षे, अनु० स्था० स०। जी०।

णिग्गोहपरिमंडल न०(न्यग्रोधपरिमण्डल) न्यग्रोधवत्परिमण्डलं यस्य तन्न्यग्रोधपरिमण्डलम् । कर्म०६ कर्म०। प्रज्ञा०। जी०। नाभेरुपरि न्यग्रोधवन्मण्डले, आद्यसंस्थानयुक्तत्वेन विशिष्टाऽऽकारे द्वितीयसंस्थाने, अनु०। यथा न्यग्रोध उपरिसंपूर्णावयवोऽधस्तनभागे पुनर्न तथा, तथेदमपि नाभेरुपरि विस्तरबहुलं शरीरलक्षणोक्तप्रमाणभागमधस्तु हीनाधिकप्रमाणमिति । स्था०६ ठा०। पं०सं०। कर्म०।

णिग्गोहपरिमंडलणाम न०(न्यग्रोधपरिमण्डलनामन्) न्यग्रोधपरिमण्डलनिबन्धने नामकर्मभेदे, कर्म०१ कर्म०।

णिग्घट्ठ (देशी) कुशले, दे०ना० ४ वर्ग ४ गाथा।

णिग्घाय पुं०(निर्घात) वैक्रियाशनिप्रपाते, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। विद्युत्प्रपाते, जी०१ प्रति०४ उ०। साभ्रे निरभ्रे वा गगने व्यन्तरकृते महागर्जितध्वनौ, स्था० १० ठा०। आव०। नि०चू०। निर्जरणे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

णिग्घायण न०(निर्घातन) निराधिक्येन घातो निर्घातः । निर्जरणे, आ०चू० ५ अ०।

णिग्घायणट्ठ पुं०(निर्घातनार्थ) निर्घातननिमित्ते, ''पावाणं कम्माणं णिग्घायणट्ठाए।'' आव०५अ०। निर्घातनमुच्छेदः, स एवार्थः प्रयोजनं तस्मै। ध०२ अधि०।

णिग्घिण त्रि०(निर्घृण) न विद्यते घृणा पापजुगुप्सालक्षणा यत्र स निर्घृणः । प्रश्न०१ आश्र० द्वार। न विद्यते घृणा पापजुगुप्सा यस्य सः। प्रव० २७४ द्वार। प्रश्न०। निर्दये, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। आव०। **''डो दीर्घो वा'' ॥८।३।३८॥** इति संबुद्धौ वा दीर्घः। 'रे रे णिग्घिणया!' प्रा० ३ पाद।

णिग्घिणता स्त्री०(निर्घृणता) निर्दयतायाम्, पञ्चा० १० विव०।

णिग्घिणमइ त्रि०(निर्घृणमति) परस्य द्रव्यादविरते, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

णिग्घेउं अव्य०(निगृहीतुम्) निरुध्येत्यर्थे, ''पुव्वपयत्तेण सक्किलो णिग्घेउं।'' नि०चू० १ उ०।

णिग्घोर (देशी) निर्दये, दे०ना० ४ वर्ग ३७ गाथा।

णिग्घोस पुं०(निर्घोष) नितरां घोषो निर्घोषः । तं०। आव०। महाप्रयत्नोत्पादिते शब्दे, भ०६ श० ३३ उ०। महाशब्दे, कल्प०५ क्षण। रा०। आ०म०। विपा०। महाध्वनौ, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। जी०। आचा०। ज्ञा०। रा०।

णिघंटु पुं०(निघण्टु) नामसङ्ग्रहे, कल्प० २ क्षण। कोशे, औ०। नामकोशे, ''णिघंटुछट्ठाणं संगोवंगाणं चउण्हं वेयाणं।'' नि०१ श्रु०१ वर्ग ५ अ०। कल्प०।

णिघस पुं०(निकष) कषपट्टगतायां कषितसुवर्णरेखायाम्, अनु०। नि०चू०। आ०म०। भ०। चं०प्र०। प्रश्न०। कषपट्टके, सर्वेषामभिधानानामागमो निकषः हेमरजतकल्पजीवाऽऽदिपदार्थपरिज्ञानहेतुत्वात् कषपट्टकः। अनु०।

णिचय पुं०(निचय) द्रव्योपचये तन्निमित्ताऽऽपादितकर्मनिचये, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। आचा०। रा०। औ०। शूकराऽऽदिसंघाते, पिं०। संचये, ओघ०।

णिचिक्खिल्ल पुं०(निश्चिखिल) कर्दमाभावे, व्य०६ उ०।

णिचिय त्रि०(निचित) निविडे, अनु०। प्रश्न०। रा०। स्था०। औ०। भ०। निविडतरचयमापन्ने, आ०म०१अ०१खण्ड।

णिच्च त्रि०(नित्य) शाश्वते, उत्त० १८ अ०। आव०। संघा०। सर्वदाऽवस्थायिनि, आचा०१ श्रु० १ अ०५ उ०। उत्पत्तिविनाशरहिते, प्रव०१ द्वार। अविनाशधर्मिणि, स्या०। ध०। अविचलितस्वभावे, दश०१ अ०। अव्यवच्छिन्नरूपे, विशे०। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे, आचा०१ श्रु० ५ अ०५ उ०। स्था०। दश०। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थनित्यत्वेन व्यवस्थापिते, आचा०१ श्रु० ५ अ०१ उ०। ध्रुवे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। औ०। सर्वकाले, रा०। कल्प०। जी०। व्य०। प्रश्न०। सर्वदेत्यर्थे , संथा०। जं०। प्रश्न०। रा०। स्था०। सूत्र०। उत्त०। ''रागदोसे य जे पावे, पावकम्मपवत्तणे। जे भिक्खू रुंभई णिच्चं, से न अत्थइ मंडले ॥१॥'' उत्त० ३१ अ०। ''णिच्चं नीयकम्मोवजीविणो।'' नित्यं सदा नीचा–न्यधमजनोचितानि कर्माण्युपजीवन्ति तैर्वृत्तिं कुर्वन्ति ये ते तथा। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

णिच्चउग्गाह पुं०(निश्चयोद्ग्राह) निश्चयनयोपन्यासे, ''तेनाऽऽदौ निश्चयोद्ग्राहो, नग्नानामपहस्तितः । रसायनीकृतविषप्रायोऽसौ न जगद्धितः'' ॥७६॥ निश्चयनयोद् ग्राहो निश्चयनयोपन्यासः। नयो०।

णिच्चंधकारतमस न०(नित्यान्धकारतमस) नित्यमेवान्धकारतमसं येषु ते तथा। मेघावच्छिन्नाम्बरतलकृष्णपक्षरजनीवत् तमोबहुलेषु नरकेषु, सूत्र०२ श्रु० २ अ०।

णिच्चंपरदार पुं०(नित्यंपरदार) प्रतिक्रमणसूत्रमध्ये श्राविकाः ''णिच्चंपरदारगमणविरईओ।'' इत्यादिपाठं कथयन्त्युत ''णिच्चं कापुरिसगमणविरईओ ।'' इत्यादि चेति प्रश्ने, उत्तरम्–प्रतिक्रमणसूत्रपाठस्तु श्राद्धश्राविकाणां सदृश एव ज्ञायते, येनैतद्वृत्तौ स्त्रियं प्रति परपुरुषवर्जनमुपलक्षणाद् द्रष्टव्यमिति व्याख्यातमस्तीति। ३५ प्र०। सेन०२ उल्ला०।

णिच्चच्छणिय त्रि०(नित्यक्षणिक) नित्यं सर्वदा क्षणा उत्सवा यत्राऽसौ नित्यक्षणिकः सार्वदिकोत्सवयुक्ते, ज्ञा०१ श्रु०४ अ०।

णिच्चतल्लिल्ल त्रि०(नित्यतल्लिप्त) सदैव तत्परे, पञ्चा० १७ विव०।

णिच्चदुक्खिय त्रि०(नित्यदुःखित) सदा दुःखाऽऽकुले, तं०।

णिच्चदोस पुं०(नित्यदोष) अविनाशिदोषे, स्था०। तथा नित्यो यो दोषोऽभव्यानां मिथ्यात्वाऽऽदिरनाद्यपर्यवसितत्वात्, स दोषः सामान्यापेक्षया विशेषः अथवा–सर्वथा नित्ये वस्तुनि अभ्युपगते यो दोषो बालकुमाराऽऽद्यवस्थाभावाऽऽपत्तिलक्षणः, सदोषः सामान्यापेक्षया दोषविशेष इति। स्था० १० ठा०।

णिच्चपिंड पुं०(नित्यपिण्ड) निमन्त्रितस्य नित्यं गृह्णतो ग्राह्ये पिण्डे, प्रव०२ द्वार।

णिच्चभत्त न०(नित्यभक्त) अनवरतभोजने, पञ्चा० ६ विव०।

णिच्चभत्तिय पुं०(नित्यभक्तिक) नित्यमेकाशनिनि साधौ, कल्प०६ क्षण।

णिच्चभाव पुं०(नित्यभाव) सर्वदा सद् भावे, पञ्चा० ६ विव०।

णिच्चर धा०(कथ) दुःखकथने, **''दुःखे णिव्वरः''**॥८।४।३॥ इति दुःखविषयस्य कथेर्णिच्चर इत्यादेशः। 'णिच्चरइ' दुःखं कथयतीत्यर्थः। प्रा०४ पाद।

णिच्चल धा०(मुच्) दुःखमोचने, **''दुःखे णिव्वरः''**॥८।४।९२॥ इति दुःखविषयस्य मुचेर्णिच्चलाऽऽदेशः। 'णिच्चलइ'। दुःखं मुञ्चतीत्यर्थः। प्रा०४ पाद।

***णिच्चल** त्रि०। **''ह्रस्वात् थ्य–श्च–त्स–प्सामनिश्चले''** ॥८।२।२१॥ इति श्चभागस्य च्छो न, अनिश्चलेतिपर्युदासात्। प्रा०२ पाद। अचले, उत्त०५ अ०। ''उअ णिच्चलणिप्पंदा, भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाया।'' प्रा०२ पाद। गमागमाऽऽदिरहिते, ज्ञा०१ श्रु०२ अ० रा०।

णिच्चलपय न०(निश्चलपद) मोक्षे, पं०व० ४ द्वार। रा०।

णिच्चवाय पुं०(नित्यवाद) नित्यैकान्तवादे, स्या०।

णिच्चसंदण त्रि०(नित्यस्यन्दन) नित्यस्रवणशीले सततवाहिनि, कल्प० ६ क्षण।

णिच्चसति स्त्री०(नित्यस्मृति) सार्वदिकस्मरणे, पञ्चा० १ विव०। प्रा०।

णिच्चसहाय पुं०(नित्यसहाय) अवस्थितसहाये, व्य० ६ उ०।

णिच्चसुह त्रि०(नित्यसुख) सदा सौख्ये, आव० ६ अ०।

णिच्चाणिच्च त्रि०(नित्यानित्य) स्थितिभवनभङ्गरूपापेक्षया नित्ये, भवनभङ्गरूपापेक्षयाऽनित्ये, स्था० १ ठा०।

सर्वस्यैव वस्तुन उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तता। इत्यत्र प्रमाणम्–

''असतो नत्थि पसूई, होज्ज व जइ होउ खरविसाणस्स।
न य सव्वहा विणासो, सव्वुच्छेयप्पसंगाओ॥१९६८॥
तोऽवत्थियस्स केणइ, विलओ धम्मेण भवणमन्नेण।
सव्वुच्छेओ न मओ, संववहारोवरोहाओ''॥१९६९॥

अन्यत्र विवृतम्। विशे०। (सादिश्रुतप्रकरणेऽप्येतत्)

णिच्चालोग पुं०(नित्यालोक) चतुःषष्टितमे महाग्रहे, ''दोणिच्चालोया।'' स्था०२ ठा०३ उ०। कल्प०। सू०प्र०। चं० प्र०। नित्यमालोक उद् द्योतो यत्रेति। सर्वकालमुद्द्योतमाने, कल्प०३ क्षण।

णिच्चिद त्रि०(निश्चिन्त) **''अधः क्वचित्''** ॥८।४।२६१॥ इति शौरसेन्यां तस्य दः। चिन्ताविकले, प्रा०४ पाद।

णिच्चुज्जोय पुं०(नित्योद्द्योत) पञ्चषष्टितमे महाग्रहे, ''दो णिच्चुज्जोया।'' स्था०२ ठा०३ उ०। कल्प०। चं०प्र०। सू०प्र०।

णिच्चुव्विग्ग त्रि०(नित्योद् विग्न) सदाऽप्रशान्ते, दश०५ अ०२ उ०। सदोदासीने, अष्ट० २२ अष्ट०।

णिच्चेट्ठ त्रि०(निश्चेष्ट) व्यापाररहिते, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०।

णिच्चेयणय त्रि०(निश्चेतनक) चैतन्यवर्जिते शरीरे, तं०।

णिच्चोउआ स्त्री०(नित्यर्तुका) नित्यं सदा, न त्र्यहमेव ऋत् रक्त–प्रवृत्तिलक्षणो यस्याः सा नित्यर्तुका। सदा रजस्वलायाम्, सा च गर्भं न धरते। स्था०५ ठा०२ उ०।

णिच्चोयग त्रि०(नित्योदक) प्रचुरजले, कल्प० ६ क्षण।

णिच्छइय पुं०(नैश्चयिक) निश्चये भवो नैश्चयिको नयः। निश्चयनये, विशे० भ०।

णिच्छक्क त्रि०(देशी) निर्लज्जे, बृ०१ उ० धृष्टे, व्य०५ उ० अनवसरज्ञे, ज्ञा०१ श्रु० ६ अ०।

णिच्छय पुं०(निश्चय) निराधिक्ये चयनं चयः पिण्डीभवनमधिक–श्चयो निश्चयः। अनु० निरधिकश्चयो निश्चयः। सामान्ये, आ०चू० १अ० परमार्थे, पं०व०३ द्वार। पञ्चा०। आ० म० आव० सूत्र०। औ० अवश्यङ्करणाभ्युपगमे तत्त्वनिर्णये, भ०२ श०५ उ०। आ० म० सूत्र०। ज्ञा० नियमे, अव्यभिचारे, निश्चयपरिच्छेदे, सम्म० ३ काण्ड। इत्थमेवेदं विधेयमित्येवंरूपनिर्णये, भ० १८ श०२ उ०।

णिच्छयकहा स्त्री०(निश्चयकथा) अपवादे, ''अपवादो णिच्छयकहा भण्णति।'' ऋजुसूत्राऽऽदिभिः शुद्धनयैः क्रियमाणायां कथायाम्, नि०चू०५ उ०।

णिच्छयगोयर पुं०(निश्चयगोचर) निश्चयविषये, द्रव्या० ८ अध्या०।

णिच्छयणय पुं०(निश्चयनय) तत्त्वनयमते परिणामवादे, पञ्चा० १३ विव०। द्रव्यास्तिकनये, सम्म० ३ काण्ड। ऋजुसूत्राऽऽद्यास्तु चत्वारो निश्चयनयाः। बृ० ४ उ०। (निश्चयनयस्वरूपं 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८९२ पृष्ठे प्रतिपादितम्)

निश्चयव्यवहारयोः पार्थक्यम्–

निश्चयाद् व्यवहारेण, कोपचार विशेषता?
मुख्यवृत्तिर्यदैकस्य, तदाऽन्यस्योपचारता॥२२॥

(निश्चयेति) निश्चयाद् निश्चयनयाद् व्यवहारेण सहोपचारविशेषता काऽस्ति? व्यवहारविषये उपचारोऽस्ति, निश्चये उपचारो नास्त्ये–तावद्विशेषता। यदैकनयस्य मुख्यवृत्तिर्गृह्यते, तदापरनयस्योपचा–रवृत्तिरायाति। रत्नाकरवाक्ये स्याद्वादरत्नाकरे च प्रसिद्धमस्ति–'स्वस्यार्थसत्यत्वस्याभिमानोऽखिलनयानाम्–न्योऽन्यं वर्तते, फलात् सत्यत्वं तु सम्यग्दर्शनयोग एवास्ति।'' एवं च प्रकृतमर्थं व्याख्यायते–निश्चयनयाद् व्यवहारनयेन सहोपचारविशेषता काऽस्ति? या उपचारविशेषता वर्तते, तां दर्शयति–यदैकस्य कस्यचिन्नयस्य मुख्यता मुख्यभावो वर्तते, तदाऽन्यस्याऽन्यनयस्य उपचारता गौणत्वं भवतीति ज्ञेयम्। यथाहि–निश्चयेन आत्मेति शब्द एतस्य निश्चयार्थस्तु–''असंख्यातप्रदेशी निरञ्जनोऽनन्तज्ञानाऽऽदिगुणोपेतो नित्यो विभुःकर्मदोषैरसङ्गतः सिद्ध इव देहे उपलभ्यते।'' तदाऽस्य व्यवहारेणौपाधिकस्य जडशरीराऽऽदेः सङ्गतस्यौदयिकाऽऽदिभावोपग–तनरनैरयिकाऽऽदिभावस्पर्शतोऽपि गौणत्वं भासते। अथ च 'अतति सातत्येन गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्यात्मा।' संसारस्थो देहाऽऽ–दिसंगतो जन्ममरणजरायौवनाऽऽदिक्लेशमनुभवमानः प्रत्यक्षप्रमाणेन व्यवहाराऽऽदेशाद् देवो मनुष्यो नारकास्तिर्यक् च कथ्यते, तत्र सिद्धत्वस्य गौणत्वम्॥२२॥

अथ पुनस्तदेव प्रतिपादयति–

तेनेदं भाष्यसदिष्टं, ग्रहीतव्यं विनिश्चयम्।
तत्त्वार्थं निश्चयो वक्ति, व्यवहारा जनोदितम्॥२३॥

(तेनेति) तेन कारणेनेदं विनिश्चयं निश्चयव्यवहारयोर्लक्षणं, भाष्यसंदिष्टं विशेषाऽऽवश्यकनिरूपितं, ग्रहीतव्यमवधारणीयम्। अथ निश्चयव्यवहारयोर्लक्षणमाहनिश्चयो निश्चयनयः, तत्त्वार्थं युक्तिसिद्धमर्थं, वक्ति कथयति। पुनर्व्यवहारो व्यवहारनयो, जनोदितं लोकाभिमतग्राहित्वं वक्ति। यतो लोकाभिमतमेव व्यवहारः, तस्य ग्राहकं प्रमाणं न भवति, प्रमाणं तु तत्त्वार्थग्राहकमेवास्ति। तथापि प्रमाणस्य सकलतत्त्वार्थग्राही निश्चयनयः, एकदेशतत्त्वार्थग्राही व्यवहारश्चायं विवेकः। निश्चयनयस्य विषयत्वम्, अथ च व्यवहारनयस्य विषयत्वमनुभवसिद्धं भिन्नमेवाऽऽस्ते यथा सविकल्पकज्ञानं नष्टप्रकाराताऽऽदिकमन्यवादिनो भिन्नमेवाऽऽमनन्तीति हृदये विमर्शनीयम् ॥२३॥

अथोपचारं निर्दिशति–

बाह्यस्याऽभ्यन्तरत्वं यद्, बहुव्यक्तेरभेदता।
यच्च द्रव्यस्य नैर्मल्य–मिति निश्चयगोचराः ॥२४॥

(बाह्येति) यद् बाह्यस्य बाह्यार्थस्याऽभ्यन्तरत्वमन्तरङ्गत्वं वर्तते, तदपि गोचरम्, निश्चयविषय मित्यर्थः। यथा–''समाधिर्नन्दनं धैर्यो, दम्भोलिः समता सभा। ज्ञानं महाविमानं च, वासवश्रीरियं पुनः ॥१॥'' इत्यादि-पुण्डरीकाध्ययनाऽऽद्यर्थोऽप्येवं भावनीयः। अथ पुनर्बहुव्यक्तेरनेकविशेषस्याभेदता भेदराहित्यं, तदपि निश्चयविषयम्। यथा– ''एगे आया'' इत्यादि सूत्रम्, तथा वेदान्तदर्शनमपि शुद्धसंग्रहनयाऽऽदेशरूपः शुद्धनिश्चयनयार्थः संमतिग्रन्थे कथितः। (स चास्मिन्नेव भागे १८९१ पृष्ठे दर्शितः) तथा पुनर्द्रव्यस्य पदार्थस्य यन्नैर्मल्यं तदपि निश्चयविषयम्, नैर्मल्यं तु विमलपरिणतिः बाह्यनिरपेक्षपरिणामः, सोऽपि निश्चयनयाऽर्थो बोद्धव्यः। यथा–''आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे।'' एवमेते अभ्यन्तरत्वाऽऽदयो निश्चयगोचरा एव। यथा यथा रीत्या लोकातिक्रान्तोऽर्थोऽवाप्यो, तथा, तयारीत्या निश्चयनयस्य भेदा भवन्ति। तस्माच्च लोकोत्तरार्थभावना समायातीति ज्ञेयम् ॥२४॥ द्रव्या०८ अध्या०।

णिच्छर पुं०(निर्झर) **''चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्य द्वितीयौ''** ॥८।४।३२५॥ इति चतुर्थस्य झस्य छः। गिरिपतत्प्रस्रवणे, प्रा० ४पाद।

णिच्छल्ल धा०(छिद्) छेदने, **''छिदेर्दुहाव–णिच्छल्ल–णिज्झोडणिव्वर–णिल्लूर–लूराः''** ॥८।४।१२४॥ इति णिच्छल्लाऽऽदेशः। णिच्छल्लइ, छिंदइ, छिनत्ति। प्रा०४ पाद।

णिच्छल्लिय त्रि०(निश्छल्लिक) छल्लीरहिते, बृ०१ उ०।

णिच्छाय त्रि०(निश्छाय) गतश्रीके, ज्ञा०३ श्रु०३ अ०। विशोभे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

णिच्छिड्ड त्रि०(निश्छिद्र) स्थगितरन्ध्रे, दर्श० ४ तत्त्व। भ०।

णिच्छिण्ण त्रि०(निश्छिन्न) रूपाऽऽदिव्यावृत्तेः पृथक्कृते, विशे०।

णिच्छिय त्रि०(निश्चित) अवश्यं भाविनि, स० ६ अङ्ग। निश्चयवति, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। प्रश्न०। असंशये, स० ११ अङ्ग।

णिच्छुभण न०(निक्षुभण) निष्काशने, व्य०८ उ०। ''असंखडिणिच्छुभणे।'' नि०चू० १ उ०।

णिच्छूड (देशी) निर्दये, दे०ना० ४ वर्ग ३७ गाथा।

णिच्छूढ न०(निष्ठ्यूत) निष्ठीवने, विशे०। आ०म०। **''क्तेना-प्फुण्णाऽऽदयः** ॥८।४।२५८॥ इति उद्धृतशब्दस्य निच्छूढाऽऽदेशः प्रा०४ पाद। उत्क्षिप्ते, भुक्तोज्झने च। वाच०। ''सो परिव्वायगो हीलिज्जंतो णिच्छूढो।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड।

णिच्छूहणा स्त्री०(निक्षोभणा) निःसरास्माद् गेहादिति भर्त्सने, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०।

णिच्छेय त्रि०(निश्चेय) निश्चीयत इति निश्चेयः। अवश्यकरणीये, रा०।

णिच्छोडइत्ता अव्य०(निश्छोट्य) प्राप्मर्थं त्याजयित्वेत्यर्थे, भ० १५ श०। पुरुषान्तरसम्बन्धिहस्ताऽऽद्यवयवतो वियोजयित्वेत्यर्थे, भ० १५ श०। सम्बन्धान्तरसंबद्धहस्ताऽऽदौ गृहीत्वा बलात् क्षिप्त्वेत्यर्थे, स्था०५ ठा०१ उ०। उपा०।

णिच्छोडणा स्त्री०(निश्छोटना) त्यजास्मदीयवस्त्राऽऽदीत्यादिरूपे भर्त्सने, भ० १५ श०। ज्ञा०।

णिच्छोलण न०(निश्छोटन) त्वगपनयने, ''अंगादाणं णिच्छोलेइ, णिच्छोलंतं वा साइज्जइ।'' णिच्छोलेति त्वचमपनयति, महामणिं प्रकाशयति इत्यर्थः। नि०चू० १ उ०।

णिजुद्ध न०(नियुद्ध) सर्वसन्धिविक्षोभणपूर्वके युद्धे, नि०चू० १२ उ०। औ०। ज्ञा०।

णिज्ज (देशी) सुप्ते, दे०ना० ४ वर्ग २५ गाथा।

णिज्जप्पपाणभोयण न०(निर्याप्यपानभोजन) क०स०। निर्यापना-कारकेषु दुर्बलेषु पानभोजनेषु, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार।

णिज्जरट्ठया स्त्री०(निर्जरार्थता) ममाऽप्येतान् वाचयतः कर्मनिर्जरा विपुला भविष्यतीति प्रयोजने, ''उग्गहट्ठयाए णिज्जरट्ठयाए पज्जवजाएणं।'' आ०म०१ अ०१ खण्ड। स्था०।

णिज्जरट्ठि(ण्) त्रि०(निर्जरार्थिन्) कर्मक्षयकामे, प्रति०।

णिज्जरण न०(निर्जरण) यतनोपयोगिज्ञानदर्शनविशुद्धव्रते, औ०। दाने च, ''णिज्जरणं भवत्थाणं।'' व्य० ७ उ०।

णिज्जरमाण त्रि०(निर्जरयत्) निर्जरां कुर्वाणे, भ० १८ श०३ उ०।

णिज्जरा स्त्री०(निर्जरा) निर्जरणं निर्जरा। कर्मक्षये, आव०३ अ०। पञ्चा०। स्था०। दर्श०। ओघ०। आचा०। कर्मणां जीवप्रदेशेभ्यः परिशटने, स्था० १० ठा०। कात्स्न्र्येनानुसमयं विशेषकर्मविपाकहान्या परिशटने, स्था०४ ठा०४उ०। कर्मपुद्गलशाटने, सूत्र०२ श्रु०५ अ०। आव०। स्था०। नाशे, श्रा०। कर्मणोऽकर्मताभवने, स्था०२ ठा०४ उ०। विशरणे परिशटने, स्था०१ ठा०। अपचये, कर्म०।

एगा णिज्जरा।

निर्जरणं निर्जरा, विशरणं परिशटनमित्यर्थः। सा चाष्टविधकर्मापेक्षयाऽष्टविधाऽपि, द्वादशविधतपोजनितत्वेन च द्वादशविधाऽपि, अकामक्षुत्पिपासाशीताऽऽतपदंशमशकसहनब्रह्मचर्यधारणाऽऽद्यनेकविधकारणजनितत्वेनाऽनेकविधाऽपि, द्रव्यतो वस्त्राऽऽदेर्भावतः कर्म्मणामेवं द्विविधाऽपि वा, निर्जरा सामान्यादेकैवेति। ननु निर्जरामोक्षयोः कः प्रतिविशेषः? उच्यते–देशतः कर्मक्षयो निर्जरा, सर्वतस्तु मोक्ष इति। स्था० १ ठा०। अनु०। स०।

अधुना यद्गुणवशाज्जीवानां यावती निर्जरा, तामाह–

एयगुणा पुण कमसो, असंखगुणणिज्जरा जीवा ॥८३॥

एते प्रागुपदर्शिताः सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरत्यादयो गुणा धर्मा येषां ते एतद्गुणाः, जीवा इत्युत्तरेण संबन्धः । कथम्? इत्याह–पुनरिति पुनःशब्दो गुणश्रेणिस्वरूपापेक्षया व्यतिरेकार्थः । क्रमशो यथोत्तरं क्रमेण, असंख्यातगुणिता निर्जरा कर्मपुद्गलपरिशाटरूपा येषां तेऽसंख्यातगुणनिर्जराः , जीवाः सत्त्वाः, भवन्तीति शेषः। तत्र सम्यक्त्वगुणा जीवाः स्तोकपुद्गलनिर्जरकाः, ततो देशविरता असंख्येयगुणनिर्जराः, ततः सर्वविरता असंख्येयगुणनिर्जराः, ततोऽनन्तानुबन्धिविसंयोजका असंख्येयगुणनिर्जराः, ततो दर्शनक्षपका असंख्येयगुणनिर्जराः, ततो मोहशमका असंख्येयगुणनिर्जराः, तत उपशान्तमोहा असंख्येयगुणनिर्जराः, ततः क्षपका असंख्येयगुणनिर्जराः, ततः क्षीणमोहा असंख्येयगुणनिर्जराः, ततः सयोगिकेवलिनोऽसंख्येयगुणनिर्जराः, ततोऽप्ययोगिकेवलिनोऽसंख्येयगुणनिर्जराः (८३) कर्म० ५ कर्म० स्था०। (देशेन सर्वेण चाऽऽत्मा निर्जरयतीति 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १६६ पृष्ठे उक्तम्) (भक्तप्रत्याख्यानेन निर्जरा भवतीति 'भत्तपच्चक्खाण' शब्दे वक्ष्यते) ''जीवा णं चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ णिज्जरेंसु, णिज्जरिंति, णिज्जरिस्संति ।''कर्मणोऽकर्मकत्वभवनमिति । इह च देशनिर्जरैव ग्राह्या, सर्वनिर्जरायाश्चतुर्विंशतिदण्डके असम्भवात्, क्रोधाऽऽदीनां चतदकारणत्वात्, क्रोधाऽऽदिक्षयस्यैव तत्कारणत्वादिति। स्था०४ ठा०१ उ०।

ज्ञानी शीघ्रं कर्म क्षपयति । तत्र निर्जराद्वारमाह–

जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाईं वासकोडीहिं ।
तं नाणी तिहिँ गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥

यदज्ञानी जीवो नैरयिकाऽऽदिभवेषु वर्त्तमानो वर्षीभिर्वर्षकोटीभिः कर्म क्षपयति, तत्कर्म ज्ञानी त्रिषु मनोवाक्कायेषु गुप्तः, समुच्छ्वासमात्रेणापि कालेन क्षपयति। बृ०१ उ०। कर्मनिर्जराहेतौ बुभुक्षाऽऽदिसहने, स्था०४ ठा०४ उ०। (वैयावृत्यंमहानिर्जराहेतुरित्यतिशयानां प्रसङ्गे 'अइसेस' शब्दे प्र०भा० ३० पृष्ठे आवेदितम्)

यो महावेदनः स महानिर्जरः–

जीवा णं भंते ! किं महावेयणा महानिज्जरा, महावेयणा अप्पनिज्जरा, अप्पवेयणा महानिज्जरा, अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा? गोयमा ! अत्थेगइया जीवा महावेयणा महानिज्जरा, अत्थेगइया जीवा महावेयणा अप्पनिज्जरा, अत्थेगइया जीवा अप्पवेयणा महानिज्जरा, अत्थेगइया जीवा अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! पडिमापडिवण्णए अणगारे महावेयणे महानिज्जरे, छट्ठसत्तमासु पुढवीसु नेरइया महावेयणा अप्पनिज्जरा, सेलेसिपडिवण्णए अणगारे अप्पवेयणे महानिज्जरे, अणुत्तरोववाइया देवा अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा । भ०६ श०१ उ० से णूणं भंते ! जे महावेयणे से महाणिज्जरे, जे महाणिज्जरे से महावेयणे, महावेयणस्स य अप्पवेयणस्स य से सेए जे पसत्थनिज्जराए? हंता गोयमा ! महावेयणे० एवं चेव । छट्ठसत्तमासु णं भंते! पुढवीसु नेरइया महावेयणा? हंता ! महावेयणा। ते णं भंते ! समणेहिंतो निग्गंथेहिंतो महानिज्जरतरागा? णो इणट्ठे समट्ठे । से केणं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइजे महावेयणे० जाव पसत्थनिज्जराए? गोयमा ! से जहानामए दुवे वत्था सिया– एगे वत्थे कद्दमरागरत्ते, एगे वत्थे खंजणरागरत्ते, एएसि णं गोयमा ! दोण्हं वत्थाणं कयरे वत्थे दुधोयतराए चेव, दुवामतराए चेव, दुपरिकम्मतराए चेव; कयरे वा वत्थे सुधोयतराए चेव, सुवामतराए चेव, सुपरिकम्मतराए चेव, जे वा से वत्थे कद्दमरागरत्ते, जे वा से वत्थे खंजणरागरत्ते? भगवं ! तत्थ णं जे से कद्दमरागरत्ते से णं वत्थे दुधोयतराए चेव, दुवामतराए चेव, दुपरिकम्मतराए चेव? एवामेव गोयमा ! नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं चिक्कणीकयाइं सिढिलीकयाइं खिलीकयाइं भवंति, संपगाढं पि य णं ते वेयणं वेयमाणा णो महानिज्जरा नो महापज्जवसाणा भवंति, से जहा वा केइ पुरिसे अहिगरणिं आउट्टेमाणे महया महया सद्देणं महया महया घोसेणं महया महया परंपराघाएणं णो संचाएइ, तीसे अहिगरणीए अहावायरे पोग्गले परिसाडित्तए एवामेव गोयमा ! नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं०जाव नो महापज्जवसाणाइं भवंति। भगवं ! तत्थ जे से वत्थे खंजणरागरत्ते से णं वत्थे सुधोयतराए चेव, सुवामतराए चेव, सुपरिकम्मतराए चेव? एवामेव गोयमा ! समणाणं निग्गंथाणं अहावायराइं कम्माइं सिढिलीकयाइं निट्ठियाइं कमाइं विपरिणामियाइं खिप्पामेव विद्धत्थाइं भवंति, जावइयं तावइयं पि य णं ते वेयणं वेयमाणा महानिज्जरा महापज्जवसाणा, भवंति, से जहानामए केइ पुरिसे सुक्कं तणहत्थयं जायतेयंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा ! से सुक्के तणहत्थए जायतेयंसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव मसमसाविज्जइ? हंता! मसमसाविज्जइ, एवामेव गोयमा ! समणाणं निग्गंथाणं अहावायराइं कम्माइं०जाव महापज्जवसाणाइं भवंति। से जहानामए केइ पुरिसे तत्तंसि अयकवल्लंसि उदगविंदु०जाव हंता ! विद्धंसमागच्छइ, एवामेव गोयमा ! समणाणं निग्गंथाणं०जाव महापज्जवसाणा भवंति, से तेणट्ठेणं जे महावेयणे से महानिज्जरे ०जाव निज्जराए।

(से णूणं भंते ! जे महावेयणे इत्यादि) महावेदन उपसर्गाऽऽदि समुद्भूतविशिष्टपीडः, महानिर्जरो विशिष्टकर्म्मक्षयः, अनयोश्चान्योन्याऽविनाभूतत्वाविर्भावनाय–''जे महानिज्जरे इत्यादि'' प्रत्यावर्त्तनमित्येकः प्रश्नः। तथा–महावेदनस्य चाल्पवेदनस्य च

मध्ये स श्रेयान् यः प्रशस्तनिर्जराकः कल्याणानुबन्धनिर्जर इति, एष च द्वितीयः प्रश्नः। प्रश्नता च काकुपाठाऽवगम्या। हन्तेत्याद्युत्त--रम्। इह च प्रथमप्रश्नस्योत्तरे महोपसर्गकाले भगवान्महावीरो ज्ञातः, द्वितीयस्याऽपि स एवोपसर्गानुपसर्गावस्थायामिति। यो महावेदनः स महानिर्जर इति यदुक्तं, तत्र व्यभिचारं शङ्कमान आह--(छट्ठीत्यादि)(दुधोयतराए त्ति) दुष्करतरधावनप्रक्रियम्,(दुवामतराए त्ति) दुर्बाम्यतरकं दुस्त्याज्यतरकलङ्कम्, (दुप्परिकम्मतराए त्ति) कष्टकर्त्तव्यतेजोजननभङ्गकरणाऽऽदिप्रक्रियम्। अनेन च विशेषणत्रयेणाऽपि दुर्विशोध्यमित्युक्तम्। (गाढीकयाइं ति) आत्मप्रदेशैः सह गाढबद्धानि, सणसूत्रगाढबद्धसूचीकलापवत्। (चिक्कणीकयाइं ति) सूक्ष्मकर्म्मस्कन्धानां सरसतया परस्परं गाढसम्बन्धकरणतो दुर्भेदीकृतानि, तथाविधमृत्पिण्डवत्। (सिढिलीकयाइं ति) श्लथीकृतानि निधत्तानि, सूत्रबद्धाग्नितप्तलोहशलाकाकलापवत्। खिलीभूतानि अनुभूतिव्यतिरिक्तोपायान्तरेण क्षपयितुमशक्यानि, निकाचितानीत्यर्थः। विशेषणचतुष्टयेनाप्येतेन दुर्विशोध्यानि भवन्तीत्युक्तं भवति। एवं च एवमेत्रेत्याद्युपनयवाक्यं सुघटनं स्यात्। यतश्च तानि दुर्विशोध्यानि स्युस्ततः(संपगाढमित्यादि) (नो महापज्जवसाणा भवंति त्ति) अनेन महानिर्जराया अभावस्य निर्वाणाभावलक्षणं फलमुक्तमिति नाप्रस्तुतत्वमस्याऽऽशङ्कनीयमिति। तदेवं यो महावेदनः स महानिर्जर इति विशिष्टजीवापेक्षमवगन्तव्यम्, न पुनर्नारकाऽऽदिक्लिष्टकर्मजीवापेक्षम्। यदपि यो महानिर्जरः स महावेदन इत्युक्तं, तदपि प्रायिकम्। यतो भवत्ययोगी महानिर्जरो, महावेदनस्तु भजनयेति। (अहिगरणि त्ति) अधिकरणी, यत्र लोहकारा अयोघनेन लोहानि कुट्टयन्ति। (आउट्टेमाणे त्ति) आकुट्टयन् (सद्देणं ति) अयोघनघातप्रभवेन ध्वनिना, पुरुषहुङ् कृतिरूपेण वा। (घोसेणं ति)तस्यैवानुनादेन। (परंपराघाएणं ति) परम्परा निरन्तरता, तत्प्रधानो घातस्तामनं, परम्पराघातः, तेन उपर्युपरि घातेनेत्यर्थः। (अहावायरे त्ति) स्थूलप्रकारात्। एवामेवेत्याद्युपनये--''गाढीकयाइं'' इत्यादिविशेषणचतुष्केण दुष्परिशाटनीयानि भवन्तीत्युक्तं भवति। (सुधोयतराए इत्यादि) अनेन सुविशोध्यं भवतीत्युक्तं स्यात्। (अहावायराइं ति) स्थूलतरस्कन्धान्यसाराणीत्यर्थः। (सिढिलीकयाइं ति) श्लीथीकृतानि, मन्दविपाकीकृतानि। (निट्ठियाइं कडाइं ति) निःसत्ताकानि विहितानि। (विपरिणामियाइं ति) विपरिणामं नीतानि स्थितिघातरसघाताऽऽदिभिः, तानि च क्षिप्रमेव विध्वस्तानि भावन्ति, एभिश्च विशेषणैः, सुविशोध्यानि भवन्तीत्युक्तं स्यात् ततश्च (जावइयमित्यादि)। भ०६ श० १उ०।

या वेदना सा निर्जरा--

से णूणं भंते ! जा वेयणा सा निज्जरा, जा निज्जरा सा वेयणा? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइजा वेयणा न सा निज्जरा, जा निज्जरा न सा वेयणा? गोयमा ! कम्मवेयणा, णो कम्मनिज्जरा, से तेणट्ठेणं गोयमा !०जाव न सा वेयणा। नेरइया णं भंते ! जा वेयणा सा निज्जरा, जा निज्जयरा सा वेयणा? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं एवं वुच्चइनेरइयाणं जा वेयणा न सा निज्जरा, जा निज्जरा न सा वेयणा ? गोयमा ! नेरइयाणं कम्मवेयणा णो कम्मनिज्जरा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०जाव न सा वेयणा, एवं०जाव वेमाणियाणं। से नूणं भंते ! जं वेदंसू तं निज्जरिंसु, जं निज्जरिंसु तं वेदंसु? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ--जं वेदंसु नो तं निज्जरिंसु, जं निज्जरिंसु नो तं वेदंसु ? गोयमा ! कम्म वेदंसु नो कम्म निज्जरिंसु, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०जाव नो तं वेदंसु। नेरइया णं भंते ! जं वेदंसु, तं निज्जरिंसु, एवं नेरइया वि। एवं० जाव वेमाणिया। से नूणं भंते! जं वेदेंति तं निज्जरंति, जं निज्जरंति तं वेदेंति ? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं एवं वुच्चइ०जाव नो तं वेदेंति? गोयमा ! कम्म वेदेंति, नो कम्म निज्जरंति, से तेणऽट्ठेणं गोयमा !०जाव नो तं वेदें ति। एवं नेरइया वि०जाव वेमाणिया। से नूणं भंते! जं वेदिस्संति, तं निज्जरिस्संति, जं निज्जरिस्संति तं वेदिस्संति? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं०जाव णो तं वेदिस्संति? गोयमा ! कम्मं वेदिस्संति, नो कम्मं निज्जरिस्संति। से तेणट्ठेणं०जाव नो तं निज्जरिस्संति। एवं नेरइया वि० जाव वेमाणिया। से नूणं भंते! जे वेदणासमए से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए से वेदणासमए? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ--जे वेदणा--समए न से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए न से वेदणासमए ? गोयमा ! जं समयं वेदें ति नो तं समयं निज्जरंति, जं समयं निज्जरंति नो तं समयं वेदेंति; अण्णम्मि समए वेदेंति अण्णम्मि समए निज्जरंति, अण्णे से वेदणासमए अण्णे से निज्जरासमए, से तेणऽट्ठेणं ०जाव न से वेदणासमए। नेरइया णं भंते ! जे वेदणासमए से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए से वेदणासमए? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ--नेरइयाणं जे वेदणासमए न से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए न से वेदणा--समए? गोयमा ! नेरइया णं जं समयं वेदें ति नो तं समयं निज्जरंति, जं समयं निज्जरंति नो तं समयं वेदेंति, अण्णम्मि समए वेदेंति अण्णम्मि समए निज्जरंति, अण्णे से वेदणासमए अण्णे से निज्जरासमए, से तेणट्ठेणं०जाव न से वेदणासमए। एवं०जाव वेमाणियाणं।

(कम्मवेयण त्ति) उदयं प्राप्तं कर्म्म वेदना, धर्मधर्म्मिणोरभेदविवक्षणात्।(नो कम्म निज्जर त्ति) कर्माभावो निज्जरा, तस्या एवंस्वरूपत्वादिति। (नो कम्म निज्जरिंसु त्ति) वेदतरसं कर्म्म ना कर्म्म तन्निर्जरितवन्तः, कर्मभूतस्य कर्मणो निर्जरणासम्भवादिति। भ०७ श०३ उ०। (कियता तपसा कियती निर्जरा भवतीति 'अण्णइलाय' शब्दे प्रथमभागे ४४४ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (परिणामानुसारेण निर्जरेति 'अइसेस' शब्दे प्र० भागे २५ पृष्ठे गतम्) (सम्यक्त्वं विना निर्जरा नास्तीति वक्ष्यते 'सम्मत्त' शब्दे) ''गणवारणमगिलाए, कुणमाणे णिज्ज--

रेति कम्माइं । अन्ने य णिज्जरावे, तम्हा तू णिज्जरा होति ॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे अनुज्ञारूपेऽर्थे, पं०भा०। क्रियावादिनामक्रियावादिनां च मिथ्यादृशां सकामनिर्जरा भवति, न वा? यदि सकामनिर्जरा, तर्हि ग्रन्थाक्षराणि प्रसाद्यानीति प्रश्ने, उत्तरम्–क्रियावादिनामक्रियावादिनां च केषाञ्चित्सकामनिर्जराऽपि भवतीत्यवसीयते, यतोऽकामनिर्जरामुत्कर्षतो व्यन्तरेष्वेव । बालतपस्विनां चरकाऽऽदीनां तु ब्रह्मलोकं यावदुपपातः प्रथमोपाङ्गाऽऽदावुक्तोऽस्तीति, तदनुसारेण पूर्वोक्तानां सकामनिर्जरेति तत्त्वम् । २४८ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

णिज्जरापेहि(ण्) त्रि०(निर्जराऽपेक्षिन्) निर्जरणं निर्जरा कर्मणामात्यन्तिकः क्षयः, तामपेक्षतेकथं ममाऽसौ स्यादित्यभिलषतीति निर्जराऽपेक्षी । उत्त०२ अ०। कर्मक्षयमभीप्सौ, उत्त०२ अ०।

निर्जराप्रेक्षिन् त्रि०। निर्जरां प्रेक्षितुं शीलमस्येति निर्जराप्रेक्षी । निर्जरातत्त्वज्ञे, ''मज्झत्थो णिज्जरापेही, समाहिमणुपालए।'' आचा०१ श्रु० ८ अ०८ उ०।

णिज्जरापोग्गल पुं०(निर्जरापुद्गल) निर्जीर्णेकर्मदलिके, भ० १८ श० ३उ०।

णिज्जराभावणा स्त्री०(निर्जराभावना) निर्जरातत्त्वपर्यालोचने, (प्रव०) अथ निर्जराभावना–

''संसारहेतुभूतायाः, यः क्षयः कर्मसंततेः ।
निर्जरा सा पुनर्द्वेधा, सकामाकामभेदतः ॥१॥
श्रमणेषु सकामा स्या–दकामा शेषजन्तुषु ।
पाकः स्वत उपायाच्च, कर्म्मणां स्यात् यदाम्रवत् ॥२॥
कर्मणां न क्षयो भूया–दित्याशयवतां सताम् ।
वितन्वतां तपस्यादि, सकामा शमिनां मता ॥३॥
एकेन्द्रियाऽऽदिजन्तूनां, संज्ञानरहिताऽऽत्मनाम् ।
शीतोष्णवृष्टिदहन–च्छेदभेदाऽऽदिभिः सदा ॥४॥
कष्टं वेदयमानानां, यः शाटः कर्मणां भवेत् ।
अकामनिर्जरामेना–मामनन्ति मनीषिणः ॥५॥
तपःप्रभृतिभिर्वृद्धिं, व्रजन्ती निर्जरा यतः ।
ममत्वं कर्म संसारं, हन्यात्तां भावयेत्ततः ॥६॥''

प्रव० ६७ द्वार।

णिज्जराहेउ पुं०(निर्जराहेतु) क०स०। कर्मक्षयकारणे, ब०स०। कर्मक्षयजनके, पञ्चा० १२ विव०।

णिज्जरिज्जमाण त्रि०(निर्जीयमान) नितरामपुनर्भावेन क्षीयमाणे कर्मपुद्गले, भ०१ श०२ उ०। स्था०।

णिज्जरिय त्रि०(निर्जरित) सर्वथा क्षयं नीते, तं०। ''णिज्जरियजरामरणं, वंदित्ता जिणवरं महावीरं ।'' वन्दित्वा कायवाग्मनोभिः स्तुतिं विधाय जिना रागद्वेषाऽऽदिजयनशीलाः सामान्यकेवलिनः, तेषु तेभ्यो वा वरः प्रधानातिशयापेक्षया श्रेष्ठो जिनवरस्तम् । तं०।

णिज्जवग पुं०(निर्यापक) निर्यापयति तथा करोति यथा गुर्वपि प्रायश्चित्तं शिष्यो निर्वाहयतीति निर्यापकः । स्था०८ ठा०। प्राकृतत्वाद्रूपनिष्पत्तिः । ध० २ अधि०। पञ्चा०। असमर्थस्य प्रायश्चित्तिनः प्रायश्चित्तस्य खण्डशः करणेन निर्वाहके, भ० २५ श० ७ उ०। स हि तथा प्रायश्चित्तं दत्त यथा परो निर्वोढुमलं भवतीति । स्था० १० ठा०। नेदानीं निर्यापकाः सन्तीति न०। व्य०। १उ०।

यदप्युक्तं निर्यापका व्यवच्छिन्ना इति, तदपि न तथा, कथमिति चेदत आह– निर्यापकैः निर्याप्यमाणाः । इह द्विविधा निर्यापकास्तथा–आत्मनः, परस्य वा । उभयानप्याह–

पादोवगमे इंगिणि, दुविहा खलु होंति आयनिज्जवगा ।
निज्जवगा य परेण उ, भत्तपरिन्नाएँ बोधव्वा ॥

आत्मनिर्यापकाः खलु द्विविधा भवन्ति । तद्यथा–पादपोपगमे, इङ्गिनीमरणे च । परेण पुनर्निर्यापका भक्तपरिज्ञायां बोद्धव्याः । व्य०१० उ०। निर्निश्चितं यापयति प्रायश्चित्तविधिषु याप्यमालोचकं करोति । निर्वाहयतीति यावदिति नियोपः, अच्– प्रत्ययः अपरा–धकारी यथोक्तं प्रायश्चित्तं कर्तुमसमर्थो यथा यथा निर्वाहयति तथा तथा तदुचितप्रायश्चित्तप्रदानतः प्रायश्चित्तं कारयति स निर्यापक इति भावः । व्य० १ उ०।

णिज्जवणा स्त्री०(निर्यापणा) निराधिक्येन यान्ति प्राणिनः प्राणास्तेषां निर्यतां निर्गच्छतां प्रयोजकं निर्यापणा। अष्टाविंशगोणहिंसायाम्, प्रश्न०१ आश्र० द्वार प्रश्नार्थव्याख्यानस्य निगमने, आ०म०१ अ०२ खण्ड । आ०चू०। ..... णिज्जवणा, पच्चभासो णिगमणं ति ।''(२६३२) निर्यापना तु दापनादर्शितस्यैवार्थस्य प्रत्याभ्यासः प्रत्युच्चारणं निगमनम् । विशे०। ('णमोक्कार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८३४ पृष्ठे व्याख्यातम्) मीमांसिततया निर्दोषत्वेन निश्चयने, व्य०१ उ०। नि०चू०।

णिज्जाअ (देशी) उपकारे, दे०ना० ४ वर्ग ३४ गाथा।

णिज्जाण न०(निर्याण) यान्ति तदिति यानम्, ''कृत्यल्युटो बहुलम्'' ॥३।३।११३॥ इति (पाणिनि) वचनात्कर्मणि ल्युट् । निरुपमं याने निर्याणम् । ईषत्प्राग्भाराऽऽख्ये मोक्षपदे, आव०४ अ०। ज्ञा०। भावे ल्युट् । संसारात्पलायने, आ०चू०४अ०। अनावृत्तिगमने, औ०। आचा०। स्था०। मरणकाले शरीरान्निर्गमे, स्था० ३ ठा०४ उ०। नगरान्निर्गमे, स्था०३ ठा०४ उ०। पुरस्य निर्गमनमार्गे, सू०प्र० ४ पाहु०। चं०प्र०। ''रायादियाण णिग्गमट्ठाणं णिज्जाणिया, णगरगमे वा जं पियं तं णिज्जाणं'' नि०चू० ८ उ०।

णिज्जाणकहा स्त्री०(निर्याणकथा) राजकथाभेदे, स्था०४ ठा०२ उ०। (व्याख्या 'रायकहा' शब्दे द्रष्टव्या)

णिज्जाणमग्ग पुं०(निर्याणमार्ग) निर्वाणस्य मोक्षपदस्य मार्गो निर्याणमार्गः । विशिष्टनिर्याणप्राप्तिकारणे, ''इणमेव णिग्गंथं पावयणं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं ।'' आव०४ अ०। ध०।ज्ञा०। सिद्धिक्षेत्रगमनोपाये, भ०६ श०३३ उ०। निर्याणस्य मरणकाले शरीरिणः शरीरान्निर्गमस्य मार्गो निर्याणमार्गः । पादाऽऽदिके, स्था०।

पंचविहे जीवस्स णिज्जाणमग्गे पण्णत्ते । तं जहा–पाएहिं, उरूहिं, उरेणं, सिरेणं, सव्वंगेहिं । पाएहिं णिज्जाणमाणे निरयंगामी भवइ, उरूहिं णिज्जाणमाणे तिरियगामी भवइ, उरेणं णिज्जाणमाणे मणुयगामी भवइ, सिरेणं णिज्जाणमाणे देवगामी भवइ, सव्वंगेहिं णिज्जाणमाणे सिद्धिगतिपज्जवसाणे पण्णत्ते ।

व्यक्तं, किन्तु निर्याणं मरणकाणे शरीरिणः शरीरान्निर्गमः, तस्य मार्गो निर्याणमार्गः पादाऽऽदिकः, तत्र-(पाएहिं) पादाभ्यां मार्गभूताभ्यां कारणताऽऽपन्नाभ्यां जीवः शरीरान्निर्यातीति शेषः। एवमूरुभ्यामित्यादावपि। अथ क्रमेणास्य निर्याणमार्गस्य फलमाहपादाभ्यां शरीरान्निर्यान् जीवो (निरयंगामि त्ति) प्राकृतत्वादनुस्वार इति, निरयगामी भवति एवमन्यत्रापि सर्वाणि च तान्यङ्गानि च सर्वाङ्गानि, तैर्निर्यान् सिद्धिगतिः पर्यवसानं संसरणपर्यन्तो यस्य स सिद्धिगतिपर्यवसानः प्रज्ञप्त इति। स्था०५ ठा०३उ०। देवानामुत्तरणमार्गस्तु सौधर्मेशानाऽऽदीनां कल्पानां मध्यतः, तत्र सौधर्मेन्द्रः स्वकीयात्पालकाद् विमानादुत्तरन्नुत्तरेणोत्तरति, ईशानेन्द्रश्चस्तु स्वविमानात्पुष्पकादुत्तरन् दक्षिणेनोत्तरति। भ० २६ श०२ उ०।

णिज्झाणियलेण न०(नैर्याणिकलयन) नगरनिर्गमग्रहे, भ० १३ श० ६ उ०।

णिज्झाणिया स्त्री०(निर्याणिकी) निर्याणक्रीडायाम्, नि०चू० ८ उ०।

णिज्झामग पुं०(निर्यामक) प्रापके, विशे०। कर्णधारे, औ० समुद्रे प्रवहणनेतरि, व्य०३ उ०। आ०म०। आव०। विशे०। आ०क०। रा०।

सम्प्रति प्रपञ्चेनार्हतां गुणानुपदर्शयन्नाह-

अमवीएँ देसयत्तं, तहेव निज्झामगा समुद्दम्मि।
छक्कायरक्खणट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति ॥२६५६॥

आ०म० १अ०२ खण्ड। आ०चू०। आचा०। ('णमोक्कार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८३६ पृष्ठे व्याख्या समुक्ता) उत्तमार्थाऽऽराधकस्य गुणोत्कीर्तनेनोपबृहके, दर्श०४ तत्त्व।

पावेंति जहा पारं, सम्मं निज्झामगा समुद्दस्स।
भवजलहिस्स जिणिंदा, तहेव जम्हा अतो अरिहा ॥

प्रापयन्ति नयन्ति यथा येन प्रकारेण पारं पर्यन्तः, सम्यक् शोभनेन विधिना, निर्यामकाः प्रतीताः समुद्रस्य, तथव भवजलधेर्भवसमुद्रस्य, पारं जिनेन्द्राः प्रापयन्ति, यस्मादेवमतस्तस्मादर्हा नमस्कारस्य। एष संक्षेपार्थः। पुनरेवम्-''एत्थणिज्झामगा दुविहा। तं जहा-दव्वणिज्झामगा, भावणिज्झामगा य।'' (आ०म०)

तत्र यथा जलधौ कालिकावातरहिते अनुकूले गर्जभवाते निपुणनिर्यामकसहिता निश्चिताः पोता ईप्सितं पत्तनं प्राप्नुवन्ति, एवम्-

मिच्छत्तकालियावा-यविरहिएँ समत्तगज्जभपवाए।
एगसमएण पत्ता, सिद्धिवसहिपट्टणं पोया॥

मिथ्यात्वमेव कालिकावातो मिथ्यात्वकालिकावातः, तेन रहिते भवाम्भोधौ, तथा सम्यक्त्वमेव गर्जभः प्रवातो यत्र स तथा तस्मिन्, एकसमयेन प्राप्ताः सिद्धिवसतिपत्तनं पोता जीवबोधिस्थाः, अर्हन्निर्यामकोपकारात्।

ततो यथा सांयात्रिकः सार्थः प्रसिद्धनिर्यामकं चिरगतमपि यात्रासिद्ध्यर्थं पूजयति, एवं ग्रन्थकारोऽपि सिद्धिपत्तनं प्रस्थितोऽभीष्टयात्रासिद्धये निर्यामकरत्नेभ्यस्तीर्थकृद्भ्यः स्तवचिकीर्षये-दमाह-

निज्झामगरयणाणं, अमूढनाणमइकन्नधाराणं।
वंदामि विणयपणता, तिविहेण तिदंडविरयाणं॥

निर्यामकरत्नेभ्योऽर्हद्भ्यः, अमूढज्ञाना यथावस्थितज्ञानाः, मननं मतिः संवित्, सैव कर्णधारो येषां ते तथाविधाः, तेभ्यो वन्दे विनयप्रणतस्त्रिविधेन त्रिदण्डमविरतेभ्यः-''शपाऽऽदिभिर्बहुलम् ॥(?)'' इति चतुर्थी। आ०म०१अ०२ खण्ड।

णिज्झाय त्रि०(निर्यात) निश्चयेनापगते, आव०६ अ०।

णिज्झायकारण त्रि०(निर्यातकारण) निश्चयेन यातमपगतं कारणं प्रयोजनं यस्मिन्नसौ निर्यातकारणः। अपगतप्रयोजने, आव० ६ अ०। ज्ञा०।

णिज्झायमाण त्रि०(निर्यत्) निर्याणकारके, ''पाएहिं णिज्झायमाणे निरयंगामी भवइ।'' स्था०५ ठा०३ उ०।

णिज्झायरूवरयय त्रि०(निर्यातरूपरजत) निर्गतसुवर्णरूप्ये, द्वा० २६ द्वा०। ''णिज्झायरूवरयए गिहिजोगपरिवज्जए जे से भिक्खू।'' दश०६ अ०।

णिज्झास पुं०(निर्यास) स्नेहे, सूत्र०२ श्रु० ३ अ०। रसे, सूत्र०२ श्रु० १ अ०।

णिज्झिण्ण त्रि०(निर्जीर्ण) क्षीणे, भ०१ श०१ उ०। क्षीणरसीकृते, भ० १२ श०४ उ०।

णिज्झियसत्तु त्रि०(निर्जितशत्रु) पराजितशत्रौ, रा०। सूत्र०।

णिज्झियसत्तुसेण त्रि०(निर्जितशत्रुसेन) स्ववशीकृतविपक्षनृपतिसैन्ये, बृ० १ उ०।

णिज्जीव न०(निर्जीव) निर्जीवकरणे, हेमाऽऽदिधातुमारणे, रसेन्द्रस्य मूर्च्छाप्रापणे च। एतच्च एकसप्ततितमा कला। जं०२ वक्ष०। ज्ञा०। औ०। स०।

णिज्जुत्त त्रि०(निर्युक्त) खचिते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। औ०। निश्चयेनाऽऽधिक्येन साधु वा आदौ वा युक्ताः संबद्धा निर्युक्ताः। निर्युक्तिव्यवस्थापितेषु, आ०म०१ अ०१ खण्ड। निश्चयेन प्ररूपिते, आ०म० २ अ०।

णिज्जुत्ति स्त्री०(निर्युक्ति) निर्युक्तानामेव सूत्रेऽर्थानां युक्तिः परिपाट्या योजनम्, निर्युक्तयुक्तिरितिवाच्ये, युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिः। दश० १ अ०। स०। ओघ०। निश्चयेनार्थप्रतिपादिका युक्तिर्निर्युक्तिः। आचा०१ श्रु०२ अ०१उ०। सूत्र०। भद्रबाहुस्वामिकृते व्याख्यानग्रन्थे, विशे०। व्याख्योपायभूते सत्पदप्ररूपणताऽऽदौ, अनु०।

साम्प्रतं निर्युक्तिस्वरूपाभिधानार्थमाह-

निज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ निज्जुत्ती।
तह वि य इच्छावेई, विभासिउं सुत्तपरिवाडी ॥१०८५॥

यद्यस्मात्सूत्रे निश्चयेनाऽऽधिक्येन साधु वा आदौ वा युक्ताः संबद्धा निर्युक्ता एव सन्तस्ते श्रुताभिधेया जीवाजीवाऽऽदयोऽर्था अनया प्रस्तुतनिर्युक्त्या बद्धा व्यवस्थापिताः व्याख्याता इति यावत्। तेनेयं भवति निर्युक्तिः। निर्युक्तानां सूत्रे प्रथममेव संबद्धानां सतामर्थानां व्याख्यारूपा युक्तिर्योजनं निर्युक्तयुक्तिरिति

* प्रतिकूलवायुः कालिकावातः। अपरोत्तरस्यां शुद्धविदिग्वातो गर्जभवातः।

प्राप्ते शाकपार्थिवाऽऽदिदर्शनाद् युक्तलक्षणस्य पदस्य लोपान्निर्यु–क्तिरिति भवति। ननु यदि प्रथममेव सूत्रेऽर्थाः संबद्धा एव सन्ति, तर्हि किमिति ते निर्युक्त्या व्याख्यायन्ते, संबद्धानां स्वयमेव विनेयवर्गेणावबुध्यमानत्वात्? तत आह–(तह वि येत्यादि) यद्यपि सूत्रे संबद्धा एवार्थाः सन्ति, तथाऽपि तान् सूत्रे निर्युक्तानपि अर्थान्, विभाषितुं व्याख्यातुं, सूत्रपरिपाटी सूत्रपद्धतिः, एषयतीव एषयति प्रयोजयति। इयमत्र भावना–अप्रतिबुध्यमाने श्रोतरि गुरुं तदनुग्रहार्थं सूत्रपरिपाट्येव विभाषितुमेषयति–''इच्छत इच्छत मां प्रतिपादयितुम्'' इतीत्थं प्रयोजयतीवेति। क्वचित् सूत्रपरिपाटीमिति पाठः। तत्रैवं व्याख्याशिष्य एव सूत्रपरिपाटीमनवबुध्यमानो गुरुमिच्छायां प्रवर्त्तयति–''इच्छत इच्छत मम विभाषितुं व्याख्यातुं सूत्रपरिपाटीम्'' इति। व्याख्या च निर्युक्तिरतः पुनर्योजनरूपा निर्युक्तिरित्थमदोषायेति। आ०म०१ अ०१ खण्ड।

विस्तरतो व्याख्यातुं भाष्यकारः प्राऽऽह–

जं निच्छयाऽऽइजुत्ता, सुत्ते अत्था इमीऍ वक्खाया।
तेणेयं णिज्जुत्ती, णिज्जुत्तत्थाऽभिहाणाओ ॥१०८६॥

यद्यस्मात्सूत्रे निश्चयेनाऽऽदिशब्दादाधिक्येन, आदौ साधु वा युक्ताः संबद्धा निर्युक्ता एव सन्तोऽर्था अनया निर्युक्त्या व्याख्याताः, तेन तस्मात्कारणादियं निर्युक्तार्थाऽभिधानान्निर्युक्तानां युक्ति–र्युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिर्भवति ॥१०८६॥

अथ प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह–

सुत्ते णिज्जुत्ताणं, णिज्जुत्तीए पुणो किमत्थाणं।
णिज्जुत्ते वि न सव्वे, कोइ अवक्खाणिए मुणइ ॥१०८७॥

ननु सूत्र व निर्युक्तानां निबद्धानां सतामर्थानां तद्व्याख्यानार्थं क्रियमाणया निर्युक्त्या किं पुनःकार्यम्? न किञ्चिदित्यर्थः। ये हि सूत्रे एव विद्यमानार्थाः सन्ति, तान्स्वत एव विनेयवर्गो ज्ञास्यति, अतस्तद्विभाषणप्रवृत्ता वृथैव निर्युक्तिरिति भावः। अत्रोत्तरम्–(णिज्जुत्ते वीत्यादि) सूत्रे निर्युक्तानपि सतः सर्वानप्यर्थान् कोऽपि तथाविधप्रज्ञापाटवरहितः शिष्यो निर्युक्त्याऽव्याख्यातान्न मुणति नाऽवबुद्ध्यत इति ॥१०८७॥

ततः किम्? इत्याह–

तो सुयपरिवाडि च्चिय, इच्छावेइ तमणिच्छमाणं पि।
णिज्जुत्ते वि तदत्थे, वोत्तुं तदणुग्गहट्ठाए ॥१०८८॥

ततः श्रुतपरिपाट्येव सूत्रपद्धतिरेव विभाषितुमनिच्छन्तमपि तं निर्युक्तिकर्त्तारमाचार्यं तस्य सूत्रस्यार्थास्तदर्थान् सूत्रे निर्युक्तानप्यनवबुद्ध्यमाने श्रोतरि तदनुग्रहार्थं तान् वक्तुमेषयतीव एषयति प्रयोजयति, अतस्तानाचार्यो निर्युक्त्या विभाषते, इति तस्याः साफल्यमिति ॥१०८८॥

अत्र दृष्टान्तमाह–

फलयलिहियं पि मंखो, पढइ पभासइ तहा कराऽऽईहिं।
दाएइ य पइवत्थुं, सुहवोहत्थं तह इहं पि ॥१०८९॥

यथा मङ्खः फलके नानाप्रकारं लिखितमपि वस्तु ग्रन्थतः पठति, अर्थतश्च प्रभाषतेव्याचष्टे, शलाकाऽङ्गुल्यादिना च बालगोपालाङ्गनाऽऽदिमुग्धप्रबोधनार्थं प्रतिवस्त्वपरजन्माऽऽचीर्णं कर्मविपाकाऽऽदिकं दर्शयति। यथा–अन्यजन्मन्यनया भर्त्ता साटिकया वञ्चितस्तेनास्या ईदृशो मातङ्गकुलजन्माऽऽदिको विपाकः, अनया च भर्तृमित्रे प्राघूर्णके समायाते मुखमोटको दत्त आसीद् अनया तु सत्यपि विभवे भिक्षाचरेष्वागच्छत्सु सदैव नास्ति नास्तीत्यावेद्योद्घुष्टं, तेनेदृश ईदृशश्च दुःखविपाको जात इत्यादि। तथाऽत्रापि श्रोतृवैचित्र्यं पश्यन् सर्वानुग्रहप्रवणबुद्धिराचार्यः सूत्रे निर्युक्तानप्यर्थान्निर्युक्त्या विभाषते इति ॥१०८९॥

अथवा–निर्युक्तिगाथोत्तरार्द्धमन्यथा व्याख्यायते।

कथम्? इत्याह–

अहवा सुयपरिवाडी, सुओवएसोऽयमेव जदवस्सं।
सोयव्वं निस्संकिय–सुयविणयत्थं सुबोहं पि ॥१०९०॥

अथवा–श्रुतपरिपाटी श्रुतस्य विधिः श्रुतस्योपदेशोऽयमेव यदवश्यं सुबोधमपि श्रुतं निःशङ्कितत्वहेतोर्विनयोपचारार्थं च मुमुक्षुभिः श्रोतव्यम्। अत एवंभूता सूत्रपरिपाटी यद्यपि सूत्रे निर्युक्ता एवार्थाः सन्ति, तथाऽपि विभाषितुं व्याख्यानयितुमेषयति प्रयोजयतीत्येषोऽत्र भावार्थः स्वयमेवावगन्तव्य इति ॥१०९०॥

''सूत्रपरिपाटीम्'' इति पाठान्तरं क्वचित्। तत्राऽऽह–

इच्छइ विभासिउं मे, सुयपरिवाडिं न सुट्ठु बुज्झामि।
नातिमई वा सीसो, गुरुमिच्छावेइ वोत्तुं जे ॥१०९१॥

'वा' इत्यथवा, नातिशयेन मतिर्यस्यासौ नातिमतिर्मन्दमतिः शिष्यो गुरुमाचार्यम् (इच्छावेइ त्ति) एषयति प्रयोजयति वक्तुम्, 'जे' इत्यलङ्कारार्थः। कथं वक्तुमेषयति? इत्याह–(इच्छह विभासिउं मे त्ति) इच्छत इच्छत विभाषितुं मम श्रुतपरिपाटीं सूत्रपद्धतिं, नाहमेतांस सुष्ठु बुद्ध्ये–प्रथममेव निर्युक्तत्वेन सतोऽप्येततदभिधेयानर्थान्मन्दमतित्वाद् भवद्भिरव्याख्यातान्नाहं सम्यगवगच्छामीत्यर्थः। अथ वा–प्रक्रमादेवेह निर्युक्तिः प्रयोक्त्रीविवक्ष्यते, ततश्चेत्थमक्षरयोजना–यद्यपि सूत्रे निर्युक्तत्वेन सन्त एवार्थास्तथाऽपि तानप्रतिबुद्ध्यमानः श्रोता यदैवं वक्तिनातिमतिर्मन्दमतिरहं सदर्थामपि सूत्रपरिपाटीं सुष्ठु न बुध्ये सम्यग्नावगच्छामि, अत इच्छतेच्छत प्रभो! एतां मम विभाषितुमिति। तदित्थं वदति तस्मिन् श्रोतरि निर्युक्तिरेव गुरुं सूत्रपरिपाटीं वक्तुमेषयति प्रयोजयति–इच्छतेच्छतास्मै महानुभावायैतां विभाषितुम्। ततो निर्युक्तिद्वारेणैव तस्य शिष्यस्य गुरुस्तां विभाषत इति। 'तदेवं निज्जुत्ता ते अत्था' इत्यादिप्राक्तननिर्युक्तिगाथा व्याख्याता ॥१०९१॥ विशे०। नं०। आव०। औ०। आचा०।

णिज्जुत्तिअणुगम पुं०(निर्युक्त्यनुगम) निर्युक्तिर्नामस्थापनाऽऽदि–प्रकारैः सूत्रविभजनेत्यर्थः, तद्रूपोऽनुगमस्तस्या वाऽनुगमो-व्याख्यानं निर्युक्त्यनुगमः। अनुगमभेदे, (अनु०)

स च त्रिविधः–

से किं तं णिज्जुत्तिअणुगमे? णिज्जुत्तिअणुगमे तिविहे पण्णत्ते।
तं जहा–निक्खेवनिज्जुत्तिअणुगमे, उवग्घायनिज्जुत्तिअणुगमे,
सुत्तफासियनिज्जुत्तिअणुगमे।

निक्षेपो नामस्थापनाऽऽदिभेदभिन्नः, तस्य तद्विषया वा निर्युक्तिः पूर्वोक्तशब्दार्था निक्षेपनिर्युक्तिः, तस्या वाऽनुगमो निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः। तथा उपोद्घातेन व्याख्येयस्य सूत्रस्थ व्याख्या विधिसमीपीकरणमुपोद्घातनिर्युक्तिः, तद्रूपस्तस्या वा अनुगम उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः। तथा सूत्रंस्पृशतीति

सूत्रस्पर्शिका, सा चासौ निर्युक्तिः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः। सूत्रनिक्षेपनिर्युक्त्यनुगमाऽनुगतो वक्ष्यते च। इदमुक्तं भवति–अत्रैव प्रागवश्यकसामायिकाऽऽदिपदानां नामस्थापनाऽऽदिनिक्षेपद्वारेण यद्व्याख्यानं कृतं, तेन निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतः प्रोक्तो द्रष्टव्यः। अनु० उत्त० आ०म० संघा० विशे०।

एतदेव निर्युक्तित्रैविध्यं भाष्यकारोऽप्याह–

निज्जुत्ती तिविगप्पा, नासो–वग्घायसुत्तवक्खाणं।
णिक्खेवस्साणुगया, उद्देसाऽऽईहुवग्घाओ ॥९७२॥

निर्युक्तिस्त्रिविकल्पा त्रिभेदा। कथम्? इत्याह–(नासोवग्घाय–सुत्तवक्खाणं ति) न्यासो नामाऽऽदिनिक्षेपः, उपोद्घातः शास्त्रोत्पत्तिः, सूत्रं प्रतीतम्, तेषां व्याख्यानम्–निक्षेपनिर्युक्तिः, उपोद्घातनिर्युक्तिः, सूत्रस्पर्शिका निर्युक्तिश्चेत्यर्थः। तत्र निक्षेपनिर्युक्तिरनुगता अनुक्रान्तापूर्वमेवोक्तेति यावदिति, अत्रैव प्रागावश्यकसामायिकाऽऽदिपदानां नामस्थापनाऽऽदिनिक्षेपद्वारेण यद् व्याख्यानं कृतं, तेन निक्षेपनिर्युक्तिरनुगता प्रोक्ता, द्रष्टव्येत्यर्थः। उपोद्घातनिर्युक्तिस्तूद्देशनिर्देशाऽऽदिभिर्द्वारैरवगन्तव्येति ॥९७२॥

तान्येवोद्देशाऽऽदीनि द्वाराण्याह–

उद्देसे निद्देसे, य निग्गमे खेत्त काल पुरिसे य।
कारण पच्चय लक्खण, नए समोयारणाऽणुमए ॥९७३॥
किं कइविह कस्स कहिं, केसु कहं केचिरं हवइ कालं।
कइ संतरमविरहियं, भवागरिसफोसणनिरुत्ती ॥९७४॥

इदं गाथाद्वयमपि पुरस्ताद्विस्तरेण व्याख्यास्यते ॥९७३॥९७४॥ विशे०।

श्रुतज्ञाने सर्वा निर्युक्तीः संगृह्याऽऽह–

ते वंदिऊण सिरसा, अत्थपुहुत्तस्स तेहिँ कहियस्स।
सुयनाणस्स भगवतो, णिज्जुत्तिं कित्तयिस्सामि ॥१०६९॥

तान् अनन्तरोक्तान् तीर्थकराऽऽदीन्, शिरसा, उपलक्षणत्वाद् मनःकायाभ्यां च, वन्दित्वा, किम्? निर्युक्तिं कीर्तयिष्यामि, कस्य? अर्थपृथक्त्वस्य, अर्थात्कथञ्चिद्भिन्नत्वात् सूत्रं पृथक् उच्यते, प्राकृतत्वाच्च पृथगेव पृथक्त्वम्, अर्थस्तु सूत्राभिधेयः प्रतीत एव, अर्थश्च पृथक्त्वं चार्थपृथक्त्वम्, समाहारो द्वन्द्वः, तस्य, श्रुतज्ञानविशेषणमेतत्, सूत्रार्थोभयरूपस्येत्यर्थः। तैस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिः, कथितस्य प्रतिपादितस्य, कस्य? इत्याह–श्रुतज्ञानस्य भगवतः, स्वरूपाऽभिधानमेतत्। सूत्रार्थयोः परस्परं नियोजनं संबन्धनं निर्युक्तिः, ताम्, कीर्तयिष्यामि प्रतिपादयिष्यामि।

ननु किमशेषश्रुतज्ञानस्य? न किन्तु श्रुतविशेषाणामावश्यकाऽऽदीनाम्। अत आह–

आवस्सयस्स दसका–लियस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सूयगडे निज्जुत्तिं, वोच्छामि तहा दसाणं च ॥१०७४॥
कप्पस्स य णिज्जुत्तिं, ववहारस्स य परमनिउणस्स।
सूरियपण्णत्तीए, वोच्छं इसिभासियाणं च ॥१०७५॥
एएसिं निज्जुत्तिं, वोच्छामि अहं जिणोवएसेणं।
आहरणहेउकारण–पयनिवहमिणं समासेणं ॥१०७६॥

आवश्यकस्य, दशवैकालिकस्य, तथा–भामा सत्यभामेत्यादाविवपदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्–''उत्तरज्झ'' इति। उत्तराध्ययनग्रहणम्। ततोऽयमर्थः–उत्तराध्ययनाऽऽचारयोः। तथा–सूत्रकृते–सूत्रकृताङ्गविषयां निर्युक्तिं वक्ष्ये। तथा दशानां च दशाश्रुतस्कन्धस्य। तथा–कल्पस्य। तथा–व्यवहारस्य च परमनिपुणस्य। अत्र परमग्रहणं मोक्षाङ्गत्वात्, निपुणग्रहणं त्वव्यवसकत्वात्। न खल्वयं व्यवहारो मन्वादिप्रणीतव्यवहार इव व्यंसकः, ''सच्चपइन्ना खु ववहारा।'' इति वचनात्। तथा सूर्यप्रज्ञप्तेर्वक्ष्ये। तथा–ऋषिभाषितानां च देवेन्द्रस्तवाऽऽदीनाम्। अनेकशः क्रियाऽभिधानं शास्त्रान्तरविषयत्वात् समासव्यासरूपत्वाच्च शास्त्राऽऽरम्भस्येत्यदुष्टम्। एतेषां श्रुतविशेषाणां, निर्युक्तिं वक्ष्याम्यहं जिनोपदेशेन, न तु स्वमनीषिकया। कथंभूताम्? इत्याह–आहरणहेतुकारणपदनिवहाम्–इमामन्तस्तत्त्वनिष्पन्नां, समासेन संक्षेपेण। तत्र साध्य–साधनान्वयव्यतिरेकप्रदर्शनमाहरणम्, दृष्टान्त इति भावः। साध्ये सत्येव भवति, साध्याभावे च न भवत्येवं साध्यधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणो हेतुः। हेतुमुल्लङ्घ्य प्रथमं दृष्टान्ताभिधानं न्यायप्रदर्शनार्थम्, क्वचिद्धेतुमनभिधाय दृष्टान्त एवोच्यते। यथा–गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भको धर्मास्तिकायो, मत्स्याऽऽदीनां सलिलमिव। तथा क्वचिद्धेतुरेव केवलोऽभिधीयते, न दृष्टान्तः, यथा–मदीयोऽयमश्वो, विशिष्टचिह्नोपलब्ध्यन्यथाऽनुपपत्तेः तथा च निर्युक्तिकारेणाभ्यधायि–''जिणवयणं सिद्धं चिय, भन्नइ कत्थइ उदाहरणं। आसज्जउ सोयारं, हेऊ वि कहंचि भण्णेज्जा ॥१॥'' इति। कारणमुपपत्तिमात्रम्, यथा–निरुपमसुखः सिद्धः, ज्ञानानाबाधकप्रकर्षात्। नात्राविद्वदङ्गनाऽऽदिलोके प्रतीतः साध्यसाधनधर्मानुगतो दृष्टान्तोऽस्ति। आहरणं च हेतुश्च कारणं च आहरणहेतुकारणानि, तेषां पदान्याहरणहेतुकारणपदानि, तेषां निवहः सङ्घातो यस्यां निर्युक्तौ सा तथाविधा, ताम् ॥१०७४॥ १०७५॥१०७६॥ आ०म०१अ०१ खण्ड।

णिज्जुत्तिगार पुं०(निर्युक्तिकार) चतुर्दशपूर्वधरै श्रीभद्रबाहौ, तेन हि सर्वा निर्युक्तयः कृताः। आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ०। निर्युक्तिकारिणः पूर्वधरा भवन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–निर्युक्तिकारिणश्चतुर्दशपूर्वविदो भवन्तीति ज्ञायत इति। ११५ प्र०। सेन०१ उल्ला०।

णिज्जूढ त्रि०(निर्यूढ) निष्काशिते, व्य०२ उ०। ''णिज्जूढपदुट्ठा सा भणेइ।'' सा निर्यूढा निष्काशिता सती साधूनामुपरि प्रद्वेषं यायात्। बृ०३ उ०। पूर्वगतादुद्धृत्य विरचिते, दश०१ अ०। पं०व०''सत्तेक्कगई सत्त वि, णिज्जूढाई महापरिण्णाओ।'' आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ०। उज्झितप्राये, बृ०१उ०।

णिज्जूह पुं०(निर्यूह) गवाक्षे, व्य०१ उ०। नीव्रे, दे०ना० ४ वर्ग २८ गाथा।

णिज्जूहग त्रि०(निर्यूहक) पूर्वगतोद्धृतार्थविरचनाकर्त्तरि, दश०१ अ०। द्वारोपरितनपूर्वविनिर्गतदारुणि, न०। प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

णिज्जूहगय त्रि०(निर्यूहगत) गवाक्षगते, व्य०१ उ०।

णिज्जूहणा स्त्री०(निर्यूहणा) निष्काशनायां, कर्मशत्रूणामात्मनगरान्निर्वासनायाम्, ''महव्वयउच्चारणं णिज्जूहणा।'' पा०। गच्छात् संघाद् वा निष्काशनायाम्, व्य०१ उ०।

तिलतुसविभागमित्तो, वि जस्स असुभे न विज्जए भावो।
निज्जूहणाऽरिहो सो, सेसे णिज्जूहणा नऽत्थि ॥ व्य०१ उ०।

यस्य गच्छान्निर्यूढस्य तिलतुषविभागमात्रोऽपि निर्यूढोऽहमित्यशुभो भावो न विद्यते, स निर्यूहणाया अर्हो योग्यः। शेषस्य एतद्गुणविकलस्य निर्यूहणा, नास्ति न कर्त्तव्येत्यर्थः। बृ०१ उ०।

णिज्जूहित्तए अव्य०(निर्यूहितुम्) अपाकर्तुमित्यर्थे, व्य०। अधुना–''णिज्जूहित्तए'' इति व्याचिख्यासुराह–निर्यूहणा नामवैयावृत्त्यस्याकरणं, यदि वा वसतौ दोषाभावे यत्स्थानं न ददाति एषा निर्यूहणा। वैयावृत्त्याकरणाऽऽदिना यत्तस्य तपोऽकरणं सा निर्यूहणेति भावः। व्य०२ उ०। (ग्लानपाराञ्चिताऽऽदीनां निर्यूहणा स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) परित्यागे, स्था०४ ठा०२ उ०।

णिज्जूहियव्व त्रि०(निर्यूहितव्य) ताम्बूलिकपत्रदृष्टान्तेन संघाद् बहिः कर्तव्ये, कल्प०६ क्षण।

णिज्जोअ (देशी) प्रकरे, दे०ना० ४ वर्ग ३३ गाथा।

णिज्जोग पुं०(निर्योग) परिकरे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। यथा पात्रनिर्योगः। बृ०३ उ०।

णिज्जोमी (देशी) रश्मौ, दे०ना० ४ वर्ग ३१ गाथा।

णिज्झर धा०(क्षि) क्षये, **''क्षेर्णिज्झरो वा ॥८।४।२०॥** इति क्षयते–र्णिज्झराऽऽदेशो वा। 'णिज्झरइ,' पक्षे–'झिज्जइ।' प्रा०४ पाद।

***निर्झर** पुं०।न०। रलोपः। **''द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः''** ॥८।२।९०॥ इति झकारोपरि जकारः। प्रा०२ पाद। उदकस्य स्रवणे, भ० ५ श०७ उ०। स्यन्दने, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। स्रोताऽऽदिविवरेषु, अनु०। जीर्ण, दे०ना० ४ वर्ग २६ गाथा।

णिज्झाअ (देशी) निर्दये, दे०ना० ४ वर्ग ३७ गाथा।

णिज्झाएत्ता अव्य०(निर्ध्याय) निपूर्वो ध्या दर्शनार्थः। नि–निर् वा ध्यात्वा।''ध्यागोर्झागौ'' ॥८।४।६॥ इति ध्या इत्यस्य झ्झ ऽऽदेशः। दृष्ट्वेत्यर्थे, प्रा०४ पाद। प्रलोक्येत्यर्थे, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ०। निश्चयेन ध्यात्वा चिन्तयित्वेत्यर्थे, आचा०१ श्रु० १ अ०६उ०।

***निर्ध्यातृ** त्रि०। दर्शनानन्तरमतिशयेन चिन्तयति, त्रि०। स्था०६ ठा०।

णिज्झाएमाण त्रि०(निर्ध्यायत्) पश्यति, प्रेक्षमाणे, ''आलोपमाणे णिज्झाएमाणे।'' आचा०२ श्रु०३ चू०१ अ०।

णिज्झोड धा०(छिद्) फलाऽऽदीनां वृक्षाऽऽदेरिव विश्लेषणे, ''णिज्झोडइ।'' पक्षे–छिन्दइ, छिनत्ति। प्रा०४ पाद।

णिज्झोसइत्ता त्रि०(निर्झोषयितृ) पूर्वोपचितकर्मणां क्षपके, आचा०। ''णिज्झोसइत्ता का अरती, के आणंदे?'' पूर्वोपचित–कर्मणां निर्झोषयिता क्षपकः, क्षपयिष्यति वा, तृजन्तमेतल्लुडन्तं वा। कर्मक्षपणायोद्यतस्य च धर्मध्यायिनः शुक्लध्यायिनो वा महायोगीश्वरस्य निरस्तसंसारसुखदुःखविकल्पाऽऽभासस्य यत्स्यात्तद्दर्शयति–''का अरई के आणंदे?'' इष्टाप्राप्तिविनाशोत्थो मानसो विकारो रतिः, अभिलषितार्थावाप्तावानन्दः। योगिचित्तस्य तु धर्माशुक्लध्यानावेशावष्टब्धं ध्येयान्तरावकाशस्यारत्यानन्दयोरुपादानकारणाभावादनुत्थानमेवेत्यतोऽपदिश्यतेकेयमरतिर्नाम? को वाऽऽनन्द इति? नास्त्येवेतरजनक्षुण्णोऽयं विकल्प इति। आचा०१ श्रु०३ अ०३उ०।

णिट्टंक (देशी) टङ्कच्छिन्ने, विषमे च। दे०ना० ४ वर्ग ५० गाथा।

णिट्टंकिय त्रि०(निष्टङ्कित) निर्धारिते, अष्ट० ३२ अष्ट०। स्था०।

निष्टङ्कितं प्रायश्चित्तम्–

तत्थ णं जेसु ठाणेसु जत्थ जत्थ जावइयं पच्छित्तं तमेव निट्टंकियं भण्णइ। से भयवं! केणमट्ठेणं भण्णइ–जहा णं तमेव निट्टंकिय भन्नइ? गोयमा! अणंतराणंतरक्कमेणं इमे पच्छित्त सुत्ता– अणेगे भव्वसत्ता चउगइसंसारवारगाओ बद्धपुट्ठणिकाइयदुव्विमोक्खघोर (पारद्ध) पावकम्मनिगडाइं संचुन्निऊण अचिरा विमुच्चिहिंति, इह अहिगारो विहाणं च गोयमा! विहग इवापरिबुद्धो वज्जेत्ता नाणदंसणचरित्ताणणासगा घोरपरीसहोवसग्गाइं च जिणंतो उग्गाभिग्गहपडिमाए रागदोसेहिं दूरतो विमुक्को रोद्दऽदृज्झाण विवज्जिओ य विग्गहासु य असतो जो चंदणेण बाहुं आलिंपइ वासिणावज्जो तत्थत्थो संथुणइ, जो य निंदइ, समभावो होज्ज दुण्हं पि,एवं अणिगूहियबलविरियपुरिसक्कारपरक्कमे समतणुमणिलेट् ठुकंचणो वेक्को परिच्चत्तकलत्तणामो पच्छित्तसुयं अणेगसुयं अणेगगुणगणाइन्नस्स दढव्वयच (प) रित्तस्सएगंतेणं जोग्गस्सेव विवक्खिए पएसे चउकन्नं पन्नवेयव्वं, णो छकन्नं पन्नवेयव्वं, तहा य जस्स जावइएण पायच्छित्तेणं परमविसोही भवेज्जा, तं तस्स णं अणुयत्तणावि–रहिएणं धम्मेक्करसिएहिं वयणेहिं जहट्ठियं अणूणाहियं, तावइयं चेव पायच्छित्तं पयच्छेज्जा, एएणं अट्ठेणं एवं वुच्चइजहा णं गोयमा! तमेव निट्टंकियं पायच्छित्तं भन्नइ। महा० ७ अ०।

णिट्ठवणिया स्त्री०(निष्ठापनिका) परिसमाप्तिकारिकायाम्, यथा पक्षस्य पञ्चदशी, अमावस्या च। ज्यो०४ पाहु०।

णिट्ठवय पुं०(निष्ठापक) समाप्तिकारके दिवसे, आव०६ अ०।

णिट्ठविंसु त्रि०(निष्ठापितवत्) निष्ठां नीतवति, भ० २६ श०१ उ०।

णिट्ठविय त्रि०(निष्ठापित) समाप्तिमिते, पं० व० २ द्वार।

णिट्ठवियअट्ठमदट्ठाण त्रि०(निष्ठापिताष्टमदस्थान) निष्ठापितानि क्षयं नीतानि अष्टौ मदस्थानानि मानभेदाःजातिकुलरूपबललाभश्रुततपोविभवमदाख्या येनासौ निष्ठापिताष्टमदस्थानः। क्षीणमदे, ग०१ अधि०।

णिट्ठा स्त्री०(निष्ठा) पर्यवसाने, सूत्र०१ श्रु० १५ अ०। समापने, आच० २ अ०। सारे सद्भावे, आ०चू०१ अ०। ''एयाणि दव्वाणि णिट्ठं पत्ताणि कम्मसिद्धो।'' आ०चू० १अ०।

णिट्ठाण न०(निष्ठान) निष्पत्तौ, नि०चू० १उ०। निष्ठीयतेऽत्र। स्थाल्युट्। भक्ताऽऽद्यन्नोपसेचने दध्यादौ व्यञ्जने, सर्वगुणोपेते, दश०१ अ०। वाच०।

णिट्ठाणकहा स्त्री०(निष्ठानकथा) विकथाभेदे, स्था०४ ठा०२ उ०। (व्याख्या 'भत्तकहा' शब्दे वक्ष्यते)

णिट्ठाभासि (ण्) त्रि०(निष्ठाभाषिण्) सावधारणभाषिणि, आचा० १ श्रु० १ चू० ४ अ०१ उ०। निशम्य भाषिणि, आचा०२ श्रु०१ चू०४ अ०२ उ०।

णिट्ठिक त्रि०(नैष्ठिक) सर्वधर्मप्रकर्षपर्यन्तवर्तिनि, प्रश्न०३ सम्ब० द्वार।

णिट्ठिय त्रि०(निष्ठित) निष्ठां गते कृतस्वकार्ये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। मोक्षे, परिसमाप्ते, आचा०१ श्रु०५ अ०६ उ०। व्य०। निःसत्ताके, भ०६ श०१उ०। क्षयं गते, ध०३ अधि०। कालगते, बृ०२ उ०। आ०म०। सिद्धे अशनाऽऽदौ, आचा० २ श्रु०१ चू०१ अ०६ उ०।

निष्ठितशब्दार्थमाह–

असणाऽऽईण चउण्ह वि, आमं जं साहुगहणपाउग्गं।
तं निट्ठियं वियाणसु, ...॥

अशनाऽऽदीनां चतुर्णामपि मध्ये यदाममपरिणतं सत् साधुग्रहण–प्रायोग्यं कृतं,प्रासुकीकृतमित्यर्थः; तं निष्ठितं विजानीत। पिं०।

णिट्ठियट्ठ त्रि०(निष्ठितार्थ) विषयसुखनिष्पिपासे, आचा०१ श्रु०६ अ०४ उ०। निष्ठितः समापितोऽर्थः प्रयोजनं यस्य स निष्ठितार्थः। आचा०१ श्रु० ५ अ०६ उ०। कृतकृत्ये, सूत्र०१ श्रु० १५ अ०। प्रज्ञा०। आ०म०।

णिट्ठियट्ठि(ण्) त्रि०(निष्ठितार्थिन्) निष्ठितो मोक्षस्तेनार्थी। मुमुक्षौ, आचा०१ श्रु०५ अ० ६उ०।

णिट् ठु अ धा०(क्षर्) सञ्चाले, **''क्षरेः खिरज्झरपज्झरपच्चडणिच्चलणिट् ठुआः''** ॥८।४।१७३॥ इति क्षरेर्णिट्ठुआऽऽदेशः। णिट्ठुअइ, क्षरति। प्रा० ४ पाद।

णिट्ठुर त्रि०(निष्ठुर) नि–स्था–उरच्। **''क–ग–ट–ड–त–द–प–श–ष–स क पामूर्ध्वं लुक्''** ॥८।२।७७॥ इति षलुक्। प्रा०२ पाद। मार्दवाननुगते, ग०१ अधि०। प्रस्तरे, ग०२ अधि०। यथा हेक्काप्रधाना भाषा निष्ठुरा, अशक्यप्रतीकारतया दुर्भेदा भाषा निष्ठुरा। रा०। आचा०।

णिट्ठुल त्रि०(निष्ठुर) *''हरिद्राऽऽदौ लः''* ॥८।१।२५४॥ इति रस्य लः। अमृदुनि, प्रा०१ पाद।

णिट्ठुवण न०(निष्ठीवन) नासिकामुखेन परित्यागे, दश० १ तत्त्व। कासितश्लेष्माऽऽदिप्रक्षेपणे, दश०२ अ०। ''निट्ठुवणाइ त्ति'' निष्ठीवनाऽऽदौ इह साधवो द्विधागच्छगताः, गच्छनिर्गताश्च। तत्र ये गच्छनिर्गतास्ते नियमादनिष्ठीवकाः, औपग्रहिकमल्लकाऽऽद्युपकरणासम्भवात्। गच्छगता अपि ये विधिना निष्ठीव्यन्ति ते अनिष्ठीवका एव, न प्रायश्चित्तविषयाः। अविधिना खेल्लमल्लके निष्ठीवने दण्डक इव सप्तभङ्गाः, दण्डक इवैव चाऽऽद्येषु प्रत्येकं लघुमासः। उत्तरेषु त्रिषु प्रत्येक रात्रिंदिवपञ्चकम्, सप्तमभङ्गवर्तिनस्त्वनिष्ठीवका एव, विधिना निष्ठीवनात्। उपरितनेष्वपि च त्रिषु भङ्गेषु यदि भूमौ निष्ठीव्यति, तदा मासलघु। यच्च निष्ठीवने प्राणिनां परितापनाऽऽद्युपजायते तन्निष्पन्नं च तस्य प्रायश्चित्तम्। आदि–शब्दात्कण्डूयनपरिग्रहः। कण्डूयनेऽपि हि दण्डक इव सप्तभङ्गकम्, तथैव च प्रायश्चित्तविधिः। व्य० १ उ०। निष्ठीवनकर्तरि, स्था०५ ठा० १ उ०। विशे०।

णिट्ठुहिअ (देशी) यूत्कृते, दे०ना० ४ वर्ग ४१ गाथा।

णिट्ठूह (देशी) स्तब्धे, दे०ना० ४ वर्ग ३३ गाथा।

णिड (देशी) पिशाचे, दे०ना० ४ वर्ग २५ गाथा।

णिडाल न०(ललाट) **''पक्षाङ्गारललाटे वा''** ॥८।१।४७॥ इत्यादेरत इत्वं वा। ''ललाटे च'' ॥८।१।२५७॥ इत्यादेर्लस्य णः। 'णिडालं'। प्रा० १ पाद। भाले, तं०। उत्त०। अलीके, जी०३ प्रति० ४ उ०। जं०।

णिणाय पुं०(निनाद) नितरां नादो महान् घोषः। जी०३ प्रति० ४ उ०। महति घोषे, कल्प०५ क्षण। ज्ञा०। निर्घोषे, आ०म० १ अ० २ खण्ड। प्रतिध्वनौ, जं०३ वक्ष०। प्रश्न०।

णिण त्रि०(निम्न) **''म्नज्ञोर्णः''** ॥८।२।४२॥ इति म्नभागस्य णः। नीचे, प्रा०२ पाद। ''णिण्णेसु य आससा एया।'' नीचभूमिभागे, उत्त० १२ अ०। शुष्कसरः प्रभृतौ, भ० १५ श०।

णिण्णक्खु त्रि०। निस्सारयतीत्यर्थे, ''बहिहा वा णिण्णक्खु।'' आचा०२ श्रु०१ चू० २ अ०१ उ०।

णिण्णगा स्त्री०(निम्नगा) नद्याम्, नीचैर्गामिनि, त्रि०। प्रज्ञा० १ पाद।

णिण्णय पुं०(निर्णय) निश्चये, आ०म०१ अ०१ खण्ड। प्रमाज्ञाने, विशे०।

णिण्णार त्रि०(निर्नगर) नगरनिष्क्रान्ते, ''अप्पेगइए णिण्णारे करेहिंति।'' भ० १५ श०।

णिण्णामिया स्त्री०(निर्नामिका) ईशानकल्पोपपन्नस्य ललिताङ्गनाम्न ऋषभदेवाऽष्टमभवजीवस्वयंप्रभानाम्न्यां देव्याम्, कल्प०७ क्षण। आ०म०। आ०चू०। तत्कथा ऋषभस्वामिनः श्रेयांसेन 'उसभ' शब्दे द्वितीयभागे भवाष्टककथनावसरे ११३३ पृष्ठे गता)

णिण्णिमेस त्रि०(निर्निमेष) अचेष्टे, म्रियमाणे, तद्वत्प्रवचनकार्यानुपयोगिनि, स्था०५ ठा०२ उ०।

णिण्णेह त्रि०(निस्नेह) स्नेहरहिते, ''जइ सप्पिणेही तो मुयइ, अह जीवइ णिण्णेह।'' प्रा०४ पाद।

णिण्हइया स्त्री०(नैह्नविकी) ब्राह्मलिपिभेदे, प्रज्ञा०१ पद। स०।

णिण्हग पुं०(निह्नव) निह्नुवतेऽपलपन्ति अन्यथा प्ररूपयन्तीति निह्नवाः। स्था०७ ठा०। आ०म०। मिथ्यात्वाभिनिवेशाज्जिनोक्तार्थस्यापलापकेषु जमाल्यादिषु, विशे०। त्यक्तसम्यग्दर्शनेषु, व्य०१ उ०।

ते च सप्त–

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयणनिण्हगा पण्णत्ता। तं जहा–बहुरया, जीवपएसिया, अव्वत्तिया, सामुच्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया, अबद्धिया।

''समणेत्यादि'' कण्ठ्यम्, नवरं प्रवचनमागमं निह्नुवतेऽपलपन्त्यन्यथा प्ररूपयन्तीति प्रवचननिह्नवाः प्रज्ञप्ता जिनैस्तत्र। (बहुरय त्ति) एकेन समयेन क्रियाऽध्यासितरूपेण वस्तुनोऽनुत्पत्तेःप्रभूतसमयैश्चोत्पत्तेर्बहुषु समयेषु रताः सक्ता बहुरताः, दीर्घकालद्रव्यप्रसूतिप्ररूपिण इत्यर्थः १। तथा जीवः प्रदेश एव येषां तेजीवप्रदेशास्त एव जीवप्रादेशिकाः। अथवा–जीवप्रदेशो जीवाभ्युपगमतो विद्यते येषां ते, तथा, चरमप्रदेशजीवप्ररूपिण इति हृदयम् २। तथा अव्य–

क्तमस्फुटं वस्तु अभ्युपगमतो विद्यते येषां ते अव्यक्तिकाः, संयता-ऽऽद्यवगमे संदिग्धबुद्धय इति भावना ३। तथा–समुच्छेदः प्रसूत्यनन्तरं सामस्त्येन प्रकर्षेण च च्छेदः समुच्छेदो विनाशः, समुच्छेदं ब्रुवत इति सामुच्छेदिकाः, क्षणक्षयिकभावप्ररूपका इत्यर्थः ४। तथा द्वे क्रिये समुदिते द्विक्रियं, तदधीयते तद्वेदिनो वा द्वैक्रियाः, कालाभेदेन क्रियाद्वयानुभव-प्ररूपिण इत्यर्थः५ । तथा–जीवाजीवनोजीवभेदात् त्रयो राशयः समाहृताः त्रिराशि, तत्प्रयोजनं येषां ते त्रैराशिकाः, राशित्रयाऽऽख्यापका इत्यर्थः ६ । तथास्पृष्टं जीवेन कर्म न स्कन्धबन्धबद्धद्रुमबद्धं, तदेषामस्तीत्यबद्धिकाः, स्पृष्टकर्मविपाकप्ररूपका इति हृदयम् ७। स्था० ७ ठा०। विशे०।

निह्नवकारिणां गामान्याह–

एएसि णं सत्तण्हं पवयणणिन्हगाणं सत्त धम्मायरिया होत्था–जमाली, तिस्सगुत्ते, आसाढे, आसमित्ते, गंगे, छल्लुए, गोट्ठा–माहिले। स्था० ७ ठा०। नि०चू०। विशे०।

(एषां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

अथ येभ्यो ये निह्नवाः समुत्पन्नास्तदेतदाह–

बहुरय जमालिपभवा, जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ, सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥२३०१॥
गंगाओ दोकिरिया, छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती।
थेरा य गोट्ठमाहिल, पुट्ठमबद्धं परूवें ति ॥२३०२॥

बहुरता जमालिप्रभवाः, जमालेराचार्यात्प्रभव उत्पत्तिर्येषां ते जमालि-प्रभवाः १। जीवप्रदेशाः पुनस्तिष्यगुप्तादुत्पन्नाः २। अव्यक्ता आषाढात् ३। सामुच्छेदा अश्वमित्रादिति ४। गङ्गाद् द्वैक्रियाः ५। षडुलूकात् त्रैराशिकानामुत्पत्तिः ६। स्थविराश्च गोष्ठामाहिलाः स्पृष्टमबद्धं प्ररूपयन्ति ७। 'कर्म' इति गम्यते। ''परूविंसु वा'' इति पाठान्तरं वा। ततो गोष्ठा-माहिलादबद्धिका जाता इति सामर्थ्याद्गम्यत इति ॥२३०१॥२३०२॥

येषु स्थानेष्वेते समुत्पन्नास्तानि क्रमेणाऽऽह–

एएसि णं सत्तण्हं पवयणणिण्हगाणं सत्त उप्पत्तिनगरे होत्था। स्था० ७ ठा०। आ०क०।

तद् यथा–

सावत्थी उसभपुरं, सेयविआ मिहिल उल्लुगातीरं।
पुरमंतरंजि दसउर, रहवीरपुरं च नयराइं ॥२३०३॥

श्रावस्ती, ऋषभपुरं, श्वेतविका, मिथिला, उल्लुकातीरं, पुर-मन्तरञ्जिका, दशपुरं, रथवीरपुरं चेति। एतान्यष्टौ नगराणि निह्नवानां यथायोगमुत्पत्तिस्थानानि बोद्धव्यानि। अष्टमं नगरं द्रव्यलिङ्गमात्रेणापि भिन्नानां सर्वापलापिनां महामिथ्यादृशां वक्ष्यमाणानां बोटिकनिह्नवानां लाघवार्थमुत्पत्तिस्थानमुक्तमिति ॥२३०३॥

अथ भगवतः समुत्पन्नकेवलज्ञानस्य परिनिर्वृत-स्य च कः कियता कालेन निह्नवः समुत्पन्नः?

इत्येतत्प्रतिपादयन्नाह–

चोद्दस सोलस वासा, चोद्दा वीसुत्तरा य दोन्नि सया।
अट्ठावीसा य दुवे, पंचेव सया य चोयाला ॥२३०४॥
पंचसया चुलसीओ, छच्चेव सया नवुत्तरा होंति।
नाणुप्पत्तीएँ दुवे, उप्पन्ना निव्वुए सेसा ॥२३०५॥

चतुर्दश वर्षाणि। तथा–षोडश वर्षाणि। तथा–(चोद्दा वीसुत्तरा य दोन्नि सय त्ति) चतुर्दशाधिके द्वे शते, विंशत्युत्तरे च द्वे शते, वर्षाणामिति गम्यते। तथा–अष्टाविंशत्यधिके च द्वे शते, तथा पञ्चैव शतानि चतुश्चत्वारिंशदधि-कानि, पञ्च शतानि चतुरशीत्यधिकानि, षट् चैव शतानि नवोत्तराणि भवन्ति। एतावता व्यवधानकालेन ज्ञानोत्पत्तेरारभ्याऽऽद्यौ द्वौ निह्नवौ समुत्पन्नौ। शेषास्तु षड् भवन्ति। श्रीमन्महावीरे निर्वृते निर्वाणकालादारभ्य उक्तशेषेण यथोक्तेन व्यवधानकालेनोत्पन्नाः। इदमुक्तं भवति–श्रीमन् महावीरस्य केवलोत्पत्तेश्चतुर्दशभिर्वर्षैरतिक्रान्तैर्बहुरताः समुत्पन्नाः। षोडशभिर्वर्षैर्व्यतिक्रान्तैः जीवप्रदेशाः समुत्पन्नाः। भगवत एव निर्वाण-कालाच्छेषेण चतुर्दशाधिकवर्षशतद्वयाऽऽदिना कालेनातिक्रान्तेन शेषा अव्यक्ताऽऽदयो निह्नवाः समुत्पन्ना इति ॥२३०४॥२३०५॥ विशे०। आ०क०। आ०चू०। आ०म०। (एषां प्रत्येकं विस्तृतव्याख्या स्वस्व-स्थाने) (बोटिकस्य च सूत्रानुक्तस्याष्टमनिह्नवस्य व्याख्या 'बोडिय' शब्दे वक्ष्यते)

संप्रति निह्नववक्तव्यतां निगमयन्नाह–

एवं एए कहिया, ओसप्पिणिए उ णिण्हगा सत्त।
वीरवरस्स भगवतो, सेसाणं पवयणे नऽत्थि ॥२६१०॥

एवमुक्तेन प्रकारेणैते ऽनन्तरोदिताः कथिताः प्रतिपादिता अस्या-मवसर्पिण्यां निह्नवाः सप्त। अष्टमस्तु बोटिकः, तुशब्दः समुच्चये। वीरवरस्य भगवतः प्रवचने तीर्थे । शेषाणां तु तीर्थकृतां प्रवचने (नऽत्थि त्ति) प्राकृतत्वाद् नासन् निह्नवाः।

तत्र–

मोत्तूणमेसिमेक्कं, सेसाणं जावजीविया दिट्ठी॥
एक्केक्कस्स य एत्तो, दो दो दोसा मुणेयव्वा ॥२६११॥

मुक्त्वा, एषामेकं गोष्ठामाहिलं निह्नवाधमं, शेषाणां जमालिप्रभृतीनां प्रत्याख्यानमङ्गीकृत्य यावज्जीविका दृष्टिरासीत्। न ते प्रत्याख्यानं गोष्ठामाहिल इवापरिमाणमब्रुवन्निति भावना। आह–प्रकरणादेवे-दमवसीयते किमर्थमस्योपन्यासः? उच्यते–प्रतिदिवसोपयोगिनः प्रत्याख्यानस्यातीवोपयोगित्वान्मा कश्चित्तथैव प्रतिपद्येत, ततो ज्ञाप्यतेनिह्नवानामपि प्रत्याख्यानविषये इयमेव दृष्टिरिति। (एत्तो त्ति) प्राकृतत्वादमीषां मध्ये एकैकस्य निह्नवस्य द्वौ द्वौ दोषौ ज्ञातव्यौ, मुक्त्वैकमिति वर्तते। तथाहि–बहुरता जीवप्रदेशिकान् प्रत्यूचुर्भवन्तो द्वाभ्यां कारणाभ्यां मिथ्यादृष्टयः। तत्रैकमिदं यद्वदथएकप्रदेशो जीव इति, द्वितीयं क्रियमाणं कृतमिति। जीवप्रदेशिका अपि बहुरतान् प्रत्यषाढि-भूर्यूयमपि कारणद्वयेन मिथ्यादृष्टयः। एकं तावदिदं यद्वदथक्रियमाणमकृतं जीवप्रदेशं न जीव इति प्रतिपद्यध्वे। एवं शेषाणामपि परस्परं भावनीयम्। गोष्ठामाहिलमधिकृत्य पुनरेकैकस्य त्रयो दोषाः। तथाहि–बहुरतान् प्रति गोष्ठामाहिलोऽब्रवीत्–कारणत्रयाद्भवन्तो मिथ्यादृष्टयः। तथैकमिदं यत्कृतं कृतमिति ब्रूथ, द्वितीयं प्रतिप्रदेशबद्धं कर्म, तृतीयं यावज्जीवं प्रत्याख्यानमिति। बहुरता अपि तं प्रत्यवोचन्–भवानपि कारणत्रयाद् मिथ्यादृष्टिः। एकं तावदिदं यत् क्रियमाणं कृतमिति वदति, द्वितीयं स्पृष्टमबद्धं कर्म, तृतीयम-परिमाणं प्रख्यानमिति। एवं सर्वान् प्रति योजनीयम्। अन्ये त्वाहुः–एकै–

कस्य द्वौ द्वौ दोषौ एवं वेदितव्यौ–एकं तावत्स्वयं विप्रतिपन्नाः, द्वितीयं परानपि व्युद्ग्राहयन्तीति।

नन्वेता दृष्टयः संसाराय, आहोस्विदपवर्गाय? इत्या–

शङ्कानिवृत्त्यर्थमाह–

सत्तेया दिट्ठीओ, जाइजरामरणगब्भवसहीणं।
मूलं संसारस्य उ, हवंति णिग्गंथरूवेणं ॥२६१६॥

सप्ताप्येता दृष्टयो, वोटिकास्तु मिथ्यादृष्टय एवेति न तद्विचारः। जातिजरामरणगर्भवसतीनामिति। जातिग्रहणं नारकाऽऽदिप्रसूतिग्रहे चरितार्थमिति गर्भवसतिग्रहणमदुष्टम्। मूलकारणं, भवन्तीति योगः। मा भूत्सद्भाविनीनां जातिजरामरणगर्भवसतीनां मूलमिति प्रत्ययः। तत आह–(संसारस्स उ इति) संसरणं संसारस्तिर्यङ् नरनारकामरभवानुभूतिरूपः प्रदीर्घः, तस्यैव, तु शब्दस्यावधार–णत्वात्। केन रूपेणेत्याह–निर्ग्रन्थरूपेण।

अथैते निह्नवाः किं साधवः, उत तीर्थान्तरीयाः, आहोस्वित मिथ्यादृष्टयः? उच्यते–न साधवः, यतः साधूनामेकस्याप्यर्थाय यत्कृतमशनाऽऽदि तच्छेषाणां न कल्पते, नैवं निह्नवानाम्।

तथा चाऽऽह–

पवयणनीहूयाणं, जं तेसिं कारियं जहिं जत्थ।
भज्जं परिहरणाए, मूले तह उत्तरगुणे य ॥२६१७॥

(नीहूय त्ति) देशीवचनमकिञ्चित्करार्थे। ततः प्रवचने पारमेश्वरे यथोक्तक्रियाकलापं प्रत्यकिञ्चित्कराणाम्। अथवा–(नीहूय त्ति) आर्षत्वाद् निह्नुतं, तत्र प्रवचनं निह्नुतमपलपितं यैस्ते प्रवचननि–ह्नुताः। सुखाऽऽदिदर्शनाद् निष्ठान्तस्य पाक्षिकः परनिपातः। तेषाम्, यदशनाऽऽदि, तेषामुपभागोय कारितं यद् यस्मिन् काले यत्र क्षेत्रे, तद्राज्यं विकल्पनीयम्। परिहरणे कदाचित्परिह्रियते, कदाचिन्नेति। यदि लोको न जानाति–यथैते साधुभ्यो भिन्नास्तदा परिह्रियते, अथ जानाति, तदा न परिहारः। अथवा–परिहरणा नाम परिभोगः। तथा चोक्तम्–''परिहरणा उवभोगो परिभोगो।'' ततः कदाचित्परिभुज्यते, कदाचिन्नेति निह्नवत्वपरिज्ञाने युज्यते, शेषकालं नेति। कथम्भूतं तत् अशनाऽऽदि तन्निमित्तं कारितमित्यत आह–मूले मूलगुणविषयम्, आधाकर्माऽऽदि, तथोत्तरगुणे उत्तरगुणविषयं च, क्रीतकृताऽऽदि, ततो नैते साधवो, नापि गृहस्थाः, नाप्यन्यतीर्थ्याः, यतस्तदर्थाय कृतमेकान्तेन कल्प्यमेव भवति। अत्र तु भजना ततो व्यक्ता एवेति।

आह–यद्वोटिकानां कारितं, तत्र का वार्ता? उच्यते–

मिच्छादिट्ठीयाणं, जं तेसिं कारियं जहिं जत्थ।
सव्वं पि तयं सुद्धं, मूले तह उत्तरगुणे य ॥२६१८॥

तेषां मिथ्यादृष्टीनां वोटिकानामुपभोगाय यत्कारितमशनाऽऽदि गृहस्थैः कारितं मूले मूलगुणविषयमुत्तरगुणे उत्तरगुणविषयं, तत्सर्वमपि शुद्धं कल्पनीयमिति भावः ॥२६१८॥ आ०म० १अ०२ खण्ड। (निह्नवाः परलोकस्याऽऽराधकाः, अनाराधका वा? इति 'आराहग' शब्दे द्वितीयभागे ३८२ पृष्ठे गतम्) आचार्यापलापिनि, बृ०१ उ०।

निह्नवद्वारं विवृणोति–

सुत्तत्थतदुभयाइं, जो घेत्तुं निन्हवे तमायरियं।
लहुया गुरुया अत्थे, गेरुयनायं अबोही य ॥

यः सूत्रार्थतदुभयानि कस्यचित्पार्श्वे गृहीत्वा तमाचार्यं निन्हुते अपलपतिअपरं कमपि विद्याख्यातमाचार्यमुद्दिशति। अथवा ब्रूयात्–मया स्वयमेवाभ्यूह्य श्रुतं निर्णीतं, केवलं तैर्वाचनाऽऽचार्यैः मम दिग्मात्रमेव दत्तमिति। अत्र च यदि सूत्राऽऽचार्यं निह्नुते, तदा चत्वारो लघुकाः, अर्थे अर्थदायकमाचार्यं निह्नुवानस्य चत्वारो गुरुकाः, तदुभयाऽऽचार्यमपलपतस्तदुभयं प्रायश्चित्तमिति। अत्र च गेरुकः परिव्राजकः, तस्य ज्ञातं दृष्टान्तः। (बृ०) (स च 'अणिण्हवण' शब्दे प्रथमभागे ३३४ पृष्ठे द्रष्टव्यः) ''अयमत्थोव–णओ–जहा सो ण्हाविय विज्ञायरियं निन्हवेंतो ओहावणं पत्तो, एवं अन्ने वि अप्पगासं पि वायणायरियं निन्हवेंता इह लोए चेव बहूणं समणसावगाईणं हीलणिज्जा भवंति, देवयाहि य छलिज्जंति त्ति।'' (अबोही य त्ति) परलोके अबोधिफलं कर्म गुरुनिह्नवकोऽर्जयति, एवंविधस्य (श्रुतं) न दातव्यम्।

यत आह–

उवहयमइविण्णाणे, न कहेयव्वं सुयं व अत्थो वा।
न मणी य सयसहस्सो, आविसइ कोत्थु भासस्स ॥

मतिः स्वस्वाभाविकी, विज्ञानं च गुरूपदेशजं, मतिविज्ञाने, ते उपहते दूषिते यस्य स उपहतमतिविज्ञानो गुरुनिह्नुतः। कथमिति चेदुच्यते–इह तावद् गृहस्था अपि मिथ्यादृष्टयस्तत्त्वातत्त्वव्यतिकरविवेकविकलाः, ऐहिकफलार्थमर्थशास्त्रं धनुर्वेदाऽऽदि यस्य सकाशे शिक्षितवन्तस्तं यावज्जीवं गुरु प्रतिपद्यमानाः सर्वस्यापि लोकस्य पुरतः श्लाघन्ते, न पुनः कदाऽपि कस्यापि पुरतो निह्नुवते। स पुनः सर्वज्ञशासनप्रतिपन्नोऽप्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पश्रुतदायकानपि परमगुरून् निह्नुते इत्यतोऽसौ तेभ्योऽप्यधमत्वादुपहतमतिविज्ञानोऽभिधीयते। एवंविधे शिष्ये न कथयितव्यम्, श्रुतं वा सूत्रम्, अर्थो वा तदभिधेयः। अमुमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया द्रढयति–(न मणी इत्यादि) (कोत्थु त्ति) आर्षत्वात् कौस्तुभो नाम मणिः शतसहस्रो लक्षमूल्यो भासस्य शकुन्ताऽऽख्यस्य पक्षिणो गलके नाऽविशति, अयोग्यत्वात् एवमस्यापि गुरुनिह्नोतुरत्यन्तापात्रभूतस्य श्रुतेरत्र प्रदानमनुचितमिति न विधेयम्। बृ०१ उ० कर्म०। नि० चू०। अपलापे, आव०४ अ०। सूत्र०।

णिण्हव धा०(निह्नु) अपलपने, **''उवर्णस्यावः''** ॥८।४।२३३॥ इत्युवर्णस्याऽवादेशः। 'णिण्हवइ,' निह्नुते। प्रा० ४ पाद। अपलपति, बृ०१ उ०।

निह्नव पुं०। ''णिण्हग'' शब्दार्थे, स्था०७ ठा०।

णिण्हवण पुं०(निह्नवन) अपलपने, प्रव० ६ द्वार (आचार्यापलपनेन का गतिरिति 'अणिण्हवण' शब्दे प्रथमभागे ३३४ पृष्ठे उक्तम्) (आचार्यापलपने प्रायश्चित्तं 'णिण्हग' शब्देऽनुपदमेव गतम्) अपहृतधनाऽऽदिपरधनापहाराऽऽदिकं यैरपह्नुते न प्रकाशयति ते निह्नवनाः। अपहारगोपनच्छलप्रयोगेषु, विपा० १ श्रु० २ अ०।

णितंब पुं०(नितम्ब) पर्वताऽऽदेः कटके, स्त्रीकटेः पश्चाद् भागे च। ''णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स द्राहिणिल्ले णितंबे।'' जं०४ वक्ष०।

णितिओमाण न०(नित्थावमान) नित्यमवमानं प्रवेशः स्वपक्षपर-पक्षयोर्येषु तानि तथा । सर्वदा भिक्षूणां गोचराय कृतप्रवेशेषु कुलेषु, आचा०। नित्यलाभात् तेषु स्वपक्षः संयतवर्गः, परपक्षोऽपरभिक्षाचरवर्गः सर्वो भिक्षार्थं प्रविशेत्। आचा०२ श्रु०१चू०१अ०१उ०।

णितिय न०(नित्य) ध्रुवे, सतते, नि०चू०।

जे भिक्खू णितियं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ ॥४७॥

जे भिक्खू णितियं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ ॥४८॥

'जे णितियं' द्वे सूत्रे, णिच्चमवड्ढाणातो णितियो।

गाहा–

जं पुव्वं णितियं खलु, चउव्विहं वण्णियं तु वितियम्मि।
तं आलंवणरहितो, सेवंतो होति णितिओ उ ॥९२॥

दव्वखेत्तकालभावा एतं चउव्विहं इहेव अज्झयणे वितिउद्देसे वण्णियं, तं णिक्कारणे सेवंतो णितिओ भवति। नि०चू० १३उ०।

णितियपिंड पुं०(नित्यपिण्ड) मया एतावद्ज्ञातव्यं, भवता तु नित्यमेव ग्राह्यमित्येवं नियमग्राह्ये पिण्डे, स्था० १० ठा०।

नित्यपिण्डं न गृहीयात्–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तुकामे से जाइं पुण कुलाइं जाणेज्जा–इमेसु खलु कुलेसु णितिए पिंडे दिज्जति, णितिए अग्गपिंडे दिज्जति, णितिए भाए दिज्जइ, णितिए अवड्ढभाए दिज्जइ, तहप्पगाराइं कुलाइं णितियाइं णितिओमाणाइं णो भत्ताए वा पाणाए पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा । एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं, जं सव्वट्ठेहिं समिते सहिते सयाजुए त्ति वेमि।

स भिक्षुर्यावद् गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः । स तच्छब्दार्थे, स च वाक्यार्थान्यासार्थः। यानि पुनरेवंभूतानि कुलानि जानीयात्। तद्यथा–इमेषु कुलेषु, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे। नित्यं प्रतिदिनं पिण्डं पोषो दीयते, तथाऽग्रपिण्डः शाल्योदनाऽऽदेः प्रथममुद्धृत्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यते, सोऽग्रपिण्डः, नित्यं भागोऽर्द्धपोषो दीयते। तथा–नित्यमपार्धभागः पोषचतुर्थभागः । तथाप्रकाराणि कुलानि, नित्यानि नित्यदानयुक्तानि, नित्यदानादेव (णितिओमाणाइं ति) नित्यं (ओमाण त्ति) प्रवेशः स्वपक्षपरपक्षयोर्येषु तानि तथा। इद–मुक्तम्भवतिनित्यलाभात्तेषु स्वपक्षः संयतवर्गः, परपक्षोऽपरभिक्षाचरवर्गः सर्वो भिक्षार्थं प्रविशेत्, तानि च बहुभ्यो दातव्यमिति तथाभूतमेव पाकं कुर्युः, तत्र च षट् कायबधः। अल्पे च पाके तदन्तरायःकृतः स्यात्। इत्यतस्तानि नो भक्तार्थं पानार्थं वा प्रविशेन्निःक्रामेद्वेति । सर्वोपसंहारार्थमाह--(एयमित्यादि) एतदिति यदादेरारभ्योक्तं, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं समग्रता, यदुद्गमोत्पादनग्रहणैषणासंयोजनाप्रमाणाङ्गाल-धूमकारणैः सुपरिशुद्धस्य पिण्डस्योपादानं क्रियते, तद् ज्ञानाऽऽचार-सामग्र्यं, दर्शनचारित्रतपोवीर्याऽऽचारसंपन्नता चेति। अथ वैतत्सामाग्र्यं सूत्रेणैव दर्शयतियत्सर्वार्थै :सरसविरसाऽऽदिभिराहारगतैः, यदि वा–रूपरसगन्धस्पर्शगतैः, समितः संयत इत्यर्थः। पञ्चभिर्वा समितः शुभेतरेषु रागद्वेषरहित इति यावत् । एवम्भूतश्च सह हितेन वर्तत इति सहितः। सहितो वा ज्ञानदर्शनचारित्रैरेवम्भूतश्च सदा युतस्तेन संयमयुक्तो भवेदित्युपदेशः । ब्रवीमीति । जम्बूनामानं सुधर्मस्वामीदमाह–भगवतः सकाशात् श्रुत्वाऽहं ब्रवीमि, न तु स्वेच्छयेति। शेषं पूर्ववदिति। आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०१उ०। (अत्र वक्तव्यम् 'अग्गपिंडं' शब्दे प्रथमभागे १६५ पृष्ठे उक्तम्)

नित्यपिण्डो न भोक्तव्यः–

जे भिक्खू णितियं पिण्डं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥३२॥

जे भिक्खू णितियं अवड्ढं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥३३॥

जे भिक्खू णितियं भागं भुंजइ,भुंजंतं वा साइज्जइ ॥३४॥

जे भिक्खू णितियं उवड्ढभागं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥३५॥

पिंडो भत्तट्ठो, अवड्ढो तदड्ढो, तस्स अद्धं भागो त्रिभागः, त्रिभागड्ढं उवड्ढभागो।

गाहा–

एसेव गमो नियमा, णितिए पिंडम्मि होतऽवड्ढे य।
भागे य तस्सुवड्ढे,पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥२२२॥

जो गमो णितिए अग्गपिंडे भणितो, सो चेव गमो पिंडादिएसु चउसु वि सुत्तेसु उस्सग्गाववाएण भाणियव्वो।

सूत्रार्थप्रतिपादनार्थं पिंडगाहा–

पिंडो खलु भत्तट्ठा, अवड्ढपिंडो उ तस्स जं अद्धं।
तस्सऽड्ढ भागमादी, तस्सड्ढमुवड्ढभागो उ ॥२२३॥

गतार्थैव। नि०चू०२ उ०।

णितियवास पुं०(नित्यवास) नित्यमवस्थानाद् नित्यः। नित्यवासिनि, ऋतुबद्धवर्षासु प्रमाणाधिकवासे, नि०चू०।

जे भिक्खू णितियं वासं वसइ, वसंतं वा साइज्जइ ॥३६॥

उदुबद्धवासासु अतिरिक्तं वसतः णितियवासो भवति।

इदानीं निर्युक्तिमाह–

दव्वे खेत्ते काले,भावे णितियं चउव्विहं होति।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥२२४॥

दव्वखेत्तकालभावेसु णितियं चउव्विहं, एतेसिं जं नानात्वं विशेषं, तमानुपूर्व्या वक्ष्ये।

संयोगचतुष्कभङ्गप्रदर्शनार्थमाह–

दव्वेण य खेत्तेण य, णितियाणितिए चउक्कभयणा उ।
एमेव कालभावे, दुयस्स व दुए समोतारो ॥२२५॥

दव्वतो णितिए, खेत्ततो णितिए, एवं चउभंगो कायव्वो । तत्थ पढमभंगभावणा संथारगाइदव्वाणि कालदुगातीताणि, तम्मि चेव खेत्ते परिभुंजंतो णितिओ भवति । पढमभंगो संथारगादिदव्वा कालदुगातीता अण्णम्मि खेत्ते उ परिभुंजति। वितियभंगो तम्मि चेव खेत्ते अण्णे संथारगादि गेण्हति । ततियभंगो नितियं पडुच्च । चउत्थभंगो सुण्णो। एवं कालभावेसु वि चउभंगो कायव्वो। कालओ वि णितिए, भावओ वि णितिए। तत्थ पढमभंगो कालदुगातीतं च सति सङ्घादिसु भावपडिबद्धो पढमभंगो, कालदुतातीतं वसति, ण सङ्घातिसु

रागपडिबद्धो बितियभंगो । कालदुगनिग्गतस्स वि न सङ्घातिसु भावपडिबद्धो ततियभंगो, चतुर्थः शून्यः, (दुवस्स व दुवे समोतारो त्ति) कालभावदुअस्स दव्वखेत्तदुए समोतारः ।

गाहा–

कालो दव्वोतरती, जस्स व दव्वस्स सो तु पज्जाओ ।
भावो खेत्ते जम्हा, वासादी सुन्नमन्नत्थ ॥२२६॥

कालो दव्वे समोतरति, जम्हा सो दव्वपज्जातो, एत्थ दव्वकालेसु चउभंगो भावेयव्वो । भावो हेत्ते समोतरति, जम्हा णगाइसु भावपडिबंधो भवति । एत्थ वि खेत्ते भावेसु चउभंगो भावेयव्वो । खेत्तकालचउभंगे इमा भावणा– तम्मि य खेत्ते मासातीतं वसति पढमभंगो, चरिमं उदुबद्धितं जत्थ मासकप्पट्ठिया तत्थेव वासंतियाणं बितियभंगो, अन्यकालप्राप्तेरिति । अण्णं भागं पडिवसभं वा संकमंतस्स स चेव, भिक्खायरियाए ततियभंगो, चतुर्थः शून्यः ।

जो दव्वणितिओ सो इमे पडुच्च । गाहा–

परिसाडिम परिसाडी, संथाराऽऽहारदुविहमुवधिम्मि ।
डगलगसरक्खमल्लग–मत्तगमादीसु दव्वम्मि ॥२२७॥

संथारो दुविहो–परिसाडी, अपरिसाडी य । आहारे तेसु चेव कुलेसु गेण्हति, दुविहो उवही–आहितो, उवग्गहितो य ।

पासवणखेल्लसण्णातिणिमित्तया । गाहा–

कालदुगातीताइं, संथारादीणि सेवमाणा उ ।
एसो उ दव्वणितिओ, पुण्णे अंतो बहिं णिंतो ॥२२८॥

एते संथारगादि दव्वे कालदुगातीतं अपरिहरंतो णितिओ भवति, स बाहिरियंसि वा खेत्तं अंतो मासकप्पे पुण्णे ते चेव संथारगादी बहिं णिंतो दव्वणितिओ भण्णति ।

इदाणिं खेत्तणितिओ–

ओवासे संथारे, विहारउच्चारउवधिफलगामे ।
णगरादिदेसरज्जे, वसमाणे खित्ततो णितिए ॥२२९॥

संथारगोवासे, अहवा संथारो पृथक् परिगृह्यते, विहारो सज्झायभूमी, उच्चारो सण्णाभूमी, कुलगामादि ण मुंचति, पुनः पुनस्तेष्वेव विहरति । एस खेत्तणितिओ ।

इदाणिं कालणितिओ–

चाउम्मासा उवरिं, एगट्ठाणे वसंति जे भिक्खू ।
वुड्ढिनिमित्ते असती, वसमाणे कालतो णितिए ॥२३०॥

उदुवासकालातीतं वसंतो कालणितिओ, वुड्ढिणिमित्तं वसतो बहुकालेण वि णितिओ ण भवति । वुड्ढकार्यपरिसमाप्तौ उपरिष्टाद्वसन् नितिओ भवति ।

इदाणिं भावणितिओ–

ओवासे संथारे, भत्ते पाणे परिग्गहे सङ्घे ।
सेहेसु संथयेसु य, पडिबद्धे भावतो णितिए ॥२३१॥

जे सेहा ण तावत्प्रव्रजंति, पूर्वापरेण संथवेण संथुताओ वासादिसु सव्वेसु रागं करेंतो भावपडिबद्धो भवति ।

गाहा–

वसही ण एरिसा खलु, होहिति अण्णत्थ णेव संथारो ।
णेत्थं भत्तमणुत्तम–सङ्घा सेहादि वा णत्थि ॥२३२॥

अण्णत्थ एरिसा वसही णत्थि त्ति रागं करेंति, एवं संथारगभत्तपाणसङ्घसेहाऽऽदिसु वि ।

इदाणिं दव्वखेत्तकालभावेसु पच्छित्तं भण्णति–

उक्कोसोवधिफलए, देसे रज्जे य वुड्ढवासे य ।
लहुगा भावे गुरुगा, सेसे पणगं च लहुगो तु ॥२३३॥

दव्वं पडुच्च उक्कोसोवहिए फलए य चउलहुआ । खेत्तं पडुच्च देसे रज्जेसु चउलहुआ । कालं पडुच्च वासातीते वुड्ढवासातीते य चउलहुया । रागेण भावे सव्वत्थ चउगुरुगा । संथारगवज्जेसु तणेसु डगलपत्थारपल्लएसु व पणगं । सेसे दव्वादिएसु प्रायशो मासलहुयं ।

गाहा–

सुत्तणिवातो णितिए, चतुव्विधे मासियं जहिं लहुगं ।
उच्चारितसरिसाइं, सेसाइँ विगोवणट्ठाए ॥२३४॥

चउव्विहे दव्वादि णीयते, जत्थ मासलहुं तत्थ सुत्तणिवातो, सेसा पच्छित्ता शिष्यस्य विगोवणट्ठा भणिता, कारणओ पुण दव्वादिचउव्विहं पि णितियं वसेज्ज ।

ते इमे कारणा दुविहा–

असिवे ओमोयरिए, रायद्दुट्ठे भए व आगाढे ।
गेलण्ण उत्तिमट्ठे, चरित्तें सज्झाइए असती ॥२३५॥

बाहिं असिवं वट्टति अतो कालदुगातीतं पि एगक्खेत्ते वसेज्ज । बहिं ओमरायदुट्ठबोहियभए वा आगाढे वसेज्ज, आगाढे वा गेलण्णे वसेज्ज, उत्तिमट्ठ परियरगा वा वसेज्जा, बहिया चरगादिसु चरित्तदोसा अतो वसेज्जा, बहिं वा सज्झाओ ण सुज्झति, अतो सज्झायणिमित्तं वसेज्ज । असती वा बहिं मासकप्पओग्गा ण, तत्थेव वसेज्ज ।

चोदगाऽऽह–एगखेत्ते कालदुगातीतं वसमाणा कहं सुद्धचरणा? आचार्याऽऽह–

एगक्खेत्तणिवासा, कालातिक्कंतचारिणो जंति ।
सुद्धचरणणाणा खलु, विसुद्धमालंवणं जेणं ॥२३६॥

एगखेत्ते कालदुगातिक्कंतं पि वसमाणा, तहा वि णिरतियारा, जतो विसुद्धालंवणावलंवी, ज्ञानाऽऽवरणाऽऽढ्यं चाऽऽलंवणं ।

किं च –

आणाएँ अमुक्कधुरा, गुणवुड्ढी जेण णिज्जरा तेणं ।
मुक्कधुरस्स ण मुणिणो, सोधी संविज्जति चरित्ते ॥२३७॥

आण त्ति तित्थकरवयणं, जहा तित्थकरवयणातो णितियं ण वसति, तहा तित्थकरवयणाओ चेव कारणा णितियं वसति, स एवं आणाए संजमे अमुक्कधुरो चेव, अमुक्कधुरस्स णियमा णाणाऽऽदि–गुणपरिवुड्ढी, जेण य तस्स गुणपरिवुड्ढी तेण णिज्जरा विउला भवति, जो पुण तप्पडिपक्खे वट्टति, तस्स सोही चरित्तस्स ण विज्जति ।

इदाणिं गतोऽप्यर्थः स्फुटतरः क्रियते–

गुणपरिवुड्ढिणिमित्तं, कालातीते ण हों ति दोसा तु ।
जत्थ तु पहितो णाणी, ठविज्ज तहियं न विहरेज्जा ॥२३८॥

कालाओ दुगातिक्कंतं ज्ञानादिगुणपरिवृद्धिणिमित्तं वसतो न दोषः । जत्थ पुण बहिं विहरंतो णाणादीणं हाणी हवेज्ज, ण तत्थ विहरेज्ज इत्यर्थः । नि० चू० २ उ० ।

नित्यवासफलम्–ननु किमित्येवमुपदिश्यते? यावता मासकल्पे– न विहरतामवश्यंभाव्येव जीवोपमर्दः, सूत्रार्थोभयहानिरपि जायते, मार्गगमनश्रमसंभवादपरिचितजनादुपयोगिभक्तपानाऽऽद्यसंप्राप्तेर्वा वातपित्ताऽऽदिक्षोभादात्मविराधनासंभवाच्च प्रत्यक्षं दोष एव दृश्यत इति। प्रयोगश्चात्र–अयुक्तमिदं मासाऽऽदिविहारेण ग्रामानुग्रामभ्रमणमिति पक्षः। संयमाऽऽत्मविराधनाहेतुत्वादिति हेतुः। तथाविध–कष्टसाध्यसावद्यानुष्ठानादिति दृष्टान्तः। यद्यत्संयमाऽऽत्मविराधनाहेतुभूतमनुष्ठानं तत्तत्संयमवतामनारम्भणीयमेव, यथा कृष्यादिसावद्यानुष्ठानम्, तथाभूतं चेदं मासकल्पाऽऽदिना ग्रामानुग्रामभ्रमणमित्युपनयः। अतो न युक्तमिदमिति निगमनम्। न चास्य हेतोरसिद्धत्वाऽऽदिदोषोद्भावनाऽपि कर्तुं शक्यते, पूर्वमेव सूत्रार्थोभयसंयमाऽऽत्मविराधनायाः सप्रपञ्चं प्रतिपादितत्वात्। अन्यच्चैकत्र निवासे गुण एव दृश्यते–यतो मार्गगमनाभावात्समस्तजीवोपमर्दाभावे संयमवृद्धिरुपजायते। व्यायामाभावात्प्रासुकैषणीयोचितभक्तपानलाभसंभवाच्च वातपित्ताऽऽदेः क्षोभावादात्मविराधनाऽपि न भवति। तथाऽऽचार्यनिवासपुस्तकाऽऽद्यविकलपठनका–रणकलापसंभवात् सूत्रार्थोभयवृद्ध्यः शिष्या दीक्षा भवन्ति। उक्तं च – ''आरोग्यबुद्धिविनयोद्यमशास्त्ररागाः, पञ्चाऽऽन्तरा जगति पाठगुणा भवन्ति। आचार्यपुस्तकनिवाससहायवल्भाः, बाह्याश्च पञ्च पठनं परिवर्द्धयन्ति ॥१॥'' अन्यच्चागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः। यतः–''पंचसमिया तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे। वाससयं पि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिया ॥१॥'' इत्याद्यनेकगुणकलापोपेतत्वाद् नित्यवासस्य, युक्तमेव तत्करणमिति मन्तव्यम्। एवं व्यवस्थितेऽपि यदन्यथापरिकल्पनं, तत्कदाग्रहग्रह-गृहीतवचन-मिवापकर्णनीयमिति स्थितम्।

अत्रोच्यते–यत्तावत्प्रतिपादितम्–'मासाऽऽदिविहारे' इत्यादिना पृथिव्यादिमर्दाऽऽदिना संयमाऽऽदेर्विराधनेति दूषणकदम्बकम्। तद् नित्यवासेऽपि समानमेव। यतो विहारपरिहारेण सर्वदैकत्र निवासवतां प्रासुकैषणीयवसतिलाभाभावाद् गृहस्था इवाऽऽश्रयाभावेषु मुक्तसमस्तजीवोपमर्दाऽऽदयः स्वयंग्रहकरणकारणानुमोदनाऽऽदौ प्रवर्न्तन्ते। ततश्चैषणायामपि जीवनिकायानामाकुट्यापि विराधनोत्पद्यते। ततश्च प्राणातिपात (विरमण) महाव्रतभङ्ग निरर्थकताया अपि शिरस्तुण्डमुण्डनाऽऽदेर्वैयर्थ्यं स्यात्। अन्यथैकत्र निवासे प्रतिदिनमाहाराऽऽदिदानवन्दनाऽऽदिप्रतिपत्त्योपगृहीतानां साधूनामनादिभवाभ्यासवशवर्तिनां प्रतिबन्धाऽऽदयः संभवन्ति। उक्तं च–पडिबंधो लहुयत्तं, न जणुवयारो न देसविन्नाणं। नाऽऽणाराह–णमेए, दोसा अविहारपक्खम्मि'' ॥१॥ ततश्च प्रतिबन्धात्संबन्धः, संबन्धाच्चित्तविप्लुतिः, चितविप्लुतेरकार्यप्रवृत्तिरिति। एवं वाऽतिस्फुटतरा संयमविराधना–यदा च चित्तविप्लुत्या प्रेरितः स्त्रीसेवाऽऽदौ प्रवर्तते, तदा न केवलं प्रथमव्रतभङ्गः, अपि तु पञ्चानामपीति। तथाहि–रमणीरमणमनाःसंकेतस्थाने व्रजन्नागच्छन् वा क्व यास्यसि, कुतो वा प्रत्यावृत्तः? इति केनचित्प्रेरितोऽलीकशठोत्तरदानाय वक्ति–उदरबाधा मेऽस्ति, ततः शरीरचिन्तायै गमिष्यामि, तां वा कृत्वा समागतः, इति वदतो मृषावादः। स्वाम्यादिभिरननुज्ञातमतो निषेवतोऽदत्ताऽऽदानम्। तत्स्नेहात् तु प्राणातिपातमैथुनपरिग्रह (विरमण) व्रतभङ्गोऽपि स्त्रीपरिग्रहकरणाद्भवति। अन्यच्च-सूत्रार्थोभयहानिरपि तद्वशगस्य। तथा–समस्तानां कषायाणां वृद्धिरुपजायतेऽनुरागवशगस्य, तदसप्राप्तौ ज्वराऽऽद्युत्मादसंभवादात्मविराधना। प्रवचनोपघातश्चयथैते श्वेतभिक्षवो वदन्तिचेलाञ्चलमपि प्रमादायाः संबन्धिनमस्माभिः परित्यज्यते, व्यापारः पुनरेतेषामीदृशः। प्रयोगश्चात्र–भवभ्रमण–भीरूणां गृहीतव्रतयतीनां समस्तानर्थनिबन्धनो नित्यवास इति अयुक्त एवेति पक्षः। समस्तप्रमादनिबन्धनत्वादिति हेतुः। गृहवासवदिति दृष्टान्तः। यद्यत्प्रमादनिबन्धनं तत् तद् पुनर्यतीनामयोग्यम्, यथा–गृहवासनिषेधनम्, प्रमादनि बन्धनश्चायमित्युपनयः। ततोऽयुक्तोऽयमिति निगमनम्। न चास्य हेतोरसिद्धताऽऽदिदोषोद्भावना विभावयितुं शक्यते, पूर्वोक्तयुक्तेरतिप्रतीतत्वात्। यथोक्तम्–आगमोऽप्येवमेवेत्यादि, तस्यायुक्ततरतमत्वाद् वक्तुर्महानिर्धर्मता चाऽऽवेदिता भवति।

यतस्तत्रायं प्रक्रमः–

''जो होज्ज उ असमत्थो, रोगेण व पेल्लिओ झुसियदेहो।
सव्वमवि जहा भणियं, कयाइ न तरेज्ज काउं जे'' ॥१॥

अस्या भावार्थः–यः स्यादसमर्थो विकृष्टतपश्चरणाऽऽदिना, रोगेण च, राजभयाऽऽदिना प्रेरितः स्वाभाविकशक्तेश्च्यावितः, तथा झुषितदेहो जराऽतिव्याप्तत्वादशक्तिनिविष्टः। किं बहुनोक्तेनैवमादिकारणैः सर्वमपि यथा भणितं यथाऽऽगमे प्रतिपादितं क्रियाऽनुष्ठानं, कदाचनाऽपि यदि कथञ्चिद्, विधातुं, (न तरेज्ज त्ति) न शक्नुयाद्वेति। 'जे' इति पादपूरणे निपात इति गाथाऽर्थः।

तदा किं प्राप्ताऽऽलम्बन इव समस्तमपि त्यजेदेवेत्याह–

''सो वि य नियमपरक्कम–ववसायधिइबलं अगूहंतो।
मोचूण कूडचरियं, जयई जइ तो अवस्स जई''॥१॥

अस्या व्याख्या–सोऽपि च पूर्वोक्तकारणैः सकलशक्तिरहितोऽपि निजपराक्रमव्यवसायधृतिबलमगोपयन् कूटचरितं मुक्त्वा, यत–ते यदि शक्तिपराक्रमोचितं विधत्ते, तदा यतिरेवाऽसौ, सुसाधुरेवेति, न पुनरन्योऽसाधुरित्यर्थः। तत इत्थंभूतस्यापि युक्तसंयमानुष्ठानस्यागत्यैवेति काक्काऽऽवेदितम्, समर्थस्य पुनः का वार्ता? इति गाथाऽर्थः।

अतो हेतोर्नित्यवासमपि समस्तानर्थबीजभूतं विदधाना यदीत्थं–भूता भवन्ति, तदैवाऽऽराधना, नान्यथेत्यावेदयन्निदं गाथात्रयमाह–

''निम्मम निरहंकारा, उज्जुत्ता नाणदंसणचरित्तम्मि।
एगक्खेत्ते वि ठिया, खवेंति पोराणयं कम्मं ॥१॥
जियकोहमाणमाया, जियलोहपरीसहा य जे धीरा।
वूढावासे वि ठिया, खवेंति पोराणयं कम्मं ॥२॥
पंचसमिया तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे।
वाससयं पि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिया''॥३॥

सुगमं चेदम्, नवरमस्य विवरणं विदधताऽत्राभिहितम्–किमिदमेकार्थिकगाथात्रयम्? उच्यते–अत्यादरख्यापनपरम्। आदरश्चात्र सकलशक्तिरहितत्वाद् जङ्घाबलहीनतया चाऽऽगमनिषिद्धमपि नित्यवासं कुर्वन् यदि यथाशक्तयोच्छ्चछति–निर्ममत्वाऽऽदिविशेषणयुक्तो भवति, तदैवाऽऽराधको, नान्यथेत्यावेदितमिति।

आगमनिषेधश्चैतः सूत्रादेवावसीयते–

''साहेउ अट्ठमासे, वासासु सुभूमिओ निवा जंति।
परबलरुद्धे वि पुरे, हावंतो मासकप्पं तु ॥१॥
कालाइदोसओ जइ, तदच्चओ एस कीरई नियमा।
सव्वेण तह वि करइ, संथारग.....याईहिं ॥२॥
वृद्धावासे पि, न यथाकथञ्चिदेव, कुशलः काशावलम्बनतोऽप्यवसेयः।

यत आगमवचनमेवं व्यवस्थितम्–

''खेत्तेण अद्धजोयण, कालेणं जाव भिक्खवेलं ति।
खेत्तेण य कालेण य, जाणसु सपरक्कमं थेरं ॥१॥''

अस्या अयं भावार्थः–यदि जङ्घाबलहीनताऽऽदिकारणैः प्रभातोत्थितः प्रस्तुतभिक्षाचरवेलायामर्द्धयोजनं गन्तुं शक्नोति, तदा सपराक्रमत्वाद्विहारमेव कार्यते, न नित्यवासम्।

यत आह–

''खेत्तेण अद्धगाउय, कालेणं जाव भिक्खवेलं ति।
खेत्तेण य कालेण य, जाणसु अपरक्कमं थेरं ॥१॥''

एवं पुनश्चाङ्क्रमणरहितत्वान्नित्यवासं यतनया कार्यते।

सा चेयं लेशतः–

''मासे मासे वसही, तणडगलाई य अन्न गेण्हंति।
भिक्खायरियवियारा, जहिं ठिया तत्थ नऽन्नासु ॥१॥''

अस्या इयमक्षरगमनिका–वातोद्रेकोपद्रुतोऽपि मूर्च्छाऽऽदिरोगाऽऽघाततनुर्जङ्घाबलहीनतया ज्ञानाऽऽदिग्रहणकारणेन वा नित्यवासं कुर्वाणो मासे मासे अन्यां वसतिं, तृणडगलाऽऽदीनि चान्यानि गृह्णाति, भिक्षा नान्यविभागे, विचारश्च बहिर्भूमिर्यत्र विभागे स्थितास्तत्रैव, नान्यत्रेति गाथार्थः।

वसत्यादिविभागासंप्राप्तौ किं कर्त्तव्यमित्याह–

''अद्धाए जाव एक्कं, करेंति भागं असंथरग्गामं।
अद्धाए च्चिय वसहिं, विभजंती जाव मूलवसहीए'' ॥१॥

अस्या अयं भावार्थः–(अद्धाए त्ति) यदि तृणडगलाऽऽदिविभागेन स्थातुं शक्नोति, तदैकमेव ग्राममष्टसप्तषष्ठाऽऽदिहीयमानभागैः प्रकर्वन् यावत्सकलमपि ग्राममेकेनैव विभागेन विधाय वसतिं चान्यान्यां गृह्णाति, तदभावे एकस्यामपि स्थितः संस्तारकं यतीनां विधत्ते, मा चित्तशुद्धेरभावे पापबन्धः स्यादिति। ततस्तच्छुद्धिनिमित्तमागममर्यादापरिपालनार्थं चानयात युक्त्या तिष्ठति, तत आराधको भवतीति गाथाऽर्थः।

यत्पुनः पूर्वमेवंविधं प्रतिपादितम्–मासकल्पाऽऽदिना विहरतः संयमाऽऽत्मविराधना, सूत्रार्थो भयहानिरपीति। तदज्ञानविजृम्भितम्। नहि विदितपरमार्थाः संविग्ना मोक्षसुखाभिलाषिण एवंविध परमपुरुषाऽऽसेवितं सकलशास्त्रप्रतिपादितं परमनिर्जराकारणमेकान्ततः प्रभावनाकारणं समस्तभव्यप्राणित्राणक्षममुदितोदितमासकल्पविहारमतिदुष्करमवीरपुरुषाणामेवंविधाऽऽलम्बनजालपरिकल्पनया दूषयन्ति। तथाहि–यत्तावत्प्रतिपादितम् अवश्यं मार्गे गतानां पृथिवीकायाऽऽदीनां विराधना संयमविराधना, सा न संभवति। यत ईर्यासमितिसमिताः साधवो भवन्ति। यत उक्तम्–''जुगमेत्तंतरदिट्ठी, पयं पयं चक्खुणा विसोहंतो। अव्वक्खित्ताऽऽउत्तो, इरियासमिओ मुणी होइ ॥१॥'' अथ मार्गे क्वापि सचेतनाया मिश्राया भुवः संभवः, क्वापि च हरितायाः, संभवो भविष्यति, ततोऽवश्यंभाविनी विराधनेति। न। तत्रावश्यंभाविगमनसंभवे शास्त्रेऽप्यनुज्ञानात्, केवलमत्र प्रायश्चित्तशुद्धेश्च निर्दोष एवेति। यच्चेर्यायुक्तस्यापि चङ्क्रमणकृता विराधनाऽवश्यंभावीनीति भवता संभावितम्। तत्राऽपि न दोषलेशोऽप्यस्ति।

यतः–

''उच्चालियम्मि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए।
आवज्जेज्ज कुलिंगी, मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥१॥
न हु तस्स तन्निमित्तं, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।
अणवज्जो उवओगे–ण सव्वभावेण सो जम्हा ॥२॥''

इत्यतस्तेषां भगवतां परमसंयमिनां धीरपुरुषचरितानुगामिनां परीषहोपसर्गदत्तोरस्थलानां मासकल्पविहारिणां नास्त्येव संयमबाधागन्धोऽपि। यच्च–परिश्रमेत्यादिनाऽऽत्मविराधनेत्युक्तम्। तदपि सुखधीबन्धनं व्यतिरिच्यान्यद् न साधयति। यतः प्रायः प्राणिनां रोगशोकभयभोगाऽऽदयः पूर्वोपात्तकर्मवसतः संभवन्ति, न यथाकथञ्चित्, तत्पुनर्नित्यवासेऽपि समानम्। यदि पुनरेतदुच्यतेविशेषतो बाह्यकारणकलापमासाद्य तदुदयमासादयति, तदा तस्याङ्गीकृतत्वादवश्यवेद्यत्वादात्मविरोधनाऽपि न भवति। यतोऽवश्यवेद्यकर्मणां केनाऽपि त्राणं कर्त्तुं न शक्यते, अवश्यवेद्यत्वादेव। यच्चोक्तम्–अपरापरग्रामनगराऽऽदिगमने अपरिचितजनसकाशादुचितभक्तपानादेरसंभवे वातपित्ताऽऽदिक्षोभः स्यादिति। तदपि बालप्रलापकल्पम्। यतो व्रतग्रहणकाले तदङ्गीकृतमेव लाभालाभाऽऽदिकम्। यतः सर्वदैव साधूनामयमाशयविशेषः–''लाभालाभे सुखे दुःखे, जीविते मरणे तथा। स्तुतौ निन्दावि–धाने च, साधवः समचेतसः'' ॥१॥ अन्यच्चाऽऽपूर्वापूर्वग्रामनगरा–ऽऽदौ विहारं विदधतां शिष्योपधिश्रावकप्रतिबोधाऽऽहाराऽऽदेर्वि–शेषतो लाभः सम्भवति, विशेषदेशनाश्रवणाद्विशेषतो भावसम्भवादिति। तथाहि–लोकेऽप्येवमेव दृश्यते–देशान्तराऽऽयातप्राघूर्णकस्य सविशेषस्नानविलेपनचीरप्रदानपर्युपास्तिवचनश्रवणाऽऽदेस्तथैव दर्शनादिति; नित्यवासिनां पुनः सर्वाऽभाव एव, असकृ–दायातप्राघूर्णकस्येव। उक्तं च–''अतिपरिचयादवज्ञा, भवति विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्रायः। लोकः प्रयागवासी, कूपे स्नानं सदा चरति'' ॥१॥ आगमेऽप्यभाणि–''पडिबंधो लहुयत्तं,'' इत्यादि। यदपि प्रतिपादितम् सूत्रार्थोभयहानिः स्यादिति। तदपि मिथ्यात्वतिमिरावगुण्ठितचेतसो वञ्चना। यतो न हि विहारवतां संयमस्वाध्यायाऽऽद्यनुष्ठानं व्यतिरिच्यान्यत् कर्त्तव्यमस्ति। यः पुनर्विहारे वस्तुपरिकर्म्मणादौ तद्व्याघात उद्भावितः, सोऽङ्गीकृत एव; यतः सूत्रार्थोभयाभ्यासोऽपि संयमाऽऽद्यनुष्ठाननिमित्तमेव विधीयते, न जनरञ्जनार्थम्। यत एतदुच्यते–''निच्चम्मि स सज्झाओ।'' अन्यच्च ''पैशाचिकमाख्यानं, श्रुत्वा गोपायनं च कुलवद्धाः। संयमयोगैरात्मा, निरन्तरं व्यापृतः कार्यः ॥१॥'' इति। यदपि मुग्धबुद्धिबन्धनार्थं किञ्चित्प्रयोगश्चेति जल्पितम्। तदपि न विदुषां मनागप्यसुखमुत्पादयति। साक्षाद्धेतोरसिद्धताऽऽङ्गनाऽऽलिङ्गितत्वान्नोत्सहते मासकल्पाऽऽद्युचितविहारनिषेधव्यापारान्तरं प्रति, अनेकोपपत्तिभिर्मासकल्पविहारस्य संयमं प्रति श्रवणतया समर्थितत्वादिति। अतः स्थितमिदम्–मोक्षार्थं ग्रहीतदीक्षेण संयमार्थिना मासकल्पाऽऽदिना विहर्त्तव्यमिति। अस्यार्थस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामुपदेशमालाविधायकेन भगवता धर्मदासगणिनाऽपि तथैव समर्थितत्वात्।

तथा च तत्सूत्रम्–

''कारणनीयावासे, सुट्ठुतरं उज्जमेण जइयव्वं।
जह ते संगमथेरा, सपाडिहेरा तथा आसिं'' ॥१॥

अस्यायमक्षरार्थः–कारणे हीनजङ्घाबलत्वलक्षणे नित्यवासः कारणनित्यवासः, कारणनित्यवासे सुष्ठुतरमतिशयेन यतितव्यमुद्यमेनाप्रमादेनेत्यर्थः। यथा–ते भगवन्त आगमप्रसिद्धाः संगमस्थविरसूरयः सप्रातिहार्या अप्रमत्ताऽऽदिगुणगणाऽऽवर्जितहृदयतया देवैरपि स्तूयन्ते, तदा, यदाऽसौ भगवान् वद्धवासमगमत्, आसीद् भूयादिति गाथाऽर्थः। दर्श०४ तत्त्व।

जाहे वि अ परितंता गामाऽऽगरनगरपट्टणमडंता।
तो केइ निअयवासी, संगमथेरं ववइसंति ॥११॥

यदाऽपि च परिश्रान्ताः, सर्वथा श्रान्ता इत्यर्थः। किं कुर्वन्तः सन्तः? ग्रामाऽऽकरपत्तनाऽऽद्यटन्तः सन्तः। ग्रामाऽऽदीनां स्वरूपं प्रसिद्धमेव। ततः केचन नष्टनाशका नित्यवासिनः, न तु सर्व एव। किम्? संगमस्थविरमाचार्यं, व्यपदिशन्त्यालम्बनतयेति गाथाऽर्थः ॥११॥

कथम्?

संगमथेरायरिओ, सुट्ठु तवस्सी तहेव गीअत्थो।
पेहित्ता गुणदोसं, नितियावासं पवन्नो उ॥१२॥

इयं चान्यकर्तृकी गाथा सोपयोगा च निगदसिद्धा। कः पुनः संगमस्थविरः? इत्यत्र कथानकम्–''कोल्लइपुरे नगरे संगमथेरा दुब्भिक्खत्तेण साहूहिं विसज्जिया। ते तं नगरं नवहा काऊण जंघाबलपरिहीणा विहरंति। नगरदेवया किर तेसिं उवरि पसन्ना। तेसिं सीसो दत्तो नाम आहिंडिउं चिरेण कालेण उदंतवाहओ आगओ। सो तेसिं पडिस्सए न पविसति नियययवासि त्ति काउं। भिक्खावेलाए उग्गाहियं हिंडंता संकिलस्सति, कुंटोऽयं सड्ढकुलाणि न दाएंति। एगत्थ सेट्ठिकुले रेवईए गहीओ दारओ। छम्मासा रोवंतस्स आयरिएहिं चप्पुडिया कया। मारोव। वाणमंतरीए मुक्को। तेहिं तुट्ठेहिं पडिलाभिया जहिच्छिएणं। सो विसज्जिओ। आयरिया सुइरं हिंडिऊण अंतंपंतं गाहायागया समुद्दिट्ठा। आवस्सय-आलोचणाए आयरिया भणंति–आलोएहि। सो भणति–तुज्झेहिं समं हिंडिओ त्ति। ते भणंति –धातिपिंडो ते भुत्तो ति। भणतिमम अतिसुहुमाणि पाससि त्ति पइट्ठो। देवयाए अड्ढरत्ते वासं, अंधकारं च विउव्वियं। एस हीलेइ ति। आयरिएहिं भणिओ–एहि। सो भणइ–अंधयारो त्ति। आयरिएहिं अंगुली दाइया पज्जलिया आउट्ठो आलोए त्ति। आयरिया वि नवभागे परिकहिंति। एवमयं पुट्ठाऽऽलंबणो ण होइ, सव्वेसिं मंदधम्माणमालंबणं ति'' ॥१२॥

आह च–

ओमे सीसपवासं, अप्पडिबंधं अजंगमत्तं च।
न गणें ति एगखित्ते, गणेंति वासं निअयवासी ॥१३॥

'ओमे' दुर्भिक्षे, शिष्यप्रवासं शिष्यगमनं, तथा तस्यैवाप्रतिबन्धमनभिष्वङ्गमजङ्गमत्वं च वृद्धत्वं, चशब्दात्तत्रैव क्षेत्रविभागभजनं च। इदमालम्बनजालं न गणयन्ति नापेक्षन्ते, नाऽऽलोचयन्तीत्यर्थः। किं तु एकक्षेत्रे गणयन्ति वासं, नित्यवासिनो मन्दधियः। इति गाथाऽर्थः ॥१३॥ आव०३ अ० ध०२०।

णितियावाइ(ण्) त्रि०(नित्यावादिन) नित्यो मोक्षो यत्र गतानां पुनरागमनाऽऽदि नास्ति। नित्यतयाऽवस्थितिर्यत्रास्ति तन्निषेधप्ररूपके, दशा०६ अ०। ''णितिया सव्वभावा मंगुलीणं।'' उपा० ६अ०।

णित्त न०(नेत्र) नयने, लोचने, स्था० १० ठा०।

णित्तल त्रि०(निस्तल) अनिवृत्ते, ''तेणं णित्तलं मणिरयणं अस्सादेंति।'' भ० १५ श०।

णित्तिरडिअ (देशी) त्रुटिते, दे०ना० ४ वर्ग ४१ गाथा।

णित्तिरडी (देशी) निरन्तरे, दे०ना० ४ वर्ग ४० गाथा।

णित्तुस त्रि०(निस्तुष) अचोप्पडे, अवग्घारिते, बृ०१ उ०।

णित्तुस त्रि०(निस्तुष) तुषरहिते, तद्वद् विशुद्धे च। प्रश्न०४ सम्ब० द्वार।

णित्तेय त्रि०(निस्तेजस्) गतकान्तौ, नि०१ श्रु०१ वर्ग १ अ०। निर्वीर्ये, भ०६ श० ३३ उ०।

णित्थरण न०(निस्तरण) पारप्रापणे, जं०३ वक्ष०। ''भरणित्थरणसमत्था।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड। जं०।

णित्थरिज्जंत त्रि०(निस्तीर्यमाण) पर्यन्ते प्राप्यमाणे, संथा०।

णित्थाण त्रि०(निस्थान) स्थानभ्रष्टे, ज्ञा०१ श्रु० १८ अ०। स्थानवर्जिते, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

णित्थारग त्रि०(निस्तारक) पारगे, ''णित्थारगपारगा होह।'' इति वन्दकं प्रति गुरुवचनम्। निस्तारकाः संसारसमुद्रात्, प्राणिनां प्रतिज्ञाया वा पारगाः। संसारसमुद्रतीरगामिनो भवत यूयमित्याशीर्वचनम्। पा०। ध०।

णित्थारणा स्त्री०(निस्तारणा) पारप्रापणायाम्, जं०३ वक्ष०। ('परिहार' शब्दे संयमे सीदतां संयतानां निस्तारणा वक्ष्यते)

णिदंसण न०(निदर्शन) कथञ्चिद् गृह्णतः अभ्युपगच्छतः परानुकम्पया निश्चयेन पुनः पुनर्दर्शने, स्था०१० ठा०। अनु०। ग०। उत्त०।

णिदंसिय त्रि०(निदर्शित) नितरामनुज्ञाते, षो० ६ विव०। कथञ्चिद् गृह्णतः परयाऽनुकम्पया निश्चयेन पुनः पुनर्दर्शिते, ग०२ अधि०। अनु०।

णिदरिसण न०(निदर्शन) निश्चयेन दर्श्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिक एवार्थ इति निदर्शनम्। दृष्टान्ते, दश० १ अ०।

णिदा स्त्री०(निदा) निदानं निदा। प्राणिहिंसा नरकाऽऽदिदुःखहेतुरिति जानतोऽपि, यद् वा साधूनामाधाकर्म न कल्पते इति परिज्ञानवतोऽपि जीवानां प्राणव्यपरोपणे, पिं०। नियतं दानं शुद्धिर्जीवस्य 'दैप्' शोधने इति वचनाद्, निदा। ज्ञाने, आभोगे, तद्युक्ता वेदनाऽपि निदा। आभोगवत्यां वेदनायाम्, भ० १६ श०५ उ०।

णिदाह (निदाघ) नितरां दह्यतेऽत्र। नि–दह–घञ्। न्यङ्क्वादि–त्वात् कुत्वम्। उष्णे, घर्मे, घर्मकाले च। वाच०। लोकोत्तररीत्या श्रावणाऽऽदिगणनया एकादशे लौकिकरीत्या ज्येष्ठाऽऽख्ये मासे, आव०५ अ०।

***णिदाह** पुं०। अधिको दाहो निदाहः। असाधारणदाहे, आव०५ अ०।

णिद्दंझाण न०(निद्राध्यान) निद्रापरतन्त्रस्य ध्यानं निद्राध्यानम्। स्त्यानर्द्धिनिद्रया महिषमांसभक्षिमोदकाभिलाषिहस्तिदन्तोत्पाटकारि–प्राक्कुम्भकारत्वाभ्यस्तमृत्पिण्डत्रोटनवत् साधुमस्तकत्रोटि–वटशाखाभेदिसाधूनामिव दुर्ध्याने, आतु०।

णिद्दक्खय पुं०(निद्राक्षय) स्वापप्रमोक्षे, निद्राक्षयेण सुप्तोऽपि बुध्यते। स्था० ५ ठा०२ उ०।

णिद्दड्ढ पुं०(निर्दग्ध) सीमन्तकप्रभान्नरकेन्द्रकात्पूर्वस्यामावलिकायामेकविंशेऽपक्रान्तनरके, स्था०५ ठा०२ उ०। 'माया' शब्दे उदाहरिष्यमाणायां रण्डायाम्, स्त्री०। महा०२ चू०।

णिद्दड्ढमज्झ पुं०(निर्दग्धमध्य) सीमन्तकमध्यादुत्तरस्यामावलिकायामेकविंशेऽपक्रान्तमहानरके, स्था०६ ठा०।

णिद्दड्ढावत्त पुं०(निर्दग्धाऽऽवर्त) सीमन्तकाऽऽवर्तात् पश्चिमायामे-कविंशेऽपक्रान्तमहानरके, स्था० ६ ठा०।

णिद्दड्ढोसिट्ठ पुं०(निर्दग्धावशिष्ट) सीमन्तकावशिष्टाद्दक्षिणस्यामा-वलिकायामेकविंशेऽपक्रान्तमहानरके, स्था० ६ ठा०।

णिद्दय त्रि०(निर्दय) निष्करुणे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। निष्कृपे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। निर्घृणे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

णिद्दर पुं०(निर्दर) कन्दरायाम्, हैमेऽभिधानचिन्तामणौ।

णिद्दलण न०(निर्दलन) मर्दने, आचा०१ श्रु०१ अ०४ उ०।

णिद्दह धा०(विगल) वि-गल। **''विगलेः थिप्प-णिद्दु हौ''** ॥८।४।१७५॥ इति विगलतेर्णिद्दहाऽऽदेशः। 'णिद्दहइ'। पक्षे 'विगलइ'। विगलति। प्रा० ४ पाद।

णिद्दा स्त्री०(निद्रा) 'द्रा' कुत्सायां गतौ। नियतं द्राति कुत्सित-त्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यमनयेति निद्रा। ''षिद् भिदादिभ्योऽङ्'' ॥३।३।१०४॥ इति अङ् प्रत्ययः स्वापावस्थाविशेषे, कर्म०६ कर्म०। प्रव०। पा०। पं०सं०। उत्त०। स्था०।

सुहपडिबोहा णिद्दा, ...(११)

सुखेनाकृच्छ्रेण नखच्छोटिकामात्रेणाऽपि प्रतिबोधो जागरणं स्वसुर्यस्यां स्वापावस्थायां सा सुखप्रतिबोधा निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कारणे कार्योपचारान्निद्रेत्युच्यते। कर्म०१ कर्म०। अनु०। प्रज्ञा०। निद्रा पञ्चविधानिद्रा १, निद्रानिद्रा २, प्रचला ३, प्रचलाप्रचला ४, स्त्यानर्द्धिश्च ५ इति। बृ० ४उ०। स०। (आसां पृथक् पृथक् व्याख्या तत्तच्छब्दे)

णिद्दाऽऽदिचउक्कं पडिसिद्धकाले आयरमाणस्स पच्छित्तं भण्णति-

दिवसें णिसि पढमें चरिमे, चतुक्क आसेवणे लहूमासो।
आणऽणवत्थुड्डहो, विराधणा णिद्दवुड्ढी य ॥१३४॥

दिवसतो चउसु वि जामेसु, णिसा रात्री, ताए पढमजामे, चरिमे वा जामे, चउक्कं णाम-णिद्दा, णिद्दाणिद्दा, पयला, पयलापयला। आसेवणं णाम-एतासु वट्टति। तत्थ से पत्तेगं चउसु वि मासलहुं। णिद्दाए दोण्ह वि लहुं, अतिणिद्दाए कालगुरुं। पयलाए तवगुरुं। अतिपयलाए दोहिं वि गुरुं। सुवंताण य इमे दोसा-भगवता पडि-सिद्धेसु जओ आणाभंगो कओ भवति, आणाभंगेण य चरणभंगो। जतो भणियं-''आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे जाण किं न भग्गं तु?'' अणवत्थदोसो य-एगो पडिसिद्धकालेसु सुवतो, अण्णो वि तं दट्ठुं सुवति, ''एगेण कयमकज्जं,करेंति तप्पच्चया अण्णो।''उड्डाहो य भवति-दिवसे सुवंतो य दिट्ठो असंजएहिं चिंतयति-जाहे एस णिक्खित्त सज्झायज्झाणजोगो सुवति, ताहे लक्खिज्जति-रातो रतिकिलंतो, एवं उड्डाहो भवति। अहवा भणंतिण कम्मं, ण धम्मो, अहो सुव्वइत्तं। विराहणासुत्तो आलीवणगे डज्झेज्जा। णिद्दवुड्ढो य। यत उक्तम्-''पञ्च वर्द्धन्ति कौन्तेय!, सेव्यमानानि नित्यशः। आलस्य मैथुनं निद्रा, क्षुधा क्रोधश्च पञ्चमः ॥१॥'' नि० चू० १ उ०। बृ०। (उदकतीरे निद्रापञ्चककरणनिषेधो 'दगतीर' शब्दे वक्ष्यते)

छद्मस्थो निद्राति, प्रचलायतीत्याह-

छउमत्थे णं भंते! मणूसे निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा? हंता!
निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा, जहा हसेज्जा तहा, णवरं दरिस-णावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं निद्दाएइ वा, पयलाएइ वा, से णं केवलिस्स नत्थि, अण्णं तं चेव॥

''छउमत्थे'' इत्यादि।(निद्दाएज्ज व त्ति) निद्रां सुखप्रतिबोधलक्षणां, कुर्यात् निद्रायेत्। (पयलाएज्ज व त्ति) प्रचलां ऊर्द्धस्थितनिद्राकरण-लक्षणां कुर्यात् प्रचलायेत्। भ०५ श०४ उ०।

नितरां द्रान्ति गच्छन्ति कुत्सितामवस्थामिहामुत्र चानयेति निद्रा। तद्वशाद् प्रदीपनकाऽऽदिषु विनाशमिहैवानुभवन्ति। धर्मकार्येष्वपि शून्यमानसत्वान्न प्रवर्तन्ते इति। अक्षिसङ्कोचनरूपायाम्, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। सुप्ततायाम्, उत्त० ४अ०। आ०म०। ''जागरिता धम्मीणं, अधम्मियाणं च सुत्तिया सेया। वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥२०६॥''(इति 'जागरिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४४८ पृष्ठे, 'जयती' शब्दे च १४१६ पृष्ठे चिन्तितम्)

णिद्दाण त्रि०(निद्राण) सुप्तप्रमत्ते, प्रति०।

णिद्दाणिद्दा स्त्री०(निद्रानिद्रा) निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रा-निद्रा। मयूरव्यंसकाऽऽदित्वान्मध्यमपदलोपी समासः। कर्म०१ कर्म०। शाकपार्थिवाऽऽदित्वान्मध्यमपदलोपी वा समासः। स्था० ६ ठा०। दुष्प्रबोधायां स्वापावस्थायाम्, कर्म०।

निद्रानिद्रास्वरूपमाह-

....., णिद्दाणिद्दा य दुक्खपडिवोहा। (११)

दुःखेन कष्टेन बहुभिर्घोलनाप्रकारैरत्यर्थमस्फुटतरीभूतचैतन्यत्वेन प्रतिबोधो यस्यां सा दुःखप्रतिबोधा। कर्म० १ कर्म०। प्रव०। तस्यां हि चैतन्यस्यात्यन्तमस्फुटतरीभूतत्वाद् बहुभिर्घोलनाप्रकारैः प्रबोधो भवत्यतः सुखप्रबोधनिद्रातोऽस्या अतिशायिनीत्वं, तद्विपाकवेद्या कर्म्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा। प्रव० २१६ द्वार। कर्म०। पं०सं०। उत्त०। नि०चू०। स्था०। प्रज्ञा०। प्रव०। स०।

णिद्दापमाय पुं०(निद्राप्रमाद) क०स०। प्रमादकारणीभूतनिद्रायाम्, ''निद्राशीलो न श्रुतं नाऽपि वित्तं, लब्धुं शक्तो हीयते चैष ताभ्याम्। ज्ञानद्रव्याभावतो दुःखभागी, लोकद्वैते स्यादतो निद्रयाऽऽलम् ॥१॥'' इति। स्था०६ ठा०।

णिद्दामत्त त्रि०(निद्रामत्त) निद्राऽभिभूते, आव०५ अ०।

णिद्दायण न०(निद्रायण) निषण्णस्य स्वप्नावस्थायाम्, बृ०३ उ०।

णिद्दारिय त्रि०(निर्दारित) विस्फारिते, प्रश्न०३ आश्र०। द्वार। निष्कासिते, ''निद्दालियगजीहे।'' उपा०२ अ०।

णिद्दिट्ठ त्रि०(निर्दिष्ट) कथिते, विशे०। तं०। प्रतिपादिते, दर्श०३ तत्त्व। आव०। दर्शिते, पञ्चा०३ विव०।

णिद्दुद्धिया स्त्री०(निर्दुग्धिका) दुग्धरहितायाम्, तं०।

णिद्देस पुं०(निर्देश) निर्देशनं निर्देशः। विशेषाभिधाने, यथा आवश्यके सामायिकमिति। अनु०। आ०म०। ''सामाइयं ति निद्देसो त्ति।'' (तत्स्वरूपम् 'उद्देश' शब्दे द्वितीयभागे ७९६ पृष्ठे उक्तम्) (निर्देशनि-क्षेपोऽपि तत्रैवोक्तः)

यकाभ्यां चोद्देशनिर्देशाभ्यामिहाधिकारस्तदाह-

ओदइओ खइओ त्ति व,नाणं चरणं ति भावनिद्देसो।

एत्थ विसेसाहिगओ, समासउद्देसनिद्देसो ॥१५०२॥
अज्झयणं उद्देसो, तं चिय सामाइयं ति निद्देसो ।
बुद्धीऍ जहासंभव–माजोज्जं सेसएसुं पि ॥१५०३॥

औदयिको भावः, क्षायिको भाव इत्यादि । अथवा–ज्ञानं, दर्शनं, चारित्रमित्यादिको ज्ञानाऽऽदीनां क्षायिकक्षायोपशमिकभाववृत्ति–त्वाद्भावनिर्देशः । इह च प्रत्येकमष्टविधे उद्देशे निर्देशे च समासोद्देशः, समासनिर्देशश्च विशेषेणाधिकृतः । तथाहि–प्रस्तुतेऽध्ययनम्, इत्येष समासोद्देशः, सामायिकमिति च विशेषाभिधानरूपत्वात्समासनिर्देशः । एवं स्वबुद्ध्या यथासम्भवं शेषेष्वपि श्रुतस्कन्धचतुर्विंशतिस्तवाऽऽद्य–ध्ययनेष्वायोज्यम्, यथा श्रुतस्कन्ध इति समासोद्देशः, आवश्यकमिति समासनिर्देश इत्यादि ॥१५०२॥ १५०३॥

उत्तरगाथासंबन्धनार्थमाह–

सामाइयं नपुंसय–मस्स पुडं थी नपुंसगं वा वि ।
निद्दिट्ठा तत्थिच्छइ, कं निद्देसं नओ को णु? ॥१५०४॥

इह सामायिकमिति नपुंसकतया रूढम् । अस्य च त्रिविधो निर्देष्टा उच्चारयिता, स्त्रीपुन्नपुंसकभेदात् । तत्रेदं नयैर्विचार्यतेको नयः कं निर्देशमिच्छति? किं निर्देश्यवशात्, निर्देशकवशाद्वा? इति विनेयः पृच्छतीति गाथाऽर्थः ॥१५०४॥

अस्मिंश्च प्रश्ने सत्याह–

दुविहं पि नेगमनओ, निद्दिट्ठं संगहो य ववहारो ।
निद्देसयमुज्जुसुओ, उभयसरिच्छं च सद्दस्स ॥१५०५॥

नैके गमा वस्तुधर्मपरिच्छेदा यस्याऽसौ ककारवर्णनाशान्नैगमः, अनेकप्रकारवस्त्वभ्युपगमपर इत्यर्थः । नैगमश्चासौ नयश्च नैगमनयः । स द्विविधमपि निर्देश्यवशान्निर्देशकवशाच्च निर्देशमिच्छति, इति शेषः, लोकव्यवहारपरत्वात्, अनेकगमरूपत्याच्चस्य नयस्य । लोके च निर्देश्यवशात्, निर्देशकवशाच्च निर्देशप्रवृत्तिर्दृश्यते तत्र निर्देश्यवशाद् यथा–'वासवदत्ता, तरङ्गवती, प्रियदर्शनाकथा' इत्यादि । निर्देष्टृवशात्तु मनुना प्रणीतो ग्रन्थो मनुः, अक्षपादेनोक्तोऽक्षपाद इत्यादि । लोकोत्तरे तु निर्देश्यवशात् षट्जीवनिकायप्रतिपादकमध्ययनं षट्जीवनिका, साध्वाचारप्रतिपादको ग्रन्थ आचार इत्यादि । तथा–निर्देशकवशा–न्निर्देशो यथा–कपिलेन प्रणीतं कापिलीयमध्ययनं, हरिकेशिना प्रणीतं हरिकेशीयं, केशिगौतमाभ्यामभिहितं कैशिगौतमीयं, नन्दिसंहिता, जिनप्रवचनमित्यादि। एवं सावद्यविरमणरूपं सामायिकं रूढितो नपुंसकमिति कृत्वा निर्देश्यवशान्नैगमो नपुंसकनिर्देशमेवास्य मन्यते । यथा–सामायिकं नपुंसकमिति । तथा सामायिकं निर्देष्टुः स्त्रीपुंनपुंस–कलिङ्गत्वात्तद्वशात्सामायिकस्य त्रिलिङ्गताऽप्येतन्मतेन भवति । यथा–सामायि–कं स्त्री, सामायिकं पुरुषः, सामायिकं नपुंसकमिति । यथा वा देवदत्ताऽऽदिना घटाऽऽदिशब्दे समुच्चारिते स घटाऽऽदिशब्द उच्चा–रयितृदेवदत्ताऽऽदिपरिणामत्वाद्देवदत्ताऽऽदिशब्दत्वेन व्यपदिश्यते, तथा–तदभिधेयपृथुबुध्नोदराऽऽद्याकारघटाऽऽदिपदार्थपरिणाम–त्वाद् घटाऽऽदिशब्दत्वेनापि लोके निर्दिश्यते । एवं स्वाभिधेयसा–वद्यविरमणपर्यायत्वात्सामायिकस्य नैगमो नपुंसकनिर्देशं मन्यते । अभिधायकस्त्रीपुरुषाऽऽदिपरिणामत्वात्तु लिङ्गत्रय निर्देशमप्य–स्याभ्युपगच्छति, यथा– 'सामायिकं स्त्री' इत्यादि । आह–'दुविहं पि णेगमणओ' एतावन्मात्रोक्तौ निर्देश्यवशाद्, निर्देशकवशाच्च द्विविधं निर्देशमिच्छतीति कुतो लभ्यते? इति । अत्रोच्यते–''निद्दिट्ठं संगहो य ववहारो'' इतिवचनात् । अत्र ह्ययमर्थः–निर्दिष्टमभिधेयं वस्त्वङ्गीकृत्य संग्रहव्यवहारौ निर्देशमिच्छतः, निर्देश्यपर्यायत्वात् वचनस्य, इत्यादि-युक्तिश्च भाष्ये वक्ष्यते । तदिदं निर्दिष्टं वस्त्वाश्रित्येतिवचनात्प्रागपि ''दुविहं पि'' इत्यत्र निर्दिष्टनिर्देश–कवशान्निर्देश इति गम्यते । (निद्देसयमुज्जुसुओ त्ति) निर्दिशतीति निर्देशको वक्ता, तमङ्गीकृत्य ऋजुसूत्रो निर्देशमिच्छति । यथा–'सामायिकं स्त्री' इत्यादि । वक्तृपर्यायत्वाद्वचनस्येत्यादि युक्तिरत्रापि भाष्येऽभिधास्यते । (उभयसरिच्छं च सद्दस्स त्ति) उभयमिह निर्देश्यं निर्देशकं च वस्तु तस्योभयस्य सदृशं समानलिङ्गमेवाऽऽश्रित्य शब्दनयस्य, निर्देश-प्रवृत्तिरिति गम्यते । यदि हि निर्देश्यं नपुंसकं, तदा निर्देष्टाऽपि स्त्रीपुंन-पुंसकलक्षणो नपुंसकमेव, वक्तुर्वाच्योपयोगानन्यत्वेन तद्रूपत्वात् । उपयोगप्रधाना हि शब्दनयाः, ततो यो यत्रोपयुक्तः स तद्रूप एव, यथाऽग्न्युपयुक्तोऽग्निः, तथा च सति स्त्रीपुरुषावपि यदा रूढितो नपुंसके सामायिके उपयुक्तौ भवतः, तदा निर्देश्यनपुंसकोपयुक्तत्वान्नपुंसकमेव, तदुपयोगानन्यत्वेन तद्रूपत्वादिति । स्त्रीपुरुषौ वा नपुंसकं ब्रूत इत्यस्य त्वर्थस्य शब्दनयमतेनासम्भव एवेति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥१५०५॥

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुर्भाष्यकारः प्राऽऽह–

जं संववहारपरो–ऽणेगगमो णेगमो तओ दुविहं ।
इच्छइ संववहारो, दुविहो जं दीसए पायं ॥१५०६॥

यद्यस्माल्लोकव्यवहारपरोऽनेकगमश्च नैगमनयः, ततस्तस्मा-न्निर्देश्यवशान्निर्देशकवशाच्च द्विविधमपि निर्देशमिच्छति । लोक–व्यवहारश्च प्रायो द्विधा दृश्यते ॥१५०६॥

कथम्? इत्याह–

छज्जीवणियाऽऽयारो, निद्दिट्ठवसेण तह सुयं चऽण्णं ।
तं चेव य जिणवयणं, सव्वं निद्देसयवसेणं ॥१५०७॥
जह वा निद्दिट्ठवसा, वासवदत्तातरंगवइयाइं ।
तह निद्देसगवसओ, लोए मणुरक्खवाउ त्ति ॥१५०८॥

लोको द्विधा–अर्हद्दर्शनानुगतो लोकोत्तररूपः, तद्व्यतिरिक्तश्च । तत्र लोकोत्तरे निर्दिष्टार्थवशान्निर्देशो यथा–षट्जीवनिका नामाध्ययनम्, आचारः, आवश्यकमित्यादि । (तह सुयं च ण्णं, तं चेव येत्यादि) तथा अत्रैव लोकोत्तरे तदन्यच्च श्रुतं निर्देशकवशात्सर्वमपि जिनप्रवचनमुच्यते । तथा–अन्यत्किमपि श्रुतं निर्देशकवशादेवोच्यते । तथा–भद्रबाहुनिमित्तं, नन्दसंहिता, कापिलीयमित्यादि । यथा वा–इतरलोके निर्दिष्टवशाद्वास-वदत्ता, तरङ्गवतीत्यादिनिर्देशः, निर्देशकवशात्तु मनुः, अक्षपाद इत्यादि ॥१५०७॥१५०८॥

तथा किम्? इत्याशङ्क्य प्रकृते योजयन्नाह–

तह निद्दिट्ठवसाओ, नपुंसगं नेगमस्स सामइयं ।
थीपुंनपुंसगं वा, तं चिय निद्देसयवसाओ ॥१५०९॥

यथा षट्जीवनिका, आचार इत्यादौ निर्दिष्टार्थवशान्निर्देशः, तथाऽत्रापि सावद्यविरमणलक्षणनिर्दिष्टनपुंसकार्थवशा–त्सामायिकम्, इति नपुंसकनिर्देशः, यथा वा मनुः, अक्षपादइ–

त्यादौ निर्देशकवशान्निर्देशः, तथाऽत्रापि योषित्पुरुषनपुंसकलक्षणत्रिविधनिर्देशकवशात् तदेव सामायिकं स्त्रीपुंनपुंसकं भवति। स्त्र्यादित्रिविधनिर्देशकवशाद् नन्दसंहितामनुकापिलीयाऽऽदिवत् त्रिष्वपि लिङ्गेषु सामायिकस्य निर्देशप्रवृत्तिः, यथा–'सामायिकं स्त्री' इत्यादि ॥१५०९॥

अथ प्रकारान्तरेणाऽपि लोकव्यवहारोपदर्शनेन प्रकृतं समर्थयन्नाह–

जह वा घडाभिहाणं, घडसद्दो देवदत्तसद्दो त्ति।
उभयमविरुद्धमेवं, सामइयं नेगमनयस्स ॥१५१०॥

इयं च गाथा–यथा वा देवदत्ताऽऽदिना घटाऽऽदिशब्दे समुच्चारिते इत्यादिना व्याख्यातैवेति ॥१५१०॥

''निद्दिट्ठं संगहो य ववहारो''(१५०५) इत्येतद्व्याख्यातुमाह–

अत्थाउ च्चिय वयणं, लहइ सरूवं जओ पईवो व्व।
तो संगहववहारा, भणंति निद्दिट्ठवसगं तं ॥१५११॥

यतो यस्मादर्थादेव वाच्याद् घटाऽऽदेः सकाशाद्वाचकं वचनं स्वरूपमात्मलाभं लभते, नान्यथा, यथा प्रदीपः। प्रदीपो हि प्रकाश्यमेवार्थं प्रकाशयन् प्रदीपो भण्यते, यदि तु प्रकाश्यं वस्तु न स्यात् तदा किमपेक्षोऽसौ प्रदीपः स्यात्? तस्माद्यथा प्रकाश्यादेवार्थात्प्रदीप आत्मलाभं लभते, तथा वाच्यादेवार्थाद् वचनमात्मस्वरूपमाप्नोति। ततस्तस्मात्संग्रहव्यवहारनयौ निर्दिश्यते इति निर्दिष्टं वाच्यं वस्तु तद्वशगतं तदधीनमेव तद्वचनं भणतो ब्रूतः। वाच्यं चेह सामायिकशब्दस्य सावद्यविरतिरूपः,तदभिधेयोऽर्थः। स च रूढितो नपुंसकतया प्रसिद्ध इति। अतः सामायिकस्य नपुंसकलिङ्गतामेव संग्रहव्यवहारावभ्युपगच्छतः। अथवा सामायिकवतां सत्त्वानां स्त्रीपुंनपुंसकत्वात् तत्परिणामानन्यत्वेन च सामायिकार्थस्य स्त्र्यादिरूपत्वाद्वाच्यवशेन त्रिलिङ्गताऽपिसामायिकस्य संग्रहव्यवहारनयमतेन द्रष्टव्येति ॥१५११॥

प्रकारान्तरेणाऽपि निर्दिष्टवशान्निर्देशं समर्थयन्नाह–

अहवा निद्दिट्ठत्थ–स्स पज्जओ चेव तं सघम्म व्व।
तप्पच्चयकारणओ, घडस्स रूवाइ धम्म व्व ॥१५१२॥

अथवा तद्वचनं निर्दिष्टार्थस्य वाच्यवस्तुनः पर्याय एव, प्रत्ययकारणत्वात्–वाच्यार्थप्रतीतिहेतुत्वात्, यथा तस्यैव निर्दशस्य घटाऽऽदेरन्ये संस्थानाऽऽदयो धर्म्माः। इह यद्यस्य प्रत्ययकारणं तत्तस्य स्वपर्यायः, यथा घटस्य रूपाऽऽदयः, वचनं च वाच्यार्थस्य प्रत्ययकारणम्, अतस्तत्पर्यायः, पर्यायश्च पर्यायिणोऽधीन एवेति युक्तो निर्देश्यवशान्निर्देश इति ॥१५१२॥

स्यादेतदसिद्धोऽयं हेतुः, एतत्प्रत्ययकारणत्वाद्वच–

नस्य,इत्येतन्निराकरणार्थमाह–

वयणं विन्नाणफलं, जइ तं भणिए वि नत्थि किं तेणं?
अन्नत्थ पच्चए वा, सव्वत्थ वि पच्चओ पत्तो ॥१५१३॥
अभिवेयसंकरो वा, वत्तरि पच्चओऽणभिहिए वि।
तम्हा निद्दिट्ठवसा, नपुंसगं वेंति सामइयं ॥१५१४॥

अर्थविज्ञानफलं हि वचनं,यदि भणितेऽप्युदीरितेऽपि वचने (तं ति) *तदर्थविज्ञानं, नास्ति न भवति, तर्हि कण्ठौष्ठशोषमात्रविधायिना किं* तेनोक्तेन, निष्फलत्वात्? स्यादेतद्वाच्यादर्थादन्यत्र वक्तृलक्षणेऽर्थे विज्ञानं जनयिष्यति वचनम्, ततश्च विज्ञानफलं च तद्भविष्यति, वाच्येऽर्थे विज्ञानं च न जनयिष्यति, तथा च सति वाच्यार्थपर्यायो वचनं न भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह–(सव्वत्थे–त्यादि) यदि हि वाच्यमर्थं विहाय वक्तृलक्षणेऽर्थान्तरे प्रत्ययं वचनं जनयेत्तर्ह्यविशेषेणैव सर्वत्राऽर्थे प्रत्ययः प्राप्तः, न वा क्वचिदप्यर्थेऽसौ भवेत्, अविशेषादिति–अतत्पर्यायत्वेऽपि तत्प्रत्ययहेतुत्वे सर्वत्राऽसौ भवेत्, नवा क्वचिद्भवेदिति भावः। स्यादेतद्वचनाद्वक्तरि प्रत्ययो भवत्येव, यथाऽनेनेदमभिहितमिति, तत्किमुच्यते–''जइ तं भणिए वि नत्थि किं तेणं?'' इति। इत्याशङ्क्याऽऽह–''अभिधेयसंकरो वेत्यादि।'' अथ वा वाच्यादर्थादन्यत्र प्रत्ययेऽभ्युपगम्यमाने सर्वत्राऽपि प्रत्ययो न भवेदित्येको दोष उक्तः। अथ दोषान्तरमभिधित्सुराह–(अभिधेयसंकरो वेत्यादि) यदि हि वक्तर्यनभिहितेऽपि वचनात्तत्र प्रत्ययोऽभ्युपगम्यते, हन्त ! तर्हि वक्तृवदनभिहितानि खरोष्ट्रदेङ्कवकाऽऽदीनि बहूनि वस्तूनि सन्ति, ततो वक्तृवत्तेषामपि श्रोतुः प्रत्यये सत्यभिधेयानां सर्वेषाम्, अभिधेयेन वा घटाऽऽदिना सह वक्त्रादीनाममन्येषां सङ्करः, एकस्यां श्रोतृप्रतीतौ साङ्कर्यं युगपत्तदाकारसंक्रमणं प्राप्नोति, न चैतदस्ति, एकस्माद्वचनादेकस्यैव प्रतिनियतस्य घटाऽऽद्याकारस्य संवेदनादिति। तस्मादभिधेयपर्याय एव वचनम्, तत्प्रत्ययकारणत्वात्। अतो निर्दिष्टमाह सामायिकशब्दस्यार्थरूपं सामायिकं रूढितो नपुंसकम्, तद्वशात्सामायिकशब्दः संग्रहव्यवहारयोर्नपुंसकलिङ्गवृत्ति। अथवा–सामायिकवतः स्त्रीपुंनपुंसकत्वात्, तत्परिणामानन्यत्वाच्च सामायिकार्थस्य त्रिलिङ्गतामपि संग्रहव्यवहारावभ्यपगच्छतः। ततो निर्दिष्टस्य सामायिकार्थस्य त्रिलिङ्गत्वान्निर्देश्यवशादपि सङ्ग्रहव्यवहारमतेन सामायिकस्य त्रिलिङ्गताऽपि भवति; यथा–'सामायिकं स्त्री' इत्यादि। एतच्च स्वयमेव द्रष्टव्यम् ॥१५१३॥१५१४॥

'निद्देसगमुज्जुसुओ'(१५०५) इति व्याचिख्यासुराह–

उज्जुसुओ निद्देसग–वसेण सामाइयं विणिद्दिसइ।
वयणं वत्तुरहीणं, तप्पज्जाओ य तं जम्हा ॥१५१५॥

ऋजुसूत्रनयो निर्देशकवशेनाभिधातृपारतन्त्र्येण सामायिकं निर्दिशति, यदेव निर्देशकस्य लिङ्गं ,त देव सामायिकस्यासौ मन्यते, यथा–'सामायिकं स्त्री' इत्यादि, वचनस्य वक्त्रधीनत्वात्, तत्पर्यायत्वाच्च, विज्ञानवदिति।

अथ वचनस्य वक्त्रधीनत्वे युक्तिमाह–

करणत्तणओ मण इव, सपज्जयाओ घडाऽऽइरूवमिव।
साहीणत्तणओ वि य, सघणं व वओ वयंतस्स ॥१५१६॥

वदत एव संबन्धिवचः, इति पर्यन्ते प्रतिज्ञा। अत्र सदृष्टान्तान् हेतूनाह– करणत्वात्, मनोवत्; तथा–स्वपर्यायत्वात्, घटाऽऽदे रूपाऽऽदिवत्; तथा–स्वाधीनत्वात्, स्वधनवदिति ॥१५१६॥

युक्त्यन्तरमाह–

तह सुत्तदुरुत्ताओ, तस्सेवाणुग्गहोवघायाओ।
तस्स तयमिंदियं पि व, इहरा अकयाऽऽगमो होज्जा ॥१५१७॥

तस्यैव वक्तुस्तद्वच इति पक्षः, वचनस्य सूक्तत्वदुरुक्तत्वाभ्यां वक्तुरेवानुग्रहोपघातदर्शनात्। इह यस्य यन्निमित्तावनु–

ग्रहोपघातौ तस्य तदात्मीयम्, यथा देवदत्ताऽऽदेरिन्द्रियम्, दृश्येते वचनसूक्तत्वदुरुक्तत्वाभ्यां वक्तुरनुग्रहोपघातौ, तस्मात्तत्तस्याऽऽत्मीयम्। विपर्यये बाधकमाह–इतरथा अन्यथा वचनस्य वक्तुरसंबन्धित्वे तस्याऽनुग्रहोपघातयोरकृताभ्यागम एव स्यादिति ॥१५१७॥

अत्र परः प्राऽऽह–

निद्दिट्ठस्स वि कस्सचि, णणूवघायाइओ तयं जुत्तं।
ते तस्स सकारणओ, इहरा थाणुस्स वि हवेज्जा ॥१५१८॥

ननु न केवलं निर्देशकस्य, किं तु निर्दिष्टस्याप्यभिधेयस्यापि कस्यचित् तस्कराऽऽदेर्वचनादुपघाताऽऽदयो दृश्यन्ते, यथा–'वध्यतां, हन्यतां चायं तस्करः,' मुच्यतां चायमित्याद्युक्ते तस्य विषादाऽऽद्युत्पत्तेरुपघाताऽऽदयोऽध्यक्षत एवोपलभ्यन्ते। अतस्तद्दर्शनान्निर्दिष्टस्याऽपि संबन्धि तद्वचनं वक्तुं युज्यते। अत्रोत्तरमाह–(ते इत्यादि) ये इष्टाऽनिष्टवचनश्रवणात्तस्कराऽऽदेः निर्दिष्टस्यानुग्रहाऽऽदयो दृश्यन्ते, ते तस्य स्वकीयश्रवणेन्द्रियमनः पुण्यपापाऽऽदिकात्कारणादेव मन्तव्याः, न त्विष्टानिष्टवचनोक्तिमात्राद्, अन्यथा श्रोत्राऽऽदिकरणविकलानां स्थाण्वादीनामपि तदुक्तिमात्रात्ते भवेयुरिति ॥१५१८॥

वक्तृधर्मत्वमेव वचनस्य हेत्वन्तरोक्तेः समर्थयन्नाह–

सरनामोदयजणियं, वयणं देहो व्व वत्थुपज्जाओ।
तं नाभिधेयधम्मो, जुत्तमभावाभिहाणाओ ॥१५१९॥

'वक्तृपर्यायो वचनम्' इति प्रतिज्ञा, स्वररूपनामकर्म्मोदयजन्यत्वात्, इह यन्नामकर्मोदयजन्यं तत्तस्यैव वक्तुर्देवदत्ताऽऽदेः पर्यायः, यथा तस्यैव देहः, नामकर्मोदयजन्यं च वचनं, तस्मात्तस्यैव वक्तुः पर्यायः। तत्तस्मान्न वचनमभिधेयधर्मो युक्तम्, किं त्वभिधातुरेव। उपचयमाह–अभावस्यापि वचनेनाभिधानात्। इदमुक्तं भवति–अभावोऽपि हि वचनेनाभिधीयते, न च वचनं तद्धर्म्म इति वक्तुं शक्यते, अभावस्यासत्त्वात्, यदि च वचनं तद्धर्म्मः स्यात्, तदा सोऽपि भावः स्याद्, वचनाऽऽश्रयत्वात्, देवदत्ताऽऽदिवदिति ॥१५१९॥

यस्यापि च घटाऽऽदिशब्दाभिधेयस्य घटाऽऽदेर्भविस्य वचनं, तत्प्रत्ययकारणत्वाद्धर्म्मत्वेनाभ्युपगम्यते, तत्रापि पृच्छ्यते। किम्? इत्याह–

भावम्मि वि संबद्धं, तमसंबद्धं व तं पगासेज्जा।
जइ संबद्धं तिहुयण–वावि त्ति तयं पगासेउ ॥१५२०॥

भावेऽपि घटाऽऽदिके वचनाभिधेये पृच्छामो भवन्तम्–तद्वचनं तत्र भावे किं संबद्धं सत्तं भावं प्रकाशयति, आहोस्विदसंबद्धम्? इति। यदि संबद्धं, तर्हि ''चउहिं समएहिं लोगो, भासाए निरंतरं तु होइ फुडो।'' (३७६) इत्यादिवचनात् त्रिभुवनव्यापित्वात्तद्वतं समस्तमपि पदार्थजातं प्रकाशयतु, संबद्धत्वाविशेषादिति ॥१५२०॥

अथासंबद्धं प्रकाशयति, तत्राऽऽह–

निव्विण्णाणत्तणओ, नासंबद्धं तयं पईवो व्व।
भासयइ असंबद्धं, अह तो सव्वं पगासेउ ॥१५२१॥

नासंबद्धं तत्पदार्थान् प्रभासयति। कुतः? इत्याह–निर्विज्ञा–नत्वात्, विज्ञानादन्यत्वे सत्यसंबन्धत्वादिति भावः। अयं च हेतुः। प्रदीपवदिति दृष्टान्तः। विज्ञानमसंबद्धमपि वस्तु प्रकाशयति, न च वचनं विज्ञानरूपम्, अतो नासंबद्धमर्थं प्रकाशयति, प्रदीपवद्। अथासंबद्धमपि तद्वस्तु प्रकाशयति, तर्हि सर्वमपि प्रकाशस्तु, असंबद्धत्वाविशेषात्। तस्माद्वाच्यप्रत्ययकारणत्वेन तद्धर्म्मो वचनमिति ॥१५२१॥

आह–ननूक्तं वचनमर्थादात्मलाभं लभते, प्रदीपवद्, अतः कथमिदं वक्तुरेवेष्यते? इत्याह–

जइ वि वयणिज्ज वत्ता, बज्झऽब्भंतरनिमित्तसामण्णं।
वत्ता तह वि पहाणो, निमित्तमब्भंतरं जं सो ॥१५२२॥

इह यद्यपि वचनीयं वक्ता च यथासंख्यं बाह्यमभ्यन्तरं च वचनस्य सामान्यं निमित्तं कारणम्, तथाऽपि वक्ता प्रधानः। कुतः? इत्याह–यद्यस्मादन्तरङ्गं प्रत्यासन्नं निमित्तमसौ। तस्माद्वचनस्य, वक्त्रधीनत्वात्, यदेव वक्तुर्लिङ्गं तदेव सामायिकस्य ऋजुसूत्रनयमतेन लिङ्गमिति *स्थितम् ॥१५२२॥*

''उभयसरिच्छं च सद्दस्स।'' (१५०५) इत्येतद्व्याचिख्यासुराह–

सद्दो समाणलिंगं, निद्देसं भणइ विसरिसमवत्थुं।
उवउत्तो निद्दिट्ठा, निद्दिस्साओ जओऽणण्णो ॥१५२३॥

शब्दप्रधानो नयः शब्दो निर्देशं वचनमिच्छति किंविशिष्टम्? इत्याह–समानलिङ्गं निर्देश्यनिर्देशकयोस्तुल्यमेव लिङ्गमसाविच्छतीत्यर्थः। विसदृशं त्वसमानलिङ्गं निर्देशमघटमानकत्वादवस्तुत्वेनैव मन्यते। कुतः? इत्याह–उपयुक्तः निर्देश्येऽर्थेऽर्पितान्तःकरणो निर्देष्टा यद् यस्मान्निर्देश्यादनन्योऽभिन्नः। इदमुक्तं भवति–वक्तुस्त्रिलिङ्गवतोऽपि पुंसमभिदधतः पुंनिर्देश एव, स्त्रियं प्रतिपादयतः स्त्रीनिर्देश एव, नपुंसकं निर्दिशतो नपुंसकनिर्देश एव, वाच्ये उपयुक्तस्य वक्तुर्वाच्यत्वादभिन्नत्वादिति ॥१५२३॥

तथा चाऽऽह–

थीं निद्दिसइ जइ पुमं, थी चेव तओ जओ तदुवउत्तो।
थीविण्णाणाणन्नो, निद्दिट्ठसमाणलिंगो त्ति ॥१५२४॥

स्त्र्यादेः समानलिङ्गं स्त्र्यादिकं निर्दिशतः स्त्र्यादिनिर्देश इति तावत्किल प्रतीतमेव। यद्यपि च पुमान् कर्ता स्त्रियं कर्मताऽऽपन्नां निर्दिशति। यथा–वासवदत्ते! इदमित्थं विधेहीति, तदपि तकोऽसौ निर्देष्टा पुरुषः स्त्रेय भवति। कुतः? इत्याह–यतो यस्मात्तदुपयुक्तः स्त्र्युपयुक्तः स्त्रीविज्ञानाद्वासवदत्ताऽध्यवसायादनन्योऽभिन्नः सन्निर्दिष्टया स्त्रिया समानलिङ्गः पुरुषो भवति। ततश्च यदा पुरुषो नपुंसकमभिधत्ते, तदाऽपि निर्दिष्टसमानलिङ्गत्वान्नपुंसकमेवाऽसौ। एवं स्त्रियां नपुंसके च निर्देष्टरि निर्दिष्टसमानलिङ्गता योजनीयेति ॥१५२४॥

ननु कथं स्त्रीविज्ञानादनन्यः स पुरुषोऽपि स्त्रेय भवति, न पुरुषोऽपि स्यात्? इत्याह–

जइ स पुडं तो नत्थी, अह थी न पुमं न वा तदुवउत्तो।
जो थीविण्णाणमओ, नो थी सो सव्वहा नत्थि ॥१५२५॥

यदि स निर्देष्टा पुमान्, ततो न स्त्रीन खल्वसौ स्त्र्युपयोगवानित्यर्थः। अथासौ स्त्र्युपयोगोपयुक्तत्वात् स्त्रीत्यभ्युपगम्यते, तर्हि न पुमान्न पुंस्त्वेनायमेष्टव्यः, किं तु स्त्र्युपयोगोपयुक्तत्वात् स्त्रेयवासौ मन्तव्य इत्यर्थः। अथ नैवं, तर्हि न वा न खल्वसौ, त–

दुपयुक्तः स्त्र्युपयुक्तः, तदुपयुक्तस्य सर्वथैव पुंस्त्वविरोधात्। किं बहुना? यः स्त्रीविज्ञानमयः स्त्र्युपयोगोपयुक्तोऽपि न स्त्री, किं तु पुमान्नपुंसकं वा, स एवम्भूतः पदार्थः सर्वथा नास्तिअसन्नेव, खरविषाणवदिति ॥१५२५॥

अर्थानुपयुक्तः स्त्रियं भाषमाणोऽपि पुरुषो भविष्यति, इत्याश–ङ्क्याऽऽह–

भासइ वाऽणुवउत्तो, जइ अन्नाणी तओ न तव्वयणं।
निद्देसो जेण मयं, निच्छियदेसो त्ति निद्देसो ॥१५२६॥

यदि वा उच्यते भवता–अनुपयुक्तोऽसौ पुरुषः स्त्रियं भाषतेऽतो न स्त्रीरूपतां प्रतिपद्यते। तदयुक्तम्, यत एवं सति तकोऽसावनुपयुक्तभाषकोऽज्ञानी, उपयोगशून्यत्वात्, घटाऽऽदिवत्, ततश्च न तद्वचनं निर्देशः, उपयोगपूर्वकत्वाभावात्, उन्मत्ताऽऽदिवचनवत्। कुतः? इत्याह–येनैतन्मतं सम्मतं विपश्चिताम्। किम्? इत्याह–उपयोगपूर्वकतया निश्चित्य देशनं भाषणं देशो निर्देशः। अथवा–निश्चितो देशो भाषणं यत्रासौ निर्देशो भण्यते। न च निरुपयोगभाषणकस्यैवं सम्भवतीति ॥१५२६॥

एतदेव भावयति–

सो जइ नाणुवउत्तो–ऽणुवउत्तो वा न नाम निद्देसो।
निद्देसोऽणुवउत्तो, य वेइ सद्दो न तं वत्थुं ॥१५२७॥

हन्त! स यदि निश्चितदेशो निर्देशोऽभ्युपगम्यते, तर्हि तद्वान् देवदत्ताऽऽदिर्नाऽनुपयुक्तो युज्यते। अथानुपयुक्तोऽसौ, तर्हि न तस्य निर्देशः, निश्चितज्ञानपूर्वकत्वात्तस्य। किं बहुना? निर्देशः, अनुपयुक्तश्च तद्वानित्येवंभूतं यन्मतं तच्छब्दनयोऽवस्त्वेव ब्रूते, विरुद्धत्वात्, अचेतन आत्मा, अश्रावणः शब्दः, इत्यादिवदिति ॥१५२७॥

अथोपसंहरन्नाह–

तम्हा जं जं निद्दि–स्सइ तदुवउतो स तम्मओ होइ।
वत्ता वयणिज्जाओ, अणण्णो त्ति समाणलिंगो सो ॥१५२८॥

तस्मादेतच्छब्दनयमतस्य तात्पर्यं, यः पुरुषाऽऽदिर्वक्ता यं यं स्त्र्यादिकमर्थं तदुपयुक्तः स्त्र्याद्युपयुक्तो निर्दिशति वक्ति, स तन्मयो वाच्यार्थाऽऽत्मको भवति। कुतः? इत्याह–वक्ता वाच्योपयुक्तो वचनीयादनन्य एव भवतीति कृत्वा। ततो वक्तृवचनीयसमानलिङ्गोऽयमस्य निर्देश इति स्थितम् ॥१५२८॥

प्रकृतमुपदर्शयन्नाह–

सामाइओवउत्तो, जीवो सामाइयं सयं चेव।
निद्दिसइ जओ सव्वो, समाणलिंगो स तेणेव ॥१५२९॥

इह प्रस्तुते सामायिके निर्देश्य उपयुक्तो निर्देष्टा जीवः सामायिकमेव, भवतीति शेषः ततश्चाऽसौ सामायिकं निर्दिशन् स्वकमेवाऽऽत्मानमेव निर्दिशति। कुतः? इत्याह–यतो यस्मात्स्त्रीपुंनपुंसकरूपः सर्वोऽप्यसौ निर्देष्टा तदुपयुक्तत्वात् तेनैव निर्देश्येन सामायिकेन समानलिङ्गो भवति, सामायिकार्थस्य रूढितो नपुंसकत्वात्, स्त्रियाः, पुंसो नपुंसकस्य वा सामायिकमभिदधानस्य नपुंसकलिङ्ग निर्देश एव भवतीति। आह–यदि पुनर्भावस्य द्वैविध्यान्निर्देश्यनिर्देशकोभयवशतोऽपि निर्देशः स्यात् तर्हि को दोषः? तथाहि–द्विविधो भावोऽर्थस्य विज्ञानं, परिणतिश्च, भावाभिधायिनश्च शुद्धनयाः। तत्र यदा पुमानुपयुक्तः सामायिकं नपुंसकमाह, तदा वक्तुर्नपुंसकविज्ञानानन्यत्वान्नपुंसकनिर्देशोऽस्तु, निर्देष्टुश्च मुखरोमाऽऽदिरूपपुरुष परिणतिमयत्वात् पुंनिर्देशोऽपि भवत्विति। अत्रोच्यते–भावस्य द्वैविध्ये सत्यपि वस्तुनो विज्ञानमेवेहोपयोगरूपमधिक्रियते, न पुनस्तत्परिणतिः, विज्ञानरूपस्यैदेह निर्देशस्याभिप्रेतत्वात्। आह–ननु शब्दोऽपि पुद्गलद्रव्यरूपो, निर्दिश्यत इति कृत्वा निर्देश एवोच्यते, तत्किमिति तदुपयोगरूप एव निर्देशोऽधिक्रियते। नैतदेवं, शब्दस्य द्रव्यमात्रत्वात्, ज्ञानलक्षणभावग्राहिणश्च शब्दनयाः। अत एव पुरुषपरिणतेः सत्यपि भावत्वे न तस्या इह ग्रहणम्, किं तु विज्ञानरूप एवात्र निर्देशो गृह्यते। तत्रैतत्स्यात्, शब्दप्रधान एव हि शब्दनयः, तत्कथमिह शब्दरूपो निर्देशो नेष्यते? तदयुक्तम्, भावार्थापरिज्ञानात्। शब्दनयो हि शब्दादेवार्थज्ञानमभ्युपगच्छति, तद्भावभावित्वात्तस्य। एवं च सति शब्दस्य ज्ञानकारणत्वात्, कारणस्य च द्रव्यत्वात्, द्रव्यस्य च भावशून्यत्वात्, शब्दनयस्य च भावग्राहित्वाद् न शब्दमात्रप्रधानता युक्तेति। अत्रापरस्त्वाह–ननु यद्युपयुक्तो वक्ता यमर्थमाह, तद्वशान्निर्देश इष्यते, ततो निर्देश्यवशान्निर्देश इति प्राप्तम्, एवं च सति संग्रहव्यवहारयोः शब्दनयस्य च को विशेषः? अत्रोच्यते–संग्रहव्यवहारयोरुपयुक्तस्यानुपयुक्तस्य वा वक्तुरात्मनिरपेक्षोऽभिधेयमात्रवशाच्छब्दमात्रमेव निर्देशः, इह तु बाह्यवस्तुप्रत्ययमात्रमुररीकृत्य य उपयोगस्तस्मादनन्यत्वादभिधातुर्जीवस्योपयोगरूपं स्वरूपमेव निर्देशोऽङ्गीक्रियते। आह–यद्येवम्, ऋजुसूत्रादस्य को विशेषः, तस्याऽपि हि निर्देशकवशाद् निर्देशः, स एवेहाप्यापन्नः? अत्राप्युच्यते–ऋजुसूत्राभिप्रायेणाऽनुपयुक्तस्याऽपि वक्तुः शब्दमात्रं निर्देशः, अत्र तु वाच्योपयोग एव निर्देश इति विशेषः, इत्यलं प्रसङ्गेनेति ॥१५२९॥

तदेवं नयमतान्यभिधाय सम्यग्मिथ्याविभागमाह–

इह सव्वनयमयाइं, परित्तविसयाइँ समुदियाइं तु।
जइ णं वज्झऽब्भंतर–निद्देसनिमित्तसंगाही ॥१५३०॥

इत्येवमुक्तप्रकारेण सर्वाण्यपि नैगमाऽऽदिनयमतानि परीत्तविषयाण्यन्योन्यनिरपेक्षतया एकैकांशग्राहीणि, अतो मिथ्यारूपत्वात् तान्यप्रमाणमिति भावः। समुदितानि पुनस्तान्येवाऽन्योन्यसापेक्षतया संपूर्णवस्तुग्राहित्वाज्जैनं मतं भवति। कथम्भूतं जैनं मतम्? इत्याह–(बज्झेत्यादि) बाह्याऽऽभ्यन्तराणि निर्देशस्य वचनस्य शब्दस्य निमित्तानि संग्रहीतुमभ्युपगन्तुं शीलं यस्य तद् बाह्याऽऽभ्यन्तरनिर्देशनिमित्तसंग्राहि। तत्र बाह्यान्यभिधेयघटपटशकटाऽऽदीनि, आभ्यन्तराणि तु स्वरनामकर्मोदयतालवादिकरणप्रयत्नादीनि निर्देशस्य निमित्तानि द्रष्टव्यानि। समस्ततत्सामग्रीजन्यनिर्देशाभ्युपगमपरत्वेन सम्यग् रूपत्वाज्जैनं मतं प्रमाणमितीह भावार्थः। आह–बाह्यो घटाऽऽदिरर्थः शब्दस्य कथं निमित्तम्, संबन्धाभावात्? तदयुक्तं शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकसंबन्धस्य विद्यमानत्वात्। यद्यर्थस्य शब्दो वाचकः, तर्ह्यगृहीतसंकेतस्यापि म्लेच्छाऽऽदेरसावर्थं प्रतिपादयेदिति चेत्। नैवम्, कर्मक्षयोपशमसव्यपेक्षस्यैव तस्य तत्प्रतिपादकत्वात्, क्षयोपशमस्य च सङ्केताऽऽदिसापेक्षत्वात्। न हि प्रदीपः प्रकाशक इत्येतावन्मात्रेणैवान्धाऽऽदीनामप्यर्थं प्रकाशयति। ननु यदि क्षयोपशमापेक्षः शब्दोऽर्थं प्रकाशयति, तर्हि संकेतकरणेऽपि तदप्रकाशनप्रसङ्गः, न चैतदस्ति, गृहीतसङ्केतानामविगानेनार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्, ततः किमन्तर्गडुकल्पक्षयोपशमकल्पनेन? तदयुक्तम्, तथाहि–केषा–

ञ्चिज्जडमतीनां शास्त्रव्याख्यानाऽऽदौ विषमपदवाक्येषु विशिष्टक्षयोपशमाभावात्संकेतोऽपि कर्तुं न शक्यते, अन्ये तु तत्करणेऽपि नार्थं प्रतिपद्यन्ते । यदपि केषाञ्चिदपूर्वम्लेच्छभाषाऽऽदिश्रवणेऽकृतसंकेतानामपि झगित्येव कथमप्यर्थप्रतिपत्तिर्दृश्यते, तत्रापि क्षयोपशमस्यैवातिपटुत्वं हेतुः । तस्मात्कर्मक्षयोपशमाऽऽदिसामग्रीसव्यपेक्षः शब्दो वाचकः,अर्थस्तु वाच्यः, इति शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकभावलक्षणः संबन्ध इति । तदेवं व्याख्याता ''दुविहं पि नेगमनओ ।'' (१५०५) इत्यादि गाथा, तद्व्याख्याने च व्याख्यातमुद्घातनिर्युक्तिद्वारगाथाद्वयस्य द्वितीयं द्वारम् ॥१५३०॥ विशे० आ०म०। निर्देशनं निर्देशः । कर्माऽऽदिकारकशक्तिभिरनधिकस्य लिङ्गार्थमात्रस्य प्रतिपादने, ''निद्देसे पढमा होइ ।'' निर्देशे प्रथमा विभक्तिर्भवति। यथा–स वा अयं वाऽऽस्ते, अहं वा आसे। स्था० ८ ठा०। अनु०। प्रश्निते कार्ये नियतार्थे, उत्तरे, भ०३ श०१ उ०। निर्देशो हि प्रथमतः कायप्रयोगेण भाषाद्रव्याण्यादाय पश्चाद्वाक्पर्याप्तिकरणप्रयोगतो विधीयते । ज्यो०१ पाहु०। हेतुदृष्टान्तोपदर्शनेन स्पष्टतरीकरणे, नं० उत्सर्गापवादाभ्यां प्रतिपादने, उत्त० १अ०।

णिद्देसदोस पुं०(निर्देशदोष) उचितनिर्देशाकरणरूपे सूत्रदोषे, अनु०। स च यत्र निर्दिष्टपदानामेकवाक्यता न क्रियते, यथेह देवदत्तः स्थाल्यामोदनं पचतीत्यभिधातव्ये पचतीति शब्दं नाभिधत्ते । अनु०। विशे०। निर्देशदोषो नाम यत्र वस्तुपर्यायवाचिनः पदार्थस्यार्थान्तरपरिकल्पनाऽऽश्रयणम् । यथा–द्रव्यपर्यायवाचिनां सत्ताऽऽदीनां द्रव्यादार्थान्तरपरिकल्पनमुलूकस्य। आ०म० १अ०२ खण्ड।

णिद्देसवत्ति(ण्) त्रि०(निर्देशवर्तिन्) आज्ञावर्तिनि, ''णिद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं।'' दश०९ अ०२उ०।

णिद्दोत्थ न०(निर्दौस्थ्य) निर्भये, व्य०४ उ०। स्वस्थे, व्य० ७ उ०।

णिद्दोस त्रि०(निर्दोष) निरवद्ये, पञ्चा० ७ विव०। ''अलियमुवघायजणियं।'' इत्यादिद्वात्रिंशत्सूत्रदोषरहिते, स्था०७ठा०। आ०म०। अनु०। हिंसाऽऽदिदोषरहिते, अनु०। समस्तोक्तानुक्तदोषविप्रमुक्ते, विशे०। दोषस्याभावे, व्य०१ उ०। अप्रायश्चित्ते, नि०चू०१उ०। (व्याख्या 'सुत्त' शब्दे वक्ष्यते)

णिद्ध पुं०(स्निग्ध) संयोगे सति संयोगिनां बन्धकारणे रसभेदे, ''एगे णिद्धे।'' स्था०१ ठा०। पुद्गलद्रव्याणां मिथः संयुज्यमानानां बन्धनिबन्धने तैलाऽऽदिस्थिते रसे, अनु०। कर्म०। आचा०। सस्नेहे, त्रि०। ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। आव०। स०। ''डाअं ओसढं रसियं मणुण्णं णिद्धं लुक्खं ।'' आचा०२ श्रु० १ चू०१अ०५ उ०। रात्रिभोजनाभ्यङ्गसूत्रयोर्यद् गृहाऽऽदिकं तैलवर्जितमद्रवं भवति तदेव स्निग्धमुच्यते । बृ०५ उ०। अरूक्षे, कल्प०२ क्षण । जीत०। औ०। प्रज्ञा०। जं०। कान्ते, प्रश्न०४ आश्र० द्वार । तं०। औ०। ''णिद्धतेया ।''स्निग्धं मनोहरं तेजो यासां ताः स्निग्धतेजसः । जी०३ प्रति०४ उ०। ''णिद्धपाणिलेहा ।'' वचनखण्डाऽपेक्षया स्निग्धा पाणौ रेखा यासां ताः । जी०३ प्रति०४ उ०। प्रश्न०। जी०।

णिद्धअ (देशी) अविभिन्नगृहे, दे०ना० ४ वर्ग ३८ गाथा।

णिद्धंत त्रि०(निर्ध्मात) नितरामग्निसंयोगेन यद् ध्मातं विशोधितम्। जी० ३ प्रति०४ उ०। औ०। दग्धमले, औ०। तं०। प्रश्न०।

णिद्धंधस पुं०(निर्धन्धस) प्रवचनोपघातनिरपेक्षे, आव०३ अ०। निर्दये, दे०ना०४ वर्ग ३७ गाथा।

णिद्धच्छवि स्त्री०(स्निग्धच्छवि) स्निग्धा च कान्तिमती छविस्त्वक्। कान्तत्वचि, ''सुवन्नवन्ने सुकुमारया य, णिद्धच्छवी।'' बृ०३ उ०।

णिद्धण त्रि०(निर्धन) **''सर्वत्र लवरामवन्द्रे''** ॥८।२।७९॥ इति रलोपः । **''द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः''** ॥८।२।९०॥ इति दकाराऽऽगमः प्रा०२ पाद। गोमहिष्यादिरहिते, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

णिद्धण्णय त्रि०(निर्धान्यक) धान्यकणविवर्जिते, तं०।

णिद्धफासणाम(ण्) न०(स्निग्धस्पर्शनामन्) स्पर्शनामभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं घृताऽऽदिवत् स्निग्धं भवति तत्। कर्म० १ कर्म०।

णिद्धमण न०(निर्धमन) क्षाले, जलनिर्गममार्गे , स्था०५ ठा० १ उ०। 'खाल' इति देशप्रसिद्धम । तं०। ''कुणालाए णिद्धमणमूले वसही वरिसायाले देवयाणुकंपेणं न वरिसइ ।'' आ० म०१ अ०२ खण्ड । ऋद्धिरससातगौरवैर्युक्तत्वेन मृत्वा यक्षत्वमुपागते आर्यमङ्ग्वाचार्ये, आव०४अ०। गृहजलप्रवाहे, दे०ना० ४ वर्ग ३९ गाथा (आर्यमङ्गुकथा 'अज्जमंगु' शब्दे प्रथमभागे २११ पृष्ठे गता)

णिद्धमाअ (देशी) अविभिन्नगृहे, दे०ना० ४ वर्ग ३८ गाथा।

णिद्धम्म त्रि०(निर्धर्म) निर्गतो धर्मात् श्रुतचारित्रलक्षणादिति निर्धर्मः। प्रश्न०१ आश्र० द्वार । धर्मादपक्रान्ते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अविभिन्नगृहे, दे०ना० ४ वर्ग ३८ गाथा।

***णिर्धर्मन्** त्रि०। निर्गतो धर्मो यस्य । असंयतीभूते, व्य० १० उ०। पार्श्वस्थाऽऽदिषु, नि०चू०१ उ०। एकमुखयायिनि, दे०ना० ४ वर्ग ३५ गाथा ।

णिद्धाडण न०(निर्घाटन) निष्कालने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

णिद्धारण न०(निर्धारण) निर् धृ–णिच्–ल्युट्। जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणे, यथा ''नराणां क्षत्रियः शूरः।'' इत्यादौ नररूपसमुदायात् क्षत्रियजातेरेकदेशस्य शूरत्वेन पृथक्करणम् वाच०। आचा०।

णिद्धुणे अव्य०(निर्द्धूय) प्रस्फोट्येत्यर्थे , ''अणिस्सिए सणिद्धुणे धुन्नमले।'' दश०७ अ०।

णिद्धूम त्रि०(निर्धूम) धूमरहिते, ''णिद्धूमगं च गामं,महिलाथूभं च सुन्नयं दट्ठुं।'' निर्धूमं ग्रामं दृष्ट्वा अतीव भिक्षाप्रस्ताव इति ज्ञायते। आ०म०१ अ०२ खण्ड।

णिद्धूमग पुं०(निर्धूमक) अपलक्षणभेदे, यत्प्रभावतो राज्यमनुशासति रन्धनीयमेव न भवति। व्य० ३ उ०।

णिद्धूय त्रि०(निर्धूत) अपनीते, रा०।

णिद्धूयजरढपंडुपत्त त्रि०(निर्द्धूतजरठपाण्डुपत्र) निर्द्धूतानि अपनीतानि जरठानि पाण्डुपत्राणि येभ्यस्ते निर्द्धूतजरठपाण्डु-पत्राः। जी०३ प्रति०४ उ०। अपगतपुराणपाण्डुपत्रेषु, औ०। ''णिद्धूयजरढपंडुपत्ता।'' निर्द्धूतान्यपनीतानि जरठानि पाण्डुपत्राणि येभ्यस्ते निर्द्धूतजरठपाण्डुपत्राः। किमुक्तं भवति?–यानि वृक्षस्थानि जरठानि पाण्डुपत्राणि वातेन निर्धूय निर्धूय भूमौ पतितानि भूमेरपि च प्रायो निर्धूय निर्धूयान्यत्रापसारितानीति। रा०। जी०।

णिद्धोभास त्रि०(स्निग्धावभास) स्निग्धत्वेनावभासमाने, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। रा०।

णिद्धोय त्रि०(निर्द्धौत) नितरामपुनर्भावेन धौते, ''वंदिय णिद्धो–यसव्वकम्ममलं।''(१) नितरामपुनर्भावेन धौतः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपःसलिलप्रभावेणापगमितः सर्व एव कर्मैवाष्टप्रकारं जीवमालिन्यहेतुत्वाद् मल इव मलो येन स निर्द्धौतसर्वकर्ममलः। कर्म०१ कर्म०।

णिधत्त न०(निधत्त) निधानंह निहितं वा निधत्तम्, भावे कर्मणि वा क्तप्रत्यये निपातनादुद्वर्त्तनापवर्तनवर्जितानां शेषकरणानामयोग्यत्वेन कर्मणोऽवस्थाने, पूर्वबद्धस्य कर्मणस्तप्तसंमीलितलोहशलाकासंबन्धसमाने करणे, ''चउव्विहे णिधत्ते पण्णत्ते। तं जहापगइणिधत्ते, ठिइणिधत्ते, अणुभागणिधत्ते, पएसणिधत्ते,'' स्था०४ ठा०२ उ०। विशिष्टानां परस्परतः पुद्गलानां निचयं कृत्वा धारणं रूढिशब्दत्वेन निधत्तमुच्यते। भ०१ श०१उ०। क०प्र०। पं०सं०।

णिधत्ति पुं०(निधत्ति) निधीयते उद्वर्त्तनाऽपवर्त्तनावर्जशेषकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते यया सा निधत्तिः। पृषोदराऽऽदित्वाच्छब्दरूपनिष्पत्तिः। पं०सं० ५ द्वार। निधत्ताऽऽख्यकरणे, नि०चू० १३ उ०। (विस्तरेण 'णिकायणा' शब्दे २०२० पृष्ठे प्रसङ्गान्निधत्तिरुक्ता)

णिधूय अव्य०(निर्धूय) अपनीयेत्यर्थे, ''णिधूय कम्मं ण पचं चुवेइ।'' सूत्र०१ श्रु० ७ अ०।

णिन्दित्तए अव्य०(निन्दितुम्) निन्दितुमतिचारान् स्वसमक्षंजुगुप्सितुमित्यर्थे, स्था०२ ठा०१ उ०।

णिन्दू स्त्री०(निन्दू) मृतप्रजायां स्त्रियाम्, निन्दू महेला यद् यदपत्यं प्रसूयते तत्तन्म्रियते, एवं य आचार्यो यं यं प्रव्राजयति स स म्रियते अपगच्छति वा, ततः स निन्दूरिव निन्दूः। व्य० ३ उ०।

णिपडिसाडि(ण्) त्रि०(निष्परिशाटिन्) परिशाटिरहिते, ''णिप्पडिसडिमभुज्जंतगायकयभूमिकम्मंता।'' बृ०२ उ०।

णिपतंत त्रि०(निपतत्) नीचैः पतति, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

णिपरिग्गहरुइ पुं०(निष्परिग्रहरुचि) निर्गता परिग्रहरुचिर्यस्य सः। परिग्रहविरते, प्रश्न०५ संव० द्वार।

णिपातिणी स्त्री०(निपातिनी) अभिमुखपातिन्याम्, ''सिलाहिँ हम्मंति णिपातिणीहिं।'' सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

णिपीय त्रि०(निपीत) नितरामास्वादिते, स्था०।

विपश्चितां नाथ! निपीततत्त्व–सुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम्। (२५)

हे विपश्चितां नाथ! संख्यावतां मुख्य! इयमनन्तरोक्ता, निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परा, तवेति प्रकरणात्सामर्थ्याद्वा गम्यते। तत्त्वं यथाऽवस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदः, तदेव जरामरणापहारित्वाद्विबुधोपभोग्यत्वान्मिथ्यात्वविषोर्मिनिराकरिष्णुत्वादान्तराऽऽह्लादकारित्वाच्च सुधा पीयूषं तत्त्वसुधा। नितरामनन्यसामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा, तस्या उद्गता प्रादुर्भूता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा, उद्गारश्रेणिरित्यर्थः। यथाहि–कश्चिदाकण्ठं पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्गारपरम्परां मुञ्चति, तथा भगवानपि जरामरणापहारितत्त्वामृतं स्वै–रमास्वाद्यतद्रसानुविधायिनीं प्रस्तुतानेकान्तवादभेदचतुष्टयीलक्षणामुद्गारपरम्परां देशनां मुखेनोद्गीर्णवानित्याशयः। अथवा–यैरेकान्तवादिभिः मिथ्यात्वगरलभोजनमातृप्तिं भक्षितं, तेषां तत्तद्वचनरूपा उद्गारप्रकाराः प्राक् प्रदर्शिताः। यैस्तु पचेलिमप्राचीनपुण्यप्राग्भारानुगृहीतैर्जगद्गुरुवदनेन्दुनिस्यन्दि तत्त्वामृतं मनोहत्य पीतं तेषां विपश्चितां यथार्थवादविदुषां हे नाथ! इयं पूर्वहदलदर्शितोल्लेखशेखरा उद्गारपरम्परेति व्याख्येयम्। स्था० २५ श्लोक।

***निपीय** अव्य०। नितरामास्वाद्येत्यर्थ, वाच०।

णिप्पएस पुं०(निष्प्रदेश) परमाणौ, विशे०।

णिप्पंक त्रि०(निष्पङ्क) आर्द्रमलरहिते, औ०। कर्दमविशेष रहिते, कलङ्कविकले च। स०। प्रज्ञा०। आ०म०। जी०। स्था०। रा०। जं०। ''णिरया णिम्मला णिप्पंका।'' प्रज्ञा०२ पद।

णिप्पंदं त्रि०(निष्पन्द) किञ्चिच्चलनेनापि रहिते, उपा० ७ अ०।

णिप्पकंप त्रि०(निष्प्रकम्प) स्वरूपतोऽपीषद् व्यभिचारलक्षणकम्पाभावात्(स० २ अङ्ग) अतीव निश्चले, आव० ४ अ०।

णिप्पच्चक्खाणपोसहोववास त्रि०(निष्प्रत्याख्यानपौषधोपवास) प्रत्याख्यानपरिणामपर्वदिवसोपवासपरिणामाभावात् (रा०) अविद्यमानपौरुष्यादिप्रत्याख्याने, असत्पर्वदिनोपवासे, दशा०६ अ०। असत्पौरुष्यादिनियमे, अविद्यमानाष्टम्यादिपर्वोपवासे, भ०७ श० ६ उ०। स्था०।

णिप्पच्चवाय त्रि०(निष्प्रत्यवाय) प्रत्यवाय(मार्गापद्रव)रहिते, ''अणक्कंते ण णिप्पच्चवाएण गंतव्वं।'' नि०चू० १उ०।

णिप्पट्ठ (देशी) अधिके, दे०ना० ४ वर्ग ३१ गाथा।

णिप्पट्ठपसिणवागरण त्रि०(निःस्पृष्टप्रश्नव्याकरण) निर्गतानि स्पृष्टानि प्रश्नव्याकरणानि यस्य स तथा। निरुत्तरीकृते, भ० १५ श०।

***निःस्पष्टप्रश्नव्याकरण** त्रि०। निरस्तानि स्पष्टानि व्यक्तानि (वागरणानि) प्रश्नव्याकरणानि यस्य स निःस्पष्टप्रश्नव्याकरणः। निरुत्तरीकृते, ''अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य वागरणेहि य कारणेहि य णिप्पट्ठपसिणवागरणं करेह।'' भ० १५ श०।

णिप्पडिकम्मया स्त्री०(निष्प्रतिकर्मता) शरीरस्य प्रतिकर्माऽकरणे, आ०क०।

निष्प्रतिकर्मद्वारे वैधर्म्योदाहरणगाथामाह–

पइट्ठाणे नागवसू, नागसिरी नागदत्त पव्वज्जा।
एगविहारुट्ठाणे, देवय साहू अ विल्लगिरं ॥१॥

अर्थःकथातो ज्ञेयः—

''आसीत्प्रतिष्ठानपुरे, श्रेष्ठी नागवसुः पुरा।
नागश्रीः श्रेष्ठिनी तस्य, नागदत्तस्तु तत्सुतः ॥१॥
निर्विण्णकामभोगः सन्, व्रतमादत्त सोऽन्यदा।
जिनकल्पिकसत्कारं, दृष्ट्वाऽवादीद् गुरूनिदम् ॥२॥
जिनकल्पं करिष्येऽह—मप्याचार्यैर्निवारितः।
स्वयं स्वीकृत्य तं चक्रे, प्रतिमां व्यन्तरौकसि ॥३॥
सम्यग्दृशा देवतया, मा विनश्यत्वसाविति।
स्त्रीरूपेणोपहाराऽऽद्यं, गृहीत्वाऽऽगत्य तत्र सा ॥४॥
अर्चित्वा व्यन्तरं स्माऽऽह, गृहाण क्षपकोद्धृतम्।
भक्ष्यभोजनं गृहीत्वा तत्, स्वादित्वा प्रतिमां स्थितः ॥५॥
अतीसारोऽस्य संजातो, देवताऽऽख्यद् गुरोरिदम्।
साधून् प्रेष्याऽऽनयत्तं स, देवताऽकथयत्पुनः ॥६॥
दद्या विल्वगिरं दत्तं, स्वस्थोऽभूच्छिक्षितस्ततः।
पुनरेतन्न कर्तव्यं, गता निष्प्रतिकर्मता'' ॥७॥ आ०क० स० आचा०।

णिप्पडियार त्रि०(निष्प्रतीकार) अचिकित्स्ये, प्रश्न०४ सम्ब० द्वार।

णिप्पडिवक्ख त्रि०(निष्प्रतिपक्ष) बाधकरहिते, स्या०।

णिप्पण्ण त्रि०(निष्पन्न) सिद्धे, पञ्चा०८ विव०।

णिप्पण्णजोग पुं०(निष्पन्नयोग) योगिविशेषे, षो०।

तल्लिङ्गं चेदम्—

''दोषव्यपायः परमा च तृप्ति—
रौचित्ययोगः समता च गुर्वी।
वैराऽऽदिनाशोऽथ शतम्भरा धी—
र्निष्पन्नयोगस्य तु चिह्नमेतत् ॥१॥'' षो० १३ विव०।

णिप्पण्णमेइणीय पुं०(निष्पन्नमेदनीक) निष्पन्ना, कोऽर्थः? नि—ष्पन्नसर्वशस्या मेदिनी यत्र स तथा। शस्यनिष्पत्तिकाले, ''णिप्पन्न-मेइणीयंसि कालंसि य मुइयपक्कीलिएसु जणवएसु।'' कल्प० ४ क्षण।

णिप्पत्त त्रि०(निष्पन्न) स्वभावतः पत्ररहिते, व्य० १ उ०।

णिप्पत्ति स्त्री०(निष्पत्ति) निष्पादने, व्य०१ उ० सिद्धौ, स्था०६ ठा०। विशे०। गच्छवासे गुणोऽयमपि—''णिप्पत्तिसंताणो।'' निष्पत्तिः सद्गुणत्वेन शिष्यसंसिद्धिःफलसन्तानसाधनसमर्थधान्यनिष्पत्ति-तुल्यः; ततः सन्तानः शिष्यप्रशिष्याऽऽदिवंशः संसारगर्तगताङ्गि वर्गस्य निर्गमनसोपानपरम्परारूपः। पञ्चा० १८ विव०।

णिप्पभ पुं०(निष्प्रभ) प्रभारहिते, ''देवे चइस्सामीति जाणइ विमाणा-भरणाइं णिप्पभाइं पासित्ता।'' विमानाऽऽभरणानां निष्प्रत्वमौत्पातिकं तच्चक्षुर्विभ्रमरूपं वा। स्था०३ ठा०३ उ०।

णिप्परिग्गह त्रि०(निष्परिग्रह) बाह्याऽऽभ्यन्तरपरिग्रहरहिते, उत्त० १४ अ०। क्वचिदविद्यमानस्वीकारे, उत्त० १४ अ०।

णिप्पलाय पुं०(निष्प्रलाक) भरते वर्षे भविष्यति चतुर्दशे तीर्थकरे, स०। ती०।

णिप्पाण त्रि०(निष्प्राण) उच्छ्वासाऽऽदिरहिते, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०।

णिप्पाव पुं०(निष्पाव) वल्लाऽऽख्ये धान्यभेदे, ''णिप्पावाई धण्णा, गंधे वाइगपलंडुलसुणाऽऽई।'' इति धान्येषु निष्पावः पुलाकधान्यम्। बृ० ५ उ०। जं०ध०। स्था०। भ०। दश०। आचा०। सत्रिभागकाकण्या त्रिभागोनगुञ्जाद्वयेन वा निवृत्ते प्रतिमाने, अनु०।

***णिप्पाप** त्रि०। पापरहिते, वाच०।

णिप्पिवास त्रि०(निष्पिपास) पिपासायास्तृष्णाया निर्गतो निष्पिपासः। निस्पृहे, उत्त० १६ अ०। निराकाङ् क्षे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। निःस्नेहे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

णिप्पिह त्रि०(निःस्पृह) इच्छारहिते, प्रा०२ पाद। समस्तपरभा—वाऽभिलाषरहिते, अष्ट० ११ अष्ट०।

णिप्पीलण न०(निष्पीडन) निश्चयेन पीडने, आचा०१ श्रु० ४ अ०४ उ०।

णिप्पुंसण न०(निष्पुंसन) **''क—ग—ट—ड—त—द—प—श—ष—स—क—पामूर्ध्वं लुक्''** ॥८।२।७७॥ इति षलुक्। **''अनादौ शेषाऽऽ—देशयोः द्वित्वम्''** ॥८।२।८६॥ नो णः। स्फेटने, प्रा० २ पाद।

णिप्पुरिसणाडग न०(निष्पुरुषनाटक) निर्गता रहिताः पुरुषा यस्मिन्नाटके तन्निष्पुरुषनाटकम्। केवलस्त्रीपात्रमये नाटके, सङ्घा० १ अधि०१ प्रस्ता०।

णिप्पुलाय पुं०(निष्पुलाक) आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भरते वर्षे भविष्यति बलदेवजीवे चतुर्दशे तीर्थकरे, ती० २० कल्प०। प्रव०। स०। ति०।

णिप्फंद त्रि०(निष्पन्द) व०स०। **''ष्प—स्पयोः फः''** ॥८।२।५३॥ इति ष्पस्य फः। प्रा०२ पाद। हस्ताऽऽद्यवयवचलनरहिते, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। अन्त०। ''उअ णिच्चलणिप्फंदा, भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।'' प्रा०२ पाद।

णिप्फण्ण त्रि०(निष्पन्न) परिनिष्ठिते, विशे०। ''भयवया कहितं णिप्फन्नो।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड।

णिप्फरिस (देशी) निर्दये, दे०ना० ४ वर्ग ३७ गाथा।

णिप्फाइऊण अव्य०(निष्पाद्य) निर्माप्येत्यर्थे, पञ्चा० ७ विव०।

णिप्फाइय त्रि०(निष्पादित) योग्यतामापादिते, आचा०१ श्रु०८ अ०१ उ०। ''ताहे तम्मि दिवसे समयसहस्सेणं तत्तं णिप्फादितं चिंतेइ।'' आ०म०२ अ०।

णिप्फायण न०(निष्पादन) करणे, आसेवने, आव०४ अ०।

णिप्फाव पुं०(निष्पाव) **''ष्पस्पयोः फः''** ॥८।२।५३॥ इति ष्पभागस्य फः। प्रा०२ पाद। वल्लनामके धान्यभेदे, जं०२ वक्ष०।

णिप्फेडिय त्रि०(निष्फेटित) निष्काशिते, आ०म०१ अ०२ खण्ड। निःसारिते, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। अपहृते, स्था०३ ठा०४ उ०।

णिप्फेस पुं०(निष्पेष) **''ष्पस्पयोः फः''** ॥८।२।५३॥ इति ष्पस्य फः। **''द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः''** ॥८।२।९०॥ इति फस्योपरि पः। प्रा०२ पाद। संघर्ष, वाच०। शब्दनिर्गमे, दे०ना०४ वर्ग २६ गाथा।

णिबंध पुं०(निबन्ध) नि—बन्ध—घञ्। कालविशेषे देयत्वेन प्रतिश्रुते वस्तुनि, ''निबन्धो द्रव्यमेव'' इति स्मृतिः। ''अम्मापि—

यरो य पुत्तनेहेण अणुजाणंति, नेच्छइ निबंधे वि कए, कहं सुचिररक्खियं वयं भंजामि?'' आव० ४अ०।

णिबंधण न०(निबन्धन) निबध्यतेऽनेनात्र वा ल्युट्। हेतौ, वाच०। विशे०। आलम्बने, विशे०। वीणायास्तन्त्रीनिबन्धनोर्ध्वभागे च। भावे ल्युट्। बन्धने, वाच०।

णिबंधणवियोग पुं०(निबन्धनवियोग) निमित्तविरहे, द्वा० २५ द्वा०।

णिबद्ध त्रि०(निबद्ध) निर्ग्रथिते, स० १ अङ्ग।

णिबोलिज्जमाण त्रि०(निवोड्यमान) निमज्जमाने, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

णिब्बल त्रि०(निर्बल) निर्गतं बलं सामर्थ्यं यस्येति निर्बलम्। निःसारे, आचा०१ श्रु० ५ अ०४ उ०।

णिब्बलासय पुं०(निर्बलाशक) निर्बलं निस्सारमन्तप्रान्ताऽऽदिकं यद् द्रव्यं, तदशकस्तद्भोजी। अभिग्रहविशेषेण वल्लचणकाऽऽदिमात्रभोजिनि, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ०।

णिब्बलिय त्रि०(निर्वलित) शुद्धाशुद्धस्वरूपे, विशे०।

णिब्भंजण न०(निर्भञ्जन) पक्वान्नोत्तीर्णदग्धघृते, ध०२ अधि०। प्रश्न०।

णिब्भग्ग (देशी) उद्याने, दे०ना० ४ वर्ग ३४ गाथा।

णिब्भच्छण न०(निर्भर्त्सन) अरे दुष्टकर्मकारिन्नपसर दृष्टिमार्गादित्यादिरूपे (प्रश्न०२ आश्र० द्वार) आक्रोशविशेषे कटुकवचने, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। अङ्गुल्यादिना तर्जने, नि०चू० १उ०।

णिब्भच्छणा स्त्री०(निर्भर्त्सना) न त्वया मम प्रयोजनमित्यादिपरुषवचने, भ० १५ श०।

णिब्भय त्रि०(निर्भय) इहलोकाऽऽदिसप्तभयविप्रमुक्ते, आव०४ अ०। प्रश्न०। गतभीके, सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०। आ०म०। अविद्यमानराजाऽऽदिभये, प्रश्न०३ सम्ब० द्वार। भयरहिते, यत्र भयं न विद्यते। ''णिब्भयं जत्थ चोरभयं नत्थि''। नि०चू०१ उ०।

णिब्भयणा स्त्री०(निर्भजना) निश्चिता भजना निर्भजना। निश्चिते भागे, औ०। **''द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः''** ॥८।२।९०॥ इति भकारोपरि वः। प्रा०२ पाद।

णिब्भर न०(निर्भर) निःशेषेण भरो भारोऽत्र। अतिमात्रे तद् युक्ते, त्रि०। वाच०। ''मेघो य णिब्भरं वरिसइ।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड।

णिब्भिज्जमाण त्रि०(निर्भिद्यमान) नितरामतिशयेन भिद्यमाने, जी०३ प्रति०४ उ०। जं०। प्राबल्याभावेनाधो विदार्यमाणे, ''अह भंते ! कोट्ठपुडाण वा०जाव केतइपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाणं णिब्भिज्जमाणाणं वा।'' भ० १८ श०२ उ०। जं०।

णिभ त्रि०(निभ) सदृशे, जं०३ वक्ष०। उत्त०। औ०।

णिभंग पुं०(निभङ्ग) गात्राणां भञ्जने, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

णिभमेत्त न०(निभमात्र) उदाहरणमात्रे, नि०चू० ८ उ०।

णिभाल धा०(निभाल) दर्शने, चुरा०। ''खंधावारनिवेसे निभालेहि।'' आ०म०१अ०२खण्ड। आचा०।

णिभेलण (देशी) गृहे, ''सोमलच्छीनिभेलणं।'' कल्प०३ क्षण।

णिम धा०(न्यस्) नि–अस्। स्थापने, ''न्यसो णिमणुमौ'' ॥८।४।१९९॥ इति न्यस्यतेर्णिमाऽऽदेशः। 'न्यस्यति। प्रा०४ पाद।

णिमंतणा स्त्री०(निमन्त्रणा) विषयोपभोगं प्रति प्रार्थने, सूत्र०१ श्रु०३ अ०२ उ०। भोगोपभोगं प्रति अभ्युपगमकरणे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०२ उ०। अनु०। आचा०। औ०। अगृहीतेनाशनाऽऽदिनाऽहं भवदर्थमशनाऽऽद्यानयामीत्येवं भूतायां (ध० २अधि०) भक्तितः प्रार्थनायाम्, पञ्चा०१२ विव०। स्था०। जीत०। नि०चू०। ध०। भ०।

अथ निमन्त्रणायाः सामाचार्य्याः स्वरूपम्–

सज्झायादुव्वाओ, गुरुकिच्चे सेसगे असंतम्मि।
तं पुच्छिऊण कज्जे, सेसाण णिमंतणं कुज्जा ॥३८॥

(सज्झायादुव्वाओ त्ति) स्वाध्यायध्यानाऽऽदिकरणपरिश्रान्तः सन् गुरुकृत्ये रत्नाऽऽधिककार्ये विश्रामणावस्त्रपरिकर्म्माऽऽदौ, शेषके कृतावशेषे, असत्यविद्यमाने, किम्? अत आहतं गुरुम्, पृष्ट्वा यदुताऽहं साधुनिमित्तं भक्ताऽऽद्यानयामीत्यापृच्छ्य, कार्ये भक्तपानकाऽऽदिप्रयोजने, तद्विषयमित्यर्थः। शेषाणां गुरुव्यतिरिक्तानाम्, निमन्त्रणमामन्त्रणं भवदर्थं भक्ताऽऽद्यानयामीत्येवंलक्षणम्, कुर्याद्विदध्यादिति गाथाऽर्थः ॥३८॥

किमित्येवं सदा व्यापृतेनैवाऽऽसितव्यमित्यत आह–

दुलहं खलु मणुयत्तं, जिणवयणं वीरियं च धम्मम्मि।
एयं लद्धूण सया, अपमाओ होइ कायव्वो ॥३९॥

दुर्लभं खलु दुष्प्रापमेव, मनुजत्वं मानुषत्वम्। तथा–जिनवचनमर्हन्मतं, वीर्यं चोत्साहश्च, धर्म्मे चारित्रधर्मविषये, चशब्दःपदत्रये–ऽपि दुर्लभत्वसंबन्धनार्थः। किं चातः, एतन्मनुजत्वाऽऽदित्रयम्, लब्ध्वा प्राप्य, सदा सर्वदा, अप्रमादो धर्म्मकार्येष्वनालस्यम्, भवति स्यात्, कर्तव्यो विधेयः। इत्यतः स्वाध्यायाऽऽदिखिन्ने न निमन्त्रणा कार्येति गाथाऽर्थः ॥३९॥

दुग्गतरयणाय्ररय–णगहणतुल्लं जईण किच्चं ति।
आयतिफलमद्धुवसा–हणं च णिऊणं मुणेयव्वं ॥४०॥

दुर्गतस्य दरिद्रस्य रत्नाकरे विचित्रमाणिक्योत्पादस्थाने प्राप्तस्य यद्रत्नग्रहणं माणिक्योपादानं, तेन यत्तुल्यं सदृशमभिलाषोपरमाभावसाधर्म्यात्तद्दुर्गतरत्नाकररत्नग्रहणतुल्यम्। किं तदित्याहयतीनां साधूनाम्, कृत्यं कर्त्तव्यं स्वाध्यायवैयावृत्याऽऽदि। यथा हि दुर्गतस्य रत्नाकरे गतस्य रत्नग्रहणे इच्छाया अविच्छेदो भवति, एवं साधोश्चरणमधिगच्छस्य वैयावृत्याऽऽदिषु साधुकृत्येष्वनवच्छिन्ना वाञ्छा स्यादिति दुर्गतरत्नाकररत्नग्रहणतुल्यं यतिकृत्यमित्युक्तम्। इतिशब्दप्रयोगं दर्शयिष्यामः। तथा आयतावागामिकाले, परभवे इत्यर्थः। फलं साध्यमस्येत्यायतिफलम्। पाठान्तरेण–आयत–फलं मोक्षफलम्। तथा–अध्रुवाणि नश्वराणि साधनानि मानुष्यक्षेत्रजात्यादीनि यस्य तदध्रुवसाधनम्। चशब्दः समुच्चयार्थः। इत्येतन्निपुणं सम्यक् 'मुणेयव्वं ति' ज्ञातव्यम्। ज्ञातं च तदैव स्याद्यदा सततं तत्राऽप्रमादो विधीयते। इति गाथाऽर्थः ॥४०॥

गुरुमापृच्छ्य साधुनिमन्त्रणा कार्येत्युक्तम्, अथ तमनापृच्छ्यैव प्रत्यासन्नताऽऽदिकारणात् साधवो निमन्त्रितास्तदा को विधिः? इत्याह–

इयरेसिँ परिक्खित्ते, गुरुपुच्छाए णिओगकरणं ति।
एवमिणं परिसुद्धं, वेयावच्चे तु अकए वि ॥४१॥

इतरेषामपि गुर्वपेक्षया शेषसाधूनामपि, आक्षिप्ते उपन्यस्ते निमन्त्रणे, गुरुपृच्छाया रत्नाधिकप्रश्नस्य, नियोगकरणमवश्यंतया विधानम्, युक्तमिति शेषः। इदमुक्तं भवति–यद्यपि शेषसाधुविषया निमन्त्रणोपन्यस्ता, तथाऽपि न तद्वचनादेव प्रवर्तितव्यम्, अपि तु गुरुपृच्छाऽवश्यं विधेयेति। इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। कस्मादेवमित्याह–एवमुक्तन्यायेन गुरुप्रश्नपूर्वलक्षणेन, इदं शेषसाधुनिमन्त्रणं, परिशुद्धमेव निर्दोषमेव, भवतीति गम्यम्। ''सो विहिना य'' इत्यादिपूर्वोक्तप्रामाण्यात्। ननु यदि पृष्टो गुरुर्वारयेल्लाभो वा न भवेत्तदा भक्ताऽऽदेरसंपादनेन निमन्त्रणस्य निष्फलत्वात् कथं परिशुद्धताऽस्येत्याह–वैयावृत्त्ये भक्ताऽऽदिदाने, तुशब्द एवकारार्थो योजित एव। अकृतेऽप्यविहितेऽपि, आस्तां विहिते। भावतस्तस्य कृतत्वात्, गुर्वाज्ञाकरणस्यैव च महाफलत्वात्, गुरोरपि पृष्टाऽऽलम्बनतस्तन्निषेधनान्न यथाकथञ्चित्। क्वचित् ''वेयावच्चं तु'' इति पठ्यते। तत्र वैयावृत्यमेव तन्निमन्त्रणमिति प्रक्रमः, अकृतेऽपि वैयावृत्ये। इति गाथाऽर्थः ॥४१॥ पञ्चा० १२ विव०।

णिमंतेमाण त्रि०(निमन्त्रयत्) निमन्त्रणं कुर्वाणे, ''तओ पच्छा तस्स गिहे णिमंतेमाणस्स अणिमंतेमाणस्स।'' आचा०२ श्रु० १ चू० २ अ०३ उ०।

णिमंसू (देशी) तरुणे, दे०ना० ४ वर्ग ३२ गाथा।

णिमग्ग त्रि०(निमग्न) अधोजलगमनानि कुर्वाणे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। पङ्काऽऽद्यवसन्ने, औ०। आ०म०।

णिमग्गजला स्त्री०(निमग्नजला) निमज्जयत्यस्मिन् तृणाऽऽदिकमखिलं वस्तुजातमिति निमग्नम्, बहुलवचनादधिकरणे क्तप्रत्ययः। निमग्नं जलं यस्यां सा तथा। तस्मिन्नगुहाया मध्ये वहन्त्यां नद्याम्, जं०३ वक्ष०। आ०चू०।

णिमज्जग पुं०(निमज्जक) वानप्रस्थभेदेषु, ये स्नानार्थं निमग्ना एव क्षणं तिष्ठन्ति। नि०१ श्रु० ४ वर्ग १ अ०। औ०। भ०।

णिमज्जण न०(निमज्जन) जलप्रवेशे, ग०२ अधि०। बृ०।

णिमिअ त्रि०(स्थापित) ''क्तेनाप्फुण्णाऽऽदयः''॥८।४।२५८॥ इति स्थापितस्य निमिआदेशः। न्यस्ते, प्रा०४ पाद।

णिमित्त न०(निमित्त) हेतौ, कारणे, विशे०। सहकारिकारणे, निमित्तकारणे च। सूत्र०२ श्रु०२ अ०। अष्ट०। उपष्टम्भकारणे, विशे०। आ०म०। व्य०। द्वे शब्दस्य निमित्ते। तद्यथा–व्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रवृत्तिनिमित्तं च। यथा गोशब्दस्य। तथाहि–गोशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं गमनक्रिया, गच्छतीति गौरिति व्युत्पादनात्। तेन च गमनेनैकार्थिसमवायतया यदुपलक्षितं सास्नाऽऽदिमत्त्वं, तत्प्रवृत्तिनिमित्तं, तेन गच्छति, अगच्छति वा गोपिण्डे गोशब्दः प्रवर्तते, उभयाभाव्यवस्थायां प्रवृत्तिनिमित्तभावात्। अश्वाऽऽदौ तु न प्रवर्तते, यथोक्तरूपस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य तत्राभावात्। व्य०१ उ०। प्रयोजने, फले, संघा०१ अधि०१ प्रस्ता०। अतीतानागतवर्तमानवस्तुपरिज्ञानहेतौ ज्ञानविशेषे, प्रव० ७३ द्वार।

निमित्तमाह–

तिविहं होइ निमित्तं, तीयपडुप्पन्नऽणागयं चेव।
तेण न विणा उ नेयं, नज्जइ तेणं निमित्तं तु॥

त्रिविधं भवति निमित्तम्। तद्यथा–अतीतं, प्रत्युत्पन्नम्, अनागतं च। कालत्रयवर्तिलाभालाभाऽऽदिपरिज्ञानहेतुश्चूडामणिप्रभृतिकः, शास्त्रविशेष इत्यर्थः। कृत? इत्याह–तेन विवक्षितशास्त्रविशेषेण, विना ज्ञेयं लाभालाभाऽऽदिकं, न ज्ञायत इति लाभाऽऽदिज्ञाननिमित्तत्वान्निमित्तमुच्यते। एतानि कौतुकाऽऽदीनि य आजीवति स तत्तदाजीवको मन्तव्य इति। बृ०१ उ०। आ०म०। आव०। ग०। पं०व०। ध०। दर्श०।

जे भिक्खू तीतं निमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥७॥
जे भिक्खू पडुप्पण्णं निमित्तं वागरइ, वागरंतं वा साइज्जइ॥८॥
जे भिक्खू अणागयं निमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥९॥

जे भिक्खू पडुप्पण्णं णिमित्तं वागरति–आगमस्स काले लाभादि वागरेति।

छव्विहं णिमित्तं इमं–

लाभालाभं सुहदुक्खं जीवितमरणऽतीतवज्जाइं।
गिहिअण्णतित्थियाण व, जे भिक्खू वागरिज्जा णं ॥८२॥

लाभालाभं सुहं दुक्खं जीवितं मरणं। एतानि छ अतीतकाल–वज्जाणि वागरेति, वट्टमाणे एस्से चेत्यर्थः। गिहीणं, अण्णतित्थियाणं वा जो वागरेज्ज भिक्खू सो आणादी दोसा पावेज्ज।

छव्विवट्टमाणगप्रदर्शनार्थं गाहा–

पट्ठविओ मे अमुओ, लभति ण लभति व तस्सिमा वेला।
सीमं सा दुक्खी हं,सुही ति अमुअं व ते दुक्खं ॥८३॥

अमुगो मया अमुगसमीवं पेसितो लाभणिमित्तं, सो तत्थ तं लभेज्ज वा, णो लभेज्जा? अधवा इमा तस्स आगमणवेला, सो लद्धलाभो अलद्धलाभो वा आगच्छति, ण वा? सीमं सङ्घा वा कोइ पुच्छेज्ज–किमहं सुही,दुक्खी वा? अहवा–वट्टमाणकाले चेव वागरेति–इमं ते सारीरं दुक्खं, माणसं वा वट्टति।

गाहा–

जीवति मओ त्ति वा सं–कितम्मि एगतरगस्स णिद्देसे।
एवं होहिति तुज्झं, तस्स व लाभाऽऽदओ एस्सो ॥८४॥

कोइ विदेसत्थो ण णज्जति–जीवति, मतो वा? एरिसे संकिते पुच्छितो एगतरणिद्देसं करेज्ज, एवं वट्टमाणे,एस्से वा जस्स पुच्छिज्जति सो पच्चक्खो, परोक्खो वा। पच्चक्खो भण्णतितुज्झं एस्सकाले एवं होहितिलाभो, अलाभो वा, सुहं, दुक्खं वा, जीवियं, मरणं वा। परोक्खेतस्स एस्से काले इमो लाभो, अलाभो वा, सुहं, दुक्खं जीवितं मरणं वा भविस्सइ।

जीवइ त्ति भणिते गाहा–

आणंदं अपडिहयं, संखडिकरणं च उभयधा होति।
खिन्नादिमरणकोट्टण, अधिकरणमणागए वा वि ॥८५॥

आणंदं अपडिहयं करेति, वद्धमानक इत्यर्थः। मतो त्ति भणिते संखडिकरणं करेज्ज। एवं उभयहा अविधे अधिकरणदोसो भवति। अहवा– मतो त्ति भणिते खिन्नचित्तो भवे, मरति

वा,उरसिरकुड्डणादि वा करेज्ज, मितकिच्चकरणेसु वा अधिकरणं भवे। अहवा–अणागते णिमित्ते वागरिते एते खिन्नचित्ताऽऽदिया दोसा भवंति।

जं च णिमित्तबलेण कज्जसंधणं करेज्ज–

उच्छाहो॑ विसीदंते, अगंतुकामस्स हाति गमणं तु।
अहिकरणथिरीकरणं, कयविक्कयसंणियत्ती य ॥८६॥

अणागतणिमित्तवागरणेण कज्जे विसीदंतस्स उच्छाहो कतो भवति, लाभत्थिणो परदेसा अगंतुकामस्स अवस्सं ते लाभो भविस्सति त्ति गमणं करेति। किसिमादिअधिकरणेसु विसीदंतस्स अवस्सं वुड्ढी भविस्सति त्ति वागरिए अधिकरणे स्थैर्यं भवति। अहवा–परदेसं गंतुकामस्स इहेव लाभो भविस्सति त्ति थिरीकरणं भवति, इमं किणाहि, इतो कम्मारंभातो संणियत्ता इमम्मि कम्मारंभे पयट्टसु, एवं ते लाभो भविस्सति, एवं अधिकरणदोसा।

एवमाएसदोसा–

आएसविसंवादे, पओसनिच्छुभणमादि वोच्छेओ।
अहिकरणं अण्णेण व, उड्डाह अण्णवादो य ॥८७॥

आएसे य विसंवदति पदोसं गच्छेज्ज, वसही वा णिच्छुभेज्ज, आहारादिवसहीण वा वोच्छेदं करेज्ज, अण्णेण वा निमित्तिएण सद्धिं अधिकरणं भवे, अण्णेण वा निमित्तिएण संवादिते साधूण अण्णण्णवादो भवति, उड्डाहो य भवेज्ज।

गाहा–

णियमा तिकालविसए, णेमित्ते छव्विहे भवे दोसो।
सयमेव वट्टमाणे, उभए वा तत्थिमं णातं ॥८८॥

णियमा अवस्सदोसो भवति तिकालविसए–अतीते, वट्टमाणे, एस्से य। छव्विहे लाभादिए सयमेव वर्त्तमानकाले आदेसे दोसो भवति, उभयमिति–अप्पणो, परस्स वा। तत्थिमं णातं दृष्टान्त इत्यर्थः।

गाहा–

आकंपिया निमित्ते–ण भोइणी भोतिए चिरगतम्मि।
पुव्वभणितं कहेती, आगतो॑ रुट्ठो य वलवाए ॥८९॥

एगो णिमित्तिओ, तेण भोतिणी गामसामिणी आकंपिता–अविसंवातिणिमित्तेण आउट्टिता। अण्णया सा भोतिणी भोतियं चिरगतं पुच्छतिकया सो भोतिओ आगच्छति? तेन कहियं–अमुगदिणे अमुगवेलाए आगच्छति। सो य आगतो। ताहे तस्स णेमित्तियपुव्वभणितं इत्थमादिपरियणो सव्वं कहेति। तम्मि कहिते सोऽतीसाधुभावेण रुट्ठो बलवाए संपुच्छति।

गाह–

दाराऽऽभोगण एगा–गिआगमो परियणस्स पव्वोणी ('पव्वोणी' शब्दो देशीवचनः संमुखार्थः।)।

पुच्छा य खमणकहणं, सादीयंकार सुविणादी ॥९०॥
कोहो वलवा गब्भं, च पुच्छितो भणति पंचपुंडाऽऽसो।
फालण दिट्ठे जति णे–व तो तुहं अवितहं कति वा? ॥९१॥

सती असती वा मे दारा, तस्स आभोगणट्ठा एगागी आगतो पेच्छति–सव्वपरियणो पव्वोणीए णिग्गतो। अग्गगतिया पव्वोणी। तेण पुच्छियं–कहं ते णायं? तेहिं कहियं–एरिसो तारिसो खमगो णेमित्तिओ, तेण कहितं। सो तं बोहिरत्तं णिमित्तं पुच्छति। तेण वि से सुविणादि सादीयंकारं णिमित्तं अवितहं कहियं। सो भोतिओ कुवितो पुच्छति–एस वलवा गब्भिणी, एतीए किं भविस्सति? तेण भणियं–पंचपुंडो आसो भविस्सति। तेण तक्खणा चेव फालविया दट्ठो। ताहे भोतिओ भणति–जइ एवं ण होज्जा, तो तुह पेट्ठं फालियं होंतं। एवं अवितहणेमित्तिया कति भविस्संति? जम्हा एते दोसा तम्हा ण वागरेज्ज।

गाहा–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अद्धाणरोहए वा, जयणाए वागरे भिक्खू ॥९२॥
एतेहिऽसंथरंतो, पणगादीकम्मइच्छितो संतो।
एस्सेव पडुपण्णं, च भणति भद्दे॑सु उवउत्ते ॥९३॥

एतेहिं कारणेहिं असंथरंतो पणगपरिहाणीए जाहे आहाकम्मं अइक्कंतो, ताहे पुव्वं अतीतं णिमित्तं वागरेति भद्दगेसु अतीव उवउत्तो, पच्छा आगमिस्सं पडुप्पण्णं। नि०चू०१० उ०। अतीतानागतवर्त्तमानानामतीन्द्रियभावानामधिगमे निमित्तं हेतुर्यद्वस्तुजातं तन्निमित्तं, तदभिधायकशास्त्राण्यपि निमित्तानीत्युच्यन्ते इति।भौमाऽऽदिलक्षणशास्त्रेषु, स्था०। ''अट्ठविहे महानिमित्ते पण्णत्ते। तं जहा–भोमे, उप्पाए, सुविणए, अंतलिक्खे, अंगे, सरे, लक्खणे, वंजणे।'' स्था०८ ठा०। आव०। प्रव०। बृ०। (भौमाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) (विस्तरार्थिना तु अङ्गविद्या नाम ग्रन्थो वीक्षणीयः। प्ररूपितं चैतद् 'अंगविज्जा' शब्दे प्र० भागे ३६ पृष्ठे) वाक्प्रशस्त–शकुनाऽऽदिकेषु, सूत्र०१ श्रु० १२ अ०। चूडामणिप्रभृतौ निमित्तज्ञपुरुषे, स्था०६ ठा०। दश०। आचा०। औ०।

णिमित्तकारण न०(निमित्तकारण) पटस्य निमित्तं तन्तव एव कारणं निमित्तकारणम्, तद्व्यतिरेकेण पटानुत्पत्तेः। तथा च तन्तुभिर्विना न भवति यतः, तथा तद्ततानागऽऽदिचेष्टाव्यतिरेकेणापि न भवति, तस्याश्च चेष्टाया वेमाऽऽदि कारणम्। अन्यद्द्रव्यकारणभेदे, आ०म० १अ० २खण्ड। आ०चू०।

णिमित्तणिप्पण्ण त्रि०(निमित्तनिष्पन्न) चिह्ननिष्पन्ने करणनिष्पन्ने, ''चिंधणिप्पन्नं ति, करणणिप्पन्नं ति, णिमित्तणिप्पन्नं ति वा एगट्ठं।'' आ०चू०१अ०।

णिमित्तपिंड पुं०(निमित्तपिण्ड) निमित्तमङ्गुष्ठप्रश्नाऽऽदि, तदवाप्तो निमित्तपिण्डः। आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०६उ०। अतीतानागतवर्त्तमानकालेषु लाभाऽऽदिकथनं भिक्षार्थं कुर्वता उत्पादनादोष–संपर्केण गृहीतपिण्डे, ध०३ अधि०। जीत०।

अथ तद् भोजननिषेधः–

जे भिक्खू णिमित्तपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥६१॥

तीतमणागतवट्टमाणत्थाणोपलद्धिकारणं णिमित्तं भण्णति जो तं पउंजित्ता असणाऽऽदिमुप्पादेति, सो णिमित्तेहिं पिंडो भण्णति, आणादिया य दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं।

भिक्खू णिमित्तपिंडं, कहेज्ज सज्जं तु अहव सातिज्जे।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१४२॥
नियमा तिकालविसए, णेमित्ते छव्विहे भवे दोसो ।
सयमेव वट्टमाणे, उभए वा तत्थिमं णातं ॥१४३॥

कंठा। तिविधो कालो–अतीतो, वट्टमाणो, आगमिस्सो। एक्केक्कं छव्विहं णिमितं पउंजति। तत्थ इमते छब्भेदालाभं, अलाभं, सुहं, दुहं, जीवियं, मरणं। एगम्मि पउत्ते णियमा संजमायपरोभया दोसा भवंति। एत्थ तीतं अप्पदोसतरं, ततो आगमिस्सं बहुदोसतरं, ततो पडुप्पण्णं बहुदोसतरं।

तत्थ पडुप्पण्णे इमं उदाहरणं–

आकंपिया णिमित्ते–ण भोइणा भोइए चिरगयम्मि ।
पुव्वभणितं कहेती, आगतो॑ रुट्ठो य वलवाए ॥१४४॥

इमा भद्दबाहुकया गाहा।

एतीए इमाओ दो वक्खाणगाहाओ–

दाराऽऽभोयण एगा–गिआगमो परियणस्स पव्वोणी।
पुच्छा य खमणकहणं, सादीयंकार सुविणादी ॥१४५॥
कोहो वडवा गब्भं, च पुच्छितो भणति पंचपुंडाऽऽसो ।
फालण दिट्ठे जति णे–व तो तुहं अवितहं कति वा? ॥१४६॥

एगम्मि गामे ओसण्णो णिमित्ती अत्थति, तत्थ जो गामभोतिओ सो पवसितो, तस्य य जा भोइणी, सा तं णेमित्तियं णिमित्तं पुच्छति। ताहे तेण सा अवितहणिमित्तेणं आकंपिया। अण्णदा सा तं पुच्छति। तेण कहियं–कल्लं अमुगवेलाए एति। सो वि भोइओ चिंतेइ–सव्वं इहेव छड्डेउं एगागी जामि दाराभोगेण त्ति गवेसामि–किं वभिचारं वभिचरति, ण वा? तस्सागमणवेलाए य सव्वो परियणो पव्वोणीए णिग्गतो। अग्गगतिए एति, सोय दिट्ठो सागते कए पुच्छए–कहं भंणति? तेण भणियं–खमगो णेमित्ती, तेण कहियं। आगतो घरं कलुसितमणसा एस वभिचारि त्ति भुत्तुत्तरे णेमित्ती सद्दावितो, कहेति णिमित्तं, तेण जं किंचि पुव्वभणियं, भुत्तं वा, अणुभूतं वा सुविणादिगतं तं सव्वं सच्चंकारेहिं कहितं। एवं कहिते वि कोवं ण मुंचति। ततो रुट्ठो पुच्छति–एतए वडवाए किं गब्भे त्ति। णेमित्तिणा उवओगेण भणियं–किसोरी पंचपुंडो। ततो रुट्ठो कालं ण पडिच्छति त्ति भणति–फाडेह उदरं। से फाडियं दिट्ठो। ततो भणति–जति एयं णिमित्तं एवं ण भवति, तो तुज्झं पोट्टं फाडियं होंतं। एरिसा अवि–तहणिमित्ती केत्तिया भविस्संति? जतो वभिचरंति णिमित्ता, छाउमत्थपओग य वितहा भवंति, अधिकरणादओ य दोसा आयपरोभयसमुत्था, संकाऽऽदिया य इत्थीसु दोसा, अतो ण णिमित्तं वागरेयव्वं।

अववादेण वागरेयव्वं। गाहा–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा जयणाए वागरे भिक्खू ॥१४७॥

असिवादिकारणेहिं सुट्ठु उवउत्तो तीताइणिमित्तं वागरेति, जाहे पणगपरिहाणीए चउलहुं पत्तो। नि०चू० १३ उ०।

णिमित्तभाएसि(ण्) पुं०(निमित्तादेशिन्) निमित्तमतीताऽऽदिभेद–भिन्नमादिशति यः स तथा। नैमित्तिकसाधौ, पं०व०४ द्वार।

निमित्ताऽऽदेशिनमाह–

तिविह निमित्तं एक्के–क्क छव्विहं जं तु वन्नियं पुव्विं ।
अभिमाणभिनिवेसा, वागरियसं आसुरं कुणइ ॥

त्रिविधमतीताऽऽदिकालत्रयविषयं यत्पूर्वमिहैवाऽऽभियोगिकभावनायां वर्णितं, तदेकैकं षड्विधं लाभालाभसुखदुःखजीवितमरणविषयभेदात्षट् प्रकारणम्। आह–आभियोगिकभावानानिबन्धनतया पूर्वमिदमुक्तम्, अतः कथमिदमिहाभिधीयत इत्याह–अभिमानाभिनिवेशादहङ्कारतीव्रतया व्याकृतं प्रकटितमेतन्निमित्तमासुरीं भावनां करोति, अन्यथा त्वाभियोगिकी मतिः। बृ०१ उ०।

णिमित्तलक्खण न०(निमित्तलक्षण) विज्ञानहेतौ निमित्तशास्त्रे, विशे०।

अथ निमित्तलक्षणं विवृण्वन्नाह–

लक्खिज्जई सुभासुभ–मणेण तो लक्खणं निमित्तं ति ।
भोमाइ तदट्ठविहं, तिकालविसयं जिणाभिहियं ॥२१६३॥

लक्ष्यते विज्ञायते यस्माच्छुभाशुभमनेन ततो निमित्तमपि लक्षणम्। तच्चाष्टविधमष्टप्रकारम्। उक्तं च–"भोमसुमिणंऽतलिक्खं, दिव्वं अंगसरलक्खणं तह य। वंजणमट्ठविहं खलु, निमित्तमेवं मुणेयव्वं ॥१॥" इति। भौमाऽऽदिस्वरूपं च ग्रन्थान्तरादवसेयम्। इदं चाष्टविधमपि निमित्तं प्रत्येकमतीतानागतवर्तमानरूपकालत्रयविषयं जिनैरभिहितमिति ॥२१६३॥ विशे०। आ०चू०।

णिमित्तसंजोग पुं०(निमित्तसंयोग) कारणसाहित्ये, "शुभो निमित्तसंयोगो, पश्चकोदयतो मतः।"(१८) शुभः प्रशस्तो निमित्तसंयोगः सद्योगाऽऽदिसम्बन्धः, सद्योगाऽऽदीनामेव निःश्रेयससाधननिमित्तत्वात्। (१८)। द्वा० २१ द्वा०।

णिमित्तसुद्धि स्त्री०(निमित्तशुद्धि) शुभहेतुवस्तुशुद्धौ, यथा–श्रावकव्रतग्रहणे तत्कालोच्छलितशङ्खपणवाऽऽदिनिनादश्रवणपूर्णजम्भृङ्गारछत्रध्वजचामराऽऽद्यवलोकनशुभगन्धाऽऽघ्राणाऽऽदिस्वभावा। ध०२ अधि०।

णिमित्ताजीविया स्त्री०(निमित्ताजीविका) त्रैकालिकलाभालाभाऽऽदिविषयनिमित्तोपात्ताऽऽहाराऽऽद्युपजीवने, स्था०४ ठा० ४उ०।

णिमिल्लण न०(निमीलन) नि–मील–ल्युट्। **"प्रादेर्मीलेः" ॥८।४।२३२॥** इति अन्त्यस्य द्वित्वं वा, द्वित्वे ह्रस्वो वा। अक्षिसंकोचे, प्रा० ४ पाद।

णिमीलण न०(निमीलन) 'णिमिल्लण' शब्दार्थे, प्रा०४ पाद।

णिमेण (देशी) स्थाने, दे०ना०४ वर्ग ३७ गाथा।

णिमेल (देशी) दन्तमांसे, दे०ना० ४ वर्ग ३० गाथा।

णिमेला (देशी) धनपाले, दे०ना० ४वर्ग ३० गाथा।

णिमेस पुं०(निमेष) अक्षिनिमीलने, भ० १४ श०१ उ०। आ० म०। स्वाभाविकचक्षुर्निमीलनकाले, वाच०।

णिम्मद्दग पुं०(निर्मर्दक) चौरविशेषे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

णिम्मद्दिय त्रि०(निर्मर्दित) दलिते, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

णिम्मम त्रि०(निर्मम) निर्गतं ममत्वं बाह्याऽऽभ्यन्तरेषु वस्तुषु यस्मादसौ निर्ममः । सूत्र०१ श्रु० १० अ०। ममत्वरहिते, संथा०। आव०। पं०भा०। प्रज्ञा०। आ०म०। वस्त्रपात्राऽऽदिषु ममत्वरहिते, उत्त० १६ अ०। अस्यां भारतभूमौ उत्सर्पिण्यां भविष्यति सुलसाजीवे पञ्चदशे तीर्थकरे, प्रव० ४६ द्वार। ती०। ति०। स०।

णिम्ममभाव पुं०(निर्ममभाव) आकालं सकलपरिग्रहोपादत्तशून्यचिदानन्दैकमूर्तिकशुद्धाऽऽत्मस्वभावानुभवजनिते निर्ममत्वे, द्वा० २७ द्वा०।

णिम्मल त्रि०(निर्मल) स्वाभाविकाऽऽगन्तुकमलरहिते, जी०३ प्रति०४ उ०। तं०। प्रज्ञा०। आ०म०। जं०। रा०। विमले, औ०। प्रश्न०। कठिनमलरहिते, भ०२ श०६ उ०। स०। औ०। विशुद्धे, ज्ञा०। १ श्रु० १अ०। स्वच्छे, कल्प०३ क्षण। भ०। घट्टिनीघटिते, ''मट्ठा घट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका'' प्रज्ञा०२ पद। पूर्वबद्धकर्मविनिर्मुक्ते द्रव्यमलवर्जिते सिद्धे, औ०। ब्रह्मलोके षण्णां विमानप्रस्तटानां चतुर्थे, स्था०६ ठा०। निर्गतो मलो यस्मात्। ५ ब० व्री०। कतके, तस्य हि संबन्धाद् जलमलनाशकत्वं प्रसिद्धम्। वाच०।

णिम्मलजलपुण्ण त्रि०(निर्मलजलपूर्ण) निर्मलने जलेन भृते, कल्प०३ क्षण।

णिम्मलफलिह पुं०(निर्मलस्फटिक) विमले स्फटिकमणौ, ''निर्मलस्फटिकस्येव, निर्मलं रूपमात्मनः। अध्यस्तोपाधिसंबन्धो, जडस्तत्र विमुह्यति''॥६॥ अष्ट०४ अष्ट०।

णिम्मलबोहवंत त्रि०(निर्मलबोधवत्) विमलबोधसंपन्ने, षो० ३ विव०। निर्मलबोधस्तु– ''निर्मलबोधोऽप्येवं, शुश्रूषाभावसंभवो ज्ञेयः। शमगर्भशास्त्रयोगात्, श्रुतचिन्ताभावनासारः॥'' षो०४ विव०।

णिम्मल्ल न०(निर्माल्य) देवोच्छिष्टे देवार्चाद्रव्ये, वाच०। तार्थाऽऽदिगतसप्रभावप्रतिमाशेषे, पिं०।

भोगविणट्ठं दव्वं, णिम्मल्लं विंति गीयत्था।

यज्जिनबिम्बाऽऽरोपितं सद्विच्छायीभूतं विगन्धिसंजातं दृश्यमानं च निःश्रीकतया न भव्यजनमनःप्रमोदहेतुः, तन्निर्म्माल्यं ब्रुवन्ति बहुश्रुताः। सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

***नैर्मल्य** न०। निर्मलपरिणतौ, द्रव्या० ८ अध्या०।

णिम्मव धा०(निर्मा) निर्+मा। विरचने, निष्पादने, **''निर्मेर्निम्माण–निम्मवौ''** ॥८।४।१६॥ इति निर्पूर्वस्य मिमीतेः णिम्माण–निम्मवाऽऽदेशौ। णिम्माणेइ। णिम्मवइ। निर्मिमीते। प्रा०४ पाद। कर्मणि यक्। निर्माप्यन्ते। परिसमाप्तिं नीयमाने, पं०सू० १सूत्र०।

णिम्मवइत्ता त्रि०(निर्मापयितृ) सफलतापर्यन्तकार्यनेतरि, स्था०४ ठा०४ उ०।

णिम्मह धा०(गम्) गतौ, **''गमेरईअइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसा–क्कुस–पच्चड्ड–पच्छन्द–णिम्मह–णी–णीण–णीलुक्क–पदअ रम्म परिअल्ल–वोल–परिअल–णिरिणास–णिवहाद–सेहावहराः''** ॥८।४।१६२॥ इति सूत्रेण गमेर्णिम्महाऽऽदेशः। 'णिम्महइ' गच्छति। प्रा० ४ पाद।

णिम्महियरागरोस त्रि०(निर्मथितरागरोष) निराकृतप्रीतिद्वेषे, जीवा० १अधि०।

णिम्माण धा०(निर्मा) विरचने, निष्पादने, प्रा०४ पाद।

***निर्माण** न०। उत्तरकरणे, विशे०।

णिम्माणणाम(ण्) न०(निर्माणनामन्) सर्वजीवशरीरावयवनिष्पादके अङ्गोपाङ्गकर्मणि, आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०। कर्म०। पं०सं०। उत्त०। प्रव०।

अंगोवंगणियमणं, णिम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं। (४७)

निर्माणं निर्माणनामाङ्गोपाङ्गनियमनम्, अङ्गप्रत्यङ्गानां प्रतिनियतप्रदेशव्यवस्थापनं, करोति विदधाति, अतः सूत्रधारसमं सूत्रभृत्कल्पम्। यदुदयाज्जन्तुशरीरेष्वङ्गोपाङ्गानां प्रतिनियतस्थानवृत्तिता भवति, तत्सूत्रधारकल्पं निर्माणनामेत्यर्थः। तदभावे हि तद्भूतककल्पैरङ्गोपाङ्गनामाऽऽदिभिर्निर्वर्तितानामपि शिरउदराऽऽदीनां स्थानवृत्तेरनियमः स्यात्। (४७) कर्म०१ कर्म०।

णिम्माय पुं०(निर्मात) निष्पन्ने, बृ०६ उ०। परिनिष्ठामुपागते, व्य० १ उ०। पञ्चा०। विशिष्टाभ्यासवति, कल्प०३ क्षण। सूत्रार्थतदुभयज्ञे, ''आयरियाण सगासे, अमुयत्तेणं तु णिम्माया।'' व्य०३ उ०।

णिम्मावित्त त्रि०(निर्मापयितव्य) कर्त्तव्ये, (सूत्र०) ''पंच महब्भूया अणिम्मिया अणिम्मावित्ता अकडा णो कित्तिमा''। सूत्र०२ श्रु०१ अ०।

णिम्मिय त्रि०(निर्मित) निवेशिते, उपा०७ अ०। ज्ञा०। न्यस्ते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। निष्पादिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। कृते, स्था० ८ ठा०। औ०।

णिम्मियवाइ(ण्) त्रि०(निर्मितवादिन्) निर्मितमीश्वरब्रह्मपुरुषाऽऽदिना कृतं लोकं वदतीति निर्मितवादी। ईश्वरकृतलोकवादिलक्षणे अक्रियावादिनि, (स्था०)

''आसीदिदं तमोभूत–मप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः॥१॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टे स्थावरजङ्गमे।
नष्टामरनरे चैव, प्रणष्टोरगराक्षसे॥२॥
केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते।
अचिन्त्याऽऽत्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः॥३॥
तत्र तस्य शयानस्य, नाभेः पद्मं विनिर्गतम्।
तरुणरविमण्डलनिभं, हृद्यं काञ्चनकर्णिकम्॥४॥
तस्मिन्पद्मे भगवान्, दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्न–स्तेन जगन्मातरः सृष्टाः॥५॥
अदितिः सुरसङ्घानां, दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम्।
विनता विहङ्गमानां, माता विश्वप्रकाराणाम्॥६॥
कद्रूः सरीसृपाणां, सुलसा माता तु नागजातीनाम्।
सुरभिश्चतुष्पदाना–मिला पुनः सर्वजीवानाम्'' ॥७॥ इति।

प्रमाणयति चासौ–बुद्धिमत्कारणकृतं भुवनं, संस्थानवत्त्वात्, घटवदित्यादि। अक्रियावादिता चास्य न कदाचिदनीदृशं जगदिति वचनादकृत्रिमभुवनस्याकृत्रिमतानिषेधात्। न चेश्वराऽऽदिकर्तृकत्वं जगतोऽस्ति, कुलालाऽऽदिकारकवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। कुलालाऽऽदिवच्चेश्वराऽऽदेर्बुद्धिमत्कारणस्यानीश्वरताप्रस–

ङ्गात् । किञ्च–ईश्वरस्याशरीरतया कारणाभावात् क्रियास्वप्रवृत्तिः स्यात् । सशरीरत्वे च तच्छरीरस्यापि कर्त्रन्तरेण भाव्यम्, एवं चानवस्थाप्रसङ्ग इति । स्था०८ ठा० । ('इस्सर' शब्दे द्वितीयभागे ६३६ पृष्ठे चैतन्मतं परीक्षितम्)

णिम्मिस्सवल्ली स्त्री०(निर्मिश्रवल्ली) नालबद्धेऽनन्तरस्वजनवर्गे, षड् निर्मिश्राणि–

माया पिया य भाया, भगिणी पुत्तो तहेव धूया य ।
एसा अणंतरा खलु, णिम्मिसा होति वल्ली उ ॥

माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्रो दुहिता च । एषा खल्वनन्तरा भवति वल्ली । व्य० १० उ०।

णिम्मूल त्रि०(निर्मूल) उच्छिन्नमूले, ''णिम्मूलुल्लुणकण्णोट्ठना–सिका छिन्नहत्थपङ्कया ।'' प्रश्न०१ आश्र० द्वार । णिम्मूलितंतफु–रफुरंतविगलमम्महयविगयगाढदिण्णपहारमुच्छितरुलंतविब्भल–विलावकलुणो । निर्मूलितानि विकुक्षितो बहिः– कृतानि अन्त्राणि उदरमध्यावयवविशेषा येषां ते तथा । प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

णिम्मूलण न०(निर्मूलन) क्षये, द्वा० २६ द्वा०।

णिम्मेअ (देशी) गते, दे०ना०४ वर्ग ३४ गाथा।

णिम्मरे त्रि०(निर्मर्याद) परस्त्रीपरिहाराऽऽदिमर्यादाविलोपित्वात् (रा० । दशा०) लोककुलाऽऽद्यपेक्षया (स्था०३ ठा० २ उ०) अविद्यमानकुलाऽऽदिमर्यादे, जं०२ वक्ष०। भ०। प्रतिपन्नाऽपरिपालके, स्था०३ ठा०१ उ०।

णिम्मोअ पुं०(निर्मोक) कञ्चुके, ''केंचुल'' इति ख्याते सर्पत्वचि, विशे०। ''सेसस्स व निम्मोओ ।'' प्रा०२ पाद।

णिम्मोयणी स्त्री०(निर्मोचनी) निर्मोके कञ्चुके, ''जहा य भोई तणुयं भुयंगो, णिम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो (३४)'' उत्त० १४ अ०।

णिय त्रि०(निज) आत्मीये, सूत्र०१ श्रु० २ अ०२ उ०। कर्म०। अष्ट०।

णियजाइलद्धदलिया–ऽणंतंसो.....। (८१)

यका यकाः प्रकृतयो यस्यां मूलप्रकृतौ पतिता विद्यन्ते तासां सैव मूलप्रकृतिर्निजजातिर्विज्ञेया । तया तया निजनिजमूलप्रकृतिरूपया निजजात्या यल्लब्धं प्राप्तं दलिकाग्रम् । (८१) कर्म०५ कर्म०।

णियइ स्त्री०(निकृति) मायायाम्, तत्प्रच्छादनार्थे मृषावचने च । प्रश्न०२ आश्र० द्वार । स०।

***नियति** स्त्री०। नियमनं नियतिः । यथाभवने, सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ०। अवश्यंभाव्युदये, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२ उ०। सा च पदार्थानामवश्यतया यथाभवने प्रयोजककर्त्रीति । स्था०४ ठा०४ उ०। आचा०।

अथ नियतिवादिगोशालानां मतानीह दर्श्यन्ते–

आघायं पुण एगेसिं, उववण्णा पुढो जिया ।
वेदयंति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणओ ॥१॥

पुनःशब्दः पूर्वोऽऽदिभ्यो विशेषं दर्शयति–नियतिवादिनां पुनरेकेषामेतदाख्यातम् । अत्र चाविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका भवन्तीति ख्यातेर्धातोर्भवि निष्ठाप्रत्ययः, तद्योगे कर्त्तरि षष्ठी । ततश्चायमर्थः– तैर्नियतवादिभिः पुनरिदमाख्यातं, तेषामयमाशय इत्यर्थः । तद्यथा–उपपन्ना युक्त्या घटमानका इत्यनेन च पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादिमतमपाकृतं भवति । युक्तिस्तु लेशतः प्राग्दर्शितैव, प्रदर्शयिष्यते च । पृथक् पृथक् नारकाऽऽदिभवेषु शरीरेषु चेत्यनेनाऽप्यात्माऽद्वैतवादिनिरासोऽवसेयः । के पुनस्ते पृथगुपपन्नास्तदाह–जीवाः प्राणिनः सुखदुःखभोगिनः । अनेन च पञ्चस्कन्धातिरिक्तजीवाभावप्रतिपादकबौद्धमताऽपक्षेपः कृतो द्रष्टव्यः। तथा ते जीवाः पृथक् पृथक् प्रत्येकदेहे व्यवस्थिताः सुखं दुःखं च वेदयन्त्यनुभवन्ति । न वयं प्रतिप्राणिप्रतीतं सुखदुःखानुभवं निह्नुमहे । अनेन चाऽकर्तृवादिनो निरस्ता भवन्ति । अकर्तर्यविकारिण्यात्मनि सुखदुःखानुभवानुपपत्तेरिति भावः । तथैतदभ्युपगमाभिर्नोऽपलप्यते । (अदुवेति) अथवा–ते प्राणिनः सुखं दुःखं चानुभवन्ति, विलुप्यन्ते उच्छिद्यन्ते, स्वायुषः प्रच्याव्यन्ते, स्थानात्स्थानान्तरं संक्राम्यन्त इत्यर्थः । ततश्चौपपातिकत्वमप्यस्मिंस्तेषां न निषिध्यते । इति श्लोकार्थः ॥१॥

तदेवं पञ्चभूतास्तित्वाऽऽदिवादिनिरासं कृत्वा यत्तैर्नियतिवादिभिराश्रीयते, तच्छ्लोकद्वयेन दर्शयितुमाह–

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नं कडं च णं ?
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥२॥
सयं कडं न अण्णेहिं वेदयंति पुढो जिया ।
संगइअं तं तहा तेसिं, इहमेगेसि आहियं ॥३॥

यत् तैः प्राणिभिरनुभूयते सुखं, दुःखं स्थानविलोपनं वा, न तत्स्वयमात्मना पुरुषकारेण कृतं निष्पादितं दुःखमिति, कारणे कार्योपचाराद् । दुःखकारणमेवोक्तम् । अस्य चोपलक्षणत्वात् सुखाऽऽद्यपि ग्राह्यम् । ततश्चेदमुक्तम्भवति यिोऽयं सुखदुःखानुभवः स पुरुषकारकृतकारणजन्यो न भवतीति । तथा कुतोऽन्येन कालेश्वरस्वभावकर्माऽऽदिना च कृतं भवेत्? णमित्यलङ्कारे । तथाहि–यदि पुरुषकारकृतं सुखाऽऽद्यनुभूयेत ततः सेवकवणिक्कर्षकाऽऽदीनां समाने पुरुषकारे सति फलप्राप्तिवैसदृश्यं, फलप्राप्तिश्च न भवेत् । कस्यचित्तु सेवाऽऽदिव्यापाराभावेऽपि विशिष्टफलावाप्तिदृश्यत इत्यतो न पुरुषकारात्किञ्चिदासाद्यते, किं तर्हि नियतेरेवेत्येतच्च द्वितीयश्लोकान्तेऽभिधास्यते । नापि कालः कर्ता, तस्यैकरूपत्वाज्जगति फलवैचित्र्यानुपपत्तेः । कारणभेदे हि कार्यभेदो भवति, नाभेदे । तथा ह्ययमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा घटते, यदुत विरुद्धधर्माध्यासः, कारणभेदश्च । तथेश्वरकर्तृकेऽपि सुखदुःखे न भवतः । यथाऽसावीश्वरो भूर्तोऽमूर्तो वा? यदि मूर्तस्ततः प्राकृतपुरुषस्येव सर्वकर्तृत्वाभावः । अथाऽमूर्तस्तथासत्याकाशस्येव सुतरां निष्क्रियत्वम् । अपि च यद्यसौ रागाऽऽदिमात्रस्ततोऽस्मदाद्य व्यतिरेकाद्विश्वस्याकर्तैव । अथाऽसौ विगतरागः, ततस्तत्कृतं सुभगदुर्भगेश्वरदरिद्राऽऽदिजगद्वैचित्र्यं न घटां प्राञ्चति, ततो नेश्वरः कर्तेति । तथा–स्वभावस्यापि सुखदुःखाऽऽदिकर्तृत्वानुपपत्तिः । यतोऽसौ स्वभावः पुरुषाद्भिन्नोऽभिन्नो वा? यदि भिन्न? न पुरुषाऽऽश्रिते सुखदुःखे कर्तुमलं, तस्माद्भिन्नत्वादिति । नाप्यभिन्नोऽभेदे पुरुष एव स्यात्तस्य चाकर्तृत्वमुक्तमेव । नाऽपि कर्मणः सुखदुःखं प्रति कर्तृत्वं घटते । यतस्तत्कर्म पुरुषाद्भिन्नमभिन्नं वा भवेत? अभिन्नं चेत्पुरुषमात्रताऽऽपत्तिः कर्म–

णः, तत्र चोक्तो दोषः। अथ भिन्नं तत्किम्–सचेतनम्, अचेतनं वा? यदि सचेतनम्, एकस्मिन् काये चैतन्यद्वयाऽऽपत्तिः। अथाऽचेतनम्, तथा सति कुतस्तस्य पाषाणखण्डस्येवास्वतस्त्वस्य सुखदुःखोत्पादनं प्रति कर्तृत्वम्? इत्येतच्चोत्तरत्र व्यासेन प्रतिपादयिष्ये; इत्यलं प्रसङ्गेन। तदेवं सुखं सैद्धिकं सिद्धावपवर्गलक्षणायां भवं, यदि वा दुःखम्–असातोदयलक्षणमसैद्धिकं सांसारिकम्। यदि वोभयमप्येतत्सुखं दुःखं वा स्रक्चन्दनाऽङ्गनाऽऽद्युपभोगक्रियासिद्धौ भवं, तथा कशाताऽऽनाङ्गनाऽऽदि सिद्धौ भवं सैद्धिकम्। तथाऽसैद्धिकं सुखमान्तरमानन्दरूपमाकस्मिकमनवधारितबाह्य–निमित्तम्। एवं दुःखमपि ज्वरशिरोऽर्तिशूलाऽऽदिरूपमङ्गोत्थम–सैद्धिकम्। तदेतदुभयमपि, न स्वयं पुरुषकारेण कृतं, नाप्यन्येन केनचित् कालाऽऽदिना कृतं, वेदयन्त्यनुभवन्ति, पृथक् जीवाः प्राणिन इति। कथं तर्हि तत्तेषामभूदिति नियतिवादी स्वाभिप्रायमाविष्करोति (संगइअं ति) सम्यक् स्वपरिणामेन गतिर्यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवनं, सा सङ्गतिर्नियतिः, तस्यां भवं साङ्गतिकम्। यतश्चैवं न पुरुषकाराऽऽदिकृतं सुखदुःखाऽऽद्यतस्तत्तेषां प्राणिनां नियतिकृतं साङ्गतिकमित्युच्यते। इहास्मिन् सुखदुःखानुभववादे, एकेषां वादिनामाख्यातम्, तेषामयमभ्युपगमः।

तथा चोक्तम्–

''प्राप्तव्यो नियतिबलाऽऽश्रयेण योऽर्थः,
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥१॥'' सूत्र०१ श्रु० १ अ० २ उ०।

ये नियतिवादिनस्ते ह्येवमाहुः–नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति, यद्बशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते, नान्यथा। तथाहि–यद्यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते। अन्यथा कार्यभावव्यवस्था, प्रतिनियतरूपव्यवस्था च न भवेत्, नियामकाभावात्। तत एवं कार्यनैयत्यतः प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो बाधितुं क्षमते? मा प्रापदन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसङ्गः।

तथा चोक्तम्–

''नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुबोधतः ॥१॥
यद्यदैव यतो यावत्, तत्तदैव ततस्तथा।
नियतं जातये न्यायात्, क एनां बाधितुं क्षमः?'' ॥२॥ नं०। एवं श्लोकद्वयेन नियतिवादिमतमुपन्यस्यास्योत्तरदानायाऽऽह–

एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडियमाणिणो।
नियया नियइं संतं, अयाणंता अबुद्धिया ॥४॥

एवमित्यनन्तरोक्तस्योपप्रदर्शने, एतानि पूर्वोक्तानि नियतिवादाऽऽश्रितानि वचनानि। जल्पन्तोऽभिदधतो, बाला अज्ञाः सदसद्विवेकविकला अपि सन्तः, पण्डितमानिन आत्मानं पण्डितं मन्तुं शीलं येषां ते तथा। किमिति त एवमुच्यन्ते? इत्येतदाह–यतः (नियया नियइं संतमिति) सुखाऽऽदिकं किञ्चिन्नियतिकृतमवश्यंभाव्युदयप्रापितं, तथाऽनियतमात्मपुरुषकारेश्वराऽऽदिप्रापितं सद्, नियतिकृतमेवैकान्तेनाऽऽश्रयन्त्यतोऽजानानाः सुखदुःखाऽऽदिकारणम्, अबुद्धिका बुद्धिरहिता भवन्तीति। तथाहि–आर्हतानां किञ्चित्सुखदुःखानि नियतित एव भवन्ति, तत्कारणस्य कर्मणः कस्मिंश्चिदवसरेऽवश्यंभाव्युदयसद्भावान्नियतिकृतमित्युच्यते। तथा किञ्चिदनियतिकृतं च पुरुषकालेश्वरस्वभावकर्माऽऽदिकृतं, तत्र कथञ्चित्सुखदुःखाऽऽदेः पुरुषकारसाध्यत्वमप्याश्रायते। यतः क्रियातः फलं भवति, क्रिया च पुरुषकाराऽऽयत्ता प्रवर्त्तते। तथा चोक्तम्– ''न दैवमिति संचिन्त्य, त्यजेदुद्यमात्मनः। अनुद्यमेन कस्तैलं, तिलेभ्यः प्राप्नुमर्हति? ॥१॥'' यत्तु समाने पुरुषव्यापारे फलवैचित्र्यं दूषणत्वेनोपन्यस्तं, तददूषणमेव। यत–स्तत्रापि पुरुषकारवैचित्र्यमपि फलवैचित्र्ये कारणं भवति। समाने वा पुरुषकारे यः फलाभावः कस्यचिद्भवति, सोऽदृष्टकृतः। तदपि चास्माभिः कारणत्वेनाऽऽश्रितमेव। (सूत्र०)(कालकर्तृत्वविचारः 'काल' शब्दे तृतीयभागे ४९२ पृष्ठे गतः) तथेश्वरोऽपि कर्त्ता। आत्मैव हि तत्र तत्रोत्पत्तिद्वारेण सकलजगद्व्यापनादीश्वरः। तस्य सुखदुःखोत्पत्तिकर्तृत्वं सर्ववादिनामविगानेन सिद्धमेव। यच्चात्र मूर्तामूर्ताऽऽदिदूषणमुपन्यस्तं, तदेवंभूतेश्वरसमाश्रयणे दूरोच्छेदितमेवेति। स्वभावस्याऽपि कथञ्चित्कर्तृत्वमेव। तथाहि–आत्मन उपयोगलक्षणत्वमसंख्येयप्रदेशत्वम्। पुद्गलानां च मूर्त्तत्वं धर्माधमास्तिकाययोर्गतिस्थित्युपष्टम्भकारित्वममूर्त्तत्वं चेत्येवमादिस्वभावाऽऽपादितम्। यदपि चाऽऽत्मव्यतिरेकाऽव्यतिरेकरूपं दूषणमुपन्यस्तं, तददूषणमेव। यतःस्वभाव आत्मनोऽव्यतिरिक्तः। आत्मनोऽपि च कर्तृत्वमभ्युपगतमेव, तदपि स्वभावाऽऽपादितमेवेति। तथा कर्माऽपि कर्तृ भवत्येव। तद्धि जीवप्रदेशैः सहान्योन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थितं कथञ्चिच्चाऽऽत्मनोऽभिन्नं, तद्वशाच्चाऽऽत्मा नरकतिर्यङ्मनुष्यामरभवेषु पर्यटन् सुखदुःखाऽऽदिकमनुभवतीति। तदेवं नियत्यनियत्योः कर्तृत्वे युक्तयुपपन्ने सति नियतेरेव कर्तृत्वमभ्युपगच्छन्तो निर्युक्तिका भवन्तात्यवसेयम् ॥४॥

तदेवं युक्त्या नियतिवादं दूषयित्वा तद्वादिनाम–

पायदर्शनायाऽऽह–

एवमेगे उ पासत्था, ते भुज्जो विप्पगब्भिआ।
एवं उवट्ठिआ संता, ण ते दुक्खविमोक्खया ॥५॥

(एवमेगे उ इत्यादि) एवमिति पूर्वाभ्युपगमसंसूचकम्, सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि नियतानियते सत्येके नियतमेवाऽवश्यंभाव्येव काले–श्वराऽऽदिनिराकरणेन निर्हेतुकतया नियतिवादमाश्रिताः। तुरवधारणे। त एव नान्ये। किंविशिष्टाः पुनस्ते? इति दर्शयति–युक्तिकदम्बकाद् बहिरिस्तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, परलोकक्रियापार्श्वस्था वा। नियतिपक्षसमाश्रयणात्परलोकक्रियावैयर्थ्यम्। यदि वा–पाश इव पाशः, कर्मबन्धनम्। तच्चेह युक्तिविकलनियतिवादप्ररूपणम्, तत्र स्थिताः पाशस्थाः। अन्येऽप्येकान्तवादिनः कालेश्वराऽऽदिकारणिकाः पार्श्वस्थाः, पाशस्था वा द्रष्टव्या इत्यादि। ते पुनर्नियतिवादमाश्रित्यापि, भूयो विविधं विशेषेण वा प्रगल्भिता धाष्ट्र्योपगताः परलोकसाधकासु क्रियासु प्रवर्त्तन्ते। धाष्ट्र्याऽऽश्रयणं तु तेषां नियतिवादाऽऽश्रयणे सत्येव। पुनरपि तत्प्रतिपन्थिनीषु क्रियासु प्रवर्त्तनादिति। ते पुनरेवमप्युपस्थिताः परलोकसाधकासु क्रियासु प्रवृत्ता अपि सन्तो नाऽऽत्मदुःखविमोक्षकाः, असम्यक् प्रवृत्तत्वान्नात्मानं दुःखाद्विमोचयन्ति। गता *नियतिवादिनः। सूत्र०१ श्रु०१अ० २ उ०। आचा०। अकस्मा–*

द्भवतीत्यनुपायवादिमतं चात्यन्तोपयुक्तत्वात् किञ्चिद्विचार्यते– अकस्मादिति किं किंशब्दस्य हेतुपरतया हेत्वभावभवनपरम्, उत– ''अमानोनाः प्रतिषेधे'' इति स्मरणान्निषेधार्थकस्य किं शब्दस्य क्रियासंबन्धसभवाद् भवनाभावपरम्? किं वा–किं शब्दस्य स्व–भिन्नपरतया, अलीकभिन्नपरतया वा स्वहेतुकत्वपरम्, अलीक–हेतुकत्वपरं वा? अथवा–अकस्मादिति स्वभावादित्यर्थे रूढतया स्वभावादेव कादाचित्कमित्यर्थकः? एतेषु पञ्चसु नैकोऽपि प्रकारो युक्तः, नियतावधिकार्यदर्शनात्। अनियतावधित्वे, निरवधित्वे वा कादाचित्कत्वस्वभावाव्याकोपात्। तत्स्वभाव्ये च सहेतुकत्वस्याऽऽवश्यकत्वात्। तदुक्तमुदयनेन ''हेतुभूतिनिषेधो न, स्वानुपाऽऽख्यविधिर्न च। स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः॥५॥'' इति। अथाऽऽकाशत्वाऽऽदीनां कादाचित्कत्ववत् कादाचित्कत्वमपि न सहेतुकत्वसाधकमिति चेत्। न। आकाशत्वाऽऽदीनां सर्वत्र सत्त्वे आकाशाऽऽदिस्वभात्वाभावप्रसङ्गात्। तत्स्वभावत्वं च धर्मिग्राहकमानसिद्धमिति हेतुं विनाऽपि देशनियमस्तेषामिति। अथैवं कादाचित्कत्वमपि घटाऽऽदिस्वभावत्वादेव हेतुं विनाऽपि गमनाऽऽदिव्यावृत्तमस्त्विति चेत्। न। कादाचित्कत्वस्याऽवधिनियतत्वात् सन्त्यवधयो, न त्वपेक्ष्यन्त इति चेत्। न। नियतपश्चाद्भावित्वस्यैवापेक्षार्थत्वात्। अन्यथा गर्दभाद् धूम इत्यपि प्रतीयेत, तन्नियतत्वेऽपि तद्गतोपकाराजनकस्य कथं तद्धेतुत्वमिति चेत्? उपकारो हि कार्यमिति तद्गतकार्यहेतुत्वस्य तद्धेतुत्वेऽतन्त्रत्वात्। अन्यथोपकारहेतुत्वाच्चोपकारेऽप्युपकारान्तरस्वीकारेऽनवस्थाऽऽपत्तेः, तर्हि घटादिति नियतत्वं कपालाऽऽदायेव, न तन्तावितिः कुत इति चेत्? स्वभावादिति गृहाण। अथ तथापि ग्राहकाभावात्तदसिद्धिः, न च धूमाऽऽदौ वह्न्यादेरन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वज्ञानसचिवं वह्न्यादिप्रत्यक्षमेव हेतुहेतुमद्भावग्राहकं, धूममात्रेऽन्वयव्यतिरेकज्ञानासम्भवात् यत्किञ्चिद् धूमे रासभाऽऽदेरपि तथा ज्ञानात् रासभाऽऽदेर्व्यभिचारज्ञानान्न तद्ग्रह इति चेत् न। वह्न्यादेरपि व्यभिचारशङ्कासाम्राल्यादिति। धूमाऽऽद्यर्थिनो वह्न्यादौ प्रवृत्तिश्च संभावनयैवोपपद्यत इति परमतमिति चेत्। न। सामान्यव्यभिचारानुगतागुरु (ग्रह) विशेषान्तरानुपस्थितिदशायां यत्किञ्चिद्धूमवह्न्योस्तद्ग्रहसामग्र्या एव वह्निधूममात्रे तद्ग्राहकत्वात् सति लाघवज्ञाने व्यभिचारशङ्काया अप्रतिबन्धकत्वात्। रासभाऽऽदौ तु व्यभिचारनिर्णय एव। असति तन्निर्णये तत्र धूमहेतुत्वग्रहेऽपि भ्रमत्वमेव, ग्राह्याभावात्। ''अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वं हि हेतुत्वम्।'' तथा च– वह्न्यादेरवधिभूतस्य धूमाऽऽदिनियतपूर्ववर्तित्वादनन्यथासिद्धत्वाच्च तद् दुर्निवारम्। यागाऽऽदृष्टाऽऽदौ स्वर्गाऽऽदिनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताग्रहश्चावच्छेदकविनिर्मोकेण शब्दानुमानाऽऽदिनैव तत्प्रामाण्यस्यापि तत्र व्यवस्थापितत्वात्। तृणाऽरणिमण्यादीनां वह्निकारणताग्रहेऽपीयमेव रीतिः, तृणत्वेन व्यभिचारज्ञानस्य तेनैव रूपेण कारणताग्रहविरोधित्वात्, अवच्छेदकौदासीन्येन तृणत्वसमानाधिकरणकारणताग्रहे विरोधाभावात्। अवच्छेदकरूपानुपस्थितौ कथमवच्छेद्यकारणताग्रहः? कारणतायाः ससंबन्धिकपदार्थत्वेन तत्प्रत्यक्षे संबन्धिज्ञानस्य कारणत्वादिति चेत्। न। 'अयं घटः' इति समवायप्रत्यक्षे व्यभिचारात्। अथ येन समवायत्वाऽऽदिना रूपेण ससंबन्धिकता, तेन रूपेण तत्प्रत्यक्षे तस्य हेतुत्वान्न व्यभिचार इति चेत्। न। तथाऽपि संसबन्धिकताऽवच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेन हेतुत्वमित्यत्र संबन्धिमात्रवृत्तित्वस्यैवावच्छेदकपदार्थत्वात्। प्रकृते चेयंवह्निव्यक्तिस्तृणजन्येति कारणताप्रत्यक्षस्यापि तृणकार्यताऽऽश्रयमात्रवृत्त्येतद्वह्नित्वप्रकारकज्ञानसाध्यत्वसंभवात्। यद्वा–इयं वह्निस्तृणजन्येति प्रत्यक्षस्य एतद्वह्नित्वावच्छिन्नकार्यताऽवगाहित्वे व्यवच्छेदकत्वांशे भ्रमत्वेऽपि कार्यतांशे प्रमात्वान्न कोऽपि दोषः। (१२४) नयो० सम्म०।

णियइकड त्रि०(नियतिकृत) अवश्यंभाव्युदयप्रापिते, सूत्र०१ श्रु० १ अ०२उ०।

णियइकम्म न०(निकृतिकर्मन्) निकृतेर्मायायाः कर्म्म निकृतिकर्म। एकोनत्रिंशे गौणचौर्ये, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

णियइपण्णाण त्रि०(निकृतिप्रज्ञान) निकृतिर्माया, तद्विषये प्रज्ञानं यस्य स तथा। ग्लानः प्रतिचरणीयो मा भवत्विति ग्लानवेषमहं करोमीत्येवमादिविकल्पवति, स०। ''सङ्डे णियइपण्णाणे, कलुसाउलचेयसा। अप्पणो य अबोहीए, महामोहं पकुव्वइ॥१॥'' स० ३० सम०।

णियइपव्वय पुं०(नियतिपर्वत) नियत्या नैयत्येन पर्वता नियतिपर्वताः। नियतपर्वतेषु यत्र वाणमन्तरा देवा देव्यश्च भवधारणीयत्वेन वैक्रियशरीरेण प्रायः सदा रममाणा अवतिष्ठन्त इति। जी०३ प्रति०४ उ० रा०।

णियइवाइ(ण्) पुं०(नियतिवादिन्) सर्वभावानां नियतिकृतत्ववादिनि, नं०। ('णियइ' शब्दे चैषां मतमनुपदमुपपादितम्)

णियंटिय त्रि०(नियन्त्रित) नितरां यन्त्रितं नियन्त्रितमिति। नियते प्रतिज्ञातदिनाऽऽदौ ग्लानत्वाऽऽद्यन्तराभावेऽपि नियमात्कर्त्तव्ये प्रत्याख्यानभेदे, न०। एतच्च प्रथमसंहनिनामेवेत्यभ्यधायि च। स्था० १० ठा०।

मास मासे अ तवो, अमुगो अमुगदिवसम्मि एवइओ।
हट्ठेण गिलाणेण व, कायव्वो जाव उस्सासो॥१०॥

मासे मासे च तपः, अमुकोऽमुकदिवसे, एतावत्षष्ठाऽऽदि, हृष्टेन नीरोगेण, ग्लानेन वा अनीरोगेण, कर्तव्यं, यावदुच्छ्वासो यावदायुरिति गाथासमासार्थः॥१०॥

एअं पच्चक्खाणं, णियंटिअं धीरपुरिसपन्नत्तं।
जं गिण्हंतऽणगारा, अणिस्सिअप्पा अपडिबद्धा॥११॥

एतत्प्रत्याख्यानमुक्तस्वरूपं, नियन्त्रितं धीरपुरुषप्रज्ञप्तं तीर्थकरगणधरप्ररूपितं, यद् गृण्हन्ति प्रतिपद्यन्तेऽनगाराः साधवः, अनिःसृताऽऽत्मानोऽनिदाना अप्रतिबद्धाः क्षेत्राऽऽदिष्विति गाथासमासार्थः॥११॥ आव०६ अ०।

हट्ठेण गिलाणेण व, अमुगतवोऽमुगदिणम्मि नियमेण।
कायव्वो ति णिअंटिअं, पच्चक्खाणं जिणा विंति॥९५॥

हृष्टेन नीरोगेण, ग्लानेन वा सरोगेण, अमुकं तपः षष्ठाष्टमाऽऽदि, अमुकस्मिन् दिने, नियमेन निश्चयेन, मयेति शेषः। (कायव्वो त्ति) कर्त्तव्यं, प्राकृतत्वात् पुंसा निर्देशः, नियन्त्रितमिदं प्रत्याख्यानं, जिना ब्रुवते। इदं च प्रत्याख्यानं न सर्वकालं क्रियते, किं तर्हि, नियतकालमेव।

तथा चाऽऽह–

चउदसपुव्विसु जिणक–प्पिएसु पढमम्मि चेव संघयणे।

एअं वोच्छिन्नं चिअ, थेरा वि तया करेसी य ॥९६॥

चतुर्दशपूर्विषु चतुर्दशपूर्वधरेषु जिनकल्पिकेषु, प्रथम एव संहनने वज्रऋषभनाराचाभिधेये, एतन्नियन्त्रितप्रत्याख्यानं, व्यवच्छिन्नमेव । अत्राऽऽहननु तस्मिन्नपि काले चतुर्दशपूर्वधराऽऽदय एव कृतवन्तः, स्थविरैस्तु न कृतमेवेदामित्याह–(थेरा वि तया करेसी य) स्थविरा अपि तदा पूर्वधराऽऽदिकाले, अकार्षुः, चशब्दादन्येऽप्यस्थविराः प्रथमसंहनिन इति। प्रव०४ द्वार। भ०। आ०चू०। आव०।

णियंठ पुं०(निर्ग्रन्थ) निर्गता ग्रन्थात्सबाह्याभ्यन्तरादिति निर्ग्रन्थाः। साधुषु, ते पञ्चधा–पुलाकः, वकुशः, कुशीलः, निर्ग्रन्थः, स्नात–कश्चेति । तत्र निर्ग्रन्थः निर्गतो मोहनीयकर्मलक्षणाद् ग्रन्थादिति निर्ग्रन्थः । ध०३अधि०। भ०। (सर्वेऽप्येते 'णिग्गंथ' शब्देऽस्मि–न्नेव भागे २०३४ पृष्ठे प्रतिपादिताः)

णियंठे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा–पढमसमयणियंठे, अपढमसमयणियंठे, चरिमसमयणियंठे, अचरिमसमयणियंठे, अहासुहुमनियंठे णामं पंचमे ॥

''णियंठे'' इत्यादि सुगमम् । नवरम् अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणाया निर्ग्रन्थाद्धायाः प्रथमे समये वर्त्तमान एकः, शेषेषु द्वितीयः, अन्तिमे तृतीयः, शेषेषु चतुर्थः, सर्वेषु पञ्चम इति विवक्षया भेद एषामिति। स्था०५ ठा०३ उ०। दरिद्रे, उत्त० १२ अ०।

णियंठिपुत्त पुं०(निर्ग्रन्थिपुत्र) पेढालविद्याधरेण सुज्येष्ठाभिधानायां साध्व्यामुत्पादिते सत्यकौ, स्था०१० ठा०।

तद्वृत्तं चेत्थम्–

''सत्यकिः खेचरः कोऽसौ, तदुत्पत्तिर्निगद्यते ॥(३०)
चेटकस्यैव सुज्येष्ठा, सुताऽऽसीत्प्राव्रजच्च सा।
उपाश्रयाङ्गणे नित्यं, कायोत्सर्गं ददाति च ॥३१॥
इतः परिव्राट् पेढालो, विद्यासिद्धो नभश्चरः।
तनयं ब्रह्मचारिण्याः, विद्यां दातुं निरीक्षते ॥३२॥
कायोत्सर्गस्थितां दृष्ट्वा, सुज्येष्ठां ब्रह्मचारिणीम्।
कृत्वा स धूम्या व्यामोहं, वीर्यं तस्यां न्यवेशयत् ॥३३॥
जाते गर्भेऽतिशयिभिः,ख्यातमस्या न विक्रिया ।
अथैधत श्राद्धगृहे, तत्सूनुर्वन्दितुं प्रभुम् ॥३४॥
संयतीभिः समं यातः, कालसंदीपकस्तदा।
अप्राक्षीन्मे कुतो भीतिः, स्वाम्याख्यत्सत्यकेरितः॥३५॥
तत्पार्श्वेऽथ स गत्वोचे, त्वं रे ! मां मारयिष्यसि?
इत्युदित्वा हठादात्म–पादयोस्तमपातयत् ॥३६॥
वयस्थोऽथ परिव्राजा, ह्रत्वा विद्याः स शिक्षितः।
रोहिणीं साधयन् पश्च, भवान् स मारितस्तया ॥३७॥
षष्ठे षण्मासशेषाऽऽयुः, सिद्ध्यन्तीं तां स नेष्टवान्।
सप्तमे च भवे तां स, साधनायोपचक्रमे ॥३८॥
शवं चितास्थं प्रज्वाल्य, तस्योपर्यार्द्रचर्म च।
विस्तार्य वामाङ्घ्रिष्ठेन, तत्र तज्ज्वलनावधि ॥३९॥
तस्य संक्रम्यमाणस्य, कालसंदीपकस्तदा।
चिक्षेपाऽऽगत्य काष्ठानि, सप्तरात्रे गते ततः ॥४०॥
देवता स्वयमेत्योचे, विघ्नमेतस्य मा कृथाः।
सिद्ध्याम्यस्याहमूचे तं, कस्मिन्नङ्गे विशामि ते? ॥४१॥
तेनादर्शयलकं, तत्राऽविशत्तत्राभवद्विलम्।
सा तुष्टा तद् व्याधान्नेत्रं, स त्रिनेत्रोऽथ विश्रुतः ॥४२॥
धर्षिताऽनेन साध्वीति, पेढालस्तेन मारितः।
ततो रुद्राभिधः सोऽभू–त्कालं संदीपकं ततः ॥४३॥
सिधांसौ तत्र सोऽनश्य–दूर्द्धाधः स तमन्वगात्।
सोऽथो विकृत्य त्रिपुरं, पाताले लावणेऽनशत् ॥४४॥
दग्ध्वा तन्मारयित्वा तं, स विद्याचक्रवर्त्यभूत्।
सर्वास्तीर्थकृतो नत्वा, त्रिसन्ध्यं नाट्यपूर्वकम् ॥४५॥
रमते सोऽथ शक्रस्तं, महेश्वराभिधं व्यधात्।
स विप्रद्वेषतस्तेषां, विध्वंसयति कन्यकाः ॥४६॥
अन्तःपुरीभिर्भूपानां, स्वस्त्रीभिरिव खेलति।
तस्य शिष्यद्वयं जज्ञे, नन्दी नन्दीश्वरस्तथा ॥४७॥
स पुष्पकविमानेन, नभसा सर्वतोऽभ्रमत्।
अन्यदोज्जयिनीपुर्यां , चण्डप्रद्योतभूभुजः ॥४८॥
अन्तःपुरं विदध्वंसे, शिवां देवीं विनाऽखिलम्।
सोऽथ दध्यौ विनाश्योऽयं, दुर्द्धरः खेचरः कथम्? ॥४९॥
तत्रैवाऽसीदुमा नाम, गणिका रूपशालिनी।
दृष्ट्वाऽऽयान्तं महेशं सा, धूपं तं प्रत्युदक्षिपत् ॥५०॥
सोऽन्यदाऽवातरत्तत्र, तस्या हस्तेऽम्बुजद्वयम्।
स्मेरं च मुकुलं चेशः, स्मेरहस्तमवाहयत्(?) ॥५१॥
मुकुलं साऽपर्यन्त्यूचे, योग्योऽसि त्वममूदृशः।
न स्मेरकमलप्रायाः, मादृशाः पुनरीक्षसे ॥५२॥
तदुक्तिरञ्जितस्तत्र, तया सार्द्धमुवास सः।
एकान्ते साऽन्यदाऽप्राक्षी–द्विद्याः स्युर्नान्तिके कदा?॥५३॥
सोऽवदन्मैथुनाऽऽसङ्गे , तया राज्ञो न्यवेद्यत।
राजोचेऽसौ तदा मार्य–स्त्वं रक्ष्या प्रत्ययाय च ॥५४॥
पत्रं तदुदरे दत्त्वा, खड्गेन च्छेदितं भटैः।
मार्या त्वियमपीत्युक्त्वा, प्रच्छन्नाः स्थापिता भटाः ॥५५॥
मारितस्तैस्तदासक्त–स्तया सह स खेचरः।
ततो नन्दीश्वरस्ताभि–र्विद्याभिः समधिष्ठितः ॥५६॥
शिलां व्योम्नि विकृत्योच्चै हीहताश ! हनिष्यसे।
तमथाऽक्षमयद्भीतो, राजाऽऽर्द्रपटशाटकः ॥५७॥
सोऽवदच्चेदिदं युग्म–मेतद्रूपं पुरे पुरे।
विधाप्याऽऽयतनेऽर्चध्वे, ततो मुञ्चामि नान्यथा ॥५८॥
तत्प्रपेदे नरेन्द्रोऽथ, सर्वत्रापि व्यधापयत्।
तत्प्रासादान्महोच्छ्राया–नेतस्योत्पत्तिरीदृशी''॥५९॥ आ०क०।
स चोत्सर्पिण्यां जगत्प्रदीपो नाम तीर्थकरो भविष्यति।
प्रव० ३६ द्वार। वीरजिनाऽनगारभेदे, भ०।

स च नारदपुत्रेण पृष्टः पुद्गलान् व्याकरोदित्युच्यते–

तेणं कालेणं तेणं समएणं०जाव परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी णारयपुत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए०जाव विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स० जाव अंतेवासी नियंठिपुत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विहरइ। तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे जेणा मेव नारयपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी–सव्वे पोग्गल त्ति अज्जो ! किं सअट्ठा, समज्झा, सपएसा? उदाहु–अणट्ठा, अमज्झा, अपएसा? अज्जो ! त्ति

नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वयासी– सव्वे पोग्गला मे अज्जो ! सअड्ढा, समज्झा,सपएसा;नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा । तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी–जइ णं ते अज्जो ! सव्वे पोग्गला सअड्ढा, समज्झा,सपएसा, नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा । किं दव्वादेसेणं अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा, नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा। खेत्तादेसेणं अज्जो ! सव्वपो–ग्गला सअड्ढा० तहेव चेव; कालादेसेणं तं चेव, भावादेसेणं अज्जो ! तं चेव। तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वयासी–दव्वादेसेण वि मे अज्जो ! सव्वपोग्गला असड्ढा, समज्झा, सपएसा; नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा।खेत्ता–एसेण वि, कालाएसेण वि, भावाएसेण वि । तए णं से नियंठि–पुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी–जइ णं अज्जो ! दव्वाएसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा; नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा। एवं ते परमाणुपोग्गले वि असड्ढे, समज्झे, सपएसे; णो अणड्ढे, अमज्झे, अपएसे। जइ णं अज्जो! खेत्ताएसेण वि सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा०जाव एवं ते एगपएसोगाढे वि पोग्गल सअड्ढे, समज्झे, सपएसे । जइ णं अज्जो ! कालाएसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा । एवं ते एगसमयट्ठिइए वि पोग्गले सअड्ढे, समज्झे, सपएसे। तं चेव जइ णं अज्जो ! भावाएसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढे ३,एवं एगगुणकालए वि पोग्गले सअड्ढे ३ तं चेव, अह ते एवं न भवंति, तो जे वयसि दव्वाएसेण वि सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा; नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा । एवं खेत्ताएसेण वि, कालाएसेण वि, भावाएसेण वि। तं णं मिच्छा। तए णं से नारयपुत्ते अणगारे सियंठिपुत्तं अणगारं एवं वयासी– नो खलु एयं देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं जाणामो, पासामो । जइ णं देवाणुप्पिया ! नो गिलायंति परिकहित्तए, तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म जाणित्तए। तए णं से णियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासीदव्वा–एसेण वि अज्जो ! सव्वपोग्गला सपएसा वि, अपएसा वि अणंता; खेत्ताएसेण वि एवं चेव, कालाएसेण वि, भावाएसेण वि एवं चेव।

(दव्वादेसेणं ति) द्रव्यप्रकारेण,द्रव्यत इत्यर्थः । परमाणुत्वाऽऽ–द्याश्रित्येति यावत्। (खेत्तादेसेणं ति) एकप्रदेशावगाढत्वाऽऽदिनेत्यर्थः। (कालादेसेणं ति) एकाऽऽदिसमयस्थितिकत्वेन । (भावादेसेणं ति) एकगुणकालकत्वाऽऽदिना । (सव्वपोग्गला स पएसा वीत्यादि) इह च यत्सविपर्ययसार्द्धाऽऽदिपुद्गलविचारे प्रक्रान्ते सप्रदेशा अप्रदेशा एव ते प्ररूपिताः, तत्तेषां प्ररूपणे सार्द्धत्वाऽऽदि प्ररूपितमेव भवतीति कृत्येत्यवसेयम्। तथाहि– सप्रदेशाः सार्द्धाः, समध्या वा। इतरे त्वनर्द्धाः, अमध्याश्चेति। (अणंत त्ति) तत्परिमाणज्ञापनपरं तत्स्वरूपाभिधानम्।

अथ द्रव्यतोऽप्रदेशस्य क्षेत्राऽऽद्याश्रित्याप्रदेशाऽऽदित्वं निरूपयन्नाह–

जे दव्वओ अपएसे से खेत्तओ नियमा अपएसे; कालओ सिय सपएसे, सिय अपएसे; भावओ सिय सपएसे, सिय अपएसे।

(जे दव्वओ अपएसे इत्यादि) यो द्रव्यतोऽप्रदेशः परमाणुः, स च क्षेत्रतो नियमादप्रदेशो, यस्मादसौ क्षेत्रस्यैकत्रैव प्रदेशेऽवगाहते, प्रदेशद्वयाऽऽ–द्यवगाहे तु तस्याप्रदेशत्वमेव न स्यात्। कालतस्तु यद्यसावेकसमय–स्थितिकस्तदाऽप्रदेशोऽनेकसमयस्थितिकस्तु सप्रदेश इति । भावतः पुनर्यद्येकगुणकालकाऽऽदिस्तदाऽप्रदेशो, द्विगुणकालकाऽऽदिस्तु सप्रदेश इति निरूपितो द्रव्यतोऽप्रदेशः।

अथ क्षेत्रतोऽप्रदेशं निरूपयन्नाह–

जे खेत्तओ अपएसे–से दव्वओ सिय सपएसे, सिय अपएसे; कालओ भयणाए, भावओ भयणाए, जहा खेत्तओ एवं कालओ, भावओ। जे दव्वओ सपएसे–से खेत्तओ सिय सपएसे, सिय अपएसे। एवं कालओ, भावओ वि। जे खेत्तओ सपएसे–से दव्वओ नियमा सपएसे, कालओ भयणाए, भावओ भयणाए, जहा दव्वओ तहा कालओ, भावओ वि।

(जे खेत्तओ अपएसे इत्यादि) यः क्षेत्रतोऽप्रदेशः स द्रव्यतः स्या–त्सप्रदेशः, द्व्यणुकाऽऽदेरप्येकप्रदेशावगाहित्वात् । स्यादप्रदेशः, परमाणोरप्येकप्रदेशावगाहित्वात्। (कालओ भयणाए त्ति) क्षेत्रतो–ऽप्रदेशो यः स कालतो भजनया अप्रदेशाऽऽदिर्वाच्यः । तथाहि– एकप्रदेशावगाढ एकसमयस्थितिकत्वादप्रदेशोऽपि स्यादनेकसम–यस्थितिकत्वाच्च सप्रदेशोऽपि स्यादिति । (भावओ भयणाए त्ति) क्षेत्रतोऽप्रदेशो योऽसावेकगुणकालकाऽऽदित्वादप्रदेशोऽपि स्याद–नेकगुणकालकाऽऽदित्वाच्च सप्रदेशोऽपि स्यादिति। अथ काला–प्रदेशं, भावाप्रदेशं च निरूपयन्नाह–(जहा खेत्तओ, एवं कालओ, भावओ त्ति) यथा क्षेत्रतोऽप्रदेश उक्तः, एवं कालतो भावतश्चासौ वाच्यः। तथाहि–(जे कालओ अपएसे, से दव्वओ सिय सपएसे, सिय अपएसे) एवं क्षेत्रतो, भावतश्च । तथा–(जे भावओ अपएसे से दव्वओ सिय सपएसे, सिय अपएसे) एवं क्षेत्रतः, कालतश्चेति। उक्तोऽप्रदेशः। अथ सप्रदेशमाह–(जे दव्वओ सपएसे इत्यादि) अयमर्थः यो द्रव्यतो द्व्यणुकाऽऽदित्वेन सप्रदेशः, स क्षेत्रतः स्यात्सप्रदेशो द् व्यादिप्रदेशावगाहित्वात्, स्यादप्रदेश एकप्रदेशावगाहित्वात्। एवं कालतो, भावतश्च। तथायः क्षेत्रतः सप्रदेशा द्व्यादिप्रदेशावगाहित्वात् स द्रव्यतः सप्रदेश एव, द्रव्यतोऽप्रदेशस्य द्विप्रदेशावगाहासम्भवात् । कालतो, भावतश्चासौ द्विधाऽपि स्यादिति। तथा यः कालतः सप्रदेशः, स द्रव्यतः, क्षेत्रतो, भावतश्च द्विधाऽपि स्यात्। तथा यो भावतः स प्रदेशः, स द्रव्यक्षेत्रकालैर्द्विधाऽपि स्यादिति सप्रदेशसूत्राणां भावार्थ इति।

अथैषामेव द्रव्याऽऽदितः सप्रदेशाप्रदेशानामल्पबहुत्वविभाम-माह-

एएसि णं भंते ! पोग्गलाणं दव्वादेसेणं खेत्तादेसेणं कालादेसेणं भावादेसेणं सपएसाणं अपएसाण य कयरे कयरे अप्पा वा, बहुया वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया वा ? नारयपुत्ता ! सव्व-त्थोवा पोग्गला भावादेसेणं अपएसा, कालादेसेणं अपएसा असंखेज्जगुणा; दव्वादेसेणं अपएसा असंखेज्जगुणा; खेत्तादेसेणं अपएसा असंखेज्जगुणा, खेत्तादेसेणं चेव सपएसा असंखेज्जगुणा; दव्वादेसेणं सपएसा विसेसाहिया; कालादेसेणं सपएसा विसेसाहिया; भावादेसेणं सपएसा विसेसाहिया । तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेइ, खामेइत्ता संजमेण० जाव विहरइ ॥

''एएसि णं'' इत्यादि सूत्रसिद्धं, नवरम् अस्यैव सूत्रोक्ताल्प बहुत्वस्य भावनार्थं गाथाप्रपञ्चो वृद्धोक्तोऽभिधीयते-

''वोच्छं अप्पाबहुयं, दव्वे खेत्तऽद्धभावओ यावि।
अपएससप्पएसा-ण पोग्गलाणं समासेणं ॥१॥
दव्वेणं परमाणू, खेत्तेणेगप्पएसमोगाढा।
कालेणेगसमइया, अपएसा पोग्गला होंति ॥२॥
भावेणं अपएसा, एगगुणा जे हवंति वन्नाइ।
ते चिय थोवा जं गुण-बाहुल्लं पायसो दव्वे'' ॥३॥

वर्णाऽऽदिभिरित्यर्थः ।

द्रव्ये प्रायेण द्व्यादिगुणा अनन्तगुणान्ताः कालकत्वाऽऽदयो भवन्ति, एकगुणकालकाऽऽदयस्त्वल्पा इति भावः ।

''एत्तो कालाएसे-ण अप्पएसा भवे असंखगुणा।
किं कारणं पुण भवे, भण्णइ परिणामबाहुल्ला?'' ॥४॥

अयमर्थः-यो हि यस्मिन् समये यद्वर्णगन्धरसस्पर्शसङ्घातभेदसूक्ष्मत्वबादरत्वाऽऽदिपरिणामान्तरमापन्नः, स तस्मिन् समये तदपेक्षया कालतोऽप्रदेश उच्यते । तत्रैवैकसमयस्थितिरित्यन्ये, परिणामाश्च बहव इति प्रतिपरिणामं कालाप्रदेशसम्भवात्तद् बहुत्वमिति ।

एतदेव भाव्यते-

''भावेणं अपएसा, जे ते कालेण होंति दुविहा वि।
दुगुणाऽऽदओ वि एवं, भावेणं जावऽणंतगुणा'' ॥५॥

भावतो येऽप्रदेशा एकगुणकालकत्वाऽऽदयो भवन्ति, ते कालतो द्विविधा अपि भवन्ति; सप्रदेशाः, अप्रदेशाश्चेत्यर्थः । तथा भावेन द्विगुणाऽऽदयोऽपि अनन्तगुणान्ता एवमिति द्विविधा भवन्ति ।

ततश्च-

''कालप्पएसयाणं, एवं एक्केक्कओ भवइ रासी।
एक्केक्कगुणट्ठाण-म्मि एगगुणकालयाईसु'' ॥६॥

एकगुणकालकाऽऽदिषु गुणस्थानकेषु मध्ये एकैकस्मिन् गुणस्थानके कालाप्रदेशानामेकैको राशिर्भवति । ततश्चानन्तत्वाद् गुणस्थानकराशीनामनन्ता एव कालाप्रदेशराशयो भवन्ति ।

अथ प्रेरकः-

''आहाऽणंतगुणत्ताण-मेवं कालापएसयाणं ति।
जमणंतगुणट्ठाणे-सु होंति रासी वि हु अणंता'' ॥७॥

(एवमिति) यदि प्रतिगुणस्थानकं कालाप्रदेशराशयोऽभिधीयन्त इति ।

अत्रोत्तरम्-

''भण्णति एगगुणाण वि, अणंतभागम्मि जं अणंतगुणा।
तेणासंखगुण च्चिय, भवंति नाणत्तगुणियत्तं'' ॥८॥

अयमभिप्रायः-यद्यप्यनन्तगुणकालत्वाऽऽदीनामनन्ता राशयस्तथाऽप्येकगुणकालत्वाऽऽदीनामनन्तभाग एव ते वर्तन्त इति, न तद्द्वारेण कालाप्रदेशानामनन्तगुणत्वम्, अपि त्वसङ्घातगुणत्वमेवेति।

''एवं ता भावमिणं, पडुच्च कालापएसया सिद्धा।
परमाणुपोग्गलाइसु, दव्वे वि हु एस चेव गमो'' ॥९॥

एयं तावद्भावं वर्णाऽऽदिपरिणामभिममुक्तरूपमेकाऽऽद्यनन्तगुणस्थानवर्तिनमित्यर्थः । प्रतीत्य कालाप्रदेशकाः पुद्गलाः सिद्धाः कालाप्रदेशभावाः पुद्गलाः सिद्धाः प्रतिष्ठिता द्रव्येऽपि द्रव्यपरिणाममप्यङ्गीकृत्य परमाण्वादिष्वेक एव भावपरिणामोक्त एव गमः । व्याख्या-

''एमेव होइ खेत्ते, एगपएसाऽवगाहणाईसु।
ठाणंतरसंकंतिं, पडुच्च कालेण मग्गणया'' ॥१०॥

एवमेव द्रव्यपरिणामवद्भवति, क्षेत्रे क्षेत्रमधिकृत्य, एकप्रदेशावगाढाऽऽदिषु पुद्गलभेदेषु स्थानान्तरगमनं प्रतीत्य कालेन कालाप्रदेशानां मार्गणा, यथा क्षेत्रत एवमवगाहनाऽऽदितोऽपीत्येतदुच्यते।

''संकोय विकोयं पि हु, पडुच्च ओगाहणाइ एमेव।
तह सुहुमबायरथिरे-यरेयसद्दाइपरिणामं'' ॥११॥

अवगाहनायाः सङ्कोचं विकोचं च प्रतीत्य कालाप्रदेशाः स्युः। तथा सूक्ष्मबादरस्थिरास्थिरशब्दमनः कर्माऽऽदिपरिणामं च प्रतीत्येति।

''एवं जो सव्वो च्चिय, परिणामो पोग्गलाण इह समए।
तं तं पडुच्च एसिं, कालेणं अप्पएसत्तं'' ॥१२॥

(एसिं ति) पुद्गलानामित्यर्थः ।

''कालेण अप्पएसा, एवं भावा पएसएहिंतो।
होंतिं असंखेज्जगुणा, सिद्धा परिणामबाहुल्ला ॥१३॥
एत्तो दव्वादेसे-ण अप्पएसा हवंति संखगुणा।
के पुण ते परमाणू, कह ते बहुय त्ति तं सुणसु? ॥१४॥
अणुसंखेज्जपएसिय, असंखऽणंतप्पएसिया चेव।
चउरो च्चिय रासी पो-ग्गलाण लोए अणंताणं ॥१५॥
तत्थाऽणंतेहिंतो, सुत्तेणं तप्पएसिएहिंतो।
जेण पएसट्ठाए, भणिया अणवो अणंतगुणा'' ॥१६॥

अनन्तेभ्योऽनन्तप्रदेशिकस्कन्धेभ्यः प्रदेशार्थतया परमाणवोऽनन्तगुणाः सूत्रे उक्ताः । सूत्रं चेदम्-''सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए ते चेव, पएसट्ठयाए अणंतगुणा, परमाणुपोग्गला दव्वट्ठपएसट्ठयाए अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, असंखिज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुण त्ति।''

''संखेज्जइमे भागे, संखेज्जपएसिया ण वट्टंति।
नवरमसंखेज्जपए-सियाण भागे असंखइमे'' ॥१७॥

संख्येयतमे भागे संख्यातप्रदेशिकानामसंख्येयतमते भागे संख्यातप्रदेशिकानामणवो वर्तन्ते, उक्तसूत्रप्रामाण्यादिति ।

''सइवि अ संखेज्जपए–सियाण तेसिं असंखभायत्ते।
बाहुल्लं साहिज्जइ, फुडमवसेसाहि रासीहि'' ॥१८॥

संख्यातप्रदेशिकानन्तप्रदेशिकाऽभिधानाभ्यामिह च संख्यात–प्रदेशिकराशेः संख्यातभागवृत्तित्वात्तेषां स्वरूपतो बहुत्वमवगम्यते, अन्यथा तस्याप्यसंख्येयभागेऽनन्तभागे वा तेऽभविष्यन्निति।

''जेणेक्करासिणो चिय, असंखभागे न सेसरासीणं।
तेणासंखेज्जगुणा, अणवो कालापएसेहिं'' ॥१६॥

न शेषराइयोरित्यस्यायमर्थः–अनन्तप्रदेशिकराशेरनन्तगुणास्ते, संख्यातप्रदेशिकराशेस्तु संख्यातभागे संख्यातभागस्य च विवक्षया नात्यन्तमल्पताऽतः कालतः सप्रदेशेष्वप्रदेशेषु च वृत्तिमतामणूनां बहुत्वात्कालाप्रदेशानां च सामायिकत्वेनात्यन्तमल्पत्वात्काला–प्रदेशेभ्योऽसंख्यातगुणत्वं द्रव्याप्रदेशानामिति।

''एत्तो असंखगुणिया, हवंति खेत्ता पएसया समए।
जं ते ता सव्वे चिय, अपएसा खेत्तओ अणवो ॥२०॥
दुपएसियाइएसु वि, पएसपरिवड्ढिएसु ठाणेसु।
लब्भइ एक्केक्को चिय, रासी खेत्तापएसाणं ॥२१॥
एत्तो खेत्ताएसे–ण चेव सपएसया असंखगुणा।
एगपएसोगाढे, मोत्तुं सेसाबगाहणया ॥२२॥
ते पुण दुपएसोगा–हणाइया सव्वपोग्गला सेसा।
ते य असंखेज्जगुणा, अवगाहणठाणबाहुल्ला ॥२३॥
दव्वेण होंति एत्तो, सपएसा पोग्गला विसेसहिया।
कालेण य भावेण य, एमेव भवे विसेसहिया ॥२४॥
भावाईया वुड्ढी, असंखगुणिया जमप्पएसाणं।
तो सप्पएसियाणं, खेत्ताइविसेसपरिवुड्ढी'' ॥२५॥

एतद्भावना च वक्ष्यमाणस्थापनातोऽवसेया।

''मीसाण संकमं पइ, सपएसा खेत्तओ असंखगुणा।
भणिया सट्ठाणे पुण, थोव चिय ते गहेयव्वा'' ॥२६॥

मिश्राणामित्यप्रदेशसप्रदेशानां मीलितानां संक्रमं प्रति अप्रदेशेभ्यः सप्रदेशेष्वल्पबहुत्वविचारसंक्रमे क्षेत्रतः सप्रदेशाः असंख्येयगुणाः, क्षेत्रतोऽप्रदेशेभ्यः सकाशात् स्वस्थाने पुनः केवलसप्रदेशचिन्तायां स्तोका एव ते क्षेत्रतः सप्रदेशा इति।

एतदेवोच्यते–

''खेत्तेण सप्पएसा, थोवा दव्वद्धभावओ अहिया।
सपएसऽप्पाबहुयं, सट्ठाणे अत्थओ एवं'' ॥२७॥

अर्थत इति व्याख्यानापेक्षया।

''पढमं अपएसाणं, बीयं पुण होइ सप्पएसाणं।
तइयं पुण मीसाणं, अप्पबहू अत्थओ तिन्नि'' ॥२८॥

अर्थतो व्याख्यानद्वारेण त्रीण्यल्पबहुत्वानि भवन्ति। सूत्रे त्वेकमेव मिश्राल्पबहुत्वमुक्तमिति।

''ठाणे ठाणे वड्ढइ, भावाईणं जमप्पएसाणं।
तं चिय भावाईणं, परिभस्सइ सप्पएसाणं'' ॥२९॥

यथा किल कल्पनया लक्षं समस्तपुद्गलाः, तेषु भावकालद्रव्य–क्षेत्रतोऽप्रदेशाः क्रमेण एकद्विपञ्चदशसहस्रसङ्ख्याः सप्रदेशास्तु नव–नवत्यष्टनवतिपञ्चनयतिनवतिसहस्रसङ्ख्याः ततश्च भावाप्रदेशेभ्यः कालाप्रदेशेषु सहस्रं वर्द्धते, ततदेवं भावसप्रदेशेभ्यः कालसप्रदेशेषु हीयत इत्येवमन्यत्रापीति।

''अहवा खेत्ताईणं, जमप्पएसाण हायए कमसो।
तं चिय खेत्ताईणं, परिवड्ढइ सप्पएसाणं ॥३०॥
अवरोप्परप्पसिद्धा, वुड्ढी हाणी य होइ दोण्हं पि।
अपएससप्पएसा–ण पोग्गलाणं स लक्खणओ ॥३१॥
ते चेव य ते चउहिँ वि, जमुवचरिज्जंति पोग्गला दुविहा।
तेण वुड्ढी हाणी, तेसिं अन्नोन्नसंसिद्धा ॥३२॥''

चतुर्भिरिति भावकालाऽऽदिभिरुपचर्यन्त इति विशेष्यन्ते।

''एएसिं रासीणं, निदरिसणम्मि णं भणामि पच्चक्खं।
वुड्ढीए सव्वपोग्गल, जावं तावाण लक्खाओ'' ॥३३॥

कल्पनया यावन्तः सर्वपुद्गलास्तावन्तो लक्षा इति।

''एक्कं च दो य पंच य, दस य सहस्साइँ अप्पएसाणं।
भावाईणं कमसो, चउण्ह वि जहोवइट्ठाणं ॥३४॥
णउइ पंचाणउई, अट्ठाणउई तहेव नवनउई।
एवइयाइ सहस्सा–इँ सप्पएसाण विवरीयं ॥३५॥
एएसिं जहसंभव–मत्थोवणयं करिज्ज रासीणं।
सब्भावओ य जाणे–ज्ज ते अणंते जिणाभिहिए'' ॥३६॥

भ०५ श०८ उ०।

णियंठिया स्त्री०(नैर्ग्रन्थिकी) निर्ग्रन्थो भगवाँस्तस्येयं नैर्ग्रन्थिकी। तीर्थकरकृतायाम्, ''जं छन्नं तन्न वत्तव्वं, एसा आणा नियंठिया।'' सूत्र०१ श्रु० ६ अ०। द्वी०।

णियंसण न०(निवसन) परिधाने, औ०। उत्त०। जीवा०।

णियंसणा स्त्री०(निदर्शना) ''अभवद् वस्तुसंबन्ध उपमा परिकल्पिता, निदर्शना'' इति मम्मटोक्ते, असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिलक्षणे वा अर्थालङ्कारभेदे, प्रति०।

णियंसित्ता अव्य०(न्पुष्य) परिधायेत्यर्थे, ''देवदूसजुगलं नियंसित्ता अगेहिं वरेहि य मल्लेहि य अच्चेइ।'' जी०३ प्रति०२ उ०। रा०।

णियग पुं०(निजक) स्वकीये पुत्राऽऽदौ, पञ्चा०१० विव०। नि०। स्वजने, नि०चू० २उ०। आत्मीये बान्धवे, सुहृदि च। आ०चा० १ श्रु० २ अ०१उ०।

णियगपरिवाल पुं०(निजकपरिवार) आत्मीयपरिवारे, ''णिय–गपरिवालेण सद्धिं संपरिवुडे।'' रा०। औ०।

णियच्छइत्ता अव्य०(नियम्य) अवश्यतया प्राप्येतयर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ०१ उ०। निश्चयेनावतीर्य युक्त्वेत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२ उ०।

णियजोगपवित्ति स्त्री०(निजयोगप्रवृत्ति) आत्मीयमनः प्रवृत्तौ, ''अण्णे णियजोगपवित्तीओ य।'' निजयोगानामाचार्यसत्कमनः प्रभृतीनां प्रवृत्तिः प्रवर्त्तनं निजयोगप्रवृत्तिः। पञ्चा० २ विव०।

णियट्टपग इअहिगार पुं०(निवृत्तप्रकृत्यधिकार) आधिधार्मिके बोधिसत्त्वे, ध०१ अधि०।

णियट्टमाण त्रि०(निवर्त्तमान) व्यावर्त्तमाने, आचा०१ श्रु० ६ अ०४ उ०।

णियट्टि स्त्री०(निवृत्ति) 'वृतु' वर्तने इत्यस्य निपूर्वस्य क्तिनि निवर्त्तनं निवृत्तिः। त्यागे, प्रतिक्रमणे, आव०।

सा च षोडा। यत आह–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य।

एसो अ णियट्टीए, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥

तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यनिवृत्तिस्तापसाऽऽदीनां हलकृष्टाऽऽदिनिवृत्तिरित्याद्यखिलो भावार्थः स्वबुध्या वक्तव्यो, यावत्प्रशस्तभावनिवृत्त्येहाधिकारः। आव०४ अ० भावनिवृत्तिः प्रतिक्रमणम्। आ०चू०१ अ० आ०म०।

इदानीं निवृत्तौ दृष्टान्तः–

''एकत्र नगरे शाला–पतिः शालासु तस्य च।
धूर्ता वसन्ति तेष्वेको, धूर्तो मधुरगीः सदा ॥१॥
कुविन्दस्य सुता तस्य, तेन सार्द्धमयुज्यत।
तेनोचे साऽथ नश्यामो, यावद्वेत्ति न कश्चन ॥२॥
तयोचे मे वयस्याऽस्ति, राजपुत्री तथा समम्।
संकेतोऽस्ति यथा द्वाभ्यां, पतिरेकः करिष्यते ॥३॥
तामप्यानय तेनोचे, साऽथ तामप्यचालयत्।
तदा प्रत्यूषे महति, गीतं केनचनाऽप्यदः ॥४॥''

''जइ फुल्ला कणिआरया, चूअय! अहिमासयम्मि घुट्टम्मि।
तुह न खडं फुल्लेउं, जइ पच्चंता करिंति डमराइं (न क्षमं न युक्तं, प्रत्यन्ता नीचकाः, डमराणि विल्पवरूपाणि, शेषं स्पष्टम्।)॥१॥''

श्रुत्वैवं राजकन्या सा, दध्यौ चूतमहातरुः।
उपालब्धो वसन्तेन, कर्णिकारोऽधमस्तरुः ॥५॥
पुष्पितो यदि किं युक्तं, तवोत्तम ! ततस्तया।
अधिमासघोषणा किं, न श्रुतेत्यस्य गीः शुभा ॥६॥
चेत्कुविन्दी करोत्येवं, कर्त्तव्यं किं मयाऽपि तत् ?
निवृत्ता सा मिषादत्र–करण्डो मेऽस्ति विस्मृतः ॥७॥
राजसूः कोऽपि तत्राऽह्नि, गोत्रजैस्त्रासितो निजैः।
ततस्तं शरणीचक्रे, प्रदत्ता तेन तस्य सा ॥८॥
तेन श्वशुरसाहाय्या–न्निर्जिन्य निजगोत्रजान्।
पुनर्लेभे निजं राज्यं, पट्टराज्ञी बभूव सा ॥९॥
निवृत्तिद्रव्यतोऽभाणि, भावे चोपनयः पुनः।
कन्यास्थानीया मुनयो, विषया धूर्त्तसंनिभाः ॥१०॥
यो गीतिगानाऽऽचार्योप–देशात्तेभ्यो निवर्त्तते।
सुगतेर्भाजनं स स्याद्, दुर्गतेस्त्वपरः पुनः''॥११॥

''द्वितीयोऽप्यत्र दृष्टान्तो, द्रव्यभावनिवर्तने।
क्वचिद् गच्छे यदा साधुः, क्षमो ग्रहणधारणे ॥१॥
इत्याचार्याः पाठयन्ति, तदादरपरायणाः।
सोऽन्यदोदितदुःकर्मा, निर्गच्छामीति निःसृतः ॥२॥
तदा च तरुणाः शूराः, साभिमानमिदं जगुः।
मङ्गलार्थं च तत्साधुः, सोपयोगः स शुश्रुवान्''॥३॥

''तरिअव्वा य पयन्निआ, मरिअव्वं वा समरे समत्थएणं।
असरिसजणउल्लावा, न हु सहिअव्वा कुलपसूएणं''॥१॥

सूक्तं चैतत्केनापयुक्तम्–

''लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्या–
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाः।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति,
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम्''॥१॥

गीत्यर्थकश्चायम्–

स्वमिसंमानिताः केऽपि, सुभटाः प्राप्तकीर्त्तयः।
रणाद्भग्नाः प्रणश्यन्तो, निजपक्षयशोऽर्थिनः ॥२॥
ऊचिरे केनचिन्नैवं, नष्टाः शोभिष्यथ क्वचित्।
ततः प्रतिनिवृत्तास्ते, परानीकमभञ्जयन् ॥३॥
प्रभुसंमानितास्तेऽथ, शोभन्ते स्म समन्ततः।
एवं गीतार्थमाकर्ण्य, साधुरेवं व्यचिन्तयत् ॥४॥
रणस्थानीया प्रव्रज्या, भग्नोऽहं विदितोऽधुना।
भ्रष्टोऽयमिति हीलिष्ये, जनैरसदृशैरपि ॥५॥
ततः प्रतिनिवृत्तोऽभूद्, दृढधर्मो विशेषतः।
आलोचितप्रतिक्रान्तो, गुरोरिच्छामपूरयत्''॥६॥

आ०क०आव०। आचा०। आ०चू०। समकालप्रतिपन्नानां जीवानामध्यवसायभेदे, स० १४ सम०। क्षीणमोहावस्थायाम्, सूत्र०१ श्रु० ११ अ०।

णियट्टिबायर पुं०(निवृत्तिबादर) निवृत्तिप्रधानो बादरो बादरसंपरायो निवृत्तिबादरः। स०१४ सम०। क्षपकश्रेण्यन्तर्गते क्षीणदर्शनसप्तके अपूर्वकरणाऽऽख्यसप्तमगुणस्थानवर्तिनिजीवग्रामे, आव०४ अ०। ''इदाणिं नियट्टी–जदा जीवो मोहणिज्जं कम्मं खवेति वा, उवसमेति वा, तदा अप्पमत्तसंजतस्स अणंतरपमत्ततरेसु अज्झवसाणट्ठाणेसु वट्टमाणो दंसणमोहणिज्जे कम्मे खवेति, उवसामिते वा०जाव हासरतिअरतिसोगभवदुगुंछाणं उदयवोच्छेदो न भवति, ताव सो भगवं अणगारो अंतोमुहुत्तकालं नियट्टि त्ति भवति।'' आ०चू०४अ० कर्म०। (''अपुव्वकरण'' शब्दे प्रथमभागे ६११ पृष्ठे विस्तर उक्तः)

णियडि स्त्री०(निकृति) नितरां करणं निकृतिः। आदरकरणेन परवञ्चने पूर्वकृतमायाप्रच्छादनार्थे मायान्तरकरणे, भ० १२श०५ उ०। प्रश्न०। आव०। स०। आकारवचनाऽऽच्छादने, व्य०४ उ०। वकवृत्त्या कुक्कुचाऽऽदिकरणेन दम्भप्रधानवणिक्श्रोत्रियसाध्वाकारेण परवञ्चनार्थं गलकर्त्तकानामिवाव स्थाने, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। दशा०। आ०म०। ज्ञा०। स्था०। तं०। वकवृत्त्या कुक्कुचाऽऽदिकरणे, अधिकोपचारकरणेन परच्छलने, (इत्यन्ये) मायाप्रच्छादनार्थं मायान्तरकरणे, (इत्यप्यन्ये) ज्ञा०१ श्रु० १८ अ०। मायायाम्, आव०५ अ०। सूत्र०। व्य०। दशा०।

णियडिल्लया स्त्री०(निकृतिमत्ता) निकृतिर्वञ्चनार्थं चेष्टा, मायाप्रच्छादनार्थं मायान्तरमित्येके। अत्यादरकरणेन परवञ्चनमित्यन्ये। तद्वत्ता। भ० ८ श०६ उ०। निकृतिश्च वञ्चनार्थं कायचेष्टाऽऽद्यन्यथाकरणलक्षणाभ्युपचारलक्षणं वा, तद्वत्ता। निकृतौ, स्था०४ ठा०४ उ०।

णियडिसार त्रि०(निकृतिसार) मायाप्रधाने, पं०व०३ द्वार।

णियण न०(निदान) निर्दलने, ''नियणाऽलुणणमद्दणवावारे बहुविहे दिया काउं।'' बृ०१ उ०।

णियणिय त्रि०(निजनिज) स्वकीयस्वकीये, पञ्चा०२ विव०।

णियणियकाल पुं०(निजनिजकाल) आत्मीयाऽऽत्मीयकाले, प०व०१ द्वार।

णियणियतित्थ न०(निजनिजतीर्थ) स्वकीयस्वकीयप्रवचनावसरे, पञ्चा० ६ विव०।

णियत त्रि०(नियत) निश्चिते, विशे०। सूत्र०। उत्त०। प्रतिनियतस्वरूपे, आ०म०१ अ०१ खण्ड। परिच्छिन्ने, आव०४

अ०। परिमिते, विशे०। शाश्वते, आव० ४ अ०। एकरूपत्वात् (स्था० ५ ठा०३ उ०) शाश्वतत्वात् सर्वकालमवस्थिते, जं०४ वक्ष०।

णियत्त त्रि०(निवृत्त) अपरते, ''परिग्गहारंभनियत्तदोसा।'' उत्त० १४ अ०। ''निवृत्ता जीवितास्तेऽत्र, सर्वेऽप्यन्ये पुनर्मृताः। (५)'' आ०क०।

णियत्तण न०(निवर्तन) भूमिपरिमाणविशेषे, उत्त० १ अ०। आगमने, आव०४ अ०।

णियत्तणसयय न०(निवर्तनशतक) निवर्त्तनं भूमिपरिणामविशेषो देशविशेषप्रसिद्धः, ततो निवर्तनशतं कर्षणीयत्वेन यस्याऽस्ति तन्निवर्त्तनशतकम्। निवर्त्तनशतकर्षके हले, ''पंचहिं हलसएहिं णियत्तणसयएणं हलेणं अवसेसं खेत्तवत्थुं पच्चक्खामि।''उपा०१ अ०।

णियत्तणिय न०(निवर्तनिक) निवर्त्तनं क्षेत्रमानविशेषः, तत्परिमाणं निवर्तनिकम्। निवर्त्तनमावे, निजतनुप्रमाणे, (इत्यन्ये) ''णियत्तणियमंडलं आलिहेत्ता संलेहणाझूसणाझूसियस्स।'' भ०३ श०१ उ०।

णियत्तभाव त्रि०(निवृत्तभाव) निवृत्तपरिणामे अदुष्टाध्यवसाये, ''सुहुमो वि कम्मबंधो, न होइ उ णियत्तभावस्स।'' व्य०२ उ०।

णियत्तमाण त्रि०(निवर्तमान) प्रत्यावर्तने, ''गुरुणा णियत्तमाणे।''व्य०१ उ०।

णियत्ति स्त्री०(निवृत्ति) निवर्त्तने, ''असंजमे णियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।'' उत्त० ३१ अ०।

णियत्थ त्रि०(निवसित) परिहिते, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

णियदोसपज्जणीय त्रि०(निजदोषप्रत्यनीक) स्वकीयरागाऽऽदि-दूषणप्रतिपक्षे, पञ्चा० १० विव०।

णियद्दिय त्रि०(न्यर्दित) नितरामर्दिते, अनुगते, ''अट्ठनियद्दियचित्ता।'' औ०। सू०प्र०।

णियबुद्धि स्त्री०(निजबुद्धि) स्वकीयधियाम्, पञ्चा० १० विव०।

णियम पुं० (नियम) नियमनं नियमः। दर्श०५ तत्त्व अभिग्रहे,निरोधे, पं०चू०। व्रते, संथा०। अभिग्रहविशेषे, संथा०। पञ्चा०। ज्ञा०। औ०। द्रव्यक्षेत्रकालभावेनाभिग्रहप्रहणे, उपा०७अ०। संथा०। महाव्रताऽऽदिरूपे, (सूत्र० १ श्रु०३अ०२उ०) विरमणे, संथा०। आ०म०। पिण्डविशुद्ध्यादिके उत्तरगुणे, प्रश्न०४ सम्ब०द्वार। स०। शौचाऽऽदिके योगिपरिभाषितेऽर्थे ,द्वा०।

नियमाः शौचसन्तोषौ, स्वाध्यायतपसी अपि।
देवताप्रणिधानं च, योगाऽऽचार्यैरुदाहृताः ॥२॥

(नियमा इति) शौचं शुचित्वम्। तद् द्विविधम्--बाह्यम्, आभ्यन्तरं च। बाह्यं--मृज्जलाऽऽदिभिः कायप्रक्षालनम्, आभ्यन्तरंमैत्र्यादिभिश्चित्तमलप्रक्षालनम्। सन्तोषःसन्तुष्टिः। स्वाध्यायः प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपः। तपः--कृच्छ्रचान्द्रायणाऽऽदि। देवताप्रणिधानमीश्वरप्रणिधानं, सर्वक्रियाणां फलनिपेक्षतयेश्वरसमर्पणलक्षणम्। एते योगाऽऽचार्यैः पतञ्जल्यादिभिर्नियमा उदाहृताः। यदुक्तम्--''शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।'' इति। (२-३२) द्वा०२२ द्वा०। इन्द्रियाऽऽदिदमने, नं०। ''अक्रोधो गुरुशुश्रूषा, शौचमाहारलाघवम्। अप्रमादश्चेति ॥।'' द्वा०८ द्वा०। यदाहुर्भागवताः--''उपव्रतानि नियमाः ॥।'' द्वा०८ द्वा०। निश्चये, अव्यभिचारे, विशे०। प्रव०। अवश्यंभावनायाम्, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। पञ्चा०। श्रा०। अवश्यकर्त्तव्यताऽङ्गीकारे, पञ्चा०१ विव०। अवश्यंकरणे, स०६ अङ्ग०। नियोगे, पञ्चा०७ विव०। नियमः पूर्वमीमांसोक्तः--पक्षतः प्राप्तस्य इतरपक्षव्युदासेन एकतरपक्षे व्यवस्थापनम्, यथा--'व्रीहीनवहन्ति।' अत्र वितुषीकरण-साधनभूतस्य नखाऽऽदेरवहननस्य वा उभयोः प्राप्तौ अवघात इव प्रवृत्तिर्व्यवस्थाप्यते व्रते, ''नियमस्तु स यत् कर्मानित्यमागन्तुसाधनम्'' इत्युक्तेऽनित्ये आगन्तुकसाधने उपवासाऽऽदौ कर्मणि, शौचाऽऽदिषु च। वाच०। (विस्तरस्तु वाचस्पत्ये द्रष्टव्यः)

णियमओ अव्य०(नियमतस्) नियोगेनेत्यर्थे, पञ्चा० १० विव०।

णियमण न०(नियमन) संयमे, उद्देसम्मि चउत्थे, समासवयणेण नियमणं भणियं। ''(२) आचा०नि०१ श्रु० ४अ०१उ०। कारणे, आचा०१ श्रु०२ चू०अ०। बन्धने, सूत्र०१ श्रु०८ अ०। उपरमे, ''अदत्तवरदारनियमणेहिं।'' आतु०।

णियमणिप्पकंप न०(नियमनिष्प्रकम्प) नियमेनावश्यंभावेन निष्प्रकम्पमविचलं निरतिचारं यत्तत्तथा। निरपवादे व्रतान्तरं सापवादमपि स्याद्, ब्रह्मचर्यं तु निरपवादमेव।''ण य किंचि अणुन्नायं।'' इत्युक्तेः। प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

णियमप्पहाण त्रि०(नियमप्रधान) विचित्रैरभिग्रहविशेषैरुत्तमे, ते वा नियमा उत्तमा यस्य तस्मिन्, रा०।

णियमसाधग त्रि०(नियमसाधक) नियमेन कार्यकारणाव्यभिचारिणि, पं०सू०४ सूत्र०।

णियमारक्खिय पुं०(नियमारक्षिक) राज्ञः सर्वप्रकृतीर्यो नियमाद् रक्षति स नियमारक्षिकः। श्रेष्ठिनि, नि०चू० ४ उ०।

णियमिय त्रि०(नियमित) अवधृते, विशे०।

णियय त्रि०(निजक) आत्मीये, आव०३ अ०।

***नियत** त्रि०। शाश्वते, सूत्र०१ श्रु०८ अ०। ''णिययया सव्वभावा मंगुलीणं।'' नियताः सर्वभावा यैर्यथा भवितव्यं ते तथैव भवन्ति, न पुरुषकारबलादन्यथा कर्त्तुं शक्यन्ते इति। उपा०६ अ०। ''णिययाऽणिययया भिक्खायरिआ पाणन्नलेवाडं ।।'' भिक्षाचर्या नियताकदाचिदाभिग्रहिकी, अनियताकदाचिदनाभिग्रहिकी।'' बृ०१उ०।

णिययचारि(ण्) त्रि०(नियतचारिन्) अप्रतिबद्धविहारिणि, सूत्र०१ श्रु०७ अ०।

णिययपरिणाम पुं०(निजकपरिणाम) स्वाभिप्राये,''णिययपरिणामा।'' स्वाभिप्रायान्। जीवा० २८ अधि०।

णिययपव्वय पुं०(नियतपर्वत) क०स०। सदा भोग्यत्वेनाव-

स्थितेषु पर्वतेषु,येषु देवा देव्यश्च भवधारणीयेनैव वैक्रियशरीरेण प्रायः सदा रममाणा अवतिष्ठन्ते । रा० । जी०।

णिययपिंड पुं०(नियतपिण्ड) मया एतावद्गातव्यं,भवता तु नित्यमेव ग्राह्यमित्येवं नियततया गृह्यमाणे पिण्डे, स्था० १० ठा०। (नियतपिण्ड-निषेधः 'णितियपिंड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०६७ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

णिययवयणिज्ज त्रि०(निजकवचनीय) स्वांशपरिच्छेद्ये, ''णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वनया वियालणे मोहा।'' सम्म०१ काण्ड।

णिययवास पुं०(नियतवास) विहारकाले विहारमकृत्वा एकत्र वासे, ''जाहे वि अपरितंता, गामागरनगरपट्टणमडंता। तो केइ नियववासी, संगमथेरं ववइसंति ॥११॥'' आव०३ अ०। ('णितियवास' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०६७ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)''भवयमणियतविहारं, णियवविहारं ण ताव साहूणं। कारणनीयावासं, जो सेवे तस्स का वत्ता?'' ॥१॥ महा०४ अ०।

णिययाणियय त्रि०(नियताऽनियत) अवश्यमनवश्यंभाविनि, ''नियया-नियय संतं, अयाणंता अबुद्धिआ ।(४)'' सुखाऽऽदिकं किञ्चिन्नियति-कृतमवश्यंभाव्युदयप्रापितं, तथाऽनियतमात्मपुरुषकारेश्वराऽऽदि-प्रापितं सद् नियतकृतमेवैकान्तेनैवाऽऽश्रयन्त्यतोऽजानानाः । सूत्र० १ श्रु० १ अ०२ उ०।

णिययाभिप्पायउज्जयविहारि(ण्) त्रि०(निजकाभिप्रायोद्यतविहारिन्) स्वमतसुविहिते, जी०१ प्रति०।

णिययावास पुं०(नियतवास) 'णिययवास' शब्दार्थ , आव०३ अ०।

णियल न०(निगड) लोहमये ''वेडी'' इतिख्याते पादयोर्बन्धने, औ०। ''नियलेहि य बद्धा पिहिया य।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड। सूत्र०।

णियलिंगि(ण्) पुं०(निजलिङ्गिन्) स्वमतवेषिणि, जीवा ३५ अधि०।

णियल्ल पुं०(निगड) अष्टाशीतिमहाग्रहाणां त्रयःपञ्चाशत्तमे महाग्रहे, ''दो नियल्ला।'' स्था०२ ठा०३ उ०। चं०प्र०।

***णिज** पुं०। महाग्रहे, स्था०२ ठा०३ उ०। चं०प्र०।

णियविहव पुं०(निजविभव) स्वकीयविभूतौ, पञ्चा० ६ विव०।

णियसत्ति स्त्री०(निजशक्ति) स्वसामर्थ्ये, द्वा० १५ द्वा०।

णियसमय पुं०(निजसमय) स्वकीयावसरे, पञ्चा० ६ विव०।

णियसिस्ससखंधचढिय त्रि०(निजशिष्यस्कन्धचटित) साध्वंशा-ऽऽरूढे, जीवा० २१ अधि०।

णियाइय त्रि०(निकाचित) नियमिते, सूत्र०१ श्रु०६ अ०।

णियाग पुं०(नियाग) नितरां यजनं यागः पूजा यस्मिन् सोऽयं नियागः। मोक्षे, तत्रैव नितरां पूजा सम्भवात्। उत्त० १ अ०। अष्ट०। संयमे च। कार्य्ये कारणोपचारात्। सूत्र०२ श्रु०१ अ०। आचा०।

***णित्य** पुं०। आमन्त्रितपिण्डे, ''जे नियागं ममायंति, कीयमुद्देसिया-हडं वहंते समणुजाणंति, इय वुत्तं महेसिणा ॥४६॥'' दश०६ अ०। ''उद्देसियं कीयगडं, नियागं अभिहडाणि य।'' इति अनाचरितेषु परिगणनात्। तत्र नियागमित्यामन्त्रितस्य पिण्डग्रहणं नित्यं, न त्वनामन्त्रितस्य। दश०३ अ०।

णियागट्ठि(ण्) त्रि०(नियागार्थिन्) नियागो मोक्षस्तद्धर्मो वा तदर्थिनि, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२ उ०। मोक्षार्थिनि, उत्त० ५ अ०। ''एवमेगे णियागट्ठी, धम्ममाराहगा वयं।'' सूत्र०१ श्रु०१ अ०२उ०।

णियागपडिवण्ण त्रि०(नियागप्रतिपन्न) यजनं यागो, नियतो निश्चितो वा यागो नियागो मोक्षमार्गः, सङ्गताध्वर्युत्वाद्धेतोः सम्यग्ज्ञा-नदर्शनचारित्राऽऽत्मकतया गतं सङ्गतमिति तं नियागं सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राऽऽत्मकं मोक्षमार्गं प्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्नः। मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदेरनुष्ठातरि, (आचा०) ''णियागपडिवन्ने अमायं कुव्वमाणे वियाहिए।'' आचा०१ श्रु०१ अ० ३ उ०। सूत्र०।

णियाण न०(निदान) निश्चितं दानं निदानम्। अप्रतिक्रान्तस्या-ऽवश्यमुदयापेक्षेतीव्रकर्मबन्धे, आ०चू०४अ०। नि०चू०।

अत्थि अणिदाणओ ती–उब्भेओ तेण परिहर णिदाणे।
ते पुण तुल्लातुल्ला, मोहणियाणा दुपक्खे वि ॥२२०॥

णिदाणं णाम–जं पडुच्च मोहणिज्जं उदिज्जति। तं जहा–इट्ठसद्दा-ऽऽदि। उक्तं च–''दव्वं खेत्तं कालं, भावं च भवं तहा समासज्ज। तस्स समासुद्दिट्ठो, उदओ कम्मस्स पंचविहो ॥१॥''(दुपक्खे वि त्ति)''इत्थीणं पुरिसाण य तुल्ला।'' नि०चू० १५ उ०। दिव्यमानु–षऋद्धिसंदर्शनश्रवणाभ्यां तदभिलाषाऽनुष्ठाने, आव०४अ०। स्वर्ग–मर्त्याऽऽदिशद्धिप्रार्थने, आतु०। स्था०। भोगप्रार्थनायाम्, व्य०१ उ०। स्था०। निदायते लूयते ज्ञानाऽऽद्याराधनालताऽऽनन्दरसोपेतमोक्षफला येन परशुनेव देवेन्द्राऽऽदिगुणर्द्धिप्रार्थनाऽध्यवसानेन तन्निदानम्। स्था०१० ठा०।

नव निदानानि–

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं णगारे होत्था। वण्णओ। गुणसिलए चेइए रायगिहे णगरे सेणिए णामं राया होत्था। रायवण्णओ। एवं जहा उववातिए०जाव चेल्लणाए सद्धिं विहरति।

(तेणं कालेणमित्यादि) व्याख्या प्राग्वत्। (सेणिए त्ति) श्रेणिको नाम राजा (होत्था त्ति) अभवत्, आसीदित्यर्थः। (रायवण्णओ त्ति) राजवर्णकः–''महयाहिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे, अच्चंतविसुद्ध-रायकुलवंसप्पसूए, निरंतरं रायलक्खणविराइयंगमंगे, बहुजणबहु-माणपूइए, सव्वगुणसमिद्धे०।''(औ०) इत्यादिको वाच्यः। तस्य देवी समस्तान्तः पुरप्रधाना भार्या सकलगुणसमन्विता चेल्लणा नाम्नी। तस्या वर्णको यथा औपपातिकनाम्नि ग्रन्थेऽभिहितस्तथाऽत्राऽ-भिधातव्यः। स चायम्–''सुकुमालपाणिपाया, अहीणपडिपुन्नपंचिं-दियसरीरा, लक्खणवंजणगुणोववेया, माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजा-यसव्वंगसुंदरंगी०।''(औ०) इत्यादिको वाच्यः। ''जाव त्ति'' यावत्करणात्–चेल्लणाए सद्धिं अणुरत्ते इट्ठे सद्दफरिसे रसरूपगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणे विहरइ।''इतिपदकदम्बकपरिग्रहः, विस्तरव्याख्यौपपातिकानुसारेण वाच्या, नेह विस्तरभिया प्रतन्यते।

तए णं से सेणिए राया अण्णया कयाइ ण्हाए कयव–

लिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसा कंठे मालाकडे आविद्धमणिसुवण्णे कप्पियहारऽद्धहारतिसरयपालंबपलंब-माणकडिसुत्तयसोभे पिणद्धगेवेज्जे अंगुलजुग०जाव कप्परु-क्खए चेव अलंकिय बिभूसिते णरिंदे सकोरेंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं०जाव ससि व्व पियदंसणे नरवई, जेणेव बाहि-रिया उवट्ठाणसाला जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे निसीयति, निसीइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ,सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुज्झे देवाणुप्पिया ! जाइं इमाइं रायगिहस्स नगर-स्स बहिया। तं जहा-आरामाणि य, उज्जाणाणि य, आएस-णाणि य, आययणाणि य, देवकुलाणि य, सभाओ य, पवाओ य, पणियसालाओ य, जाणसालाओ य, सुधाकम्मंताओ य, वाणिज्जकम्मंताओ य, कट्ठकम्मंताओ य। जे तत्थ वणमहत्त-रया चिट्ठंति, ते एवं वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! सेणिए राया भिंभिसारे आणवेइ-जया णं समणे भगवं महावीरे आदिगरे० जा०..... पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे इहेव उ विहरेज्जा, तया णं तुज्झे समणस्स भगवतो महावीरस्स अहा-पडिरूवं ओग्गहं जाणेह, अवधारेत्ता सेणियस्स रन्नो भिंभि-सारस्स एयमट्ठं णिवेदेह।

(तते णं से सेणिए इत्यादि) ततोऽनेकमल्लयुद्धव्यायामाऽऽदि-करणानन्तरं स पूर्वनिर्दिष्टः श्रेणिको राजा, अन्यदाऽन्यस्मिन्नवसरे, कदाचित् (ण्हाते इत्यादि) स्नानं कृतवान्, ततोऽनन्तरं कृतं बलिकर्म येन स्वगृहदेवतानां स तथा, कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नाऽऽदिविघातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्येन स तथा। अन्ये त्वाहुः-''पायच्छित्त त्ति'' पादेन पादे वा क्षिप्तो दृग्दोषपरिहारार्थं पादक्षिप्तः, कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्तश्चासौ इति विग्रहः। तत्र कौतुकानि मषीतिलकाऽऽदीनि, मङ्गलानि तु दध्यक्षतदुर्वाङ्कुराऽऽदीनि। (सिरसा कंठे मालाकडे त्ति) शिरसा कण्ठे च माला कृता धृता येन स तथा। क्वचित्-''सिरसि ण्हाए कंठे मालाकडे'' इति पाठः। तत्र शिरसि स्नातः। ननु पूर्वमपि ''ण्हाए त्ति'' उक्तं, तर्हि किमर्थं भूयोऽपि-''सिरसि ण्हाए त्ति।'' पुन-रुक्तप्रसङ्गात् ? उच्यते-स्नातः सामान्यतोऽपि कण्ठस्नात उच्यते, अतः पुनरुपादानं, तस्मिन् दिने विशेषत उक्तम्-शिरसि स्नातः, द्वितीयं पदं सुबोधम्। (आविद्धमणिसु वण्णे त्ति) आविद्धं परिहितम्। (कप्पियेत्यादि) कल्पितानीष्टानि रचितानि च हाराऽऽदीनि कटीसूत्रा-न्तानि यस्य। तानि च सुकृतशोभान्याभरणानि यस्य स तथा। पिनद्धग्रैवेयकः। यावत्करणात्- ''अंगुलिजुगललिकयाभरणे, नाणामणिकणगरयणवरकडगतुडियथंभियभुए, अहियरूवसस्सिरीए, कुंडलाउज्जोतिताणणो मउडदित्तसिरए, हारोच्छयसुकयरइयवत्थे, मुद्दियापिंगलंगुलिए, पालंबयलंबमाणसुकयपमउत्तरिज्जे, नाणामणि-कणगरयणविमलमहरिहनिउणोचियमिसिमिसंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठआविद्धवीरवलए किं बहुणा।'' इतिपद कदम्बकपरिग्रहः। (कप्परुक्खए चेव त्ति) कल्पवृक्ष एव। (अलंकियविभूसिए त्ति) अलङ्कृतो मुकुटाऽऽदिभिः (विभूसिय त्ति) वस्त्राऽऽदिभिरिति। नराणामिन्द्रो नरेन्द्रः (सकोरेंटेत्यादि) सकोरेण्टानि कोरेण्टाभिधानकुसुमस्तवकवन्ति माल्यमानि पुष्पस्रजो यत्र तत्तथा, एवंविधेन छत्रेण ध्रियमाणेन, शिरसी-त्यध्याहारः। यावत्करणात्-''सेयवरचामराहि मंगलजयसद्द-कयालोए, अणेगगणनायगदंडनायगराईसरतलवरमाडंवियसंति-महासंतिगणगदोवारियअमच्चचेडपीढमद्दणगरनिगमसेट्ठिसेणावति-सत्थवाहदूयसंधिबालसद्धिं संपरिवुडे, धवलमहामेहनिग्गए इव गहगणदिप्पंतरिक्खतारागणाण मज्झे''(औ०) इति पदकदम्बकग्रहः। शशीव प्रियदर्शनो नरपतिर्यत्रैव बाह्या उपस्थानशाला आस्थानमण्डपो, यत्रैव सिंहासनं, तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरे पूर्वाभिमुखः संनिषीदति, निषद्य कौटुम्बिकपुरुषान् नृपाधिकारिणः पुरुषान् शब्दयति आमन्त्रयति, आमन्त्र्यैवमवादीत्-गच्छत। णमिति वाक्यालङ्कारे। यूयं देवानां प्रियाः सरलस्वभावाः! यानि इमानि अनन्तरं वक्ष्यमाण-स्वरूपाणि, राजगृहस्य नगरस्य बहिर्भवन्ति इति शेषः। तद्यथा-(आरामाणीत्यादि) आरमन्ति येषु माधवीलतागृहाऽऽदिषु दम्पत्यादीनि ते आरामाः, प्राकृतत्वान्नपुंसकत्वम्। उद्यानानि पुष्पाऽऽदिमद्वृक्ष-संकुलान्युत्सवाऽऽदौ बहुजनभोग्यानि, आवेशनानि येषु लोका आविशन्ति तानि वाऽयस्कारकुम्भकाराऽऽदिस्थानानि, आयतनानि देवकु-लपार्श्वपवरकाः, देवकुलानि प्रतीतानि, सभा-आस्थामण्डपाः, प्रपा उदकदानस्थानानि, पण्यशालाः पण्यगृहाणि, पण्या पणाः। यानशाला यत्र यानानि निष्पाद्यन्ते। सुधाकर्मान्तानि यत्र सुधापरिकर्म क्रियते। वाणिज्यकर्मान्तानि यत्र वाणिज्यार्थं बहवो मिलन्दि लोकाः। एवं काष्ठकर्मान्तानि यत्र काष्ठानि क्रयार्थं, जलार्द्रभवनभिया वा यत्र संनिक्षिप्तास्तिष्ठन्ति। उपलक्षणत्वात्-दर्भबर्ध्रवल्लयानरथगृहान्तानि द्रष्टव्यानि। चशब्दः सर्वत्रापरापरभेदसंसूचकः। तत्र ये वनमहत्तरकाः, वनमुपलक्षणमाविशनाऽऽदीनामाज्ञाता अत्यर्थं ज्ञाता अधिपतित्वेन प्रसिद्धास्तिष्ठन्ति, तान् एवं वदत। किं तदित्यादि-(एवं खल्वित्यादि) एवममुना प्रकारेण, खल्वित्यवधारणे, अहो देवानां प्रियाः! श्रेणिको राजा (भिंभसारे त्ति) भिम्भा भेरी, सैव सारा प्रधाना यस्यासौ भिम्भसारः। तदा-ख्यानमेवं कुमारभावे- ''अगिणा घरे परित्ते सेणिएण य भिंभियं घेत्तूण णिग्गतो। अवसेसा कुमारा आभरणगादि। पिउणा पुच्छिया। सव्वेहिं कहियं-जेहिं जं णीयं। सेणिएण भणियंमए भिंभणी णीया। सेणियो पिउणा भणितो-तुज्झकिं एस सारो? तेण भणियं आमं ति। ततो से रण्णा भिंभासारो णामं कयं।'' शेषं ज्ञातचरमेव। (आणवेइ त्ति) आज्ञापयति। किं तदित्याह-(जया णमित्यादि) यदा, णमिति वाक्यालङ्कारे। श्रमणो भगवान्महावीर आदिकरः। यावत्करणात्-''तित्थगरे सयंसंबुद्धे पुरिसुत्तमे पुरिससीहे०'' (औ०) इत्यादिकः समस्तोऽपि औपपातिकग्रन्थप्रसिद्धो भगवद्वर्णको वाच्यः, स चातिगरीयानिति, न लिख्यते, केवलमौपपातिकग्रन्थादवसेयः। सप्राभृकामो मोक्षं प्रति तदनुकूलव्यापारवान्। पुनः (पुव्वाणु-पुव्वि त्ति) पूर्वानुपूर्व्या, नाऽनानुपूर्व्या चेत्यर्थः। (संचरमाणे ति) चरन् संचरन्। एतदेवाऽऽह-(गामाणुगामं दूइज्जमाणे त्ति) ग्रामश्च

प्रतीतोऽनुग्रामश्च विवक्षितग्रामानन्तरो ग्रामो ग्रामानुग्रामं, तं द्रवन् गच्छन् एकस्माद् ग्रामादनन्तरं ग्राममनुल्लङ्घयन्नित्यर्थः । अनेनाप्रतिबद्धविहारमाह, तत्राप्यौत्सुक्यभावमिति । (सुहं सुहेणं विहरमाणे ति) अत एव सुखं सुखेन शरीरस्वेदाभावेन, संयमबाधाभावेन च विहरन् स्थानात् स्थानान्तरं गच्छन्, ग्रामाऽऽदिषु वा तिष्ठन्, संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् वासयन्, इहैव अत्रैव नगरे, उकारोऽलाक्षणिकः, विहरेदागच्छेत, यूयं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य यथाप्रतिरूपं चिरन्तनसाध्ववग्रहसदृशमवग्रहमनुजानीध्वम् अनुददध्वम् । अनुजानीय श्रेणिकस्य राज्ञो भिम्भासारस्य हि एनमर्थं निवेदयध्वम् ।

तते णं ते कोडुंबियपुरिसा सेणिएणं रन्ना भिंभिसारेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ०जाव हियया कय०जाव एवं सामि ! त्ति आणाए विणएणं पडिवसुणेंति, पडिसुणेत्ता सेणियस्स अंतियाओ णिक्खमंति, णिक्खमित्ता रायगिहं णगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छंति, णिग्गच्छित्ता जाइं इमाइं रायगिहस्स बहिया-आरामाणि य०जाव जे तत्थ महत्तरया अन्नया चिट्ठंति, ते एवं वदंति०जाव सेणियस्स रण्णो एयमट्ठं पियं निवेदिज्जा, पियं भे भवतु । दोच्चं पि एवं वदित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूता तामेव दिसिं नगरस्स परिगता । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आदिकरे०जाव गामाणुगामं दूइज्जमाणे०जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति । तए णं रायगिहे णगरे सिंघाडगतियचउक्कचच्चर०जाव परिसा णिग्गया०जाव पज्जुवासेति ततेणं जेणेव महत्तरया तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदति, नमंसति, वंदिता नमंसित्ता णामं गोयं पुच्छति, पुच्छित्ता णामगोत्ताए धारेति, णामगोत्ताए धारेतित्ता एगंततो मिलति, एगंततो मिलित्ता एगंतमवक्कमति, एगंतमवक्कमित्ता एवं वदासी-जस्स णं देवाणुप्पिया ! सेणिए राया भिंभसारे दंसणं कंखति, जस्स णं देवाणुप्पिया ! सेणिए राया दंसणं पत्थेति०जाव अभिलसति, जस्स णं देवाणुप्पिया ! सेणिए राया णामगोत्तस्स वि सवणताए हट्ठतुट्ठा०जाव भवति, से णं समणे भगवं महावीरे आदिकरे तित्थकरे०जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरति । इहमागते इहसंपत्तिए०जाव अप्पाणं भावेमाणे सम्मं विहरइ;तं गच्छह णं देवाणुप्पिया ! सेणियस्स रन्नो एयमट्ठं निवेदेमो-पियं भे भवतु त्ति कट्टु एयमट्ठं अण्णमण्णस्स पडिसुणेंति,अण्णमण्णस्स पडिसुणेत्ता जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता रायगिहं नगरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सेणियस्स रन्नो गिहे, जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सेणियं रायं करयलपरिग्गहियं०जाव जएणं विजएणं वद्धावेंति, बद्धावित्ता एवं वयासी-जस्स णं सामी ! दंसणं कंखइ०जाव, से णं समणे भगवं महावीरे गुणसिलए चेइए०जाव विहरइ । तेणं देवाणुप्पियाणं पियं निवेदेमोपियं भे भवतु । तेणं से सेणिए राया तेसिं पुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ०जाव हियए सीहासणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठित्ता जहा कोणिए०जाव वंदति, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता ते पुरिसे सक्कारेति, सम्माणेति, सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता विपुलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलयति, पडिविसज्जेति, पडिविसज्जेत्ता णगरगुत्तिए सद्दावेति, णगरगुत्तिए सद्दावित्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! रायगिहं नगरं सब्भिंतरबाहिरियं आसियसम्मज्जितोवलित्तं० जाव पच्चप्पिणंति । तेणं से सेणिए राया बलवाउयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! हयगयर-हजोहकलियं चाउरंगिणं सेणं सण्णाहेह०जाव से वि पच्चप्पिणंति । तते णं से सेणिए राया जाणसालियं सद्दावेति, जाणसालियं सद्दावेत्ता एवं वदासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि । तते णं ते जाणसालिए सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठ०जाव हियए जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता जाणसालं अणुपविसति, जाणसालं अणुप्पविसित्ता जाणगं पच्चुवेक्खति, जाणगं संपमज्जति, जाणगं संपमज्जित्ता दूसं पवीणेति, दूसं पवीणेत्ता जेणेव वाहणसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता वाहणसालं अणुप्पविसति, वाहणसालं अणुप्पविसित्ता वाहणाइं पच्चुविक्खति, वाहणाइं संपमज्जेत्ता वाहणाइं अप्फालेति, वाहणाइं अप्फालित्ता वाहणाइं णीणेति, णीणेत्ता ईसी पडीणेति, ईसी पडीणेत्ता वाहणाइं सालं करेति, वाहणाइं वरभंडमंडिताइं करेत्ता जाणगं जोएति, जाणगं जोएतित्ता वदुमं गाहेति, वदुमं गाहेत्ता पउयलट्ठिपउयधरसमं अरहयति, अरहयित्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता०जाव एवं वदासीजं तए सामी ! धम्मिए जाणप्पवरे आइट्ठा भद्दं तव आरुहाहि । तते णं से सेणिए राया भिंभसारे जाणसालियस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा० जाव मज्जणघरं अणुपविसति०जाव कप्परुक्खए चेव अलंकितचित्तविभूसिए णरिंदे०जाव मज्जणघरातो पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव चिल्लणा देवी, तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता चेल्लणं देविं एवं वदासी-एवं खलु देवाणुप्पिए ! समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थगरे०जाव पुव्वाणुपुव्विं०जाव संजमेणं अप्पाणं भावे-

माणे विहरइ। तं महाफणं देवाणुप्पिए ! तहारूवाणं अरहंता-णं०जाव तं गच्छामो देवाणुप्पिए ! समणे भगवं महावीरे वंदामो, णमंसामो, सक्कारेमो, सम्माणेमो, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो। एतेणं इह भवे य परभवे य हियत्ताए सुहाए खमाए निस्सेयसाए०जाव आणुगामियत्ताए भविस्सति। तते णं सा चिल्लणा देवी सेणियस्स रण्णो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा० जाव पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता ण्हाया कयवलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता किंते (?) वरपायपत्तणेउरमणि-मेहलाहाररइयविहियकडगखडुगएगावलिकंठमुरयतिसरय-वलयहेमसुत्तकुंडलुज्जोइताणणा रयणमणिभूसियंगी चीणंसु-यवत्थपारिहिया दुगुल्लसुकुमालकंतरमणिज्जउत्तरिज्जा सव्वो-उयसुरभिकुसुमसुंदरायितपलंबंतसोहंतकंतविकंतविकसंत-चित्तमाला वरचंदणचचिता वराभरणभूसियंगी कालागरुधूव-धूविता ससिरीसमावेसा बहूहिं खुज्जाहिं चिलातियाहिं०जाव महत्तरगवंदपरिक्खित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जे-णेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छति। तते णं से सेणिए राया चिल्लणाए देवीए सद्धिं धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहति, सकोरंट-मल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं उववाइयगमएणं०जाव पज्जुवासति। एवं चिल्लणा वि०जाव महत्तरगपरिक्खित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवाग-च्छित्ता, समणं भगवं महावीरं वंदति, नमंसति, सेणियरायं पुरतो काउं ठिया चेव०जाव पज्जुवासति। तते णं समणे भगवं महावीरे सेणियस्स रण्णो भिंभिसारस्स चिल्लणाए देवीए सद्धिं तीसे महति महालयाए परिसाए वतिपरिसहदेवपरिसहअणेगसयाए ०जाव धम्मो कहितो, परिसा पडिगता, सेणिए राया पडिगए। तत्थ णं अत्थेगतियाणं निग्गंथाण य निग्गंथीण य सेणियं रायं चिल्लणं देविं पासित्ता णं इमेयारूवे अज्झत्थिए०जाव संकप्पे समुप्पज्जित्थाअहो णं सेणिए राया महिड्ढिए०जाव महासक्खे, जे णं ण्हाते कयवलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सव्वा-लंकारविभूसिते चेल्लणाए देवीए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ। ण मे दिट्ठे देवा देवलोगंसि, सक्खं खलु अयं देवो। जति इमस्स तवनियमबंभचेरफलविसेसे अत्थि, वयमवि आगमिस्साइं एताइं उरालाइं एतारूवाइं माणुस्सगाइं भोगमो-गाइं भुंजमाणे विहरामो, से तं साहु। अहो णं चिल्लणा देवी महिड्ढिया०जाव महेसक्खा, जा णं ण्हाया कयबलिकम्मा० जाव सव्वालंकारविभूसिया सेणिएणं रन्ना सद्धिं उरालाइं०जाव माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरति। ण मे दिट्ठाओ देवीओ देवलोगंसि, सक्खं खलु इयं देवी जइ इमस्स सुचरि-यस्स तवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, वयमवि आगमिस्साइं इमाइं एयारूवाइं उरालाइं०जाव विहरामो, से तं साहुणी॥

(तते णमित्यादि) व्यक्तं, नवरम् एवमुक्ताः सन्तो (हट्ठतुट्ठा इत्यादि) हृष्टतुष्टाः, अतीव तुष्टा इति भावः। अथवा–हृष्टा नाम विस्मयमापन्नाः–यथा अहो ! भगवद्वार्तानिवेदनार्थमस्माकमादिशतीति। तुष्टाः तोषं कृतवन्तः–यथा भव्यमभूद्यदस्मान् नगरवार्ता जिज्ञासुः श्रेणिको राजा आदिशति। यावत्करणात्–''चित्तमाणंदिया पीइमणा'' इत्यादिपद-कदम्बकपरिग्रहः। (अक्षरार्थमात्रबोधिका टीकेत्युपेक्षता)

तत्र प्रथमम्–

अज्जो ! त्ति समणे भगवं महावीरे बहवे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वदासी–सेणियं रायं चेल्लणं देविं पासित्ता इमेयारूवे अज्झत्थिते०जाव समुप्पज्जित्था–अहो णं सेणिए राया महिड्ढिए०जाव से तं साहु। अहो णं चिल्लणा देवी महिड्ढिया सुंदरा०जाव से तं साहुणी। से णूणं अज्जो ! अत्थे समट्ठे? हंता ! अत्थि। एवं खलु समणाउसो ! एए धम्मे पण्णत्ते, इणामेव णिग्गंथे पावयणे०जाव अणुत्तरे पडिपुण्णे केवले संसुद्धे णेयाउए सल्लकत्ताणे सिद्धिमग्गे निव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे अवितहम-विसंधिसव्वदुक्खप्पहीणमग्गे इत्थं ट्ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाण–मंतं करेंति। जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथे सिक्खाए उवट्ठिते विहरमाणे पुरा दिगिंछाए पुरा पिवासाए पुरा वातातवेहिं पुरा पुट्ठे विरूवेहिं परीसहोवसग्गेहिं उदिण्णकामजाते यावि विहरेज्जा, से य परक्कमेज्ज, से य परक्कममाणे पासेज्जा जे इमे उग्गपुत्ता महासा(मा) उया, भोगपुत्ता महामाउया, तेसिं णं अण्णतरस्स अतिजायमाणस्स वा निज्जायमाणस्सवा उमओ तेसिं पुरतो महं दासीदासकिंकरकम्म-करपुरिसा पदातपरिक्खित्तं छत्तं भिंगारं गहाय णिग्गच्छंति। तयाणंतरं च णं पुरतो महा आसा आसवरा, पिट्ठओ तेसिं णं णागा णागवरा, पिट्ठतो रथा रथसंगिल्ली, से उद्धए सेयछत्ते अब्भुग्गतभिंगारे पग्गहियतालिवेंटेवीयमाण-सेयचामरवालवीयणाए अभिक्खणं २ अभिजाति य णिज्जाति य सप्पभा सपुव्वापरण्हं ण्हाए कयवलिकम्मे०जाव सव्वालंकारभूसिए महति महालयाए कूडागारसालाए महति महालयंसि सीहासणंसि दुहओ विव्वोयणिं दुहओ०जाव सव्वरातिएणं जोतिणीसि झायमाणेणं इत्थीगुम्म-संपरिवुडे महताऽऽहतनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडिय-घणमुइंगमद्दलपडुप्पवाइयरवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं भोग-भोगाइं भुंजमाणे विहरति। तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स० जाव चत्तारि पंच अणुत्ता चेव अब्भुट्ठेइभण देवाणुप्पिया ! किं करेमो, किं आहरामो, किं उवणेमो, किं आचिट्ठामो, किं भे हिय–

एच्छितं, किं भे आसगस्स सदति, जं पासित्ता णिग्गंथे णिदाणं करेति–जइ इमस्स तवनियमबंभचेरवासस्स तं चेव० जाव साहु। एवं खलु समाणाउसो ! णिग्गंथे णिदाणं किच्चा तस्स आणालोइय अपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अणुत्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। महिड्ढिएसु०जाव चिरट्ठितीए, से णं तथा देवेसु भवति महिड्ढिए०जाव चिरट्ठितीए, ततो देवलोगा आउक्खएणं ठितिक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, तेसि णं अण्णतरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चायंति, से णं तत्थ दारए भवति, सुकुमालपाणिपाए ०जाव सुरूवे। तते णं से दारए उम्मुक्कबालभावे विणयपरिणतमेत्ते त्ति जोव्वणगमणुप्पत्ते सयमेव पेत्तियं दायं पडिवज्जंति। तस्स णं अतिजायमाणस्स वा०जाव पुरतो महं दासी दास० जाव किं भे आसगस्स सदति। तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसस्स जातस्स तहारूवे समणे वा उभतो कल्लं केवलिपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा? हंता ! आइक्खेज्जा। एवं संपडिसुणेज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे। से भगवं ! महिच्छे महारम्भे महापरिग्गहे अहम्मिए० जाव आगमे सा णं दुल्ल भबोहिए यावि भवति। ते एवं खलु समणाउसो ! तस्स निदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे, जं णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए॥१॥

क्वचिद् ''महामाउगा'' इति पाठः, तत्र महती शीलरूपाऽऽदियुक्ता माता येषां ते महामातृका इति। एवं भोगपुत्राः, आदिदेवाऽवस्थापितगुरुवंशजपुत्राः। उपलक्षणं चैतत्–राजेक्ष्वाकुकौरवनागाऽऽदीनाम्। प्रकृतमाह–(तेसि णमित्यादि) तेषामुग्रपुत्राऽऽदीनामन्यतरस्य (अतिजायमाण त्ति) आगच्छतो बहिः प्रदेशात् स्वगृहं प्रति। (निज्जायमाण त्ति) निर्गच्छतः स्वगृहाऽऽदेर्बहिः प्रदेशं प्रति। कथमित्याह–उभयतस्तेषाम् उग्रपुत्राऽऽदीनां (पुरतो महमित्यादि) पुरतोऽग्रतो महान्तो ये दास्यश्चेट्यो, दासाश्चेटकाः, किङ्कराः प्रतिकर्म प्रभोः पृच्छापूर्वकारिणः, कर्मकरास्तदन्यथाविधाः, ते च ते पुरुषाश्चेति समासः। पदातं पदातिसमूहः, तैः परिक्षिप्तं परिवृतं यत्तत्तथा। एवंविधं छत्रं, भृङ्गारं च (गहाय निग्गच्छंति) इत्यनेनास्य प्रभुत्वमावेदितं भवति। (तया णमित्यादि) ततोऽनन्तरं पुरतोऽग्रतो महान्तो बृहत्तमा अश्वाः तुरङ्गाः, (आसवर त्ति) अश्ववरा अश्वानां मध्ये प्रधानाः, (नाग त्ति) नागा हस्तिनः, नागवराः नागानां प्रधानाः। एवं पृष्ठतो रथाः (रथसंगेल्लि त्ति) रथसमुदायः। (से णमित्यादि) सोऽनिर्दिष्टनामा। उद्धृतश्च तच्छत्रः। तथा (अब्भुग्गयभिंगारे त्ति) अभ्युद्गतोऽभिमुखमुद्गत उत्पाटितो भृङ्गारो यस्य स तथा। (पग्गहियतालियंटे ति) प्रगृहीतं तालवृन्तं यं प्रति तथा। वीज्यमानाः श्वेतचामरबालव्यजनिका यं प्रति स तथा। (अभिक्खणं २ ति) भूयो भूयः, एकवचनं निर्गमनसमयमङ्गीकृत्य तदेषामाह। कथम्भूतास्ते? (सप्पभा इति) सती शोभना प्रभा कान्तिर्येषां ते सत्प्रभाः। (सपुव्वावरण्हमित्यादि) सह पूर्वेसण पूर्वाह्णि कर्तव्येनापरेण वाऽपराह्णि कर्तव्येन। यदि वा पूर्वं यत्क्रियतेऽन्नाऽऽदिकं, तथाऽपरं च यत्क्रियते विलेपनभोजनाऽऽदिकं, तेन सह वर्तत इति सपूर्वापरम्। इदमुक्तं भवति–यद्यदा प्रार्थ्यते, तत्तदा संपद्यते, इत्यभिलषितार्थप्राप्तमेव दर्शयितुमाह–(ण्हाते इत्यादि) व्यक्तार्थम्। कृतबलिकर्मा यावत्करणात्। (कंठे मालाकडे त्ति) कण्ठे कृतमालम्। (कप्पिय त्ति) कल्पितश्चासौ माला प्रधानो मुकुलितः कमलसंचितो मुकुटश्च स तथा विद्यते यस्य स कल्पितमालामुकुलमुकुटः। (वग्घारितेत्यादि) प्रलम्बितं श्रोणिसूत्रं मल्लदामकलापश्च येन स तथा। अहतं मूखिकाऽऽद्यनुपहतं यद्वस्त्रं तत्परिहितं येन स तथा। (चंदणोक्किण्णगातसरीरे त्ति) चन्दनेन प्रतीतेन उत्कीर्णमिवोत्कीर्णं, गात्राणि शरीरं च यस्य स तथा एवंविधम्। (महति महालयाए इत्यादि) महत्यामुच्चायां, महालयायां विस्तीर्णायां, कूटाकारशालायां, कूटस्येव या पर्वतशिखा तस्या इवाऽऽकारो यस्याः सा कूटाऽऽकारा, यस्या उपरि आच्छादनं शिखराऽऽकारं सा कूटाऽऽकारेति भावः। कूटाऽऽकारा चासौ शाला च कूटाऽऽकारशाला। यदि वा कूटाऽऽकारेण शिखराकृत्योपलक्षिता शाला कूटाऽऽकारशाला। उपलक्षणं चैतत्–प्रासादाऽऽदीनाम्। कूटाऽऽद्याकारशालाग्रहणं निर्जनत्वाप्रधानभोगवृद्धिकारणत्वात्। (महति)महालये शयनीये (दुहतो) उभयतः, उभौ शिरोऽन्तपादान्तावाश्रित्य। (विव्वोयणि त्ति) उपधानं यत्तथा तस्मिन्। (दुहओ त्ति) उभयतः, उन्नते मध्ये ततं भिन्नत्वाद् गम्भीरं च महत्योन्नतं गम्भीरं तत्र। (वण्णओ त्ति) वर्णकग्रहणात् ''गंगापुलिणवालुयाअवदातसालिसए'' इत्यादिपदकदम्बकपरिग्रहः। (सव्वराति त्ति) सर्वरात्रिकेण ज्योतिषदीपरूपेण ध्मायमानेन जाज्वल्यमानेन (इत्थीगुम्म त्ति) स्त्रीगुल्मेन युवतिजनेन सार्द्धमपरपरिवारेण संपरिवृतो वेष्टितः, तथा (महया हयेत्यादि) महता, रवेणेति योगः। (अहय इति) आख्यानकप्रतिबद्धानीति वृद्धाः। अथवा–अहतानि, आहतानि, अव्याकृतानीति भावः। नाट्यगीतवादितानि च, तन्त्री वीणा, तला हस्ततालाः, ताला कांसिका, त्रुटितानि शेषतूर्याणि, तथा घनो घनसदृशो ध्वनिः सामर्थ्यात् यो मृदङ्गो मर्दलः, पटुना दक्षपुरुषेण, प्रवादितः, तत एतेषां पदानां द्वन्द्वः। तेषां यो रवस्तेन, उदारान् प्रधानान् २ मानुष्यसंबन्धीन्। शेषव्याख्या प्राग्वत्। (तस्सेत्ति) तस्य क्वचित् प्रयोजने समुत्पन्ने सत्येकमपि पुरुषमाज्ञापयतो, यावच्चत्वारः पञ्च वा पुरुषा अनुक्ता एव समुपतिष्ठन्ते। ते च किंकुर्वाणाः? एतद्वक्ष्यमाणं जगुः। तद्यथा–भणाऽऽज्ञापय, हे स्वामिन्! धन्या वयं येन भवताऽप्येवमादिश्यन्ते, किं कुर्म्म इत्यादि (आहरामो त्ति) आनयामः, (किं उवणेमो त्ति) सदपि किमुपनयामः। किमातिष्ठामोऽन्नाऽऽदिपचनक्रियारूपम् (किं भे) किं युष्माकं हृदयेप्सितं, तथा किं च (भे) युष्माकमास्यकस्य स्वदते स्वादु प्रतिभाति। यदि वा यदेव भवदीयस्याऽऽस्यस्य स्वदति तदेव वयं कुर्म्मः। प्रस्तुतमाहयं पूर्वोक्तस्वरूपं पुरुषम् (पासेत्ता) दृष्ट्वा निर्ग्रन्थो निदानं करोति।'' जइ इमस्सेत्यादि'' पूर्ववत्। (एवं खल्वित्यादि) एवमनन्तरोक्तप्रकरेण हे श्रमण ! हे आयुष्मन्! निर्ग्रन्थो निदानं कृत्वा (तस्स त्ति) तस्य निदानरूपस्थानस्य, अनालोच्य गुरूणामतिचारजातमनिवेद्य, एवमप्रतिक्रम्य पुनःकरणेनाऽनभ्युत्थाय (अकरणयाए त्ति) क्रियते इति करणं, तस्य भावः करणता, तया, अनभ्युत्थाय। (अहारिहमिति) यथाऽर्हप्रायश्चित्तापनयनयोग्यं तपःकर्म निकाचिताऽऽदिकपापच्छेदकत्वात् पापच्छित्, प्रायश्चित्तविशोधकत्वाद्वा प्रायश्चित्तम्। अप्रतिपद्य ग्रैवेयकानां मध्ये अन्यतमेषु देवेषु देवतया उपपत्तारो भवन्ति। कथंभूतेष्वित्याह–(महिड्ढिएसु) इत्यादि प्राग्वत्। नवरं

चिरा प्रभूतकालभाविनी स्थितिर्येषां ते चिरस्थितिकाः, ततोऽनन्तरं व्यवधानाभावेन (आउक्खएणमित्यादि) आयुःक्षयेण आयुर्दलिकनिर्जरणेन, स्थितिक्षयेण आयुःकर्मणः स्थितिनिर्जरणेन भवक्षयेण देवभवनिबन्धनभूतकर्मणा गत्यादीनां निर्जरणेनेति । अनन्तरं देवभवसंबन्धिनां चयं शरीरम् (चइत्त त्ति) त्यक्त्वा (पुमत्ताए त्ति) पुरुषत्वेन, प्रत्यायान्ति । स तत्र दारको भवति, कुमारक इत्यर्थः । कथम्भूत इत्याह– (सुकुमालेत्यादि) सुकुमारौ पाणी पादौ च यस्याऽसौ सुकुमारपाणिपादः । यावत्करणात्–''अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे, लक्खणवंजणगुणोववेए'' इत्यादिपदसमूहो द्रष्टव्यः । तत्र अहीनानि स्वरूपतः पूर्णानि या संख्याः, पुण्यानि वा पूतानि पञ्चेन्द्रियाणि यत्र तथा तदेवंविधं शरीरं यस्य स तथा, तम् । (लक्खणवंजणगुणोववेया) लक्षणानि स्वस्तिकाऽऽदीनि, व्यञ्जनानि मषीतिलकाऽदीनि, तेषां यो गुणः प्रशस्तता, तेनोपपेतो युक्तो यः स तथा, तम् । (ससिसोम्माकारं कंत पियदंसणं) शशिवत् सौम्याऽऽकारं कान्तं कमनीयमत एव प्रियं द्रष्टृणां दर्शनं रूपं यस्य सः, तम् । (विनयपरिणयमेत्ते त्ति) विज्ञ एव विज्ञकः, स चासौ परिणतमात्रश्च, कलादिष्विति गम्यते । विज्ञकः परिणतमात्रः । (जोव्वण त्ति) यौवनमेव यौवनकमनुप्राप्तः स्वयमेव पैतृकं दायशब्देन धनं प्रतिपद्यते, आत्मायत्तं करोति । शेषं व्यक्तम् । (धम्ममाइक्खेज्ज त्ति) धर्म्ममकथयत् । (एवं संपडि त्ति) एवं संप्रतिशृणुयात् ? नायमर्थः समर्थः, अभविकोऽयोग्यः स तस्य धर्म्मस्य श्रवणतायै, एतन्निदानस्यैतदेव फलं, यत्केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं श्रोतुं न समर्था भवति, नवरम् (पावए फलविवागे त्ति) पापकः फलविपाकः । इति प्रथमं निदानस्वरूपम् ॥१॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते । तं जहा–इणमेव निग्गंथे पावयणे०जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेति । जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथीए सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणा पुरा दिगिंछाए उदिण्णकामजाया विहरेज्जा, सा य परक्कमेज्जा, सा य परक्कमेमाणी पासेज्जासे जा इमा इत्थिया भवति एगा एगजाता एगाभरणादिपिहाणा तेल्लपेला इव सुंसगोपिता, चेलपेला इव सुसंपरिग्गहिया रयणकरंडगसमाणा । तेसि णं अतिजायमाणीए वा निज्जायमाणीए वा पुरतो महं दासी दासा चेव०जाव किं भे आसगस्स सदति, जं पासित्ता णं णिग्गंथा णिदाणं करेंति– जति इमस्स सुसंपग्गहियस्स तवनियम० जाव भुंजमाणी विहरामि, तं साहुणी । एवं खलु समणाउसो ! णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयऽपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । महिड्ढिएसु०जाव सा णं तत्थ देवे भवति० जाव भुंजमाणे विहरति। सा णं ताओ देवलोगातो आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया, एतेसि णं अण्णतरंसि दारियत्ताए पच्चायाति, सा णं तत्थ दारिया भवति । सुकुमाल०जाव सुरूवा । तते णं तं दारियं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं विणयपरिणयमेत्तं जोव्वणगमणुपत्तं पडिरूवेणं सुज्केण पडिरूवस्स भत्तारस्स भारियत्ताए दलयंति, सा णं तस्स भारिया भवति, एगा एगजाता इट्ठा कंता०जाव रयणकरंडगसमाणा, तीसे०जाव अतिजायमाणीए वा पुरतो महं दासी दास०जाव किं मे आसगस्स सदति । तीसे णं तहप्पगाराए इत्थियाए तहारूवे समणे वा उभतो कालं केवलिपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ? हंता आइक्खेज्जा । ते णं भंते ! पडिसुणिज्जा ? णो इणट्ठे समट्ठे । अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणयाए, सा च भवति महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा०जाव दाहिणगामिणेरइए आगमिस्सए दुल्लभबोहिए यावि भवति । एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागं जं णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणेत्तए ॥२॥

द्वितीये किमपि लिख्यते–''एगे'' इत्यादि । एका स्वरूपतः, एकजाता तज्जातीयान्यसपत्नीवर्जिता । (एकाभरणा इति) एकाभरणानि एकजातीयहेमरूप्यरत्नाभरणानि, पिधानानि च वस्त्राणि यस्याः सा तथा । पुनः कथंभूता ? इत्याह–(तेल्लपेला इव इत्यादि) तैलपेटा सौराष्ट्रप्रसिद्धो मृन्मयतैलस्य भाजनविशेषः । स च भङ्गभयाल्लोटनभयाच्च सुष्ठु संगोप्यते । एवं साऽपि । चेलपेटा इव सुसंपरिगृहीता । चेलानि वस्त्राणि तेषां पेला पोट्टलिका इव सुसंपरिगृहीता, सुरक्षिता इत्यर्थः । (रयणेत्यादि) रत्नकरण्डकसमाना बहुमूल्यतया यत्नेन रक्षिता । शेषं कण्ठ्यम् । (दारियत्ताए त्ति) पुत्रीतया (पडिरूवेणं सुज्केणं) प्रतिरूपेण स्वरूपत उभयकुलोचितेन विवाहमीलनदानरूपेण शुल्केन कन्यासदृशरूपेण, प्रतिरूपस्य वयःप्रभृतिगुणसमेतस्य भर्तुर्भार्या, तया ददति । एतस्य निदानस्यैतत्फलं यत्केवलिभाषितधर्मश्रवणं न प्राप्नोति ॥२॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते । तं जहा–इणमेव निग्गंथे पावयणे०तहेव चेव । जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथे सिक्खाए उवट्ठिते विहरमाणे पुरा दिगिंछाए०जाव से य परक्कमेमाणे पासिज्जा, इमा इत्थिया भवति, एगा एग०जाव किं भे आसगस्स सदति, जं पासित्ता निग्गंथे णिदाणं करेति दुक्खं खलु पुमत्तणए, जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया । एतेसि णं अण्णतरेसु उच्चावएसु महासमरसंगामेसु उच्चावयाइं सत्थाइं उरसि चेव पडिसंवेदेति, तं दुक्खं खलु पुमत्तणए, इत्थित्तणयं साहु । जति इमस्स तवनियमबंभचेरवासस्स फलवित्तिविसेसे अत्थि, वयमवि आगमे, से णं०जाव से तं साधु । एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथे णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयअपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु०जाव से णं तत्थ देवे भवति, महिड्ढिए०जाव विहरति, से णं ताओ देवलोगाओ आउक्ख–

एणं०जाव अण्णतरंसि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाति०जाव तेणं तं दारिथं०जाव भारियत्ताए दलयंति, सा णं तस्स भारिया भवति, एगा एग०जाव तहेव सव्वं भाणियव्वं, तीसे णं अत्थि जायमाणिए वा०जाव किं मे आसगस्स सदति? तीसे णं तहप्पगाराए इत्थिगाए एतारूवे समणे वा माहणे वा० जाव पडिसुणिज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे। अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणताए, सा य भवति महिच्छा०जाव दाहिणगामिए णेरइए आगमे, सा ण दुल्लभबोहिए यावि भवति। तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे भवति, जं णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणेत्तए ॥३॥

तृतीये किमपि लिख्यते–(दुक्खं खलु इत्यादि) दुःखं कष्टं पुरुषत्वे। तदेवाऽऽह–(से त्ति) 'से' शब्दोऽथशब्दः। अथशब्दश्चेह वाक्योपक्षेपी भवति–(उच्चावएसु त्ति) उच्चा महत्प्रभुप्रारम्भिताः, अवचास्तथाविध-नीचपुरुषप्रारम्भितास्तेषु, समरसंग्रामादिहैकार्थौ, उच्चावचानि शस्त्राणि सशरतोमराऽऽदीनि। (उरसि त्ति) वक्षसि एव पतन्ति। उपलक्षणं चैतत् शेषाङ्गानाम्। अतः स्त्रीत्वं साधु सम्यग् (उभयो कण्ण त्ति) उभयोः श्रावणार्थम्। अस्याऽपि निदानस्यैवंविधं फलं, यत्न केवलिप्रणीतं धर्मं श्रोतुमाप्नोति ॥३॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णते। तं जहा– इणमेव णिग्गंथे पावयणे, सेसं तं चेव०जाव जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथी सिक्खाए उवट्ठिता विहरमाणी पुरा दिगिंछाए पुरा० जाव उदिण्णकामजाता यावि विहरेज्जा, सा य परक्कमेज्जा, सा य परक्कमेमाणी पासेज्जा–जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया०जाव किं मे आसगस्स सदति? जं पासित्ता णं णिग्गंथी णिदाणं करेतिदुक्खं खलु पुमत्तणए से, जे इमे भवंतिउग्गपुत्ता, मम एएणं उवागएसु महासमरसंगामेसु उग्गं वहाय सत्थाइएसिं पडिवेइति, तं दुक्खं खलु पुमत्तणए, णं इत्थित्तणए०साहु। जइ इमस्स०जाव अत्थि वयमवि आगमिस्साणं इमेयारूवाइं उरालाइं इत्थिभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सामि, से तं साधु। एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथा णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइत्ता०जाव अपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। से णं देवलोयाओ आउक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता से जे इमे भवंति उग्गपमुहा, तेसिं अन्नयरंसि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाति। तए णं तेसिं अम्मापियरो तहेव०जाव किं मे आसगस्स सदइ? अह णं भंते! तहप्पगाराए इत्थियाए तहारूवे समणे वा उभओ कालं केवलिपण्णत्तं धम्मं आइक्खेज्जा? हंता ! आइक्खेज्जा। से तं भंते ! पडिसुणिज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे। अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणयाए, सा य भवइ महिच्छा०जाव दुल्लभबोहीए यावि भवति। तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमयारूवे पावए फलविवागे केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणेज्जा, एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गंथं०जाव अंतं करेइ। जस्स णं धम्मस्स निग्गंथं सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणं पुरा दिगिंछाए०जाव उदिण्णकामजाया यावि विहरेज्जा ०जाव सा य परक्कममाणिं पासेज्जा, से जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया, तेसि णं अण्णयरस्स अतिमाणा वा०जाव किं च मे आसयस्स सदइ? जं पासित्ता णिग्गंथी णिदाणं करेइदुक्खं खलु इत्थित्तणए दुस्संचाराइं गामंतराइं०जाव संनिवेसंतराइं, से जहाणामए अंवपेसिया ति वा, अंबाडगपेसिया ति वा, मंसपेसिया ति वा, माउलिंगपेसिया ति वा, उच्छुखंडिया ति वा, संवलियाफालिया ति वा बहुजणस्स आसादणिज्जा पत्थणिज्जा पच्छणिज्जा पीहणिज्जा अभिलसणिज्जा, एवामेव इत्थिया वि बहूजणस्स आसादणिज्जा०जाव अभिलसणिज्जा, तं दुक्खं खलु इत्थित्तणए, पुमत्तणए साधु। जइ इमस्स तवनियमस्स०जाव साहू। एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथी णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयमपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, महिड्ढिए०जाव चइत्ता जे इमे उग्गपुत्ता तहेव दारए०जाव किं मे आसगस्स सदति? तस्स णं तहापगारस्स पुरिसजातस्स०जाव अभविए णं से तस्स धम्मस्स सवणताए,से य भवति महिच्छे०जाव दाहिणगामिए० जाव दुल्लभबोहिए यावि भवति, एवं खलु०जाव पडिसुणित्तए ॥४॥

चतुर्थे किमपि लिख्यते–(दुक्खं खलु इत्थित्तणए) दुःखं कष्टं स्त्रीत्वे। तदेवाऽऽह–(दुस्संचारा इति) दुःसंचारा ग्रामाः, दुर्गमा इत्यर्थः शब्दव्याख्या प्राग्वत्। (से जहाणामए) 'से' अथ यथानामम्। (मंसपेसिय त्ति) मांसपेशिका मांसखण्ड, आम्रपेशिका च दृष्टाऽपि सती सुखं करोति। एवं मातु लिङ्गपेशिका। मातुलिङ्गो नाम बीजपूरकः (उच्छुखंडिय त्ति) इक्षुखण्डिका इक्षुपर्वरूपा। (संवलियाफालिय त्ति) शाल्मली वृक्षविशेषः, तत्फालिका पलाशरूपा। (बहुजणस्सेत्यादि) बहुजनस्य बहुलोकस्य आस्वादनीया ईषत्स्वादनयोग्या भवति, प्रार्थनीया तथाभूतसहाय-जनेभ्यः सकाशाद्याचनीया। (अभिलसणिज्जा इति) अभिलषणीया आभिमुख्येन कमनीया। (एवामेव त्ति) एवामेवाऽकारोऽलाक्षणिकः। (अभविए त्ति) अभविकोऽयोग्यः स तस्य धर्मस्याऽश्रद्धानतया, स च भवतिमहेच्छः, एतस्य निदानस्यैतत्फलं यत्न केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शक्नोति श्रद्धातुं, परं शृणोति इति विशेषः ॥४॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते। तं जहा–इणमेव निग्गंथं पावयणं०तहेव, जस्स णं धम्मस्स निग्गंथो वा निग्गंथीए वा सिक्खाए उवट्ठविए वि विहरमाणे पुरा दिगिंछा० जाव

उदिण्णकामभोगे विहरेज्जा, सिय परक्कमेज्जा, से य परक्कममाणे माणुस्सेहिं कामभोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा अणिया असासता सडणपडण विद्धंसणधम्मा उच्चारपासवणखेलसंघाणगवंतपित्तसुक्कसोणियसमुब्भवा दुरूवउस्सासनिस्सासदुरूवमुत्तपुरीसपुण्णा वंतासवा पित्तासवा खेलासवा पच्छा पुरं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा, संति खलु अत्थ देवा देवलोगंसि ते णं तत्थ अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेंति, अप्पणा चेव अप्पाणं विउव्वित्ता २ परियारेंति, जति इमस्स तव०जाव तं सेव सव्वं भाणियव्वं ०जाव वयमवि आगमेस्साणं इमाइं एतारूवाइं दिव्वाइं भोग–भोगाइं भुंजमाणे विहरामो, से तं साहु। एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथा वा निग्गंथी वा निदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणा–लोइय अपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा महिड्ढिएसु०जाव से, ते णं अण्णं देवं अण्णं देविं तं चेव० जाव परियारेंति, से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया एतेसि णं अण्णतरंसि कुलंसि पुमत्ताए०जाव किं भे आसगस्स सदति तस्स ण तहप्पगारस्स पुरिसजातस्स इमेयारूवे समणे वा माहण वा० णाव पडिसुणिज्जा? हंता पडिसुणिज्जा। से णं सद्दहेज्जा, रोएज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे। अभविए णं से तस्स धम्मस्स सद्दहणताए से य भवति महिच्छे०जाव दाहिणगामिणणरइए आगमेस्साए दुल्लभबो–हिए यावि भवति। एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे जं णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं सद्दहति वा ॥५॥

पञ्चममेव विवृणोति–(माणुस्सएहिं इत्यादि) मानुष्यकेषु काम–भोगेषु निर्वेदं वैराग्यं गच्छेत्। तदेवाऽऽह–(माणुस्सगा इति) इह कामभोगग्रहणे तदाधारभूतानि स्त्रीपुरुषशरीराण्यपि गृहीतानि। (अधुवा इत्यादि) अध्रुवाः चलाः, अनियता अनेकस्वरूपाः, अशाश्वतयाः प्रतिक्षणं परिणामान्तरीयाः, शटनपतनविध्वंसधर्माणः, एतादृक्स्वभावाः, उच्चारप्रश्रवणश्लेष्मसिङ्घाणकाः, एतद्रूपा इत्यर्थः। वान्तपित्तकरणशीलाः, शुक्रशोणिताभ्यां समुद्भव उत्प–त्तिर्येषां ते शुक्रशोणितसमुद्भवाः। (दुरूवउस्सासनिस्सासा) दुरूपेण पूतिकपुरुषेण पूर्णाः। इह दुरूपं विरूपम्, वान्तमाश्रवन्ति श्रान्ताश्रवाः, एवं पित्ताश्रवाः, पश्चात् मरणसमयानन्तरं, पूर्वं जराया आगमात् च, अवश्यमविनश्यं नियतता, अवशं वा, विप्रहास्यात्, सन्ति विद्यन्ते च, खल्वित्यवधारणेऽत्र देवा देवलोके (ते णं तत्थ अण्णेसिमित्यादि) तद्भवत्वोत्पन्ना निर्ग्रन्थाः तत्र देवलोके अन्येषां देवानां संबन्धिनीर्देवीः (अभिजुंजिय २) अभियुज्य२वशीकृत्य २ आश्लिष्य वा, परिचारयन्ते परिभुञ्जते। (अप्पणा चेव अप्पाणं ति) आत्मनैव आत्मानं, स्त्रीपुरुषरूपतया विकृत्येत्यर्थः। शेषं सुबोधार्थम् ॥५॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते। तं जहा– तं चेव से य परक्कममाणे माणुस्सएसु कामभोगेसु निव्वेदं गच्छेज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अणिया तहेव०जाव संति उड्ढं देवा तं चेव लोगंसि ते णं तत्थ अण्णदेवाणं अन्नदेविं अभिजुंजिय२ परियारेंति, अप्पणा वीयाए देवीए अभिजुंजिय२ परियारेंति, अप्पणामेव अप्पणा विउव्विय परियारेंति। इमस्स तव०जाव तं चेव सव्वं०जाव से णं सद्दहिज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ? णो इणट्ठे समट्ठे। अण्णरुई रुइमायाए से य भवति से, जे इमे आरण्णिया आवसहिया गामंतिया कण्हरहस्सिया णो बहुसंजता णो बहुपडिविरता सव्वपाणभूतजीवसत्तेसु अप्पणा विरता अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति–अहं णं हंतव्वो, अण्णे हंतव्वा, अहं न अज्जवियव्वो, अन्ने अज्जवियव्वा, अहं ण परितावेयव्वो, अन्ने परितावेयव्वा, अहं ण परिघेतव्वो, अन्ने परिघेतव्वा, अहं ण अवद्दवेयव्वो, अण्णे अवद्दवेयव्वा, एवामेव इत्थिकामेहिं च मुच्छिता गिद्धा गढिया अज्झोववण्णा जाव–वासाइं चउपंचछसत्तयाइं भोगभागाइं भुंजित्ता तेहिं जिया कालमासे कालं किच्चा अण्णतराइं आसुराइं किव्विसियसाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति, ते ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमुयत्ताए य पच्चायंति, तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स०जाव णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं सद्दहित्तए वा ॥६॥

(किं तु अण्णरुइ त्ति) अन्यत्र जैनधर्म्मातिरिक्ते स्थाने रुचिरभिलाषा यस्याः सा चान्यरुचिः पररुचिः रुचिमात्रया धर्मश्रद्धारूपया स च भवति, ये चामी वक्ष्यमाणा भवन्ति–(आरण्णियत्ति) अरण्ये वसन्त्यारण्यकाः, तापसा कन्दमूलफलाऽऽहाराः, ततः केचन वृक्षमूले वसन्ति। तथा–(आवसहिय त्ति) आवसथिकाः, अवसथास्तापसाश्रया उटजाऽऽदयः, तत्र वसन्तीति आवसथिकाः। (गामंतिया इति) ग्रामाऽऽदिकमुपजीवन्तो ग्राम–स्यान्ते समीपे वसन्तीति ग्रामान्तिकाः। तथा–(कण्हरहस्सिया इति) क्वचित्कार्ये मण्डलप्रवेशाऽऽदिके रहस्सं येषां ते क्वचिद्राह–स्यिकास्ते एते न बहुसंयता न सर्वसावद्यानुष्ठाने भोगनिवृत्ताः। एतदुक्तं भवति–न बाहुल्येन त्रसेषु दण्डं समारभन्ति? विदधति, एकेन्द्रियोपजीविनस्त्वविगानेन तापसाऽऽदयो भवन्ति इति। तथा न बहुप्रतिविरताः–न सर्वेष्वपि प्राणातिपातविरमणाऽऽदिव्रतेषु वर्त्तन्ते, किं तु द्रव्यतः कतिपयव्रतिनो, न भावतो, मनागपि तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनस्याभावात्। सम्यक्त्वं विना न तदनुष्ठानमपि शोभनं, सम्यक्त्वमेव मूलं सर्वस्याऽपि विरत्यादेरित्यभिप्रायः। इत्येतदेवाऽऽविर्भावयितुमाह– (सव्वपाणेत्यादि) ते ह्यारण्यकाऽऽदयः सर्वप्राणभूतसत्त्वेभ्य आत्मना स्वतो विरताः, तदुपमर्दकाऽऽरम्भादविरता इत्यर्थः। तथा ते पाखण्डिकाः आत्मना स्वतो बहूनि सत्यामृषाभूतानि वाक्यान्येवं वक्ष्यमाणानीत्यविशेषेण प्रयुञ्जन्तो 'विप्पडिवेदेंति' विप्रतिबुवते इत्यर्थः। यदि वासत्यान्यपि तानि प्राण्युपमर्दकत्वेन मृषाभूतानि सत्यामृषाण्येवं ते प्रयुञ्जतीति दर्शयन्ति? तद्यथा–''अहं ब्राह्मणत्वाद्दण्डाऽऽदिभिर्न हन्तव्यः अन्ये तु शूद्रत्वाद्धन्तव्याः''। तथाहि–तद्वाक्यम्– ''शूद्रं व्यापाद्य प्राणायामं

जपेत''। तथा–''क्षुद्रसत्त्वानामनस्थिकानां शकटभरमपि व्यापाद्य ब्राह्मणं भोजयेत्'' इत्यादि। अपरं चाऽऽह–''वर्णोत्तमत्वान्नज्ञाप-यितव्यः, अन्ये त्वाज्ञापयितव्याः। अहं न परितापयितव्यः, अन्ये तु परितापयितव्याः।'' तथा ''अहं वेतनाऽऽदिना कर्मकारणाय न ग्राह्योऽन्ये तु शूद्रा ग्राह्याः'' इति। किं बहुनोक्तेन–''नाहमपद्रावयितव्यो जीवितव्यात्, अन्ये त्वपद्रावयितव्याः'' इति। तदेवं तेषां परपीडोपदेशः। ततो न मूढतयाऽसंबद्धप्रलापिनामशालावृतानामात्मम्भरिणां विषम-दृष्टीनां प्राणातिपातविरतिरूपव्रतमस्ति। अस्य चोपलक्षणार्थत्वान्मृषा-वादादत्ताऽऽदानविरमणाभावोऽप्यायोज्यः। अधुना त्वनादिभवाभ्यासाद् दुस्त्यजत्वेन प्राधान्यात् सूत्रेणैवाब्रह्माधिकृत्याऽऽह–(एवामेवेत्यादि) एवमेव पूर्वोक्तेनैव कारणत्वेनातिमूढत्वाऽऽदिना परमार्थमजानानास्ते तीर्थिकाः स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः। यदि वा–स्त्रीपुंसकामेषु, चशब्दात्तेषु मूर्च्छिता गृद्धाः, ग्रथिता अध्युपपन्नाः। अत्र चात्यादरख्या-पनार्थं प्रभूतपर्यायग्रहणम्। एतच्च स्त्रीषु शब्दाऽऽदिषु प्रवर्त्तनं प्रायः प्राणिनां प्रधानं संसारकारणम्। तथा चोक्तम्– ''मूलमेयमहम्म-स्स''इत्यादि। इह च स्त्री सङ्गाऽऽसक्तस्यास्यावश्यंभाविनी शब्दाऽऽदि-विषयाऽऽसक्तिरिति, अतः स्त्रीकामग्रहणम्। तत्र चाऽऽसक्ता यावन्तं कालमासते, तत्सूत्रेणैव दर्शयति–यावद्वर्षाणि चतुःपञ्चषड्सप्तकानि। अयं च कालो गृहीतः। एतावत्कालोपा–दानं च प्रायिकम्, प्रायस्तीर्थिका अतिक्रान्तवयस एव प्रव्रजन्ति, तेषां चेतावानेव कालः संभाव्यते। यदि वा मध्यग्रहणात्तत ऊर्द्धमधश्च गृह्यते। तद्दर्शयतितस्माच्चापेतकाला-दल्पतरो भूयस्तरो वाऽपि कालो भवति। तत्र च ते त्यक्त्वाऽपि गृहवासं, भुक्त्वा भोगभोगानिति, स्त्रीभोगे सत्यवश्यं शब्दाऽऽदयो भोगभोगास्तान् भुक्त्वा ते च भोगेभ्यो जिता इति, न च भोगेभ्यो विनिवृत्ताः, यतोऽसा-ध्यादृष्टनयनज्ञानवत्त्वात्सम्यग्विरतिपरिणामरहिताः, ते चैवंभूतपरि-णामाः स्वायुषः क्षये कालमासे कालं कृत्वाऽन्यतरेष्वासुरिकेषु किल्विकेषु स्थानेषु उत्पादयितारो भवन्ति। ते ह्यज्ञानतपसा मृता अपि किल्विषिके-षूत्पत्स्यन्ते, तस्मादपि स्थानादायुषः क्षयाद्विप्रमुच्यमानाश्च्युताः किल्विषबहुलास्तत्कर्मशेषेणैलवद् मूका एलमूकाः, तद्भावेनोत्पद्यन्ते किल्विषस्थानाद् च्युतः सन्ननन्तरभवे वा मानुषत्वमवाप्य यथैकोऽव्यक्त-भाग्भवत्येवमेषामव्यक्तवाक् समुत्पद्यत इति। तथा (तमुयत्ताए त्ति) तमस्त्वेनात्यन्तान्धतमस्त्वेन ज्ञानावृततया वा, तथैलमूकत्वेनाऽपि गतवाच इह प्रत्यागच्छन्तीति। शेषं प्रतीतम्॥६॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते०जाव माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा तहेव संति उड्ढं देवा देवलोयंसि अण्णं देवं अण्णं च देविं अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति, णो अप्पणा चेव अप्पाणं विउव्विय विउव्विय परियारेंति–जति इमस्स तवनियम०जाव तं चेव०जाव एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथे वा निग्गंथी वा णिदाणं किच्चा अणालोइय तं चेव०जाव विहरति, से णं भवं अन्नं भवं देवं अण्णं देविं णो अदेवेणं अभि–जुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति, नो अप्पणा चेव अप्पाणं वेउव्विय वेउव्विय परियारेंति, स णं ताओ देवलोगातो आउ–क्खएणं तहेव वत्तव्वं, णवरं हंता सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा। से णं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं पडिव–ज्जेज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे। से णं दंसणसावए भवति, अभिगय–जीवाजीवे आइद्धिंजापेमाणुरागरत्ते सेसे अणिट्ठे, से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणइ, बहूइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावफलविवाए, जं णो संचाएति सीलव्वगुणपोसहोववासाइं पडिवइत्तए॥७॥

सप्तमे किमपि लिख्यते–''णवरं'' इति विशेषः। (हंता सद्दहेज्जा इति) श्रद्दधेत्, प्रतीयेत्प्रतीतिं विदध्यात्, रोचयेत् चेतसि सम्यक्तया जानीयात् (सीलव्वय त्ति) प्राग्वत्। प्रतिपद्येत अङ्गीकुर्यात्? गुरुराह–नायमर्थः समर्थो नायमर्थो युक्त्योपपन्नः, स हि दर्शनश्रावको भवति। दर्शनं नाम–सम्यक्त्वं, तदाश्रित्येत्यभिप्रायः। (अभिगयेत्यादि) अग्रे व्याख्यास्यते। एवं भूतः स बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासकपर्यायं पालयति, केवलेनाऽपि सम्यक्त्वेन श्रावको भवत्येव, क्रियायामपि तस्यैव प्रधानतरत्वात्॥७॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, तं चेव सव्वं०जाव से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सगा कामभोगा अधुवा०जाव विप्पजहाणिज्जा, दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा अणितिया असासता वलावयणधम्मा पुणरागमणिज्जा पच्छा पुव्वं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा, जति इमस्स तवनियमस्स०जाव आगमेस्साणं जइ इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया०जाव पुमत्तए पव्वायंति। तत्थ णं समणोवासए भविस्सामि अहिगतजीवा–जीवा०जाव फासुयएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे विहरिस्सामि, से तं साधु। एवं खलु समणाउसो! निग्गंथो वा निग्गंथी वा णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणा–लोइय०जाव देवलोएसु देवत्ताए उववज्जेज्जा०जाव किं भे आसगस्स सदति? तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजातस्स वि हंता सद्दहिज्जा, से णं सीलव्वय०जाव पोसहोववासाइं पडि–वज्जेज्जा, से णं मुडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वएज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे। से णं समणोवासए भवति अहिगतजीवाजीवे ०जाव पडिलाभेमाणे विहरति, से णं एतारूवेणं विहरमाणे बहूणि वासाणि समणोवासगपरियागं पाउणिति, बहूइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता आवाहंसि उप्पण्णं वा हंता ! पच्चक्खाएइ, हंता! बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदइ, छेदेइत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अण्णय–रेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। एवं खलु समणा–

उसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे एवं फलविवागो जं णो संचाएति सव्वतो सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ॥८॥

अष्टमे किमपि लिख्यते–(तत्थ णं) तत्र पुत्राऽऽदिषु अहं श्रमणो–पासको भूयासं, विशिष्टोपदेशार्थं श्रमणानुपास्ते सेवते इति श्रमणो–पासकः। स च श्रमणोपासनतः (अहिगतजीवाजीवे इत्यादि) अधिगतौ सम्यग्विज्ञातौ जीवाजीवौ येन स तथा। यावत्करणात्– ''उवलद्धपुन्नपावे'' इत्यादिपदकदम्बकसग्रहः। उपलब्धे यथाऽवस्थितस्वरूपेण विज्ञाते पुण्यपापे येन स उपलब्धपुण्यपापः, आश्रवानां प्राणातिपाताऽऽदीनां संवरस्य प्राणातिपाताऽऽदिप्रत्याख्यानरूपस्य निर्जरायां कर्मणां देशतो निर्जरणस्य क्रियाणां कायिक्यादीनामधिकरणानां खड्गाऽऽदीनां बन्धस्य कर्म्मपुद्गलजीवप्रदेशान्योऽन्याऽऽगमरूपस्य मोक्षस्य सर्वाऽऽत्मना कर्मापगमरूपस्य कुशलः सम्यक्परिज्ञाता, आश्रवसंवर-निर्जराक्रियाऽधिकरणबन्धमोक्षकुशलः। एतेन चास्य ज्ञानसंपन्नतोक्ता। (असहेज्जे इति) अवद्यमानसहायः कुतीर्थिकप्रेरितसम्यक्त्वाविचलनं प्रति न परसाहाय्यमपेक्षते इति भावः। तथा चाऽऽह–(देवासुरनागसुव-न्नजक्खरक्खसकिं नरकिंपुरिसगरुडगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जे) देवा वैमानिका असुर–कुमारा नागकुमारा राक्षसकिन्नरकिम्पुरुषा व्यन्तरभेदाः (गरुड त्ति) गरुडचिह्नाः सुवर्णकुमारा गन्धर्वमहोरगाश्च व्यन्तराः, तैः(अणति–क्रमणिज्जे इति) अनतिक्रमणीया अचालनीयाः। एवं चैतत्। यतः–(निग्गंथे पावयणे निस्संकिए इत्यादि) निर्ग्रन्थे प्रावचने निःसंशयः (निक्कंखिए त्ति) दर्शनान्तराकाङ्क्षारहितः। (निव्वतिगिच्छे) फलं प्रति निःशङ्कः। (लद्धट्ठे) अर्थश्रवणतः (गहियट्ठे) ग्रहीतार्थाऽवधारणतः (पुच्छियट्ठे) प्रष्टार्थः, सांशयिकार्थप्रश्नकरणात्। (अहिगयट्ठे त्ति) अधिगतोऽर्थो येन स तथा। अभिगतार्थो वा, अर्थावधारणात्। (विणिच्छियट्ठे त्ति) विनिश्चितार्थः, एवं पर्यालोपलम्भात्। अत एव–(अट्ठिमिजापेम्माणुरागरत्त त्ति) अस्थीनि च कीकसाति। 'मिंजा च' तन्मध्यवर्ती धातुविशेषः अस्थिमिञ्जास्ताः प्रेमानुरागेण सर्वज्ञप्रवचनप्रीतिलक्षणकुसुम्भाऽऽदि-रागेण रक्ता इव रक्ता यः स तथा। केनोल्लेखेनेत्यत आह–(अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठो, सेसे अणट्ठे त्ति) अयमिति प्राकृतत्वादिदम्। (आउसो त्ति) आयुष्मन्निति पुत्राऽऽदेरामन्त्रणम्। (सेसे त्ति) शेषं निर्ग्रन्थप्रवचननेनातिरिक्तं धनधान्यकलत्रपुत्रमित्रकुप्रव-चनाऽऽदिकम्, अनर्थोऽनर्थकारणत्वात् इति। (ऊसियफलिहे त्ति) उच्छ्रतोच्छ्रतमुन्नतं स्फटिकमिव स्फटिकं चित्तं यस्यासौ उच्छ्रत-स्फटिकः, मौनीन्द्रप्रवचनावाप्त्या परितुष्टमना इत्यर्थः। एषा वृद्धव्याख्या। अपरे त्वाहः–उच्छ्रतोऽर्गलाऽस्थानादपनीय ऊर्द्धीकृतो न तिरश्चीनः कटेः पश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः। उत्सृतो वा अपगतः परिघोऽर्गला गृहद्वारेयस्याः सा, व्युत्सृतपरिघो वा–औदार्यातिरेक-तोऽतिशयदानदायित्वेनानुकम्पया भिक्षुकप्रवेशार्थमनर्गलितगृहद्वार इत्यर्थः। (अवंगयदुवारे) अप्रावृतद्वारः भिक्षुकप्रवेशार्थं कपाटानामपि पश्चात्करणात्। वृद्धानां तु भावनावाक्यमेव। सम्यग्दर्शनलाभे सति न कस्माच्चित्पाषण्डिकादबिभेति, शोभनमार्गपरि,ग्रहणे उद्घाटितशिरा-*स्तिष्ठतीति भावः। (चियंत्तंतेउरघरप्पवेसे इति) (चियत्तो त्ति) लोकानां* प्रतीत एवान्तःपुरे वा गृहे वा प्रवेशो यस्य स तथा, अतिधार्मिकतया सर्वत्राऽनाशङ्कनीय इत्यर्थः। (चियत्ते त्ति) नाप्रीतिकरोऽन्तःपुरगृहयोः प्रवेशः शिष्टजनप्रवेशनं यस्य स तथा, अनीर्ष्यालुताप्रतिपादनान्तरं चेत्थं विशेषणमिति। अथ वा (चियत्तो त्ति) त्यक्तोऽन्तःपुरगृहयोः परकीययोर्य-थाकथञ्चित्प्रवेशे येन स तथा। (चाउद्दसट्ठमिअमावसापुण्णमासिणीसु पडिपुन्नपोसहमणुपालेमाणे त्ति) चतुर्दशी पर्वविधिना प्रतीता, अष्टमी च, तयोः अमावास्यासु मासार्द्धोरूपर्वत्वेन प्रत्याख्यानासु, पौर्णमासीषु च पूर्णमासत्वेन पूर्णचन्द्रोदयत्वेन मासान्तपर्वसु प्रसिद्धासु, एवंभूतेषु धर्मदिवसेषु शुद्ध्यतिशयेन प्रतिपूर्णो यः पौषधौ व्रताभिग्रहविशेषः, तं प्रति पूर्णमाहारशरीरसंस्कारी ब्रह्मचर्यव्यापाररूपं पौषधमनुपालयन्, संपूर्णश्रावकधर्ममनुचरति। तदनेन विशिष्टं देशचारित्रमावेदितं भवति। (समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमेणं वत्थपडिग्गह-कंबलपायपुच्छणेणं) अत्र वस्त्रं प्रतीतम्, पतद्ग्रक्तं पानं वा गृह्णातीति पतद्ग्रहः। लिहाऽऽदित्वादच् प्रत्ययः। पात्रं पादप्रोच्छनकं रजोहरणम्। (ओसहभेसज्जेणं ति) औषधमेकद्रव्याऽऽश्रयं यत्समुदायरूपम्। अथवौषधं त्रिफलाऽऽदिभैषज्यम् (पाडिहारिएणं पीठफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणे त्ति) प्रतिहरः प्रत्यर्प्पणं प्रयोजनमस्येति प्रातिहारिकं, पीठमासनं, फलकमवष्टम्भनार्थः काष्ठविशेषः, शय्या वशतिः, शयनं च यत्र प्रसारितपादः सुप्यते, संस्तारको लघुतरशयनमेव। (बहुहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं आहापरिग्गहि अप्पाणं भावेमाणे त्ति) शीलव्रतानि अणुव्रतानि, गुणा गुणव्रतानि, वि रमणानि रागाऽऽदिविरतिप्रकाराः, प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहिताऽऽदीनि, पौषधोपवासो विशेषतोऽष्टम्यादिदिनेषूवसनमाहाराऽऽदित्याग इत्यर्थः। (विहरिस्सामि त्ति) विचरिष्ये। क्वचिदेतानि पदानि अननुगमेनापि दृश्यन्ते। तान्यपि अनेन व्याख्याऽनुक्रमेण वाच्यानि। (से णं मुंडे इत्यादि) स मुण्डो मस्तकलोचनेन भूत्वा, (आगाराओ त्ति) अगर्द्धुमदृषदादि-भिर्निवृत्तं, तस्मात् निष्क्रम्यतीति शेषः। अनगारितां साधुतां प्रव्रजेत् प्रतिपद्येत, शेषं व्यक्तम्। (से णमित्यादि) स पूर्वोक्तनिदानकृता यथाशक्ति सदनु–ष्ठानं विधा उत्पन्ने वा कारणे अनुत्पन्ने वा भक्तं प्रत्याख्यायानालो–चितप्रतिक्रान्तः समाधिप्राप्तः सन् कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु लोकेषु उत्पद्यते इति। एतानि चाभिगतजीवाऽऽदिकानि पदानि हेतुमद्भावेन नेतव्यानि। तद्यथा–यस्मादभिगतजीवाजीवः, तस्मादुपल-ब्धपुण्यपापः, यस्मादुपलब्धपुण्यपापस्तस्मादुच्छ्रतमनाः, एवमुच्छ्रत-मनाः सन् श्रावकधर्मं साधुधर्म्मं वा प्रकाशयन् विहरति। अष्टमीचतु-र्दश्यादिषु पौषधोपवासाऽऽदिपारणकेषु साधून् प्रासुकेन प्रतिलाभयते। एतन्निदानस्यैतत्फलं, यज्ज्ञानन्नपि कटुकविपाकान् विषयान् विहाय न चारित्रं प्रतिपद्यते ॥८॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते०जाव से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सएहिं कामभोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा०जाव विप्पजहणिज्जा दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा०जाव पुणरागमणिज्जा, जति इमस्स तवनियम०जाव बयमवि आगमेस्साणं जाइं इमाइं अंतकुलाणि वा, तुच्छकुलाणि वा दरिद्दकु–

लाणि वा, किविणकुलाणि वा, भिक्खागकुलाणि वा, बंभकुलाणि वा। एएसि णं अण्णतरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चाएंति, एएहिं मे आतापरियाएसु णीहडे भविस्सति, से तं साधु। एवं समणाओ खलु सो णिग्गंथे नियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयअपडिक्कंते सव्वं तं चेव०जाव से णं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा, से णं तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झेज्ज०जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे। से णं भवइ सेसे जे अणगारा भवंतो इरियासमिता०जाव बंभचारी, ते णं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता आबाहंसि उप्पण्णंसि वा०जाव भत्तं पच्चाइक्खित्ता० भाव कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंतीति। ते एवं समणाउसो! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागं, जं णो संचाएति तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झेज्जा०जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा ॥६॥

नवमे किमपि लिख्यते–(अंतकुलाणि व त्ति) जघन्यकुलानि, अन्त्यवर्णत्वात् प्रान्तकुलानि तुच्छकुलानि स्वल्पकुटुम्बानि दरिद्रकुलानि सर्वथा निर्धनकुलानि कृपणकुलानि सत्यपि विभवेऽतीव निःसत्त्वानि भिक्षणशीलानि भिक्षुककुलानि भिक्षामात्रोपजीवीनि, ब्राह्मणकुलानि प्रतीतानि। एतेषामन्यतरस्मिन् कुले पुंस्त्वेन प्रत्यागमिष्यामि, यत एतेभ्यः कुलेभ्यः ममाऽऽत्मपर्यायेषु निःसारितो भविष्यति, प्रव्रज्याभिप्राये संजते न कोऽपि मां प्रतिबन्धको भविष्यतीति हृदयम्। (से णं तेणेव त्ति) स तस्मिन् भवग्रहणे ततः प्रव्रज्याऽपि सिद्ध्येत्। पदव्याख्या पूर्ववत्। ''अणगारा'' इत्यादि व्यक्तम्। यावत्करणात्–''भासासमिए एसणासमिए'' इत्यादिपदानि द्रष्टव्यानि। (सुहुयेत्यादि) सुष्ठु हुतं क्षिप्तं घृताऽऽदि यत्राऽसौ सुहुतो घृताऽऽदितर्पितः, स चासौ हुताशनश्च वह्निस्तद्वत्तेजसा ज्ञानरूपेण तपस्तेजसा वा ज्वलन् दीप्यमानः। शेषं सुबोधम्। एतन्निदानस्यैतत्फलं यन्न शक्नोति कर्मक्षयं विधाय मोक्षगमनं प्रतीतितितात्पर्यमिति नवमम् ॥६॥

एवं खलु समणाउसो! मए धम्मे पण्णत्ते। तं जहा–इणमेव निग्गंथे०जाव से परक्कमेज्जा, अणुदिण्णकामजाए सव्वकामविरते सव्वरागविरते सव्वसंगातीते सव्वसिणेहातिक्कंते सव्वचारित्तएणं परिवुडे तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं णाणेणं अणुत्तरेणं दंसणेणं०जाव परिनिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जेज्जा। तते णं से भगवं अरहा भवति जिणे केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी सदेवमणुयासुराए०जाव बहूइं केवलपरियागं पाउणंति, बहूइं केवलपरियागं पाउणित्ता अप्पणो आउसेसं आभोएति, आभोएत्ता भत्तं पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेति, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता ततो पच्छा चरिमेहिं ऊसासनीसासेहिं सिज्झति०जाव सव्वदु–क्खाणं अंतं करेति, तं एवं खलु समणाउसो! तस्स अणिद्दा–णस्स इमेयारूवे कल्लाणफलविवागे, जं तेणेव भवग्गहणेण सिज्झति०जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेति। तते णं ते बहवे णिग्गंथाओ निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एवमट्ठं सोच्चा णिसम्म समणं भगवं महावीरं वंदंति, नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता तस्स ठाणस्स आलोएंति, पडिक्कमंति०जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जंति।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं बहूणं देवाणं बहूणं देवीणं सदेवमणुयासुराए परिसाए मज्झगते एवं आइक्खति, एवं भासति, एवं परूवेति, आयातिट्ठाणे णाम अज्झो! अज्झयणे सअट्ठं सहेउअं सकारणं सुत्तं च अत्थं च तदुभयं च भुज्जो उवदरिसेति त्ति बेमि ॥१०॥

(अणुदिण्णकामजाते त्ति) अनुदीर्णः कामजातः कामगमः (सव्वकामविरतेति) सर्वकामविरक्तः सर्वसङ्गातीतः सर्व्वस्नेहाभिक्रान्तः सर्वचारित्वेन सर्वधर्म्मानुष्ठायित्वेन परिवृत्तः, तस्य भगवतः (अणुत्तरेणं णाणेणं ति) ज्ञानं मत्यादि, तद पेक्षया अनुत्तरं प्रधानं तेन। यावत्करणात्–''दंसणेणं चरित्तेणं'' इत्यादिपदानि द्रष्टव्यानि। (परिनिव्वाणमग्गेणं ति) परिनिर्वाणं कषायदाहोपशमनमार्गेण आत्मानं भावयतो वासयतः, अनेनाऽऽत्मैव प्रधानमोक्षाङ्गीमत्युक्तम्। (अणंते इत्यादि) अनन्तमनन्तार्थविषयाद्वा अनन्तमन्तरहितमपर्यवसितत्वात्। अनुत्तरं सर्वोत्तरं सर्वोत्तमत्वात्। निर्व्याघातं कटकुड्याद्यप्रतिहतत्वात्। निरावरणं क्षायिकत्वात्। कृत्स्नं सकलार्थग्राहकत्वात्। प्रतिपूर्णं सकलस्वांशसमन्वितत्वात् राकाचन्द्रवत् केवलमसहायम्, अत एव वरं प्रधानं ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शनम्। ततः पूर्वपदाभ्यां कर्मधारयः। समुत्पद्यते सकलावरणक्षयादाविर्भवति। (तते णमित्यादि) ततः स भगवानर्हन् जिनः केवली च भवति सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वविशेषाणां सामान्यस्य च प्रथमद्वितीयाऽऽदिसमयेषु अवबोधमानः सदेवमनुजासुरा यावज्जन्तुसन्ततिः। यावत्करणात्–''सव्वभावे जाणमाणे'' इत्यादि द्रष्टव्यम्। भावानिति पर्यायान् उत्पादस्थितिव्ययलक्षणान् जानाति यथावदवगच्छन् विहरत्यास्ते (अप्पणो आउसेसं ति) आत्मानमायुशेषं पश्यति। शेषं सुबोधम्। अथोपसंहर्तुकामो भगवानिदमाह–(एवं खल्वित्यादि) एवं पूर्वोक्तप्रकारेण हे श्रमण! हे आयुष्मन्! तस्यानिदानस्यायमेतद्रूपः कल्याणः शुभः फलविपाकः वृत्तिविशेषः। किं तदित्याहतेनैव भवग्रहणेन सर्वदुःखानामन्तं करोति। इति श्रुत्वा यत्ते कृतवन्तस्तदाह–(तते णमित्यादि) सुबोधम् (तस्स त्ति) स्थानस्यानन्तरोक्तस्थानस्य निदानरूपस्याऽऽलोचयन्ति। स्वमनीषिकापरिहाराय भगवान् भद्रबाहुस्वामी प्राऽऽह–(तेणं कालेणमित्यादि) राजगृहे गुणशिलालये समवसरणावसरे श्रमणा–

ऽऽदिसुरान्तपरिषन्मध्यवर्त्ती, एवमाख्यातीति यथोक्तं कथयति, एवं भाषते वाग्योगेन, एवं प्रज्ञापयति अनुपालितस्य फलं प्रदर्शयति, एवं प्ररूपयति। किं तदित्याह–(आयातिट्ठाणे त्ति) आयतिर्नाम उत्तरकालस्तस्य स्थानं पदमित्यभिधानम्। हे आर्याः! अध्ययनं (सअट्ठमित्यादि) *व्याख्यातार्थम्। इति ब्रवीमीति पूर्ववत्। दशा० १० अ०। (मध्यस्थस्य* केवलं वस्तुस्वभावपरस्य निदानमपि अनिदानमेवेति प्रथमभागे २३६ पृष्ठे 'अट्ठज्झाण' शब्दे उक्तम्)

भिज्ञा णिदाणकरणे मोक्खमग्गस्स परिमंथू, सव्वत्थ भगवया अणिदाणया पसत्था।

'भिज्ञ त्ति' लोभः, तेन यन्निदानकरणं चक्रवर्त्तीन्द्राऽऽदिऋद्धिप्रार्थनं, तन्मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदिरूपस्य परिमन्थुरार्तध्यानरूपत्वात्। भिज्ञाग्रहणाद्यत्पुनरलोभस्य भवनिर्वेदमार्गानुसारिताऽऽदिप्रार्थनं, तन्न मोक्षमार्गस्य परिमन्थुरिति दर्शितमिति। स्था०६ ठा०। ननु तीर्थकरत्वाऽऽदिप्रार्थनं न राज्याऽऽदिप्रार्थनवद् दुष्टम्, अतस्तद्विषयं निदानं मोक्षस्य परिमन्थुर्न भविष्यति? नैवम्। यत आह–(सव्वत्थेत्यादि) सर्वत्र तीर्थकरत्वचरमदेहत्वाऽऽदिविषयेऽपि, आस्तां राज्याऽऽदौ, अनिदानता अप्रार्थनमेव, भगवता समग्रैश्वर्याऽऽदिमता श्रीमन्महावीरस्वामिना (पसत्थ त्ति) प्रशंसिता श्लाघिता। एष सूत्रार्थः। (बृ०)

अथ निदानकरणमाह–

अनियाणं निव्वाणं, काऊणमुवट्ठितो भवे लहुओ।
पावति धुवमायातिं, तम्हा अणियाणता सेया॥२५७॥

अनिदानं निदानमन्तरेण साध्यं निर्वाणं भगवद्भिः प्रज्ञप्तं, ततो यो निदानं करोति, तस्य तत्कृत्वा पुनर्निदानकरणेनोपस्थितस्य लघुको मासः प्रायश्चित्तम्। अपि च–यो निदानं करोति, स यद्यपि तेनैव भवग्रहणेन सिद्धिं गन्तुकामः, तथापि ध्रुवमवश्यमायातिं पुनरेवाऽऽगमनं प्राप्नोति, तस्मादनिदानता श्रेयसी।

इदमेव व्याचष्टे–

इह परलोगनिमित्तं, अवि तित्थकरत्तचरिमदेहत्तं।
सव्वत्थेसु भगवता, अणिदाणत्तं पसत्थं तु॥२५८॥

इहलोकनिमित्तमिहैव मनुष्यलोके–अस्य तपसः प्रभावेण चक्रवर्त्यादिभोगानहं प्राप्नुयामिहैव भावविपुलान् भोगानासादयेयमितिरूपं, परलोकनिमित्तं मनुष्यापेक्षया देवभवाऽऽदिकः परलोकः, तत्र महर्द्धिक इन्द्रसामानिकाऽऽदिरहं भूयासमित्यादिरूपं, सर्वमपि निदानं प्रतिषिद्धम्। किं बहूना? तीर्थकरत्वेन आर्हत्येन युक्तं चरमदेहत्वं मे भवान्तरे भूयादित्येतदपि नाऽऽशंसनीयम्। कुतः? इत्याह–सर्वार्थिष्वप्यैहिकाऽऽमुष्मिकेषु प्रयोजनेषु अभिष्वङ्गविषयेषु भगवता अनिदानत्वमेव प्रशस्तं श्लाघितम्, तुशब्द एवकारार्थः। स च यथास्थानं योजितः। (बृ०)

आह–निदाने किमिति द्वितीयपदं नोक्तम्? उच्यते–नास्ति,

कुतः? इति चेदत आह–

जा सालंबणसेवा, तं वीयपयं वयंति गीयत्था।
आलंबणरहियं पुण, निसेवणं दप्पियं वेंति॥२६६॥

या सालम्बनसेवा या ज्ञानाऽऽद्यालम्बनयुक्ता प्रतिसेवा, तां द्वितीयपदं गीतार्था वदन्ति, आलम्बनरहितां पुनर्निषेवणां प्रतिसेवां दर्पिकां ब्रुवते–तच्चाऽऽलम्बनमनिदानकरणे किमपि तद्विद्यते– ''सव्वत्थ अनियाणया भगवया पसत्था'' इति वचनात्। अथ भोगार्थं विधीयमानं निदानं तीव्रविपाकं भवतीति कृत्वा मा क्रियतां, यत्पुनरमुना प्रणिधानेन निदानं करोतिमाम! मे राजाऽऽदिकुले उत्पन्नस्य भोगाभिष्वक्तस्य प्रव्रज्या न भविष्यतीत्यतो दरिद्रकुलेऽहमुत्पद्येयम्, तत्रोत्पन्नस्य भोगाभिष्वङ्गो न *भविष्यति, एवं निदानकरणेऽदोषः?*

सूरिराह–

एवं सुनीहरो मे, होहिति अप्प त्ति तं परिहरंति।
हंदि हु णेच्छंति भवं, भवोच्छित्तिं विमग्गंता॥२६७॥

एवमवधारणे, किमवधारयति–दरिद्रकुले उत्पन्नस्य मे ममाऽऽत्माऽसंयमात् सुनिर्हरः सुनिर्गमो भविष्यति–सुखेनैव संयममङ्गीकरिष्यामीत्यर्थः। इतीदृशमपि यन्निदानं, तदपि साधवः परिहरन्ते। कुतः? इत्याह–'हंदीति' नोदकाऽऽमन्त्रणे, हुरिति यस्मादर्थे। हे सौम्य! यस्मान्निदानकरणेन भवानां परिवृद्धिर्भवति, सर्वोऽपि च प्रव्रज्याप्रयत्नोऽस्माकं भवव्यवच्छित्तिं कर्तुमिति विविधैः प्रकारैर्मार्गयन्तः साधवो भवं नेच्छन्ति।

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति–

जो रयणमणग्घेयं, विक्किज्जऽप्पेण तत्थ किं साहू?
दुग्गयभवमिच्छत्ते, एसो चिय होति दिट्ठंतो॥२६८॥

वोऽनर्घ्यमिन्द्रनीलमरकताऽऽदिकं रत्नमल्पेन स्वल्पमूल्येन काचाऽऽदिना विक्रीणीयात्तत्र किं साधु किं माम! शोभनम्? न किञ्चिदित्यर्थः। दुर्गतभवं दरिद्रकुलोत्पत्तिमिच्छत एष एव दृष्टान्त उपनेतव्यो भवति। तथाहि–अनर्घ्यरत्नस्थानीयं चारित्रं, निरुपमानन्ताऽऽनन्दमयमोक्षफलसाधकत्वात्, काचशकलस्थानीयो दुर्गतभवः, तुच्छत्वात्, ततो यश्चारित्रविक्रयेण तत्प्रार्थनं करोति, स मन्दभाग्योऽनर्घ्यरत्नं विक्रीय काचशकलं गृह्णातीति मन्तव्यम्।

अपि च–

संगं अणिच्छमाणो, इह परलोए य मुच्चति अवस्सं।
एसेव तस्स संगो, आसंसति तुच्छयं जं तू॥२६९॥

इहलोकविषयं परलोकविषयं च सङ्गं मुक्तिपदप्रतिपक्षभूतम् अभिष्वङ्गमनिच्छन्नवश्यं मुच्यते कर्मविमुक्तो भवति, कः पुनस्तस्य सङ्गः? इत्याह–एष एव तस्य सङ्गो यन्मोक्षाऽऽख्यविपुलफलदायिनः तपसः तुच्छकं फलमाशास्ते प्रार्थयति।

तद्रूपोऽपि निदानस्यैव पर्यायकथनद्वारेण दोषमाह–

बंधो त्ति णियाणं ति य, आससजोगो य होति एगट्ठा।
ते पुण ण बोहिहेऊ, बंधावचया भवे बोही॥२७०॥

बन्ध इति वा, निदानमिति वा, आशंसायोग इति वा एकार्थानि पदानि भवन्ति। ते पुनर्बन्धाऽऽदयो न बोधिहेतवो न ज्ञानाऽऽद्यवाप्तिकारणं भवन्ति, किं तु ये बन्धापचयाः, कारणे कार्योपचारात्कर्मबन्धस्यापचयहेतवोऽनिदानताऽऽदयः, तेभ्यो बोधिर्भवति।

आह–यदि नाम साधवो भवं नेच्छन्ति, ततः कथं देवलोके–

षूत्पद्यन्ते इत्यर्थः? उच्यते–

नेच्छंति भवं समणा, सो पुण तेसिं भवे इमेहिं तु।
पुव्वतवसंजमेहिं, कम्मं तं चावि संगेणं॥२७१॥

श्रमणाः साधवो नेच्छन्त्येव भवं, परं स पुनर्भवो देवत्वरूपस्तेषाममीभिः कारणैर्भवेत्। तद्यथा–पूर्वं वीतरागापेक्षया प्राचीनावस्थाभावि यत्तपस्तेन सरागावस्थाभाविना तपसा साधवो देवलोकेषूत्पद्यन्ते इत्यर्थः। एवं पूर्वसंयमेन सरागेण सामायिकाऽऽदिचारित्रेण साधूनां देवत्वं भवति। कुत इत्याह–(कम्मं ति) पूर्वतपः संयमावस्थायां हि देवगतिप्रभृतिकं कर्म बध्यते, ततो भवति देवे–षूपपातः। एतदपि कर्म केन हेतुना बध्यते? इति चेदत आह–तदपि कर्म सङ्क्लेन संज्वलनक्रोधाऽऽदिरूपेण बध्यते। बृ०६ उ०।

कित्तियवंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्गबोहिलाहं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥

उत्तमं सर्वोत्कृष्टं, ददतु प्रयच्छन्तु। आह–किमिदं निदानम्, उत नेति? यदि निदानम्, अलमनेन, सूत्रप्रतिषिद्धत्वात्। न चेत्, सार्थकमनर्थकं वा? यद्याद्यः पक्षः, तेषां रागाऽऽदिमत्त्वप्रसङ्गः, प्रार्थनाप्रवीणे प्राणिनि तथादानात्। अथ चरमः, तत आरोग्याऽऽदिदानविकला एते इति जानानस्यापि प्रार्थनायां मृषावादप्रसङ्ग इति? अत्रोच्यते– न निदानमेतत्, तल्लक्षणायोगात्, द्वेषाभिष्वङ्गमोहगर्भं हि तत्, तथा तन्त्रप्रसिद्धत्वात् धर्माय हीनकुलाऽऽदि–प्रार्थनं मोहः, अतद्धेतुकत्वात्, ऋद्ध्यभिष्वङ्गतो धर्मप्रार्थनाऽपि मोहः, अतद्धेतुकत्वादेव। तीर्थकरत्वेऽप्येतदेवमेव प्रतिषिद्धमिति। अत एवेष्टभावबाधकृदेतत्, तथेच्छाया एव तद्विघ्नभूतत्वात्, तत्प्रधानतयेतरत्रोपसर्जनबुद्धिभावात् अतत्त्वदर्शनमेतत्, महदपायसाधनम्, अविशेषज्ञता हि गर्हितापृथग् जनानामपि सिद्धमेतत्, योगिबुद्धिगम्योऽयं व्यवहारः, सार्थकानर्थकचिन्तायां भाज्यमेतत्, चतुर्थभाषारूपत्वात्। तदुक्तम्–

''भासा असच्चमोसा, णवरं भत्तीऍ भासिया एसा।
ण हु खीणपेज्जदोसा, दैंति समाहिं च बोहिं च ॥१॥
तप्पत्थणाऍ तह वि य, ण मुसावाओ वि एत्थ विण्णेओ।
तप्पणिहाणाओ चिय, तग्गुणओ हंदि फलभावा ॥२॥
चिंतामणिरयणादिहिँ, जहा उ भव्वा समीहियं वत्थुं।
पावंति तह जिणेहिं, तेसिं रागादभावे वि ॥३॥
वत्थुसहाओ एसो, अउव्वचिंतामणी महाभागो।
थोऊणं तित्थयरे, पाविज्जइ बोहिलाभो त्ति ॥४॥
भत्तीऍ जिणवराणं, खिज्जंती पुव्वसंचिया कम्मा।
गुणपगरिसबहुमाणो, कम्मवणदवाणलो जेण ॥५॥''

एतदुक्तं भवति–यद्यपि ते भगवन्तो वीतरागत्वादारोग्याऽऽदि न प्रयच्छन्ति, तथाऽप्येवंविधवाक्यप्रयोगतः प्रवचनाऽऽराधनतया सन्मार्गवर्तिनो महासत्त्वस्य तत्सत्तानिबन्धनमेव तदुपजायत इति गाथार्थः ॥६॥ ल०।

भत्तीऍ जिणवराणं, खिज्जंती पुव्वसंचिआ कम्मा।
आरियणमुक्कारेणं, विज्जा मंता य सिज्झंति ॥५६॥

भक्त्याऽन्तःकरणाऽऽदिप्रणिधानलक्षणया, जिनवराणां तीर्थकराणां, संबन्धिन्या हेतुभूतया, किम्? क्षीयन्ते क्षयं प्रतिपद्यन्ते, पूर्वसञ्चितानि अनेकभवोपात्तानि, कर्माणि ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनि, नि, इत्थं स्वभावत्वादेव तद्भक्तेरिति। अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह। तथाहि–आचार्यनमस्कारेण विद्या, मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति, तद्भक्तिमतः सत्त्वस्य शुभपरिणामत्वात् तत्सिद्धिप्रतिबन्धककर्मक्षया–दिति भावना। अयं गाथाऽर्थः ॥५६॥

अतः साध्वी तद्भक्तिर्वस्तुतोऽभिलषितार्थप्रसाधकत्वादारोग्यबोधिलाभाऽऽदेरपि तन्निर्वर्त्य–त्वात्तथा चाऽऽह–

भत्तीऍ जिणवराणं, परमाए खीणपेज्जदोसाणं।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिमरणं च पावंति ॥६०॥

भक्त्या जिनवराणां, किंविशिष्टया? परमया प्रधानया, प्रावभक्त्येत्यर्थः। क्षीणप्रेमद्वेषाणां जिनानां, किम्? आरोग्यबोधिलाभं समाधिमरणं च प्राप्नुवन्ति प्राणिन इति। इयमत्र भावना–जिनभक्त्या कर्मक्षयः, ततः सकलकल्याणावाप्तिरित्याह–समाधिमरणं च प्राप्नुवन्तीत्येतदारोग्यबोधिलाभस्य हेतुत्वेन द्रष्टव्यम्, समाधिमरणप्राप्तौ नियमत एव तत्प्राप्तेरिति गाथाऽर्थः ॥६०॥

साम्प्रतं बोधिलाभप्राप्तावपि, जिनभक्तिमात्रादेव पुनर्बोधिलाभो भविष्यत्येव किमनेन वर्तमानकालदुष्करेणानुष्ठानेन? इत्येवंवादिनमनुष्ठानप्रमादिनं सत्त्वमधिकृत्यौपदेशिकमिदं गाथाद्वयमाह–

.....(आव०२अ०.....।
.....॥६१॥

लद्धिल्लिअं च बोहिं, अकरिंतोऽणागयं च पत्थंतो।
अन्नंदाइं बोहिं, लब्भिसि कयरेण मुल्लेण? ॥६२॥

(लद्धिल्लियं च ति) लब्धां च प्राप्तां च वर्तमानकालिकां बोधिं जिनधर्मप्राप्तिमकुर्वन्निति कर्मपराधीनतया सदनुष्ठानेन सफलामकुर्वन्, अनागतां चाऽऽयत्यामन्यां च प्रार्थयन् किं द्रक्ष्यसि? यथा–त्वं हे विह्वल! जडप्रकृते! इमं चान्यां च बोधिमधिकृत्य किं ''चुक्किहिसि'' इति देशीवचनतो भ्रश्यसि, न भविष्यसीत्यर्थः। तथा लब्धां च बोधिमकुर्वन्ननागतां च प्रार्थयन् (अन्नंदाइं ति) निपातः, असूयायाम्, अन्ये तु व्याचक्षते–अन्याभिदानीं बोधिं, किं लप्स्यसे कतरेण मूल्येन? इयमत्र भावना–बोधिलाभे सति तपः संयमानुष्ठानपरस्य प्रेत्य वासनावशात्तत्तत्प्रवृत्तिरेव बोधिलाभोऽभिधीयते, तदनुष्ठानरहितस्य पुनर्वासनाभावात् कथं तत्प्रवृत्तिरिति बोधिलाभानुपपत्तिः? स्यादेतत्, एवं सत्याद्यस्य बोधिलाभस्यासंभव एव उपन्यस्तवासनाभावान्न अनादिसंसारे राधावेधोपमानेनानाभोपगत एव कथञ्चित्कर्मक्षयतस्तदवाप्तिरिति। एतदावेदितमेवोपोद्घात इत्यलं विस्तरेणेति गाथाद्वयार्थः ॥६१॥ ६२॥

तस्मात्सति बोधिलाभे तपःसंयमानुष्ठानपरेण भवितव्यं, न यत्किञ्चित्चैत्याद्यालम्बनं चेतस्याधाय प्रमादिना भवितव्यमिति, तपस्संयमोद्यमवतश्चैत्याऽऽदिषु कृत्याविराधकत्वात्। तथा चाऽऽह–

चेइयकुलगणसंघे, आयरियाणं च पवयणे सुए अ।
सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजममुज्जमंतेणं ॥६३॥

चैत्यकुलगणसङ्घेषु, तथा आचार्याणां च, तथा प्रवचनश्रुतयोश्च, किम्? सर्वेष्वपि तेन कृतं, कृत्यमिति गम्यते। केन? तपःसंयमोद्यमवता साधुनेति। तत्र चैत्यान्यर्हत्प्रतिमालक्षणानि, कुलं विद्याधराऽऽदि, गणः कुलसमुदायः, सङ्घः समस्त एव साध्वादिसङ्घातः। आचार्याः प्रतीताः, चशब्दादुपाध्यायाऽऽदिपरिग्रहः। भेदाभिधानं च प्राधान्यख्यापनार्थम्। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। प्रवचनं द्वादशाङ्गमपि सूत्रार्थतदुभयरूपं, श्रुतं सूत्रमेव। चशब्दः स्वगता–

ऽनेकभेदप्रदर्शनार्थः। एतेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु तेन कृतं कृत्यम्, यः तपः-संयमोद्यमवान् वर्तते। इयमत्र भावना-अयं हि नियमाद् ज्ञानदर्शनसंपन्नो भवत्ययमेव च गुरुलाघममालोच्य चैत्याऽऽदिकृत्येषु सम्यक् प्रवर्तते। यथैहिकाऽऽमुष्मिकगुणवृद्धिर्भवति, विपरीतस्तु कृत्येऽपि प्रवर्तमानोऽप्यविवेकादकृत्यमेव संपादयत्यत्र बहु वक्तव्यमिति गाथार्थः ॥६३॥ आव०२ अ० पं०सू०। (प्रणिधानलक्षणं 'पणिहाण' शब्दे वक्ष्यते) (''जय वीयराय जगगुरु, होउ ममं तुह पभावओ भयवं ! भवणिव्वेओ मग्गाणुसारिया इट्ठफलसिद्धी ॥३३॥'' इति प्रणिधानसूत्रं ''चेइयवंदण'' शब्दे तृतीयभागे १३२० पृष्ठे उक्तम्) (''एतो चिय ण णियाणं, पणिहाणं बोहिपत्थणासरिसं। सुहभावहेउभावा, णेयं इहराऽ पवित्ती उ'' ॥३०॥ इत्यपि तत्रैव १३२१ पृष्ठे व्याख्यातम्)

यदुक्तं प्रणिधानं निदानं न भवतीत्यस्यार्थस्य साधकं प्रमाणं दर्शयन्नाह-

मोक्खंगपत्थणा इय, ण णियाणं तदुचियस्स विण्णेयं।
सुत्ताणुमइत्तो जह, बोहीए पत्थणा माणं ॥३६॥

म्लक्षाङ्गानीं निर्वृतिकारणानां प्रार्थना आशंसा। अथवा-मोक्षाङ्गं चासौ प्रार्थना चेति मोक्षाङ्गप्रार्थना। इति एषा ''जय वीयराय (३३)'' इत्याद्यनन्तरोक्तप्रकारा, अनेन च तीर्थकरत्वं मे भूयादित्यादिकाया रागाऽऽकुलमानसकृताया भवाङ्गभूताया व्युदासः। 'न' नैव, निदान-मार्त्तध्यानविशेषो भवतीति , विज्ञेयं ज्ञातव्यमिति प्रतिज्ञा। कुतः? इत्याह- तदुचितस्य प्रणिधानोचितस्य, प्रमत्तसंयमान्तस्य गुणस्थानित इत्यर्थः। सूत्रानुमतित आगमानुज्ञातत्वात्। अप्रमत्तसंयताऽऽदेर्हि तत्सूत्रं नानुमन्यते, तस्यानभिष्वङ्गत्वाद्, तदन्यस्य त्वनुमन्यते, साऽभिष्वङ्गत्वाद्, विशिष्टप्रणिधानस्य निरभिष्वङ्गताहेतुत्वादिति। अनेन च हेतुरुक्तः। यथेति दृष्टान्तसूचनार्थः। बोधेर्बोधिलाभस्य, प्रार्थनाऽऽशंसेति, मानं प्रमाणम्। इदमनुमानलक्षणं प्रणिधानस्य निदानत्वाभावसाधकत्वमिति। प्रयोगश्चास्यैवम्- यत् सूत्रानुमतं मोक्षाङ्गप्रार्थनं, तन्निदानं न भवति, यथा बोधिप्रार्थनम्, सूत्रानुमतं चेदमधिकृतं मोक्षाङ्गप्रार्थनमिति गाथाऽर्थः ॥३६॥

नन्वमोक्षाङ्गानां प्रार्थनं निदानं, तीर्थकरत्वं तु मोक्षाङ्गम्,
अतस्तस्यापि प्रार्थनाप्रतिषेधो यो दशाश्रुत-
स्कन्धेऽभिहितो नासौ युक्तः? इत्याशङ्क्याऽऽह-

एवं च दसाऽऽईसुं, तित्थयरम्मि वि णियाणपडिसेहो।
जुत्तो भवपडिबद्धं, साभिस्संगं तयं जेण ॥३७॥

एवं चानेन च पूर्वोक्तेन प्रकारेण मोक्षाङ्गप्रार्थनाया एवानिदानता-प्रतिपादनलक्षणेन; दशाऽऽदिषु दशाश्रुतस्कन्धप्रभृतिषु (२१०४ पृष्ठेऽत्र स विषय उक्तः। आवश्यकसूत्रस्थं ध्यानशतकम्।), आदिशब्दाद्ध्यानशतकाऽऽदिपरिग्रहः। तीर्थकरेऽपि भवभवनभीतजननिर्वाणनगरगमन-सार्थवाहकल्पे जिनेऽपि विषये, आस्तां संसाराऽऽवर्त्तपातनिमित्त-भूतभूपतित्वाऽऽदौ। निदानस्य ''अमुतो धर्मात्तीर्थकरो भूयासम्'' इत्येवं प्रार्थनस्य प्रतिषेधो विधेयतया निषेधो निदानप्रतिषेधः। किमित्याह- युक्तः सङ्गतो वर्तते। केन कारणेनेत्याह- भवप्रतिबद्धं संसारानुषक्तम्, येन यस्मात्कारणात्। (तयं ति) तकं तीर्थकरत्वप्रार्थनं भवप्रतिबद्धमेव। कुतः? इत्याह-यतः साभिष्वङ्गं रागोपेतम्। यतस्तीर्थकरसत्क-स्यामरवरनिर्मितसमवसरणकनककमलप्रमुखविभवस्य दर्शनात् श्रवणाद्वा संजाततदभिलाषः कोऽपि विकल्पं करोति, भवभ्रमणतोऽप्यहं तीर्थकरो भूयासमिति गाथार्थः ॥३७॥

एतस्यैव साभिष्वङ्गतावि पर्यये दोषाभावामाह-

जं पुण णिरभिस्संगं, धम्मा एसो अणेगसत्तहिओ।
णिरुवमसुहसंजणओ, अपुव्वचिंतामणीकप्पो ॥३८॥
ता एयाणुट्ठाणं, हियमणुवहायं पहाणभावस्स।
तम्मि पवित्तिसरूवं, अत्थापत्तीऍ तमदुट्ठं ॥३९॥ (युग्मम्)

(जं पुण त्ति) साभिष्वङ्गं तावत् दुष्टमेव, यत्पुनस्तीर्थकरत्वप्रा-र्थनं निरभिष्वङ्गं रागाभावेन विहितं, तत् अदुष्टमिति संबन्धः। निरभिष्वङ्गतामेव तस्याऽऽहधर्मात् कुशलानुष्ठानरूपादर्हद्वात्सल्याऽऽदेः सकाशाद्भव्याय वा भव्यानाम्, एष तीर्थकरः, भवतीति गम्यम्। किम्भूतः? अनेकसत्त्वहितः निखिलजगज्जन्तुजातपरमबान्धवः। कथम्? यतो निरुपमसुखसंजनकः अनुपमाऽऽनन्दसंपादको, निर्वाणहेतुत्वात्। अत एवापूर्वचिन्तामणिकल्पः चिन्तातिक्रान्तसुखविधायित्वादिति। (ता इति) यस्मादनेक-सत्त्वहितत्वाऽऽदिविशेषणस्तीर्थकरस्तस्माद्, एतस्य तीर्थकर-स्यानुष्ठानं सद्धर्मदेशनाऽऽदिकमेतदनुष्ठानम्। किमित्याह-हितं पथ्यम्, इष्टार्थसाधकत्वात्। किम्भूतम्? अनुपहतमप्रतिघातम्। इह स्थाने इति शब्दो द्रष्टव्यः। ततश्च इति प्रधानभावस्य एवम्भूत-प्रवराध्यवसायस्य देहिनः, किम्भूतं तीर्थकरत्वप्रार्थनमित्याह-तस्मिन् धर्मदेशनाऽऽदिजिनानुष्ठाने, प्रवृत्तिस्वरूपं प्रवर्त्तनस्वभावम्। ननु तीर्थकरोऽहं भवेयमित्येतस्य प्रार्थनस्य तीर्थकरवृत्तिकत्वात् कथमिदं धर्मदेशनाप्रवर्त्तनस्वभावम् ? इत्यत आह-अर्थापत्त्या न्यायतः। यद्यपि तत्प्रार्थनं साक्षात्तीर्थकरत्ववृत्तिकं, तथाऽप्यर्थापत्त्या धर्मदेशनाऽऽदावेव वर्त्तते, तीर्थकरत्वप्रार्थनाद्वारेण धर्मदेशनाऽऽदिजिनानुष्ठानस्यैव हिताऽऽदिविशेषणस्य प्रार्थितत्वादिति तीर्थकरत्वप्रार्थनमदुष्टं, न दूषणवदिति गाथाद्वयार्थः ॥३८॥३९॥ पञ्चा० ४ विव०।

(''जाईपराइओ खलु, कासि णियाणं तु हत्थिणपुरम्मि।
चुलणीऍ बंभदत्तो, उववन्नो नलिणगुम्माओ ॥१॥'' (उत्त० १३ अ०) इति निदानकरणे ब्रह्मदत्तोदाहरणं 'बंभदत्त' शब्दे वक्ष्यते) (द्रोपद्याः पूर्वभवे निदानकरणं 'दुवई' शब्देऽग्रे वक्ष्यते) स्वर्गावाप्त्यादिलक्षणेऽर्थे, सूत्र०१ श्रु०२ अ०३उ०। आकाङ्क्षायाम्, सूत्र०१ श्रु० १६ अ०। कारणे, बृ०१उ०। विशे०। सूत्र०। उत्थानकारणे, बृ०१ उ०। उत्पादने, आचा०१ श्रु० ६ अ०१उ०।

णियाणंझाण न०(निदानध्यान) प्राकृतत्वादनुस्वारः। नन्दिषेणगङ्गदत्तसम्भूतद्रौपद्यादीनामिव स्वर्गमर्त्याऽऽदिऋद्धिप्रार्थनध्याने, आतु०।

णियाणकरण न०(निदानकरण) चक्रवर्तीन्द्राऽऽदिप्रार्थने, स्था०२ ठा०४उ०।

णियाणकारि(ण्) त्रि०(निदानकारिण्) निदानकरणशीले, ''नियाण-कारी संगं तु कुरुते उड्डदेहियं।'' स्था०६ ठा०।

णियाणमयग पुं०(निदानमृतक) निदानं कृत्वा बालतपश्चरणा-ऽऽदिमत्त्वेन मृतेषु, औ०।

णियाणमरण न०(निदानमरण) मरणभेदे, स्था०६ ठा०। (व्याख्याऽस्य 'मरण' शब्दे वक्ष्यते)

णियाणसल्ल न०(निदानशल्य) निदानं देवाऽऽदिऋद्धीनां दर्शन-श्रवणाभ्यामितो ब्रह्मचर्याऽऽदेरनुष्ठानान्ममैता भूयासुरित्यध्यवसायः, तदेव शल्यम् । स०३ सम०। अधिकरणानुमोदनादिदानशल्यम् । शल्यभेदे, आव०४ अ०। ''दिव्वं वा मानुसं वा विभवं पासेत्तूण सोऊण वा निदाणस्स उप्पत्ती भवेज्जा, तेण किं भवति? उच्यते-''सणियाणस्स चरित्तं न वट्टति । कस्मात्? अधिकरणानुमोदनात्, तत्थोदाहरणं बंभदत्तो ।''आ०चू०४ अ०।

णियामित्ता अव्य०(नियम्य) नियन्त्र्येत्यर्थे, (सूत्र०) ''उवसग्गा णियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वए।'' सूत्र०१ श्रु०३ अ०३उ०।

णियावाइ(ण्) पुं०(नियतवादिन्) नियतं नित्यं वस्तु वदति यः स तथा । एकान्तनित्यवादिन्यक्रियावादिनि, स्था०। नित्यो लोकः, आविर्भाव-तिरोभावमात्रत्वात् उत्पादविनाशयोः, तथाऽसतोऽनुत्पादाच्छशविषाणस्येव, सतश्चाविनाशात् घटवत्, न हि सर्वथा घटो विनष्टः, कपालाऽऽद्यवस्थाभिः तस्य परिणतत्वात्, तासां चापारमार्थिकत्वाद् मृत्सामान्यस्यैव पारमार्थिकत्वात्, तस्य वाविनष्टत्वादिति। अक्रियवादी चायम्, एकान्तनित्यस्य स्थिरैकरूपतया सकलक्रियाविलोपाभ्युपगमादिति ॥७॥ स्था०८ ठा०।

णियुद्ध न०(नियुद्ध) मल्लयुद्धे, रा०२ वक्ष०।

णियोग पुं०(नियोग) नियतो निश्चितो वा योगः सम्बन्ध इति नियोगः। यथा घटशब्देन घटस्यैव प्रतिपादनं, न पटाऽऽदेरिति । अनुयोगे, आ०म०१अ०१ खण्ड । व्यापारे, उत्त०३ अ०। सूत्र०। आ०म०। अवश्यतायाम्, षो०१ विव०। मोक्षमार्गे , सत्संयमे च। सूत्र०१ श्रु० १६ अ०। (विशेषः 'णिओग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१८ पृष्ठे गतः)

णियोगपडिवन्न त्रि०(नियोगप्रतिपन्न) नियोगो मोक्षमार्गः, सत्संयमो वा, तं सर्वाऽऽत्मना भावतः प्रतिपन्नो नियोगप्रतिपन्नः। मोक्षमार्गप्रतिपन्ने, सूत्र० १ श्रु० १६अ०।

णियोचित त्रि०(नियोजित) ''चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ''॥८।४।३२५॥ इति तृतीयस्याऽऽद्यम्। व्यापारिते, प्रा०४ पाद।

णियोजित त्रि०(नियोजित) ''नादियुज्योरन्येषाम्'' ॥८।४। ३२७॥ इति चूलिकापैशाचिकेऽन्येषामाचार्याणां मते तृतीयस्य प्रथमो न। व्यापारिते, प्रा०४ पाद।

णिर अव्य०(निर्) भृशार्थे , उत्त०१ अ०। निश्चये, आधिक्ये, उत्त० ६ अ०।

णिरइ स्त्री०(निर्ऋति) राक्षसे, मूलधिष्ठातृदेवतायाम्, ''दो निरई ।'' स्था०२ ठा०३उ०। जं०।

णिरओवम त्रि०(निरयोपम) नरकोपमे नरकतुल्ये, दश० १चू०। प्रश्न०।

णिरंकुस त्रि०(निरङ् कुश) गुर्वाज्ञाऽऽद्यतिचारिणि, ग०२ अधि०। बाधाशून्ये, अनिवार्ये च। वाच०।

णिरंगी (देशी) शिरोऽवगुण्ठने, दे०ना०४ वर्ग ३१ गाथा।

णिरंजण त्रि०(निरञ्जन) रञ्जनं रागाऽऽद्युपरञ्जनं, तेन शून्यत्वात् (कल्प०६ क्षण । ज्ञा०) रञ्जनं रागाऽऽद्युपरञ्जनं, तस्मान्निर्गतः। स्था०१० ठा०। रागाऽऽदिमुक्ते, ''संखो इव निरंजणे।'' स्था०१ ठा०।

णिरंतर त्रि०(निरन्तर) निर्गतमन्तरात्, निर्गतमन्तरं वा यस्मात्। निबिडे, निरवधौ, निश्छिद्रे च। वाच०। सतते, नैरन्तर्ये, विशे०। रा०। अविश्रामे, सूत्र०१ श्रु० ५ अ०२ उ०। प्रज्ञा०। स्था०। ''निरंतरायलक्खणविराइयंगुवंगो ।'' नैरन्तर्येण राजलक्षणैश्चक्रस्वस्तिकाऽऽदिभिर्विरालितान्यङ्गानि शिरःप्रभृतीन्युपाङ्गानि चाङ्गुल्यादीनि यस्य स तथा। स्था०२ ठा०१ उ०।

णिरंतरिय त्रि०(निरन्तरिक) निर्गताऽन्तरिका लघ्वन्तररूपा येषां ते निरन्तरिकाः। लघ्वन्तररहितेषु, रा०। ''णिरंतरियघणकवाडा भित्ती ।'' रा०। निर्गताऽन्तरिका लघ्वन्तररूपा ययोस्तौ निरन्तरिकौ, अत एव घनौ कपाटौ यस्य तन्निरन्तरिकघनकपाटम्। जी०३ प्रति०४ उ०। जं०।

णिरंबर पुं०(निरम्बर) निर्गतमम्बरं येभ्यस्ते निरम्बराः। जिनकल्पिकाऽऽदिषु, आ०म०१अ०१ खण्ड।

णिरंस पुं०(निरंश) निरवयवे, विशे०।

णिरक्क (देशी) चोरे, स्थिते, पृष्ठे च। दे०ना०४ वर्ग ४६ गाथा।

णिरग्गिसरण पुं०(निरग्निशरण) निर्गतमग्नेः पावकाच्छरणं शीताऽऽदिपरित्राणं यत्र । अथवा-निर्गते स्वीकाराभावादग्निशरणे वह्निभवने यत्रासौ निरग्निशरणः । पा०। अग्निशरणरहिते, '' इमस्स धम्मस्स णिरग्गिसरणस्स संपक्खालियस्स।'' ध०३अधि०।

णिरट्ठ त्रि०(निरर्थ) निष्प्रयोजने, उत्त०१ अ०। ''णिरट्ठसोया परितावमेइ।'' निरर्थः शोको यस्याः सा निरर्थशोका। उत्त० २० अ०।

णिरट्ठग न०(निरर्थक) अर्थ प्रयोजनं, तदभावो निरर्थ, तदेव निरर्थकम्। प्रयोजनाऽभावे, ''णिरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंबुडो।'' (४२) उत्त०२ अ०।

णिरणुकंप त्रि०(निरनुकम्प) दयांशवर्जिते, तं०। सूत्र०। निः-शूके, प्रश्न०३ आश्र०द्वार।

निरनुकम्पमाह-

जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो ।
एसो उ णिरणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं ॥

यस्तु परं कृपाऽऽस्पदं कुतश्चिद् भयात्कम्पमानमपि दृष्ट्वा कठिनभावः सन् न कम्पते, एष निरनुकम्पः। कुतः? इत्याह-अनुशब्देन पश्चाद्भाववाचकेन यो योगः संबन्धःतेन। किमुक्तं भवति? अनु पश्चाद् दुःखितः सत्वकम्पनादनन्तरं यत्कम्पनं सा अनुकम्पा, निर्गता अनुकम्पा यस्मादिति निरनुकम्प उच्यते। बृ०१ उ०।

णिरणुतावि(ण्) पुं०(निरनुतापिन्) अपश्चात्तापिनि, जीत०। सेवितेऽप्यकृत्ये मनागपि न पश्चात्तापभाक्। प्रव० २७४ द्वार।

णिरणुबंधग त्रि०(निरनुबन्धक) अनुबन्धरहिते, द्वा०२२ द्वा०।

णिरणुबंधदोस पुं०(निरनुबन्धदोष) क०स०। व्यवच्छिन्नसन्ताने रागाऽऽदौ, षो० १२ विव०।

णिरति स्त्री०(निरति) देवानन्दायाम्, कल्प०६ क्षण।

णिरत्थ त्रि०(निरस्त) निष्काशिते, व्य०८उ०।

णिरत्थग न०(निरर्थक) सत्यार्थान्निष्क्रान्ते, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। वर्णक्रमसत्यार्थरहिते, उत्त० १८ अ०। निर्देशवति, आ० म०१ अ०२ खण्ड। यत्र वर्णानां क्रममात्रं निर्देशमात्रमुपलभ्यते, न त्वर्थः। यथा–अआइई इत्यादि। विशे०। अनु०। निष्प्रयोजने, द्वा० १० द्वा०। यस्य वाऽवयवेष्वर्थो न विद्यते। यथा–डित्थः, डवित्थः, वाग्जनः। बृ०१ उ०।

णिरप्प (देशी) पृष्ठे, उद्वेष्टिते च। दे०ना० ४ वर्ग ४६ गाथा।

***स्था** धा०। गतिनिवृत्तौ, ''स्थष्ठा–थक्क–चिट्ठ–निरप्पाः'' ॥८।४।१६॥ इति तिष्ठतेर्निरप्पाऽऽदेशः। 'निरप्पइ'। तिष्ठति। प्रा०४ पाद।

णिरभिग्गह त्रि०(निरभिग्रह) निर्गता अभिग्रहा येभ्यस्ते निरभिग्रहाः। अभिग्रहरहितेषु केवलसम्यग्दर्शिषु, आव०६ अ०।

णिरभिराम त्रि०(निरभिराम) अरमणीये, ''पहसितवीहणकणिरभिरामे।'' प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

णिरभिस्संग त्रि०(निरभिष्वङ्ग) सङ्गरहितत्वे, पञ्चा०६ विव०। सर्वाऽऽशंसाविप्रमुक्ते, पं०व०१ द्वार। मिथ्यादृष्टिव्यवहारेषु बाह्यद्रव्ये च निस्पृहे, पञ्चा० २ विव०।

णिरय पुं०(निरय) निर्गतमविद्यमानमयमिष्टफलं दैवं कर्म सातवेदनीयाऽऽदिरूपं येभ्यस्ते निरयाः। कर्म०५ कर्म०। स्था०। निर्गतमयं शुभमस्मादिति निरयः। स्था० ४ ठा०१ उ०। सीमन्तकाऽऽदिषु नरकेषु, कर्म०१ कर्म०। स्था०। प्रश्न०। आव०। (सर्वा वक्तव्यता 'णरग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६०४ पृष्ठादारभ्य १६२५ पृष्ठपर्यन्तं स्थिता) निर्गता अयाच्छुभादिति निरयाः। नारकेषु, स्था०१० ठा०। आचा०।

***निरत** त्रि०। सक्ते, दश०१० अ०। स०।

णिरयगइ स्त्री०(निरयगति) निरये नरके वा गतिर्निरयगतिः, निरयश्चासौ गतिश्चेति वा निरयगतिर्निरयप्रापिका वा गतिर्निरयगतिः। स्था०५ ठा०३उ०। निर्गता अयाच्छुभादिति निरया नरकाः, ते गतिर्गम्यमानत्वाद् निरयो नरकस्तद् गतिर्नामकर्मोदयसंपाद्यो नारकत्वलक्षणः पर्यायविशेषो वेति निरयगतिः। गतिभेदे, स्था० १० ठा०।

णिरयगोयर पुं०(निरयगोचर) ब० स०। नरकवर्त्तिनि जीवे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

णिरयदंसि(ण्) निरयदर्शिन् निरयं स्वरूपतो येत्त्यनर्थपरित्या–गरूपत्वाद् ज्ञानस्य, परिहरति च। समानमपि पश्यति, परिहरति च, निरयदर्शी। नरकनिदानवेत्तरि, ''जे मारदंसी से णिरयदंसी, जे णिरयदंसी से तिरियदंसी।'' आचा०१ श्रु० ३ अ०४ उ०।

णिरयपत्थड पुं०(निरयप्रस्तट) नरकप्रस्तरे, प्रज्ञा०३ पद।

णिरयपरिसामंत पुं०(निरयपरिसामन्त) नरकपारिपार्श्वे, भ० १३ श० ६ उ०। निरयवासानां पार्श्वे, भ० १३ श०४ उ०।

णिरयपाल पुं०(निरयपाल) नरकपालेषु परमाधार्मिकेषु, स्था०। ४ ठा०१ उ०। (नरकपालकर्त्तव्यं 'णरग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६१२ पृष्ठे दर्शितम्)

णिरयरोग पुं०(निरयरोग) नरकरोगे, ''पणकोडि अट्ठसट्ठी, लक्खा नवनवइसहसपंचसया। चुलसीअहिया रोगा, छट्ठे तह सत्तमे नरए॥१॥'' इयं गाथा क्वास्ति? प्रथमाऽऽदिनरकेषु च कियन्तो रोगा भवन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–इयं गाथा तत्पाठरूपा ग्रन्थे दृष्टाऽपि न स्मर्यते, एतद्भावार्थरूपाऽनुवर्त्तते। यथा–''रोगाणं कोडीओ, हवंति पंचेव लक्ख अडसट्ठी। नवनवइसहस्साइं, पंचसया तह य चुलसीइ''॥१॥ एते रोगा अप्रतिष्ठाने नरकावासे नित्याः, अन्यत्रापि च संभवन्ति यथायोगम्। ततश्च यस्मिन्नरकभवे एतावन्तो रोगाः क्षयहेतवस्तस्मिन् धर्म एव सार इत्यादरणीयः सर्वशक्त्येत्युपदेशरत्नाकरे पञ्चविंशत्यधिकैकशतपत्र–मितपुस्तके एकाशीतितमपत्रे। २७प्र०। सेन०१ उल्ला०।

णिरयवास पुं०(निरयवास) नरकरूपे वासे, ''णिरयवासगमणणिधणो।'' निरयो नरकः, स एव वासो निरयवासः, तत्र गमनं तदेव निधनं पर्यवसानं यस्य स निरयवासगमननिधनस्तत् फल–इत्यर्थः। प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

णिरयविग्गहगइ स्त्री०(निरयविग्रहगति) निरयाणां नारकाणां विग्रहात् क्षेत्रविभागानतिक्रम्य गतिर्गमनं निरयविग्रहगतिः। स्थितिनिवृत्ति–लक्षणायामृजुवक्ररूपायां विहायोगतिकर्मपाद्यायां वा गतौ:, स्था० १० ठा०।

णिरयविभत्ति स्त्री०(निरयविभक्ति) नरकप्रविभागे, तदर्थके सूत्र–कृतौऽध्ययने च, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

णिरयवेयणिज्ज न०(निरयवेदनीय) निरये वेद्यतेऽनुभूयते यन्निरययोग्यं वा यद् वेदनीयमत्यन्ताशुभनामकर्माऽऽदि, असातवेदनीयं वा। नरकगतिनामकर्मणि, ''णेरइए णिरयवेयणिज्जंसि कम्मंसि।'' स्था०४ ठा०१ उ०।

णिरयावलिया स्त्री०(निरयावलिका) आवलिकाप्रविष्टनरकेषु, ''णिरयावलियासु निरयपत्थडेसु।'' प्रज्ञा०२ पद। ब०व०। यत्रा–ऽऽबलिकाप्रविष्टा इतरे च नरकाऽऽवासाः प्रसङ्गतस्तद् गामिनश्च नरास्तिर्यञ्चो वा वर्ण्यन्ते, ता निरयावलिकाः, एकस्मिन्नपि ग्रन्थे वाच्ये बहुवचनं शब्दशक्तिस्वाभाव्याद्, यथा पञ्चाला इत्यादि। नं०। पा०। अन्तकृद्दशाङ्गाऽऽदीनां दृष्टिवादपर्यन्तानां पञ्चानामुपाङ्गानामुपाङ्गरूपे कल्पिकाऽऽदिपञ्चवर्गाऽऽत्मकश्रुतस्कन्धे, तत्र पञ्च वर्गाः पञ्चानामुपा–ङ्गानि। तथाहि–अन्तकृद्दशाङ्गस्य कल्पिका १, अनुत्तरोपपातिकद–शाङ्गस्य कल्पावतंसिका २, प्रश्नव्याकरणस्य पुष्पिका ३, विपाकश्रुतस्य पुष्पचूलिका ४, दृष्टिवादस्य दृष्टिदशा ५। जं०१ वक्ष०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था। रिद्ध–गुणसिलए चेइए। वन्नओ। असोगवरपायवे पुढविसिलापट्टए। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंते–वासी अज्जसुहम्मे नामं अणगारे जातिसंपन्ने जहा केसी०जाव पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जेणेव रायगिहे नगरे०जाव अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं०जाव विहरति। परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स अंतेवासी जंबूणामं अणगारे समचउरंसठाणसंठिए ०जाव संखित्तविपुलतेयलेस्से अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स अदूरसामंते उड्ढं जाणू०जाव विहरति। तए णं से भगवं जंबू०

जाव सङ्खे०जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी–उवंगाणं भंते ! समणेणं०जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते? एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया०जाव संपत्तेणं एवं उवंगाणं पंच वग्गा पण्णत्ता। तं जहा– निरयावलियाओ, कप्पवडेंसियाओ पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ, वण्हिदसाओ। जइ णं भंते ! समणेणं० जाव संपत्तेणं उवंगाणं पंच वग्गा पण्णत्ता। तं जहा–निरयावलियाओ०जाव वण्हिदसाओ। पढमस्स णं भंते ! वग्गस्स उवंगाणं निरयावलियाणं समणेणं भगवया०जाव संपत्तेणं कइ अज्झयणा पन्नत्ता? एवं खलु जंबू ! समणेणं०उवंगाणं पढमस्स वग्गस्स निरयावलियाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा– ''कालेॅ सुकालेॅ महा–कालेॅ, कण्हेॅ सुकण्हे तह महाकण्हे। वीरकण्हे बोधव्वे, रामकण्हे तहेव अट्ठमए। पिउसेणकण्हेॅ नवमे, दसमे महसेणकण्हे उ ॥''

भगवता उपाङ्गानां पञ्च वर्गाः प्रज्ञप्ताः। वर्गोऽध्ययनसमुदायः। तद्यथेत्यादिना पञ्च वर्गान् दर्शयति–(निरयावलियाओ कप्पवडिंसयाओ पुप्फियाओ पुप्फचूलियाओ वण्हिदसाओ त्ति) प्रथमवर्गो दशाऽध्ययनाऽऽत्मकः प्रज्ञप्तः। अध्ययनदशकमेवाऽऽह–''काले सुकाले'' इत्यादीनां मातृनामभिस्तदपत्यानां पुत्राणां नामानि। तथा–काल्या अयमिति कालःकुमारः। एवं सुकाल्याः, महाकाल्याः, कृष्णायाः, सुकृष्णायाः, महाकृष्णायाः, वीरकृष्णायाः, रामकृष्णायाः, पितृसेनकृष्णाया महासेनकृष्णाया अयमित्येवं पुत्रनाम वाच्यम्। इह काल्या अपत्यमित्याद्यर्थः प्रत्ययेनोत्पाद्यःकाल्यादिशब्देष्वपत्येऽर्थे ण्यत्प्रत्ययः। कालस्तु कालाऽऽदिनाम्ना सिद्धेरेव वाच्यः। कालः१, तदनु सुकालः २, महाकालः ३, कृष्णः४, सुकृष्णः ५, महाकृष्णः ६, वीरकृष्णः ७, रामकृष्णः८, पितृसेनकृष्णः९, महासेनकृष्णः १० दशमः। इत्येवं दशाध्ययनानि निरयावलिकानामके प्रथमे वर्गे इति। नि०१ श्रु० १ वर्ग १ अ०। (निरयावलिकाद्वितीयवर्गवक्तव्यता 'कप्पवडिंसया' शब्दे तृतीयभागे २३५ पृष्ठे गता)

तच्चस्स णं भंते ! वग्गस्स उवंगाणं पुप्फियाणं के अट्ठे पण्णत्ते? एवं खलु जंबू ! समणेणं०जाव संपत्तेणं पुप्फियाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा–''चंदे सूरे सुक्के, बहुपुत्तिय पुण्णभद्देॅ माणिभद्दे य। दत्ते सिवेॅ बलियाए, अणाढिए चेव बोधव्वा ॥१॥'' नि०१ श्रु०३ वर्ग १ अ०।

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया उक्खेवओ०जाव दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा–''सिरि हरि धिति कित्ती, बुद्धी लच्छी य होइ बोधव्वा। इलदेवी सुरदेवी, रसदेवी गंधदेवी य ॥१॥''

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया०जाव संपत्तेणं उवंगाणं चउत्थस्स वग्गस्स पुप्फचूलाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता।

पंचमस्स णं भंते ! वग्गस्स उवंगाणं वण्हिदसाणं समणे णं भगवया०जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते? एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया०जाव दुवालस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा–''निसढे अभि दह बहे, पगती जुति दसरहे दढरहे य। महाधणू सत्तधणू, दसधणू नाम सए ॥१॥'' नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ०।

एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महा०जाव निक्खेवओ। एवं सेसा वि एक्कारस अज्झयणा नेयव्वा, संगहणीअणुसारेण अहीणमइरित्तं एक्कारससु वि निरयावलियासुयक्खंधो सम्मत्तो, सम्मत्ताणि उवंगाणि, निरयावलियाउवंगे णं एगो सुयक्खंधो, पंच वग्गा पंचसु दिवसेसु उद्दिस्संति। तत्थ चउसु वग्गेसु दस दस उद्देसगा, पंचमगे बारस उद्देसगा निरयावलियासुयक्खंधो सम्मत्तो। नि०१ श्रु०५ वर्ग १२ अ०।

इह ग्रन्थे प्रथमवर्गो दशाऽध्ययनाऽऽत्मको निरयावलिकानामकः। द्वितीयवर्गो दशाध्ययनात्मकः, तत्र च कल्पावतंसिका इत्याख्या अध्ययनानाम्। तृतीयवर्गोऽपि दशाध्ययनाऽऽत्मकः, पुष्पिकाशब्दाभिधेयानि च तान्यध्ययनानि। तत्राऽऽद्ये चन्द्रज्योतिष्केन्द्रवक्तव्यता। द्वितीयाध्ययने सूर्यवक्तव्यता। तृतीये शुक्रमहाग्रहवक्तव्यता। चतुर्थाध्ययने बहुपुत्रिकादेवीवक्तव्यता। पञ्चमेऽध्ययने पूर्णभद्रदेववक्तव्यता। षष्ठे माणिभद्रदेववक्तव्यता। सप्तमे प्राग्भविक–वन्दनागतगङ्गदत्तनामकदेवस्य द्विसागरोपमस्थितिकस्य वक्तव्यता। अष्टमाध्ययने शिवगृहपतिमिथिलावास्तव्यस्य देवत्वेनोत्पन्नस्य द्विसागरोपमस्थितिकस्य वक्तव्यता नवमे च हस्तिनापुरवास्तव्यस्य द्विसागरोपमाऽऽयुष्कतयोत्पन्नस्य देवस्य .... नामकस्य वक्तव्यता। दशमाऽध्ययने 'अणाढिय' गृहपतेः काकन्दीनगरीवास्तव्यस्य द्विसागरोपमाऽऽयुष्कतयोत्पन्नस्य देवस्य वक्तव्यता। इति तृतीयवर्गे अध्ययनानि। चतुर्थो वर्गोऽपि दशाध्ययनात्मकः, श्री–ह्री–धृति–कीर्ति–बुद्धि–लक्ष्मी–इलादेवी–सुरादेवी–रसदेवी–गन्धदेवीतिवक्तव्यताप्रतिबद्धाध्ययनाऽऽत्मकः। तत्र श्रीदेवीसौधर्मकल्पोत्पन्ना भगवतो–महावीरस्स नाट्यविधिदारकविकुर्वणया प्रदर्श्य स्वस्थानं जगाम, प्राग्भवे राजगृहे सुदर्शनगृहपतेः प्रियभार्याया अङ्गजा भूया नाम्न्यऽभवत्, न केनापि परिणीता, पतितस्तनी जाता, चरकपरिवर्जिता वरयितृप्रस्वेदिता भर्त्राऽपरिणीताऽभूत्। सुगमं सर्वं यावच्चतुर्थवर्गः समाप्तः। पञ्चमे वर्गे वह्निदशाभिधानद्वादशाध्ययनानि प्रज्ञप्तानि–''निसढे'' इत्यादीनि। प्रायः सर्वोऽपि सुगमः पञ्चमवर्गः। नि०१ श्रु०३वर्ग।

णिरयावास पुं०(निरयावास) आवसन्ति येषु, ते आवासाः, निरयाश्च ते आवासाश्च निरयाऽऽवासाः। नरकाऽवासेषु रत्नप्रभा–ऽऽदिषु। भ०।

नरकाऽऽवाससंख्या–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए कइ निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता? गोयमा ! तीसं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता। गाहा– (प्रथमपृथ्यां ३० लक्षनरकावासाः। द्वितीये २५ लक्षमिताः। तृतीये १५ लक्षमिताः। चतुर्थे १० लक्षमिताः। पञ्चमे ३ लक्षमिताः। षष्ठके पञ्चूना एकलक्षमिताः। सप्तमे ५ पञ्च। इति गाथार्थः ॥१७२॥ संग्रहणी।)**''तीसा य पण्णवीसा, पण्णरस दसेव**

य सयसहस्सा । तिण्णेगं पंचूणं, पंचेव अणुत्तरा णिरया ॥१७२॥'' भ० १ श०४ उ०।

(इयं गाथा 'ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०२ पृष्ठे वर्णिता)

दोच्चाए णं पुढवीए पणवीसं णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता। स० २५ सम०।

रयणप्पभाए णं पुढवीए तीसं णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता। स० ३० सम०।

पढमपंचमछट्ठिसत्तमासु चउसु पुढवीसु चोत्तीसं णिरयावास-सयसहस्सा पण्णत्ता । स० ३४ सम०।

वितियचउत्थीसु दोसु पुढवीसु पणतीसं णिरयावाससयस-हस्सा पण्णत्ता । स० ३५ सम०

चउसु पुढवीसु एकचत्तालीसं णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता। तं जहा– रयणप्पभाए, पंकप्पभाए, तमाए, तमतमाए।

(चउसु इत्यादि) क्रमेण सूत्रोक्तासु चतसृषु प्रथमचतुर्थषष्ठसप्तमीषु पृथिवीषु त्रिंशतो दशानां च नरकलक्षणानां पञ्चोनस्य चैकस्य पञ्चानां च नरकाणां भावाद्यथोक्तसंख्यास्ते भवन्तीति। स० ४० सम०।

पढमचउत्थपंचमासु पुढवीसु तेयालीसं निरयावाससय-हस्सा पण्णत्ता । स० ४३ सम०।

पढमविइयासु दोसु पुढवीसु पणपन्नं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ५५ सम०।

पढमदोच्चपंचमासु तिसुपुढवीसु अट्ठावन्नं निरयावाससयस-हस्सा पण्णत्ता । स० ५७ सम०।

चउत्थवज्जासु छसु पुढवीसु चोवत्तरिं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ७४ सम०।

चउरासी निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ॥

चतुरशीतिस्थानके किमपि लिख्यते–चतुरशीतिर्नरकलक्षाण्यमुना विभागेन–''तीसा य पण्णवीसा, पण्णरस दसेव तिन्नि य हवंति। पंचूणसयसहस्सं, पंचेव अणुत्तरा णिरया ॥१॥'' स० ८४ सम०।

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए केवइयं खेत्तं ओगाहेत्ता केवइया णिरयावासा पण्णत्ता? गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयण–सहस्सं ओगाहेत्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठ–सत्तरिजोयणसहसहस्से, एत्थ णं रयणप्पभाए पुढवीए णेर–इयाणं तीसं णिरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खाया, ते णं णिरयावासा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा०जाव असुभा णिरया। स०।

णिरवकंख त्रि०(निरवकाङ्क्ष) वाञ्छारहिते, उत्त०३० अ०।

णिरवकंखि(ण्) त्रि०(निरवकाङ्क्षिण्) परित्यक्तभोगे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

णिरवग्गह पुं०(निरवग्रह) विशृङ्खले, को०।

णिरवच्च त्रि०(निरपत्य) अविद्यमानशिष्यसंततौ, स० ७१ सम०। शिष्यसन्तानरहिते, कल्प०८ क्षण। ''तित्थसुहम्मातो, निरवच्चा गणहरा सेसा।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड।

णिरवज्ज त्रि०(निरवद्य) असावद्ये, ''से संजए समक्खाए, निरवज्जाहार जे विऊ।'' दश० ५ अ०१उ०।

णिरवज्जवत्थुविसय त्रि०(निरवद्यवस्तुविषय) निरवद्यं सावद्यप-रिहारेण वद्वस्तु धर्मगतं तद्विषयो यस्य। असावद्यविषयके, षो० ३ विव०।

णिरवयक्ख त्रि०(निरपेक्ष) निर्गताऽपेक्षा परप्राणविषया, परलो-काऽदिविषया वा यस्मिन्नसौ निरपेक्षः, निरवकाङ्क्षो वा। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। परप्राणापेक्षावर्जिते, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

***णिरवकाङ्क्ष** त्रि०(आकाङ्क्षावर्जिते, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

णिरवयव त्रि०(निरवयव) निरंशे, विशे०।

णिरवराहि(ण्) त्रि०(निरपराधिन्) अकृतापराधे, ''निरवराही तो देवया।'' आव०६ अ०।

णिरवलंब त्रि०(निरवलम्ब) निरालम्बने, यत्र न पतद्भिः किञ्चि-दवाप्यते। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

णिरवलाव त्रि०(निरपलाप) अन्यस्मैऽकथके, ''केरिसगस्स, मूले आलोयव्वं ? निरवलावस्स, जो अन्नस्स न कहेति।'' आव०४ अ०। निरपलापः स्यान्नान्यस्मै कथयेदित्यर्थः। स० ३२ सम०।

दंतपुरे दंतवक्को, सच्चवई डोहले अणवरए।
धणमित्ते धणसिरीए,पउमसिरी चेव दढमित्ते ॥७६॥

''दंतपुरे नगरे दंतवक्को राया, सच्चवती देवी, तीसे दोहलो, कहं दंतमए पासाए अभिरमेज्ज त्ति? रायाए पुच्छियं–दंतनिमित्तं। घोसा–वियं रन्ना–जहा उचियं मोल्लं देमि, जो न देइ, तस्स राया विणासं करेइ। तत्थेव नगरे धणमित्तो नाम वाणियओ। तस्स दो भारियाओ–धणसिरी महंती, पउमसिरी डहारिया वि पियतरी य त्ति। अन्नया सवत्तीणं भंडणे धणसिरी भणइ–किं तुमं एवं गव्विया? किं तुज्झ ममाओ अहियं? जहा सच्चवतीए तहा ते किं पासाओ कीरेज्जा? सा भणइ–जइ न कीरइ, तो अहं न जीवेमि त्ति उव्वरते वारं बंधित्ता ठिया। वाणियाओ आगओ पुच्छइ–कहिं पउमसिरी? दासीहिं कहिअं। तत्थेव अतिगओ पसाएइ, तहा वि न पसीयति–जइ नत्थि न जीवामि। तस्स मित्तो दढमित्तो नाम, सो आगतो। तेण पुच्छियं सव्वं कहेइ। भणइ–कीरउ, मा इमीए मरंतीए तुमं पि मारिज्जासि, तुमं मरंते अहं पि। रायाए य घोसावियं, तो पच्छन्नं कायव्वं, ताहे सो दढमित्तो पुलिंदगपा-उग्गाणिमणी य,अलत्तगं, कंकणं च गहाय अडविं गओ। दंता लद्धा, पुंजो कओ, तेण पिंडगाण मज्झे बंधित्ता सगडं भरेत्ता आणीया, नगरं पवेसिज्जंतेसु वसभेणं तणपिंडगा कड्ढिया। तो ख–

ङ त्ति दंतो पडिओ, नगरगुत्तिएहिं दिट्ठो, गहिओ, रायाए उवणीओ, बज्झो भाणिज्जइ । धणमित्तो सोऊण आगओ रायाए पायपडिओ विन्नवेइ–जहा एए मए आणाविया । सो पुच्छिओ भणइ–अहमेयं न याणामि, को त्ति? एवं ते अ परोप्परं भणंति । रायाए सवधसाविया पुच्छिया, अभओ दिन्नो, परिकहियं । पूइत्ता विसज्जिया । एवं णिरवलावेण होयव्वं आयरिएणं । वितिओ विएगेण एगस्स हत्थे भाणं वा किंचि दिण्णं, अंतरा पडियं । तत्थ भाणियव्वंमम दोसो, इयरेण वि मम त्ति ।'' आव०४ अ०।

णिरवसेस त्रि०(निवशेष) समग्रे, अनु०। आव०। समस्ते, भ० १४ श०३ उ०। संपूर्णे , आ०म०१अ० १खण्ड । सर्वस्मिन्, आ०म०१अ०२ खण्ड । विशे०। पञ्चा०।

णिरवसेसपच्चक्खाण न०(निरवशेषप्रत्याख्यान) सर्वाऽऽशन–पानत्यागाद् निरवशेषे प्रत्याख्याने, ध०२ अधि०।

इदानीं निरवशेषमाह–

सव्वं असणं सव्वं, च पाणगं खाइमं पि सव्वं पि ।
वोसिरइ साइमं पि हु, सव्वं जं तं निरवसेसं ॥१०१॥

'अश' भोजने, अश्यत इत्यशनमोदनमण्डकमोदकखज्जकाऽऽ– दि । पीयत इति पानं, कर्मणि ल्युट् । खूर्जयरद्राक्षापानाऽऽदि । खादनं खादो, भावे घञ् । खादेन निर्वृत्तम्– ''भावादिमन्''॥६।४।२१॥ इति इमनि खादिमं नालिकेरफलादि, गुडधानाऽऽदिकं च । स्वदनं स्वादः, तेन निर्वृत्तं, तथैव इमनि स्वादिमम् । एलाफलकर्पूरलवङ्ग पूगीफलहरीतकी–नागराऽऽदि । ततश्च सर्वमशनं, सर्वं पानकं, खादिमं च सर्वमपि व्युत्सजति परित्यजति स्वादिममपि सर्वं तत्, निरवशेषं तद्विज्ञे–यमिति । प्रव०४ द्वार । भ० । ''वित्थरत्थो–जो पुण असणस्स सत्तरसविहस्स वोसिरइ, पाणगस्स अणेगविहस्स खंडपाणगादियस्स वा, इमं अणेगविहं–फलमाइ, साइमं अणेगविहंमधुमादि, तं सव्वं जो वोसिरइ । एतं निरवसेसं ।'' आव०६ अ०।

णिरवसेससव्वय न०(निरवशेषसर्वक) निरवशेषव्यक्तिसमाश्रयेण सर्व निरवशेषसर्वकम् । यथा अनिमिषाः सर्वे देवाः, न हि देवव्यक्तिरनिमिषत्वं काचिद् व्यभिचरतीत्यर्थः । स्था०४ ठा०२ उ०।

णिरवाय त्रि०(निरपाय) अपायेभ्यो निर्गते, षो० ८ विव०।

णिरवेक्ख त्रि०(निरपेक्ष) पुत्रदारधनधान्यहिरण्याऽऽदिकमनपेक्षमाणे, सूत्र०१ श्रु०६अ०। अनपेक्षे, आव०४अ०। अपेक्षारहिते, ध०३ अधि०। वृत्तिनिस्पृहे, पञ्चा०४ विव०। जी०। उत्त०। बालाऽऽदिषु चिन्तारहिते, व्य०३ उ०। आचार्यस्य शिष्यैः, प्रतीच्छकैश्च सर्वं कर्त्तव्यं, ये तु न कुर्व न्ति, ते निरपेक्षा इति । (एतच्च ''अइसेस'' शब्दे प्रथमभागे २७ पृष्ठे उक्तम्) द्विविधाः साधवः–सापेक्षाः, निरपेक्षाश्च । ''णिरवेक्खा जिणाइया, ते सरीरगच्छादिणिरवेक्खत्तणओ णिरवेक्खा ।'' नि०चू० २० उ०। निरभिलाषे निरभिष्वङ्गे, ''पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए ।'' उत्त०६ अ०।

णिरवेक्खजइधम्म पुं०(निरपेक्षयतिधर्म) गच्छनिर्गतसाधुधर्मे, (ध०)

साम्प्रतं निरपेक्षयतिधर्मप्रस्तावनाया तद्योग्यतामाह–

प्रमादपरिहाराय, महासामर्थ्यसंभवे ।
कृतार्थानां निरपेक्ष–यतिधर्मो ऽतिसुन्दः ॥८३॥

महासामर्थ्यम्–आद्यसंहननत्रययुक्ततया, वज्रकुड्यसमानधृतितया च कायमनसोः शक्तिः, तस्य संभवे विद्यमानत्वे, प्रमाद–परिहाराय प्रागुक्ताष्टविधप्रमादत्यागाय, कृतार्थानां कृतकृत्यानामाचार्यो-पाध्यायप्रवर्तकस्थविरगणावच्छेदकलक्षणपदपञ्चक–योग्यतया शिष्याणां निष्पादनेन निष्ठितार्थानामित्यर्थः, निरपेक्षयतिधर्मो गच्छनिर्गतयतिधर्मोऽतिसुन्दरोऽतिशयेन श्रेयान्, प्रमादजयार्थं कृतकृत्यानामाचार्याऽऽदीनामयमतिश्रेष्ठ इत्यर्थः । अत्रेदमवधेयम्–निरपेक्षा यतयोजिनकल्पिकाः, शुद्धपारिहारिकाः, यथालन्दिकाश्च । धर्म०४ अधि०। (जिनकल्पिकाऽऽदयः पृथक् पृथक् स्वस्वस्थाने द्रष्टव्याः)

णिरहंकार त्रि०(निरहङ्कार) अहङ्काररहिते, उत्त० १६ अ०। रागद्वेषरहिते, सूत्र०१ श्रु० ६ अ०।

णिरहिगरण त्रि०(निरधिकरण) गुरुतराऽऽरम्भवर्जिते, पञ्चा० १६ विव०।

णिरहिगरणि(ण्) त्रि०(निरधिकरणिन्) निर्गतमधिकरणमस्मादिति निरधिकरणी । समासान्तविधिः (इन्) अधिकरणदूरवर्तिनि, भ० १६ श० १ उ०।

णिराअ (देशी) प्रकटे, ऋजौ, रिपौ च । दे०ना० ४ वर्ग ५० गाथा।

णिराकिच्च अव्य०(निराकृत्य) अपनीयेत्यर्थे , सूत्र०१ श्रु० ११ अ०। परित्यज्येत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०३ उ०। ''ततो वायं णिराकिच्च, ते भुज्जो विप्पगब्भिए।'' सूत्र०१ श्रु० १ अ०१ उ०।

णिरागस पुं०(निराकर्ष) आकृष्यत इति आकर्षो, न विद्यते आकर्षो यस्य स निराकर्षः । द्रविणरहिते, ''किण्णे निरागसाणं, गुत्तिकरो काहितो राया।'' नि०चू० २ उ०।

णिरागारपच्चक्खाण पुं०(निराकारप्रत्याख्यान) निर्गतं महत्तरा–ऽऽद्याकारान्निराकारम्, तच्च प्रत्याख्यानं चेति । अनाकारप्रत्या ख्याने, निराकारेऽऽप्यनाभोगसहसाकाररूपाऽऽकारद्वयस्याऽवश्यं भावा-न्महत्तराऽऽद्याकारवर्जनाऽऽश्रयणम् । ध०२ अधि०।

णिराणुकंप त्रि०(निरनुकम्प) प्राकृतत्वाद् दीर्घः । अनुकम्पारहिते, पं०व० ४ द्वार।

णिरातंक त्रि०(निरातङ्क) नीरोगे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार। औ०। तं०।

णिराद (देशी) नष्टे, दे०ना० ४ वर्ग ३० गाथा।

णिरावाह त्रि०(निराबाध) सर्वशारीरकमानसिकबाधाविवर्जिते, दर्श० ४ तत्त्व । अष्ट०। स्वाऽऽयत्ताऽऽनन्दरूपत्वात् । (स्था० १० ठा०) बाधारहिते, आव०४ अ०।

णिराभिराम त्रि०(निरभिराम) अभिरमणीये, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

णिरामगंध त्रि०(निरामगन्ध) निर्गतोऽपगत आमोऽविशोधिकोट्याख्यः, तथा गन्धो विशोधिकोटिरूपो यस्मात् स भवति निरामगन्धः । मूलोत्तर-गुणभेदभिन्नां चारित्रक्रियां कृतवति, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। ''से सव्वदंसी अभिभूय नाणी, णिरामगंधे धिइमं ठितप्पा। (५)'' सूत्र०१ श्रु० ६ अ०। ''णिरामगंधे सपरिव्वएज्जा।'' आचा०१ श्रु०२ अ०५ अ०।

णिरामय त्रि०(निरामय) नीरोगे, दश०४ अ०। निर्मलपरमात्मानु-भवे, अष्ट०१० अष्ट०। ''अतीव निरामया नो अहो वातो निस्सरइ।'' आ०म०१अ०२खण्ड।

णिरामिस त्रि०(निरामिष) विषयाऽऽदिपदार्थे, उत्त०। ''सामिसं कुललं दिस्स, बज्झमाणं णिरामिसं । आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामो णिरामिसा ।।४६।।'' निष्क्रान्त आमिषाद् गृद्धिहे-तोरभिलषितविषयान्निर्गतूं वा आमिषमस्येति। उत्त० पाई० १४ अ०।

णिरायास त्रि०(निरायास) अखेदकारणे, प्रश्न०४ सम्ब० द्वार।

णिरारंभ त्रि०(निरारम्भ) निर्गत आरम्भादसत्क्रियाप्रवर्त्तनलक्षणान्नि-रारम्भः। आरम्भरहिते, उत्त०२ अ०।

णिरालंब त्रि०(निरालम्ब) ज्ञानाऽऽद्यालम्बनरहिते, व्य०४ उ०।

णिरालंबण त्रि०(निरालम्बन) त्राणायाऽऽलम्बनीयवस्तुवर्जिते, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०। ''गयणमिव णिरालंबणो ।''गगनमिव निरालम्बनो, न कुलग्रामाऽऽद्यवलम्बत इति भावः। स्था०६ ठा०। ऐहिकाऽऽमुष्मिका-ऽऽशंसारहिते, ''इमम्मि लोए परते य दोसु वि न विज्जइ बंधणं जस्स किंचि वि, से हु निरालंबणे।'' आचा०२ श्रु०४ अ०१उ०।

णिरालंबणया स्त्री०(निरालम्बनता) निर्गत आलम्बनादाश्रयणीयाद् गच्छकुटुम्बकाऽऽदेरिति निरालम्बनस्तद्भावो निरालम्बनता। आश्रयान-पेक्षत्वेऽविनयभेदे, स्था०४ ठा०३उ०।

णिरालोय त्रि०(निरालोक) निर्गताऽऽलोके, ''निरालोयाओ दिसाओ कारेमाणे।'' नि०१ श्रु०१ वर्ग १ अ०।

णिरावकंखि(ण्) त्रि०(निरावकाङ्क्षिण्) निस्पृहे, ''निक्खम्म गेहाउ णिरावकंखी, कायं विऊ सेज्ज नियाणछिन्ने।'' निरावकाङ्क्षी कायं शरीरं व्युत्सृज्य निष्प्रतिकर्मतया चिकित्साऽऽदिकमकुर्वन् छिन्ननिदानो भवेत्। सूत्र०१ श्रु० १० अ०।

णिरावयक्ख त्रि०(निरवकाङ्क्ष) निरपेक्षे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

णिरावरण न०(निरावरण) क्षायिकत्वात् (औ० । भ० दशा०) समस्ताऽऽवरणरहिते, कल्प०१ क्षण।

णिरास त्रि०(निरास) परित्यागे, प्रतिक्षेपे, वधे, निष्कासने, वाच०। आ०म०।

***निराश** पुं०। क्षीणमनोरथे, बृ०६उ०। प्रश्न०।

णिरासंख त्रि०(निराशंस) इहपरलोकाऽऽशंसाविप्रमुक्ते, आव० ४ अ०। ऐहिकाऽऽमुष्मिकाऽऽशंसारहिते, आचा०२ श्रु०४ चू०१अ०।

णिरासबहुल त्रि०(निराशबहुल) आशाऽभावप्रचुरे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

णिरासव त्रि०(निराश्रव) कर्माऽऽदानरहिते, प्रश्न०३ सम्ब० द्वार।

णिरिअ (देशी) अविशेषिते, दे०ना० ४वर्ग २८ गाथा।

णिरिंक (देशी) नते, दे०ना०४ वर्ग ३० गाथा।

णिरिंधणया स्त्री०(निरिन्धन) न० प्राकृते स्वार्थिकं स्त्रीत्वम्। धूमस्येव कर्मेन्धनविमोचने, भ० ७ श० १ उ०।

णिरिक्खण न०(निरीक्षण) आलोकने, सङ्ग्रा०१ अधि०१ प्रस्ता०। आव०।

णिरिक्खणा स्त्री०(निरीक्षणा) प्रत्युपेक्षणायाम्, ओघ०।

णिरिक्खिय त्रि०(निरीक्षित) आलोकिते, ''उप्पण्णनाण दंसण-धरेहिं तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं।'' तत्र निरीक्षिता मनोरथ-परम्परा-सम्पत्तिसंभवननिश्चयसमुत्थसम्मदविकासिलोचनैरालोकिताः। नं०।

णिरिग्घ निली धा० (नि+लिङ्) निलयने, **''निलीङेर्णिलीअ-णिलुक्क-णिरिग्घ-लुक्क-लिक्क-लिहक्काः''** ॥८।४।५५॥ इति निलीङो णिरिग्घाऽऽदेशः। 'णिरिग्घइ'। पक्षे-'निलिज्जइ'। निलीयते। प्रा० ४ पाद।

णिरिणास धा०(गम्) गमने, **''गमेरई अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कु-साक्कुस-पच्चड्ड-पच्छंद-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसे-हावहराः''** ॥८।४।१६२॥ इति सूत्रेण गमेर्णिरिणासाऽऽदेशः। 'णिरिणासइ'। गच्छति। प्रा० ४ पाद।

***नश्** धा०। अदर्शने, **''नशेर्णिरिणास-णिवहावसेह-पडिसा-सेहावहराः''**॥८।४।१७८॥ इति नशेर्णिरिणासाऽऽदेशः। 'णिरिणासइ'। नश्यति। प्रा०४ पाद।

***पिष्** धा०। पेषणे, ''पिषेर्णिव्वह-णिरिणास-णिरिणिज्ज-रोच्च-चड्डाः'' ॥८।४।१८५॥ इति पिषेर्णिरिणासाऽऽदेशः। 'णिरिणासइ'। पिनष्टि। प्रा०४ पाद।

णिरिणिज्ज धा०(पिष्) पेषणे, **''पिषेर्णिव्वह-णिरिणास-णिरिणिज्ज-रोच्च-चड्डाः''** ॥८।४।१८५॥ इति पिष् धातोर्णिरिणिज्जाऽऽदेशः। 'णिरिणिज्जइ'। पिनष्टि। प्रा०४ पाद।

णिरुंभइत्ता अव्य०(निरुध्य) सन्मार्गे व्यवस्थाप्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ०२ उ०। दश०।

णिरुंभण न०(निरोधन) प्रक्षेपणे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। प्रतिबन्धे, सूत्र०१ श्रु० ५ अ०१ उ०।

णिरुच्चार त्रि०(निरुच्चार) प्राकारस्योर्द्धजनप्रवेशनिर्गमवर्जिते, पुरीषविसर्गार्थं जनानां बहिर्निर्गमनरहिते, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। निरुद्धपुरी-षोत्सर्गे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

णिरुच्छाह त्रि०(निरुत्साह) सत्त्वपरिवर्जिते, जं०२ वक्ष०। निरुद्यमे, ग०१ अधि०।

णिरुज न०(निरुज) रुजानामभावो निरुजम्। रोगाणामभावे, पञ्चा० १६ विव०।

णिरुजसिखतव न०(निरुजशिखतपस्) रुजानां रोगाणामभावो निरुजं, तदेव शिखेव शिखा प्रधानं फलतया यचाऽसौ निरुजशिखः, स एव तपः। पञ्चा० १६ विव०। आरोग्यार्थे तपोभेदे, (प्रव०)

निरुजशिखं तपः प्राऽऽह-

एवं निरुजसिखो वि हु, नवरं सो होइ सामले पक्खे।

तम्मि य अहिओ कीरइ, गिलाणपडिजागरणनियमो ॥५५६॥

रुजानां रोगाणामभावो निरुजं, तदेव प्रधानफलविवक्षया शिखेव शिखा चूला यत्राऽसौ निरुजशिखः, तपोविशेषः। सोऽप्येवमेव सर्वाङ्ग सुन्दरतपोवदष्टनिरुपवासैराचाम्लपारणकैर्द्रष्टव्यः। नवरं केवलं स निरुजशिखस्तपोविशेषः, श्यामले कृष्णपक्षे भवति, अधिकश्च तत्र क्रियते ग्लानप्रतिजागरणनियमः, ग्लानो मया पथ्याऽऽदिदानतः प्रतिचरणीय इत्येवंरूपप्रतिज्ञाग्रहणमित्यर्थः। शेषं तु जिनपूजाऽऽदिकं तथैवेति। प्रव०२७१ द्वार।

णिरुट्ठाइ(ण्) त्रि०(निरुत्थायिन्) प्रयोजनेऽपि न पुनः पुनरुत्थानशीलः। उत्त० १ अ०। निमित्तं विनाऽनुत्थापके, उत्त० ३अ०।

णिरुत्त न०(निरुक्त) अभिधानाक्षरानुसारतो निश्चितार्थस्य वचने भणने, अनु०। अनुयोगे सूत्रव्याख्यायाम्, (बृ०)

सम्प्रति अनुयोगमधिकृत्य निरुक्तद्वारमाह–

निच्छियमुत्त णिरुत्तं, तं पुण सुत्ते य होइ अत्थे य।
सुत्ते उवरिं वोच्छं, अत्थणिरुत्तं इमं तत्थ॥

निश्चितमुक्तं निरुक्तम्। तच्च द्विधा–सूत्रस्यार्थस्य च। तत्र सूत्रस्योपरि ''नेरुत्तियाणि तस्स उ'' इत्यादिना ग्रन्थेन वक्ष्ये। अर्थनिरुक्तं पुनरिदं वक्ष्यमाणम्।

तदेव विवक्षुःप्रथमतस्तद्विषयान् दृष्टान्तान्
वक्तव्यान् सूचयति–

अणु बायरे य उंडिय, पडिंसुया चेव अब्भपडले य।
वत्तिएँ चउक्कभंगो, निरुतादी वत्तणी च जहा॥

अनुयोगे अणुत्वे बादरत्वे च दृष्टान्तो वक्तव्यः, अनुयोगे उण्डिकापत्रकदृष्टान्तः, उण्डिका मुद्रा। माषायां प्रतिश्रुतदृष्टान्तः। विभाषायामभ्रपटलः। *वार्तिके चत्वारो भङ्गाः, तत्र मङ्गदृष्टान्तः। तथा*–निरुक्ताऽऽदीनि। यथा वर्द्धमानस्वाम्याख्यातवान् तथा किमृषभाऽऽदयोऽपि, उतान्यथा? उच्यते–तथेति, केवलज्ञानस्य तुल्यत्वात्, यथा वर्तनी मार्गः स सर्वजनपदेषु प्रमाणत एकैव भवति। बृ०१ उ०। विशे०। पदमाञ्जने, पदव्युत्पत्तिरूपे टीकाऽऽदौ, कल्प० २ क्षण। शब्दनिरुक्तप्रतिपादके वेदाङ्गे, औ०। आ०म०। अनु०। आव०। सर्वज्ञैरुपादेयतया नितरामुक्ते, प्रश्न०३ सम्व०द्वार। निश्चये, दे०ना० ४ वर्ग ३० गाथा।

णिरुत्ति स्त्री०(निरुक्ति) निश्चिता उक्तिर्निरुक्तिः। विशे०। आ०म०। निर्वचनं निरुक्तिः। क्रियाकारकभेदपर्यायैः शब्दार्थकथने, विशे०। आ०म०। आ०चू०।

णिरुत्तिय न०(नैरुक्तिक) निरुक्ते भवं नैरुक्तम्। निरुक्तवशेनार्थप्रतिपादके नामनि, (अनु०) ''से किं तं णिरुत्तिए? महांशेते महिषः। भ्रमति चरतीति भ्रमरः। मुहुर्मुहुर्लसतीति भुसलम्। कपेरिव लम्बते कपित्थम्। चिचं करोति खल्लं च भवति चिक्खल्लन्। ऊर्द्धकर्ण उलूकः। स्वस्य माला मेखला। सेत्तं णिरुत्तिए।'' अनु०।

णिरुद्ध त्रि०(निरुद्ध) आच्छादिते, सूत्र०१ श्रु० १२ अ०। आवृते, सूत्र०१ श्रु० २ अ०३ उ०। परिगलिते, आचा०१ श्रु० ४ अ०३ उ०। विवक्षितदिग्गमननिवारिते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। जलचरजीवविशेषे, कल्प०३ क्षण।

णिरुद्धजोग पुं०(निरुद्धयोग) चतुर्थे शुक्लध्यानभेदे, सूत्र०१ श्रु०६ अ०।

णिरुद्धपन्ना त्रि०(निरुद्धप्रज्ञ) निरुद्धाऽऽच्छादिता ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिना कर्मणा प्रज्ञा ज्ञानं यस्य सः। अज्ञानप्रकाशे, सूत्र०१ श्रु०८ अ०।

णिरुद्धपरियाय पुं०(निरुद्धपर्याय) निरुद्धो विनाशितः पर्यायो यस्य स निरुद्धपर्यायः। व्य० ३ उ०। पश्चात्कृतत्वेन पूर्वपर्यायनिरोधात् तद्दैवसिकपर्याये, (''निरुद्धपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ तद्दिवसं आयरियउवज्झायत्ताए।'' इति सूत्रम्–'उद्देस'शब्दे द्वितीयभागे ८०३ पृष्ठे व्याख्यातम्)

णिरुद्धबुद्धि त्रि०(निरुद्धबुद्धि) निरुद्धा संशयकोटीकृता बुद्धिर्येषां ते निरुद्धबुद्धिर्वा संशयितेषु, बृ०३ उ०।

णिरुद्धवासपरियाय पुं०(निरुद्धवर्षापर्याय) निरुद्धो विनाशितो वर्षापर्यायो यस्य स निरुद्धवर्षापर्यायः। अनेकवर्षापर्याये, व्य०३ उ०। नि०चू०। (''तिण्णि य जस्स अपुण्णा, वासा पुण्णेहिँ वा तिहिं तं तु। वासेहिँ निरुद्धेहिं, लक्खणजुत्तं पसंसंति॥१॥'' इति 'उद्देस' शब्दे द्वितीयभागे ८०५ पृष्ठे व्याख्यातम्)

णिरुद्धाउय पुं०(निरुद्धायुष्क) परिगलिते आयुष्के, ''इमं णिरुद्धाउयं संपेहाए।'' आचा०१ श्रु०४ अ०३उ०।

णिरुय न०(निरुज) णिरुज शब्दार्थे, पञ्चा० १६ विव०।

णिरुयसिखतव न०(निरुजशिखतपस्)णिरुजसिखतव' शब्दार्थे, पञ्चा० १६ विव०।

णिरुली (देशी) मकराऽऽकृतिग्राहे, दे०ना०४ वर्ग २७ गाथा।

णिरुवक्कम पुं०(निरुपक्रम) निर्गत उपक्रमान्निरुपक्रमः। अपवर्तनाकरणान्निर्गते अनुभागे, भ०। तत्र मरणविषयाऽऽयुषि सप्तभिरष्टभिर्वा कर्षैर्गवामिव मरुषु जलगण्डूषग्रहणरूपैर्यत्पुद्गलोपादानं तदतिदृढमपवर्तयितुमशक्यतया निरुपक्रममुच्यते। उत्त० ५अ०। उपक्रमणाभावे, भ० २० श०१० उ०।

णिरुवक्कमभाव पुं०(निरुपक्रमभाव) अनुपक्रमणीयत्वे कर्मणामवश्यंवेद्यस्वभावत्वे, पञ्चा०३ विव०।

णिरुवक्कमाउ त्रि०(निरुपक्रमायुष) अकालमरणरहित, श्रा०। आ०म०। यदा ह्यसुमान् स्वायुषस्त्रिभागत्रिभागे वा जघन्यत एकेन द्वाभ्यां वोत्कृष्टतः सप्तभिरष्टभिर्वा वर्षैरन्तर्मुहूर्तप्रमाणेन कालेनाऽऽत्मप्रदेशरचनानाडिकान्तर्वर्त्तिन आयुष्ककर्मवर्गणापुद्गलान् प्रयत्नविशेषेण विधत्ते तदा निरुपक्रमाऽऽनुर्भवति। आचा०१ श्रु० २ अ०१उ०। विपा०।

णिरुवक्कय (देशी) अकृते, दे०ना०४ वर्ग ४१ गाथा।

णिरुवकिलिट्ठ त्रि०(निरुपक्लिष्ट) स्वगतशोकाऽऽद्युपक्लेशवियुक्ते, भ० २५ श०७ उ०। ''हट्ठस्स णवगलुस्स णिरुवकिट्ठस्स जंतुणो'' अनु०।

णिरुवक्केस पुं०(निरुपक्लेश) शोकाऽऽदिबाधावर्जिते, स्था०७ ठा०। ''णिरुवक्केसे परिआए।'' निरुपक्लेशः पर्यायः इति एभि–

रेवोपक्लेशै रहितः प्रव्रज्यापर्यायोऽनारम्भी कुचिन्तावर्जितः श्लाघनीयो विदुषामित्येवं चिन्तनीयम्। दश०१ चू०।

णिरुवगारि(ण्) त्रि०(निरुपकारिन्) निरुपकर्त्तुं शीलमस्येति। निरुपकारकारके गुर्वादिकार्येष्वप्रवर्त्तके, आ०म०१ अ०१ खण्ड।

णिरुवग्गहया स्त्री०(निरुपग्रहता) गन्त्र्यादिरहितपङ्गुवद् धर्मास्तिकायाभावेन तज्जनितगत्युपष्टम्भाभावे, स्था०४ ठा०३उ०।

णिरुवचरिय त्रि०(निरुपचरित) उपचारेणाऽऽत्मनोऽसंबन्धिनि, ज्ञा०१ श्रु०५ अ०।

णिरुवट्ठाणि (ण्) त्रि०(निरुपस्थानिन्) निर्गतमुपस्थानमुद्यमो यस्य स निरुपस्थायी। सर्वज्ञप्रणीतसदाचाराऽनुष्ठानविकले, आचा०१ श्रु०५ अ०६ उ०।

णिरुवद्दव त्रि०(निरुपद्रव) अविद्यमानराजाऽऽदिकृतोपद्रवे, औ० ज्ञा०।रा०। रोगाऽऽदिक्लेशरहिते,तं०। उपद्रवो नाम–अशिवं, गल–रोगाऽऽदिकं वा। तस्याभावो निरुपद्रवम्। उपद्रवाभावे, नं०। ''णिरुवद्दवं च खेडं च होहिति।'' बृ०४ उ०। अशिवाऽऽद्युपद्रववर्जिते, बृ०१ उ०।

णिरुवम त्रि०(निरुपम) सकलोपमाऽतीते, दर्श०५ तत्त्व। उपमा–रहिते, जी०३ प्रति०४ उ। तं०। आव०। ''णिरुवमपिंडियासिरा।'' निरुपमं पिण्डिक्केव वर्त्तुलत्वेन पिण्डिकायमानमग्रशिरः शिरोऽग्रं येषां ते तथा। तं०।

णिरुवमसुहसंगय त्रि०(निरुपमसुखसङ्गत) निरुपमाऽऽख्येनाविद्यमानाऽऽक्षेपेण सङ्गत इति समासः। असंयोगिकाऽऽनन्दयुक्ते, पं०सं०१ द्वार।

णिरुवयरिय त्रि०(निरुपचरित) 'णिरुवचरिय' शब्दार्थे, ज्ञा०१ श्रु०५ अ०।

णिरुवलेव त्रि०(निरुपलेप) द्रव्यता निर्मलदेहत्वाद् भावतो बन्धहेत्वभावान्निर्गत उपलेपो यस्मादिति निरुपलेपः। स्था० ६ ठा०। द्रव्यतो निर्मलदेहे, भावतस्तु कर्मबन्धहेतुलक्षणोपलेपरहिते, औ० कल्प० ज्ञा०। प्रश्न०। स०। लेपरहिते, औ० स्नेहवर्जिते, प्रश्न० ४ सम्व० द्वार।

निरुपलेपं दृष्टान्तैर्भावयति–

णिरुवलेवे–कंसपाई इव मुक्कतोए, संखो इव णिरंजणे, जीवे इव अप्पडिहयगई, गगणामिव णिरालंबणे, वाउ व्व अप्पडिबद्धे, सारयसलिलं व सुद्धहियए, पुक्खरपत्तं व णिरुवलेवे, कुम्मो इव गुत्तिंदिए, खग्गिविसाणं व एगजाए, विहग इव विप्पमुक्के, भारंडपक्खी इव अप्पमत्ते, कुंजरो इव सोंडीरे, वसभो इव जायथामे, सीहो इव दुद्धरिसे मंदरो इव अप्पकंपे, सागरो इव गम्भीरे, चंदो इव सोमले से, सूरो इव दित्ततेए, जच्चकणगं व जायरूवे, वसुंधरा इव सव्वफासविसहे, सुहुयहुयासण इव तेयसा जलंते। नत्थि णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधे भवइ।

निरुपलेपो द्रव्यभावमलापगमेन, तत्र द्रव्यमलः शरीरसंभवः, भावमलः कर्मजनितः। अथ निरुपलेपत्वं दृष्टान्तैर्दर्शयति–कांस्य–पात्रीव मुक्तं तोयमिव स्नेहो येन स तथा, यथा कांस्यपात्रं तोयेन न लिप्यते, तथा भगवान् स्नेहेन न लिप्यते इत्यर्थः। तथा शङ्ख इव निरञ्जनः, रञ्जनं रागाऽऽद्युपरञ्जनं तेन शून्यत्वात्। जीव इव अप्रतिहतगतिः, सर्वत्रास्खलितविहारित्वात्। गगनमिव निरालम्बनः, कस्याप्याधारस्यानपेक्षणात्। वायुरिव अप्रतिबद्धः, एकस्मिन् स्थाने क्वाप्यवस्थानाभावात्। शारदसलिलमिव शुद्धहृदयः, कालुष्याकलङ्कितत्वात्। पुष्करपत्रं कमलपत्रं, तद्वन्निरुपलेपः, यथा कमलपत्रे जललेपो न लगति, तथा भगवतः कर्मलेपो न लगतीत्यर्थः। कूर्म इव गुप्तेन्द्रियः। खड्गिविषाणमिव एकजातः। यथा– खड्गिनः श्वापदविशेषस्य विषाणं शृङ्गमेकं भवति, तथा भगवानपि, रागाऽऽदिना सहायेन च रहितत्वात्। विहग इव विप्रमुक्तः, मुक्तपरिकरत्वात् अनियतनिवासाच्च। भारण्डपक्षीव अप्रमत्तः, भारण्डपक्षिणोः किलैकं शरीरम्। यतः– ''एकोदराः पृथग् ग्रीवास्त्रीपदा मर्त्यभाषिणः। भारण्डपक्षिणस्तेषां, मृतिर्भिन्नफलेच्छया'' ॥१॥ ते चात्यन्तम् अप्रमत्ता एव जीवन्तीति तदुपमा। कुञ्जर इव शौण्डीरः कर्मशत्रून् प्रति शूरः, वृषभ इव जातस्थामा जातपराक्रमः, स्वीकृतमहाव्रतभारोद्वहनं प्रति समर्थत्वात्। सिंह इव दुर्धर्षः, परीषहाऽऽदिश्वापदैरजय्यत्वात्। मन्दर इव मेरुरिव अप्रकम्पः, उपसर्गवातैरचलितत्वात्। सागर इव गम्भीरः, हर्षविषादकारणसद्भावेऽपि अविकृतस्वभावत्वात्। चन्द्र इव सौम्यलेश्यः, शान्तत्वात्। सूर्य इव दीप्ततेजाः। द्रव्यतो देहकान्त्या, भावतो ज्ञानेन जात्यकनकमिव जातं रूपं स्वरूपं यस्य स तथा। यथा किल कनकं मलज्वलनेन दीप्तं भवति, तथा भगवतोऽपि स्वरूपं कर्ममलविगमेन अतिदीप्तस्तीति भावः। वसुन्धरा इव पृथ्वीव सर्वस्पर्शसहः, यथा हि शीतोष्णाऽऽदि सर्वं पृथ्वी समतया सहते, तथा भगवानपि। सुष्ठु हुतो घृताऽऽदिभिः सिक्त एवंविधो यो हुताशनोऽग्निस्तद्वत्तेजसा ज्वलन्। नास्त्ययं पक्षःयत्तस्य भगवतः कुत्रापि प्रतिबन्धो भवति, तस्य भगवतः कुत्रापि प्रतिबन्धो नास्तीति भावः। कल्प०६ क्षण।

णिरुवसग्ग पुं०(निरुपसर्ग) जन्माऽऽद्युपसर्गरहिते मोक्षे, प्रति०। आव०। आचा०। आ०चू०। राजगुणभेदे, यतः सकलेऽपि देशे मारिडमराऽऽद्युपसर्गासम्भवः। व्य० ३उ०।

णिरुवसग्गवत्तिया स्त्री०(निरुपसर्गप्रत्यय) जन्माऽऽद्युपसर्गाभावेन निरुपसर्गो मोक्षस्तत्प्रत्ययः। ''वत्तिया ति'' आर्षत्वात्। मोक्षनिमित्ते, ''अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं णिरुवसग्गवत्तियाए बोहिलाहवत्तियाए।'' ध०२ अधि०। ल०।

णिरुवहय त्रि०(निरुपहत) वाताऽऽद्यनुपहते,भ०७ श०१उ०। ज्ञा०। उत्त०। विकारविरहिते, औ०। रा०। ज्वराऽऽदिदशाऽऽद्युपद्रवरहिते, जी०३ प्रति०४ उ०। रोगाऽऽदिभिरनुपहते, प्रश्न०४ आश्र० द्वार। ''णिरुवहयउदत्तलट्ठपंचिंयिवडुं ति।'' निरुपहतानि अविद्यमानवाताऽऽद्युपघातानि उदात्तानि उत्तमवर्णाऽऽदिगुणानि अत एव लष्टानि मनोहराणि पञ्चापीन्द्रियाणि पटूनि च स्वविषयग्रहणदक्षाणि यत्र तत्तथा। भ० ६ श० ३३उ०।

णिरुवहि त्रि०(निरुपधि) उपधिश्छद्म, मायेत्यनर्थान्तरम्। अयं

च क्रोधाऽऽद्युपलक्षणं, ततश्च निर्गता उपध्यादयः सर्व एव कषाया येभ्यस्ते निरुपधयः । निष्कषायेषु, ''हेउविभत्ती निरुवहि जियाण अवहेण य जियंति ॥१४४॥'' दश०१अ०।

णिरुवार धा०(ग्रह) ग्रहणे, ''ग्रहो वल–गेण्ह–हर–पङ्ग–निरुवाराहि-पचुआः'' ॥८।४।२०६॥ इति ग्रहेर्निरुवाराऽऽदेशः। ''निरुवारइ'' । गृह्णाति । प्रा० ४ पाद ।

णिरुस्साह त्रि०(निरुत्साह) सदनुष्ठाननिरुद्यमे, सूत्र०१ श्रु० ४ अ०१ उ०।

णिरूविअ त्रि०(निरूपित) आलोच्य कथिते, ''विद्धकइणिरू-विअं।'' वृद्धकविनिरूपितम् । प्रा०२ पाद ।

णिरूविऊण अव्य०(निरूप्य) आलोच्येत्यर्थे, पञ्चा०८ विव०।

णिरूवियव्व त्रि०(निरूपयितव्य) आलोचनीये, पञ्चा० ११ विव०।

णिरूह पुं०(निरूह) विरचने, सूत्र०१ श्रु०६ अ०।

णिरेय त्रि०(निरेजस्) निष्प्रकम्पे, भ०५ श०७ उ०। कल्प०। निश्चले, नि०चू०२० उ०। सैजसां निरेजासं च पुद्गलानां कायस्थितिरुक्ता । भ० २५ श०४ उ०।

णिरेयण त्रि०(निरेजन) निश्चले, औ०। प्रज्ञा०। निष्प्रकम्पे, आव०५ अ०।

णिरोदर त्रि०(निरोदर) विकृतोदररहिते, जी०३ प्रति०४ उ०। तुच्छोदरे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

णिरोह पुं०(निरोध) निरोधनं निरोधः । प्रलयकरणे, ''छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं च ।'' आव०४ अ०। आ०क०। अशेषकर्मक्षये, सूत्र०१ श्रु० १४अ०। निश्चयेन धरणे, आव०४ अ०।

मुत्तणिरोहे चक्खुं, वच्चणिरोहेण जीवियं जहति ।
उड्डुणिरोहे कोढं, गेलन्नं वा भवे तीसु ॥६६३॥

मूत्रनिरोधे विधीयमाने चक्षुरुपहन्यते । वर्चः पुरीषं, तस्य निरोधेन जीवितं परित्यजति, अचिरादेव मरणं भवतीत्यर्थः । ऊर्द्ध वमनं, तस्य निरोधे कुष्ठं भवति, ग्लान्यं वा सामान्यतो मान्द्यं त्रिष्वपि मूत्रपुरीषवमनेषु निरुध्यमानेषु भवेत् । बृ०३ उ०। प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपविघाते, स च निरोधोऽभ्यासाद् वैराग्याच्च भवति । तदुक्तम्– ''अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'' द्वा० २३ द्वा०।

णिरोहपरिणाम पुं०(निरोधपरिणाम) चित्तस्य तथाविधस्थैर्य्यविशेष, द्वा०। व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावाभ्यां निरोधक्षण-चित्तान्वयो निरोधपरिणाम इति । द्वा०२३ द्वा०।

णिलज्ज त्रि०(निर्लज्ज) लज्जारहिते, ''हुं निलज्ज ! समोसर।'' प्रा०२ पाद।

णिलज्जिमा पुं०स्त्री०।(निर्लज्जिमन्) निर्लज्जस्य भावो निर्लज्जिमा। ''वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्''॥८।१।३५॥ इति वा स्त्रियां प्रयोगः। ''एसा निलज्जिमा, एस निलज्जिमा''। लज्जाराहित्ये, प्रा०१ पाद।

णिलय पुं०(निलय) गृहे, उत्त० ३२ अ०। को०। तं०।

णिलयण न०(निलयन) वसतौ, नयानां निलयनौपम्यम् । विशे०। (वसतिदृष्टान्तः 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८८० पृष्ठे प्ररूपितः)

णिलाम न०(ललाट) भाले, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

णिलिंत त्रि०(निलीयमान) नीडाऽऽद्याश्रयति, रा०। निविशमाने, औ०।

णिलिज्जमाण त्रि०(निलीयमान) अपनयति, धान्यशुद्धिं कुर्वाणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। संवाधनं कुर्वति, सूत्र०१ श्रु० ४ अ०२उ०।

णिलीअ धा०(निली) निलयने, ''निलीडोर्णिलीअ–णिलुक्क-णिरिग्घ–लुक्क–लिक्क–ल्हिक्काः'' ॥८।४।५५॥ इति निपूर्वस्य लीङो 'णिलीअ' आदेशः । 'णिलीअइ' । निलीयते । प्रा०४ पाद ।

णिलुक्क (देशी) विरते, ''खिप्पामेव णिलुक्को।''आ०म०१अ०१ खण्ड। अन्तर्हिते, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। निलुक्को निवृत्तः। आ०क०।

***णिली** धा०। निली निलयने, ''निलीङोर्णिलीअणिलुक्क०–'' ॥८।४।५५॥ इत्यादिसूत्रेण निलीङो णिलुक्काऽऽदेशः । 'णिलुक्कइ' । निलीयते । प्रा० ४ पाद ।

***तुड्** धा०। त्रोटने, **''तुडेस्तोड–तुट्ट–खुट्ट–खुडोक्खडोल्लुक – णिलुक्क– लुक्कोल्लूराः'' ॥८।४।११६॥** इति तुडेर्णिलुक्काऽऽदेशः । ''णिलुक्कइ।'' तुमति । प्रा०४ पाद ।

णिल्लंक (देशी) पतद् ग्रहे, दे०ना०४ वर्ग ३१ गाथा।

णिल्लंछण न०(निर्लाञ्छन) नितरां लाञ्छनमङ्गावयवच्छेदः, गवा–दिकर्णकम्बलशृङ्ग पुच्छच्छेदनासावेधाङ्कनखण्डनत्वग्दाहाऽऽद्युष्ट पृष्ठ गालनाऽऽदिरूपे (ध०२ अधि०) छेदनव्यापारे, बलीवर्दतुरङ्गाऽऽदीनां वर्धितकरणे, ध०२०। प्रश्न०। आ०चू०। प्रव०। ''नासावेधोऽङ्कनं पुच्छ–च्छेदनं पृष्ठागालनम्। गोकर्णकम्बलच्छेदो, निर्लाञ्छनमुदीरितम् ॥१॥'' तत्राऽङ्कनं गवाश्वाऽऽदीनां चिह्नकरणं मुष्कोऽण्डस्तस्य छेदनं वर्द्धित-कीकरणं, अस्मिन् जीवबाधा व्यक्तैव। ध०२ अधि०।

णिल्लंछणकम्म न०(निर्लाञ्छनकर्मन्) निर्लाञ्छनमेव कर्म जीविका निर्लाञ्छनकर्म। गोमहिष्यादीनां नासावेधे, गवाश्वाऽऽदीनां वर्धितकरणे, प्रव०६ द्वार। श्रा०। उपा०। पञ्चा०। आव०। एतच्च कर्मत उपभोगपरि-भोगवर्तिना कर्माऽऽदानहेतुरतीचार एवेति वर्ज्यम्। ध० २ अधि०।

णिल्लुंछ धा०। (मुच्) **''मुचेश्छड्डावहेड–मेल्लोस्सिक्क–रेअव णि–ल्लुञ्छ धंसाडाः ''॥८।४।९१॥ इति मुचेर्णिल्लुञ्छाऽऽदेशः''** णिल्लुञ्छइ'। मुञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

णिल्लज्ज त्रि०(निर्लज्ज) लज्जारहिते,प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

णिल्लस धा०(उल्लस) उत–लस उल्लसने, लसिते, ''उल्लसेरूस-लोसुम्भ–णिल्लस–पुलआअ–गुञ्जोल्ला-रोआः'' ॥८।४।२०२॥ इति उत्पूर्वस्य लसधातोः णिल्लिसाऽऽ–देशः । प्रा०४ पाद ।

णिल्लसिअ (देशी) निर्गते, दे०ना०४ वर्ग ३६ गाथा।

णिल्लालिय त्रि०(निर्लालित)प्रसाति, ज्ञा०१ श्रु० १अ०। विवृतमुखाद् निःसारिते, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। लपलपायमाने, कल्प०२ क्षण।

णिल्लूर धा०(छिद्) द्वैधीकरणे, ''छिदेर्दुहाव–णिच्छल्ल–निज्झोड–णिव्वर–णिल्लूर–लूराः'' ॥८।४।१२४॥ इति छिदेर्णि–ल्लूराऽऽदेशः । 'णिल्लूरइ' छिनत्ति । प्रा०४ पाद ।

णिल्लेव त्रि०(निर्लेप) चेतनस्य सकलपरभावसंयोगाभावेन व्याप्यव्यापकग्राहककर्तृत्वभोक्तृत्वाऽऽदिशक्तीनां स्वभावावस्थाने, अष्ट०। चेतनस्य सकलपरभावसंयोगाभावेन व्याप्यव्यापकग्राहककर्तृत्वभोक्तृत्वाऽऽदिशक्तीनां स्वभावावस्थानं निर्लेपः। नामतो निर्लेपः–अभिलाषाऽऽत्मकजीवाजीवानाम् । स्थापनानिर्लेपः निर्ग्रन्थाऽऽकाराऽऽदिः। द्रव्यनिर्लेपः– कांस्यपात्राऽऽदिस्तद्व्यतिरिक्तः । शेषस्तु पूर्ववत् । भावनिर्लेपः– जीवाजीवभेदात् । अजीवा धर्माधर्माऽऽकाशाऽऽदिः । जीवास्तु समस्तविभावाभिष्वङ्गरहितः मुक्ताऽऽत्मा । नयैस्तु द्रव्यपरिग्रहाऽऽदिष्वलिप्तः। नैगमेन संग्रहेण जीवो जात्याऽलिप्तः, व्यवहारेणालिप्तः द्रव्यतस्त्यागी। शब्दनयेन सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानपरिच्छिन्नपरभावपरित्यागी तन्निमितभूतातु धनस्वजनोपकरणात् तेष्वनासक्तः। समभिरूढेनाऽरिहन्ताऽऽदिप्रशस्तनिमित्तैर्बहुतरैः परिमाणैरलिप्तत्वात् क्षीणमोहो जिनः केवली चालिप्तः। एवंभूतेन सिद्धः, सर्वपर्यायैरलिप्तत्वात् । वाचनान्तरे तु–नैगमालिप्तः, अंशत्यायी नैगमाऽऽकाररूपेण संग्रहेण सम्यग्दर्शनी सत्तया आत्मानं सर्वथा विभक्तत्वात् । व्यवहारेण तच्छ्रद्धयाऽपास्तरागाऽऽदिलेपत्यागात् । ऋजुसूत्रस्तु सन्निमित्ताऽऽदिष्वरक्तत्वेनावलम्बनात् । शब्दत अभिसंधिजवीर्यबुद्धिपूर्वकोपयोगस्य रागाऽऽदिषु अपरिणमनात् । समभिरूढतः सर्वचेतनायाः सर्ववीर्यस्य विभावाऽऽश्लेषरहितत्वात् । एवंभूततः पूर्वाभ्यासचक्रभ्रमाऽऽदिभवोपग्राहिसर्वपुद्गलसङ्गरहितस्य सिद्धस्य निर्लेपत्वम् । पुनर्निक्षेपत्रये नयचतुष्टयम् भावनिक्षेपे पर्यायालिप्तत्वेनाऽन्तिमनयत्रयम् । इति तत्त्वार्थवृत्तैराशयः। अत्र भावसम्यक्साधकनिर्लेपाधिकारः–

संसारे निवसन् स्वार्थ–सज्जः कज्जलवेश्मनि ।
लिप्यते निखिलो लोको, ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥१॥
नाऽहं पुद्गलभावानां, कर्त्ता कारयिता च न ।
नानुमन्ताऽपि चेत्यात्मज्ञानवान् लिप्यते कथम्? ॥२॥
लिप्यते पुद्गलस्कन्धो, न लिप्ये पुद्गलैरहम् ।
चित्रव्योमाञ्जनेनेव, ध्यायान्निति न लिप्यते ॥३॥
लिप्सताज्ञानसंपात–प्रतिघाताय केवलम् ।
निर्लेपज्ञानमग्नस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥४॥
तपः श्रुताऽऽदिना मत्तः, क्रियावानपि लिप्यते ।
भावनाज्ञानसंपन्नो, निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥५॥
अलिप्तो निश्चयेनाऽऽत्मा, लिप्तश्च व्यवहारतः ।
शुद्धत्यत्यलिप्तया ज्ञानी, क्रियावान् लिप्तया दृशा ॥६॥
ज्ञानक्रियासमावेशः, सहैवोन्मीलने द्वयोः ।
भूमिकाभेदतस्त्वत्र, भवेदेकैकमुख्यता ॥७॥
सज्ज्ञानं यदनुष्ठानं, न लिप्तं दोषपङ्कतः ।
शुद्धबुद्धस्वभावाय, तस्मै भगवते नमः ॥८॥

अष्ट० ११ अष्ट०। विगतलेपे, भ०६ श०७ उ०। "सेपल्ले खीणे गीरए णिम्मल्ले णिट्ठिए णिल्लेवे अवहडे। विसुद्धे भवइ।" अत्यन्तसंश्लेषात् तन्मयतागतबालाग्रापहारादपनीतभित्यादिगतधान्यलेपकोष्ठागारवद् निर्लेपः। भ०६ श०७ उ०। अनु०। जी०। लेपरहिते पृथुकाऽऽदौ, आव०४अ०।

णिल्लेवग पुं०(निर्लेपक) रजके, व्य०१ उ०। "रायगिहे सेणिओ राया, तेण खोमजुयलं णिल्लेवगस्स दिन्नं।" आ०चू०४ अ०।

णिल्लेवण न०(निर्लेपन) मलस्याभावे मलच्छोटने, व्य०१ उ०। नि०चू०। निर्लेपे, "उव्वत्तणणिल्लेवणपीहंते ।" ओघ०। द्विविधानि शरीराणि–बद्धानि, मुक्तानि चेति । भ०७ श०४उ०। (तेषां निर्लेपनमपि 'सरीर' शब्दे वक्ष्यते)

णिल्लेहण न०(निर्लेखन) ईषच्छुष्कस्योद्वर्त्तने, आचा०२ श्रु०१ चू०३ अ०२ उ०।

णिल्लोह त्रि०(निर्लोभ) विगतलोभे, उत्त०८अ०। प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभचूडामणिना प्रव्राजिता। ती०३५ कल्प।

णिव पुं०(नृप) राजनि, नि०चू० २उ०। "दशवेश्यासमो नृपः।" आचा०१ श्रु० २ अ०६ उ०। दण्डिके, बृ०१ उ०।

णिवइ पुं०(नृपति) राजनि, व्य०१उ०।

णिवइता त्रि०(निपतितृ) अवतरीतरि, स्था०४ ठा०४उ०।

णिवइय त्रि०(निपतित) उपरि पतिते तथा सत् यत् पीडयति तन्निपतितम् । त्वग्विषे दृष्टिविषे वा विषभेदे, न०। स्था०४ ठा०४ उ०। अधोलम्बमाने, "संमुच्छिएइ वा, णिवएइ वा।" आचा०२ श्रु०१ चू०४ अ०१उ०।

णिवउप्पय पुं०(निपातोत्पात) निपातपूर्वक उत्पातो यत्र स निपातोत्पातः । नाट्यभेदे, यत्र पूर्वं निपतन्ति, तत उत्पतन्ति। आ०म०१ अ०१ खण्ड। जं०।

णिवकर पुं०(नृपकर) राजहस्ते, पञ्चा० १८ विव०।

णिवकरलूयाकिरियाजयणा स्त्री०(नृपकरलताक्रियायतना) नृपकरे राजहस्ते लूता वातिको रोगविशेषो नृपकरलूता, तस्या उपशमे क्रिया चिकित्सा मन्त्रापमार्जनाऽऽदिका, तस्यां या यतना प्रत्यत्नः सा तथा। राजहस्तलूताचिकित्साप्रयत्ने, पञ्चा०१८ विव०।

णिवट्टण न०(निवर्त्तन) निवृत्तौ मार्गनिवर्त्तनस्थाने, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०।

णिवडण न०(निपतन) अधःपतने, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

णिवडिऊण अव्य०(निपत्य) अधः पतित्वेत्यर्थे, "णिवडिऊण लेणेसु पयं पियं करेह मे भयवं! पसायं।" दर्श० ३ तत्त्व।

णिवडिय त्रि०(निपतित) नीचैः पतिते, "सव्वंगेहिं णिवडिया।" आ०म०१ अ०२खण्ड।

णिवण्ण त्रि०(निवन्न) शपिते, आव०४अ०। लुप्ते, संथा०। त्वग्वर्तिते, बृ० १उ०।

***णिपन्न** पुं०। "धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि झायइ न वि अ अट्टरुद्दाइं। एसो काउस्सग्गो, णिवण्णओ होइ नायव्वो ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे कायोत्सर्गभेदे, आव०५ अ०।

णिवण्णणिवण्ण पुं०(निपन्ननिपन्न) "अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइँ जो णिवण्णो उ। एसो काउस्सग्गो, णिव्वण्णणिवण्णगो नाम ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव०५ अ०।

णिवण्णुस्सिय पुं०(निपन्नोत्सित) "धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइँ जो णिवण्णो उ। एसो काउस्सग्गो, होइ

णिवण्णुस्सिसओ नाम ॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव०५ अ०।

णिवत्तमाण त्रि०(निवर्त्तमान) प्रत्यावर्त्तमाने, ''गुरुगा णिवत्तमाणे ।'' व्य०१ उ०।

णिवत्ति स्त्री०(निवृत्ति) बन्धने, स्था०४ ठा०१ उ०। निष्पत्तौ, स्था०४ ठा०४उ०।

णिवपडिमा स्त्री०(नृपप्रतिमा) राज्ञ आकारे, ''संगामे णिव पडिमं, देवी काऊण जुज्झति रणम्मि ।'' व्य०१ उ०।

णिववस पुं०(नृपवश) नरेशवशे, जीवा० १२ अधि०।

णिवविट्ठि स्त्री०(नृपविष्टि) राजविष्टौ, व्य०२ उ०।

णिवसण न०(निवसन) परिधाने, ज्ञा०१ श्रु०८ उ०। विशिष्टरच–नारचिते परितः परिधाने, अनु०। ''महिलिअं णिवसणेणं।''अनु०।

णिवह पुं०(निवह) सङ्घाते, विशे०। आ०म०।

***गम्** धा०। गतौ, **''गमेरई–अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस–पच्चड्ड–पच्छन्द–णिम्मह–णी–णीण–णीलुक्क–पदअ–रम्म–परि–अल्ल–वोल–परिअल–णिरिणास–णिवहावसेहावहराः''** ॥८।४।१६२॥ इति सूत्रेण गमधातोर्णिवहाऽऽदेशो वा। 'णिवहइ'। पक्षे–'गच्छइ'। गच्छति। प्रा०४ पाद।

***नश्** धा०। अदर्शने, **''नशेर्णिरिणास–णिवहावसेह–पडिसासेहावहराः''** ॥८।४।१७८॥ इति सूत्रेण णिवहाऽऽदेशः। 'णिवहइ'। नश्यति। प्रा०४ पाद। समृद्धौ, दे०ना० ४ वर्ग २६ गाथा।

णिवाअ (देशी) स्वेदे, दे०ना०४ वर्ग ३४ गाथा।

णिवाइ(ण्) त्रि०(निपातिन्) निपतितुं शीलमस्येति निपातीति विगृह्य णिनिः। निपतनं वा निपातः, सोऽस्यास्तीति निपाती। भ्रष्टे, अधःपतिते, संयमादसंयमं प्राप्ते, ''जे पुव्वुट्ठाई णो पच्छा णिवाई, जे पुव्वुट्ठाई पच्छा णिवाई, जे णो पुव्वुट्ठाई पच्छा णिवाई।'' आचा०१ श्रु० ५ अ०३उ०।

णिवाडेइत्ता अव्य०(निपात्य) लगयित्वेत्यर्थे, ''जाणुं धरिणतलंसि निहट्टु णिवाडेइत्ता।'' जी०३ प्रति०४ उ०।

णिवाण न०(निपान) जलपानस्थाने, बृ०३उ०।

णिवाय पुं०(निपात) निपतनं निपातः। आचा०१ श्रु० ५ अ०३ उ०। पतने, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। विनाशे, पिं०। निवेशने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। नितरां पातो निपातः। संयोगे, ''आयवस्स णिवाएणं ।'' उत्त०२ अ०। तत्तदर्थद्योतनाय तेषु तेषु निपततीति निपातः। प्रश्न० २ सम्ब० द्वार। ''निपात एकाजनाङ्'' ॥१।१।१४॥ ''चादयोऽसत्वे ॥१।४।५७॥ इति निपातेतिसंज्ञितेषु द्योतकत्वेनापरिमितार्थेषु चाऽऽदिषु, विशे०। ज्ञा०। आ०म०। मरणे, वाच०।

***निवात** त्रि०। वायुप्रवेशरहिते, भ०७ श०८ उ०। ज्ञा०। ''तंसिप्पेगे अणगारा, हिमवाए णिवायमेसंति ।'' शीतार्दिता निवातमेषयन्ति–घङ्गशालाऽऽदिवसतीर्वातायनाऽऽदिरहिताः। आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ०।

णिवायगंभीर त्रि०(निवातगम्भीर) निवातविशाले, यद् हि गृहाऽऽदिकं वातरहितमपि महद् भवति तत्तथा। भ०७ श० ८ उ०।

णिवायण न०(निपातन) गर्ताऽऽदिप्रक्षेपणे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। सूत्र०। व्याकरणप्रसिद्धे आदेशाऽऽगमाऽसाध्ये समुदायाऽऽदेशे, आ०म० १ अ०२ खण्ड।

णिवायसरणप्पईव पुं०(निवातशरणप्रदीप) निर्गतवातगृहैक–देशस्थदीपे, ''जं पुण सुनिप्पकंपं, निवायसरणप्पईवमिव चित्तं'' आव०४ अ०।

णिवायसरणप्पईवज्झाण न०(निवातशरणप्रदीपध्यान) वातवर्जित–गृहदीपज्वलने, णिवायसरणप्पईवज्झाणमिव णिप्पकंपे।'' प्रश्न०५ सम्ब० द्वार।

णिवारण न०(निवारण) नितरां वारणं निवारणम्। प्रतिघाते, भ० ६ श० ३३ उ०। नितरां वार्यते निषिध्यतेऽनेन शीताऽऽतपाऽऽदीनीति निवारणम्। सौधाऽऽदिके तथाविधे गृहे, वस्त्राऽऽदौ च। उत्त०२ अ०। ''न मे निवारणं अत्थि, छवित्ता णं न विज्जई। अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिंतए ॥७॥'' उत्त०२ अ०।

णिवारय त्रि०(निवारक) मैवं कार्षीरित्येवं निषेधके, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। नि०।

णिवारिय त्रि०(निवारित) प्रतिषिद्धे, आव० ४ अ०।

णिवास पुं०(निवास) निवसने भूमिभागे, नि०१ श्रु० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०।

णिविट्ठ त्रि०(निविष्ट) अध्युपपन्ने, आचा०१ श्रु०४ अ०२उ०। सूत्र०। ज्ञा०। जीवप्रदेशेषु, भ० १३ श०७ उ०। तीव्रानुभावजनकतया स्थिते कर्मांशे, प्रज्ञा०२ पद। भ०।

***निर्विष्ट** त्रि०। लब्धे, उपात्ते, ''थोवं बहु णिविट्ठम्मि'' इत्यादौ निर्वि–ष्टशब्दस्य लाभार्थस्य दर्शनात्। स्था०५ ठा०२उ०।

णिविट्ठकप्पट्ठिइ स्त्री०(निर्विष्टकल्पस्थिति) कल्पशास्त्रोक्तसाधु–सामाचारीभेदे, स्था०५ ठा०२ उ०। (व्याख्या 'कप्पट्ठिइ' शब्दे तृतीयभागे २३३ पृष्ठे दर्शिता)

णिविड त्रि०(निविड) **'डो लः'** ॥८।१।२०२॥ इत्यस्य कादाचित्क–त्वान्न डस्य लः। प्रा०१ पाद। सान्द्रे, वाच०।

णिवित्ति स्त्री०(निवृत्ति) आरम्भनिवर्त्तने, ''न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला'' ॥१॥ सूत्र०१ श्रु०८ अ०। ''..... नियमविहूणस्स, परदारगमस्स उ। अणियत्तस्स भवे बंधो, णिवित्तीए महाफलं॥ सुंघेवाणं (?) निवितिं जो, मणसा वि य विराहए। सो मओ दुग्गइं गच्छे, मेघमाला जहज्जिया।'' महा०६ अ०।

णिवित्तिपहाण त्रि०(निवृत्तिप्रधान) आरम्भान्तरनिवर्त्तनसारे बहु–तरसत्वघातनिवर्त्तनसारे, पञ्चा० ७ विव०।

णिवुड्ढ त्रि०(निवृष्ट) नितरां वृष्टे, ''पवुट्ठो देव त्ति वा निवुट्ठो देव त्ति वा णो वए।'' आचा०२ श्रु०१ चू०४ अ०१ उ०।

णिवुट्ठित्ता अव्य०(निर्वेष्ट्य) हापयित्वेत्यर्थे, ''दिवसखेत्तस्स णिवुट्ठित्ता रत्तणिक्खेत्तस्स अभिवुट्ठित्ता चारं चरति।'' सू०प्र० १ पाहु०।

णिवुड्ढेमाण त्रि०(निर्वेष्टयत्) हापयति, सू०प्र०। ''विक्खंभवुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे अट्ठारसजोयणाइं परिरयवुड्ढिं णिवुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे।'' सू०प्र०२ पाहु०।

णिवुड्ढि स्त्री०(निवृद्धि) वातपित्ताऽऽदिभिः शरीरोपचयहानौ, स्था०। निरशब्दस्याभावार्थत्वाद्, निरुदरा कन्येत्वादिवत्। ''दोण्हं गब्भत्थाणं णिवुड्ढी पण्णत्ता। तं जहा–मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव।'' स्था०२ ठा०३ उ०। ''तिहिं ठाणेहिं जीवाणं णिवुड्ढी पण्णत्ता। तं जहा–उड्ढाए, अहोए, तिरियाए।'' स्था०३ ठा०२ उ०। वृद्धेरभावे, सू०प्र० १२ पाहु०।

णिवुत्त त्रि०(निवृत्त) **''निवृत्तवृन्दारके वा''** ॥८।१।१३२॥ इति ऋत उत्वम्। प्रवृत्तिविमुखे, प्रा०१ पाद।

णिवेएउं अव्य०(निवेद्य) गुर्वादेराख्याप्येत्यर्थे, पञ्चा० १५ विव०।

णिवेयण न०(निवेदन) गुरोः प्रत्यर्पणे, विशे०। यथा–''भवदीयोऽयं किङ्करः, यूयं मे भवोदधिनिमग्नस्य नाथाः'' इत्येवं समर्पणम्। पञ्चा०१विव०।

णिवेयणापिंड पुं०(निवेदनापिण्ड) यक्षाऽऽदिभ्यो निवेद्यमाने पिण्डे, नि०चू०।

जे भिक्खू णिवेयणापिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥१८७॥

ओवाइयं, अणोवाइयं वा जं पुण्णभद्दमाणिभद्दसव्वाणजक्ख–महुंडिमादियाण निवेदिज्जति, सो णिवेयणापिंडो। सो य दुविहो–साहुणिस्साकडो, अणिस्साकडो य। णिस्साकडं गेण्हंतस्स चउ–गुरुगं, अणिस्साकडे मासलहुं, आणादिया य दोसा।

गाहा–

सव्वाणमाइयाणं, दुविहो पिंडो निवेयणाओ य।
णिस्साएँ अणिस्साए, णिस्साए आणमादीणि ॥२०६॥

सव्वाणादिया जे अरहंतपक्खिया देवता, ताण जो पिंडो निवेदिज्जति, सो दुविहो णिस्साकडमणिस्साकडो य। णिस्साकडं गेण्हंते आणादिया।

इमेण विधिणा णिस्साकडं करेंति। गाहा–

वरुगं करेउ आहा, समणाणत्थं उवक्खडं भोत्तुं।
सड्ढाकडं ठवेति य, णिस्सापिंडम्मि सुत्तं तु ॥२०७॥

दाणरुइसड्ढो वा णिवेयणवरुववदेसं कातुं साधूण देति, आधाकम्मं ठवितं च। अहवा– जाव साहू अत्थंति, ताव ओवातियं देमो, सुहं साहू गिण्हंति, एत्थ ओसक्कणमीसजायठवियगदोसा। जया वा साहू आगमिस्संति, तदा दाहेमो। एत्थ ओसक्कणमीसजातठवियदोसा सड्ढाकरं साहु णिस्साए वा कडं साहु णिस्सा वा ठवेति, एत्थ ठवियगदोसो केवलो। एसणिस्सा कडो, एत्थ सुत्तणिवातो, इमो अणिस्सातो कडो साहू होउ वा, मा वा, देवता ते पुव्वपवत्तं ठवेति, सा य ठवितो साहू य पत्ताए सो कप्पति।

णिस्साकडो वि कप्पति इमेहि कारणेहिं–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अद्धाणरोहए वा, जयणा गहणं तु गीयत्थे ॥२०८॥

पणगपरिहाणी ते गिण्हंति, जहा वा अगीतअपरिणामगा ण जाणंति तहा गीयत्था गेण्हेति।'' नि०चू० ११ उ०।

णिवेस पुं०(निवेश) नि–आधिक्येन वेशो निवेशः। प्रवेशे, नि०चू० ४ उ०। स्थापने, स्था०६ ठा०। यत्र प्रभूतानां भाण्डानां प्रवेशस्तादृशे स्थाने, बृ०। ''णिवेसो सत्थाऽऽइजत्ता वा।'' निवेशो नामयत्र सार्थ आवासितः, आदिग्रहणेन ग्रामो वा, अन्यत्र प्रस्थितः सन् यत्रान्तरा समधिवसति, यात्रायां चागतो लोको यत्र तिष्ठति। एष सर्वोऽपि निवेश उच्यते बृ० १ उ०।

णिवेसइत्ता अव्य०(निवेश्य) अवधार्येत्यर्थे, ''इत्थीण चित्तंसि णिवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी।'' उत्त०३२ अ०।

णिवेसण न०(निवेशन) स्थाने, आचा०१ श्रु०५ अ०४उ०। एकद्वारे पृथक् परिक्षिप्ते अनेकगृहे, आव०४ अ०। यथा एकनिष्क्रमणप्रवेशानि द्व्यादीनि गृहाणि। बृ० १उ०।

णिवेसिय अव्य०(निवेश्य) प्रवेश्येत्यर्थे, ''अप्पणो अंगुलाए णिवेसिय णं णीहरइ।'' नि०चू०३उ०।

णिवेसियव्व त्रि०(निवेष्टव्य) स्थापनीये, ''परलोगे चित्त णिवेसयव्वं असासयं जीवियं।'' आ०म०१ अ०१ खण्ड।

णिव्व (देशी) ककुदे, दे०ना० ४ वर्ग ४८ गाथा।

णिव्वच्छण (देशी) अवतारणे, दे०ना० ४ वर्ग ४० गाथा।

णिव्वट्ट त्रि०(गाढ) अत्यर्थे, **''शीघ्राऽऽदीनां बहिल्लाऽऽदयः''** ॥८।४।४२२॥ इति गाढस्य णिव्वट्टः। ''विहवे कस्स थिरत्तणउँ, जोव्वणि कस्स मरट्ट। सो लेखडउ पठाविअइ, जो लग्गइ णिव्वट्ट ॥१॥'' प्रा०४ पाद।

णिव्वट्टग त्रि०(निर्वर्तक) कर्तरि, आव०४ अ०। करणे, विशे०।

णिव्वट्टित्ता अव्य०(निर्वर्त्य) जीवप्रदेशेभ्यः शरीरं पृथक् कृत्वेत्यर्थे, स्था०२ ठा०४ उ०। (देशेन सर्वेण वाऽऽत्मा शरीरं निर्वर्त्य निर्यातीति, 'आता' शब्दे द्वितीयभागे २०१ पृष्ठे उक्तम्)

णिव्वट्टिय त्रि०(निर्वर्तित) कृते, स्था०१ ठा०। ''असंथडा ति वा, बहुणिव्वट्टियफला ति वा, बहुसंभूवा ति वा।'' आचा०२ श्रु०१ चू०४ अ०२ उ०। प्रश्न०।

णिव्वड धा०(भू) पृथग्भवने। **''पृथक्स्पष्टे णिव्वडः''** ॥८।४।६२॥ इति पृथग्भूते स्पष्टे च कर्तरि भुवो णिव्वडेत्यादेशः। ''णिव्वडइ''। पृथग्भवतीत्यर्थः। प्रा०४ पाद। नग्ने, दे०ना०४ वर्ग २८ गाथा।

णिव्वण त्रि०(निर्व्रण) विस्फोटकाऽऽदिकृतक्षतरहिते, जं० २ वक्ष०। औ०। जी०।

णिव्वत्त त्रि०(निर्वृत्त) निर्वर्तिते, स्था०६ ठा०। अतिक्रान्ते, ज्ञा०१ श्रु० १अ०।

णिव्वत्तणया स्त्री०(निर्वर्तनता) निष्पत्तौ, ''तओ निव्वत्तणया तओ परियाइणत्ता।'' प्रज्ञा० ३४ पद।

णिव्वत्तणा स्त्री०(निर्वर्तना) इन्द्रियाणां निष्पादनायाम्, उत्त०३ अ०।

णिव्वत्तणाहिगरणिकिरिया स्त्री०(निर्वर्तनाधिकरणिक्रिया) निर्वर्तनमसिशक्तितोमराऽऽदीनां निष्पादनं, तदेवाधिकरणक्रिया। आधिकरणिक्याः क्रियाया भेदे, भ०३ श०३उ०। स्था०। निष्ठानयने, स्था०२ ठा०१ उ०।

णिव्वत्ति स्त्री०(निर्वृत्ति) वस्तुनः करणे, "अन्नोन्नसमाहाणं, जमिहं करणं न णिव्वत्ती।" विशे०। निर्वर्त्तनं निर्वृत्तिर्निष्पत्तिः। निष्पत्तौ, भ०।

निर्वृत्तिभेदाः—

कइविहा णं भंते ! जीवणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! पंचविहा जीवणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा--एगिंदियजीवणिव्वत्ती०जाव पंचिंदियजीवणिव्वत्ती। एगिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा–पुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती०जाव वणस्सइकाइयएगिं–दियजीवणिव्वत्ती । पुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते! कइविहा पण्णत्ता? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–सुहुम–पुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती य, बादरपुढवीकाइयएगिं–दियजीवणिव्वत्ती य। एवं एएणं अभिलावेणं भेदा–जहा बङ्ग–गबंधे तेयगसरीरस्स०जाव सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयक–प्पातीतवेमाणियदेवपंचिदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता? गोयमा ? दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–पज्जत्तगसव्व–ट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदियजीवणिव्वत्ती य, अपज्जत्तगसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय०जाव देवपंचिंदियजी–वणिव्वत्ती य। कइविहा णं भंते ! कम्मणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा! अट्ठविहा कम्मणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा–णाणावरणिज्जक–म्मणिव्वत्ती०जाव अंतराइयकम्मणिव्वत्ती । णेरइया णं भंते ! कइविहा कम्मणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! अट्ठविहा कम्मणि–व्वत्ती । पण्णत्ता । तं जहा–णाणावरणिज्जकम्मणिव्वत्ती०जाव अंतराइयकम्मणिव्वत्ती य । एवं० जाव वेमाणियाणं । कइविहा णं भंते ! सरीरणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! पंचविहा सरीरणि–व्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा–ओरालियसरीरणिव्वत्ती०जाव कम्मगसरीरणिव्वत्ती । एवइया णं भंते ! एवं चेव । एवं०जाव वेमाणियाणं, णवरं णायव्वं जस्स जइ सरीराणि । कइविहा णं भंते ! सव्विंदियणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! पंचविहा सव्विं–दियणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा–सोइंदियणिव्वत्ती०जाव फासिंदियणिव्वत्ती। एवं णेरइया०जाव थणियकुमारा। पुढवी--काइयाणं पुच्छा? गोयमा ! एगा फासिंदियणिव्वत्ती पण्णत्ता। एवं जस्स जइ इंदियाणि०जाव वेमाणियाणं। कइविहा णं भंते! भासाणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! चउव्विहा भासाणिव्वत्ती पण्णत्ता। तं जहा–सच्चभासाणिव्वत्ती, मोसभासाणिव्वत्ती, सच्चामोसभासाणिव्वत्ती, असच्चामोसभासाणिव्वत्ती । एवं एगिंदियवज्जं जस्स जा भासा०जाव वेमाणियाणं। कइविहा णं भंते ! मणणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! चउव्विहा मणणिव्वत्ती पण्णत्ता। तं जहा–सच्चमणणिव्वत्ती०जाव असच्चामोसमणणि–व्वत्ती। एवं एगिंदियवज्जं विगलिंदियवज्जं०जाव वेमाणियाणं। कइविहा णं भंते ! कसायणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! चउव्विहा कसायणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा–कोहकसायणिव्वत्ती०जाव लोभकसायणिव्वत्ती। एवं०जाव वेमाणियाणं। कइविहा णं भंते! वण्णणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! पंचविहा वण्णणिव्वत्ती पण्णत्ता। तं जहा–कालवण्णणिव्वत्ती०जाव सुक्किल्लवण्ण–णिव्वत्ती। एवं णिरवसेसं०जाव वेमाणियाणं। एवं गंधणिव्वत्ती दुविहा० जाव वेमाणियाणं । रसणिव्वत्ती पंचविहा०जाव वेमाणियाणं । फासणिव्वत्ती अट्ठविहा०जाव वेमाणियाणं। कइविहा णं भंते ! संठाणणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! छव्विहा संठाणणिव्वत्ती पण्णत्ता? तं जहा–समचउरंससंठाणणिव्वत्ती ०जाव हुंडसंठाणणिव्वत्ती । णेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! एगा हुंडसंठाणणिव्वत्ती पण्णत्ता। असुरकुमाराणं पुच्छा? गोयमा! एगा समचउरंससंठाणणिव्वत्ती एवं०जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं पुच्छा? गोयमा ! एगा मसूरचंदसंठाणणिव्वत्ती पण्णत्ता। एवं जस्स जं संठाणं०जाव वेमाणिया। कइविहा णं भंते ! सण्णाणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! चउव्विहा सण्णा–णिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा–आहारसण्णाणिव्वत्ती०जाव परिग्गहसण्णाणिव्वत्ती। एवं०जाव वेमाणिया। कइविहा णं भंते ! लेस्साणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! छव्विहा लेस्साणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा–कण्हलेस्साणिव्वत्ती०जाव सुक्कले–स्साणिव्वत्ती। एवं०जाव वेमाणिया जस्स जइ लेस्साओ तस्स तत्तिया भाणियव्व। कइविहा णं भंते ! दिट्ठिणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! तिविहा दिट्ठिणिव्वत्ती पण्णत्ता। तं जहा–सम्मदि–ट्ठिणिव्वत्ती, मिच्छादिट्ठिणिव्वत्ती, सम्मामिच्छादिट्ठिणिव्वत्ती। एवं०जाव वेमाणिया, जस्स जइविहा दिट्ठी कइविहा णं भंते ! णाणणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! पंचविहा णाणणिव्वत्ती पण्णत्ता। तं जहा–आभिणिबोहियणाणणिव्वत्ती०जाव केवलणाणणिव्वत्ती। एवं एगिंदियवज्जं०जाव वेमाणिया जस्स जइ णाणा। कइविहा णं भंते ! अण्णाणणिव्वत्ती पण्णत्ता गोयमा ! तिविहा अण्णाणणिव्वत्ती पण्णत्ता। तं जहा–मइ–अण्णाण–णिव्वत्ती, सुअअण्णाणणिव्वत्ती , विभंगणाण-णिव्वत्ती। एवं

जस्स जइ०जाव वेमाणिया। कइविहा णं भंते ! जोगणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता। तं जहा–मणजोगणिव्वत्ती, वइजोगणिव्वत्ती, कायजोगणिव्वत्ती। एवं०जाव वेमाणिया जस्स जइविहो जोगो। कइविहा णं भंते ! उवओ–गणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! दुविहा उवओगणिव्वत्ती पण्णत्ता। तं जहा–सागारोवओगणिव्वत्ती, अणागारोवओगणिव्वत्ती। एवं०जाव वेमाणिया।

अत्र संग्रहणीगाथे वाचनान्तरे–

''जीवाणं णिव्वत्ती, कम्मप्पगडी(णिव्वत्ती) सरीरणिव्वत्ती।
सव्विंदिणणिव्वत्ती, भासा य मणे कसाया य॥१॥
वण्णे गंधे रसें फासे, संठाणविही य होइ बोधव्वो।
लेस्सा दिट्ठी णाणे, उवओगो होइ जोगे य''॥२॥

(कइविहेत्यादि) निर्वर्तनं निर्वृत्तिर्निष्पत्तिर्जीवस्यैकेन्द्रियाऽऽदितया निर्वृत्तिर्जीवनिर्वृत्तिः। (जहा वइगबंधे तेयगसरीरस्स त्ति) यथा महल्लबन्धाधिकारेऽष्टमशतकनवमोद्देशकाभिहिते तेजः शरीरस्य बन्ध उक्तः, एवमिह निर्वृत्तिर्वाच्या:, सा च तत एव दृश्येति। पूर्वं जीवापेक्षया निर्वृत्तिरुक्ता, अथ तत्कार्यतद्धर्मापेक्षया तामाह–(कइविहेत्यादि) (कसायणिव्वत्ति त्ति) कषायवेदनीयपुद्गलनिर्वर्तनम्। (जस्स जं संठाणं ति) तत्राप्कायिकानां स्तिवुकसंस्थानं, तेजसां सूचीकलापसंस्थानं, वायूनां पताकासंस्थानं, वनस्पतीनां नानाऽऽकारसंस्थानं, विकलेन्द्रियाणां हुण्डम्, पञ्चेन्द्रियतिरश्चां, मनुष्याणां च षड्व्यन्तराऽऽदीनां समचतुरस्रसंस्थानम्। भ० १६ श०८उ०।

णिव्वत्तिय त्रि०(निर्वर्तित) बन्धयोग्यता निष्पादिते, स्था० १० ठा०। सामान्येनोपार्जिते, स्था०२ ठा०४उ०।

णिव्वमिअ (देशी) परिभुक्ते, दे०ना०४ वर्ग ३६ गाथा।

णिव्वय त्रि०(निर्व्रत) अविरते, स्था०३ ठा०१उ०। प्राणातिपाताऽऽद्यनिवृत्ते, स्था०३ ठा०२उ०। अणुव्रतरहिते, ज्ञा०१ श्रु० ८ अ०।

णिव्वयण न०(निर्वचन) निरुक्तौ, विशे०। शब्दार्थकथने, आ०म० १अ०२ खण्ड। व्याकरणे, स्था०१० ठा०।

णिव्वलिअ (देशी) जलधौते, प्रविगणिते, विघटिते च। दे०ना० ४ वर्ग ५१ गाथा।

णिव्वह धा०(पिष्) पेषणे, **''पिषेर्णिव्वह–णिरिणास–णिरिणज्ज–रोश्च–चड्डाः''॥८।४।१८५॥** इति पिषेर्णिव्वहाऽऽदेशः। 'णिव्वहइ।' पिनष्टि। प्रा०४ पाद। 'णिव्वहेएज्जा।' निर्वहेत्, असारतामापादयेत्। सूत्र०१ श्रु० ६ अ०।

णिव्वहण (देशी) विवाहे, दे०ना० ४ वर्ग ३६ गाथा।

णिव्वा धा०(विश्रम) वि–श्रम विरामे, श्रमान्ते, स्वास्थ्ये, **''विश्रमेर्णिव्वा''॥८।४।१५६॥** इति विपूर्वस्य श्रमधातोर्णिव्वा-ऽऽदेशः। 'णिव्वाइ'। पक्षे–'वीसमइ' विश्राम्यति। प्रा०४ पाद।

णिव्वाघाइम त्रि०(निर्व्याघातिम) व्याहननं व्याघातः पर्वताऽऽदिस्खलनम्, तेन निर्वृत्तं व्याघातिमम्। ''भावादिमन्''॥६॥४। २१॥ इति इमन् प्रत्ययः। निर्व्याघातिमं व्याघातान्निर्गताम्। स्वाभाविके, चं०प्र० १८ पाहु०१ पाहु०। सू०प्र०।

णिव्वाघाय अव्य०(निर्व्याघात) व्याघातस्याभावो निर्व्याघातम्। व्याघाताभावे, प्रज्ञा०२ पद। ''णिव्वाघाएणं पन्नरसकम्मभूमीसु।'' प्रज्ञा०२ पद। धरणीधराऽऽदिभिः प्रतिहतत्वात् (स्था०६ ठा०) कटकुड्याऽऽद्यप्रतिहतत्वाद् व्याघातरहिते केवलज्ञाने, औ०। दशा०।

णिव्वाण न०(निर्वाण) निर्वृतौ, विशे०। उत्त०। पञ्चा०। आ०चू०। सूत्र०। आत्मस्वास्थ्ये, आ०चू०४अ०। आचा०। आव०। कर्मकृतविकाररहितत्वे, स्था०३ ठा०३ उ०। सकलसंतापरहितत्वे, औ०। सर्वद्वन्द्वोपरतिभावे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०। सकलकर्मविरहजे सुखे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। सकलकर्मक्षयजे आत्यन्तिके सुखे, औ०। अशेषकर्मक्षयरूपे (सूत्र०१ श्रु० ६ अ०। आचा०) मोक्षे, ध० २ अधि०। प्रश्न०। आतु०। सूत्र०। परमपदे, षो० १५ विव०। घातिकर्मचतुष्टयरूपेण कर्मक्षयेण केवलज्ञानावाप्तौ, सूत्र०१ श्रु०११ अ०। मोक्षपदशेषे कर्मक्षयरूपे ईषत्प्राग्भाराऽऽख्ये भूभागोपर्यवस्थितक्षेत्रखण्डे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

मोक्षसिद्धिः–

ते पव्वइए सोउं, पहासें आगच्छई जिणसयासं।
वच्चामि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि॥१६७२॥

सुगमा॥१६७२॥

ततः किमित्याह–

आभट्ठो य जिणेणं, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णु सव्वदरिसीणं॥१६७३॥

तथैव॥१६७३॥

आभाष्य ततः किमुक्तोऽसावित्याह–

किं मन्ने ण्णेव्वाणं, अत्थी नत्थि त्ति संसओ तुज्झ ?
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो॥१६७४॥

हे आयुष्मन्! प्रभास! त्वमेवं मन्यसे किं निर्वाणमस्ति, न वा? इति। अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धनः। तानि चामूनि वेदपदानि–''जरामर्थं वैतत्सर्वं यदग्निहोत्रम्।'' तथा– 'सैषा गुहा दुरवगाहा।' तथा ''द्वे ब्रह्मणी परमपरं च।'' तत्र ''परं सत्यं ज्ञानमनन्तरं ब्रह्मेति'' एतेषां चायमर्थस्तव चेतसि वर्ततेयदेतदग्निहोत्रं तज्जरामर्यमेव यावज्जीवं कर्त्तव्यमिति। अग्निहोत्रक्रिया च भूतवधहेतुत्वाच्छबलरूपा। सा च स्वर्गफलैव स्यान्नापवर्गफला। 'यावज्जीवम्' इतिचोक्ते कालान्तरं नास्ति, यत्रापवर्गहेतुभूतक्रियाऽन्तराऽऽरम्भः स्यात्तस्मात्साधनाभावान्मोक्षाभावः। ततश्चैत्यादिकानि किल मोक्षाभावप्रतिपादकानि। शेषाणि तु तदस्तित्वसूचकानि, यतो गुहाऽत्र मुक्तिरूपा, सा च संसाराभिनन्दिनां दुरवगाहा, दुःप्रवेशात्। तथा–परं ब्रह्म सत्यं मोक्षः, अनन्तरं तु ब्रह्मज्ञानमिति। ततो मोक्षास्तित्वं नास्तित्वं च वेदपदप्रतिपादितमवगम्य तव संशयः। तत्रैषां वेदपदानामर्थं त्वं न जानासि, यतस्तेषामयमर्थो वक्ष्यमाणलक्षण इति॥१६७४॥युक्तिमपि मोक्षाभावप्रतिपादने प्रभासाध्यवसितां दूषयितुं भगवान् प्रकटयितुमाह–

मन्नसि किं दीवस्स व, नासो निव्वाणमस्स जीवस्स?

दुक्खक्खयाइरूवा, किं होज्ज व से सओऽवत्था? ॥१६७५॥

आयुष्मन्! प्रभास! त्वमेवं मन्यसे–किं दीपस्येवास्य जीवस्य नासो ध्वंस एव निर्वाणम्? यथाऽऽहुः सौगतविशेषाः केचित्।

तद्यथा–

''दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्,
स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥१॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्,
क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्'' ॥२॥ इति।

किं वा यथा जैनाः प्राऽऽहुः तथा निर्वाणं भवेत्? किं तदित्याह– सतो विद्यमानस्य जीवस्य विशिष्टा काचिदवस्था। कथं भूता? रागद्वेषमदमोहजन्मजरारोगाऽऽदिदुःखक्षयरूपा। उक्तं च– ''केवलसंविद्दर्शनरूपाः सर्वार्तिदुःखपरिमुक्ताः। मोदन्ते मुक्तिगताः, जीवाः क्षीणाऽऽन्तरारिगणाः ॥१॥'' इति ॥१६७५॥

प्रकारान्तरेणापि संशयकारणमाह–

अहवाऽनाहत्तणओ, खस्स व किं कम्मजीवजोगस्स?
अविओगाओ न भवे, संसाराभाव एव त्ति ॥१६७६॥

अथवा त्वमेवं मन्यसे–नूनं संसाराभाव एव न भवेत्। कुतः? अवियोगाद्वियोगायोगात्। कस्य? कर्मजीवयोः संयोगस्य। कुतः? अनादित्वात्, खस्येव। इह ययोरनादिः संयोगस्तयोर्वियोगो नास्ति, यथा जीवाऽऽकाशयोः। अनादिश्च जीवकर्मणोः संयोगः। ततो वियोगानुपपत्तिः। ततश्च न संसाराभावः। तथा च सति कुतो मोक्षः? इति ॥१६७६॥

अथ प्रत्यासत्तेरेवानन्तरोक्तस्यैव प्रतिविधानमाह–

पडिवज्ज मंडिओ इव, विओगमिह कम्मजीवजोगस्स।
तमणाइणो वि कंचण–धाऊण व णाणकिरियाहिं ॥१६७७॥

(अणाइणो वि त्ति) अनादेरपि जीवकर्मसंयोगस्य (तमिति) त्वं प्रतिपद्यस्व वियोगं, बन्धमोक्षवादे मण्डिकवत्। कयोरिव यो वियोगः? काञ्चनधातुपाषाणयोरिव। किं निर्हेतुष्क एव जीवकर्म–णोर्वियोगः? न, इत्याह–ज्ञानक्रियाभ्याम्। इदमुक्तं भवति–नाय–मेकान्तो यदनादिसंयोगो न भिद्यते, यतः काञ्चनधातुपाषाणयोर–नादिरपि संयोगोऽग्न्यादिसंपर्केण विघटत एव, तद्वज्जीवकर्मसंयोगस्याऽपि सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां वियोगं मण्डिकवत् त्वमपीह प्रतिपद्यस्वेति ॥१६७७॥

अथ प्रकारान्तरेणाऽपि मोक्षाभावप्रतिपादकं प्रभा–

साभिप्रायं भगवान् प्रकटयितुमाह–

जं नारगाइभावो, संसारो नारगाइमिण्णो य।
को जीवो तं मन्नसि, तन्नासे जीवनासो त्ति ॥१६७८॥

यद्यस्मान्नारकतिर्यग्नरामरभाव एव नारकाऽऽदित्वमेव संसार उच्यते, नान्यः, नारकाऽऽदिपर्यायभिन्नश्च कोऽन्यो जीवः? न कोऽपीत्यर्थः। नारकाऽऽदिभावादन्यत्वेन कदाचिदपि जीवस्यानुपलम्भादिति भावः। ततस्तन्नाशे नारकाऽऽदिभावरूपसंसारनाशे जीवस्य स्वस्वरूपनाशात्सर्वथा नाश एव भवति, ततः कस्याऽसौ मोक्षः? इति त्वं मन्यसे? ॥१६७८॥

तदेतदयुक्तम्। कुतः? इत्याह–

न हि नारगाइपज्जा–यमेत्तनासम्मि सव्वहा नासो।
जीवद्दव्वस्स मओ, मुद्दानासे व हेमस्स ॥१६७९॥
कम्मकओ संसारो, तन्नासे तस्स जुज्जए नासो।
जीवत्तमकम्मकयं, तन्नासे तस्स को नासो ? ॥१६८०॥

नारकतिर्यगादिरूपेण यो भावः स जीवस्य पर्याय एव, न च पर्यायमात्रनाशे पर्यायिणो जीवद्रव्यस्यापि सर्वथा नाशो मतः, कथञ्चित्तु भवत्यपि। न हि मुद्राऽऽदिपर्यायमात्रनाशे हेम्नः सुवर्णस्य सर्वथा नाशो दृष्टः। ततो नारकाऽऽदिसंसारपर्यायनिवृत्तौ मुक्तिपर्यायान्तरोत्पत्तिर्जीवस्य, मुद्रापर्यायनिवृत्तौ कर्णपूरपर्यायान्तरोत्पत्तिरिव सुवर्णस्य, न किञ्चिद्विरुध्यत इति। ननु यथा कर्मणो नाशे संसारो नश्यति, तथा तन्नाशे जीवत्वस्यापि नाशान्मोक्षाभावो भविष्यति? एतदप्यसारम्। कुतः? इत्याह–(कम्मकओ इत्यादि) कर्मकृतः कर्मजनितः संसारः, ततस्तन्नाशे कर्मनाशे तस्य संसारस्य नाशो युज्यत एव, कारणाभावे कार्याभावस्य सुप्रतीतत्वात्। जीवत्वं पुनरनादिकालप्रवृत्तत्वात्कर्मकृतं न भवत्यतस्तन्नाशे कर्मनाशे तस्य जीवस्य को नाशः? न कश्चित्। कारणव्यापकयोरेव कार्यव्याप्यनिवर्तकत्वात्, कर्म तु जीवस्य न कारणं, नापि व्यापकमिति भावः। ॥१६७९॥१६८०॥

इतश्च जीवो न विनश्यति; कुतः? इत्याह–

न विगाराणुवलंभा–दागासं पि व विणासधम्मो सो।
इह नासिणो विगारो, दीसइ कुंभस्स वाऽवयवा ॥१६८१॥

न विनाशधर्म्मा जीव इति प्रतिज्ञा। विकारानुपलम्भादिति हेतुः। इह यो विनाशी तस्य विकारो दृश्यते। यथा मुद्गराऽऽदिध्वस्तस्य कुम्भस्य कपाललक्षणा अवयवाः; यस्त्वविनाशी न तस्य विकारदर्शनम्, यथा आकाशस्येति। ततो मुक्तस्य जीवस्य नित्यत्वान्नित्यो मोक्ष इति ॥१६८१॥

स्यान्मतिः, तर्हि प्रतिक्षणध्वंसी मोक्षो मा भूत्, कालान्तरविनाशी तु भविष्यति, कृतकत्वात्, घटवत्। तदयुक्तम्, घटप्रध्वंसाभावेनानैकान्तिकत्वादिति दर्शयन्नाह–

कालंतरनासी वा, घडो व्व कयगाइओ मई होज्जा।
नो पद्धंसाभावो, भुवि तद्धम्मा वि जं निच्चो ॥१६८२॥

अत्र प्रेर्यं परिहारं चाऽऽह–

अणुदाहरणमभावो, खरसिंगं पि व मई न तं जम्हा।
कुंभविणासविसिट्ठो, भावो च्चिय पोग्गलमओ सो ॥१६८३॥

यद्वा–कृतकत्वं मोक्षस्याभ्युपगम्योक्तम्, इदानीं तदेव तस्य नास्तीति सोदाहरणमुपदर्शयन्नाह–

किं वेगंतेण कयं, पोग्गलमेत्तविलयम्मि जीवस्स।
किं निव्वत्तियमहियं, नभसो घडमेत्तविलयम्मि ॥१६८४॥

अनुमानात्पुनरपि मुक्तस्य नित्यत्वं साधयति–

दव्वामुत्तत्तणओ, मुत्तो निच्चो नभं व दव्वतया।
नणु विभुयाइपसंगो, एवं सइ नाणुमाणाओ ॥१६८५॥

नित्यो मुक्ताऽऽत्मा, द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वात् ; (दव्वतय त्ति) यथा द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वान्नित्यं नभः । आह–नन्वनेन दृष्टान्तेन व्यापकत्वाऽऽद्यपि सिध्यति जीवस्य । तथाहि–विभुर्व्यापकः सर्वगतो जीवः, द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वात्, यथा नभः । तदेतन्न । कुतः? सर्वगतत्वबाधकानुमानसद्भावात् । तथाहि–त्वक्पर्यन्तदेहमात्रव्यापको जीवः, तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः, स्पर्शनवत्, इत्यनुमानाद् बाध्यते सर्वगतत्वं जीवस्य । एवं ''न बध्यते, नापि मुच्यते जीवः, द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वात्, नभोवद्'' इत्याद्यपि दूषणं, ''बध्यते पुण्यपापकर्मणा जीवः, दानहिंसाऽऽदिक्रियाणां सफलत्वात्, कृष्यादि–क्रियावत्, तथा विघटते सम्यगुपायात्कोऽपि जीवकर्मसंयोगः, संयोगत्वात्, काञ्चनधातुपाषाणसंयोगवद्'' इत्याद्यनुमानात्परिहर्तव्यमिति ॥१६८५॥

अथवा–किमेकान्तेन बद्धाऽऽग्रहैर्मोक्षस्य नित्यत्वं साध्यते, सर्वस्याऽपि वस्तुतः परमार्थतो नित्यानित्यरूपत्वात्? उत्कटानुत्कटपर्यायविशेषविवक्षामात्रेणैव हि 'केवलम्' इत्यादिव्यपदेश इति दर्शयन्नाह–

को वा निच्चग्गाहो, सव्वं चिय विभवभंगठिइमइयं ।
पज्जायंतरमेत्तप्पणादनिच्चाइववएसो ॥१६८६॥

अथ कथञ्चिदनित्यत्वेऽपि मोक्षस्य न किञ्चिद् नः क्षूयत इति भावः । इह ''कालंतरनासी वा घडो व्व'' इत्यादिगाथाः प्रागपि षष्ठगणधरे बन्धमोक्षविचारे व्याख्याता एव । ततो यदिह न व्याख्यातं, तत्ततो (ग्रन्थतो)ऽवगन्तव्यमिति ॥१६८६॥

अथ प्रथमपक्षे यदुक्तम्– 'किं दीवस्स व नासो निव्वाणं' (१६७५) इत्यादि । तत्रोत्तरमाह–

न य सव्वहा विणासो–ऽणलस्स परिणामओ पयस्सेव ।
कुंभस्स कवालाण व, तहाविगारोवलंभाओ ॥१६८७॥

न प्रदीपानलस्य सर्वथा सर्वप्रकारैर्विनाशः, परिणामत्वात्, पयसो दुग्धस्येव । अथवा–यथा मुद्गराऽऽद्याहतस्य कपालतया परिणतस्य घटस्य, यथा वा चूर्णिकृतानां कपालानाम् । कुतो न सर्वथा विनाशः? इत्याह–तथा तेन रूपान्तरप्रकारेण विकारस्य प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणोपलम्भादिति ॥१६८७॥

अथ प्रेर्यं, परिहारं चाऽऽह–

जइ सव्वहा न नासो–ऽणलस्स किं दीसए न सो सक्खं?
परिणामसुहुमयाओ, जलयविगारंजणरउ व्व ॥१६८८॥

यदि सर्वथाऽनलस्य न नाशस्तर्हि विध्यातानन्तरं किमित्यसौ साक्षान्न दृश्यते? अत्रोत्तरमाह–(परिणामेत्यादि) विध्याते प्रदीपेऽनन्तरमेव तामसपुद्गलरूपो विकारः समुपलभ्यत एव, चिरं चासौ पुरस्तान्नोपलभ्यते, तत्सूक्ष्मसूक्ष्मतरपरिणामभावात् । तथाहि–विशीर्यमाणस्य जलदस्यापि यः कृष्णाभ्रपुद्गलविकारः स परिणामसौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते । तथाऽञ्जनस्यापि पवनेन ह्रियमाणस्य यदुत्कृष्टरज उड्डीयते, तदपि परिणामसौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते, न पुनरसत्त्वादिति ॥१६८८॥

चित्ररूपश्च पुद्गलपरिणाम इति दर्शयन्नाह–

होऊण इंदियंतर–गज्झा पुणरिंदियंतरग्गहणं ।
खंधा एंति न एंति य, पोग्गलपरिणामया चित्ता ॥१६८९॥

इह सुवर्णपत्रलवणसुण्ठीहरीतकीचित्रकगुमाऽऽदयः स्कन्धाः पूर्वमिन्द्रियान्तरग्राह्याश्चक्षुरादीन्द्रियविषया भूत्वा पुनद्रव्यक्षेत्रकालाऽऽदिसामग्र्यन्तरं प्राप्य पुद्गलपरिणामवैचित्र्यादिन्द्रियान्तरग्रहणं स्पर्शनरसनाऽऽदीन्द्रियग्राह्यतामायान्ति । तथाहि–सुवर्णं पत्रीकृतं चक्षुर्ग्राह्यं भूत्वा शोधनार्थमग्नौ प्रक्षिप्तं भस्मना मिलितं सत्स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यतामेति, पुनः प्रयोगेण भस्मनः पृथक् कृतं चक्षुर्विषयतामुपगच्छति । लवणसुण्ठीहरीतकीचित्रकगुडाऽऽदयोऽपि प्राक् चक्षुरिन्द्रियग्राह्या भूत्वा पश्चात्सूपाऽऽद्यन्ते बह्वौषधसमुदाये च क्वाथचूर्णावलेहाऽऽदिपरिणामान्तरमापन्नाः सन्तो रसनेन्द्रियसंवेद्या भवन्ति । कर्पूरकस्तूरिकाऽऽदीनामपि पुद्गलाश्चक्षुर्ग्राह्या अपि वायुना दूरमुपनीता घ्राणसंवेद्या भवन्ति । योजननवकात्तु परतो गतास्तथाविधं कञ्चित्सूक्ष्मपरिणाममापन्ना नैकस्याऽपीन्द्रियस्य विषयतां प्रतिपद्यन्ते इति । अनया दिशाऽन्याऽपि पुद्गलपरिणामता चित्रा भावनीयेति ॥१६८९॥

अथास्यैव पुद्गलपरिणामवैचित्र्यस्य प्रस्तुते योजनार्थमाह–

एगेगेंदियगज्झा, जह वा दव्वादयो तहा गेया ।
होउं चक्खुग्गज्झा, घाणिंदियगज्झयामेंति ॥१६९०॥

वायुः स्पर्शनेन्द्रियस्यैव ग्राह्यः, रसो रसनस्यैव, गन्धो घ्राणस्यैव, रूपं चक्षुष एव, शब्दस्तु श्रोत्रस्यैव ग्राह्यः । तदेवं यथा वाय्वादयः पुद्गला एकैकस्य प्रतिनियतस्येन्द्रियस्य ग्राह्या भूत्वा पश्चात्परिणामान्तरं किमप्यापन्ना इन्द्रियान्तरग्राह्या अपि भवन्तीति स्वयमेव गम्यते, तथा प्रस्तुता अपि प्रदीपगता आग्नेयाः पुद्गला–श्चक्षुर्ग्राह्या भूत्वा पश्चाद्विध्याते तस्मिन् प्रदीपे त एव तामसीभूताः सन्तो घ्राणेन्द्रियग्राह्यतामुपयान्ति, तत्किमुच्यते? ''किं दीसए न सो सक्खं ति'' (१६८८) । ननु घ्राणेन्द्रियेणोपलभ्यते एव विध्यातप्रदीपविकार इति ॥१६९०॥

यद्येवं, ततः प्रस्तुते किमित्याह–

जह दीवो निव्वाणो, परिणामंतरमिओ तहा जीवो ।
भण्णइ परिनिव्वाणो, पत्तोऽणावाहपरिणामं ॥१६९१॥

यथाऽनन्तरोक्तस्वरूपपरिणामान्तरं प्राप्तः प्रदीपो 'निर्वाणः' इत्युच्यते, तथा जीवोऽपि कर्मविरहितकेवलामूर्तजीवस्वरूपभावलक्षणमबाधं परिणामान्तरं प्राप्तो निर्वाणो निर्वृतिं प्राप्त उच्यते । तस्माद् दुःखाऽऽदिक्षयरूपा सतोऽवस्था निर्वाणमिति स्थितम् ॥१६९१॥

तर्हि शब्दाऽऽदिविषयोपभोगाभावान्निःसुख एवायमिति चेत् ।

नैवम् । कुतः ? इत्याह--

मुत्तस्स परं सोक्खं, णाणाणावाहओ जहा मुणिणो ।
तद्धम्मा पुण विरहा–दावरणाऽऽवाहहेऊणं ॥१६९२॥

मुक्तस्य जन्तोः परं प्रकृष्टमकृत्रिममभिमानजं स्वाभाविकं सुखमिति प्रतिज्ञा । (णाणाणावाहउ त्ति) ज्ञानप्रकर्षे सति जन्म–जराव्याधिमरणेष्टवियोगारतिशोकक्षुत्पिपासाशीतोष्णकामक्रोध–मदशाठ्यतृष्णारागद्वेषचिन्तौत्सुक्याऽऽदिनिःशेषाबाधविरहितत्वादिति हेतुः । तथाविधप्रकृष्टमुनेरिव । यथोक्ताबाधरहितानि काष्ठादीन्यपि वर्तन्ते, परं तेषां ज्ञानाभावान्न सुखम्, अतस्तद्–व्यवच्छेदार्थं ज्ञानग्रहणम् । कथं पुनरसौ प्रकृष्टज्ञानवान्, आबाधरहितश्च? इत्याह–(तद्धम्मेत्यादि) तद्धर्मा प्रकृष्टज्ञानानाबाधवान् मुक्ताऽऽत्मा । कुतः? विरहाद्–अभावात् । केषाम्? आवरणहेतूनामाबाधहेतूनां च । एतदुक्तं भवति–क्षीणनिः–

शेषाऽऽवरणत्वात् प्रकृष्टज्ञानवानसौ, वेदनीयकर्माऽऽदीनां च सर्वेषामप्याबाधहेतूनां सर्वथाऽपगमात्सर्वाऽऽबाधरहितोऽयमिति। प्रयोगःस्वाभाविकेन स्वेन प्रकाशेन प्रकाशवान्मुक्ताऽऽत्मा, समस्तप्रकाशाऽऽवरणरहितत्वात्, तुहिनांशुवत्। तथा चाऽऽह–''स्थितः शीतांशुवज्जीवः,प्रकृत्या भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवत्'' ॥१॥ इति। तथा–अनाबाधसुखो मुक्ताऽऽत्मा, समस्ताबाधहेतुरहितत्वात्, ज्वराऽऽद्यपगमे स्वच्छाऽऽतुरवत्। तथा चोक्तम्–''सव्याबाधाभावात्सर्वज्ञत्वाच्च भवति परमसुखी। व्याबाधाभावोऽत्र, स्वच्छस्य ज्ञस्य परमसुखम्'' ॥१॥ इति ॥१६६२॥

अपरस्त्वाह–

मुत्तो करणाभावा–दण्णाणी खं व णणु विरुद्धोऽयं।
जमजीवया वि पावइ, एत्तो चिय भणइ तन्नाम ॥१६६३॥

नन्वज्ञानी मुक्ताऽऽत्मा, करणाभावाद्, आकाशवत्। अत्राऽऽ–चार्यः प्राऽऽह–ननु धर्मिस्वरूपविपरीतसाधनद्विरुद्धोऽयं हेतुः। तथाहि–अनेनैतदपि सिध्यति–अजीवो मुक्ताऽऽत्मा, करणाभावात्, आकाशवत्। अत्र परः सोत्कर्षं भणति–(तन्नाम त्ति) नामे–त्यभ्यनुज्ञायाम्–अस्त्वेतत्, न नः किमपि क्षूयते? न हि मुक्ताऽऽत्मनामजीवत्वेऽस्माकं, किञ्चिन्नश्यति, येन हेतोर्विरुद्धता प्रेर्यमाणा शोभेत। अत्राऽऽह कश्चित्–ननु मुक्तस्याजीवत्वमार्हतानामप्यनिष्टमेव, ततश्चैतद् दूषणमाचार्यणाऽपि परिहर्त्तव्यमेव, यच्चाऽऽत्मनोऽपि दूषणं समापपति तत्कथं परस्यैवैकस्योद्भाव्यते? सत्यमेतत्। किन्तु परशक्तिपरीक्षार्थं प्रेर्यमाचार्यः कृतवान्, कदाचित्क्षोभाद् विगलितप्रतिभः परोऽत्रापि प्रतिबिधाने स्खलितस्तू–ष्णीं विदध्यात्। परमार्थतस्तु जीवस्याऽजीवत्वं कदाचिदपि न भवत्येव॥१६६३॥

कुतः ? इत्याह–

दव्वाऽमुत्तत्त सहा–वजाइओ तस्स दूरविवरीयं।
न हि जच्चंतरगमणं, जुत्तं नभसो व्व जीवत्तं ॥१६६४॥

तस्य मुक्ताऽऽत्मनो हि यस्मात् कारणान्न युक्तमिति संबन्धः। किं तन्न युक्तम् ? इत्याह–एकस्या जीवत्वलक्षणाया जातेर्यदजीवत्वलक्षणं जात्यन्तरं तत्र गमनं जात्यन्तरगमनं, तन्न युक्तम्। कथंभूतं जात्यन्तरम्? इत्याह–दूरमत्यर्थं विपरीतं दूर विपरीतम्। कस्या दूरविपरीतम्? इत्याह–(सहावजाईओ त्ति) जीवत्वलक्षणायाः स्वाभाविकी स्वभावभूता जातिः स्वभावजातिः, तस्याः। किंवत् या स्वभावजातिः? इत्याह–उपमानप्रधानत्वान्निर्देशस्य, द्रव्याऽमूर्त्तत्ववदिति द्रव्यत्ववदमूर्तत्ववच्चेत्यर्थः। स्वभावजातेर्दूरविपरीतं सत् कस्य यथा किं न युक्तम्? इत्याह– नभस इव जीवत्वम्। इदमत्र हृदयम्– द्रव्यत्वम्,अमूर्तत्वं च जीवस्य तावत्स्वभावभूता जातिः, तस्याश्च यद् दूरविपरीतं जात्यन्तरमद्रव्यत्वम्, अमूर्तत्वं च, तत्र गमनं तस्य कस्यामप्यवस्थायां न भवति। एवं जीवत्वमपि जीवस्य स्वभावभूतैव जातिः, ततस्तस्या अपि स्वभावजातेर्यद् दूरविपरीतमजीवत्वलक्षणं जात्यन्तरं तत्र गमनं मुक्तावस्थायामपि तस्य न युज्यते। न ह्यजीवस्य सतो नभसः कदाचिदपि जीवत्वाप्राप्तिर्भवति। तस्मान्मुक्तो जीवो यथाऽद्रव्यं मूर्त्तश्च न भवति, तद्विपक्षस्वभावत्वात्; एवं जीवस्वाभाव्यादजीवोऽप्यसौ कदाचिदपि न भवति; अन्यथा नभःपरमाण्वादीनामपि स्वस्वभावत्यागेन वैपरीत्यापत्त्याऽतिप्रसङ्गादिति। अत्राऽऽह–यद्येवं, तर्हि यद्भवतैवोक्तम्–''अजीवो मुक्ताऽऽत्मा, करणाभावाद्, आकाशवद्'' इति, तत्कथं नेतव्यम्? अत्रोच्यते– परस्य प्रसङ्गाऽऽपादनमेव तदस्माभिः कृतम्, तत्करणे च कारणमुक्तमेव, न पुनरनेन हेतुना मुक्तस्याजीवत्वं सिद्ध्यति, प्रतिबन्धाभावात्। तथाहि–यदि करणैर्जीवत्वं कृतं भवेत्, यथा दहनेन धूमः, व्यापकानि वा जीवत्वस्य करणानि यदि भवेयुः, यथा शिंशपाया वृक्षत्वम्, तदा करणनिवृत्तौ भवेज्जीवत्वनिवृत्तिः, यथाऽग्निवृक्षत्वनिवृत्तौ धूमशिंशपात्वयोः, न चैतदस्ति। जीत्वस्यानादिपारिणामिकभावरूपत्वेनाकृतकत्वात्। व्याप्यव्यापकभावोऽपीन्द्रियाणां शरीरेणैव सह युज्यते, उभयस्यापि पौद्गलिकत्वात्। न तु जीवत्वेन, जीवस्यामूर्तत्वेनात्यन्तं तद्विलक्षणत्वात्। तस्मात्करणनिवृत्तावप्यनिवृत्तमेव मुक्तस्य जीवत्वमिति ।१६६४॥

आह–यद्येवम्, 'अज्ञानी मुक्ताऽऽत्मा, करणाभावाद्, आकाशवद्' इत्यत्र धर्मिस्वरूपविपरीतसाधनाद् या हेतोर्विरुद्धतोद्भतोद्भाविता, सा न भवद्भिरपि परिहृता, अतस्तत्रान्यत्किमप्युत्तरमुच्यतामित्याशङ्क्याऽऽह–

मुत्ताऽऽइभावओ नो–वलद्धिमंतिंदियाइँ कुंभो व्व।
उवलंभद्वाराणि उ, ताइं जीवो तदुवलद्धा ॥१६६५॥
तदुवरमे वि सरणओ, तव्वावारे वि नोवलंभाओ।
इंदियभिन्नो आया, पंचगवक्खोवलद्धा वा ॥१६६६॥

अनयोर्व्याख्या पूर्ववत्, केवलं प्रस्तुते भावार्थ उच्यते–यदीन्द्रियाण्युपलब्धिमन्ति भवेयुस्तदा तन्निवृत्तावप्युपलब्धिनिवृत्तिर्भवेत्, न चैतदस्ति, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जीवसयोपलब्धिमत्त्वनिश्चयादिति ॥१६६५॥१६६६॥

स्वभावभूतं च ज्ञानं जीवस्य, इति कथं करणनिवृत्तौ मुक्तस्य तन्निवर्तत इति दर्शयन्नाह–

नाणरहिओ न जीवो, सरूवओऽणु व्व मुत्तिभावेणं।
जं तेण विरुद्धमिदं, अत्थि य सो नाणरहिओ य ॥१६६७॥

यद्यस्माज्ज्ञानरहितो जीवः कदाचिदपि न भवति, ज्ञानस्य तत्स्वरूपत्वात्, यथा मूर्तिभावेन रहितोऽणुर्न भवति, तेन तस्मात्कारणाद्विरुद्धमेतद्– ''अस्ति चासौ मुक्तो जीवः, अथ च स ज्ञानरहितः'' इति। न हि स्वरूपस्याभावे स्वरूपवतोऽवस्थानं युज्यते, तद्व्यतिरिक्तस्य तस्यासत्त्वात्, तथा चानन्तरमेवोक्तम्– ''न हि हि जच्चंतरगमणं, जुत्तं नभसो व्व जीवत्तं।'' (१६६४) इति ॥१६६७॥

पराभिप्रायमाशङ्क्यैतदेव समर्थयन्नाह–

किह सो नाणसरूवो, नणु पच्चक्खाणुभूइओ नियए?
परदेहम्मि वि गज्झो, सपवित्तिनिवित्तिलिंगाओ ॥१६६८॥

ननु कथमसौ जीवो ज्ञानस्वरूप इति निश्चीयते ? अत्रोत्तरमाह–नन्वित्यक्षमायां, ननु निजे देहे तावत्प्रत्यक्षानुभवादेव ज्ञानस्वरूपो जीव इति विज्ञायते, इन्द्रियव्यापारोपरमेऽपि तद्व्यापारोपलब्धार्थानुस्मरणात्, तद्व्यापारेऽपि चान्यमनस्कतायामनुपलम्भात् अदृष्टाश्रुतानामपि चार्थानां तथाविधक्षयोपशमपाटवात्कदाचिद् व्याख्यानावस्थायां चेतसि स्फुरणात्। एतच्च स्वसंवेदनसिद्धमपि भवतः प्रष्टव्यतां गतम्। तथा–

स जन्तुः परदेहेऽपि ज्ञानस्वरूपे एवेति ग्राह्यः । कुतः? तथाविध-प्रवृत्तिनिवृत्तिलिङ्गादीति ॥१९९८॥

अपि च मुक्तावज्ञानित्वाऽऽपादने महान् विपर्यासः,

कुतः? इत्याह-

सव्वाऽऽवरणावमे, सो सुद्धयरो भवेज्ज सूरो व्व ।
तम्मयभावाभावादण्णाणित्तं न जुत्तं से ॥१९९९॥

सेन्द्रियो जन्तुर्दशतोऽप्यावरणक्षये तावत्तारतम्येन ज्ञानयुक्त एव भवति, यस्य त्वनीन्द्रियस्य सर्वमप्यावरणं क्षीणं, स निःशेषाऽऽवरणापगमे शुद्धतर एव भवति-संपूर्णज्ञानप्रकाशयुक्त एव भवतीत्यर्थः, यथा समस्ताभ्राऽऽवरणापगमे सम्पूर्णप्रकाशमयः सूर्यः, ततस्तन्मयभावस्य प्रकाशमयत्वस्य करणाभावेनाभावाद्धेतोः 'से' तस्य मुक्तस्य यदज्ञानित्वं प्रेर्यते भवता, तन्न युक्तम्, आवारकाभावे, तस्यैव प्रकर्षवतो ज्ञान-प्रकाशस्य सद्भावादिति ॥१९९९॥

तदेवं सति किमिह स्थितम् ? इत्याह-

एवं पगासमइओ, जीवो छिद्दावभासयत्ताओ ।
किंचिम्मेत्तं भासइ, छिद्दाऽऽवरणप्पईवो व्व ॥२०००॥
सुबहुयतरं वियाणइ, मुत्तो सव्वप्पिहाणविगमाओ ।
अवणीयघरो व्व नरो, विगयाऽऽवरणप्पईवो व्व ॥२००१॥

तदेवं सति सर्वदा प्रकाशमयः प्रकाशस्वभाव एव जीवः, केवलं संसार्यवस्थायां छद्मस्थः किञ्चिन्मात्रमवभासयति, क्षीणाक्षीणा-ऽऽवरणच्छिद्रैरिन्द्रियच्छिद्रैश्चावभासनात्, सच्छिद्रकुटकुड्याऽऽद्यन्तरितप्रदीपवदिति । मुक्तस्तु मुक्तावस्थायां प्राप्तो जीवः सुबहुतरं विजानातियदस्ति तत्सर्वं प्रकाशयतीत्यर्थः, सर्वपिधानविगमात्-सर्वाऽऽवरणक्षयादित्यर्थः । अपनीतसमस्तगृहः पुरुष इव, विगतसमस्त-कुटकुड्याऽऽद्यावरणप्रदीप इव वेति । यो हि सच्छिद्राऽऽवरणान्तरिता स्तोकं प्रकाशयति, स निःशेषाऽऽवरणापगमे सुबह्वेव प्रकाशयति, न तु तस्य सर्वथा प्रकाशाभाव इति भावः । तस्मात् ''मुत्तस्स परं सोक्खं, नाणाणावाहओ'' (१९९२) इत्यादि स्थितम् ॥२०००॥२००१॥

अथाद्यापि मुक्तस्य सुखाभावं पश्यन् परः प्राऽऽह-

पुण्णापुण्णकयाइं, जं सुहदुक्खाइँ तेण तन्नासे ।
तन्नासाओ मुत्तो, निस्सुहदुक्खो जहाऽऽगासं ॥२००२॥
अहवा निस्सुहदुक्खो, नभं व देहिंदियादभावाओ ।
आधारो देहो चिय, जं सुहदुक्खोवलद्धीणं ॥२००३॥

पुण्यात्सुखमुपजायते, पापाच्च दुःखमिति भवतामपि सम्मतं, तेन तस्मात् तयोः पुण्यपापयोः कारणभूतयोर्नाशे सुखदुःखयोः कार्य-रूपयोर्नाशान्निः सुखदुःख एव मुक्ताऽऽत्मा प्राप्नोति, तत् कारणा-भावात्, आकाशवदिति । अथवा निःसुखदुःखोऽसौ, देहेन्द्रियाभावात्, नभोवत् यद् यस्माद्देह एव, तथेन्द्रियाणि च सुखदुःखोपलब्धीनामा-धारो दृश्यते, न पुनर्देहाभावे सुखदुःखे दृश्यते, नापीन्द्रियाभावे ज्ञानं क्वाप्युपलभ्यते । ततः सिद्धस्य कथं तदभावात्तानि श्रद्धायिन्ते? इति ॥२००२॥२००३॥

अत्रोत्तरमाह-

पुण्णफलं दुक्खं चिय, कम्मोदयओ फलं व पावस्स ।
नणु पावफले वि समं, पच्चक्खविरोहिया चेव ॥२००४॥

चक्रवर्तिपदलाभाऽऽदिकं पुण्यफलं निश्चयतो दुःखमेव, कर्मोदय-जन्यत्वात्, नरकत्वाऽऽदिपापफलवत् । परः प्राऽऽहननु पापफलेऽपि समानमिदम् । तथाहि-अत्रापि वक्तुं शक्यत एतत्-उक्तं पापफलं दुःखत्वेनाभिमतं परमार्थतः सुखमेव, कर्मोदयजन्यत्वात्, पुण्यफलवत्, एवं च वदतां प्रत्यक्षविरोधिता, स्वसंवेद्यसुखदुःखयोर्वैपरीत्येन सवित्त्य-भावादिति ॥२००४॥

भगवानाह-

जत्तो चिय पच्चक्खं, सोम्म ! सुहं नत्थि दुक्खमेवेदं ।
तप्पडियारविभत्तं, तो पुण्णफलं ति दुक्खं ति ॥२००५॥

सौम्य ! प्रभास ! यत एव-दुःखे अनुभूयमाने कस्याप्यविपर्यस्तमतेः सुखं प्रत्यक्षं नास्ति, सुखानुभवः स्वसंविदितो न विद्यते, अत एवास्माभिरुच्यते-दुःखमेवेदम् इति, यत् किमप्यत्र संसारचक्रे स्रक्-चन्दनाङ्गनासंभोगाऽऽदिसमुत्थमपि विद्यते, तत्सर्वं दुःखमेवेत्यर्थः। केवलं तस्याङ्गनासंभोगाऽऽदिविषयौत्सुक्यजनितारतिरूपस्य दुःखस्य प्रतीकारोऽङ्गनासंभोगाऽऽदिकस्तत् प्रतीकारस्तेन तत्प्रतीकारेण दुःखमपि सद्विभक्तं मूढभेदेन व्यवस्थापितं तत्प्रतीकाररूपं कामिनी-संभोगाऽऽदिकं पामाकण्डूयनाऽऽदिवत्सुखमध्यवसितम्, शूलाऽऽरोपण-शूलशिरोबाधाऽऽदिव्याधिबन्धवधाऽऽदिजनितं तु दुःखमिति । रमणीसंभोगचक्रवर्तिपदलाभाऽऽदि सुखं स्वसंविदितं दुःखमिति वदतां प्रत्यक्षविरोध इति चेत् । तदयुक्तम् । मोहमूढप्रत्यक्षत्वात्तस्य, तल्लाभौत्सुक्यजनितारतिरूपदुःखप्रतीकाररूपत्वाद् दुःखेऽपि तत्र सुखाध्यवसायः, पामाकण्डू-यनाऽपथ्याऽऽहारपरिभोगाऽऽदिवत् ।

तथा चोक्तम्-

''नग्नः प्रेत इवाऽऽविष्टः, क्वणन्तीमुपगृह्य ताम् ।
गाढाऽऽयासितसर्वाङ्गः, स सुखी रमते किल ॥१॥
औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा,
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय,
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवाऽऽतपत्रम् ॥२॥
भुक्ताः श्रियः सकलकामदुधास्ततः किं?
संप्रीणिताः प्रणयिनः स्वधनैस्ततः किम् ?
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किं?
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्? ॥३॥
इत्थं न किञ्चिदपि साधनसाध्यजातं,
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम्।
अत्यन्तनिर्वृतिकरं यदपेतबाधं,
तद् ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनाऽस्ति'' ॥४॥ इत्यादिना। ''पुण्णफलं ति दुक्खं ति ।'' यत एवमुक्तप्रकारेण दुःखेऽपि सुखाभिमातः, तस्मात्पुण्यफलमपि सर्वं तत्त्वतो दुःखमेवेति ॥२००५॥

एतदेव प्रपञ्चयति-

विसयसुहं दुक्खं चिय, दुक्खपडीयारओ तिगिच्छ व्व ।
तं सुहमुवयाराओ, नो उवयारो विणा तच्चं ॥२००६॥

विषयसुखं तत्त्वतो दुःखमेव, दुःखप्रतीकाररूपत्वात्, कुष्ठगण्डा-र्शोरोगक्वाथपानच्छेदनदम्भनाऽऽदिचिकित्सावत् । यश्च लोके

तत्र सुखव्यपदेशः प्रवर्त्तते, स उपचारात्। न चोपचारस्तथ्यं पारमार्थिकं विना क्वापि प्रवर्त्तते, माणवकाऽऽदौ सिंहाऽऽद्युप चारवदिति॥२००६॥

ततः किमित्याह–

तम्हा जं मुत्तसुहं, तं तच्चं दुक्खसंखएऽवस्सं।
मुणिणोऽणाबाहस्स व, णिप्पडियारप्पसुईओ ॥२००७॥

तस्माद्यन्मुक्तस्य संबन्धि तदेव सुखं तथ्यं निरुपचरितम्। कुतः? स्वाभाविकत्वेन निष्प्रतीकाररूपस्य तस्य प्रसूतेरुत्पत्तेः। कथम् ? अवश्यम्। क्व सति? दुःखसंक्षये। सांसारिकं हि सर्वं पुण्यफलमपि दुःखरूपतया समर्थितं, ततः पापफलम्, इतरच्च सर्वं दुःखमेवेहास्ति, नान्यत्, तच्च मुक्तस्य क्षीणम्, अतस्तत् संक्षये अवश्यंतया यत् तस्य निष्प्रतीकारं स्वाभाविकं निरुपमं सुखमुत्पद्यते, तदेव तथ्यम्। कस्येव? विशिष्टज्ञानवतोऽनाबाधस्य मुनेरिव।

उक्तं च–

''निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम्'' ।१।इति २००७।

अथवा प्रकारान्तरेणापि मुक्तस्य तथ्यसुखसंभवमाह–

जह वा णाणमओऽयं, जीवो णाणोवघाइ चावरणं।
करणमणुग्गहकारिं, सव्वाऽऽवरणक्खए सुद्धी ॥२००८॥
तह सोक्खमओ जीवो, पावं तस्सोवघाइयं नेयं।
पुण्णमणुग्गहकारिं, सोक्खं सव्वक्खए सयलं ॥२००९॥

यथा वाऽनन्तज्ञानमयोऽसौ स्वरूपेण जीवः। तदीयज्ञानस्य च मत्यावरणाऽऽदिकमावरणमुपघातकं मन्तव्यम्। करणानीन्द्रियाणि तज्ज्ञानस्य, सूर्याऽऽतपस्य तदावारकमेघपटलच्छिद्राणीवोपकः? काणि। सर्वाऽऽवरणक्षये तु ज्ञानशुद्धिर्निर्मलता सर्वथाऽवभासकत्वलक्षणा भवति। प्रकृतयोजनामाह–तथा तेनैव प्रकारेण स्वरूपतः स्वाभाविकानन्तसौख्यमयो जीवः, तस्य च सुखस्यैवोपघातकारकं पापकर्म विज्ञेयम्। पुण्यत्वनुत्तरसुरपर्यन्तसुखफलं तस्य स्वाभाविकसुखस्यानुग्रहकारकम्। ततः सर्वाऽऽवरणापगमे प्रकृष्टज्ञानमिव समस्तपुण्यपापक्षये सकलं परिपूर्णं निरुपचरितं निरुपमं स्वाभाविकमनन्तं सुखं भवति सिद्धस्येति ॥२००८॥२००९॥

अन्येन वा प्रकारेण मुक्तस्य तस्य सुखसम्भवमाह–

जह वा कम्मक्खयओ, सो सिद्धत्ताइपरिणइं लभइ।
तह संसाराईयं, पावइ तत्तो चिय सुहं ति ॥२०१०॥

यथा वा सकलकर्मक्षयादसौ मुक्ताऽत्मा सिद्धत्वाऽऽदिपरिणतिं लभते, तत एव सकलकर्मक्षयात् संसारातीतं वैषयिकसुखाद्विलक्षणस्वरूपं निरुपमं तथ्यं सुखं प्राप्नोति। एतेन यदुक्तम्–''क्षीणपुण्यपापत्वेन कारणाभावान्निःसुखदुःखे मुक्ताऽऽत्मा, व्योमवत्'' इत्येतदपि प्रत्युक्तं द्रष्टव्यम्, 'कारणाभावात्' इत्यस्य हेतोरसिद्धत्वात्, सकलकर्मक्षयलक्षणकारणजन्यत्वेन सिद्धसुखस्य सकारणत्वादिति ॥२०१०॥

यदुक्तम्–''आधारो देहो चिय,जं सुहदुक्खोवलद्धीणं'' (२००३) इति ,तत्राऽऽह–

सायाऽसायं दुक्खं, तव्विरहम्मि य सुहं जओ तेणं।
देहिंदिएसु दुक्खं, सोक्खं देहिंदियाभावे ॥२०११॥

ननु यत्पुण्यफलं सातं सुखतया लोकव्यवहारतो रूढं, तत्सर्वं दुःखमेवेत्यनन्तरमेव समर्थितम्। असातं तु पापफलत्वान्निर्विवादं दुःखमेव। एवं च सति सर्वं दुःखमेवास्ति संसारे, न सुखम्। तच्च दुःखं सिद्धस्य सर्वथा क्षीणम्। अतस्तद्विरहे यद्यस्मात्सिद्धस्य स्वाभाविकं, निरुपमम्, अनन्तं च युक्तिसिद्धमेव सुखं, तेन तस्मात्कारणात् पारिशेष्यन्यायात् संसारिणामेव जीवानां देहेन्द्रियेष्वाधारभूतेषु यथोक्तस्वरूपं दुःखम्, सुखं तु देहेन्द्रियाभाव एव, सिद्धस्य क्षीणनिःशेषसुखदुःखत्वेन तस्य तत्र युक्तिसिद्धत्वादिति ॥२०११॥

अथवा देहेन्द्रियाभावे सुखाभावलक्षणो दोषस्तस्य भवतु यः, किमित्याह–

जो वा देहिंदियजं, सुहमिच्छइ तं पडुच्च दोसोऽयं।
संसाराईयमिदं, धम्मंतरमेव सिद्धिसुहं ॥२०१२॥

यो वा कश्चित् संसाराभिनन्दी मोहमूढः परमार्थादर्शी विषयामिषमात्रगृद्धो देहेन्द्रियजमेव सुखं मन्यते, न तु सिद्धसुखं, तस्य तेन स्वप्नेऽप्यदर्शनात्, तस्य वादिनः संसारविपक्षे मोक्षे प्रमाणतः साधिते सति ''निःसुखः, सिद्धः, देहेन्द्रियाभावात्'' इत्ययं दोषो भवेत्, न त्वस्माकं संसारातीतं पुण्यपापफल सुखदुःखाभ्यां सर्वथा विलक्षणं धर्मान्तरभूतमेवानुपममक्षयं निरुपचरितं सिद्धिसुखमिच्छतामिति ॥२०१२॥

अत्र प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह–

कह णणु मेथं ति मई, नाणाणाबाहउ त्ति णणु भणियं।
तदणिच्चं णाणं पि य, चेयणधम्मो त्ति रागो व्व ॥२०१३॥

अत्रैवंभूता मतिः परस्य भवेत्–नन्विच्छन्ति भवन्तः सिद्धस्य यथोक्तं सुखं, किन्तु नेच्छामात्रतो वस्तुसिद्धिः, अपि तु प्रमाणतः, ततो येन प्रमाणेन तत्सिद्ध्यति तद्वक्तव्यम्। अनु मानेन तदनुमीयत इति चेत्, तर्हि केनानुमानेन तदनुमेयम्– अनुमीयत इत्यर्थः? इत्याह–''नाणाणाबाहउ त्ति णणु भणियं ति।'' ननु भणितमत्रार्थे प्रागनुमानं सिद्धस्य प्रकृष्टं सुखं, ज्ञानत्वे सत्यनाबाधत्वाद्, मुनिवदिति। पुनरपि परः प्राऽऽह–यद्येवं तर्ह्यनित्यं सुखं ज्ञानं च सिद्धस्य, चेतनधर्मत्वात्, रागवदिति ॥२०१३॥

अथवा हेत्वन्तरमाह–

कयगाइभावओ वा, नाऽऽवरणाऽऽबाहकारणाभावा।
उप्पायट्ठिइभंगस्सहावओ वा न दोसोऽयं ॥२०१४॥

अथवाऽनित्ये सिद्धस्य सुखज्ञाने, तपःप्रभृतिकष्टानुष्ठानेन क्रियमाणत्वात्, आदिशब्दादभूतप्रादुर्भावात्, घटवदिति ।अत्रो–त्तरमाह–''नावरणेत्यादि।'' न सिद्धस्यानित्ये ज्ञानसुखे। कुतः? आवरणं चाऽऽबाधश्चाऽऽवरणाऽऽबाधौ, तयोः कारणं हेतुस्तस्याभावात्, आकाशवदिति। इदमुक्तम्भवति–सिद्धस्य ज्ञानं सुखं च यद्यपगच्छेत् तदा स्यादनित्यम्, अपगमश्च ज्ञानस्याऽऽवरणोदयात्, सुखस्य त्वाबाधहेतुभूतादसातवेदनीयोदयाऽऽदिकारणाद्भवेत्, आवरणवेदनीयाऽऽदीनि च मिथ्यात्वाऽऽदिभिर्बन्धहेतुभिर्बध्यन्ते, ते च सिद्धस्य न विद्यन्ते, अतस्तदभावाद् नाऽऽवरणाऽऽबाधाकारणसद्भावः, तदभावाच्च न सिद्धस्य

ज्ञानसुखापगमः, तदसत्त्वे च तयोः सदाऽवस्थितत्वात् कथमनित्यत्वम्? न च चेतनधर्माः सर्वेऽप्यनित्या भवन्ति, जीवगतद्रव्यत्वामूर्तत्वाऽऽदिभिर्व्यभिचारात्। 'ततश्च चेतनधर्मत्वात्' इत्यनैकान्तिको हेतुः, तथा–कृतकत्वाऽऽदिरप्यनैकान्तिकः, घटप्रध्वंसाभावेन व्यभिचारात्। असिद्धश्चायम्, सिद्धस्य ज्ञानसुखयोः स्वाभाविकत्वेन कृतकत्वाऽऽद्ययोगात्। आवरणाऽऽबाधकारणाभावेन च तत्तिरोभावमात्रमेव निवर्तते, न पुनस्ते क्रियेते, घटाऽऽदिवत्; नाप्यभूते प्रादुर्भवतः, विद्युदादिवत्, येन तयोरनित्यत्वं स्यात्। न हि घनपटलापगमे चन्द्रज्योत्स्नायाः सूर्यप्रभाया वा तिरोभावमात्रनिवृत्तौ कृतकत्वम्, अभूतप्रादुर्भावो वा वक्तुं युज्यत इति।

अथ तेनाऽऽविर्भूतेन विशिष्टेन रूपेण कृतकत्वादनित्ये सिद्धस्य ज्ञानसुखे, प्रतिक्षणं च पर्यायरूपतया ज्ञेयविनाशे ज्ञानस्य विनाशात्, सुखस्यापि प्रतिसमयं परापररूपेण परिणामादेतयोरनित्यत्वमुच्यते, तर्हि सिद्धसाध्यतेति दर्शयति– ''उप्पायट्ठिइ'' इत्यादि। इत्थमात्माऽऽकाशघटाऽऽदिरूपस्य सर्वस्यापि वस्तुस्तोमस्य स्थित्युत्पादप्रलयस्वाभाव्याभ्युपगमात्सिद्धसुखज्ञानयोरपि कथञ्चिदनित्यत्वाद् नायं तदनित्यत्वाऽऽपत्तिलक्षणोऽस्माकं दोष इति ॥२०१४॥

तदेव जीवस्य सदवस्थालक्षणं निर्वाणं, निवृत्तस्य च निरुपमसुखसद्भावं युक्तितः प्रसाध्य वेदोक्तद्वारेणापि तत्साधनार्थमाह–

न ह वै ससरीरस्स, प्पियऽप्पियावहतिरवेमादि व जं।
तदमोक्खे नासम्मि व, सोक्खाभावम्मि व न जुत्तं ॥२०१५॥

''न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।'' ''अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः'' इति च यद्वेदोक्तं, तदप्यमोक्षे मोक्षाभावे–जीवकर्मणोर्वियोगेऽनभ्युपगम्यमाने इत्यर्थः। तथा–'मतिरपि न प्रज्ञायते' इति वचनाद् मुक्तावस्थायां सर्वथा नाशे वा जीवस्याऽभ्युपगम्यमाने, सत्त्वे वा मुक्ताऽऽत्मनः सुखाभाव इष्यमाणे न युक्तं प्राप्नोति–अभ्युपगमविरोधस्तवेत्यर्थः। अनेन हि वाक्येन किल यथोक्तो मोक्षः, मुक्तौ च निष्कर्मणो जीवस्य सत्त्वं, निरुपमसुखं च तस्य, एतानि त्रीण्यपि अभ्युपगम्यन्ते। एतच्च पुरस्ताद्व्यक्तीकरिष्यते। ततोऽस्य त्रितयस्य निषेधं कुर्वतस्तवाभ्युपगमविरोध इति भावः ॥२०१५॥

अत्राऽऽद्यन्तपक्षौ परिहृत्य मध्यगतं जीवनाशपक्षसंभविनमभ्युपगमविरोधं परिहर्तुं तावत्परः प्राऽऽह–

नट्ठो असरीरो चिय, सुहदुक्खाइं पियऽप्पिआइं च।
ताइँ न फुसंति नट्ठं, फुडमसरीरं ति को दोसो? ॥२०१६॥

''न ह वै'' इत्यादिवेदवाक्यस्य किल परोऽभुमर्थं मन्यतेशरीरं सर्वनाशेन नष्टः खरविषायकल्प एवोच्यते, तमेवंभूतमशरीरं नष्टं प्रियाप्रिये सुखदुःखे यन्न स्पृशतः, तत्स्फुटमेव बुध्यत एवेदम्, नष्टस्य सुखदुःखस्पर्शायोगात्, अशरीरशब्देन च जीवनाशाभिधानात्। एवंभूते चास्य वाक्यस्यार्थे मुमुक्षोर्जीवस्य निर्वाणप्रदीपस्येव सर्वनाशमभ्युपगच्छतां कोऽस्माकमभ्युपगमविरोधलक्षणो दोषः? न कश्चिदषीति पराभिप्राय इति ॥२०१६॥

अत्र प्रभासस्य भगवान् बोधान्यथात्वमवगम्य, एतेषां वेदपदानां यथाऽवस्थितमर्थं व्याचिख्यासुराह–

वेयपयाण य अत्थं, न सुट्ठु जाणसि इमाण तं सुणसु।
असरीरव्ववएसो, अधणो व्व सओ निसेहाओ ॥२०१७॥
न निसेहओ य अन्नम्मि तव्विहे चेव पच्चओ जेण।
तेणासरीरगहणे, जुत्तो जीवो न खरसिंगं ॥२०१८॥

आयुष्मन्! प्रभास! न केवलं युक्तिं, वेदपदानाममीषामर्थं च त्वं सुष्ठु न जानासि, ततस्तं शृणु–''न ह वै'' इत्यादि–पूर्वार्द्धं सुगमत्वादत्र गाथाद्वये न व्याख्यातं, तदपि सुखप्रतिपत्त्यर्थं व्याख्यायते– 'न' इति निपातो निषेधार्थः। 'ह वै' इत्येतदपि निपातद्वयं हिंशब्दार्थत्वाद्यस्मादर्थे। सह शरीरेण वर्त्तत इति सशरीरो जीवस्तस्य सशरीरस्येत्यत्र एवकारो द्रष्टव्यः। ततश्चायमर्थः–यस्मात् सशरीरस्य जीवस्य प्रियाप्रिययोः सुखदुःखयोरपहतिर्विघातोऽन्तरं नास्ति, न त्वशरीरस्य; तस्मादशरीरं शरीररहितं मुक्त्य–वस्थायां वसन्तं लोकान्तरस्थितं जीवं प्रियाप्रिये सुखदुःखे न स्पृशतः। इदमुक्तं भवति–यावदयं जीवः सशरीरः, तावत् सुखेन दुःखेन वा अन्यतरेण कदाचिदपि न मुच्यते। अशरीरस्त्वसौ क्षीणवेदनीयत्वात् सुखदुःखाभ्यां कदाचिदपि न स्पृश्यत इति। एवंभूते चास्य वाक्यस्यार्थे सति योऽयमशरीरव्यपदेशः, असौ सत एव विद्यमानस्यैव जीवस्य मुक्त्यवस्थायां विधीयते, न तु सर्वथा नष्टस्य। कुतः? इत्याह–निषेधात्, इह यो यस्य निषेधः स तस्य सत एव विधीयते, न त्वसतः, यथाऽधन इति, अत्र सत एव देवदत्तस्य धननिषेधो विधीयते, न त्वसतः खरविषाणस्य।

आह–न विद्यते शरीरं यस्येत्येवं निषेधादन्यपदार्थे जीव एव कथं प्रतीयते? इत्याह–''न निसेहओ य'' इत्यादि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः पर्युदासवृत्तिना नञा निषेधो नञ् –निषेधस्तस्मान्नञूनिषेधात् कारणात् सशरीरादन्यस्मिंस्तद्विध एव शरीरसदृशे कस्मिंश्चिदन्यपदार्थे संप्रत्ययो विज्ञेयः, यथा ''न ब्राह्मणोऽब्राह्मणः'' इत्युक्ते ब्राह्मणसदृशः क्षत्रियाऽऽदिरेव गम्यते, न तु तुच्छरूपो भावः। उक्तं च–''नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे लोके तथाह्यर्थगतिः'' इति। इह च शरीरसदृशोऽशरीरो जीव एव गम्यते, द्वयोरप्युपयोगरूपत्वेन सदृशत्वात्। न चेह शरीरं सादृश्यबाधकं, तस्य जीवेन सह क्षीरनीरन्यायतो लोलीभूतत्वेनैकत्वादिति। तदेवं येन यस्मात् कारणात् नञ्निषेधादन्यस्मिंस्तद्विध एवान्यपदार्थे सम्प्रत्ययो भवति, तेन तस्मात्कारणात्, 'अशरीरं वा वसन्तम्' इत्यत्राशरीरग्रहणे जीव एवाशरीरो युज्यते, न तु खरविषाणं तुच्छरूपोऽभाव इत्यर्थः। तदेवमशरीरमिति व्याख्यातम् ॥२०१७॥२०१८॥

इदानीं ''वा वसन्तम्'' इत्येतद्व्याचिख्यासुराह–

जं व वसंतं संतं, तमाह वासद्दओ सदेहं पि।
न फुसेज्ज वीयरागं, जोगिणमिट्ठेयरविसेसा ॥२०१९॥

यस्माच्चाशरीरं, कथंभूतम्? वसन्तं लोकाग्रे निवसन्तं, तिष्ठन्तमिति यावत्। अनेन वसनविशेषणेन तमशरीरशब्दवाच्यमर्थं सन्तं विद्यमानमाह, न त्वसद्भूतं, वसनस्य सद्धर्म्मत्वात्। तस्मात्कथं जीवनाशरूपं निर्वाणं निर्वाणं स्यात्? न केवलमशरीरं मुक्तं,

किं तु वाशब्दात् सदेहमपि सशरीरमपि वीतरागं क्षीणोपशममोहयोगिनं परमसमाधिमन्तं भवस्थमपि न स्पृशेयुः । के? इष्टेतरविशेषाः, सुखदुःखभेदा इत्यर्थः ॥२०१६॥

प्रकारान्तरेणापि ''वाव सन्तम्'' इत्येतद्व्याचिख्यासुराह–

वाव त्ति वा निवाओ, वासद्दत्थो भवंतमिह संतं ।
बुज्झाऽव त्ति व संतं, नाणाइ विसिट्ठमहवाऽह ॥२०२०॥

वा इत्यथवा– 'वाव' इत्ययं शब्दो निपातः, स च वाशब्दार्थः । ततश्चाशरीरं सन्तं भवन्तं मुक्तौ विद्यमानं जीवं प्रियाप्रिये न स्पृशतः, वाशब्दात् सशरीरमपि वीतरागं न ते स्पृशतः । यदि वा वसन्तमित्यन्यथा व्याख्यायते–''बुज्झाऽव त्ति वेत्यादि''। 'वा' इत्यथवाऽयमर्थः । ''वाव संतं ति ।'' रक्षण गतिप्रीत्यादिष्वेकोनविंशतावर्थेष्ववाधातुः पठ्यते । गत्वर्थाश्च धातवो ज्ञानार्था अपि भवन्ति । ततश्चाह–विनेय ! त्वमेवं बुध्यस्व । किं तदित्याह–अशरीरं सन्तं मुक्तव्यवस्थायां विद्यमानं जीवम्, अथवा ज्ञानाऽऽदिभिर्गुणैर्विशिष्टं सन्तमित्याह–ब्रूते, प्रियाप्रिये न स्पृशतः । वाशब्दात् सशरीरमपि वीतरागमिति तथैवेति ॥२०२०॥

आह–नन्वेवमक्षरकुट्या, मयाऽपि स्वाभिप्रायसिद्धये
व्याख्यानान्तरं कर्तुं पार्यत एव, न हीयं भव–
तैव केवलेन क्रेण्या ग्रहीता, इत्यभिप्रा–
यवतः परख्य मतमाशङ् क्य प–
रिहरन्नाह–

न वसंतं अवसंतं, ति वा मई नासरीरगहणाओ ।
फुसणाविसेसेणं पि य, जओ मयं संतविसयं ति ॥२०२१॥

''अशरीरं वाऽवसन्तं'' इत्यत्र लुप्तस्य अकारस्य दर्शनात् न वसन्तमवसन्तं क्वाप्यतिष्ठन्तमिति व्याख्यानतो नास्ति मुक्त्यवस्थायां जीवः, क्वाप्यवसनात्, असत्त्वादेव च नामुं प्रियाप्रिये स्पृशत इति परस्य मतिर्भवेत् । तदेतन्न । कुतः? इत्याह– अशरीरग्रहणात् । एतदुक्तं भवति– न विद्यते शरीरं यस्येत्यत्र पर्युदासनिषेधात् पूर्वोक्तयुक्त्या मुक्तव्यवस्थाया-मशरीरो जीवो गम्यते, इत्यतोऽत्राऽकारप्रश्लेषव्याख्यानं कर्तुं न पार्यते, अशरीरग्रहणान्मुक्तौ जीवसिद्धेः। किञ्च–''प्रियाप्रिये न स्पृशतः'' इति यदशरीरस्य स्पर्शनाविशेषणं, तदपि यस्मात् सद्विषयमेव मतं, तस्मान्न मुक्तौ जीवस्याभावः । यदि ह्यशरीरशब्दस्य जीवाभावो वाच्यः स्यात्तदा तं प्रियाप्रिये न स्पृशत इति विशेषणमनर्थकं स्यात् । न हि ''बन्ध्यापुत्रं प्रियाप्रिये न स्पृशतः'' इति विशेष्यमाणं विराजते । तस्मान्मुक्तव्यवस्थो जीव एवाशरीरशब्दवाच्यः, न पुनरस्तद्भावः। ततो नाकारप्रश्लेषव्याख्यानं युज्यत इति । तदेवम् ''अशरीरं वा वसन्तम्'' इत्यनेन जीवकार्मण-शरीरवियोगलक्षणस्य मोक्षस्य मुक्तजीवसत्त्वस्य चाभिधानात्तन्निषेधं कुर्वतस्तवाभ्युपगमविरोध एवेति ॥२०२१॥

एवमपि मुक्तस्य सुखाभावलक्षणं तृतीयपक्षमप्रतिविहितमेवोत्प-
श्यन् प्राऽऽह–

एवं पि होज्ज मुत्तो, निस्सुहदुक्खत्तणं तु तदवत्थं ।
तं नो पियऽप्पियाइं, जम्हा पुण्णेयरकयाइं ॥२०२२॥
नाणाबाहत्तणओ, न फुसंति वीयरागदोसस्स ।
तस्स पियमप्पियं वा, मुत्तसुहं को पसंगोऽत्थ? ॥२०२३॥

एवमप्युक्तप्रकारेण मुक्तो जीवो भवेदित्यकामैरभ्युपगतमस्माभिः, तथा च सति जीवस्य कर्मवियोगलक्षणो मोक्षः, तत्र जीवसत्त्वं च सिद्धम् । यत्तु निःसुखदुःखत्वं सिद्धस्य मया प्रेरितं, तत् ''प्रियाप्रिये अशरीरं न स्पृशतः'' इति वचनात् तदवस्थामेव । अत्रोत्तरमाह– तदेतन्न, यस्मात्पुण्यपापकर्म्मजनिते एव जीवानां प्रियाप्रिये सांसारिकसुखदुःखे भवतः, ते च तं क्षीणनिःशेषपुण्यपापकर्माणं सकलसंसारार्णवपारप्राप्तं मुक्ताऽऽत्मानं न स्पृशत इत्युत्तरगाथायां संबन्धः। न चैतावता तस्य निःसुखत्वमिति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । कुतः? इत्याह–(नाणेत्यादि) ज्ञानत्वे सत्यनाबाधरूपत्वादित्यर्थः। यच्च तद् मुक्तस्य सुखं मुक्तसुखं स्वाभाविकं निष्प्रतीकारं निरुपमं च।'' मुत्तस्स परं सोक्खं, णाणाणा-वाहओ जहा मुणिणो'' (१६६२) इत्यादिना प्रागेव साधितं, तत्तस्य वीतरागद्वेषस्य मुक्ताऽऽत्मनो न प्रियं न पुण्यजनितं सुखं भण्यते, न चाप्रियं न पापजनितं दुःखं भण्यते, किं त्वेताभ्यां सर्वथा विलक्षणम्, अकर्मजनितत्वेन स्वाभाविकत्वात्, निष्प्रतीकाररूपत्वात्, निरुप-मत्वात् , अप्रतिपातित्वाच्चेति ।

अथ ''को पसंगोऽत्थ त्ति'' ''अशरीरं प्रियाप्रिये न स्पृशतः'' इत्युक्ते कोऽत्र मुक्ताऽऽत्मनि मुक्तासुखाभावप्रसङ्गः, न कश्चिदित्यर्थः। पुण्यपाप-जनितप्रियाप्रियाप्रिययोरभावे तस्य सुतरामेव भावात्। तस्मात् 'न ह वै सशरीरस्य' इत्यादिवेदपदैर्यथोक्तनीत्या जीवकार्मणशरीरविरहलक्षणो मोक्षः, मुक्तावस्थस्य च जीवस्य सत्त्वम्, तथा ''अशरीरं प्रियाप्रिये न स्पृशतः'' इत्यतोऽपि वचनात् पुण्यपापक्षयसमुत्थं स्वाभाविकम्, अप्रतिपाति सुखं चास्य इत्येतत् त्रितयं सिद्धम्। अत एतदनभ्युपगच्छत-स्तवाभ्युपगमविरोध इति स्थितम् । यदपि– ''जरामर्यं वैतत् सर्वं यदग्निहोत्रम्'' इत्येतस्माद्वाक्यान्मोक्षहेतुक्रियाऽऽरम्भयोग्यकाला-भावान्मोक्षाभावं शङ्कसे । तदप्ययुक्तम्; तदर्थापरिज्ञानात् । तस्य ह्ययमर्थः–यदेतदग्निहोत्रं तज्जावज्जीवं सर्वमपि कालं कर्त्तव्य, वाशब्दात् मुमुक्षुभिर्मोक्षहेतुभूतमप्यनुष्ठानं विधेयमिति । इत्येवं वेदपदोक्तद्वारेण युक्तिभिश्च प्रसाधितो मोक्षः। छिन्नश्च प्रभासस्य तत्संशयः ॥२०२२॥ २०२३॥

ततः किं कृतवानसावित्याह–

छिन्नम्मि संसयम्मी, जिणेण जरमरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइओ, तिहि ओसहखंडियसएहिं ॥२०२४॥

व्याख्या पूर्ववदिति ।२०२४। विशे०। सिद्धसुखे, कर्म०५ कर्म०। (स्त्रीनिर्वाणचर्चा, प्रकीर्णकवार्ताश्च 'मोक्ख' शब्दे संग्राहिष्यते) विध्यापने आव०४ अ०। (तीर्थकृतां निर्वाणं 'तित्थयर' शब्दे वक्ष्यते) निर्वाणप्रधानैककारणत्वान्निर्वाणम् । प्राणातिपातनिवृत्तौ, सूत्र०१ श्रु० ११ अ०। दुःखकथने, दे०ना०४ वर्ग३३ गाथा।

णिव्वाणंग न०(निर्वाणाङ्ग) मुक्तिकारणे, पञ्चा०१६ विव०।

णिव्वाणगमणकाल पुं०(निर्वाणगमनकाल) मोक्षगमनप्रत्यासन्न-समये, दर्श०४ तत्त्व।

णिव्वाणगमणपज्जवसाणफल त्रि०(निर्वाणगमनपर्यवसानफल) निर्वाणगमनं मुक्तिप्राप्तिः पर्यवसाने आनुषङ्गिकसुरमनुजसुखानुभवपर्यन्ते फलं यस्यासौ निर्वाणगमनपर्यवसानफलः । पा०। निर्वाणगमनं मोक्षगमनमेव पर्यवसानं परमार्थरूपं फलं यस्य स तथा। मोक्षैकहेतौ, ध०। ''असण्णिहिसं–

चयस्स णिव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स इमस्स धम्मस्स ।'' ध०२अधि०।

णिव्वाणणगर न०(निर्वाणनगर) निर्वाणपुरे, द०प०। ''धम्मं जिणपण्णत्तं, सम्ममिणं सद्दहामि तिविहेणं। तसथावरभूअहियं, पंथं निव्वाणनगरस्स ॥१॥'' द०प०।

णिव्वाणपय न०(निर्वाणपद) निष्कर्मताहेतुपदे, अष्ट०५ अष्ट०।

णिव्वाणपसाहण न०(निर्वाणप्रसाधन) मोक्षसाधने, पं०व० ३द्वार।

णिव्वाणपुर न०(निर्वाणपुर) ईषत्प्राग्भाराऽऽख्ये सिद्धिपत्तने, आव०४ अ०। दर्श०।

णिव्वाणभावि (ण्) त्रि०(निर्वाणभाविन्) निर्वाणे भविष्यतीति निर्वाणभावी। भव्ये, विशे०।

णिव्वाणभूय त्रि०(निर्वाणभूत) असावद्यानुष्ठानभूते, सूत्र०। ''णिव्वाणभूए य परिव्वएज्जा।'' अस्यायमर्थः—यथा हि निर्वृतौ निर्व्यापारत्वात् कस्यचिदुपघाते न वर्तते, एवं साधुरपि सावद्यानुष्ठानरहितः परि समन्ताद् व्रजेदिति। सूत्र० १ श्रु० १०अ०।

णिव्वाणमग्ग पुं०(निर्वाणमार्ग) निर्वृतिर्निर्वाणं, सकलकर्मक्षयजमात्यन्तिकं सुखमित्यर्थः। निर्वाणस्य मार्गो निर्वाणमार्गः। परमनिर्वृतिकारणे, आव०४ अ०। ध०। आतु०। सिद्धिक्षेत्रावाप्तिपथे, उपा०२ अ०। सकलकर्मविरहजसुखोपाये, भ०६श०३३उ०।

णिव्वाणमहावाड पुं०(निर्वाणमहावाट) सिद्धिमहागोस्थानविशेषे, उपा०७ अ०।

णिव्वाणमहोयस पुं०(निर्वाणमहौजस) ऐरवते वर्षे भविष्यति सप्तमे तीर्थकरे, ति०। प्रव०।

णिव्वाणवाइ(ण्) पुं०(निर्वाणवादिन्) निर्वाणं सिद्धिक्षेत्राऽऽख्यं कर्मच्युतिलक्षणं स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिहेतुतो वा वदितुं शीलं येषां ते तथा। निर्वाणपथदेशके, ''पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवे, णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते।'' (२१)। सूत्र०२ श्रु० ६ अ०।

णिव्वाणबीय न०(निर्वाणबीज) मोक्षसुखयोर्हेतौ, सूत्र०१ श्रु० १२ अ०।

णिव्वाणसाहण न०।स्त्री०।(निर्वाणसाधन) परमपदप्रापके, सुखसाधने च। षो० १५ विव०। स्त्रियां ङीष्। ''निर्वाणसाधनीति च, फलदा तु यथार्थसंज्ञाभिः।'' (१०) निर्वाणं साधयतीति निर्वाण–साधनी। मनोयोगसारायाम्, षो०६ विव०।

णिव्वाणसिला स्त्री०(निर्वाणशिला) उज्जयन्तशैले नेमिनाथशिलायाम्, ''कंदप्पकप्परागा, कुगईविद्दवणनेमिनाहस्स। णिव्वाण–सिला नामेण अत्थि भुवणम्मि विक्खाया ॥१॥'' ती०३ कल्प०।

णिव्वाणसुह न०(निर्वाणसुख) निर्वाणमशेषकर्मक्षयस्तदवाप्तौ वा विशिष्टकोशप्रदेशः। तेन तत्र वा सुखं निर्वाणसुखम्। मोक्षसुखे, आचा०१ श्रु० ३ अ०१ उ०।

णिव्वाणसेट्ठ त्रि०(निर्वाणश्रेष्ठ) मोक्षप्रधाने, सूत्र०१ श्रु०६

णिव्वाणाऽऽवेस पुं०(निर्वाणाऽऽवेश) मोक्षाऽऽवेशे, ''यथाप्रकारा यावन्तः, संसाराऽऽवेशहेतवः। तावन्तस्तद्विपर्यासाः, निर्वाणा–ऽऽवेशहेतवः ॥१॥'' सूत्र०१ श्रु० १२ अ०।

णिव्वाणि(ण्) पुं०(निर्वाणिन्) अतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते भरत–क्षेत्रजे द्वितीये तीर्थकरे, प्रव०७ द्वार।

णिव्वाणी स्त्री०(निर्वाणी) श्रीशान्तिनाथस्य शासनदेव्याम्, प्रव० २७ द्वार। सा च कनकरुचिः पद् माऽऽसना चतुर्भुजा पुस्तकोत्पल–युक्तदक्षिणपाणिद्वया, कमण्डलुकमलकलितवामकरद्वया च। प्रव० २७ द्वार।

णिव्वाव पुं०(निर्वाप) शाकघृताऽऽदिपरिमाणे, नि०चू०१ उ०।

णिव्वावकहा स्त्री०(निर्वापकथा) एतावन्तस्तत्र पक्वान्नभेदाः, व्यञ्जनभेदा वेति भक्तकथायाम्, स्था०४ ठा०२ उ०।

णिव्वावण न०(निर्वापण) विध्यापने, दश०४ अ०। अभावाऽऽपादने, दश०८अ०।

णिव्वावार त्रि०(निर्व्यापार) व्यापारान्निर्गतो निर्व्यापारः। निरारम्भे, उत्त०६ अ०। परिहृतकृषिपशुपाल्याऽऽदिक्रिये, उत्त०६ अ०।

णिव्वाविऊण अव्य०(निर्वाप्य) विध्याप्येत्यर्थे, नि०चू० १ उ०।

णिव्वाविय त्रि०(निर्वापित) शीतलीकृते, ज्ञा०१ श्रु० १३ अ०।

***निर्वाप्य** अव्य०। दाहभयाद्विध्यातं विधायेत्यर्थे, ''पज्जालिया णिव्वाविया।'' दश० ५ अ०१उ०।

णिव्वाह पुं०(निर्वाह) व्यवस्थापने, द्वा०११ द्वा०।

णिव्वाहण न०(निर्वाहन) निःसारीकरणे, सूत्र०१ श्रु० १४ अ०। पञ्चा०।

णिव्विइ स्त्री०(निर्वृति) मथुरानाथस्य पर्वतकनृपस्य सुतायाम्, यया राधावेधकृत्कुमारो भर्तृत्वेन वृत इति। पञ्चा० १४ विव०।

णिव्विइय न०(निर्विकृतिक) विकृतिप्रत्याख्याने, प्रव०।

***निर्विगतिक** न०। मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विगतिहेतुत्वाद् वा विकृतयो विगतयो वा यत्र तन्निर्विकृतिकं, निर्विगतिकं वा। विकृतिप्रत्याख्याने, प्रव०। निर्विकृतिके अष्टौ नव वा आकारा भवन्ति। यथा–''णिव्विगइयं पच्चक्खाइ अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्च मक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमा-हिवत्तियागारेणं वोसिरइ।'' (प्रव०) आकाराः पूर्ववद् व्याख्येयाः, नवरं (पडुच्च मक्खिएणं ति) प्रतीत्य सर्वथा रूक्षं डण्डकाऽऽदिकमपेक्ष्य, म्रक्षितं स्नेहितमीषत्सौकुमार्योत्पादनाद् म्रक्षणकृतविशिष्टस्वादुतायाश्चाभावाद् म्रक्षितमिव यद्वर्तते तत्प्रतीत्य म्रक्षितं म्रक्षिताभास इत्यर्थः। इह चायं विधिः—यद्यङ्गुल्या घृताऽऽदि गृहीत्वा मण्डकाऽऽदि म्रक्षितं, तदा कल्पते निर्विकृतिकस्य, धारया तु न कल्पते, इति व्युत्सृजति विकृतीः परिहरति। इह च यासु विकृतिषु उत्क्षिप्तविवेकः संभवति, तासु नवाऽऽकाराः, अन्यासु द्रवरूपासु अष्टौ। ननु निर्विकृतिक एवाऽऽकारा अभिहिताः, विकृतिपरिमाण प्रत्याख्याने तु कुत आकारा अवगम्यन्ते? उच्यते—निर्विकृतिकग्रहणे सति विकृतिपरि–

माणप्रत्याख्यानस्यापि संग्रहो भवति, यतस्तत्रापि त एव तथैवा-ऽऽकारा भवन्ति । यथा एकाशनकस्य, पौरुष्याः पूर्वार्द्धस्य च सूत्रे आकारा अभिदधिरे, परं द्व्याशनकस्य, सार्द्धपौरुष्या अपार्द्धस्य च प्रत्याख्यानस्य त एव भवन्तीति प्रत्याख्यानं सूत्रानभिहितमपि भवति, अप्रमाद-वृद्धेः सर्वत्र संभवादित्यदोषः ।

ननु निर्विकृतिके विकृतिपरिमाणे वा प्रत्याख्याने क्वाष्टौ, क्व वा नव आकारा भवन्ति? इत्याह–

नवणीओगाहिमगे, अद्दवदहिपिसियघयगुडे चेव ।
नव आगारा एसिं, सेसदवाणं च अट्ठेव ॥२०७॥

नवनीते भक्षणके, अवगाहिमके च पक्वान्ने, अद्रवदधिपिशितघृत–गुडे चैव। अद्रवग्रहणं सर्वत्र सम्बन्धनीयम्। नव च आकाराः (एसिं ति) अमीषां विकृतिविशेषाणां भवन्ति । शेषाणां तु द्रवरूपाणामष्टैवाऽऽकाराः । अयमभिप्रायः–यत्रोत्क्षिप्तविवेकोऽद्रवरूपाणां नवनीतगुडाऽऽदीनां कर्तुं शक्यते, तत्र नवाऽऽकाराः, द्रवरूपाणां तु विकृतीनामुद्धर्तुमशक्यानामष्टावाकारा इति । प्रव०४ द्वार । आव०नि०।

आकाराः–

पंचेव य खीराऽऽइं, चत्तारि दहीणि सप्पि नवणीए ।
चत्तारि अ तेल्लाइं, दो विअडे फासिए दुन्नि ॥५८॥
महुपुग्गलाइँ तिन्नि उ, चलचलओगाहिमं तु जं पक्कं ।
एएसिं संसट्ठं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥५९॥

इदं विकृतिस्वरूपप्रतिपादकं गाथाद्वयं गतार्थमेव। अधुना एतदा–कारा व्याख्यायन्ते–तथा–''अणाभोगसहसाकारा तहेव, लेवालेवो पुण जहाऽऽयंबिलो तहेव दट्ठव्वो। गिहत्थसंसट्ठो बहुवत्तव्वो त्ति गाहाहिं भण्णइ।

ताओ पुण इमाओ–

खीरदहीविअडाणं, चत्तारि उ अंगुलाइँ संसट्ठं ।
फाणियतेल्लघयाणं, अंगुलमेगं तु संसट्ठं ॥६०॥
महुपुग्गलरसयाणं, अद्धंगुलयं तु होइ संसट्ठं ।
गुलपुग्गलनवणीयं, अद्दामलगं तु संसट्ठं ॥६१॥

गिहत्थसंसट्ठस्स इमो विही–खीरेण कुसणिओ कूरो जइ लब्भइ, तस्स जइ कुंडगस्स ओयणाओ चत्तारि अंगुलाणि दुद्धं, ताहे निव्विगइयस्स कप्पइ, पंचमं चाऽऽरद्धं विगती य, एवं दधिस्स वि, वियडस्स वि, केसु वि विसएसु वियडेण मीसिज्जइ ओयणो, ओगाहिमओ वा फाणियगुलस्स तेल्लघयाण य। एएहिं कुसणिए जइ अंगुलं उवरि अत्थइ, तो वट्टइ, परेण न वट्टइ। महुस्स, पोग्गलरसगस्स य अद्धंगुलेण संसट्ठं होइ, पिंडगुलस्स पुग्गलसस नवणीयस्स अद्दामलगमेत्तं संसट्ठं। जइ बहूणि एयप्पमाणाणि कप्पइ. एगं पि बहुं न कप्पइ । इति गाथाद्वयार्थः॥६१॥ उक्खित्तविवेगो जहा आयंबिले जं उद्धरिउं तीरइ, सेसेसु नत्थि, पडुच्च मक्खियं पुण–जइ अंगुलीए गहाय मक्खेइ तेल्लेण वा घएण वा, ताहे नि वगइयस्स कप्पइ, अह धाराए छुब्भइ, मणागं पि न कप्पइ

इयाणिं पारिट्ठावणियागारो–सो पुण एगासणएगट्ठाणाइसाधारणो त्ति कट्टु विसेसेण परूविज्जइ, इति तन्निरूपणार्थमाह–

आयंबिल्लमणायं–बिले चउत्थाइबालवुड्ढसहू ।
असहू अणहिंडिअए, पाहुणगनिमंतणा बलिआ ॥६२॥
विहिगहिअं विहिभुत्तं, उचरिअं जं भवे असणमाई ।
तं गुरु णाणुण्णायं, कप्पइ आयंबिलाईणं ॥६३॥
चउरो अ होंति भंगा, पढमे भंगम्मि होइ आवलिआ ।
इत्ता अ तइअभंगे, आवलिआ होइ नायव्वा ॥६४॥

यद्वाऽऽन्तरे प्रबुद्ध इव चोदकः पृच्छति–अहो! तावद्भगवता ''एगासण-एगट्ठाणगआयंबिलचउत्थछट्ठऽट्ठमणिव्विइएसु पारिट्ठाव–णियागारो वन्निओ, न पुण जाणामि केरिसस्स साहुस्स पारिट्ठाव–णियं दायव्वं, न दायव्वं वा? आयरिओ भणइ–(आयंबिल्लमणायंविले गाहा) पारिट्ठावणियाभुंजणे जोग्गा साहू दुविहा–आयंबिलग्गा, अणायंबिलगा य । आयंबिलग विरहियाएगासणेगट्ठाणचउत्थछट्ठऽट्ठमनिव्विगइय-ज्जवसाणा दसमभत्तिगादीणं मंडलिए उव्वरिए पारिट्ठावणियं न कप्पइ दाउं, तेसिं पेज्जं, उण्हयं वा दिज्जइ । अवि य–तेसिं देवया व होज्ज–एगो आयंबिल्लिओ, एगो चउत्थभत्तिओ होज्ज। कयरस्स दायव्वं? चउत्थ-भत्तियस्स । सो दुविहो–बालो, वुड्ढो य । बालस्स य दायव्वं । बालो दुविहो–सहू,असहू य । असहुस्स दायव्वं । असहू दुविहो–हिंडियगो, अहिंडियगो य। हिंडियस्स दायव्वं। हिंडियओ दुविहोवत्थव्वगो, पाहुणगो य । पाहुणगस्स दायव्वं । एवं ताव चउत्थभत्ते बालो असहू अहिंडिओ पाहुणगो पारिट्ठावणियं भुंजाविज्जइ।१। तस्स असइ बालो असहू हिंडिओ वत्थव्वो ।२। तस्स असति बालो असहू अहिंडिओ पाहुणगो ।३। तस्स असति बालो असहू अहिंडिओ वत्थव्वो ।४। एवमेतेण करणोवाएण चउहं एएहिं सोलस आवलिया भंगा भासियव्वा। तत्थ पढमभंगियस्स दायव्वं; तस्सासति वितियस्स दायव्वं; तस्सासइ तइयस्स। एवं०जाव चरिमस्स दायव्वं । पउरपारिट्ठावणियाए वा सव्वेसिं दायव्वं । एवं आयंबिलियस्स छट्ठभत्तियस्ससोलस भंगा विभासा। एवं आयंबिलियस्स अट्ठमभत्तियस्स सोलस भंगा । एवं आयंबिलियस्स निव्विगइयस्स सोलस भंगा, नवरं आयंबिलियस्स दायव्वं । एवं आयंबिलियस्स एकासणियस्स सोलस भंगा । एवं आयंबिलियस्स एगट्ठाणियस्स सोलस भंगा । एवमेए आयंबिलउ–क्खेवगसंजोगेसु सव्वग्गेणं छन्नउई आवलिया भवंति । आयंबिलि–गउक्खेवगो गओ ॥ एगो चउत्थभत्तिओ, एगो छट्ठभत्तिओ, एत्थ वि सोलस, नवरं छट्ठभत्तियस्स दायव्वं । एवं चउत्थभत्तियस्स अट्ठमभत्तिअस्स वि सोलस भंगा। एगो एगासणिओ, एगो एगट्ठा–णिओ, एगट्ठाणियस्स दायव्वं, एत्थ वि सोलस । एगो एगासणिओ, एगो निव्विगइओ, एगासणियस्स दायव्वं, एत्थ वि सोलस। एगो एगट्ठाणिओ, एगो निव्विगइओ, एगट्ठाणियस्स दायव्वं, एत्थ वि सोलस जाय त्ति गाथार्थः ।६२। तं पुण पारिट्ठावणियं जहाविधीए गहियं विधिभुत्तं सेसं च तेसिं दिज्जइ । तत्र (विधिगहियं विधिभुत्तं गाहा) विहिगहियं नाम–अलुद्धेण उग्गमियं पच्छा मंडलीए कप्पयरग (च्छेद)सीहखइएण वा विहीए भुत्तं, एवंविधं पारिट्ठावणियं । जाहे गुरू भणइ–अज्जो ! इमं पारिट्ठावणियं इच्छाकारेण भुंजाहि त्ति, ताहे से कप्पति वंदणं दाउं संदिसावेउं भोत्तव्वं ति । तत्थ चउभंगविभासा ।६३। (चउरो य होंति गाहा) विहिगहियं विहिभुत्तं १, विहिगहियं अविहिभुत्तं २, अविहिगहियं विहिभुत्तं३, अविहिगहियं अविहिभुत्तं४ । तत्थ पढमभंगोभिक्खं साधू हिंडति, तेण य अलुद्धेण बाहिं संजोवणादोसेण विप्पजढेण ओहारियं भत्तपाणं, पच्छा मं–

डलीए पयरगच्छेदौ तिसु विधीए समुद्दिट्ठं । एवंविहं पुव्ववन्नियाणं आवलियाणं कप्पइ समुद्दिसिओ ।१। इयाणिं वितिय भंगो तहेव–विहीए गहियं, भुत्तं पुण कागसियालादिदोसदुट्ठं, एवं अविहीए भुत्तं। तत्थ जइ उव्वरइ, न उज्झिज्जइ, न कप्पइ, छड्डिमाई दोसा हवंति। एरिसं जो देइ, जो य भुंजइ,दोण्ह वि विवेगो कीरइ, अपुण कारए वा उवट्ठियाणं पंचकल्लाणयं दिज्जइ ।२। इयाणिं तइयभंगोतत्थ अविहिगहियं वीसुं २ उक्कोसगादि दव्वाणि भाणियव्वाणि। कत्थ पुडगम्मिव पडिग्गहे वियारेइ-एवं मे भोत्तव्वं ति,आगतो पच्छा मंडलीए, रावणिएण समरसं काउं मंडलीए विहीए समुद्दिट्ठं। एवंविहे जं उव्वरियं, तं पारिट्ठावणियागारं आवलियाणं विहिभुत्तं ति काउं कप्पइ। ३। चउत्थभंगे आवलियाणं न कप्पइ भोत्तुं, ते चेव पुव्व–वन्निया दोसा । एवमेव भावपच्चक्खाणं भणियं ति गाथाऽर्थः ॥६४॥ आव०६ अ०।

अथ यदुक्तं ''निव्विइए अट्ठ नय य आगारा(१०)''

इति, तद्विभागदर्शनायाऽऽह–

णवणीओगाहिमए, अद्दवदहिपिसियघयगुले चेव।
णवआगारा तेसिं, सेसदवाणं च अट्ठेव ॥११॥

नवनीतं च म्रक्षणम् । अवगाहेन स्नेहबोलनेन निर्वृत्तमपगाहिमम्, तदेवावगाहिमकं पक्वान्नं तच्चेति नवनीताऽवगाहिमकम्, तत्र। तथाऽद्रवं कठिनं यद्दधिपिशितघृतगुडं प्रतीतस्वरूपं तत् तथा। समाहारद्वन्द्वगर्भ कर्मधारयपदमिदम् । तथाऽद्रवदधिपिशितघृतगुडमेव । चैवशब्दौ समुच्चयावधारणार्थौ । दर्शित एव चाऽनयोः प्रयोगः । किमित्याह–नवाऽऽकारा भवन्ति । एतेषूक्षिप्तविवेकस्य संभवात् । तथाहि–भक्तस्योपरि नवनीतं दधिपिशिताऽऽदीनि चाद्रवं मुक्तं,तदुत्क्षिप्यमाणं कठिनत्वेन सर्वथा विवेचयितुं शक्य–मतस्तत्संसृष्टमपि भक्तं भुञ्जानस्य ''उक्खित्तविवेगेणं'' इत्येत–दाकारबलाद् न भङ्गः । एवं तावदाकारनवकसंभव उक्तः। अथ तदष्टकसंभवमाह–तेषां दध्यादीनां विकृतिविशेषाणाम् । पूर्वमद्रवशब्देन विशेषितत्वादिह द्रवाणामिति विशेषणं द्रष्टव्यम् । तथा शेषाः प्रागुक्तनवनीताऽऽदिव्यतिरिक्ता विकृतिविशेषाः, ते च ते द्रवाश्च श्रथा भोजने निक्षिप्ताः सन्तः सर्वथा विवेकुमशक्याः शेषद्रवाः, तेषां शेषद्रवाणां मद्याऽऽदीनाम्। चशब्दः समुच्चये। सम्बन्धिनि प्रत्याख्यान इति गम्यते। किमित्याह–अष्टैव, न तु नव भवन्त्या–काराः। इह च विकृत्यन्तरप्रत्याख्यानमपि निर्विकृतिकमुच्यते । तेन यो मद्यदुग्धतैलाऽऽदीनां प्रत्याख्यानं करोति, तस्योत्क्षिप्त–विवेकोच्चारणं नाऽर्थवत्, दध्यादिप्रत्याख्यातुः पुनरर्थवत्, तद्विवेकस्य संभवादिति भावना। इदं च वस्तुविचारमात्रमेव। यतो दुग्धाऽऽदिकमपि प्रत्याचक्षाणेनोत्क्षिप्तविवेक उच्चारणीय एव, भग–वतीयोगवाहिना गृहस्थसंसृष्टाऽऽदिवदिति। अन्ये त्वाहुः–वचन–प्रामाण्यान्नोच्चारणीय एवेति। एते चैवम्–''निव्विगइयं पच्चक्खाइ अण्णत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्च मक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागा–रेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।''व्यक्तम् । नवरं गृहस्थसंसृष्टस्य निर्विकृतिकं प्रति विशेषव्याख्यानमिदम्, गृहस्थेन स्वप्रयोजनाय दुग्धेन संसृष्ट ओदनो, दुग्धं यदि तमतिक्रम्योत्कर्षतश्चत्वार्यङ्गुलानि यावत् उपरि वर्तते, तदा तद् दुग्धमविकृतिः, पञ्चमाङ्गुलाऽऽरम्भे तु विकृतिरेव। अनेन न्यायेनान्या अपि।

तत्रोक्तम्–

''खीरदहीवियडाणं, चत्तारि उ अंगुलाइँ संसट्ठं।
फाणियतेल्लघयाणं, अंगुलमेगं तु संसट्ठं ॥६०॥
महुपोग्गलरसयाणं, अद्धंगुलयं तु होइ संसट्ठं।
गुलपोग्गलणवणीयं, अद्दामलयं तु संसट्ठं ॥६१॥''(आव०नि०)

फाणियं काकवः। पुद्गलरसको मांसरसः। पुद्गलं मांसम्। आर्द्रामलकं तु पीलुमयूर इति सम्प्रदाय इति।

(पडुच्च मक्खिएणं ति) प्रतीत्य सर्वथा रूक्षं मण्डकाऽऽदिकमपेक्ष्य म्रक्षितं स्नेहितम्, ईषत्सौकुमार्योत्पादनात्, म्रक्षणकृतविशिष्टस्वादुताया अभावाच्च म्रक्षितमिव यद्वर्तते तत्प्रतीत्यम्रक्षितं, म्रक्षिताभास इत्यर्थः। तस्मात्प्रतीत्य म्रक्षितादन्यत्र निर्विकृतिकम्। इह च पञ्चम्यर्थे तृतीयेति। इह चायं विधिः– यद्याङ्गुल्या तैलाऽऽदि गृहीत्वा मण्डकाऽऽदि म्रक्षितं, तदा कल्पते निर्विकृतिकस्य, धारया तु न कल्पते। व्युत्सृजति विकृतिं त्यजतीत्यर्थः। इह सूत्रे–''निव्विइए अट्ठ नव य आगारा''(१०) इत्येवं निर्विकृतिकस्यैव प्रत्याख्यानतयाऽभिधानेऽपि विकृतिपरिमाणप्रत्याख्यानमपि न दुष्टम्,अप्रमादवृद्धिहेतुत्वात्। अत एव सूत्रे ''चउव्विहं पि आहारं'' इत्येवं पाठेऽपि द्विविधाऽऽहारस्य त्रिविधाऽऽहारस्य च पौरुष्यादिप्रत्याख्यानमदुष्टमेवमेकाशनकस्य पौरुष्याः पुरिमार्द्धस्यैव च सूत्रेऽभिधानेऽपि द्व्याशनकस्य सार्द्धपौरुष्या अपार्द्धस्य च प्रत्याख्यानमदुष्टमिति केचित्, अप्रमादवृद्धद्व्याशनकाऽऽदिष्वपि संभवात्। आकारा अपि य एवैकाशनकाऽऽदिषु त एवेतरेष्वपिन्याय्याः, अशनाऽऽदिशब्दसाम्यात्, विकृतिपरिमाणद्विविधाऽऽद्याहारपौरुष्यादिप्रत्याख्यानेष्विवेति। न च वाच्यमभिग्रहप्रत्याख्यानानि द्व्याशनकाऽऽदीनि, ततस्तेषु चत्वार एवाऽऽकारा भविष्यन्ति,एकाशनाऽऽदिभिस्तुल्ययोगक्षेमत्वादितरेषामिति। अन्ये तु मन्यन्ते–एवं हि प्रत्याख्यानमर्यादा न काचित्स्यात्। तत एकाशनकाऽऽदीन्येव प्रत्याख्यानानि। एकाशनकाशक्तस्तु सार्द्धपौरुषीं वा यावद् बुभुक्षुर्ग्रन्थिसहितमेव तदुपरि प्रत्याख्यातीति गाथाऽर्थः ॥११॥

अथाऽऽकाराः किमर्थमिहाभिधीयन्ते? इत्यत्राऽऽह–

वयभंगो गुरुदोसो, थोवस्स वि पालणा गुणकरी उ।
गुरुलाघवं च णेयं, धम्मम्मि अओ उ आगारा ॥१२॥

व्रतभङ्गो नियमभङ्गः। किमित्याह– गुरुर्महान् दोषो दूषणमशुभकर्मबन्धाऽऽदिरूपो यस्मिन्नसौ गुरुदोषः, भगवदाज्ञाविराधनात्। तथा स्तोकस्याप्यल्पस्याप्याकाराऽऽश्रयणतो व्रतस्यास्तां महतः। पालनाऽऽराधना । गुणकरी तु कर्मनिर्जरालक्षणोपकारकारिण्येव, विशुद्धकुशलपरिणामरूपत्वात् । तथा गुरु च सारं, लघु चासारं, तयोर्भावो गुरुलाघवम् । तच्च ज्ञेयं ज्ञातव्यं भवति । क्वेत्याह–धर्मे चारित्रधर्मे । तथाहि–उपवासे कृतेऽपि संजातासमाधेरौषधाऽऽदिदानतः समाधिसंपादने निर्जरागुणो गुरुर्भवति, इतरथा पुनरल्प इति विमर्शनीयम् । एकान्ताग्रहस्य प्रभूताषकारकारित्वेनाऽशोभनत्वात्, यत एवमतोऽस्मात्कारणात् । तुशब्दः पूरणार्थः । आकारा अपवादाः प्रत्याख्याने क्रियन्ते इति। इदमुक्तं भवति–कृतप्रत्याख्यानस्यापि गुरुलाघव चिन्तया समाध्याद्यर्थमाहारस्यावश्यं ग्रहणमुचितमतः कृताऽऽकारत्वेनाल्पमपि व्रतं सम्यक् पालितां भवति, अकृता–

कारतायां तु महदपि तद्भग्नं भवति । पालनाभङ्गौ चार्थानर्थकरावित्याकाराः समाश्रयणीया भवन्तीति गाथाऽर्थः ॥१२॥

उक्त आकारविधिः । पञ्चा०५ विव० ल०प्र०। पं०व०।

अथ येषु निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तं, तान्याह–

इत्तरठविए सुहुमे, ससणिद्ध सरक्खमक्खिए चेव ।
मीसपरंपरठाविया–इ वीयाइएसु वाऽविगई ॥४३॥

इत्वरस्थापनायां सूक्ष्मप्राभृतिकायां सस्निग्धप्रक्षिते सरजस्कप्रक्षिते च मिश्रपरम्परस्थापिताऽऽदिषु, मिश्राः सचित्ताचित्तरूपाः पृथिवयप्तेजोवायुप्रत्येकानन्तवनस्पतित्रसाः, तेषु परम्परं व्यवहितं निक्षिप्तम् । आदिशब्दात्पिहितसंहृतछर्दितानि, तेषु (वीयाइएसु व त्ति) प्रत्येकबीजेष्वचित्तबीजेषु वाऽनन्तरपरम्परनिक्षिप्तपिहितसंहृतच्छर्दितेषु बीजान्मिश्रं च अविकृतिपरित्यागप्रायश्चित्तमित्यर्थः। वाशब्दाच्च–

''छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव ।
घट्टंती गाहंती आरंभंती इ सङ्घाणं''॥१॥ इत्यपि ज्ञेयम् ।

अस्यार्थः–षट्कायव्यग्रहस्ता श्रमणार्थमुत्थाय षट्कायान् भुवि निक्षिप्य पुनस्तानेव घट्टयन्ती तत्संघट्टं कुर्वाणा गाहमाना विलोडनेन इतस्ततो विक्षेपणेन अगाढं गाढं चापरितापयन्ती आरम्भमाणा षट्कायोपद्रवं कर्माऽऽरम्भं कुर्वती दात्री यदि ददाति, ततो ग्रहीतुः साधोः स्वस्थानं प्रायश्चित्तं भवति । अयमभिप्रायः–जीतकल्पे यस्यापराधस्य यत्प्रायश्चित्तमुक्तमस्ति, तत्तस्य स्वस्थानं, ततश्च दात्र्याः पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिसंघट्टाऽऽगाढपरितापोपद्रवान् कुर्वत्याः, सकाशाद् ग्रहीतुः निर्विकृतिपुरिमैकाशनाचाम्लानि, अनन्तवनस्पतिविकलेन्द्रियसंघट्टाऽऽदीन् कुर्वत्याः पार्श्वादादातुः पुरिमैकाशनाचाम्लक्षपणानि, पञ्चेन्द्रियसंघट्टाऽऽदीन् कुर्वत्याः प्रायश्चित्तग्राहकस्य एकाशनाचाम्लक्षपणैककल्याणकानि प्रायश्चित्तं भवतीत्यर्थः । उक्तं षट्चत्वारिंशद्दोषप्रायश्चित्तम् । मूलकर्मप्रायश्चित्तं त्वष्टमप्रायश्चित्तमध्ये भणिष्यते ॥४३॥

इहानन्तरं सूत्रगाथायां निर्विकृतिप्रायश्चित्तमुक्तं, ततस्तत्प्रस्तावादन्यदपि निर्विकृतिशोध्यमाह–

सहसाऽणाभोगेण व, जेसु पडिक्कमणमभिहियं तेसु ।
आभोगेण वि बहुसो, अइप्पमाणे य निव्विगई ॥४४॥

सहसाऽनाभोगः प्रागुक्तस्वरूपः, सहसाऽनाभोगेन वा वासितचित्तेषु स्थानकेषु प्रतिक्रमणार्हं प्रायश्चित्तमभिहितं, तेषु स्थानकेषु मध्ये आभोगेनापि, कोऽर्थः? जानन्नपि बहु स पुनर्यदासेवते, अतृप्यन् अतिमात्रं वा तदेवाऽऽसेवते तत्र सर्वत्र निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तम् ॥४४॥ जीत०। निर्गतो घृताऽऽदिविकृतिभ्यो यः स निर्विकृतिकः। स्था०५ ठा०१उ०। विनिर्गतविकृतिपरिभोगे, दश०। ''अमज्जमंसासि अमच्छरी अ, अभिक्खणं निव्विगइं गया य । (७)'' दश०२ चू०। निर्गतघृताऽऽदिविकृतिके, औ०। दधि गृहस्थैरोदनाऽऽदिना संसृष्टं तद्दिने प्रहरानन्तरं निर्विकृतिकं भवति,तथा दुग्धमपि राद्धकूरपृथुकाऽऽदिना संसृष्टं निर्विकृतिकं भवति, न वा? इति प्रश्ने, उत्तरम्– कूरमिश्रं दधि करम्बरूपं ज्ञायते, तद् घटिकाद्वयादनु निर्विकृतिकं भवति । यच्च दधि दुग्धं वा ''दुद्धं दहि चउरंगुल'' इत्यनुसारेण कूराऽऽदिमिश्रं विधीयते, तद्भाष्यावचूरिवचनात्पर्यु–षितंसद् निर्विकृत्तिकं भवतीति । प्र० ७७ । सेन० ३ उल्ला०। श्रावकस्य निर्विकृतिकप्रत्याख्याने यतिवद् निर्विकृतिकं कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–यतिनां श्रावकाणां च मुख्यवृत्त्या निर्विकृतिकं न कल्पते, कारणे तु कल्पते, एवंविधान्यक्षराणि शास्त्रे सन्ति, तस्मात् श्राद्धः कदाचिन्निर्विकृतिकप्रत्याख्यानं करोति, तस्य न कल्पते, बद्धतपसि तु कल्पते, कारणत्वात्, एकान्तेन निषेधो ज्ञातो नास्ति, यतिनां तु पर्वाऽऽदिषु पुनः पुनस्तत्प्रत्याख्यानकरणात्कल्पते इति ।४५२।प्र०। सेन० ३ उल्ला०। बहुतरे दुग्धे दधिन वा यत्राल्पतरान् तन्दुलान् प्रक्षिपति, तद् दुग्धं तद्दधि वा निर्विकृतिकं भवति, न वेति प्रश्ने–उत्तरम्– ''दहिखीरबहुअप्पतंदुल'' इति भाष्यगाथावचनादल्पतन्दुलप्रक्षेपेऽपि तद् दुग्धं तद्दध्यपि निर्विकृतिकं भवतीति ज्ञायते इति। ४५७ प्र०। सेन०३उल्ला०। श्राद्धानामाचाम्लमध्ये निर्विकृतिमध्ये च उष्णोदकं प्रासुकं च वारि शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्– उभयमपि शुद्ध्यति । ४७६ प्र०। सेन० ३उल्ला०।

णिव्विगप्प पुं०(निर्विकल्प) निःसन्दिग्धे, ग०२ अधि०। गतशङ्के, ग०२ अधि०। ''अत्थि त्ति निव्विगप्पो ।'' दश०४ अ०। निष्क्रान्ताशेषभेदस्वरूपे, सम्म०१ काण्ड।

णिव्विगिच्छ न०(निर्विचिकित्स्य) निर्गता विचिकित्सा निर्विचि–कित्सा, तस्य भावो निर्विचिकित्स्यम् । फलं प्रति संदेहाकरणे, उत्त० २८ अ०।

निर्विचिकित्स त्रि०। विचिकित्सा मतिविभ्रमो, निर्गता विचिकित्सा यस्मादसौ निर्विचिकित्सः। साध्वेव जिनदर्शनं, किं तु प्रवृत्तस्यापि सतो ममास्मात्फलं भविष्यतीति वा, न वा, कृवीबलाऽऽदिक्रियासूभयथाऽप्युध्देरिति कुविकल्परहिते, ध०। न ह्यविकल उपाय उपेयवस्तुपरिप्रापको न भवतीति संजातनिश्चये, ध०१अधि०। ग०। प्रव०। व्य०। विचिकित्सारूपाऽतिचाररहितसम्यक्त्वे, दश०३अ०। फलं प्रति निःशङ्के, दशा० १०अ०।

णिव्विगिय न०(निर्विकृतिक) 'णिव्विइय' शब्दार्थे, प्रव०२ द्वार।

णिव्विग्घ अव्य०(निर्विघ्न) विघ्नाभावे, ''सीसपवित्तिनिमित्तं, निव्विग्घत्थं च।'' अनु०।

णिव्विट्ठ त्रि०(निर्विष्ट) आसेवितविवक्षितचारित्रे अनुपारिहारिके, स्था०३ ठा०४उ०। अनु०। उचिते, दे०ना० ४ वर्ग ३४ गाथा।

णिव्विट्ठकप्पट्ठिइ स्त्री०(निर्विष्टकल्पस्थिति) निर्विष्टा–आसेवि–तविवक्षितचारित्राऽनुपारिहारिका इत्यर्थः । तत्कल्पस्थितिः। स्थितिभेदे, स्था०३ ठा०४उ०। निर्विष्टकांयिके, (तद्विषयके) यथा प्रतिदिनमायाममात्रतया भिक्षा तथैवेति । उक्तं च–''कप्पट्ठिया वि पइदिणं,करें ति एमेव चायामा।''स्था०३ ठा०४उ०।

णिव्विट्ठकाइय पुं०(निर्विष्टकायिक) निर्विष्टः–आसेवितः प्रस्तुततया विशेषः, कायो येषां ते निर्विष्टकायाः, त एव स्वार्थकप्रत्ययोपादानान्निर्विष्टकायिकाः, तदभेदादिदमपि (चारित्रमपि) निर्विष्टकायिकम् । अनु०। विशे०। बृ०।निर्विशमानकानुच–

रकेषु, भ० २५ श०७ उ०। पं०सं०। आसेवितविवक्षितचारित्रका–यिकेषु, तदन्वयव्यतिरेकाच्चारित्रभेदे च। कर्म४ कर्म०। (''परिहार'' शब्दे चैषां व्याख्या वक्ष्यते)

णिव्विण्ण त्रि०(निर्विण्ण) खिन्ने, जीत०। ''जो एत्तियं पि चित्ते, इच्छइ सो को न णिव्विण्णो?'' आचा०१ श्रु०३ अ०३उ०।

णिव्विण्णचार त्रि०(निर्विण्णचार) चरणं चारोऽनुष्ठानं, निर्विण्णस्य चारो निर्विण्णचारः; सोऽस्यास्तीति निर्विण्णचारी। खिन्ने, ''से णिव्विण्णचारी अरते पयासु।'' आचा०१ श्रु०५ अ०३उ०।

णिव्विण्णवरा स्त्री०(निर्विण्णवरा) निर्विण्णा वराः परिणेतारो यस्याः स्य निर्विण्णवरा। वरवर्जितायाम्, ज्ञा०२ श्रु०१ वर्ग।

णिव्विण्णाण त्रि०(निर्विज्ञान) बलीवर्दवत् (आव०५अ०) विशिष्ट–ज्ञानरहिते, तं०।

णिव्विति स्त्री०(निर्वृति) कर्णशष्कुलिकाऽऽदावाकारे द्रव्येन्द्रियभेदे, विशे०। नं०। निर्वृतिराभ्यन्तरबाह्यभेदाद् द्विधैव। निर्वर्त्यत इति निर्वृतिः। केन निर्वर्त्यते? कर्मणा। तत्रोत्सेधाङ्गुलासङ्ख्येयभागप्रतानानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितां वृतिरभ्यन्तरा निर्वृतिः। तेष्वेवाऽऽत्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो निर्माणनाम्ना पुद्गलविपाकिना वर्द्धकिसंस्थानीयेन आरचितः कर्णशष्कुल्यादिविशेषः, अङ्गोपाङ्गनाम्ना च निष्पादित इति बाह्यनिर्वृतिः। आचा०१ श्रु० २ अ०१उ०। स्था०।

णिव्वितिलक्खण त्रि०(निर्वृतिलक्षण) सर्वसावद्ययोगोपरमस्वभावे, पा०। इयत्ताऽवगमरूपे, अनु०।

णिव्विदुगुंछ त्रि०(निर्विजुगुप्स) जुगुप्सारहिते, विद्वज्जुगुप्सानाम–सम्यक्त्वातिचाररहिते, ध०१ अधि०।

णिव्विद्ध (देशी) सुप्तोत्थिते, निराशे, उद्भटे, नृशंसे च। दे०ना०४ वर्ग ४८ गाथा।

णिव्विभाग त्रि०(निर्विभाग) भागरहिते, भागाः परमाणवः। दर्श० ५ तत्व।

णिव्वियार त्रि०(निर्विकार) निर्गतो विकारः कामोन्मादलक्षणो यस्मादसौ निर्विकारः। विकाररहिते, ''इमस्स धम्मस्स णिव्वियारस्स निव्वितिलक्खणस्स।'' पा०। इन्द्रियमनोविकाररहिते, ध०३ अधि०। कोपाऽऽदिविकाररहिते, संथा०।

णिव्वियारसमाहि पुं०(निर्विकारसमाधि) आलम्बने देशकाल–धर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्राऽवभासित्वेन भावनायाम्, समाधिभेदे, द्वा०२० द्वा०।

णिव्विस त्रि०(निर्विष) विषरहिते, ''णिव्विसं पंडुरं मंसं।'' औ०।

णिव्विसंत त्रि०(निर्विशत्) समस्तं प्रवेशयति, अपरिभुञ्जमाने, अनासेवमाने, स्था०५ ठा०१उ०।

णिव्विसणकप्प पुं०(निर्विशनकल्प) निर्विशमानकल्पस्थितौ, पं०भा०।

इयाणिं णिव्विसणकप्पो–

....., **अहुणा वोच्छामि णिव्विसणकप्पं।**
जह निव्विसंति समणा, सम्मं तु गुरूवएसेणं।
णाणं च दंसणं वा, तहा चरित्तं समितिगुत्तीओ।
एक्कासीतिपदेहिं, णिव्विस–णिव्वेसणाकंप्पो॥
छव्विहकप्पाऽऽदीया, वायालं ताओ पंचवीसाए।
मेलीणा उ भवंती, एकासीती भवे भेदा॥
णवरं छव्विहकप्पे, वीसतिकप्पे य णामठवणाओ।
मोत्तुं सेसा सव्वे, एकासीती तु मेलीणा॥
एवं सव्वोसिम्मी, णिव्विसमाणस्स णिव्विसणकप्पो।
एतेसिं पुण कतरो, महिड्ढिओ होइ सव्वेसिं॥ पं०भा०।

(णाणं च दंसणं च गाहा) नाणे त्ति दंसणप्पभावणेसु य तवजुत्तयाए य पंचविहचरित्तजुत्तयाए य समिइगुत्तीहि य उवउत्तयाए अणुपालेंति एयासीइपएहिं। कयरे पुण एकासीइकप्पा? उच्यते–छव्विहकप्पस्स वीसइविहकप्पस्स य नामठवणाकप्पो अ वि नेऊण सेसा छव्विह–सत्तविह–दसविह–वीसविहा वायालीस त्ति एगट्ठ मेलिया एकासीइकप्पा होंति। एए समं णिव्विसमाणस्स णिव्वेसकप्पो भवइ। एस णिव्विसणकप्पो। पं०चू०।

णिव्विसमाण पुं०(निर्विशमान) परिहारविशुद्धिकल्पं वहमानेषु, स्था०६ ठा०। भ०।

णिव्विसमाणकप्पट्ठिइ स्त्री०(निर्विशमानकल्पस्थिति) निर्विशमाना ये परिहारविशुद्धितपोऽनुचरन्ति, पारिहारिका इत्यर्थः, तेषां कल्पे स्थितिः। परिहारकल्पस्थितौ, स्था०। यथा ग्रीष्मशीतवर्षाकालेषु क्रमेण तपो जघन्यं चतुर्थषष्ठाष्टमाऽऽदि, मध्यमं षष्ठाऽऽदीनि, उत्कृष्टमष्टमाऽऽदीनीति, पारणे चायामम्। एवं पिण्डेषणासप्तके चाद्ययोरग्रह एवेति पञ्चसु पुनरेकया भक्तमेकया च पानकमित्येवं द्वयोरभिग्रह इति।

उक्तं च–

''दस अट्ठ दस छट्ठं, अट्ठेव य छट्ठ चउरो य।
उक्कोसमज्झिमजहन्नगा उ वासासिसिरगिम्हे॥१॥
पारणगे आयामं, पंचसु गहों दोसुऽभिग्गहो भिक्खा॥''

स्था०३ ठा०४उ०। पञ्चा०।

णिव्विसमाणय पुं०(निर्विशमानक) विवक्षित (परिहार) तपो–विशेषाऽऽसेवके, प्रव०६९ द्वार। कर्म०। पं०सं०। साधौ, तदव्यतिरेकाच्चारित्रभेदे च। विशे०। अनु०। बृ०। (अत्र 'परिहार' शब्दो वीक्ष्यः)

णिव्विसय त्रि०(निर्विषय) विषयाभिलाषरहिते, उत्त० १४ अ०। शब्दाऽऽदिविषयरहिते, उत्त०पाई०१४ अ०। निर्गोचरे, अनर्थके, ''वइमेत्तं णिव्विसयं, दोसा य मुंसति विन्नेयं।'' पञ्चा० १२ विव०। देशान्निष्क्रान्ते, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। ''पुत्तदारे य णिव्विसए करेइ।'' आ०म०१अ०२खण्ड।

णिव्विसी स्त्री०(निर्विषी) महौषधिभेदे, ती०६ कल्प०।

णिव्विसेस त्रि०(निर्विशेष) विशेषवर्जिते, तं०। अपवादोत्सर्गज्ये–ष्ठेतराऽऽदिविशेषरहिते, तं०।

णिव्वुअ त्रि० (निर्वृत) नि–वृ–क्तः। ''**उदृत्वादौ**'' ॥८।१।१३१॥ इत्यादेर्ऋत उव्वम्। प्रा० १ पाद। क्रोधाऽऽद्यपगमने–

न शीतीभूते, आचा०१ श्रु०८ अ०१उ०। निर्वाणं गते,प्रव० ३३ द्वार। स्वस्थाऽऽत्मनि, ज्ञा०१ श्रु०१अ०।

णिव्वुइ स्त्री०(निर्वृति) **''उदृत्वादौ'' ॥८।१।१३१॥** इत्यादिषु शब्देष्वादेर्ऋत उत्वम्। प्रा०१ पाद। ज्ञा०। मनःस्वास्थ्ये, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। समाधौ, नं०। सुखे, आ०म०२ अ०। सामान्यसुखे, आव०४ अ०। महादुर्भिक्षे वज्रसेनेन प्रव्राजितस्य जिनदत्तश्राद्धस्य सह प्रव्रजिते पुत्रे, यतो निर्वृतिनाम्नी शाखा निर्गता। कल्प०८ क्षण। निर्वृतिकुलीनशीलाङ्गाऽऽचार्येण प्रथमद्वितीययोरङ्गयोष्टीका कृता। आचा०१ श्रु०६ अ०४ उ०। मथुरायां पर्वतकराजस्य सुतायाम्, आ० म०१ अ०२ खण्ड। आव०।

णिव्वुइकर त्रि०(निर्वृतिकर) निर्वृतिर्निर्वाणं सकलकर्ममलापगमनेन स्वस्वरूपलाभतः परमस्वास्थ्यं,तद्धेतुः सम्यग्दर्शनाऽऽद्यपि कारणे कार्योपचारान्निर्वृतिः। तत्करणशीलो निर्वृतिकरः। प्रज्ञा०१ पद। सर्वकर्मक्षयभावकरे, तं०। सुखोत्पादके, रा०।

णिव्वुडपह पुं०(निर्वृतिपथ) निर्वृतेर्मोक्षस्य पन्थाः। ''ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे'' ॥५।४।७४॥ इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। मोक्षमार्गे, वाच०।

णिव्वुइपहसासणयं, जयइ सया सव्वभावदेसणयं (२४)

निर्वृतेर्मोक्षस्य पन्थाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तथा चाऽऽह–भगवानुमास्वातिवाचकः–''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' इति निर्वृतिपथः। ''ऋक्पूः पथ्यपोऽप्'' ॥७।३।७६॥ (हैम०) इति समासान्तोऽप् प्रत्ययः। यद्यपि निर्वृतिपथशब्देन ज्ञानाऽऽदित्रयमभिधीयते, तथाऽपीह सम्यग्दर्शनचारित्रयोरेव परिग्रहः, ज्ञानस्योत्तरत्र विशेषेणभिधानात्। निर्वृतिपथस्य शासनम्–शिष्यतेऽनेनेति शासनं प्रतिपादकं निर्वृतिपथशासनम्। ततः ''कश्च'' इति प्राकृतलक्षणात् स्वार्थे कः प्रत्ययः, निर्वृतिपथशासनकम्। नं०।

णिव्वुइपुर न०(निर्वृतिपुर) सिद्धिपुरे, आ०म०१अ०२ खण्ड।

णिव्वुड त्रि०(निर्वृत) शीतीभूते, आचा०१ श्रु०४ अ०३उ०। निर्वाणमनुप्राप्ते, सूत्र०१ श्रु० १५ अ०। मुक्तिपदवीडधिरूढे, व्य०२ उ०। ''निव्वुडे कालमाकंखी, एवं केवलिणो मयं,'' निर्वृतं कषायोपशमाच्छीतीभूतं कालं मृत्युकालं यावदभिकाङ्क्षेत्। सूत्र०१ श्रु० ११ अ०। निवारणे, भ०५ श०४ उ०।

णिव्वुडमाण त्रि०(निवुडत्) जन्ममरणाऽऽदिजले नितरां निमज्जति, उपा०७अ०।

णिव्वुड्ड त्रि०(निर्वृत) निष्ठाङ्गते, ''निव्वुड्डे वितिमिरे विसुद्धे ति।'' भ०५ श०४उ०।

णिव्वूढ (देशी) गृहपश्चिमाङ्गणे, दे०ना०४ वर्ग २६ गाथा।

णिव्वूह पुं०(निर्व्यूह) गृहैकदेशविशेषे, जी०३ प्रति०४ उ०।

णिव्वेट्ठंत त्रि०(निर्वेष्टयत्) निर्जरयति, विचटयति, ''दव्वेण य भावेण य, निव्वेट्ठंतो चउण्हमन्नयरं।'' विशे०। हापयति, आ०म० १ अ०२ खण्ड। सुबद्धानि कुर्वति, आचा०२ श्रु० १ चू०३अ०२उ०।

णिव्वढे (देशी) नग्ने, दे०ना० ४ वर्ग २८ गाथा।

णिव्वेय पुं०(निर्वेद) विरागे, आचा०१ श्रु०४ अ०१उ०। उत्त०। संसारवैराग्ये, बृ०३ उ०। संसारादुद्विग्नतायाम्, उत्त० १८ अ०। भ०। दश०। संसाराद् विरक्ततायाम्, उत्त० २६अ०।

निर्वेदफलम्–

णिव्वेएणं भंते ! जीवे किं जणयइ? णिव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ, सव्वविसएसु विरज्जइ, सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिग्गहपरिच्चायं करइ, आरंभपरिग्गहपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिंदइ, सिद्धिमग्गपडिवन्ने य भवइ ॥२॥

इतः प्रभृति सर्वत्र सुज्ञमत्वान्न प्रश्नव्याख्या। निर्वेदेन सामान्यतः संसारविषयेण कदाऽसौ त्याज्य इत्येवंरूपेण दिव्यमानुषतैरश्रेषु, सूत्रत्वात् कप्रत्ययो, यथासंभवं देवाऽऽदिसंबन्धिषु कामभोगेषूक्तरूपेषु निर्वेदं हव्वमागच्छति, यथाऽलमेतैरनर्थहेतुभिरिति, यथा च सर्वविषयेषु विरज्यतेऽशेषशब्दाऽऽदिविषयं विरागमाप्नोति, विरज्यमानस्तेष्वारम्भः प्राण्युपमर्दको व्यापारस्तत्परित्यागं करोति, विषयार्थत्वात् सर्वारम्भाणाम्, तत्परित्यागं कुर्वन् संसारमार्गं मिथ्यात्वाविरत्यादिरूपं व्यवच्छिनत्ति, तत्त्यागवत एव तत्त्वत आरम्भपरित्यागसंभवात्, तद्व्यवस्थितौ च सुप्राप्य एव सिद्धिमार्गः सम्यग्दर्शनाऽऽदिरिति सिद्धिमार्गप्रतिपन्नश्च भवति ॥२॥ उत्त० पाई० २६ अ०।

''णरगो तिरिक्खजोणी, कुमाणुसत्तं च णिव्वेओ।'' नरकस्तिर्यग्योनिः कुमानुषत्वं च निर्वेद इति। दश०३ अ०। अनु०। अष्ट०। मोक्षाभिलाषे, प्रव० १४ द्वार। ध०। विषयेष्वनभिष्वङ्गे, ध०२ अधि०। जुगुप्सायाम्, आचा०१ श्रु०२ अ०४उ०। सूत्र०।

णिव्वेयण न०(निर्वेदन) समर्पणे, द्वा० १२ द्वा०। दर्श०।

णिव्वेयणी स्त्री०(निर्वेदनी) निर्वेद्यते संसाराऽऽदेर्निर्विण्णः क्रियते श्रोताऽनयेति निर्वेदनी। स्था०४ ठा०२ उ०। दश०।

निर्वेदनीकया चतुर्विधा–

णिव्वेयणीकहा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा–इहलोगदु-चिण्णा कम्मा इहलोगदुहफलविवागसंजुत्ता भवंति, इहलोग–दुचिण्णा कम्मा परलोगदुहफलविवागसंजुत्ता भवंति। परलोग–दुचिणा कम्मा इहलोगदुहफलविवागसंजुत्ता भवंति, परलोग–दुचिणा कम्मा परलोगदुहफलविवागसंजुत्ता भवंति। इहलोग–सुचिण्णा कम्मा इहलोगसुहफलविवागसंजुत्ता भवंति, इहलो–गसुचिण्णा कम्मा परलोगसुहफलविवागसंजुत्ता भवंति। एवं चउभंगो।

इह लोके दुश्चीर्णानि चौर्याऽऽदीनि कर्माणि क्रिया, इहलोके दुःखमेव कर्मद्रुमजन्यत्वात् फलं दुःखफलं, तस्य विपाकोऽनुभावो दुःखफलविपाकः, तेन संयुक्तानि दुःखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति, चौराऽऽदिनामिवेत्येका। एवं नारकाणमिवेति द्वितीया। आगर्भाद् व्याधिदारिद्र्याभिभूतानामिवेति तृतीया। प्राक्कृताशुभकर्मोत्पन्नानां नारकप्रायोग्यं बन्धतां काकगृद्धाऽऽदी–

नामिव चतुर्थीति। ''इहलोए सुचिन्न'' इत्यादि चतुर्भङ्गी तीर्थकर-दानदातृ १ सुसाधु २ तीर्थकर ३ देवभवस्थतीर्थकराऽऽदीनामिव भावनीयेति। स्था०४ ठा०२उ०।

निर्वेदनीमाह-

पावाणं कम्माणं, असुभविवागो कहिज्जए जत्थ।
इह य परत्थ य लोए, कहा उ णिव्वेयणी नाम ॥२०७॥

पापानां कर्मणां चौर्याऽऽदिकृतानामशुभविपाकः दारुणपरिणामः कथ्यते यत्र यस्यां कथायामिह च परत्र च लोके- ''इहलोके कृतानि कर्माणि इहलोक एवोदीर्यन्ते'' इत्यनेन चतुर्भङ्गिकामाह-कथा तु निर्वेदनी नामनिर्वेद्यते भवादनया श्रोतेति निर्वेदनी। एष गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवसेयः॥२०७॥

तच्चेदम्-''इयाणिं णिव्वेयणी। सा चउव्विहा। तं जहा-इहलोए दुच्चिण्णा कम्मा इहलोए चेव दुहविवागसंजुत्ता भवंति त्ति। कहं? जहा चोराणं पारदारियाणं एवमाइ। एसा पढमा णिव्वेयणी। इदाणिं विइया-इहलोए दुच्चिण्णा कम्मा परलोए दुहविवागसंजुत्ता भवंति। कहं? जहा नेरइयाणं अन्नम्मि भवे कयं कम्मं णिरयभवे फलं देइ। एसा विइया णिव्वेयणी गया। इयाणिं तइया-परलोए दुच्चिण्णा कम्मा इहलोए दुहविवागसंजुत्ता भवंति। कहं? जहा बालप्पभितिमेव अंतकुलेसु उप्पन्ना खयकोढाऽऽदीहि रोगेहिं दारिद्देण य अभिभूया दीसंति। एसा तइया णिव्वेयणी। इदाणिं चउत्था णिव्वे-यणी-परलोए दुच्चिण्णा कम्मा परलोए चेव दुहविवागसंजुत्ता भवंति। कहं? जहा पुव्विं दुच्चिण्णेहिं कम्मेहिं जीवा संभासतुंडोहिं पक्खीहिं उववज्जंति। तओ ते नरयपाउग्गाणि कम्माणि असंपुण्णाणि ताणि ताए जातीए पूरिंति, पूरिऊण नरयभवे वेदंति। एसा चउत्था निव्वेयणी गया। एवं इहलोगो परलोगो वा पण्णवयं पडुच्च भवति, तत्थ पन्नवयस्स मणुस्सभवो इहलोगा, अवसेसाओ तिण्णि वि गईओ परलोगो त्ति गाथाभावार्थः।

इदानीमस्या एव रसमाह-

थोवं पि पमायकयं, कम्मं साहिज्जई जहिं नियमा।
पउरासुहपरिणामं, कहाइ णिव्वेयणीइ रसो ॥२०८॥

स्तोकमपि प्रमादकृतमल्पमपि प्रमादजनितं कर्म्म वेदनीयाऽऽदि (साहिज्जइ त्ति) कथ्यते यत्र नियमान्नियमेन। किंविशिष्टमित्याह-प्रचुराशुभपरिणामं, बहुतीव्रफलमित्यर्थः। यथा यशोधराऽऽदीनामिति। कथाया निर्वेदन्या रस एष निष्यन्दः। इति गाथाऽर्थः ॥२०८॥ दश०३ अ०। द्वा०। औ०।

णिव्वेरिस (देशी) निर्दय, दे०ना०४ वर्ग ३७ गाथा।

णिव्वेस पुं०(निर्वेश) लाभे, स्था०५ ठा०२उ०।

णिव्वोढव्व त्रि०(निर्वोढव्य) निर्बाह्ये, आव०४ अ०।

णिव्वोदग न०(निर्व्रोदक) गृहच्छानप्रान्तगलिते जले गृहपटलान्तोत्तीर्णे जले, पिं०। आ०क०।

णिस पुं०(निश) वृक्षविशेषे, उत्त० पाइ०१अ०। नृन्नरान् शंसति हिनस्तीति नृशंसः। ज्ञा०१ श्रु०२अ०।

णिसंत त्रि०(निशान्त) नितरां शान्तो निशान्तः। अत्यन्तं मन्दीभूते, आ०म०१ अ०१ खण्ड। श्रुते, अवगते, आचा०२ श्रु०१ चू०२ अ०२उ०। निशमिते श्रुते, भ०६ श०३३ उ०। निःसञ्चरवेलायाम्, बृ०३ उ०। रात्र्यवसाने दिवसे, दश०६ अ०१उ०। ज्ञा०। अवधारिते, सूत्र०१ श्रु०६ अ०।

णिसंस त्रि०(नृशंस) क्रूरकर्मणि, बृ०३ उ०। शूकावर्जिते, प्रश्न०१ सम्ब०द्वार।

णिसग्ग पुं०(निसर्ग) निसर्जनं निसर्गः। निसृष्टौ, मोक्षे, विशे०। स्वभावे, उत्त० २८ अ०। स्था०। आव०। आ०चू०। आ०म०। प्रज्ञा०। व्य०। संथा०। नि०चू०।

णिसग्गकिरिया स्त्री०(निसर्गक्रिया) निसर्जनक्रियायाम्, आव०।

णिसग्गबलरागया स्त्री०(निसर्गबलरागता) प्रकृत्या स्थिररागतायाम्, पं०व०३द्वार।

णिसग्गचेयणाजुत्त त्रि०(निसर्गचेतनायुक्त) निसर्गा सहजा या चेतना तया युक्तः सहजचेतनायुक्ते, ''निसर्गचेतनायुक्तो, जीवोऽरूपी ह्यवेदकः।'' द्रव्या १० अ०।

णिसग्गरुइ पुं०(निसर्गरुचि) निसर्गः स्वभावः, तेन रुचिर्जिनप्र-णीततत्त्वाभिलाषरूपा यस्य स निसर्गरुचिः। प्रज्ञा०१ पद। निसर्गा रुचिर्निसर्गतो वा रुचिरिति निसर्गरुचिः। स्वभावत एव तत्त्वश्रद्धाने, भ० २५ श०७ उ०। सम्यक्त्वभेदे, स्था०१० ठा०। ध०। भूतार्थेन सह संमत्या जीवाजीवाऽऽदिनवपदार्थविषयिणी रुचिर्निसर्गरुचिः। भूतार्थनेत्यस्य भूतार्थत्वेनेत्यर्थः, भावप्रधाननिर्देशात्; सद्भूतार्था अमी इत्येवंरूपेणेति यावत्। वस्तुतो भूतार्थनेत्यस्य शुद्धनयेनेत्यर्थः। ध०२ अधि०।

भूयत्थेणाधिगया, जीवाऽजीवा य पुण्णपावं च।
सहसंमइयाऽऽसवसंवरो य वेएइ एस णिस्सग्गो ॥२॥
जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।
एमेव णऽण्णह त्ति य, णिस्सग्गरुइ त्ति णायव्वो ॥३॥

'भूयत्थेण' इति भावप्रधानो निर्देशः। ततोऽयमर्थः-भूतार्थत्वेन समुद्भूता अमी पदार्था इत्येवंरूपेण यस्याऽधिगताः परिज्ञाता जीवाऽजीवाः पुण्यपापमाश्रवसंवरः, चशब्दाद् बन्धाऽऽदयश्च। कथमधिगताः? इत्याह-(सहसम्मइया इति) आर्षत्वाद्विभक्तिलोपाच्च सह सम्मत्या सहाऽऽत्मना या सङ्गता मतिः सा सहसम्मतिः, तया। किमुक्तं भवति? परोपदेश-निरपेक्षया जातिस्मरणप्रतिभाऽऽदिरूपया मत्या न केवलमधिगता, किं तु तान् जीवाऽऽदीन् पदार्थान् वेदयतेऽनुरोचयति च तत्त्वरूपतया आत्मसात्परिणामयति चेति भावः। एष निसर्गो निसर्गरुचिर्विज्ञेय इति शेषः॥२॥ अमुमेवार्थं स्पष्टतरमभिधित्सुराह-(जो जिणदिट्ठे भावे इत्यादि) यो जिनदृष्टान् भावान् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदतो नामाऽऽदि-भेदतो वा चतुर्विधान् स्वयमेवोपदेशनिरपेक्षं श्रद्दधाति। केनोल्लेखेन श्रद्दधाति? तत आह-एवमेव एतज्जीवाऽऽदि यथा जिनैर्दृष्टं, नान्यथेति। चः समुच्चये। एष निसर्गरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥३॥ प्रज्ञा०१पद। आ०चू०। ध०। उत्त०। ग०। स्वभावत एव तत्त्वश्राद्धे, औ०।

णिसग्गसम्मत्त न०(निसर्गसम्यक्त्व) निसर्गरुच्याख्ये सम्यक्त्वभेदे, आ०चू०। ''णिसग्गो नाम सभावो, जधा सावगपुत्तनत्तुयाणं कुलपरंपरागतं निसग्गत्तं भवति; जहा वा सयंभूरमणमत्थाणपडिमासंठिताणि साहुसावयाणि य पउमाणि मच्छरा वा दट्ठूण मा णं खओवसमेणं निसग्गसम्मत्तं भवति। तम्मूलं च देवलोगगमणं तेसिं भवति त्ति।'' आ०चू०१ अ०।

णिसज्जा स्त्री०(निषद्या) निषदनं निषद्या। आसने, प्रव०६७ द्वार। स०। उपवेशने, व्य०४ उ०। उपवेशनविशेषे, स्था०। सा च पञ्चधा– तत्र यस्यां समं पादौ पुतौ च स्पृशतः सा समपादपुता१। यस्यां तु गोरिवोपवेशनं सा गोनिषद्यिका २। यत्र पुताभ्यामुपविष्टः सन् एकं पादमुत्पाट्याऽऽस्ते सा हस्तिशुण्डिका ३। पर्यङ्काऽर्धपर्यङ् का च प्रसिद्धा ४-५। स्था०ठा०१उ०। ''पलियंकनिसेज्जा य, सिणाणं सो भवज्जणं।'' निषद्या च गृहे एकानेकरूपा अनाचारः। दश० ६ अ०। निषीदन्त्यस्यामिति निषद्या। स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिते स्वाध्यायभूम्यादौ, उत्त०१ अ०।

णिसट्ठ त्रि०(निसृष्ट) परेणोत्सङ् कलिते, सूत्र०१ श्रु० १६ अ०। दत्ते, आचा०२ श्रु० १चू० १अ०५ उ०। ज्ञा०।

णिसढ पुं०(निषध(ह)) नितरां सहते स्कन्धे पृष्ठे वा समारोपितं भारमिति निषधः। चं०प्र० ४ पाहु०। ''निषधे धो ढः'' ॥८।१।१२६॥ इति निषधे धस्य ढः। प्रा०१ पाद। बलीवर्दे, सू०प्र० ४ पाहु०। बलदेवस्य रेवत्यामुत्पन्ने पुत्रे, नि०।

**जति णं भंते ! समणेणं०जाव दुवालस अज्झयणा पण्णत्ता। पढमस्स णं भंते ! उक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वारवई नाम नगरी होत्था; दुवालसजोयणाऽऽयामा० जाव पच्चक्खं देवलोयभूया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। तीसे णं वारवईए नगरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं रेवईए णामं पव्वए होत्था, तुंगे गगणतलमणुल्लिहंतसिहरे नाणाविहरुक्खगुच्छगुम्मलतावल्लीपरिगताभिरामे हंसमियमयूरकोंचसारसकागमयणसालाकोइलकुलोवचिए तडकडगविउयरओब्भरपव्वतसिहरे पउरे अच्छरगणदेवसंघविज्जाहरमिहुणसन्निविट्ठे निच्चत्थणए दसारवरवीरे पुरिसतेल्लोक्कबलवग्गाणं सोमे सुभए पियदंसणे सुरूवे पासादीए०जाव पडिरूवे। तस्स णं रेवयगस्स पव्वयस्स अदूरसामंते एत्थ णं नंदणवणे नामं उज्जाणे होत्था। सव्वओ य पुप्फ०जाव दरिसणिज्जे। तत्थ णं नंदणवणे उज्जाणे सुरप्पियस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था, चिरातीए०जाव बहुजणे आगम्ममच्चेति सुरप्पियं जक्खाययणं। से णं सुरप्पिए जक्खाययणे एगेणं महता वणसंहेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते जहा पुणभद्दे०जाव सिलापट्टए, तत्थ णं वारवईए नवरीए कण्हे नामं वासु देवे राया होत्था०जाव पासमाणे विहरति। से णं तत्थ समुद्दविजयपामोक्खाणं दसण्हं दसाराणं, बलदेवपामोक्खाणं पंचण्हं महावीराणं, उग्गसेणपामोक्खाणं सोलसण्हं राईसरसहस्साणं पज्जुण्णपामोक्खाणं अद्धट्ठाणं कुमारकोडीणं सव्वया सद्धीउ दुद्दंतसाहस्सीणं वीरसेणपामोक्खाणं एक्कवीसए वीरसाहस्सीणं, रुप्पिणिपामोक्खाणं सोलसण्हं देवीसहस्साणं, अणंगसेणापामोक्खाणं अणेगाणं गणियासहस्साणं अन्नेसिं च बहूणं राईसरसत्थवाहप्पभिईणं वेयड्ढगिरिसागरमेरागस्स दाहिणड्ढभरहस्स आहेवच्चं०जाव विहरति। तत्थ णं वारवईए बलदेवे नामं राया होत्था, महता०जाव रज्जं पासाएमाणे विहरति। तस्स णं बलदेवस्स रन्नो रेवई नामं देवी होत्था, सुकुमाला० जाव विहरति। तते णं सा रेवती देवी अन्नदा कदाइं तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि०जाव सीहं सुमिणे पासित्ता एवं सुमिणदंसणपरिकहणं, कलाओ जहा महाबलस्स पन्नासओ दोतो पन्नासा रायवरकन्नगाणं एगदिवसेणं पाणिं नवरं निसढे नामं०जाव उप्पिं पासादं विहरति। तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी आदिकरे दसधणूइं वण्णओ०जाव समोसरिते। परिसा निग्गया। तते णं से कण्हे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो दुवाणुप्पिया ! सभाए सुहम्माए समुदाणियं भेरिं तालेहि। तते णं से कोडुंबियपुरिसे०जाव पडिसुणित्ता जेणेव सद्दं सुणेइ, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समुदाणियं भेरिं महता महता सद्देणं तालेति। तते णं तीसे सामुदाणियाए भेरीए महता महता सद्देणं तालियाए समाणी समुद्दविजयपामुक्खा दस दसारा देवीओ भाणियव्वाओ०जाव अणंगसेणापामोक्खा अणेगा गणियासहस्सा, अन्ने य बहवे राईसर०जाव सत्थवाहप्पभिइओ ण्हाया०जाव पायच्छित्ता सव्वालंकारविभूसिया जहाविभवइड्ढिसक्कारसमुदएणं अप्पेगइया हयगया० जाव पुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करतल०कण्हं वासुदेवं तं विजएणं बद्धावेति। तते णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबिए एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह हयगयरह०जाव पच्चप्पिणंति। तते णं से कण्हे वासुदेवे मज्जणघरे० जाव दुरूढे अट्ठमंगलगा, जहा कूणिओ, सेयवरचा-मरेहिं उद्धुव्वमाणेहिं उद्धुव्वमाणेहिं समुद्दविजयपामुक्खेहिं दसहिं दसाराहिं०जाव सत्थवाइपभितीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढिए०जाव रवेणं बारवईणगरं मज्झं मज्झेणं, सेसं जहा कूणिओ०जाव पज्जुवासति। तते णं

तस्स निसढस्स कुमारस्स उप्पिं पासायवरगयस्स तं महतो जणसद्दं च जहा जमाली०जाव धम्मं सोच्चा निसम्म वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी–सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं जहा चित्तो०जाव सावगधम्मं पडिवज्जति, पडिवज्जेत्ता पडिगते । तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमिस्स अंतेवासी वरदत्ते नामं अणगारे उराले० जाव विहरति । तेणं से वरदत्ते अणगारे निसढं कुमारं पासति, पासित्ता जातसड्ढे०जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी–अह णं भंते ! निसढे कुमारे इट्ठे इट्ठरूवे कंते कंतरूवे, एवं पिए मणुन्नए मणामे मणामरूवे सोमे सोमरूवे पियदंसणे सुरूवे, निसढे णं भंते ! कुमारे अयमेयारूवे मणुयइड्ढिकिण्णा लद्धा किण्णा पत्ता पुच्छा? जहा सूरियाभस्स । एवं खलु वरदत्ता ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे रोहीमए नाम नगरे होत्था । रिद्धमेहवन्ने उज्झाणे मणिदित्तस्स जक्खस्स जक्खाययणे । तत्थ णं रोहीडए नगरे महब्बले नामं राया, पउमावई देवी । अन्नदा कयाइं तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सीहे सुमिणे, एवं सुमिणं भाणियव्वं जहा महब्बलस्स, नवरं वीरंगतो नामं वत्तीसतो दोतो वत्तीसाए रायवरकन्नगाणं पाणिं०जाव ओगिज्झमाणे ओगिज्झमाणे पाउसबरिसारत्तसरयहेमंत गिम्हवसंते छप्पि उउं जहा विभवे समाणे २ इट्ठे रिद्धे०जाव विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं सिद्धत्थे नामं आयरिया जातिसंपन्ना, जहा केसी, नवरं बहुस्सुया बहुपरिवारा जेणेव रोहीडए नगरे, जेणेव मेहवन्ने उज्झाणे, जेणेव मणिदत्तस्स जक्खस्स जक्खाययणे,तेणेव उवागतंअहापडिरूवं०जाव विहरति । परिसा निग्गया । तते णं तस्स वीरंगतस्स कुमारस्स उप्पिं पासायवरगयस्स तं महता जणसद्दं च, जहा जमाली य, निग्गते धम्मं सोच्चा, नवरं देवाणुप्पिया ! अम्मापियरो आपुच्छामि, जहा जमाली तहेव निक्खंतो०जाव अणगारे जाए०जाव गुत्तबंभयारी । तते णं से वीरंगते अणगारे सिद्धत्थाणं आयरियाणं अंतिए सामाइयमाइयाइं०जाव एक्कारस अंगाइं अहिज्जति, अहिज्जित बहूइं०जाव चउत्थ०जाव अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं पणयालीसं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता दो मासियाए संलेहणाए संलेहित्ता अत्ताणं झुसित्ता सवीसं भत्तसइं अणसणे छेदित्ता आलेइय समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा बंभलोए कप्पे मणोरमविमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ णं अप्पेगइयाणं देवाणं दससागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं वीरंगयस्स देवस्स दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । से णं वीरंगते देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खए०जाव अणंतरं चयं चइत्ता इहेव बारवईए नयरीए बलदेवस्स रन्नो रेवईए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने। तते णं सा रेवती देवी तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सुमिण–दंसणं० जावुप्पिं पासायवरगते विहरति । तं एवं खलु वरदत्ता ! णिसढेणं कुमारेणं अयमेयारूवे उराले मणुयइड्ढी लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया । पभू णं भंते ! निसढे कुमारे देवाणुप्पियसाणं अंतिए०जाव पव्वइत्तए ? हंता ! पभू से एवं भंते ! वरदत्ते अणगारे०जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति ।तते णं अरहा अरिट्ठनेमि अन्नदा कयाइं बारवतीओ नगरीओ०जाव बहिया जणवयविहारे निसढे कुमारे समणोवासए जाए अभिगतजीवाजीवे०जाव विहरति । तते णं से निसढे कुमारे अन्नदा कयाइं जेणेव पोसहसाला, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता०जाव दब्भसंथारोवगते णं विहरति । तते णं तस्स निसढस्स कुमारस्सं पुव्वरत्तावरत्तधम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए–धन्ना णं ते गामागरनगर०जाव संनिवेसा, जत्थ णं अरहा अरिट्ठनेमी विहरइ । धन्ना णं ते राईसर०जाव सत्थवहप्पभितिओ, जे णं अरिट्ठनेमिं वंदंति, नमंसंति०जाव पज्जुवासंति । जति णं अरिहा अरिट्ठनेमी पुव्वाणुपुव्विं नंदणवणे विहरेज्जा, तेणं अरिहं अरिट्ठनेमी वंदिज्जा०जाव पज्जुवासिज्जा । तते णं अरिट्ठनेमी निसढस्स कुमारस्स२ अयमेयारूवे अब्भत्थिए०जाव वियाणित्ता अट्ठारसहिं समणसहस्सेहिं ०जाव नंदणवणउज्झाणे, समोसरिता । परिसा निग्गया । तते णं निसढे कुमारे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठ०चाउग्घंटेणं आसरहेणं गते, जहा जमाली०जाव अम्मापियरो आपुच्छित्ता पव्वइए अणगारे०जाव गुत्तबंभयारी । तते णं से निसढे अणगारे अरिहंतो अरिट्ठनेमिस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयं एक्कारस अंगाइं अहिज्जति, अहिज्जित्ता बहूइं चउत्थछट्ठ० जाव विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं नव वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति, वायालीसाइं भत्ताइं अणसणं छेदेति, आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगते । तते णं से वरदत्ते अणगारे निसढं अणगारं कालगते जाणित्ता जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता०जाव एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी णिसढे णामं अणगारे पगतिभद्दगे०जाव विणीओ, से णं भंते ! निसढे अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववन्ने? तते णं से अरहा अरिट्ठनेमी वरदत्तं अणगारं एवं वयासी–एवं खलु वरदत्ता ! ममं अंतेवासी निसढे नामं अणगारे पगइभद्दगे० जा–

व विणीए मम महारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जेत्ता बहुपडिपुण्णाइं नव वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता वायालीसं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्ततारारूवाणं सोहम्मीसाणं०जाव अच्चुते तिण्णि य अट्ठारसुत्तरगेविज्जविमाणावाससते वीतीवइत्ता सव्वट्ठसिद्धिविमाणे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं देवाणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं निसढस्स देवस्स तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। से णं भंते ! निसढे देवयाओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति? वरदत्ता ! इहेव जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे उन्नाए नगरे विसुद्धपिइवंसे रायकुले पुत्तत्ताए पच्चायाहिति। तते णं से उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणमित्तजोव्वणगमणुप्पत्ते तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वहिति। से णं तत्थ अणगारे भविस्सति इरियासमिए०जाव बंभयारी। से णं तत्थ बहूहिं चउत्थछट्ठऽट्ठमदसमदुवालसेहिं मासऽद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणिस्सति पाउणित्ता, मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसिहिति झूसित्ता, सट्ठिभत्ताइं अणसणाए छेदेति। जस्सऽट्ठाए कीरति अणगारभावे मुंडभावे अण्हाणाए०जाव अदंतधावणअत्थत्तए अणोवाहणाए फलसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासी पराघरपवेसे लद्धावलद्धे उच्चावया य गामकंटकया अहियासिज्जति, तमट्ठं आराहिति, आराहित्ता चरमेहिं उस्सासेहिं णिस्सासेहिं सिज्झिहिति, बुज्झिहिति०जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेति।

नि०१श्रु०५ वर्ग १अ०। आ०म०। विशे०। प्रश्न। वर्षधरपर्वतभेदे, स्था० ७ ठा०। स०। रा०।

निषधः पर्वतः क्वास्तीति पृच्छति–

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे णिसहे णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते? गोयमा ! महाविदेहस्स वासस्स दक्खिणेणं हरिवासस्स उत्तरेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमे एत्थ णं जम्बुद्दीवे दीवे णिसहे णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणवित्थिण्णो, दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरच्छिमिल्लाए०जाव पुट्ठे चत्तारि जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि गाउअसयाइं उव्वेहेणं सोलस जोअणसहस्साइं अट्ठ य वाहल्ले जोअणसए दोण्णि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स विक्खंभेणं तस्स बाहा पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं वीसं जोअणसहस्साइं एगं च पणट्ठं जोअणसयं दुण्णि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स अद्धभागं च आयामेणं तस्स जीवा उत्तरेण०जाव ऊणवइं जोअणसहस्साइं एगं च छप्पण्णं जोअणसयं दुण्णि अ एगूणवीसभाए जोअणस्स आयामेणं तस्स धणुं दाहिणेणं एगं जोअणसहस्सं चउवीसं च जोअणसहस्साइं तिण्णि अ छायाले जोअणसए णव य एगूणवीसइभाए जोअणस्स पक्खिवेणं रुअगसंठाणसंठिए सव्वतवणिज्जमए अत्थे उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहि अ वणसंडेहिं०जाव संपरिक्खित्ते णिसहस्स णं वासहरपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते०जाव आसयंति, सयंति।

"कहि णं" इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम्। उत्तरसूत्रे महाविदेहस्य दक्षिणस्यां हरिवर्षस्योत्तरस्यां पौरस्त्यलवणोदय पश्चिमायां पश्चिमलवणोदस्य पश्चिमायां पश्चिमलवणसमुद्रस्य पूर्वस्यामत्रान्तरे जम्बूद्वीपे निषधो नाम वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः, प्राचीनप्रतीचीनेत्यादि प्राग्वत्। चत्वारि योजनशतान्युच्चत्वेन, चत्वारि गव्यूतशतान्युद्वेधेन, भूप्रवेशेन मेरुपर्वतसमयक्षेत्रगिरीणां स्वोच्चत्वचतुर्थांशेनोद्वेधत्वात् षोडशयोजनसहस्राणि द्विचत्वारिंशानि द्विचत्वारिंशदधिकानि अष्टौ च योजनशतानि द्वौ च एकोनविंशतिभागौ योजनस्य विष्कम्भेन महाहिमवतो द्विगुणविष्कम्भमानत्वात्। अथ बाहाऽऽदिसूत्रत्रयमाह–(तस्स बाहा इत्यादि) (तस्स जीवा इत्यादि) अत्र यावत्पदात्– "पाईणपडीणायया दुहओ लवणसमुद्दं पुट्ठा पुरच्छिमिल्लाए लवणसमुद्दं०जाव पुट्ठा।" इति ग्राह्यम्। (तस्स धणुमित्यादि) एवं सूत्रानुसारेण व्याख्येयम्। अथ निषधस्य विशेषणैर्विशिनष्टि–(रुअग इत्यादि) अत्र यावत्पदात्– "सव्वओ समंता" इति ग्राह्यम्, शेषं प्राग्वत्। अथास्य देवक्रीडायोग्यत्वं वर्णयन्नाह–(णिसहे इत्यादि) अत्र यावत्पदात् आलिङ्गपुष्करादिपदकदम्बकं योज्यम्। जं०४ वक्ष०। स०। (तन्मध्यवर्त्तिचिकित्सहृदात् शीतोदा नदी प्रत्यूढेति वक्ष्यते। 'तिगिच्छदह' शब्दे वक्ष्यते) (निषेधकूटानां 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६२२ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–णिसढे वासहरपव्वए, णिसढे वासहरपव्वए? गोयमा ! णिसढे णं वासहरपव्वए बहवे कूडा णिसहसंठाणसंठिआ उसभसंठाणसंठिआ णिसढे अइच्छदेवे महिड्ढिए०जाव पलिओवमट्ठिइए परिवसइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ–णिसढे वासहरपव्वए, णिसढे वासहरपव्वए।।

(से केणट्ठेणं) इत्यादि व्यक्तम्। नवरं निषेध वर्षधरपर्वते बहूनि कूटानि निषधसंस्थानसंस्थितानि। तत्र नितरां सहते स्कन्धे पृष्ठे वा समारोपितभारमिति निषधो वृषभः, पृषोदराऽऽदित्वादिष्टरूपसिद्धिः। तत्संस्थानसंस्थितानि। एतदेव पर्यायान्तरेणाऽऽह–वृषभसंस्थितानि, निषधश्चात्र देव आधिपत्यं परिपालयति, तेन निषधाऽऽकारकूटयोगान्निषधदेवयोगाद्वा निषध इति व्यवहियते इति। जं०४ वक्ष०। स्था०। "दो णिसढा।" स्था०२ ठा०३उ०।

णिसढकूड न०(निषधकूट) निषधपर्वताधिष्ठातृदेवनिवासोपेते (स्था०६ ठा०) निषधवर्षधरपर्वतस्य द्वितीये कूटे, स्था० २ ठा०३उ०। जं०।

णिसढदह पुं०(निषधह्रद) मन्दरस्य दक्षिणेन देवकुरुषु महाह्रदे, स्था०। इह च देवकुरुषु निषधवर्षधरपर्वतादुत्तरेणाष्टौ योजनानां शतानि चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनस्य चतुरश्च सप्तभागानतिक्रम्य शीतोदया महानद्याः पूर्वापरकूलयोर्विचित्रकूटाभिधानौ योजनसहस्रोच्छ्रितौ मूले सहस्राऽऽयामविष्कम्भावुपरि पञ्चयोजनशताऽऽयामविष्कम्भौ प्रासादमण्डितौ रवसमाननामदेवनिवासभूतौ पर्वतौ स्तः, ततस्ताभ्यामुत्तरतोऽनन्तरोदितान्तरः शीतोदामहानदीमध्यभागवर्ती दक्षिणोत्तरतो योजनसहस्रमायतः पूर्वापरतः पञ्चयोजनशतानि विस्तीर्णवेदिकावनखण्डद्वयपरिक्षिप्तो दशयोजनावगाढो नानामणिमयेन दशयोजनानालेनार्द्धयोजनबाहुल्येन योजनविष्कम्भेणार्द्धयोजनविस्तीर्णया क्रोशोच्छ्रितया कर्णिकया युक्तेन निषधाभिधानदेवनिवासभूतभवनभासितमध्येन तदर्द्धप्रमाणाष्टोत्तरशतसङ्ख्यपद्मैस्तदन्येषां च सामानिकाऽऽदिदेवनिवासभूतानां पद्मानामनेकलक्षैः समन्तात्परिवृतेन महापद्मेन विराजमानमध्यभागो निषधो महाह्रदः। स्था०५ ठा०२ उ०।

एतदेव सूत्रकार आह–

कहि णं भंते ! देवकुराए कुराए णिसढदहे णामं दहे पण्णत्ते ? गोयमा ! तेसिं चित्तविचित्तकूडाणं पव्वयाणं उत्तरिल्लाओ चरिमंताओ अट्ठ चोत्तीसे जोअणसए चत्तारि अ सत्तभाए जोअणस्स अबाहाए सीओदए महाणईए बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं णिसढदहे णामं दहे पण्णत्ते। एवं जा चेव नीलवंतउत्तरकुरुचंदेरावयमालवंताणं वत्तव्वया, सा चेव णिसढदेवकुरुसूरसुलसविज्जुप्पभाणं णेयव्वा, रायहाणीओ दक्खिणेणं ति।

(कहि णं इत्यादि) एवमुक्ताऽऽलापकानुसारेण यैव नीलवदुत्तरकुरुचन्द्रैरावतमाल्यवतां पञ्चानां द्रहाणामुत्तरकुरुषु वक्तव्यता, सैव निषधदेवकुरुसूरसुलसविद्युत्प्रभनामकानां नेतव्या; एतदीयाधिपसुराणां राजधान्यो मेरुतो दक्षिण इति शेषः। जं०४ वक्ष०।

णिसण्ण त्रि०(निषण्ण) स्थिते, उत्त० २० अ०। आव०। उपविष्टे, स्था०५ ठा०२ उ०। ज्ञा०। उत्त०। आचा०। निविष्टे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। निमग्ने, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

णिसण्णअ पुं०(निषण्णक) ''संवरआसवदारो, अव्वावाहे अकंटए देसे। काऊण थिरं ठाणं, ठिओ णिसण्णो णिवन्नो वा ॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव०५ अ०।

णिसण्णणिसण्ण त्रि०(निषण्णनिषण्ण) ''अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो णिसन्नो उ। एसो काउस्सग्गो, णिसण्णनिस्सण्णगो नाम ॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव०५ अ०।

णिसण्णोत्सिसय पुं०(निषण्णोत्सृत) ''धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइं जो णिसन्नो अ। एसो काउस्सग्गो, णिसण्णुसिओ होइ नायव्वो ॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव०५ अ०।

णिसमेंत त्रि०(निशमयत्) आकर्णयति, आ०म०१ अ०१ खण्ड।

णिसम्म अव्य०(निशम्य) ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा०१ श्रु०१ चू० १अ०६ उ०। अवगम्येत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु० १० अ०। निश्चित्येत्यर्थे, आचा०१ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०। अवधार्येत्यर्थे, स्था०३ ठा०३उ०। हृदयेनाऽवधार्य्येत्यर्थे, कल्प०३ क्षण। स्था०। तं०। ज्ञा०। सूत्र०। आचा०।

णिसम्मभासि(ण्) त्रि०(निशम्यभाषिण्) अत्वरितभाषिणि, आचा०१ श्रु०१ चू०४अ०२उ०। पूर्वोत्तरेण पर्यालोच्य भाषके, सूत्र०१ श्रु० १० अ०।

णिसह त्रि०(निषध) 'णिसढ' शब्दार्थे, चं०प्र०४ पाहु०।

णिसहकूड न०(निषधकूट) 'णिसढकूड' शब्दार्थे, स्था०६ ठा०।

णिसहदह पुं०(निषधह्रद) 'णिसढदह' शब्दार्थे, स्था०५ ठा०२उ०।

णिसा स्त्री०(निशा) नितरां श्यति व्यापारान्। शो–कः। रात्रौ, हरिद्रायाम्, मेषाऽऽदिराशिषु च। वाच०। बृ०५ उ०।

णिसाकप्प पुं०(निशाकल्प) रात्रौ द्रवाभावेन मात्रके मोकं गृहीत्वाऽऽत्मने, गीतार्थाऽऽचीर्णत्वादस्य कल्पत्वम्। बृ०५ उ०। ('मोय' शब्दोऽत्र वीक्ष्यः)

णिसापासाण न०(निशापाषाण) मुद्गाऽऽदिदलनशिलायाम्, उपा०२ अ०।

णिसामिअ (देशी) श्रुते, दे०ना०४ वर्ग २७ गाथा।

णिसामित्ता अव्य०(निशम्य) आकर्ण्येत्यर्थे, उत्त०२ अ०। निशम्येत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु० १४ अ०। आचा०। अवधार्येत्यर्थे, आचा०१ श्रु०८ अ०३उ०।

णिसाय (देशी) सुप्तप्रसुप्ते, दे०ना० ४ वर्ग ३५ वर्ग।

णिसालोढ न०(निशालोष्ट) शिलापुत्रके, उपा०२ उ०।

णिसिअर पुं०(निशाचर) **''इः सदादौ वा''** ॥८।१।७२॥ इत्यात इत्वम्। ''निसिअरो निसाअरो।'' प्रा०१ पाद। **''स्वस्योद्वृत्ते ॥८।१।८॥** इति न सन्धिः। प्रा०१ पाद। रात्रिचरे, राक्षसे, वाच०।

णिसिक्किय अव्य०(निषिच्य) अग्नाविन्धनाऽऽदिप्रक्षिप्येत्यर्थे आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०७ उ०।

णिसिज्जा स्त्री०(निषद्या) निषदनानि निषद्याः। उपवेशनप्रकारेषु, (स्था०)

पंच णिसिज्जाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–उक्कुडुया, गोदोहिया, समपायपुया, पलियंका, अद्धपलियंका।

निषदनानि निषद्या उपवेशनप्रकाराः, तत्राऽऽसनलग्नपुतः पादाभ्यामवस्थित उत्कुटुकस्तस्य या सा उत्कुटुका। तथागोर्दोहनं गोदोहिका तद्वद् या असौ गोदोहिका। तथा–समौ समतया भूलग्नौ पादौ च पुतौ च यस्यां सा समपादपुता। तथापर्यङ्का जिनप्रतिमा, तामिव या पद्मासनमिति रूढा। तथा अर्द्धपर्यङ्का ऊरावेकपादनिवेशनलक्षणेति। स्था०१ ठा०१ उ०। ''णिसिज्जं गिहंतरे। निषद्यां चाऽऽसनम्। सूत्र०१

श्रु०६अ०। आ०म०। ''तिण्हमन्नयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पए। जराए अभिभूयस्स, बाहियस्स तवस्सिणो ॥१॥'' दश० ६ अ०। जीत०। प्रणिपत्य पृच्छायाम्, गौतमस्वामिना निषद्यात्रयेण चतुर्दश पूर्वाणि गृहीतानि। विशे०। निषीदन्त्यस्यामिति निषद्या। पादप्रोच्छनके, जीत०। ध०। रजोहरणोपकरणभेदे, सा च द्विधासौत्रिकी, और्णिकी चेति। बृ० ३ उ०।

पायस्स पडोयारो, दुनिसिज्जतिपट्टपोत्तिरयहरणं ॥ (३०)

तथा रजोहरणस्य सत्के द्वे निषद्ये। तद् यथा–बाह्या, आभ्यन्तरा च। इह संप्रति दशिकाऽऽदिभिः सह या दण्डिका क्रियते, सा सूत्रनीत्या केवलैव भवति, न (?) सदशिका। तस्या निषद्यात्रयम्। तत्र या दण्डिकाया उपरि एकहस्तप्रमाणाऽऽयामा तिर्यग्वेष्टकत्रयपृथुत्वा कम्बलीखण्डरूपा सा आद्या निषद्या, (नि) तस्याश्चाग्रे दशिकाः सम्बध्यन्ते। तां च सदशिकामग्रे रजोहरणशब्देनाऽऽचार्यो ग्रहीष्यति ततो नासाविह ग्राह्या। द्वितीया त्वेनामेव निषद्यां तिर्यग् बहिर्वेष्टकैरावेष्टयन्ती किञ्चिदधिकहस्तप्रमाणाऽऽयामा हस्तप्रमाणमात्रपृथुत्वा वस्त्रमयी निषद्या, सा आभ्यन्तरा निषद्योच्यते। तृतीया तु तस्या एवाऽऽभ्यन्तरनिषद्यायास्तिर्यग्वेष्टकान् कुर्वती चतुरङ्गुलाधिकैकहस्तमाना चतुरस्रा कम्बलमयी भवति। सा च उपवेशनोपकारित्वादधुना पादप्रोच्छनकमिति रूढा, सा बाह्या निषद्येत्यभिधीयते। मिलितं च निषद्यात्रयं दण्डिकासहितं रजोहरणमुच्यते। ततो रजोहरणस्य सत्के द्वे निषद्ये इति न विरुध्यते। पिं०। निषीदन्त्यस्यामिति निषद्या। उपाश्रये, पं० सं०४ द्वार।

णिसिज्जापट्टग पुं०(निषद्यापट्टक) रजोहरणनिषद्यायाम्, ओघ०।

णिसिज्जापरिसह पुं०(निषद्यापरिषह) निषद्या च उपाश्रय उच्यते, निषीदन्त्यस्यामिति निषद्येति व्युत्पत्तिबलात्, सैव परिषहः। श्मशानोद्यानसत्रागारगिरिगुहाऽऽदिषु स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितेषु अनभ्यस्तपूर्वेषु निवसतः सर्वत्र स्वेन्द्रियज्ञानप्रकाशपरीक्षिते प्रदेशे नियमानुष्ठानमधितिष्ठतः सिंहव्याघ्राऽऽदिविविधभाषणध्वनिश्रवणतोऽसंजातभयस्य चतुर्विधोपसर्गसहनेन मोक्षमार्गादप्रच्यवने, पं०सं०४ द्वार।

णिसिज्जारयण न०(निषद्यारचन) उचितभूमावक्षगुरुनिषद्याकरणे, पं०व०४ द्वार।

णिसिट्ठ त्रि०(निसृष्ट) निर्गते, रा०। प्रदत्ते, आचा०१ श्रु०८ अ०२ उ०। बृ०। स्वामिनोत्सङ्कलिते, आचा०२ श्रु० १ चू०२ अ०१ उ०। निसृष्टो नाम यस्य शय्यातरेण प्रवेशोऽनुज्ञातः। बृ०२ उ०।

णिसित्त (देशी) सन्तुष्टे, दे०ना०४ वर्ग ३० गाथा।

णिसिद्ध त्रि०(निषिद्ध) निवारिते, आ०म०१अ०२ खण्ड।

णिसिद्धजोग त्रि०(निषिद्धयोग) निरुद्धसद् व्यापारे, पञ्चा० १२ विव०।

णिसिद्धप्प(ण्) पुं०(निषिद्धाऽऽत्मन्) निषिद्धो निवारितः सावद्ययोगेभ्य आत्मा स्वभावो येन स निषिद्धाऽऽत्मा। पञ्चा० १२ विव०। निषिद्धो मूलगुणोत्तरगुणातिचारेभ्य आत्मा येन स निषिद्धाऽऽत्मा। निरतिचारे सुसंयते, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

णिसिय त्रि०(निशित) तीक्ष्णे, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०।

णिसियर पुं०(निशाचर) पिशाचाऽऽदौ व्यन्तरे, ओघ०।

णिसिरणा स्त्री०(निसर्जना) दाने, आचा०२ श्रु०१ चू०१अ० १० उ०। निक्षेपणे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। स्था०। इयाणिं णिसिरणा दुविधा–लोइया, लोउत्तरिया य। तत्थ लोइया णिसिरणा तिविधा–सहसा, पमाएण, अणाभोगेण य। पुव्वाइट्ठेण जोगेण किंचि सहसा णिसरति, पंचविधपमायऽन्नतरेण पमत्तो णिसरति। एगंतविस्सती अणाभोगो, तेण णिसिरति।'' नि०चू०४ उ०।

णिसीइत्ता अव्य०(निषद्य) उपविश्येत्यर्थे, स्था०३ ठा०२उ०।

***णिसीदयितृ** त्रि०। उपवेष्टरि, ''सेहे रातिणियस्स सपक्खं निसीइत्ता भवति।'' दशा०२ अ०।

णिसीइयव्व त्रि०(निषत्तव्य) संदंशकभूमिप्रमार्जनाऽऽदिन्यायेनोपवेष्टव्ये, भ०२ श०१उ०।

णिसीढ न०(निशीथ) अप्रकाशे, नि०चू०३उ०।

णिसीयंत त्रि०(निषीदत्) उपविशति, भ०१३ श०६उ०।

णिसीयण न०(निषीदन) उपवेशने, स्था०७ ठा०। व्य०। नि०चू०। पिं०। औ०।

णिसीयमाण त्रि०(निषीदत्) उपविशति, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२उ०।

णिसीरिज्जमाण त्रि०(निसृज्यमान) क्षिप्यमाणे, भ०८श०७उ०।

णिसीह न०(निशीथ) **''निशीथपृथिव्योर्वा''** ॥८।१।२१६॥ इति थस्य हो वा। प्रा०१ पाद। अप्रकाशे, नि०चू०३उ०। मध्यमरात्रौ, तद्वद्रहोभूतं यदध्ययनं तन्निशीथम्। आचाराङ्गपञ्चमचूडायाम्, पा०। नं०।

पच्छन्नं तु निसीहं, निसीहनामं जहऽज्झयणं।

प्रच्छन्नं तु निशीथनामकमध्ययनमिति। अथवा–निशीथं गुप्तार्थमुच्यते। यथा–अग्गायणीये वीर्यपूर्वे अस्ति नास्ति प्रवादे च पाठः–''जत्थेगो दीवायणे भुंजइ तत्थ दीवायणसयं भुंजइ। जत्थ दीवायणसयं भुंजइ तत्थेगो दीवायणो भुंजइ। तथा–जत्थेगो दीवायणो हम्मइ तत्थ दीवायणसयं हम्मइ। जत्थ दीवायणसयं हम्मइ, तत्थेगो दीवायणो हम्मइ।''

तथा चामुमेवार्थमभिधातुकाम आह–

अग्गेणीयम्मि जहा, दीवायण जत्थ एगो तत्थ सयं।
जत्थ सयं तत्थेगो, हम्मइ वा भुंजई वा वि॥

अक्षरगमनिका सुप्रतीता। इदमालापकद्वयं सम्प्रदायप्रतीतार्थमिति गुप्तार्थत्वान्निशीथमिति। आ०म०१अ०२खण्ड। आ०चू०। निशीथं च कुतः सिद्धमित्यत आह– ''निसिहं नवमापुव्वा, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ। आयारनामधेज्जा, वीसइमा पाहुडा छेया॥१॥'' व्य०१ उ०। प्रकल्पो निशीथः, स च प्रत्याख्यानपूर्वस्य यत्तृतीयं वस्तु तस्याऽपि यदाचाराऽऽख्यं विंशतितमं प्राभृतम्। आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०१उ०।

इयाणिं णिसीहं ति दारं–

णामं ठवणाणिसीहं, दव्वे खेत्ते य कालें भावे य।
एसो उ णिसीहस्सा, णिक्खेवो छव्विहो होइ॥६७॥

कंठा। णामठवणा गता। दव्वणिसीहं दुविधं–आगमओ, णोआ–गमओ य। आगमओ जाणए अणुवउत्ते। णोआगमओ जाणग–भव्वसरीरवइरित्तं।

तं चिमम्–

दव्वणिसीहं कतगा–दिएसु खेत्तं तु कण्हतमुणिरया।
कालम्मि होति रत्ती, भावणिसीहं तिमं चेव ॥६८॥

द्रवतीति द्रव्यम्, णिसीहमप्रकाशम्। कतको णाम–रुक्खो, तस्स फलं, तं कलुसोढए पक्खिप्पइ, तओ कलुसं हेट्ठा ठायति, तं दव्वणिसीहं, सच्छं उवरि, तं अ निसीहं। गयं दव्वनिसीहं। खेत्तनिसीहंखेत्तमगासं, तु पूरणे, (कण्ह इति)कण्हरातीओ, ता अणेण भगवईसुत्ताणुसारेण णेया–''कति णं भंते ! कण्हराईओ पण्णत्ताओ? गोयमा ! अट्ठ कण्हराईओ पण्णत्ताओ। कहि णं भंते ! ताओ अट्ठ कण्हरातीओ पण्णत्ताओ? गोयमा ! उप्पिं सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं, हेट्ठिं बंभलोगे कप्पे रिट्ठे विमाणपत्थडे, एत्थ णं अक्खाडगसमचउरंससंठाणसंठियाओ अट्ठ कण्हराईओ पण्णत्ताओ ॥'' (तमु त्ति) तमुक्काओ, सो य दव्वओ आउक्काओ। सो अणेण भगवतीसुत्ताणुसारेण णेओ–''तमुक्काए णं भंते ! कहिं समुट्ठिए, कहिं णिट्ठिए? गोयमा ! जंबुद्दीवस्स दीवस्स बहिया तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीतीवइत्ता अरुणवरस्स दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ अरुणोदयं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगा–हित्ता, उवरिल्लाओ उज्जलंताओ एगपदेसियाए सेढीए, एत्थ तमुक्काए समुट्ठिए सत्तरस एक्कवीसे जोयणसते उड्ढं उप्पतित्ता, ततो पच्छा वित्थरमाणे २ सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदे चत्तारि वि कप्पे आवरेत्ता णं चिट्ठति, उड्ढं पि णं०जाव बंभलोए कप्पे रिट्ठविमाण–पत्थडे संपत्ते, एत्थतमुक्काए णिट्ठिते। तमुक्काए णं भंते ! किंसंठिते पण्णत्ते ? गोयमा ! अहे मल्लगसंठिते उप्पिं कुक्कुडपंजरसंठाणसंठिते॥'' (णिरया इति) णरगा, ते य सीमंतगादि। एए कण्हतमुणिरया अप्पगासित्ता खेत्तणिसीहं भवंति। खेत्तणिसीहं गतं। इदाणिं कालणिसीहं–कालणिसीहं रात्री।गतं कालणिसीहं। इदाणि भावणिसीहं–भवणं भावः, णिसीहमप्पगासं, भाव एव णिसीहं भावणिसीहं। तं दुविहं–आगमओ, णोआगमओ य। आगमओ जाणए उवउत्ते, णोआगमओ इमं चेव पकप्पऽज्झयणं, जेण सुत्तत्थतदुभएहिं अप्पगासं, एव अवधारणे इति।

कोऽर्थः–निसीथसद्दपट्ठीकरणत्थं वा भणति–

जं होति अप्पगासं, तं तु णिसीहं ति लोगसंसिद्धं।
जं अप्पगासधम्मं, अण्णं पि तयं निसीहं ति ॥६९॥

जमिति अणिद्दिट्ठं, होति भवति, अप्पगासमिति अंधकारं, जकारणिद्देसे तगारो होइ, सद्दस्स अवहारणत्थे तुगारो, अप्पगासवयणस्स णिण्णयत्थे णिसीहं ति, लोगे विसिट्ठं णिसीहं अप्पगासं। जहा कोइ पवसिओ पओसे आगओ, परेण वितिए दिणे पुच्छिओ–कल्ले कं वेलमागओ सि? भण्णति–णिसीहे त्ति, रात्रावित्यर्थः। न केवलं लोकसिद्धमप्पगासं णिसीहं जं अप्पगासधम्मं, अन्नं पि, तं णिसीहं। अक्खरत्थो कंठो। उदाहरणं–जहा लोइया रहस्ससुत्ता, विज्जा, मंता, जोगा य अपरिणयाणं ण पगासिज्जंति। अहवा–दव्वखेत्तकालभावणिसीहा अण्णहा वक्खाणिज्जंतिदव्वणिसीहं जाणभव्वसरीरातिरित्तं कतगफलं, जम्हा तेण कलुसुदयपक्खित्तेण मलो णिसीयति, उदगादपगच्छतीत्यर्थः। तम्हा तं चेव कतगफलं दव्वणिसीहं। खेत्तणिसीहंबहि द्वीवसमुद्दादिया, लोगा य, जम्हा ते पप्प जीवपुग्गलाणं तमभावो अवगच्छति। कालणिसीहं–अहो, तं पप्प रातीतमस्स णिसीयणं भवति। भावणिसीहं–

अट्ठविहकम्मपंको, णिसीयते जेण तं णिसीह त्ति।
अहवऽण्णहा विसेसो, सुइं पि जं णेति अण्णेसिं ॥७०॥

अट्ठ त्ति संखा, विही भेओ, क्रियत इति कर्म, पङ्को–दव्वे, भावे य। दव्वे उदगचलणी, भावे णाणावरणातीणि पंको, सो भावपंको णिसीयते जेण। तस्स भावपंकस्स णिसीयणा तिविहाखओ, उवसमो, खओवसमो य। (जेण त्ति) करणभूतेण, तं णिसीयं भवति, तं चिमं अज्झयणं। जम्हा जहुत्तं आयरमाणस्स अट्ठविहकम्मगंठी वियाराइति, तेणिमं णिसीहं। चोदग आह– जइ कम्मक्खवणस्स सामत्थाओ इमं पि णिसीधं, एवं सव्वऽज्झयणाणं णिसीहत्तं भवति त्ति? गुरु भणति–आमं।किं पुण अविसेसा सव्वऽज्झयणा कम्म–क्खवणसमुत्था ? इह अज्झयणे विसेसो। विसेसो णाम भेओ। को पुण विसेसो? इमो–(सुइं पि जं णेति अण्णेसिं) सुतिं सवणं सोइंदिओवलद्धी, जम्हा कारणा, ण इति पडिसेहे, एति आग–च्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः। (अण्णेसिं ति) अगीत अइपरिणामो, अतिपरिणामगाणं ति वक्कसेस। किं पुण कारणं तेसिमं सुइं पि णागच्छति? सुण–इदमज्झयणं अववायबहुलं। ते य अगीयत्थादिदोसजुत्त वा विणस्सेज्ज,तेण णागच्छति। अवि पदत्थसंभावणे। किं संभावयति? जति अगीयाण, अण्णसाहुपरावत्तयंताण वि सवणं पि ण भवति। कओ उद्देसवायणत्थसवणाणि एवं संभावयति? अहवऽण्णहागाहा समवतारिज्जति–अप्पगासणिसीहसद्दसामण्ण–वक्खाणओ। सीसो पुच्छतिलोगुत्तरलोगणिसीहाण को पडिविसेसो? उच्यते–''अट्ठविहकम्मपंको गाहा।'' अक्खरत्थो सो चेव। उवसंहारो इमो–जइ वि लोइगारण्णमादीणि णिसीहाणि, तह वि कम्मक्खवणसमत्थाणि ण भवंतीति अविसेसे विसेसो भणितो। किं च–ताणि गिहत्थपासंडीणं ण सुतिमागच्छंति।इमं पुण सुतिं पि जं ण एति अण्णेसिं, अण्णे गिहत्थऽण्णतित्थिया अ वि सपक्खा, गीयपासंडीण वि।'' नि०चू० १ उ०।

✱**नृसिंह** पुं०। पुरुषसिंहे, पुरुषोत्तमे, षो० १६ विव०।

णिसीहकप्प पुं०(निशीथकल्प) निशीथाध्ययनमर्यादायाम्, (पं०भा०)

इयाणिं णिसीहकप्पो–

....., णिसीहकप्पं अतो वोच्छं।
चउहा णिसीहकप्पो, सद्दहणाऽणुपालण गहण सोही।
सद्दहणा वि य दुविहा, ओहनिसीहे विभागे य॥
ओहे ति हत्थकम्मं, कुणमाणो रागडूलिया दोसा।
गिण्हणमादिविभागे, अहबोधो होति उस्सग्गो॥
अहवा होतु विभागो, सव्वं चेदं न सद्दहंतस्स।
सद्दहणाए कप्पो, होति अकप्पो पुण इमो हु॥
मिच्छत्तस्सुदएणं, ओसन्नविहारताइसद्दहणा।

गणहरमेरं ओहं, ण सद्दहति जो णिसीहं तु ॥
ओसन्नाण विहारं, सद्दहती सुविहिताण गणमेरं ।
णो सद्दहती जो खलु, एस अकप्पो तु सद्दहणो ॥
जाणि भणिताणि सुत्ते, पुव्वावरबाहिताणि वीसाए ।
ताणि अणुपालयंतो, सव्वाण निसीहकप्पो तु ॥
सुत्तत्थतदुभयाणं, गहणं बहुमाणविणयमच्छेरं ।
चोद्दसपुव्विणिबद्धो, पकप्पगहियम्मि गणधारी ॥
तिविहो य पकप्पधरो, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
सुत्तधर होदु तइओ, बितिओ वा होति गणधारी ॥
तिण्णिपंचपणगछक्कं, अट्ठग नवगं च जस्स उवलद्धं ।
ठवणाकरणं दाणं, च सो हु सोही वियाणाहि ॥
णाणादीणं तियगं, पणगं ववहारो होति पंचविहो ।
वितियपणगं च पंच य, छक्कं पुण होंति छक्काया ॥
आलोयणारिहगुणे, अट्ठ तु अहवा विसोहि अट्ठविहा ।
आलोयणगादीयं,मूलं तं जाणत जो उ ॥
आलोयणमादीयं, अणवट्ठं तं तु णवविहं होति ।
पारंचितं तमहवा, दसविह होती च सद्देणं ॥
ठवणा रोयणकरणं, सफला मासा करेत्तु जो जाणे
सो होति दाणअरिहो, तव्विवरीओ अणरिहो तु ॥
किं पुण तं दायव्वं, पायच्छित्तं तु पुच्छए सीसो ।
भण्णति इमेण विहिणा, दायव्वं तं तहा कमसो ॥
ओहेण तु सट्ठाणं, सट्ठाणविभागताऐं वित्थारो ।
पच्छित्तपुरिसहेतू, किं ति ण संती चरणमादी?
ओहे सट्ठाणं ति य, जह चतुगुरु होति रायपिंडम्मि ।
सट्ठाणविभागे पुण, ईसरमादी मुणेयव्वो ॥
जह वा करकम्मम्मि उ, ओहेणं होति मासगुरुयं तु ।
होति विभागपसंगो–ऽदिट्ठादीओ मुणेयव्वो ॥
पुरिसजातं णातुं, व दिज्जए जं च जारिसं वत्थु ।
गुरुमादि वलियदोब्बल–हट्ठगिलाणाऽऽदि जं जोग्गं ॥
होऊ कारणणिक्का–रणे य जयणादिसेविओ जह तु ।
तो देति किं निमित्तं, पच्छित्तं विज्जते सुणसु ॥
''पायच्छित्ते असंतम्मि, चरित्तं तु न चिट्ठइ ।
चरित्तम्मि असंतम्मि, तित्थे ण सचरित्तया ॥
तित्थम्मि य असंतम्मि, णिव्वाणं तु ण गच्छइ ।
णिव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वा दिक्खा णिरत्थिया ॥''
एवं णिसीहकप्पो, चउहा तू वण्णितो समासेणं । पं०भा०।

(चउहा गाहा) ''सो निसीहकप्पो चउव्विहो–सद्दहणया, आयर–णया, गहणविसोही, सोहिकप्पो य। सद्दहणया दुविहा–ओहे, विभागे य। ओहे ति हत्थकम्मं करेमाणस्स तन्निप्फण्णो दोसो। विभागो गेण्हणादयो। अहवा–ओहो उस्सग्गो, विभागो अववादो। (मिच्छत्तरसुदएणं गाहा) जो पुण मिच्छत्तोदएण न सद्दहइ, ओसन्नविहारपसंगं चेव करेइ, तस्स दोससंकडया भवइ। तेण बहुदोससंकडो गणधरधारधरोघो त्ति। गणं धारयन्तीति गणधराः, धारा मेरा, मर्यादा इत्यर्थः। मेराए ओघं, तं गणधरमेरधरोधं, न सद्दहइ जो निसीहं तु अणुपालणाए (गाहा जाणि भणियाणि) जाणि भणिताणि वीसएहिं उद्देसएहिं निसीहस्स पुव्वावरवाहगाइं त्ति अववादेण उस्सग्गो वाहिओ, ताइं अणुपालेइ, ते अणुपालणा। (गाहा सुत्तत्थ) गहणविहिगहणे सुत्तत्थतदुभयाणं बहुमाणविणएण चोद्दसपुव्वनिबद्धं अच्छेरं ति मण्णमाणेण सो गणपरियट्टी भवइ। (गाहा तिविहो य) सोहिकप्पो त्ति तिविहो पकप्पधरो सुत्तत्थत–दुभयाइं, सो गणपरियट्टी, तदुभयवज्जगाणं पुण अत्थधरो गणपरि–यट्टी, (तिण्णि) तिण्णि जो जाणइ नाणदंसणचरित्तं, (पंच इति) पंच महव्वयाणि। अहवा–पंचिंदियाणि, पायच्छित्तं०जाव पंचिंदियाणं। अहवा–पणगं नाणदरिसणचरित्ततवसंजमाइं जो जाणइ सो परियट्टी। (छक्कत्ति) रायभोयणछट्ठाइं वयाइं (अट्ठग त्ति) आलोयणारिहाइं०जाव मूलं अट्ठविहं पायच्छित्तं। (नवग इति) अणवट्ठप्पनवमाइं। एयाइं ठाणाइं जस्सुवलद्धाणि सो जाणइ विसोही, पायच्छित्तकरणदाणं च। (गाहा ओहणे तु) ओहो नाम–अविसेसियं, तेण ओहेण सपायच्छित्तं पडिसेवणाठाणेहिं जहा रायपिंडे चउ–गुरुगा, एए सट्ठाणे त्ति विभाएण ईसरतलवराइ, अन्ने वि होंति दोसा आकिन्नगुम्माइ। पायच्छित्तकरणं पुण पुरिसजाइं परिच्छिऊण, हेउं च समिक्खिऊण, किं निमित्तं पडिसेवियं? कारणे अकारणे त्ति जयणा वा समक्खियं। किं नामित्तं पायच्छित्तं दिज्जइ? पाय–च्छित्तं सोहिकारणं। (गाहा पायच्छित्तं) पायच्छित्ते य असंते पडिसिद्धमेव। एस निसीहकप्पो'' पं०चू०।

इदाणिं आयरिओ सिस्सिणीणं च इमं णिसीहऽज्झयणं हियय्मि थिरं भवउ त्ति णिकायणत्थं इमं इमं भणइ। गाहा–

चउहा णिसीहकप्पो, सद्दहणाऽऽरयणगहणसोही य।
सद्दहण बहुविहा पुण, ओहणिसीहे विभागे य ॥३८१॥

अहवा जं एयं पंचमचूलाए वुत्तं सव्वं तं एयं समासतो चउव्विहं। जतो भण्णति–(चउगाहा) ओहे, विभागे य।

एक्केक्का अणेगविहा इमा। गाहा–

ओहणिसीहं पुण होति पेढियासुत्तमो विभागो उ।
उस्सग्गुववाओ ऊ, अववाओ होति उ विभागो ॥३८२॥

ओघः समासः, सामान्यमित्यनर्थान्तरम्। तं च णिसीहपेढि–याणामणिप्पण्णो णिक्खेवो, उग्गहणादित्यर्थः। विभजनं विभागः, विस्तर इत्यर्थः। स वीसाए उद्देसएहिं जो सुत्तसंगहो, सुत्तत्थो य। अहवा उस्सग्गो ओहो, तस्यापवादः विभागः।

अहवा–

उस्सग्गो वा ओहो, आणादिसंगमो विभागो उ।
वत्थुं पप्प तिभागो, अवसिट्ठाऽऽवज्जणा होति ॥३८३॥

सुत्ते सुत्ते जं उस्सग्गदरिसणं तं ओहो होउ, जं पुण सुत्ते सुत्ते अण्णोण्णवत्थुमिच्छत्तविराहणाविभागदरिसणं, सो विभागो। अहवा–आयरियादिपुरिसवत्थुभेदेण जं भणियं सो विभागो, जो पुण अवसिट्ठा आवत्ती सो ओहो।

अहवा–

पडिसेहो वा ओहो, तक्करणाऽऽणाइ होइ वित्थारो।
आयासंजमभइया, तस्स य भेदो बहुविकप्पा ॥३८४॥

ण कप्पइ त्ति काउं जं जं पडिसिद्धं सो सव्वो ओहो। तस्स पडिसिद्धस्स करणाणुण्णा जा आणादिणो य भेदा, एस सव्वो वित्थरो त्ति विभागो। स वित्थरो पुणो भाणियव्वो; णिक्कारणअविधिपडिसेवणणियमा आणाभंगो, अणवत्था य, मिच्छत्तं च। ण जहा वादी तहा कारि त्ति विराहणाए आयसंजमविराहणाओ भयणिज्जा कया वि भवंति ण वा। जहा करकम्मकरणे आयविराहणा भवति, ण वा। संजमेण णियमा भवति। पमत्तस्स य पढमाणस्स य आयविराहणा। तस्सेव पाणाइवायसंपत्तीए णो संजमविराहणा। एवं (तस्सि त्ति) विराहणाए भेदा। एवं बहुविगप्पा। अणेग–प्रकारा उवउज्ज भाणियव्वा। एवं विभागो।

गाहा–

अहवा सुत्तनिवाओ, ओहो अत्थाओ होति वित्थारो।
अविसेसो त्ति व ओहो, जो तु विसेसो स वित्थारो ॥३८५॥
जे भणिता उ पकप्पे, पुव्वावरबाहिता भवे सुत्ता।
सो तह समायरंतो, सव्वो आयरणकप्पो उ ॥३८६॥

सुत्तमेत्तप्रतिबद्धं, जहा–पढमसुत्ते करकम्मकरणे मासगुरुं। एस ओहो। सेसो अत्थो, जहा–पढमपोरिसीए करकम्मकरणे मूलं, बितिए छेदो, ततिए छग्गुरुं, चउत्थीए चउगुरुं, पञ्चमीए मासगुरुं। एस विभागो। एवं पढमसुत्ते। एवं चेव सव्वसुत्तेसु। जो अणुवादी अत्थो सो सव्वो विभागो। अहवाजं दव्वादिपुरिसविसेसेणं अविसेसिज्जति सो ओहो; दव्वादिपुरिसविसिट्ठं पुण सव्वं वित्थरे णेयव्वं। वुत्तं सद्धाणसद्दहंतस्स सद्दहणकप्पो। नि०चू० २० उ०।

णिसीद्धकरण न०(निशीथकरण) रहस्यसूत्रार्थे, विशे०।

साम्प्रतमनिशीथनिशीथयोरेव स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह–

भूयाऽपरिणयविगए, च सद्धकरणं तहेवमनिसीहं।
पच्छन्नं तु निसीहं, निसीहनामं जहऽज्झयणं ॥

भूतमुत्पन्नम्, अपरिणतं नित्यं, विगतं विनष्टम्, भूतापरिणतविगतम्। समाहारत्वादेकवचनम्। किमुक्तम्भवति? ''उप्पण्णेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा'' इत्यादि। किंविशिष्टमित्यादि। शब्दकरणं शब्दः क्रियते यस्मिन् तत् शब्दकरणम्। आ०म०१ अ०२ खण्ड। ('करण' शब्दे तृतीयभागे ३६८ पृष्ठे व्याख्या)

णिसीहगंथ पुं०(निशीथग्रन्थ) प्रकल्पशास्त्रे, जी०१ प्रति०।

णिसीहचुण्णि स्त्री०(निशीथचूर्णि) निशीथाऽध्ययनव्याख्यायां चूर्णिग्रन्थे, नि०चू०। सा च चूर्णिः जिनदासगणिमहत्तरेण कृता। विंशतितमोद्देशे ''जे भिक्खू मासियं'' इत्यादिसूत्राणां विशेषव्याख्या तु चन्द्रसूरिणा कृता। तथाहि–

''प्रणम्य वीरं सुरवन्दितक्रमं,
विशुद्धशुद्ध्याऽखिलनष्टकल्मषम्।
गुरूंस्तथा निर्मलशुद्धिकारिणो,
विशुद्धतत्त्वान् जगते हितैषिणः ॥१॥
विंशोद्देश श्रीनिशीथस्य चूर्णौ,
दुर्गं वाक्यं यत्पदं वा समस्ति।
स्वस्मृत्यर्थं तस्य वक्ष्ये सुबोधां,
व्याख्यां काश्चितसद्गुरुभ्योऽवबुद्ध्य ॥२॥
आदौ मासिकपदमिह, तत्प्रस्तावात्समागता मासाः।
तानवधीकृत्याऽऽदौ, व्याख्या प्रारभ्यते चात्र ॥३॥''

नि०चू० २०उ०।

इदानीं चूर्णिकारो यदर्थं मया चूर्णिः कृता इत्येतदा–

विष्करोति–

''जो गाहासुत्तत्थो, चेवंविधपागडो फुडपदत्थो।
रइतो परिभासाए, साहूण अणुग्गहऽट्ठाए ॥१॥''

''जो गाहा'' इत्यादिगाथाशब्देन भाष्यं गाथानिबद्धत्वादभिधी–यते, ततो गाथा च, सूत्रं च, तयोरर्थ इति विग्रहः। (पागडो त्ति) प्राकृतः, प्रकटो वा, पदार्था वस्तुभावा यत्र स तथा, परिभाष्यतेऽर्थोऽनयेति परिभाषा चूर्णिरुच्यते।

अधुना चूर्णिकारः स्वनामकथनार्थं गाथायुग्ममाह–

''तिचउपणऽट्ठमवग्गा, तिपणतितिगअक्खरा चेव।
तेसिं पढमततिएहिं, तिदुसरजुएहिं णामं कयं जस्स ॥१॥
गुरुदिण्णं च गणित्तं, महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं।
तेण कएसा चुण्णी, विसेसनामा निसीहस्स ॥२॥''

''ति चउ'' इत्यादि। वर्गा इह 'अ–क–च–ट–त–प–य–श–वर्गाः' इति वचनात् स्वराऽऽदयो हकारान्ता ग्राह्याः। तदिह प्रथम–गाथया जिनदास इत्येवं रूपं नामाभिहितम्। द्वितीयगाथया तदेव विशेषयितुमाह– ''जिणदासगणिमहत्तर इति। तेन रचिता चूर्णि–रियम्।

''सम्यक्कृतयाऽऽम्नायभवादन्नोक्तं यत्तदुत्सूत्रम्।
मतिमान्द्याद्वा किञ्चित्तच्छोध्यं श्रुतधरैः कृपाकलितैः ॥१॥
श्रीशीलभद्रसूरीणां, शिष्यैः श्रीचन्द्रसूरिभिः।
विंशकोद्देशके व्याख्या, दृब्धा स्वपरहेतवे ॥२॥
वेदाश्वरुद्रयुक्ते ११७४, विक्रमसंवत्सरे तु मृगशीर्षे।
माघसितद्वादश्यां, समर्थितेयं रवौ वारे ॥३॥'' नि०चू० २० उ०। ('चंदसूरि' शब्दोऽत्र वीक्ष्यः)

णिसीहचूला स्त्री०(निशीथचूडा) आचाराङ्गस्य पञ्चमचूडारूपे निशीथाध्ययने, नि०चू० १उ०।

आचाराङ्गे विमुक्तिचूलाऽनन्तरं निशीथचूलिकाप। तत्संबन्ध–

श्चायम्–

''नमिऊणऽरिहंताणं, सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।
सयणसिणेहविमुक्काण सव्वसाहूण भावेणं ॥१॥
सविसेसाऽऽयरजुत्तं, काउ पणामं च अत्थदायिस्स।
पज्जुण्णखमासमणस्स चरणकरणाणुपालस्स ॥२॥
एवं कयप्पणामो, पकप्पमाणस्स विवरणं वत्ते।
पुव्वाऽऽयरियकयं चिय, अहं पि तं चेव उ विसेसे ॥३॥
भणिया विमुत्तिचूला, अहुणाऽवसरो णिसीहचूलाए।
को संबंधो तस्सा, भण्णइ इणमो णिसामेहि ॥४॥''

णवबंभचेरमइओ, अट्ठारसपदसहस्सिओ वेदो।
हवइ य सपंचचूलो, बहु आयारो पयग्गेणं ॥१॥

ब्रह्मचरणयोरुत्पत्तिनिमित्तं साधनार्थं वा शस्त्रपरिज्ञाऽऽदीनि उपधानश्रुतावसानानि नवाऽध्ययनान्यभिहितानि। जम्हा णव एताणि बंभचेराणि, तम्हा णवबंभचेरमइओ इमो त्ति, जहा–मिम्मओ घडो, तंतुमओ पडो, एवं णवबंभचेरम–

इओ आयारो। सो य अज्झयणसंखाणेण णवऽज्झयणो। पयप–रिमाणेण अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ–अट्ठ य दस य अट्ठारस, अट्ठारसे त्ति संखा, पज्जय इति पयं, तं च अत्थपरिच्छेयवायगं पयं भवति, सहस्सं ति गणिताभिहाणेण चउत्थं ठाणं भवति जहासंखं–एगं,दहं सयं, सहस्सं ति। स एवाऽऽयारो अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ भवति। कहम्? विद ज्ञाने, अस्य धातोः घञ् प्रत्ययान्तस्य वेद इति रूपं भवति। अतस्तं विदन्ति, तेन विदन्ति, तस्मि वा विदन्तीति वेदो भवति। सीसो भणति–किमेत्तियमायारो, उत अण्णं पि से अत्थि किंचि? अतो भण्णति–''हवति य सपंचचूलो'' हवति भवति इति भणितं होति, चशब्दो चूलाणुकरिसणे, सहेति युक्तः, पंच इति संखावायगो सद्दो, (चूला इति) चूल त्ति वा अग्गं ति वा सिहरं ति वा एगट्ठं। सा य छव्विहा–जहा दसवेयालिए भणिया तहा भणियव्वा। ताओ य पुण इमाओ पंच चूलाओ–पिंडेसणादि जाव उग्गहपडिमा, ताव पढमा चूला। वितीया–सविक्कगा। तइया–भावणा। चउत्था–विमोत्ती। पंचमी–आयारपकप्पो। एताहिं पंच–चूलाहिं सहिओ आयारो बहू भवति, णवऽज्झयणेहिंतो बहुतरो भवति। (पयग्गेणं ति) अट्ठारसपयग्गसहस्सेहिंतो पंचचूलापएहिं सहितो पयग्गेणं बहुतरो भवति त्ति। अहवा– णवऽज्झयणा पढम–चूलासहिता बहु भवंति, अट्ठारसपयसहस्सा पढमचूलापदेहिं सहिता बहुतरा य पयग्गेणं भवंति। एवं क्रमवृद्ध्या नेयं, जाव पंचमी चूला। अहवा–सपंचचूलो सुत्तपयग्गेण मूलगंथाओ बहु भवति, अत्थपयग्गेणं बहुतरो भवति। अहवा–बहुबहुतरपदेहिं सेसपदा सूचिता भवंति ते य इमेबहुतम–बहुतरतम–बहुबहुतरतम इति। अओ भण्णतिणवबंभचेरमइओ आयारो अट्ठारसपय-सहस्सिओ पढमचूलऽज्झयणसुत्तत्थपदेहिं जुत्तो बहु भवति। पढमचूलासहितो मूलग्गंथो दुइयचूलऽज्झयणसुत्तत्थपदेहिं जुत्तो बहुतरो भवति। एवं ततियचूलाए वि बहुतमो भवति। पढमचूलासहितो मूलग्गंथो दुइयचूलऽज्झयणे सुत्तत्थपदेहिं जुत्तो बहुतमो भवति(?) एवं तति-यचूलाए वि बहुतमो भवति। चउत्थीए वि बहुतरतमो भवति। पंचमीए वि बहुबहुतरतमो भवति। (पयग्गेणं ति) पदानामग्रं पदाग्रं, पदाग्रेणेति पदपरिमाणेनेत्यर्थः। स एवं पयग्गेणं बहुबहुतरो भवति। एवं संबंधगाहासूत्रे व्याख्याते चोदग आह–नवबंभचेरमइए आयारे वक्खाते आयारग्गाणु-जोगारंभकाले संबंधार्थमिदमेव गाथासूत्रं प्रागुपदिष्टं, प्रथमचूडातश्च द्वितीयचूडाया अनेनैव गाथासूत्रेण संबन्ध उक्तो भवति। एवं द्वितीयचूडातः तृतीयचूडायाः, तथा तृतीयचूडातः चतुर्थचूडायाः, चतुर्थचूडातश्च पञ्चमचूडायाः संबन्ध उक्त एव भवति। एवं सति प्रागुक्तस्य संबन्धगाहा-सूत्रस्येह पुनरुच्चारणं किमर्थम्? आचार्य आह–पुव्वभणियं तु जं एत्थ भण्णति, तत्थ कारणं अत्थि–पडिसेहअणुण्णाकारणं, विसेसोवलंभो वा। सीसो पुच्छति–कस्स पडिसेहो, कहं वा अणुण्णा, किं वा कारणं, को वा विसेसोवलंभो? आचार्य आह–तत्र प्रतिषेधः चतुश्चूडात्मके आचारे यत्प्रतिषिद्धं तं सेवंतस्स पच्छित्तं भवति त्ति काउं; किं सेवमाणस्स भण्णति? सूत्रम्–''जे भिक्खू हत्थकम्मं करेति, करंतं वा सातिज्जति'' एवमादीणि सुत्ताणि। एस पडिसेहो। अत्थेण कारणं प्राप्य तमेव अणुजाणंति, तं जयणाए पडिसेवंतो सुद्धो, अजयणाए स पायच्छित्ती। कारणमणुण्णा जुगवं गता। अयसेसोवलंभो इमो–आइल्लाओ चत्तारि चूलाओ कमेणेव अहिज्जंति, पंचमी चूला आयारपकप्पो त्ति वासपरियागस्स आरेण न दिज्जति त्ति, वासपरियागस्स वि अपरिणाम-गस्स अतिपरिणामगस्स वा न दिज्जति। आयारपकप्पो पुण परिणामगस्स दिज्जति। एतेण कारणेण संबंध–गाहा पुनरुच्चायेते। अहवा बहु अतीतकालत्वात् प्रागुक्तसंबन्धस्य विस्मृतिः स्यात्, अतस्तस्य प्रागुक्तसंबन्धस्य स्मरणार्थं प्रागुक्तमपि संबन्धगाहासूत्रमिह पुनरुच्चार्यते। नि०चू० १उ०।

णिसीहज्झयण न०(निशीथाध्ययन) आचाराङ्गस्य निशीथाख्य–पञ्चमचूलिकायाम्, आचा०१ श्रु०१ अ०१उ०। आ०चू०।

णिसीहपेढिया स्त्री०(निशीथपीठिका) निशीथचूर्णिभूमिकायाम्, नि०चू०। सुत्तत्थो पेढियाए देओ, न वा? कस्स देओ, कस्स वा ण देओ इति? अहवा–कहितो सुत्तत्थो पेढियाए णिसीहियपेढियाए सुत्तत्थो व्याख्यातो। सो पुण णिसीहपेढिकाए सुत्तत्थो कस्स देओ, कस्स वा न देओ? इति भण्णति।

जेसिं ताव ण देओ, ते ताव भणामि–

अबहुस्सुते वि पुरिसे, मिण्णरहस्से पईणविज्जत्ते।
णिस्साणपेहए वाऽसंविग्गे दुब्बलचरित्ते ॥४६५॥

बहु सुयं जस्स सो बहुस्सुतो। सो तिविहो–जहण्णो, मज्झिमो, उक्कोसो। जहन्नो जेण पकप्पऽज्झयणं अधीतं। उक्कोसो चोद्दसपुव्वधरो। तम्मज्झे मज्झिमो। एत्थ जहन्ने वि ताव ण पडिसेहो। न बहुस्सुओ अबहुस्सुतो, येन प्रकल्पाध्ययनं नाधीत मित्यर्थः। तस्य निशीथपीढिका न देया। अहवा–अबहुस्सुतो येन हेट्ठिल्लिसुत्तं ण सुयं, सो अबहुस्सुतो भण्णति। (पुरिसे त्ति) पुरिसो तिविहो–परिणामगो, अपरिणामगो, अइपरिणामगो य। एत्थ अपरिणामग–अतिपरिणामगाणं पडिसेहो। मिण्णं रहस्सं जम्मि वि पुरिसे सो मिण्णरहस्सो, रहस्सं ण धारयतीत्यर्थः। इह रहस्सं अववातो भण्णति। तं जो अगीताणं कहेति सो मिण्णरहस्सो। पइण्णावि–ज्ञत्तणं वा करेति, जस्स वा तस्स वा कहयति। आदीअदिट्ठभावाण सावगाण जाव कहयति। णिस्साणं णाम–आलंवणं, तं पेहेति प्रार्थयति, अववातपेहि त्ति वुत्तं भवति। तं अववायपदं णिक्कारणे वि सेवतीत्यर्थः। ण संविग्गो असंविग्गो, पासत्थादि त्ति वुत्तं भवति। दुब्बलो चरित्ते दुब्बलचरित्तो, विणा कारणेण मूलुत्तरगुणपडिसेवणं करोतीत्यर्थः ॥४६५॥ नि०चू०१उ०।

णिसीहिया स्त्री०(निशीथिका) अल्पतरकालिकायां वसतौ, भ० १४ श०१० उ०। आ०चू०। निशाथिकानिक्षेपः–तत्र नामनिष्पन्ननिक्षेपे निशीथिकेति नाम, अस्य च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावैः षड्विधो निक्षेपः। नामस्थापने पूर्ववत्। द्रव्यनिशीथम्–आगमतो ज्ञशरीरभव्य-शरीरव्यतिरिक्तं यद् द्रव्यं प्रच्छन्नम्। क्षेत्रनिशीथं तु–ब्रह्मलोकरिष्ट-विमानपार्श्ववर्तिन्यः कृष्णराजयो, यस्मिन् वा क्षेत्रे तद् व्याख्यायते। कालनिशीथंकृष्णरजन्यो, यत्र का काले निशीथं व्याख्यायत इति। भावनिशीथानो आगमत इदमेवाध्ययनम्, आगमैकदेशत्वात्। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः। आचा०२ श्रु०२ चू०२अ०।

अथाऽऽचाराङ्गस्य द्वितीयसप्तैकके निशीथिकागमनम्–

पढमं से भिक्खू वा भिक्खूणी वा अभिकंखति णिसी-हियं गमणाए, से जं पुण णिसीहियं जाणेज्जा–सअंडं

सपाणं०जाव मक्कडासंताणयं, तहप्पगारं णिसीहियं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णां वेतिस्सामि ॥

साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्-(से इत्यादि) स भावभिक्षुर्यदि वसतेरुपहताया अन्यत्र निशीथिकां स्वाध्यायभूमिं गन्तुमभिकाङ्क्षेत, तां च यदि साण्डां यावत्ससन्तानकां जानीयात्ततोऽप्रासुकत्वान्न परिगृह्णीयादिति । किं च-

निशीथिकायामन्योऽन्यक्रिया-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखइ णिसीहियं गमणाए, से जं पुण णिसीहियं जाणेज्जा-अप्पपाणं अप्पबीयं०जाव मक्कडासंताणयं तहप्पगारं णिसीहं फासुयं एसणिज्जं लाभे संते वेतिस्सामि, एवं सेज्जागमेणं णेयव्वं०जाव उदयपसूयाए त्ति ॥

(से इत्यादि) स भिक्षुरल्पाण्डाऽऽदिकां गृह्णीयादिति । एवमन्यान्यपि सूत्राणि शय्यावन्नेयानि यावद्यत्रोदकप्रसूतानि कन्दाऽऽदीनि स्युस्तां न गृह्णीयादिति ।

तत्र गतानां विधिमधिकृत्याऽऽह-

जे तत्थ दुवग्गा वा तिवग्गा वा चउवग्गा वा पंचवग्गा अभिसंधारेइ णिसीहियं गमणाए, ते णो अण्णमण्णस्स कायं आलिंगेज्जा वा, विलिंगेज्जा वा, चुंबेज्जा वा, दंतेहिं वा णहेहि वा अच्चिंछदेज्ज वा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहिए समिए सदा जएज्जा, सेयमिणं मण्णेज्जा सि त्ति बेमि ॥

(जे इत्यादि) ये तत्र साधवो निषेधिकाभूमौ द्वित्राऽऽद्यागच्छेयुः, ते नान्योऽन्यस्य कायं शरीरमालिङ्गेयुः, परस्परं गात्रसंस्पर्शं न कुर्युरित्यर्थः । नापि विविधमनेकप्रकारं यथा मोहोदयो भवति तथा विलिङ्गेयुरिति । तथा कन्दर्पप्रधाना वक्त्रसंयोगाऽऽदिकाः क्रिया न कुर्युरित्येतस्य भिक्षोः सामग्र्ययंयद्रसौ सर्वार्थैरशेषप्रयोजनैरासु-ष्मिकैः सहितः समन्वितस्तथा समितः पञ्चभिः समितिभिः, सदा यावदायुस्तावत् संयमानुष्ठाने यतैतत्तदेव य श्रेय इत्येवं मन्येतेति ब्रवीमीति पूर्ववत् । निशीथिकाऽध्ययनं द्वितीयन् । आचा०२ श्रु०२ चू०२ अ०।

***नैषेधिकी** स्त्री०। 'षिध' गत्यामित्यस्य निपूर्वस्य घञि निषेधः । प्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्तिः प्रयोजनमस्या नैषेधिकी । प्राणातिपातनिवृत्तायां तन्वाम्, ध०१ अधि०। आव०। उत्त०। निषेधो गमनाऽऽदिव्यापारपरिहारः, स प्रयोजनमस्याः, तमर्हतीति वा नैषेधिकी । बृ० २ उ०। जीत०। निषीदनस्थाने, जी०३ प्रति०४ उ०। रा०। निषेधः प्रमादेभ्य आत्मनो व्यावर्तनं, तत्र भवा नैषेधिकी । ग०२ अधि०। निषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी । व्यापारान्तरनिषेधरूपायां सामाचार्य्याम्, आश्रये प्रविशतो (स्था० १० ठा०) वसतिप्रवेशे निषिद्धोऽहं गमनक्रिययेति भणने, बृ० १उ०। ध०। रा०। आ०म०। निषेधेनासंवृतगात्रचेष्टानिवारणेन निर्वृत्ता तत्प्रयोजना च या शय्याऽऽदिप्रवेशक्रिया सा नैषेधिकी । पञ्चा० १२ विव०। सामाचारीभेदे, पञ्चा०।

साम्प्रतं नैषेधिकीमाह-

एवोग्गहप्पवेसे, णिसीहिया तह णिसिद्धजोगस्स ।
एयस्सेसो उचिओ, इयरस्स ण चेव नत्थि त्ति ॥२२॥

एवमुक्तेनाऽऽवश्यकीयन्यायेन ज्ञानाऽऽदिकार्यलक्षणेन, अवग्रह-प्रवेशे शय्याऽऽदिप्रवेशने, नैषेधिकी सामाचारीविशेषो भवति । तथेत्ययवग्रहप्रवेशापेक्षया विशेषणान्तरसमुच्चयार्थः । तच्चेदम्- निषिद्धयोगस्येत । अथवा-तथाऽऽगमन्यायेन, निषिद्धयोगस्य निरुद्धासद् व्यापारस्य । कस्मादियमस्येत्याह-एतस्य निषिद्धयोगस्य, एष नैषेधिकीशब्दस्यात्वर्थयोगो, नैषेधिकीशब्दोच्चार इत्यन्ये, उचितः संगठः । विपर्ययमाह-इतरस्यानिषिद्धयोगस्य पुनः, नैव उचित एष इति प्रकृतम् । चशब्दः पुनरर्थ : । स च सम्बन्धित एव । कस्मान्नोचित इत्याह-नास्तीति न विद्यते अन्वर्थ इति कृत्वा । इति गाथाऽर्थः ॥२२॥

अथ कस्मादवग्रहप्रवेशे नैषेधिकी विधेयेत्यत आह-

गुरुदेवोग्गहभूमीएँ जत्तओ चेव होति परिभोगो ।
इट्ठफलसाहगो सइ, अणिट्ठफलसाहगो इहरा ॥२३॥

गुरुदेवावग्रहभूम्या आचार्यदेवाधिदेवाऽऽश्रयभुवः, यत्नत एव आशातनापरिहारप्रयत्नेनैव, चैवशब्दोऽवधारणे । भवति वर्तते परिभोगः । स च किंभूतः? इत्याह- इष्टफलसाधकः ईप्सितार्थनिष्पादकः, कर्म्मक्षयहेतुरित्यर्थः । सकृत्सर्वदा । उक्तव्यतिरेक-माह- अनिष्टफलसाधकः, कर्मबन्धहेतुरित्यर्थः । इतरथाऽन्यथा, अप्रयत्नत इत्यर्थः । गुरुदेवा व ग्रहभूमेः परिभोग इति प्रकृतम् । तत्र गुर्ववग्रहस्वरूपमावश्यकेऽभिहितम् । यथा-''आयप्पमाणमेत्तो, चउद्दिसिं होइ उग्गहो गुरुणो ।'' इति । देवावग्रहस्तु न क्वापि ग्रन्थे दृष्टः, केवलं भण्यमानः श्रुतः । यथा-''सत्थोग्गहो य तिविहो, उक्कोसजहन्नमज्झिमो चेव । उक्कोसो सट्ठिहत्थो, जहण्ण नव सेस विचालो ॥१॥'' इति गाथाऽर्थः ॥२३॥

देवाऽऽद्यवग्रहभूमेरेव प्रयत्नपरिभोग्यतां समर्थयन्नाह-

एत्तो ओसरणाऽऽदिसु, दंसणमेत्ते गयाऽऽदिओसरणं ।
सुबइ चेइयसिहरा-इएसु सुस्सावगाणं पि ॥२४॥

(एत्तो त्ति) यतो गुर्वाद्यवग्रहभूमेः प्रयत्नपरिभोग इष्टफलसाधको भवतीतोऽस्मात्कारणात्, अवसरणाऽऽदिषु जिनसमवसरणप्रभृतिषु विषयभूतेषु, तेषामित्यर्थः । षष्ठ्यर्थत्वात्सप्तम्याः । आदिशब्दात्समवसरणसम्बन्धिमहेन्द्रध्वजचामरतोरणाऽऽदिपरिग्रहः । दर्शनमात्रे दृष्टिमात्र एव सति, गजाऽऽद्यपसरणं गजाश्वशिबिकाप्रभृतिभ्यो देवावग्रहगमनप्रवहणेभ्योऽवतरणं प्रयत्नविशेषलक्षणम्, श्रूयते आकर्ण्यते प्रवचने तेषु तेष्वाख्यानकेषु, तथा चैत्यशिखराऽऽदिकेषु जिनभवनशिखरकलसध्वजप्रभृतिषु, एषामित्यर्थः । दर्शनमात्र इति वर्तते । सुश्रावकाणामपि श्रमणोपासकविशेषाणामपि, सभवसरणजिनभवनाऽऽदिषु प्रवेष्टुकामानामिति गम्यते । सुसाधूनां पुनर्गुर्वाद्यवग्रहप्रवेशे प्रयत्नो विधेय इत्यर्थसंसूचनार्थोऽपिशब्दः । सुश्रावकग्रहणं चेतरेषामुक्तविधेरन्यथात्वसंभवोपदर्शनार्थम् । इति गाथाऽर्थः ॥२४॥

अथ यस्य नैषेधिकी भावती भवति, तमभिधित्सुराह-

जो होइ निसिद्धऽप्पा, णिसीहिया तस्स भावतो होइ ।

अणिसिद्धस्स उ एसा, वइमेत्तं चेव दट्ठव्वा ॥२५॥

यः प्राणी, भवति स्यात्, निषिद्धो निवारितः सावद्ययोगेभ्य आत्मा स्वभावो येन स निषिद्धाऽऽत्मा। नैषेधिकी उक्तनिर्वचना, तस्य प्राणिनः, भावतः परमार्थतः, भवति स्यात्। अथोक्तविपर्ययमाह–अनिषिद्धस्य तु अनिवृत्तस्य पुनः, सावद्यादिति गम्यते। एषा नैषेधिकी, वाङ्मात्रं वाग्वैक्केवला, निरर्थकेत्यर्थः। भवति स्यात्, द्रष्टव्याऽवसेया। इति गाथाऽर्थः। पञ्चा०२२ विव०।

साम्प्रतं नैषेधिकीं प्रतिपादयन्नाह–

सेज्जं ठाणं च जहिं, चेएइ तहिं निसीहिया होइ।
जम्हा तत्थ निसिद्धो, तेणं तु निसीहिया होइ॥

शेरते अस्यामिति शय्या–शयनस्थानं, तां शय्यां शयनस्थानं चेति स्थानमूर्द्धस्थानं, कायोत्सर्ग इत्यर्थः। यत्र चेतयते 'चिती' संज्ञाने। अनुभवरूपतया विजानाति, वेदयत इत्यर्थः। अथवा–चेतयते करोति, धातूनामनेकार्थत्वात्। शयनक्रियां च कुर्वता निश्चयतः शय्या कृता भवति, ततश्च यत्र स्वपितीत्यर्थः। चशब्दो वीराऽऽसनाऽऽद्यनुक्तसमुच्चयार्थः। अथ वा तुशब्दार्थे द्रष्टव्यः, स च विशेषणार्थः। किं विशिनष्टीति चेत्? उच्यते–प्रतिक्रमणाऽऽद्यशेषकृतावश्यकः सन् अनुज्ञातो गुरूणां शय्यां स्थानं च यत्र चेतयते, तत्र एवंविधस्थितिक्रियाविशिष्टे स्थाने नैषेधिकी भवति, नाऽन्यत्र। किमित्यत आह–यस्मात्तत्र निषिद्धोऽसौ, तेन कारणेन नैषेधिकी भवति, निषेधाऽऽत्मत्वात्तस्या इति। पाठान्तरं वा– ''सेज्जं ठाणं च जया, चेते तइया निसीहिया होइ। जम्हा तया निसीहा, निसेहमइया य सा जेण ॥१॥'' इयमुक्तार्थत्वात्सुगमैव। अनेन ग्रन्थेन मूलगाथया आवश्यकीं निर्गच्छन् यां च आगच्छन् नैषेधिकीं करोति, व्यञ्जनमेतद् द्विधेत्येतत् स्थितिरूपनैषेधिकीप्रतिपादनं व्यञ्जनभेदनिबन्धनमधिकृत्य व्याख्यातम्।

साम्प्रतममुमेवार्थमुपसंजिहीर्षुराह भाष्यकारः–

आवस्सियं च निंतो, जं च अयंतो निसीहियं कुणइ।
सेज्जानिसीहियाए, निसीहियाअभिमुहो होइ॥

आवश्यकीं निर्गच्छन् नैषेधिकीं करोति, तदेतद् व्याख्यातमिति शेषः। उपलक्षणमेतत्। ततः सह तृतीयपादेन व्यञ्जनमेतद् द्विधेत्यनेनेति द्रष्टव्यम्। साम्प्रतमर्थः पुनर्भवति, स एव गाथाऽवयवार्थः प्रतिपाद्यते। तत्र इत्थमेक एवार्थो भवति। यस्मान्नैषेधिक्यपि नावश्यकर्त्तव्यव्यापार गोचरतामतीत्य वर्तते, ततः संयमयोगानुपालनायाशेषपरिज्ञानार्थं चेत्थमाह–(सेज्जानिसीहियाए, निसीहियाअभिमुहो होइ इति) शय्यैव नैषेधिकी शय्यानैषेधिकी, तस्यां शय्यानैषेधिक्यां विषयभूतायाम्, किं शरीरमपि नैषेधिकीत्युच्यते? इत्यत आह–शरीरनैषेधिक्या करणभूतया आगमनं प्रत्यभिमुखः, ततः संवृतगात्रैः साधुभिर्भवितव्यमिति संज्ञां करोति, ततोऽवश्यकर्त्तव्यव्यापाररूपत्वाद् नैषेधिक्यप्यावश्यकीत्येक एवार्थः।

एतदेव सुव्यक्तं भावयति–

जो होइ निसिद्धऽप्पा, निसीहिया तस्स भावतो होइ।
अनिसिद्धस्स निसिहिया, केवलमेत्तं हवइ सद्दो॥

यो भवति निषिद्धाऽऽत्मा–निषिद्धो मूलगुणोत्तरगुणातिचारेभ्य आत्मा येनेति समासः। नैषेधिकी तस्य निषिद्धाऽऽत्मनो, भावतः परमार्थतो, भवति। न निषिद्धोऽनिषिद्ध उक्तेभ्य एवातिचारेभ्यः, तस्याऽनिषिद्धस्य अनुपयुक्ततया गच्छतो नैषेधिकीशब्दमात्रमेव केवलं भवति, न भावतः आह–यदि नामैवं, तत एकार्थतायाः किमायातम्? उच्यते–निषिद्धाऽऽत्मनो नैषेधिकी भवतीत्युक्तम्।

स च–

आवस्सयम्मि जुत्तो, नियमनिसिद्धो त्ति होइ नायव्वो।
अहवा वि निसिद्धऽप्पा, नियमा आवस्सए जुत्तो॥

आवश्यके मूलगुणोत्तरगुणानुष्ठानरूपे, युक्तः (नियमनिसिद्धो त्ति होइ नायव्वो इति) नियमेन निषिद्धो नियमनिषिद्ध इत्येवं भवति ज्ञातव्यः। आवश्यकेऽपि चाऽऽवश्यकयुक्तस्यैवेत्यत एकार्थता। अथवेति प्रकारान्तरदर्शनार्थः, अपिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः। निषिद्धाऽऽत्माऽपि नियमादावश्यके युक्तो, यतोऽप्येकार्थतेति। पाठान्तरम्– ''अहवा वि निसिद्धऽप्पा, सिद्धाणं अंतियं जाइ।'' इति। अस्यायमर्थः– तदेवं तावत् क्रियाया अभेदेन एकार्थता उक्ता, इह तु कार्याभेदेनैकार्थतोच्यते। अथवेति प्रकारान्तरे, निषिद्धाऽऽत्माऽपि सिद्धानामन्तिकं समीपं याति गच्छति। अपिशब्दादावश्यकयुक्तोऽप्यतः कार्याभेदादेकार्थता। आ०म०१अ०२खण्ड। आ०चू०। उत्त०। निषेधेन स्वाध्यायव्यतिरिक्तशेषव्यापारप्रतिषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी। स्वाध्यायमात्रनिमित्ते स्थाने, व्य०१ उ०।

तत्र का नैषेधिकी, का वाऽभिशय्या? इति व्याख्यानयति–

ठाणं निसीहिय त्ति य, एगट्ठं जत्थ ठाणमेवेगं।
चिंतेति निसिहियं वा, सुत्तऽत्थनिसीहिया सा उ॥
सज्झायं काऊणं, निसीहियातो निसिं चिय उवेंति।
अभिवसिउं जत्थ निसिं, उवेंति पातो तई सेज्जा॥

तिष्ठन्ति स्वाध्यायव्यापृता अस्मिन्निति स्थानम्। निषेधेन स्वाध्यायव्यतिरिक्तशेषव्यापारप्रतिषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी। ततः स्थानमिति वा नैषेधिकीति वा (एगट्ठमिति) एकार्थम्, द्वावप्येतौ तुल्यार्थाविति भावः। व्युत्पत्त्यर्थस्य द्वयोरप्यविशिष्टत्वात्। तत्र यत्र स्थानमेव स्वाध्यायनिमित्तमेकं, न तु ऊर्ध्वं स्थानं, त्वग्वर्त्तनस्थानं वा। चेतयन्ति निशि रात्रौ, दिवा वा, सा सूत्रार्थहेतुभूता नैषेधिकी। एतेनास्मिन् या नैषेधिक्युक्ता सा सूत्रार्थप्रायोग्या नैषे–धिकी प्रतिपत्तव्या, न तु कालकरणप्रायोग्या नैषेधिकी प्रतिपत्तव्या। किमुक्तं भवति? यस्यां नैषेधिक्यां दिवा स्वाध्यायं कृत्वा दिवैव, यदि वा निशि च स्वाध्यायं कृत्वा निश्येव, निशायामवश्यं नैषेधिकीतो वसतिमुपयन्ति, सा नैषेधिकी, यस्यां पुनर्नैषेधिक्यां दिवा निशायां वा स्वाध्याय कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रातर्वसतिमुपयन्ति (तई इति) तका अभिशय्या अभिनिषद्येति भावः। व्य०१ उ०। सोपद्रवेतरायां स्वाध्यायभूमौ, स० २२ सम०। ज्ञा०। स्था०। ''सिज्जा निसीहियाए य, समावन्नो य गोयरे।'' शय्यायां वसतौ नैषेधिक्यां स्वाध्यायभूमौ शय्यैव वाऽसमञ्जसनिषेधान्नैषेधिकी, तस्यां समापन्नः। दश०५ अ०२उ०। स्वाध्यायकरणे, उत्त० २६ अ०। शवपरिष्ठापनभूमौ, अनु०। गृहाऽऽदिव्यापारपरिहारे, सङ्घा०१ अधि०१ प्रस्ता०।

णिसीहियापरिसह पुं०(नैषेधिकीपरिषह) निषेधनं निषेधः पापकर्मणां गमनाऽऽदिक्रियायाश्च, स प्रयोजनमस्या नैषेधिकी, श्मशानाऽऽदिस्वाध्यायाऽऽदिभूमिर्निषद्येति यावत्। सैव च परिषहो नैषेधिकीपरिषहः। उत्त०२ अ०। नैषेधिकी स्वाध्यायभूमिः शून्यागाराऽऽदिरूपा, तत्परिषहणं च तत्रोपसर्गेष्वत्रासः। भ०८ श०८उ०। निषद्यापरिषहे, यथा–''श्मशानाऽऽदौ निषद्यायां, स्त्र्यादिकण्टकवर्जिते। उपसर्गाननिष्टेटान्, निरीहो निर्भयः सहेत्॥१॥'' ध०२ अधि०। ''श्मशानाऽऽदिनिषद्यास्तु, स्त्र्यादिकण्ट–कवर्जिते। उपसर्गाननिष्टेष्टानैकोऽभीरस्पृहः क्षमेत्॥१॥'' आ०म० १अ०२ खण्ड।

एतदेव सूत्रकार आह–

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
अकुवकुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं॥२०॥

(सुसाणे इति) शवानां शयनमस्मिन्निति श्मशानं, तस्मिन् पितृ–वने, श्वभ्यो हितमिति वाक्ये ''उगवादिभ्यो यद्'' ॥५।१।२॥ इत्यत्र ''शुनः संप्रसारणं दीर्घत्वम्।'' (वा०) इति वचनतो यति संप्रसा–रणे दीर्घत्वे च शून्यम्, तच्च तदगारं च शून्यागारं, तस्मिन् वा। वृश्च्यत इति वृक्षः, तस्य मूलमधो भूभागो वृक्षमूलं, तस्मिन् वा, एक उत्तरूपः, स एवैककः, एको वा प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ गच्छतीत्येकगः, एकं वा कर्मसाहित्यविगमतामोक्षं गच्छति तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकगः, अकुक्कुचोऽशिष्टचेष्टारहितो, निषीदेत् तिष्ठेत् न च नैव, वित्रासयेत परम् अन्यम्। किमुक्तं भवति? ''पडिमं पडिवज्जिया मसाणे, नो भयाए भयभेरवाइं दिस्स। विविहगुणतवोरए य निच्चं, सरीरं चाभिकंखए स भिक्खू॥'' इत्या–गममनुसरन् श्मशानाऽऽदावप्येककोऽप्यनेकभयानकोपलम्भेऽपि न स्वयं संविभीयाद्, न च विकृतस्वरमुखविकाराऽऽदिभिरन्येषां भयमुत्पादयेत्। यद्वा–(अकुक्कुए त्ति) अकुक्कुचः कुष्ठ्यादिविराधनाभयात्कर्मबन्धहेतुत्वेन कुत्सितहस्तपादाऽऽदिभिरस्यन्दमानो निषीदेत्। न च वित्रासयेत् विक्षोभयेत, परमुन्दुराऽऽदि। मा भूदसंयम इति सूत्रार्थः॥२०॥

तत्र च तिष्ठतः कदाचिदुपसर्गोत्पत्तौ यत्कृत्यं तदाह–

तत्थ से अत्थमाणस्स, उवसग्गाऽभिधारए।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं॥२१॥

तत्रेति श्मशानाऽऽदौ 'से' तस्य तिष्ठतः। तथा च 'अत्थमाणस्स त्ति' आसीनस्य, उप सामीप्येन सृज्यन्ते तिर्यग्मनुष्यामरैः कर्मवशगेनाऽऽत्मना वा क्रियन्त इत्युपसर्गाः, तेऽभिधारयेयुः, अन्तर्भावितेवार्थत्वादभिधारयेयुरिव। कोऽर्थः? उत्कटतयाऽत्यन्तोत्सिक्तरिपुवदभिमुखीकुर्युरिव। यथैते सह्या वयं, तत्प्रगुणीभूयाऽभिमुखैः स्थेयमिति। यद्वा–सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्, उपसर्गाः संभवेयुस्ततस्तानभिधारयेत्।किमेते ममाचलितचेतसः कर्तुमल–मिति चिन्तयेत्। पठ्यते च–''उव सग्गभयं भवे।'' इति सुगमम्। शङ्काभीत इति। तत्कृतापकारशङ्कातो भीतस्त्रस्ता न गच्छेन्न यायादुत्थाय। कोऽर्थः ? तत्स्थानमपहाय अन्यदपरम्, आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनं स्थानमिति सूत्रार्थः॥२१॥ उत्त०पाई०३ अ०।

णिक्खंतो गयपुरओ, कुरुदत्तसुओ गओ य साएए।
पडिमंठियस्स कुटिया, अग्गी सीसम्मि जालेति॥४३॥ उत्त० नि०।

निष्क्रान्तः प्रव्रजितो गजपुरात् कुरुदत्तसुतो, गतश्च साकेतम्, प्रतिमास्थितस्य (कुटिय त्ति) हृतगवेषकाः, अग्निं शिरसि ज्वालयन्तीति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः। उत्त०३अ०।

अथ कुरुदत्त (सुत) साधुकथा–अत्र नैषेधिकीपरिषहः। कोऽर्थः? यथा ग्रामाऽऽदिषु अप्रतिबद्धेन चर्यापरिषहः सहनीयः, तथा शरीरेऽप्रतिबद्धेन नैषेधिकीपरिषहः सहनीयः। नैषेधिकी नाम शरीरमित्यर्थः। अथ कथा–हस्तिनागपुरे हव्यपुत्रः कुरुदत्त (सुत) नामा प्रव्रजितः विहरन् क्रमात साकेतपुरादूरप्रदेशे प्रतिमायां स्थितः। तत्र चरमपौरुष्यां गोधनापहारिणश्चौराः समायाताः, तत् पृष्ठे त्वरितं गताः, पश्चाद् गोस्वामिनः समायाताः। तैश्चौरमार्गस्वरूपे पृष्टे स यतिः न किञ्चिद् ब्रूते। ततः संजातकोपैस्तैः शिरसि मृत्पालिं कृत्वाऽङ्गाराः क्षिप्ताः, स यतिर्मनागनपसृतः तां वेदनामधिसहमानः सिद्धिं गतः। उत्त०२अ०।

णिसीहियारय त्रि०(निशीथिकारत) स्वाध्यायध्यायिनि, आचा० २ श्रु०१ चू० ३अ०।

णिसीहियासत्तिक्कय न०(निशीथिकासप्तैकक) आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य सप्तैककस्याष्टमाध्ययनस्य द्वितीये निशीथिकाप्रतपादकेऽध्ययने, आचा०२ श्रु०२ चू०। स्था०।

णिसुअ (देशी) श्रुते, दे०ना०४ वर्ग २७ गाथा।

णिसुंभ पुं०(निशुम्भ) पञ्चमे प्रतिवासुदेवे, प्रव० २११ द्वार। ति०आव०। पातिते, दे०ना० ४ वर्ग ३६ गाथा।

णिसुंभण त्रि०(निपातयत्) भूमौ पातयति, सूत्र०१ श्रु०६ अ०१ उ०।

णिसुंभा स्त्री०(निशुम्भा) बलेर्वैरोचनेन्द्रस्य पञ्चानामग्रमहिष्याम्, स्था०४ ठा०२ उ०। ज्ञा०। (अस्याः पूर्वोत्तरजन्मकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७० पृष्ठे उक्ता)

णिसुड्ढ त्रि०(निपातित) **''क्तेनाप्फुण्णाऽऽदयः''** ॥८।४।२५८॥ इति निपातितशब्दस्य निसुड्ढाऽऽदेशः। प्रा०४ पाद।

णिसुढ धा०(नम्) नतौ, भाराऽऽक्रान्तेर्नमेर्णिसुढ इत्यादेशः। 'णिसुढइ'। *भाराऽऽक्रान्तो नमतीत्यर्थः। प्रा०४ पाद।*

णिसुणिऊ अव्य०(निश्रुत्य) श्रवणं कृत्वेत्यर्थ, जीवा०१ अधि०।

णिसेज्जा स्त्री०(निषद्या) स्त्रीवसतौ, स्त्रीभिः कृतायां मायायाम्, ''तम्हा समणा ण समेंति आयहियाए सण्णिसेज्जाए।'' सूत्र०१ श्रु०४ अ०१उ०। पण्यशालायाम्, हट्टे,क्षुद्रखट्टायाम्, वाच०। 'णिसज्जा' शब्दार्थे च। प्रव० ६७ द्वार।

णिसेय पुं०(निषेक) कर्मपुद्गलानां प्रतिसमयानुभावरचनायाम्, स्था०६ ठा०। आचा०। गर्भाधाने, ''निषेकाऽऽदि श्मशानान्तम्।'' इति मनुः। वाच०।

णिसेविय त्रि०(निषेवित) आसेविते, आ०म०१ अ०१ खण्ड। आश्रिते, उत्त०२० अ०।

णिसेह पुं०(निषेध) 'षिध' गत्यामस्य निपूर्वस्य घञि निषेधनं निषेधः। आव०३अ०। निवारणायाम्, पञ्चा०११ विव०।

णिसेहण न०(निषेधन) वारणे, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

णिसेहणा स्त्री०(निषेधना) वारणायाम्, आव०१ अ०।

णिसेहिया स्त्री०(नैषेधिकी) निषिध्यन्ते निराक्रियन्तेऽस्यां कर्मा–णीति नैषेधिकी निर्वाणभूमिः। ''कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि'' इत्यत्रापि–ग्रहणबभाद् ल्युट्। यदि वा निषेधे सकलकर्मनिराकरणलक्षणे भवा नैषेधिकी। मुक्तिगतौ, उत्त० १० अ०। शवपरिष्ठापनाभूमौ, ग०२ अधि०। निषीदनस्थाने, द्वारकूटसमीपे नितम्बे, जी०३ प्रति०४उ०।

णिस्फल त्रि०(निष्फल) **''सषोः संयोगे सोऽग्रीष्मे''** ॥८।४।२८६॥ इति सकारसंयोगे स एव। प्रा०४ पाद। फलरहिते, प्रा०४ पाद।

णिस्संक त्रि०(निःशङ्क) निर्दये, इहपरलोकाऽऽशङ्कारहिते, व्य० १० उ०। शङ्काया अभावो निःशङ्कम्। संशयाभावे, पञ्चा०६ विव०। निर्गता शङ्का देशसर्वशङ्कारूपा यस्य स निःशङ्कः। सूत्र०२ श्रु० ७ अ०। आचा०। शङ्कारहिते, उत्त० १६ अ०। निर्भर, दे०ना० ४ वर्ग ३२ गाथा।

णिस्संकिय त्रि०(निःशङ्कित) शङ्कनं शङ्कितं शङ्का, निर्गतं शङ्कितं यस्मादसौ निःशङ्कितः। देशसर्वशङ्कारहिते, व्य०१ उ०। दश०। ध०। ग०। नि०चू०। उत्त०। स्था०। निःसंशये, रा०। शङ्कनं शङ्कितं देशतः सर्वतश्च शङ्काऽऽत्मकम्। तस्याभावो निःशंङ्कितम्। उत्त० २८ अ०। प्रव०। संशयाभावे निःसंदेहे, औ०।

णिस्संग त्रि०(निस्सङ्ग) बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहिते, आ०म०१ अ०१ खण्ड। उत्त०। पुत्रकलत्रमित्रधनधान्यहिरण्यसुवर्णाऽऽदिसकल–सम्बन्धविकले, पा०। आव०।

णिस्संचार त्रि०(निस्संचार) द्वारापद्वारैर्जनप्रवेशनिर्गमवर्तिते, ज्ञा०१ श्रु०८अ०।

णिस्संत त्रि०(निःशान्त) नितरामतिशयेन शान्त उपशमो वाऽन्तः क्रोधपरिहारेण बहिश्च प्रशान्ताऽऽकारतया निःशान्तः। उत्त०१ अ०। अत्यन्तमन्दभूते, रा०।

णिस्संधि त्रि०(निस्सन्धि) निर्विवरे, ''णिस्संधिवारविरीहया।'' प्रश्न० आश्र० द्वार।

णिस्संस त्रि०(निःशंस) श्लाघारहिते, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

णिस्संसय त्रि०(निस्संशय) संदेहाभावे, ''ततो णिज्जीवं निस्सं–सयं मुणिऊण।'' आ०म०१ अ०१ खण्ड। सूत्र०।

णिस्सण्ण त्रि०(निःसञ्ज्ञ) नष्टसञ्ज्ञे, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०।

णिस्सयर न०(निःस्वकर) स्वकर्मानादिसम्बन्धत्वात्तदपनयनस–मर्थानि निःस्वकराणि। कर्मविश्लेषकेषु, आचा०२ श्रु०४ चू० १उ०।

णिस्सरण न०(निःसरण) पलायने, व्य०१ उ०। निर्गमे, स्था०४ ठा०२ उ०।

णिस्सरणणंदि(ण्) त्रि०(निःसरणनन्दिन्) निःसरणेन निर्गमेण नन्दति यो, नन्दिर्वा यस्य स निःसरणनन्दी। प्राधूर्णकशिष्या–ऽऽदीनामात्मनो वा गच्छाऽऽदेर्निर्गमेण प्रसन्ने पुरुषजाते, स्था०४ ठा०२उ०।

णिस्सरिअ (देशी) स्रस्ते, दे०ना०४ वर्ग ४० गाथा।

णिस्सल्ल त्रि०(निश्शल्य) मिथ्यादर्शनाऽऽदिशल्यरहिते, स० ६ सम०। आ०म०। उत्त०।

णिस्सह त्रि०(निःसह) नितरामशक्ते, स०६ अङ्ग०।

णिस्सा स्त्री०(निश्रा) रागे, व्य०१ उ०। पक्षपाते, व्य०३उ०। उपसंपदि, व्य०४उ०। आश्रयणे, भ०३ श०२ उ०।

णिस्साठाण न०(निश्रास्थान) अवलम्बनस्थाने, उपग्रहहेतौ, स्था०।

धम्मं णं चरमाणस्स पंच णिस्साठाणा पण्णत्ता। तं जहा–छक्काया, गणो, राया, गाहावई, सरीरं।

धर्मं श्रुतचारित्ररूपं, णमित्यलङ्कारे, चरतः सेवमानस्य, पञ्च निश्रास्थानान्यवलम्बनस्थानानि, उपग्रहहेतव इत्यर्थः। षट्कायाः पृथिव्यादयः तेषां च संयमोपकारिता आगमप्रसिद्धा।

तथाहि–पृथिवीकायमाश्रित्योक्तम्–

''ठाणनिसीयतुयदृण–उच्चाराईण गहणनिक्खेवे।
घट्टगडगलगलेवो, एमाइ पओयणं बहुहा ॥१॥''

अप् कायमाश्रित्य–

''परिसेयपियणहत्था–इधोयणे वीरधोयणे चेव।
आयमणभाणधुवणे, एमाइ पओयणं बहुहा ॥२॥''

तेजस्कायम्प्रति–

''ओयणवंजणपाणग–आयामुसिणोदगं च कुम्मासा।
मगलसरक्खसूइय–पिप्पलमाई य उवओगो ॥३॥''

वायुकायमभि–

''दइएण वत्थिणा वा, पओयणं होज्ज वाउणा मुणिणो।
गेलण्णम्मि वि होज्जा, सचित्तमीसे परिहरेज्जा ॥४॥''

वनस्पतिं प्रति–

''संथारपायदंडग–खोमियकप्पायपीढफलगाई।
ओसहभेसज्जाणि य, एमाइ पओअणं तरुसु ॥५॥''

त्रसकाये पञ्चेन्द्रियतिरश्च आश्रित्योक्तम्–

''चम्मऽट्ठिदंतनहरोमसिंगअमिलाणछगणगोमुत्ते।
खीरदहिमाइयाणं, पंचिंदियतिरियपरिभोगे''॥६॥

एवं विकलेन्द्रियमनुष्यदेवानामप्युपग्रहकारिता वाच्या। तथा गणो गच्छः, तस्य चोपग्राहिता–''एगस्स कओ धम्मो, इत्यादिगाथा–पूगादवसेया।

तथा–

''गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण निज्जरा विउला।
विणयाउ तहा सारणमाईहिँ न दोसपडिवत्ती ॥७॥
अन्नन्नावेक्खाए, जागंति तहिं पयदृंतो।
नियमेण गच्छवासी, असंगपयसाहगे नेओ ॥८॥'' इति।

तथा राजा नरपतिः, तस्य धर्मसहायकत्वं दुष्टेभ्यः साधुरक्षणात्।

उक्तं च लौकिकैः–

क्षुद्रलोकाऽऽकुले लोके, धर्मं कुर्युः कथं हि ते ?
क्षान्ता दान्ता अहनतारश्चेद्राजा तान्न रक्षति ॥१॥ ''

तथा–

''अराजके हि लोकेऽस्मिन्, सर्वतो विहृते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य, राजानमसृजत्प्रभुः ॥२॥'' इति।

तथा गृहपतिः शय्यादाता, सोऽपि निश्रास्थानम्, स्थानदानेन संयमोपकारित्वात्।

यदुक्तम्–

''धृतिस्तेन दत्ता मतिस्तेन दत्ता,
गतिस्तेन दत्ता सुखं तेन दत्तम्।
गुणश्रीसमालिङ्गितेभ्यो वरेभ्यो,
मुनिभ्यो मुदा येन दत्तो निवासः''॥१॥

तथा–

''जो देइ उवसयं जइ–वराण तवनियमजोगजुत्ताणं।
तेणं दिण्णा वत्थऽण्णपाणसयणासणविगप्पं'' ॥१॥ इति।

तथा शरीरं कायः; अस्य च धर्मोपग्राहिता स्फटैव।

यतोऽवाचि–

''शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः।
शरीरात् श्रवते धर्मः, पर्वतात्सलिलं यथा'' ॥१॥ इति।

भवति चात्राऽऽर्या–

''धर्मं चरतः साधोर्लोके निश्रापदानि पञ्चैव।
राजा गृहपतिःरपरः, षट् काया गणशरीरे च ''॥१॥

इति। शेषं सुगमम्। स्था०५ ठा०३उ०।

णिस्साण न०(निश्राण) आलम्बने, ''णिस्साणपेहि त्ति अववात–पेहि त्ति वुत्तं भवति।'' नि०चू०१ उ०। प्रश्न०।

णिस्साणपय न०(निश्राणपद) निश्रायते मन्दश्रद् धाकैरासेव्यते इति निश्राणं, तच्च तत्पदं च निश्राणपदम्। अपवादे, बृ०१उ०।

णिस्सार त्रि०(निःसार) सारवर्जिते प्रज्जलिप्रायगुणधान्ये, स०६ अङ्ग। सारो हि विषयगणरसतत्प्राप्तौ तृप्तिस्तदभावान्निःसारम्। तथाविधसाररहिते, आचा०१श्रु० ३अ०२ उ०। जीर्णे, आचा०१ श्रु० ४ अ०३ उ०। वेदवचनाऽऽदिवत्तथाविधयुक्तिरहिते परिफल्गुश्रुते, अनु०। विशे०। यत्र सारोऽर्थो न विद्यते अस्थि चर्म शिलापृष्ठं वृद्ध इति। बृ०१ उ०।

णिस्सारय त्रि०[निस्सार(वत्)] निर्गत एकान्ततः सारश्चारित्रा–ऽऽख्यो यस्य स निःसारः। यदि वा निर्गतस्य सारो निःसारः, स विद्यते यस्याऽसौ निःसारवान्। साररहिते, ''णिस्सारए होइ जहा पुलाए।'' सूत्र०१ श्रु०७ अ०।

णिस्सारिय त्रि०(निःसारित) संयमाच्च्यावित, विषयोन्मुखता–मापादिते, सूत्र०१ श्रु० १४ अ०।

णिस्सावयण न०(निश्रावचन) निश्रया वचनं निश्रावचनम्। आहरणतद्देशभेदे, स्था०। कमपि सुशिष्यमालम्ब्य यदन्यप्रबोधार्थं वचनं निश्रावचनं, तद्यत्र विधेयतयोच्यते तदाहरणं निश्रावचनम्–यथा असहनान् विनेयान् मार्दवसम्पन्नमन्यमालम्ब्य किञ्चिद् ब्रूयात्, गौतममाश्रित्य भगवानिवेति। तथाहि–किल गौतमं तापसाऽऽदिप्रव्रजितानां केवलोत्पत्तावनुत्पन्नकेवलत्वेनाधृतिमन्तं चिरसंसृष्टोऽसि गौतम! चिरपरिचितोऽसि गौतम! मा त्वमधृतिं कार्षीरित्यादिना वचनसंदोहेनानुशासयताऽन्येऽप्यनुशासिताः, तदनुशासनार्थं द्रुमपत्रकाध्ययनं च प्रणिन्ये इति। उक्तं च–''पुच्छाएँ कोणिओ खलु, निस्सावयणम्मि गोयमस्सामी।'' स्था०४ठा०३ उ०।

णिस्सिंचमाण त्रि०(निस्सिञ्चत्) दत्त्वोद्वरितं प्रक्षिपति, ''उस्सिंचमाणे वा निस्सिंचमाणे वा आमज्जमाणे वा पमज्जमाणे वा।'' आचा०२ श्रु०१ चू०६ अ०६उ०।

णिस्सिंसचिय अव्य०(निःषिच्य) तद्भाजनाद्गृहितं द्रव्यमन्यत्र भाजने कृत्वेत्यर्थे, दश०५ अ०१उ०।

णिस्सिय त्रि०(निःश्रित) 'श्रिञ्' सेवायाम्। आ०चू०४ अ०। निश्चयेन श्रितः संबद्धो निःश्रितः। अध्युपपन्ने, सूत्र०१ श्रु० २ अ०३ उ०। संबद्धे, प्रवृत्ते, प्रतिबद्धे, सूत्र०१ श्रु० १० अ०। प्रश्न०। लिङ्ग–प्रमिते, स्था० ६ ठा०। सम्म०। आश्रिते, स्था० १० ठा०। स०। सूत्र०। आसक्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १उ०। भावे क्तः। रागे आहा–राऽऽदिलिप्सायाम्, स्था०८ ठा०। निश्रा रागः, निश्रा संजाताऽस्येति निश्रितः। रक्ते, सर्वाऽऽशंसायुक्ते, शिष्यत्वाऽऽदिप्रतिपन्ने, स्था०५ ठा०२ उ०।

***णिःसृत** त्रि०। निर्गते, स्था०७ ठा०। आचा०। ''तं चिय सरूवओ जं, अणिस्सियम्मि त्ति।'' तमेव लिङ्गं निश्रया जानानो निःसृतं मुणतीत्युच्यते। विशे०।

णिस्सील त्रि०(निःशील) निर्गतशुभस्वभावे दुःशीले, स्था०३ ठा०१ उ०। सुस्वभाववर्जिते, स्था०३ठा०२उ०। गताऽऽचारे, जं० २वक्ष०। समाधानरहिते, भ० १२ श०८उ०। अपगतशुभस्वभावे, ज्ञा०१ श्रु० १८ अ०। महाव्रताणुव्रतविकले, भ०७ श०६ उ०। ब्रह्मचर्यपरिणामाभावात् (दशा०५ अ०) गृहस्थे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०। (निःशीलानां त्रैविध्यं 'लोग' शब्दे वक्ष्यते)

तओ ठाणा णिस्सीलस्स णिव्वयस्स णिग्गुणस्स णिम्मेरस्स णिप्पच्चक्खाणपोसहोववासस्स गरहिया भवंति। तं जहा–अस्सिं लोए गरहिए भवइ, उववाए गरहिए भवइ, आयाइगरहिए भवइ। तओ ठाणा ससीलस्स सव्वयस्स सगुणस्स समेरस्स सपच्चक्खाणपोसहोववासस्स पसत्था भवंति। तं जहा–अस्सिं लोगे पसत्थे भवइ, उववाए पसत्थे भवइ, आयाए पसत्थे भवइ॥

(तओ ठाणा इत्यादि) त्रीणि स्थानानि निःशीलस्य सामान्येन शुभस्वभाववर्जितस्य, विशेषतः पुनर्निर्व्रतस्य प्राणातिपाताऽऽद्यनिर्वृत्तस्य निर्गुणस्योत्तरगुणापेक्षया, निर्मर्यादस्य लोककुलाऽऽद्यपेक्षयाः निःप्रत्याख्यानपोषधोपवासस्य गर्हितानि जुगुप्सितानि भवन्ति। तद्यथा—(अस्सिं ति) विभक्ति-परिणामादयं लोकः 'इदं जन्म' गर्हितो भवति, पापप्रवृत्त्या विद्वज्जनजुगुप्सितत्वात्। तथा उपपातोऽकामनिर्जराऽऽदिजनितः किल्विषाऽऽदिदेवभवो नारक–भवो वा, उपपातो देवनारकाणामिति वचनात्, स गर्हितो भवति, किल्विषाभियोग्याऽऽदिरूपतयेति, आजातिस्तस्मात् च्युतस्योद्वृत्तस्य वा कुमानुषत्वतिर्यक्त्वरूपा गर्हिता, कुमानुषाऽऽदित्वादेवेति। उक्तविपर्ययमाह–(तओ इत्यादि) निगदसिद्धम्। स्था०३ ठा०२ उ०।

णिस्सेणि स्त्री०(निःश्रेणि) अवतरण्याम्, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। आचा०।

णिस्सेयस न०(निःश्रेयस) निश्चितं श्रेयः प्रशस्यम्। स्था०३ ठा०४ उ०। कल्याणे, स्था०६ ठा०। कर्मक्षयहेतुत्वात् (आचा०१ श्रु० ८ अ०४उ०) अभ्युदयप्राप्तौ, उत्त०६अ०। निश्चितकल्याणे मोक्षे, दशा०४ अ०। मोक्षे, नि०१श्रु०१ वर्ग१ अ०। स्था०। औ०। नं०। दशा०।

आ०म०। ध०। स्था०। अभिलषितविषयावाप्त्याऽभ्युदये, उत्त०८ अ०।

णिस्सेयसिय त्रि०(नैःश्रेयसिक) निःश्रेयसं विपद् मोक्षमिच्छतीति नैःश्रेयसिकः। भ० १५ श०। निःश्रेयसं मोक्षः, तत्र नियुक्त इव नैःश्रेयसिकः। मोक्षयोग्ये मोक्षार्थिनि, प्रति०। भ०।

णिस्सेस त्रि०(निःशेष) सम्पूर्णे, दश०६ अ०२ उ०।

णिस्सेसकम्ममुक्क त्रि०(निःशेषकर्ममुक्त) क्षीणसकलकर्मणि, पञ्चा०२ विव०।

णिह त्रि०(निभ) सदृशे, आ०म०१अ०१खण्ड।

***निह** त्रि०। निहन्यते निहः। निपूर्वाद्धन्तेः कर्मणि भः। आचा०१ श्रु०२ अ०३उ०। मायिनि, सूत्र०१ श्रु० ६ अ०। क्रोधाऽऽदिभिः पीडिते, सूत्र०१ श्रु०२ अ०१उ०। निहन्यते प्राणिनः कर्मवशगा यस्मिन् तन्निहम्। आघातस्थाने, सूत्र० १ श्रु०५ अ०२उ०।

***स्निह** त्रि०। स्निह्यते श्लिष्यते अष्टप्रकारेण कर्मणा इति स्निहः। रागवति, आचा०१ श्रु०४ अ०३ उ०। रागद्वेषयुक्ते, आचा०१ श्रु० ५ अ०३उ०। ममत्वसहिते, सूत्र०१ श्रु० २ अ०२उ०।

णिहट्ठु अव्य०(निर्हत्य) पृथक् कृत्वेत्यर्थे, ''बहु अट्ठियं मंसं पडिभाएत्ता णिहट्टु दलएज्जा।'' आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०१० उ०।

***निहत्य** अव्य०। स्थापयित्वेत्यर्थे, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०।

णिहट्ठ त्रि०(निघृष्ट) कृतनिघर्षे, ''तद्दिअसणिहट्ठाणंग।'' प्रा०२ पाद।

णिहण न०(निधन) विनाशे, सम्म०१ काण्ड। पर्यन्ते, दर्श०४ तत्त्व। ''तच्चेव णिहणमुवगतो।'' आ०म०१ अ०१ खण्ड। ''णिहणाहि रागदोसमल्ले।'' कल्प०५ क्षण। कूले, दे०ना०४ वर्ग २७ गाथा।

णिहणिंसु (निहतवत्) क्षिप्तवति, आचा०१ श्रु० ६ अ०३उ०।

णिहत्त न०(निधत्त) निधानं निहितं वा निधत्तं, भावे कर्मणिक्त–प्रत्यये निपातनात्। उद्वर्तनापवर्तनावर्जितशेषकरणानामयोग्य–त्वेन कर्मणाऽवस्थापने, स्था०४ ठा०२ उ०। भ०। निषिक्ते, निषेकश्च प्रतिसमयबहुहीनहीनतरस्य दलिकस्यानुभवनार्थं रचना (स०। स्था०। सूत्र०) निश्चिते, प्रमाणे, निकाचिते, ''मागहस्स ण जोयणस्स अट्ठधणुसहस्साइं निधत्ते पण्णत्ते।'' स्था०८ ठा०।

णिहत्ति स्त्री०(निधत्ति) उद्वर्तनापवर्तनावर्जशेषकरणाऽयोग्यत्वेन व्यवस्थापने, क०प्र०१ प्रक०।

णिहम्म धा०(निहम्म) गतौ, 'णिहम्मइ'। 'णीहम्मइ।' आहम्मइ। 'पहम्मइ।' इत्येते तु हम्मगताविति यस्यैव भविष्यन्ति। गच्छति। प्रा०४ पाद।

णिहय त्रि०(निहत) मारिते, ''जक्खा हु वेयावमियं करेंति, तम्हा उ एए णिहया कुमारा।'' (३२) उत्त० १२ अ०। निश्चयेन हन्यते इति निहतः। भावरिपुभिरिन्द्रियकषायकर्मभिर्हन्यमाने, आचा०१ श्रु० ४ अ०३उ०।

णिहयकंटय त्रि०(निहतकण्टक) निहता मारणात्कण्टका दायादा यत्र राज्ये तत् तथा। मारितदायादे, स्था०६ ठा०।

णिहयरय त्रि०(निहतरजस्) निहतं रजो भूय उत्थानासम्भवाद् यत्र तन्निहतरजः। शान्तरजसि, रा०। ''अप्पेगतिया देवा णिहयरयं णट्ठरयं भट्ठरयं उवसंतरयं पसंतरयं करेंति।'' निहतं रजो यस्यां सा निहतरजास्तां, तत्र निहतत्वं रजसः क्षणमात्रमुत्थाना-भावेनाऽपि सम्भवति। जी०३ प्रति०४ उ०। रा०।

णिहयसत्तु त्रि०(निहतशत्रु) निहता रणाङ्गणे पतिताः शत्रयो यत्र तन्निहतशत्रु हतशत्रुके, ''ओहयसत्तु णिहयसत्तु मवियसत्तु निज्झियसत्तु।'' रा०। स्था०। सूत्र०।

णिहुव धा०(कम्) इच्छायाम्, **''कमेर्णिहुवः॥८।४।४४॥** कमेः स्वार्थे ण्यन्तस्य णिहुवेत्यादेशः। 'णिहुवइ'। 'कामेइ।' प्रा०४ पाद।

णिहस पुं०(निकष) **''निकष–स्फटिक–चिकुरे हः''॥८।१।१८६॥** इति कस्य हः। प्रा०१ पाद। **''शषोः सः''॥८।१।२६०॥** इति षस्य सः। प्रा०१ पाद। कषपट्टकरेखायाम्, प्रज्ञा०१७ पद २ उ०। वल्मीके, दे०ना० ४ वर्ग २५ गाथा।

णिहा स्त्री०(निहा) निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यथा सा निहा। मायायाम्, सूत्र०१ श्रु० ८ अ०।

णिहाअ (देशी) स्वेदे, समूहे च। दे०ना० ४ वर्ग ४६ गाथा।

णिहाण न०(निधान) रत्नाऽऽदौ, स्था० ५ ठा०१ उ०। निधौ, अनु०। निक्षिप्ते, ''दव्वे निहाणमाई।'' दश०८अ०।

णिहाय अव्य०(निधाय) व्यवस्थाप्येत्यर्थे, सन्निधिं कृत्वेत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु०७अ०। परित्यज्येत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु० १३ अ०।

णिहार पुं०(निहार) निर्गमे प्रमाणे, स्था०८ ठा०।

णिहालेउं अव्य०(निभाल्य) सम्यग्विलोक्येत्यर्थे, ग०२ अधि०। सम्यक्परीक्ष्येत्यर्थे, ग०१ अधि०।

णिहि स्त्री०।पुं०(निधि) नितरां धीयते स्थाप्यते यस्मिन् स निधिः। प्राकृते **''वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्''॥८।१।३५॥** इति वा स्त्रीत्वम्। प्रा०१ पाद। विशिष्टरत्नसुवर्णाऽऽदिद्रव्यभाजने, स्था०।

पंच णिही पण्णत्ता। तं जहा–पुत्तणिही, मित्तणिही, सिप्प–णिही, धणणिही, धन्नणिही।

तत्र न निधिरवि निधिः, पुत्रश्चासौ निधिश्च पुत्रनिधिर्द्रव्योपार्जकत्वेन पित्रोर्निर्वाहहेतुत्वात्, अत एव स्वभावेन च तयोरानन्दसुखकरत्वाच्च। अत्रोक्तं परैः–''जन्मान्तरफलं पुण्यं, तपोदानसमुद्भवम्। सन्ततिः शुद्धवंश्या हि, परत्रेह च शर्मणः॥१॥'' इति। तथा मित्रं सुहृत्तच्च तन्निधिश्चेति मित्रनिधिरर्थकामसाधकत्वेनाऽऽनन्दहेतुत्वात्। तदुक्तम्'' कुतस्त-स्यास्तु राज्यश्रीः, कुतस्तस्य मृगेक्षणाः। यस्य शूरं विनीतं च, नास्ति मित्रं विचक्षणम्'' ॥१॥ शिल्पं चित्राऽऽदिविज्ञानं, तदेव निधिः शिल्पनिधिः। एतच्च विद्योपलक्षणं, तेन विद्या निधिरिव पुरुषार्थसाधनत्वात्।

अत्रोक्तम्–''विद्यया राजपूज्यः स्यात्, विद्यया कामिनीप्रियः। विद्या हि सर्वलोकस्य, वशीकरणकार्मणम्''॥१॥ इति।

तथा धननिधिः कोशः। धान्यनिधिः कोष्ठाऽगारमिति। अनन्तरं निधिरुक्तः; स च द्रव्यतः पुत्राऽऽदिः। भावतस्तु कुशलानुष्ठानरूपं ब्रह्म। स्था०५ ठा०३उ०। भाण्डागारे, ज्ञा०१ श्रु०३अ०।

महापुरुषाणां चक्रवर्तिनां संबन्धि निधिप्रकरणमाह–

एगमेगे णं महानिही नवनवजोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते। एगमेगस्स णं रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स नव महानिहीओ पण्णत्ताओ। तं जहा–

नेसप्पे पंडुए पिंगले य सव्वरयणे महापउमे।
काले य महाकाले, माणवगमहानिही संखे॥१॥

''एगमेगे'' इत्यादि सुगमम्। नवरं–

नेसप्पम्मि निवेसा, गामागरनगरपट्टणाणं च।
दोणमुहमडंबाणं, खंधाराणं गिहाणं च॥२॥

इह निधानतन्नायकदेवयोरभेदविवक्षया नैसर्पो देवः, तस्मिन्सति, तत इत्यर्थः। निवेशाः स्थापनानि अभिनवग्रामाऽऽदीनामिति। अथवा–चक्रवर्तिराज्योपयोगिद्रव्याणि सर्वाण्यपि नवसु निधिष्ववतरन्ति, नवनिधानतया व्यवहियन्त इत्यर्थः। तत्र ग्रामाऽऽदीनामभिनवानां पुरातनानां च ये सन्निवेशा निवेशनानि, ते नैसर्पनिधौ वर्तन्तो, नैसर्पनिधितया व्यवहियन्त इति भावः। तत्र ग्रामो जनपदप्रायलोकाधिष्ठितः, आकरो यत्र सन्निवेशे लवणाऽऽद्युत्पद्यते, न करो यत्रास्ति तन्नकरम्, पत्तनं देशीस्थानं, द्रोणमुखं जलपथस्थलपथयुक्तम्, मडम्बमविद्यमानप्रत्यासन्नावासं, स्कन्धवारः कटकनिवेशः, गृहं भवनमिति॥२॥

गणियस्स य वीयाणं, माणुम्माण्णस्स जं पमाणं च।
पण्णस्स य वीयाणं, उप्पत्ती पंडुए भणिया॥३॥

गणितस्य दीनाराऽऽदिपूगफलाऽऽदिलक्षणस्य, चकारस्य व्यवहितसम्बन्धः; स च दर्शयिष्यते। तथा बीजानां तन्निबन्धन-भूतानां, तथा मानं सेटिकाऽऽदि, तद्विषयं यत्तदपि मानमेव, धान्याऽऽदिमयमिति भावः। तथोन्मानं तुलाकर्षाऽऽदि, तद्विषयं यत्तदप्युन्मानं, खण्डगुडाऽऽदि धरिममित्यर्थः। ततो द्वन्द्व समाहारः कार्यः। ततस्तस्य च किमित्याह–यत्प्रमाणं, चकारो व्यवहितसम्बन्ध एव, तथैव दर्शयिष्यते। तत्पाण्डुके भणितमिति लिङ्गपरिणामेन सम्बन्धः। तथा धान्यस्य ब्रीह्यादेर्वीजानां च तद्विशेषाणामुत्पत्तिश्च या सा पाण्डुके पाण्डुकनिधिविषया, तद्व्यापारोऽयमिति भावः। भणितोक्ता जिनाऽऽदिभिरिति॥३॥

सव्वा आभरणविही, पुरिसाणं जा य होइ महिलाणं।
आसाण य हत्थीण य, पिंगलयणिहिम्मि सा भणिया।४।

कण्ठ्या॥४॥

रयणाइं सव्वरयणे, चउदस पवराइं चक्कवट्टिस्स।
उप्पज्जंति य एगिं–दियाइं पंचिंदियाइं च॥५॥

अक्षरघटनैवम्–रत्नान्येकेन्द्रियाणि चक्राऽऽदीनि सप्त, पञ्चेन्द्रियाणि, सेनापत्यादीनि सप्त, उत्पद्यन्ते भवन्ति, यानि चक्रवर्तिनस्तानि सर्वाणि सर्वरत्ने सर्वरत्ननामनि निधौ द्रष्टव्यानीति भावः॥५॥

वत्थाण य उप्पत्ती, निप्फत्ती चेव सव्वभत्तीणं।
रंगाण य धोवाण य, सव्वा एसा महापउमे॥६॥

वस्त्राणां वाससां योत्पत्तिः सामान्यतो, या च विशेषतो निष्पत्तिः सिद्धिः सर्वभक्तीनां सर्ववस्त्रप्रकाराणां, सर्वा वा भक्तयः प्रकारा येषां तानि तथा, तेषाम्। किंभूतानां वस्त्राणामित्याह–रङ्गाणां रङ्गवतां, रक्तानामित्यर्थः। धौतानां शुद्धस्यरूपाणां, सर्वैवैषा महापद्मे महापद्मनिधिविषया॥६॥

काले कालण्णाणं, नव्वपुराणं च तीसु वासेसु।
सिप्पसयं कम्माणि य, तिन्नि पयाए हियकराइं॥७॥

काले कालनाम्नि निधौ, कालज्ञानं कालस्य शुभाशुभरूपस्य ज्ञानं वर्तते, ततो ज्ञायत इत्यर्थः। किंभूतमित्याह–नवीनवस्तु–विषयं नव्यं, पुरातनवस्तुविषयं पुराणं, चशब्दाद्वर्तमानवस्तुविषयं वर्तमानं, (तीसु वासेसु त्ति) अनागतवर्षत्रयविषयमतीतवर्षत्रय-विषयं चेति। तथा–शिल्पशतं कालनिधौ वर्त्तते, शिल्पशतं च घट १ लोह २ चित्र ३ वस्त्र ४ नापित ५ शिल्पानां प्रत्येकं विंशतिभेदत्वादिति। तथा कर्माणि च कृषिवाणिज्याऽऽदीनि, कालनिधाविति प्रक्रमः। एतानि च त्रीणि कालज्ञानशिल्पकर्माणि, प्रजाया लोकस्य हितकराणि निर्वाहाभ्युदयहेतुत्वेनेति॥७॥

लोहस्स य उप्पत्ती, होइ महाकालें आगराणं च।
रुप्पस्स सुवण्णस्स य, मणिमुत्तसिलप्पवालाणं॥८॥

लोहस्य चोत्पत्तिर्महाकाले निधौ भवति वर्तते, तथा आकराणां च लोहाऽऽदिसत्कानामुत्पत्तिराकरी करणलक्षणा, एवं रूप्याऽऽदीनामुत्पत्तिः सम्बन्धनीया। केवलं मणयश्चन्द्रकान्ताऽऽदयः, मुक्ता मुक्ताफलानि, शिलाः स्फटिकाऽऽदिकाः, प्रवालानि विद्रुमाणीति॥८॥

जोहाण य उप्पत्ती, आवरणाणं च पहरणाणं च।
सव्वा य जुद्धणीई, माणवए दंडनीई य॥९॥

योधानां शूरपुरुषाणां योत्पत्तिरावरणानां संनाहानां प्रहरणानां खड्गाऽऽदीनां, सा युद्धनीतिश्च व्यूहरचनाऽऽदिलक्षणा, माणवके निधौ निधिनायके वा भवति, ततः प्रवर्तत इति भावः। दण्डेनोपलक्षिता नीतिर्दण्डनीतिश्च सामाऽऽदिश्चतुर्विधा। अत एवोक्तमावश्यके–''सेसा उ दंडनीई, माणवगनिहीउ होइ भरहस्स।''॥९॥

णट्टविहि णाडयविही, कव्वस्स चउव्विहस्स उप्पत्ती।
संखे महानिहिम्मी, तुडियंगाणं च सव्वेसिं॥१०॥

नाट्यं नृत्यं, तद्विधिस्तत्करणप्रकारो, नाटकं चरितानुसारिनाटकलक्षणोपेतं, तद्विधिश्च इहपदद्वये द्वन्द्वः। तथा काव्यस्य चतुर्विधस्य धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थप्रतिबद्धग्रन्थस्य १, अथवा संस्कृतप्राकृतापभ्रंशसंकीर्णभाषानिबद्धस्य २, अथवा–समविषमार्द्धसमवृत्तबद्धतया गद्यतया चेति३, अथवा–गद्यपद्यगेयचौर्णपदभेदबद्धस्येति ४। उत्पत्तिः प्रभव शङ्के महानिधौ भवति, तथा तूर्याङ्गाणां च मृदङ्गाऽऽदीनां सर्वेषामिति॥१०॥

चक्कट्ठपइट्ठाणा, अट्ठस्सेहा य नव य विक्खंभे।
वारसदीहा मंजू–ससंठिया जाण्हवीइ मुहे ॥११॥

चक्रेष्वष्टसु प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा अवस्थानं येषां ते तथा। अष्टौ योजनान्युत्सेध उच्छ्रायो येषां ते तथा। नव च, योजनानीति गम्यते। विष्कम्भे विस्तरे, निधय इति शेषः। द्वादश योजनानि दीर्घा, मञ्जूषा प्रतीता, तत्संस्थितास्तत्संस्थानाः, जाह्नव्या गङ्गाया मुखे भवन्तीति ॥११॥

वेरुलियमणिकवाडा, कणगमया विविहरयणपडिपुण्णा।
ससिसूरचक्कलक्खण–अणुसमजुगबाहुवयणा य ॥१२॥

वैडूर्यमणिमयानि कपाटानि येषां ते तथा; मयशब्दस्य वृत्त्या उत्कर्षतेति–कनकमयाः सौवर्णाः, विविधरत्नप्रतिपूर्णाः प्रतीताः, शशिसूरचक्राऽऽकाराणि लक्षणानि चिह्नानि येषां ते तथा, अनुसमा अविषमाः (जुग त्ति) यूपः, तदाकारा वृत्तत्वाद्दीर्घत्वाच्च बाहवो द्वारशाखा वदनेषु मुखेषु येषां ते तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारये शशिसूरचक्रलक्षणानुसमयुगबाहुवदना इति। चः समुच्चये ॥१२॥

पलिओवमट्ठिईया, निहिसरिणामा य तेसु खलु देवा।
जेसिं ते आवासा, अक्केया आहिवच्चं च ॥१३॥

(निहिसरिनाम त्ति) निधिभिः सदृक् सदृक्षं नाम येषां देवानां ते तथा, येषां देवानां ते निधय आवासा आश्रयाः, किं भूताः?–अक्रेया अक्रयणीयाः सर्वदैव तत्सम्बन्धित्वात्, आधिपत्यं च स्वामिता च तेषु, येषां देवानाम्, इति प्रक्रमः ॥१३॥

एए ते नवनिहिओ, पभूयधणरयणसंचयसमिद्धा।
जे वसमुवगच्छंती, सव्वेसिं चक्कवट्टीणं ॥१४॥

एए ते गाहा कण्ठ्या ॥१४॥ स्था०९ठा०। प्रव०। स०। आ०म०। ति०।आ०चू०।

लक्षाऽऽदिप्रमाणद्रव्यस्थापने, भ०३ श०७उ०। निथिरिव निधिः। सम्यक्त्वे, यथा हि निरवधिनिधिव्यतिरेकेण महार्ह मणिमौक्तिककनकाऽऽदि द्रव्यं न प्राप्यते, तथा सम्यक्त्वमहा विधानानधि–गतौ चारित्रधर्मवित्तमपि निरुपमसुखसम्पादकं न प्राप्यते। प्रव० १४८ द्वार। ध०। विशे०। निधानं निधिः। निक्षेपे, निधिर्निक्षेपो न्यासो विरचना प्रस्तारः स्थापनेति पर्यायाः। तथा च–लौकिके निधेहीदं निहितमिदमित्यत्र निपूर्वस्य धातोः निक्षेपार्थत्वप्रसिद्धेः। अनु०।

णिहित्त त्रि०(निहित) नि धा–क्त। **''सेवाऽऽदौ वा''** ॥८।२।९९॥ इति तद्वित्वं वा। पक्षे ततो लोपः। प्रा०२ पाद। निक्षिप्ते, पञ्चा० १० विव०।

णिहिय त्रि०(निहित) 'णिहित्त' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद।

णिही स्त्री० अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

णिहु स्त्री०(स्निहु) औषधिभेदे, जी०१ प्रति०।

णिहुअ त्रि०(निभृत) **''उदृत्वादौ''** ॥८।१।१३१॥ ऋतु इत्यादिषु शब्देषु आदेर्ऋत उत्वम्। प्रा०१ पाद। तदर्थमनुद्युक्ते, सूत्र०१ श्रु० ८अ०। निर्व्यापारे, बृ०३उ०। निश्चले, उत्त० १९ अ०। असंभ्रान्ते, कायस्थित्या उचितधर्मे, ''तेसिं सो निहुओदंतो सव्वभूयसुहा–वहो।'' दश०६ अ०। निर्व्यापारे, तूष्णीके, सुरते च। दे०ना० ४ वर्ग ५० गाथा।

णिहुआ (देशी) कामितावाम्, दे०ना०४ वर्ग २६ गाथा।

णिहुइंदिय त्रि०(निभृतेन्द्रिय) अनुद्धतेन्द्रिये, दश०१ अ०।

णिहुण (देशी) व्यापारे, दे०ना० ४ वर्ग २६ गाथा।

णिहूअ न०(देशी) सुरते, दे०ना०४ वर्ग २६ गाथा।

णिहेलण न०/पुं०(नलय) ''गोणाऽऽदयः'' ॥८।२।१७४॥ इति निलयस्थाने निहेलणाऽऽदेशः। आलये, गृहे, प्रा०२ पाद। गृहे, जघने च। दे०ना० ४ वर्ग ५१ गाथा।

णिहोड धा० नि–वृ–पत्–णिच् निवारणे, पातने च। ''निवृपत्योर्णिहोमः ॥८।४।२२॥ निवृगः पतेश्च ण्यन्तस्य णिहोडेत्यादेशः। 'णिहोडइ।' निवारेइ। निवारयति। पातयति वा। प्रा०४ पाद। व्य०।

णिहोडिय त्रि०(निपातित) अधःकृते, दर्श० ३ तत्त्व।

णी धा०(गम्) गतौ, ''गमेरई–अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस–पच्चड्ड–पच्छन्द–णिम्मह–णी–णीण–णीलुक्क–पदअ–रम्भ–परि–अल्ल–वोल–परिअल–णिरिणास–णिवहावसेहावहराः'' ॥८।४।१६२॥ इति सूत्रेण गमधातोर्ण्यादेशः। 'णीइ'। गच्छति। प्रा०४ पाद।

णीआरण (देशी) वलिघट्यां, दे०ना०४ वर्ग ४३ गाथा।

णी स्त्री०(नीति) नये, स्था०७ठा०। अनु०। मर्य्यादायाम्, पं०चू०। नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थ आभिरिति नीतयः। नैगमाऽऽदिनयेषु, स्था०२ ठा०२ उ०। कुलकराणां हक्काराऽऽदिषु दण्डनीतिषु, आ०म०१ अ०१ खण्ड। (ताश्च 'कुलगर' शब्दे तृतीयभागे ५९३ पृष्ठे दर्शिताः) राजनीतौ, ''तिविहः नीई पण्णत्ता। तं जहा–सामे, दंडे, भेए।'' तत्र सामनीतेः पञ्च, दण्डस्य त्रयो, भेदस्य उपप्रदानस्य च पञ्च पञ्च कामन्दकाऽऽदिषु प्रसिद्धाः। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। विपा०। प्रयोगश्चासामेवम्–''उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत्। नीचमल्पप्रदानेन, समं तुल्यपराक्रमैः'' ॥१॥ स्था०३ ठा०३ उ०। संग्रामनिर्गमप्रवेशे, आ०क०।

णिइकोविय पुं०(नीतिकोविद) लोकनीतिचतुरे, उत्त० २१ अ०।

णीछूढ न०(निष्ठ्यूत) निष्ठीवने, नं०।

णीजूहग न०(निर्यूहक) द्वारपार्श्वविनिर्गतदारुके, ज्ञा०१ श्रु०१अ०।

णीजूहयंतर न०(निर्यूहकान्तर) निर्यूहकं द्वारपार्श्ववविनिर्गतदारु, तयोरन्तरे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

णीड न०(नीड) पक्षिणामावासस्थाने, प्रा०१ पाद।

णीण धा०(गम्) गतौ, **''गमेरई०–''** ॥८।४।१६२॥ इत्यादिसूत्रेण गमधातोर्णीणाऽऽदेशः। 'णीणइ'। गच्छति। प्रा०४ पाद।

णीणिज्जमाण त्रि०(गम्यमान) नीयमाने, ''णीणिज्जमाणं पेहाए।'' आचा०१ श्रु०२ चू०४अ०।

णीणित त्रि०(गमित) निर्व्यूढे धाडिते, नि०चू० १उ०।

णीणिया स्त्री०(नीनिका) चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी०१ प्रति०।

णीततर त्रि०(नीचतर) अतिशयेन नीचे, नि०चू०१ उ०।

णीम पुं०(नीप) **''नीपाऽऽपीडे मो वा''** ॥८।१।२३४॥ इत्यनेन पस्य मः। णीमो। णीवो। कदम्बे, प्रा०१ पाद।

णीय त्रि०(नीच) अत्यन्तावनतकन्धरे, उत्त०१ अ०। उच्चविपरीते, स्था०३ ठा०४ उ०। अपूज्ये, भ०३ श०१ उ०। निम्ने, नि०चू० १उ०। नीचैः स्थाने, मालाऽऽदौ, उत्त०१ अ०।

***नित्य** त्रि०। सदाऽवस्थायिनि, स्था०१० ठा०।

***नीत** त्रि०। स्वस्थानं प्रापिते, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। उत्त०। सूत्र०।

णीयच्छंद त्रि०(नीचच्छन्द) अनुन्नताभिप्राये, स्था०३ ठा० ४उ०।

णीयजण त्रि०(नीचजन) जात्यादिहीने जने, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। ''णीयजणणिसेविणी लोगगरहणिज्जा।'' प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

णीयत्तल न०(नीचत्व) गुणधिकान् प्रति नीचभावे, दश० ६ अ०३ उ०।

णीयदुवार त्रि०(नीचद्वार) नीचनिर्गमप्रवेशे, दश०५ अ०१उ०। निम्नमुखे गृहे, पञ्चा० १३ विव०।

णीयल्लग पुं०(निजक) स्वज्ञातीये, ''णीयल्लगाण य भया हिरिवत्तिय-संजमाहिगारे,'' व्य०४ उ०। आत्मीये, व्य०२ उ०।

णीयागोय न०(नीचैर्गोत्र) सर्वजनविगीते गोत्रकर्मभेदे, सूत्र० २ श्रु०१ अ०। कर्म०। नीचैर्गोत्रमपूज्यत्वनिबन्धनमिति कर्मभेदे, स्था०१ ठा०। यदुदयान्महाधनोऽप्रतिरूपो बुद्ध्यादिसमन्वितोऽपि पुमान् विशिष्टकुला-भावात् लोकान्निन्दां प्राप्नोति। कर्म०१ कर्म०। नीचैर्गोत्राद् भवे वणपिसदसम्भूते, सूत्र०२ श्रु०१ अ०।

णीयावास पुं०(नित्यवास) विहारकालेऽप्येकत्र वासे, आ०चू० ३अ०।

णीयावित्ति त्रि०(नीचैर्वृत्ति) नीचैर्वृत्तिर्वर्तनं यस्य स तथा। अनुच्चवृत्तौ, व्य०१ उ०।

णीयासण न०(नीचासन) नीचमासनं नीचासनम्। गुरूणां नीच-तरोपवासे, नि०चू०१उ०।

णीर न०(नीर) पानीये, दर्श०१ तत्त्व।

णीरंगी (देशी) शिरोऽवगुण्ठने, दे०ना०४ वर्ग ३१ गाथा।

णीरञ्ज धा०(भञ्ज) आमर्दने, **''भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूरसूड-विर-पविरञ्ज-करञ्ज-नीरञ्जाः''** ॥८।४।१०६॥ इति भञ्जेर्नीरञ्जाऽऽदेशः। 'नीरञ्जइ'। पक्षे-भञ्जइ। भनक्ति। प्रा०४ पाद।

णीरय त्रि०(नीरजस्) निर्गतं रजो यस्य। अनु०। आगन्तुकरजोर-हितत्वात् (स०। औ०) सहजरजोरहितत्वात् (जं०१ वक्ष०। औ०। स्था०) स्वाभाविकरजोरहितत्वात् (प्रज्ञा०२ पद। जी०) निर्मले, सूत्र०१ श्रु०१ अ०३उ०। भ०। बध्यमानकर्मबन्धनैस्त्यक्ते, बध्य-मानकर्मरहिते, पा०। ध०। आ०म०।

***नीरद** पुं०। मेघे, वाच०।

णीरव धा०(आ-क्षिप) आ-क्षिप्। आक्षेपे, **''आक्षिपेर्णीरवः''** ॥८।४।१४५॥ इत्याङ् पूर्वस्य क्षिपेर्णीरवः। 'णीरवइ।' 'अक्खिवइ।'' आक्षिपति। प्रा०४ पाद।

***बुभुक्ष्** धा०। भोक्तुमिच्छायाम्, **''बुभुक्षि-वीज्योर्णीरव-वोज्जो''** ॥८।४।५॥ इति बुभुक्षतेर्णीरवाऽऽदेशः। 'णीरवइ।'' बुभुक्खइ। बुभुक्षते। प्रा०४ पाद।

णीरोग त्रि०(नीरोग) आरोग्ये, स्था०१० ठा०। रोगवर्जिते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। ग्लान्याभावे, बृ०३उ०। औ०।

णीरोगय त्रि०(नीरोगक) रोगवर्जिते, जी०३ प्रति०४ उ०। रा०।

णील धा०(निर्-सृ) निर्गमने, **''निस्सरेर्णिहर-नील-धाड-वरहाडाः''** ॥८।४।७६॥ इति निस्सरतेर्नीलाऽऽदेशः। नीलइ। नीसरइ। निस्सरति। प्रा०४ पाद।

***नील** त्रि०। ईषत्सुन्दररूपे, कृष्णे, वर्णविशेषे, स्था०१ ठा०। तद्युक्ते, ''एग णीले।'' नील्यादिवद् नीलवर्णपरिणते, प्रज्ञा० १पद। ''णीले णीलोभासे।'' वनखण्डे, हरितत्वमतिक्रान्तानि कृष्णत्वमसंप्राप्तानि पत्राणि नीलानि, तद्योगाद्वनखण्डा अपि नीलाः। रा०। मरकतमणौ, जी०३ प्रति०४ उ०। तं०। जं०। ज्ञा०। पञ्चविंशतितमे महाग्रहे, कल्प०६ क्षण। ''दो णीला।'' स्था० २ ठा० ३उ०। सू०प्र०। चं०प्र० ''एगे णीले।'' स्था०१ ठा०। औ०।

णीलकंठ पुं०(नीलकण्ठ) शक्रस्य देवेन्द्रस्य महिषीनीकाधिपतौ, स्था०४ ठा०२उ०।

णीलकंठी (देशी) वाणवृक्षे, दे०ना० ४ वर्ग ४२ गाथा।

णीलकणवीर पुं०(नीलकरवीर) नीलवर्णपुष्पे करवीराऽऽख्ये वृक्षभेदे, रा०।

णीलकूड न०(नीलकूट) नीलवर्षधरपर्वतकूटे, स्था०२ ठा० ३उ०।

णीलकेसी स्त्री०(नीलकेशी) कृष्णकेश्यां तरुण्याम्, व्य०४ उ०।

णीलगुफा स्त्री०(नीलगुहा) स्वनामख्याते उद्याने, यत्र मुनिसुव्रतनामा तीर्थकरा निष्क्रान्तः। आ०म०१ अ०१खण्ड।

णीलगुलिया स्त्री०(नीलगुटिका) नील्या गुटिका नीलगुटिका। गुटीरूपे नीलपदार्थे, ''णीलगुलिया गवलप्पगासा।'' जी० ३ प्रति० ४ उ०। रा०।

णीलणाम न०(नीलनामन्) यदुदयाज्जन्तुशरीरं मरकताऽऽदिवन्नीलं भवति। तस्मिन् नामकर्मभेदे, कर्म०१ कर्म०।

णीलपत्त त्रि०(नीलपत्र) नीलवर्णपत्रोपेते, प्रज्ञा०१ पद।

णीलपाणि त्रि०(नीलपाणि) नीलः, काण्डकलाप इति गम्यते। पाणौ येषां ते नीलपाणयः। नीलवर्णकाण्डहस्ते, रा०।

णीलप्पभ त्रि०(नीलप्रभ) नीलवर्ण, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

णीलफल त्रि०(नीलफल) ''शुष्कनीलफलस्वादुर्नाम्नापक्वान्नेपशला। शालिसूपघृतप्राज्यप्रलेहव्यञ्जनाहृता'' ॥१॥ आ०क०। नीलं फलं यस्याः। जम्बूवृक्षे, वाच०।

णीलबंधुजीव त्रि०(नीलबन्धुजीव) नीलवर्णपुष्पे वृक्षविशेषे, रा०।

णीलमट्टिया स्त्री(नीलमृत्तिका) नीलवर्णमृत्तिकायाम्, श्लक्ष्णपृथ्वी-कायभेदे, आचा०।

णीलरत्तपीअसुक्किल्ल त्रि०(नीलरक्तपीतशुक्ल) नीलरक्तपीत-शुक्लवर्णमनोहरे, कल्प०३ क्षण।

णीललेस्सा स्त्री०(नीललेश्या) वर्णतो नीलाशोकगुलिकावैडूर्येन्द्रनीलचाषपिच्छाऽदिलमवर्णैः, रसतो मरिचपिप्पलीनागराऽऽदिसमधिकतररसैः, गन्धतो मृगतुरगशरीराऽऽदिसमाधकतरगन्धैः, स्पर्शतो जिह्वाऽऽदिसमधिकतरकर्कशस्पर्शैः सकलप्रकृतिनिष्पन्दभूतैर्नीलद्रव्यैर्जनितत्वान्नीलोपि लेश्याऽऽत्मपरिणतिरिति। लेश्याभेदे, पा०। स्था०।

णीलवंत पुं०(नीलवत्) उत्तरकुरुषु स्वनामख्याते ह्रदे, तद्वासिनि नागकुमारदेवे च। जं०४ वक्ष०। जी०। ('उत्तरकुरा' शब्दे द्वितीय-भागे ७६१ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता) मन्दरस्य पर्वतस्य भद्रशालबने द्वितीये दिग्हस्तिकूटे, जं०।

एवं णीलवंतदिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपुरच्छिमेणं पुरच्छिमिल्लाए सीआए दक्खिणेणं एअस्स वि नीलवंतो देवो रायहाणी दाहिणपुरच्छिमेणं ॥

(एवमिति) पद्मोत्तरन्यायेन नीलवान्नाम्ना दिग् हस्तिकूटः मन्दरस्य दक्षिणपूर्वस्यां पौरस्त्यायाः शीतोदायाः दक्षिणस्यां ततोऽयं प्राच्यजिनभवनाऽऽग्नेयप्रासादयोर्मध्ये ज्ञेयः। एतस्याऽपि नीलवान् देवः प्रभुः, तस्य राजधानी दक्षिणपूर्वस्यामिति । जं०४ वक्ष०। द्वी०। स्था०। वर्षधरपर्वतभेदे, जं०।

कह णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे णीलवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते? गोयमा ! महाविदेहस्स वासस्स उत्तरेणं रम्मगवासस्स दक्खिणेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीये दीवे णीलवंते णामं वासइरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणवित्थिण्णे, णिसहवत्तव्वया णीलवंतस्स भाणिअव्वा, णवरं जीवा दाहिणेणं धणु उत्तरेणं, त्थ केसरीदहो णामदहो, एत्थ णं सीआ महाणई पव्वूढा समाणी उत्तरकुरं एज्जमाणी उत्तरकुरं एज्जमाणी जमगपव्वए णीलवंतउत्तरकुरुचंदेरावतम लवंतदहे अ दुहा विभयमाणी विभयमाणी चउरासीए सलिलासयसहस्सेहिं आपूरेमाणी आपूरेमाणी भद्दसालवणं एज्जमाणी भद्द-सालवणं एज्जमाणी मंदरं पव्वयं दोहिं जोअणेहिं असंपत्ता पुरच्छाभिमुही परावत्ता समाणी अहे मालवंतवक्खारपव्वयं दालयित्ता मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं पुव्वविदेहं वासं दुविहा भयमाणी दुविहा भयमाणी एगमेगाओ चक्कवट्टिविजयाओ अट्ठावीसाए अट्ठावीसाए सलिलासहस्सेहिं आपूरेमाणी आपूरेमाणी पंचहिं सलिलासयसहस्सेहिं वत्तीसाए अ सलि-लासहस्सेहिं समग्गा अ अहे विजयस्स दारस्स जगइं दालइत्ता पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं समप्पेइ, अवसिट्ठं तं चेव, एवं णारिकंता वि उत्तराभिमुही णेअव्वा । णवरमिमं णाणत्तं गंधावइवट्टवेअड्ढ-पव्वयं जोअणे असंपत्ता पच्चच्छाभिमुही आवत्ता समाणी अव-सिट्ठं तं चेव, पवहे गुहे अ, जहा हरिकंता सलिला।

क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे नीलवान्नाम्ना वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः? उत्तरसूत्रं व्यक्तम् । नवरं रम्यकक्षेत्र महाविदेहेभ्यः परंयुग्मिमनुजाऽऽश्रयभूतमस्ति, तस्य दक्षिणतः, अयं च निषधवन्धुरिति तत्साम्येन लाघवं दर्शयति-(णिसह इत्यादि) निषधवक्तव्यता नीलवतोऽपि भणितव्या, नवरमस्य जीवा परम आयामो दक्षिणत उत्तरतः क्रमेण क्रमेण जगत्या चक्रत्वेन न्यूनान्तरत्वात् धनुः पृष्ठमुत्तरतः। अत्र केसरिद्रहो नाम द्रहः । अस्माच्च शीता महानदी प्रव्यूढा सती उत्तरकुरून् इयती २ परिगच्छन्ती २ यमकपर्वतौ नीलवदुत्तरकुरुचन्द्रैरावतमाल्यवन्नामकान् पञ्चाऽपि द्रहाँश्च द्विधा विभजती २ चतुरशीत्या सलिलासहस्रैरापूर्यमाणा २ भद्रशालव-नमियती २ आगच्छन्ती २ मन्दरं पर्वतं द्वाभ्यां योजनाभ्यामसं-प्राप्ता पूर्वाभिमुखी परावृत्त्या सती माल्यवद् वक्षस्कारपर्वतमधो विदार्य मेरोः मन्दरस्य पूर्वस्यां पूर्वमहाविदेहं वासं द्विधा विभजन्ती २ एकैकस्माच्चक्रवर्तिविजयादष्टाविंशत्या २ सलिलाससहस्रैरा-पूर्यमाणा २ आत्मना सह पञ्चभिर्नदीलक्षैर्द्वात्रिंशता च सलिलास-हस्रैः सम्प्रा अधो विजयस्य द्वारस्य जगतीं विदार्य पूर्वस्यां लवण-समुद्रमुपैति। अवशिष्टं प्रवहव्यासत्वाऽऽदिकं तदेवेति निषधनिर्गतशीतोदाप्रकरणोक्तमेव । अथास्मादेवोत्तरतः प्रवृत्तां नारीकान्तामतिदिशति-(एवं णारिकंता इत्यादि) एवमुक्तन्यायेन नारीकान्ताऽपि उत्तराभिमुखी नेतव्या । कोऽर्थः? यथा नीलवति केसरिद्रहाद्दक्षिणाभिमुखी शीता निर्गता, तया नारीकान्ता तूत्तराभिमूखी निर्गता । तर्हि अस्याः समुद्रप्रवेशोऽपि तद्वदेवेत्याशङ् क्य-मानमाह- नवरमिदं नानात्वं गन्धपातिनं वृत्तवैताढ्यपर्वतं योजनेनाऽसम्प्राप्ता पश्चिमाभिमुखी आवृत्ता सती इत्यादिकमवशिष्टं सर्वं तदेव, हरिकान्तासलिलावद्भाव्यम्। तद्यथा- ''रम्मगवासं दुहा विभयमाणी २ छप्पण्णाए सलिलासहस्सेहिं समग्गा अहे जगइं दालइत्ता पच्चच्छिमेणं लवणसमुद्दं समप्पेइ त्ति।'' अत्र चाऽवशिष्टपदसंग्रहे प्रवहमुखव्यासाऽऽदिकं न चिन्तितं, समुद्रप्रवेशावधिकस्यैवाऽऽलापकस्य दर्शनात्,तेन तत् पृथगाहप्रवहे च मुखे च यथा हरिकान्तासलिला। तथाहि- प्रवहे पञ्चविंशतियोजनानि विष्कम्भेण अर्द्धयोजनमुद्वेधेन, मुखे २५० योजनानि विष्कम्भण ५ योजनान्युद्वेधेन यच्चात्र हरिसलिलां विहाय प्रवहमुखबोर्हरिकान्ताऽतिदेशे उक्तस्तद् हरिसलिलाप्रकरणेऽपि हरिकान्ताऽतिदेशस्योक्तत्वात्। जं०।

अथास्य नामनिबन्धनं पृच्छन्नाह-

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-णीलवंते वासहरपव्वए णीलवंते वासहरपव्वए? गोयमा ! णीले णीलोभासे णीलवंते आइत्थदेवे महिड्ढिए०जाव परिवसइ, सव्ववेरुलि आमए णीलवंते० जाव णिच्चेति।

''से केणट्ठेणं'' इत्यादि प्रश्नः प्राग्वत्। उत्तरसूत्रे चतुर्थो वर्षधरगिरिर्नीलो नीलवर्णवान् नीलावभासो नीलप्रकाश आसन्नं वस्त्वन्यदपि नीलवर्णमयं करोति, तेन नीलवर्णयोगान्नीलवान्, नीलवांश्च यत्र महर्द्धिको देवः पल्योपमस्थितिको यावत् परिवसति, तेन तद्योगाद्वा नीलवान्। अथवाऽसौ सर्ववैडूर्यरत्नमयः, तेन वैडूर्यरत्नपर्यायकनीलमणियोगान्नीः,शेषं प्राग्वत्। जं०४ वक्ष०। स्था०। स०। ('कूड' शब्दे तृतीयभागे ६२६ पृष्ठे कूटान्युक्तानि)। ''दो णीलवंता।'' स्था०२ ठा०३उ०।

णीलवंतकूड न०(नीलवत्कूट) नीलवद्वर्षधरपर्वतस्य द्वितीये कू-टे, स्था०२ ठा०३ उ०। जं०। ''दो णीलवंतकूडा।'' स्था०२ ठा०३उ०।

णीलवंतदह पुं०(नीलवद्हद) उत्तरकुरुषु विचित्रचित्रकूटपर्वत-समवक्तव्यताभ्यां यमकाभिधानाभ्यां स्वसमाननामदेवाऽऽवा-साभ्यां पर्वताभ्यामनन्तरे महाह्रदे, स्था०५ ठा०२उ०। जं०। ('उत्तरकुरा' शब्दे द्वितीयभागे ७५६ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

णीलवंतदहकुमार पुं०(नीलवद्हदकुमार) नीलवद् ह्रदस्याधि-पतिनागकुमारे देवे, जी०३ प्रति०४ उ०।

णीलवणि स्त्री०(नीलवणि) प्रत्याख्यानभेदे, सेन०। येन दीक्षा-ग्रहणार्थं नीलवणिप्रत्याख्यानं कृतं भवति, तस्य दीक्षाग्रहणानन्तरं कल्पते, न वा? इति प्रश्ने-उत्तरम्-यदि प्रत्याख्यानकरणवेलायामेवं कथितं भवति-यद्दीक्षाग्रहणाऽनन्तरं नीलवणिः कल्पते, तदा कल्पते, नान्यथेति। ४५६ प्र०। सेन० ३उल्ला०। नीलवणि-प्रत्याख्यानिनां तद्दिननिष्पन्नकइरीपाकप्रमुखं कल्पते, न वा? इति प्रश्ने, उत्तरम्-परम्परया तत्कल्पनप्रवृत्तिर्दृश्यत इति। ६३ प्र०। सेन० ४उल्ला०।

णीला स्त्री०(नीला) **''अजातेः पुंसः''** ॥८।३।३२॥ इति अजाति-वाचिनो नीलशब्दस्य स्त्रियां ङीर्वा, नीली। नीला। प्रा०३ पाद। नीललेश्यायाम्, स०। उत्त०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरेण रक्तायां महानद्यां सङ्गतायां महानद्याम्, स्था० १० ठा०।

णीलाभास पुं०(नीलाभास) पञ्चविंशतितमे महाग्रहे, ''दो णीलाभासा।'' स्था०२ ठा०३उ०। चं०प्र०। सू०प्र०। कल्प०।

णीलासोग पुं०(नीलाशोक) नीलश्चाऽसौ अशोकश्च नीलाशोकः। नीलपुष्पाशोकवृक्षे, रा०। उत्त०। शुकपरिव्राजकजेतुः सुदर्शनश्रेष्ठिन आवासभूतायाः सुगन्धिकापुर्य्या बहिरुद्याने, ज्ञा०१ श्रु०५ अ०।

णीली स्त्री०(नीली) गुलिकायाम्, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। जी०। रा०। जं०। गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद। आर्द्रे स्त्रीत्वविशिष्टेऽर्थे, ''तहेवोसहिओ पक्काओ, निलियाओ छवीइ य।'' दश० ७ अ०।

णीलीराग पुं०(नीलीराग) नील्याः सम्बन्धी रागो यस्य स नीली-रागः। नीलोरक्ते, ''णीलीरागं खलु, दुमहत्थी सरभासिया।'' व्य० ३उ०।

णीलुक्क धा०(गम्) गतौ, **''गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसा-क्कुस-पच्चड्ड-पच्छन्द-णिऽणह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-बोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसेहा-वहराः''** ॥८।४।१६२॥ इति सूत्रेण गम्लृधातोर्णीलुक्काऽऽदेशः। 'णीलुक्कइ'। पक्षे 'गच्छइ' प्रा०४ पाद।

णीलुप्पल न०(नीलोत्पल) **''ह्रस्वःसंयोगे दीर्घस्य''** ॥८।१।८४॥ इति ओकारस्योकारः। प्रा०१ पाद। कुवलये, जं०१ वक्ष०। इन्दीवरे, सौगन्धिके, नीलवर्णे कुमुदे च। वाच०। ''णीलुप्पलगवलगुलिय।'' उपा०२ अ०।

णीलुप्पलकयामेल त्रि०(नीलोत्पलकृताऽऽपीड) नीलोत्पलकृत-शेखरे, उपा०७अ०।

णीलुप्पलवण न०(नीलोत्पलवन) इन्दीवरकानने, तं०।

णीलोभास त्रि०(नीलावभास) मयूरगलवदवभासमाने, औ०। रा०।

णीव पुं०(नीप) कदम्बे, औ०। वृक्षविशेषे, ज्ञा०१ श्रु० ६ अ०। आ०म०।

णीवार पुं०,न०(नीवार) शूकराऽऽदीनां पशूनां बध्यस्थानप्रवेशनभूते भक्ष्यविशेषे, सूत्र०१ श्रु० १५ अ०। व्रीहिविशेषकणदाने, सूत्र०१ श्रु०३ अ०२उ०।

णीवि स्त्री०(नीवि) मूलधने, षो०६ विव०। कटिवस्त्रबन्धे, वाच०।

णीस त्रि०(निस्स्व) **''लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः''** ॥८।१।४३॥ इति दीर्घः। निर्धने, प्रा०१ पाद।

णीसंद पुं०(निस्यन्द) परिगालपरिस्रावे, ''णवमपुव्वणीसंदो।'' पं० भा०। विन्दौ, कर्म०१ कर्म०।

णीसंपाय (देशी) परिश्रान्ते, दे०ना०४ वर्ग ४२ गाथा।

णीसट्ठ त्रि०(निसृष्ट) विमुक्ते, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। बहिर्निष्काश्य निवेदिते, यस्य याचकाऽऽदेरर्थाय निष्काशितस्तस्मै प्रदत्ते, बृ०२ उ०।

णीसणिआ (देशी) निःश्रेण्याम्, दे०ना०४ वर्ग ४३ गाथा।

णीसर धा०(रम्) क्रीडायाम्, **''रमेः संखुड्ड-खेड्डोब्भाव-किलिकिञ्च-कोट्टुम-मोट्टाय-णीसर-वेल्लाः''** ॥८।४।१६८॥ इति सूत्रेण रमेर्णीसराऽऽदेशः। 'णीसरइ'। पक्षे-रमइ। रमते। प्रा०४ पाद।

***णिस्+सृ** धा०। निस्सरणे, 'णीसरइ'। निःसरति। प्रा०४ पाद।

णीसरण न०(निस्सरण) फेल्लसने, व्य०४ उ०।

णीसल्ल त्रि०(निःशल्य) मायादर्शननिदानशल्यरहिते, संथा०।

णीसवग पुं०(निश्रावक) कर्मनिर्जरके, आ०म०१ अ०१ खण्ड। विशे०।

णीसवमाण त्रि०(निश्रवयत्) कर्माणि निर्जरयति, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

णीससंत त्रि०(निःश्वसत्) ''निःश्वसेर्झङ्झः'' ॥८।४।२०१॥ इति झङ्झाऽऽदेशाभावे शतरि रूपम्। प्रा०४ पाद। निःश्वासान् मुञ्चति, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। प्राकृते-शानजपि। ''ऊससमाणे वा, णीस-समाणे वा, कासमाणे वा, छीयमाणे वा।'' आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३उ०।

णीससिउच्छसियसम न०(निःश्वसितोच्छ्वसितसम) मानमति-क्रामतो गाने, स्था०७ठा०।

णीससिय न०(निःश्वसित) निःश्वसनं निःश्वसितम्। नं० अधः श्वसिते, आव०५ अ०। विशे०। आ०म०। ल०। कामक्रीडायाः श्वाससमुद् भवे, ज्ञा०१ श्रु० ६ अ०। श्वासमोक्षणे, ध०२ अधि०।

णीसह त्रि०(निस्सह) **''लुप्तय-र-व-श ष-सां शषसां दीर्घः''** ॥८।१।४३॥ इति सलोपे दीर्घः। नितरां सहिष्णौ, प्रा०१ पाद।

णीसा स्त्री०(निश्रा) पीषण्याम् ''दगवारएण पिहियं, णीसाए पीढएण वा।'' दश०५ अ०१उ०।

णीसार पुं०(नीशार्) नितरां शीर्य्यते, हिमानिलावत्रानेन वा। नि–शृ–घञ् दीर्घः। हिमानिलनिवारणे प्रावरणे,काण्डपटे च। वाच०। मण्डपे, दे०ना० ४ वर्ग ४१ गाथा।

णीसास पुं०(निःश्वास) निर्–श्वस्–घञ– रलुक्। **''लुकि निरः''** ॥८।१।६३॥ इतिरेफलोपे सति इत ईकारः। ''णीसासो।'' प्रा०१ पाद। अधःश्वासे, आ०चू०५ अ०। श्वास मोक्षणे, तं०। (के जीवाः कियता कालेन नि श्वसन्तीति 'आण' शब्दे द्वितीयभागे १०५ पृष्ठे उक्तम्) संख्येयाऽवलिकापरिमिते प्राणाऽपरनामके कालविशेषे, कर्म०४ कर्म०।

णीसासय त्रि०(निःश्वासक) निःश्वसतीति निःश्वासकः। आन–प्राणपर्याप्तिपरिनिष्पन्ने, आ०म०१ अ०२ खण्ड। विशे०।

णीसित्त त्रि०(निषिक्त) **''लुप्तय–र–व–श–ष–सां श–ष–सां दीर्घः** ॥८१।४३॥ इति षलोपे आदेः स्वरस्य दीर्घः। कृतनिष्षेके, प्रा०१ पाद।

णीसीसिअ (देशी) निर्वासिते, दे०ना० ४ वर्ग १४२ गाथा।

णीसेयस न०(निःश्रेयस) निश्चितकल्याणे, जी०३ प्रति०४ उ०।

णीहट्ठ अव्य०(निर्हत्य) निःसार्यत्यर्थे, आचा०२ श्रु० १ चू०६ अ०२उ०।

णीहड त्रि०(निर्हृत) निर्गते, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०१ उ०। निष्क्रान्ते, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०६उ०।

णीहडिया स्त्री०(निर्हृतिका) अन्यत्र नीयमाने सागारिकेद्रव्ये, बृ०२ उ०।

णीहम्म धा०(नि–हम्म) गतौ, 'णहिम्मइ।' 'गच्छइ।' मच्छति। प्रा०४ पाद।

णीहर धा०(निर्–सृ) बहिर्गमने,**''निःसरेर्णीहरनीलधाडवर-हाडाः''** ॥८।४।७६॥ इति निःसरतेर्नीहराऽऽदेशः। ''णीहरइ''। पक्षे–'णीसरइ।' प्रा०४ पाद।

***निर्–हृ** धा०। पुरीषोत्सर्जने, 'णीहरइ।' निर्हरति। पुरीषोत्सर्गं करोति। उपसर्गवशादयमर्थः। प्रा०४ पाद।

णीहरण न०(निर्हरण) निर्गमे, नि०१ श्रु०१ वर्ग १ अ०। अपनयने, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। परित्यागे, नि०चू०१ उ०। आचा०।

णीहरिअ (देशी) शब्दे, दे०ना०४ वर्ग ४२ गाथा।

णीहरित्तए अव्य०(निर्हर्तुम्) निष्काशयितुमित्यर्थे,भ०५ श०४ उ०। विशोधयितुमित्यर्थे, दशा०७ अ०। विशे०।

णीहरिय अव्य०(निर्हृत्य) निष्क्राम्येत्यर्थे, नि०चू०६उ०।

णीहार पुं०(निर्हार) मूत्रपुरीषोत्सर्गे, स० ३४ सम०।

णीहारचारण पुं०(नीहारचारण) नीहारमवष्टभ्याप्कायिकजीव–पीडामजनयति गतिमसङ्गां कुर्वति चारणभेदे, प्रव० ६८ द्वार। ग०।

णीहारण न०(निर्हारण) निस्सारणे, स्था०२ ठा०४उ०।

णीहारि(ण्) त्रि०(निर्हारिण्) व्यापिनि, ''जोयणणीहारिणा सरेणं।'' योजननिर्हारिणा योजनव्यापिना शब्देन। आ०म०१अ०२ खण्ड। योजनातिक्रामिणा शब्देन। स० ३४ सम०। प्रबले, आ० म० १अ० २ खण्ड। घोषवति, घण्टाशब्दवच्छब्दभेदे, स्था०१० ठा०।

णीहारिम न०(निर्हारिम) निर्हरिण निर्वृत्तं यत्तन्निर्हारिमम्। प्रतिश्रये यो म्रियते तस्यैतत् कलेवरस्य निर्हारणात् निर्हारिमम्। पादोप–गमनमरणभेदे, भ०२ श०१ उ०। ('मरण' शब्दे व्याख्या वक्ष्यते) दूरं विनिर्गमनशीले, आ०म०१ अ०१ खण्ड। रा०। ज्ञा०।

णीहुय त्रि०(निहुत) अपलपिते, देशी। अकिञ्चित्करे, ''पवयणणी–हुयाणं।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड।

णु अव्य०(नु) निश्चये, प्रति०। वितर्के, विशे०। सूत्र०। आ०चू०। विकल्पे, अनुनये, अतीते, प्रश्ने, हेतौ, अपमाने, अपदेशे, अनुतापे च। वाच०।

णुक्कार पुं०(नुक्कार) नुगितिशब्दकरणे, ''अप्पेगइया देवा णुक्कारं करेंति'' (णुक्कार ति) नुक्कारशब्दं कुर्वन्ति। रा०।

णुम धा०(न्यस्) न्यासे, स्थापने, **''न्यसो णिम–णुमौ''** ॥८।४।१६६॥ इति न्यस्यतेर्णुमाऽऽदेशः। 'णुमइ'। न्यस्यति। प्रा० ४ पाद।

***छादि** धा०। छादने, **''छदेर्णुंम–नूम–सन्नुम–ढक्कौम्बाल–पव्वालाः''** ॥८।४।२१॥ इति छदेर्ण्यन्तस्य णुमाऽऽदेशः। 'णुमइ'। पक्षे–छाअइ। प्रा०४ पाद।

णुमज्जण न०(निमज्जन) **''द्विन्योरुत्''** ॥८।१।६४॥ इति इत उत्वम्। अधोव्रुडने, प्रा०१पाद।

णुमन्न त्रि०(निमग्न) ''द्विन्योरुत्'' ॥८।१।६४॥ इति इतउत्वम्। व्रुडिते, प्रा०१ पाद।

***निषण्ण** त्रि०। **''उमो निषण्णे''** ॥८।१।१७४॥ इतिनिषण्णशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सहोमादेशः। 'णुमण्णो''। णिसण्णो। उपविष्टे, प्रा०१पाद।

णुव्व धा०(प्रकाश) प्रकाशने, **''प्रकाशेर्णुव्वः''** ॥८।४।४५॥ इति प्रकाशेर्ण्यन्तस्य णुव्वेत्यादेशः। 'णुव्वइ' प्रकाशयति। प्रा०४ पाद।

णूणं अव्य०(नूनम्) निश्चिते, बृ०१ उ०। उत्त०। सूत्र०। भ०। द्वा०। ज्ञा०। उपमाने, अवधारणे, तर्के, प्रश्ने, हेतौ, भ० २श०६ उ०।

णूम धा०(छादि) छादने, **''छदेर्णुंम–नूम–सन्नुम–ढक्कौम्बाल–पव्वालाः''** ॥८।४।२१॥ इति छदेर्ण्यन्तस्य नूमादेशः। ''णूमइ।'' ''छाअइ।'' छादयति। प्रा०४ पाद। 'मा हु णुमए तरुणी।'' माहु समाच्छादयेत्तरुणी। बृ०१ उ०।

***छन्न** न०। अवतमसे, गाढतमसे, भ० श०८उ०। प्रच्छन्ने गिरिगुहा–ऽऽदिके, सूत्र०१ श्रु०३ अ०३उ०। आचा०। प्रच्छादने, प्रश्न०२ आश्र०द्वार। गहने, मायायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ०४ उ०। कर्मणि, आचा०१ श्रु० ८ अ०८उ०। सूत्र०। स०। परवञ्चनार्थं निम्नताया निम्नस्थानस्य च आश्रयणे, भ०१२ श०५ उ०। भिन्ने, नि०चू० ११ उ०।

णूमगिह न०(छन्नगृह) वृक्षप्रधाने गृहे, आचा०२ श्रु०१ चू० ३अ०३उ०। भूमिगृहे, नि०चू० १२ उ०।

णूला (देशी) शाखायाम्, दे०ना० ४ वर्ग ४३ गाथा।

णे अव्य०(णे) 'णे' इति निपातः। पूरणे, जी०७ अधि०।

***अस्मान्** द्वि०। **''अम्हे–अम्हो–अम्ह–णे शसा''**॥८।३।१०८॥ इति शसा सहितस्याऽस्मदो 'णे' इत्यादेशः। प्रा०३ पाद। नि०चू०।

***मया** तृ०। **''मि–मे–ममं–ममए–ममाइ–मइ–मए–मयाइ–णे टा''** ॥८।३।१०९॥ इति सूत्रेण टाविशिष्टस्याऽस्मदो 'णे' इत्यादेशः। 'णे कअं' मया कृतम्। प्रा०३ पाद।

***अस्माकम्** ष०। **''णे–णो–मज्झ–अम्ह–अम्हं–अम्हे अम्हो–अम्हाण–ममाण–महाण–मज्झाण आमा''** ॥८।३।११४॥ इति सूत्रेण आमासहितस्याऽस्मदो 'णे' इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

णेउड्ड (देशी) सद्भावे, दे०ना० ४ वर्ग ४४ गाथा।

णेउणिय न०(नैपुणिक) 'णिउणिय' शब्दार्थे, अनुप्रवादपूर्वगते स्वनामख्याते वस्तुनि, आ०म०१ अ०२ खण्ड। विशे०।

णेउण्ण न०(नैपुण्य) आलेख्याऽऽदिकलायाम्, दश०६अ० २उ०। आव०।

णेउर न०(नूपुर) ऊकारस्यैकारः। पादाऽऽभरणे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार। ''खुड्डियवरणेउरचलणमालिया।'' औ०। आ०म०। द्वीन्द्रि–यजीवभेदे, प्रज्ञा०१ पद। जी०। चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा०१ पद। जी०।

णेऊण अव्य०(नीत्वा) **''युवर्णस्य गुणः''**॥८।४।२३७॥ इति युवर्णस्य गुणः। गमयित्वेत्यर्थे, प्रा०४ पाद।

णेग त्रि०(नैक) न एकं नैकम्। नायं नञ्, किं तु न इति। प्रभूते, आ०म०१ अ०२ खण्ड। बहुके, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। सूत्र०। विशे०।

णेगम पुं०(नैगम) निगमा वणिजः, तेषां स्थानं नैगमम्। वणिजाऽऽवासे, आचा०२ श्रु० १ चू०१ अ०२ उ०। वाणिजके, भ०१८ श०२ उ०। कल्प०। बृ०। सामान्यविशेषग्राहकत्वात्तस्यानेकेन ज्ञानेन मिनोति परिच्छिनत्तीति नैगमः। अथवा निगमा निश्चितार्थबोधाः, तेषु कुशलो भवो वा नैगमः। अथवा–नैकोगमोऽर्थमार्गो यस्य स प्राकृतत्वेन नैगमः। निगमेषु वाऽर्थबोधेषु कुशलो भवो वा नैगमः। स्था० ३ठा०३उ०।

***नैकम** पुं०। नैकैर्मानैर्महासत्तासामान्यविशेषज्ञानैर्मिमीते मिनोति वा नैकमः। अथवा नैके गमाः पन्थानो यस्य स नैकगमः। (पृषोदरा–दित्वात् रूपसिद्धिः) स्था०७ ठा०। अनु०। अष्ट०। ग०। नयभेदे, आ०म०।

व्युत्पत्तिः–

णेगेहिं माणेहिं, मिणइ त्ती णेगमस्स णेरुत्ती।
सेसाणं तु नयाणं, लक्खणमिणमो सुणह वोच्छं॥

न एकं नैकं, नायं नञ्, किं तु न इति। अनुस्वार इति न भवति (?) प्रभूतानीत्यर्थः। ततो नैकैर्मानैर्महासामान्यावान्तरसामान्य–विशेषाऽऽदिविषयैः प्रमाणैर्मिमीते परिच्छिनत्ति वस्तुजातमिति नैगमः। ''पृषोदराऽऽदयः'' ॥३।२।१५५॥ इतीष्टरूपनिष्पत्तिः। तथा चाऽऽह– इति इयं, नैगमस्य निरुक्तिः निर्वचनम्। उपलक्षण–मेतत्। तेनाऽन्यथाऽपि नैगमशब्दव्युत्पत्तिः परिभावनीया। तद्यथा–निश्चितो गमो निगमः परस्परविविक्तसामान्याऽऽदिवस्तुग्रहणम्, स एव प्रज्ञाऽऽदेरा-कृतिगणतया स्वार्थिकात्प्रत्ययविधानान्नैगमः। यदि वा–निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति निगमाः, तेषु भवो योऽभि–प्रायो नियतपरिच्छेदरूपः स नैगमः। अथवा–नैके गमा यस्यासौ नैगमः। पृषोदराऽऽदित्वात् ककारस्य लोपः। बहुविधवस्त्वभ्युपगमपर इत्यर्थः। आ०म०१ अ०२खण्ड।

नैगमनयशब्दार्थं तावदाह–

णेगाइं माणाइं, सामन्नोभयविसेसणाणाइं।
जं तेहि मिणइ तो णेगमो णओ णेगमाणो त्ति॥२१८६॥

न एकं नैकं, प्रभूतानीत्यर्थः, नैकानि, किं तु प्रभूतानि यानि मानानि सामान्योभयविशेषज्ञानानि। तत्र समानानां भावः सामान्यं सत्तालक्षणम्, उभयं सामान्यविशेषोभयरूपमपान्तरालसामान्यं वृक्षत्वगोत्वगजत्वाऽऽदिकम्, विशेषास्तु नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्यस्वरूपा व्यावृत्त्याकारबुद्धिहेतवः, तेषां सामान्योभयविशेषाणां ग्राहकाणि ज्ञानानि सामान्योभयविशेषज्ञानानि, तैर्यस्मात् मिनोति, मिमीते वा, ततो नैगमः। अत एव नैकमानो नैकपरिच्छेदः, किं तु विचित्रपरिच्छेद इति॥२१८६॥

नैगमनयस्यैव व्युत्पत्त्यन्तरमाह–

लोगत्थनिबोहा वा, निगमा तेसु कुसलो भवो वाऽयं।
अहवा जं नेगगमोऽणेगपहो णेगमो तेणं॥२१८७॥

'वा' इत्यथवा, निगमा भण्यन्ते। के? लोकार्थनिबोधाः अर्था जीवाऽऽदयः, तेषु नितरामनेकप्रकारा बोधा निबोधा लोकस्यार्थ–निबोधा लोकार्थनिबोधाः। तेष्वेवंविधेषु निगमेषु अवः कुशलो वाऽयमिति नैगमः। अथवा–अन्यथा व्युत्पत्तिः गम्यतेऽनेनेति गमः पन्थाः, नैके गमाः पन्थानो यस्याऽसौ नैकगमः, वक्ष्यमाणनीत्या बहुविधाभ्युपगमपरत्वाद् नैकमार्गः। निरुक्तविधिना च ककारलोपान्नैगम इति॥२१८७॥

कथंभूतः पुनरयं, कथं चानुगन्तव्यः? इत्याह–

सो कमविसुद्धभेओ, लोगपसिद्धिवसओऽणुगंतव्वो।
विहिणा निलयणपत्थयगामोवम्माइँ संसिद्धो॥२१८८॥

स नैगमनयः क्रमेण परिपाट्या विशुद्धा विशेषवन्तो भेदाः प्रकारा यस्य स क्रमविशुद्धभेदः। तथाहि–आद्यभेदोऽस्य निर्विकल्पमहासत्ताऽऽ-ख्यकेवलसामान्यवादित्वात्सर्वाविशुद्धः गोत्वाऽऽदिसामान्यविशेषवादी तु द्वितीयभेदो विशुद्धाविशुद्धः, विशेषवादी तु तृतीयभेदः सर्वविशुद्धः। विशे०। (दृष्टान्ता 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८७९ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

णेगविह त्रि०(नैकविध) नानाप्रकारे, नि०चू०१उ०।

णेचइय पुं०(नैचयिक) निचयेन संचयेनार्थाद् धान्यानां ये व्यवह–रन्ति ते नैचयिकाः। धान्यव्यापारिषु, व्य०४ उ०।

णेच्छंत त्रि०(अनिच्छत्) अनभिलषति, व्य०२ उ०।

णेच्छिय त्रि०(नेच्छित) न इच्छितं नेच्छितम्। इच्छाया अविषयीकृते, जी०।

णेच्छियकामगामिणो ते मणुयगणा।

नेच्छितकामगामिनः–न इच्छितमिच्छाविषयीकृतं नेच्छितं, नायं नञ् किं तु नशब्दः, इत्यत्राऽऽदेशाभावः। यथा–नैके द्वेषस्य पर्याया इत्यत्र नेच्छितमिच्छाया अविषयीकृतं कामं स्वेच्छया गच्छन्तीत्येवं शीला नेच्छितकामगामिनः, ते मनुजाः। जी०३ प्रति०४ उ०। जं०।

णेट्टूर पुं०(नेट्टूर) अनार्यदेशभेदे, तत्रत्यमनुष्ये च। प्रश्न०१ आश्र० द्वार। प्रज्ञा०।

णेड न०(नीड) **''नीडपीठे वा''** ॥८।१।१०६॥ इतीत एत्वं वा। 'नेडं'। 'नीडं'। पक्षिणामावासस्थाने, प्रा०१ पाद।

णेडाली (देशी) शिरोभूषणभेदे, दे०ना०४ वर्ग ४३ गाथा।

णेड्ड न०(नीड) **''सेवाऽऽदौ वा''** ॥८।२।९९॥ इति डद्वित्वम्। प्रा०२ पाद। पक्षिणामावासस्थाने, प्रा०२ पाद। नीडे, दे०ना० ४ वर्ग ४४ गाथा।

णेड्डरिया (देशी) भाद्रपदोज्ज्वलदशम्यां जाते कस्मिंश्चिदुत्सवविशेषे, दे०ना०४ वर्ग ४५ गाथा।

णेत्त न०(नेत्र) नयन्त्यर्थदेशमर्थक्रियासमर्थमर्थमाविर्भावयन्ति इति नेत्राणि। चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु, आचा०१ श्रु० ४ अ०४उ० अक्षिणि, **''वाऽक्ष्यर्थवचनाद्याः''** ॥८।१।३३॥ इति वा नपुंसकत्वम्, पक्षे स्त्री। प्रा०१ पाद। ''दो णेत्ता।'' प्रज्ञा०१८ पद। ''उड्ढंमुहे णिग्गयजी-हणेत्ते।'' उत्त० १२ अ०। मन्थदण्डाऽऽकर्षणरज्जौ, उपा०२ अ०। वस्त्रभेदे, वृक्षमूले, रथे, जटायाम्, नाड्याम्, शलाकायाम्, प्रायश्चितरि, नयनसाधने, प्रवर्तके च। वाच०।

णेत्तसूल न०(नेत्रशूल) नेत्रपीडायाम्, ज्ञा०१ श्रु० १३ अ०।

णेम पुं०(नेम) भूमिभागादूर्ध्वं निष्क्रामति प्रदेशे, जं०१ वक्ष०। जी०। रा०। आ०म०। नेमशब्दो देश्यः। कार्ये, पिं०। अवधौ, काले, अर्द्धे, प्राकारे, कैतवे, गर्तनाट्ये, अन्यस्मिन्नित्यर्थे च। अर्द्धार्थऽस्य सर्वनामता। वाच०।

णेमि पुं०(नेमि) चक्रस्य बाह्यपरिधौ, जी०३ प्रति०४ उ०। सूत्र०। नं०। ''सुकयनेमिजंतकम्माणं।'' भ० ६ श० ३३ उ०। चक्रधारायाम्, स्था०३ ठा०३उ०। धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः। अस्यामवसर्पिण्यां जाते द्वाविंशे तीर्थकरे, कल्प०७क्षण। स०। आ०चू०। आव०। ध०। प्रव०। नेमिचरित्रे सर्वसाधूनां द्वादशाऽऽवर्त्तवन्दनं कृष्णो ददौ इत्युक्तमस्ति, न त्वष्टादशसहस्राणामिति तदुक्तिर्लौकिकी, शास्त्रीया वेति? यदि शास्त्रीया तदा कथं तदुपपत्तिः? ''पयट्ठि-आणं च तइयं तु।'' इति वचनात्सर्वेषां च पदस्थत्वाभावात्। यदि सर्वेषां पद स्थत्वं तदा ते कस्मिन् पदे स्थिताः? इति प्रश्ने, उत्तरम्— यथा नेमिचरित्रेतथाऽऽवश्यकवृत्त्यादावपि सर्वेषां साधूनां द्वादशा-ऽऽवर्त्तवन्दनकमुक्तमस्ति, सर्वशब्देन चाष्टादशसह-स्रसंख्या समागतैवेति द्वारिका। किं च —सर्वेषामिति पदं विवक्षितसर्वपरं, तेन पदस्थानामेवं वन्दनकप्रदानं संभाव्यते, पदस्थेष्वपि ये गुरुनिकट-स्थास्ते कथं तद्दापयन्तीति विचारेण सर्वं समञ्जसमेवेति। २३१ प्र०। तथा श्रीकल्पसूत्रे श्रीनेमेश्चत्वारि शतसहस्राण्यार्या उक्ताः सन्ति, नेमिचरित्रे त्वेवम्— ''विना च कनकवतीं, रोहिणीं देवकीं तथा। पत्न्योऽपि प्राव्रजन् स्वामिसन्निधौ सकला अपि ॥१॥'' वसुदेवहिण्ड्यामपि द्वासप्ततिसहस्राण्यपि वसुदेवपत्न्यः श्रीनेमिपार्श्वे प्रव्रज्य मोक्षं गताः। अन्या अपि सहस्रशः कृष्णाऽऽदिपत्न्यः नेमिपार्श्वे प्रव्रजिताः सन्तीति कथं संगच्छते? तथा सर्वेषामपि तीर्थकृतां श्राद्धश्राद्धीसाधुसाध्वीसंख्या कल्पसूत्रोक्ताऽपि संदेहमावहतीति प्रश्ने, उत्तरम्—तीर्थकृतां पार्श्वे यैः सम्यक्त्वलाभपूर्वकं देशविरत्यादि प्रतिपन्नं, त एव तीर्थकृत्परिवारमध्ये गणनीयाः, नान्ये इति न कोऽपि शङ्काऽवकाश इति। २३२ प्र०। अथ पन्या—सहर्षचन्द्रगणिकृतप्रश्नास्तदुत्तराणि च यथा— श्रीजिनेन्द्राम्बा जिनेन्द्रप्रसवनान्तरमपत्यं प्रसूते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्—एकान्तो ज्ञातो नास्ति। नेमिनाथाऽऽदीनां रथनेमाऽऽदेर्लघुभ्रातृतया प्रतीतत्वादिति ।४१६।प्र०। नेमिनाथस्यैकादश गणधरा एकवि—शतिस्थानके कथिताः, कल्पसूत्रेत्वष्टादश, तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्—तावत एवैकविंशति स्थानके तथा सप्तविंशस्थानकप्रव—चनसारोद्धाराऽऽवश्यकाऽऽदिग्रन्थेषु च कथिताः सन्ति। कल्पसूत्रे तु नेमिनाथस्याष्टादश गणधरा इत्यादि यदन्तरं पतति तन्मतान्तरं ज्ञेयमिति। ४४८। प्र०। सेन०३उल्ला०। ('अरिट्ठनेमि' शब्दे प्रथमभागे ७६२ पृष्ठे कथोक्ता) ('रहणेमि' शब्दे विस्तृता कथा, राजीगतिरथनेमिसम्वादश्चाभिधास्यते)

णेमिचंद पुं०(नेमिचन्द्र) वि०सं० १२०० मिते विद्यमाने वैरस्वामिशिष्ये सागरेन्दुस्वामिगुरौ, अयमाचार्यः तर्कशास्त्रेऽतीव कुशल आसीत्। जै० इ०।

णेमित्तकारण न०(नैमित्तकारण) निमित्तस्येदं नैमित्तं, तदेव कारणं नैमित्तकारणम्। नैमित्तिककारणे, आ०म०१ अ०२ खण्ड। विशे०।

णेमित्तिय न०(नैमित्तिक) निमित्तमतीताऽऽदिपरिज्ञानोपायशास्त्रम्, तदेव नैमित्तिकम्। कूटपर्वताऽऽदौ, पापश्रुते, स्था०९ ठा०। निमित्तं त्रैकालिकं लाभालाभप्रतिपादकं शास्त्रं, तद् वेत्त्यधीते च। नैमित्तिकः। ध०२ अधि०। अष्टाङ्ग निमित्तसम्पन्ने, नि०चू०१उ०। प्रव०। दश०। आचा०।

णेमिपडिरूवग न०(नेमिप्रतिरूपक) नेमिश्चक्रधारा, तद्योगावक्रमपि नेमिस्तत्प्रतिरूपकम्। वृत्ततया तत्सदृशम्। वृत्तस्थाने, भ० १४ श०६ उ०।

णेय त्रि०(ज्ञेय) ज्ञायत इति ज्ञेयम्। ज्ञानविषये, नि०चू०१ उ०। ज्ञानक्रियाविषये परिच्छेद्ये, व्य०१ उ०। विशे०। ज्ञातव्ये, आव०४ अ०। पञ्चा०।

णेयव्व त्रि०(नेतव्य) संवेदनविषयतां प्रापणीये, उत्त०१ उ०।

णेया त्रि०(नेतृ) नयनशीलो नेता, नयतेस्ताच्छीलिकस्तृन्। सूत्र०१ श्रु०३ अ०१उ०। प्रणायके, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२ उ०। स०।

णेयाउय पुं०(नैयायिक) न्यायेन चरति नैयायिकः। न्यायाऽबाधिते, आ०चू०४अ०। न्यायानुगते, औ०। न्यायानिष्ठे, उत्त०२ अ०। सूत्र०। न्यायमनतिक्रान्ते, दशा०९ अ०। न्यायोपपन्ने, उत्त०३ अ०। सूत्र०। गौतमशास्त्रज्ञे आक्षपादे, पुं०। ते च प्रमाणप्रमेयाऽऽदीनां पदार्थानाम-न्वयव्यतिरेकपरिज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इति व्यव—स्थिताः। सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। नयनशीलो नैयायिकः, न्याये वा भवो नैयायिकः। मोक्षगमके, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। ध०। भ०। आव०। मोक्षनयनशीले, ''नेयाउयं सुअक्खायं, उवादाय समीहए।'' नयनशीला नेता, नयतेस्ताच्छीलिकस्तृन्। स चाऽत्र सम्यग्— दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मको मोक्षमार्गः। श्रुतचारित्ररूपो वा धर्मो मोक्षनयनशीलवान् गृह्यते, मार्गं धर्मं वा मोक्षं प्रति नेतारं सुष्ठु तीर्थकराऽऽदिभिराख्यातं स्वाख्यातं तमुपादाय गृहीत्वा सम्यक् मोक्षाय चेष्टते ध्यानाध्ययनाऽऽदावुद्यमं विधत्ते। सूत्र०२ श्रु० ८अ०।

णेरइय पुं०(नैरयिक) निर्गतमविद्यमानमयमिष्टफलं येभ्यस्ते निरयाः,तेषु भवा नैरयिकाः। क्लिष्टसत्त्वविशेषेषु, स्था०।

''तिविहा णेरइया पण्णत्ता। तं जहा–कतिसंचया, अकतिसंच–या, अवत्तव्वगसंचया, एवं एगिंदियवज्जा०जाव वेमाणिया।''(एवमिति) नारकवच्छेषाश्चतुर्विंशतिदण्डकोक्ता वाच्याः, एकोन्द्रियवर्जाः, यतस्तेषु प्रतिसमयमसङ्ख्याता अनन्ता वा अकतिशब्दवाच्या एवोत्पद्यन्ते, न त्वेकः,सङ्ख्याता वा इति।

आह च–

''अणुसमयमसंखिज्जा, संखिज्जाओ य तिरियमणुया य।
एगिंदिएसु गच्छे, आरा ईसाणदेवा य॥१॥
एगो असंखभागो, वट्टइ उव्वट्टणोववायम्मि।
एगनिगोए णिच्चं, एवं सेसेसु वि स एव त्ति''॥२॥

स्था०३ ठा०१ उ०। दशा०। नरकभवमनुप्राप्तेषु जन्तुषु, दश० १ चू०। रत्नशर्कराऽऽदिमहातमः पृथ्वीपर्यन्तनरकाऽऽवासिषु, आचा०१ श्रु०१ अ०६ उ०। प्रज्ञा०। जी०। सूत्र०। उत्त०। स्था०। (नैरयिकसिद्ध्यादिकोऽधिकारः 'णरग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६०४ पृष्ठे उक्तः) ('अहुणोववण्णग' शब्दे प्रथमभागे ८८६ पृष्ठेऽवत्या सर्वा वक्तव्यता गता) (नैरयिकाणाम् अन्तरं, कालस्थितिः, ज्ञानं, दृष्टिः, समुद्घातश्चेत्येवमादयोऽन्तराऽऽदिशब्देषु, जीवशब्दे च पुद्गलभेदादिश्चलितकर्मनिर्जरणाऽऽदि च सर्वं विलोक्यम्)

नैरयिकानाह–

नेरइया सत्तविहा, पुढवीसू सत्तसू भवे।
(पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे)
रयणाभ सक्कराभा, वालुयाभा य आहिया॥१५७॥
पंकाभा धूमाभा, तमाभा तमतमा तहा।
इति णेरइया एए, सत्तधा परिकित्तिया॥१५८॥
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे उ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु,तेसिं वोच्छं चउव्विहं॥१५९॥
संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठितिं पडुच्च सादीया, सपज्जवसिया वि य॥१६०॥
सागरोवममेगं तु, उक्कोसेणं वियाहिया।
पढमाए जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया॥१६१॥
तिन्नेव सागरा ऊ,उक्कोसेण वियाहिया।
दोच्चाए उ जहन्नेणं, एगयं सागरोवमं॥१६२॥
सत्तेव सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
तइयाए जहन्नेणं, तिन्नेव सागरोवमा॥१६३॥
दससागरोवमा ऊ, उक्कोसेणं वियाहिया।
चउत्थीए जहन्नेणं, सत्तेव सागरोवमा॥१६४॥
सत्तरस सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
पंचमाए जहन्नेणं, दसेव सागरोवमा॥१६५॥
वावीस सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
छट्ठीए य जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा॥१६६॥
तेतीससागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
सत्तमाए जहन्नेणं, वावीसं सागरोवमा॥१६७॥
जा चेव य आउठिई, णेरइयाणं वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई, जहण्णुक्कोसिया भवे॥१६८॥
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं।
विजढम्मि सए काए, णेरइयाणं तु अंतरं॥१६९॥
एतेसि वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणदेसओ वा वि, विहाणाइं सहस्सओ॥१७०॥

चतुर्दशसूत्राणि–नैरयिकाः सप्तविधाः सप्तप्रकाराः, किमिति? यतः, पृथिवीषु सप्तसु। (भवे त्ति) भवेयुः, ततस्तद्भेदात्तेषां सप्तविधत्वमिति भावः। काः पुनस्ताः सप्तेत्याह–(रयणाभ त्ति) रत्नानां वैडूर्याऽऽदीनामाभा स्वरूपतः प्रतिभासनमस्यामिति रत्नाभा, इत्थं चैतत्तत्र रत्नकाण्डस्य भवनपतिभवनानां च विविधरत्नवतां सम्भवात्। एवं सर्वत्र, नवरं शर्करा श्लक्ष्णपाषाणशकलरूपा। तदाह–(धूमाभे त्ति) यद्यपि तत्र धूमासंभवस्तथापि तदाकारपरिणतानां पुद्गलानां सम्भवात्, तमोरूपत्वाच्च तमःप्रभा, प्रकृष्टतरतमत्वाच्च तमस्तमा। इतीत्यमुना पृथिवीसप्तविधस्वलक्षणेन प्रकारेण नैरयिका एते सप्तधा परिकीर्तिताः। ''लोगस्स'' इत्यादि सूत्रद्वयं क्षेत्रकालाभिधायि प्राग्वत्, सादिसपर्यवसितत्वं द्विविधस्थित्यभिधानद्वारतो भावयितुमाह–(सागरोपममेगं तु) उत्कृष्टेन व्याख्याता,प्रथमायां प्रक्रमान्नरकपृथिव्यां, जघन्येन दशवर्षसहस्राणि यस्यां सा दशवर्षसहस्रिका, प्रस्तावादायुःस्थितेर्नैरयिकाणामितीहोत्तरसूत्रेषु च द्रष्टव्यम्। त्रीण्येव (सागर त्ति) सागरोपमानि, तुः पूरणे, उत्कृष्टेन व्याख्याता। द्वितीयायाम्–(जहन्नेणं ति) उत्तरत्र तुशब्दस्य पुनःशब्दार्थस्य भिन्नक्रमत्वेनेह संबन्धाज्जघन्येन पुनरेकं सागरोपमम्। सप्तैव सागरोपमानि तूत्कृष्टेन व्याख्याता। तृतीयायां जघन्येन पुनस्त्रीण्येव सागरोपमाणि। दश सागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता। चतुर्थ्यां जघन्येन सप्तचतुःसागरोपमाणि, सप्तदशसागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता। पञ्चम्यां जघन्येन दश चैव तु सागरोपमानि, द्वाविंशतिसागरोपमानि तूत्कृष्टेन व्याख्याता। षष्ठ्यां जघन्येन सप्तदश सागरोपमानि, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता। सप्तम्यां नरकपृथिव्यां जघन्येन द्वाविंशतिसागरोवमाणि आयुःस्थितिरुक्ता। कायस्थितिमाह–या चेति, चशब्दो वक्तव्यतान्तरोपन्यासे, एवेति भिन्नक्रमः, चः पुनरर्थः, ततो यैव च पुनरायुःस्थितिर्नैरयिकाणां व्याख्याता (से त्ति) एव–कारस्य गम्यमानत्वात्सैव तेषां कायस्थितिः जघन्योत्कृष्टा भवे–दित्थं चैतत् उद्वृत्तानां पुनस्तत्रैवानुपपत्तेः। ते हि तत उद्वृत्य गर्भजपर्याप्तकः संख्येयवर्षायुष्वेवोपजायते। यत उक्तम्–''णरगंतो उव्वट्टा, गब्भे पज्जत्तसंखजीवीसु। णियमेण होइ वासो,लद्धीण उ संभवो वुच्छं''॥१॥ अन्तराभिधानाभिधायि सूत्रद्वयं प्राग्वत्, नवरमन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यमन्तरं यदाऽन्तरनरकादुद् वृत्य कश्चिज्जीवो गर्भजपर्याप्तकं मत्स्याऽऽदिषूत्पद्यते, तत्र चातिसंक्लिष्टाध्यवसायोऽन्तर्मुहूर्त्तमायुः प्रतिपाल्य मृत्वाऽन्यतमनरक एवोपजायते, तदा लभ्यते इति भावनीयमिति चतुर्दशसूत्रार्थः। उत्त० पाई० ३६ अ०। (नैरयिकाणां स्थितिः 'ठिइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७१७ पृष्ठे गता)

णेरइयत्ता स्त्री०(नैरयिकता) नैरयिकत्वे नैरयिकभावे, स्था० ४ ठा० ४उ०।

णेरइयावास पुं०(नैरयिकावास) नैरयिकाणामावासभूमौ, जी० १ प्रति० स्था०।

णेरई स्त्री०(नैर्ऋती) निर्ऋतिर्देवताऽस्या नैर्ऋती । भ०७ श० १उ० स्था० पूर्वस्याः पश्चिमायाश्चान्तरालविदिशि, आ०म०१ अ०२ खण्ड। विशे० स्था०।

णेरप्प न०(नैरात्म्य) आत्मराहित्ये, शौद्धोदनीयाः पुनरेव माहुः-- नैरात्म्यभावना। नं०।

णेरुत्त न०(नैरुक्त) अभिधानाक्षरानुसारतो निश्चितार्थस्य वचनं भणनं निरुक्तं, तत्र भवं नैरुक्तम्। निरुक्तवशेनाऽर्थाभिधायके नामनि, यथा महां शेते महिष इत्यादि। अनु० निरुक्तशास्त्रविदि, पुं० व्य०७उ०।

णेल न०(नैल) नीलीविकारे, भ० १ श० १उ० प्रज्ञा०।

णेलच्छ पुं०(पण्डित) **''गोणाऽऽदयः''** ॥८।२।१७४॥ इति पण्डित-शब्दस्य णेलच्छाऽऽदेशः। प्राज्ञे, प्रा०२ पाद। षण्ढे, दे०ना० ४ वर्ग ४४ गाथा।

णेलिच्छी (देशी) कूपतुलायाम्, दे०ना० ४ वर्ग ४४ गाथा।

णेवइय त्रि०(नैतकिक) नीतिकारिणि, व्य०१ उ०।

णेवच्छण (देशी) अवतारणे, दे०ना० ४ वर्ग ४० गाथा।

णेवत्थ न०(नेपथ्य) वेषे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार। आ०म० औ० रा० स्त्रीपुरुषाणां वेषे, स्था०४ ठा०२ उ० परिधानाऽऽदिरचने, ज्ञा०१ श्रु०१ अ० केशचीवरसमारचने, दर्श०४ तत्त्व। नि० औ० निर्मलवेषे, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ० स्था०।

णेवाइय न०(नैपातिक) निपतत्यर्हदादिपदानामादिपर्यन्तेषु इति निपातः। निपाते भवं नैपातिकम्। ''अध्यात्माऽऽदिभ्यइकण्'' ॥६।३।७८॥ इति अध्यात्माऽऽदित्वादिकण्। यदि वा निपात एव नैपातिकम्। निपातसंज्ञके पदे, विशे० आ०म०।

णेवाल पुं०(नेपाल) देशभेदे, नेपालनामा ऋषभदेवपुत्र आसीत्तद्राज्यभूतो देशोऽपि नेपालः। आव४ अ० कल्प० आ०चू०।

णेवेज्जपूया स्त्री०(नैवेद्यपूजा) घृतदधिदुग्धाऽऽदिनानाव्यञ्जनरस-समग्राऽऽहारस्य जिनानां पुर उपढौकने, ''धयदहियना णावंजण-रससमग्गं पयदिणं जिणाणं पुरओ दाऊण भत्तीए ससत्तीण भोयणं कायव्वं।'' दर्श०१ तत्त्व। (अत्र दृष्टान्तो दर्शनशुद्धिग्रन्थादवसेयः)

णेसज्ज पुं०(नैषद्य) समपुततयोपविष्टे, प्रव० ६७ द्वार। निषद्यावति, पञ्चा० १८ विव०।

णेसज्जिय पुं०(नैषद्यिक) निषद्यया चरके, निषद्योपविष्टे, बृ०।

निषद्याः पञ्च भवन्ति-

पंचेव निसिज्जाओ, तासिँ विभासा उ कायव्वा।

निषद्याः पञ्चैव भवन्ति, तासां विभाषा कर्त्तव्या। सा चेयम्-निषद्या नामोपवेशनविशेषाः, ताः पञ्चविधाः। तद्यथा-समपादपुता, गोनिषद्यिका, हस्तिशुण्डिका, पर्यन्ता, अर्द्धपर्यन्ता चेति। तत्र यस्यां समौ पादौ पुतौ च स्पृशतः सा समपादपुता, यस्यां तु गोरिवोपवेशनं सा गोनिषद्यिका, यत्र तु ताभ्यामुपविश्यैकं पादमुत्पाटयति सा हस्तिशुण्डिका। पर्यङ्का प्रतीता। अर्द्धपर्यङ्का च यस्यामेकं जानुमुत्पाटयति, एवंविधनिषद्यया चरन्तीति नैषद्यिकाः। बृ०५ उ० सूत्र० स्था० आचा०।

णेसत्थिया स्त्री०(नैसृष्टिकी) निसर्जनं निसृष्टं, क्षेपणमित्यर्थः। तत्र भवा नैसृष्टिकी, निसृजतः कर्मबन्धरूपायां निसर्गरूपायां वा क्रियायाम्, स्था०२ ठा०१ उ० ''णेसत्थिया किरिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-जीवणेसत्थिया चेव, अजीवणेसत्थिया चेव।'' राजाऽऽदिसमादेशाद्यदुदकस्य यन्त्राऽऽदिभिर्निसर्जनं सा जीवनैसृष्टिकीति, यत्तु काण्डाऽऽदीनां धनुरादिभिः सा अजीवनैसृष्टिकीति। अथवा-गुर्वादौ जीवं शिष्यं पुत्रं वा निसृजतो ददत एका, अजीवं पुनरेषणीयभक्तपानाऽऽदिकं निसृजतो ददतोऽन्येति। स्था०२ ठा०१ उ० आ०चू०।

णेसत्थी (देशी) वणिक्सचिवे, दे०ना०४ वर्ग ४४ गाथा।

णेसप्प पुं०(नैसर्प) निधानभेदे, तदभेदविवक्षया देवभेदे च। स्था० ''णेसप्पम्मि निवेसा, गामागरनगरपट्टणाणं च। दोणमुहमडंबाणं, खंधाराणं गिहाणं च॥१॥'' स्था० ६ ठा०। ('णिहि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१५१ पृष्ठे व्याख्यातम्)

णेसर (देशी) रवौ, दे०ना०४ वर्ग ४४ गाथा।

णेसाय पुं०(निषाद) निषीदन्ति स्वरा यस्मात्स निषादः। स्वरविशेषे, ''निषीदन्ति स्वरा यस्मान्निषादस्तेन हेतुना। सर्वां श्वातिभवत्येषः, यदादित्योऽस्य दैवतम्॥१॥'' स्था०७ ठा०।

णेह पुं०(स्नेह) **''क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्''** ॥८।१।१७७॥ इति सलुक्। प्रा०१ पाद। मोहोदयजे प्रीतिविशेषे पुत्राऽऽदिष्वत्यन्तानुरागे, आतु० जीत० तैलाऽऽदिगतरसे, यद्-वशाद् दाहानुकूल्यम्। वाच०।

णेहंझाण न०(स्नेहध्यान) स्नेहो मोहोदयजः प्रीतिविशेषः पुत्राऽऽदिष्वत्यन्तानुरागः। मरुदेवीसुनन्दाहरन्नकमात्राऽऽदीनामिव दुर्ध्याने, आतु०।

णेहपच्चय न०(स्नेहप्रत्यय) स्नेहनिमित्ते, क०प्र०१प्रक०।

णेहपच्चयफड्डग न०(स्नेहप्रत्ययस्पर्धक) स्नेहप्रत्ययं स्नेहनिमित्त-मेकैकस्नेहाविभागवृद्धानां पुद्गलवर्गणानां समुदायरूपं स्पर्धकं स्नेहप्रत्ययस्पर्धकम्। स्नेहनिमित्ते स्पर्धके, क०प्र०१ प्रक०।

णेहफड्डगपरूवणा स्त्री०(स्नेहस्पर्धकप्ररूपणा) प्रयोगेण गृहीतानां पुद्गलानां स्नेहमधिकृत्य स्पर्धकप्ररूपणायाम्, क०प्र० १ प्रक०।

णेहालु त्रि०(स्नेहवत्) **''आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मंतेत्ते-मणामतोः''** ॥८।२।१५६॥ इति मत्वर्थे आलुः। स्निग्धे, प्रा०२ पाद।

णेहुत्तुप्पियगत्त त्रि०(स्नेहोत्त्रपितगात्र) स्नेहस्नेहितशरीरे, विपा० १ श्रु० २अ०।

णो अव्य०(नो) अवधारणे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० निषेधे, विशे० सूत्र० आ०म० भ० सर्वनिषेधे, नं० देशनिषेधे च। दश०१ अ० आचा० विशे० उत्त० व्य० ''नो कप्पइ आमपलम्बो'' इति सूत्रे नोकारशब्दस्यैव भावनां करोति- ''नोकारो खलु देसं, पडिसेहयई पकप्पिज्जा।'' नोशब्दः

प्रायो देशप्रतिषेधे वर्त्तते । यथा नो घट इत्युक्ते घटैकदेशः कपालाऽऽदिकः प्रतीयते, एवमत्रापि नोकारो देशं प्रतिषेधयति । बृ०१ उ० कल्प० ''नो घडो घडेगदेसो, तव्विवरीयं च जं दव्वं ।'' नोकारो देशप्रतिषेधकः, तदन्यभावसूचको वा । यथा–नो घट इत्युक्ते घटैकदेशः कपालाऽऽदिकोऽवयवः, तद् विपरीतमन्यद् द्रव्यं पटाऽऽदिकम् । बृ०१ उ० साहचर्ये , कर्म०१ कर्म०।

णोअक्खरसंबद्ध पुं०(नोअक्षरसंबद्ध) अक्षरसम्बद्धादितरो नोअक्षरसम्बद्धः। अक्षरसंबद्धभिन्ने, स्था०२ ठा०३उ०।

णोअजीव पुं०(नोऽजीव) अजीवत्वरहिते, नयो०।

जीवो वा जीवदेशो वा, प्रदेशो वाऽप्यजीवगः।
अनयैव दिशा ज्ञेयो, नोअजीवपदादपि ॥४४॥

(जीवो वेति) अनयैवोक्तयैव दिशा नोअजीवपदादपि नोशब्दस्य सर्वनिषेधकत्वे जीवो जीवपदार्थो वा बोध्यः, तस्य देशनिषेधकत्वे चाजीवदेशो वाऽजीवगः अजीवाश्रितः प्रदेशो वा । ''अमानोनाः प्रतिषेधे'' इत्यनुशासनतौल्येऽपि संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्च नञोऽर्थः । नोशब्दस्य त्वभाव एकदेशो वा, तत्र चान्वयिताऽवच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वतदेकदेशत्वाऽऽदि व्युत्पत्तिबललभ्यमिति सिद्धान्तपरिभाषेति निगर्वः ॥४४॥ नयो०।

णोअमण न०(नोअमनस्) अविवक्षितसम्बन्धिविशेषे मनोमात्रे, स्था०३ ठा०३उ०।

णोअवयण न०(नोअवचन) वचनमात्रे, स्था०३ ठा०३उ०।

णोआउज्जसद्द न०(नोअवचन) वचनमात्रे, स्था०३ ठा०३उ०।

णोआउज्जसद्द पुं०(नोआतोद्यशब्द) आतोद्यादितरो नोआतोद्य–शब्दः । स्था०२ठा०३उ०। ''णोआउज्जसद्दे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–भूसणसद्दे चेव, नो भूसणसद्दे चेव ! स्था०२ ठा० ३उ०। (स्वस्व–स्थाने व्याख्या)

णोआगम पुं०(नोआगम) आगमस्याभावे, आगमस्यैकदेशे, आगमेन सह मिश्रणे च । नोशब्दस्य त्रिष्वप्यर्थेषु वर्तमानत्वात् । आ०म०१ अ०१ खण्ड । पदार्थाऽपरिज्ञाने, नं०। ध०। अनु०।

णोआगास न०(नोआकाश) आकाशादन्यस्मिन् धर्मास्ति–कायाऽऽदौ, स्था० २ ठा०१उ०।

णोइंदिय न०(नोइन्द्रिय) मनसि, सादृश्यार्थत्वान्नोशब्दस्यार्थपरिच्छेदकत्वेनेन्द्रियाणां सदृशमिति तत्सहचरमिति । स्था०६ ठा०। भ०।

णोइंदियत्थ पुं०(नोइन्द्रियार्थ) नोइन्द्रियस्य विषये, स्था०। औदारिकाऽऽदित्वार्थपरिच्छेदकत्वलक्षणधर्मद्वयोपेतमिन्द्रियं, तस्यौदारिकाऽऽदित्वधर्मलक्षणदेशनिषेधान्नोइन्द्रियं मनः, सादृश्यार्थत्वाद्वा नोशब्दस्यार्थपरिच्छेदकत्वेनेन्द्रियाणां सदृशमिति तत्सहचरमिति वा नोइन्द्रियं मनः, तस्यार्थो विषयो जीवाऽऽदिर्नोइन्द्रियार्थ इति । स्था०६ ठा०।

णोउस्सासग पुं०(नोउच्छ्वासक) उच्छ्वासपर्याप्तिविकले, ''णेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–उस्सासगा चेव, णो उस्सासगा चेव, जाव०वेमाणिया।'' स्था०२ ठा०२ उ०।

णोएगिंदिय पुं०(नोएकेन्द्रिय) त्रसाऽऽदिषु, आव०४ अ०।

णोकम्म न०(नोकर्मन्) मनोवचनकायाऽऽत्मकेषु कर्मसु, द्रव्या० १३ अध्या०। आ०चू०।

णोकसाय पुं०(नोकषाय) कषायैः सहचरा नोकषायाः। हास्याऽऽदिषु, ते च नव, हास्याऽऽदयः षट्, त्रयो वेदाः। अत्र नोशब्दः साहचर्यवाची । एषां हि केवलानां न प्राधान्यमस्ति,किं तु कषायैरनन्तानुबन्ध्यादिभिः, सहोदयं यान्ति, तद्विपाकसदृशमेव विपाकं दर्शयन्ति,बुधग्रहवदन्यसंसर्गमनुवर्तन्ते इति भावः । कषायोद्दीपनाद् वा नोकषायाः । उक्तं च– ''कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि । हास्याऽऽदिनवकस्योक्ता, नोकषाया-कषायता'' ॥१॥ कर्म०१ कर्म०। पं०सं०। श्रा०।

णोकसायमोहणिज्ज न०(नोकषायमोहनीय) नोकषायरूपे मोहनीयकर्मणि, तच्च द्विविधम्–हास्याऽऽदिषट्कं, वेदत्रिकं च। कर्म०१ कर्म०।

णोकसायवेयणिज्ज न०(नोकषायवेदनीय) नोकषायतया वेद्यते यत्कर्म तन्नोकषायवेदनीयम् । वेदनीयकर्मभेदे, स्था०।

नवविहे नोकसायवेयणिज्जे कम्मे पण्णत्ते । तं जहा–इत्थीवेए, पुरिसवेए, नपुंसगवेए, हासे, रइ, अरइ, भए, सोगे, दुगुंछा ।

नोशब्दः साहचर्यार्थः, कषायैः क्रोधाऽऽदिभिः सहचरा नोकषायाः, केवलानां नैषां प्राधान्यं, किं तु यैरनन्तानुबन्ध्यादिभिः सहोदयं यान्ति, तद्विपाकसदृशमेव विपाकमादर्शयन्तीति, बुधग्रहवदन्यसंसर्गमनुवर्तन्ते । एवं च नोकषायतया वेद्यते यत्कर्म तन्नोकषायवेदनीयमिति। स्था०९ ठा०।

णोकेवलणाण न०(नोकेवलज्ञान) ''णोकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–ओहिणाणे चेव, मणपज्जवणाणे चेव।'' स्था०२ ठा०१ उ०।

णोगार पुं०(नोकार) निषेधार्थके नोइत्यक्षरे, विशे०।

णोगुण पुं०(नोगुण) गुणेभ्यो निष्पन्नं यत्र नो भवति तन्नोगुणम्। अयथार्थे , अनु०।

से किं तं नोगुणे ? नोगुणे अकुंतो सकुंतो अमुग्गो समुग्गो अमुद्दो समुद्दो अलालं पलालं अउलिया सउलिया नोपलं असइ त्ति पलासो ओमाइवाहए माइवाहए अवीअवावए वीअवावए नोइंदगोवईए इंदगोवे । सेत्तं नोगुणे ।

(से किं तं नोगुणे इत्यादि) गुणनिष्पन्नं यत्र नो भवति तन्नोगुणम्, अयथार्थमित्यर्थः। (अकुंते सकुंते इत्यादि) अविद्यमानः कुन्तोऽस्य प्रहरणविशेष एव (सकुंत त्ति) पक्षी प्रोच्यत इत्ययथार्थता । एवमविद्यमानमुद्गोऽपि कर्पूराऽऽद्याधारविशेषः समुद्गः, अङ्गुल्याभरणविशेषमुद्रारहितोऽमुद्रः तथा समुद्रो जलराशिः (अलालं पलालं ति) इह प्रकृष्टा लाला यत्र तत्प्रलालं वस्तु, प्राकृते पलालमुच्यते । यत्र तु पलालाभावस्तत्कथं तृणविशेषरूपं पलालमुच्यत इति प्राकृतशैलीमङ्गीकृत्याऽत्राऽयथार्थता मन्तव्या । संस्कृते तु तृणविशेषरूपं पलालं निर्यत्पत्रिकमेवोच्यते इति न यथार्थाऽयथार्थचिन्ता संभवति । (अउलिया सउलिय त्ति) अत्रापि कुलिकाभिः सह वर्तमानै व प्राकृते 'सउलिय त्ति' भण्यते, या तु कुलिकारहितैव पक्षिणी सा कथं ''सउलिय त्ति''? एवमिहापि प्राकृतशै–

लीमेवाङ्गीकृत्याऽयथार्थता। संस्कृते तु शकुनिकैल साऽभिधीयते इति कुतस्तच्चिन्तासंभव इति। एवमन्यथाऽप्यविरोधतः सुधिया भावना कार्या। पलं मांसमनश्नन्नपि पलाश इत्यादि तु सुगमम्। नवरं मातृवाहकाऽऽदयो विकलेन्द्रियजीवविशेषाः। ''सेत्तं नोगुणे त्ति'' निगमनम्। अनु०।

णोजीव पुं०(नोजीव) जीवाजीवव्यतिरिक्ते पदार्थे, आ०चू०१ अ०। आ०म०। विशे०। स्था०। (जीवाजीवव्यतिरिक्तं राश्यन्तरमस्तीति 'तेरासिय' शब्दे वक्ष्यते)

नोजीव इति नोशब्देऽजीवः सर्वनिषेधके।
देशप्रदेशौ जीवस्य, तस्मिन् देशनिषेधके ॥४३॥

(नो इति) नोजीव इतिशब्दवाच्ये नोशब्दे सर्वनिषेधके विवक्षिते--ऽजीव एव। देशनिषेधके तु नोशब्दे आश्रीयमाणे देशनिषेधस्य देशाभ्यनुज्ञानान्तरीयकत्वाज्जीवस्य देशप्रदेशावेव नोजीवशब्दव्यपदेश्यावभ्युपगन्तव्यौ ॥४३॥ नयो०।

णोणाणायार पुं०(नोज्ञानाचार) ज्ञानाचाराभावे, ''णोणाणायारे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा--देंसणायारे चेव, णोदंसणायारे चेव।'' स्था० २ ठा०३उ०। (स्वस्वशब्दे व्याख्या)

णोतस पुं०(नोत्रस) त्रसा न भवन्तीति नोत्रसाः। आहाराऽऽदिषु, आव०४ अ०।

णोतहा अव्य०(नोतया) अन्यथाऽपीतिशब्दस्यार्थे, स्था०४ ठा०२उ०।

णोदंसणायार पुं०(नोदर्शनाचार) नोदर्शनाऽऽचारश्चारित्राऽऽदिः। ''दुविहे णोदंसणायारे पण्णत्ते। तं जहा--चरित्तायारे चेव, नोचरित्तायारे चेव।'' स्था०२ ठा०३उ०। (स्वस्वस्थाने व्याख्या)

णोदिय त्रि०(नोदित) प्रेरिते, गमनाभिमुखीकृते, ज्ञा०१ श्रु० ६अ०।

णोपरमाणुपोग्गल पुं०(नोपरमाणुपुद्गल) स्कन्धेषु, स्था०२ ठा०३उ०।

णोबद्धपासपुट्ठ पुं०(नोबद्धपार्श्वस्पृष्ट) नोबद्धाः किं तु पार्श्वस्पृष्टा इत्येकपदनिषेधे श्रोत्रेन्द्रियज्ञानगोचराः। एकपदनिषेधे श्रोत्रेन्द्रियग्रहणगोचरेषु, स्था०२ ठा०३उ०।

णोभासासद्द पुं०(नोभाषाशब्द) अव्यक्तशब्दे, भाषाशब्दादितरो नोभाषाशब्दः। ''णोभासासद्दे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-- आउज्जसद्दे चेव, णोआउज्जसद्दे चवे।''स्था०२ ठा०३उ०। (स्वस्वस्थाने व्याख्या)

णोभिउरधम्म पुं०(नोभिदुरधर्म) स्वत एव नो भिद्यत इति नोभिदुरधर्मम्। सुदृशधर्मे, स्था०२ ठा०३उ०।

णोभूसणसद्द पुं०(नोभूषणशब्द) भूषणशब्दव्यतिरिक्ते, भूषणं नूपुराऽऽदि। ''णोभूसणसद्दे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा--तालसद्दे चेव, लत्तियासद्दे चेव।'' स्था०२ ठा०३उ०। (स्वस्वस्थाने व्याख्या)

णोमाउयापय न०(नोमातृकापद) मातृकापदव्यतिरिक्ते अपराधपदे, ''णोमाउयं पि दुविहं, पंच पइन्नगं च बोधव्वं।'' दश०२अ०। (अपराधपदव्याख्यानम् 'अवराहपय' शब्दे प्रथमभागे ७६८ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

णोमालिया स्त्री०(नवमालिका) **''ओत् पूतर--बदर--नवमालिका--नवफलिका--पूगफले''** ॥८।१।१७०॥ इति उत ओत्वम्। प्रा० १ पाद।

''नेवार'' इतिख्याते सुगन्धपुष्पप्रधाने वृक्षभेदे, जं०१ वक्ष०। ज्ञा०। जी०।

णोलइआ (देशी) चश्चौ, दे०ना० ४ वर्ग ३६ गाथा।

णोलच्छा (देशी) चश्चौ, दे०ना० ४ वर्ग ३६ गाथा।

णोल्ल धा०(क्षिप्) प्रक्षेपणे, **''क्षिपेर्गलत्थाडुक्ख--सोल्ल--पेल्लणोल्लछुहहुल--परी--घत्ताः''** ॥८।४।१४३॥ इति क्षिपेर्णोल्लाऽऽदेशः। 'णोल्लइ'। क्षिपति। प्रा०४पाद।

णोल्लिय त्रि०(नोदित) प्रेरिते, प्रश्न०३आश्र० द्वार।

णोसुमण त्रि०(नोसुमनस्) अपहतमनः सङ्कल्पे, आव० ३अ०।

णोसुयकरण न०(नोश्रुतकरण) 'करण' शब्दे व्याख्याते करणभेदे, विशे०। (श्रुतकरणव्याख्या 'करण' शब्दे तृतीयभागे ३६८ पृष्ठे गता)

णोहलिया स्त्री०(नवफलिका) **''ओत् पूतर--बदर--नवमालिका--नवफलिका--पूगफले''** ॥८।१।१७०॥ इति उत ओत्वम्। प्रा०१ पाद। अचिरोत्पन्नफलिकायाम्, वाच०।

ण्हं अव्य०।नि०(ण्हं) पादपूरणे, बृ०१ उ०। आ०म०। वाक्यालङ्करे, कल्प०६क्षण।

ण्हवण न०(स्नपन) जलक्षालने, नि०चू०१उ०। सौभाग्यपुत्राऽऽद्यर्थं वध्वादेर्मज्जने, प्रश्न०२ आश्र०द्वार।

ण्हाअ त्रि०(स्नात) **''सूक्ष्म--श्न--ष्ण--स्न--ह्न--ह्ण--क्ष्णां ण्हः''** ॥८।२।७५॥ इति स्नभागस्य णकाराऽऽक्रान्तो हकारः। कृतस्नाने, प्रा०२ पाद। सामान्यतः कृतस्नाने, दशा०१० अ०। ''ण्हाया कयबलिकम्मा।'' ज्ञा०१ श्रु०२अ०।

ण्हाण न०(स्नान) देशतः सर्वतो वा शरीरस्य प्रक्षालने, व्य०१० उ०। उत्त०। आ०म०।

अथ श्रावकस्य स्नानविधिः--

सम्यक् स्नात्वोचिते काले, संस्नाप्य च जिनान् क्रमात्।
पुष्पाऽऽहारस्तुतिभिश्च, पूजयेदिति तद्विधिः ॥६१॥

उत्तिङ्गपनककुन्थ्वाद्यसंसक्तवैषम्यशुषिराऽऽदिदोषाऽदूषितभूमौ परिमितवस्त्रपूतजलेन संपातिमसत्त्वरक्षणाऽऽदियतनारूपः। उक्तं च दिनकृत्ये--''तसाऽऽइजीवरहिए, भूमिभागे विसुद्धए। फासुएणं तु नीरेण, इअरेण गलिए उ ॥१॥'' ''काऊणं विहिणा ण्हाणं,'' इति। तत्र विधिना परिमितोदकसंपातिमसत्त्वरक्षणाऽऽदियतनयेति तद्वृत्तिलेशः। पञ्चाशकेऽपि-- भूमीपेहणजलठा--णणाइ जयणा उ हाइ ण्हाणाओ। एत्तो विसुद्धभावो, अणुहवसिद्धो चिअ बुहाणं ॥१॥'' व्यवहारशास्त्रे तु-- ''नग्नार्तः प्रोषिताऽऽयातः, सचेलो भुक्तभूषितः। नैव स्नायादनुव्रज्य, बन्धून् कृत्वा च मङ्गलम् ॥१॥'' इत्यादि। स्नानं च द्रव्यभावाभ्यां द्विधा-- तत्र द्रव्यस्नानं जलेन शरीरक्षालनम्। तच्च देशतः सर्वतो वा, तत्र देशतो मलोत्सर्गदन्तधावनजिह्वालेखनकरचरणमुखाऽऽदिक्षालनगण्डूषकरणाऽऽदि, सर्वतस्तु सर्वशरीरक्षालनमिति। तत्र च मलोत्सर्गो मौनेन निरवद्यार्हस्थानाऽऽदिविधिनैवोचितः। यतः--

''मूत्रोत्सर्गं मलोत्सर्गं, मैथुनं स्नानभोजनम्।
सन्ध्यादिकर्म पूजां च, कुर्याज्जापं च मौनवान् ॥१॥''

विवेकविलासेऽपि–

''मौनी वस्त्राऽऽवृतः कुर्याद्दिनसन्ध्याद्वयेऽपि च।
उदङ् मुखः शकृन्मूत्रे, रात्रौ याम्याननः पुनः ॥१॥'' इति।

दन्तधावनमपि–

''अवक्राऽग्रन्थिसत्कूर्चं , सूक्ष्माग्रं च दशाङ्गुलम्।

कनिष्ठाऽग्रसमस्थौल्यं, ज्ञातवृक्षं सुभूमिजम् ॥१॥
कनिष्ठिकाऽनामिकयोरन्तरे दन्तधावनम्।
आदाय दक्षिणां दंष्ट्रां, वामां वा संस्पृशँस्तले ॥२॥
तल्लीनमानसः स्वस्थो,दन्तमांसव्यथां त्यजन्।
उत्तराभिमुखः प्राची–मुखो वा निश्चलाऽऽसनः ॥३॥''

इत्यादिनीतिशास्त्रोक्तविधिना विधेयम्।

गण्डूषोऽपि–

''अभावे दन्तकाष्ठस्य, मुखशुद्धिविधिः पुनः।
कार्यो द्वादशगण्डूवैर्जिह्वोल्लेखस्तु सर्वदा ॥१॥''

इति विधिना कार्योऽप्रत्याख्यानिना, प्रत्याख्यानिनस्तु दन्तधावनाऽऽदि विनाऽपि शुद्धिरेव, तपसो महाफलत्वात्, इदं च द्रव्यस्नानं वपुःपावित्र्यसुखकरत्वाऽऽदिना भावशुद्धिहेतुः। ध० २ अधि०। (स्नानदोषः 'अणायार' शब्दे प्रथमभागे ३१४ पृष्ठे, च शीतोदकाऽऽदिभिः पादाऽऽदिप्रधावने दोषप्रायश्चित्ते उक्ते)

ततो देशस्नानं सर्वस्नानं वा सेवंतस्स आणाअणवत्थमि–च्छत्तविराहणा भवंति। ण्हाणे इमे दोसा–

छक्कायाण विराधणा, तप्पडिबंधो य गारव विभूसा।
परिसहभीरुत्तं पि य, अविसासो चेव ण्हाणम्मि ॥९६॥

ण्हायंतो छज्जीवणिकाए वहति, ण्हाणे पडिबंधो भवति, पुनः पुनः स्नातीत्यर्थः। अस्नातसाधुशरीरेभ्यः निर्मलशरीरोऽहमिति गौरवं कुरुते, स्नान एव विभूषाऽलङ्कार इत्यर्थः। अण्हाहपरीसहाउ वीहेति, तं तं जिनातीत्यर्थः। लोगस्साविश्रंभणीयो भवति। एते स्नानदोषा उक्ताः। नि०चू० २उ०।

स्नानाष्टकम्–पूजाऽऽदि स्नानपूर्वकमिति स्नाननिरूपणायाऽऽह–

द्रव्यतो भावतश्चैव, द्विधा स्नानमुदाहृतम्।
बाह्यमाध्यात्मिकं चेति, तदन्यैः परिकीर्त्यते ॥१॥

द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्–पुद्गलाऽऽदि, त–स्माद् द्रव्यात् द्रव्यतो जललक्षणं करणभूतम् १, देहदेशलक्षणं वा शोधनीयम् २, मनोलक्षणं वाऽपनेयं, द्रव्यमाश्रित्येत्यर्थः३, अथवा–द्रव्यतोऽपरमार्थतो द्रव्यशब्दस्याप्रधान्यार्थत्वात् ४, अथवा–द्रव्यतो भावस्नानकारणत्वेन कारणार्थत्वाद् द्रव्यशब्दस्य ५। तथा–भवनं भावः–परिणामः, तस्माद्भावतः शुभध्यानलक्षणं करणभूतम् १, उपयोगभावाऽऽत्मकजीवलक्षणं वा शोधनीयम् २, अथवा–औदयिकभावकारणभूतकर्ममललक्षणमपनेतव्यं, लक्षणं करणभूतभावमाश्रित्येत्यर्थः ३, भावतः परमार्थतो भवति ४। चशब्दः समुच्चये। एवकारोऽवधारणे। एवं चाऽनयोः प्रयोगः–द्रव्यतो भावत एव। ततश्च द्रव्यभावभेदेनैव द्विधा द्विप्रकारं, नामाऽऽदिभेदेन तु चतुर्द्धाऽपि केवलमिह चतुःप्रकारत्वं स्नानस्य नाश्रितम्, नामस्थापनयोः प्ररूपणामात्रोपयोगित्वात्। न हि स्नानस्य नामस्थापने जिननामस्थापने इव प्रमोदहेतुत्वेन पूजागोचरत्वेन च सोपयोग इति। अथवा–एवकारो द्विधेत्यनेन संबद्ध्यते, तथा द्रव्यतो भावतश्चेति। एवं द्विधैव स्नानमुदाहृतं, न तु सप्तधा।

यथाऽऽहुरेके–

''सप्त स्नानानि प्रोक्तानि, स्वयमेव स्वयंभुवा।
द्रव्यभावविशुद्ध्यर्थमृषीणां ब्रह्मचारिणाम् ॥१॥
आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं, वायव्यं दिव्यमेव च।
पार्थिवं मानसं चैव, स्नानं सप्तविधं स्मृतम् ॥२॥
आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्यं तु वारुणम्।
आपोतृष्णामयं ब्राह्मं, वायव्यं तु गवां रजः ॥३॥ (मन्त्रस्नान–मित्यर्थः)
''सूर्यदृष्टं तु यद् दृष्टं, तद्दिव्यमृषयो विदुः।
पार्थिवं तु मृदा स्नानं, मनःशुद्धिस्तु मानसम् ॥४॥''

इति सप्तविधस्नानकथनं ह्यनर्थकम्, यतो यद् बाह्यमलक्षाल–नप्रत्यलं तत्सर्वं द्रव्यस्नानमेव।यच्चाऽऽन्तरमलोन्मूलनायालं, तद्भावस्नानम्। यत्पुनरन्यथाविधं तदस्नानमेव। न च गोरजसा मन्त्रेण वा मलापनयनमुपलभ्यत इति। अतः सुष्ठूच्यते द्विधैव। अथवा–द्रव्यतो द्विविधैव, भावतश्च द्विविधैव इत्येवं द्विधाशब्दप्रयोगः। द्वैविध्यं च प्रधानाऽप्रधानभेदात्। तच्च दर्शयिष्यत इति। द्रव्यतो भावतश्चैयमिति पाठान्तरे तु, एवकार उपप्रदर्शनार्थः। तेन एवमनेन प्रकारेण द्विधा स्नानं शुचीकरणमुदाहृतं तत्त्ववेदिभिरभिहितम्। अत्रार्थे परेषामप्यविप्रतिपत्तिमुपदर्शयन्नाह–बहिर्भवं बाह्यं शारीरम्, अध्यात्मे मनसि भवमाध्यात्मिकं, मानसमित्यर्थः। चशब्दः समुच्चयार्थः। इति रूपप्रदर्शने। एवं चानयोः प्रयोगः– बाह्यमिति, आध्यात्मिकमिति च। तदनतिक्रमेण द्रव्यस्नानं भावस्नानं च, अन्यैरिति जैनव्यतिरिक्ततार्थिकविशेषैः परिकीर्त्यते संशब्द्यते इति ॥१॥

तत्र द्रव्यस्नानप्रतिपादनायाऽऽह–

जलेन देहदेशस्य, क्षणं यच्छुद्धिकारणम्।
प्रायोऽन्यानुपरोधेन, द्रव्यस्नानं तदुच्यते ॥२॥

जलेनाम्भसा न भस्माऽऽदिभिः, तैर्हि द्रव्यस्नानमपि न भवति, मलाऽऽद्यपनयनासमर्थत्वात्तेषाम्, ''गन्धलेपापहं शौचम्'' इति स्नानलक्षणाच्च, देहदेशस्येति शरीरत्वग्लक्षणावयवस्य। इह च देहग्रहणेन स चेलस्नानेन देवार्चनं कार्यमिति मतमपाकृतम्, जलार्द्रवस्त्राणां स्नानतयाऽप्रतीतेः।

देशस्येत्यनेन तु ये मन्यन्ते–

''एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश।
उभयोः सप्त विज्ञेयाः,मृदः शुद्धौ मनीषिभिः ॥१॥
एतच्छौचं गृहस्थानां, द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं वानप्रस्थानां, यतीनां च चतुर्गुणम् ॥२॥'' इति।

ते उपहसिता भवन्ति। न हि तैरेवं शौचं प्रति प्रयत्नवद्भिरपि लिङ्गगुदाऽऽद्यन्तर्भागस्य शौचं कर्तुं शक्यं, किं तु त्वङ् मात्रस्यैव, न च कर्णनासाऽऽदीनामेवं शौचं तैर्विधीयते, न चैतान्यशुचीनि न भवन्तीति, क्षणं मुहूर्तं यावन्न प्रभूतकालं, यदिति स्नानं, शुद्धिकारणं मलविलयहेतु, प्रायो बाहुल्येन, प्रायोग्रहणात्तथाविधरोगग्रस्तस्य क्षणमपि शुद्धिकारणं न भवतीति दर्शितम्। कुतःपुनः क्षणमेव शुद्धिकारणम्? इत्यत आह–अन्यस्य प्रक्षालितमलापेक्षयाऽपरस्य मलस्याऽनुपरोधोऽनिरोधोऽप्रतिषेधोऽन्यानुपरोधः, तेनान्यानुपरोधेन हेतुना, न हि स्नानं मलाऽऽश्रयस्वभावत्वाच्छरीरस्य मलान्तरमुपरोद्धुं शक्नोतीति तदित्येवंविधं स्नानम्, किमित्यत आह–द्रव्याण्युक्तलक्षणानि नीराऽऽदीन्याश्रित्य स्नानं द्रव्यभूतं वा स्नानं द्रव्यस्नानमुच्य–

तेऽभिधीयते, स्नानलक्षणविद्धिः । अन्ये तु प्रायोऽन्यानुपरोधेने-त्येतदित्थं व्याचक्षते-प्रायो बाहुल्येनान्येषां जलस्वरूपातिरिक्तानां प्राणिनामनुपरोधोऽव्यापादनं प्रायोऽन्यानुपरोधः, तेनेति ॥२॥

अथैतस्यैव कर्तृवशात् प्रधानाऽप्रधानतां दर्शयन्नाह-

कृत्वेदं यो विधानेन, देवताऽतिथिपूजनम् ।
करोति मलिनाऽऽरम्भी, तस्यैतदपि शोभनम् ॥३॥

कृत्वा विधाय, इदमनन्तरोदितं द्रव्यस्नानं, य इति तदधिकारवान् धार्मिकः, विधानेन धार्मिकजनोचितस्नानविधिना ''भूमीपे-हणजलछाणणाइ जयणा उ होइ ण्हाणाओ ।'' इत्येवंरूपेण, ततः किमित्याह-देवताऽनन्तरविवेचितस्वरूपमहादेवलक्षणा, अतति सततमप्रतिबद्धविहारितया गच्छतीत्यतिथिः, अविद्यमाना वा तिथिः, उपलक्षणत्वादुत्सवाऽऽदयश्च यस्येत्यतिथिः सन्मार्गनिरतो यतिः । उक्तं च-''तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे,त्यक्ता येन महात्मना । अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः'' ॥१॥ इति । तयोः पूजनमुचित-सत्कारकरणं देवताऽतिथिपूजनं, तत्करोति विधत्ते । द्वितीयव्याख्यान-पक्षे तु-विधानेन देवताऽतिपूजनं करोतीत्येवं सम्बन्धः कार्यः । कोऽसावित्याह-मलिनोऽवद्यमलयुक्त आरम्भो व्यापारो मलिनाऽऽ-रम्भः, सोऽस्यास्तीति मलिनारम्भी, सावद्ययोगाऽऽद्यनिवृत्तो गृहस्थ इत्यर्थः । कुतीर्थिकशिक्षणाभिप्रायप्रवणं चेदं विशेषणं, तच्छिक्षणं चैवम्-हे कुतीर्थिकाः ! यदि यूयं मलिनाऽऽरम्भिणस्तदा युष्माकमिदं द्रव्यस्नानं कर्तुमुचितं, नान्यथा । यथा ह्यस्य विशुद्धभावहेतुत्वेन प्रशस्यता, स च विशुद्धो भावो निर्मलाऽऽरम्भाणां सदैवास्तीति किमेतेनेति? तस्येति देवताऽतिथिपूजनकर्तुर्मलिनाऽऽरम्भिणः, एतदपीति न केवलं वक्ष्यमाणस्वरूपं भावस्नानं शुभपरिणामरूपत्वाच्छोभनमेतदपि द्रव्यस्नानमपि शोभनं साधु; सत्यपि सावद्यत्वे प्रायोमददर्पाऽऽदिहेतुत्वे च शुभभावहेतुत्वात् तस्येति विशेषणात्तदन्यस्य त्वशोभनमेव तदिति सिद्धं भावशुद्धिनिमित्तत्वादिति ॥३॥

शोभनमिदमित्युक्तं तत्समर्थनार्थमाह-

भावशुद्धिनिमित्तत्वात्तथाऽनुभवसिद्धितः।
कथञ्चिद्दोषभावेऽपि, तदन्यगुणभावतः ॥४॥

भावोऽध्यवसायः, तच्छुद्धिर्निर्मलता, तस्या निमित्तं कारणं, तस्य भावो भावशुद्धिनिमित्तत्वं, तस्मादेतदपि शोभनमिति प्रकृतम् । न चास्य भावशुद्धिहेतुत्वमसिद्धमित्याह-तथा तेनैव प्रकारेण भावशुद्धिनिमित्त-तयैव योऽनुभवः संभवेदनन्तरस्य या सिद्धिः प्रतीतिः सा तथाऽनुभव-सिद्धिः, तस्यास्तथाऽनुभवसिद्धितः। अथ द्रव्यस्नानं भावशुद्धिनिमि-त्तमपि सदकायिकायिकाऽऽदिजीवहिंसादोषदूषितत्वादशोभनमेवेत्या-शङ्क्याऽऽह-कथञ्चित् केनापि प्रकारेणाप्कायिकाऽऽदिविराधना-लक्षणेन, दोषभावेऽपि हिंसालक्षणावद्यसद्भावेऽपि, न केवलं दोषाभावे इत्यपिशब्दार्थः । तस्माद्धिंसाऽऽदिदोषाद्योऽन्यो गुणः सम्यग्दर्शनशुद्धि-लक्षणः, स तदन्यगुणस्तस्य भावो लाभस्तदन्यगुणभावः, तस्मा-त्तदन्यगुणभावतः । आह च- ''पूयाए कायवहो, पडिकुट्ठो सो उ किं तु जिणपूआ । सम्मत्तसुद्धिहेउ त्ति भावणीया उ णिरवज्जा'' ॥१॥ यत्स्नानं पूजार्थं तत्पूजाऽङ्गत्वात्तद्व्यपदेशमर्हतीति । इह च हेतुप्रयोग एवम्-द्रव्यस्नानमपि शोभनं, भावशुद्धिनिमित्तत्वात्, यद्यद्भावशुद्धिनिमित्तं तत्तच्छोभनम्, यथा चैत्यवन्दनम्, भावशुद्धिनिमित्तं च द्रव्यस्नानं, तस्माच्छोभनमिति । अथायम-सिद्धो हेतुरित्यत्रोच्यते-यद्यथाऽनुभूयते तत्तथा प्रतिपत्तव्यम्, यथा विचित्रं सुखाऽऽदिसंवेदनम्, अनुभूयते च भावशुद्धिनिमित्ततया द्रव्यस्नानं, तस्माद्भावशुद्धिनिमित्तं तदिति । अथ कथञ्चित् सदो-षत्वात्कथं शोभनत्वमस्य? इत्यत्रोच्यते-यद्यद्विशिष्टतरगुणान्त-रोत्पत्तिहेतुस्तत्तद्दोषसद्भावेऽपि शोभनम्, यथा श्रमपङ्काऽऽदिदोषोपेतमपि तृड्विच्छेदाऽऽदिविशिष्टतरगुणहेतुकूपखननम्, विशिष्टसम्यग्दर्शनशुद्ध्यादिगुणहेतुश्च द्रव्यस्नानमिति ॥४॥

यदि भावशुद्धिनिमित्तत्वाच्छोभनं द्रव्यस्नानं, तर्हि करोति मलि-नाऽऽरम्भीति कस्मादभिहितम्? मलिनाऽऽरम्भणोऽपि तथैव तस्य शोभनत्वादित्याशङ्क्याऽऽह-

अधिकारिवशाच्छास्त्रे, धर्मसाधनसंस्थितिः ।
व्याधिप्रतिक्रिया तुल्या, विज्ञेया गुणदोषयोः ॥५॥

अधिकारोऽस्यास्तीत्यधिकारी योग्यानुष्ठाता, तस्य वशोऽपेक्षा-धिकारी वशस्तस्मात्, न यथाकथञ्चिदित्यर्थः। शास्त्रे सुनिश्चिता-ऽऽप्ताऽऽगमे, धर्मसाधनयोः प्रस्तुतयोर्द्रव्यस्नानभावस्नानलक्ष-णयोः, संस्थितिः सम्यग् व्यवस्था धर्मसाधनसंस्थितिः। किंरूपे-यमित्याह-व्याधिप्रतिक्रिया तुल्या रोगचिकित्साव्यवस्था समाना, विज्ञेया सद्गुरूपदेशादर्थिभिरवसेया । कयोर्विषया? इत्याह-गुणदोषयोः, गुणदोषावाश्रित्येत्यर्थः । इयमत्र भावना-यथाऽऽतुरवशाद् व्याधि-चिकित्सा गुणकरी, दोषकरी च, तथा मलिनाऽऽरम्भीतरलक्षणानुष्ठातृव-शाद् द्रव्येतरस्नानरूपे धर्मसाधने गुणदोषकरे, द्रव्यस्नानं मलिनाऽऽरम्भिण एव गुणकरं, नेतरस्येति हृदयम् । यतो मलिनाऽऽरम्भी देवतोद्देशेन स्नानाऽऽदावधिकारी, न त्वितरः। केचित्पुनर्वदन्ति-मलिनाऽऽरम्भ्यपि नेहाधिकारी, यस्माद् वक्ष्यति अयमेव ग्रन्थकारः-''धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्याऽनीहा गरीयसी । प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूराद-स्पर्शनं वरम्'' ॥१॥ इति । अनेन धर्मार्थं सावद्यप्रवृत्तिर्निषिद्धा, तथा शुद्धाऽऽगमैर्यथालाभमिति वक्ष्यति, अनेन च पुष्पत्रोटनाभावो देवसंबन्ध्यारामाभावश्च दर्शित इति । न चायं सम्यगुल्लापः, यतः स्नानं विधेयतया देवार्चनार्थमुपदिष्टमेव । यदाह-''तत्थ सुइणा दुहा वि हु, दव्वे ण्हाएण सुद्धवत्थेण ।'' इति । अथ प्रासङ्गिकः स्नानापेक्षोऽयमुपदेशो, न तु देवतोद्देशिकः। एतदपि न सङ्गतम् । एवं हि यदा कदाचित्स्नातो भवेत् तदा देवार्चनं कुर्यादित्युपदिष्टं स्यात्, न नित्यकृत्यतया । नित्यकृत्यं चैतत् । आह च-''वंदति चेइयाइं, तिक्कालं पूइउण विहिणा उ ।'' इति । यच्चोक्तम्-धर्मार्थमित्यादिना धर्मार्था सावद्यप्रवृत्तिर्निषिद्धा, तत् सत्यं, केवलं स निषेधः सर्वविरतापेक्षया,तदधिकारेऽस्य श्लोकस्याधिकृतत्वात् । गृहस्थापेक्षया तु सावद्यप्रवृत्तिविशेषोऽनुज्ञात एव । यदाह- ''दव्वत्थएँ कूवदिट्ठंतो ।'' इति । तथा वाणिज्याऽऽदि-सावद्यप्रवृत्तिरपि काचित् कस्यचिन्न दुष्टा, विषयविशेषप्रक्षयात्तद्रूपत्वेन पापक्षयगुणबीजलाभ-हेतुत्वात्, यथा संकाशस्य, संकाशश्रावको हि प्रमादाद्भक्षितचैत्यद्रव्यो निबद्धलाभान्तरायाऽऽदिविलिष्टकर्मा चिरं पर्यटितदुरन्तसंसारकान्तारोऽ-नन्तकालाल्लब्धमनुष्यभवो दुर्गतनरशिरः शेखररूपः पारगतसमी-

पोपलब्धस्वकीयपूर्वभववृत्तान्तः पारगतोपदेशतो दुर्गतत्वनिबन्धनकर्मक्षपणाय, ''पदहमुपार्जयिष्यामि द्रव्यं तद् ग्रासाऽऽच्छादनवर्ज जिनाऽऽयतनाऽऽदिषु नियोक्ष्ये,'' इत्यभिग्रहं गृहीतवान्, कालेन च निर्वाणमवाप्तवानिति। अथ युक्तं संकाशस्यैतत्, तथैव तत्कर्मक्षयोपपत्तेः, न पुनरन्यस्य। नैवम्। सर्वथैवाशुभस्वरूपव्यापारस्य विशिष्टनिर्जराकारणत्वायोगादिति। यत्तु–''शुद्धाऽऽगमैर्यथालाभम्'' इत्यादि। तत्र स्वयं पुष्पत्रोटननिषेधनपरं, किं तु पूजाकालोपस्थिते मालिके दर्शनप्रभावनाहेतोर्वणिक्कला न प्रयोक्तव्येत्यस्यार्थस्य ख्यापनपरम्, इतरथा–''सुच्चइ दुग्गयनारी, जगगुरुणो सिंदुवारकुसुमेहिं। पूयापणिहाणेणं, उववन्ना तियसलोगम्मि ॥१॥'' (पञ्चा०) न हि तया यथालाभं, न्यायोपात्तवित्तेन वा तानिं गृहीतानीति। तथा चैत्यसम्बन्धितया ग्रामाऽऽदीनां प्रति–पादनान्नाऽऽरामाऽऽद्यभावः प्रोक्तः।

यदाहः–

''चोएइ चेइयाणं, रुप्पसुवन्नाइ गामगावाइ।
लग्गंतस्स हु मुणिणो, तिकरणसुद्धी कहं नु भवे? ॥१॥
भन्नइ एत्थ विभासा, जा एयाइं सयं वि मग्गेज्जा।
न हु तस्स हुज्ज सुद्धी, अह कोइ हरेज्ज एयाइं ॥२॥
सव्वत्थामेण तहिं, संघेणं होइ लग्गियव्वं तु।
सचरित्तीणं एयं, सव्वेसिं होइ कज्जं तु ॥३॥''

तदेवं मलिनाऽऽरम्भिणो धर्मार्थं स्नानाऽऽदिकमविरुद्धमिति स्थितम्। ननु यतिरत्र कस्मान्नाधिकारी, यतः कर्मलक्षणो व्याधिरेको द्वयोरपि यतिगृहस्थयोरतस्तच्चिकित्साऽपि पूजाऽऽदिल–क्षणा समैव भवति, ततो यद्येकस्याधिकारः, कथं नापरस्य? अथ ''स्नानमुद्वर्त्तनाऽभ्यङ्गं, नखकेशाऽऽदिसंस्क्रियाम्। गन्धमाल्यं च धूपं च, त्यजन्ति ब्रह्मचारिणः'' ॥१॥ इति वचनाद् यतेः स्नाने, तत्पूर्वकत्वाद्देवार्चनस्य तस्मिंश्च, नाधिकारः, नैवम्, भूषार्थस्यैव तस्य निषेधात्। अथ सावद्यनिवृत्तोऽसाविति तत्र नाधिकारी। ननु यदि यतिः सावद्यान्निवृत्तस्ततः को दोषः, यत्स्नानं कृत्वा देवताऽर्चनं न करोति? यदि स्नानपूर्वकदेवताऽर्जने सावद्ययोगः स्यात्, तदाऽसौ गृहस्थस्याऽपि तुल्य इति, तेनापि न कर्त्तव्यं स्यात्। अथ गृहस्थः कुटुम्बाऽऽद्यर्थेऽपि सावद्ये प्रवृत्तः, तेन तत्रापि प्रवर्तताम्, यतिस्तु तत्राप्रवृत्तत्वात्कथं स्नानाऽऽदौ प्रवर्तत इति? ननु यद्यपि कुटुम्बाऽऽद्यर्थं गृही सावद्ये प्रवर्तते, तथाऽपि तेन धर्मार्थं तत्र न प्रवर्तितव्यं स्यात्, यतो नैकं पापमाचरितमित्यन्यदप्याचरितव्यं स्यात्। अथ कूपोदाहरणात् पूजाऽऽदिजनितमारम्भदोषं विशोध्य गृही गुणान्तरमासादयतीति युक्तं गृहिणः स्नानपूजाऽऽदि। ननु यथा गृहिणां कूपोदाहरणात्स्नानाऽऽदि युक्तम्, एवं यतेरपि तद् युक्तमेव। एवं च कथं स्नानाऽऽदौ यतिर्नाधिकारीति पूर्वपक्षः?

अत्रोच्यते–यतयो हि सर्वथा सावद्यव्यापारान्निवृत्ताः, ततश्च कूपोदाहरणेनाऽपि तत्र प्रवर्तमानानां तेषामवद्यमेव चित्ते स्फुरति, न धर्मः, तत्र सदैव शुभध्यानाऽऽदिभिः प्रवृत्तत्वात्। गृहस्थास्तु सावद्ये स्वभावतः सततमेव प्रवृत्ताः, न पुनर्जिनार्चनाऽऽदिद्वारेण स्वपरोपकाराऽऽत्मके धर्मे, तेन तेषां तत्र प्रवर्तमानानां स एव चित्ते लगति, न पुनरवद्यमिति कर्तृपरिणामवशादधिकारेतरौ मन्तव्या–विति। स्नानाऽऽदौ गृहस्थ एवाधिकारी, न यतिरिति। आगमो–ऽप्येवं व्यवस्थितः।

यदाह–

''छज्जीवकायसंजमो, दव्वत्थएँ सो विरुज्झए कसिणो।
तो कसिणो संजमविउ, पुप्फाईयं न इच्छंति ॥१॥
अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो।
संसारपयणुकरणे, दव्वत्थएँ कूवदिट्ठंतो ॥२॥''

तथा द्रव्यस्तवरूपत्वात् पूजायाः, तस्य च भावस्तवहेतुत्वात् प्रधानत्वाच्च यतीनां न द्रव्यस्तवेऽधिकारः। अत एव सामायिकस्थः श्रावकोऽप्यनधिकारी, तस्याऽपि सावद्यनिवृत्ततया भावस्त–वाऽऽरूढत्वेन श्रमणकल्पत्वात्। अत एव गृहिणोऽपि प्रकृत्या पृथिव्याद्युपमर्दनभीरोर्यतनावतः सावद्ये संक्षेपरुचेर्यतिक्रियाऽनुरागिणो न धर्मार्थं सावद्याऽऽरम्भप्रवृत्तिर्युक्ता। यदाह–''असदारंभपवत्तो, जं च गिही तेण तेसि विन्नेया। तन्निव्वित्तिफल च्चिय, एसा परिभा–वणीयमिणं ॥१॥'' न चायमनन्तरोदितोऽसदारम्भप्रवृत्तः, तत्कथं तस्य तन्निवृत्तिफलत्वेन स्नानाऽऽदौ सावद्याऽऽरम्भप्रवृत्तिर्युक्ता, अतः स्थितमिदं न सर्व एव सर्वत्राधिकारी, किं तु य एवैत्राधिकारी, स एवान्यत्रानधिकारीति ॥५॥

अथ भावस्नानप्रतिपादनायाऽऽह–

ध्यानाम्भसा तु जीवस्य, सदा यच्छुद्धिकारणम्।
मलं कर्म समाश्रित्य, भावस्नानं तदुच्यते ॥६॥

ध्यानं शुभचित्तैकाग्रतालक्षणं धर्माऽऽदि, तदेवाम्भो जलं, तद् ध्यानाम्भस्तेन, तुशब्दः पुनरर्थः, यत् स्नानं शुद्धिकारणं निर्मलत्वहेतुः, तद्भावस्नानमुच्यते इति सम्बन्धः प्रक्षालनीयप्रदर्शनायाऽऽहमलं मालिन्यनिबन्धनं, कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिलक्षणं, समाश्रित्याऽङ्गीकृत्य, भावान् ध्यानाऽऽदीनाश्रित्य भावतो वा परमार्थतः स्नानं भावस्नानं, तदित्येवंभूतमुच्यते तत्स्वरूपविद्भिरभिधीयत इति ॥६॥

अस्यैव कारकभेदेनोत्तमस्वरूपतामाह–

ऋषीणामुत्तमं ह्येतन्निर्दिष्टं परमर्षिभिः।
हिंसादोषनिवृत्तानां, व्रतशीलविवर्द्धनम् ॥७॥

पश्यन्ति यथावद् वस्त्विपि ऋषयो मुनयस्तेषां, हिशब्दोऽवधारणार्थः, तेन ऋषीणामेवोत्तमं प्रधानमेतद्भावस्नानं निर्दिष्टं प्रतिपादितं, परमीर्षिभिर्मुनिपुङ्गवैः, सर्वज्ञैरित्यर्थः। ऋषीणामुत्तममिति विशेषणसामर्थ्यादन्येषां त्वनुत्तममेव तदिति सिद्धं तेषाम्, विशिष्टधर्मध्यानाभावादिति। अथवा–ऋषीणामुत्तममेतदेवेत्येवमव–धारणं दृश्यम्। ततश्चोत्तमत्वात्तदेव तेषां विधेयम्। ननु देवार्चनार्थं द्रव्यस्नानमपि, किंभूतानामृषीणामित्याह–हिंसा प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं, सैव दोषो दूषणं हिंसादोषः, ततो निवृत्ता उपरता ये ते तथा, तेषां हिंसादोषनिवृत्तानाम्, न तु ऋषय एवंविधा एव भवन्तीति विशेषणेमिदमनर्थकम्, नैवम्, हेतुतया सोपन्यासात्। ततश्च ऋषीणामुत्तममिदे हिंसादोषनिवृत्तत्वादिति वाक्यार्थः स्यात्। किंभूतमिदमित्याह–व्रतानि महाव्रतानि, शीलं च समाधिः, अथवा–व्रतानि मूलगुणाः, शीलमुत्तरगुणाः, तेषां विशेषेण वर्द्धनं वृद्धिकारणं व्रतशीलविवर्द्धनं, भावस्नानं हि धर्मशुक्लध्यानरूपं, तच्चैतद्विवर्धनं भवत्येवेति ॥७॥

उपसंहरन्नाह–

स्नात्वाऽनेन यथायोगं, निःशेषमलवर्जितः।
भूयो न लिप्यते तेन, स्नातकः परमार्थतः ॥८॥

स्नात्वा शौचं विधाय, अनेन भावहेतुद्रव्यस्नानेन, भावस्नाने–

न च यथायोगं यथासंबन्धं द्रव्यस्नानेन मलिनाऽऽरम्भी, भावस्ना–नेन चेतरः निःशेषमलवर्जितः, पारम्पर्येण साक्षाच्च सकलकर्ममल–मुक्तो भवतीति शेषः। शेषकरणं विना एककर्तृकत्वाभावात् क्त्वा–प्रत्ययो। न स्यादिति, शेषः–कृत इति। एवंभूतश्च सन् भूयः पुनरपि, न लिप्यते नोपदिह्यते, तेन कर्ममलेन, एवं च स्नातकः स्नातः, परमार्थतो वस्तुवृत्त्या भवति, स्नानान्तरस्नातस्तु परमार्थस्नातो न भवति, विवक्षितमल-विगमाभावात्, पुनर्मलोपलेपनाच्चेति ततो हे कुतीर्थिकाः ! यदि यूयमक्षेपेण परमार्थतः पारमार्थिकस्नातका भवितुमिच्छथ, तदा भावस्नानेनैव स्नात, मा द्रव्यस्नानेन मलिनाऽऽरम्भाणामेव तस्योक्त-त्वादिति हृदयम्। अथ चैवं व्याख्यास्नात्वा अनेनेत्यनन्तरोक्तभाव-स्नानेन, यथायोग यथायुक्ति, निःशेषमलवर्जितः सन् भूयो न लिप्यते, तेन, कोऽसावित्याह–स्नातकः परमार्थतः पारमार्थिकस्नातक इत्यर्थः। इह च क्त्वाप्रत्ययो रूढिवशादिति ॥८॥ अष्ट०२ अष्ट०। वर्षातः प्रतिनियत–दिवसभाविनि भगवत्प्रतिमायाः स्नाने पर्वविशेषे, बृ०१उ०।

ण्हाणमल्लिया स्त्री०(स्नानमल्लिका) स्नानयोग्ये मल्लिकाविशेषे, जी०३ प्रति०। जं०।

ण्हारु न०(स्नायु) अस्थिबन्धनशिरायाम्, तं०। आचा०।

ण्हाविअ पुं०(नापित) ''निम्बनापिते लण्हं वा'' ॥८।१।२३०॥ इति नस्य ण्हः। 'ण्हाविओ,' 'नाविओ'। क्षुरोपजीविनि,प्रा० १पाद।

ण्हाविअपसेवय पुं०(नापितप्रसेवक) नखशोधकक्षुराऽऽदिभाजने, उत्त०२ अ०।

ण्हुसा स्त्री०(स्नुषा) पुत्रवध्वाम्, ''आणंदपुरे महओ, ण्हुसाए समं संवासं काऊण।''आ०म०१ अ०२खण्ड।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु–श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'

ण (न) काराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

तकार

त पुं०(त) 'तक' हसने, सहने वा डप्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपः। चौरे, अमृते, पुच्छे, क्रोडे, म्लेच्छे, रत्ने, सृगालपुच्छे च। तरुणे, पुण्ये, स्त्री०। न०। वाच०। ''तकारः पुंसि संभोगे, निश्चये वि स्तरे समे। (४१) धातुवादे विधौ क्रोधे, ता कृपायां स्त्रियां मता॥'' माधव०– एका०। ''तः प्रेते निष्फले शान्ते, पौनः पुन्ये चये च तः।'' इति विश्वदेव०–एक०। तच्छब्दनिर्देशे, नि०चू०। यथा–''से गामंसि वा'' इत्यादि। नि० चू० २० उ०।

तअण्णवत्थुअ पुं०(तदन्यवस्तुक) 'तयण्णवत्थुअ' शब्दार्थे, स्था०४ ठा०३उ०।

तआणिं अव्य०(तदानीम्) तस्मिन् काले तदानीम्। **''पानीयाऽऽ–दिष्वित्॥८।१।१०१॥** इति इकारस्येत्। प्रा०१ पाद। तदेत्यर्थे, वाच०।

तइय त्रि०(तृतीय) त्रयाणां पूरणः। त्रि–तीयः–संप्रसारणम्। वाच०। **''पानीयाऽऽदिष्वित्''॥८।१।१०१॥** इतीकारस्येकारः। प्रा०१ पाद। त्रयाणां पूरणे, येन त्रित्वसंख्या पूर्यते तस्मिन् पदार्थे, वाच०। आ०म०। नि०चू०।

तइयंग न०(तृतीयाङ्ग) स्थानाङ्गे, प्रति०।

तइया स्त्री०(तृतीया) चन्द्रमण्डलस्य तृतीयाकलायाः सूर्यमण्ड–लप्रवेशनिर्गमान्यतररूपाक्रियाऽऽत्मिकायां तिथौ, वाच०। स्वनाम–ख्यातायां विभक्तौ, ''विवक्षितक्रियासाधकतमं करणं, तस्मिंस्तृतीया। अनु०। ''तइया करणम्मि कया, भणियं च कयं च तेण व मए वा।'' तृतीया करणे, क्व? यथेत्याह–भणितं वा कृतं वा, केनेत्याह–तेन वा मया वेति। अत्र यद्यपि कर्तरि तृतीया प्रतीयते, तथाऽपि विवक्षाऽधी–नत्वात् कारकप्रवृत्तेः, तेन मया वा कृत्वा भणितं कृतं वा, देवदत्तेनेति गम्यत इति। एवं करणविवक्षाऽपि न दुःष्यतीति लक्षयामः। तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्तीति। अनु०।

तइलपत्तिधारगणायग त्रि०(तैलपात्रीधारकज्ञातग) तैलपात्री–धारकस्य तद्रूपं वा यद् ज्ञातमुदाहरणं तद्गतः प्राप्तोऽपायावगम–जनिताप्रमत्तातिरेकसाधर्म्याद्यः स तथा। तैलपात्रीधारकवदप्रमत्ते, पञ्चा० १४ विव०।

तइस त्रि०(तादृश) तस्येव दर्शनमस्य। वाच०। **''अतां डइसः''॥८।४।४०३॥** इति अपभ्रंशे तादृशशब्दस्य दादेरवपवस्य डित्संज्ञकः 'अइस' इत्यादेशः। प्रा०४ पाद। तथाविधेऽर्थे, वाच०।

तउ न०(त्रपु) अग्निं दृष्ट्वा त्रपते लज्जते इव लज्जया द्रवीभवतीति वा। सोसके वङ्गे, वाच०। प्रश्न०५ सम्ब० द्वार। स०।उत्त०। तप्तत्रपु पाय्यन्ते, पाय्यमाना आर्ततरं रारटन्ति। सूत्र०१ श्रु०५ अ०२उ०। 'त्रपुक' शब्दोऽप्यत्र। प्रश्न ५ संव० द्वार। सूत्र०। प्रज्ञा०। औ०।

***त्वत्** तव पञ्च० प०। **''ङसिङस्म्यां तउ–तुज्झ–तुघ''॥८।४।३७२॥** अपभ्रंशे युष्मदो ङसिङसो रूपे। प्रा०४ पाद।

तउआगर पुं०(त्रपुकाकर) यत्र त्रपुकं ध्यायते। त्रपुकध्मापनस्थाने, स्था०८ ठा०। नि०चू०।

तउस न०(त्रपुष) त्रपतेः क्विप्। त्रप्–उष दाहे, क–क०। कर्कटीवक्षे गौराऽऽदित्वात् ङीष्। 'खीरा' इतिख्याते वृक्षे, वाच०। वल्लीविशेषे, आचा०१ श्रु०१ अ०५ उ०। व्य०। प्रज्ञा०। पत्राणि एतेषामेकजीवाधिष्ठा–नानि, पुष्पाण्यनेकजीवाऽऽत्मकानि। प्रज्ञा० १ पद।

तउसमिंजिया स्त्री०(त्रपुषमिञ्जिका) त्रीन्द्रियजीवविशेषे, जी०१ प्रति०।

तए अव्य०(ततस्) तस्मादित्यर्थे, उत्त० १अ०।

तओ अव्य०(ततस्) शौरसेनीमागधीविषये एव दः, प्राकृते तु न दः। प्रा० १पाद। तस्मादित्यर्थे, वाच०।

तं अव्य०(तत्) बहुलाधिकारादन्यस्यापि व्यञ्जनस्य मकारः। **''मोऽनुस्वारः''॥८।१।२३॥** इति मकारस्यानुस्वारः। प्रा०१ पाद। **''तं वाक्योपन्यासे''॥८।२।१७६॥** तं इति वाक्योपन्यासे प्रयोक्तव्यम्। ''तं तिअसबंदिमोक्खं।' प्रा०२ पाद। तस्मादित्यर्थे, भ० १५ श०। विपा०। तदितिनिर्देशे, आव०४ अ०। प्रक्रान्तपरामर्शिनि, त्रि०। आचा०१ श्रु०२ अ०२उ०। अनु०। ''तं जहा–सासमसाओ तिविहा पण्णत्ता। तं जहा–जाणिया, अजाणिया, दुव्विअढा जाणिया।'' तद्यथेत्युदाहरणोपदर्शनार्थे, नं०। आचा०। अनु०। स्था०। तद्यथेति वाक्योपन्यासार्थे, आचा०१ श्रु० ५ अ०५उ०। आव०। सूत्र०।

तंट (देशी) पृष्ठे, दे०ना० ५ वर्ग १ गाथा।

तंड (देशी) कविकालालके, शिरोविहीने, स्वराधिके च। दे०ना० ५ वर्ग १६ गाथा।

तंडव न०(ताण्डव) नृत्ये, जी०३ प्रति०४ उ०। ''अप्पेगइया तंडवेंति''। आ०म०१अ०१ खण्ड। ताण्डवरूपं नृत्यं कुर्वति, रा०।

तंडुल पुं०(तण्डुल) तडि–डलच्। धान्याऽऽदिसारे, निस्तुषे धान्याऽऽदौ, तण्डुलीयशाके च। विडङ्गे, पुं०। स्त्री०। टाप्। वाच०। ध०। आ०म०। वृक्षविशेषे, 'टीवरू' इति गुर्जरभाषा। स०। ''आसीय पाणिधंसी, तिम्मि–यतंडुलपवालपुमभोई।'' तण्डुलशब्देन औषध्य उच्यन्ते। आव०१ अ०।

तंत न०(तन्त्र) आ०म०१अ०१ खण्ड। शास्त्रे, पञ्चा०६ विव०। आ०चू०। आ०म०। विद्यायाम्, स्था०८ ठा०।सिद्धान्ते, पं०व०४ द्वार। षष्ठ्यां स्त्रीकलायाम्, कल्प०७ क्षण। ''सुत्तं भणियं तंतं, भणिज्जए तम्मि व जमत्थो।''''तनु' विस्तारे तन्यते विस्तार्यते यद्यस्मादनेनास्मादस्मिन् वार्थ इति तन्त्रम्। अथवा तन्यते विशिष्टरचनया तदेव विस्तार्यते इति तन्त्रं सूत्रमेवोच्यते। विशे०।

***तान्त** त्रि० कायेन खेदवति, ज्ञा०१ श्रु० ८ अ०। ''संता तंता परितंता।'' खेदवाचका एते। नि०१ श्रु० १ वर्ग १ अ०।

तंतंतर न०(तन्त्रान्तर) दर्शनान्तरे, पञ्चा० १० विव०।

तंतजुत्ति स्त्री०(तन्त्रयुक्ति) आगमाऽऽश्रितोपपत्तौ, पञ्चा०४ विव०। शास्त्रीयोपयुक्तौ, पञ्चा०६ विव०।

तंतडी (देशी) करम्बे, दे०ना०५ वर्ग ४ गाथा।

तंतय त्रि०(तन्त्रज) तन्त्रं वेमविलेख्यन्यञ्छनिकाऽऽदि, तस्माज्जातं तन्त्रजम्। वस्त्रे, कम्बले च। उत्त०२ अ०।

तंतव पुं०(तन्तव) चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा०१ पद।

तंताणुसार पुं०(तन्त्रानुसार) शास्त्रानुसारे, षो० १२ विव०।

तंतिय त्रि०(तान्त्रिक) तन्त्रीवादनं शिल्पमस्येति तान्त्रिकः। तन्त्रीवादनशिल्पोपजीविनि, अनु०।

तंती स्त्री०(तन्त्री) वीणायाम्, जी०३ प्रति०४ उ०। आ० म०। कल्प०। आचा०। औ०। रा०। जं०। सू०प्र०। 'तंती' तान्यो भण्यन्ते। अनु०। वीणाविशेषे, प्रश्न०५ सम्व० द्वार। ''तंतीतलतालतुमिय।'' तन्त्री वीणा, तलतालो हस्ततालः, तालः कंसिका,त्रुटितानि वादित्राणि। जी०३ प्रति०४ उ०। ''तंतीतलतालगीयवाइयरवेणं।'' तन्त्री वीणा, तला हस्ततालाः, कंसिकास्तलताला वा हस्ततालाः, गीतवादिते प्रतीते, तेषां यो रवः स तथा तेन। भ०६ श० ३३ उ०। गुडूच्याम्, देहशिरायाम्, रज्ज्वाम्, नदीभेदे, युवतीभेदे च। वाच०।

तंतीसम त्रि०(तन्त्रीसम) वीणाऽऽदितन्त्रीशब्देन तुल्ये, स्था०७ ठा०।

तंतु पुं०(तन्तु) तन्यते भवोऽनेनेति तन्तुः। भवतृष्णायाम्, उत्त २३ अ०। तुरीवेमाऽऽदौ, भ० ६ श०३उ०।

तंतुक्खोडी (देशी) वायकतन्त्रोपकरणे, दे०ना०५ वर्ग ७ गाथा।

तंतुगय त्रि०(तन्तुगत) तन्तोस्तुरीवेमाऽऽदेरपनीतमात्रे, भ०६ श०३उ०।

तंतुग्गय त्रि०(तन्त्रोद्गत) तुरीवेमाऽऽदेरुत्तीर्णे, भ०८ श०३उ०।

तंतुय त्रि०(तन्तुज) तन्तुभ्यो जातं तन्तुजम, वस्त्रे, कम्बले च। उत्त०२अ०।

तंतुवम पुं०(तन्तुवट) गन्धप्रधानवनस्पतिविशेषे, ल०प्र०।

तंतुवाय पुं०(तन्तुवाय) कुविन्दे, प्रव०२ द्वार। आ०म०। कल्प०। प्रज्ञा०। अनु०।

तंतुवायसाला स्त्री०(तन्तुवायशाला) कुविन्दशालायाम्, भ० १५ श०।

तंतोयार पुं०(तन्त्रावतार) तन्त्रे आगमे अवतारः प्रवेशः। आगमप्रवेशे, ध० १अधि०।

तंदुगुज्जाण न०(तन्दुकोद्यान) श्रावस्त्यां नगर्यां बहिरुद्याने, यत्र कोष्ठकं चैत्यम्। आ०चू० १अ०।

तंदुल पुं०(तन्दुल) धान्ये, तन्दुलवाहान् भुनक्ति। तं०।

तंदुलच्छिण्णग त्रि०(तन्दुलच्छिन्नक) तन्दुलप्रमाणखण्डैः खण्डिते, औ०।

तंदुलपिट्ठ न०(तन्दुलपिष्ट) अमाशस्त्रोपहततन्दुलकुक्कुशे, नि० चू०४ उ०।

तंदुलमच्छ पुं०(तन्दुलमत्स्य) मत्स्यभेदे, जी०१ प्रति०। प्रज्ञा०।

तंदुलवेयालिय न०(तन्दुलवैचारिक) तन्दुलानां वर्षशताऽऽयुष्कपुरुषप्रतिदिनभोग्यानां सङ्ख्याविचारेणोपलक्षितं तन्दुलवैचारिकम्। श्रीवीरहस्तदीक्षितमुनिविरचिते नन्दीसूत्रोक्तग्रन्थविशेषे, तं०।

निज्जरियजरामरणं, वंदित्ता जिणवरं महावीरं।
वुच्छं पयण्णगमिणं, तंदुलवेयालियं नाम ॥१॥

ननु कियन्ति प्रकीर्णकानि, कथं तेषां चोत्पत्तिः? उच्यते–''नंदी १, अणुओगदाराइं २, देविंदत्थओ ३, तंदुलवेयालियं ४, चंदाविज्झयं ५।'' इत्यादीनि श्रीनन्दिसूत्रोक्तानि कालिकोत्कालिकभेदभिन्नानि चतुरशीतिसहस्रसंख्यानि प्रकीर्णकान्यभवन् श्रीऋषभस्वामिनः। कथम्? ऋषभस्य चतुरशतिसहस्रप्रमाणाः श्रमणा आसीरन्, तैरेकैकस्य विरचितत्वात् १। एवं संख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि आसीरन् जिनाऽऽदीनां मध्यमजिनानां यस्य यावन्ति भवन्ति तस्य तावन्ति प्रथमानुयोगानुयो वेदितव्यानि २। चतुर्दशप्रकीर्णकसहस्राणि आसीरन् वर्द्धमानस्वामिनः ३। इति तेषां मध्ये श्रीवर्द्धमानस्वामिस्वहस्तदीक्षितेनैकेन साधुना विरचितमिदं तन्दुलवैचारिकप्रकीर्णकं, तस्य व्याख्या क्रियते इति। (निज्जरिय त्ति) निर्जरितं सर्वथा क्षयं नीतं जरा च वृद्धत्वं, मरणं च पञ्चत्वं जरामरणम्। यद्वा–जरया वृद्धभावेन, जरायां वृद्धभावे वा मरणं येन सं निर्जरितजरामरणः, तं वन्दित्वा कायवाग्मनोभिः स्तुतिं विधाय जिना रागद्वेषाऽऽदिजयनशीलाः सामान्यकेवलिनस्तेषु तेभ्यो वा वरः प्रधानातिशयापेक्षया श्रेष्ठो जिनवरस्तं जिनवरम्। (तं०) महाँश्चासौ वीरश्च कर्मविदारणसहिष्णुर्महावीरस्तम्, (वुच्छं ति) वक्ष्ये भणिष्यामि, प्रकीर्णकं श्रीवीरहस्तदीक्षितमुनिविरचितं नन्दीसूत्रोक्तं ग्रन्थविशेषमिदं प्रत्यक्षं तन्दुलानां वर्षशताऽऽयुष्कपुरुषप्रतिदिनभोग्यानां संख्याविचारेणोपलक्षितं तन्दुलवैचारिकं नामेति ॥१॥ (तं०)

अथात्रोक्तं निरूपयन्ति–

आहारो उस्सासो, संधिसिराओ य रोमकूवाई।
पित्तं रुहिरं सुक्कं, गणियं गणियप्पहाणेहिं ॥१६॥

अत्र प्रकीर्णके जीवानां गर्भ आहारस्वरूपम्, गर्भे उच्छ्वासपरिमाणम्, शरीरे सन्धिस्वरूपम्, शरीरे शिराप्रमाणम्, वपुषि रोमकूपाणि, पित्तम्, रुधिरम्, शुक्रम्। चशब्दान्मुहूर्त्ताऽऽदिकम्। एतत्पूर्वोक्तं गणितं संख्याप्रमाणतो निरूपितं,कैः? गणितप्रधानैस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिः ॥१६॥ तं०।

तंदुलिज्ज (तन्दुलीय) शाकविशेषे, है०। वाच०।

तंदुलेज्जग पुं०(तण्दुलीयक) हरितवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद। आचा०।

***तन्दुलेयक** पुं०। हरितवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

तंब न०(ताम्र) तम्–रक्–दीर्घश्च। प्राकृते–**''ह्रस्वः संयोगे''** ॥८।१।८४॥ इति सूत्रेणाऽऽदेर्ह्रस्वः। प्रा० १पाद। ''स्तस्य

थोऽसमस्त–स्तम्बे'' ॥८।२।४५॥ अत्रासमस्तस्तम्बे इत्युक्तेस्त–स्य थः। **''ताम्राऽऽग्रे ''** ॥८।२।५६॥ इति संयुक्तस्य मयुक्तो वकारः। प्रा०२ पाद । धातुविशेषे, प्रज्ञा०१ पद । उत्त०। सूत्र०। ''तंबपायाणि वा, तउपायाणि वा, सुवण्णपायाणि वा।'' ग०२ अधि०। अरुणे, पुं०। औ०। तद्वति, त्रि०। वाच०। शुल्वे, प्रश्न०४ सम्ब० द्वार।

तंबकिमी (देशी) इन्द्रगोपे, दे०ना०५ वर्ग ६ गाथा।

तंबकुसुम (देशी) कुरवके, दे०ना० ५ वर्ग ६ गाथा।

तंबचूल पुं०(ताम्रचूड) ताम्रा चूडा यस्य। कुक्कुटे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। ''सोन्वेऽत्यगादाद्यया मो रात्रेस्तावदतः परम् । ताम्रचूडरुतादर्वाक्क-याचिद्विद्यया यदि'' ॥१८॥ ती० ७ कल्प।

तंबटक्करी (देशी) शेफालिकायाम्, दे०ना० ५ वर्ग ४ गाथा।

तंबणह त्रि०(ताम्रनख) ताम्रा इव रक्ता नखाः कररुहा यासां तास्ताम्र-नखाः। ताम्रसदृशलोहितनखवति, जी० ३ प्रति०४ उ०।

तंबणिद्धणह त्रि०(ताम्रस्निग्धनख) ताम्रा अरुणाः स्निग्धाः कान्तिमन्तो नखा येषां ते तथा। कान्तिमदरुणनखे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

तंबरत्ति (देशी) गोधूमेषु, कुङ्कुमच्छायायां च। दे०ना०५ वर्ग ५ गाथा।

तंबलित्त पुं०(ताम्रलिप्त) देशभेदे,क्वचित्सिन्धुताम्रलिप्तकोङ्कणाऽऽदिके देशेऽधिका दंशमशका भवन्ति। सूत्र०१ श्रु०२ अ०१उ०।

तंबा (देशी) गवि, दे०ना०५ वर्ग १ गाथा।

तंबागर पुं०(ताम्राकर) ताम्रध्मापनस्थाने, यत्र ताम्रं ध्मायते। स्था० ८ ठा०। यत्र ताम्रमुत्पद्यते। ताम्रोत्पत्तिस्थाने, नि०चू० ५ उ०।

तंबाय पुं०(ताम्राक) स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र भद्रिकापुर्या आगते वीरभगवति नन्दिषेणः पार्श्वापत्यीयो भल्लाहतः स्वर्जगाम। आ०क०। आ०चू०।

तंबिरा (देशी) गोधूमेषु, कुङ्कुमच्छायायां च। दे०ना० ५ वर्ग ५ गाथा।

तंबूलीदल न०(ताम्बूलीदल) नागवल्लिपत्रे,अनेकशकलीकृत–करमर्दितप्रहरमात्रधृतताम्बूलीदलं सचित्तमचित्तं वेति प्रश्ने, उत्तरम्–एतादृशपत्रस्याचित्तीभवने व्यवहारो नास्तीति ।१६६। प्र०। सेन० २ उल्ला०।

तंबेरी (देशी) शेफालिकायाम्, दे०ना० ५ वर्ग ४ गाथा।

तंबोल न०(ताम्बूल) **''ओत् कूष्माण्डी–तूणीर–कूर्पर–स्थूल-ताम्बूल–गुडूची–मूल्ये''** ॥८।१।१२४॥ इति ऊत ओत्। प्रा०१ पाद। नागवल्लीदले, सूत्र०१ श्रु०४अ०२ उ०। पञ्चा०। पत्रपूगखदिर–वटिकाकत्थकाऽऽदिस्वादिमे, ध०२ अधि०। प्रव०। अनु०।

तंबोली स्त्री०(ताम्बूली) नागवल्ल्याम्, जी०३ प्रति०४ उ०। जं०। कन् प्रत्ययोऽप्यत्र, लोमसिका त्रपुसिका ताम्बूलिका इत्यवमादिका वल्ल्यः। व्य०६ उ०।

तंबोलीमंडवग पुं०(ताम्बूलीमण्डपक) ताम्बूली नागवल्ली तन्मया मण्डपकाः। नागवल्लीमयमण्डपे, रा०। जी०।

तंस त्रि०(त्र्यस्र) ''एगे तंसे।'' तिस्रोऽस्रयो यस्मिन् तत् त्र्यस्रम्। स्था०१ ठा०। **''वक्राऽऽदावन्तः''** ॥८।१।२६॥ इत्यनुस्वारः। प्रा०१ पाद। **''न दीर्घानुस्वारात्''** ॥८।२।९२॥ इत्यनुस्वारात्परस्य सस्य द्वित्वनिषेधः। प्रा०२ पाद । शृङ्गाटकफलवत् त्रिकोणे, अनु०। ''रहस्से वट्टे तंसे चउरंसे।'' अनु०।

तकार पुं०(तकार) 'त' इत्येवंरूपे वर्णे, आव०४ अ०।

तक्क न०(तक्र) दध्यवयवरूपे, बृ०१ उ०। ''तक्ककुंडेणाहरणं।'' नि०चू०१उ०।

***तत्क** त्रि०। ईदृशे, अनु०।

***तर्क** पुं०। तर्कणं तर्कः। स्था० १ ठा०। संशयादूर्ध्वं भवितव्वताप्रत्यये, सदर्थपर्यालोचनाऽऽत्मके भवितव्यमत्र स्थाणुना पुरुषेण वेत्येवंरूपे ज्ञानविशेषे, सूत्र०१ श्रु० १२ अ०। संभवत्पदार्थास्तित्वाध्यवसायरूपे ऊहे, आचा०१ श्रु० ५ अ० ६ उ०। विमर्शे, स्था०६ ठा०। विचारे, दश०१ अ०। पर्यालोचने, आचा०१ श्रु० ८अ०२उ०।

तर्कमपि कारणगोचरस्वरूपैः प्ररूपयन्ति–

उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसंबन्धाऽऽद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकार संवेदनमूहाऽपरनामा तर्कः ॥७॥

उपलम्भानुपलम्भाभ्यां प्रमाणमात्रेण ग्रहणाग्रहणाभ्यां संभव उत्पत्तिर्यस्येति कारणकीर्तनम्। त्रिकालीकलितयोः कालत्रयीवर्तिनो साध्यसाधनयोर्गम्यगमकयोः संबन्धोऽविनाभावो व्याप्तिरित्यर्थः। स आदिर्यस्याशेषदेशकालवर्तिवाच्यवाचकसम्बन्धस्याऽऽलम्बनं गोचरः यस्य तत्तथेति विषयाऽऽविष्करणम्। इदमस्मिन् सत्येव भवतीत्यादिशब्दादिदमस्मिन्नसति न भवत्येवेत्याकारं, साध्यसाधनसंबन्धाऽऽलम्बनम्, एवंजातीयः शब्द एवंजातीयस्यार्थस्य वाचकः,सोऽपि तथाभूतस्तथाभूतस्य वाच्य इत्याकारं वाच्यवाचकभावाऽऽलम्बनं च संवेदनमिहोपादीयत इति स्वरूपप्रतिपादनम्। एवंभूतं यद्वेदनं स तर्कः कीर्त्यते, ऊह इति च संज्ञान्तरं लभते। ये तु ताथागताः प्रामाण्यमूहस्य नोहाचक्रिरे। तेषामशेषशून्यत्वपातकाऽऽपत्तिः। आः ! किमिदमकाण्डकूष्माण्डाऽम्बरोड्डामरमभिधीयते। कथं हि तर्कप्रामाण्यानुपगममात्रेणेदृशमसमञ्जसमापनीपद्येत? शृणुश्रावयामिकिल। तर्काप्रामाण्ये तावन्नानुमानस्य प्राणाः; प्रतिबन्धप्रतिपत्त्युपायापायात्। तदभावे न प्रत्यक्षस्याऽपि। प्रत्यक्षेण हि पदार्थान् प्रतिपद्य प्रमाता प्रवर्तमानः क्वचन संवादादिदं प्रमाणमिति, अन्यत्र तु विसंवादादिदमप्रमाणमिति व्यवस्थाग्रन्थिमाबध्नीयात्। न खलु उत्पत्तिमात्रेणैव प्रमाणाप्रमाणविवेकः कर्तुं शक्यः, तद्दशायामुभयोः सौसदृश्यात्। संवादविसंवादापेक्षायां च तन्निश्चये निश्चित एवानुमानोपनिपातः। न चेदं प्रतिबन्धप्रतिपत्तौ तर्कस्वरूपोपायापाये। अनुमानाध्यक्षप्रमाणाभावे च प्रामाणिकमानिनस्ते कौतस्कुती प्रमेयव्यवस्थाऽपीत्यायाता त्वदीयहृदयस्येव सर्वस्य शून्यता। साऽपि वा न प्राप्नोति। प्रमाणमन्तरेण तस्या अपि प्रतिपत्तुमश–

क्यत्वादिति। अहो ! महति प्रकटकष्टसंकटे प्रविष्टोऽयं तपस्वी किं नाम कुर्यात्? अथ– ''धूमाधीर्वह्निविज्ञानं, धूमज्ञानमधीन्तयोः। प्रत्यक्षानुपलम्भयामिति पञ्चभिरन्वयः''॥१॥ निर्णेष्यते। अनुपलम्भोऽपि प्रत्यक्षविशेष एवेति प्रत्यक्षमेव व्याप्तितात्पर्यपर्यालोचनचातुर्यवर्यम्, तत् किं तर्कोपक्रमेणेति चेत्, ननु प्रत्यक्षं तावन्नियतधूमाग्निगोचरतया प्राक् प्रावृतत्। तद्यदि व्याप्तिरपि तावन्मात्रैव स्यात्तदाऽनुमानमपि तत्रैव प्रवर्तेतेति कुतस्त्यं धूमान्महीधरकन्धराऽधिकरणाऽशुशुक्षणिलक्षणम्। तद्बलाद् बभूवान् विकल्पः सार्वत्रिकीं व्याप्तिं पर्याप्नोति निर्णेतुमिति चेत्; को नामैवं नामंस्त तर्कविकल्पस्योपलम्भानुपलम्भसंभवत्वेन स्वीकारात्, किन्तु व्याप्तिप्रतिपत्तावयमेव प्रमाणं कक्षीकरणीयः। अथ तथा प्रवर्तमानोऽयं प्राक् प्रवृत्तप्रत्यक्षव्यापारमेवाभिमुखयतीति तदेव तत्र प्रमाणमिति चेत्, तर्ह्यनुमानमपि लिङ्गग्राहिप्रत्यक्षस्यैव व्यापारमाभिमुखयतीति तदेव वैश्वानरवेदने प्रमाणम्, नानुमानमिति किं न स्यात्? अथ कथमेवं वक्तुं शक्यम्। लिङ्गप्रत्यक्षं हि लिङ्गगोचरमेव, अनुमानं तु साध्यगोचरमिति कथं तत्तद्व्यापारमाभिमुखयेत्, तर्हि प्रत्यक्षं पुरोवर्तिस्वलक्षणेक्षणक्षुण्णमेव। तर्क- विकल्पस्तु साध्यसाधनसामान्यावमर्शमनीयीति कथं सोऽपि तद्व्यापारमुद्दीपयेत्। अथ सामान्यममान्यमेव, असत्त्वादिति कथं तत्र प्रवर्तमानस्तर्कः प्रमाणं स्यादिति चेत्; अनुमानमपि कथं स्यात्? तस्यापि सामान्यगोचरत्वाव्यभिचारात्। ''अन्यत् सामान्यलक्षणं सोऽनुमानस्य विषयः'' इति धर्मकीर्तिना कीर्तनात्। तत्त्वतोऽप्रमाणमेवैतद्, व्यवहारेणैवास्य प्रामाण्यात्, सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्याथेनेति वचनादिति चेत्, तर्कोऽपि तथाऽस्तु। अथ नायं तर्कः व्यवहारेणापि प्रमाणम्, सर्वथा वस्तुसंस्पर्शपराङ्मुखत्वादिति चेत्, अनुमानमपि तथाऽस्तु। अवस्तुनिर्भासमपि परम्परया पदार्थे प्रतिबन्धात् प्रमाणमनुमानमिति चेत्, किं न तर्कोऽपि? अवस्तुत्वं च सामान्यस्याद्याऽपि केशरिकिशोरवक्त्रक्रोडदंष्ट्राऽङ्कुराऽऽकर्षायमाणमस्ति। सदृशपरिणामरूपस्यास्य प्रत्यक्षाऽऽदिपरिच्छेद्यत्वादिति तत्त्वत एवानुमानम्, तर्कश्च प्रमाणं प्रत्यक्षवदिति पाषाणरेखा ॥७॥

अत्रोदाहरन्ति–

यथा यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसत्यसौ न भवत्येव ॥८॥

अत्राऽऽद्यमुदाहरणमन्वयव्याप्तौ, द्वितीयं तु व्यतिरेकव्याप्ताविति ॥८॥ रत्ना० ३ परि०।

तक्कणवित्ति न०(तर्कणवृत्ति) नटनग्राऽऽचार्याऽऽदीनां कृपणकुले, स्था० ८ ठा०।

तक्कणा (देशी) इच्छायाम्, दे०ना० ५ वर्ग ४ गाथा।

तक्कम्मसेवि (ण्) पुं०(तत्कर्मसेविन्) मैथुनमासेव्य वीर्यनिसर्गे सति यः श्वान इव वेदोत्कटतया जिह्वालेहनाऽऽदिनिन्द्यकर्मणा सुखहमात्मनो मन्यते स तथा। गलितश्वसदृशस्वलिङ्गलेड् नकर्तरि, ध०३ अधि०। बृ०। पं०भा०। पं०चू०।

तक्कर पुं०(तस्कर) तदेव चौर्यं कुर्वन्तीत्येवं शीलाः। कृ–अच्। नि०। औ०। परद्रव्यहारे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। आव०। ज्ञा०। रा०। नि० चू०। आ०चू०। दमनकवृक्षे, पृक्काशाके च। स्त्रियां ङीष्। वाच०।

तक्करट्ठाण न०(तस्करस्थान) शून्यदेवकुलाऽगाराऽऽदौ, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०।

तक्करत्तण न०(तस्करत्व) नवमे गौणेऽदत्ताऽऽदाने, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

तक्करपओग पुं०(तस्करप्रयोग) तस्कराश्चौराः, तेषां प्रयोगः संहरणक्रियायांप्रेरणमभ्यनुज्ञातं तस्करप्रयोगः, तान् प्रयुङ्क्तेहरत यूयमिति। स्थूलकादत्तादनिविरते द्वितीयेऽतिचारे, आव०६ अ०। पञ्चा०। श्रा०। ध०२०।

तक्कलि स्त्री०(तर्कारी) वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १पद। आचा०। भ०। जयन्तीवृक्षे, वाच०।

तक्कली स्त्री०(तर्कारी) 'तक्कलि' शब्दार्थे, प्रज्ञा०१ पद।

तक्कलीमत्थय न०(तर्कारीमस्तक) तर्कारीमध्यवर्तिनि गर्भे, आ०चा०२ श्रु०१ चू०१ अ०८उ०।

तक्कलीसीसय न०(तर्कारीशीर्षक) तर्कारीस्तवके, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०८उ०।

तक्का स्त्री०(तर्का) स्वकीयविकल्पनायाम्, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२उ०। वितर्के, स्वमतिपर्यालोचने, सूत्र०१ श्रु० १३ अ०। ''एगा तक्का।'' तर्को विमर्शः। अपायात्पूर्वा ईहाया उत्तराः प्रायः शिरःकण्डूयनाऽऽदयः पुरुषधर्मा इह घटन्त इति सम्प्रत्ययरूपाः, इहैकत्वं तु प्रागिव। स्था०१ ठा०।

तक्काभास पुं०(तर्काभास) तर्कलक्षणरहिते तर्कवदाभासमाने, रत्ना०।

तर्काऽऽभासमादर्शयन्ति–

असत्यामपि व्याप्तौ तदवभासस्तर्काभासः ॥३५॥

व्याप्तिरविनाभावः ॥३५॥

उदाहरन्ति–

स श्यामो मैत्रातनयत्वादित्यत्र यावान्मैत्रातनयः स श्याम इति यथा ॥३६॥

न हि मैत्रातनयत्वहेतोः श्यामत्वेन व्याप्तिरस्ति, शाकाऽऽद्याहारपरिणतिपूर्वकत्वात् श्यामतायाः। यो हि जनन्युपभुक्तशाकाऽऽद्याहारपरिणतिपूर्वकस्तनयः स एव श्याम इति सर्वाक्षेपेण यः प्रत्ययः स तर्क इति ॥३६॥ रत्ना० ६ परि०।

तक्कु पुं०(तर्कु) कृत्–उ–नि०। 'तेकू' इतिख्याते यन्त्रे, वाच०। ''कौसुम्भैस्तन्तुभिस्तकुं–संपर्किभिरथापराः।'' आ०क०।

तक्ख धा०(तक्ष) तनूकरणे, भ्वादि० पक्षे स्वादि०–पर०–सक०–वेट्। ''तक्षेस्तच्छ–चच्छ–रम्प–रम्फाः'' ॥८।४।१६४॥ तक्षेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति। 'तच्छइ,' 'चच्छइ,' 'रम्पइ,' 'रम्फइ'। पक्षे– 'तक्खइ'। प्रा०४ पाद। भर्त्सने तु–संतक्षति। वाच०।

***तक्षन्** पुं०। तक्ष–कनिन्। त्वष्टरि, विश्वकर्मणि च। वाच०।

तक्खण न०(तत्क्षण) तस्मिन्नेव क्षणे, ''तक्खणओलुग्गदुब्बलसरीरलावण्णसुण्णनिच्छाय।''तत्क्षणमेव प्रव्रजामीतिवचनश्रवणक्षण एव अवरुग्णं ग्लानं दुर्बलं च शरीरं यस्याः सा तथा। लावण्येन शून्या लावण्यशून्या, निश्छाया निष्प्रभा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः। भ०६श०३३उ०।

तक्खमाण त्रि०(तक्षत्) तनूकुर्वति, अनु०।

तक्खय पुं०(तक्षक) तक्ष–ण्वुल्। कश्यपस्य सुते, नागभेदे, वाच०। आव०। विश्वकर्मणि वर्द्धकौ, वाच०।

तक्खसिला स्त्री०(तक्षशिला) वहलीदेशे बाहुबलेर्नगर्याम्, आ०म० १अ०१ खण्ड। कल्प०। आचा०। आ०चू०।

तगर पुं०(तगर) गृ–अच्, तस्य क्रोडस्य गरः। 'टगर' इति ख्याते वृक्षे, वाच०। गन्धद्रव्यविशेषे, प्रश्न० ५ संब० द्वार। सूत्र०। ज्ञा०। रा०। जं०। जी०। ''अगरतगरचोआकुंकुमेण।'' अनु०।

तगार पुं०(तकार) तच्छब्दघटकस्यानुकरणं 'त' इति।ततः कारप्रत्ययः। निर्देशे, नि०चू० १उ०।

तगुण पुं०(तद्गुण) ''अन्त्यव्यञ्जनस्य'' ॥८।१।११॥ इति दकारलोपः। समासे तु वाक्यविभक्त्यपेक्षायामन्त्यत्वमनन्त्यत्वं च तेनोभयमपि भवति। प्रा०१ पाद। अलङ्कारोक्ते अर्थालङ्कारभेदे, वाच०।

तग्ग (देशी) सूत्रे, कङ्कणके, दे०ना० ५ वर्ग १ गाथा।

तग्गुण पुं०। 'तगुण' शब्दार्थे, प्रा०१ पाद।

तच्च न०(तथ्य) तथा त्र साधु यत्। वाच०। **''हस्वात् थ्य–श्चत्स–प्सामनिश्चले''** ॥८।२।२१॥ तथ्ये चोऽपि भवति। इति थकारस्य चकारः। प्रा०२ पाद। चकारस्य द्वित्वम्। अवितथे, सत्ये, तत्त्वरूपे, उत्त० २८ अ०। जी०। आचा०। तद्वति, त्रि०। वाच०।

तच्चकम्मसंपउत्त त्रि०(तथ्यकर्मसंप्रयुक्त) तथ्यानि सत्यफलान्य–व्यभिचारितया कर्माणि क्रियास्तत्संपदा तत्समृद्ध्या यः प्रयुक्तः स तथा। तस्मिन् लब्धफले, उत्त० ३अ०।

तच्चावाइ(ण्) पुं०(तथ्यवादिन्) कौशाम्बीराजस्य शतानीकस्य धर्मपाठके, आ०क०। आ०चू०। आ०म०।

तच्चावाय पुं०(तत्त्ववाद) तत्त्वानि वस्तूनामैदम्पर्याणि तेषां वाद–स्तत्त्ववादः। दृष्टिवादे, स्था० १० ठा०।

***तथ्यवाद** पुं०। तथ्यो वादस्तथ्यवादः। दृष्टिवादे, स्था० १० ठा०।

तच्चित्त त्रि०(तच्चित्त) तस्मिन् भगवद्वचने चित्तं भावो मनो येषां ते तच्चित्ताः, सामान्योपयोगापेक्षया वा तच्चित्ताः। औ०। तास्मन्नेव आवश्यके चित्तं सामान्योपयोगरूपं यस्येति तस्मिन् विवक्षिते भावमनोयुक्ते, सामान्योपयुक्ते च। ग०२ अधि०। अनु०। विपा०।

तच्छ धा०(तक्ष) तनूकरणे, भ्वादि०। पक्षे–स्वादि०पर०–सक०–वेट्। **''तक्षेस्तच्छ–चच्छ–रम्प–रम्फाः''** ॥८।४।१६४॥ इति तच्छाऽऽदेशः। 'तच्छइ।' प्रा०४ पाद। ''कप्पेंति करकरएहिं, तच्छिति परोप्परं सुएहिं ति।'' तक्षयन्ति सर्वशो देहावयवापनयनेन तनून् कारयन्ति। सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०।

तच्छण न०(तक्षण) क्षुराऽऽदिना त्वचस्तनूकरणे, विपा०१ श्रु० १अ०। सूत्र०। वास्या काष्ठस्येव देहकर्तनरूपे शारीरदण्डे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। ज्ञा०।

तच्छसिला स्त्री०(तक्षशिला) वहलीदेशे बाहुबलेर्नगर्य्याम्, यत्र बाहुबलिविनर्मितं धर्मचक्रम्। ती० ४३ कल्प०। प्रति०।

तच्छिंड (देशी) कराले, दे०ना० ५ वर्ग ३ गाथा।

तच्छिय अव्य०(तक्षयित्वा) वास्यादिना तक्षणं कृत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४अ०१उ०।

तज्ज त्रि०(तज्ज) तस्माज्जातं तज्जम्। तच्छब्दविवक्षितादुत्पन्ने, षो० ७ विव०।

***तर्ज** धा०। भर्त्सने, भ्वादि०–पर०–सक०–सेट्। तर्जति। अतर्जीत्। चुरादि०–आत्म०–सक०–सेट्। तर्जयते। अततर्जत। वाच०।

तज्जण न०(तर्जन) शिरोऽङ्गुल्यादिस्कोरणतो ज्ञास्यसि रेजाल्म! इत्यादिभणने, औ०। तं०। प्रश्न०। ज्ञा०। आचा०।

तज्जमाण त्रि०(तर्जत्) ज्ञास्यथ रे यन्मम इदं वचनं दत्स्वेत्येवं भीष–यति, विपा०१ श्रु० १अ०।

तज्जाइय त्रि०(तज्जातिक) तस्माज्जातिरुत्पत्तिर्यस्य सः। तदुत्थे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०।

तज्जाईय त्रि०(तज्जातीय) अभिन्नजातीये, आव०४ अ०। आचा०।

तज्जाय त्रि०(तज्जात) तस्माद् विवक्षितात् सकाशाज्जातं तज्जातम्। तदुत्पन्ने, दशा०३ अ०। स्था०।

तज्जायदोसे मइभंगदोसे, पसत्थारदोसे परिहारदोसे।
सलक्खणक्कारण हेउदोसे, संकामणं निग्गहवत्थुदोसे ॥१॥

''तज्जाय'' इत्यादि वृत्तम्। एते हि गुरुशिष्ययोर्वादिप्रतिवादिनोर्वा वादाश्रया इव लक्ष्यन्ते तत्र तस्य गुर्वादेर्जातं जातिः प्रकारो वा जन्मकर्माऽऽदिलक्षणं तज्जातं, तदेव दूषणमिति कृत्वा दोषस्तज्जातदोषस्तथाविधकुलाऽऽदिना दूषणमित्यर्थः। अथवा–तस्मात्प्रतिवाद्यादेः सकाशाज्जातः क्षोभान्मुखस्तम्भाऽऽदिलक्षणो दोषस्तज्जातदोषः। (शेषोऽन्यत्र) दशविधदोषाणां मध्ये प्रथमे दोषभेदे, स्था० १० ठा०।

तज्जायसंसट्ठचरग त्रि०(तज्जातसंसृष्टचरक) तज्जातेन देयद्रव्या–विरोधिना यत्संसृष्टं हस्ताऽऽदि तेन दीयमानं यश्चरति तस्मिन्, स्था०३ ठा०१ उ०।

तज्जाया स्त्री०(तज्जाता) तुल्यजातीयक्रियमाणायां परिष्ठापनायाम्, आव०४ अ०।

तज्जिय न०(तर्जित) एकोनविंशतितमे वन्दनदोषे, बृ०।

एकोनविंशतिदोषमाह–

ण विकुप्पसि ण पसीयसि, कट्ठसियो चेव तज्जितं एयं।
सीसंगुलिमादीहिं व, तज्जेति गुरुं पणिवयंते ॥

काष्ठघटितशिवदेवताविशेष इवाऽवन्द्यमानोन कुप्यसि, तथावन्द्यमानोऽप्यविशेषज्ञतया न प्रसीदसीत्येवं तर्जयन् निर्भर्त्सयन् यत्र वन्दते तत्तर्जितम्। यदि च मेलापकमध्ये वन्दनकं मां दापयाँस्तष्ठस्याचार्य! परं ज्ञास्यते तवैकाकिन इत्यभिप्रायवान् यदा शीर्षेणाङ्गुल्या वा प्रदेशिनीलक्षणया गुरुं प्रणिपतन् वन्दमानस्तर्जयति, तद्वा तर्जितम्। बृ० ३उ०।

तज्जीवतच्छरीर न०(तज्जीवतच्छरीर) स चाऽसौ जीवश्च तज्जीवः कायाऽऽकारो भूतपरिणामस्तदेव शरीरम्। जीवशरीरयोरैक्ये, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०।

तज्जीवतच्छरीरवाइ(ण्) त्रि०(तज्जीवतच्छरीरवादिन्) नास्तिकविशेषे, सूत्र०।

साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतं पूर्वपक्षयन्नाह–

पत्तेअं कसिणे आया, जे बाला जे अ पंडिआ।
संति पिच्चा न ते संति, नऽत्थि सत्तोववाइया ॥११॥

तज्जीवतच्छरीरवादिनामयमभ्युपगमः–यथा पञ्चभ्यो भूतेभ्यः कायाऽऽकारपरिणतेभ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते, अभिव्यज्यते च, एकैकं शरीरं प्रति प्रत्येकमात्मनः कृत्स्नाः सर्वेऽप्यात्मान एवमवस्थितोः। ये बाला अज्ञाः, ये च पण्डिताः सदसद्विवेकज्ञाः, ते सर्वे पृथग् व्यवस्थिताः। न ह्येक एवाऽऽत्मा सर्वव्यापित्वेनाभ्युपगन्तव्यः बालपण्डिताऽऽद्यावभागप्रसङ्गात्। ननु प्रत्येकशरीराऽऽश्रयत्वेनाऽऽत्मबहुत्वमार्हतानामपीष्टमेवेत्याशङ्क्याऽऽहसन्ति विद्यन्ते यावच्छरीरं विद्यन्ते, तदभावे तु न विद्यन्ते। तथाहि–कायाऽऽकारपरिणतेषु भूतेषु चैतन्याऽऽविर्भावो भवति, भूतसमुदायविघट्टने च चैतन्यापगमो, न पुनरन्यत्र गच्छच्चैतन्यमुपलक्ष्यते। तदेव दर्श–यति– (पिच्चा न ते संतीति) प्रेत्य परलोकेन ते आत्मानः सन्ति विद्यन्ते, परलोकानुयायी त्वात्मा शरीराद्भिन्नः स्वकर्मफलभोक्ता न कश्चिदात्माऽऽख्यः पदार्थोऽस्तीति भावः। किमित्येवमत आह– (नऽत्थि सत्तोववाइया) अस्तिशब्दस्तिङन्तप्रतिरूपको निपातो बहुवचने द्रष्टव्यः। तदयमर्थः–न सन्ति न विद्यन्ते, तदभावे तु न विद्यन्ते, सत्त्वाः प्राणिन उपपातेन निर्वृत्ता औपपातिका भवद्भिवान्तरगामिनो न भवन्तीतितात्पर्यार्थः। तथाहि तदागमः–''विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यतीति, न प्रेत्य संज्ञा अस्तीति।'' ननु प्रागुपन्यस्तभूतवादिनोऽस्य च तज्जीवतच्छरीरवादिनः को विशेषः? इत्यत्रोच्यतेभूतवादिनो भूतान्येव कायाऽऽकारपरिणतानि धावनवल्गनाऽऽदिकां क्रियां कुर्वन्त्यस्य तु कायाऽऽकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्याऽऽख्य आत्मोत्पद्यतेभिव्यज्यते च, तेभ्यश्चाभिन्न इत्ययं विशेषः ॥११॥

एवं च धर्मिणोऽभावाद्धर्मस्याप्यभाव इति दर्शयितुमाह–

नऽत्थि पुण्णे च पावे वा, नऽत्थि लोए इतो परे।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥१२॥

पुण्यमभ्युदयप्राप्तिलक्षणं, तद्विपरीतं पापम्, एतदुभयमपि न विद्यते, आत्मनो धर्मिणोऽभावात्। तदभावाच्च नास्तीतोऽस्माल्लोकात् परोऽन्यो लोको यत्र पुण्यपापानुभव इति। अत्रार्थे सूत्रकारः कारणमाहशरीरस्य कायस्य विनाशेन भूतविघटनेन, देहिन आत्मनोऽप्यभावो भवति, यतो न पुनः शरीरे विनष्टे तस्मादात्मा परलोकं गत्वा पुण्यं पापं वाऽनुभवतीत्यतो यर्मिण आत्मनोऽभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरप्यभाव इति। अस्मिंश्चार्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्ति। तद्यथा–यथा जलबुद्बुदो जलातिरेकेण नाऽपरः कश्चिद्विद्यते, तथा भूतव्यतिरेकेण नाऽपरः कश्चिदात्मेति। तथा च यथा कदलीस्तम्भस्य बहिस्त्वगपनयने क्रियमाणे त्वङ्मात्रमिव सर्वं नाऽन्तः कश्चित्सारोऽस्त्येवंभूतसमुदाये विघटति सति तावन्मात्रं विहाय नान्तः सारभूतः कश्चिदात्माऽऽख्यः पदार्थ उपलभ्यते। यथा वा अलातं भ्राम्यमाणमतद्रूपमपि चक्रबुद्धिमुत्पादयति, एवं भूतसमुदायोऽपि विशिष्टक्रियोपेतो जीवभ्रान्तिमुत्पादयतीति। यथा च स्वप्ने बहिर्मुखाऽऽकारतया विज्ञानमनुभूयते, आन्तरेणैव बाह्यमर्थम्, एवमात्मानमन्तरेण तद्विज्ञानं भूतसमुदाये प्रादुर्भवतीति। तथा यथाऽऽदर्शे स्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बतो बहिःस्थितोऽप्यर्थोऽन्तर्गतो लक्ष्यते, न चाऽसौ तथा। च ग्रीष्मे भौमेनोष्मणापरिस्पन्दमाना मरीचयो जलाऽऽकारं विज्ञानमुत्पादयन्ति, एवमन्येऽपि गन्धर्वनगराऽऽदयः स्वस्वरूपेणाऽतथाभूता अपि तथा प्रतिभासन्ते, तथाऽऽत्माऽपि भूतसमुदायाऽऽकारपरिणतौ सत्यां पृथगसन्नेव तथा भ्रान्तिं समुत्पादयतीति। अमीषां च दृष्टान्तानां प्रतिपादकानि केचित्सूत्राणि व्याचक्षते। अस्माभिस्तु सूत्राऽदर्शे चिरन्तनटीकायां चादृष्टत्वान्नालिङ्गिता नीति॥ ननु च यदि भूतव्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा न विद्यते, तत्कृते च पुण्यापुण्ये न, तत्कथमेतद्वैचित्र्यं घटते? तद्यथा–कश्चिदीश्वरोऽपरो दरिद्रोऽन्यः सुभगोऽपरो दुर्भगः सुखी दुःखी सुरूपो मन्दरूपो व्याधितो नीरोगीत्येवंप्रकारा विचित्रता किंनिबन्धनेति? अत्रोच्यते, स्वभावात्। तथाहि–कुत्रचिच्छिलाशकले प्रतिमारूपं विद्यते, तच्च कुङ्कुमागरुचन्दनाऽऽदिविलेपनानुभोगमनुभवति, धूपाऽऽद्यामोदं च, अन्यस्मिंस्तु पाषाणखण्डे पादक्षालनाऽऽदि क्रियते, न च तयोः पाषाणखण्डयोः शुभाशुभे स्तः, यदुदयात्स तादृगवस्थाविशेष इत्येवंस्वभावाज्जगद्वैचित्र्यम्। तथाचोक्तम्– ''कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य विचित्रता। वर्णाश्च ताम्रचूडानां, स्वभावेन भवन्ति हि॥१॥'' इति। तद्यावत्तच्छरीरवादिमतं गतम्॥१२॥ सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०।

साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिनो मतं निराचिकीर्षुराह–

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ?
तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ॥१४॥

ये तावच्छरीराऽव्यतिरिक्ताऽऽत्मवादिनः एवं पूर्वोक्तयुक्त्या भूताव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तस्ते निराक्रियन्तेतेषां लोकश्चतुर्गतिभवरूपः सुभगदुर्भगसुरूपकुरूपेश्वरदारिद्र्यादिगत्या जगद्वैचित्र्यरूपः कुतः स्यात्? आत्माऽनङ्गीकारे पुण्य पापाभावे कथं विश्ववैचित्र्यमित्यर्थः? ते च नास्तिकास्तमसोऽज्ञानरूपात् तमो यान्ति ज्ञानाऽऽवरणाऽऽवृताः पुनर्ज्ञानाऽऽवरणरूपं तमः प्रविशन्ति। अथवा–सद्विवेकप्रध्वंसित्वात्तमो दुःखं, तस्मात्तमो महादुःखं यान्ति, यतस्ते मन्दा जडाः परलोकनिरपेक्षत्वाद्याऽऽरम्भनिःश्रिताः (सूत्र०दी० १श्रु० १अ०१उ०) तत्र यत्तैस्तावदुक्तम्। यथा–न शरीराद्भिन्नोऽस्त्यात्मेति। तदसंगतम्। यतस्तत्प्रसाधकं प्रमाणमस्ति। तच्चेदम्–विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरम्, आदिमत्प्रतिनियताऽऽकारकत्वात्, इह यद्यदादिमत्प्रतिनियताऽऽकारं तत्तद् विद्यमानकर्तृकं दृष्टम्। यथा घटः, यच्चाविद्यमानकर्तृकं तदादिमत्– प्रतिनियताऽऽकारमपि न भवति, यथाऽऽकाशम्। आदिमत्प्रतिनियताऽऽकारस्य च सकर्तृत्वेन व्याप्तेः व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्य विनिवृत्तिरिति सर्वत्र योजनीयम्। तथा विद्यमानाधिष्ठातृकाणीन्द्रियाणि, करणत्वात्, यद्यदिह करणं तत्तद् विद्यमानाधिष्ठातृकं दृष्टम्, यथा–दण्डाऽऽदिकमिति। अधिष्ठातारमन्तरेण करणत्वानुपपत्तिः, यथाऽऽकाशस्य। ह्रषीकाणां चाधिष्ठाताऽऽत्मा, स च तेभ्योऽन्य इति। तथा विद्यमानाधिष्ठातृकमिदमिन्द्रियविषय–

कदम्बकम्, आदानाऽऽदेयसद्भावात् । इह यत्र यत्राऽऽदानाऽऽदेयसद्भावस्तत्र तत्र विद्यमान आदाता ग्राहको दृष्टः । यथा संदंशकाऽयःपिण्डयोस्तद्भिन्नोऽयस्कार इति । यश्चात्रेन्द्रियैः करणैर्विषयाणामादाता ग्राहकः, स तद्भिन्न आत्मेति । तथा विद्यमानभोक्तृकमिदं शरीरं, भोग्यत्वात्, ओदनाऽऽदिवत् । अत्र च कुलालाऽऽदीनां मूर्तत्वानित्यत्वसंहतत्वदर्शनादात्माऽपि तथैव स्यादति धर्मविशेषविपरीतसाधनत्वेन विरुद्धा शङ्का न विधेया । संसारिण आत्मनः कर्मणा सहान्योन्यानुबन्धतः कथञ्चिन्मूर्तत्वाऽऽद्यभ्युपगमादिति । तथा यदुक्तम्–''नास्ति सत्त्व औपपातिकः'' इति । तदप्ययुक्तम् । यतस्तदहर्जातबालकस्य यः स्तनाभिलाषः सोऽन्याभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, कुमाराभिलाषवत् ।तथा बालविज्ञानमन्यविज्ञानपूर्वकं, विज्ञानत्वात् कुमारविज्ञानवत् । तथाहि–यदहर्जातबालकोऽपि यावत्स एवायं स्तन इत्येवं नावधारयति, तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने इत्यतोऽस्ति बालके विज्ञानलेशः, स चान्यविज्ञानपूर्वकः । तथाऽन्यद् विज्ञानं भवान्तरविज्ञानं, तस्मादस्ति सत्त्व औपपातिक इति । तथा यदभिहितम्– ''विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यतीति।'' तत्राप्ययमर्थः–विज्ञानघनो विज्ञानपिण्ड आत्मा भूतेभ्य उत्थायेति प्राक्तनकर्मवशात्तथाविधकायाऽऽकारपरिणते भूतसमुदाये तद्द्वारेण स्वकर्मफलमनुभूय पुनस्तद्विनाशे आत्माऽपि तदनु तेनाऽऽकारेण विनश्यापरपर्यायान्तरेणोत्पद्यते, न पुनस्तैरेव सह विनश्यतीति । तथा यदुक्तम्–धर्मिणोऽभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरभाव इति । तदप्यसमीचीनम् । यतो धर्मी तावदनन्तरोक्तिकदम्बकेन साधितः, तत्सिद्धौ च तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरपि सिद्धिरवसेया, जगद्वैचित्र्यदर्शनाच्च। यत्तु स्वभावमाश्रित्योपलशकलं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं, तदपि तद्धेतुकर्मवशादेव तथा तथा संवृत्त इति दुर्निवारः पुण्यापुण्यसद्भाव इति । येऽपि बहवः कदलीस्तम्भाऽऽदयो दृष्टान्ता आत्मनोऽभावसाधनायोपन्यस्ताः, तेऽप्यभिहितनीत्याऽऽत्मनो भूतव्यतिरिक्तस्य परलोकयायिनः सारभूतस्य साधितत्वात् केवलं भवतो वाचालतां प्रख्यापयन्ति । इत्यलमतिप्रसङ्गेन । शेषं सूत्रं विव्रियतेऽधुनेति तदेवं तेषां भूतव्यतिरिक्ताऽऽत्मनिह्नववादिनां योऽयं लोकश्चतुर्गतिकसंसारो भवाद् भवान्तरगतिलक्षणः प्राक् प्रसाधितः सुभगदुर्भगसुरूपमन्दरूपेश्वरदारिद्र्याऽऽदिगत्या जगद्वैचित्र्यलक्षणश्च, स एवंभूतो लोकस्तेषां कुतो भवेत् ? कयोपपत्त्या घटेत्? आत्मनोऽनभ्युपगमान्न किञ्चिदित्यर्थः । ते च नास्तिकाः परलोकयायिजीवाऽनभ्युपगमेन पुण्यपापयोश्चाभावमाश्रित्य यत्किञ्चनकारिणोऽज्ञानरूपात्तमसः सकाशादन्यत्तमो यान्ति–भूयोऽपि ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपं महत्तरं तमः संचिन्वन्तीत्युक्तं भवति । यदि वा तम इव तमो दुःखसमुद्घातेन सदसद्विवेकप्रध्वंसित्वाद् यातनास्थानम्, तस्मादेवंभूतात्तमसः परतरं तमो यान्ति । सप्तमनरकपृथिव्यां रौरवमहारौरवका–लमहाकालाप्रतिष्ठानाऽऽख्यं नरकाऽऽवासं यान्तीत्यर्थः । किमिति? यतस्ते मन्दा जडा मूर्खाः सत्यपि युक्त्युपपन्ने आत्मन्यसदभिनिवेशात् तदभावमाश्रित्य प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे व्यापारे निश्चयेन नितरां चाश्रिताः संबद्धाः पुण्यपापयोरभाव इत्याश्रित्य परलोकनिरपेक्षयाऽऽरम्भनिःश्रिता इति । सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०।

तं जहा–उड्ढं पादतला, अहे केसग्गमत्थया, तिरियं तयपरियंते जीवे, एस आयापज्जवे कसिणे, एस जीवे जीवति, एस मए णो जीवइ, सरीरे धरमाणे धरइ, विणट्ठम्मि य णो धरइ, एयं तं जीवियं भवति, आदहणाए परेहिं निज्झइ, अगणिज्झामिए सरीरे कवोतवन्नाणि अट्ठीणि भवंति, आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति, एवं असंते असंविज्जमाणे, जेसिं (तं असंते असंविज्जमाणे) तेसिं तं सुयक्खायं भवति । अन्नो भवति जीवो, अन्नं सरीरं, तम्हा ते एवं नो विपडिवेदें ति–अयमाउसो ! आया दीहे ति वा, हस्से ति वा, परिमंडले ति वा, वट्टे ति वा, तंसे ति वा, चउरंसे ति वा, आयते ति वा, छलंसिए ति वा, अट्ठंसे ति वा, किण्हे ति वा, णीले ति वा, लोहियहालिद्दसुक्किले ति वा, सुब्भिगंधे ति वा, दुब्भिगंधे ति वा, तित्ते ति वा,कडुए ति वा, कसाए ति वा, अंबिले ति वा, महुरे ति वा,कक्खडे ति वा,मउए ति वा, गुरुए ति वा, लहुए ति वा, सीए ति वा, उसिणे ति वा, निद्धे ति वा, लुक्खे ति वा, एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवतिअन्नो जीवो, अन्नं सरीरं, तम्हा ते णो एवं उवलब्भंति ॥१५॥

तद्यथा– ऊर्ध्वमुपरि पादतलात्, अधश्च केशाग्रमस्तकात्, तिर्यक् च त्वक्पर्यन्तो जीवः। एतदुक्तं भवति–यदेवैतच्छरीरं, स एव जीवो, नैतस्माच्छरीराद्व्यतिरिक्तोऽस्त्वात्मेत्यतस्तत्प्रमाण एव भवत्यसावित्येवं च कृत्वैष आत्मा योऽयं कायोऽवमेव च तस्याऽऽत्मनः पर्यवः, कृत्स्नः सम्पूर्णः पर्यायोऽवस्थाविशेषः, तस्मिंश्च कायात्मन्यवाप्ते तदव्यतिरेकात् जीवोऽप्यवाप्त एव भवति । एष च कायो यावन्तं कालं जीवेदविकृत आस्ते, तावन्तमेव कालं जीवोऽपि जीवतीत्युच्यते, तदव्यतिरेकात् । तथैव कायो यदा मृतो विकारभाग्भवति, तदा जीवोऽपि न जीवति, जीवशरीरयोरेकाऽऽत्मकत्वात् । यावदिदं शरीरं पञ्चभूताऽऽत्मकमव्यङ्गं धरति, तावदेव जीवोऽपीति । तस्मिंश्च विनष्टे सत्येकस्यापि भूतस्यान्यथाभावे विकारे सति जीवस्याऽपि तदात्मनो विनाशः, तदेवं यावदेतच्छरीरं वातपित्तश्लेष्माऽऽधारं पूर्वस्वभावादप्रच्युतं तावदेतज्जीवस्य जीवितं भवति । तस्मिंश्च विनष्टे तदात्मा जीवोऽपि विनष्ट इति कृत्वा आ दहनायाऽऽसमन्ताद्दहनार्थं श्मशानाऽऽदौ नीयते, यतोऽसौ तस्मिंश्च शरीरेऽग्निध्मापिते कपोतवर्णान्यस्थीनि केवलमुपलभ्यन्ते, न तदतिरिक्तोऽपरः कश्चिद्विकारः समुपलभ्यते, यत आत्मास्तित्वशङ्का स्यात् । ते च तद्बान्धवा जघन्यतोऽपि चत्वारः । आसन्दी मञ्चकः, स पञ्चमो येषां ते असिन्दीपञ्चमाः पुरुषाः, तं कायमग्निना ध्मापयित्वा पुनः स्वग्रामं प्रत्यागच्छन्ति । यदि पुनस्तत्राऽऽत्मा निजशरीराद्विन्नः स्यात्ततः शरीरान्निर्गच्छन् दृश्येत । न चोपलभ्यते, तस्माज्जीवस्तदेव शरीरमिति स्थितम् । तदेवमुक्तनीत्याऽसौ जीवोऽसन्नविद्यमानस्तत्र तिष्ठन् गच्छंश्चासवेद्यमानो येषामयं पक्षस्तेषां तत्स्वाख्यातं भवति, येषां पुनरन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमेवंभूतोऽप्रमाणक एवाभ्युपगमस्तस्मात्ते स्वयमूह्याः प्रवर्त्तमाना एवमिति वक्ष्यमाणं तेनैव विप्रतिवेदयन्ति जानन्ति ।

तद्यथा–आयुष्मन्! शरीराद् बहिरभ्युपगम्यमानः किंप्रमाणकः स्यादिति वाच्यम्। तत्र किं दीर्घः शरीरात्प्रांशुतरः, उत ह्रस्वोऽङ्गुष्ठश्यामाकतण्डुलाऽऽदिपरिमाणो वा? तथा संस्थानानां परिमण्डलाऽऽदीनां मध्ये किंसस्थानः, तथा कृष्णाऽऽदीनां वर्णानां मध्ये कतमवर्णवर्ती, तथा किंगन्धः, षण्णां रसानां मध्ये कतमरसवर्ती? तथाऽष्टानां स्पर्शानां मध्ये कतमो यः स्पर्शो वर्त्तते? तदेवं संस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शान्वियरूपतया कथमप्वसावगृह्यमाणोऽसन्नसौ तथाऽपि केनाऽपि प्रकारेणासवेद्यमानोऽपि येषां तत्स्वाख्यातं भवति। यथाऽन्यो जीवोऽन्यच्छरीरकमित्ययं पक्षस्तस्मात्पृथगविद्यमानत्वात्ते शरीरात्पृथगात्मवादिनो नैवं वक्ष्यमाणनीत्याऽऽत्मानमुपलभन्ते ॥१५॥

से जहाणामए केइ पुरिसे कोसीओ असिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा–अयमाउसो ! असी, अयं कोसी, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारोअयमाउसो ! आया, इयं सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा–अयमाउसो ! मुंजे इयं इसियं, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारोअयमाउसो ! आया, इयं सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा–अयमाउसो ! मंसे, अयमट्ठी,एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो अयमाउसो ! आया, इयं सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे करयलाओ आमलकं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा–अयमाउसो ! करतले, अयं आमलए, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो–अयमाउसो ! आया, इयं सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे दहिओ नवनीयं अभिनिव्वट्टित्ता ण उवदंसेज्जा अयमाउसो ! नवनीयं, अयं तु दही, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे०जाव सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तिल्लं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा–अयमाउसो ! तेल्लं, अयं पिन्नाए,एवमेव०जाव सरीरं। से जहाणामए केइ पुरिसे इक्खुत्तो खोतरसं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा–अयमाउसो! खोतरसे, अयं खोए, एवमेव०जाव सरीरं। से जहा णामइ केइ पुरिसे अरणीतो अग्गिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा–अय–माउसो ! अरणी, अयं अग्गी, एवमेव०जाव सरीरं। एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवति– तं जहा- अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं, तम्हा ते मिच्छा ॥१६॥

तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः कोशतः परिवारादसिं खड्गमभिनिर्व–र्त्य समाकृष्यान्येषामुपदर्शयेत्। तद्यथा–अयमायुष्मन्! असिः खड्गोऽयं च कोशः परिवारः,एवमेव जीवशरीरयोरपि नास्त्युपदर्शयिता। तद्यथा–अयं जीवः,इदं च शरीरमिति, न चास्त्येवमुपदर्शयिता कश्चिदतः कायान्न भिन्नो जीव इति। अस्मिँश्चार्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्तीत्यतो दर्शयितुमाह। तद्यथा–वा–कश्चित्पुरुषो मुञ्जात् तृणविशेषात् (इसियं ति) तद्गर्भभूतां शलाकां पृथक् कृत्य दर्शयेत्। तथा मांसादस्थि; तथा करतलादामलकम्; तथादध्नो नवनीतम्; तिलेभ्यस्तैलमिति; तथेक्षो रसं, तथाऽरणीतोऽग्निमभिनिर्वर्त्य दर्शयेत्। एवमेव शरीराद् जीवमिति न चाऽस्त्येवमुपदर्शयिताऽतोऽसन्नात्मा, शरीरात्पृथगसंवेद्यमानश्चेति। प्रयोगश्चात्रसुखदुखभाक् परलोकयायी नास्त्यात्मा, तिलशश्छिद्यमानेऽपि शरीरके पृथगनुपलब्धेः, घटाऽऽत्मवत्, व्यतिरेकेण च कोशखड्गवत्। तदेवं युक्तिभिः प्रतिपादितोऽप्यात्मा भवेत्, येषां पृथगात्मादिना स्वदर्शनानुरागादेतत्स्वाख्यातं भवति। तद्यथा–अन्यो जीवः परलोकानुयायी अमूर्तोऽन्यच्च तद्भववृत्ति मूर्तिमच्छरीरमेतच्च पृथङ् नोपलभ्यते। तस्मात्तन्मिथ्यायैः कैश्चिदुच्यते यथाऽस्त्यात्मा परलोकानुयायीति॥१६॥

से हंता तं हणह, खणह, थणह, डहह, पयह, आलुंपइ, विलुंपह, सहासक्कारेह, विपरामुसह, एतावं ताव जीवे, णत्थि परलोए वा,ते णो एवं विप्पडिवेदंति–तं जहा–किरियाइ वा अकिरियाइ वा सुक्कडेइ वा दुक्कडेइ वा कल्लाणेइ वा पावएइ वा साहुइ वा असाहुइ वा सिद्धाइ वा असिद्धाइ वा निरएइ वा अनिरएइ वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए ॥१७॥

एतदध्यवसायी च स लोकायतिकः स्वतः प्राणिनामेकेन्द्रियाऽऽदीनां हन्ता व्यापादको भवति, प्राणातिपाते दोषाभावमभ्युपगम्याऽन्येषामपि प्राण्युपघातकारिणामुपदेशं ददाति। तद्यथा–प्राणिनः खड्गाऽऽदिना घातयेत, पृथिव्यादिकं खनतेत्यादिसुगमम्। यावदेतावानेव शरीरमात्र एव जीवस्ततः परलोकिनोऽभावान्नास्ति परलोकोऽतस्तदभावाच्च यथेष्टमासत। तथा चोक्तम्–''पिव खाद च साधु शोभने ! यदतीते वरगात्रि! तत्र ते। न हि भीरु! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम्'' ॥१॥ तदेवं परलोकयायिनो जीवस्याऽभावान्न पुण्यपाये स्तः, नापि परलोक इत्येवं येषां पक्षस्ते लोकायतिकास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो, नैवैतद्वक्ष्यमाणं प्रतिवेदयन्ति अभ्युपगच्छन्ति। तद्यथा–क्रियां वा सदनुष्ठानाऽऽत्मिकाम्, अ क्रियां वा असदनुष्ठानरूपाम्। एवं नैव ते विप्रतिवेदयन्ति–यदि हि आत्मा तत्क्रियावान्न कर्मणो भोक्ता स्यात्ततः पापभयात्सदभुष्ठानचिन्ता स्यात्, तदभावाच्च सत्क्रियादिचिन्ताऽपि दूरोत्सारितैव। तथा सुकृतं दुष्कृतं वा कल्याणमिति पापमिति वा साधुकृतमसाधुकृतमित्यादिका चिन्तैव नास्ति। तथाहि– सुकृतानां कल्याणविपाकिनां साधुतयाऽवस्थानं, दुष्कृतानां च पापविपाकिनामसाधुत्वेनावस्थानमेतदुभयमपि सत्वात्मनि तत्फलभुजिसंभवति, तदभावाच्च कुतोऽनर्थकौ हिताहितप्राप्ति परिहारौ स्याताम्? तथा सुकृतेन कल्याणेन साध्वनुष्ठानेनाशेषकर्मक्षयरूपा सिद्धिः, तथा दुष्कृतेन पापानुबन्धिना असाध्वनुष्ठानेन नरको, नरके वा तिर्यक्नरामरगतिलक्षणं स्यादित्येववमात्मिका चिन्तैव न भवेत्, तदाधारस्याऽऽत्मसद्भावस्यानभ्युपगमादिति भावः। पुनरपि लोकायतिकानुष्ठानदर्शनायाऽऽह–(एवं ते इत्यादि) एव–मनन्तरोक्तेन प्रकारेण ते नास्तिका आत्माभावं प्रतिपाद्य विरूपं नानाप्रकारं रूपं स्वरूपं येषां ते, तथा कर्मसमारम्भाः सावद्यानुष्ठानरूपाः पशुघातमांसभक्षणसुरापाननिर्लाञ्छनाऽऽदिकाः, तैरेवंभूतैर्नानाविधैः कर्मसमारम्भैः कृषीवलानुष्ठामाऽऽदिभिर्विरूपकान् कामभोगान् समारभन्ते समाददति तदुपभोगार्थमिति ॥१७॥

साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतमुपक्षंजिघृक्षुः प्रस्ता-
वमारचयन्नाह-

एवं चेगे पागब्भिया णिक्खम्म मामगं धम्मं पन्नवेंति, तं सद्द-हमाणा तं पत्तियमाणा तं रोयमाणा साहु सुयक्खाए समणे ति वा माहणे ति वा कामं खलु आउसो ! तुमं पूययामि। तं जहा-असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा, तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु ॥१८॥

मूर्तिमतः शरीरादन्यदमूर्तं ज्ञानमात्मन्यनुभूयते, तस्य चामूर्तत्वेन गुणिना भाव्यमतः शरीरात्पृथग्भूत आत्माऽमूर्तो ज्ञानवत्तदाधारभूतोऽस्तीति। न चात्माऽभ्युपगममन्तरेण तज्जीवतच्छरीरवादिनः किञ्चिद्विचार्यमाणं मरणमुपपद्यते। दृश्यन्ते च तथा-भूत एव शरीरे म्रियमाण मृताश्च। कुतः समागतोऽहं, कुत्र चेदं शरीरं परित्यज्य यास्यामि? तथेवं मे शरीरं पुराणं कर्मेत्यधमाधिकाः शरीरात्पृथग्भावेनाऽऽत्मनि संप्रत्यया अनुभूयन्ते। तदेवमपि स्वानुभवसिद्धेऽप्यात्मनि एके केचन नास्तिकाः पृथक् जीवास्तित्वमश्रद्दधानाः प्रागल्भिकाः प्रागल्भ्येन चरन्ति, धृष्टतामापन्ना अभिदधति। तद्यथा-अवमात्मा शरीरत्पृथग्भूतः स्यात्ततः संस्थानवर्णगन्धरससस्पर्शान्यतमगुणोपेतः स्यात्। न च ते वराकाः स्वदर्शनानुरागान्धतमसाऽऽवृतदृष्टय एतद्विदन्ति। तथा-मूर्त्तस्यायें धर्मो, नामूर्तस्य, न हि ज्ञानस्य संस्थानाऽऽदयो गुणाः संभाव्यन्ते। न च तत्तदभावेऽपि नास्तीत्येवमात्माऽपि संस्थानाऽऽदि-गुणरहि-तोऽपि विद्यत इति। एवं युक्तियुक्तमप्यात्मानं धार्ष्ट्यान्नाभ्युपग-च्छन्ति। तथा निष्क्रम्य च स्वदर्शनविहितां प्रव्रज्यां गृहीत्वा नाऽन्यो जीवः शरीराद्विद्यत इत्येवं यो धर्मो मदीयोऽयमित्येवमभ्युपगम्य स्वतोऽपरेषां च तं तथाभूतं धर्मं प्रतिपादयन्ति; यद्यपि लोकायतिकानां नास्ति दीक्षाऽऽदिकं, तथाऽप्यपरेण शाक्याऽऽदिना प्रव्रज्याविधानेन प्रव्रज्य पश्चाल्लोकायतिकमधीयानस्य तथावि-धपरिणतेस्तदेवा-भिरुचितमतो मामकोऽयं धर्मः स्वयमभ्युपगच्छन्त्यन्येषां च प्रज्ञापयन्ति। यदि वा-नीलपटाऽऽद्यभ्युपगन्तुः कश्चिदस्त्येव प्रव्रल्याविशेष इत्यदोष इति। साम्प्रतं तत्प्रतिज्ञापितशिष्यव्यापारमधिकृत्याऽऽह-(तं सद्दहमाणे इत्यादि) तं नास्तिकवाद्युपन्यस्तं धर्मं विषयिणामनुकूलं श्रद्दधानाः स्वमतावतिशयेन रोचयन्तस्तथा प्रतिपादयन्तोऽवितथभावेन गृह्णन्तस्त-था तत्र रुचिं कुर्वन्तस्तथा साधु शोभनमेसद्यथा स्वाख्यातं यथाऽवस्थितो भवतो धर्मोऽन्यथा सति हिंसाऽऽदिष्वप्रवर्तमानः पर-लोकभवात्सुखसाधनेषु मांसमद्याऽऽदिष्वप्रवृत्तिं कुर्वन्तो मनुष्य-जन्मफलवर्जिता भवेयुः। ततः शोभनमकारि भवता हे श्रमण! ब्राह्मण! इति वा यदयं तज्जीवतच्छरीरधर्मोऽस्माकमावेदितः, काममिष्टं तदस्माकं धर्मकथनम्। खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे। हे आयुष्मन्! त्वया वयमभ्युद्रताः कार्पटिकैस्तीर्थिकैर्वञ्चिताः स्युरिति। तस्मादुपकारिणं त्वां भवन्तं पूजयाम्यऽहमपि कश्चिदायुष्मतो भगवतः प्रत्युपकारं करोमि। तदेव दर्शयति। तद्यथा-(असणेत्यादि) सुगमम्। यावत्पादपुञ्छनकमिति। तत्रैके पूर्वोक्तया पूजया पूजायां वा (समाउट्टिंसु त्ति) समावृताः प्रह्वीभूतास्ते राजानः पूजां प्रति प्रवृत्तास्तदुपदेष्टारो वा पूजामध्युपपन्नाः सन्तस्तं राजादिकं स्वदर्शनप्रतिपन्नमेके केचन स्वदर्शनस्थित्वा हिताहि-तप्राप्तपरिहारेषु निकाचितवन्तो नियमितवन्तः। तथाहि-भवतेदं तच्छरीरमित्यभ्युपगन्तव्यमन्यो जीवोऽन्यच्च शरीरमित्येतत् परित्याज्यम्, अनुष्ठानमपि एतदनुरूपमेतद्विधेयमित्येवं निकाचितवन्त इति ॥१८॥

पुव्वमेव तेसिं णायं भवति-समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो पावं कम्मं णो करिस्सामि समुट्ठिए ते अप्पणो अप्पडिविरया भवंति, सयमाइयंति, अन्ने वि आदियावें ति, अन्नं पि आयंतं तं समणु-जाणंति, एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागद्दोसवसट्टा ते णो अप्पाणं समुच्छेदें ति, ते णो परं समुच्छेदेंति, णो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदें ति, पहीणा पुव्वसंजोगं आयरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसन्ना इति पढमे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरए ति आहिए ॥१९॥

तत्र ये भागवताऽऽदिकं लिङ्गमभ्युपगताः पश्चाल्लोकायतग्रन्थश्रवणेन लोकायताः संवृत्ताः, तेषामादौ प्रव्रज्याग्रहणकाल एवैतत्परिज्ञातं भवति। तद्यथा-परित्यक्तपुत्रकलत्राः श्रमणा यतयो भविष्यामः, अनगारा गृहरहिताः, तथा निष्किञ्चनाः किञ्चन द्रव्यं तद्रहिताः, तथाऽपशवो गोमहिष्यादिरहिताः, परदत्तभोजिनः स्वतः पचनपाचनाऽऽदिक्रिया-रहितत्वात्, भिक्षणशीला भिक्षवः, किंयद्बक्ष्यते-अन्यदपि यत्किञ्चित्पापं सावद्यं कर्मानुष्ठानं तत्सर्वं न करिष्यामीत्येवं सम्यगुत्थानेनोत्थाय पूर्वं पश्चाल्लोकायतिकमुपगता आत्मनः स्वतःकर्मभ्योऽप्रतिविरता भवन्ति। विरत्यभावेऽपि यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयति। पूर्वं सावद्याऽऽरम्भान्निवृत्तिं विधाय नीलपटाऽऽदिकं च लिङ्गमास्थाय च स्वयमात्मना सावद्यमनु-ष्ठानमा-ददते स्वीकुर्वन्ति, अन्यान्यप्यादापयन्ति ग्राहयन्ति, अन्यमप्यादानं परिग्रहं स्वीकुर्वन्तं समनुजानन्ति। एवमेव पूर्वोक्तप्रकारेण स्त्रीप्रधानाः स्त्रियोपलक्षिता वा, काम्यन्त इति कामाः, भुज्यन्त इति भोगास्तेषां स्नातबहुलतयाऽजितेन्द्रियाः सन्तः, तेषु कामभोगेषु मूर्छिता एकीभावता-मापन्ना गृद्धाः काङ्क्षावन्तो ग्रथिता अवबद्धा अध्युपपन्ना आधिक्येन भोगेषु, लुब्धा रागद्वेषार्त्ता रागद्वेषवशगाः कामभोगान्धा वा, त एवं कामभोगेषु आश्रवबद्धाः सन्तो नात्मानं संसारात्कर्मपाशाद्वा समुच्छेदयन्ति मोचयन्ति, नाऽपि परं सदुपदेशदानतः कर्मपाशावपाशितं समुच्छेदयन्ति कर्मबन्धात् त्रोटयन्ति, नाप्यन्यान् दशविधप्राणवर्त्तिनः-प्राणान् प्राणिनः, तथा चाऽभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च भूतानि, तथा वा आयुष्कधारणाज्जीवास्तान्, तथा सत्त्वांस्तधाविधवीर्यान्तरायक्षयो-पशमाऽऽपादितवीर्यगुणोपेतोस्तान् समुच्छेदयन्ति, असदभिप्रायप्रवृत्त-त्वात्। ते चैवंविधास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो लोकायतिका अजितेन्द्रिय-तया कामभोगावसक्ताः पूर्वसंयोगात्पुत्रदाराऽऽदिकात्प्रहीणाः प्रभ्रष्टाः, आराद् याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गः सदनुष्ठानरूपः तमसंप्राप्ता इत्येवं पूर्वोक्तया नीत्या ऐहिकाऽऽमुष्मिकलोकद्वयसदनुष्ठानभ्रण

अन्तराल एव भोगेषु विषण्णास्तिष्ठन्ति । न विवक्षितं पाण्डरीकोत्क्षेपणोऽऽदिकं कार्यं प्रसाधयन्तीति । अयं च प्रथमः पुरुषस्तज्जीवतच्छरीरवादी परिसमाप्त इति ॥१६॥ सूत्र० १श्रु० ४अ०२उ०।

तज्जेमाण त्रि०(तर्जयत्) ज्ञास्यथ रे! यन्ममेदं वचनं दत्स्वेत्येवं भीषयति, विपा०१ श्रु० १अ०।

तटाग पुं०(तडाग) तड–नि०। **''चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययो–रद्यद्वितीयौ''** ॥८।४।३२५॥ इति चूलिकापैशाचिके भाषायां डकारस्य टकारः। औ०।

***तटाक** पुं०। तटमकति। 'अक' वक्रगतौ, अण्। तडागे, जलाशय–भेदे, वाच०।

***तमाक** पुं०। ताड्यते आहन्यते तटोऽनेन। 'तड'–आकन्। नि०। जलाऽऽशयभेदे, तडागे च। वाच०।

तट्टिया स्त्री०(तट्टिका) वोट्टिकानां धर्मोपकरणभेदे, आचा०१ श्रु०२ अ०५उ०।

तट्टी (देशी) वृतौ, दे०ना०५ वर्ग १ गाथा।

तट्ठ त्रि०(तत्स्थ) तस्मिन् तिष्ठतीति तत्स्थः। तस्मिन् स्थिते, आचा० १ श्रु० १अ०३उ०।

***तट्ट** न०। घट्टिते, सूत्र०१ श्रु० ७ अ०।

तट्ठा पुं०(त्वष्टृ) चित्रानक्षत्राधिष्ठातरि देवे, अनु०। ''दो तट्ठा।'' स्था०२ ठा०३उ०। जं०। पा०। त्वष्टुरपत्ये, वृत्रासुरे, पुं०। संज्ञानाम्न्यां सूर्य्यपत्न्थाम्, स्त्रीयां ङीष्। त्वष्टादेवताऽधिष्ठातृचित्रानक्षत्रे, वाच०।

तड त्रि०(तट) तट–अच्। वाच०। कूवे, आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ०। नि०चू०। समीपवर्तिनोऽत्युन्नतप्रदेशे, रा०। नद्यास्तीरे च। अमरमते–स्त्रियां ङीप्। वाच०।

***तट** धा०। उच्छ्राये, भ्वादि०। वाच०।

***तड** धा०। आहितौ, वाच०।

***तन** धा० विस्तृतौ, तना०–उभ०–सक०–सेट्। वाच०। **''तनेस्तड–तडु–तडुव–विरल्लाः''** ॥८।४।१३७॥ इतितन धातोस्तड इत्यादेशः। तडइ। पक्षे–तणइ। प्रा०४ पाद।

तडउमा स्त्री०(तडउडा) आउल्याम्, जं० १ वक्ष०। आउलिवृक्षे, दे०ना० ५ वर्ग ५ गाथा।

तहउमाकुसुम न०(तहउडाकुसुम) आउलीपुष्पे, जी०३ प्रति०४ उ०। आ०म०।

तडतडण न०(स्फुट) स्फुटने, ''तडवडस्स भज्जंति भज्जणे कलं–वुवालगा पड्डे।'' (तडमतडि त्ति) स्फुटतः। सूत्र०१ श्रु० ५ अ०१ उ०।

तडतमंत त्रि०(तडतडत्) तडतडेत्येवंध्वनिं विदधाने, ज्ञा०१ श्रु० ६ अ०।

तडफडिअ (देशी) परितश्चलिते, दे०ना०५ वर्ग ६ गाथा।

तडमड (देशी) क्षुभिते, दे०ना० ५ वर्ग ७ गाथा।

तडागमह पुं०(तडागमख) तडागयज्ञे, ''अगडमहेसु वा तडागमहेसु वा दहमहेसु वा।'' आचा०२ श्रु० १ चू०१ अ०२ उ०।

तडितडिय स्त्री०(तडित्तडित्) विस्तारितविद्युति, औ०।

तडिय स्त्री०(तडित्) ताडयत्यभ्रम्। चुरा०–तड–नि०–ह्रस्वः। वाच०। विद्युति, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०।

तडी स्त्री०(तटी) **''डो लः''** ॥८।१।२०२॥ इति क्वचिन्न भवत्येवैत्युक्तेर्डस्य लो न भवति। प्रा०१ पाद। नद्यादीनां तटेषु, नि०चू०१ उ०। विच्छिन्नटङ्कायाम्, ''आउत्ते रीयाती, तडिसकमउवहिसंथारे।'' नि०चू०१ उ०।

तण न०(तृण) तरन्तीति तृणाति औणादिको नक्, ह्रस्वत्वं च। उत्त०२अ०। **''ऋतोऽत्''** ॥८।१।१२६॥ इति आदेर्ऋकारस्याऽत्वम्। प्रा०१ पाद। कुशाऽऽदौ, आचा०१ श्रु० ६अ०३ उ०। सूत्र०। जं०। उत्त०।

से किं तं तणा? तणा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा–
''सेमिय गंतिय होत्तिय, दब्भकुसे पव्वए य पोडइला।
अज्जुण असाढए रोहियंसि सुयवेयँ खीरभुसे ॥१॥
एरंडे कुरुविंदे, करकयँ सुंठे तहा विमंगू य।
महुरतण छुरय सिप्पव, बोधव्वे सुंकलितणे य ॥२॥''
जे यावण्णे तहप्पगारा। सेत्तं तणा। प्रज्ञा० १पद।

दर्भवीरणाऽऽदौ, दश०८ अ०। भ०। आचा०। कुशवर्चकाऽऽदौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। कुशजञ्जुकार्जुनाऽऽदौ, जी०१ प्रति०। दूर्वाऽऽदौ, प्रज्ञा०१ पद। दर्भकुशाऽऽदौ, भ० १५ श०। ''कुसं च जूणं तणकट्ठमग्गिं।'' उत्त० १२ अ०। कुशदर्भवर्चकार्जुनसुरभिकुरु–विन्दाऽऽदौ, आचा०१ श्रु० १अ०५उ०। ''तृण'' भक्षणे, धा०। वाच०। उत्पले, दे०ना० ५ वर्ग १ गाथा।

तन धा० विस्तृतौ, तना०। उपकारे, वाच०।

तणग न०(तृणक) तृणविशेषे, सूत्र०२ श्रु० २अ०।

तणगहण न०(तृणग्रहण) तृणानां व्रीहिपलालाऽऽदीनां ग्रहणं तृणग्रहणम्। व्रीहिपलालाऽऽदेरादाने, प्रव० ६१ द्वार।

तणग्ग न०(तृणाग्र) तृणस्योपरितने पूलिते भागे, नि०चू०१उ०।

तणघर न०(तृणगृह) दर्भाऽऽदितृणमये, गृहे, व्य०४ उ०।

तणच्छाह स्त्री०(तृणच्छाया) संकुच्छायायाम्, अनु०।

तणट्ठाण न०(तृणस्थान) दर्भाऽऽदितृणशालायाम्, यत्र दर्भाऽऽदीनि स्थाप्यन्ते। नि०चू० १उ०।

तणपणग न०(तृणपञ्चक) तृणानि च पशोपयोगीनि। ध० २अधि०।

तणपणगं पुण भणियं, जिणेहिँ जियरागदोसमोहेहिं।
सालीवीहीकोद्दव–रालयऽरन्नेतणाहिं च ॥६८२॥

तृणपञ्चकं पुनर्भणितं जिनैर्जितरागद्वेषमोहैर्यथा शालिव्रीहिक–कोद्रवरालकसंबन्धीनि तृणानि पलालप्रायाणि अरण्ये अरण्यविषयाणि च। तत्र शालयः कलमशालिप्रभृतयः, व्रीहयः षष्टिकाऽऽदयः, कोद्रवो धान्यविशेषः प्रतीतः, रालकः कङ्गुविशेषः, आरण्यतृणानि श्यामाकप्रमुखाणि ॥६८२॥ प्रव०८२द्वार। जीत०। दश०। पा०। आव०। नि०चू० बृ०। (तृणपञ्चकाऽऽदिषु दोषाः, तथा प्रायश्चित्तं च 'झुसिर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६७५ पृष्ठे गतम्)

तणफास पुं०(तृणस्पर्श) तृणानां कुशाऽऽदीनां स्पर्शः। आचा० १ श्रु० ६ अ०२ उ०। सप्तदशतमे परीषहे, प्रश्न० ५ संव० द्वार। आचा०। उत्त०।

तणफासपरीसह पुं०(तृणस्पर्शपरीषह) तरन्तीति तृणाति वा औणादिकी नक्प्रत्ययो, ह्रस्वत्वं च। तेषां स्पर्शस्तृणस्पर्शः, स एव परीषहस्तृणस्पर्शपरीषहः। उत्त०२अ०। अशुषिरतृणस्य दर्भाऽऽदेः परिभोगोऽनुज्ञातो हि गच्छनिर्गतानां, गच्छवासिनां यतीनां च, तत्र येषां शयनमनुज्ञातं ते तान् दर्भान् भूमावीषदार्द्रताऽऽदियुक्तायामास्तीर्य संस्तारोत्तरपट्टकौ च दर्भाणामुपरि विधाय शेरते। चौरापहृतोपकरणो वाऽत्यन्तजीर्णत्वात् प्रतनुसंस्तारकपट्टो वा तदुपरि शेते, तत्र च शयानस्य यद्यपि कठिनतीक्ष्णाग्रभागैस्तृणैरत्यन्तपीडा समुपजायते, तथापि परुषदर्भाऽऽदितृणस्पर्शं सम्यक् सहेतेति। प्रव० ८६ द्वार। आव०। कादाचित्कतृणग्रहणे तत्संस्पर्शजन्यदुः खाधिसहने, भ० ८ श० ८ उ०। प्रव०। तथा चोक्तम्– ''अहताल्पाणुचेलत्वे, कादाचित्कं तृणाऽऽदिषु। तत्संस्पर्शोद्भवं दुःखं, सहेदिच्छेद् न तान्मृदून्॥१॥'' आ०म०१ अ०२ खण्ड। ''अभूताल्पाणुचेलत्वे, संस्तृतेषु तृणाऽऽदिषु। सहेत दुःखं तत्स्पर्श–भवमिच्छेन्न तान्मृदून्'' ॥३॥ ध० ३अधि०।

एतदेव सूत्रकृदप्याह–

नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्ठिए।
अदीणो थावए पन्नं, पुट्ठो तत्थऽहियासए॥३२॥
तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खऽत्तगवेसए।
एवं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे॥३३॥
अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सयमाणस्स, होज्जा गायविराहणा॥३४॥

अचेलकस्य रूक्षस्य संयतस्य तपस्विन इति प्राग्वत्। तरन्ति तृणाति दर्भाऽऽदीनि तेषु, शयानस्य, उपलक्षणत्वादासीनस्य वा भवेत्, गात्रस्य शरीरस्य विराधना विदारणा गात्रविराधना, अचेलकत्वाऽऽदीनि त तपस्विविशेषणानि, मा भूत्सचेलस्य तृणस्पर्शासंभवेनारूक्षस्य, तत्संभवेऽपि स्निग्धत्वेनासंयतस्य च शुषिरहरिततृणोपादानेन तथाविधगात्रविराधनाया असंभव इति।

ततः किमित्याह–

आयवस्स निवाएणं, तिउला हवइ वेयणा।
एतं नच्चा न सेवंति, तंतुजं तणतज्जिया॥३५॥

आतपस्य धर्मस्य नितरां पातो निपातः, तेन (तिउल त्ति) सूत्रत्वात्तोदिका। यद्वात्रीन् प्रस्तावाद् मनोवाक्कायान् विभाषितत्वाच्छुराऽऽदीनां दलन्तीव स्वरूपचलनेन त्रिदुला। पाठान्तरतस्तु–अतुला विपुला वा, भवति वेदना। एवं च किमित्याह–एतदनन्तरोक्तं, पाठान्तरत एवं, ज्ञात्वा न सेवन्ते न भजन्ते, आस्तरणायेति गम्यते। तन्तुभ्यो जातं तन्तुजम्, पठ्यते च–(तंतयं ति) तत्र तन्त्रं वेमविलेख्यन्यच्छनिकाऽऽदि, तस्माज्जातं तन्त्रजम्, उभयत्र वस्त्रं, कम्बलो वा, तृणैस्तर्जिता निर्भर्त्सितास्तृणतर्जिताः। किमुक्तं भवति–यद्यपि तृणैरत्यन्तविलिखितशरीरस्य रविकिरणसंपर्कसमुत्पन्नखेदवशतः क्षतक्षारनिक्षेपरूपेव पीडोपजायते, तथाऽपि–

''प्रदीप्ताङ्गारकल्पेषु, वज्रकुण्डेष्वसन्धिषु।
कूजन्तः करुणं केचित्, दह्यन्ते नरकाग्निना॥१॥
अग्निभीताः प्रधावन्तो, गत्वा वैतरणीं नदीम्।
शीततोयामिडां ज्ञात्वा, क्षाराम्भसि पतन्ति ते॥२॥
क्षारदग्धशरीराश्च, मृगवेगोत्थिताः पुनः।
असिपत्रवनं यान्ति, छायायां कृतबुद्धयः॥३॥
शक्त्यसिप्रासकुन्तैश्च, खड्गतोमरपट्टिशैः।
विध्यन्ते कृपणास्तत्र, पतद्भिर्वातकम्पितैः॥४॥

इत्यादिका इतराश्च नरकेषु परवशेन मयाऽनुभूता वेदनाः, तत्क्वियतीयम्? भूयांश्च लाभः स्ववशस्य सम्यक् सहन इति परिभावनातो न तत्परिजिहीर्षया वस्त्रं कम्बलाऽऽदिकमुपाददते। जिनकल्पिकापेक्षं चैतत्, स्थविरकल्पिकाश्च सापेक्षसंयमत्वात् सेवन्तेऽपीति सूत्रार्थः। उत्त० २ अ०।

अत्र संस्तारद्वारमनुसरन् ''तिउला भवति वेयणा'' इति सूत्रसूचितमुदाहरणमाह–

सावत्थीऍ कुमारो, भद्दो सो चारिओ त्ति वेरज्जे।
खारेण तच्छियंगो, तणफासपरीसहं विसहे।५२। उत्त०नि०।

श्रावस्त्यां कुमारो भद्रः, स चारिकश्चर इति वैराज्ये क्षारेण तक्षिताङ्गः तृणस्पर्शपरीषहं (विसह त्ति) विषहते, स्मेति शेषः। इति गाथार्थः॥५२॥ भावार्थस्तु संप्रदायादवसेयः। स चायम्– ''सावत्थीए नयरीए जियसत्तुरन्नो पुत्तो भद्दो नाम, सो निव्विण्णकामभोगो तहारूवाणं थेराणमंतिए पव्वतितो, कालेण एगल्लविहारपडिमं पडिवन्नो, सो विहरंतो वइरज्जे चारिओ त्ति काऊण गहितो, सो य पंतोवेऊण खारेण तच्छिओ, सो दब्भेहिं वेढिऊण मुक्को, सो दब्भेहिं लोहियसंमीलिएहिं दुक्खा तिज्जंतो सम्मं सहति।'' एवं शेषसाधुभिरपि सम्यक् सोढव्यस्तृणस्पर्शपरीषहः। उत्त०२ अ०।

तणफासपरीसविजय पुं०(तृणस्पर्शपरीषहविजय) तृणस्पर्शपरीषहविजये, पं०सं०। स चैवम्–गच्छवासिनां गच्छनिर्गतानां वा शुषिरस्य दर्भाऽऽदेस्तृणस्य परिभोगः समनुज्ञातो भगवता, तत्र येषां दर्भाऽऽदितृणानामुपरि शयनमनुज्ञातं स्वगुरुभिः, तेषां दर्भाऽऽदितृणानामुपरि संस्तारकोत्तरपट्टौ निधाय शेरते। अथवा–चौरापहृतोपकरणो यदि वाऽतिजीर्णतया व्यपगतसंस्तारकोत्तरपटो दर्भाऽऽदितृणान्यास्तीर्य शेते, तत्र यत्तृणस्पर्शसम्यगधिसहनं स तृणस्पर्शपरीषहविजयः। पं०सं०२द्वार।

तणभार पुं०(तृणभार) तृणभारके, भ०८ श०६ उ०। बध्यमानतृणसमूहे, वाच०।

तणमुद्दिआ (देशी) अङ्गुलीयके, दे०ना० ५ वर्ग ६ गाथा।

तणय पुं०(तनय) तनोति कुलम्। तन्–कयन्। पुत्रे, दुहितरि, वक्रकुल्यायाम्, लतायाम्, घृतकुमार्यां च। स्त्री०–टाप्। वाच०। आ०म०।

तणरासी (देशी) प्रसारिते, दे०ना० ५ वर्ग ६ गाथा।

तणवणस्सइ पुं०(तृणवनस्पति) बादरवनस्पतिभेदे, भ०७ श० ६ उ०।

तणवणस्सइकाइय पुं०(तृणवनस्पतिकायिक) तृणवद्वनस्पतयस्तृणवनस्पतयः। स्था० १० ठा०। बादरवनस्पतिकायिकभेदे, भ० ७ श० ६ उ०।

दसविहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता । तं जहा–मूले,कंदे, ०जाव पुप्फे, फले, बीए ।।

(दसेत्यादि) तृणवद्वनस्पतयस्तृणवनस्पतयः, तृणसाधर्म्यं च बादरत्वेन, तेन सूक्ष्माणां न दशविधत्वमिति । मूलं जटाः कन्दः स्कन्धाऽधोवर्ती। यावत्करणात्– ''खंधे'' इत्यादीनि पञ्च द्रष्टव्यानि। तत्र स्कन्धः स्थुडमिति यत्प्रतीतं, त्वक् वल्कः, शाला शाखा, प्रवालमङ्कुरः, पत्रं पर्ण, पुष्पं कुसुमं, फलं प्रतीतं, बीजं मिञ्जेति दशस्थानकाधिकार एव। स्था०१० ठा०।

इदमपरमाह–

तिविहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता । तं जहा–संखेज्जजीविया, असंखेज्जजीविया, अणंतजीविया ।।

(तिविहेत्यादि) तृणवनस्पतयो, बादरा इत्यर्थः । संख्यातजीविकाः सङ्ख्यातजीवाः, यथा नालिकाबद्धकुसुमानि, जात्यादीनीत्यर्थः । असङ्ख्यातजीविकाः–यथा निम्बाम्नाऽऽदीनां मूलकन्दस्कन्दत्वक् शाखाप्रवालाः, अनन्तजीविकाः पनकाऽऽदय इति। इह प्रज्ञापनासूत्राण्यपीत्थम्–

''जे केइ नालियाबद्धा, पुप्फा संखेज्जजीविया।
णिहुया अणंतजीवा, जे यावन्ने तहाविहा ।।१।।
पउमुप्पलनलिणाणं, सुभगसोगंधियाण य।
अरबिंदकोंकणाणं, सयवत्तसहस्सवत्ताणं ।।२।।
विंटं बाहिरपत्ता, य कन्निया चेव एगजीवस्स।
अब्भिंतरगा पत्ता, पत्तेयं केसरं मिंजा''।।३।।

तथा–

''लिंबं व जंबु कोसं–बसालअंकोल्लपीलुसल्लूया।
सल्लइमोथइमालुय–वउलपलासे करंजे य''।।४।। इत्यादि।

''एएसिं णं मूला वि असंखिज्जजीविया, कंदा, वि, खंदा वि, तया वि, साला वि, पवाला वि, पत्ता पत्तेयजीविया, पुप्फा अणेगजीविया, फला एगट्ठिय त्ति।'' अनन्तरं वनस्पतय उक्ताः,ते च जलाऽऽश्रया बहवो भवन्तीति। स्था०३ ठा०१उ०।

वनस्पतिमेव प्ररूपयन्नाह–

चउव्विहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता । तं जहा–अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया ।।

(चउव्विहेत्यादि) वनस्पतिः प्रतीतः, स एव कायः शरीरं येषां ते वनस्पतिकायाः, त एव वनस्पतिकायिकाः, तृणप्रकारा वनस्पतिकायिकास्तृणवनस्पतिकायिकाः, बादरा इत्यर्थः । अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः कोरण्टकाऽऽदयः, अग्रे वा बीजं येषां ते अग्रबीजा व्रीह्यादयो, मूलमेव बीजं येषां ते मूलबीजा उत्पलकन्दाऽऽदयः, एवं पर्वबीजा इक्ष्वादयः, स्कन्धबीजाः शल्लक्यादयः, स्कन्धः थुडमिति। एतानि च सूत्राणि नान्यव्यवच्छेदनपराणि, तेन बीजरुहसम्मूर्च्छनजाऽऽदीनां नाभावो मन्तव्यः,सूत्रान्तरविरोधादिति । अनन्तरं वनस्पतिजीवानां चतुःस्थानकमुक्तम्। स्था०४ ठा०१उ०।

पंचविहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता । तं जहा–अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया,खंधबीया, बीयरुहा।

(तणवणस्सइ त्ति) तृणवनस्पतयो बादरवनस्पतयोऽग्रबीजाऽऽदयः क्रमेण कोरण्टका उत्पलकन्दा वंशाः शल्लक्यो जटा एवमादयः । व्याख्यातं चैतत्प्रागिवेति। स्था० ५ ठा०२उ०।

छव्विहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता । तं जहा–अग्गबीया, मूलबीया, पारेबीया, खंधबीया, बीयरुहा, संमुच्छिमा।

तृणवनस्पतिकायिका बादरा इत्यर्थः । मूलबीजा उत्पलकन्दाऽऽदय इत्यादि व्याख्यातमेव; नवरं संमूर्च्छिमा दग्धभूमौ बीजासत्त्वेऽपि ये तृणाऽऽदय उत्पद्यन्ते, यथाऽधिकृताध्ययनावतारं प्ररूपिता जीवाः। स्था०६ ठा०।

तणवरंडी (देशी) उड्डपे,दे०ना० ५ वर्ग ७ गाथा।

तणविंटय पुं०(तृणवृन्तक) त्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा०१ पद। जी०।

तणवैंटय पुं०(तृणवृन्तक) 'तणविंटय' शब्दार्थे, प्रज्ञा०१पद। जी०।

तणसूअ पुं०।न०(तृणशूक) तृणाग्रे,भ०८ श०६उ०।

तणसोल्लिया स्त्री०(तृणसोल्लिका) मल्लिकायाम्, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। जं०।

तणसोल्ली (देशी) मल्लिकायाम्, दे०ना० ५ वर्ग ६ गाथा।

तणहार पुं०(तृणहार) त्रीन्द्रियजीवविशेषे, जी०१ प्रति०। उत्त०। प्रज्ञा०।

तणु स्त्री०(तनु) **''स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे''** ।।८।४।३२९।। इति अपभ्रंशे स्वरस्य स्वर एव । प्रा०४ पाद । देहे, आव०४ अ०। कर्म०। प्रव०। तं०। आ०म०। मूर्त्तौ, वाच०। सूक्ष्मे, त्रि०। कल्प०२ क्षण। प्रश्न०। तं०। औ०। स०। अल्पे, विरले, कृशे च। स्त्रियां वा ङीष्। तन्वी। तनुः। वाच०। लघुपरिमाणे, न०। जी०३प्रति०।

तणुअ त्रि०(तनुक) तनुरेव तनुकः। कृशे, आव० ५ अ०। स्वरूपेण कृशे, पञ्चा० १६ विव०। स्तोके, जीत०। सुजरे, भ० १५ श०। लघुसुजरे, ज्ञा०१ श्रु० १२ अ०।

***तनुज** त्रि०। तनुः शरीरं, तस्माज्जातस्तनुजः । उत्त० १४ अ०। शरीरादुत्पन्ने, उत्त० १४ अ०।

तणुअंत न०(तन्वन्त्र) सूक्ष्मान्त्रे, ''तणुयंते तेण पासवणे परिणमइ।'' तेन प्रस्रवणं मूत्रं परिणमति। तं०।

तणुअट्ठ न०(तन्वष्ट) तनुशब्देनोपलक्षितमष्टकम्– ''तणुवंगागि–इसंघयणजाइगइखगइपुव्वी'' इति गाथाऽवयवेन प्रतिपादिते अष्टके, कर्म०। ''तणुअट्ठ०–''(१६) तनुशब्देनोपलक्षितमष्टकम् ''तणुवंगागिइ संघयण जाइ गइ खगइ पुव्वी ''(३) इति गाथाऽवयवेन प्रतिपादितं तन्वष्टकम् । तत्र तनंवस्तैजसकार्मणयोरपरावर्तमानासु प्रतिपादितत्वात् शेषा औदारिकवैक्रियाऽऽहारकरूपास्तिस्रः। उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः षट्, संहननानि षट्, जातयः पञ्च, चतस्रो गतयः, खगतिद्वयम्, आनुपूर्वी चतुष्कमिति। तन्वष्टकशब्देन च त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयो गृह्यन्ते। (१६) कर्म०५ कर्म०।

तणुई स्त्री०(तन्वी) ईषत्प्राग्भारायास्तृतीये नाम्नि, स्था० ८ठा०।

तणुकायकिरिय त्रि०(तनुकायक्रिय) तन्वी उच्छासनिःश्वासाऽऽदिलक्षणाः कायक्रिया यस्य स तथा। सूक्ष्मोच्छ्वासनिः श्वासाऽऽदिलक्षणव्यापारवति, आव०४ अ०।

तणुग न०(तनुक) शरीरे, जं०३वक्ष०। सूक्ष्मे, जं०२ वक्ष०।

तणुजोग पुं०(तनुयोग) तनोति विस्तारयतस्मिंप्रदेशानस्यामिति तनुरौदारिकाऽऽदिशरीरं, तया सहकारिकरणभूतया योगस्तनुयोगः। तनुविषयो वा योगस्तनुयोगः। कर्म०४ कर्म०। कायिके योगे, न मनोवाग्द्रव्याणामुपादानं करोति स कायिको योगः। ''किं पुण तणुसंरंभेण तेण मुंचइ स वाइओ जोगो। मण्णइ स माणसीओ, तणुजोगो चेव य विभत्तो ॥१॥'' विशे०।

तणुणमिय त्रि०(तनुनमित) तनु कृशं नतं नम्नं तनुनतम्। ईषन्नम्रे, जं०२ वक्ष०।

तणुणाम न०(तनुनाम) तनोति जन्तुरात्मप्रदेशान् विस्तारयति यस्यां सा तनुः, तज्जनकं कर्मापि तनुः, सैव नाम तनुनाम। शरीरनाम्नि, कर्म०१ कर्म०।

तणुणिद्द त्रि०(तनुनिद्र) तन्वी स्तोका निद्रा यस्येति। अल्पनिद्रणशीले, बृ०१उ०।

तणुतणुइ स्त्री०(तनुतन्वी) अतितनुत्वात्तनुतनुः। ईषत्प्राग्भारायाश्चतुर्थे नाम्नि, स्था०८ ठा०।

तणुपणग न०(तनुपञ्चक) औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणलक्षणे, प्रव० ११६ द्वार।

तणुवग्गणा स्त्री०(तनुवर्गणा) तनूनामौदारिकाऽऽदिशरीराणां भेदाभेदपरिणामाभ्यां योग्यत्वाभिमुखास्तनुवर्गणाः। अथवा– पक्ष्यमाणमिश्रस्कन्धाचित्तस्कन्धद्वयस्य तनुदेहः शरीरं मूर्तिरिति यावत्, तद्योग्यत्वाभिमुखा वर्गणा तनुवर्गणा। द्रव्यवर्गणाभेदे, आ० म० १अ०१ खण्ड। (तद्वक्तव्यता 'वग्गणा' शब्दे)

तणुभू पुं०(तनुभू) शरीरादुत्पन्ने पुत्रे, आ०क०। दुहितरि, स्त्री०। देहजातमात्रे, त्रि०। वाच०।

तणुमाण न०(तनुमान) शरीरप्रमाणे, प्रव०१ द्वार।

पढमाए पुढवीए,नेरइयाणं तु होइ उच्चत्तं।
सत्तधणु तिन्नि रयणी, छच्चेव य अंगुला पुन्ना ॥९१॥
सत्तमपुढवीए पुण, पंचेव धणुस्सयाइ तणुमाणं।
मज्झिमपुढवीसु पुणो, अणेगहा मज्झिमं नेयं ॥९२॥

अवगाहते जीवोऽस्यामवगाहना, तनुः, शरीरमित्येकोऽर्थः। सा द्विधा– भवधारणीया, उत्तरवैक्रिया च। भवे नारकाऽऽदावायुः समाप्तिं यावदनवरतं धार्य्यतेऽसाविति भवधारणीया। स्वाभाविकशरीरग्रहणोत्तरकालं कार्यविशेषमाश्रित्य विविधा क्रियत इत्युत्तरवैक्रिया। एकैकाऽपि च द्विधाजघन्या, उत्कृष्टा च। तत्र प्रथमं तावत् प्रतिपृथिव्युत्कृष्टा भवधारणीयाऽवगाहना प्रोच्यतेप्रथमायां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नारकाणामुत्कर्षतो भवधारणीयावगाहनोच्चत्वं सप्तधनूंषि, तिस्रो रत्नयः, त्रयो हस्ता इत्यर्थः। षडेव चाङ्गुलानि पूर्णानि, उत्सेधाङ्गुलेन सपादैकत्रिंशदङ्गुलस्ता इति भावः। सप्तमपृथिव्यां पुनः पञ्चैव धनुः शतान्युत्कर्षतो नारकाणां तनुमानं शरीरोच्छ्रयः, मध्यमपृथिवीषु शर्कराप्रभाऽऽद्यासु तमःप्रभापर्यन्तासु पुनर्मध्यमं प्रथमसप्तमपृथिवीनारकतनुमानयोर्मध्यवर्ति अनेकधा पूर्वपूर्वपृथिवीषु उत्तरोत्तरपृथिवीषु द्विगुणं २ तनुमानभुत्कर्षतो ज्ञातव्यम्। तथाहि–रत्नप्रभानारकतनुमानात् द्विगुणं शर्कराप्रभायां पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानि देहमानम्। एवं बालुकाप्रभायामेकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः। पङ्कप्रभायां द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ। धूमप्रभायां पञ्चविंशं धनुःशतम्। तमः प्रभायां सार्द्धं द्वे धनुः शते। तमस्तमः प्रभायां पञ्चैव धनुःशतानीति। प्रव० १७६ द्वार।

तणुय त्रि०(तनुक) अग्रभागे, श्लक्ष्णे। (विशे०) प्रतरे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। सूक्ष्मे, वाच०।

***तनुज** पुं०। तनुःशरीरं तस्माज्जातस्तनुजः। उत्त० १४ अ०। पुत्रे, दुहितरि, स्त्री०। देहजातमात्रे, त्रि०। वाच०।

तणुयर त्रि०(तनुतर) अतिशयेन तनुस्तनुतरः। अतिसूक्ष्मे, मक्षिकापत्रादपि तनुतरः। आ०म०१अ०२खण्ड।

तणुरागंत पुं०(तनुरागान्त) सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकान्ते, क०प्र० १० प्रक०।

तणुल त्रि०(तनुल) तनुं शरीरं सुखस्पर्शतया लाति अनुगृह्णातीति तनुलम्। तनुसुखाऽऽदौ, जं०२ वक्ष०।

तणुवाय पुं०(तनुवात) तनुश्चासौ वातश्च तनुवातः। स्था०३ ठा०४ उ०। घनवातस्याधःस्थायिनि विरलपरिणामोपेते बादरवायुकायिकभेदे, जी०१ प्रति०। प्रज्ञा०। पिं०। स्था०।

तणुवायवलय न०(तनुवातवलय) तनुवातः स एव वलयमिव वलयं कटकम्। स्था० ३ ठा०४उ०। बादरवायुकायिकभेदे, प्रज्ञा० २ पद।

तणुवी स्त्री०(तन्वी) तन–उ–स्त्रियां वा ङीप्। वाच०। **''तन्वीतुल्येषु'' ॥८।२।११३॥** इति अन्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उकारः। प्रा०२ पाद। कृशायाम्, वाच०।

तणुसरीर न०(तनुशरीर) सूक्ष्मशरीरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

तणूय पुं०(तनूज) पुत्रे, आ०क०। दुहितरि, स्त्री०। देहजातमात्रे, त्रि०। वाच०।

तणेण अव्य०(तणेण) **''तादर्थ्ये के हिं–तेहिं–रेसि–रेसिं–तणेणाः'' ॥८।४।४२५॥** इत्यपभ्रंशे तादर्थ्ये द्योत्ये 'तणेण' इति निपातः। प्रा०४ पाद।

तणेणी (देशी) तृणप्रकारे, दे०ना० ५ वर्ग ३ गाथा।

तण्ण पुं०(तर्ण) वत्से, जी०१ प्रति०।

***तार्ण्य** पुं०। तृणसंबन्धिनि, ''किंची सकायसत्थं, किंची परकाय तदुभयं किंची। (२४)'' किञ्चिच्छस्त्रं स्वकाय एव अग्निकाय एव अग्निकायस्य। तद्यथा–तार्णोऽग्निः पार्णाग्निशस्त्रम्। आचा०१ श्रु०१ अ०४उ०।

तण्णय (देशी) आर्द्रे, दे०ना० ५ वर्ग २ गाथा।

तण्णिट्ठ त्रि०(तन्निष्ठ) तदाश्रिते, आचा०१ श्रु०१ चू०२ अ०१ उ०।

तण्णिवेसण त्रि०(तन्निवेशन) सदा तन्निवासिनि, ''तप्परक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे।'' तन्निवेशनः सदा गुरुकुलनिवासी। आचा०१ श्रु०५ अ०६उ०।

तण्हज्झाण न०(तृष्णाध्यान) तृष्णा तृषापरीषहोदयस्तस्या ध्यानम्। तृषार्तस्य मार्गं गच्छतो जनकसाधुसहितस्य क्षुल्लकस्येव तृषाध्याने, आतु०।

तण्हा स्त्री०(तृष्णा) तर्षस्तृष्णा। अभिलाषे, स्था०२ ठा० ३उ०। उत्त०। प्रश्न०। ध०। पुद्गलभोगपिपासायाम्, अष्ट०१ अष्ट०। औ०। आव०। उत्त०। सूत्र०। अनुचितवाञ्छायाम् प्रश्न० ३आश्र० द्वार। तृषापरीषहोदये, आतु०।

तण्हागेही स्त्री०(तृष्णागृद्धि) तृष्णा च प्राप्तद्रव्यस्याव्यग्रेच्छा-गृद्धिश्चाप्राप्तस्य प्राप्तिवाञ्छा, तद्धेतुकं चादत्ताऽऽदानमिति तृष्णा-गृद्धिरुच्यते। गौणे अदत्ताऽऽदाने, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

तण्हातिअ त्रि०(तृष्णार्दित) पिपासिते, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

तण्हाऽभिहय त्रि०(तृष्णाऽभिहत) तृषाऽभिहते, जी०३प्रति०।

तत न०(तत) वीणाऽऽदिके, स्था० ४ ठा०४ उ० प्रश्न०। जं०। जी०। आचा०। ''ततं वीणाऽऽदिकं ज्ञेयं, विततं पटहाऽऽदिकम्'' भ०५ श०४उ०। मृदङ्गपटहाऽऽदिके , जी०३ प्रति०४ उ०। रा०। आ०म०। वीणापटहाऽऽदिजनिते शब्दे, धनः शुषिरश्चेति व्यपदिश्यते। ''तते दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–घणे चेव,सुसिरे चेव।'' स्था० २ ठा०३उ०। आ०चू०।

ततगइ स्त्री०(ततगति) ततस्य ग्रामनगराऽऽदिकं गन्तुं प्रवृत्तत्वेन तच्चाप्राप्तत्वेन तदन्तरालपथे वर्त्तमानतया प्रसारितक्रमतया च विस्तारं गतस्य, गतिस्ततगति। गतिप्रवादभूते, भ० ८ श० ७ उ०।

***ततगति** स्त्री०। ततो वा अवविभूतग्रामाऽऽदेर्नगराऽऽदौ गतिः। प्राकृतत्वेन 'ततगइ'। गतिप्रवादभेदे, भ०८ श०७उ०। ''से किं तं ततगति? ततगति जेणं जं गामं वा०जाव सन्निवेसं वा संपट्ठिए असंपत्ते अंतरापहे य वट्टइ। से तं ततगति।'' प्रज्ञा० १६ पद।

ततगति स्त्री०(ततगति) 'ततगइ' शब्दार्थे, भ० ८ श० ७ उ०।

तत्त न०(तत्त्व) परमार्थ, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०।उत्त०। पं० वं०। परमार्थजाते, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०। यथाऽवस्थितलोकस्वभावे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०३उ०। यथाऽवस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदे, स्या०। परस्परनिरपेक्षसामान्यविशेषाऽऽत्मके (आचा०१ श्रु० ४ अ०२उ०) जीवाजीवपुण्यपापाऽऽश्रवबन्धसंवरनिर्जरा–मोक्षाऽऽत्मके, तथा धर्माधर्माऽऽकाशपुद्गलजीवकालाऽऽत्मके द्रव्ये, नित्यानित्यस्वभावे सामान्यविशेषाऽऽत्मकेऽनाद्यपर्यवसानचतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके च। सूत्र०२ श्रु० ५अ०।

अमूनि नव तत्त्वानि–

जियअजियपुन्नपावा–ऽऽसवसंबरबंधमुक्खनिज्जरणा (१५)

जीवश्च, अजीवश्च, पुण्यं च, पापं च,आश्रवश्च, संवरश्च, बन्धश्च, मोक्षश्च,निर्जरणं च निर्जरा, एतानि नव तत्त्वानि। (कर्म०)

जीवाजीवतत्त्वे–

''जीवाऽजीवा पुन्नं, पावाऽऽसवसंबरो य निज्जरणा।
बंधो मुक्खो य तहा, णव तत्ता हुंति नायव्वा ॥१॥
एगविहदुविहतिविहा, चउव्विहा पंचछव्विहा जीवा।
चेयणतसइयरेहिं, वेयगईकरणकाएहिं ॥२॥
एगिंदिय सुहुमियरा, बितिचउसन्नीअसन्निपंचिंदी।
अपज्जत्ता पज्जत्ता, चउदसभेया अहव जीवा ॥३॥
पणथावर सुहुमियरा, परित्तवणसन्निअसन्निविगलतिगं।
इय सोलस अपज्जत्ता, पज्जत्ता जीववत्तीसा ॥४॥
धम्माधम्मागासा, य दव्वदेसप्पएसओ तिविहा।
गइठाणऽवगाहगुणा, कालो य अरूविणो दसहा ॥५॥
खंधा देसपएसा, परमाणू पुग्गला चउह रूवी।
जीवं विणा अचेयण, अक्किरिया सव्वगय बेमि ॥६॥
कालो माणुसुलोए, जियधम्माधम्म लोयपरिमाणा।
सव्वे दव्वं इट्ठा, कालविणा अत्थिकाया य ॥७॥
धम्माधम्मागासा, कालो परिणामिए इहं भावे।
उदयपरिणामिए पुग्गला उ सव्वेसु पुण जीवा ॥८॥''

पुण्यतत्त्वम्–

''तिरिनरसुराउ उच्चं, सायं परघायआयवुज्जोयं।
जिणऊसासनिमाणं, पणिंदिवइरुसभचउरंसं ॥९॥
तसदस चउवन्नाई, सुरमणुदुग पंचतणु उवंगतिगं।
अगुरुलहु पढमखगई, वायालं पुन्नपगईओ ॥१०॥''

पापतत्त्वम्–

''नाणंतराय पण पण, नव वीए नियअसायमिच्छत्तं।
थावरदस नरयतिगं, कसायपणवीस तिरियदुगं ॥११॥
चउजाई उवघायं, अपढमसंघयणखगइसंठाणा।
वण्णाइअसुभचउरो, वासीई पावपगडीओ ॥१२॥''

आश्रवतत्त्वम्–

''इंदिय कसाय अव्वय,किरिया पण चउर पंच पणवीसा।
जोगतिगं वायाला, आसवभेया इमा किरिया ॥१३॥
काईय अहियरणीया, पाउसिया पारितावणी किरिया।
पाणाइवायरंभिय, परिगहिया मायवत्ती य ॥१४॥
मिच्छादंसणवित्ती, अप्पच्चक्खाण दिट्ठि पुट्ठी य।
पाडुच्चिय सामंतो–वणीय नेसत्थि साहत्थी ॥१५॥
आणवणि वियारणिया, अणभोगा अणवकखपच्चइया।
अन्ना पओग समुदाण पिज्जदोसेरियाबहिया ॥१६॥''

संवरतत्त्वम्–

''भावण चरित्त परिसह, समिई जइधम्म गुत्ति वारस उ।
पंच दुवीसा पण दस, तिय संवरभेयसगवन्ना'' ॥१७॥

निर्जराबन्धतत्त्वम्–

''वारसविहं तवो निज्जरा उ अहवा अकामसक्कामा।
पयइ ठिई अणुभागप्पएसभेया चउहबंधो ॥१८॥
संतपयपरूवणथा, दव्वपमाणं च खित्त फुसणा य।
कालो अंतरभागा,भावऽप्पबहू नवह मुक्खो ॥१९॥
जिण अजिण तित्थ तित्था, गिहिअन्नसलिंगत्थीनरनपुंसा।
पत्तेयसयंबुद्धा, विबुद्धबोहिक्कणिक्का य ॥२०॥''

इति मोक्षतत्त्वम्। इत्युक्तं संक्षेपतो नव तत्त्वस्वरूपम्। कर्म० १ कर्म०। दर्श०। श्रा०। आचा०। (विशेषतो व्याख्यानं स्वस्वशब्दे) (साङ्ख्यमते तु तत्त्वानि पञ्चविंशतिस्तानि ''संख'' शब्दे दर्शयि–ष्यन्ते)

नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता। तं जहा–जीवा, अजीवा, पुण्णं, पावं, आसवो, संवरो, निज्जरा, बंधो, मुक्खो।

(नव सद्भावेत्यादि) सद्भावेन परमार्थेन, अनुपचारेणेत्यर्थः। पदार्था वस्तूनि सद्भावपदार्थाः। तद्यथा–जीवाः सुखदुःखज्ञानोपयोगलक्षणाः। अजीवास्तद्विपरीताः, पुण्यं प्रकृतिरूपं कर्म, पापं तद्विपरीतं कर्मैव, आश्रूयते गृह्यतेऽनेनेत्याश्रयः, शुभाशुभकर्माऽऽदानहेतुरिति भावः। संवर आश्रवनिरोधो गुप्त्यादिभिः, निर्जरा विपाकात्तपसो वा कर्मणां देशतः क्षपणाद्, बन्ध आश्रवैरात्तस्य कर्मण आत्मना संयोगो मोक्षः, कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वात्मन्यवस्थानमिति। ननु जीवजीवव्यतिरिक्ताः पुण्याऽऽदयो न सन्ति, तथा–युज्यमानत्वात्। तथाहि–पुण्यपापे कर्मणी, बन्धोऽपि तदात्मक एव, कर्म च पुद्गल–

परिणामः, पुद्गलाश्चाजीवा इति; आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनाऽऽदिरूपःपरिणामो जीवस्य, स चाऽऽत्मानं, पुद्गलाँश्च विरहय्य कोऽन्यः? संवरोऽप्याश्रवनिरोधलक्षणो देशसर्वभेद आत्मनः परिणामो निवृत्तिरूपः, निर्जरा तु कर्मपरिशाटौ जीवः कर्मणां यत्पार्थक्यमापादयति स्वशक्त्या, मोक्षोऽप्यात्मा समस्तकर्मविरहित इति। तस्माज्जीवाजीवौ सद्भावपदार्थाविति वक्तव्यम्। अत एवोक्तमिहै–व–''उदत्थिं च णं लोए तं सव्वं दुप्पडियारं। तं जहा–जीव चेव, अजीव चेव त्ति?'' अत्रोच्यतेसत्यमेतत्किन्तु यावेव जीवाजीवपदार्थौ सामान्येनोक्तौ, तावेवेह विशेषतो नवधोक्तौ, सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वाद् वस्तुनः, तथेह मोक्षमार्गे शिष्यः प्रवर्त्तनीयो, न संग्रहाभिधानमात्रमेव कर्त्तव्यम्। स च यदैवमाख्यायते–यदुताऽऽश्रवो, बन्धो वा, बन्धद्वाराऽऽयाते च पुण्यपापे मुख्यानि तत्त्वानि संसारकारणानि, संवरनिर्जरे च मोक्षस्य, तदा संसारकारणत्यागेनेतरत्र प्रवर्तते, नाऽन्यथेत्यतः षट्कोपन्यासः, मुख्यसाध्यख्यापनार्थं च मोक्षस्येति। स्था०६ ठा०।

***तप्त** त्रि०। अनुष्ठिते, सूत्र०१ श्रु० ३ अ०४ उ०। उष्णे, स्था०८ ठा०। तं०। संतापे, औ०। संतप्ते, ''तत्ततवणिज्जकणगवण्णा।'' औ०।

तत्तओ अव्य०(तत्त्वतस्) परमार्थवृत्तौ, अने०१ अधि०।

तत्तंत न०(तत्त्वान्त) आत्माऽऽदितत्त्वप्रसिद्धिरूपे, द्वा० २३ द्वा०।

तत्तगोयर त्रि०(तत्त्वगोचर) तत्त्वविषये, द्वा०२१ द्वा०।

तत्तचिंता स्त्री०(तत्त्वचिन्ता) परमार्थचिन्तायाम्, पञ्चा०१ विव०।

तत्तजला स्त्री०(तप्तजला) जम्बूद्वीपे मेरोः पूर्वस्यां दिशि शीताया महानद्या दक्षिणभागास्थितायां स्वनामख्यातायामन्तनद्याम्, स्था०३ ठा०४उ०। ''दो तत्तजलाओ।'' स्था०२ ठा०३उ०। जं०।

तत्तजिण्णासा स्त्री०(तत्त्वजिज्ञासा) ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा, तत्त्व–विषया ज्ञानेच्छा तत्त्वजिज्ञासा। तत्त्वविषयकज्ञानेच्छायाम्, षो० १६ विव०।

तत्तणाण न०(तत्त्वज्ञान) ऊहाऽपोहविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चये, ध०१अधि०।

तत्तणिण्णीसु पुं०(तत्त्वनिर्णिनीषु) तत्त्वं प्रतिष्ठापयिषौ, स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणाभ्यां शब्दाऽऽदेः कथञ्चिन्नित्यत्वाऽऽदिरूपं तत्त्वं प्रतिष्ठापयितुमिच्छौ तत्त्वनिर्णिनीषौ, रत्ना०।

अथ तत्त्वनिर्णिनीषोः स्वरूपं निरूपयन्ति–

तथैव तत्त्वं प्रतितिष्ठापयिषुस्तत्त्वनिर्णिनीषुः ॥४॥

तथैव स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणाभ्याम्, शब्दाऽऽदेः कथञ्चिद् नित्यत्वाऽऽदिरूपं तत्त्वम्, प्रतिष्ठापयितुमिच्छुस्तत्त्वनिर्णिनीषुरित्यर्थः ॥४॥

अस्यैवाङ्गेयत्तावैचित्र्यहेतवे भेदावुपदर्शयन्ति–

अयं च द्वेधा–स्वात्मनि परत्र चेति ॥५॥

(अयमिति) तत्त्वनिर्णिनीषुः, कश्चित्खलु संदेहाऽऽद्युपहतचेतोवृत्तिःस्वाऽऽत्मनि तत्त्वं निर्णेतुमिच्छति, अपरस्तु परानुग्रहैकरसिकतया परत्र तथा; इति द्वेधाऽसौ तत्त्वनिर्णिनीषुः। सर्वोऽपि च धात्वर्थः करोत्यर्थेन व्याप्त इति स्वाऽऽत्मनि परत्र च तत्त्वनिर्णयं चिकीर्षुरित्यर्थः। अथ परं प्रति तत्त्वनिर्णिनीषोरप्यस्य तन्निर्णयोपजनने जयघोषणामुद्घोषयन्त्येव सभ्या इति चेत्; ततः किम्? जिगीषुता स्यात् इति चेत्, कथं यो यदनिच्छुः स तदिच्छुः परोक्तिमात्राद् भवेत्? तत्किं नाऽसौ जयमश्नुते? वा ढमश्नुते। न च तमिच्छति च, अश्नुते चेति किमपि कैतवं तवेति चेत्, स्यादेवं, यद्यनिष्टमपि न प्राप्येत। अवलोक्यन्ते चानिष्टान्यप्यनुकूलप्रतिकूलदैवोपकल्पितानि जनैरुपभुज्यमानानि शतशः फलानि। तदिदमिह रहस्यम्–परोपकारैकपरायणस्य कस्यचिद्वादिवृन्दारकस्य परत्र तत्त्वनिर्णिनीषोरानुषङ्गिकं फलं जयः, मुख्यं तु परतत्त्वावबोधनम्। जिगीषोस्तु विपर्य्यय इति।५।

स्वाऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुमुदाहरन्ति–

आद्यः शिष्याऽऽदिः ॥६॥

(आद्य इति) स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुरित्यर्थः। आदिग्रहणा–दिहोत्तरत्र च स ब्रह्मचारिसुहृदादिरादीयते ॥६॥

परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुमुदाहरन्ति–

द्वितीयो गुर्वाऽऽदिः ॥७॥

(द्वितीय इति) परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुः ॥७॥

द्वितीयस्य भेदावभिदधति–

अयं द्विविधः–क्षायोपशमिकज्ञानशाली, केवली च ॥८॥

(अयमिति) परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुर्गुर्वादिः, ज्ञानाऽऽवरणीयस्य कर्मणः क्षयोपशमेन निर्वृत्तं ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनः पर्यायरूपं व्यस्तं समस्तं वा यस्यास्ति स तावदेकः; द्वितीयस्तु तस्यैव क्षयेण यज्जनितं केवलज्ञानं तद्वान्। तदेवं चत्वारः प्रारम्भकाः–जिगीषुः, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुः, परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुश्च क्षायोपशमिक-ज्ञानशालिकेवलिनाविति। तत्त्वनिर्णिनीषोर्हि ये भेदप्रभेदाः प्रद–र्शिताः, न ते जिगीषोः सर्वेऽपि संभवन्ति। तथाहि–न कश्चिद्वि–पश्चिदात्मानं जेतुमिच्छति। न च केवली परं पराजेतुमिच्छति, वीतरागत्वात्। गौडद्राविडाऽऽदिभेदस्तु नाङ्ग नियमभेदोपयोगी; प्रसञ्जयति चानन्त्यम्; इति पारिशेष्यात् क्षायोपशमिकज्ञानशाली परत्र जिगीषुर्भवतीत्येक रूप एवाऽसौ न भेदप्रदर्शनमर्हति। यौ च परत्र तत्त्वनिर्णिनीषोर्भेदावुक्तौ, न तौ द्वावपि स्वाऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णिनीषोः संभवतः, निर्णीतसमस्ततत्त्वज्ञानशालिनःकेवलिनः स्वाऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णयेच्छाऽनुपपत्तेः, इति पारिशेष्यात् क्षायोपशमिकज्ञानवानेव स्वाऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुर्भवतीत्वसावप्येकरूप एवेति। रत्ना० ८ परि०।

तत्तण्णु त्रि०(तत्त्वज्ञ) तत्त्वं सकलपर्यायोपेतसकलवस्तुस्वरूपं जानातीति तत्त्वज्ञः। वस्तुतत्त्ववेदिनि, पञ्चा० १ विव०। सर्वज्ञे, आव०१ अ०।

तत्तण्णुपुट्ठि स्त्री०(तत्त्वज्ञपुष्टि) तत्त्वस्याविसंवादस्थाने हितोपदेशे, षो० ८ विव०।

तत्ततव त्रि०(तप्ततपस्) तापिततपस्के, आर्यसुधर्माणमुपक्रम्य ''उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे।'' तप्तं तापितं तपो येन स तप्ततपाः। तेन तप्तपस्तप्तं येन कर्माणि सन्ताप्यन्ते, तेन न च तपसा स्वात्मा तपोरूपः संतापितो, यतोऽन्यस्यास्पृश्यमिव जातम्। ओघ०। नि०। भ०। जं०। रा०। सू०प्र०। ज्ञा०।

तत्ततवणिज्ज न०(तप्ततपनीय) तप्तसुवर्णे, ''तत्ततवणिज्जसंकासो।'' प्रज्ञा०१ पद।

तत्ततवोधण त्रि०(तप्ततपोधन) तप्तमनुष्ठितं तप एव धनं यस्य स तप्ततपोधनः। पञ्चाग्न्यादितपोविशेषेण निष्टप्तदेहे, सूत्र०१श्रु० ३ अ०४उ०।

तत्ततेल्ल न०(तप्ततैल) तप्तं च ततैलं च। उष्णतैले, स० ११ अङ्ग।

तत्तत्ति स्त्री०(तत्त्वाप्ति) जीवाऽऽदीनां स्वरूपोपलम्भे, षो० (?)

तत्तत्थ पुं०(तत्त्वार्थ) युक्तिसिद्धेऽर्थे, द्रव्या०८ अध्या०।

तत्तत्थसद्दहाण न०(तत्त्वार्थश्रद्धान) तत्त्वार्थानां सर्वविदुपदिष्टतया पारमार्थिकानां जीवाऽऽदिपदार्थानां श्रद्धानमेवमेतदेवेति प्रत्ययः, तत्त्वेन वा भावतोऽर्थानां श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानम्। ''तत्तत्थ-सद्दहाणं, सम्मत्तसमग्गहो ण एयम्मि''। पञ्चा० १ विव०। (एतद्बहुवक्तव्यता ''सम्मत्त'' शब्दे वक्ष्यते)

तत्तदंसण न०(तत्त्वदर्शन) परमार्थावलोकने, द्वा० २५ द्वा०।

तत्तदंसि(ण्) त्रि०(तत्त्वदर्शिन्) मेधाविनि, आचा०१ श्रु०३ अ०२ उ०। तत्त्वावलोकनकर्तरि, सूत्र०१ श्रु० १५ अ०।

तत्तदिट्ठि स्त्री०(तत्त्वदृष्टि) तत्त्वं वस्तुरूपं जीवे जीवत्वमनन्तचैतन्यरूपम्, अजीवे अचैतन्यस्वरूपं, तत्र यथार्थावबोधयुक्तौ, अष्ट०।

रूपे रूपवती दृष्टिर्दृष्ट्वा रूपं विमुह्यति।
मज्जत्यात्मनि नीरूपे, तत्त्वदृष्टिस्त्वरूपिणी ॥१॥
भ्रमवाटी बहिर्दृष्टि--र्भ्रमच्छाया तदीक्षणम्।
अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु, नास्यां शेते सुखाशया ॥२॥
ग्रामाऽऽरामाऽऽदि मोहाय, यद् दृष्टं बाह्यया दृशा।
तत्त्वदृष्ट्या तदेवान्तर्नीतं वैराग्यसंपदे ॥३॥
बाह्यदृष्टेः सुधासार--घटिता भाति सुन्दरी।
तत्त्वदृष्टेस्तु सा साक्षात्, विण्मूत्रपिठरोदरी ॥४॥
लावण्यलहरीपूर्णं, वपुः पश्यति बाह्यदृग्।
तत्त्वदृष्टिः, श्वकाकानां, भक्ष्यं कृमिकुलाऽऽकुलम् ॥५॥
गजाश्वैर्भूपभवनं, विस्मयाय बहिर्दृशः।
तत्राश्वेभवनात् कोऽपि, भेदस्तत्त्वदृशस्तु न ॥६॥
भस्मना केशलोचेन, वपुर्धृतमलेन वा।
महान्तं बाह्यदृग् वेत्ति, चित्साम्राज्येन तत्त्ववित् ॥७॥
न विकाराय विश्वस्योपकारायैव निर्मिताः।
स्फुरत्कारुण्यपीयूष--दृष्टयस्तत्त्वदृष्टयः ॥८॥ अष्ट० १९ अष्ट०।

तत्तदेट्ठा पुं०(तत्त्वदेष्ट्र) तत्त्वं सकलपर्यायोपेतसकलवस्तुस्वरूपं तद्दिशतीति तत्त्वदेष्टा। तत्त्वोपदेष्टरि, ध०१ अधि०।

तत्तधम्मजोणी स्त्री०(तत्त्वधर्मयोनि) धृत्यादिके, धृतिः श्रद्धा सुखाविविदिषा विज्ञप्तिरिति तत्त्वधर्मयोनयः।''धिइसद्धासुहविविदिसभेया जं पायसो उ जोणि त्ति।'' पञ्चा०४ विव०।

तत्तपवित्ति त्रि०(तत्त्वप्रवृत्ति) तत्त्वानुष्ठाने, षो०।

कस्मात्पुनस्तत्राद्वेषः क्रियत इत्याह–

अद्वेषो जिज्ञासा, शुश्रूषा श्रवणबोधमीमांसाः।
परिशुद्धा प्रतिपत्तिः, प्रवृत्तिरष्टाङ्गिकी तत्त्वे ॥१४॥

अद्वेषोऽप्रीतिपरिहारः तत्त्वविषयस्तत्पूर्विका ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा तत्त्वविषया ज्ञानेच्छा तत्त्वजिज्ञासा तत्पूर्विका बोधाम्भः श्रोतसः सिराकल्पा, श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा तत्त्वविषयैव। तत्त्वशुश्रूषानिबन्धनं श्रवणमाकर्णनं तत्त्वविषयमेव। बोधोऽवगमः परिच्छेदो विवक्षितार्थस्य श्रवणनिबन्धनस्तत्त्वविषय एव, मीमांसा सद्विचाररूपा बोधानन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव। श्रवणं च बोधश्च मीमांसा च श्रवणबोधमीमांसाः। परिशुद्धा सर्वतो भावविशुद्धा, प्रतिपत्तिर्मीमांसोत्तरकालभाविनी निश्चयाऽऽकारा परिच्छित्तिरिदमित्थमेवेति तत्त्वविषयैव। प्रवर्त्तनं प्रवृत्तिरनुष्ठानरूपा परिशुद्धप्रतिपत्त्यनन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव, प्रवृत्तिशब्दो द्विरावर्त्यते, तेनायमर्थो भवतितत्त्वे प्रवृत्तिरष्टभिरङ्गैर्निवृत्ताऽष्टाङ्गिकी, एभिरद्वेषाऽऽदिभिरष्टभिरङ्गैस्तत्त्वप्रवृत्तिः संपद्यते, तेनाऽऽगमान्तरे मूलागमैकदेशभूते न द्वेषः कार्य इति ॥१४॥ षो० १६ विव०।

तत्तफासुअ त्रि०(तप्तप्राशुक) तप्तं सत्प्राशुकं त्रिदण्डोद्धृतं तप्तप्राशुकम्। त्रिदण्डोद्धृते तप्ते जलाऽऽदौ, ''उसिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए।'' दश०८अ०।

तत्तवि(द्) त्रि०(तत्त्वविद्) तत्त्वं वेत्तीति तत्त्वविद्। जीवाजीवाऽऽदिवस्तुविज्ञातरि, ध०३ अधि०। परमार्थविदि, नि०१ श्रु०१ वर्ग१ अ०।

तत्तवेइ(ण्) पुं०(तत्त्ववेदिन्) तत्त्वज्ञानिनि, आचा०। सारो हि विषयगणस्य तत्प्राप्तौ तृप्तिः, तदभावान्निःसारः, तं दृष्ट्वा ज्ञानी तत्त्ववेदी न विषयाभिलाषं विदध्याद्, न केवलं मनुष्याणां, देवानामपि विषयसुखाऽऽस्पदमानैत्यं जीवितमिति दर्शयति– ''उववायं चवणं णच्चा।'' उपपातं जन्म, च्यवनं पातः, तच्च ज्ञात्वा न विषयसङ्गोन्मुखो भवेदिति। यतो निःसारो विषयग्रामः, समस्तः संसारो वा, सर्वाणि च स्थानान्यशाश्वतानि। सारासार--वेत्तरि, आचा०१ श्रु०३ अ०२उ०।

तत्तबोहविहाइणी स्त्री०(तत्त्वबोधविधायिनी) अभयदेवविरचि--तायां स्वनामख्यातायां सम्मतिटीकायाम्, ''प्रद्युम्नसूरेः शिष्येण, तत्त्वबोधविधायिनी। एषा चाभयदेवेन, सम्मतेर्विवृतिः कृता'' ॥१॥ सम्म० ३काण्ड।

तत्तरसासाय पुं०(तत्त्वरसाऽऽस्वाद) तत्त्वे परमार्थे रस आसक्ति--हेतुस्तस्याऽऽस्वादस्तत्त्वरसाऽऽस्वादः। परमार्थाऽऽसक्तिहेत्वास्वादे, नि०१ श्रु०१ वर्ग १ अ०।

तत्तलोहपह पुं०(तप्तलोहपथ) तप्ते लोहमयमार्गे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

तत्तसंदिट्ठि स्त्री०(तत्त्वसंदृष्टि) तत्त्वसंदर्शने, षो० १५ विव०।

तत्तसंवेयण न०(तत्त्वसंवेदन) तत्त्वं परमार्थः, तत्सम्यक् प्रवृत्त्याद्युपहतत्वेन विद्यते यस्मिंस्तत्। ज्ञानभेदे, द्वा०६ द्वा०। सम्यग्ज्ञाने, पं०सू०४ सूत्र०। हा०।

तत्तसमजोइभूय त्रि०(तप्तसमज्योतिर्भूत) तप्तेन तापेन समातुल्या ज्योतिषा वह्निना भूता जाता या सा तप्तसमज्योतिर्भूता। तापसदृशवह्निजाते, भ०१० श०५उ०।

तत्तसुइ स्त्री०(तत्त्वश्रुति) तत्त्वश्रवणे, द्वा०।

ततः किमित्याह–

पुण्यबीजं नयत्येवं, तत्त्वश्रुत्या सदाशयः।
भवक्षाराम्भसस्त्यागाद्, वृद्धिं मधुरवारिणा ॥२१॥

एवं धर्मस्य प्राणेभ्योऽप्यधिकत्वप्रतिपत्त्या, तत्रोत्सर्गप्रवृत्त्या, तत्त्वश्रुत्या तथा तत्त्वश्रवणेन, मधुरवारिणा, सदाशयः शोभनपरिणामः, भवलक्षणस्य क्षाराम्भसस्त्यागात्, पुण्यबीजं वृद्धिं नयति। यथा हि मधुरोदकयोगतस्तन्माधुर्यानवगमेऽपि बीजं प्ररोहमादत्ते, तथा तत्त्वश्रुतेरचिन्त्यसामर्थ्यात्तत्त्वविषयस्पष्टसंवित्त्यभावेऽपि अतत्त्वश्रवणत्यागेन तद्योगात् पुण्यवृद्धिः स्यादेवेति भावः ॥२१॥

तत्त्वश्रवणतस्तीव्रा, गुरुभक्तिः सुखाऽऽवहा।
समापत्त्यादिभेदेन, तीर्थकृद्दर्शनं ततः ॥२२॥

(तत्त्वेति) तत्त्वश्रवणतः, तीव्रा उत्कटा, गुरौ तत्त्वश्रावयितरि, भक्तिराराध्यत्वेन प्रतिपत्तिः, सुखावहोभयलोकसुखकरी, ततो गुरुभक्तेः, समापत्त्यादिभेदेन तीर्थकृद्दर्शनं भगवत्साक्षात्कारलक्षणं भवति। तदुक्तम्– ''गुरुभक्तिप्रभावेण, तीर्थकृद्दर्शनं मतम्। समापत्त्यादिभेदेन, निर्वाणैकनिबन्धनम्'' ॥१॥ समापत्तिरत्रध्यानजस्पर्शना भण्यते, आदिना तन्नामकर्मबन्धविपाकतद्भावापत्त्युपपत्तिपरिग्रहः॥२२॥ द्वा० २२ द्वा०।

तत्तसुस्सूसा स्त्री०(तत्त्वशुश्रूषा) तत्त्वश्रवणेच्छायाम्, द्वा० २२ द्वा०।

तत्ताणिव्वुडभोइत्त न०(तप्तानिर्वृतभोजित्व) तप्तं च तदनिर्वृत्तं चात्रिदण्डोद्धृतं च उदकमिति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते तद्भोजित्वमिति। असचित्तोदकभोजित्वे, ग०२ अधि०।

तत्ताणुरूवत्त न०(तत्त्वानुरूपत्व) पञ्चदशतमे सत्यवचनातिशेषसम्प्राप्ते, तत्त्वानुभोजित्वं विवक्षितवस्तुस्वरूपानुसारिता। रा०।

तत्तातत्तवइगरकराल त्रि०(तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकराल) तत्त्वं चातत्त्वं च तत्त्वातत्त्वे, तयोर्व्यतिकरो व्यतिकीर्णता मिश्रता स्वभावविनिमयः तत्त्वातत्त्वव्यतिकरः, तेन करालो भयङ्करः। तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेशोऽतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेश इत्येवंरूपेण संजायमानव्यतिकरेण भयङ्करे, स्था०।

तत्ताब्भास पुं०(तत्त्वाभ्यास) परमार्थाभ्यासे, षो० १३ विव०।

तत्ताभिणिवेस पुं०(तत्त्वाभिनिवेश) तत्त्वज्ञाने, षो०। ''गुरुभक्तिः परमाऽस्यां, विधौ प्रयत्नस्तथा धृतिः करणे। तद्ग्रहन्थाऽऽप्तिश्रवणं, तत्त्वाभिनिवेशपरमफलम् ॥१॥'' षो० १० विव०। वस्तुस्वरूपनिर्णयातिशये, पञ्चा०९ विव०।

तत्तायगोलकप्प त्रि०(तप्तायोगोलकल्प) तप्तलोहपिण्डसदृशे, ''तत्तायगोलकप्पो, पमत्तजीवो निवारियप्पसरो। (२८१)'' श्रा०।

तत्तालोग पुं०(तत्त्वालोक) परमार्थप्रकाशे, द्वा० २४ द्वा०।

तत्ति स्त्री०(तृप्ति) घ्राणौ, स्था०१ ठा०। सन्तोषे, आतु०। बुभुक्षाऽऽद्युपशमलक्षणायाम्, विशे०।

***तप्ति** स्त्री०। सारायाम्, ''गणतत्तिविप्पमुक्का।'' गणस्य गच्छस्य या तप्तिः सारा, तया विप्रमुक्ताः। व्य०१ उ०। चिन्तायाम् प्रति०।

तत्तिय पुं०।न०(तात्त्विक) वास्तवे, द्वा० १६ द्वा०। आ०म०। ''महाव्रतिसहस्रेषु, वरमेको हि तात्त्विकः। तात्त्विकस्य समं पात्रं, न भूतो न भविष्यति ॥१॥'' अतस्तात्त्विकाय पात्राऽऽदिकं देयम्। ध०२ अधि०।

***तावत्** त्रि०। ''जत्तियं गहियं तत्तियं ठियं, सेसं नट्ठं, ततो गतो सिं घरं।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड। 'तत्तियं' तावन्मात्रमेव कार्यम्। व्यवहारे, नि०चू०११उ०।

तत्तियजोग पुं०(तात्त्विकयोग) केनापि नयेन मोक्षयोजनफले, द्वा० १६ द्वा०।

तत्तियधम्मत्ति स्त्री०(तात्त्विकधर्मार्थि) तात्त्विकस्याभ्यासशुद्धस्य तत्त्वाभ्यासिकमात्रस्य धर्मस्यार्हिंसाऽऽदेरार्थिरुपलब्धिः। अभ्यासशुद्धस्यार्हिंसाऽऽदेरुपलब्धौ, द्वा०१० द्वा०।

तत्तिल्ल त्रि०(तृप्तिमत्) तृप्तिर्विद्यते यस्य स तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्। ''**आल्विल्लोल्लालवन्त–मन्तेत्तेर–मणा–मतोः**'' ॥८।२।१५६॥ इति मतुपः स्थाने इल्लाऽऽदेशः। प्रा० दुण्ढि०२ पाद। तृप्ते, कल्प०६ क्षण। तत्परे, दे०ना० ५ वर्ग ३ गाथा।

तत्तिव्वऽज्झवसाण त्रि०(तत्तीव्राध्यवसान) तस्मिन्नेवाऽऽवश्यके तीव्रं प्रारम्भकालादारभ्य प्रतिक्षणं प्रहर्षयायि प्रयत्नविशेषलक्षणमध्यवसानं यस्य स तथा। तस्मिन्, ग०२ अधि०।

तत्तो (देशी) तत्परतायाम्, आदेशे च। दे०ना०५ वर्ग २० गाथा।

तत्तीइग त्रि०(तार्तीयिक) तृतीयमेव तार्तीयिकम्। स्वार्थे टीकण् प्रत्ययः। ध०२ अधि०। त्रयाणां पूरणे, येन त्रित्वसंख्यापूर्यते तस्मिन् पदार्थे, वाच०।

तत्तु अव्य०(तत्र) ''**यत्रतत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थ्वत्तु**'' ॥८।४।४०४॥ इति तत्रशब्दस्य डित्संज्ञकोऽत्तु इत्यादेशः। प्रा०४ पाद। तस्मिन्नित्यर्थे, वाच०।

तत्तुडिल्ल (देशी) सुरते, दे०ना० ५ वर्ग ६ गाथा।

तत्थ अव्य०(तत्र) तस्मिन् कालाऽऽदौ, तत्र तस्मिन्नित्यर्थे, वाच०। स्था०। अनु०। प्रश्न०। वाक्योपन्यासार्थे, सूत्र०२ श्रु०२अ०। निर्धारणार्थे च। दश०१ अ०। 'तहि' शब्दार्थे च। प्रा०१ पाद।

***तथ्य** न०। तत्र साधुः यत्। सत्ये, वाच०। विशे०। ज्ञा०। निरुपचरिते, मुख्ये च। विशे०।

स्तब्ध त्रि०। परमाधार्मिकदेवपरस्परोदीरितदुःखसंपातभयात् त्रासमुपपन्ने, जी०१ प्रति०। स्था०।

***त्रस्त** त्रि०। भीते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

तत्थावाइ(ण्) पुं०(तथ्यवादिन्) 'तच्चावाइ(ण्)' शब्दार्थे, आ०क०।

तत्थून अव्य०(दृष्ट्वा) ''**ऋतोऽत्**'' ॥८।१।१२६॥ दृदेत्तदोस्तः। दस्य तः। ''**क्त्वो ल्यप्तूनौ ट्टुः**'' ॥८।४।३१३॥ इति ट्टुस्थाने क्त्वस्तूनत्थून–इत्यादेशौ। विलोक्येत्यर्थे, प्रा०दुं०४ पाद।

तद् त्रि०(तत्) लोकत्रयव्यापिनि, क्विबन्तत्वेन प्रायशो हलन्तत्वादेतादृशाः प्राकृते न प्रयुज्यन्ते। जै०गा०।

तदक्ख त्रि०(तदाख्य) तेन अर्थेन आख्या येषां ते तदाख्याः। अहिंसके, नि०चू०२०उ०।

तदज्झवसाण त्रि०(तदध्यवसान) तस्यामेवाध्यवसानं भोगक्रिया प्रयत्नविशेषरूपं यस्य स तस्मिन्। तदध्यवसिते, विपा०१ श्रु०२ अ०। अनु०।

तदज्झवसिय त्रि०(तदद्ध्यवसित) तस्मिन्नेव विवक्षिते आवश्यके अध्यवसितं क्रियासंपादनविषयमस्येति तदध्यवसितः। तद्विषयकाध्यवसाययुक्ते, ग०२अधि०अनु०।

तदट्ठ पुं०(तदर्थ) तस्मै अर्थस्तदर्थः। आचा० १ श्रु०२ अ०५ उ०। तत्प्राप्तौ, विपा०१ श्रु० २अ०।

तदट्ठोवउत्त त्रि०(तदर्थोपयुक्त) तस्य (विवक्षितस्य) आवश्यकस्यार्थस्तदर्थः, तस्मिन्नुपयुक्तस्तदर्थोपयुक्तः। अनु०। तत्प्राप्तये उपयोगवति, विपा०१ श्रु०१अ०। ग०। तदभिधेयोपयुक्ते, औ०।

तदण्णवयण न०(तदन्यवचन) वचनभेदे, स्था०। तस्माद्विवक्षितघटाऽऽदेरन्यः पटाऽऽदिः, तस्य वचनं तदन्यवचनं, घटापेक्षया पटवचनवत्, नोअवचनमभणननिवृत्तिर्वचनमात्रं डित्थाऽऽदिवदिति। अथवा अथवा–स शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तधर्मविशिष्टोऽर्थोऽने-नोच्यते इति तद्वचनं, यथार्थनामेत्यर्थः। ज्वलनतप्नाऽऽदिवत्। तथा तस्माच्छब्दव्युत्पत्तिनिमित्तधर्मविशिष्टादन्यः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तधर्मविशिष्टोऽर्थः, उच्यतेऽनेनेति तदन्यवचनमयथार्थमित्यर्थः। स्था०३ ठा०३उ०।

तदप्पियकरण त्रि०(तदर्पितकरण) तस्मिन् भगवत्यर्पितानि करणानीन्द्रियाणि शब्दरूपाऽऽदिषु श्रोत्रचक्षुरादीनि यैस्ते तदर्पितकरणाः। औ०। ग०। तस्मिन्नेवाऽऽवश्यके यथोचितव्यापारनियोगेनार्पितानि नियुक्तानि येन स तदर्पितकरणः। सम्यग्यथास्थानन्यस्तोपकरणे, ध०। तस्यामेवार्पितानि ढौकितानि करणानि इन्द्रियाणि येन स तथा तस्मिन्। ढौकितेन्द्रिये, ध०२ अधि०।

तदाभास पुं०(तदाभास) तत्सदृशे, पञ्चा४ विव०।

तदाहार त्रि०(तदाधार) ते पृथिव्यादय आधारो येषां ते तदाधाराः। तत्राऽऽहितेषु, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

***तदाहार** पुं०। तानेव पृथिव्यादीन् आहारयन्तीति तदाहारः। तद्भक्षके, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

तदुभयहिय त्रि०(तदुभयहित) इहपरलोकहिते, पं०भा०।

ततो अव्य०(ततस्) तस्मादित्यर्थे, प्रा०१ पाद।

तदो अव्य०(ततस्) **''त्तो दो तसो वा''** ॥८।२।१६०॥ इति तसः प्रत्ययस्य वा त्तो दो इत्यादेशौ। तस्मादित्यर्थे, प्रा०१ पाद।

तद्दिअचय (देशी) नृत्ये, दे०ना० ५ वर्ग ८ गाथा।

तद्दिअस (देशी) अनुदिवसे, दे०ना० ५ वर्ग ८ गाथा।

तद्दिअसिअ (देशी) अनुदिवसे, दे०ना०५वर्ग ८गाथा।

तद्दिअह (देशी) अनुदिवसे, दे०ना० ५ वर्ग ८ गाथा।

तद्देस पुं०(तद्देस) तस्य देशस्तद्देशः। उदाहरणदेशे, दश०१ अ०।

तद्दोस पुं०(तद्दोष) तस्योदाहरणस्यैव दोषो यस्मिन् तत्तद्दोषः। उदाहरणदोषे, दश०१ अ०।

***त्वग्दोष** त्रि०। कुष्ठिनि, औ०। श्वेतकुष्ठिनि, पिं०। स च त्वग्दोषो द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां भवति। तद्यथा–''संदंतमसंदंते, अस्संदिण–सित्तमंमल-पसुत्ती। किमिपूयं रसिगा वा, पस्संदति तत्थिमा जयणा'' ॥१॥ व्य०६उ०। (इयं गाथा 'वगडा' शब्दे एगवगमावसरे व्याख्यास्यते)

तद्धिय त्रि०(तद्धित) तस्मै हितं तद्धितमित्यन्वर्थाभिधायका ये प्रत्ययास्ते तद्धिताः। यथा गोभ्यो हितो गव्यो देश इत्यादि। प्रश्न०२ सम्ब० द्वार। आ०चू०। तेभ्यो विग्रहस्थतत्तत्प्रकृतीनां स्वविशिष्टतया प्रयोगेभ्यो हितः। व्याकरणोक्ते प्रत्ययभेदे, वाच०।

तद्धियए न०(तद्धितज) तद्धिताज्ञातं तद्धितजम्। इह तद्धितशब्देन तद्धितप्राप्तिहेतुभूतोऽर्थो गृह्यते, तत्रायम्, यत्रापि ''तुन्नाए तंतुवाए।'' तद्धितप्रत्ययो न दृश्यते, तत्रापि तद्धेतुभूतार्थस्य विद्यमानत्वात्तद्धितजं सिद्धं भवति। अनु०। भावप्रमाणभेदे, अनु०।

से किं तं तद्धियए? तद्धियए अट्ठविहे पण्णत्ते। तं जहा–
''कम्मे सिप्पे सिलोए, संजोगे समीवए अ संजूहे।
इस्सरिए अवच्चेण य, तद्धितणामं तु अट्ठविहं'' ॥१॥

(से किं तं तद्धियए इत्यादि) तद्धिताज्ञातं तद्धितजम्। इह तद्धितशब्देन तद्धितप्राप्तिहेतुभूतोऽर्थो गृह्यते। तत्रायम्, यत्रापि–''तुन्नाए तंतुवाए'' तद्धितप्रत्ययो न दृश्यते, तत्रापि तद्धेतुभूतार्थस्य विद्यमानत्वात्तद्धितजं सिद्धं भवति। ''कम्मे गाहा'' पाठसिद्धः, नवरं श्लोकः श्लाघा, संयूथो ग्रन्थरचना, एते च कर्मशिल्पाऽऽदयोऽर्थास्तद्धितप्रत्ययस्योत्पित्सोर्निमित्तीभवन्तीत्येतद्भेदात्तद्धितजं नामाष्टविधमुच्यत इति भावः।

से किं तं कम्मनामे? कम्मनामे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा–
तणहारए, कट्ठहारए, पत्तहारए, दोसिए, सोत्तिए, कप्पासिए, भंडवेआलिए, कोलालिए। सेत्तं कम्मनामे।

तत्र कर्मतद्धितजं (दोसिए, सोत्तिए इत्यादि) दूष्यं पण्यमस्येति दोषिकः। सूत्रं पण्यमस्येति सौत्रिकः। शेषं प्रतीतम्। नवरं भाण्डविचारः कर्मास्येति भाण्डवैचारिकः, कौलालानि मृद्भाण्डानि पण्यमस्येति कौलालिकः। अत्र क्वापि ''तणहारिए'' इत्यादिपाठो दृश्यते॥ तत्र कश्चिदाहनन्वत्र तद्धितप्रत्ययो न कश्चिदुपलभ्यते, तथा वक्ष्यमाणेष्वपि ''तुन्नाए तंतुवाए'' इत्यादिषु नायं दृश्यते, तत्किमित्येवंभूतनाम्नामिहोपन्यासः? अत्रोच्यते–अस्मादेव सूत्रोपन्यासात्तृणानि हरति वहतीत्यादिकः कश्चिदाद्यव्याकरणदृष्टस्तद्धितोत्पत्ति हेतुभूतोऽर्थो द्रष्टव्यः, ततो यद्यपि साक्षात् तद्धितप्रत्ययो नास्ति, तथाऽपि तदुत्पत्तिनिबन्धनभूतमर्थमाश्रित्येह तन्निर्देशो न विरुध्यते। यदि तद्धितोत्पत्तिहेतुरर्थोऽस्ति, तर्हि तद्धितोऽपि कस्मान्नोत्पद्यत इति चेत्? लोके इत्थमेव रूढत्वादिति ब्रूमः। अथवा–अस्मादेवाऽऽद्यमुनिप्रणीतसूत्रज्ञापकादेवं जानीयास्तद्धितप्रत्यय एवायमी केचित्प्रतिपत्तव्या इति।

अथ शिल्पतद्धितनामोच्यते–

से किं तं सिप्पणामे? सिप्पणामे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा वत्थिए, तंतिए, तुण्णाए, तंतुवाए, पट्टकारे, उपट्टे, वरुडे, मुंजकारे, कट्ठकारे, छत्त–

कारे, बंभकारे, पोत्थकारे, चित्तकारे, दंतकारे, लेप्पकारे। सेत्तं सिप्पनामे।

वस्त्रं शिल्पमस्येति वास्त्रिकः, तन्त्रीवादनं शिल्पमस्येति तान्त्रिकः। ''तुन्नाए तंतुवाए'' इत्यादि प्रतीतम्। आक्षेपपरिहारौ तूक्तावेव। यदिह पूर्वं चक्रभिद् वाचनाविशेषे प्रतीतं नाम दृश्यते, तद्देशान्तररूढितोऽवसेयम्।

अथ श्लाघातद्धितनामोच्यते–

से किं तं सिलोअणामे ? सिलोअणामे अणेगविडे पण्णत्ते। तं जहा–समणे, माहणे, सव्वातिही। सेत्तं सिलोगणामे।

(समणे इत्यादि) श्रमणाऽऽदीनि नामानि श्लाघ्याऽर्थेषु साध्वादिषु रूढान्यतोऽस्मादेव सूत्रनिबन्धात् श्लाघ्यार्थास्तद्धिताः, तदुत्पत्ति–हेतुभूतमर्थमात्रं वाऽत्रापि प्रतिपत्तव्यम्।

संयोगतद्धितनाम–

से किं तं संजोगनामे? संजोगनामे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा–रण्णो ससुरए,रण्णो जमाउए,रण्णो साले, रण्णो दूते, रण्णो भगिणीवई। सेत्तं संजोगनामे।

राज्ञः श्वशुर इत्यादि। अत्र संबन्धरूपः संयोगो गम्यते। अत्रापि चास्मादेव ज्ञापकात्तद्धितनामता, चित्रं च पूर्वगतं शब्दप्राभृत अप्रत्यक्षं च, अतः कथमिह भावनास्वरूपमस्मादृशैः सम्यगवगम्यते।

समीपतद्धितनाम–

से किं तं समीवणामे? समीवणामे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा–गिरिसमीवे णगरं गिरिणगरं,विदिसिसमीवे णगरं विदिसिणगरं, वेनायसमीवे णगरं वेनायणगरं, णगरायसमीवे नगरं णगराय-णगरं। सेत्तं समीवणामे।

गिरिसमीपे नगरं गिरिनगरम्। अत्र ''अदूरभवश्च'' ॥४।२।७०॥ (पाणि०) इति अण् न भवति, गिरिनगरमित्येव प्रतीतत्वात्, विदिशाया अदूरभयं नगरं वैदिशम्। अत्र तु ''अदूरभवश्च'' ॥४।२। ।७०। इति (पाणि०) अण् भवत्येव, इत्थं रूढत्वादिति।

संयूथतद्धितनाम–

से किं तं संजूहनामे? संजूहनामे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा–तरंगवइक्कारे, मलयवइक्कारे, अत्ताणसट्ठिकारे, बिंदुकारे। सेत्तं संजूहनामे।

(तरंगवइक्कारे इत्यादि) तद्धितनामता चेहोत्तरत्र च पूर्ववद्भावनीया।

ऐश्वर्यतद्धितनाम–

से किं तं ईसरिअनामे? ईसरिअनामे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा–ईसरे, तलवरे, मडंबिए, कोडुंबिए, इब्भे, सेट्ठी, सत्थ-वाहे, सेणावई। सेत्तं ईसरिअनामे।

(राईसरे इत्यादि) इह राजाऽऽदिशब्दनिबन्धनमैश्वर्य्यमेव गन्तव्यं, राजेश्वराऽऽदिशब्दार्थस्त्विहैव पूर्वं व्याख्यात एव।

अपत्यतद्धितनाम–

से किं तं अवच्चनामे? अवच्चनामे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा–अरिहंतमाया, चक्कवट्टिमाया, बलदेवमाया, वासुदेवमाया, रायमाया, मुणिमाया, वायगमाया। सेत्तं अवच्चनामे॥

(तित्थयरमाया इत्यादि) तीर्थकरोऽपत्यं यस्याः सा तीर्थकरमाता। एवमन्यत्रापि सुप्रसिद्धेनाऽप्रसिद्धं विशिष्यते। अतः तीर्थकराऽऽदिभि-र्मातरो विशेषिताः। तद्धितनामत्वभावना तथैव। गतं तद्धितनाम। अनु०।

तद्धियय न०(तद्धितज) 'तद्धियए' इतिशब्दार्थे, अनु०।

तद्धून अव्य०(दृष्ट्वा) **''द्धून्तत्थनौ ष्टः''** ॥८।४।३१३॥ इति ष्ठास्था-नेद्धून इत्यादेशः। **''ऋतोऽत्''** ॥८।१।१२६॥ ऋदतो दोरन्तः दस्य तः। प्रा०४ पाद। विलोक्येत्यर्थे, वाच०।

तपागच्छ पुं०(तपागच्छ) घोरतपःकारित्वेन तपाविरुदप्राप्तागच्छन्द्रसूरेः प्रतिष्ठिते गच्छे, तपा इतिशब्दस्तप्तार्थको देशीप्रसिद्धः। यथा तत्काले विरुदतया प्राप्तस्तथैव सर्वैरेव विद्वद्भिर्व्यवह्रियते। केचित्तु 'तपोगच्छ' इति शुद्धसंस्कृतमपि व्यवहरन्ति। जै०इ०।

तपोरिह न०(तपोऽर्ह) प्रायश्चित्तभेदे, जीत०।

साम्प्रतं भावाऽऽदिविषयं तपोऽर्हं प्रायश्चित्तमाह–

हट्ठगिलाणा भावम्मि दिंज्ज हट्ठस्स न उ गिलाणस्स।
जावइयं वा विसहइ, तं दिज्ज सहिज्ज वा कालं ॥६८॥

भावे भावतः, कश्चिदालोचनाग्राही हृष्टो नीरोगः समर्थः। कश्चिद् ग्लानो रोगी शक्तिविकल इत्येतद्विचार्य (दिज्ज हट्ठस्स न उ गिलाणस्स) तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वात् हृष्टस्य जीतोक्तादधिकमपि दद्यात्, ग्लानस्य तु न दद्यात्, जीतोक्तादूनं वा दद्यात्। यावन्मात्रं वा विषहते कर्तुं शक्नोति, तत्प्रायश्चित्तं तावन्मात्रं दद्यात्, कालं वा सहेतयावता प्रगुणो भवति तावत्प्रतीक्ष्य रोगनिवृत्तौ समर्थस्य दद्यादित्यर्थः, उक्तो भावः ॥६८॥

संप्रति सप्रपञ्च पुरुषद्वारमाह–

पुरिसा गीयाऽगीया, सहाऽसहा तह सढाऽसढा केइ।
परिणामाऽपरिणामा, अइपरिणामाइ वत्थूणं ॥६९॥

इहाऽऽलोचनाग्राहिणः पुरुषाः किंस्वरूपाः? इति प्रथममेवाऽऽ–चार्यैर्विचार्याः, ततस्तदपेक्षया प्रायश्चित्तं दातव्यम्, ते च बहुप्रकाराः। तद्यथा–गीतार्था अधिगताऽऽचारप्रकल्पाऽऽदिनिशीथान्तश्रुताः। तदितरे त्वगीता अगीतार्थाः। सहाः सर्वप्रकारैः समर्थाः, असहा असमर्थाः। तथा केचित्–शठा मायाविनः, अशठाः सरलाऽऽत्मानः, परिणामका अपरिणामका अतिपरिणामकाश्च वस्तुषूत्सर्गापवादरूपेषु विषये। एते च परिणामकाऽऽदयस्त्रयोऽपि पूर्वमदूरे ''छेयाइमसद्दहओ।'' इति गाथाया विवरणे व्याख्याताः, अतो नात्र पुनः प्रतन्यन्त इति ॥६९॥

तह धिइसंघयणोभय–संपन्ना तदुभएण हीणा य।
आयपरोभयनोभय–तरगा तह अण्णतरगा य ॥७०॥

तथा धृतिसंहननोभयसंपन्नाः, तदुभयेन हीनाश्च। इह भङ्गचतु–ष्टयं संभवति–तत्र धृत्या संपन्ना इत्येकः। संहननेन संपन्ना इति द्वितीयः। उभयेन धृतिसंहननाऽऽख्येन संपन्ना इति तृतीयः। तदुभयेन हीनाश्चेति चतुर्थः। तथा–आत्मपरोभयानुभयतरका

इति। अत्रापि चतुर्भङ्गः—आत्मानुग्राहकं तपः, परोपष्टम्भकारे वैयावृत्यं, तयोर्द्वयोरपि समर्थाः, परं ये तप एव कुर्वन्ति, न वैयावृत्यं, ते—आत्मतरकाः, (स्वार्थेऽत्र कः प्रत्ययः) न परतरका इत्याद्यो भङ्गः। ये तु वैयावृत्यमेव कुर्वन्ति, न तपः ते—अन्यतरकाः, नात्मतरका इति द्वितीयः। ये तूभयमपि कुर्वन्ति, ते तु उभयतर—का इति तृतीयाऽपिये पुनरुभयं तु कुर्वन्ति ते नोभयतरका इति चतुर्थः। तथा (अण्णतरग त्ति) अन्यतरकाः—ये तपोवैयावृत्ययोरन्यतरदेकमेव कर्तुं शक्नुवन्ति, नोभयकरणक्षमा इत्यर्थः ॥७०॥

कप्पट्ठियादओ वि य, चउरो जे चेयरा समक्खाया।
सावेक्खेयरभेया—दओ य जे ताण पुरिसाण ॥७१॥

कल्पः सततासेवनीयः समाचारः।

स चायं दशधा—

''आचेलुक्कोद्देसिय—सिज्जाययरायपिंडकिइकम्मे।
वयजेट्ठपडिक्कमणे, मासे पज्जोसवणकप्पो'' ॥६॥ (पञ्चा० १७ विव०)

अस्या व्याख्या—न विद्यते चेलं वस्त्रं यस्याऽसावचेलकः, तस्य भाव आचेलक्यं, सचेलत्वे चायमचेलकव्यपदेशः।

तथा चान्यत्रापि दृश्यते—

''जह जलमवगाहंतो, बहुचेलो वि सिरवेट्ठियकडिल्लो।
भन्नइ नरो अचेलो, तह मुणओ संतचेला वि ॥२६००॥
तह थोवजुन्नकुच्छिय—चेलेहि वि भन्नए अचेलु त्ति।
जह तुर सेलिय ! अप्पय, मे पोत्तिं नग्गिया वत्तो ॥२६०१॥ (विशे०)

उद्देशेन साधुसंकल्पेन वृत्तमौद्देशिकम् आधाकर्म्म, शय्यया वसत्या तरति भवाम्भोधिमिति शय्यातरः, राजा नृप, तयोः पिण्डो भक्ताऽऽदिरूपः—शय्यातरपिण्डो, राजपिण्डश्चं। इहौद्देशिकाऽऽदीनां त्रयाणामपि परिहारोऽवसेयः। कृतिकर्म ज्येष्ठानुक्रमेण वन्दनकदानम्, व्रतानि पञ्च महाव्रतानि, ज्येष्ठः—वर्षशतदीक्षिताया अपि सध्व्या अद्यतनदीक्षितोऽपि साधुर्गरीयान्। प्रतिक्रमणं प्रतीतम्, मासः मासकल्पः, परि सर्वथाऽवसानमेकत्र निवासो निरुक्तिवशात्पर्यूषणा, इति।

एतस्मिन् दशविधे कल्पे स्थिताः कल्पस्थिताः प्रथमचरमजिनसाधवः, ते आदावयवभूता येषां ते कल्पस्थिताऽऽदयः। कल्पस्थिताऽऽदयः—'कल्पस्थितपरिणतकृतयोगितरमाणाख्याः।' तत्र कल्पस्थिताः कथिता एव, परिणताः परिणतं परिपाकमापन्नं जीवेन सह प्राप्तैकीभावं चारित्रं येषां ते, कृतयोगिनः चतुर्थषष्ठाष्टमाऽऽदितपोभिःपरिकर्मितशरीराः ''तरमाण त्ति''। ''शकेश्वय—तर—तीर—पाराः'' ॥८।४।८६॥ इत्यनेन प्राकृतलक्षणसूत्रेण शक्धातोः तराऽऽदेशे कृते शक्नुवानाः, शक्तिसुलभां कुर्वाणा इत्यर्थः। ये एते चत्वारः सप्रतिपक्षाः समाख्याताः कथिताः कल्पस्थितादिभ्य इतरे—अकल्पस्थितापरिणताकृतयोग्यतरमाणाऽऽख्याः, अकल्पस्थिता मध्यमद्वाविंशतिजिनसाधवो, महाविदेहजाश्च, एते हि दशावेधस्थितकल्पमध्यात् शय्यातर पिण्डादानचतुर्यामपुरुषज्येष्ठत्वकृतिकर्मकरणाऽऽख्येषु चतुर्षु स्थिताः, शेषेषु षट्सु पुनरस्थिताः। ते ह्येतनि षट् स्थानानि गुणानुलोम्यमालोच्य कदाचित्कानिचित् कुर्वन्ति वा, न वेति। अपरिणताऽऽदयस्तु परिणताऽऽदिविपरीताः (सावेक्खेयरभेयादओ य जे इति) जे इतिपादपूरणे। कल्पस्थिताःकल्पस्थिताऽऽदयोऽष्टावपि द्विविधाः—सापेक्षा गच्छवासिनो, निरपेक्षा जिनकल्पिकाऽऽदयः। (ताण पुरिसाणं) इत्यग्रेतनगाथायां सम्बध्यते।

सा चेयं गाथा—

जो जह सत्तो बहुतर—गुणो व तस्साहियं पि दिज्जाहि।
हीणस्स हीणतरगं, हासिज्ज व सव्वहीणस्स ॥७२॥

तेषां पुरुषाणां कल्पस्थिताऽऽदीनां सापेक्षनिरपेक्षभेदानां प्रागाख्याद्वयोक्तगीतार्थाऽऽदीनां च मध्याद् यो यथा शक्तः तपः कर्तुं क्षमः, बहुतरगुणो वा धृतिसंहननसंपन्नः परिणतः कृतयोगी आत्मपरतरो वा भवेत्, तस्याधिकमपि जीतोक्तादतिरिक्तमपि दद्यात्। हीनस्य धृतिसंहननाऽऽदिरहितस्य हीनतरं जीतोक्तादल्पतरं दद्यात्, सर्वहीनस्य सामस्त्येनाक्षमस्य, सर्वमपि तपः क्षपणात् ह्रासयेत्, न किमपि तस्य दद्यात्, मिथ्यादुष्कृतेनैव तस्य शुद्धिरादेश्येत्यर्थः।

पुनः पुरुषविशेषानेवाऽऽह—

इत्थं पुण बहुतरगा, भिक्खु त्ति अकयकरणाऽणभिगया य।
जं—तेण जीयमट्ठम—भत्तं तं निव्विगाईयं ॥७३॥

अत्र पुनर्बहुतरा बहुभेदाः, आचार्यो पाध्यायकृतकरणगीतार्थस्थिराऽऽद्याः भिक्षवः साधव इति, अकृतकरणास्तपोभिरपरिकर्मितशरीराः, अनभिगताश्चाऽगीतार्थाः। चशब्दादस्थिराः। एतेषां च सर्वेषां यथाऽर्हं सूक्ष्मबादरातिचाराऽऽदिना यज्जीतं जीतदानव—र्निर्विकृत्याद्यष्टमभक्तान्तं, ज्ञेयमिति शेषः। यद्वा—यन्त्रेणैतद् ज्ञेयमित्यर्थः। इदं चात्र गाथान्तो यन्त्रकस्य पञ्चम्या दीर्घपङ् क्तेः पश्चिमानुपूर्व्या तपो गृहीतम्, एतदीयश्च तपो विशेषः सर्वोऽपि यन्त्रकेण स्पष्टीभवति। ततस्तस्यायं लेखनविधिः कथ्यते—इह दीर्घेण पङ्क्तिरचनायां त्रयोदश गृहाणि स्थाप्यन्ते। पृथुत्वेन वाच्यपङ्क्तौ पञ्चदश गृहाणि। द्वितीयतृतीयपङ्क्त्योश्चतुर्दश, चतुर्थपञ्चमपङ्क्त्योस्त्रयोदश, षष्ठसप्तमपङ्क्त्योर्द्वादश, अष्टमनवमपङ्क्त्योरेकादश। दशमैकादशपङ्क्त्योर्दश, द्वादशत्रयोदशपङ्क्त्योर्नवगृहाणीति। अत्र चाऽऽद्यायाः पृथुपङ्क्तेरुपरि निरपेक्षः स्थाप्यते, द्वितीयाया आचार्यः कृतकरणः, तृतीयाया आचार्योऽकृतकरणः, चतुर्थ्या उपाध्यायः कृतकरणः, पञ्चम्या उपाध्यायोऽकृतकरणः, षष्ठ्या गीतार्थः स्थिरः कृतकरणो भिक्षुः, सप्तम्या गीतार्थः स्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुः, अष्टम्या गीतार्थोऽस्थिरः कृतकरणो भिक्षुः, नवम्या गीतार्थोऽस्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुः, दशम्या अगीतार्थः स्थिरः कृतकरणः, एकादश्या अगीतार्थः स्थिरोऽकृतकरणः, द्वादश्या अगीतार्थोऽस्थिरः कृतकरणः, त्रयोदश्या उपरि अगीतार्थोऽस्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुरिति स्थापयित्वा पृथुत्वेन प्रथमायां पङ्क्तौ निरपेक्षस्याधो गृहद्वये शून्यं स्थाप्यम्, यतस्तयोः पाराञ्चिकानवस्थाप्येन भवतः। ते च जिनकल्पिकस्य न सम्भवतः, तस्य हि स्वभावेन निरपेक्षत्वात्। अथ तयोः शून्योरधस्त्रयोदशसु गृहेषु मूलच्छेदषड्गुरुषट् लघुचतुर्गुरुचतुर्लघुमासगुरुमासलघुभिन्नमासविंशतिकपञ्चदशकदशकपञ्चकानि स्थाप्यन्ते, द्वितीयायां पङ्क्तौ पाराञ्चिकाऽऽदीनि दशकान्तानि, तृतीयायामनवस्थाप्याऽऽदीनि पञ्चकान्तानि, चतुर्थ्यामनवस्थाप्याऽऽदीनि दशकान्तानि, अष्टम्यां छेदाऽऽदीनि दशकान्तानि, नवम्यां षड्गुर्वादीनि पञ्चकान्तानि, दशम्यां षड्गुर्वादीनि दशकान्तानि, एकादश्यां षड् लघ्वादीनि पञ्चकान्तानि, द्वादश्यां षड् लघ्वादीनि दशकान्तानि, त्रयोदश्यां चतुर्गुर्वादीनि पञ्चकान्तानि स्थाप्यन्ते।

॥ एतेन पुरुषविभागेन श्रुतव्यवहारतो जीतकल्पयन्त्रम् । ''इत्थं पुण'' (७३) गाथा ॥

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
	निरपेक्षः	आचार्यः कृतकरण	आचार्यो ऽ–कृतकरणः	उपाध्यायः कृतकरणः	उपाध्यायो–ऽकृतकरणः	गीतार्थः स्थिरः कृतकरणो भिक्षुः	गीतार्थः स्थिरोऽकृ–तकरणो भिक्षुः	गीतार्थो ऽ स्थिरःकृ–तकरणो भिक्षुः	गीतार्थो – स्थिरोऽकृ–तकरणो भिक्षुः	अगीतार्थः स्थिरः कृ–तकरणो भिक्षुः	अगीतार्थः स्थिरोऽकृ–तकरणो भिक्षुः	अगीतार्थो ऽस्थिरः कृतकरणो भिक्षुः	अगीतार्थो ऽस्थिरो–ऽकृतकरणो भिक्षुः
१	०	पाराञ्चिक	अनवस्थाप्य	अनवस्थाप्य	मूल	मूल	छेद	छेद	६	६	६	६	४
२	०	अनवस्थाप्य	मूल	मूल	छेद	छेद	६	६	६	६	४	४	४
३	मूल	मूल	छेद	छेद	६	६	६	६	४	४	४	४	*
४	छेद	छेद	६	६	६	६	४	४	४	४	*	*	*
५	६	६	६	६	४	४	४	४	*	*	*	*	२५
६	६	६	४	४	४	४	*	*	*	*	२५	२५	२०
७	४	४	४	४	*	*	*	*	२५	२५	२०	२०	१५
८	४	४	*	*	*	*	२५	२५	२०	२०	१५	१५	१०
९	*	*	*	*	२५	२५	२०	२०	१५	१५	१०	१०	५
१०	*	*	२५	२५	२०	२०	१५	१५	१०	१०	५		
११	२५	२५	२०	२०	१५	१५	१०	१०	५				
१२	२०	२०	१५	१५	१०	१०	५						
१३	१५	१५	१०	१०	५								
१४	१०	१०	५				७						
१५	५						७						

अत्रैवं भावना–यत्राऽपराधे कृतकरणाऽऽचार्यस्य पाराञ्चिके, तत्रैवाऽपराधे अकृतकरणाऽऽचार्याऽऽदीनां दीर्घपङ्क्तिक्रमेणानवस्थाप्याऽऽदीनि प्रायश्चित्तानि भवन्ति। तथा यत्रापराधे कृतकरणाऽऽचार्यस्याऽनवस्थाप्यं, तत्रैवाऽपराधे शेषाणां तथैव क्रमेण प्रायश्चित्तानीत्येवं सर्वदीर्घपङ्क्तिषु भावना कार्या। उक्तः सम्प्रपञ्चं पुरुषद्वारम्।

सम्प्रति सेवनामाह–

आउट्टियाइ दप्पप्पमायकप्पेहिँ वा निसेविज्जा।
दव्वं खित्तं कालं, भावं चाऽऽसेवए पुरिसो ॥७४॥

आकुट्टिकया–उपेत्य सावद्यकरणोत्साहाऽऽत्मिकया, दर्पप्रमादकल्पैर्वा,दर्पो धावनडेपनवल्गनाऽऽदिकः हास्यजनकवचनाऽऽदिर्वा दर्परूपो वा प्रमादोरात्रौ चाप्रतिलेखनाप्रमार्जनाऽऽद्यनुपयुक्तता, कल्पः करणे दर्शनाऽऽदिचतुर्विंशतिरूपे सति गीतार्थस्य कृतयोगिन उपयुक्तस्य यतनयाऽऽधाकर्माऽऽधानरूपः, तैरेतैश्चतुर्भिःप्रतिसेवनारूपैरासेवकः पुरुषो निषेवेत प्रतिसेवेत, द्रव्यमाहारादिकं किञ्चिदशुद्धमप्याददीत, क्षेत्रं छिन्नमडम्बाऽऽदिकं स्तोकलोकाऽऽश्रयं सार्द्धयोजनद्वयं यावदविद्यमानवसतिप्रदेशं यत्र सम्पूर्णा भिक्षा न लभ्यते, कालो दुर्भिक्षाऽऽदिर्यत्र सर्वथाऽन्नाऽऽदि न प्राप्यते, तं प्रतिसेवेत। अयमाशयः–साधुना महति क्षेत्रे काले च गत्वा स्थेयम्, आकुट्टिकाऽऽदिभिर्हि सर्वं छिन्नमडम्बाऽऽदिकं क्षेत्रं दुष्कालं च प्रतिसेवमानः संयमाऽऽत्मविराधने प्राप्नुयात्। भावं च हृष्टग्लानत्वाऽऽदिकं प्रतिसेवेत, आकुट्टिकाऽऽदिभिरहितान्नौषधाऽऽदिकं भुक्त्वा ग्लानत्वाऽऽदिकं भावमुत्पादयेदित्यर्थः। उक्ताः स्वरूपतः प्रतिसेवनाः।

तासां प्रायश्चित्तमाह–

जं जीयदाणमुत्तं, एयं सव्वं पमायसहियस्स।
इत्तु च्चिय ठाणंतरमेगं वड्ढित्तु दप्पवओ ॥७५॥

यज्जीतदानं जीतव्यवहारे तपोदानमुक्तम्, एतत्सर्वं प्रायः प्रमादसहितस्य, प्रमादप्रतिसेवना प्राग्गाथाविवरणव्याख्यातद्रव्याऽऽदिसेवना भणिता। इत एव प्रमादप्रतिसेवकप्रायश्चित्तादेकं स्थानान्तरं वर्द्धयेद् दर्पवतः। अयमर्थः–प्रमादप्रतिसेवनया भिन्नमासलघुमासगुरुमासचतुर्लघुचतुर्गुरुषट्लघुषट्गुरूणामापत्तौ निर्विकृतिकपुरिमार्द्धैकासनाऽऽचाम्लचतुर्थषष्ठाऽऽख्यं तपो दीयते, दर्पप्रतिसेवाकारिणस्तु भिन्नमासाऽऽदीनामापत्तौ सत्यां स्थानान्तरवृद्धिः कार्या, निर्विकृतिकं मुक्त्वा पुरिमार्द्धाऽऽदीनि दशमान्तानि तपांसि देयानीति॥

आउट्टियाइ ठाणं–तरं व सट्ठाणमेव वा दिज्जा।
कप्पेण पडिक्कमणं, तदुभयमहवा विणिद्दिट्ठं ॥७६॥

आकुट्टिकाप्रतिसेवायां साधोः स्थानान्तरं वा दद्यात्, दर्पप्रतिसेवाकारिणः सकाशात् स्थानवृद्ध्यादिकं तपःस्थानं वितरेत्, दर्पारोविनो हि भिन्नमासाऽऽद्यापत्तौ पुरिमार्द्धाऽऽदीनि दशमान्तानि दीयन्ते। अस्य त्वेकासनाऽऽदीनि द्वादशान्तानि देयानि। स्वस्थानमेव वा दद्यात्। इहाऽऽपत्तिरूपं प्रायश्चित्तं स्वस्थानमुच्यते, यथाऽऽकुट्टिकया पञ्चेन्द्रियवधे मूलम्, अन्यत्रापि चाऽऽकुट्टिकया यत्रापराधे यद्भिन्नमासाऽऽदिकमुक्तं, तत्तत्र स्वस्थानं, तदेवाऽऽकुट्टिकाप्रतिसेविनो दद्यादित्यर्थः॥ कल्पेन कल्पप्रतिसेवनया प्रतिसेवितो प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतं प्रायश्चित्तम्। अथवा–तदुभयं आलोचनामिथ्यादुष्कृतोभयरूपं प्रायश्चित्तं विनिर्दिष्टम्।

इदं चोक्तस्वरूपं प्रायश्चित्तं परिणामानुरूपेणैव दद्यादित्याह–

आलोयणकालम्मि वि, संकेसविसोहिभावओ नाउं।
हीणं वा अहियं वा, तम्मेत्तं वा वि दिज्जाहि ॥७७॥

आलोचनाकालेऽपि कमप्यपराधविशेषं यः सर्वथा न प्रकाशयति कथयति, कथयन्नप्यर्द्धं कथितं वा करोति, स संक्लिष्टपरिणाम इति ज्ञात्वा तस्याधिकमपि दद्यात्, यः पुनः संवेगमुपगतो निन्दागर्हाऽऽदिभिर्विशुद्धपरिणामः, तस्य हीनमपि दद्यात्, यः पुनर्मध्यस्थपरिणामः, तस्य तन्मात्रमेव दद्यात्।

उक्तमेवार्थं द्रढयन्नाह–

इय दव्वाई बहुए, गुरुसेवाए य बहुतरं दिज्जा।
हीणतरे हीणतरं, हीणतरे वा वि झोसु त्ति ॥७८॥

इत्यमुना प्रकारेण द्रव्याऽऽदौ द्रव्यक्षेत्रकालभावाऽऽख्ये प्रतिसेविते बहुगुणिते प्रचुरदोषवक्ष्येन सर्वथा वा विपरीतलक्षणया वा बहुदोषे गुरुसेवायां गुरुतरायां प्रतिसेवायां कृतायां बहुतरं प्रायश्चित्तं दद्यात्। हीनतरेऽल्पदोषे द्रव्याऽऽदिके प्रतिसेविते हीनतरमल्पतरं वा प्रायश्चित्तं दद्यात्। ततोऽपि हीनतरे हीनतराद् हीनतरं यावत् सर्वहीने इत्यल्पदोषे द्रव्याऽऽदौ अत्यल्पीयस्यां सेवायाम्। (झोसु त्ति) क्षेपणात् ह्रासः कार्यः, सर्वस्तोकं तपो देय–मित्यर्थः।

कुत्राऽपि च सर्वथाऽपि ह्रासः क्रियते, इति प्रतिपादयन्नाह–

झोसिज्जइ सुबहुं पि हु, जीएणंऽन्नं तवारिहं बहओ।
वेयावच्चगरस्स उ, दिज्जइ साणुग्गहतरं वा ॥७९॥

इह जीतेनाऽऽद्यक गुरुभिर्वितीर्णं षण्मासाऽऽदिकं तपो बहतः पञ्चकेष्वपि दिवसेषु गतेष्वन्यच्चातुर्मासिकं पाण्मासिकं वा तपोर्हं च समापन्नं, ततस्तत् क्षिप्यते सुबहुकमपि ह्रास्यते, सर्वथाऽपि तत्तस्य न दीयते इत्यर्थः। वैयावृत्यकरस्य च सानुग्रहतरं वा दीयते। कोऽर्थः–यावन्मात्रं तपस्तप्यमानः स वैयावृत्यं कर्तुं शक्नोति, तस्य तावन्मात्रमेव तपो दीयते, नाधिकम्। एष सम्प्रपञ्चस्तपोऽर्हप्रायश्चित्तविधिः। जीत०।

तप्प पुं०(तप्र) नदीप्रवाहेण प्लाव्यमाने दूरादानीयमाने, काष्ठसमुदाये, आ०म०१ अ०१खण्ड। प्रज्ञा०। उडुपके, भ०११ श० १० उ०। विशे०। नं०। आ०चू०।

तप्पक्खिय त्रि०(तत्पाक्षिक) तेषां विवक्षितानां संविग्नानां पक्षस्तत्पक्षः, तत्र भवस्तत्पाक्षिकः। व्य०१ उ०। तस्य प्रयोजनेषु सहाये, भ०३ श०७ उ०।

तप्पज्ज न०(तात्पर्य) तत्परस्य भावः, ष्यञ्। वक्तुरिच्छायाम्, अभिप्राये, तत्परतायां च। आचा०१ श्रु० ३अ०१ उ०।

तप्पडिवक्ख पुं०(तत्प्रतिपक्ष) तद्विरुद्धे, यथा–परिणतप्रतिपक्षा अपरिणताः नि०चू० १उ०।

तप्पडिबद्ध त्रि०(तत्प्रतिबद्ध) तदभाविनि, षो०१ विव०।

तप्पडिरूवगववहार पुं०(तत्प्रतिरूपकव्यवहार) तेन प्रतिरूपकं सदृशं तत्प्रतिरूपकं, तस्य विविधमवहरणं व्यवहारः प्रक्षेपः तत्प्रतिरूपकव्यवहारो यद्यत्र घटते व्रीहिघृताऽऽदिषु पलञ्जीवशाऽऽदेः प्रक्षेपे, तत्प्रतिरूपेण वशाऽऽदिना व्यवहरणे तत्प्रतिरूपकव्यवहारः। स्थूलादत्ताऽऽदानविरतेश्चतुर्थेऽतिचारे, श्रा०। पञ्चा०। ध०। आव०।

तप्पढमया स्त्री०(तत्प्रथमता) तेषां विवक्षितानाम्(भ०६श०३३ उ०) अणुव्रताऽऽदीनां प्रथमं तत्प्रथमं, तद्भावस्तत्प्रथमता। तस्याम्, उत्त०१ अ०। प्रथमे कल्पे, कल्प०२क्षण।

तप्पण न०(तर्पण) उपकरणे, स० ३० सम०। शक्तौ, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार। स्नेहाऽऽदौ शरीरबृंहणे, विपा० १ श्रु०१ अ०। स्नेहद्रव्यविशेषैर्बृंहणे, ज्ञा०१ श्रु० १३ अ०।

तप्पणालोडिय न०(तर्पणाऽऽलोडित) सक्त्वालोडने, जलाऽऽद्यालोडितसक्तौ, स्था० ४ ठा०३उ०।

तप्पमाण त्रि०(तर्पमाण) क्षरति, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०। स०।

तप्पर त्रि०(तत्पर) तद्रूपतया वर्त्तमानेऽन्यस्मिन्, यथा परमाणोरपरः परमाणुः। आचा०२ श्रु०२ चू०६अ०। आसक्ते, आचा०१ श्रु०१ अ०७उ०।

तप्पागारसंठिय त्रि०(तप्राकारसंस्थित) अधोमुखसरावाऽऽकारसंस्थिते, भ०११ श०१० उ०। आ०चू०।

तप्पुरक्खार पुं०(तत्पुरस्कार) तस्याऽऽचार्यस्य पुरस्करणं पुरस्कारः। सर्वकार्येष्वग्रतः स्थापने, आचा०१ श्रु०५ अ०४ उ०। तमाचार्यं सर्वकार्येषु पुरस्करोतीति तत्पुरस्कारः। आचार्यानुमत्या क्रियाऽनुष्ठायिनि, त्रि०। आचा०१ श्रु० ५ अ०६उ०।

तप्पुरिस पुं०(तत्पुरुष) द्वितीयाऽऽदिविभक्त्यन्तपदानां स्वनामख्याते समासे, यथा तीर्थं काक इवाऽऽस्ते तीर्थकाकः। ''ध्वाङ्क्षेणाऽऽक्षेपे ॥२।१।४२॥ इति (पाणि०) सप्तमीतत्पुरुषः। अनु०।

से किं तं तत्पुरिसे? तप्पुरिसे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा– तित्थे कागो तित्थकागो, वणे हत्थी वणहत्थी, वणे वराहो वणवराहो, वणे महिसो वणमहिसो, वणे मयूरो वणमयूरो। सेत्तं तप्पुरिसे॥

तीर्थं काक इवाऽऽस्ते तीर्थकाकः। ''ध्वाङ्क्षेणाऽऽक्षेपे'' ॥२।१।४२॥ इति (पाणि०) सप्तमीतत्पुरुषः। शेषं स्पष्टम्। अनु०।

तब्भत्तिय त्रि०(तद्भक्तिक) तत्र भक्तिः सेवा बहुमानो वा येषां ते तद्भक्तिकाः। तत्सेवके, भ०५ श०७उ०।

तब्भवमरण न०(तद्भवमरण) तस्मै भवाय मनुष्याऽऽदेः सतो मनुष्याऽऽदावेव बद्धाऽऽयुषो यन्मरणं तत् तद्भवमरणम्। इदं च नरतिरश्चामेव भवति। बालमरणभेदे, भ०२१ श०१ उ०। स०। स्था०। प्रव०।

तत्स्वरूपम्–

मोत्तुं अकम्मभूमगणरतिरिए सुरगणे य णेरइए।
सेसाणं जीवाणं, तब्भवमरणं तु केसिं च ॥१५॥

(मोत्तुं गाहा) मुक्त्वा अपहाय, कान्? (अकम्मभूमगणरतिरिए त्ति) सूत्रत्वादकर्म्मभूमिजाश्च ते देवकुरूत्तरकुर्वादिषूत्पन्नतया नरतिर्यञ्चश्च अकर्म्मभूमिजनरतिर्यञ्चः, तान्, तेषां हि तद्भवानन्तरं देवेष्वेवोत्पादः, तथा सुरगणांश्च सुरनिकायान्। किमुक्तं भवति? चतुर्निकायवर्तिनोऽपि देवान्, निरयो नरकः, तस्मिन् भवा नैरयिकाः। इहाऽपि चशब्दानुवृत्तेस्तांश्च, मुक्त्वेति संबन्धः। तेषां देवानां च तद्भवानन्तरं तिर्यङ्मनुष्येष्वेवोत्पत्तेः। शेषाणामेतदुद्धरितानां कर्म्मभूमिजनरतिरश्चां, जीवानां त्राणिनां तद्भवमरणं, तेषामेव पुनस्तत्रोत्पत्तेस्तद्धि यस्मिन् भवे वर्त्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवाऽऽयुर्बद्ध्वा पुनस्तत्क्षयेण म्रियमाणस्य भवति, तुशब्दस्तेषामपि संख्येयवर्षाऽऽयुषामेवेति विशेषव्यापकः, असंख्येयवर्षाऽऽयुषां हि युगलधार्मिकत्वादकर्मभूमिजानामिव देवेष्वेव उत्पादः, तेषामपि न सर्वेषां, किं तु केषाञ्चिद् तद्भवोत्पादानुरूपमेवाऽऽयुः कर्मापचिन्वतामिति गाथार्थः।

मोत्तूण ओहिमरणं, आवी वीआइअं तु तं चेव।
सेसा मरणा सव्वे, तब्भवमरणे य णायव्वे॥१६॥

अत्रान्तरे प्रत्यन्तरेषु (मोत्तूण ओहिमरणं) इत्यादि गाथा दृश्यते, न चास्या भावार्थः सम्यगवबुध्यते, नापि चूर्णीकृताऽसौ व्याख्याता। उत्त०पाई० ५ अ०।

तब्भारिय त्रि०(तद्भार्य) तस्य सोमस्य भार्या इव भार्या अत्यन्तवश्यत्वात्पोषणीयत्वाच्चेति तद्भार्यः। दासे, भ०३श०७उ०।

तद्धारिक त्रि०। तद्भारो येषां वोढव्यतयाऽस्ति ते तद्भारिकाः। दासे, भ०३ श०७उ०।

तब्भावणाभाविय त्रि०(तद्भावनाभावित) तस्याऽऽवश्यकस्य भावना अव्यवच्छिन्नपूर्वपूर्वतरसंस्कारस्य तदनुष्ठानरूपतया भावितः उद्गाढभावेन परिणताऽऽवश्यकानुष्ठानपरिणामे, अनु०। विपा०। ग०।

तब्भूम त्रि०(तद्भौम) तस्यामेव भूमौ भवस्तद्भौमः। तद्भूमिवास्तव्यलोकपरिचिते, बृ०१उ०।

तम पुं०(तमस्) तमयति खेदयति जनलोचनानीति तमः। औणाऽऽदिकोऽसुन्। उत्त०१अ०। **''स्नमदामशिरोऽनमः''** ॥८।१।३२॥ इति प्राकृते पुंस्त्वम्। प्रा०१ पाद। अन्धकारे, औ०। आचा०। कृष्णचतुर्दश्यां, रजन्यां वा तेजोद्रव्याभावे, बृ०१ उ०। नि०चू०। मोहे, औ०। अज्ञाने, ध०२अधि०। स्था०। मिथ्याज्ञाने, स्था०४ ठा०२उ०। बद्धस्पृष्टनिधत्ते ज्ञानाऽऽवरणीये निकाचिते, आव०५ अ०। अप्कायपरिणामस्वरूपेऽन्धकारे, स्था०४ ठा०२उ०। तमिस्रे, स०। आत्मनो वैरपीडाऽऽदौ; प्रव०७२ द्वार। द्रव्याभावरूपान्धकारे, षो० १५ विव०। सम्म०। शोके, दे०ना० ५ वर्ग १ गाथा।

तमण (देशी) धुल्लौ, दे०ना० ५ वर्ग २ गाथा।

तमतम पुं०(तमस्तम) तमस्तमा सप्तमनरकपृथ्वी, तस्यामुत्पन्नां नारका अपि तमस्तमाः, उपचारात्। यद्वा–तमस्तमा विद्यते येषां ते तमस्तमाः। ''अभ्राऽऽदिभ्यः'' ॥७।२।४६॥ इत्यप्रत्ययः। सप्तमनरकपृथिवीनारकेषु, कर्म०५ कर्म०।

तमतमग पुं०(तमस्तमाग) सप्तमपृथ्वीनारके, ''तमतमगो अइखिप्पं, संमत्तं लभिय तम्मि बहुगद्धं। मणुयदुगस्सुक्कोसं, सवज्जरिसभस्स बंधत्ते ॥१६०॥'' पं०सं० ५ द्वार। प्रश्न०।

तमतमप्पभा स्त्री०(तमस्तमप्रभा) तमसः प्रभा यस्याः सा। सप्तमनारकपृथिव्याम्, अनु०। प्रज्ञा०।

तमतमा स्त्री०(तमस्तमा) अतिशयवत्तमस्तद्रूपद्रव्ययोगात्तमस्तमा। सप्तमनरकपृथिव्याम्, अनु०। स्था०।

तमतिमिर न०(तमस्तिमिर) अन्धकारे, रात्रौ यदा रजो धूमधूमिका भवति तदा तमतिमिरं भण्यते। बृ०४ उ०। विज्ञानमन्दताऽल्पत्वे, आ०चू०५अ०। नि०चू०।

तमतिमिरपडल न०(तमस्तिमिरपटल) तमो विज्ञानमन्दता, यथा पृथ्वीकायाऽऽदीनां तिमिरविज्ञानाल्पता, तथा शेषाणां तमस्तिमिर-निमित्तभूतं पटलं तमस्तिमिरपटलम्। ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्म सङ्गृह्यते, आ०चू०। यद्वा–तमोऽपरिज्ञानं तस्य हेतुभूतं तिमिरपटलं तमस्तिमिरपटलम्। ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मबन्धे, आ०चू०। अथवा–तमोऽनवबोधः, स एव तिमिर तमस्तिमिरं, तस्य कारणं पटलं तमस्तिमिरपटलम्। अथवा तमोऽपरिज्ञानहेतुः स एव बहलस्तिमिरं, तस्य पटलं वर्गः समूहः। अन्ये पुनर्भणन्तितमो बद्धं स्पृष्टं निधत्तं ज्ञानाऽऽवरणीयं निकाचितं तिमिरं, तस्य पटलं वृन्दं तमस्तिमिरपटलम्। ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मसंघाते, आ०चू०५ अ०। यदा तस्यामेव रजन्यां रजःप्रभृतयो मेघदुर्दिनं च भवति, तदा तमस्तिमिरपटलमभिधीयते। यथा तत्रैवान्धकारे पुरुषः किञ्चिदपि न पश्यति। अन्धकार-समूहे,बृ०४उ०।

तमतिमिरपडलभूय त्रि०(तमस्तिमिरपटलभूत) दर्शनाऽऽवरणी-योदयादकिञ्चित्पश्यति, नि०चू०।

तमतिमिरपडलभूओ, पावं चिंतेति दीहसंसारी।
कण्हाऍ चउद्दसिए, राओ भासइ.....॥

दव्वाभावो य तमं भण्णति, तम्मि चेव रातो जदा रयरेणुधूमिगा भवति तदा तमतिमिरं भण्णति, जदा पुण ता चेव रातीए रयादिया मेहदुद्दिणं च भवति, तदा तमतिमिरपडलं भण्णति,सुट्ठु अन्धकारं, णऽत्थ पुरिसो किंचि पासति, एवं उदएण तिव्वतरतिव्वमेण पुरिसो तमतिमिरपडलभूतो भण्णति,भूतशब्दः सादृश्योपमार्थे द्रष्टव्यः। अहवा–तम एव तिमिरमेव पडलं तममिमिरपडलं, अन्धकारविशेष इत्यर्थः। एतेण उवमा कज्जति,तेण तमतिमिरपडलभूतो, इहापि भूतशब्द उपमार्थः। यथाऽन्धकारेण न किञ्चिदुपलभ्यते, एवं तीव्रकषायोदयान्न चारित्रगुणः कश्चिदुपलभ्यते। अहवा पि उदयविकारेण य दव्वचक्खिंदियस्संऽतः करणं पडलं भण्णति, तब्भावे य चक्खुदसणावरणोदयओ व तिमिरपडलेहिं पुरिसस्स तमो भवति, न किञ्चित्पश्यतीत्यर्थः। तेण उवमा जस्स कज्जति, *सो तमतिमिरपडलभूतो, इहापि भूतशब्द उपमार्थे।* नि०चू०१० उ०।

तमतिमिरपडलविद्धंसण त्रि०(तमस्तिमिरपटलविध्वंसन) तमोऽज्ञानं तदेव तिमिरं तमस्तिमिरम्। अथवा–तमो बद्धस्पृष्टं निधत्तं ज्ञानाऽऽवरणीयं, निकाचितं तिमिरं, तस्य पटलं वृन्दं तमस्तिमिरपटलं, तद्विध्वंसयति विनाशयतीति तमस्तिमिरपटलविध्वंसनः। अज्ञान-निराशकर्तरि, ल०। आव०। ध०।

तमपज्जलण त्रि०(तमःप्रज्वलन) तमोबलेनाऽज्ञानबलेनाऽन्धका-रबलेन वा प्रज्वलति दर्पितो भवतीति तमःप्रज्वलनम्। अज्ञानबलेन अन्धकारबलेन वा दृप्ते, स्था०४ ठा०३उ०।

तमपडल न०(तमःपटल) ज्ञानाऽऽवरणे, भ०६ श०४उ०। अन्ध-कारसमूहे, उत्त०४ अ०।

तमपडलमोहजालपलिच्छअ त्रि०(तमःपटलमोहजाल-प्रतिच्छन्न) तमः पटलमिव तमः पटलं ज्ञानाऽऽवरणं, मोहो मोहनीयं, तदेव जालं, मोहजालं, ताभ्यां प्रतिच्छन्ना आच्छादिता ये ते तथा। ज्ञानाऽऽवरणी-यमोहनीयकम–भ्यामाच्छादितेषु, भ०६श०४उ०।

तमप्पभा स्त्री०(तमःप्रभा) तमसः प्रभा बाहुल्यं यत्र सा तमःप्रभा। प्रव०१७२ द्वार। तमोमय्यां षष्ठ्यां नरकपृथिव्याम्, प्रज्ञा०१ पद। भ०। अनु०।

तमप्पविट्ठ त्रि०(तमःप्रविष्ट) तमः प्रविष्ट इव तमः प्रविष्टः। तमः कर्मप्रवेशकर्तरि, भ०६श०४उ०।

तमबल पुं०(तमोबल) तमोऽज्ञानं बलं सामर्थ्यं यस्य सः, तमोऽन्धकारं वा तदेव तत्र वा बलं यस्य स तथा। असदाचारवति, अज्ञानिनि, रात्रिञ्चरे, चौराऽऽदौ पुरुषजाते, स्था०४ ग०३उ०।

तमबलपलज्जण पुं०(तमोबलप्ररजन) तमो मिथ्याज्ञानमन्धकारं वा तदेव बलं यत्र। अथवा–तमस्युक्तरूपे बले च सामर्थ्ये प्ररज्यते रतिं करोतीति तमोबलप्ररजनः। तमोबलरक्ते पुरुषजाते, स्था० ४ ग०३उ०।

***तमोबलप्रलज्जन** पुं०। तमोबलेनान्धकारबलेन सञ्चरन् प्रलज्जते इति तमोबलप्रलज्जनः। प्रकाशचारिणि पुरुषजाते, स्था०४ ठा०३उ०।

तमरयविद्धंसणाण न०(तमोरजोविध्वंसज्ञान) तमोरजसी अज्ञान-पातके, विध्वंसयति नाशयतीति यत्तत्तमोरजोविध्वंसं, तच्च तद् ज्ञानं च तमोरजोविध्वंसज्ञानम्। अज्ञानपातकनाशके ज्ञाने, स०५ अङ्ग।

तमस्सई स्त्री०(तमस्वती) तमोऽन्धकारमस्यास्तीति तमस्वती। व्य०५ उ०। बहलतमःपटलकलितायां रात्रौ, बृ०१उ०।

तमा स्त्री०(तमा) तमोरूपद्रव्ययुक्तत्वात् तमा इति। अनु०। षष्ठ्यां नरकपृथिव्याम्, स्था०७ ग०। अन्धकारयुक्तत्वेन रात्रितुल्यत्वा-दधोदिशि, स्था०१० ठा०। प्रज्ञा०। ''सोमा ईसाणा चिय, विमला य तमा य बोधव्वा।'' विशे०। आ०म०।

तमाड धा०(भ्रामि) भ्रम–णिच्। **''भ्रमेस्तालिअण्टतमाडौ''** ॥८।४।३०॥ इति भ्रमतेर्ण्यन्तस्य वा 'तमाड' इत्यादेशः। 'तमाडइ'। पक्षे– 'भमाडइ'। भ्रमणे, प्रा०४पाद।

तमाल पुं०(तमाल) संख्येयजीवके वलयाऽऽख्यवनस्पतिभेदे, आचा०१ श्रु० १अ०५उ०। प्रज्ञा०। भ०। औ०। रा०।

तमाललया स्त्री०(तमाललता) सुतालनन्दनामनगरवास्तव्यस्य तालध्वजनाम्नो राज्ञो भार्यायाम्, दर्श०१ तत्त्व। पुष्करद्वीपार्धे द्वीपे मङ्गलावतीविजये अमरकेतुपितृसमरनन्दपालितायां पुरि, दर्श० ३ तत्त्व।

तडिसंधयार पुं०(तमिस्रान्धकार) बहुलतमोऽन्धकारे, यत्राऽऽत्माऽपि नोपलभ्यते चक्षुषा केवलमवधिनाऽपि मन्दं मन्दमुलूका इवाह्नि पश्यन्ति। सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। पिं०।

तमिस्स न०(तमिस्र) अन्धकारे, स्था०४ ठा०३उ०।

तमुक्काय पुं०(तमस्काय) तमसोऽप्कायपरिणामस्वरूपस्यान्धका–रस्य कायः प्रचयस्तमस्कायः। अप्कायपरिणामरूपतमःप्रचये, प्रव० २५५ द्वार। स्था०। तमस्कायस्य द्रव्यत्वम्–

जंबुद्दीवाउ असं–खेज्ज इमा अरुणवरसमुद्दाओ।
वायालीससहस्से, जगईउ जलं विलंघेउं ॥४१२॥
समसेणीएँ सत्तरस, एक्कवीसाइं जोअणसयाइं।
उल्लसिओ तमरूवो, बलयागारो अबुक्काओ ॥४१३॥
तिरिअं वित्थरमाणो, आवरयंतो सुरालयचउक्कं।
पंचमकप्पेऽरिट्ठम्मि पत्थडे चउदिसिं मिलिओ ॥४१४॥

जम्बूद्वीपादसंख्येयतमोयोऽसावरुणवरसमुद्रः, तमाश्रित्यद्वि-चत्वारिंशद् योजनसहस्राणि जगत्या जलं विलङ्घ्य, समश्रेण्या समभित्तितया एकविंशत्यधिकानि सप्तदश शतानि यावद्वलयाकारस्तमोरूपो, देवानामपि तत्रोद्द्योताभावेन महान्धकाराऽऽत्मकत्वात् अप्काय उल्लसितः। अयमर्थः–एतस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगसंख्यातान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिक्रम्याऽरुणवरनामा द्वीपः समस्ति, तद्वेदिकापर्यन्ता द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यरुणवरं समुद्रमवगाह्याऽऽन्तरे जलोपरितनतस्मादूर्द्ध्वमेकविंशत्युत्तराणि सप्तदशयोजनशतानि यावत्समभित्त्याकारतया गत्वा वलयाऽऽकृतिरप्कायमयो महान्धकाररूपस्तमस्कायः समुल्लसित इति। अयं तिर्यक् विस्तरन् सुरालयचतुष्कं सौधर्म्मेशानसनत्कुमा माहेन्द्ररूपदेवलोकचतुष्टयमावृण्वन्नाच्छादयन्नूर्द्ध्वं तावद् गतो यावत्पञ्चमे ब्रह्मलोकनामके कल्पे तृतीयेऽरिष्टविमानप्रस्तटे चतसृष्वपि दिक्षु मिलित इति।

अथ तमस्कायस्य संस्थानमाह–

हेट्ठा मल्लयमूल–ट्ठिइट्ठिओ उवरि बंडलोयं जा।
कुक्कुमपंजरगाऽऽगारसंठिओ सो तमुक्काओ ॥४१५॥

अधस्तादधोभागेन मल्लकमूलस्थितिस्थितोमल्लकं सरावं, तस्य मूलं बुध्नस्तस्य स्थितिः संस्थानं तया स्थितो व्यवस्थितः, शरावबुध्नाऽऽकार इति भावः। उपरिष्टाच्च यावत् कुक्कुटपञ्जराऽऽकारसंस्थितः, स पूर्वोक्तस्वरूपः तमस्कायो भवति तमसां तमिस्रपुद्गलानां कायो राशिस्वमस्काय इति। स्थापना– 

अथाऽस्य तमस्कायस्य विष्कम्भं परिधिं च प्राऽऽह–

दुविहो से विक्खंभो, संखेज्जो अत्थि तह असंखेज्जो।
पढमम्मि य विक्खंभे, संखेज्जा जोयणसहस्सा ॥४१६॥
परिहीएँ ते असंखा, बीए विक्खंभपरिहिजोएहिं।
हुंति असंखसहस्सा, नवरमिमं होइ वित्थारो ॥४१७॥

द्विविधो द्विप्रकारः (से त्ति) तस्य तमस्कायस्य विष्कम्भो विस्तरो भवति–संख्यातः, तथा असंख्यातश्च। तत्र प्रथमे विष्कम्भे आदित आरभ्य ऊर्द्ध्वं संख्येययोजनानि यावत्संख्येययोजनसहस्राः प्रमाणतो भवन्ति। परिधौ परिक्षेपे पुनस्त एव योजनसहस्रा असंख्याताः, अधस्तमस्कायस्य संख्यातयोजनविस्तृतत्वेऽप्यसंख्यातद्वीपपरिक्षेपतो बृहत्तरत्वात्परिक्षेपस्यासंख्यातयोजनसहस्रैः प्रमाणत्वमविरुद्धम्। आन्तरबहिः परिक्षेपविभागस्तु नोक्तः, उभयस्याप्यसंख्याततया तुल्यत्वादिति। तथा द्विविधे विष्कम्भपरिधियोगाभ्यां विष्कम्भेन परिधिना च प्रत्येकमसंख्यातयोजनसहस्रा भवनित, नवरं केवलमिदमसंख्यातयोजनसहस्ररूपं च प्रमाणं विस्तारे भवति। वलयाऽऽकाराद्द्धं यदसौ तमस्कायक्रमेण विस्तरति, तदानीमिदं प्रमाणमवसेयमिति भावः। अस्य च तमस्कायस्य महत्वमित्थमागम विदः प्रवेदयन्ति–यथा यो देवो महर्द्धिको यया गत्या तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरेकविंशति–वारान् सकलं जम्बूद्वीपमनुपरिवृत्याऽऽगच्छेत, स एव देवः तयैव गत्या षड्भिरपि मासैः संख्यातयोजनविस्तारमेव तमस्कायं व्यतिव्रजेन्नेतरमिति। यदा च कश्चिद्देवः परदेव्याः सेवाहेवाकपरस्त्वाहाराऽऽदिभिरपराधमाधत्ते, तदा बलवद्देवभयात्प्रपलाय्य देवानामपि भूरितयाऽऽयिर्भावकत्वेन गमनविघातहेतौ तस्मिंस्तमस्काये निलीयत इति। प्रव० २५५ द्वार।

किमियं भंते ! तमुक्काए त्ति पवुच्चइ–किं पुढवितमुक्काए त्ति पवुच्चइ, आउतमुक्काए त्ति पवुच्चइ? गोयमा ! नो पुढवितमुक्काए त्ति पवुच्चइ, आउतमुक्काए त्ति पवुच्चइ। से केणट्ठेणं ? गोयमा ! पुढविकाए णं अत्थेगइए सुभेए संपकासेइ, अत्थेगइए देसं नो पकासेइ, से तेणट्ठेणं ॥

(किमियमित्यादि) (तमुक्काए त्ति) तमसां तमिस्रपुद्गलानां कायो राशिस्तमस्कायः। स च नियत एवेह स्कन्धः कश्चिद्विवक्षितः, स च तादृशः पृथ्वीरजःस्कन्धो वा स्यादुदकरजःस्कन्धो वा; न त्वन्यः, तदन्यस्यातादृशत्वादि ति। पृथिव्यब्विषयसन्देहादाह–(किं पुढवीत्यादि) व्यक्तम्। (पुढविकाए णमित्यादि) पृथ्वीकायोऽस्त्येकः कश्चिच्छुभो भास्वरो; यः किंविध इत्याह–देशं विवक्षितक्षेत्रस्यअकाशयति, भास्वरत्वाद् मण्यादिवत् तथाऽस्त्येकः पृथिवीकायो देशं पृथिवीकायान्तरं प्रकाश्यमपि न प्रकाशयति, अभास्वरत्वादन्धोपलवद्, नैवं पुनरप्कायः, तस्य सर्वस्याप्यप्रकाशकत्वात्, ततश्च तमस्कायस्य सर्वथैवाप्रकाशकत्वादप्कायपरिणामतैव। भ०६ श०५उ०।

अत्र न्यायमार्गानुयायिनः सङ्गिरन्तेननु पृथिव्यादीनां चतुर्णा सकर्णा वर्णयन्तु द्रव्यताम्, तिमिरच्छाययोस्तु द्रव्यतावाचोयुक्तिर्युक्तिरिकैव, भासाभाव एव हि तमश्छाये गदतां सच्छाये। तथाहि–शशधरदिनकरकरनिकरनिरन्तरप्रसरासंभवे सर्वतोऽपि सति तम इति प्रतीयते, यदा तु प्रतिनियतप्रदेशेनाऽऽतपत्राऽऽदिना प्रतिबद्धस्तेजःपुञ्जो यत्र यत्र न संयुज्यते, तदा तत्र तत्र च्छायेतिप्रतीयते, प्रतिबन्धकाभावेतु स्वरूपेणाऽऽलोकः समालोक्यत इत्यालोकाभाव एव तमश्छाये। यदि च–तमो द्रव्यं भवेत्, तदा रूपिद्रव्यसंस्पर्शाव्यभिचारात् स्पर्शवद्द्रव्यस्य च महतः प्रतिघात–हेतुत्वात्तरलतरतुङ्गतरङ्गपरम्परोपेतपारावारावतार इव, प्रथमजलधरधाराधोरणीधौताञ्जनगिरिगरीयः शृङ्ग प्रतिवादिनीव, निर्यन्निर्झरझात्कारिवारिदुर्वारशीकराऽऽसारसिव्यमानाऽभिरामारामममहीरुहसमूहप्रतिच्छन्द इव च प्रवृत्ते तिमिरभरे सञ्चरतः पुंसः प्रतिबन्धः स्यात्। भूगोलकस्येव चाऽस्यावयवभूतानि खण्डावयविद्रव्याणि प्रतीयेरन्, एवं छायायामपि, इति कथं ते द्रव्ये भवेताम्? अत्राभिदध्यमहे–तमसस्तावदभावस्वभावतास्वीकृतिरानुभविकी, आनुमानिकी वा? न तावदानुभविकी, यतोऽनावानुभवो

भावान्तरोपलम्भे सत्येव संभवी, कुम्भाभावोपलम्भवत्। न च प्रचुरतरतिमिरनिकरपरिकरितापवरकोदरे स्वकरतलाऽऽदिमात्रस्याप्युपलम्भः संभवति, तत्कथं तदनुभूतिर्भवेत्? कथं वा प्रदीपाऽऽदिप्रभाप्राग्भारप्रोज्जृम्भणमन्तरेणास्योपलम्भः? कुम्भाऽऽद्यभावो हि तदभाव एवानुभूयमानो दृष्टः, तत्कथमेष न्यायमुद्राऽतिक्रमो न कृतः स्यात्? अथ यो भावो यावता सामग्र्येण गृह्यते तदभावोऽपि तावतैव तेन तदिहाऽऽलोकस्य स्वातन्त्र्येणाऽऽलोकान्तरमन्तरेणैव ग्रहणमालोकिम्, इति तदभावस्याऽपि तत्किं न स्यात्? इति चेत्। अहो ! पीतविषस्याप्यमृतोद्गारः, एवं वदता त्वयैव तमसि द्रव्यताव्याहारात्। किमिदमीदृशमिन्द्रजालमिति चेत् ? इदमीदृशमेवेन्द्रजालमालोक्यताम्–आलोकः किल चक्षुषा संयोनात् गृह्यते,यदि च तदभावस्याऽपि तत्सामग्र्येणैव ग्रहणं स्यात्, तदा तस्याऽपि ग्रहणे चक्षुः संयोगसद्भावादायाता द्रव्यताऽऽपत्तिः, संयोगस्य गुणत्वेन तद्वृत्तित्वात्। अथासंयुक्तोऽप्ययं प्रेक्ष्यते, तदा कथं यो भावो यावतेत्याद्यं मृषोद्यं न स्यात्? कथं वा चक्षुषः प्राप्यकारिताप्रवादः सूपपादः स्याद्? विशेषणविशेष्यभावसंबन्धबन्धुरस्यान्धकारस्य ग्रहणादयमदोष इति चेत्, कतमस्यैष इति चेत्, कतमस्यैष विशेषणम्? न शरीरस्य, तदन्यत्राऽपि प्रतिभासनात्। नाऽपि भूतलकलशकुड्याऽऽदेः, तत एव। तर्हि भवतु नभस इति चेत्। तदशस्यम्; एतस्य तद्विशेषणविशेष्यीभावेन कदाचिदप्रतिभासनात्। तन्नैतदभावतास्वीकृतिरानुभविकी भव्या।

नाऽप्यानुमानिकी, यतः कतमोऽत्र हेतुराख्यायते संख्यावता? किं भाववैलक्षण्येन लक्ष्यमाणत्वं, भावविलक्षणसामग्रीसमुत्पाद्यत्वम्, असत्येवाऽऽलोके तत्प्रतिभासनम्, आलोकग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणत्वम्, तिमिरद्रव्योत्पादककारणाभावः,द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तकार्यत्वम्, आलोकविरोधित्वं, भावरूपतामसाधकप्रमाणाभावो वा? इत्यष्टपक्षी राक्षसीव त्वत्पक्षभक्ष्यभक्षणविचक्षणोपतिष्ठते। तत्र न तावदाद्यः पक्षः क्षेमङ् करः, 'कुम्भोऽयं स्तम्भोऽयम्' इति हि यथा कुम्भाऽऽदयो भावा विधिमुखेन प्रत्यक्षेण प्रेक्ष्यन्ते, तथेदं तम इति तमोऽपि, अभावरूपतायां तस्य प्रतिषेधमुखेन प्रत्ययः प्रादुःष्यात्। यथा कुम्भोऽत्र नास्तीति। ननु नाशप्रध्वंसाऽऽदिप्रत्यया विधिमुखेनाऽपि प्रवर्तमाना दृश्यन्ते। नैवम्, नाशाऽऽदिशब्दानामेव भावप्रतिषेधाभिधायकत्वात्, अत एव हि कुम्भस्य प्रध्वंस इति सोपपदानामेषां प्रयोगोपपत्ति। यदि तु तमः प्रभृतिशब्दा अपि तत्समानार्थतामाबिभ्रीरन्, तदानीं कुम्भस्याभाव इतिवदालोकस्य तम इत्यपि प्रोच्येत,न चैवं कश्चिद्विपश्चिदपि प्रवक्ति। अथाऽऽलोकाभावे संकेतितस्तमः शब्दो, नाभावमात्रे, ततो न तथाव्यपदेश इति चेत्। नैवम्, यदि ह्यन्धकाररूपोऽभावेऽपि विधिमुखेन वीक्ष्येत, तदानीं किमन्यदेतस्य भाववैलक्षण्येन लक्ष्यमाणत्वं स्यात्? यतो हेतुसिद्धिर्भवेत्।

अथ भावविलक्षणसामग्रीसमुत्पाद्यत्वं हेतुः, तथाहि–समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणकलापव्यापाररूपाभावोत्पादिका सामग्री, नैव तमसीयं समगंस्त। तदशस्तम्, यतः किमिदं समवायिकारणनाम्ना त्वमाम्नासीः? यत्र कार्यं समवेतमुत्पद्यते तदिति चेत्। तदसम्यक्, समवायस्य निरन्तरसुहृद्गोष्ठीषु गौरवार्हत्वात्; तत्प्रसाधकत्वाभिमतस्य 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिप्रत्ययस्याप्रसिद्धेः, 'पटे तन्तवः' इत्यादिरूपस्यास्याऽऽबालगोपालं प्रतीतत्वात्, सिद्धौ वा इह भूतले घटाभाव इत्यभावप्रत्ययेन व्यभिचारात्। संबन्धमात्रपूर्वतासाधने सिद्धसाधनात्, अविष्वग्भावमात्रनिमित्ततया तदङ्गीकारात्। एकान्तैकस्वरूपत्वेन चाऽस्यैकवस्तुसमवायसम्भवे समस्तवस्तुसमवायस्य, विनश्यदेकवस्तुसमवायाभावे समस्तवस्तुसमवायाभावस्य वा प्रसङ्गात्। तत्तदवच्छेदकभेदात् तदुपपत्तौ तस्याऽपि कथञ्चिद्भेदाऽऽपत्तेः, अनेकपुरुषावच्छिन्नपर्षदादेरपि तावत्स्वभावभावेन कथञ्चिद्भेदात्। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपतया चाऽस्याऽऽकाशसामान्यादेतादृग्वस्तुसमाश्रित्वमेव भवेत्, न तु कार्यवस्तुसमाश्रितत्वम्। तत्तत्सहकारिकारणकलापोपनिपातप्रभावात् कार्यसमवायस्वीकारोऽपि सनिकारः, तत्स्वभावप्रभावप्रतिबद्धानां तेषामपि सदा सन्निधानप्रधानत्वात्, तथा चास्तमिता समवायिकारणकिंवदन्ती। तदसत्त्वे किमसमवायिकारणम्? समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वं हि तल्लक्षणम्, तदसत्त्वे कथमेतत् स्यात्? तथा च तच्छेषभूतस्य निमित्तकारणस्याऽपि का व्यवस्था? सस्तु वा कारणान्यमूनि, तथाऽपि यथाकथञ्चिदालोककलापस्योत्पादः, तथा तमसोऽपि भविष्यति, किमरुचिविरचनाभिर्व्यपासितुं शक्यते? किमस्योत्पादकमिति चेत्। आलोकस्य किमिति वाच्यम्? तेजोऽणव इति चेत्। अस्याऽपि तमोऽणव एव सन्तु। सिद्धास्तावत् तैजसास्तेऽविवादेन वादिप्रतिवादिनोरिति चेत्। तामसा अपि तद्वदेव किं न सेत्स्यन्ति? इति त्यज्यतामाग्रहः।

असत्येवाऽऽलोके तत्प्रतिभासनमप्यसम्यक्, न हि यस्मिन्नसत्येव यत् प्रतिभासते तत् तदभावमात्रमेव भवति, असत्येव व्यवधाने प्रतिभासमानैर्घटाऽऽदिभिर्व्यभिचारात्। कथं च नैवं प्रतिबन्धकेऽसत्येव समुत्पद्यमानस्य स्फोटस्याऽपि तदभावमात्रता स्यात्? अथ स्फोटो दाहकाऽऽत्मकतया स्पार्शनप्रत्यक्षेणाऽनुभूयते, अभावमात्रतायां हि तस्य नेयमौपपत्तिकी स्यात्, तर्हि तमोऽपि शैत्येन तेनैव प्रत्यक्षेण प्रेक्ष्यमाणं कथमभावस्वभावं भवेत्?

अथाऽऽलोकग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणत्वं हेतुः, तथा च शङ्करन्यायभूषणौ– 'योहि भावो यावत्या सामग्र्या गृह्यते, तदभावोऽपि तावत्यैव, इत्यालोकग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणं तमस्तदभाव एवेति।'' तदपि न किञ्चित्, तमोग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणस्याऽऽलोकस्यैव तदभावताप्रसङ्गेनाऽनैकान्तिकत्वात्, घटपटयोर्वा समानग्रहणसामग्रीकतया परस्परा-भावत्वप्रसङ्गात्॥

अथ तिमिरद्रव्योत्पादककारणाभावो हेतुः, तथा च श्रीधरः तमः परणवः स्पर्शवन्तः, तद्रहिता वा? न तावत् स्पर्शवन्तः, स्पर्शवतस्तत्कार्यद्रव्यस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात्। अदृष्टव्यापाराभावात् स्पर्शवत्कार्यद्रव्याऽनारम्भका इति चेत्। रूपवन्तो वायुपरमाणवोऽदृष्टव्यापारवैगुण्याद् रूपवत् कार्य नारभन्ते इति किं न कल्प्येत? किं वा न कल्पितमेकजातीयादेव परमाणोरदृष्टोपग्राह्यचतुर्धा कार्याणि जायन्त इति? कार्यैकसमधिगम्याः परमाणवो यथा कार्यमुन्नीयन्ते, न तद्विलक्षणाः, प्रमाणाभावादिति चेत्। एवं तर्हि तामसाः परमाणवोऽप्यस्पर्शवन्तः कल्पनीयाः, तादृशाश्च कथं तमोद्रव्यमारभेरन्? अस्पर्शवत्त्वस्य कार्यद्रव्यानारम्भकत्वेनाऽव्यभिचारोपलम्भात्। कार्यदर्शनात् तदनुगुणं कारणं कल्प्यते, न तु कारणवैकल्येन दृष्टकार्यविपर्यासो युज्यत इति चेत्। न वयमन्धकारस्य प्रत्यर्थिनः, किन्त्वारम्भानुपपत्तेः, नीलिममात्रप्रतीतेश्च द्रव्यमिदं न

भवतीति ब्रूम इति। नैतदुपपत्तिपदवीं प्रतिपद्यते, यतः स्पर्शवन्त एव तामसाः परमाणवः प्रोच्यन्ते। यत्पुनस्तत्रोपादेशिस्पर्शवतस्तत्कार्यद्रव्यस्य क्वचिदप्यनुपलम्भादिति। तदसत्यम्, शीतस्पर्शवतस्तमोद्रव्यस्यैव तत्कार्यस्य दर्शनात्। तत्र स्पर्शसद्भावे किं प्रमाणम्? इति चेत्। तदभावे किं प्रमाणम्? इति वाच्यम्, न हि तत्प्रतिषेधकप्रमाणमन्तरेणाऽस्पर्शवत्त्वात् कार्यद्रव्यानारम्भस्त्वया प्रसाधयितुं शक्यते, अस्माकं तु तत्सद्भावे प्रमाणाभावेऽपि तावद् न काचित् क्षतिः। न च नास्त्येव तत्, प्रत्यक्षस्यैव सद्भावात्। तथाहि–दिवा दिवाकरकरालाऽऽतपप्रपातोपतप्तवपुषः पथिकास्तस्मिन्नासन्नतमसशैत्यसंपर्कात् प्रमोदन्ते; न च तापाभावमात्रसूत्रित एव तेषां प्रमोदः, प्रतीतिबाधात्, तन्मात्रनिमित्तो हि घटोऽत्र नास्तीतिवत् तापः संप्रति नास्तीति प्रतिषेधमुख एव प्रत्ययः प्रादुः ष्यात्; न तु संप्रति शीतलीभूतं मे शरीरमिति विधिमुखः; तथात्वे हि तमोऽभावमात्रसूत्रित एवायमालोकप्रत्यय इत्यपि वावदूकस्य वदतो वदनं न वक्रीभवेत्। अथान्धकारनिबन्धनत्वे शैत्यस्पर्शप्रत्ययस्य निविडतरघटितकपाटसंपुटे गवलकुवलयकलकण्ठीकण्ठकाण्डकृष्णान्धकारैकार्णवीभूते कारागारे क्षिप्तस्य पुंसः सुतरां तत्प्रत्ययो भवेत्, इति चेत्। तापाभावनिमित्ततायामपि सुतरां स किं तत्र न स्यात्? तत्रात्यन्तं तापाभावसम्भवात्। तस्माद् मन्दमन्दसमीरलहरिपरिचय एव जलस्पर्शस्येव तत्स्पर्शस्याऽप्यभिव्यक्तौ हेतुः, न चासौ तत्रास्तीति न तत्र तत्प्रतीतिः प्रादुर्भवति। अनुमानतोऽपि तत्र स्पर्शप्रतीतिः, तथाहि–तमः स्पर्शवद्, रूपवत्त्वात्, पृथ्वीवत्। न च रूपवत्त्वमसिद्धम्, अन्धकारः कृष्णोऽयमिति कृष्णाऽऽकारप्रतिभासात्। ननु यदि तिमिरं श्यामरूपपरिकलितकलेवरं स्यात् तदाऽवश्यं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षेत, कुवलयकोकिलतमालाऽऽदिकृष्णवस्तूनामालोकापेक्षवीक्षणत्वादिति चेत्। तद् नाऽकलङ्कम्, उलूकाऽऽदीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात्। यथाऽस्मदादिप्रतिभासमपेक्ष्यैतदुच्यते। तदपि न पेशलम्, यतो यद्यपि कुवलयाऽऽदिकमालोकमन्तरेणाऽऽलोकयितुं न शक्यतेऽस्मदादिभिः, तथाऽपि तिमिरमालोकयिष्यते, विचित्रत्वाद् भावानाम्, इतरथा पीतावदाताऽऽदयोऽपि तपनीयमुक्ताफलप्रमुखानालोकनिरपेक्षवीक्षणा इति प्रदीपचन्द्राऽऽदयोऽपि प्रकाशान्तरमपेक्षेरन्। इति सिद्धं तमो रूपवत्। तथा तमो रूपवत्, काष्ण्यवत्त्वेन प्रतीयमानत्वात्, कुवलयवत्, इत्यतोऽपि तत्र रूपवत्त्वसिद्धिः, न खल्वरूपं कुम्भाभावाऽऽदिकृष्णाऽऽद्याकारेण कदाचित् प्रतीयमानमालोकितम्, इति रूपवत्त्वसिद्धौ च सिद्धं स्पर्शवत्त्वम्। तथा च तामसपरमाणूनां कार्यद्रव्याऽऽरम्भप्रतिषेधोपन्यस्तमस्पर्शवत्त्वं स्वरूपासिद्धम्, परस्य तामसपरमाणूनामप्रसिद्धेराश्रयासिद्धं चेति स्थितम्॥

द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तकार्यत्वमपि न हेतुः, द्रव्यातिरिक्तकार्यत्वस्य तस्मिन्नसिद्धत्वेनैकदेशासिद्धताऽऽपत्तेः। तत्प्रसिद्धिर्हि तस्याभावरूपतया, अन्यतो वा कुतोऽप्यभिधीयते? नाऽऽद्यः पक्षः, परस्पराऽऽश्रवप्रसङ्गात्–अभावरूपतासिद्धौ हि तस्य द्रव्यातिरिक्तकार्यत्वसिद्धिः, ततोऽपि सेति। अन्यहेतुतस्तत्सिद्धौ तु स एवास्तु, किमनेन सिद्धोपस्थायिना कृतकभक्तिभृत्येनेव कर्तव्यम्?॥

आलोकविरोधित्वमपि न साधीयः, न हि यो यद्विरोधी स तदभावस्वभाव एव, वारिवैश्वानरयोः परस्पराभावमात्रताऽऽपत्तेः। अथ सहानवस्थानलक्षणो विरोधस्तिमिरस्याऽभावस्वभावतासिद्धौ साधनत्वेनाऽभिप्रेतः, न वध्यघातकभावः स च भावाभावयोरेव संभवी, न पुनर्द्वयोरपि भावयोः, तदिहाऽऽलोकानवकाशे सत्येव समुज्जृम्भमाणस्यान्धकारस्याऽभावरूपतैवश्रेयसी, कुम्भाभाववदिति चेत्। तदपवित्रम्। अत्राऽपि वध्यघातकभावस्यैव भावात्, घनतरतिमिरपूरिते पथि प्रसर्पता प्रदीपप्रभाप्राग्भारेण तिमिरनिकुरम्बाऽऽडम्बरबिडम्बनात्।

भावरूपताप्रसाधकप्रमाणाभावोऽप्यसिद्धः, तत्प्रसाधकानुमानसद्भावात्। तथाहि–भावरूपं तमः, घनतरनिकरलहरिप्रमुखशब्दैर्व्यपदिश्यमानत्वात्, आलोकवत्। न चाऽसिद्धिः साधनस्य।

तथाहि–

''रहः सङ्केतस्थो घनतरतमःपुञ्जपिहिते,
वृथोन्मेषं चक्षुर्मुहुरुपदधानः पथि पथि।
षट्कारादल्पादपि निभृतसंप्राप्तरमणी–
भ्रमभ्राम्यद्बाहुर्दमदमिकयोत्ताम्यति युवा॥१॥
पर्यस्तो दिवसस्तटीमयमटत्यस्ताचलस्यांशुमान्,
संप्रत्यङ्कुरितान्धकारनिकरैर्लम्बालका द्यौरभूत्।
एह्यन्तर्विश वेश्मनः प्रियसखि! द्वारस्थलीतोरण–
स्तम्भाऽऽलम्बितबाहुवल्लि! रुदती किं त्वं पथः पश्यसि?॥२॥
तिमिरलहरीगुर्वीमुर्वीं करोतु विकस्वरां,
हरतु नितरां निद्रामुद्रां क्षणाद् गुणिनां गणात्।
तदपि तरणे! तेजःपुञ्जः प्रियो न ममैष ते,
किमपि तिरयन् ज्योतिश्चक्रं स्वजातिविराजितम्॥३॥''

औपचारिक एवाऽयं तत्र तद्व्यपदेश इति चेत्। नैवम्, एतदभावरूपताप्रसिद्धि विना घनतराऽऽदिव्यपदेशस्य भावरूपमुख्यार्थबाधाविरहेण तस्यौपचारिकत्वायोगात्; तथात्वेऽपि वा तस्य तमसो भावरूपतैव प्रसिध्यति, न खलु कुम्भाऽऽद्यभावस्तथाप्रकारोपचारगोचरचारितामास्तिघ्नुते। तत्र सादृश्याऽऽद्युपचारकारणाभावात्। तथा–नाभावरूपं तमः, प्रागभावाऽऽद्यस्वभावत्वात्; व्योमवत्। न चाऽयमपि हेतुरसिद्धः। तथा हि–आलोकस्य प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावः, अत्यन्ताभावो वा तमो भवेत्? आद्ये–एकस्य, अनेकस्य वाऽयं तत्स्यात्? न तावदेकस्याऽऽलोकस्य प्रागभावस्तमः, प्रदीपाऽऽलोकेनेव प्रभाकराऽऽलोकेनाऽपि तस्य निवर्त्यमानत्वात्, यस्य हि यः प्रागभावः स तेनैव निवर्त्यते, यथा पटप्रागभावः पटेनैव। नाप्यनेकस्य, एकेन निवर्त्यमानत्वात्, पटप्रागभाववदेव। न च वाच्यं प्रत्यालोकं स्वस्वनिवर्तिनीयस्य तमसो भेदात् प्रदीपाऽऽदिना निवर्तितेऽपि तमोविशेषे पूषाऽऽदिनिवर्तनीयं तमोऽन्तरं तदा तदभावान्न निवर्तते, इत्येकेन निवर्त्यमानत्वादिति हेतुरसिद्ध इति, प्रदीपाऽऽदिनिवर्तिततमसि प्रदेशे दिनकराऽऽदिनिवर्तनीयस्य तमोऽन्तरस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः, सम्प्रतिपन्नवत्। यदि चेदं प्रागभावस्वभावं स्यात्। तदा प्रदीपप्रभाप्रबन्धप्रध्वंसेऽस्योत्पत्तिर्न स्यात्, अनादित्वात् प्रागभावस्य। नाप्यालोकस्य प्रध्वंसाभावस्तमः, निवर्त्यमानत्वात्, तस्यैव प्रागभाववत्। नापीतरेतराभावः, तस्य प्रसृतेऽपि प्रचण्डे मार्तण्डीये तेजसि सद्भावेन तमिस्रायामिव वासरेऽपि तमः प्रतीतिप्रसङ्गात्। नाऽप्यालोकस्यात्यन्ताभावदस्तमः

तस्य स्वकारणकलापोपनिपातकाले समुत्पद्यमानत्वात्। इति पक्षाष्टकेनाऽप्यघटमानत्वान्नानुमानिक्यपि तमसोऽभावरूपतास्वीकृतिः॥ एतत्सकलमपि प्रायेण छायायामपि समानमिति यथासंभवं योज्यम्। विशेषतश्चैतद्व्यताप्रसिद्धिः परिपाटिप्राप्तस्याद्वादरत्नाऽऽकरादवधारणीया। यत्पुनरवाचितमसि संचरतः पुंसः प्रतिबन्धः स्यादित्यादि, तदखिलमालोकेऽपि समानमिति स एव प्रतिविधास्यतीति किमतिप्रयत्नेन तत्राऽस्माकम्? इति सिद्धे तमस्छाये द्रव्ये। (२१) रत्ना०२ परि।

अथ तमस्कायानां संस्थानम्–

तमुक्काए णं भंते ! कहिं समुट्ठिए, कहिं संनिट्ठिए? गोयमा ! जंबुद्दीवस्स दीवस्स बहिया तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीईवइत्ता अरुणवरस्स दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयं ताओ अरुणोदयं समुद्दं बायालीसजोयणसहस्साणि ओगाहित्ता उवरिल्लाओ जलंताओ एगपएसियाए सेढीए तत्थ णं तमुक्काए समुट्ठिए सत्तरस एक्कवीसे जोयणसए उड्ढं उप्पइत्ता तओ पच्छा तिरियं पवित्थरमाणे पवित्थरमाणे सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदे चत्तारि वि कप्पे आवरेत्ता णं उड्ढं पि य णं० जाव बंभलोए कप्पेऽरिट्ठविमाणपत्थमं संपण्णे, एत्थ णं तमुक्काए संनिट्ठिए॥

(एगपएसियाए त्ति) एक एव, न द्व्यादय औत्तराधर्य प्रति प्रदेशो यस्यां सा तथा, तया, समभित्तितयेत्यर्थः। न च वाच्यम्–एकप्रदेशप्रमाणयेति असंख्यातप्रदेशावगाहस्वभावत्वेन जीवानां तस्यां जीवावगाहाभावप्रसङ्गात् तमस्कायस्य च स्तिवुफाऽऽकाराप्कायिकजीवाऽऽत्मकत्वाद् बाहल्यमानस्य च प्रतिपादयिष्यमाणत्वादिति। (एत्थ णं ति) प्रज्ञापकाऽऽलेख्यालिखितस्यारुणोदसमुद्राऽऽदेरधिकरणतोपदर्शनार्थमुक्तवान्॥

तमुक्काए णं भंते ! किं संट्ठिए? गोयमा ! अहे मल्लग मूलसंठिए, उप्पिं कुक्कुडगपंजरगसंठिए पण्णत्ते॥

अग्रः अधस्तान्मल्लकमूलसंस्थितः शरावबुध्नसंस्थानः समजलान्तस्योपरि सप्तदशयोजनशतान्येकविंशत्यधिकानि यावद्वलयसंस्थानत्वात्।

अथ तमस्कायस्य नामान्याह–

तमुक्काए णं भंते ! केवइयं विक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–संखेज्जवित्थडे य, असंखेज्जवित्थडे य। तत्थ णं जे से संखेज्जवित्थडे, से णं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते। तत्थ णं जे से असंखेज्जवित्थडे, से णं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते॥ तमुक्काए णं भंते ! के महालए पण्णत्ते ? गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतराए०जाव परिक्खेवेणं पण्णत्ते, देवे णं महिड्ढिए०जाव महाणुभावे इणामेव २ त्ति कट्टु केवलकप्पं जम्बुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छरानिवाएहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से णं देवत्ताए व उक्किट्ठाए तुरियाए०जाव देवगईए वीईवयमाणे०जाव एकाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं छम्मासे वीईएज्जा, अत्थेगइए तमुक्कायं वीईवएज्जा, अत्थेगइए तमुक्कायं नो वीईवएज्जा, ए महालए णं गोयमा ! तमुक्काए पण्णत्ते। अत्थि णं भंते ! तमुक्काए गेहाइ वा, गेहवणाइ वा? णो इणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं भंते ! तमुक्काए गामाइ वा० जाव सन्निवेसाइ वा? णो इणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं भंते ! तमुक्काए उराला बलाहया संसेयं ति वा, संमुच्छंति वा, संवासं ति वा। हंता अत्थि। तं भंते ! किं देवो पकरेइ, असुरो पकरेइ, नागो पकरेइ ? गोयमा ! देवो वि पकरेइ, असुरो वि पकरेइ, नागो वि पकरेइ। अत्थि णं भंते ! तमुक्काए बादरे थणियसद्दे बादरविज्जुयाए? हंता अत्थि। तं भंते ! किं देवो पकरेइ०? तिण्णि वि पकरेइ। अत्थि णं भंते ! तमुक्काए बादरे पुढवीकाए बादरे अगणिकाए? णो इणट्ठे, णऽण्णत्थविग्गहगइसमावन्नेणं। अत्थि णं भंते ! तमुक्काए चंदिमसूरियगहगणणक्खत्ततारारूवा? णो इणट्ठे समट्ठे, पलिपस्सओ पुण अत्थि। अत्थि णं भंते ! तमुक्काए चंदाभाइ वा, सूराभाइ वा? णो इणट्ठे समट्ठे, कादूस–णिया पुण सा। तमुक्काए णं भंते ! केरिसए वण्णेणं पण्णत्ते? गोयमा ! काले कालोभासे गंभीरलोमहरिसजणणे भीमे उत्ता–सणए परमकिण्हे वण्णेणं पण्णत्ते, देवे वि णं अत्थेगइए जेणं तप्पढमयाए पासित्ता णं खुब्भाएज्जा, अहे णं अभिसमागच्छेज्जा, तओ पच्छा सीहं सीहं तुरियं तुरियं खिप्पामेव वीईवएज्जा॥

(केवइयं विक्खंभेणं ति) विस्तारेण। क्वचिद्– "आयामविक्खमेणं" इति दृश्यते। तत्र चाऽऽयाम उच्चत्वमिति। (संखेज्जवित्थडे इत्यादि) संख्यातयोजनविस्तृतः, आदित आरभ्य ऊर्द्धं संख्येययोजनानि यावत्, ततोऽसंख्यातयोजनविस्तृत उपरितस्य विस्तारगामित्वेनोक्तत्वात्। (असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं ति) संख्यातयोजनविस्तृतत्वेऽपि तमस्कायस्यासंख्याततमद्वीपपरिक्षेपतो बृहत्तरत्वात्परिक्षेपस्यासंख्यातयोजनसहस्रप्रमाणत्वम्, आन्तरबहिःपरिक्षेपविभागस्तुनोक्तः, उभयस्याप्य-संख्याततया तुल्यत्वादिति। (देवे णमित्यादि) अथ किमैदंपर्यमिदं देवस्य महद्धर्यादिकं विशेषणमित्याह–(०जाव इणामेवेत्यादि) इह यावच्छब्द ऐदम्पर्यार्थः, यतो देवस्य महद्धर्यादिविशेषणानि गमनसामर्थ्यप्रकर्षप्रतिपादनाभिप्रायेणैव प्रतिपादितानि। (इणामेव २ त्ति कट्टु त्ति) इदं गमनमेवमतिशीघ्रत्वाऽऽवेदकचप्पुटिकारूपहस्तव्यापारोपदर्शनपरम्, अनुस्वाराऽश्रवणं च प्राकृतत्वाद्, द्विर्वचनं च शीघ्रत्वातिशयोपदर्शनपर इति रूपप्रदर्शनार्थः। कृत्वा विधायेति। (केवलकप्पं ति) केवलज्ञानकल्पं, परिपूर्णमित्यर्थः। वृद्धव्याख्या तु–केवलः संपूर्णः कल्पत इति कल्पः, स्वकार्यकरणसमर्थो वस्तुरूप इति यावत्। केवलश्चाऽसौ कल्पश्चेति केवलकल्प–

स्तम्। (तिहिं अच्छरानिवाएहिं ति) तिसृभिश्चप्युटिकाभिरित्यर्थः। (तिसत्तखुत्तो त्ति) त्रिगुणाः सप्त त्रिसप्त, त्रिसप्तवारान् त्रिसप्तकृत्वः, एकविंशतिवारानित्यर्थः। (हव्वं ति) शीघ्रम् (अत्थेगइयमित्यादि) संख्यातयोजनमानं व्यतिव्रजेत्, इतरं तु नेति। (उराला बलाहय त्ति) महान्तो मेघाः (संसेयं ति त्ति) संस्वेदनं, संमूर्च्छनं, वर्षणं च (वायरविज्जुयाए त्ति) इह न बादरतेजस्कायिका मन्तव्याः, इहैव तेषां निपत्स्यमाणत्वात्, किं तु देवप्रभावजनिता भास्वराः पुद्गलास्त इति। (णऽण्णत्थ विग्गहगइसमावण्णेणं ति) न इति योऽयं निषेधो बादरपृथिवी-तेजसोः साऽन्यत्र विग्रहगतिसमापन्नान् विग्रहगत्यैव बादरे ते भवतः। पृथिवी हि बादर रत्नप्रभाऽऽद्यास्वष्टासु पृथिवीषु गिरिविमानेषु च, तेजस्तु मनुजक्षेत्र एवेति, तृतीया चेह पञ्चम्यर्थे प्राकृतत्वादिति। (पलिपरसओ पुण अत्थि त्ति) परिपार्श्वतः पुनः सन्ति तमस्कायस्य चन्द्राऽऽदय इत्यर्थः। (कादूतणिया पुण सा इति) ननु तत्पार्श्वतश्चन्द्राऽऽदीनां सद्भावात्तत्प्रभापि तत्राऽस्ति? सत्यम्, केवलं कमात्मानं दूषयति तमस्काय--परिणामेन परिणमनात्कदूषणा, सैव कदूषणिका। दीर्घता च प्राकृतत्वात्, अतः सत्यप्यसावसतीति। (काले त्ति) कृष्णः (कालोभासे त्ति) कालोऽपि कश्चित् कुतोऽपि कालो नावभासत इत्यत आह--कालावभासः। कालदीप्तिर्वा, (गंभीरलोमहरिसजणणे त्ति) गम्भीरश्वासौ भीषणत्वाद्रोमहर्षजननश्चेति गम्भीररोमहर्षजननः। रोमहर्षजनकत्वे हेतुमाह--(भीमे त्ति) भीष्मः (उत्तासणए त्ति) उत्कम्पहेतुः। निगमयन्नाह--(परमेत्यादि) यत एवमत एवाऽऽह--(देवे वि णमित्यादि) (तप्पढमयाए त्ति) दर्शनप्रथमतायाम् (खुब्भाएज्ज त्ति) स्कभ्नीयात् क्षुभ्येत्, (अहे णमित्यादि) अथैनं तमस्कायमभिसमागच्छेत् प्रविशेत्ततो भयात् (सीहं सीहं ति) कायगतेरतिवेगेन (तुरियं तुरियं ति) मनोगतेरतिवेगात्। किमुक्तं भवति? क्षिप्रमेव (बीईवएज्ज त्ति) व्यतिव्रभेदिति। भ०६ श०५उ०।

तमुक्कायस्स णं चत्तारि णामधेज्जा पण्णत्ता। तं जहा--तमेइ वा, तमुक्कायेइ वा, अंधकारेइ वा, महंधकारेइ वा। तमुक्काय--स्स णं चत्तारि णामधेज्जा पण्णत्ता। तं जहा--लोगंधयारेइ वा, लोगतमसेइ वा, देवंधयारेइ वा, देवतमसेइ वा। तमुक्काय--स्स णं चत्तारि णामधेज्जा पण्णत्ता। तं जहा--वायफलिहेइ वा, वायफलिहखोभेइ वा, देवारण्णेइ वा, देववूहेइ वा। तमुक्काए णं चत्तारि कप्पे आवरित्ता चिट्ठइ। तं जहा--सोहम्मीसाणं सणंकुमारमाहिंदं।

(तमुक्कायेत्यादि) सूत्रत्रयं सुगमम्। नवरं तमसोऽप्कायपरिणा-मस्वरूपस्याऽन्धकारस्य कायः प्रचयस्तमस्कायो, यो ह्यसंख्या-ततमस्यारुणवराभिधानद्वीपस्य बाह्यवेदिकान्तादरुणोदाख्यं समुद्रं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्योपरितनात् जलान्तादेकप्रदेशिकया श्रेण्या समुत्थितः सप्तददशैकविंशत्यधिकानि योजनशतानि ऊर्द्धमुत्पत्य ततस्तिर्यग्विस्तृणन् सौधर्माऽऽदीन् चतुरो देवलोकानावृत्योर्द्धमपि ब्रह्मलोकस्य रिष्टविमानप्रस्तटं संप्राप्तः, तस्य नामान्येव नामधेयानि तम इति तमोरूपत्वाद्, इति रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे, तमोमात्ररूपताऽभि-धायकान्याद्यानि चत्वारि नामानि। तथा पराणि चत्वार्येवात्यन्ति-कतमोरूपताऽभिधायकानीति लोके अयमेवान्धकारो नान्योऽस्तीदृश इति लोकान्धकारः, देवानामप्यन्धकारोऽसौ, तच्छरीरप्रभाया अपि तत्राप्रभासनादिति देवान्धकारः। अत एव ते बलवतो भयेन तत्र नश्य-न्तीति श्रुतिरिति। तथाऽन्यानि चत्वारि कार्याऽऽश्रयाणिवातस्य परिहननात् परिघोऽर्गला, परिघ इव परिघो, वातस्य परिघो वातपरिघः, तथा वातं परिघवत् क्षोभयति हतमार्गं करोतीति वातपरिक्षोभः, वात एव वा परिघस्तं क्षोभयति यस्य तथा। पाठान्तरेणवातपरिक्षोभ इति। क्वचिद्देवपरिघो देवपरिक्षोभ इति चाऽऽद्यपदद्वयस्थाने पठ्यते। देवानामरण्यमिव बलवद्भयेन नाशनस्थानत्वाद्यः स देवारण्यमिति। देवानां व्यूहः सागराऽऽदिः साङ्ग्रामिकव्यूह इव यो दुरधिगमत्वात्स देवव्यूह इति। तमस्कायस्वरूपप्रतिपादनायैव (तमुक्काए णमित्यादि) सूत्रं गतार्थम्। किं तु सौधर्माऽऽदीनाऽऽवृणोत्यसौ कुक्कुटपञ्जरसंस्थान-संस्थितस्य तस्य प्रतिपादनात्। उक्तं च--"तमुक्काए णं भंते! किं संठिए पण्णत्ते। गोयमा! अहे मल्लगमूलसंठिए, उप्पिं कुक्कुडपंजरसंठिए पण्णत्ते।" इति। स्था०४ ठा०२उ०।

अथ पृथिव्यप्कायपर्यायतां पृथिव्यक्कायौ जीवपुद्गल--
रूपाविति तत्पर्यायतां प्रश्नयन्नाह--

तमुक्कायस्स णं भंते! कइ नामधेज्जा पण्णत्ता? गोयमा! तेरस नामधेज्जा पण्णत्ता। तं जहा--तमेइ वा, तमुक्काएइ वा, अंधका--रेइ वा, महंधकारेइ वा, लोगंधकारे वा, लोगतमिस्सेइ वा, देवंधकारेइ वा, देवतमिस्सेइ वा, देवारण्णेइ वा, देववूहेइ वा, देवफलिहेइ वा, देवपडिक्खोभेइ वा, अरुणोदएइ वा समुद्दे। तमुक्काए णं भंते! किं पुढविपरिणामे, जीवपरिणामे, आउ--परिणामे, पोग्गलपरिणामे? गोयमा! नो पुढविपरिणामे, आउ--परिणामे वि, जीवपरिणामे वि, पोग्गलपरिणामे वि। तमुक्काए णं भंते! सव्वे पाणा भूया जीवा सत्ता पुढविकाइयत्ताए०जाव तसकाइयत्ताए उववण्णपुव्वा? हंता। गोयमा! असइं अदुवा अणंतखुत्तो, णो चेव णं बादरपुढविकाइयत्ताए, बादरअगणि--काइयत्ताए॥

(तमेइ वा इत्यादि) तमः, अन्धकाररूपत्वात इति एतद्, वा विकल्पार्थः, तमस्काय इति वा; अन्धकारराशिरूपत्वात्, अन्धकार-मिति वा; तमोरूपत्वात्, महान्धकारमिति वा; महातमोरूपत्वात्, लोकान्धकारमिति वा, लोकमध्ये तथाविधस्यान्यस्यान्धकारस्या-ऽभावात्, एवं लोकतमिस्रमिति वा; देवान्धकारमिति वा; देवानामपि तत्रोद्द्योताभावेनान्धकाराऽऽत्मभावात्। एवं देवतमिस्रमिति वा; देवाऽरण्यमिति वा, बलवद्देवभयान्नश्यतां देवानां तथाविधारण्यमिव शरणभूतत्वात्, देवव्यूह इति वा, देवानां दुर्भेद्यत्वाद् व्यूह इव चक्राऽऽदिव्यूह इव देवव्यूहः, देवपरिघ इति वा; देवानां भयोत्पादकत्वेन गमनविघातहेतुत्वात्, देवप्रतिक्षोभ इति वा; तत्क्षोभहेतुत्वात् अरुणोदक इति वा समुद्रः अरुणोदकसमुद्रः, जलविकारत्वादिति। पूर्वं पृथिव्या-देस्तमस्कायशब्दवाच्यता पृष्टा, अथ पृथिव्यप्कायपर्यायतां पृथिव्य-प्कायौ जीवपुद्गलरूपाविति तत्पर्यायतां प्रश्नयन्नाह--(तमुक्काए णमिति) बादरवायुवनस्पतयः त्रसाश्च तत्रोत्पद्यन्ते, अप्काये तदुत्पत्तिसम्भवाद्, न त्वितरेऽस्वस्थानत्वात्। अत उक्तम्--(नो चेव णं इत्यादि) भ०६ श०५उ०।

देवास्तमस्कायं कुर्वन्ति–

जाहे णं भंते ! ईसाणे देविंदे देवराया तमुक्कायं काउं कामे भवइ, से कहमिदाणिं पकरेति? गोयमा ! ताहे चेव णं ईसाणे देविंदे देवराया अब्भिंतरपरिसाए देवे सद्दावेइ, तए णं ते अब्भितरपरिसगा देवा सद्दाविया समाणा, एवं जहेव सक्कस्स० जाव तए णं ते आभिओगिया देवा सद्दाविया समाणा तमुक्कायिए देवे सद्दावेंति। तए णं ते तमुक्कायिया देवा सद्दाविया समाणा तमुक्कायं पकरेंति, एवं खलु गोयमा ! ईसाणे देविंदे देवराया तमुक्कायं पकरेइ। अत्थि णं भंते ! असुरकुमारा देवा तमुक्कायं पकरेंति? हंता अत्थि। किंपत्तियं णं भंते ! असुर–कुमारा देवा तमुक्कायं पकरेंति? गोयमा ! किड्डारतिपात्तियं वा पडिणीयविमोहणट्ठयाए गुत्तीसंरक्खणहेओ वा अप्पणो वा सरीरपच्छायणट्ठयाए एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा तमुक्कायं पकरेंति, एवं०जाव वेमाणिया।

(जाहे णं इत्यादि) (तमुक्काए त्ति) तमस्कायकारिणः। (किड्डारतिपत्तियं ति) क्रिडारूपा रतिः। अथवा–क्रीडा च खेलनं, रतिश्च निधुवनं क्रीडारतिः, सैव, त एव वा प्रत्ययः कारणं यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययम्। (गुत्तीसंरक्खणहेओ त्ति) गोपनीयद्रव्यसंरक्षणहेतोर्वेति। भ० १४ श०२ उ०।

तमुयत्त न०(तमस्त्व) जात्यन्धतायाम्, अत्यन्ताज्ञानाऽऽवृततायाम्, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

तमोकसिय त्रि०(तमःकाषिक) तमसि कषितुं शीलं येषां ते तमःकाषिणः, त एव तमःकाषिकाः। पराविज्ञाताः क्रियाः कुर्वत्सु, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

तम्ब न०(ताम्र) 'तंब' शब्दार्थे, प्रा०१ पाद।

तम्मण त्रि०(तन्मनस्) तस्य देवदत्ताऽदेस्तस्मिन् घटाऽऽऽदौ मनस्तन्मनः। मनोविशेषे, स्था०३ ठा०३ उ०। तस्मिन्नेव मनोविशेषोपयोगरूपं यस्य स तथा। तस्मिन् विशेषोपयुक्ते, अनु०। ग०। तद्विषयकद्रव्यमनोयुक्ते, विपा०१ श्रु०२ अ०।

तम्मय त्रि०(तन्मय) तेषां विवक्षितानामनलानिलतृणवनस्पतिगणानां विकारास्तन्मयाः। तद्विकारेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

तम्मयता स्त्री०(तन्मयता) तत्परतायाम्, षो० १२ विव०।

तम्मित्त न०(तन्मात्र) तदेव तन्मात्रम्। मयूरव्यसकाऽऽदित्वात् समासः। तदात्मके, सा मात्रा यस्मिन्। ''तस्मिंस्तस्मिंश्च तन्मात्रा, तेन तन्मात्रता स्मृता। तन्मात्राण्यविशेषाणि, अविशेषास्ततो हि ते ॥१॥ न शान्ता नापि घोरास्ते, न मूढाश्चाविशेषिणः।'' इत्युक्तेषु साङ्ख्योक्तेषु पञ्चसु शब्दाऽऽदिकरणीभूतेषु भूतेषु, वाच०। पञ्च तन्मात्राणि। तद्यथा–गन्धरसरूपस्पर्शशब्दतन्मात्राऽऽख्यानि, तत्र गन्धतन्मात्राद् पृथिवी गन्धरसरूपस्पर्शवती, रसतन्मात्रादापो रसरूपस्पर्शवत्यः, रूपतन्मात्रात्तेजो रूपस्पर्शवत्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः स्पर्शवान्। शब्दतन्मात्रादाकाशं गन्धरसरूपस्पर्शवर्जितमुत्पद्यत इति। सूत्र० १ श्रु०१ अ०१उ०।

तम्मियय न०(तन्मात्रज) शब्दाऽऽदीनि यानि पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मसंज्ञानि, तेभ्यो जातमुत्पन्नं तन्मात्रजम्। अम्बराऽऽदिषु, स्था०२ ठा०१उ०।

तम्मुत्ति स्त्री०(तन्मुक्ति) तेन विवक्षितेन उक्ता सर्वसङ्गेभ्यो विरतिर्मुक्तिस्तन्मुक्तिः। तदुक्तसर्वसङ्गेन विरतौ, आचा०१ श्रु० ५ अ०४ उ०।

तम्मेत्त त्रि०(तन्मात्र) 'तम्मित्त' शब्दार्थे, सूत्र०१ श्रु०१अ० १उ०।

तम्मेयय न०(तन्मात्रज) 'तम्मियय' शब्दार्थे, स्था०२ ठा०१उ०।

तम्मोत्ति स्त्री०(तन्मुक्ति) 'तम्मुत्ति' शब्दार्थे, आचा०१ श्रु०५ अ०४उ०।

तम्बिर न०(देशी) ताम्रस्यार्थे, प्रा०२ पाद।

तय न०(तत) 'तत' शब्दार्थे, स्था०४ ठा०४उ०।

तयक्खाय पुं०(त्वक्खाद) त्वचं बाह्यवल्कं खादतीति त्वक्खादः। त्वग्भक्षके घुणाऽऽदौ, स्था०४ ठा०१उ०। त्वक्कल्पाऽसारभो–क्तरि, साधौ च। दश०१ अ०।

तयण्णवत्थुक पुं०(तदन्यवस्तुक) तस्मात्परोपन्यासाद्वस्तुनोऽन्यदुत्तरभूतं वस्तु यस्मिन्नुपन्यासोपनये स तदन्यवस्तुकः। उपन्यासोपनयोदाहरणभेदे, (स्था०) तस्मात्परोपन्यस्ताद्वस्तुनोऽन्यदुत्तरभूतं वस्तु यस्मिन्नुपन्यासोपनये स तदन्यवस्तुकः। यथा जले पतितानि जलचरा इत्युक्ते, एतद्विघटनाय पतनादन्यदुत्तरमाह–यानि पुनः पातयित्वा खादति नयति वा तानि किं भवन्ति, न किञ्चिदित्यर्थः, अयमपि ज्ञापकतया ज्ञातमुक्तः, अथवा यथा–रूढमेव ज्ञातमेव। तथाहि–न जलस्थलपतितानि पत्राणि जलचराऽऽदिसत्त्वाः संभवन्ति, मनुष्याऽऽद्याश्रितानीव। अयमभिप्रायः–यथा जलाऽऽद्याश्रितत्वाज्जलचराऽऽदितया तानि सम्पद्यन्ते, तथा मनुष्याऽऽद्याश्रिततया मनुष्याऽऽदिभवयूकाऽऽदितयाऽपि सम्पद्यन्ताम्, आश्रितत्वस्याविशेषात्, न च तानि तथाऽभ्युपगम्यन्त इति जलाऽऽदिगतानामपि जलचरत्वाऽऽद्यसंभव इति। स्था०४ ग०३उ०। कश्चिदाहयस्य वादिनोऽन्यो जीवः, अन्यच्च शरीरमिति तस्यान्यशब्दस्याविशिष्टत्वात्तयोरपि तद्वाच्याविशिष्टत्वेनैकत्वप्रसङ्ग इति तस्य जीवशरीरापेक्षया तदन्यवस्तूपन्यासेन परिहारः कर्तव्यः। कथम्? नन्वेवं सति सर्वभावानां परमाणुद्व्यणुकघटपटाऽऽदीनामेकत्वप्रसङ्गः। अन्यः परमाणुरन्यो द्विप्रदेशिक इत्यादिना प्रकारेणाऽन्यशब्दस्याऽविशिष्टत्वात्तेषां तद्वाच्यत्वेनाविशिष्टत्वादिति। तस्मादन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमित्येतदेव शोभनमित्येतद् द्रव्यानुयोगे, अनेन चैतयोरप्याक्षेपः, तत्र चरणकरणानुयोगेन मांसभक्षण इत्यादावेव कुग्राहे तदन्यवस्तूपन्यासेन परिहारः। कथम्? ''न हिंस्यात्सर्वाणि भूतानि'' इत्येतदेवं विरुद्ध्यत इति। लौकिकं तु तस्मिन्नेवोदाहरणे तदन्यवस्तूपन्यासेन परिहारः। ''जहा जाणि पुण पडिऊण पाडिऊण कोइ खाइ वा णेइ वा ताणि किं हवंति त्ति।'' दश०१ अ०६उ०।

तयप्पमाणमित्त न०(त्वक्प्रमाणमात्र) तिलतुषत्रिभागमात्रे, तच्चाशनस्य घटते। बृ०६उ०।

तयप्पमाणमेत्त न०(त्वक् प्रमाणमात्र) 'तयप्पमाणमित्त' शब्दार्थे, बृ०६उ०।

तया स्त्री०(त्वक्) तृणवनस्पतिकायिकभेदे, स्था०८ठा०। छल्ल्याम्, जी०३ प्रति०४ उ०। रा०। बाह्यवल्के, स्था०४ ठा० १उ०। ''तणुओ तिक्खत्तुओ, असोणिओ केवलं तयालग्गो।'' आव०५ अ०। त्वगिवासारं भोक्तव्यमित्यर्थसूचकत्वात् त्वग् उच्यते, दशवैकालिकस्य द्रुमपुष्पिकाऽध्ययने, दश०। उक्तं च **परममुनिभिः**— ''चत्तारि घुणा पन्नत्ता। तं जहा—तयक्खाए, छल्लिक्खाए, कठक्खए, सरिक्खाए। एवमेव चत्तारि भिक्खुगा पण्णत्ता। तं जहा—तयक्खाए०'' इत्यादि। कल्पाऽसारभोक्तुः कर्मभेदमङ्गीकृत्य वज्रसारं तपो भवति। दश०१अ०।

तयाणंतर न०(तदनन्तर) तन्मादव्यवहितोत्तरे, रा०।

तयाणुग त्रि०(तदनुग) तदनुगन्तरि, ''विवरीयपन्नसंभूयं, अन्नं उत्तं तयाणुगे।'' सूत्र०१ श्रु०१ अ०४उ०।

तयामुह पुं०(त्वचामुख) सुखकारिणि, कल्प०३क्षण।

तयामंत त्रि०(त्वग्वत्) त्वग्विद्यते यस्याऽसौ। विशिष्टत्वक् शालिनि, रा०।

तयाविस पुं०(त्वग्विष) त्वचि विषं यस्य स त्वग्विषः। प्राकृतत्वात् 'तयाविसो'। दर्वीकरसर्पभेदे, जी०१ प्रति०।

तयाहार पुं०(त्वगाहार) त्वहमात्राऽऽहारकवानप्रस्थविशेषे, औ०।

तर पुं०(तर) तरतीति तरः। स्था०५ ठा०१उ०। **''ऋवर्णस्यारः''** ॥८।४।२३४॥ इति ऋधातोरन्त्यस्य ऋवर्णस्यार इत्यादेशः। प्रा०४ पाद। संतरणकर्तरि, तरशब्दो महादोषप्रदर्शने, यथा कृष्णः, कृष्णतर इत्यादि। नि०चू०१ उ०।

***शक** धा०। 'शक' सामर्थ्ये, **''शकेश्वय—तर—तीर—पाराः''** ॥८।४।८६॥ इति शक्नोतेर्वा 'तर' इत्यादेशः। 'तरइ'। प्रा०४ पाद।

***तरस्** न०। वेगे, बले च। औ०।

तरंग पुं०(तरङ्ग) तृ—अङ्ग—अच्। वायुना जलस्य संचालनेन तिर्यगूर्ध्वाऽऽदिप्लवने, वाच०। कल्लोले, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। अष्ट०। कल्प०। वीचिषु, जं०२ वक्ष०। औ०। ह्रस्वकल्लीले, ज्ञ०१ श्रु० ८ अ०। औ०।

तरंगणंदण पुं०(तरङ्गनन्दन) स्वनामख्याते राज्ञि, यस्य गति—तरङ्गानामा भार्या, रतितरङ्गिणीनामा दुहिता। दर्श०३ तत्त्व।

तरंगमालि(ण्) पुं०(तरङ्गमालिन्) समुद्रे, को०।

तरंगवई स्त्री०(तरङ्गवती) स्वनामख्यातायां नायिकायाम्, तरङ्ग—वतीवक्तव्यताप्रतिबद्धे कथ ग्रन्थे, दश०३अ०। आ०म०।

तरग त्रि०(तस्क) तरन्तीति तरस्ति एव तरकाः। पारगन्तृषु, (स्था०) **चत्तारि तरगा पण्णत्ता। तं जहा—समुद्दं तरामी एगे समुद्दं तरह, समुद्दं तरामी एगे गोपयं तरइ, गोपयं तरामी एगे गोपय तरइ, गोपयं तरामी एगे समुद्दं तरइ ४। चत्तारि तरगा पण्णत्ता। तं जहा—समुद्दं तरित्ता णाममेगे समुद्दे विसीयइ, समुद्दं तरित्ता णाममेगे गोपए विसीयइ, गोपयं तरित्ता एगे०४॥** (चत्तारि तरगेत्यादि) व्यक्तम्, नवरं त्स्यतीति नरास्तु एवतरकाः, समुद्रं समुद्रवत् दुस्तरं सर्वविरत्यादिकं कार्यं तरामि करोमीत्येवमभ्युपगम्य तत्र समर्थत्वादेकः समुद्रं तरति, तदेव समर्थयतीत्येकः। अन्यस्तु तदभ्युपगम्यासमर्थत्वाद्गोपदं तत्कल्पं देशविरत्यादिकमल्पतमं तरति, निर्वाहयतीति। अन्यस्तु गोपदप्रायमभ्युपगम्य वीर्यातिरेकात्समुद्रप्रायमपि साधयतीति। चतुर्थः प्रतीतः। समुद्रप्रायं कार्यं तरित्वा निर्बाह्य समुद्रप्राये प्रयोजनान्तरे विषीदति, न तं निवाहयति, विचित्रत्वात् क्षयोपशमस्येति। एवमन्ये त्रय इति। स्था०४ ठा०४उ०।

तरच्छ पुं०(तरक्ष) व्याघ्रविशेषे, प्रति०। प्रश्न०। प्रज्ञा०। भ०। स्त्रियां तरक्षी। प्रज्ञा०। ११ पद।

तरण न०(तरण) लङ्घने, सूत्र०१ श्रु०११ अ०। निस्तारणे, नि०चू० १उ०। पारगमने प्लवने च। आ०चू०। तरणं चउद्धाणामादिएहिं। णामट्ठवणाओ गताओ। दव्वतरणे तिन्नि तरिज्जंति। तं जहा—दव्व—तरओ, दव्वतरणं, दव्वतरियव्वयं। तत्थ दव्वतरओ पुरिसाऽऽदी, दव्वतरणं उडुवादि, दव्वतरियव्वं णदीसमुद्दसराऽऽदि। एवं भावतरणे विणिवरं भावतरओ जीवो, भावतरणं णाणाऽऽदि, भावतरिय—व्वयं संसारो चउव्विहो। एवं प्लवनमपि तरति। आ०चू०१अ०।

तरमट्ट (देशी) प्रपुन्नाटे, दे०ना० ५ वर्ग ५ गाथा।

तरतम त्रि०(तरतम) न्यूनाधिकभावान्वितेऽर्थे, तारतम्येन वर्तमान इति शारीरकभाष्यम्। वाच०। ''तरतमजोगजुत्तेहिं जालयपरेहिं अण्पुण्णमिव अणुप्पइत्तं पिच्छइ।'' कल्प० ३क्षण।

तरमल्लिद्दायण त्रि०(तरमल्लिद्दायन) तरो वेगो, बलं वा। तथा 'मल—मल्ल' धारणे। ततश्च तरो मल्ली धारको वेगाऽऽदिधारको, हायनः संवत्सरो वर्तते येषां ते तरमल्लिहायनाः। यौवनवत्सु, औ०। (?)

तरमाण त्रि०(तरत्) समर्थे, नि०चू०१ उ०। जी०।

तरलियमइ स्त्री०(तरलितमति) विसंस्थुलबुद्धौ, जी०१ प्रति०।

तरस (देशी) मांसे, दे०ना०५ वर्ग ४ गाथा।

तरिअव्व त्रि०(तरितव्य) निर्वोढव्ये, ''तरिअव्वं व पइन्निअ, मरिमव्वं वा समरे समत्थेणं।'' आव०४ अ०। उडुपे, दे०ना० ५ वर्ग ७ गाथा।

तरित्तए अव्य०(तरीतुम्) लङ् घयितुमित्यर्थे, प्रति०।

तरिया स्त्री०(तरिका) घृतदध्यादेर्विकृतेऽवयवे, ''पक्कगयं घयकिट्टी, पक्कोसहि उवरि तरियसप्पिं च।'' ध०२अधि०।

तरु पुं०(तरु) तृ—उ—गुणः। वाच०। **क—ग—च—ज—त—द—प—य—वां प्रायो लुक्''** ॥८।१।१७७॥ इह स्वरादसंयुक्तस्थाना-देरित्यतोऽनादेरित्यधिकाराल्लुग् न०प्रा० १ पाद। वृक्षे दश०१अ०।

तरुण त्रि०(तरुण) जन्मपर्यायेण षोडशवर्षाण्यारभ्य याश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तावत्तरुणः। व्य०३उ०। इत्युक्तलक्षणे प्रवर्द्धमा, नवयसि, भ०१४ श०१उ०। सूत्र०। ग०। उक्त०। नूतने, कल्प०३ क्षण। औ०। 'तरुणदिवाकरकरेहिं।' औ०। विशिष्टवर्णाऽऽदिगुणोपेतेऽभिनवे वस्तुनि, जी०३प्रति०२उ०।

तरुणग त्रि०(तरुणक) स्तनन्धये, सूत्र०१ श्रु०३ अ०४उ०। अभिनवे, भ०१५ श०।

तरुणदिवाकर पुं०(तरुणदिवाकर) अभिनवोदिताऽऽदित्वे, आव०४ अ०। अन्त०।

तरुणधम्म त्रि०(तरुणधर्म) अविपक्वपर्याये, नि०चू०१६उ०। तारुण्ये वर्तमाने, आ०म०१ अ०२खण्ड।

तिण्हाऽऽरेण समाणं, होइ पकप्पम्मि तरुणधम्मा उ।
पंचण्ह दसाकप्पे, जस्स व जो जत्तिओ कालो॥

व्रतपर्यायमधिकृत्य तिसृणां समानां वर्षाणामारेणावाक् वर्तमानः प्रकल्पे निशीथाऽध्ययने तरुणधर्मा अविपक्वपर्यायो भवति, पञ्चानां वर्षाणामर्वाक् वर्तमानस्तु (दसाकप्पे त्ति) उपलक्षणत्वाद्दशाकल्पव्यवहाराणां तरुणधर्मा ज्ञातव्यो, यस्य वा सूत्रकृताङ्गाऽऽदेः श्रुतस्य, यो यावान् कालो व्यवहाराध्ययने दशमोद्देशके भणितः, तस्य तावन्तं कालमसमापयन् तरुणधर्मा भवति। यथा–''कप्पइ चउवासपरियायसमणस्स निग्गंथस्स सूअगडं नाम अंगं उद्दिसित्तए।'' इत्यादि। बृ०१उ०।

तरुणपरिकम्म न०(तरुणपरिकर्म) रोगग्रस्तस्य सतस्तरुणस्य बलविवृद्धिकरणे, व्य०४उ०।

तरुणप्पभ पुं०(तरुणप्रभ) खरतरगच्छीये जिनकुशलसुरिशिष्ये, अनेन विक्रमसंवत् १४११ मिते श्रावकप्रतिक्रमणविवरणं नाम ग्रन्थो रचितः। जै० इ०।

तरुणिया स्त्री०(तरुणिका) अपरिपक्वायाम्, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०।

तरुणीपडिकम्म न०(तरुणीप्रतिकर्म) एतदेकत्रिंशत्तमकलाभेदे, युवतीनां वर्णाऽऽदिवृद्धरूपायां सङ्गसत्क्रियायाम्, जं०२ वक्ष०। ज्ञा०। औ०।

तरुणीपरिकम्म (तरुणीपरिकर्म) 'तरुणीपडिकम्म' शब्दार्थे, जं०२ वक्ष०।

तरुतिगिच्छा स्त्री०(तरुचिकित्सा) वृक्षाणां रोगप्रतीकारलक्षणे एकोनपञ्चाशत्पुरुषकलाभेदे, कल्प०७ क्षण।

तरुपक्खंदोलय त्रि०(तरुपक्षान्दोलक) तरुपक्षे तरुपार्श्वे आत्मानमान्दोलयन्ति ये ते तथा। तरुपक्षान्दोलनात्पातेन मृतेषु, औ०।

तरुपडण न०(तरुपतन) पिष्पलवटाऽऽदितरुनारुह्य उत्पत्य पतने, नि०चू० ११ उ०। भ०।

तरुपतणट्ठाण न०(तरुपतनस्थान) यत्र मुमूर्षव एवानशनेन तरुवत्पतितास्तिष्ठन्ति, तरुभ्यो वा यत्र पतन्ति। तथाभूते स्थाने, आचा०२ श्रु०२ चू०३अ०।

तल पुं०(तल) हस्ततले, जं०१ वक्ष०। नि०चू०। आ०म०। जी०। पाणिपादानामधोभागे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। तं०। हस्ते, स्था०८ ठा०। चं०प्र०। ज्ञा०। औ०। कन्प्रत्ययोऽप्यत्र। आ० म०१ अ०१ खण्ड। मध्यखण्डे, स्था०८ ठा०। अधोभागे, ज्ञा०१ श्रु०१ उ०। प्रतिष्ठाने, ''उम्मग्गनिमग्गदुल्लहतलं।'' प्रश्न०३ आश्र० द्वार। हस्तताले, रा०। ज्ञा०। दशा०। अतिदीर्घे तालाभिधाने वृक्षे ज्ञा०१ श्रु० ८अ०। जी०। आ०म०। तालो वृक्षस्तत्र भवं तालम्। तालवृ–क्षफले, व्य०१ उ०। ग्रामेशे, शय्यायां च। दे०ना० ५ वर्ग १६ गाथा।

तलअण्ट धा०(भ्रम) ''**भ्रमेष्टिरिटिल्लः–ढुण्ढुल्ल–ढण्ढल्ल–चक्कम्म–मम्मड–ममड–भमाड–तलअण्ट–झण्ट–झम्प–भुम–गुम–फुम–फुस–ढुम–ढुस–परी–पराः**'' ॥८।४।१६१॥ इति भ्रम–धातोः 'तलअण्ट' इत्यादेशः। 'तलअण्टइ'। प्रा०४ पाद। चलने, दिवा०–पर०–सक०–सेट्। भ्राम्यति, अभ्रमीत्। वाच०।

तलआगत्ती (देशी) कूपे, दे०ना० ५ वर्ग ८ गाथा।

तलओडा स्त्री०। गुच्छभेदे, 'तेलेडा' इति गुर्जरदेशे प्रसिद्धम्। प्रज्ञा०१ पद।

तलजमलजुगलबाहु त्रि०(तलयमलयुगलबाहु) तलौ तालवृक्षौ तयोर्यमलं युगलं श्रेणिकयुगलं तलयमलयुगलं, तद्वत् अतिसरलौ पीवरौ बाहू यस्य सः। तालवृक्षसदृशातिसरलपीवरबाहौ, रा०। जी०। तलयमलयुगलपरिघनिभबाहुः। तलौ तालवृक्षौ तयोर्यमलं समश्रेणिकं यद्युगलं द्वयं परिघश्चार्गला, तन्निभौ तत्सदृशौ दीर्घसरलपीनत्वाऽऽदिना बाहू यस्य सः। भ० १४ श०१उ०।

तलण न०(तलन) सुकुमारिकाऽऽदेरिव भ्राष्ट्रभर्जने, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। अग्नौ स्नेहेन भर्जने, विपा०१ श्रु० ३अ०।

तलताल पुं०(तलताल) हस्ततालै, कल्प०१ क्षण। सू०प्र०। चं०प्र०। कल्प०। ज्ञा०। भ०। हस्तकंशिकयोः, कल्प०४ क्षण०। चं०प्र०।

तलपत्त न०(तालपत्र) तालाभिधानवृक्षपर्णे, ज्ञा०१ श्रु० १७अ०।

तलप्फल (देशी) शाल्याम्, दे०ना० ५ वर्ग ७ गाथा।

तलभंगय पुं०(तलभङ्गक) बाह्वाभरणविशेषे, जी०३ प्रति०४ उ०। औ०।

तलवत्त (देशी) करणाऽऽभरणविशेषे, वराहे च। दे०ना० ५ वर्ग २१ गाथा।

तलवर त्रि०(तलवर) परितुष्टनरपतिप्रदत्तपट्टबन्धविभूषिते राजस्थानीये, स्था०६ठा०। औ०। पञ्चा०। प्रज्ञा०। भ०। जी०। कल्प०। जं०। रा०। अन्त०। ज्ञा०। अनु०। बृ०।

तलविंट न०(तालवृन्त) ''**वाऽव्ययोत्खातादावदातः**'' ॥८।१।६७॥ इत्याकारस्यात्वम्। पक्षे–तालविण्टम्। प्रा०१ पाद। तालै करतले वृन्तं बन्धनमस्य, तालस्येव वृन्तमस्य वा। व्यजने, वाच०।

तलर्बे ट न०(तालवृन्त) 'तलविंट' शब्दार्थे, प्रा०१ पाद।

तलसारिअ (देशी) गालिते, दे०ना० ५ वर्ग ६ गाथा। नालिके, दे०ना० ५ वर्ग ६ गाथा।

तलाअ पुं०(तडाग) ''**डो लः**'' ॥८।१।२०२॥ इति डस्य लः। प्रा०१ पाद। पुरुषाऽऽदिकृते जलाऽऽश्रयविशेषे, प्रश्न०४ संव० द्वार। प्रज्ञा०। औ०। अनु०। आ०म०। आचा०। आव०। रा०।

तलाग पुं०(तडाग) 'तलाअ' शब्दार्थे, प्रश्न०४ संव०द्वार।

तलार (देशी) नगररक्षके, दे०ना०५ वर्ग ३ गाथा।

तलिण न०(तलिन) प्रतले, औ०।

तलिड न०(तल्प) शयनीये, ज्ञा०१ श्रु० १६अ०। कुट्टिमे, शय्यायाम्, गृहोर्ध्वभूम्याम्, वासभवने च। दे०ना० ५ वर्ग २० गाथा।

तलिमा स्त्री०(तलिमा) तूर्यवाद्यभेदे, नं०। आ०म०।

तलिय त्रि०(तलित) स्नेहपक्वे,नि०१ श्रु०१ वर्ग १ अ०। नि०चू०।

तलिया स्त्री०(तलिका) उपानहि, बृ०।

तलियाउ रत्तिगमणे, कप्पइ तेणे य सावए असहू।
पुडगा विचच्चरीए, बद्धी पुण चिन्धसंघट्टा ॥

तलिकाः क्रमणिकाः, ताश्च रात्रौ गमने कण्टकरक्षणार्थं पदेषु बध्यन्ते, सार्थवशाद्वा पन्थानं मुक्त्वा तत्पथेन गच्छतां स्तेनभयेन, श्वापदभयेन च त्वरितं गम्यमाने दिवाऽपि बध्यन्ते, असहिष्णुः सुकुमारपादः, स कण्टकसंरक्षणार्थं क्रमणिकाः पादयोर्बध्नाति। ताश्च प्रथममेकतलिकाः, तदप्राप्तौ यावच्चतुस्तलिका अपि गृह्यन्ते। पुटकानि खल्लकानि,तानि शीतेन पादयोर्विचर्चिकासु विपादिकासु स्फुटतीषु बध्यन्ते । वर्धी पुनस्तलिकाऽऽदीनां चिह्नानां त्रुटितानानां सङ्घटनं तदर्थं गृह्यते। बृ०१ उ०। ध०। व्य०। नि०चू०। ओघ०।

तलुण त्रि०(तरुण) प्रत्यग्रे, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। प्रवर्द्धमानवयसि, आ०म०१ अ०२ खण्ड। रा०।

तल्ल (देशी) पल्वले, वरुणाऽऽख्ये तृणे, शय्यायां च। दे०ना० ५ वर्ग १६ गाथा।

तल्लअ पुं०(तल्लज) तृणविशेषे, प्रश्न०३ सम्ब०द्वार।

तल्लक पुं०। सुराविशेषे, जं०२ वक्ष०।

तल्लड (देशी) शय्याम्, दे०ना० ५ वर्ग २ गाथा।

तल्लिच्छ (देशी) तत्परे, दे०ना०५ वर्ग ३ गाथा।

तल्लेस्स त्रि०(तल्लेश्य) तत्रैव लेश्या शुभपरिणामरूपा यस्य सः। ग०२ अधि०। अनु०। लेश्या हि कृष्णाऽऽदिद्रव्यसाचिव्यजनित आत्मपरिणामः । तद्विषयलेश्यायुक्ते, विपा०१ श्रु०२अ०।

तव पुं०। (तपस्) **''स्नमदामशिरोऽनभः''** ॥८।१।३२॥ इति प्राकृते पुंस्त्वम्। प्रा०१ पाद। तप्यतेऽनेनेति तपः। तापयति अष्टप्रकारं कर्मेति तपतेरौणाऽऽदिकोऽसुप्रत्ययः। आ०म०१अ० २ खण्ड। तापयति कर्म दहतीति तपः। पञ्चा० १६ विव०। स०। ताप्यन्ते रसाऽऽदिधातवः कर्माणि वा अनेनेति तपः। ध० ३अधि०। आ०म०। रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राण्यनेन तप्यन्ते, कर्माणि वाऽशुभानीत्यतस्तपोनामनिरुक्तम्। स्था०५ ठा०१उ०। चतुर्थाऽऽदिषण्डासान्ते (स्था० ६ठा०) अनशनाऽऽदौ, प्रश्न०४ संव० द्वार। आव०। उत्त०। सूत्र०। नं०। रा०। संथा०। दश०। प्रव०। भद्रमहाभद्रप्रतिमासु, उत्त०३० अ०।

तपोनिक्षेपः–

निक्खेवो उ तवम्मी, चउव्विहो दुविहो उ होइ दव्वम्मि।
आगम–नोआगमओ, नोआगमतो य सो तिविहो ॥४३॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य पंचतवमाई।
भावम्मि होइ दुविहो, बज्झो अब्भिंतरो चेव ॥४४॥
मग्गगईणं दुण्ह वि, पुव्वुद्दिट्ठो चउक्कनिक्खेवो।
पगयं तु भावमग्गे, सिद्धिगईए उ नायव्वं ॥४५॥
दुविहतवो मग्गइ वा, निज्जइ वा जम्ह एत्थ अज्झयणे।
तम्हा एयऽज्झयणं, तवमग्गगइ त्ति नायव्वं ॥४६॥

गाथाचतुष्टयं प्राग्वन्नवरं (पंचतवमाइ त्ति) पञ्चतपः पञ्चाग्नितपो यत्र चतसृष्वपि दिक्षु चत्वारोऽग्नयः; पञ्चमश्च तपनः। तल्लोके प्रसिद्धमादिशब्दाल्लोकप्रतीतमन्यदपि बृहत्तपः प्रभृति तपो गृह्यते, द्रव्यत्वं चास्याज्ञानमलमलिनत्वेन तथा–विधशुद्धानङ्गत्वात् तथाभावे प्रक्रमात्तपो बाह्यमाभ्यन्तरं चात्रैव वक्ष्यमाणस्वरूपं, तथा (पुव्वुद्दिट्ठो त्ति) पूर्वत्र मोक्षमार्गगतिनामकेऽध्ययने उद्दिष्टः कथितः पूर्वोद्दिष्टः (भावमग्ग त्ति) सुष्ठ्यत्ययाद्भावमार्गेण मुक्तिपथेन तपोरूपेण ज्ञानदर्शनचारित्राविनाभावित्वाद्भावतपसः। उत्त० पाई० ३० अ०।

नामनिरुक्तिमाह–

जहा उ पावयं कम्मं, रागदोससमज्जियं।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥१॥

यथा येन प्रकारेण भिक्षुस्तपसा रागद्वेषसमर्जितं रागद्वेषाभ्यामुपार्जितं कर्म क्षपयति, तुशब्दः पादपूरणे । तं तपोमार्गम्, एकाग्रमनाः सावधानचित्तः सन् त्वं शृणु–हे जम्बूस्वामिन्। अहं वदामीति सम्बन्धः, अनाश्रवेण किल कर्मक्षयः क्रियते ॥१॥

पाणिवहमुसावए–अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो होइ अणासओ ॥२॥

हे शिष्य ! ईदृशो जीवो निराश्रवो भवति,कीदृशः? प्राणिवध–मृषावाददत्तमैथुनपरिग्रहाद्विरतो रहितः, पुत्रा रात्रिभोजनविरतः, एतादृशोऽनाश्रवो भवति ॥२॥

पुनरनाश्रवो यथा भवति तमाह–

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो ॥३॥

कीदृशो? जीवः–पञ्चभिः समितिभिः समितः सहितः पञ्चसमितः, पुनस्तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तः, पुनरकषायः कषायरहितः पुनर्जितेन्द्रियः वशीकृतेन्द्रियः, पुनरगारव ऋद्धिरससाताऽऽदिगर्वरहितः, पुनर्निःशल्यः मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यैस्त्रिभी रहितः एतादृशोऽनाश्रवो भवति ॥३॥

एवंविधोऽनाश्रवश्च यथा क्षपयति, तथा वदति–

एएसिं तु विवच्चासे, रागदोससमज्जियं।
खवेइ जं जहा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥४॥

हे शिष्य ! यथा येन प्रकारेण भिक्षुः साधुरेतेषां पूर्वोक्तानां प्राणातिपादमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहरात्रिभोजनविरतिलक्षणानां व्रतानां तथा समितिगुप्त्यादिलक्षणानामनाश्रवकारणानां विपर्यासे वैपरीत्ये प्राणिवधमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहरात्रिभोजनसमित्यभावगुप्त्यभावसेवने सति रागद्वेषाभ्यां समर्जितं सञ्चितं पापकर्म क्षपयति, तं प्रकारमेकाग्रमना एकचित्तः सन् त्वं शृणु ॥४॥

अत्र दृष्टान्तमाह–

जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाएँ तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥५॥

यथा महातटाकस्य महाजलाऽऽश्रयस्य जलाऽऽगमे पानीयाऽऽगमनमार्गे सन्निरुद्धे सम्यक् प्रकारेण संवृते सति (उस्सिं–

चणाए त्ति) उत्सिञ्चनया ऊर्द्धं अग्घट्टाऽऽदिना ऊर्ध्वाऽऽकर्षणया, तपनेन रविकिरणाऽऽदिना संतापेन क्रमेण शोषणा जलस्य शोषणं भवेद, नवीनजलाऽऽगमनमार्गो निरुध्यते, पूर्वस्थजलं च निष्कास्यत, जलह्रदो रिक्तः स्यात्, इति भावः ॥५॥

अथ दार्ष्टान्तिकमाह–

एवं तु संजयस्साऽवि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडिसचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥६॥

एवममुना प्रकारेण, पापकर्मनिराश्रवे सति पापकर्मणां प्राणिबधाऽऽद्यानां निरोधे सति, सयतस्यापि साधोरपि, तपसा द्वादशविधेन, भवकोटिसंचितं कर्म निर्जीर्यते, आधिक्येन क्षयं नीयते। अत्र कोटाग्रहणं बहुत्वोपलक्षणं,कोटानियमस्य असंभवात् ॥६॥ उत्त० ३० अ०।

तप ६ आभ्यन्तरं, ६ बाह्यम–''दुविहे तवे पण्णत्ते। तं जहा– बाहिरिए य, अब्भिंतरिए य। से किं तं बाहिरिए तवे? बाहिरिए तवे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–'' अणसणं, ऊणोयरिया, भिक्खायरिया सपरिचाओ। कायकिलेसो,पडिसंलीणया।'' भ० २५ श० ७ उ० ध० औ० दश० स० आ०म० स्था० पञ्चा० आ०चू० आचा० नं० उत्त० जीत० (अनशनाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने ''तेणं तवेणं तेएणं एगाहच्च कूडाहच्चं।'' तपोजन्यं तेजस्तप एव, तेन तेजोलेश्यया। भ० १५ श०। दुःखहेतुत्वात्तपो न कार्येमिति केषाञ्चिन्मतनिरासः। वैराग्ययुक्तेन तपो विधेयमतो वैराग्याष्टकानन्तरं तपोऽष्टकमारभ्यते; तत्रापि परमतमाशङ्कमान आह–

दुःखाऽऽत्मकं तपः केचिन्मन्यन्ते तन्न युक्तिमत् ।
कर्मोदयस्वरूपत्वाद्बलीवर्दाऽऽदिदुःखवत् ॥१॥

दुःखमसुखमात्मा स्वभावो यस्य तद् दुःखाऽऽत्मकं, किं तत्? तपोऽनशनाऽऽदिरूपमिति कृत्वा,केचिदनधिगतपरिगताऽऽगमगर्भाधीः, मन्यन्ते अभ्युपगच्छन्ति। तदिति तपो, न नैव,युक्तिमत् उपपत्त्या सङ्गतं न,मोक्षाङ्गं तप एव न संभवती त यावत्। अथ दुःखाऽऽत्मकमपि सत्कस्मान्न मोक्षाङ्गमित्याह–कर्मोदयस्वरूपत्वादिति। कर्मोदयोऽसातवेदनीयाऽऽदिकर्मविपाकः स्वरूपं स्वभावो यस्य तत्तथा तद्भावस्तत्त्वं तस्मात्। तथाहि–भवन्त्यनशनाऽऽदिषु क्षुत्पिपासाऽऽदयः परिषहः ते च वेदनीय कर्मोदिय सपाद्या आगमे श्रूयन्ते,इति वेदनीयकर्मोदयाऽऽत्मकमनदानाऽऽदिकर्मोदयस्वरूपत्वाच्च न मोक्षाङ्गं तत्किञ्चिदित्याह–व गीवर्द्दाऽऽविदुःखवत्–गवादिमतासातमिव। प्रयोगश्चैवम्–यत्कर्मोदयस्वरूप, न तन्मोक्षाङ्गं, यथा गवादिदुःखं, कर्मोदयस्वरूपं च तपः, तस्मात् मोक्षाङ्गमिति स्थितम्। अयं च श्लोकार्थ इमां पञ्चवस्तुकगाथामुपजीव्य मयाऽभिहितः–''एएण जंपि केइं, णोऽणसणाई दुहं ति मोक्खंगं। कम्मविवागत्तणओ, भणंति एयं पि पडिसुद्धं ॥१॥'' इति।१।

अथ दुःखस्वरूपस्यापि तपसो मुक्तिमत्त्वाभ्युपगमे पर एव प्रसङ्गमाह–

सर्व एव च दुःख्येवं, तपस्वी संप्रसज्यते ।
विशिष्टस्तद्विशेषेण, सुधनेन धनी यथा ॥२॥

सर्व एव निरवशेष एव यः कश्चिद् दुःखी दुःखवान्, चशब्दो दूषणान्तर समुच्चये, एवं दुःखाऽऽत्मकस्याऽपि तपसो युक्तिमत्वाभ्युपगमे सात, स तपस्वी तपोयुक्तः, संप्रसज्यते प्राप्नोति, अनशनाऽऽदिदुःखस्यः व्याध्यादिदुःखस्य च दुःखत्वा वशेषात्, दुःखाऽऽत्मकस्य तपसोऽभ्युपगमे च दुःखन्यैव तपस्त्वेनाभ्युपगमादिति भावः। तथा विशिष्टः प्रधानतरः तपस्वी प्रसज्यते इति प्रक्रमः। केनेत्याह–तद्वशेषेण हेतुना। क इव कनेत्याह-सुधनेन प्रचुरधनेन, धनी महाधना, यथा येन प्रकारेणेति ॥२॥

अथ सर्व एव दुःखी तपस्वी प्रसज्यतां, को दोषः? आह–

महातपस्विनश्चैवं, त्वन्नीत्या नारकाऽऽदयः ।
शमसौख्यप्रधानत्वाद्, योगिनस्त्यतपस्विनः ॥३॥

महातपस्विनः विशिष्टतपोधनाः, प्रसज्यन्ते इति गम्यते, चकारो दोषन्तरसमुच्चये, एवमुक्तप्रकारया, त्वन्नीत्या भवन्न्यायेन, दुःखो तपस्वी अभ्युपगमलक्षणेनेति भावः। नारकाऽऽदयो नैरयिकाऽऽदयः, तेषां महादुःखितत्वात्, तदिशब्दान्महावेदनाऽभिभूततिर्यगादेः परिग्रह। शमः स एव सौख्यं शमसौख्यम्। यदाह–''तणसंथारनिसण्णो, वि मुणिवरो भट्ठरागगयमोहो। जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कयट्टी वि?''॥१॥ शरसौख्यं प्रधानं येषां ते, तेन वा प्रधाना ये ते तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तन्माच्छमसौख्यप्रधानत्वाद्, दुःखितत्वादित्यर्थः। योगिनः समाधिमन्तः, तुशब्दः पुनरर्थः, अतपस्विनः अतपोधनाः, दुःखाऽऽत्मकतपसोऽभावादिति भावना त्वन्नीत्या प्रसज्यन्त इति प्रकृतमेवेति ॥३॥

पर एव स्वपक्षं निगमयन्नाह–

युक्त्यागमबहिर्भूतमतस्त्याज्यमिदं बुधैः ।
अशसाध्यानजननात्, प्राय आत्माऽयकारकम् ॥४॥

युक्तिश्चोपपत्तिः, आगमश्चाऽऽप्तवचनं, ताभ्या बहिर्भुतं नदनमुपाति तद्वाधितं युक्त्यागमबहिर्भूतं, तत्र युक्तिबहिर्भूतता प्रागुपदर्शिता। आगमबहिर्भूतता चैवमवगन्तव्या–''भावियजिणवयणाणं, ममत्तगहियाण नऽत्थि उ विसेसो, अप्पाणम्मि परम्मि य, तो यज्ञे पीडमुभओ वि''॥१॥ अनशनाऽऽदौ तु स्वकायपीडा प्रतीतैवेति। अत इति, यस्मादनन्तरोदितदूषणोपेतमत एतस्माद्धेतोस्त्याज्यं त्यागद्वेमिढ मनशनाऽऽदि दुःखाऽऽत्मकं तपः। कैरित्याह–बुधैर्युक्त्यागमहृदयज्ञैः न तैर्लोकरूढ्या प्रवर्तितव्यं भवति बुक्त्वाभावप्रसङ्गादिति हृदयम्। तथाऽऽत्माऽपकारकं स्वत्यानर्थनबन्धनामदं कुतः? अशस्तध्यानजननात् अप्रशस्ताध्यवसायोत्पादकत्वात्, प्रयो बाहुल्येन, उत्पद्यते हि भोजनाऽऽद्यभावे अप्रशस्तं ध्यानम्। यदाह– ''आहारवर्जिते देहे, धातुक्षोभ प्रजायते। तत्र चाऽधिकसत्त्वोऽपि, चित्तभ्रंशं समश्नुते ॥१॥'' इह च प्रायोग्रहणात् थीमन्महार्याराऽऽदिभिर्व्यभिचारपरिहारो दर्शित इति, अतोऽपि त्याज्यमेवेद बुधैरिति प्रक्रम इति पूर्वपक्षः ॥४॥

अत्र सूरिरुत्तरमाह–

मनइन्द्रिययोगानामहानिश्चेदिता जिनैः ।
यतोऽत्र तत्कथं न्वस्य,युक्ता स्याद् दुःखरूपता? ॥५॥

पूर्वपक्षवादिना यदुक्तम् दुःखाऽऽत्मकं तपो न युक्तिमत, कर्मोदयस्वरूपत्वात्, तत्र दुःखाऽऽत्मकमिति विशेषणं तपसो न सिद्धागति तावदोवदयति–कथम्? मनश्च चित्तमिन्द्रियाणि च करणानि, योगाश्च प्रत्युपेक्षणाऽऽदयः संयमव्यापारा मनइन्द्रिययोगाः, तेषामहानिग्राबाधता, चोदिता अभिहिता। अथवा–वशब्दः समुच्चये, तेनानुप्लुतता च, उदिता उक्ता, जिनैस्तीर्थकरैः, यतो यस्मात्कारणात्, अत्र तपसि। यदाह–

''सो हु तवो कायव्वो,जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥१॥

तथा–

''ता जह न देहपीला, न यावि चुयमंससोणियत्तं तु।
जह धम्मझाणवुड्ढी, तहा इमं होइ कायव्वं ॥२॥''

तदिति तस्मात्कारणात्, कथं केन प्रकारेण? न कथञ्चिदित्यर्थः। नु इति वितर्के, अस्य तपसः, युक्ता उपपन्ना, स्याद्भवेत्, दुःखरूपता असुखस्वभावता। तदेवं दुःखाऽऽत्मकत्वं तपसोऽसिद्धं, तदसिद्धा–वयुक्तिमत्त्वमप्यसिद्धमित्युक्तमिति ॥५॥

ननु देहपीडाकरत्वेनाऽनशनाऽऽदीनां दुःखस्वरूपत्व–
मनुभूयमानमपि कथमसिद्धमिति व्यपदिश्य–
त इत्याह–

याऽपि चानशनाऽऽदिभ्यः, कायपीडा मनाक् क्वचित्।
व्याधिक्रियासमा साऽपि, नेष्टसिद्ध्याऽत्र बाधिनी ॥६॥

(याऽपीति) अनशनाऽऽदिभ्य उक्तन्यायेन तावद् देहपीडा न भवत्येव, याऽपि चानशनाऽऽदिभ्य उपवासाऽऽदिभ्यः, आदिशब्दादूनोदरताऽऽदेः सकाशात्, कायपीडा शरीरबाधना, न तु मनःपीडा, मनाक् स्वल्पा, क्वचिद्देशे काले वा, न पुनः सर्वत्र सर्वदा सा संभवति। उक्तन्यायप्रवृत्तस्य साऽपीति इह दृश्यते नासावपि न बाधनी, न वा बाधिका, न मनसो दुःखदा। किमित्यत आह–इष्टसिद्ध्या वाञ्छितार्थसाधनात्, अत्र प्रवचने, किंविधाऽसावित्याह–व्याधिक्रियासमा रोगचिकित्सातुल्या। यथा हि रोगचिकित्सायां मनाक् देहस्य पीडा सत्यपि न बाधिका, आरोग्यसिद्धेः, एवं तपस्यपि देहपीडाभावाऽऽरोग्यसंसिद्धेर्न भावतो बाधिकेति भावनेति ॥६॥

इष्टार्थसिद्धौ देहपीडाया अदुःखरूपतां दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह–

दृष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ, कायपीडा ह्यदुःखदा।
रत्नाऽऽदिवणिमादीनां, तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥७॥

न केवलमस्माभिरेवेहोपन्यस्ता, दृष्टा च लोके अवलोकिता, इष्टार्थसंसिद्धावभिप्रेतप्रयोजनप्राप्तौ सत्यां, कायपीडा देहबाधा, हिशब्दः स्फुटार्थः, अदुःखदा न पीडाकारिणी, केवामित्याह–रत्नानि मरकताऽऽदीनि आदिर्येषां वस्त्रसुवर्णाऽऽदीनां तानि तथा तेषां, वणिग् वाणिजको रत्नाऽऽदिर्वाणक् स आदिर्येषां कृषीबलाऽऽदीनां ते तथा तेषां, रत्नाऽऽदिवणिगादीनाम्। ततः किमित्याह–तेषामिव वणिगादीनामिव तद्वत्, अत्रापि अनशनाऽऽदितपोविषयेऽपि, भाव्यतां निपुणधिया पर्यालोच्यताम्। तथाहि–रत्नसुवर्णवसनाऽऽदिवणिक्कृषीवलाऽऽदीनां समीहितार्थसंसिद्धिबद्धनिश्चयानाम् अपारपारावारावतारकान्तारनिस्तरणधरणीकर्षणाऽऽदिविविधव्यापारपरायणानां क्षुत्पिपासाश्रमाऽऽदिजनितदेहपीडा न मनोविधुरताऽऽधायिनी; एवं साधूनामपारसंसारसागरमचिरादुत्तितीर्षूणामनशनोनोदरताऽऽदितपोजनितदेहपीडा न मनोबाधाविधायिनीति ॥

इह पुनर्विशेषसम्प्रदायं केचिदेवमूचुः–

किल कोऽपि दरिद्रवणिजको दूरदेशान्तरं गत्वा कथं कथमपि रत्नान्युपार्जितवान्, चिन्तितवांश्चकथमहमेतानि महामूल्यानि सर्वाऽऽशासम्पादकानि महारत्नानि चौरव्याकुलमरण्यं निस्तीर्य स्वनगरं गत्वोपभोगं नेष्यामि? ततस्तेनोत्पन्नबुद्धिना तान्येकत्र स्थाने निहितानि, काचाऽऽदिसकलानि च पोट्टलिकायां बद्धानि। सा च दण्डाग्रे निबद्धा। ततश्चोरपल्लिमध्येनाऽहो! रत्नवणिजको गच्छतीत्येवं महता शब्देन व्याहरन्नरण्यमतिक्रामति स्म। ततो मार्गे पल्लीषु च ये जनाः, ते तं वीक्ष्य ससंभ्रममागत्य निभालयन्ति स्म। अपश्यंश्च काचाऽऽदिशकलानि, अवधीरितवन्तश्च ग्रहगृहीतोऽयमिति विभावयन्तः। ततः पुनरपि तथैव निवृत्तः, तत्रापि यैः पूर्वं न वीक्षित आसीत्, ते तथैव वीक्षितवन्तोऽथावधीरितवन्तश्च। एवं पुनरपि असावरण्यमध्येन गतवान्। ततस्तृतीयवेलायामतिपरिचितत्वादवधीरितस्तस्करजनेन। ततोऽसौ निश्चितवान्–न मां कोऽपि अत्राऽरण्यमार्गे स्खलयिष्यति। इति निश्चित्य रत्नानि गृहीत्वा शीघ्रं तदुपयोगाय वाञ्छितपुरप्राप्तावरण्यात्तन्निर्वाहणे चातीवौत्सुक्येनाऽनवरते महाप्रयाणकैः क्षुत्पिपासाश्रमाऽऽदीन् भवतो भूयसोऽप्यवगणयन् गन्तुं प्रवृत्तः। बहुतरमार्गमतिलङ्घितः सन् पिपासाऽभिभूतो भावयामास–अहो! अहमद्य जलं विना म्रिये, न च रत्नोपभोगभाजनं भवामीत्येवं भावयता मरणभयभीतेन रत्नोपभोगाऽऽकाङ्क्षिणा दृष्टं सरः पङ्कप्रायपानीयं पङ्कमग्नमृगाऽऽदिकडेवरपूयकृमिजालव्याकुलं विलीनमतिदुर्गन्धं विरसतुच्छजलम्। दृष्ट्वा च गन्धमजिघ्रता रसमनास्वादयता दुष्करकरणं कुर्वता अक्षिणी निमील्याञ्जलिभिस्तत् पीतवान्, परं स्वास्थ्यं नागमत्, तदुपष्टम्भितश्च क्षीणपिपासादुःखोत्क्षेपणेष्टपुरं प्राप्तः, रत्नोपयोगसुखं चेति। उपनयस्तु प्रागुक्त एवेति ॥७॥

तदेवं दुःखाऽऽत्मकतां तपसो व्युदस्य कर्मोदय–
स्वरूपतां व्युदस्यन्नाह–

विशिष्टज्ञानसंवेग–शमसारमतस्तपः।
क्षायोपशमिकं ज्ञेयमव्याबाधसूखाऽऽत्मकम् ॥८॥

विशिष्टाः प्रधानाः सम्यग्दर्शनविशेषितत्वात्–ज्ञानं च तत्त्वसंवेदनं, संवेगश्च संसारभयं, मुक्तिमार्गाभिलाषिता वा, शमश्च कषायेन्द्रियमनसां निरोधः ज्ञानसंवेगशमाः, विशिष्टाश्च ते चेति कर्मधारयः। त एव सारोऽन्तर्गर्भो यस्य, तैर्वा सारं यत्तत्तथा। ज्ञानाऽऽदिसारमेव तपस्तपो भवति, नेतरदल्पफलत्वात्। यदाह–''सट्ठिं वाससहस्सा'' गाहा। ''छज्जीवकायवहगा'' गाहा। अत इति। यस्मादुक्तयुक्तेरदुःखाऽऽत्मकमत एतस्माद्धेतोस्तपोऽनशनादि। किमित्याह–क्षयेण उदीर्णचारित्रमोहनीयकर्मणश्छेदेन सह उपशमस्तस्यैव विपाकापेक्षया विष्कम्भितोदयत्वं क्षयोपशमः, तत्र भवं क्षायोपशमिकम्, ज्ञेयं ज्ञातव्यम्। न पुनः कर्मोदयस्वरूपम्। तथा अविद्यमाना व्याबाधा अविरतिजनिता अनन्तराः पारम्पर्यकृता वा ऐहिक्यः पारत्रिका वा यस्मिंस्तदव्याबाधं, तच्च तत्सुखं च तदेवाऽऽत्मा स्वभावो यस्य तदव्याबाधसुखाऽऽत्मकं प्रशमसुखाऽऽत्मकसिद्धसुखानुकारीत्यर्थः। अनेन च श्लोकेन तपसोऽकर्मोदयस्वरूपत्वमसुखत्वरूपत्वं वाऽऽवेदितम्।

उक्तं चैतदन्यत्रापि–

''जं इय इमं न दुक्खं, कम्मविवागो वि सव्वहा नेवं।
खाउवसमिए भावे, एयं ति जिणागमे भणियं ॥१॥
खंताइसाहुधम्मे, तवगहणं सो खओवसमियम्मि।
भावम्मि विणिद्दिट्ठो, दुक्खं चोएइ भे सव्वं ॥२॥''

एतेन च तपसो दुःखरूपत्वकर्मोदयस्वरूपत्वपरिहारेण सर्व एव हि दुःख्येवमित्यादिश्लोकद्वयाभिहितं तपोदूषणं सर्वं परिहृतमवगन्तव्यम्, दुःखस्वरूपत्वाऽऽश्रयत्वात्तस्येति। अन्ये त्विदमष्टकमेवं व्याचक्षतेदुःखाऽऽत्मकं, दुःखमेवेत्यर्थः। तपः केचिन्मन्यन्ते, तदेव दुःखाऽऽत्मकतपोमननं न युक्तिमत्। कुत इत्याह–कर्मोदयस्वरूपत्वाद् दुःखस्य। किंवदित्याह–बलीवर्दीऽऽदिदुःखवत्, तपसश्च क्षायोपशमिकत्वादिति। इहैव दूषणा–

न्तराभिधानायाऽऽह–सर्व एव चेत्यादि श्लोकद्वयम्। अथवा दुः खाऽऽत्मकं तपः केचिन्मन्यन्ते कर्मोदयस्वरूपत्वाद् बलीवर्दाऽऽदिशब्देन विशेषितत्वाद् दृष्टान्तस्येति सद्धेतुरेवायं वृक्षोऽयं, शाखाऽऽदिमत्त्वात्, ग्रामवृक्षवदित्यादिवदिति। अत्राऽऽचार्य आह–तन्न युक्तिमदिति। कुत इत्याह–सर्व एव चेत्यादि श्लोकद्वयम्। इह चशब्दो यस्मादर्थे द्रष्टव्यः। आचार्य एवोभयत्र परस्थोपदेशमाह–युक्त्यागमेत्यादि। इदमिति तपसो दुःखाऽऽत्मकत्वमननं, शेषं तु श्लोक चतुष्टयं पूर्ववदेव, नवरं ''मनइन्द्रिययोगानामहानिश्चेदिता जिनैः,'' इत्यत्र चशब्दः पूर्वोक्तयुक्त्यपेक्षया युक्त्यन्तरसमुच्चयार्थो द्रष्टव्य इति ॥८॥ हा० ११ अष्ट०।

तपश्चान्द्रायणं कृच्छ्रं , मृत्यघ्नं पापसूदनम्।
आदिधार्मिकयोग्यं स्यादपि लौकिकमुत्तमम् ॥१७॥

तप इति। लौकिकमपि लोकसिद्धमपि, अपिर्लोकोत्तरं समुच्चिनोति, उत्तमं स्वभूमिकोचितशुभाध्यवसायपोषकम्। द्वा० १२ द्वा०। यो० विं०।

ज्ञानसारीयं तपोऽष्टकम्–

ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात्तपः।
तदाभ्यन्तरमेवेष्टं, बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥१॥
आनुस्रोतसिकी वृत्तिर्बालानां सुखशीलता।
प्रातिस्रोतसिकी वृत्तिर्ज्ञानिनां परमं तपः ॥२॥
धनार्थिनां यथा नास्ति, शीततापाऽऽदि दुःसहम्।
तथा भवविरक्तानां, तत्त्वज्ञानार्थिनामपि ॥३॥
सदुपायप्रवृत्तानामुपेयमधुरत्वतः।
ज्ञानिनां नित्यमानन्द–वृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥४॥
इत्थं च दुःखरूपत्वात्तपो व्यर्थमितीच्छताम्।
बौद्धानां निहता बुद्धि–र्बौद्धाऽऽनन्दाऽपरिक्षयात् ॥५॥
यत्र ब्रह्माजिनार्चा च, कषायाणां तथा हतिः।
सानुबन्धा जिनाऽऽज्ञा च, तत्तपः शुद्धमिष्यते ॥६॥
तदेव हि तपः कार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि वा ॥७॥
मूलोत्तरगुणश्रेणि–प्राज्यसाम्राज्यसिद्धये।
बाह्यमाभ्यन्तरं चेत्थं, तपः कुर्यान्महामुनिः ॥८॥ अष्ट० ३१ अष्ट०।

('भिक्खाग' शब्दे तेषां चतुर्विधं तपो वक्ष्यते) (कियताऽनशनेन कियती निर्जरा भवतीति 'अण्णइलाय' शब्दे प्रथमभागे ४४४ पृष्ठे द्रष्टव्या)

प्रकीर्णकतपांसि–

एसो बारसभेओ, सुत्तनिबद्धो तवो मुणेयव्वो।
एयविसेसो उ इमो, पइण्णगोऽणेगभेउ त्ति ॥४॥

इह तपः शब्दस्य प्राकृतत्वेन पुल्लिङ्गनिर्देशः। एतदनन्तरोक्तं द्वादशभेदमुभयेषां मेदानां मीलनत्वात्। सूत्रनिबद्धं शासनोक्तम्, तपस्तपस्या (मुणेयव्वो त्ति) ज्ञातव्यम्। एतद्विशेषस्तु अनन्तरोक्ततपोभेद एव (इमो त्ति) इदं वक्ष्यमाणं तपः प्रकीर्णकं व्यक्तितः सूत्रनिबद्धम्, न भिक्षुप्रतिमाऽऽदिवत्सूत्रे निबद्धमित्यर्थः। न चोत्सूत्रत्वमस्य, द्वादशभेदतपस्यन्तर्भावात्। तच्चाऽनेकभेदमनेकविधाऽऽलम्बनत्वात्। इतिशब्दः समाप्तौ। इति गाथाऽर्थः ॥४॥

प्रकीर्णकमेव तपो दर्शयन्नाह–

तित्थयरणिग्गमाई, सव्वगुणपसाहणं तवो होइ।
भव्वाण हिओ णियमा, विसेसओ पढमठाणीणं ॥५॥

तीर्थकरनिर्गमाऽऽदि येन तपसा तीर्थकरा निक्रान्ताः; आदिशब्दात्तीर्थकरज्ञाननिर्वाणाऽऽदिग्रहः। किंभूतमिदमित्याह–सर्वगुणसाधकं तीर्थकरनिर्गमनाऽऽद्यालम्बनस्य शुभभावप्रकर्षरूपत्वेन ऐहलौकिकाऽऽद्युपकारकारित्वात्। तपो भवतीति व्यक्तम्। अत एव भव्यानां हितं नियमादिति व्यक्तम्। विशेषतः पुनः प्रथमस्थानिनामव्युत्पन्नबुद्धीनां हितत्वादेव निरालम्बनतयाऽपि शुभभावप्रकर्षसंभवात् सर्वमपि हितमेवेति गाथाऽर्थः ॥५॥ पञ्चा० १६ विव०।

चान्द्रायणाऽऽदितपः–

चंदायणाइ य तहा, अणुलोमविलोमओ तवो अवरो।
भिक्खाकवलाण पुढो, विण्णेओ वुड्ढिहाणीहिं ॥१८॥

चन्द्रायणमिव चन्द्रायणं, तदादि च, आदिशब्दाद्वद्रामहाभद्रासर्वतोभद्ररत्नावलीकनकावल्येकावलीसिंहनिष्क्रीमितद्वयाऽऽचाम्लवर्द्धमानगुणरत्नसंवत्सरसप्तसप्तमिकाऽऽदिचतुष्टयकल्याणकाऽऽदितपःसामागमप्रसिद्धानां ग्रहः। तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थो गाथाऽऽदौ दृश्यः। अनुलोमविलोमतो गतप्रत्यागत्या, तपोऽपरमन्यत्। कथम् ? भिक्षाकवलानां प्रतीतानां पृथग्भेदेन, विज्ञेयो ज्ञेयो वृद्धिहानिभ्यामिति गाथाऽऽर्थः ॥१८॥ पञ्चा० १६ विव०।

रोहिण्यादितपः–

अण्णो वि अत्थि चित्तो, तहा तहा देवयाणिओएण।
मुद्धजणाण हिओ खलु, रोहिणिमाई मुणेयव्वो ॥२३॥

अन्यदपि, अस्ति विद्यते, चित्रम्, तप इति गम्यते। तथा तथा तेन तेन प्रकारेण लोकरूढेन, देवतानियोगेन देवतोद्देशेन मुग्धजनानामव्युत्पन्नबुद्धिलोकानां, हितं खलु पथ्यमेव, विषयाभ्यासरूपत्वात्। रोहिण्यादिदेवतोद्देशेन यत्तद्रोहिण्यादि। (मुणेयव्वो त्ति) ज्ञातव्यम्। पुँल्लिङ्गता च सर्वत्र प्राकृतत्वादिति गाथाऽर्थः ॥२३॥

देवता एव दर्शयन्नाह–

रोहिणि अंबा य तहा, मंदउण्णिया सव्वसंपयासोक्खा।
सुयसंतिसुरा काली, सिद्धाईया तहा चेव ॥२४॥

रोहिणी १ अम्बा २, तथा–मन्दपुण्यिका ३, (सव्वसंपयासोक्ख त्ति) सर्वसंपत् ४, सर्वसौख्या चेत्यर्थः ५। (सुयसंतिसुर त्ति) श्रुतदेवता ६, शान्तिदेवता चेत्यर्थः ७। ''सुयदेवयसंतिसुरा'' इति वा पाठान्तरम्, व्यक्तं च। काली ८, सिद्धायिका ९, इत्येता नव देवताः। तथा चैवेति समुच्चयार्थः। ''संवाइया चेव'' त्ति पाठान्तर–मिति गाथाऽर्थः ॥२४॥

ततः किमित्याह–

एमाइदेवयाओ, पडुच्च अवऊसगा उ जे चित्ता।

णाणादेसपसिद्धा, ते सव्वे चेव होइ तवो ॥२५॥

एवमादिदेवताः प्रतीत्यैतदाराधनयेत्यर्थः। (अवऊसग त्ति) अपवसनानि अवजोषणानि वा। तुः पूरणे। ये चित्रा नानादेशप्रसिद्धास्ते सर्वे चैव भवन्ति तप इति स्फुटमिति। तत्र रोहिणीतपो रोहिणीनक्षत्रदिनोपवासः सप्तमासाधिकसप्तवर्षाणि यावत्। तत्र च वासुपूज्यजिनप्रतिमाप्रतिष्ठा पूजा च विधेयेति। तथा बाह्य (अम्बा) तपः पञ्चसु पञ्चमीष्वेकाशनाऽऽदि विधेयम्। नेमिनाथाम्बिकापूजा चेति। तथा श्रुतदेवतातप एकादशस्वेकादशीषूपवासो मौनव्रतं श्रुतदेवतापूजा चेति। शेषाणि तु रूढितोऽवसेयानीति गाथाऽर्थः ॥२५॥

अथ कथं देवतोद्देशेन विधीयमानं यथोक्तं तपः स्यादि–

त्याशङ्क्याऽऽह–

जत्थ कसायणिरोहो, बंभं जिणपूयणं अणसणं च।
सो सव्वो चेव तवो, विसेसओ मुद्धलोयम्मि ॥२६॥

यत्र तपसि कषायनिरोधो ब्रह्म जिनपूजनमिति व्यक्तम्। अनशनं च भोजनत्यागः। (सो त्ति) तत्सर्वं भवति तपो विशेषतः मुग्धलोके। मुग्धलोको हि तथा प्रथमतया प्रवृत्तः सन्नभ्यासात्कर्मक्षयोद्देशेनाऽपि प्रवर्त्तते, न पुनरादिति एव तदर्थं प्रवर्त्तितुं शक्नोति, मुग्धत्वादेवेति। सद्बुद्धयस्तु मोक्षार्थमेव विहितमिदमिति बुद्ध्यैव वा तपस्यन्ति। यदाह– ''मोक्षायैव तु घटते, विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुषः।'' इति। मोक्षार्थघटना चाऽऽगमविधिनैव। आलम्बनान्तरस्यानाभोगहेतुत्वादिति गाथाऽर्थः ॥२६॥

न चेदं देवतोद्देशेन तपः सर्वथा निष्फलमैहिकफलमेव वा, चरणहेतुत्वादपीति चरणहेतुत्वमस्य दर्शयन्नाह–

एवं पडिवत्तीए, एत्तो मग्गाणुसारिभावाओ।
चरणं विहियं बहओ, पत्ता जीवा महाभागा ॥२७॥

एवमित्युक्तानां साधर्मिकदेवतानां कुशलानुष्ठानेषु निरुपसर्गत्वाऽऽदिहेतुना, प्रतिपत्त्या तपोरूपोपचारेण; तथा इत उक्तरूपात्कषायाऽऽदिनिरोधप्रधानात्तपसः। पाठान्तरेणैवमुक्तकरणेन मार्गानुसारिभावात् सिद्धिपथानुकूलाध्यवसायाच्चरणं चारित्रम्, विहितमाप्तोपदिष्टं, बहवः प्रभूताः, प्राप्ता अधिगताः, जीवाः सत्त्वाः, महाभागाः इति गाथाऽर्थः ॥२७॥

तथा–

सव्वंगसुंदरो तह, णिरुजसिहो परमभूसणो चेव।
आयइजणगो सोहग्गकप्परुक्खो तहऽण्णो वि ॥२८॥
पढिओ तवो विसेसो, अण्णेहिँ वि तेहि तेहिँ सत्थेहिं।
मग्गपडिवत्तिहेउं, इंदि विणेयाणुगुण्णेणं ॥२९॥

सर्वाङ्गानि सुन्दराणि यतस्तपोवशेषात्स सर्वाङ्गसुन्दरः। तथेति समुच्चये। रुजानां रोगाणामभावो निरुजं, तदेव शिखेव शिखा प्रधानं फलतया यत्राऽसौ निरुजशिखः। तथा परमाण्युत्तमानि भूषणान्याभरणानि यतोऽसौ परमभूषणः। चैवेति समुच्चये। तथा आयतौ आगामिकालेऽभीष्टफलं जनयति करोति योऽसावायतिजनकः। तथा–सौभाग्यस्य सुभगतायाः संपादने कल्पवृक्ष इव यः स सौभाग्यकल्पवृक्षः। तथेति समुच्चये। अन्योऽप्यपरोऽपि उक्ततपोविशेषात् ॥२८॥ किमित्याह–पठितोऽधीतस्तपोविशेषस्तपोभेदः, अन्यैरपि ग्रन्थकारैः, तेषु तेषु शास्त्रेषु, नानाग्रन्थेष्वित्यर्थः। नन्वयं पठितोऽपि साभिष्वङ्गत्वान्न मुक्तिमार्ग इत्याशङ्क्याऽऽहमार्गप्रतिपत्तिहेतुः शिवपथाऽऽश्रयणकारणम्। यश्च तत्प्रतिपत्तिहेतुः स मार्ग एवोपचारात् कथमिदमिति चेदुच्यते–हन्दीत्युपप्रदर्शने। विनेयानुगुण्येन शिक्षणीयसत्त्वानुरूप्येण भवन्ति हि केचित्ते विनेया ये साभिष्वङ्गानुष्ठानप्रवृत्ताः सन्तो निरभिष्वङ्गमनुष्ठानं लभन्ते इति गाथाद्वयार्थः ॥२९॥ पञ्चा० १९ विव०।

अथैत्ते तपोविशेषा आगमे नोपलभ्यन्त इत्याशङ्कां परिहरन्नाह–

चित्तं चित्तपयजुयं, जिणिंदवयणं असेससत्तहियं।
परिसुद्धमेत्थ किं तं, जं जीवाणं हिणं णऽत्थि ॥३९॥

चित्रमद्भुतमनेकातिशयाभिधानत्वादज्ञानङ्गाऽऽदिभेदत्वाद्वा चित्रमनेकविधम्। तथा चित्रपदयुतं नानाविधार्थप्रतिपादकाभिधानयुक्तम्, जिनेन्द्रवचनं जिनेश्वराऽऽगमः, अशेषसत्त्वहितं समस्तप्राण्युपकारकं, भव्यानुसारेण मार्गप्रतिपत्त्युपायप्रतिपादनपरत्वात्। परिशुद्धं कषच्छेदतापविशुद्धं सुवर्णमिव निर्दोषम्। एवं चात्रास्मिन् जिनवचने किं तद्द्रव्यजीवानां हितं नास्ति? सर्वमपि जीवानां हितमस्तीत्यत इदं तपः परिदृश्यमानाऽऽगमेऽनुपलभ्यमानमप्युपलब्धमिवावगन्तव्यं, तथाविधजनहितत्वादिति गाथाऽर्थः ॥३९॥

तथा–

सव्वगुणपसाहण मो, णेओ तिहिँ अट्ठमे हिँ परिसुद्धो।
दंसणणाणचरित्ताण एस रेसिम्मि सुपसत्थो ॥४०॥

सर्वगुणप्रसाधनः सकलगुणाऽऽवह इति पर्यायस्तपोविशेषः। 'मो' निपातः पूरणार्थः। ज्ञेयोऽवसेयः, त्रिभिरष्टमैरुपवासत्रयलक्षणैः, परिशुद्धोऽनवद्यः, दर्शनज्ञानचरित्राणां प्रतीतानाम्, एषोऽयम्। (रेसिम्मि त्ति) निमित्तं, सुप्रशस्तोऽतिशयशुभः। तत्रैकमष्टमं दर्शनगुणशुद्धये, एवमपरद्वयं द्वयपरिशुद्धये इति गाथाऽर्थः ॥४०॥

अथ सर्वाङ्गसुन्दराऽऽदितपस्सु सनिदान एव प्राणी प्रवर्त्तते, ततो न न्याय्यान्येतानीत्याशङ्कापरिहारार्थमनिदानतामेषु प्रवृत्तस्य दर्शयन्नाह–

एएसु वट्टमाणो, भावपवित्तीएँ वीयमावाओ।
सुद्धाऽऽसयजोगेणं, अणियाणो भवविरागाओ ॥४१॥

एतेष्वनन्तरोक्ततपस्सु प्रवर्तमानो व्याप्रियमाणो जीवः। ''एतेसु बहुमाणा'' इति पाठान्तरं, व्यक्तं च। कया? भावप्रवृत्त्या बहुमानसारक्रियया, अनिदान इति योगः। कुत इत्याह–बीजभावात् बोधिबीजविकलस्य देहिनो बोधिबीजभवनेन। एतदेव कथमित्याह–शुद्धाऽऽशययोगेन शुभाध्यवसायसंबन्धेन। शुभाध्यवसायाद्धि बोधिबीजं स्यात्। अनिदानो निदानरहितः स्यात्। तथा–भवविरागा-त्संसारनिर्वेदाद्यत्किल भवविरागाऽऽदिनिमित्तं तन्निदानं न भवति बोद्ध्यादिप्रार्थनमिव, भवविरागाऽऽदिहेतवश्चोक्ततपांसि केषाञ्चिदतो निर्निदानानि, इति गाथाऽर्थः ॥४१॥

निर्निदानत्वादेवैतेषां निर्वाणाङ्गतामाचार्यान्तरमतेनाऽपि दर्शयन्नाह–

विसयसरूवऽणुबंधेहि तह य सुद्धं जओ अणुट्ठाणं।
णिव्वाणंगं भणियं, अण्णेहि वि जोगमग्गम्मि ॥४२॥

एयं च विसयसुद्धं, एगंतेणेव जे तओ जुत्तं।
आरोग्गबोहिलाभाइपत्थणाचित्ततुल्लं ति ॥४३॥

विषयोगोचर उक्ततपसामालम्बनीयस्तीर्थकरनिर्गमाऽऽदिः, स्वरूपमुक्ततपसामेव स्वभाव आहारत्यागब्रह्मचर्यजिनपूजासाधुदानाऽऽदिलक्षणः, अनुबन्धश्च तत्परिणामाव्यवच्छेदतः प्रकर्षयायिता, अतस्तेषु विषयस्वरूपानुबन्धेषु। तथा चेति समुच्चये। शुद्धं निरवद्यं, यतो यस्मात्कारणाद्, अनुष्ठानं क्रिया, निर्वाणाङ्ग मुक्तिकारणम्, भणितमुक्तम्, अन्यैरपि तन्त्रान्तरीयैः, किं पुनर्जिनैः, योगमार्गेऽध्यात्मशास्त्रपथे। अतो विषयाऽऽदिशुद्धतयैतेषां निर्वाणाङ्गत्वान्नित्वान्निनिदानतेति हृदयमिति ॥४२॥ एतच्च एतत्पुनरनन्तरोक्तं तपः, विषयशुद्धं निर्दोषगोचरं, सकलदोषमोषिजिनपतिविषयत्वात्। एकान्तेनैव सर्वथैव, यद्यस्मात्ततः तस्माद्धेतोर्युक्तं स ङ्गतम्, प्रार्थनागर्भमपीदं तपः। कुतः? इत्याह–आरोग्यबोधिलाभाऽऽदीनाम्– ''आरोग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु'' इति। एवंरूपा या प्रार्थना याञ्चा, तत्प्रधानं यच्चित्तं मनस्तेन तुल्यं समानं यत्तदारोग्यबोधिलाभाऽऽदिप्रार्थनाचित्ततुल्यम्, इति कृत्वा। इति गाथाद्वयार्थः ॥४३॥

एवमनन्तरोक्तं तपो निर्निदानमिति व्यवस्थापितमथोपदिशन्नाह–

जम्हा एसो सुद्धो, अणियाणो होइ भावियमईणं।
तम्हा करेह सम्मं, जह विरहो होइ कम्माणं ॥४४॥

यस्मात्कारणात्, (एसो त्ति) इदमनन्तरोक्तं तपः, शुद्धं निर्दोषम्, भवति स्यात्। किंभूतं सदित्याह–अनिदानं प्रागुक्तयुक्त्या निदानवर्जितम्। केषामिदमेवंविधमित्याह–भावितमतीनां सदागमवासितमानसानाम्, तस्मात्कारणात्, कुरुत विधत्त। एतदेवेति गम्यम्, सम्यग् भावशुद्ध्या। एतदेव व्यक्ततरमाह– यथा येन प्रकारेण, विरहो विनाशो, भवति जायते, कर्मणां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनाम्। (४४) पञ्चा०१६ विव०। प्रव०। सांवत्सरिकपाक्षिकाष्टमीज्ञानपञ्चमीरोहिणीतपांसि येन यावज्जीवमुच्चारितानि भवन्ति, स रोहिण्या अग्रतः पृष्ठतो वा आगमने षष्ठकरणशक्त्यभावे किं करोतीति प्रश्ने, उत्तरम्–अत्र सर्वथा षष्ठकरणशक्त्यभावे यत्तपः प्रथममागच्छति तत्तपः प्रथमं करोति, स्थितं तु पश्चात्कृत्वा प्रापयतीति। ३४प्र०। ही०४ प्रका०। रोहिणीदिनाऽऽराधकानां काचिद् मिथ्यामतिर्न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–रोहिणीदिनाऽऽराधकानां मिथ्यामतिर्ज्ञाता नास्ति। ६ प्र०। ही०१ प्रका०।

तपस्तथा कर्त्तव्यं यथा शरीरहानिर्न स्यात्–

तवसो अ पिवासाई, संतो वि न दुक्खरूवगा णेआ।
जं ते खयस्स हेऊ, निद्दिट्ठा कम्मवाहिस्स ॥१०॥

तपसश्च पिपासाऽऽदयः सन्तोऽपि भिक्षाऽटनाऽऽदौ न दुःखरूपा ज्ञेयाः। किमित्यत्राऽऽह–यद् यस्मात्ते पिपासाऽऽदयः क्षयस्य हेतवो निर्दिष्टा भगवद्भिः कर्मव्याधेरिति गाथाऽर्थः ॥१०॥

तथाहि–

बाहिस्स य खयहेऊ, सेविज्जंता कुणंति धिइमेव।
कडुगाई वि जणस्सा, ईसिं दंसिंतगाऽऽरोग्गं ॥११॥

व्याधेरपि कुष्ठाऽऽदेः क्षयहेतवः सेव्यमानाः कुर्वन्ति धृतिमेवकटुकाऽऽदयोऽपि जनस्य ईषद्दर्शयन्त आरोग्यम्, अनुभवसिद्धमेतदिति गाथाऽर्थः ॥११॥

किमेष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः–

इअ एए चिअ मुणिणो, कुणंति धिइमेव सुद्धभावस्स।
गुरुआणासंपाडण–चरणाइ सयं निदंसंता ॥१२॥

(इय) एवमेवैव क्षुदादयो मुनेः कुर्वति धृतिमेव, न तु दुःखं, शुद्धभावस्य रागाऽऽदिविरहितस्य, किं दर्शयन्तः सन्तः? गुर्वाज्ञासंपादनचरणादि स्वयं निदर्शयन्त इति गाथार्थः ॥१२॥

ण य ते वि होंति पायं, अविअप्पं धम्मसाहणमइस्स।
न य एगंतेणं चिय, ते कायव्वा जओ भणियं ॥१३॥

न च तेऽपि भवन्ति प्रायः क्षुदादयः, अविकल्पं मातृस्थानविरहेण धर्म्मसाधनमतेः प्रव्रजितस्य धर्मप्रभावादेव, न चैकान्तेनैव ते क्षुदादयः कर्त्तव्या मोहोपशमाऽऽदिव्यतिरेकेण यतो भणितमिति गाथाऽर्थः ॥१३॥

किं तदित्याह–

सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा ण हायंति ॥१४॥

तद्धि तपः कर्त्तव्यमनशनाऽऽदि, येन मनोऽमङ्गलमसुन्दरं न चिन्तयति, शुभाध्यवसायनिमित्तात्कर्मक्षयस्य। तथा येनेन्द्रिय–हानिः, तदभावे प्रत्युपेक्षणाऽऽद्यभावात्, येन च योगाश्चक्रवाल–सामाचार्यन्तर्गताः व्यापारा न हीयन्त इति गाथाऽर्थः ॥१४॥

देहे वि अपिडबद्धो, जो सो गहणं करेइ अन्नस्स।
विहिआणुट्ठाणमिणं, ति कह तओ पावविसओ त्ति? ॥१५॥

देहेऽप्यप्रतिबद्धो यः विवेकात्स ग्रहणं करोत्यन्नस्यौदनाऽऽदेर्विहितानुष्ठानमिति, न तु लोभाद् यतश्चैवमतः कथमसौ पापविषय इति? नैव पापविषयः, एतेन कथं न पापविषय इत्येतत्प्रयुक्तमिति गाथाऽर्थः ॥१५॥

किं च–

तत्थ वि अधम्मझाणं, न य आसंसा तओ अ सुहमेव।
सव्वमियमणुट्ठाणं, सुहाऽऽवहं होइ विन्नेअं ॥१६॥

तत्रापि चान्नग्रहणादधर्म्मध्यानं सूत्राऽऽज्ञासंपादनात्, न चाशंसा, सर्वत्रैवाभिष्वङ्ग निवृत्तेः। यतश्चैवं ततश्च सुखमेव, तत्राऽपि सर्वं वस्त्रपात्राऽऽदि(इयं) एवमुक्तेन न्यायेन सूत्राऽऽज्ञासंपादनाऽऽदिना अनुष्ठानं साधुसंबन्धि सुखाऽऽवहं, भवति विज्ञेयमिति गाथाऽर्थः ॥१६॥ पं०व०१ द्वार। ''जहेव पायच्छित्ता ण पविसंति, तहा ससत्तीए तवो कम्मं णाणुट्ठेइ, तओ चउगुणं चउगुणं पायच्छित्तं।'' मा०१ चू०।

पर्वसु तपो न करोति–

संते बलवीरियपुरिसयारपरक्कमे अट्ठमिचाउद्दसीनाणपंचमीपज्जोसवणचाउम्मासिए चउत्थऽट्ठमछट्ठे ण करेज्जा खवणं कप्पं णायरइ चउत्थं कप्पं परिचविज्जा दुवालसं। महा० १ चू०।

''णो पूयणं तवसा आवहेज्जा।''(२७) नापि तपसा पूजनसत्कारमावहेत्, न पूजनसत्कारनिमित्तं तपः कुर्यादित्यर्थः। यदि वा पूजासत्कारनिमित्तत्वेन तथाविधार्थत्वेन वा महताऽपि केनचित्तपो मुक्तिहेतुकं न निःसारं कुर्यात्। तदुक्तम्–'परलो–

काधिकं धाम, तपः श्रुतमिति द्वयम् । तदेवार्थित्वनिलुप्तसारं तृणलवायते'' ॥१॥ (२७) सूत्र०१ श्रु०७ अ०।

चतुर्विधमाजीविकानां तपः–

आजीवियाणं चउव्विहे तवे पण्णत्ते । तं जहा–उग्गतवे, घोरतवे, रसनिज्जूहणया, जिब्भिंदियपडिसंलीणया ।

(आजीवियाणं इत्यादि) आजीविकानां गोशालकशिष्याणाम्, उग्रं तपोऽष्टमाऽऽदि, क्वचन–''उरमिति'' पाठः। तत्र उरं शोभनम। इहलोकाऽऽद्य शंसारहितत्वेनेति घौरमात्मनिरपेक्षं (रसनिज्जूहणया) घृताऽऽदिरसपरित्यागः जिह्वेन्द्रियप्रतिसंलीनता मनोज्ञामनोज्ञेष्वा-हारेषु रागद्वेषपरिहार इति; आर्हतानां तु द्वादशधेति। स्था०४ ठा०२उ०।

पर्युषणायामष्टमाऽऽदि तपोऽवश्यं कर्तव्यमिति । कल्प०१ क्षण । बालतपसि, आ०क०। कथाऽन्यत्र) शारीराऽऽदि त्रिविधं तपः। कैश्चित्तु शारीराऽऽदिभेदं त्रिविधमप्युच्यते । यदुक्तं गुरुगुणषट्त्रिंशिकावृत्तौ–कैश्चित्तपस्त्रिविधं शारीराऽऽदिभेदमप्युच्यते ।

यथा–

''देवातिथिगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं तप उच्यते ॥१॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङमयं तप उच्यते ॥२॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं, मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतद्, मानसं तप उच्यते ॥३॥
शारीराद्वाङ मयं सारं, वाङ्मयान्मानसं शुभम् ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्ट–निऋराकरणं तपः ॥४॥''

सात्विकं, राजसं, तामसमिति वा त्रिविधन् ।

यथा–

''तपश्च त्रिविधं ज्ञेयमफलाऽऽकाङ्क्षि भिर्नरैः ।
श्रद्धया परया तप्तं, सात्त्विकं तप उच्यते ॥१॥
सत्कारमानपूजार्थं , तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं, राजसं चलमध्रुवम् ॥२॥
मूढग्रहेण यच्चाऽऽत्म–पीडया क्रियते तपः ।
परस्योच्छेदनार्थं वा, तत्तामसमुदाहृतम् ॥३॥'' (१०१ गाथा) ग०२ अधि०। तपःफलं व्यवदानम्– ''तवे वोदाणफले ।'' स्था० ३ ठा०३उ०।

संयमवान् साधुस्तपो निरतः स्यात्, अतस्तत्फलं प्रश्नपूर्वकमाह–

तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? तवेणं वोयाणं जणयइ ॥२७॥

हे भगवन्! तपसा कृत्वा जीवः किं फलं जनयति? गुरुराह– हे शिष्य! तपसा जीवो व्यवदानं जनयति, पूर्वबद्धकर्मापगमनेन विशेषेण शुद्धिं जनयति ॥२७॥उत्त० २९ अ०।

से भयवं ! किं छट्ठऽट्ठमदसमदुवालसऽद्धमासमासे०जाव णं छम्मासखवणाई णं अचंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुक्करे संजमजयणे विपुले सुमहंते वि उ कायकेसे कए णिरत्थगे हवेज्जा? गोयमा ! ण णिरत्थगे हवेज्जा । से भयवं ! केणं अट्ठेणं ? गोयमा ! जओ णं खरुट्ठमहिसगोणादओ वि संजमजणा विउले अकामनिज्जराए सोहम्मकप्पाइसु चयंति,तओ विभागखएणं चुए समाणे निरयाऽऽदिसु संसारमणुसंसरेज्जा; तहा य दुग्गंधामिज्झविऋीणखारपित्तेज्झसिंभपढच्छेवजल्लसपदुडणिचिलिव्विले रुहिरचिक्खिल्ल दुद्धस्सणिज्जवीभत्यतिमिसंधयारगंतुव्विय–णिज्जगब्भपावसजम्मजरामरणाइ अणेगसारीरमाणसे मुच्छसु–घोरदारुणदुक्खाणमेव भायणं भवंति, ण उण संजमजयणाए विणा जम्मजरामरणाऽऽइएहिं घोरपयंडमहारुद्ददारुणदुक्खाणं णिट्ठवणमेगंतियमच्चंतियं भवेज्जा, एतेणं संजमजयणा–वियले सुमहंते वि उ कायकेसे पकम्मय गोयमा ! निरत्थगे भवेज्जा । महा०२चू०।

''इमेण वा सुचरियतवनियमबंभचेरवासेणं'' इत्याशंसारहितेन तपः कर्तव्यमिति। सूत्र०१ श्रु०१अ०। यस्मिन् प्रतिसेविते निर्वि–कृताऽऽदिपण्मासपर्यवसानं तपो दीयते तत्तपोऽर्हत्वात्तप इति । व्य०१ उ०। निर्विकृतिकाऽऽदिके तपसि, आ०। अश्विन्यस्वाध्यायमध्ये कृततपसो दिनत्रयम्,अथवा द्वादशदिनान्युपधानालोचनायामन्यालोचनायां वा न समायान्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–सप्तम्या–दिदिनत्रयगणनायां नायान्तीति १२२प्र०। सेन० २ उल्ला०। पक्षोपवासरोहिणोपञ्चम्यादितपस्सु बहुवर्षाऽऽचरितेषु कदाचिद्विस्मृत्या महाकारणाऽऽदिना वा पक्षोपवासाऽऽदिदिने उपवासाभवने पक्षोपवासाऽऽदि तपो मूलतो याति, किं वा यथोक्तवर्षमासभवनानन्तरं तत्तपः करणाऽऽदिना निष्ठां नीयत इति प्रश्ने, उत्तरम्– विस्मृत्यादिना तपोदिन ज्ञाने तत्रोपवासाभवने द्वितीयदिने दण्ड–निमित्तं तत्तपः कार्यम्, समाप्तो च वर्द्धमानं विधेयमित्यक्षराणि श्राद्धविधौ सन्ति, महाकारणे तु तपोदिने तपः करणं महत्तराऽऽद्याकरेणान्तर्भवतीति ।१६७ प्र०। सेन०२ उल्ला०। तपउपधाने–षूह्यमानेषु विंशतिस्थानकाऽऽदि तपः कर्तुं शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–तत्तपः प्रायः कर्तुं न शुद्ध्यतीति, १८५ प्र०। सेन०२ उल्ला०। अथ पं० विद्याविजयगणिकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च । यथा चैत्राऽऽश्विनास्याध्यायदिनेषु यत्तपः कृतं स्यात्तत्तपो रोहिण्यालोचनाऽऽदिषु समेति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–सप्तम्यादिदिनत्रयकृतं तत्तप आलोचनायां न गण्यते, रोहिण्यादि तथाविधसंबद्धतपसि तु गण्यते, न तु सर्ववेति, २०० प्र०। सेन०३ उल्ला०। तपसा निकाचितकर्मणां क्षयो भवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–निकाचितानामपि कर्मणां तपसा क्षयो भवतीति श्रीउत्तराध्ययनसूत्रवृत्त्यादावुक्तमस्तीति। ४६प्र०। सेन०४ उल्ला०।

तवअ (देशी) व्यापृते, दे०ना० ५ वर्ग २ गाथा।

तवआयार पुं०(तपआचार) आचारभेदे, तप आचारो द्वादशविधः। उक्तं च– ''बारसविहम्मि वि तवे, अब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे । अगिलाएँ अणाजीवी, नायव्वो सो तवाऽऽयारो ''॥१॥ इति। स्था०२ ठा०३उ०।

तवकरण न०(तपःकरण) तपसोऽनशनाऽऽदिबाह्याभ्यन्तरभेद–भिन्नस्य करणं कृतिस्तपःकरणम्। अनशनाऽदेर्बाह्याभ्यन्तरभेद–भिन्नस्य तपसः कृतौ, आ०म०१अ०२खण्ड।

तवगुण पुं०(तपोगुण) अनशनाऽऽदौ, स्था०९ठा०।

तवग्ग पुं०(तवर्ग) तकाराऽऽदिवर्णपञ्चके, रा०।

तवग्गपविभत्ति न०(तवर्गप्रविभक्ति) तकारथकारदकारधकारनकारइत्येवंरूपे प्रविभक्तिनामकेऽष्टादशे नाट्यविधौ, रा०।

तवचरण न०(तपश्चरण) तपोविधाने तपसि च कृते धृतिं करोति नार्तध्यान। अनु०। संयमानुष्ठाने, सूत्र०१ श्रु०५अ०।

१उ०। तपश्चरणं ब्रह्मचर्याऽऽदि, तत्फलमप्युपचारात्तपश्चरणम्। स्वर्गसंभवे भोगजाते, ज्ञा०१ श्रु०६अ०।

तवचरणचरियणिबद्ध न०(तपश्चरणचरितनिबद्ध) दिव्ये नाट्यविधौ, रा०।

तवचरणि(ण्) त्रि०(तपश्चरणिन्) तपस्विनि, ''णाणादीओ जीवइ, अह सुहुमो अह इमो मुणेयव्वो। साइज्झंतो एगं, वच्चइ एसो तवच्चरणी ॥१॥'' स्था०५ ठा०३उ०।

तवण पुं०(तपन) तपतीति तपनः। रवौ, अनु०। पिं०। रुचकशिखरतले पूर्वस्यां दक्षिणस्यां च दिशि तृतीये कूटे, द्वी०।

तवणबंधु न०। पुं०(तपनबन्धु) बुद्धे, रत्ना०६ परि०।

तवणिज्ज न०(तपनीय) आरक्तसुवर्णे, जी०३ प्रति०४ उ०। तं०। भ०। औ०। जं०। सुवर्णविशेषे, जी०३ प्रति०४ उ०। तं०। औ०। स०। रा०। जं०।सु०प्र०। ज्ञा०। ''तवणिज्ज बालुयापत्थडे।'' तपनीयमय्यः बालुकाः सिकताः, तासां प्रस्तटः प्रस्तारो यस्मिँस्तत्तथा। जी०३ प्रति०४ उ०। रा०। ''तवणिज्जलंबूसगा।''तपनीयस्तपनीयमयो 'लंबूसगो दाम्नामग्रिमभागे प्राङ्नणे लम्बमानो मण्डनविशेषो गोलकाऽऽकृतिर्येषां तानि। जी०३ प्रति०४उ०। रा०। ''तवणिज्जाभरणभूसणविराइअंगुवंगं।'' कल्प०२क्षण।

तवणिज्जकूड पुं०(तपनीयकूट) जम्बूद्वीपे रुचकपर्वतस्य द्वितीयस्मिन् कूटे, स्था० ८ ठा०।

तवणियमणाणरुक्ख पुं०(तपोनियमज्ञानवृक्ष) भाववृक्षे, आ० म०१ अ०१खण्ड। (अस्योदाहरणम् 'सुय' शब्दे वक्ष्यते)

तवणी (देशी) भक्षणयोग्ये, दे०ना० ५ वर्ग १ गाथा।

तवतेण पुं०(तपःस्तेन) क्षपकरूपकल्पे, कश्चित्केनचित् पृष्टस्त्व मसौ क्षपक इति? तदा स पूजाऽऽद्यर्थमाह–अहम्। अथवा वक्तिसाधव एव क्षपकाः। अथवा–तूष्णीमास्ते। दश० ५ अ०२उ०।

तवधण त्रि०(तपोधन) तप एव धनं यस्य सः। तपोधनवति, उत्त० १८अ०।

तवप्पडिमा स्त्री०(तपःप्रतिमा) तपसाऽऽत्मतुलनायाम्, बृ०१ उ०। ('जिणकप्पिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४६६ पृष्ठे एतत्स्वरूपम्)

तवप्पहाण त्रि०(तपःप्रधान) तपसा प्रधाने उत्तमे, शेषमुनिजना-पेक्षया, तपो वा प्रधानं यस्य तस्मिन्,ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। नि०। रा०।

तवबल त्रि०(तपोबल) यदनेकभवार्जितमनेकदुःखकारणं निकाचितकर्मग्रन्थि क्षपयति तस्मिन्, स्था०१० ठा०।

तवबलिय पुं०(तपोबलिक) तपसा बलिकस्तपोबलिकः तपसा बलिष्ठे, महताऽपि तपसा यो न क्लाम्यति, यत्र तत्र वा स्वल्पे प्रयोजने तपः करिष्यामि इति विचिन्त्य प्रतिसेवते। यदि वा–षाण्मासिके तपसि दत्ते वदति–समर्थोऽहमन्यदपि तपः कर्तुं तदपि मे देहीति। तस्मिन् तपोबलिके मूलपर्याये, व्य० १उ०।

तवभावणा स्त्री०(तपोभावना) प्रशस्तभावनाभेदे, बृ०१ उ०।

तवमय पुं०(तपोमद) तपः प्रधानो मदस्तपोमदः। मदस्थानभेदे, स्था०१० ठा०। स०।

तवय न०(तवक) सुकुमारिकाऽऽदितलनभाजने, विपा०१ श्रु०३अ०।

तवविणय पुं०(तपोविनय) विनयभेदे, दश०।

तपोविनयमाह–

अवणेइ तवेण तमं, उवणेइ अ सग्ग मोक्खमप्पाणं।
तवविणयनिच्छियमई, तवोविणीओ हवइ तम्हा ॥८५॥

अपनयति तपसा तमोऽज्ञानम्, उपनयति च स्वर्गं मोक्षमात्मानं जीवम, तपोविनयनिश्चितमतिर्यस्मादेवंविधस्तपोविनीतो भवति तस्मादिति गाथाऽर्थः ॥८५॥ दश०९अ०।

तवसंजम पुं०(तपःसंयम) तापयतीति तपस्तत्प्रधानः संयमस्तपःसंयमः। चारित्रसामायिके, विशे०। तप अशनोदरताऽऽदि तत्प्रधानः संयमस्तपः संयमः। अशनोदरताऽऽदिप्रधाने संयमे, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

तवसंजमप्पहाण पुं०(तपःसंयमप्रधान) तपः बाह्याभ्यन्तरं द्वादशप्रकारं, तथा संयमः सप्तदशभेदः। पञ्चाऽऽश्रवविरमणाऽऽदिलक्षणः, ताभ्यां प्रधानास्तपःसंयमप्रधानाः। तपःसंयमाभ्यां प्रधाने, ''तपसंजमप्पहाणा, गुणधारी जे वयंति सब्भावं।'' सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

तवसंजममुज्जय पुं०(तपःसंजमोद्यत्) तपोऽनशनाऽऽदि संयमस्सप्तविधः, मकारोऽलाक्षणिकः, ततस्तपःसंयमयोरुद्यतस्तपःसंयमोद्यतः तपःसंयमाभ्यामुद्यते, दर्श०३ तत्त्व।

तवसंजमरय पुं०(तपःसंयमरत) भावसाधौ, औ०।

तवसमाहि पुं०(तपःसमाधि) तपसि बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदभिन्ने यथाशक्ति निरन्तरं प्रवृत्तिस्तपःसमाधिस्तस्मिन्, प्रव०१० द्वार। दश०।

तपःसमाधिमाह–

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ। तं जहा–नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नऽन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा चदुत्थं पयं भवइ। भवइ अ इत्थ सिलोगो–

चतुर्विधः खलु तपः समाधिर्भवति। तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः। नेह लोकार्थमिहलोकनिमित्तं लब्ध्यादिवाञ्छया तपोऽनशनाऽऽदिरूपमधितिष्ठेत् कुर्याद्भिलवत्। तथा न परलोकार्थं जन्मान्तरभोगनिमित्तं तपोऽधितिष्ठेद्ब्रह्मदत्तवत्। एवं न कीर्तिवर्णशब्दश्लाघार्थमिति। सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्तिः। एकदिग्व्यापी वर्णः। अर्द्धदिग्व्यापी शब्दः। ततस्थान एव श्लाघा, नैतदर्थं तपोऽधितिष्ठेत्। अपि तु नान्यत्र निर्जराऽर्थमिति न कर्मनिर्जरामेकां विहाय तपोऽधितिष्ठेत्। अकामः सन् यथा कर्मनिर्जरैव फलं भवति तथाऽधितिष्ठेदित्यर्थः। चतुर्थं पदं भवति। चात्र श्लोक इति पूर्ववत्।

स चायम्–

विविहगुणतवोरए य निच्चं, भवइ निरासएँ निज्जरट्ठिए।

तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए ॥४॥

विविधगुणतपोरतो हि नित्यमनशनाऽऽद्यपेक्षयाऽनेकगुणं यत्तपस्तद्रत एव सदा भवति, निराशो निःप्रत्याश इहलोकाऽऽदिषु निर्जरार्थिकः कर्म्मनिर्जरार्थी, स एवं भूतस्तपसा विशुद्धेन धुनोत्यपनयति, पुराणपापं चिरन्तनं कर्म, नवं च न बध्नात्येवं युक्तः सदा तपःसमाधाविते सूत्रार्थः। दश० ६ अ०४उ०।

तवसामायारि(ण्) पुं०(तपःसामाचारिन्) पाक्षिकाऽऽदिषु तपःकर्म स्वयं करोति, परं च कारयति, भिक्षाचर्यां स्वयमनुतिष्ठति, परं च तस्यां नियुङ्क्ते, इति तपः सामाचारी। तस्मिन्, प्रव० ६५ द्वार।

तपःसामाचारीमाह–

पक्खिएँ पोसहिएसुं, कारेति तवं सयं करेति य वा।
भिक्खायग्गियाएँ तहा, निज्जुंजति परं सयं वा वि ॥

पाक्षिके अर्द्धमासे सर्वाणि, पौषधिकेषु च अष्टम्यादिषु पर्वसु परं तपः कारयति, स्वयमपि च करोति, तथा भिक्षाचर्यायां परं नियुङ्क्ते, प्रयोजनमपेक्ष्य स्वयमपि भिक्षाचर्यां गच्छति।

सव्वम्मि वारसविहे, निज्जुंजइ परं सयं च उज्जुत्तो।
गणसामाचारीए, गणं पिसीयंत चोएति ॥

सर्वस्मिन् द्वादशविधे तपसि यथायोगं परं नियुङ् क्ते, स्वयं सर्वत्र यथाशक्ति उद्युक्तः। व्य० १० उ०।

तवसिद्ध पुं०(तपःसिद्ध) तपसा सिद्धे सिद्धभेदे, (आ०म०)

संप्रति तपासिद्धप्रतिपादनार्थमाह–

न किलिम्मइ जो तवसा, सो तवसिद्धो दढप्पहारि व्व।
सो कम्मक्खयसिद्धो, जो सव्वक्खीणकम्मंसो ॥

न क्लाम्यति न क्लमं गच्छति यः सत्त्वस्तपसा बाह्याभ्यन्तरेण स एवंभूतस्तपःसिद्धः, अग्लानित्वाद् दृढप्रहारिवदिति गाथाऽक्षरार्थः। आ०म०१अ०२खण्ड।

भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्–

''धिग्जातिरेको दुर्दान्तो, दुर्बिनीतः पुरे क्वचित्।
स्थानान्निःसारितो दुष्टश्चौरपल्लीं भ्रमन् ययौ ॥१॥
चौरसेनापतिस्तं च, पुत्रबुद्ध्या प्रपन्नवान्।
मृते तस्मिन् स एवाऽभूत्, चौरसेनापतिस्ततः ॥२॥
दृढप्रहारी नाम्नाऽभूद्, दृढप्रहारकः स यत्।
ससेनः सोऽन्यदाऽऽयासीद्, ग्राममेकं विलुण्ठितुम् ॥३॥
तत्रैको निःस्वविप्रोऽभूद्भिम्मरूपैः मार्गितः।
याचित्वाऽङ्ग तदुग्धाऽऽदि, परमान्नमपाचयत् ॥४॥
स्वयं स्नानकृते सोऽगाच्चौर एकस्तु तद्गृहे।
प्रविष्टः पायसस्थालिमपहृत्य जगाम सः ॥५॥
रुदन्ति डिम्भिरूपाण्याख्यन् पितुः पायसं हृतम्।
दधावे सोऽथ रोषेण, चौराणां निजिवृक्षया ॥६॥
अनेकाँस्तस्करांस्तत्र, परिघेण जघान सः।
चौरसेनापतिर्ग्राम–मध्येऽभूत्तेन चिन्तितम् ॥७॥
हन्ति कोऽप्येव मच्चौरान्, खड्गमाकृष्य धावितः।
तत्रागादन्तरे धेनुस्तामहन्नय तं द्विजम् ॥८॥
तद्ब्राह्मणी तमूचेऽथ, किं कृतं निष्कृप! त्वया?
साऽपि व्यापादिता तेन, तद्गर्भोऽपि द्विधा कृतः ॥९॥
प्रस्फुरन्तं तमालोक्य, करुणाऽत्याभवत्तदा।
हा हा चक्रे मया पापं, का भविष्यति मे गतिः? ॥१०॥
डिम्भरूपाण्यथोचुस्तं, पापास्मानपि मारय।
पित्रोरभावतो भावी, मृत्युर्दारिन्द्र्यतोऽपि नः ॥११॥
तदाकर्ण्य विशेषेण, स निर्वेदं परं गतः।
इतः पापात्कथं मुक्तिः? स्यान्मे साधूनथैक्षत ॥१२॥
दृष्टास्ते धर्ममाचख्युः, सर्वपापापहारकम्।
प्रतिबुद्धः परिव्रज्य, जगृहे क्षान्त्यभिग्रहम् ॥१३॥
यावत्कर्म स्मरत्येतत्तावद्भोज्यं मया न च।
हील्यमानो हन्यमानस्तत्रैव विजहार सः ॥१४॥
तत्कृतानुपसर्गाश्चाँधिसेहे स्वकृतं स्मरन्।
दृढप्रहारी भूत्वा स, कर्मशत्रूनपि प्रति ॥१५॥
षड्भिर्मासैस्तपः शस्त्रैस्तत्कर्मो न्मूल्य सर्वथा।
''उत्पाद्य केवलज्ञानं, तपःसिद्धो बभूव सः''॥१६॥ आ०क०।

तवसूर पुं०(तपःशूर) तपोधीरे, स्था०४ ठा०३उ०।''तवसूरा अणगारा।''संथा०।

तवसोसिय त्रि०(तपःशोषित) तपसा शोषमुपगते, व्य०२उ०।

तवस्सि(ण्) पुं०। त्रि०(तपस्विन्) तपोऽस्यास्तीति तपस्वी। तपः संयमतपस्तस्मिन् विद्यमाने, व्य०१ उ०। तपोऽस्यास्तीति तपस्वी, तपो विकृष्टाविकृष्टरूपं विद्यते येषां ते तपस्विनः। प्रव० ६६ द्वार। विकृष्टमष्टमप्रकृतिकं तपा विद्यते येषां ते तपस्विनः। प्रव० १४८ द्वार। ध०। नि०चू०। विकृष्टाऽऽदितपश्चरणकारिषु, प्रव०४ द्वार। क्षपके, भ०८ श०८उ०। बृ०। स्था०। मासक्षपकाऽऽदिषु, आ०क०। स्था०। चतुर्थभक्ताऽऽदिकारिणि, प्रश्न०३ सम्ब०द्वार। प्रशस्ततपोयुक्ते, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार। अनशनाऽऽदितपोविचित्रयुक्तेषु सामान्यसाधुषु, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। साधौ, सूत्र०१ श्रु०२ अ०१उ०। उत्त०। क्षीणदेहे, बृ०१ उ०। अष्टमाऽऽदिक्षपके, भ० २५ श०७उ०। निष्टप्तदेहे, सूत्र०१ श्रु०२अ०१उ०। प्रशस्यतपोऽन्विते भिक्षौ, उत्त०२ अ०। जितेन्द्रिये, औ०। तपो बाह्याऽऽभ्यन्तरकर्मेन्धनदहनज्वलनकल्पमनवरतशुभध्यानलक्षणमस्ति यस्य स तपस्वी। स्था०२ ठा०४उ०।

तवायार पुं०(तपआचार) द्वादशविधतपोविशेषानुष्ठिते (स० १ अङ्ग) आचारभेदे, ''बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे। अगिलाएँ अणाजीवी, नायव्वो सो तवायारो ॥१॥'' ध०२ अधि०। तपआचारस्तु द्वादशविधः, बाह्याभ्यन्तरतपःषट्क–द्वयभेदात्। तत्र ''अनशनमूनोदरता, वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः। कायक्लेशः संलीनतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम् ॥१॥'' ध०१ अधि०।

इयाणिं तवायारो भण्णति–

दुविध तवपरूवणया, संठाणाऽऽरोवणा तमकरें ते।
सव्वत्थ होति लहुगो, (सं)लीणविणयऽ(स)ज्झाय मोत्तूणं४१
बारसविधम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
अगिलाएँ अणाजीवी, णायव्वो सो तवायारो ॥४२॥

दुविहतवे त्ति–बाहिरो, अब्भिंतरो य। बाहिरो छव्विहो–अणसणं, ओमोयरिया, भिक्खापरिसंखाणं, रसपरिच्चाओ,

कायकिलेसो, पडिसंलीणता य। अब्भितरो छव्विहो–पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं सज्झाओ, विउस्सग्गो, झाणं चेति। दुविहा तवस्स य परूवणा कायव्वा। परूवणा णाम पण्णवणा। सा य जहा दुमपुप्फिय-पढमसुत्ते, तहा दट्ठव्वा। इह तु पच्छित्तेणऽहिकारो, तं भणति–सगं ठाणं सट्ठाणं, सट्ठाणस्स आरोवणा सट्ठाणारोवणा, तमिति तवो संबज्झति, अकारो पडिसेहे, करेंति आचरंतेत्यर्थः। अकारेण य पडिसिद्धे, अणाचरणं अणाचारं, तस्स य सट्ठाणं, तं च इमं–''सव्वत्थ होइ, लहुगो।'' सव्वत्थेति। सव्वेसु पढेसु अणसणाऽऽदिसु सत्तिपुरिसक्कारपरक्कमे विज्जमाणे तवमकरेंतस्स मासलहू, अइपसत्तं लक्खणमिति काउं उट्ठाणं करेइ, संलीणविण–यसज्झ यपया तिण्णि, मोत्तुणं। पडिसंलीणया दुविहा–दव्वपडि–संलीणया, भावपडिसंलीणया य। इत्थिपसुपंडग-पुडसंसत्ता होंति दव्वम्मि। भावपडिसंलीणता दुविहा–इंदियपडि-संलीणया, णो इंदियपडिसंलीणया। इंदियपडिसंलीणया पंचविहा–सोइंदियाऽऽदि। नोइंदियपडिसंलीणया चउव्विहा–कोहाऽऽदि। एतेसु पडिसंलीणेण भवियव्वं। ओ ण भवति, तस्स पच्छित्तं भण्णति। इत्थिसं-सत्ताए चउगुरुं, तिरिच्छिपुरिसेसु चरित्तविराह–णाणिप्फण्णं चउगुरुगं। पुरिसेसु चउलहूगं। सोयचक्खुरसफासेसु रागे चउगुरुगं। एतेसु चेव दोसे चउलघुगं। घाणेंदियरागण गुरुगो, दोसेण लहुगो। कोहे माणे य हु, मायाए मासगुरुगो, लोहे हु। पडिसंलीणया गता। अथ विणओ भण्णति–आयरियम्म विणयं ण करेति चउगुरुयं, उवज्झायस्स हु, भिक्खुस्स मासगुरुं, खुड्डगस्स मासलहुं। विणओ गओ। सज्झाओ भण्णति सुतत्थोरिसिं ण करेति मासलहु, अत्थपोरिसिं ण करेंति मासगुरु। सीसो पुच्छति–तवस्स कहं आयारो, कहं वा अणायारो भवति? आयरिओ भणति–(वारसविहम्मि·वि तवे गाहा)) कुसलो दव्वे य, भावे य। दव्वे दव्वला, भावे कम्मला वा। तेहिं भावकुसलेहिं दिट्ठे तवे अगिलाए त्ति अगिलाणमाणो मनोवाक्काएहिं अज्झरणमाणेत्यर्थः। अणालीवि त्ति ण आजीवी अणाजीवी, अणासंसीत्यर्थः। आसंसणं इहपरलोगेसु। इहलोगे वरं से सिलाघा भविस्सति। लोगो य आउट्टो वत्थपत्तअसणादिभेसज्जं दाहिति। परलोगे इन्दसामाणिगाऽऽदि, रायाऽऽदि वा भविस्सामि। सेसं कंठं। नि०चू०१उ०।

अथ तपआचारदर्शनायाऽऽह–

बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
अगिलाएँ अणाजीवी, णायव्वो सो तवायारो ॥२६॥

द्वादशविधेऽपि द्वादशभेदेऽप्यास्तां तदेकदेशे, तपसि तपस्याणां, कार्मणलक्षणाभ्यन्तरदेहस्यैव तापनात्प्रायः सम्यग्दृष्टिभिरेव वा तपस्तया प्रतीयमानत्वादाभ्यन्तरं प्रायश्चित्ताऽऽदि पोढः। तथा बाह्यदेहस्याऽपि तापनान्मिथ्यादृष्टिभिरपि वा तपस्तया प्रतीयमानत्वात् बह्यमनशना-ऽऽदि पौढैव। सहाभ्यन्तरेण बाह्यं साभ्यन्तरबाह्यं तत्र, कुशलदृष्टे निपुणोपलब्धे, सर्वज्ञ प्ररूपित इत्यर्थः। अग्लान्या अखेदेन, अनाजीवी तस्यैव तपसोऽनुपजीवकः सन्, योः जीवः, प्रवर्त्तत इति शेषः। ज्ञातव्यो ज्ञेयः, स जीवः तपआचारः तपसि तपोरूपो वाऽऽचारो व्यवहारस्तप-आचारः, आचारतद्वतोरभेदादिति गाथाऽर्थः ॥२६॥ पञ्चा० १५ विव०।

तवारिह न०(तपोऽर्ह) निर्विकृतिकाऽऽदितपःशोध्ये (स्था० १० ठा०) षष्ठे प्रायश्चितभेदे, स्था०८ ठा०। प्रव०। अथ तपोऽर्ह–प्रायश्चितविषयः–तत्र तपोऽर्हं वक्तव्यम्–ततश्च रात्रिन्दिवपञ्चकादारभ्य रात्रिदिवपञ्चका-ऽऽदि बृद्ध्या तावन्नेयं, यावत् षण्मासाः, तत्र येषु स्थानेषु रात्रिन्दिवपञ्चकं तपः तान्युपदर्शयति–

दंडगगहनिक्खेवे, आवसियाए निसीहियाए य।
गुरुणं च अप्पणामे, वा चउराइंदिया हुंति ॥१२६॥

दण्डं गृह्णन्त्यत्यपेक्षते न प्रमार्जयतीत्येको भङ्गः, न प्रत्युपेक्षते प्रमार्जय-तीति द्वितीयः, न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयतीति तृतीयः, प्रत्युपेक्षते प्रमार्ज-यतीति चतुर्थः। तत्राऽऽद्येषु त्रिषु भङ्गकेषु पश्चादनुपूर्व्या यथोत्तरं तपःकाल-विशेषतो लघुर्मासः प्रत्येकं प्रायश्चित्तम्। चतुर्थे चत्वारो भङ्गाः। तद्यथा–दुष्प्रत्युपेक्षते दुःप्रमार्जयति १, दुष्प्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति २, सुप्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ३, सुप्रत्युप्रेक्षते सुप्रमार्जयति ४। अत्रार्थेषु त्रिषु भङ्गकेषु पश्चादनुपूर्व्या यथोत्तरं तपः कालविशेषितानि पञ्चरात्रिन्दिवानि प्रायश्चित्तम्, चतुर्थे भङ्गे शुद्धोविधिना प्रवृत्तः। इहाऽऽद्यास्त्रयो भङ्गका मासलघु–प्रायश्चित्तविषयाः प्रस्तावादुक्ताः, यतो वक्ष्यमाणेषु प्रायश्चित्तेषु द्रष्टव्याः। यथा दण्डकग्रहणेऽभिहितं तथा दण्डकनिक्षेपेऽपि वक्तव्यं, नवरं निक्षेपे अधस्ताद् भूमेरुपरि च दण्डमसिसंपर्कविषया भित्तिप्रदेशे प्रमार्जना कर्त्तव्या। तथा वसतेर्निर्गच्छन् यद्यावश्यकीं न करोति, वसतौ प्रविश्य नैषेधिकीम्, तत आवश्यकाकरणान्नैषेधिक्या अकरणे च प्रत्येकं प्रायश्चित्तं रात्रिन्दिवपञ्चकं, तथा (गुरुणं च अप्पणामे इति) अत्र प्रमाणग्रहणं हस्तोत्सेधाऽऽदेरुपलक्षणं, ततोऽयमर्थः–अवश्यकरणीयप्रयोजनवशतः स्वोपाश्रयाद् बहिर्विनिर्गतो भूयः प्रतिश्रये प्रविशन् 'नमो खमासमणाणं' इति न ब्रूते प्रणामं वा न करोति, नापि हस्तस्यानाक्षणिकत्वेऽपि हस्तोत्वेधम्, तदा प्रायश्चित्तं रात्रिन्दिवपञ्चकम् ॥१२६॥

बेंटियगहनिक्खेवे, निट्ठीव ण आयावाउ छायं व।
थंडिल्लकण्हमोमे, णमो राइंदिया पंच ॥१२७॥

संस्तारकवेण्टलिकाया ग्रहणे, निक्षेपे च प्रत्येकं दण्ड इव सप्तभङ्गकं, तत्रापि, दण्डक इवाऽऽद्येषु त्रिषु भङ्गकेषु पश्चादनुपूर्व्या यथोत्तरं तपः कालविशेषतः प्रत्येकं लघुमासः, उत्तरेषु त्रिषु भङ्गकेषु प्रत्येकं रात्रिन्दिवपञ्चकं, सप्तमे तु भङ्गे शुद्धः। (निट्ठीवणा इति) निष्ठीवनाऽऽदौ। इह साधवो द्विधा–गच्छगताः, गच्छनिर्गताश्च। तत्र येगच्छनिर्गतास्ते नियमादनिष्ठीवकाः, औपग्रहिकमल्लकाऽऽद्युपकरणासंभवात्। गच्छगता अपि ये विधिना निष्ठीव्यन्ति, ते अनिष्ठीवका एव, न प्रायश्चित्तविषयाः। आवधिना खेल्लमल्लके निष्ठीवने दण्डक इव सप्तभङ्गाः, दण्डक इवैव चाऽऽद्येषु प्रत्येकं लघुमासः, उत्तरेषु त्रिषु प्रत्येकं रात्रिन्दिवपञ्चकं, सप्तमभङ्गवर्तिनस्त्वनिष्ठीवका एव, विधिना निष्ठीवनात्। उपरितनेष्वपि च त्रिषु भङ्गेषु यदि भूमौ निष्ठीव्यति तदा मासलघु। यच्च निष्ठीवने प्राणिनां परितापनाऽऽद्युपजायते, तन्निष्पन्नं च तस्य प्रायश्चित्तम्। आदिशब्दात्कण्डूयनपरिग्रहः। कण्डूयनेऽपि हि दण्डक इव सप्तभङ्गकं, तथैव च प्रायश्चित्तविधिः। तथा वस्त्राऽऽदिकमातपात् छायां, छायाया वा आतपं संक्रामयत् न प्रत्युपेक्षते, न प्रमार्जयतीत्यादयः पूर्ववत्सप्त भङ्गाः। पूर्ववदेव वाऽऽद्येषु षट्सु भङ्गकेषु प्रायश्चित्त–

विधिः, सप्तमे तु भङ्गे शुद्धः। (थंडिल्लेत्यादि) मार्गे व्रजन् अस्थण्डिलात् स्थण्डिले, स्थण्डिलात् अस्थण्डिले, तथा कृष्णभूमात् प्रदेशात् नीलभूमौ, नीलभूमेर्वा कृष्णभूमप्रदेशे। एवं शेषवर्णेष्वपि प्रत्येकं योजनीयम्। अथ अध्वनो ग्रामे ग्रामप्रवेशे, ग्रामाद्वा अध्वनि संक्रामन् पादौ न प्रत्युपेक्षते, न प्रमार्जयतीत्यादयो दण्डक इव प्रत्येकं सप्तभङ्गाः, षट्सु भङ्गकेषु प्रायश्चित्तविधानं, सप्तभङ्गके तु शुद्धः।

सम्प्रति लाघवमपेक्ष्यमाणश्छेदार्हमपि प्रायश्चित्तमत्रैव विषये प्रति-पादयति-

एएसिं अण्णयरं, निरंतरं अतिचरेज्ज तिक्खुत्तो।
निक्कारणमगिलाणे, पंच उ राइंदिया छेदो ॥१२८॥

एतेषामनन्तरोदितानां रात्रिन्दिवपञ्चकप्रायश्चित्तविषयाणां स्थानानामन्यतरत् स्थानमग्लानो निष्कारणं यो निरन्तरमतिचरेत् त्रिःकृत्वस्त्रीन् वारान् तदा तत्पर्यायस्य च्छेदः क्रियते, पञ्चरात्रिन्दिवानि। उपलक्षणमेतत्-येष्वनन्तरोदितेषु स्थानेषु मासलघु-कानि प्रायश्चित्तान्युक्तानि, तेषामन्यतरत्स्थानमग्लानो निष्कारणं यदि निरन्तरं त्रीन् वारानतिचरति, तदा तत्पर्यायस्य छेदो मासिक इति द्रष्टव्यम्।

सम्प्रति मासिकानि प्रायश्चित्तानि विभणिषुराह-

हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे य लोणे य।
मीसगपुढविक्काए, जह उदउल्ले तहा मासो ॥१२९॥

यथा उदकार्द्रे तथेति वचनादेवमत्र प्रतिपत्तव्यम्-यथा उदकार्द्रे उदकम्रक्षिते करे मात्रके वा भिक्षां गृह्णतः प्रायश्चित्तं लघुर्मासः, तथा हरितालहिङ्गुलकमनःशिलाः प्रतीताः। अञ्जनं सौवीराञ्जनाऽऽदि, लवणं समुद्राऽऽदि, एते सचित्तपृथिवीकायभेदाः। उपलक्षणमेतत्-तेन शुद्धपृथिव्यूषगेरुकवर्णिकासेटिकासौराष्ट्रिक्यादयोऽपि सचित्तपृथिवीकायभेदाः प्रतिपत्तव्याः। तथा मिश्रकः सचित्ताऽचित्तरूपः कर्दमाऽऽदिर्हरितालाऽऽदिर्वा पृथिवीकायः; एतेष्वपि किमुक्तं भवति? एतैरपि प्रत्येकं म्रक्षिते करे मात्रके वा भिक्षामाददानस्य लघुर्मासः। एतत्पुनः सम्प्रदायादवसातव्यम्- सचित्तमिश्रपृथिवीरजोगुण्ठिते सचित्तमिश्रोदकस्निग्धे वा करे मात्रके वा भिक्षामुपाददानस्य पञ्च रात्रिन्दिवानि। उक्तं च-''ससणिद्धे ससरक्खे पणगमिति।'' तथा वनस्पतिकायो द्विविधः-परीत्तोऽनन्तकायश्च। एकैकस्य त्रयो भेदाः पिष्टं, कुक्कुसा, उत्कुट्टितश्च। पिष्टं, कुक्कुसाश्च प्रतीताः। उत्कुट्टितश्चिञ्जनकाऽऽदिः। तत्र त्रिविधैरपि सचित्तमिश्रपरीत्तवनस्पतिकायैः संसृष्टे करे मात्रके वा भिक्षां गृह्णतो वा लघुमासः। अनन्तसचित्तमिश्रवनस्पतिकायैस्त्रिविधैरपि संसृष्टे गुरुमासः, पुरः कर्मणि पश्चात्कर्मणि च केचिदाहुर्लघुमास इति, परे चत्वारो लघव इति। उक्तं च कल्पचूर्णौ-''पुरकम्मपच्छकम्मेहिं चउलहु।'' इति ॥१२९॥

सज्झायस्स अकरणे, कायस्सग्गे तहा अपडिलेहा।
पोसहियतवे य तहा, अवंदणे चेइयाणं च ॥१३०॥

स्वाध्यायस्य वाचनाऽऽदेरकरणे, सामान्यतो मासनिष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति योगः। थवेयं भावनासूत्रपौरुषीं न करोति मासलघु। द्वे सूत्रपोरुष्यावकुर्वतो द्वौ लघुमासौ। तिसृणां सूत्रपौरुषीणामकरणे त्रयो लघुमासाः। चतसृणामपि सूत्रपौरुषीणामकरणे चतुर्मासलघु। (काउस्सग्गे इति) अकरणे इति अत्राप्यनुवर्त्तते, आवश्यक इतिवत् कायोत्सर्गस्य सूत्रे सप्तमी, षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् (?) अकरणे सामान्यतो मासनिष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति सर्वत्रापि योजनीयम्। भावना त्वत्रापीयम्- आवश्यके एकं कायोत्सर्गं न करोति मासलघु। द्वौ न करोति द्विमासलघु। त्रीन् कायोत्सर्गान् न करोति त्रिमासलघु। सकलमेवाऽऽवश्यकं न करोति, प्रावरणप्रावृतो वा वन्दनकानि आवश्यके न ददाति, दोषैरुपेतानि वा ददाति प्रायश्चित्तं मासलघु। नवरं यत्र माया तत्र मासगुरु। तथा-(अपडिलेहा इति) विभक्तेरत्र लोपः प्राकृतत्वात्। अप्रत्युपेक्षायाः, अकरणे सामर्थ्यादवसीयते। तत्रोपधिर्द्विधा-औधिकः, औपग्रहिकश्च। औधिकस्त्रिधा-जघन्यो, मध्यम, उत्कृष्टश्च। तत्र जघन्यश्चतुर्द्धा। तद्यथा-मुखपोत्तिका, पात्रकेसरिका, गोच्छकः, पात्रस्थापनं च। उक्तं च-''मुहपोत्ती, पायकेसरिया, गोच्छगो, पायट्ठवणं च। एस चउव्विहो जहन्नो'' इति। मध्यमः षड्विधः, तद्यथा-पटलानि, रजस्त्राणं, पात्रबन्धः, चोलपट्टः, मात्रकं, रजोहरणं च। आह च-''पटलाइँ रयत्ताणं, पत्ताबंधो य चोलपट्टो य। मत्तग रयहरणं वि य, मज्झिमगो छव्विहो नेओ''॥१॥ उत्कृष्टश्चतुर्विधः, तद्यथा-पतद्ग्रहस्त्रयः कल्पाः। उक्तं च-'' उक्कोसो चउव्विहो, पडिग्गहो तिन्नि पच्छागा'' इति। आर्यिकाणामप्युपधिरौधिकस्त्रिविधः, तद्यथा-जघन्यो, मध्यमः, उत्कृष्टश्च। तत्र जघन्यश्चतुर्विधो मुखपोत्तिकाऽऽदिरूपः प्रागुक्तः। मध्यमस्त्रयोदशविधः। तद्यथा-पात्रबन्धः १ रजोहरणं २ पटलानि ३ रजस्त्राणं ४ मात्रकं ५ कमठकः ६ अवग्रहानन्तकं ७ पोट्टः ८ अर्द्धोरुकः ९ वलनिका १० कञ्चुकः ११ अवकक्षी १२ वैकक्षी १३।

उक्तं च-

''पत्ताबंधाईया, चउरो ते चेव पुव्वनिद्दिट्ठा।
मत्तो य कमढकं वा, तह ओग्गहऽणंतगं चेव ॥१॥
पट्टो अद्धोरु चिय, वलणिय तह कंचुगे य ओगच्छी।
वेगच्छी तेरसमा, अज्जाणं होइ नायव्वा ॥२॥''

उत्कृष्टोऽष्टविधः, तद्यथा-पतद्ग्रहस्त्रयःकल्पाः, अभ्यन्तरनिव-सनी, बहिर्निवसनी, संघाटी, स्कन्धकरणी च। ''उक्कोसो अट्ठविहो, चउरो ते चेव पुव्वदिट्ठा जे साहूणं, अन्ने य इमे चउरो अब्भितरनियंसणी, बाहिनियंसणी, संघाडी, खंधकरणी य'' इति। औपग्रहिकोऽपि साधूनामार्यिकाणां च त्रिविधः। तद्यथा-जघन्यो, मध्यमः, उत्कृष्टश्च। तत्र पीठनिषद्यादण्डकप्रमार्जनीडगलकपिप्पलकसूचीनखरदनिकाऽऽदिर्जघन्यः, मध्यमो दण्डकपञ्चकोच्चारप्रस्रवणखेलमल्लकाऽऽदिरूप आर्यिकाणामधिको वारकः, उत्कृष्टोऽक्षाः संस्तारक एकाङ्गिक इतरो वा, द्वितीयपदे पुस्तकपञ्चकं, फलकं च। ''अक्खा संथारो वा, दुविहो एगंगिओ व इयरो वा। विइयपयं पोत्थपणगं, फलगं तह होइ उक्कोसो ॥१॥'' तत्रोत्कृष्टमुपधिं यदि यथाकालं न प्रत्युपेक्षते चतुर्मासलघु, मध्यमं यदि न प्रत्युपेक्षते तदा मासगुरु। जघन्यं न प्रत्युपेक्षते पञ्चरात्रिन्दिवानि, दोषैः प्रत्युपेक्षते मासलघु। (पोसहियतवे य तहा इति) पोषं दधातीति पोषधम्- अष्टमीपाक्षिकाऽऽदि। पोषधे भवं पौष-धिकं, तच्च तत् तपश्च पौषधिकतपः, तस्मिन्, क्रियमाणे इति सामर्थ्यादिष्यते। सामान्यतो मासनिष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति योजना। तद्यथा- अष्टम्यां चतुर्थं न करोति मासलघु, पाक्षिके चतुर्थं न करोति

मासगुरु, चतुर्मासिके अष्टमाकरणे चतुर्मासलघु, सांवत्सरिके अष्टमं न करोति चतुर्मासगुरु । तथा एतेष्वेवाष्टमीपाक्षिकाऽऽदिषु चैत्यानां जिनबिम्बानां, चशब्दाद् ये अन्यस्यां वसतौ सुसाधवस्तेषामप्यवन्दने मासलघु । तथा ये चैत्यभवनस्थिता वैकालिकं कालं प्रतिक्रम्य अकृते आवश्यके प्रभाते च कृते आवश्यके यदि चैत्यानि न वन्दन्ते, तेषामपि मासलघु । उक्तं चास्यैव व्यवहारस्य चूर्णौ –''एएसु चेव अट्ठमिमादीसु चेइयाइं साहुणो साहुणी वा जहन्नाए वसहीए ठिया, ते न वंदंति मासलघु । जइ चेइयघरे ठिया वेयालिकं कालं पडिक्कंता अकए आवस्सए गोसे य कए आवस्सए चेइए न वंदंति मासलहु।'' इति।

साम्प्रतमेनामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतो 'सज्झायस्स अकरणे'' इत्येतद् व्याख्यानयति–

सुत्तत्थपोरिसीणं, अकरणे मासो उ होइ गुरुलघुगो ।
चाउक्कालं पोरिसि–उवायणं तस्स चउलहुगा ॥१३१॥

सूत्रार्थपौरुष्योः–सूत्रपौरुष्याः, अर्थपौरुष्या इत्यर्थः । अकरणे यथाक्रमं गुरुमासो, लघुमासः । अर्थपौरुषी हि प्रज्ञाऽऽदिविशिष्टसामग्र्यपेक्षा सूत्रायत्ता च । सूत्रपौरुषी त्वभिनवदीक्षितेनाऽपि जडमतिनाऽपि च यथाशक्ति अवश्यं कर्त्तव्या । सूत्राभावे सर्वस्याप्यभावादतः सूत्रपौरुष्या अकरणे मासगुरु । अर्थपौरुष्या अकरणे मासलघु । द्वयोः सूत्रपौरुष्योरकरणे द्वौ लघुमासौ । तिसृणां पौरुषीणामकरणे त्रयो लघुमासा इति सामर्थ्यात्प्रतिपत्तव्यम् । (चाउक्कालमित्यादि) चतुःकालं दिवारात्रिगतप्रथमचरमप्रहररूपेषु चतुर्षु कालेषु सूत्रपौरुषीरवपातयतो भ्रंशयतोऽकुर्वत इत्यर्थः। चतुर्षु लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः ।

सम्प्रति 'काउस्सग्गे' इति व्याख्यानयति–

जइ उस्सग्गे न कुणइ, तइमासा निसण्णए निवण्णे य ।
सव्वं चेवावस्सं, न कुणइ तहियं चउलहुं ति ॥१३२॥

आवश्यके प्रभाते वैकालिके वा यावतः कायोत्सर्गान्न करोति तावन्तो मासास्तस्य प्रायश्चित्तम् । एकं चेन्न करोति, एको लघुमासः। द्वौ न करोति द्वौ लघुमासौ । त्रीन्न करोति त्रयो लघुमासाः। तथा निषण्ण उपविष्टो, निपन्नः पतितः, सुप्त इत्यर्थः । चशब्दात् प्रावरणप्रावृतो वा यद्यावश्यकं करोति तदा सर्वत्र मासलघु । यदि पुनः सर्वमेवाऽऽवश्यकं न करोति तदा चतुर्लघु–चत्वारो लघुमासाः प्रायश्चित्तम् ।

अधुना ''अपडिलेहाइ त्ति'' व्याचष्टे–

चाउम्मासुक्कोसे, मासे मज्झे य पंच उ जहन्ने ।
उवहिस्स अपेहाए, एसा खलु होइ आरुवणा ॥१३३॥

उत्कृष्टे उत्कृष्टस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य उपधेरप्रेक्षायामप्रत्युपेक्षयां चत्वारो लघुमासाः । मध्ये मध्यमस्योपधेरप्रत्युपेक्षायां लघुमासः। जघन्ये जघन्यस्य पञ्चरात्रिन्दिवानि । एषा खलु भवति आरोपणा प्रायश्चित्तं प्रत्युपेक्षायामिति ।

संप्रति ''पोसहियतवे य'' इति व्याख्यानयति–

चउछट्ठऽट्ठमकरणे, अट्ठमिपक्खचउमासवरिसे य ।
लहुगुरु लहुगा गुरुगा, अवंदणे चेइ–साहूणं ॥१३४॥

अत्र यथासंख्येन पदयोजना । सा चैवम्– अष्टम्यां चतुर्थस्याऽकरणे मासलघु । पक्षे पाक्षिके चतुर्थस्याऽकरणे मासगुरु । चतुर्मासे अष्टमस्याऽकरणे चत्वारो लघुमासा : । सांवत्सरिके षष्ठस्याऽकरणे चत्वारो गुरुमासाः । तथा एतेषु चाऽष्टम्यादिषु दिवसेषु चैत्यानाम्, अन्यवसतिगतस्तु साधूनां वाऽवन्दने प्रत्येकं मासलघु ।

सम्प्रति लाघवार्थमत्रैव छेदार्हं प्रायश्चित्तमाह–

एतेसु तिठाणेसुं, भिक्खू जो वट्टए पमाएण ।
सो मासियं ति लग्गइ, उग्घायं वा अणुग्घायं ॥१३५॥

एतेष्वनन्तरोदितेषु स्थानेषु (ति त्ति) त्रीन् वारान् यो भिक्षु प्रमादेन वर्त्तते, प्रमादेनैषां स्थानानामन्यतरत् त्रीन् वारान् अतिचरति, स मासिकं सामान्यतो मासनिष्पन्नं छेदमुद्घातं लघु, अनुद्घातं गुरुकं लगति प्राप्नोति। यत्र यावन्तो मासा लघवो गुरवो वा तपः प्रायश्चित्तं, तत्र तावन्तो मासा लघवो गुरवो वा छेद इति यावत् ।

सम्प्रति शेषाणि यानि चातुर्मासिकानि षाण्मासिकानि वा प्रायश्चित्तानि, ये वा भणिताः छेदाः, यानि च मूला–नवस्थितपाराञ्चितानि, तदेतत्सर्वमेकगाथया विवक्षुराह–

छक्कायें चउसु लहुगा, परित्त लहुगा य गुरुग साहारे ।
संघट्टाणपरितावण, लहुगुरुगऽतिवायणे मूलं ॥१३६॥

षट्कायाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायरूपाः । तेषां मध्ये चतुर्षु पृथिव्यप्तेजोवायुरूपेषु संघट्टनाऽऽदिभिर्लघुकाः प्रायश्चित्तं, परीत्ते प्रत्येकवनस्पतिकायेऽपि च लघुकाः, साधारे अनन्तवनस्पतिकायिके संघट्टनाऽऽदिषु गुरुकाः । तथा द्वीन्द्रियाऽऽदीनां संघट्टने परितापने च यथायोगं लघुका गुरुकाश्च प्रायश्चित्तम् । अतिपातने विनाशे मूलम् । इयमत्र भावना–पृथिवीकायं संघट्टयति मासलघु, परितापयति मासगुरु, अपद्रावयति जीविताद् व्यपरोपयतीत्यर्थः; चतुर्लघु । एवमप्काये तेजस्काये वायुकाये प्रत्येक–वनस्पतिकाये च द्रष्टव्यम् । उक्तं च– ''छक्कायाऽऽदिम चउसु, तह य परित्तम्मि होति वणकाए । लहु गुरु मासो चउलहु, संघट्टणपरितावणुद्दवणे ॥१॥'' एतत्प्रायश्चित्तमेकैकस्मिन् दिवसे संघट्टनाऽऽदिकरणे; यदि पुनर्द्वौ द्वौ दिवसौ पृथिव्यादीन् संघट्टयति तदा मासगुरु, परितापयति चतुर्लघु, जीविताद् व्यपरोपयति चतुर्गुरुकं, त्रीन् दिवसान् निरन्तरं पृथिव्यादि संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, अपद्रावयति षड्लघु, निरन्तरं परितापने षड्लघु, अपद्रावणे षड् गुरु, पञ्चदिवसान्निरन्तरं पृथिव्यादीनां संघट्टने षड् लघु, परितापने षड् गुरु, अपद्रावणे मासिकछेदः । षड् दिवसान्निरन्तरं संघट्टने षड् गुरु, परितापने मासिकच्छेदः, अपद्रावणे चतुर्मासिकच्छेदः । सप्तदिवसान्निरन्तरं पृथिव्यादीनां संघट्टने मासिकच्छेदः । अपद्रावणे षाण्मासिकः। अष्टौ दिवसान्निरन्तरं पृथिव्यादीनां संघट्टने चातुर्मासिकच्छेदः। परितापने षाण्मासिकः। अपद्रावणे मूलम् । उक्तं च– ''दोहिं दिवसेहिं मासगुरुए आढवेत्ता चउ–गुरुए ठाति०जाव अट्ठहिं संघट्टयति।'' अनन्तवनस्पतिकायिकं संघट्टयति मासगुरु । परितापयति चतुर्गुरु । अपद्रावयति चतुर्गुरु । द्विदिवसाऽऽदिनिरन्तरसंघट्टनाऽऽदिषूत्तरोत्तरैकैकस्थाने वृद्धिः, ततः सप्तभिर्दिवसैर्मूलम् । द्वीन्द्रियं संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, अ–

पद्रावयति षड्लघु। अत्र द्व्यादिदिवसं निरन्तरं संघट्टनाऽऽदिषु षड्-भिर्दिवसैर्मूलम्। त्रीन्द्रियं संघट्टयति चतुर्गुरु, परितापयति षड्लघु, अपद्रावयति षड्गुरु। अत्र पञ्चभिर्दिवसैर्मूलम्। चतुरिन्द्रियं संघट्टयति षड्लघु, परितापयतः षड्गुरु, अपद्रावयतो मासिकच्छेदः। अत्र चतुर्भिर्दिवसैर्मूलम्। चतुरिन्द्रियं संघट्टयति षड्लघु, परितापयतः षड्गुरु, अपद्रावयतो मासिकच्छेदः। अत्र चतुर्भिर्दिवसैर्मूलम्। पञ्चेन्द्रियं संघट्टयतः षड्गुरु, परितापयतश्छेदः, अपद्रावयतो मूलम्। अत्र द्वयोर्दिवसयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु दिवसेषु पाराञ्चितमिति। व्य०१उ०।

तपोऽर्हमभिधीयते–

निव्वीए पुरिमड्ढे–गभत्तमायंबिलं चऽणागाढे।
पुरिमाई खमणंतं, आगाढे एवमत्थे वि ॥२३॥

इह तपोऽर्हप्रायश्चित्ते ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याऽऽचारपञ्चकशतातिचारचक्रमालोच्यम्, तत्राऽऽद्यो ज्ञानाऽऽचारस्यातिचारे ज्ञानाचाराऽतिचारः, सोऽष्टविधः। तद्यथा–अकाले स्वाध्यायकरणं कालातिचारः१ श्रुतमधिजिज्ञासोर्जातिमदावलेपेन गुरुषु, विनयो वन्दनाऽऽदिरुपचारः, तस्याप्रयोजनं, हीनं वा विनयातिचारः२। श्रुते गुरौ वा बहुमानो हार्दः प्रतिबन्धविशेषः, तस्याऽकरणं बहुमानातिचारः३ उपधानमाचामाम्लाऽऽदितपसा योगविधानं, तस्याकरणमुपधानातिचारः ४। यत्पार्श्वे-श्रुतमधीतं तं निह्नुतेऽपलपति अन्यं वा युगप्रधानमात्मनोऽध्यापकं निर्दिशति, स्वयं वाऽधीतमित्याचष्टे, एष निह्नवनाभिधानातिचारः ५। व्यज्यते अर्थोऽनेनेति व्यञ्जनमागमसूत्रं, तन्मात्राक्षरबिन्दुभिरूनमतिरिक्तं वा करोति, संस्कृतं वा विधत्ते, पर्यायैर्वा विदधाति। यथा–''धम्मो मंगलमुक्किट्ठं'' इत्यादिस्थाने–''पुन्नं कल्लाणमुक्कोसं, दया संवरनिज्जरेति'' व्यञ्जनातिचारः६। आगमपदार्थस्यान्यथापरिकल्पनमर्थातिचारः। यथा आचारसूत्रेऽवन्त्यध्ययनमध्ये ''आवंती केआ लोगंसि विप्परामुसंतीति।'' यावन्तः केचित् लोकेऽस्मिन् पाषण्डिलोके विपरामृशन्तीति प्रस्तुतेऽर्थेऽन्योऽर्थःपरिकल्प्यते–''आवंति होइ देसो, तत्थ उ अरहट्टकूवजा केया। घटिमासपडिहि–याहिं, तं लोगो विप्परामुसइ।'' ७। यत्र च सूत्रार्थौ द्वावपि विनश्येते, स तदुभयातिचारो यथा–

''धम्मो मंगलमुक्किट्ठो, अहिंसा गिरिमत्थए।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मती ॥१॥
आहागडेसु रंधंति, कट्ठेसु रहकारओ।
रत्तो भत्तंसिणो जत्थ, गद्दभो जत्थ दीसइ ॥२॥''

अयं च महीयानतिचारो, यतः सूत्रार्थोभयनाशे मोक्षाभावः, तदभावे दीक्षावैयर्थ्यमिति। एष चाष्टविधोऽपि ज्ञानाचारातिचारो द्विधा–ओघतो, विभागतश्च। तत्र विभागत उद्देशकाध्ययनश्रुतस्कन्धाङ्गेषु विषये प्रमादिनः प्रमादपरस्य कालातिक्रमणाऽऽदिष्वष्टसु ज्ञानाऽऽचारातिचारेषु जातेषु क्रमशः क्रमेण तपो निर्विकृतिकं, पुरिमार्द्धैकभक्तं आचाम्लं च, अनागाढे दशवैकालिकाऽऽदिके श्रुते उद्देशकातिचारे, अकालपाठाऽऽदिके निर्विकृतिकम्, अध्ययनातिचारे पुरिमार्द्धम्, श्रुतस्कन्धातिचारे एकभक्तम्, अङ्गातिचारे आचामाम्लमित्यर्थः। आगाढे तूत्तराध्ययनभगवत्यादिके श्रुते, एतेष्वतिचारस्थानेषु पुरिमार्द्धाऽऽदि क्षपणान्तमेव तपो भवति, एतद्विभागतः प्रायश्चित्तमुक्तम्। जीत०। (एतच्च 'अइयार' शब्दे प्रथमभागे ८ पृष्ठेऽपि व्याख्यातम्)

छेयाइमसद्दहओ, मिउणो परियायगव्वियस्सऽवि य।
छेयाइयाण वि तवो, जीएण गणाहिवइणो य ॥५६॥

यच्छेदं न श्रद्दधाति, भणति च व्रतपर्याये दिनपञ्चकाऽऽदौ छिन्ने किं मदीयं छिन्नं, सम्पूर्णकर्णनासिकाऽऽद्यवयव एव तावदहमस्मि, तस्य च्छेदाऽऽद्यश्रद्धानपरस्य (मिउणो त्ति) यश्छिद्यमाने व्रतपर्याये न संतप्यते, यथा–कष्टं मम पर्यायश्छिन्न इति। यद्वा–अन्येषां लघूनामप्यहमतिलघीयान् जात इति तस्य मृदोः, यश्च पर्यायगर्वितो दीर्घपर्यायत्वात् छिन्नेऽपि पर्याये अन्येभ्योऽम्बधिकपर्याय एव; न न्यूने पर्याये, न च पर्यायच्छेदाद् बिभेति, तस्य पर्यायगर्वितस्य। अपि चेति समुच्चये। एतेषामुद्दिष्टानां छेदमापन्ना–नामपि, आदिशब्दान्मूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकान्यथोपपन्नानां, तथा गणाधिपतेराचार्यस्य, चशब्दात्कुलगणसंघाधिपानां च, जीतेन जीतव्यवहारमतेन, तप एव दीयते। अत्राऽऽह–दीयतां नाम छेदद्मऽऽद्यश्रद्धालुप्रभृतीनां छेदाऽऽद्यापत्तावपि तपः, आचार्याऽऽदीनां तु कथमिति? अत्रोच्यते–अनेकविधाः शिष्याः परिणामकापरिणामकाः, अतिपरिणामकाः, शैक्षा उच्छृङ्खला श्रोत्रेति। तत्रोत्सर्गे उत्सर्गापवादे चापवादं यथा भणितं ये श्रद्दधत्याचरन्ति च ते परिणामकाः, ये पुनरुत्सर्गमेव श्रद्दधत्याचरन्ति, अपवादं तु न श्रद्दधति, नाचरन्ति वा, तेऽपरिणामकाः, ये चापवादमाचरन्ति नोत्सर्गं, तेऽतिपरिणामकाः, शैक्षा नवदीक्षिताः, उच्छृङ्खला उल्लुण्ठाः, एषामपरिणामिकाऽऽदीनामिमे मा निन्दनीया लाघवभाजोऽभूवन्नित्याचार्याऽऽदीनामपि त एव दीयन्ते, न छेदाऽऽदय इति। जीत०। ('जीयववहार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५१३ पृष्ठे, 'तपोरिह' शब्दे २१८५ पृष्ठे चावशिष्टं द्रष्टव्यम्)

तविय त्रि०(तप्त) ''शर्षतप्तवर्ज्ञे वा'' ॥८।२।१०५॥ इति तप्तस्य संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारः। प्रा०२ पाद। उष्णे, स्था० ८ ठा०। ''आइच्चतेयसा तविया खणलबदिवसाओ परिणमंति।'' स्था०५ ठा०३उ०।

तवोकम्म न०(तपःकर्म) तस्यैवाऽष्टप्रकारस्य कर्मणो बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थस्याऽपि निर्जराहेतुभूतं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वादशप्रकारं तपःकर्मोच्यते। आचा०१ श्रु०२ अ० १उ०। निर्विकृतिकाऽऽदिनि (स्था० २ ठा०१उ०। स०। औ०) महालयाऽऽदिनि (अन्त०८वर्ग०३अ०) तपःक्रियायाम्, स्था०४ ठा०३उ०।

तवोकम्मगंडिया स्त्री०(तपःकर्मगण्डिका) तपः कर्मवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतायां ग्रन्थपद्धतौ, स०।

तवोगुणपहाण त्रि०(तपोगुणप्रधान) षष्ठाष्टमाऽऽदितपोधनवति, दश०४ अ०।

तवोमग्गगइ स्त्री०(तपोमार्गगति) उत्तराध्ययनानां त्रिंशत्तमेऽध्ययने, उत्त० २९ अ०। स०।

दुविहतवोमग्गई, वन्निज्जइ जम्ह एत्थ अज्झयणे।
तम्हा एयऽज्झयणं, तवमग्गइ त्ति नायव्वं ॥४६॥

द्विविधं तपो बाह्यमाभ्यन्तरं च, तदेव मार्गो भावमार्गः, तत्फलभूता च गतिः सिद्धिगतिः द्विविधतपोमार्गगतिर्भण्यते यस्मादत्राध्ययने तस्मादेतदध्ययनं तपोमार्गगतिरिति ज्ञातव्यम्, अभिधानोपचारादिति भावः। उत्त० पाई० ३० अ०।

तवोमय पुं०(तपोमद) अहमेव विकृष्टतपोविधायी नापि तपसा ग्लानिमुपगच्छामीत्येवंरूपे मदे, सूत्र०१ श्रु० १३ अ०। ''पन्नामयं चेय तवोमयं च, णिन्नामए गोयमयं च भिक्खू।'' सूत्र० १ श्रु० १३अ०।

तवोवहाण न०(तपउपधान) विशिष्टतपोविशेषे, सूत्र०१ श्रु० ६ अ०। तपःकर्मणि, ''दाणं तवोवहाणं, सरीरसक्कारमो जहा–सत्तिं।'' पञ्चा०६ विव०। अनियन्त्रिते तपसि, श्रुतोपचारतपसि च। स० ६ अङ्ग।

तवोवहाणादिय त्रि०(तपउपधानादिक) तपःकर्मशरीरसत् कार–प्रभृतिकाऽऽदौ, ''कयमत्थ पसंगेणं, तवोवहाणादिया विणियसमए। अणुरूवं कायव्वा, जिणाण कल्लाणदियहेसु।'' ॥२६॥ पञ्चा० ६ विव०।

तवोसमायारिसमाहिसंवुड पुं०(तपःसामाचारिसमाधिसंवृत) तपसोऽनशनाऽऽद्यात्मकस्य सामाचारी समाचरणम्। यद्वा–तपश्च सामाचारी च तत्कृतो वक्ष्यमाणस्वरूपः समाधिश्च चेतसः स्वास्थ्यं, तैः संवृतो निरुद्धाऽऽश्रवः तपः सामाचारिसमाधिसंवृतः। यद्वा–तपःसामाचारिसमाधिभिः संवृतं संवरणं यस्य स तथा। तपसः समाचरणेन समाधिना च निरुद्धाऽऽश्रवे, उत्त० १उ०।

तव्वइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया स्त्री०(तद्व्यतिरिक्तमिथ्यादर्शन–प्रत्यया) तस्मात् ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्शनाद्व्यतिरिक्तं मिथ्यादर्शनं नास्त्येवाऽऽत्मेत्यादिमतरूपं प्रत्ययो यस्याः सा तथा, तस्याम्, स्था०२ ठा०१उ०।

तव्वत्थुय पुं०(तद्वस्तुक) तदेव परोपन्यस्तसाधनं वस्त्विति उत्तर–भूतं वस्तु यस्मिन् उपन्यासोपनये स तद्वस्तुकः। अथवा–तदेव परोपन्यस्तं वस्तु तद्वस्तु, तदेव तद्वस्तुकं, तद्युक्त उपन्यासोपनयोऽपि तद्वस्तुकः। उपन्यासभेदे, स्था०। यथा कश्चिदाह–समुद्रतटे महान् वृक्षोऽस्ति, तच्छाखा जलस्थलयोरुपरि स्थिता, तत्पत्राणि च यानि जले निपतन्ति तानि जलचरा जीवा भवन्ति; यानि च स्थले तानि स्थलचरा इति। अन्यस्तदुपन्यस्तमेव तरुपत्रपतनवस्तु गृहीत्वा तदुक्तं विघटयति–यदुत यानि पुनर्मध्ये, तेषां का वार्तेत्येतदुपपत्तिमात्रमुत्तरभूतं तद्वस्तुक उपन्यासोपनयः, ज्ञातत्वं चास्य ज्ञाननिमित्तत्वात्। अथवा–यथारूढमेव ज्ञातमेतत्। तथा ह्येवं प्रयोगोऽस्यजलस्थलपतितपत्राणि न जलचराऽऽदिसत्त्वाः संभवन्ति, जलस्थलमध्यपतितपत्रवत्। तन्मध्यपतितपत्राणां हि जलस्थलपतितपत्रजलचरत्वाऽऽदिप्राप्तिवदुभयरूपप्रसङ्गः, न चोभयरूपाः सत्त्वा अभ्युपगता इति। अथवा–नित्यो जीवोऽमूर्तत्वादाकाशवदित्युक्ते आह–अनित्य एवास्तु मूर्तत्वात्कर्मवदिति। स्था० ४ ठा०३उ०।

तव्वत्थूवण्णास पुं०(तद्वस्तूपन्यास) उपन्यासभेदे, दश०१ अ०।

तव्वत्थुयम्मि पुरिसो, सव्वं भमिऊण साहइ अपुव्वं। (८४)

तद्वस्तुके, तद्वस्तूपन्यासे इत्यर्थः। पुरि शयनात् पुरुषः। सर्वं भ्रान्त्वा सर्वमाहिण्ड्य, किम्? कथयति, अपूर्वं, वर्तमाननिर्देशः पूर्ववदिति गाथादलार्थः। भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्– ''एगम्मि देवकुले कप्पमिया मिलिता भणंति–केण भे भमंतेहिं किंचि अच्छेरियं दिट्ठं ? तत्थ एगो कप्पडिगो भणइ–मए दिट्ठं ति। जइ पुण एत्थ समणोवासओ नऽत्थि, तो साहेमि। तओ सेसेहिं भणियंणत्थिऽत्थ समणोवासओ। पच्छा सो भणति– मए हिंमंतेणं पुव्ववेतालीए समुद्दस्स तमे रुक्खो महतिमहंतो दिट्ठो। तस्सेगा साहा समुद्दे पइट्ठिया, एगा य थले। तत्थ जाणि पत्ताणि जले पडंति, ताणि जलचराणि सत्ताणि हवंति, जाणि थले, ताणि थलचराणि हवंति। ते कप्पडिया भणंति–अहो ! अच्छेरियं देवेण भट्टारएण णिम्मियं ति। तत्थेगो सावगो कप्पडिओ। सो भणति– जाणि अद्धमज्झे पडंति, ताणि किं हवंति? ताहे सो खुद्दो भणतिमया पुव्वं चेव भणितं। जइ सावओ नऽत्थि तो कहेमि। एतेणं तं चेव पडणवत्थुमहिकिच्चोदाहरियं।'' एवं तावल्लोकिकमिदं चोक्त–न्यायाल्लोकोत्तरस्यापि सूचकम्। तत्र चरणकरणानुयोगे यः कश्चिद्विनेयः कञ्चनासद्ग्राहं गृहीत्वा न सम्यग्वर्त्तते, स खलु तद्वस्तूपन्यासेनैव प्रज्ञापनीयः। यथा कश्चिदाह–''न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥१॥'' इदं च किलैवमेव प्रयुज्यते, प्रवृत्तिमन्तरेण निवृत्तेः फलाभावान्निर्विषयत्वेनासंभवाच्च, तस्मात्फलनिबन्धननिवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रवृत्तिरप्यदुष्टेवेति। अत्रोच्यते– इह निवृत्तेर्महाफलत्वं किं दुष्टप्रवृत्तिपरिहाराऽऽत्मकत्वेन, आहोस्विद्–दुष्टप्रवृत्तिपरिहाराऽऽत्मकत्वेनेति? यद्याद्यः पक्षः– कथं प्रवृत्तेरदुष्टत्वम्? अथापरस्ततो निवृत्तेरप्यदुष्टत्वात्तन्निवृत्तेरपि प्रवृत्तिरूपाया महाफलत्व–प्रसङ्गः, तथा च मति पूर्वापरविरोध इति भावना। द्रव्यानुयोगे तु य एवमाह–एकान्तनित्यो जीवः, अमूर्त्तत्वादाकाशवदिति। स खलु तदेवामूर्तत्वमाश्रित्य तस्योत्क्षेपणाऽऽदावनित्ये कर्मण्यपि तावद्वक्तव्यः। कर्मामूर्त्तमनित्यं चेत्ययं वृद्धदर्शनेनोदाहरणदोष एव, यथाऽन्येषां साधर्म्यसमा जातिरिति। दश० १अ०।

तव्वयण न०(तद्वचन) तस्य विवक्षितार्थस्य घटाऽऽदेर्वचनं भणनं तद्वचनं, घटार्थापेक्षया घटवचनवत्। वचनभेदे, स्था० ३ठा० ३उ०।

तस पुं०(त्रस) त्रसन्ति उष्णाऽऽद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितात्स्था–नादुद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाऽऽद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः, अनया च व्युत्पत्त्या त्रसास्त्रसनामकर्मोदयवर्तिन एव परिगृह्यन्ते, न शेषाः। अथ च शेषैरपीह प्रयोजनं, तत एवं व्युत्पत्तिः– त्रसन्ति अभिसन्धिपूर्वक–मनभिसन्धिपूर्वकं वा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु चलन्तीति त्रसाः। तेजोवायुषु, द्वीन्द्रियाऽऽदिषु च। जी०१ प्रति०। त्रसन्तीति त्रसाः। द्वीन्द्रियाऽऽदिषु, सूत्र०२ श्रु०१ अ०। जं०। सू०प्र०। स्था०। पं०सं०। आचा०। आव०। स०। द्वीन्द्रियाऽऽदिकृम्यादिषु, आचा०१ श्रु० ६अ०१उ०। द्वित्रिचतुः–पञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्नेषु, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०। त्रसनाम–कर्मोदयतस्त्रस्यन्तीति त्रसाः। द्वीन्द्रियाऽऽदिषु, स्था०२ ठा०१ उ०। सूत्र०। तेजोवायुद्वीन्द्रियाऽऽदिषु, नि०चू०१२ उ०। सूत्र०। द्वित्रिचतुः–पञ्चेन्द्रियेषु, सूत्र०१ श्रु०११ अ०। त्रस्यन्ति तापाऽऽद्युपतप्तास्तच्छाया–ऽऽदिकं प्रत्यभिसर्पन्तीति त्रसाः। द्वीन्द्रियाऽऽदिषु, उत्त०५ अ०। कुन्थ्वादिषु, पा०। दर्दुरप्रभृतिषु, सूत्र०२श्रु० ३अ०। त्रससंभारकृतेन कर्मणा समुत्पन्नाः सन्तः सामान्यसंज्ञया प्राणा अप्युच्यन्ते, तथा विशेषतः 'त्रस' भयचलनयोरिति धात्वर्थानुगमाद्, भयचलनाभ्यामुपेतेषु, सूत्र०२ श्रु०

७ अ०। त्रस्यन्तीति त्रसाः तेजोवायुरूपा विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात्त्रिधा। सूत्र०१ श्रु० ६अ०।

तिविहा तसा पण्णत्ता। तं जहा–तेउकाइया, वाउकाइया, उराला तसा पाणा।

त्रस्यन्तीति त्रसाः संचलनधर्माणः,तत्र तेजोवायवो गतियोमात्त्रसाः उदाराः स्थूलास्त्रसा इति त्रसनामकर्मोदयवर्त्तित्वात् प्राणा इति व्यक्तोच्छ्वासाऽऽदिप्राणयोगाद् द्वीन्द्रियाऽऽदयस्तेऽपि गतियोगात् त्रसा इति। स्था०३ ठा०२ उ०।

सम्प्रति औदारिकत्रासानाह–

से किं तं उराला तसा पाणा? उराला तसा पाणा चउव्विहा पन्नत्ता। तं जहा–वेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया।

(से किं तमित्यादि) अथ के ते औदारिकास्त्रसाः? सूरिराह–औदारिकास्त्रसाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः। तथा द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः। चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः। तत्र द्वे स्पर्शरसनरूपे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः। त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः। चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः। पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः। जी०१ प्रति०।

इदानीं त्रसाधिकारे एतदाह–

से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा। तं जहा–अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेइमा, संमुच्छिमा, उब्भिया, उववाइया॥

(से जे पुण इमे इति) 'से' शब्दोऽथशब्दार्थः। असावप्युपन्यासार्थः। ''अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु'' इति वचनात्। अथ ये पुनरमी बालाऽऽदीनामपि प्रसिद्धाः, अनेके द्वीन्द्रियाऽऽदिभेदेन बहव एकैकस्यां जातौ त्रसाः प्राणिनः–त्रस्यन्तीति त्रसाः प्राणा उच्छ्वासाऽऽदय एषां विद्यन्त इति। तद्यथा–(अंडया इत्यादि) एष खलु षष्ठो जीवनिकायः त्रसकायः प्रोच्यत इति योगः। तत्राण्डाज्जाता अण्डजाः; पक्षिगृहकोकिलाऽऽदयः। पोता एव जायन्त इति पोतजाः। ''अन्येष्वपि दृश्यते''॥३।२। १०१। इति डप्रत्ययो जनेरिति वचनात्; ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलूकाप्रभृतयः। जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजाः। गोमहिष्यजाऽविकमनुष्याऽऽदयः। अत्रापि पूर्ववड्डप्रत्ययः। रसाज्जाता रसजा; तक्राऽऽरनालदधितीमनाऽऽदिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति। संस्वेदाज्जाता इति संस्वेदजाः मत्कुणयूकाशतपादिकाऽऽदयः संमूर्च्छनाज्जाताः संमूर्च्छनजाः, शलभपिपीलिकामक्षिकाशालूकाऽऽदयः। उद्भेदाज्जन्म येषां ते उद्भेदाः। अथवा–उद्भेदनमुद्भित्, उद्भिज्जन्म येषां ते उद्भिज्जाः; पतङ्गखञ्जरीटपारिप्लवाऽऽदयः। उपपाताज्जाता उपपातजाः। अथवा–उपपाते भवा औपपातिकाः; देवा नारकाश्च।

एतेषामेव लक्षणमाह–

जेसिं केसिं चि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइविण्णाया॥

येषां केषाञ्चित्सामान्येनैव प्राणिनां जीवानामभिक्रान्तं भवतीति वाक्यशेषः। अभिक्रमणमभिक्रान्तं, भावे निष्ठाप्रत्ययः। प्रज्ञापकं प्रत्यभिमुखं क्रमणमित्यर्थः। एवं प्रतिक्रमणं प्रतिक्रान्तं, प्रज्ञापकात्प्रतीपं क्रमणमिति भावः। संकोचनं संकुचितं, गात्रसंकोचकरणम्। प्रसारणं प्रसारितं, गात्रविततकरणम्। रवणं रुत, शब्दकरणम्। भ्रमणं भ्रान्तम्, इतश्चेतश्च गमनम्। त्रसनं त्रस्तं, दुःखादुद्वेजनम्। पलायनं पलायितं, कुतश्चिन्नाशनम्। तथा आगतेः कुतश्चित् क्वचित्, गतेश्च कुतश्चित्क्वचिदेव च, (विण्णाया इति) विज्ञातारः। आह–अभिक्रान्तप्रतिक्रान्ताभ्यां नाऽऽगतिगत्योः क्वचिद्भेद इति। किमर्थं भेदेनाभिधानम्? उच्यते–विज्ञानविशेषख्यापनार्थम्। एतदुक्तं भवति–य एव विजानन्ति, यथा–वयमभिक्रमामः, प्रतिक्रमामो वा, त एव त्रसाः; न तु वृत्तिं प्रत्यभिक्रमणवन्तोऽपि वल्ल्यादय इति। आह–एवमपि द्वीन्द्रियाऽऽदीनामक्रसत्त्वप्रसङ्गः, अभिक्रमणप्रतिक्रमणभावेऽप्येवं विज्ञानाभावात्। नैतदेवम्। हेतुसंज्ञाया अवगतेर्बुद्धिपूर्वकमिव छायात उष्णमुष्णाद्वा छायां प्रति तेषामभिक्रमणाऽऽदिभावात्। न चैवं वल्ल्यादीनामभिक्रमणाद्योघसंज्ञायाः प्रवृत्तेरिति कृते प्रसङ्गेन।

अधिकृतत्रसभेदानाह–

जे य कीडपअंगा, जा य कुंथुपिपीलिया, सव्वे वेइंदिया, सव्वे तेइंदिया, सव्वे चउरिंदिया, सव्वे पंचिंदिया, सव्वे तिरिक्खजोणिया, सव्वे नेरइया, सव्वे मणुया, सव्वे देवा, सव्वे पाणा परमहम्मिया।

(जे य इत्यादि) ये च कीटपतङ्गा इत्यत्र कीटाः कृमयः, ''एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्'' इति द्वीन्द्रियाः शङ्खाऽऽदयोऽपि गृह्यन्ते। पतङ्गाः शलभाः। अत्राऽपि पूर्ववचतुरिन्द्रिया भ्रमराऽऽदयोऽपि गृह्यन्त इति। तथा याश्च कुन्थुपिपीलिका इति; अनेन त्रीन्द्रियाः सर्व एव गृह्यन्ते। अत एवाऽऽह–सर्वे द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः, सर्वे त्रीन्द्रियाः कुन्थ्वादयः, सर्वे चतुरिन्द्रियाः पतङ्गाऽऽदयः। आह– ये च कीटपतङ्गा इत्यादावुद्देशव्यत्ययः किमर्थम्? उच्यते–विचित्रा सूत्रगतिः, अतन्त्रः क्रम इति ज्ञापनार्थम्। सर्वे पञ्चेन्द्रियाः सामान्यतः। विशेषतः पुनः सर्वे तिर्यग्योनयो गवादयः; सर्वे नारका रत्नप्रभानारकाऽऽदिभेदभिन्नाः; सर्वे मनुजाः कर्मभूमिजाऽऽदयः; सर्वे देवा भवनवास्यादयः। सर्वशब्दश्चात्र परिशेषभेदानां त्रसत्वख्यापनार्थः। सर्व एवैते त्रसाः; न त्वेकेन्द्रिया इव त्रसाः, स्थावराश्च इति। उक्तं च– ''पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः, तेजोवायुद्वीन्द्रियाऽऽदयश्च त्रसाः।'' इति। सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इति। सर्वे एते प्राणिनो द्वीन्द्रियाऽऽदयः पृथिव्यादयश्च परमधर्माण इति। अत्र परमं सुखं तद्धर्माणःसुखधर्माणः, सुखाभिलाषिण इत्यर्थः। यतश्चैवमित्यतो दुःखोत्पादपरिजिहीर्षया एतेषां षण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारंभेतेति योगः।

षष्ठं जीवनिकायं निगमयन्नाह–

एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाओ त्ति पवुच्चइ।

एष खल्वनन्तरोदितः कीटाऽऽदिः षष्ठो जीवनिकायः, पृथिव्यादिपञ्चकापेक्षया षष्ठत्वमस्य। त्रसकाय इति प्रोच्यते-प्रकर्षेणोच्यते, सर्वैरेव तीर्थकरगणधरैरिति प्रयोगार्थः। प्रयोगश्चविद्यमानकर्तृकमिदं शरीरम्, आदिमत्प्रतिनियताऽऽकारत्वात्,

घटवत् । आह–इदं त्रसकायनिगमनमनभिधायास्थाने सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इत्यनन्तरसूत्रसंबन्धिसूत्राभिधानं किमर्थम्? उच्यते–निगमनसूत्रव्यवधानवदर्थान्तरेण व्यवधानख्यापनार्थम् । तथाहि–त्रसकायनिगमनसूत्रावसानो जीवाभिगमः, अत्रान्तरेऽजीवाभिगमाधिकारः, तदर्थमभिधाय चारित्रधर्मोवक्तव्यः । दश० ४अ०।

***त्रस** धा० । गतौ, ग्रहे, निषेधे च । चुरा०–उभ०–सक०–सेट् । त्रसयति । त्रसयते । अतित्रसत् । वाच० । भये, भ्वादि०–फणा०– पर०–अक०–सेट् । वाच० । **"त्रसेर्डर–वोज्ञ–वज्ञाः"** ॥८।४।१६८॥ त्रसेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । 'उरइ,' 'वोज्ञइ,' 'वज्ञइ' । पक्षे– 'तसइ' । प्रा० ४ पाद ।

तसकाइय पुं०(त्रसकायिक) त्रसनशीलास्त्रसाः, त्रसाः कायाः शरीराणि येषां ते त्रसकायाः, त्रसकाया एव त्रसकायिकाः । दश०४ अ० । जङ्गमप्राणिनि, स०३ सम० ।

तसकाय पुं०(त्रसकाय) त्रसनामकर्मोदयात्त्रस्यन्तीति त्रसाः, तेषां कायो राशिस्त्रसकायः । स्था०२ ठा०१ उ० । त्रसनशीलास्त्रसाः, त्रसाः कायाः शरीराणि येषां ते त्रसकायाः । जङ्गमजीवभेदे, स० १० सम० । ''तसकाए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–भवसिद्धिए चेव, अभवसिद्धिए चेव ।'' स्था०२ ठा०१ उ० । (व्याख्या स्वस्वस्थाने)

अथ त्रसकायोद्देशमाह–

तसकाए दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्तओ विहाणे, परिमाणुवभोगसत्थे य ॥५१॥

त्रसन्तीति त्रसाः, तेषां कायः, तस्मिन्, तान्येव द्वाराणि भवन्ति, यानि पृथिव्याः प्रतिपादितानि । नानात्वं विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रद्वारेषु, चशब्दाल्लक्षणे च प्रतिपत्तव्यमिति ।

तत्र विधानद्वारमाह–

दुविहा खलु तसजीवा, लद्धितसा चेव गतितसा चेव ।
लद्धी य तेउवाऊ, तेणऽहिगारो इहं नत्थि ॥५२॥

(दुविहेत्यादि) द्विविधा द्विभेदाः, खलुरवधारणे, त्रसत्वं प्रति द्विभेदत्वमेवत्रसनात् स्पन्दनात् त्रसाः, जीवनात् प्राणधारणाज्जीवाः । त्रसा एव जीवास्त्रसजीवाः–लब्धित्रसाः, गतित्रसाश्च । लब्धी तेजोवायू त्रसौ, लब्धिस्तच्छक्तिधात्रम् । लब्धित्रसाभ्यामिहाधिकारो नास्ति, तेजसोऽभिहितत्वाद्, वायोश्चाभिधास्यमानत्वात्, अतः सामर्थ्याद् गतित्रसा एवाधिक्रियन्ते ।

के पुनस्ते कियद्भेदा इत्याह–

नेरइयतिरियमणुया, सुरा गइतसा चउव्विहा एए ।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता, नेरइयाई उ नायव्वा ॥५३॥

(नेरइयेत्यादि) नारकाः–रत्नशर्कराऽऽदिमहातमःपृथ्वीपर्यन्तनरकालासिनः सप्तभेदाः, तिर्यञ्चोऽपि–द्वित्रिचतुः पञ्चेन्द्रियाः, मनुष्याः–संमूर्छनजाः, गर्भव्युत्क्रान्तयश्च; सुराः–भवनपतिव्यन्त–रज्योतिष्क–वैमानिकाः, एते गतित्रसाश्चतुर्विधाः, नामकर्मोदयाभिनिर्वृत्तगतिलाभाद्गतित्रसत्वम् । एते च नारकाऽऽदयः पर्याप्ता–पर्याप्तभेदेन द्विविधा भवन्ति; तत्र पर्याप्तिः पूर्वोक्तैव षोढा, तेषा यथासंभवं निष्पन्नाः पर्याप्ताः, तद्विपरीतास्त्वपर्याप्तका अन्तर्मुहूर्त्तकालमिति ।

इदानीमुत्तरभेदानाह–

तिविहा तिविहा जोणी, अंडा पोया जराउया चेव ।
वेइंदिय तेइंदिय, चउरो पंचिंदिया चेव ॥५४॥

(तिविहेत्यादि) अत्र हि शीतोष्णमिश्रभेदात्, तथा–सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्, तथा–संवृतविवृततदुभयभेदात्, तथा–स्त्रीपुन्नपुंसकभेदाच्चेत्यादीनि बहूनि योनीनां त्रिकाणि संभवन्ति, तेषां सर्वेषां संग्रहार्थं त्रिविधा त्रिविधेति वाचा निर्देशः, तत्र नारकाणामाद्यासु तिसृषु भूमिषु शीतैव योनिः, चतुर्णामुपरितननरकेषु शीता, अधस्तननरकेषूष्णा, पञ्चमीषष्ठीसप्तमीषूष्णैव, नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणामशेषदेवानां च शीतोष्णा योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसम्मूर्च्छनजतिर्यङ् मनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनिः– शीता, उष्णा, शीतोष्णा चेति । तथा–नारकदेवानामचित्ता, नेतरे, द्वीन्द्रियाऽऽदिसंमूर्च्छजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्याणां सचित्ताचित्त–मिश्रयोनिर्नेतरे.....(?) तथा –देवनारकाणां संवृता योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुरिन्द्रियसम्मूर्च्छनजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्याणां विवृता योनिर्नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणां संवृतविवृता योनिर्नेतरे । तथा–नारका नपुंसकजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां विवृता योनिर्नेतरे । गर्भयोनय एव तिर्यञ्च स्त्रिविधाः स्त्री–पुंनपुंसकयोनयः, मनुष्या अप्येवं त्रैविध्यभाजः, देवाः स्त्रीपुंयोनय एव, तथा परं मनुष्ययोनेस्त्रैविध्यम् । तद्यथा–कूर्मोन्नता । तस्यां चार्हत् चक्रपत्न्यादिसत्पुरुषाणामुत्पत्तिः । तथा–शङ्खाऽऽवर्ता । सा च स्त्रीरत्नस्यैव, तस्यां च प्राणिनां संभवो नास्तीति न निष्पत्तिः । तथा–वंशीपत्रा । सा च प्राकृतजनस्येति । तथा परं त्रैविध्यं नियुक्तिकृद्दर्शयति । तद्यथा–अण्डजाः, पोतजाः, जरायुजाश्चेति । तत्राण्डजाः पक्ष्यादयः, पोतजाः वल्गुलीगजकलभाऽऽदयः, जरायुजा गोमहिषीमनुष्याऽऽदयः । तथा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदाच्च भिद्यन्ते । एवमेते त्रिविधास्त्रसा योन्यादिभेदेन प्ररूपिताः ।

एतद्योनिसंग्राहिण्यो गाथाः–

''पुढविदगअगणिमारुय–पत्तेयनिओयजीवजोणीणं ।
सत्तग सत्तग सत्तग, सत्तग दस चोद्दस य लक्खा ॥१॥
विगलिंदिएसु दो दो, चउरो चउरो य नारयसुरेसु ।
तिरिया सत्तऽट्ठनव य, पणवीसा एगिंदिया ..... ॥२॥
.....होंति चउरो, चोद्दस मणुयाण लक्खाइं ॥''

एवमेते चतुरशीतियोनिलक्षा भवन्ति ।

तथा कुलपरिमाणम्–

''कुलकोडिसयसहस्सा, वत्तीसऽट्ठऽट्ठ नव य पणवीसा ।
एगिंदिय वितिइंदिय, चउरिंदिय हरियकायाणं ।
अद्धत्तेरस बारस, दस नव चेव कोडिलक्खाइं ॥१॥
जलयरपक्खिचउप्पय–उरभुयपरिसप्पजीवाणं ।
पणवीसं छव्वीसं, च सयसहस्साइँ नारयसुराणं ॥२॥
बारस य सयसहस्सा, कुलकोडीणं मणुस्साणं ॥३॥
एगा कोडाकोडी, सत्ताणउइं च सयसहस्साइं ।
पन्नासं च सहस्सा, कुलकोडीणं मुणेयव्वा ॥४॥

अङ्कतः–१९७५०००००००००००० सकलकुलसंग्रहोऽये बोद्धव्यः । आचा०२ श्रु०१ अ०६उ०।

से किं तं तसकाइया? तसकाइया चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा–बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया। से किं तं बेइंदिया? बेइंदिया अणेगविहा पण्णत्ता। एवं जहेव पण्णवणाए तहेव निरवसेसं भाणियव्वं०जाव सव्वट्ठसिद्धगा देवा। सेत्तं अणुत्तरोववाइया, सेत्तं पंचिंदिया, सेत्तं तसकाइया॥

उक्ता प्ररूपणा। जी०३ प्रति०४उ०।

तदनन्तरं लक्षणद्वारमाह–

दंसणनाणचरित्ते, चरियाचरिए य दाणलाभे य।
उवभोगभोगवीरिए, इंदियविसए य लद्धीए॥५५॥
उवओगजोग अज्झव–साणे वीसुं च लद्धिउदई य।
अट्ठविहोदय लेसा, सण्णा उस्सासे कसाए य॥५६॥

(दंसणेत्यादि) दर्शनं सामान्योपलब्धिरूपं, चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाऽऽख्यं, मत्यादीनि ज्ञानानि स्वपरपरिच्छेदिनो जीवस्य परिणामाः ज्ञानाऽऽवरणविगमव्यक्तास्तत्त्वार्थपरिच्छेदाः साकायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायययथाख्यातानि, चारित्रं चारित्राचारित्रं देशविरतिस्थूलप्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्तिलक्षणं श्रावकाणाम्, तथा दानलाभभोगोपभोगवीर्याः श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनाऽऽख्याः देशलब्धयः जीवद्रव्यव्यभिचारिण्यो लक्षणं भवन्ति। तथोपयोगः साकारोऽनाकारश्चाऽष्टचतुर्भेदः, योगो मनोवाक्कायाऽऽख्यस्त्रिधा, अध्यवसायाश्चानेकविधाः सूक्ष्माः मनःपरिणामसमुत्थाः, विष्वग् पृथग्लब्धीनामुदयाः प्रादुर्भावाः क्षीरमध्वास्रवाऽऽदयः, ज्ञानाऽऽवरणाऽऽद्यन्तरायावसानकर्माष्टकस्य स्वशक्तिपरिणाम उदयः, लेश्याः कृष्णाऽऽदिभेदा अशुभाः शुभाश्च कषाययोगपरिणामविशेषसमुत्थाः, संज्ञास्त्वाहारभयपरिग्रहमैथुनाऽऽख्याः। अथवा–दशभेदा अनन्तरोक्ताश्चतस्रः, क्रोधाऽऽद्याश्चतस्रः, तथौघ संज्ञा, लोकसंज्ञा च। उच्छ्वासनिःश्वासौ प्राणापानौ, कषायाः–कषं संसारः, तस्यायाः क्रोधादयोऽनन्तानुबन्ध्यादि भेदात् षोडशविधाः। एतानि गाथाद्वयोपन्यस्तानि द्वीन्द्रियाऽऽदीनां लक्षणानि यथासंभवमवगन्तव्यानीति, नैवंविधलक्षणकलासमुच्चयो घटाऽऽदिष्वस्ति, तस्मात्तत्राचैतन्यमध्यवस्यन्ति विद्वांसः।

अभिहितलक्षणकलापोपसंजिहीर्षया तथा परिमाणप्रतिपादनार्थं गाथामाह–

लक्खणमेयं चेव उ, पयरस्स असंखभागमेत्ता ते।
निक्खमणे य पवेसो, एगा वीया वि एमेव॥५७॥

(लक्खणमित्यादि) तुशब्दः पर्यायान्तरव्यावृत्तिवचनः, द्वीन्द्रियाऽऽहिजीवानां लक्षणं लिङ्गमेतावदेव दर्शनाऽऽदिपरिपूर्णं, नान्यदधिकमस्तीति। परिमाणं पुनः क्षेत्रतः संवर्तितलोकप्रतरासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणास्त्रसकायपर्याप्तकाः। एते च बादरतेजस्कायपर्याप्तकेभ्योऽसंख्येयगुणाः, त्रसकायपर्याप्तकेभ्यस्त्रसकायिकापर्याप्तकाः असंख्येयगुणाः, तथा कालतः प्रत्युत्पन्नत्रसकायिकाः सागरोपमलक्षपृथक्त्वसमयराशिपरिमाणा जघन्यपदे, उत्कृष्टपदेऽपि सागरोपमलक्षपृथक्त्वपरिमाणा एवेति। तथा चागमः– ''पडुप्पन्ना तसकाइया केवतिकालस्स निल्लेवा सिया? गोयमा! जहन्नपए सागरोपमसयसहस्सपुहत्तस्स, उक्कोसपदे वि सागरोवमसयसहस्सपुहत्तस्स।'' उद्वर्तनोपपातौ गाथाशकलेनाभिदधातिनिष्क्रमणमुद्वर्तनं, प्रवेश उपपातः, जघन्येनैको द्वौ त्रयो वा, उत्कृष्टतस्त्वेवमेवेति–प्रतरस्यासंख्येयभागप्रदेशपरिमाणा एवेत्यर्थः।

साम्प्रतमविरहितप्रवेशनिर्गमाभ्यां परिमाणविशेषमाह–

निक्खमपवेसकाले, समयाई एत्थ आवलियभागो।
अंतोमुहुत्त विरहो, उदहिसहस्साइं जे दोण्णि॥५८॥

निक्खमेत्यादि) जघन्येन अविरहिताः सन्ततास्त्रसेषु उत्पत्तिनिष्क्रमो वा जीवानामेकं समयं द्वित्रित्वेत्यादि(?) उत्कृष्टेनात्रावलिका असंख्येयभागमात्रं कालं, संततमेव निष्क्रमः प्रवेशो वा एकजीवाङ्गीकरणेनाविरहश्चिन्त्यते गाथापश्चिमार्द्धेन–विरहः सातत्येनावस्थानम्, एकजीवो हि त्रसभावेन जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमासित्वा पुनः पृथिव्याद्येकेन्द्रियेषूत्पद्यते, प्रकर्षेणाधिकं सागरोपमसहस्रद्वयं त्रसभावेनावतिष्ठते सन्तमिति। उक्तं प्रमाणद्वारम्॥

साम्प्रतमुपभोगशस्त्रवेदनाद्वारत्रयप्रतिपादनायाऽऽह–

मंसादी परिभोगो, सत्थं सत्थाइयं अणेगविहं।
सारीरमाणसावेयणा य दुविहा बहुविहा य॥५९॥

मांसचर्मकेशरोमनखपिच्छदन्तस्नाय्वस्थिविषाणाऽऽदिभिस्त्रसकायसंबन्धिभिरुपभोगो भवति, शस्त्रं पुनः शस्त्राऽऽदिकमिति खड्गतोमरक्षुरिकाऽऽदि तदादिर्यस्य जलानलाऽऽदेस्तच्छस्त्राऽऽदिकमनेकविधं स्वकायपरकायोभयद्रव्यभावभेदभिन्नमनेकप्रकारं त्रसकायस्येति। वेदना चात्र प्रसङ्गेनोच्यते सा च शरीरसमुत्था, मनःसमुत्था च द्विविधा यथासंभवम्। तत्राऽऽद्याशल्यशलाकाऽऽदिभेदजनितेतरप्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयोगाऽऽदिकृता। बहुविधा च ज्वरातीसारकासश्वासभगन्दरशिरोरोगशूलगुदाकीलकाऽऽदिसमुत्था तीव्रेति।

पुनरप्युपभोगप्रपञ्चाभिधित्सयाऽऽह–

मंसस्स केइ अट्ठा, केई चम्मस्स केइ रोमाणं।
पिच्छाणं पुच्छाणं, दंताणऽट्ठा वहिज्जंति॥६०॥
केई वहंति अट्ठा, केइ अणट्ठा पसंगदोसेणं।
कम्मपसंगपसत्ता, बंधंति हणंति मारंति॥६१॥

मांसार्थं मृगशूकशऽऽदयो बध्यन्ते, चर्मार्थं चित्रकाऽऽदयः, रोमार्थं मूषिकाऽऽदयः, पिच्छार्थं मयूरगृद्धकपिवुरुकाऽऽदयः, पुच्छार्थं चमर्यादयः, दन्तार्थं वारणवराहाऽऽदयः। वध्यन्त इति सर्वत्र संबध्यते। तत्र केचन पूर्वोक्तप्रयोजनमुद्दिश्य हन्यन्ते, केचित्तु प्रयोजनमन्तरेणाऽपि क्रीडया हन्यन्ते। तथा परे प्रसङ्गदोषाद् मृगलक्ष्यक्षिप्तेषुलेलुकाऽऽदिना तदन्तरालव्यवस्थितानेककपोतकपिञ्जलशुकसारिकाऽऽदयो हन्यन्ते। तथा कर्म कृष्याद्यनेकप्रकारं, तस्य प्रसङ्गोऽनुष्ठानम्, तत्र प्रसक्तास्तन्निष्ठाः सस्तस्त्रसकायिकान् बहून् घ्नन्ति, रज्वादिना बध्नन्ति, कशलकुटाऽऽदिभिस्ताडयन्ति, मारयन्ति प्राणैर्वियोजयन्तीति।

एवंविधानाऽऽदिद्वारकलापमुपवर्ण्य सकलनिर्युक्त्यर्थोपसंहारायाऽऽह–

सेसाइं दाराइं, ताइं जाहं हवंति पुढवीए।
एवं तसकायम्मी, निज्जुत्ती कित्तिया एसा॥६२॥

(सेसा इत्यादि) उक्तव्यतिरिक्तानि शेषाणि द्वाराणि, तान्येव यानि पृथ्वीस्वरूपसमधिगमे निरूपितानि, अत एवमशेषद्वय–

राभिधानात्त्रसकाये निर्युक्तिः कीर्तितैषा सकला भवतीत्यवगन्तव्येति।

साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलिताऽऽदिगुणपेतं सूत्र-

मुच्चारणीयम्। तच्चेदम्-

संतिमे तसा पाणा। तं जहा-अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेयया, संमुच्छिमा, उब्भियया, उववाइया ॥६३॥

सन्ति विद्यन्ते त्रस्यन्तीति त्रसाः प्राणिनो द्वीन्द्रियाऽऽदयः। ते च कियद्भेदाः किंप्रकाराश्चेति दर्शयति-तद्यथेति वाक्योपन्यासार्थः। यदि वा-तत्प्रकारान्तरमर्थतो यथा भगवत्प्रऽभिहितं तथाऽहं भणामीति। (आचा०) एवमेतस्मिन्नष्टविधे जन्मनि सर्वे त्रसजन्तवः संसारिणो निपतन्ति, नैतद् व्यतिरेकेणान्ये सन्ति। एते चाष्टविधयोनिभाजोऽपि सर्वलोकप्रतीता बालाङ्गनाऽऽदिजनप्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्याः, सन्ति चानेन शब्देन त्रैकालिकमस्तित्वं प्रतिपाद्यते त्रसानाम्।

न कदाचिदेतैर्विरहितः संसारः संभवतीत्येतदपि

दर्शयति-

एस संसार त्ति पवुच्चइ, मंदस्स अवियाणओ निज्झाइत्ता, पडिलेहित्ता पत्तेयं परिनिव्वाणं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि ॥२॥

एष अण्डजाऽऽदिप्राणिकलापः संसारः प्रोच्यते, नाऽतोऽन्यस्त्र-सानामुत्पत्तिप्रकारोऽस्तीत्युक्तं भवति। कस्य पुनरत्राष्टविधभूतग्रामे उत्पत्तिर्भवतीत्याह-(मंदस्सावियाणओ) मन्दो द्विधाद्रव्यभावभेदात्। तत्र द्रव्यमन्दोऽतिस्थूलोऽतिकृशो वा, भावमन्दोऽप्यनुपचितबुद्धिलः, कुशास्त्रवासितबुद्धिर्वा। अयमपि सद्बुद्धेरभावाद् बाल एव। इह भावमन्दे-नाधिकारःमन्दस्येति बालस्याविशिष्टबुद्धेः, अत एवाविजानतो हिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यमनस इत्येषोऽनन्तरोक्तः संसारो भवतीति। यद्येवं ततः किमित्याह- (निज्झाइत्तेत्यादि) एवमिमं त्रसकायमार्गं बालाङ्गनाऽऽदिप्रसिद्धं निश्चयेन ध्यात्वा निर्ध्याय, चिन्तयित्वेत्यर्थः। क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियापेक्षया ब्रवीमीत्युत्तरक्रिया सर्वत्र योजनीयेति पूर्ववत्। मनसाऽऽलोच्य ततः प्रत्युपेक्षणं भवतीति दर्शयति-(पडिलेहित्त त्ति) प्रत्युपेक्ष्य दृष्ट्वा यथावदुपलभ्येत्यर्थः। किं तदिति दर्शयति-प्रत्येकमित्येकमेकं त्रसकायं प्रति परिनिर्वाणं सुखं, प्रत्येकसुखभाजः सर्वेऽपि प्राणिनो नान्यदीयमन्य उपभुङ्क्ते सुखमित्यर्थः। एष च सर्वप्राणिधर्म इति दर्शयतिसर्वेषां प्राणिनां द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां, तथा सर्वेषां भूतानां प्रत्येकसाधारणसूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकतरूणा-मिति, तथा सर्वेषां जीवानां गर्भव्युत्क्रान्तिकसंमूर्छनजौपपातिकपञ्चे-न्द्रियाणां, तथा सर्वेषां सत्त्वानां पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणामिति। इह च प्राणाऽऽदिशब्दानां यद्यपि परमार्थतोऽभेदः, तथापि उक्तन्यायेन भेदो द्रष्टव्यः। उक्तं च- ''प्राणा द्वित्रिचतुश्चोक्तः, भूतास्तु तरवः स्मृतः। जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः'' ॥१॥ इति। यदि वा-शब्दव्युत्पात्तद्वारेण समभिरूढनयमतेन भेदो द्रष्टव्यः। तथा-सततप्राण-धारणात्प्राणाः, कालत्रयभावनाद् भूताः, त्रिकालजीवनात् जीवाः, सदाऽस्तित्वात्सत्त्वा इति। तदेवं विचिन्त्य प्रत्युपेक्ष्य च यथा सर्वेषां जीवानां प्रत्येकं परिनिर्वाणं सुखं, तथा प्रत्येकमसातमपरिनिर्वाणं महाभयं दुःखमहं ब्रवीमि। तत्र दुःखयतीति दुःखम्, तद्विशेष्यते-किंविशिष्टमसातमसातवेद्यं कर्म, संविपाकजमित्यर्थः। तथा-अपरिनि-र्वाणमितिपरिनिर्वाणं समन्तात् सुखं, न परिनिर्वाणमपरिनिर्वाणं, समन्तात् शरीरमनः पीडाकरमित्यर्थः। तथा-महाभयमितिमहच्च तद्भयं च महाभयं, नाऽतः परमन्यदस्तीति महाभयम्। तथाहि-सर्वेऽपि शारीरान्मानसाच्च दुःखादुद्विजन्ते प्राणिन इति। इतिशब्द एवमर्थे। एवमहं ब्रवीमि सम्यगुपलब्धतत्त्वो यत्प्रागुक्तमिति।

एतच्च ब्रवीमीत्याह-

तसंति पाणा पदिसो दिसासु य, तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावंति संति पाणा पुढो सिया॥

(त्रसंतीत्यादि) एवंविधेन चासाताऽऽदिविशेषणविशिष्टेन दुःखे-नाभिभूतास्त्रस्यन्त्युद्विजन्ति, प्राणा इति प्राणिनः, कुतः पुनरुद्वि-जन्तीति दर्शयतिप्रगता दिक् प्रदिग्विदिश इत्यर्थः। ततः प्रदिशः सकाशादुद्विजन्ति। तथाहि-प्राच्यादिषु च दिक्षु व्यवस्थितास्त्रस्यन्ति, एताश्च प्रज्ञापकविधिभक्ता दिशोऽनुदिशश्च गृह्यन्ते, जीव-व्यवस्थानश्रवणात्। ततश्चायमर्थः प्रतिपादितो भवति कावा, न काचिद्दिगनुदिग्वा, यस्यां न सन्ति त्रसाः, त्रस्यन्ति वा यस्यां स्थिताः, कोशिकारकीटवत्। कोशिकारकीटो हि दिग्भ्योऽनुदिग्भ्यश्च बिभ्यदा-त्मसंरक्षणार्थं वेष्टनं करोति शरीरस्येति। भावदिगपि न काचित्ता-दृश्यस्ति, यस्यां वर्त्तमानो जन्तुर्न त्रस्येत्, शारीरमानसाभ्यां दुःखाभ्यां सर्वत्र नरकाऽऽदिषु जङ्घन्यन्ते प्राणिनोऽतस्त्रासपरिगतमनसः सर्वदाऽव-गन्तव्याः। एवं सर्वत्र दिक्ष्वनुदिक्षु च त्रसाः सन्तीति गृह्यीमः। दिग्विदिग्व्य-वस्थितास्त्रसास्त्रस्यन्तीत्युक्तम्। कुतः पुनस्त्रस्यन्ति? यस्मात्तदारम्भव-द्भिस्ते व्यापाद्यन्ते, किं पुनः कारणं ते तानारभन्त इत्याह-(तत्थ तत्थेत्यादि) तत्र तत्र तेषु तेषु कारणेषूत्पन्नेषु वक्ष्यमाणेष्ववर्जितशौणि-ताऽऽदिषु च पृथग्विभिन्नेषु प्रयोजनेषु, पश्येति। शिष्यचोदना किं तत्पश्येति दर्शयति-मांसभक्षणाऽऽदिगृद्धा आतुराः अस्वस्थमनसः परि समन्तात्तापयन्ति पीडयन्ति नानाविधवेदनोत्पादनेन प्राणिव्यापादनेन वा तदारम्भिणस्त्रसानिति, येन केनचिदारम्भेण प्राणिनां संतापनं भवतीति दर्शयन्नाह-(संतीत्यादि) सन्ति विद्यन्ते प्रायः सर्वत्रैव प्राणाः प्राणिनः पृथक् विभिन्नाः द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाऽऽश्रिताः पृथिव्याद्याश्रिता। एतच्च ज्ञात्वा निरवद्यानुष्ठायिना भवितव्यमित्यभिप्रायः।

अन्ये पुनरन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति

दर्शयन्नाह-

लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया-इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्ख पडिघायहेउं, से सयमेव तसकायसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा तसकाय-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकायसत्थं समार-

भमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए , से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए, इहमेगेसिं णायं भवति–एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए इच्चत्थं गढिए लोए जम्मि णं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारं भमाणे अण्णे अणेगरूवेण पाणे विहिंसति।

पूर्ववद् व्याख्येयं, यावत् ''अन्ने अणेगरूवेण पाणे विहिंसइ त्ति।''

यानि कानिचित्कारणान्युद्दिश्य च स बन्धः क्रियते,

तानि दर्शयितुमाह–

से बेमि अप्पेगे अच्चाए हणंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हिययाए, पित्ताए, वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, बालाए, सिंगाए, विसाणाए, दंताए, दाढाए, णहाए, ण्हाउणीए, अट्ठीए, अट्ठिमिंजाए; अट्ठाए, अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसंति मे त्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसिस्संति मे त्ति वा वहंति, एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

(से बेमीत्यादि) तदहं ब्रवीमि–यदर्थं प्राणिनस्तदारम्भप्रवृत्तौ व्यापाद्यन्त इति। अप्येकेऽर्चायै घ्नन्ति, अपिरुत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः। एके केचन तदर्थित्वेनाऽऽतुराः, अर्च्यतेऽसावाहारालङ्कारैरित्यर्चा देहः, तदर्थं व्यापादयन्ति। तथाहि–लक्षणवत्पुरुषम–क्षतमव्यङ्गं व्यापाद्य तच्छरीरेण विद्यामन्त्रसाधनानि कुर्वन्ति, उपयाचितं वा यच्छन्ति दुर्गाऽऽदीनामग्रतः। अथवाविषं येन भक्षितं, स हस्तिनं मारयित्वा तच्छरीरे प्रक्षिप्यते, पश्चाद्विषं जीर्यति। तथा अजिनार्थं चित्रकव्याघ्राऽऽदीन् व्यापादयन्ति। एवं मांसशोणि तहृदयपित्तवसापिच्छपुच्छबालशृङ्ग विषाणदन्तदंष्ट्रा-नखस्नाय्वस्थ्यस्थिमिञ्जाऽऽदिष्वपि वाच्यम्,मांसार्थं शूकराऽऽदयः, त्रिशू–लाऽऽलेख्यार्थं शोणितं गृह्णन्ति, हृदयानि साधका गृहीत्वाऽश्नन्ति, पित्तार्थं मयूराऽऽदयः, वसार्थं व्याघ्रमकरवराहाऽऽदयः, पिच्छार्थं मयूरगृध्राऽऽदयः, पुच्छार्थं रोज्झाऽऽदयः, बालार्थं चमर्यादयः, शृङ्गार्थं रुरुखड्ग्यादयः, तत्किल शृङ्गं पवित्रमिति याज्ञिका गृह्णन्ति, विषाणार्थं हस्त्यादयः, दन्तार्थं शृङ्गालाऽऽदयः, तिमिरापहत्वात्तद्दन्तानां, दंष्ट्रार्थं वराहाऽऽदयः, नखार्थं व्याघ्राऽऽदयः, स्नाय्वर्थं गोमहिष्यादयः, अस्थ्यर्थं शङ्खशूक्त्यादयः, अस्थिमिञ्जार्थं महिषवराहाऽऽयदयः। एवमेके यथोपदिष्टप्रयोजनकलापापेक्षया घ्नन्ति। अपरे तु कृकलासगृहकोकिलाऽऽदीन्विना प्रयोजनेन व्यापादयन्ति। अन्ये पुनः–(हिंसिंसु मे त्ति) हिंसितवानेषोऽस्मत्स्वजनान् सिंहः सर्पोऽवा, अतो घ्नन्ति, मम वा पीडां कृत–वानित्यतो घ्नन्ति। तथा चान्ये वर्तमानकाल एव हिनस्ति अस्मान् सिंहोऽन्यो वेति घ्नन्ति। तथात्ये–अस्मानयं हिंसिष्यतीत्यनागतमेव सर्पाऽऽदिकं व्यापादयन्ति।

एवमनेकप्रयोजनोपन्यासेन हननं त्रसविषयं प्रदर्श्य, उद्देश–

कार्थमुपसंजिहीर्षुराह–

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्छेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं तसकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं तसकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे तसकायणत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते तसकायसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि ॥६॥

(एत्थ सत्थमित्यादि) प्राग्वद्वाच्यम्। यावत्स एव मुनिस्त्रसकाय–समारम्भविरतत्वात् परिज्ञातकर्मत्वात् प्रत्याख्यातपापकर्मत्वादिति ब्रवीमि। भगवतः त्रिलोकबन्धोः परमकेवलाऽऽलोकसाक्षात्कृतसकल-भुवनप्रपञ्चस्योपदेशादिति। आचा०१ श्रु० १अ० ६उ०। (त्रसकायस्य प्रतिसेवना 'पडिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते)

तसचउक्क न०(त्रसचतुष्क) त्रसप्रवृत्त्योपलक्षितं चतुष्कं त्रसचतुष्कम्। त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकमिति प्रकृत्योपलक्षिते चतुष्के, कर्म० १ कर्म०।

तसण न०(त्रसन) पलायने, सूत्र०१ श्रु०७अ०। स्पन्दने आचा०१ श्रु०१ अ०६उ०।

तसणवग न०(त्रसनवक) त्रसप्रकृत्या उपलक्षितं नवकं त्रसनवकम्। त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वराऽऽदेयलक्षणे, कर्म०२ कर्म०।

तसणाम(ण्) न०(त्रसनामन्) त्रसन्ति उष्णाऽऽद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते, गच्छन्ति च छायाऽऽद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः, तत्पर्यायविपाकवेद्यं कर्म त्रसनाम। त्रसगतिनिबन्धने नामकर्मणि, कर्म०१ कर्म०। पं०सं०। प्रव०। यदुदयाच्चलनं स्पन्दनं भवति। श्रा०। कर्म०।

वितिचउपणिंदियतमा, बायरओ बायरा जिया थूला।
नियनियपज्जत्तिजुया, पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥४०॥

त्रस्यन्ति उष्णाऽऽद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते, गच्छन्ति च छायाऽऽद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः, तत्पर्यायविपाकवेद्यी कर्मापि त्रसनाम। ततस्त्रसात् त्रसनामोदया-जीवाः– (वितिचउपणिंदिय त्ति)इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वे इन्द्रिये स्पर्शनरसनलक्षणे येषां ते द्वीन्द्रियाः, शङ्खचन्दनककपर्दकजलूकाकृमिगण्डोलकपूतरकाऽऽ-दयो भवन्ति। त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणलक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः, यूकामत्कुणगर्दभेन्द्रगोपककुन्थुमत्कोटकाऽऽदयः। चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः, मक्षिका-भ्रमरमशकवृश्चिकाऽऽदयः। पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्ररूपाणीन्द्रि-याणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः मत्स्यमकरहरिहरिणसारसराजहंसनरसुर-नारकाऽऽदयो भवन्तीति। यदुदयाज्जीवास्त्रसा द्वित्रिचतुः पञ्चेन्द्रिया भवन्ति तत्त्रसनामेत्यर्थः। (४८) कर्म०१ कर्म०।

तसतिग न०(त्रसत्रिक) त्रसबादरपर्याप्ताऽऽख्ये त्रिके, कर्म०२ कर्म०।

तसदसग न०(त्रसदशक) त्रसनामाऽऽदिनामकर्मोत्तरप्रकृतिदशके, (कर्म०)

तसबायरपज्जत्तं, पत्तेयथिरं सुभं च सुभगं च।
सुसराऽऽइज्जजसं तस–दसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥

नामशब्दस्येहापि संबन्धात्–त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, प्रत्येकनाम, स्थिरनाम, शुभनाम, शुभगनाम । चशब्दौ समुच्चये । सुस्वरनाम, आदेयनाम (जसं तिं) यशःकीर्तिनाम इत्येवं त्रसश–ब्देनोपलक्षितं प्रकृतिदशकम, त्रसदशकमुच्यत इति शेषः । कर्म०१ कर्म०।

तसरेणु पुं०(त्रसरेणु) त्रस्यति पूर्वाऽऽदिवातप्रेरितो गच्छति योरेणुः स त्रसरेणुः । रेणुभिः परिमिते प्रमाणविशेषे, प्रव० २५४ द्वार । ज्यो० भ० जं० स्था० अनु० कियद्भिः परमाणुभिस्त्रसरेणुर्भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्–अनन्तसूक्ष्मपरमाणुभिरेको व्यवहारपरमाणुर्जायते, अष्टव्यवहार-परमाणुभिरेका उत् श्लक्ष्णिका जायते, ताभिरष्टाभिरेका श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका जायते, ताभिरष्टाभिरेक ऊर्ध्वरेणुर्जायते, एभिरष्टभिरेकस्त्रसरेणु-र्जायते, एतावताकोऽर्थः चतुः सहस्रैः षण्णवत्यधिकैर्व्यवहारपरमाणु-भिरेकस्त्रसरेणुर्जायते इत्यर्थः। ४८२ प्र० सेन०३ उल्ला०।

तसवाइया स्त्री०(त्रसपादिका) त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी०१ प्रति०।

तसवीसइ स्त्री०(त्रसविंशति) त्रसेनोपलक्षिता विंशतित्रसविंशतिः। त्रसदशकस्थावरदशकद्वये, कर्म०१ कर्म०।

तसासि(ण्) त्रि०(त्रसासिन्) पिपीलिकाऽऽदिसहितोदनभक्षके, नि०चू० १उ०।

तसिअ त्रि०(त्रस्त) त्रसनं त्रस्तम् । दुःखोद्वेजने, दश०४ अ० परमा–धार्मिकदेवपरस्परोदीरितदुःखसंपातभयात् त्रासमुपपन्ने, जी०३ प्रति०२ उ० भ० शुष्के, दे०ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तस्सण्णि(ण्) त्रि०(तत्संज्ञिन्) तस्य संज्ञा तत्संज्ञातज्ज्ञानम्, तद्वान् तत्संज्ञी । आचा०१ श्रु०५ अ०४उ०। विवक्षितज्ञानोपयुक्ते, आचा०१ श्रु०५अ०६उ०।

तस्सेवि(ण्) पुं०(तत्सेविन्) ये दोषा आलोचयितव्यास्तत्सेवी यो गुरुस्तस्य पुरतो यदालोचनम् । तत्सेविलक्षणे आलोचनादोषे, स्था०१० ठा०।

तह अव्य०(तथा) तेन प्रकारेण तथा प्रकारे थाच्। वाच०। **''वाऽव्ययो-त्खातादावदातः''** ॥८।१।६७॥ इत्यत्वं विकल्पेन । प्रा०१ पाद । उक्तपरामर्शे , कल्प० १ क्षण । पादपूरणे, नि०चू०१ उ०।

***तथ्य** न० । तथा तत्र साधु यत् । सत्ये, वाच०। सदर्थाभिधायित्वे, त्रि०। (सूत्र०)

णामतहं ठवणतहं, दव्वतहं चेव होइ भावतहं ।
दव्वतहं पुण जो जस्स सभावो होति दव्वस्स ॥२४॥

(णामतहमित्यादि) अस्याध्ययनस्य याथातथ्यमिति नाम । तच्च यथाशब्दस्य भावप्रत्ययान्तस्य भवति । तत्र यथाशब्दोल्लङ्घनेन तथाशब्दस्य निक्षेपं कर्तुं निर्युक्तिकारस्यायमभिप्रायः इह यथा–शब्दोऽयमनुवादे वर्तते, तथाशब्दश्च विधेयार्थे । तद्यथा–यथेदं तथैवेदं भवता विधेयमित्यनुवादविधेययोश्च विधेयांश एव प्रधानभावमनुभव-तीति । यदि वा याथातथ्यमिति तथ्यमतस्तदेव निरूप्यत इति । तत्र यथाभावस्तथ्यं यथाऽवस्थितवस्तुता । तच्चामाऽऽदिभिश्चतुर्धा । तत्र नामस्थापने सुगमे । द्रव्यतथ्यं गाथापश्चार्धेन प्रतिपादयति–तत्र द्रव्यतथ्यं पुनर्योयस्य सचित्ताऽऽदेः स्वभावो, द्रव्यप्राधान्याद्यद्यस्य स्वरूपम् । तद्यथा–उपयोगलक्षणो जीवः, कठिनलक्षणा पृथिवी, द्रवलक्षणा अपि इत्यादि । मनुष्या–ऽऽदेर्वा यो यस्य मार्दवाऽऽदिस्वभावः, अचित्तद्रव्याणां च गोशीर्षचन्दनकम्बलरत्नाऽऽदीनां द्रव्याणां स्वभावः । तद्यथा–''उण्हे करेइ सीयं, सीए उण्हत्तणं पुण भवेइ । कंबलरयणाऽऽदीणं, एस सहावो मुणेयव्वो '' ॥१॥

भावतथ्यमधिकृत्याऽऽह–

भावतहं पुण नियमा, णायव्वं छव्विहम्मि भावम्मि ।
अहवा वि णाणदंसण–चरित्तविणएण अज्झप्पे ॥२५॥

(भावतहमित्यादि) भावतथ्यं पुनर्नियमतोऽवश्यंभावतया षड्विधे औदायिके भावे ज्ञातव्यम् । तत्र कर्मणामुदयेन निर्वृत्त औदयिकः कर्मोदयाऽऽपादितो गत्याद्यनुभवलक्षणः, तथा कर्मोपशमेन निर्वृत्त औपशमिकः कर्मानुदयलक्षण इत्यर्थः । तथा क्षयाज्जातः क्षायिकोऽप्रति-पातिज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणः । तथा–क्षयादुपशमाच्च जातः क्षायोपशमि-को देशोदयोपशमलक्षणः । परिणामेननिर्वृत्तः पारिणामिको जीवाजीव-भव्यत्वाऽऽदिलक्षणः । पञ्चानामपि भावानां द्विकाऽऽदिसंयोगान्निष्पन्नः सान्निपातिक इति । यदि वा–अध्यात्मन्यान्तरं चतुर्धा भावतथ्यं द्रष्टव्यम् । तद्यथा–ज्ञानदर्शनचारित्रविनयतथ्यमिति । तत्र ज्ञानतथ्यं मत्यादिकेन ज्ञानपञ्चकेन यथास्वमवितथो विषयोपलम्भः । दर्शनतथ्यं शङ्काऽऽद्यतिचाररहितं जीवाऽऽदितत्त्वश्रद्धानम् । चारित्र तथ्यं तु तपसि द्वादशविधे संयमे सप्तदशविधे सम्यगनुष्ठानम् । विनयतथ्यं, द्विचत्वारि-शद्भेदभिन्ने विनये ज्ञानदर्शनचारित्रतप उपचारिकरूपे यथायोगमनुष्ठानं, ज्ञानाऽऽदीनां तु वितथाऽसेवनेनाऽतथ्यमिति । सूत्र०१ श्रु० १३ अ०।

तहक्कार पुं०(तथाकार) तथाशब्देन तथेत्येवंभूतं पदमभिधीयते, ततश्चैतस्य कारः करणम् । पञ्चा०१२ विव० गुरोः पार्श्वे वाक्यं श्रुत्वा गुरुं प्रति इदं कथनंयद्भवद्भिरुक्तं तत्तथैवतथाऽस्तु, इति करणं तथाकारः । उत्त०२६ अ० गुर्वादिषु ब्रुवाणेषु यथाऽऽदिशत यूयं, तथैवेति भणनरूपे सामाचारीभेदे, बृ०१ उ० तथाकरणं तथाकारः, स च सूत्रप्रश्नगोचरः । यथा भवद्भिरुक्तं तथेदमित्येवंस्वरूपे सामाचारीभेदे, आ०म०१ अ०२ खण्ड । आ०चू० जीत० उत्त० स्था०।

साम्प्रतं तथाकारो यस्य दीयते, तत्प्रतिपादनार्थमाह–

कप्पाकप्पे परिणिट्ठियस्स ठाणेसु पंचसु ठियस्स ।
संजमतवङ्गस्स उ, अविगप्पेणं तहक्कारो ॥१४॥

कल्पो विधिः, आचार इत्यर्थः । अकल्पश्च अविधिः। अथवा– कल्पो जिनकल्पस्थविरकल्पाऽऽदिः, अकल्पस्तु चरकाऽऽदिदीक्षा । अथवा–कल्प्यं ग्राह्यम्, अकल्प्यमितरत् । ततः समाहारद्वन्द्वात्कल्पाकल्पं, कल्प्याकल्प्यं वा । तत्र परिनिष्ठितस्य ज्ञाननिष्ठां प्राप्तस्य, अनेन च ज्ञानसंपदुक्ता । तथा तिष्ठन्ति मुमुक्षवो येषु तानि स्थानानि महाव्रतानि तेषु, पञ्चस्विति स्वरूपविशेषणम्। यतो न तान्येकादीनि भवन्ति, यत्राऽपि चत्वारि तान्युच्यते तत्रापि वस्तुतः पञ्चैवेति। स्थितस्याऽऽश्रितस्य, अनेन च मूलगुणसंपत्तिरुक्ता। तथा–संयमः प्रत्युपेक्षोपेक्षाऽऽदिः, तथा–तपश्चा–

नशनाऽऽदि, ताभ्यामाढ्यः परिपूर्णः, स एव संयमतपआढ्यकः, तस्य, अनेन चोत्तरपुणसंपत्तिरुक्ता। तुशब्द एवकारार्थः। तस्य किमित्याह– अविकल्पेन निर्विकल्पं तदीयवचनेऽवितथत्वाच्छङ्कामकुर्वाणेनेत्यर्थः। तथाकारो–यथा यूयं वदथ, तथैवैतदित्यर्थसंसूचकस्तथेतिशब्दप्रयोगः, कार्य इति गम्यमिति गाथाऽर्थः ॥१४॥

अथ तथाकारस्यैव विषयाभिधानायाऽऽह–

वायणपडिसुणणाए, उवएसे सुत्तअट्ठकहणाए।
अवितहमेयं ति तहा, अविगप्पेणं तहक्कारो ॥१५॥

वाचनायाः सुत्रदानस्य प्रतिश्रवणा श्रवणं वाचनाप्रतिश्रवणा, तस्यां, तथाकारः प्रयोक्तव्य इति योगः। इदमुक्तं भवति– वाचनां प्रयच्छति सति गुरौ सूत्रग्राहिणा तथाकारः कार्यः। तथोपदेशे सामान्येन सामाचारीप्रतिबद्धे। तथा सूत्रार्थकथनायां, व्याख्यान इत्यर्थः। अवितथं सत्यम्, एतद् यद्यूयं ब्रूथेति ख्यापनपरः, तथेति समुच्चयार्थः; सूत्रार्थकथनापदस्याऽऽदौ द्रष्टव्यः। अविकल्पेन निःसंदेहेन सता तथाकारस्तथेतिशब्दप्रयोगः कार्यो भवतीति शेष इति गाथाऽर्थः ॥१५॥

यः पुनरेवंविधो गुरुर्न भवति, तत्र को विधिरित्याह–

इयरम्मि विगप्पेणं, जं जुत्तिखमं तहिं ण सेसम्मि।
संविग्गपक्खिए वा, गीए सव्वत्थ इयरे–णं ॥१६॥

इतरस्मिन् कल्पाकल्पपरिनिष्ठिताऽऽदिविशेषणविशिष्टादन्यस्मिन् गुरौ प्रज्ञापयति सति विकल्पेन भजनया, तथाकारः कार्य इति प्रक्रमः। तामेव भजनां दर्शयति–यद्वस्तु युक्तिक्षमम् उपपत्तिसहं तेन प्रज्ञापितं, तस्मिन् वस्तुनि तथाकारो विधेयः, न शेषे अयुक्तिक्षमे। इहैव प्रकारान्तरमाह–संविग्नाः संवेगवन्तः सुसाधवः, तेषां पाक्षिकः पक्षग्राही संविग्नपाक्षिकः। ''सुद्धं सुसाहुधम्मं, कहेइ निंदइ य नियमायारं। सुतवस्सियाण पुरओ, हवइ य सच्चोमरायणिओ ॥१॥'' इत्यादिलक्षणलक्षितः पार्श्वस्थाऽऽदिस्तस्मिन्। वाशब्दः प्रकारान्तरद्योतनार्थः। गीतेपदेऽपि एकसमुदायोपचाराद् गीतार्थे विषयभूते, तदन्यस्य त्वज्ञातत्वेन वचनवैतथ्यसंभवात्। सर्वत्र वस्तुनि युक्तिक्षमे तदक्षमे वा तेनोच्यमाने इतरेणोत्सर्गापेक्षयाऽन्येनापवादेनेत्यर्थः। अथवा– (इयरे) इतरस्मिन्नगीतार्थे, न नैव, तथाकारः कार्य इति प्रक्रम इति गाथाऽर्थः ॥१६॥

अथ कल्पाकल्पपरिनिष्ठिताऽऽदिगुणे गुरावक्षीणरागाऽऽदित्वेन संविग्नपाक्षिके चासत्क्रियत्वेन वितथोपदेशसंभवान्न तथाकारः कार्य इत्येतद् दूषयन्नाह–

संविग्गोऽणुवएसं, ण देइ दुब्भासियं कडुविवागं।
जाणंतो तम्मि तहा, अतहक्कारो उ मिच्छत्तं ॥१७॥

संविग्नो भवभीरुर्गुरुः, अनुपदेशम्, नञः कुत्सार्थत्वेन कुत्सितोपदेशमागमबाधितार्थानुशासनम्, न ददाति परस्मै न करोति, तद्दाने संविग्नत्वहानिप्रसङ्गात्। किंभूतः सन्नित्याह -दुर्भाषितमनागमिकार्थोपदेशं, कटुविपाकं दारुणफलं दुरन्तसंसाराऽऽवहं, मरीचिभवे महावीरस्येव जानन्नवबुद्ध्यमानः, को हि पश्यन्नेवात्मानं कूपे प्रक्षिपतीति, यस्मादेवं ततस्तस्मिन् संविग्ने कल्पाकल्पपरिनिष्ठिताऽऽदिगुणे सद्गुरौ गीतार्थे, संविग्नपाक्षिके च प्रज्ञापयति सति, तथेति निर्विकल्पम्, अतथाकारस्तथाकारस्याप्रयोगः। तुशब्द एवकारार्थः। तस्य चैवं प्रयोगः–मिथ्यात्वमेवासम्यग्दर्शनमेव, मिथ्यात्वहेतुकत्वात्तस्य, न हि मिथ्यात्वं विना निश्चितशुद्धप्ररूपकत्वेऽपि प्रज्ञापके तथाकारं न प्रयुङ्क्त इति गाथाऽर्थः ॥१७॥ पञ्चा०१२ विव०।

तहच्च त्रि०(तथार्च) अवस्थितचित्तवृत्तिके, ''दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे।'' तथाभूता सम्यक्दर्शनप्राप्तियोग्यार्चालेश्यान्तःपरिणतिरकृतधर्माणामिति। यदि वा–अर्चा मनुष्यशरीरं, तदप्यकृतधर्मबीजानामार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तिसकलेन्द्रियसामग्र्यादिरूपं दुर्लभं भवति; जन्तूनां धर्मरूपमर्थं व्याकुर्वन्ति ये, धर्मप्रतिपत्तियोग्या इत्यर्थः। तेषां तथाभूताऽर्चा सुदुर्लभा भवति। सूत्र०१ श्रु० १५ अ०।

तहणाण न०(तथाज्ञान) यथा वस्तु तथा ज्ञानं यस्य तत्तथाज्ञानम्। सम्यग्दृष्टिजीवद्रव्ये, तस्यैवावितथज्ञानत्वात्। यथैव यद् वस्तु तथैव ज्ञानमवबोधः प्रतीतिर्यस्मिंस्तत्तथाज्ञानम्। घटाऽऽदिद्रव्ये, स्था०१० ठा०। यथा प्रच्छनीयार्थे प्रष्टव्यस्य ज्ञानं तथैव पृच्छकस्यापि ज्ञानं यत्र प्रश्ने स तथाज्ञानः। जानत्प्रश्ने, स च गौतमाऽऽदेर्यथा ''केवइयकाले णं भंते! चमरचंचारायहाणीविरहिया उववाएणमित्यादिरिति।'' स्था०६ ठा०।

तहप्पओग पुं०(तथाप्रयोग) तथाशब्दस्य प्रयोगे, ''तह त्ति पओगो नाम जं–एवमेतं अवितहमेतं जाहे तं तुज्झे वदह, इच्चेतस्स अत्थस्स संपच्चयत्थं सविसए तह त्ति सद्दं पउंजंति।'' आ०चू० १ अ०।

तहप्पगार पुं०(तथाप्रकार) पूर्वोक्तप्रकारे, आचा०१ श्रु०१ चू०१ अ०१उ०। नि०चू०। एवंप्रकारे, जी०१ प्रति०। भ०। पूर्वोक्तस्वरूपे, कल्प०१ क्षण।

तहय अव्य०(तथाच) तथेति चिनोति च चिञ् चयने। पूर्वोक्तार्थदृढीकरणे, वाच०। समुच्चये, पञ्चा० २विव०।

तहरी (देशी) पङ्क्तिलायां सुरायाम्, दे०ना० ५ वर्ग २ गाथा।

तहल्लिया (देशी) गोवाटे, दे०ना० ५ वर्ग ८ गाथा।

तहा अव्य०(तथा) तेन प्रकारेण, पं०व०४ द्वार। कल्प०। विशे०। तथाप्रकारे, वाच०। साम्ये, अभ्युपगमे, पृष्टप्रतिवाक्ये, समुच्चये, निश्चये च। वाच०। नं०। आनन्तर्ये, नं०। आ०म०। अवधिज्ञानेन सहास्य छद्मस्थत्वाऽऽदिभिः सारूप्यप्रदर्शने, आ०म० १अ०१ खण्ड। समुच्चयनिर्देशावधारणसादृश्यप्रैष्येषु, दश०१अ०। वाक्योपक्षेपे, स च वाक्यस्याऽऽदौ दृश्यः। पञ्चा०६ विव०। ग्रहणानन्तरे, विशे०। यथाशब्देनानूद्यमानस्य विधेयस्यार्थे, तद्यथा–यथेदं तथैवेदम्। सूत्र०१ श्रु० १३ अ०। पूर्वोक्तार्थे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। दृढाध्यवसानप्रकारसादृश्योपदर्शनार्थे, आव०४ अ०। दर्श०।

तहां (तस्मात्) **''सर्वाऽऽदेर्ङसेर्हां''** ॥८।४।३५५॥ इति अपभ्रंशे सर्वाऽऽदेरकारान्तात्परस्य ङसेर्हां इत्यादेशः। प्रा०४ पाद।

तहाकप्प त्रि०(तथाकल्प) तथाऽऽचारे, द्वा० ३द्वा०।

तहाकार पुं०(तथाकार) तीर्थकरत्वं केवलज्ञानं न नते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

तहागय पुं०(तथागत) तथा तेन यथावस्थितपदार्थोपलम्भाऽऽत्मकेन प्रकारेण गतं ज्ञानमेषामिति तथागताः। बृ०३ उ०। तथा–ऽपुनरावृत्त्या गतास्ततथागताः। सूत्र०१ श्रु० १५अ०। अथवा–तथैवापुनरावृत्त्या गतं गमनं येषां ते तथागताः। यदि वा–यथैव ज्ञेयं तथैव गतं ज्ञानं येषां ते तथागताः। आचा०१ श्रु० ३ अ०३ उ०। अथवा–तथागतानि यथावस्थितानि तथैवावितथं जानन्ति, न विभङ्गज्ञानिन इव विपरीतं पश्यन्ति। तेषु, सूत्र०१ श्रु० १२ अ०। देवत्वाऽऽदिप्रकारमापन्नेषु, भ० १७ श०२ उ०। यथोक्तानुष्ठायिषु (सूत्र०१ श्रु० २ अ०२ उ०) सिद्धेषु, सर्वज्ञेषु च। आचा०१ श्रु० ३ अ०३उ०।

तहाजुत्त त्रि०(तथायुक्त) सेवकगुणोपेततया उचिते, जी०३ प्रति० ४ उ०।

तहाभूय त्रि०(तथाभूत) एवंप्रकारं प्राप्ते, ''अह णं स होई उवलद्धो तो संति तहाभूएहिं।'' सूत्र०१ श्रु०४ अ०२उ०।

तहारूव त्रि०(तथारूप) तथा तत्प्रकारं रूपं स्वभावो नेपथ्याऽऽदिर्वा यस्य स तथारूपः। दानोचिते, स्था०३ ठा०१उ०। उचितस्वभावे, भ०२ श०५उ०। भक्तिदानोचितपात्रे, भ०५ श०५ उ०। अविज्ञातव्रतविशेषे, न०। भ० १५ श०।

तहाविय पुं०(तथाविद्) तथारूपमनुष्ठानं विदन्तीति तथाविदः। इङ्गिताऽऽचारकुशले, निपुणे, तद्विदि सर्वज्ञे, पुं०। सूत्र० १ श्रु० ४अ० १उ०।

तहाविह त्रि०(तथाविध) तत्प्रकारे, ''तं तहाविहं पेच्छइ।'' आ०म० १ अ० २ खण्ड। नि०चू०।

तहाहि अव्य०(तथाहि) निपातसमुदायः। ध०३ अधि०। तथा च हि च द्वन्द्वः। निदर्शने, प्रसिद्धमेवेत्यर्थे, वाच०। उक्तस्योपदर्शने, ध० ३ अधि०। अने०।

तहि अव्य०(तत्र) **''त्रपो हिहत्थाः''** ॥८।२।१६१॥ इति त्रप्प्रत्ययस्यैते त्रय आदेशाः। प्रा०२ पाद। तस्मिन्नित्यर्थे, वाच०। जं०। प्रश्न०।

तहिय अव्य०(तथाच) तथेति चिनोति–चिङ् चयने पूर्वोक्तार्थदृढीकरणे, वाच०। उक्तप्रकारमापन्ने, मात्रयाऽप्यन्यूनाधिके, उत्त०६ अ०। प्रश्न०।

***तथ्य** त्रि०। परमार्थभूते सत्ये, सूत्र०१ श्रु० १४ अ०।

तहोववत्ति स्त्री०(तथोपपत्ति) तथैव साध्यसंभवप्रकारेण इवोपपत्तिस्तथोपपत्तिः। अर्थात् सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः। यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः, सत्येव कृशानुमखे धूमवत्त्वस्योपपत्तेः। हेतुप्रयोगभेदे, रत्ना०६ परि०।

ता अव्य०(तस्मात्) **''तस्मात्ताः''** ॥८।४।२७८॥ इति शौरसेन्यां तस्माच्छब्दस्य ता इत्यादेशः। प्रा०४ पाद। पञ्चा०।

तावत् अव्य०। तत्परिमाणमस्य। नि०। **''यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः''** ॥८।१।२७१॥ इति सस्वरस्य वकारस्य लोपः। प्रा०१ पाद। प्रस्तुतार्थप्रदर्शके, आ०म०१ अ०२ खण्ड। सूत्र०। तच्छब्दस्य प्रथमैकवचनेऽपि स्त्रियां 'ता' इति। अस्यमामीत्युक्ते : ''किं यत्तदोरस्यमामि'' ॥८।३।३३॥ इति ङीर्न भवति। प्रा०३ पाद।

ताअ पुं०(तात) तन–क्त–दीर्घत्वं च। वाच०। मागध्यां दत्वं, प्राकृते तकारलोपः। प्रा०१ पाद। जनके, उत्त० १४ अ०। पुत्रे सूत्र०१ श्रु० ३अ०२उ०। प्रश्न०। अनुकम्प्ये, पूज्ये च। त्रि०। वाच०।

ताइ(ण्) त्रि० तापि(पि)न् 'तप' गतौ णिनिप्रत्ययः। मोक्षं प्रति गमनशीले, सूत्र०२ श्रु०६ अ०। तायते रक्षति दुर्गतेरात्मानमंकोन्द्रियाऽऽदिप्राणिनो वाऽवश्यमिति तायी(?) उत्त० ८ अ०। तापः स्वदृष्टमार्गोक्तिः तद्वान् तापी। सुपरिज्ञातदेशतया विनेयपालपितरि, द्वा० २३ द्वा०। दश०। तपने तापः, स विद्यते यस्यासौ तापी। तस्मिन्, सूत्र०१ श्रु० १५ अ०। आव०।

***त्रायिन्** त्रि०। मनोवाक्कायगुप्तिभिः कृतकारितानुमतिभिर्वाऽऽत्मानं त्रातुं शीलमस्येति त्रायी, जन्तूनां सदुपदेशदान-तस्त्राणकरणशीले, सूत्र०१ श्रु० १४ अ०। आसन्नभव्यानां त्राणकारणे, सूत्र०२ श्रु०६ अ०। आत्मनः परेषां च त्राणशीले, सूत्र०२ श्रु० ६ अ०। विशिष्टोपदेशदानात्परेषां त्राणभूते, (सूत्र०१ श्रु०१अ०) संसारसागरात्प्राणिपूगपालके, (चन्द्रा० १६ विव०) धर्मकार्याऽऽदिना संसारदुःखेभ्यस्त्राणकर्त्तरि, दश०२ अ०।

ताठा स्त्री०(दंष्ट्रा) **'चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ'** ॥८।४।३२५॥ इह क्वचिल्लाक्षणिकस्वापीत्युक्तेर्दाढा इत्यस्य स्थाने ताठा इत्यादेशः। प्रा०४ पाद। दन्तभेदे, दन्तपङ्क्तिरुद्वयप्रान्तस्थायां द्विगुणाकृतायां दन्तावलौ च। वाच०।

ताडण न०(ताडन) उरःशिरःकुट्टनकेशलुञ्चनाऽऽदिषु, आव० ४ अ०। गुणने, स्था०१ ठा०।

ताडत्थ न०(तटस्थ्य) तटस्थत्वे, पार्श्ववर्त्तित्वे, अष्ट० ३२ अष्ट०।

ताडिअ अव्य०(ताडयित्वा) ताडनं कृत्वेत्यर्थे, उत्त० १६ अ०।

ताडिव्वय (देशी) रोदने, दे०ना० ४ वर्ग १० गाथा।

ताडिज्जमाण त्रि०(ताड्यमान) कुड्याऽऽद्यभिघाताऽऽदिना ताडनां प्राप्यमाणे, सूत्र०२ श्रु० १अ०।

ताण त्रि०(त्राण) शरणे, आचा०१ श्रु०२ अ०१उ०। सूत्र०। अष्ट०। विशे०। स्था०। अनर्थप्रतिघातहेतौ, कल्प०२ क्षण। अनर्थप्रति–हनने, अर्थसंपादने च। न०। तं०।

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ।
एते मम तेसु वी अहं, नो ताणं सरणं न विज्जइ ॥१६॥

(वित्तमित्यादि) वित्तं–धनधान्यहिरण्याऽऽदि, पशवःकरितुरगोमहिष्यादयः, ज्ञातयः–स्वजना मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदयः, तदेव वित्ताऽऽदिकं बालोऽज्ञः शरणं मन्यते। तदेव दर्शयतिममैते वित्तपशुजातयः परिभोगे उपयोक्ष्यन्ते। तेषु चार्जनपालनसंरक्षणाऽऽदिना शेषोपद्रव-निराकरणेन परिहारेणाऽहं भवामीत्येवं बालो मन्यते। न पुनर्जानीतेयदर्थं धनमिच्छति तच्छरीरमशाश्वतमिति। अपि च–''रिद्धी सहावतरला, रोगजराभंगुरं हयसरीरं। ''तथा'' मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च। प्रतिजन्मनि वर्तन्ते, कस्य माता पिताऽपि वा? ॥१॥ एतदेवाऽऽह–नो नैव, वित्ताऽऽदिकं संसारे क–

थमपि त्राणं भवति, नरकाऽऽदौ पततो नाऽपि रागाऽऽदिनोपद्रुत-स्य क्वचिच्छरणं विद्यते इति ॥१६॥ सूत्र० १ श्रु०२ अ०३उ०।

***ताण** पुं०। ततायां तन्त्र्याम्, ''ताणा एगूणपण्णासं।'' तत्र षड्जाऽऽदयः स्वराः प्रत्येकं सप्तभिस्तानैर्गीयन्त इत्येवमेकोनपञ्चाशत्तानाः सप्ततन्त्रि-कायां वीणायां भवन्ति। अनु०।

ताद पुं०(तात) 'ताअ' शब्दार्थे, प्रा०१ पाद।

तादत्तिय त्रि०(तादात्विक) यः किमप्यसंचिन्त्य उत्पन्नमर्थं व्येति स तादात्विकः। अविचारेणार्थनाशके, ध०१ अधि०।

तादत्थ न०(तादर्थ्य) तदर्थभावे, श्रा०।

ताम् अव्य०(तावत्) ''यावत्तावतोर्वाऽऽदेः मउं महिं'' ॥८।४।४०६॥ इत्येते त्रय आदेशाः। ताम–ताउं–तामहिं। प्रा०४ पाद। साकल्ये, अवधौ माने, अवधारणे, प्रशंसायाम्, पक्षान्तरे, वाक्यभूषणे, तदेत्यर्थे च। तत्परिमाणवति, त्रि०। स्त्रियां ङीप्। तावती। वाच०।

तामर (देशी) रम्ये, दे०ना० ५ वर्ग १० गाथा।

तामरस न०(तामरस) पद्मे, प्रज्ञा०१ पद। स्था०। कल्प०। ताम्रे, स्वर्णे, धुस्तूरे, द्वादशाक्षरपादके छन्दोभेदे च। वाच०। मुहूर्ते, दे० ना० ५ वर्ग १० गाथा।

तामलित्ति स्त्री०(ताम्रलिप्ति) जम्बूद्वीपे भारतवर्षे स्वनामख्यातायां नगर्याम्, यत्र मौर्यपुत्र ईशानदेवेन्द्रजीवो गृहपतिरासीत्। भ०३ श०१ उ०। बङ्गानां आर्यजनपदानां राजधान्याम्, प्रज्ञा०१ पाद। प्रव०। सूत्र०। आचा०।

तामलित्तिया स्त्री०(ताम्रलिप्तिका) स्थविराद्दोदासात्निर्गतस्यव्यो-दासगणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प०८ क्षण।

तामली पुं०(तामली) ताम्रलिप्तिनगरीवास्तव्ये ईशानदेवेन्द्रजीवे मौर्यपुत्रे गृहपतौ, भ०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे ताडलित्ती नामं नयरी होत्था। वण्णओ। तत्थ णं ताडलित्तीए नयरीए ताडली नामं मोरियपुत्ते गाहावई होत्था। अड्ढे दित्ते० जाव बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था। तए णं तस्स मोरि-यपुत्तस्स ताडलिस्स गाहावइस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्ताव-रत्तकालसमयंसि कुट्टुंबजागरियं जागरमाणस्स इमे एयारूवे अब्भत्थिए०जाव समुप्पज्जित्था–अत्थि ता मे पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं सुभाणं कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणफलवित्तिविसेसो, जेणाहं हिरण्णेणं वड्ढामि, सुवण्णेणं वड्ढामि, धणेणं वड्ढामि, धण्णेणं पुत्तेहिं च पसूहिं वड्ढामि, विउ-लधणकणकरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणसंत-सारसावएज्जेणं अईव अईव अभिवड्ढामि, तं किं णं अहं पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं०जाव कडाणं कम्माणं एगंतसो क्खयं उवेहमाणे विहरामि, तं०जाव अहं हिरण्णेणं वड्ढामि०जाव अईव अईव अभिवड्ढामि०जाव च मे मित्तनाइनियगसंबंधिप-रियणो आढाइ, परियाणाइ, सक्कारेइ, सम्माणेइ, कल्लाणं मंगलं देवयं विणएणं चेइयं पज्जुवासेइ, ताव ता मे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए०जाव जलंते सयमेव दारुमयं पडिग्गहं करेत्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता मित्त–णाइनिय-गसयणसंबंधिपरियणं आमंतेत्ता तं मित्तणाइनियग–सयण-संबंधिपरियणं विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थगंधम-ल्लालंकारेण य सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता तस्सेव मित्तणाइनियग-संबंधिपरियणस्स पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावित्ता तं मित्तनाइ-नियगसंबंधिपरियणं जेट्ठपुत्तं च आपुच्छित्ता सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय मुंडे भवित्ता पाणामाए पवज्जाए पव्वइ–त्तए। पव्वइए वि य णं समाणे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगि-ण्हिस्सामि–कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स विहरित्तए, छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि आयावणभूमीओ पच्चोरुभित्ता सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय ताडलित्तीए नयरीए उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडेत्ता सुद्धोदणं पडिगहेत्ता तं तिसत्तखुत्तो उदएणं पक्खालेत्ता तओ पच्छा आहारं आहा–रित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं पाउप्पभायाए० जाव जलंते सयमेव दारुमयं पडिग्गहं कारेइ, कारेइत्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खमावेइत्ता तओ पच्छा ण्हीए कयवलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पा–वेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए अप्पमहग्घाभरणालंकि–यसरीरे भोयणवेलाए भोयणमंडवंसि सुहासणवरगए, तए णं मित्तणाइनियगसयणसंबंधिपरियणेणं सद्धिं तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणे वीसाएमाणे परिसाएमाणे परिभुंजेमाणे विहरइ। जेमियभुत्तुत्तरागए वि य णं समाणे आयंते चोक्खे परमसुइभूए तं मित्त०जाव परियणं विउलेणं वत्थगंध–मल्लालंकारेण य०सक्कारेइ, सक्कारेइत्ता तस्सेव मित्तणाइ०जाव परियणस्स पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेइ, ठावेइत्ता तं मित्तणाइ० जाव परियणं जेट्ठपुत्तं च आपुच्छइ, आपुच्छइत्ता मुंडे भवित्ता पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइत्तए। पव्वइए वि य णं समाणे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ–कप्पइ मे जाव–जीवाए छट्ठं छट्ठेण०जाव आहारित्तए त्ति कट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ, अभिगिण्हइत्ता जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय

पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ, छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि आयावणभूमीए पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय ताडलित्तीए नयरीए उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुयाणस्स भिक्खायरियाए अडइ, अडइत्ता सुद्धोयणं पडिग्गहेइ, पडिग्गहेइत्ता विसत्त–खुत्तो उदएणं पक्खालेइ, पक्खालेइत्ता तओपच्छा आहारं आहारेइ। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–पाणामाए पव्वज्जा? गोयमा ! पाणामाए णं पव्वज्जाए पव्वइए समाणे जं जत्थ पासइ, तं इंदं वा खंदं वा रुद्दं वा सिवं वा वेसमणं वा अज्जं वा कोट्ठकिरियं वा रायं वा०जाव सत्थवाहं वा काकं वा साणं वा पाणं वा उच्चं पासइ, उच्चं पणामं करेइ, नीयं पासइ, नीयं पणामं करेइ, जं जहा पासइ, तस्स तहा पणामं करेइ, से तेणट्ठेणं०जाव पव्वज्जा। तए णं से ताडली मोरियपुत्ते तेणं उरालेणं विपुलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं बालतवोकम्मेणं सुक्के भुक्खे०जाव धमणि–सत्तए जाए यावि होत्था। तए णं तस्स तामलिस्स बालतवस्सि–स्स अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अणिच्चजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए०जाव समुप्पज्जित्था–एवं खलु अहं इमेणं उरालेणं विपुलेणं०जाव उदत्तेणं उत्तमेणं महाणुभागेणं तवोकम्मेणं सुक्के भुक्खे०जाव धमणिसंतए जाए, तं अत्थि जा मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे ताव ता मे सेयं कल्लं०जाव जलंते ताडलित्तीए नगरीए दिट्ठाभट्ठे य पासंडत्थे य गिहत्थे य पुव्वसंगतिए य पच्छासंगतिए य परियायसंगतिए य आपुच्छित्ता ताडलित्तीए नयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छित्ता पाओगकुंडियमादीयं उवगरणं दारुमयं च पडिग्गहयं एगंते एडेचा ताडलित्तीए नगरीए उत्तर–पुरच्छिमे दिसीभाए नियत्तणियमंडलं आलिहित्ता संलेहणाझूसणाझूसियस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं०जाव जलंते०जाव आपुच्छइ, आपुच्छइत्ता तामली एगंते एडेइ०जाव भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं निवण्णे। तेणं कालेणं तेणं समएणं बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया यावि होत्था। तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वयाबहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतवस्सिं ओहिणा आहोवंति, आहोयंतित्ता अण्णमण्णं सद्दावेंति, सद्दावेंतित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया, अम्हे णं देवाणुप्पिया ! इंदाहीणा इंदाहिट्ठिया इंदाहीणकज्जा, अयं च णं देवाणुप्पिया ! तामली बालतवस्सी तामलित्तीए नयरीए बहिया उत्तरपुर–च्छिमे दिसीभाए नियत्तनियमंडलं आलिहित्ता संलेहणाझूसणाझूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं निवण्णे, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं तामलिं बालतवस्सिं बलिचंचाए रायहाणीए ठिइप्पकप्पं पकरावेत्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेंतित्ता बलिचंचाए रायहा–णीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छंति, जेणेव रुयइंदे उप्पायपव्वए, तेणेव उवागच्छंति, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति०जाव उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विकुव्वंति त्ति विकुव्वंतित्ता ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए छंडाए जयणाए छेयाए सीहाए सिग्घाए दिव्वाए उद्धुयाए देवगईए तिरियं असंखेज्जाणं दीव–समुद्दाणं मज्झं मज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव तामलित्तीए णगरीए जेणेव तामली मोरियपुत्ते, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता ताडलिस्स बालतवस्सिस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं ठिच्चा दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसइविहं नट्टविहिं उवदंसंति, उवदंसंतित्ता तामलिं बालतवस्सिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति, वंदंति, नमंसंति, नमंसंतित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे बलिचंचारायहाणीवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य देवाणुप्पिया ! वंदामो, नमंसामो० जाव पज्जुवासामो, अम्हाणं देवाणुप्पिया ! बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया, अम्हे य णं देवाणुप्पिया ! इंदाहीणा इंदाहिट्ठिया इंदाहीणकज्जा, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! बलिचंचारायहाणिं आढह, परियाणह, सुमरह, अट्ठं बंधेह, निहाणं पकरेह, ठिइप्पकप्पं पकरेह। तए णं तुज्झे कालमासे कालं किच्चा बलिचंचारायहाणीए उववज्जिस्सह, तए णं तुब्भे अम्हं इंदा भविस्सह, तए णं तुब्भे अम्हेहिं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरिस्सह। तए णं से तामली बालतवस्सी तेहिं बलिचंचारायहाणिवत्थव्वेहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य एवं वुत्ते समाणे एयमट्ठं नो आढाइ, नो परियाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं मोरियपुत्तं दोच्चं पि तच्चं पि तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेइत्ता० जाव अम्हं च णं देवाणुप्पिया ! बलिचंचा रायहाणी अणिंदा०जाव ठिइप्पकप्पं पकरेह०, जाव दोच्चं पि त–

चं पि एवं वुत्ते समाणे०जाव तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिणा बालतवस्सिणा अणाढाइज्जमाणा अपरियाइज्जमाणा जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे कप्पे अणिंदे अपुरोहिए यावि होत्था। तए णं से तामली बालतवस्सी बहुपडिपुण्णाइं सट्ठिं वाससहस्साइं परियागं पाउणित्ता दो मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सवीसं भत्तसयं अणसणाए छेदित्ता कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे ईसाणवडिंसए विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरियं अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तीए ओगाहणाए ईसाणे देविंदे विरहियकालसमयंसि ईसाणदेविंदत्ताए उववण्णे। तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया अहुणोववन्ने पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ। तं जहा–आहारपज्जत्तीए०जाव भासामणपज्जत्तीए। तए णं बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतवस्सिं कालगयं जाणित्ता ईसाणे य कप्पे देविंदत्ताए उववण्णं पासित्ता आसुरुत्ता कुविआ चंडिक्किया मिसिमिसेमाणा बलिचंचाए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छंति, निग्गच्छंतित्ता ताए उक्किट्ठाए०जाव जेणेव भारहे वासे जेणेव तामलित्ती नयरी जेणेव तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरए, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता बामे पाए सुंवेणं बधंति, बंधंतित्ता तिक्खुत्तो मुहे उद्दुहंति, उद्दुहंतित्ता तामलित्तीए नयरीए सिंघाडगतियचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणा महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयासी–से केणं भो तामाली बालतवस्सी सयंगहियलिंगे पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए, केस णं से ईसाणे कप्पे ईसाणे देविंदे देवराया ति कट्टु तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरयं हीलेंति, निंदंति, खिंसंति, गरहंति, अवमण्णंति, तज्जिंति, तालिंति, परिवहेंति, पव्वहंति, आकड्ढाविकड्ढिं करेंति, हीलेत्ता०जाव आकड्ढविकड्ढिं करेत्ता एगंते एडंति, एडंतित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। तए णं ते ईसाणकप्पवासी बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य बलिचंचारायहाणिवत्थव्वएहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य तामलिस्स बालतव–स्सिस्स सरीरयं हीलिज्जमाणं निंदिज्जमाणं खिंसिज्जमाणं०जाव आकड्ढविकड्ढिं कीरमाणं पासंति, पासंतित्ता आसुरुत्ता०जाव मिसिमिसेमाणा जेणेव ईसाणे देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं बद्धावेंति, बद्धावेंतित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य देवाणुप्पिये कालगए जाणेत्ता ईसाणे य कप्पे इंदत्ताए उववण्णे पासेत्ता आसुरुत्ता०जाव एगंते एडंति, एडंतित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगए। तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया तेसिं ईसाणकप्पवासीणं बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते०जाव मिसिमिसेमाणे तत्थेव सयणिज्जवरगए तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु बलिचंचारायहाणिं अहे सपक्खिं सपडिदिसिं समभिलोएइ, तए णं सा बलिचंचा रायहाणी ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा अहे सपक्खिं सपडिदिसिं समभिलोइया समाणा तेणं दिव्वप्पभावेणं इंगालभूया मुम्मुरभूया छारिभूया तत्तकवेल्लयभूया तत्तासमजोइभूया जाया यावि होत्था। तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तं बलिचंचारायहाणिं इंगालभूयं०जाव समजोइभूयं पासंति, पासंतित्ता भीया उत्तत्था तसिया उव्विग्गा संजायभया सव्वओ समंता आधावंति, परिधावंति, परिधावंतित्ता अण्णमण्णस्स कायं समतुरंगेमाणा चिट्ठंति। तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंदं देवरायं परिकुवियं जाणित्ता ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुत्तिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं तेयलेस्सं असहमाणा सव्वे सपक्खिं सपडिदिसिं ठिच्चा करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावंति, वद्धावंतित्ता एवं वयासी–अहो णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी०जाव अभिसमण्णागया, तं दिट्ठा णं देवाणुप्पियाणं दिव्वा देविड्ढी० जाव लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया खोमेमो णं देवाणुप्पिया! खमंतु मं देवाणुप्पिया! खमंतुमरिहंतु णं देवाणुप्पिया! नाइभुज्जो भुज्जो एवं करणयाए त्ति कट्टु एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामंति; तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया तेहिं बलिचंचोरायहाणिवत्थव्वेहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामिए समाणे तं दिव्वं देविड्ढिं०जाव तेयलेस्सं पडिसाहरइ, तप्पभिइं च णं गोयमा! ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंदं देवरायं आढंति०जाव पज्जुवासंति; ईसाणस्स य देविंदस्स देवरण्णो आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठंति।

एवं खलु गोयमा ! ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी० जाव अभिसमण्णागए। ईसाणस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! साइरेगाइं दोसागरोवमाणि ठिई पण्णत्ता ईसाणे णं भंते ! देविंदे देवराया ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं०जाव कहिं गच्छहिंति कहिं उववज्जिहिंति ? गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति०जाव अंतं काहिंति। भ०३ श०१उ०।

तामस पुं०(तामस) नमसि अन्धकारे अविद्यागुणे वा रतः अण्। सर्पे, उलूके, खले च। तमसा गुणभेदेन निर्वृत्तम्, अण्। साङ्ख्योक्ते तन्मात्रेभ्यो अहङ्काराऽऽदौ, त्रि०। तमसः राहोरपत्यम्, अण्। राहुसुतेषु ज्योतिषोक्तेषु केतुषु, तमसा व्याप्ता, अण्। ङीप्। रात्रौ, जटामास्यां, तमोऽधिकायां स्त्रियां च। वाच०। अज्ञानपरिणामे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

तामिस्स न०(तामिस्र) तमिस्रमस्त्यस्मिन्, अण्। साङ्ख्योक्तेऽष्टादशविधे विपर्ययरूपाज्ञानभेदे, वाच०। स्या०। भोगेच्छाप्रतिघातनो क्रोधे, तमिस्रा चारिणि राक्षसे च। अन्धकारमये नरकभेदे, न०। वाच०।

तामोतर पुं०(दामोदर) "चूलिकापैशाचिके तृतीयचतुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥८।४।३२५॥ इति चूलिकायां पैशाच्यां च दकारस्य तकारः। प्रा०४ पाद। "तदोस्तः" ॥८।४।३०७॥ इति पैशाच्यां दस्य तः। प्रा०४पाद। विष्णौ, वाच०।

ताय पुं०(तात) पितरि, भ०३३ श०६उ०।

तायत्तीसग स्त्री०(त्रयस्त्रिंशत्) त्रयधिकायां त्रिंशति, भ०३ श०१उ०। प्रज्ञा०।

***त्रायस्त्रिंश** पुं०। इन्द्राणां पूज्ये महत्तरकल्पे, उपा०२ अ०। स्था०। कल्प०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णामं णयरे होत्था। वण्णओ–दूइपलासए चेइए सामी समोसढे० जाव परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे०जाव उड्ढंजाणू० जाव विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी सामहत्थी णामं अणगारे पगइभद्दए जहा रोहे०जाव उड्ढंजाणू०जाव विहरइ। तए णं से सामहत्थी अणगारे जायसड्ढे०जाव उट्ठाए उट्ठेइत्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं तिक्खुत्तो० जाव पज्जुवासेमाणे एवं वयासी–अत्थि णं भंते ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तायत्तीसगा देवा? एवं खलु सामहत्थी! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे कायंदी णामं णयरी होत्था। वण्णओ। तत्थ णं कायंदीए णयरीए बायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा परिवसंति अड्ढ०जाव अपरिभूया अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा, वण्णओ० जाव विहरंति। तए णं ते तायत्तीसं सहाया गाहावइ-समणोवासगा पुव्विं उग्गा उग्गविहारी संविग्गा संविग्गविहारी भवित्ता तओ पच्छा पासत्था पासत्थविहारी ओसण्णा ओसण्णविहारी कुसीला कुसीलविहारी अहाच्छंदा अहाच्छंदविहारी बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, पाउणंतित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसंति, झूसंतित्ता तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदेंतित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसगा देवत्ताए उववण्णा। जप्पभिइं च णं भंते ! कायंदगा तायत्तीसं सहाया समणोवासगा चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीमगदेवत्ताए उववण्णा, तप्पभिइं च णं भंते ! एवं वुच्चइ–चमरस्स असुरिंदस्स असुर–कुमाररण्णो तायत्तीसगा देवा २? तत्थ णं भगवं गोयमे साम–हत्थिणा अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए वितिगिंछिए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता सामहत्थिणा अणगारेणं सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी–अत्थि णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसगा देवा? हंता अत्थि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–एवं तं चेव सव्वं भाणियव्वं०जाव तप्पभिइं च णं एवं वुच्चइ–चमरस्स असुरिंद–स्स असुररण्णो तायत्तीसगा देवा? नो इणट्ठे समट्ठे। एवं खलु गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तायत्तीस–गाणं देवाणं सासए नामधेज्जे पण्णत्ते; जं न कदाइ नासी, न कदाइ न भवइ० जाव णिच्चे अव्वोच्छित्तिनयट्ठयाए अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति। अत्थि णं भंते ! बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो तायत्तीसगा देवा? हंता अत्थि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–बलिस्स वइरोयणिंदस्स ०जाव तायत्तीसगा देवा? एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेण तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विभेले णामे सन्निवेसे होत्था। वण्णओ। तत्थ णं विभेले सन्निवेसे जहा चमरस्स ०जाव उववण्णा। तप्पभिइं च णं भंते ! ते विभेलगा तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा बलिस्स वइरोयणिंदस्स सेसं तं चेव० जाव णिच्चे अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति। अत्थि णं भंते ! धरणस्स नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो तायत्तीसगा देवा? हंता अत्थि। से केणट्ठेणं०जाव तायत्तीसगा देवा? गोय–

मा ! धरणस्स नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो तायत्तीसगाणं देवाणं सासए नामधेज्जे पण्णत्ते । जं न कदाइ नासी० जाव अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति ! एवं भूयाणंदस्स वि, एवं० जाव महाघोसस्स वि । अत्थि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो पुच्छा? हंता अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ! ०जाव तायत्तीसगा देवा? एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे बालाए णामं सन्निवेसे होत्था । वण्णओ । तत्थ णं बालाए सन्निवेसे तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा, जहा चमरस्स०जाव विहरंति । तए णं ते तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा पुव्विं पि पच्छा वि उग्गा उग्गविहारी संविग्गा संविग्गविहारी बहूइं वासाइं समणो–वासगपरियागं पाउणंति, पाउणंतित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदें ति, छेदें तित्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा०जाव उववण्णा । जप्पभिइं च णं भंते ! ते बालाए तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा, सेसं जहा चमरस्स ०जाव अण्णे उववज्जंति । अत्थि णं भंते ! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो एवं जहा सक्कस्स, णवरं चंपाए णयरीए०जाव उववण्णा । जप्पभिइं च णं भंते! ते चंपिच्चा तायत्तीसं सहाया, सेसं तं चेव ०जाव अण्णे उववज्जंति । अत्थि णं भंते ! सणंकुमारस्स देविंदस्स देवरण्णो पुच्छा? हंता अत्थि । से केणट्ठेणं? जहा धरणस्स तहेव, एवं०जाव पाणयस्स, एवं अच्चुयस्स०जाव अण्णे उववज्जंति ।

(तेणमित्यादि) (तायत्तीसग त्ति) त्रयस्त्रिंशा मन्त्रिकल्पाः। (तायत्तीसं सहाया गाहावइ त्ति) त्रयस्त्रिंशत्परिमाणाः सहायाः परस्परेण साहाय्यकारिणो गृहपतयः कुटुम्बनायकाः (उग्ग त्ति) उग्रा उदात्ता भावतः (उग्गविहारि त्ति) उदात्ताऽऽचाराः सदनुष्ठानत्वात् (संविग्ग त्ति) संविग्ना मोक्षं प्रति प्रचलेताः, संसारभीरवो वा (संविग्गविहारि त्ति) संविग्नविहारः संविग्नानुष्ठानमस्ति येषां ते तथा। (पासत्थ त्ति) ज्ञानाऽऽदिबहिर्वर्तिनः (पासत्थविहारि त्ति) आकालं पार्श्वस्थसमाचाराः । (ओसन्नि त्ति) अवसन्ना इव श्रान्ता इवावसन्ना आलस्यादनुष्ठानासम्यक्करणात् (ओसन्नविहारि त्ति) आजन्मशिथिलाचारा इत्यर्थः । (कुसील त्ति) ज्ञानाऽऽद्याचाराविराधनात्। (कुसीलविहारि त्ति) आजन्माऽपि ज्ञानाऽऽद्याचारविराधनात्। (आहाच्छंद त्ति) यथाकथञ्चिन्नाऽऽगमपरतन्त्रतया छन्दोऽभिप्राया बोधः प्रवचनार्थेषु येषां ते यथाच्छन्दाः । ते चैकदाऽपि भवन्तीत्यत आह– (अहाच्छंदविहारि त्ति) आजन्माऽपि यथाच्छन्दा एवेति । (तप्पभिइं च णं ति) यत्प्रभृति त्रयस्त्रिंशत्– संख्योपेतास्ते श्रावकास्तत्रोत्पन्नास्तत्प्रभृति च पूर्वमिति। भ० १० श०४उ०।

ताय पुं०(तात) 'ताअ' शब्दार्थे, प्रा०१ पाद।

तायय पुं०(तातक) स्वार्थे कन्। पितरि, उत्त०२ अ०।

तार पुं०(तार) स्वार्थे णिच्–अच्। प्रेरणे णिच्। करणाऽऽदौ वा घञ्। वानरभेदे, शुद्धमुक्तायां प्रणवे, देवीप्रणवे, हीङ्करणे, वाच०। ज्ञा०। गीयतां मूर्धानमभिधनन् स्वर उच्चैस्तरो भवतिस्थानकं च द्वितीयं तृतीयं वा समधिरोहति–इत्येवंरूपे शिरोजातध्वनौ, रा०। नक्षत्रे, नेत्रमध्यस्थकनीनिकायां च । न०। स्त्री०। रूप्ये, न०। अत्युच्चनादे, अत्युच्चे, निर्मले च । त्रि०। महाविद्याभेदे, बालिपत्न्यां, बृहस्पतिभार्यायां च। स्त्री०। वाच०।

तारग न०(तारक) तारयत्यगाधात् संसारपयोधेर्योगिनमित्यन्वर्थिक्या संज्ञया तारकमुच्यते। विवेकजे ज्ञाने, द्वा० २६ द्वा०। कल्प०। रा०। स०। द्वितीये प्रतिवासुदेवे, पुं०। प्रव०२११ द्वार०। ति०।

तारगग्गह पुं०(तारकग्रह) तारकाऽऽकारा ग्रहास्तारकग्रहाः । नवग्रहे, तत्र च चन्द्राऽऽदित्यराहूणां तारकाऽऽकारत्वादन्ये षट् तथोक्ताः। ''छ तारगग्गहा पण्णत्ता । तं जहा–सुक्के, बुधे, बहस्सई, अंगारए, सणिच्चरे, केऊ'' (सुक्के त्ति) शुक्रः, (बहस्सइ त्ति) बृहस्पतिः। अङ्गारको मङ्गलः, (सनिच्चरे त्ति) शनैश्चर इति । स्था०६ ठा०।

तारगा स्त्री०(तारका) पुण्यभद्रस्य यक्षेन्द्रस्य यक्षराजस्य तुर्यायामग्रमहिष्याम्, स्था०४ ठा०१ उ०। (अस्याः पूर्वोत्तरभवकथा 'अग्गमहिषी' शब्दे प्र०भा० १७१ पृष्ठे उक्ता) अष्टाशीतिग्रहाणां, सर्वतारकाणां च मण्डलानि कति सन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–यथा चन्द्रसूर्ययोर्मण्डलानां संख्याऽऽदिविचारः शास्त्रे उपलभ्यते, न तथा परग्रहाणां, तथा तारकाणां मण्डलान्यवस्थितान्येव भवन्ति, न तु चन्द्रसूर्यमण्डलवदनियतानीति। २२३ प्र०। सेन०३उल्ला०। ज्योतिषि नक्षत्रे, अणु०३ वर्ग १ अ०। सूत्र०। अश्विन्यादिनक्षत्रेषु, सूत्र०२ श्रु० ६ अ०।

तारग्ग न०(ताराग्र) तारापरिमाणे, चं०प्र०१ पाहु । सू०प्र०। पं०सं०। (तद्य 'णयखत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७७१ पृष्ठे उक्तम्)

तारण पुं०(तारण) तारयत्यनेन ल्युट्। मेलके, ६० वर्षमध्ये ''शस्त्रं भवति सामान्यं, तारणे सुरवन्दिते'' इत्युक्ते वत्सरभेदे च। तारयितरि, त्रि०। वाच०। तीर्थभेदे, तारणे विश्वकोटिशिलायां श्रीअजितः । ती० ४३ कल्प०।

तारत्तर (देशी) मुहूर्ते, दे०ना० ५ वर्ग १० गाथा।

तारय त्रि०(तारक) तारगशब्दार्थे, द्वा० २६ द्वा०।

तारवई स्त्री०(तारवती) संभारपुरराजबन्धुमारस्य अङ्गारवतीभा–र्यायां जातायां दुहितरि, आ०चू०४अ०।

तारा स्त्री०(तारा) स्वनामख्यातायां सुग्रीवभार्यायाम्, तस्याश्च कृते संग्रामोऽभूत् । (प्रश्न०) तथाहि–किष्किन्धापुरे बालिसुग्रीवाभिधानावादित्यारथाभिधानस्य विद्याधरस्य सुतौ वानरविद्यावन्तौ विद्याधरौ बभूवतुः । तत्र– ''अहि माणेण य बाली, दाऊणिवरस्स तं नियं रज्जं । सिद्धो कयपव्वज्जो, सुग्गीवो कुणइ पुण रज्जं ॥१॥'' तस्य भार्या ताराऽभिधाना च। ततः कश्चित्खेवराधिपः साहसगत्पनिधानस्तः–

रापरिभोगलालसः सुग्रीवरूपं विधायान्तःपुरं प्रविवेश। तया च विह्वैः प्रत्यभिज्ञाय निवेदितो जम्बुवदादिमन्त्रिमण्डलस्य। तत्र सुग्रीवद्वयमुपलभ्य किमिदमाश्चर्यमिति विस्मयं जगाम। ततश्च–''णिद्धाडिया य दोन्नि वि, पुरओ ते मंतिवग्गवयणेण। जुज्झंति मच्छरेण य, वलिता एस अलियसुग्गीवो ॥१॥'' ततश्चासौ सत्य–सुग्रीवो हनुमदभिधानस्य महाविद्याधरराजस्य नत्वा निवेदयति स्म। स त्वागत्य तयोर्विशेषमजानन्नकृतोपकारः स्वपुरमगमत्। ततश्च लक्ष्मणविनाशितखरदूषणसंबन्धिनि पातालललङ्कापुरे राज्यावस्थं राममेवमालोक्य शरणं प्रपन्नः। ततस्तेन सह गतः सलक्ष्मणो रामः किष्किन्धापुरे स्थितो बहिः। कृतश्च सुग्रीवेण बाहुशब्दः, तमुपश्रुत्य समागतोऽसावलीकसुग्रीवो रथाधिरूढो रणरसिकः सन्। तयोर्विशेषमजानन् तद्बलं च रामश्च स्थितो उदासीनः। कदर्थितः सुग्रीव इतरेण। रामस्य गत्वा निवेदितं सुग्रीवेणदेव! तव पश्यतोऽप्यहं कदर्थितः। तेन रामेणोक्तम्–कृतचिह्नः पुनर्युद्धयस्व। ततोऽसौ पुनर्युद्धयमानो रामेण शरप्रहारेण पञ्चत्वमापादितः। सुग्रीवश्च तारया सह भोगान् बुभुजे। प्रश्न०४ आश्र०द्वार। दर्श०। ज्योतिष्कभेदे, स्था०५ ठा०१उ०। स०। ज्योतिर्विमानरूपे, कृत्तिकाऽदिषु च नक्षत्रेषु, (तारप्रमाणं 'णक्खत्तं' शब्दे चाऽस्मिन्नेव भागे १७७१ पृष्ठे, 'चंद' शब्दे तृतीय भागे १०६४ पृष्ठे उक्तम्)

''छप्पंच तिन्नि एगं, छउ तिग रस वेय जुयल जुयलं च।
इंदिय एगं एगं, विसवग्गि उ समुद्द वारसगं ॥१॥
चउरो तिय तिय पंच य, सत्त य बे बे भवे तिया तिन्नि।
रिक्खे तारपमाणं, जइ तिहिंतुल्लं हयं कज्जं ॥२॥'' इति।

इह चैकस्थानकानुरोधान्नक्षत्रत्रयस्य ताराप्रमाणमुक्तं, शेषनक्षत्राणां तु प्रायोऽग्रेतनाध्ययनेषु तद्वक्ष्यति, यस्तु क्वचिद्विसंवादस्ताराप्रमाणस्य तथाविधप्रयोजनेषु तिथिविशेषस्य नक्षत्रविशेषयुक्त–स्याशुभत्वसूचनार्थत्वेनोक्तगाथयोर्मतान्तरभूतत्वान्न बाधक इति। स्था०१ ठा०। ''तारारूवे चलेज्जा।'' स्था०३ ठा०१उ०। अश्विन्यादिनक्षत्रेषु, (सूत्र०) नक्षत्रे, सूत्र०१ श्रु०६अ०।

तिहिं ठाणेहिं तारारूवे चलेज्जा–विकुव्वमाणे वा, परियारेमाणे वा, ठाणाओ वा ठाणं संकममाणे तारारूवे चलेज्जा॥

(तिहिं इत्यादि) (तारारूवे त्ति) तारकमात्रम्, (चलेज्जा) स्व–स्थानं त्यजेत्, वैक्रियं कुर्वद्वा (परिचारेमाणे वा) मैथुनार्थं संरम्भयुक्तमित्यर्थः। स्थानकाद्वैकस्मात् स्थानान्तरं संक्रामद् गच्छदित्यर्थः। यथा धातकीखण्डाऽऽदि गेरुं परिहरदित्यर्थः। अथवा क्वचिन्महर्द्धिके देवाऽऽदौ चमरवद्वैक्रियाऽऽदि कुर्वति सति तन्मार्गदानार्थं चलेदिति। उक्तञ्च–''तत्थ णं जे से बाघाइए अंतरे से जहण्णेणं दोन्नि छावट्ठिजोयणसए, उक्कोसेणं बारसजोयण-सहस्साइं।'' इति। तत्र व्याघातिकमन्तरं महर्द्धिकदेवस्य मार्गदानादिति। स्था०३ ठा०१उ०। परशुराममारितस्य कार्तवीर्यस्य भार्यायामष्टमचक्रवर्तिनः सुभूमस्य मातरि, आ०म०१ अ०२ खण्ड। स०। आव०। जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरे रक्तानदीसङ्गतायां महानद्याम्, स्था०१० ठा०। योगदृष्टिभेदे, द्वा०।

तारायां तु मनाक् स्पृष्टं, दर्शनं नियमाः शुभाः।
अनुद्वेगो हिताऽऽरम्भे, जिज्ञासा तत्त्वगोचरा॥१॥

(तारायामिति) तारायां पुनर्दृष्टौ मनागीषत् स्पृष्टं मित्रापेक्षयाः दर्शनं शुभाः प्रशस्ता नियमा वक्ष्यमाणा इच्छाऽऽदिरूपाः। तथा–हिताऽऽरम्भे पारलौकिकप्रशस्तानुष्ठानप्रवृत्तिलक्षणेऽनुद्वेगः। तथा–तत्त्वगोचरा तत्त्वविषया, जिज्ञासा ज्ञातुमिच्छा। अद्वेषत एव तत्प्रतिपत्त्यानुगुण्यात्॥१॥

नियमाः शौचसन्तोषौ, स्वाध्यायतपसी अपि।
देवताप्रणिधानं च, योगाऽऽचार्यैरुदाहृताः॥२॥

(नियमा इति) शौचं शुचित्वं, तद् द्विविधम्–बाह्यम्, आभ्यन्तरं च। बाह्यं मृज्जलाऽऽदिभिः कायप्रक्षालनम्, आभ्यन्तरं मैत्र्याऽऽदि–भिश्चित्तमलप्रक्षालनम्। सन्तोषः सन्तुष्टिः, स्वाध्यायः प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपः, तपः कृच्छ्रचान्द्रायणाऽऽदि, देवताप्रणिधानमीश्वरप्रणिधानम्–सर्वक्रियाणां फलनिरपेक्षतयेश्वरसमर्पणलक्षणम्। एते योगाऽऽचार्यैः पतञ्जल्यादिभिर्नियमा उदाहृताः। यदुक्तम्–''शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।'' (२-३२) इति॥२।

शौचभावनया स्वाङ्ग–जुगुप्साऽन्यैरसङ्गमः।
सत्त्वशुद्धिः सौमनस्यैकाग्र्याऽक्षजययोग्यताः॥३॥

(शौचेति) शौचस्य भावनया स्वाङ्गस्य स्वकायस्य कारणरूपपर्यालोचनद्वारेण जुगुप्सा घृणा भवति, ''अशुचिरयं कायो नात्राऽऽग्रहः कर्तव्यः।'' इति। तथा चान्यैः कायवद्भिरसङ्गमस्तत्संपर्कपरिवर्जनमित्यर्थः। यः किल स्वयमेव कायं जुगुप्सते, तदौदवद्यदर्शनात्, स कथं परकीयैस्तथाभूतैः कायैः संसर्गमनुभवति? तदुक्तम्–''शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।'' (२-४०) इति। तथा सत्त्वस्य प्रकाशसुखाऽऽत्मकस्य, शुद्धौ रजस्तमोभ्यामनभिभवः। सौमनस्यं खेदानुभवेन मानसी प्रीतिरैकाग्र्यं नियते विषये चेतसः स्थैर्यम्, अक्षाणामिन्द्रियाणां जयो विषयपराङ्मुखानां स्वात्मन्यवस्थानं, योग्यता चात्मदर्शने विवेकख्यातिरूपे समर्थत्वम्। एतावन्ति फलानि शौचभावनयैव भवन्ति। तदुक्तम्–''सुसत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयाऽऽत्मदर्शन-योग्यत्वानि चेति।'' (२-४१)॥३॥

संतोषादुत्तमं सौख्यं, स्वाध्यायादिष्टदर्शनम्।
तपसोऽङ्गाक्षयोः सिद्धिः, समाधिः प्रणिधानतः॥४॥

(संतोषादिति) संतोषात् स्वभ्यस्ताद् योगिन उत्तममतिशयितं सौख्यं भवति, यस्य बाह्येन्द्रियप्रभवं सुखं शतांशेनापि न समम्। तदाह–''संतोषादनुत्तमः सुखलाभः'' (२-४२) स्वाध्यायात् स्वभ्यस्तादिष्टदर्शनं जप्यमानमन्त्राभिप्रेतदेवतादर्शनं भवति। तदाह–''स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः'' (२-४४) तपसः स्वभ्यस्तात् क्लेशाऽशुद्धिक्षयद्वाराऽङ्गाक्षयोः कायेन्द्रिययोः सिद्धिः, यथेप्सितमणुत्वमहत्त्वाऽऽदिप्राप्तिः सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शनसामर्थ्यलक्षणोत्कर्षः स्यात्। यथोक्तम्–''कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः।'' (२-४३)। प्रणिधानात् ईश्वरप्रणिधानात् समाधिः स्याद्, ईश्वरभक्त्या प्रसन्नो ह्यीश्वरोऽन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिमुद्बोधयतीति। यथोक्तम्–''समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानादिति।'' (२-४५) तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानां त्रयाणामपि च शोभनाध्यवसायलक्षणत्वेन क्लेशकार्यप्रतिबन्धद्वारा समाध्यनुकूलत्वमेव श्रूयते। यदुक्तम्–''तपः

स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः''(२-१) ''समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्चेति।'' (२-२) ॥४॥

विज्ञाय नियमानेतानेवं योगोपकारिणः।
अत्रैतेषु रतो दृष्टौ, भवेदिच्छाऽऽदिकेषु हि ॥५॥

(विज्ञायेति) एतान् शौचाऽऽदीन्नियमान् एवं स्वाङ्गजुगुप्साऽऽदि-साधनत्वेन योगोपकारिणः समाधिनिमित्तान् विज्ञाय। अत्र तारायां दृष्टावेतेषु इच्छाऽऽदिकेषु हि नियमेषु रतो भवेत्, तथा-ज्ञानस्य तथारुग्निहेतुत्वात्। तदत्र काचित् प्रतिपत्तिः प्रदर्शिता ॥५॥

भवत्यस्यामविच्छिन्ना, प्रीतिर्योगकथासु च।
यथाशक्त्युपचारश्च, बहुमानश्च योगिषु ॥६॥

(भवतीति) अस्यां दृष्टावविच्छिन्ना भावप्रतिबन्धसारतया बिच्छेद-रहिता, योगकथासु प्रीतिर्भवति, योगिषु भावयोगिषु, यथाशक्ति स्वशक्त्यौचित्येनोपचारश्च ग्रासाऽऽदिसंपादनेन, बहुमानश्चाभ्युत्थान-गुणगानाऽऽदिना। अयं च शुद्धपक्षपातपुण्यविपाकाद् योगवृद्धिलाभा-न्तरशिष्टसंमतत्वक्षुद्रोपद्रवहान्यादिफल इति ध्येयम् ॥६॥

भयं न भवजं तीव्रं, हीयते नोचिता क्रिया।
न चानाभोगतोऽपि स्यादत्यन्तानुचितक्रिया ॥७॥

(भयमिति) भवजं संसारोत्पन्नं तीव्रं भयं न भवति, तथा-अशु-भाऽप्रवृत्तेरुचिता क्रिया क्वचिदपि कार्ये न हीयते, सर्वत्रैव धर्माऽऽदरात्। न चानाभोगतोऽप्यज्ञानादप्यत्यन्तानुचितक्रिया साधुजननिन्दाऽऽ-दिका स्यात् ॥७॥

स्वकृत्ये विकले त्रासो, जिज्ञासा सस्पृहाऽधिके।
दुःखोच्छेदार्थिनां चित्रे, कथंताधीः परिश्रमे ॥८॥

(स्वकृत्य इति) स्वकृत्ये स्वाचारे कायोत्सर्गकरणाऽऽदौ, विकले विधिहीने, त्रासो ''हा ! विराधकोऽहम्'' इत्याशयलक्षणः, अधिके स्वभूमिकापेक्षयोत्कृष्टे आचार्याऽऽदिकृत्ये, जिज्ञासाकथमेतदेवं स्यात् ? इति सस्पृहाऽभिलाषसहिता। दुःखोच्छेदार्थिनां संसार क्लेशजिहा-सूनाम्, चित्रे नानाविधे, परिश्रमे तत्तन्नीतिप्रसिद्धक्रियायोगे, कथंताधीः कथंता बुद्धिः। कथं नानाविधा मुमुक्षुप्रवृत्तिः कात्स्न्येन ज्ञातुं शक्यत इति। तदाह-''दुःखरूपो भवः सर्व, उच्छेदोऽस्य कुतः कथम्? चित्रा स्तां प्रवृत्तेश्च, सा शेषा ज्ञायते कथम्? ॥१॥'' ॥८॥

नास्माकं महती प्रज्ञा, सुमहान् शास्त्रविस्तरः।
शिष्टाः प्रमाणमिह त-दित्यस्यां मन्यते सदा ॥९॥

(नेति) नास्माकं महती प्रज्ञाऽविसंवादिनी बुद्धिः, स्वप्रज्ञाकल्पिते विसंवाददर्शनात्। तथा-सुमहानपारः शास्त्रस्य विस्तरः, तत्तस्मात् शिष्टाः साधुजनसंमताः प्रमाणमिह प्रस्तुतव्यतिकरे, यत्तैराचरितं तदेव यथाशक्ति सामान्येन कर्तुं युज्यत इत्यर्थः। इत्येतदस्यां दृष्टौ, मन्यते सदा निरन्तरम् ॥९॥ द्वा० २२ द्वा०।

ताराचंद पुं०(ताराचन्द्र) श्रावस्तीराजराजकुमारे, ध०२०।

तत्कथा चैवम्-

अत्थि पुरी सावत्थी, नेवऽत्थि इहं पुरी मम सरिच्छा।
जिणगिहठियधयचलनच्छलेण इय कहइ जा निच्चं ॥१॥
तत्थ य पणमिरनरवर-वररयणपहापहासिकमकमलो।
आइवराहो नामेण पत्थिवो अत्थि सुपसिद्धो ॥२॥
ताराचंदा तस्सासि नंदणो नंदणो गुणतरुणं।
वररायलक्खणधरो, रूवेण विजियरइनाहो ॥३॥
सो बालकालओ वि हु, पव्वज्जागहणबद्धपरिणामो।
हयगयधणसयणाऽऽइसु, चिट्ठइ पडिबंधपडिमुक्को ॥४॥
न कुणइ जलाइकेलिं, न य दूसइ कं पि फरुसभासाए।
न हसइ न चेव विलवइ, न य वाहइ पवरकरितुरगे ॥५॥
सह पंसुकीलिएहि वि, मित्तेहि समं रमेइ न कया वि।
मल्लालंकारविलेवणाऽऽइववहार णो कुणइ ॥६॥
अइसयविसयविरत्तं, कया वि कुमरं निएवि नरनाहो।
तम्मणवामोहकए, जुवरायपए तयं ठवइ ॥७॥
नियपुत्तरज्जविग्घं, चिंततीए सवत्तिजणणीए।
हणणत्थं तस्स रहे, भक्खजुयं कम्मणं दिन्नं ॥८॥
तो तस्स जायमगं, विहुरमसारं दुगुंछणिज्जं च।
तयणु घणसोगभरिओ, कुमरो इय चिंतए चित्ते ॥९॥
रोगभरविहुरियाणं, अधणाणं सयणपरिभवहयाणं।
जुज्झइ मरणं देसं-तरे व गमणं सुपुरिसाणं ॥१०॥
ता मह खणं पि न खडं, विणट्ठदेहस्स निवसिउं इत्थ।
निच्चं दुज्जणकरअंगुलीहि दंसिज्जमाणस्स ॥११॥
इय चिंतिऊण सणियं, अवगणिउं परियणं स रयणीए।
नीहरिऊ गेहाओ, पुव्वदिसाभिमुहमुहो चलिओ ॥१२॥
मंदु व्व मंदमंदं, सो गच्छंतो कमेण विमणमणो।
संमेयगिरिसमीवे, पत्तो एगम्मि नयरम्मि ॥१३॥
गयणऽग्गलग्गअइचं-गसिंगपब्भाररूद्धादिसिपसरं।
तत्तो संडेयगिरिं, सणियं सणियं स आरूढो ॥१४॥
विहियकरचरणसुद्धी, सरसाओ गहिय सरससरसिरुहे।
अजियाइजिणिंदे पू-इऊण भत्तीइ इय थुणइ ॥१५॥
जय अजियनाह ! अइसयसणाह !
जय संभव ! समियभवऽग्गिदाह !
अभिनंदण ! नंदियभवियनियर !
मह सुमइं सुमइजिणेस ! वियर ॥१६॥
जय पहु ! पउमप्पह ! अरुणकंति !
जय देव ! सुपास ! पयासकित्ति !
चंदप्पह ! चंदसुकंतदंत !
देवाहिदेव ! जय पुप्फदंत ! ॥१७॥
जय सीयल ! सीलियसुद्धचरण !
सिज्जंस ! सुरासुरपणयचरण !
जय विमल ! विहियवच्छरियदाण !
जय देव ! अणंत ! अणंतनाण ! ॥१८॥
जय धम्म ! पयासियसुद्धधम्म !
सिरिसंति ! विहियजयसंतिकम्म !
जय कुंथु ! पमंथियमोहमल्ल !
अरनाह ! पणासियसयलसल्ल ! ॥१९॥
जय मल्लि ! मलियरागारिवार !
मुणिसुव्वय ! सुव्वयधरणसार !
जय जय नमि ! नमियसुरिंदवग्ग !
सिरिपास ! पयासियमुक्खमग्ग ! ॥२०॥
इय थुणिय जिणेसर नमिरसुरेसर,
भत्तिब्भरनिब्भरमणेण।
तुट्ठउ निवनंदणु बहुपुलइयतणु,

जा पिच्छइ दसदिसि खणिण ॥२१॥
ता ससहरकरसुंदरपसरंतमहंतकंतिदिप्पंतं।
ईसिं ओणमियतणुं, चरणभरेणं व अक्कंतं ॥२२॥
हिट्ठामुहलंबियसुप्पलंबकरनहमऊहरज्जूहिं।
नरयाऽवडनिवडियजंतुजायमागरिसयंतं व ॥२३॥
कणयाचलनिच्चलचलणअंगुलीविमलपहनहडिसेण।
फुडपयमंतं पि व खंतिपमुदसविहसमणधम्मं ॥२४॥
गिरिकंदरगयमुरुसग्गसंठियं सो निए वि मुणिमेगं।
परमप्पमोयकलिओ, पत्तो मुणिवरससीवम्मि ॥२५॥
तो लद्धिनीरनिहिणो, जियसुरतरुकामधेणुमाहप्पं।
मुणिणो से पयजुयलं, सिरसा तुट्ठो परामुसइ ॥२६॥
अह मुणिमाहप्पेणं, तक्खालं चिय पणट्ठ विव रोगो।
ताराचंदो जाओ, अब्भहियसुरूवरूवधरो ॥२७॥
तं मुणिणो माहप्पं, जा चिट्ठइ दट्ठु विम्हिओ कुमरो।
ता विज्जाहरजुयलं, गयणतलाओ समोसरियं ॥२८॥
हरिसवसवियसियऽच्छं, पणमिय चलणुप्पलं च से मुणिणो।
अगणियगुणगणममलं, थोउ निसन्नं महीपीढे ॥२९॥
कुमरेण तओ भणियं, कत्तो तुम्हाण इह समागमणं ?
केण य कज्जेण तओ, वुत्तं विज्जाहरेण इमं ॥३०॥
वेयड्ढगिरिवराओ, मुणिणमेयं नंतु वयमिहं पत्ता।
कुमरेणुत्तं को एस मुणिवरो आह इय खयरो ॥३१॥
आसी इह वेयड्ढे, राया वरखयरविसरनमियकमो।
घणवाहणु त्ति नामेण नामियासेसरिउचक्को ॥३२॥
अन्नदिणे जम्ममरण–रोगकारणयभीमभवभीमो।
सो सुचिरप्पदढो मोह वल्लिमुल्लूरिय खणेण ॥३३॥
जरचीवरं व चइउं, रज्जं सज्जो गहेवि पव्वज्जं।
अणवरय मासखमणे, करेइ सो एस मुणिवसहो ॥३४॥
इय पभणिय ते खयरा, मुणिं च नमिउं गया सठाणम्मि।
हरिसियहियओ कुमरो, भत्तीए इय मुणिं थुणइ ॥३५॥
जय जय मुणिंद ! खयरिंदविंदवंदियपयारविंदजुग !
भवदुहहुयवहसंतत्तसत्तपीऊसवरिससम !॥३६॥
निज्जियतिहुयणजणमयण–सुहमभडवायभंजणपवीर !
अइउग्गरोगभरसप्पदप्पनिट्ठवणवरगरुम! ॥३७॥
एवं थुणिय मुणिंदं, जा किंचि वि विन्नविससए कुमरो।
ता उस्सग्गं पारे–वि मुणिवरो गयणमुप्पइओ ॥३८॥
तो विम्हइओ कुमरो, नमिय जिणे गिरिवराउ ओयरिओ।
गच्छंतो य कमेणं, रयणउरं नयरमणुपत्तो ॥३९॥
तत्थ य चिरकालपरूढ–गाढपणएण बालमित्तेण।
कुरुचंदेण स दिट्ठो, झडि त्ति तह पंचभिन्नाओ ॥४०॥
आलिंगिऊण गाढं, ससंभमं पुच्छिओ इमो तेण।
अच्छरियमिणं कत्तो, वयंस ! तुह इत्थ आगमणं ? ॥४१॥
कत्थ व इत्तियकालं, सावत्थीओ विणिक्खमित्ता णं।
भमिओ सि कह व संपइ, पुणो नवंगो तुमं जाओ ॥४२॥
ताराचंदेण तओ, सावत्थीनिग्गमाउ आरब्भ।
तप्पुरओ परिकहिओ, सव्वो वि हु नियवुत्तंतो ॥४३॥
कुमरेण वि तो पुट्ठं, कहेसु कुरुचंद ! मित्त ! नियवत्तं।
किं इत्थ तुहाऽऽगमणं, गमणं च पुणो कहिं होहि ! ॥४४॥
कह वा ताओ निवसइ, अवि कुसलं सयलरायचक्कस्स।
सावत्थी सुत्था सा, सगामपुरजणवया धणियं ? ॥४५॥
कुरुचंदेणं भणियं, रायाऽऽएसेण इत्थ रयणपुरे।
अहमागओऽम्हि संपइ, सावत्थीए गमिस्सामि ॥४६॥
कुसलं च रायचक्कस्स तह य नयरीइ जणवयजुयाए।
तुह दुसहविरहदुहियं, इक्कं मुत्तुं नवरि निवइं ॥४७॥
जप्पभिइ तं न दिट्ठो, तप्पभिइ निवेण पेसिया पुरिसा।
तुज्झ पउत्तिनिमित्तं, सव्वत्थ न चेव तं लद्धो ॥४८॥
तो रयणपुरागमणं, जायं मे बहुफलं महाभाग !
जं लद्धो तुममिण्हि, पुण्णेहि अतक्कियागमणो ॥४९॥
तो पसिय लहुं नरवर–नंदण ! नियदंसणाभयरसेण।
निव्वावसु पिउहिययं, दुस्सहविरहदवतवतवियं ॥५०॥
इय सप्पणयं मित्तेण पत्थिओ निवसुओ समं तेण।
पिउकारियरहसोहं, सावत्थिं नयरिमणुवत्तो ॥५१॥
पणओ य जणयचलणे, समयम्मि निवेण पुच्छिओ कुमरो।
मूला आरब्भ नियं, वुत्तंते जाव साहेइ ॥५२॥
ता विजयसेणसूरी, समोसढो तत्थ भूरिपरिवारो।
तव्वंदणवडियाए, कुमारजुत्तो निवो पत्तो ॥५३॥
नमिय मुणिंदं उचिय–ट्ठाणासीणे निवम्मि कहइ गुरू।
मंथिज्जमाणजलनिहि–उद्दामसरेण धम्मकहं ॥५४॥
इह जरजंमणसलिलं, बहुमच्छरमच्छकच्छभाऽऽइन्नं।
उल्लसिरकोववडवा–हुयवहजालोलिदुप्पिच्छं ॥५५॥
माणगिरिदुग्गमतरं, मायावल्लीवियाणअइगुविलं।
अक्खोहलोहपायालपरिगयं मोहआवत्तं ॥५६॥
अन्नाणपवणपिल्लियसंजोगविओगरंगितरंगं।
जइ भवजलनिहिमेयं, तरिउं इच्छेह भवियजणा !॥५७॥
ता सद्दंसणदढगाढबंधणं सुद्धभावगुरुफलहं।
उद्धुरसंवरसंरुद्धसयलछिद्दं अइ?णग्घं ॥५८॥
वेरग्गमग्गलग्गं, दुत्तवतवपवणजणियगुरुवेगं।
सन्नाणकन्नधारं, सरेह चारित्तवरपोयं ॥५९॥
इय सुणिय निवो निरवज्जचरणगहणुज्जुओ भणइ सूरिं।
काऊण रज्जसुत्थं, पहु ! तुह पासे गहेमि वयं ॥६०॥
मा पडिबंधं खणमपि, काही नरनाह ! इय मुणिंदेण।
वुत्तम्मि महीनाहो, पमुइयहियओ गओ सगिहं ॥६१॥
नीसेसमंतिसामं–तमंडलं पुच्छिऊण सच्छमई।
ताराचंदकुमारं, रज्जे अहिसिंचिही जाव ॥६२॥
तो विणओणयतणुणा, कयअंजलिणा पयंपियं तेण।
वयगहणानुन्नाए, ताय ! पसायं कुण ममावि ॥६३॥
जं संसारसमुद्दो, रुद्दो उद्दामदुक्खकल्लोलो।
न विणा चरणतरंगं, तीरइ तरिउं अइदुरंतो ॥६४॥
तो रन्ना पडिभणियं, जुत्तमिणं वच्छ ! नायत्तताण।
किं तु कमागयमेयं, रज्जं पालेसु कइ वि दिणे ॥६५॥
न य विक्कमसंजुत्ते,पुत्ते पच्छा ठवित्तु रज्जभरं।
कल्लाणवल्लिजलकुल्लतुल्लदिक्खं गहिज्ज तुमं ॥६६॥
इय भणिय बला वि इमं, राया रज्जे ठवित्तु गिण्हेउं।
सिरिविजयसेणपासे, दिक्खं वेमाणिएसु गओ ॥६७॥
अह ताराचंदनिवो, निच्चं वयगहणसुद्धपरिणामो।
पइसमयमुत्तरुत्तरमणोरहसए विचिंतंतो ॥६८॥
कारंतो जिणभवणे, सया वि जिणपवयणं पभावंतो।
अणुकंपादाणाऽऽइसु, जहाविहाणेण वट्टंतो ॥६९॥
नियगिहसमीवकारिय–पोसहसालाइ पासहज्जुत्तो।
सच्चरिएसु पयट्टं, अणुमोयंतो य धम्मिजणं ॥७०॥

बहुनयप्पमाणगमभंगसंगयं गुरुविचारभारसहं।
निपुणो पुव्वावर-अविरुद्धं सारसिद्धंतं ॥७१॥
रज्जधरअभावाओ, रज्जमणाहं विमुत्तुमचयंतो।
अप्पजलं मीणो इव, दुहेण गेहम्मि निवसंतो ॥७२॥
बाहिरविणीइ चिय, चिंतंतो रज्जरट्ठवावारं।
कालेण मरिउ जाओ, अच्चुयकप्पे पवरदेवो ॥७३॥
तस्सो चविय विदेहे, निवपुत्तो होउ गहियसामन्नं।
सव्वत्थ ति होऊणं, अरत्तदुट्ठो सिवं गमिही ॥७४॥
इति ज्ञात्वा ताराऽधिपतिरुचिरोविष्णुयशसो,
मुदा ताराचन्द्रक्षितिपतिलकस्याऽस्य चरितम्।
अरक्तद्विष्टास्तत्स्वजनधनदेहप्रभृतिषु,
स्फुटं धरा स्वान्तं शिवसुखकरे शुद्धचरणे ॥७५॥ ध०र०७२ गाथा।

तारापह पुं०(तारापथ) नभसि, अनु०।

तारिम त्रि०(तारिम) तरणयोग्ये, सूत्र०१ श्रु०३अ०२उ०। दृश०।

तारिस त्रि०(तादृश) **''दृशेः क्विपटक्सकः''** ॥८।१।१४२॥ इति दृशेर्धातोर्ऋतो रिरादेशः। प्रा०१ पाद। तथाविधेऽर्थे, वाच०। उत्त०। प्रश्न०। आ०म०। पाण्डवचरित्रे षोडशसर्गे, ऽष्टादशश्लोके-''छेके-ष्यन्तादृशाः स्त्रियः।(१८)'' इत्यत्र तादृशा इति शब्दे आप्प्रत्ययः कथमानीतः? टक्प्रत्ययस्यात्राऽऽगमने ईप्प्रत्ययस्यैवोक्त्वादिति प्रश्ने, उत्तरम्-टक् प्रत्ययान्तात्तादृशशब्दादीप् प्रत्ययसद् भावेऽपि तादृश इति क्विबन्ताद्भागुर्याचार्यमते नाऽऽप् प्रत्ययाऽऽगमने रूपसिद्धिरिति न कोऽपि दोषः। ६४ प्र०। सेन०१ उल्ला०।

तारुण्ण न०(तारुण्य) यौवने, उत्त०३२ अ०।

ताल पुं०(ताल) तलनं तालः। नि०चू०१२ उ०। वृक्षविशेषे, आचा०१ श्रु०१ अ०५उ०।

अथ तालपदं विवृणोति-

नामं ठवणा दविए, तालो भावे य होइ नायव्वो।
जो भविओ सो तालो, दव्वे मूलुत्तरगुणेसु ॥

नामतालः, स्थापनातालः, द्रव्यतालः, भावतालश्च भवति ज्ञातव्यः। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे। द्रव्यतालः पुनरयम्-(जो भविओ त्ति) यः खलु भव्यो भावतालपर्यायः, स च त्रिधाएकभविको, बद्धाऽऽयुष्कः, अभिमुखनामगोत्रश्च। तत्रैकभविको नामयो विवक्षितभवानन्तरं तालत्वेनोत्पत्स्यते। बद्धाऽऽयुष्को-येन तालोत्पत्तिप्रायोग्यमायुःकर्म बद्धम्। अभिमुखनामगोत्रः पुनः-विपाकोदयाभिमुखतालसंबन्धिनामगोत्रकर्मा तालत्वेनोत्पित्सया विवक्षितजीवप्रदेशः। यद्वा-द्रव्यतालो द्विविधः-मूलगुणनिवर्तितः, उत्तरगुणनिवर्तितश्च। तत्र स्वायुषः परिक्षयादपगतजीवो यः स्कन्धाऽऽदिरूपस्तालः स मूलगुणनिवर्तितः। यस्तु काष्ठचित्रकर्माऽऽदिष्वालिखितः, स उत्तरगुणनिवर्तितः। एष द्रव्यतालः।

सम्प्रति भावतालमाह-

भावम्मि होंति जीवा, जे तस्स परिग्गहे समक्खाया।
बीओ वि य आदेसो, जो तस्स वि जाणओ पुरिसो ॥

भावे भावविषयस्तालो ये जीवास्तस्य तालस्य परिग्रहे मूलकन्दाऽऽदिगतास्ते सर्वेऽपि समुदिताः सन्तो भावताल इति समाख्याताः, नोआगमत इति भावः। द्वितीयोऽप्यत्राऽऽदेशोऽस्ति यस्तस्य तालस्य विज्ञायकस्त्वभियुक्तः पुरुषः सोऽपि भावताल उच्यते, आगमत इत्यर्थः। अत्र च नोआगमतो भावतालेनाधिकारः, तस्य संबन्धि यत्फलं तदिह तालशब्देन प्रत्येतव्यम्। बृ०१ उ०। स०। आ०म०। प्रज्ञा०। स्था०। भ०। औ०। प्रश्न०। ज्ञा०। वलयाऽऽख्यवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०। १ पद। आचा०। कंसिकापरपर्याये वाद्यविशेषे, औ०। आचा०। आ०म०। जं०। ज्ञा०। स्था०। हस्ततालें, दश०२ अ०। स्था०। कंसिकाऽऽदिशब्दविशेषे, स्था०७ ठा०। वादित्रसमुदाये, नि०चू० १२उ०। आजीवकोपासकभेदे, भ० ८ श०५उ०।

तालउड न०(तालपुट) तालमात्रव्यापत्तिकरे उपविषे, उत्त० १६ अ०। दश०। आ०म०।

तालजंघ पुं०(तालजङ्घ) तालो वृक्षविशेषः, स च दीर्घस्कन्धो भवति, ततस्तालवज्जङ्घे यस्य स तथा। ज्ञा०१ श्रु० ८ अ०। स्वनामख्याते राजनि, यो हि ब्राह्मणेषु विक्रान्तः सन् विननाश। ध०१ अधि०।

तालज्झय पुं०(तालध्वज) तालनन्दनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते राजनि, तस्य तमालललता भार्याऽऽसीत्। दर्श०१ तत्त्व। शत्रुञ्जयपर्वते, ती०१ कल्प। तालो वृक्षविशेषो ध्वजा यस्य सः। बलदेवे, आ०म०१ अ०१खण्ड।

तालण न०(ताडन) चपेटाऽऽदिना निश्छोटने, उपा०७ अ०। चपेटाऽऽदिदाने, औ०। कुट्टने, प्रश्न०१ आश्र०द्वार। अन्त०। औ०। आ०म०। पञ्चा०।

तालपलंब पुं०(तालप्रलम्ब) आजीवकोपासकभेदे, भ०८ श०५ उ०।

तालपिसाय पुं०(तालपिशाच) तालो वृक्षविशेषः, तदाकारो दीर्घत्वाऽऽदिसाधर्म्यात्पिशाचो राक्षसः तालपिशाचः। दीर्घतरे पिशाचे, स्था० १० ठा०। भ०। आ०म०। व्य०। ज्ञा०। आ०क०। पिशाचभेदे, प्रज्ञा०। १पद।

तालपुड न०(तालपुट) 'तालउड' शब्दार्थे, उत्त० १६अ०।

तालफली (देशी) दास्याम्, दे०ना० ५ वर्ग ११ गाथा।

तालमत्थय न०(तालमस्तक) तालमध्यवर्तिनि गर्भे, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०८उ०।

तालमाण स्त्री०(तालमान) तालमानपरिज्ञानाऽऽत्मके कालभेदे, कल्प०७क्षण।

तालमूलय न०(तालमूलक) तालमूलाऽऽकारे अधः पृथुनि उपरि च सूक्ष्मे लवणे, कल्प० ६ क्षण।

तालविण्ट न०(तालवृन्त) **''वृन्ते ण्टः''** ॥८।२।३१॥ इति न्तस्य ण्टः। प्रा०२ पाद। व्यजने, आचा०१ श्रु० १अ०७ उ०। अणु०। दश०। द्विपुटाऽऽदिव्यजने, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। दश०। ज्ञा०। मयूरपिच्छकृतव्यजने, आचा०२ श्रु० १चू०१अ०७उ०।

तालसंवुड पुं०(तालसंपुट) पवनेरितशुष्कतालपत्रसंचये, सूत्र०१ श्रु० २ अ०१उ०।

तालसम न०(तालसम) यत्परस्पराऽऽहतहस्ततालस्वरानुवृत्तिर्भवति तत्तालसमम्। स्वरभेदे, स्था०७ठा०।

तालहल (देशी) शाल्याम्, दे०ना० ५ वर्ग ७ गाथा।

ताला अव्य०(तदा) **''डडहि-डाला-इआ काले''** ॥८।३।६५॥ इति तच्छब्दात्कालेऽभिधेये डेः स्थाने आहे आला इति डितौ, इआ इति च आदेशा वा भवन्ति। तस्मिन् काले, प्रा०३ पाद। लाजेषु, दे०ना० ५ वर्ग १० गाथा।

तालायर त्रि०(तालाचर) तालैर्वाद्यविशेषैश्चरन्तीति तालाचराः। (दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्) नि०चू० १५उ०। तालाऽऽदानेन प्रेक्षाकारिणि, औ०। प्रश्न०। जं०। विपा०। ज्ञा०। प्रज्ञा०। नटनर्तकाऽऽदिषु, बृ० ३उ०।

तालायरकम्म न०(तालाचरकर्म) प्रेक्षककर्मविशेषे, ज्ञा०१ श्रु० १३ अ०।

तालिअण्ट धा०(भ्रामि) भ्रम्- णिच्। **''भ्रमेस्तालिअण्टत-मामौ''** ॥८॥४।३०॥ इति भ्रमतेर्णन्तस्य 'तालिअण्ट' इत्यादेशः। भ्रमतां प्रेरणे, प्रा०४ पाद।

***तालवृन्त** पुं०। व्यजने, आचा०१ श्रु० १अ०७उ०।

तालिंत त्रि०(ताड्यमान) चपेटाऽऽदिभिः पीड्यमाने, ज्ञा०१ श्रु० १६अ०।

तालिज्जंत त्रि०(ताड्यमान) चपेटाऽऽदिभिः पीड्यमाने, आ० चू० १उ०।

तालिय पुं०(तालिक) तालेन करतलेन निर्वृत्तःठक्। चपेटे, वाच०।

***ताडित** त्रि०। आहते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

ताली स्त्री०(ताली) वाद्यभेदे, आ०चू० १अ०। तालेन तन्निर्यासेन निर्वृत्ता-अण्। (ताडी) तालजातसुरायाम्, जलणयन्तात् अच्। गौरा०-ङीष्। वृक्षभेदे, तालमूल्याम्, आढक्याम्, तालीशपत्राऽऽख्ये वृक्षे, तालकोद्घाटनयन्त्रे, कुञ्चिकायां च। ताम्रवल्ल्याम्, त्र्यक्षरपादके छन्दोभेदे च। वाच०।

तालु न०(तालु) तरन्त्यनेन वर्णाः। तॄ-ञुण्, रस्य लः। जिह्वेन्द्रियाधिष्ठाने स्थानभेदे, वाच०। प्रज्ञा०। ज्ञा०।

तालुग्घाडणी स्त्री०(तालोद्घाटनी) तालोद् घाटनकारिण्यां विद्यायाम्, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

तालुजिब्भ पुं०(तालुजिह्व) तालु एव जिह्वा यस्य। कुम्भीरे, तस्य जिह्वाशून्यत्वेऽपि तालुनैव रसाऽऽस्वादनात्। वाच०। प्रश्न०।

तालूर (देशी) फेने, कपित्थतरौ, दे०ना० ५ वर्ग २१ गाथा।

ताव अव्य०(तावत्) तत्परिमाणमस्य। त्रि०। **''अन्त्यव्यञ्जन-स्य''** ॥८।१।११॥ इत्यन्त्यव्यञ्जनस्य तकारस्य लोपः। प्रा०१ पाद। प्रस्तुतार्थप्रदर्शके, आ०म०१ अ०२ खण्ड। आ०चू०। सूत्र०। साकल्ये, अवधौ, माने, अवधारणे, प्रशंसायाम्, पक्षान्तरे, वाक्यभूषणे, तदेत्यर्थे च। ''भर्ताऽपि तावत् क्रथकैशिकानाम्'' इति रघुः। तत्परिमाणवति, त्रि०। स्त्रियां ङीप्। तावती। वाच०।

***ताप** पुं०। तप-घञ्। संतापे, वाच०। दुःखे, आव०४ अ०। सूर्याणा-मेव तापः, चन्द्रस्य तु प्रभासः। ''चत्तारि सूरिया तविंसु वा, तवंति वा, तविस्संति वा। चत्तारि चंदा पभासिंसु वा, पभासिंति वा, पभासिस्संति वा'' इत्यवभासस्य पार्थक्येनोक्तेः। स्था०४ ठा०२ उ०।

तावइय त्रि०(तावत्क) तत्परिमाणवति, भ०१८श०४ उ०। आ०म०।

तावंचण पुं०(तावच्चण) तावति काले, भ० १५ श०।

तावक्खेत्त न०(तापक्षेत्र) तपनं तापः सूर्यकिरणस्पर्शजनितः प्रकाशाऽऽत्मकः परितापः, तदुपलक्षितं क्षेत्रं तापक्षेत्रम्। घर्मोपलक्षिते क्षेत्रे, आ०म०१अ०२खण्ड। मण्ड०।

सम्प्रति तावक्षेत्रसंस्थितिमभिधातुकामः प्रथमतस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते तावक्खेत्तसंठिती आहिता ति वदेज्जा? तत्थ खलु इमाओ सोलस पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ। तत्थ णं एगे एवमाहंसु-ता गेहसंठिया तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु ।१। एवं०जाव बालग्गपोत्तियासंठिया तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता। एगे पुण एवमाहंसुजस्संठिते जंबुद्दीवे दीवे तस्संठिते तावक्खेत्त-संठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु ।९। एगे पुण एवमाहंसुता जस्संठिए भारहे वासे तस्संठिता तावखेत्तसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु ।१०। एवं उज्जाणसंठिया ।११। निज्जाणसंठिता ।१२। एगतो णिसहसंठिता ।१३। दुहतो णिसहसंठिता ।१४ सेणगसंठिता, एगे एवमाहंसु ।१५। एगे पुण एवमाहंसु-ता सेणगपिट्ठसंठिता तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु।१६। वयं पुण एवं वदामोता उद्धीमुहकलंबु-आपुप्फसंठिता तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता। अंतो संकुडा बाहिं वित्थडा, अंतो वट्टा बाहिं पिहुला, अंतो अंकमुहसंठिता बाहिं सत्थिमुहसंठिता। उभतो पासेणं तीसे दुवे बाहाओ अवट्ठिताओ भवंति। पणतालीसं पणतालीसं जोयणसहस्साइं आयामेणं। दुवे य णं तीसे बाहाओ अणवट्ठिताओ भवंति। तं जहा-सव्वब्भंतरिया चेव बाहा, सव्वबाहिरिया चेव बाहा। तत्थ को हेतू ति वदेज्जा? ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे०जाव परिक्खेवेणं; ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तया णं उद्धीमुहक-लंबुआपुप्फसंठिता तावक्खेत्तसंठिती आहिता ति वदेज्जा। अंतो संकुडा बाहिं वित्थडा, अंतो वट्टा बाहिं पिधुला, अंतो अंकमुहसंठिता बाहिं सत्थिमुहसंठिया। दुहतो पासेणं तीसे तहेव०जाव सव्वबाहिरिया चेव बाहा। तीसे णं सव्वब्भंतरिया बाहा मंदरपव्वयंते णं णव जोयणसहस्साइं चत्तारि य छलसीते जोयणसता णव य दसभागे जोयणस्स परिक्खेवेणं आ-

हिता ति वदेज्जा। ता से णं परिक्खेवविसेसे कुतो आहिता ति वदेज्जा? ता जे णं मंदरस्स पव्वयस्स परिक्खेवे णं तं परिक्खेवं तिंहि गुणित्ता दसहिं छेत्ता दसहिं भागेहिं हीरमाणे, एस णं परिक्खेवविसेसे आहिता ति वदेज्जा। तीसे णं सव्वबाहिरिया बाहा लवणसमुद्दंतेणं चउणउतिं जोयणसहस्साइं अट्ठ य अट्ठसट्ठे जोयणसते चत्तारि य दसभागे जोयणस्स परिक्खेवेणं आहिता ति वदेज्जा। ता एस णं परिक्खेवविसेसे कुतो आहिता ति वदेज्जा? ता जे णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स परिखेवे, तं परिक्खेवं तिहिं गुणित्ता दसहिं छेत्ता दसहिं भागेहिं हीरमाणे, एस णं परिक्खेवविसेसे आहिता ति वदेज्जा। तीसे णं तावक्खेत्ते कतियं आयामेणं आहितेति वदेज्जा? ता अट्ठत्तरिं जोयणसहस्साइं तिण्णि य जोयणसए तेत्तीसे जोयणतिभागे च आयामेणं आहितेति वदेज्जा।

(ता कह ते इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। कथं भगवन्! त्वया तापक्षेत्रसंस्थितिराख्याता इति भगवान् वदेत्? एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावत्यः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः, तावतीरुपदर्शयति–(तत्थेत्यादि) तत्र तस्य तापक्षेत्रसंस्थितौ विषये खल्विमाः षोडश प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा–तत्र तेषां षोडशानां परतीर्थिकानां मध्ये एके एवमाहुः–(गेहसंठिय त्ति) गेहस्येव वास्तुविद्याप्रसिद्धगृहस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता। अत्रैवोपसंहारमाह–(एगे एवमाहंसु १। एवं०जाव बालग्गपोत्तियासंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता इति) एवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण, चन्द्रसूर्यसंस्थितिगतेन प्रकारेणेत्यर्थः। गृहसंस्थितताया ऊर्द्धं तावद्वक्तव्यं यावद् बालाग्रपोतिकासंस्थिता प्रज्ञप्ता इति। तथैवम्–''एगे पुण एवमाहंसु–गेहावणसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु।२। एगे पुण एवमाहंसु–पासायसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु।३। एगे पुण एव–माहंसु–गोपुरसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु।४। एगे पुण एवमाहंसु–पिच्छाघरसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु।५। एगे पुण एवमाहंसु–वलभीसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु।६। एगे पुण एवमाहंसु–हम्मियतलसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु।७। एगे पुण एवमाहंसु–बालग्गपोत्तियासंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु।८।'' अत्र सर्वेष्वपि पदेषु विग्रहभावनाप्रागिव कर्त्तव्या। (एगे पुण इत्यादि) एके पुनरेवमाहुः–(जस्संठिए त्ति) यत्संस्थितं संस्थानं यस्य स यत्संस्थितो जम्बूद्वीपो द्वीपस्तत्संस्थिता तदेव जम्बूद्वीपगतसंस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता। अत्रोपसंहारः–(एगे एवमाहंसु ९) (एगे पुण एवमाहंसु) एके पुनरेवमाहुः–यत्संस्थितं भारतं वर्षं तत्संस्थिता तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता। अत्र विग्रहभावना प्रागिव वेदितव्या। अत्रोपसंहारः– (एगे एवमाहंसु १०) एवमुक्तेन प्रकारेण उद्यानसंस्थिता तापक्षेत्रसंस्थितिरपरेषामभिप्रायेण वक्तव्या। सा चैवम्–''एगे पुण एवमाहंसु–उज्जाणसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु ११।'' अत्र उद्यानस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथेति विग्रहः ११ (निज्जाणसंठिय त्ति) निर्याणं पुरस्य निर्गमनमार्गः तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा। अपरेषामभिप्रायेण वक्तव्या। सा चैवम्–''एगे पुण एवमाहंसु– निज्जाणसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु १२।'' (एगतो निसहसंठिय त्ति) एकतो रथस्य एकस्मिन् पार्श्वे यो नितरां सहते स्कन्धे पृष्ठे वा समारोपितं भारमिति निषहो बलीवर्दः, तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा एकतो निषहसंस्थिता। अपरेषामभिप्रायेण वक्तव्या। सा चैवम्–''एगे पुण एवमाहंसु–एगतो निसहसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु १३।'' (दुहतो निसहसंठिय त्ति) अपरेषामभिप्रायेणोभयतो निषहसंस्थिता वक्तव्या, उभयतो रथस्योभयोः पार्श्वे यौ निषहौ बलीवर्दौ, तयोरिवं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा। सा चैवं वक्तव्या–''एगे पुण एवमाहंसु दुहओ निसहसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु १४।'' (सेणगसंठिय त्ति) श्येनकस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अपरेषामभिप्रायेणाभिधातव्या। सा चैवम्–''एगे पुण एवमाहंसु–सेणगसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु १५।'' (एगे पुण इत्यादि) एके पुनरेवमाहुः– श्येनकपृष्ठस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता। अत्रोपसंहारमाह–(एगे एवमाहंसु १६)। तदेवमुक्ताः षोडशाऽपि प्रतिपत्तयः, एताश्च सर्वा अपि मिथ्यारूपाः, अत एता व्युदस्य भगवान् स्वमतं भिन्नमुपदर्शयति–(वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञानाः केवलज्ञानेन यथाऽवस्थितं वस्तूपलभ्य, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामः। तमेव प्रकारमाह–(उद्धीमुहेत्यादि) ऊर्द्धमुखकलम्बुकापुष्पसंस्थिता ऊर्द्धमुखस्य कलम्बुकापुष्पस्येव नालिकापुष्परेव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता, यथा शेषेषु तीर्थकृद्भिः। सा कथं भूतेत्यत आह–अन्तर्मेरुदिशि संकुचा संकुचिता, बहिर्लवणसमुद्रदिशि विस्तृता। तथा–अन्तर्मेरुदिशि वृत्ता वृत्तार्द्धवलयाऽऽकारा, सर्वतो वृत्तमेरुगतान् त्रीन् द्वौ वा दशभागानभिव्याप्य तस्या व्यवस्थितत्वात्, बहिर्लवणदिशि पृथुला मुत्कलभावेन विस्तारमुपगता। एतदेव संस्थानकथनेन स्पष्टं स्पष्टयति–(अंतो अंकमुहसंठिया बाहिं सत्थिमुहसंठिय त्ति) अन्तर्मेरुदिशि अङ्कः पद्मासनोपविष्टस्योत्सङ्ग रूप आसनबन्धः, तस्य मुखमग्रभागोऽर्द्धवलयाऽऽकारस्तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा। बहिर्लवणदिशि स्वस्तिकमुखसंस्थिता। स्वस्तिकः सुप्रतीतः, तस्य मुखमग्रभागः, तस्येवातिविस्तीर्णतया संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा। (उभओ पासेणं ति) उभयपार्श्वेन मेरुपर्वतस्योभयोः पार्श्वयोस्तस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेः सूर्यभेदेन द्विधा व्यवस्थितायाः प्रत्येकमेकैकभावेन ये द्वे बाहे, ते आयामेन जम्बूद्वीपगतमायाममाश्रित्यावस्थिते भवतः। सा चैकैका आयामतः किं प्रमाणा? इत्याह–पञ्चचत्वारिंशत् पञ्चचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि ४५००० तस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेरेकैकस्या द्वे च बाहे अनवस्थिते भवतः। तद्यथा–सर्वाभ्यन्तरा, सर्वबाह्या च। तत्र या मेरुसमीपे विष्कम्भमधिकृत्य बाहा सा सर्वाभ्यन्तरा, या तु लवणदिशि जम्बूद्वीपपर्यन्ते विष्कम्भमधिकृत्य बाहा सा सर्वबाह्या। आयामश्च दक्षिणोत्तराऽऽयततया प्रतिपत्तव्यो, विष्कम्भः पूर्वापराऽऽयततया। एवमुक्ते सति भगवान् गौतमः

स्वशिष्याणां स्पष्टावबोधनार्थं भूयः पृच्छति–(तत्थेत्यादि) तत्र तस्यामेवंविधायामनन्तरोदितायां वस्तुव्यवस्थायां को हेतुः का उपपत्तिरिति भगवान् वदेत्? एवमुक्ते भगवानाह– (ता अयं णमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परिपूर्णं स्वयं परिभावनीयम्। (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तदा ''उद्धीमुहकलंबुयापुप्फ'' इत्यादि प्राग्वद्व्याख्येयम्। यावत्सर्वाभ्यन्तरा बाहा, सर्वबाह्या च बाहा। (तीसे णमित्यादि) तस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरा बाहा मेरुपर्वतसमीपे, सा च परिक्षेपेण मन्दरपरिक्षेपगततया नव योजनसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि षडशीतानि षडशीत्यधिकानि नव च दश भागा योजनस्य ९४८६ -९/१०, आख्याता मया इति वदेत्। एवमुक्ते भगवान् गौतमः प्रश्नयति–(ता से णमित्यादि) 'ता' इति प्राग्वत्। स तापक्षेत्रसंस्थितेः परिक्षेपविशेषो मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण विशेषः कुतः कस्मात्कारणादेवंप्रमाण आख्यातः, नोनोऽधिको वेति वदेत्? भगवानाह–(ता जे णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। यो, णमिति वाक्यालङ्कारे। मन्दरस्य मेरोः पर्वतस्य परिक्षेपपरिरयो गणितप्रसिद्धः, तं परिक्षेपं त्रिभिर्गुणयित्वा तदनन्तरं च दशभिश्छित्त्वा विभज्य। अथ कस्मादेवं क्रियत इति चेदुच्यते–इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्तमानः सूर्यो जम्बूद्वीपगतस्य चक्रवालस्य यत्र तत्र प्रदेशे तत्तच्चक्रवालक्षेत्रप्रमाणानुसारेण त्रीन् दशभागान् प्रकाशयति। एतच्च प्रागेवोक्तम्। सम्प्रति च मन्दरसमीपे तापक्षेत्रे चिन्ता क्रियमाणा वर्त्तते, ततो मन्दरपरिरयसुखावबोधार्थं प्रथमतस्त्रिभिर्गुण्यते, गुणयित्वा च दशभिर्विभज्यत इति, दशभिश्च भागैर्हियमाणे यथोक्तं मन्दरसमीपे तापक्षेत्रपरिमाणमागच्छति। तथाहि–मन्दरपर्वतस्य विष्कम्भो दशसहस्राणि १००००। तेषां वर्गो दश कोट्यः १००००००००। तासां दशभिर्गुणने कोटिशतम्– १०००००००००। अस्य वर्गमूलानयने लब्धानि एकत्रिंशत्सहस्राणि षट्शतानि किञ्चिन्न्यूनत्रयोविंशत्यधिकानि, परं व्यवहारतः परिपूर्णानि विवक्ष्यन्ते ३१६२३। एष राशिस्त्रिभिर्गुण्यते, जातानि चतुर्नवतिसहस्राणि अष्टौ शतानि एकोनसप्तत्यधिकानि ९४८६९। एतेषां दशभिर्भागहारे लब्धानि नव योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि षडशीत्यधिकानि नव च दश भागा योजनस्य, तत एष एतावाननन्तरोदितप्रमाणः परिक्षेपविशेषो मन्दरपरिरयपरिक्षेपविशेषस्तापक्षेत्रसंस्थितेराख्यात इति वदेत् स्वशिष्येभ्यः। अयं चार्थोऽन्यत्राप्युक्तः–''मन्दरपरिरयरासी, तिगुणो दसभाइयम्मि जं लद्धं। तं होइ तावखेत्तं, अब्भिंतरमंडले रविणो॥१॥'' तदेवं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमाने सूर्ये मन्दरसमीपे तापक्षेत्रसंस्थितिः सर्वाभ्यन्तरबाहाविष्कम्भपरिमाणमुक्तम्। इदानीं लवणसमुद्रदिशि जम्बूद्वीपपर्यन्ते या सर्वबाह्या बाहा, तस्या विष्कम्भपरिमाणमाह–(तीसे णमित्यादि) तस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेर्लवणसमुद्रान्ते लवणसमुद्रसमीपे सर्वबाह्या बाहा सा परिक्षेपेण जम्बूद्वीपपरिरय–परिक्षेपेण चतुर्नवतियोजनसहस्राणि अष्टौ च अष्टषष्ट्यधिकानि योजनशतानि चतुरश्च दशभागान् योजनस्य ९४८६८-४/१० यावदाख्याता इति वदेत्। अत्रैव स्पष्टावबोधनाय प्रश्नं करोति– (ता एस णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। स एतावान् परिक्षेपविशेषस्तापक्षेत्रसंस्थितेः कुतः कस्मात् कारणादाख्यातः, नोनोऽधिको वेति वदेत्? भगवानाह–(ता जे णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। योजम्बूद्वीपस्य परिक्षेपपरिरयो गणितप्रसिद्धः, तं परिक्षेपं त्रिभिर्गुणयित्वा तदनन्तरं दशभिश्छित्त्वा दशभिर्विभज्य, अत्रार्थे कारणं प्रागुक्तमेवानुसरणीयम्। दशभिर्भागे ह्रियमाणे यथोक्तं जम्बूद्वीपपर्यन्ते तापक्षेत्रपरिमाणमागच्छति। तथाहि–जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपस्त्रीणि लक्षाणि, षोडश सहस्राणि, द्वे शते, सप्तविंशत्यधिके ३१६२२७, त्रीणि गव्यूतानि ३ अष्टाविंशं धनुःशतं १२८, त्रयोदश अङ्गुलानि १३ एकमर्द्धाङ्गुलम्? एतावता च योजनमेकं किल किञ्चिन् न्यूनमिति व्यवहारः, तत् परिपूर्णं विवक्ष्यते, ततो द्वे शते अष्टाविंशत्यधिके वेदितव्ये ३१६२२८, एतत् त्रिभिर्गुण्यते, जातानि नव लक्षाणि, अष्टाचत्वारिंशत्सहस्राणि, षट् शतानि चतुरशीत्यधिकानि ९४८६८४। एतेषां दशभिर्भागो ह्रियते, लब्धं यथोक्तं जम्बूद्वीपपर्यन्ते सर्वबाह्याया बाहाया विष्कम्भपरिमाणम्। तत (एस णमित्यादि) एष एतावाननन्तरोदितप्रमाणः परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपविशेषस्तापक्षेत्रसंस्थितेराख्यात इति वदेत्। उक्तं चैतदन्यत्रापि–''जंबूदीवपरिरए, तिगुणे दसभाइयम्मि जं लद्धं। तं होइ तावखित्तं, अब्भिंतर मंडले रविणो'' ॥१॥ तदेवं जम्बूद्वीपे तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरायाः सर्वबाह्यायाश्च बाहाया विष्कम्भपरिमाणमुक्तम्। सम्प्रति सामस्त्येनाऽऽयामतस्तापक्षेत्रपरिमाणं जिज्ञासुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह–(ता से णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। तापक्षेत्रमायामतः सामस्त्येन दक्षिणोत्तराऽऽयततया कियत्किंप्रमाणमाख्यातम्, इति वदेत्? भगवानाह–(ता अट्ठत्तरिमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्, अष्टसप्ततिर्योजनसहस्राणि त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनत्रिभागं च यावत् आयामेन दक्षिणोत्तराऽऽयततया आख्यातमिति वदेत्। तथाहि–सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानस्य सूर्यस्य तापक्षेत्रं दक्षिणोत्तराऽऽयततया मेरोरारभ्य तावद्वर्द्धते यावल्लवणसमुद्रस्य षष्ठो भागः। उक्तं च–

''मेरुस्स मज्झभागा, जाव लवणसमुद्दस्स छब्भागो।
तावाऽऽयामो एसो, सगडुद्धीसंठिओ नियमा ॥१॥''

अत्र–(एसो इत्यादि) एष तापो नियमात् शकटोर्ध्वरांस्थितम्, शेषं सुगमम्। तत्र मेरोरारभ्य जम्बूद्वीपपर्यन्ते यावत् पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि लवणस्य विस्तारो द्वे योजनलक्षे तयोः षष्ठो भागस्त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि योजनशतानि, त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनस्य च त्रिभागः, तत उभयमीलने यथोक्तमायामप्रमाणं भवति। इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानस्य सूर्यस्य लेश्या अभ्यन्तरं प्रविशति, मेरुणा प्रतिस्खल्यते, यदि पुनर्न प्रतिस्खल्यते, ततो मेरोः सर्वमध्यभागगतं प्रदेशमवधीकृत्याऽऽयामतो जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशत योजनसहस्राणि प्रकाशयेत्। अत एवेत्थं जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशतं योजनसहस्राणि प्रकाश्यानि संभाव्यन्ते, सर्वाभ्यन्तरेऽपि मण्डले वर्तमाने सूर्ये तापक्षेत्रस्याऽऽयामप्रमाणं ज्योतिष्करण्डकटीकायां श्रीपादलिप्तसूरिभिः त्र्यशीतियोजनसहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनस्य च त्रिभाग इत्युक्तम्। युक्तं चैतत्संभावनया तापक्षेत्राऽऽयामपरिमाणम्, अन्यथा जम्बूद्वीपमध्ये तापक्षेत्रस्य पञ्चचत्वारिंशत्सहस्रपरिमाणाभ्युपगमे यथा सूर्यो बहिर्निष्क्रामति तथा तत्प्रतिबद्धं तापक्षेत्रमपि, ततो यदा सूर्यः सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तदा सर्वथा मन्दरसमीपे प्रकाशो न प्राप्नोति। अथ च

तदाऽपि तत्र मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण विशेषपरिमाणम वक्ष्यते, तस्मात्पादलिप्तसूरिव्याख्यानमप्यभ्युपगन्तव्यमिति। तदेवं सर्वाभ्यन्तरमण्डलमधिकृत्य तापक्षेत्रसंस्थितिरुक्ता। सू०प्र०४ पाहु०। चं०प्र०। (अत्र 'अंधकार' शब्दःप्रथम भागे १०५ पृष्ठे वीक्ष्यः)

जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया केवतिअं खेत्तं उड्ढं तवंति, केवतिअं खेत्तं अहे तवंति, केवतिअं खेत्तं तिरिअं तवंति? ता जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया एगं जोयणसतं उड्ढं तवंति, अट्ठारस जोयणसताइं अधे य तवंति, सीतालीसं जोयणसहस्साइं दुन्नि य जोयणसते तिसट्ठे एगवीसं च सट्ठिभागे जोयणस्स तिरियं तवंति॥

(ताः जंबुद्दीवे णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। जम्बूद्वीपे कियत्प्रमाणं क्षेत्रं सूर्यावूर्द्ध तापयतः प्रकाशयतः। कियत्क्षेत्रमधः, कियत्क्षेत्रं तिर्यग्, पूर्वभागे अपरभागे चेत्यर्थः। भगवानाह– (ता इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। जम्बूद्वीपे द्वीपे सूर्यौ प्रत्येकं स्वविमानादूर्द्धमेकं योजनशतं तापयतः प्रकाशयतः। अधस्तापयतोऽष्टादशयोजनशतानि। एतच्चाधो लौकिकग्रामापेक्षया द्रष्टव्यम्। तथाहि–अधोलौकिकग्रामाः समतलभूभागावधीकृत्याधो योजनसहस्रेण व्यवस्थिताः, तत्राऽपि सूर्यप्रकाशः प्रसरति, ततः समतलभूभागस्याधो योजनसहस्रं, तदूर्द्धं चाष्टौ योजनशतानीत्युभयमीलने अष्टादश योजनशतानि। तिर्यक् स्वविमानात्पूर्वभागे अपरभागे च प्रत्येकं तापयतः सप्तचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, द्वे योजनशते, त्रिषष्टे त्रिषष्ट्यधिके, एवविंशति च षष्टिभागान् योजनस्य ४७२६३ २१। सू०प्र० ४ पाहु०।

तावक्खेत्तदिसा स्त्री०(तापक्षेत्रदिशा) तपनं तापः सूर्यकिरणस्पर्शजनितः प्रकाशाऽऽत्मकः परितापः, तदुपलक्षितं क्षेत्रं तापक्षेत्रं,तदेव दिक्। अथवा–तापयतीति तापः सविता,तदनुसारेण क्षेत्राऽऽत्मिका दिक् तापक्षेत्रदिक्। आ०म०१अ०२ खण्ड। विशे०। तापः सविता, तदुपलक्षिता दिक् तापक्षेत्रदिक्। पूर्वाभिधानायां दिशि, सा चाऽनियता। यत उक्तम्–''जेसिं जत्तो सूरो, उदेइ तेसिं तई हवइ पुव्वा। तावक्खेत्तदिसाओ, पयाहिणं सेसयाओ सा'' ॥१॥ इति। स्था०३ ठा०२उ०।

तावण न०(तापन) अग्निना हस्तपादाऽऽदीनामुष्णीकरणे, नि०चू०१ उ०।

तावणिज्ज त्रि०(तापनीय) तापसहे, भ०१५ श०।

तावदिसा स्त्री०(तापदिशा) तापयतीति ताप आदित्यः, तदाश्रिता दिक् तापदिक्। सूर्यतापितायां दिशि, मण्ड०। आचा०।

तावस पुं०(तापस) तापोऽस्यास्तीति तापसः। दश०२ अ०। तापप्रधानस्तापसः। दश०१० अ०। सतपस्के वनवासिनि पाखण्डिवि–शेषे, दर्श०१ तत्त्व। बृ०। पिं०। अनु०। आचा०। श्रमणभेदे, स्था०५ ठा०३उ०। माठरगोत्रस्याऽऽर्यशान्तिश्रेणिकस्य शिष्ये, कल्प० ८ क्षण।

तावसावसह पुं०(तापसावसथ) तापसमठे, भ०११ श०९ उ०।

तावसुद्धि स्त्री०(तापशुद्धि) विधिप्रतिषेधतद्विषयाणां जीवाऽऽदिपदार्थानां च स्याद्वादपरीक्षया याथात्म्येन समर्थने तापशुद्धिभेदे, ध०। ''उभयनिबन्धनभाववादस्तापः'' इति। उभयोः कषच्छेदयोरनन्तरमेवोक्तरूपयोर्निबन्धनं परिणामि। किमित्याह–तापोऽत्र श्रुतधर्मपरीक्षाऽधिकारे, इदमुक्तं भवति यत्र शास्त्रे द्रव्यरूपतयाऽप्रच्युतानुत्पन्नः, पर्यायाऽऽत्मकतया च प्रतिक्षणमपरापरस्वभावाऽऽस्कन्दनेनाऽनित्यस्वभावो जीवाऽऽदिरवस्थाप्यते स्यात्तत्र तापशुद्धिः। यतः परिणामिन्येवाऽऽत्माऽऽदौ तथाविधाशुद्धपर्यायनिरोधेन ध्यानाध्ययनाऽऽद्यपरशुद्धपर्यायप्रादुर्भावादुक्तलक्षणः कषो, बाह्याचेष्टाशुद्धिलक्षणश्च छेद उपपद्यते, न पुनरन्यथेति। ध०१ अधि०।

इहैव तापविधिमाह–

जीवाऽऽइभाववाओ, जो दिट्ठेट्ठाहि णो खलु विरुद्धो।
बंधाऽऽइसाहगो तह, एत्थ इमो होइ तावो त्ति॥८०॥

जीवाऽऽदिभाववादो जीवाजीवाऽऽदिपदार्थवादः, यः कश्चिद् दृष्टेष्टाभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यां, न खलु विरुद्धः, अपि तु युक्त एव,बन्धाऽऽदिसाधकस्तथा निरुपचरितबन्धमोक्षव्यञ्जकः, अत्र श्रुतधर्मे एष भवति ताप इति गाथाऽर्थः ॥८०॥

एएण जो विसुद्धो, सो खलु तावेण होइ सुद्धो त्ति।
एएणं चासुद्धो, सेसेहि वि तारिसो नेओ॥८१॥

एतेन जीवाऽऽदिभाववादेन यो विशुद्धः स खलु तापेन भवति शुद्धः, स एव नान्य इति। एतेन चाशुद्धः सन् शेषयोरपि कषच्छेदयोस्तादृशो ज्ञेयः, न तत्त्वतः शुद्ध इति गाथाऽर्थः ॥८१॥

इहैवोदाहरणमाह–

संतासंते जीवे,णिच्चाणिच्चायणेगधम्मे अ।
जह सुहबंधाईया, जुज्जंति न अण्णहा नियमा॥८२॥

सदसद्रूपे जीवे स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यानित्याऽऽद्यनेकधर्मिणि च द्रव्यपर्यायाभिधेयपरिणामाऽऽद्यपेक्षया यथा सुखबन्धाऽऽदयः सुखाऽऽदयोऽनुभूयमानरूपा बन्धाऽऽदयोऽभ्युपगताः युज्यन्ते घटन्ते नान्यथाऽन्येन प्रकारेण नियमाद् युज्यन्त इति गाथाऽर्थः ॥८२॥

एतदेवाऽऽह–

संतस्स सख्वेणं, पररूवेणं तह असंतस्स।
हंदि विसिट्ठित्तणओ, हों ति विसिट्ठा सुहाईआ॥८३॥

सतो विद्यमानस्य स्वरूपेणाऽऽत्मनियतेन,पररूपेणान्यान्यसंबन्धिना तथा असतः स्वरूपेणैवाविद्यमानस्य , न च स्वरूपत्वमेवान्यासत्त्वम्, अभिन्ननिमित्तत्वे सदसत्त्वयोर्विरोधात्। तथाहि–सत्त्वमेवासत्त्वमिति व्याहतम्। न च तत्तत्रास्ति, स्वसत्त्वासत्त्ववदसत्त्वे तत्सत्त्वप्रसङ्गादिति पररूपासत्त्वधर्मकं स्वरूपसत्त्वं विशिष्टं भवति, अन्यथा वैशिष्ट्यायोगात्, तदाः हन्दि विशिष्टत्वात्तदुक्तेन प्रकारेण भवन्ति विशिष्टाः स्वयं वेद्याः सुखाऽऽदयः, आदिशब्दाद् दुःखबन्धाऽऽदिपरिग्रह इति गाथाऽर्थः ॥८३॥

विक्षेपे बाधामाह–

इहरा सत्तामित्ताइभावओ कह विसिट्ठया तेसिं।
तयभावम्मि तयत्थे, हंत पयत्तो महामोहो॥८४॥

इतरथा यथा स्वरूपेण सत्तथा पररूपेणाऽपि भावे, सत्तामात्राऽऽदिभावात्, आदिशब्दादसत्त्वमात्रग्रह इति। कथं विशिष्टता प्रत्यात्मवेद्यतया तेषां सुखाऽऽदीनां, तदभावे विशिष्टसुखाऽऽद्यभावे, तदर्थो विशिष्टसुखाऽऽद्यर्थो, हन्त प्रयत्नः क्रियाविशेषो, महामोहोऽसंभवप्रवृत्तेति गाथाऽर्थः ॥८४॥

निच्चो वेगसहावो, सहावभूयम्मि कह णु सो दुक्खो।
तस्सुच्छेयनिमित्तं, असंभवाओ पयट्टिज्जा॥८५॥

नित्योऽप्येकस्वभावः स्थिरतया, स्वभावभूते आत्मभूते, कथं त्वसौ नित्यः स न दुःखे। किमित्याह–तस्य दुःखस्योच्छेदनिमित्तं विनाशाय, असंभवाद्धेतोः प्रवर्त्तेत, कथं नैवेति गाथाऽर्थः ॥८५॥

एगंतनिच्चओ वि अ, संभवसमणंतरं अभावाओ ।
परिणामहेउविरहा, असंभवाओ उ तस्स त्ति ॥८६॥

एकान्तनित्योऽपि च निरन्वयोऽनश्वरः संभवसमनन्तरमुत्पत्त्यनन्तरमभावादविद्यमानत्वात्, परिणामिकहेतुविरहात्, तथाभाविकारणाभावेनासंभवाच्च कारणात्, तस्येत्येकान्तानित्यस्य स कथं प्रवर्त्तेत? नैवेति गाथाऽर्थः ॥८६॥

एतदेव समर्थयन्नाह–

ण विसिट्ठकज्ज भावो, अणईअविसिट्ठकारणत्ताओ ।
एगंतऽभेयपक्खे, निअमा तह भेयपक्खे अ ॥८७॥

न विशिष्टकार्यभावो न घटाऽऽदिकार्योत्पादोन्याय्योऽनतीतविशिष्टकारणत्वात्, अनतिक्रान्तनियतकारणत्वादित्यर्थः। एकान्ताऽभेदपक्षे, कार्यकारणयोर्नित्यत्वपक्ष इत्यर्थः। नियमादवश्यमेव नेति, तथा भेदपक्षे च कार्यकारणयोरेकान्तानित्यत्वपक्षे चेति गाथाऽर्थः ॥८७॥

उभयत्र निदर्शनमाह–

पिंडो पडो व्व ण घडो, तप्फलमणईअपिंडभावाओ ।
तयईअत्ते तस्स उ, तहभावा अन्नयाइत्तं ॥८८॥

पिण्डवत्पटवदिति च दृष्टान्तौ, न घटस्तत्फलं पिण्डफलमेति प्रतिज्ञा, अनतीतपिण्डभावत्वादसमानत्वाद् भेदपक्षे पटवत्, तदतीतत्वं घटस्य पिण्डातीततायां,तस्यैव तथाभावात् पिण्डस्यैव घटरूपेण भावात्, अन्वयाऽऽदित्वमन्वयव्यतिरेकत्वं वस्तुन इति गाथाऽर्थः ॥८८॥

अतः सदसन्नित्यानित्याऽऽदिरूपमेव वस्तु, तथा चाऽऽह–

एवंविहो उ अप्पा, मिच्छत्ताईहिँ बंधई कम्मं ।
सम्मत्ताऽऽईएहि उ, मुच्चइ परिणामभावाओ ॥८९॥

एवंविध एव सन्नात्मा सदसन्नित्यानित्याऽऽदिरूपः मिथ्यात्वाऽऽदिभिः करणभूतैर्बध्नाति कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि, सम्यक्त्वाऽऽदिभिस्तु करणभूतैर्मुच्यते । कुत इत्याह–परिणामभावात्परिणामत्वादिति गाथाऽर्थः ॥८९॥

सकडुवभोगो चेवं, कहं चि एगाहिकरणभावाओ ।
इहरा कत्ता भोत्ता, उभयं वा पावइ सया वि ॥९०॥

स्वकृतोपभोगोऽप्येवं परिणामिन्यात्मनि कथञ्चिदेकाधिकरणभावाच्चित्रस्वभावतया युज्यते। इतरथा नित्याऽऽद्येकस्वभावतायां कर्ता, भोक्ता, उभयं वा। वाशब्दादनुभयं वा, प्राप्नोति सदाऽपि, कर्ताऽऽद्येकस्वभावत्वादिति गाथाऽर्थः ॥९०॥

एतदेव भावयति–

वेएइ जुवाणकयं, वुड्ढो चोराइफलमिहं कोइ ।
ण य सो तओ ण अन्नो, पच्चक्खाईपसिद्धीओ ॥९१॥

वेदयते अनुभवति युवकृतं, तरुणकृतमित्यर्थः, वृद्धश्चौर्याऽऽदिफलं बन्धनाऽऽदि, इह, कश्चित्,लोकसिद्धमेतत्। न चाऽसौ वृद्धस्ततो यूनो नाऽन्यः, किंत्वन्यः, प्रत्यक्षाऽऽदिप्रसिद्धेः कारणादिति गाथाऽर्थः ॥९१॥

ण य णाऽणण्णो सोहं,किं पत्तो पावपरिणइवसेण ।
अणुहवसंधाणाओ, लोगाऽऽगमसिद्धिओ चेव ॥९२॥

न च नानन्यः किंत्वतन्योऽपि(?) कथमित्याह–सोऽहं किं प्राप्तो बन्धनाऽऽदि पापपरिणतिवशेन चौर्यप्रभवेण अनुभवसन्धानात्सोऽहमित्यनेन प्रकारेण, लोकाऽऽगमसिद्धितश्चैवसोऽयमिति लोकसिद्धिः, तत्पापफलमित्यागमसिद्धिरिति गाथाऽर्थः ॥९२॥

इय मणुआइभवकयं, वेअइ देवाइभवगओ अप्पा ।
तस्सेव तहाभावा, सव्वमिणं होइ उववण्णं ॥९३॥

एवं वृद्धवन्मनुष्याऽऽदिभवकृतं पुण्याऽऽदि वेदयते अनुभवति देवाऽऽदिभवगतः सन्नात्मा जीव इति, तस्यैव मनुष्याऽऽदेस्तथाभावाद् देवाऽऽदित्वेन भावात्, सर्वमिदं निरुपचरितं स्वकृतभोगाऽऽदि भवत्युपपन्नं, नान्यथेति गाथाऽर्थः ॥९३॥

एगंतेण उ निच्चो–ऽणिच्चो वा कह णु वेअई सकडं ।
एगसहावत्तणओ, तयणंतरनासओ चेव ॥९४॥

.....
.....॥९४॥

जीवसरीराणं वि हु, भेआऽभेओ तहोवलंभाओ ।
मुत्तामुत्तत्तणओ, पिक्कम्मि पवअणाओ अ ॥९५॥

जीवशरीरयोरपि भेदाभेदः, कथञ्चिद् भेदः, कथञ्चिदभेद इत्यर्थः। तथोपलम्भात्कारणान्मूर्तामूर्तत्वात्तयोरन्यथायोगाभावात् स्पृष्टे शरीरे प्रवेदनाच्च, न चामूर्तस्यैव स्पर्श इति गाथाऽर्थः ॥९५॥

उभयकडोभयभोगा, तयभावाओ अ होइ नायव्वो ।
बंधाऽइविसयभावा, इहरा तयसंभवाओ अ ॥९६॥

उभयकृतोभयभोगात्कारणात्, तदभावाच्च भोगाभावाच्च, भवति ज्ञातव्यः जीवशरीरयोर्भेदः, बन्धाऽऽदिविषयभावात्कारणादितरथैकान्तभेदाऽऽदौ तदसंभवाच्च बन्धाऽऽद्यसंभवाच्चेति गाथाऽर्थः ॥९६॥

एतदेव प्रकटयन्नाह–

एत्थ सरीरेण कडं, पाणवहासेवणाए जं कम्मं ।
तं खलु चित्तविवागं, वेएइ भवंतरे जीवो ॥९७॥

अत्र शरीरेण कृतं, कथमित्याह–प्राणवधाऽऽसेवनया हेतुभूतया यत् कर्म तत् खलु चित्रविपाकं सद्वेदयते भवान्तरेऽन्यजन्मान्तरं जीव इति गाथाऽर्थः ॥९७॥

न उ तं चेव सरीरं, णरगाऽऽइसु तस्स तह अभावाओ ।
भिन्नकडवेअणम्मी, अइप्पसंगो वला होइ ॥९८॥

न तु तदेव शरीरं येन कृतमिति। कुतः? इत्याह–नरकाऽऽदिषु तस्य शरीरस्य तथाऽभावादिति। भिन्नकृतवेदनाऽभ्युपगम्यमानेऽतिप्रसङ्गोऽनवस्थारूपः बलाद्भवतीति गाथाऽर्थः ॥९८॥

एवं जीवेण कडं, कूरमणपयट्टएण जं कम्मं ।
तं पइ रोद्दविवागं, वेएइ भवंतरसरीरं ॥९९॥

एवं जीवेन कृतं, तत्प्राधान्यं, क्रूरमनः प्रवृत्तेन यत्कर्म्म पापाऽऽदितत्प्रति तन्निमित्तं रौद्रविपाकं तीव्रवेदनाकारित्वेन वेदयते भवान्तरशरीरं, तथाऽनुभवादिति गाथाऽर्थः ॥९९॥

ण उ केवलओ जीवो, तेण विमुक्कस्स वेयणाऽभावा ।
ण य सो चेव तयं खलु,लोगाऽऽइविरोहभावओ ॥१००॥

न तु केवलो जीवो वेदयते, तेन शरीरेण विमुक्तस्य सतः वेदनाऽभावात्कारणात्, न च स एव जीवस्तच्छरीरमिति लोकाऽऽदिविरोधभावात्, आदिशब्दात्समयग्रह इति गाथाऽर्थः ।१००।

एवं चिअ देहवहे, उवयारे वा वि पुण्णपावाइं ।
इहरा घडाइभंगाइनायओ नेव जुज्जंति ॥१०१॥

एवमेव जीवशरीरयोर्भेदाभेद एव, देहवधात्सत्कारात् वा देहस्य पुण्यपापे भक्तः, इतरथैकान्तभेदाद् घटाऽऽदिभङ्गाऽऽदिज्ञाततः घटाऽऽदिविनाशकरणोदाहरणेन, नैव युज्येते पुण्यपापे इति गाथाऽर्थः ॥१०१॥

अभ्युच्चयमाह–

तयभेअम्मि अ नियमा, तन्नासे तस्स पावई नासो ।
इय परलोआभावा, बंधाईणं अभावो य ॥१०२॥

तदभेद च जीवशरीराभेदे च नियमात्तन्नाशे देहनाशे तस्य जीवस्य प्राप्नोति नाशः । (इय) एवं परलोकाभावात्कारणात् बन्धाऽऽदिनामपि प्रस्तुतनामभाव एवेति गाथाऽर्थः ॥१०२॥

देहेणं देहम्मि अ, उवघायाणुग्गहेहिँ बंधाई ।
ण पुण अमुत्तो मुत्तस्स अप्पणो कुणइ किंची वि ॥१०३॥

.....किञ्चिदपि, मुक्तकल्पत्वादिति गाथाऽर्थः ॥१०३॥

अकरिंतो अ ण वज्झइ, अइप्पसंगा सदेव बंधाओ ।
तम्हा भेआभेए, जीवसरीराण बंधाई ॥१०४॥

अकुर्वंश्च न बध्यते न्यायत इत्याह–अतिप्रसङ्गान्मुक्तेः सदेव भावाद्बन्धस्य अकर्तृत्वाविशेषाद्, यत एवं तस्माद्भेदाभेदे आत्यन्तराऽऽत्मकयोः जीवशरीरयोर्बन्धाऽऽदयो, नान्यथेति गाथाऽर्थः ॥१०४॥

तथा–

मोक्खो वि अ बद्धस्स य, तयभावे स कह कीस वा ण सया ।
किं वा हेऊहिँ तहा, कहं च सो होइ पुरिसत्थो ॥१०५॥

मोक्षोऽपि च बद्धस्य सतो भवति, तदभावे बन्धाभावे स कथं मोक्षः, नैव, किमेति वा न सदाऽसौ, बन्धाभावाविशेषात्, किं वा हेतुभिस्तथा यथाऽऽदिभिः, कथं च स भवति पुरुषार्थोऽयत्नसिद्धत्वादिति गाथाऽर्थः ॥१०५॥

यत एवम्–

तम्हा बद्धस्स तओ, बंधो वि अणाइमं पवाहेणं ।
इहरा तयभावम्मी, पुव्वं चिअ मोक्खसंसिद्धी ॥१०६॥

तस्माद् बद्धस्यैवासौ मोक्षो, बन्धोऽप्यनादिमान् प्रवाहेण सन्ततया, इत्यर्थैवमनङ्गीकरणेन, तदभावे बन्धाभावे सति, पूर्वमेवाऽऽदावेव मोक्षसंसिद्धिः, तद्रूपत्वात्तस्येति गाथाऽर्थः ॥१०६॥

अत्राऽऽह–

अणुभूअवत्तमाणो, बंधो कयगो त्ति णाइमं कह णु ।
जह य अईओ कालो, तहाविहो तह पवाहेण ॥१०७॥

अनुभूतवर्त्तमानो भावो बन्धः कृतक इति कृत्वा स एवंभूतोऽनादिमान् कथं नु? प्रवाहतोऽपीति भावः । अत्रोत्तरम्– यथैवातीतः कालस्तथाविधः–अनुभूतवर्त्तमानभावोऽप्यनादिमान्, तथा प्रवाहेण बन्धोऽप्यनादिमानिति गाथाऽर्थः ॥१०७॥

उपपत्तिमाह–

दीसइ कम्मावचओ, संभवई तेण तस्स विगमो वि ।
कणगमलस्स व तेण उ, मुक्को मुक्को त्ति नायव्वो ॥१०८॥

दृश्यते कर्मपिचयः कार्यद्वारेण, संभवति तेन कारणेन तस्य कर्मणो विगमोऽपि, सर्वथा कनकमलस्येति निदर्शनं, तेन कर्मणा मुक्तः सर्वथा युक्तो ज्ञातव्य इति गाथाऽर्थः ॥१०८॥

एमाइ भाववादो, जत्थ तओ होइ तावसुद्धो त्ति ।
एस उवाएओ खलु, बुद्धिमया धीरपुरिसेणं ॥१०९॥

एवमादि भाववादः पदार्थवादो यत्राऽऽगमेऽसौ भवति तापशुद्धः तृतीयस्थानसुन्दर इति, एष उपादेयः खल्वेष एव नान्यः, बुद्धिमता प्राज्ञेन धीरपुरुषेण स्थिरेणेति गाथाऽर्थः ॥१०९॥ पं० व०४ द्वार।

ताविया स्त्री०(तापिका) कटाहिकायाम्, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

तास पुं०(त्रास) उद्वेगे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। ज्ञा०।

तासन त्रि०(त्रासन) क्षोभाऽऽदिलिङ्गकारकत्वात्त्रासनः। प्रश्न० १आश्र०द्वार। त्रासजनके, प्रश्न०३आश्र० द्वार। नि०चू०। आ०म०।

तासी त्रि०(त्रासी) स्वयं त्रस्तः परानपि त्रासयतीति त्रासी । त्रस्ते, अन्यत्रासकरे च। स्था०४ ठा०२उ०।

ताहं अव्य०(ताहं) आमन्त्रणे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

ताहे अव्य०(तदा) तस्मिन् काले डाच्। तस्मिन् काले इत्यर्थे, वाच०। भ०। प्रा०।

ति अव्य०(इति) पदात्परस्य इतिशब्दस्य ति इत्यादेशो भवति। उपमाभूतवस्तूनां परिसमाप्तौ, जी०३ प्रति०४ उ०। प्रश्न०। एवार्थे, उत्त०१ अ०।

***त्रि** त्रि० यः तृ–डि। त्रित्वसंख्याविशिष्टे, स्त्रियां तिस्रादेशः। तिस्र इत्यादि। वाच०।

तिअसीस पुं०(त्रिदशेश) **''लुक्''** ॥८।१।१०॥ इति स्वरस्य स्वरे परे बहुलं लुक्। प्रा०१ पाद। देवराजे, वाच०।

तिउडण न०(त्रिद्रुटन) त्रिभ्यो मनोवाक्कायेभ्योऽशुभेभ्यो मुक्तौ, सूत्र०१ श्रु० १५ अ०।

तिउडय पुं०(त्रिपुटक) मालवकप्रसिद्धे धान्यविशेषे, ध०२ अधि०। प्रव०।

तिउल त्रि०(त्रितुल) त्रीन् मनोवाक्कायाँस्तुलयत्यभिभवति या सा त्रितुला। मनोवाक्कायतोदके दुःखहेतौ, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। भ०। ज्ञा०। स्था०।

***तोदक** त्रि०। सूत्रत्वात्तोदकः। मनोवाक्कायतोदके दुःखहेतौ, उत्त०२ अ०।

***त्रिदल** त्रि०। त्रीन् प्रस्तावान्मनोवाक्कायान् विभाषितण्यन्तत्वाच्चुराऽऽदीनां दलतीव स्वरूपचलनेन त्रिदलः। मनोवाक्कायतोदके दुःखहेतौ, उत्त०२ अ०।

तिऊम पुं०(त्रिकूट) 'तिकूड' शब्दार्थे, स्था०४ ठा०२उ०।

तिओय न०(त्र्योजस्) त्रिभिरादित एव कृतयुग्माद्वोपरिवर्त्तिभिरोजो विषमराशिविशेषस्त्र्योजः। भ० १८ श०४उ०। विषमराशिविशेषे, यो हि राशिश्चतुष्कापहारेणापह्रियमाणस्त्रिपर्यवसितो भवति स त्र्योज इति। स्था०४ठा०३उ०। मितप्रदेशासु दिक्षु, स्त्री०। सर्वासां दिशां प्रत्येकं ये प्रदेशास्ते चतुष्केणापह्रियमाणास्त्रिकावशेषा भवन्तीति कृत्वा तत्प्रदेशाऽऽत्मिकाश्च दिश आगमसंज्ञया त्र्योजःशब्देनाभिधीयते। आचा०१ श्रु०१अ०१उ०।

तिंतिण पुं०(तिन्तिण) तिन्तिणो नाम यः स्वल्पोऽपि केनचित्साधुनाऽपराद्धोऽनवरतं पुनस्तं झषन्नास्ते स तिन्तिणः। तस्मिन्, व्य०१ उ०। प्रव०। कन्प्रत्ययोऽप्यत्र। अलाभे सति खेदाद्यत्किञ्चनाभिधायी, स च खेदप्रधानत्वात्तिन्तिणिको भवति। स्था०६ ठा०। ''तिंतिणिए एसणासमिइस्स परिमंथू।'' तिन्तिणिको हि सुन्दरमाहाराऽऽदिकं गवेषयन्नेषणासमितेः परिमन्थुर्भवतीति। बृ० ६ उ०।

व्यासार्थं प्रतिद्वारमभिधित्सुः प्रथमतस्तिन्तिणिकद्वारं व्याचष्टे–

डज्झंतं टिंबरुदारुयं व दिवसं पि जो तिडितिडेइ।
अह दव्वतिंतिणो भावओ उ आहारुवहिसिज्जाए॥

तिम्बुरुकदारुकं तिम्बुरुकवृक्षकाष्ठमग्नौ प्रक्षिप्तं, तद् दह्यमानं सद् यथा त्रटत्त्रटिति कुर्वदास्ते; एवं यो गुर्वादिभिः खरण्टितः संपूर्णमपि दिवसं ''तिडितिडेइ त्ति'' अनुकरणशब्दत्वात्त्रटत्– त्रटयते, मम संमुखमिदमिदं च जल्पितमेभिरिति झषन्नास्ते इति भावः। अथैष द्रव्यतिन्तिणिकः। भावतस्तु तिन्तिणिकः त्रिविधः। तद्यथा–आहारे, उपधौ, शय्यायां चेति। पुनरेकैको द्विविधः–अन्तः संयोजनया, बहिःसंयोजनया च।

तत्रोभयथाऽप्याहारतिन्तिणिकं तावदाह–

अंतो बहि संजोअणाॅ, आहारे बाहि खीरदधिमाई।
अंतो उ होति तिविहा, भायणेॅ हत्थे मुहे चेव॥

आहारविषया संयोजना द्विविधा–अन्तः, बहिश्च। तत्र बहिस्तावद्भाव्यते–कश्चित्साधुर्भिक्षामटन् क्षीरं वा दधि वा लब्ध्वा रसगृध्नुतया कलमशालिप्रभृतिकमोदनं चिरगोचरचयकरणेनाप्युत्पाद्य यत्तेनैव क्षीराऽऽदिना सार्धमुपाश्रयाद् बहिः संयोजयति, आदिशब्दात् परमान्नाऽऽदिकं वा लब्ध्वा घृतखण्डाऽऽदिना बहिरेव स्थितः सन् यद् योजयति, एषा बहिः संयोजना। अन्तरस्तु प्रतिश्रयाभ्यन्तरे पुनः संयोजना त्रिविधा भवति। तद्यथा–भाजने, हस्ते, मुखे चैव। तत्र भाजनविषयायां भाजने कलमशाल्योदनस्तत्र दुग्धदध्यादि प्रक्षिपति। हस्तविषयामण्डकपुचूलिकाऽऽदिना गुडशर्कराऽऽदि हस्तस्थितं वेष्टयित्वा मुखे प्रक्षिपति। मुखविषयापूर्वं मण्डकाऽऽदि मुखे प्रक्षिप्य ततः शर्करासखण्डाऽऽदि प्रक्षिपति। एवंविधां द्विविधामप्याहारसंयोजनां लोभाभिभूततया कुर्वन् यदा यदा संयोजनीयवस्तुयोगं न लभते, तदा तदा तिन्तिणिकत्वं करोतीत्याहारतिन्तिणिक उच्यते।

अथोपधिशय्यातिन्तिणिकावतिदिशति–

एमेव उवहिसिज्जा, गुणोवगारी उ जस्स जं होइ।
सो तेण जोजयंतो,तदभावे तिंतिणो होइ॥

एवमेवोपधिशय्ययोरपि संयोजनायां भावना कार्या। सा चेयम्उपधिसंयोजनाऽपि द्विविधा–बहिः, अन्तश्च। तत्र बहिः संयोजनाउत्कृष्टं कल्पं लब्ध्वा चोल्पट्टकमप्युत्कृष्टमुत्पादयति; औणिकं वा कल्पं रुन्दरं लब्ध्वा तदनुरूपमेव सौत्रिकमुत्पादयति; उत्पाद्य च तदुभयपरिभोगेण संयोजयति। अन्तःसंयोजना पुनः–विभूषार्थं श्वेतकम्बल्यां कृष्णदवरकसीवनिकां ददातीत्यादि। शय्या प्रतिश्रयः, तस्य संयोजनाऽपि द्विविधा–बहिः, अन्तश्च। ततः बहिः संयोजना–अकपाटमुपाश्रयं लब्ध्वा कपाटाभ्यां संयोजयति। अन्तःसंयोजनाशोभनार्थं प्रतिश्रयं गोमयमृदादिना लिम्पति, सेटिकया वा धवलयति। अथवा–शय्याशब्देन संस्तारक उच्यते, ततश्च सुन्दरतरं संस्तारकं लब्ध्वा यदुत्तरपट्टमपि तदनुरूपमुत्पाद्य परिभुङ्क्ते, सा बहिःसंयोजना। यत्पुनः सुकुमारस्पर्शार्थं विभूषार्थं वा सुन्दरया भङ्ग्या संस्तारकं प्रस्तृणाति सा अन्तःसंयोजना। तदेवं यदुपध्यादिकं यस्य साधोर्गुणोपकारि विभूषाऽऽदिगुणोपयोगि भवति, स तेन विवक्षितेन वस्तुना सार्द्धं तदेव वस्तु योजयन् मीलयन्, तदभावे विवक्षितवस्तुयोगाभावे तिन्तिणिको भवति–''हा! नास्त्यमुकं वस्तु अत्र स्थण्डिलप्राये संनिवेशे'' इत्यादि अल्पतीत्यर्थः। बृ०१ उ०। नि०चू०। (अपवादे तिन्तिणिकत्वं 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे २३० पृष्ठे गतम्)

तिंतिणी स्त्री०(तिन्तिणी) यत्र तत्र वा स्तोकेऽपि कारणे करकरायणं, व्य०३उ०।

तिंदुक पुं०(तिन्दुक) बहुबीजकफलप्रधाने वृक्षविशेषे, प्रज्ञा०१ पद। आचा०। प्रव०। वाराणस्यां तिन्दुकवृक्षप्रधाने उद्याने, आ० म०१ अ०२ खण्ड। तत्र गण्डीतिन्दुकनामा यक्षो वसति। उत्त० १२ अ०। ती०। स्था०। श्रावस्त्यां नगरमण्डले पुरपरिसरे तिन्दुकवृक्षप्रधाने उद्याने, उत्त० २३ अ०। आ०क०। विशे०। चैत्यविशेषे, ति०। श्रावस्तीनगरीचैत्ये, स्था०७ ठा०। त्रीन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६ अ०।

तिंदूस पुं०(तिन्दूस) बहुबीजकफलप्रधाने वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १पद। स्वार्थे कन्प्रत्ययोऽप्यत्र। आ०क०।

तिंदूसय पुं०(तिन्दूसक) कन्दुके, ज्ञा०१ श्रु० १८अ०। क्रीडाविशेषे, ''सप्पं व तरुवरम्मी, काउं तिंदूसए य डिभं व।'' आ०म०१अ०२खण्ड।

तिकंडग त्रि०(त्रिकण्डक) कण्डत्रययुक्ते, ''सयं सहस्साण उ जोयणाणं, तिकंडगे पंडगवेजयंते।'' मेरुः–त्रीणि कण्डान्यस्येति त्रिकण्डकः, तद्यथा–भौमं, जाम्बूनदं, वैडूर्यमिति। सूत्र०१ श्रु० ६ अ०।

तिकट्ठ अव्य०(त्रिकृत्वम्) त्रीन् कृत्वेत्यर्थे, भ० २ श०१उ०।

तिकडुय न०(त्रिकटुक) त्रयाणां कटूनां समाहारस्त्रिकटु, त्रिकटु एव त्रिकटुकम्। शुण्ठीमरिचपिप्पल्यात्मके कटुत्रयसमाहारे, उत्त० ३४ अ०। अनु०।

तिकरणभावसुद्ध त्रि०(त्रिकरणभावशुद्ध) त्रिविधेन त्रिप्रकारेण करणेन मनोवाक्कायलक्षणेन सुविशुद्धे, मनसाऽप्यसंयमानभिलाषाद् भावेन च परिणामेन विशुद्ध इहलोकाऽऽद्याशंसाविप्रमुक्तत्वात् त्रिकरणभावविशुद्धः। तस्मिन्, व्य०३ उ०।

तिकरणसुद्ध न०(त्रिकरणशुद्ध) मनोवाक्कायलक्षणकरणत्रयस्य दायकसंबन्धिनो विशुद्धतायाम्, विपा०२ श्रु०१अ०।

तिकूड पुं०(त्रिकूट) त्रीणि कूटान्यस्य। लङ्कापुरसन्निहिते सुवेलाऽऽख्ये पर्वते, स्था०४ ठा०२ उ०। ''दो तिकूडा।'' स्था०२ ठा०३ उ०। ती०। जम्बूद्वीपे मेरुपर्वतस्य पूर्वस्मिन् भागे शीताया महानद्या दक्षिणस्यां दिशि आद्ये वक्षस्कारपर्वते, स्था०।

तिकोडि स्त्री०(त्रिकोटि) त्रिकोट्याम्, वन्दारुवृत्तौ–''सिद्धे भो पयओ'' इत्यादिवृत्तव्याख्याने त्रिकोटिपरिशुद्धत्वेन प्रख्याता

ये, तत्र कोटिशब्दस्य कोऽर्थः? इति प्रश्ने, उत्तरम्–सूत्रार्थतदुभयरूपाः, कषच्छेदतापलक्षणपरीक्षात्रयरूपा वा तिस्रः कोट्यः संभाव्यन्ते। २६०प्र० सेन०३ उल्ला०।

तिकोडिपरिसुद्ध त्रि०(त्रिकोटिपरिशुद्ध) रागद्वेषमोहत्रयपरिशुद्धे, पो०।

मध्यमबुद्धेस्त्वीर्यासमितिप्रभृति त्रिकोटिपरिशुद्धम् (७)

त्रिकोटिपरिशुद्धम्–रागद्वेषमोहत्रयपरिशुद्धम्। अथवा–तिस्रः कोट्यो हनन–पचन–क्रयणरूपाः कृतकारितानुमतिभेदेन श्रूयन्ते, ताभिः परिशुद्धम्। अथवा–कषच्छेदतापकोटित्रयपरिशुद्धम्। पो० २विव०।

तिकोण त्रि०(त्रिकोण) त्रयः कोणा यस्य। त्रिकोटियुक्ते पदार्थे स्था० १ठा० ज्योतिषोक्ते लग्नात्पञ्चमनवमस्थाने, न० "त्रिकोणगान् गुरुः पश्यन्।" वाच०। शृङ्गाटके, स्था०५ ठा०१ उ०।

तिक्ख त्रि०(तीक्ष्ण) तिज्– करन–दीर्घश्च। गुरुके, अतिपातिनि च। व्य०१ उ०। परशौ, भ० १६ श०३उ०। वेगवति, जं०२ वक्षा०। मरणे, युद्धे, विषे, लौहे शस्त्रे, शीघ्रे, रामुद्रलवणे, मुष्ककै, चषके, उग्रे रसे च। न०। तद्वति त्रि०। यवक्षारे, श्वेतकुशे, कुन्दुरुके, ज्योतिषोक्ते आर्द्राश्लेषाज्येष्ठामूलनक्षत्रे च। पुं०। तीव्रे, आत्मत्यागिनि, निरालस्ये, मुमुक्षौ, योगिनि च। पुं०। वाच०।

तिक्खतुंडा स्त्री०(तीक्ष्णतुण्डा) घृतेल्लिकायाम्, कल्प०६ क्षण।

तिक्खालिअ (देशी) तीक्ष्णीकृते, दे०ना० ५ वर्ग १३ गाथा।

तिक्खुत्त अव्य०(त्रिःकृत्वस्) त्रीन् वारान् कृत्वेत्यर्थे, विपा०१ श्रु०१ अ०। दशा०। स्था०। नि०चू०। रा०। प्रति०। कल्प०। आ०म०। नि०। औ०।

तिग न०(त्रिक) रथ्यात्रयमीलकस्थाने, व्र०१ उ०। जी०। भ०। कल्प०। औ०। ज्ञा०। अनु०। आ०म०। पा०। सूत्र०।

त्रिकनिक्षेपज्ञापनार्थमिदमाह–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य गणण भावे य।
एसो उ खलु तिगस्स य, निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥१०॥

नामत्रिकम्, स्थापनात्रिकम्, द्रव्यत्रिकम्, क्षेत्रत्रिकम्, कालत्रिकम्, गणनात्रिकम्, भावत्रिकं चेति, एष खलु त्रिकस्य निक्षेपः सप्तविधो भवति। नामस्थापनात्रिके गतार्थे।

द्रव्यत्रिकं ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तं ज्ञापयति–

दव्वे सच्चित्तादी, सच्चित्तं तत्थ होइ तिविहं तु।
दुपद चतुप्पद अपदं, परूवणा तस्स कायव्वा ॥११॥

द्रव्यत्रिकं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा। तत्र सचित्तत्रिकं भूयस्त्रिविधं भवति। तद्यथा–द्विपदत्रिकम्, चतुष्पदत्रिकम्, अपदत्रिकम्। तस्य च प्रभेदरूपाऽपि प्ररूपणा कर्त्तव्या। सा च यथा सचित्तैकै–करस्य कृता तथैवावगन्तव्यम्।

परमाणुमादियं खलु, अचित्तं मीसगं च मालादी।
तिपदेस तदोगाढं, तिण्णि विलोगा उ खेत्तम्मि ॥१२॥

(परमाणु त्ति) आदिशब्दाद् द्विप्रदेशिकत्रयं यावदनन्तप्रदेशिकत्रयम्, एतदचित्तत्रिकं द्रष्टव्यम्, मिश्रत्रिकं तु मालात्रयं गन्तव्यम्। तत्र हि पुष्पाणि सचित्तानि, सूत्रमचित्तमिति कृत्वा। आदिग्रहणेन सालङ्कारपुरुषत्रयमित्यादि गृह्यते। क्षेत्रत्रयम्– त्रय आकाशप्रदेशाः (तदोगाढं ति) तेषु वा त्रिषु प्राकाशप्रदेशेषु अवगाढं द्रव्यं क्षेत्रत्रयम्, त्रयो वा लोका अधोलोकतिर्यग्लोकोर्द्वलोकलक्षणाः क्षेत्रत्रयमुच्यते।

तिसमय तद्वितिगं वा कालतिगं तीयमातिणो चेव।
भावे पसत्थमितरं, एक्केक्कं तत्थ तिविहं तु ॥१३॥

कालत्रयं प्रत्यग्रसमयं (?) (तद्वितिगं व त्ति) त्रिसमयस्थितिकं वा द्रव्यं कालत्रयम्। अथवा–अतीतानागतवर्त्तमानकाला एव कालत्रयम्, भावत्रयं प्रशस्तमप्रशस्तं चेति। द्विधा। पुनरेकैकं त्रिविधम्–तत्र ज्ञानम्, दर्शनम्, चारित्रं चेति प्रशस्तम्। मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिश्चेत्यप्रशस्तम्। अविरतिरपि हस्तकर्ममैथुनरात्रिभक्तप्रतिसेवाभेदादिह प्रस्तावे त्रिविधा। व्याख्यातं त्रय इति पदम्। बृ०४उ०।

तिगतिगभेद त्रि०(त्रिकत्रिकभेद) त्रिकं त्रिकं भेदानां यस्य स त्रिकत्रिकभेदः। प्रत्येकं त्रिविधे, दर्श०५ तत्त्व।

तिगरणसुद्ध त्रि०(त्रिकरणशुद्ध) त्रीणि च तानि करणानि च मनःप्रभृतीनि त्रिकरणानि, तैः शुद्धो निर्दोषस्त्रिकरणानि वा शुद्धानि सर्वदोषरहितानि यस्य स त्रिकरणशुद्धः। निरवद्ययोगप्रवृत्ते, अथवा– करणकारणानुमतिरूपसावद्ययोगविरते, पा०।

तिगारवगुरुया स्त्री०(त्रिगौरवगुरुता) ऋद्धिरससातगौरवे, ध०३अधि०।

तिगिच्छ पुं०(चिकित्स) किञ्जल्के, स्था०१० ठा०। वैद्ये, व्य०५ उ०। दशमकल्पे देवानां विमानविशेषे, सं०२० सम०।

तिगिच्छग त्रि०(चिकित्सक) रोगप्रतीकारकर्त्तरि, स्था०।

अथाऽऽत्मचिकित्सकान् भेदतः सूत्रत्रयेणाऽऽह–

चत्तारि तिगिच्छगा पण्णत्ता। तं जहा–आयतिगिच्छिए णाम–मेगे, णो परतिगिच्छिए। परतिगिच्छिए णाममेगे णो आयति–गिच्छिए। एवं चउभंगो ४।

"चत्तारि" इत्यादि कण्ठ्यम्। नवरं व्रणं देहे क्षतं स्वयं करोति रुधिराऽऽदिनिर्गलनार्थमिति व्रणकरो 'नो' नैव व्रणं परिमृशतीत्येवं शीला *व्रणपरिमर्शीत्येकः, अन्यस्त्वन्यकृतं व्रणं परिमृशति न च तत्करोतीति।* एवं भावव्रणमतिचारलक्षणं करोति, कायेन च तदेव परिमृशति पुनः पुनः संस्मरणेन स्पृशति। अन्यस्तु तत्परिमृशतीत्यभिलाषान्न च करोति कायतः सांसारभयाऽऽदिभिरिति। व्रणं करोति, न च तत्पट्टबन्धाऽऽदिना संरक्षति। अन्यस्तु कृतं संरक्षति, न च करोति। भावव्रणं त्वाश्रित्यातिचारं करोति, न च तं सानुबन्धं भवन्तं कुशीलाऽऽदिसंसर्गतन्निदानपरिहारतो *रक्षति एकः, अन्यस्तु पूर्वकृतातिचारं निदानपरिहारतो रक्षति, नवं च न* करोति। (नो) नैव व्रणं संरोहयत्यौषधदानाऽऽदिनेति व्रणसंरोही। भावव्रणापेक्षया तु नो व्रणसंरोही प्रायश्चित्ताप्रतिपत्तेः, व्रणसंरोही पूर्वकृतातिचारप्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या नो व्रणकरोऽपूर्वातिचाराकारित्वादिति। स्था०४ ठा०४उ०।

तिगिच्छा स्त्री०(चिकित्सा) चिकित्सनं चिकित्सा। रोगप्रतीकारे, रोगप्रतीकारोपदेशे च। प्रव०। सा द्विविधा–सूक्ष्मा, बादरा च।

तत्र सूक्ष्मा औषधविधिवैद्यज्ञापनेन । बादरा स्वयं चिकित्साकरणेन, अन्यस्मात्कारणेन च । तत्र कश्चिज्ज्वराऽऽदिरोगाऽऽक्रान्तो गृही भिक्षाऽऽद्यर्थं गृहे साधुं प्रविष्टं दृष्ट्वा पृच्छति–भगवन्! एतस्य मदीयव्याधेर्जानीषे कमपि प्रतीकारमिति। स प्राऽऽह–भोः श्रावक! यादृशस्तवाऽयं रोगस्तादृशो ममाऽप्येकदा संजात आसीत्। स चामुकेनौषधेन ममोपशमं गत इति। एवं चाज्ञस्य गृहस्थस्य रोगिणो भैषज्यकरणाभिप्रायोत्पादनादौषधसूचनं कृतम्। अथवा रोगिणा चिकित्सां पृष्टो वदति– ''किमहं वैद्यो, येन रोगप्रतीकारं जाने?'' इति। एवं चोक्ते रोगिणोऽनभिज्ञस्य सतोऽस्मिन् विषये वैद्यं पृच्छेति सूचनं कृतमिति सूक्ष्मचिकित्सा। यदा तु स्वयं वैद्यभूय साक्षादेव वमनविरेचनक्वाथाऽऽदिकं करोति, कारयति वा अन्यस्मात्तदा बादरा चिकित्सेति। एवमुपकृतो हि प्रमुदितो गृही मम भिक्षां प्रकृष्टां दास्यतीति यतिरिमां द्विविधामपि कुरुते, न चैवं तुच्छपिण्डकृते व्रतिनां कर्तुमुचितम्, अनेकदोषसंभवात्। तथाहि– चिकित्साकरणकाले कन्दफलमूलाऽऽदिजीववधेन क्वाथकथनाऽऽदिपापव्यापारकरणादसंयमो भवेत्। तथा–नीरुक् कृतो गृहस्थः तमायो–गोलकसमानः प्रगुणीकृतदुर्बलान्धव्याघ्रवदनेकजीवघातं कुर्यात्। तथा यदि देवदुर्योगात्साधुना चिकित्स्यमानस्याऽपि रोगिणो व्याधेराधिक्यं जायते, तदा कुपितस्तत्पुत्राऽऽदिराकृष्य राजकुलाऽऽदौ ग्राहयेत्। तथाऽऽहाराऽऽदिलुब्धा एते इत्थमित्थं च वैद्यकाऽऽदि कुर्वन्ति, इति प्रवचनमालिन्यं स्यादिति ॥६॥ प्रव० ६७ द्वार। पिं०। पञ्चा०। दिशे०। द्रव्यौषधाऽऽद्युपयोगतः पीडोपशमे, आचा० १ श्रु० ६ अ०४उ०। ग०। चिकित्सया पिण्डोत्पादनम्। उत्पादनादोषभेदे, स्था०३ठा०४उ०। पञ्चा०।

चउव्विहा तिगिच्छा पण्णत्ता। तं जहा–विज्जा, ओसहाइं, आउरे, परियारए ४।

''चउव्विहा'' इत्यादि कण्ठ्यम्। नवरं चिकित्सा रोगप्रतीकारस्तस्याश्चातुर्विध्यं कारणभेदादिति।

एतत् सूत्रसम्वादकमुक्तमपरैरपि–

''भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता, रोगी पादचतुष्टयम्।
चिकित्सितस्य निर्दिष्टं, प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम् ॥१॥
दक्षो विज्ञातशास्त्रार्थो, दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक्।
बहुकल्पं बहुगुणं, सम्पन्नं योग्यमौषधम् ॥२॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षो, बुद्धिमान् परिचारकः।
आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो, ज्ञापकः सत्त्ववानपि'' ॥३॥ इति। इयं द्रव्यरोगचिकित्सा।

भावरोगचिकित्सा त्वेवम्–

''निव्विगइ निब्बलोमे, तवउव्वट्टाणमेव उब्भामे।
वेयावच्चाहिंडण–मंडलिकप्पट्टियाऽऽहरणं ॥१॥'' इति।

निर्बलं बल्लाऽऽदि, अवममूनम्, उद्भ्रामो भिक्षाभ्रमणम्, आहिण्डनं देशेषु, मण्डलो सूत्रार्थयोः (कप्पट्टिया) श्रेष्ठिवधूरिति। स्था० ४ ठा०४ उ०।

जे भिक्खू तिगिच्छापिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥६४॥

रोगावणयणं तिगिच्छा, तं जोगं करेति गिहिस्स। तस्स आणादिणो दोसा, चउलहुं च पच्छित्तं।

**जे भिक्खु तिगिच्छपिंडं, भुंजेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१७०॥**
नि०चू० १३ उ०।

चिकित्साद्वारमाह–

**भणइ य नाहं विज्जो, अहवा वि कहेइ अप्पणो किरियं।
अहवा वि वेज्जयाए, तिविह तिगिच्छा मुणेयव्वा ॥**

इह चिकित्सा रोगप्रतीकारो, रोगप्रतीकारोपदेशो वा विवक्षिता। ततः साधूनधिकृत्य त्रिविधा त्रिप्रकारा चिकित्सा ज्ञातव्या। तद्यथा–केनापि रोगिणा रोगप्रतीकारे साधुः पृष्टः सन्नाह–किमहं वैद्यः? एतावता च किमुक्तं भवति? वैद्यस्य समीपे गत्वा चिकित्सा प्रष्टव्या, इत्यबुधबोधनादेका चिकित्सा। अथवा रोगिणा पृष्टः सन्नेवमाह–ममाप्येवंविधो व्याधिरासीत्, स चामुकेन भेषजेनोपशान्तिमगमत्, एषा द्वितीया चिकित्सा। अथवा–वैद्यतया वैद्यीभूय साक्षात् चिकित्सां करोति, एषा तृतीया। इहाऽऽद्ये द्वे चिकित्से सूक्ष्मे, तृतीया तु बादरा।

तत्राऽऽद्यां व्याचिख्यासुराह–

**भिक्खाइगओ रोगी, किं विज्जोऽहं ति पुच्छिओ भणइ।
अत्थावत्तीएँ कया, अबुहाणं बोहणा एवं ॥**

भिक्षाऽऽदौ भिक्षाऽऽदिनिमित्तं गतः सन् (रोगी इति) अत्र तृतीयार्थे प्रथमा, रोगिणा पृष्टः सन्नाह–किमहं वैद्यो येन कथयामि? एवं चोक्ते सति अर्थापत्त्या सामर्थ्यात्, अबुधानां 'वैद्यस्य पार्श्वे गत्वा चिकित्सा कार्यते' इत्यजानतां, बोधना अनन्तरोक्तस्यार्थस्य ज्ञापना कृता भवति।

द्वितीयां व्याख्यानयति–

**एरिसयं चिय दुक्खं, भेसज्जेण अमुगेण पउणं मे।
सहसुप्पन्नं व रुयं, वारेमो अट्ठमाईहिं।**

एतादृशमेव दुःखं दुःखकारणभूतं गण्डाऽऽदि, अमुकेन भेषजेन प्रगुणं नष्टवेदनमभूत्। तथा वयं सहसोत्पन्नामकस्मादुत्पन्नां रुजमष्टमाऽऽदिभिर्वारयामः। ''तत्थोप्पन्नं रोगं, अट्ठेण निवारए'' इत्यादिपरमर्षिवचनप्रामाण्यात्। तस्मात् भवताऽपि तथा कर्तव्यमिति भावः।

तृतीयां चिकित्सां प्रपञ्चयितुमाह–

**संसोधण संसमणं, नियाणपरिवज्जणं च जं तत्थ।
आगंतु–धाउखोभे, य आमए कुणइ किरियं तु ॥**

आगन्तुके धातुक्षोभे च सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा धातुक्षोभजे च आमये रोगे समुत्पन्ने सति तत्र यत्क्रियां करोति। तद्यथा–संशोधनं हरीतक्यादिदानेन, पित्ताऽऽद्युपशमनं संशमनं, तथा निदानपरिवर्जनं रोगकरेण परिवर्जनं च। एषा तृतीया चिकित्सा।

अत्र दोषानाह–

**अस्संजमजोगाणं, पसाधणं कायघाओ अयगोलो।
दुब्बलवग्घाऽऽहरणं, अब्भुदए गेण्हणुड्डाहो ॥**

असंयमयोगानां सावद्यव्यापाराणां प्रसाधनं सातत्येन प्रवर्तनमिदं चिकित्साकरणं, ततो गृहस्थस्तन्मायोगोलकसमानः, ततस्तेन नीरोगीभूतेन ये कायघाता यावज्जीवं प्रवर्त्यन्ते, ते सर्वेऽपि साधुचिकित्साप्रवर्तिता इति। चिकित्साकरणं सातत्येनासंयमयोगानां निबन्धनम्। तथा चात्र दुर्बलव्याघ्रदृष्ट–

न्तः । यथा–अटव्यामन्धो भक्ष्यमप्राप्नुवन् दुर्बलो व्याघ्रः केनाप्यान्ध्यापनयनाय चिकित्स्यते, चिकित्सितः सन् प्रगुणीभूतः प्रथमतस्तस्यैव वैद्यस्य विघातं करोति । ततः शेषाणां बहूनां जीवानाम् । एवमेषोऽपि गृहस्थः साधुना चिकित्स्यमानः साधोः संयमप्राणान् हन्ति,शेषांश्च पृथिवीकायाऽऽदीनिति । यदि पुनः कथमपि चिकित्स्यमानस्यापि तस्यातिशयेन रोगस्योदयः प्रादुर्भावो भवति, ततोऽहमनेनातिशयेन रोगीकृत इति संजातकोपो राजकुलाऽऽदौ ग्राहयति; तथा च सति उड्डाहः प्रवचनस्य मालिन्यमिति । पिं०।

इमं बितियपदं–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा,जयणाए कारए भिक्खू ॥१७६॥
नि०चू० १३उ०।

जे भिक्खू आरोगियपडिकम्मं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ।४०।

आरोग्गो णिरुवहयसरीरो, मा मे रोगो भविस्सति त्ति अणागयं चेव रोगपरिकम्मं करेति, तस्स चउलहुं आणाऽऽदिया य दोसा ॥४०॥

जे भिक्खू आरोग्गे, कुज्जा हि अणागयं तु तेगिच्छं ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥७६॥

गतार्था ।

इमेहिं कारणेहिं अववादेण कुज्जा–

विहरणवायणआवा–सगाण मा मे वयाण वा पीला ।
होज्जाहि अकीरंते, कप्पति हु अणागतं काउं ॥७७॥

विहरणं जाव मासकप्पो ण पूरति ताव करेमि, मा मासकप्पे पुण्णे विहरणस्स वाघातो भविस्सति, रोगे वा उत्पन्ने मा वायणाए वाघाओ भविस्सइ, विविधाण वा आवासगजोगाणं रोगमुप्पण्णे कमं असहमाणेहिं हरितादिच्छेदणं अण्णं वा किं वि गिलणट्ठा वताइयारं करेज्जा,तो अणागयं रोगकम्मं कज्जति ।

जतो भण्णति–

असुओ असुगं कालं, कप्पति वाही ममं ति णं णातुं ।
तप्पसमणी उ किरिया, कप्पति इहरा बहू हाणी ॥७८॥

ममं जप्पसरीरस्स अमुगो वाही अमुगे काले अवस्समुप्पज्जति, तस्स रोगस्स अणागयं चेव किरिया कज्जति, (इहर त्ति) उप्पण्ण–रोगे किरियाए कज्जमाणीए बहू दोसा, दोसबहुत्ताओ य संजमहाणी भवति ।

अणागयं कज्जमाणे इमे गुणाः–

अप्पपरअणायासो, न य कायवहो न यावि परिहाणी ।
न य चमढणा गिहीणं, णहछेज्जरिणेण दिट्ठंतो ॥७९॥

अणागते रोगपरिकम्मे कज्जमाणे अप्पणो परस्स य अणायासे भवति । कमेण फासुएण कज्जमाणे कायवधो ण भवति । ण य सुत्तत्थे आवस्सगाण परिहाणी भवति । अणागतं जहालाभेण सणियं कज्जमाणे गिहीणं चमढणा ण भवति । किं चउविकिखतो वाही दुच्छेज्जो भवति । जहा रुक्खो अंकुरावत्थाए णहच्छेज्जो भवति, विवड्ढितो पुण जायमूलो महाखंधो कुहामेण वि दुच्छेज्जो । रिणं पि अप्पमत्तओ सुच्छेज्जं, ववड्ढियं दुगुणचउग्गुणं दुच्छेज्जं । एवं वाही वि अणागतं सुच्छेज्जो पेच्छा दुच्छेज्जो । जो सुत्तत्थेसु गहियत्थो, गहणसमत्थो य जो गच्छोवग्गहकारी, कुलगणसंघकज्जेसु य पमाणं, तस्स एसा विधी ।

जो पुण अण्णो पुरिसो तस्स इमा विधी–

जो पुण अपुव्वगहणे,उवग्गहे वा अपच्चलो एसिं ।
अरहू उत्तरकरणे, तस्स जहिच्छाण उ णियोगो ॥८०॥

अगिण्हाणं सुत्तत्थाणं गहणे असमत्थो, साधुवग्गस्स वा वत्थपायभत्तपाणओसढभेसज्जादि, एतेहिं उवग्गहं काउं असमत्थो । उत्तरकरणं–तवो, पायच्छित्तं वा, तत्थ वि असहू । एरिसस्स पुरिसस्स इच्छाण णिओगो अवस्समणागयं कायव्वं ति । नि०चू० १३ उ०।

नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए ।
अदीणो थावए पन्नं, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥३२॥
तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खऽत्त–गवेसए ।
एयं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे ॥३३॥

चिकित्सां रोगप्रतीकाररूपां नाभिनन्देन्नानुमन्येत, अनुमतिनिषेधाद्य दूरापास्ते करणकारणे, समीक्ष्यस्वकर्मफलमेव तद्भुज्यत इति पर्यालोच्य । यद्वा–(संचिक्ख त्ति) ''अचां संधिलोपौ बहुलम्'' इत्येकारलोपे ''सचिक्खे'' समाधिना तिष्ठेत्, न कूजनकर्करायिताऽऽदि कुर्यात्, आत्मानं चरित्राऽऽत्मानं, गवेषयति मार्गयतिकथमयं मम स्यादित्यात्मगवेषकः । किमित्येवमत आह–एतदनन्तरमभिधास्यमानं, (खु त्ति) खलु, स च यस्मादर्थः, ततो यस्मादेतत्तस्य श्रमणस्य, श्रामण्यं श्रमणभावो, यन्न कुर्यान्न कारयेत् । उपलक्षणत्वान्नानुमन्येत, प्रक्रमाच्चिकित्साम्; जिनकल्पिकाऽऽद्यपेक्षं चैतत् । स्थविरकल्पिकापेक्षया तु 'जन्न कुज्जा' इत्यादौ सावद्यमिति गम्यते । अयमत्र भावः–यस्मात्करणाऽऽदिभिः सावद्यपरिहार एव श्रामण्यं, सावद्याच्च प्रायशश्चिकित्सा, ततस्तान् च अभिनन्देत्, एतदप्यौत्सर्गिकम्, अपवादतस्तु सावद्याऽऽप्येषामियमनुमतैव । यदुक्तम्–''काहं अछित्तिं अदुवा अहीहं, तवोविहाणेण व उज्जमिस्सं । गणं व णीती य विसारइस्सं, सालंबसेवी समुवेति मोक्खं ॥१॥'' इति सूत्रार्थः । उत्त० पाई० २अ०। ('गिहितिगिच्छा' शब्दे तृ० भागे ८६८ पृष्ठे गृहिचिकित्सानिषेधो द्रष्टव्यः) चिकित्सा श्रीभगवत ऋषभस्योपदेशात्प्रवृत्ता । आ०म० १अ०१ खण्ड।

तिगिच्छापिंड पुं०(चिकित्सापिण्ड) चिकित्सां वमनविरेचनवस्तिकर्माऽऽदि कारयतो वैद्यभैषज्याऽऽदि सूचयतो वा पिण्डार्थं चिकित्सापिण्डः । चिकित्सया पिण्डोत्पादनम् । उत्पादनादोषभेदे, ध०३अधि०। आचा०।

तिगिच्छासंहिया स्त्री०(चिकित्सासंहिता) चिकित्साशास्त्रे श्लोकस्थाननिदानशारीरचिकित्सितकल्पसंज्ञकायां मूलसंहितायाम्, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

तिगिच्छासत्थ न०(चिकित्साशास्त्र) आयुर्वेदे, स्था०८ठा०।

तिगिच्छि न०(पुष्परजस्) ''गोणाऽऽदयः'' ॥८।२।१७४॥ इति पुष्परजःशब्दस्य 'तिगिच्छ' इति निपातः । प्रा०२ पाद। देशीशब्दो वा। पुष्परजसि, जं०४ वक्ष०। द्वी०।

तिगिच्छकूड पुं०(तिगिच्छकूट) चमरस्य उत्पातपर्वते, भ०२ श०४ उ० स्था०। (तद्वक्तव्यता 'चमर' शब्दे तृतीयभागे १११३ पृष्ठे उक्ता) ''दो तिगिच्छिकूडा।'' स्था०२ठा०३उ०।

तिगिच्छिदह पुं०(तिगिच्छिह्रद) तिगिच्छिः पौष्परजः, तत्प्रधाना ह्रदस्तिगिच्छिह्रदः। निषधवर्षधरपर्वतमध्ये ह्रदे, जम्बूमन्दरस्य दक्षिणे तृतीयह्रदे, जं०।

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे तिगिच्छिदहे णामं दहे पण्णत्ते। पाईणपडीणायए, उदीणदाहिणवित्थिण्णे, चत्तारि जोअणसहस्साइं आयामेणं, दो जोअणसहस्साइं विक्खंभेणं, दस जोअणाइं उव्वेहेणं, अच्छे सण्हे रययमयकूले। तस्स णं तिगिच्छिदहस्स चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता। एवं०जाव आयामविक्खंभविहूणा जा चेव महापउमदहस्स वत्तव्वया, सा चेव तिगिच्छदहस्स वि वत्तव्वा। तं चेव पउमदहप्पमाणं अट्ठो ०जाव तिगिच्छिवण्णाइंधिइअइच्छदेवी पलिओवमट्ठिई अ परिवसइ। से एयट्ठेणं गोयमा ! तिगिच्छिदहे। तस्स णं तिगिच्छिदहस्स दक्खिणिल्लेणं तोरणेणं हरिमहाणई पवूढा समाणी सत्त जोअणसहस्साइं चत्तारि अ एकवीसे जोअणसए एगं च एगूणवीसइं भागं जोअणस्स दाहिणाभिमुही पव्वएणं गंता महया घडमुहपवित्तिएणं०जाव साइरेगं चउजोअणसइएणं पवाएणं पवडइ। एवं जा चेव हरिकंताए वत्तव्वया, सा चेव हरिए वि णेयव्वा। जिब्भियाए कुंडस्स दीवस्स भवणस्स तं चेव पमाणं, अट्ठो वि भाणिअव्वो, ०जाव अहे जगइं दालइत्ता छप्पण्णाए सलिलासहस्सेहिं समग्गा पुरच्छिमं लवणसमुद्दं समप्पेइ, तं चेव पवहे अ मुहमूले अ पमाणं उव्वेहो अ जो हरिकंताए०जाव वणसंडसंपरिक्खित्ता॥

(तस्स णमित्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे महानेकः तिगिच्छिः पौष्परजः, तत्प्रधानो ह्रदस्तिगिच्छिह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः। प्राकृते पुष्परजःशब्दस्य 'तिगिच्छि' इति निपातः। देशीशब्दो वा। अन्यत्सर्वं प्रागनुसारेणेति। अथास्यातिप्रदेश सूत्रेण सोपानाऽऽदिवर्णनायाऽऽह--(तस्स णमित्यादि) तस्य तिगिच्छिह्रदस्य चतुर्दिक्षु चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि। एवमित्थं प्रकारेण ह्रदवर्णके क्रियमाणे यावच्छब्दोऽत्र कात्स्न्यर्वाच्यव्ययम्, तेन यावत्परिपूर्णयैव महापद्मह्रदस्य वक्तव्यता आयामविष्कम्भविहीना, सैव तिगिच्छिह्रदस्य वक्तव्या। एतदेव व्यक्त्या आचष्टे--(तं चेव इत्यादि) तदेव महापद्मह्रदगतमेव पद्मानां धृतिदेवीकमलानां प्रमाणम्- एककोटीविंशतिलक्षपञ्चाशत्सहस्रैकशतविंशतिरूपम्, अन्यथाऽत्र पद्मानामायामविष्कम्भरूपप्रमाणस्य महापद्मह्रदगतपद्मेभ्यो द्विगुणत्वेन विरोधापातात्, ह्रदस्य च प्रमाणमुद्वेधरूपं बोध्यम्, आयामविष्कम्भयोः पृथगुक्तत्वादिति। अर्थास्तिगिच्छिह्रदस्य वाच्यः। स चैवम् --''से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइतिगिच्छिदहेतिगिच्छिदहे?'' इत्यादि--प्राक् सूत्रानुसारेण वाच्यं, यावत्तिगिच्छिह्रदवर्णाभानि उत्पलाऽऽदीनि धृतिश्चात्राधिपत्यं परिपालयति। ''से तेणट्ठेणं'' इत्यादि प्राग्वत्। जं०४ वक्ष०।

तिगिच्छिय पुं०(चिकित्सक) 'कित' रोगापनयने, स्वार्थे सन्, ण्वुल्। रोगापनयनकर्तरि वैद्ये, वाच० स्था०९ ठा०।

तिगिच्छी (देशी) कमलरजसि, दे०ना०५ वर्ग १२ गाथा।

तिगुण न०(त्रिगुण) त्रयाणां समाहारः। साङ्ख्योक्ते प्रधाने, त्रिभिर्गुण्यते 'गुण' संख्याने, घञ्। त्रिभिर्गुणिते, त्रि० वाच० अनु० जं०।

तिगुणुक्कंड त्रि०(त्रिगुणोत्कण्ड) त्रिगुणं त्रीन् वारान् यावदुत्प्राब--ल्युना कण्डनं छण्टनं येषां ते त्रिगुणोत्कण्डाः। त्रीन् वारान् कण्डिते, पिं०।

तिगुत्त त्रि०(त्रिगुप्त) तिसृभिरट्टालकोच्छूलकशतघ्नीसंस्थानीयाऽऽदिभिर्मनोगुप्त्यादिगुप्तिभिर्गुप्तम्, मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात् समासः। उत्त०९ अ० मनोवाक्कायकर्मभिर्गुप्ते, ध०२ अधि० दश० पं०सू० आव० स० गुप्ताऽऽत्मनि, स्था०९ ठा०। त्रिस्रो गुप्तयो यत्र तत् त्रिगुप्तम्--मनसा सम्यक् प्रणिहितो , वाचाऽस्खलितान्यक्षराण्युच्चरन्, कायेनाऽऽवर्त्तानिविराधयन् वन्दनकं करोति। प्रव०२ द्वार। दश० मनोवाक्कायगुप्ते, अर्थात् अकुशलमनोवाक्कायप्रवृत्तिनिरोधिनि, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात् कुशलमनोवाक्कायोदीपके, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

तिगोण त्रि०(त्रिकोण) त्रयः कोणा यस्य। त्रिकोटियुक्ते पदार्थे, वाच० आ०म०।

तिग्ग न०(तिग्म) 'तिज्' --मग्। जस्य गः। तीक्ष्णे, तद्वति, त्रि० वाच० पं०सं०।

तिग्घ न०(त्रिघ्न) त्रिगुणिते, ध०२अधि०।

तिघरंतरिय पुं०(त्रिगृहान्तरिक) त्रीणि गृहाणि अन्तरं भिक्षाग्रहणे येषां ते त्रिगृहान्तरिकाः। एकत्र गृहे भिक्षां गृहीत्वाऽप्यभिग्रहविशेषाद् गृहत्रयमतिक्रम्य पुनर्भिक्षां गृह्णन्ति, न निरन्तरं, दिनद्वयान्तरं वा। तेषु, औ०।

तिचक्खु पुं०(त्रिचक्षुष्) उत्पन्नज्ञानदर्शनधरे श्रमणे माहने, स्था०३ ठा०४उ०।

तिच्छडिय त्रि०(त्रिच्छटित) त्रीन् वारान् छटिते, रा० जी०।

तिट्ठाणकरणसुद्ध त्रि०(त्रिस्थानकरणशुद्ध) त्रीणि स्थानानि उरः प्रभृतीनि, तेषु करणेषु क्रियायां शुद्धं त्रिस्थानकरणशुद्धम्। तस्मिन्, तद्यथा- ''उरःशुद्धं,कण्ठशुद्धं, शिरोविशुद्धं च। तत्र यदि उरसि स्वरः स्वभूमिकानुसारेण विशालो भवति, तत उरोविशुद्धम्। स एव यदि कण्ठे वर्तितो भवति अस्फुटितश्च, ततः कण्ठविशुद्धम्। यदि पुनः शिरः प्राप्तः सन् सानुनासिको भवति, ततः शिरोविशुद्धम्। यदि वा यत् उरःकण्ठशिरोभिः श्लेष्मणाऽव्याकुलितैर्विशुद्धिर्गीयते, तत् उरः-कण्ठशिरोविशुद्धत्वात् त्रिस्थानकरणविशुद्धम्। रा०।जं०। जी०।

तिणइय न०(त्रिनयिक) त्रिनयोपेते सूत्रे, यानि त्रैराशिकमतमवलम्ब्य द्रव्यास्तिकाऽऽदिनयत्रिकेण चिन्त्यन्ते। नं०।

तिणय त्रि०(त्रिनत) मध्यपार्श्वद्वयलक्षणस्थानत्रयेऽवनते, भ०३ श०६ उ०। जी०।

तिणसूय पुं० न०(तृणशूक) तृणाग्रे, भ० १५ श०।

तिणहत्थय न०(तृणहस्तक) तृणपूलके, भ०३ श०३उ०।

तिणाम न०(त्रिनाम) त्रिभेदे नाम्नि, तच्च–''से किं तं तिणामे? तिणामे तितिहे पण्णत्ते। तं जहा–दव्वणामे, गुणणामे, पज्जवणामे अ।'' अनु०। ''तं पुण णामं तिविहं, इत्थी पुरिसे णपुंसगे चेव।'' अनु०। (एषां त्रयाणां प्ररूपणा 'लिंगतिय' शब्दे द्रष्टव्या)

तिणिस पुं०(तिनिश) वृक्षविशेषे, दश०६ अ०। जी०। नि०चू०। औ०। स्था०। ज्ञा०। मधुपटले, दे०ना० ५ वर्ग ११ गाथा।

तिणु न०(तृण) **''स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे''** ॥८।४।३२९॥ इति ऋकारस्थाने इकारोऽकारश्च भवति। तिणु। तिणु। प्रा०१ पाद। नडाऽऽदौ, खटे च। वाच०।

तिण्ण त्रि०(तीर्ण) अतिक्रान्ते, सूत्र०१ श्रु० १२ अ०। पारं गते, सूत्र०१ श्रु० १० अ०। तीर्थकृत्सु, ''तिण्णाणं तारयाणं।'' रा०। तीर्णं इव तीर्णः, संसारसागरमिति गम्यते। औ०। तीर्णवत्तीर्णः विशुद्धसम्यग्दर्शनाऽऽदिलाभाद्भवार्णवमिति गम्यते। दश० १० अ०। विशे०। उत्त०। कल्प०। द्वा०। ज्ञानदर्शनचारित्रपोतेन भवार्णवं तीर्णवन्तस्तीर्णा। ल०। सर्वभावज्ञास्तीर्णाः परमदुस्तरम् (आ०म० १ अ०१ खण्ड। स०। जी०) संसारसागरं, भाविनि भूतवदुपचारात्तीर्णाः। आचा०१ श्रु० ८ अ०६उ०। सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रपोतेन भवार्णवं तीर्णवन्तस्तीर्णाः, न चैषां तीर्णानां पारगतानामावर्तः संभवति, तदभावे मुक्त्यसिद्धेः, एवं च न मुक्तः पुनर्भवे भवतीति तीर्णत्वसिद्धिः। ध०२ अधि०। एते चाऽऽवर्त्तकालकारणवादिभिरनन्तशिष्यैर्भावितोऽतीर्णाऽऽदय एवेष्यन्ते, 'काल एव कृत् स्नं जगदावर्त्तयतीति' वचनात्। एतन्निरासायाऽऽह–''तीर्णेभ्यः तारकेभ्यः।'' ज्ञानदर्शनचारित्रपोतेन भवार्णवं तीर्णवन्तस्तीर्णाः, नैतेषां जीविताऽऽवर्त्तवद्भावावर्त्तः, निबन्धनाभावात्, न ह्यस्याऽऽयुष्कान्तरवद्भावाधिकारान्तरं, तद्भावेऽत्यन्तमरणवद् मुक्त्यसिद्धेः, तत्सिद्धौ च तद्भावेन भवनाभावः, हेत्वभावात्, न हि मृतस्तद्–भावेन भवति, मरणभावविरोधात्, एतेन ऋत्वावर्त्तनिदर्शनं प्रत्युक्तं, न्यायानुपपत्तेः, तदावृत्तौ तदवस्थाभावेन परिणामान्तरायोगात्, अन्यथा तस्याऽऽवृत्तिरित्ययुक्तम्, तस्य तदवस्थानिबन्धनत्वात्। अन्यथा तदहेतुकत्वोपपत्तेः, एवं न मुक्तः पुनर्भवे भवति, मुक्तत्वविरोधात्, सर्वथा भवाधिकारनिवृत्तिरेव मुक्तिरिति, तद्भावेन भावतस्तीर्णाऽऽदिसिद्धिः। (२८) ल०।

तिण्णसंसार त्रि०(तीर्णसंसार) लङ्घितभवोदधौ, पो०।

तिण्हा स्त्री०(तृष्णा) **''सूक्ष्म–श्न–ष्ण–स्न–ह्न–ह्म–क्ष्णां ण्हः''** ॥८।२।७५॥ इति णकाराऽऽक्रान्तो हकारः। प्रा०१ पाद। पिपा–सायाम्, स०५२ सम०।

तितिक्ख त्रि०(तितिक्ष) तितिक्षते सह्यते इति तितिक्षम्। परीषहाऽऽदीनि, स्था०५ ठा०१उ०।

तितिक्खण न०(तितिक्षण) अधिसहने, स्था०६ ठा०।

तितिक्खमाण त्रि०(तितिक्षमाण) अधिसहति, सूत्र०१ श्रु० ७अ०।

तितिक्खा स्त्री०(तितिक्षा) सहने, सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०। क्षमायाम्, उत्त०१ अ०। ज्ञा०। आचा०। क्षुदादिपरीषहोपनिपातसहिष्णुतायाम्, द्वा०२७ द्वा०। परीषहोपसर्गसहनरूपायां क्षान्तौ, सूत्र०१ श्रु० ८अ०। परीषहोपसर्गाऽऽदिदुःखविशेषसहने, आचा० १ श्रु० ८अ० ८ उ०। परीषहभेदे, परीषहाऽऽदिजये तितिक्षा कार्या। आव०४ अ०। क्षमा, तितिक्षा, क्रोधनिरोध इत्येकार्थाः। आ० चू०४ अ०। उपा०। परीषहाऽऽदिजये, स० ३४ सम०।

तितिक्षाद्वारमाह–

''इंदपुरिमिंददत्ते, बावीससुआ सुरिंददत्ते अ।
महुराए जिअसत्तू, सयंवरो निव्वुईए उ॥१॥
अग्गिअए पव्वयए, वहली तह सागरे अ बोधव्वे।
एगहिवसेण जाया, तत्थेव सुरिंददत्ते अ''॥२॥

(कथा मनुष्यजन्मदृष्टान्तेषु द्रष्टव्या)

सुरेन्द्रदत्तकुमारस्य द्रव्यतितिक्षाभावे उपनयः–

''साधुकल्पः कुमारोऽत्र, कषायाश्चाग्निकाऽऽदयः।
द्वाविंशतिकुमारास्तु, सुदुर्दान्ताः परीषहाः॥१॥
रागद्वेषौ पदाती तौ, वेध्या राधाऽक्षितारका।
विशिष्टाऽऽराधना ज्ञेया, सिद्धिर्निर्वृतिदारिका''॥२॥ आ० क०। आव०। आ०चू०। ('इंददत्त' शब्दे द्वितीयभागे ५३८ पृष्ठे वृत्तम्)

तित्त पुं०(तिक्त) श्लेष्माऽऽदिदोषहन्तरि निम्बाऽऽद्याश्रिते रसविशेषे, तथा च भिषक्शास्त्रम्– ''श्लेष्माणमरुचिं पित्तं, तृषं कुष्ठं विषं ज्वरम्। हन्यात्तिक्तो रसो बुद्धेः, कर्ता मात्रोपसेवितः''॥१॥ अनु०। जं०। कर्म०। ''एगे तित्ते।'' स्था०१ ठा०। निम्बाऽऽदिवत्तिक्तरसोपेते, त्रि०। प्रश्न०३ आश्र०द्वार। त०। ज्ञा०। उत्त०। प्रज्ञा०। भ०। वरुणद्रुमे कुटजे, पुं०। वाच०।

तित्तग पुं०(तिक्तक) तिक्त–संज्ञायां कन्। भूनिम्बे, (चिराता) चिरतिक्ते, कृष्णखदिरे, निम्बे, इक्षुदीवृक्षे, तिक्तार्थे, वाच०। दश०। नि०चू०। पटोले, कटुतुम्ब्याम्, स्त्री०। टाप्। वाच०।

तित्तणाम(ण्) न०(तिक्तनामन्) रसनामभेदे, यदुदयाज्जीवशरीरं निम्बाऽऽदिवत्तिक्तं भवति। कर्म० १कर्म०।

तित्तरसणाम न०(तिक्तरसनाम) रसनाभेदे, यदुदयवशाज्जन्तुशरीरेषु तिक्तो रसो भवति। यथा निम्बाऽऽदीनां तत्तिक्तरसनाम। पं० सं० ३द्वार। कर्म०।

तित्तऽलाउय स्त्री०(तिक्तालाबुक) कटुकतुम्बके, ज्ञा०१ श्रु० ६ अ०।

तित्तविसारण न०(तिक्तविसारण) उज्जयन्तपर्वताऽऽसन्ने स्थलविशेषे, ''गिरिवरमासन्नठिअं, अणीयं तित्तविसारणं नाम। सिलबद्धगाढपीठे, वेलक्खा तत्थ दम्माणं।१।'' ती०३ कल्प०।

तित्ति स्त्री०(तृप्ति) घ्राणौ, विशे०। प्रश्न०। अष्ट०।

पीत्वा ज्ञानामृतं भुक्त्वा, क्रियासुरलताफलम्।
साम्यताम्बूलमासाद्य, तृप्तिं याति परां मुनिः॥१॥
स्वगुणैरेव तृप्तिश्चेदाकालमविनश्वरी।
ज्ञानिनो विषयैः किं तैर्यैर्भवेत् तृप्तिरित्वरी॥२॥
या शान्तैकरसाऽऽस्वादाद्भवेत्तृप्तिरतीन्द्रिया।

सा न जिह्वेन्द्रियद्वारा, षड् रसाऽऽस्वादनादपि ॥३॥
संसारे स्वप्नवन्मिथ्या, तृप्तिः स्यादाभिमानिकी।
तथ्या तु भ्रान्तिशून्यस्य, साऽऽत्मवीर्यविपाककृत् ॥४॥
पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्तिं, यान्त्यात्मा पुनरात्मना।
परतृप्तिसमारोपो, ज्ञानिनस्तन्न युज्यते ॥५॥
मधुराऽऽज्यमहाशाकाद्यग्राह्येऽबाह्ये च गोरसात्।
परब्रह्मणि तृप्तिर्या, जनास्तां जानतेऽपि न ॥६॥
विषयोर्मिविषोद्गारः, स्यादतृप्तस्य पुद्गलैः।
ज्ञानतृप्तस्य तु ध्यान–सुधोद्गारपरम्परा ॥७॥
सुखिनो विषयाऽतृप्ताः, नेन्द्रोपेन्द्राऽऽदयोऽप्यहो!
भिक्षुरेकः सुखी लोके, ज्ञानतृप्तो निरञ्जनः ॥८॥

अष्ट०१० अष्ट०।

तित्तिअ अव्य०(तावत्) तत्परिमाणमस्य। त्रि०। वाच०। **"यत्तदेतदोतो-रित्तिअ एतल्लुक् च"** ॥८।२।१५६॥ इति तच्छब्दात् परस्य डावादेरतोः परिमाणार्थस्य 'इत्तिअ' इत्यादेशो भवति। प्रा०२ पाद। साकल्ये, अवधौ, तत्परिमाणवति, त्रि०।

तित्तिकंखि(ण्) त्रि०(तृप्तिकाङ्क्षिण्) तृप्तिवाञ्छके, अष्ट० ६ अष्ट०।

तित्तिर पुं०(तित्तिरि) **"तित्तिरौ रः"** ॥८।१।६०॥ इति तित्तिरशब्दे रस्येतोऽद्भवति। प्रा०१ पाद। पक्षिविशेषे, सूत्र० २ श्रु०२ अ०। प्रश्न०। उपा०। प्रज्ञा०।

तित्तिरकरण न०(तित्तिरिकरण) तित्तिरिमुद्दिश्य यत्र किञ्चित्क्रियते तथा यत्र स्थाप्यते एवंभूते स्थाने, आचा०।

तित्तिरलक्खण न०(तित्तिरिलक्षण) तित्तिरिस्वरूपप्रतिपादके ग्रन्थविशेषे, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

तित्ती (देशी) सारे, दे०ना०५ वर्ग ११ गाथा।

तित्थ न०(तीर्थ) तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम्। द्रव्यतो नद्यादीनां समोऽनपायश्च भूभागो, भौताऽऽदिप्रवचनं वा। भावतीर्थं तु सङ्घः। स्था०१ ठा०। आ०म०। श्रा०।

अथ तीर्थशब्दार्थमाह–

तित्थं ति पुव्वभणियं, संघो जो नाणचरणसंघाओ।
इह पवयणं पि तित्थं, तत्तोऽणत्थंतरं जेण ॥१३८०॥

तीर्यतेऽनेनेति तीर्थं पूर्वमेवात्राप्युक्तम्। किमित्याह–सङ्घः। किं विशिष्टः? ज्ञानदर्शनचारित्रगुणसङ्घातः। इह तु प्रवचनमपि तीर्थमुच्यते यस्मात्, ततः सङ्घातात्तदपि श्रुतज्ञानरूपत्वादनर्थान्तरमेवेति॥१३८०॥ विशे०।

संप्रति तीर्थनिरूपणायाऽऽह–

नामं ठवणा–तित्थं, दव्वतित्थं चेव भावतित्थं च।
एक्केक्कं पि य एत्तो– ऽणेगविहं होइ नायव्वं।

(नामं ति) नामतीर्थं, स्थापनातीर्थं, द्रव्यतीर्थं, भवतीर्थं च। (एत्तो ति) नामाऽऽदिनिक्षेपमात्रकरणादनन्तरमेकैकं नामतीर्थाऽऽदि अनेकविधं भवति ज्ञातव्यम्। तत्र नामतीर्थमनेकविधं, जीवाजीवविधयाऽऽदिभेदात्। स्थापनातीर्थं साकारानाकारभेदात्। द्रव्यतीर्थमागमाऽऽदिभेदात्।

तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरतीर्थप्रतिपादनार्थमाह–

दाहोवसमं तण्हा–वुच्छेयण मलपवाहणं चेव।
तिहिँ अत्थेहिँ निजुत्तं, तम्हा तं दव्वतो तित्थं ॥

इह ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं आगमतो नोआगमतो वा द्रव्यतीर्थं मागधवरदामाऽऽदि परिगृह्यते, बाह्यदाहाऽऽदेरेव तत उपशमसद्भावात्। तथा चाऽऽह–दाहोपशममिति। दाहो बाह्यः संपातः, तस्य उपशमो यस्मिन् तद् दाहोपशमम्। (तण्हावुच्छेयणं ति) तृषः पिपासायाः छेदनं, जलसंघातेन तदपनयात्, तथा मलो बाह्योऽङ्गसमुत्थः, तस्य प्रवाहणं–प्रवाह्यतेऽनेनेति प्रवाहणं, जलेन तस्य प्रक्षालनत्वात्। एवं त्रिभिरर्थैः करणभूतैर्नियुक्तं निश्चयेन युक्तं प्ररूपितम्। यदि वा–प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे तृतीया। त्रिष्वर्थेषु नियोजनं यस्माद् बाह्यदाहाऽऽदिविषयमेव तस्मात् मागधाऽऽदि द्रव्यतस्तीर्थं, मोक्षसाधकत्वाभावात्।

संप्रति भावतीर्थमधिकृत्याऽऽह–

कोहम्मि उ निग्गहिए, दाहस्सोवसमणं हवइ तत्थं।
लोहम्मि उ निग्गहिते, तण्हाए छेयणं होइ ॥
अट्ठविहं कम्मरयं, बहुएहिँ भवेहिँ संचियं जम्हा।
तवसंजमेण बज्झइ, तम्हा तं भावतो तित्थं ॥

इह भावतीर्थमपि आगमनोआगमभेदतोऽनेकप्रकारं, तत्र नो आगमतो भावतीर्थं क्रोधाऽऽदिनिग्रहसमर्थं प्रवचनमेव गृह्यते। तथा चाऽऽहक्रोधे एव निगृहीते दाहस्य द्वेषानलजातस्यान्तः प्रशमनं भवति तथ्यं निरुपचरितं, नान्यथा। तथा लोभ एव निगृहीते (तण्हाए छेयणं होति त्ति) तृषोऽभिष्वङ्गलक्षणस्य छेदनं व्यपगमो भवति। तथाऽष्टविधमष्टप्रकारं कर्मैव जीवानां रञ्जनात् कर्मरजः, बहुभिर्भवैः संचितं तपःसंयमेन बाध्यते शोध्यते यस्मात्तस्मात्तत्प्रवचनं भावतीर्थम्।

दंसणनाणचरित्तम्मि निउत्तं जिणवरेहिँ सव्वेहिँ।
एएण होइ तित्थं, एसो अण्णो वि पज्जाओ।

दर्शनज्ञानचारित्रेषु नियुक्तं नियोजितं सर्वैः ऋषभाऽऽदिभिः, जिनवरैस्तीर्थकृद्भिर्यस्मादित्यर्थभूतेषु त्रिष्वर्थेषु नियुक्तं तस्मात्तत्प्रवचनं भावतीर्थम्। अथवा–येन कारणेनेत्थंभूतेषु त्रिष्वर्थेषु नियुक्तमेतेन कारणेन प्रवचनं भावतस्त्रिस्थम्, एष त्रिस्थलक्षणस्तीर्थशब्दापेक्षयाऽन्यः पर्यायः। आ०म०द्वि०२अ०।

अथ तीर्थशब्दार्थमाह–

तिज्झइ जं तेण तहिं, तओ व तित्थं तयं च दव्वम्मि।
सरियाईणं भागो, निरवायो तम्मि य पसिद्धे ॥१०२६॥
तरिया तरणं तरियव्वं च सिद्धाणि तारओ पुरिसो।
बाहोदुवाइ तरणं, तरणिज्जं निन्नयाईयं ॥१०२७॥

यद् यस्मात्तीर्यते दुस्तरं वस्तु तेन तस्मिँस्ततो वत्यतस्तीर्थमुच्यते। तच्च नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्विधम्। तत्र नामस्थापने सुगमे। द्रव्ये द्रव्यभूतमप्रधानभूतं सरित्समुद्राऽऽदीनां निरपायः कोऽपि नियतो भागः प्रदेशस्तीर्थमुच्यते। तस्मिंश्च प्रसिद्धे सिद्धे सत्यस्याऽऽपेक्षिकशब्दत्वादेतानि नियमादिसध्यन्ति।

कानि? इत्याह–तरिता पुरुषः, तरणं बाहूद्ध्वपाऽऽदि, तरणीयं तु निम्नगाऽऽदिकमिति ॥१०२७॥

कथं पुनरिदं द्रव्यतीर्थमित्याह–

देहाइतारयं जं, बज्झमलावणयणाइमत्तं च ।
णेगंताऽणच्चंतियफलं च तो दव्वतित्थं तं ॥१०२८॥

यस्मादिदं देहाऽऽदिकमेव द्रव्यमात्रं तारयति–नद्यादिपरकूलमात्रं नयति, न पुनर्जीवं संसारसमुद्रस्य मोक्षलक्षणं परकूलं प्रापयति, अतोऽप्रधानत्वाद् द्रव्यतीर्थम् । तथा बाह्यमेव मलाऽऽदिद्रव्यमात्रमपनयति, न त्वन्तरङ्गं प्राणातिपाताऽऽदिजन्यकर्ममलम् । तथा–अनैकान्तिकफलमेवेदं नद्यादितीर्थं, कदाचिदनेन नद्यादेस्तरणात्, कदाचित्तु तत्रैव मज्जनात् । तथाऽनात्यन्तिकफलं चेदम् । तथाहि–एकदाऽनेन तीर्णमपि नद्यादिकं पुनरपि य तीर्यत इत्यनात्यन्तिकफलत्वम् । आत्मनो चाऽस्य नद्यादितीर्थस्य द्रव्यमात्रत्वेनाप्रधानत्वात् सर्वत्र द्रव्यतीर्थत्वं भावनीयमिति ॥१०२८॥

इह केषाञ्चिन्मतमाशङ्क्य परिहरन्नाह–

इह तारणाऽऽइफलयं, ति ण्हाणपाणाऽवगाहणाऽऽईहिं ।
भवतारयं ति केई, तं नो जीवोवघायाओ ॥१०२९॥
सूणंगं पि व तमुदूहलं व न य पुण्हकारणं ण्हाणं ।
ण य जइजोग्गं तं मंमणं व कामंगभावाओ ॥१०३०॥

इह केचित्तीर्थिका मन्यन्ते–नद्यादेः संबन्धि द्रव्यतीर्थं किल स्नानपानावगाहनाऽऽदिभिर्विधिवदा सेव्यमानं भवतारकं संसारमहामकराऽऽलयप्रापकं भवत्येव। कुतः? तारणाऽऽदिफलमिति कृत्वा–शरीरसंतारणमलक्षालन–तृड्व्यवच्छेददाहोपशमाऽऽदिफलत्वादित्यर्थः । अनेन चाध्यक्षसमीक्षितदेहतारणाऽऽदिफलेन परोक्षस्यापि संसारतारणफलस्यानुमीयमानत्वादिति भावः । तदेतन्नोपपद्यते, स्नानाऽऽदेर्जीवोपघातहेतुत्वात्, षड्ग सिधेनुशूलाऽऽदिवदिति। एतदुक्तं भवति–जीवोपघातहेतुत्वाद् दुर्गतिफला एव स्नानाऽऽदयः, कथं नु भवतारकास्ते भवेयुः, सूनावध्यभूम्यादीनामपि भवतारकत्वप्रसङ्गादिति? इतश्चनद्यादि तीर्थं भवतारकं न भवति, सूनाङ्गत्वात्–सूनाप्रकारत्वात्, उदूपलाऽऽदिवदिति । न च पुण्यकारणं स्नानं, नापि यतिजनयोग्यं तत्, कामाङ्गत्वात्, मण्डनवत् अन्यथा ताम्बूलभक्षणपुष्पबन्धनदेहाऽऽदिधूपनाभ्यञ्जनाऽऽदयोऽपि च भुजङ्गाऽऽदीनां पुण्यहेतवः स्युः। न च देहतारणाऽऽदिमात्रफलदर्शनेन विशिष्टं भवतारणाऽऽदिकं फलमुपपद्यते, नियमिकाभावात्, प्रत्यक्षवीक्षितप्राण्युपमर्दबाधितत्वाच्च, इत्याद्यभ्यूह्य स्वधियाऽत्र दोषजालमभिधानीयमिति ॥१०२९॥१०३०॥

अथ परो ब्रूयात्किमित्याह–

देहोवगारि वा तेण तित्थमिह दाइनासणाऽऽईहिं ।
महुमज्जमंसवेस्साऽऽदओ वि तो तित्थमावन्नं ॥१०३१॥

यदि प्रेरको मन्येत–जाह्नवीजलाऽऽदिकं तीर्थमेव, दाहनाशपिपासोपशमाऽऽदिभिर्देहोपकारित्वात् । अत्रोच्यते–एवं सति ततो मधुमद्यमांसवेश्याऽऽदयोऽपि तीर्थमापद्यन्ते, तेषामपि देहोपकारित्वाविशेषादिति। उक्तं द्रव्यतीर्थम् ॥१०३१॥

अथ भावतीर्थमाह–

भावे तित्थं संघो, सुयविहियं तारओ तहिं साहू ।
नाणाऽऽइतियं तरणं, तरियव्वं भवसमुद्दोऽयं ॥१०३२॥

भावे भावविषयं, श्रुतविहितं श्रुतप्रतिपादितं, संघस्तीर्थं, तथा च भगवत्यमुक्तम्–"तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थयरे तित्थं? गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थकरे, तित्थं पुण चाउव्वन्नो समणसंघो।" इति। इह च तीर्थसिद्धौ तारकाऽऽदयो नियमादाक्षिप्यन्त एव । तत्रेह संघे तीर्थं तद्विशेषभूत एव तारकः साधुः, ज्ञानदर्शनचारित्रा–त्रकं पुनस्तरणं, तरणीयं तु भवसमुद्रः । इह च तीर्थतारकाऽऽदीनां परस्परतो अन्यता, अनन्यता च विवक्षावशतो बोद्धव्या । तत्र सम्यग्दर्शनाऽऽदिपरिणामाऽऽत्मकत्वात् संघः तीर्थं, तत्रावतीर्णानामवश्यं भवोदधितरणात् । तद्विशेषभूतत्वात् तदन्तर्गत एव साधुस्तर। ता, सम्यग्दर्शनाऽऽद्यनुष्ठानात् साधकतमत्वेन तत्करणरूपतामापन्नं ज्ञानाऽऽदित्रयं तु तरणम्। तरणीयं त्वौदयिकाऽऽदिभावपरिणामाऽऽत्मकः संसारसमुद्र इति ॥१०३२॥

कस्मात् पुनः संघो भावतीर्थमित्याह–

जं नाणदंसणचरित्तभावओ तव्विवक्खभावाओ ।
भवभावओ य तारेइ तेण तं भावओ तित्थं ॥१०३३॥

यद् यस्मात्तारयति पारं प्रापयति तेन तत् संघलक्षणं भावतस्तीर्थमिति संबन्धः । कुतस्तारयतीत्याह–तद्विपक्षभावादिति–तेषां ज्ञानदर्शनचारित्राणां विपक्षो–अज्ञानमिथ्यात्वाऽविरमणानि तद्विपक्षः, तल्लक्षणो भावो जीवपरिणामः तद्विपक्षभावः, तस्मात्तारयति। कुतः? इत्याह–ज्ञानदर्शनचारित्रभावतः ज्ञानाऽऽद्यात्मकत्वादित्यर्थः । यो हि ज्ञानाऽऽद्यात्मको भवति सोऽज्ञानाऽऽदिभावात्परं तारयत्येवेति भावः । न केवलमज्ञानाऽऽदिभावात्तारयति । तथा भवभावतश्च तारयति, भवः संसारस्तत्र भवनं भावस्तस्मादित्यर्थः । यस्मात्स्वयं ज्ञानाऽऽदिभावाऽऽत्मकः, तथा–ऽज्ञानाऽऽदिभावाद्भवभावाच्च भव्यांस्तारयति, तस्मादसौ संघो भावतीर्थमितीह तात्पर्यम् ।

उक्तं च–

"रागाऽऽद्यम्भाः प्रमादव्यसनशतचलद्दीर्घकल्लोलमालः,
क्रोधेर्ष्यावाडवाग्निर्मृतिजननमहानक्रचक्रौघरौद्रः ।
तृष्णापातालकुम्भो भवजलधिरयं तीर्यते येन तूर्णं,
तद् ज्ञानाऽऽदिस्वभावं कथितमिह सुरेन्द्रार्चितैर्भावतीर्थम् ॥१॥"
इति ॥१०३३॥

उपपत्त्यन्तरमाह–

तह कोहलोहकम्मम–यदाहतण्हामलावणयणाइं ।
एगंतेणऽच्चंतं, च कुणइ सुद्धिं भवोघाओ ॥१०३४॥

तथा क्रोधश्च, लोभश्च, कर्म च, तन्मयास्तत्स्वरूपा यथासंख्यं ये दाहतृष्णामलाः । क्रोधो हि जीवानां मनःशरीरसंसारसन्तापजनकत्वाद्दाहः, लोभस्तु विभवविषयपिपासाऽऽविर्भावकत्वात् तृष्णा, कर्म पुनः पवनोद्धूतश्लक्ष्णरजोवत्सर्वतोऽवगुण्ठनेन मालिन्यहेतुत्वाद् मलः,अतस्तेषां क्रोधलोभकर्ममयानां दाहतृष्णामलानां यदेकान्तेनात्यन्तं चापनयनानि करोति । तथा कर्मकचवरमलिनाद्भवौघात् संसारापारनीरप्रवाहात् परकूलं नीत्वा शुद्धिं कर्ममलापनयनलक्षणां यतः करोति, तेन तत्सद्दलक्षणं भावतस्तीर्थमिति पूर्वसम्बन्धः । अपरमपि नद्यादितीर्थं तुच्छानैकान्तिकानात्यन्तिकदाहतृष्णामलाप–

नयनं विदधाति । एतत्तु संघतीर्थमनादिकालालीनत्वेनानन्तानां दाहतृष्णामलानामैकान्तिकमात्यन्तिकं चापनयनं करोति, अतः प्रधानत्वाद्भावतीर्थमुच्यते, नद्यादितीर्थं त्वप्रधानत्वाद् द्रव्यतीर्थमिति भावः ॥१०३४॥

अथवा प्राकृते ''तित्थं'' इत्युक्ते त्रिस्थमित्येतदपि लभ्यते, इत्येतदाह–

दाहोवसमाऽऽइसु वा, जं तिसु थियमहव दंसणाऽऽईसु ।
तो तित्थं संघो चिय, उभयं व विसेसणविसेस्सं ॥१०३५॥

अथवा यद्यस्माद्यथोक्तदाहोपशमतृष्णाच्छेदमलक्षालनरूपेषु, यदि वा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणेषु त्रिष्वर्थेषु स्थितं ततस्त्रिस्थं संघ एव, उभयं वा संघत्रिस्थितिलक्षणविशेषणविशेष्यरूपं द्वयं त्रिस्थम्। इदमुक्तं भवति– किं त्रिस्थं? संघः, कश्च संघः? त्रिस्थं, नान्यः, इत्येवं विशेषणविशेष्ययोरुभयं संलुलितं त्रिस्थमुच्यत इति ॥१०३५॥

अथवा प्राकृते 'तित्थं' इत्युक्ते त्र्यर्थमित्यपि लभ्यते, इत्येतद्दर्श– यन्नाह–

कोहग्गिदाहसमणादओ व ते चेव जस्स तिण्णऽत्था ।
होइ तियत्थं तित्थं, तमत्थसद्दो फलत्थोऽयं ॥१०३६॥

क्रोधाग्निदाहोपशमलोभतृष्णाव्यवच्छेदकर्ममलक्षालनलक्षणास्त एवानन्तरोक्तस्त्रयोऽर्थाः फलरूपा यस्य तत्त्र्यर्थं, तच्च संघ एव, तदव्यतिरिक्तं ज्ञानाऽऽदित्रयं वा त्र्यर्थं प्राकृते तित्थमुच्यते। अर्थशब्दश्चायं फलार्थो मन्तव्यः। इदमुक्तं भवति–भगवान् संघः, तदव्यतिरिक्तज्ञानाऽऽदित्रयं वा महातरुरिव भव्यैर्निपेव्यमाणं क्रोधाग्निदाहशमनाऽऽदिकांस्त्रीनर्थान् फलत्यतस्त्र्यर्थमुच्यत इति ॥१०३६॥

अथवा वस्तुपर्यायोऽत्रार्थशब्द इत्याह–

अहवा सम्मद्दंसण–नाणचरित्ताइ तिण्णि जस्सऽत्था ।
तं तित्थं पुव्वोइयमिह अत्थो वत्थुपज्जाओ ॥१०३७॥

अथवा सम्यग्दर्शनाऽऽदयस्त्रयोऽर्था यस्य तत्त्र्यर्थम्, अर्थशब्दश्चात्र वस्तुपर्यायः, त्रिवस्तुकमित्यर्थः। तच्च संघ एव, तदव्यतिरिक्तत्वात्, त एव वा सम्यग्दर्शनाऽऽदयस्त्रयोऽर्थाः समाहृताः त्र्यर्थं, संख्यापूर्वत्वात्, स्वार्थत्वाच्च द्विगोरिति ॥१०३७॥

तदेवं संघो भावतस्तीर्थं त्रिस्थं, त्र्यर्थं वेति प्रतिपाद्य साम्प्रतमिदमेव जैनं तीर्थमभिप्रेतार्थसाधकं, नान्यदिति प्रमाणतः प्रतिपादयन्नाह–

इह सम्मंसद्धाणो–बलद्धिकिरियासभावओ जइणं ।
तित्थमभिप्पेयफलं, सम्मपरिच्छेयकिरिय व्व ॥१०३८॥

इह जैनमेव तीर्थमभिप्रेतार्थसाधकमिति प्रतिज्ञा, सम्यग्श्रद्धानोपलब्धिक्रियास्वभावत्वात्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मकत्वादित्यर्थः। इह यत् सम्यक्श्रद्धानोपलब्धिक्रियाऽऽत्मकं तदिष्टार्थसाधकं दृष्टं, यथा सम्यग्परिच्छेदवती रोगापनयनक्रिया, यच्चेष्टार्थसाधकं न भवति, तत् सम्यग्श्रद्धानोपलब्धिक्रियाऽऽत्मकमपि न भवति, यथोन्मत्तप्रयुक्तक्रिया, तथा च शेषतीर्थानि । इदमुक्तं भवति–यथा कस्यचिन्निपुणवैद्यस्य सम्यग् रोगाऽऽदिस्वरूपं विज्ञाय विशुद्धश्रद्धानवत् आतुरस्य सम्यगौषधप्रयोगाऽऽदिक्रियां कुर्वतोऽभिप्रेतार्थसिद्धिर्जायते, एवं जैनतीर्थादपीति ॥१०३८॥

अन्यतीर्थान्यप्येवंविधानि भविष्यन्ति? नेत्याह–

नाभिप्पेयफलाइं, तयंगवियलत्तओ कुतित्थाइं ।
वियलनयत्तणओ चिय, वियलाइं वियलकिरिय व्व ॥१०३९॥

सुगताऽऽदिप्रणीतानि कुतीर्थानि नाभिप्रेतफलानि । कुत? इत्याह– (तयंगेत्यादि) तस्याभिप्रेतार्थस्याङ्गानि तदङ्गानि सम्यग्ज्ञानाऽऽदीनि कारणानि, तद्विकलत्वात्तद्रहितत्वात्, नयविकलत्वाच्च विकलानि तानि । सर्वैरेव ह्येकैकांशग्राहिभिर्नयैर्मिलितैः संपूर्णमनन्तधर्माऽऽत्मकं वस्तु निश्चीयते, शेषतीर्थानि त्वेकद्व्यादिनयमात्रमतावलम्बित्वेन समग्रनयविकलान्येवेति तानि नयविकलानि, ततो न सम्पूर्णाभिप्रेतफलस्य साधकानीत्यर्थः; विकलक्रियावदिति; यथा भिषक्प्रतीचारकाऽऽतुरौषधाऽऽद्यन्यतराङ्गविकला क्रिया न संपूर्णाऽभिप्रेतफलसाधनी, तथा कुतीर्थान्यपीति। तदेवं यथोक्तप्रकारेण द्रव्यभावतीर्थप्ररूपणा कृता ॥१०३९॥

अथ प्रकारान्तरेण तत्प्ररूपणां कर्तुमाह–

अहव सुहोतारुत्तारणाइ दव्वे चउव्विहं तित्थं ।
एवं चिय भावम्मि वि, तत्थाऽऽइमयं सरक्खाणं ॥१०४०॥
तव्वणियाणं बीयं, विसयसुहकुसत्थभावणाधणियं ।
तइयं च बोडियाणं, चरिमं जइणं सिवफलं तु ॥१०४१॥

इह द्रव्यतीर्थे चत्वारो भङ्गाः । तद्यथा–सुखावतारं सुखोत्तारम्, सुखावतारं दुरुत्तारम्, दुःखावतारं सुखोत्तारम्, दुःखावतारं दुरुत्तारम् ।४। एवं भावतीर्थेऽपीयं चतुर्भङ्गी द्रष्टव्या। इह च यत्र सुखेनैवावतरन्ति प्रविशन्ति प्राणिनस्तत्सुखावतारम्, सुखेनैव यत उत्तरन्ति–सुखेनैव यद् मुञ्चन्तीत्यर्थः, तत्सुखोत्तारम्; इत्याद्य–भङ्गवर्तितीर्थभावार्थः । एवमन्यत्रापि। एतच्च सरजस्कानां शैलानां सम्बन्धि वेदितव्यम्। तथाहि– रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गमनोवाक्कायजयाऽऽदिलक्षणस्य तथाविधदुष्करकष्टानुष्ठानस्य तैः क्रियमाणस्यादर्शनात्, यथा कथञ्चित्स्वरूपतयाऽपि च तैर्व्रतपरिपालनस्याभिधानात्सुखेनैव प्राणिनस्तद्दीक्षां प्रतिपद्यन्ते, इति तत्तीर्थस्य सुखावतारता । तच्छास्त्रेषु च न तथाविधाऽऽवासकस्वभावा काचिन्निपुणा युक्तिरस्ति, यद्वासितान्तरात्मा पुमांस्तद्दीक्षां न परित्यजेत्। किं च– ''शैवो द्वादश वर्षाणि, व्रतं कृत्वा ततः परम्। यद्यशक्तस्त्यजेद्वापि, याग कृत्वा व्रतेश्वरे ॥१॥'' इत्यादिना दीक्षात्यागस्य तैर्निर्दोषतयाऽप्यभिधानात्सुखेनैव तद्दीक्षां जन्तवः परित्यजन्ति, इति उत्तीर्थस्य सुखोत्तारतेति १। द्वितीयभङ्गवर्ति तीर्थ (तव्वणियाणं ति) सुगतानां संबन्धि मन्तव्यम्।

तथाहि–

''मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया,
भक्तं मध्ये पानकं चाऽपराह्णे।
द्राक्षाखण्डे शर्करा चार्द्धरात्रे,
मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥१॥''

''मणुन्नं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणाऽऽसणं।
मणुण्णंसि अगारंसि, मणुन्नं झायए मुणी ॥१॥''

इत्यादेस्तैरभिधानतो विषयसुखसिद्धेस्तत्तीर्थस्य सुखावतारता। तथा–कुशास्त्रोक्तनिपुणयुक्तिभिस्तीव्रवासनोत्पादाद्, व्रतत्यागे च तैर्महतः संसारदण्डाऽऽदेः प्रतिपादनात्, तत्समीपगृहीतव्रतस्य दुष्परित्याज्यत्वात्तत्तीर्थस्य दुरुत्तारता । इमां च युक्तिं भाष्यकारः स्वयमेव किञ्चिदाह– ''विसयसुह'' इत्यादि गतार्थम् २।

दुःखावतारं सुखोत्तारमिति तृतीयं वोटिकानां दिगम्बराणाम् । तत्र नाम्न्यायादेर्लज्जाऽऽदिहेतुत्वेन दुरध्यवसेयत्वात्तत्तीर्थस्य दुःखावतारता । अनेषणीयपरिभोगकषायबाहुल्याऽऽदेस्तदसमञ्जसदर्शनात्, नाग्न्याऽऽदेश्चातिमज्जनीयत्वेन तत्पराभग्नानां तत्तीर्थस्य सुखोत्तारतेति ३ । दुःखावतारं दुरुत्तारमिति चरमं चतुर्थं मोक्षफलम् । जैनानां साधूनां रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाऽऽदिजयस्य, तथाऽप्रमत्ततया समितिगुप्तिशिरोलुञ्चनाऽऽदिकष्टाऽनुष्ठानस्य दर्शनात् तत्तीर्थस्य दुःखावतारता । सुशास्त्रोक्तनिपुणयुक्तिभिस्तीव्रतरवासनोत्पादनात्, व्रतत्यागे चातिमहतः संसाराऽऽदि--दण्डस्याभिधानात्तत्तीर्थस्य दुरुत्तारता ।४।अन्ये तु सुखोत्तारतां दुरुत्तारतां च सर्वत्र मुक्तिप्राप्तिमाश्रित्य व्याचक्षते, तत्र सज्जस्कानां स्वल्पेनैवेश्वरोक्तानुष्ठानेन किल मुक्तिप्राप्त्यभ्युपगमात्सुखोत्तारं तीर्थं, सुखेनैवास्माद्भवार्णवमुत्तरन्तीति व्युत्पत्तेः । शाक्यानां तु दुरवापविशिष्टध्यानमार्गाद् योगिज्ञानोत्पत्त्यादिक्रमेण मुक्ति-प्राप्त्यभ्युपगमाद् दुःखोत्तारता । दुःखेनारतात्संसारमुत्तरन्ति इति कृत्वा । वोटिकानां तु भिक्षाशुद्ध्यादीनां गौणत्वेनाभ्युपगमान्नाग्न्यलक्षणनिर्ग्रन्थत्वमात्रादेव मुक्त्यभ्युपगमात्सुखोत्तारता । साधूनां तु पूर्वोक्तकष्टानुष्ठानाद् मुक्त्याश्रयणाद् दुरुत्तारता । अवतारपक्षे तु सर्वत्र पूर्वोक्तैव भावना; इत्यलं विस्तरेणेति ॥१०४०॥१०४१॥

अत्र प्रेरकः प्राऽऽह–

नणु जं दुहावयारं, दुक्खोत्तारं च तं दुरहिगम्मं ।
लोयम्मि पूइयं जं, सुहावयारं सुहुत्तारं ॥१०४२॥

ननु यद् दुःखावतारं च दुरुत्तारं च तीर्थं तद् दुरधिगम्यम्, एवंभूतं च जैनतीर्थं भवद्भिः प्रतिपादितम् । एतच्चायुक्तम्, एवंभूततीर्थस्य तरणक्रिया विधानित्वेनानिष्टार्थप्रसाधकत्वात्, लोकप्रतीतिबाधितत्वाच्च । तथा चाऽऽह–लोके हि यत्सुखावतारं सुखोत्तारं च तीर्थं, तत्पूजितं तदेवोपादेयम्, तरणक्रियाऽनुकूल्येनेष्टार्थप्रसाधकत्वात् । तस्मात् प्रथम एव भङ्गः श्रेयान् इति प्रेरकाऽभिप्राय इति ॥१०४२॥

अत्रोत्तरमाह–

एवं तु दव्वतित्थं, भावे दुक्खं हियं लभइ जीवो ।
मिच्छत्तऽणाणऽविरई–विसयसुहभावणाणुगओ ॥१०४३॥
पडिवण्णो पुण कम्मा–णुभावओ भावओ परमसुद्धं ।
किह मोच्छिइ जाणंतो, परमहियं दुल्लहं च पुणो ॥१०४४॥

सत्यम्, द्रव्यतीर्थमेवमेवेष्यते यथैव त्वं ब्रूषे, तस्य सुखप्राप्यत्वात्, सुखेनैव च मुच्यमानत्वादिति । भावतीर्थं तु नैवम्, तस्य मोक्षहेतुत्वेन जीवानां परमहितत्वात् । यच्च मोक्षहेतुत्वेन हितं तद् दुःखं लभते जीवः–महता कष्टेन तज्जीवः प्राप्नोतीत्यर्थः । कथंभूतो यस्मादेष जीवः ? इत्याह–(मिच्छत्त इत्यादि) यस्मादनादिकालालीनमिथ्यात्वाज्ञानाविरतिविषयसुखभावनाऽनुगतो जीवः, तस्मादित्थंभूतस्य जीवस्यानन्तसंसारदुःखव्यवच्छेदहेतुत्वान्निःसीमनिःश्रेयसाधाप्तिनिबन्धनत्वाच्च परमहितं भावतीर्थमतिदुरवापत्वात् पूर्वोक्तकष्टानुष्ठानयुक्तत्वाच्च दुःखावतारम्, तथा–दुरुत्तारं च । कुतः ? इत्याह–(पडिवण्णो इत्यादि) शुभकर्मपरिणत्यनुभावतः पुनः कथमपि परमशुद्धं भावतीर्थं भावतः परमार्थतः प्रतिपन्नो जीवः 'परमहितं दुर्लभं च पुनरपि' एतज्ज्ञानन्नपि कथं नु नाम तन्मोक्ष्यति? कथं तत उत्तरिष्यति? न कथञ्चिदित्यर्थः । अतो दुरुत्तारता तस्येति । किञ्च–सद्वैद्यप्रयुक्तकर्कशक्रियोदाहरणतश्च भावतीर्थस्य दुःखावतारोत्तारता भावनीया ॥१०४३॥१०४४॥

कथम् ? इत्याह–

अइकक्खडं व किरियं, रोगी दुक्खं पवज्जए पढमं ।
पडिवन्नो रोगक्खयमिच्छंतो मुंचए दुक्खं ॥१०४५॥
इय कम्मवाहिगहिओ, संजमकिरियं पवज्जए दुक्खं ।
पडिवण्णो कम्मक्खयमिच्छंतो मुंचए दुक्खं ॥१०४६॥

गाथाद्वयमपि सुबोधम् ॥१०४५॥१०४६॥ विशे०। (जम्बूद्वीप–तीर्थवक्तव्यता 'जंबूदीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३७४ पृष्ठे गता)

तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थगरे तित्थं? गोयमा ! अरहा ताव णियमा तित्थगरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णाइण्णे समणसंघे । तं जहा–समणा, समणीओ, सावया, साविआओ य ।

(तित्थं भंते ! इत्यादि) तीर्थं सङ्घरूपं भदन्त ! (तित्थं ति) तीर्थशब्दवाच्यम्, उत तीर्थकरस्तीर्थं तीर्थशब्दवाच्यम् ? इति प्रश्नः । अत्रोत्तरम्–अर्हन् तीर्थकरस्तावत्तीर्थप्रवर्त्तयिता, न तु तीर्थम्। तीर्थं पुनः (चाउव्वण्णाइण्णे समणसंघे त्ति) चत्वारो वर्णा यत्र स चतुर्वर्णः, स चासावाकीर्णश्च क्षमाऽऽदिगुणैर्व्याप्तश्चतुर्वर्णाऽऽकीर्णः । क्वचित्–''चउव्वण्णं समणसंघे'' इति पठ्यते,तच्च व्यक्तमेवेति । भ०२० श०८उ०। ('आणा' शब्दे द्वितीयभागे ११६ पृष्ठे तीर्थविचारो द्रष्टव्यः) ''भूर्भुवःस्वस्त्रयीतार्थं, यत्किञ्चिन्नाम विद्यते । तत्सर्वमेव दृष्टं स्यात्, पुण्डरीकेऽभिवन्दिते ॥१॥'' ती०१ कल्प। तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थम्। रा०। पञ्चा०। ल०।आ०म०। स०। आ०चू०। संसारसागरं तरन्ति येन तत्तीर्थम्। नं०। **''द्वितीय–तुर्ययोरुपरि पूर्वः''** ॥८।२।९०॥ इति द्वितीयस्योपरि प्रथमः। प्रा०२ पाद। **''ह्रस्वः संयोगे''** ॥८।१।८४॥ इति दीर्घस्य ह्रस्वः। प्रा०१ पाद। प्रवचने, आ०म०१ अ०१ खण्ड। आ० चू०। संसारसागरतारणकारणत्वाज्ज्ञानाऽऽदौ, स०३० सम०। तद्वाराऽऽदाववतारमार्गे, स्था०१० ठा०। श्रीवीरतीर्थं कियत्कालं यावद् भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्–''जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पिआ ! णं केवतिअं तित्थं अणुसज्जिस्सइ?'' इति भगवतीसूत्रस्थविंशतिलक्षशतकाष्टमोद्देशकानुसारेणैकविंशतिसहस्रवर्षाणियावत् श्रीवीरतीर्थं प्रवर्तिष्यते । किञ्च–''तित्थं भंते !तित्थं, तित्थयरे तित्थं? गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थकरे, तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णे समणसंघे । तं जहा–समणा, समणीओ, सावगा, साविआओ य ।'' इति भगवत्यां ''दुप्पसहंते चरणं, भणिअं जं भगवया इहं खेते। आणाजुत्ते-णमिणं, ण होइ अहुणं ति वामोहो'' ॥१॥ इत्युपदेशपदवचनाद् दुःप्रसहान्तं यावच्चात्र भविष्यतीति । १०प्र०। सेन०३ उल्ला०। अश्रुत्वाकेवलिनस्तीर्थे भवन्ति, तीर्थविच्छेदे वा भवन्ति? तथा पाक्षिकसूत्रवृत्तावतीर्थेऽन्तकृत्केवलिनो भूत्वा सिद्ध्यन्ति, भगवत्यां च नवमशतके तदाश्रित्य ''तप्पक्खियरायवयस्स तप्पक्खियरायाविआए वा'' इत्यत्र धर्म्मोपदेशं न दत्ते एकंप्रश्न ज्ञात–

मेकं च मुक्त्वेत्यभिप्रायेणाऽश्रुत्वाकेवलिनस्तीर्थे एव भवन्ति? अन्यद्याश्रुत्वाकेवलिनः पञ्चदशभेदभिन्नानां सिद्धानां मध्ये कस्मिन् भेदे समायान्ति? तेनैतद्विषये सर्वं सविस्तरं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्–अश्रुत्वाकेवलिनः श्रीभगवतीसूत्रवृत्त्यनुसारेण तीर्थ एव भवन्ति, नातीर्थे। पाक्षिकसूत्रवृत्तौ तु अतीर्थसिद्धाधिकारे एते उक्ता (न) सन्तीति; तथा तीर्थसिद्धाऽऽदिमध्ये यथासंभवमवतरन्तीति। ३८२प्र०। सेन०३ उल्ला०। तीर्थे यन्नालिकेराऽऽदि द्रव्यं मानितं, तदेव मुच्यतेऽन्यद्वेति प्रश्ने, उत्तरम्–श्रीशङ्खेश्वराऽऽदितीर्थे मूलविधिना यदेव मानितमभूत्तदेवमुच्यते, कारणे तु यथाऽऽदेयं न भवति तथा कर्त्तव्यमिति। ४४२ प्र०।सेन०३ उल्ला०। जं०। (तीर्थस्य प्रभावकाः 'पभावग' शब्दे वक्ष्यन्ते) (ऊर्ध्वलोकाऽऽदिषु शाश्वताशाश्वततीर्थानि 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२४२ पृष्ठे उक्तानि) (भरतस्य राज्ञो वरदातीर्थगमनं 'भरह' शब्दे वक्ष्यते)

त्रिस्थ न०। त्रिषु वा क्रोधाग्निदाहोपशमलोभतृष्णानिरासकर्ममलापनयनलक्षणेषु ज्ञानाऽऽदिलक्षणेषु वा अर्थेषु तिष्ठन्तीति त्रिस्थम्। संघे, प्राकृतत्वात् 'तित्थं' स्था०१ठा०।

त्र्यर्थ न०। त्रयो वा क्रोधाग्निदाहोपशमाऽऽदयोऽर्थाः फलानि यस्य तत्त्र्यर्थम्। अथवा–त्रयो ज्ञानाऽऽदयोऽर्था वस्तूनि यस्य तत्त्र्यर्थम्। संघे, स्था०१ ठा०।

तित्थअर पुं०(तीर्थकर) 'तित्थयर' शब्दार्थ, विशे०।

तित्थंकर पुं०तीर्थ(ङ्) कर तीर्थमुत्कलक्षणं तत् कुर्वन्त्यानुलोम्येन हेतुत्वेन तच्छीलतया वेति तीर्थकराः। अत्रानुखारः प्राकृतत्वात्। पा०। ''तीर्थाच्चैके'' इति वचनात् खप्रत्यये तीर्थशब्दाद् मुम्। नं०। शास्तृषु, पा०। (तीर्थकरस्य सर्वा वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्दे २२४७ पृष्ठतो वक्ष्यते)

तित्थकरणाय न०(तीर्थकरज्ञात) जिनोदाहरणे, पञ्चा० ६ विव०।

तित्थगर पुं०(तीर्थकर) 'तित्थयङ्क' शब्दार्थ, विशे०।

तित्थजत्ता स्त्री०(तीर्थयात्रा) तीर्थगमने, ध०।

अथ तीर्थयात्रास्वसूत्रम्–

तत्र तीर्थानि श्रीशत्रुञ्जयोज्जयन्ताऽऽदीनि। तथा–तीर्थकृज्जन्मदीक्षाज्ञाननिर्वाणविहारभूमयोऽपि प्रभूतभव्यस्य शुभभावसंपादकत्वेन भवाम्भोनिधितारणात्तीर्थान्युच्यन्ते। तेषु सद् दर्शनविशुद्ध्यर्थं विधिवज्जिनानुद्दिश्य महोत्सवः तीर्थयात्रा। तत्राऽयं विधिः–प्रथमं मुख्यवृत्त्या ब्रह्मव्रतैकाऽऽहारपादचाराऽऽद्यभिग्रहान् प्रतिपद्यते, सत्यामपि वाहनसामग्र्यां पादचारणाऽऽद्युचितमेव। यतः–''एकाहारी दर्शनधारी यात्रासु भूशयनकारी। सचित्त–परीहारी, पदचारी ब्रह्मचारी च ॥१॥'' ततो राजानमनुज्ञापयति, प्रगुणीकरोति च यथाशक्ति युक्तिविशिष्टान् यात्रार्थं देवाऽऽलयान् कारयति च विविधपटमण्डपप्रौढकटाहाऽऽदिचलत्कूपसरोवराऽऽदीन्, सज्जयति शकटाऽऽद्यनेकविधिवाहनानि, निमन्त्रयते च स बहुमानं श्रीगुरून् सङ्घं स्वजनवर्गं च, प्रवर्तयत्यमारिम्, करोति चैत्याऽऽदौ महापूजाऽऽदिमहोत्सवम्, ददाति दीनाऽऽदिभ्यो दानम्, प्रोत्साहयति निराधारेभ्यो विभववाहनाऽऽदिदानविषयोद्घोषणापूर्वम्, आह्वयति कवचाङ्ककाऽऽद्युपस्कारार्पणाऽऽदिसमानपूर्वमनेकोद्भटभटान्, प्रगुणयति च गतिनृत्यवाद्याऽऽदि, ततः करोति शुभेऽह्नि प्रस्थानमङ्गलम्, तत्र सकलसमुदायं विशिष्टभोज्यताम्बूलाऽऽदिभिः परिभोज्य परिधाप्य च दुकूलाऽऽदिभिर्विधापयति सुप्रतिष्ठधर्मिष्ठपूज्यभागवत्तरनरेभ्यः सङ्घाधिपत्यतिलकम्, विदधाति सङ्घपूजामहम्, मार्गे च सम्यक् सङ्घसंभालनां कुर्वन् प्रतिग्रामं प्रतिपुरं च चैत्येषु स्नात्रपूजाध्वजप्रदानचैत्परिपाट्यद्यतुच्छोत्सवं जीर्णोद्धाराऽऽदिचिन्तां च विदधन् तीर्थं प्राप्नोति। तद्दर्शने च रत्नमौक्तिकाऽऽदिवर्द्धापनलपनेप्सितमोदकाऽऽदिलम्भनिकाऽऽदि कुरुते। तीर्थे चाष्टप्रकाराऽऽदिमहापूजाविधिस्नात्रमालोद्घटनघृतधाराप्रदाननवाङ्गजिनपूजनदुकूलाऽऽदिमयमहाध्वजप्रदानरात्रिजागरणगीतनृत्याऽऽद्युत्सवकरणतीर्थोपवासषष्ठाऽऽदितपोविधानविविधफलभोज्याऽऽदिवस्तुढौकनपरिधापनिकामोचनविचित्रचन्द्रोदयबन्धनदीपतेलघृतधौतिकेसरचन्दनागुरुपुष्पचङ्गेरिकाऽऽदिसमस्तपूजोपकरणप्रदाननवदेवकुलिकाऽऽदिविधापनसूत्रधाराऽऽदिसत्करणतीर्थाशातकनिवारणतीर्थरक्षकसंमाननतीर्थदायप्रवर्तनसाधर्मिकवात्सल्यगुरुसंघपरिधापनाऽऽदिभक्तिमार्गणदीनाऽऽद्युचितदानाऽऽदिसत्कृत्यानि कुरुते। एवं यात्रां कृत्वा प्रौढप्रवेशोत्सवैः स्वगृहमागतो देवाऽऽह्वानाऽऽदिमहं विधाय सर्वसंघ भोजनाऽऽदिसत्कारपूर्वकं विसर्ज्य वर्षाऽऽदि यावत्तीर्थोपवासाऽऽदिकरणाऽऽदिना दिनमाराधयति। इति तीर्थयात्राविधिः। यात्रा च कल्याणकदिवसेषु विशेषलाभकारी। यतः पञ्चाशके नवमविवरणे–

''ता रहणिक्खमाणाइ वि, एते उ दिणे पमुच्च कायव्वं।
जं एसो च्चिय विसओ, पहाणमो तीएँ किरियाए ॥१॥''

तथा–

''संवच्छरचाउम्मा–सिएसु अट्ठाहियासु अ तिहीसु।
सव्वायरेण लग्गइ, जिणवरपूआतवगुणेसुं'' ॥१॥

इत्यागमप्रामाण्यादेष्वपि दिवसेषु विशेषलाभकारी ज्ञेया। यात्रायाश्च दर्शनशुद्ध्यङ्गत्वात्प्रयत्नः श्रेयानेव। यतः–

''दंसणमिह मोक्खंगं, परमं एयस्स अट्ठहाऽऽयारो।
निस्संकादी भणिओ, पभावणं तो जिणिंदेहिं ॥१॥
पवरा पभावणा इह, असेसभावम्मि तीएँ सब्भावा।
जिणजत्ता य तयंगं, जं पवरं तप्पयासोऽयं''॥२॥

ध०२ अधि०।(तीर्थयात्रायां पापकर्मयोगो भवति न वेति विचारः 'आणा' शब्दे द्वितीयभागे १२० पृष्ठे कृतः)

तित्थणिगार पुं०(तीर्थनिकार) शासनसंकोचे, स्था०।

तथा चाहुराजीविकनयानुसारिणः–

''ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्तारः परमं पदम्।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥१॥'' स्या०।

केषाञ्चित्सत्यामपि कर्मक्षयानन्तरं मोक्षावाप्तौ तथाऽपि स्वतीर्थनिकारदर्शनतः पुनरपि संसाराऽभिगमनं भवतीदमाशङ्क्याऽऽह–

अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ।

(अकुव्वओ इत्यादि) तस्य अशेषक्रियारहितस्य योगप्रत्ययाभावात्किमप्यकुर्वतोऽपि, नवं प्रत्यग्रं, कर्म ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकं, नास्ति न भवति, कारणाभावात्कार्याभाव इति कृत्वा, कर्माभावे च कुतः संसाराभिगमनम्, कर्मकार्यत्वात्संसारस्य, तस्य चोपरताशेषद्वन्द्वस्य स्वपरकल्पनाऽभावाद रागद्वेषर–

हितया स्वदर्शननिकाराभिनिवेशोऽपि न भवत्येव। सूत्र०१ श्रु० १५ अ०।

तित्थपवत्तण न०(तीर्थप्रवर्तन) तीर्थप्रवर्तने, उत्सर्पिणीकाले चरमतीर्थकृतस्तीर्थं कियत्कालं प्रवर्तिष्यतीति प्रश्ने, उत्तरम्–पञ्चमाङ्गे *त्रिंशतितमशतकेऽष्टमोद्देशे श्रीऋषभजिनकेवलपर्यायं यावदुत्सर्पिणी*-काले चरमतीर्थकृतस्तार्थं प्रवर्तिष्यतीत्युक्तमस्तीति। ५० प्र०। सेन० १ उल्ला०।

तित्थपवत्तणचम्यिणिबद्ध न०(तीर्थप्रवर्तनचरित्रनिबद्ध) नाट्यभेदे, रा०। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य चरमपूर्वमनुष्यभवचरमच्यवन–चरमगर्भसंहरणचरमभरतक्षेत्रावसर्पिणीतीर्थङ्करजन्माऽभिषेकचरमबालभाव–चरमयौवन–चरमकामभोग–चरमनिष्क्रमण–चरमतपश्चरण–चरमज्ञानोत्पाद–चरमतीर्थ-प्रवर्तन–चरमपरिनिर्वाणनिबद्धं चरमचरमनिबद्धं नाम द्वात्रिंशत्तमं नाट्यविधिमुपदर्शयति रा०।

तित्थपवित्तिहेउत्त न०(तीर्थप्रवृत्तिहेतुत्व) तीर्थं चतुर्विधश्रमणसङ्घः प्रवचनं वा, तस्य प्रवृत्तिरविच्छेदेन स्थितिः, तस्या हेतुत्वं कारणत्वम्। तीर्थप्रवर्तकतायाम्, ध०३ अधि०।

तित्थभेय त्रि०(तीर्थभेद) तीर्थानि तीर्थभूतदेवद्रोण्यादीनि भिनत्ति द्विधा करोति तद् द्रव्यमोषणाय तत्परिकरभेदनेनेति तीर्थभेदः। ज्ञा०१ श्रु० २अ०। तीर्थमोषके तस्करे, तीर्थ (भेद)मोचके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

तित्थमाट्टिया स्त्री०(तीर्थमृत्तिका) तीर्थमृत्तिकायाम्, रा०।

तित्थयर पुं०(तीर्थकर) तीर्यते भवोदधिरनेन अस्मात् अस्मिन्निति वा तीर्थं वक्ष्यमाणस्वरूपम्, तत्करणशीलः ''कृञो हेतुताच्छील्या०–'' ॥३।२।२०॥ इत्यादिना (पाणि०) टप्रत्यये तीर्थकरः। अर्हति, विशे०।

(१) तीर्थकरशब्दसिद्धिमाह–

अणुलोमहेउतच्छी–लया य जे भावतित्थमेयं तु।
कुव्वंति पगासंति य, ते तित्थयरा हियत्थकरा ॥१०४७॥

हेतुताच्छील्यानुलोम्यतो ये भावतीर्थमेतत्कुर्वन्ति, गुणतः प्रकाशयन्ति च, ते तीर्थकराः। तत्र हेतौ–सद्धर्मतीर्थकरणहेतवः ''कृञो हेतुताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु'' ॥३।२।२०॥ इत्यादिना (पाणि०) टप्रत्ययविधानात्तीर्थकराः। यथा यशस्करी विद्येत्यादि। ताच्छील्ये–कृतार्थाऽपि तीर्थकरनामकर्मोदयतः समग्रप्राणिगणानुकम्पापरतया च सद्धर्मतीर्थदेशकत्वात्तीर्थकराः, भरताऽऽदिक्षेत्रे प्रथमनरनाथकुलकराऽऽदिवदिति। आनुलोम्ये–स्त्रीपुरुषबालवृद्धस्थविरकल्पिकजिनकल्पिकाऽऽदीनामनुरूपोत्सर्गापवाददेशनया अनुलोमसद्धर्मतीर्थकरणात् तीर्थकराः, यथा–वचनकर इत्यादि। एवंभूतास्तीर्थकराः, अत एव सर्वानुमतां हितस्य मोक्षार्थस्य करणाद्धितार्थकराः। (१०४७) विशे०। तीर्यते संसारसमुद्रोऽने–नेति तीर्थम्–द्वादशाङ्गं प्रवचनं, तदाधारः संघो वा, तत्करणशीलास्तीर्थकराः। बृ०२ उ०। तीर्थमुक्तलक्षणं, तत्कुर्वन्त्यानुलोम्येन हेतुत्वेन तच्छीलतया चेति तीर्थकराः। आह च–''अणुलोमहेउ–तच्छी–लया य जे भावतित्थमेयं तु। कुव्वंति पगासंति य, ते तित्थयरा हियत्थकरा'' ॥१०४७॥ (विशे०) इति। स्था०१ ठा०। तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थं, तच्च प्रवचनाऽऽधारः चतुर्विधः सङ्घः, प्रथमगणधरो वा, तत्करणशं लास्तीर्थकराः। ध०२ अधि०। रा०। जी०। तीर्थमेव धर्मः, तस्याऽऽदिकर्तारस्तीर्थकराः, अथवा–तीर्थनामादिकर्तारस्तीर्थकरः। तथा च प्रत्येकशः सुतीर्थनामादिकर्तारस्तीर्थकराः। आ०चू०५ अ०। सङ्घकरणशीलत्वाद् दुःखावतारदुःखोत्ताररूपपरा तीर्थकरणशीलाः तीर्थकारः। आ०म०१ अ०१ खण्ड।

(२) तत्र च तीर्थकरणशीलास्तीर्थकरा अचिन्त्यप्रभावमहापुण्यसंज्ञिततन्नामकर्मविपाकतः, तस्याऽन्यथा वेदनायोगात्, तत्र येनेह जीवा जन्मजरामरणसलिलं मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीषणकषायपातालं सुदुर्लङ्घ्यमोहाऽऽवर्तरौद्रं विचित्रदुःखैरघदुष्टश्वापदं रागद्वेषपवनविक्षोभितं संयोगवियोगवीचीयुक्तं प्रबलमनोरथवेलाऽऽकुलं सुदीर्घं संसारसागरं तरन्ति तत्तीर्णमिति, एतच्च यथावस्थितसकलजीवाऽऽदिपदार्थप्ररूपकम्, अत्यन्तानवद्यान्याविज्ञातचरणकरणक्रियाधारं त्रैलोक्यगतशुद्धधर्मसंपद्युक्तमहासत्त्वाऽऽश्रयम्, अचिन्त्यशक्तिसमन्वितावितथसंवादिपरमबोहित्थकल्पं प्रवचनं, सहघो वा, निराधारस्य प्रवचनस्य असंभवात्। उक्तं च–''तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थगरे तित्थं ?गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थकरे, तित्थं पुण चाउवण्णो समणसंघो।'' तच्चैतदुक्तं भवति–घातिकर्मक्षये ज्ञानकैवल्ययोगात् तीर्थकरनामकर्मोदयतस्तत्स्वभावतया आदित्याऽऽदिप्रकाशनिदर्शनतः शास्त्रार्थप्रणयनाद्, मुक्तकैवल्ये तदसंभवेनाऽऽगमानुपपत्तेः, भव्यजनधर्मप्रवर्तकत्वेन परम्परानुग्रहकरास्तीर्थकरा इति तीर्थकरत्वसिद्धिः। (४) ल०। तरन्ति येन संसारसागरमिति तीर्थं प्रवचनं, तदव्यतिरेकाच्चेह संघस्तीर्थम्, तत्करणशीलत्वात्तीर्थकराः। भ० १ श० १उ०। स०। नं०। **''क–ग–च–ज–त–द–प–य–वां प्रायो लुक्''** ॥८।१।१७७॥ इति कलोपः। प्रा०१ पाद। **''अवर्णो यश्रुतिः''** ॥८।१।१८०॥ इत्यकारस्थाने यकारः। क्वचित्कस्य गः। प्रा०१ पाद। द्वादशाङ्गप्रणायकेषु जिनेषु, प्रश्न०४ संव०द्वार। तीर्थमेव धर्मः, तस्याऽऽदिकर्तारस्तीर्थकराः, स्वतीर्थानामादिकर्तारः तीर्थकराः। आ०चू०१ अ०। सत्त०। दर्श०। (तीर्थकृतामतिशयाः 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे ३१ पृष्ठे द्रष्टव्याः) (जिनानां परस्परं मोक्षान्मोक्षस्यान्तराणि प्रथमभागे 'अंतर' शब्दे ६६ पृष्ठे निरूपितानि)

(३) तीर्थकृतामचेलत्वे संयमविराधनाऽऽदयो दोषाः कथं न भवन्ति? इत्यत्राऽऽह–

निरुपमधिइसंघयणा, चउनाणाऽइसयसत्तसंपन्ना।
अच्छिद्दपाणिपत्ता, जिणा जियपरीसहा सव्वे ॥२५८१॥
तम्हा जहुत्तदोसे, पावंति न वत्थपत्तरहिया वि।
तदसाहणं ति तेसिं, तो तग्गहणं न कुव्वंति ॥२५८२॥
तह वि गहिएगवत्था, सवत्थतित्थोवएसणत्थं ति।
अभिनिक्खमंति सव्वे, तम्मि चुएऽचेलया होंति ॥२५८३॥

यस्माज्जिनास्तीर्थकराः सर्वेऽपि निरुपमधृतिसंहननाशछद्मस्थावस्थायां चतुर्ज्ञानाः, अतिशयसत्त्वसंपन्ना, तथा–अच्छिद्रः पाणिरेव पात्रं येषां ते अच्छिद्रपाणिपात्राः, जितसमस्तपरीषहाश्च। (तम्ह त्ति) तस्माद् वस्त्राभावे ये संयमविराधनाऽऽदयो दोषाः प्रोक्तास्तान् यथोक्तान् दोषान् ते वस्त्रपात्ररहिता अपि न प्राप्नुवन्ति, इत्यतस्तद्वस्त्राऽऽदिकं न साधनम्–न साधकं संयमस्य तेषां तीर्थकरा–णाम्। (तो त्ति) तस्मादकिञ्चित्करत्वात् तस्याऽऽत्मगतसं–

यमस्यानुपकारिणो वस्त्राऽऽदेर्ग्रहणं न कुर्वन्ति तीर्थकरा इति। ननु यदि ते वस्त्राऽऽदेर्ग्रहणं न कुर्वन्तीत्युच्यते, तर्हि ''सव्वे वि एगदूसेण णिग्गया।'' (१०२२) इत्यादि विरुध्यते, इत्याशङ्क्याऽऽह–(तह वीत्यादि) यद्यपि तत्संयमस्यानुपकारि वस्त्रम्, तथाऽपि सवस्त्रमेव तीर्थं ''सवस्त्र एव साधवस्तीर्थे चिरं भविष्यन्ति'' इत्यस्यार्थस्योपदेशनं ज्ञापनं तदर्थं गृहीतैकवस्त्राः सर्वेऽपि तीर्थकृतोऽभिनिष्क्रामन्तीति। तस्मिंश्च वस्त्रे च्युते क्वापि पतिते अचेलका वस्त्ररहितास्ते भवन्ति, न पुनः सर्वदा। ततः ''अचेलकाश्च जिनेन्द्राः'' इत्यैकान्तिकं यदुक्तम्, तद्भवतोऽनभिज्ञत्वसूचकमेवेति भावः ॥२५८१॥२५८२॥२५८३॥ विशे०। (एतदन्यत् 'अचेलग' शब्दे प्रथमभागे १८८ पृष्ठे गतम्) (तीर्थंकरविषयकमाश्चर्यम् 'अच्छेर' शब्दे प्रथमभागे २०० पृष्ठ गतम्) (तीर्थकृतामनवस्थितसमाचारत्वम् 'अट्ठियकप्प' शब्दे प्रथमभागे २५५ पृष्ठे गतम्)

(४) अनुत्तरोपपातिकमुनयः–

वावीससहस्स नवसय, उसहस्स अणुत्तरोववाइमुणी।
नेमिस्स सोल पासस्स वार वीरस्स अट्ठसया ॥२६९॥
ते सेसाणमणाया, (२७०)॥

ऋषभस्य जिनस्य द्वाविंशतिसहस्राणि, तदुपरि नवशतानि २२९००। नेमिनाथस्य षोडशशतानि १६००। पार्श्वजिनस्य द्वादशशतानि १२००। ज्ञातनन्दनस्य वीरस्य अष्टौशतानि ८०० ज्ञेयाः। निश्शेषजिनानां ते च सिद्धान्ताऽऽदिष्वबद्धत्वान्नोक्ताः ॥ सत्त० १२३ द्वार।

(५) तीर्थपानामष्टादश दोषा इमे न भवन्ति

पंचेव अंतराया, मिच्छत्तमनाणमविरई कामो।
हासछग रागदोसा, निद्दाऽट्ठारस इमे दोसा ॥१९२॥

पञ्चान्तरायाः–दान १ लाभ२ वीर्य ३ भोगो–४पभोगविषयाः ५; मिथ्यात्वम् ६ अज्ञानम् ७ अविरतिः ८ कामो भोगेच्छा ९; हास्यम् १० रतिः ११ अरतिः १२ शोकः १३ भयं १४ जुगुप्सा १५; रागः १६ द्वेषः १७ निद्रा १८ चैते दोषाः ॥ सत्त० ९५ द्वार।

प्रकारान्तरेणाप्यष्टादश दोषानाह–

हिंसाऽऽइतिगं कीला, हासाऽऽइपंचगं च चउकसाया।
मयमच्छरअन्नाणा, निद्दा पिम्मं इअ व दोसा ॥१९३॥

हिंसा १ मृषावादः२ अदत्तादानं ३; क्रीडा ४, हास्यं ५ रतिः ६ अरतिः ७ शोकः८ भयं९, क्रोधः १० मानः ११ माया १२ लोभः १३; मदः१४ मत्सरः १५ अज्ञानम् १६, निद्रा १७ प्रेम १८ इति वा दोषाः, एभी रहितास्तीर्थकराः ॥ सत्त०९६ द्वार।

(६) अभिग्रहाः–

तेसिं अभिग्गहा दव्वमाइ वीरस्सिमे अहिया ॥ (१७०)
अचियत्तगिहाऽवसणं, निच्चं वोसट्ठकाएँ मोणेणं।
पाणीपत्तं गिहिऽवं–दणं अभिग्गहयणगमेयं ॥१७१॥

तेषां चतुर्विंशतिजिनानां बहवोऽभिग्रहा द्रव्यक्षेत्रकालभावभेद–भिन्ना ज्ञेयाः। वीरजिनस्य इमे वक्ष्यमाणा अधिका भवन्ति। तानाह–अप्रीतिमद् गृहे मया वासो न कार्यः १, नित्यं मया व्युत्सृष्टकायेन विहर्तव्यम् २, मौनेन स्थेयम् ३, करपात्रेण मया भोक्तव्यम् ४, गृहिवन्दनं गृहस्थविनयोऽभ्युत्थानाऽऽदिर्न कार्यः ५। एते पञ्च वीरस्याधिका अभिग्रहाः ॥ सत्त० ८२ द्वार। आ०म०। कल्प०।

(७) आदेशसंख्या–

अंगाइसू अबद्धा, नाणीहिँ पयासिया य जे ते य।
आएसा वीरस्स य, पंचसयाऽणेगहऽन्नेसिं ॥२७१॥
कुरुडकुरुडाण नरओ, वीरंगुट्ठेण चालिओ मेरू।
तह मरुदेवी सिद्धा, अचंतं थावरा होउं ॥२७२॥
बलयागारं मोत्तुं, सयंभुरमणम्मि सव्वआगारो।
मीणपउमाण एवं, बहुहाऽऽएसा सुअअबद्धा ॥२७३॥

अङ्गोपाङ्गाऽऽदिसूत्रेष्वबद्धा न ग्रथिता ये भावाः पदार्थाः, ज्ञानिभिः प्रकाशिताश्च ते ह्यादेशा उच्यन्ते; ते च श्रीवीरस्य पञ्चशतानि भवन्ति। अन्येषां जिनानां त्रयोविंशतिमितानामनेकधा। के ते आदेशा इत्याशङ्कायां कांश्चिदादेशान् दर्शयति। यथा–कुरुटाकुरुटयोर्नरकगतिः १। तथा वीरेण अङ्गुष्ठेन मेरुपर्वतश्चालितः २। तथा मरुदेवी ऋषभजननी अनादिवनस्पतिभ्य उद्धृत्य मोक्षं गता, सा हि अनन्तकायादागत्य प्रत्येकभवे कदलीवनस्पतित्वेन समुत्पद्य ततो मृत्वा मरुदेवी जाता। ततश्चान्तकृत्केवलीभूय सिद्धा३। तथा बलयाऽऽकार मुक्त्वा स्वयंभूरमणसमुद्रे मत्स्यानां कमलानां च सर्वेऽप्याकारा भवन्ति ४। इत्याद्यादेशाः सूत्रेऽबद्धाः। एवमन्येऽपि विज्ञेयाः ॥ सत्त० १२६ द्वार। आव० आ०चू०। आ०म०।

(८) षडावश्यकम्–

सामइयचउविसत्थय–वंदणपडिकंडणकाउसग्गा य।
पच्चक्खाणं भणियं, जिणेहिँ आवस्सयं बद्धा ॥२९२॥
तं दुण्ह सइ दुकालं, इयराणं कारणे इओ मुणिणो।
पढमियरवीरतित्थे, रिउजमरिउपन्न–वक्कजमा ॥२९३॥

सामायिकचतुर्विंशतिस्तववन्दनकप्रतिक्रमणकायोत्सर्गरूपं षडावश्यकं प्रथमान्तिमजिनयोस्तीर्थे सन्ध्यासमये प्रातःसमये च प्रतिदिनं द्विवारं भवति, ऋजुजडवक्रजडत्वान्मुनीनाम्, इतरेषां द्वाविंशतिजिनां तीर्थे कारणे प्रतिक्रमणं भवति, मुनीनामृजुप्राज्ञत्वात् ॥ सत्त० १३८ द्वार। वृ०। कल्प०।

(९) आहारः–

सव्वे सिसुणो अडयं, उत्तरकुरुफले गिहे उसहो।
सेसाउ ओयणाई, भुंजिंसु विसिट्ठमाहारं ॥१३४॥

सर्वे जिना बाल्यावस्थायां वर्तमाना अमृतमङ् गुष्ठन्यस्तं बुभुजिरे, ऋषभ उत्तरकुरुद्भवानि फलानि गृहवासे बुभुजे, त्रयोविंशतिजिना गृहवासे शाल्यादिमनोज्ञाऽऽहारं बुभुजिरे, व्रतग्रहणे कृते सति सर्वे तीर्थपा उद्गमाऽऽदिदोषरहितमाहारं कृतवन्तः॥ सत्त० ५२ द्वार। आ०चू०। आव०। वृ०।

(१०) जन्मावसरे इन्द्रकृत्यान्याह–

तत्र शक्रस्याऽऽसनचलना–

तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो आसणं चलइ। तए णं से सक्के०जाव आसणं चलिअं पासइ, पासइत्ता ओहिपउंजइ, पउंजित्ता भगवं तित्थयरं ओहिणा आभोएइ, आभोएइत्ता हट्ठतुट्ठचित्ते आणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहिअए धाराहयकयंबकुसुमचंचमाल इ–

व ऊससि अरोमकूवे विअसिअवरकमलनयणवयणे पचलियवरकडगतुडिअकेऊरमउडकुंडलहारविराइयवत्थे पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससंभडं तुरिअं चवलं सुरिंदे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ,अब्भुट्ठेइत्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता वेरुलिअवरिट्ठरिट्ठअंजणनिउणोचिअमिसिमिसिंतमाणिरयणमंडियाओ पाउयाओ उम्मुअइ, उम्मुअइत्ता एगसाडिअं उत्तरासंगं करेइ, करेइत्ता अंजलिपउलिअग्गहत्थे तित्थयराभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ, अणुगच्छित्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचेइत्ता दाहिणजाणुं धरणितलंसि साहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसइ,निवेसित्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमइत्ता कडगतुडिअथंभिआओ भुआओ साहरइ, साहरइत्ता करयलपरिग्गहिअं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं बयासी–णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं सयंसंबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीआणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोउत्तमाणं लोगणाहाणं लोगहिआणं लोगपईवाणं लोगपज्जोअगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा अप्पडिहयवरणाणदंसणधराणं विअट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं तिण्णाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयपव्वावाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइणामधेयं ठाणं संपत्ताणं णमो जिणाणं जिअभयाणं णमोऽत्थु णं भगवओ तित्थगरस्स आइगरस्स०जाव संपाविउकामस्स वंदामि णं भगवं ! तं तत्थगयं इहगए, पासउ मे भयवं! तत्थगए इहगयं ति कट्टु वंदइ, वंदित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे। तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अयमेयारूवे०जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था–उप्पण्णे खलु भो ! जंबुद्दीवे दीवे भगवं तित्थयरे, तं जीयमेयं तीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं सक्काणं देविंदाणं देवराईणं तित्थयराणं जम्मणमहिमं करेत्तए, तं गच्छामि णं अहं पि भगवओ तित्थगरस्स जम्मणमहिमं करेमि त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता हरिणेगमेसिं पायत्ताणीयाहिवइं देवं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं बयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! सभाए सुहम्माए मेघोघरसिअगंभीरमहूरयरसद्दं जोअणपरिमंडलं सुघोसं सुस्सरं घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेमाणा उल्लालेमाणा महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयाहि–आणावइ णं भो ! सक्के देविंदे देवराया–''गच्छइ णं भो ! सक्के देविंदे देवराया जंबुद्दीवे दीवे भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करित्तए; तं तुब्भे वि णं देवाणुप्पिआ ! सव्विड्ढीए सव्वजुईए सव्वबलेणं समुदएणं सव्वायरेणं सव्व–विभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्वणाडएहिं सव्वारोहेहिं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारविभासाए सव्वदिव्वतुटिअसद्दसण्णिणाएणं महया इड्ढीए०जाव रवेणं णिययपरिवारसंपरिवुडा सगाइं २ जाणविमाणवाहणाइं दुरुढा समाणा अकालपरिहीणं चेव सक्कस्स०जाव अंतिअं पाउब्भवह''।

(११) आदेशानन्तरं 'हरिनैगमेषी' यत्करोति तदाह–

तए णं से हरिणेगमेसी देवे पायत्ताणीयाहिवई सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ०जाव एवं देवो ! त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता सक्कस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव सभाए सुहम्माए मेघोघरसिअगंभीरमहुरयरसद्दा जोअणपरिमंडला सुघोसा घंटा, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं मेघोघरसिअगंभीरमहुरयरसद्दं जोअणपरिमंडलं सुघोसं घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेइ।

(१२) घण्टास्वरेण यदभूत्तदाह–

तए णं तीसे मेघोघरसिअगंभीरमहूरयरसद्दाए जोअणपरिमंडलाए सुघोसाए घंटाए तिक्खुत्तो उल्लालिआए समाणीए सोहम्मे कप्पे अण्णेहिं एगूणेहिं बत्तीसविमाणवाससयसहस्सेहिं अण्णाइं एगूणाइं बत्तीसं घंटासयसहस्साइं जमगसमगं कणकणारावं काउं पयत्ताइं पि हुत्था।

उल्लालनानन्तरं यदजायत तदाह–(तए णं तीसे मेघोघरसि-अगंभीरमहुर इत्यादि) तत उल्लालनानन्तरं तस्यां मेघोघरसितगम्भीरमधुरतरशब्दायां योजनपरिमण्डलायां सुघोषायां घण्टायां त्रिःकृत्व उल्लालितायां सत्यां सौधर्मे कल्पे अन्येषु एकोनेषु द्वात्रिंशद् विमानरूपा ये आवासा देवावासस्थानानि तेषां शतसहस्रेषु। अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया। अन्यान्येकोनानि द्वात्रिंशद् घण्टाशतसहस्राणि (जमगसमगं) युगपत् कणकणारावं कर्तुं प्रवृत्तान्यप्यभवन्। अत्रापिशब्दो भिन्नक्रमत्वात् घण्टाशतसहस्राण्यपि इत्येवं योजनीयः।

(१३) अथ घण्टानादतो यत् प्रवृत्तं तदाह–

तए णं सोहम्मे कप्पे पासायविमाणनिक्खुडाऽऽवडिअसद्दघंटापडिसुआसयसहस्ससंकुले जाए यावि होत्था॥

(तए णमित्यादि) ततो घण्टानां कणकणारावप्रवृत्तेरनन्तरं सौधर्मः कल्पः प्रासादानां विमानानां वा ये निष्कुटा गम्भीरप्रदेशाः, तेषु ये आपतिताः संप्राप्ताः शब्दाः शब्दवर्गणापुद्गलाः, तेभ्यः समुत्थितानि यानि घण्टाप्रतिश्रुतानां घण्टासंबन्धिप्रतिशब्दानां शतसहस्राणि तैः संकुलो जातश्चाप्यभूत्।

किमुक्तं भवति? घण्टायां महता प्रयत्नेन ताडितायां ये विनिर्गताः शब्दपुद्गलाः, तत्प्रतियातवशतः सर्वासु दिक्षु विदिक्षुच दिव्यानुभावतः समुच्छलितैः प्रतिशब्दैः सकलोऽपि सौधर्मः कल्पो बधिर उपजायत इति। एतेन द्वादशयोजनेभ्यः समागतशब्दः श्रोत्रग्राह्यो भवति, न परतः, ततः कथमेकत्र ताडितायां घण्टायां सर्वत्र तच्छब्दश्रुतिरूपजायत इति यदुच्यते–तदप्राकृतमेवावसेयम्, सर्वत्र दिव्यानुभावतस्तथारूपशब्दोच्छलने यथोक्तदोषासंभवात्।

(१४) देवाश्चिन्तयन्ति–एवं शब्दमये सौधर्मे कल्पे संजाते पदातिपतिर्यदकरोत्तदाह–

तए णं तेसिं सोहम्मकप्पवासीणं बहूणं देवाण य देवीण य एगंतरइपसत्तणिच्चपमत्तविसयसुहमुच्छियाणं सुस्सरघंटारसिअविउलबोलतुरिअचवलपडिबोहए कए समाणे घोसणको–ऊहलदिण्णकण्णएगग्गचित्तउवउत्तमाणसाणं से पायत्ताणीआहिवई देवे तंसि घंटारवंसि निसंतपसंतंसि समंसि तत्थ तत्थ तहिं तहिं देसे महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं बयासी–हंत ! सुणंतु णं भवंतो बहवो सोहम्मकप्पवासी वेमाणिआ देवा देवीओ अ सोहम्मकप्पवइणो इमो वयणं, हिअसुहत्थं आणवेइ णं भो ! सक्के, तं चेव० जाव अंतिअं पाउब्भवह॥

(तए णमित्यादि) ततः शब्दव्याप्त्यनन्तरं तेषां सौधर्मकल्पवा–सिनां बहूनां वैमानिकां देवानां देवीनां च, एकान्ते रतौ रमणे प्रसक्ता आसक्ताः, अत एव नित्यप्रमत्ता विषयसुखेषु मूर्छिता अध्युपपन्नाः। ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः। तेषां, सुस्वरा या 'षड्क्तिरथन्यायेन' सुघोषा घण्टा, तस्या रसितं, तस्माद्विपुलः सकलसौधर्मदेवलोककुक्षिम्भरिः–यो बोलः कोलाहलः, तेन। अत्र तृतीयालोपः प्राकृतत्वात्। त्वरितं शीघ्रं चपले ससंभ्रमे प्रतिबोधने कृते सति आगामिकालसंभाव्यमाने घोषणे कुतूहलेन–किमिदानीमुद्घोषणं भविष्यतीत्यात्मकेन, दत्तौ कर्णौ यैस्ते-स्तथा। एकाग्रं घोषणश्रवणैकविषयं चित्तं येषां ते तथा। एकाग्रचित्तत्वेऽपि कदा–चिन्नोपयोगः स्याच्छाद्मस्थावस्थावशादत आह–उपयुक्तमानसाः शुश्रूषितवस्तुग्रहणपटुमनसः। ततो विशेषणसमासः। तेषाम्। स पदात्यनीकाधिपतिर्देवस्तस्मिन् घण्टारवे नितरां शान्तोऽत्यन्तं मन्दभूतः, ततः प्रकर्षेण सर्वात्मना शान्तः प्रशान्तः। ततश्छिन्नप्ररूढ इत्यादाविव विशेषणसमासः। तस्मिन् सति तत्र तत्र तस्मिन् २ देशे महता महता शब्देन तारस्वरेण उद्घोषयन् उद्घोषयन् एवमवादीत्। किमवादीदित्याह–(हंत ! सुणंतु णमित्यादि) हन्त ! इति हर्षे, स च स्वस्वामिनाऽऽदिष्टत्वाद् जगद् गुरुजन्ममहकरणार्थकप्रस्थाने समारम्भाच्च शृण्वन्तु भवन्तो बहवः सौधर्मकल्पवासिनो वैमानिका देवा देव्यश्च सौधर्मकल्पपतेरिदं वचनं, हितं जन्मान्तरकल्याणाऽऽवहं, सुखं तद्भवसंबन्धि तदर्थमाज्ञापयति भो देवाः ! शक्रः, तदेव ज्ञेयं यत् प्राक्सूत्रे शक्रेण हरिनैगमेषिपुर उद् घोषयितव्यमादिष्टं, यावत् प्रादुर्भवत।

(१५) अथ शक्राऽऽदेशानन्तरं यदेव जातं तदाह–

तए णं ते देवा य देवीओ य एअमट्ठं सोच्चा हट्ठतुट्ठ०जाव हिअया अप्पेगइआ वंदणवत्तिअं, एवं पूअणवत्तिअं, सक्कारवत्तिअं, सम्माणवत्तिअं, दंसणवत्तिअं, कोऊहलवत्तिअं, अप्पेगइया सक्कस्स वयणमनुवट्टमाणा, अप्पेगइआ अण्णमण्णं मित्तमणु-वट्टमाणा अप्पेगइया जीअमेयं एवमादि त्ति कट्टु०जाव पाउब्भवंति॥

(तए णमित्यादि) ततस्ते देवा देव्यश्च एतमनन्तरोदितमर्थं श्रुत्वा हृष्टतुष्टा यावद्धर्षवशविसर्पद् धृदयाः। अपिः संभावनायाम्, एककाः केचन वन्दनमभिवादनं प्रशस्तकायवाङ्मनः प्रवृत्तिरूपं तत्प्रत्ययं तदस्माभिस्त्रिभुवनभट्टारकस्य कर्त्तव्यमित्येवं निमित्तम्। एवं पूजनप्रत्ययंपूजनं गन्धमाल्याऽऽदिभिः समभ्यर्चनम्। एवं सत्कारप्रत्ययंसत्कारः स्तुत्यादिभिर्गुणोन्नतिकरणम्। संमानो मानसप्रीतिविशेषः, तत् प्रत्ययं; दर्शनमदृष्टपूर्वस्य जिनस्य विलोकनं तत् प्रत्ययं, कुतूहलं तत्र यत्तेनास्तत्प्रभुणा किं कर्त्तव्य–मित्यात्मकम्, तत्प्रत्ययम्, अप्येकका: शक्रस्य वचनमनुवर्त्तमानाः, न हि प्रभुवचनमुपेक्षणीयमिति भृत्यधर्ममनुश्रयन्तः। अप्येकका अन्यमन्यं मित्रमनुवर्त्तमानाः, मित्रगमनानुप्रवृत्ता इत्यर्थः। अप्येकका जीतमेतद् यत् सम्यग्दृष्टिदेवैर्जिनजन्ममहे यतनीयम्। एवमादीत्यादिकमागमननिमित्तमिति कृत्वा चित्तेष्वधार्य, यावच्छब्दात् ''अकालपरिहीणं चेव सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो'' इति ग्राह्यम्। अन्तिकं प्रादुर्भवन्ति।

(१६) इन्द्रः पालकमादिशति–अथ शक्रस्येतिकर्तव्यमाह–

तए णं से सक्के देविंदे देवराया ते वेमाणिए देवे अ देवीओ अ अकालपरिहीणं चेव अंतिअं पाउब्भवमाणे पासइ, पासइत्ता हट्ठे पालयं णामं आभिओगिअं देवं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं बयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अणेगखंभसण्णिविट्ठं लीलट्ठिअसालभंजिआकलिअं ईहामिअउसभतुरगणरममरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं खंभुग्गयवइरवेइआपरिगयाभिरामं विज्जाहरजमलजुअलजंतजुत्तं पिव अचीसहस्समालिणीअं रूवगसहस्सकलिअं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोअणलेसं सुहफासं सस्सिरीअरूवं चलचलिअमहुरमणहरसरं सुहकंतं सुहकंतं दरिसणिज्जं णिउणोचिआमिसिमिसिंतमणिरयणघंटिआजालपरिक्खित्तं जोयणसहस्सवित्थिण्णं पंचजोअणसयमुव्विद्धं सिग्घतुरिअजइणं णिव्वाहिं दिव्वं जाणविमाणं विउव्वाहि, विउव्वाहित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि।

(तए णं इत्यादि) ततः स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा तान् बहून वैमानिकान् देवान् देव्यश्च (अकालपरिहीणं चेवेति) पूर्ववत्। अन्तिकं प्रादुर्भवत उपतिष्ठमानान् पश्यति। दृष्ट्वा च–''हट्ठ'' इत्येकदेशेन सर्वोऽपि हर्षाऽऽलापको ग्राह्यः। पालकं नाम विमानविकुर्वणाधिकारिणमाभियोगिकं देवं शब्दयति, शब्दयित्वा च एवमवादीत्। यदवादीत्तदाह (खिप्पामेव त्ति) इदं यानविमानवर्णकं प्राग्वत्। नवरं योजनशतसहस्रविस्तीर्णमित्यत्र प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नं योजनलक्षं ज्ञेयम्। ननु वैक्रियप्रयोगजनितत्वेनोत्सेधाङ् गुलनिष्पन्नत्वमप्यस्य कुतो नेति चेत् ? ''नगपुढविविमाणाइसु पमाणंगुलेण तु'' इति वचनादस्य प्रमाणाङ् गुलनिष्पन्नत्वं युक्तिमद् 'पुढविविमाणाइ' इति वचनं

शाश्वतविमानापेक्षयेति वाच्यम्। अस्योत्सेधाङ्गुलप्रमाणनिष्पन्नं चेद् जम्बूद्वीपान्तःसुखप्रवेशनीयत्वेन नन्दीश्वरविमानसंकोचनस्य वैयर्थ्याऽऽपत्तेः। तथा श्रीस्थानाङ्गे चतुर्थाध्ययने ''चत्तारि लोगे समा पण्णत्ता। तं जहा–अप्पइट्ठाणा णरए जंबुद्दीवे दीवे पालए जाणविमाणे सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे।'' इत्यत्राऽपि पालकविमानस्य जम्बूद्वीपाऽऽदिभिः प्रमाणतः समत्वं प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नत्वेनैव संभवतीति दिक्। तथा– पञ्चशतयोजनोच्चं शीघ्रत्वरितजवनम्, अतिशयेन वेगवदित्यर्थः। निर्वाहि प्रस्तुतकार्यनिर्वहणशीलम्। पश्चात् पूर्वपदेन कर्मधारयः। एवंविधं दिव्यं यानविमानं विकुर्वस्व, विकुर्व्य च एतामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पयकृतकृत्यो निवेदय इत्यर्थः।

(१७) पालकस्तथैव करोति वर्णकयुक्तं विमानम्–

तदनु यदनुतिष्ठति स्म पालकस्तदाह–

तए णं से पालए देवे सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ०जाव वेउव्विअसमुग्घाएणं समोहणित्ता तहेव करेइ। तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स तदंतिओ तिसोवाणपडिरूवगा वण्णओ। तेसि णं पडिरूवगाणं पुरओ पत्तेअं पत्तेअं तोरणावण्णओ०जाव पडिरूवा। तस्स णं जाणविमाणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे, से जहा–णामए आलिंगपुक्खरेइ वा०जाव दीविअचम्मेइ वा अणेगसंकुकीलकसहस्सवितते आवडपव्वावडसेढी सुत्थिअसोवत्थिअबद्धमाणदूस–माणवमच्छंडगमरंडजारमारफुल्लावलिपउमपत्तसागरतरंगवसंतलयपउमलयभत्तिचित्तेहिं सच्छाएहिं सप्पभेहिं समरीई–एहिं सउज्जोएहिं णाणाविहपंचवण्णेहि मणीहिं उवसोभिए। तेसिं णं मणीणं वण्णे गंधे फासे अ भाणिअव्वे, जहा रायप्पसेणइज्जे॥

(तए णं से पालए देवे सक्केणमित्यादि) ततः स पालको देवः शक्रेण देवराज्ञा एवमुक्तः सन् हृष्टो यावद्वैक्रियसमुद्घातेन समवहत्य तथैव करोति, विमानं रचयतीत्यर्थः। अथ विमानस्वरूपवर्णनायाऽऽह–(तस्स णमित्यादि) इति सूत्रद्वयी व्यक्ता। अथ तद्भूमिभागं वर्णयन्नाह–(तस्स णं इत्यादि) इदं प्राग्वद् ज्ञेयम्, नवरं मणीनां वर्णो गन्धः स्पर्शश्च भणितव्यो, यथा राजप्रश्नीये द्वितीयोपाङ्गे। अत्राऽपि जगतीपद्मवरवेदिकावर्णनं मणिवर्णाऽऽदयो व्याख्याताः, ततोऽपि वा बोधव्याः।

(१८) भूमिभागवर्णनम्–अथ प्रेक्षागृहमण्डपवर्णनायाऽऽह–

तस्स णं भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए पिच्छाघरमंडवे अणेगखंभसयसण्णिविट्ठवण्णओ०जाव पडिरूवे, तस्स उल्लोए पउमलयाभत्तिचित्ते०जाव सव्वतवणिज्जमए०जाव पडिरूवे।

(तस्स णमित्यादि) यावच्छब्दग्राह्यं, व्याख्या च यमकराजधानीगतसुधर्मासभाऽधिकारतो ज्ञेया। उपरिभागवर्णनायाऽऽह–(तस्स उल्लोए इत्यादि) तस्योल्लोच उपरिभागपद्मलताभक्तिचित्रः, यावत् सर्वात्मना तपनीयमयम्, प्रथमयावच्छब्देन अशोकलताभक्तिचित्र इत्यादि परिग्रहः। द्वितीययावच्छब्दात् ''दसण्हं'' इत्यादिविशेषणग्रहः। अत्र राजप्रश्नीये सूर्याभयानविमानवर्णकेऽक्षपाटकसूत्रं दृश्यते, परं बहुष्वेतत्सूत्राऽऽदर्शेषु अदृष्टत्वान्न लिखितम्।

(१९) अथात्र मण्डपमणिपीठिकावर्णनायाऽऽह–

तस्स णं मंडवस्स बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागंसि महं एगा मणिपीढिया अट्ठजोअणाइं आयामविक्खंभेणं, चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं, सव्वमणिमयी। वण्णओ। तीए उवरि महं एगे सिंहासणे। वण्णओ। तस्सुवरि महं एगे विजयदूसे सव्वरयणामए। वण्णओ। तस्स मज्झदेसभागे एगे वइरामए अंकुसे, एत्थ णं महं एगे कुंभिमुत्तादामे, से णं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमित्तेहिं चउहिं अट्ठकुंभिक्केहिं मुत्तादामेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते। ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपयरगमंडिआ णाणामणिरयणविविहहारऽद्धहारउवसोभिआ समुदया ईसिं अण्णमण्णं संपत्ता पुव्वाएहिं वाएहिं मंदं मंदं एइज्जमाणा एइज्जमाणा०जाव निव्वुइकरेणं ते पएसे आपूरेमाणा आपूरेमाणा०जाव अईव उवसोभेमाणा अईव उवसोभेमाणा चिट्ठंति।

(तस्स णमित्यादि) व्यक्तम्। (तीए उवरि इत्यादि) एतद् व्याख्या विजयद्वारस्थप्रकटकप्रासादगतसिंहासनसूत्रवदवसेया। (तेणमित्यादि) इदं सूत्रं प्राक् पद्मवरवेदिकाजालवर्णके व्याख्यातमिति ततो बोध्यम्। अत्र प्रथमयावत्पदात्–''वेइज्जमाणा २ पलंबमाणा २ पज्जलमाणा २ उरालेणं मणुण्णेणं मणहरेणं कण्णमण्ण'' इति संग्रहः। द्वितीययावत्पदात्– सिरीए इति ग्राह्यम्।

(२०) संप्रत्यत्राऽऽस्थाननिवेशनप्रक्रियामाह–

तस्स णं सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं; एत्थ णं सक्कस्स चउरासीए सामाणिअसाहस्सीणं चउरासीइभद्दासणसाहस्सीओ, पुरच्छिमेणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं, एवं दाहिणपुरच्छिमेणं अब्भंतरपरिसाए दुवालसण्हं देवसाहस्सीणं दाहिणेणं मज्झिमाए परिसाए चउदसण्हं देवसाहस्सीणं, दाहिणपच्चच्छिमबाहिरपरिसाए सोलसण्हं देवसाहस्सीणं, पच्चच्छिमेणं सत्तण्हं अणीआहिवईणं; तए णं तस्स सीहासणस्सा चउदिसिं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, एवमाइ विभासिअव्वं, सूरिआभगमेणं०जाव पच्चप्पिणंति॥

(तस्स णं इत्यादि) तस्य सिंहासनस्य पालकविमानमध्यभागवर्तिनोऽपरोत्तरायां वायव्यामुत्तरस्याम्, उत्तरपूर्वायामैशान्याम्, अत्रान्तरे शक्रस्य चतुरशीतेः सामानिकसहस्राणां चतुरशीतिभद्रासनसहस्राणि, उक्तदिक्त्रये चतुरशीतिभद्रासनसहस्राणीत्यर्थः। पूर्वस्यां दिश्यष्टानामग्रमहिषीणामष्टभद्रासनानि। एवं दक्षिणपूर्वायामग्निकोणेऽभ्यन्तरपर्षदः संबन्धिनां द्वादशानां देवसहस्राणां द्वादश भद्रासनसहस्राणि, दक्षिणस्यां मध्यमा–

वाः पर्षदश्चतुर्दशानां देवसहस्राणां चतुर्दश भद्रासनसहस्राणि, दक्षिण-पश्चिमायां नैर्ऋतकोणे बाह्यपर्षदः षोडशानां देवसहस्राणां षोडश भद्रासन-सहस्राणि, पश्चिमायां सप्तानामनीकाधिपतीनां सप्त भद्रासनानीति। (तए णमित्यादि) ततः प्रथमवलयस्थापनानन्तरं द्वितीयं वलयं तस्य सिंहासनस्य चतुर्दिशि चतसृणां चतुरशीतानां चतुर्गुणीकृतचतुरशीति-संख्याकानाम्, आत्मरक्षकदेवसहस्राणां षट्त्रिंशत्सहस्राधिकलक्षत्रय-मितानामात्मरक्षकदेवानामित्यर्थः। तावन्ति भद्रासनानि विकुर्वितानी-त्यर्थः। एवमादिविभाषितव्यमित्यादि वक्तव्यं, सूर्याभगमेन यावत्प्रत्यर्प-यति। यावत्पदात् सङ्ग्रहश्चायम्–''तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते। से जहाणामए अइरुग्गयस्स वा हेमंतिअ-बालसूरिअस्स वा खाइरइंगिलाण वा रत्तिं पञ्जुलिखाणं वा जवावणस्स वा केसुअवणस्स वा पारिजायवणस्स वा सव्वओ समंता संकुसुमिअ-स्स भवे एयारूवे सिआ? णो इणट्ठे समट्ठे। तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स इत्तो इट्ठतराए चेव०४ वण्णे पण्णत्ते, गंधो फासो अ, जहा मणीणं। तओ णं से पालए देवे तं दिव्वं जाणविमाणं विउव्वित्ता जेणेव सक्के देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सक्कं देविंदं देवरायं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता तमाणत्तिअं।'' इति।

अत्र व्याख्यातस्य दिव्यस्य यानविमानस्यायमेतद्रूपो वर्णव्यासः प्रज्ञप्तः। स यथानामकोऽचिरोद्गतस्य तत्कालमुदितस्य हैमन्तिकस्य शिशिरकालसंबन्धिनो बालसूर्यस्य खादिराङ्गाराणां वा (रत्तिमिति) सप्तम्यर्थे द्वितीया। रात्रौ प्रज्वालितानां जपावनस्य किंशुकवनस्य वा, पारिजाताः कल्पद्रुमाः, तेषां वनस्य वा सर्वतः समन्तात् सम्यक् कुसुमितस्य। अत्र शिष्यः पृच्छतिभवेदेतद्रूपः–स्यात् कथञ्चित्? सूरिराहनायमर्थः समर्थः। तस्य दिव्यस्य यानविमानस्य इत इष्टतरक एव, किं तत् इष्टतरक इत्यादि प्राग्वत्। गन्धः, स्पर्शश्च यथा प्राग् मणीना-मुक्तस्तथेति।

(२१) शक्रक्रिया–

तए णं से सक्के०जाव हिट्ठहिअए दिव्वं जिणिंदाभिगमणजुग्गं सव्वालंकारभूसिअं उत्तरवेउव्विअं रूवं विउव्वइ, विउव्वइत्ता अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं णट्टाणीएणं गंधव्वाणीएण य सद्धिं तं विमाणं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे अणुप्पयाहिणीकरेमाणे पुव्विल्लेणं तिसोवाणेणं दुरूहइ, दुरूहइत्ता० जाव सीहासणंसि पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे॥

(तए णमित्यादि) ततः स शक्र इत्यादि व्यक्तं, दिव्यं प्रधानं, जिनेन्द्रस्य भगवतोऽभिगमनायाभिमुखगमनाय, योग्यमुचितंतयादृशेन वपुषा सुरसमु-दायसर्वातिशायिश्रीर्भवति, तादृशेनेत्यर्थः। सर्वालङ्कारभूषितम्–सर्वैः शिरःश्रवणाऽऽद्यलङ्कारैर्विभूषितम्, उत्तरवैक्रियशरीरत्वात्। स्वाभा-विकवैक्रियशरीरस्य तु आगमने निरलङ्कारतयैवोत्पादश्रवणात्। उत्तरभवधारणीयशरीरापेक्षया वोत्तरकालभाविवैक्रियरूपं विकुर्वते, विकुर्व्य चाऽष्टाभिरग्रमहिषीभिः सपरिवाराभिः प्रत्येकं प्रत्येकं षोडश-देवीसहस्रपरिवारपरिवृताभिर्नाट्यानीकेन गन्धर्वानीकेन च सार्द्धं तं विमानमनुप्रदक्षिणीकुर्वन् अनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वदिक्स्थेन त्रिसोपानेना-ऽऽरोहति, आरुह्य च। यावच्छब्दात्–''जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता'' इति ग्राह्यम्। सिंहासने पूर्वाभिमुखः सन्निषण्ण इति।

(२२) अथाऽऽस्थानं सामानिकाऽऽदिभिः यथा पूर्यते तथाऽऽह–

एवं चेव सामाणिया वि उत्तरेणं तिसोवाणेणं दुरूहित्ता पत्तेअं पत्तेअं पुव्वणत्थेसु भद्दासणेसु णिसीअंति, अवसेसा य देवा देवीओ अ दाहिणेल्लेणं तिसोवाणेणं दुरूहित्ता तहेव०जाव णिसीयंति॥

''एवं चेव इत्यादि'' व्यक्तम्। नवरम् अवशेषाश्चाभ्यन्तरपर्षदादयः।

(२३) प्रस्थापनाक्रमः–अथ प्रतिष्ठासोः शक्रस्य पुरः

प्रस्थायिनां क्रममाह–

तए णं तस्स सक्कस्स तंसि दुरूढस्स इमेऽट्ठ मंगलगा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ। तयणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगार-दिव्वा य छत्तपडागा सचामरा दंसणरइअआलोअदरिसणि–ज्जा वाउद्धूअविजयवेजयंती अ समूसिआ गगणतलमणुलिहंती पुरओ अहाणुपुव्वीए संपत्थिआ। तयणंतरं च णं छत्तभिंगारं, तयणंतरं च णं वइरामयवट्टलट्ठसंठिअसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसु-पइट्ठिए विसिट्ठे अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सपरिमंडिआ-भिरामवाउद्धूअविजयवेजयंतीपडागाछत्ताइच्छत्तकलिएणं तुंगे गयणयलमणुलिहंतसिहरे जोअणसहस्समूसिए महइ महालए महिंदज्झए पुरओ अहाणुपुव्वीए संपत्थिए। तयणंतरं च णं सरूवनेवत्थपरिकथिअसुसज्जा सव्वालंकारविभूसिआ पंच-अणीआ पंचअणीआहिवइणो०जाव संपट्ठिआ। तयणंतरं च णं बहवे आभिओगिआ देवा य देवीओ अ सएहिं सएहिं विम–वेहिं० जाव णिओगेहिं सक्कं देविंदं देवरायं पुरओ अ मग्गओ अ पासओ अ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ। तयणंतरं च णं बहवे सोहम्मकप्प-वासी देवा य देवीओ अ सव्विड्ढीए०जाव दुरूढा समाणा मग्गओ अ०जाव संपट्ठिआ। तए णं से सक्के ते पंचाणी–अपरिक्खित्तेणं० जाव महिंदज्झएणं पुरओ पकड्ढिज्जमाणेणं चउरासीए सामाणिअ०जाव परिवुडे सव्विड्ढीए०जाव रवेणं सोहम्मकप्पस्स मज्झं मज्झेणं तं दिव्वं देवड्ढि०जाव उवदंसेमाणे उवदंसेमाणे जेणेव सोहम्मकप्पस्स उत्तरिल्ले निज्जाणमग्गे, तेणेव उवाग-च्छइ, उवागच्छित्ता जोअणसयसाहस्सीएहिं विग्गहेहिं उवयमाणे उवयमाणे ताए उक्किट्ठाए० जाव देवगईए वीईवयमाणे वीईवयमाणे तिरियमसंखिज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं जेणेव णंदीसरवरे दीवे जेणेव दाहिणपुरच्छिमिल्ले रइकरपव्वए तेणेव उवागच्छइ, एवं० जा चेव सूरिआभस्स वत्तव्वया, णवरं सक्काहिगारो वत्तव्वो,

०जाव तं दिव्वं देवड्डिं०जाव दिव्वं जाणविमाणं पडिसाहरमाणे पडिसाहरमाणे०जाव जेणेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मण-णगरे जेणेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणे, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता भगवओ तित्थयरस्स जम्मण-भवणं तेणं दिव्वेणं जाणविमाणेणं तिक्खुत्तो आयाहिणं पया-हिणं करेइ, करेइत्ता भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे चउरंगुलमसंपत्तं धरणिअले तं दिव्वं जाणविमाणं ठवेइ,ठ वेइत्ता अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं अणीएहिं गंधव्वाणीएण य नट्टाणीएण य सद्धिं ताओ दिव्वाओ जाण-विमाणाओ पुरच्छिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहइ। तए णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो चउरासीइं सामाणि असाहस्सीओ जाणविमाणाओ उत्तरिल्लेणं तिसोवाणपडि-रूवएणं पच्चोरुहंति, अवसेसा देवा य देवीओ अ ताओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ दाहिणिल्लेणं तिसोवाणपडिरूव-एणं पच्चोरुहंति॥

(तए णं तस्स इत्यादि) एतद् व्याख्या भरतचक्रिणोऽयोध्याप्रवेशा-धिकारतो ज्ञेया। (तयणमित्यादि) तदनन्तरं छत्रभृङ्गारम्। समाहार-द्वंद्वनिर्देशः। छत्रं च ''बेरुलिअभिसंतविमलदंडं'' इत्यादिवर्णकयुक्तं भरतस्यायोध्याप्रवेशाधिकारतो ज्ञेयम्। भृङ्गारश्च विशिष्टवर्णकचित्रोपेतः। पूर्वं च भृङ्गारस्य जलपूर्णत्वेन कथनात्, अयं च जलरिक्तत्वेन विवक्षित इति न पौनरुक्त्यम्। तदनन्तरं वज्रमयो रत्नमयः। तथा वृत्तं वर्तुलं, लष्टं मनोज्ञं, संस्थितं संस्थानमाकारो यस्य स तथा। तथा–सुश्लेष्णोऽप-न्नावयवः, मसृण इत्यर्थः। परिघृष्टः खरशाणया पाषाणप्रतिमावत्। मृष्टइव मृष्टः सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमेव, सुप्रतिष्ठितो, न तु तिर्यक्पतित-तया वक्रः। तत एतेषां पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्मधारयः। अत एव शेषध्वजेभ्यो विशिष्टोऽतिशायी, तथाऽनेकानि वराणि पञ्चवर्णानि कुडभीनां लघुपताकानां सहस्राणि तैः परिमण्डितोऽलङ् कृतः, स चासावभिरामश्चेति। वातोद्धूतेत्यादिविशेषणद्वयं व्यक्तम्। तथा गगनतलमम्बरतलमनुल्लिखत् संस्पृशत् शिखरमग्रभागो यस्य स तथा। योजनसहस्रमुत्सृतोऽत एवाह–(महइ महालए इति) अतिशयेन महान्, महेन्द्रध्वजः, पुरतो यथाऽनुपूर्व्या संप्रस्थित इति। (जयणमित्यादि) तदनन्तरं स्वरूपं स्वकर्मानुसारि नेपथ्यं वेषः परिकथितः परिगृहीतो यैस्तानि। तथा (सुसज्जानि) पूर्णसामग्रीकतया प्रगुणानि सर्वालङ्कार-विभूषितानि पञ्चानीकानि, पञ्चानीकाधिपतयश्च पुरतो यथानुपूर्व्या संप्रस्थितानि (तयणंतरं च णमित्यादि) तदनन्तरं बहव आभियोगिका देवाश्च देव्यश्च स्वकैः २ विभवैर्यथास्वकर्मोपस्थितैर्विभवैःसंपत्तिभिः, यावच्छब्दात्स्वकैः २ रूपैर्यथा स्वकर्मोपचितैरुत्तरवैक्रियस्वरूपैः, स्वकैः स्वकैः नियोगैरुपकरणैः शक्रं देवेन्द्रं देवराजं पुरतश्च मार्गतश्च पृष्ठतः पार्श्वतश्च उभयोर्यथानुपूर्व्या यथावृद्धक्रमेण संप्रस्थिताः। (तयणंतरं च णमित्यादि) तदनन्तरं बहवः सौधर्मकल्पवासिनो देवाश्च देव्यश्च सर्वर्द्ध्या, यावत् करणादिन्द्रस्य हरिनैगमेषिणं पुरः स्वाज्ञप्तिविषयकः प्रागुक्त आलापको ग्राह्यः तेन स्वानि २ यानविमानवाहनानि आरूढाः सन्तो मार्गतश्च। यावच्छब्दात् पुरतः पार्श्वतश्च शक्रस्य संप्रस्थिताः। अथ यथा शक्रः सौधर्मकल्पान्निर्याति, तथा चाऽऽह–(तए णमित्यादि) ततः स शक्रस्तेन प्रागुक्तस्वरूपेण पञ्चभिः सप्तानीकैरनीकैः परिक्षिप्तेन सर्वतः परिवृतेन, यावत्पूर्वोक्तः सर्वो महेन्द्रध्वजवर्णको ग्राह्यः। महेन्द्रध्वजेन पुरतः प्रकृष्यमाणेन निर्गम्यमाणेन चतुरशीत्या सामानिकसहस्रैः, यावत् करणात्–''चउरासीहिं चउरासीहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं'' इत्यादि ग्राह्यम्। परिवृतः सर्वर्द्ध्या, यावद्रवेण। यावत् करणात्– ''सव्वजुईए'' इत्यादि प्रागुक्तं ग्राह्यम्। सौधर्मस्य कल्पस्य मध्यं मध्येन तां दिव्यां देवर्द्धिं, यावच्छब्दात् ''दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं'' इति ग्रहः। सौधर्मकल्पवासिनां देवानामुपदर्शयन् स्वयमेव सौधर्मस्य कल्पस्योत्तराहो निर्याणमार्गो निर्गमनसंबन्धी पथस्तत्रैवोपागच्छति। यथा–वरयितानामरणां विवाहोत्सवस्फातिदर्शनार्थं राजपथे याति, न तु रथ्यादौ, तथाऽसमपि। एतेन समग्रदेवलोकाऽऽधारभूतपृथिवीप्रतिष्ठितविमान-निरुद्धगामित्वेनेतरतः संचरणाभावेन मध्यं मध्येनेति ''उत्तरिल्ले-णिज्जाणमग्गे'' इत्युक्तमिति ये आहुः, ते आगमसांमत्यं युक्तिसाङ्गत्यं च प्रष्टव्याः। उपागत्य च योजनशतसाहस्रिकैर्योजनलक्षप्रमाणैर्विग्रहैः क्रमैरिव गन्तव्यक्षेत्रातिक्रमरूपैः। एतेन स्थावरस्वरूपस्य विमानस्य पदन्यासरूपाः क्रमाः कथं भवेयुरिति शङ्का निरस्ता। अवपतन् अव-पतन् तथा चोत्कृष्टया। यावत् करणात् ''तुरिआए'' इत्यादिग्रहः। देवगत्या व्यतिव्रजन् २ तिर्यगसंख्येयानां द्वीपसमुद्राणां मध्यं मध्येन यत्रैव नन्दीश्वरवरद्वीपो यत्रैव तस्यैव पृथुत्वमध्यभागे दक्षिणपूर्व आग्नेयकोण-वर्ती रतिकरपर्वतस्तत्रैवोपागच्छति। इदं च स्थानाङ्गाऽऽद्याशयेनोक्तम्। अन्यथा प्रवचनसारोद्धाराऽऽदिषु षष्ठ्यमानानां पूर्वाऽऽद्यञ्जनगिरिविदि-ग्व्यवस्थितवापीद्वयद्वयान्तराले बहिः कोणयोः प्रत्यासत्तौ प्रत्येकं द्वयद्वयभावेन तिष्ठतामष्टानां रतिकरपर्वतानां मध्ये विनिगमनाविरहात् कतरोरतिकरपर्वतोदक्षिणपूर्वः स्यादिति। ननु सौधर्मादवतरतः शक्रस्य नन्दीश्वरद्वीप एवाऽवतरणं युक्तिमत्, न पुनरसंख्येयद्वीप समुद्रातिक्रमेण तत्रागमनमित्युच्यते, निर्याणमार्गस्याऽसंख्यातत्वस्य द्वीपस्य वा समुद्रस्य वा उपरिस्थितत्वेन सम्भाव्यमानत्वात्तथाऽवतरणम्। ततश्च नन्दीश्वराभिगमनेऽसंख्यातद्वीपसमुद्रातिक्रमणं युक्तिमदेवेति। अत्र दृष्टान्तसूत्रम् (एवं०जा चेव त्ति) एवमुक्तरीत्या यैव सूर्याभस्य वक्तव्यता, यथा सूर्याभः सौधर्मकल्पादवतीर्णस्तथाऽयमपीत्यर्थः। नवरमयं भेदः शक्राधिकारो वक्तव्यः, सौधर्मेन्द्रनाम्ना सर्वं वाच्यम्। (०जाव तं दिव्वं) इत्यादि प्रायो व्याख्यातं, नवरमत्र प्रथमयावच्छब्दो दृष्टान्तविषयीकृतसूर्या-भाऽधिकारस्यावधिसूचनार्थः। स चावधिर्विमानप्रतिसंहरणपर्यन्तो वाच्यः। द्वितीययावच्छब्दो–''दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं'' इति पदद्वयग्राही। अस्य चायमर्थः–दिव्यां देवर्द्धिं परिवारसंपदं स्वविमान-वर्जसौधर्मकल्पवासिदेवविमानानां मेरौ प्रेषणात्, तथा दिव्यां देवद्युतिं शरीराऽऽभरणाऽऽदिभासेन, तथा दिव्यं देवानुभाव देवगतिहस्वताऽऽ-पादनेन, तथा दिव्यं यानविमानं पालकनामकं जम्बूद्वीपपरिमाणन्यूनवि-स्तराऽऽयामकरणेन, प्रतिसंहरन् प्रतिसंहरन् संक्षिपन् संक्षिपन्निति। तृतीययावच्छब्दात् ''जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे'' इति ग्राहकः। ननु पूर्वं त्रिसोपानप्रतिरूपकेणोत्तारः शक्रस्योक्तोऽपराभ्यां केषा-

मुत्तार इत्याह–''तए णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो'' इत्यादि व्यक्तम्।

(२४) अथ शक्रः किमकार्षीदित्याह–

तए णं से सक्के देविंदे देवराया चउरासीए सामाणिअ साहस्सीएहिं०जाव सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए०जाव दुंदुभिणिग्घोसणाइयरवेणं जेणेव भगवं तित्थयरमाया य, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता आलोए चेव पणामं करेइ, करेइत्ता भगवं तित्थयरमायरं च आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता करयल०जाव एवं बयासीणमोऽत्थु ते रयणकुच्छिधारिए ! एवं जहा दिसाकुमारीओ०जाव धण्णा सि पुण्णा सि तं कयत्था सि अहं देवाणुप्पिए ! सक्के णामं देविंदे देवराया भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करिस्सामि, तेण तुब्भेहिं ण भीइव्वं ति कट्टु ओसोवणिं दलयइ, दलइत्ता तित्थयरपडिरूवगं विउव्वइ, विउव्वइत्ता तित्थयरमाउआए पासे ठवेइ, ठवेइत्ता पंचसक्के विउव्वइ, विउव्वित्ता एगे सक्के भगवं तित्थयरं करयलपुडेणं गिण्हइ, एगे सक्के पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ, दुवे सक्का उभओ पासिं चमरुक्खेवं करेंति, एगे सक्के पुरओ वज्जपाणी पकड्ढइ।

''तए ण से सक्के देविंदे देवराया चउरासीए'' इत्यादि कण्ठ्यम्। यावत्पदसंग्राह्यं तु पूर्वसूत्रानुसारेण बोध्यम्। यदवादीत्तदाह–(णमोऽत्थु ते इत्यादि) नमोऽस्तु तुभ्यं रत्नकुक्षिधारिके ! एवंप्रकारं सूत्रं, यथा दिक्कुमार्य आहुः, तथाऽवादीदित्यर्थः। यावच्छब्दादिदं ग्राह्यम्–''जगप्पईवदाईए चक्खुणो अमुत्तस्स सव्वजगजीववच्छलस्स हिअकरमग्गदेसियस्स वागिंदिविभुप्पभुस्स जिणस्स णाणिस्स नायगस्स बुद्धस्स बोहगस्स सव्वलोगणाहसस सव्वलोगमंगलस्स णिम्ममस्स पवरकुलसमुप्पभवस्स जाइखत्तिअस्स जं सि लोगुत्तमस्स जणणी ति।'' कियत्पर्यन्तमित्याह–धन्याऽसि पुण्याऽसि त्वं कृतार्थाऽसि, अहं देवानुप्रिये ! शक्रो नाम देवेन्द्रो देवराजा भगवतस्तीर्थकरस्य जन्ममहिमां करिष्यामि। तेन युष्माभिर्न भेतव्यमितिकृत्वा अवस्वापिनीं ददाति, सुते मेरुं नीते सुतविरहाऽऽर्त्ता मा दुःखभागभूदिति दिव्यनिद्रया निद्राणां करोतीत्यर्थः। दत्त्वा च तीर्थकरस्य मेरुनेतव्यभगवतः प्रतिरूपकं जिनसदृशं रूपं विकुर्वति, अस्मासु मेरुगतेषु जन्ममहध्यापृतिव्य–ग्रेषु आसन्नदुष्टदेवतया कुतूहलाऽऽदिना हृतनिद्रा सती मा इयं त्रस्ता भवदिति भगवद्रूपान्निर्विशेषं रूपं विकुर्वतीत्यर्थः। विकुर्व्य च तीर्थकरमातुः पार्श्वे स्थापयति, स्थापयित्वा च पञ्च शक्रान् विकुर्वति, आत्मना पञ्चरूपो भवतीत्यर्थः। विकुर्व्य च तेषां पञ्चानां मध्ये एकः शक्रो भगवन्तं तीर्थकरं परमशुचिना सरससगोशीर्षचन्दनलिप्तेन, धूपवासितेनेति शेषः। करतलयोरुर्द्ध्वयोर्व्यवस्थितयोः पुटं संपुटं, शुक्तिकासंपुटमिवेत्यर्थः, तेन गृह्णाति। एकः शक्रः पृष्ठत आतपत्रं छत्रं धरति। द्वौ शक्रावुभयोः पार्श्वयोश्चमरोत्क्षेपं कुरुतः। एकः शक्रः पुरतो वज्रपाणिः सन् प्रकर्षति–निर्गमयति, आत्मानमिति शेषः। अग्रतः प्रवर्त्तत इत्यर्थः। अत्र च सामानिकाऽऽदिदेवपरिवारे यदिन्द्रस्य स्वयमेव पञ्चरूपविकुर्वणं, तत् त्रिजगद् गुरोः परिपूर्णसेवालिप्सुत्वेनेति।

(२५) मेरुगमनम्–

अत्र यथा शक्रो विवक्षितस्थानमाप्नोति तथाऽऽह–

तए णं से सक्के देविंदे देवराया अण्णेहिं बहूहिं भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि अ सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए०जाव ताए उक्किट्ठाए०जाव वीईवयमाणे वीईवयमाणे जेणेव मंदरे पव्वए जेणेव पंडगवणे जेणेव अभिसेअसिला जेणेव अभिसेअसीहासणे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे।

(तए णं से सक्के इत्यादि) ततः स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा अन्यैर्बहुभिर्भवनपतिवाणमन्तरज्योतिष्कवैमानिकैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतः सर्वर्द्ध्या, यावत् करणात्–''सव्वजुईए'' इत्यादिपदसंग्रहः पूर्वोक्तो ज्ञेयः। तयोत्कृष्टया। यावत् करणात्–''तुरिआए'' इत्यादिग्रहः। व्यतिव्रजन् व्यतिव्रजन् यत्रैव मन्दरपर्वतो यत्रैव च पण्डकवनं यत्रैव चाभिषेकशिला यत्रैव चाऽभिषेकसिंहासनं, तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः (सण्णिसण्ण इति) पालकविमानं च गृहीतस्वामिकस्य स्वस्वामिनः पादचारित्वेन तमनुव्रजतां देवानामप्यनुपयोगित्वादभिषेकशिलायां यावदनुव्रजदभूदिति संभाव्यते।

(२६) ईशानेन्द्रावसरः–

तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे देविंदे देवराया सूलपाणी वसभवाहणे सुरिंदे उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाणावाससयसहस्साहिवई अरयंवरवत्थधरे एवं जहा सक्के, इमं णाणत्तंमहाघोसा घंटा, लहुपरक्कमो पायत्ताणीयाहिवई, पुप्फओ विमाणकारी, दाहिणिल्ले णिज्जाणभूमी, उत्तरपुरच्छिमिल्लो रइकरपव्वओ, मंदरे समोसरिओ०जाव पज्जुवासइ॥

(तेणं कालेणमित्यादि) तस्मिन् काले सम्भवजिनजन्मके, तस्मिन् समये दिक्कुमारिकृत्यानन्तरीये, न तु शक्राऽऽगमनानन्तरीये, सर्वेषामिन्द्राणां जिनकल्याणकेषु युगपदेव समागमनाऽऽरम्भस्य जायमानत्वात्। यत्तु सूत्रे शक्राऽऽगमनानन्तरीयमीशानेन्द्राऽऽगमनमुक्तं, तत् क्रमेणैव सूत्रबन्धस्य सम्भवात्। ईशानो देवेन्द्रो देवराजा शूलपाणिर्वृषभवाहनः सुरेन्द्र उत्तरार्द्धलोकाधिपतिः, मेरोरुत्तरतोऽस्यैवाधिपत्यात्। अष्टाविंशतिविमानावासशतसहस्राधिपतिः, अरजांसि निर्मलानि अम्बराणि वस्त्राणि, स्वच्छतयाऽऽकाशकल्पानि वसनानि धरति यः स तथा। एवं यथा शक्रः सौधर्मेन्द्रस्तथाऽयमपि। इदमत्र नानात्वं विशेषः महाघोषा घण्टा, लघुपराक्रमनामा पदात्यनीकाधिपतिः, पुष्पकनाभा विमानकारी, दक्षिणा निर्याणभूमिः, उत्तरपौरस्त्यो रतिकरपर्वतः, मन्दरे समवसृतः समागतः। यावत्पदात्–''भगवंतं तित्थयरं तित्थयरमायरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहं विणएणं पंजलिउडे॥'' इति पर्युपास्ते।

अथातिदेशेनावशिष्टानां सनत्कुमाराऽऽदीन्द्राणां वक्तव्यमाह–

एवं अवसिट्ठा वि इंदा भाणियव्वा०जाव अच्चुओ।

इमं णाणत्तं–

''चउरासीइ असीई, बावत्तरि सत्तरी अ सट्ठी अ।
पण्णा चत्तालीसा, तीसा वीसा दससहस्सा ॥१॥''

एए सामाणिआणं।

''वत्तीसऽट्ठावीसा, बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा।
पण्णा चत्तालीसा, छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥१॥
आणयपाणयकप्पे, चत्तारि सयाऽऽरणऽच्चुए तिण्णि॥''

एए देमाणियाणं।

इमे जाणविमाणकारी देवा। तं जहा–

''पालएँ पुप्फे सोमणसे सिरिवच्छे अ णंदिआवत्ते।
कामगमे पीइगमे, मणोरमे विमलें सव्वओभद्दे'' ॥१॥

सोहम्मगाणं सणंकुमारगाणं बंभलोगाणं महासुक्कयाणं पाणयगाणं इंदाणं सुघोसा घंटा, हरिणेगमेसी पायत्ताणी आहिवई, उत्तरिल्ला णिज्जाणभूमी, दाहिणपुरच्छिमिल्ले रइकरपव्वए; ईसाणगाणं माहिंदलंतगसहस्सारअच्चुअगाण य इंदाणं महाघोसा घंटा, लहुपरक्कमो पायत्ताणीआहिवई, दक्खिणिल्ले णिज्जाणमग्गे, उत्तरच्छिमिल्ले रइकरपव्वए, परिसाओ णं जहा जीवाभिगमे आयरक्खा सामाणिअचउग्गुणा सव्वेसिं जाणविमाणा सव्वेसिं जोयणसयसहस्सवित्थिण्णा उच्चत्तेणं सविमाणप्पमाणमहिंदज्झया सव्वेसिं जोअणसाहस्सिआ सक्कवज्जा मंदरं समोअरंति०जाव पज्जुवासंति।

(एवं अवसिट्ठा वि इत्यादि) एवं सौधर्मेशानेन्द्रवीत्या अवशिष्टा अपि इन्द्रा वैमानिकानां भणितव्याः, यावदच्युतेन्द्र एकादशद्वादशकल्पाधिपतिरिति। (विमानाऽऽदिसंख्या सामानिकाऽऽदिसंख्या च तत्तच्छब्दे)

(२७) चमराऽऽदीनामागमनम्–

तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि चउसट्ठीए सामाणिअसाहस्सीहिं तायत्तीसाए तायत्तीसेहिं चउहिं लोगपालेहिं पंचहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीआहिवईहिं चउहिं चउसट्ठीहिं आयरक्खसाहस्सीहिं अण्णेहि अ जहा सक्के, णवरं इमं णाणत्तं–दुमो पायत्ताणीआहिवई, ओघस्सरा घंटा वि णं पण्णासं जोअणसहस्साइं महिंदज्झओ पंच जोअणसयाइं, विमाणकारी आभिओगिओ देवो, अवसिट्ठं तं चेव० जाव मंदरे समोसरइ, पज्जुवासइ॥

बली–

तेणं कालेणं तेणं समएणं बली असुरिंदे असुरराया एवमेव, णवरं सट्ठी सामाणिअसाहस्सीओ, चउगुणा आयरक्खा, महादुमो पायत्ताणीआहिवई, महाओहस्सरा घंटा, सेसं तं चेव परिसाओ जहा जीवाभिगमे।

धरणः–

तेणं कालेणं तेणं समएणं धरणे तहेव णाणत्तं, छ सामाणिअसाहस्सीओ, छ अग्गमहिसीओ, चउगुणा आयरक्खा, मेघस्सरा घंटा, भद्दसेणो पायत्ताणीआहिवई, विमाणं पण्णवीसं जोअणसहस्साहिं, महिंदज्झओ अड्ढाइज्जाइं जोअणसयाइं।

भवनवासिनः–

एवमसुरिंदवज्जिआणं भवणवासिइंदाणं, णवरं असुराणं ओघस्सरा घंटा, णागाणं मेघस्सरा, सुवण्णाणं हंसस्सरा, विज्जूणं कोंचस्सरा, अग्गीणं मंजुस्सरा, दिसाणं मंजुघोसा, उदहीणं सुस्सरा, दीवाणं महुरस्सरा, वाऊणं णंदिस्सरा, थणियाणं णंदिघोसा, चउसट्ठी सट्ठी खलु छच्च सहस्साओ असुरवज्जाणं सामाणिआओ, एए चउगुणा आयरक्खाओ, दाहिणिल्लाणं पायत्ताणीआहिवई भद्दसेणो, उत्तरिल्लाणं दक्खो॥

वाणमन्तराः–

वाणमंतरजोइसिआणं अज्जो ! एवं चेव, णवरं चत्तारि अ सामाणिअसाहस्सीओ, चत्तारि अग्गमहिसीओ, सोलस आयरक्खसहस्सा विमाणा, जोअणसहस्सं महिदज्झया, पणवीसं जोअणसयं घंटा, दाहिणाणं मंजुस्सरा, उत्तराणं मंजुघोसा, पायत्ताणीआहिवई विमाणकारी अ आभिओगा देवा।

ज्योतिष्काः–

जोइसिआणं सुस्सरा सुस्सरणिग्घोसाओ घंटाओ, मंदरे समोसरणं०जाव पज्जुवासंति।

घण्टासु चायं विशेषः–चन्द्राणां सुस्वरा, सूर्याणां सुस्वरनिर्घोषा, सर्वेषां च मन्दरे समवसरणं वाच्यम्, यावत् पर्युपासते। यावच्छब्दग्राह्यं तु प्राग्दर्शितं ततो ज्ञेयम्। एतदुल्लेखस्त्वयम्–''तेणं कालेणं तेणं समएणं चंदा जोइसिंदा जोइसरायाणो पत्तेअं २ चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं चउहिं अग्गमहिसीहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीआहिवईहिं सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं एवं, जहा वाणमंतरा, एवं सूरा वि।'' नन्वत्रोल्लेखे चन्द्राः सूर्या इत्यत्र बहुवचनं किमर्थम्? प्रस्तुतकर्मणि एकस्यैव सूर्यस्य चन्द्रस्य चाधिकृतत्वात्; अन्यथेन्द्राणां चतुःषष्टिसङ्ख्याकत्वव्याघतात्? उच्यते–जिनकल्याणकाऽऽदिषु दश कल्पेन्द्रा विंशतिर्भवनवासीन्द्रा द्वात्रिंशद् व्यन्तरेन्द्राः, एते व्यक्तितः; चन्द्रसूर्यौ तु जात्यपेक्षया, तेन चन्द्राः सूर्या असङ्ख्याता अपि सामायान्ति, के नाम न कामयन्ते भुवनभट्टारकाणां दर्शनम्। यदुक्तं शान्तिचरित्रे श्रीमुनिदेवसूरिकृतश्रीशान्तिदेवजन्ममहवर्णने–''ज्योतिष्कनायकौ पुष्पदन्तौ सङ्ख्यातिगाविति। हेमाद्रिमाद्रियन्ते स्म, चतुःषष्टिः सुरेश्वराः'' ॥१॥

तए णं से अच्चुए देविंदे देवगया महं देवाहिवे आभिओगे देवे सद्दावेइ, महावेइत्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! महत्थं महग्घं महारिहं विउलं तित्थयराभिसेअं उवट्ठवेह। तए णं ते हट्ठतुट्ठ०जाव पडिसुणित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति, अवक्कमंतित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं०जाव समोहणित्ता अट्ठसहस्सं सोवण्णिअकलसाणं, एवं रुप्पमयाणं मणिमयाणं सुवण्णरुप्पमयाणं सुवण्णमणिमयाणं रुप्पमणिमयाणं सुवण्णरुप्पमणिमयाणं अट्ठसहस्सं भोमिज्जाणं अट्ठसहस्सं बंदणकलसाणं, एवं सिंगाराणं आयंसाणं थालाणं पाईणे सुपइट्ठगाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं बायकरगोणं पुप्फचंगेरीणं, एवं जहा सूरिआभस्स सव्ववंगेरीओ सव्वपडलगाइं विसेसिअंतराइं भाणिअव्वाइं सीहासणछत्तचामरतेल्लसमुग्ग०जाव सरिसवसमुग्गतालिअंटा०जाव अट्ठसहस्सं कडुच्छुआणं विउव्वंति, विउव्वित्ता साहाविए विउव्विए अ कलसे०जाव कडुच्छुए अ गिण्हित्ता जेणेव खीरोदए समुद्दे तेणेव आगम्म खीरोदगं गिण्हंति, गिण्हंतित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं पउमाइं० जाव सहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हंति, एवं पुक्खरोदाओ०जाव भरहेरवयाणं मागहाईणं तित्थाणं उदगं मट्टिअं च गिण्हंति, गिण्हंतित्ता, एवं गंगाईणं महाणईणं०जाव चुल्लहिमवंताओ सव्वतुअरे सव्वपुप्फे सव्वगंधे सव्वमल्ले०जाव सव्वोसहीओ सिद्धत्थएहिं गिण्हंति, गिण्हंतित्ता पउमद्दहो दहोदगं उप्पलादीणि अ। एवं सव्वकुलपव्वएसु वट्टवेअड्ढेसु सव्वमहद्दहेसु सव्ववासेसु सव्वचक्कवट्टिविजएसु वक्खारपव्वएस अंतरणईसु विभासिज्जा०जाव उत्तरकुरुसु०जाव सुदंसणभद्दसालवणे सव्वतुअरे०जाव सिद्धत्थए अ गिण्हंति। एवं णंदणवणाओ सव्वतुअरे०जाव सिद्धत्थए अ सरसं च गोसीसचंदणं दिव्वं च सुमणदामं गेण्हंति। एवं सोमणसपंडगवणाओ अ सव्वतुअरे० जाव सुमणदामं दद्दरमलयसुगंधिए गंधे अ गिण्हंति, गिण्हंतित्ता एगओ मिलंति, मिलंतित्ता जेणेव सामी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता तं महत्थं०जाव तित्थपराभिसेअं उवट्ठवें ति॥

यावल्लोमहस्तकपटलकानामिभानि च वस्तूनि सुर्याभाभिषेकोपयोगवस्तुभिः सङ्ख्ययैव तुल्यानि, न तु गुणेनेत्याह विशेषिततराणि। (जं०) ननु मेरुतोऽभिषेकाङ्गभूतवस्तुग्रहणाय च लम्बस्ते देवा ततग्रहणोपयोगिवस्तुजातं कलशभृङ्गाराऽऽदिकं गृह्णन्तु, परं तदनुपयोगियावच्छब्दोदरप्रविष्टं सिंहासनचामराऽऽदिकं तैलसमुद्गकाऽऽदिकं च कथं गृह्णन्तीति चेत् ? उच्यते–विकुर्वणासूत्रस्यातिदेशेन ग्रहणसूत्रस्यातिदिष्टत्वादेतत्सूत्रपाठ-स्यान्तर्गतत्वेऽपि ये ग्रहणोचितास्त एव गृहीता इति बोध्यम्, योग्यतावशादेवार्थप्रतिपत्तेः। यच्च धूपकडुच्छुकानां तत्र ग्रहणं तत् कलशभृङ्गाराऽऽदिदेवहस्तधूपनार्थमिति। अन्यथा सूत्रे साक्षादुपदर्शितस्य धूपकडुच्छुकानां ग्रहणस्य वैरर्थक्याऽऽपत्तेः। अथ प्रस्तुतं सूत्रं गृहीत्वा च यानि तत्र क्षीरोद उत्पचानि पद्मानि यावत्सहस्रपत्राणि निगृह्णन्ति। यावत् पदात् कुमुद्राऽऽदिग्रहः। एवमनया रीत्या पुष्करोदात् तृतीयसमुद्रात् उदकाऽऽदिकं गृह्णन्ति यत्तु क्षीरोदाद्विनिवृत्तेवारुणीवरमन्तरा भुक्तापुष्करोदे जलं गृहीतं, तद्वारुणीवरवारिणोऽग्राह्यत्वादिति संभाव्यमिति। यावच्छब्दात्–"समयखित्ते" इति ग्राह्यम्। तेन समयक्षेत्रे मनुष्यक्षेत्रे भरतैरावतयोः प्रस्तावात् पुष्करवरद्वीपार्द्धसत्कयोर्गाङ्गाऽऽदीनां तीर्थानामुदकं मृत्तिकां च गृह्णन्ति। एवमिति समये क्षेत्रस्थपुष्करवरद्वीपार्द्धसत्कानां गङ्गाऽऽदीनां महानदीनाम्। आदिशब्दात्–सर्वमहानदीग्रहः। यावत्पदात् उदकपुरस्सरतटमृत्तिकां च गृह्णन्ति। क्षुद्रहिमवतः सर्वान् तुवरान् (?) कषायद्रव्याणि आमलकाऽऽदीनि, सर्वाणि जातिभेदेन पुष्पाणि, सर्वान् गन्धान् वासाऽऽदीन्, सर्वाणि माल्यानि ग्रथिताऽऽदिभेदभिन्नानि, सर्वा महौषधी राजहंसी-प्रमुखाः, सिद्धार्थकांश्च सर्षपान् गृह्णन्ति, गृहीत्वा च पद्महदाद् ह्रदेदकमुत्पलानि च गृह्णन्ति। एवं क्षुद्रहिमवन्न्यायेन सर्वक्षेत्रव्यवस्थाकारित्वेन कुलकराः पर्वताः। मध्यपदलोपे कुलपर्वता हिमाचलाऽऽदयः, तेषु वृत्तवैताढ्येषु, सर्वमहाह्रदेषु पद्महदाऽऽदिषु, सर्ववर्षेषु सर्वचक्रवर्त्तिविजयेषु कच्छाऽऽदिषु वक्षस्कारपर्वतेषु गजदन्ताऽऽकृतिषु माल्यवदादिषु सरलाऽऽकृतिषु च चित्रकूटाऽऽदिषु, तथाऽऽन्तरनदीषु ग्राहावत्यादिषु, विभाषेत वटेत्, पर्वतेषु तु तुवरादीनां, द्रहेषूत्पलाऽऽदीनां कर्मक्षेत्रेषु मागधाऽऽदितीर्थोदकमृदां, नदीपूदकोभयतटमृदां ग्रहणं वक्तव्यमित्यर्थः। यावत्पदादेव कुरुष्वग्रिग्रहः। तेन कुरुद्वये। चित्रविचित्रगिरियमकगिरिकाञ्चनगिरिह्रददशवेषु यथासंभवं वस्तुजातं गृह्णन्ति। यावत्पदात्–पुष्करवरद्वीपार्द्धस्य पूर्वार्द्धमेरौ भद्रशालवने नन्दने सौमनसवने पण्डकवने च सर्वतुवराऽऽदीन गृह्णन्ति। तथा तस्यैवापरार्द्धे अनेनैव क्रमेण वस्तुजातं गृह्णन्ति। ततो धातकीखण्डपूर्वापरार्द्धयोर्भरताऽऽदिस्थानेषु वस्तुग्रहो वाच्यः। ततो जम्बूद्वीपेऽपि तद् ग्रहस्तथैव वाच्यः। कियत्पर्यन्तमित्याह–सुदर्शनो जम्बूद्वीपगतो मेरुरुत्तरस्य भद्रशालवने सर्वतुवरान्, यावत् सिद्धार्थकांश्च सरसं च गोशीर्षचन्दनं दिव्यं च सुमनोदामग्रथितपुष्पाणि गृह्णन्ति। एवं सौमनसवनात्। सूत्रपाठे पञ्चमीलोपः प्राकृतत्वात्। पण्डकवनाच्च सर्वतुवरान्, यावत् सुम–नोदामदर्दरमलयसुगन्धिकान् गन्धान्, दर्दरमलयौ चन्दनोत्पत्तिस्थानिभूतौ, तेन तदुद्भवं चन्दनमपि "तात् स्थ्यात्तद् व्यपदेशः" इति न्यायेन दर्दरमलयशब्दाभ्यामभिधीयते। ततो दर्दरमलयनामकं चन्दनं तयोः सुगन्धः परमगन्धो यत्र तान् दर्दरमलयसुगन्धिकान् गन्धान् वासान् गृह्णन्ति। गृहीत्वा च इतस्ततो विप्रकीर्णा आभियोग्यदेवा एकत्र मिलन्ति। मिलित्वा च यत्रैव स्वामी तत्रैवोपागच्छन्ति। उपागत्य च तं महार्थं, यावच्छब्दात्–महार्घं महार्हं विपुलमिति पदत्रयम्। तीर्थकराभिषेकं तीर्थकराभिषेकयोग्यं क्षीरोदकाऽऽद्युपस्करमुपस्थापयन्ति उपनयन्ति, अच्युतेन्द्रस्य समीपस्थितिं कुर्वन्तीत्यर्थः।

(२८) अच्युतेन्द्रो यदकरोत्तदाह–

तए णं से अच्चुए देविंदे देवराया दसहिं सामाणिअ–

साहस्सीहिं तायत्तीसाए तायत्तीसएहिं चउहिं लोगपालेहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीयाहिवईहिं चत्तालीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे तेहिं साभाविएहिं विउव्विएहि अ वरकमलपइट्ठाणेहिं सुरभिवरवारिपडिपुण्णेहिं चंदणकयवच्चाएहिं आविद्धकंठगुणेहिं पउमप्पलपिहाणेहिं करयलसुकुमारपरिग्गहिएहिं अट्ठसहस्सेणं सोवण्णिआणं कलसाणं०जाव अट्ठसहस्सेणं भोमेज्जाणं०जाव सव्वोदएहिं सव्वमट्टिआहिं सव्वतुअरेहिं०जाव सव्वोसहीहिं सिद्धत्थएहिं सविड्ढीए०जाव रवेणं महया महया तित्थयराभिसेएणं अभिसिंचति।

यावच्छब्दात् -''सव्वजुईए'' इत्यारभ्य ''दुंदुहिनिग्घोसनाइअं'' इत्यन्तं ग्राह्यम्। महता महता तीर्थकराभिषेकेण, अत्र करणे तृतीया। को ऽर्थः? येनाभिषेकेण तीर्थकरा अभिषिच्यन्ते, तेनेत्यर्थः। अत्राभिषेकशब्देनाभिषेकोपयोगिक्षीरोदादिजलं ज्ञेयम्, अभिषिञ्चत्यभिषेकं करोतीत्यर्थः।

(२६) इन्द्राऽऽदयो यत्कुर्वन्ति तदाह-

तए णं सामिस्स महया महया अभिसेअंसि वट्टमाणंसि इंदाइआ देवा छत्तचामरकलसधूवकडुच्छुअपुप्फगंध० जाव हत्थगया हट्ठतुट्ठ०जाव वज्जसूलपाणी पुरओ चिट्ठंति पंजलिउमा। एवं विजयाणुसारेण०जाव अप्पेगइआ देवा आसित्तसंमज्जिओवलित्तसित्तसुइसम्मट्ठरत्थंतराऽऽवणवीहिअं करेंति० जाव गंधवट्टिभूअं। अप्पेगइआ हिरण्णवासं वासंति। एवं सुवण्णरयणवइर आभरणपत्तपुप्फफलबीअमल्लगंधवण्ण०जाव चुण्णवासं वासंति। अप्पेगइया हिरण्णविहिं भाइंति, एवं जाव चुण्णविहिं भाइंति। अप्पेगइआ चउव्विहं वज्जं वाएंति। तं जहा-ततं१, वितंत२, घणं३, झुसिरं ४। अप्पेगइआ चउव्विहं गेअं गायंति। तं जहा-उक्खित्तं१, पायत्तं २, मंदाइयं ३, रोइआवसाणं ४। अप्पेगइआ चउव्विहं णट्टं णच्चंति। तं जहा-अंचिअं १, दुअं२, आरभडं३, भसोलं ४। अप्पेगइआ चउव्विहं अभिणयं अभिणयंति। तं जहा-दिट्ठंतिअं१, पडिस्सुइअं२, सामण्णोवणिवाइअं३, लोगमज्झवसाणिअं४। अप्पेगइआ वत्तीसइविहं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति। अप्पेगइआ ओप्पायं निवायं, निवाओप्पायं, संकुचिअपसारिअं०जाव भंतसंभंतणामं दिव्वं नट्टविहिं उवदंसंतीति। अप्पेगइआ तंडवेंति, अप्पेगइआ लासेंति, अप्पेगइआ पीणेंति। एवं वुक्कारेंति, अप्फोडेंति, वग्गेंति, सीहणायं णयंति। अप्पेगइया सव्वाइं करेंति। अप्पेगइआ हयहेसिअं करेंति। एवं हत्थिगुलुगुलाइअं, रहघणघणाइअं। अप्पेगइया तिण्णि वि। अप्पेगइआ उच्छोलेंति, अप्पेगइया पच्छालेंति, अप्पेगइया तिवइं छिंदंति, पायदद्दरयं करेंति, भूमिचवेडं दलयंति। अप्पेगइआ महया सद्देणं रवेंति; एवं संजोगा वि भासिअव्वा। अप्पेगइआ हक्कारेंति; एवं पुक्कारेंति, थक्कारेंति, ओवयंति, उप्पयंति, परिवयंति, जलंति, तवंति, पयवंति, गज्जंति, विज्जुआयंति, वासेंति। अप्पेगइआ देवुक्कलिअं करेंति। एवं देवा कहकहगं करेंति। अप्पेगइआ दुहुदुहुगं करेंति। अप्पेगइआ विकिअभूयाइं रूवाइं विउव्वित्ता पणच्चंति, एवमाइ विभाएज्जा, जह विजयस्स०जाव सव्वओ समंता आहावेंति, परिधावेंति॥

अथाऽभिषेकनिर्गमनपूर्वकमाशीर्वादसूत्रमाह-

तए णं से अच्चुइंदे सपरिवारे सामिं महया अभिसेएणं अभिसिंचइ, अभिसिंचइत्ता करयलपरिग्गहिअं०जाव मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता ताहिं इट्ठाहिं०जाव जयजयसद्दं पउंजति, पउंजित्ता०जाव पम्हलसुकुमालाए सुरभीए गंधकासाइए गायाइं लूहेइत्ता एवं०जाव कप्परुक्खगं पि व अलंकियविभूसिअं करेइ, करेइत्ता०जाव णट्टविहिं उवदंसेइ, उवदंसेइत्ता अच्छेहिं सण्हेहिं रययमएहिं अच्छरसतंदुलेहिं भगवओ सामिस्स पुरओ अट्ठट्ठमंगलगे आलिहइ। तं जहा-

''दप्पेणं भद्दासणयं, वद्धमाण वरकलस मच्छ सिरिवच्छा।
सोत्थिअ णंदावत्ता, लिहिआ अट्ठऽट्ठमंगलगा''॥१॥

लिहिऊण करेइ उवयारं, किं ते पाडलमल्लिअचंपगअसोगपुन्नागचूअमंजरिणवमालिअवउलतिलयकणवीरकुंदकुज्जगकोरंटपत्तदमणगवरसुरभिगंधगंधिअस्स कयग्गहगहिअकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्कस्स दसद्धवण्णस्स कुसुमणिअरस्स, तत्थ चित्तं जाणुस्सेहप्पमाणमित्तं ओहनिकरं करेइ, करेइत्ता चंदप्पभरयणवइरवेरुलिअविमलदंडं कंचणमणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपवरकंदुरुक्कतुरुक्कधूवगंधुत्तमाणुविद्धं च धूमवट्टिं विणिम्मुअंतं वेरुलिअमयं कडुच्छुअं पगाहित्तु पयए णं धूवं दाऊण जिणवरिंदस्स सत्तट्ठपयाइं ओसरित्ता दसंगुलिअं अंजलिं करिअ मत्थयंसि पयओ अट्ठसयविसुद्धगंथजुत्तेहिं महावित्तेहिं अपुणरुत्तेहिं अत्थजुत्तेहिं संथुणइ, संथुणइत्ता वामं जाणुं अचेइ, अंचेइत्ता०जाव करयलपरिग्गहिअं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं बयासी-णमोऽत्थु ते सिद्ध! बुद्ध! णीरय! समण! समाहिअ! समत्त! समजोगि! सल्लगत्तण! णिब्भय! णीराग-दोस! णिम्मम! णिस्संग! णीसल्ल! माणमूरण! गुणरयणसीलसागर! अणंत! अप्पमेय! भविअ! धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी! णमोऽत्थु ते अरहओ त्ति कट्टु वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे०जाव पज्जुवासइ।

(तए णमित्यादि) ततः सोऽच्युतेन्द्रः सपरिवारः स्वामिनमनन्तरोक्तस्वरूपेण महता महता अतिशयेन महता अभिषेकेणा-

ऽभिषिञ्चति, निगमनसूत्रत्वान्न पौनरुक्त्यम्। अभिषिच्य च करतलपरिगृहीतं, यावत्पदसंग्राह्यं प्राग्वत्। मस्तके अञ्जलिं कृत्वा जयेन विजयेन प्रागुक्तस्वरूपेण वर्द्धयत्याशिषं प्रयुङ्क्ते, वर्द्धयित्वा च ताभिर्विशिष्टगुणोपेताभिरिष्टाभिः श्रोतृणां वल्लभाभिर्यावत् करणात्–''कंताहिं पिआहिं मणुण्णाहिं वग्गूहिं'' इति ग्राह्यम्। अत्र व्याख्या च प्राग्वत्। वाग्भिर्जयजयशब्दं प्रयुङ्क्ते, संभ्रमे द्विर्वचनं जयशब्दस्य। अत्र जयेन विजयेन वर्द्धयित्वा पुनर्जयविजयशब्दप्रयोगो, मङ्गलवचने पुनरुक्तिर्न दोषायेत्यभिहितः। अथाभिषेकोत्तरकालीनं कर्त्तव्यमाह–(पउंजित्ता इत्यादि) प्रयुज्य च। यावच्छब्दात्–''तप्पढमयाए'' इति ग्राह्यम्। अत्र व्याख्यातेष्वभिषेकोत्तरकालीनकर्त्तव्येषु प्रथमतया आद्यत्वेन पक्ष्मलसुकुमारया सुरभ्या गन्धकाषायिक्या गन्धकषायद्रव्यपरिकर्मितया, लघुशाटिकयेति गम्यम्। गात्राणि रूक्षयति, एवमुक्तप्रकारेण, यावत् कल्पवृक्षमिवालङ्कृतं वस्त्रालङ्कारेण आभरणालङ्कारेण विभूषितं करोति। यावत्करणात्–''लूहित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपइ अणुलिंपइत्ता नासानीसासवायबोज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हयलालापेलवाइरेगं धवलं कणगखचिअंतकम्मं देवदूसजुअलं निअंसावेइ, निअंसावेइत्ता'' इति ग्राह्यम्। अत्र व्याख्या प्राग्वत्। नवरं देवदूष्ययुगलं परिधानोत्तरीयरूपं निवासयति, परिधापयतीति कृत्वा च। यावत्करणात्–''सुमिणदामं पिनद्धावेइ'' इति ग्राह्यम्। नाट्यविधिमुपदर्शयति। उपदर्श्य च अच्छैः श्लक्ष्णैः रजतमयैरच्छरसतण्डुलैः भगवतः स्वामिनः पुरतोऽष्टाष्टमङ्गलकान्यालिखति। तद्यथा–''दप्पणे'' इति पद्यं सुगमम्। मङ्गलोल्लेखनोत्तरकृत्यमाह–(लिहिऊण त्ति) अनन्तरोक्तान्यष्टमङ्गलानि लिखित्वा करोत्युपचारमित्याद्यारभ्य कडुच्छुकग्रहणपर्यन्तं सूत्रं चक्ररत्नपूजाधिकारलिखितव्याख्यातो व्याख्येयम्। ततः प्रयतः सन् यथा बालभट्टारकस्य धूपधूमाकुले अक्षिणी न भवतस्तथा प्रयत्नवान् धूपं दत्वा जिनवरेन्द्राय। सूत्रे षष्ठी आर्षत्वात्। अङ्ग पूजार्थं प्रत्यासेदुषा मया निरुद्धो भगवद्दर्शनमार्गोऽतोऽहं मां परेषां दर्शनामृतपानविघ्नकारी स्यामिति सप्ताष्टानि पदान्यपसृत्य दशाङ्गुलिकं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा प्रयतो यथास्थानमुदात्ताऽऽदिस्वरोच्चारेषु प्रयत्नवानष्टशतैरष्टोत्तरशतप्रमाणैर्विशुद्धेन ग्रन्थेन पाठेन युक्तैर्महावृत्तैर्महाकाव्यैर्यथा महाचरित्रैरपुनरुक्तैरर्थयुक्तैश्चमत्कारिभिरङ्गैश्चयुक्तैः संस्तौति। संस्तुत्य च वामं जानुम् अञ्चति उत्पाटयति, अञ्चित्वा च यावत् पदात्–''दाहिणं जाणुं धरणिअलंसि निवाडेइ'' इति ग्राहम्। अत्र व्याख्या प्राग्वत्। करतलपरिगृहीतं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा एवं वक्ष्यमाणमवादीत्। यदवादीत्तदाह(णमोऽत्थु ते सिद्ध! बुद्ध!०इत्यादि) नमोऽस्तु ते तुभ्यं हे सिद्ध! एवं बुद्धेत्यादिपदानि संबन्धनीयानि। तत्र हे बुद्ध। ज्ञाततत्त्व! हे नीरजः कर्मरजोरहित! हे श्रमण! तपस्विन्! हे समाहित! अनाकुलितचित्त! हे समाप्त! कृतकृत्यत्वात्। अथवा–सम्यक् प्रकारेणाऽऽप्त! अविसंवादविचनत्वात्। हे समयोगिन्! कुशलमनोवाक्काययोगित्वात्। शल्यकर्त्तन! निर्भय! नीरागद्वेष! निर्म्मम! निस्सङ्ग! निर्लेप! निःशल्य! (मानमूरण!) मानमर्दन! गुणेषु रत्नमुत्कृष्टं यच्छीलं ब्रह्मचर्यं तस्य सागर! अनन्तज्ञानाऽऽत्मकत्वात्। अप्रमेय! प्राकृतज्ञानापरिच्छेद्य! अशरीरजीवस्वरूपस्य छद्मस्थैः परिछेत्तुमशक्यत्वात् इति। अथवाऽप्रमेय! भगवद् गुणानामनन्तत्वेन संख्यातुमशक्यत्वात्। भव्य! मुक्तिगमनयोग्य! अत्यासन्नभवसिद्धत्वात्। धर्मेण धर्मरूपेण वरेण प्रधानेन भाषप कत्वात् चतुरन्तेन चतुर्गत्यन्तकारिणा चक्रेण वर्त्तत इत्येवंशीलः, तस्य सम्बोधनं हे धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तिन्! नमोऽस्तु तुभ्यम् अर्हते जगत्पूज्याय, इति कृत्वेति संस्तुत्य, वन्दते, नमस्यतीत्यादि सूत्रं प्राग्वत्। यद्यत्र विशेषणवर्णकस्याऽऽदौ 'नमोऽस्तुते' इत्युक्त्वा पुनरपि 'नमोऽस्तु ते' इत्युक्तं, तन्न पुनरुक्तये, प्रत्युत लाघवाय, यतो जगत्त्रयप्रतिस्रोतश्चारित्रिणो जगत्त्रयपतेस्तत्तदसाधारणैकैकविशेषणविभावनात् समुद्भूतप्रणामपरिणामेन हरिणा प्रतिविशेषणं 'नमोऽस्तु ते' इति न प्रयुक्तमिति। इमानि च सर्वाणि विशेषणानि भव्यपदवर्जानि 'भाविनि भूतवदुपचारात्।' अन्यथाऽभिषेकसमये जिनानामेतादृशविशेषणमयुक्तम्, असंभवादिति।

(३०) अथावशिष्टानामिन्द्राणां वक्तव्यं लाघवादाह–

एवं जहा अच्चुअस्स तहा०जाव ईसाणस्स भाणिअव्वं। एवं भवणवइवाणमंतरजोइसिआ य सूरपज्जवसाणा सएणं सएणं परिवारेणं पत्तेअं पत्तेअं अभिसिंचंति। तए णं ईसाणे देविंदे देवराया पंच ईसाणे विउव्वइ, विउव्वइत्ता एगे ईसाणे भगवं तित्थयरं करयलसंपुडेणं गिण्हइ, गिण्हइत्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे; एगे ईसाणे पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ; दुवे ईसाणा उभओ पासिं चामरुक्खेवं करेंति; एगे ईसाणे पुरओ मूलपाणी चिट्ठइ।

(एवं जहा इत्यादि) एवमुक्तविधिना यथाऽच्युतेन्द्रस्याऽभिषेककृत्यं तथा प्राणतेन्द्रस्य यावदीशानेन्द्रस्यापि भणितव्यं, शक्राभिषेकस्य सर्वतश्वरमत्वात्। एवं भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्काश्चेन्द्राः सूर्यपर्यवसानाः स्वकेन २ परिवारेण सह प्रत्येकं प्रत्येकमभिषिञ्चन्ति। (तए णमित्यादि) ततस्त्रिषष्टीन्द्राभिषेकानन्तरमीशानो देवेन्द्रो देवराजा पञ्चेशानान् विकुर्वति, एक ईशानः पञ्चधा भवति। एतदेव विभजतितत्र एक ईशानो भगवन्तं तीर्थकरं करतलसम्पुटेन गृह्णाति, गृहीत्वा च सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः सन्निषण्णः। एक ईशानः पृष्ठतः आतपत्रं धरति। द्वावीशानावुभयोः पार्श्वयोः चमरोत्क्षेपं कुरुतः। एक ईशानः पुरतः शूलपाणिस्तिष्ठत्यूर्द्धस्थो भवति।

(३१) अथावशिष्टशक्रस्याभिषेकावसरः–

तए णं से सक्के देविंदे देवराया आभिओगे देवे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एसो वि तह चेव अभिसेआणमादिसइ, ते वि तह चेव उवणेंति। तए णं से सक्के देविंदे देवराया भगवओ तित्थयरस्स चउद्दिसिं चत्तारि धवलवसभे विउव्वइ, सेए संखदलविमल निम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणिगरप्पगासे पासाइए दरसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे। तए णं तेसिं चउण्हं धवलवसभाणं अट्ठहिं सिंगेहिं तो अट्ठ तोयधाराओ णिग्गच्छंति। तए णं ताओ अट्ठ तोयधाराओ उड्ढं वेहासं समुप्पयंति, समुप्पयंतित्ता एगओ मिलायंति, मिलायंतित्ता भगवओ तित्थयरस्स मुद्धाणंसि निवयंति। तए णं से सक्के

देविंदे देवराया चउरासीईए सामाणिअसाहस्सीहिं, ०एअस्स वि तहेव अभिसेओ भाणिअव्वो०जाव 'णमोऽत्थु ते अरहो' त्ति कडु वंदइ, णमंसइ०जाव पज्जुवासइ।

सम्प्रत्यव्यग्रपाणिः शक्रो यदकरोत्तदाह–(तए णमित्यादि) तत ईशानेन्द्रेण भगवतः करसंपुटग्रहणानन्तरं स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा आभियोग्यान् देवान् शब्दयति, शब्दयित्वा च एषोऽपि तथैवाऽच्युतेन्द्रवदभिषेकविषयिकामाज्ञप्तिं ददाति, तेऽप्याभियोग्यास्तथैवाऽच्युतेन्द्राभियोग्यदेवा इवाभिषेकस्तून्युपनयन्ति। अथ शक्रः किं किं चकारेत्याह–(तए णमित्यादि) ततोऽभिषेकसामग्र्युपनयनानन्तरं स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा भगवतस्तीर्थकरस्य चतुर्दिशि चतुरो धवलवृषभान् विकुर्वति. श्वेतान्।श्वेतत्वमेव द्रढयतिशङ्खस्य दलं चूर्ण विमलनिर्मलोऽत्यन्तनिर्मलो यो दधिघनो दधिपिण्डो, बद्धदधीत्यर्थः। गोक्षीरफेनः प्रतीतः, रजतनिकरोऽपि। एतेषामिव प्रकाशो येषां ते तथा, तान् (पासाइए इत्यादि) प्राग्वत्। तदनन्तरं किमित्याह–(तए णमिति) ततस्तेषां चतुर्णां धवलवृषभानामष्टभ्यः शृङ्गेभ्योऽष्टौ तोयधारा निर्गच्छन्ति। ततस्ता अष्टौ तोयधारा ऊर्द्धं विहायसि उत्पतन्ति ऊर्द्धं चलन्ति,उत्पत्य च एकतो मिलन्ति, मिलित्वा च भगवतस्तीर्थकरस्य मूर्ध्नि निपतन्ति। अथ शक्रः किं कृतवानित्याह–(तए णमिति) ततः स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा चतुरशीत्या सामानिकसहस्रैस्त्रयस्त्रिंशता त्रयस्त्रिंशकैर्यावत् संपरिवृतस्तैः स्वाभाविकवैकुर्विककलशैर्महता तीर्थकराभिषेकेणाभिषिञ्चति, इत्यादिसूत्रोक्ताभिषेकविधिः शक्रस्याऽच्युतेन्द्रवदस्तीति। लाघवमाह–एतस्याऽपि तथैवाभिषेको भणित–व्यः। कियदन्त इत्याह–यावन्नमोऽस्तु तेऽर्हते इति कृत्वा वन्दते, नमस्यति, नत्वा यावत् पर्युपास्ते इति।

(३२) अथ कृतकृत्यः शक्रो भगवतो जन्मपुरप्रापणायोपक्रमते–

तए णं से सक्के देविंदे देवराया पंच सक्के विउव्वइ, विउव्वइत्ता एगे सक्के भगवं तित्थयरं करयलपुडेणं गिण्हइ, एगे सक्के पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ,दुवे सक्का उभओ पासिं चामरुक्खेवं करेंति, एगे सक्के पज्जपाणी पुरओ पकड्ढइ। तए णं से सक्के चउरासीईए सामाणिअसाहस्सीहिं०जाव अण्णेहि अ भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि अ सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए ०जाव णाइअरवेणं ताए उक्किट्ठाए०जाव जेणेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणणयरे, जेणेव जम्मणभवणे, जेणेव तित्थयरमाया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भगवं तित्थयरं माउए पासे ठवेइ, ठवेइत्ता तित्थयरपडिरूवगं पडिसाहरइ, पडिसाहरइत्ता ओसोवणिं पडिसाहरइ, पडिसाहरइत्ता एगं महं खोमजुअलं कुंडलजुअलं च भगवओ तित्थयरस्स उस्सीसगमूले ठवेइ, ठवेइत्ता एगं महं सिरिदामगंडं तवणिज्जलंबूसगं सुवण्णपयरगअंडिअं णाणामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोहिअसमुदयं भगवओ तित्थयरस्स उल्लोअंसि निक्खिवइ, तं णं भगवंतित्थयरं अणिमिसाए दिट्ठीए पेहमाणे पेहमाणे सुहं सुहेणं अभिरममाणे चिट्ठइ।

(तए णमित्यादि) प्राग्वत्। अथ जन्मनगरप्रापणाय सूत्रम्– (तए णमिति) ततः स शक्रः पञ्चरूपत्रिकुर्वणानन्तरं चतुरशीत्या सामानिकसहस्रैर्यावत् संपरिवृतः सर्वर्द्ध्या यावन्नादितरवेण तयोत्कृष्टया दिव्यया देवगत्या व्यतिव्रजन् व्यतिव्रजन् यत्रैव भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मनगरं, यत्रैव च जन्मभवनं, यत्रैव तीर्थकरमाता, तत्रैवोपगच्छति। उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं मातुः पार्श्वे स्थापयति। स्थापयित्वा च तीर्थकरप्रतिबिम्बं प्रतिसहरति। प्रतिसंहृत्य चावस्वापिनीं प्रतिसंहरति। प्रतिसंहृत्य चैकं महत् क्षौमयोर्दुकूलयोर्युगलं कुण्डलयुगलं भगवतस्तीर्थकरस्योच्छीर्षकमूले स्थापयति। स्थापयित्वा च एकं महान्तं श्रीदाम्नां शोभावद्विचित्ररत्नमालानां गण्डं गोलं वृत्ताऽऽकारत्वात्। काण्डं अ समूहः, श्रीदामगण्डं श्रीदामकाण्डं वा, भगवतस्ती ती निक्षिपत्यवलम्बयतीति क्रियायोगः। तपनीयेत्यादि सूत्र प्राग्वत्। नानामणिरत्नानां ये विविधहाराद्धहारास्तैरुपशोभितः समुदायः परिकरो यस्य तत् तथा। अथमर्थः–श्रीमत्यो रत्नमालास्तथा ग्रथयित्वा गोलाकारेण कृताः यथा चन्द्रगोपके मध्यकुम्बनकतां प्रापिताः, हाराद्धहाराश्च परिकरझुम्बनकताम्। उक्तस्वरूपझुम्बनकविधाने प्रयोजनमाह–(तं णमिति प्राग्वत्) भगवांस्तीर्थकरो निर्निमेषया दृष्ट्याऽत्यादरेण प्रेक्ष्यमाणः प्रेक्ष्यमाणः सुखं सुखेनाभिरममाणो रतिं कुर्वंस्तिष्ठति।

(३३) अथ वैश्रवणद्वारा शक्रस्य कृत्यमाह–

तए णं से सक्के देविंदे देवराया वेसमणं देवं सहावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! बत्तीसं हिरण्णकोडीओ बत्तीसं सुवण्णकोडीओ वत्तीसं रयणकोडीओ वत्तीसं णंदाइं बत्तीसं भद्दाइं सुभगे सुभगरूवजोव्वणलावण्णे अ भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणंसि साहराहि, साहराहित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि। तए णं से वेसमणे देवे सक्केणं ० जाव विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता जंभए देवे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासीखिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! वत्तीसं हिरण्णकोडीओ० जाव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणंसि साहरह, एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह। तए णं ते जंभगा देवा वेसमणेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ० जाव खिप्पामेव बत्तीसं हिरण्णकोडीओ० जाव भगवओ तित्थगरस्स जम्मणभवणंसि साहरंति, साहरंतित्ता जेणेव वेसमणे देवे तेणेव०जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से वेसमणे देवे जेणेव देविंदे देवराया० जाव पच्चप्पिणइ॥

(तए णमित्यादि) ततः स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा वैश्रवणमुत्तरदिक् पालं देवं शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीत्–क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाऽऽद्वात्रिंशतं हिरण्यकोटीः, द्वात्रिंशतं सुवर्णकोटीः,

द्वात्रिंशतं नन्दानि वृत्तलोहाऽऽसनानि, द्वात्रिंशतं भद्राणि भद्राऽऽसनानि, सुभगानि शोभनानि, सुभगयौवनलावण्यानि रूपकाणि यत्र तानि तथा। सूत्रे पदव्यत्यय आर्षत्वात्। चः समुच्चये। भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवने संहराऽऽनयेत्यर्थः। संहृत्य च एनामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पय। ततः स वैश्रमणो देवः शक्रेण, यावत्– ''देविंदेणं देवरण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए एवं देवो ! तह त्ति आणाए।'' इति ग्राह्यम्। विनयेन वचनं प्रतिशृणोति, प्रतिभुत्य च जृम्भकान् तिर्यग् लोके वैताढ्यद्वितीयश्रेणिवासित्वेन तिर्यग् लोकगतनिधानाऽऽदिवेदिनः शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीत्। शेषमनुवाद–सूत्रत्वात् सुबोधम्।

(३४) अथास्मासु स्वस्थानं प्राप्तेषु निःसोदर्यसौन्दर्याधिके भगवति मा दुष्टां दुर्दृष्टिं निक्षिपन्त्वित्युद् घोषणा–

तए णं से सक्के देविंदे देवराया आभिओगे देवे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! भगवओ तित्थयरस्स जम्मणणयरंसि सिंहासणं महापहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वदहहंद ! सुणंतु भवंतो बहवे भवणवइवाणमंतरजोइसबेमाणिआ देवा य देवीओ अ, जे णं देवाणुप्पिया ! तित्थयरस्स तित्थयरमाउए वा असुभं मणे पधारेइ, अज्झगमंजरिआ इव सयधा मुद्धाणं फुट्टतु त्ति कट्टु घोसणं घोसेह, घोसेइत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह। तए णं ते आभिओगा देवा०जाव एवं देवो ! त्ति आणाए पडिसुणंति, पडिसुणंतित्ता सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतिआओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमंतित्ता खिप्पामेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणणगरंसि सिघामग०जाव एवं वयासी–हद ! सुणंतु भवंतो बहवे भवणवइ०जाव जे णं देवाणुप्पिओ ! तित्थयरस्स० जाव फुट्टिहि त्ति कट्टु घोसणगं घोसंति, घोसंतित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणंति॥

तदुपायार्थमाह–(तए णमित्यादि) ततो वैश्रवणेनाऽऽज्ञाप्रत्यर्पणानन्तरं स शक्रः देवेन्द्रो देवराजा आभियोग्यान् देवान् शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीत्–क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाः ! भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मनगरे शृङ्गाटक०यावन्महापथेषु महता महता शब्देन उद्घोषयन्त उद्घोषयन्त एवं वदत– 'हंत' इति प्राग्वत्। शृण्वन्तु भवन्तो बहवो भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवाश्च देव्यश्च, योऽनिर्दिष्टनामा देवानां प्रिय ! इति संबोधनं, भवतां मध्ये तीर्थकरस्य तीर्थकरमातुर्वा पर्य्यशुभं मनः प्रधारयति दुष्टं संकल्पयति, तस्य आर्यकमञ्जरिकेव–आर्यको वनस्पतिविशेषो,यो लोके ''आजउ'' इति प्रसिद्धः, तस्य मञ्जरिका इव मूर्द्धा शतधा स्फुटत्विति कृत्वेत्युक्त्वा घोषणं घोषयत, घोषयित्वा चैतामाज्ञप्तिकां प्रत्यर्पयत इति॥

(३५) अष्टाहिका–

तए णं ते बहवे भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिया देवा भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करेंति, करेंतित्ता जेणेव णंदीसरवरदीवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता अट्ठाहियाओ महामहिमाओ करेंति, करेंतित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगया॥

अथ निगमनसूत्रमाह–(तए णमिति) ततस्ते बहवो भवनपत्यादयो देवा भगवतस्तीर्थकरस्य जन्ममहिमानं कुर्वन्ति, कृत्वा च सिद्धसमीहितकार्यं मङ्गलार्थं यत्रैव नन्दीश्वरवरद्वीपस्तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्याष्टाहिकामहामहिमा अष्टदिननिर्वर्त्तनीयोत्सवविशेषान् कुर्वन्ति, बहुवचनं चात्र सौधर्मेन्द्राऽऽदिभिः प्रत्येकं क्रियमाणत्वात्। अथ यस्येन्द्रस्य यस्मिन् अञ्जनगिरौ येषु च दधिमुखगिरिषु तल्लोकपालानामष्टाहिकाधिकारः स ऋषभदेवनिर्वाणाधिकारे उक्त इति नात्र लिख्यते। जं०५ वक्ष०।

(३६) इन्द्रसंख्या–

भवणिंद वीस वंतरपहु दुत्तीसं च चंदसूरा दो।
कप्पसुरिंदा दस इय, हरि चउसट्ठिति जिणजम्मे॥१०४॥

भवनपतीनां विंशतिरिन्द्राः२०। व्यन्तराणां प्रभव इन्द्राः द्वात्रिंशच्च ३२। द्वौ चन्द्रसूर्यौ २। द्वादशकल्पानां देवलोकानां दश सुरेन्द्राः १०। इति इन्द्राः चतुष्षष्टिश्चतुः संयुक्ता षष्टिर्यन्तिआगच्छन्ति जिनजन्मनि। इति गाथाऽर्थः॥१०४॥ सत्त० ३५ द्वार। आ०चू०। जं०।

(३७) उपदेशः–

से बेमि जे य अतीता,जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंतिसव्वे पाणा०जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा,ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण ओद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेइए, इति एवं से भिक्खू विरते पाणातिवायतो०जाव परिग्गहातो णो दंतपक्खालणेणं दंतं पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो धूवणे, णो तं परिआविएज्जा॥४९॥

सोऽहं ब्रवीम्येतन्न स्वमनीषिकतया, किं तु सर्वतीर्थकराऽऽज्ञयेति दर्शयति–(जे अतीता इत्यादि) ये केचन तीर्थकृत ऋषभा–ऽऽदयोऽतीताः, ये च विदेहेषु वर्त्तमानाः सीमन्धराऽऽदयो, ये चागामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यन्ति ब्रह्मनाभाऽऽदयोऽर्हन्तोऽमरासुरनरेश्वराणां पूजार्हाः, भगवन्त ऐश्वर्याऽऽदिगुणकलापोपेताः, सर्वेऽप्येवं ते व्यक्तवाचा आख्यान्ति प्रतिपादयन्ति। एवं सदेवमनुजायां पर्षदि भाषन्ते स्वत एव, न यथा बौद्धानां बोधिसत्त्वप्रभावात् कुड्यादिदेशनत इत्येवं प्रकर्षेण ज्ञापयन्ति हेतूदाहरणाऽऽदिभिः, एवं प्ररूपयन्ति नामाऽऽदिभिः, यथा सर्वे प्राणा न हन्तव्या इत्यादि। एष धर्मः प्राणिरक्षणलक्षणः प्राग्व्याव–र्णितस्वरूपो ध्रुवोऽवश्यंभावी, नित्यः क्षान्त्यादिरूपेण शाश्वत इत्येवं चाभिसमेत्य, केवलज्ञानेनावलोक्य लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं, खेदज्ञैस्तीर्थकृद्भिः प्रवेदितः कथित इत्येवं सर्वं ज्ञात्वा स भिक्षुर्विदितवेद्यो विरतः प्राणातिपातात्, यावत्परिग्रहादिति। एतदेव दर्शयितुमाह–(णो दंत इत्यादि) इह पूर्वोक्तमहाव्रतपालनार्थमनेनोत्तरगुणाः प्रतिपाद्यन्ते। तत्रापरिग्रहो निष्किञ्चनः स साधुर्नो दन्तप्रक्षालनेन कदम्बाऽऽदिकाष्ठेन दन्तान् प्रक्षालयेत्, तथा नो अञ्जनं सौवीराऽऽदिकं विभूषार्थमक्ष्णो–

दद्यात्, तथा नो वमनविरेचनाऽऽदिकाः क्रियाः कुर्यात्, तथा नो *शरीरस्य, स्वीयवस्त्राणां वा धूपनं कुर्यात्, नापि कासाऽऽद्यपनयनार्थं तं* धूमं योगवर्तिनिष्पादितमापिवेदिति।४६। सूत्र० २ श्रु० १अ०। आचा०। आ०म०।

धर्मोपायस्य देशका इत्येतद् व्याचिख्यासुराह–

धम्मोवाओ पवयणमहवा पुव्वाइँ देसया तस्स।
सव्वजिणाण गणहरा, चोद्दसपुव्वी उ जे जस्स॥

धर्मोपायो नाम प्रवचनं, तदन्तरेण धर्मस्यासम्भवात् अथवा–पूर्वाणि। तस्य धर्मोपायस्य देशकाः सर्वजिनानां गणधराः, तेषां मूलसूत्रकर्तृत्वात्। अथवा–ये यस्य तीर्थकृतश्चतुर्दशपूर्विणस्ते धर्मोपायदेशकाः, परिपूर्णश्रुततया तेषां यथाऽवस्थितवस्तुदेशकत्वात्।

सामाइयाऽऽइया वा, वयजीवनिकायभावणा पढमं।
एसो धम्मोधाओ, जिणेहिँ सव्वेहिँ उवइट्ठो॥

वाशब्दःप्रकारान्तरताद्योतनार्थः। अथवा–या प्रथमं व्रतजीवनिकायभावना महाव्रतविषयषड्जीवनिकाययथावस्थितपरिज्ञानसम्यक्श्रद्धानसंरक्षणाध्यवसायरूपा भावना, सामायिकाऽऽदिका रागद्वेषपरिहारेण समभावाऽऽदिका, एष धर्मोपायः, तमन्तरेण सम्यक्चारित्ररूपधर्मासम्भवात्। इत्थम्भूतश्च धर्मोपायो जिनैः सर्वैरप्युपदिष्टः, ततो धर्मोपायस्य देशकास्त एव जिना इति आ०म० १ अ०१ खण्ड।

(३८) उपकरणसंख्या–

पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइँ रयत्ताणं, च गोच्छओ पायनिज्जोगो॥१७८॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपुत्ती।
वार जिणकप्पियाणं, थेराण समत्तकडिपट्टो॥१७९॥

साध्वीनां पञ्चविंशत्युपकरणानि–

ओग्गहऽणंतगप्पट्टो, अद्धोरुय चलणिया य बोधव्वा।
अब्भिंतरबाहिनियं–सणी अ तह कुंचए चेव॥१८०॥
उक्कच्छिय वेक्कच्छिय–संघाडी खंधगरणि उवगरणा।
पुव्विल्ल तेर कमढग–सहिया अज्जाण पणवीसं॥१८१॥

(गाथार्थः द्वि०भागे 'उवगरण' शब्दे १०६१ पृष्ठे प्ररूपितः)

सप्त यात्रोपकरणानि, सप्त देहोपकरणानि, एतानि साधूनां स्थविरकल्पिकानाम्। द्वादश जिनकल्पिकानां, साध्वीनां पञ्चविंशत्युपकरणानि। सत्त० १२६ द्वार।

(३६) उपसर्गः–

उवसग्गा पासस्स य, वीरस्स य न उण सेसाणं। (१६६)

उपसर्गाः देवमनुजाऽऽदिकृताः श्रीपार्श्वनाथस्य, वीरजिनस्य च संजाताः, न पुनः शेषाणां द्वाविंशतिजिनानाम्। अयं भावार्थः श्रीऋषभवीरवर्जानां द्वाविंशतिजिनानां प्रमादो नाभूत्, श्रीपार्श्ववीरवर्जानां द्वाविंशतिजिनानामुपसर्गा नाभूवन्। सत्त० ८६ द्वार। आ०चू०। कल्प०। आव०। बृ०।

(४०) उत्सेधाङ् गुलेनात्माङ्गुलेन च देहमानं जिनानां कथ्यते–

पण धणुसय पन्नऽट्ठसु, दस पणसु पणऽट्ठसु य धणुहहाणी।
नवकर सत्तुस्सेहो, आयंगुलि वीससय सव्वे॥१३१॥
चउ धणु वारस्स दुगं, उसहायंगुलपमाणअंगुलयं।
तेणुसहो विंससयं, बारंगुलहाणि जा सुविही ६॥१३२॥
वीसंसदुअंगुलहाणि जावऽणंतो तयऽद्ध जा नेमी।
सगवीसंसा पासे, वीरे गवीसं सपन्नासा॥१३३॥

तत्रोत्सेधाङ् गुलेन ऋषभजिनः पञ्चशत् (५००) धनुर्देहमानः १। (पन्नऽट्ठसु त्ति) ततः पञ्चाशद् धनुर्हानिः क्रियते अष्टसु जितेषु। यथा–अजितः सार्द्धचत्वारि धनुः शतानि (४५०) देहमानः २। सम्भवः चतुःशत (४००) धनुर्देहमानः ३। अभिनन्दनः (३५०) सार्द्धत्रिंशच्छतधनुर्देहमानः ४। सुमतिः (३००) त्रिंशच्छतधनुर्देहमानः ५। पद्मप्रभः (२५०) सार्द्धद्विशतधनुर्देहमानः ६। सुपार्श्वः (२००) द्विशतधनुर्देहमानः ७। चन्द्रप्रभः (१५०) सार्द्धशतधनु–र्देहमानः ८। सुविधिः (१००) शतधनुर्देहमानः ६। (दस पणसु त्ति) दशधनुर्हानिः पञ्चसु जितेषु क्रियते। यथा–शीतलः (६०) नवतिधनुर्देहमानः १०। श्रेयांसः (८०) अशीतिधनुर्देहमानः ११। वासुपूज्यः (७०) सप्ततिधनुर्देहमानः १२। विमलः (६०) षष्टिधनुर्देहमानः १३। अनन्तः (५०) पञ्चाशद्धनुर्देहमानः १४। (पणऽट्ठसु य त्ति) अष्टसु जितेषु पञ्चधनुर्हानिः क्रियते। यथा–धर्मः (४५) पञ्चचत्वारिंशद्धनुर्देहमानः १५। शान्तिः (४०) चत्वारिंशद् धनुर्देहमानः १६। कुन्थुजिनः (३५) पञ्चत्रिंशद्धनुर्देह–मानः १७। अरः (३०) त्रिंशद्धनुर्देहमानः १८। मल्लिः (२५) पञ्चविंशतिधनुर्देहमानः १६। मुनिसुव्रतः (२०) विंशतिधनुर्देहमानः २०। नमिः (१५) पञ्चदशधनुर्देहमानः २१। नेमिः (१०) दशधनुर्देहमानः २२। (नवकर त्ति) नवकरदेहमानः पार्श्वजिनः २३। (सत्तुस्सेहो त्ति) सप्तोत्सेधः सप्तहस्तोन्नतो वीरः २४। सत्त० ४६ द्वार। पासे णं अरहा पुरिसादाणीयस्स वज्जरिसहसमचउरंस० नंवरयणिओ उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था। स्था०६ ठा० (आयंगुलवीस सय सव्वे त्ति) आत्माङ्गुलैः सर्वे जिनाश्चतुर्विंशतिरपि विंशत्यधिकशताङ्गुलप्रमाणदेहा ज्ञेयाः। इति गाथार्थः। सत्त० ५० द्वार। प्रमाणाङ् गुलैर्जिनानां देहमानमाह–तत्र उत्सेधाङ् -गुलघटितानि चत्वारि धनूषि, तथा एकधनुषो द्वादशांशाः क्रियन्ते, तादृशां शाधिकमृषभदेवस्याऽऽत्माङ्गुलं तथा प्रमाणाङ्गुलमपि भवति। तेनाङ्गुलेन ऋषभो विंशत्यधिकं शतं भवति। एतावता ऋषभदेहमानम् (१२०) अङ्गुलम् १। (वारंगुलहानि जा सुविहि त्ति) ततो द्वादशाङ्गुलहानिः क्रियते, यावत् सुविधिर्नवमजिनो भवति। यथा अजितस्याष्टोत्तरशतम् (१०८) अङ्गुलं देहमानम् २। सम्भवस्य (६६) षण्णवत्यङ्गुलानि ३। आभनन्दनस्य (८४) चतुरशीत्यङ्गुलम् ४। सुमतेः (७२) द्विसप्ततिः ५। पद्मप्रभस्य (६०) षष्टिः ६। अष्टचत्वारिंशत् (४८) सुपार्श्वस्य ७। चन्द्रप्रभस्य (३६) षट् त्रिंशत् ८। सुविधेः (२४) चतुर्विंशत्यङ्गुलम् ६। (वीसंसदुअं–गुलहाणि जावऽणंतो त्ति) विंशत्यंशयुक्ताऽङ्गुलद्विकहानिः क्रियते यावदनन्तः। शीतलजिनादारभ्यानन्तं यावत् प्रमाणाङ् गुलद्विकेन तथैकस्य प्रमाणाङ्गुलस्य पञ्चाशद्भागाः क्रियन्ते, तत्र तादृशैः विंशतिभागैश्च हानिः क्रियते, यथा–शीतलस्य २१ एकविंशतिरङ्गुलानि, तथा एकस्य प्रमाणाङ्गुलस्य पञ्चाशद्भागाः क्रियन्ते, तादृशविंशतिहीने तादृशाः त्रिंशद्भागा देहमानम् १०। श्रेयांसस्य १६ एकोनविंशत्यङ् गुलानि दशांशाः पञ्चाशाः ५० देहमानम् ११। वासुपूज्यस्याङ् गुलाः १६ षोडश ४० अंशाः पञ्चाशा ५०/१२। विमलस्याङ्गुलाः १४ चतुर्दश २० विंशत्यंशाः १३। अनन्तस्याङ्गुला १२ द्वादश

१४। (तयऽद्ध जा नेमि त्ति) तदर्द्धहानिर्यावन्नेमिः। धर्मस्य १० दशाङ्गुलाः ४० चत्वारिंशत्यंशाः १५। शान्तेः९ नवाङ्गुलाः ३० त्रिंशदंशाः १६। कुन्थुनाथस्याऽङ्गुला ८ अष्टौ २० विंशदंशाः ५० पञ्चाशाः १७। अरनाथस्य ७ सप्ताऽङ्गुलाः १० दशांशाः ५० पञ्चाशाः १८। मल्लिनाथस्य षडङ्गुलाः १९। मुनिसुव्रतस्य ४ चत्वार्यऽङ्गुलाः ४० चत्वारिंशदंशाः ५० पञ्चाशाः २०। नमेः ३ त्र्यङ्गुलाः ३० त्रिंशदंशाः २१। नेमेः २ द्व्यङ्गुलं विंशदेशाः ५० पञ्चाशाः २२। (सगवीसंसा पासे त्ति) पार्श्वस्य २७ सप्तविंशत्यंशाः ५० पञ्चाशाः २३। (विरेगवीसं ति) वीरस्यैकविंशत्यंशाः २४। (सपन्नास त्ति) एकाङ्गुलस्य पञ्चाशदंशाः क्रियन्ते तादृशा एकविंशत्यंशाः श्रीवीरस्य देहमानम्। एष पञ्चाशशब्दः शीतलजिनादारभ्य वीरजिनं यावद् ज्ञेयः। सत्त० ५१ द्वार।

(४१) चतुर्विंशतिजिनानामवधिज्ञानिमुनिसंख्या-

अह ओहिनाणि नवई, चउनवई छण्णवइ अट्ठणव ई।
एयाइ सयाइ तओ, इगार दस नव अडसहस्सा।२५५।
चुलसी बिसयरि सट्ठी, चउपन्नऽमयाल तह य तेयाला।
छत्तीसं तीससया, पणवी छव्वीस बावीसा॥२५६॥
अट्ठार सोल पनरस, चउरसा तेरस सया अवधिनाणी।
लक्खेक तित्तिससह–स्स चतारि सयाइँ सव्वंके॥२५७॥

ऋषभस्यावधिज्ञानिमुनयो नवतिशतानि१, एवं सर्वत्र क्रमेण जिनानामवधिज्ञानिमुनिसंख्या ज्ञेया। तथाहि–चतुर्नवतिशतानि २, षण्णवतिशतानि ३, अष्टनवतिशतानि ४। (तउ त्ति) एकादशसहस्राणि५, दशसहस्राणि ६, नवसहस्राणि ७, अष्टौ सहस्राणि ८। (चुलसी ति) चतुरशीतिशतानि ९, द्विसप्ततिशतानि १०, षष्टिशतानि ११, चतुःपञ्चाशच्छतानि १२, अष्टचत्वारिंशच्छतानि १३ तथा च त्रिचत्वारिंशच्छतानि १४, षट् त्रिंशच्छतानि १५, त्रिंशच्छतानि १६, पञ्चविंशतिशतानि १७, षड्विंशतिशतानि १८, द्वाविंशतिशतानि १९। अष्टादशशतानि २०, षोडशशतानि २१, पञ्चदशशतानि २२, चतुर्दशशतानि २३, त्रयोदशशतानि २४। एते चतुर्विंशतिजिनानामवधिज्ञानिमुनयः। सर्वेषामङ्कानां परिगणनमीलने १३३४०० एकं लक्षं त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि चत्वारि शतानि भवन्ति। सत्त० ११८ द्वार।

(४२) कल्पशोधिमाह–

पुरिमस्स दुव्विसुज्झो, चरमस्स य दुरणुपालणो कप्पो।
मज्झिमगाण जिणाणं, सुविसुज्झो सुहणुपालणओ॥२९१॥

प्रथमतीर्थकृद्यतीनां कल्प आचारो दुर्विशोध्यः दुर्बोध्यः, दुःखेन बोध्यते इति दुर्बोध्यः। चरमजिनस्य दुःखेन पाल्यते। मध्यमकानां जिनानां द्वाविंशतिजिनानां सुखेनावबोध्यः, सुखेन अनुपाल्यः। सत्त० १३७ द्वार आ०म०। कल्प०। स्था०।

पंचहिं ठाणेहिं पुरिमपच्छिमगाणं जिणाणं दुग्गमं भवइ। तं जहा–दुआइक्खं, दुव्विभजं, दुप्पस्सं, दुतितिक्खं, दुरणुचरं। पंचहिं ठाणेहिं मज्झिमगाणं जिणाणं सुग्गमं भवइ। तं जहा–सुआइक्खं, सुविभजं, सुपस्सं, सुतितिक्खं, सुरणुचरं।

सुगमश्चायं, नवरं पञ्चसु स्थानकेषु आख्याताऽऽदिक्रियाविशेषलक्षणेषु पुरिमा भरतैरावतेषु चतुर्विंशतिरादिमाः, ते च पश्चिमकाश्चरमाः पुरिमपश्चिमकाः, तेषां जिनानामर्हतां (दुग्गमं ति) दुःखेन गम्यत इति दुर्गमं, भावसाधनोऽयम्, कृच्छ्रवृत्तिरित्यर्थः। तद्भवति, विनेयानामृजुजडत्वेन, वक्रजडत्वेन च। तानि चेमानि–तद्यथेत्यादि। इह चाख्यानं, विभजनं, दर्शने, तितिक्षणमनुचरणं चेत्येवं वक्तव्येऽपि येषु स्थानेषु कृच्छ्रवृत्तिर्भवति, तानि तद्योगात् कृच्छ्रवृत्तीन्येवोद्वयन्त इति कृच्छ्रवृत्तिद्योतकदुःशब्दविशेषितानि कर्मसाधनशब्दाभिधेयान्याख्यानाऽऽदीनि। विचित्रत्वात् शब्दप्रवृत्तेराह–(दुआइक्खमित्यादि) तत्र दुराख्येयं कृच्छ्राख्येयं वस्तुतत्त्वं विनेयानां महावचनाऽऽटोपप्रबोध्यत्वेन भगवतामायासोत्पत्तेरिति। एवमाख्याने कृच्छ्रवृत्तिरुक्ता। एवं विभजनाऽऽदिष्वपि भावनीया। तथा–आख्यातेऽपि तत्र दुर्विभजं कष्टविभजनीयम्, ऋजुजडत्वाऽऽदेरेव तद्भवतीति, दुःशकं शिष्याणां वस्तुतत्त्वस्य विभागेनावस्थापनमित्यर्थः; दुर्विभावमित्यत्र पाठान्तरेदुर्विभाव्यं, दुःशका विभाहना कर्तुं तस्येत्यर्थः। तथा–(दुप्पस्सं ति) दुःखेन दर्श्यत इति दुर्दर्शमुपपत्तिभिर्दुःशकं शिष्याणां प्रतीतावारोपयितुं तत्त्वमिति भावः। (दुतितिक्खं तिग) दुःखेन तितिक्षते सह्यत इति दुस्तितिक्षं परीषहाऽऽदि दुःशकं परीषहाऽऽदिकमुत्पन्नं तितिक्षयितुं शिष्यं तत्प्रतिक्षमां कारयितुमिति भाव इति। (दुरणुचरं ति) दुःखेनानुचर्यतेऽनुष्ठीयत इति दुरनुचरमन्तर्भूतकारितार्थत्वेन दुःशकमनुष्ठापयितुमित्यर्थः। अथवा–तेषां तीर्थं दुराख्येयं दुर्विभजमाचार्याऽऽदीनां वस्तुतत्त्वं स्वशिष्यान् प्रति आत्मनाऽपि दुर्दर्शं दुस्तितिक्षं दुरनुचरमित्येवंकारितार्थं विमुच्य व्याख्येयम्, तेषामपि ऋजुजडाऽऽदित्वादिति। मध्यमानां तु सुगममकृच्छ्रवृत्ति, तद्विनेयानामृजुप्राज्ञत्वेनाल्पप्रयत्नेनैव बोधनीयत्वाद्विहितानुष्ठाने सुखप्रवर्तनीयत्वाच्चेति। शेषं पूर्ववन्नवरमकृच्छ्रार्थविशिष्टता आख्यानाऽऽदीनां वाच्या। स्था०५ ठा०१उ०।

(४३) कर्मव्यावर्णनं, वेदनं वा–

नो जइया तित्थयरो, सो तइया अप्पणम्मि तित्थम्मि।
वन्नेइ तवोकम्मं, उवहाणसुयम्मि अज्झयणे॥१॥ आचा० नि०।

यो यदा तीर्थकृदुपपद्यते स तदाऽऽत्मीये तीर्थे आचारार्थप्रणयनावसानाध्ययने स्वतपः कर्म व्यावर्णयति, इत्ययं स च तीर्थकृतां कल्पः। इह पुनरुपधानश्रुताख्यं चरममध्ययनमभूत्, अत उपधानश्रुतमित्युक्तमिति। आचा०१ श्रु०९ अ०१उ०।

उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठोगऽहियासए से पुव्वं पेयं पच्छा पेयं भिउरधम्मं विद्धंसणधम्मं अधुवं अणितिअं असासयं चयोवचइयं विपरिणामधम्मं पासह, एवंरूवं संधिं समुवेहमाणस्स एकायतणरयस्स इहविप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे विरतस्स त्ति बेमि।

तीर्थकरैरप्येतद् बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थाऽऽयातं कर्मावश्यछेद्यं, नान्यथा तन्मोक्षः, अतोऽन्येनाप्यसातवेदनीयोदये सनत्कुमारदृष्टान्तेन मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य नोद्विजितव्यम्। आचा०१ श्रु०५ अ०२उ०।

(४४) कुमारवासकालमानं जिनानाम्–

वीसऽट्ठारस पनरस, सड्ढदुवालस दसेव सड्ढसगा।
पण अड्ढाई लक्खा, पुव्वसहस्स पण्ण पणवीसां॥१३६॥
समलक्खा इगवीसं, ठार पनर सड्ढसत्त सड्ढदुगं।

तो सहसा पणवीसा, पाउणचउवीस इगवीसं ॥१३७॥
वाससयं मल्लिजिणे, पणसयरी पंचवीस तिन्नि सया।
वासाइँ तीस तीसं, कुमरत्तं ..... ॥१३८॥

लक्षशब्दः पूर्वशब्दश्चाष्टभिर्जिनं यावत्प्रत्येकमभिसंबध्यते। विंशतिर्लक्षपूर्वाणि १। अष्टादशलक्षपूर्वाणि २। पञ्चदशलक्षपूर्वाणि ३। सार्द्धद्वादशलक्षपूर्वाणि ४। दशैव लक्षपूर्वाणि ५। सार्द्धसप्तपूर्वलक्षाणि ६। पञ्चलक्षपूर्वाणि ७। सार्द्धद्विलक्षपूर्वाणि ८। पञ्चाशत् सहस्रपूर्वाणि ९। पञ्चविंशतिसहस्रपूर्वाणि १०। (सत्तलक्खा इगवीसं ति) एकविंशतिर्लक्षवर्षाणि ११। अष्टादशवर्षलक्षाणि १२। पञ्चदशलक्षवर्षाणि १३। सार्द्धसप्तवर्षलक्षाणि १४। सार्द्धद्विवर्षलक्षाणि १५। (तो त्ति) ततः पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि १६। पादोनचतुर्विंशतिवर्षसहस्राणि १७। एकविंशतिवर्षसहस्राणि १८। (वाससयं ति) मल्लिजिने वर्षशतम् १९। पञ्चसप्ततिवर्षशतानि २०। पञ्चत्रिंशतिवर्षशतानि २१। त्रीणि वर्षशतानि २२। वर्षाणि त्रिंशत् २३। पुनर्वर्षाणि त्रिंशत् २४। एवं क्रमेण सर्वेषां जिनानां कुमारत्वे ज्ञेयम्। सत्त० ५४ द्वार। आ०म०। "पञ्चतित्थयरा कुमारवासमज्झे वसित्ता मुंडे०जाव पव्वइया। तं जहा—वासुपुज्जे, मल्ली, अरिट्ठनेमी, पासे, वीरे।" स्था०५ ठा०३उ०।

केवलज्ञाननक्षत्राणि च्यवननक्षत्रवद् भावनीयानि, च्यवननक्षत्राण्यग्रे वक्ष्यन्ते। सत्त० ८८ द्वार।

(४५) केवलोत्पत्तिस्थानानि—

वीरोसहनेमीणं, जंभियबहिपुरिमतालउज्झिंते।
केवलणाणुप्पत्ती, सेसाणं जम्मठाणेसु ॥१८५॥

वीरस्य जृम्भिकाग्रामाद् बहिः केवलोत्पत्तिः १। ऋषभस्य पुरिमतालनगर २। नेमिजिनस्य उज्जयन्ते रैवतकाचले ३। शेषाणां जिनानां जन्मस्थानेषु जन्मनगरीषु केवलज्ञानोत्पत्तिर्ज्ञाता। सत्त० ९० द्वार। आ०म०।

(४६) केवलतपः—

अट्ठमभत्तम्मि कए, णाणमुसहमल्लिनेमिपासाणं।
वसुपुज्जस्स चउत्थे, सेसाणं छट्ठभत्तंतवे ॥१९०॥

ऋषभ१ मल्लि१९ नेमि२२पार्श्व२३जिनानां अष्टमभक्ते तपसि कृते सति केवलज्ञानमुत्पन्नम्। वासुपूज्यस्य १२ चतुर्थतपसि। शेषाणामेकोनविंशतिजिनानां षष्ठभक्ततपसि केवलमुत्पन्नम्। सत्त० ९४ द्वार। आ०म०।

(४७) केवलमासास्तिथयश्च—

फग्गुणिगारसि किण्हा, सुद्धा एगारसी य पोसस्स।
कत्तियबहुला पंचमि, पोसस्स चउद्दसी धवला ॥१८०॥
चित्तेगारसिपुन्निम, तह फग्गुणकिण्हछट्ठि सत्त मिया।
सुद्धा कत्तियतइया, पोसम्मि चउद्दसी बहुला ॥१८१॥
माहेऽमावसि सियविय, पोसे मासम्मि धवलछट्ठी य॥
वेसाहसामचउदसि, पोसे पुन्निमनवमि सुद्धा ॥१८२॥
सियचित्ततइय कत्तिय, वारसि एगारसी य मग्गसिरे।
फग्गुणवारसि सामा, मग्गम्मि इगारसी अमला ॥१८३॥
आसोअमावसी चित्तबहुलचउत्थी विसाहसियदसमी।
केवलमासा य इमे, भणिया पुव्वं व उडुरासी ॥१८४॥

श्रीऋषभाऽऽदीनां क्रमेण केवलज्ञानोत्पत्तिमासतिथयः। तथाहि—फाल्गुनमासस्य कृष्णैकादश्यां केवलज्ञानं ऋषभस्य जातम्।१। पौषस्य शुद्धैकादश्यामजितस्य।२। कार्तिकमासस्य कृष्णपञ्चम्यां सं०३। पौषस्य शुक्लचतुर्दश्यामभिनन्दनस्य ४। चैत्रशुक्लैकादश्यां सुम०५। चैत्रस्य पूर्णमास्यां पद्म ६। फाल्गुनकृष्णषष्ठ्यां सुपा० ७। फाल्गुनकृष्णसप्तम्यां चन्द्र०८। कार्तिकमासस्य शुक्लतृतीयायां सुवि०९। पौषे कृष्णचतुर्दश्यां शीत० १०। माघे अमावास्यायां श्रेयां० ११। माघश्वेतद्वितीयायां वासु० १२। पौषे मासे धवलषष्ठ्यां विम० १३। वैशाखस्य श्यामचतुर्दश्यामनन्त० १४। पौषे पूर्णिमायां ध० १५। पौषे शुद्धनवम्यां शान्ति० १६। चैत्रस्य श्वेततृतीयायां कुन्थु० १७। कार्तिकस्य श्वेतद्वादश्यामर० १८। मार्गशीर्षे श्वेतैकादश्यां मल्लि० १९। फाल्गुनस्य श्यामद्वादश्यां मुनिसुव्र०२०। मार्गशीर्षविमलैकादश्यां नमि० २१। आश्विनमासश्यामावास्यायां नेमि० २२। चैत्रमासस्य श्यामचतुर्थ्यां पार्श्व० २३। वैशाखश्वेतदशम्यां वीर० २४। एते चतुर्विंशतिजिनानां केवलमासाऽऽदयो भणिताः। सत्त० ८७ द्वार। आ०म०। केवलनक्षत्रराशयः च्यवनकल्याणकवत्। सत्त० ८९ द्वार।

(४८) केवलवृक्षाः—

णग्गोह सत्तवण्णो, साल पियालो पियंगु छत्ताहो।
सिरिसो नागो मल्ली, पिलंखु-तिंदुयग-पाडलया ॥१८७॥
जंबू असत्थ दहिवन्न नंदि तिलगा य अंबग असोगो।
चंपग बउसो वेतस, धायइ सालो य णाणतरू ॥१८८॥

न्यग्रोधवृक्षस्याध ऋषभजिनस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम्।१। एवं प्रतिजिनं प्रतिवृक्षं क्रमेण योजना वाच्या। सप्तपर्णः २। (साल पिआलो पिअंगु छत्ताहो) शालः ३। प्रियालः ४। प्रियङ्गुः ५। छत्राभवृक्षः ६। (सिरिसो नागो मल्ली) सिरीषः ७। नागनामा ८। मल्लीवृक्षः९। (पिलंखुतिंदुअग—पाडलया) पिलङ् खुवृक्षः १०। तिन्दुकः ११। पाटलिका १२। इति गाथार्थः ॥१८७॥ (जंबू असत्थ दहिवन्न) जम्बूः १३। अश्वत्थः १४। दधिपर्णः १५। (नंदी तिलगा य अंबग असोगी) नन्दिवृक्षः १६। तिलकः १७। आम्रकः १८। अशोकः १९। (चंपग वउसो वेतस) चम्पकः २०। वकुशः २१। वेतसः २२। (धायइ सालो अ णाणतरू) धातकीवृक्षः२३। शालश्च २४। एते चतुर्विंशतिर्ज्ञानतरवः। इति गाथाऽर्थः ॥१८८॥ सत्त० ९२ द्वार। सूत्र०। स०।

केवलज्ञानवृक्षप्रमाणम्—

ते जिणतणुवारगुणा, चेइयतरुणो वि नवरि वीरस्स।
चेइयतरुवरि सालो, एगारसधणुहपरिमाणो ॥१८९॥

(ते जिणतणुवारगुणा) ते वृक्षाः भगवतः शरीरात् द्वादश गुणा भवन्ति। (चेइअतरुणो वि त्ति) चैत्यवृक्षा अपि एतावत्प्रमाणा भवन्ति। (नवरि वीरस्स। चेइअतरुवरि सालो त्ति) एतावान् विशेषःयद्वीरस्य चैत्यवृक्षोपरि शालवृक्षो भवति, स कथम्भूतः? (एगारसधणुहपरिमाणो त्ति) एकादशधनुःपरिमाणः। चैत्यतरूणां प्रमाणमत्र प्रसङ्गादुक्तमिति गाथाऽर्थः।१८९। सत्त० ९३ द्वार।

चैत्यतरूणां विशेषतः प्रमाणम्–

वत्तीसाइं धणुइं (मतान्तरेणैतत् संभाव्यते ।), **चेइयरुक्खो य वड्ढमाणस्स ।**
णिच्चोउगो असोगो, ओच्छण्णो सालरुक्खेणं ॥३६॥
तिण्णेव गाउआइं, चेइयरुक्खो जिणस्स उसभस्स ।
सेसाणं पुण रुक्खा, सरीरओ बारसगुणा उ ॥३७॥
सच्छत्ता सपडागा, सवेइया तोरणेहिँ उववेया ।
सुरअसुरगरुलमहिया, चेइयरुक्खा जिणवराणं ॥३८॥

(निच्चोउगो त्ति) नित्यं सर्वदा ऋतुरेव पुष्पाऽऽदिकालो यस्य स नित्यर्तुकः (असोगो त्ति) अशोकाभिधानो यः समवसरणभूमिमन्ये भवति । (ओच्छण्णो सालरुक्खेणं ति) अवच्छन्नः शालवृक्षेणेति। अत एव वचनादशोकस्योपरि शालवृक्षोऽपि कथञ्चिदस्तीत्यवसीयत इति ॥३६॥ (तिण्णेव गाउयाइं गाहा) ऋषभस्वामिनो, द्वादशगुणा इत्यर्थः ॥३७॥ (सवेइय त्ति) वेदिकायुक्ताः । एते चाशोकाः समवसरणसम्बन्धिनः सम्भाव्यन्त इति ॥३८॥ स०।

(४९) अथ ज्ञानवनान्याह–

उसहस्स य सगडमुहे, उज्जुवालुयनइतडम्मि वीरस्स ।
सेसजिणाणं णाणं, उप्पण्णं पुण वयवणेसु ॥१८६॥

(उसहस्स य सगडमुहे त्ति) ऋषभस्य केवलज्ञानं शकटमुखोद्याने उत्पन्नम् १ । (उज्जुवालुअनइतडम्मि वीरस्स त्ति) ऋजुवालुकानदीतटे श्रीवीरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् २ । (सेसजिणाणं नाणं, उप्पण्णं पुण वयवणेसु त्ति) पुनःशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् शेषजिनानां पुनर्व्रतवनेषु केवलज्ञानमुत्पन्नमिति ॥१८६॥ सत्त०९१ द्वार ।

(५०) केवलवेला–

नाणं उसहाईण्णं, पुव्वण्हे पच्छिमण्हि वीरस्स ॥ (१९१)

(पुव्वण्हे) ऋषभाऽऽदीनां त्रयोविंशतिजिनानां केवलज्ञानं पूर्वाह्णे प्रथमप्रहरे समुत्पन्नम् । (पच्छिमण्हि वीरस्स) पश्चिमप्रहरे वीरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । सत्त० ९५ द्वार ।

(५१) अथ जिनानां गृहस्थकाल–केवलिकालमानमाह–

जहजुग्गं कुमरनिवइ–चक्कीकालेहिँ होइ गिहिकालो ।
वयकालाओ केवलि–कालो छउमत्थकालूणो ॥२९८॥

यथायोग्यं कुमारकालनृपतिकालचक्रिकालैरेकीकृतैः गृहस्थकालो भवति। व्रतकालात् छद्मस्थकाल ऊनः क्रियते, यावानवशिष्यते तावान् केवलिकालो भवति । इति गाथाऽर्थः ॥२९८॥ सत्त० १४३ । १४४ द्वार ।

सम्प्रति केवलिपर्यायो वक्तव्यः, स च श्रामण्यपर्यायात् छद्मस्थ-पर्यायापगमे स्वयमेव ज्ञेय इति पूर्वोक्तमेव श्रामण्यपर्यायं स्मारयति–

उसभस्स पुव्वलक्खं, पुव्वंगूणमजियस्स तं चेव ।
चउरंगूणं लक्खं,पुणो पुणो जाव सुविहि त्ति ॥

ऋषभस्य भगवतः श्रामण्यपर्यायमेकं पूर्वलक्षम् । अजितस्वामिनस्तदेव एकं पूर्वलक्षमेकेन पूर्वाङ्गेन न्यूनम् । पूर्वाङ्गं नाम चतुरशीतिवर्षलक्षाणि । अत ऊर्द्धं चतुरङ्गोनं पूर्वलक्षं पुनः पुनस्तावद्वक्तव्यं यावत्सुविधिः । तद्यथा–संभवनाथस्य व्रतपर्याय एकं पूर्वलक्षं चतुर्भिरङ्गैरूनम् । अभिनन्दनस्य एकं पूर्वलक्षमष्टभिः पूर्वाङ्गैरूनम् । सुमतिनाथस्य एकं पूर्वलक्षं द्वादशभिः पूर्वाङ्गैरूनम् । पद्मप्रभस्य एकं पूर्वलक्षं षोडशभिः पूर्वाङ्गैर्हीनम् । सुपार्श्वस्यैकं पूर्वलक्षं विंशत्या पूर्वाङ्गैर्हीनम् । चन्द्रप्रभस्यैकं पूर्वलक्षं चतुर्विंशत्या पूर्वाङ्गैर्हीनम् सुविधिनाथस्यैकं पूर्वलक्षमष्टाविंशत्या पूर्वाङ्गैर्हीनम् ।

सेसाणं परियाओ, कुमारवासेण सहियओ भणितो ।
पत्तेयं पि य पुव्वं, सीसाणमणुग्गहट्ठाए ॥

शेषाणां शीतलस्वामिप्रभृतीनां पर्यायः पूर्वं कुमारवासेन सह भणितः, प्रत्येकमपि च, किमर्थमुभयथाऽपि भणित इति चेदत आह–शिष्याणामनुग्रहाय मन्दमतीनामपि शिष्याणां बुद्धौ सम्यक् प्रतिस्फुरतु । आ०म०१ अ०१ खण्ड । सत्त०।

केवलिमानमाह–

वीससहस्सा उसहे, वीसं बावीस अहव अजियस्स ।
पनरस चउदस तेरस, वारस इक्कारस दसेव ॥३५३॥
अद्धऽट्ठम सत्तेव य, छ स्सड्ढा छच्च पंच सड्ढा य ।
पंचेव अद्धपंचम, चउ सहसा तिन्नि य सया य ॥३५४॥
बत्तीस सया अहवा, बावीससयाइँ हुंति कुंथुस्स ।
अट्ठावीसं बावीस तह य अट्ठारस सयाइं ॥३५५॥
सोलस पन्नर दस सय, सत्तेव सया हवंति वीरस्स ।
एवं केवलिनाणं, ... ॥३५६॥

केवलिनां विंशतिसहस्रा ऋषभे वृषभजिनस्य । विंशतिः सहस्रा अजितजिनस्य। अथवा मतान्तरेण द्वाविंशतिः सहस्रा अजितनाथस्य। श्रीसम्भवस्य पञ्चदश सहस्राः । श्रीअभिनन्दनस्य चतुर्दश सहस्राः । श्रीसुमतेस्त्रयोदश सहस्राः । श्रीपद्मप्रभस्य द्वादश सहस्राः। श्रीसुपार्श्वस्य एकादश सहस्राः । श्रीचन्द्रप्रभस्य दशैव सहस्राः । श्रीसुविधिजिनस्य अर्द्धाष्टमाः सहस्राः, सप्त सहस्राः पञ्चशताधिका इत्यर्थः । श्रीशीतलजिनस्य सप्त सहस्राः । श्रीश्रेयांसस्य षट् सहस्राः सार्द्धाः सपञ्चशता इत्यर्थः । श्रीवासुपूज्यस्य षट् सहस्राः । श्रीविमलजिनस्य पञ्च सहस्राः, सार्द्धाः सपञ्चशता इत्यर्थः । श्रीअनन्तजिनस्य पञ्चैव सहस्राः । श्रीधर्मजिनस्य अर्द्धपञ्चमाः सहस्राः, चत्वारः सहस्राः सपञ्चशता इत्यर्थः । श्रीशान्तिनाथस्य चत्वारः सहस्राः शतत्रयाधिकाः । श्रीकुन्थुजिनस्य द्वात्रिंशच्छतानि, सहस्रत्रयं शतद्वयाधिकमित्यर्थः । अथवा मतान्तरेण द्वाविंशतिशतानि, सहस्रद्वयं शतद्वयाधिकमित्यर्थः । श्रीअरजिनस्य अष्टाविंशतिशतानि, सहस्रद्वयं शताष्टकाधिकमित्यर्थः । श्रीमल्लिजिनस्य द्वाविंशतिशतानि, सहस्रद्वयं शतद्वयाधिकमित्यर्थः । श्रीमुनिसुव्रतस्य अष्टादश शतानि, सहस्रमेकमष्टशताधिकमित्यर्थः । श्रीनमिजिनस्य षोडश शतानि, सहस्रमेकं षड्भिः शतैरधिकमित्यर्थः । श्रीनेमिजिनस्य पञ्चदश शतानि, सहस्रमेकं पञ्चशताधिकमित्यर्थः। श्रीपार्श्वजिनस्य दश शतानि, सहस्रमित्यर्थः । श्रीवीरजिनस्य च सप्तशतानि । एतत्पूर्वोक्तं यथाक्रमं सर्वतीर्थकृतां केवलिमानम् । प्रव० २१ द्वार ।

सर्वेषामेव तीर्थकृतां सिद्धगतिः सर्वाङ्गे एकं लक्षं षट्सप्ततिसहस्राणि शतमेकम् ।१७६१००। आव०१अ०।

(५२) अधुना गणद्वारमाह–

चुलसीह पण्णणवई, विउत्तरं सोलसुत्तर सयं च।
सत्तऽहियं पणनउई, तेणउई अट्ठसीई य॥
एक्क सीई छावत्तरी य छावट्ठि सत्तवन्ना य।
पन्ना तेयालीसा, छत्तीसा चेव पणतीसा॥
तेत्तीसऽट्ठावीसा, अट्ठारस चेव तह य सत्तरसा।
एक्कारस दस नवगं, गणाण माणं जिणिंदाणं॥

भगवत आदितीर्थकरस्य चतुरशीतिर्गणाः। गणो नामेह एकवाचनाऽऽचारक्रियास्थानां समुदायो, न कुलसमुदाय इति पूर्वसूरयः। अजितस्वामिनः पञ्चनवतिर्गणाः। सम्भवनाथस्य द्व्युत्तरं शतम्। अभिनन्दनस्य षोडशोत्तरं शतम्। सुमतिनाथस्य परिपूर्णं शतम्। पद्मप्रभस्य सप्ताधिकं शतम्। सुपार्श्वस्य पञ्चनवतिः। चन्द्रप्रभस्य त्रिनवतिः। सुविधिस्वामिनोऽष्टाशीतिः शीतलस्य एकाशीतिः। श्रेयांसस्य षट्सप्ततिः। वासुपूज्यस्य षट्षष्टिः। विमलस्य सप्तपञ्चाशत्। अनन्तजिनस्य पञ्चाशत्। धर्मस्य त्रिचत्वारिंशत्। शान्तिनाथस्य षट्त्रिंशत्। कुन्थुनाथस्य पञ्चत्रिंशत्। अरजिनस्य त्रयस्त्रिंशत्। मल्लिस्वामिनोऽष्टविंशतिः। मुनिसुव्रतस्वामिनोऽष्टादश। नमिनाथस्य सप्तदश। अरिष्टनेमेरेकादश। पार्श्वनाथस्य दश। वर्द्धमानस्वामिनो नव। आ०म०१ अ० १ खण्ड। ''समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा होत्था। तं जहागोदासगणे, उत्तरबलियस्स य गणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उड्डवाइयगणे, विस्सवाइगणे, कामिड्ढियगणे, माणवगणे, कोडियगणे।'' (स्था०९ठा०) एतज्जिनेन्द्राणामृषभाऽऽदीनां जिनानां यथाक्रमं गणानां मानं परिमाणम्। आ०म०१ अ०१ खण्ड। सत्त०।

(५३) संप्रति गणधरप्रतिपादनार्थमाह–

एक्कारस उ गणहरा, वीरजिणिंदस्स सेसयाणं तु।
जावइया जस्स गणा, तावइया गणधरा तस्स॥

गणधरा नाम मूलसूत्रकर्त्तारः, ते च वीरजिनस्य एकादश, गणास्तु नव, द्वयोर्युगलयोरेकैकवाचनाऽऽचारक्रियास्यत्वात्। शेषाणां तु जिनवरेन्द्राणां यस्य यावन्तो गणास्तस्य तावन्तो गणधराः, प्रतिगणधरं भिन्नभिन्नवाचनाऽऽचार क्रियास्थत्वात्। आ०म०१अ०१ खण्ड। प्रव०। ''पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अट्ठ गणा अट्ठ गणहरा होत्था। तं जहा–सुभे, अज्जघोसे, वसिट्ठे, बंभयारी, सोमे, सिरिधरे, वीरिए, भद्दजसे।'' यत्त्वावश्यके तूभयेऽपि दश श्रूयन्ते, ''जावइया जस्स गणा, तावइया गणहरा तस्स'' इति वचनात्, तदिहाल्पत्वाऽऽदिकारणमपेक्ष्य द्वयोरविवक्षणमिति संभाव्यते। स्था०८ ठा०।

(५४) अथ सर्वेषां जिनानां गर्भस्थितिमाह–

दु चउत्थ नवम बारस, तेरस पन्नरस सेस गब्भठिई।
मासा अड नव तदुवरि, उसहाइकमेणिमे दिवसा॥७५॥
चउ पणवीसं छद्दिण, अडवीसं छच्च छच्चिगुणवीसं।
सन छव्वीसं छ च्छ य, वीसिगवीसं छ छव्वीसं॥७६॥
छ पण अड सत्त अट्ठ य, अट्ठऽट्ठ छ सत्त हुंति गब्भदिणा (७७)

(दु चउत्थ नवम बारस तेरस पन्नरस सेस गब्भठिइ त्ति) द्वितीय२ चतुर्थ४ नवम् ९ द्वादश १२त्रयोदश १३ पञ्चदश १५ शेषजितेषु गर्भस्थितिः (मासा अड नव त्ति) द्वितीयाऽऽदिषु जिनेषु मासा अष्टौ। शेषजिनेषु नव मासाः। (तदुवरि त्ति) तेषां मासानामुपरि (उसहा–इकमेणिमे दिवसा) ऋषभाऽऽदिषु क्रमेण इमे वक्ष्यमाणा दिवसा ज्ञेयाः। इति गाथार्थः॥७५॥ (चउ पणबीसं छद्दिण) दिनानीति सर्वत्र गम्यम्। चत्वारि १ पञ्चविंशतिः २ षट् ३ (अडवीसं छच्च छच्चिगुणवीसं) अष्टविंशतिः ४ षट् च ५ षट् ६ एकोनविंशतिः ७ (सग छव्वीस छ च्छ य) सप्त ८ षड्विंशतिः ९ षट् १० षट् च ११ (वीसिगवीसं छ छव्वीसंग) विंशतिः १२ एकविंशतिः १३ षट् १४ षट् विंशतिः १५। इति गाथार्थः॥७६॥ (छ पण अडसत्त अट्ठ य) षट् १६ पञ्च १७ अष्टौ १८ सप्त १९ अष्ट च २० (अट्ठऽट्ठ छ सत्त हुंति गब्भदिणा) अष्टौ २१ अष्ट २२ षट् २३ सप्त २४ भवन्ति गर्भदिनानि जिनानां गर्भस्थितयः। सत्त० २० द्वार।

(५५) गृहवासे ज्ञानानि–

मइसुयओहितिनाणा, जाव गिहे पच्छिमभवाओ। (२२३)

मतिश्रुतावधिज्ञानलक्षणानि त्रीणि ज्ञानानि सर्वेषां जिनानां भवन्ति, पश्चिमभवादारभ्य यावन्तं कालं गृहे गृहवासे तिष्ठन्ति। सत्त० ४५ द्वार।

(५६) तीर्थकरगोत्राणि वंशाश्च–

गोयमगुत्ता हरिवं–ससंभवा नेमिसुव्वया दो वि।
कासवगुत्ता इक्खा–गुवंसजा सेस चावीसा॥१०६॥

श्रीनेमिमुनिसुव्रतौ द्वौ गौतमगोत्रौ हरिवंशसंभवौ च। शेषाः तीर्थपाः द्वाविंशतिः काश्यपगोत्रा इक्ष्वाकुवंशजाश्च। सत्त० ३७ द्वार। कल्प०। आव०।

(५७) चतुर्दशपूर्विणः–

चउदसपुव्वि–सहस्सा, चउरो अद्धऽट्ठमाणि य सयाणि।
वीसऽहिय सत्ततीसा, इगवीससया य पन्नासा॥३६२॥
पनरस चउवीससया, तेवीससयां य वीसस्य तीसा।
दो सहस पनरस सया, सयचउदस तेरससयाइं॥३६३॥
सय बारस इक्कारस, दस नव अट्ठेव छच्च सय सयरा।
दसऽहिय छच्चेव सया, छच्च सया अट्ठसट्ठऽहिया॥३६४॥
सयपंच अद्धपंचम, चउरो अद्धऽहिय तिन्नि य सयाइं॥
उसभाइजिणिंदाणं, चउदसपुव्वीण परिमाणं॥३६५॥

तत्राऽऽदिजिनस्य चतुर्दशपूर्विणां चत्वारः सहस्राः, अर्द्धाष्टमानि च शतानि, पञ्चाशदधिकानि सप्तशतानीत्यर्थः। श्रीअजितजिनस्य विंशत्यधिकसप्तत्रिंशच्छतानि। श्रीसंभवजिनस्य एकविंशतिशतानि पञ्चाशदधिकानि। श्रीअभिनन्दनस्य पञ्चदशशतानि। श्रीसुमतेश्चतुर्विंशतिशतानि। श्रीपद्मप्रभस्य त्रयोविंशतिशतानि। श्रीसुपार्श्वस्य विंशतिशतानि त्रिंशदधिकानि। श्रीचन्द्रप्रभस्य द्वौ सहस्रौ। श्रीसुविधेः पञ्चदशशतानि। श्रीशीतलस्य शतानि चतुर्दश। श्रीश्रेयांसस्य त्रयोदशशतानि। श्रीवासुपूज्यस्य द्वादशशतानि। श्रीविमलजिनस्य एकादशशतानि। श्रीअनन्तजिनस्य दशशतानि। श्रीधर्मस्य नवशतानि। श्रीशान्तेरष्टैव शतानि। श्रीकु–

न्थोः षट् शतानि सप्तत्यधिकानि। श्रीअरजिनस्य दशाधिकानि षडेव शतानि श्रीमल्लिजिनस्य षट् शतानि अष्टषष्ट्यधिकानि। श्रीमुनिसुव्रतस्य शतानि पञ्च। श्रीनमेश्चत्वारि शतानि पञ्चाशदधिकानि। श्रीनेमेश्चत्वारि शतानि। श्रीपार्श्वजिनस्य त्रीणि शतानि पञ्चाशदधिकानि। श्रीवीरजिनस्य च त्रीणि शतानि। इदं पूर्वोक्तमृषभाऽऽदिजिनेन्द्राणां क्रमेण चतुर्दशपूर्विपरिमाणम्। प्रव० २३ द्वार। ''समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तिन्निसया चोद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खरसन्निवाईणं जिणो इव अवितहं वागरमाणाणं उक्कोसिया चउद्दसपुव्विसंपया होत्था।'' स्था०३ ठा०४उ०।

(५८) श्रावकसंख्या चतुर्विंशतितीर्थकराणाम्–

पढमस्स तिन्नि लक्खा, पंच सहस्सा दुलक्ख जा संती।
लक्खोवरि अडनउई, तेणउई अट्ठसीई य ॥३६६॥
एगासी छावत्तरि, सत्तावन्ना य तह य पन्नासा।
एगुणतीस नवासी, इगुणासी पन्नरसऽठेव ॥३६७॥
छ च्चिय सहस्स चउरो, सहस्स नउई सहस्स संतिस्स।
तत्तो एगो लक्खो, उवरिं गुणसीय चुलसी य ॥३६८॥
तेयासी वावत्तरि, सत्तरि इगुणत्तरी य चउसट्ठी।
एगुणसट्ठिसहस्सा, य सावगाणं जिणवराणं ॥३६९॥

तत्र प्रथमजिनस्य श्रावकाणां तिस्रो लक्षाः पञ्चसहस्राऽधिकाः। श्रीअजिताऽऽदिजिनानां, यावत् शान्तिजिनस्तावल्लक्षद्वयं श्राद्धानां, द्विलक्षोपरि च यदधिकं भवति तन्निवेद्यते। तत्र तृतीयगाथावर्त्ति 'सहस्स त्ति' पदस्य सर्वत्राभिसंबन्धात् अष्टनवतिः– सहस्राः, कोऽर्थः?–अजितजिनस्य लक्षद्वयमष्टनवतिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीसंभवस्य लक्षद्वयं त्रिनवतिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीअभिनन्दनस्य लक्षद्वयमष्टाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीसुमतेः लक्षद्वयमेकाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीपद्मप्रभस्य लक्षद्वयं षट् सप्ततिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीसुपार्श्वस्य लक्षद्वयं सप्तपञ्चाशत् सहस्राधिकमित्यर्थः। चन्द्रप्रभस्य लक्षद्वयं पञ्चाशत्– सहस्राधिकमित्यर्थः। सुविधेर्लक्षद्वयमेकोनत्रिंशत्सहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीशीतलस्य लक्षद्वयं नवाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीश्रेयांसस्य लक्षद्वयमेकोनाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीवासुपूज्यस्य लक्षद्वयं पञ्चदशसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीविमलजिनस्य लक्षद्वयमष्टसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीअनन्तजिनस्य लक्षद्वयं षट्सहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीधर्मस्य लक्षद्वयं चतुर्भिः सहस्रैरधिकमित्यर्थः। श्रीशान्तेः लक्षद्वयं नवतिसहस्राधिकमित्यर्थः। ततः श्रीशान्तिनाथादनन्तरं कुन्थुप्रभृतितीर्थकृतां महावीरपर्यन्तानामेकं लक्षं श्राद्धानां, लक्षोपरि, च यत्संख्यास्थानं तदुच्यते, यथा–एकोनाशीतिः श्रीकुन्थोः, लक्षमेकोनाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीअरजिनस्य लक्षमेकं चतुरशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीमल्लेर्लक्षमेकं त्र्यशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीमुनिसुव्रतस्य लक्षमेकं द्विसप्ततिसहस्राधिकमित्यर्थः। नमेर्लक्षमेकं सप्ततिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीनेमेर्लक्षमेकोनसप्ततिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीपार्श्वस्य लक्षमेकं चतुःषष्टिसहस्राधिकमित्यर्थः। श्रीवीरजिनस्य च लक्षमेकोनषष्टिसहस्राधिकमित्यर्थः। इति जिनवरेन्द्रचतुर्विंशतेः संबन्धिनां श्रावकाणां मानं क्रमेण ज्ञातव्यम्। प्रव० २४ द्वार।

(५९) अथ चक्रित्वकालः–

तओ तित्थगरा चक्कवट्टी होत्था। तं जहा–संती, कुंथू, अरो।

अत्रोक्तम्–''संती कुंथू अ अरो, अरिहंता चेव चक्कवट्टी य। अवसेसा तित्थयरा, मंडलिआ आसि रायाणो'' ॥१॥ इति शान्तिकुन्थ्वरजिनानां चक्रित्वं, शेषजिनानां नास्ति चक्रित्वम्। स्था०३ ठा०४उ०। सत्त०।

(६०) अथ चारित्रम्–

सामाइयचारित्तं, छेओवट्ठावणं च परिहारं।
तह सुहुमसंपरायं, अहखाइं पंच चरणाइं ॥२८२॥
दुण्हं पण इअराणं, तिन्नि उ सामाइयसुहुमऽहक्खाया। (२८३)

तत्र प्रथमं सामायिकचारित्रम् १। द्वितीयं छेदोपस्थापनीयम् २। तृतीयं परिहारविशुद्धिकम् ३। चतुर्थं सूक्ष्मसंपरायम् ४। पञ्चमं यथाख्यातम् ५। एतानि पञ्च चारित्राणि भवन्तीति गाथार्थः। २८२। ऋषभवीरयोस्तीर्थे पञ्च चारित्राणि पूर्वोक्तानि भवन्ति। इतरेषां मध्यमद्वाविंशतिजिनानां त्रीणि चारित्राणि भवन्ति। तन्नामानि–सामायिक १ सूक्ष्मसंपराय २ यथाख्यातानि ३। सत्त० १३० द्वार।

(६१) च्यवननक्षत्रमृषभाऽऽदीनाम्–

उत्तरसाढा रोहिणि, मियसीस पुणव्वसू महा चित्ता।
वइसाहऽणुराहा मूल पुव्व सवणो सयभिसा य ॥६५॥
उत्तरभद्दव रेवइ, पुस्स भरणि कत्तिया य रेवइ य।
अस्सिणि सवणो अस्सिणि, चित्त विसाहुत्तरा रिक्खा ॥६६॥

ऋषभजिने उत्तराषाढा नक्षत्रम् १। एवं सर्वत्र जिननामानि क्रमेण योज्यानि। रोहिणी २ मृगशीर्षम् ३ पुनर्वसु ४ मघा ५ चित्रा६ विशाखा ७, अनुराधा ८ मूलम् ९ पूर्वाषाढा १० श्रवणः ११ शतभिषक् १२ उत्तराभाद्रपत् १३ रेवत १४ पुष्यः १५ भरणी १६ कृत्तिका १७ रेवती १८ अश्विनी १९ श्रवणः २० अश्विनी २१ चित्रा २२ विशाखा २३ उत्तराषाढा २४ एतानि नक्षत्राणि। सत्त० १५ द्वार।

(६२) अथ च्यवनकल्याणकतिथयो मासाश्च–

बहुलाऽसाढचउत्थी, सुद्धा वइसाहतेरसी कमसो।
फग्गुणअट्ठमि वइसा–हचउत्थि सावणियबीया य ॥५९॥
माहस्स कसिणछट्ठी, भद्दट्ठमि चित्तमासपंचमिया।
फग्गुणनवमी वइसाहछट्ठि तह जिट्ठछट्ठी य ॥६०॥
जिट्ठम्मि सुद्धनवमी, तत्तो वइसाहबारसी सुद्धा।
सावणकसिणा सत्तमि, विसाहसिय भद्दकिण्हा य ॥६१॥
सावणकसिणा नवमी, फग्गुणसियबीय फग्गुणचउत्थी।
सावणअस्सिणि पुन्निम, कत्तियबहुला दुबालसिया ॥६२॥
असिया चित्तचउत्थी, असाढसियछट्ठि चवणमासाइं।
इत्थऽन्नत्थ वि पयडं, अभणियमहिगारओ नेयं ॥६३॥

भूयभविस्सजिणाणं, पुव्वणुपुव्वीऍ वट्टमाणाणं।
पच्छाणुपुव्वियाए, कल्लाणतिथी य अनुनं ॥६४॥

ऋषभस्य च्यवनकल्याणके आषाढकृष्णचतुर्थी ।१। अजितजिनस्य वैशाखशुद्धत्रयोदशी २। फाल्गुनशुद्धाष्टमी संभवस्य ३। वैशाखचतुर्थी अभिनन्दनस्य ४। श्रावणशुक्लद्वितीया सुम०५। माघस्य कृष्णषष्ठी पद्म० ६। भाद्रपदकृष्णाष्टमी सुपा०७। चैत्रकृष्णपञ्चमी चन्द्र०८। फाल्गुनकृष्णा नवमी सुवि० ९। वैशाखकृष्णषष्ठी शीत० १०। ज्येष्ठकृष्णषष्ठी श्रेयां० ११। ज्येष्ठशुद्धनवमी वासु० १२। वैशाखशुद्धद्वादशी विमल० १३। श्रावणकृष्णसप्तमी अनन्त० १४। वैशाखश्वेतसप्तमी धर्म० १५। भाद्रपदकृष्णसप्तमी शान्ति० १६। श्रावणकृष्णनवमी कुन्थु० १७। फाल्गुनसितद्वितीयाऽरजि० १८। फाल्गुनसितचतुर्थी मल्लि० १९। श्रावणपूर्णिमा मुनिसु० २०। अश्विनपूर्णिमा नमि० २१। कार्तिककृष्णद्वादशी नेमि० २२। चैत्रकृष्णचतुर्थी पार्श्व० २३। आषाढश्वेतषष्ठी वीरजिनस्य २४। अत्रान्यत्रापि प्रकटं साक्षादित्यर्थः। यदभणितं तदधिकारतो ज्ञेयमिति। भूततीर्थपाः केवलज्ञानिप्रभृतयः, भविष्यजिनाः पद्मनाभाऽऽदयः, तेषामन्योन्यं कल्याणकतिथयः पूर्वानुपूर्व्या भवेयुः। यथा हि याः कल्याणकतिथयः भूतकाले प्रथमजिनस्य केवलज्ञानिनः, ता एव भविष्यजिनकाले पद्मनाभस्येति। प्रकारान्तरमाहवर्तमानजिनाऋषभाऽऽदयस्तेषां भूतजिनापेक्षया भविष्यजिनापेक्षया च तिथयः पश्चानुपूर्व्या भवेयुः। सत्त० १४ द्वार। आव०।

(६३) ऋषभाऽऽदीनां क्रमतो च्युतिराशयः–

धणु वसह मिहुण मिहुणो, सीहो कन्ना तुला अली चेव।
धणु धणु मयरो कुंभो, दुसु मीणो कक्कडो मेसो ॥६७॥
विस मीण मेस मयरो, मेसो कन्ना तुला य कन्ना य।
इय चवणरिक्खरासी, जम्मे दिक्खाऍ नाणे वि ॥६८॥

धनुः १। वृषः २। मिथुनम् ३। मिथुनम् ४। सिंहः ५। कन्या ६। तुला ७। वृश्चिकः ८। धनुः ९। धनुः १०। मकरः ११। कुम्भः १२। मीनः १३। मीनः १४। कर्कटः १५। मेषः १६। वृषः १७ मीनः १८। मेषः १९। मकरः २०। मेषः २१। कन्या २२। तुला २३। कन्या २४ ऋषभाऽऽदीनां क्रमतश्च्युतिराशयः। जन्मकल्याणके, दीक्षाकल्याणके, केवलज्ञानकल्याणकेऽप्येत एव नक्षत्रराशयो भवन्ति। सत्त० १६ द्वार।

(६४) च्यवनवेला–

चुइवेला निसिअद्धं, जिणाण एमेव एगसमयम्मि।
चुइमासाइवियारो, भरहेरवएसु स चेव ॥६९॥

(चुइवेला निसिअद्धं जिणाण त्ति) च्यवनवेला अर्द्धरात्रो जिनानाम्। (एमेव एगसमयम्मि त्ति) एवमेव उक्तरीत्या एकस्मिन् समये (चुइमासाइविआरो त्ति) च्यवनमासाऽऽदिविचारः (भरहेरवएसु स चेव त्ति) भरतैरवतेषु स एव, यत् च्यवनमासाऽऽदि ऋषभाऽऽदीनामुक्तं तदेव सर्वभरतैरवतेषु जिनानां समयोऽपि स एव भवति यथा भरतक्षेत्रे, तथैव तस्मिन् समये तस्मिन्नक्षत्रे तस्यां वेलायाम् ऐरवतक्षेत्रेऽपि सैव वेला भवति। इति गाथाऽर्थः ॥६९॥ इति सर्वेषां जिनानां च्यवनवेला। सत्त० १७ द्वार।

(६५) छद्मस्थकालमानं सर्वजिनानां कथ्यते–

वाससहस्सं बारस, चउदस अट्ठार वीसवरिसा य।
मासा छन्नव तिन्नि य, चउ तिग दुगमिक्कग दुगं च ॥७३॥
तिय दुगइक्कग सोलस, वासा तिन्नि य तहेवऽहोरत्तं।
मासिक्कारस नवगं चउपण्णदिणाइँ चुलसीइं ॥७४॥
पक्खऽहिय सङ्ग वारस, वासा छउमत्थकालपरिमाणं। (७५)

ऋषभस्य छद्मस्थकालमानं वर्षसहस्रम् १। एवं क्रमेण द्वादश वर्षाणि २। चतुर्दशवर्षाणि ३। अष्टादशवर्षाणि ४। विंशतिवर्षाण ५। षड् मासाः६। (''चंदप्पभे णं अरहा छम्मासा छउमत्थे होत्था।'' स्था०) नवमासाः ७। त्रयो मासाः ८। चत्वारो मासाः ९। त्रयो मासाः १०। द्वौ मासौ ११। एको मासः १२। द्वौ मासौ १३। त्रीणि वर्षाणि १४। द्वे वर्षे १५। एकं वर्षम् १६। षोडश वर्षाणि १७। त्रीणि च वर्षाणि १८। एकमहोरात्रम् १९। एकादश मासाः २०। नव मासाः २१। चतुःपञ्चाशद्दिनानि २२। चतुरशीतिदिनानि २३। पक्षाधिकसार्द्धद्वादशवर्षाणि २४। इति क्रमात् छद्मस्थकालमानं तीर्थपानाम्। सत्त० ८४ द्वार। त्रीण्यहोरात्राणि १८। द्वादश वर्षा–णि २४। इति मतभेदः। आ०म०१ अ०१ खण्ड।

(६६) छद्मस्थतपोमानम्–

उग्गं च तवोकम्मं, विसेसओ वद्धमाणस्स। (७५)
वयदिणमेगं पुन्नं, छमासियं वीययं पणदिणूणं।
नव चउमासिय दु तिमासिया अढाइज्जमासिया दुन्नि ॥७६
छ दुमासिय दु दिवड्ढयमासिय बारस तहेगमासीया।
बावत्तरऽद्धमासिय, पडिमा बारऽट्ठमेहिं च ॥७७॥
दो चउ दस खमणेहिं, निरंतरं भद्दमाइपडिमतिगं।
दुसयगुणतीस छट्ठा, पारणया तिसयगुणवन्ना ॥७८॥

(उग्गं च तवोकम्मं ति) उग्रं च तपःकर्म सर्वेषां जिनवराणाम् (विसेसओ वद्धमाणस्स त्ति) विशेषतो वर्द्धमानस्य, वीरजिनस्य सर्वेभ्योऽपि जिनेभ्योऽधिकतरमुग्रं तपः, तेषां कर्माभावादिति भावः। श्रीवीरतपःप्रमाणमाह–(वयदिणं ति) व्रतदिनं, यस्मिन् दिने व्रतं गृहीतं तद्दिनमुपोषितवानित्यर्थः। (एगं पुन्नं छमासियं ति) एकं पूर्णं षाण्मासिकं कृतम् १। (वीययं पणदिणूणं ति) द्वितीयषाण्मासिकं पञ्चदिनैरूनं विहितम् २। (नव चउमासिय दु तिमासिय त्ति) स्वामिना नव चातुर्मासिकानि कृतानि, द्वे त्रैमासिके कृते, (अढा–इज्जमासिआ दुन्नि त्ति) द्वे सार्द्धद्विमासिके कृते ॥७६॥ (छ दुमासिय दुदिवड्ढयमासिय त्ति) षड् द्विमासिकानि द्वे सार्द्धमासिके कृते। (बारस तहेगमासीया) तथैकमासिकानि मासक्षपणानि द्वादश। (बावत्तरऽद्धमासिय त्ति) द्विसप्ततिरर्द्धमासक्षपणानि। (पडिमा बारऽट्ठमेहिं च) प्रतिमा द्वादश विहिता अष्टमभक्तैः, चः पादपूरणे ॥७७॥ (दो चउ दस खमणेहिं) द्वाभ्यां चतुर्भिर्दशभिश्चोपवासैः (निरंतरं भद्दमाइपडिमतिगं) अन्तररहितं पारणकरहितं भद्र१महाभद्र२सर्वतोभद्र३प्रतिमात्रिकं कृतमिति। (दुसयगुणतीस छट्ठा) द्वेशते एकोनत्रिंशदधिके षष्ठभक्तानि विहितानि। (पारणया ति–

सयगुणवन्ना) 'पक्षाधिकसार्द्धद्वादशवर्षः' त्रीणि शतान्येकोनपञ्चाशत् ३४९ पारणकानि विहितानि। इति गाथाऽर्थः ॥१७८॥ सत्त० ६४ द्वार।

(६७) तीर्थकरयक्षाः–

जक्खा गोमुह महजक्ख तिमुह ईसर सतुंबुरू कुसुमो।
मायंगो विजयाऽजिय, बंभो मणुओ सुरकुमारो ॥३७५॥
छम्मुह पायाल किन्नर, गरुडो गंधव्व तह य जक्किंखदो।
कूबर वरुणो भिउडी, गोमेहो वामण मयंगो ॥३७६॥

यक्षा भक्तिदक्षास्तीर्थकृतामिमे–यथा प्रथमजिनस्य गोमुखो यक्षः सुवर्णवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो वरदाक्षमालिकायुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, मातुलिङ्गपाशकान्वितवामपाणिद्वयश्च। अजितनाथस्य महायक्षाभिधो यक्षश्चतुर्मुखः श्यामवर्णः करीन्द्रवाहनोऽष्टपाणिर्वरदमुद्ररक्षसूत्रपाशकान्वितदक्षिपाणिचतुष्टयो, बीजपूरकाभयाङ्कुशशक्तियुक्तवामपाणिचतुष्कश्च। श्रीसम्भवजिनस्य त्रिमुखो नाम यक्षस्त्रिवदनस्त्रिनेत्रः श्यामवर्णो मयूरवाहनः षड् भुजो नकुलगदाभययुक्तदक्षिणकरकमलत्रयो, मातुलिङ्गछागाक्षसूत्रवामपाणिपद्मत्रयश्च। श्रीअभिनन्दनस्य ईश्वरो यक्षः श्यामकान्तिर्गजवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरकमलद्वयो, नकुलाङ् कुशान्वितवामपाणिद्वयश्च। श्रीसुमतेस्तुम्बुरुर्यक्षः श्वेतवर्णो गरुडवाहनश्चतुर्भुजो वरदशक्तियुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, गदानागपाशयुक्तवामपाणिद्वयश्च। श्रीपद्मप्रभस्य कुसुमो यक्षो नीलवर्णः कुरङ्गवाहनश्चतुर्भुजः फलाभययुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च। सुपार्श्वस्य मातङ्गो यक्षो नीलवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो विल्वपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वयश्च। श्रीचन्द्रप्रभस्य विजयो यक्षो हरितवर्णस्त्रिलोचनो हंसवाहनो द्विभुजः कृतदक्षिणहस्तचक्रो, वामहस्तधृतमुद्गरश्च। श्रीसुविधिजिनस्याऽजितो यक्षः श्वेतवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलकुन्तकलितवामपाणिद्वयश्च। श्रीशीतलस्य ब्रह्मा यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः श्वेतवर्णः पद्मासनोऽष्टभुजो मातुलिङ्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो, नकुलगदाङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिचतुष्टयश्च। श्रीश्रेयांसस्य मनुजो यक्षो, मतान्तरेण ईश्वरो, धवलवर्णस्त्रिनेत्रो वृषभवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गगदायुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च। श्रीवासुपूज्यस्य सुरकुमारो यक्षः श्वेतवर्णो हंसवाहनश्चतुर्भुजो बीजपूरकबाणान्वितदक्षिणकरद्वयो, नकुलकधनुर्युक्तवामपाणिद्वयश्च। श्रीविमलस्य षण्मुखो यक्षः श्वेतवर्णः शिखिवाहनो द्वादशभुजः फलचक्रबाणखड्गपाशकाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिषट् को, नकुलचक्रधनुः फलकाङ् कुशाभययुक्तवामपाणिषट् कश्च। श्रीअनन्तस्य पातालो यक्षस्त्रिमुखो रक्तवर्णो मकरवाहनः षड् भुजः पद्मखड्गपाशयुक्तदक्षिणपाणित्रयो, नकुलफलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणित्रयश्च। श्रीधर्म्मस्य किन्नरो यक्षस्त्रिमुखो रक्तवर्णः कूर्डवाहनः षड् भुजो बीजपूरकगदाभययुक्तदक्षिणपाणित्रयो, नकुलपद्माक्षमालायुक्तवामपाणिवयश्च। श्रीशान्तिनाथस्य गरुडो यक्षो वराहवाहनः क्रोडवदनः श्यामरुचिश्चतुर्भुजो बीजपूरकपद्मान्वितदक्षिणकरद्वयो, नकुलाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च। श्रीकुन्थोर्गन्धर्वयक्षः श्यामवर्णो हंसवाहनश्चतुर्भुजो वरदपाशकान्वितदक्षिणपाणिद्वयो, मातुलिङ्गाङ्कुशाधिष्ठितवामकरद्वयश्च। श्रीअरजिनस्य यक्षेन्द्रो यक्षः षण्मुखस्त्रिनेत्रः श्यामवर्णः(शङ्ख)शिखिवाहनो द्वादशभुजो बीजपूरकबाणखड्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणकरषट् को, नकुलधनुःफलकशूलाङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिषट् कश्च। श्रीमल्लिजिनस्य कूबरो यक्षश्चतुर्मुख इन्द्रायुधवर्णो गजवाहनोऽष्टभुजो वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो, बीजपूरकशक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुक्तवामपाणिचतुष्टयश्च। अन्ये कूबरस्थाने कुबेरमाहुः। श्रीमुनिसुव्रतस्य वरुणो यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सितवर्णो वृषवाहनो जटामुकुटभूषितोऽष्टभुजो बीजपूरकगदाबाणशक्तियुक्तदक्षिणकरकमलचतुष्को, नकुलपद्मधनुःपरशुयुतवामपाणिचतुष्टयश्च। श्रीनमिजिनस्य भृकुटिर्यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सुवर्णवर्णो वृषभवाहनोऽष्टभुजो बीजपूरकशक्तिमुद्गराभययुक्तदक्षिणकरचतुष्टयो, नकुलपरशुवज्राक्षसूत्रयुक्तवामकरचतुष्टयश्च। श्रीनेमिजिनस्य गोमेधो यक्षस्त्रिमुखः श्यामकान्तिः पुरुषवाहनः षड् भुजो मातुलिङ्गपरशुचकान्वितदक्षिणकरत्रयो, नकुलशूलशक्तियुक्तवामपाणित्रयश्च। श्रीपार्श्वजिनस्य वामनो यक्षो, मतान्तरेण पार्श्वनामा, गजमुख उरगफणामण्डितशिराः श्यामवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो बीजपूरकोरगयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलभुजगयुक्तवामपाणियुगश्च। श्रीवीरजिनस्य मतङ्गो यक्षः श्यामवर्णो गजवाहनो द्विभुजो नकुलयुतदक्षिणभुजो, वामकरधृतबीजपूरकश्च। प्रव० २६ द्वार।

(६८) तीर्थकरदेव्यः–

देवीओ चक्केसरि, अजिआ दुरितारि कालि महकाली।
अच्चुय संता जाला, सुतारयाऽसोय सिरिवच्छा ॥३७७॥
पवर विजयंऽकुसा पन्नग त्ति निव्वाण अच्चुया धरणी।
वइरुट्टऽछुत्त गंधारि अंब पउमावई सिद्धा ॥३७८॥

तत्राऽऽद्यजिनस्य चक्रेश्वरी देवी, मतान्तरेणाऽप्रतिचक्रा, सुवर्णवर्णा गरुडवाहनाऽष्टकरा वरदबाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टया, धनुर्वज्रचक्राङ् कुशयुक्तवामपाणिचतुष्टया चेति। श्रीअजितस्याजिता देवी गौरवर्णा लोहासनाधिरूढा चतुर्भुजा वरदपाशकाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया, बीजपूरकाङ्कुशालङ् कृतवामपाणिद्वया च। श्रीसम्भवस्य दुरितारिर्देवी गौरवर्णा मेघवाहना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रभूषितदक्षिणभुजद्वया, फलाभयान्वितवामकरद्वया च। श्रीअभिनन्दनस्य काली नाम देवी श्यामकान्तिः पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया, नागाङ् कुशालङ् कृतवामपाणिद्वया च। श्रीसुमतेर्महाकाली देवी सुवर्णवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया, मातुलिङ्गाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वया चेति। श्रीपद्मप्रभस्याऽच्युता, मतान्तरेण श्यामा, देवी श्यामवर्णा नरवाहना चतुर्भुजा वरदबाणान्वितदक्षिणकरद्वया, कार्मुकाभययुक्तवामपाणिद्वया च। श्रीसुपार्श्वस्य शान्ता देवी सुवर्णवर्णा गजवाहना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरद्वया, शूलाभययुक्तवामहस्तद्वया च। श्रीचन्द्रप्रभस्य ज्वाला; मतान्तरेण भृकुटिः, देवी पीतवर्णा वरालकाख्यजीवविशेषवाहना चतुर्भुजा खड्गभूषितदक्षिणकरद्वया, फलकपरशुयुतवामपाणिद्वया च। श्रीसुविधेः सुतारा देवी गौरवर्णा वृषभवाहना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणभुजद्वया, कलशाङ्कुशाञ्चितवामपाणिद्वया च। श्रीशीतलस्य अशोका देवी नीलवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, फलाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वया च। श्रीश्रेयांसस्य श्रीवत्सा देवी, मतान्तरेण मानवी, गौरवर्णा सिंहवाहना चतु–

भुंजा वरदमुद्रान्वितदक्षिणकरद्वया, कलशाङ्कुशयुक्तवामक–रद्वया च। श्रीवासुपूज्यस्य प्रवरा देवी, मतान्तरेण चण्डा, श्यामवर्णा तुरग-वाहना चतुर्भुजा वरदशक्तियुक्तदक्षिणकरयुगा, पुष्पगदायुतवामकरद्वया च। श्रीविमलस्य विजया, मतान्तरेण विदिशा, देवी हरितालवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा बाणपाशयुक्तदक्षिणकरद्वया, धनुर्नागयुतवामपाणि-द्वया च। श्रीअनन्तजिनस्य अंकुशा देवी गौरवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा खड्गपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, फलकाङ्कुशयुक्तवामकरद्वया च। श्रीधर्मस्य पन्नगा देवी, मतान्तरेण कन्दर्पा, गौरवर्णा मत्स्यवाहना चतुर्भुजा उत्पलाङ्कुशयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, पद्माभययुतवामपाणिद्वया च। श्रीशान्तिनाथस्य निर्वाणी देवी कनकरुचिः पद्मासना चतुर्भुजा पुस्तकोत्पलयुक्त–दक्षिणपाणिद्वया, कमण्डलुकमलकलितवामकरद्वया च। श्रीकुन्थोरच्युता देवी, मतान्तरेण बलाभिधाना, कनकच्छविर्म–यूरवाहना चतुर्भुजा बीजपूरकशूलान्वितदक्षिणपाणिद्वया, भुशुण्डिपद्मा-न्वितवामपाणिद्वया च। श्रीअरजिनस्य धारणी देवी नीलवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा मातुलिङ्गोत्पलयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, पद् माक्षसूत्रान्वितवाम-पाणिद्वया च। श्रीमल्लिजिनस्य वैरोट्या देवी कृष्णवर्णा पद् मासना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, बीजपूरकशक्तियुक्तवाम-पाणिद्वया चेति। श्रीमुनिसुव्रतस्य अक्षुप्ता देवी, मतान्तरेण नरदत्ता, कनकरुचिर्भद्रासनारूढा चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणभुजद्वया, बीजपूरकशूलयुक्तवामकरद्वया च। श्रीनमिजिनस्य गन्धारी देवी श्वेतवर्णा हंसवाहना चतुर्भुजा वरदखड्गयुक्तदक्षिणकरद्वया, बीजपूरककुन्तकलि-तवामकरद्वया च। श्रीनेमिजिनस्य अम्बा देवी कान्तरुचिः सिंहवाहना चतुर्भुजा आम्रलुम्बिपाशयुतदक्षिणकरद्वया, चक्राङ्कुशाऽऽसक्तवा–मकरद्वया च। श्रीपार्श्वजिनस्य पद्मावती देवी कनकवर्णा कुर्क्कुट–सर्पवाहना चतुर्भुजा पद्मपाशान्वितदक्षिणकरद्वया, फलाङ्कुशाधि–ष्ठितवामकरद्वया च। श्रीवीरजिनस्य सिद्धार्यिका देवी हरितवर्णा सिंहवाहना चतुर्भुजा पुस्तकाभययुक्तदक्षिणकरद्वया, बीजपूरक–वीणाभिरामकरद्वया चेति। अत्र सूत्रकारेण यक्षाणां देवीनां च केवलानि नामान्येवाभिहितानि, न पुनर्नयनवदनवर्णाऽऽदिस्वरूपं निरूपितम्; अस्माभिस्तु शिष्यहिताय निर्वाणकलिकाऽऽदिशास्त्रानुसारेण किञ्चित्तदीयमुखवर्णप्रहरणाऽऽदिस्वरूपं निरूपितमिति। प्रव० २७ द्वार।

(जन्मवेला २२। जन्मनक्षत्राणि २३। जन्मराशयः २४ इति द्वारत्रिकं च्यवनवत्)

(६६) तीर्थकरजन्मनगर्यः–

.....,जम्मस्स इमा उ नयरीओ।
इक्खागभूमऽउज्झा, सावत्थी दो अउज्झ कोसंबी।
वाणारसि चंदपुरी, कायंदी भद्दिलपुरं च ॥६३॥
सीहपुर चंप कंपिल्लऽउज्झरयणपुर तिगयपुर मिहिला।
रायगिह मिहिल सूरियपुरवाणारसि य कुंडपुरं ॥६४॥

इक्ष्वाकुभूमिः १। अयोध्या नगरी २। श्रावस्ती३। द्वयोरयोध्या–अयोध्या नगरी ४। अयोध्या नगरी ५। कौशाम्बी ६। वाराणसी ७। चन्द्रपुरी ८। काकन्दी ९। भद्रिलपुरम् १०॥ सिंहपुरम् ११। चम्पा १२। काम्पिल्यपुरम् १३। अयोध्या १४। रत्नपुरम् १५। त्रिषु गजपुरम्–गजपुरम् १६। गजपुरम् १७ गजपुरम् १८। मिथिला १९। राजगृहम् २०। मिथिला २१। सौर्यपुरम् २२। वाराणसी २३। कुण्डपुरम् २४ जिनानां क्रमेण जन्मनगराणि। सत्त० २८ द्वार। आ०म०।

(७०) अथ तीर्थकरजन्मदेशाः कथ्यन्ते–

दुसु कोमला कुणाला, दुसु कोसल वच्छ कासि पुव्वो य।
सुन्न मलय सुन्नंऽगा, पंचाला कोसला सुन्नं ॥६१॥
तिसु कुरु विदेहमगहा, विदेह कोसट्ठ कासि तह पुव्वो।
देसाइमे जिणाणं, जम्मस्स.....॥६२॥

(दुसु कोसला कुणाल त्ति) द्वयोः जिनवरयोः कोशलादेशः १। २। कुणालदेशः ३। (दुसु कोसल वच्छ कासि पुव्वो य त्ति) द्वयोः पुनः–कोशला ४। ५। वच्छदेशः६। काशीदेशः ७। पूर्वदेशश्च ८। (सुन्न मलय सुन्नंऽग त्ति) पुरातनग्रन्थेष्वप्राप्यमाणत्वेनाप्रसिद्धत्वात् शून्यमित्यर्थः ९। मलयदेश : १०। शून्यं प्राग्वत् ११। अङ्गदेशः १२। (पंचाला कोसला सुन्नं ति) पञ्चालाः १३। कोशलाः १४। शून्यं प्राग्वत् १५। इति गाथार्थः ॥६१॥ (तिसु कुरुविदेहमगह त्ति) त्रिषु कुरुदेशः १६।१७।१८। विदेहदेशः १९। मगधदेशः २०। (विदेह कोसट्ठ कासि तह पुव्वो त्ति) विदेहदेशः २१। कुशा (ब)र्तदेशः २२। काशीदेशः २३। तथा पूर्वदेशः २४। (देसा इमे जिणाणं ति) इमेऽनन्तरोक्ता देशाः क्रमेण चतुर्विंशतिजिनानाम् ॥६२॥ सत्त० २७ द्वार।

(७१) तीर्थकरजन्ममासाऽऽदि–

इत्तो उसहाऽऽइ जिणाण जम्ममासाइ वुच्छामि (७७)
चित्तबहुलऽट्ठमी सियमाहऽट्ठमि मग्गचउदसी माहे।
सियबिय वेसाहऽट्ठमि, कत्तियगे कसिणबारसिया ॥७८॥
जिट्ठसिय पोसकसिणा, य वारसी मग्गपंचमी चेव।
कसिणा य माहफग्गुणबारसि फग्गुण चउद्दसिया ॥७९॥
माहस्स सुद्धतइया, तह वइसाहम्मि तेरसी कसिणा।
माहसियतइय जिट्ठे, कसिणा तेरसि विसाहचउदसिया ॥८०॥
सियमग्गदसमिगारसि, बहुलऽट्ठमि जिट्ठसावणे मासे।
सावणसियपंचमि पोसकसिणदसमि सिअचित्ततेरसिया ॥

इतो गर्भस्थितिकथनानन्तरम्, ऋषभाऽऽदीनां जन्ममासाऽऽदि वक्ष्ये। तद्यथा–चैत्रबहुलाष्टमी ऋषभजिनस्य जन्म १। श्वेतमाघाष्टमी २। मार्गशीर्षसितचतुर्दशी ३। माघसितद्वितीया ४। वैशाखसिताष्टमी ५। कार्तिककृष्णद्वादशिका ६। ज्येष्ठस्य सितद्वादशी ७। पौषस्य कृष्णा द्वादशी ८। मार्गशीर्षकृष्णपञ्चमी ९। माघकृष्णा द्वादशी १०। फाल्गुनकृष्णा द्वादशी ११। फाल्गुनकृष्णचतुर्दशी १२। माघसिततृतीया १३। वैशाखकृष्णत्रयोदशी १४। माघसिततृतीया १५। ज्येष्ठकृष्ण-त्रयोदशी १६। वैशाखकृष्णचतुर्दशी १७। मार्गशीर्षसितदशमी १८। मार्गशीर्षकादशी कृष्णा १९। ज्येष्ठमासबहुलाष्टमी २०। श्रावणबहुलाष्टमी २१। श्रावणश्वेतपञ्चमी २२। पौषकृष्णा दशमी २३। चैत्रश्वेतत्रयोदशी २४। इति क्रमेण जन्म–मासपक्षतिथयः। सत्त० २८ द्वार।

(७२) अथ जन्मारकानाह–

संखिज्जकालरूवे, तइयऽरयंते उसहजम्मो। (८२)

अजियस्स चउत्थारयमज्झे पच्छद्धें संभवाऽऽईणं ।
तस्संऽतें अराईणं, जिणाण जम्मो तहा मुक्खो ॥८३॥

(संखिज्जकालरूवे, तइयऽरयंते उसहजम्मो त्ति) संख्यातकालरूपे तृतीयारकपर्यन्ते ऋषभजिनजन्म, मोक्षश्च ज्ञेय इति गाथार्थः। (अजियस्स चउत्थारयमज्झे त्ति) अजितजिनस्य चतुर्थारकमध्ये जन्म, मोक्षश्चाभूत्। (पच्छद्धें संभवाऽऽईणं ति) पश्चिमार्द्ध सम्भवाऽऽदीनां सप्तदशजिनपर्यन्तानां जन्म, मोक्षश्चाभूत्। (तस्संऽतें अराईणं) तस्य तुर्यारकस्यान्ते अराऽऽदिजिनानां वीरपर्यन्तानां सप्तजिनानां जन्म, मोक्षश्चाभूत्। (जिणाण जम्मो तहा मुक्खो) एवं सर्वजिनानां जन्म, मोक्षश्च। सत्त० २५ द्वार।

अथ जन्मारकाणां शेषकालमाह–

जम्माउ इगुणनउई–पक्खनिजाउअमियमरयसेसं ।
पुरिमंतिमाण नेअं, तेणऽहियमिमं तु सेसाणं ॥८६॥
अजियस्स अयरकोडी, लक्खा पन्नास, बीस दस एगो ।
कोडिसहस दस एगो, कोडिसयं कोडि दस एगा ॥८७॥
बायालसहस्सूणं, इय नवगे अट्ठगे पुणो इत्तो ।
पणसट्ठिलक्खचुलसी–सहसऽहियं होइ वरिसाणं ॥८८॥
अयरसयं छायाला, सोलससगतिन्नि पलियभागतिगं ।
पलियस्स एगपाओ, वरिसाणं कोडिसहसो य ॥८९॥
तिसु चुलसिसहस्सऽहिया, पणसट्ठिइगारपंचलक्खा य ।
चुलसि सहस्सा तो सङ्घ दुसय पासस्स अरसेसं ॥९०॥

(जम्माउ इगुणनउई–पक्खनिजाउअमियमरयसेसं ति) जन्मत एकोननवति (८९) पक्षनिजायुर्मितमरकशेषम् (पुरिमंतिमाण नेअं ति) प्रथमान्तिमयोर्ज्ञेयम्। अयं भावःएकोननवतिपक्षाः चतुरशीतिलक्षपूर्वाणि च श्रीऋषभदेवस्य तृतीयारकशेषं ज्ञेयम्। कोऽर्थः? श्रीऋषभदेवस्य जन्मतः तृतीयारकमध्ये एतावान् कालोऽवशिष्यत इति। तथा–एकोननवतिपक्षाः द्वासप्ततिवर्षाणि च श्रीवीरस्य जन्मतोऽरकस्य शेषं ज्ञेयम्। श्रीवीरस्य जन्मतः चतुर्थारकमध्ये एतावान् कालोऽवशिष्यत इत्यर्थः। (तेणऽहिय–मिमं तु सेसाणं ति) तोर्भिन्नक्रमत्वात् शेषाणां मध्यद्वाविंशतिजिनानां तु, तेन निजायुषा अधिकमिदं वक्ष्यमाणमरकशेषं ज्ञेयमिति गाथाऽर्थः ॥८६॥ (अजियस्स अयरकोडी लक्खा पन्नास त्ति) अजितस्य जन्मतः द्वासप्तति (७२) लक्षपूर्वैरधिकाः ''बायालसहस्सूणं इय नवगे'' इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् द्विचत्वारिंशतवर्षसहस्रैरूनाश्च पञ्चाशल्लक्षाः सागरकोट्यः चतुर्थारकशेषं ज्ञेयम्। एवं शीतलजिनं यावद् निजायुःप्रक्षेपपूर्वकं द्विचत्वारिंशद् वर्षसहस्रा–ऽपनयनपूर्वकं च चतुर्थारकशेषं वाच्यम्। २ (बीस दस एगो त्ति) विंशतिकोटिलक्षाः६० लक्षपूर्वाधिक० ३। दशकोटिलक्षाः ५० लक्षपूर्वाधिकः ४। एककोटिलक्षाः ४० लक्ष०५। (कोडिसहस दस इक्को त्ति) दशकोटिसहस्राः ३० लक्षपू० ६। एककोटिसहस्रः २० लक्षपू०७। (कोडिसयं कोडि दस एग त्ति) कोटीशतं १० लक्ष० ८। दशकोट्यः २ ल०९। एका कोटी १ लक्ष० १०। सागराणामिति सर्वत्र गम्यम्। इति गाथार्थः ॥८७॥ ''बायालसहस्सूणं, इय नवगे'' इत्यनन्तरोक्ते नवके अजितजिनादारभ्य शीतलजिनं यावद् द्विचत्वारिंशद् वर्षसहस्रैरेतदरकशेषमूनं क्रियते। (अट्ठगे पुणो इत्तो त्ति) इतोऽनन्तरमष्टके पुनः(पणसट्ठिलक्खचुलसीसहसऽहियं होइ वरिसाणं ति) पञ्चषष्टिलक्षचतुरशीतिवर्षसहस्राधिकं भवति, अग्रे वक्ष्यमाणमिति शेष इति गाथार्थः ॥८८॥ (अयरसयं ति) अतरशतं सागरशतम्। भावना चैवम्– श्रेयांसस्य जन्मतः निजायुरधिकं पञ्चषष्टिलक्ष(६५) चतुरशीति (८४) सहस्रवर्षाद्यधिकं चैकं सागरशतं चतुर्थारकशेषं ज्ञेयम्। एवमरजिनं यावन्निजायुः प्रत्यय–पूर्वकं, पञ्चषष्टिलक्षचतुरशीतिसहस्रवर्षप्रक्षेपपूर्वकं च भावनीयम्। (छायाल त्ति) षट् चत्वारिंशत् सागराणि ७२ लक्षा० १२। (सोलस सग तिन्नि पलियभागतिगं ति) षोडशसागराणि ६० लक्षा० १३। सप्तसागराणि १० लक्षा०१४। त्रीणि सागराणि (?) लक्ष० १५। पल्यभागत्रिकं पादोनपल्यम् १ लक्ष० १६। (पलियस्स एगपाउ त्ति) पल्यस्यैकपादः चतुर्थांशः निजायुः (९५) सहस्राधिक० १७। (वरिसाणं कोडिसहसो य त्ति) वर्षाणां कोटिसहस्र (८४) सहस्रश्चेति १८ गाथार्थः ॥८९॥ (तिसु चुलसिसहस्सऽहिय त्ति) त्रिषु जिनेष्वनन्तरं भणिष्यमाणेषु चतुरशीतिसहस्राधिकाः (पणसट्ठि–इगारपंचलक्खा य त्ति) लक्षशब्दस्य प्रत्येकं योगात् पञ्चषष्टिलक्षाः श्रीमल्लिजिनस्य जन्मतः चतुरशीतिसहस्रवर्षाधिका ५५००० निजायुरधिकाश्च पञ्चषष्टिलक्षाः ६५ वर्षाणि चतुर्थारकशेषमिति नमिजिनं यावद्भावना कार्या १९। एकादशलक्षाः ३० सहस्र० २०। पञ्चलक्षाश्च १० सह० २१। (चुलसिसहस्स त्ति) चतुरशीतिसहस्राणि वर्षाणि १ सह० २२। (तो सङ्घ दुसय त्ति) ततः सार्द्ध द्वे शते (पासस्स अरसेसं ति) श्रीपार्श्वनाथस्य अरकशेषं ज्ञेयं वर्षशता–धिकम् २३। इति गाथाऽर्थः ॥९०॥ चतुर्विंशतिजिनानां जन्मारकाणां शेषकालः। सत्त० २६ द्वार॥

(७३) अथ तीर्थप्रसिद्धजिनजीवानाह–

उसहे मरीइपमुहा १, सिरिवम्मनिवाइया सुपासजिणे ७।
हरिसेणविस्सभूई, सीयलतित्थम्मि१० जिणजीवा ॥३४॥
सेयंसे सिरिकेऊ, तिविट्ठमरुभूइअमियतेयधणा ।
वसुपुज्जे ११ नंदणनं–दसंखसिद्धत्थसिरिवम्मा ॥३५॥
सुवतें ऍरावणनारय–नामा२० नेमिम्मि कण्हपमुहा य ॥२२।
पासे अंबडसचइ–आणंदा २३ वीरें सेणियाई य ॥३६॥
सेणिय सुपास पोट्टिल, उदाइ संखे दढाउ सयगे य ।
रवेइ सुलसा वीरस्स बद्धतित्थत्तणा नव उ ॥३७॥

(उसहे मरीइपमुहा) ऋषभे मरीचिप्रमुखाः १। (सिरिवम्मनिवाइआ सुपासजिणे) श्रीवर्म्मनृपाऽऽदिकाः सुपार्श्वजिने ७। (हरिसेणविस्सभूइ त्ति) श्रीशीतलनाथतीर्थे हरिषेणविश्वभूती जिनजीवौ ज्ञेयौ इति गाथार्थः ॥३४॥ (सेयंसे सिरिकेऊ) श्रेयांसतीर्थे श्रीकेतुनामा (तिविट्ठमरुभूइ-अमियतेयधणा) त्रिविष्टमरुभूत्यमिततेजोधननामानः ११ (वसुपुज्जे नंदणनंदसंखसिद्धत्थसिरिवच्छा) वासुपूज्यजिनतीर्थे नन्दनन्द-सङ्घसिद्धार्थश्रीवर्म्माभिधा १२ इति गाथार्थः ॥३५॥ (सुवतें ऍरावणनारयनामा) मुनिसुव्रते ऐरावणनारदनामानौ २०। (नेमिम्मि कण्हपमुहा य) नेमितीर्थे कृष्णप्रमुखाश्च २२। (पासे अंबडसचइआणंदा) पार्श्वतीर्थे अम्बडसत्यक्यानन्दनामानः २३। (वीरें सेणिआई य)

श्रीवीरतीर्थे श्रेणिकाऽऽदयो जिनजीवा ज्ञेयाः । इति गाथार्थः ।३६। (सेणियसुपासपोट्टिलउदाइसंखे त्ति) श्रेणिकः १ सुपार्श्वः २पोट्टिलः ३ उदायिनामा ४ संखनामा ५ । (दढाउ सवगे) दृढायुः ६ शतकौ च ७ (रेवइ सुलसा) रेवती ८ सुखसानाम्न्यौ ९ (वीरस्स बद्धतित्थत्तणा नव उ) श्रीवीरस्य तीर्थे एते नव जीवा बद्धतीर्थङ्करपदा इति गाथार्थः ॥३७॥ सत्त० १६६ द्वार।

(७४) भविष्यत्तीर्थकराः–

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए चउवीसं तित्थगरा भविस्संति। तं जहा–

''महापउमे सूरदेवे, सुपासे य सयंपभे।
सव्वाणुभूई अरहा, देवगुत्ते य होक्खइ ॥१॥
उदए पेढालपुत्ते य, पोट्टिले सतकित्तिए।
मुणिसुव्वए य अरहा, सव्वभावविऊ जिणो ॥२॥
अममे णिक्कसाए य, निप्पुलाए य निम्ममे।
चित्तउत्ते समाही य,आगमिस्सेण होक्खइ ॥३॥
संवरे अणियट्टी य, विवाए विमले तहा।
देवोववाए अरहा, अणंतविजए इय ॥४॥ (प्रवचनसारोद्धाराऽऽदौ यन्नामभेद उपलभ्यते, तन्मतान्तरेण।)
एए वुत्ता चउव्वीसं, भरहे वासम्मि केवली।
आगमिस्सेण होक्खंति, धम्मतित्थस्स देसगा''॥५॥ स०।

महाविदेहविजयेषु विहरत्सु केवलिजिनेषु छद्मस्थेष्वन्येषां जिनानां जन्माऽऽदि स्यात्, किं वा तन्मोक्षगमनानन्तरमिति प्रश्ने, उत्तरम्– महाविदेहविजयेषु विहरत्सु केवलिजिनेषु छद्मस्थेषु वाऽन्येषां जिनानां जन्माऽऽदि न स्यादिति। प्र०२। ही०२ प्रका०।

(७५) अथ युगान्तकृद् भूमिकामाह–

साहूण सिद्धिगमणं,असंखअडचउतिसंखपुरिसं जा।
संजायमुसहनेमी–पासंऽतिमसेसमुक्खाओ ॥३२३॥

(साहूण सिद्धिगमणं) साधूनां मुनीनां सिद्धिगमनं मोक्षगमनम् (असंखअडचउतिसंखपुरिसं जा,संजायं ति) असंख्याष्टचतुस्त्रिसंख्यपुरुषं यावत् संजातम्। कस्मादित्याह–(उसहनेमिपासंति–मसेसमुक्खाओ) ऋषभनेमिपार्श्वान्तिमशेषाणां मोक्षात्। इयमत्र योजना–श्रीऋषभस्य मोक्षात् असंख्यपुरुषान् यावत् साधूनां सिद्धिगमनं संजातम् १। श्रीनमेरष्टौ पुरुषान् यावत् साधूनां सिद्धिगमनं संजातम् २२। (''अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स जाव अट्ठमाओ पुरिसजुगाओ जुगंतगडभूमी दुवासपरियाए अंतमकासी।'' स्था०८ठा०। ''उसभेणं अरहा कोसलिएणं इमीसे उस्सप्पिणीए नवहिं सागरोवमकोडाकोडीहिं वीइक्कंताहिं तित्थे पवत्तिए।'' स्था०९ठा०) श्रीपार्श्वस्य मोक्षात् चतुरः पुरुषान् यावत् साधूनां सिद्धिगमनं संजातम्।२३। शेषाणामजिताऽऽदीनां नमि (२१) पर्यन्तानां जिनानां मोक्षात् (त्रि)?..संख्यातपुरुषान् यावत्साधूनां सिद्धिगमनं संजातमिति गाथार्थः ॥ २४॥३२३॥ सत्त० १५८ द्वार। ''समणस्स णं भगवओ महावीरस्स जाव तच्चाओ पुरिसजुगाओ जुगतगडभूमी।'' स्था०३ ठा०३उ०।

(७६) स्थितिकल्पः–

दसहा दुण्हं भणिओ, चउहा अन्नेसि ठिइकप्पो (२८७)

दशधा दशप्रकारेण स्थितिकल्पः प्रथमचरम२४जिनयोस्तीर्थे भणितः। अन्येषां द्वाविंशतिजिनानां चतुःप्रकारो भणितः। सत्त० १३५ द्वार। (विशेषार्थिना 'कप्प' शब्दस्तृतीयभागे २२५ पृष्ठे विलोकनीयः)

(७७) तत्त्वसंख्या–

जीवाऽऽई नव तत्ता, तिन्निऽहवा देव–गुरु–धम्मा (२८३)
सव्वेसिं जिय–अजिया, पुन्नं पावं च आसवो बंधो।
संवर निज्जर मुक्खो, पत्तेयमणेगहा तत्ता ॥२८४॥

सर्वेषां जिनानां शासने जीवाऽऽदीनि नव तत्त्वानि। अथवा–त्रीणि तत्त्वानि देवगुरुधर्मरूपाणि भवन्ति। (२८३) सर्वेषां जिनानां तीर्थे जीवाऽजीवौ, पुण्यं, पापं च , आश्रवः, बन्धः, संवरः, निर्जरा, मोक्षः। एतानि नव तत्त्वानि प्रत्येकमनेकधा भवन्ति ॥ सत्त० १३१ द्वार। आ०म०।

(७८) अथ तीर्थप्रवृत्तिकालः प्रोच्यते–

इगतित्था जा तित्थं, बीयस्सुप्पज्जए य ता नेओ।
पुव्विल्लतित्थकालो, दुसमंतं पुण चरिमतित्थं ॥२१०॥
केवलिकालेण जुओ, इगस्स बीयस्स तेण पुण हीणो।
अंतरकालो नेओ, जिणाण तित्थस्स कालो वि ॥२११॥
उसहस्स य तित्थाओ, तित्थं वीरस्स पुव्वलक्खऽहियं।
अयरेगकोडिकोडी, वावीससहस्सवासूणा ॥२१२॥

(इगतित्था जा तित्थं, बीयस्सुप्पज्जए अ ता नेओ। पुव्विल्लतित्थकालो) एकस्य तिर्थकृतस्तीर्थात् यावद् द्वितीयतीर्थकृतस्तीर्थमुत्पद्यते तावत्कालं पूर्वतीर्थकृतस्तीर्थकालो ज्ञेयः। (दुसमंतं पुण चरिमतित्थं ति) दुःषमान्तं पुनश्चरमतीर्थम्–पञ्चमाऽऽरकपर्यन्त यावत् श्रीवीरजिनस्य तीर्थमिति गाथाऽर्थः ॥२१०॥ (केवलिकालेण जुओ इगस्स ति) एकस्य विवक्षितजिनस्य केवलिकालेन युतः (बीयस्स तेण पुण हीणो) द्वितीयस्य तदग्रेतनस्य जिनस्य पुनस्तेन केवलिकालेन हीनो रहितः (अंतरकालो त्ति)एतादृशोऽन्तरकाल एव (नेओ जिणाण तित्थस्स कालो वि त्ति) जिनानां तीर्थस्यापि कालो ज्ञेयः। तथाहि–श्रीऋषभाजितयोरन्तरकालः पञ्चाशद् लक्षकोटिसागराणि। स च श्रीऋषभस्य केवलिकालेन वर्षसहस्रोनपूर्वलक्षमानेन युतः श्रीअजितस्य केवलिकालेन द्वादशवर्षोनपूर्वाङ्गोनैकपूर्वलक्षमानेन हीनश्च क्रियते। तथा च द्वादशवर्षोनपूर्वाङ्गोनैव पूर्वलक्षोनानि वर्षसहस्रोनैकपूर्वलक्षाधिकानि च पञ्चाशल्लक्षकोटिसागराणि जातानि। एतावतां कालं ५० लक्ष–कोटिसागर ८३९९०१२ वर्षाधिकं श्रीऋषभस्य तीर्थं प्रवृत्तमित्यर्थः। एवं पार्श्वजिनं यावद्भावना कार्या। इति गाथार्थः ॥२११॥ (उसहस्स य तित्थओ तित्थं वीरस्स त्ति) ऋषभस्य च तीर्थात् वीरस्य तीर्थं (पुव्वलक्खऽहियं ति) पूर्वलक्षाधिकमधिकं (अयरेगकोडिकोडी) सागरैककोटाकोटी (बावीससहस्सवासूणा) द्वाविंशतिसहस्रवर्षोना भवति। तथाहि–ऋषभस्य केवलिपर्यायः वर्षसहस्रोनमेकं पूर्वलक्षं, ततो नवाशीतिपक्षेषु व्यतीतेषु तृतीयारकः परिसमाप्तः। ततो द्विचत्वारिंशत् सहस्रवर्षोनैकः सागरकोटाकोटिप्रमाणः चतुर्थारको व्यतीतः। तदनु च एकविंशतिसहस्रवर्षप्रमाणः पञ्चमारकः। सर्वेषां पिण्डीकरणे च नवाशीतिपक्षाधिकेन पूर्वलक्षणाधिका

द्वाविंशतिवर्षसहस्रैश्च न्यूना सागराणाम् एका कोटाकोटिर्भवति। श्रीऋषभस्य तीर्थात् श्रीवीरस्य तीर्थम् एतावता कालेन परिसमाप्तमिति तात्पर्यमिति गाथाऽर्थः ॥२१२॥ इति तीर्थप्रवृत्तिकालः। सत्त० १०१ द्वार।

(७९) तीर्थकरकल्याणतपः–

''इअऽतीअवट्टमाणा–ऽणागयचउवीसजिणवरिंदाणं।
ओसप्पिणिउस्सप्पिणि–भवा णु अणुलोमपडिलोमा ॥१॥
सग्गाइअमहिवलया, पंचसु भरहेसु एरववपणगे।
कल्लाणयमासतिहीउ सासया न य विदेहेसु ॥२॥
इगभत्तिनिविअआमा–खमणभिगदुतिचउपचकल्लाणे ?
इअ संखेवतवेणं, आराहह पंचकल्लाणे ॥३॥
वित्थरओ उवउत्तं, चुइजम्मेसुं करिज्ज पत्तेअं।
जिणवण्णेणं तवसा, दिक्खाइतिगंसु आराहे ॥४॥
सुमइऽत्थ निच्चभत्ते–ण णिग्गओ वासुपुज्ज चउत्थेणं।
पासो मल्ली वि अ अ–ट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं ॥५॥
अट्ठमभत्तंतम्मी, नाणमुसभमल्लिनेमिपासाणं।
वसुपुज्जस्स चउत्थेण छट्ठभत्तेण सेसाणं ॥६॥
चउदसमेणं उसभो, वीरो छट्ठेण मासिए पत्ते।
सिद्धवयम्मी सुमई–सुवयासो निच्चभत्ते वि? ॥७॥
काउं कल्लाणतवं, उज्जमणं जो करिज्ज विहिपुव्वं।
जिणपहआराहणओ, परमपयं पावए स कमा ॥८॥
चुइजम्मदिक्खकेवल–सिवाइँ कल्लाणवाइँ पंचेव।
सव्वजिणाणं छ पुणो, वीरस्स सगब्भहरणाइं ॥९॥
इहखित्तभवजिणाणं, जो आराहेइ पंचकल्लाणं।
तेइसखित्ततिकालिअ–अरिहाण उवासिणा तेण? ॥१०॥
पणकल्लाणयकप्पं, भवीण पूरियमणिट्ठसंकप्पं।
जो पढइ सुणइ भव्वो, सयंवरा तस्स सिद्धिसिरी'' ॥११॥
ती० ५० कल्प। प्रव०।

(८०) तीर्थकरणप्रयोजनम्–

ननु सर्वोऽपि प्रेक्षावान् फलार्थी प्रवर्तते, अन्यथा प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्गः। ततोऽसौ तीर्थं कुर्वन्नवश्यं फलमपेक्षते। फलं चापेक्षमाणोऽस्मादृश इव व्यक्तमवीतरागः। तदयुक्तम्। यतः तीर्थकरः स एव भवति, यस्तीर्थकरनामकर्मोदयसमन्वितः, न हि सर्वेऽपि भगवन्तो वीतरागास्तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तन्ते। तीर्थकरनामकर्मैव तीर्थप्रवर्तनफलम्। ततो भगवान् वीतरागोऽपि तीर्थकरनामकर्मोदयतः तीर्थप्रवर्तनस्वभावः सवितेव प्रकाशमुपकार्योपकारानपेक्षं तीर्थं प्रवर्तयतीति न कश्चिद्दोषः।

उक्तं च–

''तीर्थप्रवर्तनफलं, यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम।
तस्योदयात् कृतार्थोऽप्यर्हंस्तीर्थं प्रवर्तयति ॥१॥
तत्स्वाभाव्यादेव, प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम्।
तीर्थप्रवर्तनाय, प्रवर्तते तीर्थकर एवम् ॥२॥''

ननु तीर्थप्रवर्तनं नाम प्रवचनार्थप्रतिपादनं, प्रवचनार्थं चेद् भगवान् प्रतिपादयति, तर्हि नियमादसर्वज्ञः, सर्वस्यापि वक्तुरसर्वज्ञतयोपलम्भात्। तथा चात्र प्रयोगः–विवक्षितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति, वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवदिति। तदसत्। सन्दिग्धव्यतिरेकतया हेतोरनैकान्तिकत्वात्। तथाहि–वचनं न सर्ववेदनेन सह विरुद्ध्यते, अतीन्द्रियेण सह विरोधानिश्चयात्। द्विविधो हि विरोधः–परस्परपरिहारलक्षणः, सहानवस्थानलक्षणश्च। तत्र परस्परपरिहारलक्षणः तादात्म्यप्रतिषेधे, यथा घटपटयोः। न खलु घटः पटाऽऽत्मको भवति, नापि पटो घटाऽऽत्मको भवति। ''न सत्ता सत्तान्तरमुपैति'' इति वचनात्। ततो (ना)ऽनयोः परस्परपरिहारलक्षणो विरोधः। एवं सर्वेषामपि वस्तूनां भावनीयम्, अन्यथा वस्तुसाङ्कर्यप्रसक्तेः। यस्तु सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, स परस्परबाध्यबाधकभावसिद्धौ सिद्ध्यति, नान्यथा। यथा–वह्निशीतयोः। तथाहि–विवक्षिते प्रदेशे मन्दमन्दमभिज्वलनवति वह्नौ शीतस्यापि मन्दमन्दभावः। यदा पुनरत्यर्थज्वालामतिविमुञ्चति वह्निस्तदा सर्वथा शीतस्याभाव इति भवत्यनयोर्विरोधः।

उक्तं च–

''अविकलकारणमेकं, तदपरभावे यदाऽऽभवन्न भवेत्।
भवति विरोधः स तयोः, शीतहुताशाऽऽत्मनोर्दृष्टः ॥१॥''

न चैवं वचनसंवेदनयोः परस्परं बाध्यबाधकभावः, न हि संवेदने तारतम्येनोत्कर्षमासादयति वचस्विताया तारतम्येनापकर्ष उपलभ्यते, तत्कथमनयोः सहानवस्थानलक्षणो विरोधः। अथ सर्ववेदी वक्ता नोपलब्ध इति विरोध उद्घुष्यते। तदयुक्तम्। अत्यन्तपरोक्षो हि भगवान्, ततः कथमनुपलम्भमात्रेण तस्याभावनिश्चयः, अदृश्यविषयस्यानुपलम्भस्याभावनिश्चायकत्वायोगात्।

आह च प्रज्ञाकरगुप्तः–

''बाध्यबाधकभावः कः, स्यातां तौ युक्तिसंविदौ?
तादृशाऽनुपलब्धेश्चेदुच्यतां सैव साधनम् ॥१॥
अनिश्चयकरं प्रोक्तमीदृक्षानुपलम्भनम्।
तत्रात्यन्तपरोक्षेषु, सदसत्ताविनिश्चयैः ॥२॥''नं०।

(८१) तीर्थोच्छेदकालः–

पुरिमंऽतिमअट्ठऽट्ठं–तेरसु तित्थस्स नत्थि वुच्छेओ।
मज्झिल्लएसु सत्तसु, एत्तिकालं तु वुच्छेओ ॥४३२॥
चउभागो चउभागो, तिन्नि य चउभाग पलिय–चउभागो।
तिन्नेव य चउभागा, चउत्थभागो य चउभागो ॥४३३॥

इह हि चतुर्विंशतेस्तीर्थकृतां त्रयोविंशतिरेवान्तराणि भवन्ति। यथा–चतसृणामङ्कुलीनां त्रीण्येवान्तराणि, तत्र पूर्वेषु श्रीऋषभाऽऽदिजिनाऽऽदीनां सुविधिपर्यन्तानां नवानां तीर्थकृतां संबन्धिषु अष्टसु, अन्तिमेषु च शान्तिनाथाऽऽदीनां महावीरान्तानां नवानां जिनानां संबन्धिषु अष्टस्वन्तरेषु तीर्थस्य चतुर्वर्णस्य श्रमणसङ्घस्य नास्ति व्यवच्छेदः। (मज्झिल्लएसु त्ति) मध्यवर्तिषु पुनः सुविधिप्रभृतीनां शान्तिनाथपर्यन्तानां तीर्थकृतामन्तरेषु सप्तसु एतावन्मात्रं वक्ष्यमाणं कालं यावत्तीर्थस्य व्यवच्छेदः। तदेवाऽऽह–(चउभागेत्यादि) सुविधिशीतलयोरन्तरे पल्योपमस्य चतुर्भागीकृतस्य एकश्चतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदोऽर्हद्धर्मवार्त्ताऽपि तत्र नष्टेत्यर्थः। तथा–शीतलश्रेयांसयोरन्तरे पल्योपमस्य-चतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदः। तथा श्रेयांसवासुपूज्ययोरन्तरे पल्योपमसंबन्धिनस्त्रयश्चतुर्भागास्तीर्थव्यवच्छेदः। तथा वासुपूज्यविमलजिनयोरन्तरे पल्योपमस्य चतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदः। तथा विमलानन्तजिनयोरन्तरे पल्योपमसंबन्धिनस्त्रयश्चतुर्भागास्तीर्थव्यवच्छेदः। तथाऽनन्तधर्म्मयोरन्तरे पल्योपमस्य चतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदः। तथा धर्मशान्ति–

नाथयोरन्तरे पल्योपमचतुर्भागस्तीर्थत्र्यवच्छेदः। इति सर्वाग्रेण भागमीलने त्रीणि पल्योपमानि एकचतुर्भागहीनानि जातानि। प्रव० ३६ द्वार।

एएसु णं भंते ! तेवीसाए जिणंतरे कस्स कहिं कालियसुयस्स वोच्छेदे पण्णत्ते ? गोयमा ! एएसु णं तेवीसाए जिणंतरेसु पुरिमपच्छिमएसु अट्ठसु अट्ठसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुयस्स अवोच्छेदे पण्णत्ते। मज्झिमएसु सत्तसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुयस्स वोच्छेदे पण्णत्ते। सव्वत्थ वि णं वोच्छिण्णे दिट्ठिवाए॥

कस्य जिनस्य सम्बन्धिनः कस्मिन् जिनान्तरे, कयोर्जिनयोर--न्तरे, कालिकश्रुतस्यैकादशाङ्गीरूपस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्तः? इति प्रश्नः। उत्तरं तु-(एएसु णमित्यादि) इह च कालिकस्य व्यवच्छेदेऽपि पृष्टे यदपृष्टस्याव्यवच्छेदस्याभिधानं तद्विपक्षज्ञापने सति विवक्षितार्थबोधनं सुकरं भवतीतिकृत्वा कृतमिति। (मज्झिमएसु सत्तसु त्ति) अनेन 'कस्स कहिं' इत्यस्योत्तरमवसेयम्। तथाहि--मध्यमेषु सप्तस्वित्युक्ते सुविधिजिनतीर्थस्य सुविधिशीतलजिनयोरन्तरे व्यवच्छेदो बभूव, तद् व्यवच्छेदकालश्च पल्योपमचतुर्भागः। एवमन्ये षड् जिनाः, षट् च जिनान्तराणि वाच्यानि। केवलं व्यवच्छेदकालः सप्तस्वप्येवमवसेयः--

''चउभागो चउभागो, तिण्णि य चउभाग पलियमेगं च।
तिण्णेव य चउभागा, चउत्थभागो य चउभागो॥१॥'' इति।

(एत्थ णं ति) एतेषु प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमानेषु जिनान्तरेषु कालिकश्रुतस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्तः। दृष्टिवादापेक्षया त्वाह--(सव्वत्थ वि णं वोच्छिण्णे दिट्ठिवाए त्ति) सर्वत्रापि सर्वेष्वपि जिनान्तरेषु, न केवलं सप्तस्वेव क्वचित्, कियन्तमपि कालं व्यवच्छिन्नो दृष्टिवाद इति। भ० २० श० ८ उ०।

(८२) अथ प्रसङ्गात् द्वादशचक्रिनामान्याह--

**चक्की भरहो सगरो, मघव--सणंकुमार--संति--कुंथु--अरा।
सुभूम--महपउम--हरिसेण--जयनिवा बंभदत्तो य॥३४७॥**

चक्री--भरतः१, सगरनामा२। चक्रिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। मघवा३, सनत्कुमारः४, शान्तिः५, कुन्थुः६, अरनामा ७, (सुभूममहपउमहरिसेण त्ति) सुभूमनामा८, महापद्मः९, हरिषेणः १०(जयनिवा बंभदत्तो य) जयनृपः ११, ब्रह्मदत्तश्च १२। इति गाथार्थः॥३४७॥

अथ नववासुदेवनामान्याह--

**विण्हु तिविट्ठु दुविट्ठू, सयंभु पुरिसुत्तमं पुरिससीहे।
तह पुरिसपुंडरीए, दत्ते लक्खमण कण्हे य॥३४८॥**

(विण्हु तिविट्ठु दुविट्ठू सयंभु पुरिसुत्तमे पुरिससीहे) विष्णुः त्रिपृष्टः १, द्विपृष्टः२, स्वयंभूः३, पुरुषोत्तमः४, पुरुषसिंहः ५, तथा पुरुषपुण्डरीकः ६, दत्तनामा ७,, लक्ष्मणनामा ८, कृष्णश्च ९। इति गाथार्थः॥३४८॥

अथ बलदेवनामान्याह--

**हरिजिट्ठभायरो नव, बलदेवा अयल--विजय--भद्दा य।
सुप्पहसुदंसणाऽऽणंदनंदणा रामवलभद्दा॥३४९॥**

(हरिजिट्ठभायरो) विष्णुनां जेष्ठभ्रातरः (नव बलदेवा) नवसंख्या बलदेवा भवन्ति। अचलनामा प्रथमः १, विजयनामा द्वितीयः २, भद्रनामा तृतीयः ३, चः पादपूरणे। (सुप्पहसुदंसणाऽऽणंदनंदण त्ति) सुप्रभनामा चतुर्थः ४, सुदर्शननामा पञ्चमः ५, आनन्दनामा षष्ठः ६, नन्दननामा सप्तमः ७। (रामवलभद्द त्ति) रामनामाऽष्टमः ८, बलभद्रनामा नवमः ९। इति गाथार्थः॥३४९॥ पद्मः ८। प्रव०।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषमानमाह--

**चउपन्नुत्तमपुरिसा, इह एए होंति जीवपन्नासं।
नवपडिविण्हूहिँ जुआ, तेसट्ठिसलागपुरिस भवे॥३५०॥**

(चउपन्नुत्तमपुरिसा, इह एए होंति जीवपन्नासं ति) एते चतुर्विंशतिजिनाः २४, द्वादश चक्रिणः १२, नव वासुदेवाः९, नव बलदेवा ९ श्वेति चतुःपञ्चाशत् ५४ उत्तमपुरुषा इह जगति भवेयुः। एते सर्वेऽप्युत्तमपुरुषाः संभूय पञ्चाशज्जीवाः। यतः--शान्तिकुन्थुअराः जिनाश्चक्रिणोऽपि जाताः, तथा श्रीवीरजीवस्तु त्रिपृष्टनामा वासुदेवोऽपि जात इति। (नव पडिविण्हूहिँ जुय त्ति) ते चतुःपञ्चाशदुत्तमपुरुषा नवप्रतिविष्णुभिर्युताः। (तेसट्ठिसलागपुरिस भवे) त्रिषष्टिः शलाकापुरुषा भवन्ति। शलाकापुरुषा इति कोऽर्थः?--शलाका इव रेखा इव पुरुषाः शलाकापुरुषाः, न कोऽप्यन्यपुरुष ईदृशः चतुःषष्टितमः। इति गाथार्थः॥३५०॥

अथ प्रतिवासुदेवनामान्याह--

**ते आसगीवे तारएँ, मेरएँ महुकेढवे निसुंभे य।
बलि पहलाए तह रावणे य नवमे जरासंधो॥३५१॥**

अश्वग्रीवः १, तारकः२, मेरकः ३, मधुकैटभः ४, निशुम्भकः ५, (बलि पहलाए तह रावणे अ नवमे जरासंधो) बलिः ६, प्रह्लादः ७, तथा रावणश्च ८, नवमो जरासन्धः ९। इति गाथार्थः॥३५१॥

अथ कस्य तीर्थे के चक्रिवासुदेवबलदेवा जातास्तानाह--

**कालम्मि जे जस्स जिणस्स जाया,
ते तस्स तित्थम्मि, जिणंतरे जे।
नेया उ तेऽतीअजिणस्स तित्थे,
निएहिँ नामेहिँ कमेण एवं॥३५२॥**

(कालम्मि जे जस्स जिणस्स जाया ते तस्स तित्थम्मि त्ति) यस्य जिनस्य काले जिनतीर्थं वर्तमाने ये जाताः ते चक्रिवासुदेवाऽऽदयः तस्य तीर्थे कथ्यन्ते, (जिणंतरे जे, नेयाउ तेऽतीअजिणस्स तित्थे) जिनान्तरे ये जाताऽतेऽतीतजिनस्य तीर्थं ज्ञेयाः। (निएहिं नामेहिं कमेण एवं) निजैर्नामभिः क्रमेण एवं वक्ष्यमाणरीत्या। इति गाथार्थः॥३५२॥ इदमुपजातिच्छन्दः।

**दो तित्थेस स चक्कि, अट्ठ य जिणा,तो पंच केसीजुया,
दो चक्काहिव, तिन्नि चक्किअ जिणा, तो केसि चक्की हरी।
तित्थेसो इग,तो सचक्कि--अ जिणो केसी सचक्की जिणो,
चक्की, केसवसंजुओ जिणवरो, चक्की अ, तो दो जिणा॥३५३**

(दो तित्थेस सचक्कि अट्ठ य जिणा तो पंच केसीजुआ) द्वौ तीर्थेशौ सचक्रिणौ चक्रवर्त्तिसहितौ, ततोऽष्ट जिनाः, ततः पञ्चवासुदेवयुताः पञ्च जिनाः। (दो चक्काहिव तिन्नि चक्किअ जिणा, तो केसि चक्की हरी) द्वौ ततश्चक्राधिपौ, ततस्त्रयः चक्रि--

णो जिनाश्च। ततो वासुदेवः, ततश्चक्री, ततो वासुदेवः। (तित्थेसो इगु तो सचक्किअ जिणो केसि त्ति) तीर्थेश एकः, ततः सचक्री जिनः, ततो वासुदेवः, सचक्री जिनः। (चक्री, केसवसंजुओ जिणवरो, चक्की अ, तो दो जिणा) चक्री, केशवसंयुतो जिनवरः, ततश्चक्री, ततो द्वौ जिनौ। इति गाथार्थः ॥३५३॥ सत्त० १७० द्वार।

जिनचक्रवर्तिकेशवानां विवरणयन्त्रम् –

तीर्थकरः	चक्रवर्ती	वासुदेवः
ऋषभस्वामी	भरतचक्रवर्ती	०
अजितस्वामी	सगरचक्रवर्ती	०
संभवस्वामी	०	०
अभिनन्दनः	०	०
सुमतिनाथः	०	०
पद्मप्रभः	०	०
सुपार्श्वनाथः	०	०
चन्द्रप्रभः	०	०
सुविधिनाथः	०	०
शीतलनाथः	०	०
श्रेयांसनाथः	०	त्रिपृष्टः
वासुपूज्यः	०	द्विपृष्टः
विमलनाथः	०	स्वयंभूः
अनन्तनाथः	०	पुरुषोत्तमः
धर्म्मनाथः	०	पुरुषसिंहः
०	मघवा चक्रवर्ती	०
०	सनत्कुमारश्चक्री	०
शान्तिनाथः	शान्तिरेव	०
कुन्थुनाथः	कुन्थुरेव	०
अरनाथः	अर एव	०
०	०	पुरुषपुण्डरीकः
०	सुभूमचक्री	०
०	०	दत्तः
मल्लिनाथः	०	०
मुनिसुव्रतः	महापद्मचक्री	०
०	०	लक्ष्मणः
नमिनाथः	हरिषेणचक्री	०
०	जयचक्री	०
नेमिनाथः	०	कृष्णः
०	ब्रह्मदत्तचक्री	०
पार्श्वनाथः	०	०
वर्द्धमानः	०	०

(८३) तीर्थकरनामान्याह–

जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चउवीसं तित्थगरा होत्था। तं जहा– उसभ अजिअ संभव अभिणंदण सुमइ पउमप्पभ सुपास चंदप्पभ सुविहि (पुप्फदंत

''ऋषभो वृषभः, श्रेयान् श्रेयांसः, स्यादनन्तजिदनन्तः।
सुविधिस्तु पुष्पदन्तः, मुनिसुव्रतसुव्रतौ तुल्यौ ॥२६॥
अरिष्टनेमिरस्तु नेमिः, वीरश्चरमतीर्थकृत्।
महावीरो वर्द्धमानः, देवार्यो ज्ञातनन्दनः ॥३०॥''
इत्यभिधानचिन्तामणौ पर्यायवाचकाः।) **सीयल सिज्जंस वासुपूज्ज विमल अणंत धम्म संति कुंथु अर मल्लि मुणिसुव्वय णमि णेमि पास बद्धमाणो य ॥स०।** (तीर्थकृतां मातृपितृविचारोऽग्रे करिष्यते)

(चक्रवर्तिनां सर्वा वक्तव्यता 'चक्कवट्टि' शब्दे तृतीयभागे १०६६ पृष्ठतो द्रष्टव्या)

बलदेववासुदेवपितरः–

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे नवबलदेवनववासुदेवपितरो होत्था। तं जहा–

''पयावई य बंभो, सोमो रुद्दो सिवो महिसरो य।
अग्गिसीहो य दसरहो, नवमो भणिओ य वसुदेवो'' ।४६।

वासुदेवमातरः–

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे णव वासुदेवमायरो होत्था। तं जहा–

''मियावई उमा चेव, पुहवी सीया य अंबिया।
लच्छिमई सेसमई, केकई देवई तहा ॥५०॥''

बलदेवमातरः–

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे णव बलदेवमायरो होत्था। तं जहा–

''भद्दा तह सुभद्दा य, सुप्पभा य सुदंसणा।
विजया वेजयंती य, जयंती अपराजिया ॥५१॥
णवमीया रोहिणी य, बलदेवाण मायरो ''।

दशारमण्डलानि–

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे णव दसारमंडला होत्था। तं जहा– उत्तमपुरिसा मज्झिमपुरिसा पहाणपुरिसा ओयंसी। तेयंसी वच्चंसी जसंसी छायंसी कंता सोमा सुभगा पियदंसणा सुरूआ सुहसीला सुहाभिगम्मसव्वजणणयणकंता ओहबला अतिबला महाबला अनिहता अपराइया सत्तुमद्दणारिपुसहस्समाणमहणा साणुक्कोसा अमच्छरा अचपला अचंडा मियमंजुलपलावहसियगंभीरमधुरपडिपुण्णसच्चवयणा अब्भुवगयवच्छला सरण्णा लक्खणवंजणगुणोववेआ माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगा ससिसोम्माकारकंतपियदंसणा अमरिसणा पयंडदंडप्पयारा गंभीरदरिसणिज्जा तालद्धओविद्धगरुलकेऊ महाधणुविकड्ढया महासत्तसागरा दुद्धरा धणुद्धरा धीरपुरिसा जुद्धकित्ति–

पुरिसा विउलकुलसमुब्भवा महारयणविहाडगा अद्धभरहसामी सोमा रायकुलवंसतिलया अजिया अजियरहाहलमुसलकणकपाणी संखचक्कगयसत्तिनंदगधरा पवरुज्जलसुकंतविमलगोत्थुभतिरीडधारी कुंडलउज्जोइयाणणा पुंडरीयणयणा एकावलिकंठलगियवच्छा सिरिवच्छसुलंछणा वरजसा सव्वोउयसुरभिकुसुमरचितपलंबसोभंतकंतविकसंतचित्तवरमालरइयवच्छा अट्ठसयविभत्तलक्खणपसत्थसुंदरविरइयंगमेगा मत्तगयवरिंदललियविक्कमविलसियगई सारयनवत्थणियमहुरगंभीरकुंचनिग्घोसदुंदुभिस्सरा कडिसुत्तगनीलपीयकोसेज्जवाससा पवरदित्ततेया नरसीहा नरवई नरिंदा नरवसहा मरुयवसभकप्पा अब्भहियरायतेयलच्छीपदिप्पमाणा नीलगपीयगवसणा दुवे दुवे रामकेसवा भायरो होत्था। तं जहा–तिविट्ठ य०जाव कण्हे। अयलो०जाव रामे य अपच्छिमे।

बलदेववासुदेवानां पूर्वभवनामानि–

एएसि णं णवण्हं बलदेववासुदेवाणं पुव्वभविया नव नामधेज्जा होत्था। तं जहा–

''विसभूई पव्वयए, धणदत्त समुद्दत्त इसिवाले।
पियमित्त ललियमित्ते, पुणव्वसू गंगदत्ते य ॥५२॥
एयाइं नामाइं, पुव्वभवे आसि वासुदेवाणं।''
''एत्तो बलदेवाणं, जहक्कमं कित्तइस्सामि ॥५३॥
विसनंदी य सुबंधू, सागरदत्ते असोग ललिए य।
वाराह धम्मसेणे, अपराइएँ रायललिए य ॥५४॥''

एतेषां पूर्वभवधर्माऽऽचार्याः–

एएसि णं नवण्हं बलदेववासुदेवाणं पुव्वभविया नव धम्मायरिया होत्था। तं जहा–

''संभूए य सुभद्दे, सुदंसणे सेय कण्हे गंगदत्ते अ।
सागर समुद्दनामे, दुमसेणे णवमिए होइ ॥५५॥
धम्माऽऽयरिया कित्ती–पुरिसाणं वासुदेवाणं।
पुव्वभवे एआसिं, जत्थ नियाणाइँ कासी य ॥५६॥''

एतेषां निदानभूमयः–

एएसि णं नवण्हं वासुदेवाणं पुव्वभवे नव नियाणभूमीओ होत्था। तं जहा–महुरा०जाव हत्थिणाउरं च।

निदानकारणानि–

एतेसि णं नवण्हं वासुदेवाणं नव नियाणकारणा होत्था। तं जहा–गावी जूए०जाव माउआ।

एतेषां प्रतिशत्रवः–

एएसि णं नवण्हं वासुदेवाणं नव पडिसत्तू होत्था। तं जहा–आसग्गीवे०जाव जरासंधे०जाव सच्चक्केहिं।

के क्व यान्तीत्याह–

''एक्को य सत्तमीए, पंच य छट्ठीएँ पंचमीएक्को।
एक्को य चउत्थीए, कण्हो पुण तच्चपुढवीए ॥५७॥
अणिदाणकडा रामा, सव्वे वि य केसवा नियाणकडा।
उड्ढंगामी रामा, केसव सव्वे अहोगामी ॥५८॥
अट्ठंतकडा रामा, एगो पुण बंभलोयकप्पम्मि।
एक्को से गब्भवसही, सिज्झिस्सइ आगमिस्सेणं ॥५९॥''

(जंबुद्दीवेत्यादि) दशाराणां वासुदेवानां मण्डलानि बलदेववा–सुदेवद्वयद्वयलक्षणाः समुदाया दशारमण्डलानि, अत एव ''दुवे दुवे रामकेसवत्ति'' वक्ष्यति। दशारमण्डलाव्यतिरिक्तत्वाच्च बलदेव–वासुदेवानां दशारमण्डलानीति पूर्वमुद्दिश्यापि दशारमण्डलव्यक्तिभूतानां तेषां विशेषणार्थमाह–तद्यथेत्यादि। तद्यथेति बलदेववा–सुदेवस्वरूपोपन्यासाऽऽरम्भार्थः। केचित्तु दशारमण्डना इति। तत्र दशाराणां वासुदेवकुलीनप्रजानां मण्डनाः शोभाकारिणो दशारमण्डनाः। उत्तमपुरुषा इति। तीर्थंकराऽऽदीनां चतुःपञ्चाशत्, उत्तमपुरुषाणां मध्यवर्तित्वाद् मध्यमपुरुषाः, तीर्थंकरचक्रिणां प्रतिवासुदेवानां च बलाऽऽद्यपेक्षया मध्यवर्त्तित्वात्। प्रधानपुरुषास्तात्कालिकपुरुषाणां शौर्याऽऽदिभिः प्रधानत्वात्, ओजस्विनो मानसबलोपेतत्वात्, तेजस्विनो दीप्तशरीरत्वात्, वर्चस्विनः शारीरबलोपेतत्वात्, यशस्विनः पराक्रमं प्राप्य प्रसिद्धिप्राप्तत्वात्। (छायंसि त्ति) प्राकृतत्वात् छायावन्तः शोभायमानशरीराः, अत एव कान्ताः क्रान्तियोगात्, सौम्या अरौद्राऽऽकारत्वात्, सुभगा जनवल्लभत्वात्, प्रियदर्शनाःचक्षुष्यरूपत्वात्, सुरूपा समचतुरस्रसंस्थानत्वात्, शुभं सुखं वा सुखकरत्वात् शीलं स्वभावो येषां ते शुभशीलाः सुखशीला वा, सुखेनाभिगम्यन्ते सेव्यन्ते ये शुभशीलत्वादेव ते सुखाभिगम्याः, सर्वजननयनानां कान्ता अभिलाष्या ये ते तथा। ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। ओघबलाः प्रवाहबलाः, अव्यवच्छिन्नबलत्वात्। अतिबलाः, शेषपुरुषबलानामतिक्रमात्। महाबलाः प्रशस्तबलाः, अनिहता निरुपक्रमाऽऽयुष्कत्वात्, युद्धे भूम्यामपातित्वात् अपराजिताः, तैरेव शत्रूणां पराजितत्वात्। एतदेवाऽऽह– शत्रुमर्दनाः, तच्छरीरतत्सैन्यकदर्थनात्। रिपुसहस्रमानमथनाः, तद्वाञ्छितकार्यविघटनात्। सानुक्रोशाः, प्रणतेष्वद्रोहकत्वात्। अमत्सराः, परगुणलवस्याऽपि ग्राहकत्वात्। अचपला मनोवाक्कायस्थैर्यात्। अचण्डा निष्कारणप्रबलकोपरहितत्वात्। मिते परिमिते मञ्जुलः कोमलः प्रलापश्चाऽऽलापोहसितं च येषां ते मितमञ्जुलप्रलापहसिताः, गम्भीरमदर्शितरोषतोषशोकाऽऽदिविकारं मेघनादवद्वामधुरं श्रवणसुखकरं प्रतिपूर्णमर्थप्रतीतिजनकं सत्यमवितथं वचनं वाक्यं येषां ते तथा। ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। अभ्युपगतवत्सलाः, तत्समर्थनशीलत्वात्। शरण्यास्त्राणकरणे साधुत्वात्। लक्षणानि माना ऽऽदीनि, वज्रस्वस्तिकचक्राऽऽदीनि वा, व्यञ्जनानि तिलकमषाऽऽदीनि, तेषां गुणा महर्द्धिप्राप्त्यादयः, तैरुपेताः (शर्करा ऽऽदिगणस्थत्वात्।) शर्करा ऽऽदिदर्शनादुपपेता युक्ता लक्षणव्यञ्जनगुणोपपेताः। मानमुदकद्रोणपरिमाणशरीरताः, कथम्? उदकपूर्णायां द्रोण्यां निविष्टे पुरुषे यज्जलं ततो निर्गच्छति तद्यदि द्रोणप्रमाणं स्यात्तदा स पुरुषो मानप्राप्त इत्यभिधीयते। उन्मानमर्द्धभारपरिमाणता, कथम्? तुलाऽऽरोपितस्य पुरुषस्य यदर्द्धभारज्ञस्तौल्यं भवति तदाऽसावुन्मानप्राप्त उच्यते। प्रमाणमष्टोत्तरशतमङ्गुलानामुच्छ्रयः। मानोन्मानप्रमाणैः प्रतिपूर्णमन्यूनं, सुजातमागर्भाधानात् पालनविधिना, सर्वाङ्गसुन्दरं निखिलावयवप्रधानमङ्गं शरीरं येषां ते तथा। शशिवत् सौम्याऽऽकारमरौद्रमबीभत्सं

वा कान्तं दीप्तं प्रियं जनानां प्रमोदोत्पादकं दर्शनं रूपं येषां ते तथा। (अमरिसण त्ति) अमर्षणाः प्रयोजनेष्वनलसाः, अमर्षणा वा अपराधिष्वपि कृतक्षमाः। प्रकाण्ड उत्कटो दण्डप्रकार आज्ञाविशेषो वा येषां ते–तथा। अथवा–प्रचण्डो दुःसाध्यसाधकत्वाद्दण्डप्रचारः सैन्यविचरणं येषां ते तथा। गम्भीरा अलक्ष्यमाणान्तर्वृत्तित्वेन दृश्यन्ते ये ते गम्भीरदर्शनीयाः। ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। प्रचण्डदण्डप्रचारेण ये गम्भीरा दृश्यन्ते। तथा तालो वृक्षविशेषो ध्वजा येषां ते तालध्वजाः बलदेवाः। उद्विद्ध उच्छ्रितो गरुडलक्षितः केतुर्ध्वजो येषां ते उद्विद्धगरुडकेतवो वासुदेवाः। तालध्वजाश्च उद्विद्धगरुडकेतवश्च तालध्वजोद्विद्धगरुडकेतवः। महाधनुर्विकर्षकाः, महाप्राणत्वाद् महासत्त्वलक्षणजलस्य सागरा इव सागरा आश्रयत्वान्महासत्त्वसागराः। दुर्द्धरा रणाङ्गणेतेषां प्रहरतां केनाऽपि धन्विना धारयितुमशक्यत्वात्। धनुर्धराः कोदण्डप्रहरणाः। धीरेष्वेवैते पुरुषाःपुरुषकारवन्तो, न कातरेष्विति धीरपुरुषाः। युद्धजनिता या कीर्तिस्तत्प्रधानाः पुरुषा युद्धकीर्तिपुरुषाः। विपुलकुलसमुद्भावा इति प्रतीतम्। महारत्नं वज्रं तस्य महाप्राणतया विघटका अङ्गुष्टतर्जनीभ्यां चूर्णका महारत्नविघटकाः, वज्रं हि अधिकरण्यां धृत्वा अयोघनेनाऽऽस्फोट्यते, न च भिद्यते, तदेव भिन्दन्तीति दुर्भेदं तदिति। अथवा महनीया आरचना सागरशटकव्यूहाऽऽदिना प्रकारेण सिरसंग्रामयिषोर्महासैन्यस्य, तां रणरङ्गरसिकतया महाबलतया च विघटयन्ति वियोजयन्ति ये ते महारचनाविघटकाः। पाठान्तरेण तु–महारणविघटकाः। अर्द्ध–भरतस्वामिनः। सौम्या नीरुजः। राजकुलवंशतिलकाः। अजिताः। अजितरथाः। हलमुशलकणकपाणयः। तत्र हलमुशले प्रतीते, ते प्रहरणतया पाणौ हस्ते येषां ते बलदेवाः। येषां तु कणका बाणाः पाणौ ते शार्ङ्गधन्वानो वासुदेवाः। शङ्खश्च पाञ्चजन्याभिधानः, चक्रं तु सुदर्शननामकं, गदा च कौमोदकीसंज्ञा लकुटविशेषः, शक्तिश्च त्रिशूलविशेषः, नन्दकश्च नन्दकाभिधानः खड्गः, तान् धारयन्तीति शङ्खचक्रगदाशक्तिनन्दकधराः वासुदेवाः। प्रवरो वरप्रभावयोगात्, उज्ज्वलः शुक्लत्वात् स्वच्छतया वा, मुकान्तः कान्तियोगात्। पाठान्तरेसुकृतः सुपरिकर्मित्वात्। विमलो मलवर्जितत्वात्, (गोत्थुभ त्ति) कौस्तुभाभिधानो यो मणिविशेषस्तं, (तिरीगं ति) किरीटं च मुकुटं धारयन्ति ये ते। तथा कुण्डलोद्योतिताननाः। पुण्डरीकवन्नयने येषां ते तथा। एकावली आभरणविशेषः, सा कण्ठे ग्रीवायां लगिता विलम्बिता सती वक्षसि उरसि वर्तते येषां ते एकावलीकण्ठलगितवक्षसः। श्रीवत्साभिधानं सुष्ठु लाञ्छनं महापुरुषत्वसूचकं वक्षसि येषां ते श्रीवत्सलाच्छनाः। वरयशसः, सर्वत्र विख्यातत्वात्। सर्वर्तुकानि सर्वर्तुसम्भवानि सुरभीणि सुगन्धीनि यानि कुसुमानि तैः सुरचिता कृता या प्रलम्बा आप्रपदीना (सोभंत त्ति) शोभमाना कान्ता कमनीया विकसन्ती फुल्लीन्ती चित्रा पञ्चवर्णा वरा प्रधाना माला स्रक् रचिता निहिता, रतिदा वा सुखकारिका, वक्षसि येषां ते सर्वर्तुकसुरभिकुसुमरचितप्रलम्बशोभमानकान्तविकसच्चित्रवरमालारचितवक्षसः। तथा अष्टशतसंख्यानि विभक्तानि विविक्तरूपाणि यानि लक्षणानि चक्राऽऽदीनि तैः प्रशस्तानि मङ्गल्यानि सुन्दराणि च मनोहराणि विरचितानि विहितानि (अंगमंग त्ति) अङ्गोपाङ्गानि शिरोऽङ्गुल्यादीनि येषां तेऽष्टशतविभक्तलक्षणप्रशस्तसुन्दरविरचिताङ्गोपाङ्गाः। तथा मत्तगजवरेन्द्रस्य यो ललितो मनोहरो विक्रमःसञ्चरणं तद्वद्विलसिता संजातविलासा गतिर्गमनं येषां ते मत्तगजवरेन्द्रललितविक्रमविलसितगतयः। तथा शरदि भवः शारदः, स चासौ नवं स्तनितं रसितं यस्मिन्निर्घोषे स नवस्तनितः, स चेति समासः। स चासौ मधुरो गम्भीरश्च यः क्रौञ्चनिर्घोषः पक्षिविशेषनिनादः, तद्वद् दुन्दुभिस्वरवच्च स्वरो नादो येषां ते शारदनवस्तनितमधुरगम्भीरक्रौञ्चनिर्घोषदुन्दुभिस्वराः। इह च शरत्काले हि क्रौञ्चा माद्यन्ति, मधुरध्वनयश्च भवन्तीति शारदग्रहणम्। तथा पीतपानीयेन शब्दप्रवृत्तौ तद्भङ्गादमनोज्ञता तस्य स्यादिति नवस्तनितग्रहणम्, स्वरूपोपदर्शनार्थं मधुरगम्भीरग्रहणमिति। तथा कटीसूत्रमाभरणविशेषः, तत्प्रधानानि नीलानि बलदेवानां, पीतानि वासुदेवानां कौशेयकानि वस्त्रविशेषभूतानि वासांसि वसनानि येषां ते कटी–सूत्रकनीलपीतकौशेयवाससः। प्रवरदीप्ततेजसो वरप्रभावतया वरदीप्ततया च। नरसिंहा विक्रमयोगात्। नरपतयः तन्नायकत्वात्। नरेन्द्राः परमैश्वर्ययोगात्। नरवृषभा उत्क्षिप्तकार्ये भारनिर्वाहकत्वात्। मरुद्वृषभकल्पाः देवराजोपमाः, अभ्यधिकं शेषराजेभ्यः राजतेजोलक्ष्म्या दीप्यमानाः। नीलकपीतकवसना इति पुनर्भणनं निगमनार्थम्। कथं ते नवेत्याह–(दुवे दुवे इत्यादि) एवं च नववासुदेवनवबलदेवा इति। (तिविट्ठु य त्ति) यावत्करणात्–

''विण्हु तिविट्ठु दुविट्ठु य, सयंभु पुरिसुत्तमे पुरिससीहे।
तह पुरिसपुंडरीए, दत्ते नारायणे कण्हे ॥१॥
अयले विजए भद्दे, सुप्पभे य सुदंसणे।
आनंदे णंदणे पउमे, रामे यावि अपच्छिमे'' ॥२॥ इति।

(कित्तीपुरिसाणं ति) कीर्तिप्रधानपुरुषाणामिति।

''महुरा य कणगवत्थू, सावत्थी पोयणं च रायगिहं।
कायंदी कोसंबी, मिहिलपुरी हत्थिणपुरं च ॥१॥''

तथा–

''गावि जुए संगामे, तह इत्थिपराहओ रंगे।
भज्झाणुराग गोट्ठी, परइड्ढी माउयाई य'' ॥१॥ इति।

तथा–

''अस्सग्गीवे तारए, मेरए मेहुकेढमे निसुंडे–।
बलि पहलाए तह रावणे य नवमे जरासंधो ॥१॥''
''एए खलु पडिसत्तू, कित्तीपुरिसाण वासुदेवाणं।
सव्वे वि चक्कजोही, सव्वे वि हया सचक्केहिं ॥२॥
अणियाणकडा रामा, सव्वे वि य केसवा नियाणकडा।
उड्ढगामी रामा, केसव सव्वे अहोगामी ॥३॥'' इति।

(आगमिस्सेणं ति) आगमिष्यता कालेन। ''आगमिस्साणं ति'' पाठान्तरम्। आगमिष्यतां भविष्यतां मध्ये सेत्स्यन्तीति। स०।

(८४) तीर्थोत्पत्तिः–

तेवीसाए पढमे, वीए वीरस्स पुण समोसरणे।
संघो१पढमगणहरो२, सुयं च३तित्थं समुत्पन्नं ॥२०६॥

त्रयोविंशतिजिनानां प्रथमसमवसरणे तीर्थं समुत्पन्नम्, वीरस्य पुनर्द्वितीये समवसरणे तीर्थं समुत्पन्नम्। तीर्थं नाम प्रवचनं, तच्च निराधारं न भवति, तेन साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपः चतुर्वर्णः संघः। तथा प्रथमगणधर आद्यगणभृत्, श्रुतं द्वादशाङ्गीरूपम्, एतत्त्रयरूपं तीर्थं समुत्पन्नम्। सत्त० १०० द्वार। आ०म०।

(८५) निर्गमनकालं प्रतिपादयन्नाह–

पासो अरिट्ठनेमी, सेज्जंसो सुमति मल्लिनाथो य।
पुव्वण्हे निक्खंता, सेसा पुण पच्छिमण्हम्मि ॥२१०॥

पार्श्वनाथोऽरिष्टनेमिः, श्रेयांसः, सुमतिर्मल्लिनाथः, एते पञ्च तीर्थकृतः पूर्वाह्णे निष्क्रान्ताः। शेषाः पुनः श्रीऋषभस्वामिप्रभृतयः पश्चिमाह्णे निष्क्रान्ताः। आ०म०१अ०१खण्ड।

(८६) दर्शननामानि, तदुत्पत्तिं चाऽऽह–

जइणं सइवं संखं, वेअंतिअनाहिआण बुद्धाणं।
वइसेसिआण वि मयं, इमाइँ सग दरिसणाइँ कमा ॥३३९॥
तिन्नि उसहस्स तित्थे, जायाइं सीयलस्स ते दुन्नि।
दरिसणमेगं पासस्स सत्तमं वीरतित्थम्मि ॥३४०॥

(जइणं सइव संखं) जैनं १ शैवं २ साङ्ख्यम् ३ (वेअंतिअनाहि–आण बुद्धाणं ति) वेदान्तिकानां मतं४नास्तिकानां मतं ५ बौद्धानां मतम्६(वइसेसिआण वि मयं) वैशेषिकानामपि मत्रम् ७, (इमाइँ सग दरिसणाइँ कडा) इमानि सप्त दर्शनानि क्रमादनुक्रमेण भवन्तीति गाथाऽर्थः ॥३३९॥ (तिन्नि उसहस्स तित्थे जायाइं ति) पूर्वगाथान्यवर्त्तिक्रमशब्दस्येहसंबन्धादाद्यानि त्रीणि दर्शनानि ऋषभतीर्थे जातानि ३। (सीयलस्स ते दुन्नि) शीतलस्य तीर्थे ते द्वे दर्शने, तदग्रे चतुर्थपञ्चमे जाते ५, (दरिसणमेगं पासस्स) एकं तदग्रेतनं षष्ठं दर्शनं पार्श्वस्य तीर्थे ६, (सत्तमं वीरतित्थम्मि) सप्तमं दर्शनं वीरतीर्थे संजातमिति गाथाऽर्थः ॥३४०॥ सत्त० १६८ द्वार।

दीक्षानक्षत्राणि च्यवनवत्। सत्त० ६० द्वार।

(८७) व्रतपर्यायः–

उसभस्स पुव्वलक्खं, पुव्वंगूणमजियस्स तं चेव।
चउरंगूणं लक्खं, पुणो पुणो जाव सुविहि त्ति ॥

(अस्मिन्नेव शब्दे २२६४ पृष्ठे पूर्वं केवलिपर्याये व्याख्यातैषा)

पणवीसं तु सहस्सा, पुव्वाणं सीयलस्स परियायो।
लक्खाइँ एक्कवीसं, सिज्जंसजिणस्स वासाणं ॥
चउपन्नं पन्नारस, तत्तो अद्धट्ठमाइँ लक्खाइं।
अड्ढाइज्जाइँ ततो, वाससहस्साइँ पणवीसं ॥
तेवीसं च सहस्सा, सयाणि अद्धट्ठमाणि य हवंति।
इगवीसं च सहस्सा, वाससऊणा य पणपन्नं ॥
अद्धट्ठमा सहस्सा, अड्ढाइज्जाइँ सत्त य सयाइं।
सयरी विचत्तवासा, दिक्खाकालो जिणिंदाणं ॥

पञ्चविंशतिः पूर्वाणां सहस्राणि शीतलस्य पर्यायो व्रतपर्यायः। श्रेयांसजिनस्य वर्षाणां लक्षाण्येकविंशतिः। वासुपूज्यस्य चतुष्पञ्चाशद्वर्षलक्षाणि। विमलनाथस्य पञ्चदशवर्षलक्षाणि। ततोऽनन्तरमनन्तजितोऽर्द्धाष्टमानि, सार्द्धानि सप्तवर्षलक्षाणि व्रतपर्यायः। धर्मनाथस्यार्द्धतृतीयानि वर्षशतसहस्राणि। शान्तिनाथस्य पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि। कुन्थुनाथस्य त्रयोविंशवर्षसहस्राणि शतानि चार्द्धाष्टमानि अरस्वामिन एकविंशतिवर्षसहस्राणि। मल्लिनाथस्य वर्षशतोनानि पञ्चपञ्चाशद्वर्षसहस्राणि। मुनिसुव्रतस्वामिनोऽर्द्धाष्टमानि वर्षसहस्राणि। नमिनाथस्यार्द्धतृतीयानि वर्षशतानि। अरिष्टनेमेः सप्त शतानि। पार्श्वनाथस्य सप्ततिर्वर्षाणाम्। वर्द्धमानस्वामिनो द्वाचत्वारिंशत्। एष यथाक्रमं जिनेन्द्राणामृषभाऽऽदीनां दीक्षाकालो व्रतपर्यायः। आ० म० १ अ० १ खण्ड।

दीक्षातरुः–

....., णिक्खंताऽसोगतरुतले सव्वे। (१५७)

सर्वे २४ जिना अशोकतरोरधो निष्क्रान्ताः। सत्त० ६८ द्वार। (८८)

संप्रति यो येन तपसा निष्क्रान्तस्तदभिधित्सुराह–

सुमइऽत्थ निच्चभत्तेण निग्गतो वासुपुज्ज(जिणो) चोत्थेण।
पासो मल्ली वि य अट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं ॥३८७॥

सुमतिरत्र–अस्यामवसर्पिण्यां चतुर्विंशतितीर्थकृत्सु मध्ये नित्यभक्तेनानवरतभक्तेन निष्क्रान्तः। वासुपूज्यो जिनश्चतुर्थेन, एकेनोपवासेनेत्यर्थः। पार्श्वनाथो मल्लिरपि चाष्टमेन त्रिभिरुपवासैः। शेषास्तु ऋषभस्वामिप्रभृतयः षष्ठेन द्वाभ्यामुपवासाभ्यां निष्क्रान्ताः। आ०म०१ अ०१ खण्ड। ती०। स०।

(८९) दीक्षापरिवारः–

एगो भगवं वीरो, पासो मल्ली य तिहिँ तिहिँ सएहिं।
भगवं पि वासुपुज्जो, छहिँ पुरिससएहिँ निक्खंतो ॥३८५॥
उग्गाणं भोगाणं, रायण्णाणं च खत्तियाणं च।
चउहिँ सहसेहिँ उसहो, सेसा उ सहस्सपरिवारा ॥३८६॥

तत्र एको भगवान् वीरो वर्द्धमानस्वामी प्रव्रजितः, न केनाऽपि सह तेन व्रतं गृहीतमित्यर्थः। पार्श्वनाथो, भगवांश्च मल्लिस्त्रिभि–स्त्रिभिः शतैः सह व्रतमग्रहीत्। अत्र च मल्लिस्वामी स्त्रीणां पुरुषाणां च प्रत्येकं त्रिभिस्त्रिभिः शतैः सह प्रव्रजितः, ततो मिलितानि षट् शतानि भवन्ति। यत्सूत्रे त्रिभिः शतैरित्युक्तं तत्र केवलाः स्त्रियः पुरुषा वा गृहीताः, द्वितीयः पुनः पक्षः सत्रपि न विवक्षित इति सम्प्रदायः। स्थानाङ्गटीकायामप्युक्तम्–मल्लिजिनः स्त्रीशतैरपि त्रिभिरिति। भगवानपि वासुपूज्यः षड्भिः पुरुषशतैः सह निष्क्रान्तः, संसारकान्तारान्निर्गतः, प्रव्रजित इति यावत् ॥३८५॥ (''वासुपुज्जे णं अरहा छहिं पुरिससएहिं मुंडे भवित्ता।'' स्था०६ ठा०) उग्राणामारक्षकस्थानीयानां, भोगानां गुरुप्रायाणां, राजन्यानां मित्रप्रायाणां, क्षत्रियाणां सामन्ताऽऽदीनां सर्वसङ्ख्यया चतुर्भिः सहस्रैः सहऋषभजिनः प्रथमो जिनो निष्क्रान्तः, व्रतं जग्राहेत्यर्थः। शेषास्तु वीरपार्श्वमल्लिवासुपूज्यनाभेयव्यतिरिक्ता जिना अजिताऽऽदय एकोनविंशतिः, सहस्रपरिवारा पुरुषसहस्रसहिताः प्राव्राजिषुरिति ॥३८६॥ प्रव० ३१ द्वार। आ०म०। स०। सत्त०।

(९०) दीक्षापुरम्–

उसभो अ विणीयाए, बारवईए अरिट्ठवरणेमी।
अवसेसा तित्थयरा, निक्खंता जम्मभूमीसु ॥

ऋषभस्वामी भगवान् विनीतायां नगर्यां निष्क्रान्तः; द्वारवत्यामरिष्टनेमिः; अवशेषा अजितस्वामिप्रभृतयस्तीर्थकरा निष्क्रान्ता जन्मभूमिषु; यत्र जातास्तत्र निष्क्रान्ता इति भावः। आ०म० १ अ०१ खण्ड। स०। सत्त०।

दीक्षासमये मनःपर्यवज्ञानम्–

....., जायं च चउत्थ मणनाणं ॥ (१५८)

दीक्षायां गृहीतायां तस्मिन् समये सर्वेषां जिनानां चतुर्थं मनः पर्यवज्ञानं जातम्। सत्त० ७१ द्वार।

(९१) दीक्षामासादयः–

जम्मं व मासपक्खा, नवरं सुवयस्स सुद्धफग्गुणिओ।
नमिवीराण वयम्मी, कसिणा आसाढमग्गसिरा॥२४६॥
अट्ठमि नवमी पुन्निम, दुदसि नवमि तेरसीतिगं छट्ठी।
बारसि तेरसि पनरसि, चउत्थि चउदसि य तेरसिया॥२४७॥
चउदसि पंचमिगारसि, एगारसि बारसिय नवमि छट्ठी य।
एगारसि दसमि तिही, वयम्मि उडुरासि पुव्वं व॥२४८॥

व्रतमासाऽऽदिनक्षत्राणि राशयश्च कथ्यन्ते। (जम्मं व मासपक्ख त्ति) जन्मवद् मासपक्षाः–जन्मकल्याणके ये मासाः पक्षाश्च कथिताः, दीक्षाकल्याणकेऽपि त एव ज्ञेया इत्यर्थः। (नवरं ति) एतावान् विशेषो ज्ञेयः–(सुवयस्स सुद्धफग्गुणिओ त्ति) सुव्रतस्य मुनिसुव्रतस्य व्रते फाल्गुनिको मासः। (नमिवीराण वयम्मि त्ति) नमिजिनवीरजिनयोर्व्रते (कसिणा आसाढमग्गसिर त्ति) कृष्णावाषाढमार्गशीर्षौ, तत्र नमिजिनस्य व्रते कृष्ण आषाढमासः। श्रीवीरजिनस्य व्रते कृष्णो मार्गशीर्षमासः। इति गाथार्थः॥२४६॥ (अट्ठमि नवमी पुन्निम) अष्टमी, नवमी, पूर्णिमा (दुदसि नवमि तेरसी तिगं छट्ठी) द्वादशी, नवमी, त्रयोदशी त्रिकम्, षष्ठी (बारसि तेरसि पनरसि) द्वादशी १० त्रयोदशी ११ अमावास्या १२ (चउत्थि चउदसि अ तेरसिया) चतुर्थी १३ चतुर्दशी च १४ त्रयोदशिका १५। इति गाथार्थः॥२४७॥ (चउदसि पंचमिगारसि) चतुर्दशी १६ पञ्चमी १७ एकादशी १८ (एगारसि बारसि नवमि छट्ठी) एकादशी १९ द्वादशी २० नवमी २१ षष्ठी च २२ (एगारसि दसमि तिही) एकादशी २३ दशमी २४ तिथिः। (वयम्मि उडुरासि पुव्वं व त्ति) व्रते नक्षत्रराशयः पूर्ववत्। ''इय चवणरिक्खरासी, जम्मे दिक्खा वि णाणे वि'' इति पूर्वमुक्तत्वात् ये च्यवनसमये नक्षत्रराशयो, व्रतेऽपि त एव ज्ञेयाः। इति गाथार्थः॥२४८॥ सत्त० ५९ द्वार। दीक्षाराशिश्चयवनवत्। सत्त० ६१ द्वार।

दीक्षालिङ्गम्–

न उ नाम अन्नलिंगे, न य गिहिलिंगे कुलिंगे वा॥

सर्व एव तीर्थकृतस्तीर्थकरलिङ्ग एव निष्क्रान्ताः, न तु नाम अन्यलिङ्गे, गृहिलिङ्गे, कुलिङ्गे वा। आ०म०१ अ०१ खण्ड। (अन्यलिङ्गाऽऽद्यर्थाऽन्यत्र)

दीक्षालोचमुष्टिः–

कयपंचमुट्ठिलो आ, उसहो चउमुट्ठिकयलोओ। (२५०)

कृतपञ्चमुष्टिलोचास्त्रयोविंशतिर्जिनाः, ऋषभः चतुर्मुष्टिकृतलोचो जातः। सत्त० ६९ द्वार।

दीक्षावनानि–

उसभो सिद्धत्थवणम्मि वासुपुज्जो विहारगिहगम्मि।
धम्मो य वप्पगाए, नीलगुहाए मुणी नाम॥
आसमपयम्मि पासो, वीरजिणिंदो य नायसंडम्मि।
अवसेसा पव्वइया, सहसंववणम्मि उज्जाणे॥

ऋषभः–ऋषभस्वामी सिद्धार्थवने उद्याने निष्क्रान्तः, वासुपूज्यो विहारगृहके विहारगृहकाभिधाने उद्याने; धर्मो धर्मस्वामी भगवान् वप्रगायां वप्रगाभिधाने उद्याने। तथा च वक्ष्यति–

''सेसाण केवलाइं, जेसुज्जाणेसु पव्वइया।'' एवं नीलगुहायां नीलगुहाभिधाने उद्याने मुनिनामा मुनिसुव्रतनामा तीर्थकरो निष्क्रान्तः। तथा आश्रमपदे आश्रमपदाभिधाने उद्याने पार्श्वनाथो निष्क्रान्तः, वीरजिनेन्द्रो ज्ञातखण्डे ज्ञातखण्डाभिधे उद्याने। अवशेषा अजितस्वामिप्रभृतयस्तीर्थकराः सहस्राम्रवणे निष्क्रान्ताः। आ० म० १अ०१ खण्ड।

यस्मिन्वयसि निष्क्रान्तास्तदभिधित्सुराह–

वीरो अरिट्ठनेमी, पासो मल्ली य वासुपुज्जो अ।
पढमवए पव्वइया, सेसा पुण मज्झिमवयम्मि॥

वीरो महावीरः, अरिष्टनेमिः, पार्श्वनाथो, मल्लिर्वासुपूज्य इत्येते पञ्च तीर्थकृतः प्रथमवयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिताः। शेषाः पुनः ऋषभस्वामिप्रभृतयो मध्यमे वयसि यौवनलक्षणे वर्तमानाः प्रव्रजिताः। आ०म०१अ०२खण्ड।

(९२) दीक्षाशिबिका–

एएसिं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं सीयाओ होत्था। तं जहा–

''सीया सुदंसणा सुप्पभा य सिद्धत्थ सुप्पसिद्धा य।
विजया य वेजयंती, जयंति अपराजिया चेव॥१४॥
अरुणप्पभ चंदप्पभ, सूरप्पभ अग्गिसप्पभा चेव।
विमला य पंचवण्णा, सागरदत्ता य णागदत्ता य॥१५॥
अभयकरा निव्वुइकरि, मणोरमा तह मणोहरा चेव।
देवकुर उत्तरकुरा, विसाल चंदप्पभाई य॥१६॥
एआओ सीआओ, सव्वेसिं चेव जिणवरिंदाणं।
सव्वजगवच्छलाणं, सव्वोउयसुखयछायाए॥१७॥
पुव्विं ओखित्ता मणुजेहिं सा हट्ठरोमकूवेहिं।
पच्छा वहंति सीयं, असुरिंदसुरिंदनागिंदा॥१८॥
चलचवलकुंडलधरा, सच्छंदविकुव्वियाभरणधारी।
सुरअसुरवंदिआणं, वहंति सीअं जिणिंदाणं॥१९॥
पुरओ हवंति देवा, नागा पुण दाहिणम्मि पासम्मि।
पच्चिछमेण असुरा, गरुला पुण उत्तरे पासे''॥२०॥

(सव्वोउयसुखयछायाए त्ति) सर्वर्तुकया सर्वेषु शरदादिषु ऋतुषु सुखदया छायया प्रभया आतपाभावलक्षणया वा, युक्ता इति शेषः। तथा–(सा हट्ठरोमकूवेहिं ति) सा शिबिका यस्यां जिनोऽध्यारूढः, हृष्टरोमकूपैरुद्धुषितरोमभिरित्यर्थः। तथा (चलचवलकुंडलधर त्ति) चलाश्च ते चपलकुण्डलधराश्चेति वाक्यम्। तथा स्वच्छन्देन स्वरुच्या विकुर्वितानि यान्याभरणानि मुकुटाऽऽदीनि तानि धारयन्ति ये ते तथा। असुरेन्द्राऽऽदय इति योगः। (गरुल त्ति) गरुडध्वजाः सुपर्णकुमारा इत्यर्थः। रा०। सत्त०।

(९३) अथ षट् पञ्चाशद्दिक् कुमारीस्थानान्याह। दिक्कुमारिका नाम–दिक्कुमारभवनपतिविशेषजातिजा देव्यः–

मेरुअहउड्ढलोया, चउदिसि रुयगाउ अट्ठ पत्तेअं।
चउ विदिसिमज्झरुयगा, इंती छप्पन्न दिसिकुमरी॥१०१॥

(मेरुअहउड्ढलोय त्ति) मेरोरधोलोकात् १, ऊर्द्धलोकः–

त २। तत्र अधोलोके गजदन्तगिरिचतुष्टयस्याधस्तादष्टानां दिक्-कुमारीणां भवनानि सन्ति। एतच्च सामान्यमात्रेणैव स्थानमुक्तम्। विशेषेण तु संप्रदायगम्यम्। तथा- ऊर्द्धलोके मेरोरुपरि नन्दनवने अष्टौ कूटानि सन्ति। तेषामुपरि अष्टानां दिक्कुमारीणां भवनानि सन्ति। (चउदिसि रुयगाउ त्ति) चतुर्दिग्वर्तिरुचकात् रुचकाद्रेर्दिक्चतुष्टयादित्यर्थः। (अट्ठ पत्तेयं ति) एतेभ्यः षट्स्थानकेभ्यः प्रत्येकमष्टावष्टौ समागच्छन्ति। एवमष्टचत्वारिंशद् दिक्कुमार्यो जाताः। (चउ विदिसिभज्झरुयग त्ति) चतस्रो विदिक् रुचकात्, रुचकगिरिविदिग्भ्य इत्यर्थः। चतस्रो मध्यरुचकान्तात् रुचकद्वीपमध्यादित्यर्थः। (इंती छप्पन्न दिसिकुमरी) आगच्छन्ति एवं षट् पञ्चाशद् दिक् कुमार्यः। इति गाथार्थः ॥१०१॥ सत्त० ३३ द्वार।

अधोलोकवासिन्योऽष्टकुमार्यः-

जया णं एक्कमेक्के चक्कवट्टिविजए भगवंतो तित्थयरा समुप्पज्जंति, तेणं कालेणं तेणं समएणं अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीओ महत्तरिआओ सएहिं सएहिं कूडेहिं सएहिं सएहिं भवणेहिं सएहिं सएहिं पासायवडेंसएहिं पत्तेअं पत्तेअं चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं चउहिं महत्तरिआहिं सपरिवाराहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीआहिवईहिं सोलसएहिं आयरक्खदेव-साहस्सीहिं अण्णेहि अबहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं देवीहि अ सद्धिं संपरिवुडाओ महयाहयणट्टगीअवाइअ०जाव भोगभोगाइं भुंजमाणीओ विहरंति। तं जहा-

''भोगंकरा १ भोगवई २, सुभोगा ३ भोगमालिनी ४।
तोयधारा५ विचित्ता य ६, पुप्फमाला ७ अणिंदिया''॥८१॥

(तेणं कालेणं इत्यादि) तस्मिन् काले संभवजिनजन्मके भरतैरावतेषु तृतीयचतुर्थारकलक्षणे, महाविदेहेषु चतुर्थारकप्रविभागलक्षणे, तत्र सर्वदाऽपि तदाद्यसमयसदृशकालस्य विद्यमानत्वात्। तस्मिन् समये सर्वत्राप्यर्द्धरात्रलक्षणे, तीर्थकराणां हि मध्यरात्र एव जन्मसंभवात्। अधोलोकवास्तव्याः, चतुर्णां गजदन्तानामधः समभूतलाद् नवशतयोजनरूपां तिर्यग् लोकव्यवस्थां विमुच्य प्रतिगजदन्तं द्विद्विभावेन तत्र भवनेषु वसनशीलाः। यत्तु गजदन्तानां षष्ठपञ्चमकूटेषु पूर्वं गजदन्तसूत्रे आसां वासः प्ररूपितः, तत्र क्रीडार्थमागमनं हेतुरिति, आसामपि चतुःशतयोजनाऽऽदिपञ्चशतयोजनाऽऽदिपञ्चशतयोजनपर्यन्तोच्चत्वगजदन्तगिरिगतं पञ्चाशतिककूटगतप्रासादावतंसकवासित्वेन नन्दनवनकूटगतमेघङ्कराऽऽदिदिक्कुमारीणामिवोर्द्धलोकवासित्वाऽऽपत्तिः। अथ प्रकृतं प्रस्तुमः-अष्टौ दिक् कुमार्यो दिक् कुमारा भवनपतिजातीयाः, महत्तरिकाः स्ववर्गेषु प्रधानतरिकाः, स्वकेषु स्वकेषु कूटेषु गजदन्ताऽऽदिगिरिवर्तिषु, स्वकेषु स्वकेषु भवनेषु भवनपतिदेवाऽऽवासेषु, स्वकेषु स्वकेषु प्रासादावतंसकेषु स्वस्वकूटवर्त्तिक्रीडाऽऽवासेषु। सूत्रेषु च सप्तम्यर्थे तृतीया प्राकृतत्वात्। प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्भिः सामानिकानां दिक्कुमारिसदृशद्युतिविभवाऽऽदिकदेवानां सहस्रैः, चतसृभिश्च महत्तरिकाभिर्दिक्कुमारिकातुल्यविभवाऽऽदिभिस्ताभिरनतिक्रमणीयवचनाभिश्च स्वस्वपरिवारसहिताभिः, सप्तभिरनीकैर्हस्त्यश्वरथपदातिमहिषगन्धर्वनाट्यरूपैः, सप्तभिरनीकाधिपतिभिः, षोडशभिरात्मरक्षकदेवसहस्रैरित्यादिकं सर्वं विजयदेवाधिकार इव व्याख्येयम्। ननु कासाञ्चिद्दिक्कुमारीणां युक्त्या स्थानाङ्गे पल्योपमस्थितेर्भणनात् समानजातीयत्वेनासामपि तथाभूतायुषः संभाव्यमानत्वाद् भवनपतिजातीयत्वं सिद्धम्, तेन भवनपतिजातीयानां वानमन्तरजातीयपरिकरः कथं संगच्छते? उच्यते-एतासां महर्द्धिकत्वेन ये आज्ञाकारिणो व्यन्तरास्ते ग्राह्या इति। अथवा-वानमन्तरशब्देनाऽत्र वनानामन्तरेषु चरन्तीति यौगिकार्थसंश्रयणाद् भवनपतयोऽपि वानमन्तरा इत्युच्यते। उभयेषामपि प्रायो वनकूटाऽऽदिषु विहरणशीलत्वादिति सम्भाव्यते। तत्त्वं तु बहुश्रुतगम्यमिति सर्वं सुस्थम्। अथैतासां नामान्याह-(तं जहा इत्यादि) तद्यथा-''भोगंकरा'' इत्यादि। रूपकमेतत् कण्ठ्यम्।

एतासामासनानि चलन्ति-

तए णं तासिं अहोलोगवत्थव्वाणं अट्ठण्हं दिसाकुमारीणं महत्तरिआणं पत्तेअं पत्तेअं आसणाइं चलंति। तए णं ताओ अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीओ महत्तरिआओ पत्तेअं पत्तेअं आसणाइं चलिआइं पासंति, पासित्ता ओहिं पउंजंति, पउंजित्ता भगवं तित्थयरं ओहिणा आभोएंति, आभोएत्ता अण्णमण्णं सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं बयासीउप्पण्णे खलु भो! जंबुद्दीवे भयवं तित्थयरे, तं जीयमेअंतीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं अहोलोगवत्थव्वाणं अट्ठण्हं दिसाकुमारीमहत्तरिआणं भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करित्तए, तं गच्छामो णं अम्हे वि भगवओ तित्थगरस्स जम्मणमहिमं करेमो त्ति कट्टु एवं वयंति, वइत्ता पत्तेअं पत्तेअं आभिओगिए देवे सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं बयासी॥

अथैतास्वेवं विहरन्तीषु सतीषु किं जातमित्याह-(तए णमित्यादि) ततस्तासामधोलोकवास्तव्यानामष्टानां दिक्कुमारीणां महत्तरिकाणां प्रत्येकं प्रत्येकमासनानि चलन्तीति। अथैताः किं किमकार्षुरित्याह-(तए णमित्यादि) तत आसनप्रकम्पानन्तरं ता अधोवास्तव्या अष्टौ दिक्कुमार्यो महत्तरिकाः प्रत्येकं प्रत्येकमासनानि चलितानि पश्यन्ति, दृष्ट्वा चाऽवधिं प्रयुञ्जन्ति, प्रयुज्य भगवन्तं तीर्थकरमवधिना आभोगयन्ति, आभोग्य च अन्यमन्यं शब्दयन्ति, शब्दयित्वा च एवमवादिषुः। यदवादिषुस्तदाह-(उप्पण्णे इत्यादि) उत्पन्नः खलु भो!: जम्बूद्वीपे भगवांस्तीर्थङ्करः, तज्जीतमेतत्कल्प एषोऽतीतप्रत्युत्पन्नानागतानामधोलोकवास्तव्यानामष्टानां दिक्कुमारीमहत्तरिकाणां भगवतो जन्ममहिमां कर्तुं, तद्गच्छामो वयमपि भगवतो जन्ममहिमां कुर्म इति कृत्वा, धातूनामनेकार्थत्वान्निश्चित्य मनसा एवमनन्तरोक्तं वदन्ति, उदित्वा च प्रत्येकं प्रत्येकमाभियोगिकान् देवान् शब्दयन्ति, शब्दयित्वा चैवमवादिषुः।

किमवादिषुरित्याह-

खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ! अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे

लीलट्ठिअ०एवं विमाणवण्णओ भाणिअव्वो०जाव जोअणवित्थिण्णे दिव्वे जाणविमाणे विउव्वेह, विउव्वित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह। तए णं ते आभिओगा देवा अणेगखंभसय०जाव पच्चप्पिणंति।

(खिप्पामेव इत्यादि) भो देवानुप्रियाः ! क्षिप्रमेवाऽनेकस्तम्भशतसन्निविष्टानि लीलास्थितशालभञ्जिकानीत्येवमनेन क्रमेण विमानवर्णको भणितव्यः। स चायम्– ''ईहामिगउसभतुरगणरमगरविहगबालकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ते खंभुग्गयवरवइरवेइआपरिगयाभिरामे विज्जाहरजमलजुअल–जंतजुत्ते विव अच्चीसहस्समालिणीए रूवगसहस्सकलिए भिसमाणे भिब्भिसमाणे चक्खुल्लोअणलेसे सुहफासे सस्सिरीअरूवे घंटावलियमहुरमणहरसरे सुभे कंते दरिसणिज्जे णिउणोचियमिसिमिसिंतमणिरयणघंटिआजालपरिक्खित्ते।'' कियत्पर्यन्तमित्याह– यावद्योजनविस्तीर्णानि दिव्यानि यानायेष्टस्थाने गमनाय विमानानि, अथवा यानरूपाणि वाहनरूपाणि विमानानि यानविमानानि, विकुर्वतवैक्रियशक्त्या संपादयत, विकुर्विर्त्वा एतामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पयत। अथ यानवर्णकव्याख्या प्राग्वद् ज्ञेया, तोरणाऽऽदिवर्णकेषु एतद्विशेषणस्य व्याख्यातत्वात्। ततस्ते किं चक्रुरित्याह–(तए णमित्यादि) ततस्ते आभियोगिका देवा अनेकस्तम्भशतसंनिविष्टानि यावदाज्ञां प्रत्यर्पयन्ति॥

अथैताः किं कुर्वन्तीत्याह–

तए णं ताओ अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारिमहत्तरिआओ पत्तेअं पत्तेअं चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं चउहिं महत्तरिआहिं०जाव अण्णेहिं बहूहिं देवेहिं देवीहि अ सद्धिं संपरिवुडाओ ते दिव्वे जाणविमाणे दुरूहंति, दुरूहित्ता सव्विड्ढीए सव्वजुईए घणमुइंगपणवपवाइअरवेणं ताए उक्किट्ठाए०जाव देवगईए जेणेव भगवओ तित्थगरस्स जम्मणणगरे जेणेव तित्थयरस्स जम्मणभवणे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणं तेहिं दिव्वेहिं जाणविमाणेहिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति, करित्ता उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए ईसिं चउरंगुलमसंपत्ते धरणिअले ते दिव्वे जाणविमाणे ठविंति, ठवित्ता पत्तेअं पत्तेअं चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं०जाव सद्धिं संपरिवुडाओ दिव्वेहिंतो जाणविमाणेहिंतो पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता सव्विड्ढीए०जाव णाइएणं जेणेव भगवं तित्थयरे तित्थयरमाया य तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंत्तिा भगवं तित्थयरमायरं च तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति, करित्ता पत्तेअं पत्तेअं करयलपरिग्गहिअं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं बयासी।

''तए णं ताओ'' इत्यादि। ततस्ता अधोलोकवास्तव्या अष्टौ दिक्कुमारमहत्तरिकाः, हट्ठतुट्ठेत्याद्येकदेशदर्शनेन संपूर्ण आलापको ग्राह्यः। स चायम्–''हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिआ पीअमणा परमसोमणस्सिआ हरिसवसविसप्पमाणहिअया विअसिअवरकमलनयणवयणपचलिअवरकडगतुडिअकेऊरमउडकुंडलहारविरायंतरइअवच्छा पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरा ससंभमं तुरिअं चवलं सीहासणाओ अब्भुट्ठेंति, अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता'' इति। प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्भिः सामानिकसहस्रैः चतसृभिश्च महत्तरिकाभिर्यावदन्यैर्बहुभिर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृताः, तानि दिव्यानि यानविमानान्यारोहन्ति। आरोहणोत्तरकालं येन प्रकारेण सूतिकागृहमुपतिष्ठन्ते तथाऽऽह–(दुरूहित्ता इत्यादि) आरुह्य च सर्वर्द्ध्या सर्वद्युत्या घनमृदङ्ग मेघवद् गम्भीर–ध्वनिकं मृदङ्गं, पणवो मृत्पटहः, उपलक्षणमेतत्तेनान्येषामपि तूर्याणां संग्रहः। एतेषां प्रवादितानां यो रवस्तेन तया उत्कृष्टया, यावत्करणात्– ''तुरिआए चवलाए'' इत्यादि पदसंग्रहः प्राग्वत्। देवगत्या यत्रैव भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मनगरं यत्रैव च तीर्थकरस्य जन्मभवनं तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवनं तैर्दिव्यैर्यानविमानैस्त्रिःकृत्व आदक्षिणप्रदक्षिणां कुर्वन्ति, त्रीन् वारान् प्रदक्षिणयन्तीत्यर्थः। त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य च उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे ईशानकोणे ईषच्चतुरङ्गुलमसंप्राप्तानि धरणितले तानि दिव्यानि यानविमानानि स्थापयन्तीति। अथ यच्चक्रुस्तदाह–स्थापयित्वा च प्रत्येकं प्रत्येकम्, अष्टावपीत्यर्थः। चतुर्भिः सामानिकसहस्रैर्यावत् सार्द्धं संपरिवृता दिव्येभ्यो यानविमानेभ्यः प्रत्यवरोहन्ति, प्रत्यवरुह्य च सर्वर्द्ध्या, यावच्छब्दात् सर्वद्युत्यादिपरिग्रहः। कियत्पर्यन्तमित्याह– ''संखपणवभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरजमुइंगदुंदुहिनिग्घोसनाइएणं ति।'' यत्रैव भगवांस्तीर्थकरस्तीर्थकरमाता च तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं तीर्थकरमातरं च त्रिः प्रदक्षिणयन्ति, त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य च प्रत्येकं प्रत्येकं करतलपरिगृहीतं शिरस्यावर्त्तं मस्तके अञ्जलिं कृत्वा, एवं वक्ष्यमाणमवादिषुः।

तदाह–

णमोऽत्थु ते रयणकुच्छिधारिए ! जगप्पईवदीविए ! सव्वजगमंगलस्स चक्खुणो अ मुत्तस्स सव्वजगजीववच्छलस्स हिअकारगमग्गदेसिअवागिड्ढिविमुप्पमुस्स जिणस्स णाणिस्स नायगस्स बुद्धस्स बोहगस्स सव्वलोगनाहस्स निम्ममस्स पवरकुलसमुब्भवस्स जाईए खत्तिअस्स जं सि लोगुत्तमस्स जणणी, धण्णा सि, तं कयत्था सि, अम्हे णं देवाणुप्पिए ! अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ भगवओ तित्थगरस्स जम्मणमहिमं करिस्सामो, तेणं तुब्भेहिं ण भइअव्वं ति कट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति।

(नमोऽत्थु ते इत्यादि) नमोऽस्तु ते तुभ्यं, रत्नं भगवल्लक्षणं कुक्षौ धरतीति रत्नकुक्षिधारिके ! अथवा–रत्नगर्भावद्गर्भधारकत्वेनाऽपरस्त्रकुक्षिभ्योऽतिशायित्वेन रत्नरूपां कुक्षिं धरतीति, शेषं तथैव। तथा जगद्वर्त्तिजनानां सर्वभावानां प्रकाशकत्वेन प्रदीप इव प्रदीपो भगवान्, तस्य दीपके ! सर्वजगन्मङ्गलभूतस्य चक्षुरिव चक्षुः सकलजगद्भावदर्शकत्वेन तस्य, चः समुच्चये। चक्षुश्च द्रव्यभावभेदाभ्यां द्विधा, तत्राऽऽद्यं भाव-

चक्षुरसहकृतं नार्थप्रकाशकं, तेन भावचक्षुषा भगवानुपमीयते, तच्चामूर्त्तमिति। ततो विशेषमाह--मूर्तस्य मूर्तिमतः, चक्षुर्ग्राह्यस्येत्यर्थः। सर्वजगज्जीवानां वत्सलस्योपकारकस्य। उक्तार्थं विशेषणद्वारेण हेतुमाह--हितकारको मार्गो मुक्तिमार्गः सम्यग् ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः, तस्य देशिका उपदेशिका, दर्शिकेत्यर्थः। तथा विभ्वी सर्वभाषाऽनुगमनेन परिणमनात् सर्वव्यापिनी, सकलश्रोतृजनहृदयसंक्रान्ततात्पर्यार्था, एवंविधा वागृद्धिर्वाक् संपत्, तस्याः प्रभुः स्वामी, सातिशयवचनलब्धिक इत्यर्थः। तस्य। तथाऽत्र विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्। जिनस्य रागद्वेषजेतुः, ज्ञानिनः सातिशयज्ञानयुक्तस्य, नायकस्य धर्मवरचक्रवर्तिनः, बुद्धस्य विदितसत्त्वस्य, बोधकस्य परेषामावेदितत्तत्त्वस्य, सकललोकनाथस्य सर्वप्राणिवर्गस्य बोधिबीजाऽऽधानसंरक्षणाभ्यां योगक्षेमकारित्वात्। निर्ममस्य ममत्वरहितस्य, प्रवरकुलसमुद्भवस्य, जात्या क्षत्रियस्य, एवंविधविख्यातगुणस्य लोकोत्तमस्य, यत्त्वमसि जननी, तत्त्वं धन्याऽसि पुण्यव्रत्यसि, कृतार्थाऽसि, वयं हे देवानुप्रिये! अधोलोकवास्तव्या अष्टौ दिक् कुमारीमहत्तरिकाः भगवतो जन्ममहिमां करिष्यामः, तेन युष्माभिर्न भेतव्यम्--असम्भाव्यमानपरजनाऽऽपातेऽस्मिन् रहःस्थाने इमा विसदृशजातीयाः किमिति शङ्काऽऽकुलं चेतो न कार्यमित्यर्थः। (ति कट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागमित्यादि) इतिकृत्वा प्रस्तावादिदमुक्त्वा, ता एवोत्तरपौरस्त्यं दिग्भागमपक्रामन्ति।

अथैतासामितिकर्त्तव्यमाह--

अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता संखिज्जाइं जोअणाइं दंडं निसिरंति, निसिरित्ता तं जहा रयणाणं०जाव संवट्टगवाए विउव्वंति, विउव्वित्ता तेणं सिवेणं मउएणं अणुद्धूएणं भूमितलविमलकरणेणं मणहरेणं सव्वोउअसुरहिकुसुमगंधाणुवासिएणं पिंडिमनीहारिमगंधुद्धूरेणं तिरिअं पवाइएणं भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणस्स सव्वओ समंता जोअणपरिमंडलं, से जहाणामए कम्मयरदारए सिआ०जाव तहेव जं तत्थ तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा कयवरं वा असुइमचोक्खं पूइअं दुब्भिगंधं, तं सव्वं आहुणिअ आहुणिअ एगंते एडेंति, एडित्ता जेणेव भगवं तित्थयरे तित्थयरमाया य, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमायाए अ अदूरसामंते आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति।

अपक्रम्य च वैक्रियसमुद्घातेन समवघ्नन्ति, समवहत्य च संख्यातानि योजनानि दण्डं निसृजन्ति, निसृज्य च किं ताः कुर्वन्ति? तदेवाऽऽह--तद्यथा रत्नानाम्। यावत्पदात्--''वइराणं वेरुलिआणं लोहिअक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगब्भाणं पुलयाणं सोगंधिआणं जोईरसाणं अंजणाणं पुलयाणं रयणाणं जायरूवाणं अंकाणं फलिहाणं रिट्ठाणं अहावायरे पुग्गले परिसाडेइ, अहासुहुमे पुग्गले परिआएइ, दुच्चं वि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता।'' इति पदसंग्रहः। एततसविस्तरव्याख्या पूर्वभरताभियोगिकदेवानां वैक्रियकरणाधिकारे कृता, तेन ततो ग्रह्या। वाक्ययोजनार्थं तु किञ्चिल्लिख्यते--तेषां रत्नानां बादरान् पुद्गलान् परिशाट्य सूक्ष्मान् पुद्गलान् गृह्णन्ति, पुनर्वैक्रियसमुद्घातपूर्वकं संवर्त्तकवातान् विकुर्वन्ति। बहुवचनं चात्र चिकीर्षितकार्यस्य सम्यक्सिध्यर्थं पुनः पुनर्वातविकुर्वणाज्ञापनार्थम्। विकुर्व्य च तेन तत्कालविकुर्वितेन, शिवेनोपद्रवरहितेन, मृदुकेन भूमिसर्पिणा मारुतेन अनुद्धूतेन अनूर्द्ध्वचारिणा, भूमितलविमलकरणेन मनोहरेण सर्वर्तुकानां षड् ऋतुसम्भवानां सुरभिकुसुमानां गन्धेनानुवासितेन, पिण्डिमः पिण्डितः सन् निर्हारो नातिदूरं विनिर्गमनशीलो यो गन्धः, तेन उद्धूरेण, बलिष्ठेनेत्यर्थः। तिर्यक् प्रवातेन तिर्यक् वातुमारब्धेन, भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवनस्य सर्वतो दिक्षु समन्ताद्विदिक्षु योजनपरिमण्डलम्, ''से जहाणामए कम्मयरदारए सिआ०जाव'' इत्येतत् सूत्रैकदेशसूचितदृष्टान्तिकसूत्रान्तर्गतेन ''तहेव'' इति दार्ष्टान्तिकसूत्र बलादायातेन संमार्जयतीतिपदेन सहान्वययोजना कार्या।

तच्चेदं दृष्टान्तसूत्रम्--

''से जहाणामए कम्मयरदारए सिआ तरुणे बलवं जुगवं जुवाणे अप्पायंके थिरऽग्गहत्थो दढपाणिपाए पिट्ठंतरोरुपरिणए घणनिचिअवलिअवट्टखंधे चम्मेट्ठगदुहणमुट्ठिअसमाहयनिचिअगत्ते उरस्सबलसमण्णागए तलजमलजुअलपरिघबाहू लंघणपवणजइणपमद्दणसमत्थे छेए दक्खे पट्ठे कुसले मेहावी निउण सिप्पोवगए एगं महंतं सलागहत्थगं वा दंडसंपुच्छणिं वा वेणुसिलगिगं वा गहाय रायंगणं वा रायंतेउरं वा देवकुलं वा सभं वा पवं वा आरामं वा उज्जाणं वा अतुरिअमचवलमसंभंतं निरंतरं सुनिऊण सव्वओ समंता संपडिलिज्ज त्ति।''

स यथानामको यत् प्रकारनामकः कर्मकरदारकः स्याद् भवेत्। आसन्नमृत्युर्हि दारको न विशिष्टसामर्थ्यभाग् भवतीत्याह--तरुणः प्रवर्द्धमानवयाः। स च बलहीनोऽपि स्यादित्यत आह--बलवान्। कालोपद्रवोऽपि विशिष्टसामर्थ्यविघ्नहेतुरित्यत आह--युगं सुषमदुःषमाऽऽदिकालः, सोऽदुष्टो निरुपद्रवो विशिष्टबलहेतुर्यस्यास्त्यसौ युगवान्। एवंविधश्च को भवति? युवा यौवनवयस्थः ईदृशोऽपि ग्लानः सन् निर्बलो भवत्यतः--अल्पातङ्कः, अल्पशब्दोऽत्राभाववचनः, तेन निरातङ्क इत्यर्थः। तथा स्थिरः प्रस्तुतकार्यकरणेऽकम्पोऽग्रहस्तो हस्ताग्रं यस्यासौ तथा। दृढं निविडतरचयमापन्नं पाणिपादं यस्य स तथा। पृष्ठं प्रतीतम्, अन्तरे पार्श्वरूपे, उरू सक्थिनी, एतानि परिणतानि परिनिष्ठितां गतानि यस्य स तथा, सुखाऽऽदिदर्शनात् पाक्षिकः क्तान्तस्य परनिपातः, अहीनाङ्ग इत्यर्थः। घननिचितौ निविडतरचयमापन्नौ वलिताविव वलितौ, हृदयाभिमुखौ जातावित्यर्थः। वृत्तौ स्कन्धौ यस्य स तथा। तथा चर्मेष्टकेन चर्मपरिणद्धकुट्टनोपकरणविशेषण द्रुघनेन घनेन, मुष्टिकया च मुष्ट्या समाहताः सन्तस्ताडिताः सन्तो ये निचिता निविडीकृताः प्रवहणप्रेष्यमाणवस्त्रग्रन्थिकाऽऽदयः, तद्वद् गात्रं यस्य तथा। उरसि भवमुरस्यमीदृशेन बलेन समन्वागतः अन्तरोत्साहवीर्ययुक्तः। तलौ तालवृक्षौ, तयोर्यमलं समश्रेणिकं यद्युगलं द्वयं, परिघश्चार्गला, तन्निभे तत् सदृशे दीर्घसरलपीनत्वाऽऽदिना बाहू यस्य स तथा। लङ्घने गर्ताऽऽदेरतिक्रमे, प्लवने मनाक् विक्रमवति गमने, जवनेऽतिशीघ्रगमने, प्रमर्दने कठिनस्याऽपि वस्तुनश्चूर्णने समर्थः। छेकः कलापण्डितः दक्षः कार्याणामविलम्बितकारी, प्रष्ठो वाग्मी, कुशलः सम्यक्क्रियापरिज्ञानवान्, मेधावी सवृत्त श्रुतदृष्टकर्मक्षः, निपुणशिल्पोपगतः निपुणं यथा भवत्येवं शिल्पक्रियासु कौशलमुपगतः

प्राप्तः, एकं महान्तं शलाकहस्तकं सरित्पर्णाऽऽदिशलाकासमुदायं, सरित्पर्णाऽऽदिशलाकामयां सम्मार्जनीमित्यर्थः। वाशब्दो विकल्पार्थः। दण्डसंपुंसनीं दण्डयुक्तां सम्मार्जनीं, वेणुशलाकिकां वंशशलाकानिर्वृत्तां संमार्जनीं गृहीत्वा राजाऽङ्गणं वा, राजाऽन्तः पुरं वा, देवकुलं वा, सभां वा–पुरप्रधानानां सुखं निवेशनहेतुमण्डपिकामित्यर्थः। प्रपां वा पानीयशालाम्, आरामं वा दम्पत्योर्नगराऽऽसन्नरतिस्थानम्, उद्यानं वा क्रीडार्थाऽऽगतजनानां प्रयोजनाभावेनोर्द्धावलम्बितयानवाहनाऽऽद्याश्रयभूतं तरुखण्डम्, अत्वरितमचपलमसंभ्रान्तम्, त्वरायां चापल्ये संभ्रमे वा सम्यक्कचवराऽऽद्यपगमासंभवात्। तत्र त्वरा मानसौत्सुक्यं, चापल्यं कायौत्सुक्यम्, संभ्रमश्च गतिस्खलनमिति। निरन्तरं, न तु अपान्तरालमोचनेन, सुनिपुणमल्पस्याप्यचोक्षस्यापसारणेन संप्रमार्जयेदिति।

अथोक्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकयोजनायाऽऽह–तथैवैता अपि योजनपरिमण्डलं योजनप्रमाणं वृत्तक्षेत्रं संप्रमार्जयन्तीति। यत्तत्र योजनपरिमण्डले, तृणं वा पत्रं वा काष्ठं वा कचवरं वा अशुचि अपवित्रम्, अचोक्षं मलिनं, पूतिकं दुरभिगन्धं, तत्सर्वमाधूय आधूय संचाल्य संचाल्य, एकान्ते योजनपरिमण्डलादन्यत्र एम–यन्त्यपनयन्ति, अपनीय–अर्थात् संवर्त्तकवातोपशमं विधाय च, यत्रैव भगवांस्तीर्थकरः, तीर्थकरमाता च तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवतस्तीर्थकरस्य तीर्थकरमातुश्च नातिदूरासन्ने आगायन्त्यः–आ ईषत् स्वरेण गायन्त्यः प्रारम्भकाले मन्द्रस्वरेण गायमानत्वात्, परिगायन्त्यो गीतप्रवृत्तिकालानन्तरं तारस्वरेण गायन्त्यस्तिष्ठन्ति।

अथोर्ध्वलोकवासिनीनामवसरः–

तेणं कालेणं तेणं समएणं उड्ढलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ सएहिं सएहिं कूडेहिं सएहिं सएहिं भवणेहिं सएहिं सएहिं पासायवडेंसएहिं पत्तेअं पत्तेअं चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं एवं तं चेव पुव्ववण्णिअ०जाव विहरंति।

''तेण कालेणं'' इत्यादि व्यक्तं, नवरम् ऊर्द्धलोकवासित्वं चासां समभूतलात् पञ्चशतयोजनोच्चनन्दनवनगतपञ्चशतिकाऽष्टकूटवासित्वेन ज्ञेयम्। नन्वधोलोकवासिनीनां गजदन्तगिरिगतकूटाष्टके यथा क्रीडानिमित्तको वासः, तथैतासामप्यत्र भविष्यतीति चेद्, मैवम्, यथाऽधोलोकवासिनीनां गजदन्तगिरीणां गन्धभवनेषु वासः श्रूयते, तथैतासामश्रूयमाणत्वेन तत्र निरन्तरं वासः, ततश्चोर्द्धलोकवासित्वम्॥

ताश्चेडा नामतः पद्यबन्धेनाऽऽह–

तं जहा–

''मेहंकरा मेहवई, सुमेहा मेहमालिणी।
सुवच्छा वच्छमित्ता य, वारिसेणा बलाहगा''॥१॥

मेघङ्करा, मेघवती, सुमेधा, मेघमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा, चः समुच्चये। वारिषेणा, बलाहका।

अथ तासां यद् वक्तव्यं तदाह। आसनानि चलन्ति–

तए णं तासिं उड्ढलोगवत्थव्वाणं अट्ठण्हं दिसाकुमारीमहत्तरिआणं पत्तेअं पत्तेअं आसणाइं चलंति। एवं तं चेव पुव्ववण्णिअं भाणिअव्वं०जाव अम्हे णं देवाणुप्पिए! उड्ढलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ भगवओ तित्थगरस्स जम्मण–महिमं करिस्सामो, तेणं तुब्भेहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता०जाव अब्भवद्दलए विउव्वंति, विउव्वित्ता०जाव तं निहयरयं णट्ठरयं भट्ठरयं पसंतरयं उवसंतरयं करें ति, करेत्ता खिप्पामेव पच्चुवसमंति, एवं पुप्फवद्दलंसि पुप्फवासं वासंति, वासित्ता०जाव कालागुरुपवर०जाव सुरवराभिगमणजोग्गं करेंति, करेत्ता जेणेव भयवं तित्थयरे, तित्थयरमाया य, तेणेव उवागच्छंति, उवाग–च्छित्ता जाव०आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति।

''तए णं तासिं उड्ढलोगवत्थव्वाणं'' इत्यादि व्यक्तम्, नवरं तदेव पूर्ववर्णितं भणितव्यं, कियत्पर्यन्तमित्याह–(०जाव अम्हे णमित्यादि) अत्र यावच्छब्दोऽवधिवाचको, न तु संग्राहकः। (अवक्कमित्ता०जाव त्ति) अत्र यावत्पदात् ''वेउव्विअसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता०जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समो–हणंति, समोहणित्ता।'' इति बोध्यम्। अभ्रवार्दलकानि विकुर्वन्ति, अभ्रे आकाशे वाः पानीयं तस्य दलकानि अभ्रवार्दलकानि, मेघानीत्यर्थः। (विउव्वित्ता०जाव त्ति)

अत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्–

''से जहाणामए कम्मयरदारए०जाव सिप्पोवगए एगं महंतं दगवारगं वा दगकुंभयं वा दगथालगं वा दगकलसं वा दगभिंगारं वा गहाय रायंगणं वा०जाव उल्लाणं वा समंता आवरिसिज्जा, एवमेव ता अवि उड्ढलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ अब्भवद्दलए विउव्वित्ता खिप्पामेव पतणतणायंति, पतणतणाइत्ता खिप्पामेव पविज्जुआयंति, पविज्जुआइत्ता भगवओ तित्थगरस्स जम्मणभवणस्स सव्वओ समंता जोअणपरिमंडलं णच्चोअगं णाइमट्टिअं पविरलपफुसिअं रयरेणुविणासणं दिव्वं सुरभिगंधोदयवासं वासंति।''

अत्र व्याख्या–स यथा कर्मदारक इत्यादि प्राग्वद् व्याख्येयम्, एकं महान्तं दकवारकं वा मृत्तिकामयजल भाजनविशेषं, दककुम्भकं वा जलघटं, दकस्थालकं वा कांस्यादिमयं जलपात्रं, दककलशं वा, दकभृङ्गारं वा गृहीत्वा राजाङ्गणं वा यावदुद्यानं वा आवर्षेत् समन्तात् सिञ्चेत्। ''एवमेव ता अवि उड्ढलोगवत्थव्वाओ'' इत्यादि प्राग्वत्। क्षिप्रमेव (पतणतणायंति त्ति) अत्यन्तं गर्जन्तीत्यर्थः। गर्जित्वा च (पविज्जुआयंति त्ति) प्रकर्षेण विद्युतं कुर्वन्तिः कृत्वा च भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवनस्य सर्वतः समन्ताद्योजनपरिमण्डलं क्षेत्रं यावत् अत्र नैरन्तर्ये द्वितीया, निरन्तरं योजनपरिमण्डले क्षेत्रे इत्यर्थः। नात्युदकं नातिमृत्तिकं यथा स्यात्तथा प्रकर्षेण यावन्तो रेणवः स्थगिता भवन्ति, तावन्मात्रेणोत्कर्षेणेति भावः। उक्तप्रकारेण विरलानि घनेतराणि, घनभावेन कर्दमसम्भवात्, प्रस्पृष्टानि प्रकर्षवन्ति स्पर्शनानि, मन्दरयशनसंभवे रेणुस्थगनासम्भवात्, यस्मिन् वर्षे तत्प्रविरलप्रस्पृष्टम्, अत एव रजसां श्लक्ष्णरेणुपुद्गलानां च स्थूलतममेतत्– पुद्गलानां विनाशनं, दिव्यमतिमनोहरं सुरभिगन्धोदकवर्षं वर्षन्ति, वर्षित्वा च। अथ प्रस्तुतसूत्रमनुश्रियते, तद् योजनपरिमण्डलक्षेत्रं, निहतरजः, कुर्वन्तीति योगः। निहतं भूय उत्थानाभावेन मन्दीकृतं रजो यत्र तत्तथा। तत्र निहतत्वं रजसां क्षणमात्रमुत्थानाभावेनाऽपि संभवति तत आह– नष्टरजः नष्टं सर्वथा अदृश्यीभूतं रजो यत्र तत्तथा। तथा भ्रष्टं वातोद्धूततया

योजनमात्राद् दूरतः क्षिप्तं रजो यत्र तत्तथा। अत एव प्रशान्तं सर्वथाऽसदिव रजो यत्र तत्तथा। अस्यैवाऽऽत्यन्तिकतः ख्यापनार्थमाह–उपशान्तं रजो यत्र तत्तथा कुर्वन्ति, कृत्वा च क्षिप्रमेव प्रत्युपशाम्यन्ति, गन्धोदकवर्षणान्निवर्त्तन्त इत्यर्थः। अथासां तृतीयकर्त्तव्यकरणावसरः–एवं गन्धोदकवर्षणानुसारेण पुष्पवार्दलकेन पुष्पवर्षकवार्दलकेन, प्रकृत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी। पुष्पवर्षं वर्षन्तीति।

अत्रैवमित्यादिवाक्यसूचितमिदं सूत्रं ज्ञेयम्–

'तच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता पुप्फवद्दलए विउव्वंति से जहाणामए मालागारदारए०जाव सिप्पोवगए एगं महं पुप्फवज्जिअं वा पुप्फपडलगं वा पुप्फचंगेरिअं वा गहाय सायगणं वा०जाव समंता कयग्गहगहिअकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्केणं दसद्धवण्णेणं कुसुमेणं पुप्फपुंजोवयारकलिअं करेज्जा, एवमेव ता अवि उड्ढलोगवत्थव्वाओ० जाव पुप्फवद्दलए विउव्वित्ता खिप्पामेव पतणतणायंति०, जाव जोअणपरिमंडलं जलयथलयभासुरप्पभूयस्स विंटठाइस्स दसद्धवण्णस्स कुसुमस्स जाणुस्सेहपमाणमित्तं वासं वासंति'' ॥३॥

अत्र व्याख्या–तृतीयवारं वैक्रियसमुद्घातेन समवघ्नन्ति। कोऽर्थः? संवर्तकवातविकुर्वणार्थं हि यद् वेलाद्वयमपि वैक्रियसमुद् घातेन समवहननं, ततिकलैकम्, एवमभ्रवार्दलकविकुर्वणार्थं द्वितीयम्, इदं तु पुष्पवार्दलकविकुर्वणार्थं तृतीयम्। समवहत्य च पुष्पवार्दलकानि विकुर्वन्ति. स यथानामको मालाकारपुत्रः, अस्यैव प्रस्तुतकार्यं व्युत्पन्नत्वात्। स्याद्यावन्निपुणशिल्पोपगतः, एकां महतीं पुष्पछाद्यिकां वा, छाद्यते उपरि स्थग्यते इति छाद्येव छाद्यिका, पुष्पैर्भृता छाद्यिका पुष्पछाद्यिका तां, पुष्पपटलकं वा पुष्पाऽऽधारभाजनविशेषः पुष्पाचाङ्गेरिकां वा प्रतीताम्। यावत् समन्तात् रतकलहे या पराङ्मुखी, तस्याः सुमुखीकरणायकेशेषु ग्रहणं कचग्रहणं, तत्प्रकारेण गृहीतं, तथा करतलाद्विप्रमुक्तं सत् प्रभ्रष्टं करतलप्रभ्रष्टविप्रमुक्तं, प्राकृतत्वात् पदव्यत्ययः, ततो विशेषणसमासः। तेन कचग्रहगृहीतकरतलप्रभ्रष्टविप्रमुक्तेन दशार्द्धवर्णेन पञ्चवर्णेन कुसुमेन, जात्यपेक्षया एकवचनम्, कुसुमजातेन, पुष्पपुञ्जोपचारो बलिप्रकारः, तेन कलितं कुर्यात्, एवमेता अपि ऊर्द्धलोकवास्तव्या अष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिकाः ''पुप्फवद्दलए विउव्वित्ता'' इत्यादिकं योजनपरिमण्डलान्तं प्राग्वद् व्याख्येयम्। वाक्ययोजना तु–योजनपरिमण्डलं यावत् दशार्द्धवर्णस्य कुसुमस्य वर्षं वर्षन्तीति। कथंभूतस्य कुसुमस्य? जलजस्थलजभासुरप्रभूतस्य–जलजं पद्माऽऽदि, स्थलजं विचकिलाऽऽदि, भास्वरं दीप्यमानं प्रभूतमतिप्रचुरम्। ततः कर्मधारयः। भास्वरं च तत् प्रभूतं च भास्वरप्रभूतम्, जलजस्थलजं च तद् भास्वरप्रभूतं च तत् तथा। तथा वृन्तस्थायिनः–वृन्तेनाधोभागवर्त्तिना तिष्ठतीत्येवंशीलस्य, तथा वृन्तमधोभागे पत्राण्युपरीत्येवं स्थानशीलस्येत्यर्थः। कथम्भूतं वर्षम्? जान्वबधिक उच्चायो जान्त्सेधः, तस्य प्रमाणं द्वात्रिंशदङ्गुललक्षणं, तेन सदृशी मात्रा यस्य स तथा तं, द्वात्रिंशदङ्गुलानि चैवम्–चरणस्य चत्वारि, जङ्घायाश्चतुर्विंशतिः, जानुतश्चत्वारीति। एवमेव सामुद्रिके चरणावसानस्य लक्षणत्वात्।

वर्षित्वा च कियत्पर्यन्तोऽयमेवमित्यादिवाक्यसूचितसूत्रसंग्रह इत्याह–यावत् ''कालागुरुपवर त्ति।'' अत्र यावच्छब्दोऽवधिवाची। (०जाव सुरवराभिगमणजोग्गं ति) अत्र यावत्करणात्–''कुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघंतगुंधुद्धुआभिरामं सुगंधवरगंधिअं गंधवट्टिभूअं दिव्वं।'' इतिपर्यन्तन्तसूत्रं ज्ञेयम्। तत् कालागुरुप्रभृतिधूपधूपितम्; धूपालापकव्याख्या प्राग्वत्। अत एव सुरवराभिगमनयोग्यम्–सुरवर इन्द्रस्तस्याभिगमनायाऽवतरणाय योग्यं, कुर्वन्ति, कृत्वा च यत्रैव भगवांस्तीर्थकरस्तीर्थकर–माता च, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च, यावच्छब्दात्–''भगवओ तित्थयरमायाए य अदूरसामंते'' इति ग्राह्यम्। आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्तीति।

अथ रुचकवासिनीदिक् कुमारीवक्तव्ये प्रथमं पूर्वरुचकस्थानामष्टानां वक्तव्यतामाह–

तेणं कालेणं तेणं समएणं पुरच्छिमरुअगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सएहिं सएहिं कूडेहिं तहेव०जाव विहरंति। तं जहा–

''णंदुत्तरा य णंदा, आणंदा णंदिवद्धणा।
विजया य वेजयंती, जयंती अपराजिआ ॥१॥''

सेसं तं चेव०जाव तुब्भेहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमायाए अ पुरच्छिमेणं आयंसहत्थगाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति।

(तेणं कालेणं तेणं समएणं इत्यादि) तस्मिन् काले तस्मिन् समये पौरस्त्यरुचकवास्तव्याः पूर्वदिग्भागवर्त्तिरुचककूटवासिन्योऽष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिकाः स्वकेषु स्वकेषु कूटेषु तथैव यावद्विहरन्ति। तद्यथा–नन्दोत्तरा, चः समुच्चये। नन्दा, आनन्दा, नन्दिवर्द्धना, विजया। चः पूर्ववत्। वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता, इत्येता नामतः कथिताः। शेषमासनप्रकम्पावधिप्रयोगभगवद्दर्शनपरस्परान्हानस्वस्त्वाभियोगिककृतयानविमानविकुर्वणाऽऽदिकं तथैव, यावद्युष्माभिर्न भेतव्यमिति कृत्वा भगवत्तस्तीर्थकरस्य तीर्थकरमातुश्च पूर्वरुचकसमागतत्वात् पूर्वतोहस्तगत आदर्शो दर्पणो जिनजनन्योः शृङ्गाराऽऽदिविलोकनाऽऽद्युपयोगी यासां तास्तथा, विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्। आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्तीति॥ अत्र रुचकाऽऽदिस्वरूपप्ररूपणेयम्–एकादेशेन एकादशे, द्वितीयादेशेन त्रयोदशे, तृतीयादेशेन एकविंशे रुचकद्वीपे बहुमध्ये वलयाऽऽकारो रुचकशैलश्चतुरशीतियोजनसहस्राण्युच्चः, मूले १०२२, मध्ये ७०२३, शिखरे ४०२४ योजनानि विस्तीर्णः, तस्य शिरसि चतुर्थे सहस्रे पूर्वदिशि मध्ये सिद्धायतनकूटः, उभयोः पार्श्वयोश्चत्वारि चत्वारि दिक्कुमारीणां कूटानि, नन्दोत्तराऽऽद्यास्तेषु वसन्तीति।

अथ दक्षिणरुचकवासिनीनां कर्त्तव्यम्–

तेणं कालेणं तेणं समएणं दाहिणरुअगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ तहेव०जाव विहरंति। तं जहा–

''समाहारा सुप्पइण्णा, सुप्पबुद्धा जसोहरा।
लच्छीमई सेसवई, चित्तगुत्ता वसुंधरा॥१॥''

तहेव० जाव तुब्भाहिं न भाइअव्वं ति कट्टु भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमाउए अ दाहिणेणं भिंगारहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति॥

सम्प्रति दक्षिणरुचकवास्तव्या इति पूर्ववद्, रुचकशिरसि दक्षिणदिशि मध्ये सिद्धायतनकूटम्, तदुभयतश्चत्वारि चत्वारि कूटानि, तत्र वासिन्य इत्यर्थः। अष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिकाः तथैव यावद्विहरन्ति। तद्यथा–समाहारा, सुप्रदत्ता, सुप्रबुद्धा,

यशोधरा, लक्ष्मीवती, शेषवती, चित्रगुप्ता, वसुन्धरा । तथैव यावद्युष्माभिर्न भेतव्यमिति कृत्वा जिनजनन्योर्दक्षिणदिगागतत्वाद्दक्षिणदिग्भागे जिनजननीरुनपनोपयोगिजलपूर्णकलशहस्ता आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्तीति ॥

साम्प्रतं पश्चिमरुचकस्थानां वक्तव्यमाह–

तेणं कालेणं तेणं समएणं पच्चच्छिमरुअगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सएहिं सएहिं०जाव विहरंति। तं जहा–

''इलादेवी सुरादेवी, पुढवी पउमावई।

एगणासा णवमिआ, भद्दा सीआ य अट्ठमी ॥१॥''

तहेव०जाव तुब्भाहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु०जाव भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमाउए अ पच्चच्छिमेणं तालिअंटहत्थमयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति।

''तेणं कालेणं'' इत्यादि सर्वं तथैव, नवरं पश्चिमरुचकवास्तव्याः पश्चिमदिग्भागवर्त्तिरुचकवासिन्य इति । नामान्यासां पद्येनाऽऽह–इलादेवी, सुरादेवी, पृथिवी, पद्मावती, एकनासा, नवमिका, भद्रा, सीता । चः समुच्चये। अष्टमी चेति। कूटव्यवस्था तथैव, पश्चिमरुचकागतत्वाज्जिनजनन्योः पश्चिमदिग्भागे तालवृन्तं व्यजनं तद्धस्तगतास्तिष्ठन्तीति।

उदीच्यां रुचकवासिनीनां कृत्यानि–

तेणं कालेणं तेणं समएणं उत्तरिल्लरुअगवत्थव्वाओ ०जाव विहरंति। तं जहा–

''अलंबुसा मिस्सकेसी, पुंडरीआ य वारुणी।

हासा सव्वप्पभा चेव, सिरि हिरि चेव उत्तरओ'' ॥१॥

तहेव०जाव तित्थयरस्स तित्थयरमाउए अ उत्तरेणं चामरहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति।

उदीच्यामप्येवमेवेति। तत् सूत्रमाह– ''तेणं कालेणं'' इत्यादि व्यक्तम्। नवरमुत्तररुचकवास्तव्या उत्तरदिग् भागवर्त्तिरुचकवासिन्यः । नामान्यासां पद्येनाऽऽह–अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका, चः प्राग्वत्। वारुणी, हासा, सर्वप्रभा, चैवेति प्राग्वत्। श्रीः, ह्रीश्चोत्तरतः। कूटव्यवस्था तथैव, उत्तररुचकाऽऽगतत्वाज्जिनजनन्योरुत्तरदिग् भागे चामरहस्तगता आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्ति।

अथ विदिग्रुचकवासिनीनामागमनाऽवसरः–

तेणं कालेणं तेणं समएणं विदिसिरुअगवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ०जाव विहरंति। तं जहा–''चित्ता य चित्तकणगा, सतेरा सोदामणी।'' तहेव०जाव ण भाइअव्वं ति कट्टु भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमाउए अ चउसु विदिसासु दीविआहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति।

'तेणं कालेणं' इत्यादि व्यक्तम्। नवरं विदिग् रुचकवास्तव्यास्तस्यैव रुचकपर्वतस्य शिरसि चतुर्थे सहस्रे चतसृषु विदिक्षु एकैकं कूटं, तत्र वासिन्यश्चतस्रो विदिक् कुमार्यो यावद्विहरन्ति। इमाश्च स्थानाङ्गे विद्युत्कुमारीमहत्तरिका इत्युक्ता इति। एतासां चैशान्यादिक्रमेण नामान्येयम्– चित्रा, चः समुच्चये। चित्रकनका, शतेरा, सौदामिनी। तथैव यावन्न भेतव्यमिति कृत्वा विदिग्गागतत्वात् भगवतस्तीर्थकरस्य तीर्थकरमातुश्च चतसृषु विदिक्षु दीपिकाहस्त–गता आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्तीति।

अथ मध्यरुचकवासिन्य आगमयितव्याः–

तेणं कालेणं तेणं समएणं मज्झिमरुअगवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सएहिं सएहिं कूडेहिं तहेव० जाव विहरंति। तं जहा– ''रूआ रूआसिआ, सुरूवा रूवगावई।'' तहेव०जाव तुब्भाहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु भगवओ तित्थयररस्स चउरंगुलवज्जणाभिणालं कप्पंति, कप्पेत्ता विअरगं खणंति, खणित्ता विअरगे णाभिं णिहणंति, निहणित्ता रयणाण य वइराण य पूरें ति, पूरेत्ता हरिआलिआए पेढं बंधंति, बंधित्ता तिदिसिं तओ कयलीहरए विउव्वंति। तए णं तेसिं कयलीह–रगाणं बहुमज्झदेसभाए तओ चउस्सालए विउव्वंति, तए णं तेसिं चउस्सालगाणं बहुमज्झदेसभाए तओ सीहासणे विउव्वंति; तेसि णं सीहासणाणं अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते, सव्वो वण्णगो भाणिअव्वो ॥

(तेणं कालेणं इत्यादि) तस्मिन् काले तस्मिन् समये मध्यरुचकवास्तव्या मध्यभागवर्तिरुचकवासिन्यः । कोऽर्थः?–चतुर्विंशत्यधिकचतुःसहस्रप्रमाणे रुचकशिरोविस्तारे, द्वितीयसहस्रे चतुर्दिग्वर्तिषु चतुर्षु कूटेषु पूर्वाऽऽदिक्रमेण चतस्रस्ता वसन्तीत्यर्थः । श्रीअभयदेवसूरयस्तु षष्ठाङ्गवृत्तौ मल्ल्यध्ययने–''मज्झिमरुअगवत्थव्वा'' इत्यत्र रुचकद्वीपस्याभ्यन्तरार्द्धवासिन्य इत्याहुः । अत्र तत्त्वं बहुश्रुतगम्यम् । चतस्रो दिक् कुमारिका यावद्विहरन्ति । तद्यथा–रूपा, रूपासिका, सुरूपा, रूपकावती । तथैव युष्माभिर्नभेतव्यमिति कृत्वा भगवतस्तीर्थकरस्य चतुरङ्गुलवर्जनाभिनालं कल्पयन्ति, कल्पयित्वा च विदरकं गर्तां खनन्ति, खनित्वा च विदरके कल्पितां नाभिं निधानयन्ति, निधानयित्वा च रत्नैश्च वज्रैश्च, प्राकृतत्वाद्विभक्तिव्यत्ययः । पूरयन्ति, पूरयित्वा च हरितालिकाभिर्दूर्वाभिः पीठं बध्नन्ति। कोऽर्थः? पीठं बद्धा तदुपरि–हारितालिकां वपन्तीत्यर्थः । विवरकवचनाऽऽदिकं च सर्वं भगवदवयवस्याऽऽशातनानिवृत्त्यर्थम् । पीठं बध्वा च त्रिदिशि पश्चिमावर्जदिक् त्रये त्रीणि कदलीगृहाणि विकुर्वन्ति । ततस्तेषां कदलीगृहाणां बहुमध्यदेशभागे त्रीणि चतुःशालकानि भवनविशेषान विकुर्वन्ति । ततस्तेषां चतुःशालकानां बहुमध्यदेशभागे त्रीणि सिंहासनानि विकुर्वन्ति, तेषां सिंहासनानां मप्येवदृशो वर्णव्यासः प्रज्ञप्तः, सिंहासनानां सर्वो वर्णकः पूर्ववद् भणितव्यः।

सम्प्रति सिंहासनविकुर्वणानन्तरीयकृत्यमाह–

तए णं ताओ रुअगमज्झवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीओ जेणेव भयवं तित्थयरे तित्थयरमाया य तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरं करयलसंपुडेणं तित्थयरमायरं च बाहाहिं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव दाहिणिल्ले कयलीहरए जेणेव चाउस्सालए जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरं तित्थयरमायरं च सीहासणे णिसीआवेंति, णि–

सीआवेत्ता सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भंगेंति, अब्भंगेत्ता सुरभिणा गंधुव्वट्टएणं उव्वट्टंति, उव्वट्टित्ता भगवं तित्थयरं करयलसंपुडेणं, तित्थयरमायरं च बाहासु गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव पुरच्छिमिल्ले कयलीहरए जेणेव चाउस्सालए जेणेव सीहासणा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरं तित्थयरमायरं च सीहासणे णिसीआवेंति, णिसी-आवेत्तातिहिं उदएहिं मज्जावेंति। तं जहा-गंधोदएणं, पुप्फोदएणं, सुद्धोदएणं। मज्जावेत्ता सव्वालंकारविभूसिअं करेंति, करेत्ता भगवं तित्थयरं करयलपुड्ढेणं, तित्थयरमायरं च बाहाहिं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव उत्तरिल्ले कयलीहरए जेणेव चउस्सालए जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरं तित्थयरमायरं च सीहासणे णिसीआवेंति, णिसीआवेत्ता आभिओगे देवे सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासीखिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चुल्लहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ गोसीसचंदणकट्ठाइं साहरह। तए णं ते अभिओगा देवा ताहिं रुअगमज्झवत्थव्वाहिं चउहिं दिसाकुमारीमहत्तरिआहिं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा०जाव विणएणं वयणं पडिच्छंति, पडिच्छित्ता खिप्पामेव चुल्लहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ सरसाइं गोसीसचंदणकट्ठाइं साहरंति। तए णं ताओ मज्झिमरुअगवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सरगं करेंति, करेत्ता अरणिं घडेंति, अरणिं घडेत्ता सरएणं अरणिं महिंति, महित्ता अग्गिं पाडिंति, पाडित्ता अग्गिं संधुक्खेंति, संधुक्खेत्ता गोसीसचंदणकट्ठे पक्खिवंति, पक्खिवित्ता अग्गिं उज्जालिंति, उज्जालित्ता समिहाकट्ठाइं पक्खिविंति, पक्खिवित्ता अग्गिहोमं करेंति, करेत्ता भूमिकम्मं करेंति, करेत्ता रक्खापोट्टलिअं बंधंति, बंधेत्ता णाणामणिरयणभत्तिचित्ते दुवे पाहाणवट्टगोलगे गहाय भगवओ तित्थयरस्स कण्णमूले टिट्टिआविंति, भवउ भयवं पव्वयाउए। तए णं ताओ रुअगमज्झवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारी-महत्तरिआओ भयवं तित्थयरं करयलपुडेणं तित्थयरमायरं च बाहाहिं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तित्थयरमायरं सयणिज्जंसि णिसीआविंति, णिसीआवित्ता भयवं तित्थयरं माउए पासे ठविंति, ठवित्ता अदूरसामंते आगायमाणीओ परिगाय-माणीओ चिट्ठंति॥

(तए णं ताओ रुअगमज्झवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीओ इत्यादि) ततस्ता रुचकमध्यवास्तव्याश्चतस्रो दिक्कुमारीमहत्तरिकाः, यत्रैव भगवांस्तीर्थकरस्तीर्थकरमाता च, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं करतलसंपुटेन, तीर्थकरमातरं च बाहुभिर्गृह्णन्ति, गृहीत्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यं कदलीगृहं, यत्रैव च चतुःशालकं, यत्रैव सिंहासनं, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं करतलसंपुटेन तीर्थकरमातरं च बाहुभिर्गृह्णन्ति, गृहीत्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यं कदलीगृहं, यत्रैव च चतुःशालकं, यत्रैव सिंहासने, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं तीर्थकरमातरं च सिंहासने निषादयन्ति-उपवेशयन्ति; निषाद्य च शतपाकैः सहस्रपाकैः शतकृत्वोऽपरापरौषधीरसेन, कार्षापणानां शतेन वा यत्पक्वं तच्छतपाकम्, एवं सहस्रपाकमपि। बहुवचनं तथाविधसुरभितैलसंग्रहार्थम्। तैलैरभ्यङ्गयन्ति, तैलमभ्यञ्जयन्तीत्यर्थः। अभ्यङ्ग्य च सुरभिणा गन्धद्रव्याणामुत्पलपिष्टाऽऽदीनामुद्वर्तितचूर्ण-पिण्डेन गन्धयुक्तगोधूमचूर्णपिण्डेन वा उद्वर्तयन्ति, प्रक्षिततैलापनयनं कुर्वन्ति, उद्वर्त्य च भगवन्तं तीर्थकरं करतलपुटेन तीर्थकरमातरं च बाह्वोर्गृह्णन्ति, गृहीत्वा च यत्रैव पौरस्त्यं कदलीगृहं, यत्रैव चतुःशालं, यत्रैव च सिंहासनं, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं तीर्थ-करमातरं च सिंहासने निषादयन्ति, निषाद्य च त्रिभिरुदकैर्मज्जयन्ति स्नपयन्ति। तान्येव त्रीणि दर्शयति तद्यथेत्यादिना, गन्धोदकेन कुङ्कुमाऽऽदिभिश्रितेन, पुष्पोदकेन जात्यादिभिश्रितेन, शुद्धोदकेन केवलोदकेन, मज्जयित्वा सर्वालङ्कारभूषितौ कुर्वन्ति, मातृपुत्राविति शेषः। कृत्वा च भगवन्तं तीर्थकरं करतलपुटेन तीर्थकरमातरं च बाहुभिर्गृह्णन्ति, गृहीत्वा च यत्रैवोत्तराहं कदलीगृहं, यत्रैव च चतुःशालकं, यत्रैव च सिंहासनं, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं तीर्थकरमातरं च सिंहासने निषादयन्ति, निषाद्य च आभियोगान् देवान् शब्दयन्ति, शब्दयित्वा च एवमवादिषुः-क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाः ! क्षुद्रहिमवतो वर्षधरपर्वतादौशीर्षचन्दनकाष्ठानि संहरतसमानयत। ततस्ते आभियोगा देवास्ताभी रुचकमध्यवास्तव्याभिश्चतसृभिर्दिक्कुमारी-महत्तरिकाभिरेवमनन्तरोक्तमुक्ता आज्ञप्तिकाः सन्तो हृष्टतुष्टा इत्यादि यावद्विनयेन वचनं प्रतीच्छन्त्यङ्गीकुर्वन्ति, प्रतीत्य च क्षिप्रमेव क्षुद्रहिमवतो वर्षधरपर्वतात् सरसानि गोशीर्षचन्दनकाष्ठानि संहरन्ति। ततस्ता मध्यरुचकवास्तव्याश्चतस्रो दिक्कुमारीमहत्तरिकाः शरकं-शर-प्रतिकृतितीक्ष्णमुखमग्न्युत्पादकं काष्ठविशेषं कुर्वन्ति, कृत्वा च तेनैव शरकेन सह अरणिं लोकप्रसिद्धं काष्ठविशेषं घटयन्ति-संयोजयन्ति, घटयित्वा च शरकेनाग्निं मथ्नन्ति, मथित्वा च अग्निं पातयन्ति, पातयित्वा च अग्निं सन्धुक्षन्तिसन्दीपयन्ति, सन्धुक्ष्य च गोशीर्षचन्दन-काष्ठानि, प्रस्तावात् खण्डशः कृतानीति बोध्यम् यादृशैश्चन्दनकाष्ठैर-ग्निरुद्दीपितः स्यात् तादृशानीति भावः। प्रक्षिपन्ति, प्रक्षिप्य च अग्निमुज्ज्वालयन्ति उद्दीपयन्ति, उज्ज्वाल्य च प्रदेशप्रमाणानि हवनोप-योगीनीन्धनानि समिधः, तद्रूपाणि काष्ठानि प्रक्षिपन्ति। पूर्वो हि काष्ठप्रक्षेपोऽग्न्युद्दीपनाय, अयं च रक्षाकरणायेति विशेषः। प्रक्षिप्य च अग्निहोमं कुर्वन्ति, कृत्वा च भूतेभस्मनः कर्म क्रिया, तां कुर्वन्ति, येन प्रयोगेणेन्धनानि भस्मरूपाणि भवन्ति तथा कुर्वन्तीत्यर्थः। कृत्वा च जिनजनन्योः शाकिन्यादिदुष्टदेवताभ्यो दृष्टदोषाऽऽदिभ्यश्च रक्षाकरीं पोट्ट-लिकां बध्नन्ति, बध्वा च नानामणिरत्नानां भक्तिरचनाद्यौ विचित्रौ द्वौ पाषाणवृत्तगोलकौ, पाषाणगोलकाविति यावत्। गृहीत्वा भगवतस्ती-र्थकरस्य कर्णमूले ''टिट्टिआवेंति'' इत्यनुकरणशब्दोऽयम्। तेन 'टिट्टि-आवेंति' परस्परप्रताडनेन टिट्टीतिशब्दोत्पादनपूर्वकं वादयन्तीत्यर्थः। अनेन हि बाललीलावशादन्यत्र व्यासक्तं भगवन्तं वक्ष्यमाणाऽऽ-शीर्वचनश्रवणे पटु कुर्वन्तीति भावः। तथा कृत्वा च भवतु भगवा-

न् पर्वताऽऽयुः, इत्याशीर्वचनं ददतीति । तत उक्तसकलकार्यकरणानन्तरं ता रुचकमध्यवास्तव्याश्चतस्रो दिक्कुमारीमहत्तरिका भगवन्तं तीर्थकरं करतलपुटेन तीर्थकरमातरं च बाहुभिर्गृह्णन्ति, गृहीत्वा च यत्रैव भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवनं, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च तीर्थकरमातृशय्यायां निषादयन्ति, निषाद्य च भगवन्तं तीर्थकरं मातुः पार्श्वे स्थापयन्ति, स्थापयित्वा च नातिदूराऽऽसन्ने आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्ति। एतासां च मध्येऽष्टावधोलोकवासिन्यो गजदन्तगिरीणामधोभवनवासिन्यः। यत्त्वेतदधिकारसूत्रे ''सएहिं सएहिं कूडेहिं'' इति पदम् तदपरसकलदिक्कुमार्यधिकारसूत्रपाठसंरक्षणार्थम्, साधारणसूत्रपाठे हि यथासम्भवं विधिनिषेधौ समाश्रयणीयाविति ऊर्द्धलोकवासिन्योऽष्टौ नन्दनवने योजनपञ्चशतिककूटवासिन्यः, अन्याश्च सर्वा अपि रुचकसत्ककूटेषु योजनसहस्रोच्चेषु मूले सहस्रयोजनविस्तारेषु शिरसि पञ्चशतविस्तारेषु वसन्ति। उक्ता षट् पञ्चाशद् दिक् कुमारी–कृत्यमिति। जं०५ वक्ष०।

(६४) देवदूष्याणि–

सव्वे वि एगदूसे–ण णिग्गया जिणवरा चउव्वीसं।

सर्वेऽपि भगवन्तोऽतीता अपि जिनवराः चतुर्विंशतिसंख्याः, चतुर्विंशतिरित्यनेन सर्वास्वप्यवसर्पिणीषूत्सर्पिणीषु च प्रत्येकं भरतक्षेत्रे चतुर्विंशतिरेव तीर्थकरा अभूवन्निति ख्यापितम्। एकदूष्येण–एकेन वस्त्रेण, निर्गता अभिनिष्क्रान्ताः। तद्यदि भगवन्तोऽप्येकदूष्येण निर्गता इति सोपधयोऽभवन्, किं पुनस्तन्मतानुवर्त्तिनः शिष्या न सोपधयः? तत्र य उपधिरासेवितो भवद्भिः स साक्षादेवोक्तः। यः पुनर्विनेयेभ्यः स्थविरकल्पिकाऽऽदिभेदभिन्नेभ्योऽनुज्ञातः, स खलु ग्रन्थान्तरादवसेयः। आ० म० १ अ०१ खण्ड।

देवदूष्यवस्त्रस्थितिमाह–

सक्को य लक्खमुल्लं, सुरदूसं ठवइ सव्वजिणखंधे।
वीरस्स वरिसमहियं, सया वि सेसाण तस्स ठिई।१५६।

शक्रश्च लक्षमूल्यं देवदूष्यं वस्त्रं सर्वजिनस्कन्धे स्थापयति। तत् श्रीवीरस्य साधिकं वर्षं स्थितम्। उक्तं च कल्पसूत्रे– ''संवच्छरं साहिअं मासं जाव चीवरधारी होत्थ त्ति।'' मासेकेनाधिकं वर्षं श्रीवीरेण वस्त्रं धृतम्। शेषजिनानां त्रयोविंशतेरपि तीर्थकृतां, सदाऽपि यावज्जीवमपि, तस्य वस्त्रस्य, स्थितिर्ज्ञेयेति। सत्त० ७३ द्वार।

(देहमानमुत्सेधाङ्गुलविचारे २२६१ पृष्ठे पूर्वमुक्तम्)

(६५) अथ प्रसङ्गतः तीर्थकरप्रतिपादितत्वेन धर्मभेदानाह–

दाणं सीलं च तवो, भावो एवं चउव्विहो धम्मो।
सव्वजिणेहिं भणिओ, तहा दुहा सुयचरित्तेहिं ॥२६६॥

सुपात्रे दानं देयम्, त्रिकरणशुद्ध्या शीलं पालनीयम्, यथाशक्ति तपो विधिवद्विधेयम्, साधुपुरुषेण शुभभावना भावनीया। एवं चतुर्विधो धर्म्मः (सव्वजिणेहिं भणिओ) सर्वजिनैश्चतुर्विंशतिजिनैर्भणितः कथितः। तथा द्विधा धर्मः श्रुतचारित्राभ्याम्, एकः श्रुतधर्मः, द्वितीयश्चारित्रधर्म्मः। इति गाथाऽर्थः ॥२६६॥ सत्त०४१ द्वार।

अथ धर्मप्रसङ्गात् पुण्यमौचित्ये प्रवर्त्तत इत्यौचित्याष्टकम्। पुण्यानुबन्धिपुण्यं प्रधानफलतो दर्शयन्नाह–

अतः प्रकर्षसंप्राप्ता–द्विज्ञेयं फलमुत्तमम्।
तीर्थकृत्त्वं सदौचित्य–प्रवृत्त्या मोक्षसाधकम् ॥१॥

अत अस्मात् पुण्यानुबन्धिपुण्यात् प्रकर्षसंप्राप्तादतिप्रकृष्टतां गताद्विज्ञेयं ज्ञातव्यं फलं कार्यमुत्तमं प्रधानं तीर्थकृत्त्वं तीर्थकरत्वम्। किंस्वरूपं तदित्याह–सदा सर्वकालमागर्भावस्थाया औचित्यप्रवृत्त्या यथार्हप्रवर्त्तनेन मोक्षसाधकं निर्वाणप्रापकमिति ॥१॥

औचित्यप्रवृत्तिमेवाऽऽश्रस्य सार्वदिकीं दर्शयितुमाह–

सदौचित्यप्रवृत्तिश्च, गर्भादारभ्य तस्य यत्।
तत्राऽप्यभिग्रहो न्याय्यः, श्रूयते हि जगद्गुरोः ॥२॥

सदा सर्वकालमौचित्यप्रवृत्ति संगतभावनम्, चशब्दः पुनः शब्दार्थः। गर्भादारभ्य गर्भावस्थामवधीकृत्य, तस्येति यः प्रकृष्टपुण्यानुबन्धिपुण्यफलभूतस्तस्य तीर्थकरस्य, भवतीति शेषः। कुत एतदेवं सिद्धमित्याह–यद्यस्मात्कारणात्, तत्राऽऽदिगर्भेऽप्यास्तां प्रव्रज्याप्रतिपत्तौ, अभिग्रहः प्रतिज्ञाविशेषो वक्ष्यमाणस्वरूपो, न्याय्यो न्यायादनपेतः, श्रूयते आकर्ण्यते, हिशब्दो वाक्यालङ्कारे, जगद्गुरोस्त्रिलोकगौरवार्हस्य महावीरस्येति भावना ॥२॥

किमर्थमसावभिग्रह इत्याह–

पित्रुद्वेगनिरासाय, महतां स्थितिसिद्धये।
इष्टकार्यसमृद्ध्यर्थमेवंभूतो जिनाऽऽगमे ॥३॥

माता च पिता च पितरौ, तयोरुद्वेगश्चित्तसंतापः तस्य निरासोऽभावः पित्रुद्वेगनिरासः, तस्मै पित्रुद्वेगनिरासाय। यतन्ते च महान्तो विश्वस्याऽपि उद्वेगनिरासार्थम्, तेषां तथा– स्वभावत्वाद्, विशेषतः पुनः पित्रोरतिदुःखप्रतीकारित्वात्तयोरिति। तथा महतां महापुरुषाणां स्थितिसिद्धये व्यवस्थासाधनाय। अन्येऽपि महान्तो मातापित्रुद्वेगनिरासेन प्रवर्त्तन्तामित्येतदर्थमित्यर्थः, प्रधानमार्गानुसारित्वाज्जनस्येति। तथा इष्टकार्यवाञ्छितप्रयोजनं मोक्षार्थिनां मोक्षोपायभूता प्रव्रज्या, तस्य समृद्धिर्निष्पत्तिरिष्टकार्यसमृद्धिः, तस्यै। इदमिष्टकार्यसमृद्ध्यर्थमिदं चाभिग्रहः, कृत इति गम्यमानक्रियाविशेषणम्; मोक्षसिद्धिहेतोरित्यर्थः। सिद्ध्यति हि मोक्ष उचितप्रवृत्त्या, अनुचितप्रवृत्तिस्तु तद्विघ्न इति। एवम्भूतो वक्ष्यमाणस्वरूपः, अभिग्रह इति योगः। जिनाऽऽगमे आप्तवचने, श्रूयते इति संबन्धः। उच्यते चाऽऽवश्यनिर्युक्तौ–''अह सत्तमम्मि मासे, गब्भत्थो चेवऽभिग्गहं गहिओ। नाहं समणो होहं, अम्मापियरम्मि जीवंते'' ॥१॥ इति ॥३॥

अथवा यथाभूतोऽभिग्रहः श्रूयते, तथाभूतमेवाऽऽह–

जीवतो गृहवासेऽस्मिन्, यावन्मे पितराविमौ।
तावदेवाधिवत्स्यामि, गृहानहमपीष्टतः ॥४॥

किल भगवान् श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामी देवभवाच्च्युत्वा पूर्वभवोपात्तनीचैर्गोत्राभिधानकर्मशेषवशाद् ब्राह्मणकुण्डग्रामाभिधाननगरनिवासिऋषभदत्ताभिधानद्विजातिजायाया देवानन्दाभिधानायाः कुक्षावुत्पन्नः। अथ द्व्यशीतितमादिवसे सिंहासनचलनजनितावधिप्रयोगपुरन्दरप्रयुक्तहरिनैगमेषिनाम्नादेवेन क्षत्रियकुण्डाभिधाननगरन्यायकसिद्धार्थाभिधाननरपतिप्रधानपत्न्यास्त्रिशलाभिधानाया गर्भे संक्रमितः। ततो देवानन्दामुपलब्धचतुर्दशमहास्वप्नापहारां सम्भावितगर्भसंहारां हृतसर्वस्वमिवाऽतिशोकसागरनिमग्नामवधिनाऽवबुद्ध्याऽहो! अस्म–

न्निमित्तनेषाऽनाख्येयदुःखमवाप्नवत्येवमेषाऽपि त्रिशला मदङ्गचलनचेष्टानिमित्तमसुखमथ मा प्रापदित्यालोच्य निश्चलोऽवतस्थे। ततोऽसौ निस्पन्दतां गर्भस्यावगम्य गलितो गर्भो ममेति भावनया गाढतरं दुःखसमुदयमगमत्। ततो भगवांस्तद् दुखवितोदाय स्फुरति स्म। पर्यालोचयाञ्चकार च–यदुताऽदृष्टेऽपि मयि मातापितोरहो गाढः स्नेहः, दृष्टे पुनः परिचयादवगतगुणग्रामे गाढतरोऽसौ भावी, ततः प्रव्रजनतो वियुज्यमाने शोकातिशयान्महाननन्तस्तापो भविष्यति, ततोऽनयोर्जीवतोरस्तत्संतापपरिहारार्थमप्रव्रजितेन मया भाव्यमिति सप्तममासाऽभिग्रहं जग्राहेति श्लोकसमुदायार्थः॥

अक्षरार्थस्त्वयम्–जीवतः प्राणान् धारयतः, पितराविति योगः। गृहवासे गृहस्थतायामस्मिन्नधुनातने, न पुनर्देवाऽऽदिभवसम्भवेऽपि, यावद् यत्परिमाणमिति पितृजीवनक्रियाविशेषणम्। मे मम संबन्धिनाविडौ प्रत्यक्षाऽऽसन्नौ त्रिशलासिद्धार्थलक्षणौ, न पुनर्ऋषभदत्तदेवानन्दास्वरूपौ। तावदेव तत्परिमाणमेव, न पुनरधिकं विरतावभिष्वङ्गाद्येत्थमुक्तमवधारणम्, एतच्चाधिवत्स्यामीति क्रियाविशेषणम्। अधिवत्स्यामि अध्यासिष्ये, गृहान् गेहम् ''गृहशब्दो हि पुँल्लिङ्गो बहुवचनान्तोऽप्यस्तीति।'' अथवा–राजत्वाद् बहुगृहाधिपतित्वमनेन दर्शितम्। अहमपि न केवलं पितरौ गृहानधिवत्स्येत इत्यपिशब्दार्थः। इष्टमिच्छा, तदाश्रित्याऽधिष्ठितः, इच्छया स्वच्छन्दतया, न पुनः पारवश्येनेति भावः। ननु तावन्तं कालं चारित्रमोहनीयकर्मविशेषोदये सति तस्य गृहावस्थानम्, अन्यथा वा? तत्र यद्याद्यः पक्षः, तदा कर्मविशेषोदय एव तत्रावस्थानकारणं, नाभिग्रहग्रहणं, तत् किं तद् ग्रहणेन? अथवा–चारित्रमोहनीयविशेषोदयाभाव इति पक्षः। तदप्यसङ्गतम्। मोहकर्मविशेषोदयाभावे विरतेरेव भावेन गृहावस्थानासम्भवात् व्यर्थमेवाभिग्रहकरणम्? अत्रोच्यते–मोहनीयविशेषोदय एव तत्र तस्यावस्थानं, किंतु तत्कर्मणः सोपक्रमत्वेन पित्रुद्वेगनिरासाऽऽद्यवलम्बनाभिग्रहानङ्गीकरणे विरतेरेव भावान्न गृहावस्थानहेत्वभिग्रहकरणमसङ्गतम्। उच्यते च सोपक्रमता कर्मणाम्। यदाह– ''उदयक्खयखउवसमो–वसमा जं चेह कम्मुणो भणिया। दव्वं खित्तं कालं, भवं च भावं च तं पप्प॥१॥'' इति। इहोक्तविशेषणाभिग्रहलक्षणं भावमाश्रित्य चारित्रमोहोदयः, तदभावलक्षणं च भावमाश्रित्य तत्क्षयोपशम इति न व्यर्थमभिग्रहकरणमिति।

ननूक्तमभिग्रहकरणात् पित्रुद्वेगनिरासो महतां च स्थितिसिद्धिरिति सङ्गतम्, यत्पुनरिष्टकार्यसमृद्धिरिति, तदसाम्प्रतम्, गृहावस्थान–स्य प्रव्रज्याविरोधित्वादित्यस्यामाशङ्कायामाह–

इमौ शुश्रूषमाणस्य, गृहानावसतो गुरू।
प्रव्रज्याऽप्यानुपूर्व्येण, न्याय्याऽन्ते मे भविष्यति॥५॥

इमौ प्रत्यक्षाऽऽसन्नौ, गुरू इति संबन्धः। शुश्रूषमाणस्य परिचरतो, मे इति योगः। तथा–तच्छुश्रूषणार्थमेव गृहान् गेहमावसतोऽधितिष्ठतः सतः, *गुरू मातापितरौ, प्रव्रज्याऽपि चिकीर्षितानगारिताऽपि, आस्तां पित्रुद्वेग*निरासाऽऽदि, आनुपूर्व्वेण परिपाट्या, न्याय्या न्यायोपपन्ना, युक्तेत्यर्थः। अन्ते गुरुशुश्रूषावसाने एव, मे मम, भविष्यति संपत्स्यते॥५॥

कुत एतदेवमित्याह–

सर्वपापनिवृत्तिर्यत्, सर्वथैषा सतां मता।
गुरूद्वेगकृतोऽत्यन्तं, नेयं न्याय्योपपद्यते॥६॥

सर्वपापनिवृत्तिरशेषसावद्यानुष्ठानव्युपरतिः, यद् यस्मात्सर्वथा सर्वैः प्रकारैर्निमित्ताभविनापीत्यर्थः, एषा प्रव्रज्या, सतां विदुषां, मता इष्टा, इह तस्मादिति शेषो दृश्यः। तस्माद्गुरूद्वेगकृतो मातापितृचित्तसन्तापकारिणः, अत्यन्तमतिशयेन, तत्संबोधनपूर्वकं शास्त्रोक्ततत्संबोधनोपायाप्रयोगपूर्वकं वा प्रवृत्तस्य, न नैव, इयं प्रव्रज्या, न्याय्या युक्ता, उपपद्यते घटते, पितृसंतापरक्षयोपायाप्रवृत्तत्वेन निमित्तभावेन तच्चित्तसंतापलक्षणपापकारित्वात्तस्येति। परिहर्तव्यश्च तच्चित्तसंतापः। यदाह– ''अपडिबुज्झमाणे कहिं वि पडिबोहिज्जा अम्मापियरो।'' प्रव्रज्याऽभिमुखीकुर्वीतेत्यर्थः। ''अपडिबुज्झमाणेसु य कम्मपरिणईए विहेएज्जा जहासत्ति तदुवगरणं, तओ अणुन्नाए पडिवज्जिज्ज धम्मं।'' अथ नानुजानीतस्तदा ''अणुवहे चेव उवहिजुत्ते सिया।'' अल्पायुरहमित्यादिकां मायां कुर्यादित्यर्थः। एवमुपायप्रवृत्तमपि यदा न मुत्कलयतः, तदा तौ त्यजेत्। न च तौ त्यजतस्तच्चित्तसंपातेऽपि तस्य दोषः, विशुद्धभावत्वात्। यदाह–''सव्वहा अपडिबुज्झमाणे वएज्जा अद्धाणे गिलाणओ सव्वत्थ चागनाएण।'' यथाऽध्वनि ग्लानीभूतयोः पित्रोरौषधार्थं गच्छतः तत् त्यागोऽत्याग एव भावतः, एवं तयोः स्वस्यान्येषां चोपकाराय प्रव्रजत इति ज्ञातभावना। अत एव–''सोयणमक्कंदण बिलवणं च तं दुक्खिओ तओ कुणइ। सेवइ जं च अकज्जं, तेण विणा तस्स सो दोसो॥१॥'' इत्यादिकमाक्षिप्यैवं परिहृतम्–''अब्भुवगमेण भणियं, न उ विहिचागो पि तस्स हेउ त्ति। सोगाइम्मि वि तेसिं, मरणे व्व विसुद्धचित्तस्स॥१॥'' क्वचित् पठ्यते– ''सर्वपापनिवृत्तिर्या।'' इति। तत्र व्याख्येयम्–सर्वथा सर्वपापनिवृत्तिरेषां सतां मता, गुरूद्वेगकारिणश्चात्यन्तं नेयं सर्वपापनिवृत्तिर्न्याय्योपपद्यत इति।६।

कस्मादेवमित्याह–

प्रारम्भमङ्गलं ह्यस्याः, गुरुशुश्रूषणं परम्।
एतौ धर्मप्रवृत्तानां, नृणां पूजाऽऽस्पदं महत्॥७॥

प्रारम्भमङ्गलमादिमङ्गलं, हिर्यस्मात्, अस्याः प्रव्रज्यायाः, गुरुशुश्रूषणं मातापितृपरिचरणं परं प्रकृष्टं, भावमङ्गलमित्यर्थः। प्रारम्भमङ्गलतैवास्य कुतः? इत्याह–एतौ गुरू धर्म्मप्रवृत्तानां मोक्षहेतुसदनुष्ठानसमुपस्थितानां, नृणां पुंसां, नृग्रहणं च प्रधानतया तेषां, न तु तदन्यव्यवच्छेदार्थम्। पूजाऽऽस्पदमर्हणापदम्, महद् गुरुकम्। यदाह–''इह मातापितृपूजा, आमुष्मिकयोगकारणं ज्ञेया। तदनुज्ञया प्रवृत्तिः, प्रधानदीक्षाविधानार्थम्॥१॥''

पूजाऽऽस्पदत्वमेव समर्थयन्नाह–

स कृतज्ञः पुमान् लोके, स धर्मगुरुपूजकः।
स शुद्धधर्मभाक् चैव, य एतौ प्रतिपद्यते॥८॥

स इति। य एतौ प्रतिपद्यते स एव कृतज्ञः पितृकृतोपकारज्ञाता, पुमान्नरः, लोके लौकिकमार्गे, तथा स एव धर्मगुरोर्दीक्षाचार्यस्य, पूजकः पूजयिता धर्म्मगुरुपूजकः, भविष्यतीति गम्यते। नान्यः। यदाह–''उपकारीति पूज्यः स्याद्, गुरू चाऽऽद्योपकारिणौ। तावप्यर्चयते यो न, स हि धर्मगुरु कथम्? ।१।'' तथा स इति। स एव शुद्धधर्म्मभाक् निर्दोषकुशलधर्म्मभाजनं भवति। चशब्दः समुच्चये। एवशब्दोऽवधारणे। तस्य च दर्शितः प्रयोगः। यः पुमान् एतौ मातापितरौ प्रतिपद्यते सेवनतोऽङ्गीकरोति।

दुष्प्रतिकारित्वात्तयोः। आह च--"दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन्। तत्र गुरुरिहामुत्र च, सुदुष्करतरप्रतीकारः ॥१॥" ॥८॥ हा० २५ अष्ट०।

(९६) अथ जिनानामसामान्यार्थौ, विशेषार्थश्च कथ्यते--

वयधुरवहणा उसहो, उसहाऽऽइमसुविणलंछणाओ य।
रागाइजिओ अजिओ, न जिया अक्खेसु पिउणंडबा ॥९॥

(वयधुरवहणा उसहो) व्रतरूपा धुरा व्रतधुरा, तद् वहनाद् वृषभः बलीवर्दः, तर्हि ईदृशाः सर्वजिना वर्त्तन्ते, भगवति वृषभे को विशेषः? इत्याशङ्कायां विशेषार्थमाह--(उसहाइमसुविणलंछणाओ य त्ति) जनन्या मरुदेव्या स्वामिन्या चतुर्दशस्वप्नेषु प्रथमं वृषभदर्शनात्, च पुनः, वृषभलाञ्छनाद्वा वृषभः१। (रागाइजिओ अजिओ त्ति) रागाऽऽदिभिरजितो न पराजित इति अजितः २। एवंविधाः सर्वेऽपि, अजितजिने को विशेषः? (न जिया अक्खेसु पिउणंडबा) भगवति गर्भस्थिते न जिता अक्षेषु पाशकक्रीडासु जिनजनकेन अम्बा जिनमाता। इति गाथार्थः ॥९॥

सुहअइसयसंभवओ, तइओ भुवि पउरसस्ससंभवओ।
अभिमंजिइ तुरिओ, हरीहिँ हरिणा सया गब्भे ॥१०॥

(सुहअइसयसंभवओ तइओ) शुभाऽतिशयसंभवतस्तृतीयः ३। ईदृशाः सर्वे, संभवे को विशेषः?--(भुवि पउरसस्ससंभवओ) भुवि पृथिव्यां प्रचुरसस्यस्य बहुधान्यस्य संभवतः संभवजिनः३। (अभिनंदिजइ तुरिओ हरीहिं ति) अभि सामस्त्येन नन्द्यते चतुष्षष्टिदेवेन्द्रैः स्तूयते इति तुर्योऽभिनन्दनः ४। एवंविधाः सर्वे जिनाः, ततोऽस्य विशेषार्थमाह--(हरिणा सया गब्भे ति) देवेन्द्रेण सदा गर्भे गर्भस्थे सति, अभिनन्द्यते इति पूर्वोक्तमेवानुवर्त्तनीयमिति गाथाऽर्थः ॥१०॥

सयमवि सुहमइभावा, अंबाइ विवायभंगओ सुमई।
अमलत्ता पउमपहो, पउमप्पहअंकसेजमोहलओ ॥११॥

(सयमवि सुहमइभावा) स्वयमपि शुभमतेर्भावात्सद्भावात् सुमतिः ५ (अंबाइ विवायभंगओ सुमइ त्ति) अम्बाया विवादभङ्गतः सुमतिरभूदिति जिनस्य सुमतिरिति नाम। अत्रैकः सामान्यार्थः, सर्वजिनसाधारणत्वात्, द्वितीयो विशेषार्थश्चेति सर्वत्रापि ज्ञेयम्।५। (अमलत्ता पउमपहो त्ति) अमलत्वात् निर्मलत्वात् पद्मप्रभः६(पउमप्पहअंकसेजमोहलओ त्ति) पद्मस्येव प्रभा यस्यासौ पद्मप्रभः, रक्तवर्णत्वात्, पद्माङ्कत्वात्पद्माप्रभः, तथा स्वामिनि गर्भस्थे जनन्याः पद्मशय्याया दोहदः समुत्पन्नः, देवतया पूरितः, अतः पद्मप्रभः६। इति गाथार्थः ॥११॥

सुहपासो य सुपासो, गब्भे माऊइ तणुसुपासत्ता।
सियलेस्सो चंदपहो, ससिप्पहापाणमोहलओ ॥१२॥

(सुहपासो य सुपासो) शोभनानि पार्श्वाणि यस्यासौ सुपार्श्वः७। (गब्भे माऊइ तणुसुपासत्ता) स्वामिनि गर्भस्थे मातुरस्तनुः सुपार्श्वा जाता, अतः सुपार्श्वः ७। (सियलेस्सो चंदपहो त्ति) सितलेश्यः शुक्ललेश्यस्तेन चन्द्रप्रभः ८। (ससिप्पहापाणमोहलओ त्ति) भगवन्मातुः चन्द्रप्रभा शशिद्युतिस्तत्पानदोहदतो वा चन्द्रप्रभः८। इति गाथार्थः ॥१२॥

सुहकिरियाए सुविही, सयं पि जणणी वि गब्भकालम्मि।
जयतावहरो सियलो, अंबाकरफाससमियपिउदाहो।१३।

(सुहकिरियाए सुविही सयं पि ति) स्वयमपि शुभक्रियाः करोति यस्मात् कारणात् सुविधिः९। (जणणी वि गब्भकालम्मि) जिन-जनन्यपि गर्भकाले गर्भसमये सुविधिः--सा सम्यगाचारे रता जाता अतः सुविधिरिति जिनस्य नाम दत्तम् ९। (जयतावहरो सिअलो त्ति) जगत्तापहरः, अतः शीतलः१०। (अंबाकरफाससमिअपि--उदाहो त्ति) अम्बायाः जनन्याः करस्पर्शात् शमितः जनकदाघज्वरो येन स तथा इति शीतलः १०। इति गाथार्थः ॥१३॥

सेयकरो सिज्जंसो, जणणीए देविसिज्जअक्कमणा।
सुरहरिवसुहिं पुज्जो, पिउसमनामेण वसुपुज्जो ॥१४॥

(सेयकरो सिज्जंसो) श्रेयस्करः कल्याणकारी, तेन श्रेयांसः ११। (जणणीए देविसिज्जअक्कमणा) भगवति गर्भस्थे जनन्याः देव्यधिष्ठितशय्याया आक्रमणात्। श्रेयांसदेवताऽधिष्ठिता शय्याः पूर्वमभूत् केनाप्याक्रमितुमशक्या, तया जिनजनन्या गर्भानुभावतः सा शय्याऽऽक्रान्ता, श्रेयश्च जातमिति श्रेयांसः ११। (सुरहरिवसुहिं पुज्जो) सुरैर्देवैर्हरिभिरिन्द्रैर्वसुभिर्देवविशेषैः पूज्यः, स एव वासुपूज्यः १२, (पिउसमनामेण वसुपुज्जो त्ति) पितृसमाननाम्ना वा वासुपूज्यः१२। इति गाथार्थः ॥१४॥

विमलो दुहा गयमलो, गब्भे माया वि विमलबुद्धितणू।
नाणाइअणंतत्ता--ऽणंतोऽणंतमणिदामसुविणओ ॥१५॥

(विमलो दुहा गयमलो त्ति) विमलो द्विधा गतमलो बाह्यान्तरमलरहितः, तेन विमलः १३, (गब्भे माया वि विमलबुद्धितणु त्ति) स्वामिनि गर्भस्थिते माता जनन्यपिनिर्मलबुद्धिशरीरा जाता इति हेतोर्विमलः १३। (नाणाइअणंतत्ताऽणंतो त्ति) ज्ञानदर्शनचारित्राणामानन्त्यतः--अनन्तः १४ (अणंतमणिदामसुविणओ त्ति) अनन्तं महत्प्रमाणं यन्मणिदाम तत्स्वप्नतो वा अनन्तः १४। इति गाथार्थः ॥१५॥

धम्मसहावा धम्मो, गब्भे माया वि धम्मिया अहियं।
संतिकरणा उ संती, देसे असिवोवसमकरणा ॥१६॥

(धम्मसहावा धम्मो) धर्मस्वभावाद् धर्मजिनः। (गब्भेमाया वि धम्मिया अहियं ति) भगवति गर्भस्थिते माताऽपि धार्मिकाऽधिकं जाता इति हेतोः धर्मजिनः १५। (संतिकरणा उ संती) शान्तिकरणात् शान्तिः १६। (देसे असिवोवसमकरणा) तस्मिन् देशे अशिवस्योपद्रवस्योपशान्तिकरणाद्वा शान्तिः १६। इति गाथार्थः ॥१६॥

कुंथु त्ति महीइ ठिओ, भूमिठिअरयणथूभसुविणाओ।
वंसाइवुड्ढिकरणा, अरो महारयणअरसुविणा ॥१७॥

(कुंथु त्ति महीइ ठिओ त्ति) कौ पृथिव्यां स्थितवानिति निरुक्तात् कुन्थुः। (भूमिठिअरयणथूभसुविणाओ) भूमिकास्थितरत्नस्तूपस्वप्नात् कुन्थुः १७। (वंसाइवुड्ढिकरणा अरो त्ति) वंशाऽऽदिवृद्धिकरणात् अरः १८। (महारयणअरसुविणा) महारत्नाऽरकस्वप्नादरोऽरजिनः १८। इति गाथार्थः ॥१७॥

मोहाईमल्लजया, मल्ली वरमल्लसिज्जमोहलओ।
मुणिसुव्वओ जहत्था--मिहो तहंडबा वि तारिसी गब्भे।१८।

(मोहाईमल्लजया मल्लि त्ति) मोहाऽऽदिमल्लजयाद् मल्लिः, अत्रार्षत्वादिकारः १९। (वरमल्लसिज्जमोहलओ त्ति) वरमाल्यशय्यायाः

प्रधानपुष्पशय्याया दोहदाद् वा मल्लिः १९। (मुणिसुव्वओ जहत्थाऽभिहो त्ति) मुनिसुव्रतः यथार्थाभिधो यथार्थनामान्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, सुष्ठु व्रतान्यस्येति सुव्रतः, ततो मुनिश्चासौ सुव्रतश्चेति, मुनिवत् सुव्रतो मुनिसुव्रत इति वा २० (तहंऽबा वि तारिसी गब्भे त्ति) तथाऽम्बाऽपि माताऽपि, भगवति गर्भस्थे सति मुनिवत् सुव्रता जातेति मुनिसुव्रतः २०। इति गाथार्थः।१८।

रागाऽऽइनामणेणं, गब्भे पुररोहिनामणा उ नमी।
दुरियतरुचक्कनेमी–ऽरिट्ठमणिनेमिसुविणाओ ॥१९॥

(रागाऽऽइनामणेणं) रागद्वेषाऽऽदिशत्रूणां नामनेन नम्रीभूतत्वकरणेन नमिः (गब्भे पुररोहिनामणा उ नमि त्ति) गर्भे पुररोधिनामनान्नमिः। अयमर्थः–भगवति गर्भस्थे प्रत्यन्तनृपैरवरुद्धे नगरे भगवत्सुपुण्यशक्तिप्रेरितां प्राकारोपरि स्थितां भगवन्मातरमवलोक्य ते वैरिणो नृपाः प्रणता इति नमिः २१। (दुरियतरुचक्कनेमि त्ति) दुरितानि पापानि तद्रूपास्तरवस्तद्विषय चक्रनेमिः चक्रधारा, अतो नेमिः। (ऽरिट्ठमणिनेमिसुविणाओ त्ति) भगवन्मात्रा स्वप्नेऽरिष्टरत्नमयो नेमिर्दृष्टस्तेन "पदैकदेशे पदसमुदायात्" अरिष्टनेमिः २२। इति गाथार्थः ॥१९॥

भावाण पासणेणं, निसि जणणीसप्पपासणा पासो।
नाणाइधणकुलाऽऽईण वद्धणा वद्धमाणो णं ॥२०॥

(भावाण पासणेणं) सकलसंसारवर्तिनां भावानां पदार्थानां दर्शनेनाऽवलोकनेन पार्श्वः। (निसि जणणीसप्पपासणा पासो त्ति) निशि रात्रौ जनन्या शय्यासमीपे व्रजन् सर्पोऽवलोकित इति पार्श्वः २३। (नाणाइधणकुलाईण वद्धणा बद्धमाणो त्ति) ज्ञानदर्शनचारित्राणां वर्द्धनाद् धनकुलाऽऽदीनां च वर्द्धनतो वर्द्धमानः। अत्र ज्ञानाऽऽदीनां वर्द्धनाद् वर्द्धमान इति सामान्यार्थः। कुलधनाऽऽदीनां वर्द्धनाद् वर्द्धमान इति विशेषार्थश्च २४। इति गाथार्थः।२०।

अथ वीर इति नामापेक्षया सामान्यविशेषार्थमाह–

अहवा भावारिजया, वीरो दुट्ठसुरवामणीकरणा।
सामन्नविसेसेहिं, कमेण नामत्थदारदुगं ॥२१॥

(अहवा भावारिजया वीरो त्ति) अथवा भावारीणामन्तरङ्गाऽऽरीणां जयाद् वीरः २४। (दुट्ठसुरवामनीकरण त्ति) आमलकीक्रीडायां दुष्टसुरवामनीकरणाद् वीरः २४। (सामन्नविसेसेहिं ति) सामान्यविशेषाभ्यां क्रमेणानुक्रमेण (नामत्थदारदुगं) नामार्थेन नाम्नोऽर्थद्विकेन द्वारद्विकं ज्ञेयमिति गाथार्थः ॥२१॥ सत्त०४०–४१ द्वार।

चतुर्विंशन्तिः

"एतस्यामवसर्पिण्यामृषभोऽजितशंभवौ।
अभिनन्दनः सुमतिस्ततः पद्मप्रभाभिधः ॥२६॥
सुपार्श्वश्चन्द्रप्रभश्च, सुविधिश्चाऽथ शीतलः।
श्रेयांसो वासुपूज्यश्च, विमलोऽनन्ततीर्थकृत् ॥२७॥
धर्मः शान्तिः कुन्थुररो, मल्लिश्च मुनिसुव्रतः।
नमिर्नेमिः पार्श्वो वीरश्चतुर्विंशतिरर्हताम्" ॥२८॥

पुनरपिगाथार्थमाह–

एतस्यामिति वर्तमानायामवसर्पिण्यां दशसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणायां कालविशेषे, ऋषति गच्छति परमपदमिति "ऋषिवृषिलुसिभ्यः कित्" ॥(उणा० ३३१) इत्यभे ऋषभः। यद्वा–ऊर्वोर्वृषभलाञ्छनमभूद्भगवतो जनन्या च चतुर्दशानां स्वप्नानामादा–वृषभो दृष्टस्तेन ऋषभः ॥१॥ परीषहाऽऽदिभिर्न जित इति अजितः। यद्वा–गर्भस्थेऽस्मिन् द्यूते राज्ञा जननी न जितेत्यजितः ॥२॥ शं सुखं भवत्यस्मिन् स्तुते शंभवः। यद्वा–गर्भगतेऽप्यस्मिन्नभ्यधिकसस्यसंभवात् संभवोऽपि ॥३॥ अभिनन्द्यते देवेन्द्राऽऽदिभिरित्यभिनन्दनः। भुज्यादित्वादनट्। यद्वा–गर्भात्प्रभृत्येव अभीक्ष्णं शक्रेणाऽभिनन्दनादभिनन्दनः ॥४॥ शोभना मतिरस्य सुमतिः। यद्वा–गर्भस्थे जनन्याः सुनिश्चिता मतिरभूदिति सुमतिः ॥५॥ निष्पङ्कतामङ्गीकृत्य पद्मस्येव प्रभाऽस्य पद्मप्रभः। यद्वा–पद्मशयनदोहदो मातुर्देवतया पूरित इति, पद्मवर्णश्च भगवानिति वा पद्मप्रभः ॥६॥ ॥२६॥ शोभनौ पार्श्वावस्य सुपार्श्वः। यद्वा–गर्भस्थे भगवति जनन्यपि सुपार्श्वाऽभूदिति सुपार्श्वः ॥७॥ चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्यलेश्याविशेषोऽस्य चन्द्रप्रभः। तथा गर्भस्थे देव्याः चन्द्रपानदोहदोऽभूदिति चन्द्रप्रभः ॥८॥ शोभनो विधिर्विधानमस्य सुविधिः। यद्वा–गर्भस्थे भगवति जनन्यप्येवमिति सुविधिः ॥९॥ सकलसत्त्वसन्तापहरणात् शीतलः। तथा गर्भस्थे भगवति पितुः पूर्वोत्पन्नाऽचिकित्स्यपित्तदाहो जननीकरस्पर्शादुपशान्त इति शीतलः ॥१०॥ श्रेयांसावंसावस्य श्रेयांसः, पृषोदराऽऽदित्वात्। यथा–गर्भस्थेऽस्मिन् केनाप्यनाक्रान्तपूर्वा देवताऽधिष्ठितशय्या जनन्याऽऽक्रान्तेति श्रेयो जातमिति श्रेयांसः ॥११॥ वसुपूज्यनृपतेरयं वासुपूज्यः। यद्वा–गर्भस्थेऽस्मिन् वसु हिरण्यं, तेन वासवो राजकुलं पूजितवानिति। वसवो देवविशेषाः। तेषां पूज्यो वा वसुपूज्यः, प्रज्ञाऽऽद्यणि वासुपूज्यः ॥१२॥ विगतो मलोऽस्य, विमलज्ञानाऽऽदियोगाद्वा विमलः। यद्वा–गर्भस्थे मातुर्मतिस्तनुश्च विमला जातेति विमलः ॥१३॥ न विद्यते गुणानामन्तोऽस्यानन्तः, अनन्तजिदेकदेशो वा अनन्तः, "भीमो भीमसेनः" इति न्यायात्। स चासौ तीर्थकृच्च अनन्ततीर्थकृत् ॥१४॥२७॥ दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसङ्घातं धारयतीति धर्मः। तथा गर्भस्थे जननी दानाऽऽदि–धर्मपरा जातेति धर्मः ॥१५॥ शान्तियोगात् तदात्मकत्वात् तत्कर्तृकत्वाच्चायं शान्तिः। तथा गर्भस्थे पूर्वोत्पन्नाऽशिवशान्ति–रभूदिति शान्तिः ॥१६॥ कुः पृथ्वी तस्यां स्थितवानिति कुन्थुः, पृषोदराऽऽदित्वात्। तथा–गर्भस्थे भगवति जननी रत्नानां कुन्थुराशिं दृष्टवतीति कुन्थुः ॥१७॥ "सर्वो नाम महासत्त्वः, कुले य उपजायते। तस्याऽभिवृद्धये वृद्धै– रसावर उदाहृतः ॥१॥" इति वचनादरः। तथा–गर्भस्थे भगवति जनन्या स्वप्ने सर्वरत्नमयोऽरो दृष्ट इत्यरः ॥१८॥ परीषहाऽऽदिमल्लजयान्निरुक्तान्मल्लिः। तथा–गर्भस्थे भगवति मातुः सुरभिकुङ्कुमाल्यशयनीय–दोहदो देवतया पूरित इति मल्लिः ॥१९॥ मन्यते जगतस्त्रिकाला–वस्थामिति मुनिः, "मनेरुदेतौ चास्य वा" ॥ (उणा० ६१२) इति इप्रत्यये उपान्त्यस्योत्वं, शोभनानि व्रतान्यस्य सुव्रतः, मुनिश्चासौ सुव्रतश्च मुनिसुव्रतः। तथा–गर्भस्थे जननी मुनिवत् सुव्रता जातेति मुनिसुव्रतः ॥२०॥ परीषहोपसर्गाऽऽदिनामनात् "नमेस्तु वा" ॥ (उणा० ६१३) इति विकल्पेनोपान्त्यस्येकाराभावपक्षे नमिः। यद्वा–गर्भस्थे भगवति परचक्रनृपैरपि प्रणतिः कृतेति नमिः ॥२१॥ धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः; नेमीतीन्नन्तोऽपि दृश्यते। यथा– "वन्दे सुव्रतनेमिनौ।" इति ॥२२॥ स्पृशति ज्ञानेन सर्वभावानिति पार्श्वः। तथा–गर्भस्थे जनन्या निशि शयनीयस्थयाऽन्धकारे सर्पो दृष्ट इति गर्भानुभावोऽयमिति मत्वा पश्यतीति निरुक्तात् पार्श्वः, पार्श्वोऽस्य वैयावृत्यकरो यक्षः, तस्य नाथः पार्श्वनाथः, "भीमो भीमसेनः" इति न्यायाद् वा पार्श्वः ॥२३॥ विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणीति वीरः ॥२४॥ इत्यभिधानचिन्तामणौ श्रीहेमचन्द्रसूरयः।

निशिभक्तम्–

मूलगुणेसुं दुण्हं, सेसाणुत्तरगुणेसु निसि भुत्तं (२८७)

द्वयोर्जिनयोः ऋषभ१वीरयोः२४ शासने, मूलगुणेषु निशि भोजनप्रत्याख्यानम्, (सेसाणुत्तरगुणेसु निसि भुत्त) शेषाणां द्वाविंशतिमितानां जिनानामुत्तरगुणेषु निशि भोजनप्रत्याख्यानम्। सत्त० १३४ द्वार।

प्रकीर्णकानि–

..... सव्वेसि पइन्नगा ससीसकया।

नियनियसीसपमाणा, नेया .....)२७०)

सर्वेषां जिनानां प्रकीर्णकानि स्वशिष्यकृतानि भवन्ति निजनिजशिष्यप्रमाणानि, येषां जिनानां यावन्तः शिष्यास्तेषां तावत्प्रमाणानि प्रकीर्णकानि ग्रन्थविशेषा ज्ञेयाः। सत्त० १२४ द्वार।

(९७) पञ्चकल्याणकम्–

पउमप्पभे णं अरहा पंच चित्ते होत्था। तं जहा–चित्ताहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते, चित्ताहिं जाए, चित्ताहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, चित्ताहिं अणंते अणुत्तरे णिव्वा–घाए निरावरणे कसिणे पडिपुन्ने केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने, चित्ताहिं परिनिव्वए॥१॥

पुप्फदंते णं अरहा पंच मूले होत्था। मूलेणं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते एवं चेव।

एएणं अभिलावेणं इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ–

''पउमप्पभस्स चित्ता, मूले पुण होइ पुप्फदंतस्स।

पुव्वाऽसाढा सीयल–स्स उत्तरा विमलस्स भद्दवया॥१॥

रेवइ य अणंतजिणो, पूसो धम्मस्स संतिणो भरणी।

कुंथुस्स कत्तियाओ, अरस्स तह रेवईओ य॥२॥

मुणिसुव्वयस्स सवणो, आसिणि नमिणो य नेमिणो चित्ता।

पासस्स विसाहाओ, पंच य हत्थुत्तरे वीरो॥३॥''

समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था। तं जहा–हत्थुत्तराहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते, हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरइ, हत्थुत्तराहिं जाए, हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता०जाव पव्वइए, हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे०जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने।

पद्मप्रभ ऋषभाऽऽदिषु षष्ठः, पञ्चसु च्यवनाऽऽदिदिनेषु चित्रानक्षत्रविशेषो यस्य स पञ्चचित्रः, चित्राभिरिति रूढ्या बहुवचनम्। च्युतोऽवतीर्ण उपरिमोपरिमग्रैवेयकादेकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकात्, च्युत्वा च (गब्भं ति) गर्भे कुक्षौ व्युत्क्रान्त उत्पन्नः कौशाम्ब्यां धराभिधानमहाराजभार्यायाः सुसीमानामिकायाः माघमासबहुलषष्ठ्यां, जातो गर्भनिर्गमेन कार्तिकबहुलद्वादश्यां, तथा मुण्डो भूत्वा केशकषायाऽऽद्यपेक्षया, अगारान्निष्क्रम्यानगारितां श्रमणतां प्रव्रजितो गतोऽनगारतया च प्रव्रजितः कार्तिकशुद्धत्रयोदश्यां, तथाऽनन्तं पर्यायानन्तत्वात्, अनुत्तरं सर्वज्ञानोत्तमत्वात्, निर्व्याघातमप्रतिपातित्वात्, निरावरणं सर्वथा स्वावरणक्षयात्, कटकुड्याऽऽद्यावरणाभावाद्वा, कृत्स्नं सकलपदार्थविषयत्वात्, परिपूर्णं स्वावयवापेक्षयाऽखण्डं पौर्णमासीचन्द्रबिम्बवत्। किमित्याह– केवलं ज्ञानान्तरासहायत्वात्, संशुद्धत्वाद्वा। अत एव वरं प्रधानं केवलवरं, ज्ञानं च विशेषावभासं दर्शनं च सामान्यावभासं ज्ञानदर्शनं, तच्च तद्येति केवलवरज्ञानदर्शनं, समुत्पन्नं जातम्, चैत्रशुद्धपञ्चदश्याम्। तथा परिनिर्वृतो निर्वाणं गतः, मार्गशीर्षबहुलैकादश्याम्। आदेशान्तरेण फाल्गुनबहुलचतुर्थ्यामिति॥ (एवं चेव ति) पद्मप्रभसूत्रमिव पुष्पदन्तसूत्रमप्यद्ध्येतव्यम्, एव–मनन्तरोक्तस्वरूपेण। एतेनानन्तरत्वात्प्रत्यक्षेणाभिलापेन सूत्रपाठेनेमास्तिस्रः सूत्रसंग्रहणिगाथा अनुगन्तव्या अनुसर्त्तव्याः शेषसूत्राभिलापनिष्पादनार्थम्। (पउमप्पभस्सेत्यादि) तत्र पद्मप्रभस्य चित्रानक्षत्रं च्यवनाऽऽदिषु पञ्चसु स्थानकेषु भवतीत्यादिगाथाक्षरार्थो वक्तव्यः, सूत्राभिलापस्त्वाद्यसूत्रद्वयस्य साक्षाद्दर्शित एव। इतरेषां त्वेवम्–''सीयले णं अरहा पंच पुव्वासाढे होत्था। तं जहा–पुव्वासाढाहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते, पुव्वासाढाहिं जाए।'' इत्यादि। एवं सर्वाण्यपीति। व्याख्या त्वेवम्–पुष्पदन्तो नवमतीर्थंकर आनतकल्पादेकोनविंशतिसागरोपमस्थितिकात् फाल्गुनबहुल–नवम्यां मूलनक्षत्रे च्युतः, च्युत्वा काकन्दीनगर्यां सुग्रीवराजभार्यायाः रामाभिधानायाः गर्भत्वेन व्युत्क्रान्तो मूलनक्षत्रे मार्गशीर्ष–बहुलपञ्चम्यां जातः, तथा मूल एव ज्येष्ठशुद्धप्रतिपदि, मतान्तरेण–मार्गशीर्षबहुलषष्ठ्यां, निष्क्रान्तः। तथा मूल एव कार्तिकशुद्धतृतीयायां केवलज्ञानमुत्पन्नम्। तथाऽश्वयुजः शुद्धनवम्याम्, आदेशान्तरेण–वैशाखबहुलषष्ठ्यां, निर्वृत इति। तथा शीतलो दशमजिनः प्राणतकल्पाद्विंशतिसागरोपमस्थितिकाद्वैशाखबहुलषष्ठ्यां पूर्वाषाढानक्षत्रे च्युतः, च्युत्वा च भद्दिलपुरे दृढरथनृपतिभार्यायां नन्दायाः गर्भतया व्युत्क्रान्तः, तथा पूर्वाषाढास्वेव माघ–बहुलद्वादश्यां जातः, तथा पूर्वाषाढास्वेव माघबहुलद्वादश्यां निष्क्रान्तः, तथा पूर्वाषाढास्वेव पौषस्य शुद्धे, मतान्तरेणबहुलपक्षे, चतुर्दश्यां ज्ञानमुत्पन्नम्, तथा तत्रैव नक्षत्रे श्रावणशुद्धपञ्चम्यां, मतान्तरणे–श्रावणबहुलद्वितीयायां, निर्वृत इति। एवं गाथात्रयोक्तानां शेषाणामपि सूत्राणां प्रथमानुयोगपदानुसारेणोपयुज्य व्याख्या कार्या। नवरं चतुर्दशसूत्रेऽभिलापविशेषोऽस्तीति तद्दर्शनार्थमाह–(समणे इत्यादि) हस्तोपलक्षिता उत्तरा हस्तोत्तरा, हस्तो वोत्तरो यासां ता हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्यः, पञ्चसु च्यवनगर्भहरणाऽऽदिषु हस्तोत्तरा यस्य स तथा, गर्भात् गर्भस्थानात्। (गब्भं ति) गर्भे गर्भस्यानान्तरे संहृतो नीतो, निर्वृतस्तु स्वातिनक्षत्रे कार्तिकामावास्यायामिति। स्था०५ ठा०१उ०।

(९८) पर्यायान्तकृद् भूमिः–

तेसिं चिय नाणाओ, मुणीण गयकम्मयाण सिद्धिगमो।

अंतमुहुत्ते दुतिचउ–वरिसेसुं इगदिणाईसु॥३२४॥

तेषामृषभनेमिपार्श्वान्तिमशेषाणां केवलज्ञानाद् मुनीनां गतकर्मकाणां सिद्धिगमो मोक्षगमनं संजातम्। ऋषभजिनस्य केवलोत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तेन मोक्षमार्गश्चलितः, प्रथमभगवति मरुदेवी स्वामिनी मोक्षं गता१। नेमिजिनस्य केवलज्ञानाद्वर्षद्वयादनन्तरं मोक्षमार्गश्चलितः२। पार्श्वजिनस्य केवलोत्पत्त्यनन्तरं वर्षत्रयेण मोक्षमार्गश्चलितः ३। वीरजिनस्य केवलज्ञानादनन्तरं वर्षचतुष्टयादनन्तरं मोक्षमार्गश्चलितः४। उक्तव्यति–

रिष्टजिनानां विंशतिपारगतानामेकदिनाऽऽदिषु मोक्षमार्गश्चलितः ५ । इति गाथार्थः ॥३२४॥ सत्त० १५६ द्वार ।

अथ प्रतिक्रमणसंख्या–

देसिय–राइय–पक्खिय–चउमासिय–वच्छरीयनामाओ ।
दुण्हं पण पडिकमणा, मज्झिमगाणं तु दो पढमा ॥३८६॥

दैवसिक–रात्रिक–पाक्षिक–चातुर्मासिक–सांवत्सरिकनामतः (दुण्हं पञ्च पडिकमणा) द्वयोर्जिनयोः प्रथमचरमजिनयोः पञ्चाऽपि प्रतिक्रमणानि भवन्ति । (मज्झिमगाणं तु दो पढम त्ति) मध्यवर्तिनां द्वाविंशतिजिनानां शासने द्वे प्रथमे प्रतिक्रमणे दैवसिकरात्रिकलक्षणे भवतः, नान्य इति गाथार्थः ।३८६। सत्त० १३३ द्वार ।

प्रथमगणधरनामानि–

एएसिं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं पढमसीसा होत्था। तं जहा–

''पढमेऽत्थ उसभसेणे, बीए पुण होइ सीहसेणे य ।
चारूरु वज्जणाभे, चमरे तह सुव्वए विदब्भे य ॥३६॥
दिण्णे वाराहे पुण, आणंदे गोथुभे सुभूमे य ।
मंदरे॑ जसे अरिट्ठे, चक्काउहसंवकुंभअभिणए य ॥४०॥
इंदकुंभे य सुंभे,वरदत्ते अज्जदिण्ण इंदभूई य ।
उदितोदितकुलवंसा, विसुद्धवंसा गुणेहिँ उववेया ।
तित्थप्पवत्तयाणं, पढमा सिस्सा जिणवराणं ॥४१॥''

पुण्डरीको वृषभसेनाऽपरनामा १, सिंहसेनः२, चारूरुः ३, वज्रनाभः ४, चमरगणिः५, सुव्रतः (मतान्तरेण प्रद्योतनः) ६, विदर्भः७, दत्त०८,वाराहः६, आनन्दः(मतान्तरेण पद्मनन्दः)१०, कौस्तुभः (कृतार्थः) ११, सुभूमः(सुधर्मा)१२, मन्दरः१३, यशोधरः १४, अरिष्टः१५, चक्रायुधः १६, साम्बः१७, कुम्भः १८, अभिनयः (भिषजः)१६, इन्द्रकुम्भः(मल्ली)२०,शुंभः२१, वरदत्तः २२, आर्यदत्तः२३, इन्द्रभूतिः २४। एतानि प्रथमगणधराणां नामानि। ※स०।

प्रथमप्रवर्तिन्यः–

एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं पढमसिस्सणी होत्था । तं जहा–

''बंभी फग्गू सामा, अजिया तह कासवी रई सोमा ।
सुमणा वारुणि सुजसा, धारणि धरणी धरा पउमा ।४२।
अज्जा सिवा सुई दामणी य रक्खी य बंधुवई ।
पुप्फवई अनिला जक्खदिन्न तह पुप्फचूला य ॥४३॥
चंदणसहिअ पवत्तणि, चउवीसाणं जिणवरिंदाणं ॥''

तत्र ब्राह्मी, फल्गुः, श्यामा, अजिता, काश्यपी, रतिः, सोमा, सुमनाः, वारुणी, सुलसा (सुयशाः) धारिणी, धरणी, धरा, पद्मा,

※''सिरिउसहसेण पहुसीहसेण चारूरु वज्जनाहऽक्खा।
चमरो पज्जोयवियब्भदिन्नपहुणो वराहो य ॥३०६॥
पउनंद कयत्थो वि य, सुहम्ममंदरजसा अरिट्ठो य।
चक्काउह संबो कुंभ भिसह मल्ली य सुंभो य ॥३०७॥
वरदत्त अज्जदिन्ना, तहिंदभूई य गणहरा पढमा ।'' प्रव०८ द्वार। इति प्रवचनसारोद्धाराऽऽदौ नामभेदोऽपि । इति प्रथमगाथया चतुर्दशप्रवर्तिनीनामानि। आर्या, शिवा, श्रुतिः(शुभा) दामिनी (अज्जुका) रक्षी (भाविताऽभा) बन्धुमतिनामा, पुष्पवती, अनिला (अमिला) यक्षदत्ता (यक्षिणी) तथा पुष्पचूला, चः समुच्चये, चन्दनासहितास्तु एताः प्रवर्तिन्यः । प्रव०६द्वार ।

प्रथमश्रावकाः–

सेयंस नंद सुज्झो, संखो उसहस्स नेमिमाईणं । (२१८)

श्रीऋषभस्य प्रथमः श्रावकः श्रेयांसनामा१ । नेमिजिनस्य नन्दः २ । पार्श्वस्य सुद्योतः३ । शङ् खो वीरस्स ४ । शेषाणां विंशतिजिनानामप्रसिद्धाः, पुरातनग्रन्थेष्वनिबन्धनात् । सत्त० १०५ द्वार ।

प्रथमश्राविकाः–

सड्ढि सुभद्दा महसु–व्वया सुनंदा य सुलसा य ॥ (२१८)

ऋषभस्य सुभद्रा १ । नेमेः महासुव्रता २ । पार्श्वस्य सुनन्दा ३ । वीरस्य सुलसा ४ । अन्येषामप्रसिद्धाः, ग्रन्थेष्वनिबन्धनात् । सत्त० १०६ द्वार ।

प्रत्येकबुद्धमुनिसंख्या–

नियनियसीसपमाणा, नेया पत्तेअबुद्धा वि । (२७०)

प्रत्येकबुद्धा अपि मुनयो निजनिजशिष्यप्रमाणा ज्ञेयाः । सत्त० १२५ द्वार । ('मुणि' 'साहु' शब्दे विशेषः)

(प्रमाणाङ्गुलम् 'अंगुल' शब्दे प्रथमभागे ४४ पृष्ठे निरूपितम्)

प्रमादः–

वीरुसहाण पमाओ, अंतमुहुत्तं तहेवऽहोरत्तं । (१७६)

वीरस्यान्तर्मुहूर्तमात्रं प्रमादो जातः । ऋषभस्याऽहोरात्रं जातः । अन्येषां प्रमादो नास्ति । सत्त० ८५ द्वार ।

परीषहाः–

उदिता परीसहा सिं, पराइया ते य जिणवरिंदेहिं ।

उदिताः परीषहाः शीतोष्णाऽऽदय एषां भगवतां तीर्थकृतां, परं ते परीषहाःसर्वैरपि जिनवरेन्द्रैः पराजिताः । गतं परीषहद्वारम्– । आ०म०१ अ०१खण्ड।

(६६) अथ जिनप्रातिहार्याण्याह–

कंकेल्लि कुसुमवुट्ठी, दिव्वज्झुणिचामरासणाइं च ।
भावलयभेरि(दुंदुहि) छत्तं, जिणाण इय पाडिहेराइं ।२०८।

(कंकेल्लिकुसुमवुट्ठि त्ति) जिनशरीराद् द्वादशगुणः कङ्केल्लिपादपः, अशोकाऽपरपर्यायः१ । पञ्चवर्णकुसुमानां वृष्टिः २ । (दिव्वज्झुणि चामरासणाइं च) दिव्यध्वनिः३, श्वेतचामराणि ४, स्वर्ण–रत्नाऽऽदिमयं सिंहासनम् ५ । (भावलयभेरिदुंदुहि त्ति) भावलयं मौलिपृष्ठे भामण्डलम् ६, भेरिदुन्दुभिनामा वाद्यविशेषः ७। (छत्तं) छत्रमातपत्रं जिनमस्तकोपरि ८ । (जिणाण इय पाडिहेराइं) जिनानामेतानि प्रातिहार्याण्युक्तानीति गाथार्थः ॥२०८॥ सत्त० ६६ द्वार ।

(तीर्थकराणां पारणकालो, पारणद्रव्याणि च 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे निरूपितानि)

(१००) पारणदायकाः–

एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं पढमभिक्खा दायारो होत्था । तं जहा–

''सिज्जंस बंभदत्ते, सुरिंददत्ते य इंददत्ते य।
पउमे य सोमदेवे, माहिंदे सोमदत्ते य ॥२६॥
पुस्से पुणव्वसू पुण, णंद सुणंदे जए य विजए य।
तत्तो य धम्मसीहे, सुमित्त तह वग्घसीहे अ ॥२७॥
अपराजिएँ दिससेणे, वीसइमो होइ उसभसेणो य।
दिण्णे वरदत्त धण्णे, बहुलो तह आणुपुव्वीए ॥२८॥
एए वि सुद्धलेसा, जिणवरभत्तीइ पंजलिउडाओ।
तं कालं तं समयं, पडिलाभेई जिणवरिंदे'' ॥२९॥

श्रेयांसः १, ब्रह्मदत्त२, सुरेन्द्रदत्तः ३, इन्द्रदत्तः ४, पद्मः ५, सोमदेवः ६, माहेन्द्रः ७, सोमदत्तः ८, पुष्यः ९, पुनर्वसुः १०, नन्दः ११, सुनन्दः १२, जयः १३, विजयः १४, धर्मसिंहः १५, सुमित्रः १६, व्याघ्रसिंहः १७, अपराजितः १८, विश्वसेनाः १९, ऋषभसेनः २० (पाठान्तरे–ब्रह्मदत्तः२०) दिन्नः २१, वरदत्तः २२ (पाठान्तरे वरदिन्नः २२) धन्यः २३, बहुलब्राह्मणः २४। एते आनुपूर्व्या जिनानां प्रथमभिक्षादातारो ज्ञेयाः। स०।

पारणदायकगतिः–

अट्ठ य तब्भवसिद्धा, सेसा तम्मि उ भवे व तइए वा।
सिज्झिस्संति सगासे, जिणाण पडिवन्नपव्वज्जा ॥१६७॥

अष्टौ प्रथमदातारः तस्मिन्नेव भवे मोक्षं गताः, शेषाः षोडशजिन–प्रथमदातारः तस्मिन्नेव भवे तृतीये वा भवे जिनानां समीपे प्रति–पन्नप्रवर्ज्याः सन्तः सेत्स्यन्ति मोक्षं यास्यन्तीति। सत्त० ७८ द्वार।

पारणदायकदिव्यपञ्चकम्–

पण दिव्वा जलकुसुमाण वुट्ठि वसुहार चेलउक्खेवो।
दुंदुहिझुणी सुराणं, अहो सुदाणं ति घोसणया ॥१६८॥

(विवरणं तु 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे गतम्)

तत्र पारणदायकवसुधारावृष्टिः–

सव्वेसिं पि जिणाणं, जहियं लद्धा उ पढममिक्खा उ।
तहियं वसुधाराओ, सरीरमेत्ता उ वुट्ठाओ ॥३२॥

सर्वेषामपि जिनानां यत्र प्रथमभिक्षा लब्धा, तत्र वसुधारा (सरीरमेत्ता उ त्ति) पुरुषमात्रा उच्चत्वेन देवैर्वृष्टा। स०। सत्त०।

सद्ध दुवालसकोडी, सुवन्नवुट्ठीइ होइ उक्कोसा।
लक्खा सद्धदुवालस, जहन्निया होइ वसुहारा ॥१६९॥

सार्द्धद्वादशकोटिस्वर्णवृष्टिश्च भवति उत्कृष्टा, सार्द्धद्वादशलक्षाणि जघन्यका भवति वसुधारा ॥१६९॥ सत्त० ८० द्वार।

जिनानां पारणकपुराण्याह–

हत्थिणपुरं अउज्झा, सावत्थो तह अउज्झ विजयपुरं।
बंभत्थलं च पाडलिसंडं तह पउमसंडं च ॥१६१॥
सेयपुरं रिट्ठपुरं, सिद्धत्थ महापुरं च धन्नकडं।
तह वद्धमाण सोमणस मंदिरं चेव चक्कपुरं ॥१६२॥
रायपुरं तह मिहिला, रायगिहं तह य होइ वीरपुरं।
बारवई कोवकडं, कुल्लागं पारणपुराइं ॥१६३॥

हस्तिनापुरम्। पाठान्तरे–गजपुरम् १। अयोध्या २। श्रावस्ती ३। अयोध्या ४। विजयपुरम् ५। ब्रह्मस्थलम् ६। पाटलिखण्डम् ७। तथा पद्मखण्डं नगरम् ८॥ श्वेतपुरम् ९। रिष्टपुरम् १०। सिद्धार्थपुरम् ११। महापुरम् १२। धान्यकडम् १३। वर्द्धमानपुरम् १४। सौमनस्यम् १५। मन्दिरपुरम् १६। चक्रपुरम् १७॥ राजपुरम् १८। मिथिला १९। राजगृहम् २०। वीरपुरम् २१। द्वारवती २२। कोपकडं नगरम् २३। कुल्लागः सन्निवेशः २४। एतानि जिनानां पारणकपुराणीत्यर्थः। सत्त० ७६ द्वार।

(१०१) तीर्थकरपितृनाम–

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे णं ओसप्पिणीए चउवीसं तित्थगराणं पियरो होत्था। तं जहा–
''णाभी य जियसत्तू य, जियारी संवरे वि य।
मेहे धरे पइट्ठे य, महसेणे य खत्तिए ॥५॥
सुग्गीवे दढरहे विण्हू, वसुपुज्जे य खत्तिए।
कयवम्मा सीहसेणे, भाणूय विस्ससेण य ॥६॥
सूरे सुदंसणे कुंभे, सुमितेॅ विजए समुद्दविजए य।
राया य आससेणे, सिद्धत्थे चिय खत्तिए ॥७॥
उदितोदितकुलवंसा, विसुद्धवंसा गुणेहिँ उववेया।
तित्थप्पवत्तयाणं, एए पियरो जिणवराणं ॥८॥''

नाभिः१, जितशत्रुः२, जितारिः३, संवरः४, मेघः५, धरः६, प्रतिष्ठः७, महासेनः८, सुग्रीवः ९, दृढरथः१०, विष्णुः११, वसुपूज्यः १२, कृतवर्मा १३, सिंहसेनः १४, भानुः१५, विश्वसेनः १६, सूरः १७, सुदर्शनः १८, कुम्भः १९, सुमित्रः२०, विजयः २१, समुद्रविजयः२२, अश्वसेनो राजा २३, सिद्धार्थः२४। एते क्रमेण चतुर्विंशतिरर्हतां पितरः क्षत्रिया राजानः। स०।

तीर्थकरपितृणां गतिः–

नागेसुं उसभपिआ, सेसाणं सत्त हुंति ईसाणे।
अट्ठ य सणंकुमारे, माहिंदे अट्ठ बोधव्वा ॥३२८॥

नागेषु नागकुमारेषु भवनपतिद्वितीयनिकायवर्त्तिषु सुरेषु श्रीऋषभनाथ–पिता नाभिनामा,गत इति शेषः। तथा शेषाणामजितनाथप्रभृतीनां चद्रप्रभान्तानां सप्तानां पितरो भवन्ति गता ईशाने द्वितीयदेवलोके। सैद्धान्तिकास्तु–श्रीअजितस्वामिपितुर्जितशत्रोर्मुक्तिगमनमाचक्षते, अनुयोगद्वाराऽऽदौ तथैव भणनात्। यदाह श्रीहेमसूरिः–

''राजा बाहुबलिः सूर्य–यशाः सोमयशा अपि।
अन्येऽप्यनेकशः केऽपि, शिवं केऽपि दिवं ययुः ॥१॥
जितशत्रुः शिवं प्राप, सुमित्रस्त्रिदिवं गतः॥''

इति योगशास्त्रे, त्रिषष्टिचरितेऽपि च।

तथा सुविधिप्रभृतीनामष्टौ च पितरः सनत्कुमारे तृतीयदेवलोके। तथा कुन्थुप्रमुखाणामष्टौ पितरो माहेन्द्रे चतुर्थदेवलोके गता बोद्धव्याः। प्रव० १२ द्वार।

(१०२) पूर्वप्रवृत्तिकालः–

पुव्वपवित्ति जिणाणं, असंखकालो इहासि जा कुंथू।
पासं जा संखिज्जो, वरिससहस्सं तु वीरस्स ॥३२७॥

ऋषभाऽऽदीनां पूर्वप्रवृत्तिकाल एवम्– ऋषभादारभ्य कुन्थुजिनं यावत् असंख्यातकालमासीत् पूर्वप्रवृत्तिः। अरजिनादारभ्य पार्श्वनाथपर्यन्तं संख्यातकालः पूर्वप्रवृत्तिः। वीरस्य सहस्रवर्षपर्यन्तं पूर्वप्रवृत्तिरासीत्। सत्त० १६२ द्वार।

पुर्वविच्छेदकालकथनम्–

एमेव छेयकालो, नवरं वीरस्स वीससमसहसा।

पासस्स नत्थि सो वा, सेससुयपवित्ति जा तित्थं ॥३२८॥

एवमेव पूर्वरीत्या छेदकालोऽपि ज्ञेयः । श्रीऋषभस्यासंख्यातकालं यावत्पूर्वव्युच्छेदः । एवं कुन्थुजिनं यावद् ज्ञेयम् । ततोऽरजिनस्य संख्यातकालं यावत् पूर्वव्युच्छेदः । एवं पार्श्वनाथ यावद् ज्ञेयम् । नवरं वीरस्य विंशतिवर्षसहस्राणि पूर्वविच्छेदः । श्रीपार्श्वनाथस्य स पूर्वविच्छेदकालो वा नास्ति । अत्र विकल्पः केषाञ्चिदाचार्याणां मतमाश्रित्यावसेयः । शेषश्रुतप्रवृत्तिः यावत्तीर्थम् । अयमर्थः—यावद् यस्य तीर्थङ्करस्य तीर्थं तावत् कालं पूर्वव्यतिरिक्ता श्रुतप्रवृतिरिति गाथार्थः । सत्त० १६३ द्वार ।

(१०३) पूर्वभवनिरूपणम्—

(ऋषभस्याष्टौ पूर्वभवाः 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे कथिताः)

चन्द्रप्रभस्य सप्त भवाः—

सिरिवम्मनिवो सोहम्मसुरवरो अजियसेणचक्की य ।
अच्चुयपहु पउमनिवो, य वेजयंते य चंदपहो ॥२३॥

प्रथमे भवे श्रीवर्मनामा राजा १ । द्वितीयभवे सौधर्मदेवलोके देवः २ । तृतीयभवेऽजितसेननामा चक्रवर्ती ३ । तुर्यभवे अच्युतेन्द्रः ४ । पञ्चमभवे पद्मनामा नृपः ५ । षष्ठभवे द्वितीयानुत्तरविमाने वैजयन्ते देवो जातः ६ । सप्तमभवे चन्द्रप्रभनाम्नाऽष्टमतीर्थपः ७ ।

शान्तिनाथस्य द्वादश भवाः—

सिरिसेणो अभिनंदिय, जुयल सुरा अमियतेयसिरिविजया ।
पाणय बल हरि तो हरि, नरए खयरऽच्चुए दो वि ॥२४॥
वज्जाउह सहसाउह, पिउसुय गेविज्ज तइएँ नवमे वा ।
मेहरहदढरहा तो, सव्वट्ठे संति गणहारी ॥२५॥

प्रथमभवे—श्रीषेणो राजाऽभूत्, तस्याभिनन्दिता राज्ञी १ । (जुयल त्ति) द्वितीयभवे उत्तरकुरुक्षेत्रे द्वावपि युगलिनौ जातौ २ । (सुर त्ति) तृतीये सौधर्मकल्पे देवः ३ । (अमियतेय सिरिविजय त्ति) तुर्यभवे जिनजीवोऽमिततेजोनामा विद्याधरो जातः, प्रियाजीवः श्रीविजयो राजा जातः४ । (पाणय त्ति) पञ्चमे प्राणतनाम्नि दशमे देवलोके द्वावपि देवौ जातौ ५ । (बलहरि त्ति) षष्ठभवेऽस्मिन् जम्बूद्वीपपूर्वविदेहमध्यस्थे रमणीयाख्ये विजये सुभगायां नगर्यां जिनजीवो बलभद्रो जातः । प्रियाजीवो वासुदेवो जातः ६ । (तो इति) ततः हरिर्नरके गतः । ततो नरकादुद्वृत्य (खयर त्ति) खचरौ द्वावपि विद्याधरौ, संजमं लात्वा सप्तमे भवे अच्युते गतौ ७ ॥२४॥ (वज्जाउह त्ति) ततोऽष्टमभवे जिनजीवो वज्रायुधराजा जातः, स्त्री—जीवः तस्य सहस्रायुधनामा पुत्रो जातः ८ । (गेविज्ज त्ति) ततो नवमे ग्रैवेयके द्वावपि देवौ जातौ । मतान्तरे—तृतीये ग्रैवेयके देवौ जातौ ६ । (मेहरह त्ति) दशमभवे ततश्चयुतौ तस्मिन् जम्बूद्वीपे प्राग्विदेहविभूषणे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्यां नगर्यां जिन—जीवो मेघरथः, प्रियाजीवो दृढरथः, एवं द्वावपि भ्रातरौ जातौ १०। (सव्वट्ठे त्ति) एकादशभवे ततो द्वावपि भ्रातरौ संयमं लात्वा सम्यक्—संयमं प्रपाल्य सर्वार्थसिद्धे विमाने देवौ सम्भूतौ ११ । (संतिगण—हारि त्ति) द्वादशे भवे भगवान् शान्तिनाथः, पूर्वभवप्रियाजीवो सर्वार्थसिद्धविमानात् च्युत्त्वा भगवतः पुत्रत्वेन जातः, भगवतः चक्रवर्तित्वे सेनानीरभूत्, ततः पश्चात् संजमं लात्वाऽऽद्यगणधरो जातः १२ ।

मुनिसुव्रतस्य नव भवाः—

सिवकेउ सुहम्मसुरे, कुवेरदत्त तियकप्पि वज्जकुंडलओ ।
बंभे सिरिवम्मनिवो, अवराई सुव्वओ नवमे ॥२६॥

प्रथमभवे शिवकेतुनामा राजा १ । द्वितीयभवे सौधर्म देवः २ । तृतीयभवे कुबेरदत्तनामा नृपः ३ । तुर्यभवे तृतीयकल्पे सनत्कुमारे देवः ४ । पञ्चमभवे वज्रकुण्डलनामा राजा५ । षष्ठे भवे ब्रह्मनाम्नि पञ्चमदेवलोके देवो जातः ६ । सप्तमभवे श्रीवर्मराजा जातः ७ । अष्टमेऽपराजितनाम्नि तुर्यानुत्तरे विमाने देवः ८ । नवमे भवे मुनि—सुव्रतजिनः६ ।

नेमिनाथस्य नव भवाः—

धणधणवइ सोहम्मे, चित्तगई खेयरो य रयणवई ।
माहिंदे अवराइय, पीइमई आरणे तत्तो ॥२७॥
सुपइट्ठो संखो वा, जसमइ भज्झाऽवराइयविमाणे ।
नेमिजिणो राईमइ, नवमभवे दो वि सिद्धा य ॥२८॥

प्रथमभवे—धननामा राजाऽभूत्, तस्य धनवती राज्ञी १ । द्वितीये भवे सौधर्मे कल्पे द्वावपि देवौ जातौ २ । तृतीयभवे चित्रगतिनामा विद्याधरो, राज्ञीजीवो रत्नवती प्रिया ३ । तुर्यभवे द्वावपि माहेन्द्रे देवलोके देवौ जातौ ४ । पञ्चमभवे अपराजितो राजा, प्रीतिमती राज्ञी ५ । षष्ठे भवे आरणदेवलोके द्वावपि देवौ जातौ ६ ॥२७॥ सप्तमभवे सुप्रतिष्ठः; मतान्तरेशङ्खनामा राजा बभूव; धनवतीजीवो यशोमती भार्या जाता ७ । अष्टमभवे अपराजितनाम्नि तुर्यानुत्तरविमाने देवौ जातौ ८ । नवमभवे भगवान् श्रीनेमिजिनः, पत्नीजीवः राजीमती जाता ६ । तदनन्तरं द्वावपि सिद्धौ मोक्षं गतौ ॥२८॥

पार्श्वस्य दश भवाः—

कमढमरुभूइभाया, कुक्क कुडअहि हत्थि नरएँ सहसारे ।
सप्प खयरिंद नारएँ, अच्चुयसुर सवर नरनाहो ॥२६॥
नारएँ गेविज्जसुरो, सीहो निवई य नरय पाणयगे ।
कंठो विप्पो पासो, संजाया दो वि दसमभवे ॥३०॥

प्रथमे भवे—कमठमरुभूतिनामानौ भ्रातरौ जातौ, तत्र मरुभूति—नामा भगवज्जीवः १ । द्वितीयभवे कमठजीवः कुर्कुटाहिर्जातः, जिनजीवो हस्तिजातिः २ । तृतीयभवे कमठो नरके गतः, जिनजीवः सहस्रारेऽष्टमदेवलोके गतः३ । चतुर्थभवे कमठजीवः सर्पो जातः, जिनजीवो विद्याधरेन्द्रोऽभूत् ४ । पञ्चमभवे कमठजीवो नैरयिको जातः, जिनजीवोऽच्युते देवो जातः ५ । षष्ठभवे कमठजीवः शबरः भिल्लोऽजनि, जिनजीवो नरनाथो बभूव ६ ॥२६॥ सप्तमभवे कमठजीवो नरके गतः, जिनजीवो ग्रैवेयके सुरो जातः ७ । अष्टमभवे कमठजीवः सिंहो जातः, पार्श्वजीवो नृपतिर्जातः ८ । नवमे भवे कमठजीवो नरके नारको जातः, पार्श्वजीवः प्राणतनाम्नि दशमे देवलोके देवो जातः६ । दशमे भवे कमठजीवः कण्ठनामा विप्रोऽभूत्, मरुभूतिजीवः पार्श्वनाथनामा त्रयोविंशतितमो जिनो जातः १० । एवं सन्तौ द्वावपि दशमभवे ॥३०॥ सत्त० १ द्वार । (वीरस्य सप्तविंशतिभवाः ''वीर'' शब्दे वक्ष्यन्ते)

सप्ततिशतस्थाने वीरस्याष्टाविंशतिभवा निरूपिताः, तत्र देवा—

नन्दोदरात् २७ सप्तविंशतिः, त्रिशलोदरादष्टाविंशतितमः ।

शेषजिनानां भवाः—

सत्तण्हमिडे भणिया, पयडभवा तेसि सेसयाणं च ।

तइयभवदीवपमुहं, नायव्वं वक्खमाणाओ ॥३४॥

सप्तजिनानामिमे भणिताः प्रकटभवाः, तेभ्यः सप्तजिनेभ्यः शेषाणामनुक्तभवानां सप्तदशजिनानां तृतीयभवद्वीपप्रभृति ज्ञेयं वक्ष्यमाणाद् ग्रन्थात्। अयं भवः–शेषजिनानां त्रयो भवा अधिकाराद् ज्ञेयाः। तथा पूर्वभवद्वीपक्षेत्रविजयाऽऽदिकथनेन, पूर्वभवनामकथनेन च प्रथमभवो ज्ञेयः १, पूर्वभवदेवलोककथनेन च द्वितीयो भवो ज्ञेयः २, तृतीयस्तु जिनभवः ३,इति सर्वेषां जिनानां पूर्वभवा उक्ताः। सत्त० २ द्वार। ('मल्ली' शब्दे मल्लिनाथस्य त्रयो भवा वक्ष्यन्ते)

(१०४) अथ पूर्वभवगुरवः सर्वेषां जिनानां प्रतिपाद्यन्ते–

वयसेणो अरिदमणो, संभंतो विमलवाहणो य तहा।
सीमंधर पिहियासव,अरिदमण जुगंधर गुरू य ॥४७॥
सव्वजगाणंदगुरू, संथाहो वज्जदत्त वयनाहो।
तह सव्वगुत्तनामे, चित्तरहो विमलवाहणओ ॥४८॥
घणरह संवर तह साहुसंवरो तह य होइ वरधम्मो।
तह य सुनंदो नंदो, अइजस दामोदरो य पुट्ठिलओ ॥४९॥

वज्रसेनः १। अरिदमनः २। संभ्रान्तः ३। विमलवाहनः ४। सीमन्धरः ५। पिहिताश्रवः ६। अरिदमनः ७। युगन्धरः ८। सर्वजगदानन्दः ९। संस्ताघः १०। वज्रदत्तः ११। वज्रनाभः १२। सर्वगुप्तः १३। चित्ररथः १४। विमलवाहनकः १५। धनरथः १६। संवरः १७। साहुसंवरः १८। तथा च भवति वरधर्मः १९। सुनन्दः २०। नन्दः२१। अतियशाः २२। दामोदरः २३। पोट्टिलकः २४। सत्त० ९ द्वार।

पूर्वभवायुः–

धम्मस्स मज्झिमाऊ, सेसाणुक्कोसयं तमिमं। (५६)
तित्तीसं तित्तीसं, गुणतीसं दुसु तितीस इगतीसं।
अडवीसं तित्तीसं, गुणवीसं वीस बावीसं ॥५७॥
वीसऽट्ठारस वीसं, बत्तीस कमेण पंचसु तितीसं।
वीस तितीसं वीसं, वीसऽयरा पुव्वभवआऊ ॥५८॥

धर्मनाथस्य मध्यमाऽऽयुः। शेषजिनानामुत्कृष्टकमेव तदिदं वक्ष्यमाणम् ॥५६॥ त्रयस्त्रिंशत् सागराणि १। त्रयस्त्रिंशत् सागराणि २। एकोनत्रिंशत् साग०३। द्वयोः–त्रयस्त्रिंशत् साग०४। त्रयस्त्रिंशत् साग०५। एकत्रिंशत् साग०६। अष्टाविंशतिः साग०७। त्रयस्त्रिंशत् साग०८। एकोनविंशतिः साग०९। विंशतिःसाग० १०। द्वाविंशतिः साग०११ ॥५७॥ विंशतिः साग० १२। अष्टादश सागर० १३। विंशतिः साग० १४। द्वात्रिंशत् साग० १५। क्रमेण पञ्चसु–त्रयस्त्रिंशत् साग० १६। त्रयस्त्रिंशत् साग० १७। त्रयस्त्रिंशत् साग० १८। त्रयस्त्रिंशत् साग० १९। त्रयस्त्रिंशत्साग० २०। विंशतिः साग० २१। त्रयस्त्रिंशत् साग० २२। विंशति० साग० २३। विंशतिः सागराणि २४। इति जिनानां पूर्वभवायुः। सत्त० १३ द्वार।

पूर्वभवक्षेत्राणि–

बारस पुव्वविदेहे, तिन्नि कमा भरह एरवएँ भरहे।
पुव्वविदेहे तिन्नि य, मल्लिऽवरविदेहें पण भरहे ॥३६॥
मज्झिमसेरुनगाओ, धायइपुक्खरगयाइँ भरहाइं।
खित्ताइँ पुव्वखंडे, खंडवियारो न जंबुम्मि ॥३७॥

ऋषभाऽऽद्याः द्वादश जिनाः पूर्वमहाविदेहे जाताः १२ त्रीणि क्रमात्–भरते १३, ऐरवते १४, पुनः भरते १५ ज्ञेयाः। शान्तिः १६, कुन्थुः १७, अरः १८, एते त्रयोऽपि जिना पूर्वमहाविदेहे ज्ञेयाः। मल्लिः पश्चिममहाविदेहे १९। मुनिसुव्रतः २०, नमिः २१, नेमिः २२, पार्श्वः २३, वर्द्धमानः २४, एते पञ्चापि भरते ज्ञेयाः। मध्यममेरुः सुदर्शननामा, तस्मात् धातकीखण्डभरताऽऽदीनि पुष्करार्द्धभरताऽऽदीनि च क्षेत्राणि पूर्वखण्डे। अत्रायं भावःधातकीखण्डः, पुष्करार्द्धद्वीपश्च इषुकारगिरिभ्यां विभक्तौ स्तः तेनोभयोरपि द्वौ द्वौ खण्डौ भवतः, एकः पूर्वखण्डोऽपरः पश्चिमखण्डश्च। ततोऽत्रयाणि तीर्थकृता पूर्वभवक्षेत्राणि भरताऽऽदीनि तानि सर्वाण्यपि पूर्वखण्डसंबन्धीनि, न तु पश्चिमखण्डसम्बन्धीनीति। ननु तर्हि जम्बूद्वीपगतक्षेत्राणि किंखण्डसंबन्धीनीत्याह–खण्डविचारो जम्बूद्वीपे नास्ति,तत्र कस्यापि भाजकस्याभावादिति। सत्त० ३ द्वार।

पूर्वभवक्षेत्रदिशा–

विमलो धम्मो मुणिसु–व्वयाइ पण आसि मेरुदाहिणओ।
मेरुत्तरओऽणंतो, सीओयादाहिणे मल्ली ॥३८॥
सीयाए उत्तरओ, उसहसुमइसुविहिसंतिकुंथुजिणा।
सेसा दस दाहिणओ,इय पुव्वभवम्मि खित्तदिसा ॥३९॥

विमलः, धर्मश्चैतौ द्वौ; मुनिसुव्रतः, नमिः, नेमिः, पार्श्वः, वर्द्धमानः, एवं च पञ्च जिनाः, एते सर्वे सप्त जिना मेरुतो दक्षिणत आसन्। अनन्तोऽनन्तजिज्जिनः८ मेरोरुत्तरत आसीत्। सीतोदानद्या दक्षिणपार्श्वे श्रीमल्लिजिनः ९। सीतानद्या उत्तरतः ऋषभः १०, सुमतिः ११, सुविधिः १२, शान्तिः १३, कुन्थुः १४, एते जिनाः समुत्पन्नाः पूर्वभवे। शेषाः स्थिता ये दश जिनास्ते दक्षिणस्यां दिशि जाताः। इति सर्वेषां जिनानां पूर्वभवक्षेत्रदिशः। सत्त० ४ द्वार।

पूर्वभवजिनहेतुः–

पढमचरिमेहिँ पुट्ठा, जिणहेऊ वीस ते य इमे ॥(५०)

प्रथमः–ऋषभः,चरमो–वीरः, ताभ्यां स्पृष्टा जिनहेतवो विंशतिः, यैर्हेतुभिः जिनो भवति। ते च इमे वक्ष्यमाणा भवेयुः। सत्त० १० द्वार। आ० क०।

तानेव हेतूनाह–

अरिहंतसिद्धपवयण–गुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छल्लया य एसिं, अभिक्खनाणोवओगे अ ॥३१२॥

अत्र तिस्रो गाथाः तत्र प्रथमगाथायामष्टौ कारणान्युक्तानि, द्वितीयायां नव, तृतीयायां त्रीणि। तत्र प्रथमगाथाव्याख्या–अशोकाऽऽद्यष्टमहाप्रातिहार्याऽऽदिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तीर्थकराः, अपगतसकलकर्माशाः परमसुखिन एकान्तं कृतकृत्याः सिद्धाः, प्रवचनं द्वादशाङ्गं, तदुपयोगानन्यत्वात् संघो वा प्रवचनम्, गृणन्ति यथावस्थितशास्त्रार्थमिति गुरवो धर्मोपदेशाऽऽदिदातारः, स्थविरा जातिश्रुतपर्यायभेदभिन्नाः। तत्र जातिस्थविराः–वर्षषष्टिप्रमाणाः। श्रुतस्थविराः–समवायाङ्गधारिणः। पर्यायस्थविराः–विंशतिवर्ष–व्रतपर्यायाः। बहु प्रभूतं श्रुतं येषां ते बहुश्रुताः, बहुश्रुतत्वमापेक्षिकं प्रतिपत्तव्यम्। श्रुतं च त्रिधा–सूत्रतः, अर्थतः, उभयतश्च। तत्र सूत्रधरेभ्योऽर्थधराः प्रधानाः, तेभ्योऽप्युभयधराः प्रधाना इति। विचित्रमनशनाऽऽदिभेदभिन्नं तपो विद्यते येषां ते तपस्विनः सामान्यसाधवः। अर्हन्तश्च सिद्धाश्च प्रवचनं च

गुरवश्च स्थविराश्च बहुश्रुताश्च तपस्विनश्च अर्हत्सिद्धप्रवचनगुरुस्थविरबहुश्रुततपस्विनः । सूत्रे च ''बहुस्सुए'' इत्यत्र एकारः प्राकृतत्वादलाक्षणिकः । तेषु । (एसिं ति) प्राकृतत्वात्सप्तम्यर्थे षष्ठी । तत एतेषु सप्तसु स्थानेषु वत्सलभावो वत्सलता अनुरागः ७, यथाऽवस्थितगुणोत्कीर्तनं तदनुरूपोपचारलक्षणात्तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणमिति शेषः । तथा–अभीक्ष्णमनवरतं ज्ञानोपयोगो ज्ञाने व्याप्रियमाणतः ८ । इदमष्टमं कारणम् ॥३१२॥

दंसणविणए आवस्सए अ सीलव्वए निरइयारो ।
खणलवतवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥३१३॥

द्वितीयगाथाव्याख्या–दर्शनं सम्यक्त्वं, विनयो ज्ञानाऽऽदिविनयः। स च प्रागुक्तो वक्ष्यमाणो वा, दर्शनं च विनयश्च दर्शनविनयम्, समाहारद्वन्द्वः, तस्मिन् । आवश्यकमवश्यकर्त्तव्यं प्रतिक्रमणाऽऽदि ; तस्मिन् । शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतम्, अत्रापि समहारद्वन्द्वः । तस्मिन् । तत्र शीलान्युत्तरगुणाः, व्रतानि मूलगुणाः । एतेषु निरतिचारः सन्, तीर्थकरनामकर्म्म बध्नातीति क्रियायोगः । एतावता पञ्च कारणान्युक्तानि । तथाक्षणलवे तपसि त्यागे वैयावृत्ये च समाधिस्तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणम् ।तत्र क्षणलवग्रहणमशेषकालविशेषोपलक्षणम्, क्षणलवाऽऽदिषु कालविशेषेषु निरन्तरं संवेगभावनातो ध्यानाऽऽसेवनतश्च समाधिः क्षणलवसमाधिः । तथा– तपसि बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदभिन्ने यथाशक्ति निरन्तरं प्रवृत्तिस्तपः समाधिः । त्यागो द्विधा–द्रव्यत्यागः, भावत्यागश्च । द्रव्यत्यागो नाम– आहारोपधिशय्याऽऽदीनामप्रायोग्याणां परित्यागः, प्रायोग्याणां च यतिजनेभ्यो दानम् । भावत्यागः–क्रोधाऽऽदीनां विवेकः, ज्ञानाऽऽदीनां च यतिजनेभ्यो वितरणम् । एतस्मिन् द्विविधेऽपि त्यागे सूत्रानतिक्रमेण यथाशक्ति निरन्तरं प्रवृत्तिस्त्यागसमाधिः । वैयावृत्त्यं दशविधम् । तद्यथा–आचार्यवैया–वृत्त्यम्१, उपाध्यायवैयावृत्त्यम्२, स्थविरवैयावृध्यम् ३, तपस्विववैयावृत्त्यम् ४, ग्लानवैयावृत्त्यम्५, शैक्षकवैयावृत्त्यम् ६, साधर्मिकवैयावृत्त्यम् ७, कुलवैयावृत्त्यम् ८, गणवैयावृत्त्यम् ९, सङ्घवैयावृत्त्यं चेति १० । एकैकं त्रयोदशविधम् । तद्यथा–भक्तदानम् १, पानदानम् २, आसनप्रदानम्३, उपकरणप्रत्युप्रेक्षा ४, पादप्रमार्जनम् ५, वस्त्रप्रदानम् ६, भेषजप्रदानम् ७, अध्वनि साहाय्यम् ८, दुष्टस्तेनाऽऽदिभ्यो रक्षणम् ९, वशतौ प्रविशतां दण्डकग्रहणम् १०, कायिकामात्रकसमर्पणम् ११, संज्ञामात्रकसमर्पणम् १२, श्लेष्ममात्रकसमर्पणं चेति १३ । एतेषु वैयावृत्त्यभेदेषु यथाशक्ति निरन्तरं प्रवृत्तिर्वैयावृत्त्यसमाधिः ।

अप्पुव्वनाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहिँ कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३१४॥

तृतीयगाथाव्याख्या–अपूर्वस्या पूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणमपूर्वज्ञानग्रहणमष्टादशं तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणम् ।एकोनविंशतितमं श्रुतभक्तिः श्रुतविषयं बहुमानम् । विंशतितमं प्रवचने प्रभावना यथाशक्ति प्रवचनार्थोपदेशदानाऽऽदिरूपा । एभिरनन्तरोक्तैः कारणैस्तीर्थकरत्वं लभते जीवः ।

एतानि च कानिचित् कारणानि सूत्रकार एव स्वयं व्याचष्टे–

संघो पवयणमित्थं, गुरुणो धम्मोवएसघाईया ।
सुत्तत्थोभयधारी, बहुस्सुया हुंति विक्खाया ॥३१५॥
जाईसुयपरियाए, पडुच्च थेरो तिहा जहकमेणं ।
सट्ठीवरिसो समवायधारओ वीसवरिसो य ॥३१६॥
भत्ती पूआ वण्णप्पयडण वज्जणमवण्णवायस्स ।
आसायणपरिहारो, अरिहंताईण वच्छल्लं ॥३१७॥
नाणुवओगो भिक्खं, दंसणसुद्धी अ विणयसुद्धी अ ।
आवस्सयजोएसुं, सीलवएसुं निरइयारो ॥३१८॥
संवेगभावणाज्झाण सेवणं खणलवाइकालेसु ।
तवकरणं जइजणसंविभागकरसंजहसमाही ॥३१९॥
वेयावच्चं दसहा, गुरुमाईणं समाहिजणणं च ।
किरियादारेण तहा, अपुव्वनाणस्स गहणं तु ॥३२०॥
आगमबहुमाणो वि य, तित्थस्स पभावणं जहासत्ती ।
एएहिँ कारणेहिं, तित्थयरत्तं समज्जिणई ॥३२१॥

''संघो पवयणं'' इत्यादि गाथासप्तकं, व्याख्यातार्थं चैतत् ; नवरं स्थविरबहुश्रुतयोर्गाथा ऽनुलोम्याद्व्यतिक्रमनिर्देशः । तथा–तृतीय (३१७) गाथायां भक्तिरान्तरो बहुमानविशेषः, पूजा यथौ–चित्येन पुष्पफलाऽऽहारवस्त्राऽऽदिभिरुपचारः, वर्णस्य श्लाघायाः प्रकटनं प्रकाशनं, वर्जनं परिहरणमवर्णवादस्य अश्लाघायाः, आशातनाया वक्ष्यमाणायाः परिहारो वर्जनम् । एतदर्हदादीनां सप्तानां वात्सल्यं वत्सलता । तथा षष्ठ (३२०) गाथायां वैयावृत्त्यं भक्तदानाऽऽदिक्रियाद्वारेण गुर्वादीनां समाधिजननम् । तत्पुनर्दशधा पूर्वोक्त प्रकारेण । यद्वा–शीलव्रताभ्यामेकमेव कारणं कृत्वा समाधिरिति भिन्नमेव तीर्थकरगोत्रबन्धस्थानं विवक्ष्यते । ततो वैयावृत्त्यं दशधा गुर्वादीनां, तथा तेषामेव क्रियाद्वारेण समाधिजननं कार्यकरणद्वारेण स्वस्थताऽऽपादनमिति । तथा–ऋषभनाथेन वर्द्धमानस्वामिना च पूर्वभवे एतान्यनन्तरोक्तानि सर्वाण्यपि स्थानान्यासेवितानि, मध्यमेषु पुनरजितस्वामिप्रभृतिषु द्वाविंशतितीर्थकरेषु केनाप्येकं, केनापि त्रीणि, यावत्केनाऽपि सर्वाण्यपि स्थानानि स्पृष्टानीति । एतच्च तीर्थकरनामकर्म मनुष्यगतावेव वर्तमानः पुरुषः स्त्री नपुंसको वा तीर्थकरभवात् पृष्ठतस्तृतीयभवं प्राप्य बद्धुमारभते । आह–तीर्थकरनामकर्मणो जघन्यत उत्कर्षतश्च बन्धस्थितिरन्तः सागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा, ततः कथमुक्तं तीर्थकरभवात् प्राक् तृतीयभवे बध्यत इति? नैष दोषः । द्विविधो हि बन्धः–निकाचनारूपः, अनिकाचनारूपश्च । तत्र अनिकाचनारूपस्तृतीयभवात् प्राक् सुतरामपि भवति, जघन्योऽप्यन्तः सागरोपमकोटाकोटीप्रमाणत्वात् । निकाचनारूपस्तु तीर्थकरभवात् प्राक् तृतीयभवे एव, ''तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाऽऽदीहिं । बज्झइ तं तु भयवओ, इय भव्वो सक्कइत्ता णं'' ॥१॥ इति वचनप्रामाण्यात् । तत्र निकाचितमबन्ध्यफलम्, इतरत्तु उभयथाऽपि, निकाचनारूपश्च बन्धस्तृतीयभवादारभ्य तावत्प्रवर्त्तते यावत्तीर्थकरभवे अपूर्वकरणस्य संख्येयभागा, तत ऊर्द्ध्वं व्यवच्छेदः, केवलज्ञानोत्पत्तौ च अष्टमहाप्रातिहार्याऽऽदिरूपे सुरेन्द्रकृते पूजोपचारे सति सदेवमनुजासुरायां परिषदि ग्लानिपरिहारेण धर्म्मदेशनया श्रुतचारित्ररूप धर्मप्ररूपणलक्षणया चतुस्त्रिंशता देहसौगन्ध्यादिभिरतिशयैः, पञ्चत्रिंशता बुद्धवचनातिशयैस्तद्वेद्यत इति । प्रव०१० द्वार ।

पूर्वभवद्वीपाः–

जंबूधायइपुक्खर–दीवा चउ चउ जिणाण पुव्वभवे।
धायइ विमलाइ तिगे, जंबू संतिप्पमुहनवगे ॥३५॥

ऋषभाऽऽदिचतुर्णां जिनानां पूर्वभवे जम्बूद्वीप आसीत्। सुमत्यादीनां चतुर्णां जिनानां पूर्वभवे धातकीखण्ड आसीत्। सुविध्यादिचतुर्णां जिनानां पूर्वभवे पुष्करद्वीप आसीत् १२। विमलाऽऽदीनां त्रयाणां जिनानां पूर्वभवे धातकीखण्डद्वीप आसीत् १५। शान्त्या--दिनवजिनानां पूर्वभवे जम्बूद्वीप आसीत् २४। इति पूर्वभवद्वीपाः। सत्त० २ द्वार।

पूर्वभवनामानि–

एएसिं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं पुव्वभवया णामधेया होत्था। तं जहा–

''पढमेऽत्थ वइरणाभे, विमले तह विमलवाहणे चेव।
तत्तो य धम्मसीहे, सुमित्त तह धम्ममित्ते य ॥११॥
सुंदरबाहू तह दीहबाहु जुगबाहु लद्धबाहू य।
दिण्णे य इंददत्ते, सुंदर माहिंदए चेव ॥१२॥
सीहरहे मेहरहे, रुप्पी अ सुदंसणे य बोधव्वा।
तत्तो य नंदणे खलु, सीहगिरी चेव वीस इमे ॥१३॥
अद्दीणसत्तु संखे, सुदंसणे नंदणे य बोधव्वे।
इमिसे ओसप्पिणिए, तित्थकराणं तु पुव्वभवा''।१४।

जिनानां पूर्वभवनामानि क्रमेण यथा–वज्रनाभः १। विमलः २। विमलवाहनः ३। धर्मसिंहः ४। सुमित्रः ५। धर्ममित्रः ६। सुन्दरबाहुः ७। दीर्घबाहुः ८। युगबाहुः९। लब्धबाहुः १०। दिन्नः ११। इन्द्रदत्तः १२। सुन्दरः १३। माहेन्द्रः १४। सिंह रथः १५। मेघरथः १६। रूपी १७। सुदर्शनः १८। नन्दनः १९। सिंहगिरिः२०। अदीनशत्रुः २१। शङ्ख २२। सुदर्शन २३। नन्दनः २४। पूर्वभवे जिनानामेतानि नामानि बभूवुरिति। स०। सत्त०।

पाठान्तरे–वज्रनाभः १। विमलवाहनः २। विपुलबलः ३। महा–बलः ४। अतिबलः ५। अपराजितः ६। नन्दिषेणः ७। पद्मः८। महापद्मः ९। पुनरपि पद्मः१०। नलनीगुल्मः ११। पद्मोत्तरः १२। पद्मसेनः १३। पद्मरथः १४। अतिदृढरथः १५। मेघरथः १६। सिंहावहः १७। धनपतिः १८। वैश्रवणः१९। श्रीवर्मा २०। सिद्धार्थः २१। सुप्रतिष्ठः २२। आनन्दः २३। नन्दनः २४।

पूर्वभवनगर्यः–

पुंडरिगिणी सुसीमा, सुभापुरी रयणसंचया नेया।
चउगतिगम्मि महापुरि, रिट्ठा तह भद्दिलपुरं च ॥४२॥
पुंडरिगिणि खग्गिपुरी, तहा सुसीमा य वीयसोगा य।
चंपा तह कोसंवी, रायगिहाऽउज्झ अहिछत्ता ॥४३॥

चतुष्कत्रिके एतानि नगरीनामानि ज्ञेयानि। तथा च–ऋषभः१, सुमतिः ५, सुविधिः ९, एते त्रयो जिनाः पुण्डरीकिण्यां पूर्वभवे जाताः। अजितः २, पद्मप्रभः ६, शीतलः १०, एते त्रयो जिनाः सुसीमायां जाताः। संभवः ३, सुपार्श्वः७, श्रेयांसः ११, एते त्रयो जिनाः शुभापुर्य्यां जाताः। अभिनन्दनः ४, चन्द्रप्रभः८, वासुपूज्यः १२, एते जिनास्त्रयो रत्नसंचयायां जाताः। विमलः १३ महापुर्याम। अनन्तजिनः १४ रिष्टनगर्याम्। धर्मः १५ भद्दिलपुरेजातः। शान्तिः १६ पुण्डरीकिण्यां जातः। कुन्थुजिनः १७ खड्गि पुर्याम्। अरजिनः १८ सुसीमायां पुर्याम्। मल्लिजिनः १९ वीतशोकायाम्। मुनिसुव्रतः २० चम्पायाम्। नमिः २१ कौशाम्ब्याम्। नेमिजिनः २२ राजगृहे। पार्श्वजिनः २३ अयोध्यायाम्। वीरः २४ अहिच्छत्रानगर्यां पूर्वभवे जातः। सत्त०६ द्वार।

पूर्वभवराज्यम्–

जंबुद्दीवे णं दीवे इमीसे ओसप्पिणीए तेवीसं तित्थंकरा पुव्वे मंडलिरायाणो होत्था। तं जहा–अजित संभव अभिणंदण० जाव पासो वद्धमाणो य। उसभे णं अरहा कोसलिए पुव्वभवे चक्कवट्टी होत्था। स० २३ सम०।

पूर्वभवविजयाः–

पुक्खलवइ य वच्छा, रमणिज्जा मंगलावई कमसो।
नेआ जिणचउगतिगे, जिणतियगे खित्तनामाओ ॥४०॥
पुक्खलवइ आवत्तो, वच्छा सलिलावई जिणचउक्के।
मुणिसुव्वयाइपणगे, विजया खित्ताण नामेणं ॥४१॥

जिनानां चतुष्कत्रिके क्रमश एते विजया ज्ञेयाः। यथा पुष्कलावतीविजयः–प्रथमे, पञ्चमे, नवमे। वच्छाविजयो–द्वितीये, षष्ठे, दशमे। रमणीयाख्यविजयः–तृतीये, सप्तमे, एकादशे। मङ्गलावतीविजयः–चतुर्थे, अष्टमे, द्वादशे। एवं द्वादशजिनानां विजयाः कथिताः। (जिणतियगे खित्तनामाओ त्ति) जिनत्रिके–विमलः १३ अनन्तः १४ धर्मश्चेति १५ त्रिके क्षेत्रनामतो विजया ज्ञेयाः। तेषां विजयाभावात्तत्स्थाने भरतैरावतभरतरूपाणि पूर्वोक्तानि क्षेत्रा–ण्येव ज्ञेयानीति भाव इति गाथार्थः ॥४०॥ ततः शान्तिः कुन्थुररो मल्लिश्चेतिरूपे जिनचतुष्के क्रमेण पुष्कलावत्याद्या विजयाः। यथा–पुष्कलावतीविजयः षोडशजिने १६। आवर्त्तविजयः सप्त–दशे जिने १७। वच्छाविजयोऽष्टादशे जिने १८। सलिलावतीवि–जय एकोनविंशतितमे जिने १९। (मुणिसुव्वयाइपणगे त्ति) मुनिसुव्रताऽऽदिपञ्चके–मुनिसुव्रतो नमिर्नेमिः पार्श्वो वीरश्चेतिरूपे (विजया खित्ताण नामेणं ति) क्षेत्रनाम्ना विजया ज्ञेयाः। एतेषां पञ्चानामपि भरतक्षेत्रसम्भवेन विजयाभावात्तत्स्थाने क्षेत्राणामेव नामानि ज्ञेयानीति भावः ॥४१॥ सत्त० ५ द्वार।

ऋषभः१, सुमतिः ५, सुविधिः ९, एतेषां पूर्वभवे पुष्कलावतीवि–जयः। अजितः २, पद्मप्रभः६, शीतलः १०, एतेषां वच्छाविजयः। संभवः ३, सुपार्श्वः ७, श्रेयांसः ११, एतेषां रमणीयाख्यविजयः। अभिनन्दनः४, चन्द्रप्रभः ८, वासुपूज्यः १२, एतेषां पूर्वभवे मङ्गलावतीविजयः। विमलः १३, अनन्तः १४, धर्मः १५, एतेषां क्षेत्रनामतो विजया ज्ञेयाः, तेषां विजयाभावात्, तत्स्थाने भरतै–रावतरूपाणि पूर्वोक्तानि क्षेत्राण्येव ज्ञेयानि। शान्तिजिनः १६ पुष्कलावतीविजये। आवर्तविजये कुन्थुजिनः १७। अरजिनः १८ वच्छाविजये। मल्लिजिनः सलिलावतीविजये १९। मुनिसुव्रतः २०, नमिः २१, नेमिः२२, पार्श्वः २३, वीरः २४, एतेषां क्षेत्रनाम्ना विजया ज्ञेयाः, भरतक्षेत्रे विजयाभावात् तत्स्थाने क्षेत्राणामेव नामानीति।

पूर्वभवस्वर्गाः–

सव्वट्ठं तह विजयं, सत्तमगेविज्जयं दुसु जयंतं।
नवमं छट्ठं गेविज्जयं तओ वेजयंतं च ॥५४॥
आणय पाणय अच्चुय, पाणय सहसार पाणयं विजयं।
तिसु सव्वट्ठ जयंतं, अवराइय पाणयं चेव ॥५५॥
अवराइय पाणयगं, पाणयगमिमे य पुव्वभवसग्गा (५६)

सर्वार्थसिद्धनामकं विमानमृषभजिने १। एवं सर्वत्र जिननामपूर्वकं योज्यम्। तथा विजयं विमानम् २। सप्तमग्रैवेयकम ३। द्वयोः–जयन्तम् ४, जयन्तम् ५। नवमग्रैवेयकम् ६। षष्ठग्रैवेयकम् ७। वैजयन्तम्। ८॥५४॥ आनतः ९। प्राणतः १०। अच्युतः ११। प्राणतः १२। सहस्रारः १३। पुनः प्राणतः १४। विजयमनुत्तरविमानम् १५। त्रिषु जिनेषु सर्वार्थसिद्धम् १६, सर्वार्थसिद्धम् १७, सर्वार्थसिद्धम् १८। जयन्तं विमानम् १९। अपराजितविमानम् २०। प्राणतदेवलोकः २१ ॥५५॥ अपराजितविमानम् २२। प्राणतनामा दशमदेवलोकः २३। प्राणतकः २४। एते जिनानां पूर्वभवस्वर्गा ज्ञेयाः ॥ सत्त०१२ द्वार।

पूर्वभवसूत्राणि–

जंबुद्दीवे णं दीवे इमीसे णं उस्सप्पिणीए तेवीसं तित्थगरा पुव्वभवे एक्कारसंगिणो होत्था। तं जहा–अजित संभव अभिणंदण सुमई०जाव पासो वद्धमाणो य। उसभे णं अरहा कोसलिए चोद्दसपुव्वी होत्था। स० २३ सम०।

तत्र श्रुतलाभद्वारमाह–

पढमस्स वारसंगं, सेसाणिक्कारसंगसुयलंभो ॥

प्रथमस्य भगवत ऋषभस्वामिनः पूर्वभवे श्रुतलाभः परिपूर्णं द्वादशाङ्गम्। अवशेषाणामजितस्वामिप्रभृतीनामेकादशाङ्गानि। यस्य च यावान् पूर्वभवे श्रुतलाभः, तस्य तावान् तीर्थकरजन्मन्यपि अनुवर्त्तते। आ०म०१ अ०१ खण्ड।

(१०५) फणकारणानि, फणानप्याह–

इग पण नव य सुपासे, पासे फण तिन्नि सग इगार कमा।
फणिसिज्जासुविणाओ, फणिंदभत्तीएँ नऽन्नेसु ॥१२७॥

(इग पण नव य सुपासे त्ति) एकः, पञ्च, नव च फणाः सुपार्श्वे सप्तमजिने, (पासे फण तिण्णि सग इगार ति) पार्श्वनाथे फणास्त्रयः ३, सप्त ७, एकादश च (कम त्ति) क्रमात्। (फणिसिज्जासुविणाउ त्ति) फणिशय्यास्वप्नात् श्रीसुपार्श्वे जिने फणाः, यतो गर्भस्थे भगवति जननी एकफणे पञ्चफणे नवफणेऽपि च नागतल्पे स्वप्नमध्ये स्वां सुप्तां ददर्श।

यत उक्तं श्रीहेमाऽऽचार्यकृतसुपार्श्वचरित्रे–

''सुप्तामेकफणे पञ्चफणे नवफणेगऽपि च।
नागतल्पे ददर्श स्वां, देवी गर्भे प्रवर्द्धिनि ॥१॥
पृथ्व्या देव्या तदा स्वप्ने, दृष्ट तादृग् महोरगम्।
शक्रोऽपि चक्रे भगवन्मूर्द्धिनच्छत्रमिवापरम् ॥२॥
तदादि चाभूत्समवसरणेष्वपरेष्वपि।
नाग एकफणः पञ्चफणो नवफणोऽथवा ॥३॥'' इत्यादि।

(फणिंदभत्तीएँ इति) फणीन्द्रभक्त्या श्रीपार्श्वनाथे। यतः फणीन्द्रो धरणः श्रीपार्श्वे पूर्वभवोपकारित्वादतीव भक्तिमानिति कारणात् फणा भवन्ति। (नन्नेसिं ति) अन्येषां द्वाविंशतिजिनानां न भवन्ति। इति गाथार्थः ॥१२७॥ सत्त० ४३ द्वार।

फलदायकाः–

आरुग्गं बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं च मे दिंतु।
किं णु हु णिदाणमेतं, ... ॥

णु इति वितर्के, किमिदं निदाणं कीरति? उच्यते–भासा एत्थ भवति। तं जधा–(भासा असच्चमोसा गाधा) सा असच्चामोसा दुवालसविहा। तत्थ जा जायणी सा एसा साहुणो संसारविमोक्ख–त्थं भन्नति। ''ण हु खीणपेज्जदोसा, देंति समाधिं व बोधिं वा।'' आह–जदि न पसीदंति, न वा देंति, तो किं नमस्कारो कीरति? उच्यते–जधा अग्गी न तूसति, न वा देति, तह वि जो सीतपरि–गतो सो अतियति, सो य सकज्जं निप्फाएति, एवं ते वि खीणराग– दोसमोहा न किंचि वि देंति, न वा तूसंति, जो पुण पणमति, सो अत्थितमत्थं लभति। उक्तं च – ''चन्द्रं दृष्ट्वा यथा तोयं,'' इति श्लोकः। अत्थियज्जंतेहिं ते वि आरोग्गादीया लाभा लब्भंति, जम्हा एतेसिं एते गुणा, तेण परमा भत्ती कातव्वा। आ०चू० २अ०। (बद्धस्पृष्टकम् 'लोगसार' शब्दे वक्ष्यते)

(१०६) अथ बलवर्णनम्–

निवईहिँ बला बलिणो, कोडिसिलुक्खेवसत्तिणो हरिणो।
तद्दुगुणला चक्की, जिणा अपरिमियबला सव्वे ॥१२९॥
हरिसंसयछेयत्थं, वीरेणं पयडियं बलं नियगं।
मेरुगिरिकंपणेणं, हेउअभावा न सेसेहिं ॥१३०॥

(निवईहिँ बला बलिणो त्ति) नृपतिभ्यो १ बला बलदेवा बलिनो बलिष्ठाः २। ''निवईहिँ'' इत्यत्र प्राकृतत्वात्पञ्चम्यर्थे तृतीया। (कोडिसिलुक्खेवसत्तिणो हरिणो त्ति) कोटिशिलोत्पाटनशक्तिमन्तो हरयो वासुदेवाः ३। (तद् दुगुणबला चक्कि त्ति) तत्तस्माद्वा–सुदेवबलाद् द्विगुणबलाश्चक्रिण३ चक्रवर्त्तिनः४। (जिणा अपरि–मिअबला सव्वे त्ति) जिनाः सर्वेऽपि अपरिमितबलाः, अनन्तबला इत्यर्थः। अत्र चक्रयादीनां बलप्रमाणं प्रसङ्गात् कथितमिति गाथार्थः।१२९। (हरिसंसयच्छेयत्थं ति) इन्द्रसंशयच्छेदनार्थम्। (वीरेणं पयडिअं बलं नियगं ति) श्रीवीरेण प्रकटितं बलं निजकम्। केन प्रकटितम्? मेरुपर्वतकम्पनेन। (हेउअभावा न सेसेहिं ति) हेत्वभावाद् न शेषैः शेषजिनैः प्रकटितं, यतः किमपि बलप्रकटने हेतुर्नाभूत्, अतो न प्रकाशितमिति गाथार्थः ॥१३०॥ सत्त० ४८ द्वार।

प्रथमान्तिमयोस्तीर्थकरयोः शरीरमाने भिन्नत्वं, बले च भिन्नत्वं नास्ति, तत्कथम्? इति प्रश्ने, उत्तरम्–प्रथमान्तिमजिनयोः शरीरमानभेदऽपि न बले भेदः। ''अपरिमियबला जिणवरिंदा'' इत्यागमप्रामाण्यादविशेषेणाऽनन्तबलवत्त्वमवसीयते। १ प्र० ही०२ प्रका०।

(१०७) अथ जिनभक्तानां राज्ञां नामान्याह–

भरहसगरमियसेणा, य मित्तविरिओ य सच्चविरिओ य।
तह अजियसेणराया, दाणविरिय मघवराया य ॥२२०॥
जुद्धविरिय सीमंधर, तिविट्ठविण्हू दुविट्ठ अ सयंभू।

पुरिसुत्तमविण्हू पुरिसीह कोणालयनिवो य ॥२२१॥
निवइकुबेर सुभूमाऽजिय विजयमहो य चक्किहरिसेणो ।
कण्हो पसेण सेणिय, जिणाण जिणभत्तरायाणो ॥२२२॥
वित्तीइ सङ्खबारस, लक्खे पीईएँ दिंति कोडीओ ।
चक्की कणयं हरिणो,रययं निवई सहसलक्खे ॥२२३॥
भत्तिविहवाणुरूवं, अन्ने वि य दिंति इब्भमाईया ।
सोऊण जिणाऽऽगमणं, निउत्तमनिउत्तएसुं वा ॥२२४॥

(भरहसगरमियसेणा य) ऋषभशासने भक्तनृपो भरतः १ । एवं सर्वत्र जिननामपूर्वकं भक्तनृपनामानि वाच्यानि । सगरः २ । मृगसेनश्च ३ । (मित्तविरिओ य सच्चविरिओ य) मित्र वीर्यश्च ४ । सत्यवीर्यश्च ५ । (तह अजियसेणराया) तथा– अजितसेनो राजा ६ । (दाणविरिअ मघवराया य) दानवीर्यः ७ । मघवराजा ८ चेति गाथार्थः ॥२२०॥ (जुद्धविरि अ सीमंधर त्ति) युद्धवीर्यः ९ । सीमन्धरः १० । (तिविट्ठविण्हू दुविट्ठ अ संयभू) त्रिपृष्ठविष्णुः ११ । द्विपृष्ठश्च १२ । स्वयंभूः वासुदेवः १३ । (पुरिसुत्तमविण्हू पुरिससीह त्ति) पुरुषोत्तमः वासुदेवः १४ । पुरुषसिंहः वासुदेवः १५ । (कोणा–लयनिवो य) कोणालकनृपश्च १६ । इति गाथार्थः ॥२२१॥ (निवइकुबेरसुभूमा) कुबेरनामा नृपतिः १७ । सुभूमनामा १८ । (अजियविजयमहो य चक्किहरिसेणो) अजितः १९ । विजयमहश्च २० । चक्रिहरिषेणः २१ । (कण्हो पसेण सेणिय त्ति) कृष्णः २२ । प्रसेनजित् २३ । प्रसेनजित् २३ । श्रेणिकः २४ । (जिणाण जिण–भत्तरायाणो) जिनानामतिजिनभक्ता राजानो भवन्तीति गाथार्थः ॥२२२॥ (वित्तीइ सङ्खबारस लक्खे पीईइ दिंति कोडीओ) सार्द्धद्वादशलक्षाणि वृत्त्या ददति,प्रीत्यासार्द्धद्वादशकोटीर्ददति। (चक्की कणयं) चक्रिण एनावत्कनकं ददति । (हरिणो रययं) वासुदेवा एतावत् रजतं ददति । (निवई सहसलक्खे) नृपतयः सामान्यराजानः सहस्राणि लक्षाणि च क्रमेण वृत्त्या प्रीत्या च ददतीति गाथार्थः ॥२२३॥ (भत्तिविहवाणुरूवं) भक्तिविभवानुरूपम् । (अन्ने वि अ दिंति इब्भमाईया) अन्येऽपि ददति इभ्यश्रेष्ठिसेनापत्यादयः । (सोऊण जिणाऽऽगमणं) श्रुत्वा जिनागमनं जिनानामागमनं (निउत्तमणिउत्तएसुं वा) मकारस्यालाक्षणिकत्वाद् नियुक्तपुरुषेषु वा, अनियुक्तपुरुषेषु वा । इति गाथार्थः ॥२२४॥ सत्त० १०७ द्वार ।

(१०८) मनःपर्यवज्ञानिनः–

....., सव्वे मणणाणि एगलक्खा य ।
पणयालीससहस्सा, पंचसया इगनवइअहिया ॥२५४॥

सर्वेषां तीर्थकृतामेकीकृताः सन्तः मनःपर्यवज्ञानिन एकलक्षाश्च (पणयालीससहस्सा) पञ्चचत्वारिंशत् सहस्राणि (पंच सया इगनवइअहिया) एकनवत्यधिकपञ्चशतानि १४५५९१, सर्वेषां जिनानां मनःपर्यवज्ञानिसंख्या । सत्त० १७ द्वार ।

वारससहस्स तिण्हं, सयसङ्खा सत्त पंच य दिवड्ढं ।
एगदस सङ्ख छस्सय, दस सहसा चउसया सङ्खा ॥३५७॥
दससहसा तिन्नि सया, नव दिवढ सया य अट्ठसहसा य ।
पंचसय सत्तसहसा, सुविहिजिणे सीयले चेव ॥३५८॥
छसहस्स दोण्हमित्तो, पंच सहस्सा य पंच य सयाइं ।
पंचसहस्सा चउरो, सहस्स सय पंच यऽब्भहिया ॥३५९॥
चउरो सहस्स तिन्नि य, तिन्नेव सया हवंति चालीसा ।
सहसदुगं पंचसया, इगवन्ना अरजिणिंदस्स ॥३६०॥
सत्तरसयाइ पन्ना, पंच दस सया य बार सय सट्ठी ।
सहसो सय अद्धऽट्ठम, पंचेव सया उ वीरस्स ॥३६१॥

''वारससहस्स'' इत्यादिगाथापञ्चकम् । त्रयाणामृषभाजितसंभवनाम्नां तीर्थकृतां द्वादश द्वादश मनःपर्यवज्ञानिसहस्राणि, परमाऽऽदिजिनस्य सार्द्धसप्तशताधिकानि; अजितस्य पञ्चशताधिकानि, शंभवजिनस्य सार्द्धशताधिकानि । तथा श्रीअभिनन्दनस्य मनःपर्यवज्ञानिनामेकादश सहस्राणि सार्द्धषट् शताधिकानि। श्रीसुमतेर्दशसहस्राणि सार्द्धचतुःशताधिकानि । श्रीपद्म–प्रभस्य दशसहस्राणि शतत्रयाधिकानि । श्रीसुपार्श्वस्य नव सहस्राणि सार्द्धैकशताधिकानि । श्रीचन्द्रप्रभस्य अष्टौ सहस्राणि । श्रीसुविधिजिनस्य सप्तसहस्राणि पञ्चशताधिकानि । शीतलेऽप्येतावन्त एव । श्रेयांसजिनस्य, श्रीवासुपूज्यजिनस्य च षट् षट् सहस्राणि । (इत्तो त्ति) इतोऽनन्तरं विमलाजिनस्य पञ्च सहस्राणि पञ्चशताधिकानि । अनन्तजिनस्य पञ्चसहस्राणि । श्रीधर्मस्य चत्वारि सहस्राणि पञ्चशताधिकानि । श्रीशान्तिजिनस्य चत्वारि सहस्राणि । श्रीकुन्थोस्त्रीणि सहस्राणि चत्वारिंशदधिकशतत्रयाधिकानि । श्रीअरजिनस्य सहस्रद्विकमेकपञ्चशदधिकपञ्चशताऽभ्यधिकम् । श्रीमल्लेः सप्तदशशतानि पञ्चाशदधिकानि । श्रीमुनिसुव्रतस्य पञ्चदशशतानि । श्रीनमिजिनस्य द्वादशशतानि षष्ट्यधिकानि । श्रीनेमेरेकं सहस्रम् । श्रीपार्श्वजिनस्य शतान्यर्द्धाष्टमानि, सार्द्धानि सप्त शतानीत्यर्थः । श्रीवीरजिनस्य च पञ्चैव शतानीति । प्रव० २२ द्वार ।

(महाव्रतानि पञ्च प्रथमान्तिमतीर्थकृतोः, चत्वारि मध्यमानां द्वाविंशतेरिति 'गोयमकेसिज्ज' शब्दे तृतीयभागे ९६० पृष्ठे स्पष्टीकृतम्)

(१०९) तीर्थकरमातृनामानि–

जम्बुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए चउवीसं तित्थगराणं मायरो होत्था । तं जहा–
''मरुदेवि विजय सेणा, सिद्धत्था मंगला सुसीमा य ।
पुहवी लक्खण रामा, नंदा विण्हू जया सामा ॥३२२॥
सुजसा सुव्वय अइरा, सिरिया देवी पभावई पउमा ।
वप्पा सिवा य वामा, तिसला देवी य जिणमाया ॥३२३स०।''

भगवत ऋषभस्वामिनो माता मरुदेवी । अजितस्वामिनो विजया । शंभवनाथस्य सेना । अभिनन्दनस्य सिद्धार्था ।सुमतिनाथस्य मङ्गला । पद्मप्रभस्य सुसीमा । सुपार्श्वस्य पृथिवी । चन्द्रप्रभस्य लक्षणा । सुविधिस्वामिनो रामा । शीतलस्य नन्दा । श्रेयांसस्य विष्णुः । वासुपूज्यस्य जया । विमलस्य श्यामा । अनन्तजिनस्य सुयशाः । धर्म्मनाथस्य सुव्रता । शान्तिनाथस्य अचिरा । कुन्थुनाथस्य श्रीः । अरस्वामिनो देवी । मल्लिजिनस्य प्रभावती । मुनिसुव्रतस्य पद्मा । नमिनाथस्य वप्रा । अरिष्टनेमेः शिवा । पार्श्वनाथस्य वामा । वर्द्धमानस्वामिनस्त्रिशला । प्रव० ११ द्वार ।

तीर्थकरमातृगतिः–

अट्ठण्हं जणणीओ, तित्थयराणं तु हुंति सिद्धाओ।
अट्ठ य सणंकुमारे, माहिंदे अट्ठ बोधव्वा ॥३२७॥

अष्टानां तीर्थकृतामृषभाऽऽदीनां चन्द्रप्रभान्तानां जनन्यो मातरः भवन्ति सिद्धाः, तदनु सुविध्यादीनां शान्तिनाथपर्यन्तानामष्टौ जनन्यः सनत्कुमारे तृतीये देवलोके गताः, तथा कुन्थुप्रभृतीनां श्रीमहावीरान्तानामष्टौ जनन्यो माहेन्द्रचतुर्थदेवलोके गता बोद्धव्या इति। प्रव० १२ द्वार।

(११०) मोक्षाऽऽसनम्–

वीरोसहनेमीणं, पलियंकं सेसयाण उस्सग्गो।
पलियंकासणमाणं, सदेहमाणा तिभागूणं ॥३१६॥

वीरः१, ऋषभः२, नेमिः ३, एतेषां जिनानां पर्यङ्काऽऽसनम्। शेषजिनानामुत्सर्ग आसनम्, मोक्षगमने इति शेषः। पर्यङ्काऽऽसनमानं तु स्वदेहमानात् तृतीयभागोनं यदा क्रियते, तदा पर्यङ्काऽऽसनमानं भवतीति। सत्त०१५१ द्वार।

मोक्षस्थानानि–

अट्ठावयचंपुज्जय–पावासम्मेयसेलसिहरेसु।
उसभ वसुपुज्ज नेमी, वीरो सेसा य सिद्धिगया ॥

अष्टापदचम्पोज्जयन्तपापासम्मेतशैलशिखरेषु यथाक्रममृषभो वासुपूज्योऽरिष्टनेमिर्वीरो भगवान्, शेषाश्च तीर्थकृतः सिद्धिं गताः। अष्टापदे ऋषभस्वामी सिद्धिमगमत्। चम्पायां वासुपूज्यः। उज्जयन्तेऽरिष्टनेमिः। भगवान्महावीरः पापायाम्। शेषा अजितस्वामिप्रभृतयः सम्मेतशैलशिखरे इति। आ०म० १अ०१ खण्ड। प्रव०। पञ्चा०।

(मोक्षतपः) अधुनाऽन्तक्रियाद्वारावसरः। सा चान्तक्रिया निर्वाणलक्षणा, सा कस्य केन तपसा क्व जाता कि–

यत्परिवृतस्य चेत्येतदभिधित्सुराह–

निव्वाणमंतकिरिया, सा चोद्दसमेण पढमनाहस्स।
सेसाण मासिएणं, वीरजिणिंदस्स छट्ठेणं ॥

सा च निर्वाणलक्षणा अन्तक्रिया प्रथमनाथस्याऽऽदितीर्थकृतश्चतुर्दशकेन षष्ठिरुपवासैरभूत्। शेषाणामजितस्वामिप्रभृतीनां पार्श्वनाथपर्यन्तानां द्वाविंशतेस्तीर्थकृतां मासिकेन तपसा, मासोपवासेनेत्यर्थः, अन्तक्रियाऽभवत्। भगवतो वीरजिनेन्द्रस्य पुनः षष्ठेन–द्वाभ्यामुपवासाभ्याम्। आ०म०१अ० १खण्ड।

मोक्षनक्षत्राण्याह–

अभिई मिगसिर अद्दा, पुस्स पुणव्वसु य चित्त अणुराहा।
जिट्ठा मूलं पुव्वासाढा धणिठुत्तराभद्दा ॥३११॥
रेवइ रेवइ पुस्सो, भरणी कत्तिय य रेवई भरणी।
सवणऽस्सिणि चित्त विसाह साइ जिणमोक्खणक्खत्ता ३१२

ऋषभस्याभिजिन्नक्षत्रे निर्वाणम् १। एवं सर्वत्र। मृगशिरः २। आर्द्रा ३। पुष्यः ४। पुनर्वसु ५। चित्रा ६। अनुराधा ७। ज्येष्ठा ८। मूलम् ९। पूर्वाषाढा १०। धनिष्ठा ११। उत्तराभाद्रपदा १२॥ ३११॥रेवती १३। रेवती १४। पुष्यः १५। भरणी १६। कृत्तिका १७। रेवती १८। भरणी १९। श्रवणः २०। अश्विनी २१। चित्रा २२। विशाखा २३। स्वातिः २४। एतानि जिनानां क्रमेण मोक्षनक्षत्राणि। सत्त० १४८ द्वार।

मोक्षपरिवारः–

एगो भयवं वीरो, तेत्तीसाएँ सह निव्वुओ पासो।
छत्तीसेहिं पंचहिँ , सएहिँ नेमी उ सिद्धिगतो ॥
पंचहिँ समणसएहिं, मल्ली संती उ नवसएहिं तु।
अट्ठसएणं धम्मो, सएहिँ छहिँ वासुपूज्जजिणो ॥
सत्तसहस्साऽणंतइ–जिणस्स विमलस्स छस्सहस्साइं।
पंचसयाइँ सुपासे, पउमाभे तिण्णि अट्ठ सया ॥
दसहिँ सहस्सेहुसभो, सेसाउ सहस्सपरिवुडा सिद्धा।

वीरो भगवानेक एकाकी सन् निर्वृतः। त्रयस्त्रिंशता साधुभिः सह निर्वृतः पार्श्वनाथः। पञ्चभिः शतैः,षट्त्रिंशैः–षट् त्रिंशदधिकैः सह सिद्धिं गतो नेमिररिष्टनेमिः। पञ्चभिः श्रमणशतैः सह परिनिर्वृतो मल्लिस्वामी। नवभिः शतैः परिवृतः शान्तिनाथः। अष्टभिः शतैर्धर्मः। षड्भिः शतैर्वासुपूज्यजिनः सिद्धिं गतः। अनन्तजितो जिनस्य निर्वाणं गच्छतः सप्तसाहस्राणि परिवारः। विमलनाथस्य षट् सहस्राणि। पञ्चशतानि सुपार्श्वनाथस्य। पद्मप्रभस्य त्रीणि अष्टोत्तराणि शतानि। दशभिः सहस्रैः परिवृत ऋषभस्वामी निर्वाणमगच्छत्। शेषास्त्वजितस्वामिप्रभृतय उक्तव्यतिरिक्ताः प्रत्येकं सहस्रपरिवृताः सिद्धाः। आ०म०१ अ०१ खण्ड। प्रव०।

मोक्षपथः–

सुमुणिसुसावगरूवो, मुक्खपहो रयणतिगसरूवो वा।
सव्वजिणेहिं भणिओ, ...(३२५)

सुमुनयः सुश्रावकास्तद्रूपो मोक्षपथः, रत्नत्रयस्वरूपो वा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपो वा मोक्षपथः सर्वजिनैः कथितः। सत्त० १६० द्वार।

अथ जिनानां मोक्षमासाऽऽदयः कथ्यन्ते–

माहस्स किण्हतेरसि, दोसुं सियचित्तपंचमी नेया।
वइसाहसुद्धअट्ठमि, तह चित्ते सुद्धनवमी य ॥३०६॥
कसिणा मग्गइगारसि, फग्गुणभद्दवयसत्तमी किण्हा।
भद्दवयसुद्धनवमी, वइसाहे बहुलबीया य ॥३०७॥
कसिणा सावणतइया, आसाढे तह य चउदसी सुद्धा।
आसाढकसिणसत्तमि, सियपंचमि चित्तजिट्ठेसु ॥३०८॥
जिट्ठे कसिणा तेरसि, वइसाहे पडिव मग्गसियदसमी।
फग्गुणसुद्धदुवालसि, किण्हा नवमी य जिट्ठस्स ॥३०९॥
वइसाहअसियदसमी, आसढे सावणेऽट्ठमी सुद्धा।
कत्तियऽमावसि सिवमासमाइभणिया जिणिंदाणी ॥३१०॥

(माहस्स किण्हतेरसि) माघस्य कृष्णत्रयोदशी ऋषभस्य निर्वाणे १। एवं सर्वजिनानां नामपूर्वकं मोक्षगमनमासाऽऽदि वाच्यम्। (दोसुं सियचित्तपंचमी नेय त्ति) द्वयोरजितशंभव जिनयोः चैत्रस्य श्वेतपञ्चमी ज्ञेया २।३। (वइसाहसुद्धअट्ठमि) वैशाखमासस्य शुद्धाऽष्टमी ४। (तह चित्ते सुद्धनवमी य) तथा चैत्रे शुद्ध-नवमी ५ चेति गाथार्थः ॥३०६॥ (कसिणा मग्गइगारसे) कृष्णा मार्गशीर्षमासस्यैकादशी ६। (फग्गुणभ–

द्वयसत्तमी किण्हा) फाल्गुनमासस्य कृष्णा सप्तमी ७। भाद्रपद–मासस्य कृष्णा सप्तमी ८। (भद्दवयसुद्धनवमी) भाद्रपदशुद्धनवमी ९। (वइसाहे बहुलबीया य) वैशाखे कृष्णद्वितीया १० चेति गाथार्थः ३०७॥ (कसिणा सावणतइया) कृष्णश्रावणस्य तृतीया ११। (आसाढे तह य चउदसी सुद्धा) आषाढे तथा चतुर्दशी शुद्धा श्वेता १२ (आसाढकसिणसत्तमि) आषाढस्य कृष्णा सप्तमी १३। (सियपंचमि चित्तजिट्ठेसु) श्वेतपञ्चमी चैत्रे १४। जेष्ठेऽपि श्वेतपञ्चमी १५। इति गाथार्थः ॥३०८॥ (जिट्ठे कसिणा तेरसि) ज्येष्ठे कृष्णा त्रयोदशी १६। (वइसाहे पडिव मग्गसियदसमी) वैशाखे कृष्णा प्रतिपत् १७। मार्गशीर्षस्य श्वेतदशमी १८। (फग्गुणसुद्ध–दुवालसि) फाल्गुनशुद्धद्वादशी १९। (किण्हा नवमी य जिट्ठस्स) ज्येष्ठस्य कृष्णा नवमी २० चेति गाथार्थः ॥३०९॥ (वइसाहअसि–यदसमी) वैशाखस्य कृष्णदशमी २१। (आसाढे सावणेऽट्ठमी सुद्धा) आषाढे शुद्धाऽष्टमी २२। श्रावणेऽपि शुद्धाऽष्टमी २३। (कत्तियऽमावसि) कार्त्तिकस्याऽमावास्या श्रीवीरस्य निर्वाणे २४। (सिवमासमा इभणिआ जिणिंदाणं ति) एवं सर्वजिनेन्द्राणां मोक्ष–मासाऽऽदयो भणिताः। इति गाथार्थः ॥३१०॥ सत्त० १४७ द्वार।

मोक्षराशयः–

मयरो वसहो मिहुणो, दुसु ककड कन्न दुसु अली य धणू।
धणु कुंभो तिसु मीणो,ककड मेसो वसह मीणो ॥३१३॥
मेसो मयरो मेसो, तिसु तुल एए उ मुक्खरासीओ। (३१४)

ऋषभजिनस्य मोक्षे मकरराशिः १। एवं सर्वजिनानां नामपूर्वं मोक्षराशयो वाच्याः। वृषः २। मिथुनम् ३। द्वयोः–कर्कटः ४, कर्कटः ५। कन्या ६। द्वयोः जिनवरयोः–अली च वृश्चिकः ७, वृश्चिकः ८। धनुः९। धनुः १०। कुम्भः११। त्रिषु पुनर्जिनेषु–मीनः १२, मीनः १३, मीनः १४। कर्कटः १५। मेषः १६। वृषभः १७। मीनः१८॥३१३॥ मेषः १९। मकरः २०। मेषः २१। त्रिषु जिनेषु– तुला २२, तुला २३, तुला २४। एते तु जिनानां मोक्षराशयः। सत्त०१४९ द्वार।

मोक्षविनयः–

.....,पंचविहो मोक्खविणओ वि।
दंसणनाणचरित्ते,तवे य तह ऊवयारिया चेव।
एसो हु मोक्खविणओ, दुहा व गिहिमुणिकिरियरूवो ३२६

दर्शनम्, ज्ञानम्,चारित्राणि, तपः, उपकारिता च। एष पञ्चविधो मोक्षविनयः। द्विविधो वा मोक्षविनयः–गृहस्थक्रियारूपः, मुनिक्रिया-रूपश्च। सत्त० १६१ द्वार।

मोक्षवेला–

अवरण्हे सिद्धि गया, संभवपउमाभसुविहिवसुपुज्जा।
सेसा उसहाईया,सेयंसंता उ पुव्वण्हे ॥३२१॥
धम्मअरनमीवीराऽवररत्ते पुव्वरत्तए सेसा (३२२)

अपराह्णे पश्चिमप्रहरे सिद्धिं गता मोक्षं प्राप्ताः शंभवपद्मप्रभसुवि-धिवासुपूज्याः। शेषाः ऋषभादिश्रेयांसान्ता अष्टौ जिनाः पूर्वाह्णे सिद्धिं गताः। धर्मारनमिवीरा अपररात्रे मोक्षं गताः। शेषा अष्टौ जिनाः पूर्वरात्रे मोक्षं गताः। सत्त० १५५ द्वार।

मोक्षारकशेषकालः–

.....ऽरसेसमवि तं तु नियनियाउ विणा। (३२२)

मोक्षारकशेषमपि पूर्ववद् जन्मारकशेषवत्। परन्तु निजनिजायु–र्विना अरकशेषमानं भवति। तथाहि–ऋषभस्य जन्मारकशेषं चतुरशीति-लक्षपूर्वाणि नवाशीतिपक्षाधिकानि तन्निजायुर्वा निष्कृयते, तदा नवाशीतिपक्षा अवशिष्यन्ते। तत एतावत् श्रीऋषभस्य मोक्षारकशेषं भवति। एवं सर्वत्र भावना कार्या। सत्त० १५७ द्वार।

मोक्षारकाः–

पुव्वं व मोक्खअरया, ...। (३२२)

मोक्षारकः पूर्ववत्। ''अरका संखिज्जकालरूवे'' इत्यादिना प्रोक्त इत्यर्थः। ऋषभस्य तृतीयारके मोक्षः, शेषाणां चतुर्थारके। सत्त० १५६ द्वार।

मोक्षावगाहनामानम्–

सव्वेसि सिवोगाहण–तिभागऊणा नियासणपमाणा॥ (३२७)

सर्वेषां शिवगतानामवगाहना शरीरमानं तृतीयभागोना निजाऽऽसन-प्रमाणात् भवति। सत्त १५२ द्वार।

(वीराऽऽद्यासनानि 'आसण' शब्दे द्वितीयभागे ४७० पृष्ठे निरू–पितानि) (अवगाहना 'ओगाहणा' शब्दे तृतीयभागे ७६ पृष्ठे निरूपिता)

(१११) अथ राज्यकालमभिधित्सुराह–

तेसट्ठि पुव्वलक्खा, तिपन्न चउचत्त सङ्ग छत्तीसा।
गुणतीस सङ्ग इगविस, चउदस सङ्गच्छ अद्धऽद्धं ॥१३९॥
अजिआओ जा सुविही,पुव्वंगा ताविमेऽहिया नेया।
इग चउ अड बारस सोल वीस चउवीस अडवीसा ॥१४०॥
तो सयलक्ख दु चत्तो, तो सुन्ने तीस पनर पंच तओ।
सहस पणवीस तत्तो, पाउणचउवीस इगवीसं ॥१४१॥
सुन्न पनर पण तत्तो, तिसुन्न रज्जं च चक्किकालो वि। (१४२)

(तेसट्ठि पुव्वलक्ख त्ति) पूर्वलक्षशब्दस्य दशसु योगात् त्रिषष्टि–पूर्वलक्षाणि राज्यकाल ऋषभस्य १। एवं नामग्राहं सर्वत्र वाच्यम्। (तिपन्न चउ चत्त सङ्ग छत्तीसा) त्रिपञ्चाशल्लक्षपूर्वाणि ''अजिआऊ जा सुविहीत्यादिना'' वक्ष्यमाणत्वात् पूर्वाङ्गेण एकेन सहितानि २। चतुश्च-त्वारिंशत्पूर्वलक्षाणि चतुःपूर्वाङ्ग सहितानि ३। सार्द्धषट्–त्रिंशत् पूर्वलक्षाणि अष्टपूर्वाङ्गाधिकानि ४। (गुणतीससङ्गइगविस) एकोनत्रिंशत् पूर्वलक्षाणि द्वादशपूर्वाधिकानि ५। सार्द्धैकविंशतिपूर्वलक्षाणि षोडशपूर्वा-धिकानि ६। (चउदस सङ्गच्छ अद्धऽद्धं) चतुर्दशपूर्वलक्षाणि विंशतिपूर्वा-ङ्गसहितानि ७। सार्द्धषट् पूर्वलक्षाणि चतुर्विंशतिपूर्वाङ्ग सहितानि ८। अर्द्ध पूर्वलक्षम्। कोऽर्थः? पञ्चाशत्पूर्वसहस्राण्यष्टाविंशतिपूर्वाङ्ग सहितानि ९। केवलमर्द्धपूर्वलक्षं पञ्चाशत् पूर्वसहस्राणीत्यर्थः १०। इति गाथार्थः ॥१३९॥ अथ पूर्वोक्तेषु पूर्वेषु पूर्वाङ्गं प्रक्षेप्यमाह–(अजिआओ जा सुविही पुव्वंगा ताविमेऽहिया नेय त्ति) अजितजिनादारभ्य यावत् सुविधिजिनो नवम-जिनो भवति,तावदिमानि वक्ष्यमाणानि पूर्वाङ्गान्यधिकानि ज्ञेयानि। तानि दर्शयति–(इग चउ अड बारस सोल वीस चउवीस

अडवीस त्ति) एकं १, चत्वारि २, अष्टौ ३, द्वादश ४, षोडश ५, विंशतिः ६, चतुर्विंशतिः ७, अष्टाविंशतिः ८। योजना तु प्रागेव दर्शितेति गाथार्थः ॥१४०॥ (तो सयलक्ख दुचत्त त्ति) .....(? ततः शून्यं राज्याभावः १२। लक्षशब्दोऽग्रेऽपि योज्यते। त्रिंशल्लक्षवर्षाणि १३। पञ्चदशवर्षलक्षाणि १४। ततः पञ्चलक्षवर्षाणि १५। (सहसपणवीस तत्तो त्ति) सहस्रशब्दस्य नमिजिनं यावद्योगः कृतः पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि १६। (पाउणचउवीसइगवीसं ति) पादोनचतुर्विंशवर्षसहस्राणि १७ एकविंशतिवर्षसहस्राणि १८। इति गाथार्थः ॥१४१॥ (सुन्न पनर पण तत्तो) शून्यं राज्याभावः १६, पञ्चदशसहस्राणि वर्षाणाम् २०। पञ्चवर्षसहस्राणि २१। ततः (तिसुन्न रज्जं च चक्किकालो वि) त्रिस्थानेषु शून्यं राज्याभावः २२।२३।२४। राज्यं च एतावन्तं कालं जिनानाम्। सत्त० ५५ द्वार।

(११२) अथ रुद्रनामान्याह–

भीमाबलि जियसत्तू, रुद्दे विस्सानलो य सुपइट्ठो।
अयलो य पुंडरीओ, अजियधरो अजियनाभो य ॥३३८॥
पेढालो तह सच्चइ, एए रुद्दा इगारसंगधरा।
उसहाजिअ सुविहाई–अडजिण सिरिवीरतित्थभवा ।३३९।

भीमावलिनामा रुद्रः १। जितशत्रुः २। रुद्रः ३। विश्वानलः ४। सुप्रतिष्ठः ५। अचलः ६। पुण्डरीकः ७। अजितधरः ८। अजितनाभः ९ ॥३३८॥ पेढालः १०। सत्यकिः ११। एते रुद्रा रुद्रतपः कारका महामुनय एकादशाङ्गधरा एकादशाङ्गीपाठकाः। (उसहा–जिअ सुविहाई–अडजिण सिरिवीरतित्थभव त्ति) ऋषभाजितयोः सुविध्याद्यष्टजिनानां श्रीवीरस्य च तीर्थे भवाः। एवमेकादशानामपि तीर्थकृतां तीर्थेष्वेकादशापि रुद्राः। ते च ऋषभशासने भीमावलिनामा जातः १। अजितशासने जितशत्रुनामा जातः २। सुविधिशासने रुद्रनामा ३। शीतलशासने विश्वानलनामा ४। श्रेयांसशासने सुप्रतिष्ठनामा ५। वासुपूज्यशासने अचलनामा ६। विमल–शासने पुण्डरीकः ७। अनन्तशासने अजितधरः ८। धर्मशासने अजितनामः ९। श्रीशान्तिशासने पेढालः १०। वीरतीर्थे सत्यकिः ११। एते एकादश रुद्रा जाताः। सत्त० १६७ द्वार।

अथ जिनवराणां प्रसङ्गाद् गणधराऽऽदिमाण्डलिकान्तानामुत्तमपुरुषाणां देवानां च रूपवर्णनमाह–

सव्वसुरा जइ रूवं, अंगुट्ठपमाणयं विउव्विज्जा।
जिणपायंगुट्ठं पइ, न सोहए तं जहिंगालो ॥१२०॥
गणहरआहारअणु–त्तरा य जाव णं चक्किवासुबला।
मंडलिया जा हीणा, छट्ठाणगया भवे सेसा ॥१२१॥

(सव्वसुरा जइ रूवं अंगुट्ठपमाणयं विउव्विज्ज त्ति) सर्वे देवाः सम्भूय यद्येकं रूपमङ्गुष्ठप्रमाणकमङ्गुष्ठमात्रं विकुर्वेयुः (जिणपायं–गुट्ठं पइ त्ति) जिनपादाङ् गुष्ठं प्रतिजिनस्य पादौ जिनपादौ तयोर–ङ् गुष्ठः जिनपादाङ्गुष्ठः, तं प्रति (न सोहए तं जहिंगालो) न शोभते तद्रूपं, यथा अङ्गारो, भगवद्रूपाग्रेतदङ्गाररसदृशं दृश्यते। इति गाथाऽर्थः ॥१२०॥ (गणहरआहारअणुत्तरा य त्ति) गणधराहारकानुत्तराश्च (जाव णंचक्किवासुबल त्ति) यावद् व्यन्तरचक्रिवासु–देवबलदेवाः (मंडलिआ जा हीण त्ति) माण्डलिका यावत् क्रमेण रूपेण हीना भवन्ति। यथा जिनेभ्यो गणधरा रूपेण हीनाः १। ततश्चाऽऽहारकं शरीरम् २। ततश्चानुत्तरवासिनः सुरा ३। ततो नवमाद्युत्क्रमेण ग्रैवेयकसुराः, ततो द्वादशाद्युत्क्रमेण कल्पवासिनः सुराः, ततो ज्योतिष्कदेवाः, ततो भवनपतिदेवाः, ततो व्यन्तरदेवा रूपेण हीनाः ४। तेभ्योऽपि चक्रिणो रूपेण हीनाः ५। ततो वासुदेवा रूपेण हीनाः ६। ततो बला बलभद्रा रूपेण हीनाः ७। ततो माण्डलिका रूपेण हीनाः ८। छट्ठाणगया भवे सेसा) लोकाः षट् स्थानगता भवेयुः। इति गाथार्थः ॥१२१॥सत्त ४७ द्वार।

(११३) साम्प्रतं लाञ्छनान्याह–

वसह गय तुरय वानर कुंचो कमलं च सत्थिओ चंदो।
मयर सिरिवच्छ गंडय, महिस वराहो य सेणो य ॥३८१॥
वज्जं हरिणो छगलो, नंदावत्तो य कलस कुम्मो य।
नीलुप्पल संख फणी, सीहो अ जिणाण चिण्हाइं ॥३८२॥

वृषभः १। गजः २। तुरगः ३। वानरः ४। क्रौञ्चः ५। कमलं च ६। स्वस्तिकः ७। चन्द्रः ८। मकरः ९। श्रीवत्सः १०। गण्डकः ११। महिषः १२। वराहश्च १३। श्येनश्च १४ ॥३८१॥ वज्रम् १५। हरिणः १६। छगलकः १७। नन्द्यावर्त्तश्च १८। कलशः १९। कूर्म्मः २०। नीलोत्पलम् २१। शङ्खः २२। फणी २३। सिंहश्च २४। जिनानां नाभेयाऽऽदीनां चिह्नानि क्रमेण ज्ञातव्यानीति। प्रव० २९ द्वार।

लक्षणद्वारम्–

अट्ठुत्तरो सहस्सो, सव्वेसिं लक्खणाइँ देहेसु। (१२३)

अष्टोत्तरसहस्रः–अष्टेनाधिकः सहस्रः १००८, सर्वेषां तीर्थपानां शरीरेषु लक्षणानि भवन्ति। सत्त० ४४ द्वार।

लोकान्तिकदेवैर्बोधनम्–

सव्वे वि सयंबुद्धा, लोगंतियबोहिया य जीयं ति।
(सव्वेसिँ परिचाओ, संवच्छरियं महादाणं ॥)

सर्व एव तीर्थकृतः स्वयंबुद्धा वर्तन्ते, तथापि लोकान्तिकदेवा–नामियं स्थितिः–यदुत स्वयंबुद्धानपि भगवतो बोधयन्ति, ततो जीतमिति कल्प इति कृत्वा लोकान्तिकदेवैर्बोधिताः सन्तो निष्क्रामन्ति। आ०म०१ अ०१ खण्ड। आ०चू०।

अथ वस्त्रवर्णानाह–

पुरिमंतिमतित्थेसुं, ओहनिजुत्तीभणियपरिमाणं।
सियवत्थं इयराणं, वण्णपमाणेहिँ जहलद्धं ॥२९७॥

(पुरिमंतिमतित्थेसु) प्रथमजिनतीर्थे अन्तिमजिनतीर्थे च (ओह–निजुत्ती–भणियपरिमाणं) ओघनिर्युक्तिसूत्रोक्तपरिमाणम् (सियवत्थं ति) सितं श्वेतं वस्त्रं ज्ञेयम्। (इअराणं वन्नपमाणेहिँ जहलद्धं ति) इतरेषां द्वाविंशतिजिनानां वर्णप्रमाणैः वस्त्रवर्णैर्यथालब्धं यथा–प्राप्तम्, अनियतवर्णमनियतप्रमाणं चेत्यर्थः ॥२९७॥ सत्त० १४२ द्वार।

वर्णं जिनानाम्–

पउमाभवासुपुज्जा, रत्ता ससिपुप्फदंत ससिगोरा।
सुव्वयनेमी काला, पासो मल्ली पियंगाभा ॥३८३॥
वरतवियकणयगोरा, सोलस तित्थंकरा मुणेयव्वा।
एसो वण्णविभागो, चउवीसए जिणिंदाणं ॥३८४॥

पद्मप्रभवासुपूज्यौ जपापुष्पवद्रक्तौ। शशिपुष्पदन्तौ–चन्द्रप्रभसुविधी शशिगौरौ चन्द्रचारुरुची। सुव्रतनेमिनौ इन्द्रनीलमणिवत्कालौ। पार्श्वमल्लिजिनौ प्रियङ्ग्वाभौ, प्रियङ्गुः फलिनीतरुः, तदाभौ, नीलावित्यर्थः। वरमकृत्रिमं तापितं यत्कनकं तद्वद् गौराः शेषाः षोडश तीर्थङ्करा ज्ञातव्याः। एष वर्णविभागश्चतुर्विंशतेस्तीर्थकराणामिति। प्रव० ३० द्वार।

दो तित्थयरा नीलुप्पलसमा वन्नेणं पण्णत्ता। तं जहा– मुणिसुव्वए चेव, अरिट्ठणेमी चेव। दो तित्थयरा पियंगुसमा वन्नेणं पण्णत्ता। तं जहा–मल्ली चेव, पासे चेव। दो तित्थयरा पउम–गोरा वण्णेणं पण्णत्ता। तं जहा–पउमप्पहे चेव, वासुपुज्जे चेव। दो तित्थयरा चंदगोरा वण्णेणं पण्णत्ता। तं जहा–चंदप्पभे चेव, पुप्फदंते चेव।

पद्मं रक्तोत्पलं तद्वद्गौरौ, रक्ताविवित्यर्थः। तथा–चन्द्रगौरौ चन्द्रशुभ्राविवित्यर्थः। शेषं सुगमम्। स्था०२ ठा०४उ०।

(११४) अथ तीर्थकृतां पञ्चत्रिंशद् वाग् गुणानाह–

वयणगुणा सग सद्दे, अत्थे अडवीस मिलिय पणतीसं।
तेहिँ गुणेहिँ मणुण्णं, जिणाण वयणं कमेण इमं ॥२०२॥
वयणं सक्कयगंभी–रघोसउवयारुदत्तयाजुत्तं।
पडिनायकरं दक्खिन्नसहियमुवणीयरागं च ॥२०३॥
सुमहत्थं अव्वाहयमसंसयं तत्तनिट्ठियं सिट्ठं।
पत्थावुचियं पडिहय–परुत्तरं हिययपीइकरं ॥२०४॥
अण्णुण्णसाभिकंखं, अभिजायं अइसिणिद्धमजरं च।
ससलाहापरनिंदा–वज्जियमपइन्नपसरजुयं ॥२०५॥
पयमक्खरपयवक्कं, सत्तपहाणं च कारगाइजुयं।
ठवियविसेससमुयारं, अणेगजाईविचित्तं च ॥२०६॥
परमम्मविब्भमाई–विलंबवुच्छेयखेयरहियं च।
अदुयं धम्मत्थजुयं, सलाहणिज्जं च चित्तकरं ॥२०७॥

(वयणगुणा सग सद्दे) भगवद्वचनगुणा एते वक्ष्यमाणा भवन्ति–तत्र शब्दे गुणाः सप्त। (अत्थे अडवीस) अर्थेऽष्टाविंशतिः। (मिलिअ पणतीसं) उभयेऽपि मिलिताः पञ्चत्रिंशत् वचनगुणा भवन्ति। (तेहिँ गुणेहिँ मणुण्णं) तैर्गुणैर्मनोज्ञम् (जिणाण वयणं कमेण इमं) जिनानां वचनं क्रमेणैते वक्ष्यमाणं ज्ञेयम्। कोऽर्थः? अत्र स्फुटं गुणा न वक्ष्यन्ते, किं तु तैर्विशिष्टं क्रमेण वचनं वक्ष्यतीति गाथार्थः ॥२०२॥ (वयणं सक्कयगंभीरघोसउवयारुदत्तयाजुत्तं) भगवद्वचनं संस्कृताऽऽदिलक्षणयुक्तम् १, गम्भीरघोषयुक्तं गम्भीरशब्दोपेतं मेघस्येव २, उपचारयुक्तमग्राम्यमित्यर्थः ३। उदात्ततायुक्तगुचैर्वृत्तियुक्तम् ४। (पडिनायकरं दक्खिन्नसहियं) प्रतिनादकरं प्रतिरवोपेतम् ५, दाक्षिण्यसहितम्, सरलत्वयुक्तं न तु किञ्चिदपि वक्रम् ६। (उवणीअरागं च) उपनीतरागं च मालवकैशिक्यादिग्रामरागयुक्तम् ७। एते सप्ताऽपि शब्दापेक्षया गुणाः। इतिगाथार्थः ॥२०३॥ अथार्थविवक्षया कथ्यन्ते–(सुमहत्थं) सुष्ठुमहार्थं बृहदभिधेयम् ८। (अव्वाहयं) अव्याहतं पूर्वापरवाक्यार्थाविरुद्धम् ९, (असंसयं) संशयरहितमसंदिग्धम् १०। (तत्तनिट्ठिअं) तत्त्वनिष्ठितं विवक्षितवस्तुस्वरूपानुसारि ११, (सिट्ठं) शिष्टमभिमतसिद्धान्तोक्तार्थं, वक्तुः शिष्टता सूचकं वा १२। (पत्थावुचिअं) प्रस्तावोचितं देशकालानुगुणम् १३। (पडिहयपरुत्तरं) निराकृतान्योत्तरं परदूषण–विषयम् १४ (हिअयपीइकरं) हृदयप्रीतिकरमिति गाथार्थः १५ ॥२०४॥ (अन्नुन्नसाभिकंखं) मिथः साभिकाङ्क्षं मन्योन्यगृहीतं परस्परेण पदानां वाक्यानां वा सापेक्षतायुक्तम् १६। (अभिजायं) अभिजातं वक्तुः प्रतिपाद्यस्य वा भूमिकाऽनुसारि १७। (अइसिणि–द्धमहुरं च) अतिस्निग्धमधुरं च, घृतगुडाऽऽदिवत् सुखकारि १८। (ससलाहापरनिंदावज्जिअं) स्वश्लाघापरनिन्दावर्जितमात्मोत्कर्षपरनिन्दाविप्रमुक्तम् १९। (अपइन्नपसरजुयं) अप्रकीर्णप्रसरयुक्तं सुसंबद्धं सत् प्रसरणयुक्तम्। असंबद्धाधिकारत्वातिविस्तरयोरभावयुक्तमिति गाथार्थः २०॥२०५॥ (पयमक्खरपयवक्कं) प्रकटाक्षरपदवाक्यं वर्णाऽऽदीनां विच्छिन्नत्वयुक्तम् २१। (सत्तप्पहाणं च) सत्त्वप्रधानं च साहसोपेतम् २२। (कारगाइजुअं) कारकाऽऽदियुतम्, कारकवचनलिङ्गाऽऽदियुतं तद्विपर्यासरहितम् २३। (ठवियविसेसं) स्थापितविशेषमारोपितविशेषं वचनान्तरापेक्षया–ऽऽहितविशेषम् २४। (उआरं) उदारमभिधेयस्याऽर्थस्यातुच्छत्व–युतम् २५। (अणेगजाईविचित्तं च) अनेकजातिविचित्रं जात्या वर्णनीयं वस्तुस्वरूपवर्णनानि तत्संश्रयाद्विचित्रं २६, चः पुनरर्थे इति गाथार्थः ॥२०६॥ (परमम्मविब्भमाईविलंबवुच्छेअखेअरहिअं च) परमर्मरहितं परमर्मानुद्घाटनस्वरूपम् २७। विभ्रमाऽऽदिर–हितं विभ्रमो वक्रमनसोभ्रान्तता, स आदिर्येषां विक्षेपाऽऽदीनां ते विभ्रमाऽऽदिमनोदोषास्तैर्विप्रमुक्तम् २८। विलम्बरहितम् २९। पदवाक्यवर्णाऽऽदीनां व्युच्छेदरहितं विवक्षार्थसिद्धिं यावदव्यव–च्छिन्नवचनप्रमेयम् ३०। खेदरहितं च अनायाससंभवम् ३१। (अदुयं) अद्भुतमत्यौत्सुक्यरहितम् ३२। (धम्मत्थजुयं) धर्मार्थ–युतं धर्मार्थाभ्यामनपेतम् ३३। (सलाहणिज्जं च) श्लाघनीयं च उक्तगुणयोगात् प्रशंसनीयम् ३४। (चित्तकरं) चित्रकरम् उत्पादितविच्छिन्नकौतूहलम् ३५। इति गाथार्थः ॥२०७॥ सत्त० ९८ द्वार।

(जिनवाण्यतिशयाः 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे ३२ पृष्ठेदर्शिताः)

(११५) तीर्थकराणां वादिमुनिसंख्याप्रतिपादनार्थमाह–

सड्ढछसया दुवालस, सहस्स वारस य चउसयऽब्भहिया।
वारेक्कारससहसा, दससहसा छसय पन्नासा ॥३४६॥
छन्नउई चुलसीई, बहत्तरी सट्ठि अट्ठपन्ना य।
पन्नासा य सयाणं, सीयाला अहव वायाला ॥३४७॥
बत्तीसा बत्तीसा, अट्ठावीसा सयाण चउवीसा।
विसहस्सा सोलसया, चउदस वारस दस सयाइँ ॥३४८॥
अट्ठसया छच्च सया, चत्तारि सयाइँ हुंति वीरम्मि।
वाइमुणीण पमाणं, चउवीसाए जिनवराणं ॥३४९॥

''सड्ढछसया'' इत्यादिगाथाचतुष्टयम्। प्रथमजिनस्य वादियतीनां द्वादशसहस्राणि सार्द्धषट्शतानि, पञ्चाशदधिकैः षड्भिः शतैरधिकानीत्यर्थः। श्रीअजितजिनस्य द्वादशसहस्राणि चतुःशताधिकानि। श्रीशंभवस्य द्वादशसहस्राणि। श्रीअभिनन्दनस्य एकादशसहस्राणि। श्रीसुमतिजिनस्य दशसहस्राणि पञ्चाशदधिकषट् शताभ्यधिकानि ''छन्नउई'' इत्यादिगाथायामुत्तरार्द्धवर्ति शतानामिति पदं सर्वत्र संबध्यते। ततः श्रीपद्मप्रभस्य वादिनां पञ्चनवतिः शतानाम्, कोऽर्थः? नवसहस्राणि षट्शतैरधिकानीत।

श्रीसुपार्श्वजिनस्य चतुरशीतिः चतुर्भिः शतैरधिका अष्टौ सहस्राणि , चन्द्रप्रभस्य षट् सप्ततिः शतानाम्, षड्भिः शतैरधिकानि सप्त सहस्राणीत्यर्थः। श्रीसुविधिजिनस्य षष्टिः शतानां, षट् सहस्राणीत्यर्थः। श्रीशीतलजिनस्य अष्टपञ्चाशच्छतानां, पञ्चसहस्राण्यष्टशताधिकानीत्यर्थः। श्रीश्रेयांसस्य पञ्चाशत् शतानां, पञ्च सहस्राणीत्यर्थः। श्रीवासुपूज्यस्य सप्तचत्वा-रिंशच्छतानि, चत्वारि सहस्राणि सप्तशताधिकानीत्यर्थः। (अहव वायाल त्ति) अथवा मतान्तरेण-श्रीवासुपूज्यस्य द्विचत्वारिंशच्छतानि, चत्वारि सहस्राणि शतद्वयाधिकानीत्यर्थः। श्रीविमलजिनस्य द्वात्रिंशच्छतानि, त्रीणि सहस्राणि शतद्वयाधिकानीत्यर्थः। श्रीअनन्तजिनस्य द्वात्रिंशच्छतानि। श्रीधर्म्मजिनस्य अष्टाविंशतिः शतानां, सहस्रद्वयमष्ट-शताधिकमित्यर्थः। श्रीशान्तिनाथस्य शतानां चतुर्विंशतिः, द्वे सहस्रे शतचतुष्टयाधिके इत्यर्थः। श्रीकुन्थुजिनस्य द्वे सहस्रे। श्रीअरनाथस्य षोडश शतानि, षट् शताधिकं सहस्रमित्यर्थः। श्रीमल्लिजिनस्य चतुर्दश शतानि, शतचतुष्टयाधिकं सहस्रमित्यर्थः। श्रीमुनिसुव्रतस्य द्वादश शतानि, सहस्रमेकं शतद्वयाधिकमित्यर्थः। श्रीनेमिजिनस्य दश शतानि, सहस्रमित्यर्थः। श्रीनेमिजिनस्य अष्टौ शतानि। श्रीपार्श्वजिनस्य षट् शतानि। श्रीवीरजिनस्य चत्वारि शतानि भवन्ति। इति वादिमुनीनां वादसमरेषु सुरासुरैरप्यजेयानां प्रमाणं चतुर्विंशतेर्जिनवराणामिति॥ प्रव० १६ द्वार। स्था०।

तीर्थकरविवाहविषयः–

मल्लिं नेमिं मुत्तुं, तेसिँ विवाहो य भोगफला। (१३५)

मल्लिजिनं नेमिजिनं च मुक्त्वा, तेषां द्वाविंशतितिजिनानामुक्तव्यतिरिक्तानां विवाहश्च जातो भोग्यफलाद्, भोग्यफलकर्मोदयादित्यर्थः। सत्त० ५३ द्वार।

तीर्थकृतां येषु ग्रामनगराऽदिषु विहार आसीत्तदेवाऽऽह–

मगहारायगिहाइसु, मुणओ खेत्तारिएसु विहरिंसु।
उसभो य नेमि पासो, वीरो य अणारिएसुं पि॥

मन्यन्ते स्म जगतः समस्तस्यापि त्रिकालावस्थामिति मुनयो भगवतस्तीर्थकृतः, ते सर्वेऽपि मगधाऽऽदिषु जनपदेषु राजगृहाऽऽदिषु नगरेषु, क्षेत्रार्यषु आर्यक्षेत्रेषु, विहृतवन्तः। इह आर्यक्षेत्रचिन्तायां शास्त्रान्तरेषु मगधाऽऽदयो जनपदाः, राजगृहाऽऽदीनि च नगराण्युक्तानीत्यत्रापि ''मगहारायगिहाइसु'' इत्युक्तम्, अन्यथा ऋषभस्वामिन आदितीर्थकरत्वात्तदनुरोधेन नगरचिन्तायां विनीताऽऽदिष्वित्युच्येतेति। ऋषभस्वामी, अरिष्टनेमिः, पार्श्वनाथो, वीरश्च भगवानित्येते चत्वारस्तीर्थकृतोऽनार्येष्वपि क्षेत्रेषु विहृतवन्तः। आ०म०१ अ०१ खण्ड।

(११६) वैक्रियकमुनयः–

वेउव्वियलद्धीणं, वीससहस्सा य सयछगऽब्भहिया।
वीससहस्सा चउसय, इगुणीससहस्स अट्ठसया॥३४२॥
इगुणिससहस्स अट्ठार चउसया सोलसहस अट्ठ सया।
सतिसय पनरस चउदस, तेरस वारस सहस दसमे॥३४३॥
इक्कारस दस नव अट्ठ सत्त छ सहस्स एगवन्न सया।
सत्त सहस्स सतिसया, दुन्नि य सहसा नवसयाइं॥३४४॥
दुन्नि सहस्सा पंच य, सहस्स पनरस सयाइ नेमिम्मि।
इक्कारससय पासे, सयाइँ सत्तेव वीरजिणे॥३४५॥

''वेउव्वियलद्धीणं'' इत्यादिगाथाचतुष्टयम्। वैक्रियलब्धिमतां नानाविधवैक्रियरूपकरणशक्तानां मुनीनामादिजिनेन्द्रस्यविंशतिः सहस्राणि, षट् शताभ्यधिकानि। श्रीअजितजिनस्य विंशतिसहस्राणि सचतुःशतानि, शतचतुष्टयाधिकानि। श्रीशंभवजिनस्यैकोनविंशतिः सहस्राणि शताष्टकाधिकानि। श्रीअभिनन्दनस्यैकोनविंशतिः सहस्राणि। श्रीसुमतिजिनस्य चतुःशताधिकानि अष्टादश सहस्राणि। श्रीपद्मप्रभस्य षोडश सहस्राणि अष्टोत्तरशताधि–कानि। श्रीसुपार्श्वजिनस्य शतत्रयाधिकानि पञ्चदश सहस्राणि। श्रीचन्द्रप्रभस्य चतुर्दश सहस्राणि। श्रीसुविधेस्त्रयोदश सहस्राणि। श्रीशीतलस्य द्वादश सहस्राणि। श्रीश्रेयांसस्यैकादश सहस्राणि। श्रीवासुपूज्यस्य दश सहस्राणि। श्रीविमलस्य नवसहस्राणि। श्रीअनन्तजिनस्याष्टौ सहस्राणि। श्रीधर्म्मजिनस्य सप्त सहस्राणि। श्रीशान्तिनाथस्य षट् सहस्राणि। श्रीकुन्थुजिनस्यैकपञ्चाशत् शतानि, पञ्चसहस्राण्येकशताधिकानीत्यर्थः। श्रीअरजिनस्य सप्त सहस्राणि त्रिभिः शतैरधिकानि। श्रीमल्लिजिनस्य द्वे सहस्रे नव–शताधिके। श्रीमुनिसुव्रतस्य द्वे सहस्रे। श्रीनमिजिनस्य पञ्चसह–स्राणि। श्रीनेमिजिनस्य पञ्चदशशतानि। श्रीपार्श्वजिनस्य एकादश शतानि। श्रीवीरजिनस्य शतानि सप्तैवेति॥ प्रव० १८ द्वार।

आर्यासंग्रहप्रमाणमृषभाऽऽदिजिनानाम्–

तिण्णेव य लक्खाइं, तिण्णि य तीसाइँ तिन्नि छत्तीसा।
तीसा य छच्च पंच य, तीसा चउरो य वीसाइं॥
चत्तारि य तीसाइं, तिण्णि असीया य तिण्णि मित्तो य।
वीसुत्तरं बलऽहियं, तिसहस्सऽहियं च लक्खं च॥
लक्खं अट्ठ सयाणि य, वासट्ठिसहस्स चउसयसमग्गा।
एगट्ठी छच्च सया, सट्ठिसहस्सा सया छच्च॥
सट्ठि पणपन्न पन्ने–गचत्त चत्ता तहऽट्ठतीसं च।
छत्तीसं च सहस्सा, अज्जाणं संगहो एसो॥

भगवत आदितीर्थकरस्याऽऽर्यिकाणां त्रीणि लक्षाणि। अजितस्वामिनस्त्रीणि लक्षाणि, त्रिंशानि–त्रिंशत्सहस्राभ्यधिकानि। शंभवनाथस्य त्रीणि लक्षाणि षट् त्रिंशत्सहस्राभ्यधिकानि। अभिनन्दनस्य षट् लक्षाणि, त्रिंशानि–त्रिंशत्सहस्राभ्यधिकानि। सुमतिनाथस्य पञ्च लक्षाणि त्रिंशत्सहस्राधिकानि। पद्मप्रभस्य चत्वारि लक्षाणि विंशतिसहस्राधिकानि। सुपार्श्वस्य चत्वारि लक्षाणि त्रिंशत्सहस्राभ्यधिकानि। चन्द्रप्रभस्वामिनस्त्रीणि लक्षाण्यशीतिसहस्रोत्तराणि। सुविधिस्वामिन-स्त्रीणि परिपूर्णानि लक्षाणि। (तिन्नि मित्तो य इति) त्रिलक्षमात्रमार्यासंग्रह इति गम्यते इत्यर्थः। शीतलनाथस्य विंशत्युत्तरं विंशतिसहस्राधिकं लक्षम्। श्रेयांसस्य षट् सहस्राधिकं लक्षम्। वासुपूज्यस्य त्रिसहस्राधिकं लक्षम्। विमलनाथस्य परिपूर्णं लक्षम्। अनन्तजितो लक्षमेकमष्टौ च शतानि। धर्म्मनाथस्य द्वाषष्टिसहस्राणि चतुःशतसमग्राणि चतुः शताभ्यधिकानि। शान्तिनाथस्य एकषष्टिः सहस्राणि षट्शतानि। कुन्थुनाथस्य षष्टिः सहस्राणि षट्शतानि। अरनाथस्य षष्टिः सहस्राणि। मल्लिस्वामिनः पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि। मुनिसुव्रतस्वामिनः पञ्चाशत्सहस्राणि। नमिनाथस्यैकचत्वारिंशत्सहस्राणि। अरिष्टनेमेश्चत्वारिंशतसहस्राणि। पार्श्वनाथस्याऽष्टात्रिंशत्सहस्राणि।

भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः षट् त्रिंशत्सहस्राणि । एवमृषभाऽऽदीनां जिनानां यथाक्रममार्थिकासंग्रहः । आ०म०१ अ०१ खण्ड।

सर्वसंयतीनां संख्या–

चोआलीसं लक्खा, वायालसहस्स चोसयसमग्गा।
अज्जाछक्कं एसो, अज्जाणं संगहो कमसो ॥३४१॥

चतुश्चत्वारिंशल्लक्षाणि षट् चत्वारिंशत्सहस्रैश्चतुःशताधिकैः समग्राणि पूर्णानि आर्याषट्कं च, एष आर्यिकाणां संग्रह इति । प्रव० १६ द्वार।

अथ मुनिस्वरूपम्–

पढमियरवीरतित्थे, रिउजड–रिउपन्न–वक्कजडा (२६३)

प्रथमजिनतीर्थे मुनयः ऋजुजडाः, इतरस्मिन् मध्यमजिनतीर्थे ऋजुप्राज्ञाः , वीरतीर्थे मुनयो वक्रजडाः । सप्त० १३६ द्वार।

संयतप्रमाणम्–

चुलसीइं च सहस्सा, एगं च दुवे य तिण्णि लक्खाइं।
तिण्णि य वीसऽहियाइं, तीसऽहियाइं च तिन्नेव ॥
तिन्नि य अड्ढाइज्जा, दुवे य एगं च सयसहस्साइं।
चुलसीइं च सहस्सा, विसत्तरिं अट्ठसट्ठिं च ॥
छावट्ठिं चोवट्ठिं, बावट्ठिं सट्ठिमेव पन्नासा।
चत्ता तीसा वीसा, अट्ठारस सोलस सहस्सा ॥
चोद्दस य सहस्साइं, जिणाण जइसीससंगहपमाणं।

भगवत ऋषभस्वामिनश्चतुरशीतिसहस्राणि श्रमणानाम् । एकं लक्षम्–अजितस्य । द्वे लक्षे शम्भवनाथस्य । त्रीणि लक्षाणि अभिनन्दनस्य । सुमतेः त्रीणि लक्षाणि विंशतिसहस्राभ्यधिकानि । पद्मप्रभस्य त्रीणि लक्षाणि त्रिंशत्सहस्राधिकानि । सुपार्श्वस्य त्रीणि लक्षाणि । चन्द्रप्रभस्य अर्द्धतृतीयानि लक्षाणि । सुविधेर्द्वे लक्षे । शीतलस्य एकं लक्षम् । श्रेयांसस्य चतुरशीतिः श्रमणानां सहस्राणि। वासुपूज्यस्य द्वासप्ततिः सहस्राणि । विमलस्य अष्टषष्टिः सहस्राणि। अनन्तजिनस्य षट्षष्टिः सहस्राणि । धर्मनाथस्य चतुःषष्टिः सहस्राणि । शान्तिनाथस्य द्वाषष्टिः सहस्राणि । कुन्थुनाथस्य षष्टिः सहस्राणि । अरनाथस्य पञ्चाशत्सहस्राणि । मल्लिनाथस्य चत्वारिंशत्सहस्राणि । मुनिसुव्रतस्वामिनस्त्रिंशत्सहस्राणि । नमिस्वामिनो विंशतिः सहस्राणि । अरिष्टनेमेरष्टादश सहस्राणि । पार्श्वनाथस्य षोडश सहस्राणि । भगवतो महावीरस्य चतुर्दश सहस्राणि । एतद्यतिशिष्यसंग्रहप्रमाणं जिनानामृषभाऽऽदीनां यथाक्रममवसातव्यम् । आ०म०१ अ०१खण्ड।

एतेषां सर्वसङ्ख्यामीलनेन यद् भवति तदाह–

अट्ठावीसं लक्खा, अडयालीसं च तह सहस्साइं।
सव्वेसिं पि जिणाणं, जईणं माणं विणिद्दिट्ठं ॥३३६॥

(अट्ठावीसमित्यादि) अष्टाविंशतिर्लक्षाणि अष्टचत्वारिंशच्च तथा सहस्राणि सर्वेषामपि जिनानां संबन्धिनां यतीनां मानं परिमाणं विनिर्दिष्टं विनिश्चितमेतच्च ये श्रीजिनेन्द्रैर्निजकरकमलेन दीक्षितास्तेषामेवैकत्र पिण्डिततापरिमाणं, न पुनर्गणधराऽऽदिभिरपि ये दीक्षिताः, तेषामतिबहुत्वादिति । प्रव० १७ द्वार।

तीर्थकृतां संयमनिरूपणम्–

.....सं–जमो य पढमंतिमाण दुविगप्पो।
सेसाणं सामइओ, सत्तरसंगो य सव्वेसिं ॥

संयमोऽपि सामायिकाऽऽदिरूपः प्रथमान्तिमजिनयोर्द्विविकल्पः। इत्वरं सामायिकं, छेदोपस्थापनीयं चेत्यर्थः । शेषाणां मध्यमानां द्वाविंशतितीर्थकृतां यावत्कथिकमेवैकं सामायिकं, न शेषं छेदोपस्थापनाऽऽदि, तथाकल्पत्वात् । सप्तदशाङ्गः सप्तदशभेदः, चः पुनरर्थे । सर्वेषां तीर्थकृतामभूत् । ते च सप्तदश भेदा अमी– ''पञ्चास्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः । दण्डत्रयविरतिश्चेतिसंयमः सप्तदशभेदः ॥१॥'' आ०म० १अ०१ खण्ड।

(११७) इदानीं परित्यागद्वारमाह–

संवच्छरेण होही, अभिनिक्खमणं तु जिणवरिंदाणं।
तो अत्थसंपयाणं, पवत्तए पुव्वसूरम्मि ॥

संवत्सरेण जिनवरेन्द्राणामभिनिष्क्रमणं भविष्यति, ततोऽर्थ–संप्रदानमर्थस्य सम्यक् तीर्थप्रभावनाबुद्ध्या, अनुकम्पाबुद्ध्या च, न तु कीर्तिबुद्ध्या , प्रदानं जनेभ्यः प्रवर्तते पूर्वसूर्ये , पूर्वाह्णे इत्यर्थः।

कियत्प्रतिदिवसं दीयते? इत्याह–

एगा हिरण्णकोडी, अट्ठेव अणूणगा सयसहस्सा।
सूरोदयमाईयं, दिज्जइ जा पायरासाओ ॥

एका हिरण्णस्य कोटी अष्टौ चाऽन्यूनानि परिपूर्णानि शतसहस्राणि लक्षाणि इति प्रतिदिवसं दीयते । कथं दीयते? इत्याह–सूर्योदय आदौ यस्य दानस्य तत्सूर्योदयाऽऽदि, क्रियाविशेषणमेतत् । सूर्योदयादारभ्य दीयते इति भावः । कियन्तं कालं यावदित्याह– प्रातराशात्–प्रातः प्रभाते अशनमाशः, प्रातराशः, तस्मात्तमभिव्याप्य, प्रातर्भोजनकालं यावदिति भावः ।

यथा दीयते तथा प्रतिपादयन्नाह–

सिंघामगतिगचउक्क–चच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु।
दारेसु पुरवराणं, रत्थामुहमज्झकारेसु ॥

शृङ्गाटकं नाम– शृङ्गाटकाऽऽकृतिपथ्युक्तं त्रिकोणं स्थानम्, त्रिकं यत्र रथ्यात्रयं मिलति, चतुष्कं चतुष्पथसमाहारः, चत्वरं बहुरथ्यापातस्थानम्, चतुर्मुखं यस्माच्चतसृष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति, महापथो राजपथः, शेषः सामान्यः पन्थाः पथः । तत एतेषां द्वन्द्वः । तथा पुरवराणां द्वारेषु, प्रतोलीष्वित्यर्थः । तथा–रथ्यानां मुखानि–प्रवेशाः, मध्यकारा मध्य एव, काराशब्दस्य स्वार्थिकत्वात्, रथ्यामुखमध्यकाराः, तेषु।

किमित्याह–

वरवरिया घोसिज्जइ, किमिच्छियं दिज्जए बहुविहीए।
सुरअसुरदेवदाणव–नरिंदमहियाण निक्खमणे ॥

वरं याचध्वं वरं याचध्वमित्येवं घोषणा समयपरिभाषया वरवरिकोच्यते । सा वरवरिका पूर्वं शृङ्गाटकाऽऽदिषु घोष्यते । ततः कः किमिच्छति?–यो यदिच्छति तस्य तद्दानं समयपरिभाषयैव किमिच्छिकमुच्यते, किमिच्छिकं यथा भवति एवं दीयते। क? इत्याह–सुरैर्वैमानिकज्योतिष्कैरसुरैर्भवनपतिव्यन्तरैः, देवदान–वनरेन्द्रैरिति। इन्द्रग्रहणं प्रत्येकमभिसंबध्यते–देवेन्द्रैः शक्राऽऽदिभिः, दानवेन्द्रैश्चमरेन्द्राऽऽदिभिः, नरेन्द्रैश्चक्रवर्तिप्रभृतिभिर्महितानां भगवतां तीर्थकृतां निष्क्रमणे इति ।

साम्प्रतमेकैकेन तीर्थकृता कियद्द्रव्यजातं संवत्सरेण दत्त–

मित्येतत्प्रतिपादयन्नाह–

तिण्णेव य कोडिसया, अट्ठासीयं ति होंति कोडीओ।

असिइं च सयसहस्सा,एयं संवच्छरे दिण्णं ॥

त्रीण्येव कोटिशतानि, अष्टाशीतिश्च भवन्ति कोटयः, अशीतिश्च शतसहस्राणि ३८८८०००००० एतावत्प्रमाणमेकैकेन तीर्थकृता संवत्सरे दत्तम्। एतच्च प्रतिदिनदेयं त्रिभिः षष्ट्यधिकैर्वासरशतैर्गुणयित्वा परिभावनीयम्। आ०म०१अ०१ खण्ड। ('दाण'– 'महादाण' शब्देऽस्य महादानत्वं वक्ष्यते, हारिभद्राष्टके, पञ्चाशकेचाऽस्य प्रयोजनं फलं च)

(११८) श्राविकामानमाह–

पढमस्स पंच लक्खा, चउपन्न सहस्स तयणु पण लक्खा।
पणयालीस सहस्सा, छ लक्ख छत्तीस सहसा य ॥३७०॥
सत्तावीस सहस्सा–ऽहिय लक्खा पंच पंच लक्खा य।
सोलससहस्सअहिया, पण लक्खा पंच उ सहस्सा ॥३७१॥
उवरिं चउरो लक्खा, धम्मो जा उवरि सहस तेणवई।
इगनवई इगहत्तरि, अडवन अडयाल छत्तीसा ॥३७२॥
चउवीसा चउदस ते–रसेव तत्तो तिलक्ख जा वीरो।
तदुवरि तिनवइ इगासी, विसत्तरी सयरि पन्नासा ॥३७३॥
अडयाला बत्तीसा, इगुणचतऽट्ठारसेव य सहस्सा।
सङ्कीण माणमेयं, चउवीसाए जिणवराणं ॥३७४॥

तत्र प्रथमस्याऽऽदिजिनस्य श्राविकाणां पञ्च लक्षाणि चतुः पञ्चाशत्सहस्राधिकानि। तदनु प्रथमतीर्थकरादनन्तरम् अजितस्य श्राविकाणां पञ्च लक्षाणि पञ्च चत्वारिंशत्सहस्राधिकानि। श्रीशंभवस्य षट् लक्षाणि षट् त्रिंशत्सहस्राणि च। अभिनन्दनस्य सप्तविंशतिसहस्राधिकानि लक्षाणि पञ्च। सुमतिजिनस्य लक्षाणि पञ्च षोडशसहस्राधिकानि। श्रीपद्मप्रभस्य लक्षाणि पञ्च पञ्चसहस्राधिकानि। इत उपरि पद्मप्रभादारभ्य धर्मजिनं यावत् श्राविकाणां चत्वारि लक्षाणि। प्रत्येकमुपरि च त्रिनवत्यादीनि सहस्राणि। कोऽर्थः?–सुपार्श्वस्य श्राविकाणां लक्षचतुष्टयं त्रिनवतिसहस्राधिकम्। चन्द्रप्रभस्य लक्षचतुष्टयमेकनवतिसहस्राधिकम्। सुविधेर्लक्षचतुष्टयमेकसप्ततिसहस्राधिकम्। शीतलस्य लक्षचतुष्टयमष्ट–पञ्चाशत्सहस्राधिकम्। श्रेयांसस्य लक्षचतुष्टयमष्टचत्वारिंशत्सहस्राधिकम्। वासुपूज्यस्य लक्षचतुष्टयं षट् त्रिंशत्सहस्राधिकम्। विमलस्य लक्षचतुष्टयं चतुर्विंशतिसहस्राधिकम्। अनन्तस्य लक्ष–चतुष्टयं चतुर्दशसहस्राधिकम्। धर्मस्य लक्षचतुष्टयं त्रयोदशसहस्राधिकम्। ततः श्रीशान्तिनाथादारभ्य प्रत्येकं लक्षत्रयं श्राविकाणां यावन्महावीरम्, तदुपरि च त्रिनवत्यादीनि सहस्राणि। तत्र श्रीशान्तेर्लक्षत्रयं त्रिनवतिसहस्राधिकम्। कुन्थोर्लक्षत्रयमेकाशीतिसहस्राधिकम्। अरजिनस्य लक्षत्रयं द्विसप्ततिसहस्राधिकम्। मल्लेर्लक्षत्रयं सप्ततिसहस्राधिकम्। मुनिसुव्रतस्य लक्षत्रयं पञ्चाशत्सहस्राधिकम्। श्रीनमेर्लक्षत्रयमष्टचत्वारिंशत्सहस्राधिकम्। श्रीनेमेर्लक्षत्रयं षट्त्रिंशत्सहस्राधिकम्। श्रीपार्श्वस्य लक्षत्रयमेकोनचत्वारिंशत्सहस्राधिकम्। वीरजिनस्य च लक्षत्रयमष्टादशसहस्रैरधिकम्। श्राविकाणां मानमेतत् चतुर्विंशतिजिनानाम्। प्रव० २५ द्वार।

सर्वसंख्या–

इगकोडी पणलक्खा, अडतीससहस्स सङ्घीओ ॥३४६॥

सर्वेषां जिनानां पिण्डीकृता एका कोटिः, पञ्च लक्षाणि, अष्टत्रिंशत्सहस्राणि श्राविकाः १०५३८००० । सत्त० ११५ द्वार।

(११९) उत्कृष्टजघन्याभ्यां विचरतां तीर्थकृतां संख्यां, तथो–त्कृष्टजन्याभ्यां तेषां जन्मसंख्यां चाऽऽह–

सचरिसयमुक्कोसं, जहन्न वीसा य दस य विहरंति।
जन्मं पइ उक्कोसं, वीस दस य हुंति हु जहन्ना ॥३२६॥

सप्तत्यधिकं शतमुत्कृष्टत एककालं तीर्थकृतः समयक्षेत्रे विहरन्ति, पञ्चसु भरतेष्वेकैकस्य भावात्, ऐरवतेष्वपि पञ्चसु तावतां भावात्, पञ्चसु महाविदेहेषु प्रत्येक द्वात्रिंशता विजयैः कलितेषु तीर्थकृतां षष्ट्यधिकशतस्य सद्भावादेतत्संख्यायाः सम्भव इति। तथा–जघन्यतो विंशतिस्तीर्थकृत एककालं विहरमाणाः प्राप्यन्ते। तथाहि–जम्बूद्वीपस्य पूर्वविदेहे शीतामहानद्या द्विभागीकृते दक्षिणोत्तरदिग्भागेनैकैकस्य सद्भावाद् द्वौ, अपरविदेहे शीतोदाया महानद्या द्विभागीकृते तथैव द्वौ जिनेन्द्रौ, मिलिताश्चत्वारः; एवमपरद्वीपद्वयसंबन्धिमहाविदेहचतुष्टयेऽपि चत्वारश्चत्वार इति पञ्चचतुष्कका विंशतिः, भरतैरावतयोस्तु एकान्तसुषमाऽऽदावभाव एव। अन्ये तु सूरयो दशैव जघन्यतो विहरन्तीति मन्यन्ते, पञ्चानां महाविदेहानां पूर्वापरविदेहयोः प्रत्येकमेकैकस्य विहरतः सद्भावेन दशानामेव तीर्थकृतां प्राप्यमाणत्वात्। तथा–जन्म प्रति जन्माऽऽश्रितोत्कृष्टत एककालं विहरमाणजिनविंशतिवद् विंशतिरस्तीर्थकृतो भवन्ति। यतः सर्वेषामपि तीर्थकृतामर्द्धरात्रसमय एव जन्म, ततो महाविदेहेषु तीर्थकृज्जन्मसमये भरतैरावतक्षेत्रेषु दिवससद्भावेन तीर्थकृदुत्पन्नत्वादेतावन्त एव प्राप्यन्ते। ननु महाविदेहवर्त्तिषु विजयेषु चतुर्भ्योऽधिकानामपि तीर्थकृतामुत्पत्तेः संभवात् कथमुत्कृष्टपदे विंशतिरेवेति? उच्यते–इह हि मेरौ पण्डकवने चूलिकायाश्चतसृषु पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु प्रत्येकं चतुर्योजनप्रमाणबाहल्याः पञ्चयोजनशतप्रमाणाऽऽयामा मध्यभागेऽर्द्धतृतीययोजनशतप्रमाणविष्कम्भा अर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थिताः सर्वश्वेतसुवर्णमय्यश्चतस्रोऽभिषेकशिलाः, तत्र चूलिकायाः पूर्वदिग्भाविन्यां पाण्डुकम्बलशिलायां द्वे तीर्थकराभिषेकसिंहासने। तद्यथा–एकमुत्तरतः, एकं दक्षिणतः। तत्र ये शीताया महानद्या उत्तरतः कच्छाऽऽदिषु विजयेषु तीर्थकरा उपजायन्ते, ते औत्तराहे सिंहासने सुरेन्द्रैरभिषिच्यन्ते। ये पुनः शीताया महानद्या दक्षिणतो मङ्गलावतीप्रमुखेषु विजयेषूत्पद्यन्ते, ते दाक्षिणात्ये सिंहासनेऽभिषिच्यन्ते। तथा चूलिकायाः पश्चिमदिग्भाविन्यां रक्तकम्बलशिलायां द्वे सिंहासने। तद्यथा–एकमुत्तरतः, एकं दक्षिणतः। तत्र शीतोदाया महानद्या दक्षिणतः पद्माऽऽदिषु विजयेषु तीर्थकरा उत्पद्यन्ते, *ते दाक्षिणात्ये सिंहासनेऽभिषिच्यन्ते। ये तु शीतोदाया महानद्या* उत्तरतो गन्धिलावतीप्रमुखेषु विजयेषु जायन्ते, ते उत्तराहे सिंहासने। तथा चूलिकाया दक्षिणदिग्भाविन्यामतिपाण्डुकम्बलशिलायां ये भरतक्षेत्रसमुद्भवास्तीर्थकरास्तेऽभिषिच्यन्ते। उत्तरदिग्भाविन्यां त्वतिरक्तकम्बलशिलायामैरवतक्षेत्रसमुद्भवास्तीर्थकरास्तेऽभिषिच्यन्ते। सिंहासनानि च सर्वरत्नमयानि सर्वाण्यपीत्येवं पञ्चधनुःशताऽऽयमविष्कम्भान्यर्द्धतृतीयधनुःशतबाहल्यानीति। ततः समधिकाभिषेकसिंहासनाभावादेव विदेहेषु चतुर्भ्योऽधिकानां तीर्थकृतामेककालमुत्पत्त्यभाव इति॥ जघन्यतः पुनर्दशैव एककालमुत्पद्यन्ते, पञ्चसु भरतेषु पञ्चसु चैरवतेषु प्रत्येकमेकैकस्य सद्भावात्। भरतैरवतेषु हि जिनजन्मसमये महाविदेहेषु दिनसद्भावान्नाधिकानामुत्पत्तिरिति। प्रव० १३-१४ द्वार।

(१२०) सर्वायुः–

चउरासीइ विसत्तरि, सट्ठी षण्णासमेव लक्खाइं।
चत्ता तीसा वीसा, दस दो एगं च पुव्वाणं ॥
चउरासीइं वाव–त्तरी य सट्ठी य होइ वासाणं।
तीसा य दस य एगं, च एवमेए सयसहस्सा ॥
पंचाणउइसहस्सा, चउरासीई य पंचपण्णा य।
तीसा य दस य एगं, सयं च बावत्तरी चेव ॥

भगवत आदितीर्थकरस्य सर्वायुश्चतुरशीतिपूर्वाणां लक्षाणि। अजितस्वामिनो द्वासप्ततिः पूर्वलक्षाणि। शंभवनाथस्य षष्टिः पूर्वलक्षाणि। अभिनन्दनस्य पञ्चाशत्पूर्वलक्षाणि। सुमतेश्चत्वारिंशत्। पद्मप्रभस्य त्रिंशत्। सुपार्श्वस्य विंशतिः। चन्द्रप्रभस्य दश पूर्वलक्षाणि। सुविधेर्द्वे पूर्वलक्षे। शीतलस्यैकं पूर्वलक्षम्॥ श्रेयांसस्य चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि। वासुपूज्यस्य द्विसप्ततिवर्षलक्षाणि। विमलस्य षष्टिवर्षलक्षाणि। अनन्तजितस्त्रिंशद् वर्षलक्षाणि। धर्मस्य दशवर्षलक्षाणि। शान्तिनाथस्यैकं वर्षलक्षम्। कुन्थुनाथस्य पञ्चनवतिवर्षसहस्राणि। अरनाथस्य चतुरशीतिवर्षसहस्राणि। मल्लिस्वामिनः पञ्चपञ्चाशद्वर्षसहस्राणि। मुनिसुव्रतस्य त्रिंशद्वर्षसहस्राणि। नमिनाथस्य दशवर्षसहस्राणि। अरिष्टनेमेरेकं वर्षसहस्रम्। पार्श्वनाथस्यैकं वर्षशतम्। वर्द्धमानस्वामिनो द्वासप्ततिवर्षाणि। आ०म०१ अ०१खण्ड।

सामान्यमुनिसंख्या–

गणहरकेवलिमणओ–हिपुव्विवेउव्विवाइणं संखं।
मुणिसंखाए सोहिय, नेया सामन्नमुणिसंखा ॥२६७॥

गणधराः १, केवलिनः २, मनःपर्यवज्ञानिनः ३, अवधिज्ञानिनः ४, पूर्वधराः५, वैक्रियलब्धयो ६, वादिनश्च ७, एतेषां संख्यां (मुणि–संखाए सोहिय नेआ सामन्नमुणिसंखा) मुनिसंख्यायाः ''चुलसीसहसतेलक्खा'' इत्याद्युक्तायाः शोधयित्वा निष्कास्य सामान्यमुनिसंख्या ज्ञेया। कोऽर्थः?–यस्य यावन्तो मुनयो भवन्ति, तेभ्यस्तद्गणधराऽऽदयः पृथक् क्रियन्ते, यावन्तोऽवशिष्यन्ते, तावन्तस्तस्य सामान्यमुनयो भवन्तीति गाथार्थः ॥२६७॥

एगुणवीस य लक्खा, तह छासीई हवंति सहसाइं।
इगवन्नाअहियाइं, सामन्नमुणीण सव्वग्गं ॥२६८॥

एकोनविंशतिलक्षाणि (तह छासीई हवंति सहसाइं) तथा लक्षोपरि षडशीतिसहस्राणि (इगवन्नाअहिआइं) एकपञ्चाशदधिकानि (सामन्नमुणीण सव्वग्गं) एतत् सामान्यमुनीनां सर्वाग्रं सर्वसंख्या ज्ञेया। अङ्कतो यथा–१९ ८६०५१। इति गाथार्थः।२६८॥ सत्त० १२२ द्वार।

पण्डितहर्षगणिकृतप्रश्नो यथा–तीर्थकराणां चतुर्दशसहस्राऽऽदिका साधुसंख्योक्ता, चतुर्दशपूर्व्यादयः किं तत्संख्यामध्ये गण्यन्ते, यदि वा ते भिन्नाः? इति प्रश्ने, उत्तरम्–तीर्थकराणां चतुर्दशपूर्व्यादयश्चतुर्दशसहस्राऽऽदिपरिवारसंख्यामध्ये गण्यन्ते, न वेति प्रश्नमाश्रित्य–

''गणहरकेवलिमणओ–हिपुव्विवेउव्विवाइणं संखं।
मुणिसंखाए सोहिअ, नेया सामन्नमुणिसंखा ॥१॥
एगुणवीस य लक्खा, तह छासीई हवंति सहसाइं।
इगवन्नाअहियाइं, सामन्नमुणीण सव्वग्गं'' ॥२॥

तथा–

अट्ठावीसं लक्खा, अडयालीसं च तह सहस्साइं।
सव्वेसिं पि जिणाणं, जईण माणं विणिद्दिट्ठं ॥३॥''

इति वचनयोरनुसारेण यथोक्तसंख्यामध्ये गण्यन्ते चतुर्दशपूर्व्यादय इति सम्भाव्यते।

तथा–

''पञ्चाशीतिसहस्राणि, लक्षं सार्द्धशतानि षट्।
परिवारेऽभवन् सर्वे, मुनयस्त्रिजगद् गुरोः ॥१॥''

एतदनुसारेण च श्रीऋषभदेवस्य चतुरशीतिसहस्रसंख्यातो भिन्ना एव ते इति। यतः सामान्यसाधुविशेषसाधुसंख्यामीलनेन यथोक्तसंख्या संभावनया पूर्यमाणाऽस्तीति। तत्त्वं तु सर्वविद्वेद्यमिति ॥ ७ प्र० ही०२ प्रका०।

सामायिकम्–

बावीसं तित्थयरा, सामाइयसंजमं उवइसंति।
छेओवट्ठावणिअं, वयंति उसभो अ वीरो अ ॥२०॥

द्वाविंशतिस्तीर्थकरा मध्यमाः सामायिकसंयमम् (उवइ) उपदिशन्ति। यदैव सामायिकमुच्चार्यते तदैव व्रतेषु स्थाप्यते। छेदोपस्थापनिकं पुनर्वदतः–ऋषभश्च, वीरश्च। एतदुक्तं भवति– प्रथम–तीर्थकरचरमतीर्थकरतीर्थे हि प्रव्रजितमात्रः सामायिकसंयतो भवति तावद्यावच्छस्त्रपरिज्ञाऽवगमः, एवं हि पूर्वमासीत्। अधुना तु षड् जीवनिकायावगमं यावत्, तया पुनः सूत्रतोऽर्थतश्चावगतया सम्यगपराधस्थानानि परिहरन्व्रतेषु स्थाप्यत इत्येवं निरतिचारः, साऽतिचारः पुनर्मूलस्थानं प्राप्त उपस्थाप्यत इति ॥२०॥ आव० ४ अ०। (विशेषस्तु 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे २३४ पृष्ठे गतः)

अथ सामायिकसंख्यामाह–

सव्वेहिँ चउसमइआ, सम्मसुयदेससव्वविरईहिं।
भणिया सागरकोडा–कोडीसेसेसु कम्मेसु ॥२८५॥

(भणिय त्ति) सर्वैर्जिनैः चत्वारि सामायिकानि भणितानि। ह्रस्वत्वपुंस्त्वनिर्देशस्तु प्राकृतत्वात्। तानि काभिरित्याह– (सम्मसुयदेससव्वविरईहि) सम्यक्त्वश्रुतदेशसर्वविरतिभिः–सम्यक्त्वसामायिकम्, श्रुतसामायिकम्, देशविरतिसामायिकम्, सर्वविरतिसामायिकं चेति। एतानि कदा भवन्तीत्याह–(सागरकोडाकोडीसेसेसु कम्मेसु) सागरकोटाकोटीशेषेषु कर्मसु, जीवानामित्याहार्य्यम्। ततश्चायं समुदायार्थः–जीवानामेककोटाकोटीस्थितिकेषु सप्तस्वपि कर्मसु, आयुषस्तु स्वभावत एककोटिकमध्यस्थितिकत्वात् चत्वारि सामायिकानि भवन्तीति सर्वैर्जिनैर्भणितमिति गाथार्थः ॥२८५॥ सत्त० १३२ द्वार। (अस्य स्वरूपं विशेषतः 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते)

(१२१) श्रावकव्रतसंख्या–

सट्ठाणं हिंसालिय–अदत्तमेहुणपरिग्गहणिवित्ती।
इय पण अणुव्वयाइं, साहूण महव्वया एए ॥२७५॥
दिसिविरई भोगुवभो–गमाण तहऽणत्थदंडविरई य।
समइय देसऽवगासिय, पोसह तिहिँ संविभागवया ॥२७६॥

प्रथमं श्राद्धानां सम्यक्त्वपूर्वकं हिंसाऽऽलीकादत्तामैथुनपरिग्रहाणां निवृत्तिः प्रत्याख्यानम् ५। (इय पण अणुव्वयाइं ति) एतानि पञ्चाणुव्रतानि, हिंसाऽऽदिभ्यो देशतो निवृत्तिरूपत्वात्। (साहूण महव्वया एए ति) एतानेव पञ्चापि साधूनां महाव्र–

तानि, हिंसाऽऽदिभ्यः सर्वतो निवृत्तिरूपत्वात्। इति गाथार्थः।।२७५।। अथ श्राद्धानां त्रीणि गुणव्रतान्याह–(दिसिविरई भोगु–वभो–गमाण तहऽणत्थदंडविरई य त्ति) दिग् विरतिः६, भोगोप–भोगमानं ७, तथाऽनर्थदण्डविरतिश्चेति८ त्रीणि गुणव्रतानि। अथ चत्वारि शिष्य-व्रतान्याह–(समइय देसऽवगासिअ पोसह तिहिँ संविभागवया) सामायिकम् ९, देशावकाशिकम् १०, पौषधः ११, अतिथिसंविभागः १२। एतानि व्रतानि गृहमेधिनां ज्ञेयानीति गाथार्थः ॥ २७६ ॥ सत्त० १२७ द्वार।

साधुव्रतसंख्या–

साहुगिहीण वयाइं, कमेण पण वार पढमचरिमाणं।
अन्नेसिं चउ बारस, चउत्थपंचमवएगत्ता ।।२७४।।

श्रीऋषभतीर्थे, श्रीवीरस्य तीर्थे च साधूनां पञ्च महाव्रतानि, श्राद्धानां द्वादश व्रतानि, (अन्नेसिं चउ बारस चउत्थपंचमवएगत्ता) अन्येषां द्वाविंशतिजिनानां तीर्थे चत्वारि व्रतानि साधूनां, श्राद्धानां द्वादश व्रतानि। कस्मात्? चतुर्थपञ्चमव्रतैकत्वात् चतुर्थपञ्चमव्रतयोरेकत्वाद् भेदात्, परिग्रहप्रत्याख्याने कृते स्त्रीप्रत्याख्यानं कृतमेव, स्त्रीणामपि परिग्रहरूपत्वात्, परिग्रहमन्तरेणाऽसंभवाच्च ॥ इति गाथार्थः ।।२७४।। सत्त० १२७ द्वार।

(१२२) अथ तीर्थकरमातुः चतुर्दश स्वप्नानाह–

गय वसह सीह अभिसे–य दाम ससि दिणयरं झयं कुंभं।
पउमसर सागर विमाण भवण रयणऽग्गि सुविणाइं ।।७०।।

गजः १, वृशभः २, सिंह ३, लक्ष्म्या अभिषेकः ४, (दाम ससि दिणयरं झयं कुंभं) पुष्पस्रक् ५, चन्द्र ६, दिनं करोतीति दिनकरः सूर्यः७,ध्वजः, ८ कुम्भः पूर्णकलशः ९, (पउमसरसागरविमाण) पद्मसरः १०, सागरः समुद्रः ११, विमानम् १२। (भवणरयणऽग्गि सुविणाइं ति) भवनम् १२, रत्नोपचयः १३, निर्धूमाग्निश्चेति १४ स्वप्ना ज्ञेयाः। इति गाथार्थः ।।७०।।

स्वप्नाकारणान्याह–

नरयउवट्टाण इहं, भवणं सग्गच्चुयाण उ विमाणं।
वीरुसहसेसजणणी, नियंसु ते हरिविसहगयाइँ ।।७१।।

नरकोद्वृतानां नरकादागतानां जिनानां जननी अत्र भवनं पश्यति, (सग्गच्चुआण उ विमाणं) स्वर्गाच्च्युतानां तु जननी स्वप्ने विमानं पश्यति। (वीरुसहसेसजणणी) जननीशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। वीरजननी १, ऋषभजननी २, शेषजिनानां च जनन्यः २२, (निअंसु ते हरिविसहगयाइं) ददृशुस्तान् स्वप्नान् सिंह १ वृषभ२ गजा२२दीन्–वीरजननी पूर्वं सिंहं ददर्श, ऋषभवेदस्य जननी पूर्वं वृषभं ददर्श, शेषजिनानां जनन्यः पूर्वं गजं ददृशुः। इति गाथार्थः ।।७१।।

दुनरयकप्पगिविज्जा, हरी अ निरमविमाणएहिँ जिणा।
पढमा चक्कि दुनरया, बला चउसुरेहिँ चक्किबला ।।७२।।

द्विनरकादागताः–द्वादशकल्पादागताः, ग्रैवेयकादागताश्च हरयो वासुदेवा भवन्तीति। (निरयविमाणएहिँ जिणा) प्रथमद्वितीयतृतीयनरकादागताश्च तीर्थङ्करा भवन्ति। प्रथमनरकादागताश्चक्रिणो भवन्ति। (दुनरया बला) द्विनरकादागताश्च बलदेवा भवन्ति। (चउसुरेहिँ चक्किबला) भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका–सुरेभ्यः समागताश्चक्रिबलभद्रा भवन्तीति गाथार्थः ।।७२।।

जिणचक्कीण य जणणी, नियंति चउदस गयाइँ वरसुविणे।
सगचउतिइगाइ हरी–बलपडिहरिमंडलियमाया ।।७३।।

(जिणचक्कीण य जणणि त्ति) जिनानां चक्रवर्तिनां च जनन्यः (नियंति चउदसगयाइ वरसुविणे) पश्यन्ति चतुर्दश गजाऽऽदीन् प्रधानस्वप्नान् (सगचउतिइगाइ हरी बलपडिहरिमंडलिअमाया) मातृशब्दस्य प्रत्येकं योगात् सप्त हरिमातरः, चतुरो बलदेवमातरः, त्रीन् प्रतिवासुदेवमातरः, एकाऽऽदीन् मण्डलिकमातरः, स्वप्नान् पश्यन्तीति गाथार्थः ।।७३।। सत्त० १८ द्वार।

स्वप्नविचारकाः–

पढमस्स पिया इंदा, सेसाणं जयण–सुविणसत्थविऊ।
अट्ठ वियारिंसु सुहे, सुविणे चउदस जणणिदिट्ठे ।।७४।।

प्रथमस्य ऋषभजिनस्य पिता, तथा इन्द्राः स्वप्नान् विचारयन्ति स्म। शेषजिनानां जनकाः, तथा स्वप्नशास्त्रविदो विप्राः, (अट्ठ वियारिंसु त्ति) प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोपाद् अर्थेन विचारयन्ति स्म। कान्? (सुहे सुविणे त्ति) शुभान् स्वप्नान् चतुर्दशसंख्याकान्। पुनः कथंभूतान् ? (जणणिदिट्ठे त्ति) जननिदृष्टान् मातृभिर्विलोकितान्। सत्त० १६ द्वार। ('वीर' शब्दोऽत्र विलोकनीयः)

शेषश्रुतप्रवृत्तिकालः–

....., सेससुअपवित्ति जा तित्थं ।।३२८।।

शेषं इति पूर्वव्यतिरिक्तः श्रुतप्रवृत्तिः यावत् यस्य तीर्थङ्करस्य तीर्थं तावत्कालं स्थास्यति। सत्त० १६३ द्वार।

तीर्थकरजीवानां नरके परमाधार्मिककृता पीडा भवति, न वेति? प्रश्ने, उत्तरम्–अत्राप्येकान्तो ज्ञातो नास्ति ।६प्र०।ही०३प्रका०।

(१२३) जंबुद्दीवे णं दीवे उक्कोसपए चोत्तीसं तित्थयरा समुप्पज्जंति।

(उक्कोसपए चोत्तीसं तित्थगरा समुप्पज्जंति त्ति) समुत्पद्यन्ते, सम्भवन्तीत्यर्थः; न त्वेकसमये जायन्ते, चतुर्णामेवैकदा जन्मसंभ–वात्। तथाहि–मेरौ पूर्वापरशिलातलयोर्द्वे द्वे सिंहासने भवतोऽतो द्वावेव द्वावेवाभिषिच्येते, अतो द्वयोर्द्वयोरेव जन्मेति। दक्षिणोत्तरयोः क्षेत्रयोस्त-दानीं दिवससद्भावान्न भरतैरावतयोर्जिनोत्पत्तिः, अर्द्धरात्र एव जिनोत्प-त्तेरिति। स० ३४ सम०।

भरतक्षेत्रेऽतीतोत्सर्पिण्यां जिनेश्वराः–

केवलनाणी निव्वाणि सागरो जिण महाजसो विमलो।
सव्वाणुभूइ सिरिहर, दत्तो दामोयर सुतेओ ।।२६०।।
सामिजिणो य सिवासी, सुमई सिवगइ जिणो य अत्थाहो।
नाह नमीसर अनिलो, जसोहरो जिण कयग्घो य ।।२६१।।
धम्मीसर सुद्धमई सिवकर जिण संदणो य संपइ य।
ऽतीउस्सप्पिणिभरहे, जिणेसरे नामओ वंदे ।।२६२।।

केवलज्ञानी, निर्वाणी, सागरो जिनो, महायशाः, विमलो, ना–थसुतेजाः। अन्ये सर्वानुभूतिमाहुः। श्रीधरो, दत्तः, दामोदरः, सुतेजाः, इति प्रथमगाथायां दश। स्वामिजिनः, चः समुच्चये। शिवासी। अन्ये मुनिसुव्रतमाहुः। सुमतिः १३, शिवगतिः १४, जिनः अस्ताघः१५, नाथः नमीश्वरः, अनिलो, यशोधरो जिनः, कृतार्थश्च। द्वितीयगाथायामस्यां नव ॥ धर्मीश्वरः। केचिज्जिनेश्वरमाहुः। शुद्धमतिः, शिवकरजिनः, स्यन्दनश्च, साम्प्रतिजिनश्च। अतीतोत्सर्पिण्यां भारते जिनेश्वरानेता-त्रामतो वन्देऽमिति तृतीयगाथायां पञ्च जिनाः। प्रव० ७ द्वार।

ऐरवते तीर्थकराः–

जंबुद्दीवे दीवे एरवए वासे इमीसे ओसप्पिणीए चउव्वीसं तित्थगरा होत्था। तं जहा–

''चंदाणणं सुचंदं, अग्गीसेणं च नंदिसेणं च।
इसिदिण्णं वयहारिं, वंदामो सामचंदं च ॥६०॥
वंदामि जुत्तिसेणं, अजियसेणं तहेव सिवसेणं।
बुद्धं च देवसम्मं, सययं निक्खित्तसत्थं च ॥६१॥
अस्संजलं जिणवसहं, वंदे य अणंतयं अमियणाणिं।
उवसंतं च धुवरयं, वंदे खलु गुत्तिसेणं च ॥६२॥
अतिपासं च सुपासं, देवेसरवंदियं च मरुदेवं।
निव्वाणगयं च धरं, खीणदुहं सामकोट्ठं च ॥६३॥
जियरागमग्गिसेणं, वंदे खीणरयमग्गिउत्तं च।
वोक्कसियपिज्जदोसं, वारिसेणं गयं सिद्धं ॥६४॥''

जम्बूद्वीपैरवते अस्यामवसर्प्पिण्यां चतुर्विंशतिस्तीर्थकरा अभूवन्, तांश्च स्तुतिद्वारेणाऽऽह। तद्यथा–(चंदाणणं सुचंदं, अग्गीसेणं च नंदिसेणं च) क्वचिदात्मसेनोऽप्ययं दृश्यते ऋषिदिन्नं, व्रतधारिणं च वन्दामहे श्यामचन्द्रं च ॥६०॥ वन्दे युक्तिसेनं, क्वचिदयं दीर्घबाहुर्दीर्घसेनो वोच्यते। अजितसेनं, क्वचिदयं शताऽऽयुरुच्यते। तथैव शिवसेनं, क्वचिदयं सत्यसेनोऽभिधीयते, सत्यकिश्चेति। बुद्धं चावगततत्त्वं च देवशर्माणं देवसेनापरनामकं, सततं सदा, वन्दे इति प्रकृतम्। निक्षिप्तशस्त्रं च, नामान्तरतः श्रेयांसम् ।६१। (अस्संजलं ति) असंज्वलं जिनवृषभं, पाठान्तरेणस्वयंजलं, वन्दे अनन्त–जिनममितज्ञानिनं, सर्वज्ञमित्यर्थः। नामान्तरेणाऽयं सिंहसेन इति। उपशान्तं च उपशान्तसंज्ञं, धूतरजसं वन्दे खलु गुप्तिसेनं च ॥६२॥ (अइपासं ति) अतिपार्श्वं च सुपार्श्वं देवेश्वरवन्दितं च मरुदेवं निर्वाणगतं च धरं धरसंज्ञं, क्षीणदुःख श्यामकोष्ठम् ।६३। (जिय त्ति) जितराग-मग्निषेणं, महासेनापरनामकं वन्दे क्षीणरजसमग्नि–पुत्रं च, व्यवकृष्टप्रेमद्वेषं च वारिषेणं, गतं सिद्धमिति। स्थानान्तरे किञ्चिदन्यथाऽप्यानुपूर्वी नाम्नामुपलभ्यते। स०।

(भविष्यत्तीर्थकरा अस्मिन्नेव शब्दे २२७१ पृष्ठे व्याख्याताः)

अथ तेषां पूर्वभवानाह–

एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं पुव्वभविया चउव्वीसं नामधेज्जा भविस्संति। तं जहा–

''सेणिय सुपास उदए, पोट्टिल्ल अणगार तह दडाऊ य।
कत्तिय संखेय तहा, नंद सुनंदे य सतए य ॥१॥
बोधव्वा देवई य, सचइ तह वासुदेव बलदेवे।
रोहिणि सुलसा चेवं, तत्तो खलु रेवई चेव ॥२॥
तत्तो हवइ सयाली, बोधव्वे खलु तहा भयाली य।
दीवायणे य कण्हे, तत्तो खलु नारए चेव ॥३॥
अंबड दारुमडे वा, साई बुद्धे य होइ बोधव्वे।
भावीतित्थगराणं, णामाइं पुव्वभवियाइं'' ॥४॥

एतेषां यावत् संख्याकं यद्भविष्यति तदाह–

एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं पियरो मायरो भविस्संति। चउव्वीसं पढमसीसा भविस्संति। चउव्वीसं पढमसिस्सणीओ भविस्संति। चउव्वीसं पढमभिक्खादायगा भविस्संति। चउव्वीसं चेइयरुक्खा भविस्संति। स०।

ऐरवतवर्षभाविनस्तीर्थकराः–

जंबुद्दीवे एरवए वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए चउव्वीसं तित्थगरा भविस्संति। तं जहा–

''सुमंगले अ सिद्धत्थे, णिव्वाणे य महाजसे।
धम्मज्झए य अरहा, आगमिस्सेण होक्खइ ॥१॥
सिरिचंदे पुप्फकेऊ, महाचंदे य केवली।
सुयसागरे य अरहा, आगमिस्सेण होक्खइ ॥२॥
सिद्धत्थे पुण्णघोसे य, महाघोसे य केवली।
सच्चसेणे य अरहा, आगमिस्सेण होक्खइ ॥३॥
सूरसेणे य अरहा, महासेणे य केवली।
सव्वाणंदे य अरहा, देवउत्ते य होक्खइ ॥४॥
सुपासे सुव्वए अरिहा, अरहे य सुकोसले।
अरहा अणंतविजए, आगमिस्सेण होक्खइ ॥५॥
विमले उत्तरे अरहा, अरहा य महाबले।
देवाणंदे य अरहा, आगमिस्सेण होक्खइ ॥६॥
एए वुत्ता चउव्वीसं, एरवयम्मि केवली।
आगमिस्सेण होक्खंति, धम्मतित्थस्स देसगा'' ॥७॥ स०।

(तीर्थकृतां जन्मभूम्यादौ गमनफलं 'दंसणभावणा' शब्दे वक्ष्यते) (तीर्थकृताशातना 'आसावणा' शब्दे द्वितीयभागे ४८० पृष्ठे निरूपिता) (केवलज्ञानेन ज्ञात्वा स्वयमेव तीर्थं करोतीति 'उवहासुय' शब्दे द्वितीयभागे १०५६ पृष्ठे उक्तम्)

(१२४) तीर्थकरा यद्यपि कृतकृत्याः, तथापि तपःकर्म, उपधा–

नश्रुतमुपसर्गसहनं च कुर्वन्ति–

जो जइया तित्थयरो, सो तइया अप्पणम्मि तित्थम्मि।
वण्णेइ तवोकम्मं, उवहाणसुयम्मि अज्झयणे ॥९३॥
सव्वेसिँ तवोकम्मं, नीरुवसग्गं तु वण्णियं जिणाणं।
नवरं तु बद्धमाणस्स सोवसग्गं मुणेयव्वं ॥९४॥
तित्थगरो चउनाणी, सुरमहिओ सिज्झियव्वयँ धुवम्मि।
अणगूहियबलविरिओ, तवोविहाणम्मि उज्जमइ ॥९५॥
किं पुण अवसेसेहिं, दुक्खक्खयकारणेसु विहिएहिं।
होइ परक्कमियव्वं, सपच्चवायम्मि माणुस्से ॥९६॥
आचा०नि०१ श्रु०९ अ०१ उ०।

सर्वेषां तीर्थकृतां सदृशानि सूत्राणि–

अत्र शिष्यः प्राऽऽह–

निक्खेवा य निरुत्ता–णि जा य कहणा भवे पगासस्स।
जह रिसभाईयाऽऽहं–सु किमेवं बद्धमाणो वि? ॥२०५॥

ये निक्षेपाश्चतुष्कसमकाऽऽदयो, यानि च निरुक्तानि सूत्रार्थदो–

रनन्तरमुक्तानि, या च चतुर्भिरनुयोगद्वारैः प्रकाशस्यार्थस्य कथना, चशब्दादेकार्थिकानामपि या कथना । एतानि यथा ऋषभाऽऽदय-स्त्रयोविंशतितस्तीर्थकरा आख्यातवन्तः, तथा किमेवं भगवान् वर्द्धमान-स्वाम्यप्याख्याति, किं वाऽन्यथेति? उच्यते–तथैव।

ननु ते उच्चतराः, भगवान् वर्द्धमानस्वामी पुनः सप्तरत्निप्रमाणः, ततः कथं तथैवाऽऽख्यानम् ? अत आह–

धिइसंघयणे तुल्ला, केवलभावे य विसमदेहा वि ।
केवलनाणं तं चिय, पण्णवणिज्जा य चरमे वि ॥२०६॥

यथा विषमदेहा अपि तीर्थकृतः धृतिसंहनने केवलभावे च तुल्याः, तथा प्ररूपणायामपि तुल्याः। यतश्चरमेऽपि भगवति वर्द्धमानज्ञस्वामिनि तदेव केवलज्ञानं, त एव च प्रज्ञापनीया भावाः, ये ऋषभाऽऽदीनां, ततः कथं न तुल्या प्ररूपणा?

तत्र यो विशेषस्तमुपदर्शयति–

णायऽज्झयणाऽऽहरणा, इसिभासियमो पइन्नगसुया य ।
एए हुंति अणियया, नियया पुण सेसमुप्पण्णं ॥२०७॥

ज्ञाताध्ययनेषु यान्याहरणानि दृष्टान्ताः, ते हि केचित्त एव भवेयुर्ये ऋषभाऽऽदिभिरुपन्यस्ताः, केचिदन्यथा, ये प्रत्युत्पन्ना इति। तथा यानि ऋषिभाषितानि, प्रकीर्णकश्रुतानि च, एतान्यनियतानि–कदाचिद् भवन्ति, कदाचिन्न भवन्ति । यानि च भवन्ति तान्यपि कदाचित्तथार्थ-युक्तानि, कदाचिदन्यथाऽर्थोपेतानि। शेषं पुनरुत्पन्नं प्रायेण नियतम्।

आह–कः पुनरत्र दृष्टान्तः, यथा वर्द्धमानस्वाम्यपि तथैवाऽऽख्या-तीति? दृष्टान्तमाह–

जह सव्वजणवएसुं, एक्कं चिय सगडवत्तिणिपमाणं ।
विसमाणि य वत्थूणी, सगडाईणं तह णिरुत्ता ॥२०८॥

यथा शकटाऽऽदीनाम्, आदिशब्दाद् गन्त्र्यादिपरिग्रहः । यद्यपि विषमाणि वस्तूनि केषाञ्चिन्महान्ति, केषाञ्चित् क्षुल्लकानि, तथाऽपि सर्वेष्वपि जनपदेषु एकमेव तदा शकटवर्तिन्याः प्रमाणं, सर्वत्राक्षाणां चतुर्हस्तप्रमाणत्वात्। तथा निरुक्तानि, उपलक्षणमेतत्, निक्षेपाऽऽदीनि च प्ररूपणामधिकृत्य तुल्यानि।

आह–नन्ववश्यं पूर्वरथानां, संप्रतिरथानां च विस्तरस्यास्ति विशेष एव, महाप्रमाणानां पूर्वमनुष्याणामल्पप्रमाणानामधुना–तनमनुष्याणां विशेषो भवति।

तत आह–

जइ वि य वत्थू हीणा, पुव्विल्लरहेहिँ संपयरहाणं ।
तह वि जुगम्मि जुगम्मी, सहत्थचउहत्थगा अक्खा ॥२०९॥

यद्यपि पूर्वतनरथेभ्यः साम्प्रतरथानां वस्तूनि हीनानि, तथा–ऽपि युगे युगे सर्वत्राऽऽत्महस्तेन चतुर्हस्तका अक्षाः, ततः सर्वेष्वपि जनपदेष्वेकं शकटवर्तिन्याः प्रमाणम्। तथा यद्यपि पूर्वकाले महा–प्रमाणा मनुष्याः, संप्रतिकाले त्वल्पप्रमाणाः, तथाऽपि सर्वेषां तदेव केवलज्ञानं, तदेव संहननं, त एव च प्रज्ञापनीया भावा इति तुल्या प्ररूपणा।

ननु पञ्चधनुःशतिकप्रभृतीनां महान्तीन्द्रियाणि, तेन तेषां प्रभूत-तरक्षेत्रे विषयोपलम्भविशेषोऽपि स्यात्।

अत आह–

पुरिमेहिँ जइवि हीणा, इंदियमाणाउ संपयनराणं ।
तह वि य सिं उवलद्धी, खित्तविभागेण तुल्ला उ ॥२१०॥

पूर्वेभ्यः पूर्वकालभाविभ्यः पुरुषेभ्यो यद्यपि साम्प्रतनराणां सम्प्र-तिमनुष्याणामिन्द्रियमानानि हीनानि, तथाप्यात्माङ्गुलमधिकृत्य क्षेत्रविभागे तेषां तुल्या उपलब्धिः । तथाहि–श्रोत्राऽऽदीन्द्रियप्रमा-णश्रोत्राऽऽदीन्द्रियविषयप्रमाणं चात्माङ्गुलतः, तच्च यथा पूर्वमनुष्याणां द्वादशयोजनाऽऽदिकं क्षेत्रप्रमाणम्, तथाऽधुनातनमनुष्याणामपि। तथा चोक्तम्–''सोइंदियस्स णं भंते ! केवइए विसए पन्नत्ते? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखिज्जइभागाओ, उक्कोसेणं बारसेहिंतो जोयणेहिं ।'' इत्यादि। एवं हीनाधिकशरीरप्रमाणत्वेऽपि केवलेनोपलम्भस्तुल्य एवेति न कश्चिद्दोषः। अन्यच्च –शरीराऽऽश्रितानीन्द्रियाणि, ततः शरीरप्रमाण-विषये, तदाश्रितानामिन्द्रियाणामपि प्रमाणविशेषभावात्तद्विषय-क्षेत्रोपलम्भविशेषः। बृ०१ उ०।

(१२५) प्रकीर्णकवार्ताः–

तित्थयरे भगवंते, अणुत्तरपरक्कमे अमियनाणी ।
तिन्ने सुगइगइगए, सिद्धिपहपदेसए वंदे ॥१०२५॥

तीर्थकरान् भगवतोऽनुत्तरपराक्रमानमितज्ञानिनस्तीर्णान् सुग-तिगतिगतान् सिद्धिपथप्रदेशकान् वन्दे । (आ०म०) ननु तीर्थ-करानित्यनेनैव भगवत इति गतं, तीर्थकृतामुत्कृष्टलक्षणभङ्गाव्यभि-धारात्, ततः किमनेन विशेषणेन? तदयुक्तम् । अस्य नयमता-न्तरावलम्बिपरिकल्पितबुद्धाऽऽदितीर्थकरतिरस्कारपरत्वात् । तथाहि– *न ते बुद्धाऽऽदयः स्वस्वदर्शनरूपतीर्थकारिणोऽपि तत्त्ववृत्त्या भगवन्तः*, यथोक्तसमग्रैश्वर्याऽऽदिगुणकलापायोगा-दिति । (आ०म०) ननु येऽनुत्तरपराक्रमास्तेऽमितज्ञानिन एव, क्रोधाऽऽदिपरिक्षयोत्तरकालम-वश्यममितज्ञानस्य भावात्। सत्यमेतत्। केवलं ये क्लेशक्षयेऽप्यमितज्ञानं नाभ्युपगच्छन्ति। तथा च तद् ग्रन्थः–''सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु । कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ? ॥१॥'' इत्यादि । तन्म–तव्यवच्छेदफलमिदं विशेषणमित्यदोषः । तद्व्यवच्छेदश्चैवम्– सर्वभावपरिज्ञानाभावे तत्त्ववृत्त्यैकस्याऽपि वस्तुनः परिज्ञानायोगात्, सर्वस्याऽपि यथायोगमनुवृत्तव्यावृत्तधर्मतया सर्वैः सह सव्यपेक्षत्वात् । आह च– ''एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः । सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥१॥'' आचाराङ्गेऽप्युक्तम्– ''जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ । जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ।'' इति । अथवा–ये स्वसिद्धान्ते छद्मस्थवीतरागास्ते अनुत्तरपराक्रमा भवन्ति, कषायाऽऽदिशत्रूणामा-क्रमणात्, न त्वमितज्ञानिनः, केवलज्ञानाभावात् । ततस्तद्व्यवच्छे-दार्थमिदं विशेषणमिति। (आ०म०) अनेन ये प्राप्ताऽणिमाऽऽद्यष्टविधैश्वर्यं स्वेच्छाविलसनशीलं पुरुषं तीर्णं प्रतिपादयन्ति । तथा च तद् ग्रन्थः– ''अणिमाऽऽद्यष्टविधं प्राप्यैश्वर्यं कृतिनः सदा । मोदन्ते सर्वभाव-ज्ञास्तीर्णाः परमदुस्तरम् ॥१॥'' इत्यादि। तद्व्यवच्छेदमाह। (आ०म०) सिद्धिपथप्रदेशकान्, अनेनानेकभव्यसत्त्वोपकारितीर्थकरनाम-कर्मविपाकोदयसमन्वितं भगवतां स्वरूपमाह। आ०म०१ अ०१ खण्ड।

प्रश्नोत्तराणि–

तीर्थकरा एकस्मिन् समये कति सिद्ध्यन्ति? इति प्रश्ने, उत्तरम् एकस्मिन्समये उत्कर्षतः चत्वारस्तीर्थकराः सिद्ध्यन्तीति सिद्धप्रा-भृतिकाऽऽदावुक्तमस्तीति ।८६। प्र०। सेन०१उल्ला०। यथाऽत्र भरते श्रीवीरजन्मर्क्षं भरमग्रहः, तथाऽन्यक्षेत्रे तीर्थकृतां जन्मर्क्षं

स आगतोऽस्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–दशस्वपि क्षेत्रेषु तीर्थकृतां च्यवनाऽऽदीनि कल्याणकान्येकस्मिन्नेव नक्षत्रे भवन्तीत्यागमोक्तत्वाद्भस्मग्रहाऽऽदिसंक्रमणं सर्वं समानमेवेति।६३। प्र०। सेन० २ उल्ला०। ''वीरस्यायंगुलं दुगुणं ति'' कथं सर्वे जिनाः विंशत्य–धिकशताङ्गुलाः कथिताः, प्रमाणाङ् गुलस्य पञ्चाशद्भागसत्कैकविंशतिभागदेहमानं वीरस्य कथितमस्ति, तेन चोत्सेधाङ्गुलैकशताष्टषष्टिमानं जायते, विंशतिशतद्विगुणीकरणे चत्वारिंशदधिकद्विशताङ्गुलानि स्युः, सार्द्धत्रयहस्तमाने तु पाश्चात्यमानं विसंवदतीति प्रश्ने, उत्तरम्–''वीरस्सायंगुलं दुगुणं'' इत्येतद्गाथावृत्तौ मतत्रयमस्ति, तत्रानुयोगद्वारचूर्ण्यभिप्रायेण श्रीवीर आत्माङ्गुलेन चतुरशीत्यङ्गुलप्रमाणश्चतुरशीतिद्विगुणीकरणेऽष्टषष्ट्यधिकशतमुत्सेधाङ्गुलानां भवतीति न किञ्चिदनुपपन्नम्, एतदा–श्रित्य विस्तरस्तु संग्रहणीवृत्तावस्ति। ११५ प्र०। सेन०२ उल्ला०। तीर्थकृतां त्रयोदशाऽऽदिभवाः प्रथमसम्यक्त्वलाभापेक्षयाऽप्रतिपत्तिसम्यक्त्वलाभपेक्षया वा, प्रसिद्धमहद्भवापेक्षया वा, किं वा प्रकारान्तरेणेति प्रश्ने, उत्तरम्– आवश्यकाऽऽद्यभिप्रायेण श्रीऋषभाऽऽदितीर्थकृतां त्रयोदशाऽऽदिभवाः प्रथमसम्यक्त्वलाभापेक्षया गण्यन्ते, न त्वन्यापेक्षयेति।१६५ प्र०। सेन० २ उल्ला०। सार्द्ध–द्वीपद्वये जघन्योत्कृष्टत एकस्मिन् समये तीर्थकृतां कत्यभिषेकाः? तथा तत्र कत्यरका भवन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–सार्द्धद्वीपद्वये जघन्यत एकसमये दश तीर्थकरा मेरुपञ्चके शक्रैरभिषिच्यन्ते, उत्कृष्टतस्तु विंशतिः, तथा तत्र जघन्यतश्चत्वारोऽरकाः, उत्कृष्टतस्तु पञ्च भवन्तीति ज्ञायते। ६५ प्र०। सेन०३ उल्ला०। तीर्थकृज्जननी चतुर्दश स्वप्नान् स्फुटान्, चक्रवर्तिजननी त्वस्फुटान् इत्यक्षराणि सन्ति, प्रघोषो वेति प्रश्ने, उत्तरम्–चक्रवर्तिमाताऽस्फुटान् पश्यति। तदुक्तम्–''चतुर्दशाप्यमून् स्वप्नान्, साऽपश्यत् किञ्चिदस्फुटान्। सा प्रभोः प्रमदा सूते, नन्दनं चक्रवर्तिनम् ॥१॥''इति वासुपूज्य–चरित्रे।१०५ प्र०। सेन० ३उल्ला०। जनन्या द्विश्चतुर्दशस्वप्ना दृष्टाः, उक्त एकवारम् ? इति प्रश्ने, उत्तरम्–शान्तिनाथजनन्या द्विश्चतुर्दश स्वप्ना दृष्टाः। यदुक्तं शत्रुञ्जयमाहात्म्येऽष्टमपर्वणि ''द्विः स्वप्नदर्शनादर्हच्चक्रिजन्मसुनिश्चया। रत्नगर्भेव सा गर्भे, बभार शुभदोहदा ॥७६॥'' इति। एवमन्यत्रापीति। १०७प्र०। सेन०३ उल्ला०। भरतैरवततीर्थकृद्व्यतिरिक्तानां तीर्थकृतां कीदृग् वर्ण–विभागः? इति प्रश्ने, उत्तरम्–पञ्चवर्णान्यतरवर्णरूपो वर्णविभागो ज्ञेयाऽत्रापि पूर्वोक्त एव हेतुरिति। ३५० प्र०। सेन० ३ उल्ला०। बलदेवकर्णद्वैपायनशङ्खाऽऽद्याख्या आगमिष्यच्चतुर्विंशतौ तीर्थकृतो भविष्यन्ति, ते किं नवमराम१ कौन्तेय २ द्वारकादाहकाः ३ श्रीवीरप्रथमश्रावका एव? अथवा किमन्ये वेति प्रश्ने, उत्तरम्–शङ्खः श्रीवीरप्रथमश्रावकादन्यस्तीर्थकृत् श्रीस्थानाङ्गवृत्तावुक्तोऽस्ति। द्वैपायनो द्वारिकादाहकोऽन्यो वेति निर्णयः केवलिगम्यः। कृष्ण–भ्राता बलदेव आवश्यकनिर्युक्त्यादावागमिष्यच्चतुर्विंशतिकायां कृष्णतीर्थसेत्स्यत्युक्तोऽस्ति, तेन बलदेवः कश्चिन्नामान्तरेणावगन्तव्यः। कर्णस्थाने तु शास्त्रे कृष्णः प्रोक्तोऽस्ति, सोऽपि नामान्तरेण बोध्योऽत एव शास्त्रान्तरैः सह विसंवादं संभाव्य प्रवचनसारोद्धारवृत्तिकारेणाऽपि द्वित्रा एव भावितीर्थकृज्जीवा व्यक्ता विवृताः सन्ति, न शेषा इति। ३६० प्र०। सेन० ३ उल्ला०। समवसरणस्थस्य तीर्थङ्करस्य श्राद्धा यतयश्च कथं वन्दन्ते? इति प्रश्ने, उत्तरम्–समवसरणस्थस्य तीर्थकृतः श्राद्धा यतयश्च वन्दित्वा यथास्थाने निषीदन्तीति हारिभद्र्यां, परं तद्वन्दनरीतिः क्वापि लिखिता नास्ति, तस्मादाधुनिकवन्दनरीतिरेव संभाव्यत इति। ४३६ प्र०। सेन०३ उल्ला०। तीर्थकृतां जन्मभवनानन्तरं देवाः कियत्प्रमाणां रत्नाऽऽदिवृष्टिं कुर्वन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–''उसभे णं अरहा कोसलिए०जाव चिट्ठइ, ततो वेसमणो सक्कवयणेणं बत्तीसं हिरण्णकोडीओ, बत्तीसं नंदासणाइं, बत्तीसं भद्दासणाइं भगवतो तित्थगरस्स जम्मणभवणम्मि साहरइ।'' इत्यावश्यकबृहद् वृत्ति ७६ पत्रे, एतदनुसारेण, तथा–

''कुण्डले क्षौमयुग्मं चोच्छीर्षे मुक्त्वा हरिर्व्यधात्।
श्रीदामरत्नदामाढ्यमूल्लोचे स्वर्णकन्दुकम् ॥४२॥
द्वात्रिंशदुत्तरे रूप्य–कोटिवृष्टिं विरच्य सः।
वाढमाघोषयामासेति सुरैराभियोगिकैः ॥४३॥''

इतिकल्पकिरणावल्यनुसारेण च,तीर्थकृतां जन्मभवनानन्तरं देवविहिता वृष्टिः द्वात्रिंशद्धिरण्यकोटिप्रमाणा भवतीति।४४४ प्र०। सेन० ३उल्ला०।

'तित्थयर' शब्दस्थविषयसूची–

(१) तीर्थकरशब्दसिद्धिः।
(२) तीर्थकृतां तीर्थकरणशीलत्वम्।
(३) तीर्थकृतामचेलत्वेऽपि संयमविराधनाऽऽदयो दोषा न भवन्तीति निरूपणम्।
(४) तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकमुनिसंख्या।
(५) ये तीर्थकरेषु अष्टादश दोषा न भवन्ति तेषां प्ररूपणम्।
(६) तीर्थकराणामभिग्रहाः।
(७) अङ्गोपाङ्गाऽऽदिष्वबद्धा अपि ये आदेशपदाभिधेयाः पदार्था ज्ञानिभिः प्रकाशिताः तेषां सङ्ख्यानिरूपणा।
(८) तीर्थकराणां तीर्थे षडावश्यकं यस्मिन् समये क्रियते तन्निरूपणम्।
(९) तीर्थकरा यादृशमाहारं कुर्वन्ति तन्निरूपणम्।
(१०) तीर्थकृज्जन्मावसरे शक्रस्याऽऽसनचलनानन्तरमवधिना तीर्थकरजन्मावबुध्य हरिनैगमेष्याज्ञाप्रतिपादनम्।
(११) आदेशानन्तरं हरिनैगमेषी यत्कृतवान् तद्वर्णनम्।
(१२) हरिनैगमेषिकृतघण्टानादेन यदभूत्तन्निरूपणम्।
(१३) ततश्च घण्टानादतो यद् प्रवृत्तं तत्प्रतिपादनम्।
(१४) सौधर्मे कल्पे पदातिपतिकर्तव्यनिरूपणम्। (देवानां चिन्तनम्)
(१५) सौधर्मे शक्राऽऽदेशानन्तरं यज्ञातं तन्निरूपणम्।
(१६) इन्द्रो यत् पालकमादिष्टवान् तदुक्तिवर्णनम्।
(१७) तदनु यदनुतिष्ठति स्म पालकस्तन्निरूपणम्।
(१८) तत्कृतप्रेक्षागृहमण्डपवर्णनम्।
(१९) मण्डपमणिपीठिकावर्णनम्।
(२०) आस्थाननिवेशनप्रक्रियाप्रतिपादनम्।
(२१) तदनन्तरं शक्रक्रियाप्ररूपणम्।
(२२) सामानिकाऽऽदिभिरास्थानस्य पूर्तेः प्ररूपणम्।
(२३) प्रतिष्ठासोः शक्रस्य पुरः प्रस्थायिनां क्रमवर्णनम्।
(२४) ततो यदकार्षीत् शक्रस्तन्निरूपणम्।
(२५) मेरुगमनवर्णनम्।

(२६) तत ईशानेन्द्राऽऽगमनावसरः।
(२७) चमरबलिधरणभवनवासिवाणमन्तरज्योतिष्काऽऽदीनामागमननिरूपणम्।
(२८) ततोऽच्युतेन्द्रोयदकार्षीत्तन्निरूपणम्।
(२९) तत्रेन्द्राऽऽदयो यत्कुर्वन्ति तत्प्रतिपादनम्, ततस्तत्रैवाभिषेकनिगमनपूर्वकमाशीर्वादकरणम्।
(३०) अवशिष्टानामिन्द्राणां वक्तव्यता।
(३१) तत्रावशिष्टशक्रकृताभिषेकावसरः।
(३२) ततः कृतकृत्येन शक्रेण भगवतो जन्मपुरप्रापणम्।
(३३) वैश्रवणद्वारा शक्रकृत्यप्ररूपणम्।
(३४) अस्मासु स्वस्थानं प्राप्तेषु भगवति मा दुर्दृष्टिं केऽपि निक्षि--पन्त्विति शक्राऽऽज्ञोद्घोषणा।
(३५) अष्टाह्निकामहोत्सवः।
(३६) भवनपत्यादीनामिन्द्रसंख्याप्रतिपादनम्।
(३७) तीर्थकरकृतोपदेशं प्ररूप्य ये धर्मोपायस्य देशकास्तेषां प्ररूपणम्।
(३८) तीर्थकरप्रसङ्गात् साधूनां द्वादशोपकरणसंख्यायाः, साध्वीनां पञ्चविंशत्युपकरणसंख्यायाश्च व्यावर्णनम्।
(३९) श्रीपार्श्ववीरतीर्थकरयोरुपसर्गप्ररूपणम्।
(४०) उत्सेधाङ्गुलेनाऽऽत्माङ्गुलेन च जिनानां देहमानम्।
(४१) चतुर्विंशतिजिनानामवधिज्ञानिमुनिसंख्यावर्णनम्।
(४२) तीर्थकृतां कल्पशोधिः।
(४३) तीर्थकृद्भिः कर्मव्यावर्णनं, तैरपि कर्मवेदनं च।
(४४) जिनानां कुमारवासकालमानम्।
(४५) केवलोत्पत्तिस्थानानि।
(४६) जिनानां केवलोत्पादकं तपः।
(४७) तीर्थकृता केवलोत्पत्तिमासतिथीनां प्ररूपणम्।
(४८) यस्य वृक्षस्याधो यस्य तीर्थकृतः केवलज्ञानमुत्पन्नं तन्निरूप्य केवलवृक्षप्रमाणनिरूपणम्। तत्राऽपि चैत्यतरूणां विशेषतः प्रमाणकथनम्।
(४९) यस्मिन् वने यस्य केवलज्ञानमुत्पन्नं तन्नामनिर्देशः।
(५०) यस्यां वेलायां केवलज्ञानमुत्पन्नं तन्निरूपणम्।
(५१) जिनानां गृहस्थकाल--केवलिकालमानं निरूप्य श्रामण्यपर्यायात् छद्मस्थपर्यायापगमे केवलिपर्यायः स्वयमेव ज्ञेय इति श्रामण्यपर्यायनिरूपणम्। तथा तीर्थकृतां केवलिमानविमर्शः।
(५२) तीर्थकृद् गणसंख्याप्रतिपादनम्।
(५३) तीर्थकृतां गणधराणां संख्याप्ररूपणम्।
(५४) जिनानां गर्भस्थितिमानम्।
(५५) गृहवासे यावन्ति ज्ञानानि तीर्थकृतां भवन्ति तन्निरूपणम्।
(५६) तीर्थकरगोत्राणां, तीर्थकरवंशानां च वर्णनम्।
(५७) तीर्थकृतां चतुर्दशपूर्विणः।
(५८) श्रावकसंख्या चतुर्विंशतितीर्थकृताम्।
(५९) जिनानां चक्रित्वकालः।
(६०) जिनानां सामायिकाऽऽदिचारित्रस्य प्रतिपादनम्।
(६१) च्यवननक्षत्रमृषभाऽऽदिजिनानाम्।
(६२) च्यवनकल्याणकतिथयश्च्यवनमासाश्च।
(६३) ऋषभाऽऽदीनां क्रमतश्चयुतिराशयः।
(६४) जिनानां च्यवनवेला।
(६५) सर्वजिनानां छद्मस्थकालमानम्।
(६६) तीर्थकृतां छद्मस्थतपोमानम्।
(६७) तीर्थकरयक्षाणां नामानि।
(६८) तीर्थकरदेवीनां नामानि।
(६९) तीर्थकरजन्मनगर्यः।
(७०) तीर्थकरजन्मदेशाः।
(७१) तीर्थकरजन्ममासाऽऽदिप्ररूपणम्।
(७२) तीर्थकरजन्मारकप्ररूपणानन्तरं जन्मारकाणां शेषकालविचारः।
(७३) तीर्थप्रसिद्धजिनजीवप्रतिपादनम्।
(७४) भविष्यत्तीर्थकरवर्णनम्।
(७५) युगान्तकृद् भूमिप्ररूपणम्।
(७६) तीर्थकृतां स्थितिकल्पः।
(७७) सर्वेषां जिनानां शासने तत्त्वसंख्या।
(७८) तीर्थप्रवृत्तिकालप्रतिपादनम्।
(७९) तीर्थकरकल्याणकतपोविधानम्।
(८०) तीर्थकरणप्रयोजनवर्णनम्।
(८१) तीर्थोच्छेदकालः।
(८२) तीर्थकरप्रसङ्गात् द्वादशचक्रिनववासुदेवनवबलदेवनामानि, त्रिषष्टिशलाकापुरुषमानम्, प्रतिवासुदेवनामानि, यस्य तीर्थे ये चक्रिवासुदेवबलदेवा जातास्तेषां च निरूपणम्।
(८३) वर्तमानकालीनचतुर्विंशतितीर्थकरनामानि, बलदेववासुदेवपितृमातृनामानि, दशारमण्डलानि, वासुदेवबलदेवानां पूर्वभवनामानि, तेषां पूर्वभवधर्माऽऽचार्यनामानि, तन्निदानभूमयः, तन्निदानकारणानि, तेषां प्रतिशत्रुनामानि, तेषां मध्ये ये यत्र यान्ति तन्निरूपणम्।
(८४) तीर्थोत्पत्तिप्ररूपणम्।
(८५) तीर्थकराणां निर्गमनकालस्य प्रतिपादनम्।
(८६) दर्शननामनिरूपणानन्तरं यस्य तीर्थकरस्य समये यद् दर्शनमुत्पन्नं तन्निरूपणम्।
(८७) ऋषभाऽऽदितीर्थकृतां व्रतपर्यायः, दीक्षातरूणां च नामप्रतिपादनम्।
(८८) यस्तीर्थकरो येन तपसा निष्क्रान्तस्तदभिधानम्।
(८९) यावत्परिवारेण भगवन्तो दीक्षामशिश्रियन्, तन्निरूपणम्।
(९०) तीर्थकृतां दीक्षापुरम्, दीक्षासमये मनःपर्यवज्ञानोत्पत्तेः प्ररूपणम्।
(९१) तीर्थकराणां दीक्षामासपक्षतिथिप्रतिपादनम्, दीक्षालिङ्गम्, दीक्षासमये लोचमुष्टिः, दीक्षावनानि, यस्मिन् वयसि ते निष्क्रान्तास्तन्निरूपणं च।
(९२) दीक्षाशिविकाऽऽदिप्रतिपादनम्।
(९३) षट्पञ्चाशद् दिक्कुमारीनामानि, तासां करणीयनिरूपणं च।
(९४) देवदूष्यप्ररूपणम्, देवदूष्यवस्त्रस्थितिमानाऽऽदिनिर्देशः।
(९५) प्रसङ्गतस्तीर्थकरप्रतिपादितत्वेन धर्मभेदप्ररूपणं, तथौचित्यात्याष्टकं च।
(९६) चतुर्विंशतिजिननामसामान्यार्थस्तद् विशेषार्थश्च।
(९७) तीर्थकृतां पञ्चकल्याणके नक्षत्रैक्यप्ररूपणम्।

(९८) तीर्थकृतां केवलज्ञानानन्तरं मुनीनां मोक्षगमनमानम्, प्रतिक्रमण-संख्या, प्रथमगणधरनामानि, प्रथमप्रवर्तिन्यः, प्रथमश्रावकाः, प्रथमश्राविकाः, प्रत्येकबुद्धमुनिसंख्या, तीर्थकृतां प्रमादविचारः, तीर्थकृतां परीषहसहनविमर्शश्च।

(९९) जिनानामष्टमहाप्रातिहार्याणि।

(१००) जिनानां प्रथमपारणदायकनामानि, तेषां गतिश्च, पारणदाय-कार्थं देवकृतदिव्यपञ्चकनामानि, तत्र वसुधाराप्रमाण–प्ररूपणम्, जिनानां पारणकपुरनामानि।

(१०१) तीर्थकराणां पितृनामानि, पितृणां गतिश्च।

(१०२) पूर्वप्रवृत्तिकालः, पूर्वविच्छेदकालमानं च।

(१०३) सर्वतीर्थकराणां यावन्तः पूर्वभवास्तेषु तेषां नामानि।

(१०४) तीर्थकृतां पूर्वभवगुरवः, तथा तेषां पूर्वभवायुः, पूर्वभवक्षेत्राणि, पूर्वभवक्षेत्रदिशा, पूर्वभवजिनहेतवो विंशतिविधाः, पूर्वभवद्वीपाः, पूर्वभवनामानि, पूर्वभवनगर्यः, पूर्वभवराज्यम्, पूर्वभवविजयाः, पूर्वभवस्वर्गाः पूर्वभवसूत्राणि, तत्र श्रुतला–भद्वारम्।

(१०५) पार्श्वसुपार्श्वयोः फणकारणानि, तेषां फणसंख्या च, जिना–नामारोग्याऽऽदिफलदायकत्वविचारः।

(१०६) नृपतिबलदेववासुदेवचक्रितीर्थकृतां बलतारतम्यप्रति-पादनम्।

(१०७) जिनभक्तानां राज्ञां नामानि।

(१०८) तीर्थकरमनः पर्यवज्ञानिसंख्याकथनम्।

(१०९) तीर्थकरमातृनामानि, तासां गतिश्च।

(११०) तीर्थकराणां मोक्षाऽऽसनं, मोक्षस्थानानि, यावता तपसा तीर्थकृ-न्मोक्षसिद्धिस्तन्निरूपणम्, मोक्षनक्षत्राणि, मोक्षपरिवारः, मोक्षपथः, मोक्षमासपक्षतिथयः मोक्षराशयः, मोक्षविनयः, मोक्षवेला, मोक्षारकशेषकालः, मोक्षारकप्रतिपादनम्, मोक्षगतानां शरीरमानम्।

(१११) तीर्थकृतां राज्यकालमानम्।

(११२) तीर्थकृतां रुद्रतपःकारकमुनिसंख्या, तत्र प्रसङ्गात् गणधराऽऽदि-माण्डमलिकान्तानां, देवानां च रूपवर्णनम्।

(११३) तीर्थकृतां लाञ्छनानि, तेषां लक्षणद्वारम्, तीर्थकृत्सु लोका–न्तिकदेवैर्बोधनम्, जिनवस्त्रवर्णानि, जिनानां च वर्णनिरूपणम्।

(११४) तीर्थकृतां पञ्चत्रिंशद्वाग्गुणाः।

(११५) तीर्थकराणां वादिमुनिसंख्या, तीर्थकृतां विवाहविषयश्च, येषु ग्रामनगरेषु तेषां विहार आसीत् तन्निरूपणम्।

(११६) तीर्थकृतां वैक्रियकमुनयः, तेषामेवाऽऽर्यिकासंग्रहप्रमाणम्, मुनिस्वरूपम्, संयतसंयतीप्रमाणम्, तीर्थकृतां संयमप्रतिपादनम्।

(११७) परित्यागद्वारे जिनेन्द्राणामभिनिष्क्रमणसमये दानविचारः।

(११८) जिनश्राविकामानम्।

(११९) उत्कृष्टजघन्याभ्यां विचरतां तीर्थकृतां संख्या, तथोत्कृष्टजघन्या-भ्यां तेषां जन्मसंख्या च।

(१२०) सर्वेषां तीर्थकृतां सर्वायुः, तथा तेषां सामान्यमुनिसंख्या, तीर्थकृत्सामायिकोपदेशविचारः, सामायिकसंख्या च।

(१२१) श्रावकव्रतसंख्या, साधुव्रतसंख्या च।

(१२२) तीर्थकरमातुश्चतुर्दश स्वप्नाः, स्वप्नकारणानि, स्वप्नविचा–रकाः, शेषश्रुतप्रवृत्तिकालः।

(१२३) भरतक्षेत्रेऽतीतोत्सर्पिण्यां जिनेश्वरनामानि, ऐरवते तीर्थकराः, भविष्यत्तीर्थकराणां पूर्वभवनामानि, तेषां पितृमातृप्रथमशिष्य-प्रथमशिष्याप्रथमभिक्षादायकसंख्या, ऐरवतक्षेत्रभाविनस्ती-र्थकराः।

(१२४) कृतकृत्या अपि तीर्थकरास्तपःकर्मोपधानश्रुतमुपसर्गसह–नाऽऽदिकं कुर्वन्तीति निरूप्य, सर्वेषां तीर्थकराणां सदृशानि सूत्राणीत्यत्र गुरुशिष्ययोः प्रश्नोत्तराणि।

(१२५) प्रकीर्णकवार्ताः।

तित्थयरगंडिया स्त्री०(तीर्थकरगण्डिका) तीर्थकरैकवक्तव्यता–र्थाधिकारानुगतायां वाक्यपद्धतौ, स०।

तित्थयरणाणुप्पत्तितव न०(तीर्थकरज्ञानोत्पत्तितपस्) स्वनाम–ख्याते चित्रतपसि, पञ्चा०।

तत्स्वरूपमाह–

तित्थंकरणाणुप्प–त्तिसण्णिओ तहऽवरो तवो होइ।
पुव्वोइएण विहिणा कायव्वो सो पुण इमो त्ति ॥१२॥

तीर्थकरज्ञानोत्पत्तिरिति संज्ञा संजाता यस्य ततीर्थकरज्ञानो–त्पत्तिसंज्ञितम्, पुंस्त्वं तु सर्वत्र प्राकृतत्वात्। तथेति समुच्चये, अप–रमन्यत्, तपो भवति स्यात्। पूर्वोदितेन विधिना ऋषभाऽऽदिक्रमेण गुर्वाज्ञया विशुद्धक्रियया, मतान्तरणे तन्मासदिनेष्वित्यवं लक्षणेन, (कायव्वो त्ति) कार्यम् (सो पुण त्ति) तत्पुनः प्रस्तुततपः, (इमो त्ति) इदं वक्ष्यमाणम्, इतिः समाप्तौ। इति गाथाऽर्थः ॥१२॥

तदेवाऽऽह–

अट्ठमभत्तंतम्मि य, पासोसहमल्लिऽरिट्ठनेमीणं।
वसुपुज्जस्स चउत्थेण छट्ठभत्तेण सेसाणं ॥१३॥

(अस्यार्थोऽनुपदमेव 'तित्थयर' शब्दे २२६३ पृष्ठे केवलतपो–नामकेऽधिकाराङ्के गतः)

उसभाऽऽइयाणमेत्थं, जायाइं केवलाइँ णाणाइं।
एयं कुणमाणो खलु, अचिरेणं केवलमुवेइ ॥१४॥

ऋषभाऽऽदिकानां जिनानाम्, अत्र तपसि कृते, जातान्युत्प-न्नानि, केवलानि केवलसंज्ञितानि, ज्ञानानि संवेदनानि। अत एतत् तीर्थङ्करज्ञानोत्पत्तिसंज्ञितं तपः, कुर्वाणः, खल्वचिरेण केवलं लभत इति व्यक्तम्। उपैतीति पाठान्तरं चेति ॥१४॥ पञ्चा० १६ विव०।

तित्थयरणाम न०(तीर्थकरनामन्) नामकर्मभेदे, यदुदयवशा–दष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखाश्चतुस्त्रिंशदतिशयाः प्रादुर्भवन्ति। कर्म० ६ कर्म०। श्रा०। पं० सं०।

तित्थेण तिहुयणस्स वि, पुज्जो से उदओ केवलिणो (४६)

तीर्थेन तीर्थकरनामकर्मवशात्, त्रिभुवनस्याऽपि देवमानवदान–वलक्षणत्रिलोकस्याऽपि, पूज्योऽभ्यर्चनीयो भवति। 'से' तस्य तीर्थकरनामकर्मण उदयो विपाकः केवलिन उत्पन्नकेवलज्ञान-स्यैव, यदुदयाज्जीवः सदेवमनुजासुरलोकपूज्यमुत्तमोत्तमं तीर्थ

प्रवर्तयति। यदागमः– ''तित्थं भंते! तित्थं, तित्थयरे तित्थं? गोयमा! अरिहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थे पुण चाउवन्ने समणसंघे पढमगणहरे वा।'' इति परममुनिप्रणीतधर्मतीर्थस्य प्रवर्त्तयितृपदमवाप्नोति, तत्तीर्थकरनाम इत्यर्थः। (४६) कर्म०१ कर्म०।

ननु केवलज्ञानावाप्तौ कृतकृत्यो भवान् किमिति धर्मदेशनायां प्रवर्तत इत्याशङ्कायामाह–

वीतरागोऽपि सद्वेद्यतीर्थकृन्नामकर्मणः।
उदयेन तथा धर्मदेशनायां प्रवर्त्तते ॥१॥

वीतरागोऽपि विगलाभिष्वङ्गोऽपि, सरागः किल प्रवर्त्तत इति शब्दार्थः। सद्वेद्यं च सातवेदनीयं, तीर्थकृन्नाम च सद्वेद्यतीर्थकृन्नाम्नी, ते एव कर्म सद्वेद्यतीर्थकृन्नामकर्म्म। अथवा–सता शोभनेन धर्मदेशनाऽऽदिना प्रकारेण यद्वेद्यते तत्सद्वेद्यं, तच्च तीर्थकृन्नामकर्म्म च, तस्य, उदयेन विपाकेन, तथा तेन प्रकारेण समवसर–णाऽऽदिश्रीसमनुभवलक्षणेन, धर्मदेशनायां कुशलानुष्ठानप्रज्ञापनायां, प्रवर्त्तते व्याप्रियते इति ॥१॥ हा० ३१ अष्ट०। सम्म०। जी०। ननु सूत्रकर्तुः परमाऽपवर्गप्राप्तिः, अपरं सत्त्वानुग्रहः, तदर्थ–प्रतिपादकस्याऽर्हतः किं प्रयोजनमिति चेत्? उच्यते–न किञ्चित्, कृतकृत्यत्वाद्भगवतः। प्रयोजनमन्तरेणार्थप्रतिपादनप्रयासो निरर्थक इति चेत्? न। तस्य तीर्थकरनामकर्मविपाकोदयप्रभवत्वात्। उक्तं च–''तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाए उ।'' इति। श्रोतृणामनन्तरं प्रयोजनं विवक्षिताऽध्ययनार्थपरिज्ञानं, परं निःश्रेयसं पदं, विवक्षिताध्ययनसम्यगर्थविगमतः संयमः, संयम–प्रवृत्त्या सकलकर्मक्षयोपपत्तेः। जी०१ प्रति०। ''ज्ञानिनो धर्म–तीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम्। गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः'' ॥१॥ (इत्यन्यदीयमतम्) स्था०१ ठा०। आ० म०। पं०सं०। उत्त०। (तीर्थकृन्नामबन्धहेतवः 'तित्थयर' शब्दे २२९४ पृष्ठे निरूपिताः)

तित्थयरणामगोयकम्म न०(तीर्थकरनामगोत्रकर्म) तीर्थकरत्व–निबन्धनं नाम तीर्थकरनाम, तच्च गोत्रं च कर्मविशेष एवेत्येक–वद्भावात् तीर्थकरनामगोत्रम्। अथवा–तीर्थकर इति नामगोत्रम–भिधानं यस्य तत्तीर्थकरनामगोत्रम्। तीर्थकरनामाऽऽख्ये नामक–भेदे, स्था०।

समणस्स भगवओ महावीरस्स तित्थंसि नवहिं जीवेहिं तित्थकरनामगोयकम्मे निव्वत्तिए। तं जहा–(श्रेणिकः राजा १, सुपार्श्वो वर्द्धमानस्वामिपितृव्यः २, उदायी कूणि–कपुत्रः श्रेणिकपौत्रः ३।) **सेणिएणं, सुपासेणं, उदाइणा, पुट्टलेणं अणगारेणं, दढाउणा, संखेणं, सयएणं, सुलसाए साविआए, रेवईए। एस णं अज्जो कण्हे वासुदेवे रामे बलदेवे उदए पेढालपुत्ते पुट्टिले सयए गाहावई दारुए नियंठे सच्चई य णियंठीपुत्ते साविअबुद्धे अम्मडे परिव्वाए, अज्जा वि णं सुपासा पासावच्चेज्जा आगमेस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जामं धम्मं पन्नवित्ता सिज्झिहिंति०जाव अंतं काहिंति। स्था० ९ ठा०।**

तित्थयरणिग्गमतव न०(तीर्थकरनिर्गमतपस्) स्वनामख्याते चित्रतपसि, पञ्चा०।

तत्र तीर्थकरनिर्गमतपः प्रतिपादयंस्तदाह–

तित्थयरणिग्गमो खलु, ते जेण तवेण णिग्गया सव्वे।
ओसप्पिणीएँ सो पुण, इमीएँ एसो विणिद्दिट्ठो ॥६॥

तीर्थकरैर्निर्गमे गृहवासाद्यत्कृतं तपस्तत्तीर्थकरनिर्गमं तपः। खलुरलङ्कारे। तच्च कीदृशमित्याह– ते तीर्थकरा येन तपसा निर्गता गृहवासात्सर्वेऽवसर्पिण्याम् (सो पुण त्ति) तत्पुनस्तपोऽस्यां वर्त्तमानायाम् (एसो त्ति) एतद् वक्ष्यमाणम्। (विणिद्दिट्ठो त्ति) उक्तमिति गाथार्थः ॥६॥

एतदेवाऽऽह–

सुमइ त्थ णिच्चभत्तेण णिग्गओ वासुपुज्जो (जिणो) चउत्थेणं।
पासो मल्ली वि य अट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं ॥७॥

सुमतिः पञ्चमजिनः। ''त्थ'' इति पादपूरणे निपातः। नित्यभक्तेनानवरतभोजनेन, अविहितोपवास इत्यर्थः। निर्गतो गृहवासान्निष्क्रान्तः। तथा वासुपूज्यो द्वादशो जिनोऽर्हन् चतुर्थेनैकोपवासरूपेण। पार्श्वस्त्रयोविंशतितमः, मल्लिरेकोनविंशतितमः, अष्टमेनोपवासत्रयरूपेण। शेषास्तु विंशतिः पुनः षष्ठेनोपवासद्वयरूपेणेति गाथाऽर्थः ॥७॥ (एतदेव 'तित्थयर' शब्दे २२७७ पृष्ठे निष्क्रमणतपःप्ररूपणावसरे व्याख्यातम्)

एतद्विधानविधिमाह–

उसभाइक्कमेणेसो, कायव्वो ओहओ सइ बलम्मि।
गुरुआणापरिसुद्धो, विसुद्धकिरियाएँ धीरेहिं ॥८॥

ऋषभाऽऽदिक्रमेण नाभेयनिर्गमाऽऽद्यानुपूर्व्या, एष तीर्थकरनिर्गमः, कर्त्तव्यो विधेयः, ओघतः सामान्येनोत्सर्गणेत्यर्थः। सति विद्यमाने, बले शक्तौ, तथा विधबलाभावे पुनर्व्यतिक्रमणकरणेऽपि न दोष इति भावः। गुर्वाज्ञया परिशुद्धो निर्दोषस्तत्संपादनाद् गुर्वाज्ञापरिशुद्धः। तथा–विशुद्धक्रियया ऽनवद्यानुष्ठानेन, धीरैः सात्त्विकैरिति गाथार्थः ॥८॥

इहैव मतान्तरमाह–

अण्णे तम्मासदिणेसु वेंति लिंगं इमस्स भावम्मि।
तप्पारणसंपत्ती, तं पुण एयं इमेसिं तु ॥९॥

अन्ये अपरे सूरयः, तेषामृषभाऽऽदिजिननिर्गमतपसां ये मासाः प्रतीताः, दिनानि च तिथयः, तानि तन्मासदिनानि, तेषु, न मासान्तरतिथ्यन्तरेषु, ब्रुवते तीर्थकरनिर्गमतपः। तथाहि–ऋषभस्वामिनो निष्क्रमणतपोऽङ्गीकृत्य चैत्रमासबहुलाष्टमीदिनएव षष्ठं कार्यं, वर्द्धमानस्वामिनश्च मार्गशीर्षबहुलदशमीदिन एवेति। एव–मन्येषामपीति। तथा लिङ्गं लक्षणम्, अस्य ऋषभाऽऽदिनिर्गमतपसः, भावे संसिद्धौ, तेषामृषभाऽऽदीनां यस्य यत्पारणं भोजनमासीत्तस्य संपत्तिः प्राप्तिस्तत्पारणसंपत्तिः, तत्पुनः पारणकमेतद्वक्ष्यमाणमेषामृषभाऽऽदीनाम्। तुशब्दः पूरणे। इति गाथार्थः ॥९॥ पञ्चा०१९ विव०। ('उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे यावता कालेन भिक्षा लब्धा, यच्च पारणकमासीत् तन्निरूपितम्)

तित्थयरत्त न०(तीर्थकरत्व) अर्हत्त्वे, यो०विं०। आ०म०। (तीर्थकरत्वहेतवः 'तित्थयर' शब्देऽनुपदमेव २२९४ पृष्ठे व्याख्याताः)

तित्थयरदाण न०(तीर्थकरदान) तीर्थकृद्दीयमाने, वरघोषणायां सत्यां श्रावको, योषिच्च तद्दानं गृह्णीतः, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–तीर्थकृद्दानसमये ज्ञाताधर्मकथाऽऽदिषु सनाथानाथपथिककार्पटिकाऽऽदीनां याचकानां ग्रहणाधिकारो दृश्यते, न तु व्यवहारिणाम्, तेन श्रावकोऽपि कश्चिद्यदि याचकीभूय गृह्णाति तदा गृह्णातु, योषितस्तु प्रायस्तत्राधिकारो न दृश्यत इति।३८६प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

तित्थयरभत्ति स्त्री०(तीर्थकरभक्ति) परमगुरुविनये, पञ्चा० १ विव०।

तित्थयरमाइतव न०(तीर्थकरमातृतपस्) तीर्थकरमातृपूजायुक्तं तपस्तीर्थकरमातृतपः। भाद्रपदे सप्तभिरेकाशनकैर्निष्पाद्ये चित्र–तपोभेदे, पञ्चा० १६ विव०।

तित्थयरमोक्खगमणतव न०(तीर्थकरमोक्षगमनतपस्) स्वनाम–ख्याते चित्रतपसि, पञ्चा०।

तत्स्वरूपमाह–

तित्थयरमोक्खगमणं, अहावरो एत्थ होइ विन्नेओ।
जेण परिनिव्वुया ते, महाणुभावा तओ य इमो ॥१५॥

तीर्थकरमोक्षगमनं नाम, अथानन्तरम्, (अवरो त्ति) अपरम्, अत्र तपोऽधिकारे, भवति स्यात्, (विन्नेउ त्ति) विज्ञेयम्। येन तपसा, परिनिर्वृता निर्वाणं गताः, ते तीर्थकराः, महानुभावा अचिन्त्यशक्तयः, (तओ य इमो त्ति) तच्च तीर्थकरनिर्वाणगमनाऽऽख्यं तपः, इदं वक्ष्यमाण–मिति गाथाऽर्थः ॥१५॥

तदेवाऽऽह–

निव्वाणमंतकिरिया, सा चोद्दसमेण पढमनाहस्स।
सेसाण मासिएणं, वीरजिणिंदस्स छट्ठेणं ॥१६॥

निर्वाणं निर्वृतिः, अन्तक्रियेति अन्तक्रियाशब्देनोच्यते, साऽन्तक्रिया (चोद्दसमेण त्ति) चतुर्दशभक्तेनोपवासषट् करूपेण, प्रथमनाथस्य ऋषभजिनस्य, शेषाणामजिताऽऽदीनां मासिकेन मासोपवासरूपेण, वीरजिनेन्द्रस्य षष्ठेनेति व्यक्तमिति गाथाऽर्थः ॥१६॥ पञ्चा० १६ विव०। ('तित्थयर' शब्देऽपि २२६६ पृष्ठे गतेयं गाथा) ''समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अट्ठसया अणुत्तरोववाइयाणं गइकल्लाणाणं०जाव आगमेसि भद्दाणं उक्कोसिया अणुत्तरोववाइ–संपया होत्था।'' स्था०८ ठा०। (एते 'तित्थयर' शब्दे २२४८ पृष्ठे सर्वे षां तीर्थकृतां न्यक्षेण प्रतिपादिताः)

तित्थयरसम पुं०(तीर्थकरसम) सर्वाऽऽचार्यगुणयुक्ततया सुधर्मा–ऽऽदिवत्तीर्थकरकल्पे, ग०।

तित्थयरसमो सूरी, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ।
आणं अइक्कमंतो, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥२७॥

स सूरिस्तीर्थकरसमः सर्वाऽऽचार्यगुणयुक्ततया सुधर्माऽऽदि–वत्तीर्थकरकल्पो विज्ञेयः। न च वाच्यं चतुस्त्रिंशदतिशयाऽऽदिगु–णविराजमानस्य तीर्थकरस्योपमा सूरेस्तद्विकलास्याऽनुचिता। यथा तीर्थकरोऽर्थं भाषते, एवमाचार्योऽप्यर्थमेव भाषते। तथा यथा तीर्थकर उत्पन्नकेवलज्ञानो भिक्षार्थं न हिण्डते, एवमाचार्योऽपि भिक्षार्थं न हिण्डते, इत्याद्यनेकप्रकारैस्तीर्थकरानुकारित्वस्य सर्वाऽतिशयित्वस्य परमोप–कारित्वाऽऽदेश्च ख्यापनार्थम्, तस्य न्याय्यतरत्वात्। किं च –श्रीमहानि–शीथपञ्चमाध्ययनेऽपि भावाऽऽचार्यस्य तीर्थकरसाम्यमुक्तम्। यथा– ''से भयवं! किं तित्थयरसं–तिअं आणं नाइक्कमिज्जा, उदाहु आयरियसंतिअं? गोयमा! चउव्विहा आयरिया भवंति। तं जहा–नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया। तत्थ णं जे अवायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा, तेसिं संतिअं आणं नाइक्कमेज्ज त्ति।'' सः कः यः सम्यक् यथास्थितं, जिनमतं जगत्प्रभुदर्शनं नैगमसंग्रहव्यवहारऋजु–सूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतरूपनयसप्तकाऽऽत्मकं, प्रकाशयति भव्यानां दर्शयतीत्यर्थः।२७। ग०१ अधि०।

तित्थयरसिद्ध-पुं०(तीर्थकरसिद्ध) तीर्थकराः सन्तो ये सिद्धा ऋषभा–ऽऽदिवत्ते तीर्थकरसिद्धाः। सिद्धभेदेषु, पा०। ल०। नं०। आ० चू०।

तित्थयराऽऽणा-स्त्री०(तीर्थकराऽऽज्ञा) जिनोपदेशे, पञ्चा० १६ विव०। ''तित्थगराणा मूलं, नियमा धम्मस्स तीऍ वायाए। किं धम्मो किमहम्मो, मूढा नेउं वि पारिंति ॥१॥'' दर्श० १ तत्त्व।

तित्थयराभिमुह-त्रि०(तीर्थकराभिमुख) तीर्थकरसम्मुखे, बृ० १ उ०।

तित्थयरी-स्त्री०(तीर्थकरी) स्त्रीत्वविशिष्टे तीर्थकरे, यथा बुद्धी–मल्लिस्वामिनीप्रभृतिका तीर्थकरी, सामान्यसाध्व्यादिका वा वे–दितव्या। यतः सिद्धप्राभृतटीकायामेवोक्तम्– ''बुद्धीओ वि मल्लीप–मुहाओ अन्नाओ य सामन्नसाहुणीपमुहाओ व हुंति त्ति।'' नं०।

तित्थराय-पुं०(तीर्थराज) शत्रुञ्जयपर्वते, ती०१ कल्प।

तित्थसिद्ध-पुं०(तीर्थसिद्ध) तीर्यते संसारसागरोऽनेनेति तीर्थम्, यथाऽवस्थितसकलजीवाजीवाऽऽदिपदार्थसार्थप्ररूपकं परमगुरुप्रणीतं प्रवचनं, तच्च निराधारं न भवतीति सङ्घः, प्रथम–गणधरो वा; तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धास्ते तीर्थसिद्धाः। प्रज्ञा० १ पद। नं०। ध०। आ०चू०। तीर्थं उक्तलक्षणे सति सिद्धा निर्वृता जम्बूस्वाम्यादिवदिति तीर्थसिद्धाः। पा०। तीर्थेसति सिद्धा निर्वृता ऋषभसेनगणधराऽऽदिव–दिति तीर्थसिद्धाः। सिद्धभेदेषु, स्था० १ ठा०।

तित्थसेवण-न०(तीर्थसेवन) तीर्थम् उक्तलक्षणं, तस्य सेवनं तीर्थसेवनम्। द्रव्यभावतीर्थसेवायाम्, ध०। तीर्थकरनामकर्मनि–बन्धनत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थम्। तथा–तीर्थं द्रव्यतो जिनदी–क्षाज्ञाननिर्वाणस्थानम्। यदाह–''जम्मं दिक्खा नाणं, तित्थय–राणं महाणुभावाणं। जत्थ य किर निव्वाणं, आगाढं दंसणं होइ ॥१॥'' इति। भावतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽधारः श्रमणसंघः, प्रथमगणधरो वा। यदाह– ''तित्थं भंते! तित्थं, तित्थयरे तित्थं? गोयमा! अरिहा ताव नियमा तित्थयरे, तित्थे पुण चाउव्वण्णे समणसंघे, पढमगणहरे वा।'' इति। तस्य सेवनम्। ध० २अधि०।

तित्थाणुसज्जणा-स्त्री०(तीर्थानुषज्जना) जिनशास्त्रज्ञनुषज्जनायाम्, कल्प०।

जप्पभिइं च णं से खुद्दाए भासरासी महग्गहे दोवाससहस्स–ट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकंते, तप्पभिइं च णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य नो उदिओ–दिए पूआसक्कारे पवत्तइ ॥१३०॥ जया णं से खुद्दाए भासरासी महग्गहे दोवाससहस्सट्ठिई०जाव जम्मनक्खत्ताओ विइक्कंते भविस्सइ, तया णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य उदिओदिए पूआसक्कारे भविस्सइ ॥१३१॥

यतः प्रभृति स क्षुद्राऽऽत्मा भस्मराशिनामा ग्रहो द्विवर्षसहस्रस्थि–तिः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य जन्मनक्षत्रं संक्रान्तः, ततः प्रभृति श्रमणानां तपस्विनां, निर्ग्रन्थानां साधूनां, निर्ग्रन्थीनां साध्वीनां च उदितोदित उत्तरोत्तरं वृद्धिमान् ईदृशः यः पूजा वन्दनाऽऽदिसत्कारो वस्त्रदाना-ऽऽदिबहुमानः, स न प्रवर्त्तते । अत एव शक्रेण स्वामी विज्ञप्तः--यत् क्षणनायुर्बद्धयत, येन भवत्सु जीवत्सु भवज्जन्मनक्षत्रं संक्रान्तो भस्मराशिग्रहो भवच्छासनं पीडयितुं न शक्ष्यति । ततः प्रभुणोक्तम्– न खलु शक्र ! कदाचिदपि इदं भूत--पूर्वं , प्रक्षीणमायुर्जिनेन्द्रैरपि न वर्द्धयितुं शक्यते, ततोऽवश्यंभाविनो तीर्थबाधा भविष्यत्येव, किं तु षडशीति-वर्षायुषि कल्किनि कुनृपतौ त्वया निगृहीते सति वर्षसहस्रद्वये पूर्णे मज्जन्मनक्षत्राद्भस्मग्रहे व्यतिक्रान्ते च त्वत्स्थापितकल्किपुत्रधर्म-दत्तराज्यादारभ्य साधुसाध्वीनाम् उदितोदितः पूजासत्कारो भविष्यतीति ॥१३०॥ सूत्रकारा अपि तदेवाऽऽहुः–(जया णमित्यादि) यदा च क्षुद्रात्मा भस्मराशिर्महाग्रहः द्विवर्षसहस्रस्थितिकः यावद् भगवद् जन्मन–क्षत्राद् व्यतिक्रान्तो भविष्यति, तदा श्रमणानां निर्ग्रन्थानां निर्ग्र–न्थीनां च उदितोदितः पूजासत्कारो भविष्यति । कल्प०६ क्षण ।

से भयवं ! केवइएणं कालेणं पहे कुगुरुभावी होंति? गोयमा ! इओ य अद्धतेरसण्हं वाससयाणं साइरेगाणं समइक्कंताणं परओ भविंसु । से भयवं ! केणं अट्ठेणं ? गोयमा ! तक्कालं इड्ढीरस–सायगारवसंगए ममीकारअहंकारऽग्गीए अंतो संपज्जलंतबोदी अहमहं ति कयमाणसे अमुणियसमयसब्भावे गणी भविंसु, एएणं अट्ठेणं । से भयवं ! किं सव्वे वि एवंविहे तक्कालगणी भविंसु? गोयमा ! एंगंतेणं नो सव्वे, के य पुण दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठ–व्वे णं एगाए जणणीए जमगसमगं पसूए निम्मेरे पावसीले दुज्जायजम्मे सुरोद्दपयंडाभिग्गहियदूरमहामिच्छदिट्ठी भविंसु । से भयवं ! कहं ते समुवलक्खेज्जा ? गोयमा ! उस्सुत्तउम्मग्गा–पवत्तणुदिस्सए, अणुमईपच्चएण वा । महा० ७ अ०१चू०।

उत्सर्पिण्यामन्तिमजिनस्य तीर्थानुषज्जना–

उस्सप्पिणि अंतिमजिण--तित्थं सिरिरिसहनाणपज्जाया ।
संखेज्जा जावइआ, ताव पमाणं धुवं भविही ॥४५२॥

इह श्रीऋषभस्वामिनः केवलज्ञानपर्यायो वर्षसहस्रोन एकपूर्वलक्षः, तत एवंस्वरूपा ज्ञानपर्यायाः संख्येया यावन्तो भवन्ति तावत्प्रमाणमुत्स-र्पिण्यामन्तिमजिनस्य चतुर्विंशतितमस्य भद्रकृन्नाम्नस्तीर्थकृतस्तीर्थ ध्रुवं निश्चितं भविष्यति । संख्येयपूर्व–लक्षणं तत्तीर्थमित्यर्थः । प्रव० २६६ द्वार । दर्श० । ति० । (कदा कस्य श्रुतस्य व्यवच्छेद इति तु 'तित्थयर' शब्दे २२७३ पृष्ठे निरूपितः)

व्यवच्छेदाधिकारादेवेदमाह–

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवइयं कालं पुव्वगए अणुसिज्जिस्सइ? गोयमा! जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए ममं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसिज्जिस्सइ । जहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए देवाणुप्पियाणं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसिज्जिस्सइ, तहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए अवसेसाणं तित्थगराणं केवइयं कालं पुव्वगए अणुसिज्जित्था? गोयमा ! अत्थेगइयाणं संखेज्जं कालं, अत्थेगइयाणं असंखेज्जं कालं । जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवइयं कालं तित्थे अणुसिज्जिस्सइ ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए ममं एगवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणु–सिज्जिस्सइ । जहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए देवाणुप्पियाणं, एक्कवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसिज्जिस्सइ, तहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आग–मेस्साणं चरमतित्थगरस्स केवइयं कालं तित्थे अणुसिज्जि-स्सइ? गोयमा ! जावइएणं उसभस्स अरहओ कोसलियस्स जिणपरियाए तावइयाए संखेज्जाइं आगमेस्साणं चरमतित्थ–गरस्स तित्थे अणुसिज्जिस्सइ ।

(जंबुद्दीवे णमित्यादि) (देवाणुप्पियाणं ति) युष्माकं संबन्धि (अत्थेगइयाणं संखेज्जं कालं ति) पश्चानुपूर्व्या पार्श्वनाथाऽऽदीनां संख्यातं कालम् । (अत्थेगइयाणं असंखेज्जं कालं ति) ऋषभाऽऽदीनाम् (आगमेस्साणं ति) आगमिष्यतां भविष्यतां महापद्माऽऽदीनां जिनानाम् । (कोसलियस्स त्ति) कोशलदेशे जातस्य । (जिणपरियाए त्ति) केवलिपर्यायः, स च वर्षसहस्रन्यूनं पूर्वलक्षमिति । भ० २० श०८उ०।

अधुना ....."अणुसज्जणा य दस चोद्दस अट्ठ दुप्पसहे"

(३३४) इत्यस्य व्याख्यानमाह–

दस ता अणुसज्जंती, जा चोद्दसपुव्वि–पढमसंघयणं ।
तेण परेणऽट्ठविहं, जा तित्थं ताव बोधव्वं ॥३४१॥

यावत्प्रथमसंहननं चतुर्दशपूर्वी च, तावद्दश प्रायश्चित्तानि अनुष–ज्जन्ति स्म । एतौ च प्रथमसंहननचतुर्दशपूर्विणौ समकं व्यवच्छिन्नौ, तयोश्च व्यवच्छिन्नयोरनवस्थाप्यं, पाराञ्चितं च व्यवच्छिन्नम् । ततः परेणानवस्थाप्यपाराञ्चितव्यवच्छेदादवाक्, अष्टविधं प्रायश्चित्तं तावदनुषज्जते, अनुवर्त्तमानं बोद्धव्यं, यावत्तीर्थव्यवच्छेदकाले चतुःप्रसभो नाम सूरिर्भविष्यति, तस्मिन् कालगते तीर्थं, चरित्रं च व्यवच्छेदमयते ।

यदप्युक्तं "देंता वि न दीसंति" (३३०) इत्यादि । तत्राऽऽह–

दोसु उ वोच्छिन्नेसुं, अट्ठविहं दैंतया करैंता य ।
न वि केई दीसंती, वयमाणे भारिया चउरो ॥३४२॥

द्वयोरनवस्थाप्यपाराञ्चितयोः, अथवा–प्रथमसंहननचतुर्दशपू–र्विणोः, व्यवच्छिन्नयोरष्टविधं प्रायश्चित्तं ददतः, कुर्वन्तो वा केचिन्न दृश्यन्ते, इति वदति परस्मिन्प्रायश्चित्तं चत्वारो भारिता गुरुका मासाः ।

दोसु वि वोच्छिन्नेसुं, अट्ठविहं दैंतया करेंता य।
पच्चक्खं दीसंती, जहा तहा मे निसामेहि ॥३४३॥

द्वयोरन्तिमयोः प्रायश्चित्तयोः प्रथमसंहननचतुर्दशपूर्विणोर्वा व्यवच्छिन्नयोरष्टविधं प्रायश्चित्तं ददतः, कुर्वन्तश्च प्रत्यक्षं दृश्यन्ते यथा, तथा मम कथयतो निशमय।

पंचेव नियंठा खलु, पुलागवकुसा कुसीलनिग्गंथा।
तह य सिणाया तेसिं, पच्छित्तं जहकडं वोच्छं ॥३४४॥

पञ्चैव खलु निर्ग्रन्था भवन्ति। तद्यथा-पुलाको, वकुशः, कुशीलः, निर्ग्रन्थः, स्नातकश्च। एतेषां च स्वरूपं व्याख्याप्रज्ञप्तेरवसेयम्। एतेषां प्रायश्चित्तं यथाक्रमं वक्ष्ये।

प्रतिज्ञां पूरयति-

आलोयणपडिकमणे, मीसविवेगे तवे विउस्सग्गे।
एए छ पच्छित्ता, पुलागनियंठस्स बोधव्वा ॥३४५॥

आलोचना, प्रतिक्रमणं, मिश्रं, विवेकः, तपः, व्युत्सर्गः, एतानि षट् प्रायश्चित्तानि पुलाकनिर्ग्रन्थस्य बोधव्यानि।

वउसपडिसेवगाणं, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि।
थेराण भवे कप्पे, जिणकप्पे अट्ठहा होति ॥३४६॥

वकुशप्रतिसेवकयोर्वकुशस्य, प्रतिसेवनाकुशीलस्य च सर्वाण्यपि दशाऽपि प्रायश्चित्तानि भवन्ति। तौ च वकुशकुशीलौ स्थविराणां कल्पे भवतः, जिनकल्पे, उपलक्षणमेतत्-यथालन्दकल्पे च, तयोः प्रायश्चित्तमष्टधा भवति, अनवस्थाप्यपाराञ्चितयोरभावात्।

आलोयणा विवेगो य, नियंठस्स दुवे भवे।
विवेगो य सिणायस्स, एमेया पडिवत्तिओ ॥३४७॥

आलोचनाप्रायश्चित्तविवेकप्रायश्चित्ते निर्ग्रन्थस्य भवतः, स्नातस्य केवल एको विवेकः। एवमेताः पुलाकाऽऽदिषु प्रतिपत्तयः।

पंचेव संजया खलु, नायसुएण कहिया जिणवरेणं।
तेसिं पायच्छित्तं, अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥३४८॥

ज्ञातसुतेन जिनवरेण वर्द्धमानस्वामिना पञ्चैव खलु संयताः कथिताः, तेषां यथाक्रमं प्रायश्चित्तं कीर्तयिष्यामि।

तदेव कीर्तयति-

सामइयसंजयाणं, पायच्छित्तानि छेदमूलरहियऽट्ठा।
थेराण जिणाणं पुण, तवमंतं छव्विहं होइ ॥३४९॥

सामायिकसंयतानां स्थविराणां स्थविरकल्पिकानां छेदमूलरहितानि शेषाण्यष्टौ प्रायश्चित्तानि भवन्ति। जिनानां जिनकल्पिकानां पुनः सामायिकसंयतानां तपःपर्यन्तं षड्विधं प्रायश्चित्तं भवति।

छेदोवट्ठावणिए, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि।
थेराण जिणाणं पुण, मूलंतं अट्ठहा होइ ॥३५०॥

छेदोपस्थापनीये संयमे वर्तमानानां स्थविराणां सर्वाण्यपि प्रायश्चित्तानि भवन्ति, जिनकल्पिकानां पुनर्मूलपर्यन्तमष्टधा भवति।

परिहारविसुद्धीए, मूलंता अट्ठ हों ति पच्छित्ता।
थेराण जिणाणं पुण, छव्विह छेयादिवज्जं च ॥३५१॥

परिहारविशुद्धिकं संयमे वर्तमानानां स्थविराणां मूलान्तान्यष्टौ प्रायश्चित्तानि भवन्ति। जिनानां पुनश्छेदाऽऽदिवर्जं षड्विधम्।

आलोयणा विवेगो य, तइयं तु न विज्जती।
सुहुमे य संपराए य, अहक्खाए तहेव य ॥३५२॥

सूक्ष्मसम्पराये, यथाख्याते च संयमे वर्तमानानामालोचना, विवेक इत्येवंरूपे द्वे प्रायश्चित्ते भवतः, तृतीयं तु न विद्यते।

ततः प्रस्तुते किमायातमिति चेदत आह-

वउसपडिसेवया खलु, इत्तरिछेया य संजया दोण्णि।
जा तित्थऽणुसज्जंती, अत्थि हु तेणं तु पच्छित्तं ॥३५३॥

निर्ग्रन्थचिन्तायां वकुशः, प्रतिसेवकः प्रतिसेवनाकुशीलः, इत्येतौ द्वौ निर्ग्रन्थौ; संयतचिन्तायाम् इत्वरी-इत्वरसामायिकवान्, छेदश्छेदोपस्थाप्यश्चेति द्वौ संयतौ, यावत्तीर्थं तावदनुषज्जतोऽनु-वर्त्तेते, तेन ज्ञायते अस्ति संप्रत्यपि प्रायश्चित्तम्। व्य० १० उ०। (विशेषविस्तरस्तु 'वोच्छेय' शब्दे वक्ष्यते) (कल्किराज्ये तीर्थं नष्टप्रायमासीदिति 'कक्कि' शब्दे तृतीयभागे १८१ पृष्ठे समुक्तम्)

तित्थाभिसेअ पुं०(तीर्थाभिषेक) लौकिकतीर्थस्नाने, अ०।

तित्थिय त्रि०(तीर्थिक) अन्यमतीये सम्मतपापे, आचा०१ श्रु० ८ अ०१ उ०।

तित्थुग्गालिय न०(तीर्थोद्गालिक) स्वनामख्याते प्रकीर्णके, तित्थु०।

''जयइ ससिपायनिम्मल-तिहुअणवित्थिण्णपुण्णजसकुसुमो।
उसभो केवलदंसण-दिवायरो दिट्ठिदट्ठव्वो ॥१॥
वावीसइं च निज्जिय-परीसहकसायविग्घसंघाया।
अजिआईया भविया-ऽरविंदरविणो जयंति जिणा ॥२॥
जयई सिद्धत्थनरिंदविमलकुलविपुलनहलियमयंको।
महिपालससिमहोरग-महिंदमहिओ महावीरो ॥३॥
नमिऊण समणसंघं, सुनायपरमत्थपायडं वियडं।
वोच्छं निच्छयजुत्तं, तित्थुग्गालीऐं संखेवं ॥४॥
रायगिहे गुणसिलए, भणिया वीरेण गणहराणं तु।
पयसयसहस्समेयं, वित्थरओ लोगनाहेणं ॥५॥
अइसंखवं मोत्तुं, मोत्तूण पवित्थरं अहं भणिमो।
अप्पक्खरं महत्थं, जह भणियं लोगनाहेणं ॥६॥
कालो उ अणाईओ, पवाहरूवेण होइ नायव्वो।
निहणविहूणो सो चिय, वारसअंगेहिँ निद्दिट्ठो ॥७॥''तित्थु०।

''एसा य पयसहस्सेण वन्निया समणगंधहत्थीणं।
पुट्ठेण य रायगिहे, तित्थुग्गाली उ वीरेणं ॥१२४५॥
सोउं तित्थुग्गालिं, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।
पणमह सुगइगयाणं, सिद्धाणं निट्ठितट्ठाणं ॥१२४६॥
भद्दं सव्वजगुज्जो-यगस्स भद्दं जिणस्स वीरस्स।
भद्दं सुरासुरनमंसियस्स भद्दं धुयरयस्स ॥१२४७॥
गुणभवणगहण! सुयरयण! भरियदंसण! विसुद्धरत्थागा!
संघनगर! भद्दं ते, अक्खंडचरित्तपागारा! ॥१२४८॥
जं उट्ठितं सुयाओ, अहव गतीए जथोवदेसेणं।
तं च विरुद्धं नाउं, सोहेयव्वं सुयधरेहिं ॥१२४९॥
मणपरमोहिपुलाए, आहारगखवगउवसमे कप्पे।
संजमतियकेवलिसिज्झणा उ जंबुम्मि विच्छिन्ना ॥१२५०॥
पुव्वाणं अणुओगो, संघयणं पढमं च संहाणं।

सुहुमसहापाणाणि य, वोच्छिन्ना थूलभद्दम्मि ॥१२५१॥
दसपुव्वा वोच्छिन्ना, संपुन्ना सुरभवम्मि संपत्ते।
वयरम्मि महाभागे, संघयणं अद्धनारायं ॥१२५२॥
वीसतिणेहि कप्पे, पंच गहाणी उ कप्पठवणा य।
नवसयतियणउएहि, वोच्छिन्ना संघआणाए ॥१२५३॥
तीर्थोद्गालिकारिसिद्धान्तः।
तेतीसं गाहाओ, दोन्नि सयाऊ सहस्समेगं च।
तित्थुग्गालियसंखा, एसा भणिया उ अंकेणं '' ॥१२४४॥ तित्थु०।

तित्थुण्णतिकारग त्रि०(तीर्थोन्नतिकारक) प्रवचनप्रभावनाकारिणि, पञ्चा० ८ विव०।

तित्थुदय पुं०(तीर्थोदय) तीर्थकरनामोदये, यतः सयोग्यादौ तीर्थकरनामोदयो भवति। यदुक्तम्-''उदग जस्स सुरासुरनरवइनि-व्वहेहिं पुइओ होइ। तं तित्थयरं नामं, तस्स विवागो हु केवलिणो ॥१॥'' ततः पूर्वोक्तैकचत्वारिंशति तीर्थकरनाम क्षिप्यते, जाता द्विचत्वारिंशत्, सा च सयोगिनि भवतीति। (२१) कर्म० २ कर्म०।

तित्थेस पुं०(तीर्थेश) तीर्थस्य प्रागुक्तस्य, तदाऽऽधेयस्याऽऽगम-स्य वा, ईं लक्ष्मीं महिमानं, श्यति तत्तदसद् भूतदूषणोद्घोषणैः स्वाभिप्रायेण तनूकरोति यः सः तीर्थेशः। तीर्थान्तरीये बहिरङ्गापकारिणि, (रत्ना०) तीर्थस्य चतुर्वर्णस्य श्रीश्रमणसङ्घस्येशः स्वामी तीर्थेशः। तीर्थंकरे, रत्ना० १ परि०।

तिदंड न०(त्रिदण्ड) त्रयाणां दण्डानां समाहारस्त्रिदण्डम्। त्रयाणां दण्डानां समाहारे, औ० भ०।

तिदंडि(ण्) पुं०(त्रिदण्डिन्) मनोवाक्कायदण्डत्रयपरिज्ञानार्थं दण्डत्रयधारके वेदान्तावलम्बिश्रमणभेदे, आ०म० १ अ०२ खण्ड। सूत्र०। (नमस्कारफले त्रिदण्ड्युदाहरणं 'णमोक्कार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८४४ पृष्ठे गतम्)

तिदसावास पुं०(त्रिदशावास) देवलोके, प्रा० ढुंढी० ४ पाद।

तिदिस न०(त्रिदिश्) त्रिस्रो दिशः समाहृतास्त्रिदिक्। दिक् त्रये, रा०।

तिध अव्य०(तथा) **''कथं-यथा-तथां थाऽऽदेरेमेहेधा डितः'' ॥८।४।४०१॥** इत्यपभ्रंशे थादेरवयवस्य डित्संज्ञकः 'इध' इत्यादेशः। प्रा०४ पाद। साम्ये, अभ्युपगमे, पृष्टप्रतिवाक्ये, समुच्चये, निश्चये च। वाच०।

तिपरिवत्त त्रि०(त्रिपरिवर्त्त) त्रिभिर्वारैर्वेष्टनीये, बृ०३उ०।

तिपह न०(त्रिपथ) त्रयाणां पथां समाहारे, वाच० अनु०।

तिपायण न०(त्रिपातन) 'कायवयमणा तिन्नि उ, अहवा देहा उ इंदिया पाणा। सामित्ता वायाणे, होयऽतिवाओ य करणेसुं ॥६४॥' इत्युक्तलक्षणे प्राणिविनाशे, पिं०। त्रीणि कायवाङ्मनांसि, यद्वा-त्रीणि देहाऽऽयुरिन्द्रियलक्षणानि। पातनं चातिपातो, विनाश इत्यर्थः। अत्र च त्रिधा समासविवक्षा। तद्यथा-षष्ठीतत्पुरुषः, पञ्चमीतत्पुरुषः, तृतीयातत्पुरुषश्च। तत्र षष्ठीतत्पुरुषोऽयम्-त्रयाणां कायवाग्मनसां पातनं विनाशनं त्रिपातनम्। एतच्च परिपूर्णगर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामवसेयम्, एकेन्द्रियाणां तु कायस्यैव केवलस्य, विकलेन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणां तु कायवचसोरे-वेति। यद्वा-त्रयाणां देहाऽऽयुरिन्द्रियरूपाणां पातनं विनाशनं त्रिपातनम्। इदं च सर्वेषामपि तिर्यग्मनुष्याणां परिपूर्ण घटते, केवलं यथा येषां सम्भवति तथा तेषां वक्तव्यम्, यथा एकेन्द्रियाणां देहस्यौदारिकस्य आयुषस्तिर्यगायूरूपस्येन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य, द्वीन्द्रियाणां देहस्यौ दारिकरूपस्य आयुषस्तिर्यगायुष इन्द्रिययोश्च स्पर्शनरसनलक्षणयोरित्यादि। पञ्चमीतत्पुरुषस्त्वयम्-त्रिभ्यः कायवाङ्मनोभ्यो, देहाऽऽयुरिन्द्रियेभ्यो वा पातनं च्यावनमिति त्रिपातनम्। अत्राऽपि त्रिभ्यः परिपूर्णेभ्यः कायवाङ् मनोभ्यः पातनं गर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्याणाम्, एकेन्द्रियाणां तु कायादेव केवलात्, विकलेन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणां तु कायवाग्भ्यामिति, देहाऽऽयुरिन्द्रियरूपेभ्यः पातनं सर्वेषामपि परिपूर्ण सम्भवति। तथा तेषां प्रागिव वक्तव्यम्। तृतीयातत्पुरुषः पुनरयम्-त्रिभिः कायवाङ्म नोभिर्विनाशकेन स्वसम्बन्धिभिः पातनं विनाशनं त्रिपातनम् ॥६२॥ ('आधाकम्म' शब्दे द्वि०भा० २२० पृष्ठेऽपि व्याख्यैषा) पिं० प्रश्न० सूत्र०।

तिपुंज न०(त्रिपुञ्ज) शुद्धाशुद्धमिश्रपुञ्जत्रये, विशे०। ''आलंवण-मलहंती, जह सङ्घाणं न मुंचए इलिआ। एवं अकयतिपुंजी, मिच्छं चिअ उवसमी एइ ॥१॥'' ध०२ अधि०।

तिपुक्खर न०(त्रिपुष्कर) त्रीणि पुष्कराणि त्रिपुष्करम्। ''संख्यापूर्वो द्विगुः'' ॥२।१।५२। इति समासः। अनु०। ''वाराः क्रूरास्तिथिर्भद्रा, नक्षत्रं भग्नपादकम्। जातेऽत्र जारजो योगो, मरणेऽत्र त्रिपुष्करम् ॥१॥'' इति ज्योतिषोक्ते योगभेदे, पुं०। वाच०।

तिपुड पुं०(त्रिपुट) त्रयः पुटा यस्य। खेसारीकलापभेदे, शरे, तालकयन्त्रे, गोक्षुरे, हस्तभेदे च। सूक्ष्मैलायाम्, मल्लिकायाम्, त्रिवृदोषधौ, कर्णस्फोटायां, देवीभेदे च। स्त्री०। टाप्। वाच०। जं० ५ वक्ष०।

तिपुर पुं०(त्रिपुर) त्रीणि स्वर्गाऽऽदिस्थानानि पुराण्यस्य। असु-रभेदे, वाच०। त्रीणि पुराणि त्रिपुरम्। ''संख्यापूर्वो द्विगुः'' ॥२।१।५२॥ इति समासः। अनु०। पुरत्रयमात्रे, न०। वाच०।

तिप्प त्रि०(तृप्त) ''इत्कृपाऽऽदौ'' ॥८।१।१२८॥ इति ऋत इत्वम्। प्रा०१ पाद। अतिशयोपभोगेन निवृत्तेच्छे, आचा०१ श्रु०२अ० ५उ०।

***तृप्** धा० । भ्वा०-आत्म० । क्षरणे, आचा०१ श्रु० २अ०५ उ०। ''तिप्पाडि वा पीडामि वा।'' (तिप्पाडि त्ति) शरीरबलं क्षरामि। सूत्र०२ श्रु०१ अ०। ''तिप्पंति।'' सुखाद्यया वयन्त्यात्मानं, परांश्च। सूत्र०२ श्रु०२अ०।

तिप्पणया स्त्री०(तेपनता) तिपेः क्षरणार्थत्वादश्रुमोचने, भ० २५ श०७उ०। स्था०। शोकातिरेकादेव अश्रुलालाऽऽदिक्षरणप्रापणायाम्, भ०३श०३उ०। आर्तध्यानलक्षणे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०। परिदेवने, सूत्र०२ श्रु०४ अ०। त्रिभिर्योगैः परितापे, आ०चू० ४अ०।

***त्रिपातनता** स्त्री०। त्रिभ्यो मनोवाक्कायेभ्यः पातनं त्रिपातनं, तद्भावस्त्रिपातनता। त्रिपातनभावे, सूत्र०२ श्रु०४अ०।

तिभाग पुं०(त्रिभाग) तृतीयो भागस्त्रिभागः। मयूरव्यसकाऽऽदित्वात्समासः। तृतीयेंऽशे, कर्म० २ कर्म०।

तिमहुर न०(त्रिमधुर) त्रीणि मधुराणि समाहृतानि त्रिमधुरम्। ''संख्यापूर्वो द्विगुः'' ॥२।१।५२॥ इति समासः। अनु०। घृतसितामाक्षिकरूपे मधुरत्रये, वाच०।

तिमि पुं०(तिमि) मत्स्यभेदे, प्रज्ञा०१ पद। जी०। कल्प०। ''अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम, शतयोजनविस्तरः। तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति, तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः ॥१॥'' सूत्र २ श्रु०३अ०। समुद्रे,वाच०। महामत्स्ये, प्रश्न० १आश्र० द्वार।

तिमिंगिल पुं०(तिमिङ् गिल) तिमिं मत्स्यं गिरति। 'गृ' निगरणे। खश्, मुम् च। ''अस्ति मत्स्यस्तिमिनाम, तथा चास्ति तिमिङ्गिलः।'' वाच०। मत्स्यभेदे, प्रज्ञा०१ पद। मीने, दे०ना० ५ वर्ग १३ गाथा। कल्प०। सूत्र०। जी०। महामत्स्यतमे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

तिमिंगिलगिल पुं०(तिमिङ्गिलगिल) महामत्स्ये, सूत्र०२ श्रु० ६ अ०।

तिमिच्छाओ (देशी) कश्चिदित्यर्थे, पथिके च। दे०ना० ५ वर्ग १३ गाथा।

तिमिण (देशी) आर्द्रदारुणि, दे०ना० ५ वर्ग ११ गाथा।

तिमिर न०(तिमिर) अन्धकारे, कल्प०३ क्षण। ''जदा कण्हचउ-द्दसीए रातीए रयरेणुधूमिगा भवति, तदा तम्मि तिमिरं भण्णति। अहवा-पित्तुदएण दव्वचक्खिदियस्संतरकरणं भवति।'' नि०चू० ४उ०। निकाचिते कर्मणि, ध०२ अधि०। विज्ञानाल्पतायाम्, बहलापरिज्ञाने, आ०चू० ५ अ०। पर्वतकवनरपतिभेदे, प्रज्ञा० १पद।

तिमिरिच्छ (देशी) करञ्जद्रुमे, दे०ना० ५ वर्ग १३ गाथा।

तिमिला स्त्री०(त्रिमिला) तूर्यभेदे, औ०।

तिमिसगुहा स्त्री०(तिमिस्रगुहा) वैताढ्यगुहायाम्, यया स्वक्षेत्रा-च्चक्रवर्त्ती चिलातक्षेत्रं याति। स्था०६ठा०। ताश्च भरतैरवतवर्षयो-र्दीर्घवैताढ्ययोर्द्वे, कच्छाऽऽदिद्वात्रिंशद्विजयेषु द्वात्रिंशदित्येवं चतु-स्त्रिंशज्जम्बूद्वीपे। (स्था० ८ ठा०) एवं धातकीखण्डे, पुष्करार्द्धे च प्रत्येकमष्टषष्टिस्तासां प्रमाणम्। स्था०२ ठा० ३उ०। तत्र कृतमा-लको देवः। स्था०२ ठा०३ उ०। स०। जं०। आ०क०। (तत्र भरत-चक्रिगमनं 'भरह' शब्दे वक्ष्यते) ''तिमिसगुहा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं।'' स्था०८ ठा०।

तिमिसगुहाकूड पुं०। न०।(तिमिस्रगुहाकूट) तिमिस्रगुहाऽधिपदेवस्य निवासभूतं कूटं तिमिस्रगुहाकूटम्। वैताढ्यपर्वतस्य तृतीये कूटे, जं०१ वक्ष०। स्था०।

तिमुह त्रि०(त्रिमुख) त्रिभिर्मुखैर्युक्ते, प्रव० २६ द्वार।

तिम्म न०(तिम्म) तिज्-मक्, जस्य गः। **''ग्मो वा''** ॥८।२।६२॥ इति म्मस्य विकल्पेन मकारः। प्रा०२ पाद। तीक्ष्णे, तद्वति, त्रि०। वाच०।

तिय न०(त्रिक) त्रित्वसंख्यायाम्, रा०। आ०म०। त्रिपथयुक्ते स्थाने, ज्ञा०१ श्रु० १अ०।

***त्रिज** त्रि०। त्रिभ्यो धातुमूलजीवलक्षणेभ्यो जातं त्रिजम्। सर्व-स्मिन् वस्तुनि, विशे०।

तियंकर पुं०(त्रिकङ्कर) स्वनामख्याते क्षपके, पिं०। (तदुदाहरणं 'सुद्धपरिणाम' शब्दे वक्ष्यते)

तियणाण न०(त्र्यज्ञान) त्रयाणामज्ञानानां समाहारइत्र्यज्ञानम्। मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपे, कर्म० ४ कर्म०।

तियस पुं०(त्रिदश) तिस्रो दशा जन्मसत्ताविनाशाऽऽख्याः, न तु वृद्धिपरिणामक्षया मर्त्यानामिव दशा येषां ते त्रिदशाः। देवेषु, वाच०। आ०म०।

तियसलोग पुं०(त्रिदशलोक) स्वर्गे, वाच०। आ०म०।

तियसिंदणमंसिय त्रि०(त्रिदशेन्द्रनमस्थित) त्रिदशाः सुमनस-स्तेषामिन्द्रास्त्रिदशेन्द्रास्तैर्नमस्थितः। देवेन्द्रनते, ग०१ अधि०।

तिरयणमाला स्त्री०(त्रिरत्नमाला) ज्ञानदर्शनचारित्ररूपरत्नत्रय-मालायाम्, संथा०। ''चारित्तसुद्धसाला, तिरयणमाला तुमे भव्वा।'' संथा०।

तिरासि न०(त्रिराशि) जीवाजीवनोजीवभेदात्रयो राशयः समाहृतास्त्रिराशि। राशित्रये, स्था०७ ठा०।

तिरिअजोणि पुं०(तिर्यग्योनि) तिरश्चामुत्पत्तिस्थाने, प्रज्ञा० १ पद।

तिरिअंच त्रि०(तिर्यक्) चतुर्थगतिके तिरश्चां वैक्रियशरीरकरणं मूलशरीरेण सह संबद्धमसंबद्धं वा स्यादिति प्रश्ने, उत्तरम्-संबद्धमसंबद्धं च भवतीति ।८३ प्र०। सेन०२ उल्ला०। युगलिकक्षेत्रतिर्यञ्चः कल्पवृक्षाऽऽहारं कुर्वन्त्यन्यद्वेति प्रश्ने, उत्तरम्-गोप्रभृतयः कल्पवृक्षाऽऽहारं कुर्वन्ति, तथाऽन्यद् धान्यतृणाऽऽदिकमपि कुर्वन्तीति संभाव्यत इति। ५६ प्र०। सेन०४ उल्ला०।

तिरिक्ख त्रि०(तिर्यक्) 'अञ्चु' गतौ। तिरोऽञ्चतीति तिर्यङ्, तिरस्तिर्यादेशः। प्रज्ञा०१ पद। चतसृणा गतानां चतुर्थतिमापन्ने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

तिरिक्खजोणिय पुं०(तिर्यग्योनिक) तिर्यग्लोके योनय उत्पत्ति-स्थानानि येषां ते तिर्यग्योनिकाः। जी०१ प्रति०। स्था०। ''तिरिक्खजोणिया तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा।'' स्था०३ ठा०१उ०।

***तिर्यग्योनिज** पुं०। तिर्यग्लोके योनयस्तिर्यग्योनयः, तत्र जास्ति-र्यग्योनिजाः। जी०१ प्रति०। जीवभेदे, स्था०८ ठा०। जी०। ''तिविहा तिरिक्खजोणिया पण्णत्ता। तं जहा-इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा।'' स्था०३ ठा०१उ०। तिर्यक् त्वकारणानि-''चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति। तं जहा-माइल्लयाए, नियडि-ल्लयाए, अलियवयणेणं, कूडतुलाकूडमाणेणं।'' स्था०४ ठा०४उ०।

***तैर्यग्योनिक** त्रि०। तैरिश्चे तिर्यग्योनिकृते, स्था०४ ठा०४ उ०।

तिरिक्खपयइ(ण्) त्रि०(तिर्यक्प्रचयिन्) परस्परसमानाधिकरणत्वे सति परस्परसमानकालीने, यथा रूपरसाऽऽदयः, अणुत्वस्थौल्या-ऽऽदयश्च। नयो०।

तिरिक्खभूय त्रि०(तिर्यग्भूत) पशुकल्पे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

तिरिक्खसामण्ण न०(तिर्यक्सामान्य) तिर्यगुल्लेखिनाऽनुवृत्ता-कारप्रत्ययेन गृह्यमाणे, रत्ना०।

तिर्यक्सामान्यस्य स्वरूपं सोदाहरणमुपदर्शयन्ति–

प्रतिव्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक्सामान्यं, शबलशाबले–याऽऽदिपिण्डेषु गोत्वं यथा ॥४॥

व्यक्तिं व्यक्तिमधिश्रित्य समाना परिणतिस्तिर्यक् सामान्यं विज्ञेयम्। अत्र सौगताः संगिरन्तेगौर्गौरित्याद्यनुगताऽऽकारप्रतिपत्तेरन्यव्यावृत्तिमात्रेणैव व्यक्तिषु प्रसिद्धेरनवसर एव सदृशपरिणामस्वरूपसामान्यस्वीकारः। सर्वतो व्यावृत्तानि हि स्वलक्षणानि न मनागप्यात्मानमन्येन मिश्रयन्तीति । तदेतन्मरुमरीचिकाचक्रोदकाचान्तयेऽञ्जलिपुटप्रसारणम्। यत इयमन्यव्यावृत्तिर्बहिः, अन्तर्वा भवेत्। तत्र खण्डमुण्डाऽऽदिविशेषप्रतिष्ठैकान्यव्यावृत्तेर्बहिः सद्भावे सामान्यरूपता दुर्निवारा। आन्तरत्वे तु तस्याः कथं बहिरर्थाभिमुख्येनोल्लेखः स्यात्? नान्तः, बहिर्वा सेत्यपि स्वाभिप्रायप्रकटनमात्रम्। तथाभूतं ह्यन्यव्यावृत्तिस्वरूपं किञ्चित्, न किञ्चिद्वा । किञ्चिच्चेत्,नूनमन्तर्बहिर्वा तेन भाव्यं, तत्र च प्रतिपादि–तदोषानतिक्रमः । न किञ्चिच्चेत्, कथं तथाभूतप्रत्ययहेतुः? वासनामात्रनिर्मित एवायमिति चेत्, तर्हि बहिरर्थापेक्षा न भवेत्। न ह्यन्यकारणको भावोऽन्यदपेक्षते, धूमाऽऽदेः सलिलाऽऽद्यपेक्षाप्रसङ्गात्। किं च–वासनाऽप्यनुभूतार्थविषयैवोपजायते। न चात्यन्तासत्त्वेन त्वन्मते सामान्यानुभवसम्भवः। अपि च–वासना तथाभूतं प्रत्ययं विषयतयोत्पादयेत्, कारणमात्रतया वा? प्राचि पक्षे सकलविशेषानुयायिनी पारमार्थिकी परिच्छेद्यस्वभावा वासनेति पर्यायान्तरेण सामान्यमेवाऽभिहितं भवेत्। कारणमात्रतया तु वासनायाः सदृशप्रत्ययजनने विषयोऽस्य वक्तव्यः, निर्विषयस्य प्रत्ययस्यैवासंभवात्। न च सदृशपरिणामं विमुच्यापरस्त–द्विषयः संगच्छते, प्रागुदीरितदोषानुषङ्गात्। किं च– इयमन्यव्या–वृत्तिः स्वयमसमानाऽऽकारस्य, समानाऽऽकारस्य वा वस्तुनः स्यात्। प्राक्तनविकल्पकल्पनायामतिप्रसङ्गः, कुरङ्गतुरङ्गतरङ्गाऽऽदिष्वपि तत्संभवाऽऽपत्तेः, तथा च तेष्वनुगताऽऽकारैकप्रत्ययानुषङ्गः । स्वयं समानाऽऽकारस्य तु वस्तुनोऽभ्युपगमे समुपस्थित एवायमतिथिः सदृशपरिणामः कथं पराणुद्यताम् ? ननु यया प्रत्यासत्त्या केचन भावाः स्वयं सदृशपरिणामं बिभ्रति, तयैव स्वयमत–दात्मका अपि सन्तस्तथा किं नावभासेरन्निति चेत्? तदनुचितम्। चेतनेतरभेदाभावप्रसङ्गात्। ययैव हि प्रत्यासत्त्या चेतनेतरस्वभा–वान् भावाः स्वीकुर्वन्ति, तयैव स्वयमतदात्मका अपि सन्तस्तथा किं नावभासेरन्नित्यपि ब्रुवाणस्य ब्रह्माद्वैतवादिनो न वक्त्रं वक्रीभवेत्। चेतनेतरव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽसत्त्वात्कथमस्य तथावभासनम् ? इत्यन्यत्राऽपि तुल्यम्। न खलु सदृशपरिणामशून्यं स्वलक्षणमप्यस्ति, यत्तथाऽवभासेत । ननु स्वलक्षणस्य विसदृशाऽऽकाराऽऽत्मनः सदृशपरिणामाऽऽत्मकत्वं विरुध्यते। नैवम्। ज्ञानस्य चित्राऽऽकारतावद्विकल्पेतराऽऽकारतावच्चैकस्योभयाऽऽत्मकत्वाविरोधात्। ततो व्यावृत्तप्रत्ययहेतुर्विसदृशाऽऽकारतावद् वस्तुनः सदृशपरिणामाऽऽत्मकत्वमप्यनुयायिप्रत्ययहेतुः स्वीकार्यम् ॥४॥ रत्ना० ५ परि०।

तिर्यक्सामान्यलक्षणमाह–

तुल्या परिणतिर्भिन्न–व्यक्तिषु यत्तदुच्यते ।
तिर्यक्सामान्यमित्येव, घटत्वं तु घटेष्विव ॥५॥

यद् भिन्नव्यक्तिषु भिन्नप्रदेशविशेषेषु, तुल्या समाना एकरूपा एकाकारा परिणतिः द्रव्यशक्तिः, तत्तिर्यक्सामान्यमुच्यते। यथा–घटेषु घटत्वम्, गोषु शाबलेयाऽऽदिषु गोत्वम्, अश्वेषु अश्वत्वं तिष्ठति सामान्यभूतम्, तथा अनेकाऽऽकारघटसहस्रेष्वपि घटत्वमेवेति तिर्यक्सामान्यमिति। अत्र कश्चिदाह–यद् घटाऽऽदिभिन्नव्यक्तिषु यथा घटत्वाऽऽदिकं सामान्यमेकमेवास्ति, तथा पिण्डकुशूलाऽऽदिभिन्नव्यक्तिषु मृदादिसामान्यमेकमेवास्ति तर्हि तिर्यक्सामान्योर्द्धतासामान्ययोः को विशेषः? तत्राऽऽह–यत्र देशभेदेन या एकाऽऽकारा प्रतीतिरुत्पद्यते, तत्र तिर्यक्सामान्यमभिधीयते। यत्र पुनः कालभेदेन अनुगताऽऽकारा प्रतीतिरुत्पद्यते, तत्र ऊर्द्धता–सामान्यमभिधीयत इति । एवं सति दिगम्बरानुसारी कश्चिदुक्ति–षण्णां द्रव्याणां कालपर्यायरूप ऊर्द्धताप्रचयः, कालं विना पञ्चद्रव्याणामवयवरांघातरूपस्तिर्यक्प्रचयश्चास्ति। एवं वदतां तेषां मते तिर्यक्प्रचयस्याऽऽधारो घटाऽऽदिस्तिर्यक्सामान्यं भवति । तथा परमाणुरूपप्रचयपर्यायाणामाधारो भिन्न एव युज्यते, तस्मात्पञ्चद्रव्याणां स्कन्धदेशप्रदेशभावेन एकानेकव्यवहार उत्पादनीयः; परं तु तिर्यक्प्रचय इति नामान्तरमप्रयोजकं,वालुकापेषवत्, इति नियमः ॥५॥ द्रव्या० २ अध्या०।

तिरिच्छ त्रि०(तिरश्चीन) तिर्यक्–स्वार्थे खः। तिर्यग्गते, ''गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः'' इति माघः। वाच०। आचा०। नि०चू०।

तिरिच्छसंतारिमा स्त्री०(तिरश्चीनसन्तारिमा) लाङ्गूलवद्गुजगामिन्यां नौकायाम्, नि०चू०१ उ०।

तिरिच्छसंपातिम त्रि०(तिरश्चीनसंपातिम) तिर्यग्गामिनि, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०३उ०।

तिरिच्छि त्रि०(तिर्यच्) **''तिर्यचस्तिरिच्छिः''** ॥८।२।१४३॥ इति तिर्यच्छब्दस्य 'तिरिच्छि' इत्यादेशः। प्रा०२ पाद। वक्रे, वाच०।

तिरिड पुं०(देशी) तिमिरवृक्षे, दे०ना० ५ वर्ग ११ गाथा।

तिरिमिअ (देशी) तिमिरयुक्ते, विचिते च। दे०ना० ५ वर्ग २१ गाथा।

तिरिडी (देशी) उष्णवाते,दे०ना० ५ वर्ग १२ गाथा।

तिरिदुग न०(तिर्यग्द्विक) तिर्य्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपे, कर्म० ५ कर्म०।

तिरिय त्रि०(तिर्यक्) चतसृषु गतिषु चतुर्थगतिमापन्ने, सूत्र० १ श्रु०३ अ०१ उ०। स्था०। कर्म०। आचा०। औ०। संथा०। तिर्यग्लोके, स्था०३ ठा०४उ०। मध्ये, अनु०।

***तीरित** त्रि०। पारं प्रापिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार। अन्तं प्रापिते, व्य०६ उ०। ''पडिमा तीरिया किट्टिया।'' तीरं पारं नीता पूर्णेऽपि कलाऽवधौ किञ्चित्कालावस्थानेन। स्था०७ ठा०।

तिरियंकट्टु अव्य०(तिर्यक्कृत्वा) अपहस्तयित्वेत्यर्थे , सूत्र०१ श्रु०३ अ०३उ०।

तिरियंगोरवपरिणाम पुं०(तिर्यग्गौरवपरिणाम) आयुःपरिणामभेदे, येन आयुःस्वभावेन जीवस्य तिर्यग् दिशि गमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति। प्राकृतत्वादनुस्वारः। स्था० ६ ठा०।

तिरियगइ स्त्री०(तिर्यग्गति) तिर्यक्षु तिरश्चां तिर्यक्त्वप्रसाधिका गतिस्तिर्यग्गतिः । स्था०५ ठा०३उ०। तिरोऽञ्चन्ति गच्छ–

न्तीति तिर्यञ्चः। व्युत्पत्तिनिमित्तं चैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तिर्यग्गति–नाम। एते चैकेन्द्रियाऽऽदयः, ततस्तिर्यक्षु विषये गतिस्तिर्यग्गतिः। कर्म० ४ कर्म०। तिर्यङ्नामकर्मोदयसंपाद्ये तिर्यक्त्वलक्षणे पर्यायविशेषे, स्था० १० ठा०। तिर्यक्परिभ्रमणे, चं०प्र०।

कथं सूर्यस्तिर्यक् परिभ्रमतीति ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह -

ता कहं ते तिरियगती आहिया ति वदेज्जा? तत्थ खलु इमाओ अट्ठ पडिवत्तीओ पण्णत्ता। तं जहा–तत्थेगे एवमाहंसुता पुरच्छिमिल्लातो लोयंताओ पातो मरीइसंघाए आगासंसि उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, तिरितं करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि लोगंसि सायं मरीइसंघाए आगासंसि विद्धंसति, एगे एवमाहंसु ॥१॥

एगे पुण एवमाहंसु–ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए आगासातो उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्तिा पच्चच्छिमिल्लंसि लोगंतंसि साय सूरिए आगासंसि विद्धंसति, एगे एवमाहसु ॥२॥

एगे पुण एवमाहंसुता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए सयावट्ठाई आगासातो उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता सायं अहे आगासमणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता अहे पडिआगच्छइ, अहे पडिआगच्छित्ता पुणरविअवरभुओ पुरच्छिमिल्लाओ लोयंताओ पातो सूरिए आगासाओ उत्तिट्ठति, एगे एवमाहंसु ॥३॥

एगे पुण एवमाहंसुता पुरच्छिमिल्लाओ लोगंतातो पातो सूरिए पुढवियातो उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि लोगंसि सायं सूरिए पुढविकायंसि विद्धंसति, एगे एवमाहंसु ॥४॥

एगे पुण एवमाहंसु–ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए पुढवियातो उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि लोगंसि सायं सूरिए पुढविकायं अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता पुढविअहे पडिआगच्छति, अहे आगच्छित्ता पुणरवि अवरभुओ पुरच्छिमिल्लातो लोयंतातो पातो सूरिए पुढवियातो उत्तिट्ठति, एगे एवमाहंसु ॥५॥

एगे पुण एवमाहंसु–ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए आउक्कायंसि उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि लोगंसि सायं सूरिए आउक्काए विद्धंसति, एगे एवमाहंसु।६।

एगे पुण एवमाहंसुता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए आउक्कायंसि उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि सायं सूरिए आउक्कायं अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता अहे पडिआगच्छति, अहे पडिआगच्छित्ता पुणरवि अवरभुओ पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए आउक्कायंसि उत्तिट्ठति, एगे एवमाहंसु ७।

एगे पुण एवमाहंसु–ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो बहूइं जोयणाइं, बहूइं जोयणसयाइं, बहूइं जोयणसहस्साइं दूरं उड्ढं उप्पतित्ता एत्थ णं पातो सूरिए आगासातो उत्तिट्ठति, से णं इमं दाहिणड्ढं लोगं तिरियं करेति, करेत्ता उत्तरड्ढं लोगं तमेव रातो, से णं इमं उत्तरड्ढं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता दाहिणड्ढं लोगं तमेव रातो, से णं इमाइं दाहिणुत्तरलोगाइं तिरितं करेति, करेत्ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो बहूइं जोयणाइं तं चेव ०जाव दूरं उड्ढं उप्पतित्ता, एत्थ णं पातो सूरिए आगासातो उत्तिट्ठति, एगे एवमाहंसु ८।

वयं पुण एवं वयामो–ता जंबुद्दीवस्स दीवस्स पाईणपडीणा–यताए उदीणदाहिणायताए जीवाए मंडलं चउव्वीसेणं सत्तेणं छेत्ता दाहिणपुरच्छिमंसि उत्तरपच्चच्छिमंसि य चउब्भाग-मंडलंसि इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जातो भूमि–भागातो अट्ठ जोयणसताइं उड्ढं उप्पतित्ता एत्थ णं पातो दुवे सूरिया आगासातो उत्तिट्ठंति, ते णं इमाइं दाहिणुत्तराइं जंबु–द्दीवभागाइं तिरितं करें ति, करेत्ता पुरच्छिमपच्चच्छिमाइं जंबु–द्दीवभागाइं तामेव रातो, ते णं इमाइं पुरच्छिमपच्चच्छिमाइं जंबुद्दीवभागाइं तिरितं करेंति, करेत्ता दाहिणुत्तराइं जंबुद्दीव–भागाइं तमेव रातो, ते णं इमाइं दाहिणुत्तराइं पुरच्छिमपच्चच्छि–माणि य जंबुद्दीवभागाइं तिरितं करेंति, करेत्ता पुरच्छिमपच्च–च्छिमाइं जंबुद्दीवस्स दीवस्स पाईणपडीणायता०जाव एत्थ णं पातो दुवे सूरिया आगासातो उत्तिट्ठंति।

(ता कहं ते तिरियगई इत्यादि) अस्त्यन्यदपि प्रभूतं प्रष्टव्यं, परमेतावदेव तावत् पृच्छामि–कथं 'ते' त्वया भगवन्! सूर्यस्य तिर्यग्गतिस्तिर्यक् परिभ्रमणमाख्यातमिति वदेत्? एवमुक्तो भगवान्–तद्विषये परतीर्थिकप्रतिपत्तिमिथ्याभावोपदर्शनाय प्रथमतस्ता एव प्रतिपत्तीरुपन्यस्यति (तत्थ खलु इत्यादि) तत्र तस्यां सूर्यस्य तिर्यग्गतौ तिर्यग्गतिविषये, खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपा अष्टौ प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ता। ता एव क्रमेणाऽऽह–(तत्थेगे इत्यादि) तत्र तेषां परतीर्थिकानामष्टानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः। 'ता' इति पूर्ववत्, पौरस्त्याल्लोकान्तात्, ऊर्द्धमिति गम्यते, पूर्वस्यां दिशीति भावार्थः। प्रातः प्रभातसमये मरीचिसंघातः, विकाशसंघात इत्यर्थः। आकाशे उत्तिष्ठति उत्पद्यते। एतेन एतदुक्तं भवति–नैतद्विमानं, नाऽपि रथो, नापि देवतारूपः सूर्यः, यथाऽपरे वदन्ति, किं तु किरणसंघात एवैष वर्तुलगोलाऽऽकारो लोकस्वाभाव्यात्प्रतिदिवसं पूर्वस्यां दिशि प्रातराकाशे समु–त्पद्यते, यतः सर्वत्र प्रकाशः प्रसरमधिरोहति। स इत्थम्भूतो मरी–चिसंघातः, उपर्युद्यतः सन्, णमिति वाक्यालङ्कारे। इमं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानं तिर्यग्लोकं तिर्यक् करोति। किमुक्तं भवति?–तिर्यक्परिभ्रमन् इमं तिर्यग्लोकं प्रकाशयतीति, तिर्यक्कृत्वा पश्चिमं लोकान्ते सायं सान्ध्ये समये तथाजगत् स्वाभाव्यात्स मरीचिसंघात आकाशे विध्वंसते ध्वंसमुपयाति। एवं सकलकालमपि

अत्रैवोपसंहारः–(एगे एवमाहंसु) १। एके पुनरेवमाहुः–पौरस्त्याल्लो–

क्रान्तादूर्द्ध , प्रातः सूर्यो लोकप्रसिद्धो देवतारूपो भास्करः, तथा जगत्स्वभाव्यादाकाशे उत्तिष्ठति उत्पद्यते, स चोत्पन्नः सन् इमं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानं मनुष्यलोकं तिर्यक्करोति तिर्यक्परिभ्रमति, लोकं प्रकाशयतीत्यर्थः । तिर्यक्कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते सायं सान्ध्ये समये आकाशे विध्वंसते। अत्रोपसंहारः–(एगे एवमाहंसु) २। एके पुनरेवमाहुः– पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध , प्रातः सूर्यो देवतारूपः सदाऽवस्थायी तथाविधपुराणशास्त्रप्रसिद्ध आकाशे उत्तिष्ठति उद्गच्छति, स चोद्गतः सन् इमं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानं मनुष्यलोकं तिर्यक्कृत्वा सायं सान्ध्ये समये अधः आकाशमनुप्रविशति, प्रविश्य च अधः प्रत्यागच्छति, अधोलोकं प्रका– शयन् प्रतिनिवर्तते इत्यर्थः । तन्मतेन हि भूरियं गोलाऽऽकारा, लोकोऽपि च गोलाऽऽकारतया व्यवस्थितः । इदं च सम्प्रति तीर्थान्तरीयेषु विजृम्भते, ततस्तद् गतपुराणशास्त्रादेतत् सम्यगवसेयम्। अस्य च त्रयो भेदाः । एके एवमाहुः–प्रातः सूत्र आकाशे उद् गच्छति। अपरे आहुः । पर्वतशिरसि । अन्ये आहुः–समुद्रे इति । तत्र प्रथमानामिदं नतमुपन्यस्तम् । अधः प्रत्यागत्य च पुनरप्यवरभुवोऽधो भुवः, पृथिव्या अधोभागेन विनिर्गत्येत्यर्थः । पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्ध्वमाकाशे प्रातः सूर्य उद्गच्छति। एवं सर्वदाऽपि द्रष्टव्यम्। अत्रोपसंहारः–(एगे एवमाहंसु) ३ । एके पुनरेवमाहुः–पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध प्रातः सूर्यो देवरूपः तथाविधः पुराणप्रसिद्धः पृथिवीकायमध्ये उदयभूधरशिरसि उत्तिष्ठत्युद्-गच्छति। स चोत्पन्नः सन्निमं मनुष्यलोकं तिर्यक् करोति, प्रकाशयतीत्यर्थः। तिर्यक् कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते सायं सान्ध्ये समये सूर्यः पृथिवीकाये अस्तमयभूधरशिरसि (विद्धंसति) विध्वंसमुपयाति । एवं प्रतिदिवसं सकलकालं जगतः । स्थितिः परिभावनीया । अत्रोपसंहारः– (एगे एवमाहंसु) ४ । एके पुनरेवमाहुः–पौरस्त्यात् लोकान्तादूर्द्ध प्रातः सूर्यो देवतारूपः सदाऽवस्थायी पृथिवीकाये उदयभूधरशिरसि उत्तिष्ठति उद्गच्छति, स चोद्गतः सन् इमं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानं मनुष्यलोकं तिर्यग् करोति, तिर्यक्कृत्वा पश्चिमलोकान्ते सायं सान्ध्ये समये पृथिवीकाय-मस्तमयभूधरमनुप्रविशति, प्रविश्य चाधः प्रत्यागच्छति, अधोभागवर्तिनं लोकं प्रकाशयन् प्रतिनिवर्तते । ततः पुनरप्यवरभुवोऽधो भुवः, पृथिव्या अधोभागाद्विनिर्गत इत्यर्थः । पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध प्रातः सूर्यः पृथिवीकाये उदय–भूधरशिरसि उत्तिष्ठति–उद्गच्छति, भूतभूगोलवादिनः परं पूर्व आकाशे उत्तिष्ठतीति प्रतिपन्नाः, एते तु पर्वतशिरसीत विशेषः। अत्रैवोपसंहारः–(एगे एवमाहंसु) ५ । एके पुनरेवमाहुः– पौरस्त्या–ल्लोकान्तादूर्द्ध प्रातः सूर्योऽप्काये पूर्वसमुद्रे उत्तिष्ठति उत्पद्यते, स चोत्पन्नः सन्निमं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानं लोकं तिर्यक्करोति, तिर्यग् कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते सायं सान्ध्ये समये सूर्योऽप्काये पश्चिमस–मुद्रे विध्वंसते, विध्वंसमायाति। एवं सर्वदाऽपि। अत्रोपसंहारः– (एगे एवमाहंसु) ६। एके पुनरेवमाहुः–पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध प्रातः सूर्यः सदाऽवस्थायी पुराणशास्त्रप्रसिद्धोऽप्काये पूर्वसमुद्रे उत्तिष्ठति उद्गच्छति, स चोद्गतः सन्निमं लोकं तिर्यक् करोति, तिर्यक् परिभ्रमन्निमं लोकं प्रकाशयतीत्यर्थः । तिर्यक् कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते सायं सान्ध्ये समये सूर्योऽप्कायं पश्चिमसमुद्रमनुप्रविशति, प्रविश्य चाधः प्रत्यागच्छति, अधोभागवर्तिनं लोकं प्रकाशयन् प्रतिनिवर्तते इति भावः । अधः प्रत्यागत्य चावरभुवोऽधः पृथिव्यधोभागाद्विनिर्गत्येत्यर्थः । पौरस्त्या-ल्लोकान्तादूर्द्ध , प्रातः सूर्योऽप्काये पूर्वसमुद्रे उत्तिष्ठति उद्गच्छति। एवं सकलकालमपि। अत्रैवोपसंहारः–(एगे एवमाहंसु) ७। एके पुनरेवमाहुः– पौरस्त्या–ल्लोकान्तादूर्द्ध प्रथमतो बहूनि योजनानि, ततः क्रमेण बहूनि योजनशतानि, तदनन्तरं क्रमेण बहूनि योजनसहस्राणि दूरमूर्द्ध–मुत्प्लुप्य बुद्ध्या गत्वा, अत्रास्मिन्नवकाशे प्रातः सूर्यो देवतारूपः सदाऽवस्थायी उत्तिष्ठति उद्गच्छति, स चोद्गतः सन् इमं दक्षिणार्द्धलोकं दक्षिणदिग्भाविनमर्द्धलोकं, दक्षिणलोकस्यार्द्धमित्यर्थः। तिर्यक् करोति, तिर्यक्परिभ्रमन्निमं दक्षिणलोकार्द्धं प्रकाशयतीत्यर्थः। दक्षिणं चार्द्धलोकं तिर्यक् कुर्वन् तदेवोत्तरमर्द्धलोकं रात्रौ करोति, ततः स सूर्यः क्रमेणेममर्द्धलोकम् उत्तरमर्धलोकं तिर्यक् करोति, तत्रापि तिर्यक्परिभ्रमन् उत्तरमर्द्धलोकं प्रकाशयतीत्यर्थः। उत्तरं चार्द्धलोकं तिर्यक्परिभ्रमणेन प्रकाशयन् तदेव दक्षिणमर्द्ध–लोकं रात्रौ करोति, ततः स सूर्य इमौ दक्षिणोत्तरार्द्धलोकौ तिर्यक् कृत्वा भूयाऽपि पौरस्त्या-ल्लोकान्तादूर्द्ध प्रथमतो बहूनि योजनानि गत्वा, ततः क्रमेण बहूनि योजनशतानि, तदनन्तरं बहूनि योजन–सहस्राणि दूरमूर्द्धमुत्प्लुत्य बुद्ध्या गत्वाऽत्रास्मिन्नवकाशे प्रातः सूर्य आकाशे उत्तिष्ठति उद्गच्छति । एवं सकलकालम् । अत्रोपसंहारमाह– (एगे एवमाहंसु) ८ । तदेवं परप्रतिपत्तीरुपदर्श्य सम्प्रति स्वमतमुप–दर्शयति–(वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञानाः केवलज्ञा–नेन यथावस्थितं वस्तूपलभ्य एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह– (ता इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्योपरि यद्वा तद्वा मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा, चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्यान् मण्डलान् परिकल्प्येत्यर्थः । भूयश्च प्राचीनप्रतीचीनाऽऽयतया उदीच्यदक्षिणाऽऽयतया जीवया प्रत्य–ञ्चया, दवरिकया इत्यर्थः । तत्तन्मण्डलं चतुर्विंशतिभागैर्विभज्य दक्षिणपौरस्त्ये उत्तरपश्चिमे च चतुर्भागमण्डले चतुर्भागे एकत्रिंश–द्भागप्रमाणे एतावति किल चतुरशीत्यधिकमपि मण्डलशतं सूर्य–स्योदये प्राप्यते इति। ''चउव्वीसेणं सएणं छित्ता चउब्भागमंडलंसि'' इत्युक्तम्। अस्याः प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाया रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणी-याद् भूमिभागादूर्ध्वम् , अष्टौ योजनशता–न्युत्प्लुत्य बुद्ध्या गत्वा, अत्रान्तरे प्रातर्द्वौ सूर्यौ उत्तिष्ठत उद्गच्छतः, दक्षिणपौरस्त्ये मण्डलचतुर्भागे भारतः सूर्य उद्गच्छति, अपरोत्तर–स्मिन् मण्डलचतुर्भागे ऐरावतः सूर्यः। तौ चेवमुद्गतौ भारतैरावतौ सूर्यौ यथाक्रममिमौ दक्षिणोत्तरौ जम्बूद्वीपभागौ तिर्यक् कुरुतः । किमुक्तं भवति? भारतः सूर्यो दक्षिण पौरस्त्यमण्ड-लचतुर्भागे उद्गतः सन् तिर्यक् परिभ्रमति, तिर्यक्परिभ्रमन् मेरोर्दक्षिणभागं प्रकाश–यति। ऐरावतः पुनः सूर्योऽपरोत्तरदिग्विभागे उद्गच्छति, स चोद्गतः सन् तिर्यक्परिभ्रमति, तिर्यक्परिभ्रमन् मेरोरुत्तरभागं प्रकाशयतीति । इत्थं च भारतैरावतौ सूर्यौ यदा मेरोर्दक्षिणोत्तरौ जम्बूद्वीपभागौ तिर्यक् कुरुतः, तदैव तौ पूर्वपश्चिमौ जम्बूद्वीपभागौ रात्रौ कुरुतः। एकोऽपि सूर्यस्तदा पूर्वभागं पश्चिमभागं वा न प्रकाशयतीत्यर्थः । दक्षिणोत्तरौ च भागौ तिर्यक् कृत्वा ताविमौ पूर्वपश्चिमौ जम्बूद्वीपभागौ तिर्यक्कुरुतः। इयमत्र भावना–ऐरावतः सूर्यो मेरोरुत्तरभागे तिर्यक्परिभ्रम्य तदनन्तरं मेरोरेव पूर्वस्यां दिशि तिर्यक्परिभ्रमति । भारतः सूर्यो मेरोर्दक्षिणतस्तिर्यक्प-रिभ्रम्य तदनन्तरं मेरोरेव पश्चिमे भागे तिर्यक्परिभ्रमतीति। इत्थं च यदा ऐरावतभारतसूर्यौ यथाक्रमं पूर्वपश्चिमभागौ तिर्यक् कुरुतः, तदैव दक्षिणोत्तरौ जम्बूद्वीपभागौ रात्रौ कुरुतः। एकोऽपि सूर्यस्तदा दक्षिणभागमु–

त्तरभागं वा न प्रकाशयतीति । तत इत्थं यथाक्रममैरावतभारतसूर्यौ पूर्वपश्चिमभागौ तिर्यक् कृत्वा यो भारतः सूर्यः, स उत्तरपश्चिमे मण्डलचतुर्भागे उदयमासादयति । यश्चैरावतः, स दक्षिणपौरस्त्ये मण्डलचतुर्भागे इति । एतदेवोपदर्शयन्नुपसंहारमाह–(ते णमित्यादि) भारतैरावतौ सूर्यौ प्रथमतो यथाक्रममिडौ दक्षिणोत्तरौ जम्बूद्वीपभागौ, ततो यथायोगं पूर्वपश्चिमौ जम्बूद्वीपभागौ, भारतः पश्चिमं भागं, ऐरावतः पूर्वभागमित्यर्थः । तिर्यग् कृत्वा जम्बूद्वीप–स्योपरि यद्वा तद्वा मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा भूयश्च प्राचीनप्रतीचीनाऽऽयतया उदीच्यदक्षिणाऽऽयतया च जीवया प्रत्यञ्चया, दवरिकया इत्यर्थः । चतुर्भिर्विभज्य यथायोगं दक्षिण–पौरस्त्ये उत्तरपश्चिमे वा मण्डलचतुर्भागे अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्ध्वम् अष्टौ योजनशतानिउत्प्लुत्यास्मिन्नवकाशे प्रातर्द्वौ सूर्यावाकाशे उत्तिष्ठत उद्गच्छतः, य उत्तरभागं पूर्वस्मिन्नहोरात्रे प्रकाशितवान्, स दक्षिणपौरस्त्ये मण्डलचतुर्भागे उद्गच्छति । यस्तु दक्षिणभागं प्रकाशयति स्म, स उत्तरपश्चिमे मण्डले चतुर्भागे । एवं सकलकालं जगतः स्थितिः परिभावनीया । चं०प्र०२ पाहु०।

तिरियतिग न०(तिर्यक् त्रिक) तिर्य्यग्गतितिर्य्यगानुपूर्वीतिर्यगाऽऽयुर्लक्षणे, कर्म०२ कर्म०।

तिरियदिसा स्त्री०(तिर्यग् दिशा) पूर्वाऽऽदिकासु दिक्षु, आव०६ अ०। एताश्चाष्टापि रुचकात्तिर्यक् प्रव्यूढत्वात्तिर्यग्दिश इति व्यवह्रियन्ते। आ०म० १अ०२खण्ड।

तिरियदिसिप्पमाणाइक्कम पुं०(तिर्यग्दिक् प्रमाणातिक्रम) तिर्यग्दिशि यावत्प्रमाणं परिगृहीत तस्यातिलङ्घने, आव०६ अ०। उपा०।

तिरियदिसिव्वय न०(तिर्यग्दिग्व्रत) तिर्यग्दिशः पूर्वाऽऽदिकास्ता–सां संबन्धि तासु वा व्रतं तिर्यग्दिग्व्रतम् । एतावती दिक् पूर्वेणावगाहनीया, एतावती दक्षिणेनेत्यादि, न परत इत्येवंभूते दिग्व्रते, आव०६ अ०।

तिरियदुग न०(तिर्यग् द्विक) तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीद्विके, कर्म० ५ कर्म०।

तिरियपव्वय पुं०(तिरश्चीनपर्वत) तिरश्चीनं पर्वतं तिरश्चीनपर्वतम्। गच्छतो मार्गावरोधके पर्वते, भ० १४ श० ५ उ०।

तिरियभित्ति स्त्री०(तिर्यग्भित्ति) तिरश्चीनायां प्राकारवरण्डका–ऽऽदिभित्तौ, भ०१४ श०५ उ०। आचा०।

तिरियलोग पुं०(तिर्यग्लोक) सातिरेकः । सप्तरज्जुप्रमाणोऽधोलो–कोर्ध्वलोकयोर्मध्ये अष्टादशयोजनशतप्रमाणस्तिर्यग्भागावस्थि–तत्वात्तिर्यग् लोकः । स्था०३ ठा०२उ०। लोकभेदे, अनु०।

पुव्वाणुपुव्वी अहोलीए, तिरियलोए, उड्ढलोए।

तयोश्चाधोलोकोर्द्धलोकयोर्मध्ये अष्टादश योजनशतानि तिर्यग्लोकः, समयपरिभाषया तिर्यङ् मध्ये व्यवस्थितो लोकस्तिर्यग्लोकः । अथवा–तिर्यक् शब्दो मध्यमपर्यायः, तत्र च क्षेत्रानुभावात्प्रायो मध्यमपरिणाम-वन्त्येव द्रव्याणि संभवन्त्यतस्तद्योगात्तिर्यङ् मध्यमो लोकस्तिर्यग्लोकः । अथवा–स्वकीयोर्द्धाधोभागात्तिर्यग्भागः एवातिविशालतयाऽत्र प्रधानम्, अतस्तेन व्यपदेशः कृतः, तिर्यग् भागप्रधानो लोकस्तिर्यग्लोकः ।

उक्तं च–

''मज्झणुभावं खेत्तं, जं तं तिरियं ति वयणपज्जवओ ।
भन्नइ तिरियं विसालं, अतो व तं तिरियलोगो त्ति ॥१॥''

(वयणपज्जवउ त्ति) मध्यानुभाववचनस्य तिर्यग्ध्वनेः पर्यायता–माश्रित्येत्यर्थः । अनु०। तिर्यग्लोकविभक्तिस्तु जम्बूद्वीपलवणसमु–द्रधातकीखण्डकालोदसमुद्रेत्यादिद्विगुणद्विगुणवृद्ध्या द्वीपसागर–स्वयम्भूरमणपर्यन्तस्वरूपनिरूपणम्। सूत्र०१ श्रु० ४अ०१उ०। आव०।

तिरियलोगचूला स्त्री०(तिर्यग्लोकचूडा) तिर्यग्लोकस्य चूडा तिर्यग्लोक-चूडा, तिर्यग्लोकातिक्रान्तत्वात् । अथवा–तिर्यग्लोक–प्रतिष्ठितस्य मेरोरुपरि चत्वारिंशद्योजना चूडा तिर्यग्लोकचूडा। तिर्यग्लोकोपरिभागे, नि०चू० १उ०।

तिरियवसइ स्त्री०(तिर्यग्वसति) तिर्यग्योनौ, प्रश्न० १आश्र० द्वार।

तिरियवाय पुं०(तिर्यग्वात) तिर्यगच्छन् यो वाति वातः स तिर्यग्वातः। तिर्यङ् निमज्जति वायुभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

तिरियविग्गहगइ स्त्री०(तिर्यग् विग्रहगति) गतिभेदे, स्था० १० ठा०।

तिरियसंसारविउस्सय पुं०(तिर्यक्संसारव्युत्सर्ग) संसारव्युत्सर्गभेदे, औ०।

तिरियसत्त न०(तिर्यक् सत्त्व) तिर्यग्योनिजन्तुषु, पञ्चा०२ विव०।

तिरिश्च त्रि०(तिरश्चीन) प्राकृतलक्षणेन निष्पन्ने 'तिरिच्छ' शब्दे **''छस्य श्चोऽनादौ''** ॥८।४।२६५॥ इति मागध्यामनादौ वर्त्तमानस्य छस्य तालव्यशकाराऽऽक्रान्तश्चकारो भवति । प्रा०४ पाद । तिर्यग्भवे, वाच०।

तिरीड पुं०।न०(किरीट) शेखरत्राणयुक्ते, औ०। प्रज्ञा०। मुकुटे, स०। शिरोवेष्टने, वाच०।

***तिरीट** पुं०। वृक्षविशेषे, बृ०२उ०।

तिरीडपट्टग न०(तिरीटपट्टक) तिरीटो वृक्षविशेषस्तस्य यः पट्टो वल्कललक्षणं, तन्निष्पन्नं वा तिरीटपट्टकम् । बृ० २उ०। वृक्षत्वङ्मये वस्त्रे, स्था०५ ठा०३उ०।

तिरोभाव पुं०(तिरोभाव) अन्तर्धाने, विशे०।

तिरोवई (देशी) वृत्यन्तरिते, दे०ना० ५ वर्ग १३ गाथा।

तिरोहिअ त्रि०(तिरोहित) अन्तर्हिते, आच्छादिते, वाच०। आचा०।

तिल धा०(तिल) गतौ, भ्वादि०–पर०–सक०–सेट्। तेलति, अतेलीत्। वाच०।

***तिल** धा०। स्नेहे, तुदा०–पर०–अक०–सेट्। तिलति, अतेलीत्। वाच०।

***तिल** पुं० । स्वनामख्याते धान्यभेदे, ''साली बीही गोहुमजवा कलमसूरितिलमुग्गा।'' प्रज्ञा०१ पद। आचा०। प्रव०। जं०। आ०क०। विपा०। स्था०। तत्फले च । न०। वाच०। वर्णेन तिलसदृशकाले, ''जंपियतिलकीडगा य ति ।'' यापिताः कालान्तरं प्राप्ता ये तिला धान्यविशेषास्तद्वद् ये वर्णसाधर्म्यात्ते तथा । ज्ञा०१ श्रु० १७ अ०।

एकत्रिंशे महाग्रहे, सू०प्र०२० पाहु०। कल्प०। ''दो तिलया।'' स्था०२ ठा०३उ०।

तिलकुट्टी स्त्री०(तिलकुट्टी) तैलविकृतौ विकृतिभेदे, प्रव० ४ द्वार। ''तिलमल्ली तिलकुट्टी, दद्धतिलं तहोसहुव्वरियं। लक्खाइदव्वपक्कं, तिल्लं तिल्लम्मि पंचेव ॥१॥'' ध०२अधि०।

तिलग पुं०(तिलक) वृक्षविशेषे, भ०१ श०१उ०। स०। औ०। कल्प०। रा०। जं०। यः स्त्रीकटाक्षनिरीक्षितो विकसति तत्पुष्पे, जं०३ वक्ष०। विशेषकापरपर्याये ललाटाऽऽभरणविशेषे, औ०। जं०। ज्ञा०। सूत्र०। तं०। पुण्ड्रे, स०७ सम०। तं०। ज्ञा०। सू०प्र०। चं०प्र०। प्रथमवासु–देवस्य त्रिपृष्ठस्य प्रतिशत्रौ, स०६सम०। ति०। स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च। प्रज्ञा० १ पद। वसन्तपुरनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, यस्य सुदर्शना नाम भार्या। पिं०। (अस्य 'पव्वय'शब्दे कथा वक्ष्यते) देवपूजनावसरे तिलकं क्रियते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्– देवपूजावेलायां तिलककरणनिषेधो ज्ञातो नास्त्यात्मीयगच्छे इति। ७६ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

तिलगकरणी स्त्री०(तिलककरणी) तिलकः क्रियते यया सा तिलककरणी। दन्तमय्यां सुवर्णाऽऽत्मिकायां वा शलाकायाम्, सूत्र०। यया गोरोचयनाऽऽदियुक्तया तिलकः क्रियते। यदि वा गोरोचनया तिलकः क्रियते, सा च तिलककरणीत्युच्यते। गोरोचनायाम्, अथवा–तिलकाः क्रियन्ते पिष्यन्ते वा यत्र सा तिलककरणी। तिलकपेषणोपकरणे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०१उ०।

तिलगरयण न०(तिलकरत्न) पुण्ड्रविशेषे, जं०१ वक्ष०। ''तिलगरयणऽद्धचंदचित्ते।'' तिलकरत्नानि पुण्ड्रकविशेषास्तैरर्द्धचन्द्रेश्च चित्राणि नानारूपाणि तिलकार्द्धचन्द्रचित्राणि। जी० १ प्रति०।

तिलगसूरि पुं०(तिलकसूरि) वैक्रमीये संवत्सरे १३६० मिते विद्यमाने हर्षपुरीयगच्छीये राजशेखरसूरिशिष्ये, जै०इ०।

तिलगायरिय पुं०(तिलकाचार्य) स्वनामख्याते आचार्ये, येन भद्रबाहुविरचितस्य यतिजीतकल्पस्योपरि टीका कृता। जीत०। अयमाचार्यः शिवप्रभसूरिशिष्यः, तेन च वैक्रमीये संवत्सरे १३६६ मिते आवश्यकलघुवृत्तिर्नाम ग्रन्थो विरचितः; दशवैकालिकसूत्रटीका, प्रत्येकबुद्धचरित्रं, प्रतिक्रमणसूत्रलघुवृत्तिश्चेत्यादयो ग्रन्था अप्यनेन कृताः। जै०इ०।

तिलचुन्न न०(तिलचूर्ण) चूर्णिकाभेदे, ''से किं तं चुन्नियाभेदे? चुन्नियाभेदे जं णं तिलचुन्नाण वा, मुग्गचुन्नाण वा।'' प्रज्ञा० १ पद।

तिलथंभ पुं०(तिलस्तम्ब) तिलवृक्षगुल्मे, कुम्भग्रामे तिलस्तम्बं दृष्ट्वा गोशालकस्य वीरस्वामिनं प्रति तज्जीवपृच्छा। भ०१५श०। आ०म०। (एतच्च 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०१५ पृष्ठे उक्तम्)

तिलपिट्ठ न०(तिलपिष्ट) कुट्टिततिलचये, आचा० २ श्रु०१ चू०१ अ०८उ०।

तिलपीलग त्रि०(तिलपीडक) तिलयन्त्रवाहनपरे, द्वा०।

वादाँश्च प्रतिवादाँश्च, वदन्तो निश्चितं तथा।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीडकवद्भृतौ ॥५॥

तिलपीडकवत् तिलपीडक इव निरुद्धाक्षिसंचारस्तिलयन्त्रवा–हनपरो, यथा ह्ययं नित्यं भ्राम्यन्नपि निरुद्धाक्षितया न तत्परिमा–णमवबुध्यते, एवमेतेऽपि वादिनः स्वपक्षाभिनिवेशान्धा विचित्रं वदन्तोऽपि नोच्यमानतत्त्वं प्रतिपद्यन्ते इति। द्वा० २३ द्वा०।

तिलपुप्फवण्ण पुं०(तिलपुष्पवर्ण) चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपे ग्रहभेदे, सू०प्र०२० पाहु०। चं०प्र०। द्वात्रिंशत्तमे महाग्रहे, ''दो तिलपुप्फवण्णा।'' स्था०१ ठा०। कल्प०।

तिलभट्ट पुं०(तिलभट्ट) अन्तर्दुष्टव्रणवत्कुथितहृदयाया उन्मत्तरामायाः पत्यौ, तं०।

तिलमल्ली स्त्री०(तिलमल्ली) तैलविकृतौ विकृतिभेदे, प्रव०४ द्वार। ध०।

तिलयसीह पुं०(तिलकसिंह) तालनन्दनामनगरवास्तव्यस्य तालध्वजनामराजस्य स्वनामख्याते युवराजे, दर्श०१ तत्त्व।

तिलविगइ स्त्री०(तिलविकृति) तैलविकारे, ''तिलमल्ली १ तिलकुट्टी २, दद्धतिलं ३, तहोसहुव्वरियं ४। लक्खाइदव्वपक्कं, तेल्लं ५ तिल्लम्मि पंचेव ॥१॥'' ध०२ अधि०।

तिलसंगलिया स्त्री०(तिलसंगलिका) तिलफलिकायाम्, भ० १५ उ०।

तिलसक्कुलिया स्त्री०(तिलशष्कुलिका) तिलप्रधानायां पिष्टमय–पोट्टलिकायाम्, आचा०१ श्रु०१ अ०५उ०। जी०।

तिलागणि पुं०(तिलाग्नि) तिला धान्यविशेषाः, तेषामवयवा अपि तिलाः, तेषामग्निस्तद्दहनप्रवृत्तो वह्निस्तिलाग्निः। तिलावयवदहनप्रवृत्ते वह्नौ, स्था०८ठा०।

तिलिविलिय पुं०(तिलिविलिक) जलचरजीवविशेषे, कल्प० ३ क्षण।

तिलोग पुं०(त्रिलोक) त्रयो लोकाः समाहृतास्त्रिलोकाः। समाहृतेषु त्रिषु लोकेषु, नं०।

तिलोगचूडामणि पुं०(त्रिलोकचूडामणि) त्रिभुवनशिरोरत्नकल्पे, पञ्चा० ८ विव०।

तिलोगदंसि(ण्) पुं०(त्रिलोकदर्शिन) त्रिलोकमूर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणं द्रष्टुं शीलं येषां ते त्रिलोकदर्शिनः। तीर्थकृत्सु सर्वज्ञेषु, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२उ०।

तिलोगपुज्ज पुं०(त्रिलोकपूज्य) सुरनराऽऽदिलक्षणभुवनत्रितयपू–जनीये, पञ्चा०६ विव०।

तिलोगमहिय पुं०(त्रिलोकमहित) त्रिलोकमहिते तीर्थकृति, बृ०। त्रयो लोकाः समाहृताः, समवसरणे त्रयाणामपि संभवात्। तथाहि–समागच्छन्ति भगवतां तीर्थकृतां समवसरणेष्वधोलोकवासिनो भवनपतयः, तिर्यग् लोकवासिनो वाणमन्तरतिर्यग् पञ्चेन्द्रिय–ज्योतिष्काः, ऊर्द्धलोकवासिनः कल्पोपपन्नका देवाः, त्रिलोकेन महिताः पूजिताः, त्रिभिर्वा लोकैर्महितास्त्रिलोकमहिताः। बृ०१उ०।

तिलोदग न०(तिलोदक) निस्त्वचिततिलधावनजले, कल्प० ३ अधि०६ क्षण। तिलैः केनचित्प्रकारेण प्राशुकीकृते उदके, ग०२ अधि०। स्था०। आचा०।

तिल्ल न०(तैल) तिलस्य विकारः, अण्। ''तिलाऽऽदिस्निग्धवस्तूनां, स्नेहस्तैलमुदाहृतम्।'' इत्युक्ते तिलसर्षपातसीकुसुम्भानां स्निग्धवस्तूनां स्नेहरूपे विकारे, वाच०। प्रश्न०। तैलं चतुर्धा, तिलातसीकुसुम्भसर्षपभेदात्। स्था०६ठा०।

तिल्लग त्रि०(तैलक) तैलविक्रयकारके, बृ०१ उ०। प्रव०।

तिल्लोदा स्त्री०(तैलोदा) शशकाऽऽख्येन धूर्तेन परिकल्पिते वृष्टितिलसमुद्भूते नदीभेदे, नि०चू०१उ०।

तिवँ अव्य०(तथा) प्राकृते तथेत्यस्य तिमादेशे, **''मोऽनुनासिको वो वा''** ॥८।४।३६७॥ इत्यपभ्रंशेऽनादौ वर्त्तमानस्यासंयुक्तस्य मकारस्यानुनासिको वँकारः। प्रा०४ पाद। तेन प्रकारेणेन्यर्थे, वाच०।

तिवई स्त्री०(त्रिपदी) मल्लस्येव रङ्गभूम्यां गतिविशेषे, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। भूमौ पदत्रयन्यासे, औ०। मल्ल इव रङ्गभूमौ त्रिपदीं-च्छेदं करोति। भ०३श०२उ०। हस्तिनां पादबन्धनार्थं रज्जुभेदे, वाच०।

तिवग्ग पुं०(त्रिवर्ग) त्रयो वर्गास्त्रिवर्गाः। धर्मार्थकामत्रये, लोकवेदसमयत्रये, सूत्रार्थतदुभयत्रये च। आ०चू०१अ०। आ०म०। आचा०।

तिवग्गसाहण न०(त्रिवर्गसाधन) त्रिवर्गस्य वक्ष्यमाणस्वरूपस्य, न त्वेकैकस्य, साधनं सेवनं त्रिवर्गसाधनम्। त्रिवर्गसेवने, ध०।

अन्योन्यानुपघातेन, त्रिवर्गस्यापि साधनम्। (२३)

त्रिवर्गो धर्मार्थकामाः, तत्र यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः, १ यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः २, यत आभिमानिकरसानुविद्धा सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः३। ततोऽन्योन्यस्य परस्परस्याऽनुपघातेनाऽऽपीडनेन त्रिवर्गस्याऽपि उक्तस्वरूपस्य, न त्वेकैकस्येत्यपिशब्दार्थः; साधनं सेवनम्। त्रिवर्गसाधनविकलस्योभयभवभ्रष्टत्वेन जीवननैरर्थक्यात्। यदाह-''यस्य त्रिवर्गशून्यानि, दिनान्यायान्ति यान्ति च। स लोहकारभस्त्रेव, श्वसन्नपि न जीवति'' ॥१॥ तत्र धर्मार्थयोरुपघातेन तादात्विकविषयसुख-लुब्धो वनगज इव को नाम न भवत्यास्पदमापदाम् ? न च तस्य धनं, शरीरं वा; यस्य कामेऽत्यन्ताऽऽसक्तिः। धर्मकामातिक्रमादवनमुपार्जितं परेऽनुभवन्ति, स्वयं तु परं पापस्य भाजनं, सिंह इव सिन्धुरवधात्। अर्थकामातिक्रमेण च धर्मसेवा यतीनामेव धर्मो, न गृहस्थानाम्। न च धर्मबाधयाऽर्थकामौ सेवेत, बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्याऽऽयत्यां किमपि कल्याणम्। स खलु सुखी योऽमुत्र सुखाविरोधेनेहलोकसुखमनुभवति। तस्माद्धर्माबाधनेन कामार्थयोर्मतिमता यतितव्यम्। एवमर्थबाधया धर्मकामौ सेवमानस्य ऋणाधिकत्वम्। कामबाधया धर्मार्थौ सेवमानस्य गार्हस्थ्याभावः स्यात्। एवं च तादात्विकमूलहरकदर्यैषु धर्मार्थकामानामन्योऽन्यबाधा सुलभैव। तथाहि-यः किमप्यसंचित्योत्पन्नमर्थमपव्येति स तादात्विकः १, यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः २, यो भूत्याऽऽत्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति, न तु क्वचिदपि व्ययते स कदर्यः३। तत्र तादात्विकमूलहरयोरर्थभ्रंशेन धर्मकामयोर्विनाशान्नास्ति कल्याणम्। कदर्यस्य त्वर्थसंग्रहो राजदायादतस्कराणां निधिः, न तु धर्मकामयोर्हेतुरिति। अनेन त्रिवर्गबाधा गृहस्थस्य कर्तुमनुचितेति प्रतिपादितम्। यदा तु दैववशाद्बाधा संभवति, तदोत्तरोत्तरबाधायां पूर्वस्य पूर्वस्यबाधा रक्षणीया। तथाहि-कामबाधायां धर्मार्थयो-र्बाधा रक्षणीया, तयोः सतोः कामस्य सुकरोत्पादत्वात्। कामार्थयोस्तु बाधायां धर्मो रक्षणीयः, धर्ममूलत्वादर्थकामयोः। उक्तं च-''धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनाऽपि जीवतः। आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः ॥१॥'' ध०१ अधि०।

तिवणी स्त्री०(त्रिवनी) औषधिविशेषे, ती०६ कल्प०।

तिवरिस पुं०।स्त्री०(त्रिवर्ष) प्रव्रज्यापर्यायेण यस्य त्रीणि वर्षाणि नाधिकमित्येष त्रिवर्षो भवति। प्रव्रज्यापर्यायेण त्रिवर्षजाते नवे, व्य०३उ०।

तिवरिसपरियाय पुं०।स्त्री०(त्रिवर्षपर्याय) त्रीणि वर्षाणि पर्यायः प्रव्रज्यापर्यायो यस्य स त्रिवर्षपर्यायः। प्रव्रज्यापर्यायेण त्रिवर्षजाते नवे,व्य०३उ०।

तिवलिय त्रि०(त्रिवलिक) रेखात्रयोपेते, रा०। औ०। ज्ञा०। भ०।

तिवली स्त्री०(त्रिवली) वलित्रये, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। विपा०।

तिवलीविणीय त्रि०(त्रिवलीविनीत) तिस्रो वलयो विनीता विशेषतः प्रापिता यत्र तत् त्रिवलीविनीतम्। वलित्रययुक्ते, जी०३ प्रति०४ उ०।

तिवस्सजाय त्रि०(त्रिवर्षजात) त्रीणि वर्षाणि जातायास्त्रिवर्षजाता। ''कालो द्विगोपमेयैः'' ॥३।१।५७॥ इति तत्पुरुषः। ज्यो०२ पाहु०। जन्मतो वर्षत्रयाणि जातानि यस्य स त्रिवर्षजातः। जन्मतः प्रव्रज्यातो वा त्रिवर्षजाते, तं०।

तिवारखलणा स्त्री०(त्रिवारस्खलना) त्रीन् वारान् यावत्तत्प्रति-हतौ, पञ्चा० १२ विव०।

तिविंदु न०(त्रिविन्दु) बिन्दुत्रयसमाहारे, अनु०।

तिविट्ठु पुं०(त्रिपृष्ठ) प्राकृतत्वादार्षत्वाच्च 'तिविट्ठु' इति निर्देशः। प्रव०२ द्वार। वर्त्तमानप्रथमवासुदेवे, ति०। आ०म०। प्रश्न०। आ०क०। कल्प०। आव०। प्रव०। आ०चू०। ''तिविट्ठे णं वासुदेवे असीइं धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था।'' ''तिविट्ठे णं वासुदेवे असीइ-वाससयसहस्साइं महारायः होत्था।'' स०८०सम०। त्रिपृष्ठवासुदेवस्य चतुरशीतिवर्षलक्षाणि सर्वाऽऽयुरिति चत्वारि लक्षाणि कुमारत्वे, शेषं तु महाराज्ये इत्यादि। स०८० सम०। ''तिविट्ठे णं वासुदेवे चउरासीइं वाससयसहस्साइं परमाउयं पालइत्ता अप्पइ-ट्ठाणे तरए नेरइयत्ताए उववन्ने।'' (तिविट्ठु त्ति) प्रथमवासुदेवः श्रेयांसजिनकालभावीति, अप्रतिष्ठानो नरकः सप्तमपृथिव्यां पञ्चानां मध्यम इति। स० ८४ सम०।

पुत्तो पयावइस्सा, मिआवईकुच्छिसंभवो भयवं।
नामेण तिविट्ठु त्ती, आई आसी दसाराणं ॥१॥

अत्र कथा-

''इहास्ति पोतनपुरं, नगरं जितसागरम्।
भूरिश्रीजिनसंशोभि, आवृताखिलजन्तुकम् ॥१॥
राजा रिपुप्रतिशत्रुर्यत्प्रतापमहाग्निना।
आलीढाः शत्रवः सर्वे, ज्वलदूर्णायुतां ययुः ॥२॥

देव्यास्तस्याश्च भद्रायाः, बलदेवः सुतोऽभवत्।
चतुर्भिः सूचितः स्वप्नैरचलोऽचलसौष्ठवः ॥३॥
मृगावती च पुत्र्यासीद्, रूपातिशयशालिनी।
जगाम जनकं नन्तुं, सोद्रिन्ननवयौवना ॥४॥
दृष्ट्वा तामनुरागेण, स्वाङ्कपर्यङ्कगां व्यधात्।
विवोढुं तामथोपायं, चिकीर्षुर्विससर्ज्ज च ॥५॥
पुरप्रधानान्याहूयाऽप्राक्षीदेतत्ततो नृपः।
इह यज्जायते रत्नं, स्यात्तत्कस्येति कथ्यताम्? ॥६॥
अवोचँस्ते तवैवेति, त्रिरुपादाय तद्वचः।
आनाययत्ततस्तत्रोद्वोढुं राजा मृगावतीम् ॥७॥
ययुस्ते व्रीडया सर्वे, पुत्रीमपि मृगावतीम्।
गान्धर्वेण विवाहेन, राजा स्वयमुपायत ॥८॥
भद्रा विरक्ता भोगेभ्यस्त्यक्त्वाऽनाचारिणं नृपम्।
सुतमादाय निर्गत्य, प्रययौ दक्षिणापथम् ॥९॥
विरचय्याचलस्तत्र, पुरीं माहेश्वरीं नवाम्।
संस्थाप्य जननीं तत्र, तातोपान्तं ययौ स्वयम् ॥१०॥
अग्रे च तत्पितुर्लोकैर्मौलं नाम व्यलोप्यत।
स्वप्रजायाः पतित्वेन, प्रजापतिरितीरितम् ॥११॥
विश्वभूतिश्च्युतः शुक्रान्मृगावत्या अथोदरे।
कथितः सप्तभिः स्वप्नैर्विष्णुरित्यवतीर्णवान् ॥१२॥
पुण्येष्वहःसु संजज्ञे, तनुभूर्विष्णुरादिमः।
त्रिकरण्डकपृ(ष्ट)ष्ठत्वात्, त्रिपृ(ष्ट) ष्ठ इति संज्ञितः ॥१३॥
अशीतिधनुरुच्चाङ्गः, खेलन् भ्रात्रा बलेन सः।
द्विसप्ततिकलाऽभिज्ञः, क्रमाद्यौवनमासदत् ॥१४॥
विशाखभूतिजीवश्च, भवं भ्रान्त्वाऽथ केसरी।
जज्ञे तुङ्गगिरौ शङ्ख–पुरदेशनिषूदकः ॥१५॥
प्रतिविष्णुः पृच्छति स्मा–श्वग्रीवो मे कुतो मृतिः ?
भाविनीति निमित्तज्ञं, सोऽप्याचख्यावदं तदा ॥१६॥
दृप्तस्तेऽभीश्चण्डवेगं, यो दूतं धर्षयिष्यति।
यस्तुङ्गगिरिसिंहं च, हेलयैव हनिष्यति ॥१७॥
ततः शङ्खपुरे शालीनश्वग्रीवोऽध्यवापयत्।
वारकेण महीपालान्, तत्त्राणार्थमथाऽऽदिशत् ॥१८॥
राज्ञः प्रजापतेः पुत्रौ, स शुश्राव महौजसौ।
ततोऽप्यर्थाच्चण्डवेगं, दूतं तस्मै प्रयुक्तवान् ॥१९॥
तदा प्रजापतेरग्रे, संगीतिरङ्गमागते।
अकस्मादागतश्चण्डवेगस्तद्रङ्गभङ्गदः ॥२०॥
अभ्युत्तस्थे भूभुजाऽसौ, तदीयस्वामिशङ्कया।
मन्त्री पृष्टः कुमाराभ्यामहंयुः कोऽयमाह सः ॥२१॥
अश्वग्रीवस्य दूतोऽयं, राजराजस्य दुर्दमः।
गच्छन्नयं निवेद्यो नाविति तावूचतुर्निजान् ॥२२॥
प्रजापतिस्तमन्येद्युर्व्यसृजत्कृतगौरवम्।
स्वभटैर्ज्ञापितौ तौ च, कुमारावन्वधावताम् ॥२३॥
तमर्द्धमार्गे प्राप्य स्व–हस्तयोश्चक्रतुः सुखम्।
काकवद् लगुडाऽऽपाते, तत्सहायाश्च नेशिरे ॥२४॥ (?)
ज्ञात्वा प्रजापतिस्तच्च, दूतमानीय तं गृहे।
सत्कृत्योचे दुर्विनयं, माऽऽख्यः कौमारमीशितुः ॥२५॥
आमेत्युक्त्वा ययौ दूतः, क्ष्माषतेः परमग्रतः।
पलाय्य यातैः कथितं, सर्वं दूतस्य धर्षणम् ॥२६॥
तद् दूतोऽपि तथैवाऽऽख्यदलीकान्मा कुपन्नृपः।
अश्वग्रीवोऽनुशिष्यान्यं, दूतं प्रैषीत्प्रजापतेः ॥२७॥
गत्वोचे रक्ष शालीस्त्वं, सिंहाद्राजाऽऽज्ञयैष सः।
राजोवाच सुतावेतत्फलं दूतखलीकृते ॥२८॥
अवारकेऽपि यदभू–दादेशः शालिरक्षणे।
इत्युक्त्वा प्रस्थितं भूपं, प्रतिबोध्य गतौ सुतौ ॥२९॥
कियत्कालं कथं सिंहमन्येऽरक्षन्नृपा इति।
त्रिपृष्ठपृष्टैः शिष्टं तैः, शालीनां परिचारकैः ॥३०॥
पत्त्यश्वैभरथैर्वप्रं, कृत्वाऽरक्षन् क्षितीश्वराः।
कर्षणग्रहणं यावदागता वारकक्रमात् ॥३१॥
स्थास्यतीयच्चिरं कोऽत्र, त्रिपृष्ठः स्माऽऽह तान् प्रति।
दर्शयतां मम सिंहः स, यैनैकोऽपि निहन्मि तम् ॥३२॥
तुङ्गाऽऽचलगुहायां तैर्दर्शितः केशरी ततः।
रथाऽऽरूढौ कुमारौ तावयासिष्टामुभौ गुहाम् ॥३३॥
तां गुहामभितो लोकाश्चक्रुः कलकलाऽऽरवम्।
तं च पञ्चाननः श्रुत्वाऽभ्यागाज्जृम्भापराऽऽननः ॥३४॥
अहं रथी पत्तिरसौ, युक्तो नौ नैष संगरः।
रथात्ततोऽवततारः, त्रिपृष्टः फलकासिभृत् ॥३५॥
फलकासी मम करे, एष दाढानखाऽऽयुधः।
तदप्यनुचितं भाति, तत्तावपि मुमोच सः ॥३६॥
दध्यौ तं प्रेक्ष्य सिंहोऽथ, धाष्ट्यादेको यदागमत्।
यद्यानशस्त्रमुक्तिश्चाहंयुर्हन्मि तदेनवत् ॥३७॥
विचिन्त्यैवं महाकोपादजानानो हरिं हरिः।
दत्त्वा फालां करालां स, त्रिपृष्ठोपान्तमापतत् ॥३८॥
एकेनैव करेणोष्ठाधरौ धृत्वा हरिं हरिः।
पाटयामास तं जीर्णपट्टांशुकमिव क्षणात् ॥३९॥
पुष्पाऽऽभरणवस्त्रैश्च, वृष्टं देवतया हरौ।
शौर्येण विस्मितैर्लौकैस्तुष्टुवे स स्फुटन्मुखैः ॥४०॥
एकाकिना मारितोऽह–मिति सिंहः स्फुरस्तदा।
गौतमजीवस्तत्सुत–स्तमूचे मा स्म खिद्यथाः ॥४१॥
पशुसिंहो नृसिंहेन, मारितोऽसीति का व्यथा ?
प्रीतस्तद्वचसा मृत्वा, तुर्यार्व्यां नारकोऽभवत् ॥४२॥
कुमारावात्ततत्कृत्ती, वलितौ नगरं निजम्।
ग्राम्यैरूचे हयग्रीवं, स्वैरं तिष्ठ रिपोर्वधात् ॥४३॥
तत् श्रुत्वा सोऽथ साशङ्कः, प्रैषीद् दूतं प्रजापतेः।
सुतौ प्रेषय मत्पार्श्वे, कुर्वेऽमू यत्पृथग् नृपौ ॥४४॥
प्रजापतिर्बभाषेऽहमेष्यामि न सुतौ तु मे।
दूतोऽवादीद् न चेदेवं, सज्जो युद्धाय तद्भव ॥४५॥
इत्युक्ते धर्षयित्वा तं, कुमारौ दूतमूचतुः।
यत् शिक्षितभरे ! कुर्याः, दुर्दान्तोऽद्यापि ते प्रभुः ॥४६॥
दूताऽऽख्यातो हयग्रीवः, सर्वौघेणाऽचलद्युधि।
त्रिपृष्ठः साचलश्चाद्रौ, रथावर्तेऽमिलत्स्वयम् ॥४७॥
उभयोः सैन्ययोर्युद्धे, जायमानेऽतिनिष्ठुरे।
दोलारूढेव तत्कालं, जयलक्ष्मीः समाभवत् ॥४८॥
ऊचे त्रिपृष्ठोऽश्वग्रीवं, वीक्ष्यानेकजनक्षयम्।
युद्धमस्त्वावयोरेव, वराकैः किं हतैर्जनैः ? ॥४९॥
आङ्गिं युद्धेऽश्वग्रीवः, खिन्नश्चक्रं विमुक्तवान्।
त्रिपृष्ठोरसि तुम्बेन, चक्रं निपतति स्म तत् ॥५०॥
त्रिपृष्ठस्तच्छिरस्तेनैवाच्छिनत्तत्क्षणात्तयोः।
पुष्पवृष्टिः कृता देवैराद्यौ विष्णुबलाविति ॥५१॥
तदैव प्रणतौ तौ च, समस्तैरपि राजभिः।
भरतक्षेत्रयाभ्यार्द्धं, चक्रतुर्लीलया वशे ॥५२॥

मौलौ छत्रमिवाधार्षीत्, शिलां कोटिशिलाभिधाम्।
उत्पाट्य दोष्णैकेनाऽपि, लीलया विष्णुरादिमः ॥५३॥
सोऽथागात्पोतनपुरं, जगत्रित्वरविक्रमः।
अभिषिक्तो नृपैर्देवैरर्द्धचक्रिपदे ततः ॥५४॥
एकदा गायनाः केऽप्य–गायन्निशि हरेः पुरः।
तालिपकं स्माऽऽह मय्येते, विसर्ज्याः शयिते त्वया ॥५५॥
आमित्यूचे विसृष्टास्तेऽनेन सुप्तेऽपि न प्रभौ।
उत्थितः प्रभुरूचे तान्, श्रुत्वा तं किं न वारिताः? ॥५६॥
सोऽवदद्गीतलोभेन, तदाकर्ण्याऽकुपन्नृपः।
तत्कर्णयोः प्रगेऽक्षेप्सी–त्तप्तं त्रपु मृतश्च सः ॥५७॥
वेद्यं न्यकाचयत्कर्मा–ऽसातं तेन हरिस्तदा।
निस्त्रिंशः क्रियया स्वात्म्याद्, दुष्कर्म प्राज्यमार्जयत् ॥५८॥
महापरिग्रहाऽऽरम्भ–हिंसाऽऽद्यैः कलुषाऽऽत्मकः।
चतुरशीत्यब्दलक्षं, राज्यं कृत्वाऽऽद्यकेशवः ॥५९॥
मृत्वा सप्तमनरक–पृथ्व्यां नैरयिकोऽभवत्।
अचलस्तद्वियोगाऽऽत्तव्रतो मृत्वा शिवं ययौ'' ॥६०॥ आ०क०।
भविष्यदष्टमवासुदेवे, ती० २० कल्प। स०।

तिविडी (देशी) पुटिकायाम्, दे०ना० ५ वर्ग १२ गाथा।

तिविह त्रि०(त्रिविध) तिस्रो विधा यस्य स त्रिविधः। आ०म० १ अ० २खण्ड। त्रिप्रकारे, व्य०१ उ०। प्रश्न०। ध०। पा०। आव०। मनोवाक्कायलक्षणे, कृतकारितानुमतिलक्षणे च। सूत्र०१ श्रु०२ अ०६ उ०। (''तिविहं तिविहेणं पच्चक्खामि'' इति 'सामाइय' शब्दे व्याख्यास्यते)

तिविहाऽऽहार पुं०(त्रिविधाऽऽहार) आहारत्रये, त्रिविधाऽऽहार–द्विविधाऽऽहारप्रत्याख्याने श्राद्धानां पानीयतुर्य्याऽऽहारौ किं भक्ष्यौ, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–श्राद्धानां त्रिविधाऽऽहारद्विविधाऽऽहारप्रत्याख्यानेऽपि पानीयतुर्य्याऽऽहारौ भक्ष्यौ ज्ञेयौ, परमयं विशेषः–येन प्रातस्त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानं कृतं स्यात्तस्यैकाशनाऽऽदिकरणसमये तुर्याऽऽहारं कल्पते, न तु स्थानानन्तरमिति; पानीयं तु उभयत्राप्यचित्तं कल्पते। द्विविधाऽऽहारप्रत्याख्याने तु द्वयोरपि भक्ष्यतया संभवोऽस्ति, संध्यायां तु त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्याने पानकाऽऽकारानुच्चारणात् सचित्तमपि पानीयं कल्पते, न तु तुर्याऽऽहारः। द्विविधाऽऽहारप्रत्याख्याने तूभावपि भक्तौ संभ–वत इति। ५१ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

तिव्व न०(तीव्र) रौद्रे, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। उत्कटे, आ० म०२ अ०। आव०। दुःसहे, सूत्र०१ श्रु० ५ अ०१ उ०। अत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु०२अ०१उ०। औ०। असह्ये, सूत्र०२ श्रु० ६अ०। ''कक्कसा, पगाढा, चंडा, दुहा, तिव्वा, दुरहियास त्ति'' एकार्थाः। विपा० १ श्रु०१ अ०। गाढे, प्रव०६ द्वार। तीव्रानुभवगन्धजनिते, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। नि०चू०। प्रबले, द्वा० २१ द्वा०। रौद्रे, आ०म०१ अ० २ खण्ड। उत्कटे, आचा०१ श्रु०३ अ०१उ०। दुर्विषहे, दे०ना० ५ वर्ग ११ गाथा। प्रकृष्टे, स० ११ अङ्ग। निम्बाऽऽदिवत् तिक्ते, त्रि०। भ०६ श०३४ उ०। ''तिव्वे रोगायंके पाउब्भूए।'' सामान्यस्य झगिति मरणहेतौ, भ० १५ श०।

तिव्वअणुराग पुं०(तीव्रानुराग) अत्यन्ताध्यवसाये, ध०२ अधि०।

तिव्वकसायपरिणइ स्त्री०(तीव्रकषायपरिणति) उत्कृष्टानां दीर्घ–कालान्तरावस्थायिनां वा क्रोधाऽऽदिकषायाणां परिणामे, पं०चू०।

तिव्वाखिंसण न०(तीव्रखिंसन) अत्यर्थनिन्दायाम्, औ०। प्रश्न०।

तिव्वगिद्ध त्रि०(तीव्रगृद्ध) अत्यर्थमनुपपन्ने, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

तिव्वगिलाण त्रि०(तीव्रग्लान) आत्यन्तिकव्याधिमति, पञ्चा० ४ विव०।

तिव्वचरित्तमोहणीय न०(तीव्रचारित्रमोहनीय) कषायव्यतिरिक्ते नोकषायलक्षणे मोहनीये कर्मणि, भ०८ श०६उ०।

तिव्वतरग न०(तीव्रतरक) अतिशयोत्कटे, पञ्चा० १५ विव०।

तिव्वदंसणमोहणिज्ज न०(तीव्रदर्शनमोहनीय) मिथ्यात्वतया दर्शनमोहनीये, भ०८ श०६उ०।

तिव्वपरिणाम त्रि०(तीव्रपरिणाम) तीव्रो दुःसहः परिणामः परिण–तिर्येषां ते तीव्रपरिणामाः। दुःसहपरिणतिकेषु, आचा०१ श्रु० ५ अ०१उ०।

तिव्वपावाभिभूय त्रि०(तीव्रपापाभिभूत) तीव्रेणातिदारुणेन पापेन मिथ्यात्वाऽऽदिनाऽभिभूतः परतन्त्रीकृतस्तीव्रपापाभिभूतः। अतिदारुणेन मिथ्यात्वाऽऽदिना परतन्त्रीकृते, यो०बिं०।

तिव्वभाव पुं०(तीव्रभाव) गाढसंश्लिष्टपरिणामे, पञ्चा०३ विव०।

तिव्वराग स्त्री०(तीव्रराग) उत्कटविषयानुबन्धायां भाषायाम्, ध०३ अधि०।

तिव्ववेर त्रि०(तीव्रवैर) अविच्छिन्नोत्कटवैरे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। ज्ञा०।

तिव्वसंकिलेस पुं०(तीव्रसंक्लेश) उत्कृष्टदुष्टपरिणामे, उत्कृष्टदु–रध्यवसाये, पञ्चा० १६ विव०।

तिव्वसंवेग पुं०(तीव्रसंवेग) भृशं दुःखलक्षाऽऽकुलभवभये, ल०। 'तीव्रसंवेगसंजातश्रद्धः'–तीव्रसंवेगेन भृशं दुःखलक्षाऽऽकुलभवभयेन संजाता सम्यगुत्पन्ना श्रद्धा श्रद्धानं धर्माऽऽदिषु यस्य स तथा। तं०।

तिव्वसढ त्रि०(तीव्रशठ) तीव्ररूपसर्गैरभिद्रुते शठानुष्ठाने, सूत्र०१ श्रु०३ अ०१उ०। आत्यन्तिकसदनुष्ठानकरणरुचौ, पञ्चा०४ विव०।

तिव्वाभिताव त्रि०(तीव्राभिताप) दुःसहसन्तापवति, ''तिव्वा–भितावे नरए पण्णत्ते।'' तीव्रो दुःसहः खदिराङ्गारमहाराशितापादनन्तगुणोऽभितापः संतापो यस्मिन् स तथा। सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। तीव्रकर्मबन्धरूपे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०३उ०।

तिव्वाभितावि(ण्) त्रि०(तीव्राभितापिन्) तीव्रोऽसह्यो योऽभितापः क्रकचपाटनकुम्भीपाकतप्तत्रपुपानशाल्मल्यालिङ्गनाऽऽदिरूपः, स विद्यते यस्याऽसौ तीव्राभितापी। तीव्रवेदनाऽभिभूते, सूत्र०२ श्रु० ६ अ०।

तिव्वाभिलास पुं०(तीव्राभिलाष) अत्यन्ताध्यवसायित्वे, आव० ६ अ० उपा०।

तिव्वुण्ह त्रि०(तीव्रोष्ण) अत्युष्णे, आव०५ अ०।

तिसंकु पुं०(त्रिशङ्कु) श्रीमदयोध्यानिवासीक्ष्वाकुवंश्यस्य श्रीहरिश्चन्द्रमहानरेन्द्रस्य स्वनामख्याते पितरि, ती० ३७ कल्प।

तिसंधि त्रि०(त्रिसन्धि) आदिमध्यावसानेषु सन्धिभावात् (जी० ३ प्रति०४ उ०) त्रिषु स्थानेषु सन्धियुक्ते, भ०३ श०६उ०।

तिसट्ठिसलागा स्त्री०(त्रिषष्टिशलाका) अर्हच्चक्रवर्तिबलदेववासुदेवप्रतिवासुदेवानां त्रिषष्टेः पुरुषाणां शलाकारूपे चक्रे, ही० ३ प्रका०।

तिसण्ण त्रि०(त्रिसंज्ञ) तिस्र आहारभयपरिग्रहरूपाः संज्ञा येषां ते तथा। आहारभयपरिग्रहसंज्ञायुक्ते, यो०बिं०।

तिसत्तखुत्त अव्य०(त्रिसप्तकृत्वस्) एकविंशतिवारेषु, पिं०। जी०। भ०।

तिसमइय त्रि०(त्रिसमयिक) त्रयः समयास्त्रिसमयं, तद्यत्रास्ति स त्रिसमयिकः। समयत्रयभाविनि, स्था०३ ठा०४ उ०।

तिसमय न०(त्रिसमय) त्रयः समयाः समाहृतास्त्रिसमयम्। सः मयत्रयसमाहारे, आ०म०१ अ० १खण्ड।

तिसमयसिद्ध पुं०(त्रिसमयसिद्ध) सिद्धत्वसमयात्तृतीयसमय–वर्तिनि सिद्धे, प्रज्ञा०१ पद।

तिसमयाऽऽहारग पुं०(त्रिसमयाऽऽहारक) आहारं गृह्णातीत्याहारकः। त्रयः समयाः समाहृतास्त्रिसमयं, त्रिसमयमाहारकस्त्रिसमयाऽऽहारकः। ''व्याप्तौ'' ॥३।१।६१॥ इति समासः। ''नाम नाम्नेकार्थ्ये समासो बहुलम्'' ॥३।१।१८॥ इति वा समासः। त्रीन् समयान् यावदाहारके, आ०म०१ अ०१ खण्ड। विशे०। नं०।

तिसमुट्ठाण त्रि०(त्रिसमुत्थान) त्रिभ्यो धर्मार्थकामेभ्यः समुत्थानं तद्विषयत्वेनोत्पत्तिरस्येति त्रिसमुत्थानम्। धर्मार्थकामजाते, दश०२ अ०।

तिसमुद्दक्खायकित्ति त्रि०(त्रिसमुद्रख्यातकीर्ति) पूर्वदक्षिणापरदिग्विभागव्यवस्थितत्वात् पूर्वापरदक्षिणास्त्रयः समुद्रास्त्रिसमुद्रम्। उत्तरतस्तु हिमवान्, वैताढ्यो वा। त्रिसमुद्रे ख्याता कीर्तिर्यस्याऽसौ त्रिसमुद्रख्यातकीर्तिः। दक्षिणार्द्धभरतव्यापिकीर्तौ, नं०।

तिसर न०(त्रिशरस्) त्रीणि शरांसि त्रिशरः। वाच०। शरत्रये, अनु०। विपा०। राक्षसभेदे, ज्वरे, कुबेरे, वाच०।

तिसरग न०(त्रिसरक) हारविशेषे, औ०। ज्ञा०। तं०। जं०।

तिसला स्त्री०(त्रिशला) सिद्धार्थनरेन्द्रभार्यायां महावीरस्वामिनो मातरि, स्था० १० ठा०। प्रव०। आचा०। स०। आव०। ('वीर' शब्देऽस्याः सर्वा वक्तव्यता)

तिसलोगा न०(त्रिश्लोका) त्रयः श्लोकाश्छन्दोविशेषरूपा आधिक्येन यासु तास्तथा। यथा–''सिद्धाणं बुद्धाणं'' इत्याद्येकः श्लोकः। ''जो देवाण'' इत्यादिको द्वितीयः। ''एक्को वि नमोक्कारो'' इत्यादिकस्तृतीयः। इत्येवंरूपश्लोकत्रयाऽऽत्मिकायां स्तुतौ, प्रव० ३६ द्वार।

तिसीस पुं०(त्रिशीर्ष) शिखरिपर्वतस्य प्रथमकूटाधिपतौ देवे, द्वी०।

तिसुगंध त्रि०(त्रिसुगन्ध) त्वगेलाकेसरैस्तुल्ये त्रिजातके, ''त्वगेलाकेसरैस्तुल्यं, त्रिसुगन्धं त्रिजातकम्।'' जी०३ प्रति०४ उ०।

तिसूल न०(त्रिशूल) त्रीणि शूलानि शिखाऽग्राणि यत्र। स्वनामख्याते अस्त्रभेदे, वाच०। सूत्र०।

तिसूलिया स्त्री०(त्रिशूलिका) लघुत्रिशूले, सूत्र०१ श्रु० ५ अ०१ उ०।

तिसोवाण न०(त्रिसोपान) त्रयाणां सोपानानां समाहारस्त्रिसोपा–नम्। सोपानत्रये, रा०।

तिसोवाणपडिरूवग न०(त्रिसोपानप्रतिरूपक) त्रयाणां सोपानानां समाहारस्त्रिसोपानम्। त्रिसोपानानि च तानि प्रतिरूपकाणि चेति विशेषणसमासः। विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्। सुन्दरे सोपानत्रये, जी०।

तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं अयमेयारूवे वण्णवासे पण्णत्ते। तं जहा–वयरामया निम्मा, रिट्ठामया पतिट्ठाणा, वेरुलियामया खंभा, सुवन्नरुप्पमया फलगा, वइरामया संधी, लोहितरुक्खमईओ सूईओ, नाणामणिमया अवलंबणा अवलंवणबाहाओ। जी० ३ प्रति०४ उ०। (टीका सुगमा)

तिस्सगुत्त पुं०(तिष्यगुप्त) द्वितीयनिह्नवे वसुनामाऽऽचार्यशिष्ये, विशे०। (अस्य वृत्तं 'जीवप्पएस' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५५४ पृष्ठे गतम्)

तिहा अव्य०(त्रिधा) त्रिप्रकारे, अनु०।

तिहि पुं०(तिथि) चन्द्रनिष्पादिते अहोरात्रे, चं०प्र० १० पाहु०। पर्वणि, आतु०।

अथ तिथिस्वरूपं, तिथिमानं चाऽऽह–

कम्मो निरंसयाए, मासो ववहारकारगो लोए।
सेसा उ संसयाए, ववहारे दुक्करा घित्तुं॥ (सू०प्र०१०पाहु०)

आदित्यकर्म (**ऋतुमासस्य कर्ममास इति नामान्तरम्। उक्तं च– ''एस चेव उउमासो कम्ममासो ..... भण्णइ।'' व्य०१ उ०।**) चन्द्रनक्षत्राभिवर्द्धितमासानां मध्ये कर्मसंवत्सरसंबन्धी (**कर्म लौकिको व्यवहारः, तत्प्रधानः संवत्सरः कर्मसंवत्सरः। ऋतुसंवत्सरे। अत्र 'कम्मसंवच्छर' शब्दस्तृतीयभागे ३४५ पृष्ठे द्रष्टव्यः।**) मासो निरंशतया परिपूर्णत्रिंशदहोरात्रप्रमाणतया लोके सुखेन व्यवहारको भवति। तथाहि–हलधराऽऽदयोऽपि बालिशास्त्रिंशदहोरात्रान् परिगणय्य मासं परिकल्पयन्ति। शेषास्तु मासाः सूर्यमासचन्द्रमासाऽऽदयः सांशतया सावयवतया व्यवहारे लोकवयवहारप्रवर्त्तनविषये लौकिकैर्ग्रहीतुं दुष्कराः, दुःखेन स्वयं ज्ञातुं शक्यन्ते इत्यर्थः। तथाहि–सूर्यमासः साद्धानि त्रिंशद्दिनानि। चन्द्रमास एकोनत्रिंशद्दिनानि, द्वात्रिंशद् द्वाषष्टिभागा दिनस्य (**तृतीयभागे 'चंदमास' शब्दः १०६० पृष्ठे द्रष्टव्यः।**) नक्षत्रमासः सप्तविंशतिर्दिनानि, एक–विंशतिश्च सप्तषष्टिभागा दिनस्य (**चतुर्थभागे 'णक्खत्त' शब्दः १७६१ पृष्ठे द्रष्टव्यः।**) अभिवर्द्धितमास

एकत्रिंशद्दिनानि, एकविंशत्युत्तरशतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां दिनस्य (प्रथमभागे 'अभिवड्ढिय' शब्दः ७२७ पृष्ठे द्रष्टव्या।)। न चैतद्बालिशा जानते, केवलं चान्द्रो मासोऽस्ति, तदपेक्षया चिन्त्यमाने परिपूर्णत्रिंशत्-तिथ्यात्मकत्वात् लोके व्यवहारपथं चरतीति।

तिथिपरिमाणज्ञापनार्थमिदमुपक्रम्यते, तत्र तिथिस्वरूपज्ञानार्थं यन्निमित्ता अहोरात्राः, यन्निमित्ताश्च तिथयस्तदेतत्प्ररूपयति–

सूरस्स गमणमंडलविभागनिप्फाइया अहोरत्ता।
चंदस्स हाणिवुड्ढी–कएण निप्फज्जए उ तिही॥

सूर्यस्याऽऽदित्यस्य गमनयोग्यानि यानि मण्डलानि तेषां प्रत्येकं यो विभागो, विशिष्टः समभागतया भाग इत्यर्थः। तेन निष्पादिता अहोरात्राः। किमुक्तं भवति?–एकैकस्मिन् मण्डले यावता कालेन मण्डलार्द्धं गमनेन पूरयति तावत् कालप्रमाणेनाहोरात्राः॥ चन्द्रस्य चन्द्रमण्डलस्य पुनः हानिवृद्धिकृतेन कालपरिमाणेन निष्पद्यते तिथिः। अत्रायं भावार्थः–चन्द्रमण्डलस्य कृष्णपक्षे यावता कालेनैकैकः षोडशभागो द्वाषष्टिभाग-चतुष्टयप्रमाणो हानिमुपपद्यते, यावता च कालेन शुक्लपक्षे एकः षोडशभागः प्रागुक्तप्रमाणः परिवर्द्धते, तावत्काल-प्रमाणास्तिथयः। एतावांश्चाहोरात्राणां तिथीनां च परस्परं कालविशेषः–अहोरात्रो द्वाषष्टिभागपरिच्छिन्नो विधीयते। तस्य सत्का ये एकषष्टिभागाः, तावत्प्रमाणा तिथिः।

इहेदमुक्तम्–चन्द्रस्य वृद्धिहानिकृतेन निष्पद्यते तिथिः। तत्र शिष्याणामुपपादि संमोहः–कथं चन्द्रस्य शाश्वतिकतयोपवर्ण्यमानस्य, वृद्धिहानी घटेते इति? ततः शिष्याणां संमोहमपनेतुकामो यथोक्तस्वरूपप्ररूपणार्थमाह–

चंदस्स नेव हाणी, न वि वुड्ढी वा अवट्ठिओ चंदो।
सुक्किलभावस्स पुणो, दीसइ वुड्ढी य हाणी य॥

चन्द्रस्य चन्द्रमण्डलस्य स्वरूपतो नैव हानिर्नाऽपि वृद्धिः, किं त्ववस्थित एव सदा चन्द्रः, चन्द्राऽऽदिविमानानां शाश्वतिकत्वात्। यद्येवं कथं साक्षात् प्रत्यक्षत उपलभ्येते वृद्धिहानी? तत आह–(सुक्किलेत्यादि) शुक्लभावस्य शुक्लतायाः, दर्शनपथप्राप्तस्यैव कृता दृश्यते वृद्धिर्हानिर्वा, न तु स्वरूपतश्चन्द्रमण्डलम्।

किमत्र कारणम्? अत आह–

किण्हं राहुविमाणं, हेट्ठा चउरंगुलं च चंदस्स।
तेणोवड्ढइ चंदो, परिवड्ढइ वा वि नायव्वो॥

इह द्विविधो राहुः। तद्यथा–पर्वराहुः, ध्रुवराहुश्च। तत्र यः पर्वराहु–स्तद्गता चिन्ता क्षेत्रसमासटीकायां कृता। यस्तु ध्रुवराहुस्तस्य विमानं कृष्णं, तच्च चन्द्रमण्डलस्याधस्तात् चतुरङ्गुलमसंप्राप्तं सत् चारं चरति। तच्च कृष्णपक्षे आत्मीयेन पञ्चदशेन भागेन प्रतिदिवसमेकैकं भागं द्वाषष्टिभागीकृतस्य चन्द्रमण्डलस्य सत्का ये चत्वारो भागास्तावत् प्रमाणमावृणोति। शुक्लपक्षे च प्रतिदिवसं तावन्तमेकैकं भागमात्मीयेन पञ्चदशेन (पञ्चदशेन) भागेनापसरत् प्रकटीकरोति। तेन कारणेन चन्द्रः कृष्णपक्षे अपवर्द्धते हीयते, शुक्लपक्षे परिवर्द्धत इति ज्ञातव्यः। किमुक्तं भवति?–तेन कारणेन चन्द्रमण्डलस्य वृद्धिहानी प्रतिभासेते, न तु ते तात्त्विक्यौ स्त इति।

एतदेव स्पष्टं भावयति–

तं रययकुडुयसरिसप्पहस्स चंदस्स राइसुभगस्स।
लोए तिहि त्ति नियय, भण्णइ हाणीऍ वुड्ढीए॥

यत एवं चन्द्रमण्डलस्य राहुविमानकृताऽऽवरणानावरणजनिते वृद्धिहानी, तत् तस्मात् कारणात् चन्द्रस्य रजतकुमुदपुष्पतुल्यप्रभस्य रात्रिसुभगस्य रजन्यामतिमनोहारितया प्रतिभासनशीलस्य, हानौ वृद्धौ यथोदितस्वरूपायां, यथोदितभागप्रमाणायां च लोके तिथिरिति नियतं निश्चितं भण्यते।

सम्प्रति भागप्रमाणमेव निर्दिदिक्षुराह–

सोलसभागे काऊण उडुवइं हायतेऽत्थ पन्नरसे।
तत्तियमेत्ते भागे, पुणो वि परिवड्ढई जोण्हे॥

उडुपतिं चन्द्रमण्डलमित्यर्थः, षोडशभागोनं राहुदेवः कृत्वा बुद्ध्या परिकल्प्य, तथाजगत्स्वाभाव्यात् कृष्णपक्षे, अत्र एषु षोडशसु भागेषु मध्ये प्रतिदिवसमेकैकभागहानिकरणेन सकले कृष्णपक्षे पञ्चदश भागान् हापयति। ज्योत्स्न्ये ज्योत्स्नासमन्विते, शुक्लपक्षे इत्यर्थः, प्रतिदि-वसमेकैकभागपरिवर्द्धनेन परिपूर्णपक्षतावन्मात्रान्, पञ्चदशसंख्या-नित्यर्थः। भागान्, पुनरपि परिवर्द्धयति। इयमत्र भावना–इह चन्द्रविमानं द्वाषष्टिसंख्यैर्भागैः परिकल्प्यते, परिकल्प्य च तेषां भागानां पञ्चदशभि-र्भागो ह्रियते, ह्रते च भागे लब्धाश्चत्वारो द्वाषष्टिभागाः, शेषौ द्वौ भागौ तिष्ठतः, तौ च सदाऽनावृतौ। एषा किल चन्द्रमसः षोडशीकलाप्रसिद्धिः। तत्र कृष्णपक्षे प्रतिपदि ध्रुवराहुविमानं चन्द्रमण्डलस्याधो भागेन चतुरङ्गुलमसंप्राप्तं सत् चारं चरदात्मीयेन पञ्चदशेन भागेन द्वौ द्वाषष्टिभागौ सदाऽनावरणस्वभावौ मुक्त्वा शेषद्वाषष्टिसत्कभागाऽऽत्मकस्य चन्द्रमण्डलस्य सत्कं चतुर्भागाऽऽत्मकं पञ्चदशभागमावृणोति। द्वितीया-यामात्मीयाभ्यां(?) पञ्चदशभागानावृणोति। ततःशुक्लपक्षे प्रतिपदि पञ्चदशभागान् अनावृतान् करोति, तदा च सर्वाऽऽत्मना परिपूर्णं चन्द्रमण्डलं लोके प्रकटं भवति। उक्तं च–''कइविहे णं भंते! राहू पन्नत्ते? गोयमा! दुविहे राहू पन्नत्ते। तं जहा–धुवराहू य, पव्वराहू य। तत्थ णं जे से धुवराहू, से णं बहुलस्स पक्खस्स पाडिवए पन्नरसतिभागेणं पन्नरसभागं चंदलोगमावरमाणे आवरमाणे चिट्ठइ। तं जहा–पढमाए पढमं भागं, विइयाए विइयं भागं० जाव पन्नरसेसु पन्नरसं भागं। चरमसमए चंदे रत्ते भवइ, अवसेसे समए चंदे रत्ते वा विरत्ते वा भवइ, तं चेव सुक्कपक्खस्स उवदं सेमाणे उवदंसेमाणे चिट्ठइ। तं जहा–पढमाए पढमं भागं, विइयाए विइय भागं० जाव पन्नरसेसु पन्नरसं भागं।'' इति। (भ० १२श० ६ उ०)

तत्र–

कालेण जेण हायइ, सोलसभागो य सा तिही होइ।
तं चेव य वुड्ढीए, एवं तिहिणो समुप्पत्ती॥

यावता कालेन कृष्णपक्षे षोडशो भागो द्वाषष्टिभागः सचतुर्भागा-ऽऽत्मको हीयते हानिमुपगच्छति, स एतावान् कालविशेषस्तिथिर्भवति। तथा चैवं वृद्ध्याऽपि तिथिर्भवति। किमुक्तं भवति?–यावता कालेन शुक्लपक्षे षोडशभागं प्रागुक्तक्रमेण परिवर्द्धते, तावत् प्रमाणः कालविशेष-स्तिथिरिति अहोरात्रस्य द्वाषष्टिभागाः, तावत्प्रमाणा तिथिरित्यर्थः। एवंविधैर्भगवद्भिस्तीर्थकरगणधरैः समुत्पत्तिराख्याता।

कियत्संख्याकास्तास्तिथय इति तत्सङ्ख्यानिरूपणार्थमुपप–

तिमाह–

जावइए परिहायइ, भागे वड्ढइ य आणुपुव्वीए।

तावइया होंति तिही, तेसिं नामाणि वोच्छामि ॥

इह यावता कालेनैकश्चन्द्रमण्डलस्य षोडशो भागो द्वाषष्टिभागसत्कचतुर्भागाऽऽत्मकः परिहीयते, वर्द्धते वा, तावत् कालप्रमाणा एका तिथिरिति प्रागुपपादितम् । ततो यावतो भागान् चन्द्रमसो राहुविमानं कृष्णपक्षे हापयति, यावतश्च भागानानुपूर्व्याक्रमेण शुक्लपक्षे परिवर्द्धयति, तावत् प्रमाणाः शुक्लपक्षे कृष्णपक्षे च तिथयो भवन्ति । तत्र पञ्चदश भागान् कृष्णपक्षे हापयति, पञ्चदशैव भागान् शुक्लपक्षे परिवर्द्धयति; ततः पञ्चदश कृष्णपक्षे तिथयः, पञ्चदश शुक्लपक्षे च । सम्प्रति तासां तिथीनां नामानि वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

पाडविग बिइय तइया, य चउत्थी पंचमी य छट्ठी य ।
सत्तमि अट्ठमि नवमी, दसमी एगारसी चेव ॥
बारसि तेरसि चाउद्दसी य निद्दवणिगा य पन्नरसी ।
किण्हम्मि य जोण्हम्मि य, एसेव विही मुणेयव्वा ॥

कृष्णपक्षे प्रथमा तिथिः प्रतिपद्, द्वितीया द्वितीया, एवं यावन्निष्ठापनिका परिसमाप्तिकारिका पञ्चदशी, अमावस्या इत्यर्थः । ज्योत्स्न्येऽपि, पक्षे इत्यर्थः । एष एवानन्तरोदितो नाम्ना विधिर्ज्ञातव्यः। तद् यथा–प्रथमा प्रतिपत्, द्वितीया द्वितीया, तृतीया तृतीया । एवं यावत् परिसमाप्तिकारिका पञ्चदशी, पौर्णमासी इत्यर्थः । इह विचित्रो विधिर्नाम्नामागमे मासाऽऽदीनां तिथिपर्यन्तानामुक्तः, ततस्तिथिनाम्नां प्रस्तावाद् मासोऽपि विनेयजनानुग्रहार्थमुपवर्ण्यते–इह च एकैकस्मिन् संवत्सरे द्वादश मासाः, तेषां च नामधेयानि द्विविधानि । तद्यथा–लौकिकानि, लोकोत्तराणि च । तत्र लौकिकान्यमूनिः । तद्यथा–श्रावणः, भाद्रपदः, आश्वयुजः, कार्तिकः, मार्गशीर्षः, पौषः, माघः, फाल्गुनः, चैत्रः, वैशाखः, ज्येष्ठः, आषाढ इति । लोकोत्तराण्यमूनि । तद्यथा–प्रथमः श्रावणे अभिनन्दितः, द्वितीयः प्रतिष्ठितः प्रतिपत्तव्यः, तृतीयो विजयः, चतुर्थः प्रीतिवर्द्धनः, पञ्चमः श्रेयान्, षष्ठः शिवः, सप्तमः शिशिरः, अष्टमो हेमवान्, नवमो वसन्तमासः, दशमः कुसुमसंभवः, एकादशो निदाघः, द्वादशो वर्णविरोहः । तथा चोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ:–''एगमेगस्स णं भंते ! संवच्छरस्स कति मासा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुवालस मासा पन्नत्ता । तेसि णं दुविहा नामधिज्जा पन्नत्ता । तं जहा–लोइया, लोउत्तरिया य । तत्थ लोइया नामा इमे । तं जहा–सावणे, भद्दवए०जाव आसाढे । लोगुत्तरिया नामा इमे । तं जहा–

''*अभिणंदिते पइट्ठे य, विजए पीइवड्ढणे ।*
सेयंसे य सिवे चेव, सिसिरे य सहेमवं ॥१॥
नवमे वसंतमासे, दसमे कुसुमसंभवे ।
एक्कारसे निदाहे य, वण्णविरोहे य बारसमे ॥२॥'' (जं०७वक्ष०)

एकैकस्मिंश्च मासे द्वौ पक्षौ, तयोश्च नामधेये गुणनिष्पन्ने इमे । तद्यथा–बहुलः पक्षः, शुक्लपक्षश्च । तत्र योऽन्धकारबहुलः पक्षः स बहुलपक्षः । यस्तु ज्योत्स्नाधवलिततया शुक्लः पक्षः स शुक्ल–पक्षः । उक्तं च–''एगमेगस्स णं भंते ! मासस्स कइ पक्खा पन्नत्ता ? गोयमा ! दो पक्खा पण्णत्ता । तं जहा– बहुलपक्खेय, सुक्कपक्खेयं ।''(जं० ७वक्ष०) एकैकस्मिंश्च पक्षे पञ्चदश दिवसाः । तद्यथा–प्रथमः पूर्वाङ्गो, द्वितीयः सिद्धमनोरमः, तृतीयो मनोहरः, चतुर्थो यथोभद्रः, पञ्चमो यशोधरः, षष्ठः सर्वकामसमृद्धः, सप्तम इन्द्रमूर्द्धाभिषिक्तः, अष्टमः सौमनसः, नवमो धनञ्जयः दशमोऽर्थसिद्धः, एकादशोऽभिजातः, द्वादशोऽव्यसनः, त्रयोदशः शतञ्जयः, चतुर्दशोऽग्निवेश्म, पञ्चदश उपशमः । तथा चोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ– ''एगमेगस्स णं भंते ! पक्खस्स कइ दिवसा पन्नत्ता ? गोयमा ! पन्नरस दिवसा पन्नत्ता । तं जहा–पडिवादिवसे, बिइयादिवसे० जाव पन्नरसीदिवसे । एएसि णं भंते ! पन्नरसण्हं दिवसाणं कइ नामधिज्जा पन्नत्ता ? गोयमा !पण्णरस नामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा–

''पुव्वंगे १ सिद्धमणो–रमे अ२ तत्तो मणोहरे चेव ३ ।
जसभद्दे य ४ जसहरे ५, छट्ठे सव्वकामसमिद्धे य ६ ॥१॥
इंदमुद्धाभिसित्ते य ७, सोमणस ८ धणंजए य बोधव्वे ९ ।
अत्थासिद्धे १० अभिजाए ११, अव्वसणे १२ सयंजए चेव १३।२।
अग्गिवेसे १४ उवसमे १५, दिवसाणं नामधिज्जाइं ।''
(जं० ७ वक्ष०)

एकैकस्मिंश्च पक्षे पञ्चदश रात्रयः । तद्यथा–प्रतिपत् रात्रिः, द्वितीयारात्रिः, यावत्पञ्चदशीरात्रिः । तासां च रात्रीणां क्रमेणामूनि नामानि । तद्यथा–प्रथमा उत्तमा, द्वितीया सुनक्षत्रा, तृतीया ऐलापत्या, चतुर्थी यशोधरा, पञ्चमी सौमनसा, षष्ठी श्रीसम्भूता, सप्तमी विजया, अष्टमी वैजयन्ती, नवमी जयन्ती, दशमी अपराजिता, एकादशी इच्छा, द्वादशी समाहारा, त्रयोदशी तेजाः, चतुर्दशी अतितेजाः, पञ्चदशी देवानन्दा । तथा चोक्तम्–''एगमेगस्स णं भंते ! पक्खस्स कइ राईओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! पण्णरसराईओ पण्णत्ताओ । तं जहा–पडिवाराई, बीयाराई–जाव पण्णरसीराई । एएसि णं भंते ! पण्णरसण्हं राईणं कइ नामधेज्जा पण्णत्ता ? गोयमा ! पन्नरस नामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा–

''उत्तमा य सुनक्खत्ता, एलावच्चा जसोधरा ।
सोमणसा चेव तहा, सिरिसंभूया य बोधव्वा ॥१॥
विजया य वेजयंती, जयंति अपराजिया य इच्छा य ।
समाहारा चेव तहा, तेआ य तहाऽइतेया य ॥२॥
देवाणंदा राई, रयणीए नामधिज्जाइं ।''(जं०७वक्ष०)

एकैकस्मिंश्च पक्षे पञ्चदश तिथयः । ताश्च द्विधा । तद्यथा–दिवसतिथयः, रात्रितिथयश्च । तत्र दिवसतिथीनाममूनि नामानि । तद्यथा–प्रथमा नन्दा, द्वितीया भद्रा, तृतीया जया, चतुर्थी तृच्छा, पञ्चमी पूर्णा । ततः पुनरपिषष्ठी नन्दा, सप्तमी भद्रा, अष्टमी जया, नवमी तुच्छा, दशमी पूर्णा । ततः पुनरप्येकादशी नन्दा, द्वादशी भद्रा, त्रयोदशी जया, चतुर्दशी तुच्छा, पञ्चदशी पूर्णा । तथा चोक्तं चन्द्रप्रज्ञप्तौ– ''ता कहं ते तिहीओ आहिया ति वएज्जा ? तत्थ खलु इमा दुविहा तिही पण्णत्ता । तं जहा–दिवसतिही, राइतिही य । ता कहं ते दिवसतिही आहिया ति वएज्जा ? ता एगमेगस्स पक्खस्स पन्नरस दिवसतिही पण्णत्ता । तं जहा–''नंदे भद्दे जए तुच्छे, पुण्णे पक्खस्स पंचमी ।

पुणरवि–

नंदे भद्दे जए तुच्छे, पुण्णे पक्खस्स दस्समी ॥१॥

पुणरवि–

नंदे भद्दे जए तुच्छे, पुण्णे पक्खस्स पण्णरसी ।
एवं तिगुणा तिगुणा, तिहीउ सव्वेसि दिवसाणं ॥२॥''
(चं०प्र० १० पाहु०)

यास्तु रात्रितिथयस्तासामेतानि नामानि । तद्यथा–प्रथमा उग्रवती, द्वितीया भोगवती, तृतीया यशोमती, चतुर्थी सर्वसिद्धा, पञ्चमी शुभनामा । पुनरपि षष्ठी उग्रवती, सप्तमी भोगवती,

अष्टमी यशोमती, नवमी सर्वसिद्धा, दशमी शुभनामा । ततः पुनरप्येकादशी उग्रवती, द्वादशी भोगवती, त्रयोदशी यशोमती, चतुर्दशी सर्वसिद्धा, पञ्चदशी शुभनामेति । उक्तं च चन्द्रप्रज्ञप्तावेव– ''ता कहं ते राइतिही आहिय त्ति वएज्जा ? ता एगमेगस्स णं पक्खस्स पन्नरस राइतिही पण्णत्ता । तं जहा–''उग्गवई भोगवई, जसोवई सव्वसिद्ध सुहनामा ।'' पुणरवि–''उग्गवई भोगवई, जसोवई सव्वसिद्ध सुहनामा ।'' पुणरवि – ''उग्गवई भोगवई, जसोवई सव्वसिद्ध सुहनामा । एवं तिगुणा एया, तिहीउ सव्वासि राईणं'' ॥१॥ इति । (चं०प्र० १ पाहु०) तदेवमुक्तानि तिथीनां नामानि, प्रसङ्गतो मासदिवसरात्रीणामपि ।

संप्रति यावद् मुहूर्तप्रमाणा तिथिस्तावत्प्रमाणां तिथिं प्रतिपादयति–

एउणतीसं पुण्णा, उ मुहुत्ता सोमतो तिही होइ ।
भागा वि य बत्तीस, वासट्ठिकएण छेएणं ॥

सोमतश्चन्द्रमस उपजायते तिथिः, सा च तत उपजायमाना एकोनत्रिंशत्परिपूर्णमुहूर्ता, एकस्य मुहूर्तस्य द्वाषष्टिकृतेन छेदेन प्रविभक्तस्य भक्त्वा द्वात्रिंशद् भागाः । तथाहि–अहोरात्रस्य द्वाषष्टिभागीकृतस्य सत्का ये एकषष्टिभागाः, तावत्प्रमाणा तिथिरित्युक्तम् । तत्रैकषष्टिस्त्रिंशता गुण्यते, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । एते च किल द्वाषष्टिभागीकृतसकलतिथिगतमुहूर्तसत्का अंशाः, ततो मुहूर्ताऽऽनयनार्थं तेषु द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्धा एकोनत्रिंशन्मुहूर्ताः, द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टि–भागा मुहूर्तस्य । एतावन्मुहूर्तप्रमाणां तिथिः । एतावता हि कालेन चन्द्रमण्डलगतः पूर्वोदितप्रमाणः षोडशो भागो हानिं चोपगच्छति, वर्द्धते वा, तत एतावानेव तिथेः परिमाणकालः । (चं०प्र०१० पाहु०)

साम्प्रतमीप्सितदिने तिथिपरिमाणज्ञापनार्थं करणमाह–

तिहिरासिमेव वाव–ट्ठीभइयं सेसमेगसट्ठिगुणं ।
बावट्ठीए भइए, सेसे अंसा तिहिसमत्ती ॥

ईप्सिततिथिराशिद्वाषष्ट्या भागैः परिपूर्णैरहोरात्रा भवन्ति, ततः परिपूर्णाहोरात्रपातनार्थं द्वाषष्ट्या विभागः क्रियते, विभागे च कृते यच्छेषमुपलभ्यते तदेकषष्टिगुणं क्रियते, एकैकस्यास्तिथेर्द्वाषष्टि–भागीकृताहोरात्रसत्कैकषष्टिभागप्रमाणत्वात् । कृत्वा चैकषष्टिगुणं द्वाषष्ट्या विभज्यते, द्वाषष्ट्या भागैः परिपूर्णस्याहोरात्रस्य पतनाद् द्वाषष्ट्या च भागे कृते ये अंशाः राशेः पश्चादवतिष्ठन्ते, सा तिथि–परिसमाप्तिः, तावदंश–प्रमाणे तस्मिन् दिने तिथिरित्यर्थः । यथा–वा कोऽपि पृच्छति–द्वाषष्ट्या च भागे कृतेऽपि युगे प्रथमे चान्द्रे संवत्सरे आश्वयुजमासे, शुक्लपक्षे पञ्चमी कियत्प्रमाणेति? तत्र किल तिथिः तावदंशप्रमाणा, तस्मिन् दिने तिथिरित्यर्थः । राशि–रादित आरभ्य पञ्चमीपर्यवसानोऽशीतिसंख्या इत्यशीतिर्ह्रियते, तस्या द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, स्थिताः पश्चादष्टादश, ते एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि दश शतानि अष्टानवत्यधिकानि १०९८ । तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, स्थिताः पश्चात् चतुश्चत्वारिंशदंशाः, आगतमेतावदेव षष्टिभागप्रमाणा तस्मिन् दिने पञ्चमी तिथिः । एवमन्यत्रापि भावनीयम् । (?) ज्यो०४पाहु० चं०प्र० सू०प्र०व्य० आ० म० आ०चू० (कालतो ये दिवसा वर्जनीयास्ते 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४२० पृष्ठे दर्शिताः) दिवसेभ्यस्तिथयो बलिष्ठाः–

''दिवसा उ तिही बलिओ, तिहिओ वलियं तु सुचई रिक्खं।'' द०प०।

अथ पञ्चदशतिथिफलमाह–

पडिवाए पडिवत्ती, नत्थि विवत्ती भणंति बीआए ।
तइयाएँ अत्थसिद्धी, विजयग्गी पंचमी भणिया ॥४॥
जा एस सत्तमी सा, उ बहुगुणा इत्थ संसओ नत्थि ।
दसमीएँ पत्थियाणं, भवंति निक्कंटया पंथा ॥५॥
आरुग्गमविग्घं खे–मयं च इक्कारसिं वियाणाहि ।
जे वि हु हंति अमित्ता, ते तेरसिपट्ठिओ जिणइ ॥६॥
चाउद्दसि पन्नरसिं, वज्जिज्जा अट्ठमिं च नवमिं च ।
छट्ठिं च चउत्थिं वारसिं च दुन्हं पि पक्खाणं ॥७॥
पढमी पंचमि दसमी–पन्नरसिक्कारसी वि य तहेव ।
एएसु य दिवसेसुं, सेहस्स निफेडणं कुज्जा ॥८॥
नंदा भद्दा विजया, तुच्छा पुन्ना य पंचमी होइ ।
मासेण य छच्चारे, इक्किक्का वत्तए नियए ॥९॥
नंदे जए य पुन्ने य, सेहनिक्खमणं करे ।
नंदे भद्दे सुभद्दाए, पुन्ने अणसणं करे ॥१०॥ द०प०।

धर्म्मकर्माऽऽदिषु तिथिरुदया तिथिरेव ग्राह्या–

तिथिश्च प्रातः प्रत्याख्यानवेलायां या स्यात्सा प्रमाणम्, सूर्यो – दयानुसारेणैव लोकेऽपि दिवसाऽऽदिव्यवहारात् । आहुरपि–

''चाउम्मासिअवरिसे, पक्खिअपंचऽट्ठमीसु नायव्वा ।
ताओ तिहिओ जासिं, उदेइ सूरो न अण्णाओ ॥१॥
पूआ पणक्खाणं, पडिकमणं तह य निअमगहणं च ।
जीए उदेइ सूरो, तीऐं तिहीए उ कायव्वं ॥२॥
उदयंमि जा तिही सा, पमाणमिअराएँ कीरमाणीए ।
आणाभंगऽणवत्था, मिच्छत्तविराहणं पावे'' ॥३॥

पाराशरस्मृत्यादावपि–

''आदित्योदयवेलायां, या स्तोकाऽपि तिथिर्भवेत् ।
सा संपूर्णेति मन्तव्या, प्रभूता नोदयं विना'' ॥१॥

उमास्वातिवाचकप्रघोषश्चैवं श्रूयते–

''क्षये पूर्वा तिथिः कार्या, वृद्धौ कार्या तथोत्तरा ।
श्रीवीरमोक्षकल्याणं, कार्यं लोकानुगैरिह'' ॥१॥ इति ।

एवं पौषधाऽऽदिना पर्वदिवसा आराध्या इति पर्वकृत्यानि ।ध० २ अधि० द्वितीयाऽऽदिपञ्चपर्वी श्राद्धविध्यादिस्वीयग्रन्थातिरिक्तग्रन्थे क्वास्ति? इति प्रश्ने, उत्तरम्–द्वितीयाऽऽदिपञ्चपर्व्या उपादेयत्वं संविग्नगीतार्थाऽऽचीर्णतया संभाव्यते, अक्षराणि तु श्राद्धविधेरन्यत्र दृष्टानि न स्मरन्ति।१५प्र०। ''मासम्मि पव्वछक्कं, तिन्नि अ पव्वाइँ पक्खम्मि ।'' इतिगाथोक्ता चतुः पर्वी सर्वश्राद्धानां, किं वा लेपश्राद्धाधिकारवर्णिता? इति प्रश्ने, उत्तरम्– ''मासम्मि पव्वछक्कं, तिन्नि य पव्वाइँ पक्खम्मि ।'' इति गाथोक्तैव चतुःपर्वी सर्वश्राद्धानां सम्भाव्यते, न तु लेपश्राद्धाधिकारोक्ता । १६ प्र० ही०२ प्रका० यदा पञ्चमी तिथिस्त्रुटिता भवति तदा तत्पर्वः कस्यां तिथौ क्रियते? पूर्णिमायां च त्रुटितायां कुत्र? इति प्रश्ने, उत्तरम्– यदाऽत्र पञ्चमी तिथिस्त्रुटिता भवति, तदा तत्पर्वः पूर्वस्यां तिथौ क्रियते, पूर्णिमायां च त्रुटितायां त्रयोदशीचतुर्दश्योः क्रियते, त्रयोदश्यां विस्मृतौ प्रतिपद्यपीति । ५ प्र० ही०४ प्रका० महा–

विदेहेषु कल्याणकतिथ्यादिकमिदमेव, अन्यद्वा? इति प्रश्ने, उत्त–रम्–महाविदेहेषु कल्याणकतिथ्यादिकमिदमेवेति न सम्भाव्यते, यदाऽत्रत्य-तीर्थकृतां च्यवनाऽऽदिकल्याणकं, तदा तत्र दिवससद्भावात्, तत् प्रतिपादकान्यक्षराण्यपि नोपलभ्यन्तो। १७प्र०। ही० १ प्रका०। तिस्र एव पूर्णिमाः पर्वत्वेन संगीर्यते, सर्वा अपि वेत्यत्र प्रश्ने, उत्तरम्–''छन्नं तिहीण मज्झम्मि, का तिही अज्ज वासरे ?'' इत्याद्यागमानुसारेणाऽविच्छिन्नवृद्धपरम्परया च सर्वा अपि पूर्णिमाः पर्वत्वेन मान्या एवेति। २ प्र०। ही० १ प्रका०। पूर्णिमाऽमावास्ययोर्वृद्धौ पूर्वमौदयिकी तिथिराराध्यत्वेन व्यवह्रियमाणाऽस्तीति केनचिदुक्तम्, श्रीतातपादाः पूर्वतनीमाराध्यत्वेन प्रसादयन्ति, तत्किमिति प्रश्ने, उत्तरम्–पूर्णिमाऽमावास्ययोर्वृद्धौ औदयिकैव तिथिराराध्यत्वेन विज्ञेया। ५ प्र०। ही० ३ प्रका०। ''छन्नं तिहीण मज्झम्मि, का तिही अज्ज वासरे?'' इत्याद्यागमवाक्यम्, तत्कुत्राऽऽगमेऽस्ति, स नाम्ग्राहं प्रसाद्यः, यतोऽत्र स्तनिकाः राजसमक्षमेव वदन्ति, यज्जैनजीर्णग्रन्थमध्ये द्वितीयैकादशीप्रमुखतिथीनां चतुःपर्वीनां मानमाराध्यत्वेन नास्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–''छन्नं तिहीण मज्झम्मि, का तिही अज्ज वासरे?'' इत्यादि गाथा श्राद्धदिनकृत्यसूत्रेऽस्ति, तद्व्याख्यानं च ८–१४–१५ एताः सितेतरभेदात् षट् तिथय इति। द्वितीयैकादशीप्रमुखतिथीनामक्षराणि तु श्राद्धविधेरन्यत्र न सन्ति, तथा ज्ञानपञ्चम्यक्षराणि महानिशीथे सन्तीति। १८० प्र०। सेन०३ उल्ला०। ''बहुसु य तिहीसु य पव्वणीसु य।'' मदनाऽऽदित्रयोदश्यादितिथिषु, भ०६ श० ३३ उ०।

तिहिवुड्ढि स्त्री०(तिथिवृद्धि) अष्टम्यादितिथिवृद्धौ अग्रेतन्या आराधनं क्रियते, यतस्तद्दिने प्रत्याख्यानवेलायां घटिकाद्विका सा भवति, तावत्या एवाऽऽराधनं भवति, तदुपरि नवम्यादीनां भवनात्, संपूर्णायास्तु विराधनं जातं, पूर्वदिने भवनात्। अथ यदि प्रत्याख्यानवेलायां विलोक्यते, तदा तु पूर्वदिने द्वितयमप्यस्ति, प्रत्याख्यानवेलायां समग्रदिनेऽपीति स्पष्टमाराधनं भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्–''क्षये पूर्वा तिथिः कार्या, वृद्धौ कार्या तथोत्तरा।'' इति उमास्वातिवाचकवचनप्रामाण्याद् वृद्धौ सत्यां स्वल्पाऽप्यग्रेतना तिथिः प्रमाणमिति। १८५ प्र०। सेन०३ उल्ला०।

तिही स्त्री०(तिथी) 'तिहि' शब्दार्थे, चं०प्र० १० पाहु०।

तिहु अव्य०(कुतस्) **''कुतसः कउ कहं तिहु''** ॥८।४।४१६॥ इत्यपभ्रंशे कुतःशब्दस्य 'तिहु' इत्यादेशः। कस्मादित्यर्थे, प्रा०४ पाद।

तिहुयण न०(त्रिभुवन) अधस्तिर्यगूर्ध्वलोकभेदे, आव०४ अ०।

तिहुयणतिलग पुं०(त्रिभुवनतिलक) श्रीनासिक्यपुरे श्रीजीवित-चन्द्रप्रभस्वामिप्रतिमायाम्, ती०४३ कल्प।

तिहुयणभाणु पुं०(त्रिभुवनभानु) अहिच्छत्रापूजितायां स्वनाम-ख्यातायां पार्श्वजिनप्रतिमायाम्, ती० ४३ कल्प।

तीय त्रि०(अतीत) अतिशयेन इतो गतोऽतीतः, पिधानवदकारलोपः। वर्तमानत्वमतिक्रान्ते, स्था०३ ठा०४ उ०। षो०। आव०।

तीयवयण न०(अतीतवचन) कृतवानित्येवंरूपे षोऽशवचनेषु द्वादशे वचने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ०१ उ०।

तीर पुं०(तीर) पर्यन्ते, नि०चू० १ उ०। तटे, सूत्र०१ श्रु० १ अ०। पारे, स्था०४ ठा०१उ०। प्रवाहात्परकूले, विशे०। ''दकतीरम्मि चिट्ठित्तए।'' उदकतीरं उदकोष्कण्टम्। बृ०१ उ०।

***शक्** धा०। सामर्थ्ये। स्वादि०–पर०–अक०–अनिट्। **''शकेश्वय–तर–तीर–पाराः''** ॥८।४।८६॥ इति शक्नोतेस्तीर इत्यादेशः। 'तीरइ।' शक्नोति। प्रा०४ पाद।

तॄ धा०। तरणे, प्लवने, अभिभवे च। भ्वादि०–पर०–सक०– सेट्। **''ह्र–कृ–तॄ–ज्ञामीरः''** ॥८।४।२५०॥ इति तृधातोरन्त्यस्य ईर इत्यादेशः। 'तीरइ'। तरति। प्रा०४ पाद।

तीरंगम त्रि०(तीरङ्गम) तीरं गच्छन्तीति तीरङ्गमाः, खच्, मुमा–गमाश्च। पारगामिनि, आचा० १ श्रु०२ अ०३उ०।

तीरट्ठ त्रि०(तिरस्थ) सम्यक्त्वाऽऽदिप्राप्तेः संसारपरिमाणात् तटस्थे, दश०२ अ०।

तीरट्ठि(ण्) त्रि०(तिरार्थिन्) तीरं पारं भवार्णवस्यार्थयत इत्येवं-शीलस्तीरार्थी, तीरस्थायी वा, तीरस्थितिरितिवा प्राकृतत्वात् 'तीरट्ठी' इति। स्था४ ठा०१ उ०। सूत्र०। भवार्णवतेतीर्षौ, दश० १० अ०।

तीरहुत्त पुं०(तीरभुक्त) विदेहजनपदेषु, ''इहेव भारहे वासे पुव्वदेसे विदेहो नाम जणवओ, संपइकाले तिरहुत्तदेसो त्ति भण्णति।'' ती०१ कल्प।

तीरित्ता अव्य०(तारयित्वा) यावज्जीवमाराध्येत्यर्थे, कल्प० ६ क्षण।

तीरिय त्रि०(तारित) पूर्णऽपि प्रत्याख्यानकालावधौ किञ्चिदधि-ककालावस्थानेन तीरं नीते, प्रव०५ द्वार। आचा०। ''एता भिक्खुपडिमा तीरिया भवइ।'' पूर्णऽपि तदवधौ स्तोककालावस्थानात्तीरिता भवति। दर्श० १ तत्त्व। आ०चू०। समाप्ते, व्य०१ उ०।

तीसइमुहुत्त त्रि०(त्रिंशन्मुहूर्त्त) त्रिंशतं मुहूर्त्ताश्चन्द्रभागो येषां तानि तथा। त्रिंशन्मुहूर्त्तानि यावच्चन्द्रेण सह युज्यमाननक्षत्रे, स्था०६ ठा०।

तीसगुत्त पुं०(तिष्यगुप्त) राजगृहनगरवास्तव्यस्य वसुनामाऽऽचार्यस्य स्वनामख्याते शिष्ये, स च जीवप्रादेशिकानां निह्नवानां धर्माऽऽचार्यः। विशे०। आ०क०। उत्त०। स्था०। आ०म०। आ० चू०। (तद्वक्तव्यता लेशतो 'जीवपएसिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५५४ पृष्ठे उक्ता)

तीसभद्द पुं०(तिष्यभद्र) माठरसगोत्रस्याऽऽर्यसंभूतविजयस्थविरस्य स्वनामख्याते शिष्ये, कल्प० ८ क्षण।

तीसल्लनिस्सल्ल त्रि०(त्रिशल्यनिःशल्य) मायानिदानमिथ्याद-र्शनरूपशल्यत्रयरहिते, पा०।

.....तीसल्लनिस्सल्लो (२३)

शल्यते बाध्यते प्राणी एभिरिति शल्यानि। द्रव्यतस्तोमराऽऽदीनि, भावतस्तु मायाऽऽदीनि। निर्गतानि शल्यानि यस्य स निःशल्यः। स चैकशल्यापेक्षयाऽपि स्यादित्याह–त्रीणि च तानि शल्यानि च त्रिशल्यानि, तेषु विषये निःशल्यः त्रिशल्यनिः शल्यः। तत्र मायाशल्यम्–माया निकृतिः, सैव शल्यं मायाशल्यम्। नितरां दायते लूयते मोक्षफलम-निन्द्यब्रह्मचर्याऽऽदिसाध्यकुशलकर्म्मकल्पतरुवनमनेन देवद्धर्यादिप्रा-र्थनपरिणामनिशितासिनेति निदानं, तदेव शल्यं निदानशल्यम्। मिथ्यादर्शनशल्यम्–मिथ्या विपरीतं, दर्शनं तत्त्वानवबोधलक्षणं मिथ्यादर्शनं, तदेव शल्यं मिथ्यादर्शन–शल्यमिति। (२३) पा०।

तीसा स्त्री०(त्रिंशत्) **''विंशत्यादेर्लुक् ''** ॥८।१।२८॥ इत्यनुस्वा–रस्य लुक्। प्रा०१ पाद। **''ईर्जिङ्कासिंहत्रिंशद्विंशतौ त्या''** ॥८।१।९२॥ इति इकारस्येकारः। त्रिरावृत्तदशसंख्यायाम्, प्रा०१ पाद।

तीसिया स्त्री०(त्रिंशिका) त्रिंशद्वर्षपर्यायायां स्त्रियाम्, व्य०७ उ०।

तु अव्य०(तु) समुच्चये, विशे०। नि०चू०। दर्श०। अवधारणे, विशे०। उत्त०। सूत्र०। दश०। प्रव०। आ०म०। नि०चू०। पञ्चा०। विशेषणे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२उ०। आचा०। वितर्के, सूत्र०२ श्रु०४अ०। आव०। पञ्चा०। पूरणे, स्था०४ ठा०२ उ०। नि०चू०। पञ्चा०। पादपूरणे, पञ्चा०४ विव०। नि०चू०। पुनःशब्दार्थे, आचा०१ श्रु०५ अ०१उ०। दश०। पूर्वस्माद्विशेषदर्शने, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२उ०। एवकारार्थे, सूत्र०१ श्रु०२ अ०२उ०। ग०। अने०। दर्श०। दश०। नं०। आ०म०। स्था०। अप्यर्थे, दर्श०१ तत्त्व। यस्मादर्थे, नि०चू० १ उ०। चशब्दार्थे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। शब्दार्थप्रदर्शने, नि० चू० १५ उ०। भेद, ''तुः स्याद्भेदेऽवधारणे।'' स्या०। आ०म०। भिन्नक्रमे, प्रव०४ द्वार। अव्ययत्वेनाऽनेकार्थत्वाद् हेतौ, व्य० १ उ०। कारणापेक्षायाम्, नि०चू०१ उ०। तुशब्दो यच्छब्दार्थे द्रष्टव्यः। ''तेणं तु चित्तमचित्तं।'' तेणं जं तं चित्तमचित्तेत्यर्थः। नि० चू०१ उ०। विकल्पदर्शने, नि०चू०१ उ०। परिग्रहे, नि०चू०१ उ०। सादृश्ये, स्या०। अप्रतिषेधे, स्तोकप्रायश्चित्तप्रदानविशेषे, नि० चू० १उ०। अनेकप्रकार-विशेषणे, दश०४ अ०। पर्याप्तिवचने, आचा०१ श्रु० १अ०६उ०।

तुअर पुं०(तुवर) धान्यविशेषे, जं०१ वक्ष०। कषायरसे च। तद्वति, त्रि०। आढक्यां, सौराष्ट्रमृत्तिकायां च। स्त्री०। षित्वान् ङीष्। स्वार्थे कन्। तुवरिकाऽप्यत्रैव। वाच०।

तुं त्रि०(त्वाम्) **''तं–तुं–तुमं–तुवं–०** ॥८।३।९२॥ इत्यादिनाऽ-मासहितस्य युष्मदः 'तुं' इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तव त्रि०। **''तइ–तुं–ते–तुम्हं०–''** ॥८।३।९९॥ इत्यादिना षष्ठ्येकवचनेन ङसा सहितस्य 'तुं' इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद।

त्वम् त्रि०। **''युष्मदस्तं तुं०–''** ॥८।३।९०॥ इत्यादिना सिसहि–तस्य युष्मदः 'तुं' इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुंग त्रि०(तुङ्ग) उच्चैस्त्वगुणयुक्ते, स०। जं०। औ०। जी०। कल्प०। सू०प्र०। उन्नते, औ०। अत्युच्चे, रा०।

तुंगार पुं०(तुङ्गार) दक्षिणपूर्वस्यां दिग्वाते, आ०म०१ अ०१ खण्ड। आ०चू०।

तुंडिय पुं०(तुङ्गिक) वत्सदेशान्तर्गते स्वनामख्याते ग्रामे, आ० म०१ अ०२ खण्ड। आ०चू०। ''जसभद्दं तुगियं चेव।'' तुङ्गिकगणे तुङ्गिका-पत्यगोत्रे, नं०।

तुंगिया स्त्री०(तुङ्गिका) स्वनामख्यातायां नगर्याम्, भ०।

तुङ्गिकानगरीश्रावकसमुदायवान् दृष्टान्तश्चैवम्–

तीसे णं तुंगियाए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे पुप्फवईए नामं चेइए होत्था। वण्णओ। तत्थ णं तुंगियाए नयरीए बहवे समणोवासया परिवसंति, अड्ढा दित्ता वित्थिण्णविपुल–भवणसयणाऽऽसणजाणवाहणाऽऽइण्णा बहुधणबहुजायरू–वरययाआओगपओगसंपउत्ता विच्छड्डियविउल भत्तपाणा बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूया बहुजणस्स अपरिभूया अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरनिज्जर–किरियाहिगरणबंधप्पमोक्खकुसला असहेज्जदेवासुरनागसु–वण्णजक्खरक्खसकिण्णरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगादीएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा निग्गंथे पावयणे निस्संकिया निक्कंखिया निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा अभिगयट्ठा विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंज-पेम्माणुरायरत्ता अयमाउसो! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा चियत्तंते–उरपरघरप्पवेसा बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोस–होववासेहिं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्ममणुपालेमाणा समणे णिग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपा–णखाइमसाइमेणं वत्थपरिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पीठफलग–सेज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेणं पडिलाभेमाणा अहापरिग्गहि–एहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। तेणं कालेणं तेणं समएणं पासवच्चिज्जा थेरा भगवंतो जाइसंपण्णा कुलसंपण्णा बलसंपण्णा रूवसंपण्णा विणयसंपण्णा णाणसं–पण्णा दंसणसंपण्णा चरित्तसंपण्णा लज्जालाघवसंपण्णा ओयं–सी तेयंसी वच्चंसी जसंसी जियकोहा जियमाणा जियमाया जियलोभा जियनिद्दा जियइंदिया जियपरीसहा जीवियासा–मरणभयसोगविप्पमुक्का बहुस्सुया बहुपरिवारा पंचहिं अण–गारसएहिं सद्धिं संपरिवुडा अहाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगामं दूइज्जमाणा सुहं सुहेणं विहरमाणा जेणेव तुंगिया नयरी, जेणेव पुप्फवईए चेइए, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता अहापडि–रूवं उग्गहं ओगिण्हेत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति॥

(अड्ढ त्ति) आढ्या धनधान्याऽऽदिभिः परिपूर्णाः, (दित्त त्ति) दीप्ताः प्रसिद्धाः, दृप्ता वा दर्पिताः (वित्थिण्णविपुलभवणसयणाऽऽसण-जाणवाहणाऽऽइण्णा) विस्तीर्णानि विस्तारवन्ति विपुलानि प्रचुराणि भवनानि गृहाणि शयनाऽऽसनयानवाहनैराकीर्णानि येषां ते तथा। अथवा विस्तीर्णानि विपुलानि भवनानि येषां, शयनाऽऽसनयानवाहनानि वाऽऽकीर्णानि गुणवन्ति येषां ते तथा। तत्र यानं गन्त्र्यादि, वाहनं त्वश्वा-ऽऽदि। (बहुधणबहुजायरूवरययाय) बहु प्रभूतं धनं गणिमाऽऽदिकं, तथा बह्वेव जातरूपं सुवर्णं रजतं च रूप्यं येषां ते तथा। (आओगप-ओगसंपउत्ता) आयोगो द्विगुणाऽऽदिवृद्ध्याऽर्थप्रदानं, प्रयोगश्च कलान्तरं, तौ संप्रयुक्तौ व्यापारितौ यैस्ते तथा। (विच्छड्डियविउलभत्तपाणा) विच्छर्दितं विविधमुज्झितं, बहुलोकभोजनत उच्छिष्टो-वशेषसंभवात्, विच्छर्दितं वा विविधविच्छित्तिमद्, विपुलं भक्तं च पानकं च येषां ते तथा। (बहुदासीदास-गोमहिसगवेलगप्पभूया) बहवो दासीदासा येषां, गोमहिषगवेलकाश्च प्रभूता येषां ते तथा। गवेलका उरभ्राः (बहु–जणस्स अपरिभूया) बहोर्लो-कस्यापरिभवनीयाः, ''आसव'' इत्यादौ क्रियाः कायिक्यादिका अधि–

करणं गन्त्रीयन्त्रकाऽऽदि । (कुसल त्ति) आश्रवाऽऽदीनां हेयोपादेयतास्वरूपवेदिनः (असहेज्जेत्यादि) अविद्यमानं साहाय्यं परसाहायिकमत्यन्तसमर्थत्वाद्येषां ते असाहाय्याः, ते च ते देवाऽऽदयश्चेति कर्म्मधारयः । अथवा–व्यस्तमेवेदं, तेन असाहाय्या आपद्यपि देवाऽऽदिसाहाय्यकानपेक्षाः, स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्यदीनमनोवृत्तय इत्यर्थः । अथवा–पाखण्डिभिः प्रारब्धाः सम्यक्त्वविचलनं प्रति न परसाहायकमपेक्षन्ते, स्वयमेव तत्प्रति–घातसमर्थत्वाज्जिनशासनात्यन्तभावितत्वाद्येति, तत्र देवा वैमानिकाः (असुरत्ति असुरकुमाराः (नाग त्ति) नागकुमाराः, उभयेऽप्यमी भवनपतिविशेषाः (सुवण्ण त्ति) सद्वर्णा ज्योतिष्काः, यक्षराक्षस–किन्नरकिंपुरुषा व्यन्तरविशेषाः (गरुल त्ति) गरुडवजाः सुपर्ण–कुमारा भवनपतिविशेषाः, गन्धर्वा महोरगाश्च व्यन्तरविशेषाः । (अणतिक्कमणिज्ज त्ति) अनतिक्रमणीया अचालनीयाः (लद्धट्ठ त्ति) अर्थश्रवणात् । (गहियट्ठ त्ति) अर्थावधारणात्। (पुच्छियट्ठ त्ति) सांशयिकार्थप्रश्नकरणात्। (अभिगयट्ठ त्ति) प्रश्निनतार्थस्याभिगमनात् । (विणिच्छियट्ठ त्ति) ऐदम्पर्यार्थस्योपलम्भात्। अत एव–(अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता) अस्थीनि च कीकसानि, मिञ्जा च तन्मध्यवर्त्ती धातुरस्थिमिञ्जास्ताःप्रेमानुरागेण सार्वज्ञप्रवचनप्रीतिरूपकुसुम्भाऽऽदिरागेण रक्ता इव रक्ता येषां ते तथा। अथवा–अस्थिमिञ्जासु जिनशासनगतप्रेमानुरागेण रक्ता ये ते तथा । केनोल्लेखेनेत्याह–(अयमाउसो ! इत्यादि) अयमिति प्राकृतत्वादिदम् । (आउसो ! त्ति) आयुष्मन्निति पुत्राऽऽदेरामन्त्रणम् । (सेसे त्ति) शेषनिर्ग्रन्थप्रवचनव्यतिरिक्तं धनधान्यपुत्रकलत्रमित्रकुप्रवचनाऽऽदिकमिति। (ऊसियफलिह त्ति) उच्छ्रितमुन्नतं स्फटिकमिव स्फटिकं चित्तं येषां ते उच्छ्रितस्फटिकाः, मौनीन्द्रप्रवचनावाप्त्या परितुष्टमानसा इत्यर्थः । इति वृद्धव्याख्या । अन्ये त्वाहुः–उत्थितोऽर्गलास्थानादपनीयोर्द्धीकृतोऽतिरश्चीनः कपाटपश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः । परिघोऽर्गला येषां ते उच्छ्रितपरिघाः । अथवा–उच्छ्रितोगृहद्वारादपगतः परिघो येषां ते उच्छ्रितपरिघाः । औदार्यातिशयादतिशयदानदायित्वने भिक्षुकाणां गृहप्रवेशार्थमनर्गलितगृहद्वारा इत्यर्थः ॥ (अवंगुयदुवारे त्ति) अप्रावृतद्वाराः, कपाटाऽऽदिभिरस्थगितगृहद्वारा इत्यर्थः । सद्दर्शनलाभेन न कुतोऽपि पाखण्डिकाद्बिभ्यति, शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटितशिरस्तिष्ठन्तीति भावः । इति वृद्धव्याख्या । अन्ये त्वाहुः–भिक्षुकप्रवेशार्थमौदार्यादस्थगितगृहद्वारा इत्यर्थः ॥ (चियत्तंतेउरपरघरप्पवेसा) (चियत्तो त्ति) लोकानां प्रीतिकर एवान्तःपुरे वा परगृहे वा प्रवेशो येषां ते तथा, अतिधार्म्मिकतया सर्वत्रानाशङ्कनीयास्त इत्यर्थः । अन्येत्वाहुः–(चियत्तो त्ति) नाऽप्रीतिकरोऽन्तः पुरपर गृहयोः प्रवेशः शिष्टजनप्रवेशनं येषां ते तथा । अनीर्ष्यालुताप्रतिपादनपरं चेत्थं विशेषणमिति। अथवा–(चियत्तो त्ति) त्यक्ताऽन्तःपुरपरगृहयोः परकीययोर्यथाकथञ्चित्प्रवेशो यैस्ते तथा । (बहूहिं इत्यादि) शीलव्रता–न्यणुव्रतानि, गुणा गुणव्रतानि, विरमणानि औचित्येन रागाऽऽदि–निवृत्तयः, प्रत्याख्यानानि पौरुष्यादीनि, षौषधं पर्वदिनानुष्ठानं तत्रोपवासोऽवस्थानं पौषधोपवासः । एतेषां द्वन्द्वोऽतस्तैर्युक्ता इति गम्यम् । पौषधोपवास इत्युक्तम्, पौषधं च यदा यथाविधं च ते कुर्वन्तो विहरन्ति तद्दर्शयन्नाह–(चाउद्दसेत्यादि) इहोद्दिष्टा अमावस्याः (पडिपुन्नं पोसहं ति) आहाराऽऽदिभेदाच्चतुर्विधमपि सर्वतः। (वत्थपरिग्गहकंबलपायपुंछणेणं ति)। इह पतद्ग्रहः पात्रं, पाद–प्रोञ्छनं, रजोहरणं, पीठमासनं, फलकमवष्टम्भनफलकं, शय्या वसतिर्बृहत्संस्तारको वा,संस्तारको लघुतरः । एषां समाहारद्वन्द्वोऽतस्तेन । (अहापरिग्गहिएहिं ति) यथाप्रतिपन्नैर्न पुनर्हासं नीतैः (थेरे त्ति) श्रुतवृद्धाः । (रूवसंपन्न त्ति) इह रूपं सुविहितनेपथ्यं, शरीरसुन्दरता वा, तेन सम्पन्ना युक्ता रूपसम्पन्नाः । (लज्जालाघवसंपन्न त्ति) लज्जा प्रसिद्धा, संयमो वा, लाघवं द्रव्यतोऽल्पोपधित्वं, भावतो गौरवत्यागः । (ओयंसी ति) ओजस्विनो मानसावष्टम्भयुक्ताः । (तेयंसी ति) तेजस्विनः शरीरप्रभायुक्ताः । (वच्चंसी ति) वर्चस्विनो विशिष्टप्रभावोपेताः, वचःस्विनो वा विशिष्टवचनयुक्ताः। (जसंसी ति) ख्यातिमन्तः । अनुस्वारश्चैतेषु प्राकृतत्वात्। (जीवि–यासामरणभयसोगविप्पमुक्क त्ति) जीविताऽऽशया, मरणभयेन च विप्रमुक्ता ये ते तथा । इह (?) यावत्करणादिदं दृश्यम्– ''तवप्पहाणा गुणप्पहाणा।'' गुणाश्च संयमगुणाः, तपःसंयमग्रहणं चेह तपः संयमयोः प्रधानमोक्षाङ्गताऽभिधानार्थम्। तथा–''करणप्पहाणा चरणप्पहाणा'' तत्र करणं पिण्डविशुद्ध्यादि, चरणं व्रतश्रमणधर्माऽऽदि । चरणं व्रतश्रमणधर्माऽऽदि । (निग्गहप्पहाणा) निग्रहोऽन्यायकारिणां दण्डः, (निच्छयप्पहाणा) निश्चयोऽवश्यङ्करणाभ्युपगमः, तत्त्वनिर्णयो वा । (मद्दवप्पहाणा अज्जवप्पहाणा) ननु जित–क्रोधाऽऽदित्वान्मार्दवाऽऽदिप्रधानत्वमवगम्यत एव तत्किं मार्दवे–त्यादिना? उच्यते–तत्रोदयविफलतोक्ता, मार्दवाऽऽदिप्रधानत्वे तूदयाभाव एवेति । (लाघवप्पहाणा) लाघवं क्रियासु दक्षत्वम् । (खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा) (एवं विज्जामंत वेयबंभनयनियमस–च्चसोयप्पहाणा चारुप्पन्ना) सत्प्रज्ञाः (सोही) शुद्धिहेतुत्वेन शोधयः, सुहृदो वा मित्राणि, जीवानामिति गम्यम्। (अणियाणा अप्पुस्सुया अवहिलेस्सा सुसामन्नरया अच्छिद्दपसिणवागरण त्ति) अच्छिद्दाण्यविरलानि निर्दूषणानि वा प्रश्नव्याकरणानि येषां ते तथा। (कुत्तियावणभूय त्ति) कुत्रिकं स्वर्गमर्त्यपातालरूपं भूमित्रयं, तत्सम्भवं वस्त्वपि कुत्रिकं, तत्सम्पादक आपणो हट्टः कुत्रिकाऽऽपणः, तद्भूताः समीहितार्थसम्पादनलब्धियुक्तत्वेन सकलगुणोपेतत्वेन वा तदुपमाः। (सद्धिं ति) सार्द्धं सहेत्यर्थः। सम्परिवृताः सम्यक् परिवारिताः, परिकरभावेन परिकरिता इत्यर्थः । पञ्चभिः श्रमणशतैरेव।

तए णं तुंगियाए नयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु०जाव एगदिसाभिमुहा णिज्जायंति, तए णं ते समणोवासया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा हट्ठतुट्ठा०जाव सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपण्णा०जाव अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

(सिंघाडग त्ति) शृङ्गाटकफलाऽऽकारं स्थानं, त्रिकं रथ्यात्रयमीलनस्थानम्, चतुष्कं रथ्याचतुष्कमीलनस्थानम्, चत्वरं बहुतररथ्यामीलनस्थानम्, महापथो राजमार्गः, पन्था रथ्यामात्रम् । यावत्करणात्–''बहुजणसद्देहिं वा'' इत्यादिपूर्वव्याख्यातमत्र दृश्यम्।

तं तहाफलं खलु देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं थेराणं भगवंता–

णं नामगोयस्स वि सवणयाए, किमंग ! पुण अभिगमणवंदण-नमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए०जाव गहणयाए; तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! थेरे भगवंते वंदामो, णमंसामो० जाव पज्जुवासामो, एयण्णं इहभवे परभवे०जाव आणुगामियत्ताए भविस्सइ त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पणि-सुणें ति, पडिसुणित्ता जेणेव सयाइं गेहाइं, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपाय-च्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवराइं परिहिया अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा सएहिं सएहिं गेहेहिंतो पडि-निक्खमंति, पडिनिक्खमइत्ता एगयओ मेलायंति, पायविहार-चारेणं तुंगियाए नयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छंति, निग्गच्छइत्ता जेणेव पुप्फवईए नामं चेइए होत्था, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता थेरे भगवंते पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति। तं जहा-सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए, अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, एगसाडिएणं उत्तरासं-गकरणेणं चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं मणसा एगत्तीकरणेणं जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करें ति०जाव तिविहाए पज्जु-वासणाए पज्जुवासंति। तए णं ते थेरा भगवंतो तेसिं समणो-वासयाणं तीसे य महइ महालियाए परिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेंति। जहा केसिसामिस्स०जाव समणोवासइत्ताए आणाए आराहए भवइ०जाव धम्मो कहिओ।

(पडिसुणेंति त्ति) अभ्युपगच्छन्ति। (सयाइं ति) स्वकीयानि। (कयबलिकम्म त्ति) स्नानानन्तरं कृतं बलिकर्म यैः स्वगृहदेवतानां ते तथा। (कयकोउयमंगलपायच्छित्त त्ति) कृतानि कौतुकमाङ्ग ल्यान्येव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नाऽऽदिविघातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्यैस्ते तथा। अन्ये त्वाहुः-(पायच्छुत्त त्ति) पादेन पादे वा, छुप्ताश्चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादच्छुप्ताः, कृतकौतुकमङ्ग लाश्च ते पादच्छुप्ताश्चेति विग्रहः। तत्र कौतुकानि मषीतिलकाऽऽदीनि, मङ्ग लानि तु सिद्धार्थकदध्यक्षत-दूर्वाऽङ्कुराऽऽदीनि। (सुद्धप्पावेसाइं ति) शुद्धाऽऽत्मानो वेष्याणि वेषोचि-तानि। अथवा-शुद्धानि च तानि प्रवेश्यानि च राजाऽऽदिसभाप्रवेशोचि-तानि शुद्धप्रावेश्यानि। (वत्थाइं पवराइं परिहिय त्ति) क्वचित् दृश्यते। क्वचिच्च-(वत्थाइं पवरपरिहिय त्ति) तत्र प्रथमपाठो व्यक्तः, द्वितीयस्तु प्रवरं यथा भवतीत्येवं परिहिताः प्रवरपरिहिताः। (पायविहारचारेणं ति) पादविहारेण, न यानविहारेण, यश्चारो गमनं स तथा तेन। (अभि-गमेणं ति) प्रतिपत्त्या अभिगच्छन्ति समीपं गच्छन्ति। (सचित्ताणं ति) पुष्पताम्बूलाऽऽदीनाम् (विउसरणयाए त्ति) व्यवसर्जनया त्यागेन। (अचित्ताणं ति) वस्त्रमुद्रिकानाम् (अविउसरणाए त्ति) अत्यागेन। (एगसाडिएणं ति) अनेकोत्तरीयशाटकानां निषेधार्थमुक्तम्। (उत्तरासंग-करणेणं ति) उत्तरासङ्ग उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषः। चक्षुः स्पर्शे दृष्टिपाते। (एगत्तीकरणेणं ति) अनेकत्वस्यानेकाऽऽलम्बनत्वस्यै-कत्वकरणमेकालम्बनत्वकरणमेकत्वीकरणं, तेन। (तिविहाए पज्जुवास-णाए त्ति) इह पर्युपासनात्रैविध्यं मनोवाक्कायभेदादिति। (महइमहालियाए त्ति) आलप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वाद् महति महत्याः। भ०२ श०५ उ०।

तुंगियायण पुं०(तुङ्गियायन) तुङ्ग र्षिगोत्रापत्ये ऋषौ, कल्प० ८ क्षण।

तुंगी (देशी) रात्रौ, दे०ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुंड न०(तुण्ड) मुखे, विशे०। आ०म०। पुरोभागे, नि०चू०। ''सायं से धूता सगडस्स तुंडे ठिता'' नि०चू० १ उ०। आस्ये, दे०ना०५ वर्ग १४ गाथा।

तुंडिक पुं०(तुण्डिक) वेलाकूलवास्तव्ये स्वनामख्याते वणिजि, आ०क०। ('जत्तासिद्ध' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३६ पृष्ठे कथा)

तुंडीर (देशी) मधुरबिम्बे, दे०ना०५ वर्ग १४ गाथा।

तुंडूअ (देशी) जीर्णघटे, दे०ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुंतुखडिअ (देशी) त्वरायुक्ते, दे०ना० ५ वर्ग ३६ गाथा।

तुंद (देशी) उदरे, दे०ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुंदपरिमिय त्रि०(तुन्दपरिमित) उदरभरणव्यग्रे, सूत्र० १० श्रु० ७ अ०।

तुंदिल त्रि०(तुन्दिल) तुन्दमस्यास्तीति तुन्दिलः। यथेप्सितभोजनेन वर्द्धितोदरे, उत्त०७ अ०।

तुंब न०(तुम्ब) अलाव्याम्, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। रा०। नि०चू०। अष्टादशे ज्ञाताध्ययने, स० १८ सम०। आव०। शकटनाभ्याम् ''जेण कुलं आयत्तं, तं पुरिसं आयरेण रक्खेज्जा। न हि तुंबम्मि विणट्ठे, अरया साहारया होंति ॥१॥'' आ०म०१ अ०१ खण्ड। कप्रत्ययो-ऽपि। अनु०। उत्त०। स्था०।

तुंबणाय न०(तुम्बज्ञात) अलाबूदृष्टान्तप्रतिपादके षष्ठेऽध्ययने, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। आ०चू०। ('कम्म' शब्दे चैतत् तृतीयभागे ३३२ पृष्ठे उक्तम्)

तुंबर त्रि०(तुम्बर) कच्चे आमे, ''जह तरुणअंबगरसो, तुँबरकव-ट्ठस्स वा वि जारिसओ। (१२)'' उत्त० ३४ अ०।

तुंबरफल न०(तुम्बरफल) हरीतकीप्रभृतिषु, बृ०१ उ०।

तुंबवणग्गाम पुं०(तुम्बवनग्राम) स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र सुनन्दा-भिधानां साधानां भार्यां मुक्त्वा धनगिरिणा दीक्षा गृहीता। कल्प० १ क्षण। आ०चू०। आ०म०।

तुंववीण त्रि०(तुम्बवीण) तुम्बयुक्ता वीणा येषां ते तुम्बवीणाः। तुम्बवीणावादकेषु, जीव०३ प्रति०४ उ०।

तुंववीणिय त्रि०(तुम्बवीणिक) तुम्बयुक्तायां वीणायां वादके, रा०। आचा०। प्रश्न०। ज्ञा०। अनु०।

तुंवसाग पुं०(तुम्बशाक) स्वनामख्याते शाकविशेषे, उत्त० २अ०।

तुंवा स्त्री०(तुम्बा) चमरस्य बलस्य च लोकपालानामग्र-महिषीणां चाभ्यन्तरपरिषदि, स्था०३ ठा०२उ०। चन्द्रस्य सू-

र्यस्य च सामानिकाग्रमहिषीणां चाभ्यन्तरपरिषदि, स्था० ३ ठा० २ उ०।

तुंवाग-न०(तुम्बाक) त्वड् मिञ्जाऽन्तर्वर्त्तिनि, आर्द्रायां तुलस्यां च। स्त्री०। दश० ५ अ०१ उ०।

तुंविणी-स्त्री०(तुम्बिनी) वल्लीविशेषे, आचा०१ श्रु०१ अ० ५ उ०।

तुंविल्ली(देशी) मधुपटले, उदखले च। दे०ना० ५ वर्ग २३ गाथा।

तुंवी-(देशी) अलाव्याम्, दे०ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुंवुरु-पुं०(तुम्बुरु) श्रीसुमतेर्यक्षे, स च श्वेतवर्णो गरुडवाहनश्चतुर्भुजो वरदशक्तियुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, गदानागपाशयुक्तवामपाणिद्वयश्च। प्रव० २६ द्वार। शक्रस्य देवेन्द्रस्य गन्धर्वानीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा०। तृतीये गन्धर्वे, प्रज्ञा०१ पद। वृक्षविशेषे, स० ८ सम०।

तुंवेअ-न०(तुम्बेक) ज्ञाताऽध्ययनभेदे, आव०४ अ०।

तुच्छ-त्रि०(तुच्छ) असारे, आव०६ अ० पं०व०। अल्पे, भ०६ श० ३३ उ०। प्रश्न०। उन्मत्ते, न तुच्छो भवेन्नोन्मादं गच्छेत्। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। चतुर्थीनवमीचतुर्दशीरूपासु तिथिषु, चं० प्र० १० पाहु०। द०प०। सू०प्र०। रिक्ते, स च द्रव्यतो निर्धनो जलाऽऽदिरहितो घटाऽऽदिर्वा, भावतो ज्ञानाऽऽदिरहितः। आचा० १ श्रु०२ अ०६ उ०। द्रमके, काष्ठहारकाऽऽदौ, अथवा-''ज्ञानैश्वर्यधनोपेतो, जात्यन्वयबलान्वितः। तेजस्वी मतिमान् ख्यातः, पूर्णस्तुच्छो विपर्ययात्॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे अपूर्णे, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०। अवशुष्के, दे०ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुच्छइअ-(देशी) रञ्जिते, दे०ना० ५ वर्ग १५ गाथा।

तुच्छकहणा-स्त्री०(तुच्छकथना) अपरिणतदेशनायाम्, पं० व० ४ द्वार।

तुच्छकुल-त्रि०(तुच्छकुल) अल्पकुटुम्बे, कल्प०२ क्षण। चाण्डाला-ऽऽदीनां कुले, न०। स्था०८ ठा०। आ०म०।

तुच्छग-त्रि०(तुच्छक) अगम्भीरे, पञ्चा० ७ विव०। आ० चू०। आ० म०। आचा०।

तुच्छत्त-न०(तुच्छत्व) निःसारतायाम्, भ०१८ श०३ उ०।

तुच्छय-(देशी) रञ्जिते, दे०ना० ५ वर्ग १५ गाथा।

तुच्छरूव-त्रि०(तुच्छरूप) तुच्छं हीनं रूपमाकरो यस्य स तुच्छरूपः। हीनाऽऽकारे, स्था०४ ठा०४उ०।

तुच्छुत्ति-स्त्री०(तुच्छोक्ति) तुच्छबुद्धिप्रणीतवचने, द्रव्या० १४ अध्या०।

तुच्छोभासि(ण्)-त्रि०(तुच्छावभासिन्) तुच्छो धनश्रुताऽऽदि-रहितोऽत एव तद् विनियोजकत्वात् तुच्छावभासी। द्रष्टृणामपूर्णा-वभासिनि, स्था०४ ठा०४उ०।

तुच्छोसहिभक्खणया-स्त्री०(तुच्छौषधिभक्षणता) असाराणा-मौषधीनां भक्षणरूपे उपभोगपरिभोगविरतिव्रतस्यातिचारे, उत्त० १ अ०। उदाहरणम्- ''एगो खेत्तरक्खगो, से गाओ खाइ, राया निग्गओ, खायंतं पेच्छइ, ततो वारिए इतो खायइ, रन्नाकोउगेण पोट्ठं फालियं, केत्तियाओ खाइयाओ होज्ज त्ति? नवरि फेणं, अन्नं न किंचि अत्थि।'' आव० ६ अ० ध० २०।

तुज्ज-न०(तूर्य) वाद्यभेदे, सू०प्र० १० पाहु०।

तुज्झ-त्रि०(तव-त्वद्) **''ङसिङस्भ्यां तउ-तुज्झ-तुध्राः''** ॥८।४।३७२॥ इति ङसिङस्भ्यां सह युष्मदस्तुज्झ इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद।

तुट्ट-धा०(त्रुट्) छेदने, दिवा०। तुदा०-पर०-सक०-सेट्। **''शकाऽऽदीनां द्वित्वम्''** ॥८।४।२३०॥ इति द्वित्वम्। प्रा० ४ पाद। त्रुट्यति व्यवच्छिद्यते जीवानां जीवितमिति शेषः। सूत्र०१ श्रु० २ अ०१ उ०। तुट्यति च्यवते। सूत्र०१ श्रु०२ अ०१ उ०। जीविताच्च्यवने, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०। त्रोटयेदपनयेत् आत्मनः पृथक्कुर्यात्परित्यजेद्वा। सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०।

***तुट्ठ**-त्रि०। संतुष्टे, उत्त १८ अ०। तोषं कृतवति, आ०म०१ अ०१ खण्ड। औ०। जी०। भ०। रा०। आचा०। ज्ञा०। उत्त०। सन्तोषं प्राप्ते, कल्प०१ क्षण।

तुट्ठि-स्त्री०(तुष्टि) संतोषे, कल्प०१ क्षण। मनःप्रसत्तौ, कल्प०६ क्षण। नवधा तुष्टिः-प्रकृत्युपादानकालभोगाऽऽख्याः, अम्भः सलिलौघवृष्ट्य-परपर्यायवाच्याश्चतस्र आध्यात्मिकाः; शब्दाऽऽदिविषयोपरतयश्चार्ज-नरक्षणक्षयभोगहिंसादोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्च बाह्यास्तुष्टयः; ताश्च पारसुपारपारापारानुत्तराम्भउत्तमाम्भः शब्दव्यपदेश्या इति। स्या० १५ श्लो०। उत्सवे, नि०१ श्रु०१ वर्ग १अ०।

तुड-धा०(तुड्) भेदे, तुदा०-पर०-सक०-सेट्। **''तुडे-स्तोड-तुट्ट-खुट्ट-खुडोक्खुमोल्लुक्क-णिलुक्क-लुक्कोल्लूराः''** ॥८।४।११६॥ इति 'तुड' धातोरेते नवाऽऽदेशाः। प्रा०४ पाद।

तुडिय-न०(त्रुटित) तूर्ये, जं० ३ वक्ष०। औ०। स्था०। दिव्यतूर्ये, आ०म० १ अ०१ खण्ड। वेणुवीणामृदङ्गाऽऽदिषु आतोद्येषु, रा०। पटहाऽऽदौ, स्था० ८ ठा०। आतोद्ये, रा०। आ०म०। जी०। प्रज्ञा०। वादित्रे, ज्ञा०१ श्रु०१ उ०। कल्प०। ततविततन्त्रीतलतालभिन्नवादित्रे, कल्प० १ क्षण। जं०। दशा०। भ०। औ०। रा०। चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते त्रुटिताङ्गे, कर्म०४ कर्म०। जं०। कल्प०। स्था०। अनु०। ज्यो०। जी०। भ०। बाहुरक्षिकायाम्, स्त्री०। रा०। ज्ञा०। स्था०। आचा०। तं०। औ०। स०। उत्त०। प्रज्ञा०। जं०। भ०। चमरस्य सामानिकानामभ्यन्तरपरिषदि, स्था०३ ठा०२उ०। ''तुडियं घिग्गलं।'' इति देशीभाषा। नि०चू०२ उ०।

तुडियंग-न०(त्रुटिताङ्ग) चतुरशीत्या लक्षगुणितपूर्वे, स्था०२ ठा०४उ०। ''चउरासीइं पुव्वसयसहस्साइं से एगे तुडिअंगे।'' अनु०। जं०। कर्म०। भ०। सुषमसुषमायां भरतैरवतयोरकर्मभूमिषु च भाविनि कल्पवृक्षे, तं०। आव०। जी०। ति०। स०। त्रुटितानि तूर्याणि तत्करणत्वात् त्रुटिताङ्गः। तूर्यदायिनि, उक्तं च-''मत्तंगेसुयमज्जं १, सुहपेज्जं भायणाणि भिंगेसु २। तुडियंगेसु य संगत-तुडियाइँ बहुप्पगाराइं॥१॥'' स्था०१० ठा०।

तुण्णओ-(देशी) झुङ्खाऽऽख्यतूर्यविशेषे, दे०ना० ५ वर्ग १६ गाथा।

तुण्णग-त्रि०(तुन्नाक) सीवनकर्मकर्त्तरि, नं०। आचा०। आ० चू०। प्रज्ञा०। अनु०। आ०म०।

तुण्णाग त्रि०(तुन्नाक) 'तुण्णग' शब्दार्थे, नं०।

तुण्णिय त्रि०(तुन्नित) तुन्नकारणे स्वकलाकौशलतः पूरिते छिद्रे, बृ० १ उ०।

तुण्हिक्क त्रि०(तूष्णीक) **''सेवाऽऽदौ वा''** ॥८।२।९९॥ इति ककारस्य विकल्पेन द्वित्वम्। पक्षे– 'तुण्हिअ'। प्रा० २ पाद। मौनावलम्बिनि, आ०म०१ अ०२ खण्ड। नि०चू०। तूष्णीभावं भजमाने, नि०चू०। ''जह णाविए गंडूसं कोती घेत्तूण नाम तुण्हिक्को।'' नि०चू०१ उ०। मृदौ, निश्चले च। दे०ना०५ वर्ग १५ गाथा।

तुण्ही (देशी) सूकरे, दे०ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुद पुं०(तोद) प्रतोदाऽऽदिषु, ''रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्स विज्झंति तुदेण पिट्ठे।'' कोपं कृत्वा प्रतोदाऽऽदिना पृष्टदेशे तं नारकं परवशं नयन्ति। सूत्र० १ श्रु० ५ अ०२उ०।

तुप्प पुं०(तुप्र) मृतककलेवरं वशाघृताऽऽदिभिः परिणामिते, बृ० १ उ०। नि०चू०। कौतुके, विवाहे, सर्षपे, म्रक्षिते, स्निग्धे, कुतुपे च। दे०ना० ५ वर्ग २२ गाथा।

तुप्पग्ग न०(तुप्राग्र) म्रक्षिताग्रे, कल्प०२ क्षण।

तुप्पोट्ठ त्रि०(तुप्रोष्ठ) तुप्रा म्रक्षिता मदनेन वा वेष्टिताः शीतरक्षाऽदिनिमित्तमोष्ठा येषां ते तुप्रोष्ठाः। म्रक्षितोष्ठेषु ग०२ अधि०। अनु०।

तुवरी स्त्री०(तुबरी) मालवकाऽऽदिप्रसिद्धे धान्यविशेषे, ध० २ अधि०।

तुब्भ त्रि०(त्वत्) **''तुय्ह–तुब्भ०–''** ॥८।३।९७॥ इत्यादिना कसिना सह युष्मदस्तुब्भ इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुब्भतो त्रि०(त्वत्तः) **''तइ–तुव–तुम–तुह–तुब्भा ङसौ** ॥८।३।९६॥ इति ङसि परतो युष्मदस्तुब्भ इत्यादेशः। एवं '' 'तुम्हतो' इत्यपि। प्रा० ३ पाद।

तुब्भाण त्रि०(युष्माकम्) **''तु–बो–भे–तुब्भ–तुब्भं–तुब्भाण०–''** ॥८।३।१००॥ इत्यादिना आमासहितस्य युष्मदस्तुब्भाण इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद।

तुब्भे त्रि०(यूयम्) **''भे–तुब्भे–तुज्झे०–''** ॥८।३।९१॥ इत्यादिना जसा सहितस्य युष्मदस्तुब्भे इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुम त्रि०(तव) **''तइ–तुं–ते–तुम्हं–तुह–तुहं–तुव–तुम०–''** ॥८।३।९९॥ इत्यादिना षष्ठ्येकवचनेन सहितस्य युष्मदस्तुम इत्यादेशः। प्रा०३ पाद। बहुवचनोच्चारणयोभ्ये तिरस्कारप्रधानै–कवचनान्ते, सूत्र०१ श्रु० ६ अ०। ''तुमं ति वत्ता भणइ।'' आव०१ अ०। स्था०।

तुमइ त्रि०(त्वया) **''दे–दि–दे–ते–तइ–तए–तुमं–तुमइ०–''** ॥८।३।९४॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्तुमइ इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद।

तुमए त्रि०(त्वया) **''दे–दि–दे–ते–तइ–तए–तुमं–तुमइ–तुमए०–''** ॥८।३।९४॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्तुमए इत्यादेशः। एवं 'तुमं' इत्यपि। प्रा० ३ पाद।

तुमतो त्रि०(त्वत्तः) **''तइ तुव–तुम०–''** ॥८।३।९६॥ इत्यादिना ङसि परतो युष्मदस्तुम इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुमाइ त्रि०(त्वया) **''दे–दि–दे–ते–तइ–तए–तुमं–तुमइ–तुमए–तुमे तुमाइ०–''** ॥८।३।९४॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदः 'तुमाइ' इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद।

***तव** त्रि०। **''तइ–तुं–ते–तुम्हं–तुह–तुहं–तुव–तुम–तुमे–तुमो–तुमाइ०–''** ॥८।३।९९॥ इत्यादिना षष्ठ्येकवचनेन सह युष्मदस्तु–माइ इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुमाण त्रि०(युष्माकम्) **''तु–वो–भे–तुब्भ–तुब्भं–तुब्भाण–तुवाण–तुमाण०–''** ॥८।३।१००॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदस्तुमाण इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुमातो त्रि०(त्वत्तः) **''अतो ङसेर्डातोडात्''** ॥८।४।३२९॥ इति पैशाच्यामकारात्परस्य ङसेर्डितौ 'आतो–आत्' इत्यादेशौ। प्रा० ४ पाद।

तुमे त्रि०(त्वया) **''दे–दि–दे–ते–तइ–तए–तुमं–तुमइ–तुमए–तुमे–ओ''** ॥८।३।९४॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्तुमे इत्या–देशः। प्रा०३ पाद।

***तव** त्रि०। **''तइ–तुं–ते–तुम्हं–तुह–तुहं–तुव०–''** ॥८।३।९९॥ इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदस्तुमे इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुम्हं त्रि०(त्वया) **''तइ–तुं–ते–तुम्हं०–''** ॥८।३।९९॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्तुम्हमित्यादेशः। प्रा० ३ पाद।

तुम्हकरे त्रि०(युष्मदीय) युष्माकमिदम्। वाच०। **''इदमर्थस्य केरः''** ॥८।२।१४७॥ इति इदमर्थस्य प्रत्ययस्य केर इत्यादेशः। प्रा०२ पाद। **''युष्मद्यर्थपरे तः''** ॥८।१।२४६॥ इति युष्मच्छब्दे–ऽर्थपरे यकारस्य तकारः। प्रा० १ पाद। युष्मत्संबन्धिनि, वाच०।

तुम्हाण त्रि०(युष्माकम्) **''तु–वो–भे–तुब्भ–तुब्भं–तुब्भाण–तुवाण तुमाण–तुहाण–तुम्हाण०–**॥८।३।१००॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदस्तुम्हाण इत्यादेशः। **''क्त्वास्यादेर्णस्वोर्वा''** ॥८।१।२७॥ इति पक्षेऽनुस्वारोऽपि। प्रा० ३ पाद।

तुम्हारिस त्रि०(त्वादृश) **''युष्मद्यर्थपरे तः''** ॥८।१।२४६॥ इति तकारः। **''दृशः क्विप् टक्सकः''** ॥८।१।१४२॥ इति क्विप् टक्–सक् एतदन्तस्य दृशेर्धातोऋतो रिरादेशः। त्वत्सदृशे, प्रा० १ पाद।

तुम्हे त्रि०(यूयम्) **''भे–तुब्भे–तुज्झे०–''** ॥८।३।९१॥ इत्यादिना जसा सहितस्य युष्मदस्तुम्हे इत्यादेशे **''ब्मो–म्ह–ज्झो वा''** ॥८।३।१०४॥ इति वचनात् हकारः। प्रा०३ पाद।

तुम्हेच्चय त्रि०(यौष्माकम्) **''युष्मदस्मदोऽञ एच्चयः''** ॥८।२।१४९॥ इति युष्मदः परस्येदमर्थस्याञ एच्चय इत्यादेशः। प्रा०२ पाद।

तुयट्टण न०(त्वग्वर्तन) शयने, नि०चू० १० उ०। तं०। पिं०। व्य०। दश०। उत्त०। स्था०। बृ०।संस्तारकं प्रस्तीर्य शयने, बृ०३ उ०। निषण्णाऽऽसीने, 'तुयट्टंति' निषण्णा आसते। भ० १३ श०६ उ०।

तुयट्टिय त्रि०(त्वग्वर्तित) वामपार्श्वतः परावृत्त्य दक्षिणपार्श्वेन, दक्षिणपार्श्वतः परावृत्त्य वामपार्श्वेन वा अवतिष्ठमाने, रा०।

तुयट्टियव्व न०(त्वग्वर्तितव्य) कर्त्तव्ये शयने, भ०२ श०१उ०।

तुयावइत्ता अव्य०(तोदयित्वा) तोदं कृत्वा 'व्यथामुत्पाद्य' या प्रव्रज्या दीयते मुनिचन्द्रपुत्रस्य सागरचन्द्रेणेव सा तथा। प्रव्रज्या–भेदे, स्था०३ ठा०२उ०।

तुय्ह त्रि०(युष्माकम्) **''तु–वो–मे–तुय्ह–तुब्भं–''** ॥८।३।१००॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदस्तुय्ह इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुय्हे त्रि०(यूयम्) **''भे–तुब्भे–तुज्झ–तुम्ह०–''** ॥८।३।९१॥ इत्यादिना जसा सहितस्य युष्मदस्तुय्हे इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद।

तुय्हेहिं त्रि०(युष्माभिः) **''भे–तुब्भेहिं–उज्झेहिं–उम्हेहिं–तुय्हेहिं०–''**॥८।३।९५॥ इत्यादिना भिसा सहितस्य युष्मदस्तुय्हेहिं इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद।

तुरंत त्रि०(त्वरमाण) **''तुरोऽत्यादौ''** ॥८।४।१७२॥ इति अत्यादौ परतस्त्वरशब्दस्य तुर इत्यादेशः। संभ्राम्यति, प्रा०४ पाद। शीघ्रे, तं०।

तुरग पुं०(तुरग) अश्वे, अनु०। कल्प०। औ०। प्रव०। रा०। तुरगा आटव्या महाकायाः पशवः परसरेति पर्यायाः। भ० ११ श० ११ उ०।

तुरगमुह पुं०(तुरगमुख) अनार्यदेशविशेषे, प्रव० २७ द्वार। ''कैकयकिरीयहयमुहखरमुह तह तुरगमेंढयमुहा य।'' सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

तुरगमेंढग पुं०(तुरगमेद्रक) धर्मसंज्ञारहिते अनार्यदेशविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १उ०।

तुरगारोहणसिक्खा स्त्री०(तुरगारोहणशिक्षा) तुरगारोहणविषयकशिक्षाभेदे, कल्प० ७ क्षण।

तुरतुंगव पुं०(तुरतुङ्गव) त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

तुरय पुं०(तुरग) 'तुरग' शब्दार्थे, अनु०।

तुरा स्त्री०(त्वरा) वेगे, अभीष्टलाभार्थं विलम्बासहने च। वाच०। ''अत्वरा सर्वकार्येषु, त्वरा कार्यविनाशिनी। त्वरमाणेन मूर्खेण, मयूरो वायसीकृतः ॥१॥'' आ०चू० १ अ०।

तुरिमिणी स्त्री०(तुरिमिणी) भारतवर्षे स्वनामख्यातायां नगर्याम्, दर्श० ३ तत्त्व। ''पुरी तुरिमिणी तत्र, जितशत्रुर्नराधिपः। भद्राङ्गजो द्विजो दत्तः, कालिकाऽऽचार्यजामिजः ॥१॥'' आ०क०। तुरिमिणीनगर्यामुपसर्गकारी तरुणज़नो भूपात् हतमथितविप्रारब्धः। बृ०४ उ०।

तुरिय न०(त्वरित) **''तुरोऽत्यादौ''** ॥८।४।१७२॥ इति त्वरशब्दस्य 'तुर' इत्यादेशः। प्रा०४ पाद। शीघ्रे, रा०। आ० म०। प्रश्न०। भ०। अनु०। ज्ञा०। त्वरा संजाता अस्य। त्वरायुक्ते, भ०३ श०२ उ०। ज्ञ०। रा०। जी०। औत्सुक्यवत्याम्, कल्प०२ क्षण। आकुले च९। वाच०।

***तूर्य** त्रि०। भेरीमृदङ्गपटहकरतालतालाऽऽदिषु, उत्त० २२ अ०। द्वादशप्रकारस्तूर्यसङ्घातः। स चायम्–''भंभामकुंदमद्दल–कडंबझल्लरिहुडुक्ककंसाला। काहलतलिमा वंसो, संखो पणवो य वारसमो ॥१॥'' आ०म०१ अ० १ खण्ड।

तुरियगइ स्त्री०(त्वरितगति) मानसौत्सुक्यप्रवर्तितवेगवद्गतौ, भ०३ श०२उ०। ''तुरियगई खिप्पगई।'' दिक्कुमारेन्द्रयोरमितगत्यभिगवाहनयोः पौरस्त्ये लोकपाले, स्था०४ ठा०१ उ०। भ०।

तुरियभासि(ण्) त्रि०(त्वरितभाषिण्) अविवेकभाषिणि, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ०।

तुरिया स्त्री०(त्रुटिता) बाहुरक्षिकायाम्, औ०।

तुरी (देशी) पीने, तूलिकानामुपकरणे, दे०ना० ५ वर्ग २२ गाथा।

तुरुक्क न०(तुरुष्क) सिह्लके, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। जी०। आ०म०। भ०।

तुरुक्कधूव पुं०(तुरुष्कधूप) सेह्लकलक्षणे धूपे, उत्त०१ अ०।

तुरुक्ख न०(तुरुष्क) सिह्लकाभिधाने गन्धद्रव्ये, स० ३४ सम०। औ०। प्रज्ञा०। जं०।रा०।

तुल धा०(तुल) उन्माने। चुरा०–उभ०। पक्षे–भ्वादि०–पर०–सक०–सेट्। वाच०। **''तुलेरोहामः''** ॥८।४।२५॥ इति ण्यन्तस्य तुलेरोहाम इत्यादेशः। 'ओहामइ'। पक्षे–'तुलइ।' प्रा०४ पाद।

तुलग्ग (देशी) काकतालीये, दे०ना० ५ वर्ग १५ गाथा।

तुलणा स्त्री०(तुलना) परिच्छेदे, ''जंहा इमेहिं दसहिं अंगेहिं पडलेहिं सूरिओ उट्ठेति, तहा तं कालं तुलेति।'' नि०चू०२ उ०। पञ्च तुलना जिनकल्पे उक्ताः, 'तवेण इत्यादि'। तुलना, भावना, परिकर्म चैकार्थाः। विशे०। व्य०। नि०चू०। पं०चू०। ध०। स्था०। उत्त०। (द्रव्याऽऽदितुलनया तोलयित्वैव प्रव्राजनीयःशिष्य इति 'पव्वाजणा' शब्दे वक्ष्यते)

तुलसी स्त्री०(तुलसी) पत्रिकाविशेषे, प्रव०४ द्वार। ''रूढी आढइ णीली, तुलसी तह माउलिंगा य।'' प्रज्ञा०१ पद। स्था०। पञ्चा०। सरसलतायाम्, दे०ना० ५ वर्ग १४ गाथा। गुच्छविशेषे, आचा०१ श्रु० १ अ०५ उ०।

तुला स्त्री०(तुला) औपम्ये, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। ''एतं तुलमण्णेसिं इह संतिगया दविया णावकंखंति।'' का पुनरसौ तुला? यथाऽऽत्मानं सर्वथा सुखाभिलाषितया रक्षसि, तथा परमपि रक्ष, यथा परं तथाऽऽत्मानमिति। आचा०१ श्रु० १ अ०७ उ०। तोलनदण्डे, वाच०।

संप्रति तुलामानमाह–

पणतीस लोहपलिया, वट्टा वावत्तरंऽगुला दीहा।
पंचपल धरणगस्स य, समायकरणे तुला होइ॥

सुगालितानां पञ्चत्रिंशत्संख्यानां लोहपलानामतयर्थं घनैः कुट्टनेन निर्मापिता, वृत्ता सुवृत्ता, विषमोच्चत्वहीना इत्यर्थः। द्वा–सप्तत्यङ्गुला दीर्घा (पंचपल धरणगस्स य त्ति) ध्रियते येन तद् धरणं, धरणमेव धरणक, येन धृत्वा तोल्यते तदित्यर्थः। तस्य प्रमाणं पञ्च पलानि कर्त्तव्यानि। ततः समायकरणे धरणके तुलायां संयोजिते सति यत्र प्रदेशे तुला ध्रियमाणा समा भवति, नैकस्मिन्नपि पक्षे अग्रतः पृष्ठतो वा नता उन्नता वा भवति, तत्र प्रदेशे समायकरणेसमतासमागमपरिज्ञान–

निमित्तरेखाकरणे, तुला परिपूर्णा भवति। तस्यां चैवंभूतायां तुलायां समकरणीरेखामपहाय शेषा रेखाः पञ्चविंशतिर्भवन्ति।

तथा चाऽऽह–

सव्वग्गेण तुलाए, लेहाओ पंचवीसई होंति।
चत्तारि य लेहाओ, जाओ नंदीपिणद्धाओ॥

तुलायां तौल्यपरिमाणसूचिकाः सर्वाग्रेण सर्वसङ्ख्यया, रेखाः पञ्चविंशतिर्भवन्ति। तासां च पञ्चविंशतिसङ्ख्यानां रेखाणां मध्ये या रेखाः नन्दीपिनद्धाः फुल्लिकायुक्ताः, ताश्चतस्रो वेदितव्याः।

तत्र पञ्चविंशतिमेव रेखाः प्ररूपयति–

समकरणि अद्धकरिसा, तत्तो करिसुत्तरा य चत्तारि।
तत्तो पलुत्तराओ, जाव य दसग त्ति लेहाओ॥
वारसिया पन्नरसी, वीसग एत्तो दसुत्तरा अट्ठ।
एवं सव्वसमासो, लेहाणं पन्नवीसं तु॥

तुलायां प्रथमा रेखा तावत् समकरणी भवति, यत्र प्रदेशे धरण–कसहिता तुला ध्रियमाणा समा भवति तत्र प्रदेशे समतापरिज्ञानार्थमेका रेखा भवतीत्यर्थः। सा पञ्चविंशतिसङ्ख्यागणनेन गण्यते, तस्याः समतापरिज्ञाननिमित्ततया तौल्यवस्तुपरिमाणेऽनुपयोगात्। ततः प्रथमा रेखा अर्द्धकर्षा अर्द्धकर्षरूपपरिमाणसूचिका भवति। ततः कर्षोत्तरा कर्षाऽऽद्येकैककर्षवृद्धिसूचिकाश्चतस्रो रेखा भवन्ति। तद्यथा–द्वितीया कर्षरूपपरिमाणसूचिकाः, तृतीया द्विकर्षसूचिका, चतुर्थी त्रिकर्षसूचिका, पञ्चमी चतुःकर्षसूचिका, पलसूचिकेत्यर्थः। (तत्तो इत्यादि) ततः पञ्चमरेखात ऊर्द्धं रेखाः पल्योत्तराः, एकैकपलवृद्धिसूचिकास्तावदवसेया यावद्दशकमिति दशपलसूचिका रेखा। तद्यथा–षष्ठी रेखा द्विपलसूचिका, सप्तमी त्रिपलसूचिका, अष्टमी चतुःपलसूचिका, नवमी पञ्चपलसूचिका, एकादशी सप्तपल सूचिका, द्वादशी अष्टपलसूचिका, त्रयोदशी नवपलसूचिका, चतुर्दशी दशपलसूचिका। (वारसेत्यादि) ततः पञ्चदशी रेखा द्वादशपलसूचिका, षोडशी पञ्चदशपलसूचिका, सप्तदशी विंशतिपलसूचिका। (एत्तो दसुत्तरा अट्ठ त्ति) अत ऊर्द्धमष्टौ रेखा दशोत्तराः, दशकवृद्ध्या पलपरिमाणसूचिकाः। तद्यथा– अष्टादशी रेखा त्रिंशत् पलसूचिका, एकोनविंशतितमा चत्वारिंशत्– पलसूचिका, विंशतितमा पञ्चाशत्पलसूचिका, एकविंशतितमा षष्टिपलसूचिका, द्वाविंशतितमा सप्ततिपलसूचिका त्रयोविंशतित–मा अशीतिपलसूचिका, चतुर्विंशतितमा नवतिपलसूचिका, पञ्चविंशतितमा पलशतसूचिका, शतिके काण्डे पञ्चविंशतितमा रेखा भवतीत्यर्थः। एवमुक्तेन प्रकारेण रेखाणां सर्वसमासः सर्वसंक्षेपः, सर्वसंखेत्यर्थः। पञ्चविंशतिरिति।

यदुक्तम्–पञ्चविंशतिरेखाणां मध्ये चतस्रो रेखा नन्दीपिनद्धिका इति, तद्व्याचिख्यासुराह–

पंचसु य पन्नरसगे, तीसग पन्नासगे य लेहाओ।
नंदीपिणद्धिकाओ, सेसाओ उज्जुलेहाओ॥

पञ्चसु पञ्चदशसु त्रिंशति पञ्चाशति च या रेखास्ता नन्दीपिनद्धिकाः। किमुक्तं भवति?–पञ्चपलपरिमाणसूचिका, पञ्चदशपलपरिमाण–सूचिका, त्रिंशत्पलपरिमाणसूचिका, पञ्चाशत्पलपरिमाणसूचिका, एताश्चतस्रो रेखाः फुल्लडिकायुक्ताः, शेषा एकविंशतिसङ् ख्या ऋजवः। तदेवमुक्तं तुलास्वरूपम्। ज्यो० १ पाहु० गृहाणां दारुबन्धकाष्टे, पलशते भाण्डे, मेषावधितः सप्तमे राशौ, वाच०।

तुलासम पुं०(तुलासम) अरक्तद्विष्टे, यथा तुला समस्थिता न चाग्रतो न वा पुरतो नमति, सा इवाऽयं रागद्वेषविमुक्तो मानापमानसुख–दुःखाऽऽदिषु समः। बृ० ६ उ० नि०चू०।

तुलिय त्रि०(तुलित) गुणिते, तं०। उत्त०।

तुलेऊण अव्य०(तोलयित्वा) सम्यङ् निश्चित्येत्यर्थे, बृ०१ उ०।

तुल्ल न०(तुल्य) सदृशे, औ०। समाने, विशे०। एककाले, नं०। प्रज्ञा०।

तुल्लचरित्त त्रि०(तुल्यचरित्र) समानसामायिकाऽऽदिसंयमे, बृ०६ उ०।

तुल्लट्ठिय त्रि०(तुल्यस्थित) परस्परापेक्षया समानाऽऽयुष्के, भ० ३४ श०१उ०।

तुल्लय त्रि०(तुल्यक) तुल्यमेव तुल्यकम्। समे, भ० १० श० ७ उ०।

अथ तुल्यताऽभिधानार्थमाह–

रायगिहे०जाव परिसा पडिगया, गोयमाऽऽदि ! समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी–चिरसंसिट्ठो सि मे गोयमा ! चिरसंथुतो सि मे गोयमा ! चिरपरिचितो सि मे गोयमा! चिरजुसिओ सि मे गोयमा ! चिराणुगओ सि मे गोयमा ! चिराणुवत्ती सि मे गोयमा ! अणंतरं देवलोए, अणंतरं माणुस्सए भवे, किं परं मरणा कायस्स भेदा इतो चुता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ताभविस्सामो। जहा णं भंते ! एयमट्ठं वयं जाणामो पासामो तहा णं अणुत्तरोववाइया देवा एयमट्ठं जाणंति पासंति ? हंता ! गोयमा ! जहा णं वयं एयमट्ठं जाणामो पासामो तहा णं अणुत्तरोववाइया देवा एयमट्ठं जाणंति पासंति। से केणट्ठेणं०जाव पासंति? गोयमा ! अणुत्तरोववाइया णं अणंता मणोदव्ववग्गणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमण्णागयाओ भवंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुचइ०जाव पासंति। कइविहे णं भंते ! तुल्लए पण्णत्ते? गोयमा ! छव्विहे तुल्लए पण्णत्ते। तं जहा–दव्वतु–ल्लए, खेत्ततुल्लए, कालतुल्लए, भवतुल्लए, भावतुल्लए, संठाण–तुल्लए। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुचइ–दव्वतुल्लए, दव्वतुल्लए? गोयमा ! परमाणुपोग्गले परमाणु–पोग्गलस्स दव्वओ तुल्ले, परमाणुपोग्गले परमाणुपोग्गलवइरित्तस्स दव्वओ णो तुल्ले। दुपदेसिए खंधे दुपदेसियस्स खंधस्स दव्वओ तुल्ले, दुपदेसिए खंधे दुपदेसियवइरित्तस्स खंधस्स दव्वओ णो तुल्ले। एवं०जाव दसपएसिए। तुल्लसंखेज्जपएसिए खंधे संखेज्जपएसियस्स खंधस्स

दव्वओ तुल्ले। संखेज्जपएसिए खंधे संखेज्जपएसियवइरित्तस्स खंधस्स दव्वओ णो तुल्ले। एवं तुल्लअसंखेज्जपएसिए वि; एवं तुल्लअणंतपएसिए वि; से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–दव्व–तुल्लए दव्वतुल्लए। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–खेत्ततुल्लए खेत्ततुल्लए ? गोयमा ! एगपएसोगाढे पोग्गले एगपएसोगाढस्स पोग्गलसस खेत्तओ तुल्ले, एगपएसोगाढे पोग्गले एगपएसोगाढवइरित्तस्स पोग्गलस्स खेत्तओ णो तुल्ले। एवं ०जाव दसपएसोगाढे; तुल्लसंखेज्जपएसोगाढे वि; एवं तुल्ल असंखेज्जपएसोगाढे वि; से तेणट्ठेणं०जाव खेत्ततुल्लए। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–कालतुल्लए कालतुल्लए? गोयमा ! एगसमयट्ठिईए पोग्गले एगसमयस्स ठिइयस्स पोग्गलसस कालओ तुल्ले, एगसमयट्ठिईए पोग्गले एगसमयट्ठिइयवइरित्तस्स कालओ णो तुल्ले। एवं०जाव दससमयट्ठिईए; तुल्लसंखेज्जसमयट्ठिईए एवं चेव; तुल्लअसंखेज्जसमयट्ठिईए वि एवं चेव, से तेणट्ठेणं०जाव कालतुल्लए। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइभव–तुल्ले भवतुल्ले? गोयमा ! णेरइए णेरइयस्स भवट्ठयाए तुल्ले, णेरइए णेरइयवइरित्तस्स भवट्ठयाए णो तुल्ले; तिरिक्खजोणिए एवं चेव; एवं मणुस्से वि; एवं देवे वि; से तेणट्ठेणं०जाव भवतुल्ले भवतुल्ले। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–भावतुल्ले भावतुल्ले? गोयमा ! एगगुणकालए पोग्गले एगगुणकालयस्स भावतुल्ले, एगगुणकालए पोग्गले एगगुणकालवइरित्तस्स पोग्गलस्स भावओ णो तुल्ले, एवं०जाव दसगुणकालए तुल्लसंखेज्ज–गुणकालपोग्गले तुल्ल असंखेज्जगुणकालए वि, एवं तुल्लअणं–तगुणकालए वि, जहाकालए एवं णीलए लोहियए हालिद्दए सुक्किल्लए; एवं सुब्भिगंधे, एवं दुब्भिगंधे, एवं तित्ते०जाव महुरे; एव कक्खडे० जाव लुक्खे, उदइए भावे उदइयस्स भावस्स भावओ तुल्ले, उदइयभाववइरित्तस्स भावओ णो तुल्ले,एवं उवसमिए वि। खइए खओवसमिए परिणामिए सण्णिवाइए भावे सण्णिवाइयस्स भावस्स, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–भावतुल्लए भावतुल्लए। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–संठाण–तुल्लए संठाणतुल्लए? गोयमा ! परिमंडलसंठाणे परिमंडलस्स संठाणस्स संठाणओ तुल्ले, परिमंडलसंठाणे परिमंडलस्स संठाणवइरित्तस्स संठाणस्स संठाणओ णो तुल्ले। एवं वट्टे तंसे चउरंसे आयए, समचउरंससंठाणे समचउरंसस्स संठाणस्स संठाणओ तुल्ले, समचउरंससंठाणे समचउरंसस्स संठाणव–इरित्तस्स संठाणओ णो तुल्ले; एवं परिमंडले वि; एवं ०जाव हुंडे। से तेणट्ठेणं०जाव संठाणतुल्लए संठाणतुल्लए।

(रायगिहे इत्यादि) तत्र किल भगवान् श्रीमन्महावीरः केवलज्ञानाप्राप्त्या सखेदस्य गौतमस्वामिनः समाश्वासनायाऽऽत्मनस्तस्य च भाविनीं तुल्यतां प्रतिपादयितुमाह–(गोयमेत्यादि) (चिरसंसिट्ठो सि त्ति) चिरं बहुकालं यावत्, चिरे वाऽतीते प्रभूते काले संश्लिष्टः स्नेहात्सम्बद्धश्चिरसंश्लिष्टोऽसि भवसि, मे मया मम वा त्वं हे गौतम ! (चिरसंथुतो सि) चिरं बहुकालमतीतं यावत्संस्तुतः स्नेहात्प्रशंसितश्चिरसंस्तुतः। (एवं चिरपरिचिए त्ति) पुनः पुनर्दर्शनतः परिचितश्चिरपरिचितः (चिरजुसिए त्ति) चिरसेवितश्चिरप्रीतो वा। 'जुषी' प्रीतिसेवनयोरिति वचनात्। (चिराणुगओ त्ति) चिरमनुगतो, ममानुगतिकारित्वात्। (चिराणुवत्ती सि त्ति) चिरमनुवृत्तिरनुकूलवर्तिता यस्यासौ चिरानुवृत्तिः। इदं च चिरसंश्लिष्टत्वाऽऽदिकं क्वाऽऽसीदित्याह–(अणंतरं देवलोए त्ति) अनन्तरं निर्व्यवधानं यथा भवत्येवं देवलोके, अनन्तरे देवभवे इत्यर्थः। ततोऽपि अनन्तरं मनुष्यभवे, जात्यर्थत्वादेकवचनस्य देवभवेषु मनुष्यभवेषु चेति द्रष्टव्यम्। तत्र किल त्रिपृष्ठभवे भगवतो गौतमः सारथित्वेन चिरसंश्लिष्टत्वाऽऽदिधर्मयुक्त आसीत्। एवमन्येष्वपि भवेषु संभवतीति। एवं च मयि तव गाढत्वेन स्नेहस्य न केवलज्ञानमुत्पद्यते, भविष्यति च *तवाऽपि स्नेहक्षये तदित्यधृतिं मा कृथा इति गम्यमिति।* (किं परं मरण त्ति) किं बहुना (परं त्ति) परतो मरणान्मृत्योः? किमुक्तं भवति? कायस्य भेदाद्धेतोः (इओ चुय त्ति) इतः प्रत्यक्षाद् मनुष्यभवात् च्युतौ (दो वि त्ति) द्वावप्यावां तुल्यौ, भविष्याव इति योगः। तत्र तुल्यौ समानजीवद्रव्यौ, (एगट्ठ त्ति) एकार्थावैकप्रयोजनौ अनन्तसुखप्रयोजनत्वात्। एकस्थौ वा एकक्षेत्राऽऽश्रितौ सिद्धिक्षेत्रापेक्षयेति। (अविसेसमणाणत्त त्ति) अविशेषं निर्विशेषं *यथा भवत्येवमनानात्वौ तुल्यज्ञानदर्शनाऽऽदिपर्यायाविति।* इदं च किल भगवता गौतमेन चैत्यवन्दनायाष्टापदं गत्वा प्रत्यागच्छता पञ्चदश तापसशतानि प्रव्राजितानि समुत्पन्नकेवलानि च श्रीमन्महावीरसमवसरणमानीतानि तीर्थप्रणामकरणसमनन्तरं च केवलिपर्षदि समुपविष्टानि गौतमेन चाविदिततत्केवलोत्पादव्यतिकरेणाभिहितानि–यथा आगच्छत भोः साधवः ! भगवन्तं वन्दध्वमिति। जिननायकेन च गौतमोऽभिहितः–यथा गौतम ! मा केवलिनामा–शातनां कार्षीः। ततो गौतमो मिथ्यादुष्कृतमदात्। तथा यानहं प्रव्राजयामि तेषां केवलमुत्पद्यते, न पुनर्मम, ततः किं तन्मे नोत्पत्स्यत एवेति विकल्पादधृतिं चकार। ततो जगद्गुरुणा गदितोऽसौ मनः समाधानाय। यथा–गौतम ! चत्वारः कटा भवन्ति–सुम्बकटो, विदलकटः, चर्मकटः, कम्बलकटकश्चेति। एवं शिष्या अपि गुरौ प्रतिबन्धसाधर्म्येण सुम्बकटसमाऽऽदयश्चत्वार एव भवन्ति। ('अज्जवइर' शब्दे प्रथमभागे २१६ पृष्ठे प्रसङ्गादुक्तैषा कथा) तत्र त्वं मयि कम्बलकटसमान इत्येतस्यार्थस्य समर्थनाय भगवता तदाऽभिहितमिति। एवं भाविन्यामात्मतुल्यतायां भगवताऽभिहितायामतिप्रियमश्रद्धेय-मिति कृत्वा यद्यन्योऽप्येनमर्थं जानाति तदा साधु भवतीत्यनेनाभि-प्रायेण गौतम एवाऽऽह– (जहा णं इत्यादि) (एयमट्ठं ति) एतमर्थमावयोर्भावितुल्यतालक्षणम्। (वयं जाणामो त्ति) यूयं च वयं चेत्येकशेषाद्वयम्। तत्र यूयं केवलज्ञानेन जानीथ, वयं तु भवदुपदेशात्। तथाऽनुत्तरोपपातिका अपि देवा एनमर्थं जानन्तीति प्रश्नः? अत्रोत्तरम्–(हंता ! गोयमा ! इत्यादि) (मणोदव्ववग्गणाओ लद्धाओ त्ति) मनोद्रव्यवर्गणा लब्धास्तद्विषयावधिज्ञानल–

ब्धिमात्रापेक्षया (पत्ताओ त्ति) प्राप्तास्तद्द्रव्यपरिच्छेदतः। (अभि-समणागयाओ त्ति) अभिसमन्वागतास्तद् गुणपर्यायपरिच्छेदतः। अयमत्र गर्भार्थः—अनुत्तरोपपातिकदेवा विशिष्टावधिना मनोद्रव्यवर्गणा जानन्ति, पश्यन्ति च; तासां चावयोरयोग्यवस्थायामदर्शनेन निर्वाणगमनं निश्चिन्वन्ति। ततश्चाऽऽवयोर्भावितुल्यतालक्षणमर्थं जानन्ति पश्यन्ति चेति व्यपदिश्यत इति। तुल्यताप्रक्रमादेवेदमाह—(कइविहेत्यादि) तुल्यं समं, तदेव तुल्यकम्। (दव्वतु—ल्लए त्ति) द्रव्यत एकाणुकाऽऽद्यपेक्षया तुल्यकं द्रव्यतुल्यकम्। अथवा—द्रव्यं च तत्तुल्यकं च द्रव्यान्तरेणेति द्रव्यतुल्यकं, विशेषणव्यत्ययात्। (खेत्ततुल्लए त्ति) क्षेत्रत एकप्रदेशाव-गाढत्वाऽऽदिना तुल्यकं क्षेत्रतुल्यकम्। एवं शेषाण्यपि, नवरं भवो नारकाऽऽदिः, भावो वर्णाऽऽदिः, औदयिकाऽऽदिर्वा, संस्थानं परिमण्डलाऽऽदि। इह च तुल्यव्यतिरिक्तमतुल्यं भवतीति तदपीह व्याख्यास्यते। (तुल्लसंखेज्जपएसिए त्ति) तुल्याः समानाः संख्येयाः प्रदेशा यत्र स तथा, तुल्यग्रहणमिह सङ्ख्यातत्वस्य संख्यातभेदत्वान्न सङ्—ख्यातमात्रेण तुल्यताऽस्य स्यात्, अपि तु समानसंख्यत्वेनेत्य-स्यार्थस्य प्रतिपादनार्थम्। एवमन्यत्रापीति। यच्चेह—अनन्तक्षेत्र-प्रदेशावगाढत्वमनन्तसमयस्थायित्वं च नोक्तं, तदवगाहप्रदेशानां स्थितिसमयानां च पुद्गलानाश्रित्याऽनन्तानामभावादिति। (भव—ट्ठयाए त्ति) भव एवार्थो भवार्थः, तद्भावस्तत्ता, तया भवार्थतया। (उदइए भावे त्ति) उदयः कर्म्मणां विपाकः, स एवौदयिकः क्रिया—मात्रम्। अथवा—उदयेन निष्पन्न औदयिको भावो नारकत्वाऽऽदि—पर्यायविशेषः, औदयिकस्य भावस्य नारकत्वाऽऽदेर्भावतो भाव—सामान्यमाश्रित्य तुल्यः समः। (एवं उवसमिए त्ति) औपशमिको—ऽप्येवं वाच्यः। तथाहि—''उवसमिए भावे उवसमियस्स भावस्स भावओ तुल्ले, उवसमिए भावे उवसमियवइरित्तस्स भावस्स भावओ नो तुल्ले त्ति।'' एवं शेषेष्वपि वाच्यम्। तत्र उपशम उदीर्णस्य कर्मणः, क्षयोऽनुदीर्णस्य विष्कम्भि-तोदयत्वं, स एव औपशमिकः क्रियामात्रम्। उपशमेन वा निर्वृत्त औपशमिकः सम्य—ग्दर्शनाऽऽदिः। (खइए त्ति) क्षयः कर्माभावः, स एव क्षायिकः, क्षयेण वा निर्वृत्तः क्षायिकः केवलज्ञानाऽऽदिः। (खओवसमिए त्ति) क्षयेणोदयप्राप्तकर्मणो विनाशेन सहोपशमो विष्कम्भितोदयत्वं क्षयोपशमः, स एव क्षायोपशमिकः क्रियामात्रमेव। क्षयोपशमेन वा निर्वृत्तः क्षायोपशमिको मतिज्ञानाऽऽदिः पर्यायविशेषः। नन्वौपशमिकस्य क्षायोपशमिकस्य च कः प्रति विशेषः, उभयत्रापि उदीर्णस्य क्षयस्यानु-दीर्णस्य चोपशमभावात् ? उच्यते—क्षायोपशमिके विपाकवेदनमेव नास्ति, प्रदेशवेदकं पुनरस्त्येव, औपशमिके तु प्रदेशछेदनमपि नाऽस्तीति। (परिणामिए त्ति) परिणमनं परिणामः, स एव पारिणामिकः। (सण्णिवाइए त्ति) सन्निपात औद—यिकाऽऽदिभावानां द्व्यादिमं योगः, तेन निर्वृत्तः सान्निपातिकः। (संठाणतुल्लए त्ति) संस्थानमाकृतिविशेषः। तच्च द्वेधा, जीवाजीवभेदात्। तत्र अजीवसंस्थानं पञ्चधा। तत्र (परिमंडलसंठाणे त्ति) परिमण्डलं संस्थानं बहिस्ताद् वृत्ताऽऽकारं मध्ये शुषिरं यथा वलयस्य। तच्च द्वेधा, घनप्रतरभेदात्। (वट्टे त्ति) वृत्तं परिमण्डलमेवान्तः शुषिररहितं यथा कुलालचक्रस्य। इदमपि द्वेधा, घनप्रतरभेदात्। पुनरेकैकं द्विधा, समसङ्ख्यविषमसङ्ख्यप्रदेशभेदात्। एवं त्र्यस्रं, चतुरस्रं च, नवरं त्र्यस्रं त्रिकोणं शृङ्गाटकस्यैव, चतुरस्रं तु चतुष्कोणं, यथा कुम्भिकायाः, आयतं दीर्घं यथा दण्डस्य। तच्च त्रेधा, श्रेण्यायतप्रतराऽऽयतघनाऽऽयतभेदात्। पुनरेकैकं द्विधा, समसङ्ख्य-प्रदेशासमसङ्ख्यप्रदेशभेदात्। इदञ्च पञ्चविधमपि विस्रासाप्रयोगाभ्यां भवति। जीवसंस्थानं तु संस्थानाभिधाननामकर्मोत्तरप्रकृत्युदय-सम्पाद्यो जीवानामाकारः, तच्च षोढा। तत्राऽऽद्यम्—(समचउरंसे त्ति) तुल्याऽऽरोहपरिणाहं सम्पूर्णाङ्गावयवस्वाङ्गुलाष्टशतोच्छ्रयं समचतुरस्रं, तुल्याऽऽरोहपरिणाहत्वेन समत्वात्पूर्णावयवत्वेन च चतुरस्रत्वात्तस्य चतुरस्रत्वं सङ्गतमिति पर्यायौ। (एवं परिमंडले वि त्ति) यथा समचतुर-स्रमुक्तं तथा न्यग्रोधपरिमण्डलमपीत्यर्थः। न्यग्रोधो वटवृक्षस्तद्वत्परि-मण्डलं नाभीत उपरि चतुरस्रलक्षणयुक्तमधश्च तदनुरूपं न भवति तस्मात्प्रमाणा—द्धीनतरमिति। (एवं०जाव हुंडे त्ति) इह यावत्करणात्—''साइखुज्जे वामणे त्ति'' दृश्यम्। तत्र (साइ त्ति) सादीनोऽभितोऽधश्च-तुरस्र—लक्षणयुक्तमुपरि च तदनुरूपं न भवति। (खुज्ज त्ति) कुब्जं ग्रीवा—ऽऽदौ हस्तपादयोश्चतुरस्रलक्षणयुक्तं संक्षिप्तविकृतमध्यम्। (वामणे त्ति) वामनं लक्षणयुक्तमध्यं ग्रीवाऽऽदौ हस्तपादयोरप्यादिलक्षणन्यूनम्। (हुंडे त्ति) ह्रुण्डं प्रायः सर्वावयवेषु आदिलक्षणविसंवादोपेतमिति। भ०१४ श०७ उ०।

चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला पण्णत्ता। तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, लोगागासे, एगजीवे।

'चत्तारि' इत्यादि कण्ठ्यम्, नवरं प्रदेशाग्रेण प्रदेशप्रमाणेनेति तुल्याः समानाः, सर्वेषामेषामसंख्यातप्रदेशत्वात्। (लोगागासे त्ति) आकाश-स्यानन्तप्रदेशत्वेन धर्मास्तिकायाऽऽदिभिः सहातुल्यताप्रसक्तेर्लोक-ग्रहणम्। (एगजीव त्ति) सर्वजीवानामनन्तप्रदेशत्वाद् विवक्षिततुल्यता-भावप्रसङ्गादेकग्रहणमिति। स्था० ४ ठा०३उ०।

तुव त्रि०(तव) **''तइ—तु—ते—तुम्हं—तुह—तुहं—तुव०—''** ॥८।३।९९॥ इत्यादिना डसा सहितस्य युष्मस्तुव इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुवं त्रि०(त्वाम्) **''तं—तुं—तुमं—तुवं०—''** ॥८।३।९२॥ इत्यादिना अडा सहितस्य युष्मदस्तुव इत्यादेशः। प्रा० २ पाद।

तुवतो त्रि०(त्वतः) **''तइ—तुव०—''** ॥८।३।९६॥ डसेः परतो युष्मदस्तुव इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुवर धा०(त्वर) वेगे, भ्वादि०—आत्म०—अक०—सेट्। **''त्वरस्तु—वरजअडौ''** ॥८।४।१७०॥ इति त्वरधातोः 'तुवर' इत्यादेशः। प्रा०४ पाद। कुसुम्भोदकाऽऽदिके, बृ०३ उ०। वृक्षविशेषे, औ०। नि०चू०। श्रीमल्लिजिनस्य यक्षे, स च चतुर्मुख इन्द्रायुधवर्णो गजवाहनोऽष्टभुजो वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो, बीजपूरकशक्तिमुद्गराक्ष-सूत्रयुतवामपाणिचतुष्टयश्च। प्रव० २६ द्वार।

तुवरपत्त न०(तुवरपत्र) पलाशपत्राऽऽदिषु, नि०चू०१ उ०।

तुवरफल न०(तुवरफल) हरीतक्यादिषु, नि०चू० १उ०।

तुवाण त्रि०(युष्माकम्) **''तु—वो—मे—तुब्भ—तुब्भं—तुब्भाण—तुवाण०—''** ॥८।३।१००॥ इत्यादिना आमा सहितसय युष्मदः 'तुवाण' इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद।

तुस पुं०(तुष) कोद्रवाऽऽदिषु, स्था०८ठा०। आचा०। धान्यत्वचि, वाच०।

तुसमूल न०(तुषमूल) बीजस्य तुषमूलकणिकायाम्, स्था०८ ठा०।

तुसागणि पुं०(तुषाग्नि) तुषाः कोद्रवाऽऽदयस्तेषामग्निस्तद्दहनप्रवृत्तो वह्निस्तुषाग्निः। कोद्रवाऽऽदिदहनप्रवृत्ते वह्नौ, स्था० ८ ठा०। जी०।

तुसार पुं०(तुषार) हिमे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। औ०।

तुसिणीय त्रि०(तूष्णीक) मौनिनि, उत्त०२ अ०। वचनरहिते, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। वाचंयमे, उपेक्षके, स्था०३ ठा०३ उ०। तूष्णीं शीले, उत्त०१ अ०। आचा०।

तुसिय पुं०(तुषित) षष्ठकृष्णराजिमध्यवर्तिसुशोभनामलोकान्ति-कविमानदेवे, भ०६श०५उ०। स्था०। ज्ञा०स०। असौ संज्ञाऽन्तरतो मारुतोऽप्यभिधीयते। प्रव० २६७ द्वार। आ० म०।

तुसेअजंभ (देशी) दारुणि, दे०ना० ५ वर्ग १६ गाथा।

तुसोदग न०(तुषोदक) व्रीह्यादिधावनजले, कल्प०६ क्षण। ग०। स्था०।

तुह त्रि०(तव) **''तइ-तु-ते-तुम्हं-तुह०-''** ॥८।३।९९॥ इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदस्तुह इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

***त्वाम्** त्रि०। **''तं-तुं-तुमं-तुवं-तुह०-''** ॥८।३।९२॥ इत्यादिना अमा सहितस्य युष्मदस्तुह इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुहं त्रि०(तव) **''तइ-तु-ते-तुम्हं-तुह-तुहं०-''** ॥८।३।९९॥ इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदः 'तुहं' इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुहग पुं०(तुहक) कन्दवनस्पतिविशेषे, उत्त०१ अ०।

तुहतो त्रि०(त्वत्तः) **''तइ-तुव-तुम-तुह-तुब्भा ङसौ''** ॥८।३।९६॥ इति पञ्चम्येकवचने परतो युष्मदस्तुह इत्यादेशः। ङसेस्तु 'तो' इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुहाण त्रि०(युष्माकम्) **''तु-वो-भे-तुब्भ-तुब्भं-तुब्भाण-तुवाणतुमाण-तुहाण०-''** ॥८।३।१००॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदस्तुहाण इत्यादेशः। प्रा०३ पाद।

तुहार त्रि०(युष्मदीय) **''युष्मदादेरीयस्य डारः''** ॥८।४।४३४॥ इत्यपभ्रंशे युष्मदादिभ्यः परस्य ईयप्रत्ययस्य डार इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद।

तुहिणाचल पुं०(तुहिनाचल) हिमालयपर्वते, ''बभार शिरसा स्वर्ग-वाहिनीं तुहिनाचलः।'' आ०क०।

तूअ (देशी) इक्षुकर्मकरे, दे०ना० ५ वर्ग १६ गाथा।

तूणइल्ल त्रि०(तृणावत्) तूणाभिधानवाद्यवति, जी०३ प्रति०४ उ०। कल्प०। औ०। रा०। प्रश्न०। अनु०। ज्ञा०।

तूणा स्त्री०(तूणा) शराऽऽश्रये, जं०३ वक्ष०। तूणाभिधानवाद्यविशेषे, औ०। रा०। अनु०। ज्ञा०।

तूर धा०(त्वर) वेगे, भ्वादि०-अक०-आत्म०-सेट्। **''त्यादिशत्रो-स्तूरः''** ॥८।४।१७१॥ इति त्वरधातोस्त्यादिशतृ-प्रत्यये परतस्तूर इत्यादेशः। 'तूरइ।' त्वरते। प्रा०४ पाद।

तूर्य न०। **''ब्रह्मचर्य-तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डीर्ये र्यो रः''** ॥८।२।६३॥ इति र्यस्य रः। प्रा०२ पाद। वादित्रभेदे, उत्त०२ अ०। ज्ञा०।

तूरंत त्रि०(त्वरमाण) प्राकृतत्वाच्च शतृप्रत्ययः। **''त्यादिशत्रोस्तूरः''** ॥८।४।१७१॥ इति त्वरधातोः शतृत्रत्यये परतस्तूर इत्यादेशः। संभ्राम्यति, प्रा०४ पाद।

तूरवइ पुं०(तूर्यपति) नटमहत्तरे, बृ०१ उ०।

तूरसद्द पुं०(तूर्यशब्द) तूर्यशब्देनाधिश्रिते संनिनादे, विशे०।

तूल न०(तूल) अर्कतूले, सू०प्र० २० पाहु०। आचा०। भ०।आ० म०। कल्प०।

तूलकड त्रि०(तूलकृत) अर्काऽऽदितूलनिष्पन्ने, आचा०२ श्रु०१ चू०५ अ०१उ०।

तूलिणी (देशी) शाल्मल्याम्, दे०ना० ५ वर्ग १७ गाथा।

तूलिया स्त्री०(तूलिका) संस्कृतरुताऽऽदिभृते शयनोपकरणे, ग० ३ अधि०। बालमय्यां, चित्रलेखनकूर्चिकायां च। ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

तूली स्त्री०(तूली) अप्रतिलेख्यदूष्यविशेषे, जीत०। जं०। संस्कृत-रुताऽऽदिभृते अर्कतूलाऽऽदिभृते वा शयनोपकरणे, बृ०३उ०।

तूवर पुं०(तूवर) कषाये, रा०। काले अजातशृङ्गे गवि, अजातश्मश्रुके पुरुषे, कषायरसवति, त्रि०। आढक्यां, सौराष्ट्रमृत्तिकायां च। स्त्री०। ङीप्। वाच०।

तूस धा०(तूष) तोषे, दिवा०-पर०-अक०-अनिट्। **''रुषाऽऽदीनां दीर्घः''** ॥८।४।२३६॥ इति दीर्घः। 'तूसइ।' तुष्यति। प्रा०४ पाद।

तूह न०(तीर्थ) **''दुःखदक्षिणतीर्थे वा''** ॥८।२।७२॥ इति संयुक्तस्य तीर्थशब्दस्य र्थस्य हः। प्रा०४ पाद। **''तीर्थे हे''** ॥८।१।१०४॥ इति तीर्थशब्दे हे सति ईत ऊत्वम्। प्रा० ४ पाद। शास्त्रे, यज्ञे, क्षेत्रे, उपाये, स्त्रीरजसि, नद्यादेरवतरणे, घट्टाऽऽदौ, विद्याऽऽदिगुणयु-तपात्रे, उपाध्याये, मन्त्रिणि, योनौ, दर्शने, ब्राह्मणे, आगमे, निदाने, अग्नौ, उपकूपजलाऽऽशये, दैहिके मानसिके भौमिके त्रिविधे पवित्रस्थाने, वाच०।

तूहण (देशी) पुरुषे, दे०ना० ५ वर्ग १७ गाथा।

तृणु स्त्री०(तनु) **''स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे''** ॥८।४।३२९॥ इत्यपभ्रंशे स्वरस्थाने स्वरः। तणु। तिणु। तृणु। प्रा०४ पाद। देहे, अल्पे, विरले, कृशे च। त्रि०। वाच०।

ते त्रि०(त्वया) **''दे-दि-दे-ते०-''** ॥८।३।९४॥ इत्यादिना टास-हितस्य युष्मदस्ते इत्यादेशः प्रा०३पाद।

तव त्रि०। **''तइ-तु-ते०-''** ॥८।३।९९॥ इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदस्ते इत्यादेशः। प्रा०३ पाद। दश०।

***तस्मिन्** पुं०। प्राकृतशैलीवशात्तस्मिन्नित्यस्य स्थाने 'ते' इत्यादेशः। ''ते णं काले णं ते णं समए णं''। रा० जं०। कल्प०। ('काल' शब्दे व्याख्यातम्) तच्छब्दस्य प्रथमाबहुवचने इति। प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

तेअव धा०।(प्रदीप) प्रकर्षेण दीप्तौ, दिवा०-आत्म०-अक०-सेट्। **''प्रदीपेस्ते अव-संदुम-सन्धुक्काब्भुत्ताः''** ॥८।४।१५२॥ इति प्रोपसर्गसहितस्य दीपधातोः 'तेअव' इत्यादेशः। 'अवइ।' पक्षे-'पलीवइ।' प्रदीप्यते। प्रा०४ पाद।

तेआ स्त्री०(तेजस्) त्रयोदश्याम्, जं०७ वक्ष०।

तेइंदिय पुं०(त्रीन्द्रिय) त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः। कर्म०४ कर्म०। जी०। यूकामत्कुणगर्दभेन्द्रगोपकुन्थुमत्कोटपिपीलिकोपदेहिकाकर्पासास्थिकत्रपुसबीजकतुस्थुरुकाऽऽदिषु, पं०सं० १ द्वार। उत्त०। आव०। आ०म०।

सम्प्रति त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापनाऽर्थमाह–

से किं तं तेइंदियसंसारसमावन्नजीवपण्णवणा? तेइंदियसंसारसमावन्नजीवपण्णवणा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा–उवाइया, रोहिणिया, कुंथू, पिपीलिया, उद्देसगा, उद्देहिया, उक्कलिया, उप्पाया, उप्पमा, तणहारा, कट्ठहारा, पत्तहारा, मालुंया, तणबिंटिया, पत्तबिंटिया, पुप्फबिंटिया, फलबिंटिया, बीयबिंटिया, तेवुरुमिंजिया, तउसमिंजिया, कप्पासट्ठिमिंजिया, हिल्लिया, झिल्लिया, झिंगिरा, डिंगिरिमा, बाहुया, लहुया, मुरुगा, सोवत्थिया, सुयबेंटा, इंदकाइया, इंदगोवया, तुरतुंवगा, कोत्थलवाहगा, जूया, हालाहला, पिसुया, सतवाइया, गोम्ही, कण्णसियालिया (हत्थिसोंडा), जे यावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते संमुच्छिमणपुंसगा। ते समासओ दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य। एएसि णं एवमाइयाणं तेइंदियाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं अट्ठ जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। सेत्तं तेइंदियसंसारसमावन्नजीवपण्णवणा॥

(से किं तमित्यादि) अथ का सा त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना? भगवानाह–त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना अनेकविधा प्रज्ञप्ता। तानेव तद्यथेत्यादिनोपदर्शयति। एते च औपचयिकप्रभृतयस्त्रीन्द्रिया देशविशेषतो लोकतश्चावगन्तव्याः। नवरं (गोम्ही कण्णसियालिया जे यावन्ने तहप्पगारा) येऽपि चान्ये तथाप्रकारास्ते सर्वे त्रीन्द्रिया ज्ञातव्या इति शेषः। (ते सव्वे संमुच्छिमनपुंसगा) इत्यादि पूर्ववत्। (एतेसि णमित्यादि) एतेषां त्रीन्द्रियाणामेवमादिकानामौपचयिकप्रभृतीनां पर्याप्ताऽपर्याप्तानां सर्वसङ्ख्यया अष्टौ जातिकुलकोटीनां योनिप्रमुखाणि योनिप्रवाहाणि शतसहस्राणि भवन्ति, अष्टौ कुलकोटिलक्षा भवन्तीति भावः। इत्याख्यातं तीर्थकृद्भिः। उपसंहारमाह–(सेत्तमित्यादि) तदेवमुक्ता त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना। प्रज्ञा०१ पद। जी०। स्था०।

अथ त्रीन्द्रियानाह–

से किं तं तेइंदिया? तेइंदिया अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा–भेओ जहा पण्णवणाए। उवइया, रोहिणिया, हत्थिसोंडा, जे यावण्णे तहप्पगारा, ते समासतो दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–पज्जत्ता य, अपज्जत्ता य। तहेव जहा बेइंदियाणं, णवरं सरीरोगाहणा, उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं ठिती, जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं एगूणपण्णराइंदियाणं, सेसं तहेव दुगतिया दुआगतिआ परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता। सेत्तं तेइंदिया।

(से किं तमित्यादि) अथ के ते त्रीन्द्रियाः? सूरिराह–त्रीन्द्रिया अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा–(भेओ जहा पण्णवणाए) भेदो यथा प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यः। स चैवम्–"उवाइया, रोहिणिया, कुंथू, पिपीलिया, उद्देसगा, उद्देहिया, उक्कलिया, उप्पाया, उप्पमा, तणहारा, कट्ठहारा, पत्तहारा, मालुया, तणवेंटका, पत्तवेंटका, पुप्फवेंटया, फलवेंटया, बीयबेंटया, तेंबुमिंजिया, तउसमिंजिया, कप्पासट्ठिमिंजिया, हिल्लिया, झिल्लिया, झिंगिरा, झिंगिरडा, बाहुया, लहुया, मुरुगा, सोवत्थिया, सुयवेंटा, इंदकाइया, इंदगोवया, तुरतुंगया, कोत्थलवाहगा, जूया, हालाहला, पिसुया, सतवाइया, गोम्ही, हत्थिसोंडा।" इति। एते च केचिदतिप्रतीताः, केचिद्देशविशेषतोऽवगन्तव्याः। नवरम्–(गोम्हीकण्हसियाली जे यावण्णे तहप्पगारा इति) येऽपि चान्ये तथाप्रकारा एवंप्रकारास्ते सर्वे त्रीन्द्रिया ज्ञातव्याः। (ते समासतो इत्यादि) समस्तमपि सूत्रं द्वीन्द्रियवत् परिभावनीयं, नवरमवगाहनाद्वारे उत्कर्षतो अवगाहना त्रीणि गव्यूतानि, इन्द्रियद्वारे त्रीणि इन्द्रियाणि, स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षत एकोनपञ्चाशद् रात्रिन्दिवानि। शेषं तथैवाउपसंहारमाह–(सेत्तं तेइंदिया) उक्तास्त्रीन्द्रियाः। जी०१प्रति०।

त्रीन्द्रियवक्तव्यतामाह–

तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे॥१३७॥
कुंथू पिवीलिया दंसा, उक्कुलुद्देहिया तहा।
तणहार कट्ठहारा य, मालुंगा पत्तहारगा॥१३८॥
कप्पासट्ठिमिंजा य, तिंदुगा तउसमिंजगा।
सतावरी य गुम्मी य, बोधव्वा इंदकाइया॥१३९॥
इंदगोवगमाईयाऽणेगहा एवमाइआ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया॥१४०॥
संतइं पप्प नाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य॥१४१॥
एगूणवण्णहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया।
तेइंदिअआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया॥१४२॥
संखेज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णगं।
तेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ॥१४३॥
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं।
तेइंदियजीवाणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया॥१४४॥
एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणदेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो॥१४५॥

एतदपि पूर्ववन्नवरं त्रीन्द्रियोच्चारणं विशेषः, तथा कुन्थवोऽनुद्धरिप्रभृतयः, पिपीलिकाः कीटिकाः, गुम्मी शतपदी। एवमन्येऽपि यथासंप्रदायं वाच्याः। एकोनपञ्चाशदहोरात्राण्यायुःस्थितिरिति। उत्त० ३६ अ०। पिं०। ओ०। भ०। (त्रीन्द्रियाणां परिभोगः 'परिभोग' शब्दे वक्ष्यते)

तेइच्छ न०(चैकित्स्य) चिकित्साया भावश्चैकित्स्यम्। व्याधिप्रतिक्रियारूपे, दश०३अ०। आचा०।

तेइच्छिय त्रि०(चैकित्स्यक) वैद्ये, बृ० १ उ०।

तेउ न०(तेजस्) उष्णोद्द्योतलक्षणे, सूत्र०२ श्रु०१ अ०। उष्णरूपे,सूत्र०१ श्रु० १ अ०१ उ०। पक्तृगुणे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोः पूर्वदिग्लोकपाले, पुं०। स्था०४ ठा०१ उ०।भ०।

तेउकंत पुं०(तेजस्कान्त) अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोरुत्तरदिग्लोकपाले, स्था०४ ठा०१उ०। भ०।

तेउक्काइय पुं०(तेसस्कायिक) तेजो वह्निः, तदेव कायः शरीर येषां ते तेजस्कायाः, तेजस्काया एव स्वार्थिके कप्रत्ययविधानात्तेजस्कायिकाः। जी०१ प्रति०। प्रज्ञा०। एकेन्द्रियजीवभेदे, दश०।

अथ तेजसो जीवत्वसिद्धिमाह–

तेउ चित्तमंत–मक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएण ॥३॥

सात्मकोऽग्निः, आहारेण वृद्धिदर्शनात्, बालकवत्।दश० ४अ०। तेजः सात्मकमाहारोपादानात् तद्वृद्धिविशेषोपलब्धेः, तद्विकारदर्शनाच्च, पुरुषवत्। आह च– ''अपरप्पेरियतिरियानियमियदिग्गमणओ निलोगो व्व। अनलो आहाराओ, विद्धिविगारोव–लंभाओ'' ॥१॥ इति। स्था०१ ठा०।सूत्र०। व्य०। विशे०।

सम्प्रति तेजस्कायिकानाह–

से किं तं तेउक्काइया? तेउक्काइया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा– सुहुमतेउक्काइया य, बादरेतउक्काइया य। से किं तं सुहुमतेउक्काइया? सुहुमतेउक्काइया दुविहा पणत्ता। तं जहा–पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य। सेत्तं सुहुमतेउक्काइया। से किं तं बादरतेउक्काइया? बादरतेउक्काइया अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा– इंगाले, जाला,मुम्मुरे, अची, अलाए, सुद्धगणी, उक्का, विज्जू, असणी, णिग्घाए, संघरिससमुट्ठिए, सूरकंतमणिणिस्सिए, जे यावण्णे तहप्पगारा, ते समासओ दुविहा पणत्ता। तं जहा– पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य। तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा, ते णं असंपत्ता। तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा एएसिं वण्णदेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासादेसेणं सहस्सऽग्गसो विहाणाइं संखिज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं पज्जत्तगणिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ णियमा असंखेज्जा। सेत्तं बादरतेउक्काइया, सेत्तं तेउक्काइया।

(से किं तमित्यादि) सुगमं, नवरमङ्गारो विगतधूमः, ज्वाला जाज्वल्यमानः, स्रादिराऽऽदिज्वालाऽनलसम्बद्धा दीपशिखेत्यन्ये। मुर्मुरः फुम्फुकाऽऽदौ भस्ममिश्रिताग्निकणरूपः, अर्चिरनला–प्रतिबद्धा ज्वाला, आलातमुल्मुकं, शुद्धाऽग्नेरयः पिण्डाऽऽदौ, उल्का चुहुल्ली, विद्युत्प्रतीता, अशनिराकाशे पतदग्निमयः कणः, निर्घातो वैक्रियाशनिप्रपातः, सङ्घर्षसमुत्थितोऽरण्याऽऽदिकाष्ठनिर्मथनसमुद् भूतः, सूर्यकान्तमणिनिस्सृतःसूर्यखरकिरणसम्पर्के सूर्यकान्तमणेर्यः समुपजायते, (जे यावण्णे तहप्पगारा इति) येऽपि चान्ये तथाप्रकारा एवंप्रकारास्तेजस्कायिकाः, तेऽपि बादरतेजस्कायिकतया वेदितव्याः, ते समासतो इत्यादि प्राग्वत्। नवरमत्रापि सङ्ख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि सप्त वेदितव्यानि। प्रज्ञा०१ पद।

अथ तेजस्कायिकप्रतिपादक उद्देशकः समारभ्यते। तस्य चोपक्रमाऽऽदीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि तावद्यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे तेजउद्देशक इति नाम, तत्र तेजसो निक्षेपाऽऽदीनि द्वाराणि वाच्यानि, अत्र च पृथिवीविकल्पतुल्यत्वात् केषाञ्चिदतिदेशो द्वाराणामपरेषां तद्विलक्षणत्वात् अपोद्धार इत्येतद् द्वयमुररीकृत्य निर्युक्तिकृद् गाथामाह–

तेउस्स वि दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए।
नाणत्तं तु विहाणे, परिमाणुवभोगसत्थे य ॥११६॥

(तेउस्स वीत्यादि) तेजसोऽप्यग्नेरपि द्वाराणि निक्षेपाऽऽदीनि, यानि पृथिव्याः समधिगमेऽभिहितानि, तान्येव वाच्यानि।अपवादे दर्शयितुमाहनानात्वं भेदो विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रेषु, तुरवधारणे। विधानाऽऽदिष्वेव च नानात्वं, नान्यत्रेति। चशब्दाल्लक्षणद्वारपरिग्रहः ॥११६॥

यथाप्रतिज्ञातनिर्वहणार्थमादिद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह–

दुविहा य तेउजीवा, सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि।
सुहुमा य सव्वलोए, पंचेव य बायरविहाणा ॥११७॥

(दुविहेत्यादि) स्पष्टा ॥११७॥

बादरपञ्चभेदप्रतिपादनायाऽऽह–

इंगाल अगणि अची, जाला तह मुम्मुरे य बोधव्वे।
बायरतेउविहाणा, पंचविहा वन्निया एए ॥११८॥

(इंगालेत्यादि) दग्धेन्धनो विगतधूमज्वालोऽङ्गारःइन्धनस्थःप्लोषक्रियाविशिष्टरूपः, तथा विद्युदुल्काऽशनिसंघर्षसमुत्थितः सूर्यमणिसंसृताऽऽदिरूपश्चाग्निः, दाह्यप्रतिबद्धो ज्वालाविशेषोऽर्चिः, ज्वाला छिन्नमूलाऽनङ्गारप्रतिबद्धा, प्रविरलाग्निकणानुविद्धं भस्म मुर्मुरः। एते बादरा अग्निभेदाः पञ्च भवन्तीति। एते च बादराग्नयः स्वस्थानाङ्गीकरणान्मनुष्यक्षेत्रेऽर्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेष्वव्याघातेन पञ्चदशसु कर्मभूमिषु व्याघाते सति पञ्चसु विदेहेषु, नान्यत्र, उपपाताङ्गीकरणेन लोकासंख्येयभागवर्तिनः। तथा चाऽऽगमः–''उववाएणं दोसु उड्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्टे य।'' अस्यायमर्थः–अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रबाहल्ये पूर्वापरदक्षिणोत्तरस्वयम्भूरमणपर्यन्ताऽऽयते ऊर्द्धाधोलोकप्रमाणे कपाटे तयोः प्रविष्टा बादराग्निषूत्पद्यमानकास्तद् व्यपदेशं लभन्ते। तथा–(तिरियलोयतट्टे य त्ति) तिर्यग्लोकस्थालके च व्यवस्थितो बादराग्निषूत्पद्यमानो बादराग्निव्यपदेशभाग् भवति॥ अन्ये तु व्याचक्षते–तयोस्तिष्ठतीति तत् स्थः, तिर्यग्लोकश्चासौ तत् स्थश्च तिर्यग्लोकतत्स्थः। तत्र च स्थित उत्पित्सुर्बादराग्निव्यपदेशमासादयति। अस्मिंश्च व्याख्याने कपाटान्तर्गत एव गृह्यते, स च द्वयोरूर्द्धकपाटयोरित्यनेनैवोपात्त इति तद् व्याख्यानाभिप्रायं न विद्मः। कपाटस्थापना चेयम्समुद्घातेन सर्वलोकवर्त्तिनः, ले च पृथिव्यादयो मारणान्तिकसमुद् घातेन समवहता बादराग्निषूत्पद्यमानास्तद् व्यपदेशभाजः सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति। यत्र च बादराः पर्याप्तकास्तत्रैव बादरा अपर्याप्तकाः, तन्निश्रया तेषामुत्पद्यमानत्वात्। तदेवं सूक्ष्मा बादराश्च पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन प्रत्येकं द्विधा भवन्ति। एते च वर्णगन्ध–

रसस्पर्शाऽऽदेशैःसहस्राग्रशो भिद्यमानाः सङ्ख्येययोनिप्रमुख-शतसहस्रभेदपरिमाणा भवन्ति । तत्रैषां संवृता योनिरुष्णा च सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा । सप्त चैषां योनिलक्षाभवन्ति ॥११८॥

साम्प्रतं चशब्दसमुच्चितं लक्षणद्वारमाह-

जह देहप्परिणामो, रत्तिं खज्जोयगस्स सा उवमा ।
जरियस्स य जह उम्हा, तह उवमा तेउजीवाणं ॥११९॥

(जहेत्यादि) यथेतिदृष्टान्तोपन्यासार्थः । देहपरिणामः प्रतिविशिष्टा शरीरशक्तिः, रात्रावितिविशिष्टकालनिर्देशः । खद्योतक इति प्राणिविशेषपरिग्रहः । यथा तस्याऽसौ देहपरिणामो जीवप्रयोगनिर्वृत्तशक्तिरविश्वकास्ति, एवमङ्गाराऽऽदीनामपिप्रतिविशिष्टा प्रकाशाऽऽदिशक्तिरनुमीयते जीवप्रयोगविशेषाऽऽविर्भावितेति । यथा वाज्वरोष्मा जीवप्रयोग नातिवर्त्तते, जीवधिष्ठितशरीरकानुपात्येव भवति, एषैवोपमाऽऽग्नेयजन्तूनाम्, न च मृता ज्वरिणः क्वचिदुपलभ्यन्ते, एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामग्नेः सचित्तता मुक्तकग्रन्थोपपत्तिमुखेन प्रतिपादिता । संप्रति प्रयोगमारोप्यतेऽयमेवाऽर्थः-जीवशरीराण्यङ्गाराऽऽदयः, छेद्यत्वाऽऽदिहेतुगणान्वितत्वात्, सास्नाविषाणाऽऽदिसङ्घातवत्, तथा आत्मसंयोगाऽऽविर्भूतोऽङ्गाराऽऽदीनां प्रकाशपरिणामः, शरीरस्थत्वात्, खद्योतकदेहपरिणामवत्, तथा-आत्मसंप्रयोगपूर्वकोऽङ्गाराऽऽदीनामूष्मा, शरीरस्थत्वात्, ज्वरोष्मवत् । न चाऽऽदित्याऽऽदिभिरनेकान्तः । सर्वेषामात्मप्रयोगपूर्वकं यत उष्णपरिणामभाक्त्वं तस्मान्नानेकान्तः, तथा सचेतनं तेजो, यथायोग्याऽऽहारोपादानेन वृद्धिविशेषतद्विकारवत्त्वात्, पुरुषवत् । एवमादिना लक्षणेनाऽऽग्नेया जन्तवोऽवसेयाः ॥११९॥ इत्युक्तं लक्षणद्वारम् ।

अथ परिमाणद्वारमाह-

जे बायरपज्जत्ता, पलियस्स असंखभागमेत्ता उ ।
सेसा तिण्णि वि रासी, वीसुं लोगा असंखेज्जा ॥१२०॥

(जे बायरेत्यादि) ये बादरपर्याप्ताऽनलजीवाः क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागमात्रवर्त्तिप्रदेशराशिपरिमाणा भवन्ति, ते पुनर्बादरपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्योऽसंख्येयगुणहीनाः, शेषास्त्रयोऽपिराशयः पृथ्वीकायद्भावनीयाः । किं तु बादरपृथिवीकायापर्याप्तकेभ्यो बादराऽऽग्नेयपर्याप्तका असंख्येयगुणहीनाः सूक्ष्मपृथिवीकायापर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माऽऽग्नेयापर्याप्तका विशेषहीनाः, सूक्ष्मपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माऽऽग्नेयपर्याप्तका विशेषहीना इति ॥१२०॥

साम्प्रतमुपभोगद्वारमाह-

दहणे पयावणपगा-सणे य सेए य भत्तकरणे य ।
बायरतेउक्काए, उवभोगगुणा मणुस्साणं ॥१२१॥

(दहणेत्यादि) दहनं-शरीराऽऽद्यवयवस्य वाताऽऽद्यपनयनार्थं, प्रकृष्टं तापनं प्रतापनंशीतापनोदाय, प्रकाशकरणमुद्द्योतकरणंप्रदीपाऽऽदिना, भक्तकरणमोदनाऽऽदिरन्धनम्, स्वेदोज्वरविशूचिकाऽऽदीनाम् । इत्येवमादिष्वनेकप्रयोजनेषूपस्थितेषु मनुष्याणां बादरतेजस्कायविषया उपभोगरूपा गुणा उपभोगगुणा भवन्तीति ॥१२१॥

तदेवमेवमादिभिः कारणैः समुपस्थितैः सततमारम्भप्रवृत्ता गृहिणो यत्याभासा वा सुखैषिणस्तेजसकायजन्तून् हिंसन्तीति दर्शयितुमाह-

एएहिँ कारणेहिं, हिंसंति उ तेउकाइए जीवे ।
सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति ॥१२२॥

(एएहिं इत्यादि) एतैर्दहमाऽऽदिभिः कारणैस्तेजस्कायिकान् जीवान् हिंसन्तीति संघट्टनपरितापनाऽपद्रावणानि कुर्वन्ति, सातं सुखं तदात्मनोऽन्विष्यन्तः परस्य बादराग्निकायस्य, दुःखमुदीरयन्त्युत्पादयन्तीति ॥१२२॥

साम्प्रतं शस्त्रद्वारम्, तच्च द्रव्यभावशस्त्रभेदात् द्विधा,
द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदात् द्विधैव,
तत्र समासतो द्रव्यशस्त्रप्रतिपादनायाऽऽह-

पुढवी आउक्काए, उल्ला य वणस्सई तसा पाणा ।
बायरतेउक्काए, एयं तु समासओ सत्थं ॥१२३॥

पृथिवी धूलिः, अप् कायश्च आर्द्रश्च वनस्पतिः त्रसाश्च प्राणिनः, एतद् बादरतेजस्कायजन्तूनां समासतः सामान्येन शस्त्रमिति ॥१२३॥

विभागतो द्रव्यशस्त्रमाह-

किंची सकायसत्थं, किंची परकाएँ तदुभयं किंची ।
एयं तु दव्वसत्थं , भावे य असंजमो सत्थं ॥१२४॥

(किंचीत्यादि) किञ्चिच्छस्त्रं स्वकाय एव अग्निकाय एवाग्निकायस्य । तद्यथा-तार्णोऽग्निः पारणाग्नेः शस्त्रमिति । किञ्चिच्चपरकायशस्त्रमुदकाऽऽदि । उभयशस्त्रं पुनस्तुषकरीषाऽऽदिव्यतिमिश्रोऽग्निरपराग्नेः । तुशब्दो भावशस्त्रापेक्षया विशेषणार्थः । एतच्च पूर्वोक्तं समासविभागरूपं पृथवीस्वकायाऽऽदिद्रव्यशस्त्रमिति । भावशस्त्रं दर्शयतिभावे शस्त्रमसंयमो दुःप्रणिहितमनोवाक्कायलक्षण इति ॥१२४॥

अथोपसंहारमाह-

सेसाइं दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं तेउद्देसे, निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥१२५॥

(सेसाणीत्यादि) उक्तशेषाणि द्वाराणि तान्येव, यानि पृथिव्युद्देशकेऽभिहितानि । एवमुक्तप्रकारेण, तेजस्कायाभिधानोद्देशके निर्युक्तिः कीर्तिता व्यावर्णिता भवतीति ॥१२५॥

साम्प्रतं सूत्रानुगमे स्खलिताऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्-

से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ॥३१॥

(से बेमीत्यादि) अस्य च संबन्धः प्राग्वद्वाच्य इति । येन मया सामान्याऽऽत्मपदार्थपृथिव्यप्कायजीवप्रविभागव्यावर्णनमकारि स एवाहमव्यवच्छिन्नज्ञानप्रवाहस्तेजोजीवस्वरूपोपलम्भसमुपजनितजिनवचनसंमदो ब्रवीमि । किं पुनस्तदिति दर्शयति-(नैवेत्यादि) इह हि प्रकरणसंबन्धाल्लोकशब्देनाग्निकायलोकोऽभिधित्सितः, अतस्तमग्निलोकं जीवत्वेन नैव स्वयमात्मनाऽभ्याचक्षीत, नैवापह्नुवीतेत्यर्थः । एतदभ्याख्याने ह्यात्मनोऽपि ज्ञानाऽऽदिगुणकलापानुमितस्याभ्याख्यानमवाप्नोति । अथ च प्राक् साधितत्वादभ्याख्यानं नैवाऽऽत्मनो न्याय्यम्, एवं तेजस्कायस्यापि प्रसाधित्वात् अभ्याख्यानं क्रियमाणं न युक्तिपथम

वर्तते। एवं चास्य युक्त्यागमबलप्रसिद्धस्याभ्याख्याने क्रिय- माणे सत्यात्मनोऽप्यहंप्रत्ययसिद्धस्याभ्याख्यानं भवतः प्राप्तम्। एवमस्त्विति चेत्, तन्नेति दर्शयति-(नव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा) नैवाऽऽत्मानं- शरीराधिष्ठातारं ज्ञानगुणं प्रत्यात्मसंवेद्यं प्रत्याचक्षीत, तस्य शरीराधिष्ठातृत्वेनाऽऽहृतमिदं शरीरं केनचिदभिसन्धिमता, तथा त्यक्तमिदं शरीरं केनचिदभिसन्धिमतैवेत्येवमादिभिर्हेतुभिः प्रसाधि- तत्वात्। न च प्रसाधितप्रसाधनं पिष्टपेषणवद् विद्वज्जनमनांसि रञ्जयति। एवञ्च सत्यात्मवत्प्रसाधितमग्निलोकं यः प्रत्याचक्षीत सोऽतिसाहसिक आत्मानमभ्याख्याति निराकरोति, यश्चाऽऽत्माभ्याख्यानप्रवृत्तः स सदैवाग्निलोकमभ्याख्याति, सामान्यपूर्वकत्वाद्विशेषाणाम्, सति ह्यात्मसामान्ये पृथिव्याद्यात्मविभागः सिद्ध्यति, नान्यथा, सामान्यस्य विशेषव्यापकत्वात्; व्यापकविनिवृत्तौ च व्याप्यस्याप्यवश्यंभाविनी विनिवृत्तिरिति कृत्वा। एवमयमग्निलोकः सामान्याऽऽत्मवन्नाभ्या- ख्यातव्य इति प्रदर्शितम्।

अधुनाऽग्निजीवप्रतिपत्तौ सत्यां तद्विषयसमारम्भकटुकफलप- रिहारोपन्यासाय सूत्रमाह-

जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे।

(जे दीहेत्यादि) य इति मुमुक्षुर्दीर्घलोको-वनस्पतिर्यस्तदसौ कायस्थित्या परिमाणेन शरीरोच्छ्रयेण च शेषैकेन्द्रियेभ्यो दीर्घो वर्तते। तथाहि-कायस्थित्या तावत् ''वणस्सइकाइए णं भंते! वणस्सइकाए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ? गोयमा! अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिअवसप्पिणीओ, खेत्तओ अणंता लोया असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे।'' परिमाणतस्तु-''पडुप्पन्नवणस्सइकाइयाणं भंते! केवतिकालस्स निल्लेवणा सिया? गोयमा! पमुप्पन्नवणस्सइकाइयाणं नत्थि निल्ले- वणा।'' तथा शरीरोच्छ्रयाच्च दीर्घो वनस्पतिः। ''वणस्सइकाइयाणं भंते! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता? गोयमा! साइरेगं जोयणसहस्सं सरीरोगाहणा।'' न तथाऽन्येषां एकेन्द्रियाणाम्, अतः- स्थितमेतत्सर्वथा दीर्घलोको वनस्पतिरिति। अस्य च शस्त्रमग्निः, यस्मात्स हि प्रवृद्धज्वालाकलापाऽऽकुलः सकलतरुगणप्रध्वंसनाय प्रभवति, अतोऽसौ तदुत्सादकत्वाच्छस्त्रम्। ननु च सर्वलोकप्रसिद्ध्या कस्मादग्निरेव नोक्तः? किं वा प्रयोजनमुररीकृत्योक्तं दीर्घलोकशस्त्रमिति? अत्रोच्यते-प्रेक्षापूर्वकारितया, न निरभिप्रायमेतत्कृतमिति। यस्मादय- मुत्पाद्यमानो ज्वाल्यमानो वाहव्यवाहः समस्तभूतग्रामघाताय प्रवर्त्तते, वनस्पतिदाहप्रवृत्तस्तु बहुविधसत्त्वसंहतिविनाशकारी विशेषतः स्यात्, यतो वनस्पतौ कृमिपिपीलिकाभ्रमरकपोतश्वापदाऽऽदयः संभवन्ति, तथा पृथिव्यपि तरुकोटरव्यवस्थिता स्यात्, आपोऽप्यवश्यायरूपाः, वायुरपीषच्चञ्चलस्वभावकोमलकिशलयानुसारी संभाव्यते। तदेव- मग्निसमारम्भप्रवृत्त एतावतो जीवान्नाशयति, अस्यार्थस्य सूचनाय दीर्घलोकशस्त्रग्रहणमकरोत् सूत्रकार इति।

तथा चोक्तम्-

''जायतेयं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं॥३३॥
पाईणं पडिणं वा वि, उड्ढं अणुदिसामवि।
अहे दाहिणओ वा वि, दहे उत्तरओ वि य॥३४॥
भूयाण-मेसं-माघाओ, हव्ववाहो न संसओ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे॥३५॥''(दश०६अ०)

अथवा बादरतेजस्कायाः पर्याप्तकाःस्तोकाः, शेषाः पृथिव्यादयो जीवकाया बहवः, भवस्थितिरपि त्रीण्यहोरात्राणि स्वल्पा, इतरेषां पृथिव्यप्वायुवनस्पतीनां यथाक्रमं द्वाविंशतिसप्तत्रिदशवर्षसहस्र- परिमाणा दीर्घा अवसेया इति। अतो दीर्घलोकः- पृथिव्यादिः, तस्य शस्त्रमग्निकायः, तस्य क्षेत्रज्ञो निपुणोऽग्निकाये वर्णाऽऽदितो जानातीत्यर्थः। खेदज्ञो वा, खेदः-तद् व्यापारः सर्वसत्त्वानां दहनाऽऽत्मकः पाकाऽऽद्यनेकशक्तिकलापोपचितः प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धा- ग्निव्यपदेशः यतीनामनारम्भणीयः, तमेवंविधं खेदमग्निव्यापारं जानातीति खेदज्ञः, अतो य एव दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञः स एवाशस्त्रस्य सप्तदश- भेदस्य संयमस्य खेदज्ञः। संयमो हि न कञ्चिज्जीवं व्यापादयति, अतोऽशस्त्रम्। एवमनेन संयमेन सर्वसत्त्वाभयप्रदायिनाऽनुष्ठीयमानेना- ग्निजीवविषयः समारम्भः शक्यः परिहर्तुं पृथिव्यादिकायसमारम्भश्चेत्ये- वमसौ संयमे निपुणमतिर्भवति, ततश्च निपुणमतित्वाद्विदितपरमार्थोऽग्नि- समारम्भाद् व्यावृत्य संयमानुष्ठाने प्रवर्त्तते।

इदानीं गतप्रत्यागतलक्षणेनाविनाभावित्वप्रदर्शनार्थं विप- र्ययेण सूत्रावयवपरामर्शं करोति-

जे असत्थस्स खेयण्णे, से दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे॥३२॥

(जे असत्थस्स इत्यादि) यश्चाशस्त्रे संयमे निपुणः, स खलु दीर्घलोक- शस्त्रस्याग्नेः, क्षेत्रज्ञः खेदज्ञो वा, संयमपूर्वकं ह्यग्निविषयखेदज्ञत्वम्। अग्निविषयखेदज्ञतापूर्वकं च संयमानुष्ठानम्, अन्यथा तदसंभव एवेत्येत- द्गतप्रत्यागतफलमाविर्भावितं भवति।

कैः पुनरिदमेवमुपलब्धमित्यत आह-

वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं,

(वीरेहीत्यादि) अथवा सद्भक्तृप्रसिद्धौ सत्यां वाक्यप्रसिद्धिर्भवति, इत्यत उपदिश्यते-(वीरेहीत्यादि) घनघातिकर्मसंघातविदारणानन्त- रप्राप्तातुलकेवलश्रिया विराजन्त इति वीराः-तीर्थकराः, तैर्वीरैरर्थतो दृष्टमेतद्गणधरैश्च सूत्रतोऽग्निशस्त्रं दृष्टम्, अशस्त्रं संयमस्वरूपं चेति। किं पुनरनुष्ठायेदं तैरुपलब्धमिति? अत्रोच्यते-(अभिभूयेति) अभिभवो नामाऽऽदिश्चतुर्द्धा, द्रव्याभिभवो रिपुसेनाऽऽदिपराजयः, आदित्यतेजसा वा चन्द्रग्रहनक्षत्राऽऽदितेजोऽभिभवः, भावाभिभवस्तुपरीषहोपसर्गानी- कज्ञानदर्शनाऽऽवरणमोहान्तरायकर्मनिर्दलनं, परीषहोपसर्गाऽऽदिसे- नाविजयाद्विमलं चरणं, चरणशुद्धेर्ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयः, तत् क्षयाच्चिरावरणमप्रतिहतमशेषज्ञेयग्राहि केवलज्ञानमुपजायते। इदमुक्तम्भवति परीषहोपसर्गज्ञानदर्शनाऽऽवरणीयमोहान्तराया- ण्यभिभूय केवलमुत्पाद्य तैरुपलब्धमिति।

यथाभूतैस्तैरिदमुपलब्धं तद्दर्शयति-

संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं॥३३॥

सम्यग्यताः संयताः प्राणातिपाताऽऽदिभ्यस्तैः, तथा सदा सर्वकालं चरण- प्रतिपत्तौ मूलोत्तरगुणभेदायां निरतिचारत्वाद्यत्नवन्तस्तैः, तथा सदा सर्वकालं न विद्यते प्रमादो मद्यविषयकषायविकथानिद्राऽऽख्यो येषां ते प्रमत्ताः, तैरेवंभूतैर्महावीरैः केवलज्ञानचक्षुषेदं दीर्घलोकशस्त्रम्, अशस्त्रं च संयमो दृष्ट-

मुपलब्धमिति । अत्र च यत्नग्रहणादीर्यासमित्यादयो गुणा गृह्यन्ते। अप्रमादग्रहणात्तु मद्याऽऽदिनिवृत्तिरिति । तदेवमेतत्प्रधानपुरुषप्रतिपादितमग्निशस्त्रमपायदर्शनादप्रमत्तैः साधुभिः परिहार्यमिति ॥

एवं प्रत्यक्षीकृतानेकदोषजालमप्यग्निशस्त्रमुपभोगलोभात्प्रमादवशगा ये न परिहरन्ति, तानुद्दिश्य विपाकदर्शनायाऽऽह–

जे पमत्ते गुणट्ठीए से हु दंडे त्ति पवुच्चइ ॥३४॥

यो हि प्रमत्तो भवति मद्यविषयाऽऽदिप्रमादैरसंयतो 'गुणार्थी' रन्धनपचनप्रकाशाऽऽतापनाऽऽद्यग्निगुणप्रयोजनवान् स दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायोऽग्निशस्त्रसमारम्भकतया प्राणिनां दण्डहेतुत्वाद्दण्डः, प्रकर्षणोच्यते प्रोच्यते, आयुर्घृताऽऽदिव्यपदेशवदिति।

यतश्चैवं ततः किं कर्त्तव्यमित्यत आह–

तं परिण्णाय मेहावी, इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं ॥३५॥

(तं परिण्णाय मेहावी) तमग्निकायसमारम्भं दण्डफलं परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञाप्रत्याख्यानपरिज्ञाभ्यां मेधावी मर्यादाव्यवस्थितो वक्ष्यमाणप्रकारेण व्यवच्छेदमात्मन्याचिनोतीति। तमेव प्रकारं दर्शयितुमाह–(इयाणीत्यादि) यमहमग्निसमारम्भं विषयप्रमादेनाऽऽकुलीकृतान्तःकरणः सन् पूर्वमकार्षं, तमिदानीं जिनवचनोप-लब्धाग्निसमारम्भदण्डतत्त्वः नो करोमीति ॥

अन्ये त्वन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयितुमाह–

लज्जमाणा पुढो पास–अणगारा मो त्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा अगणि सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा अगणिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहियाए से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति–एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥३६॥

(लज्जमाणेत्यादि) यावत्–(अन्ने अणेगरूवे पाणे विहिंसइ त्ति) अस्य ग्रन्थस्योक्तार्थस्याऽयमर्थो लेशतः प्रदर्श्यतेलज्जमानाः स्वाऽऽगमोक्तानुष्ठानं कुर्वाणाः सावद्यानुष्ठानेन वा लज्जां कुर्वाणाः, पृथग्विभिन्नाः शाक्याऽऽदयः, पश्येति संयमानुष्ठाने स्थिरीकरणार्थं शिष्यस्य चोदना, अनगारा वयमित्येके प्रवदमानाः, किं तैर्विरूपमाचरितं येनैवं प्रदर्श्यन्त इति दर्शयति–यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैरग्निकर्मसमारम्भेण अग्निशस्त्रं समारंभमाणः सन्नन्याननेकरूपान् प्राणिनो विहिनस्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, यथाऽस्यैव परिफल्गुजीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं यत्करोति तद्दर्शयति–स परिवन्दनाऽऽद्यर्थी स्वत एवाग्निशस्त्रं समारंभते, तथा अन्यैश्चाग्निशस्त्रं समारम्भयति, तथाऽन्याँश्च अग्निशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते । तच्चाग्रेः समारम्भणं 'से' तस्स सुखलिप्सोरमुत्रान्यत्र चाहिताय भवति। तथा–तदेव च तस्याबोधिलाभाय भवति । स इति यस्यैतदसदाचरणं प्रदर्शितं स तु शिष्यस्तदग्निसमारम्भणं पापायेत्येवं संबुध्यमान आदानीयं ग्राह्यं सम्यग्दर्शनाऽऽदि सम्यगुत्थायाभ्युपगम्य श्रुत्वा भगवदन्तिकेऽनगाराणां वा इहैकेषां साधूनां ज्ञातं भवति। किं तद्दर्शयति? एषोऽग्निसमारम्भः ग्रन्थः कर्महेतुत्वात्, एष एव मोह एष एव मार एष एव नरकस्तद् हेतुत्वादिति भावः । इत्येवमर्थं च गृद्धो लोको यत्करोति तद्दर्शयति–यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैरग्निकर्म समारंभते, तदारम्भेण चाग्निशस्त्रं समारंभते तच्चाऽऽरभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनो विहिनस्तीति ॥

कथं पुनरग्निसमारम्भप्रवृत्ता नानाविधान् प्राणिनो विहिंसन्तीति दर्शयितुमाह–

से बेमि–संति पाणा पुढविणिस्सिया तणणिस्सिया पत्तणिस्सिया कट्ठणिस्सिया गोमयणिस्सिया कयवरणिस्सिया, संति संपातिमा पाणा आहच्च संपयंति, अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्व उद्दायंति ॥३७॥

(से बेमीत्यादि) तदहं ब्रवीमि यथा नानाविधजीवहिंसनमग्निकायसमारम्भेण भवतीति। यथाप्रतिज्ञातार्थं दर्शयतिसन्ति विद्यन्ते प्राणा जन्तवः, पृथिवीकायनिश्रिताः पृथिवीकायत्वेन परिणता इत्यर्थः । तदाश्रिता वा कृमिकुन्थुपिपीलिकागण्डूपदाहिमण्डूकवृश्चिककर्कटकाऽऽदयः । तथा–वृक्षगुल्मलतावितानाऽऽदयः । तथा–तृणपत्रनिश्रिताः पतङ्गलिकाऽऽदयः । तथा–काष्ठनिश्रिता घुणोद्देहिकापिपीलिकाऽण्डाऽऽदयः । गोमयनिश्रिताः– कुन्थुपनकाऽऽदयः । कचवरः पत्रतृणधूलिसमुदायः, तन्निश्रिताः कृमिकीटपतङ्गाऽऽदयः । तथा–सन्ति विद्यन्ते संपतितुमुत्प्लुत्योत् प्लुत्य गन्तुमागन्तुं वा शीलं येषां ते संपातिनः प्राणिनोजीवा मक्षिकाभ्रमरपतङ्गमशकपक्षिवाताऽऽदयः, एते च संपातिन आहत्योपेत्य स्वत एव। यदि वा अत्यर्थं कदाचिद्वा अग्निशिखायां संपतन्ति च। तदेवं पृथिव्यादिनिश्रितानां जीवानां यद्भवति तद्दर्शयितुमाह–(अगणिं चेत्यादि) रन्धनपचनतापनाऽऽद्यग्निगुणार्थिभिरवश्यमग्निसमारम्भो विधेयः, तत्समारम्भे च पृथिव्यादिनिश्रितानां जीवानामेता वक्ष्यमाणा अवस्था भवन्ति, छान्दसत्वात् तृतीयाऽर्थे द्वितीया। ततश्चायमर्थः–अग्निना स्पृष्टाः छुप्ता एके केचन संघातमधिकं गात्रसंकोचनं मयूरपिच्छवदापद्यन्ते, चशब्दस्याऽऽधिक्यार्थत्वात्, खलुशब्दोऽवधारणे, अग्नेरेवायं प्रतापो नापरस्येति । यदि वा सप्तम्यर्थे द्वितीया । स्पृष्टशब्दश्च पतितवचनः । ततश्चायमर्थो भवति–अग्नावेव स्पृष्टाः पतिता एके शलभाऽऽदयः, संघातं समेकीभावेनाधिकं गात्रसंकोचनमापद्यन्ते प्राप्नुवन्ति, ये च तत्राग्नौ पतिताः संघातमापद्यन्ते ते प्राणिनः, तत्राग्नौ पर्यापद्यन्ते । पर्यापत्तिः-संमूर्च्छनम्, ऊष्माभिभूता मूर्च्छामापद्यन्ते इत्यर्थः । अथ किमर्थ सूत्रकृता विभक्ति परिणामोऽकारीति? उच्यते–मागधदेशीसमनुवृत्तेः, व्याख्याविकल्पप्रदर्शनार्थं वा। अध्याहाराऽऽदयोऽपि व्याख्याङ्गानीत्यनेन

शिष्याज्ञापितो भवति। अथ के पुनस्तेऽध्याहाराऽऽदय इति? उच्यते– अध्याहारो, विपरिणमो, व्यवहितकल्पना, गुणकल्पना, लक्षणा, वाक्यभेदश्चेति। इह च द्वितीयाविभक्तेः सप्तमीपरिणामः कृत इति। ये च तत्राग्नौ पर्यापद्यन्ते ते प्राणिनः कृमिपिपीलिकाभ्रमरनकुलाऽऽदयः, तत्राग्नावपद्रावन्ति प्राणान् मुञ्चन्तीत्यर्थः। तदेवमग्निसमारम्भे सति न केवलमग्निजन्तूनां विनाशः, किं त्वन्येषामपि पृथिवीतृणपत्रकाष्ठागोमयकचवराऽऽश्रितानां सम्पातिनां च व्यापत्तिरवश्यम्भाविनीति। अत एव च भगवत्यां भगवतोक्तम्– ''दो पुरिसा सरिसवया अन्नमन्नेहिं सद्धिं अगणिकायं समारंभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं समुज्जालेति, एगे विज्झवेति। तत्थ णं के पुरिसे महाकम्मयराए? के पुरिसे अप्पकम्मयराए? गोयमा ! जे उज्जालेति से महाकम्मयराए, जे विज्झवेति से अप्पकम्मयराए॥ ''

तदेवं प्रभूतसत्त्वोपमर्द्दनकरमग्न्यारम्भं विज्ञाय मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च तत्परिहारः कार्य इति दर्शयितुमाह–

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारंभे, नेवऽण्णेहिं अगणिसत्थं समारंभावेज्जा, अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे न समणुजाणेज्जा, जस्सेते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे ॥३८॥ त्ति बेमि।।

(एत्थ सत्थेत्यादि) अत्राग्निकाये शस्त्रं स्वकायपरकायभेदभिन्नं समारभमाणस्य व्यापारयत इत्येते आरम्भाः पचनपाचनाऽऽदयो बन्धहेतुत्वेन परिज्ञाता भवन्ति। तथाऽत्रैवाग्निकाये शस्त्रमसमारंभमाणस्यैते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति। यस्यैते अग्निकायसमारम्भा ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाता भवन्ति, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति, स एव मुनिः परमार्थतः परिज्ञातकर्म्मेति। ब्रवीमीति पूर्ववदिति। आचा०१ श्रु०१ अ०४उ०।

सम्प्रति तेजस्कायपिण्डमाह–

तिविहो तेउक्काओ, सचित्तो मीसओ य अचित्तो।
सचित्तो पुण दुविहो, निच्छय–ववहारओ चेव ॥४१॥

त्रिविधः तेजस्कायः। तद्यथा–सचित्तो, मिश्रोऽचित्तश्च। सचित्तः पुनर्द्विविधः–निश्चयतः, व्यवहारतश्च।

निश्चयव्यवहाराभ्यामेव सचित्तस्य द्वैविध्यमाह–

इट्ठगपागाईणं, बहुमज्झे विज्जुमाइ निच्छयओ।
इंगालाई इयरो, मुम्मुरमाई य मिस्सो उ ॥४२॥

इष्टकापाकः प्रतीतः। आदिशब्दात् कुम्भकारपाकेक्षुरसक्वथनचुल्ल्यादिपरिग्रहः। तेषां च बहुमध्यभागे विद्युदादिश्च विद्युदुल्काप्रमुखस्तेजस्कायो निश्चयतः सचित्तः, शेषस्तु अङ्गाराऽऽदिकः, अङ्गारोज्वालारहितोऽग्निः, आदिशब्दाद् ज्वालाऽऽदि परिग्रहः। व्यवहारतः सचित्तः। सम्प्रति मिश्रं तेजस्कायमाह–(मुम्मुरमाई य मिस्सो उ) मुर्मुरः कारीषोऽग्निः, आदिशब्दादर्द्धविध्याताऽऽदिपरिग्रहः। इत्थंभूतो मिश्र इति।

साम्प्रतमचित्तं तेजस्कायपिण्डमाह–

ओयणवंजणपाणग–आयामुसिणोदगं च कुम्मासा।
डगलगसरक्खसूई, पिप्पलमाई उ उवओगो ॥४३॥

ओदनः–शाल्याऽऽदिभक्तं, व्यञ्जनं–पत्रशाकतीमनाऽऽदि। पा–नकं–काञ्जिकम्। तत्र ह्यवश्रावणं प्रक्षिप्यते, ततस्तदुपेक्षया काञ्जिकस्याग्निकायता। आयामम्–अवश्रावणं, उष्णोदकम्–उद्धृतत्रिदण्डम्। एतेषां च पदानां समाहारद्वन्द्वः। चकारो मण्डकाऽऽदिसमुच्चयार्थः। कुल्माषाः पक्वा माषाः। एते च ओदनाऽऽदयोऽग्निनिष्पन्नत्वेनाग्निकार्यत्वादग्नयो व्यपदिश्यन्ते। भवति च तत्कार्यत्वात्तच्छब्देन व्यपदेशः। यथा–द्रम्मो भक्षितोऽनेनेत्यादौ ओदनाऽऽदयश्चाचित्ताः, तत एतेषामचित्ताग्निकायत्वेनाभिधानं न विरुध्यते। तथा डगलकाः–पक्वेष्टकाखण्डानि, सरजस्कोभस्म, सूची लोहमयी वस्त्रसीवनिका। अथवा(सरक्खसूइ त्ति) रक्षा भस्म, सह रक्षया वर्त्तते इति सरक्षा सूची। किमुक्तं भवति?– रक्षा च, सूची चेति। पिप्पलकः–किञ्चिद्वक्रः क्षुरविशेषः। आदिशब्दान्नखरदनिकाऽऽदिपरिग्रहः। एतानि च डगलकाऽऽदीनि पूर्वमग्निरूप तया परिणतान्यासीरन्, ततो भूतपूर्वगत्या संप्रत्यपि अग्निकायत्वेन व्यपदिश्यन्ते, अचित्तानि च। न चैतेषामचित्ताग्निकायत्वाभिधाने विरोधः–...(?) संप्रत्यचित्ताग्निकायस्य प्रयोजनमाह–(उवओगो त्ति) एतेषामोदनाऽऽदीनां य उपयोगो भोजनाऽऽदावुपयुज्यमानता, तदचित्ताग्निकायेन साधूनां प्रयोजनम्; द्रव्याऽऽदिभेदाच्चतुर्विधत्वमचित्ताग्निकायस्य प्रागिव यथायोगं भावनीयम्। उक्तस्तेजस्कायपिण्डः। पिं०। ओघ०। आ०म०। कल्प०। बृ०। (प्रथमं तेजस्कायोद्दीपनम् ऋषभदेवेन शिक्षितमिति 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११२६ पृष्ठेउक्तम्) ('सदीववसइ' प्रस्तावे साधूनामग्निसेवना प्रदर्शयिष्यते) (विकाले विहरतामग्नि–सेवना 'विहार' शब्दे वक्ष्यते)

अथ तेजस्कायहिंसानिषेधमाह–

जायतेयं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥३३॥

जाततेजा अग्निः, तं जाततेजसं, नेच्छन्ति मनःप्रभृतिभिरपि पापकं पाप एव पापकस्तं, प्रभूतसत्त्वापकारित्वेनाशुभमित्यर्थः। किं नेच्छन्तीत्याह–ज्वलयितुमुत्पादयितुं, वृद्धिं वा नेतुम्। किंविशिष्टमित्याह–तीक्ष्णं च्छेदकरणाऽऽत्मकम्, अन्यतरत् शस्त्रं सर्वशस्त्रम्। एकधाराऽऽदिशस्त्रव्यवच्छेदेन सर्वतोधारशस्त्रकल्पमिति भावः। अत एव सर्वतोऽपि दुराश्रयं सर्वतोधारत्वेनानाश्रयणीयमिति सूत्रार्थः ॥३३॥

एतदेव स्पष्टयन्नाह–

पाईणं पडिणं वा वि, उड्ढं अणुदिसामवि।
अहे दाहिणओ वा वि, दहे उत्तरओ वि य ॥३४॥

अग्निरिति शेषः। प्राच्यां प्रतीच्यां वाऽपि, पूर्वायां पश्चिमायां चेत्यर्थः। ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि, सुपां सुपो भवन्तीति सप्तम्यर्थे षष्ठी। विदिक्ष्वपीत्यर्थः। अधो दक्षिणतश्चापि दहति दाह्यं भस्मीकरोति, उत्तरतोऽपि च सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दहतीति सूत्रार्थः ॥३४॥

यतश्चैवमतः–

भूयाण–मेस–माघाओ, हव्ववाहो न संसओ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किं चि नारभे ॥३५॥

भूतानां स्थावराऽऽदीनामेष आघातः, आघातहेतुत्वादाघातः। हव्यवाहोऽग्निर्न संशय इत्येवमेवैतदाघात एवेति भावः। येनैवं तेन तं हव्यवाहं प्रदीपप्रतापनार्थमालोकशीतापनोदार्थं, संयताः साधवः किञ्चित्सङ्घट्टनाऽऽदिनाऽपि नारभन्ते, संयतत्वापगमनप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥३५॥

यस्मादेवम्–

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
तेउकायसमारंभं, जावजीवाइँ वज्जए ॥३६॥

व्याख्या पूर्ववत् ॥३६॥ दश० ६ अ०।

अथ तेजस्कायविधिमाह–

इंगालं अगणिं अर्चिं, अलायं वा सजोइयं।
न उंजिज्जा ण घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥८॥

अङ्गारं ज्वालारहितम्, अग्निमयः पिण्डानुगतम्, अर्चिः छिन्नज्वालम्, आलातमुल्मुकं वा; सज्योतिः साग्निकमित्यर्थः। किमित्याह–नोत्सिञ्चेत न घट्टयेत्, तत्रोञ्चनमुत्सेचनं प्रदीपाऽऽदेः, घट्टनं मिथश्चालनं, तथा नैनमग्निं निर्वापयेत् अभावमापादयेन्मुनिः साधुरिति सूत्रार्थः। दश० ८अ०।

अग्निकायस्य मध्येन नैरयिकाऽऽदयो व्यतिव्रजन्ति–

णेरइयाणं भंते ! अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा? गोयमा ! अत्थेगइए वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–अत्थेगइए वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा? गोयमा ! णेरइया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–विग्गहगइसमावण्णगा य, अविग्गहगइसमावण्णगा य। तत्थ णं जे से विग्गहगइसमावण्णए णेरइए से णं अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा, से णं तत्थ झियाएज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे। णो खलु तत्थ सत्थं कमइ। तत्थ णं जे से अविग्गहगइसमावण्णए णेरइए से णं अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं णो वीईवएज्जा, से तेणट्ठेणं णो वीईवएज्जा। असुरकुमारे णं भंते ! अगणिकायपुच्छा? गोयमा ! अत्थेगइए वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा। से केणट्ठेण०जाव णो वीईवएज्जा? गोयमा ! असुरकुमारा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–विग्गहगइसमावण्णगा य, अविग्गहगइसमावण्णगा य। तत्थ णं जे से विग्गहगइसमावण्णए असुरकुमारे, से णं जहेव णेरइए०जाव कमइ, तत्थ णं जे से अविग्गहगइसमावण्णए असुरकुमारे, से णं अत्थेगइए अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा, जे णं वीईवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे। णो खलु तत्थ सत्थं कमइ। से तेणट्ठेणं एवं०जाव थणियकुमारा एगिंदिया जहा णेरइया। बेइंदिया णं भंते ! अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं जहा असुरकुमारे तहा बेइंदिए वि, णवरं जे णं वीईवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा? हंता ! झियाएज्जा। सेसं तं चेव०जाव चउरिंदिया। पंचिंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! अगणिकायपुच्छा? गोयमा ! अत्थेगइए वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा। से केणट्ठेणं भंते? गोयमा! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–विग्गह–गइसमावण्णगा य, अविग्गहगइसमावण्णगा य। विग्गहगइस–मावण्णए जहवे णेरइए०जाव णो खलु तत्थ सत्थं कमइ, अविग्गहगइसमावण्णगा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–इड्ढिपत्ता य, अणिड्ढिपत्ता य। तत्थ णं जे से इड्ढिप्पत्ते पंचिंदियतिरिक्खजोणिए णं से णं अत्थेगइए अग–णिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा। जे णं वीईवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे। णो खलु तत्थ सत्थं कमइ। तत्थ णं जे से अणिड्ढिपत्ते पंचिंदियतिरिक्खजोणिए, से णं अत्थेगइए अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा, जे णं वीईवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा? हंता ! झियाएज्जा। से तेणट्ठेणं०जाव णो झियाएज्जा। एवं मणुस्से वि, वाणमंतरजो–इसिवेमाणिए जहा असुरकुमारे।

(नेरइयाणमित्यादि) इह च क्वचिदुद्देशकार्थसंग्रहगाथा दृश्यते। सा चेयम्–''नेरइय अगणिमज्झे, दस ठाणा तिरियपोग्गले देवे। पव्वयभित्ती–उल्लंघणा य पल्लंघणा चेव ॥१॥'' इति। अर्थश्चास्या उद्देशकार्थविगमगम्य इति। (णो खलु तत्थ सत्थं कमइ त्ति) विग्रहगतिसमापन्नो हि कार्मणशरीरत्वेन सूक्ष्मः, सूक्ष्मत्वाच्च तत्र शस्त्रमग्न्यादिकं न क्रामति। (तत्थ णं जे से इत्यादि) अविग्रह–गतिसमापन्न उत्पत्तिक्षेत्रोपपन्नोऽभिधीयते, न तु ऋजुगति समापन्नः, तस्येह प्रकरणेऽनधिकृतत्वात्। स चाग्निकायस्य मध्येन व्यतिव्रजति, नारकक्षेत्रे बादराग्निकायस्याभावान्मनुष्यक्षेत्र एव तद्भावात्। यच्चोत्तराध्ययनाऽऽदिषु श्रूयते–''हुयासणे जलंतम्मि, दड्ढपुव्वो अणेगसो।'' इत्यादि। तदग्निसदृशद्रव्यान्तरापेक्षयाऽवसेयम्। संभवन्ति च तथाविधशक्तिमन्ति द्रव्याणि तेजोलेश्याद्रव्यवदिति। असुरकुमारसूत्रे विग्रहगतिको नारकवत्, अविग्रहगति–कस्तु कोऽप्यग्नेर्मध्येन व्यतिव्रजेत् यो मनुष्यलोकमागच्छति, यस्तु न तत्रागच्छत्यसौ न व्यतिव्रजेत्, व्यतिव्रजन्नपि च न ध्मायते वा, ध्मायतेऽतो न खलु तत्र शस्त्रं क्रमते, सूक्ष्मत्वाद्वैक्रियशरीरस्य, शीघ्रत्वाच्च तद्गतेरिति। (एगिंदिया जहा नेरइय त्ति) कथम्? यतो विग्रहे तेऽप्यग्निमध्येन व्यतिव्रजन्ति, सूक्ष्मत्वान्न दह्यन्ते च, अविग्रहगतिसमापन्नकाश्च तेऽपि नाग्नेर्मध्येन व्यतिव्रजन्ति, स्थावरत्वात्, यच्च तेजोवायूनां गतित्रसतयाऽग्निमध्येन व्रतिव्रजनं दृश्यते, तदिह न विवक्षितमिति संभाव्यते, स्थावरत्वमात्रस्यैव विवक्षितत्वात्। स्थावरत्वे ह्यस्ति कथञ्चित्तेषां गत्यभावो, यदपेक्षया स्थावरास्ते व्यपदिश्यन्ते, अन्यथाऽधिकृतव्यपदेशस्य निर्निबन्धनता स्यात्तथा। यद्वा–द्व्यादिपारतन्त्र्येण पृथिवयादीनामग्निमध्येन व्यतिव्रजनं दृश्यते, तदपि न विवक्षितम्, स्वातन्त्र्यकृतस्यैव तस्य विवक्षणात्। चूर्णिकारः पुनरेवमाह–''एगिंदियाणं गई नत्थि त्ति।''

ते न गच्छन्ति। ''एगे वाउक्कायाइपरपेरणेसु गच्छंति, विराहिज्जंति य'' इति॥ पञ्चेन्द्रियतिर्यक् सूत्रे-(इड्ढिपत्ता य त्ति) वैक्रियलब्धिसम्पन्नाः (अत्थेगइए अगणिकायस्सेत्यादि) अस्त्येककः कश्चित्पञ्चेन्द्रियतिर्यग् यो मनुष्यलोकवर्ती स तत्राग्निकायसम्भवात्तन्मध्ये न व्यतिव्रजेत्। यस्तु मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्नासावग्नेर्मध्येन व्यतिव्रजेत्, अग्नेरेव तत्राभावात्, तदन्यो वा; तथाविधसामग्र्यभावात्। (णो खलु तत्थ सत्थं कमइ त्ति) वैक्रियाऽऽदिलब्धिमति पञ्चेन्द्रिय-तिरश्चि नाग्न्यादिकं शस्त्रं क्रमत इति। भ० १४श०५ उ०। (अग्गे-रुज्ज्वालकः प्रज्वालको वा महाकर्म्मेति कालोदायिप्रश्नेन ''अण्णउत्थिय'' शब्दे प्रथमभागे ४४७ पृष्ठे विचारितम्)

अथ अङ्गारकारिकासु तेजस्कायस्थितिः-

इंगालकारियाए णं भंते ! अगणिकाए केवइयं कालं संचिट्ठइ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं अण्णे वित्थवाउयाए वुक्कमइ, ण विणा वाउयाएणं अगणिकाए उज्जलइ। पुरिसे णं भंते ! अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहमाणे वा पविहमाणे वा कइकिरिए? गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संमासएणं उव्विहिंति वा, पविहिंति वा, तावं च णं से पुरिसे काइयाए०जाव पाणा-इवायकिरिया पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिंतो अयणिव्वत्तिए अयकोट्ठे णिव्वत्तिए संभासए णिव्वत्तिए इंगाला णिव्वत्तिया इंगालकड्ढिणी णिव्वत्तिया भंछा णिव्वत्तिया, ते वि णं जीवा काइयाए०जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा॥

(इंगालकारियाए त्ति) अङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका अग्निश-कटिका, तस्याम्, न केवलं तस्मामग्निकायो भवति (अन्ने वि त्थ त्ति) अन्योऽप्यत्र वायुकायो व्युत्क्रामति। यत्राग्निस्तत्र वायुरिति कृत्वा। कस्मादेवमित्याह-(ण वि णेत्यादि) भ० १६ १६ श०१उ०। सूत्र०। नि०चू०। (तेजस्कायस्य आहारः 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ४९९ पृष्ठे उक्तः) (तेजस्कायस्य प्रतिसेवना 'पडिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते) (ओदनाऽऽदयः किंशरीरा इति 'अगणिजीवसरीर' शब्दे प्रथमभागे १५६ पृष्ठे उक्ताः)

तेउपुट्ठ त्रि०(तेजःस्पृष्ट) तेजसा अग्निना स्पृष्टो दह्यमानः। अग्निना दह्यमाने, सूत्र०१ श्रु०३ अ०१उ०।

तेउप्पभ पुं०(तेजःप्रभ) अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोः पश्चिमदिग्लोकपाले, स्था०४ ठा०१ उ०। अग्निकुमारेन्द्रयोरग्नि-सिंहाग्निमानवयोरुत्तरदिग्लोकपाले, भ०३श०८उ०।

तेउप्फास पुं०(तेजःस्पर्श) उष्णस्पर्श, आचा०१ श्रु०६अ०३उ०। उष्णस्पर्शश्च आतापनाऽऽदिकाले। आचा०१ श्रु०९ अ०२उ०।

तेउलेस्सा स्त्री०(तेजोलेश्या) तेजोऽग्निज्वाला, तद्वर्णानि यानि द्रव्याणि, लोहितानीत्यर्थः। तत्साचिव्याज्जाता तेजोलेश्या। स्था०१ठा०। विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवायां तेजोज्वालायां लेश्यायां सुखासिकायाम्, विपा०१ श्रु०१ अ०। रा०। चं०प्र०।जं०।

निर्ग्रन्थानामेव लब्धिविशेषस्य कारणत्रयमाह-

तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे संखित्तविउलतेउलेस्से भवइ। तं जहा-आयावणयाए, खंतिखमाए, अपाणगेणं तवोकम्मेणं।

(तिहिमित्यादि) संक्षिप्ता लघूकृता विपुलाऽपि विस्तीर्णाऽपि सती, अन्यथाऽऽदित्यबिम्बवद् दुर्दर्शा स्यादिति। तेजोलेश्या तपोविभूतिजं तेजस्वित्वं तैजसशरीरपरिणतिरूपं महाज्वालाकल्पं येन स संक्षिप्त-विपुलतेजोलेश्यः, आतापनानां शीताऽऽदिभिः शरीरस्य सन्तापनानां भाव आतापनता, शीताऽऽतपाऽऽदेः सहनमित्यर्थः। तया; क्षान्त्या क्रोधनिग्रहेण क्षमा मर्षणं, न त्वशक्ततयेति क्षान्तिक्षमा, तया; आपानकेन पारणककालादन्यत्रतपः कर्मणा षष्ठाऽऽदिनेति। अभिधीयते च भगवत्याम्-''जे णं गोसालो एगाए सनहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ, से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेउलेस्से भवइ।'' इति। स्था०३ ठा०३उ०।

आत्मज्ञानमग्नस्य वाचयमस्य तेजोलेश्या युज्यत इत्याह-

तेजोलेश्याविवृद्धिर्या, साधोः पर्यायवृद्धितः।
भाषिता भगवत्यादौ, सेत्थंभूतस्य युज्यते॥५॥

टीका सुगमा। अष्ट० २अष्ट०।

जे इमे अज्जत्ताए समणा णिग्गंथा विहरंति, एएणं कस्स तेउलेस्सं वीईवयइ? गोयमा ! मासपरियाए समणे णिग्गंथे वाणमंतराणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ। दुमासपरियाए समणे णिग्गंथे असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ। एवं एएणं अभिलावेणं तिमासपरियाए समणे णिग्गंथे असुरकुमाराणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ। चउमासपरियाए समणे णिग्गंथे गहगणणक्खत्ततारारूवाणं जोइसियाणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ। पंचमासपरियाए समणे णिग्गंथे चंदिम-सूरियाणं जोइसियाणं जोइसिरायाणं तेउलेस्सं वीईवयइ। छम्मासपरियाए समणे णिग्गंथे सोहम्मीसाणाणं देवाणं। सत्तमासपरियाए सणंकुमारमाहिंदाणं देवाणं। अट्ठमासपरि-याए समणे णिग्गंथे बंभलोगलंतगाणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ। णवमासपरियाए समणे णिग्गंथे महासुक्कसहस्साराणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ। दसमासपरियाए समणे णिग्गंथे आणय-पाणयआरणऽच्चुयाणं देवाणं। एक्कारसमासपरियाए समणे णिग्गंथे गेवेज्जगदेवाणं। बारसमासपरियाए समणे णिग्गंथे अणुत्तरोव-वाइयाणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ। तेण परं सुक्के सुक्काभिजाए भवित्ता, तओ पच्छा सिज्झइ० जाव अंतं करेइ।

(जे इमे इत्यादि) य इमे प्रत्यक्षाः (अज्जत्ताए त्ति) आर्यतया पापकर्मबहिर्भूततया, अद्यतया वा अधुनातनतया, वर्तमान-काले इत्यर्थः। (तेउलेस्सं तिग) तेजोलेश्यां सुखासिकां,

तेजोलेश्या हि प्रशस्तलेश्योपलक्षणं, सा च सुखासिकाहेतुरिति कारणे कार्योपचारात् तेजोलेश्याशब्देन सुखासिका विवक्षितेति। (वीईवयंति) व्यतिव्रजन्ति व्यतिक्रामन्ति। (असुरिंदवज्जियाणं ति) चमरबलिवर्जितानाम्, (तेण परं ति) ततः संवत्सरात्परतः। (सुक्के त्ति) शुक्लो नामाऽभिन्नवृत्तोऽमत्सरी कृतज्ञः सदारम्भी हितानुबन्ध इति, निरतिचारचरण इत्यन्ये। (सुक्काभिजाय त्ति) शुक्लाभिजात्यः, परमशुक्ल इत्यर्थः। अत एवोक्तम्–''आकिञ्चन्यं मुख्यं, ब्रह्मापि परं सदागमविशुद्धम्। सर्व शुक्लमिदं खलु, नियमात्संवत्सरादुर्द्धम् ॥१॥'' एतच्च श्रमणविशेषमेवाऽऽश्रित्योच्यते, न पुनः सर्व एवैवंविधो भवतीति। भ० १४ श०६ उ०। अथ गोशालः प्रभुमागत्याप्राक्षीत्– तेजोलेश्या कथं भवति? स्वाम्याह– नैरन्तर्येण षष्ठपारणके मुष्टिमध्यगतकुल्माषपिण्डिकया एकेन च पानीयचुलुकेन यापयतः षड्भिर्मासैर्भवति। आ०क०। वर्णतोवह्निज्वालाशुकमुखकिंशुकतरुणार्कहिङ्गुलकाऽऽदिलोहितद्रव्यसमानवर्णैः, रसतः–परिणताऽऽम्रसुपक्वकपित्थाऽऽदिसमधिकरसैः, गन्धतः– विचिकिलपाटलाऽऽदिसमधिकगन्धैः, स्पर्शतः–शाल्म–जीफलतूलाऽऽदिसमधिकस्पर्शैः तेजोवर्णद्रव्यैर्निष्पन्नत्वात्तैजसी संज्ञा। (५ गा०) तेजोवर्णद्रव्यैर्निष्पन्ने लेश्याभेदे, पा०। पं०व०। उत्त०।स०। तेजोलेश्यायाः पुद्गलाः सचित्ताः, अचित्ता वेति प्रश्ने, उत्तरम्– लब्धिः पुद्गलरूपा न भवति, शक्तिरूपा भवति, परं तेजोलेश्यापुद्गला जीवेन मुखाज्जीवप्रदेशसहिता निष्कासिताः, तस्माज्जीवप्रयोगनिष्कासितत्वात्सचित्ता ज्ञायन्त इति। ७४ प्र०। सेन०३उल्ला०।

तेउलेस्सालद्धि स्त्री०(तेजोलेश्यालब्धि) क्रोधाऽऽधिक्यात्प्रतिपन्थिनं प्रति सुखेनानेकयोजनप्रमाणक्षेत्राऽऽश्रितवस्तुदहनदक्षतीव्रतरतेजोलेश्यानिसर्जनशक्तौ, प्रव० २७० द्वार।

तेउसमुग्घाय पुं०(तैजससमुद्घात) तेजसि विषये भवस्तैजसः, स चासौ समुद्घातश्च तैजससमुद्घातः। प्रव० २३१ द्वार। तेजोलेश्याविनिर्गमकालभाविनि तैजसनामकर्मपुद्गलपरिज्ञातहेतौ समुद्घातविशेषे, प्रज्ञा० ३४ पद। तेजोलेश्याविनिर्गमकालभाविनि तैजसशरीरनामकर्माऽऽश्रये समुद् घातभेदे, प्रव० २३२ द्वार। तथाहि–तेजोनिसर्गलब्धिमान् क्रुद्धः साध्वादिः सप्ताष्टौ पदानि अवष्वष्क्य विष्कम्भबाहल्याभ्यां शरीरमानमायामतस्तु संख्येययोजनप्रमाणं जीवप्रदेशदण्डं शरीराद् बहिः प्रक्षिप्य क्रोधविषयीकृतं मनुष्याऽऽदि निर्दहति, तत्र च प्रभूतांस्तैसशरीरनामकर्मपुद्गलान् शातयति। प्रव० २३१ द्वार। स्था०। आचा०। ('गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०१६ पृष्ठे वैश्यायनबालतपस्विना तेजोलेश्या गोशालकोपरि प्रयुक्ता, भगवता वीरेण वारितेति निदर्शितम्)

तेउसीह पुं०(तेजःसिंह) अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोर्दक्षिणदिग्लोकपाले, स्था०४ ठा०१उ०। भ०।

तेउसोय न०(तेजःशौच) तेजसा अग्निना तद्विकारेण वा भस्मना शौचं तेजः शौचम्। शौचभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ०।

तेंडुअ न०(देशी) तुम्बुरुणि, दे०ना० ५ वर्ग १७ गाथा।

तेंदुसय पुं०(तेन्दुसक) कन्दुके, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

तेंदुरु पुं०(तेम्बुरु) त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी०१ प्रति०।

तेकल्ल न०(त्रैकाल्य) त्रयश्च ते कालाः, तेषां भावस्त्रैकाल्यम्। अतीतानागतवर्त्तमानरूपे काले, दर्श०५ तत्त्व।

तेगारपव्वय पुं०(त्र्याकारपर्वत) स्वनामख्याते पर्वते, यत्र सह–स्रफणी पार्श्वनाथः पूज्यते। ती० ४ कल्प।

तेगिच्छ न०(चैकित्स्य) चिकित्साकर्मणि, बृ०१ उ०। व्य०। कल्प०। ''तिविहे तेगिच्छम्मि उ, उज्जुय वाउलणसाहणा चेव। पण्णवणमणिच्छंते, दिट्ठंतो भंडिपोएहिं ॥१॥'' इति। व्य०१ उ०। नि०चू०। (आचार्याऽऽदीनां चिकित्सा 'पच्छित्त' शब्दे व्याख्यास्यते)

तेगिच्छायण त्रि०(चैकित्सायन) चिकित्सगोत्रापत्ये, जं०४ वक्ष०।

तेगिच्छिदह पुं०(चैकित्स्यह्रद) निषधपर्वतस्थे धृतिदेवताके स्वनामख्याते ह्रदे, स्था०२ ठा०३उ०।

तेजलपुर न०(तेजलपुर) सुराष्ट्रदेशस्थिते स्वनामख्याते पुरे, ती०। यत्र श्रीपार्श्वप्रतिमा पूज्यते। ''तेजपासमंतिणो गिरिनारतले निअनामंकिअतेजलपुरस्स पुव्वदिसाए उग्गसेणगढं नाम दुग्गं जुगाइनाहप्पमुहजिणमंदिररहिल्लं विज्जइ, तस्स य तिण्णि नाम विज्जाइं पसिद्धाइं। तं जहा–उग्गसेणगढं ति वा, खंगारगढं ति वा, जुण्णदुग्गं ति वा। गढस्स बाहिं दाहिणदिसाए चउरिअविइल्लुय–उवरिआए सुवामयाइं ठाणाइं चिट्ठंति।'' ती०४ कल्प०।

तेजस्सिया स्त्री०(तेजस्विता) प्रतिवादिक्षोभाऽऽपादिकायां शरीरस्य स्फूर्तिमत्यां देदीप्यमानतायाम्, व्य० १ उ०।

तेडु पुं०(देशी) शलभे, पिशाचे च। दे०ना० ५ वर्ग २३ गाथा।

तेण त्रि०(स्तेन) चौरे, स्था०५ ठा०३ उ०। आचा०। सूत्र०। आव०। तं०। ध०। दश०। व्य०। ''तेणा दुविहा तिविहा वा।''व्य०२ उ०। ''णाणातिकारणेहिं गममाणे अंतरा तेणा भवंति।'' नि०चू० ५ उ०। बृ०। पं०भा०। पं०चू०। ग०।

इयाणिं तेण्णो–

अक्कंतितो य तेणो, पागतितो गामदेसअद्धाणो।
तक्करख, णगतेणो, परूवणा होति कायव्वा ॥३६१॥

अडाडाए बला हरंतो अक्कंतितो, राते हरंतो पागतितो, अधवा–राउलवग्गस्स अक्कंतितो पागयजणस्स हरति। उपागतिउमागतो हरंतो गामतेणो। सदेसे परदेसे व हरंतो देसतेणो। गामदेसंतरेसु हरंतो अंतरतेणो। पंथेसु हरंतो अद्धाणतेणो। तदेविक्कं करोतीति तक्करो, नो अन्नं किंचि किसिमादि करोतीति। खत्तं खणंतो खाणगतेणो।

सो समासेण चउव्विहो तेणो–

दव्वे खेत्ते काले, भावे वा तेणगस्स निक्खेवो।
एएसिं तु चउण्हं, पत्तेअपरूवणं वोच्छं ॥३६२॥

कंठा।

इमो दव्वतेणो–

सचित्ते अचित्ते, य मीसए होंति दव्वतेणा उ।
साहम्मिअण्णधम्मियगारत्थीहिं च नायव्वा ॥३६३॥

सचित्तं–दुपदचउप्पदापदं, अचित्तं–हिरन्नाऽऽदि, मिस्ससंसभंडवमत्तोवगरणं, अस्साऽऽदि फलादि व देसो व सचित्ताचित्तं, तं पुण सचित्ताऽऽदि दव्वं साहम्मियाण अण्णधम्मियाण गारत्थियाण वा अवहरंतो दव्वतो तेणो। सो तिविहो–उक्कोसो, मज्झिमो, जहण्णो।

इयाणिं खेत्तकालभावतेणो तिन्नि वि जुगवं भन्नति–

सगदेसपरविदेसग–अंतरतेणा य हों ति खेत्तम्मि।
राइं दिवा व काले, भावम्मि य नाणतेणा तु ॥३६४॥
हयगयराईलच्छी–माणिक्काइं तु तेणो॑ उक्कोसो।
गोमहिसखेत्तखणखारियाणि तेणो य मज्झिमओ ॥३६५॥
गंठीछेदगपथिजण–दव्वहरो वा जहण्णतेणो उ।
एक्केक्को वि य एत्तो, पडिगपडिच्छगतेणो उ ॥३६६॥

सदेसतो, परदेसतो, एतसिमंतरे वा हरंतो खेत्ततेणगो। रातो वा दिया वा हरंतो कालतेणो। भावतेणो–णाणंसणचरित्ते हरंतो। हयगयराय-च्छिमाणिक्के हरंतो उक्कोसो। गोमहिसखेत्तखणखारियाऽऽदि वा हरंतो मज्झिमो। पहियजणमोसगो, गंठिभेदगो, असणाऽऽदि वा हरंतो जहन्नो। एक्केक्के चउप्पगारा इमे–तेणो, तेणतेणो, पडिच्छगो, पडिच्छगपडिच्छगो।

इमे उदाहरणा तिसु वि–

गोविंदज्ञा णाणे, दंसणे॑ सत्थट्ठ हेतुगट्ठा य।
एवं वि गआ चरगा, उदायिवहगादिया चरणे ॥३६७॥
सचित्तं अचित्तं, च मीसगं तेणियं कुणति जो उ।
समणाण व समणीण व, न कप्पती तारिसे दिक्खा ॥३६८॥

गोविंदो णाम भिक्खू, सो एगेणाऽऽयरिएण वादे जितो अट्ठारस वारा। ततो तेण चिंतियं–सिद्धंतसरूवं जाव एतेसिं णो लब्भति, तावेते जेतुं न सक्किता। ताहे सो णाणदंसणचरणहरणट्ठा तस्सेवाऽऽयरियस्स अंते णिक्खंतस्स य सामाइयाऽऽदिपढंतस्स लद्धं संमत्तं। ततो गुरुं वंदित्ता भणति–देहि मे बते। णणु दत्ताणि ते णाणाणि। तेण सब्भावो कहितो। ताहे गुरुणा दत्ताणि से वयाणि। पच्छा तेण एगिंदियजीवसाहणा गोविंदणिज्जुत्ती कया। एस णाण–तेणो। (एष चैवार्थो 'गोविंदणिज्जुत्ति' शब्दे तृतीयभागे १०१२ पृष्ठे प्रदर्शितः) एवं दंसणपभावगसत्थट्ठा, कक्कडगमादिहेतुगट्ठा वा जो णिक्खमति, सो दंसणतेणो। जो एवं करणट्ठा चरणं गेण्हति, भंडिउं वा गंतुकामो, जहा वा रण्णो वहणट्ठा उदायिमारगेण चरणं गहियं। आदिसद्दातो मधुरकोंडइला, एते सव्वे चरित्ततेणा। एते दव्वाऽऽ–दितेणा समणसमणीणं ण कप्पंति पव्वावेउं।

पव्वाविते इमे दोसा–

वह बंधण उद्दवणं, व खिसणं आसियावणं चेव।
णिव्विसयं व णरिंदो, करेज्ज संघं व से भट्ठो ॥३६९॥

तस्स च, पव्वायगाऽऽयरियस्स वा, सव्वस्स वा गच्छस्स लत्त–कसाऽऽदिएहिं वहं करेज्ज, बंधणं णियलाऽऽदिएहिं, उद्दवणं मारणं, खिंसा–धिरत्थु ते पव्वज्जाए त्ति। आसियावणं–पव्वज्जातो, गामनगरातो वा धाडेज्ज। अहवा–णरेंदो रुट्ठो णिव्विसए करेज्ज, कुलगणसंघं वा णिव्विसयं करेज्ज। कुलगणसंघाण वा वहाऽऽदिए वीए पगारे करेज्ज।

किं चान्यत्–

अयसो य अकित्ती वा, उड्डाहं वा तहिं पवयणस्स।
तेसिं पि होइ एवं, सव्वे एयारिसा समणा ॥३७०॥

पूर्ववत्, णवरि तेणत्थे वत्तव्वा, तेणं जो पव्वावेति, तस्स आणाऽऽदिया दोसा।

इमं व से पच्छित्तं–

सग्गामे परगामे, सदेसे॑ परदेसे॑ अंतो॑ बाहिं च।
दिट्ठाऽदिट्ठा सोही, मासलहू अंते॑ मूलाइं ॥३७१॥

सग्गामे, परग्गामे, सदेसे परदेसे, एतेसिं अधो उक्कोसमज्झिमजह–ण्णा ठविज्जंति। एतेसिं अहो अंतो बाहिं ठविज्जति। एतेसिं अहो दिट्ठाऽऽदि। एतस्सऽधो मूलं।

मूलं छेदो छग्गुरु, छल्लहु चत्तारि गुरुग लहुगा य।
गुरुया लहुया मासो, रायविमुक्कस्स जा ताव ॥३७२॥

मूलाइ जाव मासलहुं ताव ठविज्जति। इमा वारणा–सग्गामे उक्कोसं अंतो दिट्ठं जो अवहरति, तं जो पव्वावेति तस्स मूलं; अदिट्ठे छेदो; बाहिं दिट्ठे छेदो, अदिट्ठे छग्गुरु; मज्झिमे छेदो अंतो छल्लहुए ठायति, जहन्ने छग्गुरुया अंतो चउगुरुगे ठायति। एवं परग्गामे अदिट्ठेकंतिवारणाए छेदाढत्तं चउलहुए ठायति। सदेसे छग्गुरु, आढत्तं मासगुरुए ठायति। परदेसे छल्लहु, आढत्तं मासलहुए ठायति, अन्नधा वि वारिज्जंते एतदेव भवति। जम्हा एते दोसा तम्हा ण पव्वावेयव्वा तेणा।

कारणतो पव्वावे–

मुक्को व मोइओ वा, अहवा वीसज्जितो नरिंदेणं।
अद्धाणे परदेसे, दिक्खाए उत्तिमट्ठे वा ॥३७३॥

बंधणागारसोधणे मुक्को सयमणेण, अण्णेणं वा दंडेण मोइओ, रण्णा वा विसज्जितो। जहा पभवो। अहवा मेयज्जऋषिघातवत्। अद्धाणे परदेसे वा उत्तिमट्ठं वा पडिवज्जंतो दिक्खिज्जति। तेण त्ति गतं। नि०चू०११ उ०। वन्दनदोषविशेषे, प्रव०।

हाउं परस्स दिट्ठिं, वंदंतं तेणियं हवइ एअं।
तेणो वि य अप्पाणं, गूहइ ओभावणा मा मे ॥१६२॥

(हाउं परस्स त्ति) परस्याऽऽत्मव्यतिरिक्तस्य साधुश्रावकाऽऽदेर्दृष्टिं हित्वा वञ्चयित्वा वन्दमाने सति शिष्यैः स्तैन्यवन्दनकं भवति। एतदेवोत्तरार्द्धेन स्पष्टतरं व्याचष्टेस्तेन इव तस्कर इवान्यसाध्वाद्यन्तर्द्धानेनाऽऽत्मानं गूहयति स्थगयति। कस्मादित्याह–(ओभावणा मा मे त्ति) नन्वसावप्यतिविद्वान् किमन्येषां वन्दनकं प्रयच्छतीत्येवंभूताऽपभ्राजना मम मा भूदित्यर्थः। प्रव०२ द्वार। ध०। बृ०। आ०चू०। (साधर्मिकाणामन्यधार्मिकाणां च स्तैन्यं कुर्वन् अनवस्थाप्यो भवतीति 'अणवट्ठप्प' शब्दे प्रथमभागे २९३ पृष्ठे उक्तम्)

तेणउइ स्त्री०(त्रिनवति) त्र्यधिकायां नवतिसंख्यायाम्, ''तेणउइ गणा, तेणउइ गणधरा।'' स०९२ सम०।

तेणग त्रि०(स्तेनक) चौरे, स्तेनकाश्चौरा विघ्नकरा भवन्ति ग०३ अधि०।

तेणणाय न०(स्तेनज्ञात) चौरोदाहरणे, पञ्चा०९ विव०।

तेणप्पओग पुं०(स्तेनप्रयोग) स्तेनानां प्रयोगोऽभ्यनुज्ञानम्–हरत यूयमिति हरणक्रियायां प्रेरणेति यावत्। अथवा–स्तेनोपकरणानि कुशिकाकर्त्तरिकाधर्घरिकाऽऽदीनि, तेषामर्पणं विक्रयणं वा स्तेनप्रयोगः। तस्करप्रयोगे स्थूलाऽऽदत्तादानविरते द्वितीयेऽतिचारे, ध०। अत्र च यद्यपि चौर्यं न करोमि न कारयामीत्येवं, प्रतिपन्नव्रतस्य स्तेनप्रयोगे व्रतभङ्ग एव, तथापि किमधुना यूयं

निर्व्यापारास्तिष्ठत? यदि वो भक्ताऽऽदि नास्ति, तदाऽऽहं तद्ददा–मि; भवदानीतमोषधस्य वा यदि विक्रायको न विद्यते, तदाऽहं विक्रेष्ये इत्येवंविधवचनैश्चौरान् व्यापारयतः स्वकल्पनया तद्व्यापारणं परिहरतो व्रतसापेक्षस्यासावतिचारः । इति द्वितीयोऽतिचारः । (४५ गा०ग) ध०२अधि०।

तेणाणुबंधि(ण्) पुं०(स्तेनानुबन्धिन्) 'रुद्दज्झाण' शब्देऽर्थोऽस्य द्रष्टव्यः। ध०२ अधि०।

तेणाहड पुं०(स्तेनाऽऽहृत) चौराऽऽनीते स्थूलादत्ताऽऽदानविरते प्रथमेऽतिचारे, तत्सामर्थ्यमतिलोभात्काणक्रयेण गृह्णतोऽतिचरति तृतीयव्रतमित्यतिचारहेतुत्वात्स्तेनाऽऽहृतम् । अतिचारता चाऽस्य साक्षाच्चौर्यप्रवृत्तेः । उपा०१ अ०। बृ० पञ्चा०। श्रा०। स्तेनाश्चौराः तैर्वर्धमानाऽऽनीतं किञ्चित्कुङ्कुमाऽऽदि देशान्तरात्स्तेनाऽऽहृतम् । आव० ६ अ०।

तेणिक्क न०(स्तैनिक्य) स्तेये, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

तेणिक्कहरणबुद्धि त्रि०(स्तैनिक्यहरणबुद्धि) स्तेयेन हरणे बुद्धिर्येषां ते तथा। स्तेयहरणमतियुक्तेषु, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

तेणिस त्रि०(तैनिस) तिनसाभिधानवृक्षसंबन्धिनि, भ०७ श०६ उ०।

तेण्ण न०(स्तैन्य) चौर्ये, नि०चू० १उ०।

तेतल पुं०(तेतल) धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य गन्धर्वानीकाधिपतौ, स्था०७ ठा०।

तेतलि(ण्) पुं०(तेतलिन्) तेतलिपुरराजस्य कनकरथस्यामात्यपितरि, आ०म०१ अ०२ खण्ड। दर्श०। मनुष्यजातिभेदे, जं०१ वक्ष०।

तेतलिसुय पुं०(तेतलिसुत) तेतलिपुरराजस्य कनकरथस्यामात्ये, ज्ञा०।

तत्कथा चैवम्–

तेणं कालेणं तेणं समएणं तेतलिपुरे नामं नगरे होत्था। तस्स णं तेतलिपुरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं पमयवणे णामं उज्जाणे होत्था । तत्थ णं तेतलिपुरे णयरे कणगरहे णामं राया होत्था । तस्स णं कणगरहस्स रण्णो पउमावती णामं देवी होत्था । तस्स णं कणगरहस्स रण्णो तेतलिपुत्ते णामं अमच्चे होत्था सामदामभेयदंडे । तत्थ णं तेतलिपुरे कलाए नामं मूसियारदारए होत्था, अड्ढे०जाव अपरिभूए । तस्स णं भद्दा नामं भारिया होत्था । तस्स णं कलायस्स मूसियारदारगस्स धूया भद्दाए अत्तया पोट्टिला णामं दारिया होत्था, रूवेण य जोव्वणेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा। तए णं पोट्टिला दारिया अण्णया कयाइ ण्हाया सव्वालंकार–विभूसिय चेडियाचक्कवालसद्धिं संपरिवुडा उप्पिं पासायवर-गया आगासतलगंसि कणगमयेणं तिंदूसएणं कीलमाणी विहरति। इमं च णं तेतलिपुत्ते अमच्चे ण्हाए आसखंधवरगए महया भडचडगरहआसवाहणियाए णिज्जायमाणे कलायस्स मूसियारदारगस्स गिहस्स अदूरसामंतेणं वीतीवयति। तते णं से तेतलिपुत्ते मूसियारदारगस्स गिहस्स अदूरसामंतेणं वीतीवयमाणे वीतीवयमाणे पोट्टिलं दारियं उप्पिं आगासतलगंसि कणगमएणं तिंदूसएणं कीलमाणी पासति; पासित्ता पोट्टिलाए दारियाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य०जाव अज्झोववण्णे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया ! कस्स दारिया, किंणामधेज्जा य? तए णं ते कोडुंबियपुरिसे तेतलिपुत्तं एवं वयासी–एस णं सामी ! कलायस्स मूसियारस्स धूया भद्दाए अत्तिया पोट्टिला णामं दारिया रूवेण य०जाव सरीरा। तए णं से तेतलिपुत्ते आसवाहणियाओ पडिनियत्ते समाणे अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्तिा एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! कलायस्स मूसियारदारगस्स धूयं भद्दाए अत्तयं पोट्टिलं दारियं मम भारियत्ताए वरेह । तए णं ते अब्भिंतरट्ठाणि–ज्जा पुरिसा तेतलिणा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा करयल०तह त्ति जेणेव कलायस्स मूसियारस्स गिहे, तेणेव उवागया। तए णं से कलाए मूसियारए तेतलिपुत्ते पुरिसे एज्जमाणे पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छति, अणुगच्छित्ता आसणेणं उवनिमंतेति । आसत्थे वीसत्थे सुहासणवरगए अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे एवं वयासी–संदिसह णं देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पओयणं? तते णं ते अब्भिंतरट्ठाणिज्जा कलायं मूसियं एवं वयासी–अम्हं णं देवाणुप्पिया ! तव धूयं भद्दाए अत्तयं पोट्टिलं दारियं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स भारियत्ताए वरेमो। तं जति णं जाणसि देवाणुप्पिया! जुत्तं वा पत्तं वा सलाहणिज्जं वा सरिसो संजोगो वा, ता दिज्जउ णं पोट्टिला दारिया तेतलिपुत्तस्स, ता भण देवाणुप्पिया ! किं दलामो सुक्कं? तते णं कलाए मूसियारदारए ते अब्भिंतरट्ठाणि–ज्जे पुरिसे एवं वयासी–एस चेव देवाणुप्पिया ! मम सुक्के, जं णं तेतलिपुत्ते मम दारियानिमित्तेणं अणुग्गहं करिंति। ते अब्भिं–तरट्ठाणिज्जे पुरिसे विउलेणं असणपाणखाइमसाइमपुप्फवत्थ० जाव मल्लालंकारेणं सक्कारेति, संमाणेति, पडिविसज्जेति। तए णं कलायस्स मूसियारदारयस्स गिहातो पडिनिक्खमति, जेणेव तेतलिपुत्ते अमच्चे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेतलिपुत्तं अमच्चं एयमट्ठं निवेदेति । तए णं कलाए मूसियारए अण्णया कयाइं सोहणंसि तिहिकरण-णक्खत्तमुहुत्तंसि पोट्टिल्लं दारियं ण्हायं सव्वालंकार–

विभूसियं सीयं दुरूहइ, दुरूहित्ता मित्तणातिसद्धिं संपरिवुडे साओ गिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता सव्विड्ढीए० जाव रवेणं तेतलिपुरं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव तेतलिस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोट्टिलं दारियं तेतलि–पुत्तस्स अमच्चस्स सयमेव भारियत्ताए दलयति। तए णं तेतलि–पुत्ते पोट्टिलं दारियं भारियत्ताए उवणीयं पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठे पोट्टिलाए सद्धिं पट्टयं दुरूहति, दुरूहित्ता सेयपीएहि कलसेहिं अप्पाणं मज्जावेति, मज्जावेत्ता अग्गिहोमं कारेति, पाणिग्गहणं करेति, पोट्टिलाए भारियाए सद्धिं मित्तनाइ०जाव परियणं विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पुप्फवत्थ०जाव पडिविसज्जति। तते णं से तेतलिपुत्ते पोट्टिलाए भारियाए अणुरत्ते अविरत्ते उरालाइं भोगभोगाइं ०जाव विहरति। तते णं से कणगरहे राया रज्जेय रट्ठे य बले य वाहणे य कोसे य कोट्ठागारे य अंतेउरे य मुच्छिए गिद्धिए अभिसमण्णागए जाए पुत्ते वियंगेति, अप्पेगइयाणं हत्थंगुलियाइं छिंदति, अप्पेगइयाणं हत्थे अंगुट्ठए छिंदति, अप्पेगइयाणं पायंगुलियाओ छिंदति, एवं पायंगुट्ठए वि, एवं कण्णसक्कुलीए वि, एवं नासापुडाइं फालेति, एवं अंगमंगाइं वियंगेति। तए णं तीसे पउमावतीए देवीए अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अयमेया–रूवे अब्भत्थिए चिंतिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था–एवं खलु कणगरहे राया रज्जे य ०जाव पुत्ते वियंगेति ०जाव अंगमंगाइं वियंगेति, तं जइ णं अहं दारयं पयायामि तं सेयं खलु ममं तं दारगं कणगरहस्स रहस्सियं चेव संरक्खमाणीए संगोवेमाणीए विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता तेतलिपुत्तं अमच्चं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! कणगरहे राया रज्जे य ०जाव वियंगेति, तं जइ णं अहं देवाणु–प्पिया ! दारगं पयायामि, तए णं तुमं कणगरहस्स रहस्सियं चेव अणुपुव्वेणं संरक्खमाणे संगोवेमाणे संवड्ढेहिं। तते णं से दारए उम्मुक्कबालभावे०जाव जोव्वणगमणुप्पत्ते तव मम भिक्खाभायणे भविस्सति। तते णं से तेतलिपुत्ते पउमावतीए देवीए एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता पडिगए। तए णं पउमा–वती देवी पोट्टिला य अमच्ची सममेव गब्भं परिवहंति, सममेव गब्भं परिवड्ढंति। तए णं सा पउमावती देवी नवण्हं मासाणं ०जाव मियदंसणं सुरूवं दारगं पयाया, जं रयणिं च णं पउमावती देवी दारगं पयाया तं चेव रयणिं पोट्टिला अमच्ची नवण्हं मासाणं विणिहायमावण्णियं दारियं पयाया। तए णं सा पउमावती देवी अम्मधाइं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! अम्मो ! तेतलिपुत्तं रहस्सियं चेव सद्दावेहि। तए णं सा अम्मधाती तह त्ति एयमट्ठं पडिसुणेति, अंतेउरस्स अवद्दारेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता जेणेव तेत–लिस्स गिहे जेणेव तेतलिपुत्ते तेणेव उवागच्छति, उवागच्छि–त्ता करयल०जाव एवं वयासी–एवं खलु भो देवाणुप्पिया ! पउमावई देवी सद्दावेति। तए णं तेतलिपुत्ते अम्मधाईए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा हट्ठतुट्ठे अम्मधाईए सद्धिं साओ गिहाओ णिग्ग–च्छति, णिग्गच्छित्ता अंतेउरस्स अवद्दारेणं रहस्सियं चेव अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता जेणेव पउमावई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल०एवं वयासी–संदिसह णं देवाणुप्पिए ! जं मए कायव्वं ? तए णं सा पउमावती देवी तेतलिपुत्तं अमच्चं एवं वयासी–एवं खलु कणगरहे राया०जाव वियंगेति, अहं च णं देवाणुप्पिया ! दारगं पयाया, तुमं च णं देवाणुप्पिया ! तं दारगं गेण्हाहि ०जाव तव मम समए भिक्खा–भायणे भविस्सति त्ति कट्टु तेतलिपुत्तस्स हत्थे दलयति। तते णं तेतलिपुत्ते पउमावतीए देवीए हत्थाओ दारगं गेण्हति, उत्तरिज्जेणं पिहेइ, अंतेउरस्स रहस्सियं अवद्दारेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता जेणेव सए गिहे जेणेव पोट्टिला भारिया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता पोट्टिलं च एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! कणगरहे राया रज्जे य०जाव वियंगेति, अयं च णं दारए कणगरहस्स पुत्ते पउमावईए देवीए अत्तए तं णं तुमं देवाणुप्पिए ! इमं दारगं कणगरहस्स रहस्सियं चेव अणुपुव्वेणं संरक्खाहि य, संगोवाहि य, संवड्ढेहि य, तए णं एस दारए उम्मुक्कबालभावे तव य मम य पउमावईए य आहारे भविस्सइ त्ति कट्टु पोट्टिलाए पासे णिक्खिवति, णिक्खिवित्ता पोट्टिलाओ पासाओ तं विणिहायमावण्णियं दारियं गेण्हति, उत्तरिज्जेणं पिहेइ, पिहेइत्ता अंतेउरस्स अवद्दारेणं अणुप्पविसति, अणु–प्पविसित्ता जेणेव पउमावती देवी तेणेव उवागच्छइ, उवाग–च्छित्ता पउमावतीए देवीए पासे ठावेति०जाव पडिनिग्गते। तए णं तीसे पउमावतीए देवीए अंगपडियारियाओ पउमावतिं देविं विणिहायमावण्णियं च दारियं पासंति, पासित्ता जेणेव कणगरहे राया करयल०एवं वयासी–एवं खलु सामी ! पउमावतीए मतल्लियं दारियं पयाया। तए णं कणगरहे राया तीसे मतल्लियाए दारियाए नीहरणं करेति, बहूइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति, करेइत्ता कालेणं विगयसोए जाए। तए णं से तेतलिपुत्ते कल्लं कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं व–

यासी–खिप्पामेव चारगसालाए सोहणं करेह०जाव ठिती वडिया, जम्हा णं अम्हे एस दारए कणगरहस्स रज्जे जाए, तं होऊण दारए णामेणं कणगज्झए०जाव अलं भोगसमत्थे जाए। तए णं सा पोट्टिला अण्णया कयाइं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स अणिट्ठा अमणुण्णा अकंता अप्पिया जाया यावि होत्था। णेच्छइ णं तेतलिपुत्ते अमच्चे पोट्टिलाए नामगोत्तमवि सवणयाए, किं पुण दरिसणं वा परिभोगं वा। तए णं तीसे पोट्टिलाए अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था–एवं खलु अहं तेतलि–पुत्तस्स अमच्चस्स पुव्विं इट्ठा कंता मणुण्णा पिया आसि, इयाणिं अणिट्ठा अकंता अमणुण्णा अप्पिया जाया०जाव नेच्छइ तेतलिपुत्ते अमच्चे मम नामं०जाव परिभोगं वा ओहयमणसं–कप्पा०जाव झियायइ। तते णं तेतलिपुत्ते अमच्चे पोट्टिलं ओहयमणसंकप्पं० जाव झियायमाणं पासति, पासइत्ता पोट्टिलं एवं वयासी–मा णं तुमं देवाणुप्पिए! ओहयमणसंकप्पे, तुमं मम महाणसंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्ख–डावेहि, उवक्खडावेइत्ता बहूणं समणमाहणाणं०जाव वणी–वगाणं देयमाणी य देवावेमाणी य विहरह। तए णं सा पोट्टिला तेतलिपुत्तेणं अमच्चेणं एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठा तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स एयमट्ठं सम्मं पडिसुणेति, पडिसुणेइत्ता कल्लाकल्लिं महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं० जाव देवावे–माणी विहरति। तेणं कालेणं तेणं समएणं सुव्वयाओ णामं अज्जियाओ इरियास-मियाओ०जाव गुत्तबंभयारिणीओ बहुस्सुयाओ बहुपरिवाराओ पुव्वाणुपुव्विं जेणेव तेतलिपुरे णयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उवग्गहं ओगि–ण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणीओ विहरंति। तए णं तासिं सुव्वयाणं अज्जाणं एगे संघाडए पढमाए पोरिसीए सज्झाइयं करेति०जाव अडमाणीओ तेतलिस्स गिहं अणुपविट्ठाओ। तए णं सा पोट्टिला ताओ अज्जाओ एज्जमाणीओ पासति, पासइत्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठित्ता वंदइ, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता विउलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभेइ० पडिलाभित्ता एवं वयासी–एवं खलु अहं अज्जाओ! तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स पुव्विं इट्ठा कंता पिया मणुण्णा आसि, इयाणिं अणिट्ठा अकंता अप्पिया अमणुण्णा० जाव दंसणं वा परिभोगं वा। तं तुब्भे णं अज्जाओ! बहुणायाओ बहुसिक्खियाओ बहुपडियाओ, तुब्भे बहूणि गामागर०जाव आहिंडेह, बहूणं राईसर०जाव गेहाइं अणुप्पविस्सह, तं अत्थि याइं भे अज्जाओ! केइ कहिं वि चुण्णजोए वा मंतजोए वा कम्मणजोए वा कम्मजोए वा हियउड्डावणे वा कायउड्डावणे वा आभिओगिए वा वसीकरणे वा कोउयकम्मे वा भूइकम्मे वा कंदे मूले छल्ली वल्ली मूलिया वा गुलिया वा ओसहे वा भेसज्जे वा उवलद्धपुव्वे, जेणाहं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स पुणरवि इट्ठा कंता पिया मणुण्णा भवेज्जामि? तए णं ताओ अज्जाओ पोट्टिलाए एवं वुत्ताओ समाणीओ दो वि कण्णे ठायंति, पोट्टिलं एवं वयासी–अम्हे णं देवाणुप्पिए! समणीओ निग्गंथीओ०जाव गुत्तबंभयारिणीओ, नो खलु कप्पति अम्हं देवाणुप्पिए! एयप्पयारं कण्णे वि निसामेत्तए, किमंग! पुण उवदिसित्तए वा, आयरियत्तए वा। अम्हे णं तव देवाणुप्पिए! विचित्तं केवलिपण्णत्तं धम्मं परिकहेज्जामो। तए णं सा पोट्टिला ताओ अज्जाओ एवं वयासी–इच्छामि णं अज्जाओ! तुब्भं अंतिए केवलिपण्णत्तं धम्मं णिसामित्तए। तए णं ताओ अज्जाओ पोट्टिलाए विचित्तं धम्मं परिकहें ति। तए णं सा पोट्टिला धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा एवं वयासी–सद्दहामि णं अज्जाओ! निग्गंथं पावयणं पत्तिए०जाव से जहेयं तुब्भे वदह, इच्छामि णं अहं तुब्भं अंतिए पंचाणुव्वइयं०जाव गिहिधम्मं पडिवज्जित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह। तए णं सा पोट्टिला तासिं अज्जाणं अंतिए पंचाणुव्वयं०जाव गिहिधम्मं पडिवज्जति, ताओ अज्जाओ वंदइ, नमंसति, नमंसइत्ता पडिविसज्जेति। तए णं सा पोट्टिला समणोवासिया जाया०जाव पडिलाभेमाणा २ विहरइ। तए णं तीसे पोट्टिलाए अण्णया कयाइं पुव्वरत्ताव–रत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था–एवं खलु अहं तेतलिपुत्तस्स पुव्विं इट्ठा कंता पिया मणुण्णा आसि, इयाणिं अणिट्ठा अकंता अप्पिया अमणुण्णा०जाव परिभोगं वा। तं सेयं खलु मडं सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिए पव्वइत्तए, एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता कल्लं पाओ जेणेव तेतलिपुत्ते अमच्चे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयलपरिग्गहियं एवं खलु देवाणुप्पिया! मए सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिए धम्मे निसंते०जाव अब्भणुण्णाए पव्वइत्तए। तए णं तेतलिपुत्ते पोट्टिलं एवं वयासी–एवं खलु तुमं देवाणुप्पिए! मुंमे भवित्ता पव्वइया समाणी कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसुं देवलोएसु देवत्ताए उववज्जिहि त्ति, तं जइ णं तुमं देवाणुप्पिए! ममं ताओ देवलोगाओ आगम्म केवलिपन्नत्ते धम्मे बोहेहि, तो अहं विसज्जेमि, अह णं तुमं मम ण संबोहेसि, तो ण विसज्जेमि। तए णं सा पोट्टिला तेतलिपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेति। तए णं तेतलिपुत्ते विउलं असणं पा–

णं खाइमं साइमं उवक्खडाविति मित्तनाइ०जाव आमंतेति, आमंतेत्ता०जाव संमाणेति, पोट्टिलं ण्हायं०जाव पुरिससह-स्सवाहिणीयं सीयं दुरूहइ, दुरूहइत्ता मित्तणाति० जाव परिवुडे सव्वड्ढीए०जाव रवेणं तेतलिपुरस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव सुव्वयाणं अज्जाणं उवस्सए, तेणेव उवागच्छइ, उवाग-च्छित्ता सीयाओ पच्चोरुहति, पच्चोरुहइत्ता पोट्टिलं पुरओ कट्टु जेणेव सुव्वया अज्जा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता वंदति, णमंसति, नमंसइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम पोट्टिला भारिया इट्ठा पिया कंता मणुण्णा एस णं संसारभयउ-व्विग्गा०जाव पव्वइत्तए, पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिया ! सिस्सि-णिभिक्खं दलयामि। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह। तए णं सा पोट्टिला सुव्वयाहिं अज्जाहिं एवं वुत्ता समाणी हट्ठ-तुट्ठा उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए सयमेव आभरणमल्लालंकारं मुयइ, मुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, करेइत्ता जेणेव सुव्वयाओ अज्जाओ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसइत्ता एवं वयासी-आलित्तेणं एवं जहा देवाणंदा०जाव इक्कारस अंगाइं बहूणि वासाणि सामन्नपरियायं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झोसेत्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाइं आलोइय पडिकंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अणुत्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववण्णा। तए णं से कणगरहे राया अण्णया कयाइं कालधम्मुणा संजुत्ते यावि होत्था। तते णं ते ईसरपभिइओ०जाव णीहरणं करेति, करेत्तिा अण्णमण्णं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! कणगरहे राया रज्जे य०जाव पुत्ते वियंगं छित्ता अम्हे णं देवाणुप्पिया ! राया-हीणा रायाहिट्ठिया रायाहीणकज्जा, अयं च णं तेतलिअमच्चे कणगरहस्स रण्णो सव्वट्ठाणेसु सव्वभूमियासु लद्ध पच्चए दिण्णवियारे सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था, तं सेयं खलु अम्हं तेतलिपुत्तं अमच्चं कुमारं जाइत्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेइत्ता जेणेव तेतलिपुत्ते अमच्चे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेतलिपुत्तं अमच्चं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! कणगरहे राया रज्जे य रट्ठे य०जाव वियंगेति, अम्हे य णं देवाणुप्पिया ! रायाहीणा०जाव रायाहीणकज्जा, तुमं च णं देवाणुप्पिया ! कणगरहस्स रण्णो सव्वट्ठाणेसु० जाव रज्जधुराचिंतए। तं जइ णं देवाणुप्पिया ! अत्थि केइ कुमारे रायलक्खणसंपण्णे रायाभिसेयारिहे, तए णं तुमं दलाहि, जा णं अम्हे महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचामो। तए णं तेतलिपुत्ते अमच्चे तेसिं ईसरपभिए एयमट्ठं पडिसुणेति, पडि-सुणेइत्ता कणगज्झयं कुमारं ण्हायं सव्वालंकारविभूसिय०जाव सस्सिरीयं करेत्ता तेसिं ईसर०जाव उवणेति, उवणेइत्ता एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया ! कणगरहस्स रण्णो पुत्ते पउमा-वईए देवीए अत्तए कणगज्झए णामं कुमारे अभिसेयारिहे राय-लक्खणसंपण्णे मए कणगरहस्स रण्णो रहस्सियं संवड्ढिए, तं एयं तुब्भे महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचह, सव्वं च से उट्ठाणपारियावणिय परिकहेइ। तए णं ते ईसरकणगज्झयं कुमारं महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचति।तए णं कण-गज्झए कुमारे राया जाए महया हिमवंतजाए०जाव रज्जं पालेमाणे विहरइ। तए णं सा पउमावती देवी कणगज्झयं रायं सद्दावेति। सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एस णं पुत्ता ! तव रज्जे०जाव अंतेउरे य, तुमं च तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स पहावेणं, तेतलिपुत्तं अमच्चं आढाहि, परियाणाहि, सक्कारेहि, सम्माणेहि०तं अब्भु-ट्ठेहि, पज्जुवासेहि य, वयंतं पडिसंसाहेहि, अद्धासणेणं उव-निमंतेहि, भोगं च से अणुवड्ढेहि। तए णं से कणगज्झए पउ-मावतीए देवीए तह त्ति पडिसुणइ० जाव भोगं च संवड्ढेइ। तए णं से पोट्टिले देवे तेतलिपुत्तं अमच्चं अभिक्खणं अभिक्खणं केवलिपण्णत्तं धम्मं संबोहेति, नो चेव णं से तेतलिपुत्ते संबुज्झइ। तते णं तस्स पोट्टिलदेवस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए पत्थिए चिंतिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था-एवं खलु कणगज्झए राया तेतलिपुत्तं आढाति०जाव भोगं च संवड्ढेति, तए णं से तेतलिपुत्ते अभिक्खणं अभिक्खणं संबोहेमाणे वि धम्मे णो संबुज्झति, तं सेयं खलु मम कणगज्झयं रायं तेतलिपुत्ताओ विप्परिणामित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता कणगज्झयं तेतलिपुत्तातो विप्परिणामेति। तए णं तेतलिपुत्ते कल्लं ण्हाए०जाव पायच्छित्ते आसखंधवरगए बहूहिं पुरिसेहिं सद्धिं संपरिवुडे साओ गिहाओ णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता जेणेव कणगज्झए राया तेणेव पहारेत्थगमणाए। तए णं तेतलिपुत्तं अमच्चं जहा बहवे राईसरतलवर०जाव पभिइओ पासंति, ते तहेव आढायंति, परियाणंति, अब्भुट्ठेंति सक्कारेंति, सम्माणेंति, अंजलिपरिग्गहियं करेंति। इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं उरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धण्णाहिं मंगलाहिं सस्सिरियाहिं वग्गूहिं आलवमाणा य संलवमाणा य पुरओ य पिट्ठओ य पासओ य मग्गओ य समणुगच्छंति। तए णं से तेतलिपुत्ते जेणेव कणगज्झए राया तेणेव उवागच्छइ। तए णं से कणगज्झए राया तेतलिपुत्तं अमच्चं एज्जमाणं पासति, पासेत्ता णो आढाति, णो परियाणइ, णो अब्भुट्ठेति, अणाढा-

यमाणे अपरियाणमाणे परंमुहे णं चिट्ठति। तते णं से तेतलि–पुत्ते अमच्चे कणगज्झयस्स रण्णो अंजलिं करेति। तते णं से कणगज्झए राया अणाढिज्जमाणो तुसिणीए परंमुहे संचिट्ठति। तए णं तेतलिपुत्ते अमच्चे कणगज्झयं विप्परिणयं जाणित्ता भीए० जाव संजायभए एवं बयासी–रुट्ठेणं मम कणगज्झए राया, हीणे णं मम कणगज्झए राया, अवज्झाए णं मम कण–गज्झए राया, तं ण णज्जइ णं मम केणइ कुमारेणं मारेहेति त्ति कट्टु भीए तत्थे०जाव सणियं सणियं पच्चोसक्केइ, पच्चोसक्केइत्ता तमेव आसखंध दुरूहेति, दुरूहइत्ता तेतलिपुरं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव पहारेत्थगमणाए; तेतलिपुत्तं जे जहा ईसर०जाव पासंति ते तहा नो आढायंति, नो परिया–णंति, नो अब्भुट्ठेंति, नो अंजलिं करिंति, इट्ठाहिं०जाव नो संलवंति, नो पुरओ य पिट्ठओ य पासओ य समणुगच्छंति। तते णं तेतलिपुत्ते अमच्चे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ। जा वि य से तत्थ बाहिरिया परिसा भवति। तं जहा–दासेइ वा,पेसेइ वा, भाइल्लएइ वा,सा वि य णं णो आढाइ०३। जा वि य से अब्भिंतरिया परिसा भवति। तं जहा–पियाइ वा, मायाइ वा, भज्जाइ वा, सुण्हाइ वा, सा वि य णं च नो आढाति० ३। तए ण से तेतलिपुत्ते जेणेव वासघरे जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता सयणिज्जंसि निसीयति, णिसीयइत्ता एवं वयासी–एवं खलु अहं सयाओ गिहाओ णिग्गच्छामि,तं चेव० जाव अब्भिंतरिया परिसा नो आढाति, नो अब्भुट्ठेइ, तं सेयं खलु मम अप्पाणं जीवियाओ ववरोवित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता तालउडं विसंआसगंसि पक्खिवति, से य विसे णो संकम्मति। तए णं से तेतलिपुत्ते नीलुप्पल०जाव असिं खंधंसि ओहरति, तत्थ वि य से धारा ओपल्ला। तए णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे जेणेव असोगवणिया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता पासगं गीवाए बंधेति, बंध–इत्ता रुक्खं दुरूहइ, दुरूहइत्ता पासे रुक्खे बंधइ, बंधइत्ता अप्पाणं मुयति, तत्थ वि य से रज्जू छिण्णा। तए णं से तेतलि–पुत्ते महइमहालियं सिलं गीवाए बंधेति, बंधइत्ता अत्थाहमता–रमपोरिसीयंसि उदगंसि अप्पाणं मुयति, तत्थ वि से थाहे जाते। तए णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे सुक्कंसि तणकूडंसि अगणिकायं पक्खिवति, पक्खिवइत्ता अप्पाणं मुयति, तत्थ वि य से अगणिकाये विज्झाए। तए णं तेतलिपुत्ते अमच्चे एवं वयासी–सद्धेयं खलु भो समणा वयंति, सद्धेयं खलु भो माहणा वयंति, सद्धेयं खलु समणा माहणा वयंति, अहं एगो अस्सद्धेयं वयामि, एवं खलु अहं सह पुत्तेहिं अपुत्ते, को मेदं सद्दहिस्सति? सह मित्तेहिं अमित्ते, को मेदं सद्दहिस्सति? एवं अत्थेणं दारेणं दासेहिं पेसेहिं परिजणेणं। एवं खलु (तेतलिपुत्ते णं अमच्चे) कणगज्झएणं रण्णा अवज्झाएणं समाणेणं तेतलिपुत्तेणं अमच्चेणं तालउडगे विसे आसगंसि पक्खित्ते, से वि य णं णो सिंकमइ, को मेदं सद्दहिस्सति? तेतलिपुत्तेणं अमच्चेणं नीलुप्पल०जाव खंधंसि असिं ओहरिए, तत्थ वि य से धारा ओपल्ला, को मेदं सद्दहिस्सति? तेतलिपुत्ते अमच्चे पासगं गीवाए बंधित्ता०जाव रज्जू छिण्णा, को मेदं सद्दहस्सितिए? ते–तलिपुत्ते अमच्चे महालियं सिलं०जाव बंधेत्ता अत्थाह०जाव उदगंसि अप्पा मुक्के, तत्थ वि य णं थाहे जाते, को मेदं सद्दहिस्सति? तेतलिपुत्ते अमच्चे सुक्कंसि तणकूडे०अग्गी विज्झाए, को मेदं सद्दहिस्सति? ओहयमणसंकप्पे०जाव झियायइ। तए णं से पोट्टिले देवे पोट्टिलारूवं विउव्वति, विउव्वइत्ता तेतलि–पुत्तस्स अमच्चस्स अदूरसामंते ठिच्चा एवं वयासी–हं भो तेतलिपुत्ता! पुरओ पवाए, पिट्ठओ हत्थिभयं, दुहओ अचक्खुपासे, मज्झे सराणि वरिसंति, गामे पलित्ते अरण्णे झियाइ, अरण्णे पलित्ते गामे झियाइ, आउसे! तेतलिपुत्ता! कओ वयामो? तए णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे पोट्टिलं एवं वयासी– भीयस्स खलु भो पव्वज्जा सरणं, उक्कंठियस्स सदेसगमणं, छुहियस्स (छाय–स्स) अन्नं, तिसियस्स पाणं, आउरस्स भेसज्जं, माइयस्स (माइज्जस्स) रहस्सं, अभिजुत्तस्स पच्चयकरणं, अद्धाणं परिस्संतस्स (तस्स) वाहणगमणं, तरिउकामस्स पवहणकिच्चं, परं अभिउंजिउकामस्स सहायकिच्चं। खंतस्स दंतस्स जितिंदियस्स एत्तो एगमवि ण भवति। तए णं से पोट्टिले देवे तेतलिपुत्तं अमच्चं एवं वयासी– सुट्ठु णं तुमे तेतलि पुत्ता! एयमट्ठं आयाणाहि त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ, वयइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं तस्स तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स सुभेणं परिणामेणं जाईसरणे समुप्पण्णे। तए णं तस्स तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स अयमेया–रूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था– एवं खलु अहं इहेव जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे पुक्खलावई विजए पोंडरिगिणीए रायहाणीए महापउमे नामं राया होत्था। तए णं अहं थेराणं अंतिए मुंडे भवित्ता०जाव चउद्दस पुव्वाइं बहूणि वासाणि सामण्णपरियायं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए महासुक्के कप्पे देवत्ताए उववन्ने। तए णं अहं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं ठिइक्खएणं भवक्खएणं इहेव तेतलि–पुरणयरे– तेतलिस्स अमच्चस्स भद्दाए भारियाए दारगत्ताए पयायाए तं सेयं खलु मम पुव्वदिट्ठाइं पंच महव्वयाइं सयमेव उवसंपज्जित्ता

णं विहरित्तए एवं संपेहेति, संपेहित्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहति, आरुहइत्ता जेणेव पमयवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलापट्टयंसि सुहनिसण्णस्स अणुचिंतेमाणस्स पुव्वाहियाइं सामाइयाइं इक्कारस अंगाइं चोद्दस पुव्वाइं सयमेव अभिसमण्णागयाइं । तते णं तस्स तेतलिपुत्तस्स अणगारस्स सुभेणं परिणामेणं०जाव तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं कम्मरयविकरणकरं अपुव्वकरणं पविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए णिरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ।तए णं तेत–लिपुरे णगरे अहासन्निहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं देवीहि य देव–दुंदुभीओ समाहयाओ, दसद्धवण्णे कुसमे निवाइए, दिव्वे गीयं, गंधव्वणिणादे कयाए यावि होत्था तए णं से कणगज्झए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं वयासी–एवं खलु तेत–लिपुत्ते अमच्चे मए अवज्झाए० जाव मुंडे भवित्ता पव्वइए, तं गच्छामि णं तेतलिपुत्तं अणगारं वंदामि, णमंसामि, पज्जुवा–सामि, एयमट्ठं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेमि एवं संपेहेइ, संपे–हित्ता ण्हाए०जाव चाउरंगिणीए सेणाए जेणेव पमयवणे उज्जाणे, जेणेव तेतलिपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवा–गच्छइत्ता तेतलिपुत्तं अणगारं वंदइ, णमंसइ, एयमट्ठं च विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेति, णच्चासण्णे०जाव पज्जुवासेइ । तते णं से तेतलिपुत्ते अणगारे कणगज्झयस्स रण्णो तीसे य धम्मं परिकहेइ। तए णं से कणगज्झए राया तेतलिपुत्तस्स केवलिस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खाइयं सावगधम्मं पडिवज्जाते, समणोवासए जाए अहिरायजीवाजीवे। तए णं तेतलिपुत्ते केवली बहूणि वासाणि केवलिपरियागं पाउणित्ता०जाव सिद्धे।

अथ चतुर्दशज्ञातं विव्रियते–अस्य चायं पूर्वेण सहाभिसंबन्धः। पूर्वस्मिन् सतां गुणानां सामग्र्यभावे हानिरुक्ता, इह तु तथाविध–सामग्रीसद्भावे गुणसंपदुपजायत इत्यभिधीयते, इत्येवं संबन्धमिदं सर्वं सुगमं, नवरम् (कलाए त्ति) कलादो नाम्ना, मूषिकारदारक इति पितृव्यपदेशेनेति। (अब्भिंतरट्ठाणिज्जे त्ति) आभ्यन्तरस्था–नीयनाम्ना इत्यर्थः (?) (वियंगेइ त्ति) व्यङ्गयति, विगतकर्णना–साहस्ताऽऽद्यङ्गान् करोतीत्यर्थः। अथवा–(वियंगेइ त्ति) विकृन्तति, छिनत्तीत्यर्थः। (संरक्खमाणीए त्ति) संरक्षन्त्या आपदः, संगोपयन्त्याः प्रच्छादनतः (भिक्खाभायणे त्ति) भिक्षा–भाजनमिव भिक्षाभाजनं, तदस्माकं भिक्षोरिव निर्वाहकारणमित्यर्थः। ''पढमाए पोरिसीए सज्झाइयं'' इत्यादौ यावत्करणादिदं द्रष्टव्यम्– ''बीयाए पोरिसीए झाणं झियायइ, तइयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंते मुहपोत्तियं पडिलेहेइ भायणवत्थाणि पडिलेहेइ, भायणाणि पमज्जइ, भायणाणि उग्गाहेइ, जेणेव सुव्वयाओ अज्जाओ, तेणेव उवागच्छइ, सुव्वयाओ अज्जाओ वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–इच्छामो णं तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए तेयलिपुरे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियं अडमाणीओ।'' इति। तत्र गृहेषु समुदानं भिक्षा गृहसमुदानं, तस्मै गृहसमुदानाय, भिक्षाचर्यं भिक्षानिमित्तं विचरणम्, अटन्त्यः कुर्वाणाः। (अत्थि याइं भे त्ति) ''याइं ति'' देशभाषायां, 'भे त्ति' भवतीनाम्। (चुण्णजोए त्ति) द्रव्यचूर्णानां योगः, स्तम्भनाऽऽदिकर्मकारी (कम्मणजोए त्ति) कुष्ठाऽऽदिरोगहेतुः (कम्मजोए त्ति) काम्ययोगः कमनीयताहेतुः, (हियउड्डावणे त्ति) हृदयोड्डापनं चित्ताऽऽकर्षणहेतुः (कायउड्डावणे त्ति)कायाऽऽकर्षणहेतुः। (आभिओगए त्ति) पराभिभवनहेतुः (वसीकरणे त्ति) वश्यताहेतुः (कोउय–कम्मे त्ति) सौभाग्यनिमित्तं स्नपनाऽऽदि (भूईकम्मे त्ति) मन्त्राभिसंस्कृतभूतिदानम्। (रायाहीणा इत्यादि) राजाधीनाः, राज्ञो दूरेऽपि वर्तमाना राजवशवर्तिन इत्यर्थः। राजाधिष्ठिताः, तेन स्वयमध्यासिता राजाधिष्ठिताः, राजाधीनानि राजाऽऽयत्तानि कार्याणि येषां ते वयं राजाधीनकार्याः। (सव्वं च से उट्ठाणपारि–यावणियं ति) सर्वं च 'से' तस्य उत्थानं चोत्पत्तिः, पारितापनिका च कालान्तरं यावत्स्थिरतरेत्युत्थानपारितापनकं तत्परिकथयतीति। (वयंतंपडिसंसाहेहि त्ति) विनयप्रस्तावाद् व्रजन्तं प्रति–ससाधयाऽनुव्रज। अथवा वाचा तं प्रतिसंश्लाघय– साधूक्तं साध्वित्येवं प्रशंसां कुर्वित्यर्थः। भोगं वर्तनम्। ''रुट्ठे णमित्यादौ'' हीनोऽयं मम प्रीत्येति गम्यते। अपध्यातो दुष्टचिन्तावान्। ममेति ममोपरि कनकध्वजः। पाठान्तरेण–दुर्ध्यातोऽहं दुष्टचिन्ताविषयीकृतोऽहं कनकध्वजेन राज्ञा, तत् तस्मान्न ज्ञायते केनाऽपि कुमारेण विरूपमारणप्रकारेण मारयिष्यतीति। (खंधंसि उवहरइ त्ति) स्कन्धे उपहरति विनिवेशयतीति। धारा (ओपल्ल त्ति) अवदीर्णा, कुण्ठीभूतेत्यर्थः। (अत्थाहं ति) अस्तं निरस्तमविद्यमानमधस्तल प्रतिष्ठानं यस्य तदस्ताधः, स्ताघो वा प्रतिष्ठानं, तदभावादस्ताधम्। अतारं यस्य तरणं नास्ति, पुरुषः परिमाणं यस्य तत्पौरुषेयं, तन्निषे धादपौरुषेयम्। ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः। मकारौ च प्राकृतत्वात्। अतस्तत्र ''सद्धेयं'' इत्यादि। श्रद्धेयं श्रमणा वदन्ति आत्मपरलोकपुण्यपापाऽऽदिकमर्थजातम्, अतीन्द्रियस्याऽपि तस्य प्रमाणाबाधितत्वेन श्रद्धानगोचरात्। अहं पुनरेकोऽश्रद्धेयं वदामिपुत्राऽऽदिपरिवारयुक्तस्यात्यर्थं राजसंमतस्य च अपुत्राऽऽदित्वमराजसंमतत्वं च, विषखड्गपासकजलाग्निभिरहिंस्यत्वं चाऽऽत्मनः प्रतिपादयतो मम युक्तिबाधितत्वेन जन्प्रतीतेरविषयत्वेनाश्रद्धेयत्वादिति। प्रस्तुतसूत्रभावना–''तए णमित्यादि।'' हं भोः! इत्यामन्त्रणे। पुरतोऽग्रतः प्रपातो गर्तः, पृष्ठतो हस्तिभयं (दुहओ त्ति) उभयतः। अचक्षुः स्पर्शोऽन्धकारः, मध्ये मध्यभागे यत्र वयमास्महे, तत्र शरा बाणा निपतन्ति, ततश्च सर्वतो भयं वर्त्तते इत्यर्थः। तथा ग्रामः प्रदीप्तोऽग्निना ज्वलति, अरण्यं च ध्मायतेऽनुपशान्तदाहं वर्त्तते। अथवा–ध्मायतीव ध्मायति, अग्नेरतिशयेन जागर्तीत्यर्थः। अथवा–अरण्यं प्रदीप्तं ग्रामो

ध्मायते न विध्यापयति, एवं सर्वस्यापि भयानकत्वात् स्थानान्तरस्य चाभावात्, आयुष्मँस्तेतलिपुत्र ! (कउ त्ति) क्व व्रजामः? क्व भीतैर्गन्तव्यमस्माभिरिवान्येनापि भवतीति प्रश्नः । उत्तरं च–भीतस्य प्रव्रज्या शरणं, भवतीति गम्यते । अथ कथं भीतस्य प्रव्रज्या शरणं भवति? अत्रोच्यते–यथोत्कण्ठिताऽऽदीनां स्वदेशगमनाऽऽदीनि । तत्र (छुहियस्स त्ति) बुभुक्षितस्य । मायिनो वञ्चकस्य, रहस्यं गुप्तत्वं, शरणमिति सर्वत्र गमनीयम् । अभियुक्तस्य सम्पादितदूषणस्य, प्रत्ययकरणं दूषणापोहेन प्रतीत्युत्पादनम्, अध्वानं मार्गं गच्छतः परिश्रान्तस्य गन्तुमशक्तस्य (वाहणगमणं) शकटाऽऽद्यारोहणं शरणमिति योज्यम् । तरीतुकामस्य नद्यादिकं प्लवनं तरणं कृत्यं कार्यं यस्य तत्प्लवनकृत्यं तरकाण्डम् । परमभियोक्तुकामस्याभिभवितुकामस्य (सहायकम्मे त्ति) सहायकृत्यं मित्राऽऽदिकृत्यं (खंतेत्यादि) क्षान्तस्य क्रोधनिग्रहेण, दान्तस्येन्द्रियनोइन्द्रियदमेन, जितेन्द्रियस्य विषयेषु रागाऽऽदिनिषेद्धुः, (एत्तो त्ति) एतेभ्योऽनन्तरोदितेभ्योऽग्रतः प्रपाताऽऽदिभ्यो भयेभ्यः एकमपि भयं न भवति, प्रव्रजितस्य सामायिकपरित्या शरीराऽऽदिषु निरभिष्वङ्गत्वाद् मरणाऽऽदिभयाभावादिति । एवं देवेनामात्यः स्ववाचा भीतस्य प्रव्रज्या श्रेयसीत्यभ्युपगमं कारयित्वा एवमुक्तः–(सुट्ठु इत्यादि) अयमर्थो भीतस्य प्रव्रज्या शरणमिति यदि प्रतिज्ञायते, तदा सुष्ठु ते मतं, भयाभिभूतस्त्वमिदानीमसीति एनमर्थमाजानीहि–अनुष्ठानद्वारेणावबुध्यस्व, प्रव्रज्यां विधेहीति यावत्। इह च यद्यपि सूत्रे उपनयो नोक्तस्तथाऽप्येवं द्रष्टव्यः–''जाव न दुक्खं पत्ता, माणब्भंसं च पाणिणो पायं । ताव न धम्मं गेण्हंति भावओ तेयलिसुउव्व ॥१॥'' इति । ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । आ०म० । आ०क० । विशे० । तेतलिसुतप्रतिबद्ध–वक्तव्यताके चतुर्दशे ज्ञाताध्ययने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । ज्ञा० । आ०चू० ।

तेतिल पुं०(तैतिल) गण्डकपशौ, वाच० । स्त्रीविलोचनापरपर्याये ववाऽऽदितश्चतुर्थे करणे, जं०७ वक्ष० ।

तेतिलिपुर न०(तेतलिपुर) स्वनामख्याते पुरे, यत्र कनकरथस्यामात्यस्तेतलिसुत आसीत् । ज्ञा०१ श्रु० १३ अ० । आ०म० । दर्श० । आ०चू० ।

तेतीस स्त्री०(त्रयस्त्रिंशत्) **''एत् त्रयोदशाऽऽदौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन''** ॥८।१।१६५॥ इत्यादेः स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन सह एद्भवति । त्र्यधिकायां त्रिंशत् संख्यायाम्, प्रा०१ पाद ।

तेत्तिअ त्रि०(तावत्) **''इदंकिमश्च डेत्तिअ–डेत्तिल–डेदहाः''** ॥८।२।१५७॥ इति तच्छब्दात् 'डेत्तिअ' प्रत्ययः । तत्परिमाणवति, प्रा०२ पाद ।

तेत्तिर पुं०(तित्तिर) लोमपक्षिभेदे, जी०१ प्रति० ।

तेत्तुल्ल त्रि०(तावत्) **'' अतो डेत्तुल्लः''** ॥८।४।४३५॥ इत्यपभ्रंशे तच्छब्दात्परस्यातोः प्रत्ययस्य 'डेत्तुल्ल' इत्यादेशः । मित्वाट्टिलोपः । प्रा०४ पाद । तत्परिमाणवति, वाच० ।

तेय पुं०(तेजस्) **'' स्नमदामशिरोऽनभः''** ॥८।१।३२॥ इति सान्तत्वात्तेजः शब्दस्य पुंस्त्वम् । प्रा०१ पाद । अभितापे, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ० । प्रभावे, अन्त०१ श्रु०६ वर्ग ३ अ० । वह्नौ, प्रज्ञा०१ पाद । स्था० । कान्तौ, उपा०२ अ० । शरीरस्य कान्तौ, स्था०८ ठा० । नि० । शरीरसंबन्धिनि रोचिषि, प्रभावे च । औ० । ''अह तेओ पुण देहे अणोतप्पया चेव ।'' तेजः पुनर्देहे शरीरेऽनवत्रप्यता अलज्जनयिता दीप्तियुक्तत्वेनापरिभूतत्वम् । बृ०१ उ० । दीप्तौ, उपा०२ अ० । आचा० । तेजोलेश्यायाम्, स्था०१ ठा० । शरीरप्रभायाम्, ज्ञा०१ श्रु०१अ० । आहारपाककारणभूतेषु तेजोनिसर्गहेतुषु चोष्णपुद्गलेषु, कर्म०५ कर्म० । रसाऽऽद्याहारपाकजनने तेजोनिसर्गलब्धिनिबन्धने च । अनु० । वृक्षभेदे, ति० । स्तेये, नं० । चौर्ये, विशे० । पञ्चा० ।

तेयंसी त्रि०(तेजस्विन्) तेजः शरीरप्रभा, तद्वांस्तेजस्वी । ज्ञा० १ श्रु०१ अ० । शरीरप्रभायुक्ते, भ०२ श०५उ० । स० । नि० । आचा० । दीप्तिमति, आचा०२ श्रु० १चू०२ अ०१उ० । बृ० ।

तेयग न०(तैजस) तेजःपुद्गलानां विकारस्तैजसम् । ''विकारे'' ॥६।२।३०॥ इत्यण् । ऊष्मलिङ्गे, भुक्ताऽऽहारपरिणमनकारणे शरीरभेदे, यद्वशाच्च विशिष्टतपःसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः । उक्तं च–''सव्वस्स उम्हसिद्धं, रसाऽऽइआहारपाकजणगं च । तेयगलद्धिनिमित्तं, च तेयगं होइ नायव्वं ॥१॥'' जी०१ प्रति० । स्था० । प्रज्ञा० । (तैजसशरीरव्याख्या सर्वा 'सरीर' शब्दे वक्ष्यते) वैश्वानरे, पुं० । स० ३० सम० ।

तेयगणाम न० तैजसनाम(न्) तेजोनिबन्धनं नाम तैजसनाम, तैजसशरीरनिबन्धने नामकर्मणि, यदुदयवशात्तैजसशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय तैजसशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया संबन्धयतीति । कर्म०१ कर्म० ।

तेयगलद्धि स्त्री०(तैजसलब्धि) क्रोधाऽऽधिक्यात्प्रतिपन्थिनं प्रति सुखेन विशिष्टतपोजन्यानेकयोजनप्रमाणक्षेत्राऽऽश्रितवस्तुदहनसामर्थ्यतो जाज्वल्यमानज्वालामोचनशक्तौ, न० । सा तु, यो यमी नित्यं षष्ठं तपः करोति पारणके कुल्माषमुष्ट्या जलचुलुकेन चाऽऽस्ते, तस्य षण्मासान्ते सिद्ध्यतीति । ग०२अधि० ।

तेयगसमुग्घाय पुं०(तैजससमुद्घात) तेजसि विषये भवस्तैजसः, स चासौ समुद् घातश्च तैजससमुद् घातः । तेजोलेश्याविनिर्गमकालभाविनि तैजसशरीरनामकर्माऽऽश्रये समुद् घातविशेषे, पं० सं० २ द्वार । प्रज्ञा० । स० । प्रव० । (किञ्चिद्वक्तव्यता 'तेउसमुग्घाय' शब्देऽत्रैव भागे २३५० पृष्ठे गता) (अस्य सर्वा वक्तव्यता तु 'समुग्घाय' शब्दे वक्ष्यते)

तेयजणण न०(तेजोजनन) माहात्म्योत्पादने, बृ०३ उ० ।

तेयपाल पुं०(तेजःपाल) पोरवाडकुलजाते अणहिल्लपाटणनगरराजस्य श्रीवीरधवलस्य मन्त्रिणि, ती० ।

तेजः पालवस्तुपालकल्पः–

''श्रीवस्तुपालतेजःपालौ मन्त्रीश्वरावुभावास्ताम् ।
यौ भ्रातरौ प्रसिद्धौ, कीर्तनसंख्यां तयोर्ब्रूमः''॥१॥

पूर्वं गूर्जरधरित्रिमण्डनायां मण्डलीमहानगर्यां श्रीवस्तुपालतेजःपालाऽऽद्या वसन्ति स्म । अन्यदा श्रीमत् पत्तनवास्तव्यप्राग्वाटान्वयाङ्कुरश्रीचन्द्रपालाऽऽत्मजठक्कुरश्रीचन्द्रप्रासादाङ्गजमन्त्रिश्रीसोमकुलावतंसठक्कुरश्रीआसराजनन्दनौ कुमारदेवीकुक्षिसरोवरराजहंसौ श्रीवस्तुपालतेजःपालौ श्रीशत्रुञ्जयगिरिनाराऽऽ–

दितीर्थयात्रायै प्रस्थितौ हडालाग्रामं गत्वा यावत् स्वां विभूतिं चिन्तयतस्तावल्लक्षत्रयं सर्वस्वं जातम्। ततः सुराष्ट्रस्यासौस्थ्यमाकलय्य लक्षमेकमवन्यां निधातुं निशीथे महास्वच्छतलं खातं खानयामासतुः। तयोः खानयतोः कस्यापि प्राक्तनःकनकपूर्णः शौल्वकलशौ निरगात्, तमादाय श्रीवस्तुपालः तेजःपालजायामनुपमादेवीं मान्यतयाऽपृच्छत्–क्वैतन्निधीयत इति? तयोक्तम्–गिरिशिखर एवैतदुच्चैः स्थाप्यते, यथा प्रस्तुतनिधिवन्नान्यसाद्भवेत्। तच्छ्रुत्वा श्रीवस्तुपालस्तद् द्रव्यं श्रीशत्रुञ्जयोज्जयन्तादावव्ययत्। कृतयात्रो व्यावृत्तो धवलक्कपुरमगात्। अत्रान्तरे माहणदेवी नाम कान्यकुब्जेश्वरसुता जनका (कु) ञ्जलिकापदे (?) गुर्जरधरित्रीमवाप्य तदाधिपत्यं मुक्त्वा मृता सती तत्रैव देशाधिष्ठात्री देवता समजनि। सैकदा स्वप्ने वीरधवलनृपस्याचीकथत्–यद्वस्तुपालतेजःपालौ राज्यचिन्तकप्राग्रहरौ विधाय सुखेन राज्यं शाधि। इत्थं कृते राज्यराष्ट्रवृद्धिस्तव भवित्रीत्यादिश्य स्वं च प्रकाश्य तिरोदधे देवी। प्रातरुत्थाय नृपतिर्वस्तुपालतेजः पालावाहूय सत् कृत्य च ज्यायसः स्तम्भतीर्थधवलक्कयोराधिपत्यमेवादात्। तेजः पालस्य तु सर्वराज्यव्यापारमुद्रां ददौ। ततस्तौ षड् दर्शनदाननानाविधधर्मस्थानविधापनाऽऽदिभिः सुकृतशतानि चिनुतः स्म नित्यमनुसमयम्। तथाहि–लक्षमेकं सपादं जिनबिम्बानां कारितम्, अष्टादश कोटयः षण्णवतिर्लक्षाः श्रीशत्रुञ्जयतीर्थे द्रविणं व्ययितम्, द्वादश कोट्योऽशीतिर्लक्षाः श्रीउज्जयन्ते, द्वादश कोट्यस्त्रिपञ्चाशद् लक्षा अर्बुदशिखरे, लूणिगवसत्यां नव शतानि चतुरशीतिश्च पौषधशालाः कारिताः, पञ्चशतानि दन्तमयसिंहासनानां, पञ्चशतानि पञ्चोत्तराणि समवसरणानां जादरमयानां (?) ब्रह्मशालाः सप्त शतानि, सप्त शतानि सत्रागाराणाम्, सप्तशती तपस्विकापालिकमठानाम्, सर्वेषां भोजननिर्वापाऽऽदिदानं कृतं, त्रिंशच्छतानि द्व्युत्तराणि माहेश्वराऽऽयतनानां, त्रयोदश शतानि चतुरुत्तराणि शिखरबद्धजैनप्रासादानां, त्रयोविंशतिशतानि जीर्णचैत्योद्धाराणाम्, अष्टादशकोटिसुवर्णव्ययेन सरस्वतीभाण्डागाराणां स्थानत्रये भरणं कृतं, पञ्चशती ब्राह्मणानां वेदपाठं करोति स्म, वर्षमध्ये सङ्घपूजात्रितयं, पञ्चाशच्छती श्रमणानां गृहे नित्यं विहरति स्म, तटिककार्पटिकानां सहस्रं साधिकं प्रत्यहं भुङ्क्ते स्म, त्रयोदश तीर्थयात्राः सङ्घपतीभूय कृताः। तत्र प्रथमयात्रायां चत्वारि सहस्राणि च पञ्चशतानि शकटानां सशय्यापालकानां, सप्तशती सुखासिकानाम्, अष्टादशशती बाहिनीनाम्, एकान्नविंशतिः शतानि श्रीकरिणाम्, एकविंशतिः शतानि श्वेताम्बराणां, एकादश शतानि दिगम्बराणां, चत्वारि शतानि सार्द्धानि जैनगा–यनानां, त्रयस्त्रिंशच्छती वन्दिजनानाम्। चतुरशीतिस्तडागाः सुबद्धाः, चतुःशती चतुःषष्ट्यधिका वापीनां, पाषाणमयानि द्वा–त्रिंशद् दुर्गाणि, दन्तमयजैनरथानां चतुर्विंशतिः विंशं शतं शाकघटितानां, सरस्वतीकण्ठाऽऽभरणाऽऽदीनि चतुर्विंशतिर्विरुदानि श्रीवस्तुपालस्य चतुःषष्टिर्मसीतयः कारिताः। दक्षिणस्यां श्रीपर्वतं यावत्, पश्चिमायां प्रभासं यावत्, उत्तरस्यां केदारं यावत्, पूर्वस्यां वाराणसीं यावत् तयोः कीर्त्तनानि, सर्वाग्रेण त्रीणि कोटिशतानि चतुर्दश लक्षा अष्टादश सहस्राणि अष्टशतानि लोष्टिकत्रितयोनानि द्रव्यव्ययतः त्रिषष्टिवारान् संग्रामे जैत्रपत्रं गृहीतम्। अष्टादश वर्षाणि तयोर्व्यापृतिः। एवं तयोः पुण्यकृत्यानि कुर्वतोः कियताऽपि कालेन श्रीवीरधवलनृपः कालधर्ममवापत्। ततस्तत् पट्टे तदीयस्तनयः श्रीमान् वीसलदेवस्ताभ्यां मन्त्रिप्रवराभ्यां राज्येऽभिषिक्तः। सोऽपि समर्थः सन् क्रमेण दुर्मदः सचिवान्तरं विधाय मन्त्रितेजःपालमपाचकार। तदेतदवलोक्य पुरोधाः सोमेश्वरनामा महाकविर्नृपमुद्दिश्य साक्षेपं नव्यं काव्यमपठत्। यथा–

''मांसोन्मांसलपाटलापरिमलव्यालोलरोलम्बितः (?)
प्राप्य प्रौढिमिमां समीर! महतीं पश्य त्वया यत् कृताम्।
सूर्याचन्द्रमसौ निरस्ततमसौ दूरं तिरस्कृत्य यत्,
पादस्पर्शसहं विहायसि रजः स्थाने तयोः स्थापितम्''॥१॥

इत्यादि तयोः पुरुषरत्नयोर्वृत्तशेषमादित उत्पत्तिस्वरूपं तु लोकप्रसिद्धित एवावगन्तव्यम्।

''गीताद्रायनवर्येण, सूमाद्विज्ञाय कीर्तिता।
कीर्तनानामियं संख्या, श्रीमतोर्मन्त्रिमुख्ययोः॥१॥''
श्रीमहामात्यवस्तुपालतेजःपालकीर्त्तनसंख्याकल्पः।
''यदध्यासितमर्हद्भिः, तद्वत्तीर्थं प्रचक्षते।
अर्हन्तश्च तयोश्चित्तमध्यवात्सुरहर्निशम्॥१॥
तत्तीर्थरूपयोर्युक्त्या, पुरुषश्रेष्ठयोस्तयोः।
कीर्त्तनोत्कीर्त्तनेनापि, न्याय्या कल्पकृतिर्न किम्? ॥२॥
इत्यालोच्य हृदा कल्प–लेशं मन्त्रीशयोस्तयोः।
एतं विरचयाञ्चक्रुः, श्रीजिनप्रभसूरयः॥३॥'' ती० ४१ कल्प।

तेयमंडल न०(तेजोमण्डल) प्रभापटले, स०६ सम०।

तेयमाहप्पकंतिजुत्त त्रि०(तेजोमाहात्म्यकान्तियुक्त) तेजोदीप्तिर्माहात्म्यं महानुभावता, कान्तिः काम्यता, तैर्युक्ते, उपा० २अ०।

तेयलिपुर (तेतलिपुर) 'तेतिलिपुर' शब्दार्थे, ज्ञा०१ श्रु० १अ०।

तेयलेस्सा स्त्री०(तेजोलेश्या) विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवायां तेजोज्वालायाम्, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। (सा कथं भवतीति 'तेउलेस्सा' शब्देऽनुपदमेव २३४९ पृष्ठे द्रष्टव्या)

तेयवंत त्रि०(तेजस्विन्) प्रभावति, प्रश्न०४ सम्ब० द्वार।

तेयवीरिय पुं०(तेजोवीर्य) भरतराजस्य पुत्रपरम्परायां भरतात्पञ्चमे महाबलस्य पुत्रे, स्था०८ ठा०।

तेया स्त्री०(तेजस्) त्रयोदश्याम्, ज्यो०४ पाहु०। चं० प्र०। लोकोत्तरीत्या त्रयोदश्यां रात्रौ, कल्प०६ क्षण।

***त्रेता** स्त्री०। सत्ययुगानन्तरवर्तिनि युगभेदे, वाच०। ''तेयाजुगे य दासरही रामो सीयालक्खणसंजुओ वि।'' ती०२७ कल्प। दक्षिणाग्निगार्हपत्याऽऽहवनीयाऽऽत्मके समुदिते अग्नित्रये, द्यूतक्रीडासाधनस्याक्षस्य यस्मिन् पार्श्वे त्रयोऽङ्कास्तस्य पार्श्वस्य उत्तानतया पतने द्यूतविशेषे, वराटकानां मध्ये त्रयाणामुत्तानतया पतने च। 'त्रेताहृतसर्वस्वम्'। इति मृच्छकटिकटीका। वाच०।

तेयाणुबंधि (ण्) न०(स्तेयानुबन्धिन्) स्तेनस्य चौरस्य कर्म स्तेयं, तीव्रक्रोधाऽऽद्याकुलतया तदनुबन्धवत्स्तेयानुबन्धिनि, भ० २५ श०७ उ०। रौद्रध्यानभेदे, दर्श०। अतितीव्रक्रोधलोभाऽऽकुलमानसस्य श्रमणान्धबधिराजङ्गमाऽऽदिष्वपि प्राणप्रहाणबुद्ध्याऽपि परद्रव्यापहरणेच्छा परलोकापाया भीरोः। अत एवाऽऽह–श्रीभगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः–

''तह तिव्वकोहलोहा–उलस्स भूओवघायणमणज्जं। परदव्व हरणचित्तं, परलोगावायनिरवेक्खं'' ॥१॥ दर्श०४ तत्त्व।

तेयाली पुं०(तेयालिन्) वृक्षभेदे, ''ताले तमाले तक्कलितेयाली–सालिसारकल्लोणे।'' प्रज्ञा०१ पाद।

तेरसी स्त्री०(त्रयोदशी) चन्द्रस्य त्रयोदशकलाक्रियारूपे तिथौ, वाच०। त्रयोदश्यां यात्रा शुभकरी। तदुक्तम्–''जे वि हु हुंति अमित्ता, ते तेरसिपट्ठिओ जिणइ।'' द०प०। ज्यो०।

तेरह पुं०त्रयोदश(न्) **''एत्त्रयोदशाऽऽदौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन''** ॥८।१।१६५॥ त्रयोदशन्नित्येवप्रकारेषु संख्याशब्देष्वादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सहैकारः। प्रा०१ पाद। **''संख्यागद्वदे रः''** ॥८।१।२१६॥ इति दस्य रः। प्रा०१ पाद।त्र्यधिकदशसंख्याऽन्विते, वाच०।

तेरासिय पुं०(त्रैराशिक) जीवाजीवनोजीवभेदात्त्रयो राशयः समाहृतास्त्रिराशि, तत्प्रयोजनं येषां ते त्रैराशिकाः। स्था०७ ठा०आ०म०। त्रीन् राशीन् जीवाजीवनोजीवरूपान् वदन्ति ये ते त्रैराशिकाः। औ०। जीवोऽजीवो जीवाजीवश्च, लोकोऽलोको लोकालोकश्च, सत् असत् सदसत्। नयचिन्तायामपि त्रिविधं नयमिच्छन्ति। तद्यथा–द्रव्यास्तिकम्, पर्यायास्तिकम्, उभयास्तिकं च। उक्तं च–त्रिभी राशिभिश्चरन्तीति त्रैराशिकाः। नं०। त्रिराशिभिर्दीव्यन्ति जिगीषन्तीति त्रैराशिकाः। उत्त०३अ०। जीवाजीवनोजीवराशित्रयवादिरोहगुप्तमतानुसारिषु षष्ठेषु निह्नवेषु, आ०क०।

अथ षष्ठवक्तव्यतामभिधित्सुराह–

पंच सया चोयाला, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
पुरिमंतरंजियाए, तेरासियदिट्ठि उप्पन्ना ॥२४५१॥

पञ्चवर्षशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि तदा सिद्धिं गतस्यश्रीमन्महावीरस्य, अत्रान्तरे अन्तरञ्जिकायां पुर्यां त्रैराशिकदृष्टिरुत्पन्नेति ॥२४५१॥

कथमुत्पन्ना ? इत्याह–

पुरिमंतरंजि भुयगिह, बलसिरि सिरिगुत्त रोहगुत्ते य।
परिवायपोट्टसाले, घोसणा पडिसेहणा वाए ॥२४५२॥

संग्रहगाथेयम्। अस्याश्च कथानकादर्थोऽवसेयः। तच्चेदम्– अन्तरञ्जिका नाम नगरी,तस्याश्च बहिर्भूतगृहं नाम चैत्यम्। तत्र च श्रीगुप्तनामाऽऽचार्यः स्थितः। तस्यां च नगर्यां बलश्रीर्नाम राजा। श्रीगुप्ताऽऽचार्याणां च रोहगुप्तो नाम शिष्योऽन्यत्र ग्रामे स्थित आसीत्। अतोऽसौ गुरुवन्दनार्थमन्तरञ्जिकायामागतः। तत्र चैकः परिव्राजको लोहपट्टकेनोदरं बद्धा, जम्बूवृक्षशाखया च हस्ते गृहीतया नगर्यां भ्राम्यति। किमेतदिति च लोकेन पृष्टो वदति–मदीयोदरमतीव ज्ञानेन पूरितत्वात्–स्फुटतीति लोहपट्टेन बद्धम्। जम्बूद्वीपमध्ये च मम प्रतिवादी नास्ति इत्यस्यार्थस्य सूचनार्थं जम्बूवृक्षशाखा हस्ते गृहीता। ततस्तेन परिव्राजकेन सर्वस्यामपि नगर्यां ''शून्याः सर्वेऽपि परप्रवादाः, नास्ति कश्चिन्मम प्रतिवादी।'' इत्युद्घोषणापूर्वकः पटहको दापितः। लोहपट्टबद्धपोइजम्बूवृक्षशाखायोगाच्च तस्य लोके ''पोट्टशाल'' इति नाम जातम्। ततस्तत्पट्टको नगरीं प्रविशता रोहगुप्तेन दृष्टः, उद् घोषणा च श्रुता। ततोऽहं तेन सार्द्धं वादं दास्यामीत्यभिधाय गुरूनपृष्ट्वाऽपि निषिद्धस्तेनाऽसौ पटहकः। गुरुसमीपं चाऽऽगत्याऽऽलोचयता कथितोऽयं व्यतिकरस्तेषाम्। आचार्यैः प्रोक्तम्– न युक्तं त्वयाऽनुष्ठितम्, स हि परिव्राजको वादे निर्जितोऽपि विद्यास्वतिकुशलत्वात्ताभिरुपतिष्ठते, तस्य चैताः सप्त विद्या वाढं स्फुरन्ति ॥२४५२॥

काः पुनस्ताः? इत्याह–

विच्छु य सप्पे मूसग, मिगी वराही य काग पोयाई।
एयाहिं विज्जाहिं, सो य परिव्वायगो कुसलो ॥२४५३॥

(विच्छु य त्ति) वृश्चिकप्रधाना विद्या गृह्यते। (सप्पे त्ति) सर्पप्रधाना विद्या (मूसग त्ति) मूषकप्रधाना। तथा–मृगी नाम विद्या मृगीरूपेणोपघातकारिणी। एवं वराही च। (काग पोयाइ त्ति) काकविद्या, पोताकीविद्या च। पोताक्यः शकुनिकाः। एतासु विद्यासु, एताभिर्वा विद्याभिः स परिव्राजकः कुशल इति। ततो रोहगुप्तेनोक्तम्–यद्येवं, तत्किमिदानीं नष्टुं क्वापि शक्यते? निषिद्धस्ततपटहकः, यद्भवति तद्भवतु। ततः सुरिभिः प्रोक्तम्–यद्येवं, तर्हि पठितसिद्धा एवैताः सप्त तत्प्रतिपक्षविद्या गृहाण ॥२४५४॥

काः पुनस्ताः? इत्याह–

मोरी नउलि विराली, वग्घी सीही य उलुगि चोलावी।
एयाओ विज्जाओ, गिण्ह परिव्वायमहणीओ ॥२४५४॥

वृश्चिकानां प्रतिपक्षभूता मयूरी विद्या, सर्पाणां तु प्रतिपक्षभूता नकुली। मूषकाणां बिमाली। एवं व्याघ्री, सिंही, उलूकी। (उलावि त्ति) पोताकीप्रतिपक्षभूता उवावकप्रधाना विद्येत्यर्थः। एताः परिव्राजकमथनीर्विद्या गृहाण त्वम्, इति सूरिणा प्रोक्ते गृह्णाति रोहगुप्तः। तथा रजोहरणं चाभिमन्त्र्य सूरिभिस्तस्य समर्पितम्। अभिहितश्च यथा–यद्यन्यदपि किञ्चित्तत्प्रणीतक्षुद्रविद्याकृतमुपसर्गजातमुपतिष्ठते तदा तन्निवारणार्थमेतन्मस्तकस्योपरि भ्रमणीयम्। ततश्चेन्द्राणामप्यजेयो भविष्यसि, किमुत मनुष्यमात्रस्य तस्येति? ततश्च गतो राजसभां रोहगुप्तः। प्रोक्तं च तत्र तेन–किमेष द्रमकः परिव्राजको जानाति ? करोत्वयमेव यदृच्छया पूर्वपक्षम्, येनाहं निराकरोमि। ततः परिव्राजकेन चिन्तितम्–निपुणाः खल्वमी भवन्ति, तदमीषामेव सम्मतं पक्षं परिगृह्णामि, येन निराकर्तुं न शक्नोति। विचिन्त्य चेदमभ्यधायि–इह जीवाश्चाजीवाश्चेति द्वावेव राशी, तथैवोपलभ्यमानत्वात्, शुभाशुभाऽऽदिराशिद्वयवत् इत्यादि। ततो रोहगुप्तेन तद्बुद्धिपरिभवनार्थं स्वसंमतोऽप्ययं पक्षो निराकृतः। कथम्? इति चेत्? उच्यते– असिद्धोऽयं हेतुः, अन्यथोपलम्भात्, जीवा अजीवा नोजीवाश्चेति राशित्रयदर्शनात्। तत्र जीवा नरकतिर्यगादयः, अजीवास्तु परमाणुघटाऽऽदयः, नोजीवास्तु गृहकोकिलापुच्छाऽऽदयः। ततो जीवाऽजीवनोजीवरूपास्त्रयो राशयः, तथैवोपलभ्यमानत्वाद्, अधममध्योत्तमाऽऽदिराशित्रयवद्, इत्यादियुक्तिभिः निष्प्रश्नव्याकरणः कृत्वा जितः परिव्राजको रोहगुप्तेन। ततोऽसौ क्रुद्धो वृश्चिकविद्यया रोहगुप्तविनाशार्थं वृश्चिकान् मुञ्चति। ततो रोहगुप्तस्तत्प्रतिपक्षभूतमयूरीविद्यया मयूरान्मुञ्चति। तैश्च वृश्चिकेषु हतेषु परिव्राजकः सर्पान्मुञ्चति। इतरः तत्–प्रतिघातार्थं नकुलान्विसृजति। एवं मूषिकाणां विडालान्, मृगीणां व्याघ्रान्, शूकराणां सिंहान्, काकानामुलूकान् पोतकी–

नामुलाबकान् मुञ्चति। ततो गर्दभी मुक्ता, तां चाऽऽगच्छन्तीं दृष्ट्वा रोहगुप्तेन रजोहरणं मस्तकस्योपरि भ्रमयित्वा तेनैव रजोहरणेन ताडिता सती परिव्राजकस्योपरि मूत्रपुरीषोत्सर्गं कृत्वा गताऽसौ। ततः सभापतिना, सभ्यैः, समस्तलोकेन च निन्द्यमानो नगरान्निर्वासितः परिव्राजकः ॥२४५४॥

इतः परं यदभूत्तद्भाष्यकारः प्राऽऽह–

जेऊण पोट्टसालं, छलूओ भणइ गुरुमूलमागंतुं।
वायम्मि मए विजिओ, सुणह जहा सो सहामज्झे ॥२४५५॥
रासिदुगगहियपक्खो, तइयं नोजीवरासिमादाय।
गिहकोकिलाइपुच्छच्छेओदाहरणओऽभिहिए ॥२४५६॥
भणइ गुरू सुट्ठु कयं, किं पुण जेऊण कीस नाभिहियं ?
अयमवसिद्धंतो णे, तइओ नोजीवरासि त्ति ॥२४५७॥
एवं गए वि गंतुं, परिसामज्झम्मि भणसु नायं णे।
सिद्धंतो किं तु मए, बुद्धिं परिभूय सो समिओ ॥२४५८॥
बहुसो स भण्णमाणो, गुरुणा पडिभणइ किमवसिद्धंतो ?
जइ नाम जीवदेसो, नोजीवो हुज्ज को दोसो? ॥२४५९॥

पोट्टशालं परिव्राजकं जित्वा गुरुचरणमूलमागत्य रोहगुप्तोऽपरनाम्ना तु खडुलूको भणति–स परिव्राजकाधमः समस्तनृपसभामध्ये यथा वादे मया विजितस्तथा शृणुत यूयम्, कथयामीति। तदेवाऽऽहराशिद्वयगृहीतपक्षः स परिव्राजको मया वादे विजित इति प्राक्तनेन संबन्धः। किं कृत्वा? इत्याह–तृतीयं नोजीवराशिमादाय पक्षीकृत्य, कुतो दृष्टान्तादसौ पक्षीकृत्य? इत्याह– गृहकोकिलाऽऽदीनां पुच्छमेव छिन्नत्वाच्छेदः, तदुदाहरणतस्तद् दृष्टान्तादित्यर्थः। एवं रोहगुप्तनाभिहिते गुरुर्भणति–सुष्ठु कृतं त्वया यदसौ जितः, किं तु तत्रोत्तिष्ठता त्वया किमेतन्नाभिहितम्? किम्? इत्याह–तृतीयो नोजीवराशिरित्ययं (णे त्ति) नोऽस्माकमपसिद्धान्तः, जीवाजीवलक्षणराशिद्वयस्यैवाऽस्मत्सिद्धान्तेऽभिहितत्वादिति। तस्मादेवं गतेऽपि, एतावत्यपि गते इत्यर्थः, तत्र परिषन्मध्ये गत्वा भण प्रतिपादय, (नायं णे त्ति) नोऽस्माकं नायं सिद्धान्तः, किं तु स परिव्राजकस्तद् बुद्धिं परिभूय तिरस्कृत्य शमित उपशमं नीतो, दर्पं त्याजित इत्यर्थः। एवं बहुशोऽनेकधा गुरुणा भण्यमानः स रोहगुप्तः प्रतिभणति प्रत्युत्तरयति–आचार्य! किमयमपसिद्धान्तः? यदि हि नोजीवलक्षणतृतीयराश्यभ्युपगमे कोऽपि दोषः स्यात्तदा स्यादयमपसिद्धान्तः, न चैतदस्ति। कुतः? इत्याह–यदि नाम गृहकोकिलापुच्छाऽऽदिजीवदेशो नोजीवो भवेन्नोजीवत्वेनाऽभ्युपगम्येत, तर्हि को दोषः स्यात्? न कमपि दोषमत्र पश्याम इत्यर्थः। ततः किमित्यपसिद्धान्तत्वे दोषपरिहारार्थं पुनर्मां तत्र प्रेषयसीति भावः।

कस्मान्न दोषः? इत्याह–

जं देसनिसेहपरो, नोसद्दो जीवदव्वदेसो य।
गिहकोइलाइपुच्छं, विलक्खणं तेण नोजीवो ॥२४६०॥

यद्यस्मान्नोजीव इत्यत्र नोशब्दो देशनिषेधपरो, न तु सर्वनिषेधपरः, नोजीवो–जीवैकदेशो, न तु सर्वस्यापि जीवस्याऽभाव इत्यर्थः। भवत्वेवं देशनिषेधको नोशब्दः, परं गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छं जीवदेशो न भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह–जीवद्रव्यैकदेशश्च गृह–कोकिलाऽऽदिपुच्छम्, आदिशब्दाच्छिन्नपुरुषाऽऽदिहस्ताऽऽदयः परिगृह्यन्ते। कथंभूतं तद् गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छम्? इत्याह–विलक्षणम्, जीवाऽजीवेभ्य इति गम्यते। तथाहि– न तावद् गृह–कोकिलाऽऽदिपुच्छं जीवत्वेन व्यपदेष्टुं शक्यते, तत्कायैकदेशत्वेन तद्विलक्षणत्वात्। नाप्यजीव इत्यभिधातुं पार्यते, स्फुरणाऽऽदिभिस्तेभ्योऽपि विलक्षणत्वात्। येनैवं, तेन कारणेन पारिशेष्यान्नोजीव एतदुच्यत इति ॥२४६०॥

सिद्धान्तेऽपि धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशवचनादुक्त–

एव नोजीवः। कथम्? इत्याह–

धम्माइदसविहाऽऽदेसओ य देसो वि जं पिहुं वत्थुं।
अपिहुब्भूओ किं पुण, छिन्नं गिहकोलियापुच्छं? ॥२४६१॥
इच्छइ जीवपएसं, नोजीवं जं च समभिरूढो वि।
तेणऽत्थि तओ समए, घडदेसो नोघडो जह वा ॥२४६२॥

चकारस्य भिन्नक्रमत्वाद्यद्यस्मात्कारणाद्देशोऽपीत्यपिशब्दस्या–पि भिन्नक्रमत्वाद्धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशिनः (अपिहुब्भूओ त्ति) अपृथग्भूतोऽप्येकत्वमापन्नोऽपि देशः (पिहुं वत्थु त्ति) सिद्धान्ते पृथग् वस्तु भणित इति शेषः, पृथग् वस्तुत्वेन निर्दिष्ट इत्यर्थः। किं पुनर्याच्छिन्नमात्मनः पृथग्भूतं कृतं, तद् गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छं पृथग् वस्तु न भविष्यति? भविष्यत्येवेति। तच्च जीवच्छिन्नत्वेन पृथग्भूतत्वात्, स्फुरणाऽऽदिना चाजीवविलक्षणत्वात्सामर्थ्यान्नोजीव एवेति भावः। कुतः पुनर्वचनाऽऽदेशसिद्धान्ते पृथग् वस्तु भणितः? इत्याह–(धम्माइदसविहाऽऽदेसउ त्ति) धर्म्मास्तिकायाऽऽदीनाममूर्त्ताजीवानां दशविधाऽऽदेशतो दशविधत्वभणनात्। एतदुक्तं भवति–अजीवप्ररूपणां कुर्वद्भिरुक्तं परममुनिभिः ''अजीवा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–रूविअजीवा य, अरूविअजीवा य। रूविअजीवा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा–खंधा, देसा, पएसा, परमाणुपोग्गला। अरूविअजीवा दसविहे पन्नत्ता। तं जहा–धम्म–त्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पएसे, एवं अधम्मत्थिकाए वि, आगासत्थिकाए वि, अद्धासमए।'' तदेवं धर्मा–स्तिकायाऽऽदीनां दशविधत्वभणनेन तद्देशस्य पृथग्वस्तुत्वमुक्त–मेव, अन्यथा दशविधत्वानुपपत्तेः। यदा च धर्मास्तिकायाऽऽदीनां देशस्तेभ्योऽपि पृथग्भूतोऽपि पृथग्वस्तूच्यते, तदा गृहकोकिला–पुच्छाऽऽदिकं छिन्नत्वेन जीवात् पृथग्भूतं सुतरां वस्तु भवति; तच्च जीवाजीवविलक्षणत्वान्नोजीव इत्युक्तमेवेति। अपि च–यद्यस्मात्कारणाज्जीवप्रदेशं नोजीवं समभिरूढनयोऽपीच्छति, तेन तस्मात्तकोऽसौ नोजीवः समये सिद्धान्तेऽप्यस्ति, न पुनर्मयैव केवलेनोच्यते, तथा चानुयोगद्वारेषु प्रमाणद्वारान्तर्गतं नयप्रमाणं विचारयता प्रोक्तम्–''समभिरूढो सद्दतयं भणइ–जइ कम्मधारएण भणसि तो एवं भणाहि–जीवे य से पएसे य, से सपएसे नोजीवे'' इति। तदनेन प्रदेशलक्षणो जीवैकदेशो नोजीव उक्तः, यथा घटैकदेशो नोघट इति। तस्मादस्ति नोजीवलक्षणस्तृतीयराशिः, युक्त्याऽऽगमसिद्धत्वात्, जीवाजीवाऽऽदितत्त्ववदिति ॥२४६१॥ २४६२॥

तदेवं षडुलूकेनोक्त आचार्यः प्रतिविधानमाह–

जइ ते सुयं पमाणं, तो रासी तेसु तेसु सुत्तेसु।

दो जीवाजीवाणं, न सुए नोजीवरासि त्ति ॥२४६३॥

''धम्माइदसविहाऽऽदेसओ य'' इत्याद्युपन्यासात्सूत्रप्रामाण्यवादी किल लक्ष्यते भवान् तद्यदि सत्यमेव तव सूत्रं प्रमाणम्, ततस्तर्हि तेषु तेषु सूत्रेषु जीवाजीवरूपौ द्वावेव राशी प्रोक्तौ। तथा च स्थानाङ्गसूत्रम्–''दुवे रासी पण्णत्ता। तं जहा–जीवा चेव, अजीवा चेव।'' तथाऽनुयोगद्वारसूत्रेऽप्युक्तम्–''कइविहा णं भंते ! दव्वा पण्णत्ता? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–जीवदव्वा य, अजीवदव्वा य।'' तथोत्तराध्ययनसूत्रे चाभिहितम्–''जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।'' इत्यादिन्येष्वपि सूत्रेषु द्रष्टव्यम्। नोजीवराशिस्तु तृतीयः श्रुते न क्वचिदप्यभिहितः, तत्कथं तत्सत्त्वप्ररूपणा न श्रुताऽऽशातनेति? न च धर्मास्तिकायाऽऽदीनां देशस्तेभ्यो भिन्नः कोऽप्यस्ति, विवक्षामात्रेणैव तस्य भिन्नास्तित्वकल्पनात् ॥२४६३॥

एवं पुच्छाऽऽदिकमपि गृहकोकिलाऽऽदिजीवेभ्योऽभिन्नमेव, तत्संबद्धत्वाद्, अतो जीव एव तत्, न तु नोजीव इति दर्शयन्नाह–

गिहकोलियाइपुच्छे, छिन्नम्मि तदंतरालसंबंधो।
सुत्तेऽभिहिओ सुहुमा–ऽमुत्ततणओ तदग्गहणं ॥२४६४॥

गृहकोकिलाऽऽदीनां पुच्छाऽऽदिकेऽवयवे छुरिकाऽऽदिना छिन्नेऽपि तयोर्गृहकोकिलापुच्छाऽऽदिवस्तुनोर्थदन्तरालं विचालं तत्र जीवप्रदेशानां संबन्धः संयोगस्तदन्तरालसंबन्धः सूत्रेऽभिहित एव। तथा च भगवतीसूत्रम्– ''अह भंते ! कुम्मा कुम्मावलिया, गोहा गोहावलिया, गोणे गोणावलिया, मणुस्से मणुस्सावलिया, महिसे महिसावलिया, एएसि णं दुहा वा, तिहा वा, असंखेज्जहा वा छिन्नाणं जे अंतरा, ते वि णं तेहिं जीवपएसेहिं फुडा? हंता फुडा। पुरिसे णं भंते ! अंतरे हत्थेण वा, पाएण वा, अंगुलियाए वा, कट्ठेण वा, किलिंचेण वा, आमुसमाणे वा, संमुसमाणे वा, आलिहमाणे वा, विलिहमाणे वा, अण्णयरेण वा तिक्खेणं सत्थजाएणं आच्छि–दमाणे वा, विच्छिंदमाणे वा, अगणिकाएणं समोदुहमाणे तेसिं जीवपएसाणं किंचि आवाहं वा विवाहं वा उप्पाएइ, विच्छेयं वा करेइ? नो इणट्ठे समट्ठे। नो खलु तत्थ सत्थं संकमइ।'' इति। यदि नामैवं सूत्रे जीवप्रदेशानां तदन्तरालसंबन्धोऽभिहितः, तर्हि तदन्तराले ते जीवप्रदेशाः किमिति नोपलभ्यन्ते? इत्याह–(सुहुमेत्यादि) कार्मणशरीरस्य सूक्ष्मत्वात्, जीवप्रदेशानां चामूर्त्तत्वादन्तराले तेषां जीवप्रदेशानां सतामप्यग्रहणं तदग्रहणमिति ॥२४६४॥

ननु यथा देहे पुच्छाऽऽदौ च स्फुरणाऽऽदिभिर्लिङ्गैर्जीव–
प्रदेशा गृह्यन्ते, तथा सन्तोऽप्यन्तराले किमि–
ति ते न गृह्यन्ते? इत्याह–

गज्झा मुत्तिगयाओ, नाऽऽगासे जह पईवरस्सीओ।
तह जीवलक्खणाइं, देहे न तदंतरालम्मि ॥२४६५॥

इह भूकुड्यवरण्डकान्धकाराऽऽदीनि वस्तुन्येव मूर्त्तियोगान्मूर्त्तिरुच्यन्ते। ततश्च यथा मूर्त्तिगता यथोक्तवस्तुगता एवेत्यर्थः, प्रदीपरश्मयो ग्राह्या भवन्ति, न तु केवल आकाशे प्रसृताः, तथा तेनैव प्रकारेण जीवो लक्ष्यते यैस्तानि जीवलक्षणानि भावणोच्छ्वासनिःश्वासधावनवल्गनस्फुरणाऽऽदीनि देह एव गृह्यन्ते, न तु तदन्तराल इति ॥२४६५॥

यतश्चैवं ततः किम्? इत्याह–

देहरहियं न गिण्हइ, निरतिसओ नातिसुहुमदेहं च।
न य से होइ विवाहा, जीवस्स भवंतराले व्व ॥२४६६॥

देहाभावे जीवलक्षणानामभावाद्देहरहितं मुक्ताऽऽत्मानं छिन्नपुच्छाऽऽद्यन्तरालवर्त्तिनं वा जीवं निरतिशयः केवलज्ञानाऽऽद्यतिशयरहितो जन्तुर्न गृह्णाति। तथा–अतिसूक्ष्मो देहो यस्य तम्–तिसूक्ष्मदेहं निगोदाऽऽदिजीवं कार्मणकाययोगिनं वा जन्तुं नाऽसौ गृह्णाति। न च 'से' तस्य जीवस्यान्तरालवर्त्तिषु प्रदेशेष्वनन्तरदर्शितसिद्धान्तसूत्रोक्तयुक्त्या कुन्तासिसेल्लाऽऽदिशस्त्रैरग्निज्वलाऽऽदिभिर्वा विबाधा पीडा काचिद्भवति, भवान्तराले कार्म्मणशरीरवर्त्तिजीवप्रदेशवदिति ॥२४६६॥

ननु गृहकोकिलाऽऽदिजीवस्य छिन्नत्वात्पुच्छाऽऽदिकं खण्डं नष्टं, ततश्च तन्नरमात्पृथग्भूतत्वान्नोजीवः कस्मान्नोच्यते? यथा घटच्छिन्नत्वात्पृथग्भूतं रथ्यापतितं घटखण्डं घटैकदेशत्वान्नोघटः? तदयुक्तम्। कुतः? इत्याह–

दव्वामुत्तत्ताऽकयभावादविकारदरिसणाओ य।
अविणासकारणाहि य, नभसो व्व न खंडसो नासो ॥२४६७॥

खण्डशो जीवस्य नाशो न भवतीति प्रतिज्ञा, अमूर्त्तद्रव्यत्वाद्, अकृतकभावात्–अकृतकत्वादित्यर्थः। तथा–घटाऽऽदेः कपालाऽऽदिविकारदर्शनाभावाद्, अविनाशकारणत्वाच्चविनाशकारणानामग्निशस्त्राऽऽदीनामभावाच्चेत्यर्थः, इत्येते हेतवः। सर्वेषु नभस इव इति दृष्टान्त इति ॥२४६७॥

खण्डशो नाशे च जीवस्य दोषानाह–

नासे य सव्वनासो, जीवस्स नासो य जिणमयच्चाओ।
तत्तो य अणिम्मोक्खो, दिक्खावेफल्लदोसा य ॥२४६८॥

शस्त्रच्छेदाऽऽदिना जीवप्रदेशस्य नाशे चेष्यमाणे क्रमशः सर्वनाशोऽपि कदाचित्तस्य भवेत्। तथाहि–यत् खण्डशो नश्यति तस्य सर्वनाशो दृष्टः, यथा घटाऽऽदेः, तथा च त्वयेष्यते जीवः, ततः सर्वनाशस्तस्य प्राप्नोति। भवत्येतदपि, किं नः क्षूयते? इति चेत्। तदयुक्तम्। कुतः? इत्याह–(नासो येत्यादि) स च जीवस्य सर्वनाशो न युक्तः, यस्माज्जिनमतत्यागहेतुत्वाज्जिनमतत्यागोऽसौ। जिनमते हि जीवस्य सतः सर्वथा विनाशोऽसतश्च सर्वथोत्पादः सर्वत्र निषिद्ध एव। यदाह–''जीवा णं भंते ! किं वड्ढंति, हायंति, अवट्ठिया? गोयमा ! नो वड्ढंति, नो हायंति, अवट्ठिया।'' इत्यादि। अतो जीवस्य सर्वथा नाशेऽभ्युपगम्यमाने जिनमतत्याग एव स्यात्। तथा ततस्तत्सर्वनाशादनिर्मोक्षो मोक्षाभावः प्राप्नोति, मुमुक्षोः सर्वथा नाशात्। मोक्षाभावे च दीक्षाऽऽदिकष्टानुष्ठानवैफल्यं, क्रमेण च सर्वेषामपि जीवानां सर्वनाशे संसारस्य शून्यताप्राप्तिः, कृतस्य च शुभाशुभकर्मणो जीवस्य सर्वनाश एवमेव नाशात्कृतनाशप्रसङ्ग इत्यादि वाच्यमिति न जीवस्य खण्डशो नाशः। गृहकोकिलाऽऽदीनां पुच्छाऽऽदिखण्डस्य पृथग्भूतत्वेन प्रत्यक्षत एव नाशो दृश्यत इति चेत्। तदयुक्तम्। औदारिकशरीरस्यैव हि तत्खण्डमध्यक्षतो वीक्ष्यते, न तु जीवस्य, तस्यामूर्त्तत्वेन केनाऽपि खण्डयितुमशक्यत्वादिति।

अथात्रैव पराभिप्रायमाशङ्क्य दूषयति–

अह खंधो इव संघायभेयधम्मा स तो वि सव्वेसिं।

अवरोप्परसंकरओ, सुहाइगुणसंकरो पत्तो ॥२४६६॥

अथ पुद्गलस्कन्ध इव सावयवत्वात्स जीवः सङ्घातभेदधर्माऽभ्युपगम्यते, यथा क्वचिद्विवक्षितपुद्गलस्कन्धेऽन्यस्कन्धगतं खण्डं समागत्य संहन्यते संबध्यते, तद्गतं च खण्डं भित्त्वाऽन्यत्र गच्छति, एवं जीवस्याप्यन्यजीवखण्डं संहन्यते, तद्गतं तु भिद्यत इत्येवं सङ्घातभेदधर्मा जीव इष्यत इति। अतः खण्डशो नाशेऽपि संघातस्यापि सद्भावान्न तस्य सर्वनाश इति परस्याभिप्रायः। अत्र दूषणमाह–(तो वि सव्वेसिं इत्यादि) एवमपि च सति सर्वेषामपि सर्वलोकवर्तिनां जीवाना परस्परसङ्गरतः सुखाऽऽदिगुणसङ्गरः प्राप्तः। इदमुक्तम्भवतियदैकं जीवसंबन्धि शुभाशुभकर्मान्वितं खण्डमन्यजीवस्य संबध्यते, अन्यसंबन्धि तु खण्डं तस्य संबध्यते, तदा तत्सुखाऽऽदयोऽन्यस्य प्रसजन्ति, अन्यसुखाऽऽदयस्तु तस्य, इत्येवं सर्वजीवानां परस्परं सुखाऽऽदिगुणसाङ्कर्यं स्यात्। तथैकस्य कृतनाशः,अन्यस्ताकृताभ्यागम इत्यादि वाच्यमिति ॥२४६६॥

अन्यमपि पराभिप्रायमाशङ्क्य दूषणान्तरमाह–

अह अविमुक्को वि तओ, नोजीवो तो पइप्पएसं ते।
जीवम्मि असंखेज्जा, नोजीवा नत्थि जीवो ते ॥२४७०॥

अथैतद्दोषभयान्न जीवस्य छेदोऽभ्युपगम्यते, किं त्वविमुक्तोऽप्यच्छिन्नोऽपि जीवसंबद्धोऽपि तकोऽसौ जीवदेशो नोजीवस्त्वयेष्यते, यथा धर्मास्तिकायाऽऽद्येकदेशो नोधर्मास्तिकायाऽऽदिः; ततस्तर्हि प्रतिप्रदेशं ते तव नोजीवसद्भावादेकैकस्मिन्नात्मन्यसंख्येया नोजीवाः प्राप्ताः, ततस्ते तव नास्ति क्वाऽपि जीवसंभवः, सर्वेषामपि जीवानां प्रत्येकमसंख्येयनोजीवत्वप्राप्तेरिति ॥२४७०॥

दूषणान्तरमपि प्रसञ्जयन्नाह–

एवमजीवा वि पइप्पएसभेएण नोअजीव त्ति।
नत्थि अजीवा केई, कयरे ते तिन्नि रासि त्ति? ॥२४७१॥

एवमजीवा अपि धर्मास्तिकायाऽऽदयो द्व्यणुकस्कन्धाऽऽदयो घटाऽऽदयश्च प्रतिप्रदेशभेदतोऽजीवैकदेशत्वाद् नोऽजीवाः, घटैकदेशनोघटवदिति, अतोऽजीवाः केचनाऽपि न सन्ति, परमाणूनामपि पुद्गलास्तिकायलक्षणाजीवैकदेशत्वेन नोऽजीवत्वात्सर्वत्र नोअजीवानामेवा-पपद्यमानत्वात्। ततश्च कतरे ते त्रयो राशयः त्वया ये राजसभायां प्रतिष्ठिताः, उक्तन्यायेन नोजीवनोअजीवलक्षणराशिद्वयस्यैव सद्भावात्, इति। तस्माद् बहुदोषप्रसङ्गान्न जीवश्छिद्यत इति स्थितम् ॥२४७१॥

छिद्यंता वाऽसौ तथापि न नोजीवसिद्धिरिति दर्शयन्नाह–

छिन्नो व होउ जीवो, कह सो तल्लक्खणो वि नोजीवो ?
अह एवमजीवस्स वि, देसो तो नोअजीवो त्ति ॥२४७२॥
एवं पि रासओ ते, न तिन्नि चत्तारि संपसज्जंति।
जीवा तहा अजीवा, नोजीवा नोअजीवा य ॥२४७३॥

पुच्छाऽऽद्यवयवच्छेदेन च्छिन्नोऽपि भवतु गृहकोकिलाऽऽदिजीवः, केवलं तस्य जीवस्य लक्षणानि स्फुरणाऽऽदीनि यस्याऽसौ तल्लक्षणोऽपि सन्नसौ पुच्छाऽऽदिदेशः कथं केन हेतुना नोजीवो भण्यते ? इदमुक्तं भवति–सम्पूर्णोऽपि गृहकोकिलाजीवः स्फुरणाऽऽदिलक्षणैरेव जीवो भण्यते, स्फुरणाऽऽदीनि च लक्षणानि छिन्ने तदवयवेऽपि पुच्छाऽऽदिके दृश्यन्ते, अतस्तल्लक्षणयुक्तोऽप्यसौ किमिति जीवो न भण्यते, येन नोजीवकल्पनाऽत्र विधीयते? इति। (अह एवमिति) अथैवं जीवलक्षणैः सद्भिऽपि पुच्छाऽऽदिकस्तदवयवो नोजीव एवेष्यते, न पुनः स्वाग्रहस्त्यज्यत इत्यर्थः। अत्र सूरिराह–(तो त्ति) ततस्तर्हि अजीवस्यापि घटाऽऽदेर्देशो नोअजीवः प्राप्नोति, जीवैकदेशनोजीववदिति। अस्त्वेवं, न किञ्चिद् मम विनश्यतीति चेत्। नैवम्। कुतः ? इत्याह–(एवं पीत्यादि) एवमप्यभ्युपगम्यमाने ये भवता त्रय एव राशय इष्यन्ते, ते न घटन्ते, किं तु चत्वारो राशयः संप्रसजन्ति। तद्यथा–जीवाः, तथा अजीवाः, नोजीवाः, नोअजीवाश्चेति ॥२४७२॥२४७३॥

अत्र यः परस्य परिहारस्तस्य स्वपक्षेऽपि समानतां दिदर्शयिषुः सूरिराह–

अह ते अजीवदेसो, अजीवसामण्णजाइलिंगो त्ति।
भिन्नो वि अजीवो चिय, न जीवदेसो वि किं जीवो ? ॥२४७४॥

अथ ते तवाऽजीवस्य जीवस्कन्धाऽऽदेर्देश एकदेशो भिन्नोऽपि स्कन्धात्पृथग्भूतोऽप्यजीव एव,न तु नो अजीवः। कुतः ? इत्याह– अजीवेन सामान्ये जातिलिङ्गे यस्यासावजीवसामान्यजातिलिङ्ग इति कृत्वा। तत्राजीवत्वं जातिः, पुंल्लिङ्गत्वलक्षणं च लिङ्गम्। एतच्च द्वयमप्यजीवतद्देशयोः सामान्यमेव, ततस्तद्देशोऽप्यजीव एव। हन्त! यद्येवं, तर्हि जीवदेशोऽपि किमिति जीवो नेष्यते, तस्याऽपि जीवेन समानजातिलिङ्गत्वादिति ॥२४७४॥

गाथाचतुर्थपादोक्तमेवार्थं प्रमाणेन द्रढयन्नाह–

छिन्नगिहकोलिया वि हु, जीवो तल्लक्खणेहिँ सयलो व्व।
अह देसो त्ति न जीवो, अजीवदेसो त्ति नोऽजीवो? ॥२४७५॥

छिन्नगृहकोकिलाऽपि–छिन्नः पुच्छाऽऽदिको गृहकोकिलाऽऽदिजीववयवोऽपीत्यर्थः। किम्? इत्याह–जीवः, इति प्रतिज्ञा। हे–तुमाह–(तल्लक्खणेहिं ति) तल्लखणैर्हेतुभूतैः–स्फुरणाऽऽदितल्लक्षणयुक्तत्वादित्यर्थः। (सयलो व्व त्ति) यथा सकलः परिपूर्णोऽछिन्नो गृहकोकिलाऽऽदिजीव इत्यर्थः। एष दृष्टान्तः। अथ गृहकोकिलाऽऽदेर्जीवस्य पुच्छाऽऽदिकस्तदवयवो देश एवेति कृत्व। न जीव इष्यते, संपूर्णस्यैव जीवत्वात्, यद्येवमजीवस्यापि घटाऽऽदेर्देशो 'नो' नैवाऽजीवः प्राप्नोति, सम्पूर्णस्यैवाजीवत्वात्। ततोऽयमजीवदेशोऽपि नोअजीव एव स्यात्, न त्वजीवः। तथा च सति स एव राशिचतुष्टयप्रसङ्ग इति ॥२४७५॥

यदुक्तम्– ''इच्छइ जीवपएसं, नो जीवं जं च समभिरूढो वि।'' (२४६२) इत्यादि। तत्राऽऽह–

नोजीवं ति न जीवादण्णं देसमिह समभिरूढो वि।
इच्छइ बे इ समासं, जेण समाणाहिगरणं सो ॥२४७६॥
जीवे य से पएसे, जीवपएसे एव नोजीवो।
इच्छइ न य जीवदलं, तुमं व गिहकोलियापुच्छं ॥२४७७॥
न य रासिभेयमिच्छइ, तुमं व नोजीवमिच्छमाणो वि।
अन्नो वि नओ नेच्छइ, जीवाजीवाहियं किं पि ॥२४७८॥

इह–''जीवे य से पएसे य से सपएसे नोजीवे।'' इत्यत्रानुयोगद्वारोक्तसूत्राऽऽलापके समभिरूढनयोऽपि नोजीवमिति नेच्छ–

तीति संबन्धः–नोजीवत्वेन नेच्छतीत्यर्थः। कं कर्म्मताऽऽपन्नम्? देशम्। कथंभूतम्? जीवादन्यं जीवाद् व्यतिरिक्तं देशं नोजीवं समभिरूढनयोऽपि नेच्छति–किं त्वव्यतिरिक्तमेव तं तस्मादिच्छतीत्यर्थः। कुत एतद्विज्ञायते? इत्याह–येन कारणेन देशदेशिनोः कर्मधारयलक्षणं समानाधिकरणमेव समासमसौ समभिरूढनयो ब्रवीत्यभ्युपगच्छति, न पुनर्नैगमाऽऽदिरिव तत्पुरुषमित्यर्थः। समानाधिकरणसमासश्च नीलोत्पलाऽऽदीनामिव विशेषणविशेष्याणामभेद एव भवति। अतो ज्ञायते–जीवादनन्यरूपमेव देशं नोजीवमिच्छति समभिरूढ इति, एवं कथं तृतीयराशिः स्याद्? इति। तदेव समभिरूढाभिमतं समानाधिकरणसमासं दर्शयति–(जीवे य से इत्यादि) जीवश्चासौ प्रदेशश्च जीवप्रदेशः, स एव(नोजीवो त्ति) स एव जीवादव्यतिरिक्तो जीवप्रदेशो नोजीव इत्येवमिच्छति समभिरूढनयः, न पुनर्ज्जीवदलं जीवात्पृथग्भूतं तत्खण्डं नो जीवमिच्छत्यसौ, यथा गृहकोकिलाऽऽदीनां पुच्छाऽऽदिखण्डं नोजीवं त्वमिच्छसीति। अपि च–नोजीवमिच्छन्नपि समभिरूढनयो यथा त्वं तथा नोजीवराशेर्जीवाजीवराशिद्वयाद्वेदं नेच्छति, किं तु जीवा–जीवलक्षणं राशिद्वयमेवेच्छति, नोजीवस्यात्रैवान्तर्भावात्। तथाऽन्योऽपि नैगमाऽऽदिर्नयो जीवाऽजीवेभ्योऽधिकं किमपि नोजीववस्तु नेच्छत्येव। ततस्त्वदीय एवायं नूतनः कश्चिन्मार्ग इति।

तथाऽभ्युपगम्यापि सूरिराह–

इच्छउ व समभिरूढो, देसं नोजीवमेगनइयं तु।
मिच्छत्तं सम्मत्तं, सव्वनयमयावरोहेणं ॥२४७९॥
तं जइ सव्वनयमयं, जिणमयमिच्छसि पवज्ज दो रासी।
पयविप्पडिवत्तीए, वि मिच्छत्तं किं नु रासीसु? ॥२४८०॥

इच्छतु वा समभिरूढनयस्त्वमिव जीवाद्भिन्नमपि तद्देशं नोजीवं, तथाऽप्येकनयस्येदं मतमैकनयिकं, मिथ्यात्वं चैतच्छाक्यमतवत्, इत्यतो न तत्प्रमाणीकर्तव्यम्। सम्यक्त्वं तु सर्वनयमतावरोधेन समस्तनयमतसंग्रहेणैव भवति। ततो यदि सर्वनयमयं जिनमतं प्रमाणमिच्छसि, तदा प्रतिपद्यस्व जीवाजीवलक्षणौ द्वावेव राशी। अन्यथा–''पयमक्खरं पि एक्कं, पिजो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं। सेसं रोयंतो वि हु, मिच्छद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१॥'' इत्यादिवचनात्पदविप्रतिपत्त्याऽपि मिथ्यात्वमापद्यते, किमुत सकलेषु राशिषु विप्रतिपत्त्या तन्न भविष्यति? इति ॥२४८०॥

तदेवं युक्तिभिर्गुरुणा संबोध्यमाने रोहगुप्तेऽग्रतः किं संजातम्? इत्याह–

एवं पि भण्णमाणो, न पवज्जइ सो जओ तओ गुरुणा।
चिंतियमयं पणट्ठो, नासिहई मा बहुं लोगं ॥२४८१॥
तो णं रायसभाए, निग्गिण्हामि बहुलोगपच्चक्खं।
बहुजणनाओऽवसिओ, होही अग्गेऽझपक्खो त्ति ॥२४८२॥
तो बलसिरिनिवपुरओ, वायं नाओवणीयमग्गाणं।
कुणमाणाणमईया, सीसाऽऽयरियाण छम्मासा ॥२४८३॥
एक्को वि नावसिज्झइ, जाहे तो भणइ नरवई नाऽहं।
सत्तो सोउं सीयंति रज्जकज्जाणि मे भगवं! ॥२४८४॥
गुरुणाऽभिहिओ भवओ, सुणावणत्थमियमेत्तियं भणियं।
जइ सि न सत्तो सोउं, तो निग्गिण्हामि णं कल्लं ॥२४८५॥

प्रकटार्था एवैताः नवरम्– (बहुजणनाओऽवसिओ त्ति) बहुजनस्य ज्ञातो विदितोऽवसितो मया जितः सन्नग्राह्यवचनः सर्वस्याऽपि भविष्यति। (तो बलसिरिनिवपुरओ त्ति) ततो बलश्रीनाम्नो राज्ञः पुरत इत्यर्थः। (नाओवणीयमग्गाणं ति) नीयते संवित्तिं प्राप्यते वस्त्वनेनेति न्यायः प्रस्तुतार्थसाधकं प्रमाणं, येनोपन्यस्तेन सतोपनीतो ढौकितः प्रसङ्गे नाऽऽगतः सकलस्याऽपि तर्कस्य मार्गो येषां ते तथा, तेषां न्यायोपनीतमार्गाणां रोहगुप्तश्रीगुप्तसूरीणामिति।

ततो द्वितीयदिने किमभूदित्याह–

बीयदिणे बेइ गुरू, नरिंद! जं मेइणीऐं सब्भूयं।
तं कुत्तियावणे सव्वमत्थि सव्वप्पतीयमियं ॥२४८६॥
तं कुत्तियावणसुरो, नोजीवं देइ जइ न सो नत्थि।
अह भणइ नत्थि तो नत्थि किं व हेउप्पबंधेणं ॥२४८७॥
तं मग्गिज्जउ मुल्लेण सव्ववत्थूणि किं त्थ कालेणं।
इय होउ त्ति पवन्ने, नरिंदपइवाइपरिसाहिं ॥२४८८॥
सिरिगुत्तेणं छलुगो, छम्मासा विकड्ढिऊण वाऐं जिओ।
अहरण कुत्तियावण, चोयालसएण पुच्छाणं ॥२४८९॥

द्वितीयदिने ब्रवीति गुरुः श्रीगुप्तसूरिः–नरेन्द्र! पृथ्वीपते! इह मेदिन्यां पृथिव्यां यत्किमपि सद् भूतं विद्यमानं वस्तु तत्सर्वमपि कुत्रिकाऽऽपणेऽस्तीति सर्वजनस्य भवतां च प्रतीतमेवेदम्। तत्र कूनां स्वर्गपातालमर्त्यभूमीनां त्रिकं कुत्रिकम्, तात्स्थ्यात्तद्व्यप–देश इति कृत्वा, तत्स्थलोका अपि कुत्रिकमुच्यते, कुत्रिकमापण–यति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिकाऽऽपणः। अथवा–धातुजीवमूललक्षणेभ्यस्त्रिभ्यो-जातं त्रिजं, सर्वमपि वसित्वत्यर्थः। को पृथिव्यां त्रिजमापणयति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिजाऽऽपणः, अस्मिंश्च कुत्रिकाऽऽपणे वणिजः कस्याऽपि मन्त्राऽऽद्याराधितः सिद्धो व्यन्तरसुरः क्रायकजनसमीहितं सर्वमपि वस्तु कुतोऽप्यानीय संपादयति। तन्मूल्यद्रव्यं तु वणिगेव गृह्णाति। अन्ये तु वदन्तिवणिग्– रहिताः सुराधिष्ठिता एव ते आपणा भवन्ति। ततो मूल्यद्रव्यमपि स एव व्यन्तरसुरः स्वीकरोति। एते च कुत्रिकाऽऽपणाः प्रतिनियतेष्ववोज्जयिनीभृगुकच्छनगराऽऽदिस्थानेषु क्वापि कियन्तोऽप्यासन्नित्यागमेऽभिहितम्। ततस्तस्मात् कुत्रिकाऽऽपणसुरो यदि मूल्येन याचितः सन् नोजीवं जीवाजीवव्यतिरिक्तं वस्तुरूपं कमपि ददाति, तदाऽसौ न नास्ति, अपि तु निर्विवादमस्त्येव। अथायमेव वदति–नास्ति तद् व्यतिरिक्तः कोऽपि नोजीवः, तदा नास्त्येवाऽसौ, किं तन्नास्तित्वसाधनाय युष्मद्राज्यप्रयोजनक्षतिकारिणा क्लेशफलेन हेतुप्रबन्धोपन्यासेन? इति। तत्तस्माद् याच्यन्तां मूल्येन सर्ववस्तूनि कुत्रिकाऽऽपणसुरः, किमत्र कालेन कालविलम्बेन? इत्यर्थः। एवं गुरुभिरुक्ते बलश्रीनरेन्द्रेण, प्रतिवादिना रोहगुप्तेन, सभ्यपर्षदा च युक्तियुक्तत्वादेवं भवतु इति प्रतिपन्ने श्रीगुप्ताऽऽचार्ये ण षडुलूको रोहगुप्तः पूर्वं षण्डासान्विकृष्यातिबाह्य वादे जितो निगृहीतः। केन? इत्याह–कुत्रिकाऽऽपणे यानि वक्ष्यमाणभूजलज्वलनाऽऽद्याहरणानि उदाहरणानि तद्विषयपृच्छानां चतुश्चत्वारिंशेन शतेन, प्राकृतशैल्या छन्दोबन्धाऽऽनुलोम्यादार्षत्वादत्र व्यत्ययेन निर्देश इति ॥२४८६॥२४८८॥२४८९॥

कथं पुनरिदं चतुश्चात्वारिंशं शतं पृच्छानां भवतीत्याह–

भूजलजलणानिलनह–कालदिसाऽऽया मणो य दव्वाइं ।
भन्नंति नवेयाइं, सत्तरस गुणा इमे अन्ने ॥२४६०॥
रूवरस–गंधफासा, संखा परिमाणमहमह पुहुत्तं च ।
संजोगविभागपरा–परत्तबुद्धी सुहं दुक्खं ॥२४६१॥
इच्छा दोसपयत्ता, एत्तो कम्मं तयं च पंचविहं ।
उक्खेवणऽवक्खेवण–पसारणाऽऽकुंचणं गमणं ॥२४६२॥
सत्ता सामण्णं पि य, सामण्णविसेसया विसेसो य ।
समवाओ य पयत्था, छ च्चत्तीसप्पभेया य ॥२४६३॥
पगईएँ अगारेण य, नोगारोभयनिसेहओ सव्वे ।
गुणिया ओयालसयं, पुच्छाणं पुच्छिओ देवो ॥२४६४॥

इह द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणाः षड् मूलपदार्थास्तेन षड्लूकेन कल्पिताः । तत्र द्रव्यं नवधा । कथम्? इत्याह–(भूजलेत्यादि) भूमिः, जलं, ज्वलनः, अनिलः, नभः, कालः, दिक्, आत्मा, मनश्चेत्येतानि नव द्रव्याणि भण्यन्ते । गुणाः सप्तदश भवन्ति । तद्यथा–रूपं, रसः, गन्धः, स्पर्शः, संख्या, परिमाणं, महत्त्वं, पृथक्त्वं, संयोगः, विभागः, परापरत्वे, बुद्धिः, सुखं, दुःखम्, इच्छा, द्वेषः, प्रयत्नश्चेति । इतः कर्म । तत्पुनः पञ्चविधम् । तद् यथा–उत्क्षेपणम्, अवक्षेपणम्, आकुञ्चनं, प्रसारणं, गमनमिति । सामान्यं त्रिविधम् । तद्यथा–सत्ता, सामान्यं, सामान्यविशेषश्चेति । तत्र द्रव्यगुणकर्मलक्षणेषु त्रिषु पदार्थेषु सद् बुद्धिहेतुः सत्ता । सामान्यं द्रव्यत्वगुणत्वाऽऽदि । सामान्यविशेषस्तु–पृथ्वीत्वजलत्वकृष्णत्वनीलत्वाऽऽद्यवान्तरसामान्यरूप इति । अन्ये त्वित्थं सामान्यस्य त्रैविध्यमुपवर्णयन्तिअविकल्पं महासामान्यं, त्रिपदार्थहेतुसद् बुद्धिभूता सत्ता, सामान्यविशेषो द्रव्यत्वाऽऽदि । महासामान्यसत्तयोर्विशेषणव्यत्यय इत्यन्ये । द्रव्यगुणकर्म्मपदार्थत्रयसद्बुद्धिहेतुः सामान्यम्, अविकल्पा सत्तेत्यर्थः । सामान्यविशेषस्तु द्रव्यत्वाऽऽदिरूप एव । इत्यलं प्रसङ्गेनेति । विशेषश्चान्त्यः । समवायपदार्थश्चेति । तदेवमेते द्रव्याऽऽदयः षट् पदार्थाः षड् त्रिंशत्प्रभेदाः नवानां द्रव्याणां, सप्तदशानां गुणानां, पञ्चानां कर्मणां, त्रयाणां सामान्यानां, विशेषसमवाययोश्च मीलने, षट्त्रिंशद्विकल्पा भवन्तीत्यर्थः । एते च सर्वे प्रकृत्या, अकारेण नोकारेण, उभयनिषेधतश्चेत्येतैश्चतुर्भिः प्रकारैर्गुणिताः सन्तो यच्चतुश्चत्वारिंशं शतं पृच्छानां भवति तत्पृष्टः कुत्रिकाऽऽपणदेवः । इदमत्र हृदयम्–नञ् रहितं शुद्धं पदमिह प्रकृतिरुच्यते, तया शुद्धपद–रूपया प्रकृत्या पृथिव्यादयः पदार्थाः पृच्छ्यन्ते । तद्यथा–''पृथिवीं देहि'' इत्यादि । तथा लुप्तस्य नञः स्थाने योऽकारस्तेन चाकारेण संयुक्तया प्रकृत्या पृच्छा विधीयते । यथा–'अपृथिवीं देहि' इत्यादि । तथा नोकारेण संयुक्तया प्रकृत्या पृच्छा । यथा–'नोपृथ्वीं देहि' इत्यादि । तथा नोकाराकारलक्षणं यदुभयं तेन योऽसौ प्रकृत्या निषेधः तस्माच्च पृष्टः सुरः । यथा–''नोअपृथ्वीं देहि'' इत्यादि । एवं जलाऽऽदिष्वपि प्रत्येकमेते प्रकृत्यकारनोकारोभयनिषेधलक्षणाश्चत्वारः पृच्छाप्रकारा वक्तव्या इति । एतदभिप्रायवता प्रोक्तम्– (सव्वे गुणिय त्ति) आहननु ''पृथ्वीं देहि'' इत्यादिका याचना *एव कथं पृच्छाः प्रोच्यन्ते? सत्यं, किं तु 'पृथ्वीं देहि' इत्यादियाचनाद्वारेण पृथिव्याद्यस्तित्वमेवासौ देवः पृच्छ्यते, नोजीवं याचितो यद्यसौ जीवाजीवव्यतिरिक्तं तं दास्यति तदाऽयमस्ति, नान्यथा इत्येवमेव प्रतिज्ञातत्वात् । ततो याचना अददतास्तत्त्वतः पृच्छा एवेत्यदोषः ।*

कथं पुनरेताः कुत्रिकाऽऽपणसुरस्य पृच्छाः कृताः? इत्याशङ्क्य दिग्मात्रोपदर्शनार्थमाद्यं पृथ्वीलक्षणं भेदमधिकृत्याऽऽह–

पुढवि त्ति देह लेट्ठुं, देसो वि समाणजाइलिंगो त्ति ।
पुढवि त्ति सो अपुढविं, देहि त्ति य देइ तोयाऽऽइ ॥२४६५॥

पृथ्वीं याचितः कुत्रिकाऽऽपणसुरो लेष्टुं ददाति । आह–अप्रस्तुतमिदम्, अन्यस्मिन्याचिते अन्यस्य प्रदानात् । नैवम् । कुतः? इत्याह–(देसो वीत्यादि) देशोऽपि लेष्टुलक्षणः (पुढवि त्ति) पृथिव्येव मन्तव्या, पृथिवीत्वलक्षणाया जातेः स्त्रीलिङ्गलक्षणस्य लिङ्गस्य च समानत्वात् । इह यत्र पृथ्वीत्वजातिः स्त्रीलिङ्गं च वर्तते तत् पृथिवीति व्यवहर्त्तव्यं, यथा–रत्नप्रभाऽऽदि,तथा च लेष्टुः, तस्मात्पृथ्वीति । अपृथिवीं देहीत्येवंयाचितोऽसौ देवस्तोयाऽऽदि प्रयच्छति ॥२४६५॥

नोपृथ्वीं याचितस्तर्हि किं ददातीत्याह–

देसपडिसेहपक्खे, नोपुढविं देइ लेट्ठुदेसं सो ।
लेट्ठुदव्वावेक्खो, कीरइ देसोवयारो से ॥२४६६॥
इहरा पुढवि च्चिय सो, लेट्ठु व्व समाणजाइलक्खणओ ।
लेट्ठुदलं ति व देसो, जइ तो लेट्ठू वि भूदेसो ॥२४६७॥

नोशब्दस्य देशप्रतिषेधपक्षे नोपृथ्वीं याचितोऽनन्तरमेव समस्तपृथ्वीत्वेनोपचरितस्य लेष्टोरेव देशं तत्खण्डरूपं ददात्यसौ देवः । आह–ननु देशनिषेधपक्षे नोपृथ्वी तद्देश एव गृह्यते, यस्तु लेष्टुदेशः स पृथिवीदेशस्याऽपि देश एव, न तु पृथ्वीदेशः, तत्कथं नोपृथिवीं याचितस्तं ददाति? इत्याह– (लेट्ठुदव्वेत्यादि) लेष्टुद्रव्यापेक्षः 'से' तस्य लेष्टुदेशस्य देशोपचारः क्रियते । इदमुक्तं भवतिलेष्टौ तावदनन्तरोक्तयुक्तेः सम्पूर्णपृथ्वीद्रव्यत्वमारोपितं, ततो लेष्टुलक्षणपृथ्वीद्रव्यापेक्षया तद्देशस्याऽपि पृथ्वीदेशत्वमुपचर्यते, इतरथा अन्यथा पुनः परमार्थतो लेष्टुवत्समानजात्यादिलक्षणत्वादिति पूर्वोक्तहेतोः सोऽपि लेष्टुदेशः पृथिव्येव मन्तव्या । अथ पराभिप्रायमाविष्कृत्य परिहारार्थमाह–(लेट्ठुदलं ति व देसो जइ त्ति) यदि तु भोः पर! त्वं मन्यसेयोऽयं लेष्टोर्देशः स दलं लेष्टोरेव खण्डमात्रं, ततः समानजातिलक्षणत्वेऽपि नाऽसौ पृथ्वीति । अत्र परिहारमाह–(तो लेट्ठू वि भूदेसो त्ति) ततस्तर्हि ''पुढवि त्ति देइ लेट्ठुं देसो वि'' इत्यादौ यः पूर्वं लेष्टुः पृथ्वीत्वेनोक्तः सोऽपि भुवः पृथिव्या देश एव । ततस्त्वदभिप्रायेण सोऽपि पृथ्वीदलरूपत्वाद् न पृथ्वी, लेष्टुदेशवदिति ॥२४६६॥२४६७॥

अस्त्वेवमिति चेत्, तदयुक्तम् । कृतः? इत्याह–

देहि भुवं तो भणिए, सव्वाऽऽणेया न यावि सा सव्वा ।
सक्का सक्केण वि याणेउं किमुयावसेसेणं ? ॥२४६८॥

यदि लेष्टुर्न पृथ्वी, ततस्तर्हि भुवं देहीत्युक्ते सर्वाऽपि संपूर्णा साऽऽनेया प्रसज्यते, न च सा सर्वा शक्रेणाप्यानेतुं शक्या, किमुतावशेषेण कुत्रिकाऽऽपणदेवाऽऽदिमात्रेण? इति । तर्हि किमत्र तत्त्वम् ? इति भवन्त एव कथयन्तु इति ॥२४६८॥

इत्थं प्रेरके उपसन्ने दृष्टान्तोपन्यासद्वारेण सूरिः प्रस्तुतार्थनिर्णयमाह–

जह घडमाणय भणिए, न हि सव्वाऽऽणयणसंभवो किं तु।
देसाइविसिट्ठं चिय, तमत्थवसओ समप्पेइ ॥२४९९॥
पुढवि त्ति तहा भणिए, तदेगदेसे वि पगरणवसाओ।
लेट्ठम्मि जायइ मई, जहा तहा लेट्ठुदेसे वि ॥२५००॥

यथा सामान्येन घटमानय(पटमानय) इत्युक्तेऽपि न खलु सर्वस्याऽपि घटस्य सामान्यतयैवाऽऽनयनसंभवोऽस्ति, किं तु सर्वस्याऽऽनेतुमशक्यत्वात्, प्रायः सर्वेण प्रयोजनाभावाच्च, अर्थवशात्सामर्थ्यत एव नियतदेशकालाऽऽद्यवच्छिन्नं विशिष्टमेव कञ्चिद् घटमानीय समर्पयति, तथाऽत्रापि पृथ्वीं देहीति भणिते सर्वस्या आनेतुमशक्यत्वात्, प्रायस्तया प्रयोजनाभावाच्च, यथा तदेक–देशेऽपि पृथिव्येकांशेऽपि लेष्टौ देवस्य समर्पणमतिर्जायते। कुतः ? इत्याह–प्रकरणवशाद्, 'अनेनाऽपि तदेकदेशेन लेष्टुना प्रस्तुतार्थः सेत्स्यति' इत्येवं प्रस्तावववशादित्यर्थः। प्रकृतमाह–(तहा लेट्ठुदेसे वि त्ति) यथा पृथिवी देहीत्युक्ते सति प्रतिपादितन्यायेन तदेकदेशेऽपि लेष्टौ समर्पणमतिर्जायते। तथा तेनैव प्रकारेण नोपृथ्वीं देहीत्युक्ते तत्खण्डरूपे तदेकदेशेऽपि समर्पणबुद्धिरुत्पद्यत इति ॥२४९९॥२५००॥

आह–ननु ''इहरा पुढवि च्चिय सो, लेट्ठु व्व समाणजाइलक्खणओ।'' (२४९७) इति वचनाल्लेष्टुकदेशः पूर्वं भवद्भिः पृथिवी–त्वेनोक्तः स कथमिदानीं नोपृथिवी स्याद्? इत्याशङ्क्याऽऽह–

लेट्ठुदव्वावेक्खाए, तह वी तद्देसभावओ तम्मि।
उवयारो नो पुढवी, पुढवि च्चिय जाइलक्खणओ ॥२५०१॥

यद्यपि लेष्टुकदेशः पृथिव्येव, तथाऽपि (उवयारो ति) तस्मिन् लेष्टुकदेशे नोपृथिवीत्वस्योपचारः क्रियत इत्यर्थः। कया? इत्याह– लेष्टुद्रव्यापेक्षया लेष्टोः प्रागुक्तन्यायेन यत्पृथिवीद्रव्यत्वमारोपितं, तदपेक्षयेत्यर्थः। कुतः? इत्याह–तद्देशभावतो लेष्टुद्रव्यैकदेशत्वादित्यर्थः। प्रागुक्तन्यायेन तावल्लेष्टुरेवेह पृथ्वीद्रव्यं, तदपेक्षया च तदेकदेशे नोपृथ्वीत्युपचर्यत इति भावः। परमार्थतस्त्वियं लेष्टुकदेशलक्षणं नोपृथिव्येव मन्तव्यम्, समानजातिलक्षणत्वादिति को वै न मन्यते, अस्माभिरेव प्रागुक्तत्वात्, इदानीमपि च स्मर्यमाणत्वादिति? ॥२५०१॥

नोअकारोभयनिषेधपक्षमधिकृत्याऽऽह–

पडिसेहदुगं पगइं, गमेइ जं तेण नोअपुढवि त्ति।
भणिए पुढवि त्ति गई, देसनिसेहे वि तद्देसो ॥२५०२॥

''द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः'' इति वचनाद् नोकराकारलक्षणं प्रतिषेधद्वयं यस्मात्प्रकृतिं गमयति–प्रकृतमेवार्थं प्रतिपादयतीत्यर्थः। तेन कारणेन 'नोअपृथ्वी' इति भणिते नोशब्दस्य सर्वनिषेधपरत्वात् पृथिवीगतिर्भवतिपृथिव्याः प्रतिपत्तिर्भवतीत्यर्थः। (देसनिसेहे वि तद्देसो त्ति) देशनिषेधवाचके तु नोशब्दे तस्या जलाऽऽदिरूपाया अपृथिव्या एवोत्तरपदे श्रूयमाणाया देशस्तद्देशो गम्यते, देशनिषेधके नोशब्दे नोअपृथ्वी ति याचिते जलाऽऽदिरूपा पृथिव्येकदेशं देवो ददातीत्यर्थः ॥२५०२॥

अथ प्रस्तुतार्थतात्पर्यमाह–

उवयाराओ तिविहं, भुवमभुवं नोभुवं च सो देइ।
निच्छयओ भुवयभुवं, तह सावयवाइँ सव्वाइं ॥२५०३॥

स कुत्रिकाऽऽपणदेवो याचितः सन् वस्तु ददाति। कतिविधम्? किं वा तत्? इत्याह–त्रिविधं त्रिप्रकारं, चतुर्थस्य नोअभूपक्षस्य प्रथमपक्ष एवान्तर्भावात्। तत्र भुवं लेष्टुम्, अभुवं जलाऽऽदि, नोभुवं भूम्येकदेशं ददाति। कुतः? इत्याह–उपचाराद्– व्यवहारनयमताऽऽश्रयणादित्यर्थः, स एव हि देशदेशिव्यवहारं मन्यते, न तु निश्चय इति भावः। अत एवाऽऽह–(निच्छओ इत्यादि) निश्चयतस्तु भुवमभुवं चेत्येवं द्विविधमेव वस्तु ददाति, तृतीयस्य नोभूपक्षस्य देश–देशिव्यवहार एवोपपद्यमानत्वात्, तस्य च निश्चयनयेनानभ्युपगमादिति। तदेवं ''भूजलजलण''(२४९०) इत्यादौ पृथिव्याः प्रथमं निर्दिष्टत्वात्तामधिकृत्योक्तम्। अथ शेषाणि जलाऽऽदिवस्तून्यधिकृत्याऽऽहह–(तह सावयवाइं ति) न केवलमित्थं भुवं ददाति, तथा शेषाण्यपि जलाऽऽदिवस्तूनि ''पगईए अगारेणं'' (२४९४) इत्यादिप्रकारेण विशेष्य याचितः सन् व्यवहारनयमतेन यथोक्त–विधिना त्रिप्रकाराणि ददाति। कुतः? इति चेत्। उच्यते–यतः सावयवानिसदेशान्येतानि सर्वाण्यपि जलाऽऽदिवस्तूनि, अतस्तृतीयोऽपि देशविषयो दानप्रकार एतेषु संभवतीति भावः। निश्चयनयमतेन तु देशदेशिव्यवहाराभावादेतान्यपि जलाऽऽदीनि द्विप्रकाराण्येव ददातीति। तदेवं सावयवे वस्तुनि प्रकारत्रयेण प्रकारद्वयेन च यथोक्तरीत्या दानं संभवति ॥२५०३॥

अथ निरवयवे वस्तुनि प्रकारद्वयेनैव दानसंभव इति दर्शयन्नाह–

जीवमजीवं दाउं, नोजीवं जाइओ पुणरजीवं।
देइ चरिमम्मि जीवं, न तु नोजीवं सजीवदलं ॥२५०४॥

जीवं देहीति याचितः सुरो जीवं शुकसारिकाऽऽदिकं दत्त्वा, 'अजीवं देहि' इति याचितस्त्वजीवमुपलखण्डाऽऽदिकं दत्त्वा कृतार्थो जायते, नोजीवं याचितः पुनरजीवमुपलखण्डाऽऽदिकमेव ददाति, नोशब्दस्य सर्वनिषेधपरत्वात्। चरमे तु नोअजीवलक्षणे विकल्पे जीवमेव शुकाऽऽदिकं ददाति, द्वयोर्नञोः प्रकृतार्थगमकत्वात्, नोशब्दस्य च सर्वनिषेधकत्वादिति , न तु स कुत्रिकाऽऽपणदेवो जीवं जीवदलं जीवखण्डरूपं क्वापि विकल्पे ददाति। इति जीवाजीवलक्षणौ द्वावेव राशी, न तु तृतीयः, असत्त्वात्, खरविषाणवदिति ॥२५०४॥

ततः किमभूदित्याह–

तो निग्गहिओ छलुओ, गुरू वि सक्कारमुत्तमं पत्तो।
धिद्धिक्कारोवहओ, छलुओ वि सभाहिँ निच्छूढो ॥२५०५॥

ततो यदा कुत्रिकाऽऽपणसुरेण जीवव्यतिरिक्तो नोजीवो न दत्तः, असत्त्वात्, तदा निगृहीतो निर्जितः षड्लूकः। गुरुरपि श्रीगुप्ताऽऽचार्यो–नरनाथाद् लोकाच्च सत्कारमुत्तमं प्राप्तः। षड्लूकोऽपि गुरुप्रत्यनीकत्वाज्जनप्रयुक्तधिक्कारोपहतो राजसभातो निष्काशित इति ॥२५०५॥

ततः किम्? इत्याह–

वाए पराजिओ सो, निव्विसओ कारिओ नरिंदेण।

घोसावियं च नयरे, जयइ जिणो वद्धमाणो त्ति ॥२५०६॥
तेणाभिनिवेसाओ, समयविगिप्पियपयत्थमादाय।
वइसेसियं पणीयं, फाईकयमन्नमन्नेहिं ॥२५०७॥

स रोहगुप्तो गुरुणा वादे पराजितः सन् नरपतिना निर्विषयः समाज्ञातः, पटहकेन च वाद्यमानेन घोषापितं समस्तनगरे–''जयति जिनः श्रीमान्वर्द्धमानः'' इति। रोहगुप्तस्य च वादे निर्जितस्याऽपि प्रत्यनीकतोद्वेजितेन गुरुणा खेलमल्लकः शिरसि स्फोटितः। ततो भस्मखरण्टितवपुषा तेनाभिनिवेशात्स्वमतिकल्पितान् द्रव्याऽऽदिपदार्थानाश्रित्य वैशेषिकमतं प्रणीतं, तच्चान्यान्यैस्तच्छिष्याऽऽदिभिरियनतं कालं *यावत्स्फातिमानीतमिति ॥२५०६॥२५०७॥*

ननु रोहगुप्त इत्येवास्य नाम, तत्कथं षडुलूक इत्य–
सकृत्प्रागुक्तोऽसौ? इत्याह–

नामेण रोहगुत्तो, गुत्तेण य लप्पए स चोलूओ।
दव्वाऽऽइछप्पयत्थो–वएसणाओ छलूओ त्ति ॥२५०८॥

नाम्नाऽसौ रोहगुप्तो गोत्रेण च पुनरुलूकगोत्रसम्भूतत्वादसावुलूक इत्यालप्यते–द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणषट् पदार्थप्ररूपणेन षट् पदार्थप्रधान उलूकः षडुलूक इत्ययं व्यपदिश्यते ॥२५०८॥ विशे० सूत्र० कल्प० स० आ०म० आ०चू० नपुंसके, पिं०

तेरिच्छिय त्रि०(तैरश्चिक,तैर्यग्योन) तिर्यग्योनिभ्यो भवस्तैर्यग्योनः। तिर्यग्योनिकृते, विशे०

तेल पुं०न०(तैल) प्राकृतत्वात्पुंस्त्वम्। तिलस्य विकारः, अण्। **''तैलाऽऽदौ वा'' ॥८।२।९८॥** इत्यनादौ वर्त्तमानस्य व्यञ्जनस्य वा द्वित्वम्। प्रा०२ पाद। ''तिलाऽऽदिस्निग्धवस्तूनां, स्नेहस्तैलमुदाहृतम्।'' इत्युक्ते तिलसर्षपातसीप्रभृतीनां स्निग्धवस्तूनां स्नेहरूपे विकारे, वाच० ''चत्तारि होंति तेल्ला, तिलअयसिकुसुंभसरिसवाणं च। विगईओ सेसाइं, डोलाईणं न वि गईओ ॥१॥'' पं०व०२ द्वार। स्था० उत्तरत्र स्थितस्य चात्र संबन्धात् तैलानि चत्वारि भवन्ति। केषां संबन्धीनि? तत्राऽऽह–तिलातसीकुसुम्भसर्षपाणां, शेषाणां डोलाऽऽदीनां मधूकफलाऽऽदीनाम्, आदिशब्दान्नालिकेरएरण्डशिंशपाऽऽदीनां संबन्धीनि तैलानि न विकृतयः। प्रव० ४ द्वार। ध० अनु० सूत्र० ज्ञा० आ०चू० नि०चू० नि० आव०

तेलकेला स्त्री०(तैलकेला) सौराष्ट्रप्रसिद्धे मृन्मये तैलभाजनविशेषे, स च भङ्गभयात् सुष्ठु संगोप्यते। ज्ञा०१ श्रु०१अ० भ० तं० नि०

तेलचम्म न०(तैलचर्म) तैलाभ्यक्तस्य यत्र स्थितस्य संवाधना क्रियते तत्तैलचर्म। ज्ञा०१ श्रु०१ अ० तैलाभ्यक्तस्य संवाधनाकरणसाधने चर्मणि, औ०

तेलुक्क न०(त्रैलोक्य) त्रयो लोकास्त्रिलोकाः,त्रिलोका एव त्रैलोक्यम्। भेषजाऽऽदित्वात्स्वार्थे ष्यण् प्रत्ययः। नं० ''ऐत एत्'' ॥८।१।१४८॥ इत्यादौ वर्त्तमानस्यैकारस्य एत्वम्। प्रा०१ पाद। भुवनपतिव्यन्तरविद्याधरज्योतिष्कवैमानिकेषु, नं० स्वर्गमर्त्यपाताललक्षणे तन्निवासिप्राणिगणे। ग०१ अधि० भुवनत्रये, प्रश्न०५ सम्ब०द्वार। ''तेलुक्कणमियकमजुयला।'' त्रैलोक्येन स्वर्गमर्त्यपाताललक्षणेन, तन्निवासिप्राणिगणेनेत्यर्थः। नमितं क्रमयुगलं येषां ते त्रैलोक्यनमितक्रमयुगलाः। ग०१ अधि० ''तेलुक्करंगमज्झे।'' त्रैलोक्यमेव यो रङ्गः। मल्लयुद्धमण्डपे, कल्प०५ क्षण।

तेलुक्कगुरु पुं०(त्रैलोक्यगुरु) त्रैलोक्यवासिसत्त्वेभ्यो गृण्हाति शास्त्रार्थमिति त्रैलोक्यगुरवः, तद् गुणाधिकत्वान्माननीयत्वाद्वा। तीर्थकरेषु, पं०सू० १सूत्र०

तेलुक्कदंसि(ण्) पुं०(त्रैलोक्यदर्शिन्) सर्वज्ञे, ज्ञा०

तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइय *पुं०(त्रैलोक्यनिरीक्षितमहितपूजित)* निरीक्षिताश्च महिताश्च पूजिताश्चेति निरीक्षितमहितपूजिताः। त्रैलोक्येन निरीक्षितमहितपूजिताश्च ये ते तथा। सर्वज्ञे, नं०

तेलुक्कमत्थयत्थ पुं०(त्रैलोक्यमस्तकस्थ) त्रैलोक्यस्य मस्तके सर्वोपरिवर्ती सिद्धिक्षेत्रविभागस्तस्मिंस्तिष्ठतीति त्रैलोक्यमस्तकस्थः। ष० १५ विव० स्कललोकचूडामणिभूते, पं० व०४ द्वार।

तेलुक्कसुंदर पुं०(त्रैलोक्यसुन्दर) त्रिषु लोकेषु प्रधाने, ष० १५ विव० त्रैलोक्यसुन्दरतायाम्, त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्नपि जगति शेषवस्तुभ्यः सुन्दरता शोभनता तां तथोक्ताम्। ष० १५ विव०

तेलोक्कदेवमहिय पुं०(त्रैलोक्यदेवमहित) भुवनत्रयवासिभिः सुरासुरैरभ्यर्चितेषु, बृ०३उ०।त्रिभुवनवासिभिर्भवनपत्यादिभिर्देवैर्महितेषु, व्य०२उ०

तेल्ल पुं०(तैल) 'तेल' शब्दार्थे, प्रा०२ पाद।

तेल्लकेला स्त्री०(तैलकेला) 'तेलकेला' शब्दार्थे , ज्ञा०१ श्रु०१ अ०

तेल्लग पुं०(तैलक) सुराविशेषे, जी०३प्रति०४उ०

तेल्लचम्म न०(तैलचर्म) 'तेलचम्म' शब्दार्थे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०

तेल्लपल्ल न०(तैलपल्य) तैलपेढाऽऽख्ये सौराष्ट्रप्रसिद्धे मृन्मये तैलस्य भाजनविशेषे, स च भङ्गभयात्सुष्ठु सङ्गोप्यते। दशा० १० अध्या०

तेल्लपाइया स्त्री०(तैलपायिका) जीवभेदे, ''तेल्लपाइयातो तातो तिक्खेहिं तुंडेहिं अतीव दंसंति।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड।

तेल्लपूय पुं०(तैलपूप) तैलप्रधाने पूपे, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०९ उ० जी०

तेल्लपूयसंठाणसंठिय पुं०(तैलपूपसंस्थानसंस्थित) तैलेन पक्वः पूपस्तैलपूपः। तैलेन हि पक्वोऽपूपः प्रायः परिपूर्णवृत्तो भवति न घृतपक्व इति तैलविशेषसाम्यम्,तस्येव यत्संस्थानं तेन संस्थितः। तस्मिन्, अत्र तैलाऽऽदित्वाल्लकारस्य द्वित्वम्। जं० १वक्ष० जी०

तेल्लसमुग्गय पुं०(तैलसमुद्गक) सुगन्धितैलाऽऽधारविशेषे, उक्तं च जीवाभिगममूलटीकायाम्–''तैलसमुद्गकः सुगन्धितैलाऽधारः।'' जी०३ प्रति०४ उ० रा०

तेल्लसुरभियाकरण न०(तैलसुरभिकाकरण) स्त्रीणां षट् त्रिंशत्कायां कलायाम्, कल्प०७क्षण।

तेल्लिय त्रि०(तैलिक) तैलविक्रयकारिणि,व्य०६ उ०। आव०।

तेल्लोक्कविहियमहियपूइय पुं०(त्रैलोक्यविहितमहितपूजित) त्रैलोक्येन त्रिलोकवासिना जनेन (विहिय त्ति) समग्रैश्वर्याऽऽद्यतिशयसंदोहदर्शनसमाकुलचेतसा हर्षभरनिर्भरेण प्रबलकुतूहल-बलादनिमिषलोचनेनावलोकितः। (महिय त्ति) सेव्यतया वाञ्छितः पूजितश्च पुष्पाऽऽदिभिर्यः स तथा। तस्मिन्, उपा०७ अ०।

तेल्लोक्कसक्कय पुं०(त्रैलोक्यसत्कृत) लोकत्रयपूजिते, पा०।

तेवँ अव्य०(तथा) प्राकृतलक्षणेन निष्पन्नस्य तेम इत्यस्य **''मोऽनुनासिको वो वा''** ॥८।४।३९७॥ इत्यपभ्रंशेऽनादौ वर्तमानस्यासंयुक्तस्य मकारस्यानुनासिको विकल्पेन वँकारः। क्वचिल्लाक्षणिकस्याऽपि। तेन प्रकारेणेत्यर्थे, प्रा०४ पाद।

तेवग्ग पुं०(त्रिवर्ग) त्रयो वर्गास्त्रिवर्गाः। लोकरूढ्या धर्मार्थिकामेषु, नं०।

तेवट्ठि स्त्री०(त्रिषष्टि) त्र्यधिकायां षष्टिसंख्यायाम्, ''तेवट्ठीए राइंदिएहिं।'' स०६३ सम०।

तेवड त्रि०(तावत्) **''वा यत्तदेतोर्डेवडः''** ॥८।४।४०७॥ इत्यपभ्रंशे तावतो वकारस्य मित्संज्ञकः 'एवड' इत्यादेशः। प्रा०४ पाद। तत्परिमाणवति, वाच०।

तेवण्ण (त्रिचत्वारिंशत्) **''गोणाऽऽदयः''** ॥८।२।१७४॥ इति निपातनात् त्रिचत्वारिंशदित्यस्य 'तेवण्ण' इत्यादेशः। त्र्यधिकायां चत्वारिंशत्संख्यायाम्, प्रा०२ पाद।

तेवत्तरि स्त्री०(त्रिसप्तति) त्र्यधिकायां सप्ततिसंख्यायाम्, स०७२ सम०।

तेवीस स्त्री०(त्रयोविंशति) **''एत्त्रयोदशाऽऽदौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन''** ॥८।१।१६५॥ इत्यादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एकारः। इयधिकायां विंशतिसंख्यायाम्, प्रा०१ पाद।

***त्रयोविंश** त्रि०। त्र्यधिकविंशतिसंख्यापूरके, प्रा०१ पाद।

तेवीसइम त्रि०(त्रयोविंशतितम) त्र्यधिकविंशतिसंख्यापूरके, स्था० ६ ठा०।

तेहिं अव्य०(तेहिं) **''तादर्थ्ये केहिं-तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेणाः''** ॥८।४।४२५॥ इत्यपभ्रंशे तादर्थ्ये द्योत्ये 'तेहिं' इति निपातः। प्रा०४ पाद।

तेहु त्रि०(तादृश) **''यादृक्-तादृक्-कीदृगीदृशां दादेर्डेहुः''** ॥८।४।४०२॥ इत्यपभ्रंशदादेरवयवस्य मित्संज्ञक 'एहु' इत्यादेशः। तथाविधेऽर्थे, प्रा०४ पाद।

तो पुं०(तस्मात्) **''तदो डोः''** ॥८।३।६७॥ इति तच्छब्दात्परस्य डसेर्डो इत्यादेशः। प्रा०३ पाद। मं०।

तोअअ (देशी) चातके, दे०ना० ५ वर्ग १८ गाथा।

तोक्कअ (देशी) अनिमित्ततत्परे, दे०ना० ५ वर्ग १८ गाथा।

तोड धा०(तड) **भेदे. तड-पर०-सक०-सेट।** ''तडेस्तोड०-'' ॥८।४।११६॥ इत्यादिना 'तोड' इत्यादेशः। 'तोडइ'। तुडति। प्रा०४ पाद। आचा०।

तोडन न०(तोदन) व्यथने, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०। असहने, दे०ना० ५ वर्ग १८ गाथा।

तोडहिया स्त्री०(तोडहिका) 'खरमुही' इत्याख्ये वाद्यविशेषे, आचा०२ श्रु०२ चू०४उ०।

तोड्ड पुं०(तोड्ड) चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

तोण पुं०(तूण) **''स्थूणा तूणे वा''** ॥८।१।१२५॥ इति तूणस्योत ओत्वम्। प्रा०१ पाद। शरभस्त्रायाम्, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। शरधीत्यपरनामधेये वाणाऽऽश्रये, विपा०१ श्रु० ३ अ०। जी०। इषौ, नि०१ श्रु०१ वर्ग१ अ०।

तोणीर पुं०(तूणीर) **''ओत्कूष्माडी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूल्ये''** ॥८।१।१२४॥ इत्यत ओत्वम्। प्रा०१ पाद। इषुधौ, वाच०।

तोण्ड न०(तुण्ड) **''ओत्संयोगे''** ॥८।१।११६॥ इति संयोगे परे आदेरुत ओत्वम्। मुखे, प्रा०१ पाद।

तोतडी (देशी) करम्बे, दे०ना० ५ वर्ग ४ गाथा।

तोतातिग पुं०(तौतातिक) मीमांसकभेदे, नित्यमुत्कृष्टं च निरतिशयं यत्सुखं तद् व्यक्तिर्मुक्तिरिति तौतातिकाः। द्वा० ३१ द्वा०।

तोदग त्रि०(तोदक) व्यथके, उत्त० २० अ०।

तोमर पुं०(तोमर) वाणविशेषे, जं०३ वक्ष०। प्रश्न०। आचा०। ''असिसत्तिकोंततोमरसूलतिसलेसु सूइवियगासु।'' सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०। औ०।

तोमरिअ (देशी) शस्त्रप्रमार्जके, दे०ना० ५ वर्ग ४ गाथा।

तोमरी (देशी) वल्ल्याम्, दे०ना० ५ वर्ग १७ गाथा।

तोय न०(तोय) जले, व्य०२ उ०। आव०। व्यथायाम्, स्था० ४ ठा०४उ०।

तोयधारा स्त्री०(तोयधारा) ऊर्ध्वलोकवास्तव्यायां पश्चिम्यां दिक्कुमारिकायाम्, आ०म१अ०१खण्ड। आव०। ति०।आ० चू०। जं०। ''अष्टोर्ध्वलोकादेत्यैताः, नत्वाऽर्हन्तं समातृकम्। तत्र गन्धाम्बुपुष्पौघवर्षं हर्षाद्वितेनिरे ॥१॥'' आ०क०।

तोयपिट्ठ न०(तोयपृष्ठ) जलोपरितनभागे, औ०।

तोरण न०(तोरण) द्वारावयवविशेषे, पञ्चा०२ विव०। स्था०। आचा०। रा०। प्रश्न०। जी०। प्रज्ञा०। औ०। स०। बहिर्द्वारि स्तम्भोपरिस्थे सिंहाऽऽकारे काष्ठे, द्वारबाह्यभागे च, कन्धरायाम्, न०। वाच०। स्था०।

तोरणमादि न०(तोरणाऽऽदि) इह मकारः प्राकृतत्वात्। द्वारावयवविशेषप्रभृतिषु, आदिशब्दात्पीठदेवच्छन्दकपुष्पकरिण्यादिपरिग्रहो भवति। पञ्चा०२ विव०।

तोरामदा न०(त्वरामत्) नेत्ररोगभेदे, ''सब्भूकडक्खा तोरामदा महालसा वंका विवंका कसीला अदक्खिन्नआ काणक्खिन्नआ।'' महा०३अ०।

तोल पुं०(तोल) मगधदेशप्रसिद्धे पले, तं०। गुर्ज्जाऽशीतिपरिमाणे कर्षे, वाच०। स्वार्थे कन्, ण्वुल् वा। तोलकमप्यत्र। वाच०।

तोलण न०(तोलन) माने, आचा०१ श्रु०४ चू०१ अ०। पुरुषे, दे०ना० ५ वर्ग १७ गाथा।

तोवड (देशी) कर्णाऽऽभरणभेदे, कमलकर्णिकायां च। दे०ना० ५ वर्ग २३ गाथा।

तोस पुं०(तोष) प्रमोदे, पञ्चा०२ विव०। धने, दे०ना० ५ वर्ग १७ गाथा।

तोसग पुं०(तोसक) स्वनामख्यातेऽवन्तिराजे, ति०।

***तोषक** त्रि०। परितोषकारके, वाच०।

तोसलि(ण्) पुं०(तोसलिन्) स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र गच्छन् वीरः सप्त वारान् रज्ज्वा बद्धः ततस्तोसलिकक्षत्रियेण मोचितः। आ०म०१अ०२ खण्ड। आ०चू०। तोसलिदेशस्थे स्वनामख्याते आचार्ये आचा०। अत्र कथनकमिदम्– ''तोसली नामाऽऽचार्योऽरण्यमहिषीभिः प्रारब्धः तोसलिदेशे वा बह्व्यो महिष्यः सम्भवन्ति, ताभिश्च कदाचिदेकः साधुरटव्यन्तर्वर्त्यारब्धः। स च ताभिः क्षुद्यमानोऽनिर्वाहमवगम्य चतुर्विधाऽऽहारं प्रत्याख्यातवानिति। आचा०१ श्रु० ८ अ०१उ०।

तोसलिपुत्त पुं०(तोसलिपुत्र) दशपुरनगरस्थे स्वनामख्याते आचार्ये, यत्र सोमदेवब्राह्मणस्य रुद्रसेनायां भार्यायामुत्पन्नश्चतुर्दशविद्यापारगोरक्षितो नाम पुत्रो बभूव। तेन च मातृप्रेरितेन तोसलिपुत्राऽऽचार्यणां समीपे दीक्षा प्रतिपन्ना। विशे०। आ०म०। आ०चू०। आ०क०।

तोसलिय पुं०(तोसलिक) तोसलिग्रामाधिपे क्षत्रिये, आ०म० १अ० १खण्ड। आ०चू०।

तोसिय त्रि०(तोषित) संतोष प्रापिते, आ०म०१अ०१ खण्ड।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु–श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे' तकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

थकारः

थ पुं०(थ) दन्तस्थानोऽयं स्पर्शसंज्ञको वर्णः। एका०। थुडः। भयवारके, व्याधिभेदे, भयचिह्ने, भक्षणे च। रक्षणे, मङ्गले, भये च। न०। वाच०।

''थः पुमानिन्दुकल्लोल–विरामेषु महीधरे (४५)

स्यादास्फालनशब्दे च, ज्वाले था तु स्त्रियां नदी ॥

थं नपुंसकलिङ्गे तु, भवेद्भयनिवारणे ॥४६॥

त्रिलिङ्ग्यां तु थकारोऽसौ, सितासितपृथुष्वपि।'' इति माधवः। एका०।

''थो मिथ्यावाचके श्रान्ते, शोके थाऽऽरब्धवस्तुनि।

निमग्ने चातिगम्भीरे, थं स्तोकार्थे नपुंसकम् ॥६४॥

मरुदेशप्रदेशेऽपि, थाऽऽवन्तः स्थलयोषिति।

देवकूटे कषाये स्त्री, दृढे परिवृढेऽपि था ॥६५॥

थुः पुंसि पर्वते द्रोणे, व्रणे थुर्निर्दले पुमान्।

निष्ठीवने बले भूते, थीवन्तो भाजने भुवि ॥६६॥'' इति विश्व–देवशंभुमुनिः। एका०। वाक्यालङ्कारे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। पादपूरणे च। अव्य०। पञ्चा०११ विव०।

थउड्ड (देशी) भल्लातके, दे०ना० ५ वर्ग २६ गाथा।

थंडिल न०(स्थण्डिल) परानुपरोधात्प्रासुके भूभागे, ग०२ अधि०। आव०।

अथ स्थण्डिलवक्तव्यता–तत्र गमनविधिरुच्चारप्रश्रवणव्युत्सर्जनं च। तत्र च स्थण्डिले वक्तव्ये येऽर्थाधिकारास्तानभिधित्सुद्वार–गाथामाह–

भेया सोवि अवाया, वज्जणया खलु तहा अणुण्णा य।
कारणविही य जयणा, थंडिल्ले हों ति अहिगारा ॥४२१॥

प्रथमतो भेदाः स्थण्डिलस्य वक्तव्याः, तदनन्तरं स्थण्डिले व्युत्सृजतः शोधिः प्रायश्चित्तम्, ततोऽपायाः, तदनन्तरं वर्जनद्वारम्, ततः परमनुज्ञा, ततः कारणविधिः, तदनन्तरं यतना। एते वक्ष्यमाणाः स्थण्डिले अधिकाराः।

तत्र प्रथमतो भेदद्वारप्रतिपादनार्थमाह–

अचित्तेण अचित्तं, मीसेण अचित्त छक्कमीसेणं।
सचित्त छक्कएणं, अचित्त चउभंग एक्केक्के ॥४२२॥

अचित्ते स्थण्डिले पन्थानमधिकृत्य त्रयो भेदाः–अचित्तं स्थण्डिलमचित्तेन पथा गम्यते१। अचित्तं मिश्रेण पथा२, केन मिश्रेण? इत्यत आह–षट्कायमिश्रेण २। तथा–अचित्तं सचित्तेन पथा ३। स पन्थाः सचित्तः कथम्? इत्याह–षट्केन षड्भिर्जीवनिकायैः ३। एवमचित्ते स्थण्डिले त्रयो भेदाः। एवं मिश्रे३। सचित्ते च ३। एतेषामचित्तमिश्रसचित्तानामेकैकस्मिन् भङ्गे चतुर्भङ्गी।

तामेवोपदर्शयति–

अणवायमसंलोए, अणवाए चेव होति संलोए।
आवायमसंलोए, आवाए चेव संलोए ॥४२३॥

अनापातमसंलोकमिति प्रथमो भङ्गः। अनापातं संलोकवदिति द्वितीयः। आपातवदसंलोकमिति तृतीयः। आपातवत् संलोकवदिति चतुर्थः। गाथायां मत्वर्थीयप्रत्ययस्य लोपः प्राकृतत्वाद्, अभ्राऽऽदित्वाद्वा अकारप्रत्ययः। अमीषां चतुर्णां भङ्गानां प्रथमो भङ्गोऽनुज्ञातः। शेषाः प्रतिक्रुष्टाः। निर्ग्रन्थीनां तृतीयोऽनुज्ञातः।

चतुर्थं स्थण्डिलं व्याख्यानयति–

तत्थाऽऽवायं दुविहं, सपक्ख–परपक्खतो उ णायव्वं।
दुविहं होइ सपक्खे, संजय तह संजतीणं च ॥४२४॥
संविग्गमसंविग्गा, संविग्गमणुण्ण–एतरा चेव।
असंविग्गा वि य दुविहा, तप्पक्खिएँ एयरा चेव ॥४२५॥

तत्राऽऽपातवत्संलोकवतोर्मध्ये आपातमापातवद् द्विविधं ज्ञातव्यम्। तद्यथा–स्वपक्षतः, परपक्षतश्च; स्वपक्षाऽऽपातवत्, परपक्षाऽऽपातवच्चेत्यर्थः। तत्र स्वपक्षे स्वपक्षविषये द्विविधमापातवत्। तद्यथा–संयतानां, संयतीनां च–संयताऽऽपातवत्–संयत्यापातवच्चेति भावः। संयता अपि द्विविधाः–संविग्नाः–उद्यतविहारिणः, असंविग्नाः–शिथिलाः पार्श्वस्थाऽऽदयः। संविग्ना अप द्विविधाः–मनोज्ञाः सांभोगिकाः, इतरे अमनोज्ञा असांभोगिकाः। असंविग्ना अपि द्विविधाः–तत्पाक्षिकाः संविग्नपाक्षिकाः, इतरे असंविग्नपाक्षिकाः। उक्तं स्वपक्षाऽऽपातवत् ॥४२५॥

सम्प्रति परपक्षाऽऽपातवत्प्राऽऽह–

परपक्खे वि य दुविहं, माणुस तेरिच्छगं च नायव्वं।
एक्केक्कं पि य तिविहं, पुरिसित्थिनपुंसगं चेव ॥४२६॥

परपक्षेऽपि–परपक्षविषयेऽप्यापातवद् द्विविधं ज्ञातव्यम्–मानुष्यं, तैरश्चं च–मनुष्याऽऽपातवत्, तिर्यगापातवच्चेत्यर्थः। एकैकमपि मानुषं, तैरश्चं च त्रिविधम्। तद्यथा–पुरुषवत्, स्त्रीवत्, नपुंसक–वच्च।

पुरिसाऽऽवातं तिविधं, दंडिएँ कोडुंविए य पागतिए।
ते सोयऽसोयवाई, एमेव णपुंसइत्थीसु ॥४२७॥

पुरुषाऽऽपातवत् त्रिविधम्। तद्यथा–दण्डिके, कौटुम्बिके, प्राकृते च–दण्डिकपुरुषाऽऽपातवत्, कौटुम्बिकपुरुषाऽऽपातवत्, प्राकृतपुरुषाऽऽपातवच्चेत्यर्थः दण्डिकाः–राजकुलानुगताः, कौटुम्बिकाःशेषा महर्द्धिकाः, इतरे प्राकृताः। ते च त्रयोऽपि प्रत्येकं द्विधाशौचवादिनः, अशौचवादिनश्च। एवमेव अनेनैव प्रकारेण नपुंसक–स्त्रियोरपि वक्तव्यम्। किमुक्तं भवति? नपुंसकाऽऽपातवच्च प्रत्येकं प्रथमतो दण्डिकाऽऽदिभेदतस्त्रिविधं, ततः शौचवाद्यशौचवादिभेदतः पुनरेकैकं द्विविधम्। उक्तं मनुष्याऽऽपातवत्।

अधुना तिर्यगापातवदाह–

दित्तमदित्ता तिरिया, जहण्णमुक्कोसमज्झिमा तिविहा।

एमेवित्थिनपुंसा, दुगुंछिअदुगुंछिया नवरं ॥४२८॥

तिर्यञ्चो द्विविधाः–दृप्ताः, अदृप्ताश्च। दृप्ता दर्पवन्तः, अदृप्ताः शान्ताः। ते प्रत्येकं त्रिविधाः–जघन्याः, उत्कृष्टाः, मध्यमाश्च। जघन्या एडकाऽऽदयः, मध्यमा महिषाऽऽदयः, उत्कृष्टा हस्त्यादयः। एते किल पुरुषा उक्ताः। एवमेव स्त्रीनपुंसका अपि वक्तव्याः, नवरं ते दृप्ताः, अदृप्ताश्च प्रत्येकं द्विविधा विज्ञेयाः। तद्यथा– जुगुप्सिताः, अजुगुप्सिताश्च। जुगुप्सिता गर्दभ्यादयः। इतरे अजुगुप्सिताः। उक्तमापातवत्। संलोकवद् मनुष्येष्वेव द्रष्टव्यम्। ते च मनुष्या–स्त्रिविधाः। तद्यथा–पुरुषाः, स्त्रियो, नपुंसकाश्च। एकैके प्रत्येकं त्रिविधाः –प्राकृताः, कौटुम्बिकाः, दण्डिकाश्च। पुनरेकैके द्विविधाः –शौचवादिनः, अशौचवादिनश्च।

उक्तं च–

''आलोगो मणुएसुं, पुरिसित्थिनपुंसगाण बोधव्वो।
पाययकुडुंबिदंडिय–असोय तह सोयवादीणं''॥१॥

तत्रैव चाऽऽपातसंलोको चरमभङ्गे, द्वितीये आपातः, तृतीये संलोकः। उक्ता भेदप्रभेदयुक्ता एते स्थण्डिलभेदाः। गतं भेदद्वारम्।

अधुना शोधिद्वारमाह–

मणुयतिरिएसु लहुगा, चउरो गुरुगा य दित्ततिरिएसु।
तिरियनपुंसित्थीसु य, मणुसित्थिनपुंसगे गुरुगा ॥४२९॥

मनुष्याणां शौचवादिनां पुरुषाणां, तिरश्चां च पुरुषाणामदृप्तानामापाते (गाथायां सप्तमी षष्ठ्यर्थे) संज्ञां व्युत्सृजतः प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। (गुरुगा य दित्ततिरिएसु त्ति) दृप्तानां तिरश्चामापाते चत्वारो गुरुकाः। तथा–तिर्यग्नपुंसकस्त्रीषु तिर्यग्योनीनां नपुंसकस्त्रीणां दृप्तानामापाते (मणुसित्थिनपुंसगे इति) मनुष्याणां स्त्रीनपुंसकानां शौचवादिनामापाते प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः।

मणुयतिरियपुरिसेसुं, दोसु वि लहुगा तवेण कालेण।
कालगुरू तवगुरुगा, दोहिँ गुरू अद्धकंती वा ॥४३०॥

मनुष्याणामशौचवादिनां पुरुषाणां, तिरश्चां सदृप्तानां पुरुषाणामापाते द्वयानामपि पृथक् पृथक् प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, तपसा कालेन च लघवः। मनुष्यस्त्रीनपुंसकानामशौचवादिनामापाते चत्वारो गुरुकाः। द्वाभ्यां गुरुकाः। तद्यथा–कालगुरुकाः, तपोगुरुकाः। अर्द्धापक्रान्तिर्वा द्रष्टव्या। सा चैवम्– तिरश्चां दृप्तानां पुरुषाणामापाते, न (?) मनुष्याणां गृहिणां पाषण्डिनां वा पुरुषाणामशौचवादिनामापाते चत्वारो लघुकाः, तिर्यक् स्त्रीनपुंसकानामदृप्तानामजुगुप्सितानां वाऽऽपाते कालगुरुकाश्चत्वारो लघुकाः। तेषामेव तिर्यक् स्त्रीनपुंसकानां दृप्तानां जुगुप्सितानां चाऽऽपाते चत्वारो गुरुलघुकाः, तपोगुरवः। मनुष्यस्त्रीनपुंसकानामशौचवादिनामपि त एव तपोगुरवः, चत्वारो लघुकाः। इयमेकेषामाचार्याणां मतेनार्द्धापक्रान्तिरुपदर्शिता।

सम्प्रति भाष्यकारोऽन्यथाऽर्द्धापक्रान्तिमाह–

पागएँ कोडुंवीए, दंडिएँ अस्सोयसोयवादीसु।
चउगुरुगा जमलपया, अहवा चउ छच्च गुरु–लहुगा ॥४३१॥

प्राकृते, कौटुम्बिके, दण्डिनि च प्रत्येकमशौचवादिनि चार्द्धापक्रान्तिरवसेया। सा चैवम्–प्राकृतानामशौचवादिनां पुरुषाणामापाते चत्वारो लघुकाः, तपसा कालेन च लघवः। तेषामेव शौचवादिनां प्राकृतपुरुषाणामापाते त एव चत्वारो लघवः, कालगुरुकाः। कौटुम्बिकानामशौचवादिनां पुरुषाणामापाते कालगुरुकाः, चत्वारो लघवः। तेषामेव कौटुम्बिकपुरुषाणां शौचवादिनामापाते चत्वारो लघवः, तपोगुरुकाः। दण्डिकपुरुषाणामशौचवादिनामापाते तपोगुरुवश्चतुर्लघवः। तेषामेव शौचवादिनामापाते चतुर्लघवो, द्वाभ्यां गुरुकास्तपसा कालेन च।

उक्तं च–

''पाणाइयसोयवादी–पुरिसाणं लहुग दोहि वी लहुगा।
ते चेव य कालगुरू, तेसिं चिय सोयवादीणं ॥१॥
ते चिय लहु कालगुरू, कोडुंबीणं असोयवादीणं।
तेसि चिय ते चेव उ, तवगुरुगा सोयवादीणं ॥२॥
दंडिएँ असोयमि चिय, सोयम्मि य दोहि गुरुग चउलहुगा।
पुस पुरिसाण भणिओ, इत्थिनपुंसाण वी एवं ॥३॥''

(चउगुरुगा जमलपया इति) यमलपदानि स्त्रीनपुंसकलक्षणानि चतुर्गुरुकानि वक्तव्यानि। तानि चैवम्–प्राकृतस्त्रीणामशौचवादिनीनामापाते चत्वारो गुरुकाः, द्वाभ्यां लघवः। तद्यथा–तपसा, कालेन च। तासामेव शौचवादिनीनां चत्वारो गुरुकाः। कौटुम्बिकस्त्रीणामशौचवादिनीनामापाते कालगुरवश्चत्वारो गुरुकाः। तासामेव शौचवादिनीनामापाते तपोगुरुकाश्चत्वारो गुरवः। एवमेव दण्डिक–स्त्रीणामशौचवादिनीनामपि, शौचवादिनीनां च चत्वारो गुरुकाः; द्वाभ्यां गुरवः–तपसा, कालेन च। एवमेव नपुंसकानामप्यापाते वक्तव्यम्। अत्र च मतान्तरमाह–अथवा स्त्रीणामापाते चतुर्गुरुकाः, उक्तप्रकारेण तपसा कालेन च विशेषिताः, नपुंसकानामापाते षड् लघवो यथोक्तक्रमेण तपःकालविशेषिताः।

सम्प्रति तिर्यगापातमधिकृत्यार्द्धापक्रान्तिमाह–

तिरिएसु वि एवं चिअ, अदुगुंछदुगुंछदित्तऽदित्तेसु।
अमणुण्णेयर लहुगो, संजतिवग्गम्मि चउगुरुगा ॥४३२॥

एवमेवाऽनेनैव प्रकारेण तिर्यग्जुगुप्सिताजुगुप्सितदृप्तादृप्तेष्वर्द्धापक्रान्तिरवसेया। तद्यथा–प्राकृतपुरुषगृहीतानामदृप्तानां तिर्यक्पुरुषाणामापाते चत्वारो लघवः, द्वाभ्यां लघुकाः, तपसा कालेन च। तेषामेव च दृप्तानां त एव चत्वारो लघवः कालगुरुकाः। कौटुम्बिकपरिगृहीतानामपि तिर्यक्पुरुषाणामदृप्तानामापाते च त एव कालगुरुकाश्चत्वारो लघवः। तेषामेव दृप्तानां तपोगुरवश्चत्वारो लघुकाः। दण्डिकपरिगृहीतानां तिर्यक्पुरुषाणामदृप्तानामापाते त एव चत्वारो लघवः, तपोगुरुकाः। तेषामेव दृप्तानामापाते चतुर्लघुकाः, द्वाभ्यां गुरवः– तपसा, कालेन च। तथा प्राकृतपरिगृहीतानां स्त्रीणां नपुंसकानां च तिरश्चामजुगुप्सितानामापाते चत्वारो गुरुकाः, द्वाभ्यां लघवः–तपसा, कालेन च। तेषामेव जुगुप्सितानामापाते चत्वारो गुरुकाः कालगुरवः। कौटुम्बिकपरिगृहीतानां तिर्यक्स्त्रीनपुंसकानामापाते त एव कालगुरुकाश्चत्वारो गुरवः। तेषामेव च जुगुप्सितानामापाते चत्वारो गुरुकास्तपोगुरवः। एवमेव दण्डिकपरिगृहीतानामपि तिर्यक्स्त्रीनपुंसकानामदृप्तानामापाते द्रष्टव्याः। दृप्तानामापाते चत्वारो गुरुकाः, द्वाभ्यां गुरवः–कालेन, तपसा च। उक्तास्तिर्यक्ष्वप्यर्द्धापक्रान्तिः। सम्प्रति स्वपक्षाऽऽपाते शोधिमाह–अमनोज्ञानामसांभोगिकानां सांभोगिकानां संविग्नानामितरेषां वाऽसंविग्नानामापाते प्रायश्चित्तं लघुको मासः। संयतीवर्गे समापतति संयमीनामापाते चत्वारो गुरुकाः।

सम्प्रति प्रागुक्तमेवार्थमुपदिदर्शयिषुराह–

भद्दतिरियपासंडे–मणुयासोएहिँ दोहिं लहुलहुगा।
कालगुरू तवगुरुगा, दोहिँ गुरू अद्धुकंति दुगे ॥४३३॥

भद्रेष्वदृष्तेषु तिर्यक्षु पुरुषेषु, मनुष्येषु गृहस्थेषु पाखण्डिषु चाशौचवादिषु आपतत्सु चत्वारो लघुकाः, द्वाभ्यां लघवः। मनुष्यस्त्रीनपुंसकानां शौचवादिनामापाते चत्वारो गुरुकाः, द्वाभ्यां गुरवः। तद्यथा–तपोगुरुकाः कालगुरुकाश्च। शेषेषु तु तिर्यङ् मनुष्यभेदेषु द्विके तपःकाललक्षणेऽर्द्धापक्रान्तिः, क्वचित्तपोगुरुका, क्वचित्कालगुरुकेत्येवंरूपाऽवसातव्या। सा च प्राक् दर्शिता। गतं शोधिद्वारम्।

इदानीमपायद्वारमाह–

अमणुण्णेतरगमणे, वितहाऽऽयरणम्मि होइ अहिगरणं।
पउरदवकरण दड्ढं, कुसीलें सेहाऽऽदिगमणं च ॥४३४॥

अमनोज्ञानामसांभोगिकानां संविग्नानामितरेषां चासंविग्नानामागमने आपाते सति वितथाऽऽचरणे दृश्यमाने भवति परस्परमधिकरणम्। इयमत्र भावना–आचार्याणां परस्परमन्यथा सामाचार्यः, ततोऽसांभोगिकानां सामाचारी वितथाऽऽचरणदर्शने नैषा सामाचारीति परस्परमधिकरणं तु वर्त्तते। इतरे कुशीलाः पार्श्वस्थाऽऽदयः, ते प्रचुरेण वारिणा पुतप्रक्षालनं कुर्वन्ति, ततस्तेषां कुशीलानां प्रचुरद्रवेण पुतनिर्लेपकरणं दृष्ट्वा शैक्षकाणाम्, आदिशब्दात् शौचवादिनां मन्दधर्मिणां च गमनं तेषां समीपे भवति।

निग्गंथाणं पढमं, सेसा खलु होंति तेसिँ पडिकुट्ठा।
दव अप्प कलुस असती, अवण्ण पुरिसेसु पडिसेहो ॥४३५॥

यत एवमापाते दोषास्तस्मान्निर्ग्रन्थानां प्रथमं स्थण्डिलमनापातमसंलोकमित्येवंरूपं, शेषाणि त्रीणि खलु तेषां निर्ग्रन्थानां प्रतिक्रुष्टानि प्रतिषिद्धानि। अथ परपक्षापाते, तत्रापि पुरुषाऽऽपातं व्रजति तदा नियमतो द्रवमकलुषं परिपूर्णं च नेतव्यम्। अन्यथा द्रवे पानीये अल्पे कलुषे वा, यदि वा–असति–विना पानीयेन गतो भवेत्, ततस्ते दृष्ट्वाऽवर्णमश्लाघां कुर्युः, यथा–अशुचयोऽमी, न केवलमवर्णं कुर्युः किं तु प्रतिषेधोऽपि तैः क्रियते, यथा–माऽकोष्टमीषामशुचीनां भक्तं, पानं वा दद्यात् एष पुरुषेषु पुरुषाऽऽपाते दोषः।

सम्प्रति स्त्रीनपुंसकाऽऽपाते दोषानाह–

आय–पर–तदुभए वा, संकाईया हवंति दोसा उ।
पंडित्थिसंगें गहिते, उड्डाहो पडिगमणमादी ॥४३६॥

स्त्रीणां नपुंसकानां वाऽऽपाते आत्मनि, परे, तदुभयस्मिन् शङ्काऽऽदयो दोषा भवन्ति। तत्राऽऽत्मनि साधुःशङ्काविषयः क्रियते, यथा–एषा किमप्युद् भ्रामयति। परैः स्त्री, नपुंसको वा शङ्क्यते–यथैते पापकर्माण एन साधुं कामयन्त इति। तदुभयस्मिन्, यथा–द्वावप्येतौ परस्परमत्र मैथुनार्थमागतौ। तदेवमुक्ताऽऽशङ्का। आदि–शब्दादवर्णाऽऽदिदोषपरिग्रहः। तथास्त्र्यापाते नपुंसकाऽऽपाते वा स साधुरात्मपरोभयसमुत्थेन दोषेण स्त्रिया पण्डकेन वा सार्द्धं सङ्गं मैथुनं कुर्यात्। तत्र केनचिद् रागेण दृष्ट्वा गृहीतः स्यात्, ततः प्रवचनस्योड्डाहः, तथा स उड्डाहित इति कृत्वा प्रतिगमनाऽऽदीनि कुर्यात्।

अस्मिन्नेव चतुर्थे स्थण्डिले तिर्यगापाते दोषानाह–

आहणणादी दित्ते, गरहियतिरिएसु संकमादी य।
एमेव य संलोए, तिरिए वज्जित्तु मणुएसुं ॥४३७॥

दृप्ते दृप्ततिर्यगापाते आहननाऽऽदयो दोषाः, आहननं शृङ्गाऽऽदिभिस्तामनम्, आदिशब्दान्मूर्च्छागमनमारणाऽऽदिपरिग्रहः। गर्हितेषु तिर्यक्षु गर्हिततिर्यक् स्त्रीनपुंसकाऽऽपाते शङ्का मैथुने, आदि–शब्दात् प्रतिसेवेतापीत्यादयो दोषाः। यथा–आपाते दोषा उक्ताः एवमेव संलोकेऽपि तिर्यग्योनिकान् वर्जयित्वा मनुष्येषु द्रष्टव्याः। किमुक्तं भवति?–एषां संलोके नास्ति कश्चिदनन्तरोदितो दोषः, मनुष्याणां तु स्त्रीपुरुषनपुंसकानां संलोके ये आपाते दोषास्ते वेदितव्याः।

यदि कदाचिदात्मपरोभयसमुत्था मैथुनदोषा न भवेयुः, तथाऽप्यमी संभाव्यन्ते–

जत्थऽम्हे पासामो, जत्थ य आयरइ नातिवग्गो णे।
परिभवकामेमाणो, संकेयगदित्तको वा वि ॥४३८॥

यत्र वयममुमागच्छन्तं पश्यामो, यत्र वाऽस्माकं ज्ञातिवर्गो निरन्तरं संचरति विचारार्थं गच्छति, तत्रास्माकं परिभवं कामयमानो, दत्तसंकेतो वा समागच्छति।

किं च–

कलुस दवे असतीए, पुरिसाऽऽलोए हवंति दोसा उ।
पंडित्थीसु वि य तहा, खुद्धे वेउव्विए मुच्छा ॥४३९॥

द्रवे पानीये कलुषे, असति अविद्यमाने च पुरुषाऽऽलोके दोषाः प्रागुक्ता अवर्णाऽऽदयो भवन्ति। तथा–पण्डा नपुंसकाः, पण्डेषु स्त्रीषु च संलोकमानेषु क्षुद्धे, वैकुर्विके वा सागारिके दृष्टे मूर्च्छा भवेत्। इयमत्र भावनानपुंसकः स्त्री वा सागारिकं स्वभावत एवाति–स्थूलं लम्बं च, यदि वा–कषायितम्, अथवा– तद्दोषेण वैकुर्विकं दृष्ट्वा तद्विषयाभिलाषमूर्च्छामापन्नास्तं साधुमुपसर्गयेत्, तस्मात् त्रयाणामपि संलोको वर्जनीयः। गतं चतुर्थं स्थण्डिलम्।

इदानीं तृतीयमापातवदसंलोकमधिकृत्य दोषामाह–

आयसमुत्था तिरिए, पुरुसे दवकलुस असति उड्डाहो।
आयोभय इत्थीसु अ, आगच्छंते य आसंका ॥४४०॥

तिर्यगापाते आत्मसमुत्था दोषाः। तद्यथा–स्त्रीणां नपुंसकानां चाऽऽपाते मैथुनाऽऽशङ्काऽऽदयो दोषाः, दृप्तानां तिर्यग्पुरुषाणामापाते आत्मन उपघातः। तथा–पुरुषे मनुष्यपुरुषाऽऽपाते द्रवे कलुषे, असति वा प्रवचनस्योड्डाहः। तथा–स्त्रीषु, चशब्दान्नपुंसकेषु आगच्छत्सु च आत्मोभयविषया, आत्मोभयग्रहणं परस्योपलक्षणम्, आत्मरोभयविषया आशङ्का। सा च प्रागेव भाविता।

आवायदोस तइए, विइए संलोयतो भवे दोसा।
ते दो वि नत्थि पढमे, तहि गमणं तत्थिमा मेरा ॥४४१॥

तृतीये स्थण्डिले आपातदोषाः, द्वितीये च संलोकतो दोषा भवन्ति वेदितव्याः। ते च द्वेऽपि –आपातदोषाः, संलोकदोषाश्च प्रथमे स्थण्डिले न सन्ति, ततस्तत्र गमनं विधेयम्। तत्रेयं मर्यादा।

तामेवाऽऽह–

कालमकाले सन्ना, कालो तइयाएँ सेसगमकालो।

पढमापोरिसि आपुच्छपाणगमपुप्फि अन्नदिसिं ॥४४२॥

द्विविधा संज्ञा । तद्यथा–काले, अकाले च । तत्र कालस्तृतीयस्यां पौरुष्यां, शेषकं सर्वमपि प्रातः प्रभृतिकमकालः । तत्र तावदकाले संज्ञायां विधिरुच्यते–कथं गन्तव्यम्? तत्र यदि प्रथमायां पौरुष्यां भवेत् तदा पात्रमुद्ग्राह्य पानकनिमित्तं व्रजति, अथ नोद्–ग्राहयति पात्रं, ततो लोको जानीयात्, यथा–एष बहिर्गमननिमि–त्तं पानीयं गृह्णाति, ततश्चतुर्थ रसिकं न दद्यात् । अपि चोद्ग्राहिते पात्रेऽयमधिको गुणः–कोऽपि श्राद्धो ग्रामान्तरं, नगरान्तरं वा गन्तुकामः प्रधावितः, अद्धन्युत्पन्नायां संज्ञायां तं प्रतिलाभयेत्, सोऽपि लाभयेत्, सोऽपि लाभो भवति, शङ्काऽपि च नोपजायते, यथा–एष बहिर्गमनाय पानकनिमित्तं हिण्डते। स पुनः कीदृशं पानीयं गृह्णीयात्? अत आह– अपुष्पितमच्छं सुगन्धं चतुर्थरसिकं न भवति, तादृशं तत उष्णोदकाऽऽदि गृह्णीयात् । (अन्नदिसिमिति) यस्यां दिशि संज्ञाभूमिस्तस्यां पानकस्य न गन्तव्यम् । यदि पुनस्तस्यां गच्छति, ततोऽतिरिक्तं ग्रहीतव्यं, यदि द्वौ जनौ तदा, यथा तृतीयस्याप्युद्धरति । किं बहुना? यावन्तो व्रजन्ति तावतां योग्यमतिरिक्तं तथा गृह्णाति यथा एकस्योद्धरति । एवं पानीयं गृहीत्वा समागतो बहिः प्रतिश्रयस्य पादौ प्रमार्ज्य दण्डकं स्थापयित्वा ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य आलोच्य गुरोः पानकं दर्शयित्वा आपृच्छति, गुरुमापृच्छ्य संज्ञाभूमिं व्रजामीति गच्छति । तत्र जघन्योऽपि कश्चित् व्रजति, तर्हि यथा एकस्योद्धरति तावत्प्रमा-णमात्रके पानकं गृह्णाति, तच्चोद्ग्राहितं पात्रमन्यन्य समर्प्य दण्डकं प्रमार्ज्य आवश्यकीं कृत्वा व्रजति । यथोक्तविधेरकरणे सर्वत्र प्रायश्चित्तं मासलघु ।

उक्तमेवार्थं स्पष्टतरमुपदर्शयति–

अतिरेगगहणमुग्गाहियम्मि आलोय पुच्छियं गच्छे ।
एसा उ अकालम्मी, अहिंडिए हिंडिए काले ॥४४३॥

पात्रे उद्ग्राहिते एकजनातिरेकेण पानीयस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं, कृत्वा च गुरोः पुरत आलोच्य गुरुमापृच्छ्य संज्ञाभूमिं गच्छेत् । एषा अकाले संज्ञा उक्ता । संप्रति कालसंज्ञा वक्तव्या । काले कालसंज्ञा (अहिंडिते हिंडिते त्ति) इयमत्र भावनातृतीयस्यां पौरुष्यां कालस्य प्रतिक्रमणे यावन्नाद्यापि भिक्षावेला भवति तावत् संज्ञाभूमिं व्रजति । अथाहिण्डिते समुद्दिष्टे भाजनेषु च प्रदत्तकल्पेषु यावन्नावगाहते चतुर्थपौरुषीकालः, तावद्गच्छति, अथोत्सूरे भिक्षावेला, चिरं वा हिण्डितः, ततोऽवगाढायामपि चरमपौरुष्यां गच्छति ।

तत्र को विधिरित्याह–

कप्पेतूणं पाए, एक्केक्कस्स उ दुवे पडिग्गहगे ।
दाउं दो दो गच्छे, तिण्हट्ठ दवं च घेत्तूणं ॥४४४॥

पात्राणि कल्पयित्वा विशोध्य त्रीन् कल्पान् पात्राणां निर्लेपनाय दत्त्वा एकैकस्याऽऽत्मीयाऽऽत्मीयसंघाटकस्य द्वौ द्वौ पतद् ग्रहकौ दत्त्वा द्वौ द्वौ संज्ञाभूमिं गच्छयाताम् । कथमित्याह–त्रयाणामर्थाय द्रवं गृहीत्वा, पानकं हि तावत्प्रमाणं ग्रहीतव्यं यावत्पश्चादेकस्योद्धरति । इयमत्र भावनाये ये संघाटवन्तस्तेषां तेषामेको द्वौ पतद्–ग्रहौ धारयति, द्वितीयश्चान्येन समं याति, तेषु चाऽऽगतेषु ये प्रागितरे स्थितास्ते व्रजन्ति, इतरे चाऽऽगताः पात्राणि धारयन्ति, यावन्तश्च गच्छन्ति तावतां योग्यमेकातिरिक्तं पानकं मात्रके गृह्णन्ति ।

कथं पुनस्ते गच्छन्तीत्यत आह–

अजुगलिया अतुरंता, विगहारहिया वयंति पढमं तु ।
निसिइत्तु डगलगहणं, आवडणं वच्चमासज्ज ॥४४५॥

अयुगलिता न समश्रेणिकयुगलरूपतया स्थिताः, अत्वरिताः, विकथा-रहिताः स्त्रीभक्ताऽऽदिकथा अकुर्वाणाः प्रथममनापातासंलोकलक्षणं स्थण्डिलं व्रजन्ति । तत्र निषद्य उपविश्य, नोर्द्धस्थिता इत्यर्थः । उर्द्धस्थि-तानां सम्यक् प्रक्षेपण । संभवात् । डगलग्रहणं कुर्वन्ति–ये भूमावसंबद्धाः पुनर्निर्लेपनाय लेष्टुकास्ते डगलकाः, तानाददते । आदाय चैतेषां भूमावापातनं कुर्वन्ति येन वृश्चिकाऽऽदिस्ततोऽपसरति । उक्तं च– ''ते डगले टिट्टियावेइ, तत्तो जो तत्थ विच्छुगादी, सो अवसरति ।'' इति । तेषां च डगलकानां प्रमाणं वर्चः पुरीषमासाद्य प्रतिपत्तव्यं, यो भिन्नवर्चाः स त्रीन् डगलकान् गृह्णाति, अन्यो द्वावेकं वा ।

आलोएऊण दिसा, संडासगमेव संपडिज्जित्ता ।
पेहियपमज्जिएसु य, जयणाए थंडिले णिसिरे ॥४४६॥

स्थण्डिलं गत्वा तत्र दिशामापातसंलोकवर्जनार्थमालोकनं कुर्यात्, दिश आलोक्य तदनन्तरं समासकं संप्रमार्ज्य प्रेक्षितेषु प्रमार्जितेषु च तत्र प्रदेशेषु स्थण्डिलेषु पुरीषं निसृजेत् व्युत्सृजेत् । कथमित्याह–यतनया ''दिसिपवणगामसूरिय ।'' इत्यादिवक्ष्यमाणलक्षणया तत्पुनरनापाता-संलोकं स्थाण्डलमेभिर्वक्ष्यमाणैर्दशभिः स्थाने विशुद्धं ज्ञातव्यम् ।

तान्येवाऽऽह–

अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवघातिए ।
समे अज्झुसिरे याविऽचिरकालकयम्मि य ॥४४७॥
वित्थिण्णे दूरमोगाढेऽनासन्ने बिलवज्जिए ।
तसपाणबीयरहितए, उच्चाराऽऽदीणि वोसिरे ॥४४७॥

अनापातमसंलोकं, परस्यानुपघातिकं, समम्, अशुषिरम्, अचिर-कालकृतं, विस्तीर्णं दूरमवगाढम्, अनासन्नं, बिलवर्जितं, त्रसप्राणबीज-रहितं यत् स्थण्डिलं तत्र उच्चाराऽऽदीनि उच्चारप्रश्रवणप्रभृतीनि व्युत्सृजेत् । एष एकः संयोगो दर्शितः ।

संप्रति द्विकाऽऽदिसंयोगानुपदर्शयति–

इगदुगतिगचउपंचगछगसत्तगअट्ठनवगदसगेहिं ।
संजोगा कायव्वा, भंगसहस्सं चउव्वीसं ॥४४९॥

अमीषामनन्तरोदितानां दशानां पादानामेकद्वित्रिचतुः पञ्चषट्–सप्ताष्टनवदशकैः संयोगाः कर्त्तव्याः, तेषु च भङ्गाः सर्वसंख्यया चतुर्विंश-त्यधिकं सहस्रम् । अथ कस्मिन् संयोगे कियन्तो भङ्गकाः? उच्यते–इह भङ्गतामानयनकरणमिदम्–दशाऽऽदयोऽङ्का एकैकेन हीनास्तावत् स्थाप्यन्ते यावत् पर्यन्ते एकः, ततस्ते यथाक्रममेभी राशिभिर्गुणयितव्याः । तद्यथा–दशक एककेन, नवकः पञ्चभिः, अष्टकः पञ्चदशभिः, सप्तकस्त्रिं-शता, षट् को द्वाचत्वारिंशता, पञ्चकोऽपि द्वाचत्वारिंशता, चतुष्कस्त्रिं-शता, त्रिकः पञ्चदशभिः, द्विकः पञ्चकेन, एकक एककेन । स्थापना–

१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१
१	५	१५	३०	४२	४२	३०	१५	५	१

अमीषां चामीभि-र्गुणाकारैर्गुणने जाता एककाऽऽदिसंयोगेष्वियं भङ्गसंख्या । तद्यथा एककसंयोगे दश। द्विकसंयोगे पञ्चचत्वारिंशत् । त्रिक–

संयोगे विंशत्युत्तरं शतम्। चतुष्कसंयोगे द्वे शते दशोत्तरे। पञ्चसंयोगे द्वेशते द्विपञ्चाशदधिके। षट्कसंयोगे द्वे शते दशोत्तरे। सप्तक–संयोगे विंशं शतम्। अष्टकसंयोगे पञ्चचत्वारिंशत्। नवकसंयोगे दश। दशकसंयोगे एकः। एकं च वसत्यादिषु विविक्ते प्रदेशे स्थण्डिलमिति सर्वभङ्ग संख्या एकत्र मीलयित्वा रूपाधिका क्रियते, ततश्चतुर्विंशं भङ्ग सहस्रं भवति।

''समभंगणयणेँ करणं, दसगाऽऽति ओसरंति जावेक्को।
एए उ गुणेयव्वा, इमेहिँ रासीहिँ जहकमसो ॥१॥
एक्कग पंचग पन्नर, तीसा वायाल पंच जा ठाणा।
परतो बायालीसा, पडिलोममवेहि जावेक्को ॥२॥
एक्कगसंजोगादी, गुणिया लद्धा हवंति एमेते।
मिलिया रूवाहिकया, भंगसहस्सं चउव्वीसं ॥३॥''

संप्रत्येतानि दश शुद्धानि पदानि व्याख्यातव्यानि, यत्र यत्र दोषास्ते तत्र तत्र कथनीयाः, तत्राऽऽपातवत् संलोकवच्च पूर्वं व्याख्यातम्। इदानीं परस्यौपघातिकमाह–

आया पवयण संजम, तिविहं उवघातियं मुणेयव्वं।
आराम वच्च अगणी, घायाऽऽदसुई य अन्नत्थ ॥४५०॥

इह पूर्वार्द्धपदानां पश्चार्द्धपदानां च यथाक्रमं योजना। सा चैवम्– औपपातिकमुपघातप्रयोजनकं स्थण्डिलं त्रिविधं ज्ञातव्यम्। तद्यथा– आत्मोपघाति, प्रवचनोपघाति, संयमोपघाति च। तत्राऽऽत्मोपघाति आरामः, तत्र हि संज्ञां व्युत्सृजतो घाताऽऽदि पिट्टनाऽऽदि। प्रवचनोपघातिवर्चो गूहं, तद्धि जुगुप्सितमशुच्यात्मकत्वात्, ततस्तत्र संज्ञाव्युत्सर्गं ईदृशा एते इति प्रवचनोपघातः। संयमोपघाति–अग्निरग्निस्थानं, तत्र हि संज्ञाव्युत्सर्गे ते अन्यारम्भिणोऽन्यत्रास्थण्डिले अग्निस्थानं कुर्वन्ति, त्यजन्ति वा तां संज्ञामस्थण्डिले।

संप्रति विषमस्थण्डिले दोषानाह–

विसमपलोट्टणि आया, इयरस्स पलोट्टणम्मि छक्काया।
झुसिरम्मि विच्छुगादी, उभयक्कमणे तसादीया ॥४५१॥

विषमे स्थण्डिले साधुः प्रलोटेत्, पतेदिति भावः। तत्र चाऽऽत्मा विराध्येत। इतरस्य पुरीषस्य, प्रस्रवणस्य च प्रलोटने षट् काया विराध्यन्ते। तथाहि–प्रतीतमेवैतत्–पुरीषं, प्रस्रवणं वा प्रलोटेन षट्कायान् विराधयति। एषा संयमविराधना। शुषिरे संज्ञाऽऽदि व्युत्सृजनो वृश्चिकाऽऽदिभिरात्मनो विराधना आदिशब्देन सर्पाऽऽदिपरिग्रहः। उभयं संज्ञाप्रस्रवणं, तेनाऽऽक्रमणे त्रसाऽऽदयः त्रसस्थावरप्राणा विराध्यन्ते। एषां सयमविराधना।

अथ कीदृशं चिरकालकृतं स्थण्डिलमत आह–

जे जम्मि उउम्मि कया, पयावणादीहिँ थंडिला ते उ।
होंति इयरे चिरकया, वासावासे य वारसगं ॥४५२॥

यानि स्थण्डिलानि यस्मिन् ऋतौ प्रतापनाऽऽदिभिः कृतानि तानि तस्मिन्नचिरकालकृतानि भवन्ति। यथा–हेमन्तकृतानि हेमन्त एवाचिरकालकृतानि। इतराणि तु ऋत्वन्तरव्यवहितानि चिरकालकृतानि, अस्थण्डिलानि तानीति भावः। यत्र पुनरेकं वर्षारात्रं सगोधने ग्रामे उषितस्तत्र द्वादशकं द्वादश संवत्सराणि स्थण्डिलं, परमस्थण्डिलं भवति।

सम्प्रति विस्तीर्णमाह–

हत्थाऽऽयामं चउरस, जहण्ण उक्कोस जोयण विछक्कं।
चउरंगुलप्पमाणं, जहन्नयं दूरमोगाढं ॥४५३॥

जघन्यं विस्तीर्णं चतुरस्रं चतसृष्वपि दिक्षु हस्ताऽऽयामम्, उत्कृष्टं द्वादशयोजनानि, तच्च चक्रवर्तिस्कन्धावारनिवेशे प्रतिपत्तव्यम्। दूरावगाढमाह–यत्राधस्ताच्चतुरङ्गुलप्रमाणमचित्तम्– चत्वारि अङ्गुलान्यचित्ता भूमिः, तज्जघन्यं दूरमवगाढम्, अर्थात्पश्चादङ्गुलप्रभृतिकमचित्तं यस्याधस्तात्तदुत्कृष्टं दूरमवगाढम्।

साम्प्रतमासन्नमाह–

दव्वाऽऽसन्नं भवणा–दियाण तहियं तु संजमाऽऽयाए।
आयापवयणसंजम–दोसा पुण भावआसण्णो ॥४५४॥

आसन्नं द्विविधम्–द्रव्यतो, भावतश्च। तत्र द्रव्याऽऽसन्नं भवनाऽऽदीनां निकटम्। आदिग्रहणाद् देवकुलानां, ग्रामस्य, पथो, वृक्षस्य च परिग्रहः। यस्य हि वृक्षस्य हस्तिपादप्रमाणस्कन्धः, तस्य समन्ततो हस्तो वर्जयितव्यः। तत्र यदि द्रव्याऽऽसन्ने व्युत्सृजति, ततः संयमे, आत्मनि च विराधना। तत्र यद् गृहाऽऽदीनामासन्नं तत् स्थण्डिलं परित्यज्यान्यत्र स्थण्डिलं कुर्युः, अथ वा पानीयेन तत्प्रक्षालयेयुः। ततः संयमविराधना। आत्मविराधना पिट्टनाऽऽदिभावात्। भावाऽऽसन्नं नाम तावत्तिष्ठति, यावत्संज्ञा मनाग् नागच्छति, ततोऽनधिसहः स्थण्डिलं गन्तुमशक्नुवन् अस्थण्डिले, भवनाऽऽदीनां वा प्रत्यासन्ने व्युत्सृजेत्। तत्र चाऽऽत्मविराधना, संयमविराधना च प्राग्वत्। अत्रास्थण्डिलमिति कृत्वा सागारिको वा तिष्ठतीति संज्ञां धारयति आत्मविराधना, मरणस्य ग्लानत्वस्य चावश्यं भावात्। अनधिसहेन च सता तेन लोकपुरतोऽस्थाने संज्ञाव्युत्सर्गे पुनर्जङ्घाऽऽदिलेपने वा प्रवचनोपघातः।

सविले, त्रसप्राणबीजोपेते दोषानाह–

होंति विले दो दोसा, तसेसु बीएसु वा वि ते चेव।
संजोगतो य दोसा, मूलगमा होंति सविसेसा ॥४५५॥

विले संज्ञां व्युत्सृजतो द्वौ दोषौ। तद्यथा–आत्मविराधना, संयमविराधना च। तत्र यदा विले प्रविशन्त्यां संज्ञया प्रस्रवणेन तद्गता जीवा बाध्यन्ते तदा संयमविराधना। सर्पाऽऽदिभक्षणे आत्मविराधना। त्रसेषु, बीजेषु च तावेव द्वौ दोषौ संयमाऽऽत्मविराधनालक्षणौ। तत्र त्रसेषु बीजेषु प्राणव्यपरोपणात्संयमविराधनां सुप्रतीता। त्रसेष्वात्मविराधना, तेभ्य उपद्रवसंभवात्। बीजेष्वात्मविराधनाबीजशूकाऽवयवानामतितीक्ष्णानां पदेषु लग्नतः पादप्रलोटनतः पतनतो वा। तदेवमतेकैकस्मिन् वर्जनीये स्थण्डिले दोषा उक्ताः। अस्माच्च मूलगमदिकैककसंयोगरूपात् द्विकत्रिकाऽऽदिपदानां संयोगतः सविशेषा बहुबहुतरका भवन्ति ज्ञातव्याः। द्विकसंयोगे द्विगुणास्त्रिकसंयोगे त्रिगुणा यावद्दशसंयोगे दशगुणा इति।

सम्प्रति प्रागुक्तमपि प्रायश्चित्तमन्याऽऽचार्यपरिपाट्या,
मनाक् विशेषप्रदर्शनार्थतया च पुनराह–

पंथम्मि य आलोए, झुसिरम्मि तसेसु चेव चउलहुगा।
पुरिसावाए य तहा, तिरियावाए य ते चेव ॥४५६॥

पथ आसन्ने पुरुषाणामालोके, शुषिरे, त्रससंकुले च संज्ञां व्युत्सृजतः प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। तथा सर्वमनुष्यपुरुषाऽऽपाते, सर्वतिर्यक् पुरुषाऽऽपाते च प्रत्येकं त एव चत्वारो लघवः। सर्वग्रहणं मनुष्येषु कौटुम्बिकाऽऽदिभेदपरिग्रहार्थम्।

तिर्यक्षूत्कृष्टाऽऽदिभेदसंग्रहार्थमाह–

इत्थिनपुंसाऽऽवाए, भावासन्ने विले य चउगुरुगा।
पणगं लहुयं गुरुगं, बीए सेसेसु मासलहुं ॥४५७॥

सर्वासां प्राकृताऽऽदिभेदाभिन्नानां स्त्रीणामापाते च, तथा भावसन्ने विलसहिते च स्थण्डिले व्युत्सृजतः प्रत्येकं चत्वारो गुरुकाः, प्रत्येकबीजसंकुले स्थण्डिले लघूनि पञ्चारात्रिन्दिवानि, अनन्तबीजसंकुले गुरुकानि, शेषेष्वशुद्धेषु स्थण्डिलेषु मासलघु। यद्यान्यदा पर्यन्ते तदपि सर्वमाप्नोति। यत्रासामाचारीकरणं तत्रापि मासलघु।

अपमज्जणा अपडिलेहणा य दुपमज्जणा दुपडिलेहा।
तिएँ मासिय पणगं लहु,कालतवे वा चरिमसुद्धो ॥४५८॥

संज्ञां व्युत्सृष्टुकामो न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति मासलघु, कालगुरु, तपोलघु। न प्रमार्जयति प्रत्युपेक्षते मासलघु, द्वाभ्यां लघु। एवं त्रिकेषु स्थानेषु मासिकं लघु, कालेन तपसा चोक्तप्रकारेण विशेषितम्। अथ प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति, तत्र दुष्प्रत्युपेक्षिते दुष्प्रमार्जिते रात्रिन्दिवपञ्चकं लघु, दुष्प्रत्युपेक्षिते प्रमार्जिते रात्रिन्दिवपञ्चकं लघु, तपोलघु, कालगुरु। प्रत्युपेक्षिते दुष्प्रमार्जिते रात्रिन्दिवपञ्चकं लघु, द्वाभ्यां लघुकम्। एवं त्रिकेषु त्रिस्थानेषु पञ्चकं, कालेन तपसा चोक्तप्रकारेण विशेषितं, चरमेषु प्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितमित्येवंरूपे भङ्गे शुद्धो न प्रायश्चित्तभाक्।

खुड्डो धावणें झुसिरे, तह खुत्तो अपडिलेहणा लहुगो।
घरवाविवच्चगोवयठिअमल्लगछड्डणे लहुगा ॥४५९॥

इयमपि गाथाऽन्याऽऽचार्यपरिपाटिशूचिका, ततो न पुनरुक्तता, नापि विरोधो, मतान्तरत्वात्। क्षुल्लकं स्तोकं यदि धावनं प्रलोटनमित्यर्थः। तत्र तथा शुषिरेस्थण्डिले तथाकृत्वोऽप्रत्युपेक्षणायां प्रत्येकं प्रायश्चित्तं लघुको मासः। तथा–गृहे यदि संज्ञां व्युत्सृजति वाप्यां वर्चसि गृहे वर्चस उपरि वा गोप्पदे वा ऊर्द्धस्थितो वा तथा मल्लके व्युत्सृज्य यदि परिष्ठापयति तदा सर्वेष्वेतेषु स्थानेषु प्रायश्चित्तं प्रत्येकं चत्वारो लघवः। गतमपायद्वारम्।

इदानीं वर्जनाद्वारमाह–

दिसिपवणगामसूरिय–छायाएँ पमज्जिऊण तिक्खुत्तो।
जस्सुग्गहो ति काऊण वोसिरे आयमे वा वि ॥४६०॥

उत्तरादिक्,पूर्वदिक् च लोके पूज्या, ततस्तस्याः पृष्ठप्रदाने लोकमध्ये अवर्णवादो भवति, वानमन्तरं वा किञ्चित् मिथ्यादृष्टिः कुप्येत्। तथा च सति जीवितव्यस्य विनाशः, तस्मात् दिवा रात्रौ च पृष्ठं पूर्वस्याम्, उत्तरस्यां तु दिवा। दक्षिणस्यां दिशि रात्रौ निशाचराः संचरन्ति। ततस्तस्यां पृष्ठं रात्रौ वर्जयेत्। उक्तं च– ''उभे मूत्रपुरीषे तु, दिवा कुर्य्यादुदङ्मुखः। रात्रौ दक्षिणतश्चैव, तथा चाऽऽयुर्न हीयते ॥१॥'' तथा यतः पवनस्ततः पृष्ठं न कुर्यात्, मा लोको ब्रूयात्–अर्घयन्त्येतदेते इति, नासिकायां चार्शांसि मा भूवन्। तथा ग्रामस्य, सूर्यस्य च पृष्ठं न दातव्यं, लोकेऽवर्णवादसं–भवात्। तथाहि–सूर्यस्य, ग्रामस्य वा पृष्ठदाने लोको ब्रूते–न किञ्चित् जानन्त्येते यल्लोकोद्द्योतकरस्यापि सूर्यस्य, यस्मिन् ग्रामे स्थीयते तस्याऽपि च पृष्ठं ददतीति। तथा संसक्तग्रहणिश्छायायां व्युत्सृजेत्, येन द्वीन्द्रियविनाशो न भवति। तथा त्रिःकृत्वस्त्रीन् वारान् प्रमार्ज्य। उपलक्षणमेतत्– प्रत्युपेक्ष्य च व्युत्सृजेत्। तत्रा–प्रत्युपेक्षणे अप्रमार्जने, दुष्प्रत्युपेक्षणे दुष्प्रमार्जने च प्रायश्चित्तं प्रागुक्तम्। तथा यस्यावग्रहः सोऽनुजानीयादिति अनुज्ञाय व्युत्सृजेत्, आचमेद्वा। एष गाथार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुराह–

उत्तर पुव्वा पुज्जा,जम्माए निसियरा अभिवडंति।
घाणारसा य पवणे, सूरियगामे अवन्नो उ ॥४६१॥

उत्तरा, पूर्वा च लोके पूज्यते, ततो दिवा रात्रौ च पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा पृष्ठं न दद्यात्, तथा न याम्या दक्षिण, तस्यां रात्रौ निशाचरा देवा अभिपतन्ति समागच्छन्ति, ततस्तस्यां रात्रौ पृष्ठं न दद्यात्, तथा यतः पवनस्ततः पृष्ठकरणे अशुभगन्धघ्राणिर्नासिकायां चार्शांस्युपजायन्ते। तस्मात्पवनस्यापि पृष्ठं न कर्त्तव्यम्। सूर्यस्य, ग्रामस्य च पृष्ठकरणे अवर्णो लोकमध्ये यथाऽभिहितः प्राक्, ततस्तयोरपि न दातव्यं पृष्ठमिति।

''छायाए'' इति व्याख्यानार्थमाह–

संसत्तग्गहणी पुण, छायाए निग्गयाईं वोसिरई।
छायासति उण्हम्मि वि, वोसिरिय मुहुत्तगं चिट्ठे ॥४६२॥

संसक्ता द्वीद्रियैर्ग्रहणिः पांशुर्यस्यासौ संसक्तग्रहणिः, स द्वीन्द्रियरक्षणार्थं छायायां वृक्षाऽऽदिनिर्गतायां व्युत्सृजति। अथ छायाऽद्याऽपि न निर्गच्छति, मध्याह्न एव संज्ञा प्रवृत्ता, ततः छायाया 'असति' अभावे उष्णेऽपि स्वशरीरच्छायायां पुरीषस्य कृत्वा व्युत्सृजति, व्युत्सृज्य च *मुहूर्त्तं तथैव तिष्ठति, येनैतावता कालेन स्वयोगतः परिणमन्ति,* अन्यथोष्णेन महती परितापना स्यात्।

अथ व्युत्सृजन् स्वोपकरणं कथं धरतीत्यत आह–

उवगरणं वामगऊ–रुगम्मि मत्तो य दाहिणे हत्थे।
तत्थऽण्णत्थ व पुंछे, तिहिँ आयमणं अदूरम्मि ॥४६३॥

उपकरणं दण्डकं रजोहरणं च वामे ऊरौ स्थापयति, मात्रकं दक्षिणहस्ते क्रियते, डगलकानि च वामहस्तेन धारणीयानि, ततः संज्ञां व्युत्सृज्य तत्रान्यत्र वा प्रदेशे डगलकैः पुतं पुंसयति रूक्षयति, पुंसयित्वा त्रिभिर्नावापूरकैश्चुलुकैरित्यर्थः। आचमनं निर्लेपनं करोति। तथा चोक्तम्– ''तिहि नावाए पूरएहिं आयमइ, निल्लेवेति वा। नावा पूरओ नामपसती।'' इति। तदपि चाऽऽचमनमदूरे करोति। यदि पुनर्दूरे आचमति तत उड्डाहः, कश्चित् दृष्ट्वा चिन्तयेत्– अनिर्लेप्यपुतो गत एष इति।

संप्रत्यालोके प्रायश्चित्तविधिमाह–

आलोगं पि य तिविहं, पुरिसित्थिनपुंसकं च बोधव्वं।
लहुगा पुरिसाऽऽलोए, गुरुगा य नपुंसइत्थीसु ॥४६४॥
आवातं पि य दुविहं, माणुसतेरिच्छयं च नायव्वं।
एक्केक्कं पि य तिविहं, पुरिसित्थिनपुंसगे चेव ॥४६५॥

आलोकमपि च त्रिविधं त्रिप्रकारम्। तद्यथा–पुरुषाऽऽलोकं, स्त्र्यालोकं, नपुंसकाऽऽलोकम्। गाथायां पदैकदेशे पदसमुदायोपलक्षणानि। तत्र पुरुषाऽऽलोके प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। स्त्र्यालोके नपुंसकाऽऽलोके च चत्वारो गुरुकाः। तदेवमचित्तं स्थण्डिलमचित्तेन पथा भणितम्। अथ सचित्तेन मिश्रेण वा यदा तद् गच्छति तदा तदेव प्रायश्चित्तम्।

छक्काय–चउसु लहुगा, परित्तें लहुगा य गुरुग साहारे।
संघट्टेणं परियावणें, लहु गुरुग निवायणे मूलं ॥४६६॥

षट् कायाः–पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपाः, तेषां मध्ये चतुर्षुपृथिव्यप्तेजोवायुरूपेषु संघट्टनाऽऽदिषु लघुकाः प्रायश्चित्तम्। परित्तकवनस्पतिकायेऽपि च लघुकाः। साधारणे अनन्तवनस्पतिकायिके संघट्टनाऽऽदिषु गुरुकाः। तथा द्वीन्द्रियाऽऽदीनां संघट्टने परितापने च यथायोग लघुका गुरुकाश्च प्रायश्चित्तम्। अर्पितनिपातने विनाशे मूलम्। इयं तत्र भावनापृथिवीकायं संघट्टयति मासलघु, परितापयति, जीविताद् व्यपरोपयतीत्यर्थः, चतुर्लघु। एवमप्का–ये, तेजस्काये, वायुकाये, प्रत्येकवनस्पतिकाये च द्रष्टव्यम्। उक्तं च– ''छक्कायाऽऽदिमचउसू, तह य परित्तम्मि होति वणकाए। लहु गुरु मासो चउलहु, घट्टणपरितावउद्दवणे ॥१॥'' एतत् प्रायश्चित्त–मेकैकस्मिन् दिवसे संघट्टनाऽऽदिकरणे, यदि पुनर्द्वौ दिवसौ पृथिव्यादि संघट्टयति तदा मासगुरु, परितापयति चतुर्लघु, जीविताच्च व्यपरोपयति चतुर्गुरु, त्रीन् दिवसान् निरन्तरं पृथिव्यादीन् संघ–ट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, अपद्रावयति षड् लघु, निरन्तरं चतुर्लघु, निरन्तरं चतुरो दिवसान् संघट्टने चतुर्गुरु, परितापने षड् लघु, अपद्रावणे षड् गुरु, पञ्चदिवसान् निरन्तरं पृथिव्यादीनां संघट्टने षड् लघु, परिताने षड् गुरु, अपद्रावणे मासिकच्छेदः, षड् दिवसान् निरन्तरं संघट्टने षड् गुरु, परितापने मासिकच्छेदः, अपद्रावणे चतुर्मासच्छेदः, परितापने षण्मासिकः, अपद्रावणे मूलम्। उक्तं च– ''दोहिं दिवसेहिं मासगुरुए आढवेत्ता चउगुरुए ठाति०जाव अट्ठहिं संपयंति।'' अनन्तवनस्पतिकं यदि संघट्टयति तदा मासगुरु, परितापयति चतुर्लघु, अपद्रावयति चतुर्गुरु, द्विदिवसाऽऽदि निरन्तरं संघट्टनाऽऽदिषूत्तरोत्तरैकैकस्थानवृद्धितः सप्तभिर्दिनैर्मूलं, द्वीन्द्रियं संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, जीविताद् व्यपरोपयति षड् लघु। अत्र त्र्यादिदिवसं निरन्तरं संघट्टनाऽऽदिषु षड् भिर्दिवसैर्मूलं, त्रीन्द्रियं संघट्टयतश्चतुर्गुरु, परितापयतः षड्लघु, जीविताद्व्यपरोपयतः षड् गुरु। अत्र पञ्चभिर्दिवसैर्मूलं, चतुरिन्द्रियं संघट्टयतः षड् लघु, परितापयतः षड् गुरु, जीविताद् व्यपरोपयतो मासिकश्छेदः। अत्र चतुर्भिर्दिवसैर्मूलं, पञ्चेन्द्रियं संघट्टयतः षड् गुरु, परितापयतश्छेदः, अपद्रावयतो मूलम्, अत्र द्वयोर्द्विवसयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु दिवसेषु पाराञ्चितम्। गतं वर्जनाद्वारम्।

अधुनाऽनुज्ञाद्वारमाह–

पढमिल्लुगस्स असती, वाघातो वा इमेहिं ठाणेहिं।
पडिणीएँ तेणें वाले, खेत्तुदयनिविट्ठथीअपुमं ॥४६७॥

प्रथममेव 'पढमिल्लुकं' प्राकृतत्वात् स्वार्थे इल्लुकप्रत्ययः। प्रथममनापातासंलोकलक्षणं स्थण्डिलं तद् नास्ति, ततस्तस्य प्रथमस्याभावे, अथवा स्वतोऽप्येभिः स्थानैर्व्याघातो भवेत्। तान्येव स्थानान्याह– ''पडिणीए'' इत्यादि। प्रत्यनीकस्तत्र तिष्ठति, स्तेना वा पथि द्विविधाः। तद् यथा–उपकरणस्तेनोः, शरीरस्तेना वा। व्याला वा तत्र सर्पाऽऽदयो विद्यन्ते, क्षेत्रं वा तत्र ज्ञातम्, उदकेन वा तत् स्थण्डिलमास्तृतम्। ग्रामो व्रजिका स्कन्धावारो वा तत्र निविष्टः, स्त्री, नपुंसको वा तत्र मैथुनार्थं संयतानागच्छतः प्रतीक्षते।

पढमासति वाघाए, पुरिसाऽऽलोयम्मि होति जयणाए।
मत्तगअपमज्जणडगल, कुरुकुअ तिविहे दुविह भेदो ॥४६८॥

एवं प्रथमस्य स्थण्डिलस्याभावे, व्याघाते वा द्वितीयं स्थण्डिलमनापातं संलोकवद् गन्तव्यम्। तत्र संयतानां सांभोगिकानां संविग्नानामालोके गन्तव्यं, तदभावे असांभोगिकानामपि। तत्रापरिणताः पूर्वमेव ग्राहयितव्याः। यथा–केषाञ्चिदाचार्याणां विसदृशमाचर्यम्, ततो यूयं मा तान् वितथसामाचारीकान् दृष्ट्वा प्रतिनोदयेत, तेऽपि यदि नोदयन्ति तर्हि उदासीनास्तिष्ठथ। एवमसंखडाऽऽदयो दोषाः परिहृता भवन्ति। असांभोगिकानामप्यापातस्यासंभवे यत्र पार्श्वस्थाऽऽदीनामालोकस्तत्र गच्छन्ति, तस्याप्यभावे यत्र पार्श्वस्थाऽऽदीनामापातस्तत्र व्रजन्ति। तत्र क्षुल्लकाऽऽदयोऽपरिणताः पूर्वं ग्राहयितव्याः–यथा एते निर्धर्माणो जिनाऽऽज्ञाप्रकोपिनो वितथमाचरन्ति, तन्मायूयमेतेषां चेष्टितं चित्ते कुरुत, यथैतत् सुन्दरमिति। संयत्यापातवच्च सर्वप्रयत्नेन परिहरेत्। अन्यथा कृतसङ्केतका अत्र समागच्छन्तीतिशङ्काऽऽदयः, आत्मपरोभयं समुत्थाश्च दोषाः संभवन्ति। एषा स्वपक्षे यतना। संप्रति परपक्षेऽभिधीयते–तत्र चानापातवतोऽसंभवे (पुरिसालोयम्मि होति जयणाए इति) पुरुषाऽऽलोके पुरुषाऽऽलोकवति गन्तव्यं, तत्र यतनया भवति कर्तव्यमाचमनाऽऽदि। तामेव यतनामाह–(मत्तगअपमज्जणडगलकुरुकुअ त्ति) प्रत्येकं च प्रचुरं द्रवं, मगलकानां चाप्रमार्जनं, न तानि मगलकानि प्रमार्जन्ते, हीनानां दोषसंभवाद्, कुरुकुचाश्चाऽऽचमनानन्तरं कर्तव्याः (कुरुकुचा–बहुना जलेन पादप्रक्षालनाऽऽदि।)। (तिविहे दुविहभेओ इति) त्रिविधे प्रत्येकं द्विविधो भेदो द्रष्टव्यः। इयमत्र भावना–त्रिविधः परपक्षः। तद्यथा–पुरुषस्त्रीनपुंसकः। एकैकः पुनर्द्विविधः–शौचवादी, अशौचवादी च। अथवाऽन्यथा प्रत्येकं द्विभेदः–श्रावकोऽश्रावकश्च। अथवा–त्रिविधो भेदो नामस्थविरो, मध्यमः, तरुणश्च। यदि वा–प्राकृतः, कौटुम्बिको, दण्डिकश्च। एते च त्रयो भेदा यथा पुरुषस्य, तथा स्त्रीनपुंसकयोरपि द्रष्टव्याः। तेषु यतनया गन्तव्यम्।

कथमित्यत आह–

तेण परं पुरिसाणं, असोयवादीण वच्चें आवायं।
इत्थिनपुंसाऽऽलोए, परंमुहो कुरुकुया सा य ॥४६९॥

ततः पुरुषाऽऽलोकवतः स्थण्डिलात्परतः, पुरुषाऽऽलोकवतः स्थण्डिलस्याऽसति पुरुषाणामशौचवादिनामापातमापातवत् स्थण्डिलं व्रजेत्, तत्र च यतना प्रागुक्ता द्रष्टव्या। तस्याऽप्यसंभवे शौचवादिनामप्यापातवद् गन्तव्यम्। तस्यासंभवे स्त्र्यालोके, नपुंसकाऽऽलोके वा गन्तव्यम्। इयमत्र भावना–प्रथमतोऽशौचवादिनीनां स्त्रीणामालोके गन्तव्यम्, तत्र गतः सन् तासां पराङ्मुख उपविशेत्, यतना च सा कुरुकुचाऽऽदिका कर्तव्या। तस्याऽप्यसंभवे शौचवादिनीनामप्यालोके गन्तव्यं, तदभावे नपुंसकानामशौचवादिनामालोके, तस्याऽसंभवे शौचवादिनामप्यालोके। यतना सर्वत्र सैव।

तेण परं आवायं, पुरिसेयरइत्थियाण तिरियाणं।
तत्थ वि य परिहरेज्जा, दुगुंछिए दित्तऽदित्ते य ॥४७०॥

ततः परं शौचवादिनामपि नपुंसकानामालोकस्यासंभवे पुरुषेतरस्त्रीणां तिरश्चामापाते व्रजेत्, तत्रापि दृप्तानदृप्ताश्च जुगुप्सितान् परिहरेत्, अपरिहारे यतनां कुर्यात्। अयमत्र भावा–

र्थः–शौचवादिनां नपुंसकानामालोकासंभवे तिर्यक्पुरुषाणाम दुष्टानामापाते व्रजेत्। तत्रेयं यतना–दण्डहस्ता वारंवारेण व्युत्सृजन्ति। उक्तं च–

''तेण परं पुरिसाणं, असोयवादीण वच्चे आवायं।
अत्थित्थिनपुंसाणं, आलोयपरम्मुहा कुरुया ॥१॥
पच्छा तिरिपुरिसाणं, अदुट्ठदुट्ठाण छच्चे आवायं॥
दुट्ठेसु दंडहत्था, वारं वारेण वोसिरणं॥२॥''

तस्याप्यभावे तिर्यक्स्त्रीणामजुगुप्सितानामापातं व्रजेत्, तदसंभवे जुगुप्सितानामप्यापातं, तदभावे तिर्यङ्नपुंसकानामजुगुप्सितानामापातं, तदभावे जुगुप्सितानामप्यापातम्, केवलं तत्र तथोपविशन्ति, यथा परस्परं सर्वं प्रेक्षन्ते।

तत्तो इत्थिनपुंसा, तिविहा तत्थ वि असोपवाईणं।
तहियं च सद्दकरणं, आउलगमणं कुरुकुया य ॥४७१॥

ततः स्त्रीनपुंसकानामापाते गन्तव्यं, ते च स्त्रीनपुंसकास्त्रिविधाः। तद्यथा–प्राकृताः, कौटुम्बिकाः, दाण्डिकाश्च। ते च प्रत्येकं द्विधाशौचवादिनः, अशौचवादिनश्च। तत्र प्रथमतोऽशौचवादिनामापाते व्रजनीयम्, तत्र च शब्दकरणम्, आकुलगमनं, कुरुकुचा च कार्या। इयमत्र भावना–जुगुप्सितानामपि नपुंसकानामापातवतोऽसंभवे मनुष्यस्त्रीणामशौचवादिनीनामापाते गन्तवयम्, केवलं स्थविरसहितैः प्रविशद्भिश्च परस्परं महान्तः शब्दा उच्चारणीयाः, येन तास्तान् श्रुत्वा निर्गच्छन्ति, आकुलीभूताश्च तत्र प्रविशन्ति, येन 'व्याकुला अमी' इति ता दृष्टिविक्षेपाऽऽदिकं न कुर्वन्ति, अगर्त्ताऽऽदिषु च स्थानेषु संज्ञां व्युत्सृजन्ति, यथा शेषोऽपि लोको दूरस्थः प्रेक्षते, तेऽपि च साधवस्तथा उपविशति यथा परस्परं प्रेक्षन्ते, ततः एवमात्मपरोभयदोषा न संभवन्ति।

उक्तं च–

''तत्थ पुण थेरसहिया, आउलसद्दं करिंति पविसंता।
जह सद्देणं ताओ, निंति ततो अगत्तमादीसु॥
ठाणेसु वोसिरिंती, पेच्छंति य जह परोप्परं सव्वे।
आयपरोभयदोसा, ते एवं वज्जिया होंति'' ॥२॥

आचमनानन्तरं च कुरुकुचा कर्त्तव्या, चशब्दाद् मृत्तिकया हस्तपुतप्रक्षालनं, बहिर्मात्रकस्य कल्प इति परिग्रहः। तदसंभवे शौचवादिनीनामपि मनुष्यस्त्रीणामापाते, तस्याभावे नपुंसकाकानामशौचवादिनामप्यापाते, तदसंभवे शौचवादिनामप्यापाते गन्तव्यम्। सर्वत्रापि यतनाऽनन्तरोक्तैव।

इत्थिनपुंसाऽऽवाते, जा उण जयणा उ मत्तगादीया।
पुरिसाऽऽवाए जयणा, सव्वे च उ मत्तगादीया ॥४७२॥

स्त्र्यापाते, नपुंसकाऽऽपाते च या पुनर्यतना मात्रकाऽऽदिका अनन्तरमुक्ता, सैव पुरुषाऽऽपातेऽपि प्राक् मात्राऽऽदिका यतना द्रष्टव्या। एवं तावदचित्तं स्थण्डिलं चतुःप्रकारमचित्तेन पथा गम्यमुक्तम्। तदभावे मिश्रेणापि पथा तदपवादेन गच्छेत्। तदभावे सचित्तेनापि। तत्राऽपि यतना सैव प्रागुक्ता। उक्तं च–''एवमचित्तेण पहेण, जयणा उ भणिया चउब्भंगे। मीससचित्तपहेसु य, एस चिय भंगजयणा उ'' ॥१॥ संप्रति मिश्रं वक्तव्यं, यतोऽचित्तस्थण्डिलासंभवेऽपवादतो मिश्रमपि गम्यते, तदपि चानापातासंलोकाऽऽदिभेदतश्चतुःप्रकारम्, तस्यापि च त्रयः पन्थानः। तद्यथा–अचित्तः, मिश्रः, सचित्तश्च।

तानेवाऽऽह–

अचित्तेणं मीसं, मीसं मीसेण छक्कमीसेणं।
सचित्तछक्कएणं, मीसे चउभंगियपदेसे ॥४७३॥

मिश्रस्थण्डिलमचित्तेन पथा गम्यं, तदभावे मिश्रेणेत्यत आह–षट्कमिश्रेण षड् जीवनिकायमिश्रेण, तदभावे मिश्रे स्थण्डिले षट्कायसचित्तेन पथा गन्तव्यम्। उक्तं च– ''पढममचित्तपहेणं, मीसं मीसेणं छक्कमीसेणं। सचित्तछक्कएणं, मीसं तू थंडिलं गच्छे ॥१॥'' तच्च मिश्रं स्थण्डिलमध्वनि ग्रामात् ग्रामं प्रति व्रजतो द्रष्टव्यम्। तत्र मात्रकैर्यतना कर्त्तव्या। अथ मात्रकाणि न विद्यन्ते व्युत्सृजतां परिष्ठापयतां च सागारिकसंपातः, तदा धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशान् निश्राकृत्य व्युत्सृष्टव्यम्। उक्तं च– ''जहियं पुण सागारियधम्मादिपएस तहिएँ निस्साए। वोसिरइ एय मीसं, भणिय समासेणं थंडिल्लं ॥१॥'' उक्तं मिश्रं स्थण्डिलम्। तदभावेऽपवादतः सचित्तमपि गन्तव्यं, तदप्यनापातासंलोकाऽऽदिभेदतश्चतुःप्रकारं, तस्याऽपि च त्रयः पन्थानः। तद्यथा–अचित्तः, मिश्रः, सचित्तश्च।

तत्र येन क्रमेण गन्तव्यं, तं क्रममाह–

अचित्तेण सचित्तं, मीसेण सचित्त छक्कमीसेण।
सचित्तछक्कएणं, सचित्त चउभंगियपदेसे ॥४७४॥

सचित्तमपि स्थण्डिलं चतुर्भङ्गिकम्, तत्र प्रथमतोऽनापातासंलोकं गन्तव्यम्, तदभावे द्वितीयं, तदभावे तृतीयं, तदभावे चतुर्थमपि। तत्र यतना प्रागेवोक्ता। तत्र च प्रथमतोऽचित्तेन पथा गन्तव्यं, तदभावे तत् सचित्तं मिश्रेण पथा गम्यम्। केन मिश्रेणेत्यत आह–षट्कमिश्रेण षट्जीवनिकायमिश्रेण, तस्याऽसंभवे सचित्तेन पथा सचित्तं गन्तव्यम्, केन? सचित्तेन षट् केन षट् जीवनिकायैः,। अत्रापि मात्रकैर्यतना कर्त्तव्या। मात्रकाणामभावे व्युत्सर्गे परिष्ठापने वा सागारिकसंभवे धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशानां निश्रा कर्त्तव्या। उक्तं च– ''ज चिय मीसे जयणा, सेव सचित्ते वि होइ कायव्वा। मत्तादिअपरिसेसा, जा धम्मादीपएसा उ ॥१॥''

तदेवमुक्तं स्थण्डिलमिदानीमेतस्य यः कल्पिकः तमभिधित्सुराह–

पढियसुयगुणियमगुणिय–धारमधार उवउत्तो परिहरति।
आलोणाऽऽयरियाऽऽदी, आयरिउ विसोहिकारो से ॥४७५॥

यस्मादजानतः प्रायश्चित्तं, तस्माद् येन सप्तसप्तकाऽऽदि सूत्रं पठितं पाठतः, श्रुतमर्थतः, तच्च गुणितमभ्यस्तं वाऽऽस्पदेऽगुणितं वा धारितं वाऽऽस्पपदेऽनवधारितं वा, तथापि य उपयुक्तः सन् स्थण्डिलं परिहरति–उक्तप्रकारेणोपयुक्तः परिभोगयति, स विचारकल्पिकः। तथा तेन स्थण्डिलसूत्रेण पठितेन वाऽपठितेन वा अगुणितेन वा धारितेन वा अधारितेन वा उपयुक्तो वाऽनुपयुक्तो वा यां विराधनां करोति, तामाचार्याऽऽदेरालोचयति, तदभावेऽन्यस्याप्युपाध्यायाऽऽदेः, आलोचिते 'से' तस्य विशोधिकारः प्रायश्चित्तप्रदानेन शुद्धिकर्त्ता आचार्यः। किमुक्तं भवति?–यदा आचार्यः प्रायश्चित्तं ददाति, ततः स शुद्धिमापद्यते। गतं विचारद्वारम्। बृ०१ उ०। प्रति०। पञ्चा०। श्रा०। ध०। नि०चू०। ('णिग्गंथी' शब्दे २०४८ पृष्ठेऽत्रैव भागे तासां स्थण्डिलं प्रतिपादितम्)

स्थण्डिलगमनविधिः–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उच्चारपासवणकिरियाए उव्वाहिज्जमाणे सयस्स पायपुंछणस्स असतीए तओ पच्छा साहम्मियं जाएज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुः कदाचिदुच्चारप्रस्रवणकर्त्तव्यतपोत्प्राबल्येन बाध्यमानः स्वकीयपादपुञ्छनसमाध्यादावुच्चाराऽऽदिकं कुर्यात्, स्वकीयस्याभावेऽन्यसाधर्म्मिकं साधुं याचेत, पूर्वप्रत्युपेक्षितं पादपुञ्छनकं समाध्यादिकमिति। तदनेनैतत् प्रतिपादितं भवतिवेगधारणं न कर्त्तव्यमिति।

अपि च–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल्लं जाणेज्जासअंडं सपाणं०जाव मक्कडासंताणयंसि तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुरुच्चारप्रस्रवणाऽऽशङ्कायां पूर्वमेव स्थण्डिलं गच्छेत्तस्मिंश्च साण्डाऽऽदिके अप्रासुकत्वादुच्चाराऽऽदि न कुर्यात्।

किञ्च–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा–अप्पपाणं अप्पबीयं०जाव मक्कडासंताणयंसि तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। अल्पाण्डकाऽऽदिके प्रासुके कार्यमिति।

औद्देशिकं स्थण्डिलम्–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा–अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स, अस्सिंपडियाए बहवे साहम्मिया समुद्दिस्स, अस्सिं पडियाए एगं साहम्मिणिं समुद्दिस्स, अस्सिं पडियाए बहवे साहम्मिणीओ समुद्दिस्स, अस्सिं पडियाए बहवे समणमाहणवणीवगेपगणिय २ समुद्दिस्स पाणाइं ४ ०जाव उद्देसियं चेतेति, तहप्पगारं थंडिलं पुरिसंतरकडं वा०जाव बहिया णीहडं वा अण्णयरंसि वा तप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुर्यत् पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्। तद्यथा– एकं बहून् वा साधर्मिकान् समुद्दिश्य, तत्प्रतिज्ञया कदाचित् कश्चित् स्थण्डिलं कुर्यात्। तथा–श्रमणाऽऽदीन् प्रगणय्य वा कुर्यात्, तचैवंभूतं पुरुषान्तरस्वीकृतमस्वीकृतं वा मूलगुणदुष्टमुद्देशिकं स्थण्डिलमाश्रित्योच्चाराऽऽदि न कुर्यादिति।

किञ्च–अपुरुषान्तरकृते स्थण्डिले उच्चाराऽऽदि न कुर्यात्–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा–बहवे समणमाहणकिवणवणीवगअतिही समुद्दिस्सपाणाइं ४०जाव उद्देसियं चैतेति, तहप्पगारं थंडिलं अपुरिसंतरकडं०जाव बहिया अणीहडं वा अण्णयरंसि वा तहपगारास णा उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा–पुरिसंतरकडं० जाव बहिया णीहडं वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुर्यावदन्तिके स्थण्डिलेऽपुरुषान्तरस्वीकृते उच्चाराऽऽदि न कुर्यात्, पुरुषान्तरस्वीकृते कुर्यादिति।

अपि च–क्रीतकृताऽऽदिस्थण्डिलम्–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जाअस्सिं पडियाए कयं वा कारियं वा पाडिचियं वा छण्णं वा घट्ठं वा मट्ठं वा लित्तं वा समट्ठं वा संपधूवितं वा अण्णयरंसि तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुः साधुमुद्दिश्य क्रीताऽऽदावुत्तरगुणाशुद्धे स्थण्डिले उच्चाराऽऽदि न कुर्यादिति।

किञ्च–यत्र गृहपतिपुत्राऽऽदय आगच्छन्ति–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा–इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्ता वा कंदाणि वा मूलाणि वा० जाव हरियाणि वा अंतातो वा बाहिं णीहरिति,वाहीओ वा अंतो साहरंति, अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुर्गृहपत्यादिना कन्दाऽऽदिके स्थण्डिलान्निष्कास्यमाने तत्र वा निक्षिप्यमाणे नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति।

तथा–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा–खंधंसि वा पीढंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा अट्टंसि वा पासायंसि वा अण्णयरंसि वा थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुः स्कन्धाऽऽदौ स्थण्डिले नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति।

किञ्च–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जाअणंतरहियाए पुढवीए ससणिद्धाए पुढवीए ससरक्खाए पुढवीए मट्टियाए मक्कडाए चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुए चित्तमंताए कोलावासंसि वा दारुयंसि वा जीवपइट्ठियंसि वा०जाव मक्कडासंताणयंसि अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्। तद्यथा– अनन्तरितायां सचित्तायां पृथिव्यां तत्रोच्चाराऽऽदि न कुर्यात्, शेषं सुगमम्। नवरं। (कोलावासंसि त्ति) घुणवासम्।

अपिच–यत्र गृहकन्दाऽऽदीनि परिशाटयन्ति–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा–इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्ता वा कंदाणि वा० जाव वीयाणि वा परिसाडेंसु वा, परिसाडेंति वा, परिसाडिस्संति वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्। तद्यथा– यत्र गृहपत्यादयः कन्दबीजाऽऽदिपरिक्षेपणाऽऽदिकाः क्रियाः कालत्रयवर्त्तिन्यः कुर्युः, तत्रैहिकाऽऽमुष्मिकापायभयादुच्चाराऽऽदि न कुर्यादिति।

तथा यत्र गृहपतिपुत्राः शाल्याऽऽदीनि वपन्ति–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल जाणेज्जा–इह खलु गाहावई वा गाहावतीपुत्ता वा सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा तिलाणि वा कुलत्थाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा पइरिंसु वा, पइरिंति वा, पइरिस्संति वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। यत्र च गृहपत्यादयः शल्याऽऽदीन्युप्तवन्तो, वपन्ति, वप्स्यन्ति वा तत्राप्युच्चाराऽऽदि न विदध्यादिति।

किंच–यत्र कचवराऽऽदिपुञ्जाः–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल जाणेज्जा–ओमायाणि वा घसाणि वा भिलुहाणि वा विज्जुलाणि वा खाणुयाणि वा कडयाणि वा पगड्ढाणि वा दरीणि वा पदुग्गाणि वा समाणि वा विसमाणि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्। तद्यथा– आमोकानि कचवरपुञ्जाः, घसा बृहत्यो भूमिराजयः, भिलुहाणि श्लक्ष्णभूमिराजयः, विज्जुलं पिच्छलं, स्थाणुः प्रतीतः, ''कडयाणि'' इक्षुपोतलिकाऽऽदिदण्डकः, प्रगर्त्ता महागर्त्ताः, दरी प्रतीता, प्रदुर्गाणि कुड्यप्राकाराऽऽदीनि। एतानि च समानि वा विषमाणि वा भवेयुः, तदेतेष्वात्मसंयमविराधनासंभवान्नोच्चारा–ऽऽदि कुर्यादिति।

किंच मानुषरन्धनाऽऽदिस्थण्डिलानि–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल जाणेज्जा–माणुसरंधणाणि वा महिसकरणाणि वा वसभकरणाणि वा अस्सकरणाणि वा कुक्कुडकरणाणि वा मक्कडकरणाणि वा लावयकरणाणि वा वट्टयकरणाणि वा तित्तिरकरणाणि वा कवोयकरणाणि वा कपिंजलकरणाणि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्। तद्यथा– मानुषरन्धनानि चुल्ह्यादीनि, तथा महिष्यादीनुदिश्य यत्र किञ्चिद्रिक्रयते, तथा तत्र स्थाप्यन्ते, तत्र लोकविरुद्धप्रवचनोपघाताऽऽदिभयाद् नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति।

तथा–वैहानसस्थानाऽऽदि आरामाऽऽदि परिहरेत्–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल जाणेज्जा– वेहाणसट्ठाणेसु वा गिद्धपिट्ठट्ठाणेसु वा तरुपतणट्ठाणेसु वा मेरुपवडणट्ठाणेसु वा विसभक्खणट्ठाणेसु वा अगणिकंडयट्ठाणेसु वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल जाणेज्जाआरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंमाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुर्विहानसस्थानानि मानुषोल्लम्बनस्थानानि, गृध्रस्पृष्टस्थानानि यत्र मुमूर्षवो गृध्राऽऽदिभक्षणार्थं रुधिराऽऽदिलिप्तदेहा निपत्याऽऽसते, तरुपतनस्थानानि यत्र मुमूर्षव एवानशनेन तरुवत्पतितास्तिष्ठन्ति, तरुभ्यो वा यत्र पतन्ति, एवं मेरुपतनस्थानान्यपि। मेरुश्चात्र पर्वतोऽभिधीयत इति। एव विषभ–क्षणाग्निप्रवेशस्थानाऽऽदिषु नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति। अपि च–''से'' इत्यादि। आरामदेवकुलाऽऽदौ नोच्चाराऽऽदि विदध्यादिति।

तथा अट्टालकाऽऽदिषु–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल जाणेज्जा–अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अण्णयरंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा॥

''से'' इत्यादि। प्राकारसम्बन्धिन्यट्टालकाऽऽदौ नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति।

किञ्च–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल जाणेज्जा–तियाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

त्रिकचत्वराऽऽदौ च नोच्चाराऽऽदि व्युत्सृजेदिति।

किञ्च–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल जाणेज्जा–इंगालडाहेसु वा खारडाहेसु वा मडयडाहेसु वा मडयथूभियासु वा मडयचेइएसु वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

'से' इत्यादि। स भिक्षुरङ्गारदाहस्थाने श्मशानाऽऽदौ नोच्चाऽऽरादि विदध्यादिति।

अपिच–पङ्काऽऽद्यापतनेषु–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल जाणेज्जाणदियाययणेसु वा पंकाययणेसु वा उग्घाययणेसु वा सेयणवहंसि वा अण्णयरंसि तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। नद्यायतनानि यत्र तीर्थस्थानेषु लोकाः पुण्यार्थं स्नानाऽऽदि कुर्वन्ति। पङ्कायतनानि यत्र पङ्किलप्रदेशे लोका धर्मार्थं लोटनाऽऽदिक्रियां कुर्वन्ति, उद्घायतनानि यानि प्रवाहत एव पूज्यस्थानानि, तडागजलप्रवेशोऽथ मार्गो वा सेचनपथेऽवनिकाऽऽदौ नोच्चाराऽऽदि विधेयमिति।

तथा मृत्खन्यादिषु–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल जाणेज्जाणविआसु वा मट्टियखाणियासु णवियासु गोप्पयलेहियासु गवायणीसु वा खाणीसु वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुरभिनवासु मृत्खनिषु, तथा नवासु गोप्रलेह्यासु गवादनीषु, सामान्येन वा गवादनीषु वा खनिषु नोच्चाराऽऽदि विदध्यादिति।

किञ्च–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल जाणेज्जाऽऽगन्धवच्चंसि वा सागवच्चंसि वा मूलगवच्चंसि वा हत्थकरवच्चंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिले णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। 'मागे त्ति' मागप्रधानं शाकं पत्रप्रधानं तु शाकमेव, तद्वति स्थाने मूलगाऽऽविति च नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति।

तथा–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल जाणेज्जा– असणवणंसि वा सणवणंसि वा धायइवणंसि वा केयइवणंसि वा अंबवणंसि वा असोगवणंसि वा णागवणंसि वा पुण्णागवणंसि वा चुण्णगवणंसि वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु वा पत्तोवएसु वा पुप्फोवएसु वा फलोवएसु वा वीओवएसु वा हरिओवएसु वा णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा।

''से'' इत्यादि। अशनो वीयकः, तद्वनाऽऽदौ च नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति।

तथा पत्रपुष्पफलाऽऽद्युपवेष्टिते कथं वोच्चाराऽऽदि

कुर्यादिति दर्शयति स्वपात्रं गृहीत्वा यथा

कर्त्तव्यमुच्चारप्रस्रवणम्–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सयपाययं वा परपाययं वा गहाय से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, अणावायंसि असंलोइयंसि अप्पपाणंसि०जाव मक्कडासंताणयंसि अहारामंसि वा उवसायंसि ततो संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा, वोसिरित्ता से तमादाय एगंतमवक्कमेज्जा,अणावायंसि० जाव मक्कडासंताणयंसि अहारामंसि वा झामथंडिलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि अचित्तंसि ततो संजयामेव उच्चारपासवणं परिट्ठवेज्जा, इयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं०जाव जएज्जा सि त्ति बेमि।

''से'' इत्यादि। स भिक्षुः स्वकीयं परकीयं वा पात्रकं समाधिस्थानं गृहीत्वा स्थण्डिलमनापातमसंलोकं गत्वोच्चारं, प्रस्रवणं वा कुर्यात्प्रतिष्ठापयेदिति। शेषमध्ययनसमाप्तिं यावत् पूर्ववदिति। आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० ब्रृ०। (स्थविरकल्पिकाः स्थण्डिले गुदप्रमार्जनं कुर्वन्ति, न तु जिनकल्पिका इति 'लेव' शब्दे वक्ष्यते) (सार्थेन सह गमने रात्रिविहारे सर्वथैव स्थण्डिलं न प्रार्थयन्ते, धर्माधर्माऽऽकाशास्तिकायप्रदेशेषु अपि व्युत्सृजन्ति 'विहार' शब्दे वक्ष्यन्ते) (निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च मिथ उपाश्रयगमने स्थण्डिलदोषा 'वसहि' शब्दे वक्ष्यन्ते (रात्रौ विचारभूमौ न गन्तव्यमिति 'विहार' शब्दे वक्ष्यते)

(स्थण्डिलयतना नगरोपरोधे 'उवरोह' शब्दे द्वितीयभागे ६१० पृष्ठे उक्ता) ('पज्जुसणा' शब्दे तात् कालिक्यो भूमयो ग्राह्याः) (स्थण्डिले उच्चारप्रस्रवणपरिष्ठापना 'परिट्ठवणा' शब्दे दर्शयिष्यते) (स्थण्डिलविषये शिष्यपरीक्षा 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४१० पृष्ठे गता) संज्ञां व्युत्सृज्याऽऽचार्येण वसती रक्षणीयेति 'वसहि' शब्दे एकाकिनां वसतिरक्षणप्रस्तावे वक्ष्यते)

गोचरचर्याविषयः–

गोअरगपविट्ठो य, वच्चं मुत्तं न धारए।
ओगासं फासुअं नच्चा, अणुन्नविअ वोसिरे ॥१६॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु वर्चो मूत्रं वा न धारयेत्, अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वाऽनुज्ञाप्य व्युत्सृजेदिति। अस्य विषयो वृद्धसंप्रदायादवसेयः। स चाऽयम्–पुव्वमेव साहुणा सन्नाकाइओवयोगं काऊण गोयरे पविसिअव्वं। कहंचि ण कओ, कए वा पुणो होज्जा, ताहे वच्चं मुत्तं न धारेयव्वं, जओ मुत्तनिरोहे चक्खुवघाओ भवति। वच्चनिरोहे जीविओवघाओ असोहणा अ आयविराहणा। तओ भणिअं–''सव्वत्थ संजममित्यादि''। अओ संघाडयस्स सयभाणाणि समप्पिअ पडिस्सए पाणयं गहाय सन्नाभूमीए विहिणा वोसिरिज्जा। वित्थरओ जहा ओहणिज्जुत्तीए ॥'' इति सूत्रार्थः ॥१६॥ दश०५ अ०।

आचार्येणानेकवारं स्थण्डिलभूमौ न गन्तव्यमिति 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे १५ पृष्ठे उक्तम्) (ग्लानार्थं गच्छतो मध्ये व्युत्सर्गो 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६६६ पृष्ठे उक्तः)

श्रावकस्य मलोत्सर्गः–

तत्र च मलोत्सर्गो मौनेन निरवद्यार्हस्थानाऽऽदिविधिनैवोचितः। यतः–''मूत्रोत्सर्गं मलोत्सर्गं, मैथुनं स्नानभोजनम्। सन्ध्याऽऽदिकर्म पूजां च, कुर्यात् पश्च च मौनवान्' ॥१॥ विवेकविलासेऽपि–''मौनी वस्त्राऽऽवृतः कुर्याद्,दिनसन्ध्याद्वयेऽपि च। उदङ्मुखः शकृन्मूत्रे, रात्रौ याम्याननः पुनः ॥१॥ इति। ध०२अधि०।

अत्राऽऽह–

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता ण पुंछति, ण पुंछंतं वा साइज्जइ ॥१४२॥

ण पुंछति ण णिदुगलेति।

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता कट्ठेण वा कलिंवेण वा अंगुलियाए वा सिलागएण वा पुंछइ, पुंछंतं वा साइज्जइ ॥१४३॥

कलिंबो–वंसकप्परी अण्णतरकट्ठघडिया सलागा, तस्स मासलहुं।

गाहा–

उच्चारमायरित्ता, जे भिक्खू ण पुंछती अहिट्ठाणं।
पुंछिज्ज व अविहीए,सो पावति आणमादीणि ॥३०३॥

आयरित्ता वोसिरित्ता, अविधी कट्ठातिया विदियसुत्ते।

गाहाः–

पच्छालणं दवेणं, जुत्तमजुत्तेण भावणादोसा।
संजम आयविराहण , अविधीए पुंछणे दोसा ॥३०४॥

अणडगलिते अतीव लच्छारियं, दवेण जुत्तेण थोवेणेति भणियं होति, तेण ण सुज्झति। असुद्धे दिट्ठे उड्डाहो, सेहो वा विप्परिणमेज्ज। अह अजुत्तेण बहुणा दवेण धोवति तो प्लावनादिदोसा, एते अपुंछिज्जंते दोसा। अविधीए पुंछिते इमं पच्छद्धं, अविधिपुंछिएहिं आयविराहणा। अह जीवकाओ त्ति संजमविराहणा य।

इमा अविधी–

कट्ठेण कलिंवेण व, पत्तसलागाएँ अंगुलीए वा।
एसा अविधी भणिता, डगलगमादी विधी चेव ॥३०५॥

पत्तं पलासपत्ताऽऽदि, डगलेण वा, चीरेण वा, अंगुलिए वा एसा तिविधा विधी। डगला पुण दुविधा–संबद्धा भूमीए हुज्ज, असंबद्धा वा होज्ज। जे असंबद्धा ते तिविधा–उक्कोसा तिउवला लेट्ठू मसिणा मज्झिमा, इट्ठालं जहण्णं।

जम्हा एते दोसा–

तम्हा पुंछाऽऽदाणं, काऊणं डगलगाण छड्डेज्जा।
उत्थाणोसहपाणे, असतीव स ण कुज्ज आदाणं ॥३०६॥

आयाणं डगलगादीण छडेज्ज उच्चारं वोसिरिज्जा। वितियपदं गाहा पच्छद्धं–उत्थाणं अतिसारो, ओसहपीतो वा ण गेण्हति, असती वा ण गेण्हति।

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता णायमइ, णायमंतं वा साइज्जइ ॥१४४॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता तत्थेव आयमति, आयमंतं वा साइज्जइ ॥१४५॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता अइदूरे आयमति, आयमंतं वा साइज्जइ ॥१४६॥

तिण्णि सुत्ता–उच्चारे वोसिरिज्जमाणे अवस्सं पासवणं भवति त्ति तेण गहितं पासवणं पुंछाओ अणगारिए णायमंति, जहा–उच्चारे तत्थेव त्ति, थंडिले जत्थ सण्णा ओसरिया, अतिदूरे हत्थसयपमाणमेत्ते।

गाहा–

उच्चारं वोसिरित्ता, जे भिक्खू णेव आयमेज्जा वि।
दूरे अच्चासण्णे, सो पावति आणमादीणि ॥३०७॥

आयमणं णिल्लेवणं, आसएणं तत्थेव थंडिले।

अणायमंते इमे दोसा–

अयसो पवयणहाणी, विप्परिणामे व सेहएँ दुगुंछा।
दोसा अणायमंते, दूराऽऽसण्णाऽऽयमंते य ॥३०८॥

अयसो–इमे असोइणो त्ति ण एते णिल्लेवेंति, ण पव्वयंति, अण्णे वि पव्वयंते वारेंति। पवयणहाणी–हंसणे चरित्ते वा अब्भुवगमे काउंकामस्स विप्परिणामो भवति, सेहाण वा मा एतेहिं विट्ठलेहिं सह संफासं करेह, एसा कुच्छा। दूरे वि एते दोसा, आसण्णे वि एते चेव दोसा। कहं? सागारिओ पासति, संजओ आसण्णे वोसिरिउं दूरं गतो, सागारिओ वि जोविउं पराभग्गो, ण णिल्लेवंति लोगस्स कहेति। आसण्णे तत्थेव संजतो णिल्लेवेउं गतो, सागारिए आगंतुं पलोइयं०जाव मुत्तियं पेक्खति, एतं संकातिअंण णिल्लेवति, पच्छा लोगस्स कहेति।

गाहा–

उत्थाणोसहपाणे, दवेँ असतीए व णायमेज्जाहि।
थंडिल्लस्स व असती, आसण्णे वा वि दूरे वा ॥३०९॥

अन्नस्स थंडिलस्स असति तत्थेव निल्लेवेति, थंडिलाओ वा दूरं गंतुं निल्लेवेति, सागारिओ पुणो वा लेवावेति।

जे चिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता परं तिण्हं णावापूराणं आयमइ, आयमंतं वा साइज्जइ ॥१४७॥

णाव त्ति पसती, ताहिं तिहिं आयमियव्वं। अण्णे भणंति–अंजली पढम-णावापूरं तिहा करेति, अवयवे वि किंचित् वितियं णाणपूरं तिहा करेत्ता सव्वावयवं विसोहिति, ततियं णावापूरं तिहा करेत्ता तिण्णि कप्पे करेति सुद्धं, अतो परं जति तो मासलहु।

गाहा–

उच्चारमायरित्ता, परेण तिण्हं तु णावपूराणं।
जे भिक्खू आयामति, सो पावति आणमादीणि ॥३१०॥

इमे दोसा–

उच्छोलणुप्पिलावण–पडणं तसपाणतरुगणादीणं।
कुरुवयदोसा य पुणो, परेण तण्हाऽऽयमंतस्स ॥३११॥

उच्छोलणा पधोविरस्स दुलभा, सोवि तारिसयस्स उच्छोलणा दोसा भवंति, पिपीलिगाऽऽदीणं वा पासणाण उप्पिलावणा हवति, खिल्लगंधे तसा पडंति, तरुगणपत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा पडंति, आतिग्-हणेणं पुढविआउतेउवाऊण य, यत्राग्निस्तत्र वायुना भवितव्यमिति कृत्वा ऊरुवयकरणे य पाउसत्तं भवति।

कारणे अतिरित्ते ण आयमे–

वितियपद मसहरो–गअरिसा सागारसोयवादीसु।
उत्थाणोसहपाणे, परेण तिण्हाऽऽयमेज्जासि ॥३१२॥

जेण वा णिल्लेवं णिग्गंधं भवतीत्यर्थः। नि०चू० ४उ०। यदुदयेना-ऽऽत्मा सदसद् विवेकविकलत्वात् स्थण्डिलवद् भवति स स्थण्डिलः। क्रोधे, सूत्र०१ श्रु०६ अ०।

थंडिल्ल (देशी) मण्डले, दे०ना० ५ वर्ग २५ गाथा।

थंब (देशी) विषमे, दे०ना० ५ वर्ग २४ गाथा।

थंभ पुं०(स्तम्भ) **''थठावस्यन्दे''** ॥८।२।६॥ इति स्यन्दाभाव–वृत्तौ स्तम्भेस्तस्य थकारठकारौ। 'थंभो' 'ठंभो'। प्रा० २पाद। उत्तमजा-तीयोऽहं कथमेतेषां भिक्षाचराणां हीनजातीयानां पार्श्वे गच्छामीत्यादि-लक्षणे जात्याद्यभिमाने, आ०म० १अ०२ खण्ड। उत्त०। आव०। दश०। अहङ्कारे, उत्त० ११ अ०। अवमाननायाम्, भ० १२ श०५ उ०। गर्वे, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०। शैलदारुमयाऽऽदौ, आचा०२ श्रु०१चू०१अ०७उ०। स्थाणौ, स्था०४ठा०२उ०।

थंभण न०(स्तम्भन) ऊर्द्धीकरणे, औ०।

थंभणय न०(स्तम्भनक) भवभयहराऽऽख्यपार्श्वनाथस्थाने पुरभेदे, ती०४३ कल्प।

''थंभणयकप्पमज्झे, जं संगहियं न वित्थरभएणं।
तं सिरिजिणपहसूरी, सिलुंछमिव किं पि जंपेइ ॥१॥''

वयखारपव्वए रयणसीहराया, तस्स भोपालनामिअं धूअं रूवलावण्णसंपन्नं दट्ठूण ताए सयाणुरायस्स तं सेवमाणस्स वा रुमिणो दिट्ठो, पुत्तो नागज्जुणो नाम जाओ। सो अ जणएण पुत्तसिणेहमो–हिअमणेण सव्वासिं महो महीणं फलाइं मूलाइं दलाइं कंदाइं च भुजाविओ। तप्पभावेणं सो महासिद्धिहिं अलंकिओ सिद्धपुरिस त्ति विक्खाओ पुहविं विअरंतो सालवाहणे रन्नो कलागुरू जाओ। सो अ गयणगामिणिविज्जाअज्झयणत्थं पालित्तयपुरसिरिपालआ–यरिए सेवेइ। अन्नया भोअणावसरे पायप्पलेवबलेण गयणे उप्पइए पासइ, अट्ठावयाइं तित्थाणि नमंसिआ सट्ठाणमुवागयाण तेसिं पाए पक्खालिऊण सत्तुत्तरसयमहासहाणं आसायणवन्नगंधाईहिं नामाइं निच्छइऊण गुरूवएसं विणा वि पायं लेवं काउं कुक्कुडपोउ व्व उप्पयंतो अवडतमे निवडिओ। वणजन्नरिअंगो गुरूहिं पुट्ठो–किमेयं ति? तेण जहट्ठिए वुत्ते तस्स कोसल्लवमक्कमित्ता आयरिआ तस्स सिरे पउमहत्थं दाउं भणंति–सट्ठिअंतदुलोदगेण ताणि ओसहाणि वडित्ता पायपलेवं काउं गयणे चक्किआसि त्ति। तओ तं सिद्धिं पाविअ परितुट्ठो पुणो कया वि गुरुमुहाओ सुणेइ–जहा सिरिपासनाहपुराओ साहिज्जतो सव्वइच्छीलक्खणोवलक्खिजंतो अ महासई वि लयाए अमद्दिज्जंतो रसो कोडिवेही हवइ। तं सोऊण सो पासनाहपडिमं अन्नेसिउमारद्धो। इओ अ बारबईसमुद्दविजय–दसारेणं सिरिनेमिनाहमुहाओ महाऽइसयं नाऊण रयणमई सिरिपासनाहपडिमा पासायम्मि ठवित्ता पूइआ। बारवईदाहाणंतरं समुद्देण पाविया सा पडिमा तहेव समुद्दमज्झे ठिआ। कालेण कंतीवासिणो धणवइनामस्स संजतिअस्स जाणवत्तं देवयाइ–सयाओ खलिअं जत्थ जिणबिंबं चिट्ठइ त्ति दिव्वबायाए निच्छियं नाविए तत्थ परिक्खिविअ सत्तहिं आमतंतूहिं संदाणिअ उद्धरिआ पडिमा, निअनयरीए नेऊण पासायम्मि ठाविआ चिंताइरित्तलाभपहिट्ठेण पूइज्जइ पइदिणं। तओ सव्वाइसाइ तं बिंबं नाऊण नागज्जुणो सिद्धरससिद्धिनिमित्तं अवहरिऊण सेढीनईए तडे ठाविंसु। तस्स पुरओ रससाहणत्थं सिरिसालवाहणरन्नो चंदलेहाभिहाणं महासईदेविं सिद्धवंतरससनिद्धेण तत्थ आणाविअ पइनिसं रसमद्दणं कारेइ। एवं तत्थ भुज्जो भुज्जो गयागएणं तीए बुद्धु त्ति पडिवन्नो। सा तेसिं ओसहाणं मद्दणकारणं पुच्छेइ। सो अ कोडीरससवेहे वुत्तंतं जहट्ठिअं कहेइ। अण्णया दुण्ह निअपुत्ताणं तीए निवेइअं–जहा एअस्स रससिद्धी होहि त्ति। ते रसलुद्धा निअरज्जं मुत्तुं नागज्जुण–पासमागया कइअवेण तं रसं घित्तुमणा पच्छन्नवेसा जत्थ नागज्जुणो भुंजइ तत्थ रससिद्धिवत्तं पुच्छंति। सा य तज्जाणणत्थं तद्दट्ठुं सलूणं रसवइं साहेइ, छम्मासे अइक्कंते खारि त्ति दूसिया तेण रसवइं, तओ इंगिएहिं रसं सिद्धं नाऊण पुत्ताणं निवेइअं तीए। तेहिं च परंपराए नायं, जहा–वासुगिणाए अस्स दज्झंकुराओ मद्दू कहिओ त्ति, तेण च सत्थेण नागज्जुणो निहओ। जत्थ य रसो, थंभिओ तत्थ थंभणयं नाम नयरं संजायं। तओ कालंतरेण तं बिंबं वयण–मित्तविज्जं भूमिअंतरिअंगं संवुत्तं॥ इओ अ चंदकुले सिरिवद्धमा–णसूरिसीसजिणेसरसूरीणं सीसो सिरिअभयदेवसूरी गुज्जररन्नाए संभाणयट्ठाणे विहरिओ। तत्थ महावाहिवसेण अईसाररोगे, जाए, पच्चाऽऽसन्ननगरगामेहिंतो पविरलपडिक्कमणत्थमागंतुकामो विसेसेण आहूओ, मिच्छादुक्कडदाणत्थं सव्वो वि सावयसंघो। तेरसीअद्धरत्ते अ भणिअं–पहुणो सासणदेवयाए भयवं! जग्गहसु। अह तओ मंदसरेणं वुत्तं पहुणा–के तुमे? निद्दादेवीए भणिअं–एआओ नव सुत्तकुक्कुडीओ उम्मोहेसु। पहुणा भणिअं न सक्केमि। तीए भणिअं–कहं न सक्केसि? अज्ज वि वीरतित्थं वीर! पभावेसि, नवंगवित्तीओ अ काहिसि। भय वया भणियं–अहमेवंविहसरीरे काहामि। देवया वुत्तथंभणवपुरे सेढीनइउवकंठे खंखरपलासमज्झे सयं सयंभूसिरिपासनाहो अत्थइ, तत्थ पुरे देवे वंदेह, जेण सुत्थसरीरा होह। तओ गोसे साहू अ सावयसंघेण वंदिया पहुणा भणियं–थंभणए पासनाहं वंदिस्सामो। संघेण विनायंनूणं कोइ उवएसो पहू, णं, तो एवं आइसंति। तओ भणिअं–संघेण अम्हे वि वंदिस्सामो। तओ वाहणेण गच्छंतस्स पहुणो थणयं सरीरं सुत्थं जायं। अओ धवलक्कयाओ परओ चरणचारेण विहरंता पत्ता थंभणपुरं गुरू, सावया सव्वत्थ पासनाहमवलोइंति। गुरुणा भणिआखंखरपलासमज्झे पलोएहि, तेहिं तहा कए दिट्ठं सिरिपासनाहपडिमामुहं। तत्थ य पइदिणं एगा धेणू आगम्म पडिमामत्थए खीरं झरइ तओ पहिट्ठेहिं, सावएहिं जहा दिट्ठं निवेइअं गुरुणो। अभयदेवसूरी वि तत्थ गंतुं मुहदंसणमेत्तेण थोउमाढत्तो– ''जय तिहुयणवरकप्परुक्ख'' इच्चाइतक्कालिअवत्तेहिं। तओ सोलससु वित्तेसु कएसु पच्चक्खी हूआ सव्वंगपडिमा। अओ चेव–''जय पच्चक्खजिणेसर त्ति'' सत्तरसमे वित्ते पढिअं। तओ वत्तीसाए पुण्णाए अंतिमवित्तदुगं अईव देवयाइड्ढिकरं ति नाऊण देवयाए विन्नत्तं न य वत्तीसाए वि वित्तेहिं सन्निज्झं करिस्सामि त्ति, अंतिमवित्तदुगं उस्सारेह, मा अम्हं कलियुगे आगमणं दुक्खाय होति। पहुणा तहा कयं। संघेण सह चिइवंदणा कया। तत्थ संघेण उत्तुंगं देवहरयं कारिअं। तओ उवसंतरोगेण पहुणा तोसिओ सिरिपाससामी, तं च महासिद्धं पसिद्धं। कालाइक्कमेण कया ठाणाईणं नवंगाणं वित्ती, आयारंगसुअडंगाणं तु पुव्विं पि सीलंगाऽऽयरिएण कया आसि। तओ परं चिरं वीरतित्थं पभाविअं पहुण त्ति।'' इति स्तम्भनकल्पशीलोच्छः। ती० ५२ कल्प।

''दढवाहिविहुरिअंगा, अणसणगहणत्थमाहविअसंघा।
नवसुत्तकुक्कुडिविडो–क्खणाय भणिया निसि सुरीए॥१॥
दो वि अ हत्थअसत्थी, नवंगविवरणकहावमुक्करिया।
थंभणयपासवंदण, उवइट्ठाऽऽरोग्गविहुणो य॥२॥
थंभणयाओ वलिया, धवलक्कपुराउ पयचरणचारी।
थंभणपुरम्मि पत्ता, सेढीतडजरयलाभवणे॥३॥
गोपयवरणुवलक्खिय–भुवि 'जय तिहुअण' थयद्धपच्चक्खे।
पासे पूरिअथवणा, गोविअ सकलं च वित्तदुडा॥४॥
संघ कराविअ भवणे, गयरोगा ठविअ पासपहुपडिमा।
सिरिअभयदेवसूरी, वि जयंतु नवंगवित्तिकरा॥५॥
यन्मार्गेऽपि चतुःसहस्रसरदो देवाऽऽलये, योऽर्चितः,
स्वामी वासववासुदेववरुणैः स्ववर्धिमध्ये ततः।
कान्त्यामिभ्यधनेश्वरेण महता नागार्जुनेनार्चितः,
पायात् स्तम्भनके पुरे स भवतः श्रीपार्श्वनाथो जिनः॥१॥''
ती० ६ कल्प।

थंभणपुर न०(स्तम्भनक) भवभयहराऽऽख्यपार्श्वनाथस्थाने पुरभेदे, ती० ६ कल्प।

थंभणया स्त्री०(स्तम्भनता) ग्रीवायां धमन्यादीनां तिष्ठतो

वाऽऽत्मनोऽङ्गप्रदेशानामवरोधे, प्रज्ञा०१६ पद। आ०म०। सूत्र०।

थंभणी स्त्री०(स्तम्भनी) स्तम्भनकारिणि विद्याभेदे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। ज्ञा०।

थंभिय त्रि०(स्तम्भित) स्तब्धीकृते, स्था०८ठा०। ''कडगतुडिथंभियभुया।'' प्रज्ञा०२२ पद। औ०। स०। प्रज्ञा०। आ०म०।

थक्क धा०(फक्क) गतौ, **''फक्कस्थक्कः''** ॥८।४।७॥ इति फक्कते-स्थक्काऽऽदेशः। प्रा०४ पाद। अवसरे, दे०ना० ५ वर्ग २४ गाथा। 'थक्कइ' फक्कति। ''धातवोऽर्थान्तरेऽपि ॥८।४।२५६॥ इति नीचां गतिं करोति विलम्बयति वा तदर्थे बोद्धव्याः। प्रा०४ पाद।

***स्था** धा०। गतिनिवृत्तौ, **''स्थष्ठा-थक्क-चिट्ठ-निरप्पाः''** ॥८।४।१६॥ इति तिष्ठतेस्थक्काऽऽदेशः। ''थक्कइ'' तिष्ठति। प्रा०४ पाद। प्रस्तावे, पुं०। ''थक्के आतो ति नाऊणं'' व्य०६उ०। देशोऽवसरः स्थक्कमिति पर्यायाः। विशे०।

थक्कारेंत त्रि०(थक्कारयत्) 'थक्का' इत्येवं महान्तं शब्दं कुर्वति, आ०म० १अ०१खण्ड।

थगण न०(स्थगन) पिधाने, स्था०४ठा०४उ०। संवरणे, आव० ६अ०।

थगिय *त्रि०(स्थगित) पिहिते, दश०५ अ०१उ०। संवृते, परिव्यक्ते,* आ०म०१ अ०२खण्ड। आव०।

थग्गया (देशी) चश्चौ, दे०ना० ५ वर्ग २६ गाथा।

थग्घ पुं०(देशी) गाधे, दे०ना०५ वर्ग २४ गाथा।

थट्टी (देशी) पशौ,दे०ना० ५ वर्ग २४ गाथा।

थण पुं०(स्तन) वक्षोजे, पयोधरे, मांसगोले, ज्ञा०२ श्रु०१ वर्ग १ अ०। अनु०। कुचे, है०। आव०।

थणगच्छीर न०(स्तनकक्षीर) पयोधरदुग्धे, तं०।

थणण न०(स्तनन) रारटने, सूत्र०१ श्रु०५ अ०२उ०। आक्रन्दने, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०। आक्रोशे, आचा०१ श्रु०६ अ०१उ०। सूत्र०। सशब्दनिःश्वासे, सूत्र०१ श्रु०२ अ०३उ०।

थणदोस पुं०(स्तनदोष) कायोत्सर्गदोषभेदे, ''ओच्छाइऊण य थणे, चोलगपट्टेण ठाइ उस्सग्गं।'' अवच्छाद्य स्थगयित्वा स्तनौ चोलपट्टेन देशाऽऽदीनां रक्षणार्थम्। अथवा-अनाभोगदोषेण वा अज्ञानदोषेण करोत्युत्सर्गमिति स्तनदोषः॥ प्रव०५ द्वार।

थणपीलण न०(स्थनपीडन) पयोधरचम्पने, तं०।

थणहर पुं०(स्तनभर) **''ख-घ-थ-ध-भाम्''** ॥८।१।१८७॥ इति भस्य हः। वक्षोजगौरवे, प्रा०१ पाद।

थणिय न०(स्तनित) मेघगर्जिते, प्रश्न०४ आश्र० द्वार। अनु०। प्रव०। दीर्घविस्वराऽऽक्रन्दने, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०। रसिते, स०। भोगसमये दूरतरघनगर्जितानुकारिशब्दे, उत्त० १६अ०। कृतमन्दध्वनौ, त्रि०। ज्ञा०१श्रु०१अ०। स्तनितकुमारे भवनपतिभेदे, तं०।

थणियकुमार पुं०(स्तनितकुमार) भूषणनियुक्तहयवररूपचिह्नधरे दशमे भवनपतिनिकाये, प्रज्ञा०२ पद। स्था०। ''छावत्तरि थणियकुमारावास-सयसहस्सा पण्णत्ता।'' भ० १६ श० १३उ०।

थणियसह पुं०(स्तनितशब्द) मेघगर्जिते, स्था०३ ठा०१ उ०।

थत्तिअ (देशी) विश्रामे, दे०ना० ५ वर्ग २६ गाथा।

थद्ध त्रि०(स्तब्ध) मानवति, स० ३० सम०। अहङ्कारिणि, उत्त० १७ अ०। ग०। यत्किञ्चनकारिणि मानिनि, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। स्तब्धकृते द्वितीयदोषदुष्टे वन्दने, बृ०३उ०। आव०। प्रव०। स्तब्ध-स्तावत्-द्रव्यतो, भावतश्च। भवत्यत्र चतुर्भङ्गिका। तद्यथा- द्रव्यतः स्तब्धो न भावतः, भावतः स्तब्धो न द्रव्यतः। अपरो द्रव्यतो भावतश्च। अन्यः पुनर्न द्रव्यतो नाऽपि भावत इति। अत्र चरमो भङ्गः शुद्धः। शेषभङ्गकेष्वपि भावतस्तब्धोऽशुद्ध एव। द्रव्यतस्तु भक्तो विकल्पितः उदरपृष्ठस्थूल-विवादिवाधितोऽवनामं कर्त्तुमशक्तः कारणिकः स्यादपि स्तब्धो न तु निष्कारणिक इति भावः। बृ०३उ०।

थब्भरदह पुं०(स्तब्धरह्रद) अयोध्यायां स्वर्गद्वारस्थाने ह्रदे, ''गोमुह-जक्खो जत्थ थब्भरदहो सरऊनईए समं मिलितो सग्गदुवारं ति पसिद्धिमावन्नो।'' ती० १२ कल्प।

थमिय *(देशी) विस्मृते, दे०ना० ५ वर्ग २५ गाथा।*

थय पुं०(स्तव) 'ष्टुञ्' स्तुतावित्यस्मादच्। आ०चू०३अ०। गुणकीर्त्तने, व्य०।

अथ स्तुतिस्तवयोर्विशेषमभिधित्सुराह-

एगदुगे तिसलोका, थुतीसु अन्नेसि होइ जा सत्त।
देविंदत्थयमादी, तेणं तु परं थया होइ॥

एकश्लोका, द्विश्लोका त्रिश्लोका वा स्तुतिर्भवति। परतश्चतुः श्लोकाऽऽदिकः स्तवः। अन्येषामाचार्याणां मतेन एकश्लोकाऽऽदिकः यावत् सप्त स्तवः, यथा देवेन्द्रस्तवाऽऽदयः। आदिशब्दात्कर्मस्तवाऽऽदिपरिग्रहः। व्य० ७ उ०। ''संथा० थओ चउव्विहो, णामठवणाओ गताओ''। आ०चू०१अ०। आ०म०। सूत्र०। पञ्चा०।

अधुना स्तवनिक्षेपप्रतिपादनार्थमाह-

नामं ठवणा दविए, भावे य थयस्स होइ निक्खेवो।
दव्वथओ पुप्फादी, संतगुणुक्कित्तणा भावे॥३॥

(नामं ति) नामस्तवः, स्थापनास्तवः, द्रव्यविषयो द्रव्यस्तवः। (भावे त्ति) भावविषयो भावस्तवः। इत्थं स्तवस्य निक्षेपो न्यासो भवति, चतुष्प्रकार इति शेषः। तत्र क्षुण्णत्वान्नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यस्त-वस्वरूपमाह-द्रव्यस्तवः पुष्पाऽऽदिः, आदिशब्दाद् गन्धरूपाऽऽदि-परिग्रहः। कारणे कार्योपचाराच्चैवमाह-अन्यथा द्रव्यस्तवः पुष्पाऽऽदिभिः समभ्यर्चनमिति द्रष्टव्यम्। तथा सद्गुणोत्कीर्तना भावे इति। सन्तश्च ते गुणाश्च सद् गुणाः। अनेन असत्सु गुणेषु कीर्त्तनानिषेधमाह, करणे मृषावाददोषसङ्गात्। सद् गुणानामुत्कीर्त्तनात् प्राबल्येन परया भक्त्या कीर्त्तना संस्तवना। यथा-

''प्रकाशितं तथैकेन, त्वया सम्यक् जगत् त्रयम्।

समग्रैरपि नो नाथ ! परतीर्थाधिपैस्तथा ॥१॥
विद्योतयति वा लोकं, यथैकोऽपि निशाकरः।
समुद्गतसमग्रोऽपि, किं तथा तारकागणः?'' ॥२॥

इत्यादि लक्षणा भावे इति द्वारपरामर्शो भावस्तव इत्यर्थः। इति चालितप्रतिष्ठितोऽर्थः सम्यग् ज्ञानाय प्रभवतीति चालनां कदाचित् विनेयः करोति, कदाचित् स्वयमेव गुरुरपि। तथा चोक्तम्- ''कत्थइ पुच्छइ सीखो, कहिं च पुट्ठा कहंति आयरिया।'' इत्यादि।

तत्र वित्तपरित्यागाऽऽदिना द्रव्यस्तव एव ज्यायानित्यल्पबुद्धीना-माशङ्कासंभवः, तदुदासार्थं तदनुवादपुरः सरमाह-

दव्वत्थओ य भावत्थओ य दव्वत्थओ बहुगुणे त्ति।
बुद्धि सिया अनिउण-मइवयणमिणं छजीविहिअं ॥४॥

द्रव्यस्तवो, भावस्तव इत्यनयोर्मध्ये द्रव्यस्तवो बहुगुणः। प्रभूततरगुण इत्येवंबुद्धिः स्यादेवं चेन्मन्यसे इति भावः। तथाहि- किलाऽस्मिन् क्रियमाणे वित्तपरित्यागात् शुभ एव व्यवसायः, तीर्थस्य चोन्नतिकरणं दृष्ट्वा च तं क्रियमाणमन्येऽपि प्रतिबुध्यन्ते इति स्वपरानुग्रहः, सर्वमिदं संप्रति पक्षं चेतसि निधाय द्रव्यस्तवो बहुगुण इत्यस्यासारताख्यापनायाऽऽह-(अनिउणमइवयणमिति) अनिपुणमतेर्वचनमिदम्-यद् द्रव्यस्तवो बहुगुण इति। किमित्यत आह-षड् जीवहितं षण्णां पृथिवीकायाऽऽदीनां जीवहितं जिनास्तीर्थकृतो ब्रुवते।

किं षट् जीवहितमित्यत आह-

छज्जीवकायसंजमो, दव्वथए सो विरुज्झई कसिणो।
तो कसिणसंजमविऊ, पुप्फाईयं न इच्छंति ॥५॥

षण्णां जीवनिकायानां पृथिव्यादिलक्षणानां संयमः संघट्टना परित्यागः षट् जीवकायसंयमः। एष हितम्। यदि वा-मैवं, ततः किमित्यत आह-द्रव्यस्तवे पुष्पाऽऽदिसमभ्यर्चनलक्षणे षट् जीवनिकायसंयमः कृत्स्नः संपूर्णो विरुध्यते, न सम्यक् संपद्यते, पुष्पाऽऽदिसंलुवनसंघट्टनाऽऽदिना कृत्स्नसंयमव्याघातभावात्, यतश्चैवं (तो त्ति) तस्मात्कृत्स्नसंयमप्रधानं विद्वांसस्ते तत्त्वतः-साधव उच्यन्ते, कृत्स्नसंयमग्रहणमकृत्स्नसंयमविदुषां श्रावकाणां व्यपोहार्थम्- पुष्पाऽऽदिकं द्रव्यस्तवं नेच्छंति-न बहु मन्यन्ते। यच्चोक्तम्-द्रव्यस्तवे क्रियमाणे वित्तपरित्यागात् शुभ एवाध्यवसाय इत्यादि। तदपि यत् किञ्चित्। व्यभिचारात्, कस्यचिदल्पसत्त्वस्य अविवेकिनो वा शुभाध्यवसायानुपपत्तेः। दृश्यते च कीर्त्याद्यर्थमपि सत्त्वानां द्रव्यस्तवे प्रवृत्तिः। शुभाध्यवसायभावे तु-स एव भावस्तवः। इतरस्तु तत्कारणत्वेनाप्रधानमिति। तथा भावस्तव एव सति तत्त्वतस्तीर्थस्योन्नतिकारणं भावस्तवमतःसम्यगमराऽऽदिभिरपि पूज्यत्वात्तमेव च दृष्ट्वा क्रियमाणमन्येऽपि सुतरां प्रतिबुध्यन्ते। शिष्टा इति स्वपरानुग्रहोऽपोहैवेति गाथाभावार्थः।

आह-यद्येवं किमयं द्रव्यस्तव एकान्ततो हेय एव वर्त्तते, आहोस्विदुपादेयोऽपीति? उच्यते-साधूनां हेय एव, श्रावकाणामुपादेयोऽपि।

तथा चाऽऽह भाष्यकारः-

अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो।
संसारपयणुकरणे, दव्वत्थऐ कूवदिट्ठंतो ॥६॥

अकृत्स्नं, संयममिति सामर्थ्याद्गम्यते, प्रवर्त्तयन्तीत्वकृत्स्नप्रवर्त्तकाः, तेषां विरताविरतानां श्रावकाणामेष द्रव्यस्तवः खलु युक्त एव। खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्। किंकृतोऽयमित्याह- संसा-रप्रतनुकरणः संसारक्षयकारक इति भावः। आह-यः प्रकृत्यैवा-सुन्दर स कथं श्रावकाणामपि युक्तः? उच्यते-अत्र कूपदृष्टान्तः-''जहा नवनगराइसन्निवेसे कइ पभूयजलाभावतो तण्हादिपरिगया तदपनोदार्थं कूपं खणंति, तेसिं च जइ वि तण्हाऽऽइया वट्टंति, मट्टियाकद्दमादीहि य मलिणिज्जंति, तहा वि तदुब्भएणं तेसिं तिण्हाइयसोयमलो पुव्वगो य फिट्टइ, सेसकालं च ते तदन्ने य लोगा सुहभायणा भवंति, एवं दव्वथए जइ वि असंजमो, तहा वि तत्तो चेव सा परिणामबुद्धी भवति जा असंजमवज्जियं अन्नं च निरवसेसं खवेंति-तहा ऽविरता विही एस दव्वत्थाओ कायव्वो सुभाणुबंधी, पभूवनिज्जराफलो य त्ति।'' उक्तः स्तवः। आ०म०२ अ० सूत्र० पञ्चा० (द्रव्यस्तवो व्यासेन 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे २४४५ पृष्ठे प्रत्यपादि)

कयमत्थ पसंगेणं, जहोचिआ चेव दव्वभावथया।
अण्णोण्णसमणुविद्धा, नियमेणं हों ति नायव्वा ॥१॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन द्रव्यस्तवाऽऽदिविचारे एवं यथोदितभावे च प्रधानगुणभावतः द्रव्यभावस्तवादिति अन्योऽन्यसमनुविद्धौ नियमेन भवतः ज्ञातव्यो अन्यथा स्वरूपाभावः। इति गाथार्थः।

अनयोर्वृद्धिमाह-

अप्पविरिअस्स पढमो, सहकारिविसेसभूअओ सेओ।
इअरस्स बज्झचाया, इअरो च्चिअ एस परमत्थो ॥२॥

अल्पवीर्यस्य प्राणिनः प्रथमो द्रव्यस्तवः सहकारिविशेषभूतो वीर्यस्य श्रेयानिति। इतरस्य बहुवीर्यस्य साधोर्बाह्यत्यागादिति। बाह्यद्रव्यस्तवत्यागेन इतर एव श्रेयान् भावस्तव इत्येष परमार्थोऽत्र द्रष्टव्यः। इति गाथार्थः।

विपर्यये दोषमाह-

दव्वत्थयं पि काउं, ण तरइ जो अप्पवीरिअत्तेणं।
परिसुद्धं भावथयं, काही सो संभवो एस ॥३॥

द्रव्यस्तवमपि कर्तुमौचित्येन न शक्नोति यः स सत्त्वोऽल्पवीर्यत्वेन हि नापरिशुद्धं भावस्तवं यथोक्तमित्यर्थः। करिष्यत्यसावसंभव एषः, बलाभावात्। इति गाथार्थः।

एतदेवाऽऽह-

जं सो उक्किट्ठयरं, अवेक्खई वीरिअं इहं णिअमा।
ण हि पलसयं पि वोढुं, असमत्थो सव्व यं वहइ ॥४॥

यदसौ भावस्तव उत्कृष्टतरमपेक्षते वीर्यं शुभाऽऽत्मपरिणामरूपमिह नियमात् अतोऽल्पवीर्यः कथं करोत्येनमिति। न हि पलशतमपि वोढुमसमर्थः मन्दवीर्यः सत्त्वः सर्वं तं वहति पलशततुल्यो द्रव्यस्तवः, सर्वतस्तुल्यश्च भावस्तवः। इति गाथार्थः।

एतदेव स्पष्टयति-

जो बज्झचएणं, णो इत्तिरिअं पि णिग्गहं कुणइ।
इह अप्पणो सयासे, सव्वच्चाएण कह कुज्जा? ॥५॥

यो बाह्यात्यागेन बाह्यं वित्तं नेत्वरमपि निग्रहं करोति। वन्दनाऽऽदौ इहाऽऽत्मनः क्षुद्रः सदाऽऽसौ यावज्जीवं सर्वत्यागेन बाह्याऽऽभ्यन्तरत्यागेन कथं कुर्यादात्मनो निग्रहम्। इति गाथार्थः।

अनयोरेव तु गुरुलाघवविधिमाह–

आरंभच्चाएणं, णाणाऽऽइगुणेसु वड्ढमाणेसु ।
दव्वत्थयहाणी वि हु, न होइ दोसाय परिसुद्धा ॥६॥

आरम्भत्यागेन हेतुना ज्ञानाऽऽदिगुणेषु वर्द्धमानेषु सत्सु द्रव्यस्तवहानिरपि कर्तुर्न भवति दोषाय परिशुद्धा सानुबन्धा । इति गाथाऽर्थः ॥६॥

इहैव तन्त्रयुक्तिमाह–

एत्तो वि य णिद्दिट्ठो, धम्मम्मि चउव्विहम्मि वि कमो अ ।
इह दाणसीलतवभावणामए अन्नहाजोगा ॥७॥

अत एव द्रव्यस्तवाऽऽदिभावाद् निर्दिष्टो भगवद्भिर्धर्मे चतुर्विधेऽपि क्रमोऽयं वक्ष्यमाणः, इह प्रवचने दानशीलतपोभावनामये धर्मेऽन्यथायोगादस्य धर्मस्येति गाथाऽर्थः ॥७॥

तदेवाऽऽह–

संतं बज्झमणिच्चं, ठाणे दाणं पि जो ण विअरेइ ।
इय खुड्डगो कहं सो, सीलं अइदुद्धरं धरइ ? ॥८॥

सद्विद्यमानं, बाह्यमात्मनो भिन्नम्, अनित्यमशाश्वतं, स्थाने पात्राऽऽदौ, दानं पिण्डाऽऽदि यो न वितरति न ददाति क्षौद्र्यात् (इय) एवं क्षुद्रको वराकः कथमसौ शीलं महापुरुषसेवितमतिदुर्द्धरं धारयति? नैवेति गाथाऽर्थः ॥८॥

अस्सीलो अ ण जायइ, सुद्धस्स तवस्स हंदि विसओ वि ।
जहसत्तीऍ तवस्सी, भावइ कह भावणाजालं ? ॥९॥

'अशीलश्च न जायते' नियम एष शुद्धस्य तपसो मोक्षाङ्गभूतस्य, हन्दि विषयोऽपि यथाशक्त्या तपस्वी मोहपरं तत्र भावयति कथं भावनाजालम्? तत्त्वतो नैव । इति गाथाऽर्थः ॥९॥

एत्थं च दाणधम्मो, दव्वत्थयरूवमो गहेअव्वो ।
सेसा उ सुपरिसुद्धा, णेया भावत्थसयरूवा ॥१०॥

अत्र च प्रक्रमे दानधर्मो द्रव्यस्तवरूप एव ग्राह्योऽप्रधानत्वात्, शेषास्तु सुपरिशुद्धाः शीलधर्माऽऽदयो ज्ञेया भावस्तवस्वरूपाः प्रधानत्वादिति गाथाऽर्थः ॥१०॥

इहैवातिदेशमाह–

इय आगमजुत्तीहिं, तं तं सुत्तमहिगिच्च धीरेहिं ।
दव्वत्थयाऽऽदिरूवं, विवेइयव्वं सबुद्धीए ॥११॥

(इय) एवमागमयुक्तिभिस्तत्तत्सूत्रमधिकृत्य धीरैर्बुद्धिमद्भिर्द्रव्यस्तवाऽऽदिरूपं विवेक्तव्यं–सम्यगालोच्येति वक्तव्यं स्वबुद्ध्या । इति गाथाऽर्थः ॥११॥

उपसंहरन्नाह–

एसेह थयपरिण्णा, समासओ वण्णिआ मए तुब्भं ।
वित्थरओ भावत्थो, इमीऍ सुत्ताउ णायव्वो ॥१२॥

एषेह स्तवपरिज्ञा स्तवपद्धतिः समासतो वर्णिता मया युष्माकं विस्तरतो भावार्थोऽस्याः स्ववपरिज्ञायाः सूत्राज्ज्ञातव्यः । इति गाथाऽर्थः ॥१२॥ पं०व०४ द्वार । प्रति० दर्श० ध० परपाक्षिक–संपादितस्तोत्राऽऽदिकं मातङ्गतुरुष्कसंपादितरसवतीवदनास्वाद्यमेव, कश्चिद्विशेषो वा? इति प्रश्ने, उत्तरम्–परपाक्षिकसंपादितस्तोत्राऽऽदीनां मातङ्गतुरुष्काऽऽदिसंपादितरसवत्युपमानं सतां वक्तुमेवानुचितमिति किं प्रतिवचनेन? १३प्र० ही०१ प्रका० शक्रस्तवपाठे, उत्त० २९अ० श्रीआदिनाथवारके यं चतुर्दिशति स्तवं पठितवन्तः, तमेवार्थतः श्रीमहावीरवारकेऽपि, परं सूत्रपाठनियमो नास्तीति परम्पराऽस्तीति युक्तिरपि च तथैव दृश्यते । १७ प्र० सेन०४ उल्ला०

थयण न०(स्त्वन) स्तुतौ, ''थुइथयणवंदणनमं–सणाणि एगट्ठियाणि एआणि ।'' आव०२ अ०

थयथुइमंगल न०(स्तवस्तुतिमङ्गल) स्तवः शक्रस्तवपाठः, स्तुतिस्तूर्द्धीभूय कथनम् । स्तवाश्च स्तुतयश्च स्तवस्तुतयः, ताएव मङ्गलं स्तवस्तुतिमङ्गलम् । स्तवस्तुतिरूपे भावमङ्गले, उत्त० २९ अ०

स्तवफलप्रतिपादनम्–

थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? थयथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ । नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ ॥१४॥

हे भदन्त ! स्तवः शक्रस्तवरूपः, स्तुतिर्या उर्द्धीभूय कथनरूपा । अथवा–एकाऽऽदिसप्तश्लोकान्ता यावदष्टोत्तरशतश्लोका वाच्याः। स्तुतिश्च स्तवश्च स्तुतिस्तवौ, तौ एव मङ्गलं भावमङ्गलरूपं स्तुतिस्तवमङ्गलं, तेन स्तुतिस्तवमङ्गलेन जीवः किं जनयति? स्तवस्तुतिमङ्गलेनेति पाठस्तु आर्षत्वात् । गुरुः प्रश्नोत्तरमाह–हे शिष्य ! स्तवस्तुतिमङ्गलेन जीवो ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभं जनयति । तत्र ज्ञानं मतिश्रुताऽऽदि, दर्शनं क्षायिकसम्यक्त्वं, चारित्रं विरतिरूपं, तद्रूप एव बोधिलाभो जैनधर्मप्राप्तिर्ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभस्तं जनयति, ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभसम्पन्नश्च जीव आराधनां ज्ञानाऽऽदीनामासेवनामाराधयति साधयति । कीदृशीमाराधनाम्?–कल्पविमानोत्पत्तिकां, कल्पाश्च विमानानि च तेषु उत्पत्तिर्यस्याः सा कल्पविमानोत्पत्तिका, ताम् । पुनः कीदृशीमाराधनाम्? अन्तक्रियाम्–अन्तस्य संसारस्य, कर्मणां वा अवसानस्य क्रिया अन्तक्रिया, तामेवंभूतां ज्ञानाऽऽद्याराधनां साधयति, कल्पाः सौधर्माऽऽदयो देवलोकाः, विमानानि नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरविमानानि ज्ञानाऽऽद्याराधनया कश्चिद्भरताऽऽदिवत् दीर्घकालेन मुक्तिं प्राप्नोति । कश्चिद् गजसुकुमालवत् स्वल्पकालेनैव मुक्तिं प्राप्नोतीति भावः ॥१४॥ उत्त० २९ अ० (तद्वक्तव्यता 'गयसुकुमाल' शब्दे तृतीयभागे ८४३ पृष्ठे द्रष्टव्या)

थयपरिण्णा स्त्री०(स्तवपरिज्ञा) ''वण्णिज्जइ जीए इव, दुविहो वि गुणाऽऽइभावेण ।'' वर्ण्यते यस्यां ग्रन्थपद्धतौ स्तवः द्विविधोऽपि द्रव्यभावरूपो गुणाऽऽदिभावेन गुणप्रधानरूपतया । प्राभृतविशेषे, पं०व०४ द्वार । प्रति० (सा च सूत्ररूपा इदानीमनतिप्रसिद्धा, गाथारूपपञ्चवस्तुकप्रकरणे प्रतिपादिता, अस्माभिः 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२२० पृष्ठे विन्यस्ता)

थयपाठ पुं०(स्तवपाठ) शक्रस्तवाऽऽदिस्तवपठने, पञ्चा० ३ विव०

थयविहि पुं०(स्तवविधि) स्तवःपूजा तस्य विधिर्विधानं प्रकारः स्तवविधिः । स्तवपरिज्ञायाम्, ''नमिऊण जिणं वीरं,

तिलोगपुज्जं समासओ वोच्छं। थयविहिमागमसुद्धं,सपरेसिमणुग्गहट्ठाए ॥१॥'' पञ्चा० ६ विव०।

थयसरण न०(स्तवस्मरण) चतुर्विंशतिस्तवानुचिन्तने, पञ्चा० ८ विव०।

थर पुं०(देशी) दधिसरे, दे०ना० ५ वर्ग २४ गाथा।

थरहरिअ न०(देशी) कम्पिते, दे०ना० ५ वर्ग २७ गाथा।

थरू पुं०(देशी) त्सरौ,दे०ना० ५ वर्ग २४ गाथा।

थल न०(स्थल) अट्टयाम्, दशा०७ अ०। उच्चभूमिभागे, उत्त०२ अ०। भूमिप्रदेशविशेषे, स्था०५ ठा०३उ०। ध०। ''थलेसु बीयाइं'' यदा प्रचुरा वर्षा भवति तदा स्थलेषु फलावाप्तिः। उत्त० १२ अ०। आकाशे, नि०चू०१उ०। (स्थलव्याख्या 'णईसंतार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७४० पृष्ठे द्रष्टव्या)

थलअ पुं०(देशी) मण्डपे, दे०ना० ५ वर्ग २५ गाथा।

थलकुक् कुडियंड न०(स्थलकुक्कुट्यण्ड) इह कवलप्रक्षेपणाय मुखे विडम्बिते यदाकाशं भवति तत्स्थलं भण्यते, स्थलमेव कुक् कुट्यण्डकं स्थलकुक्कुट्यण्डकम्। कवलप्रक्षेपार्थं विकाशिते मुखे, व्य०७उ०।

थलकुक् कुडियंडप्पमाण न०(स्थलकुक् कुट्यण्डप्रमाण) मुखविवरप्रमाणे कवले, यावत्प्रमाणमात्रेण कवलेन मुखे प्रक्षिप्यमाणेन मुखं न विकृतं भवति। व्य०७ उ०।

थलचार पुं०(स्थलचार) स्थले रथाऽऽदिना देशान्तरावाप्तौ, आचा०१ श्रु०५ अ०१उ०।

थलयपुप्फ न०(स्थलजपुष्प) विचकिलकोरण्टकाऽऽदिके स्थल एव जायमाने कुसुमे, आ०म०१ अ०१खण्ड। प्रज्ञा०।

थलयर पुं०(स्थलचर) स्थले चरतीति स्थलचरः। स्था०१० ठा०। स्थलजेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु, स्था०१० ठा०। स०।

स्थलचरभेदाः—

से किं तं थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया? थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया, परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया। से किं तं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—संमुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिकखजोणिया, गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया। जहेव जलयराणं तहेव चउक्कओ भेदो। सेत्तं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया। से किं तं परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया।? परिसप्पथलयरपंचिंदिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया, भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया। से किं तं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता। जहेवजयराणं तहेव चउक्कओ भेओ। एवं भुयगपरिसप्पाण वि भाणियव्वा। सेत्त भुयगपरिसप्पथलवरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया। सेत्त थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया।

अथ के ते पञ्चेन्द्रियतिर्यग् योनिकाः? पञ्चेन्द्रियतिर्यग् योनिकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा—जलचराः, स्थलचराः, खचराश्च। अथ के ते जलचराः? जलचरा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा—संमूर्च्छिमाश्च, गर्भव्युत्क्रान्तिकाश्च। अथ के ते संमूर्च्छिमाः? समूर्च्छिमा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा—पर्याप्तकाश्च, अपर्याप्तकाश्च। अथ के ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः? गर्भव्युत्क्रान्तिका द्विविधाः। तद्यथा पर्याप्तकाः, अपर्याप्तकाश्च। एवं चतुष्पदा उरःपरिसर्पा भुजपरिसर्पाः पक्षिणश्च प्रत्येकं चतुष्प्रकारा वक्तव्याः। जी०३प्रति०४उ०। प्रज्ञा०।

थली स्त्री०(स्थली) देवद्रोण्याम्, नि०चू० १उ०।

थलीघोडय पुं०(स्थलीघोटक) देवडङ्गरापरपर्याये पशुविशेषे, व्य० ७ उ०।

थव पुं०(स्तव) 'थय' शब्दार्थे, आ०चू०३अ०।

थवइय त्रि०(स्तवकित) संजातपुष्पस्तवके, भ०१श०१उ०। जी०। औ०। ज्ञा०। जं०। रा०।

थवइल्ल पुं०(देशी) प्रसारितोरुद्वयोपविष्टे, दे०ना० ५ वर्ग २६ गाथा।

थवण न०(स्तवन) 'थयण' शब्दार्थे, आव०२ अ०।

थवथुइमंगल न०(स्तवस्तुतिमङ्गल) 'थयथुइमंगल' शब्दार्थे, उत्त० २९ अ०।

थवपरिण्णा स्त्री०(स्तवपरिज्ञा) 'थयपरिण्णा' शब्दार्थे, पञ्चा० ९ विव०।

थवपाठ पुं०(स्तवपाठ) 'थयपाठ' शब्दार्थे, पञ्चा०३ विव०।

थवय पुं०(स्तवक) पुष्पगुच्छे, जी०३ प्रति०४उ०।

थवविहि पुं०(स्तवविधि) 'थयविहि' शब्दार्थे, पञ्चा०६ विव०।

थवसरण न०(स्तवस्मरण) 'थयसरण' शब्दार्थे, पञ्चा० ८ विव०।

थविर पुं०(स्थविर) प्रवर्तितव्यापारान् संयमयोगेषु सीदतः साधून् ज्ञानाऽऽदिषु ऐहिकाऽऽमुष्मिकापायदर्शनतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः। प्रव०२ द्वार। प्रति०। स्था०। ध०। उत्त०। आचा०। **''स्थविरविचकिलायस्कारे'' ॥८।१।१६६॥** इति आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सहैत् 'थेरो'। आर्षे 'थविरो' इत्यपि। प्रा०१ पाद। **''अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम्'' ॥८।२।८९॥** इति थद्वित्वनिषेधः। प्रा०२ पाद। सीदतां स्थिरीकरणहेतौ, दश०९ अ०। १उ०। द्वा०। व्य०। ध०।

अधुना स्थविरस्वरूपमाह—

संविग्गो मद्दविओ, पियधम्मो नाणदंसणचरित्ते।
जे अट्ठे परिहायइ, सारेंतो ते हवइ थेरो॥

यः संविग्नो मोक्षाभिलाषी, मार्दवितः संज्ञातमार्दविकः(?) प्रियधर्मा एकान्तवल्लभः, संयमानुष्ठाने यो ज्ञानदर्शनचारित्रेषु मध्ये यानर्थानुपादेयानुष्ठानविशेषान् परिहापयति हानिं नयति

तान् तं स्मारयन् भवति स्थविरः, सीदमानान्साधून् ऐहिकाऽऽमुष्मिकापायप्रदर्शनतो मोक्षमार्गे स्थिरीकरोतीति स्थविर इति व्युत्पत्तेः।

तथा चाऽऽह–

थिरकरणा पुण थेरो, पवत्तिवावारिएसु अत्थेसु।
जो जत्थ जई सीयइ, तं सवलो तं पचोदेति ॥

प्रवृत्तिव्यापारितेष्वर्थेषु यो, यत्र यतिः सीदति, सद् विद्यमानं बलं यस्य स सद्बलः तथाभूतः स प्रचोदयति प्रकर्षेण शिक्षयति स स्थिरकरणात्। स्थविर इति। उक्तं स्थविरस्य स्वरूपम्। व्य०१ उ०।

अथ स्थविरपदयोग्यगुणानाह–

तेन व्यापारितेष्वर्थेष्वनगारांश्च सीदतः।
स्थिरीकरोति सच्छक्तिः, स्थविरो भवतीह सः ॥७३॥

तेन प्रवर्तकेन व्यापरितेषु नियोजितेष्वर्थेषु तपःसंयमाऽऽदिकार्येषु सीदतः प्रमादाऽऽदिनाऽप्रवर्तमानानगारान् साधून् यः स्थिरीकरोति तत्तदुपार्यन दृढीकरोति। कीदृशः? सच्छक्तिः–सत्सामर्थ्यः, स साधुहि जिनमते स्थविरो भवति नान्य इति भावः ॥७३॥ ध०३अधि०। सप्ततिवर्षाणां षष्टिवर्षाणां वोपरिवर्त्ति–नि(ध० ३अधि०। कल्प०। व्य०) श्रुतवृद्धे, भ०२श०५ उ०। ज्ञा०। चतुर्दशपूर्वविदि (आचा० १श्रु०१ चू०१ अ०१उ०) भद्रबाहुस्वाम्यादौ, विशे०। आचार्याऽऽदिगुरौ, स०२ सम०। गच्छप्रतिबद्धे, स्था०३ ठा०४उ०। गच्छमर्हति, व्य०३ उ०। प्रव०। जरसा जीर्ण, स्थविरभूमिप्राप्ते सूत्रार्थतदुभयोपेते, व्य०२उ०। धर्मपरिणत्या निवृत्त्या समञ्जसक्रियामतौ, जी०१ प्रति०। भ०। आ०क०। आ० म०। ध०। ज्ञा०। (स्थविराणां जातिश्रुतपर्यायाः 'थविरभूमि' शब्दे वक्ष्यन्ते)

तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ। तं जहा–जाइथेरे, सुयथेरे, परियायथेरे। सट्ठिवासजाए समणे निग्गंथे जाइथेरे, ठाणसमवायधरे णं निग्गंथे सुयथेरे, वीसवासपरियाए णं समणे निग्गंथे परियायथेरे ॥

''तओ थेरे'' इत्यादि कण्ठ्यम्। नवरं स्थविरो वृद्धस्तस्य भूमयः पदव्यः स्थविरभूमय इति। जातिर्जन्म, श्रुतमागमः, पर्यायः प्रव्रज्या, तैः स्थविरा वृद्धा ये ते तथोक्ता इति। इह च भूमिका–भूमिवतोरभेदादेवमुपन्यासः, अन्यथा भूमिका उद्दिष्टा इति ता एव वाच्याः स्युरिति। एतेषां त्रयाणां क्रमेणानुकम्पापूजनवन्दनानि विधेयानि। यत उक्तं व्यवहारे–

''आहारे उवहिसेज्जा–संथारे खेत्तसंकमे।
किइछंदाणुवत्तीहिं, अणुकंपइ थेरगं ॥१॥
उट्ठाणाऽऽसणदाणाइं, जोगाहारप्पसंसणा।
नीयसेज्जाणिद्देस–वत्तिए पूयए सुयं ॥२॥
उट्ठाणं वंदणं चेव, गहणं दंडगस्स य।
अगुरुणो वि य णिद्देसे, तइयाए पवत्तए ॥३॥'' इति।

स्थविरा इति। स्था०३ ठा०२उ०।

दस थेरा पण्णत्ता। तं जहा–गामथेरा नगरथेरा रट्ठथेरा पसत्थारथेरा कुलथेरा गणथेरा संघथेरा जाइथेरा सुयथेरा परियायथेरा ॥

(दसेत्यादि) स्थापयन्ति दुर्व्यवस्थितं जनं सन्मार्गे स्थिरीकुर्वन्तीति स्थविराः, तत्र ये ग्रामनगरराष्ट्रेषु व्यवस्थाकारिणो बुद्धिमन्त आदेयाः प्रभविष्णवस्ते तत्तत् स्थविरा इति ३। प्रशासति शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तारो धर्मोपदेशकः, ते च ते स्थिरीकरणात्स्थविराश्चेति प्रशास्तृस्थविराः ४। ये कुलस्य गणस्य सङ्घस्य च लौकिकस्य लोकोत्तरस्य च व्यवस्थाकारिणस्तद्भङ्गे कुशा निग्राहकास्ते तथोच्यन्ते ७। जातिस्थविराः षष्टिवर्षप्रमाणजन्मपर्यायाः ८। श्रुतस्थविराः समवायाऽऽद्यङ्गधारिणः ९। पर्यायस्थविरा विंशतिवर्षप्रमाणप्रव्रज्यापर्यायवन्त इति १०। स्था० १० ठा०। तपस्तेजः स्थविरेभ्यः क्षान्तिक्षमास्थविराः अनन्तगुणविशिष्टा इति गोशाले भगवदुक्तिः। भ० १५ श०। पं०भा०। (स्थविरो गोचरचर्यायै उपकरणान्यपि नयेदिति 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०७८ पृष्ठे गतम्)

थविरकंचुइज्ज पुं०(स्थविरकञ्चुकीय) अन्तःपुरप्रयोजननि–वेदके व्यतीहारे, भ०६श० ३३ उ०।

थविरकप्प पुं०(स्थविरकल्प) ६ त०। आचार्याऽऽदीनां गच्छप्रतिबद्धानां सामाचार्याम्, स्था०३ठा०४उ०।

कः पुनरसौ स्थविरकल्पक्रमः? इत्याह–

पव्वज्जा सिक्खावयमऽत्थग्गहणं च अनियओ वासो।
निप्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिई चेव ॥७॥

इह स्थविराणामयं क्रमः–यदुत प्रथमं तावद्योग्याय विनीतशिष्याय विधिवद्दापिताऽऽलोचनाय प्रशस्तेषु द्रव्याऽऽदिषु स्वयंगुणसुस्थितेन गुरुणा विधिनैव प्रव्रज्या प्रदातव्या। ततः शिक्षापदमिति शिक्षायाः पदं स्थानं शिक्षापदम्, शिक्षैव वा पदं स्थानं शिक्षापदम्; विधिना प्रव्रजितस्य शिष्यस्य ततः शिक्षाऽधिकारो भवतीत्यर्थः। सा च शिक्षा द्विविधा–ग्रहणशिक्षा, आसेवनाशिक्षा च। तत्र द्वादश वर्षाणि यावत्सूत्रं त्वयाऽध्येतव्यमित्युपदेशो ग्रहणशिक्षा। आसेवनाशिक्षा तु–प्रत्युपेक्षणाऽऽदिक्रियोपदेशः। आह च–''सा पुण दुविहा सिक्खा, गहणे आसेवणे य णायव्वा। गहणे सुत्ताहिज्जण, आसेवणे पच्चुवेक्खाई ॥१॥'' अन्ये तु–शिक्षाशब्दाद् व्रतमिति पदं पृथक् कृत्वा व्रतमिति कोऽर्थः? शिक्षाऽनन्तरं रात्रिभोजन–विरमणषष्ठेषु पञ्चसु महाव्रतेषूपस्थाप्यते शिष्यः, इत्येतदपि द्वितीयं व्याख्यानं कुर्वन्ति, एतच्च कल्पचूर्ण्यां चिरन्तनटीकायां च न दृष्टमित्यस्माभिरुपेक्षितम्। ततः सूत्रेऽधीते यद्विनेयः कार्यते, तदाह–(अत्थग्गहणं च त्ति) द्वादश वर्षाण्यधीतसूत्रः सन्नसावर्थग्रहणं कार्यते, तस्य पूर्वाधीतसूत्रस्य द्वादश वर्षाणि यावदेषोऽर्थं ग्राह्यत इत्यर्थः। यथाहि–हलारघट्टगन्हयादिमुक्तो बुभुक्षितो बलीबर्दः प्रथमं तावच्छोभनमशोभनं वा तृणाऽऽदिकमास्वादमनवगच्छन्नपि सर्वमभ्यवहरति, पश्चाच्च रोमन्थावस्थायां तदास्वादमवगच्छति, एवं विनेयोऽर्थमनवबुद्ध्यमानोऽपि द्वादश वर्षाणि सर्वं सूत्रमधीते, अर्थावगमाभावे च तत्तस्यानास्वादं भवति, अर्थग्रहणावस्थायां तु तदवगमात्सुस्वादमाप्यायकं च जायते, अतोऽधीतसूत्रेण द्वादश वर्षाण्यवश्यमर्थः श्रोतव्यः। यथा वा–कृषीबलः शाल्यादिधान्यं प्रथमं वपति, ततः पालयति, लुनाति, मलति, पुनीते, गृहमानयति, पश्चात्तु निराकुलचित्तस्तदुपभोगं करोति, तदभावे वपनाऽऽदिपरिश्रमस्य निष्फलत्वप्रसङ्गात्; एवं शिष्योऽपि सूत्रमधीत्य यदि तदर्थं नोपृ–

णुयात्, तदा तदध्ययनप्रयासो विफल एव स्यात्, तस्मात्सूत्राध्ययनानन्तरमवश्यमेव द्वादश वर्षाणि तदर्थः श्रोतव्यः। तस्माद्यत एवं स्थविरकल्पक्रमोयदुत प्रथमं प्रव्रज्या, ततः सूत्राध्ययनं, ततोऽप्यर्थग्रहणमिति। अतोऽनुयोगप्रदानक्रमेणेवेहाधिकार इत्येवं प्रस्तुतमभिसंबध्यते। सूत्राध्ययनानन्तरभावी हि तदर्थव्याख्यानरूपः स्थविरकल्पक्रमदृष्टोऽनुयोग एवाऽवश्यकस्य शास्त्रकृता वक्तुमारब्धः, अतः सूत्राध्ययनकालस्यातिक्रान्तत्वेनेह विवक्षितत्वादनुयोगस्यैवाऽभिधित्सितत्वात् तत्प्रधानक्रमेणैवाधिकार इति भावः। एतावच्चास्यां गाथायां प्रकृतोपयोगि। यत् पुनरन्य–द्व्याख्यास्यते–''अनियओ वासो। निप्फत्ती य विहारो'' इत्यादि, तत्प्रासङ्गिकमित्यवगन्तव्यम्। तत्र (अनियओ वासो त्ति) ततोऽस्य गृहीतसूत्रार्थस्य शिष्यस्याऽनियतो वासः क्रियते, ग्राम–नगरसन्निवेशाऽऽदिष्वनियतनिवासेनैष गृहीतसूत्रार्थः शिष्यो यद्याचार्यपदयोग्यः, तदा जघन्यतोऽपि सहायद्वयं दत्त्वाऽऽत्मतृतीयो द्वादश वर्षाणि यावन्नानादेशदर्शनं नियमेन कार्यत इत्यर्थः, आचार्यपदाऽनर्हस्य त्वनियमः। आचार्यपदार्होऽपि किमिति देशदर्शनं कार्यत इति ? चेत्। उच्यते–स हि नानादेशेषु पर्यटंस्तीर्थकराणां जन्माऽऽदिभूमीः पश्यति; ताश्च दृष्ट्वा अत्र जाताः, इह दीक्षां प्रतिपन्नाः, अस्मिंश्च देशे निर्वृता भगवन्तः, इत्याद्यध्यवसा–यतो हर्षातिरेकात्तस्य सम्यक्त्वस्थैर्यं भवति; अन्येषां च स पश्चात् तत्स्थिरतामुत्पादयति, श्रुताऽऽद्यतिशायिनश्चाऽऽचार्याऽऽदीन्ना–नास्थानेषु पश्यतः सूत्रार्थेषु सामाचार्यां चाऽस्य विशेषोपलम्भो भवति, नानादेशभाषासमाचारांश्चैष बुद्ध्यते, ततश्च तत्तद्देशज्ञानामपि विनेयानां तत्तद्भाषया धर्मं कथयति, ततः प्रतिबोध्य तान् प्रव्राजयति, पूर्वप्रव्रजितास्तु तदुपसंपदं प्रतिपद्यन्ते, निःशेषास्मद्भाषासमाचारकुशलोऽयमिति शिष्याणां तदुपरि प्रीतियोगश्च जायते, इत्यादिगुणदर्शनादनियतवासः। (निप्फत्ती य त्ति) एवं चाऽनियतवासेन द्वादश वर्षाणि पर्यटतस्तस्याऽऽचार्यपदार्हस्य शिष्यत्वेनाऽऽत्मनो निष्पत्तिर्भवति, अन्येषां च प्रभूतशिष्याणां तदन्तिके निष्पत्तिर्जायत इति। (विहारो त्ति) एवं शिष्यत्वेन निष्पन्नौ, सूरिपदे च प्राप्ते, स्वपरोकारकरणेन दीर्घे च पर्याये परिपालिते, अन्यस्मिंश्च योग्यशिष्ये आचार्यपदे व्यवस्थापिते ततोऽनन्तरं विहरणं विशेषेण भगवदभिहितमार्गपराक्रमणं विहारो विशेषानुष्ठानरूपोऽनेन कर्त्तव्यः। स च द्विविधः भक्तपरिज्ञेङ्गिनीपादपोपगमनलक्षणमभ्युद्यतमरणं, जिनकल्पपरिहारविशुद्धिककल्प–यथालन्दिककल्पप्रतिपत्तिर्वा। अस्मिंश्च द्विविधेऽपि विहारे सामाचारी ज्ञात्वाऽनुष्ठेया। सा चाऽऽद्ये मरणलक्षणे विहारे–

''निप्फाइया य सीसा, सउणी जह अंडयं पयत्तेणं।
बारस संवच्छरियं, सो संलेहं अह करेइ ॥१॥
चत्तारि विचित्ताइं, विगईनिज्जूहियाइँ चत्तारि।
संवच्छरे उ दोन्नि उ, एगंतरियं च आयामं ॥२॥
नाइविगिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमिअं च आयामं।
अन्ने वि य छम्मासे, होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥३॥
वासं कोडीसहियं, आयामं कट्ठु आणुपुव्वीए।
गिरिकंदरं तु गंतुं, पायवगमणं अह करेइ ॥४॥''

इत्यादिका ज्ञातव्याः। द्वितीये तु विहारे जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपत्तौ सामाचारी निर्दिश्यते–तत्र जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपित्सुना आदावेव पूर्वापररात्रकाले तावदिदं चिन्तनीयम्–विशुद्धचारित्राऽनुष्ठानेन कृतं मयाऽऽत्महितम्, शिष्याद्युपकारतः परहितं च, निष्पन्नाश्चेदानीं मम गच्छपरिपालनक्षमाः शिष्याः, ततो विशेषेणैव साम्प्रतं ममाऽऽत्महितमनुष्ठातुमुचितमिति, विचिन्त्य चेदं सति परिज्ञाने आत्मीयमायुःशेषं स्वयमेव पर्यालोचयति, तदभावेऽन्यमतिशयि–नमाचार्याऽऽदिकं पृच्छति, तत्र स्तोके स्वायुषि भक्तपरिज्ञाऽऽदौ–नामन्यतरन्मरणं प्रतिपद्यते। अथ दीर्घमायुः, केवलं जङ्घाबलपरिक्षीणः, तदा वृद्धवासं स्वीकुरुते, पुष्टायां तु शक्तौ जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपत्तिमुररीकरोति। तत्र जिनकल्पं प्रतिपित्सुना प्रथममेव तावत्पञ्चभिस्तुलनाभिरात्मा तोलनीयः। तद्यथा–

''तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य।
तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ'' ॥१॥

तुलना, भावना, परिकर्म चेत्येकार्थानि। तत्राऽऽचार्योपाध्याय–प्रवर्तकस्थविरगणावच्छेदकलक्षणाः प्रायः पञ्चैव जनाः प्रशस्ता–भिरेताभिः पञ्चभिर्भावनाभिर्जिनकल्पं प्रतिपित्सवः प्रथममेवाऽऽत्मानं भावयन्ति। अप्रशस्तास्तु कन्दर्पदेवकिल्विषिकाऽऽभियोगिकासुरसंमोहस्वरूपाः पञ्च भावनाः सर्वथा दूरतः परित्यजन्ति। तत्र तपसाऽऽत्मानं भावयंस्तथा बुभुक्षां पराजयते यथा देवा–ऽऽद्युपसर्गाऽऽदिनाऽनेषणाऽऽदिकरणतो यदि षण्मासान् यावदाहारं न लभते,तथाऽपि न बाध्यते। सत्त्वभावनया तु भयं पराजयते। तत्र भयजयार्थं रात्रौ सुप्तेषु शेषसाधुषूपाश्रय एव कायोत्सर्गं कुर्वतः प्रथमा सत्त्वभावना भवति। द्वितीयाऽऽदिकास्तूपाश्रयबाह्याऽऽदिप्रदेशेषु। आह च– ''पढमा उवस्सयम्मी, बीया बाहिं तइयचउक्कम्मि। सुण्णहरम्मि चउत्थी, अह पंचमिया मसाणम्मि ॥१॥'' सूत्रभावनया तु स्वनामवत् सूत्रं परिचितं तथा करोति यथा रात्रौ दिवा चोच्छ्वास–प्राण–स्तोकलवमुहूर्त्ताऽऽदिकं कालं सूत्रपरावर्त्तनानुसारेणैव सर्वं सम्यगवबुद्ध्यते, एकत्वभावनया चाऽऽत्मानं भावयन् सङ्घाटकसाध्वादिना सह पूर्वप्रवृत्तानालापसूत्रार्थसुखदुःखाऽऽदिप्रश्नीमथःकथाऽऽदिव्यतिकरान् सर्वानपि परिहरति, ततो बाह्यममत्वे मूलत एव व्यवच्छेदिते पश्चाद्देहोपध्यादिभ्योऽपि भिन्नमात्मानं पश्यन् सर्वथा तेष्वपि निरभिष्वङ्गो भवति। (अत्रोदाहरणम्–''एगत्त भावना'' शब्दे तृतीयभागे १२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) बलभावनायां बलं द्विविधम्–शारीरं, मानसधृतिबलं च। तत्र शारीरमपि बलं जिनकल्पार्हस्य शेषजनाऽतिशयिकमेष्टव्यम्, तपः प्रभृतिभिस्त्वपकृष्यमाणस्य यद्यपि शारीरं बलं तथाविधं न भवति, तयाऽपि धृतिबलेनाऽऽत्मा तथा भावयितव्यो यथा महद्भिरपि परीषहोपसर्गैर्न बाध्यते। एताभिः पञ्चभिर्भावनाभिर्भाविताऽऽत्मा जिनकल्पिकप्रतिरूपो गच्छेऽपि प्रतिवसन्नाहाराऽऽदिपरिकर्म प्रथममेव करोति, तत्राऽऽहारे तृतीयपौरुष्यामवगाढायां वल्लचणकाऽऽदिकमन्तं प्रान्तं रूक्षं च। ''संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धम तह होइ अप्पलेवा य। उग्गहिआ पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया'' एतासां सप्तानां पिण्डैषणानां मध्ये आद्यद्वयवर्जं शेषपञ्चानां मध्यादन्यतरैषणाद्वयाभिग्रहेणाऽऽहारं गृह्णाति, एकया भक्तम्, अपरया त्वेषणया पानकमिति। एवमाद्याऽऽगमोक्तविधिना गच्छान्तर्गतः पूर्वमेवाऽऽत्मानं परिकर्म्य ततो जिनकल्पं प्रतिपित्सुः सङ्घं मीलयति, तदभावे स्वगणं तावदवश्यमाह्वयते, ततस्तीर्थकर–समीपे, तदभावे गणधरसन्निधाने, तदसत्त्वे चतुर्दशपूर्वधरान्तिके, तदसंभवे दशपूर्वधराऽभ्यर्णे, तदलाभे तु

वटाश्वत्थाऽशोकवृक्षाऽऽदीनामासत्तौ जिनकल्पमभ्युपगच्छति, निजपदव्यवस्थापेतं सूरिम्, सबालवृद्धं गच्छं, विशेषतः पूर्वविरुद्धाँश्च क्षमयति। तद्यथा–

''जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु भे वट्टियं मए पुव्विं।
तं भे ! खामेमि अहं, निस्सलो निक्कसाओ य ॥१॥
आणंदमंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा।
खामंति तं जहारिहं, जहारिहं खामिया तेण ॥२॥
खामेंतस्स गुणा खलु, निस्सल्लयविणयदीवणा मग्गे।
लाघविअं एगत्तं, अप्पडिबंधो य जिणकप्पे ॥३॥''

निजपदस्थापितसूरिप्रभृतीनामनुशास्तिं प्रयच्छति। तद्यथा–

''पालिज्ज सगणमेयं, अप्पडिबद्धो य होज्ज सव्वत्थ।
एसो हु परंपरओ, तुमं पि अंते कुणासु एवं ॥१॥
पुव्वपउत्तं विणयं, मा हु पमाएहि विणयजोगेसु।
जो जेण पगारेणं, उवजुज्जइ तं च जाणाहि ॥२॥
ओमो समराइणिओ, अप्पतरसुओ य मा एँणं तुब्भे।
परिभवह एस तुम्ह वि, विसेसओ संपयं पुज्जो ॥३॥''

इत्यादि शिक्षां दत्त्वा गच्छाद्विनिर्गते चक्षुर्गोचराऽतीते तस्मिन्ना–नन्दिताः साधवः प्रतिनिवर्तन्ते। उक्तं च –

''पक्खी व पत्तसहिओ, संमडगो वच्चए निरवइक्खो।
धीरो घणवंदाओ, नीहरिओ विज्जुपुंजो व्व ॥१॥
सीहम्मि व मंदरकं–दराउ गच्छा विणिग्गए तम्मि।
चक्खुविसयमइगए, अ इंति आणंदिया साहू ॥२॥
आभोएउं खेत्तं, निव्वाघाएण मासनिव्वाहिं।
गंतूण तत्थ विहरे, साहू पडिवन्नजिणकप्पो ॥३॥''

एवं च प्रतिपन्नजिनकल्पो यत्र ग्रामे मासकल्पं, चतुर्मासकं वा करिष्यति, तत्र षड्भागान् कल्पयति। ततश्च यत्र भागे एकस्मिन् दिने गोचरचर्यायां हिण्डितस्तत्र पुनरपि सप्तम एव दिवसे पर्यटति, भिक्षाचर्यां ग्रामान्तरगमनं च तृतीयपौरुष्यामेव करोति, चतुर्थपौरुषी यत्रावगाहते, तत्र नियमादवतिष्ठते। भक्तं पानकं च पूर्वोक्तैषणाद्वयाभिग्रहेणालेपकृपदेव गृह्णाति। एषणाऽऽदिविषयं मुक्त्वा न केनाऽपि सार्द्धं जल्पति। एकस्यां च वसतौ यद्यप्युत्कृष्टतः सप्त जिनकल्पिकाः प्रतिवसन्ति, तथाऽपि परस्परं न भाषन्ते। उपसर्ग–परीषहान् सर्वानपि सहत एव, रोगेषु विचिकित्सां न कारयत्येव, तद्वेदनां तु सम्यगेव विषहते, आपातसंलोकाऽऽदिदोषरहित एव स्थण्डिले उच्चाराऽऽदीन् करोति, नाऽस्थण्डिले, अममत्त अपरिकम्मा, णियमा जिणकप्पियाण वसहीओ एमेव य थेराणं, मोत्तूण पमज्जणं एक्कं ॥१॥'' इति वचनात्परिकर्मरहितायां वसतौ तिष्ठति, यद्युपविशति तदा नियमादुत्कुडुक एव, न तु निषद्यायाम्, औप–ग्रहिकोपकरणस्यैवाभावादिति। मत्तकरिव्याघ्रसिंहाऽऽदिके च संमुखे समापतत्युन्मार्गगमनाऽऽदिना ईर्यासमितिं न भिनत्ति, इत्याद्यन्याऽपि जिनकल्पिकानां सामाचारी समयसमुद्रादवगन्तव्या। (ठिई चेव त्ति) तथा पूर्वोक्ते द्विविधेऽपि विहारे स्थितिः श्रुतसंहननाऽऽदिका ज्ञातव्या। तथाहि–जिनकल्पिकस्य तावज्जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु, उत्कर्षतस्त्वसंपूर्णानि दशपूर्वाणि श्रुतं भवति। प्रथमसंहननो वज्रकुड्यसमानावष्टम्भश्चायं भवति। स्वरूपेण पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु, संहृतस्त्यकर्मभूमिष्वपि भवति। उत्सर्पिण्यां व्रतस्थस्तृतीयचतुर्थारकयोरेव, जन्ममात्रेण तु द्वितीयारकेऽपि, अवसर्पिण्यां तु जन्मना तृतीयचतुर्थारकयोरेव, व्रतस्थस्तु पञ्चमारकेऽपि, संहरणेन तु सर्वस्मिन्नपि काले प्राप्यते। प्रतिपद्यमानकः सामायिकच्छेदोपस्थापनीयचारित्रयोः, पूर्वप्रतिपन्नस्तु सूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रयोरप्युपशमश्रेण्यामवाप्यते। प्रतिपद्यमानानामुत्कृष्टतः शतपृथक्त्वम्, पूर्वप्रतिपन्नानां तु सहस्रपृथक्त्वं जिनकल्पिकानां लभ्यते। जिनकल्पिकः प्रायोऽपवादं नासेवते, जङ्घाबलपरिक्षीणस्त्वविहरमाणोऽप्याराधकः। आवश्यकीनैषेधिकीमिथ्यादुष्कृतगृहिविषयपृच्छोपसंपल्लक्षणाः पञ्च सामाचार्योऽस्य भवन्ति, न त्विच्छाऽऽदयः। अन्ये त्वाहुः–आवश्यकीनैषेधिकीगृहस्थोपसंपल्लक्षणास्तिस्र एव भवन्ति, आरामाऽऽदिनिवासिन ओघतः पृच्छाऽऽदीनामप्यसंभवादिति। लोचं चाऽसौ नित्यमेव करोति, इत्येवमाद्यपराऽपि स्थितिर्जिनकल्पिकानामागमादवसेया। परिहारविशुद्धिककल्पसामाचार्यादिवक्तव्यताऽत्रैव ग्रन्थे पुरस्ताद्वक्ष्यते।

यथालन्दिकानां तु– ''तवेण सत्तेण सुत्तेण'' इत्यादिका भावना–ऽऽदिवक्तव्यता यथा जिनकल्पिकानाम्। यस्तु विशेषः स लेशतः प्रोच्यते–तत्रोदकार्द्रः करो यावता शुष्यति, तत आरभ्योत्कृष्टतः पञ्चरात्रिन्दिवानि यावत्कालोऽत्र समयपरिभाषयालन्दमित्युच्यते। ततश्च पञ्चरात्रिन्दिवलक्षणस्योत्कृष्टस्य लन्दस्याऽनतिक्रमेण चरन्तीति यथालन्दिकाः। पञ्चको हि गणोऽमुकं कल्पं प्रतिपद्यते। ग्रामं च गृहपङ्क्तिरूपाभिः षड् भिर्वीथीभिर्जिनकल्पिकवत्परिकल्पयन्ति, किं त्वेकैकस्यां वीथ्यां पञ्च पञ्च दिनानि पर्यटन्तीत्युत्कृष्टलन्दचारिणो यथालन्दिका उच्यन्ते। एते च प्रतिपद्यमानका जघन्यतः पञ्चदश भवन्ति, उत्कृष्टतस्तु सहस्रपृथक्त्वम्। पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यतः कोटिपृथक्त्वम्, उत्कृष्टतोऽपि कोटिपृथक्त्वं भवन्ति। एते च यथालन्दिको द्विविधा भवन्ति–गच्छे प्रतिबद्धाः, अप्रतिबद्धाश्च। गच्छे च प्रतिबन्धोऽमीषां कारणतः, किञ्चिदश्रुतस्यार्थस्य श्रवणार्थमिति मन्तव्यमिति। पुनरेकैकशो द्विधा–जिनकल्पिकाः, स्थविरकल्पिकाश्च। ये जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते जिनकल्पिकाः, ये तु पुनरपि स्थविरकल्पं समाश्रयिष्यन्ते ते स्थविरकल्पिकाः। एतेषां च स्थविरकल्पिकजिनकल्पिकभेदभिन्नानां यथालन्दिकानां परस्परमयं विशेषः। यदाह–

''थेराणं नाणत्तं, अतरंतं अप्पिणंति गच्छस्स।
गच्छे निरवक्खेणं, करेंति सव्वं पि पडिकम्मं ॥१॥
एक्केक्कपडिग्गहगा, सप्पाउरणा हवंति थेरा उ।
जेसिं उण जिणकप्पे, न य तेसिं वत्थपायाणि ॥२॥
निप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमलं पि नेव अवणिंति।
विसहंति जिणा रोगं, कारेंति कयाइ न तिगिच्छं ॥३॥''

इत्यलं विस्तरेण। तदर्थिना तु कल्पग्रन्थोऽन्वेषणीय इति (७) विशे०। (संक्षेपत एष स्थविरकल्पः) (विस्तरतस्तु 'अहालंद' शब्दे प्रथमभागे ८६९ पृष्ठे प्रतिपादितः) (शेषाणि तु सर्वाण्यपि जिन–कल्पतुल्यवक्तव्यान्येवेत्युक्तं शुद्धिपरिहारनानात्वम्) (विहारद्वारं 'विहार' शब्दे वक्ष्यते) (स्थापनाकल्पविधिः 'ठवणाकुल' शब्दे तृतीयभागे १६८६ पृष्ठे गतः)

यदि ज्ञानाऽऽदिपुष्टालम्बनं भवति तदा चिकित्साऽऽदिविधा–नान् न सहन्ते, इतरथा न सम्यगदीनमनसः सहन्त इति–

दुविहं पि वेयणं ते, निक्कारणओ सहंति भइया वा।

अममत्त अपरिकम्मा, वसही वि पमज्जणं मोत्तुं ॥७६३॥

द्विविधामप्याभ्युपगमिकीमौपक्रमिकीं च वेदनां निष्कारणतः सहन्ते, भाज्या वा असहिष्णुत्वाऽऽदिकारणवसतो न सहन्तेऽपीति भावः। तथा वसतिरपि तेषाममत्वा ममेयमित्यभिष्वङ्गरहिता। ''अपरिकम्मा'' उपलेपनाऽऽदिपरिकर्मवर्जिता। किं सर्वथैव? नेत्याह–प्रमार्जनामेकां मुक्त्वा, कारणे तु सममत्वा सपरिकर्माऽपि भवति, परिणतचारित्राणां शैक्षाऽऽदीनां ममेयमित्यभिष्वङ्गविधानात् सममत्वा सपरिकर्मा त्वपरिकर्माया वसतेरलाभे द्रष्टव्या॥

अथ विशेषमाह–

तिगमाईया गच्छा, सहस्स–वत्तीसई उसभसेणे।
थंडिल्लं पि य पढमं, वयंति सेसे वि आगाढे ॥७६४॥

त्रिकाऽऽदयस्त्रिचतुःप्रभृतिपुरुषपरिमाणा गच्छा भवेयुः। किमुक्तं भवति?–एकस्मिन् गच्छे जघन्यतस्त्रयो जना भवन्ति, गच्छस्य साधुसमुदायरूपत्वात्, तस्य च त्रयाणामधस्तादभावादिति। तत ऊर्ध्वं ये चतुः पञ्चप्रभृतिपुरुषसंख्याका गच्छास्ते मध्यमपरिमाणतः प्रतिपत्तव्यास्तावद्यावदुत्कृष्टं परिमाणं न प्राप्नोति। किं पुनस्तदिति चेत्? अत आह–(सहस्सवत्तीसई उसभसेणे त्ति) द्वात्रिंशत्सहस्राण्येकस्मिन् गच्छे उत्कृष्टं साधूनां परिमाणं, यथा श्रीऋषभस्वामिप्रथमगणधरस्य भगवत ऋषभसेनस्येति। तथा स्थण्डिलमपि प्रथमम्–अनापातमसंलोकमेतद् गच्छवासिनी व्रजन्ति। आगाढे तु भावासन्नताऽऽदौ कारणे शेषाण्यपि अनापातसंलोकप्रभृतीनि स्थण्डिलानि गच्छन्ति।

कियच्चिरमिति द्वारं विशेषयन्नाह–

केच्चिर कालं वसिहिह, ण ठंति निक्कारणम्मि इह पुट्ठा।
अन्नं वा मग्गंती, ठविंति साहारणमलंभे ॥७६५॥

कियच्चिरं कालं यूयमस्यां वसतौ वत्स्यथेति पृष्टाः सन्तो निष्कारणे न तिष्ठन्ति, किं तु क्षेत्रानन्तरं गच्छन्ति। अथ बहिरशिवाऽऽदीनां कारणानि, ततस्तत्रैव क्षेत्रे अन्यां वसतिं मार्गयन्ति। अथ मृग्यमाणाऽप्यन्या न लभ्यते, ततः साधारणं वचनं स्थापयन्ति, यथा निर्व्याघाते तावद् वयं मासं यावद् तिष्ठामहे, व्याघाते तु हीनाधिकमलाघवार्थम्।

शेषद्वाराणि तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशन्नाह–

एमेव सेसएसु वि, केवइया वसिहिह त्ति जा णेयं।
निक्कारणे पडिसेहो, कारणे जयणं तु कुव्वंति ॥७६६॥

एवमेव कियच्चिरद्वारवत्, शेषेष्वपि उच्चारप्रस्रवणाऽऽदिषु कियद्–द्वारेषु, कियन्तो वत्स्यथेति द्वारं यावन्नेयम्। किमित्याह– एतेष्वपि निष्कारणे प्रतिषेधो, न वसन्तीति भावः। कारणे तु यतनां कुर्वन्ति। किमुक्तं भवति?–यदि तिष्ठतामुच्चारप्रस्रवणयोः परिष्ठापनमकाले फलिहकाभ्यन्तरतो नानुजानन्तीत्यतस्तत्र न तिष्ठन्ति। अथाशिवाऽऽदिभिः कारणैस्तिष्ठन्ति तत उच्चारं प्रश्रवणं वा मात्रकेषु व्युत्सृज्य बहिः परिष्ठापयन्ति। एवमवकाशाऽऽदिष्वपि द्रष्टव्यं, नवरमवकाशे यत्र प्रदेशे उपवेशनभाजनधावनाऽऽदि नानुज्ञातं, तत्र नोपदिशन्ति। कमठकाऽऽदिषु च भाजनानि धावन्ति, तृणफलकान्यपि यानि नानुज्ञातानि, तानि न परिभुञ्जते। संरक्षता नामयत्र तिष्ठतामगारिणो भणन्ति–गवादिभिर्भज्यमानां वसतिमन्यद्वा समीपवर्ति, गृहं संरक्षत, तत्राऽप्यशिवाऽऽदिभिः कारणैः तिष्ठन्तो भणन्ति–यदि वयं तदानीं द्रक्ष्यामस्ततो रक्षिष्याम इति। संस्था–पनता नाम–वसतेः संस्कारकरणं, तस्यामपि नियुक्ता भणन्ति–वयमकुशलाः संस्थापनाकर्मणि कर्तव्ये, सप्राभृतिकायामपि वसतौ कारणतः स्थिता देशतः सर्वतो वा क्रियमाणायां प्राभृतिकायां स्वकीयमुपकरणं प्रयत्नेन संरक्षन्ति, यावत्प्राभृतिका क्रियते तावदेकस्मिन् पार्श्वे तिष्ठन्ति, सदीपायां साग्निकायां वसतौ कारणे स्थिता आवश्यकं बहिः कुर्वन्ति। अवधानं नाम–यदि गृहस्थाः क्षेत्राऽऽदि गच्छन्तो भणन्ति–अस्माकमपि गृहेषूपयोगो दातव्यो, मा शुनस्तेनकाऽऽदयः प्रविश्योपद्रवं कार्षुरिति, तत्रापि कारणे स्थिताः स्वयमेवावधानं ददति, अनुपस्थापितशैक्षैर्वा दापयति। यत्र च कति जना वत्स्यथेति पृष्टे सति कारणतस्तिष्ठद्भिः परिमा–णनियमः कृतः–यथैतावद्भिः स्थातव्यं नाधिकैः, ततो यद्यन्ये प्राघूर्णकाः समागच्छन्ति तदा तेषामेव स्थापनाय भूयोऽप्यनुज्ञापनीयः सागारिकः, यद्यनुजानाति, ततः सुन्दरमेव, अथ नानुजानाति, ततोऽन्यस्यां वसतौ स्थापनीयास्ते प्राघूर्णका इति।

भिक्षाचर्याऽऽदीनामवशिष्यमाणद्वाराणां विशेषमाह–

नियया ऽनियया भिक्खायरिया पाणऽण्णलेवऽलेवाडं।
अंबिलमणं बिलं वा, पडिमा सव्वा वि अविरुद्धा ॥७६७॥

भिक्षाचर्या नियता कदाचिदाभिग्रहिकी, अनियता कदाचिदनाभिग्रहिकी, पानमन्नं वा लेपकृतं च भवेदलेपकृतं वा, द्राक्षाचिञ्चापानकाऽऽदि तक्रतीमनाऽऽदिकं च लेपकृतं सौवीराऽऽदिकं, वल्लचणकाऽऽदिकं चालेपकृतमाचाम्लमनाचाम्लं वा द्वयमपि कुर्वन्ति, प्रतिमाश्च मासिक्यादिका भद्राऽऽदिका वा सर्वाश्चाप्यमी–षामविरुद्धा इति। उक्तं सामाचारीद्वारम्।

अथ स्थितिद्वारमभिधित्सुर्द्वारगाथाद्वयमाह–

खेत्ते काले चरित्ते, तित्थे परियाए आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिग्गहा य ॥७६८॥
पव्वावण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने उ नत्थि पच्छित्तं।
कारणे पडिकम्मम्मि य, भत्तं पंथो य भयणाए ॥७६९॥

क्षेत्रे काले चरित्रे तीर्थे पर्याये आगमे वेदे कल्पे लिङ्गे लेश्यायां ध्याने गणनायाम्, एतेषु स्थितिर्वक्तव्या। अभिग्रहाश्चामीषामभिधातव्याः। एवं प्रव्राजना, मुण्डापना, मनसाऽऽपन्नेऽप्यपराधे नास्ति प्रायश्चित्तं, कारणे प्रतिकर्मणि च स्थितिः भक्तं पन्थानश्च भजनया॥ इति गाथाद्वयसमुदायार्थः।

अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं विभणिषुराह–

पन्नरस कम्मभूमिसु, खेत्तऽद्धोसप्पिणी य तिसु होज्जा।
तिसु दोसु य उस्सप्पे, चउरो पलिभाग साहरणा ॥८००॥

क्षेत्रद्वारे जन्मतः, सद्भावतश्च स्थविरकल्पिकाः पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु भरतैरावतविदेहपञ्चकलक्षणासु भवन्ति, संहरणतः पञ्चदशानां कर्मभूमीनां त्रिंशतामकर्मभूमीनामन्यतरस्यां भूमौ भवेयुः, अद्धा कालः, तमङ्गीकृत्य–वसर्पिण्यां जन्मतः, सद्भावतश्च त्रिषु तृतीयपञ्चमारकेषु भवेयुः। (तिसु दोसु

य उस्सप्पं त्ति) उत्सर्पिण्यां जन्मतस्त्रिषु द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु आरकेषु, सद्भावतस्तु द्वयोस्तृतीयचतुर्थारकयोर्भवन्ति, नोअव–सर्पिण्युत्सर्पिणीकाले जन्मतः, सद्भावतश्च दुःषमसुषमाप्रतिभागे भवन्ति। संहरणतस्तु चत्वारोऽपि प्रतिभागा अमीषां विषयतया प्रतिपत्तव्याः। तद्यथा–सुषमसुषमाप्रतिभागः, दुःषमदुःषमाप्रतिभागः, सुषमदुःषमाप्रतिभागः, दुषमसुषमाप्रतिभागश्चेति।

पढमविइएसु पडिवज्जमाण इयरे उ सव्वचरणेसु।
नियमा तित्थे जम्मऽट्ठ जहन्ने कोडि उक्कोसे ॥८०१॥
पव्वज्जाएँ मुहुत्तो, जहन्नमुक्कोसिया उ देसूणा।
आगमकरणे भइया, ठियकप्पे अट्ठिए वा वि ॥८०२॥

प्रतिपद्यमानका अमी प्रथमेवा सामायिकाऽऽख्ये, द्वितीये वा छेदोपस्थापनीयाऽऽख्ये चारित्रे भवेयुः। इतरे नाम–पूर्वप्रतिपन्नाः, ते सर्वेष्वपि चरणेषु भवन्ति, सामायिकाऽऽदिषु यथाख्यातपर्यन्तेष्विति भावः। तथा नियमादमी तीर्थे भवन्ति, नातीर्थे। पर्यायो द्विधा–गृहपर्यायः, प्रव्रज्यापर्यायश्च। तत्र गृहपर्यायो जघन्यतो जन्मन आरभ्याऽष्टौ वर्षाणि, उत्कर्षतः पूर्वकोटी। प्रव्रज्यापर्यायो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तः, तदनन्तरं मरणात्प्रतिपाताद्वा। उत्कर्षतस्तु देशोना पूर्वकोटी। आगमोऽपूर्वश्रुताध्ययनं, तस्य करणे भाज्या–अमी कुर्वन्ति वा, न वा तमिति भावः। कल्पद्वारेस्थितिकल्पे वा अस्थितकल्पे वा भवेयुः। वेदद्वारं सुज्ञानत्वाद्भाष्यकृता न भावितम्। इत्थं तु द्रष्टव्यम्–वेदः स्त्रीपुंनपुंसक भेदात् त्रिविधोऽप्यमीषां प्रतिपत्तिकाले भवेत्। किमुक्तं भवति?–पूर्वप्रतिपन्नानां त्ववेदकत्वमपि भवतीति।

भइया उ दव्वलिंगे, पडिवत्ती सुद्धलेसधम्मेहिं।
पुव्वपडिवन्नगा पुण, लेसाझाणे य अन्नयरे ॥८०३॥

प्रतिपद्यमानकाः, पूर्वप्रतिपन्नकाश्च द्रव्यलिङ्गे भक्ता विकल्पिताः–कश्चित्तन्न भवत्यपीति, भावलिङ्गं तु नियमात्सर्वदैव भवति। तथा प्रतिपत्तिः शुद्धलेश्याधर्मध्यानयोर्भवेत्। किमुक्तं भवति?–प्रथमतः प्रतिपद्यमानकाः शुद्धास्वेव तिसृषु लेश्यासु आह्वाविषयाऽऽदौ च धर्मध्याने वर्त्तमानाः प्रतिपत्तव्याः। पूर्वप्रतिपन्नकाः पुनः षण्णां लेश्यानामन्यतरस्यां लेश्यायामार्त्ताऽऽदीनां च ध्यानानामन्यतरस्मिन् ध्याने भवेयुः। बृ०१उ०।

अथैताभिर्भावलेश्याभिरुपचितस्य कर्मणः कथमुदयो भवति? इत्याह–

जं चिज्जए उ कम्मं, जं लेसं परिणतस्स तस्सुदए।
असुभो सुभो व गीतो, अपत्थपत्थन्नउदओ व्व ॥८०६॥

(जं लेसं ति) सप्तम्यर्थे द्वितीया। ततोऽयमर्थः–यस्यां कृष्णाऽऽदीनामन्यतरस्यां लेश्यायां परिणतस्य जीवस्य यदशुभं शुभं वा कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि चीयते। कर्मकर्त्तर्ययं प्रयोगः, चयं बन्ध–मुपगच्छतीत्यर्थः। तस्यैवमशुभरूपतया, शुभरूपतया वा बद्धस्य कर्मण उदयाऽऽवलिकां प्राप्तस्याशुभः, शुभो वा तथाऽनुरूप एवोदयो गीतः संशब्दितस्तीर्थकरैः। दृष्टान्तमाह–अपथ्यपथ्यान्नउदय इव। यथा अपथ्यान्नं भुक्तवतो ज्वराऽऽदिरोगद्वारेणापथ्य एवोदयो भवति, पथ्यान्नं तु भुक्तवतो मुखनासिकादिद्वारेण पथ्यः, एवं कर्मणोऽपि प्रशस्ताप्रशस्तलेश्यपरिणामबद्धस्य विपाकः शुभाशुभो भवतीति।

अथ गणनाद्वारमाह–

पडिवज्जमाणभइया, एको व सहस्ससो व उक्कोसो।
कोडिसहस्सपुहत्तं, जहन्न उक्कोसपडिवण्णा ॥८१०॥

स्थविरकल्पस्य प्रतिपद्यमानका भाज्या विवक्षितकाले भवेयुः, तत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतो यावत् सहस्रपृथक्त्वं, पूर्वप्रतिपन्नाः जघन्यतोऽपि कोटिसहस्रपृथक् त्वं, नवरं जघन्यपदादुत् कृष्टपदे विशेषाधिकत्वम्। गतं गणनाद्वारम्। बृ०१उ०। ('अभिग्गह' शब्दे प्रथमभागे ७१३ पृष्ठेऽभिग्रहा उक्ताः) एते च द्रव्याऽऽदयश्चतुर्विधा अप्यभिग्रहास्तीर्थकरैरपि यथायोगमाचीर्णत्वाद्, मोहमदापनयनप्रत्यलत्वाच्च गच्छवासिनां तथाविधसहिष्णुपुरुषविशेषापेक्षया महान्तः कर्मनिबन्धने प्रतिपत्तव्या इति।

अथ प्रव्राजनामुण्डापनाद्वारे भावयति–

सच्चित्तदवियकप्पं, छव्विहमवि आयरंति थेरा उ।
कारणओ असहू वा, उवएसं दिंति अन्नत्थ ॥८१७॥

प्रव्राजनामुण्डापनाभ्याम्, उपलक्षणत्वात् षड्विधोऽपि सचित्तद्रव्यकल्पो गृहीतः। तद्यथा–प्रव्राजना, मुण्डापना, शिक्षापना, उपस्थापना, संभुञ्जना, संचायना चेति। तमेवंविधं षड्विधमपि सचित्तद्रव्यकल्पमाचरन्ति स्थविरा गच्छवासिनः। (कारणओ त्ति) तथाविधैरनाभाव्यताऽऽदिभिः कारणैः, असहिष्णवो वा स्वयं वस्त्रपात्राऽऽदिभिर्ज्ञानाऽऽदिभिश्च शिष्याणां संग्रहोपग्रहौ कर्तुमसमर्था उपदेशमन्यत्र गच्छान्तरे, ददति प्रयच्छन्ति–अमुकत्र गच्छे संविग्नगीतार्था आचार्याः सन्ति तेषां समीपे भवता दीक्षा प्रतिपत्त–व्येति। अथ मनसाऽऽपन्ने नास्ति प्रायश्चित्तम्।

इदं व्याख्यानयति–

जीवो पमायबहुलो, पडिवक्खे दुक्करं ठवेउं जे।
कित्तियमेत्तं वोच्छिति, पच्छित्तं दुग्गतरिणी व? ॥८१८॥

अयं जीवः प्रमादबहुलोऽनादिभवाभ्यस्तप्रमादभावनाभावितः, ततः प्रतिपक्षेऽप्रमादे स्थापयितुं दुष्करं भवति, दुःखेनाप्रमाद् भावनायां स्थाप्यते इत्यर्थः। ''जे'' इति पादपूरणे। अतो दुर्गत ऋणिक इव अतिप्रभूतं ऋणं अतिचपलचित्तसंभवापराधवशादयं प्रमादबहुलो जीव उपदेशमापद्यमानं कियन्मात्रं प्रायश्चित्तं वक्ष्यति वोढुं शक्नोतीति मनसाऽऽपन्नेऽप्यपराधे नास्ति तपः प्रायश्चित्तं स्थविरकल्पिकानाम्, आलोचनाप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तं तु तत्रापि भवत इति मन्तव्यम्। अथ ''कारणे पडिकम्मम्मि य ति (७६६)'' पदं व्याख्यायते–कारणमशिवावमौदर्याऽऽदि, तत्रोत्पन्ने द्वितीय–पदमप्यासेवन्ते। तथा निष्कारणे निष्प्रतिकर्मशरीराः, कारणे तु ग्लानमाचार्यवादिनं धर्मकथिकं च प्रतीत्य पादधावनमुखमार्जनशरीरसंबाधनाऽऽदिकरणात् सप्रतिकर्माण इति। ''भत्तं पंथो य भयणाए त्ति (७६६)'' भक्तं पन्थाश्च भजनया। किमुक्तं भवति?– उत्सर्गतस्तावत्तृतीयपौरुष्यां भिक्षाटनं विहारं कुर्वन्ति। अपवाद–तस्तुतदानीं भिक्षाया अलाभे काले वा पूर्यमाणे शेषास्वपि पौरुषीष्विति। गतं स्थितिद्वारम्।

अथोपसंहरन्नाह–

गच्छम्मि य एस विही, नायव्वो होइ आणुपुव्वीए।
जं एत्थं णाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥८१६॥

गच्छे गच्छवासिनामेषोऽनन्तरोक्तो विधिर्ज्ञातिव्य आनुपूर्व्या परिपाट्या, यदत्र नानात्वं विशेषस्तदहं वक्ष्ये समासेन।

एतदेव सविशेषमाह–

सामायारी पुणरवि, तेसि इमा होइ गच्छवासीणं।
पडिसेही व जिणाणं,जं जुज्जइ वा तगं वोच्छं ॥८२०॥

सामाचारी पुनरपि तेषां गच्छवासिनां मासकल्पेन विहरतामेषा वक्ष्यमाणा भवति, जिनानां जिनकल्पिनामस्या एव सामाचार्याः प्रतिषेधो वा वक्तव्यः। यद्वा–प्रत्युपेक्षणाऽऽदिकं तेषामपि युज्यते तत् किमपि वक्ष्ये।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

पडिलेहण निक्खमणे, पाहुडिया भिक्ख कप्पकरणे य।
गच्छ सतिए अ कप्पे, अंबिल भरिए अ ऊसित्ते ॥८२१॥
परिहरणा अणुजाणे, पर कम्मे खलु तहेव गेलन्ने।
गच्छपडिबंधऽहालं–दि उवरि दोसा य अववादे ।८२२।

प्रथमतः प्रत्युपेक्षणा वक्तव्या, ततो निष्क्रमणम्–कतिवारा उपाश्रयाद् निर्गन्तव्यमिति। प्राभृतिका सूक्ष्मबादरभेदाद् द्विविधा, भिक्षा गोचरचर्या, कल्पकरणं च भाजनस्य धावनविधिलक्षण–मित्येतानि वक्तव्यानि। (गच्छ सइए त्ति) शतिकाः शतसंख्यपुरुषपरिमाणा ये गच्छास्तेषु प्रभूतेन पालकेन प्रयोजनं भवेत्। तच्च (कप्पे अंबिल त्ति) कल्प्यं कल्पनीयम्, अम्लं च सौवीरं ग्रहीतव्यम्, अनेन संबन्धेन सौवीरिणीसम्पकर्ममिधानीयम्। (भरिए त्ति) तस्याः सौवीरिण्याः सप्तविधं भरणं वाच्यम्। (ऊसित्त त्ति) उत्से–चनमुत्सिक्तं, सौवीरस्योत्सिञ्चनमित्यर्थः, तत्स्वरूपं च निरूप–णीयम्। (परिहरण त्ति) नोदकः प्रश्नयिष्यति–यदि साम्प्रतं केष्वपि गच्छेष्वित्थमाधाकर्माऽऽदयो दोषा उद्भवन्ति, तत् पूर्वं सहस्रेषु गच्छेषु साधवः कथमाधाकर्माऽऽदीनां परिहरणं कृतवन्त इति? अत्राऽऽचार्यः प्रतिवक्ष्यति। अनुयानं रथयात्रा, उपलक्षणत्वात् स्नात्राऽऽदेरपि परिग्रहः। ततो यथा संप्रति रथयात्राऽऽदौ समवसरणे सहस्रसंख्याका अपि साधवो मिलिताः सन्तश्चाधाकर्माऽऽदिकं परिहरन्ति, तथा पूर्वमपि परिहृतवन्त इत्यनेन संबन्धेनानुयानविषयो विधिर्वक्तव्यः। ततः परं कर्मस्वरूपं निरूपयितव्यम्, खलुवाक्यालङ्कारे। तथैव ग्लानविधिः प्रतिपादनीयः। गच्छप्रतिबद्धानां यथालन्दिकानां सामाचारी दर्शनीया। तत उपरि मासकल्पादूर्द्ध तिष्ठतां स्थविरकल्पिकानां दोषा अभिधातव्याः। ततोऽ–पवादो द्वितीयपदमुपदर्शनीयमिति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः। बृ०१ उ०। (प्रत्युपेक्षणा 'पडिलेहणा' शब्दे वक्ष्यते)

अथ निष्क्रमणद्वारमाह–

निरवेक्खो तइयाए, गच्छे निक्कारणम्मि तह चेव।
बहुविक्खेव दसविहे, सावेक्खे निग्गमो भइओ ॥८३३॥

निरपेक्षो जिनकल्पिकः प्रतिमाप्रतिपन्नकाऽऽदिर्गच्छसत्कापेक्षा–रहितः,स तृतीयस्यामेव पौरुष्यामुपाश्रयाद् निर्गच्छति, गच्छे गच्छवासिनोऽपि साधवो निष्कारणे तथैव निर्गच्छन्ति, तृतीयस्यां पौरुष्यामित्यर्थः। परं गच्छे यदाऽऽचार्योपाध्यायाऽऽदिविषयभेदाद् दशविधं वैयावृत्त्यं, तेन यो बहुविधो व्याक्षेपः, तेन सापेक्षे गच्छवासिनि निर्गमो भजनीयः, कदाचित्तृतीयस्यां, कदाचित्प्रथमद्वितीयचतुर्थीषु वा पौरुषीष्विति।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयति–

गहिए भिक्खं भोत्तुं, सोहिय आवस्स आलयमुवेइ।
जहिँ णिग्गतो तहिं चिय, एमेव य खित्तसंकमणे ॥८३४॥

निरपेक्षो भगवान् तृतीयपौरुष्यामुपाश्रयान्निर्गत्य भिक्षामटित्वा गृहीते सति भैक्ष्ये अनापाते असंलोके च स्थाने भुक्त्वा आवश्यकं च संज्ञाका–यिकीलक्षणं शोधयित्वा, यस्यामेव पौरुष्यां निर्गतस्तस्यामेव भूय आलयमुपाश्रयमुपैति, तृतीयस्यामित्यर्थः। एवमेव च क्षेत्रसंक्रमणेऽपि द्रष्टव्यम्, क्षेत्रात् क्षेत्रान्तरगमनमपि तृतीस्यां करोतीति भावः। स्थविर–कल्पिका अपि निष्कारणे तृतीयस्यामेव भिक्षामटित्वा प्रतिश्रयमनुद्दिश्य संज्ञाभूमिं गत्वा तस्यामेव प्रत्यागच्छन्ति, क्षेत्रसंक्रमणमप्येवमेव, कारण–तस्तु न कोऽपि प्रतिनियमः।

तथा चाह–

अतरंतबालवुड्ढे, तवस्सिआएसमाइकज्जेसु।
बहुसो वि होज्ज विसणं, कुलाइकज्जेसु य विभासा ॥८३५॥
उच्चारविहारादी, संभमभयचेइवंदणाऽऽईया।
आयपरोभयहेउं, विणिग्गमा वण्णिया गच्छे ॥८३६॥

अतरन्तो ग्लानस्तस्य, तथा बालवृद्धयोः, तपस्विनः क्षपकस्य, आदेशस्य प्राघूर्णकस्य, आदिशब्दादाचार्योपाध्यायशैक्षकलब्धि–मत्प्रभृतीनां यानि कार्याणि तत्प्रायोग्यभक्तपानौषधाऽऽदिग्रहण–रूपाणि, तेषु बहुशोऽपि बहूनपि वारान् गृहपतिगृहेषु प्रवेशनं गच्छ–साधूनां भवति। तथा कुलं नागेन्द्रचान्द्राऽऽदि, आदिशब्दाद् गणः कुलसमुदायो, गणसमुदायः सङ्घः, चतुर्वर्णरूपो वा, तत्कार्येषु च विभाषा कर्त्तव्या। सा चैषां कुले गणे सङ्घे वा आभाव्याऽनाभा–व्यविषयः कोऽपि व्यवहारः समुपस्थितस्य यथावत्परिच्छेदनं कर्त्तव्यम्, प्रत्यनीको वा कोऽपि साधूनामुपस्थितस्तस्य शिक्षणं विधेयम्, चैत्यद्रव्यं वा कश्चिन्निःशङ्कं मुष्णाति स शासितव्यो वर्त्तत इत्यादि। तथा–उच्चारः पुरीषं, तस्योपलक्षणत्वात्प्रस्रवणाऽऽदेर्व्युत्सर्जनार्थं बहिर्गन्तव्यम्, विहारो नामवसतावस्वाध्यायिके समुत्पन्ने सति स्वाध्यायनिमित्तमन्यत्र गमनम्, आदिग्रहणात् पूर्वगृहीतपीठफलकप्रत्यर्पणप्रभृतिपरिग्रहः। संभ्रमो नाम–उदकाऽग्निहस्त्याद्यागमनसमुत्थ आकस्मिकः संत्रासः। भयं तु सामान्येन समुत्थं दुष्टस्तेनाऽऽद्युपद्रवप्रभवसु, चैत्यानि जिनबिम्बानि, तेषां वन्दनम्। आदिशब्दादपूर्वबहुश्रुताऽऽचार्यवन्दनाऽऽदिपरिग्रहः। एवमा–दीनि यान्यात्मनः परेषामुभयस्य वा हेतोः कार्याणि तन्नि–मित्तं बहुशोऽपि प्रतिमाऽऽश्रयाद्विनिर्गमा वर्णिताः प्रतिपादिता इति। गतं निष्क्रमण–द्वारम्। प्राभृतिका 'वसहि' शब्दे वक्ष्यते) (भिक्षा 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ९६७ पृष्ठे द्रष्टव्या) (कल्पकरणं 'लेव' शब्द वक्ष्यते) (ग्लानाऽऽदिद्वाराणिग्लानाऽऽदिशब्देषु द्रष्टव्यानि)

एत्तो उ थेरकप्पं, समासओ मे निसामेहि।
तिविहम्मि संजमम्मि उ, बोधव्वो होति थेरकप्पो तु॥
सामाइयछेदपरिहा–रिए य तिविहम्मि एअम्मि।
ठिएँ अट्ठिए व कप्पे, सामाइयसंजमो मुणेयव्वो॥
छेदपरिहारिया पुण, णियमाओ हवंति ठितकप्पे।
एतेसु थेरकप्पो, जह जिणकप्पीण अग्गहो दोसु॥
गहणं चऽभिग्गहाणं, पंचहि दोहिं च ण तह इत्तं।

बाले वुड्ढे सेहेऽगीतत्थ णाणदंसणप्पेही ॥
दुब्बलसंघयणम्मि य, गच्छे य इहेसणा भणिता ।
जहसंभवं तु सेसा, खेत्ताऽऽदि विभासियव्व दारा तु ।
उवरिं तु मासकप्पे, वित्थरिओं विभासते तेसिं । पं०भा०।

''इयाणिं थेरकप्पो । तत्थ, गाहा–(तिविहम्मि संजमम्मि) थेरकप्पो। सो तिविहो–सामाइओ, छेओवट्ठावणिओ, परिहारविसुद्धिओ त्ति । सामाइओ ठियकप्पे, अट्ठियकप्पे वा । छेओवट्ठावणिओ, परिहार-विसुद्धिओ ठियकप्पे चेव । तत्थ सामाइयसं–जमो–ठियकप्पे वा, अठियकप्पे वा । बिइओ नामछेओवट्ठावणिओ, सो ठियकप्पे नियमा । तइओ परिहारविसुद्धिओ, सो नियमा ठियकप्पे । परिहारविसुद्धिओ तप्पढमयाए जिणपायमूले पडिवज्जति, जहा मासकप्पे, नवरि उदीरण-मेत्तं, गणप्पमाणेणं जहण्णेणं तिण्णि गणा, उक्कोसेण सयग्गसो । पुरिसप्पमाणेण जहन्नेण सत्तावीसं, उक्कोसेण सयपुहुत्तं । छट्ठे उद्देसे तेसिं सुत्तं विभासिज्जइ। ते दुविहाजिणकप्पिया, थेरकप्पिया य । जिणकप्पिया आवक–हिया, थेरकप्पिया अट्ठारसमासे अत्थिऊण कयाइ जिणकप्पं पडिवज्जंति, कयाइ तमेव कप्पं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति, अहवा पुणो वि तमेव गच्छं एंति । सेसं जहा मासकप्पे,पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जइ अत्थि जहन्नेण सयपुहुत्तं, उक्कोसेण सहस्सग्गसो । अहालंदिया वि एमेव, नवरि दुविहा–गच्छपडिबद्धा य, गच्छनिग्गया य, जहा मासकप्पे । जे अपडिबद्धा ते दुविहा–जिणकप्पिया य, थेरकप्पिया य । जिणकप्पिया किंचि पडिक्कमं न करेंति । थेरकप्पिया गच्छम्माणं ति नियमा पडिग्गहधारी । तत्थ वि गिलाणस्स पडिक्कमं थेरकप्पिया फासुएण पडोयारेण अहालंदियस्स करेंति । सेसं जहा मासकप्पे । नवरं गणप्पमाणेण जहण्णेण तओ गणा, उक्कोसेण सयग्गसो । एवं पडिवज्जमाणयं पुरिसप्पमाणे जहण्णेणं पण्णरस, उक्कोसेण सयग्गसो । पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जहण्णेण सयग्गसो, उक्कोसेण सहस्सपुहुत्तं । सेसा जहा जिणकप्पियाण ठिई, एत्थ थेरकप्पिया ते नेयव्वा जहा कप्पे, अज्जाण मासकप्पो व्व नेयव्वो, जहा कप्पो सिज्झइ ।'' जिनकल्पाऽऽद्या द्रव्यक्षेत्रकालभावाभिग्रहेषु अभिगृहीतैष-णाया आहाराऽऽदि गृहन्ति, स्थविरकल्पिकाः किमर्थं प्रकीर्णैषणाया आहाराऽऽदि गृह्णन्ति, प्रकीर्णा अनभिगृहीतैषणा इत्यर्थः । आचार्य आह– ''बालवुड्ढथेराणं बाला वुड्ढा य कारणे पव्वाविया, ते जइ अभिग्गहिया एसणाए गेण्हंति । अभिग्गहिए एसणाए य च दवावेज्जा सरिसो लाभो, सेहाईणं च अभावियाणं दुब्बलसंघयणाणं णाणदरिसणाऽऽइसु य पडिबद्धाणं दिवसं हिंडंताणं चेव लभिस्सति । पच्छा संघयणदुब्बलत्तणेण, अभावित्तणेण य संजमं छड्डेति, पासत्थाईहि परतित्थएहिं वा गमिस्संति, पच्छा तित्थवोच्छेओ भविस्सइ । गच्छो य महिड्ढिओ। स बालवुड्ढाओ लोयणयणायरभूआ, जिणकप्पियाओ णं च गच्छाओ चेव प्रसूतिः, प्रवृत्तिरित्यर्थः । जम्हा गच्छेऽपि किं ण्हाए विसुद्धाए हिंडमाणा उग्गमाइसुद्धं आहाराइ गेण्हंता, भुंजंता य जहण्णेण अट्ठ पवयणमायाओ, उक्कोसेण चोद्दस पुव्वाणि अहिज्जंति, अव्वोच्छित्तिकरा य हुंति, ओहिमण-पज्जवकेवलाणं च उप्पाएंति, सोहम्माइकप्पोवएसु जाव सव्वट्ठसिद्धे वि उववज्जंति । एएण कारणेण गच्छे पडिक्किन्नेसणा जहासंभवं । थिरकप्पियाणं खित्तकाला जहा मासकप्पे, पव्वावणाइ य जहा मासकप्पे ।'' पं०चू०।

अहुणा उ थेरकप्पे, वोच्छामि विहिं समासेणं ॥
गहणे चउव्विहम्मि वि, तीए गहणं तु परमजत्तेणं ।
जं पाणबीयरहियं, हवेज्ज तरमाणए सोही ॥
गहणं चउव्विहं ती, वत्थं पातं च सेज्ज आहारो ।
एतेसिं असतीए, गहणं पढमं तु बीयस्स ॥
बितियं पातं भण्णति, किं कारणं तस्स गहण पढमं तु ।
तेण विणा वोहिपडिमा, गिहिभायणभोगों हाणी य ॥
अहवा चउव्विहं तु, असणादी तत्थ भोज्जगहणं तु ।
तत्थ तु वितियं पाणं, तस्स तु गहणं पढमताए ॥
असतीएँ फासुयस्सा, तस्सहिए कंदबीयसहिए वा ।
किं कारण तेण विणा, आसुं पाणक्खतो होज्जा ॥
तरमाणे गिण्हति सुद्धं अतरो पेल्लेज्ज तह संथारे ।
संथरतो गेण्हंतो, पावति सट्ठाणपच्छित्तं ॥
सत्त दुए दसए वा, अणेगठाणेण वा भवग्गहणं ।
एत्तो तिगातिरित्तं, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ॥
भइयं ति कप्पति त्ती, तस्सऽऽसतीए असुद्धं पि ।
एसो तु थेरकप्पो, ...॥ पं०भा०।

इयाणिं थेरकप्पो गाहा–(गहणे चउव्विहे ति) चउव्विहे–वत्थं, पायं, आहारो, सेज्जा । चउण्ह वि असइ पढमया य घेप्पइ । किं कारणं? तेण विणा पडिमाइहाणी चेव। अहवा–असणाइ पढमं, तत्थ विइयं पायग्गहणं परमपयत्तेण नयमाणो पढमं संथरमाणो तसपाणबीयरहिया कंदमूलरहिए गेण्हइ, अतरंतो पुण तसपाणस–हिए वा, बीयकंदमूलसहिए वा गेण्हइ। किं कारणं ? तेण विणा–आसु पाणक्खओ होज्जा । तरमाणो सुद्धं गेण्हेज्जा । अतरंतो पेल्लेज्जा । गाहा–(सत्त दुए त्ति) पिंडेसणपाणेसणाओ । (दसए त्ति) दस एसणादोसा। (अणेगठाणे त्ति) उग्गमाइ पन्नरस सोलस । एत्तो तिगादिरित्तं नाम–उग्गमउप्पायणएसणासुद्धं। तव्विवरीयं जं एतेहिं चेव उग्गमाईहिं असुद्धं, तं गेण्हेज्जा गच्छसंरक्खणहेउं गच्छवासीहिं। भइयं नाम कारणे कप्पइ, इयरहा न कप्पइ । एस थेरकप्पो । पं० चू०। (स्थविरकल्पिनामुपधिः 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०६१ पृष्ठे उक्तः) (स्थविरकल्पोजिनकल्पश्च द्वावप्येतो महर्द्धिकाविति 'गच्छ' शब्दे तृतीयभागे ८०४ पृष्ठे उक्तम्)

थविरकप्पट्ठिइ स्त्री०(स्थविरकल्पस्थिति) स्थविरा आचार्याऽऽदयो गच्छप्रतिबद्धास्तेषां कल्पस्थितिः स्थविरकल्पस्थितिः । बृ०४ उ०। कल्पस्थितिभेदे, बृ०५ उ०। स्था०। पं०चू०। पं० भा०।

संप्रति स्थविरकल्पस्थितिमाह–

संजमकरणुज्जोया, णिप्फातग णाणदंसणचरित्ते ।
दीहाउ वुड्ढवासे, वसहीदोसेहि य विमुक्का ॥४०७॥

संयमः पञ्चाऽऽश्रवविरमणाऽऽदिरूपः, पृथिव्यादिरक्षारूपो वा सप्तदशविधः, तं कुर्वन्ति यथा तत्पालयन्तीति संयमकरणाः । न–

न्द्यादिदर्शनात् कर्तर्यनट् प्रत्ययः। उद् द्योतकाः--तपसा प्रवचनस्योज्ज्वालकाः। ततः संयमकरणाश्च ते उद् द्योतकाश्चेति विशेषणसमासः। यद्वा--पूर्वपौरुषीकरणेन संयमकरणमुद्द्योतयन्तीति संयमकरणोद्द्योतकाः। तथा--ज्ञानदर्शनचारित्रेषु शिष्याणां निष्पादकाः, तेषां चाज्ञानाऽऽदीनामव्यवस्थितिकारका भवन्तीति शेषः, यदा च ते दीर्घाऽऽयुषो जङ्घाबलपरिक्षीणाश्च भवन्ति, तदा वृद्धाऽऽवासमध्यासते, तत्रैव क्षेत्रे वसन्तोऽपि वसतिदोषैः कालातिक्रान्ताऽऽदिभिः, चशब्दादाहारोपधिदोषैश्च वियुक्ता वर्जिता भवन्ति, न तैर्लिप्यन्त इत्यर्थः ॥४०७॥

मोत्तुं जिणकप्पठिइं, जा मेरा एस वन्निया हेट्ठा।
एसा उ दुपदजुत्ता, होति ठिती थेरकप्पस्स ॥४०८॥

जिनकल्पस्थितिग्रहणेन, उपलक्षणत्वात् सर्वेषामपि गच्छनिर्गतानां स्थितिः परिगृह्यते। ततस्तां मुक्त्वा, या अधस्तादस्मिन्नेवाध्ययने मर्यादा स्थितिरेषा अनन्तरमेव वर्णिता। यद्वा--सामायिकाध्ययनमादौ कृत्वा यावदस्मिन्नेवाध्ययने इदं षड्विधकल्पस्थितिसूत्रमन्तरे गच्छनिर्गतसामाचारीं मुक्त्वा या शेषा सामाचारी वर्णिता सा द्विपदयुक्ता उत्सर्गापवादपदद्वययुक्ता स्थविरकल्पसंस्थितिर्भवति ॥४०८॥ बृ०६उ०।

थविरकप्पिय पुं०(स्थविरकल्पिक) स्थविरकल्पमाश्रिते, प्रव० ७० द्वार। बृ०।

थविरभूमि स्त्री०(स्थविरभूमि) स्थविरो वृद्धस्तस्य भूमयः स्थविरभूमयः। वृद्धपदवीषु, स्था०३ठा०२उ०।

स्थविरभूमयः--

तओ थेरभूमीओ पन्नत्ताओ। तं जहा--जातिथेरे, सुयथेरे, परियायथेरे य। सट्ठिवरिसजाए जातिथेरे, ठाणसमवायधरे सुयथेरे, वीसवासपरियाए परियायथेरे ॥

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह--

थेराणमंतिए वासो, सो य थेरो इमो तिहा।
भूमि त्ति य ठाणं ति य, एगट्ठा हों ति कालो य ॥

अनन्तरसूत्रे अन्तेवासिन उक्ताः। अन्तिके निवासः स्थविराणाम, स च स्थविरोऽयं वक्ष्यमाणस्त्रिधेत्यनेन क्रमेण सूत्रमिदं समापतितमित्येष सूत्रसंबन्धः। संप्रत्यस्य व्याख्यातिस्रः स्थविराणां भूमयः प्रज्ञप्ताः--भूमिरिति स्थानमिति अवस्थारूपः काल इति त्रयोऽपि शब्दा एकार्थाः। ''थेरभूमि त्ति वा, थेरठाणं ति वा, थेरकालो त्ति वा एगट्ठमिति।''

तिविहम्मि य थेरम्मी, परूवणा जा जहिं सए ठाणे।
अणुकंप सुए पूआ, परियाए वंदणाऽऽदीणि ॥

त्रिविधस्थविरे त्रिविधस्थविरविषये या यत्र स्वके स्थाने प्ररूपणा सा सूत्रतः कर्तव्या। तद्यथा--षष्टिवर्षजातो जातिस्थविरः, स्थानसमवायधरः श्रुतस्थविरः विंशतिवर्षपर्यायः पर्यायस्थविरः। तथा जातिस्थविरस्यानुकम्पा कर्तव्या, श्रुते श्रुतस्थविरस्य पूजा, पर्याये पर्यायस्थविरस्य वन्दनाऽऽदीनि।

संप्रत्येतान्येव त्रीणि कर्तव्यानि विस्तरेणाऽऽह--

आहारोवहिसेज्जा--संथारे खेत्तसंकमे।
कितिछंदाणुवत्तीहिं, अणुवत्तंति थेरगं ॥
उट्ठाणाऽऽसणदाणाऽऽदी, जोग्गाऽऽहारप्पसंसणा।
नीयसेज्जाएँ निद्देस--वत्तित्तं पूयए सुयं ॥
उट्ठाणं वंदणं चेव, गहणं दंडगस्स य।
परियायथेरगस्स,करें ति अगुरोरवि ॥

जातिस्थविरस्य कालस्वभावानुमत आहारो दातव्यः, उपधिर्यावता संस्तरति तावत्प्रमाणः, शय्या वसतिः, सा ऋतुक्षमा दातव्या, संस्तारको मृदुकः। क्षेत्रसंक्रमे क्षेत्रान्तरं संक्रामयितव्ये तस्योपधिमन्ये वहन्ति, पानीयेन वाऽनुकम्पना। उक्ता जातिस्थ--विरस्याऽनुकम्पा। श्रुतस्थविरस्य पूजामाह--(किति इत्यादि) कृतिश्छन्दोऽनुवृत्तिभ्यां स्थविरं श्रुतस्थविरमनुवर्तयन्ति। किमुक्तं भवति?--श्रुतस्थविरस्य कृतिकर्म वन्दनकं दातव्यम्, छन्दतश्च तस्याऽनुवर्तनीयम्। तथा--(उट्ठाण त्ति) आगतस्याऽभ्युत्थानं कर्तव्यम्, आसनप्रदानम्। आदिशब्दात् पादप्रमार्जनाऽऽदिपरिग्रहः। तथा योग्याऽऽहारोपनयनम्, समक्षपरोक्षत्वाभ्यां प्रशंसना गुणकीर्तनम्। तथा--तत्समक्षं नीचशय्यायामवस्थातव्यं, निर्देशवर्तित्वम्, एवं श्रुतं श्रुतस्थविर पूजयेत्। तथा--पर्यायस्थविरस्याऽगुरोरप्यप्रव्राजकस्याप्यवाचनाऽऽचार्यस्याऽप्यागच्छत उत्थानं कुर्वन्ति, वन्दनकं, वक्ष्यमाणतो दण्डकस्य च ग्रहणमिति सूत्रम्। व्य०१०उ०।

थविरभूमिपत्त त्रि०(स्थविरभूमिप्राप्त) आचार्यपदप्राप्ते, व्य० १उ०। सूत्रार्थतदुभयोपेते, बृ०१उ०।

थविरय पुं०(स्थविरक) जीर्णे, आचा०१ श्रु०१ अ०२उ०। सूत्र०। शतातीते वृद्धे, ''पिया ते थेरओ तात! ससा ते खुड्डिया इमा।'' (३) सूत्र०१ श्रु०३अ०२उ०।

थविरवेयावच्च न०(स्थविरवैयावृत्य) स्थविराणां भक्तपानाऽऽदिभिरुपष्टम्भे, औ०। (स्थविरवैयावृत्यं 'थविरभूमि' शब्देऽनुपदमेव संक्षेपतः प्रोक्तम्)

थविरावली स्त्री०(स्थविराऽऽवली) ऐदंयुगीनसाधूनामुपकारार्थं प्रवचनेतॄणामावलिकायाम्, नं०।

सा च सुधर्मस्वामिनः प्रवृत्ता--

सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जंबूनामं च कासवं।
पभवं कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं तहा ॥२५॥
वसभद्दं तुंगियं वंदे, भूयं चेव य माढरं।
भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं ॥२६॥
एलावच्चसगोत्तं, वंदामि महागिरिं सुहत्थिं च।
तत्तो कोसियगुत्तं, बहुलस्स सरिव्वयं (''सरिव्वयं'' सदृशवयसम्।)
वंदे ॥२७॥
हारियगुत्तं साइं, वंदामो हारियं च सामज्जं।
वंदे कोसियगुत्तं, संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥२८॥
तिसमुद्दखायकित्तिं, दीवसमुद्देसु गहियपेयालं।
वंदे अज्जसमुद्दं, अक्खुभियसमुद्दगंभीरं ॥२९॥
भणगं करगं झरगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं, सुयसागरपारगं धीरं ॥३०॥
वंदामि अज्जधम्मं, तत्तो वंदे य भद्दगुत्तं च।
तत्तो य अज्जवइरं, तवनियमगुणेहिँ वइरसमं ॥३१॥
वंदामि अज्जरक्खिय--खमणे रक्खियचरित्तसव्वस्सो।

रयणकरंडगभूआ, अणुओगा रक्खिआ जेहिं ॥३२॥
नाणम्मि दंसणम्मि य, तवविणयणिच्चकालमुज्जुत्तं ।
अज्जयनंदिलखमणं, सिरसा वंदे पसंतमां ॥३३॥
वड्ढतु वायगवंसो, जसवंसो अज्जनागहत्थीणं ।
वागरणकरणभंगिय–कम्मप्पयडीपहाणाणं ॥३४॥
जच्चंजणधाऊसम–प्पहाणमुद्दियगवलयनिहाणं ।
वड्ढतु वायगवंसो, रेवइनक्खत्तनामाणं ॥३५॥
अयलपुरा णिक्खंते, कालियसुयआणुओगिए धीरे ।
बंभद्दीवगसीहे, वायगपयमुत्तमं पत्ते ॥३६॥
जेसु इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अद्धभरहम्मि ।
बहुनयरनिग्गयजसे, तं वंदे खंदिलायरिए ॥३७॥
तत्तो हिमवंतमहं–तविक्कमे धिइपरक्कममहंते ।
सज्झायमणंतधरे, हिमवंते वंदिमो सिरसा ॥३८॥
कालियभुय अणुओ–गधारए धारए य पुव्वाणं ।
हिमवंतखमासमणे, वंदे णागज्जुणायरिए ॥३९॥
मिउमद्दवसंपन्ने, अणुपुव्विं वायगत्तणं पत्ते ।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए वंदे ॥४०॥
गोविंदाणं पि नमतो, अणुओगे विउलधारणिंदाणं ।
निच्चं खंतिदयाणं, परूवणे दुल्लभे दाणं ॥४१॥
तत्तो य भूयदिन्नं, निच्चं तवसंजमे अनिच्चित्तं ।
पंडियजणसामन्नं, वंदामी संजमविहिन्नू ॥४२॥
वरकणगतवियचंपग–विउलवरकमलगब्भसरिवन्ने ।
भवियजणहिययदइए, दयागुणविसारए धीरे ॥४३॥
अड्ढभरहप्पहाणे, बहुविहसज्झायसुमुणियपहाणे ।
अणुओगियवरवसते, नाइलकुलवंसनंदिकरे ॥४४॥
भूयहियकरपगब्भे, वंदेऽहं भूयदिन्नमायरिए ।
भवभयवुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ॥४५॥
सुमुणियनिच्चानिच्चं, सुमुणियसुत्तत्थधारयं निच्चं ।
वंदेऽहं लोहिच्चं, सब्भावुब्भावणातच्चं ॥४६॥
अत्थमहत्थयखाणिं, सुसमणवक्खाणकहणनिव्वाणिं ।
पयईऍ महुरवाणिं, पयओ पणमामि दूसगणिं ॥४७॥
तवनियमसच्चसंजम–विणयऽज्जवखंतिमद्दवरयाणं ।
सीलगुणग्गहियाणं, अणुओगजुगप्पहाणाणं ॥४८॥
सुकुमालेकोमलतले, तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पाए पावयणीणं, पडिच्छगसएहिं पणिवइए ॥४९॥
जे अन्ने भगवंते, कालियसुयअणुओगिए धीरे ।
ते णमिऊणं सिरसा, नाणस्स परूवणं वोच्छं ॥५०॥

इह स्थविराऽवलिका सुधर्मस्वामिनः प्रवृत्ता, शेषगणधराणां सन्तान-प्रवृत्तेरभावात् । नं०।

तदाह–

अवसेसा गणहरा निरवच्चा वुच्छिन्ना ४ । समणे भगवंमहावीरे कासवगुत्ते । समणस्स णं भगवओ महावीरस्स कासवगुत्तस्स अज्जसुहम्मे थेरे अंतेवासी अग्गिवेसायणगोत्ते । थेरस्स णं अज्जसुहम्मस्स अग्गिवेसायणसगोत्तस्स अज्जजंबूनामे णं थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते । थेरस्स णं अज्जजंबूनामस्स कासवगोत्तस्स अज्जप्पभवे थेरअंतेवासी कच्चायणसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जप्पभवस्स कच्चायणसगोत्तस्स अज्जसिज्जंभवे थेरे अंतेवासी मणगपिया वच्छसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जसिज्जंभवस्स मणग-पिउणो वच्छसगोत्तस्स अज्जजसभद्दे थेरे अंतेवासी तुंगियाय-णसगोत्ते ५ । संखित्तवायणाए अज्जजसभद्दाओ अग्गओ एवं थेरावली भणिया । तं जहा–थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स तुंगियायणसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेराथेरे अज्जसंभूइविजए माढरसगुत्ते,थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगुत्ते । थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्ज–थूलभद्दे गोयमसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगो–त्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा थेरे अज्जमहागिरी एलावच्चसगोत्ते, थेरे अज्जसुहत्थी वासिट्ठसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठसगुत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरासुट्ठियसुप्पडिबुद्धा, कोडियकाकंदगा वग्घावच्चसगोत्ता । थेराणं सुट्ठियसुप्पडिबु–द्धाणं कोडियकाकंदगाणं वग्घावच्चसगुत्ताणं अंतेवासी थेरे अ–ज्जइंददिण्णे कोसियगुत्ते । थेरस्स णं अज्जइंददिण्णस्स कोसि–यगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जदिण्णे गोअमसगुत्ते । थेरस्स णं अज्जदिण्णस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जसीहगिरी जाईसरे कोसियसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जसीहगिरिस्स जाईस-रस्स कोसियसगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जवइरे गोयमसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जवइरसेणे उक्कोसियगोत्ते । थेरस्स णं अज्जवइरसेणस्स उक्कोसियगोत्तस्स अंतेवासी चत्तारि थेरा–थेरे अज्जनाइले, थेरे अज्जपोमिले, थेरे अज्जजयंते, थेरे अज्जतावसे । थेराओ अज्ज–नाइलाओ अज्जनाइला साहा निग्गया । थेराओ अज्जपोमिला–ओ अज्जपोमिला साहा निग्गया । थेराओ अज्जजयंताओ अज्जजयंती साहा निग्गया । थेराओ अज्जतावसाओ अज्जता–वसी साहा निग्गया इति ॥६॥ वित्थरवायणाए पुण अज्जजस–भद्दाओ पुरओ थेरावली एवं पलोइज्जइ । तं जहा–थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स तुंगियाय-णसगोत्तस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था । तं जहा–थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगोत्ते, थेरे अज्जसंभूइविजए माढरसगुत्ते । थेरस्स णं अज्जभद्दबाहुस्स पाईणसगोत्तस्स इमे

चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे गोदासे, थेरे अग्गिदत्ते, थेरे जण्णदत्ते, थेरे सोमदत्ते कासवगोत्ते णं। थेरेहिंतो गोदासेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो इत्थ णं गोदासे गणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा–तामलित्तिआ, कोडिवरिसिया, पोडवद्धणिया, दासीखव्वडिया। थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमे दुवालस थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–

''नंदणभद्दे थेरे, उवणंदे तीसभद्दे य जसभद्दे।
थेरे अ सुमणभद्दे, मणिभद्दे पुन्नभद्दे य ॥१॥
थेरे अ थूलभद्दे, उज्जुमई जंबुनामधिज्जे य।
थेरे य दीहभद्दे, थेरे तह पंडुभद्दे य ॥२॥''

थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगुत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिन्नायाओ होत्था।

तं जहा–

''जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह चेव भूयदिन्ना य।
सेणा वेणा रेणा, भइणीओ थूलभद्दस्स ॥१॥''

थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे अज्जमहागिरी एलावच्चसगोत्ते, थेरे अज्जसुहत्थी वासिट्ठसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जमहागिरिस्स एलावच्चसगोत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे उत्तरे, थेरे बलिस्सहे, थेरे धणड्ढे, थेरे सिरिभद्दे, थेरे कोडिन्ने, थेरे नागे, थेरे नागमित्ते, थेरे छड्डुलूए रोहगुत्ते कोसियगुत्ते णं॥ थेरेहिंतो णं छड्डुलूएहिंतो रोहगुत्तेहिंतो कोसियगुत्तेहिंतो तत्थ णं तेरासिया साहा णिग्गया। थेरेहिंतो णं उत्तरबलिस्सहेहिंतो तत्थ णं उत्तरबलिस्सहे नामं गणे णिग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा–कोसंपिया, सोइत्तिया, कोडंवाणी, चंदनागरी। थेरस्स णं अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स इमे दुवालस्स थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–

''थेरे अ अज्जरोहणे, भद्दजसे मेहगणिअ कामिड्ढी।
सुट्ठिय सुप्पडिबुद्धे, रक्खिय तह रोहगुत्ते य ॥१॥
इसिगुत्ते सिरिगुत्ते, गणी य बंभे गणी य तह सोमे।
दस दो अ गणहरा खलु, एए सीमा सुहत्थिस्स ॥२॥''

थेरेहिंतो णं अज्जरोहणेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो तत्थ णं उद्देहगणे णामं गणे निग्गए। तस्सिमाओ चत्तारि साहाओ निग्गयाओ, छच्च कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा–उदुंवरिज्जिया, मासपूरिया, मइंपत्तिया, पुन्नपत्तिया। सेत्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति। तं जहा–

''पढमं च नागभूयं, बीअं पुण सोमभूइअं होइ।
अह उल्लगच्छ तइयं, चउत्थयं हत्थलिज्जं तु ॥१॥
पंचमगं नंदिज्जं, छट्ठं पुण पारिहासियं होइ।
उद्देहगणस्सेए, छच्च कुला हुंति नायव्वा ॥२॥''

थेरेहिंतो णं सिरिगुत्तेहिंतो हारियसगोत्तेहिंतो इत्थ णं चारणगणे नामं गणे णिग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, सत्त य कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा–हारिअमालागारी, संकासिआ, गवेधुआ, वज्जनागरी। से त्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति। तं जहा–

''पढमित्थ वत्थलिज्जं, वीयं पुण पीइधम्मिअं होइ।
तइअं पुण हालिज्जं, चउत्थयं पूसमित्तिज्जं ॥१॥
पंचमगं मालिज्जं, छट्ठं पुण अज्जवेडयं होइ।
सत्तमगं कण्हसहं, सत्त कुला चारणगणस्स ॥२॥''

थेरेहिंतो णं भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उडुधाडिगणे नामं गणे णिग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, तिन्नि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा–चंपिज्जिया, भद्दिज्जिया, काकंदिआ, मेहलिज्जिया। सेत्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति। तं जहा–

''भद्दजसिअ तह भद्दगु–त्तिअं तइअं च होइ जसभद्दं।
एयाइं उडुवाडिय–गणस्स तिन्नेवं य कुलाइं ॥१॥''

थेरेहिंतो णं कामिड्ढीहिंतो इत्थ णं वेसवाडियगणे णामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा–सावत्थिया, रज्जपालिया, अंतरिज्जिया, खेमलिज्जिया। सेत्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं? कुलाइं एवमाहिज्जंति। तं जहा–

''गणिअं मेहिय काम–ड्ढिअं च तह होइ इंदपुरगं च।
एयाइं वेसवाडिय–गणस्स चत्तारि उ कुलाइं ॥१॥''

थेरोहिंतो णं इसिगुत्तेहिंतो काकंदिएहिंतो वासिट्ठसगोत्तेहिंतो एत्थ णं माणवगणे णामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, तिन्नि य कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ? साहाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा–कासविज्जिया, गोअमिज्जिया, वासिट्ठिआ, सोरट्ठिआ। सेत्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति तं जहा–

''इसिगुत्तियऽत्थ पढमं, बीयं इसिदत्तिअं मुणेअव्वं।
तइयं च अभिजयंतं, तिन्नि कुला माणवगणस्स ॥१॥''

थेरेहिंतो णं सुट्ठियसुप्पडिबुद्धेहिंतो कोडियकाकंदएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिंतो इत्थ णं कोडियगणे णामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, चत्तारि कुलाइं च एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा– ''उच्चानागरि विज्जाहरी य वइरी य मज्झिमिल्ला य। कोडियगणस्स एया, हवंति चत्तारि साहाओ ॥१॥'' सेत्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं कुलाइं एवमाहिज्जंति। तं जहा– ''पढमित्थ बंभलिज्जं, बिइयं नामेण वत्थलिज्जं तु। तइयं पुण वाणिज्जं, चउत्थयं पण्हवाहणयं ॥१॥'' थेराणं सुट्ठियसुप्पडिबुद्धाणं कोडियकाकंदगाणं वग्घावच्चसगोत्ताणं इमे पंच थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे अज्जइंददिन्ने पियगंथे, थेरे विज्जाहरगोवाले कासवगुत्ते णं, थेरे इसिदत्ते, थेरे अरिहदत्ते। थेरेहिंतो णं पियगंथेहिंतो एत्थं णं मज्झिमा साहा निग्गया, थेरेहिंतो णं विज्जाहरगोवालेहिंतो कासवगोत्तेहिंतो एत्थ णं विज्जाहरी साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जइंददिण्णस्स कासवगुत्तस्स अज्जदिन्ने थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जदिणस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे अज्जसंतिसेणिए माढरसगुत्ते, थेरे अज्जसीहगिरी जाईसरे कोसियगोत्ते। थेरेहिंतो णं अज्जसंतिसेणिएहिंतो माढरसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चानागरी साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जसंतिसेणियस्स माढरसगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे अज्जसेणिए, थेरे अज्जतावसे, थेरे अज्जकुबेरे, थेरे अज्जइसिपालिए। थेरेहिंतो णं अज्जसेणिएहिंतो एत्थ णं अज्जसेणिया साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जतावसेहिंतो एत्थ णं अज्जतावसी साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जकुबेरेहिंतो णं इत्थ णं अज्जकुबेरा साहा निग्गया। थेरेहिंतो अज्जइसिमालिए–हिंतो इत्थ णं अज्जइसिपालिया साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जसीहगिरिस्स जाईसरस्स कोसियगुत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे धणगिरी, थेरे अज्जवइरे, थेरे अज्जसमिए, थेरे अरिहदिन्ने। थेरेहिंतो णं अज्जसमिएहिंतो गोयमसगुत्तेहिंतो इत्थ णं बंभदीविया साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जवइरेहिंतो गोयमसगोत्तेहिंतो इत्थ णं अज्जवइरी साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोयमसगुत्तस्स इमे तिन्नि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे अज्जवइरसेणे, थेरे अज्जपउमे, थेरे अज्जरहे। थेरेहिंतो णं अज्जवइरसेणेहिंतो इत्थ णं अज्जनाइली साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जपउमेहिंतो अज्जपउमा साहा निग्गया, थेरेहिंतो णं अज्जरहेहिंतो इत्थ णं अज्जजयंती साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जरहस्स वच्छसगुत्तस्स अज्जपूसगिरी थेरे अंतेवासी कोसियगुत्ते। थेरस्स णं अज्जपूसगिरिस्स कोसियगुत्तस्स *अज्जफग्गुमित्ते थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जफग्गु*मित्तस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जधणगिरी थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जधणगिरिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स अज्जसिवभूई थेरे अंतेवासी कुच्छसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जसिवभूइस्स *कुच्छसगोत्तस्स अज्जभद्दे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते।* थेरस्स णं अज्जभद्दस्स कासवगुत्तस्स अज्जनक्खत्ते थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते। थेरस्स णं अज्जनक्खत्तस्स कासवगुत्तस्स अज्जरक्खे थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते। थेरस्स णं अज्जरक्खस्स कासवगोत्तस्स अज्जनागे थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जनागस्स गोयमसगोत्तस्स अज्जजेहिले थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जजेहिलस्स वासिट्ठसगोत्तस्स अज्जविण्हू थेरे अंतेवासी माढरसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जविण्हुस्स *माढरसगोत्तस्स अज्जकालए थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते।* थेरस्स णं अज्जकालियस्स गोयमसगोत्तस्स इमे दुवे थेरा अंतेवासी गोयमसगोत्ता–थेरे अज्जसंपलिए, थेरे अज्जभद्दे। एएसि णं दुण्हं थेराणं गोयमसगुत्ताणं अज्जवुड्ढे थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जवुड्ढस्स गोयमसगोत्तस्स अज्जसंघपालिए थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जसंघपालियस्स गोयमसगोत्तस्स अज्जहत्थी थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते। थेरस्स णं अज्जहत्थिस्स कासवगोत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी सुव्वयगोत्ते। थेरस्स णं अज्जधम्मस्स सुव्वयगोत्तस्स अज्जसीहे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते। थेरस्स णं अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतवासी कासवगुत्ते। थेरस्स णं अज्जधम्मस्स कासवगोत्तस्स अज्जसंडिल्ले थेरे अंतेवासी।

''वंदामि फग्गुमित्तं, च गोयमं धणगिरिं च वासिट्ठं।
कुच्छं सिवभूइं पि य, कोसिय दुज्जंत कण्हे य ॥१॥
तं वंदिऊण सिरसा, भद्दं वंदामि कासवसगुत्तं।
नक्खं कासवगुत्तं, रक्खं पि य कासवं वंदे ॥२॥
वंदामि अज्जनागं, च गोयमं जेहिलं च वासिट्ठं।
विण्हुं माढरगुत्तं, कालगमवि गोयमं वंदे ॥३॥

गोयमगुत्तकुमारं, संपलियं तह य भद्दयं वंदे ।
थेरं च अज्जवुड्ढं, गोयमगुत्तं नमंसामि ॥४॥
तं वंदिऊण सिरसा, थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च संघवालिय–कासवगुत्तं पणिवयामि ॥५॥
वंदामि अज्जहत्थिं, च कासवं खंतिसागरं धीरं ।
गिम्हाण पढममासे, कालगयं चेव सुद्धस्स ॥६॥
वंदामि अज्जधम्मं, च सुव्वयं सीललद्धिसंपन्नं ।
जस्स (स) निक्खमणे देवो, छत्तं वरमुत्तमं वहइ ॥७॥
हत्थं कासवगुत्तं, धम्मं सिवसाहगं पणिवयामि ।
सीहं कासवगुत्तं, धम्मं पि अ कासवं वंदे ॥८॥
तं वंदिऊण सिरसा, थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च अज्जजंबुं, गोयमगुत्तं नमंसामि ॥९॥
मिउमद्दवसंपन्नं, उवउत्तं नाणदंसणचरित्ते ।
थेरं च नंदिअं पि य, कासवगुत्तं पणिवयामि ॥१०॥
तत्तो अ थिरचरित्तं, उत्तमसम्मत्तसत्तसंजुत्तं ।
देवड्ढिगणिखमासमणं, माढरगुत्तं नमंसामि ॥११॥
तत्तो अणुओगधरं, धीरं मइसागरं महासत्तं ।
थिरगुत्तखमासमणं, वच्छसगुत्तं पणिवयामि ॥१२॥
तत्तो अ नाणदंसण–चरित्ततवसुट्ठिअं गुणमहंतं ।
थेरं कुमारधम्मं, वंदामि गणिं गुणोवेयं ॥१३॥
सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिँ संपन्ने ।
देविड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥१४॥

कल्प० ४ क्षण।

थविरोवघाइय पुं०(स्थविरोपघातिक) स्थविरा आचार्याऽऽदिगुरवस्तान् आचारदोषेण शीलदोषेणावज्ञाऽऽदिभिर्वोपहन्तीत्येवंशीलः, स एव वा स्थविरोपघातिकः । दशा०२ अ०। स्था०। षष्ठा–समाधिस्थे, आ०क०४अ०। दशा०। आ०चू०।

थवी स्त्री०(देशी) प्रसेविकायाम्, दे०ना० ५ वर्ग २५ गाथा।

थस पुं०(देशी) विस्तीर्णार्थेषु, दे०ना० ५ वर्ग २५ गाथा।

थह पुं०(देशी) निलये, दे०ना० ५ वर्ग २४ गाथा।

थाइणी स्त्री०(स्थायिनी) प्रतिवर्षविजननशीलायाम्, स्थायिन्यो नाम वडवास्ता उच्यन्ते वर्षे वर्षे विजायन्ते याः। बृ०३उ०।

थाऊण अव्य०(स्थित्वा) गतेर्निवृत्त्येत्यर्थे, प्रा०४ पाद।

थाण न०(स्थान) **''स्थः ठा–थक्क–चिट्ठ–निरप्पाः''** ॥८।४।१६॥ इति स्थाधातोष्ठादेशो बाहुलकत्वान्न। प्रा०४ पाद।

थाणणिउत्त त्रि०(स्थाननियुक्त) स्थाने पदे नियुक्ताः स्थाननियुक्ताः। प्रवर्तकस्थविरगणावच्छेदकाऽऽख्येषु पदस्थ–गीतार्थेषु, बृ०१उ०।

थाणय नं० (देशी) आलवाले, दे०ना० ५ वर्ग २७ गाथा।

थाणविसेस पुं०(स्थानविशेष) आसनविशेषे, विशे०।

थाणाणिउत्त त्रि०(स्थानानियुक्त) सामान्यसाधुषु, बृ०१ उ०।

थाणु पुं०(स्थाणु) **''स्थाणावहरे''** ॥८।२।७॥ इति हरेऽर्थे स्थस्य न खः। प्रा०२ पाद। हरे, शिवे, को०। स्तम्भे, स्था०४ ठा०२उ०। कीलके, विशे०।

थाम न०(स्थामन्) वीर्ये, बृ०१उ०। ''जोगो वीरियं थामं'' इत्ये–कार्थाः। आ०म०१ अ०२खण्ड। आ०चू०। नि०चू०। पं०सं०। क्रियायाम्, (ग०) सामर्थ्ये, ग०१ अधि०। सूत्र०। प्राणे, शारीरबलयुक्ते, ओघ०। ज्ञा०। पिं०। स्था०। बलवति, त्रि०। नि०चू०११ उ०। विस्तीर्णार्थेषु, दे०ना०५ वर्ग २५ गाथा।

थामवं त्रि०(स्थामवत्) स्थाम बलं, तदस्य संयमविषयमस्तीति स्थामवान्। उत्त०२ अ०। शीताऽऽतपाऽऽदिसहनं प्रति सामर्थ्यवति, उत्त०२ अ०। मनोबलयुक्ते, (उत्त०) धैर्ययुक्ते, उत्त०२अ०।

थामावहारविजढ त्रि०(स्थामापहारविमुक्त) अनिगृहीतबलवीर्ये, बृ०१उ०।

थार पुं०(देशी) घने, दे०ना० ५ वर्ग २७ गाथा।

थाल न०(स्थाल) त्रट्टे, भ० १५ श०। पाकपात्रे च। आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०१उ०। रा०। जं०।

थालइ पुं०(स्थालकिन्) गृहीतभाण्डे वानप्रस्थभेदे, नि०१ श्रु०१ वर्ग० ७ अ०। औ०। भ०।

थालपाणय न०(स्थालपानक) स्थालं त्रट्टं तत्पानकमिव दाहोपशमहेतुत्वात् स्थालपानकम्। आजीविकानामकल्पनीये स्थालके, भ० १५ श०।

थाली स्त्री०(स्थाली) उखायाम्, जी०३ प्रति०२ उ०। पिठर्याम्, स्थाने ३ ठा०१उ०। सू०प्र०। आ०म०।

थालीपाग त्रि०(स्थालीपाक) स्थाल्यामुखायां पाको यस्य तत्स्थालीपाकम्। स्थाल्यां पक्वे, स्था०। ''थालीपागसुद्धं मणुण्णं भोयणं।'' स्थाली पिठरी, तस्यां पाको यस्य तत्तथा। अन्यत्र हि पक्वमपक्वं वा न तथाविधं स्यादितीदं विशेषामिति। शुद्धं भक्तदोषवर्जितं, स्थालीपाकं च तच्छुद्धं स्थालीपाकेन वा शुद्धमिति विग्रहः। स्था०३ ठा०१उ०।

थावच्चा स्त्री०(स्थापत्या) द्वारवतीवासिन्यां स्वनामख्यातायां गृहपतिकायाम्, ज्ञा०१ श्रु०५ अ०।

थावच्चापुत्त पुं०(स्थापत्यापुत्र) स्थापत्याया गृहपतिकायाः सुते, ज्ञा०१ श्रु०४ अ०।

तद्वक्तव्यता–

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वारवई णामं नयरी होत्था; पाईणपडीणायामा उदीणदाहिणवित्थिण्णा नवजोयणवित्थिण्णा दुवालसजोयणाऽऽयामा धणवइमइणिम्माया चामीयरपवरपागारा णाणामणिपंचवण्णक(वि) सीसग–

सोहिया अलयापुरीसंकासा पमुइयपक्कीलिया पच्चक्खं देवलोगभूया। तीसे णं बारवईए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए रेवतगे णामं पव्वए होत्था; तुंगे गगणतलमणुलिहंतसिहरे णाणाविहगुच्छगुम्मलयावल्लिपरिगते हंसमिगमयूरकोंचसरिसचक्कवायमयणसारकोइलकुलोववेए अणेगतडकडगविवरउज्झरपावयपब्भारसिहरपउरे अच्छरगणदेवसंघचारणविज्जाहरमिहुणसंकिण्णे निच्चत्थणए दसारवरवीरपुरिसतेलोक्कबलवगाणं, सोमेसुभगे पियदंसणे सुरूवे पासादीए दरिसणीए अभिरूवे पडिरूवे। तस्स णं रेवयगस्स पव्वयस्स अदूरसामंते एत्थ णं नंदणवणे णामं उज्जाणे होत्था; सव्वओ य पुप्फफलसमिद्धे रम्मे णंदणवणप्पगासे पासादीए। तस्स णं उज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए सुरप्पिए णामं जक्खाययणे होत्था, दिव्वे वण्णओ। तत्थ णं बारवईए णगरीए कण्हे नामं वासुदेवे राया परिवसति। से णं तत्थ समुद्दविजयपाडोक्खाणं दसण्हं दसाराणं बलदेवपाडोक्खाणं पंचण्हं महावीराणं उग्गसेणपामोक्खाणं सोलसण्हं राईसहस्साणं पज्जुण्णपामोक्खाणं अद्धट्ठाणं कुमारकोडीणं संबपामोक्खाणं सट्ठीणं दुद्दंतसाहस्सीणं वीरसेणपामोक्खाणं एकवीसाए वीरसहस्सीणं महासेणपाडोक्खाणं छप्पणाए बलवगासाहस्सीणं रुप्पिणिपामोक्खाणं बत्तीसाए महिलासाहस्सीणं अणंगसेणपामोक्खाणं अणेगाणं गणियासाहस्सीणं अण्णेसिं च बहूणं राईसरतलवर० जाव सत्थवाहप्पभिईणं वेयड्ढगिरिसागरपेरंतस्स दाहिणड्ढभरहस्स य बारवईए णगरीए आहेवच्चं०जाव पालेमाणे विहरति। तत्थणं बारवतीए णयरीए थावच्चा णामं गाहावतिणी परिवसति। अड्ढा ०जाव अपरिभूया। तीसे णं थावच्चाए गाहावतिणीए पुत्ते 'थावच्चापुत्ते' णामं सत्थवाहदारए होत्था, सुकुमालपाणिपाए ०जाव सुरूवे। तए णं सा थावच्चा गाहावइणी तं दारगं साइरेगअट्ठवाससयं जाणित्ता सोहणंसि तिहिकरणणक्खत्तमुहुत्तंसि कलाऽऽयरियस्स उवणेति०जाव भोगसमत्थं जाणेत्ता बत्तीसाए बालियाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हावेइ, बत्तीसाओ दाओ ०जाव बत्तीसाए इब्भकुलबालियाहिं सद्धिं विपुले सद्दफरिसरासरूवगंधे ०जाव भुंजमाणे विहरति। तेणं कालेणं तेणं समएणं अरिहाअरिट्ठनेमी सो चेव वण्णओ—दसधणुस्सेहे नीलुप्पलगवलगुलियअयसीकुसुमप्पगासे अट्ठारसएहिं समणसाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे चत्तालीसं अज्जियासाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे०जाव जेणेव बारवती णगरी जेणेव रेवयगे पव्वए जेणेव णंदणवणउज्जाणे जेणेव सुरप्पियस्स जक्खस्स जक्खायतणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति। परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ। तए णं से कण्हे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सहम्माए सभाए मेघो—घरसियं गंभीरं महुरसद्दं कोडुईयं भेरिं तालेह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा०जाव मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासीसामी! तह त्ति०जाव पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता कण्हस्स वासुदेवस्स अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमइत्ता जेणेव सुहम्मा सभा जेणेव भेरी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता तं मेघोघरसियगंभीरं महुरसद्दं कोडुईयं भेरिं तालेंति। ततो णिद्धमहुरगंभीरपडिस्सुएणं पिव सारइएणं बलाहएणमणुरसियं भेरीए। तए णं तीसे कोडुईयाए भेरीए तालियाए समाणीए बारवईए नयरीए नव—जोयणवित्थिण्णाए दुवालसजोअणाऽऽयामाए संघाडगति—गचउक्कचच्चरकंदरदरीयविवरकुहरगिरिसिहरणगरगोपुरपासा—यदुवारभवणदेवउलपडिस्सुयासयसहस्ससंकुलं सद्दं करेमाणा बारवइं नयरिं सब्भिंतरियबाहिरियं सव्वओ समंता से सद्दे विप्पसरित्था। तए णं तीसे बारवतीए नयरीए नवजोअणवित्थिण्णाए दुवालसजोअणाऽऽयामाए समुद्दविजयपामोक्खा दस दसारा० जाव गणियासहस्साए कोडुईयाए भेरीए सद्दं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा०जाव ण्हाया आविद्धवग्घारियमल्लदामकलावाअहयवत्थचंदणोक्किण्णगायसरीरा अप्पेगइया हयगयर—हसीयासंदमाणी अप्पेगइया पायविहारचारेणं पुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता कण्हस्स वासुदेवस्स अंतियं पाउब्भवित्था। तए णं से कण्हे वासुदेवे समुद्दविजयपामोक्खे दसदसारे०जाव अंतियं पाउब्भवमाणे पासित्ता हट्ठतुट्ठे०जाव कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चाउरंगिणिं सेणं सज्जेह, विजयं च गंधहत्थिं च उवट्ठवेह। ते वि तहेव उवट्ठवेंति०जाव पज्जुवासंति। थावच्चापुत्ते विणिग्गए, जहा मेहो तहेव धम्मं सोच्चा निलम्म जेणेव थावच्चा गाहावइणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पायग्गहणं करेति, जहा मेहस्स तहा चेव णिवेयणा, जाहे नो संचाएति विसयाणुलोमाहि य विसयपडिकूलाहि य बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य विण्णवणाहि य सण्णवणाहि य आघवित्तए वा४, ताहे अकामिया चेव थावच्चापुत्तस्स दारगस्स निक्खमणमणुमन्नित्था। तए णं सा थावच्चा गाहावइणी आसणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेइत्ता महत्थं महग्घं महरिहं

रायारिहं पाहुडं गेण्हति, गेण्हित्ता मित्तणाइ०जाव संपरिवुडा जेणेव कण्हस्स वासुदेवस्स भवणवरपडिदुवारदेसभाए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता पडिहारदेसिएणं डग्गेणं जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता करयलं वद्धावेति, वद्धावेत्ता तं महग्घं महरिहं रायारिहं पाहुडं च उवणेति, उवणेइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम एगे पुत्ते थावच्चापुत्ते णामं दारए इट्ठे कंते०जाव से णं संसारभवउव्विग्गे इच्छति अरहओ णं अरट्ठिनेमिस्स०जाव पव्वइत्तए, अहं णं णिक्खमणसक्कारं करेमि, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! थावच्चापुत्तस्स निक्खमणाभिसेयं उवट्ठवेत्तए । तए णं से कण्हे वासुदेवे थावच्चागाहावइणिं एवं वयासी–अत्थाहि णं तुमं देवाणुप्पिया ! सुणिव्वुया वीसत्था, अहं णं सयमेव थावच्चापुत्तस्स दारगस्स निक्खमणसक्कारं करिस्सामि। तए णं से कण्हे वासुदेवे चाउरंगिणीए सेणाए विजयं हत्थिरयणं दुरूढे समाणे जेणेव थावच्चाए गाहावतिणीए भवणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता थावच्चापुत्तं एवं वयासी–मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! मुंडे भवित्ता पव्वाहि, भुंजाहि णं देवाणुप्पिया! विपुले माणुस्सए कामभोगे ममं बाहुच्छायापरिग्गहिए, केवलं देवाणुप्पियस्स अहं नो संचाएमि वाउक्कायं उवरि, से णं गच्छमिणं निवारेत्तए, अण्णोण्णं देवाणुप्पियाणं जं किंचि वि आबाहं वा पवाहं वा उप्पाएइ, तं सव्वं निवारेमि। तए णं थावच्चापुत्ते कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे किण्हं वासुदेवं एवं वयासी–जइ णं तुमं देवाणुप्पिया ! ममं जीवियंतकरणं मच्चू एज्जमाणं निवारेसि, जरं वा सरीररूवं विणासिणिं सरीरं अ–वइयमाणिं णिवारेसि, तए णं अहं तव बाहुच्छायापरिग्गहिए विउले माणुस्सए कामभोगे भुंजमाणे विहरामि। तए णं से कण्हे वासुदेवे थावच्चापुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे थावच्चापुत्तं एवं बयासी–एएणं देवाणुप्पिया ! दुरतिक्कमणिज्जा णो खलु सक्का सुबलि–एणावि देवेण वा दाणवेण वा णिवारेत्तए, णण्णत्थ अप्पणो कम्मक्खएणं । तए णं से थावच्चापुत्ते कण्हं वासुदेवं एवं वयासी–जइ णं एए दुरतिक्कमणिज्जा णो खलु सक्का०जाव णण्णत्थ अप्पणो कम्मक्खएणं, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! अण्णाण–मिच्छत्त अविरइकसायसंचियस्स अप्पणो कम्मक्खयं करेत्तए । तए णं से कण्हे वासुदेवे थावच्चापुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे कोडुं–बियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुम्हे देवाणुप्पिया ! बारवईए णयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चर० जाव महापहेसु हत्थिखंधवरगया महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा उग्घोसणं करेह । एवं खलु देवाणुप्पिया! थावच्चापुत्ते संसारभयउव्विग्गे भीएजम्मणजरामरणाणं इच्छति अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतिए मुंडे भवित्ता पव्वइत्तए । जो खलु देवाणुप्पिया ! राया वा जुवराया वा देवी वा कुमारे वा ईसरे वा तलवरे वा कोडुंबियपुरिसा मांडंबियइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थ–वाहे वा थावच्चापुत्तं पव्वयंतमणुपव्वयति, तस्स णं कण्हे वासुदेवे अणुभाणति, पच्छाऽऽतुरस्स वि य से मित्तणाइजो–गक्खेमं वट्टमाणी पडिवहति त्ति कट्टु घोसेणं घोसेह० जाव घोसंति । तए णं थावच्चापुत्तस्स अणुरागेणं पुरिससहस्सं निक्खमणाभिमुहं ण्हायं सव्वालंकारविभूसियं पत्तेयं पत्तेयं पुरिससहस्सवाहिणीसु सिवियासु दुरूढं समाणं मित्तणाति–परिवुडं थावच्चापुत्तस्स अंतियं पाउब्भवित्था । तए णं से कण्हे वासुदेवे पुरिससहस्सं अंतिअं पाउब्भवमाणं पासइ, पासइत्ता कोडुं बियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी– जहा मेहस्स निक्खमणाभिसेओ तहेव सीयपीएहिं कलसेहिं ण्हावेति, ण्हावेइत्ता तए णं से थावच्चापुत्ते सहस्सपुरिसेहिं सद्धिं सिवियाए दुरूढे समाणे०जाव रवेणं बारवईणयरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव अरहओ अरिट्ठनेमिसस छत्तातिछत्तं पडागाइपडागं पासंति, पासंतित्ता विज्जाहरचारण०जाव पासेत्ता सिवियाओ पच्चोरुहंति। तए णं से कण्हे वासुदेवे थावच्चापुत्तं पुरओ कट्टु जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी सव्वं तं चेव आभरणं । तए णं थावच्चा गाहावइणी हंसलक्खणेणं पडसाडएणं आभरणमल्लालंकारं पडिच्छइ, हारवारिधार–च्छिन्नमुत्तावलिप्पगासाइं अंसूणि विणिम्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी एवं वयासी– जइ अव्वं जाया! घडिअव्वं जाया ! परिमियव्वं जीया ! अस्सिं च णं अट्ठे णो पमादेअव्वं, जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगया । तए णं से थावच्चापुत्ते पुरिससहस्सेणं सद्धिं सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति०जाव पव्वइए । तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारे जाए इरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिए उच्चारपासवणखेलजल्लसंघाणपारिट्ठावणियासमिए। तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारे अरिहओ अरिट्ठनेमिस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं चउद्दस–पुव्वाइं अहिज्जइ, बहूहिं०जाव चउत्थं विहरेइ । तए णं अरिहा अरिट्ठनेमी थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स तं इब्भाइयं अणगारसहस्सं सीसत्ताए दलयति। तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारे अणया कयाइं अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं बयासी–इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे सहस्सेणं अणगारेणं सद्धिं बहिया

जणवयविहारं विहरित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारसहस्सेणं सद्धिं तेणं उरालेणं उदग्गेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं बहिया जणवयविहारं विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं सेलगपुरे णामं णगरे होत्था। वण्णओ। तस्स णं सेलगपुरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए सुभूमिभागे णामं उज्जाणे होत्था। तस्स णं सेलगपुरस्स सेलए णामं राया होत्था, पउमावती देवी, भद्दए कुमारे जुवराया। तस्स णं सेलगस्स पंथगपामोक्खा णं पंच मंतिसया होत्था; चउव्विहाए बुद्धीए उववेए रज्जधुरचिंतए यावि होत्था। तए णं थावच्चापुत्ते णामं अणगारे सहस्सेणं अणगारेणं सद्धिं जेणेव सेलगपुरे जेणेव सुभूमिभागे णामं उज्जाणे तेणेव समोसढे। सेलए वि राया णिग्गए। धम्मो कहिओ। धम्मं सोच्चा जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे उग्गा भोगा०जाव चइत्ता हिरण्णं विहरंति० जाव पव्वइए, तहा णं नो संचाएमि पव्वइत्तए। तओ णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वयं०जाव समणोवासए०जाव अभिगयजीवाजीवे०जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति। पंथगपामोक्खा णं पंच मंतिसया समणोवासगा जाया। थावच्चापुत्ते बहिया जणवयविहारं विहरति। तेणं कालेणं तेणं समएणं सोगंधिया णामं णगरी होत्था। वण्णओ। नीलासोए उज्जाणे। वण्णओ। तत्थ णं सोगंधियाए णयरीए सुदंसणे णामं णगरसेट्ठी परिवसइ, अड्ढे० जाव अपरिभूए। तेणं कालेणं तेणं समएणं सुए णामं परिव्वायए होत्था, रिउव्वेय–जजुव्वेय–सामवेय–अथव्व–णवेयसट्ठितंतकुसले संखसमए लद्धट्ठे पंचजमपंचणियमजुत्तं सोयमूलयं दसप्पयारं परिव्वायगधम्मं दाणधम्मं च सोयधम्मं च तित्थाभिसेयं च आघवेमाणे पण्णवेमाणे धाउरत्तवत्थपरिहियए तिदंडकुंडियच्छत्तच्छण्णालियाअंकुसपवित्तियकेसरि–हत्थगए परिव्वायगसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे जेणेव सोगंधिया णयरी जेणेव परिव्वायगाऽऽवसहे तेणेव उवागच्छइ, उवाग–च्छइत्ता परिव्वायगाऽऽवसहंसि भंडणिक्खेवणं करेइ, करेइत्ता संखसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं सोगंधियाए सिंघाडगबहुजणो अण्णमण्णस्स एवं खलु सुए परिव्वायए इह हव्वमागते०जाव विहरति। परिसा णिग्गया। सुदंसणे वि णिग्गए। तए णं से सुए परिव्वायए तीसे परिसाए सुदंसणस्स य अण्णेसिं च बहूणं संखाणं परिकहेइ। एवं खलु सुदंसणा ! अम्हं सोयमूलए धम्मे पण्णत्ते। से वि य सोए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–दव्वसोए य, भावसोए य। दव्वसोए य उदएणं, मट्टियाए य। भावसोए य दब्भेहि य, मंतेहि य। जं णं अम्हं देवाणुप्पिया ! किंचि असुई भवति, तं सव्वं सज्जपुढवीए आलिंपति, तओ पच्छा सुद्धेण वारिणा पक्खालिज्जइ, तओ तं असुई सुईभवइ; एवं खलु जीवा जलाभिसेयपूयप्पाणो अविग्घेणं सग्गं गच्छंति। तए णं सुदंसणे सुयस्स अंतिए धम्मं सोच्चा हट्ठतुट्ठे सुयस्स अंतियं सोयमूलं धम्मं गिण्हेइ, गिण्हेइत्ता परिव्वायए सुविउले णं असणपाण–खाइमसाइमवत्थे पडिलाभेमाणे०जाव विहरइ। तए णं से सुए परिव्वायए सोगंधियाओ णयरीओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं थावच्चापुत्ते णामं अणगारे सहस्सेणं अणगारेणं सद्धिं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहर–माणे जेणेव सोगंधिया णयरी जेणेव णीलासोए उज्जाणे तेणेव समोसढे। परिसा णिग्गया। सुदंसणं वि णिग्गए थावच्चापुत्तं णामं अणगारं आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वयासी–तुम्हाणं किंमूलए धम्मे पण्णत्ते? तते णं थावच्चापुत्ते सुदंसणेणं एवं वुत्ते समाणे सुदंसणं एवं वयासी–सुदंसणा ! विणयमूले धम्मे पण्णत्ते। से वि य णं विणए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–आगारविणए य, अणगारविणए य। तत्थ णं जे से आगारविणए, से णं पंच अणुव्वयाइं, सत्त सिक्खावयाइं, एगारस उवासगपडिमाओ। तत्थ णं जे से अणगारविणए से णं पंच महव्वयाइं पण्णत्ताइं। तं जहा–सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं०जाव मिच्छादंसणसल्लाओ। दसविहे पच्चक्खाणे, वारस भिक्खूपडिमाओ। इच्चेएणं दुविहेणं विणयमूलेणं धम्मेणं आणुपुव्वेणं अट्ठ कम्मपहीओ खवेत्ता लोयग्गपइट्ठाणे भवइ। तए णं थावच्चापुत्ते सुदंसणं एवं वयासी–तुब्भे णं सुदंसणा ! किंमूलए धम्मे पण्णत्ते? अम्हाणं देवाणुप्पिया ! सोयमूले धम्मे पण्णत्ते०जाव सग्गं गच्छति। तए णं थावच्चापुत्ते सुदंसणं एवं वयासी–सुदंसणा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं रुहिरकयं वत्थं रुहिरेणं चेव धोएज्जा, तए णं सुदंसणा ! तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं चेव पक्खालिज्जमाणस्स अत्थि सोही, नो इणट्ठे समट्ठे, एवामेव सुदंसणा ! तुब्भं पि पाणातिवाएणं ०जाव मिच्छादंसणसल्लेणं णत्थि सोही, जहा तस्स रुहिरकयवत्थस्स रुहिरेणं चेव पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही। सुदंसणा ! से जहाणामए केइ पुरिसे एगं महं रुहिरकयवत्थं सज्जियक्खारेणं अणुलिंपइ, अणुलिंपइत्ता पय–

णं (चुल्ल्युपरि) आरुहेति, उण्हं गाहेति, उण्हं गाहेत्ता तओ पच्छा सुद्धेणं वारिणा धोवेज्जा, से णूणं सुदंसणा ! तस्स रुहिरकयवत्थस्स सज्जियाखारेणं अणुलित्तस्स पयणं आरुहियस्स उण्हं गाहियस्स सुद्धेणं वारिणा पक्खालिज्जमाणस्स सोही भवइ? हंता भवइ । एवामेव सुदंसणा ! अम्हं पि पाणाइवायवेरमणेणं ०जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं अत्थि सोही, जहा वि तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स०जाव सुद्धेणं वारिणा पक्खालिज्जमाणस्स अत्थि सोही । तत्थ णं सुदंसणे संबुद्धे थावच्चापुत्तं वंदति, णमंसति, णमंसित्ता एवं वयासी–इच्छामि णं भंते! धम्मं सोच्चा जाणित्तए०जाव समणोवासए० जाव अहिगय–जीवाजीवे ०जाव पडिलाभेमाणे विहरति। तए णं तस्स सुयस्स परिव्वायगस्स इमीसे कहाए लद्धट्ठस्स समाणस्स अयमेयारूवे०जाव समुप्पज्जित्था–एवं खलु सुदंसणेणं सोयमूलं धम्मं विप्पजहाय विणयमूले धम्मे पडिवण्णे, तं सेयं खलु ममं सुदंसणस्स दिट्ठिं वामेत्तए, पुणरवि सोयमूले धम्मे आघवित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता परिव्वायगसहस्सेणं सद्धिं जेणेव सोगंधिया णयरी जेणेव परिव्वायगावसहे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता परिव्वायगाऽऽवसहंसि भंडगनिक्खेवणं करेति, करेइत्ता धाउरत्तवत्थपरिहिए पविरलपरिव्वायगसद्धिं संपरिवुडे परिव्वायगाऽऽवसहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता सोगंधियाए णयरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव सुदंसणस्सा गिहे जेणेव सुदंसणे तेणेव उवागच्छइ । तए णं से सुदंसणे तं सुयं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता नो अब्भुट्ठेति, नो पच्चुग्गच्छति, नो आढाति, नो परियाणाइ, नो वंदति, तुसिणीए संचिट्ठति । तए णं से सुए परिव्वायगे सुदंसणं अणुब्भुट्ठियं पासेत्ता एवं बयासी–तुमे णं सुदंसणा ! अण्णया ममं एज्जमाणं पासेत्ता अब्भुट्ठेसि०जाव वंदसि, इयाणिं सुंदसणा ! तुमं ममं एज्जमाणं पासेत्ता०जाव नो वंदइ, तं कस्स णं तुमे सुदंसणा ! इमेयारूवे विणयमूले धम्मे पडिवण्णे ? तए णं सुदंसणे सुएणं परिव्वायएणं एवं वुत्ते समाणे आसणाओ अब्भुट्ठेइ, करयल०सुयं परिव्वायगं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतेवासी थावच्चापुत्ते णामं अणगारे०जाव इहमागए, इह चेव नीलासोए उज्जाणे विहरइ, तस्स णं अंतिए विणयमूले धम्मे पडिवण्णे । तए णं से सुए परिव्वायए सुदंसणं एवं वयासीतं गच्छामो णं सुदंसणा ! तव धम्मायरियस्स थावच्चापुत्तस्स अंतियं पाउब्भवामो, इमं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छामो, तं जइ णं मे से एयाइं अट्ठाइं० जाव वागरेति, ततो णं अहं वंदामि, णमंसामि, अह मे से इमाइं अट्ठाइं०जाव नो वागरेइ, तते णं अहं एएहिं चेव अट्ठेहिं हेऊहिं निप्पट्ठपसिणवागरणं करिस्सामि । तए णं से सुए परिव्वायगसहस्सेणं सुदंसणेण य सेट्ठिणा सद्धिं जेणेव नीलासोए उज्जाणे जेणेव थावच्चापुत्ते अणगारे तेणेव उवाग–च्छति, उवागच्छइत्ता थावच्चापुत्तं एवं बयासी–जत्ता भे भंते ! जवणिज्जं, अव्वावाहं, फासुयं विहारं ? तए णं थावच्चापुत्ते सुएणं एवं वुत्ते समाणे सुयं परिव्वायं एवं बयासी–सुया ! जत्ता वि मे, जवणिज्जं वि मे, अव्वावाहं पि मे, फासुयं विहारं पि मे। तए णं से सुए थावच्चापुत्तं एवं वयासी–से किं तं भंते ! जत्ता? सुया ! जं णं मम णाणदंसणचरित्ततवसंजममाइएहिं जोएहिं जोयणा सेयं जत्ता । से किं तं भंते ! जवणिज्जं? सुया ! जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–इंदियजवणिज्जे य, नोइं–दियजवणिज्जे य । से किं तं इंदियजवणिज्जं? सुया ! जं णं मम सोइंदियचक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं निरुवहयाइं वसे वट्टंति से तं इंदियजवणिज्जे । से किं तं णोइंदियजवणिज्जे? सुया ! जं णं कोहमाणमायालोभखीणा उवसंता नो उदयंति से तं नोइंदियजवणिज्जे । से किं तं भंते! अव्वावाहं? सुया ! जं णं मम वाइयपित्तियसिंभियसण्णिवा–इयविविहरोगायंका णो उदीरेंति से तं अव्वावाहं । से किं तं भंते ! फासुयविहारं? सुया ! जं णं आरामेसु उज्जाणेसु देवउलेसु सभासु पवासु इत्थीपसुपंडगविवज्जियासु वसहीसु पाडिहारियं पीढफलगसिज्जासंथारगं ओगिण्हित्ता णं विहरामि से तं फासुयं विहारं ॥ सरिसवया ते भंते ! किं भक्खेया, अभक्खेया ? सुया ! सरिसवया भक्खेया वि, अभक्खेया वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–सरिसवया भक्खेया वि, अभक्खेया वि? सुया ! सरिसवया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–मित्तसरिसवया, धन्नसरिसवया । तत्थ णं जे ते मित्तसरिसवया ते तिविहा पण्णत्ता । तं जहा–सहजाया, सहवड्ढिया, सहपंसुकीलिया य, ते णं समणाणं निग्गंथाणं णिग्गंथीणं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते धण्णसरिसवया ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–सत्थपरिण्णया य, असत्थपरिण्णया य । तत्थ णं जे ते असत्थपरिण्णया ते समणाणं णिग्गथाणं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते सत्थपरिण्णया ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–फासुया य, अफासुया य । तत्थ णं जे अफासुया ते सुया! नो भक्खेया । तत्थ णं जे ते फासुया ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–जाइया य, अजाइया य । तत्थ णं जे ते अजाइया ते अभक्खेया । तत्थ णं जे ते जा-इया ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–एसणिज्जा य, अणेसणिज्जा य । तत्थ णं जे ते अणेसणिज्जा ते णं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते एसणिज्जा ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–लद्धा य,

अलद्धा य। तत्थ णं जे अलद्धा ते अभक्खेया। तत्थ णं जे लद्धा ते निग्गंथाणं भक्खेया। एएणं अट्ठेणं सुया ! एवं वुच्चइ–सरिसवया भक्खेया वि, अभक्खेया वि। एवं कुलत्था वि भणियव्वा। नवरं इमं णाणत्तं–इत्थिकुलत्था य, धण्णकुलत्था य। इत्थिकुलत्था तिविहा पण्णत्ता। तं जहा–कुलबधूया य, कुलमाउया य, कुलधूया य। धण्णकुलत्था तहेव। एवं मासा वि। नवरं इमं णाणत्तंमासा तिविहा पण्णत्ता। तं जहा–कालमासा य, अत्थमासा य, धण्णमासा य। तत्थ णं जं ते कालमासा ते णं दुवालसविहा पण्णत्ता। तं जहा–सावणे०जाव आसाढे। ते णं अभक्खेया। अत्थमासा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–हिरण्ण–मासा य, सुवण्णमासा य। ते णं अभक्खेया। धण्णमासा तहेव॥ एगे भवं, दुवे भवं अणेगे भवं, अक्खए भवं, अव्वए भवं, अवट्ठिए भवं, अणेगभूयभावभविए भवं? सुया ! एगे वि अहं दुवे वि अहं०जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–एगे वि अहं० जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं? सुया ! दव्वट्ठयाए एगे अहं, णाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवओगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं। एत्थ णं से सुए संबुद्धे। तए णं थावच्चापुत्तं अणगारं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वयासी–इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए केवलिपण्णत्तं धम्मं निसामित्तए। धम्मकहा भाणियव्वा। तए णं से सुए परिव्वायए थावच्चापुत्तस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म एवं बयासी–इच्छामि णं भंते ! परिव्वायगसहस्सेण सद्धिं संपरिवुडे देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता पव्वइत्तए ? अहासुहं देवाणुप्पिया ! तओ उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए तिदंडयाओ०जाव धाउरत्ताओ य एगंते एडेति, एमेइत्ता सयमेव सिहं उप्पाडेति, उपाडेइत्ता जेणेव थावच्चापुत्ते ०जाव मुंडे भवित्ता०जाव पव्वइए, सामाइयमाइ–याइं चउद्दस पुव्वाइं अहिज्जति। तए णं थावच्चापुत्ते सुयस्स अणगारसहस्सं सीसत्ताए विहरति। तए णं थावच्चापुत्ते सोगंधियाओ नीलासोयाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमइ, पडिणि–क्खमइत्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ। तए णं से थावच्चा–पुत्ते अणगारसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे जेणेव पुंडरीए पव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पुंडरीयं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहति, दुरूहतित्ता सेयधण-सन्निगासं देवसण्णिवायपुढवीसिलापट्टयं ०जाव पाओवगमणं समणुपण्णे। तए णं से थाव–च्चापुत्ते णामं अणगारे बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए०जाव केवलवर–नाणदंसणं समुप्पाडित्ता तओ पच्छा सिद्धे बुद्धे०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे। तए णं से सुए अण्णया कयाइ जेणेव सेलगपुरे णगरे जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव समोसरिए। परिसा णिग्गया। सेलओ वि णिग्गओ, धम्मं सोच्चा०जाव देवाणुप्पिया! पंथगपामोक्खाइं पंचमंतिसयाइं आपुच्छामि, मंडुअं कुमारं रज्जे ठावेमि, तओ पच्छा देवाणुप्पि-याणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयामि? अहासुहं देवाणुप्पिया ! तए णं से सेलए राया सेलगपुरं णगरं मज्झं मज्झेणं अणुप्पविसइ, जेणेव सए गेहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सीहासणे सण्णिसन्ने। तए णं से सेलए राया पंथयपामोक्खे पंचमंतिसए सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए सुयस्स अंतिए धम्मे निसण्णे, से वि य मे धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए, अहं णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गे० जाव पव्वयामि, तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! किं करेह, किं वसह, किं वा ते हिययइच्छिए सामत्थे? तए णं ते पंथगपामोक्खा पंचमंतिसया सेलयं रायं एवं बयासी–जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! संसार०जाव पव्वयह, अम्हाणं देवाणुप्पिया ! किं अण्णे आहारे वा, आलंबे वा। अम्हे वि य णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गा० जाव पव्वयामो। जहा णं देवाणुप्पिया ! अम्हं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य ०जाव तहा णं पव्वइयाण वि समणाणं बहुसु०जाव चक्खू। तए णं से सेलए राया पंथयपामुक्खे पंच मंतिसए एवं वयासी–जइ णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे संसारभयउव्विग्गा०जाव पव्वयह, तं गच्छह णं देवाणुप्पिया ! सएसु सएसु कोडुंबेसु जेट्ठपुत्ते कुडुंब–मज्झे ठावेत्ता पुरिससहस्सवाहिणीयाओ सीयाओ दुरूढा समाणा मम अंतियं पाउब्भवह। ते वि तहेव पाउब्भवंति ! तए णं से सेलए राया पंचमंतिसयाइं पाउब्भव-माणाइं पासति, पासइत्ता हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! मंडुयस्स कुमारस्स महत्थं०जाव रायाभिसेयं उवट्ठवेह, ०जाव अभिसिंचंति०जाव राया जाए विहरइ। तए णं से सेलए राया मंडुयं आपुच्छति। तए णं से मंडुए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं बयासीखिप्पामेव सेलगपुरं नगरं आसियं०जाव गंधवट्टिभूयं करेह, कारवेह य, एवमाणत्तिअं पच्चप्पिणह। तए णं से मंडुए राया दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासीखिप्पामेव सेलयस्स रन्नो महत्थं ०जाव निक्खमणाभिसेयं, जहा मेहस्स तहेव, नवरं पउमावती

देवी अग्गकेसे पडिच्छइ; सव्वे वि पडिग्गहं गहाय सीयं दुरूहंति, अवसेसं तहेव०जाव सामाइयमाइयाइं इक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, बहुहिं चउत्थ०जाव विहरइ। तए णं से सुए सेलगस्स अणगारस्स ताइं पंथगपामुक्खाइं पंच अणगारसयाइं सीसत्ताए वियरइ। तए णं से सुए अणगारे अण्णया कयाइं सेलगपुराओ सुभूमिभागाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ। तए णं से सुए अणगारे अण्णया कयाइ तेणं अणगारसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं विहरमाणे जेणेव पुंडरीए पव्वए०जाव सिद्धा बुद्धा मुत्ता अंतगडा। तए णं तस्स सेलगस्स रायरिसिस्स तेहिं अंतेहि य पंतेहि य तुच्छेहि य लूहेहि य अरसेहि य विरसेहि य सीएहि य उण्हेहि य कालाइ-क्कंतेहि य पमाणाइक्कंतेहि य णिच्चं पाणभोयणेहि य पयइसुकुमालस्स य सुहोचियस्स सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला० जाव दुरहियासा, कंडूदाहपित्त-जरपरिगयसरीरे०जाव विहरइ। तए णं से सेलए रायरिसीएएणं रोगायंकेणं सुक्के किसे जाए यावि होत्था। तए णं से सेलए रायरिसी अण्णया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे०जाव जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव विहरइ। परिसा णिग्गया। मंडुओ वि राया णिग्गओ, सेलयं अणगारं वहंति, नमंसति, पज्जुवासति। तए णं से मंडुए राया सेलयस्स अणगारस्स सरीरयं सुक्कं भुक्खं लुक्खं०जाव सव्वावाहं सरोगं पासइ, पासइत्ता एवं वयासी-अह णं भंते ! तुब्भं अहापवत्तेहिं तिगिच्छिएहिं अहापवत्तेणं ओसहभेसज्जभत्तपाणेणं तिगिच्छं आउंटाबेमि, तुब्भे णं भंते ! मम जाणसालासु समोसरह, फासुयं एसणिज्जं पीढफलगसि-ज्जासंथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरह। तए णं से सेलए अणगारे मंडुयस्स रण्णो एयमट्ठं 'तह' त्ति पडिसुणेइ। तए णं से मंडुए राया सेलयं रायरिसिं वंदति, णमंसति, णमंसइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं सेलए रायरिसी कल्लं०जाव जलंते सभंडमत्तोवगरणमायाए पंथगपामोक्खेहिं पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं सेलगपुरमणुपविसति, जेणेव मंडुयस्स रण्णो जाणसालाओ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता फासुयं पीढं०जाव विहरइ। तए णं से मंडुए राया तिगिच्छिए सद्दावेति, सद्दावेत्तित्ता एवं वयासी-तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! सेलयस्स रायरिसिस्स फासुयं एसणिज्जं०जाव तिगिच्छं आउंटेह। तए णं ते तिगिच्छिया मंडुएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा सेलयस्स रायरिसिस्स अहापवत्तेहिं ओसहभेसज्जभत्त-पाणेहिं तिगिच्छं आउंटेंति, मज्जपाणयं च उवदिसंति। तए णं तस्स सेलयस्स अहापवत्तेहिं० जाव मज्जपाणएण य से रोगायंके उवसंते यावि होत्था, हट्ठ० जाव बलियसरीरे जाए वक्कयरो-गायंके। तए णं से सेलए तम्मि रोगायंकंसि उवसंतंसि समाणंसि तेसि विउले असणं पाणं खाइमं साइमं मज्जपाणए य मुच्छिए गढिए गिद्धे अज्झोववेन्न पासत्थे पासत्थविहारी ओसण्णे ओसण्णविहारी कुसीले कुसीलविहारी पमत्ते पमत्तविहारी संसत्ते संसत्तविहारी उउ-बद्धपीढफलगसेज्जासंथारए पमत्ते यावि होत्था, नो संचाएति फासुयं एसणिज्जं पीढफलगं पच्चप्पिणित्ता मंडुयं च रायं आपुच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरित्तए। तए णं तेसिं पंथग-वज्जाणं पंचण्हं अणगारसयाणं अण्णया कयाइं एगओ सहियाणं० जाव पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणाणं अयमेयारूवे अब्भत्थिए०जाव समुप्पज्जित्था। एवं खलु सेलए रायरिसी चइत्ता रज्जं०जाव पव्वइए, विउले णं असणं पाणं खाइमं साइमं मज्जपाणए मुच्छिए नो संचाएति० जाव विहरित्तए, नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया ! समणाणं०जाव पमत्ताणं विहरित्तए, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं कल्लं सेलयं रायरिसिं आपुच्छित्ता पाडिहारियं पीढफलगसिज्जासं-थारयं पच्चप्पिणित्ता सेलयस्स अणगारस्स पंथयं अणगारं वेयावच्चकरं ठवित्ता बहिया अब्भुज्जाणं०जाव विहरित्तए, एवं संपेहइ, कल्लं जेणेव सेलए रायरिसी तेणेव उवागच्छित्ता सेलयं आपुच्छित्ता पाडिहारियं पीढफलग०जाव पच्चप्पिणंति, पंथयं अणगारं वेयावच्चकरं ठावेंति, बहिया०जाव विहरंति। तए णं से पंथए अणगारे सेलयस्स रायरिसिस्स सेज्जासंथारउच्चारपा-सवणखेलमल्लओसहभेसज्जभत्तपाणए णं अगिलाणविणएणं वेयावडियं करेति। तए णं से सेलए रायरिसी अण्णया कयाइं कत्तियचाउम्मासियंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारमाहरिए सुबहुं च मज्जपाणयं पीए पुव्वावरण्हकालसमयंसि सुहपसुत्ते। तए णं से पंथए कत्तियचाउम्मासियंसि कयकाउ-स्सग्गे देवसियं पडिक्कमणं पडिक्कंते चाउम्मासियं पडिक्कमणं काउं कामे सेलयं रायरिसिं खामणट्ठयाए सीसे णं पाएसु संघ-ट्टेति। तए णं से सेलए रायरिसी पंथएणं सीसे णं पाएसु संघ-ट्टिए समाणे आसुरुत्ते०जाव मिसिमिसेमाणे उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता एवं वयासी-से केणट्ठेणं भो ! एस अपत्थियपत्थिए०जाव परिवज्जिए, जेणं मम सुहपसुत्तं पाए संघट्टेति? तए णं पंथए अणगारे सेलएणं एवं वुत्ते समाणे भीए तत्थे तसिए करयल ०जाव कट्टु एवं वयासी-अहं णं भंते ! पंथए सिस्से कयकाउ-

स्सग्गे देवसियं पडिक्कमणं पडिक्कंते चाउम्मासियं खामेमाणे देवाणुप्पियं वंदमाणे सीसे णं पाएसु संघट्टेमि, तं खमंतु मं देवाणुप्पिया ! णाइ भुज्जो भुज्जो एवं करणयाए त्ति कट्टु सेलयं अणगारं एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेति । तए णं तस्स सेलयस्स रायरिसिस्स पंथएणं अणगारेणं एवं वुत्तस्स अयमेयारूवे०जाव समुप्पज्जित्था–एवं खलु अहं रज्जं च०जाव ओसण्ण०जाव उउवद्धपीठ० विहरामि, तं खलु णो कप्पइ समणाणं पासत्थाणं० जाव विहरित्तए, तं सेयं खलु कल्लं डंडुअं रायं आपुच्छित्ता पाडिहारिअं पीढफलमसेज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता पंथएणं अणगारेणं सद्धिं बहिया अब्भुज्जएणं०जाव जणवयविहारं विहरित्तए, एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता कल्लं० जाव विहरइ । एवामेव समणाउसो !०जाव णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा ओसण्णो०जाव संथारए पमत्ते विहरइ, से णं इहलोए चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं हीलणिज्जे संसारो भाणियव्वो । तए णं ते पंथगवज्जा पंच अणगारसया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा अण्णमण्णं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–सेलए रायरिसी पंथएणं वहिया०जाव विहरइ । तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं सेलयं रायरिसिं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, एयं संपेहें ति, संपेहेइत्ता सेलयं रायरिसिं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति । तए णं ते सेलयपामोक्खा पंच अणगारसया बहूणि वासाणि सामन्नपरियायं पाउणित्ता जेणेव पुंडरीए पव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जहेव थावच्चापुत्ते तहेव सिद्धा । एवामेव समणाउसो ! जो निग्गंथो वा णिग्गंथी वा०जाव विहरइ । ज्ञा०१ श्रु० ५ अ०।

(धणवइमइनिम्माय त्ति) धनपतिर्वैश्रवणः, तन्मत्वा निर्मापिता निरूपिताः, अलकापुरी वैश्रवणयज्ञपुरी, प्रमुदितप्रक्रीडिता, तद्वासिजनानां प्रमुदितप्रकीडितत्वात्। रैवतक उज्जयन्तः (चक्कवाय त्ति) चक्रवाकः (मयणसार त्ति) मदनसारिका, अनेकानि तटानि कटकाश्च गण्डशैला यत्र स तथा । (विवर त्ति) विवराणि च, अव–झराश्च निर्झरविशेषाः, प्रपाताश्च भृगवः, प्राग्भाराश्च ईषदवनता गिरिदेशाः, शिखराणि च कूटानि प्रचुराणि यत्र स तथा; ततः कर्मधारयः । अप्सरोगणैर्देवसङ्घैः, चारणैर्जङ्घाचारणाऽऽदिभिः साधुविशेषैर्विद्याधरमिथुनैश्च (संकिण्ण त्ति) संकीर्ण आसेवितो यः स तथा। नित्यं सर्वदा क्षणा उत्सवा यत्राऽसौ नित्यक्षणिकः। केषामित्याह–दशाराः समुद्रविजयाऽऽदयः, तेषु मध्ये वरास्त एव वीरा धीरपुरुषा ये ते तथा। (तेलोक्कबलवगाणं) त्रैलोक्यादपि बलवन्तोऽतुलबलिनेमिनाथयुक्तत्वाद् ये ते तथा, ते च ते च तेषाम् । (बत्तीसाओ दाओ) द्वात्रिंसत्प्रासादाः, द्वात्रिंशत्सुवर्णकोट्यः, द्वात्रिंशद्धिरण्यकोट्य इत्यादिको दायो दानं वाच्यः, यथा मेघकुमारस्य । (सो चेव वण्णउ त्ति) ''आइगरे तित्थगरे'' इत्यादिर्यो महावीरस्य अभिहितः (गवल त्ति) महिषशृङ्गं, गुलिका नीली, गवलस्य वा गुलिका गवलगुलिका । अतसी मालवकप्रसिद्धो धान्यविशेषः। (कोमुईयं ति) उत्सववाद्यम्। क्वचित्सामुदायिकीमिति पाठः। तत्र सामुदायिकी जनमीलकप्रयोजना। (णिद्धमहुरगंभीरपडिस्सुएणं पि व त्ति) स्निग्धमधुरगम्भीरं प्रतिश्रुतं प्रतिशब्दो यस्य स तथा, तेनैव। वाणमन्तराह–शारदिकेन शरत्कालजातेन, बलाहकेन मेघेन रसितं शब्दायितं भेर्या। शृङ्गाटकाऽऽदीनि प्राग्वत्। गोपुरं नगर–द्वारं, प्रासादो राजगृहं, द्वाराणि प्रतीतानि, भवनानि गृहाणि, देवकुलानि प्रतीतानि, तेषु याः (पडिसु य त्ति) प्रतिश्रुतः प्रतिशब्दः, तासां यानि शतसहस्राणि लक्षाः, तैः संकुला या सा तथा, तां कुर्वन्। कामित्याह–द्वारकां द्वारवतीं नगरीं, कथंभूतामित्याह–(सब्भितरबाहिरियं ति) सहाभ्यन्तरेण मध्यभागेन, बाहिरिकया च, प्राकाराद्बहिर्नगरदेशेन या साभ्यन्तरबाहिरिका, ताम्। (से इति) स भेरीसंबन्धी शब्दः (विप्पसरित्थ त्ति) विप्रासरत्। (पा–मोक्खा इति) प्रमुखाः (आविद्धवग्घारियमल्लदामकलाव त्ति) परिहितप्रलम्बपुष्पमालासमूहा इत्यादिवर्णकः प्राग्वत्। (पुरिससवग्गुरा परिक्खित्ता) वागुरा मृगबन्धनं वागुरेव वागुरासमुदायः। (नन्नत्थ अप्पणो कम्मक्खएणं ति) न इति यदेतन्मरणाऽऽदिवारणशक्तेर्निषेधनं, तदन्यत्राऽऽत्मनः कृतात्। आत्मनो वा संबन्धिनः कर्मक्षयात्, आत्मना क्रियमाणमात्मीयं वा कर्मक्षयं, वर्जयित्वेत्यर्थः। आत्मनेत्यादौ (अत्ताणे अप्पणो वा कम्मक्खयं करित्तए त्ति) कर्मण इह षष्ठी द्रष्टव्या। (पच्छाऽऽउरस्स इत्यादि) पश्चादस्मिन् राजाऽऽदौ प्रव्रजिते सति आतुरस्यापि च द्रव्याऽऽद्यभावाद् दुःस्थस्य 'से' तस्य, तदीयस्येत्यर्थः । मित्रज्ञातिनिजकसंबन्धिपरिजनस्य, योगक्षेमवार्तमानी प्रतिवहति । तत्रालब्धस्येप्सितस्यैव वस्तुनो लाभो योगः, लब्धस्य परिपालनं क्षेमः, ताभ्यां वर्तमानकालभवा वार्तमाना योगक्षेमवार्तमानी, तां–निर्वाहं, राजा करोतीति तात्पर्यम् । (इति कट्टु) इति कृत्वा इतिहेतोरेवंरूपामेव घोषणां घोषयत कुरुत। (पुरिससहस्समित्यादि) इह पुरुषसहस्रं स्नानाऽऽदिविशेषणम्। स्थापत्यापुत्रस्यान्तिके प्रादुर्भूतमिति संबन्धः । (विज्जाहरचारणे त्ति) ''इह जंभए य देवे उवयमाणे'' इत्यादि द्रष्टव्यम् । एवमन्यदपि मेघकुमारचरितानुसारेण पूर्ववदेतदध्येतव्यमिति । (इरियासमिए इत्यादि) (एसणासमिए आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिए) आदानेन ग्रहणेन सह भाण्डमात्राया उपकरणलक्षणपरिच्छदस्य या निक्षेपणा मोचनं तस्यां समितः सम्यक् प्रवृत्तिमान् (उच्चारपासवणखेलजल्लसंघाणपारिट्ठावणियासमिए) उच्चारः पुरीषं, प्रस्रवणं मूत्रं, खेलो निष्ठीवनं, सिंघानो नासामलः, जल्लः शरीरमत्रः । इह यावत् करणादिदं दृश्यम्–''मणसमिए वयसमिए कायसमिए।'' चित्ताऽऽदीनां कुशलानां प्रवर्तक इत्यर्थः। ''मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते ''चित्ताऽऽदीनामशुभानां निषेधकः । एतदेवाऽऽह''गुत्ते ।'' योगापेक्षया ''गुत्तिंदिए।'' इन्द्रियाणां विषयेष्वसत्प्रवृत्तिनिरोधात्। ''गुत्तबंभचारी।'' वसत्यादिनवब्रह्मचर्यगुप्तियोगात्। ''अकोहे ४ ।'' कथमित्यत आह–''संते ।'' सौम्यमूर्तित्वात्। ''पसंते।'' कषायोदयस्य विफलीकरणात्।

''उवसंते।'' कषायोदयाभावात्। ''परिनिव्वुडे।'' स्वास्थ्यातिरेकात्। ''अणासवे।'' हिंसाऽऽदिनिवृत्तेः। ''अममे।'' ममेत्युल्लेखस्याभिष्वङ्गस्तोऽसद्भावात्। ''अकिंचणे।'' निर्द्रव्यत्वात्। ''छिन्नग्गंथे।'' मिथ्यात्वाऽऽदिभावग्रन्थिच्छेदात्। ''निरुवलेवे।'' तथाविधबन्धहेत्वभावेन तथाविधकर्मानुपादानात्। एतदेवोपमानैरुच्यते– ''कंसपाई व मुक्कतोए।'' बन्धहेतुत्वेन तोयाऽऽकारस्य स्नेहस्याभावात्। ''संखो इव निरंजणे।'' रञ्जनस्य रागस्य कर्तुमशक्यत्वात्। ''जीवो विव अप्पडिहयगई।'' सर्वत्रौचित्येनास्खलितविहारित्वात्। ''गगणमिव निरालंबणे।'' देशग्रामकुलाऽऽदीनामनालम्बकत्वात्। ''वायुरिव अप्पडिबद्धे।'' क्षेत्राऽऽदौ प्रतिबन्धाभावेनौचित्येन सततविहारित्वात्। ''सारयसलिलं व सुद्धहियए।'' कषायलक्षणगडुलत्ववर्जनात्। ''पुक्खरपत्तं पि व निरुवलेवे।'' पद्मपत्रमिव भोगाभिलाषलेपाभावात्। ''कुम्मो इव गुत्तिंदिए।'' कूर्मः कच्छपः। ''खग्गविसाणं व एगजाए।'' खड्ग आरण्यः पशुविशेषः, तस्य विषाणं शृङ्गं, तदेकं भवति, तद्वदेको जातो योऽसङ्गत्वतः सहायत्यागेन स तथा। ''विहग इव विप्पमुक्के।'' आलयाप्रतिबन्धेन। ''भारंडपक्खी व अपमत्तो।'' भारण्डपक्षिणो हि– ''एकोदराः पृथग्ग्रीवाः, अन्योऽन्यफलभक्षिणः। प्रमत्ता इव नश्यन्ति, यथा भारण्डपक्षिणः ॥१॥'' जीवद्वयरूपा भवन्ति, ते च सर्वदा चकितचित्ता भवन्ति इति। ''कुंजरो इव सोंडीरे।'' कर्म्मशत्रुसैन्यं प्रतिशूर इत्यर्थः। ''वसभो इव जायथामे।'' आरोपितमहाव्रतभारवहनं प्रति जातबलो, निर्वाहकत्वात्। ''सीहो इव दुद्धरिसो।'' दुर्द्धर्षणीय उपसर्गमृगैः। ''मंदरो इव निप्पकंपे'' परीषहपवनैः। ''सागरो इव गंभीरे।'' अतुच्छीचित्तत्वात्। ''चंदो इव सोमलेस्से।'' शुभपरिणामित्वात्। ''सूरो इव दित्ततेए।'' परेषां क्षोभकत्वात्। ''जच्चकंचणं व जायरूवे।'' अपगतदोषलक्षणकुद्रव्यत्वेनोत्पन्नस्वस्वभावः। ''वसुंधर व्व सव्वफाससहे'' पृथ्वीवत् शीताऽऽतपाऽऽद्यनेकविधस्पर्शक्षमः। ''सुहुयहुयासणो व्व तेयसा जलंते'' घृताऽऽदितर्पितवैश्वानरवत् प्रभया दीप्यमानः। ''नत्थि णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधो भवइ'' नास्त्ययं पक्षो यदुत तस्य कुत्रापि प्रतिबन्धो भवति। ''से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओ–सचित्ताचित्तमीसेसु। खित्तओ गामे वा नगरे वाऽरण्णे वा खले वा घरे वा अंगणे वा।'' खलं धान्यमलनाऽऽदिस्थण्डिलम्। ''कालओ समए वा आवलियाए वा।'' असंख्यातसमयरूपायाम्।''आणापाणूए वा।'' उच्छ्वासनिःश्वासकाले ''थोवे वा'' सप्तोच्छ्वासरूपे ''खणे वा'' बहुतरोच्छ्वासरूपे वा ''लवे'' सप्तस्तोकरूपे वा। ''मुहुत्ते वा'' लवसप्तसप्ततिरूपे ''अहोरत्ते वा पक्खे वा मासे वा अयणे वा।'' दक्षिणायनेतररूपे प्रत्येकं षण्मासप्रमाणे, संवत् सरे वा ''अन्नतरे वा दीहकालसंजोए'' युगाऽऽदौ ''भावओ कोहे वा माणे वा माए वा लोहे वा भए वा हासे वा।'' हास्ये हर्षे वा। ''एवं तस्स न भवइ।'' एवमनेकधा तस्य प्रतिबन्धो न भवति। ''से णं भगवं वासीचंदणकप्पे।'' वास्यां चन्दनकल्पो यः स तथा। अपकारिणेऽप्युपकारकारीत्यर्थः। वासीवाङ्गच्छेदनप्रवृत्तं चन्दनं कल्पयति यः स तथा। ''समतिणमणिलेट्ठुकंचणे समसुहदुक्खे'' समानि उपक्षेपणीयतया तृणाऽऽदीनि यस्य स तथा। ''इहलोयपरलोयप्पडिबद्धे जीवियमरणनिरवकंखे संसारपारगामी कम्मसत्तुनिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिए एवं च णं विहरइ त्ति।'' एवमीर्यासमित्यादिगुणयोगेनेति। (पंचाणुव्वइयं) इह यावत्करणादेवं दृश्यम्– ''सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जित्तए अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं काहिसिं। तए णं से सेलए राया थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स अंतिए पंचाणुव्व इयं०जाव उवसंपज्जइ। तए णं से सेलए राया समणोवासए जाए'' (अभिगयजीवाजीवे) इह यावत्करणादिदं दृश्यम्–''उवलद्धपुण्णपावे आसवसंवरनिज्जरकिरियाहिगरणबंधपामोक्खकुसले।'' क्रिया कायिक्यादि, अधिकरणं खड्गनिर्वर्त्तनाऽऽदि। एतेन च ज्ञानिलोक्ता। ''असाहज्जो'' अविद्यमान सहायः, कुतीर्थिकप्रेरितः सम्यक्त्वाऽऽद्यविचलनं प्रति न परसाहाय्यमपेक्षते इति भावः। अत एवाऽऽह–''देवासुरनागजक्खरक्खसकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जे'' देवा वैमानिका ज्योतिष्काः, शेषा भवनपतिव्यन्तरविशेषाः, गरुडाः सुपर्णकुमाराः। एवं चैतत्, यतः– ''निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए।'' मुक्तदर्शनान्तरपक्षपातः। ''निव्वितिगिच्छे'' फलं प्रति निःशङ्कः ''लद्धट्ठे।'' अर्थश्रवणतः। ''गहियट्ठे।'' अर्थावधारणेन। ''पुच्छियट्ठे।'' संशये सति ''अभिगयट्ठे।'' बोधात्। ''विणिच्छियट्ठे'' ऐदम्पर्यापलम्भात्। अत एव ''अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ते।'' अस्थीनि च प्रसिद्धानि, मिञ्जा च तन्मध्यवर्ती धातुः, अस्थिमिञ्जाः, ताः प्रेमानुरागेण सार्वज्ञप्रवचनप्रीतिलक्षणकुसुम्भाऽऽदिरागेण रक्ता इव रक्ता यस्य स तथा। केनोल्लेखेनेत्याह–''अयमाउसो! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अय परमट्ठे, सेसे अणट्ठे।'' (आउसो त्ति) आयुष्मन्निति पुत्राऽऽदेरामन्त्रणम्। शेषं धनधान्यपुत्रदारराज्यकुप्रवचनाऽऽदि। ''ऊसियफलिहे'' उच्छ्रितं स्फटिकमिव स्फटिकमन्तःकरणं यस्य स तथा। मौनीद्रं प्रवचनावाप्त्या परितुष्टमना इत्यर्थः। इति वृद्ध–व्याख्या। केचित्त्वाहुः–उच्छ्रित अर्गलास्थानादपनीय ऊर्द्धीकृतो, न तिरश्चीनकपाटपश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः। उत्सृतो वा अपगतः परिघोऽर्गला गृहद्वारे यस्याऽसौ उत्सृतपरिघः, उच्छ्रितपरिघो वा। औदार्यातिरेकादतिशयदानदायित्वेन भिक्षुकप्रवेशार्थम्–नर्गलित गृहद्वार इत्यर्थः। ''अवंगुयदुवारे'' अपावृतद्वारः कपाटाऽऽदिभिः भिक्षुकप्रवेशार्थमेवास्थगितगृहद्वार इत्यर्थः। इत्येकीयं व्याख्यानम्। वृद्धानां तु भावनावाक्यमेवम्, यदुत सद्दर्शनलाभे, न कस्माच्चित्पाषण्डिकाद्बिभेति, शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्भटशिरास्तिष्ठतीति भावः। ''चियत्तंतेउरघरदारप्पवेसे।'' (चियत्तं त्ति) नाप्रीतिकरः अन्तः पुरगृहे द्वारेण नापद्वारेण प्रवेशः शिष्टजनोचितप्रवेशनं यस्य स तथा। अनीर्ष्यालुत्वं चास्यानेनोक्तम्। अथवा– (चियत्तो त्ति) लोकानां प्रीतिकर एव अन्तःपुरे वा गृहे वा गृहद्वारे वा प्रवेशो यस्य स तथा। अतिधार्मिकतया सर्वत्रानाशङ्कनीयत्वादिति। ''चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे।'' उद्दिष्टा अमावास्यापौषधमाहारं पौषधाऽऽदिव्रतचतूरूपम्। ''समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं।'' पतद्ग्रहं पात्रं, पादप्रोञ्छनं रजोहरणम्। ''ओसहभेसज्जेणं'' भेषजं पथ्यम् ''पाडिहारिएणं पीठफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणे।'' प्रातिहारिकेण पुनः समर्पणीयेन, पीठमासनं, फलकमवष्टम्भार्थं, शय्या वसतिः, शयनं वा यत्र प्रसारितपादैः स्वप्यते, संस्तारको लघुतरः ''अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।'' (सुए परिव्वायगे त्ति) शुको व्यासपुत्रः ऋग्वेदाऽऽदयश्चत्वारो वेदाः, षष्टितन्त्रं साङ्ख्यमतं, साङ्–

ख्यसमये साङ् ख्यसमाचारे लब्धार्थः । वाचनान्तरे तु यावत्करणादेवमिदमवगन्तव्यम् – ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदार्थवणवेदानामितिहासपञ्चमानामितिहासः पुराणं, निघण्टुष्टानां निघण्टुर्नामकोशः, साङ्गोपाङ्गानामङ्गानि शिक्षाऽऽदीनि, उपाङ्गानि तदुक्तप्रपञ्चनपराः प्रबन्धाः । सरहस्यानामैदंपर्ययुक्तानां, सारकः–अध्यापनद्वारेण प्रवर्त्तकः, स्मारको वाऽन्येषां विस्मृतस्य स्मारणात्। वारकोऽशुद्धपाठनिषेधकः, पारगः पारगामी षडङ्गवित् । षष्टितन्त्रविशारदः षष्टितन्त्रं कापिलीयकशास्त्रं, षडङ्गवेदकत्वमेव व्यनक्तिसंख्याने गणितस्कन्धे, शिक्षाकल्पे शिक्षायामक्षरस्वरूपनिरूपके शास्त्रे, कल्पे तथाविधसामाचारीप्रतिपादके, व्याकरणे शब्दलक्षणे छन्दसि पद्यवचनलक्षणनिरूपके, निरुक्ते शब्दनिरुक्तप्रतिपादके,ज्योतिषामयने ज्योतिःशास्त्रे । अन्येषु च ब्राह्मणकेषु शास्त्रेषु च परिनिष्ठित इति वाचनान्तरम् । पञ्चयमपञ्चनियम–युक्तम्। तत्र पञ्च यमाः–प्राणातिपातविरमणाऽऽदयः, नियमास्तुः शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि । शौचमूलकं यमनियममीलनाद्दशप्रकारम्। धातुरक्तानि वस्त्राणि प्रवराणि परिहितो यः स तथा । त्रिदण्डाऽऽदीनि सप्त हस्ते गतानि यस्य स तथा । तत्र कुण्डिका कमण्डलुः, क्वचित् काञ्चनिका करोटिका वाऽधीयते, ते च क्रमेण रुद्राक्षकृतमाला मृद्भाजनं चोच्यते । षण्णालिकं त्रिका–ष्टिका, अङ्कुशो वृक्षपल्लवच्छेदार्थः, पवित्रकं ताम्रमयमङ्गुलीयकं, केसरी चीवरखण्डं प्रमार्जनार्थम्। (संखाणं ति) साङ्ख्यमतम्। (सज्झपुढवि त्ति) कुमारपृथिवी (पवयणं आरुहेइ) पाकस्थाने चुल्ल्यादावारोपयति, ऊष्माणमुष्णत्वं ग्राहय ति, (दिट्ठिं वामेत्तए त्ति) मतं वमयितुं त्याजयितुमित्यर्थः। (अट्ठाइं ति) अर्थान् अर्य्यमानत्वादधिगम्यमानत्वादित्यर्थः । प्रार्थ्यमानत्वाद्वा याच्यमानत्वादित्यर्थः । वक्ष्यमाणयात्रायापनीयाऽऽदीन् । तथा तानेव (हेऊइं ति) हेतून्, अन्तर्वर्त्तिन्यास्तदीयज्ञानसंपदो गमकात्। (पसिणाइं ति) प्रश्नान्, पृच्छ्यमानत्वात् । (कारणाइं ति) कारणानि, विवक्षितार्थनिश्चयस्य जनकानि । (वागरणाइं ति) व्याकरणानि, प्रत्युत्तरतया व्याक्रियमाणत्वादेषामिति । (निप्पट्ठपसिणवागरेणं ति) निर्गतानि स्पष्टानि स्फुटानि प्रश्नव्याकरणानि प्रश्नोत्तराणि यस्य स तथा तम् । (खीणाउवसंत त्ति) क्षयोपशममुपगता इत्यर्थः । एतेषां च *यात्राऽऽदिपदानामागमिकगम्भीरार्थत्वेनाऽऽचार्यस्य तदर्थपरिज्ञानमसंभावयताऽपभ्राजनार्थं प्रश्नः कृत इति*। (सरिसवय त्ति) एकत्र सवयसः सदृशवयसः, अन्यत्र सर्षपाः सिद्धार्थकाः। (कुलत्थ त्ति) एकत्र कुले तिष्ठन्तीति कुलस्थाः, अन्यत्र कुलत्था धान्यविशेषाः। सरिसवयाऽऽदिपदप्रश्नश्च छलग्रहणेनोपहासार्थं कृत इति। (एगे भवं ति) एको भवान् इति एकत्वाभ्युपगमे आत्मनः कृते सूरिणा श्रोत्राऽऽदिविज्ञानानामवयवानां चात्मनोऽनेकतोपलब्ध्या एकत्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगः शुक्रेन कृतः (दुवे भवं ति) द्वौ भवानिति च द्वित्वाभ्युपगमे अहमित्येकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वं दूषयिष्यामीतिबुद्ध्या पर्यनुयोगो विहितः । अक्षयः अव्ययः; अवस्थितो भवान्, अनेन नित्यात्मपक्षः पर्यनुयुक्तः । अनेके भूता अतीता भावाः सत्त्वाः परिणामा वा भाव्याश्च भाविनो यस्य *स तथा। अनेन चातिक्रान्तभाविसत्ताप्रश्नेन अनित्याऽऽत्मपक्षः पर्यनुयुक्तः।* एकतरपरिग्रहे अन्यतरस्य दूषणायेति । तत्राऽऽचार्येण स्याद्वादस्य निखिलदोषगोचरातिक्रान्तत्वात्तमवलम्ब्योत्तरमदायिएकोऽप्यहम्, कथम्? द्रव्यार्थतया, जीवद्रव्यस्यैकत्वात्, न तु प्रदेशार्थतया । तथा ह्यनेकत्वान्ममेत्यवयवाऽऽदीनामनेकत्वोपलम्भो न बाधकः । तथा कञ्चित्स्वभावमाश्रित्यैकत्व–संख्याविशिष्टस्याऽपि पदार्थस्य स्वभावान्तरद्वयापेक्षया द्वित्वमपि न विरुद्धम्, इत्यत उक्तम्–द्वावप्यहं ज्ञानदर्शनार्थतया, न चैकस्य स्वभावभेदो दृश्यते । एको हि देवदत्ताऽऽदिपुरुषः एकदैव तत्तदपेक्षतया पितृत्वपुत्रत्वभ्रातृत्वभ्रातृव्यत्वपितृव्यत्वमातुलत्वभागिनेयत्वादीननेकान् स्वभावाँल्लभत इति । तथा प्रदेशार्थतया असंख्येयप्रदेशतामाश्रित्याक्षयः, सर्वथा प्रदेशानां क्षयाभावात् । अव्ययः कियतामपि च व्ययाभावात् । किमुक्तं भवति? अवस्थितो नित्यः । असंख्येयप्रदेशो हि न कदाचनापि व्यपैति, अतो नित्य–ताऽभ्युपगमेऽपि न दोषः । उपयोगार्थतया विविधविषयानुपयोगानाश्रित्य अनेकभूतभावभविकोऽपि अतीतानागतयोर्हि कालयोरनेकविषयबाधानामात्मनः कथञ्चिदभिन्नानामुत्पादाद्विगमाद्वा नित्यपक्षो न दोषायेति। पुण्डरीकेण आदिदेवगणधरेण निर्वाणित उपलक्षितः पर्वतः, तस्य तत्र प्रथमं निर्वृतत्वात्पुण्डरीकपर्वतः शत्रुञ्जयः। (अंतेहिं येत्यादि) अन्तैर्वल्लचणकाऽऽदिभिः प्रान्तै–स्तैरेव भुक्तावशेषैः पर्युषितैर्वा, रूक्षैर्निस्नेहैः, तुच्छैरल्पैः, अरसैः हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतैः, विरसैः पुराणत्वाद्विगतरसैः, शीतैः शीतलैः, उष्णैः प्रतीतैः, कालातिक्रान्तैः तृष्णाबुभुक्षाकालाप्राप्तैः; प्रमाणातिक्रान्तैः बुभुक्षापिपासामात्रानुचितैः । चकाराः समुच्चयार्थाः । एवंविधविशेषणान्यपि पानाऽऽदीनि निष्ठुरशरीरस्य न भवन्ति बाधायै । अत आह– प्रकृतिसुकुमारकस्येत्यादि। ''वेयणा पाउब्भूया'' इत्यस्य स्थाने ''रोगायंके'' इति क्वचिद् दृश्यते। तत्र रोगश्चासावातङ्कश्च कृच्छ्रजीवितकारीति समासः। कण्डूः कण्डूतिः, दाहः प्रतीतः, तत्प्रधानेन पित्तज्वरेण परिगतं शरीरं यस्य स तथा । ते इच्छन्ति चिकित्साम् । (आउंटावेमि त्ति) आवर्त्तयामि कारयामि । (सभंडमत्तोवगरणमायाए त्ति) भाण्डमात्रा पतद्ग्रहपरिच्छदश्च, उपकरणं च वर्षाकल्पाऽदि भाण्डमात्रोपकरणं, स्वं च तदात्मीयं भाण्डमात्रोपकरणं च स्वभाण्डमात्रोपकरणं, तदादाय गृहीत्वा, अभ्युद्यतेन सोद्यमेन, प्रदत्तेन गुरुणो–पदिष्टेन, प्रगृहीतेन गुरुसकाशादङ्गीकृतेन, विहारेण साधुवर्त्तनेन, विहर्तुं वर्त्तितुं, पार्श्वे ज्ञानाऽऽदीनां बहिस्तिष्ठतीति पार्श्वस्थः। गाढग्लानत्वाऽऽदिकारणं विना शय्यातराभ्याहृताऽऽदिपिण्डभोजकत्वादागमोक्तविशेषणः । स च सकृदनुचितकरणेनाल्पकालमपि भवति, तत उच्यते–पार्श्वस्थानां यो विहारो बहूनि दिनानि यावत्तथावर्त्तनं स *पार्श्वस्थविहारः, सोऽस्यास्तीति पार्श्वस्थविहारी।* एवमवसन्नाऽऽदिविशेषणान्यपि, नवरमवसन्नो विवक्षितानुष्ठानालसः, आवश्यकस्वाध्यायप्रत्युपेक्षणाध्यानाऽऽदीनामसम्यक्करीत्यर्थः। कुत्सितः शीलः कुशीलः, कालविनयाऽऽदिभेदभिन्नानां ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽचाराणां विराधक इत्यर्थः । प्रमत्तः पञ्चविधप्रमादयोगात्, संसक्तः कदाचित्संविग्गुणानां कदाचित्पार्श्वस्थाऽऽदिदोषाणां संबन्धाद्दौरवत्रयसंसञ्जनाच्चेति । ऋतुबद्धेऽपि अवर्षाकालेऽपि पीठफलकाऽऽदिशय्यासंस्तारकं यस्य स तथा । (नाइ भुज्जो एवं करणयाए त्ति) नैव भूयः पुनरपि (एवं) इत्थं *करणाय, प्रवर्त्तिष्ये इति शेषः । एवमेवेत्यादिरुपनयः । इह गाथा–*

''सिढिलियसंजमकज्जा, वि होइउ उज्जमंति जइ पच्छा। संवेगाओ ते से –लओ व्व आराहया होंति ॥१॥'' ज्ञा०१ श्रु०५ अ०। ध० २०। अणु०।

थावय पुं०(स्थापक) स्थापयति पक्षमक्षेपेण प्रसिद्धव्याप्तिकत्वात् समर्थयति यः स तथा। हेतुभेदे, (स्था०) यथा परिव्राजकधूर्तौ–लोकमध्यभागे दत्तं बहुफलं भवति तत्राहमेव जानामीति मायया प्रतिग्राममन्यान्यलोकमध्यं प्ररूपयति सति तन्निग्रहाय कश्चित् श्रावको लोकमध्यस्यैकत्वात्कथं बहुषु ग्रामाऽऽदिषु तत्सम्भव इत्येवंविधोपपत्त्या त्वद्दर्शितो लोकमध्यभागो न भवतीति पक्षं स्थापितवानिति स्थापकः हेतुः। उक्तं च– ''लोगस्स मज्झजा–णण, थावयहेऊ उदाहरणं। (८७)'' (दश० १अ०) इति। स चायम्– अग्निरत्र धूमात्, तथा नित्यानित्यं वस्तु, द्रव्यपर्यायतस्तथैव प्रतीयमानत्वादिति। अनयोश्च प्रतीतिव्याप्तिकतया कालक्षेपेण साध्यस्थापनात् स्थापक इति। स्था०४ ठा०३उ०।

साम्प्रतं स्थापकहेतुमधिकृत्याऽऽह–

लोगस्स मज्झजाणण, थावयहेऊउदाहरणं। (८७)

लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य मध्यज्ञानं, किम्? स्थापकहे–तावुदाहरणमित्यक्षरार्थः। भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्–''एगो परिव्वायगो हिंडति। सो य परूवेइ इखेत्ते दाणाऽऽदि सफलं ति कट्ठु समरखेत्ते कायव्वं। अहं लोयस्स मज्झं जाणामि, ण पुण अन्नो। तो लोगो तमाढाति। पुच्छिओ य संतो-चउसु वि दिसासु खीलए णिहणिऊण रज्जूए पमाणं काऊण माइट्ठाणिओ भणति–एयं लोयमज्झं ति। तओ लोओ विम्हयं गच्छति–अहो! भट्टारएण जाणियं ति। एगो य सावओ, तेण नायं। कहं धुत्तो लोयं पयारेइ त्ति? तो अहं पि वंचामि त्ति कलिऊण भणियं एस लोयमज्झो, भुल्लो तुमं ति। तओ सावएण पुणो भावेऊण अण्णो देसो कहिओ–जहेस लोयमज्झो त्ति। लोगो तुट्ठो। अण्णे भणंति–अण्णगठाणेसु अन्नं अन्नं मज्झं परूवंतयं दट्ठूण विरोधो चोइयति, एवं सो तेण परिव्वायगो णिप्पिट्ठपसिणवागरणो कओ। एसो लोइओ थावगहेऊ। लोउत्तरे वि चरणकरणानुओगे कुस्सुतीसु असंभावणिज्जसग्गाहरओ सीसस्स एवं चेव पण्णवेयव्वो। दव्वाणुओगेण वि साहुणा तारिसं भाणियव्वं। तारिसो य पक्खो गेण्हियव्वो। जस्स पुरो उत्तरं चेव दाउं न तीरइ। पुव्वावरविरुद्धो दोसो य ण हवति।'' दश० १ अ०।

थावर पुं०(स्थावर) तिष्ठतीत्येवंशीलः स्थावरः। जी०१ प्रति०। शीताऽऽतपाऽऽद्युपेतत्वेऽपि स्थानान्तरं प्रत्यनभिसर्पितया स्थानशीले, उत्त०५ अ०। स्थावरनामकर्मोदयात् पृथिव्यादिके, सूत्र० १ श्रु० १अ०४ उ०। आ०चू०। स्था०। नं०। स्थावराः पृथिव्यप्तेजो–वायुवनस्पतयः। आचा०१ श्रु०६ अ० १उ०। सूत्र०। द्विविधः स्थावरः, सूक्ष्मबादरभेदात्। सूक्ष्मस्थावरो वनस्पत्यादिः। बादर–स्थावरः पृथिव्यादिः। पा०। सूत्र०।

तिविहा थावरा पण्णत्ता। तं जहा–पुढविकाइया, आउकाइया, वणस्सइकाइया।

स्थानशीलत्वात्, स्थावरनामकर्मोदयाद् वा स्थावराः। शेषं व्यक्तमेवेति। स्था०३ ठा०२उ०।

स्थावराऽऽदिविभागमाह–

भूमी घरा य तरुगण, तिविहं पुण थावरं मुणेयव्वं।
चक्कारवद्धमाणुस, दुविहं पुण होइ दुपयं तु॥२२॥

भूमिः गृहाणि, तरुगणश्च, चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः, त्रिविधं पुनरोधतः स्थावरं मन्तव्यम्। पुनःशब्दो विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि? स्वगतान् भेदान्। तद्यथा–भूमिः क्षेत्रं, तच्च त्रिधासेतु केतु, असेसुकेतु च, गृहाणि प्रासादाः। तेऽपि त्रिविधाः। खातोच्छ्रितोभयरूपाः। तरुगणा नालिकेर्याद्यारामा इति। चक्रारबद्धमानुषमिति। चक्रारबद्धं गन्त्र्यादि, मानुषं दासाऽऽदि। एवं द्विपदं पुनर्भवति द्विविधम्। इति गाथार्थः॥२२॥ दश० ६ अ०। राजगृहजाते वीरजिनस्य चतुर्दशपूर्वभवजीवे स्वनाम-ख्याते विप्रे, कल्प०२ क्षण। आ०चू०। आ०म०। तिष्ठन्तीत्येवंशीला उष्णाऽऽद्यभितापेऽपि तत्परिहारासमर्थाः स्थावराः। ''स्थेशभासपि-सकसो वरः''॥५।२।८२॥ (हैम०) इति वरप्रत्ययः। पृथिवीकायिकाः, अप्– कायिकाः, तेजस्कायिकाः, वायुकायिकाः, वनस्पतिकायिका एकेन्द्रियाः। तद्विपाकवेद्यं कर्म्माऽपि स्थावरनाम। तेजोवायूनां तु स्थावरनामोदयेऽपि चलनं स्वाभाविकमेव, न पुनरुष्णाऽऽद्यभितापेन द्वीन्द्रियाऽऽदीनामिव विशिष्टमिति। कर्म०१ कर्म०।

थावरकाय पुं०(स्थावरकाय) स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावराः पृथिव्यादयः, तेषां काया राशयः। स्थावरो वा कायः शरीरं येषां ते स्थावरकायाः। पृथिवीकायाऽऽदिषु, स्था०।

थावरकाए दुविहे वण्णत्ते। तं जहा–भवसिद्धिए चेव, अभव–सिद्धिए चेव। स्था०२ ठा०१उ०।

(एतद्व्याख्या तु स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)

पंच थावरकाया पण्णत्ता। तं जहा–इंदे थावरकाये, बंभे थावरकाये, सिप्पे थावरकाये, समई थावरकाये, पयावए थावरकाये। पंच थावरकायाहिवई पण्णत्ता। तं जहा– इंदे थावरकायाहिवई०जाव पयावए थावरकायाहिवई।

(पंचेत्यादि) स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावराः पृथिव्यादयः, तेषां काया राशयः, स्थावरो वा कायः शरीरं येषां ते स्थावरकायाः। इन्द्रसंबन्धि-त्वादिन्द्रः स्थावरकायः पृथिवीकायः, एवं ब्रह्मशिल्प–संमतिप्राजापत्या अपि अप् कायाऽऽदित्वेन वाच्या इति। एतन्ना–यकानाह– (पंचेत्यादि) स्थावरकायानां पृथिव्यादीनामिति संभाव्यन्ते, अधिपतयो नायका दिशामिवेन्द्राग्न्यायादयो नक्षत्राणमिवाश्विप्रमदहनाऽऽदयो, दक्षिणोत्तर-लोकार्द्धयोरिव शक्रेशानाविति स्थावरकायाधिपतय इति। स्था०५ ठा०१उ०।

थावरचउक्क न०(स्थावरचतुष्क) स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणलक्षणे स्थावरोपलक्षिते चतुष्के, कर्म०२ कर्म०।

थावरजाइ स्त्री०(स्थावरजाति) एकेन्द्रियजातौ, क०प्र०२ प्रक०।

थावरणाम(ण्) न०(स्थावरनामन्) अस्पन्दनत्वनिबन्धने नाम–कर्मभेदे, श्रा०। यदुदयवशादुष्णाऽऽद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहा–रासमर्थाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावरा जायन्ते। पं० सं०३ द्वार। कर्म०। प्रव०।

थावरतिग न०(स्थावरत्रिक) स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तलक्षणे स्थाव–रोपलक्षिते त्रिके, कर्म०५ कर्म०।

थावरदसग न०(स्थावरदशक) स्थावरोपलक्षिते दशके, कर्मण इतस्त्रसदशकात् स्थावरदशकं विपर्यस्तं विपरीतार्थ

भवति । तथाहि–तिष्ठन्तीत्येवंशीला उष्णाऽऽद्यभितापेऽपि तत्परिहारासमर्थाः स्थावराः । ''स्थेशभासपिसकसो वरः'' ॥५।२।८२॥ (हैम०) इति वरप्रत्ययः । पृथिवीकायिका अप्कायिकाः तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिका एकेन्द्रियाः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि स्थावरनाम, तेजोवायूनां तु स्थावरनामोदयेऽपि चलनं स्वाभाविकमेव, न पुनरुष्णाऽऽद्यभितापेन द्वीन्द्रियाऽऽदीनामिव विशिष्टमिति ॥१॥ कर्म० १ कर्म०।

थावरसुहुमअपज्जं, साहारणअथिरअसुभदुभगाणि ।
दुस्सरऽणाइज्जाऽजसं, ... ॥२७॥

इहापि नामशब्दस्य संबन्धात् स्थावरनाम सूक्ष्मनाम अपर्याप्तनाम साधारणनाम अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम दुःखरनाम अनादेयनाम (अजस त्ति) अयशः कीर्तिनाम । (२७) कर्म०१ कर्म०।

थावरदुग न०(स्थावरद्विक) स्थावरसूक्ष्मलक्षणे स्थावरोपलक्षिते द्विके, कर्म०२ कर्म०।

थावरविस न०(स्थावरविष) विषभेदे, यद्वि भुक्तं सत्पीडयति । स्था० ६ ठा०।

थासग पुं०(स्थासक) दर्पणाऽऽकारे, ज्ञा० १ श्रु०१ अ०। जं०। विपा०। आदर्शकाऽऽकारे, भ०११ श०११ उ०। औ०। हस्तबिम्बे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। अश्वाऽऽभरणविशेषे, पुं०। अनु०।

थासगावली स्त्री०(स्थासकाऽऽवली) ६ त०। दर्पणाऽऽकृतीनां स्थासकानां स्फूरकाऽऽदिषु उपर्युपरि स्थितानां पङ्क्तौ, अणु०१ वर्ग २ अ०।

थाह न०(स्ताघ) यावति जले नासिका न ब्रुमति तावति जले, बृ० ४ उ०। गाधे, ज्ञा०१ श्रु०५ अ०। दीर्घे , दे०ना० ५ वर्ग ३० गाथा।

थिग्गल न०(स्थिग्गल) प्रदेशपतितसंस्कृते, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०६ उ०। प्रज्ञा०। चित्ते, ''आलोय थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि य । चरंतो न विनिज्झाए, संकट्ठाणविवज्जए'' ॥१५॥ दश० ५ अ०१ उ०। साधुर्वस्त्रे थिग्गलकं ददाति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–यो भिक्षुर्वस्त्रस्यैकं थिग्गलं ददाति, ददन्तं वा अनुमोदयति, तस्य दोषाः, यः कारणे त्रयाणां थिग्गलानां परतश्चतुर्थं थिग्गलं ददाति, तस्य प्रायश्चित्तं निशीथसूत्रप्रथमोद्देशके, एतदनुसारेण साधूनां थिग्गलदानं न कल्पत इति । ४३५ प्र०।सेन०३ उल्ला०।

थिण्ण त्रि०(स्त्यान) ''**ईः स्त्यानखल्वाटे**'' ॥८।१।७४॥ इति स्त्यास्थाने स्त्यी थलुक्, स्त्यानेव स्ती थी, नो णः । प्रा० २ पाद । सेवाऽऽदित्वाद् णद्वित्वम् । प्रा०२ पाद । कठिने, ज्ञा० १ श्रु०६ अ०। निःस्नेहे, दृसे च। दे०ना० ५ वर्ग ३० गाथा।

थिप्प धा०(तृप्) तृप्तौ, ''**तृपः थिप्पः**'' ॥८।४।१३८॥ इति तृप्यतेः थिप्पेत्यादेशः । 'थिप्पइ ।' तृप्यति । प्रा०४ पाद।

***विगल** धा०। विक्षरणे, ''**विगलेः थिप्प–णिद्धौ**'' ॥८।४।१७५॥ इति विगलतेः स्थिप्पाऽऽदेशः । 'थिप्पइ' विगलति । प्रा०३ पाद।

थिमिअ न०(देशी) स्थिरे, दे०ना० ५ वर्ग २७ गाथा।

थिमिउं अव्य०(स्तिमितुम्) आर्द्रीकर्तुमित्यर्थे, ल०प्र०।

थिमिओदय न०(स्तिमितोदक) यस्याधः कर्दमो नास्ति तादृशे जले, औ०।

थिमिय त्रि०(स्तिमित) स्वचक्रपरचक्रतस्करडमराऽऽदिसमुत्थभयकल्लोलमालाविवर्जिते, सू०प्र०१ पाहु०। रा०। प्रश्न०। भ०। भयवर्जितत्वेन स्थिरे, औ०। विपा०। ज्ञा०। निभृते, सूत्र०१ श्रु०३ अ०४ उ०। दशारपुरुषाणां तृतीये पुरुषे, अन्त० १ श्रु०१ वर्ग १अ० । स च अन्धकवृष्णेर्धारिण्यामुत्पद्यारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्ध इति अन्तकृद्दशानां प्रथमवर्गे चतुर्थेऽध्ययने चिन्तितम्। अन्त० १ श्रु०१ वर्ग १ अ०। स्था०।

थिमियमज्झ त्रि०(स्तिमितमध्य) स्तिमितं स्थिरं मध्यं देहिनोऽन्तःकरणं यस्मिन् सति तत्तथा । निश्चलमनस्के, प्रश्न०४ संव० द्वार।

थिमियमेइणी स्त्री०(स्तिमितमेदिनी) निर्भरजनपदे, प्रति०।

थिर त्रि०(स्थिर) संहननधृतिभ्यां बलवति, आव०४ अ०। आचा०। सूत्र०। निश्चले, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। व्य०। प्रश्न०। उत्त०। अप्रकम्पे, भ०११ श०११ उ०। आव०। अनतिश्लथे, जी०३ प्रति०४ उ०। दृढे, आचा०२ श्रु० १चू०५अ० २उ०। नं०। आ०म०। बृ०। नि० चू०। स्थायिनि, पञ्चा० १७ विव०। असंख्येयकालावस्थायिनि, सूत्र० १ श्रु० १अ०१ उ०। तत्रावस्थाया ध्रुवकर्मिके, व्य०६ उ०। स्थिरा नाम येषां तत्रैव गृहाणि। बृ०१ उ०। ध्रुवे, नि०चू० ५ उ०। प्रारब्धकार्यस्यापान्तराल एवापरित्यागकारिणि, ध०३अधि०। स्थिरो नाम उद्योगं कुर्वन्नपि न परिताम्यति । व्य०३ उ०। ''रूढा बहुसंभूया, थिरा वा ओसढा वि अ। (३५)'' स्थिरा निष्पन्ना । दश० ७ अ०।

थिरग्गहत्थ त्रि०(स्थिराग्रहस्त) स्थिरोऽग्रहस्तो यस्य स स्थिराग्रहस्तः । जी०३ प्रति०२उ०। सुलेखवत् तथाविधहस्ते, उत्त०४ अ०। भ०।

थिरचित्त त्रि०(स्थिरचित्त) अविचलमानसे, जीवा०६ अधि०।

थिरछक्क न०(स्थिरषट्क) स्थिरशुभशुभगसुस्वराऽऽदेययशः कीर्तिरूपे स्थिरोपलक्षिते, कर्म०१ कर्म०।

थिरजम पुं०(स्थिरयम) यमभेदे, द्वा०।

स च–

सत्क्षयोपशमोत्कर्षादतिचाराऽऽदिचिन्तया ।
रहिता यमसेवा तु, तृतीयो यम उच्यते ॥२७॥

(सदिति) सतो विशिष्टस्य क्षयोपशमस्योत्कर्षादुद्रेकादतिचाराऽऽदीनां चिन्तया रहिता, तदभावस्यैव विनिश्चयात्, यमसेवा तु तृतीयो यमः स्थिरयम उच्यते ॥२७॥ द्वा० १६ द्वा०।

थिरजस त्रि०(स्थिरयशस्) अनश्वरकीर्तौ, ''समणगणपवरगंधहत्थीणं थिरजसाणं।'' स०७ अङ्ग ।

थिरजाय पुं०(स्थिरजात) स्थिरेण निर्विघ्नेन जात उत्पन्नो गर्भे स्थिरजातः । चिरेण जाते, तं०।

थिरणाम(ण्) न०(स्थिरनामन्) नामकर्मभेदे, यदुदयात् शरीरावयवानां शिरोऽस्थिदन्तानां स्थिरता भवति। ''दंतअट्ठिमाइ थिरं । (४६)'' स्थिरं स्थिरनामोदयेन दन्तास्थ्यादि निश्चलं

भवति, यदुदयाद् शिरोऽस्थिग्रीवाऽऽदीनामवयवानां स्थिरता भवति तत् स्थिरनाम (४६)। कर्म० १ कर्म० पं०सं०।

थिरतरय पुं०(स्थिरतरक) अतिशयस्थिरे, पञ्चा० ११ विव०।

थिरता स्त्री०(स्थिरता) उत्कर्षकाष्ठाप्राप्तौ, द्वा०१८ द्वा०। महाव्रतेषु एव धर्मे वा स्थैर्यहेतौ निश्चलत्वे, पा० ध० स्थैर्ये, बृ०४उ०। स्थिरता–जिनधर्मं प्रति परस्य स्थिरताऽऽपादनं, स्वस्य वा परतीर्थिकसमृद्धिदर्शनेऽपि जिनप्रवचनं प्रति निष्प्रकम्पता। ध०२ अधि०।

वत्स ! किं चञ्चलवान्तो, भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विषीदसि।
निधिं स्वसन्निधावेव, स्थिरता दर्शयिष्यति ॥१॥
ज्ञानदुग्धं विनश्येत, लोभविक्षोभकूर्चकैः।
अम्लद्रव्यादिवास्थैर्यादिति मत्वा स्थिरो भव ॥२॥
अस्थिरे हृदये चित्रा, वाग्रेत्राऽऽकारगोपना।
पुंश्चल्या इव कल्याणकारिणी न प्रकीर्तिता ॥३॥
अन्तर्गतं महाशल्यमस्थैर्यं यदि नोद्धृतम्।
क्रियौषधस्य को दोषस्तदा गुणमयच्छतः ? ॥४॥
स्थिरता वाङ्मनः कायैर्येषामङ्गाङ्गिता गता।
योगिनः समशीलास्ते, ग्रामेऽरण्ये दिवा निशि ॥५॥
स्थैर्यरत्नप्रदीपश्चेद्दीप्रः संकल्पदीपजैः।
तद्विकल्पैरलं धूमैरलं धूमैस्तथाऽऽश्रवैः ॥६॥
उदीरयिष्यसि स्वान्तादस्थैर्यपवनं यदि।
समाधैर्धर्ममेघस्य, घटां विघटयिष्यसि ॥७॥
चारित्रं स्थिरतारूपमतः सिद्धेष्वपीष्यते।
यतन्तां यतयोऽवश्यमस्या एव प्रसिद्धये ॥८॥
अष्ट०३ अष्ट०।

थिरपइण्ण त्रि०(स्थिरप्रतिज्ञ) भाषितस्यानन्यथाकारके, आव० ६ अ०।

थिरपरिवाडि पुं०(स्थिरपरिपाटि) स्थिरा अतिशयेन निरन्तराऽभ्यासतः स्थैर्यमापन्ना अनुयोगपरिपाट्यो यस्य स स्थिरपरिपाटिः। प्रव० ६५ द्वार। व्य० अनु० ग०। परिचितसूत्रार्थे, आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ०।

थिरव्वय पुं०(स्थिरव्रत) व्रतेषु स्थिरे, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

थिरसंघयण पुं०(स्थिरसंहनन) स्थिरं दृढं (प्रथममित्यर्थः) संहननं यस्य सः। आ०म०१ अ०१ खण्ड। बलवत्तरशरीरे, दशा०४ अ०। अविघटमानसंहनने, भ०१५ श०।

थिरसंघयणया स्त्री०(स्थिरसंहननता) तपःप्रभृतिषु शक्तियुक्ततायाम्, उत्त०१ अ०। शरीरसंपद् भेदे, स्था०८ ठा०। प्रव०।

थिरसत्त पुं०(स्थिरसत्त्व) स्थिरं परीषहाऽऽदिसंपातेऽप्यध्वंसात्सत्त्वं यस्य स स्थिरसत्त्वः। तस्मिन्, स्था०४ ठा०३उ०। निश्चलमानसावष्टम्भे, बृ०१ उ०।

थिरसरीर पुं०(स्थिरशरीर) शारीरबलोपेते, बृ०१उ०।

थिरसीस पुं०(देशी) निर्भीके, निर्भर, बद्धशिरस्त्राणे, दे०ना० ५ वर्ग ३१ गाथा।

थिरसुह न०(स्थिरसुख) निःप्रकम्पानुद् वेजनीये, "स्थिरसुखमासनम्," इति पतञ्जलिः। द्वा० २२ द्वा०।

थिरा स्त्री०(स्थिरा) योगदृष्टिभेदे, द्वा०। स्थिरा च भिन्नग्रन्थेरेव, सा च रत्नाभा, तद् बोधो हि रत्नभास्समानः, तद्भावोऽप्रतिपाती प्रवर्द्धमानो निरपायो नापरपरितापकृत् परितोषहेतुः प्रायेण प्रणिधानाऽऽदियोनिरिति। (२६) द्वा०२० द्वा०।

प्रत्याहारः स्थिरायां स्या–द्दर्शनं नित्यमभूमम्।
तथा निरतिचारायां, सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥१॥

(प्रत्याहार इति) स्थिरायां दृष्टौ प्रत्याहारः स्याद्वक्ष्यमाणलक्षणः। तथा–निरतिचारायां दर्शनं नित्यमप्रतिपाति, सातिचारायां तु प्रक्षीणनयनपटलोपद्रवस्य तदुत्कोपाऽऽद्यनवबोधकल्पमपि भवति, तथाऽतिचारभावाद्, रत्नप्रभायामिव धूल्यादेरुपद्रवः, अभ्रमं भ्रमरहितम्, तथा सूक्ष्मबोधेन समन्वितम् ॥१॥

विषयासंप्रयोगेऽन्तः–स्वरूपानुकृतिः किल।
प्रत्याहारो हृषीकाणामेतदायत्ततापलः ॥२॥

(विषयेति) विषयाणां चक्षुरादिग्राह्याणां रूपाऽऽदीनामसंप्रयोगे तद्ग्रहणाभिमुख्यत्यागेन स्वरूपमात्रावस्थाने सति अन्तःस्वरूपानुकृतिश्चित्तनिरोधनिरोध्यतासंपत्तिः किल हृषीकाणां चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्रत्याहारः। यत उक्तम्– "स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।" इति। (२-५४) कीदृशोऽयमित्याह–एतदायत्ततापल इन्द्रियवशीकरणैकफलः। अभ्यस्यमाने हि प्रत्याहारे तथायत्तानीन्द्रियाणि भवन्ति यथा बाह्यविषयाभिमुखतां नीयमानान्यपि न यान्तीति। तदुक्तम्– "ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणामिति।" (२-५५) ॥२॥

अतो ग्रन्थिविभेदेन, विवेकोपेतचेतसाम्।
त्रपायै भवचेष्टा स्याद्बालक्रीडोपमाऽखिला ॥३॥

(अत इति) अतः प्रत्याहाराद्, ग्रन्थिविभेदेन विवेकोपेतचेतसां भवचेष्टाऽखिला चक्रवर्त्यादिसुखरूपाऽपि बालक्रीडोपमा बालधूलीगृहक्रीडातुल्या, प्रकृत्यसुन्दरत्वास्थिरत्वाभ्यां त्रपायै स्यात् ॥३॥

तत्त्वमत्र परं ज्योतिर्ज्ञस्वभावैकमूर्तिकम्।
विकल्पतल्पमारूढः, शेषः पुनरुपप्लवः ॥४॥

(तत्त्वमिति) अत्र स्थिरायां ज्ञस्वभाव एका मूर्तिर्यस्य तत्तथा, ज्ञानाऽऽदिगुणभेदस्याऽपि व्यावहारिकत्वात्। पर ज्योतिरात्मरूपं तत्त्वं परमार्थसत्। शेषः पुनर्भवप्रपञ्चो विकल्पलक्षणं तल्पमारूढ उपप्लवो भ्रमविषयः, परिदृश्यमानरूपस्याभावात् ॥४॥

भवभोगिफणाऽऽभोगो, भोगोऽस्यामवभासते।
फलं ह्यनात्मधर्मत्वात्तुल्यं यत्पुण्यपापयोः ॥५॥

(भवेति) अस्यां स्थिरायाम्, भोग इन्द्रियार्थसुखसंबन्धः, भवभोगिफणाऽऽभोगः संसारसर्पफणाऽऽटोपोऽवभासते, बहुदुःखहेतुत्वात्। नानुपहत्य भूतानि भोगः संभवति, ततश्च पापम्, ततो दारुणदुःखपरम्परेति। धर्मप्रभवत्वाद्भोगो न दुःखदो भ–

विष्यतीत्यत्राऽऽह–यद् यस्मात् पुण्यपापयोर्द्वयोर्हि फलमनात्मधर्मत्वात्तुल्यम्। व्यवहारतः सुशीलत्वकुशीलत्वाभ्यां द्वयोर्विभेदेऽपि निश्चयतः संसारप्रवेशकत्वेन कुशीलत्वाविशेषात् ॥५॥

धर्मादपि भवन् भोगः, प्रायोऽनर्थाय देहिनाम्।
चन्दनादपि संभूतो, वहत्येव हुताशनः ॥६॥

(धर्मादिति) धर्मादपि भवन् भोगो देवलोकाऽऽदौ, प्रायो बाहुल्येन, अनर्थाय देहिनां, तथा प्रमादविधानात्। प्रायोग्रहणं शुद्धधर्माक्षेपिभोगनिरासार्थम्, तस्य प्रमादबीजत्वायोगात्। अत्यन्तानवद्यतीर्थकराऽऽदिफलशुद्धेः पुण्यशुद्ध्यादावागमाभिनिवेशाद्धर्मसारचित्तोपपत्तेरिति। सामान्यतो दृष्टान्तमाह– चन्दनादपि तथा शीतप्रकृतेः संभूतो दहत्येव हुताशनः, दहनस्य दाहस्वभावापरावृत्तेः। प्राय एतदेव न दहत्यपि कश्चित्, सत्यमन्त्राभिसंस्कृताद्दाहासिद्धेः सकललोकसिद्धत्वादिति वदति। युक्तं चैतत्, निश्चयतो येनांशेन ज्ञानाऽऽदिकं तेनांशेनाऽबन्धनमेव, येन च प्रमादाऽऽदिकं तेन बन्धनमेव। सम्यक्त्वाऽऽदीनां तीर्थकरनामकर्माऽदिबन्धकत्वस्याऽऽपि तदविनाभूतयोगकषायगतस्योपचारेणैव संभवाद्, इन्द्रियार्थसंबन्धाऽऽदिकं तूदासीनमेवेत्यन्यत्र विस्तरः ॥६॥

स्कन्धात्स्कन्धान्तराऽऽरोपे, भारस्येव न तात्त्विकी।
इच्छाया विरतिर्भोगात्तत्संस्कारानतिक्रमात् ॥७॥

(स्कन्धादिति) स्कन्धात् स्कन्धान्तराऽऽरोपे भारस्येव भोगादिच्छाया विरतिर्न तात्त्विकी, तत्संस्कारस्य कर्मबन्धजनितानिष्टभोगसंस्कारस्याऽनतिक्रमात्। तदतिक्रमो हि प्रतिपक्षभावनया तत्तनूकरणेन स्यात्, न तु विच्छेदेन प्रसुप्ततामात्रेण वेति। इत्थं भोगासारताविभावनेन स्थिरायां स्थैर्यमुपजायते, सत्यामस्यामपरैरपि योगाऽऽचार्यैरलौल्याऽऽदयो गुणाः प्रोच्यन्ते।

यथोक्तम्–

''अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं,
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम्।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च,
योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥१॥
मैत्र्यादियुक्तं विषयेषु चेतः,
प्रभाववद्धैर्यसमन्वितं च।
द्वन्द्वैरधृष्यत्वमभीष्टलाभो,
जनप्रियत्वं च तथा परं स्यात् ॥२॥
दोषव्यपायः परमा च तृप्ति–
रौचित्ययोगः समता च गुर्वी।
वैराऽऽदिनाशोऽथ ऋतम्भरा धी–
र्निष्पन्नयोगस्य तु चिह्नमेतत्'' ॥३॥ इति।

इहाप्येतदकृत्रिमं गुणजातमित एवाऽऽरभ्य विज्ञेयम् ॥७॥ द्वा० २४ द्वा०।

थिरावलिया स्त्री०(स्थिराऽऽवलिका) भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी०२ प्रति०।

थिरासयत्त (स्थिराऽऽशयत्व) चित्तस्थैर्ये, पं० सू०४ सूत्र०।

थिरीकरण न०(स्थिरीकरण) सीदतां चारित्राऽऽदिषु स्थैर्यहेतौ, जीत०। धर्माद् विषीदतां तत्र चारुवचनचातुर्यादवस्थापने, प्रव० ६ द्वार। पञ्चा०। दश०। ध०। स्वगतपरगतधर्मव्यापाराणां स्थिरत्वाऽऽधाने, पञ्चा०४ विव०। नि०चू०।

एतेसुं चिअ खमणाऽऽदिएसु सीदंति चोयणा जा तु।
बहुदोसे माणुस्से, मा सीद थिरीकरणमेयं ॥२८॥

सीदंतो णाम–जो थिरसंघयणो धितिसंपण्णो हट्ठो य ण उज्जमति खमणाऽऽदिएसु, एसा सीयणा। चोयणा प्रेरणा, नियोजनेत्यर्थः, तं पुण चोयणं करेति अवायं दंसेउं। जओ भण्णति–(बहुदोसे माणुस्से) दोसा अवाया। ते य ''दंडकसंसत्थगाहा।'' अहवा–जरसा–सकासस्रय-कुट्ठाऽऽदओ संपओगविप्पओगदोसेहि य जुत्तं। मा इति पडिसेहे। एवं बयणकिरियासहायत्तेणं संजमे थिरं करेति त्ति थिरीकरणं। सेसं कंठं। नि०चू०१उ०। ''जहा उज्जेणीए अज्जाऽऽसाढो कालं करेंते संजए अप्पाहेइ। मम दरिसावं दिज्जह, जहा उत्तरज्झयणे सुए, तं अक्खाणयं सव्वं तहेव। तम्हा सो जहा अज्जा–साढो थिरो कओ, एवं जेऽभविया ते थिरीकरेयव्वा।'' दश०३ अ०। दृढीकरणे, नि०चू० ४उ०।

थिरीकरणे आसाढो उदाहरणं–''उज्जेणीए आसाढो आयरिओ कालं करिंते साहू समाहीए णिज्जवेति, अप्पाहेति य जहा ममं दरिसावं देज्जह, ते य ण देंति। सो य उव्वेयं गतो पव्वज्जाए, तओ हाविओ य, सलिंगेण सिस्सेण य से ओही पउत्ता, दिट्ठो ओहावंतो आगतो, अंतरा य गामविउव्वणं णट्टियाकरणं, पच्छण्णयं सरयकालउवसंथारोपधावणं, अंतरा य अण्णगाममज्झा स तलागछद्दारगविउव्वणं जलमज्झे खेलणं आयरिओ पासित्ता ठितो। तेहिं समाणं वाणमंतरवसहिमुवागतो, पच्छा कालिया ते एगमेगस्स आभरणाणि हरिउमारद्धो, पच्छा तेसिं दिट्ठंतो कहयंति परिवाडीए।

पढमो भणति–

''जेण भिक्खं बलिं देमि, जेण पोसेमि णायए।
सा मे मही अक्कमति, जायं सरणतो भयं ॥१२४॥''

सो भणति–अतिपंडितो सि, मुंच आभरणाणि।

बितिओ वि आरद्धो, सो भणति–

''बहुस्सुयं चित्तकहं, गंगा वहइ पाडलं।
बुज्झमाणग! भद्दं ते, लप ता किंचि सुहासियं ॥१२५॥''

ततिओ भणति, सुणेहि अक्खाणयं–

''जेण रोहंति वीयाणि, जेण जीयंति कासगा।
तस्स मज्झे विवज्जामि, जायं सरणतो भयं ॥१२६॥
जमहं दिया य राओ य, तप्पेमि महुसप्पिसा।
तेण मे उडओ दड्ढो, जायं सरणतो भयं ॥१२७॥''

अह वा–

''वग्घस्स मएँ भीतेणं, पावओ सरणं कतो।
तेण दड्ढं ममं अंगं, जायं सरणओ भयं ॥१२८॥''

चउत्थो भणति–

''लंघणपवणसमत्थो, पुव्वं होऊण संपइं कीस?
दंडयगहियग्गहत्थो, वयंस! को णामओ वाही? ॥१२९॥''

सो भणइ–

''जेट्ठासाढेसु मासेसु, मारुओ सुहसीयलो।
तेण मे भज्जते अंगं, जायं सरणतो भयं ॥१३०॥
जेण जीवंति सत्ताणि, निरोहम्मि अणंतए।
तेण मे भज्जए अंगं, जायं सरणओ भयं ॥१३१॥''

पंचमो भणइ–

''जाव वुच्छं सुहं वुच्छं, पादवे निरुवद्दवे।
मूलाओ उट्ठिता वल्ली, जातं सरणतो भयं ॥१३२॥''

छट्ठो भणति–

''अब्भिंतरया खुभिया, पेल्लंति बाहिरा जणा।
दिसं भयह मायंगा ! जायं सरणतो भयं'' ॥१३३॥

अहवा–

''जत्थ राया सयं चोरो, भंडिओ य पुरोहिओ।
दिसं भयह णायरिया ! जायं सरणओ भयं'' ॥१३४॥

अहवा–

''अइरुग्गयए य सूरिए, चेइयथूभगए य वायसे।
भित्तीगयए य आयवे, सहि ! सुहिओ हु जणो न बुज्झइ॥१३५॥
तुम एव य अम्म हे ! लवे, मा हु विमाणय जक्खमागयं।
जक्खाहडए हु तायए, अण्णिं दाणि विमग्ग तायय॥१३६॥
नवमासय कुच्छिधालिया, पासवणे पुलिसे य मद्दिए।
धूया मे गेहिए हडे, सलणए असलणए य मे जायए'' ॥१३७॥

एवं सव्वाभरणाणि घेत्तूण पयाओ, अंतरा य संजतीविउव्वणं तं दट्ठूण भणति–

''सयमेव य लुक्ख लोविया,
अप्पणिआ य वियड्डि खाणिया।
ओवाइयलद्धओ य सि,
किं छेला ! बेबेति वाससी?'' ॥१३८॥
''कडए ते कुंडले य ते,
अंजिअक्खि ! तिलयते य ते।
पवयणस्स उड्डाहकारिए !
दुट्ठा सेहि ! कतोऽसि आगता ? ॥१३९॥''
''राईसरिसवमित्ताणि, परछिद्दाणि पाससि।
अप्पणो विल्लमित्ताणि, पासंतो वि ण पाससि'' ॥१४०॥

सा य पडिभणति–

''समणोऽसि संजतो असि, बंभयारी समलोट्ठकंचणे।
वेहारियवायओ य ते, जिट्ठज्ज ! किं ते पडिग्गहे? ॥१४१॥''

(उत्त० नि०२अ०) (एतासां गाथानामर्थः ''दंसणपरीसह'' शब्देऽग्रे वक्ष्यते) पुणरवि य पयाओ सायरूवखंधावार विउव्वणं, पडिबुद्धो य। जहा तेण देवेण तस्स आसाढभूतिस्स थिरीकरणं कतं, एवं जहासत्तिओ थिरीकरणं कायव्वं।'' नि०चू०१ उ०।

थिल्लि स्त्री०(थिल्लि) वेगसराऽऽदिद्वयविनिर्मिते यानीविशेषे, दशा० ६ अ०। सूत्र०। जं०। रा०। लाटानां यत् 'अडपल्लाणं' रूढं, तदन्यविषयेषु थिल्लिरित्युच्यते। जी०३ प्रति०४ उ०। औ०। ज्ञा०। भ०।

थिवथिवतं त्रि०(स्तिवस्तिवत्) द्रिग् द्विगायमाने, तं०। ''थिविथिवियं वीभच्छं।'' थिविथिवायमानैरन्त्रैर्वी भत्सं, रौद्रमित्यर्थः। तं०।

थिवुग पुं०(स्तिवुक) पानीयविन्दौ, आ०चू०१ अ०। आ०म०। प्रज्ञा०। दर्श०। विशे०।

थिवुगसंकम पुं०(स्तिवुकसंक्रम) ''पिंडपगईण जा उदयसंगया तीए अणुदयगयाउ। संकामिऊण वेयइ जं एसो थिवुगसंकामो ॥७६॥'' इत्युक्तलक्षणे संक्रमभेदे, पं०सं०५ द्वार। क०प्र०।

थिहु स्त्री०(स्तिभु) साधारणबादरवनस्पतिकायभेदे, जी०१ प्रति०।

थीण त्रि०(स्त्थान) संघातमापन्ने, स्था०६ ठा०।

थीणगिद्धि स्त्री०(स्त्यानगृद्धि) स्त्याना बहुत्वेन सङ्घातमापन्ना गृद्धिरभिकाङ्क्षा जाग्रदवस्थाऽध्यसवसितार्थसाधनविषया यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानगृद्धिः, तस्यां हि सत्यां जाग्रदवस्थाऽध्यवसितमर्थमुत्थाय साधयति, स्त्याना वा पिण्डीभूताऋद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्यामिति स्त्यानर्द्धिरित्यप्युच्यते। तमावे हि स्वसुः केशवार्द्धबलसदृशी शक्तिर्भवति। अथवा–स्त्याना जडी–भूता चैतन्यर्द्धिरस्यामिति स्त्यानर्द्धिरिति, तादृशविपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः, स्त्यानगृद्धिरिति वा। स्था०६ ठा०। प्रव०। उत्त०। **''गोणाऽऽदयः'' ॥८॥२।१७४॥** इति प्राकृतसूत्रेण थीणद्धीतिनिपातः। कर्म १ कर्म०। निद्राविशेषे, कर्म०६ कर्म०।

थीणद्धि स्त्री०(स्त्यानर्द्धि) स्त्याना पिण्डीभूता ऋद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानर्द्धिः। तद्भावे हि उत्कर्षतः प्रथमसंहननस्य केशवार्द्धबलसदृशी शक्तिर्भवति, श्रूयते चैवं कथानक आगमे–क्वचित्प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको विपाकप्राप्तस्त्यानर्द्धिनिद्रासहितो द्विरदेन दिवा स्खलीकृतः, ततः स तस्मिन् बद्धाऽभिनिवेशो रजन्यां स्त्यानर्द्धयुदये वर्तमानः समुत्थाय तद्दन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारि च प्रक्षिप्य पुनः सुप्तवान् इत्यादि। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः। (६ गा०) कर्म०६ कर्म०। ग०। पं०सं०। जीत०।

स्त्यानर्द्धिदृष्टान्तानाह–

पोग्गलमोयगफरुसग–दंते बडसालभंजणे सूत्ते।
एतेहि पुणो तस्सा, विगिंचणा होति जयणए ॥१४०॥

पुद्गलं पिशितं, मोदको लड्डुकः, फरुसकः कुम्भकारो, दन्ताः प्रतीताः वटशालाभञ्जनम्, एतानि पञ्चोदाहरणानि सुप्ते स्त्यानर्द्धिनिद्रायां भवन्ति। एतैरेतद् दृष्टान्तोक्तैश्चिह्नैः स्त्यानर्द्धिं परिज्ञाय, तस्य स्त्यानर्द्धिमतः साधोर्यतनया विवेचनं परित्यागः कर्त्तव्यो भवति।

तत्र पुद्गलदृष्टान्तमाह–

पिसियासि पुव्व महिसं, विगिंचियं दिस्स तत्थ निसि गंतुं।
अण्णं हंतुं खायति, उवस्सयं सेसगं णेति ॥१४१॥

''एगम्मि गामे एगो कुडुंबी पक्काणि य तलियाणि य निम्मणेसु अणेगसो मंसप्पगारे भक्खेइ। सो अ तहारूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोउं पव्वाइओ गामाइसु विहरइ। तेण य एगत्थ गामे महिसो विगिंचमाणो दिट्ठो। तस्स मंसे अभिलासो जातो। तेण अभिलासेण अव्वोच्छित्तेणेव भिक्खू हिंडित्ता अव्वुच्छिऊण बियारभूमिं गतो। चरिमा सुत्तपोरिसी कया। आवस्सयं काउं पातोसिया पोरिसी विहिता। तदभिलासी चेव सुत्तो। सुत्तस्सेव थीणद्धी जाया। सो उट्ठिओ अणाभोगनिव्वत्तिएणं कारणेणं गतो महिसमंडलं। अत्रं महिसं हंतुं भक्खित्ता सेसं आनेतुं उवस्सयस्स उवरिं ठवितं। पच्चूसे गुरूणं आलोएइ–एरिसो सुविणो दिट्ठो। साहूहिं दिसावलोकं करेंतेहिं दिट्ठं कुणिमं, जाणियं–जहा एस थीणद्धी, ताहे लिंगपारं–चियं पच्छित्तं से दिन्नं। अथ गाथाऽक्षरार्थः पिशिताशी कश्चित्पूर्वं गृहवासे आसीत्। स च महिषं विकर्तितं दृष्ट्वा संजाततद्भक्षणाभिलाषस्तत्र महिषमण्डले निशि रात्रौ गत्वा अन्ये महिषं हत्वा खादति, शेषमुद्धरित-मुपाश्रये नयति।

मोहकदृष्टान्तमाह–

मोयगभत्तमलद्धुं, भंतु कवाडे घरस्स निसि खाति।
भाणं च भरेऊणं, आगतो आवस्सए विगडे ॥१४२॥

एकः साधुर्भिक्षां हिण्डमानो मोदकभक्तं पश्यति। तच्च सुचिरमवलोकितमवभाषितं च, परं न लब्धं, ततस्तदलब्ध्वा तद् व्यवसायपरिणत एव प्रसुप्तः। रात्रौ तत्र गत्वा गृहस्य कपाटौ भङ्क्त्वा मोदकान् भक्षयति। शेषैर्मोदकैर्भाजनं भृत्वा समागतः। प्राभातिके आवश्यके विकटयति–ईदृशः स्वप्नो मया दृष्ट इति। ततः प्रभाते मोदकभृतभाजनं दृष्ट्वा ज्ञातम् यथा स्त्यानर्द्धिरिति, तस्यापि लिङ्गपाराञ्चिकं दत्तम्। शेषं पुद्गलाऽऽख्यानकवद्वक्तव्यम्।

अथ फरुसकदृष्टान्तमाह–

अवरो फरुसगमुंडो, मट्टियपिंडे व छिंदिउं सीसे।
एगंते अवयज्झइ, पासुत्ता णं विगडणा य ॥१४३॥

अपरः कश्चित् फरुसकः कुम्भकारः क्वापि गच्छे मुण्डो जातः, प्रव्रजित इत्यर्थः। तस्य रात्रौ प्रसुप्तस्य स्त्यानर्द्धिरुदीर्णा। स च पूर्वं मृत्तिकाच्छेदाभ्यासी, ततो मृत्तिकापिण्डानीव समीपप्रसुप्तानां साधूनां शिरांसि छेत्तुमारब्धः। तानि च शिरांसि, कडेवराणि चैकान्ते अपोज्झति। शेषाः साधवोऽपभृताः। स च भूयोऽपि प्रसुप्तः ततः प्रभाते ईदृशः स्वप्नो मया दृष्ट इति विकटना कृता। प्रभाते च साधूनां शिरांसि, कडेवराणि च पृथक् भूतानि दृष्ट्वा ज्ञातम्–यथा स्त्यानर्द्धिरिति लिङ्गपाराञ्चिकं दत्तम्।

अथ दन्तदृष्टान्तमाह–

अवरो वि धाडिओ मत्तहत्थिणा पुरकवाडे भंतूण।
तस्सुक्खणित्तु दंते, वसहीबाहिं विगडणा य ॥१४४॥

अपरः कोऽपि साधुर्गृहस्थभावे मत्तहस्तिना शुण्डामुत्क्षिप्य धावता धाटितः पलायमानो महता कष्टेन उज्झितः, एष चूर्ण्यभिप्रायः। निशीथचूर्णिकृता तु–''एगो साहू गोयरनिग्गतो हत्थिणा पक्खित्तो।'' इति लिखितम्। एवमुभयथाऽपि हस्तिकृतं पराभवं स्मृत्वा स साधुस्तस्योपरि प्रद्वेषमापन्नः प्रसुप्तः। उदीर्णस्त्यानर्द्धिश्चोत्थाय पुरकपाटौ भङ्क्त्वा हस्तिशालां गत्वा तस्य हस्तिनो व्यापादनं कृत्वा दन्तानुत्खन्य वसतेर्बहिः स्थापयित्वा भूयोऽपि सुप्तः। प्रभाते च विकटना– स्वप्नमालोचयति। साधुभिश्च दिगवलोकनं कुर्वाणैर्गजदन्तावीक्षितौ। ततः स्त्यानर्द्धिमान् असाविति कृत्वा लिङ्गपाराञ्चिकः कृतः।

वटशाखाभञ्जनदृष्टान्तमाह–

उब्भामग वडसालेण घट्टितो केइ पुव्ववणहत्थी।
वडसालभंजणाऽऽणण, उस्सगाऽऽलोयणा गोसे ॥१४५॥

एकः साधुरुद् भ्रामकः भिक्षाचर्यां गतः, तत्र ग्रामद्वयस्यापान्तराले वटवृक्षो महान् विद्यते, स च साधुर्गाढतरमुष्णाभिहतो भरितभाजनस्तृषितबुभुक्षित ईर्यापयुक्तो वेगेनाऽऽगच्छत्। (वडसालेण त्ति) लिङ्गव्यत्ययाद् वटपादपस्य शाखया शिरसि घट्टितः सुष्ठुतरं परितापितः, ततो वटस्योपरि प्रद्वेषमुपगतः, तदध्यवसायपरिणतश्च प्रसुप्तः। उदीर्णस्त्यानर्द्धिश्चोत्थाय तत्र गत्वा वटपादपं भङ्क्त्वा तन्मूलतटीयां शाखामानीयोपाश्रयोपरि स्थापितवान्। उत्सर्गे च आवश्यककायोत्सर्गत्रिके कृते, तथैव गुरूणामालोचयति, ततो दिगवलोके कृते तथैव ज्ञातम्, लिङ्गपाराञ्चिकश्च कृतः। केचिदाचार्या ब्रुवते–सप्तमभवे वनहस्ती बभूव, ततो मनुजभवमागतस्य प्रव्रजितस्योदीर्णस्त्यानर्द्धेः पूर्वभवाभ्यासाद्वटशालाभञ्जनमभवत्। शेषं प्राग्वत्।

कथं पुनरसौ परित्यजनीय इत्याह–

केसवअद्धबलं पण्णवेंति मुय लिंग णत्थि तुह चरणं।
णेच्छस्स हरइ संघो, ण वि एक्को मा पदोसं तु ॥१४६॥

केशवो वासुदेवस्तस्य बलादर्द्धबलं स्त्यानर्द्धिमतो भवतीति तीर्थकृदादयः प्रज्ञापयन्ति। एतच्च प्रथमसंहननिनामङ्गीकृत्योक्तम्। इत्यादि। बृ०४ उ०।

थिणद्धितिग न०(स्त्यानर्द्धित्रिक) निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणे स्त्यानर्द्ध्युपलक्षिते त्रिके, कर्म०३ कर्म०। **''स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे''** ॥८।२।४५॥ इति स्तस्य थः। प्रा०२ पाद।

थुंडूकिअ न०(देशी) दरकुपितवदनसंकोचने, मौने च। दे०ना० ५ वर्ग ३१ गाथा।

थुइ स्त्री०(स्तुति) स्तवने, आव०२ अ०। सूत्र०। स्तुतिर्द्विधाप्रणामरूपा, असाधारण गुणोत्कीर्त्तनरूपा च। नं०। लोकोत्तरसद् भूततीर्थकृद् गुणवर्णनपरायां (प्रव० १ द्वार) एकश्लोके प्रमाणायां (पञ्चा०४ विव०) ऊर्द्धीभूय जघन्येन चतुष्टयस्तुतिप्रकथने, मध्यमेनाष्टस्तुतिकथने, उत्कृष्टेन १०८ स्तुतिकथने, उत्त० १४ अ०। ध०। नि०चू०। अनुशिष्टौ, व्य०१ उ०। संघा०। (स्तुतिस्तवयोर्विशेषः 'थय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २३८३ पृष्ठे उक्तः) चैत्यवन्दनायां यत्कायोत्सर्गानन्तरं भण्यते तत्स्तुतय इति रूढाः। (तास्तिस्रश्चतस्रो वा दीयन्ते इति 'चेइयवंदण' शब्दे तृतीयभागे १३१२ पृष्ठे स्तुतिप्रस्तावे प्रत्यपादि) तिस्रः स्तुतीरार्हतीर्व्याख्यायाऽऽह हरिभद्रसूरिःतिस्रः स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते, केचित्तु अन्या अपि पठन्ति; न च तत्र नियम इति न तद् व्याख्यानक्रिया। एवमेतत्पठितोपचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति–''वेयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मद्दिट्ठि समाहिगराणं करेमि काउस्सग्गं।'' इत्यादि यावद् ''वोसिरामि।'' व्याख्यापूर्ववत्, नवरं वैयावृत्यकराणां प्रवचनार्थं व्यापृतभावानां यथाऽम्बाकूष्मांड्यादीनां शान्तिकराणां क्षुद्रोपद्रवेषु सम्यग् दृष्टीनां सामान्येनाऽन्येषां समाधिकराणां स्वपरयोस्तेषामेव स्वरूपमेतदेवैषामिति वृद्धसंप्रदायः। एतेषां संबन्धिनं, सप्तम्यर्थे वा षष्ठी, एतद्विषयम्–एतानाश्रित्य, करोमि कायोत्सर्गमिति। कायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत्, स्तुतिश्च, नवरमेषां वैयावृत्यकराणां तथा तद्भाववृद्धेरित्युक्तप्रायं, तदपरिज्ञानेऽप्यस्मात् तच्छुभसिद्धाविदमेव वचनं ज्ञापकं, न चासिद्धमेतद्, अभिचारुकाऽऽदौ तथेक्षणात्, सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवर्त्तितव्यमित्यैदम्पर्यमस्य, तदेत् सकलयोगबीजं वन्दनाऽऽदिप्रत्ययमित्यादि न पठ्यते, अपि त्वन्यत्रोच्छ्वसितेनेत्यादि, तेषामविरतत्वात्, सामान्यप्रवृत्तेरित्थमेवोपकारदर्शनात्, वचनप्रामाण्यादिति व्याख्यातम् ''सिद्धेभ्यः'' इत्यादिसूत्रम्। ल०। आव०। ध०।

''ता उस्सग्गं किच्चा, वितीयविसिलोगिया य इह थुत्ति।
भण्णइ अहवा वड्ढमाणाइसव्वजिणिंदाण ॥२६॥
पुव्वुत्तकयं विहिणा, कड्ढंति सुत्तत्थवं च संविग्गा।
सुअस्स भगवं नाणं, उस्सग्गठिओ थुणइ संथुत्तिं ॥२७॥
तत्तिया अहवा वड्ढ माणा तिसिलोगिया य सुहवण्णा।
कम्मस्स निज्जरट्ठं, महया सद्देण घोसंति ॥२८॥
ठिच्चा तु पुव्वविहिणा, सक्कथयं कहइ जाव णिहाणं।''(२९) वन्द०प०।
''तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोइआ।
ताव तत्थ अणुण्णायं, कारणेण परेण वि ॥१॥''

तिस्रः स्तुतयः कायोत्सर्गानन्तरं या दीयन्ते ता यावत्कर्षति, भणतीत्यर्थः। किंविशिष्टाः? तत्राऽऽह–त्रिश्लोकिकाः त्रयः श्लोकाः छन्दोविशेषरूपा आधिक्येन यासु तास्तथा। ''सिद्धाणं बुद्धाणं०'' इत्येकः श्लोकः। ''जो देवाण वि०'' इति द्वितीयः। ''एक्को वि नमोक्कारो०'' इति तृतीय इति। ध०२ अधि०। बृ०। ओघ०। प्रति०।

एतैर्व्याघातकारणैः समुपस्थितैः देशतः सर्वतो वाऽऽवश्यकमकृत्वा गच्छन्ति। तत्र देशतः कथमकृत्वेत्यत आह–

थुतिमंगलकितिकम्मे, काउस्सग्गे य तिविहकिइकम्मे।
तत्तो य पडिक्कमणे, आलोयणयाएँ कितिकम्मे ॥

स्तुतिमङ्गलमकृत्वा, स्तुतिमङ्गलाकरणे चाऽयं विधिः–आवश्यके समाप्ते द्वे स्तुती उच्चार्य तृतीयां स्तुतिमकृत्वा अभिशय्यां गच्छन्ति। तत्र च गत्वा ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य तृतीयां स्तुतिं ददति। अथवा–आवश्यके समाप्ते एकां स्तुतिं कृत्वा द्वे स्तुती अभिशय्यां गत्वा पूर्वविधिनोच्चरन्ति। अथवा–समाप्ते आवश्यकेऽभिशय्यां गत्वा तत्र तिस्रः स्तुतीर्ददति। अथवा–स्तुतिभ्यो यद् वक्ति तत् कृतिकर्म, तस्मिन्नकृते तेऽभिशय्यां गत्वा तत्रैर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य मुखवस्त्रिकां च प्रत्युपेक्ष्य कृतिकर्म्म कृत्वा स्तुतीर्ददति। व्य०३उ०। (इत्यादि प्र० भागे ७२४ पृष्ठे विस्तरः)

आवस्सय काऊणं, जिणोवइट्ठं गुरूवएसेणं।
तिन्नि थुती पडिलेहा, कालस्स विही इमो तत्थ ॥

आवश्यके जिनोपदिष्टं गुरूपदेशेन कृत्वा पर्यन्ते तिस्रः स्तुतयः प्रवर्त्तमाना वक्तव्याः। तद्यथा–प्रथमा एकश्लोकिका, द्वितीया द्विश्लोकिका, तृतीया त्रिश्लोकिका। इत्यादि। व्य०७ उ०। पं०व०। पञ्चा०।

सुकयं आणत्तिं पि व, लोए काऊण सुकयकिइकिम्मा।
बड्ढंतीओ थुइओ, गुरुथुइगहणे कए तिण्णि ॥६॥

सुकृतामाज्ञामिव लोके कृत्वा कश्चिद्विनीतः सुकृतकृतिकर्म्मा सन्निवेदयत्येवमेतदपि द्रष्टव्यम्। तदनु कायप्रमार्ज्जनोत्तरकालं वर्द्धमानाः स्तुतयो रूपराः शब्दतश्च गुरुस्तुतिग्रहणे कृते सति तिस्र–स्तिस्रस्त्रो भवन्ति। इति गाथाऽर्थः॥ पं०व०२ द्वार।

निस्सकडमनिस्सकडे, वि चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि।
वेलं च चेइयाणि य, नाउं एक्किक्किया वा वि ॥

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे, अनिश्राकृते च तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते, अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां, चैत्यानि वा ज्ञात्वा, प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति। बृ०१ उ०। ('वंदण' शब्दे विशेषो वक्ष्यते) ''तं काउं आवस्सगं अण्णे तिण्णि थुतीओ करेंति। अहवा–एगा एकसिलोगा, बितिया विसिलोगा, ततिया तिसिलोगा।'' आ०चू० ४ अ०। आव०। सम्पूर्णचैत्यवन्दना स्तुतित्रयेण संपूर्णा भवति। पञ्चा०३ विव०। (चतुर्थस्तु तिस्तु किलाऽर्वाचनेति 'चेइयवंदण' शब्दे १३१२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (स्तुति–विषये विशेषः 'चेइयवंदण' शब्दे १३२० पृष्ठे तृतीयभागे द्रष्टव्यः) ''सुयस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए।'' इत्यादि प्राग्वत् यावद् ''वोसिरामि, एयं सुत्तं पठित्ता पण्णवीसुस्सासमेव काउस्सग्गं करेंति।'' आह च–''सुयनाणस्स चउत्थो त्ति ततो नमोक्कारेण पारित्ता। विसुद्धचरणदंसणसुयातियारा मंगलनिमित्तं चरणदंसणसुयदेसगाणं सिद्धाणं थुतिं कड्ढंति, भणियं च सिद्धाणं थुईए।'' इति। सा चेयं स्तुतिः–''सिद्धाणं बुद्धाणं०'' इत्यादि। आव०५ अ०।

थुइजुयल न०(स्तुतियुगल) समयपरिभाषया स्तुतिचतुष्टये, पञ्चा० ३ विव०।

थुइमंगल न०(स्तुतिमङ्गल) प्रतिक्रमणस्यान्ते स्तुतित्रयभणने, ओघ०।

थुइवुड्ढि स्त्री०(स्तुतिवृद्धि) प्रवर्द्धमानस्तुतिपरिपाटे, पञ्चा० ८ विव०।

थुक्कार पुं०(थूत्कार) महता शब्देन थुगितिकरणे, रा०।

थुक्किअ न०(देशी) उन्नते, दे०ना० ५ वर्ग २८ गाथा।

थुड न०(स्थुड) वनस्पतीनां स्कन्धभागे, स्था० १० ठा०।

थुड्डहीर न०(देशी) चामरे, दे०ना०५ वर्ग २८ गाथा।

थुणण न०(स्तवन) स्तोत्रैर्गुणकीर्तने, आचा०२ श्रु०३ चू० १अ०। दशा०।

थुण्ण पुं०(देशी) दूते, दे०ना० ५ वर्ग २७ गाथा।

थुरुणुल्लणय न०(देशी) शय्यायाम्, दे०ना० ५ वर्ग २८ गाथा।

थुल्लम पुं०(देशी) पटकुट्याम्, दे०ना० ५ वर्ग २८ गाथा।

थुल्ल त्रि०(थोर) रस्य लः। **''सेवाऽऽदौ वा''** ॥८।२।९९॥ इति लद्वित्वम्। प्रा०२ पाद। परिवर्तने, दे०ना० ५ वर्ग २७ गाथा।

***स्थूल** त्रि०। मोट्टे, आचा०२ श्रु०१ चू०४ अ०२उ०।

थुवअ त्रि०(स्तावक) ''उः सास्नास्तावके'' ॥८।१।७५॥ इति आदेरात उत्वम्। स्तोतरि, प्रा०१ पाद।

थुव्वंत त्रि०(स्तूयमान) **''न वा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक्''** ॥८।४।२४२॥ इति भावे कर्मणि वा वर्त्तमानस्य ष्टुधातोरन्ते द्विरुक्तो वकाराऽऽगमो वा। प्रा०४ पाद। अभिनन्द्यमाने, भ० १५ श०।

थू अव्य०(थू) **''थू कुत्सायाम्''** ॥८।२।२००॥ 'थू' इति कुत्सायां प्रयोक्तव्यम्। कुत्सायाम्, ''थू निल्लज्जो लोओ।'' प्रा० २ पाद।

थूण पुं०(स्तेन) **''ऊः स्तेने वा''** ॥८।१।१४७॥ इति स्तेनशब्दस्यैतो वा ऊत्वम्। 'थूणो।' पक्षे–'थेणो।' चौरे, प्रा०१ पाद। स्तेने, दे०ना० ५ वर्ग २९ गाथा।

थूणा स्त्री०(स्थूणा) छादनाऽऽदिस्तम्भनार्थछल्लीकाष्ठे, नि०चू० १३ उ० ''थूणा णं भंते ! उड्ढं ऊसिया समाणी जावइयं खेत्तं ओगाहित्ता णं चिट्ठेति, तिरियं पि य णं आयता समाणी तावइयं चेव खेत्तं ओगाहित्ता णं चिट्ठइ? हंता गोयमा ! थूणा णं उड्ढं ऊसिया तं चेव चिट्ठइ।'' प्रज्ञा०१५ पद। पूर्वजनपदभेदे, पूर्वस्यां दिशि स्थूणाविषयं यावद् विहरेत्। बृ०१उ० अश्वे, दे०ना० ५ वर्ग २६ गाथा।

थूणाग पुं०(स्थूणाक) स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र एकः सामुद्रिकः छद्मस्थविहरतो वीरजिनस्य लक्षणानि दृष्ट्वा विस्मितः शक्रेण प्रत्युक्तः। आ०म०१ अ०१ खण्ड।

थूणामंडव पुं०(स्थूणामण्डप) स्थूणाप्रधान वस्त्राऽऽच्छादिते मण्डपे, ज्ञा०१ श्रु०३अ०।

थूभ पुं०(स्तूप) संघातावयविनि, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ०। पीठे, जं०२ वक्ष०। रा०। ऋषभभगवद्देहाऽऽदिदग्धस्थानेषु भरतेन स्तूपाः प्रावर्तन्त। आचा०(?)। रा०। आ०क०। व्य०। ('आयारपकप्प' शब्दे द्वितीयभागे ३५५ पृष्ठे देवताविकुर्वितस्तूपैरनुपदैर्विवादो दर्शितः) समूहे, विशे०। ''थूभा पुण विच्चगा होंति।'' ''इट्ठगादि--वियावच्चा थूभो भण्णति।'' नि०चू०३उ०।

थूभकरंड न०(स्तूपकरण्ड) ऋषभपुराऽऽसन्ने धन्ययक्षाऽऽवासे उद्याने, विपा०२ श्रु०२अ०।

थूभमह पुं०(स्तूपमह) स्तूपस्य विशिष्टे काले पूजायाम्, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०२उ०।

थूभिया स्त्री०(स्तूपिका) लघुशिखरे, जं०१ वक्ष०। जी०। रा०। ज्ञा०।

थूरी स्त्री०(देशी) तन्तुवायोपकरणे, दे०ना०५ वर्ग २८ गाथा।

थूल त्रि०(स्थूल) प्रमाणतः मौल्यतश्च (आचा०१ श्रु०५ अ०२ उ०। प्रश्न०) महति, प्रश्न०५ संव० द्वार। बृहति, सूत्र० १ श्रु० १अ०१उ०। बृहत्काये उपचितमांसशोणिते, सूत्र०८ श्रु०६अ०। उत्त०। अनिपुणे, उत्त०१अ०।

थूलगअदिण्णादाण न०(स्थूलादत्ताऽऽदान) स्थूलं परिस्थूलबिषयत्वेन प्रसिद्धमिदं चौर्याऽऽरोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमदत्ताऽऽदानम्। आव०६ अ०। तृतीयेऽणुव्रते, आव०। परिस्थूलविषयं चौर्याऽऽरोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमिति दुष्टाध्यवसायपूर्वकं स्थूलं, विपरीतमितरत्, स्थूलमेव स्थूलकं, स्थूलकं च तत् अदत्तादानं चेति समासः। आव०६ अ०।

थूलगअदिण्णादाणवेरमण न०(स्थूलकादत्ताऽऽदानविरमण) श्रावकस्य तृतीयेऽणुव्रते, आव०६ अ०। ('अदिण्णादाणवेरमण' शब्दे प्रथमभागे ५४० पृष्ठे व्याख्यातमिदम्)

थूलघोण पुं०(देशी) शूकरे, दे०ना० ५ वर्ग २६ गाथा।

थूलत्थंतरणासता स्त्री०(स्थूलार्थान्तरनाशता) स्थूलार्थान्तरघटाऽऽदिनाशतायाम्, विशेषस्य सामान्यस्वरूपादनित्यत्वे, द्रव्या० ११ अध्या०।

थूलगपाण पुं०(स्थूलकप्राण) द्वीन्द्रियाऽऽदिजीवे, आ०चू०६ अ०।

थूलगपाणवहविरयाइ पुं०(स्थूलकप्राणवधविरत्यादि) असूक्ष्मसत्त्वहिंसाविरमणप्रभृतौ, पञ्चा० ६ विव०।

थूलगपाणवहवेरमण न०(स्थूलकप्राणवधविरमण) प्रथमाणुव्रते, पञ्चा०। स्थूला असूक्ष्माः कुदृष्टिभिरपि प्राणित्वेन प्रायः प्रतीयमानत्वाद् द्वीन्द्रियाऽऽदयः, त एव स्थूलकाः। एतेनैकेन्द्रियाणां व्युदासः। सम्यग्दृष्टिभिरेव प्रायः प्रतीयमानत्वेन तेषां सूक्ष्मत्वात्। प्राणा उच्छ्वासाऽऽदयः, तद्योगात्प्राणाः प्राणिनः, अनेनाचेतनानां व्युदासः, तद्वधस्येहाप्रत्याख्येयत्वात्। तेषां वधो हिंसा, तस्य विरमणं विरतिः स्थूलकप्राणवधविरमणम्। पञ्चा०१ विव०।

थूलगपाणाइवाय पुं०(स्थूलकप्राणातिपात) स्थूला एव स्थूलकाः, प्राणा इन्द्रियाऽऽदयः, तेषामतिपातः स्थूलकप्राणातिपातः। द्वीन्द्रियाऽऽदिजीववधे, आव०६ अ०।

थूलगपाणाइवायवेरमण न०(स्थूलकप्राणातिपातविरमण) प्रथमाणुव्रते, आव०६ अ०। आ०चू०। ('पाणाइवायवेरमण' शब्दे व्याख्यास्यते)

थूलगमुसावाय पुं०(स्थूलकमृषावाद) परिस्थूलवस्तुविषयेऽतिपुष्टविवक्षासमुद्भवः स्थूलः, स्थूल एव स्थूलकः, स्थूलकश्चाऽसौ मृषावादश्चेति समासः। आव०६ अ०। श्रा०। स्थूलानृतवादे, पञ्चा०१ विव०।

थूलगमुसावायवेरमण न०(स्थूलकमृषावादविरमण) द्वितीयाणुव्रते, आव०६ अ०। ('मुसावाय' शब्दे व्याख्यास्यते)

थूलभद्द पुं०(स्थूलभद्र) शकटालपुत्रे आर्यसंभूतविजयस्य शिष्ये, कल्प०८ क्षण।

''अथाभून्नवमे नन्दे, मन्त्रिराट् कल्पवंशजः। (५६)
शकटालः सुतौ तस्य, स्थूलभद्रश्रियौ कौ।
यक्षा च यक्षदिन्ना च, भूताऽथ भूतदिन्नका ॥५७॥
सेणा वेणा तथा रेणा, तत्पुत्र्यः सप्त चाभवन्।
द्विजो वररुचिस्त्वासीन्नवनन्दं स शंसति ॥५८॥
अष्टोत्तरशतश्लोकैर्नन्दो मन्त्रिणमीक्षते।
मन्त्री न किञ्चिदप्यूचे, तद्भार्यामथ सोऽस्तवीत् ॥५९॥
पृष्टस्तयोचे त्वद्भर्त्ता, मत्काव्यानि प्रशंसतु।
उक्तस्तदर्थं मन्त्र्यूचे, न मिथ्यात्वं स्तवीम्यहम् ॥६०॥
मुहुस्तयोपरुद्धोऽवक्, स तदुक्तं सुभाषितम्।
दीनाराष्टशतं नन्दस्तस्यादात्प्रत्यहं ततः ॥६१॥
मन्त्र्यूचेऽस्येश ! किं दत्त, सोऽवदत् त्वत्प्रशंसया।
मन्त्र्यूचे न प्रशंसामि, लौकिकानि पठत्यसौ ॥६२॥
मत्पुत्र्योऽपि पठन्त्यूचे, राज्ञा स्वः पाठयेः सुताः।
एकश्रुताऽऽदिपाठास्ताः, मन्त्रिणाऽन्तर्हिता धृताः ॥६३॥
राजसौधे द्विजोऽथाऽऽगात्तास्तत्पाठेऽपठन् क्रमात्।
राज्ञा वररुचेर्द्वारं, वारितं स ततो निशि ॥६४॥
मुक्त्वाऽम्बुयन्त्रे दीनारान्, गङ्गान्तः स्तौति सोऽह्नि ताम्।
हत्वांऽह्निणा तदादाय, दत्ते गङ्गेति सोऽवदत् ॥६५॥
तच्छ्रुत्वा पार्थिवोऽमात्यमूचे दत्तेऽस्य जाह्नवी।
मन्त्र्यूचे मयि तत्रस्थे, चेद्दास्यति ददाति तत् ॥६६॥
छन्नमादापयन्मन्त्री, तद् द्विजस्थापितं जले।
प्रातर्नन्दोऽगमत्तत्राऽश्रौषीन्मन्त्रियुतः स्तवम् ॥६७॥
स्तवान्तेऽन्तर्जलं मग्नः, किञ्चिन्न प्राप स द्विजः।

मन्त्री पोट्टलिकां राज्ञः, प्रदर्श्यादत्त तस्य ताम् ॥६८॥
मायीत्युद्भावितोऽयासीन्मन्त्रिच्छिद्राणि वीक्षते।
श्रीयकस्याथ वीवाहे, माङ्गलिक्याय भूभुजः ॥६९॥
सामग्रीं क्रियमाणां सोऽज्ञासीद्वासीमुखात्ततः।
क्रीडन्ति डिम्भरूपाणि, दायं दायं सुखाऽऽदिकाम् ॥७०॥
अपाठयद्वररुचिः, सर्वेष्वपि पथेष्विदम्।
''तं न विजाणइ लोओ, जं सगडालो करेसिइ।
नंदराउं मारेवि करि, सिरियउं रज्जे ठवेसइ'' ॥७१॥
राजपाट्यां नृपः श्रुत्वा, तच्चारैर्वीक्ष्य चाकुपत्।
नमतो मन्त्रिणः क्ष्माभृत्ततो जज्ञे पराङ्मुखः ॥७२॥
मन्त्री गृहं गतः पुत्रमूचे भोः! मम मृत्युना।
कुटुम्बं जीवतादेतन्नो चेत्सर्वं विनङ्क्ष्यति ॥७३॥
ततो नृपं नमन्तं मां, वत्स! खड्गेन घातयेः।
आः पापमित्यवादीत्स, मन्त्र्यूचे मां विषान्मृतम् ॥७४॥
घ्नतः पापं न ते सोऽथ, तदादिष्टं तथाऽकरोत्।
हा हा अकार्यमित्यूचे, राज्ञाऽथ श्रीयकोऽवदत् ॥७५॥
यो वो नेष्टः स नोऽप्येवं, ततः संस्कार्यं तं नृपः।
श्रीयकं स्माऽऽह मन्त्री स्याः, सोऽवग् भ्राताऽस्ति मे बृहत् ॥७६॥
कोशागृहे स्थूलभद्रस्तमथाजूहवन्नृपः।
निर्ययौ द्वादशाब्दान्ते, राज्ञोक्तः स्माऽऽह चिन्तये ॥७७॥
राजोचे शोकवन्यन्तश्चिन्तयान्यत्र मा गमः।
सोऽथ तत्र गतो दध्यौ, क्व भोगा राज्यचिन्तने? ॥७८॥
''मुद्रेयं खलु पारवश्यजननी सौख्यच्छिदे देहिनां,
नित्यं कर्कशकर्मबन्धनकरी धर्मान्तरायाऽऽवहा।
राजार्थैकपरैव संप्रति पुनः स्वार्थप्रजार्थापहृत्,
तद् ब्रूमः किमतः परं मतिमतां लोकद्वयापायकृत् ? ॥७९॥''
गतिश्च नरकाऽन्ता स्यात्कृत्वा लोचं ततस्तदा।
रत्नकम्बलदशाभीरजोहरणमप्यथ ॥८०॥
नृपमेत्यावदद्धर्मलाभस्तेऽस्त्विति चिन्तितम्।
राजोचे निर्वहेः सुष्ठु, यातोऽसौ दध्यिवान्नृपः ॥८१॥
मिषात् कोशागृहे यास्यतीत्यैक्षिष्टोपरि स्थितः।
मृतकेभ्यो जनोऽपैति, मुखानि पिदधाति च ॥८२॥
निर्विकारः स भगवान्, ययौ दृष्ट्वाऽथ भूभृता।
श्रीयकः स्थापितो मन्त्री, स्थूलभद्रः पुनर्मुनिः ॥८३॥
संभूतसूरेः शिष्योऽभूत्, श्रीयको भ्रातुरञ्जसा।
मिलितुं याति कोशायाः, स्थूलभद्ररता च सा ॥८४॥
मनुष्यमीहते नान्यमुपकोशा तु तत्स्वसा।
तत्संभोक्ता वररुचिस्तत्कोशां श्रीयकोऽवदत् ॥८५॥
इतो मृतः पिताऽस्माकं, भ्रातुश्च विरहोऽभवत्।
तव प्रियवियोगोऽभूत्तदेतं पाययाऽऽसवम् ॥८६॥
स्वस्रा तदुक्तया चन्द्रप्रभां स पायितः सुराम्।
श्रीयकस्येति कोशाऽऽख्यत्सोऽथ भावितमम्बुजम् ॥८७॥
नृपाऽऽस्थाने वररुचेरार्पयत्कस्यचित्करात्।
तेनाऽऽघ्रातं तदैव द्राक्, तत्रैवाऽवमदासवम् ॥८८॥
निःसारितोऽथ हीलित्वा, प्रायश्चित्तं द्विजा ददुः।
तप्तस्य त्रपुणः पानं, तेनाऽसौ पञ्चतां गतः ॥८९॥
स्थूलभद्रस्तपः कुर्वन्, विहरन् गुरुभिः सह।
आगमत्पाटलीपुत्रं, वर्षाकालमुखेऽन्यदा ॥९०॥
जग्राहाभिग्रहं साधुरेकः सिंहगुहास्थितौ।
अन्यः सर्पबिले चान्यः, कूपकाऽश्वनदारुणि ॥९१॥
स्थूलभद्रश्चतुर्मासीं, कर्तुं कोशागृहे पुनः।
सिंहसर्प्पौ शमं यातौ, तुष्टा कोशा प्रियाऽऽगमात् ॥९२॥
उत्थायोचे विधेयं किं, चतुर्मास्याश्रयोऽस्त्विह।
सैव वश्चित्रशालाऽस्ति, स्थितस्तस्यां प्रभुस्ततः ॥९३॥
रात्रौ शृङ्गारमाधाय, प्रभुक्षोभार्थमागता।
न पारितः क्षोभयितुं, प्रभुर्मन्दरसोदरः ॥९४॥
धर्मं श्रुत्वा ततो जज्ञे, श्राविका धर्मतत्त्ववित्।
राजादिष्टं नरं मुक्त्वा, सा ब्रह्मव्रतमग्रहीत् ॥९५॥
चतुर्मासाऽऽगमे सिंह–गुहाऽऽदेरागतान् मुनीन्।
गुरुः स्माऽऽह स्वागतं वो, हंहो! दुष्करकारकाः! ॥९६॥
आयाते स्थूलभद्रे तु, गुरुरुत्थाय सम्भ्रमात्।
ऊचे ते स्वागतं साधो! कृतदुष्करदुष्कर! ॥९७॥
त्रयोऽपि तेऽथ सासूयाः, मिथः स्माऽऽहुस्तपस्विनः।
अमात्यपुत्र इत्येवं, बह्वमन्यन्त सूरयः ॥९८॥
अथ सिंहगुहासाधुरन्यप्रावृषि मत्सरात्।
कोशागृहे चतुर्मासी–कृतेऽभिग्रहमग्रहीत् ॥९९॥
आचार्यैरुपयुज्याऽथ, वारितोऽपि जगाम सः।
वसतिर्मार्गिता दत्ता, तया तां स निरीक्ष्य च ॥१००॥
अनुरक्तोऽर्थयामास, सा नैच्छद्भणति स्म तम्।
आनय द्रव्यलक्षं मे, सोऽवदन्मे कुतो धनम्? ॥१०१॥
सोचे नेपालभूपालः, साधूनां रक्तकम्बलम्।
ददाति लक्षमूल्यं स, तत्रागाल्लब्धवाँश्च तत् ॥१०२॥
आगच्छतश्च चौराणां, लक्षं यातीत्यवक् शुकः।
स्तेनसेनापतिर्वीक्ष्याऽऽयातं भिक्षुमुपैक्षत ॥१०३॥
गते तत्र पुनः कीरोऽवादील्लक्षं गतं गतम्।
ततस्तमनुगत्योचे, सोऽक्मदण्डेऽस्ति कम्बलम् ॥१०४॥
नये वेश्याकृते मुक्तो, ययौ तस्या ददौ च तम्।
तया चन्दनिकायां स, क्षिप्तो वारयतो मुनेः ॥१०५॥
सोचे शोचस्यमुं न स्वं, त्वमपीदृग् भविष्यसि।
मग्नो विषयपङ्कान्तः, स प्रबुद्धोऽथ तद्गिरा ॥१०६॥
मिथ्यादुष्कृतमुक्त्वाऽगाद्, गुरोरालोचयत्ततः।
उपालब्धोऽथ गुरुणा, ज्ञातमात्मपरान्तरम् ॥१०७॥
स्थूलभद्रोऽधिसेहे तां, चिरं परिचितामपि।
भवाँस्तु प्रार्थयामास, विगुप्तोऽर्थार्जनेन च ॥१०८॥
गुरुमक्षमयन्नम्रः, स्थूलभद्रं च सोऽथ तम्।
रथिकस्यान्यदा कोशा, ददौ राजा पुरोऽस्य सा ॥१०९॥
स्थूलभद्रगुणानाख्यन्न तथोपाचरच्च तम्।

(इतः कथाखण्डं वैनयिक्यामुक्तम्)

तस्मिंश्च काले संजज्ञे, दुष्कालो द्वादशाब्दकः।
इतस्ततोऽम्बुधेस्तीरे, तमतिक्रम्य साधुभिः ॥११०॥
विस्मृतिं याति सिद्धान्ते, गुणनाऽभावतस्तदा।
पाटलीपत्तने स्थित्वा, यद्यस्याऽऽयाति तच्छ्रुतम् ॥१११॥
मेलयद्भिः समस्तं तैर्मिलितैकादशाऽऽत्मिका।
भद्रबाहुद्वादशाङ्गं भृत्रेपालेषु तिष्ठति ॥११२॥
सङ्घः सङ्घाटकेनोचे, पूर्वाण्यध्यापयेति तम्।
गुरुरूचे महाप्राणं, प्रविष्टोऽस्मि ततोऽधुना ॥११३॥
न क्षमो वाचनां दातुं, संघस्याऽऽख्यन्निवृत्य सः।
पुनः संघाटकेनोचे, सङ्घाऽऽज्ञां यो विलङ्घते ॥११४॥
को दण्डस्तस्य सोऽवोच–त्तदैवोद् धाट्यते हि सः।

ततोऽधुना किं क्रियते, सोऽवग्मोदधाटनं कुरु ॥११५॥
शिष्यान् प्रेषयतां प्राज्ञान्, दास्ये सप्ताह्नि वाचनाः।
भिक्षाचर्यां समायातः, कालवेलाविकालयोः ॥११६॥
संज्ञाभूम्यागतश्चैव, तिस्रश्चाऽऽवश्यके पुनः।
सिद्धे ध्याने महाप्राणे, स परावर्त्तते श्रुतम् ॥११७॥
आदेरन्तं ततोऽप्यादिं, यावदन्तर्मुहूर्ततः।
स्थूलभद्राऽऽदिकाऽऽयासी–च्छिष्यपञ्चशती ततः ॥११८॥
निरन्तरं वाचनानामभावेऽध्येतुमक्षमाः।
स्थूलभद्रं विना सर्वे , पराभज्याऽपरे ययुः ॥११९॥
ध्याने स्तोकावशेषे स, पृष्टः श्रीभद्रबाहुना।
किं खिद्यसे न खिद्येऽहं, कञ्चित्कालं क्षमस्व तत् ॥१२०॥
सिद्धध्यानः सदा सर्व–दिनं दास्यामि वाचनाम्।
सोऽप्राक्षीत्किं मयाऽधीतं, शेषं वा सूरयोऽभ्यधुः ॥१२१॥
अष्टाशीतिर्हि सूत्राण्यौपम्यं सिद्धार्थमन्दरौ।
इतो न्यूनेनाऽपि परं, समयेन पठिष्यसि ॥१२२॥
दशपूर्वी द्विवस्तूना–ऽध्यापि ध्याने समर्थिते।
अत्रान्तरे विहारेण, प्रययुः पाटलीपुरे ॥१२३॥
सप्ताप्यात्तव्रतास्तत्र, स्थूलभद्रस्य जामयः।
उद्यानस्थान् गुरून् स्थूलभद्रं चाऽऽनन्तुमाययुः ॥१२४॥
गुरून्नत्वाऽवदन् कुत्र, ज्येष्ठाऽऽर्यः सूरयोऽभ्यधुः।
परत्र गुणयन्नस्ति, वीक्ष्याऽऽयान्तीः सहोदराः ॥१२५॥
ऋद्धिं दर्शयितुं सिंह–रूपमाधाय तस्थिवान्।
ताः सिंहं वीक्ष्य पूच्चक्रुरार्यः सिंहेन भक्षितः ॥१२६॥
गुरुरूचे न सिंहः स, भाता वो लब्धिमैक्षयत्।
हृष्टास्तास्तमथाऽऽनेमुरप्राक्षीत्सोऽपि कौशलम् ॥१२७॥
यक्षोवाच परिव्रज्य, श्रीयको वर्षपर्वणि।
अभक्तार्थं मयाऽकारि, निशीथे मृत्युमाप्तवान् ॥१२८॥
ततश्च मामभुञ्जानां, विदेहे देवताऽनयत्।
तत्र पृष्टः प्रभुः प्राऽऽह, ऋषिहत्याऽत्र ते न तत् ॥१२९॥
मया निन्येऽध्ययने, स्वाम्युक्ते मुक्तिभावने (?)।
वन्दित्वा तास्ततो याताः, द्वितीयेऽह्न्युपतस्थुषः ॥१३०॥
न गुरुर्वाचनां दत्ते, स ज्ञात्वा ह्यः कृतं ततः।
नैतत्पुनः करिष्यामीत्येवं कष्टेन भूयसा ॥१३१॥
क्षामितोऽध्यापयच्छेषमुक्तो माऽन्यं हृदेः पुनः।
व्युच्छिन्नाऽथ चतुःपूर्वी, दशमाऽन्त्यद्विवस्तुयुक् ॥१३२॥
योगसंग्राहिता चैवं, शिक्षायां स्थूलभद्रवत्।'' आ०क०।

थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जथूलभद्दे गोयमसगुत्ते।

स्थविरस्याऽऽर्यसंभूतिविजयस्य माठरगोत्रस्य शिष्यः स्थविर आर्यः स्थूलभद्रो गौतमगोत्रोऽभूत्। तत्संबन्धश्चाऽयम् – पाटलिपुरे शकटाल-मन्त्रिपुत्रः श्रीस्थूलभद्रो द्वादश वर्षाणि कोशागृहे स्थितो वररुचिविद्विज-प्रयोगात्पितरि मृते नन्दराजेनाऽऽकार्य मन्त्रिमुद्रादानायाभ्यर्थितः सन् पितृमृत्युं स्वचित्ते विचिन्त्य दीक्षामादत्त, पश्चाच्च संभूतविजयान्तिके व्रतानि प्रतिपद्य तदादेशपूर्वकं कोशागृहे चतुर्मासीमस्थात्, तदन्ते च बहुहावभावविधायिनीमपि तां प्रतिबोद्ध्य गुरुसमीपमागतः सन् तैर्दुष्करदुष्करकारक इति संघसमक्षं प्रोचे, तद्वचसा पूर्वाऽऽयाताः सिंहगुहासर्पबिलकूपकाष्ठस्थायिनस्त्रयो मुनयो दूनाःतेषु सिंहगुहास्थायी मुनिर्गुरुणा निवार्यमाणोऽपि द्वितीयचतुर्मास्यां कोशागृहे गतो, दृष्ट्वा च तां दिव्यरूपां चलचित्तोऽजनि, तदनु तया नेपालदेशाऽऽनायित-रत्नकम्बलं खाते क्षिप्त्वा प्रतिबोधितः सन्नागत्योवाच–

''स्थूलभद्रः स्थूलभद्रः, स एकोऽखिलसाधुषु।
युक्तं दुष्करदुष्कर–कारको गुरुणा जगे'' ॥१॥
''पुप्फफलाणं च रसं, सुराण मंसाण महिलियाणं च।
जाणंता जे विरया, ते दुक्करकारए वंदे'' ॥२॥

कोशाऽपि तत् प्रतिबोधिता सती स्वकामिनं पुङ्खार्पितबाणैदूरस्थाम्र-लुम्ब्यानयनगर्वितं रथकारं सर्षपराशिस्थसूच्यग्रस्थपुष्पोपरि नृत्यन्ती प्राऽऽह–

''न दुक्करं अम्बयलुंबितोडणं, न दुक्करं सरिसवनच्चियाइं'
तं दुक्करं तं च महाणुभावं, जं सो मुणी पमयवणम्मि वुच्छो ॥३॥''

कवयोऽपि–

''गिरौ गुहायां विजने वनान्तरे,
वा संश्रयन्तो वशिनः सहस्रशः।
हर्म्येऽतिरम्ये युवतीजनान्तिके,
वशी स एकः शकटालनन्दनः ॥४॥
योऽग्नौ प्रविष्टोऽपि हि नैव दग्ध–
श्छिन्नो न खड्गाग्रकृतप्रचारः।
कृष्णाहिरन्ध्रेऽप्युषितो न दष्टो,
नाक्तोऽञ्जनागारनिवास्यहो यः ॥५॥
वेश्या रागवती सदा तदनुगा षड्भि रसैर्भोजनं,
शुभ्रं धाम मनोहरं वपुरहो नव्यो वयः सङ्गमः।
कालोऽयं जलदाऽऽविलस्तदपि यः कामं जिगायाऽऽदरात्,
तं वन्दे युवतिप्रबोधकुशलं श्रीस्थूलभद्रं मुनिम् ॥६॥
रे काम ! वामनयना तव मुख्यमस्त्रं,
वीरा वसन्तपिकपञ्चमचन्द्रमुख्याः।
त्वत्सेवका हरिविरञ्चिमहेश्वराऽऽद्याः
हा हा हताश ! मुनिनाऽपि कथं हतस्त्वम् ? ॥७॥
श्रीनन्दिषेणरथनेमिमुनीश्वराऽऽर्द्र–
बुद्ध्या त्वया मदन रे ! मुनिरेष दृष्टः।
ज्ञातं न नेमिमुनिजम्बुसुदर्शनानां,
तुर्यो भविष्यति निहत्य रणाङ्गणे माम् ॥८॥
श्रीनेमितोऽपि शकटालसुतं विचार्य
मन्यामहे वयमदुं भटमेकमेव।
देवाऽद्रिदुर्गमधिरुह्य जिगाय मोहं
यन्मोहनाऽऽलयमयं तु वशी प्रविश्य ॥९॥''

अन्यदा द्वादशवर्षदुर्भिक्षप्रान्ते संघाऽऽग्रहेण श्रीभद्रबाहुभिः साधुप-ञ्चशत्याः प्रत्यहं वाचनासप्तकेन दृष्टिवादे पाठ्यमाने सप्तभिर्वाचनाभि-रन्येषु साधुषु उद्विग्नेषु श्रीस्थूलभद्रो वस्तुद्वयोनां दशपूर्वी पपाठ। अथैकदा यक्षसाध्वीप्रभृतीनां वन्दनार्थमागतानां स्वभगिनीनां सिंहरूपदर्शनेन दूनाः श्रीभद्रबाहवो 'वाचनायामयोग्यस्त्वम्' इति श्रीस्थूलभद्रमूचिवांसः। पुनः संघाऽऽग्रहात्। 'अथाऽन्यस्मै वाचना न देया' इत्युक्त्वा सूत्रतो वाचनां ददुः।

तथा चाऽऽहुः–

''केवली चरमो जम्बूस्वाम्यथ प्रभवप्रभुः।

शय्यंभवो यशोभद्रः, संभूतविजयस्तथा ॥१॥

भद्रबाहुः स्थूलभद्रः, श्रुतकेवलिनो हि षट् ॥'' कल्प० ८ क्षण। ति० आ०क० तं० आ०चू० नं० आव० स्था० उत्त०।

''थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगुत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिन्नायाओ होत्था। तं जहा–

''जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह चेव भूयदिन्ना य।

सेणा वेणा रेणा, भइणीओ थूलभद्दस्स ॥१॥'' कल्प० ८ क्षण।

जसभद्दं तुंगियं वंदे, भूयं चेव य माढरं।

भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं ॥२६॥

स्थूलभद्रं, चः समुच्चये। गौतमं गौतमस्यापत्यम् गौतमः। ''ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च'' ॥४।१।१४४॥ इत्यण्प्रत्ययः। तं, वन्दे इति क्रियायोगः। नं०

श्रीस्थूलभद्रो कोशागृहावस्थितावाहारमपि गृहीतवानिति जनप्रवादः, परं शय्यातरपण्डित्वेन कथं न जनप्रवादनिबन्धनमिति प्रश्ने, उत्तरम्–श्रीस्थूलभद्रस्य कोशागृहेऽवस्थितिरागमव्यवहार्यनुज्ञातत्वेन यथा नानुचिता, तथा शय्यातरपिण्डग्रहणमपि ज्ञेयम्। ते हि सातिशयज्ञानवत्तया त्रैकालिकविहितं विमृश्यैव सर्वमप्यनुजानन्त इति। ११०प्र० सेन०१ उल्ला०। श्रीस्थूलभद्रस्य यतित्वे वेश्यागृहस्थितिः, सा सिद्धान्तोक्ता, न वा? यदि सिद्धान्तोक्ता, स सिद्धान्तो नामग्राहं प्रसाद्य इति प्रश्ने, उत्तरम्–नन्दीसूत्रे पारिणामिक्यां बुद्धौ स्थूलभद्रः, कार्मिक्यां तु वेश्या, सारथिश्च उदाहरणतयोक्ताः सन्ति, एतदर्थप्रतिपादने स्थूलभद्रस्य यतित्वेऽपि वेश्यागृहेऽवस्थानमुक्तमस्तीति। प्र० २२६ प्र० सेन०३ उल्ला०। श्रीस्थूलभद्रस्य नाम चतुरशीतिचतुर्विंशतिं यावत्तिष्ठति, तत्कुत्र ग्रन्थेऽस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–श्रीस्थूलभद्रस्य नाम चतुरशीति–चतुर्विंशतिं यावत्तिष्ठति, तच्चारित्राऽऽदिष्वस्तीति बोध्यम्। २१ प्र० सेन०४ उल्ला०।

थूलरोट्टग पुं०(स्थूलरोट्टक) बृहदरोट्टके 'वाटी' इति प्रसिद्धे, ध०२ अधि०।

थूलवय पुं०(स्थूलवचस्) स्थूलमनिपुणं वचो येषां ते स्थूलवचसः। अविचार्यभाषिषु, ध०२ अधि० उत्त०।

थूलादत्तादाण न०(स्थूलादत्ताऽऽदान) स्थूलं च तददत्तस्याऽवितीर्णस्य द्रव्यस्याऽऽदानं ग्रहणं स्थूलादत्ताऽऽदानम्। पञ्चा०१ विव०। परिस्थूलवस्तुविषये चौर्याऽऽरोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धे अतिदुष्टाध्यवसायपूर्वके चौर्ये, स्था०५ ठा०१उ०।

थूलि स्त्री०(धूलि) **''चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोरादद्वितीयौ''** ॥८।४।३२५॥ इति धकारस्य थकारः। रेणौ, प्रा०४ पाद।

थूली स्त्री०(स्थूली) गोधूमस्थूलचूर्णे, गोधूमानां स्थूलचूर्णः सर्पिषा सिक्तः स्थाल्यां पक्वः स्थूलीति मालवप्रसिद्धा। ध०२ अधि०।

थूह पुं०(देशी) प्रासादशिखरे, चातके, वल्मीके च। दे०ना० ५ वर्ग ३२ गाथा।

थेअ त्रि०(स्थित) **''क–ग–ट–ड–त–द–प–श–ष–स०–''** ॥८।२।७७॥ इत्यादिना सलुक्। **''युवर्णस्य गुणः''** ॥८।४।२३७॥ **''क–ग–च–ज–त०–॥८।१।१७७॥** इत्यादिना तलुक्। गतेर्निवृत्ते, प्रा० ढुं० ४ पाद।

थेग पुं०(थेग) कन्दविशेषे, ध०२ अधि० प्रव०।

थेज्ज न०(स्थैर्य) स्थिरतायाम्, औ० अष्ट० स्थेये, त्रि० प्रीतिकरतया गच्छचिन्तायाः प्रमाणभूते, अनेकशो वा प्रोतिकरीकृते, व्य०३ उ०।

थेज्जकरण न०(स्थैर्यकरण) चित्तस्थिरतासंपादने, पञ्चा०१ विव०।

थेण पुं०(देशी) स्तेने, दे०ना० ५ वर्ग २६ गाथा।

थेणिल्लिअ न०(देशी) हृते, भीते च। दे०ना० ५ वर्ग ३२ गाथा।

थेमिच्च न०(स्थैमित्य) निश्चलत्वे, द्वा० १८ द्वा०।

थेय न०(स्तेय) परस्वापहरणे, द्वा०२० द्वा०।

थेर पुं०(स्थविर) 'थविर' शब्दार्थे, प्रव०२ द्वार। चतुर्मुखे ब्रह्मणि, दे०ना० ५ वर्ग २६ गाथा।

थेरकंचुइज्ज पुं०(स्थविरकञ्चुकिन्) 'थविरकंचुइज्ज' शब्दार्थे, भ०६ श०३३ उ०।

थेरकप्प पुं०(स्थविरकल्प) 'थविरकप्प' शब्दार्थे, स्था०३ ठा०४उ०।

थेरकप्पट्ठिइ स्त्री०(स्थविरकल्पस्थिति) 'थविरकप्पट्ठिइ' शब्दार्थे, बृ०४ उ०।

थेरकप्पिय पुं०(स्थविरकल्पिक) 'थविरकप्पिय' शब्दार्थे, प्रव० ७० द्वार।

थेरभूमि (स्थविरभूमि) जातिश्रुतपर्यायस्थविरेषु, स्थविरभूमिस्त्रिधा। स्था० ३ ठा०२ उ०। ('थविरभूमि' शब्दे २३६४ पृष्ठे व्याख्याता)

थेरभूमिपत्त त्रि०(स्थविरभूमिप्राप्त) 'थविरभूमिपत्त' शब्दार्थे, व्य०१ उ० बृ०।

थेरय पुं०(स्थविरक) 'थविरय' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० १ अ०२ उ०।

थेरवेयावच्च न०(स्थविरवैयावृत्य) 'थविरवेयावच्च' शब्दार्थे, व्य०१ उ०।

थेरावली स्त्री०(स्थविरावली) 'थविरावली' शब्दार्थे, नं०।

थेरासण न०(देशी) पद्मे, दे०ना० ५ वर्ग २६ गाथा।

थेरोवघाइय पुं०(स्थविरोपघातिक) 'थविरोवघाइय' शब्दार्थे, दशा० २अ०।

थेव त्रि०(स्तोक) स्तोके, ''थेवं पि हु तं बहू होइ।'' (१२०) आव० नि०१ अ० आ०म०। विशे०। देशी–विन्दौ, दे०ना० ५ वर्ग २६ गाथा।

थेवरिअ (देशी) जन्मनि, तूर्ये च। दे०ना० ५ वर्ग २६ गाथा।

थोअ पुं०(देशी) रजके, मूलके च। दे०ना० ५ वर्ग ३२ गाथा।

थोक्क त्रि०(स्तोक) **''स्तोकस्य थोक्क–थोव–थेवाः''** ॥८।२।१२५॥ इति स्तोकस्य थोक्काऽऽदेशः। प्रा०२ पाद। अपर्याप्ते, आचा०१ श्रु०२ अ०४ उ०। को०। ''अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च। न हु भे वीससियव्वं, थेवं पि हु तं बहुं होइ'' ॥१२०॥ आव० १ अ०। आ०म०। विशे०।

थोगुच्चय पुं०(स्तोकोच्चय) स्तोकस्योद्धरणे, ज्यो०१ पाहु०।

थोणा स्त्री०(स्थूणा) **''स्थूणातूणे वा''** ॥८।१।१२५॥ इति उत ओत्वम्। छादनस्तम्भे, प्रा०१ पाद।

थोत्त न०(स्तोत्र) **''स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे''** ॥८।२।४५॥ इति स्तस्य थः। प्रा०२ पाद। बहुश्लोकप्रमाणे स्तवे, पञ्चा० ४ विव०। षो०। स्तोत्राणि तु जिनानाम् (आप्तानाम्) एव। षो०९ विव०।

थोत्तगरुई स्त्री०(स्तोत्रगुर्वी) स्तोत्रमहत्यां पूजायाम्, पञ्चा० ४ विव०।

थोत्तरयणकोस पुं०(स्तोत्ररत्नकोश) भूतिसुन्दरसूरिविरचिते जिनस्तवनग्रन्थे, कल्प०।

तथोक्तं श्रीमुनिसुन्दरसूरिभिः स्वकृतस्तोत्ररत्नकोशे–

''वीरादित्रनन्दाङ्क (९९३) शरद्यचीकरत्,
त्वच्चैत्यपूते ध्रुवसेनभूपतिः।
यस्मिन्महैः संसदि कल्पवाचना–
माद्यां तदानन्दपुरं न कः स्तुते? ॥१॥'' कल्प०७ क्षण।

थोभग पुं०(स्तोभक) चकारहिकारतुशब्दवाशब्दाऽऽदिषु निपातेषु, विशे०। आ०म०।

थोयव्व त्रि०(स्तोतव्य) पूजनीये, पञ्चा०।

चरणपडिवत्तिरूवो, थोयव्वोचियपवित्तिओ गुरुओ। (२४)

चरणप्रतिपत्तिरूपश्चारित्राभ्युपगमस्वभावः, भावस्तव इति प्रकृतम्। स्तोतव्ये पूजनीये भगवति वीतरागे विषयभूते या उचिता संगता प्रवृत्तिः प्रवर्त्तनं, सा स्तोतव्योचितप्रवृत्तिः, तस्याः स्तोतव्योचितप्रवृत्तेर्हेतोर्गुरुको गरीयान् द्रव्यस्तवापेक्षया। पञ्चा० ६ विव०।

थोर त्रि०(स्थूल) **''स्थूले लो रः''** ॥८।१।२५५॥ इति लस्य रः। प्रा०१ पाद। **''ओत्कूष्माण्डी–तूणीर–कूर्पर–स्थूल०–''** ॥८।१।१२४॥ इत्यादिना उत ओत्वम्। पृथुले, प्रा०१ पाद। क्रम–पृथुलपरिवर्तुले, दे०ना० ५ वर्ग ३० गाथा।

थोल पुं०(देशी) वस्त्रैकदेशे, दे०ना० ५ वर्ग ३० गाथा।

थोव पुं०(स्तोक) सप्तप्राणाऽऽत्मके कालविशेषे, ''सत्त पाणाणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे।'' भ०१ श०१उ०। ते च प्राणाः सप्त सप्तसंख्याका एकः स्तोकः। ज्यो०१ पाहु०। तं०। कल्प०। कर्म०। ज्ञा०। अनु०। स्था०। प्रव०। अल्पे, प्रश्न०२ आश्र०द्वार। स्था०। विशे०। स्वल्पे, आव०४ अ०। गणनाप्रमाणहीने, त्रि०। विशे०। दर्श०। ''थोवाऽऽहारो थोवभणिओ श्र, जो होई थोवणिद्दो अ। थोवोवहिउवगरणे, तस्स हु देवा वि परिणमंति ॥१॥'' सूत्र०१ श्रु०८ अ०।

थोवअ पुं०(स्तोकक) वातकपक्षिणि, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

थोह न०(देशी) बले, दे०ना० ५ वर्ग ३० गाथा।

थोहरी स्त्री०(थोहरी) स्नुहीतरौ, ध०३ अधि०। प्रव०।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु–श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे' थकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

दकारः

द पुं०(द) दा–दैप्–वा कः। पर्वते, दत्ते, खण्डने, वाच०। दाने, पूजने, क्षीणे, दानशौण्डे, पालके, देवे, दीप्तौ, दुराधर्षे , दयायाम्, दमने, दीने, दन्दशूके, बद्धे, बन्धने, बोधे, बाले, बीजे, बलोदिते, विदोषे, चालने, चीवरे, वरे, प्राणे च। क्षान्तौ, दिवि, गङ्गायाम्, कुले, कालकृते, उपदायाम्, नैवेद्ये, निर्नाथवनितायाम्, भार्य्यायां च। स्त्री०। छेदे, संबोधने, पाने, वैराग्ये, अपलोचने, दातरि च। त्रि०। ए०को०।

''दः पुमान् दातरि प्राणे, दा स्त्रियां क्षान्तिदानयोः ॥४७॥
छेदे संबोधने पाने, वैराग्ये चापलोचने।
दस्त्रिलिङ्ग्यां भवेद् मूके, ग्राहकेन्द्रवकेशशि (?) ॥४८॥'' इति माधवः। एका०।

''दो दाने पूजने क्षीणे, दानशौण्डे च पालके।
देवे दीप्तौ दुराधर्षे , दोर्भुजे दीर्घदेशके ॥६७॥
दयायां दमने दीने, दंदशूकेऽपि दः स्मृतः।
बद्धे च बन्धने बोधे, बाले बीजे बलोदिते ॥६८॥
विदोषेऽपि पुमानेष, चालने चीवरे वरे।
दाऽऽवन्तो दिवि गङ्गायां, कुले कालकृते च दा ॥६९॥
उपदायां च नैवेद्ये, निर्नाथवनिता च दा।''
इति विश्वदेवशंभुमुनिः। एका०।

दअरी स्त्री०(देशी) सुरायाम्, दे०ना० ५ वर्ग ३४ गाथा।

दआलु त्रि०(दयालु) दय–आलुच्। वाच०। **''क–ख–च–ज–त–द–प–य–वां प्रायो लुक्'' ॥८।१।१७७॥** इति स्वरात्परस्यानादिभूतस्यासंयुक्तस्य यस्य प्रायिको लुक्। प्रा०१ पाद। कृपायुक्ते, वाच०।

दइअ न०(देशी) रक्षिते, दे०ना० ५ वर्ग ३५ गाथा।

दइच्च पुं०(दैत्य) दितेरपत्यम्। दिति–ण्यः। वाच०। **''अइर्दैत्याऽऽदौ च'' ॥८।१।१५१॥** इति दैत्यशब्दे ऐतो अइ इत्यादेशः। 'दइच्चो।' असुरे, प्रा०१ पाद।

दइण न०(दैन्य) दीनस्य भावः ष्यञ्। वाच०। ''अइर्दैत्याऽऽदौ च'' ॥८।१।१५१॥ इति दैन्यशब्दे ऐती अइ इत्यादेशः। 'दइन्नं।' प्रा०१ पाद। दीनत्वे, कार्पण्ये च। वाच०।

दइय पुं०(दयित) दय–क्तः। पत्यौ, रल्लभे, रक्षिते, नं०। आचा०। ज्ञा०। आ०म०। प्रियमात्रे च। त्रि०। भार्यायाम्, स्त्री०। वाच०।

दइवज्ज पुं०(दैवज्ञ) दैवं पूर्वजन्मार्जितं शुभं जनानां जन्मलग्नाऽऽदिना जानाति। ज्ञ कः। वाच०। **''ज्ञो ज्जः'' ॥८।२।८३॥** ज्ञसम्बन्धिनो अस्य लुग्वा भवति। 'दइवज्जो।' प्रा० २ पाद। गणके, ज्योतिर्विदि च। वाच०।

दइवयप्पभाव पुं०(दैवकप्रभाव) विधिसामर्थ्ये, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

दइव्व न०(दैव) देवादागतम्। देवो देवताऽस्य देवस्येदं वा अण्। वाच०। **''सेवाऽऽदौ वा'' ॥८।२।९९॥** इति अन्त्यस्य वा द्वित्वम्। 'दइव्वं।' 'दइवं।' प्रा०२ पाद। भाग्ये, फलोन्मुखे शुभाशुभकर्म्मणि, ''प्राग् जन्मनि कृतं कर्म, शुभं वा यदि वा शुभम्। दैवशब्देन निर्दिष्टमिहजन्मनि तद्बुधैः ॥१॥'' वाच०।

दउलतावाद (दौलताऽऽवाद) पारसीकः शब्दः। प्रान्तदेशीये स्वनामख्याते नगरे, यत्र जिनप्रभसूरिर्विहृतः। ती०४८ कल्प।

दआभास पुं०(दकाभास) शिवकस्य वेलन्धरनागराजस्य आवासपर्वते, जी०३ प्रति०४ उ०। स्था०।

दओदर न०(दकोदर) जलोदरे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

दओह पुं०(दकौघ) पानीयप्रवाहे, बृ०१ उ०। स्था०।

दंड पुं०(दण्ड) दण्ड्यते–व्यापाद्यते प्राणिनो येन स दण्डः। आचा०१ श्रु०२ अ०३उ०। प्राणिन आत्मानं वा दण्डयतीति दण्डः। आचा०१ श्रु०४ अ०१ उ०। स्था०। दण्ड्यते पापकर्मणा लुप्यते येन स दण्डः। ध०२ अधि०। दुष्प्रयुक्तमनोवाक्कायलक्षणैर्हिंसामात्रे, ''एगे दंडे।'' एकत्वं चाऽस्य सामान्यतयोद्देशात्। स०२ सम०। आतु०। भूतोपमर्दे, ध०२ अधि०। आचा०। सूत्र०। प्राणव्यपरोपणविधौ, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०। वधाऽऽदिरूपे परनिग्रहे, स्था०३ ठा०३ उ०। दण्ड्यति पीडामुत्पादयतीति दण्डः। दुःखविशेषे, सूत्र०१ श्रु०५अ०१उ०। परितापकारिणि, आचा०१ श्रु०८ अ०३उ०। पापोपादानसङ्कल्पे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। उपतापे, सूत्र०२ श्रु०६ अ०। मनोवाक्कायानामसद् व्यापारे, उत्त० १६ अ०। आचा०। प्राणिपीडाकारके, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०१उ०। दण्ड्यन्ते धनापहारेण प्राणी यैस्ते दण्डाः। ध०२ अधि०। चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मा इति दण्डाः। दुष्प्रयुक्तमनोवाक्कायेषु, ध०३ अधि०। आचा०। स्था०। दुरध्यवसाये, उत्त० ३१ अ०।

दण्डं निरूपयन्नाह–

दो दंडा पण्णत्ता। तं जहा–अट्ठादंडे चेव, अणट्ठादंडे चेव। णेरइयाणं दो दंडा पण्णत्ता। तं जहा–अट्ठादंडे चेव, अणट्ठादंडे चेव। एवं चउवीसदंडओ०जाव वेमाणियाणं।

(दो दंडा इत्यादि) दण्डः प्राणातिपाताऽऽदिः, स चार्थायेन्द्रियाऽऽदिप्रयोजनाय यः सोऽर्थदण्डः, निष्प्रयोजनस्त्वनर्थदण्ड इति। उक्तरूपमेव दण्डं सर्वजीवेषु चतुर्विंशतिदण्डकेन निरूपयन्नाह–(नेरइयाणं इत्यादि) एवमिति नारकवदर्थदण्डानर्थदण्डाभिलापेन चतुर्विंशतिदण्डको नेयो, नवरं नारकस्य स्वशरीररक्षार्थं परस्योपहननमर्थदण्डः, प्रद्वेषमात्रादनर्थदण्डः। पृथिव्यादीनामनाभोगेनाप्याहारग्रहणे जीववधभावादर्थदण्डः, अन्यथा तु अनर्थदण्डः। अथवा–उभयमपि भवान्तरार्थदण्डाऽऽदिपरिणतेरिति सम्यग् दर्शनाऽऽदित्रयवतामेव त्वनर्थदण्डो नास्तीति। स्था०२ ठा०१ उ०। त्रयो दण्डाः मन आदयः। स्था०३ ठा०१उ०।

तओ दंडा पण्णत्ता । तं जहा–मणदंडे, वयदंडे, कायदंडे । नेरइयाणं तओ दंडा पण्णत्ता । तं जहा–मणदंडे, वयदंडे, कायदंडे । विगलिंदियवज्जं०जाव वेमाणियाणं ।

कण्ठ्यम्, नवरं मनसा दण्डनमात्मनः परेषां वेति मनोदण्डः । अथवा–दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डो, मन एव दण्डो मनोदण्ड इति । एवमितरावपि । विशेषचिन्तायां चतुर्विंशतिदण्डके–(नेरइयाणं तओ दंडेत्यादि) यावद्वैमानिकानामिति सूत्रं वाच्यम् । नवरं (विगलिंदियवज्जं ति) एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियान् वर्जयित्वेत्यर्थः । तेषां हि दण्डत्रयं न सम्भवति, यथायोगं वाङ्मयनसोरभावादिति । स्था० ३ठा०३उ० । स० (''कायदंड'' शब्दे तृ०भागे ४६२ पृष्ठे, तथा वचोदण्डाऽऽदिशब्देषु उदाहरणानि द्रष्टव्यानि) राजनीतिभेदे, स्था० । स च–''वधश्चैव परिक्लेशो, धनस्य हरणं तथा । इति दण्डविधानज्ञैर्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः ॥१॥'' स्था०३ ठा०३उ० ज्ञा०।आ०म० । मिथ्यादर्शनमाया-निदानशल्येषु, ध० २ अधि० । शरीरधनयोरपहारे, विपा०१ श्रु०४अ० । निग्रहे, आव० । दण्डो, निग्रहो, यातना, विनाश इति पर्य्यायाः । आव०६ अ० । विपा० । पञ्चा० । अपराधानुसारेण राजग्राह्ये द्रव्ये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ० । राजाऽऽज्ञायाम्, अपराधिदण्डने, स्था०५ ठा०३उ० । सैन्ये, प्रायश्चित्तदानावसरे राजस्थापितदण्डपुरुषाणां स्वेच्छाचारिणे दण्डः । व्य०१ उ० । स्वपरदण्डहेतौ च, सूत्र०२ श्रु०४ अ० । प्राणिनां दण्डहेतौ, आयुर्वै घृतमित्यादिवत्कार्ये कारणत्वोपचारात् । आचा०१ श्रु०१ अ०४उ० । दण्डनं दण्डः परिधीनामनुशासनम् । स्था०७ ठा० । नि०चू० । दण्डयतीति दण्डः । यष्टिविशेषे, जं०२ वक्ष० । सूत्र० । उत्त० । ''लट्ठी आयपमाणा, विलट्ठिओ चउरंगुलेन परिहीणा । दंडो बाहुपमाणो, विदंडओ कक्खमित्तो य ॥१॥'' इति दण्डयष्ट्योर्भेदः । जीत० । पं०भा० । उत्त० । नि०चू० ।

सचित्तदारुदण्डाऽऽदीनि करोति–

जे भिक्खू सचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू सचित्ताइं दारु-दंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥२८॥ जे भिक्खू सचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥२९॥

दौ सुत्ता उच्चारेयव्वा । सचित्ता जीवसहिता, वेणू वंसो, वेत्तो विबंधसा, ते उ चेव दारू सीसवादिकरणं, परहस्ताद् ग्रहणमित्यर्थः । ग्रहणादुत्तरकालं अपरिभोगेन धरणमित्यर्थः ।

गाहा–

सचित्त मीसगे वा, जे भिक्खू दंडए करे व धारे वा ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥९७॥
सयमेव छेदणम्मी, जीवा दिट्ठे परेण उड्डाहो ।
परछिण्णमीसदोसा, भारेण विराहणा दुविधा ॥९८॥

सयं छेयणे जीवोवघातो, परेण दिट्ठे उड्डाहो भवति, परिच्छिण्णे वि मीसवणस्सति त्ति जीवोवघातो भवति, सार्द्रत्वाच्च गुरुः, गुरुत्वादात्म-संयमोपघातः ।

गाहा–

सुत्तणिवातो एत्थं, परछिण्णे होति दंडए तिविधे ।
सो चेव मीसओ खलु, सेसे लहुगा य गुरुगा य ॥९९॥

तिविधो–वंसवेत्तदारुमयो य, सो चेव परच्छिण्णो मीसो भवति, एत्थ सुत्तणिवातो (सेस त्ति) सचित्तो, परिचित्ते चउलहुअं अणंते चउगुरुअं ।

गाहा–

वितियपदमणप्पज्झे, गेलण्णऽद्धाणसंजमभए वा ।
उवहीसरीरतेणगें, पडिणीए साणमादीसु ॥१००॥

अणप्पज्झो करेति ।

गिलाणअद्धाणेसु इमं वक्खाणं । गाहा–

वहणं तु गिलाणस्सा, बालादुवही पलंब अद्धाणे ।
अचित्ते मीसेतर, सेसेसु वि गहण जतणाए ॥१०१॥

गिलाणो, बालो, उवही, पलंबाणि वा अद्धाणे उज्झंति, सावय–भएण वारणट्ठा घेप्पंति, उवहिसरीराणं वहणट्ठा, तेणगपडिणीय–साणमादीण णिवारणट्ठा, पुव्वं अचित्तं, पच्छा मीसं, सेसा परित्ताणंता, पुव्वं परित्ता, पच्छा अणंता ।

सूत्रम्–

जे भिक्खू चित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा कारेइ, कारंतं वा साइज्जइ ॥३०॥ जे भिक्खू चित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा धारेइ, धारंतं वा साइज्जइ ॥३१॥ जे भिक्खू चित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥३२॥ जे भिक्खू विचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥३३॥ जे भिक्खू विचित्ताइं दारु-दंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा धारेइ, धारंतं वा साइज्जइ ॥३४॥ जे भिक्खू विचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥३५॥

एवं विचित्ते वि दो आलावगा । चित्रक एकवर्णः, विचित्रो नानावर्णः, करेति धरेति वा, तस्स मासलहुं ।

गाहा–

चित्ते व विचित्ते वा, जे भिक्खू दंडए कए य धारे वा ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥१०२॥

चित्तो णाम–एगतरेण वण्णेण उज्जलो, विचित्तो दोहिं वण्णेहिं, चित्तवि-चित्तो पंचवण्णेहिं ।

गाहा–

सहजेणाऽऽगंतूण व, अण्णतरजुओ विचित्तवण्णेणं ।
दुप्पभिति संजओ पुण, विचित्त अविभूसिते सुत्तं ॥१०३॥

सहजो णाम–तद्द्रव्योत्थितः, कल्माषिकावंशदण्डकवत्, आगन्तु–

कः–चित्रकराऽऽदिचित्रितः, सूत्रस्याभिप्रायोऽविभूषाभूषिते प्रायश्चित्तं भवति।

गाहा–

वितियपदं गेलण्णे, असती अद्धाणसंजमभए वा।
उवहीसरीरतेणगें, पडिणीए आणमादीणि ॥१०४॥

अण्णेसिं डंडगाणं अभावे चित्तविचित्ताऽऽदि गेण्हंति।'' नि०चू० ५ उ० सूत्र०। प्रव०। (दण्डपञ्चकं 'दंडपणग' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) चतुर्हस्ते (स० ४ सम०) धनुःपर्य्याये मानभेदे, अनु०। भ०। ज्यो०। कुक्षिद्वयनिष्पन्नो दण्डः। अनु०। दण्ड इव दण्डः। ऊर्ध्वाध आयते शरीरबाहल्ये जीवप्रदेशकर्मपुद्गलसमूहे, ज्ञा० १ श्रु०१अ०। आ०चू०। (''पढमे समये दंडं करेइ।'' इति 'केवलिसमुग्घाय' शब्दे तृतीयभागे ६६३ पृष्ठे व्याख्यातम्)

दंडकिरिया स्त्री०(दण्डक्रिया) सर्वविषनिवारिण्यां विद्यायाम्, आव०४ अ०।

दंडखाय न०(दण्डखात) वाराणसीस्थे तीर्थभेदे, यत्र भव्यपुष्कराऽऽवर्तकः पूज्यते। ती०४३ कल्प।

दंडग पुं०(दण्डक) साधूपकरणे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। पादप्रोञ्छनके, जीत०। ध०। बृ०। ''अरिहंतचेइआणं'' इत्यादौ चैत्यवन्दनस्तवे, ध०२ अधि०। वाक्यपद्धतौ, स्था०१ ठा०। (''चउवीसदंडय'' शब्दे तृतीयभागे १०५८ पृष्ठे व्याख्यातम्) वेत्रलतायाम्, ओघ०। चतुर्विंशतिदण्डकमध्ये भवनद्वीपानां दण्डकदशकप्रोक्तमपरेषां व्यन्तराऽऽदिकानां दण्डक एकैकः प्रोक्तस्तत्र किं कारणमिति प्रश्ने, उत्तरम्–अत्र सूत्रकृतां विवक्षैव प्रमाणमिति। ७० प्र०। सेन०१ उल्ला०।

दंडगथुइजुगल न०(दण्डकस्तुतियुगल) दण्डकश्च ''अरहंतचेइ–आणं'' इत्यादि, स्तुतिश्च प्रतीता, तयोर्युगलं युग्मम्, एते एव वा युगलं, दण्डकस्तुतियुगलम्। स्वनामख्याते स्तुतियुगले, पञ्चा०२ विव०।

दंडगमई स्त्री०(दण्डकमयी) दण्डको वंशवेत्राऽऽदिमयी यष्टिस्तैर्निर्वृत्तायां चिलिमिलिकायाम्, बृ०१ उ०नि०चू०।

दंडगराय पुं०(दण्डकराज) जनस्थानराजे, यो हि शुक्रस्य दुहितुर्देवजान्याः शीलं भञ्जयन् शप्तः सन् सराज्यः क्षारतां प्राप्तः। ती० २७ कल्प।

दंडगुरुय पुं०(दण्डगुरुक) दण्डेन गुरुको दण्डगुरुकः। यस्य महान् दण्डो भवति असौ दण्डेन गुरु भवति। तस्मिन्, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

दंडणायग पुं०(दण्डनायक) तन्त्रपालके, राष्ट्ररक्षके, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। रा०। औ०। भ०। भूपाले, स्वदेशचिन्ताकर्तरि च। कल्प०३ क्षण।

दंडणिक्खेव पुं०(दण्डनिक्षेप) दण्डः प्राणिपीडालक्षणः, तस्य निक्षेपः परित्यागः। संयमे, आचा०२ श्रु०१ चू०१अ०१उ०।

दंडणीइ स्त्री०(दण्डनीति) दण्डनं दण्डः परिधीनामनुशासनं, तत्र तस्य वा स एव नीतिर्नयो दण्डनीतिः। स्था०७ ठा०। दण्डेनोपलक्षितायां नीतौ, स्था० ६ ठा०। ति०। आ०म०। कल्प०। आ०चू०। (कस्य कुलकरस्य कीदृशी दण्डनीतिरिति 'कुलगर' शब्दे तृतीयभागे ५६३ पृष्ठे उक्तम्)

दंडतयविरइ स्त्री०(दण्डत्रयविरति) दण्ड्यते चारित्रैश्चर्य्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डा दुर्युक्तमनोवाक्कायाः, तेषां त्रयं तस्य विरतिरशुभप्रवृत्तिनिरोधः। दुर्युक्तमनोवाक्कायत्रयाऽशुभप्रवृत्तिनिरोधे, ध०३ अधि०।

दंडदारु न०(दण्डदारु) ब्रह्मचारिणामग्रेर्दक्षिणतः स्थाप्ये समाङ्गानामन्यतमेऽङ्गे, भ० ११ श०३उ०।

दंडपणग न०(दण्डपञ्चक) यष्ट्यादिदण्डपञ्चके, प्रव०।

लट्ठी तहा विलट्ठी, दंडो अ विदंडओ अ नाली अ।
भणिअं दंडयपणगं, वक्खाणमिणं भवे तस्स ॥६७६॥

यष्टिः, तथा–वियष्टिः, तथा–दण्डः, तथा–विदण्डः, तथा–नालिका, एतद्दण्डपञ्चकं भणितं तीर्थकरगणधरैः, तस्य च दण्ड–पञ्चकस्येदं वक्ष्यमाणरूपं व्याख्यानं भवेत्।

एतदेवाऽऽह–

लट्ठी आयपमाणा, विलट्ठि चउरंगुलेण परिहीणा।
दंडो बाहुपमाणो, विदंडओ कक्खमेत्ताओ ॥६७७॥

''लट्ठी'' इत्यादि। यष्टिरात्मप्रमाणः, सार्द्धहस्तत्रयमानो वियष्टिर्यष्टेः सकाशाच्चतुर्भिरङ्गुलैः परिहीनो न्यूनो भवति, दण्डो बाहुप्रमाणः स्कन्धप्रदेशप्रमाणः, विदण्डः कक्षामात्रः कक्षाप्रमाणः।

लट्ठीए चउरंगुल–समूसिया दंडपंचगे नाली।
नइपमुहजलुत्तारे, तीए थग्गिज्जए सलिलं ॥६७८॥

यष्टेः सकाशात् चतुरङ्गुलसमुच्छ्रिता आत्मप्रमाणाच्चतुर्भिरङ्गुलैः अतिरिक्ता, षोडशाङ्गुलाधिकहस्तत्रयमानेत्यर्थः। दण्डपञ्चके दण्डपञ्चकमध्ये नाली नाम दण्डपञ्चमक इति। इदानीमेतेषां पञ्चानामपि दण्डानां प्रयोजनं प्रतिपिपादयिषुरनानुपूर्व्या अपि व्याख्याऽङ्गत्वात्प्रथमं नालिकायाः प्रयोजनमाह–नदीप्रमुखजलोत्तारे नदीह्रदाऽऽदिकमुत्तरीतुमनोभिर्मुनिभिस्तया नालिकया स्ताध्यते सलिलमिदं गाधमगाधं वा इति परिमीयते।

अथ यष्ट्यादीनां प्रयोजनमाह–

बज्झइ लट्ठीए जव–णिआ विलट्ठीऐं कत्थइ दुवारं।
घट्टिज्जए उवस्सय–तयणं तेणाइरक्खट्ठा ॥६७९॥

''बज्झइ'' इत्यादि। यष्ट्या यष्टिदण्डकेन उपाश्रये भोजनाऽऽदिवेलायां सागारिकाऽऽदिरक्षणार्थं यवनिका तिरस्करिणी बध्यते, तथा–वियष्ट्या वियष्टिदण्डकेन कुत्राऽपि प्रत्यन्तग्रामाऽऽदौ तस्कराऽऽदिरक्षणार्थमुपाश्रयसत्कं द्वारं घट्यते आहन्यते, येन स्वाट् कारश्रवणात् तस्करशुनकाऽऽदयो नश्यन्तीति।

उउबद्धम्मि उ दंओ, विदंडओ घिप्पए वरिसकाले।
जं सो लहुओ निज्झइ, कप्पंतरिओ जलभएणं ॥६८०॥

तथा ऋतुबद्धे काले भिक्षाभ्रमणाऽऽदिवेलायां दण्डको गृह्यते, तेन हि प्रद्विष्टानां द्विपदानां मनुष्याऽऽदीनां, चतुष्पदानां गवाश्वाऽऽदीनां, बहुपदानां शरभाऽऽदीनां निवारणं क्रियते, दुर्गस्थानेषु च व्याघ्रचौराऽऽदिभये प्रहरणं भवति, वृद्धस्य च अवष्टम्भनहेतुर्भवतीत्यादिप्रयोजनम्।

तथा वर्षाकाले विदण्डको गृह्यते, यद् यस्मात् लघुको भवति, ततः कल्पान्तरितः कल्पस्याभ्यन्तरे कृतः सुखेनैतन्नीयते जलभयेन, यथाऽप्कायेन न स्पृश्यत इति ॥६८०॥

इदानीमेतेषां दण्डानां शुभाशुभस्वरूपप्रतिपादनायाऽऽह–

विसमाइ बद्धमाई, दस य पव्वाइ एगवन्नाइ।
दंडेसु अपोल्लाई, सुहाइँ सेसाइँ असुहाइं ॥६८१॥

पूर्वोक्तेषु पञ्चसु दण्डकेषु, पर्वाणि ग्रन्थिमध्यानि एवंविधानि शुभानि भवन्तीति सम्बन्धः। तत्र विषमाणि एकत्रिपञ्चसप्तनवरूपाणि, तथा दश च दशसंख्यानि। तथा बर्द्धमानानि उपर्युपरि प्रबर्द्धमानानि। तथा एकवर्णानि न पुनश्चित्रलकानि। तथा–(अपोल्लाइ त्ति) अशुषिराणि, निविडानीत्यर्थः, एवंविधविशेषणविशिष्टपर्वोपेताः स्निग्धवर्णा मसृणा वर्तुलावर्तुलाश्च दण्डका यतिजनस्य प्रशस्ता इति भावः। (सेसाइं असुहाइं ति) शेषाणि पूर्वोक्तविपरीतस्वरूपाणि, पर्वाणि अशुभान्यप्रशस्तानीति। एकाऽऽदिपर्वणां च शुभाशुभफलमित्थमोघनिर्युक्तावुक्तम्। यथा–

''एगपव्वं पसंसंति, दुपव्वा कलहकारिका।
तिपव्वा लाभसंपन्ना, चउपव्वा मारणंतिया ॥१॥
पंचपव्वा उ जा लट्ठी, पंथे कलहनिवारिणी।
छपव्वाए य आयंको, सत्तपव्वा निरोगिया ॥२॥
अट्ठपव्वा असंपत्तो, नवपव्वा जसकारिया।
दसपव्वा उ जा लट्ठी, तहियं सव्वसंपई ॥३॥'' इति।

प्रव० ८१ द्वार। पं०भा०।

जे भिक्खू दंडगं वा लट्ठियाअबहेलणयं वा वेणुसइयं वा सयमेव परिघट्टइ वा, संठवेइ वा, जम्माइवेएइ वा, परिघट्टंतं वा संठवंतं वा जम्माइवेयंतं वा साइज्जइ ॥२५॥

इदमपि प्रथमोद्देशकवद्वक्तव्यम्।

गाहा–

दंडग विदंडए वा, लट्ठि विलट्ठी य तिविध तिविधा तु।
वेणुमय वेत्त दारुय, बहु अप्प अहाकडे चेव ॥१७०॥

नि०चू०२ उ०।

दंडपरिहार पुं०(दण्डपरिहार) महत्यां जीर्णकम्बलिकायाम् बृ०१ उ०।

दंडपह पुं०(दण्डपथ) गोदण्डमार्गे, सूत्र०।

अंधे व से दंडपहं गहाय,
अविओसिए घासति पावकम्मी। (५)

यथा ह्यन्धश्चक्षुर्विकलो दण्डपथं गोदण्डमार्गं प्रमुखोज्ज्वलं गृहीत्वाऽऽश्रित्य व्रजन् सम्यगकोविदतया घृष्यते कण्टकश्वापदाऽऽदिभिः पीड्यते, एवं केवललिङ्गधार्यनुपशान्तक्रोधः कर्कशभाष्यधिकरणोद्दीपकस्तथा। (अविओसिए त्ति) अनुपशान्तद्वन्द्वः पापमनार्यं कर्मानुष्ठानं यस्याऽसौ पापकर्मा, घृष्यते चतुर्गतिके संसारे यातनास्थानगतः पौनःपुन्येन पीड्यत इति ॥५॥ सूत्र०१ श्रु० १३ अ०।

दंडपासि(ण्) पुं०(दण्डपार्श्विन्) दण्डस्य पार्श्वं दण्डपार्श्वं, तद्विद्यते यस्याऽसौ दण्डपार्श्वी। स्वल्पतया स्तोकापराधेऽपि कुप्यति दण्डं च पातयति यः तस्मिन्, दशा०६ अ०। सूत्र०।

दंडपुंछणय न०(दण्डपुञ्छनक) दण्डयुक्तायां संमार्जन्याम्, जं०५ वक्ष०। सणकहस्तकेशरपर्णाऽऽदिशलाकासमुदाये च, आ०म०१ अ०१ खण्ड।

दंडपुरक्कड पुं०(दण्डपुरस्कृत) सदा पुरस्कृतदण्डे, दशा०६ अ०। सूत्र०।

दंडप्पयार पुं०(दण्डप्रकार) आज्ञाविशेषे, स०।

***दण्डप्रचार** पुं०। सैन्यविचरणे, स०।

दंडभी स्त्री०(दण्डभी) दण्डं जीवकर्मसमारम्भं मृषावादाऽऽदिकं, दण्डाद्बिभेतीति दण्डभीः। दण्डभीते, आचा०१ श्रु०८ अ०१ उ०।

दंडमाइ पुं०(दण्डाऽऽदि) डल्लानां धरणिपाताऽऽद्युभयाङ्गयुद्धप्रभृतिषु, पिं।

दंडय पुं०(दण्डक) 'दंडग' शब्दार्थ, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

दंडरयण न०(दण्डरत्न) रत्नविशेषे, आ०चू०१ अ०। ''..... दंडरयणं परामुसइ। तए णं भवे दंडरयणं रयणपंचसइयं वइरसारमइयं विणासणं सव्वसत्तूसेन्नाणं खंधावारेण खइयस्सगुहादरीविसमपब्भारगिरिपवाताणं समीकरणं संतिकरणं सुभकरणं रन्नो हिदयइच्छितमणोरह पूरगं दिव्वमपडिहतं दंडरयणं गहाय सत्तट्ठपदे पच्चोसक्कइ।'' आ०चू०१ अ०। स्था०। प्रज्ञा०।

दंडरुइ पुं०(दण्डरूचि) ''एगंतदंडरुइणो।'' हिंसनश्रद्धे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

दंडलक्खण न०(दण्डलक्षण) दण्डस्वरूपनिरूपणे, जं०।

दण्डलक्षणम्–

''यद्यातपत्राङ्कुशवेत्रचाप–
वितानकुन्तध्वजचामराणाम्।
व्यापाततन्त्रीमधुकृष्णवर्ण–
कलाक्रमेणैव हिताय दण्डाः (?) ॥१॥
मन्त्रि१ भू२धन३कुल४क्षयावहा
रोग५मृत्यु६जननाश्च पर्वभिः।
द्व्यादिभिर्द्विकविवर्द्धितैः क्रमा–
द्वारशान्तविरतैः समैः फलम् ॥२॥
यात्राप्रसिद्धि१र्द्विषतां विनाशो२,
लाभाःप्रभूताः३ वसुधा४ऽऽगमश्च।
वृद्धिः५ पशूनामभिवाञ्छितार्थः६,
त्र्यादिष्वयुग्मेषु तदीश्वराणाम् ॥३॥'' जं०२ वक्ष०। ज्ञा०। सूत्र०। औ०। स०। (अत्र विशेषो 'लट्ठि' शब्दे वीक्ष्यः)

दंडलतिय पुं०(दण्डलातिक) दण्डो गृहीतो येन स दण्डलातः, सुखाऽऽदिदर्शनाद् निष्ठान्तस्य परनिपातः। दण्डलात एव दण्डलातिकः (प्राकृतत्वात्) स्वार्थिक इक्प्रत्ययः। यथा–पृथिवीकायिक इत्यत्र। गृहीतदण्डे राज्ञि, व्य०१ उ०।

दंडवइ पुं०(दण्डपति) यः पुनस्तं दण्डमुद्गमयति तस्मिन्, बृ०२ उ०।

दंडविज्जा स्त्री०(दण्डविद्या) वंशदण्डाऽऽदिपर्वसंख्याफलकथने, उत्त० १५ अ०।

दंडवीरिय पुं०(दण्डवीर्य्य) भरतचक्रवर्तिवंशोद्भवे भरतात्सप्तमे स्वनामख्याते नृपे, स्था०८ ठा०। आव०। आ०चू०।

दंडसत्थपरिजुण्ण पुं०(दण्डशस्त्रपरिजीर्ण) दण्डा वेत्रदण्डाऽऽदयः, शस्त्राणि खड्गाऽऽदीनि, ताभ्यां परिजीर्णे समन्ततो दुर्बलभावमापादिते, दश०६ अ०२उ०।

दंडसमायाण न०(दण्डसमादान) समादीयते कर्म एभिरिति समादानानि कर्मोपादानहेतवः, दण्डा एव मनोदण्डाऽऽदयः प्राणव्यपरोपणाध्यवसायरूपाः समादानानि दण्डसमादानानि। कर्मोपादानहेतुषु प्राणव्यपरोपणाध्यवसायरूपेषु मनोदण्डाऽऽदिषु, जी०३ प्रति०२ उ०। दण्डयतीति दण्डः पापोपादानसंकल्पः, तस्य समादाने ग्रहणे, सूत्र०२ श्रु० २ अ०। प्रति०। आचा०। आ०चू०।

दंडायइय पुं०(दण्डाऽऽयतिक) दण्डस्येवाऽऽयतिर्दीर्घत्वं पादप्रसारणेन यस्यास्ति स दण्डाऽऽयतिकः। स्था०५ ठा०१ उ०। प्रसारितदेहे, स्था०७ ठा०। औ०। सूत्र०।

दंडायत पुं०(दण्डाऽऽयत) दण्डवद्यष्टिवदायतो दीर्घो दण्डाऽऽयतः। भूम्यस्ताऽऽयतशरीरे, पञ्चा० १८ विव०। सूत्र०। प्रव०।

दंडारक्खिग पुं०(दण्डाऽऽरक्षिक) दण्डधरे, नि०चू०। ''दंडधरो दंडाऽऽरक्खिगो दंडगहियग्गहत्थो सव्वतो अंतेउरं रक्खइ, रण्णो वयणेण इत्थिं पुरिसं वा अंतेपुरं णीणेति, पवेसेति वा। एस दंडाऽऽरक्खिगो।'' नि०चू०६ उ०।

दंडासणिय पुं०(दण्डाऽऽसनिक) दण्डस्येवाऽऽयतं पादप्रसारणेन तद्दीर्घ यदासनं तद्दण्डाऽऽसनं, तदस्यास्तीति दण्डाऽऽसनिकः। आसनविशेषाभिग्रहवति, बृ०५ उ०।

दंडि(ण्) पुं०(दण्डिन्) दण्डधारिणि, जं०३ वक्ष०। औ०। दशा०। सूत्रकनके, दे०ना० ५ वर्ग ३३ गाथा।

दंडिय पुं०(दण्डिक) राजनि, व्य०४ उ०। ध०। करणपतौ च। व्य०१ उ०। स्था०।

दंडिया स्त्री०(दण्डिका) लेखोपरि राजमुद्रायाम्, बृ०१ उ०।

दंडुक्कल पुं०(दण्डोत्कट) दण्ड आज्ञा, अपराधिदण्डनं वा, सैन्यं वा उत्कटः प्रकृष्टो यस्य, तेन वोत्कटो यः स दण्डोत्कटः। उत्कटभेदे, स्था०५ ठा०३उ०।

दण्डोत्कल पुं०। दण्डेन उत्कलति वृद्धिं याति यः स दण्डोत्कलः। उत्कटभेदे, स्था० ५ ठा०३उ०।

दंत पुं०(दन्त) दशने, ''दशनानि च कुन्दकलिकाः स्युः।'' है०। आचा०। (साधोर्दन्तघर्षणाऽऽचारनिषेधः 'अणायार' शब्दे प्रथमभागे ३१२ पृष्ठे उक्तः)

दान्त पुं०। दाम्यतीन्द्रियाऽऽदिदंडं करोतीत दान्तः। दश० १० अ०। पापेभ्य उपरते, व्य०१० उ०। इन्द्रियनोइन्द्रियदमने, न०। ज्ञा०१ श्रु०१४ अ०। सूत्र०। जितेन्द्रिये, ज्ञा०१ श्रु० १४ अ०। सूत्र०। दश०। प्रश्न०। उत्त०। व्य०। आचा०। ग०। क्रोधाऽऽदिरहिते, उत्त०२ अ०। भ०। उपशान्ते, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। आ०म०। इन्द्रियजयसम्पन्ने, व्य०१ उ०। समर्थे, स्था० ७ ठा०। वश्येन्द्रिये, धर्मव्यायिनि च। सूत्र०१ श्रु० ११ अ०। पर्वतैकदेशे, दे०ना० ५ वर्ग ३३ गाथा।

दंतकम्म न०(दन्तकर्म) दन्तपुत्तलिकाऽऽदिषु, आचा०२ श्रु० २ चू० ४अ०।

दंतकलह पुं०(दन्तकलह) वाग्युद्धे, ''अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम्।'' सूत्र०१ श्रु०३ अ०२उ०।

दंतकुंडी स्त्री०(दन्तकुण्डी) हड्डभाजने, नकारोऽलाक्षणिकः। तं०।

दंडकुडी स्त्री०(दन्तकुटी) दंष्ट्रासु, तं०।

दंतणिवाय पुं०(दन्तनिपात) दशनच्छेद्यरूपेऽसंप्राप्तकामे, दश० ६ अ०।

दंतधावण न०(दन्तधावन) दन्तकाष्ठे, नि०चू०३उ०। (दन्तधावनविधिः 'ण्हाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१६३ पृष्ठे गतः)

दंतप्पक्खालण न०(दन्तप्रक्षालन) दन्ताः प्रक्षाल्यन्तेऽपगतमलाः क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनम्। दन्तकाष्ठे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०। आचा०। अनु०।

दंतप्पहावण न०(दन्तप्रधावन) अङ्गुल्यादिना क्षालने, दश०३ अ०।

दंतपाय न०(दन्तपात्र) दन्तनिर्मिते पात्रे, आचा०२ श्रु०१ चू०६ अ०१ उ०।

दंतपुर (दन्तपुर) स्वनामख्याते दन्तवक्रस्य राज्ञो नगरे, व्य० १उ०। उत्त०। आव०। आ०क०। नि०चू०। आ०चू०।

दंतमणि पुं०(दन्तमणि) प्रधानदन्ते, हस्तिप्रभृतीनां दन्तजेमणौ च। प्रश्न०५ संव० द्वार।

दंतमल पुं०(दन्तमल) दन्तकिट्टे, नि०चू०३ उ०।

दंतमलमइल न०(दन्तमलमलिन) दन्तमलमलीमसे, तं०।

दंतमाल पुं०(दन्तमाल) द्रुमजातिविशेषे, जं०२ वक्ष०।

दंतवक्क पुं०(दन्तवक्र) दन्तपुरराजे, यद्भार्यायाः सत्यवत्याः दन्तमयसौधकरणे दोहदो जातः, तन्नगर एव धनमित्रवणिग्भार्यायाः धनश्रियास्तथैव दोहदं पूरयितुकामस्य दृढमित्रस्य बन्धमाप्तस्य मुमोचयिषुर्धनमित्रो यथातथं वदन् मुक्तो राजकुलात्। व्य०१ उ०। नि०चू०। आव०। उत्त०। आ०चू०। (इति आलोचनायां 'पच्छित्त' शब्दे व्याख्यास्यते)

दंत(पा)वण न०(दन्तपावन) दन्ताः पूयन्ते पवित्रीक्रियन्ते येन काष्ठखण्डेन तद् दन्तपावनम्। प्रव०४ द्वार। दन्तमलापकर्षणकाष्ठे, उपा०१ अ०। दश०। दशननिर्लेपनकाष्ठे यष्टिमध्वादौ, पञ्चा० ५ विव०। स्था०। दर्श०।

दंत(पा)वणविधि पुं०(दन्तपावनविधि) दन्तमलापकर्षणविधौ, उपा० १ अ०। ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे विस्तर)

दंतवाणिज्ज न०(दन्तवाणिज्य) दन्ताऽऽश्रितं दन्तविषयं वाणिज्यम्। दन्तक्रयविक्रययोः, ध०२ अधि०। यत्र प्रथमत एव पुलिन्दानां दन्ताऽऽनयननिमित्तं मूल्यं ददाति, आकरे वा गत्वा स्वयं क्रीणाति, ततस्ते वनाऽऽदौ गत्वा तदर्थं घ्नन्ति, तद्विक्रयपूर्वं यदा–

जीवनं तस्मिन्, प्रव०६ द्वार। ध०२०। आव०। आ०चू०। श्रा०। पञ्चा०। भ०।

दंतवेयणा स्त्री०(दन्तवेदना) दन्तपीडायाम्, जी०३ प्रति० ४ उ०।

दंतसेढी स्त्री०(दन्तश्रेणी) दशनपङ्क्तौ, जं०२ वक्ष०। औ०।

दंतसेणी स्त्री०(दन्तश्रेणी) 'दंतसेढी' शब्दार्थे, जं०२ वक्ष०।

दंतसोहणग न०(दन्तशोधनक) दन्तानां मलनिःसारणसाधने उपकरणभेदे, पं० भा०।

पविरलदंतो थेरो, सेच्छाऽऽदीणं तु दंतलग्गाणं।
लेवाडअरतिसारिय–रक्खट्ठारोहसोहणयं॥
अद्धाणमादिसुं चिय, पिप्पलतो विकरणट्ठ कंदाणं।
माणाहिगवत्थादी–पगाससमुहभाणकरणट्ठा॥पं०भा०।

''दंतसोहणमाइस्स त्ति।''(२७)मकारोऽलाक्षणिकः। अपिशब्दस्य गम्यमानत्वाद् दन्तशोधनाऽऽदेरप्यतितुच्छस्य, आस्तामन्यस्य। (२७)उत्त० १६ अ०।

दंतामय पुं०(दन्ताऽऽमय) दन्तरोगे, नि०चू० ३उ०।

दंतार पुं०(दन्तकार) दन्तशिल्पिनि, प्रज्ञा०१ पद।

दंति(ण्) पुं०(दन्तिन्) हस्तिनि, आ०चू०१ अ०। अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

दंतिअ पुं०(देशी) शासके, दे०ना०५ वर्ग ३४ गाथा।

दंतिंदिय त्रि०(दान्तेन्द्रिय) जिताक्षे, पञ्चा०१७ विव०।

दंतिक्क न०(दन्तिक) मोदकमण्डिकाशौकर्त्यादिकं यद्बहुविधं दन्त–खाद्यकं तस्मिन्, बृ०१उ०। तन्दुलचूर्णे, बृ०१ उ०। नि०चू०। दर्श०। ''मंसनिवित्तिं काउं, सेवइ दंतिक्कयं ति।'' पं०व०१ द्वार।

दंतिक्कचुण्ण पुं०(दन्तिकचूर्ण) तन्दुललोष्टे, तन्दुलचूर्णमोदकाऽऽदिखाद्यकद्वन्द्वे, ''दंतिक्कचुण्णं वा।'' दन्तिकचूर्णस्तन्दुललोष्टः। यद्वा–दन्तिकं तन्दुलचूर्णं, चूर्णं तु मोदकाऽऽदिखाद्यकचूर्णम्। बृ०१ उ०।

दंतिया स्त्री०(दन्तिका) गुल्मभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

दंतिल्लिया स्त्री०(दन्तवती) पत्रकाऽऽलयग्रामवास्तव्यस्य स्कन्दकनाम्नो ग्रामकूरपुत्रस्य दास्याम्, आ०चू०१अ०। आ०म०।

दंतुक्खलिय पुं०(दन्तोत्खलिक) फलभोजिषु, नि०१ श्रु०३ वर्ग ३ अ०। औ०। भ०।

दंतुट्ठ पुं०(दन्तोष्ठ) दन्तानामोष्ठयोश्च समाहारे, स्था० ७ ठा०।

दंतुर त्रि०(दन्तुर) उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य, दन्त–उरच्। उन्नतद–न्तयुक्ते, उन्नताऽऽनते विषमस्थाने च। वाच०। आ०म०।

दंद पुं०(द्वन्द्व) शीतोष्णाऽऽदिषु, द्वा० २२ द्वा०। समुच्चयप्रधाने समासभेदे, अनु०।

से किं तं दंदे? दंदे–दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठम्, स्तनौ च उदरं च स्तनोदरम्, वस्त्रं च पात्रं च वस्त्रपात्रम्, अश्वश्च महिषश्च अश्वमहिषम्, अहिश्च नकुलश्च अहिनकुलम्। सेत्तं दंदे।

तत्र समुच्चयप्रधानो द्वन्द्वः। दन्ताश्चोष्ठौ च दन्तोष्ठम्, स्तनौ च उदरं च स्तनोदरमिति प्राण्यङ्गत्वात् समाहारः। वस्त्रपात्रमित्यादौ त्वप्राणिजातित्वाद्, अश्वमहिषमित्यादौ पुनः शाश्वतिकवैरित्वात्। एवमन्यान्यप्युदाहरणानि भावनीयानि। अनु०।

दंभ पुं०(दम्भ) मायया परवञ्चने, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। स०। स्त्री–कलाभेदे, कल्प०७ क्षण।

दंभग न०(दम्भक) यैरग्निप्रतापितैर्लोहशलाकाभिः परशरीरे अङ्का उत्पाद्यन्ते तेषु, विपा०१ श्रु०६ अ०। वञ्चने च। प्रव०२ द्वार।

दंभबहुल त्रि०(दम्भबहुल) दम्भो मायया परवञ्चनं तदुत्कटे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

दंभुब्भव पुं०(दम्भोद्भव) स्वनामख्याते राजनि, यो हि मदाद्विननाश। ध०१ अधि०।

दंभोलि पुं०(दम्भोलि) दम्भ्नोति खेदयति। दन् भ–ओलिः। वाच०। वज्रे, अस्त्रे, प्रति०। अष्ट०।

दंस धा०(दृश्) चाक्षुषज्ञानप्रवर्तने, **''दृशेर्दाव–दंसदक्खवाः''॥८।४।३२॥** इति दृशेर्ण्यन्तस्य एते त्रय आदेशाः स्युः। ''दावइ। दंसइ। दक्खवइ। दरिसइ।''दर्शयति। प्रा०४ पाद।

***दंश** पुं०। दन् श–अच्। ''शषोः सः''॥८।१।२६०॥ इति शकारस्य सकारः। दशः। प्रा०१ पाद। वनमक्षिकायाम्, आचा०१ श्रु० ६ अ०३ उ०। आव०। उत्त०। दन् श करणाऽऽदौ घञ्। कर्मणि, मर्मणि, दोषे, खण्डने, सर्पाऽऽघाते, दन्ते च। वाच०।

***दर्श** पुं०। दर्शनं दर्शः। सम्यक्त्वे, आ०म०१ अ०१ खण्ड।

दंसण न०(दर्शन) दृश्यन्ते श्रद्धीयन्ते ज्ञायन्ते वा जीवाऽऽदयः पदार्था अनेनास्मादस्मिन्वेति दर्शनम्। दृश्– ल्युट्। **''र्श–र्ष–तप्त वज्रे वा''॥८।२।१०५॥** इति र्शस्य संयुक्तास्यान्त्यव्यञ्जनात् पूर्वमिकारो वा। ''दरिसणं। दंसणं''। प्रा० २पाद। दृष्टिर्वा दर्शनम्। सम्यक्त्वाऽपरपर्याये, दर्शनमोहनीयक्षयाऽऽद्यावि र्भूते तत्त्वश्रद्धानरूपे आत्मपरिणामे, ''एगे देसणे।'' स्था०१ ठा०। तद्योपाधिभेदादनेकविधमपि श्रद्धानसाम्यादेकम्, एकजीवस्य चैकदा एकस्यैव भावादिति। नन्ववबोधसामान्याद् ज्ञानसम्यक्त्वयोः कः प्रतिविशेषः? उच्यते रुचिः सम्यक्त्वं, रुचिकारणं तु ज्ञानम्। यथोक्तम्– ''नाणमवायधिईओ, दंसणमिट्ठं जहोग्गहेहाओ (?)। तह तत्तरुई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं॥१॥'' स्था०१ ठा०। दर्श०। आवा०। सूत्र०। उत्त०। ज्ञा०। औ०। ध०२०। आव०। ध०। रा०। संथा०। द्वा०। भ०। प्रव०। आ०म०। स०। आतु०। ओघ०। नं०।

सम्यङ् मिथ्याभेदाद् द्विविधं दर्शनम्–

दुविहे दंसणे पण्णत्ते। तं जहा–सम्मद्दंसणे चेव, मिच्छादंसणे चेव।

''दुविहे दंसणे'' इत्यादि सप्त सूत्राणि सुगमान्येव। नवरं दृष्टिर्दर्शनं तत्त्वेषु रुचिः, तच्च सम्यगविपरीतं जिनोक्तानुसारि, तथा मिथ्या विपरीतमिति।

सम्यग् दर्शनभेदमाह–

सम्मद्दंसणे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा–णिसग्गसम्मद्दंसणे चेव, अभिगमसम्मद्दंसणे चेव ।

णिसग्गसम्मद्दंसणे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा–पडिवाई चेव, अपडिवाई चेव । अभिगमसम्मद्दंसणे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा–पडिवाई चेव, अपडिवाई चेव ।

(सम्मद्दंसणे इत्यादि) निसर्गः स्वभावोऽनुपदेश इत्यनर्थान्तरम् । अभिगमो गुरूपदेशाऽऽदिरिति, ताभ्यां यत्तत्तथा, क्रमेण मरुदेवी–भरतवदिति । (निसग्गेत्यादि) प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति सम्यग्द–र्शनमौपशमिकं क्षायोपशमिकं वा प्रतिपाति क्षायिकं, तत्रैषां क्रमेण लक्षणम्–इहौपशमिकीं श्रेणिमनुप्रविष्टस्यानन्तानुबन्धिनां दर्शन-मोहनीयत्रयस्य चोपशमादौपशमिकं भवति, यो वाऽनादिमिथ्यादृष्टिर-कृतसम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्राभिधानशुद्धाशुद्धोभयरूपमिथ्यात्वपुद्गलत्रि-पुञ्जीक एवाऽक्षीणमिथ्यादर्शनोऽक्षपक इत्यर्थः, सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, तस्यौपशमिकं भवतीति । कथम्? इह यदस्य मिथ्यादर्शनमोहनीय-मुदीर्णं तदनुभवेनैवोपक्षीणम्, अन्यच्च मन्दपरिणामतया नोदितम्, अतस्तदन्तर्मुहूर्त्तमात्रमुपशान्तमास्ते, विष्टम्भितोदयमित्यर्थः । तावन्तं कालमस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभ इति ।

आह च–

''उवसामगसेढिगयस्स होति उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजे, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥१॥
खीणम्मि उदिन्नम्मी, अणुदिज्जंते य सेसमिच्छत्ते ।
अंतोमुहुत्तकालं, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥२॥'' इति ।

अन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालत्वादेवास्य प्रतिपातित्वम् । यच्चानन्तानुबन्ध्युदये औपशमिकसम्यक्त्वात्प्रतिपततः सास्वादनमुच्यते तदौपशमिकमेव, तदपि च प्रतिपात्यैव , जघन्यतः समयमात्रत्वात्, उत्कृष्टतस्तु षडावलि-कमानत्वादस्येति । तथा इह यदस्य मिथ्यादर्शनदलिकमुदीर्णं तदुपक्षीणं, यच्चानुदीर्णं तदुपशान्तम्, उपशान्तं नामविष्टम्भितोदय-मुपनीत मिथ्यास्वभावं च, तदिह क्षयोपशमस्वभावमनुभूयमानं क्षायोपशमिकमित्युच्यते । नन्वौपशमिकेऽपि यथा क्षयश्चोपशमश्च, तथेहापीति कोऽनयोर्विशेषः? उच्यते–अयमेव हि विशेषो–यदिह वेद्यते दलिकं, न तत्र, इह हि क्षायोपशमिके पूर्वशमितमनुसमयमुदेति वेद्यते क्षीयते च, औपशमिके तूदयविष्टम्भनमात्रमेव । आह च– ''मिच्छत्ते जमुदिण्णं, तं खीणं अणुदियं च उवसंतं । मीसीभावपरिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ॥१॥'' इति । एतदपि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वात्, उत्कर्षतः षट् षष्टि–सागरोपमस्थितिकत्वाच्च प्रतिपातीति । यदपि च क्षपकस्य सम्यग्दर्शनदलिकचरमपुद्गलानुभवनरूपं वेदकमित्युच्यते, तदपि क्षायोपशमिकभेदत्वात् प्रतिपात्येवेति । तथा मिथ्यात्वसम्यग्मि–थ्यात्वसम्यक्त्वमोहनीयक्षयात् क्षायिकमिति । आह च–''खीणे दंसणमोहे, तिविहम्मि वि नवनियाणभूयम्मि । निप्पच्चवायमउलं, सम्मत्तं खाइयं होइ ॥१॥'' इति । इदं तु क्षायिकत्वादेवाप्रतिपाति । अत एव सिद्धत्वेऽप्यनुवर्त्तते ।

मिच्छादंसणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–अभिग्गहियमिच्छा–दंसणे चेव, अणभिग्गहियमिच्छादंसणे चेव । अभिग्गहियमि–च्छादंसणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–सपज्जवसिए चेव, अप–ज्जवसिए चेव । एवमणभिग्गहियमिच्छादंसणे वि ।

(मिच्छादंसणे इत्यादि) अभिग्रहः कुमतपरिग्रहः, स यत्राऽस्ति तदाभिग्रहिकं, तद्वीपरीतमनभिग्रहिकमिति । (अभिग्गहियेत्यादि) आभिग्रहिकमिथ्यादर्शनं सपर्यवसितं सपर्यवानं सम्यक्त्वप्राप्तौ, अपर्यवसितमभव्यस्य सम्यक्त्वाप्राप्तेः, तच्च मिथ्यात्वमात्रमप्य–तीतकालतयाऽनुवृत्त्याऽऽभिग्रहिकमिति व्यपदिश्यते ॥६॥ अना–भिग्रहिकं भव्यस्य सपर्यवसितम्, इतरस्याऽपर्यवसितमिति । स्था०२ ठा०१ उ० आ०म०। दर्शनं त्रिविधम् । तद्यथा–मिथ्यादर्शनं, सम्यगमि-थ्यादर्शनम्, सम्यग्दर्शनं च । आ०म०१ अ०१ खण्ड । दर्शनं मिथ्यात्व-मिश्रसम्यक्त्वभेदात्त्रिविधम् । विशे० । क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिक-भेदाद्दर्शनं त्रिविधम् । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदाद्दर्शनं चतुर्धा । विशे० । औपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकक्षायिकभेदात्पञ्चविधम् । सूत्र०१ श्रु० ६ अ० पं०भा०।

दर्शनस्य सप्तविधत्वमाह–

सत्तविहे दंसणे पण्णत्ते । तं जहा–सम्मद्दंसणे, मिच्छदंसणे, सम्मामिच्छादंसणे, चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे, केवलदंसणे ।

''दंसणे'' इत्यादि सुगमम् । नवरं सम्यग्दर्शनं सम्यक्त्वम्, मिथ्यादर्शनं मिथ्यात्वं, सम्यग् मिथ्यादर्शनं मिश्रमिति। एतच्च त्रिविधमपि दर्शनमोह-नीयभेदानां क्षयक्षयोपशमोदयेभ्यो जायते, तथाविधरुचिस्वभावं चेति। चक्षुर्दर्शनाऽऽदि तु दर्शनाऽऽवरणीयभेदचतुष्टयस्य यथासंभवं क्षयोपश-मत्तयाभ्यां जायते, सामान्यग्रहणस्वभावं चेति। तदेवं श्रद्धानसामान्य-ग्रहणयोर्दर्शनशब्दवाच्यत्वाद्दर्शनं सप्तधोक्तमिति। अनन्तरं केवलदर्शन-मुक्तं, तच्च छद्मस्थावस्थायां अनन्तरं भवतीति। स्था०७ ठा०।

अष्टविधत्वम्–

अट्ठविहे दंसणे पण्णत्ते । तं जहा–सम्मद्दंसणे, मिच्छदंसणे, सम्मामिच्छदंसणे, चक्खुदंसणे०जाव केवलदंसणे, सुविण–दंसणे ।

''अट्ठविहे दंसणे'' इत्यादि कण्ठ्यम् । केवलं स्वप्नदर्शनस्या–चक्षुर्दर्शनान्तर्भावेऽपि सुप्तावस्थोपाधितो भेदो विवक्षित इति । स्था०८ ठा० पं०भा०। कारकरोचकदीपकभेदाद्वा दर्शनं त्रिविधम्। आतु०। (एते भेदीः 'सम्मत्त' शब्दे स्फुटीभविष्यन्ति, सम्यक्त्वपर्यायत्वाद्, दर्शनस्य, नवरमिह दर्शनाऽऽदिशब्दे छद्मस्थदर्शनवीतरागदर्शनभेदाः प्रदर्शयि-ष्यन्ते) श्रद्धानलक्षणे व्यवसाये, व्यवसायांशत्वात्तस्य। स्था०३ ठा०३उ०। 'दृशिर्' प्रेक्षणे, दृश्यते सम्यक् परिज्ञायते सावद्यमनेनेति दर्शनम्। चारित्रे, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् । संथा०। सम्यक्त्वप्रभावकशास्त्रे, आव०४अ०। स्था०। शास्त्रमात्रे, विशे०। दर्शनविशोधके सूत्रे, व्य०१उ०। बृ०। उत्त०। ''गोविंद निज्जुत्तिमादी दंसणं।'' नि०चू० ११ उ०। अभिप्राये, उपदेशे, आचा०१ श्रु० ३ अ०४ उ०। दर्श्यते सामान्यरूपेण वस्त्विपि दर्शनम्। उत्त० ८ अ०। दृश्यते विलोक्यते वस्त्वनेनेति दर्शनम्। यद् वा–दृष्टि–

र्दर्शनम्। कर्म०४ कर्म०। दर्शनाऽऽवरणकर्मक्षयोपशमाऽऽदिजे सामान्यमात्रग्रहणे, अनु०। स्था०।

दंसणावरणिज्जे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–देसदंसणावरणिज्जे, सव्वदंसणावरणिज्जे।

दर्शनं सामान्यार्थबोधरूपमावृणोतीति दर्शनाऽऽवरणीयम्। उक्तं च – ''दंसणसीले जीवे, दंसणघायं करेइ जं कम्मं। तं पडिहारसमाणं, दंसणवरणं भवे जीवे॥१॥''(देस त्ति) देशदर्शनाऽऽवरणीयं, चक्षुरवधिदर्शनाऽऽवरणीयम्। सर्वदर्शनाऽऽवरणीयं तु निद्रापञ्चकं, केवलदर्शनाऽऽवरणीयं चेत्यर्थः। स्था०२ ठा०४ उ०। सूत्र०। सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि, सामान्याऽऽत्मके बोधे, कर्म०४ कर्म०। औ०। आचा०। नं०। निर्विशेषविशेषाणां ग्रहणे, आ०म० २ अ०। नं०। ''पासइ त्ति दंसणं, जं सामन्नग्गहणं तं दंसणं, अणागारमित्यर्थः।'' नं०। विशे०। (''जं सामण्णग्गहणं, दंसणमेयं विसेसियं नाणे।''(सम्म० १ गा०२ काण्ड) इति द्रव्यपर्य्यायास्तिकनययोर्मतेन 'उवओग' शब्दे द्वितीयभागे ८६० पृष्ठे चिन्तितम्)

चक्खु अचक्खू ओही, केवलदंसण अणागारा। (१२)

चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानि। तत्र चक्षुषा दर्शनं वस्तुसामान्यांशाऽऽत्मकं ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम्, अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद्दर्शनं सामान्यांशाऽऽत्मकं ग्रहणं तदचक्षुर्दर्शनम्, अवधिना रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं सामान्यांशग्रहणमवधिदर्शनम्, केवलेन संपूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद्दर्शनं सामान्यांशग्रहणं तत्केवलदर्शनमिति। किंरूपाण्येतानि दर्शनानि? अत आह–अनाकाराणि सामान्याऽऽकारयुक्तत्वे सत्यपि न विद्यते विशिष्टो व्यक्त आकारो येषु तान्यनाकाराणि। कर्म०४ कर्म०। अष्ट०। पं०चू०। प्रव०। अवलोकने, पिं०। पञ्चा०। आत्मनः प्रकटने, व्य०१उ०।

दंसणकप्प पुं०(दर्शनकल्प) कल्पभेदे, पं०भा०।

....., एत्तो वोच्छामि दंसणे कप्पं।
सद्दहणलक्खणं तू, जिणोवदिट्ठेसु भावे तु।
उवगतछक्कायस्सा, आयरियपरंपरागते अत्थे।
आगाढकारणेसु, सद्दहसु णिवेसणं तत्थ।
छक्काए सद्दहितं इण–मण्ण पुणो वि सद्दहेयव्वं।
आगाढमणागाढे, आयरियव्वं तु जं तत्थ।
दव्वे खेत्ते काले, भावे पुरिसे तिगिच्छ असहाए।
एतेहि कारणेहिं, सत्तविहं होइ आगाढं।
एगादीया वुड्ढी, एगुत्तरिया य होति दव्वाणं।
ओमत्थगपरिहाणी, दव्वागाढं वियाणाहि।
जंपेति पुणो वेज्जो, सचित्तं दुल्लभं च दव्वं च।
अपडिहणंतो अत्थति, उद्दिसिउं जाव सो ठाति।
जाहे उद्दिट्ठाणी, ताहे ओमत्थहाणिए भणति।
अम्ह करेमो जोग्गं, अलंभें एयस्स किं कुणिमो?
एवं तु हावयंता, खेत्तं कालं च भावमासज्ज।
ता जूहंती जाव तु, लंभे जेसिं तु दव्वाणं।
अह पुण भणेज्ज एवं, अवस्समेत्तेहिं कज्जदव्वेहिं।
एतं दव्वागाढं, तहिं जए पणगहाणीए।
खेत्तागाढं इणमो, असती खेत्ताण मासजोग्गाणं।
असिवं वा अन्नत्था, णदीवया होज्ज रुद्धा तु।
आयरियादिअहारग, अहवा अन्नत्थ सावया होज्ज।
अंतर जहिं च गम्मति, वाला तह तेण खुत्तियं वा वि।
एतेहि कारणेहिं, खेत्तागाढम्मि एरिसे पत्तो।
अत्थंति असढभावा, एगक्खेत्ते वि जयणाए।
कालस्स वा वि असती, वासावासे वियारणा णत्थि।
एतेहि कारणेहिं, कालागाढं वियाणाहि।
वासाजोग्गं खेत्तं, पडिलेहित्ता तु कालओ बहुए।
वच्चंताण य अंतर–वासं तू णिवडितु पवत्तं।
डहरं चंडतरखेत्तं, ताहे तं चेव पुव्वखेत्तं तु।
गंतू वसती वामं, समतीते वीतिदसरातं।
अतिउक्कडं व दुक्खं, अप्पा वा वेदणामए आसु।
एतेहि कारणेहिं, भावागाढं वियाणाहि।
अब्भुक्कडमूलाऽऽदी, अहिडक्काई तु वेदण अप्पा।
तत्थऽग्गितावणाऽऽदी, दाहच्छेदोवगाढाऽऽदी।
जम्मि विणट्ठे गच्छस्स विणासो तह य णाणचरणाणं।
एतेहि कारणेहिं, पुरिसागाढं वियाणाहि।
तस्स तु सुद्धालंभे, जावज्जीवं पि होति सुद्धेणं।
कायव्वं तू णियमा,पुरिसागाढं भवे एतं।
जेण कुलं आयत्तं, तं पुरिसं आदरेण रक्खाहि।
ण हु तुंबम्मि विणट्ठे, अरया साहारगा हों ति।
संजोगदिट्ठपाठी, फासुगउवदेसणासु जो कुसलो।
एतारिसस्स असती, णायव्व तिगिच्छमागाढं॥
मज्जणतूलिविभासा, अरणे पाउरणए य पाणे य।
केवडियाण पदाणे, अन्नध वत्तो गिलाणो तु॥
उज्जवसहावरहितो, अव्वत्ता वावि अहव असमत्था।
एयऽसहायागाढं, तम्हा णु मुणी ण विहरेज्ज॥
जावंति पवयणम्मी, पडिसेवा मूलमुत्तरगुणेसु।
ता सत्तसु सुद्धेसुं, सुद्धमसुद्धा असुद्धेसु॥
आगाढमणागाढे, एवं जं जत्थ होति करणिज्जं।
तं तह सद्दहमाणे, दंसणकप्पो भवति एसो। पं०भा०।

इयाणिं दंसणकप्पो। तत्थ गाहा–(छक्काए) छक्काएसु विसुवगएसु इममन्नं सद्दहियव्वं, जो आयरियपरंपराए आगओ अत्थो, आगाढे अणागाढे य आयरिज्जइ तं सद्दहियव्वं, तत्थिमाणि सत्त आगाढाणि। गाहा–(दव्वे खेत्ते) दव्वे ताव वेज्जो पुच्छियव्वो जाव इयाणिं दव्वाणि उवइसइ, तावइयाणि न पडिसेविज्जंति। जहा–एवं अम्ह न कप्पइ। जाहे उवइट्ठाणि ताहे उमंथइपरिहाणीए भण्णइ। गाहा (एगादीया) एगाईए वुड्ढीए अम्हे करेसु, जो–

गं मग्गसु, तं चेव जाव कलमसाली (खेत्तं कालं गाहा) तहेव य जहिं लाभो तहिं ठायंति। अहवा भणेज्जा–आवस्सियाणि दव्वाणि जाणियव्वाणि, दुल्लहाणि परिजाणह, स तेल्लमाईणि ववइसइ, ताहे तं दव्वागाढं पणगपरिहाणीए जयंति, जाव चउगुरुएण वि गेण्हंति। (खेत्तागाढं गाहा) खेत्तस्स वा अलंभे असइ मासपाउग्गाणं खेत्ताणं एगत्थ अच्छंति, असिवं वा, अण्णत्थ नईतीरं ति गंतूण अकारगं वा आयरियाणं अण्णत्थ सावया वा, तत्थ अंतरा वा दिग्घजाईया वा अण्णम्मि देसे अंतरा वा ताहे एगत्थ अत्थंति। अहवा खेत्तागाढं अद्धाणे अद्धाणकप्पभिक्खवसहिसण्णाभूमिपालगपलंवाऽऽइसु जयणा, सा सद्दहियव्वा। एवं खेत्तागाढं। कालओ कालेण बहुतो वासावासपाउग्गं खेत्तं वच्चंताणं अंतरा वासं पडियं, तं च अंतरा खेत्तं सन्निसद्धगं, ताहे तं चेव पुव्वपडिलेहियं खेत्तं जंति, उल्लंता वि अइच्छिए वा वासावासे जइ वासइ मग्गसिरेदस राया तिण्णि होंति, उक्कोसेण ओमोयरियाए वा, जा जयणा आहाराऽऽइसु। एयं कालागाढं। इयाणिं भावागाढं। (गाहा अइउक्कडं च) अइउक्कडं ति विसूइयाइ, अहिदट्ठविसअप्पा वा वेयणाहि य पसूलाइ, तत्थ अग्गी कंदाइ वा परित्ताणंताइ दायव्वं। एयं भावागाढं। पुरिसागाढे जम्मि विणट्ठे गच्छस्स विणासो नाणदरिसणचरित्ताऽऽईणं विणासो। (न हु तुंबम्मि विणट्ठे गाहा) ताहे तस्स असुद्धेणावि कीरइ, जाव जीवइ। एयं पुरिसाऽऽगाढं। (गाहा–संजोगदिट्ठपाठी) वेज्जस्स वा संजोगदिट्ठपाठिस्स असइ गीयत्थसंविग्गस्स, ताहे गीयत्थवेज्जस्स जा पाहुडिया कीरइ ण्हाणभोयणचोयणाइ, तं सद्दहइ। एयं ति तिगिच्छागाढं। (गाहा–होज्ज वऽसहाय) सहाया वा से नत्थि अवत्तव्वया सुत्तेण वा दोसा य हिंडमाणस्स वा एगागियस्स ताहे एगत्थ अत्थइ, एगत्थ अत्थंतो अपायच्छित्तो जाव सहाए न लभइ पाउग्गे। (एयऽसहायागाढं गाहा) जावंति एवमाइयाओ, जावंति पडिसेवणाओ मूलुत्तरगुणेसु, ताओ एएसु सत्तसु कारणेसु सुद्धेसु सुद्धाओ, एएसु सत्तसु कारणेसु अ अप्पत्तेसु करेइ असुद्धाओ। एस दंसणकप्पो।'' पं०चू०।

दंसणकुसील पुं०(दर्शनकुशील) कुशीलशब्दप्रदर्शितस्वरूपे कुशीलभेदे, महा०३ अ०।

दंसणखवग पुं०(दर्शनक्षपक) पदैकदेशे पद प्रयोगात् दर्शनमोहनीयस्य क्षपके, कर्म०५ कर्म०। दर्शनमोहनीयक्षये, क्षयोपशमे च। स्था०१ ठा०।

दंसणगुणप्पमाण न०(दर्शनगुणप्रमाण) गुणप्रमाणभेदे, अनु०।

अथ दर्शनगुणप्रमाणमाह–

से किं तं दंसणगुणप्पमाणे? दंसणगुणप्पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–चक्खुदंसणगुणप्पमाणो, अचक्खुदंसणगुणप्पमाणे, ओहिदंसणगुणप्पमाणे, केवलदंसणगुणप्पमाणे। चक्खुदंसणं चक्खुदंसणस्स घडपडकडरहाऽऽइएसु दव्वेसु, अचक्खुदंसणं अचक्खुदंसणस्स आयभावे, ओहिदंसणं ओहिदंसणस्स सव्वरूविदव्वेहिं, न पुण सव्वपज्जवेहिं, केवलदंसणं केवलदंसणस्स सव्वदव्वेहि अ, सव्वपज्जवेहि अ। सेत्तं दंसणगुणप्पमाणे।

(से किं तं दंसणगुणप्पमाणे इत्यादि) दर्शनाऽऽवरणकर्म्मक्षयोपशमाऽऽदिजं सामान्यमात्रग्रहणं दर्शनमिति। उक्तं च– ''सज्जं सामन्नग्गहणं, भावाणं नेव कट्टु मागारं। अविसेसिऊण अत्थे, दंसणमिइ वुच्चए समए।१।'' तदेवाऽऽत्मनो गुणः, स एव प्रमाणं दर्शनगुणप्रमाणम्। इदं च चक्षुर्दर्शनाऽऽदिभेदाच्चतुर्विधम्। तत्र भावचक्षुरिन्द्रियाऽऽवरणक्षयोपशमाद्, द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च, चक्षुर्दर्शनिनश्चक्षुर्दर्शनलब्धिमतो जीवस्य घटाऽऽदिषु द्रव्येषु चक्षुषो दर्शनं चक्षुर्दर्शनं, भवतीति क्रियाऽध्याहारः। सामान्यविषयत्वेऽपि चास्य यद् घटाऽऽदिविशेषाभिधानं तत्सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदभेदादेकान्तेन विशेषेभ्यो व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याऽग्रहणख्यापनार्थम्। उक्तं च– ''निर्विशेषं विशेषाणां, ग्रहो दर्शनमुच्यते।'' इत्यादि। चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयं, मनश्चाचक्षुरुच्यते, तस्य दर्शने न चक्षुर्दर्शनं तदपि भावचक्षुरिन्द्रियाऽऽवरणक्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च, अचक्षुर्दर्शनिनोऽचक्षुर्दर्शनलब्धिमतो जीवस्याऽऽत्मभावे भवति, आत्मनि आत्मनि जीवे भावः संश्लिष्टतया संबन्धो, विषयस्य घटाऽऽदेरिति गम्यते, तस्मिन् सति इदं प्रादुर्भवति रूपम्। इदमुक्तं भवतिचक्षुरप्राप्यकारि, ततो दूरस्थमपि स्वविषयं परिच्छिन्नत्तीत्यस्याऽर्थस्य ख्यापनार्थं घटाऽऽदिषु चक्षुर्दर्शनं भवतीति पूर्वं विषयस्य भेदेनाभिधानम्। श्रोत्राऽऽदीनि तु प्राप्यकारीणि, ततो द्रव्येन्द्रियसंश्लेषद्वारेण जीवेन सह संबद्धमेव विषयं परिच्छिन्दन्तीत्ये तद्दर्शनार्थमात्मभावि भवतीत्येवमिह विषयस्याभेदेन प्रतिपादनमकारीति। उक्तं च – ''पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु।'' इत्यादि। अवधेर्दर्शनमवधिदर्शनम्। अवधिदर्शिनोऽवधिदर्शनाऽऽवरणक्षयोपशमसमुद् भूताऽवधिदर्शनलब्धिमतो जीवस्य सर्वरूपिद्रव्येषु भवति, न पुनः सर्वपर्यायेषु, यतोऽवधेऽरुत् कृष्टतोऽप्येकवस्तुगताः संख्येया असंख्येया वा पर्याया विषयत्वेनोक्ताः, जघन्यतस्तु द्वौ पर्यायौ द्विगुणितौ, रूपरसगन्धस्पर्शलक्षणाश्चत्वारः पर्याया इत्यर्थः। उक्तं च–''दव्वाओ असंखेज्जे, संखेज्जेओ वि पज्जवे लहइ। दो पज्जवे दुगुणिए, लहूइ य एगाउ दव्वाओ।।१।।'' अत्राऽऽहननु पर्याया विशेषा उच्यन्ते, न च दर्शनं विशेषविषयं भवितुमर्हति, ज्ञानस्यैव तद्विषयत्वात्कथमिहावधिदर्शनविषयत्वेन पर्याया निर्दिष्टाः, साधूक्तं केवलं पर्यायैरपि घटशरावोदञ्चनाऽऽदिभिर्मृदादिसामान्यमेव तथा तथा विशिष्यते, न पुनस्तेन एकान्तेन व्यतिरिच्यन्ते, अतो मुख्यतः सामान्यं, गुणीभूतास्तु विशेषा अप्यस्य विषयी भवन्तीतिख्यापनार्थोऽत्र तदुपन्यासः, केवलं सकलदृश्यविषयत्वेन परिपूर्णं दर्शनं, केवलदर्शिनिनस्तदावरणक्षयाऽऽविर्भूततल्लब्धिमतो जीवस्य सर्वद्रव्येषु मूर्त्तामूर्त्तेषु सर्वपर्यायेषु च भवतीति। मनः पर्यायज्ञानं तु तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदा विशेषानेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यम्, अतस्तद्दर्शनं नोक्तमिति। तदेतद्दर्शनगुणप्रमाणम्। अनु०।

दंसणग्गह पुं०(दर्शनग्रह) मताऽऽग्रहे, षो० ११ विव०।

('णाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६८१ पृष्ठे गतमस्य विवेचनम्)

दंसणचरित्तमोह पुं०(दर्शनचारित्रमोह) द्विरूपमोहनीये कर्म्मणि, प्रश्न०। ननु चारित्रमोहस्य हेतुर्मैथुनमिति प्रतीतम्। तदाह– ''तिव्वकसाओ बहुमोहपरिणओ रागदोससंजुत्तो।'' प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

दंसणट्ठ त्रि०(दर्शनार्थ) दर्शनं तत्त्वानां श्रद्धानं, तदर्थे वस्तुनि, स्था०५ ठा०३उ०।

दंसणट्ठया स्त्री(दर्शनार्थता) दर्शनप्रभावकशास्त्रार्थिकत्वे, स्था० ५ ठा०२उ०।

दंसणणय पुं०(दर्शननय) दर्शनिन एव सम्यक्त्वमित्येवंभूते नये, आव०। 'णाणणय' शब्दे १६८६ पृष्ठे ज्ञानप्राधान्यं चारित्रप्राधान्यं च वर्णयित्वाऽऽह; तत्र दर्शननयमतावलम्बी अधिगतज्ञाननये इदमाह–

जह नाणेणं न विणा, चरणं नादंसणिस्स इअ नाणं।
न य दंसणं न भावो, तेन य दिट्ठिं पणिवयामो ॥८४॥

यथा ज्ञानेन विना न चरणं, किं तु सहैव, नादर्शनिन एवं ज्ञानं, किं तु दर्शनिन एव। ''सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं, मिथ्यादृष्टेर्विपर्यासः।'' इति वचनात्। तथा न च दर्शनं न भावः, किं तु भाव एव; भावलिङ्गान्तर्गतमित्यर्थः। तेन कारणेन ज्ञानस्य तद्भावभावित्वाद्दर्शनस्य ज्ञानोपकारकत्वात् प्राग्वद् (दिट्ठि त्ति) प्राकृतशैल्या दर्शनमस्यास्तीति दर्शनी, तं दर्शनिनं प्रणमामः पूजयामः। इति गाथाऽर्थः ॥८४॥

स्यादेतत् सम्यक्त्वज्ञानयोर्युगपद्भावादुपकार्य्योपका–
रकभावानुपपत्तिरित्येतच्चासत्; यतः–

जुगवं पि समुप्पन्नं, सम्मत्तं अहिगमं विसोहेइ।
जह कयगमंजणाई, जलदिट्ठीओ विसोहंति ॥८५॥

युगपदपि तुल्यकालमपि समुत्पन्नं संजातं सम्यक्त्वं ज्ञानेन सह अधिगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते पदार्था येन सोऽधिगमः, ज्ञानमेवोच्यते, तमधिगमं विशोधयति, ज्ञानं विमलीकरोतीत्यर्थः। अत्रार्थे दृष्टान्तमाह– यथा कातकाञ्जने जलदृष्टी विशोधयत इति। कतको वृक्षस्तस्येदं कातकं फलम्, अञ्जनं सौवीराऽऽदि, कातकं चाञ्जनं च कातकाञ्जने, अनुस्वारोऽत्रालाक्षणिको, जलमुदकं, दृष्टिः स्वविषये लोचनप्रसरलक्षणा, जलं च दृष्टिश्च जलदृष्टी, ते शोधयतः। इति गाथाऽर्थः।

साम्प्रतमुपन्यस्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकेनांशतो भा–
वनिकां प्रतिपादयन्नाह–

जह जह सुज्झइ सलिलं, तह तह रूवाइँ पासई दट्ठा।
इय जह जह तत्तरुई, तह तह तत्तागमो होइ ॥८६॥

यथा यथा शुद्ध्यति सलिलं कातकफलसंयोगात्तथा तथा रूपाणि तद्गतानि पश्यति द्रष्टा। (इय) एवं यथा यथा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वलक्षणा, संजायत इति क्रिया। तथा तथा तत्त्वाऽऽगमः तत्त्वपरिच्छेदो भवतीति। एवमुपकारकं सम्यक्त्वं ज्ञानस्येति गाथाऽर्थः।८६।

स्यादेतन्निश्चयतः कार्यकारणभाव एवोपकार्य्योपकारकभावः, स चासम्भवी युगपद् भाविनोरित्यत्रोच्यते–

कारणकज्जविभागो, दीवपगासाण जुगवजम्मे वि।
जुगवुप्पन्नं पि तहा, हेऊ नाणस्स संमत्तं ॥८७॥

यथेह कारणकार्यविभागो दीपप्रकाशयोर्युगपज्जन्मनि युगपदुत्पादेऽपीत्यर्थः, युगपदुत्पन्नमपि तथा हेतुः कारणं ज्ञानस्य सम्यक्त्वम्। यस्मादेवं तस्मात्सकलगुणमूलत्वाद् दर्शनस्य दर्शनिन एव कृतिकर्म कार्यमात्मनाऽपि तत्रैव यत्नः कार्यः, सकलगुणमूलत्वादेवेति। उक्तं च– ''द्वारं मूलं प्रतिस्थानमाधारो भाजनं निधिः। धर्महेतोर्द्विषट् कस्य, सम्यग् दर्शनमिष्यते ॥१॥'' अयं गाथाऽभिप्रायः।

इत्थं चोदकेनोक्ते सत्याहाऽऽचार्य्यः–

नाणस्स जइ वि हेऊ, सविसयनिअयं तहा वि संमत्तं।
तम्हा फलसंपत्ती, न जुज्जई नाणपक्खे व्व ॥८८॥
जह तिक्खरुई वि नरो, गंतुं देसंतरं नयविहूणो।
पावेइ न तं देसं, नयजुत्तो चेव पाउणइ ॥८९॥
इय नाणचरणरहिओ, सम्मद्दिट्ठी वि मुक्खदेसं तु।
पाउणइ नेव नाणाऽऽ–इसंजुओ चेव पाउणइ ॥९०॥

इदमन्यकर्तृकं गाथात्रयं सोपयोगमितिकृत्वा व्याख्यायतेज्ञानस्य यद्यपि हेतुः कारणं, सम्यक्त्वमिति योगः। अपिशब्दोऽभ्युपगमवादसंसूचकः। अभ्युपगम्याऽपि ब्रूमः। तत्त्वतस्तु कारणमेव न भवति, उभयोरपि विशिष्टयोरुपशमकार्यत्वात्स्वविषयनियतमिति कृत्वा। स्वविषयश्चास्य तत्त्वेषु रुचिरेव। तथाऽपि तस्मात् सम्यक्त्वात् (फलसंपत्ती न जुज्जई) फलसंप्राप्तिर्न युज्यते, मोक्षसुखप्राप्तिर्न घटत इत्यर्थः। स्वविषयनियतत्वादेव, असहायत्वादित्यर्थः। ज्ञानपक्ष इव। अनेन तत् प्रतिपादितसकलदृष्टान्तसंग्रहमाह–यथा ज्ञानपक्षो मार्गज्ञाऽऽदिभिर्दृष्टान्तैरसहायस्य ज्ञानस्यैहिकाऽऽमुष्मिकफलासाधकत्वमुक्तम्, एवमत्रापि दर्शना–भिलापेन द्रष्टव्यम्। दिङ्मात्रं तु प्रदर्श्यते–यथा तीक्ष्णरुचिरपि नरः तीव्रश्रद्धोऽपि पुरुषः, गन्तुं देशान्तरं, देशान्तरगमन इत्यर्थः। नयविहीनः, ज्ञानाऽऽगमक्रियालक्षणनयशून्य इत्यर्थः। प्राप्नोति न तं देशं गन्तुमिष्टं तद्विषयश्रद्धायुक्तोऽपि, नययुक्त एव प्राप्नोति। (इय)एवं ज्ञानचरणरहितः सम्यग्दृष्टिरपि तत्त्वश्रद्धानयुक्तोऽपि मोक्षदेशं तु प्राप्नोति नैव सम्यक्त्वप्रभावादेव, किं तु ज्ञानाऽऽदिसंयुक्त एव प्राप्नोति। तस्मात् तत् त्रितयं प्रधानम्, एतत् त्रितययुक्तस्यैव कृतिकर्म्म कार्यं, त्रितयं चाऽऽत्मना सेवनीयम्, ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' इति वचनात्। अयं गाथात्रितयार्थः।

एवमपि तत्त्वे समाख्याते ये खल्वधर्मभूयिष्ठाः, यानि चासदालम्बनानि प्रतिपायन्ति, तदेतदभिधित्सुराह–

धम्मनियत्तमईआ, परलोयपरम्मुहा विसयगिद्धा।
चरणकरणे असत्ता, सेणिअरज्जं ववइसंति ॥९१॥

धर्मश्चारित्रधर्मः परिगृह्यते, तस्मान्निवृत्ता मतिर्येषां ते धर्मनिवृत्तमतयः, परः प्रधानो लोकः परलोकः मोक्षः, तस्मात् पराङ्मुखाः, विषयगृद्धाः शब्दाऽऽदिविषयानुरक्ताः; ते एवंभूताश्चरणकरणे अशक्ता असमर्थाः सन्तः श्रेणिकराज्यं व्यपदिशन्त्यालम्बनमिति गाथाऽर्थः ॥९१॥

न सेणिओ आसि तया बहुस्सुओ,
न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो।
सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सई,
समिक्ख पन्नाइ, वरं खु दंसणं ॥९२॥

(न सेणिओ इत्यादि) न श्रेणिको नरपतिः आसीत्तदा तस्मिन्काले बहुश्रुतो बह्वागमः, महाकल्पाऽऽदिश्रुतधर इत्यर्थः। न चाऽपि प्रज्ञप्तिधरो न चापि भगवतीवेत्ता, न वाचकः–न पूर्वधरः, तथाऽपि सोऽसहायो दर्शनप्रभावादेव (आगमिस्साइ त्ति) आयत्यामागामिनि काले, जिनो भविष्यति तीर्थकरो भविष्यति। यतश्चैवमतः समीक्ष्य दृष्ट्वा प्रज्ञया बुद्ध्या दर्शनवि–

पाकं तीर्थकराऽऽख्यफलप्रसाधकम् (वरं खु दंसणं ति) 'खु' शब्दस्यावधारणार्थत्वात् वरं दर्शनमेव, अङ्गीकृतमिति वाक्यशेषः । अयं वृत्तार्थः । किं च–शक्य एवोपाये प्रेक्षावतः प्रवृत्तिर्युज्यते, न पुनरशक्ये शिरःशूलशमनाय तक्षकफणाऽलङ्कारग्रहणकल्पे चारित्रे, चारित्रं च तत्त्वतः मोक्षोपायत्वे सत्यप्यशक्याऽऽसेवनं, सूक्ष्मापराधैरपि अनुपयुक्तगमनाऽऽदिभिर्विराध्यमानत्वादायासरूपत्वाच्च नियमेन छद्मस्थस्य तद् भ्रंश उपजायते सर्वस्यैव ॥६२॥

अतः–

भट्ठेण चरित्ताओ, सुट्ठुअरं दंसणं गहेअव्वं ।
सिज्झंति चरणरहिआ, दंसणरहिआ न सिज्झंति ॥६३॥

भ्रष्टेन च्युतेन, कृतः? चारित्रात्, सुतरां दर्शनं ग्रहीतव्यं, पुनर्बोधिलाभानुबन्धि, स्वर्गाऽऽदेर्वा ग्रहीतव्येऽशक्यमोक्षोपायत्वात् । तथा च सिद्ध्यन्ति चरणरहिताः प्राणिनः दीक्षाप्रवृत्त्यनन्तरमृतान्तकृत्केवलिनः, दर्शनरहितास्तु न सिद्ध्यन्ति, अतो दर्शनमेव प्रधानं सिद्धिकारणं, तद् भावभावित्वादित्ययं गाथाऽर्थः ॥६३॥ आव० ३ अ०।

दंसणतह (दर्शनतथ्य) शङ्काऽऽद्यतिचाररहिते जीवाऽऽदितत्त्वश्रद्धाने, सूत्र०१ श्रु० १३ अ०।

दंसणपडिमा स्त्री०(दर्शनप्रतिमा) उपासकानां प्रथमप्रतिमायाम्, ध०२ अधि० प्रव० पञ्चा०। ('उवासगपडिमा' शब्दे द्वितीयभागे १०६५ पृष्ठे व्याख्यातेयम्)

दंसणपभावग पुं०(दर्शनप्रभावक) सर्वज्ञशासनप्रकाशके, जीवा १३ अधि०।

दंसणपरिणाम पुं०(दर्शनपरिणाम) सम्यग्दर्शनपरिणामे, प्रज्ञा० १३ पद।

दंसणपरीसह पुं०(दर्शनपरीषह) दर्शनं सम्यग्दर्शनं तदेव क्रियाऽऽदिवादिनां विचित्रमतश्रवणेऽपि सम्यक् परिषह्यमाणं निश्चलचित्ततया धार्य्यमाणं परीषहः । यद्वा–दर्शनशब्देन दर्शनव्यामोहहेतुरैहिकाऽऽमुष्मिकफलानुपलम्भाऽऽदिरिह गृह्यते, ततः स एव परीषहः दर्शनपरीषहः । दर्शनपरीषहे, उत्त०२ अ० स० प्रव० जिनानां जिनोक्तभावानां चाश्रद्धानवर्जनरूपे परीषहे, भ०८ श०८ उ०। ''जिनास्तदुक्तजीवा वा, धर्म्माधर्म्मौ भवान्तरम्। परोक्षत्वान्मृषा नैव, चिन्तयेत्प्राप्तदर्शनः ॥१॥'' ध०३ अधि०।

एतदेव सूत्रकृदाह–

नत्थि णूणं परे लोए, इड्ढी वा वि तवस्सिणो ।
अदुवा वंचिओ मि त्ति, इइ भिक्खू ण चिंतए ॥४४॥

नास्ति न विद्यते, (णूणं) निश्चितं परलोको, जन्मान्तरमित्यर्थः। भूतचतुष्टयाऽऽत्मकत्वाच्छरीरस्य, तस्य चेहैव पातात्, चैतन्यस्य च भूतधर्मभूतत्वात्। तदतिरिक्तस्य चाऽऽत्मनः प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानत्वात्, ऋद्धिर्वा तपोमाहात्म्यरूपा । अपिः पूरणे । कस्य ? तपस्विनः, सा चाऽऽमर्षौषध्यादिः–

''पादरजसा प्रशमनं, सर्वरुजां साधवः क्षणात् कुर्युः ।
त्रिभुवनविस्मयजननान्, दद्युः कामाँस्तृणाग्राद्वा ॥१॥
धर्माद्रित्नोन्मिश्रित–काञ्चनवर्षाऽऽदिसर्गसामर्थ्यम् ।
अद्भुतभीमोरुशिला–सहस्रसंपातशक्तिश्च ॥२॥''

इत्यादिका च, तस्या अप्यनुपलभ्यमानत्वादिति भावः । (अ–दुव त्ति) अथवा किं बहुना? वञ्चितोऽस्मि, भोगानामिति गम्यते। (इति) इत्यमुना शिरस्तुण्डमुण्डनोपवासाऽऽदिना यातनाऽऽत्मकेन धर्मानुष्ठानेन । उक्तं च– ''तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवञ्चना ।'' इत्यादि । (इति) इत्यनन्तरमुपदर्शितं भिक्षुर्न चिन्तयेत् न ध्यायेत्, परिफल्गुरूपत्वादस्य। तथाहि यत्तावदुक्तम्–''भूतचतुष्टयाऽऽत्मकत्वाच्छरीरस्य जन्मान्तराऽभाव इति ।'' तदसत् । न हि शरीरस्य जन्मान्तरानुयायित्वमस्माभिरुच्यते, किं त्वात्मनः, न च भूतधर्म एव चैतन्ये आत्मव्यपदेशः, तस्य तद् धर्मत्वेनोत्तरत्र निषेत्स्यमानत्वात्। यदपि ऋद्धिर्वा तपस्विनो नास्ति, तदपि वचनमात्रमेव । अथाऽऽत्मन ऋद्धीनां चाऽऽभावे अनुपलम्भो हेतुरुक्तः, सोऽपि स्वसंबन्धी, सर्वसम्बन्धी वा? तत्र न तावदात्मनोऽभावे स्वसम्बन्ध्यनुपलम्भो हेतुः, स्वयं तस्य घटाऽऽदिवदुपभ्यमानत्वात्, यथैव हि घटाऽऽदिगता रूपाऽऽदय उपलभ्यन्ते, तथा आत्मगता अपि ज्ञानसुखाऽऽदय इति नात्र महदन्तरमुत्पश्यामः । उक्तं चाऽश्वसेनवाचकेन–''आत्मप्रत्यक्ष आत्माऽयम् ।'' इत्यादि। अथाऽयं न दृग्गोचर इति नास्तीत्युच्यते, नाऽयमप्येकान्तः । यतस्तेनैवोक्तम्– ''न च नास्तीह तत्सर्वं , चक्षुषा यन्न गृह्यते ।'' अन्यथा–चैतन्यमपि न दृग् गोचर इति तस्याऽप्यसत्त्वं स्यात्, अथ तत् स्वसंविदितमिति सदुच्यते, अयमपि तथाभूत एवेति सन्नस्तु। उक्तं हि–''अस्त्येव चाऽऽत्मा प्रत्यक्षो, जीवो ह्यात्मानमात्मना । अहमस्मीति संवेत्ति, रूपाऽऽदीनि यथेन्द्रियैः ॥१॥'' इति। किं बहुना? यथा चैतन्यमस्तीत्यभ्युपगम्यते, तथाऽऽत्माऽप्यभ्युपगन्तव्यः, तथा चाऽऽह–''ज्ञानं स्वस्थं परस्थं वा, यथा ज्ञानेन गृह्यते । ज्ञाता स्वस्थः परस्थो वा, तथा ज्ञानेन गृह्यताम्'' ॥१॥ इति। अथ सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भ आत्माभावे हेतुः, अयमप्यसिद्धः, अहमस्मीतिप्रत्ययेन प्रतिप्राणि स्वात्मनः केवलिनां च सर्वाऽऽत्मनामुपलम्भस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात् । एवमृद्धीनामप्यभावे सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भोऽसिद्धः । स्वसंबन्धी तु नियतदेशकालापेक्षोऽन्यथा वाए प्रथमपक्षे को वा किमाह? क्वचित्कदाचित्तासामनुपलम्भस्य (उपलम्भस्य) चास्माकमपि सम्प्रतत्वात् । द्वितीयपक्षे पुनरनैकान्तिकता, देशाऽऽदिविप्रकृष्टानामनुपलम्भेऽपि सत्त्वात्, दृश्यते च क्वचित्कदाचिच्चरणरेणु स्पर्शनाऽऽदितो रोगोपशमाऽऽदिः; ततश्चेहापि कालान्तरे महाविदेहाऽऽदिषु च सर्वकालमृद्ध्यन्तराणामपि संभवस्यानुमीयमानत्वात् । यदपि वञ्चितोऽस्मीति भोगसुखानामनेन शिरस्तुण्डमुण्डनोपवासाऽऽदिना यातनाऽऽत्मकेन धर्मानुष्ठाननेति। तदप्यसमीक्षिताभिधानम्। भोगसुखानां दुःखानुषक्तत्वेन तत्त्ववेदिनामनादेयत्वात्। तथा च वात्स्यायनोऽप्याह। तद्यथा– ''विषसंपृक्तमन्नमनादेयम्, एवं दुःखानुषक्तं सुखमनादेयमिति ।'' प्रयोगश्चयद्विपक्षानुविद्धं न तत्तत्त्वतस्तदेव, यथा विषव्यामिश्रमन्नम्, अतृप्तिकाङ्क्षाशोकाऽऽदिनिमित्तं च वैषयिकं सुखम्। न चास्यासिद्धता, कालत्रये यथा–योगमतृप्त्यादीनां प्रतिप्राणि स्वसंविदितत्वात्, नाऽपि तपसो यातनाऽऽत्मकत्वम्, मनइन्द्रिययोगानामहान्यैव तत्प्रतिपादनात्। उक्तं हि–''मनइन्द्रिययोगानामहानिश्चोदिता जिनैः । यतोऽत्र तत्कथं तस्य, युक्ता स्यात् दुःखरूपता? ॥१॥'' शिरस्तुण्डमुण्डनाऽऽदेश्च किञ्चित्पीडाऽऽत्मकत्वेऽपि समीहितार्थसम्पादकत्वेन न दुःखदायकता । यदुक्तम्–''दृष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ, कायपीडाऽप्यदुःखदा । रत्नाऽऽदिवणिगादीनां, तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥१॥'' प्रयोगश्चयदिष्टार्थप्रसाधकं, न तत् कायपीडाऽऽत्मकत्वेऽपि दुःख–

दायि, यथा रत्नवणिजामध्यश्रमाऽऽदि, इष्टार्थप्रसाधकं च तपः, न चास्याप्यसिद्धता, प्रशमहेतुत्वेन तपसस्तत्परिपक्तितारतम्यात्परमाऽऽनन्दतारतम्यस्यानुभूयमानत्वेन तत् प्रकर्षे तस्याऽपि प्रकर्षानुमानात्। प्रयोगश्च–यत्तारतम्येन यस्य तारतम्यं तस्य प्रकर्षे तत् प्रकर्षः, यथाऽग्नितापप्रकर्षे तपनीयविशुद्धिप्रकर्षः, अनुभूयते च प्रशमतारतम्येन परमाऽऽनन्दतारतम्यम्, लोकप्रतीतत्वाच्चेति सूत्रार्थः ॥४४॥

तथा–

अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवाऽवि भविस्सइ।
मुसं ते एवमाहंसु, इति भिक्खू न चिंतए ॥४५॥

अभूवन्नासन् जिनाः रागाऽऽदिजेतारः, अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपको निपातः–ततश्च विद्यन्ते जिनाः, अस्य कर्मप्रवादपूर्वसप्तदशप्राभृतोद्धततया वस्तुतः सुधर्मस्वामिनंव जम्बूस्वामिनं प्रति प्रणीतत्वात्, तत्काले च जिनसंभवादित्थमुक्तम्; विदेहाऽऽदिक्षेत्रान्तरापेक्षया वेति भावनीयम्। (अदुवेति) अथवा अपिर्भिन्नक्रमः। (भविस्सइ त्ति) वचनव्यत्ययाद्भविष्यन्ति, जिनाः, इत्यपि मृषा अलीकम्, ते जिनास्तित्ववादिनः, (एवं) अनन्तरोक्तन्यायेन (आहंसु त्ति) आहुः ब्रुवते, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्, जिनस्य सर्वज्ञाधिक्षेपप्रतिक्षेपाऽऽदिषु प्रमाणोपपन्नतया प्रतिपादनात्तदुपदेशमूलत्वाच्च सकलैहिकाऽऽमुष्मिकव्यवहाराणामिति सूत्रार्थः ॥४५॥

इदानीं शिष्याऽऽगमनद्वारम्। तत्र च ''नत्थि णूणं परे लोए (४४)''

इति सूत्रावयवसूचितमुदाहरणं निर्युक्तिकृदाह–

ओहाविउकामोऽवि य,अज्झासाढो उ पणियभूमीए।
काऊण रायरूवं, पच्छा सीसेण अणुसिट्ठो ॥१२३॥

अवधावितुकामोऽपि उन्निष्क्रामितुकामोऽपि, चः पूरणे, आर्याषाढस्तु पणितभूमौ व्यवहारभूमौ, हट्टमध्य इत्यर्थः। कृत्वा राजरूपं पश्चाच्छिष्येणानुशिष्टः। इति गाथाऽक्षरार्थः ॥१२३॥ भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः। स चायम्–''अत्थि वच्छाभूमीए अज्झासाढा नामाऽऽयरिया बहुस्सुया, बहुसीसपरिवारा य। तत्थ य गच्छे जो कालं करेति तं णिज्झावेंति भत्तपच्चक्खाणाऽऽइणा। तो बहवे णिज्झामिया। अण्णया एगो अप्पणतो सीसो आयरतरेण भणितो–देवलोगाओ आगंतूण मम दरिसणं देज्जासु। ण य सो आगतो वक्खित्तचित्तत्तणओ। पच्छा सो चिंतेइ–सुबहुं कालं किलिट्ठोऽहं, सलिंगेण चेव ओहावति। पच्छा तेण सीसेण देवलोगगएण आभोइतो, पेच्छइ–ओहावेंतं,पच्छा तेण तस्स पहे गामो विउव्वि–तो, णमपेच्छा य। सो तत्थ छम्मासे पेक्खंतो अत्थितो, न छुहं न तण्हं कालं वा दिव्वप्पभावेण वेएति, पच्छा तं संहरिउं गामस्स बहिं विजणे उज्जाणे छद्दारए सव्वालंकारविभूसिए विउव्वति संजमपरिक्खत्थं, दिट्ठा तेण ते, गिण्हामि एसिमाहरणगाणि, वरं सुहं जीवंतो त्ति। सो एगं पुढविदारयं भणति–आणेहिं आभरणगाणि। सो भणति–भगवं! एगं ताव ते अक्खाणयं सुणेहि, ततो पच्छा गेण्हि–ज्जासि। भणति–सुणेमि। सो भणइ–एगो कुंभकारो, सो मट्टियं खणंतो तडीए अक्कंतो। सो भणति''–

जेण भिक्खं बलिं देमि, जेण पोसेमि णायए।
सा मे मही अक्कमइ, जायं सरणओ भयं ॥१२४॥

(जेण त्ति) प्राकृतशैल्या यया भिक्षां बलिं ददामि, यथा–क्रम भिक्षुदेवेभ्य इति गम्यते। (जेण त्ति) यया पोषयामि (णायप्प त्ति) ज्ञातीन् सा (मे त्ति) मां मही आक्रामति अवष्टभ्नाति; जातम् उत्पन्नम्, शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥१२४॥

अयमिहोपनयः–चौरभयादहं भवन्तं शरणमागतः, त्वं चैवं विलुम्पसि, ततो ममाऽपि जातं शरणतो भयम्, एवमुत्तरत्राप्युपनया भावनीयाः। ''तेण भण्णइ–अतिपंडियवाइतो सि त्ति घेत्तूण आभरणगाणि पडिग्गहे छूढाणि। गतो पुढविकाइओ। इयाणिं आउक्काओ वीओ, सो वि अक्खाणयं कहेति–जहा एगो तालायरो कहाकहओ पाडलओ णाम, सो अन्नया गंगं उत्तरंतो उपरि बुट्ठोदएण हीरति, तं पासिऊण जणो भणति''–

बहुस्सुयं चित्तकहं, गंगा वहति पाडलं।
वुज्झमाणग! भद्दं ते, लव ता किंचि सुभासियं ॥१२५॥

बहुश्रुतं बहुविद्यं, चित्रकथं नानाकथाकथकं, गङ्गा वहति पाटलं पाटलनामकम्, उह्यमानक! भद्रं ते, लप ब्रूहि (ता इति) ताव–द्यावदद्यापि दूरं न नीयस इति भावः, किञ्चिदत्यल्पं सुभाषितं सूक्तमिति श्लोकार्थः ॥१२५॥

सोऽवादीत्–

जेण रोहंति वीयाणि, जेण जीवंति कासया।
तस्स मज्झे विवज्जामि, जायं सरणतो भयं ॥१२६॥

येन जलेन रोहन्ति प्रादुर्भवन्ति बीजानि, येन जीवन्ति प्राणधारणं कुर्वन्ति कर्षकाः कृषीवलाः, तस्य मध्ये विवज्जामि त्ति) विपद्ये म्रिये, जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥१२६॥ ''तस्स वि तहेव गेण्हति। एस आउक्काओ गतो। इयाणिं तेउक्काओ ततिओ, तहेव अक्खाणयं कहेति–एगस्स तावसस्स अग्गिणा उडओ दड्ढो, पच्छा सो भणति''–

जमहं दिया य राओ य, तप्पेमि महुसप्पिसा।
तेण मे उडओ दड्ढो, जायं सरणओ भयं ॥१२७॥

यमहं दिवा च रात्रौ च तर्पयामि प्रीणयामि मधुसर्पिषा तेनार्थाद्–अग्निना, मे उटजस्तापसाऽऽश्रमो दग्धो, जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥१२७॥

अथवा–

वग्घस्स मए भीएणं, पावगो सरणं कओ।
तेण दड्ढं ममं अंगं, जायं सरणओ भयं ॥१२८॥

(वग्घस्स त्ति) सुब्व्यत्ययाद् व्याघ्रात् पुण्डरीकाद् मया भीतेन पावकः अग्निः शरणीकृतः, तेनाङ्गं शरीरं मम दग्धं, जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥१२८॥

''तस्स वि तहेव गिण्हति। एस तेउक्काओ। इयाणिं वाउक्काओ चउत्थो, तहेव अक्खाणयं कहेति–जहा एगो जुवाणो घणनिचियसरीरो, सो पच्छा वाएहि गहितो, अण्णेण भण्णति–''–

लंघणपवणसमत्थो, पुव्वं होऊण संपयं कीस?
दंडगहियग्गहत्थो, वयंस! किं नामओ वाही? ॥१२९॥

(लंघणेत्यादि) लङ्घनम्–उत्प्लुत्य गमनं, प्लवगं धावनं, तत्समर्थः पूर्वं भूत्वा साम्प्रतम् (कीस त्ति) कस्माद् (दंडगहियग्गहत्थो त्ति) प्राकृतत्वाद् गृहीतदण्डाग्रहस्तो, गच्छसीति गम्यते। तदयं ते वयस्य! किंनामको व्याधिरिति गाथाऽर्थः ॥१२९॥

स प्राऽऽह–

जिट्ठाऽऽसाढेसु मासेसु, जो सुहो वाइ मारुओ।
तेण मे भज्जए अंगं, जायं सरणओ भयं ॥१३०॥

ज्येष्ठाऽऽषाढयोर्मासयोर्यः शुभशैत्याऽऽदिगुणान्वितत्वेन शोभनो वाति मारुतो वायुः, तेन मे मम भज्यतेऽङ्गम्, तस्य मेघोन्नतिसंभवत्वेन वातप्रकोपादिति भावः। एवं च जातं शरणतो भयम्, घर्मार्दितानां हि शरणमयमिति श्लोकार्थः ॥१३०॥

अथवा–

जेण जीवंति सत्ताणि, णिरोहम्मि अणंतए।
तेण मे भज्जए अंगं, जायं सरणओ भयं ॥१३१॥

येन वातेन जीवन्ति सत्त्वानि, निरोधे प्रक्रमाद्वातस्य अनन्तके अपरिमिते, तेन मे भज्यतेऽङ्गम्, जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥१३१॥

''तस्स वि तहेव गेण्हति। एसो वाउक्काओ गतो। इयाणिं वणस्स–इकाइओ पंचमो, तहेव अक्खाणयं कहेति–जहा एगम्मि रुक्खे केसिं पि सउणाणं आवासो, तहियं पिल्लगाणि जायाणि, पच्छा रुक्खऽब्भासाओ वल्ली उट्ठिया, रुक्खं वेढंती उवरिं विलग्गा, वेल्लीअणुसारेण सप्पेण विलग्गिऊण ते पिल्लगा खाइया। पच्छा सेसगा भणंति''–

जाव वुच्छं सुहं वुच्छं, पादवे निरुवद्दवे।
मूलाओ उट्ठिया वल्ली, जायं सरणतो भयं ॥१३२॥

यावदुषितं सुखमुषितं पादपे निरुपद्रवे, इदानीं मूलादुत्थिता वल्ली, ततो वृक्षादेव तत्त्वतो भयं, स चोक्तनीत्या शरणमिति जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥१३२॥

''तस्स वि तहेव गेण्हति। एस वणस्सतिकातो गतो। इयाणिं तसकाओ छट्ठो, तहेव अक्खाणयं कहेति–जहा एगं नगरं परवक्केण रोहियं, तत्थ य बाहरियाए मायंगा, ते अब्भिंतरएहिं णिण्णिज्जंति, बाहिं परचक्केण घेप्पंति। पच्छा केण वि अण्णेण भण्णति''–

अब्भिंतरया खुभिया, पिल्लंति य बाहिरा जणा।
दिसं भयह मायंगा ! जायं सरणओ भयं ॥१३३॥

अभ्यन्तरकाः नगरमध्यवर्तिनः, क्षुभिताः परचक्रात्त्रस्ताः, प्रेरयन्ति निष्काशयन्ति, मा भूदस्माऽऽदिक्षय एभ्यो वा भेदः, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततो बाह्याश्च परचक्रलोका उपद्रवन्ति, भवत इति गम्यते। नगरसत्का एत इति, अतो दिशं भजत मातङ्गाः ! यतो जातं शरणतो भयं, नगरं हि भवतां शरणं, तत एव भयमिति श्लोकार्थः ॥१३३॥

''अथवा–एगत्थ नयरे सयमेव राया चोरो, पुरोहितो भंडिओ त्ति, ततो दो वि विहरंति। पच्छा लोओ अण्णमण्णं भणति''–

जत्थ राया सयं चोरो, भंडिओ य पुरोहितो।
दिसं भयह नागरिया ! जायं सरणओ भयं ॥१३४॥

यत्र राजा स्वयं चौरः–स्वपुरं मुष्णाति, भण्डकश्च पुरोहितः, अतोदिशं भजत नागरकाः ! जातं शरणतो भयमिति श्लोकार्थः ॥१३४॥

''अहवा एगस्स धिज्जातीयस्स धूया, सा य जोव्वणत्था, पडि–रूवदंसणिज्जा, सो धिज्जातिओ तं पासिऊण अज्झोववण्णो, तीसे कण्ण अतीव दुब्बलीभूओ, बंभणीए पुच्छितो–निव्वंधे कए कहियं। ताए भण्णति–मा अधिइं करेसु, तहा करेमि जहा केणइ पओएण संपत्ती हवति। पच्छा धूयं भणति–अम्ह पुव्विं दारियं जक्खा भुंजंति, पच्छा वरस्स दिज्जति, तो तव कालपक्खचउद्दसीए जक्खो एहि, मा तं विमाणेसु, मा य तत्थ तुमं उज्जोयं काहिसि। तीए वि जक्खकोऊहल्लेण दीवओ सरावेण ठविओ णीओ, सो य आगतो, सो तं परिभुंजिऊण रत्तिं किलंतो पसुत्तो। इमाए कोउएण सरावं फेडियं, नवरं पेच्छति पियरं, ताए णायंजं होइ तं होउ, इच्छाए भुंजामि भोए, पच्छा ताइं रतिकिलंताइं उग्गए सूरे न पडिबुज्झंति। पच्छा बंभणी मागहियं भणति''–

अइरुग्गयए य सूरिए,
चेतियथूभगए य वायसे।
मित्तीगयए य आयवे,
सहि ! सुहिओ हु जणो ण बुज्झइ ॥१३५॥

अचिरोद्गतके च सूर्ये, कोऽभिप्रायः? प्रथमोदिते रवौ, चैत्यस्तूपगते च वायसे, अनेनोक्तं विवस्वतीत्याह, भित्तिगते चाऽऽतपे, अनेन चोक्ततर इति। सखि ! सुखितो, हुर्वाक्यालङ्कारे, जनो न बुध्यतेन निद्रां जहाति। अनेनाऽऽत्मनो दुःखितत्वं प्रकटयति, सा हि भर्तृविरहदुःखिता रात्रौ न निद्रां लब्धवतीति मागधिकाऽर्थः ॥१३५॥

''पच्छा सा तीसे धूया पडिसुणित्ता पडिभणति मागहियं''–

तुम एव य अम्म हे ! लवे,
मा हु विमाणएँ जक्खमागयं।
जक्खाहडए हु तायए,
अण्णं दाणि विमग्ग तायय ॥१३६॥

त्वमेव चाम्ब ! मातः हे ! इत्यामन्त्रणे, अलापीः–उक्तवती, शिक्षा–समये, यथा–(मा हु त्ति) मेव (विमाणय त्ति) विमंस्था विमुखं कृथा यक्षमागतम्, यक्षाऽऽहृतको (हु त्ति) खलु तातकोऽन्य-मिदानीं विमार्गय अन्वेषय, तातकमिति मागधिकाऽर्थः ॥१३६॥

''पच्छा सा धिज्जाइणी भणति''–

णवमासे कुच्छीएँ धालिया,
पासवणे पुलिसे य मद्दिए।
धूया मे गेहिए हडे,
सलणए असलणए य मे जायए ॥१३७॥

''नव मासान् कुक्षौ धारिता या, प्रस्रवणं पुरीषं च मर्दितं, यस्या इति गम्यते। (धूय त्ति) दुहिता च, गम्यमानत्वात्तया मे मम गेहको भर्ता, हृतश्चौरितोऽतो हेतोः, शरणकमशरणकम्, अपकारित्वान्मे जातमिति मागधिकाऽर्थः ॥१३७॥

अहवा एगेण धिज्जाइएण तलायं खणावियं, तत्थेव पालीए देसे देउलमारामो कओ, तत्थ तेण जण्णो पवत्तिओ, छगलगा जत्थ मारिज्जंति। अण्णया कयाइ सो धिज्जातिओ मरिऊण छगलगो चेव आयातो, सो य घेत्तूणं अप्पणिज्जेहिं पुत्तेहिं तस्स चेव तलाए जण्णे मारिउं निज्जति, सो य जाईसरो णिज्जमाणो अप्पणिज्जियाए भासाए वुब्बुयति, अप्पणा चेव सोयमाणो जहा मम चेव पवत्तियं, एवं सो वेवमाणो साहुणा अतिसयणाणिणा एगेण दीसति। तेण भणियं''–

सयमेव य लुक्ख लोविया, अप्पणिया य वियड्डि खाणिया।

ओवाइयलद्धओ य सि, किं छेला ! वेतेति वाससी ? ॥१३८॥

स्वयमेव च आत्मनैव च (लुक्ख त्ति) सुब् लोपाद् वृक्षा रोपिताः, भवतेति गम्यते। आत्मीया च ''वियड्डि'' इति देशी वचनतः तडागिका खानिता। याचितस्य प्रार्थितस्य प्राप्तेरुपरि देवेभ्यो देयमुपयाचितं, तेनैव लब्धः–अवसरः दुरापत्वेनोपयाचितलब्धः, स एवोपयाचितलब्धकोऽसि त्वमिति, किं छगलक ! (वेवेति वाससी) आरससीति मागधिकाऽर्थः ॥१३८॥

''ततो सो छगलको तेण पढिएणं तुण्हिक्को ठितो, तेण धिज्जाइएण चिंतियं–किं पि पव्वायगेण पढियं, तेण एस तुण्डिक्को ठितो, ततो सो तं तवरिंस भणति–किं भगवं ! एस छगलको तुब्भेहिं पढियमेत्ते चेव तुण्हिक्को ठिओ ? तेण साहुणा तस्स कहियं–जहा एस तुब्भ पिया। किमभिण्णाणं? तेण भणियं–अहं जाणामि। किं पुण एसो कहिहि ति। तेण छगलगेण पुव्वभवे पुत्तेण समं निहाणगं निहियं, तं गंतूण पाएहिं खडखडेति, एयमभिण्णाणं। पच्छा तेण मुक्को, साहुसमीवे धम्मं सोऊण भत्तं पच्चक्खाएऊण देवलोगं गतो। एवं तेण सरणमिति काउं तडागाऽऽरामे जण्णो य पवत्तिओ, तमेव असरणं जायं।'' एवंविधोऽत्र समवतारः। ''एवं तुम्हं अम्हे गया सरणं।'' इह च पूर्वं मनुष्यजातेस्त्रसस्य स्मरणार्थमुदाहरणत्रयमिदं तु तिर्यग् जातेरिति भावनीयम्। ''सो तहेव तस्स आहरणगाणि घेत्तूण सिग्घं गंतुं समाढत्तो पंथे, नवरि संजइं पासति, मंडियं टिविडिक्कियं। तेण सा भण्णति''–

कडए य ते कुंडले य ते
अंजियक्खि ! तिलयए य ते।
पवयणस्स उड्डाहकारिए !,
दुट्ठाऽसेहि ! कतोऽसि आगया ? ॥१३९॥

कटके च ते तव, कुण्डले च ते, अञ्जिताक्षि ! तिलकश्च ते त्वया कृतः, प्रवचनस्य उड्डाहकारिके ! दुष्टाशिक्षिते ! कुतोऽस्यागतेति मागधिकाऽर्थः ॥१३९॥

दर्शनपरीक्षाऽर्थं च साध्वीविकरणम्। सैवमुक्ता सतीदमाह–

राईसरिसवमित्ताणि, परछिद्दाणि पाससि।
अप्पणो विल्लमेत्ताणि, पासंतो वि न पाससि ॥१४०॥

राजिकासर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यस्यात्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसीति श्लोकार्थः ॥१४०॥

तथा–

समणो सि संजओ असि, बंभयारी समलेट्ठुकंचणे।
वेहारियवाऽओ य ते, जिट्ठज्ज ! किं ते पडिग्गहे? ।१४१।

श्रमणोऽसि संयतोऽसि बहिर्वृत्त्या ब्रह्मचारी च समलोष्टकाञ्चनो विहारिकवातकश्च ते यथाऽहं वैहारिक इत्यादिरूपो ज्येष्ठार्य ! किं ते तव पतद्ग्रहक इति श्लोकार्थः ॥१४१॥

''एवं ताए उड्डाहितो समाणो पुणो वि गच्छति, नवरं पेच्छइ खंधावारमिंतं, तस्स किर णिवट्ठमाणो दंडियस्सेव सवडहुत्तो गतो, तेण हत्थिखंधा ओरुहित्ता वंदिओ, भणिओ य–भयवं ! अहो परमं मंगलं निमित्तं च, जं साहू अज्ज मए दिट्ठो। भयवं ! ममाणुग्गहत्थं फासुयएसणिज्जं इमं मोयगाऽऽदि संवलो घेप्पति, सो णेच्छात, भायणे आभरणगाणि छूढाणि मा दीसिहिंति, तेण दंडिएण बला मोडिऊण पडिग्गहो गहितो, जाव मोयगे छुहति, ताव पेच्छति आहरणयाणि, तेण सो खरंटितो, उवालद्धो य। पुणो वि संबोहितो–जहा ण जुज्जति तुम्हं एवं विपरिणामो, मज्झं च अणागमणकारणं सुणेसु–''संकेतदिव्वपेम्मा, विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा। अणहीणमणुयकज्जा, णरभवमसुहं ण इति सुरा ॥१॥'' पच्छा दिव्वं देवरूवं काऊण पडिगतो, तेण पुव्विं दंसणपरीसहो नाहियासिओ, पच्छा अहियासि तो।'' एवं शेषसाधुभिरपि सहनीयो दर्शनपरीषहः। इहोदाहरणोपदर्शकत्वात्प्रकृतिनिर्युक्तेः कथं सूत्रस्पर्शकत्वमिति यत्कैश्चिदुच्यते। तदयुक्तम्। सूत्रसूचितार्थाभिधायित्वात्तस्याः, तदभिधानस्य तत्त्वतः सूत्रव्याख्यानरूपत्वेन सूत्रस्पर्शकत्वादिति। किं च–''कालीपव्वंगसंकोसे''(३ गा०) इत्यादिना क्षुदादिभिरत्यन्तपीडितस्याऽपि यत्परीषहणमुक्तं, तत्र मन्दसत्त्वस्य कस्यचिदश्रद्धानात्सम्यक्त्वविचलितमपि संभवेदिति तद् दृढीकरणार्थं दृष्टान्ताभिधानमर्थतः सूत्रस्पर्शकमिति व्यक्तमेवैतत्, न च केषांचिदिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालादर्वाक्कालभावितेत्यन्योक्तत्वमाशङ्कनीयम्, स हि भगवांश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषयं वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाऽऽशङ्कति। उत्त०२ अ०।

दंसणपरीसहविजय पुं०(दर्शनपरीषहविजय) दर्शनपरीषहसहने, पं०सं०। स चैवम्–''दंसण त्ति।'' (२२) दर्शनविषयपरीषहोऽपि दर्शनमित्युक्तम्, तत्र सर्वपापस्थानेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपोऽनुष्ठायी निःसङ्गश्चाहं, तथाऽपि न धर्माधर्मफलभूतान् देवनारकाऽऽदीन् पश्यामि, ततो महोपवासाऽऽद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रम्, इत्येवं यद् मिथ्यादर्शनमोहनीयस्य प्रदेशोदयतः कदध्यवसायस्योत्थानं स दर्शनपरीषहः। स चैवं सोढव्यः–देवा मनुष्यलोकानामपेक्षया परमसुखिनः, न च संप्रति दुःषमाऽनुभावतस्तीर्थकराऽऽदिरस्ति, ततः परमसुखाऽऽसक्तत्वान्मनुष्यलोके च कार्याभावान्न संप्रति मनुष्याणां दर्शनपथगोचरतामायान्ति। नारकास्तु निरन्तरं तीव्रतरवेदनाऽऽर्तत्वात् पूर्वकृतदुष्कर्मविपाकोदयनिगडानिगडितत्वाच्च गमनाऽऽगमनशक्तिविकलाः, ततस्तेऽपि नेहाऽऽगच्छन्ति। नापि दुःषमाऽनुभावत उत्तमसंहननासंभवे संप्रति तादृशी तपोविशेषशक्तिरस्ति भावनोल्लासो वा, येन ज्ञानातिशयोत्पादनतस्तत्स्थाने देवनारकान्पश्यति; चिरन्तनपुरुषाणां तूत्तमसंहननवशादुत्तमा तपोविशेषशक्तिरुत्तमा च भावना समासीत्, ततः सर्वं तेषामुपपद्यत इति। (२२) पं०सं० ५ द्वार।

दंसणपायच्छित्त न०(दर्शनप्रायश्चित्त) प्रायश्चित्तभेदे, स्था०३ ठा०४ उ०। ('पच्छित्त' शब्दे चैतत् व्याख्यास्यते)

दंसणपुरिस पुं०(दर्शनपुरुष) सम्यक्त्वयुक्तपुरुषे, स्था०३ ठा०१ उ०।

दंसणबल पुं०(दर्शनबल) दृढदर्शने, प्रश्न० १ संव० द्वार। दर्शनबलं सर्ववेदिवचनप्रामाण्यादतीन्द्रियाऽऽदियुक्तिगम्यपदार्थरोचनलक्षणम्। स्था०१० ठा०।

दंसणबुद्ध न०(दर्शनबुद्ध) बुद्धभेदे, ''दुविहा बुद्धा पण्णत्ता। तं जहा–णाणबुद्धा चेव, दंसणबुद्धा चेव।'' स्था०२ ठा०४उ०।

दंसणबोहि(ण) पुं०(दर्शनबोधिन्) दर्शनमोहनीयक्षयोपशमाऽऽदिसम्पन्नश्रद्धानलाभे, स्था०२ ठा०४उ०।

दंसणभावणा स्त्री०(दर्शनभावना) सम्यक्त्वपर्यालोचने' आचा०।

तित्थगराण भगवओ, पवयणपावयणिअइसइड्ढीणं।
अहिगमणणमणदरिसण–कित्तणओ पूयणा थुणणा ॥४॥

तीर्थकृतां भगवतां, प्रवचनस्य च द्वादशाङ्गस्य गणिपिटकस्य, तथा प्रावचनिनामाचार्याऽऽदीनां युगप्रधानानां, तथाऽतिशायिनामृद्धिमतां केवलिमनः पर्यायावधिमच्चतुर्दशपूर्वविदां, तथाऽमर्षौषध्यादिप्राप्तऋद्धीनां यदभिगमनं, गत्वा च दर्शनम्, तथा नमनम्, गुणोत्कीर्त्तनं, संपूजनं गन्धाऽऽदिना, स्तोत्रैः स्तवनम्, इत्यादिका दर्शनभावना। अनया हि दर्शनभावनयाऽनवरतं भाव्यमानया दर्शनशुद्धिर्भवतीति ॥४॥

किं च –

जम्माभिसेयणिक्खमणचरणणाणुप्पती य णिव्वाणी।
दियलोयभवणमंदिर–णंदीसरभोमनगरेसुं ॥५॥

तीर्थकृतां जन्माभिषेकभूमिषु, तथा निष्क्रमणचरणज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणभूमिषु, तथा देवलोकभवनेषु, मन्दिरेषु, तथा नन्दीश्वरद्वीपाऽऽदौ, भौमेषु च पातालभवनेषु, यानि शाश्वतानि चैत्यानि, तानि वन्देऽहमिति द्वितीयगाथाऽन्ते क्रिया ॥५॥

अट्ठावयमुज्जंते, गयग्गपयए य धम्मचक्के य।
पासरहावत्तणयं, चमरुप्पायं च वंदामि ॥६॥

एवमष्टापदे, तथा श्रीमदुज्जयन्तगिरौ, गजाग्रपदे दशार्णकूटवर्त्तिनि, तथा तक्षशिलायां धर्मचक्रे, तथा अहिच्छत्रायां पार्श्वनाथस्य धरणेन्द्रमहिमास्थाने, एवं रथाऽऽवर्ते पर्वते वैरस्वामिना यत्र पादपोपगमनं कृतं, यत्र च श्रीवर्द्धमानमाश्रित्य चमरेन्द्रेणोत्पतनं कृतम्, एतेषु च स्थानेषु यथासम्भवमभिगमनवन्दनपूजनगुणोत्कीर्त्तना–ऽऽदिकाः क्रियाः कुर्वतो दर्शनशुद्धिर्भवतीति ॥६॥

किं च–

गणियं णिमित्त जुत्ती, संदिट्ठी अवितहं इमं णाणं।
इय एगंतमुवगया, गुणपच्चइया इमे अत्था ॥७॥

प्रवचनविदाममी गुणप्रत्ययिका अर्था भवन्ति। तद्यथा–गणितविषये बीजगणिताऽऽदौ परं पारमुपगतोऽयम्। तथा अष्टाङ्गस्य निमित्तस्य पारगोऽयम्। तथा–दृष्टिपातोक्ता नानाविधा युक्तिर्द्रव्यसंयोगाद्, हेतुत्वाद्वेति। तथा सम्यगविपरीता दृष्टिर्दर्शनमस्य त्रिदशैरपि चालयितुमशक्या। तथा अवितथमस्येदं ज्ञानं यथैवा–यमाह तत्तथैव प्रावचनिकस्याऽऽचार्याऽऽदेः प्रशंसां कुर्वतो दर्शनविशुद्धिर्भवति।

एवमन्यदपि–

गुणमाहप्पं इसिणामकित्तणं सुरणरिंदपूया य।
पोराणचेइयाणि य, इइ एसा दंसणे होइ ॥८॥

गुणमाहात्म्यमाचार्याऽऽदेर्वर्णयतः, तथा पूर्वमहर्षीणां च नामोत्कीर्त्तनं कुर्वतः, तेषामेव च सुरनरेन्द्रपूजाऽऽदिकं कथयतः, तथा चिरन्तनचैत्यानि पूजयत इत्येवमादिकां क्रियां कुर्वतस्तद्वासनावासितस्य दर्शनविशुद्धिर्भवतीत्येषा प्रशस्ता दर्शनविषया भावनेति। आचा०२ श्रु०३ चू० १५ अ०।

साम्प्रतं दर्शनभावनास्वरूपगुणदर्शनार्थमिदमाह–

संकाऽऽइदोसरहिओ, पसमत्थिज्झाऽऽइगुणगणोवेओ।
होइ असंमूढमणा, दंसणसुद्धीइ झाणम्मि ॥३२॥

शङ्काऽऽदिदोषरहित इति–शङ्कनं शङ्का। आदिशब्दात्काङ्क्षाऽऽदिपरिग्रहः। उक्तं च–''शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसापरपाषण्डसंस्तयाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः।'' इति। एतेषां च स्वरूपं प्रत्याख्यानाध्ययने न्यक्षेण वक्ष्यामः। तत्र शङ्काऽऽदय एव सम्यक्त्वाऽऽख्यप्रशमगुणातिचारत्वाद्दोषाः शङ्काऽऽदिदोषाः, तै रहितः त्यक्तः। उक्तदोषरहितत्वादेव किम्? प्रशमस्थैर्याऽऽदिगुणगणोपेतः, तत्र प्रकर्षेण श्रमः प्रश्रमः खेदः, स च स्वपरसमयतत्त्वाधिगमरूपः, स्थैर्यं तु जिनशासने निष्प्रकम्पिता। आदिशब्दात्प्रभावनाऽऽदिपरिग्रहः। उक्तं च – ''सपरसमयकोसल्लं, थिरया जिणसासणे पभावणया। आययणसेवभत्ती, दंसणदीवा गुणा पंच'' ॥१॥ प्रशमस्थैर्याऽऽदय एव गुणाः, तेषां गणः समूहः, तेनोपेतो युक्तो यः स तथाविधः। अथवा–प्रशमाऽऽदिना स्थैर्याऽऽदिगबुणगणेनोपेतः। तत्र प्रशमाऽऽदिगुणगणः प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्याभि–व्यक्तिलक्षणः, स्थैर्याऽऽदिस्तु दर्शित एव। य इत्थंभूतः असौ भवत्यसंमूढमनाः, तत्त्वान्तरेऽभ्रान्तचित्त इत्यर्थः। दर्शनशुद्धयोत्कलक्षणया हेतुभूतया। क्व ? ध्याने। इति गाथाऽऽर्थः ॥३२॥ आव० ४अ०।

दंसणभेइणी स्त्री०(दर्शनभेदिनी) ज्ञानाऽऽद्यतिशयतः कुतीर्थिकप्रशंसारूपायां विकथायाम्, तद्यथा–''सूक्ष्मयुक्तिशतोपेतं सूक्ष्मबुद्धिकरं परम्। सूक्ष्मार्थदर्शिभिर्दृष्टं, श्रोतव्यं बुद्धशासनम्॥१॥'' इत्यादि। एवं हि श्रोतृणां तदनुरागात् सम्यग्दर्शन भेद इति। स्था०७ ठा०। ध०। ग०।

दंसणमत्त न०(दर्शनमात्र) दृष्टिमात्रे, पञ्चा०१२ विव०।

दंसणमूढ पुं०(दर्शनमूढ) मिथ्यात्विषु, दर्शनमूढा मिथ्यात्व्यादयः। स्था०३ ठा०१उ०।

दंसणमोह पुं०(दर्शनमोह) दृष्टिर्दर्शनं यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदः, तन्मोहयतीति ''कर्मणोऽण्'' ॥५।१।७२॥ इत्यण् प्रत्ययः। मोहनीयकर्म्मभेदे, कर्म०।

दंसणमोहं तिविहं, सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्धं अद्धविसुद्धं, अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥१४॥

दर्शनमोहं पूर्वोक्तशब्दार्थं, त्रिविधं त्रिकारं भवति। (सम्मं ति) सम्यक्त्वं, मिश्रं सम्यग् मिथ्यात्वं, तथैव मिथ्यात्वम्। एतदेव स्वरूपत आह–शुद्धमर्द्धविशुद्धमविशुद्धं तद्भवति क्रमशः क्रमेणे ति। अयमत्रार्थः–मिथ्यात्वपुद् गलकदम्बकं मदनकोद्रवन्यायेन शोधितं सद् विकाराजनकत्वेन शुद्धं सम्यक्त्वं भवति, तदेव किञ्चिद्विकारजनकत्वेनार्द्धविशुद्धं मिश्रम्, तदेव सर्वथाऽप्यविशुद्धं मिथ्यात्वमिति। उक्तं हि–

''तद्यथेह प्रदीपस्य, स्वच्छाभ्रपटलैर्गृहम्।
न करोत्यावृतिं काञ्चिदेवमेतद्रुचेरपि ॥१॥
एकपुञ्जी द्विपुञ्जी च, त्रिपुञ्जी वाऽननुक्रमात्।
दर्शन्युभयवाँश्चैव, मिथ्यादृष्टिः प्रकीर्त्तितः ॥२॥''

अत्राऽह–सम्यक्त्वं कथं दर्शनमोहनीयं स्यात्, न हि तद्दर्शनं मोहयति, तस्यैव दर्शनित्वात्? उच्यते–मिथ्यात्वप्रकृतित्वेनाति–वारसंभवादौपशमिकाऽऽदिमोहत्वाच्च दर्शनमोहनीयमिति। कर्म०१ कर्म०। स्था०।

दंसणरइय त्रि०(दर्शनरचित) दर्शने दृष्टिमार्गे रचितो विहितो दर्शनरचितः। दृष्टिमार्गविहिते वस्तुनि, औ०।

***दर्शनरतिद** त्रि० । दर्शने सति रतिदो सुखप्रदो दर्शनरतिदः । दर्शने सति सुखप्रदे वस्तुनि, औ०।

***दर्शनरतिक** त्रि०। दिदृक्षणीये, रा०।

दंसणरय त्रि०(दर्शनरत) दर्शनानुरक्ते, वाच०। ''बहूसु अ समर-सुयसंपराएसु दंसणरए समंतओ कलहं सदक्खिणं अणुगवेसमाणे।'' ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०।

दंसणलद्धिय पुं०(दर्शनलब्धिक) श्रद्धानमात्रलब्धिके, भ० ८ श० २उ०।

दंसणलूसि(ण्) पुं०(दर्शनलूषिन्) सम्यग्दर्शनविध्वंसिनि, असद-नुष्ठानेन स्वतो भ्रष्टे, आचा०१ श्रु० ६ अ०४ उ०।

दंसणवावन्नग पुं०(दर्शनव्यापन्नक) दर्शनं सम्यक्त्वं व्यापन्नं भ्रष्टं येषां ते तथा। निह्नवेषु, प्रज्ञा०२३ द्वार।

दंसणविणय पुं०(दर्शनविनय) दर्शनं सम्यक् त्वं, तदेव विनयो दर्शन-विनयः, दर्शनस्य वा तदव्यतिरेकाद् दर्शनगुणाधिकानां सुश्रूषणाऽना-शातनारूपो विनयो दर्शनविनयः। स्था०७ ठा०। सम्यग्दर्शनगुणाधिकेषु सुश्रूषाऽऽदिरूपे विनये, भ०२५श०७उ०। उक्तं च-''पवयणमससंघो, दंसणमिच्छंति इत्थ सम्मत्तं। विणओ दंसणमेसिं, कायव्वा चेव एयं तु ॥१५॥'' संथा०।

दंसणविराहणा स्त्री०(दर्शनविराधना) विराधना खण्डना, दर्शनं सम्यग्दर्शनं क्षायिकाऽऽदि, तस्य विराधना दर्शनविराधना। दर्श-नप्रत्यनीकतानिह्नवाऽऽदिरूपायां तपोविराधनायाम्, स०३ सम०।

दंसणविसोहि स्त्री०(दर्शनविशुद्धि) दर्शनाऽऽचारपरिपालनतो विशुद्धि-र्दर्शनाविशुद्धिः। विशुद्धिभेदे, स्था० १० ठा०। दर्शनविशुद्धिकारकाणि शास्त्राणि, तदर्थमध्वानं गच्छेत्। बृ०१उ०।

दंसणसंकिलेस पुं०(दर्शनसंक्लेश) दर्शनस्य संक्लेशोऽविशुद्ध्य-मानता स दर्शनसंक्लेशः। संक्लेशभेदे, स्था०१० ठा०।

दंसणसंग पुं०(दर्शनसङ्ग) दर्शनेऽवलोकनेऽभिष्वङ्गो दर्शन सङ्गः। अवलोकनाभिष्वङ्गे, पञ्चा०१७ विव०।

दंसणसंपण्ण पुं०(दर्शनसम्पन्न) अविरतसम्यग्दृष्टौ, बृ०१ उ०। स्था०। दर्शनसम्पन्नः शुद्धोऽहमित्येवं श्रद्धत्ते। स्था० ८ ठा०।

दंसणसंपण्णया स्त्री०(दर्शनसंपन्नता) दर्शनस्य क्षायोपशमिकस्य सम्पन्नता। तस्याः क्षायोपशमसम्यक्त्वसहितत्वे, उत्त०।

दंसणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ? दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तच्छेयणं करेइ, परं न विज्झायइ, (परं अणुज्झा-यमाणे) अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ॥६०॥

दर्शनसम्पन्नतया क्षायोपशमिकसम्यक्त्वसमन्वितया भवहेतुभूतं मिथ्यात्वं, तस्य छेदनं क्षपणं करोति। कोऽर्थः? क्षायिकसम्य-क्त्वमवाप्नोति। ततश्च परमित्युत्तरकालमुत्कृष्टतस्तस्मिन्नेव भवे मध्यमजघन्यापेक्षया तृतीये तुर्यवा जन्मन्युत्तरश्रेण्यारोहणेन केव-लज्ञानावाप्तौ न विध्यापयति न ज्ञानदर्शनप्रकाशाभावरूपं विध्या-पनमवाप्नोति, किंत्वनुत्तरेण क्षायिकत्वात् प्रधानेन, ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शनं, तेनाऽऽत्मानं संयोजयन् प्रतिसमयमपरापरेणोप-योगरूपतयोत्पद्यमानेन घटयन्। संयोजनं च भेदेऽपि स्यादत आह-भावयँस्तेनाऽऽत्मानमात्मसान्नयन् विहरति भवस्थकेवलितया मुक्ततया चाऽऽस्ते। पठन्ति च-''अणुत्तरेणं णाणदंसणेणं विहरइ त्ति।'' अत्र च लक्षणे तृतीया। उत्त० पाई० २६ अ०।

दंसणसमाहि पुं०(दर्शनसमाधि) भावसमाधिभेदे, सूत्र०। दर्शनसमाधौ व्यवस्थितो जिनवचनभावितान्तःकरणो निर्वातशरणप्रदीपवन्न कुमतवायुभिर्भ्राम्यते। सूत्र०१ श्रु० १० अ०।

दंसणसावग पुं०(दर्शनश्रावक) दर्शनं सम्यक्त्वं तत्प्रतिपन्नः श्रावको दर्शनश्रावकः। उपाशकानां प्रथमप्रतिमायाम्, स०१० सम०। आ०चू०। तत्र दर्शनं सम्यक्त्वं, तत्प्रतिपन्नः श्रावको दर्शनश्रावकः। इह च प्रतिमानां प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमाप्रतिमावतोरभेदोपचारात्प्रतिमावतो निर्देशः कृतः। एवमुत्तरपदेष्वपि। अयमत्र श्रावको दर्शनश्रावकः। इह च प्रतिमानां प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमाभावार्थः सम्यग्दर्शनस्य शङ्काऽऽदिशल्यरहितस्या-ऽणुव्रताऽऽदिगुणविकल्पस्याऽयमभ्युपगमः सा प्रतिमा प्रथमेति। स०१० सम०।

दंसणसावय पुं०(दर्शनश्रावक) 'दंसणसावग' शब्दार्थे, स०१० सम०।

दंसणसुद्धि स्त्री०(दर्शनशुद्धि) सम्यग् दर्शननिर्मलतायाम्, व्य०४ अ०। प्रति०। सम्यग्दर्शननिर्मलताप्रतिपादके श्रीचन्द्रप्रभसूरिविरचिते स्वनामख्याते ग्रन्थे च। दर्श०१ तत्त्व।

संप्रति स्वयं सौम्यवस्तुगृहीतनामधेयो भगवान् ग्रन्थ-
कारःस्वनाम व्युत्पत्त्या प्रकटयन् ग्रन्थस्वरूपं
प्रयोजनं च दर्शयन्निदं गाथाद्वयमाह-

चंददमपरहरिसूर-रिद्धिपयनिवहप्पडमवन्नेहिं।
जेसिं नामं तेहिं, परोवयारम्मि निरएहिं ॥५७॥
इय पायं पुव्वाऽऽयरि-यरइयगाहाण संगहो एसो।
विहिओ अणुग्गहत्थं, कुमग्गलग्गाण जीवाणं ॥५८॥

चन्द्राऽऽदीनां रिद्धिपर्यवसानानां पदनिवहानां प्रथमवर्णैः प्रथमाक्षरैः येषां नामाऽभिधानं, तैः, चन्द्रप्रभसूरिभिरित्यर्थः। कथंभूतैः? परोप-कारनिरतैः। इति निगदितप्रकारेण प्रायः पूर्वाऽऽचार्यरचितगाथाभिरेष संग्रहो विहितो निष्पादितोऽनुग्रहार्थं कुमार्गलग्नानां कुप्रवचनकुदेशना-वासितान्तःकरणानां भव्यप्राणिनामिति गाथाद्वयार्थः ॥५७॥५८॥

अस्य हि सकलशास्त्रगर्भार्थप्रतिपादकस्य सकल-
सुयतिसुश्रावकसमाचारप्रकाशकस्य
सकलसंदेहदावानलसुधाधारा-
प्रपातसदृशस्य शास्त्रस्य को
नामापि ग्रहीष्यतीत्याह-

जे मज्झत्था धम्मत्थिणो य जेसिं च आगमे दिट्ठी।
तेसिं उवयारकरो, एसो न उ संकिलिट्ठाणं ॥५९॥

ये केचनानिर्दिष्टस्वभावाः प्राणिनः; किंभूताः? मध्यस्था अत्युत्कटरागद्वेषविकलतया समचेतसः, धर्मार्थिनश्च शिवसुखा-भिलाषितया पक्षपातपरिहारेण पूर्वापरपर्यालोचकाः; येषां चाऽऽगमे दृष्टिर्हृदयलोचनं, तेषामुपकारकर एषोऽनन्तरोदितः, न चैव संक्लिष्टानां मिथ्यात्वाभिनिवेशवशवर्त्तिबुद्धिविभवानां, ते

हि धूकवत्प्रकृत्यैव विपरीतस्वभावाः, अतो वस्त्वपि अवस्तुबुद्ध्या गृह्णन्तीति गाथाऽर्थः ॥५६॥

संप्रति ग्रन्थकार एवास्य यथावस्थितार्थाविभासका-

नि नामान्यभिधातुकाम आह-

उवएसरयणकोसं, संदेहविसोसहिं व विउयजणा ! ।
अहवा वि पंचरयणं, दंसणसुद्धिं इमं भणह ॥६०॥

उपदेशा हेयोपादेयोपेक्षणीयार्थेषु हानोपादानोपेक्षणीयभणनानि, त एव रत्नानि, तेषां कोश इव भाण्डारवदुपदेशरत्नकोशः, तम्; संदेहो दोलायमानता, स एव विषं तस्यैवौषधिः संदेहविषापहारित्वादस्याः संदेहविषौषधिः, ताम्; वेति विकल्पनार्थः । विद्वज्जना हि कृतिनः ! अथवाऽपि पञ्चरत्नं, सकलसुखमूलहेतुपञ्चपदार्थप्रकाशकत्वादस्याः । दर्शनशुद्धिमिमां भणत प्रतिपादयत । इति गाथाऽर्थः ॥६०॥

सामान्यमभिधायेदानीमस्यैव माहात्म्योपदर्श-

नायाऽऽह-

मिच्छमहन्नवतारण-तरियं आगमसमुद्दबिंदुसमं ।
कुग्गाहग्गहमंतं, संदेहविसोसहिं परमं ॥६१॥

मिथ्यात्वमहार्णवतारणतरिकां कुत्सितमनोऽधिपरमयानपात्रम्, आगमसमुद्रबिन्दुसमं सिद्धान्तोदधिनिस्यन्दिबिन्दुकल्पं, कुग्राहग्रहमन्त्रं, निर्णाशकमित्यर्थः । संदेहविषौषधिं परमां प्रकृष्टामिति गाथाऽर्थः ॥६१॥

संप्रति पुनरपि शास्त्रगतोपदेशमाह-

एयं दंसणसोहिं, सव्वे भव्वा पढंतु निसुणंतु ।
जाणंतु कुणंतु लहंतु सिवसुहं सासयं झ त्ति ॥६२॥

एतां दर्शनशुद्धिं सर्वेऽपि भव्याः पठन्तु सूत्रतः, निशृण्वन्तु अर्थतः, जानन्तु पुनःपुनरभ्यासतः कुर्वन्तु एतदुक्तमनुतिष्ठन्तु, लभन्तां शिवसुखं शाश्वतं झटितीति गाथाऽर्थः।६२। दर्श०५ तत्त्व।

''यावत्पाथोधयोऽयं सुरगिरिरखिलाऽऽलोकलोकोदरस्थो,
यावद् द्वीपोऽथ जम्बूस्त्रिभुवनतिलकः पूर्णचन्द्राऽऽकृतिश्च ।
यावज्जैनोऽत्र धर्म्मः प्रभवति हि शशी भूतलं तावदेनां,
भव्याः शृण्वन्तु श्रव्यां विषयविमुखताऽऽपादिकां बोधिदां च'' ॥१॥
दर्श० ५ तत्त्व।

दंसणाभिगम पुं०(दर्शनाभिगम) दर्शनं सामान्यग्राही बोधः, तच्चेह गुणप्रत्ययाबध्यादिप्रत्यक्षरूपम्। तेनाभिगमे वस्तुनः परिच्छेदे, तत् प्राप्तौ च। स्था०६ ठा०।

दंसणाऽऽया स्त्री०(दर्शनाऽऽत्मन्) षष्ठे आत्मनो भेदे, दर्शनाऽऽत्मा सर्वजीवानाम्। भ०। प्राकृतत्वाच्च सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः। भ०१२ श०१० उ०।

दंसणायार पुं०(दर्शनाऽऽचार) आचरणमाचारी व्यवहारो, दर्शनं सम्यक्त्वं, तदाचारः। स्था०२ ठा०३उ०। सम्यक्त्वतां व्यवहारे, स०१ अङ्ग। पञ्चा०।

अथ दर्शनाऽऽचारभेदानाह-

निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववहू-थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥२६६॥

शङ्कितं शङ्का संदेहः, तस्याऽभावो निःशङ्कितम्, दर्शनस्य सम्यक्त्वस्याऽऽचारः। इत्येवमन्यत्रापि। तथा काङ्क्षितं काङ्क्षा-अन्यान्यदर्शनग्रहः, तदभावो निष्काङ्क्षितं, तथा विचिकित्सा मतिविभ्रमः युक्त्याऽऽगमोपपन्नेऽप्यर्थे फलं प्रति संमोहः, तदभावो निर्विचिकित्सम्। यद्वा-विद्वद्जुगुप्सामलमलिना एते इत्यादि साधुजुगुप्सा, तदभावो निर्विद्वज्जुगुप्सं, तत एषां द्वन्द्वः, पुँल्लिङ्गनिर्देशश्च प्राकृतत्वात्। तथा-अमूढा तपोविद्याऽतिशयाऽऽदिकुतीर्थिकर्द्धिदर्शनेऽप्यमोहस्वभावा अविचलिता, सा च सा दृष्टिश्च सम्यग्दर्शनम्-अमूढदृष्टिः। अथवा-निर्गताः शङ्किताऽऽदिभ्यो ये ते निःशङ्कितनिः काङ्क्षितनिर्विचिकित्सा जीवाः, अमूढा दृष्टिरस्येत्यमूढदृष्टिश्च जीव एव, तत एते धर्मधर्मिणोरभेदोपचाराद् दर्शनाऽऽचारभेदा भवन्तीति । तथा-उपबृंहणमुपबृंहासमानधार्मिकाणां क्षमणावैयावृत्याऽऽदिसदुणप्रशंसनेन तत्तदुणवृद्धिकरणम्, स्थिरीकरणं तु-धर्माद्विषीदतां तत्रैव चारुवचनचातुर्यादवस्थापनम्, उपबृंहा च स्थिरीकरणं च उपबृंहास्थिरीकरणे। तथा तेषां वात्सल्यं च प्रभावना च वात्सल्यप्रभावने। तत्र वात्सल्यंसमानदेवगुरुधर्माणां भोजनवसनदानोपकाराऽऽदिभिः संमाननं, प्रभावनाधर्मकथाप्रतिवादिनिर्जयदुष्करतपश्चरणकरणाऽऽदिभिर्जिनवचन प्रकाशनम्। यद्यपि च प्रवचनं शाश्वतत्वात्तीर्थकरभाषितत्वाद्वासुरासुरनमस्कृतत्वाद्वा स्वयमेव दीप्यते, तथापि दर्शनशुद्धिमात्मनोऽभीप्सुर्यो येन गुणेनाधिकः स तेन तत्प्रवचनं प्रभावयति, यथा भगवदाचार्यवज्रस्वामिप्रभृतिक इति । एते अष्टौ दर्शनाऽऽचाराः ॥२६६॥ प्रव० ६ द्वार। नि०चू०। ध०। ति०। ग०। नं०। आचा०। दश०। (विशेषस्तु 'आयार' शब्दे द्वितीयभागे ३४० पृष्ठे द्रष्टव्यः)

दंसणायाराइयार पुं०(दर्शनाऽऽचारातिचार) सम्यक्त्वव्यवहारातिचरणे, जीत०।

दंसणायारातियारपायच्छित्त न०(दर्शनाऽऽचारातिचारप्रायश्चित्त) प्रायश्चित्तभेदे, जीत०।

अधुना दर्शनाऽऽचारातिचारप्रायश्चित्तमाह-

संकाऽऽइएसु दोसे, खमणं मिच्छोववूहणाऽऽईसु ।
पुरिमाऽऽई खमणंतं, भिक्खूपभिईण य चउण्हं ॥२८॥
एयं चिय पत्तेयं, उववूहाऽऽईणमकरणे जयणा ।
आयामंतं निव्वी-यगाऽऽइ पासत्थसङ्घेसु ॥२६॥

इह दर्शनाऽऽचारातिचारोऽष्टधा। तद्यथा-शङ्का, आकाङ्क्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टिः, उपबृंहा, स्थिरीकरणं, वात्सल्यं, प्रभावना चेति। तत्र संशयकरणं शङ्का। सा द्विधादेशतः, सर्वतश्च। तत्र देशतस्तुल्येऽपि जीवत्वे कथमेके भव्याः, अपरेत्वभव्या इत्यादि। सर्वतस्तु प्राकृतभाषानिबद्धमिदं श्रुतं न ज्ञायते-किं सर्वज्ञेन प्रणीतम्, आहोस्वित् कुशलमतिनाऽपि परिकल्पितमिति ॥१॥ आकाङ्क्षाऽपिदेशतः कुतीर्थिकमतमाकाङ्क्षति-अस्मिन्नपि खल्वहिंसैव धर्मो, मोक्षश्च फलमुच्यत इति। सर्वतः सर्वकुमतान्याकाङ्क्षति कृषीवल इव सर्वधान्यान्युच्चावचानि कदाचित्किञ्चित्फलतीतिधिया ॥२॥ विचिकित्साआत्मनः फलं प्रत्यनाश्वासः, यथा-आसीत्तादृशानुष्ठायिनां पुरातनानां महासत्त्वानां मोक्षः, अस्मादृशानां त्वस्नानकेशलुञ्चनाऽऽदि कष्टमेव, मन्दसत्त्वत्वात् क्व मोक्षसंभवः? इति देशतः स्तोकोऽनाश्वासः। स सर्वतस्तु सर्वथाऽनाश्वासः। यथा- ''विदक्'' ज्ञाने (धातुपाठे) विदन्तीति विदः साधवः, तेषां जुगुप्सा विज्ञुगुप्सा। देशतोऽहो ! मलदुर्गन्धा इमे मनुजा यद्यदुकेन स्नायुस्तदा को दोषः स्यादिति ? सर्वतस्तु मण्डल्यादिनैकत्र देशे

मिथः संसृष्टभोजिनो गुप्तिगृहवासिन इव महामलीमसाङ्गवाससः प्राग्दत्तदानत्वेनाऽऽजन्म भिक्षाचरा इत्यादि ॥३॥ मूढदृष्टिःपरतीर्थिनां राजाऽऽदिकृतां पूजां,मन्त्राऽऽद्यतिशयान् वा दृष्ट्वा, तदागमान् वा श्रुत्वा देशतः स्तोको मतिव्यामोहः । सर्वतस्तु सर्वथा ॥४॥ उपवृंहा–प्रशंसा ज्ञानदर्शनतपः संयमवैयावृत्योद्यतानां साध्वादीनामुत्साहवृद्धिहेतुः प्रशस्ता मिथ्याऽऽशंसा, शाक्यचरकाऽऽदीनां त्वसावप्रशस्ता ॥५॥ स्थिरीकरणं–सीदतश्चारित्राऽऽदिषु स्थैर्यहेतुः प्रशस्ता, असंयमविषये पुनस्तदप्रशस्ता ॥६॥ वात्सल्यम्–आचार्यग्लानप्राघूर्णकबालवृद्धाऽऽदीनामाहारोपधिदिना समाधिसंपादनं प्रशस्तं, गृहस्थपार्श्वस्थाऽऽद्युपष्टम्भरूपं तदप्रशस्तम् ॥७॥ प्रभावना चतीर्थकरप्रवचनाऽऽदिविषया प्रशस्ता, कुतीर्थिकविषया त्वप्रशस्ता ॥८॥ इह च प्रशस्ताऽऽदीनां प्रशस्तानामकरणेऽतिचारता, अप्रशस्तानां तु करणे देशसर्वभेदाद्योपवृंहाऽऽदीनामपि शङ्काऽऽदीनामिव ज्ञेय इति दर्शनाचारातिचारस्याष्टौ भेदाः । तत्र शङ्काऽऽदिकेषु चतुर्षु भेदेषु देशतः क्षपणं मिथ्योपवृंहणाऽऽदिषु च सूचकत्वात् सूत्रस्य मिथ्याशब्देन मिथ्या–त्वाऽऽदयो गृह्यन्ते, तेषामुपवृंहणा मिथ्योपवृंहणा, अप्रशस्तेत्यर्थः। तथा आदिशब्दात् स्थिरीकरणवात्सल्यप्रभावना गृह्यन्ते, ततश्चाप्रशस्तेष्वपि चतुर्दशतः क्षपणमेव । एतच्चौघतः पुरुषानपेक्षया ज्ञेयम् । अत्राऽऽहननु शङ् काऽऽदिकेष्वित्यनेनैव समानप्रायश्चित्तत्वादष्टापि भेदा गृहीष्यन्ते, किं मिथ्योपवृंहणाऽऽदिषु चेति पृथगुक्तं, विशेषाभावात्? उच्यते–उपवृंहाऽऽदयो हि प्रशस्ताः, अप्रशस्ताश्च भवन्ति । तत्राप्रशसता एव समानप्रायश्चित्ताः, न प्रशस्ताः, अतस्त द्व्यवच्छेदार्थं मिथ्योपवृंहणाऽऽदिषु विविच्य प्रोच्यते, अन्यथा प्रशस्तोपवृंहणाऽऽदीनामपि शङ्काऽऽदिवत् प्रायश्चित्तं स्यात्। न च तेषु प्रायश्चित्तं भवति, तेषां विशिष्टपुण्यानुबन्धहेतुत्वात् । विभायतः पुनः शङ्काऽऽदिकेषु मिथ्योपवृंहणाऽऽदिषु चेत्यष्टस्वपि देशतः पुरिमार्द्धाऽऽदि क्षपणान्तं भिक्षुप्रभृतीनां चतुर्णाम्, तत्र भिक्षोः पुरिमार्द्धः, वृषभस्यैकाशनम्, उपाध्यायस्य आचामाम्लम्, आचार्यस्य क्षपणमिति । सर्वतस्त्वेतेष्वपि मूलं वक्ष्यति । प्रशस्तोपवृंहाऽऽश्चकरणे प्रायश्चित्तमाह–प्रत्येकं भिक्षुप्रभृतीनां यतेरुपलक्षणत्वात् प्रवचनाऽऽदेश्चोपवृंहाऽऽद्यकरणे, एतदेवानन्तरोद्दिष्टं पुरिमार्द्धाऽऽदि प्रायश्चित्तम्। अयं भावार्थः–यदि भिक्ष्वाऽऽदयो हि प्रवचनाऽऽदिरूपां वृंहामादिशब्दात् स्थिरीकरणं वात्सल्यं प्रभावनां वा न कुर्वन्ति, तदा भिक्षोः पुरिमार्द्धं , वृषभस्यैकाशनम्, उपाध्यायस्याऽऽचाम्लम्, आचार्यस्य क्षपणमिति । उत्तरार्द्धस्तूत्तरगाथासंबद्धत्वात्तया सह व्याख्यास्यते ।

सा चेयम्–

परिवाराऽऽइनिमित्तं, ममत्तपरिपालणाऽऽइवच्छल्ले ।
साहम्मिओ त्ति संजम–हेऊ वा सव्वहा सुद्धा ॥३०॥

परिवारः सहायरूपः, आदिशब्दादाहारोपधिशय्याः, तेषां निमित्तम्। अयमाशयः–पार्श्वस्थाऽऽद्यानुकूल्येन सहायाऽऽहारोपधिशय्या लप्स्यन्त इति कृत्वा (पासत्थसङ्घेसु त्ति) उपलक्षणत्वात्पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाछन्दाऽऽदिषु, श्रावकस्वजनाऽऽदिषु च विषये ममत्वपरिपालनाऽऽदिवात्सल्ये ममत्वं प्रतिबन्धरूपं,परिपालना त्वौषधाऽऽद्यैः, आदिशब्दात्संभोगसंवाससूत्रार्थदानानि, इत्यादिके वात्सल्ये कृते सति (आयामंतं निव्वीयगाइ त्ति) भिक्षुवृषभोपाध्यायाऽऽचार्याणां निर्विकृतिकपुरिमार्द्धैकाशनाऽऽचामाम्लानि यथासंख्यं भवन्ति। अथ पुनः साधर्मिक इति समानधार्मिकोऽसाविति, संयमं चासौ मत्संसर्गात्करिष्यतीति हेतो, वाशब्दत्वात् कुलगणसङ्घग्लानाऽऽदिकार्येषु सहायाऽऽदिकं करिष्यतीत्यादिबुद्ध्या सर्वस्मिन्ममत्वाऽऽदिके वात्सल्ये कृतेऽपि शुद्धा ॥३०॥ इत्युक्तं दर्शनाचारातिचारप्रायश्चित्तम् । जीत०। ''इदाणिं एएसिं पच्छित्तं भण्णतितीसु वि संका, कंखा, वितिगिंच्छा य, एताइं तिन्नि । एतासु तिसु वि देसे पत्तेयं पत्तेयं गुरुगा मूलमिति, सव्वे छेदो, पुणसद्दो सव्वसंकाऽऽदिविसेसावधारे दट्ठव्वो । सव्वेहिं ति सव्व संकाए सव्वकंखाए सव्ववितिगिंछाए य, होंति भवन्तीत्यर्थः । किं तत्? मूलमिति अनुकरिसणवक्कं दट्ठव्वं ।'' नि०चू०१उ०।

इयाणिं पच्छित्ता भण्णंति–

दिट्ठीमोहे अपसंसणे य अथिरीकरणे य लहुआ तु ।
वच्छल्लपभावणाए य, अकरणेण सट्ठाणपच्छित्तं ॥३४॥

''दिट्ठीमोहं करेति, अहवा उववूहं न करेति, अहवा अणुववूहिते केवि आयरिया मासलहुं भणंति। सम्मत्ताऽऽदीसु थिरीकरणं ण करेति, अहवा केति मएण वा मासलहू, वच्छल्ले सामण्णेण विसेसेण य भणियं तं चेव सट्ठाणं इमाए गाहाए भणियं, ''आयरिए य गिलाणे गुरुगा गाहा।'' एभावणं अकरें तस्स सामण्णेण चउगुरुगा, विसेसेण सट्ठाणपच्छित्तं, तं च इमं–अतिसेसिनिड्ढिधम्मकहिवादिविज्जरायसम्मतो, गणसम्मतो अतीतणिमित्तेण य एते ससत्तीए पवयणपभावणं ण करें ति चउलहुगा, पडुप्पण्णऽणागतेण य पभावणं ण करें ति चउलहुगा, पडुपण्णणागतेण य पभावणं ण करें ति चउगुरुगा। एवं सट्ठाणपच्छित्तं। अहवा–अतिसेसमादिणो पुरिसा इमेसिं पंचण्हं पुरिसाणं अंतरगता । तं जहा–आयरियउवज्झाय भिक्खुथेरखुड्डया, एएसु सट्ठाणपच्छित्ता भण्णंति, आयरिओ पभावणं ण करेति चउगुरुगा, उवज्झाओ ण करेति, अहवा भिक्खू ण करेति मासगुरु, थेरो ण करेति मासलहु, खुड्डो ण करेति भिण्णमासो। भणिओ दंसणायारो।'' नि०चू० १उ०।

दंसणाराहणा स्त्री०(दर्शनाऽऽराधना) सम्यक्त्वाऽऽराधने, ''तिविहा दंसणाऽऽराहणा–उक्कोसा, मज्झिमा, जहण्णा।'' स्था० ३ ठा०४ उ०।

दंसणारिय पुं०(दर्शनाऽऽर्य) अष्टमे अनृद्धिप्राप्ताऽऽर्य्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । (दर्शनार्यभेदाऽऽदयस्तु 'आरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३३६ पृष्ठे उक्ताः)

दंसणावरण न०(दर्शनाऽऽवरण) दर्शनं सम्यक्त्वमावृणोतीति दर्शनाऽऽवरणम्। उत्त०३३ अ०। दृश्यतेऽनेनेति दृष्टिर्दर्शनम्। सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणाऽऽत्मको बोधः। आव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनत्यावरणम् । यद्वा–आवृणोति आच्छादयति, रम्याऽऽदिभ्यः कर्त्तर्य्यनट् प्रत्यये आवरणं मिथ्यात्वाऽऽदि, स च जीवव्यापाराऽऽहृतकर्मवर्गणान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः, ततो दर्शनस्याऽऽवरणं दर्शनाऽऽवरणम्। कर्म०१ कर्म०। आवरणीयकर्मभेदे, प्रव० ७२ द्वार। स्था०। पं०सं०। कर्म०। (दर्शनाऽऽवरणस्य बन्धोदयसत्तास्थानानां संवेधः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २९६ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

नवविहे दंसणावरणे कम्मे पण्णत्ते । तं जहा–निद्दा, निद्दा–निद्दा, पयला, पयलापयला, थीणगिद्धी, चक्खुदरिसणावरणे, अचक्खुदंसणावरणे, ओहिदंसणावरणे, केवलदंसणावरणे ॥

(नवेत्यादि) सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणाऽऽत्मको बोधो दर्शनं, तस्याऽऽवरणस्वभावं कर्म दर्शनाऽऽवरणं, तन्नवविधम् । तत्र निद्रापञ्चकं तावत्– 'द्राक्' कुत्सायां गतौ, नियतं द्राति कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यमनयेति निद्रा सुखप्रबोधा स्वापावस्था, नखच्छोटिकामात्रेणाऽपि यत्र प्रबोधो भवति। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रेति कार्येण व्यपदिश्यते। तथा निद्राऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, शाकपार्थिवाऽऽदित्वान्मध्यपदलोपी समासः । सा पुनर्दुःखप्रबोधा स्वापावस्था, तस्यां हि अत्यर्थमस्फुटतरीभूतचैतन्यत्वाद् दुःखेन बहुभिर्घोलनाऽऽदिभिः प्रबोधो भवत्यतः सुखप्रबोधनिद्राऽपेक्षया अस्याअतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कार्यद्वारेण निद्रानिद्रेत्युच्यते। उपविष्ट ऊर्द्धस्थितो वा प्रचलात्यस्यां स्वापावस्थायामिति प्रचला । सा ह्युपविष्टस्योर्द्धस्थितस्य वा घूर्णमानस्य स्वमुर्भवति । तथाविध–विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलेत्युच्यते। तथैव प्रचलाऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला। सा हि चङ्क्रमणाऽऽदि कुर्वतः स्वमुर्भवति, अतः स्थानस्थितस्वमृभवां प्रचलामपेक्ष्यातिशायिनी । तद्विपाका कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला। स्त्याना बहुत्वेन संघातमापन्ना गृद्धिरभिकाङ्क्षा जाग्रदवस्थाऽध्यवसितार्थसाधनविषया यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानगृद्धिः, तस्यां हि सत्यां जाग्रदवस्थाऽध्यवसितमर्थमुत्थाय साधयति, स्त्याना वा पिण्डीभूता ऋद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्यामिति स्त्यानर्द्धिरित्यप्युच्यते, तद्भावे हि स्वमुः केशवार्द्धबलसदृशी शक्तिर्भवति। अथवा स्त्याना जडीभूता चैतन्यर्द्धिरस्यामिति स्त्यानर्द्धिरिति । तादृशविपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः, स्त्यानगृद्धिरिति वा। तदेवं निद्रापञ्चकं दर्शनाऽऽवरणक्षयोपशमाद् लब्धात्मलाभानां दर्शनलब्धीनामावारकमुक्तम्। अधुना यद्दर्शनलब्धीनां मूलत एव लाभमावृणोति तदिदं दर्शनाऽऽवरणचतुष्कमुच्यते। चक्षुषा दर्शनं सामान्यग्राही बोधश्चक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणं चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम् । अचक्षुषा चक्षुर्वर्जेन्द्रियचतुष्टेन मनसा वा दर्शनं यत् तदचक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणमचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम् । अवधिना रूपिमर्यादयाऽवधिरेव वा करणनिरपेक्षो बोधरूपो दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमवधिदर्शनम्, तस्याऽऽवरणमवधिदर्शनाऽऽवरणम् । तथा केवलमुक्तस्वरूपं, तच्च तद्दर्शनं च, तस्याऽऽवरणं केवलदर्शनाऽऽवरणमित्युक्तं नवविधं दर्शनाऽऽवरणम् । स्था०९ ठा०।

इदानीं नवविधं दर्शनाऽऽवरणं कर्म व्याख्यानयन्नाह–

दंसणचउ पण निद्दा, वेत्तिसमं दंसणाऽऽवरणं ॥ (९)

इह 'भीमो भीमसेनः' इति न्यायात्, पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद्वा ''दंसणचउ'' इतिशब्देन दर्शनाऽऽवरणचतुष्कं गृह्यते। तत्र दृष्टिर्दर्शनं, दृश्यते परिच्छिद्यते सामान्यरूपं वस्त्वनेनेति वा दर्शनं, तस्याऽऽवरणान्याच्छादनानि दर्शनाऽऽवरणानि, तेषां चतुष्कं दर्शनाऽऽवरणचतुष्कम् । तथा–''पण निद्द त्ति'' द्रांक् कुत्सितगतौ (धातुपाठः) द्राति कुत्सितत्वमवि स्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यं यासु ता निद्राः । ''भिदादयः'' ॥ ५।३।१०८॥ इति (सूत्रेण) अङ् प्रत्ययः। पञ्चेति पञ्चसंख्याः– निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिरूपाः निद्राः पञ्च, निद्रापञ्चकमित्यर्थः । *ततो दर्शनाऽऽवरणचतुष्कं निद्रापञ्चकमिति नवधा* दर्शनाऽऽवरणं भवति । किंविशिष्टमित्याह–(वेत्तिसमं ति) वेत्रिणा प्रतीहारेण समं तुल्यं वेत्रिसमम्। यथा राजानं द्रष्टुकामस्याप्यनभिप्रेतस्य लोकस्य वेत्रिणा स्खलितस्य राज्ञो दर्शनं नोपजायते, तथा दर्शनस्वभावस्याप्यात्मनो येनाऽऽवृतस्य स्तम्भकुम्भाम्भोरुहाऽऽदिपदार्थसार्थस्य न दर्शनमुपजायते, तद्वेत्रिसमं दर्शनाऽऽवरणम्। उक्तं च–

''दंसणसीले जीवे, दंसणघायं करेइ जं कम्मं।
तं पडिहारसमाणं, दंसणवरणं भवे कम्मं ॥१॥
जह रन्नो पडिहारो, अणभिप्पेयस्स सो उ लोगस्स।
रन्नो तह दरिसावं, न देइ दट्ठुं–पि कामस्स ॥२॥
जह राया तह जीवो, पडिहारसमं तु दंसणाऽऽवरणं।
तेण हि विबंधगेणं, न पेच्छई सो घडाईयं ॥३॥''इति।९।

अथ दर्शनाऽऽवरणचतुष्कं व्याचिख्यासुराह–

चक्खुद्दिट्ठिअचक्खू–सेसिंदियओहिकेवलेहिं च ॥
दंसणमिह सामन्नं, तस्साऽऽवरणं तयं चउहा ॥१०॥

इह चक्षुःशब्देन दृष्टिर्गृह्यते, अचक्षुःशब्देन ''सेसिंदिय त्ति'' चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियाणि गृह्यन्ते । ततश्च चक्षुश्चाचक्षुश्चावधिश्च केवलं च चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि, तैः चक्षुरचक्षुरवधिकेवलैः । चशब्दोऽचक्षुःशेषेन्द्रिय इत्यत्र मनसः संसूचकः । दर्शनमिह प्रवचने सामान्यं सामान्योपयोग उच्यते। यदुक्तम्–''जं सामन्नग्गहणं, भावाणं नेव कट्ठु आगारं । अविसेसिऊण अत्थे, दंसणमिय वुच्चए समए ॥१॥'' तस्याऽऽवरणं दर्शनाऽऽवरणं, तच्चतुर्धा भवति–चक्षुर्दर्शनाऽऽवरण–मचक्षुर्दर्शनावरणमवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणमिति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्– इह चक्षुर्दर्शनं नाम यच्चक्षुषा रूपसामान्यग्रहणं, तस्याऽऽवरणं चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणं, चक्षुःसामान्योपयोगाऽऽवरणमिति यावत्। अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद्दर्शनं स्वस्वविषयसामान्यपरिच्छेदोऽचक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणमचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम् । अवधिना रूपिद्रव्य मर्यादया दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमवधिदर्शनं, तस्याऽऽवरणमवधिदर्शनाऽऽवरणम्। केवलेन सम्पूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद्दर्शनं वस्तुसामान्यांशग्रहणं तत् केवलदर्शनं, तस्याऽऽवरणं केवलदर्शनाऽऽवरणम् । अत्राऽऽहननु यथाऽवधिदर्शनाऽऽवरणं कर्मोच्यते, तथा मनः पर्यायज्ञानस्यापि दर्शनाऽऽवरणं कर्म किमिति नोच्यते? उच्यते–मनःपर्यायज्ञानं तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदा विशेषानेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यम्, अतस्तद्दर्शनाभावात्तदावरणं कर्माऽपि न भवति। अत्र च चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणोदय एकद्वित्रीन्द्रियाणां मूलत एव चक्षुर्न भवति, चतुःपञ्चेन्द्रियाणां तु भूतमपि चक्षुस्तथाविधे तदुदये विनश्यति, तिमिराऽऽदिना वाऽस्पष्टं भवति । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनसां पुनर्यथासम्भवमभवनमस्पष्टभवनं वाऽचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणोदयादित्यभिहितं दर्शनाऽऽवरणचतुष्कम् ॥१०॥ कर्म०१ कर्म०। चक्षुषा दर्शनं चतुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणं चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम्।६। अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणमचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम् ।७। अवधिरेव दर्शनं रूपिद्रव्यसामान्यग्रहणम् अवधिदर्शनं, तस्याऽऽवरणमवधिदर्शनाऽऽवरणम् ।८। केवलमेव सकलजगद्भाविवस्तुस्तोमसामान्यग्रहणरूपं दर्शनं केवलदर्शनं, तस्याऽऽवरणं केवलदर्शनाऽऽवरणम्।९। अत्र निद्रापञ्चकं प्राप्ताया दर्शनलब्धेरुपघातकृत्, चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणाऽऽदि–चतुष्टयं तु मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहन्ति। आह च गन्धहस्ती–निद्राऽऽदयः सम–

धिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते, दर्शनाऽऽवरणचतुष्टयं तु उद्गमोच्छेदित्वात्समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति। (६ गाथा) कर्म०६ कर्म०। दर्शनाऽऽवरणस्य नवोत्तरप्रकृतयः। तद्यथा–निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धिः। (एषां पूर्वोक्तानां व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम्, अचक्षुदर्शनाऽऽवरणम्, अवधिदर्शनाऽऽवरणम्, केवलदर्शनाऽऽवरणं च। (६ गाथा) कर्म० ६ कर्म० श्रा०।पं०सं०। (अत्र विशेषः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६४ पृष्ठे, २५६ पृष्ठे च द्रष्टव्यः)

दंसणावरणिज्ज न०(दर्शनाऽऽवरणीय) दर्शनाऽऽवरणप्रवृतौ, स० ६ सम०। आचा०। प्रश्न०।

दंसणावरणिज्जवग्ग पुं०(दर्शनावरणीयवर्ग) दर्शनाऽऽवरणप्रकृतिसमुदाये, क०प्र०१ प्रक०।

दंसणि(ण्) पुं०(दर्शनिन्) दर्शनमस्यास्तीति दर्शनी। सम्यक्त्ववति, आव०३ अ०। "दंसणेणं दंसणी।" अनु०। आव०। रा०।

दंसणिज्ज पुं०(दर्शनीय) आदेयदर्शनो यः स तथा। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। दर्शनयोग्ये, सूत्र०२ श्रु०७ अ०। यानि पश्यतश्चक्षुषी श्रमं न गच्छतः। जी०३ प्रति०४ उ०। ज्ञा०। स्था०। सू०प्र०।

दंसणिद्धि स्त्री०(दर्शनर्द्धि) दर्शनाद्धः प्रथमाऽऽदिरूपा। तथा–"सम्मद्दिट्ठी जीवो, विमाणवज्जं, न बंधए आउं। जति वि ण सम्मत्तजढो, अहव ण बद्धाउओ पुव्विं ॥१॥" (दश० नि० २०६ गाथाटी०) इत्याद्युक्तलक्षणायां प्रशमाऽऽदिरूपायां सम्यक्त्वसम्पत्तौ, दश०३ अ०।

दंसणिंद पुं०(दर्शनेन्द्र) इन्द्रभेदे, स्था०१० ठा०। (व्याख्याऽस्य 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३४ पृष्ठे गता)

दंसणोवघाय पुं०(दर्शनोपघात) शङ्काऽऽदिभिः सम्यक्त्वविराधनायाम्, स्था०१० ठा०।

दंसणोवसंवया स्त्री०(दर्शनोपसम्पत्) सम्पद्भेदे, दर्शनप्रभावनीयसम्मत्यादिशास्त्रपरिभावनार्थमेव दर्शनोपसम्पदिति। ध०३ अधि०।

दंसतिग न०(दर्शत्रिक) चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दशनावधिदर्शनलक्षणे, कर्म०४ कर्म०।

दंसमसग पुं०(दंशमशक) दंशाश्च मशकाश्च दंशमशकाः उभये अप्येते चतुरिन्द्रियाः, महत्त्वामहत्त्वकृतश्चैषां विशेषः। अथवा–दंशो दशनं, भक्षणमित्यर्थः। तत्प्रधाना मशका दंशमशकाः। चतुरिन्द्रियजीवभेदेषु, स० २१ सम०।

दंसमसगपरीसह पुं०(दंशमशकपरीषह) दशन्तीति दंशाः, पचाऽऽदित्वादच् प्रत्ययः। मारयितुं शक्नुवन्तति मशकाः। दंशाश्च मशकाश्च दंशमशकाः। अथवा–दंशो दंशनं, भक्षणमित्यर्थः, तत्–प्रधाना मशका दंशमशकाः चतुरिन्द्रियविशेषाः, यूकाऽऽद्युपलक्षणं चैते एव परीषहो दंशमशकपरीषहः। उत्त०२ अ०। प्रव०। स०। दंशमशकाऽऽदिभिर्दश्यमानोऽपि न ततः स्थानादपगच्छेन्न च तदपनयनार्थं धूमाऽऽदिना यतेत, न च व्यजनाऽऽदिना निवारयेदित्यनुतिष्ठतः (आव१अ०) देहव्यथामुत्पादयत्स्वपि तेष्वनिवारणभयद्वेषाभावकरणरूपे परीषहे, भ०१ श०३उ०। "दष्टोऽपि दंशैर्मशकैः, सर्वाऽऽहारप्रियत्ववित्। त्रासं द्वेषं निरासं न, कुर्यात्कुर्यादुपेक्षणम् ॥१॥" ध०३ अधि०। उत्त०। सूत्र०।

एतदेव सूत्रकृदाह–

पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरेव महामुणी।
णागो संगामसीसे व, सूरे अभिहवे परं ॥१०॥

स्पृष्टः–अभिद्रुतः। चः पूरणे। दंशमशकैः, उपलक्षणत्वाद् यूकाऽऽदिभिश्च (समरे व त्ति) "एदोदुरलोपाविसर्जनीयस्य॥" इति रेफात्, ततः सम एव–तदगणनया स्पृष्टास्पृष्टावस्थयोस्तुल्य एव। यद्वा–समन्तादरयः, शत्रवो यस्मिँस्तत्समर तस्मिन्नति संग्रामशिरोविशेषणम्। वेति पूरणे। महामुनिः प्रशस्तयतिः। किमित्याह–(णागो संगामसीसे वेति) इवार्थस्य वाशब्दस्य भिन्नक्रमत्वान्नाग इव हस्तीव संग्रामस्य शिर इव शिरः प्रकर्षावस्था संग्रामशिरस्तस्मिन् शूरः पराक्रमवान्। यद्वा–शूरो योधः, ततोऽन्तर्भावितोपमार्थत्वाद् वाशब्दस्य च गम्यमानत्वात् शूरवद्वाऽभिहन्यात्, कोऽर्थः–? अभिभवेत्। परं शत्रुम्। अयमभिप्रायः–यथा शूरः करी, यद्वा यथा वा योधः शरैस्तुद्यमानोऽपि तदगणनया रणशिरसि शब्द जयति, एवमयमपि दंशाऽऽदिभिरभिद्रूयमाणोऽपि भावशत्रुं क्रोधाऽऽदिकं जयेदिति सूत्रार्थः ॥१०॥

यथा च भावशत्रुर्जेतव्यस्तथोपदेष्टुमाह–

ण संतसे ण वारेज्जा, मणं पि न पओसए।
उवेहे नो हणे पाणे, भुंजंते मंससोणिए ॥११॥

न संत्रसेन्नोद्विजेत, दंशाऽऽदिभ्य इति गम्यते। यद्वा–अनेकार्थत्वाद्धातूनां न कम्पयेत्, तैस्तुद्यमानोऽपि, अङ्गानीति शेषः। न निवारयेद् न निषेधयेत्, प्रक्रमाद् दंशाऽऽदीनेव तुदतो, मा भूदन्तराय इति, मनश्चित्तं तदपि, आस्तां वचनाऽऽदि, न प्रदूषयेन्न प्रदुष्टं कुर्यात्, किं तु (उवेहे त्ति) उपेक्षेत औदासीन्येन पश्येत्, अत एव न हन्यात् प्राणान् प्राणिनो भुञ्जानान् आहारयतो मांसशोणितम्। अयमिहाशयः–अत्यन्तवाधकेष्वपि दंशकाऽऽदिषु–

"शृगालवृकरूपैश्च, नदद्भिर्घोरनिष्ठुरम्।
आक्षेपत्रोटितस्नायु, भक्षन्ते रुधिरोक्षिताः ॥१॥
स्वरूपैः श्यामसवलै–र्बालपुच्छैर्भयान्वितैः।
परस्परं विरुध्यद्भिर्वि–र्विलुप्यन्ते दिशोदिशम् ॥२॥
काकगृध्राऽऽदिरूपैश्च, लोहतुण्डैर्बलान्वितैः।
विनिकृष्टाक्षिजिह्वान्त्राः, विचेष्टन्ते महीतले ॥३॥
प्राणोपक्रमणैर्घोरै–र्दुःखैरेवंविधैरपि।
आयुष्यक्षपितेनैव, म्रियन्ते दुःखभागिनः ॥४॥" इत्यादि।

तथा–असंज्ञिन एते आहारार्थिनश्च भोज्यमेतेषां मच्छरीरं बहुसाधारणं च यदि भक्षयन्ति किमत्र प्रद्वेषेणेति च विचिन्तयंन् तदुपेक्षणपरो न तदुपघातं विदध्यादिति सूत्रार्थः ॥११॥

इदानीं पथिद्वारं, तत्र स्पृष्टो दंशमशकैरित्यादिसूत्रसू–

चितमुदाहरणमाह–

चंपाए सुमणुभद्दो, जुवराया धम्मघोससीसो य।
पंथम्मि मसगपरिपीयसोणितो सो वि कालगतो ॥६३॥

चम्पायां सुमनुभद्रो युवराजो धर्मघोषशिष्यश्च पथि मशक–

परिपीतशोणितः, सोऽपि कालगतः। इति गाथाऽक्षरार्थः ॥६३॥ भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः। स चायम्–''चंपाए नयरीए जियसत्तुस्स रन्नो पुत्तो सुमणुभद्दो जुवराया, धम्मघोसस्स अंतिए धम्मं सोऊण निव्विण्णकामभोगो पव्वइतो, ताहे चेव एगल्लविहारपडिमं पडिवन्नो, पच्छन्न हेट्ठाभूमीए विहरंतो सरयकाले अडवीए पडिमागतो रत्तिं मसएहिं खज्जइ, सो ते ण पमज्जति, सम्मं सहइ, रत्तीए पीयसोणितो कालगतो। एवं अहियासेव्वं।'' इत्यवसितो दंशमशकपरीषहः। उत्त० पाई०२ अ०।

दंसमसगपरीसहविजय पुं०(दंशमशकपरीषहविजय) दंशमशकाऽऽदिव्यधपीडासहने, पं०सं०। तथा दंशपरीषह इत्यत्र दंशग्रहणमशेषशरीरोपघातकसत्त्वोपलक्षणम्, यथा काकेभ्यो रक्षतां सर्पिः, इत्यत्र काकग्रहणमुपघातकोपलक्षणम्। तेन दंशमशकमक्षिकामत्कुणकीटपिपीलिकावृश्चिकाऽऽदिभिर्बाध्यमानस्याऽपि ततः स्थानादनपगच्छतः, तेषां च दंशमशकाऽऽदीनां त्रिविधं त्रिविधेन बाधामकुर्वतो, व्यजनाऽऽदिनाऽपि तान् न निवारयतो यत्सम्यक् दंशमशकाऽऽदिव्यधपीडासहनं स दंशपरीषहविजयः। पं०सं०४ द्वार।

दंसमाण त्रि०(दशत्) भक्षणं कुर्वति, ''अप्पे जणे णिवारेइ लूसणए सुणए दंसमाणे।'' आचा०१ श्रु०६ अ०२उ०।

दंसिय त्रि०(दर्शित) प्रकटिते, अनु०। प्रकाशिते च। उत्त०६ अ०। प्रज्ञा०।

दक्ख त्रि०(दक्ष) दक्ष–अच्। निपुणे, कल्प० ५ क्षण। सूत्र०। चतुरे, स्था०७ ठा०। उत्त०। सूत्र०। शीघ्रकारिणि, उत्त०५ अ०। बृ०। नि०चू०। ज्ञा०। अनु०। भ०। सकलकलाकुशले, कल्प०६ क्षण। कार्य्याणाविलम्बकारिणि, उपा०७ अ०। जी०। आ० म०। कल्प०। रा०। उत्त०। भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य स्वनामख्याते पदात्यानीकाधिपतौ च। स्था० ५ ठा०१उ०।

दक्खज्ज पुं०(देशी) गृध्रे, दे०ना० ५ वर्ग ३४ गाथा।

दक्खत्त न०(दक्षत्व) आश्रयकारित्वे, उत्त० ३ अ०।

साम्प्रतं दक्षत्वं, तत्सप्रसङ्गमाह–

सत्थाहसुओ दक्ख–त्तणेण सेट्ठीसुओ य रूवेण।
बुद्धीऍ अमच्चसुओ, जीवइ पुन्नेहिँ रायसुओ ॥१६६॥
दक्खत्तणयं पुरिसस्स पंचगं सइगमाहु सुंदेरं।
बुद्धी पुण साहस्सा, सयसाहस्साइँ पुन्नाइं ॥१६७॥

दक्षत्वं पुरुषस्य सार्थवाहसुतस्य पञ्चकमिति। पञ्चरूपफलम्। शतिकं शतफलमाह सौन्दर्यं श्रेष्ठिपुत्रस्य। बुद्धिः पुनः सहस्रवती सहस्रफला मन्त्रिपुत्रस्य शतसहस्राणि पुण्यानि शतसहस्रफलानि राजपुत्रस्येति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्चेदम्–''जहा बंभदत्तो कुमारो, कुमारामच्चपुत्तो, सेट्ठिपुत्तो, सत्थवाहपुत्तो। एते चउरो वि परोप्परं उल्लावेइ–जहा को मे केण जीवति? तत्थ रायपुत्तेण भणियं–अहं पुन्नेहिं जीवामि। कुमारामच्चपुत्तेण भणियं–अहं बुद्धीए। सेट्ठिपुत्तेण भणियं–अहं रूवस्सित्त–णेणं। सत्थवाहपुत्तो भणति–अहं दक्खत्तणेण। ते भणंति–अण्णत्थ गंतुं विण्णाणेमो। ते गया अन्नं नयरं जत्थ ण णज्जंति। उज्जाणे आवासिता। दक्खस्स आदेसो दिन्नो–सिग्घं भत्तपरिव्वयं आणेहि। सो वीहिं गंतुं एगस्थेरवाणिययस्स आवणे ठिओ। तस्स बहुया कइया एंति। तद्दिवसं को वि ऊसवो, सो ण पहुप्पत्ति पुडए बंधेउं। ततो सत्थवाहपुत्तो दक्खत्तणेण जस्स जं उवउज्जति लवणतेल्लघयगुडसुंठिमिरिय एवमादि तस्स तं देति। अतिविसिट्ठो लाभो लद्धो। तुट्ठो भणति–तुम्हेऽत्थ आगंतुया, उयाहु वत्थव्वया? सो भणति–आगंतुया। तो अम्ह गिहे असणपरिग्गहं करेज्जह। सो भणति–अन्ने मम सहाया उज्जाणे अत्थंति, तेहिं विणा णाहं भुंजामि। तेण भणियं–सव्वे वि एंतु, आगया। तेण तेसिं भत्तसमालहणतंबोल–लादि उवउत्तं, तं पंचण्हं रूवयाणं। वितीयदिवसे रूवस्सी वणिय–पुत्तो वुत्तोअज्ज तुमे दायव्वो भत्तपरिव्वओ। एवं भवउ त्ति सो उट्ठेऊण गणियापाडगं गओ अप्पयं मंडेउं। तत्थ य देवदत्ता नाम गणिया पुरिसवेसिणी बहूहिं रायपुत्तसेट्ठिपुत्ताऽऽदीहिं मग्गिया णेच्छति। तस्स य तं रूवसमुदायं दट्ठूण खुभिया। पडिदासियाए गंतूण तीए माउए कहियं–जहा दारिया सुंदरजुवाणे दिट्ठि देइ। तओ सा भणति–भण एयं मम गिहमणुवरोहेण एज्जह। इहेव भत्तवेलं करेज्जह। तहेव आगता। सइओ दव्ववओ कओ। तइयदिवसे बुद्धिमंतो अमच्चपुत्तो संदिट्ठो–अज्जतुमे भत्तपरिव्वओ दायव्वो। एवं हवउ त्ति सो गओ करणसालं। तत्थ य तइओ दिवसो ववहारस्स छिज्जंतस्स परिच्छेदं न गच्छइ। दो सवत्तीओ। तासिं भत्ता उवरओ। एक्काए पुत्तो अत्थि, इतरी अपुत्ता य। सा तं दारयं णेहेण उवचरति, भणति य–मम पुत्तो। पुत्तमाया भणइ य–मम पुत्तो। तासिं न परिच्छिज्जइ। तेण भणितं–अहं छिंदामि ववहारं। दारओ दुहा कज्जतु, दव्वं पि दुहा एव। पुत्तमाया भणति–न मे दव्वेण कज्जं, दारगो वि तीए भवतु, जीवंतं पासिहामि पुत्तं। इतरी तुसिणीया अत्थति। ताहे पुत्तो मायाए दिन्नो। तहेव सहस्सं उवओगो। चउत्थे दिवसे रायपुत्तो भणितो–अज्ज रायपुत्त! तुम्हेहिं पुण्णाहिएहिं जोगवहणं वहियव्वं। एवं हवउ त्ति, तओ रायपुत्तो तेसिं अंतियाओ णिग्गंतुं उज्जाणे ठिओ। तम्मि य नयरे अपुत्तो राया मओ। आसो अहिवासिओ, जम्मि रुक्खच्छायाए रायपुत्तो निसण्णो सा ण उयत्त ति। तओ आसेण तस्सोवरि ठाइऊण हिंसितं। राया य अभिसित्तो। अणेगाणि सयसहस्साणि जाताणि। एवं अत्थुप्पत्ती भवइ। दक्ख–त्तणं ति दारं गतं॥ इदाणिं सामभेयदंडुवप्पयाणेहिं चउहिं जहा अत्थो विढप्पति। एत्थिमं उदाहरणं–सीयालेण भग्गंतेण हत्थी मओ दिट्ठो। सो चिंतेइ–लद्धो मए उवाएण ताव णिच्छएण खाइयव्वो जाव सीहो आगतो। तेण चिंतियं–सचिट्ठेण ठाइयव्वं। एतस्स सीहेण भणियं–किं अरे! भाइणज्ज! अच्छिज्ज ति? सीयालेण भणियं–आमं ति माम! सीहो भणति–किमेयं मयं ति? सियालो भणति–हत्थी। केण मारिओ? वग्घेण। सीहो चिंतेइ–कहमहं ऊणजाति–एण मारियं भक्खामि? गओ सीहो। णवरं वग्घो आगतो। तस्स कहियं–सीहेण मारिओ। सो पाणियं पाउं णिग्गतो। वग्घो नट्ठो। एस भेओ। जाव काओ आगतो। तेण चिंतियं–जइ एयस्स न देमि तो काउ काउ त्ति वासियसद्देणं अण्णे कागा एहिंति। तेसिं कागरडणसद्देणं सियालाइ अन्ने बहवे एहिंति। कित्तिया वारेहामि। अओ एतस्स उवप्पयाणं देमि, तेण तओ तस्स खंडं छित्ता दिण्णं। सो

तं घित्तूण गतो। जाव सियालो आगतो। तेण णायं–एयस्स हढेण वारणं करेमि, भिउडिं काऊण वेगो दिण्णो। णट्ठो सियालो। उक्तं च– ''उत्तमं प्रणिपातेन,शूरं भेदेन योजयेत्। नीचमल्पप्रदानेन, समं तुल्यपराक्रमैः ॥१॥'' इत्युक्तः कथागाथाया भावार्थः ॥१६६॥ १६७॥ दश०३अ०।

दक्खत्तं भंते ! साहू, आलसियत्तं साहू? जयंती ! अत्थेगइयाणं जीवाणं दक्खत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं आलसियत्तं साहू। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–तं चेव०जाव साहू? जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया०जाव विहरंति, एएसि णं जीवाणं आलसियत्तं साहू। एएसि णं जीवा अलसाउमाणा णो बहूणं जहा सुत्ता तहा अलसा भाणियव्वा, जहा जागरा तहा दक्खा भाणियव्वा०जाव संजोएत्तारो भवंति। एए णं जीवा दक्खा समाणा बहूहिं आयरियवेयावच्चेहिं उवज्झायवेयावच्चेहिं थेरवेयावच्चेहिं तवस्सिवेयावच्चेहिं गिलाणवेयावच्चेहिं सेहवेयावच्चेहिं कुलवेयावच्चेहिं गणवेयावच्चेहिं संघवेयावच्चेहिं साहम्मियवेयावच्चेहिं अत्ताणं संजोएत्तारो भवंति। एएसि णं जीवाणं दक्खत्तं साहू, से तेणट्ठेणं तं चेव० जाव साहू। भ०१२ श०२ उ०।

दक्खपइण्ण पुं०(दक्षप्रतिज्ञ) दक्षा निपुणा प्रतिज्ञा यस्य स तथा। समीचीनमेव प्रतिज्ञां करोति, तां च सम्यङ् निर्वाहयति। कृतायाः समीचीनप्रतिज्ञायाः सम्यङ्निर्वाहके, कल्प०५ क्षण।

दक्खा स्त्री०(द्राक्षा) मृद्वीकायाम्, स्था०४ ठा०३ उ०। प्रव०।

दक्खिण पुं०(दक्षिण) दक्ष–इनन्। सर्वनायिकासु समानुरागे नायकभेदे, मध्यदेशादक्षिणे देशे च। वाच०। जं०। ज्यो०। शरीरस्य दक्षिणे भागे, अनुत्तरे, सरले, परच्छन्दानुवर्तिनि, अवामभागस्थे, औदार्यवति च। त्रि०। वाच०। आ०म०। कल्प०।

दक्खिणकूलग पुं०(दक्षिणकूलक) यैर्गङ्गाया दक्षिणकूल एव वस्तव्यं तेषु, औ०। भ०। नि०।

दक्खिणत्त न०(दक्षिणत्व) षष्ठे सत्यवचनातिशये, रा०।

***दाक्षिणात्य** त्रि०। दक्षिणस्यां दिशि भवः। दक्षिणात्यक्। नारिकेले, दक्षिणदिग्भवमात्रे, त्रि०। वाच०। दाक्षिणात्यानामसुरकुमाराऽऽदीनाम्। प्रज्ञा०२पद।

दक्खिणपच्छिमा स्त्री०(दक्षिणपश्चिमा) नैर्ऋत्यकोणे, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

दक्खिणपुव्वा स्त्री०(दक्षिणपूर्वा) दक्षिणपूर्वयोरन्तराला दिक् दक्षिणपूर्वा। अग्निकोणे, वाच०। चं०प्र०।

दक्खिणमहुरा स्त्री०(दक्षिणमथुरा) उत्तरमथुरायाः सकाशाद्दक्षिणस्यां दिशि स्थितायां मथुरायाम्, दर्श०१ तत्त्व।

दक्खिणा अव्य०(दक्षिणा) दिग्देशवृत्तेर्दक्षिणशब्दात् प्रथमापञ्चमीसप्तम्यर्थे डाच्। प्रथमाऽऽद्यर्थविशेषिते दक्षिणदिग्देशार्थे भाम्यदिशि, यज्ञशेषे कर्मणः साङ्गताऽर्थं देये द्रव्ये च। वाच०। दाने, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। आ०म०। ''दक्खिणाए पडिलम्भो, अत्थि वा णत्थि वा पुणो।'' सूत्र०२ श्रु०५ अ०। स्था०। यज्ञपत्न्याम्, ''अध्वरस्येव दक्षिणा।'' इति रघुः। प्रतिष्ठायाम् दक्षिणकालिकायां रुचिप्रजापतेः कन्यायाम्, परिक्रय द्रव्ये, नायिकाभेदे च। स्त्री०। वाच०।

दक्खिणायण न०(दक्षिणाऽयन) दक्षिणस्यामयनं गमनम्। तत् यस्मिन् काले, कर्कटे वा रविसंक्रमणे तदादि षण्मासे काले च। वाच०। ज्यो० (अत्राधिकं तु 'अयण' शब्दे प्रथमभागे ७५० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

दक्खिणावह पुं०(दक्षिणापथ) ७ त०। ऋक्षवदवन्तिनगरीमति–क्रम्य दक्षिणदिग्वर्तिदेशभेदे, वाच०। ''इतो य वइरस्सामी दक्खिणावहे विहरइ।'' आ०म०१अ०२ खण्ड। आ०चू०। वाच०।

दक्खिण्ण न०(दाक्षिण्य) दक्षिणस्य भावः ष्यञ्। अनुकूलत्वे, दर्श०२ तत्त्व। दक्षिणार्हे ऋत्विजि, वाच०। मार्दवे, द्वा०९द्वा०।

दाक्षिण्यलक्षणमाह–

दाक्षिण्यं परकृत्येष्वपि योगपरः शुभाऽऽशयो ज्ञेयः।
गाम्भीर्यधैर्यसचिवो, मात्सर्यविघातकृत् परमः ॥४॥

दाक्षिण्यं पूर्वोक्तस्वरूपं परकृत्येष्वपि परकार्येष्वपि योगपर उत्साहपरः शुभाऽऽशयः शुभाध्यवसायो ज्ञेयः, गाम्भीर्यधैर्यसचितः परैरलब्धमध्यो गम्भीरस्तद्भावो गाम्भीर्यं, धैर्यं धीरता स्थिरत्वं ते गाम्भीर्यधैर्ये सचिवौ सहायावस्येति, मात्सर्यविघातकृत् परप्रशंसाऽसहिष्णुत्वविघातकृत्, परमः प्रधानः शुभाऽऽशय इति ॥४॥ षो०४ विव०।

दक्खु त्रि०(दक्ष) निपुणे, सूत्र० १ श्रु०२ अ०३उ०।

***दृष्ट** न०। दर्शने, सूत्र० १ श्रु०२ अ०३ उ०।

***पश्य** पुं०। पश्यतीति पश्यः। दर्शके, सूत्र०१ श्रु० २ अ० ३उ०।

दक्खुदंसण न०(दक्षदर्शन) सर्वज्ञदर्शने, सूत्र०१ श्रु०२ अ० ३उ०। सर्वज्ञोक्तशासनानुयायिनि च। सूत्र०१ श्रु०२ अ०३उ०।

***दृष्टदर्शन** न०। सर्वज्ञदर्शने, सर्वज्ञोक्तशासनानुवर्तिनि च। सूत्र०१ श्रु०२ अ०३उ०।

***पश्यदर्शन** न०। सर्वज्ञाभ्युपगमे, सूत्र०१ श्रु०२ अ०३उ०।

दक्खुवाहिय त्रि०(दक्षव्याहृत) सर्वज्ञोक्ते सर्वज्ञाऽऽगमे, सूत्र०१ श्रु० २अ०३उ०।

***दृष्टव्याहृत** त्रि०। दृष्टातीतानागतव्यवहितसूक्ष्मपदार्थदर्शिनाऽभिहिते सर्वज्ञाऽऽगमे, सूत्र०१ श्रु०२ अ०३उ०।

***पश्यव्याहृत** त्रि०। पश्येन सर्वज्ञेन व्याहृतमुक्तं पश्यव्याहृतम्। सर्वज्ञोक्ते सर्वज्ञाऽऽगमे, सूत्र०१ श्रु०२ अ०३उ०।

दग न०(दक) पानीये, ग०३ अधि०। स्था०। प्रश्न०। आ०म०। दश०। प्रज्ञा०। नि०चू०। कल्प०। बृ०। अप्काये, आ०चू०४ अ०। आव०। अष्टाशीतिमहाग्रहान्तर्गते स्वनामख्याते ग्रहे, चं०प्र० २० पाहु०। ''दो दगा।'' स्था०२ ठा०३उ०। कल्प०। सू०प्र०।

दगकलसग पुं०(दककलशक) उदकभृते भृङ्गारे, रा०।

दगकुंभग पुं०(दककुम्भक) दकघटे, रा०।

दगगब्भ पुं०(दकगर्भ) दकस्योदकस्य गर्भा इव गर्भा दकगर्भाः। कालान्तरे जलवर्षणस्य हेतुषु तत्संसूचकेषु, स्था०४ ठा०४उ०। (चतुर्द्धा दकगर्भाः 'उदगगब्भ' शब्दे द्वितीयभागे ७७१ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

दगछड्डण न०(दकछर्दन) उदकप्रतिष्ठापने, उदकप्रक्षेपस्थाने च। आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०६उ०।

दगछड्डणमत्तय पुं०(दकछर्दनमात्रक) उदकप्रतिष्ठापनमात्रके, उपकरणधावनोदकप्रक्षेपस्थाने च। आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०६उ०।

दगणिग्गम पुं०(उदकनिर्गम) जलवीणिकायाम्, नि०चू० १० उ०।

दगतीर न०(उदकतीर) उदकाऽऽकराद्यतो नीयते उदकं तस्मिन्, नि०चू० १६ उ०। उदकोषकण्ठे, बृ०१ उ०।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा दगतीरंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुयट्टित्तए वा णिद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारमाहारित्तए, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए, सज्झायं वा करित्तए, धम्मं जागरित्तए, झाणं वा झाइत्तए, काउस्सग्गं वा ठाणं ठाइत्तए॥१६॥

न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा दकतीरे उदकोपकण्ठे स्थातुं वा ऊर्द्धस्थितस्यासितुम्, निषत्तुं वा उपविष्टस्य स्थातुम्, त्वग्वर्त्तयितुं वा दीर्घं कायं प्रसारयितुम्, निद्रायितुं वा सुखप्रतिबोधावस्थया निद्रया शयितुम्, प्रचलायितुं वा स्थितस्य स्वप्तुम्, अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वाऽऽहारमाहारयितुम्, उच्चारं वा प्रस्रवणं वा खेलं वा सिङ्घाणं वा परिष्ठापयितुम्, स्वाध्यायं वा वाचनाऽऽदिकं कर्तुम्, धर्मं ध्यानलक्षणं जागरयितुम्, धातूनामनेकार्थत्वात् (झाणं वा झाइत्तए) ध्यानमनुस्मर्तुमिति, कायोत्सर्गं वा चेष्टाऽभिभवभेदाद् द्विविधकायोत्सर्गलक्षणं स्थानं स्थातुं, कर्तुमित्यर्थः। एष सूत्रार्थः॥१६॥

अथ निर्युक्तिविस्तरः–

दगतीरे चिट्ठणाऽऽदी, जूवगे आयावणा य बोधव्वा।
लहुओ लहुया लहुया, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥२५२॥

दकतीरे स्थानाऽऽदीनि कुर्वतः प्रत्येकं लघुको मासः, यूपके वक्ष्यमाणलक्षणे वसतिं गृह्णति चतुर्लघुकाः, आतापना प्रतीता, तामपि दकतीरे कुर्वन् चतुर्लघुकाः प्रायश्चित्तं बोद्धव्यम्, तत्रापि प्रत्येकमाज्ञाऽऽदयो दोषाः।

अत्र दकतीरस्य प्रमाणे च आदेशाः

सन्ति, तानेव दर्शयति–

नयणे पूरे दिट्ठे, तडि सिंचण वीइमेव पुट्ठे य।
अत्थंते आरण्णय–गामपसुमणुस्सइत्थीओ॥२५३॥

नोदक आह– उदकाऽऽकराद्यत्रोदकं नीयते तद्दकतीरम्। यावन्मात्रं नदीपूरेणाऽऽक्रम्यते तद्दकतीरम्। यद्वा–यत्र स्थितैर्जलं दृश्यतेतद्दकतीरम्। अथवा–या नद्यास्तटी भवति। यदि वा–यत्र जले स्थिते जलस्थितेन शृङ्गकाऽऽदिना सिच्यते। अथ यावन्तं भूभागं वीचयः स्पृशन्ति। यदि वा यावान् प्रदेशो जलेन स्पृष्टः। एतदुदकतीरम्। सूरिराहयानि त्वया दकतीरलक्षणानि प्रतिपादितानि, तानि न भवन्तीति, किं तु आरण्यका ग्रामेयका वा पशवो मनुष्याः स्त्रियो वा जलार्थिन आगच्छन्तः साधुं यत्र स्थितं दृष्ट्वा तिष्ठन्ति, निवर्तन्ते वा तद्दकतीरमुच्यते।

एतदेव सविशेषमाह–

सिंचणवीईपुट्ठा, दगतीरं होइ न पुण तम्मत्तं।
ओतरिउत्तरिउमणा, जहिं दट्ठु तसंति तं तीरं॥२५४॥

नयनपूरदृष्टप्रभृतीनां सप्तानामादेशानां मध्याच्चरमाणि त्रीणि सिञ्चनचीचिस्पृष्टलक्षणानि दकतीरं भवन्ति, न पुनस्तावन्मात्रमेव, किं तु आरण्यका ग्रामेयका वा तिर्यग्मनुष्या जलपानाऽऽद्यर्थमवतरीतुमुत्तरीतुमनसो जलचरा वा यत्र स्थितं साधुं दृष्ट्वा त्रस्यन्ति, तदव्यभिचारि दकतीरमुच्यते।

तत्र च स्थाननिषीदनाऽऽदिकरणे दोषान् दर्शयति–

अहिगरणमंतराए, छेदण ऊसास अणहियासे य।
आहणण सिंच जलचर–खहथलपाणाण वित्तासो॥२५५॥

दकतीरे तिष्ठतः साधोरधिकरणं वक्ष्यमाणलक्षणं, बहूनां च प्राणिनामन्तरायं भवति तथा साधोः सम्बन्धिनीनां पादरेणूनां छेदनकाः सूक्ष्मावयवरूपा उड्डीय पानीये निपतेयुः। यद्वा–छेदनं नाम ते प्राणिनः साधुं दृष्ट्वा प्रतिनिवृत्ताः सन्तो हरिताऽऽदिच्छेदनं कुर्वते। (ऊसास त्ति) उच्छ्वासविमुक्ताः पुद्गला जले निपतन्ति, ततोऽप्कायविराधना। यदि वा तेषां प्राणिनां तृषाऽऽर्त्तानामुच्छ्वासोदञ्चनं भवेत्, मरणमित्यर्थः। (अणहियासे इति) अनधिसहा–स्तृषामसहिष्णवस्ते अतीर्थं जलमवतरेयुः, साधुर्वा कश्चिदनधि–सहस्तृषार्त्तः पानीयं पिबेत्, दुष्टगवाश्वाऽऽदिना वा तस्याऽऽहननं भवेत्, दकतीरस्थितं वा अनुकम्पया प्रत्यनीकतया वा कश्चिद् दृष्ट्वा सिञ्चनं कुर्यात्, जलचरखचरस्थलचरप्राणिनां च वित्रासो भवेत्।

तत्राधिकरणं व्याचिख्यासुराह–

दट्ठूण वा नियत्तण, अभिहणणं वा वि अन्नरूवेणं।
गामाऽऽरण्णपसूणं, जा जहिं आरोवणा भणिया॥२५६॥

साधुं दृष्ट्वा आरण्यकाऽऽदिप्राणिनां निवर्त्तनं भवति। अभिहननं वा परस्परं तेषां भवेत्। (अन्नरूवेणं ति) अन्यतीर्थेन वा ते जलमवतरेयुः। तेषां च ग्राम्याऽऽरण्यपशूनां निवर्त्तनाऽऽदौ षट् कायोपमर्दः संभवेत्। ''छक्काय चउसु लहुगा'' इत्यादिना या यत्राऽऽरोपणा सा तत्र द्रष्टव्या। एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति–

पडिपथनियत्तमाणम्मि अंतरायं च तिमरणे चरिमं।

सिग्घगइ तंनिमित्तं, अभिघातो काय आयाए ॥२५७॥

आरण्यकास्तिर्यञ्चः तिर्यक् स्त्रियो वा पानीयं पिबाम इत्याशया तीर्थाभिमुखमायान्तं साधुं दृष्ट्वा, दकतीरस्थितं वा दृष्ट्वा प्रतिपथेन निवर्तन्ते, निवर्तमाने च तत्राऽऽरण्यकप्राणिगणे साधोरधिकरणं भवति। तेषां च तृषाऽऽर्तानामन्तरायं, चशब्दात् परितापना च कृता भवति। तत्रैकस्मिन् परितापिते छेदः, द्वयोस्तु मूलं,त्रिष्वनवस्थाप्यं, चतुर्षु परितापितेषु पाराञ्चिकम्। एतेनान्तरायपदं व्याख्यातम्। (तिमरणे चरिमं ति) यद्येकस्तृषाऽऽर्तो म्रियते ततो मूलं, द्वयोर्म्रियमाणयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु म्रियमाणेषु साधोः पाराञ्चिकम्। एतेनोच्छ्वासपदं विवृतम्। साधुं दृष्ट्वा ते तिर्यञ्चो भीताः शीघ्रगत्या पलायमाना अन्यमन्योऽन्यं वा अभिघातयेयुः,षट् का–यानां वा तन्निमित्तमभिघातं विदध्युः। तत्र ''छक्काय चउसु लहुगा'' इत्यादिकं कायविराधनानिष्पन्नं प्रायश्चित्तम्, तृष्णा वा तिर्यञ्चस्तस्यैव साधोराहननाऽऽदिना आत्मविराधनां कुर्युः। अनेन हननपदं व्याख्यातम्।

''अणहियासे अन्नरूवेणं (२५६)'' इति पदद्वयं भावयति–

अतडे पवाते सो चेव मग्गो अपरिहुत्तहरियाऽऽदी।
ओवगे कूडे मगरा, जइ घुंटे तसे य दुहओ वि ॥२५८॥

अथ तृषाभसहिष्णवस्ते गवादय अतटेनादीर्घेण वाऽवतरेयुः, छिन्नटङ्के वाऽवपातं दद्युः, ततः परितापनाऽऽद्युत्था सैवाऽऽरोपणा। अथ वा स एवाऽऽभिर्नवा मार्गः प्रवर्तते, तत्र चापरिभुक्तेन वा काशेन गच्छन्तो हरिताऽऽदीनां छेदनं कुर्युः, तत्र तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। एतेन छेदनपदं व्याख्यातम्। (ओवग त्ति) गर्ता, तत्र प्रपतेयुः, अतीर्थे वा केनचित् कूटं स्थापितं भवेत् तेन कूटेन बद्धा विनाशमश्नुवते। एतोपि छेदनपदं व्याख्यातम्। उदकेन वा जलमवतीर्णा मकराऽऽदिभिः कवलीक्रियन्ते। अन्यतीर्थनातीर्थेन वा साधुनिमित्तमवतीर्णास्तु समविरहिते अप्काये यावतः घुण्टान् कुर्वन्ति तावन्ति चतुर्लघूनि। (तसे य त्ति) अचित्ते अप्काये यदि द्वीन्द्रियमश्नाति ततः षट् लघुकं, चतुरिन्द्रिये छेदः, पञ्चेन्द्रिये एकस्मिन् मूलं, द्वयोरनवस्थाप्यम्, त्रिषु पञ्चेन्द्रियेषु पाराञ्चिकम्। (दुहओ वि त्ति) यत्राप्कायोऽपि, सचित्तद्वीन्द्रियाऽऽदयश्च त्रसास्त–द्वाभ्याम-प्कायत्रसविराधनाभ्यां निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। सर्वत्रापि च द्वीन्द्रियेषु षट्सु त्रीन्द्रियेषु .....(?) चतुरिन्द्रियेषु चतुर्षु पञ्चेन्द्रियेषु त्रिषु पाराञ्चिकम्। एते तावदारण्यकतिर्यक्समुत्था दोषा उक्ताः।

अथ ग्रामेयकतिर्यक् समुत्थान् दोषानुपदर्शयति–

गामेयकुच्छियाऽकुच्छिया य एक्केक्क दुट्ठऽदुट्ठा य।
दुट्ठा जह आरण्णा, दुगुंछियऽदुगुंछिया नेया ॥२५९॥

ते ग्रामेयकास्तिर्यञ्चो द्विविधाः–कुत्सिता जुगुप्सिताः, अकुत्सिता अजुगुप्सिताः, ते द्वयेऽपि यथा आरण्यकाः तथैव दोषानाश्रित्य ज्ञेयाः, जुगुप्सिताः साधुना गर्दभाऽऽदयः, अजुगुप्सिता गवाऽऽदयः। पुनरेकैके द्विविधाः– दुष्टा अदुष्टाश्च। तत्र ये जुगुप्सिता अजुगुप्सिता दुष्टाः ते द्वयेऽपि यथा आरण्यकास्तथैव दोषानाश्रित्य ज्ञेयाः। ये अजुगुप्सिता अदुष्टास्तेष्वपि यथासंभवं दोषा उपयुज्य वक्तव्याः।

ययुत जुगुप्सिता अदुष्टास्तेषु दोषानाह–

भुत्तित्तरदोसे कुच्छियपडिणीयछोडे गिण्हणाऽऽदीया।
आरण्णमणुयथीसु वि, ते चेव नियत्तणाऽऽई या ॥२६०॥

येन साधुना महाशब्दिका, या जुगुप्सिता तिरश्चीगृहस्थकाले भुक्ता, तस्य तां दृष्ट्वा स्मृतिः, इतरस्य कौतुकम्, एवं भुक्ताभुक्तसमुत्था दोषा भवन्ति। अथवा तासु जुगुप्सितासु तिरश्चीसु पार्श्ववर्तिनीषु प्रत्यनीकः कोऽपि (छोभ त्ति) अभ्याख्यानं दद्यात्– ''मयैष श्रमणको महाशब्दिकां प्रतिसेवमानो दृष्टः।'' इति। तत्र ग्रहणाऽऽकर्षणप्रभृतयो दोषाः। एवं ग्रामेयकाऽऽरण्यकेषु तिर्यक्षु दोषा उपदर्शिताः। अथ मनुष्येष्वभिधीयते– (आरण्ण इत्यादि) मनुष्या द्विविधाः–आरण्यकाः, ग्रामेयकाश्च। तत्राऽऽरण्यकेषु पुरुषेषु त एव दोषाः, स्त्रीष्वप्यारण्यकासु त एव निवर्तनान्तरायाऽऽदयो दोषाः।

एते चान्ये अभ्यधिकाः–

पायं अपाउडाओ, सवराईआ तहेव निच्छेका।
आरियपुरिसकुतूहल, आउभय पुलिंद आसु वहे ॥२६१॥

प्रायो बाहुल्येन शबरीप्रभृतय आरण्यका अनार्यस्त्रियोऽपावृता वस्त्रविरहिता निश्छेका निर्लज्जाश्च भवन्ति, ततः साधुं दृष्ट्वा आर्योऽयं पुरुष इति कृत्वा कौतूहलेन तत्राऽऽगच्छेयुः, ताश्च दृष्ट्वा साधोरात्मपरोभयसमुत्था दोषा भावेयुः। तदीयपुलिन्दश्च तां साधुसमीपाऽऽयातां विलोक्य ईर्ष्याभरेण प्रेरितः साधोः, पुलिन्द्याः, उभयस्य वा आशु शीघ्रं वधं कुर्यात्।

थीपुरिसअणायारे, खोभो सागारियं ति वा पहणे।
गामित्थीपुरिसेहि वि, तच्चिय दोसा इमे अन्ने ॥२६२॥

अथवा स पुलिन्दः पुलिन्द्या सहानाचारमाचरेत्, ततः स्त्रीपुरुषानाचारे दृष्टे चित्तक्षोभो भवेत्, क्षुभिते च चित्ते प्रतिगमनाऽऽदयो दोषाः। यद्वा–स पुलिन्दस्तां प्रतिसेवितुकामः सागारिकमिति कृत्वा तं साधुं प्रहण्यात्। एते आरण्यकेषु स्त्रीपुरुषेषु दोषा उक्ताः। ग्रामेयकस्त्रीपुरुषेष्वपि त एव दोषाः। एतेचाऽन्येऽधिका भवन्ति–

चंकमणं निल्लेवण, चिट्ठित्ता तम्मि चेवमहियं तु।
अत्थंते संकापद, मज्जण दट्ठुं सतीकरणं ॥२६३॥

चङ्क्रमणं, निर्लेपनं वा तत्र गृहस्थः कर्तुकामोऽपि साधुं दृष्ट्वा कश्चिदन्यत्र गत्वा करोति, कश्चित्तु तत्रैव तीर्थे साधुसमीपे गत्वा करोति, तथा (चिट्ठित्त त्ति) कश्चिद् गृहस्थः साधुना सह गोष्ठीनिमित्तं तत्रैवं स्थित्वा पश्चादन्यत्र गच्छति, एवमधिकं भवेत्। तथा दकतीरे तिष्ठति साधौ शङ्कापदं वक्ष्यमाणलक्षणमगारिणां जायते, मज्जनं च विधीयमानं दृष्ट्वा स्मृतिकरणं भुक्तभोगिनाम्, उपलक्षणत्वात् अभुक्तभोगिनां कौतुकमुपजायते।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां विवृणोति–

अन्नत्थ व चंकम्मति, आयमणऽण्णत्थ वा वि वोसिरइ।
कोनाली चंकमणे, परकूलातो वि तत्थेइ ॥२६४॥

कश्चिदकतीरे चङ्क्रमणं करिष्यामीति भुक्तभोगिनामुपलक्षणत्वादभुक्तभोगिनां च कौतुकाभिप्रायेणाऽऽयातः साधुं दृष्ट्वा ततः स्थानादन्यत्र चङ्क्रम्यते। वाशब्दात् कश्चिदन्यत्र चङ्क्र–

म्यमाणं साधुं विलोक्य तत्राऽऽगत्य चङ्क्रम्यते। एवमाचमनं निर्लेपनं तत्कर्तुकामः, संज्ञां वा व्युत्स्रष्टुकामः साधुं दृष्ट्वा अन्यत्र गत्वा, अन्यतो वा तत्राऽऽगत्य निर्लेपयति, व्युत्सृजति वा। तथा कश्चिदगारो गन्तुकामोऽपरकूले चङ्क्रम्यमाणं साधुं निरीक्ष्य (कोनालि त्ति) गोष्ठी, तां साधुना सह करिष्यामीति मत्वा तदर्थं चङ् क्रमणं कर्तुं परकूलादपि तत्राऽऽगच्छति, सर्वत्र साधुनिमित्तमागच्छन्नागतस्तिष्ठति च षट्कायान् विराधयेत्।

''अत्थंते संकापयं (२६३)'' इत्यत्राऽऽह–

दगमेहुणसंकाए, लहुगा गुरुगा उ मूल निस्संके।
दगतूरर्को चवीरग–पघंसकेसादलंकारे ॥२६५॥

साधुं दकतीरे तिष्ठन्तं दृष्ट्वा कश्चिदगारः शङ्कां कुर्यात्–किमेष उदकपानार्थं तिष्ठति, उत मैथुने दत्तसंकेतां काञ्चिदागच्छन्तीं प्रतीक्षते। तत्रोदकपानशङ्कायां चतुर्लघु, मैथुनाऽऽशङ्कायां चतुर्गुरु, निःशङ्किते मूलम्। ''मज्जण दट्ठुं सतीकरणं (२६३)'' इति पदं व्याख्यायते। कोऽपि मज्जनं कुर्वंस्तथा कथञ्चिज्जलमास्फालयति यथा दकतूर्यमुदके मुखाऽऽदितूर्याणां शब्दो भवति। यद्वा–कोऽपि क्रौञ्चवीरकेण जलमाहिण्डते, क्रौञ्चवीरको नामपेट्टासदृशो जलयाननिवेशः। (पघंस त्ति) स्नात्वा पटवासाऽऽदिभिः स्वशरीरं कोऽपि प्रघर्षति। यद्वा–(केसादलंकारे त्ति) केशवस्त्रमालाऽऽभरणालङ्कारैरात्मानमलङ्करोति, एतद् मज्जनाऽऽदिकं दृष्ट्वा भुक्ताभुक्तसमुत्थाः समृत्यादयो दोषाः। एवं पुरुषेषु भणिताः।

अथ स्त्रीदोषान् दर्शयति–

मज्जणक्कणट्ठाणेसु अत्थते इत्थिणं ति गहणाऽऽदी।
एमेव कुच्छितेतर–इत्थी सविसेस मिहुणेसु ॥२६६॥

सपरिग्रहस्त्रीणां वसन्ताऽऽदिपर्वणि, अन्यत्र वा या जलक्रीडा, यद्वा सामान्यतो मलदाहोपशमनार्थं स्नानं, तन्मज्जनमुच्यते। तेषु जलवहनस्थानेषु स्त्रीणां संबन्धिषु तिष्ठन्तं तं दृष्ट्वा तदीयो ज्ञातिवर्गश्चिन्तयति–अस्मदीयस्त्रीणां मज्जनाऽऽदिस्थाने एष श्रमणः परिभवेन कामयमानो वा तिष्ठति, ततो दुष्टशील इतिकृत्वा ग्रहणाऽऽकर्षणाऽऽदीनि कुर्यात्। याः पुनरपि गृहस्त्रियस्ताः कुत्सिता रजक्यादयः, इतरा अकुत्सिता ब्राह्मण्यादयः, तत्राप्येवमेवाऽऽत्मपरोभयसमुत्थाऽऽदयो दोषाः। मिथुनेषु स्त्रीपुरुषेषु मैथुनक्रीडया रममाणेषु सविशेषतरा दोषा भवन्ति। ये च चङ्क्रमणाऽऽदयो दोषाः पूर्वमुक्तास्तेऽप्यत्र तथैव द्रष्टव्याः। यत एते दोषा अतो दकतीरे अमूनि सूत्रोक्ताऽऽदीनि न कुर्यात्।

चिट्ठणयनिसीयणया, तुयट्ट निद्दा य पयल सज्झाए।
झाणाऽऽहारवियारे, काउस्सग्गे य मासलहुं ॥२६७॥

स्थाने१ निषदने २ त्वग्वर्तने३ निद्रायां ४ प्रचलायां ५ स्वाध्याये ६ ध्याने ७ आहारे ८ विचारे ९ कायोत्सर्ग चेति १० दशसु पदेषु दकतीरे विधीयमानेषु प्रत्येकं मासलघु; असमाचारीनिष्पन्नमिति भावः। (बृ०) (निद्रास्वरूपं 'णिद्दा' शब्दे तथानिद्रानिद्रास्वरूपं च 'णिद्दाणिद्दा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०७२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (प्रचलास्वरूपं 'पयला' शब्दे वक्ष्यते, प्रचलाप्रचलास्वरूपं च 'पयलापयला' शब्दे वक्ष्यते)

अथ विस्तरतः प्रायश्चित्तं वर्णयितुकाम आह–

संपाइमे असंपाइमे य दिट्ठे तहेव अदिट्ठे।
पणगं लहु गुरु लहुगा, गुरुग अहालंदपोरिसी अहिया २६९

दकतीरे संपातिमे असंपातिमे वा उभयस्मिन्नपि वक्ष्यमाणलक्षणे दृष्टेऽदृष्टे वा तिष्ठति, कियन्तं पुनः कालमित्याह–यथा लन्दपौरुषीम्। तत्र यथालन्दं त्रिधाजघन्यं, मध्यमम्, उत्कृष्टं वा। तत्र तरुणस्त्रिया उदकार्द्रः करो यावता कालेन शुष्यति तज्जघन्यम्, उत्कृष्टं पूर्वकोटीप्रमाणम्। तयोरपान्तराले सर्वमपि मध्यमम्। तत्र जघन्येन यथालन्देनाधिकारः। एवं यथालन्दाऽऽदिभेदात्त्रिविधं कालं दकतीरे तिष्ठतः पञ्चकं लघुको .... (?) गुरुकाश्चत्वारो मासाः प्रायश्चित्तम्। एतदुपरिष्टाद् व्यक्तीकरिष्यते।

अथ संपातिमासंपातिमपदे व्याख्याति–

जलजा तु असंपाती, संपातिम सेसगा उ पंचिंदी।
अहवा मोत्तु विहंगे, होंति असंपातिमा सेसा ॥२७०॥

जलजा मत्स्यमण्डूकाऽऽदयः, तेऽसंपातिमाः, तैर्युक्तं दकतीरमप्यसंपातिमम्। शेषाः पञ्चेन्द्रियस्थलचराः खेचरा वा येऽन्तरादागत्य संपतन्ति ते संपातिमाः, तैर्यद्युक्तं तत्संपातिमम्। अथवा–विहङ्गाः पक्षिणो यत्राऽऽगत्य संपतन्ति तत्संपातिमम, तान् मुक्त्वा शेषाः स्थलचरा जलचरा वा सर्वेऽप्यसंपातिमाः, तद्युक्तं दकतीरमसंपातिमम्।

अथ पूर्वोक्तं प्रायश्चित्तं व्यक्तीकुर्वन्नाह–

अस्संपाइ अहालंदें अदिट्ठे पंच दिट्ठि मासो उ।
पोरिसि अदिट्ठि दिट्ठे, लहुगुरु अहिगुरुगलहुआओ ॥२७१॥

असंपातिमे दकतीरे जघन्यं यथालन्दमदृष्टस्तिष्ठति पञ्चरात्रिन्दिवानि, दृष्टस्तिष्ठति मासलघु, असंपातिमे पौरुषीमदृष्टस्तिष्ठति मासलघु, दृष्टस्तिष्ठति मासगुरु, अधिकां पौरुषीमदृष्टस्तिष्ठति मासगुरु, दृष्टस्तिष्ठति चतुर्लघु। एवमसंपातिमे भणितम्।

संपाइमे वि एवं, मासादी नवरि ठाइ चउगुरुए।
भिक्खूवसभायरिए, तवकालविसेसिवा अहवा ॥२७२॥

संपातिमेऽप्येवमेवार्द्धापक्रान्त्या प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम्, नवरं लघुमासादारभ्य चतुर्गुरुके तिष्ठति एतद्दोषतः प्रायश्चित्तमुक्तम्। अथवा–एतान्येव भिक्षुवृषभाभिषेकाऽऽचार्याणां तपःकालविशेषितानि भवन्ति। तथाहि–पूर्वोक्तं सर्वमपि प्रायश्चित्तं भिक्षोस्तपसा कालेन च लघुकम्, वृषभस्य कालगुरु तपोलघु, अभिषेकस्य तपोगुरु काललघु, आचार्यस्य तपसा कालेन च गुरुकम्। अत्र चाभिषेकपदं गाथायामनुक्तमपि 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेनह गृह्यते' इति न्यायात्प्रतिपत्तव्यम्। एष द्वितीय आदेशः।

अहवा भिक्खुस्सोवं, वसभे लहुगाइ ठाइ छल्लहुए।
अभिसेगे गुरुगादी, छग्गुरुलहुछेदों (?) आयरिए ॥२७३॥

अथ यदेतत्प्रायश्चित्तमुक्तं तद्विक्षोर्द्रष्टव्यम्। वृषभस्य तु मासलघुकादारभ्य षट् लघुके तिष्ठति, तत्रासंपातिमे यथालन्दपौरुषीसमधिकपौरुषीषु दृष्टादृष्टयोर्मासलघुकादारभ्य चतुर्गुरुके तिष्ठति, संपातिमे एतेष्वेव स्थानेषु मासगुरुकादारभ्य षट् लघुके पर्यवस्यति। अभिषेकस्योपाध्यायस्य असंपातिमे मासगुरुकादारभ्य षट् लघुके तिष्ठति, संपातिमे चतुर्लघुकादारभ्य षड् गुरुके तिष्ठति, आचार्यस्य च–

तुर्लघुकादारभ्य षड् गुरुके तिष्ठति, संपातिमे चतुर्गुरुकादारभ्य छेदे निष्ठामुपगच्छति। एष तृतीय आदेशः।

अथ चतुर्थमादेशमाह–

अहवा पंचण्हं संजईण समणाण चेव पंचण्हं।
पणगादी आरद्धं, नेयव्वं जाव चरिमपदं ॥२७४॥

अथवा क्षुल्लकाऽऽदिभेदात् पञ्चानां संयतीनां, श्रमणानां चैव पञ्चानां पञ्चकाऽऽदेराब्धं प्रायश्चित्तं तावन्नेतव्यं यावच्चरमपदं पाराञ्चिकम्।

एतदेव सविशेषमाह–

संजइ संजय तह संपऽसंप अहलंदपोरिसअहिया।
चिट्ठाई अट्ठिट्ठे, दिट्ठे पणगाइ जा चरिमं ॥२७५॥

संयत्यः–क्षुल्लिका, स्थविरा, भिक्षुणी, अभिषेका, प्रवर्तिनी चेति पञ्चविधाः, संयता अपि क्षुल्लकस्थविरभिक्षुकोपाध्यायाऽऽचार्यभेदात् पञ्चधा। (संपऽसंप त्ति) सूचकत्वात् सूत्रस्य संपातिममसंपातिमं वा दकतीरं यथालन्दपौरुष्यधिकपौरुषीलक्षणं कालत्रयं, स्थाननिषदनाऽऽदीनि च दशपदानि, अदृष्टे दृष्टे चेति पदद्वयम्, एतेषु पदेषु पञ्चकाऽऽदिकं चरमप्रायश्चित्तं यावन्नेतव्यम्।

कियन्ति पुनः प्रायश्चित्तस्थानानि भवन्तीति दर्शयति–

पण दस पनरस वीसा, पणवीसा मास चउरो छच्चेव।
लहु गुरुगा सव्वेते, छेदो मूलं दुगं चेव ॥२७६॥

पञ्चरात्रिन्दिवानि, दशरात्रिन्दिवानि, पञ्चदशरात्रिन्दिवानि, विंशतिरात्रिन्दिवानि, पञ्चविंशतिरात्रिन्दिवानि, मासिकं, चत्वारो मासाः, षण्मासाश्च। एतानि सर्वाणि लघुकानि गुरुकाणि च। तद्यथालघुकं पञ्चरात्रिन्दिवानि इत्यादि। एतानि षोडश संजा–तानि। छेदो, मूलं, द्विकं चैव–अनवस्थाप्यपाराञ्चिकं युगम्। एवं विंशतिरात्रिन्दिवानि प्रायश्चित्तस्थानानि भवन्ति।

अथाऽमीषामेव पदानां चारणिकां कुर्वन्नाह–

पणगाइ असंपाइम, संपाइम दिट्ठमेवऽदिट्ठे य।
चउगुरुए ठाइ खुड्डी, सेसाणं वुड्ढि एक्केक्कं ॥२७७॥

असंपातिमे यथालन्दमदृष्टा क्षुल्लिका तिष्ठति लघुपञ्चकं, दृष्टा तिष्ठति गुरुपञ्चकं पौरुषीमदृष्टा तिष्ठति गुरुपञ्चकं, दृष्टा तिष्ठति लघुदशकम्, अधिकपौरुषीमदृष्टा तिष्ठति लघुदशकम, दृष्टायां गुरु–दशकम्। संपातिमे यथालन्दमदृष्टा तिष्ठति गुरुपञ्चकं, दृष्टा तिष्ठति लघुदशं, पौरुषीमदृष्टा तिष्ठति लघुदशकं, दृष्टायां गुरुदशकं, समधिकां पौरुषीमदृष्टायां तिष्ठन्त्यां गुरुदशकम्, दृष्टायां लघुपञ्चदशकम्। एवमूर्द्धस्थानमाश्रित्योक्तम्। निषीदन्त्यास्तु गुरुकं पञ्चरात्रिन्दिवेभ्यः प्रारभ्य गुरुपञ्चदशरात्रिन्दिवेषु, त्वग्वर्तनं कुर्वत्या लघुदशरात्रिन्दिवादारभ्य लघुविंशतिरात्रिन्दिवेषु, एवं निद्रायमाणाया गुरुविंशतिरात्रिन्दिवेषु, उच्चारप्रस्रवणे आचरन्त्या लघुमासे, स्वाध्यायं विदधानाया मासगुरुके, धर्मजागरिकया जाग्रत्याश्चतुर्लघुके, कायोत्सर्गं कुर्वत्याश्चतुर्गुरुके इति। एवं क्षुल्लिकायाः प्रायश्चित्तमुक्तम्। शेषाणां तु स्थविराऽऽदीनामेकैकं स्थानमुपरि वर्द्धते, अधस्ताच्च एकैकं स्थानं हीयते। स्थविराया गुरुपञ्चकादारब्धं यल्लघुकं यावद् भिक्षुण्या लघुदशकादारब्धं षट् गुरुकान्तम्। अभिषेकाया गुरुदशकादारब्धं छेदपर्यन्तम्। प्रवर्त्तिन्या लघुपञ्चदशकादारब्धं मूलान्तमवसातव्यम्।

एतदेवाऽऽह–

छल्लहुएँ ठाइ थेरी, भिक्खुणि छग्गुरुएँ छेदें गणिणी तु।
मूले पवत्तिणी पुण, जह भिक्खुणि खुड्डुए एवं ॥२७८॥

स्थविरा षट् लघुके, भिक्षुणी षट् गुरुके, गणिनी–अभिषेका, सा छेदे, प्रवर्त्तिनी पुनर्मूले तिष्ठतीति। यथा च भिक्षुण्यामेवं क्षुल्लकेऽपि द्रष्टव्यम्। दशभ्यो लघुरात्रिन्दिवेभ्यः षट् गुरुकान्तमसंपातिमाऽऽदिषु प्रायश्चित्तं भवतीत्यर्थः।

गणिणिसरिसो उ थेरो, पवत्तिणि विभागसरिसओ भिक्खू।
अद्धुक्कंती एवं, सपयं सपयं गणिगुरूणं ॥२७९॥

गणिनी अभिषेका, तस्याः सदृशः स्थविरो, यथा अभिषेकायाः गुरुदशकमादौ कृत्वा छेदान्तं भणितं, तथा स्थविरस्यापि भणनी–यमिति भावः। प्रवर्त्तिन्याः प्रायश्चित्तविभागेन सदृशो भिक्षुर्भवति, लघुपञ्चदशकात्प्रभृति मूलान्तं प्रायश्चित्तं तस्याऽपि ज्ञेयमिति हृदयम्। एवमर्द्धपक्रान्ताधस्तनैकपदह्रासोपरितनपदैकवृद्ध्यात्मिकया गणी उपाध्यायो, गुरुराचार्यः, तयोरपि स्वपदं स्वपदं यावत्प्रायश्चित्तं नेतव्यम्। तत उपाध्यायस्य गुरुपञ्चदशकमादौ कृत्वा स्वपदमनवस्थाप्यम्, आचार्यस्य लघुविंशतिरात्रिन्दिवादारभ्य स्वपदं पाराञ्चिकं यावद् द्रष्टव्यम्।

एवं तु चिट्ठाणाऽऽदिसु, सव्वेसु पदेसु जाव उस्सग्गो।
पच्छित्ते आदेसा, इक्किक्कपयम्मि चत्तारि ॥२८०॥

एवममुना प्रकारेण स्थाननिषदनाऽऽदिषु सर्वेष्वपि पदेषु कायोत्सर्गं यावदेकैकस्मिन् पदे प्रायश्चित्तविषयाश्चत्वार आदेशा भवन्ति। तद्यथा–एकं तावदौघिकं प्रायश्चित्तं, द्वितीयं तदेव तपः कालविशोषितं, तृतीयं छेदान्तम्, चतुर्थं चारणिकाप्रायश्चित्तम्। गतं दकतीरद्वारम्।

अथ यूपकस्यावसरः, तमेवाभिधित्सुराह–

संकमो जूवे अचलो, चलो य लहुगो य हुंति लहुगा य।
तम्मि वि सो चेव गमो, णवरि गिलाणे इमं होइ ॥२८१॥

यूपकं नाम खेटाऽऽख्यं जलमध्यवर्त्ति तटं, तत्र देवकुलिका गृहं वा भवेत्, तत्र वसति गृह्णतश्चतुर्लघुकाः। तच्च यूपं संक्रमेण वा गम्येत, जलेन वा। संक्रमो द्विविधः–चलोऽचलश्च। अचलेन गच्छतो मासलघु। चलो द्विविधः–सप्रत्यपायः, निष्प्रत्यपायश्च। निष्प्रत्यपायेन गच्छतश्चतुर्गुरुकं भवति। सप्रत्यपायेन व्रजतश्चत्वारो लघुकाः। तस्मिन्नपि यूपके, स एव गमः सा वक्तव्यता या दकतीरे भणिता। ''अहिगरणमंतराए'' (२५५) इत्यारभ्य यावदेकैकस्मिन् पदे चत्वार आदेशा इति। नवरं ग्लानं प्रतीत्य इदमन्यदधिकं दोषजालं भवति–

दट्ठूण य सइकरणं, ओभासण विरहिए य आइयणं।
परितावण चउलहुगा, अकप्प पडिसेव मूल दुगं ॥२८२॥

ग्लानस्य तदुदकं दृष्ट्वा स्मृतिकरणमीदृशी स्मृतिरुत्पद्यतेपिवाम्यहमुदकम्। ततो सोऽवभाषणं करोति, यदि दीयते ततः संयमविराधना, अथ न दीयते, ततो ग्लानः परितापितः। विरहिते च कारणतः साधुभिः प्रतिश्रये उदकस्याऽऽपानं कुर्यात्, यदि स्वलिङ्गेनाऽऽपिबति ततश्चतुर्लघुकम्, अथ (दुगं ति) स्वलिङ्गं, गृहिलिङ्गं च, तेनाऽकल्प्यमप्कायं प्रतिसेवते ततो मूलं, तेन चापथ्येनानागाढपरितापनाऽऽदयो दोषाः, तन्निष्पन्नमाचार्यस्य प्रायश्चित्तम्।

अथवा–(अकप्प पडिसेव मूलदुगं ति) अकल्प्यं प्रतिसेव्य भग्नव्रतोऽहमिति कृत्वा यद्येको ग्लानोऽवधावते तत आचार्यस्य मूलं, द्वयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु पाराञ्चिकम्।

आउक्काए लहुगा, पूतरगादीतसेसु जा चरिमं।
जे गेलन्ने दोसा, धिइदुब्बलें सेहें ते चेव ॥२८३॥

अप्काये प्रतिसेविते चतुर्लघुकाः, पूतरकाऽऽदित्रसेषु चरमं पाराञ्चिकं यावन्नेतव्यमातत्र पूतरकाऽऽदिषु द्वीन्द्रियेषु षड्लघुकम्, त्रीन्द्रियेषु षड्गुरुकम्, चतुरिन्द्रियेषु छेदः, पञ्चेन्द्रिये मत्स्याऽऽदौ उदकेन सह गिलिते एकस्मिन् मूलं, द्वयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु पाराञ्चिकम्, ये च ग्लान्ये ग्लानस्य स्मृतिकरणाऽऽदयो दोषा उक्ताः, धृतिदुर्बले मन्दाऽऽश्रये शैक्षे त एव द्रष्टव्याः। गतं यूपकद्वारम्।

अथ तापनाद्वारमाह निर्युक्तिकारः–

आयावण तह चेव य, नवरि इमं तत्थ होइ नाणत्तं।
मज्जण सिंचण परिणा–म वित्ति तह देवया पंता ॥२८४॥

ये दकतीरे अधिकरणान्तरायाऽऽदयो दोषा उक्ताः, ते यथासंभवं दकतीरे इव, पूरके इव वा आतापनां कुर्वतः तथैव भणितव्याः, नवरमिदं नानात्वं विशेषो भवति–तत्राऽऽतापयतो मज्जनं वा सिञ्चनं वा कश्चित्कुर्यात्, परिणामो वा तस्य स्नानाऽऽदिविषयो भवेत्, वृत्तिर्वा जीविका मण्डूकानां व्यवच्छिद्येत्, प्रान्ता वा देवता लोकेनाऽपूज्यमाना साधोरुपसर्गं कुर्यात्।

तत्र मज्जनसिञ्चनपरिणामद्वाराणि व्याख्यानयति–

मज्जंति व सिंचंति व, पडिणीयऽणुकंपया व णं केइ।
तण्हुण्हपरिगयस्स, व परिणामो ण्हाणपियणेसु ॥२८५॥

णमिति तमातापकं प्रत्यनीकतया, अनुकम्पया वा केचिन्मज्जयन्ति वा स्नपयन्ति, सिञ्चन्ति वा शृङ्गाटीभिरञ्जलीभिर्वा निर्वापयन्ति। यद्वा–तस्याऽऽतापकस्य तृषितोऽहमित्येवं तृष्णापरिगतस्य, धर्माभिभूतमात्रोऽहमित्येवमुष्णपरिगतस्य वा स्नानपानयोः परिणामः संजायते।

वृत्तिद्वारं, प्रान्तदेवताद्वारं चाऽऽह–

आउट्टजणो मरुगाण अदाणे खरितिरिक्ख छोभाऽऽदी।
पच्चक्खदेवपूयण, खरियावरणं च खित्ताऽऽई ॥२८६॥

तस्य तापनया आवृतो जनो मरुकानां दानं ददाति, ततस्तेषामदाने, खरी द्व्यक्षरिका, तिरश्ची महाशब्दिकाप्रभृतिका, तद्विषयं क्षोभाभ्याख्यानद्वन्द्वाऽऽदयो दोषा भवेयुः। तथा प्रत्यक्षदेवता इय–मिति कृत्वा तस्य साधोः पूजनं, देवतायाश्च अपूजनम्, ततः (खरियावरणं ति) संयतवेषमावृत्य तत्प्रतिरूपं कृत्वा द्व्यक्षरिकां प्रतिसेवमानां देवता दर्शयेत्। क्षिप्तचित्ताऽऽदिकं वा तं श्रमणं सा देवता कुर्यादिति।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां स्पष्टयति–

आयावण साहुस्सा, अणुकंपं तस्स कुणइ गामो उ।
मरुयाणं च पओसो, पडणीयाणं च संका तु ॥२८७॥

तस्य साधोर्दकतीरे आतापनां कुर्वतो ग्रामजनः सर्वोऽप्यावृतः, ततश्चानुकम्पां तस्य करोति, पारणदिवसे भक्ताऽऽदिकं सविशेषं तस्य ददातीत्यर्थः; अयं प्रत्यक्षदेवः, किमस्माकमन्येषां मरुकाऽऽदीनां दत्तेन, एतस्य दत्तं बहुफलं भवतीति कृत्वा। ततो मरुकाणामदीयमाने प्रद्वेषः संजातः, ततस्ते द्व्यक्षरिकामहाशब्दिकाऽऽदिविषयमयशः प्रदद्युः; अथैष संयतोऽस्माभिर्द्व्यक्षरिकां महाशब्दिकां वा प्रतिसेवमानो दृष्ट इति। तत्र ये प्रत्यनीकास्तेषां शङ्का भवति। तत्र च गुरुकाः। निःशङ्किते मूलम्। अथवा ये प्रत्यनीकास्ते शङ्कन्ते–कस्मादेष तीर्थस्थाने आतापयति, किं स्तैन्यार्थीति। गतं वृत्तिद्वारम्। अथ ''पच्चक्खदेव (२८६)'' इत्यादि पश्चार्द्धं भाव्यते–यत्रासावातापयति तत्र प्रत्यासन्ना देवता वर्त्तते, तस्या लोकः सर्वोऽपि पूर्वं पूजापर आसीत्, तं च साधुं तत्राऽऽतापयन्तं दृष्ट्वा अयं प्रत्यक्षदैवतमिति कृत्वा लोकः संपूजयितुं लग्नः, ततः सा देवता अपूज्यमाना प्रद्विष्टा सती द्व्यक्षीरकाऽऽद्यभ्याख्यानं दद्यात्। अथवा–साधुरूपमावृत्य तत्प्रतिरूपं कृत्वा द्व्यक्षरिकां तिरश्चीं वा प्रतिसेवमानं दर्शयेत्, क्षिप्तचित्तं वा कुर्यात्, अपरां च अकल्प्यप्रतिसेवनाऽऽदिकामक्रियां दर्शयेत्, यस्मादियन्तो दोषास्तस्माद्दकतीरे यूपके वा न स्थानाऽऽदीनि पदानि कुर्यात्।

अथ कुर्यादपि, कथमित्याह–

पढमे गिलाणकारणें, बीए वसहीए असइए वसई।
राइणियकज्जकारणें, ततिए वितियपद जतणाए ॥२८८॥

प्रथमं दकतीरं, तत्र ग्लानकारणात् तिष्ठेत्, द्वितीयं यूपकं, तत्र निर्दोषाया वसतेरसत्यभावे वसति तिष्ठति, तृतीयमातापनापदं, तत्र रात्निको राजा, तदायत्तं यत् कुलगणसङ्घ कार्यं, तत्कारणं तिष्ठेत्। एवं त्रिष्वपि दकतीराऽऽदिषु यतनया वक्ष्यमाणलक्षणया द्वितीयपदं तत्रावस्थानलक्षणं सेवेत।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति–

विज्जदवियऽट्ठयाए, निज्झंतो गिलाणें असति वसहीए।
जोग्गाए वा असती, चिट्ठे दगतीर णोतारे ॥२८९॥

ग्लाने वैद्यस्य समीपं नीयमाने, द्रव्यमौषधं तदर्थं वा अन्यत्र नीयमानेऽन्यत्र वसतेरभावे दकतीरेऽपि तिष्ठेत्। अथवा विद्यते वसतिः परं न ग्लानयोग्या, ग्लानयोग्यवसतेरसति तत्र वसेत्। अथवा–विश्रमणार्थं दकतीरे मुहूर्तमात्रं ग्लानस्तिष्ठेत्, तमपि मनुष्यतिरश्चामनवतारे अप्रवेशमार्गेऽवतारयेत्।

तत्र च स्थितानामियं यतना–

उदगंतेण चिलिमिली, पडियरए मोत्तु सेस अण्णत्थ।
पडियर पडिसल्लीणा, करिज्ज सव्वाणि वि पदाणि ॥२९०॥

उदकं येनान्तेन पार्श्वेन भवति ततश्चिलिमिली कोट्टको वा दीयते, ये च ग्लानस्य प्रतिचरकास्तान् मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽप्यन्यत्र तिष्ठन्ति, प्रतिचरका अपि प्रतिसंलीनास्तथा तिष्ठन्ति यथा संपातिमसत्त्वानां संत्रासो न भवति, एवं सर्वाण्यपि स्थाननिषदनाऽऽदीनि पदानि कुर्यात्। गता दकतीरयतना। बृ०१उ०।

दगतुंड पुं०(दकतुण्ड) पक्षिभेदे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

दगतूर न०(उदकतूर्य्य) उदके मुखाऽऽदितूर्याणां शब्दे, बृ०१ उ०।

दगथालग पुं०(दकस्थालक) कंसाऽऽदिमये उदकभृतभाजने, रा०।

दगपंचवण्ण पुं०(दकपञ्चवर्ण) अष्टाशीतिमहाग्रहाणां चतुस्त्रिंशत्तमे स्वनामख्याते ग्रहे, स्था०। 'दो दगपंचवण्णा।' स्था० २ ठा०३ उ०। कल्प०।

दगपासाय पुं०(दकप्रासाद) स्फटिकप्रासादे, जं०१ वक्ष०।

दगपिप्पली स्त्री०(उदकपिप्पली) हरितवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १पद।

दगफासिया स्त्री०(दकस्पर्शिका) अवश्याये, कल्प०६ क्षण।

दगवाह पुं०(दकवाह) उदकमार्गे, नि०चू०८ उ०।

दगभवण न०(उदकभवन) जलगृहे, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०६ उ०।

दगभास पुं०(दकाभास) शिवकस्य वेलन्धरनागराजस्य आवास–पर्वते, स० ८७ सम०।

दगमंचग पुं०(दकमञ्चक) स्फटिकमञ्चके, जं०१ वक्ष०। जी०।

दगमंडग पुं०(दकमण्डप) स्फटिके मण्डपे, रा०।

दगमंडव पुं०(उदकमण्डप) उदकक्षरणयुक्ते मण्डपे, प्रश्न० ५ संब० द्वार।

दगमंडवग पुं०। न०(दकमण्डपक) स्फटिकमण्डपके, जं०१ वक्ष०। जी०। उदकक्षरणयुक्ते मण्डपे, प्रश्न०५ संब० द्वार।

दगमग्ग पुं०(उदकमार्ग) उदकवाहे, नि०चू०८ उ०।

दगमट्टिआ स्त्री०(उदकमृत्तिका) उदकप्रधानायां मृत्तिकायाम्, आचा०२ श्रु०१ चू० १उ०। अचिराप् कायाऽऽर्द्रीकृतमृत्तिकायाम्, आचा०१ श्रु०८ अ०६ उ०। दशा०। अनुपहतभूमौ चिक्खिल्ले, ध०। दकमप्कायो, मृत्तिका पृथ्वीकायः, तयोर्द्वन्द्वे, ध०२ अधि०। आ०चू०। आव०। सचित्ते मिश्रे च कर्दमे, बृ०४ उ०। दकसंयुक्ता मृत्तिका, विवेकद्रव्यप्रयोगपूर्विका तद्विवेचनकलाऽप्युपचारादुदकमृत्तिका। तस्यां द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गतायां पञ्चदश्यां कलायाम्, जं०२ वक्ष०। ज्ञा०। स०।

दगमट्टिआयाण न०(उदकमृत्तिकाऽऽदान) आदीयते अनेनेत्यादानो मार्गः। उदकमृत्तिकाऽऽदानमार्गे, दश०५ अ०१ उ०।

दगमट्टिया स्त्री०(उदकमृत्तिका) 'दगमट्टिआ' शब्दार्थे, आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०१उ०।

दगमालग न०(दकमालक) स्फटिकमालके, जं०१ वक्ष०। जी०।

दगरक्खस पुं०(उदकराक्षस) जलमानुषाऽऽकृतौ जलचरविशेषे, सूत्र०१ श्रु० ७अ०।

दगरय न०(उदकरजस्) बिन्दुमात्रे, कल्प०६ क्षण। पानीयकणि–कायाम्, जी०३ प्रति०४ उ०। बृ०। औ०। जं०। रा०। आ०म०। कल्प०। प्रज्ञा०। उदकरेणौ, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

दगलेव पुं०(दकलेप) नाभिप्रमाणजलावतरणे, स्था०५ ठा०२उ०। आव०।

दगवण्ण पुं०(दकवर्ण) अष्टाशीतिमहाग्रहाणां चतुस्त्रिंशत्तमे ग्रहे, सू०प्र० २० पाहु०। पञ्चत्रिंशत्तमे च ग्रहे, चं०प्र० २० पाहु०।

दगवारग पुं०(उदकवारक) लघुपानीयघटे, बृ०१ उ०। रा०। गमुके, नि०चू०१२ उ०। जी०।

दगवीणिया (दकवीणिका) दकस्य वीणिका दकवीणिका। उदकवाहे, नि०चू०१ उ०।

दगसंघट्ट न०(दकसङ्घट्ट) अर्द्धजङ्घाप्रमाणं यावदुडुपतार्यं जलं तादृशे क्षेत्रे, नि०चू० १० उ०। कल्प०।

दगसंसट्ठहडा स्त्री०(उदकसंसृष्टाहृता) उदकसंबन्धाऽऽनीतायां हस्तमात्रगतोदकसंसृष्टायां परिष्ठापनायाम्, आव०४ अ०।

दगसत्तघाइ(ण्) पुं०(दकसत्त्वघातिन्) जलप्राणिहिंसके, सूत्र० दीपि० १ श्रु० ७ अ०।

दगसीम पुं०(उदकसीमन्) मनःशिलाकस्य वेलन्धरनागराजस्याऽऽ-वासपर्वते, स० ८७ सम०। जी०।

दगसोकरिग पुं०(दगसौकरिक) परिव्राजके, बृ०१ उ०।

दगाभास पुं०(दकाभास) 'दगभास' शब्दार्थे, स० ८७ सम०।

दगाहरण न०(उदकाऽऽहरण) उदकमाह्रियते येन तदुदकाऽऽहरणम्। कुटवर्द्धनिकाऽऽदौ, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२उ०।

दच्चा अव्य०(दत्त्वा) दानं कृत्वेत्यर्थे, स्था०३ ठा०२उ०। उत्त०।

दच्छ त्रि०(दक्ष) अच्। **''छोऽक्ष्यादौ''** ॥८।२।१७॥ इति संयुक्तस्य छः। प्रा०२ पाद। निपुणे, वाच०। तीक्ष्णे, दे०ना० ५ वर्ग ३३ गाथा। (निरूपितमस्य सर्वं 'दक्ख' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४४० पृष्ठे)

दज्झ त्रि०(दग्ध) दह–क्तः। भस्मीकृते कर्त्तृणे, न०। प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

दट्ठ न०(दृष्ट) दृश–क्तः। **''दृशस्तेन ट्ठः''** ॥८।४।२१३॥ दृशोऽन्त्य–स्य तकारेण सह द्विरुक्तष्ठकारो भवति। इति ठकाराऽऽदेशः। 'दट्ठं।' प्रा०ढुं० ४ पाद। ''दट्ठव्वं।'' ''दट्ठूण।'' प्रा०४ पाद। स्वपरचक्रभये वीक्षिते, लौकिके च। वाच०।

दट्ठंतिय त्रि०(दार्ष्टान्तिक) दृष्टान्तपरिच्छेद्ये, आव०४ अ०।

दट्ठव्व त्रि०(द्रष्टव्य) अवगन्तव्ये, पञ्चा०४ विव०।

दट्ठूण अव्य०(दृष्ट्वा) **''क्त्वस्तुमतूणतुआणाः''** ॥८।२।१४६॥ इति क्त्वाप्रत्ययस्य तूणाऽऽदेशः। प्रा०२ पाद। चक्षुषा उपलभ्येत्यर्थे, पञ्चा०२ विव०। प्रश्न०। नि०चू०।

दडवड धा०(अवस्कन्द) अवस्कन्द–आधारे घञ्। **''शीघ्राऽऽ–दीनां बहिल्लाऽऽदयः''** ॥८।४।४२२॥ इति अपभ्रंशे अवस्कन्दस्य दडवडाऽऽदेशः। धात्व्याम्, (माका) इति प्रसिद्धायाम्, ''तहिँ मयरद्धय-दडवडउ, पडइ अपूरइ कालि।'' प्रा०४ पाद। ''निद्दएगमिही रत्तडी, दडवड होइ विहाणु।'' प्रा० ढुं०४ पाद। धात्व्याम्, दे०ना० ५ वर्ग ३५ गाथा।

दड्ढ त्रि०(दग्ध) भस्मीकृते, आव०४ अ०। प्रश्न०। ''अग्गिदड्ढाणं।'' औ०। ''दड्ढमुड्ढाइं करेज्जा।'' नि०चू०१ उ०। ''एवं दीहदड्ढस्स किरियणिमित्तं जोइ घेप्पत्ति।'' नि०चू०१उ०।बृ०। संथा०। प्रश्न०।

***दट्ठ** त्रि०। दशनाऽऽहते, प्रा०१ पाद।

***दार्ढ्य** न०। दृढत्वे, षो० १२ विव० आचा०।

दड्ढच्छवि त्रि०(दग्धच्छवि) शीताऽऽदिभिरुपहतत्वचि, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

दड्ढतिल्ल न०(दग्धतैल) पक्वान्नोत्तीर्णतैले, ध०२ अधि०।

दढ न०(दृढ) दह क्तः। नि० इडभावः। लौहे, रूपककाव्यभेदे, नितान्ते, वाच०। अतिशये, पञ्चा०१ विव० अत्यर्थे, पञ्चा०७ विव०। पं०व०। तद्वति, बलवति, औ०। ज्ञा०। निष्प्रकम्पे, नं०। विस्रोतसिकारहिते, आचा०१ श्रु०२ अ०१उ०। स्थिरे, उत्त० १८ अ०। निश्चले, सूत्र०१ श्रु०४ अ०१उ०। समर्थे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०१ उ०। अतिनिविडे, रा०। स्थूले, प्रगाढे, शक्ते, कठिने च। त्रि०। वाच०। प्रश्न०। स्था०। ''एवं तारिसं दढं सोहियं जायं।'' आ०म० १अ०२खण्ड।

दढकेउ पुं०(दृढकेतु) ऐरवते जनिष्यमाणे चतुर्दशे जिने, प्रव० ७ द्वार। ती०।

दढजत्तकय न०(दृढयत्नकृत) परमाऽऽदरविहिते, पञ्चा०४ विव०।

दढणेमि पुं०(दृढनेमि) द्वारवत्यां समुद्रविजयस्य शिवानाम्न्यां भार्यायामुत्पन्ने पुत्रे, अन्त०। स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायः शत्रुञ्जये सिद्ध इति अन्तकृद्दशानां चतुर्थवर्गस्य दशमेऽध्ययने सूचितम्। अन्त० ३ वर्ग ८ अ०।

दढधणु पुं०(दृढधनुष्) जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यत्यष्टमे कुलकरे, स्था० १० ठा०। जम्बूद्वीप आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यामैरवते वर्षे भविष्यति सप्तमे कुलकरे, स०। ती०।

दढधम्म पुं०(दृढधर्मन्) श्रुतचारित्ररूपे धर्मे दृढो द्रव्यक्षेत्राऽऽद्यापदुदयेऽपि निश्चलः स दृढधर्मा। राजदन्ताऽऽदित्वाद् दृढशब्दस्य पूर्वनिपातः। बृ०१ उ०। स्था०। व्य०। आ०म०। उक्तञ्च– ''दस-विहवेयावच्चे, अण्णतरे खिप्पमुज्जमं कुणइ। अचंतमणेचाणिं, थिइविरियकिसो पढमभंगो ॥१॥'' अङ्गीकृतापरित्यागे, स्था० ४ ठा०३उ०। दृढः स्थिरः निश्चलः धर्मो यस्य स तथा। ओघ०। आपद्यपि धर्मादविचले, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। कर्म०। स्था०। दृढे चारित्रे स्थिरे, बृ०३ उ०। दृढः समर्थो धर्मः स्वभावः संग्रामाभङ्गरूपो यस्य स तथा। समर्थस्वभावे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०१ उ०। स्वनामख्याते देवे च, ''ईसाणदेवसयसमीवातो दढधम्मो नाम देवो आगतो भणइ।'' आ०म०१ अ०१खण्ड।

दढधम्मया स्त्री०(दृढधर्मता) दृढधर्मत्वे, स० ३२ सम०। आव०। आ०चू०। आ०क०। स०। (आपत्सु दृढधर्मता सोदाहरणा 'आवई' शब्दे द्वितीयभागे २४५ पृष्ठे व्याख्याता)

दढपइण्ण पुं०(दृढप्रतिज्ञ) सूर्याभस्य देवस्य देवलोकाच्च्युतस्य महाविदेहे वर्षे कस्यचिदाढ्यस्य पुत्रत्वेनोत्पत्स्यमाने जीवे, तदुत्पत्तौ सत्यां तन्मातापित्रोर्दृढा प्रतिज्ञा भविष्यतीति तदन्वर्थनामकरणात्। रा०। अन्त०। ('सूरियाभ' शब्देऽन्तिमभागे तच्चरितं वक्ष्यते)

दढपरक्कम पुं०(दृढपराक्रम) संयमे, स्थिरवीर्यभाजि, उत्त० १६ अ०।

दढपाणिपायपासपिट्ठंतरोरुपरिणय त्रि० (दृढपाणिपादपार्श्वपृष्ठान्तरोरुपरिणत) दृढं पाणिपादं यस्य, तथा पार्श्वौ पृष्ठान्तरे च ऊरू च परिणते परिनिष्ठितां गते यस्य स तथा। उत्तमसंहनने, भ० १४ श०१ उ०। जी०।

दढप्पहारी त्रि०(दृढप्रहारी) गाढप्रहारे, ज्ञा०१ श्रु० १८ अ०। ती०। सिद्धभेदे, पुं०। आ०म०१ अ०२ खण्ड। आ०क०। (कथा 'तव–सिद्ध' शब्देऽत्रैव भागे २२०७ पृष्ठे द्रष्टव्या)

दढभूमि त्रि०(दृढभूमि) स्थिरे, द्वा० १० द्वा०। बहुम्लेच्छदेशे, यत्र श्रीभगवान् वीरः कोष्ठे चैत्ये एकरात्रिकया प्रतिमया स्थितः। आ०म०१ अ०२ खण्ड। आ०चू०। दृढा भूमिरस्य। योगविशेषेण संस्कृतान्तःकरणे, विषयसुखरागाऽऽदिना चालयितुमशक्यचित्ते च। वाच०।

दढमइ त्रि०(दृढमति) दृढा निश्चला मतिर्यस्य स तथा। निश्चलमतौ, सूत्र०१ श्रु० ४ अ०१उ०।

दढमित्त पुं०(दृढमित्र) दन्तपुरनगरवास्तव्यस्य धनमित्रनाम्नो वणिजः स्वनाख्याते मित्रे, आव०४ अ०। (कथाऽन्यत्र)

दढमित्तित्त न०(दृढमैत्रीत्व) निश्चलसौहृदे, बृ०१ उ०।

दढरह पुं०(दृढरथ) जम्बूद्वीपे भारते वर्षे अतीतायामवसर्पिण्यां जातेऽष्टमे कुलकरे, स०। स्था०। अस्यामेवावसर्पिण्यां जातस्य दशमतीर्थकरस्य शीतलस्य पितरि, स०। स्था०। आव०। ति०। प्रव०। नवनवतितमे ऋषभनन्दने, कल्प०७ क्षण।

दढरहा स्त्री०(दृढरथा) व्यन्तरेन्द्राणां कालाऽऽदीनां तत्सामानिकाग्रमहिषीणां च बाह्यायां पर्षदि, धरणाऽऽदीनां भवनपतीन्द्राणां लोकपालाग्रमहिषीसत्कबाह्यपर्षदि च। स्था०३ ठा०१ उ०। जीवा०।

दढवइर त्रि०(दृढवैर) अतिशयवैरशालिनि, दृढवैराः स्त्रियः, इहा–परत्र दारुणवैरकारणत्वात्,। तं०।

दढव्वय त्रि०(दृढव्रत) दृढानि निश्चलानि व्रतानि नियमा उत्तर–गुणा इत्यर्थो यस्याऽसौ दृढव्रतः। निश्चलनियमे, ग०२ अधि०। ध०। आफलोदयं प्रारब्धकार्य्यात्यागिनि च। वाच०।

दढायु पुं०(दृढाऽऽयुष्) पञ्चमतीर्थकरस्य पूर्वभवजीवे, ''सर्वानुभूति-नामानं, दृढाऽऽयुषो जीवपञ्चमं वन्दे।'' प्रव०४६ द्वार। स०। ती०। जी०।

दणुअवह पुं०(दनुजवध) **''लुग्भाजनदनुजराजकुले जः सस्व–रस्य न वा''** ॥८।१।२६७॥ इत्यनेन सस्वरजकारस्य वा लुक्। दानवमारणे, प्रा०१ पाद।

दणुयवह पुं०(दनुजवध) 'दणुअवह' शब्दार्थ, प्रा०१ पाद।

दणियावुड्ढि स्त्री०(दर्णिकावृद्धि) द्वात्रिंशत्तमे स्त्रीकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण।

दत्त त्रि०(दत्त) दा–क्तः। विसृष्टे, त्यक्ते, रचिते, वाच०। अनुज्ञाते, प्रश्न०३ संव०द्वार। वितीर्णे, स्था० ५ ठा०१ उ०। न्यस्ते, जं०१ वक्ष०। भारते वर्षेऽस्यामेवोत्सर्पिण्यां जाते सप्तमे वासुदेवे, स० ३५ सम०। आव०। मेतार्य्यगणधरपितरि, आ०म०१ अ०२ खण्ड। आ०चू०। जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति पञ्चमे कुलकरे, स०। ति०। स्था०। ती०।

भद्राऽङ्गजे कालिकाऽऽचार्य्यजामिजे, आ०क०। दर्श०। आ०चू०। आ०म०। (यो हि तुर्मिणीपुराधिपं मारयित्वा राजा भूत्वा अनेकान् यज्ञानिष्ट्वा कालिकाऽऽचार्य्यवचनानुसारेण मृत्वा नारको जात इति ''सम्मावाय'' शब्देऽन्तिसभागे कथा वक्ष्यते) भारते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यामतीते सप्तमे जिने, प्रव०७ द्वार। सङ्घप्रस्थविराणां जङ्घाबलपरिक्षयेण नियतवासं प्रतिपन्नानां शिष्ये, आ०क०। आ० चू०। उत्सर्पिण्यादौ भविष्यति जिनधर्म्मोद्धारके महाराजे, ति०। विपाकश्रुते नवमेऽध्ययने उदाहृताया देवदत्तायाः पितरि, स्था० १० ठा०। गन्धर्वनागदत्तस्य पितरि लक्ष्मीपुरवास्तव्ये श्रेष्ठिनि, आ०क०। पार्श्वस्वामिनन्दनकृत ईश्वरराजस्य पूर्वभवे वसन्तपुर-वास्तव्ये पुरोहितपुत्रजीवे, ती० १४ कल्प। समुद्रतटवर्त्तिविश्वपुरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सांयात्रिके, ध०२०। स्वनामख्याते चम्पानगरीराजे महाचन्द्रस्य कुमारस्य पितरि, विपा०१ श्रु०१ अ०। वन्दनाऽऽगते स्वनामख्याते गृहपतौ, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य अनशनेन मृत्वा सुधर्मायां सभायां तप्ते सिंहासने गङ्गदत्तया देवतया द्विसागरोपमस्थितिक उपपन्न इति सप्तमे पुष्पिकाऽध्ययने सूचितम्। नि०१ श्रु०३ वर्ग ६ अ०। स्वनामख्याते कल्किराजपुत्रे, ''पण्णरसउ तिउत्तरे विक्कमवरिसे सत्तुंजे उद्धारं करित्ता जिणभव-णमेमिअं च वसुहं काउं अज्जियतित्थयरनामो सग्गं गंतुं चित्तगुत्तो नाम जिणवरो होति।'' ती०२० कल्प। स्वनामख्याते वेश्यायाम्-मश्रद्दधाने पुरुषे, पुं०। सूत्र०१ श्रु०४ अ०१उ०। दाने, न०। *उत्त०१ अ०।*

***दात्र** न०। शस्त्रभेदे, आचा०१ श्रु० १ अ०५ उ०।

दत्ति स्त्री०(दत्ति) अविच्छिन्नदाने, पञ्चा० १८ विव०। ''दत्तीओ जत्तिए वारे, खिवई होंति तत्तिया। अवोच्छिन्नानि वा पावो, दत्ती होइ दवंतरं ॥१॥'' इति। स्था०५ ठा०१ उ०। पञ्चा०। कल्प०। करस्थाल्यादिभ्यो अव्यवच्छिन्नधारया पतति भिक्षां या, सा दत्तिरभिधीयते। भिक्षाविच्छेदे च द्वितीया दत्तिः, एवं रिक्थमात्रेऽपि पतिते भिन्नैव दत्तिरिति। प्रव०४ द्वार।

दत्तिसंख्यासूत्रम्-

संखा दत्तियस्स णं भिक्खुस्स पडिग्गहधारिस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स जावतियं जावतियं अंतो पडिग्गहस्स उविइत्ता दलएज्जा, तावइयाओ साओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया। तत्थ से केइ छज्जएण वा दूसएणं वा बालएण वा अंतो पडिग्गहंसि उविइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्तीति वत्तव्वं सिया। तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सगं पिंडं साहणिय अंतो पडिग्गहंसि उविइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्तीति वत्तव्वं सिया ॥३६॥

संख्या परिमाणं दत्तिकायाः, सूत्रे पुंस्त्वमार्षत्वाद्, यावद् यावद् कश्चिदन्तः पतद् ग्रहे (उविइत्ता) अवगम्य दद्यात्, तत्र तावत्यो दत्तय इति वक्तव्यं स्यात्। किमुक्तं भवति? एकस्यामपि भिक्षायामुत्पाटितायां यावतो यावतो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददाति तावत्यस्तत्र दत्तय इति। तत्र 'से' तस्य साधोः कश्चित् छाद्यकेन वंशदलमयेन, दूष्येण वा वस्त्रेण, बालकेन वा गोमहिष्यादिबालकृतेन गालनाऽऽदिना अन्तः पतद् ग्रहे अवनम्य दद्यात्, साऽपि, णमिति वाक्यालङ्कारे, एका दत्तिरिति वक्तव्यं स्यात्। तत्र 'से' तस्य साधोर्बहवो भुञ्जाना भिक्षार्थं साधुमागतं दृष्ट्वा सर्वे ते स्वीयं स्वीयं पिण्डं संहृत्य एकं पिण्डं कृत्वा अन्तः पतद् ग्रहे (उविइत्ता) अवनम्य दद्यात् सर्वाऽपि णमिति पूर्ववत्, एका दत्तिरिति वक्तव्यम्। एतत्सूत्रं पतद्ग्रहधारिण उक्तम्।

सम्प्रति पाणिपतद् ग्रहविषयमाह-

संखा दत्तियस्स णं भिक्खुस्स पाणिपडिग्गहस्स गाहावइ-कुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स जावतियं जावतियं अंतो पाणिंसि उविइत्ता दलएज्जा, तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया। तत्थ से केइ छज्जएण वा दूसएण वा बालएण वा अंतो पाणिंसि उविइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्तीति वत्तव्वं सिया। तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिंडं साहणिय अंतो पाणिंसि उविइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्तीति वत्तव्वं सिया ॥४०॥

(पाणीत्यादि) पाणिपतद् ग्रहस्यापि विषये एवमेव सूत्रं वक्तव्यमिति सूत्रसंक्षेपार्थः।

सम्प्रति भाष्यविस्तरः-

हत्थेण व मत्तेण व, भिक्खा होई समुज्जया।
दत्तिओ जत्तिए वारे, खिवती होंति तत्तिया ॥१०६॥

हस्तेन वा, मात्रेण वा या समुद्यता उत्पादिता भिक्षा सा भिक्षेत्युच्यते। दत्तयः पुनस्तामेव भिक्षां यावतो वारान् विच्छिद्य क्षिपति तावत्यो भवन्ति।

अव्वोच्छिन्ननिवायाओ, दत्ती होइ उ वेतरा।
एगाणेगासु चत्तारि, विभागा भिक्खदत्तिसु ॥११०॥

अव्यवच्छिन्ननिपातात् दत्तिर्भवति, इतरा वा भिक्षा च भवति, भिक्षादत्तिषु च एकानेकासु विषये चत्वारो विभागा विकल्पाः।

तानेवाऽऽह-

इग भिक्खा इग दत्ती, एगा भिक्खा यऽणेगदत्तीओ।
णेगा वि य एगाओ, णेगाओ चेव णेगाओ ॥१११॥

एका भिक्षा एका दत्तिरिति प्रथमो विकल्पः। एका भिक्षा अनेका दत्तय इति द्वितीयः। अनेका भिक्षा एका दत्तिरिति तृतीयः। अनेका भिक्षा अनेका दत्तय इति चतुर्थः। तत्र प्रथमभङ्ग एव दायकेन अव्यवच्छिन्ना भिक्षा दत्ता, सा एका भिक्षा एका च दत्तिः। द्वितीयभङ्गे व्यवच्छिन्ना दत्ता। तृतीयभङ्गे सूत्रमिदम्- ''तत्थ से बहवे भुंजमाणा '' इत्यादि ''जाव सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया। (४०सू०)'' अस्येयं भावना- केचित्पथिकाः कर्मकरा वा एकत्रावकाशे पृथक् पृथक् उपस्कृत्य भुञ्जते, तेषामेकः साधुना तत्र च भिक्षार्थमागत्य धर्मलाभः समुद्दिष्टस्ततः स परिवेषक आत्मीयाद् ददामीति व्यवसितः, ततस्तैरपि शेषकैः स भण्यते- प्रत्येकं प्रत्येकमस्मदीयमध्यादपि साधवे भिक्षां देहि, ततस्तेन परिवेषकेण सर्वेषां सत्कान् गृहीत्वा एकत्र संमील्याव्यवच्छिन्नं दत्तम्, एवमेनका भिक्षा एका दत्तिरित्युपपद्यते। चतुर्थभङ्गोऽप्येवमेव, नवरं व्यवच्छिन्नं दानमिति।

अत्र दत्तिष्वेकानेकदायकभिक्षाभेदतोऽष्टौ भङ्गाः,
तानुपदिदर्शयिषुः प्रथमत एकानेकदायकभि-
क्षाविषयां चतुर्भङ्गीमाह-

एमेव एगऽणेगे, दायगभिक्खासु हों ति चउभंगा।
एगो एगं देती, एगोऽणेणा उ णेग एगं च ॥११२॥
णेगा य अणेगाओ, पाणीसु पडिग्गहधरेसु।

एवमेव अनेनैव प्रकारेण एकस्मिन् अनेकस्मिंश्च दायके, एकानेक-भिक्षासु च चतुर्भङ्गी भवति। गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्। तामेव चतुर्भङ्गीमाह-एको दायक एकां भिक्षां ददाति१, एकोऽनेकाः२, अनेके एकाम्,३, अनेके अनेकाः४। एते चत्वारो भङ्गाः पाणिषु पाणिभोजिषु, पतद्ग्रहधरेषु च द्रष्टव्याः।

अत्र यथा दत्तिष्वष्टौ भङ्गास्तथा दर्शयति-

एगो एगं एक्कसि, एगो एगं चऽणेगसो वारे।
एगोऽणेगा एक्कसि, एगोऽणेगा तु बहुसो तु ॥११३॥

एको दायक एकां भिक्षामेकवारं ददाति ॥१॥ एको दायक एकां भिक्षां बहुशो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददाति ॥२॥ एको दायकोऽनेका भिक्षा एकवारमव्यवच्छेदेन ददाति ॥३॥ एको दायकोऽनेका भिक्षा बहुशो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददाति ॥४॥ एवमेकमधिकृत्य एकानेकभिक्षासु दत्तिविषया चतुर्भङ्ग्यभिहिता।

साम्प्रतमनेकान् दायकानधिकृत्य एकानेकभिक्षासु
दत्तिविषयां चतुर्भङ्गीमाह-

णेगा एगं एक्कसि,णेगा एगं चऽणेगसो वारे।
णेगा णेगा एक्कसि, णेगा णेगा य बहुवारे ॥११४॥

अनेके दायका एकां भिक्षामेकवारमव्यवच्छेदेन ददति ॥५॥ अनेके दायका एकां भिक्षामनेकशो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददति ॥६॥ अनेके दायका अनेका भिक्षा एकत्र संपिण्ड्य एकवारं ददति ॥७॥ अनेके दायका अनेका भिक्षा विच्छिद्य विच्छिद्य बहून् वारान् ददति॥८॥

पाणिपडिग्गहियस्स वि, एसेव कमो भवे निरवसेसो।
गणवासे निरवेक्खो, सो पुण सपडिग्गहो भइतो ॥११५॥

पाणिपतद् ग्रहकस्यापि एष एवानन्तरोदितः क्रमो भवति निरवशेषो ज्ञातव्यः, स च पाणिपतद् ग्रहभोजी गणवासे निरपेक्षः सपतद्ग्रहो भाजितो विकल्पितः कदाचित्स्यात् कदाचिन्नेति, ततस्तस्य पाणिपतद् ग्रहभोजिता। व्य०६ उ०।

सुत्तं-

जे भिक्खू गिलाणस्सऽट्ठाए परं तिण्हं वियडदत्तीणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥५॥

दत्तीए पसमाणं पसती, तिण्हं पसतीणं परेण चउत्थी पसती गिलाणकज्जेण वि ण घेत्तव्वा, जो गिण्हति तस्स चउलहुं।

गाहा-

जे भिक्खू गिलाणस्सा, परेण तिण्हं तु वियडदत्तीणं।
गिण्हेज्ज आदिएज्ज व,सो पावति आणमादीणि ॥१०॥

तिण्हं दत्तीणं परतो गहणे वि चउलहुं, (आदियणे त्ति) पिबतस्स वि चउलहुं।

तिण्हं दत्तीणं परतो आहरणे, आदियणे वा इमे दोसा-

अप्पचओ य गरहा, मददोसो गेहिवड्ढणं चेव।
तिण्ह परं गेण्हंते, परेण खिंसाऽऽइयं चेव ॥११॥

(अप्पचओ त्ति) जहा एस पच्चइतो होउं वियडं गिण्हति, आपिवति वा, तहा एस अण्णं पि करेति मेहुणाऽऽदियं (गरह त्ति) एस णूणं नीयकुल-जातितो त्ति। मददोसो पि ते पलवंतिवग्गइ वा। पुणो पुणो गहणे वा वियडे गेही वड्ढति। खिंसाधिरत्यु ते एरिसपवज्जाए त्ति।

गाहा-

दिट्ठं कारणगहणं, तस्स पमाणं तु तिण्णि दत्तीओ।
णातुं व असागरिए, सेहादिअसंलवंतो य ॥१२॥

तिण्णि दत्तीओ तिण्णि, पसतीओ, कारणाओ ताओ पाए असागारिगे अत्थति, णिहुत्तो तिण्णि पसती णिज्जइ वा, अभावियसेह-अपरिणामगेहिं सद्धिं उल्लावणं करेति, गिहीहिं वा। नि०चू० १६ उ०। (द्वितीयपदं 'पसइ' शब्दे वक्ष्यते) (भिक्षुप्रतिमासु दत्तिप्रमाणं 'भिक्खुपडिमा' शब्दे वक्ष्यते)

दत्तिय पुं०(दत्रिक) वातपूर्णे चर्मणि, नि०चू०१ उ०।

दत्तिया स्त्री०(दात्रिका) छेदसाधने शस्त्रे, आचा०१ श्रु० १ अ०५ उ०।

दत्तेगाइग्गह पुं०(एकादिदत्तिग्रह) प्राकृते पूर्वापरनिपातोऽतन्त्रमिति पूर्वनिपातः। एकद्व्यादिभिक्षाविशेषग्रहणे, पञ्चा० १८ विव०।

दत्तेसणिज्ज न०(दत्तेषणीय) उत्पादाऽऽद्येषणादोषरहिते, सूत्र०१ श्रु०३ अ०१उ०।

दत्थर पुं०(देशी) वस्त्रशाटके, दे०ना० ५ वर्ग ३४ गाथा।

ददंत न०(ददत्) दायके, बृ०१ उ०।

ददर न०(दर्दर) बहले, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। रा०। जं०। जी०। आ०म०। प्रज्ञा०। औ०। चीरावनद्धकुण्डिकाऽऽदिभाजनमुखे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। जी०। आ०म०। रा०। यस्य चतुर्भिश्चरणैरवस्थानं भुवि तस्मिन् गोधाचर्मावनद्धे वाद्यविशेषे, जं०२ वक्ष०। जी०। रा०। चपेटाप्रकारे, प्रज्ञा० २ पद। आ०म०। जी०। ज्ञा०। रा०। औ०। निरन्तरकाष्ठफलकमये निःश्रेणिविशेषे, पिं०। सोपानवीथ्याम्, स०। घने, पुं०। स०।

ददरपिहाण न०(दर्दरपिधान) वस्त्रमयबन्धने, बृ०१उ०।

ददरिया स्त्री०(दर्दरिका) उत्ताडनेन वाद्यमाने वाद्यविशेषे, आ० चू०१ अ०। 'चउचलणपइट्ठाणा गोहिया।' चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठानं भुवि यस्याः सा तथा गोधाचर्म्मणा अवनद्धेति गोधिका वाद्यविशेषः, दर्दरिकेति यत्पर्यायः। स्था०७ ठा०। अनु०। रा०।

ददु पुं०(ददु) दद-डः। क्षुद्रकुष्ठभेदे, "दाद" इति प्रसिद्धे, जं० २ वक्ष०। भ०। कल्छपे, वाच०। "ददुकिडिभसिंभकुडियफरुसच्छविचित्तलंगा।" भ०७ श०६उ०।

ददुर पुं०(दर्दुर) दुनाति कर्णौ शब्दैः उरन्। वाच०। मण्डूके, व्य०१ उ०। प्रश्न०। भ०। ज्ञा०। औ०। स्वनामख्याते पर्वते, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। जं०। भ०। राहौ, सू०प्र०१६ पाहु०।

चर्म्मावनद्धमुखं कलशं, प्रश्न०५ संव०द्वार । मण्डूकी भूत्वा दर्दुरावतंसके जाते देवे, ज्ञा०।

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णगरे होत्था। तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था । तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं गुणसिलए णामं चेइए होत्था । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं०जाव सद्धिं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव समोसढे अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सोहम्मे कप्पे दद्दुरवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए दद्दुरंसि सीहासणंसि दद्दुरे देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं चउहिं अग्गमहिसीहिं तिहिं परिसाहिं एवं जहा सूरियाभे०जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति। इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवे दीवं विउलेणं ओहिणा आभोएमाणे०जाव नट्टविहिं उवदंसित्ता पडिगए, जहा सूरियाभे भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं आयाहिणं पयाहिणं करेइ, वंदति, णमंसति, णमंसइत्ता एवं वयासी–अहो णं भंते ! दद्दुरे देवे महिड्ढिए ६ । दद्दुरस्स णं भंते ! देवस्स सा दिव्वा देवड्ढी ३ कहिं गता, कहिं अणुप्पविट्ठा? गोयमा ! सरीरं गया, सरीरं अणुप्पविट्ठा, कूडागारदिट्ठंते । दद्दुरेणं भंते ! देवेणं सा दिव्वा देवड्ढी किण्णा लद्धा किण्णा पत्ता०जाव अभिसमण्णागया? एवं खलु गोयमा ! इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे रायगिहे णामं णयरे होत्था । गुणसिलए चेइए । तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स सेणिए णामं राया होत्था। तत्थ णं रायगिहे णयरे णंदे णामं मणियारसेट्ठी परिवसइ, अड्ढे दित्ते० जाव अपरिभूए । तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा ! रायगिहे णयरे जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव समोसढे ।परिसा णिग्गया। सेणिओ वि राया णिग्गतो। तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे ण्हाए पायविहारचारेणं०जाव पज्जुवासति। तए णं णंदे मणियार सेट्ठी धम्मं सोच्चा समणोवासए जाते, जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तए णं अहं गोयमा ! रायगिहाओ णयराओ पडिणिक्खंतो बहिया जणवयविहारे–णं विहरामि । तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी अण्णया कयाइं असाहुदंसणेण य अपज्जुवासणाए य अणाणुसासणाए य असुस्सूसणाए य सम्मत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं, मिच्छत्तपज्जवेहिं पवड्ढमाणेहिं मिच्छत्तं विप्पडिवण्णे जाते यावि होत्था। तए णं णंदे मणियारसेट्ठी अण्णया कयाइं गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूलंसि मासंसि अट्ठमभत्तं परिगिण्हति, पोसहसालाए०जाव विहरति । तए णं णंदस्स अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि तण्हाए छुहाए अभिभूयस्स समाणस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए एधण्णा णं ते० जाव ईसरपभिइओ, जेसिं णं रायगिहस्स बहिया बहुओ वावीओ पोक्खरणीओ०जाव सरपंतियाओ, जत्थ णं बहुजणो ण्हाइ अ, पियति य, पाणियं च संवहति, तं सेयं खलु ममं कल्लं पउब्भवाए सेणियं रायं आपुच्छित्ता रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए वब्भारपव्वयस्स अदूरसामंते वत्थुपाडगरोइयंसि भूमिभागंसि०जाव णंदं पोक्खरणिं खणावित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता कल्लं पाओ पोसहं पारेति, पारेइत्ता ण्हाए कयबलिकम्मे मित्तणाइ ०जाव सद्धिं संपरिवुडे महत्थं०जाव पाहुडं रायारिहं गिण्हति, गिण्हइत्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता ०जाव पाहुडं उवट्ठवेति, उवट्ठवेइत्ता एवं वयासी–इच्छामि णं सामी ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे रायगिहस्स णयरस्स बहिया०जाव खणावित्तए? अहासुहं देवाणुप्पिया ! तए णं णंदे सेणिएणं रण्णा अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठे रायगिहं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छतित्ता वत्थुपाडगरोइयंसि भूमिभागंसि णंदं पुक्खरिणिं खणावेउं पयत्ते यावि होत्था । तए णं सा णंदा पुक्खरिणी आणुपुव्वेणं खणमाणा खणमाणा पोक्खरिणी जाए यावि होत्था; चाउक्कोणा समतीरा अणुपुव्वं सुजायवप्पसीयलजला संछन्नपत्तभिसमुणाला बहुउप्पलपउमकुमुदनलिणीसुभगसोगंधियपुंडरीयमहापुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तफुल्लकेसरोववेया परिहत्थभमंतमत्तछप्पयअणेगसउणमणमिहुणविवियरियसद्दइमहुरसरणाइया पासादीआ दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा । तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी णंदाए पोक्खरिणीए चउदिसिं चत्तारि वणसंडे रोवावेति । तए णं ते वणसंडा आणुपुव्वेण संरक्खिज्जमाणा संगोविज्जमाणा संवड्ढिज्जमाणा वणसंडा जाया किण्हा०जाव निकुरंबभूया पत्तिया पुप्फिया०जाव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति । तए णं णंदे मणियारसेट्ठी पुरच्छिमिल्ले वणसंडे एगं महं चित्तसभं करावेति, अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं पासाईयं दरिसणीयं अभिरूवं पडिरूवं । तत्थ णं बहूणि किण्हाणि य०जाव सुक्किल्लाणि य कट्ठकम्माणि य पोत्थकम्माणि य चित्तलेपगंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमाइं उवदंसिज्जमाणा चिट्ठंति । तत्थ णं बहूणि आसणाणि य सयणाणि य अच्छयपच्चया य चिट्ठंति । तत्थ णं बहवे णट्टा य०जाव दिण्णभत्तवेतणा

तालायरकम्मं करेमाणा विहरंति। रायगिहविणिग्गओ य जत्थ बहुजणो तेसु पुव्वनत्थेसु आसणेसु य सयणेसु य संनिसण्णो य संतुट्ठो य सुहमाणो य सोहमाणो य सुहं सुहेणं विहरति। तए णं णंदे मणियारसेट्ठी दाहिणिल्ले वणसंडे एगं महं महाणससालं कारावेति, अणेगखंभ० जाव रूवं। तत्थ णं बहवे पुरिसा दिण्णभत्तवेतणा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडेंति, बहूणं समणमाहणअतिहिकिविणवणीवगाणं परिभाएमाणा परिभाएमाणा विहरंति। तए णं णंदे मणियारसेट्ठी पच्चच्छिमिल्ले वणसंडे एगं महं तेगिच्छियसालं कारावेइ, अणेगखंभसय०। तत्थ णं बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य जाणुया य जाणुपुत्ता य कुसला य कुसलपुत्ता य दिण्णभत्तवेतणा बहूणं बाहियाण य गिलाणाण य रोगियाण य दुब्बलाण य तेगिच्छं कम्मं करेमाणा विहरंति। अण्णे य एत्थ बहवे पुरिसा दिण्णभत्तवेतणा तेसिं बहूणं वाहियाण य रोगियाण य गिलाणाण य दुब्बलाण य ओसहभेसज्जभत्तपाणेणं पडिचारं करेमाणा विहरंति। तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी उत्तरिल्ले वणसंडे एगं महं अलंकारियसभं कारेइ अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं०जाव पासाईया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा। तत्थ णं बहवे अलंकारियमणुस्सा दिन्नभत्तवेतणा बहूणं समणाण य अणाहाण य गिलाणाण य रोगियाण य दुब्बलाण य अलंकारियकम्मं करेमाणा विहरंति। तए णं तीए णंदाए पोक्खरिणीए बहवे सणाहा य अणाहा य पंथिया य पथियकरोडिका य तणाहारा कट्ठाहारा पत्ताहारा अप्पेगइया ण्हायंति, अप्पेगइआ पाणियं पियंति, अप्पेगइया पाणियं संवहंति, अप्पेगइया विसज्जियसेयजल्लमलपरिस्स-मनिद्दखुप्पिवासा सुहं सुहेणं विहरंति। रायगिहविणिग्गओ वि जत्थ बहुजणो, किं ते? जलरमणविविहमज्जणकयलिलया-हरयकुसुमपत्थरयअणेगसउणिगणरुयरिभियसंकुलेसु सुहं सुहेणं अभिरममाणा अभिरममाणा विहरति। तए णं णंदाए पोक्खरिणीए बहुजणो ण्हायमाणो य पीयमाणो य पाणियं च संवहमाणो य अण्णमण्णं एवं वयासीधण्णे णं देवाणुप्पिया! णंदे मणियारसेट्ठी, कयत्थे०जाव जम्मजीवियफले। जस्स णं इमेयारूवा णंदा पोक्खरिणी चाउक्कोणा०जाव पडिरूवा। जस्स णं पुरच्छिमिल्ले तं चेव सव्वं चउसु वि वणसंडेसु० जाव रायगिहणयरविणिग्गओ जत्थ बहुजणो आसणेसु य सयणेसु य सण्णिसण्णे य संतुयट्टो य पेच्छमाणो य साहेमाणो य सुहं सुहेणं विहरति। तए णं धण्णे कयत्थे कयपुण्णे कयाणुलोया सुलद्धे माणुस्सए जम्मजीवियफले णंदस्स मणियारस्स। तए णं रायगिहे णयरे सिंघाडग०जाव बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं परूवेइ, एवं विण्णवेइ-धण्णे णं देवाणुप्पिया! णंदे मणियारसेट्ठी, सो चेव गमओ० जाव सुहं सुहेणं विहरति। तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे धाराहयकलंबुगं पिव समुस्स-सियरोमकूवे परं साया सोक्खमणुभवमाणो विहरति। तए णं तस्स णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स अण्णया कयाइ सरीरगंसि सोलस रोगायंका पाउब्भूया। तं जहा- "सासे १ कासे २ जरे३ दाहे, ४ कुच्छिसूले ५ भगंदरे ६। अरिसा ७ अजीरए ८ दिट्ठी-ए मुद्धसूले १० अकारए ११ ॥१॥" अच्छिवेयणा १२ कण्णवेयणा१३ कंडू य १४ उदरे १५कोडे १६। तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी सोलसहिं रोगायंकेहिं अभिभूए समाणे कोडुंबिय-पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासीगच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! रायगिहे णयरे सिंघाडग०जाव महापहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया! णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स सरीरगंसि सोलस रोगायंका पाउब्भूया। तं जहा-सासे०जाव कोढे। तं जो णं इच्छति देवाणुप्पिया! विज्जो वा विज्जपुत्तो वा जाणुओ वा जाणु-पुत्तो वा कुसलो वा कुसलपुत्तो वा णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स तेसिं च णं सोलसण्हं रोगाणं एगमवि रोगायंकं उवसामेत्तए, तस्स णं णंदे मणियारसेट्ठी विउलं अत्थसंपयाणं दलएति त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि घोसेह०जाव पच्चप्पिणह। ते वि तहेव० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं रायगिहे णयरे इमेयारूवे घोसणं सोच्चा णिसम्म बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य०जाव कुसलपुत्ता य सत्थकोसहत्थगता य सिलियाहत्थगता य गुलियाहत्थगता य ओसहभेसज्जहत्थगता य सएहिं सएहिं गिहेहिंतो णिक्खमंति, णिक्खमइत्ता रायगिहं णगरं मज्झं मज्झेणं जेणेव णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स सरीरं पासंति, तेसिं रोगायंकाणं नियाणं पुच्छंति, पुच्छइत्ता णंदस्स मणियारस्स बहुहिं उव्वल-णेहि य उव्वट्टणेहि य सिणेहपाणेहि य वमणेहि य विरेयणेहि य सेयणेहि य अवदहणेहि य अवण्हाणेहि य अणुवासणेहि य वत्थिकम्मेहि य निरूहेहि य सिरावेहेहि य तच्छणाहि य पच्छणाहि सिरोवत्थाहि य तप्पणाहि य पुहपाएहि य छल्लीहि य वल्लीहि य डूलेहि य कंदेहि य पत्तेहि य पुप्फोहे य फलेहि य बीएहि य सिलियाहि य गुलियाहि य ओसहेहि य भेसज्जेहि य इच्छंति तेसिं सोलसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामित्तए, नो चेव णं संचाएइ उवसामित्तए। तए णं ते बहवे वेज्जा य

०जाव नो संचाएंति तेसिं सोलसण्हं रोगाणं एगमवि रोगातंकं उवसामित्तए, ताहे संता तंता परितंता०जाव पडिगया। तते णं णंदे मणियारसेट्ठी तेहिं सोलसेहिं रोगायकेहिं अभिभूए समाणे णंदाए पुक्खरिणीए मुच्छिए तिरिक्खजोणिएहिं निबद्धाउए बद्धपएसिए अट्टदुहट्टवसट्टे कालमासे कालं किच्चा णंदाए पुक्खरिणीए ददुरीए कुच्छिंसि दद्दुरत्ताए उववण्णे। तते णं णंदे मणियारजीवे दद् दुरीए गब्भातो विणिम्मुक्के समाणे उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते णंदाए पोक्खरिणीए अभिरममाणे अभिरममाणे विहरति। तए णं णंदाए पोक्खरिणीए बहुजणो ण्हायमाणो य पाणियं पियमाणो य पाणियं संवहमाणो य अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ–धन्ने णं देवाणुप्पिया! णंदे मणियारसेट्ठी, जस्स णं इमेयारूवा णंदा पुक्खरिणी चाउक्कोणा०जाव पडिरूवा, जस्स णं पुरच्छिमिल्ले वणसंडे चित्तसभा अणेगखंभसय ०तहेव चत्तारि सभाओ०जाव जम्मजीवियफले। तए णं तस्स दद्दुरस्स तं अभिक्खणं अभिक्खणं बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था–कहिं मण्णे मए इमेयारूवे सद्दे णिसंतपुव्वे त्ति कट्टु सुज्झेणं परिणामेणं०जाव जाईसरणे समुप्पन्ने, पुव्वजा–तिसमरणं समागच्छति। तते णं तस्स दद्दुरस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था–एवं खलु अहं इहेव रायगिहे णगरे णंदे णामं मणियारसेट्ठी होत्था अड्ढ०जाव अपरिभूए। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे०जाव समोसढे। तए णं मए समणस्स भगवओ महा–वीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं०जाव पडिवण्णे। तए णं अहं अण्णया कयाइ असाधुदंसणेण य ०जाव मिच्छत्तं विप्पडिवण्णे, तए णं अहं अण्णया कयाइ गिम्हकाल–समयंसि ०जाव उवसंपज्जित्ता णं विहरामि, एवं जहेव चिंता, आपुच्छणं च, णंदा पुक्खरिणी, वणसंडा, सभाओ, सेसं तं चेव सव्वं०जाव णंदाए पुक्खरिणीए ददुरीए कुच्छिंसि दद्–दुरत्ताए उववण्णे। तं अहो! णं अहं अहण्णे अकयत्थे अकयपुण्णे णिग्गंथाओ पावयणाओ नट्ठे भट्ठे, परिभट्ठे, तं सेयं खलु ममं सयमेव पुव्वपडिवन्नाइं पंचाणुव्वयाइं सत्त सिक्खा–वयाइं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, एवं संपेहेति, संपेहित्ता पुव्वपडिवण्णाइं पंचाणुव्वयाइं ०जाव आरुहति, आरुहइत्ता इमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हति, कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अभिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स विहरित्तए। छट्ठस्स वि य णं पारणगंसि कप्पइ मे णंदाए पुक्खरिणीए परिपेरंतेसु फासुएणमुण्होदएणं उम्मद्दणा लोडियाहि य वित्तिं कप्पेमाणस्स विहरित्तए, इमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हति, अभिगिण्हइत्ता जावजीवाए छट्ठं छट्ठेणं०जाव विहरति। तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा! रायगिहे णयरे गुणसिलए चेइए समोसढे। परिसा णिग्गया। तए णं णंदाए पुक्खरिणीए बहुजणो ण्हायइ, पाणियं पियइ, पाणियं संवहइ, अण्णमण्णं आइक्खइ०जाव समणे भगवं महावीरे इहेव गुणसिलए चेइए समोसढे, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं महावीरं वंदामो, णमंसामो०जाव पज्जुवासामो, इहभवे परभवे हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए अणुगामियत्ताए भविस्सति। तते णं तस्स दद्दुरस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म अयमेयारूवे अब्भत्थिए समुप्पज्जित्था–एवं खलु समणे भगवं महावीरे, तं गच्छामि णं वंदामि, णमंसामि, एवं संपेहेति, णंदाओ पुक्खरिणीओ सणियं सणियं उत्तरति, उत्तरित्ता जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ताए उक्किट्ठाए दद्दुरगईए वीईवयमाणे जेणेव मम अंतिए तेणेव पहारेत्थ गमणाए, इमं च णं सेणिए राया भिंभसारे ण्हाए कयकोउय ०जाव सव्वालंकारविभूसिए हत्थिखंधवरगते सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं महयाहयगयरहभडच–डगचाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे मम पायं वंदए हव्व–मागच्छति, तते णं से दद्दुरे सेणियस्स रण्णो एगेणं आसकि–सोरेणं वामपाएणं अक्कंते समाणे अंतणिग्घाइए कयावि होत्था। तए णं से दद्दुरे अथामे अबले अबीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारिणिज्जम्मि त्ति कट्टु एगंतमवक्कसति, अवक्कमइत्ता करत–लपरिग्गहियं तिक्खुत्तो सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं बयासी–नमोऽत्थु णं अरुहंताणं भगवंताणं०जाव संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स मम धम्मायरियस्स०जाव संपाविउ-कामस्स, पुव्विं पि य णं मए समणस्स भगवओ महावीरस्स० जाव संपत्तेणं अंतिए थूलगपाणातिवाए पच्चक्खाए०जाव थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए। तं इयाणिं पि तस्सेव अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि०जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खाए जावज्जीवाए सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं पच्चक्खाए जावज्जीवाए, जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं० जाव सम्मं फुसंतं, एयं पि य णं चरिमेहिं ऊसासेहिं वोसिरामि त्ति कट्टु तए णं से दद्दुरे कालमासे कालं किच्चा०जाव सोहम्मे कप्पे दद्दुरवडिंसए विमाणे उववायसभाए दद्दुरदेवत्ताए उववण्णे। एवं खलु गोयमा! दद्दुरेणं देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया। दद्दुरस्स

णं भंते ! देवस्स केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता? गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता । से णं दद्दुरे देवे आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता महाविदेहे वासे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति०जाव अंतं करेहिति ।

(एवं सूरियाभ त्ति) यथा राजप्रश्नकृते सूर्याभो देवो वर्णितः, एवमयमपि वर्णनीयः । कियता वर्णकेनेत्याह–(०जाव दिव्वाइं इत्यादि) स चायं वर्णकः–''तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीयाहिवईहिं ।'' इत्यादि । (इमं च णं केवलकप्पं ति) इमं च–केवलः परिपूर्णः, स चासौ कल्पश्च स्वकार्यकरणसमर्थ इति केवलकल्पः, केवल एव वा केवलकल्पः, तम् । (आभोएमाणे त्ति) इह यावत्करणादिदं दृश्यम्–''पासइ समणं भगवं महावीरं।'' इत्यादि। (कूडागारदिट्ठंते त्ति) एवं चाऽसौ–''से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–सरीरगं गया, सरीरगं अणुप्पविट्ठा? गोयमा ! से जहानामए कूडागारसाला सिया दुहओ ।'' बहिरन्तश्च ''गुत्ता लित्ता ।'' साऽऽवरणत्वेन, गोमयाऽऽद्युपलेपनेन च । उभयतो गुप्तत्वमेवाऽऽह– ''गुत्ता'' बहिःप्राकारावृता । ''गुत्तदुवारा ।'' अन्तर्गुप्तेत्यर्थः । अथवा–गुप्ता गुप्तद्वाराणां केषाञ्चिद् स्थगितत्वात्, केषाञ्चिचास्थगितत्वादिति । ''निवाया ।'' वायोरप्रवेशात् । ''निवायगंभीरा ।'' किलमहद् गृहं निवातं प्रायो न भवतीत्यत आह–''निवातगंभीरा ।'' निर्वातविशालेत्यर्थः । ''तीसे णं कूडागारसालाए अदूरसामंते एत्थ णं महं एगं जणसमूहं चिट्ठइ, तए णं से जणसमूहे एगं महं अब्भवद्दलयं वा वासवद्दलयं वा महावायं वा एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता तं कूडागारसालं अंतो अणुपविसित्ता णं चिट्ठइ । से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वच्चइसरीरगं गया, सरीरगं अणुपविट्ठ त्ति ।'' असाधुदर्शनेनेति, साधूनामदर्शनेन, अत एवापर्युपासनया अनासेवनया, अननुशासनया शिक्षाया अभावेन, अशुश्रूषणया श्रवणेच्छाया अभावेन, सम्यक्त्वपर्यवैः सम्यक्त्वरूपपरिणामविशेषैरेवं मिथ्यात्वं विशेषेण प्रतिपन्नः विप्रतिपन्नः, काष्ठकर्माणि दारुमयपुत्रिकाऽऽदिनिर्मापणानि । एवं सर्वत्र, नवरं पुस्तं वस्त्रं चित्रं लेप्य च प्रसिद्धं, ग्रन्थिमानि यानि सूत्रेण ग्रथ्यन्ते, मालावत् । वेष्टिमानि वेष्टनतो निष्पाद्यन्ते, पुष्पमालालम्बूसकवत् । पूरिमाणि यानि पूरणतो भवन्ति, कनकाऽऽदि प्रतिमावत् । संघातिमानि संघातनिष्पाद्यानि, रथाऽऽदिवत् । उपदर्श्यमानानि लोकैरन्योऽन्यमित्यर्थः । (तालायरकम्मं ति) प्रेक्षणककर्मविशेषः । (तेगिच्छियसालं ति) चिकित्साशालामरोगशालां, वैद्या भिषग्वरा आयुर्वेदपाठकाः, वैद्यपुत्रास्तत्पुत्रा एव, (जाणुय त्ति) ज्ञायकाः, शास्त्रानध्यायिनोऽपि शास्त्रज्ञप्रवृत्तिदर्शनेन रोगस्वरूपतश्चिकित्सावेदिनः। कुशलाः स्ववितकीचिकित्साऽऽदिप्रवीणाः । (वाहियाणं ति) व्याधितानां विशिष्टचित्तपीडावतां, शोकाऽऽदिविप्लुतचित्तानामित्यर्थः । अथवा–विशिष्टा आधिर्यस्मात्स व्याधिः स्थिररोगः कुष्ठाऽऽदिः, तद्वतां ग्लानानां क्षीणहर्षणामशक्तानामित्यर्थः । रोगितानां संजातज्वरकुष्ठाऽऽदिरोगिणाम्, आशुघातिरोगाणां वा (ओसहमित्यादि) औषधमेकद्रव्यरूपं, भेषजं द्रव्यसंयोगरूपम् । अथवा–औषधमेकानेकद्रव्यरूपम्, भेषजं तु पथ्यम् । भक्तं तु भोजनमात्रम्, प्रतिचारककर्म्म प्रतिचारकत्वम् । (अलंकारियसभं ति) नापितकर्मशालाम् । (विसज्जिय इत्यादि) विसृष्टस्वेदजल्लमलपरिश्रमनिद्राक्षुत्पिपाशाः । तत्र जल्लः स्थिरो मालिन्यहेतुः, मलस्तु स एव कठिनीभूत इति । राजगृहविनिर्गतोऽपि च यत्र बहुजनः । (किं ते ति) किं तद्यत्करोति? उच्यते–जलरमणैर्जलक्रीडाभिः, विविधमज्जनैः बहुप्रकारस्नानैः, कदलीनां लतानां च गृहकैः, कुसुमस (प्र) स्तरैः, अनेकशकुनिगणरुतैश्च । कीदृशैः? रिभितैः स्वरघोलनावद्भिर्मधुरैरित्यर्थः । संकुलानि यानि तानि तथा तेषु, पुष्करिणीवनखण्डलक्षणेषु पञ्चसु वस्तुष्विति प्रक्रमः । (संतुयट्टो य त्ति) शयितः (साहेमाणो य त्ति) प्रतिपादयन् । (गमओ त्ति) पूर्वोक्तपाठः । (साया मोक्खं त्ति) सातात् सातवेदनीयोदयात् सौख्यं सुखम् । ''सासे'' इत्यादि श्लोकः प्रतीतार्थः, नवरम् (अजीरए त्ति) आहारापरिणतिः । (दिट्ठीमुद्धसूले ति) दृष्टि शूलं नेत्रशूलं, मूर्द्धशूलं मस्तकशूलम् । (अकारए त्ति) भक्त द्वेषः । ''अच्छिवेयणा'' इत्यादि श्लोकातिरिक्तम् । (कडु त्ति) खर्जूः। (उदरे त्ति) उदरं, जलोदरमित्यर्थः । (सत्थकोसेत्यादि) शस्त्रकोशः क्षुरनखरदनाऽऽदिभाजनं, स हस्ते गतः स्थितो येषां ते तथा । एवं सर्वत्र । नवरं शिलिकाः किराततिक्तकाऽऽदितृणरूपाः, प्रतलपाषाणरूपा वा शस्त्रतीक्ष्णीकरणार्थाः । तथा–गुटिका द्रव्यसंयोगनिष्पादितगोलिकाः । औषधभेषजे तथैव । (उव्वलणेहीत्यादि) उद्वलनानि देहोपलेपनविशेषाः, यानि देहाद् हस्तामर्शनेनापनीयमानानि मलाऽऽदिकमादायोद्वलन्तीति । उद्वर्त्तनानि तान्येव । विशेषस्तु लोकरूढिसमवसेय इति । स्नेहपानानि द्रव्यविशेषपक्वघृताऽऽदिपानानि । वमनानि प्रसिद्धानि । विरेचनान्यधोविरेकाः । स्वेदनानि सप्तधान्येकादिभिः(?) अवदहनानि दम्भनानि । अपस्नानानि स्नेहापनयनहेतुद्रव्यसंस्कृतजलेन स्नानानि अनुवासनाश्चर्मयन्त्रप्रयोगेणापानेन जठरे तैलप्रवेशनानि । वस्तिकर्माणि चर्मवेष्टनप्रयोगेण शिरःप्रभृतीनां स्नेहपूर्णानि, गुदे वा वर्त्त्यादिक्षेपणानि। निरूहा अनुवासना एव, केवलं द्रव्यकृतो विशेषः । शिरावेधा नाडीवेधनानि, रुधिरमोक्षणानीत्यर्थः । तक्षणानि त्वचः क्षुरप्राऽऽदिना तनूकरणानि। प्रक्षणानि ह्रस्वानि त्वचो विदारणानि। शिरोवस्तयः शिरसि बद्धस्य चर्म्मकोशस्य संस्कृततैलांपूरलक्षणः। प्रागुक्तानि वस्तिकर्माणि सामान्यानि, अनुवासनानिरूहशिरोव–स्तयस्तु तद्भेदाः । तर्पणानि स्नेहद्रव्यविशेषैर्बृंहणानि । पुटपाकाः कुष्ठिकानां कणिकावेष्टितानामग्निना पचनानि । अथवा–पुटपाकाः पाकविशेषनिष्पन्ना औषधविशेषाः । छल्लयो रोहिणीप्रभृतयः, वल्लयो गुडूचीप्रभृतयः । कन्दाऽऽदीनि प्रसिद्धानि । एतैरिच्छन्ति एकमपि रोगमुपशमयितुमिति । (निवद्धाउए त्ति) प्रकृतिस्थित्यनुभागबन्धापेक्षया । (बद्धपएसिए त्ति) प्रदेशबन्धापेक्षयेति । (अंतनिग्घाइए ति) निर्घातितान्तः । (सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि) इत्यनेन यद्यपि सर्वग्रहणम्, तथाऽपि तिरश्चां देशविरतिरेव।

इहार्थे गाथे–

''तिरियाणं चारित्तं, निवारियं अह जतो पुणो तेसिं ।
सुव्वइ बहुयाणं पि य, महव्वयारोहणं समए ॥१॥
न महव्वयसब्भावे, विचरणपरिणामसंभवो तेसिं ।
न बहुगुणाणं पि जओ, केवलसंभूइपरिणामो ॥२॥'' इति ।

इह यद्यपि सूत्रे उपनयो नोक्तस्तथाऽप्येवं द्रष्टव्यः–

''संपन्नगुणो वि जओ, सुसाहुसंसग्गिवज्जिओ पायं ।
पावइ गुणपरिहाणिं, दद्दुरजीवो व्व मणियारो ॥१॥'' त्ति ।

अथवा–

''तित्थयरवंदणं, चलिओ भावेण पावए सग्गं।

जह दद्दुरदेवेणं, पत्तं वेमाणियसुरत्तं ॥२॥'' इति।

ज्ञा०१ श्रु० १३ अ० सेडुकब्राह्मणस्य उत्तरभवजीवे, आ०क०। ('सेडुय' शब्देऽत्र द्रष्टव्यः)

दद्दुरवडिंसग न०(दर्दुरावतंसक) दर्दुरदेवाधिष्ठिते विमाने, ज्ञा०१ श्रु० १३ अ०।

दप्प पुं०(दर्प) दृप्–घञ्, अच् वा। निष्कारणेऽनाचारे, व्य०४ उ०। अरुच्या कामभोगे, नि०चू०१ उ०। माने, स० ५१ सम०। धृष्टतायाम्, भ० १२ श०५ उ०। अष्टमे गौणाब्रह्मणि, दर्पो देहदृप्तता, तज्ज्ञानकत्वादस्य दर्प इत्युच्यते। आह च– ''रसा पगामं न निसेवियव्वा, परं रसा दित्तिकरा हवंति। दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं तु पक्खी ॥१॥'' अथवा–दर्पः सौभाग्याऽऽद्यभिमानः, तत्र भवं चेदं, न हि प्रशमाद्दैन्याद्वा पुरुषस्यात्र प्रवृत्तिः सम्भवतीति दर्प एवोच्यते। तदुक्तम्– ''प्रशान्तवाहिचित्तस्य, सम्भवन्त्यखिलाः क्रियाः। मैथुनव्यतिरेकिण्यो, यदि रागो न मैथुने ॥१॥'' प्रश्न०४ संव० द्वार। स्त्रीणां मानमर्दनादुत्पन्ने गर्वे, उत्त०१ अ०। धावनवल्गनमेपनाऽऽदौ, जीत०। पञ्चा०। ध०। ''दप्पो पुण होइ वग्गणाईओ।'' इति। स्था०१० ठा०। ''जो अणेगव्वायामजोग्गं वग्गणाऽऽदिकिरियं करेति णिक्कारणे सो दप्पो।'' नि०चू०१ उ०। प्रमादे, नि०चू०।

''दस दारा दप्पे'' इत्यस्य व्याख्या–

वायामवग्गणाऽऽदी, णिक्कारणधावणं तु तह चेव।

कायाऽपरिणयगहणं, अकप्पो जं वा अगीतेणं ॥४६४॥

वायामो जहा–लगुडिभमाडणं, उवलयकड्ढाणं वग्गणं, मल्लवत्। आदिसद्दग्गहणा बाहुजुद्धकरणं, वीवराडवणं। णिक्कारणेण धावणं खड्डुयप्पयाणं। दप्पो गतो। नि०चू० १ उ०।

दप्पण पुं०(दर्पण) पुरुषप्रतिबिम्बदर्शनाऽऽधारे, वाच०। आदर्शे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। पं०व०। नि०चू०। प्रश्न०। जं०। आ०चू०। रा०।

दप्पणिज्ज त्रि०(दर्पणीय) बलकरे, उत्साहवृद्धिकरे च। स्था०६ ठा०। कल्प०। ज्ञा०। औ०। प्रज्ञा०। जी०।

दप्पपडिसेवणा स्त्री०(दर्पप्रतिसेवना) आगमप्रतिषिद्धप्राणातिपाताऽऽद्यासेवायाम्, स्था०१० ठा०। नि०चू०। (विस्तरस्तु 'पडिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते)

दप्पिय त्रि०(दर्पित) दृप्ते, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। दर्पाद्विराधका भवन्ति ज्ञानाऽऽदीनाम्। नि०चू०१उ०। दर्पयति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

दप्पुल्ल त्रि०(दर्पवत्) **''आल्विल्लोल्लाल–वन्त–मन्तेतोर–मणा मतोः''** ॥८।२।१५९॥ इति मतोः स्थाने उल्लाऽऽदेशः। दृप्ते, प्रा०२ पाद।

दब्भ पुं०(दर्भ) 'दृभ' ग्रन्थे। घञ्। वाच०। समूले कुशे, समूला दर्भाः, अमूलाः कुशाः। भ०८ श०६उ०। आ०म०। आचा०। नि०। विपा०। भ०। अन्त०। प्रज्ञा०। दर्भरग्रभूतैः कुशैर्मूलभूतैर्जात्या दर्भकुशभेद इत्यन्ये। ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। ''कुशाः काशाः वल्वजाश्च, तथाऽन्ये तथाऽन्ये तृणरोमशाः। मौञ्जाश्च शाद्वलाश्चैव, षड् दर्भाः परिकीर्तिताः ॥१॥'' इत्युक्तेषु काशाऽऽदिषु षट्सु तृणेषु, वाच०।

दब्भपुप्फ पुं०(दर्भपुष्प) दर्वीकरसर्पविशेषे, प्रज्ञा०१ पद। प्रश्न०।

दब्भय पुं०(दब्भक) समूले कुशे, भ०१८ श०१उ०।

दब्भवण न०(दर्भवन) दर्भकानने, ''जातणाहिं किं ते असिवणं दब्भवणं ? दर्भवनं प्रतीतं, दर्भपत्राणि छेदकानि, तदग्राणि च भेदकानि भवन्तीति तद्घातनाहेतुत्वेनोक्तम्। प्रश्न०१ आश्र०द्वार।

दब्भवत्तिय पुं०न०(दर्भवर्तित) दर्भिणः शरीरविकर्तने, दशा०६ अ०।

दब्भविज्जा स्त्री०(दर्भविद्या) रोगप्रतीकरणविद्याभेदे, अत्था दर्भा दर्भविषया भवति विद्या, यथा दर्भैरपमृज्यमान आतुरः प्रगुणो भवति। व्य०५ उ०।

दब्भियायण पुं०(दाभ्यायण) दर्भर्षिगोत्रापत्ये, ''चित्ता णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते? दब्भियायणसगोत्ते पण्णत्ते।'' सू०प्र०१० पाहु०। जं०। चं०प्र०।

दम पुं०(दम) दम–घञ्। इन्द्रियनिग्रहे, प्रश्न०४ संव० द्वार। स०। *इन्द्रियोपशमे, नं०। आचा०। उत्त०। दण्डे, बाह्येन्द्रियाणां ध्येय–*विषयव्यतिरिक्तेभ्यो निवर्त्तने, ''निग्रहो बाह्यवृत्तीनां, दम इत्यभिधीयते।'' इत्युक्ते बाह्येन्द्रियव्यापारशैथिल्ये विकारहेतुसन्निधानेऽपि मनसः स्थैर्ये, ''कुत्सितात्कर्मणो विप्र ! यच्च चित्तनिवारणम्। स कीर्तितो दमः,'' इत्युक्ते कुकर्मभ्यो मनसो निवारणे, कर्दमे, दमने च। वाच०।

दमअ पुं०(देशी) दरिद्रे, दे०ना० ५ वर्ग ३४ गाथा।

दडग पुं०(दमक) हस्त्यश्वाऽऽदीनां प्रथमं विनयग्राहके, नि० चू०६ उ०।

***द्रमक** पुं०। दुर्भगे, रङ्के, व्य०३ उ०। दरिद्रे, नि०चू० १५ उ०। आ०म०। आ०क०। बृ०। ज्ञा०। विशे०। आव०। द्रमको नाम दरिद्रो भूत्वा यः प्रव्रजति। बृ०१ उ०।

दमगभत्त न०(द्रमकभक्त) रङ्केभ्यो दीयमाने भक्ते, नि०चू० ६ उ०।

दमघोस पुं०(दमघोष) शिशुपालपितरि, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। वसुदेवस्वसुः पत्यौ, सूत्र०१ श्रु० ३अ०१उ०।

दमण न०(दमन) उपतापे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। पशूनां शिक्षाग्रहणे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

दमणग पुं०(दमनक) पुष्पजातिविशेषे 'दवना' इतिख्याते, प्रश्न०५ संव०द्वार। रा०। गन्धद्रव्यविशेषे च। आचा०१ श्रु०१ अ०५ उ०। प्रज्ञा०। ज्ञा०। आ०म०। ''दमणगपुडाण वा।'' जं०१ वक्ष०। रा०।

दमणा स्त्री०(दमना) गन्धद्रव्यविशेषे, आ०म०१अ०१ खण्ड।

दमदंत पुं०(दमदन्त) स्वनामख्याते हस्तिशीर्षकपुराधिपतौ, येन हस्तिनागपुरं रुद्धम्। ग०।

अथ दमदन्तसंबन्धो यथा–''अत्थि तिबुहपुरं पि व विबुहजण–समाइण्णं उवहणं व पुन्नागपडिपुन्नपायारोवरि दिप्पंतरयकविसीसं हत्थिसीसं नाम नयरं। '' ''जत्थ धुवं वणियाणं, ववहारपराण अइस–मिद्धाणं। वणियारयाण लीलं, धणओ वि न पावए कह वि ॥१॥'' तत्थ समरचत्तरयंरिवारपरियंतिभग्गदंतो दमदंतो नाम राया। ''कित्ती रणहयरिउवय–संभूया जस्स चंदकरसरिसा। मज्झं करेइ दुज्जण–जणमणदहणं हुयासु व्व ॥१॥'' अन्नया सो दमदंतराया तिखंडभरहेसरं दुद्धरवैरिरायपडिवासुदेवं सेवेउं रायगिहं नगरं गओ। तम्मि समए हत्थिणाउराओ नीहरिऊण सपरियणेहिं पंडवेहिं तस्स देसो छलं लहिय लूसिओ। इमं सरूवं दमदंतरण्णा रायगि–हाओ वलिएण सुणिय परमं पओसमुव्वहंतेण नासियदिन्नेणं निय–सिन्नेण सह हत्थिणाउरं समंतओ, जंबूदीवं पि व लवणसायरेणं, वेढियं। तओ सो दूयमुहेणं पंडवे विण्णवेइ–अम्ह देसो तुम्हेहिं धीरजणगरहणिज्जेण छलेण उवड्ढओ, न बलेण। जओ– ''छलमुचियं कीवाणं, कीवाण वधं णियविरहिए ठाणे। बलवंताण नराणं, न एस मग्गो सुवंसाणं ॥१॥'' ता जइ तुम्हाण पयडं भुयदंडबलमत्थि, तो पुराओ निग्गंतूण दमपरक्कमपईवसिहाए सलभलीलमुव्वहह। तओ एवंविहं दूण तज्जिया अवि पंडवा भयभीया न नीहरिया सनयराओ जुज्झिउं। तओ बहुदिणरोहणनिव्विण्णो दमदंतो हत्थिसीसपुरं गओ एवं चिंतिऊण– ''खत्तियकुलब्भवाणं, संमुहपत्ताण सिंहपोय व्व। जुज्झं काउं उचियं, अन्नह अजसो फुरइ लोए ॥१॥'' इओ य नाएणं रज्जं पालयंतो दमदंतो कइवयदिणेहिं वइक्कंतेहिं सिरिनेमिनाहसीससिरिधम्मघोससूरिवयणपहसंभूयपभूयसंवेगरसरंगंततरंगीए धम्मदेसणाए ण्हाऊण विगयपावसंतावो रज्जमकज्जं, भंभारे कारागारे, पेयसीओ रक्खसीओ, विसए विसं, चउरंगसाहणं दुग्गइसाहणं च मन्नंतो संवेगं गओ संसारसुक्खमुज्झिय वज्जियसव्वसावज्जकज्जमणवज्जं पव्वज्जं पडिवज्जइ। तओ रायरिसी कमेण गीयत्थो होतुं विहरंतो पंडवपालिए हत्थिणाउरे गोउरदुआरे मेरु व्व निप्पकंपो पडिमं ठिओ। तम्मि समए रायवाडियाए निग्गच्छंतेहिं पंचहिं पंडवेहिं पलोइय वाहणेहिं उत्तरिय नमंसिओ भावसारं मुणीसरो। अहो! दुक्करकारओ एस रायरिसी इय अभिनंदिय पुरओ पत्थिएसु तेसु तत्थ आगओ सपरियणो पयईए दुज्जणो दुज्जोहणो, तं मुणिंदं पिक्खिय अणेण अम्हाणं पुव्वपुरिसागयं किंतिसव्वस्सामवहरियं, पुव्ववइरमणुसरंतो माउलिंगेण तामेइ, तब्भावं मुणंतेण तप्परियणेण पाहाणखंडेहिं आहणिऊण लिट्ठ दुरासी कओ, रायवाडीए बलिएण जुहिट्ठिरन्ना तत्थ तं मुणिम–पिच्छंतेण तद्झाणे लिट्ठ दुरासिं पलोयंतेण नियपरियणो पुट्ठो– कहिं विहरिओ रा महप्पा धम्मकप्पद् दुकप्पो? तेणावि दुज्जोहणवुत्तंतो तप्पुरओ वुत्तो। तं सुणिय अईव अधिइं कुणंतो पायक्केहिं लिट्ठ दुरासिं दूरे कारावियं अंगसंवाहगेहिंतो अंगं सज्जं निम्मावियं सयं तं मुणिवरं खामिय पत्तो पारायं जुहिट्ठिरनरवरो। दमदंतो बिसंवेग–वेगेण एवं भावेइ–''एस मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ। सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥१॥'' तओ स कोरवेसु अवकारकारिसु, पंडवेसु य उवयारपरेसु समचित्तवित्तिं धारेइ। अह जुहिट्ठिरराओ सेवाऽवसराऽऽगयं दुज्जोहणं एवं निब्भत्थेइ–अरे कुट्ठार! अंगीकयमायंगायार! इहभवपरभवदुगंछणिज्जं मुणिवरावमाणणं किं तए कयं? तइया किं तुमं कत्थ वि गओ आसि, किं वा तस्स परक्कमं गीयमाणं न तए सुयं, जइया तेन वेढियं हुत्था हत्थिणाउरं? अणेण य रायरिसिणा पुव्विं पंचावि वयं जिया, संपइ पुण पंच वि इंदिया। धरिओ य दुद्धरो महव्वयभारो, अतो को तं निज्जिणिउं सक्कइ, तओ सो वि रायरिसी तं दुस्सहं परिसहं सहंते संवेगावेसेण झाणंतरियं पडिवज्जिय गुणसेणिमारुहिय संपत्तकेवलनाणो सिवपुरं गओ। ''वुत्तंतमेयं दमदंतसाहुणो, चित्ते निसित्ता सममित्तसत्तुणो। संवेगरंगंगणनट्टसीलया, हवेह सिद्धिं परिणेह लीलया ॥१॥'' ॥६७॥

ग०२अधि० आ०क० आ०चू० आ०म०।

दमदमाय धा०(दमदमाय) नाम। आडम्बरकरणे, अदमद् दमद्भवति। ''अव्यक्तानुकरणादनेकस्वरात् कृभ्वस्तिना अनितौ द्विश्च'' ॥७।२। १४५॥(हैम०) इति डाच् प्रत्ययः, दमवद् द्विर्वचनं च। ''डाच्यादौ'' ॥७।२।१४६॥ (हैम०) इति लुक्। ''डित्यन्त्यस्वराऽऽदेः'' ॥२।१।११४॥ (हैम०) इत्यलुक्। ''माच् लोहिताऽऽदिभ्यः षित्'' ॥३।४।३०॥ (हैम०) इति क्यच् प्रत्ययः। ''क्यङोर्यलुक्'' ॥८।३।१३८॥ इतिक्यजन्तसम्बन्धिनो यस्य लुक्। 'दमदमाइ।' 'दमदमाअइ।' दमदमायति। प्रा०३ पाद।

दमय पुं०(द्रमक) कर्मकरे, बृ०१उ०।

दमयंती स्त्री०(दमयन्ती) भीमपुत्र्यां नलनृपमहिष्यां, ती०। (कथाऽन्यत्र)

दमसायर पुं०(दमसागर) दम इन्द्रियदमोऽर्थात् चारित्रम्। दम एव दुस्तरत्वात् सागर इव दमसागरः। तरितुमशक्यत्वात् सागरकल्पे दमे, उत्त०१६ अ०।

दमिड पुं०(द्रविड) देशभेदे, तद्देशस्थे च। वाच०। नं०। प्रव०।

दमिल पुं०(द्रमिल) अनार्यक्षेत्रे, तज्ञे मनुष्ये च। प्रज्ञा०१ पद। नि०चू०। सूत्र०। प्रव०।

दमिला स्त्री०(द्रमिला) अनार्यदेशोत्पन्नायां योषिति, भ०६ श० ३३उ०।

दमी पुं०(दमिन्) दमो विद्यते येषां ते दमिनः। उपशमवत्सुसाधुषु, उत्त० १६ अ०। जितेन्द्रिये, उत्त०२२ अ०। उद्वृत्तदमनशीले च। उत्त०१६ अ०।

दमीसर पुं०(दमीश्वर) दमो विद्यते येषां ते दमिनो जितेन्द्रियाः, तेषामीश्वरा दमीश्वरः। उपशमवतां साधूनामैश्वर्यधारिणि, उत्त० १६ अ०।

दमेयव्व त्रि०(दमितव्य) वशीकर्त्तव्ये, उत्त०१ अ०।

दम्म त्रि०(दम्य) दमनयोग्ये, आचा०२ श्रु०१ चू०४ अ०२ उ०। दश०। आ०क०।

द्रम्म पुं०। पणषोडशके, वाच०।

दय न०(देशी) जले, शोके, दे०ना०५ वर्ग ३३ गाथा।

दयपत्त त्रि०(दयाप्राप्त) प्राप्तकरुणागुणे, औ०। दयाकारिणि च। स्था०६ ठा०। रा०।

दया स्त्री०(दया) दय–भिदा०–अङ्। ''यत्नादपि परक्लेशं, हर्त्तुं या हृदि जायते। इच्छा भूमिसुरश्रेष्ठ! सा दया परिकी–

र्तिता ॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे इच्छाभेदे, वाच०। कृपायाम्, हा०२४ अष्ट०। आचा०। स०। सूत्र०। अनुकम्पायाम्, दश०६अ०१उ०। आव०। प्रश्न०। जीवरक्षायाम्, दश०१ अ०। द्रव्यभावस्वपर-प्राणरक्षणायाम्. अष्ट०२८ अष्ट०। दुःखितजन्तुदुःखत्राणाभिलाषे, ध०१ अधि०। **''न तद्दानं न तद्ध्यानं, न तज्ज्ञानं न तत्तपः। न सा दीक्षा न सा भिक्षा,दया यत्र न विद्यते ॥१॥''** संथा०।

दयाइअ न०(देशी) रक्षिते, दे०ना० ५ वर्ग ३५ गाथा।

दयालु त्रि०(दयालु) दय-आलुच्। कृपायुक्ते, वाच०।

दयावत् त्रि०। **''आल्विल्लोल्लाल-वन्तमन्तेत्तेर-मणा मतोः'' ॥८।२।१५६॥** इति मतोः स्थाने आलु इत्यादेशः। प्रा०२ पाद। सघृणे, दर्श०२ तत्त्व। सत्त्वानुकम्पके, ध० २०। दुःखितजन्तुत्राणाभिलाषुके, प्रव० २३६ द्वार।

संप्रति दशमं गुणं प्रचिकटयिषुराह-

मूलं धम्मस्स दया, तयणुगयं सव्वमेवऽणुट्ठाणं।
सिद्धं जिणिंदसमए, मग्गिज्जइ तेणिह दयालू ॥१७॥

मूलनाद्यं कारणं धर्मस्योक्तनिरुक्तस्य दया प्राणिरक्षा। यदुक्तं श्रीआचाराङ्गसूत्रे-''से बेमि जे अईया, जे पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरहंता भगवेता ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पन्नवेंति, एवं परूवयंति-सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न अज्झावेयव्वा, न परितावेयव्वा, न उवद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे निइए सासए समिच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइए।'' इत्यादि। यतोऽस्या एव रक्षार्थं शेषव्रतानि। तथा चाऽवाचि-''अहिंसैव मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी। अस्याः संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्याऽऽदिपालनम् ॥१॥'' इति। अत एव तदनुगतं जीवदयासहभावि, सर्वमेव विहाराऽऽहारतपोवैयावृत्याऽऽदि सदनुष्ठानं, सिद्धं प्रतीतं, जिनेन्द्रसमये पारगतगदितसिद्धान्ते। तथा चोक्तं श्रीशय्यंभवसूरिपादैः-''जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए। जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥१॥'' (दश०) इति। अन्यैरप्युक्तम्-**''न सा दीक्षा न सा भिक्षा, न तद्दानं न तत्तपः। न तद् ज्ञानं न तद् ध्यानं, दया यत्र न विद्यते ॥१॥''** इति। मृग्यते अन्विष्यते तेन कारणेनेह धर्माधिकारे दयालुदेयाशीलः। स हि किल स्वल्पस्याऽपि जीववधस्य यशोधरजीवसुरेन्द्रदत्त-महाराजस्येव दारुणविपाकमवबुध्यमानो न जीववधे प्रवर्त्तते इति ॥१७॥ध०२०।

दयावण पुं०(देशी) दीने, दे०ना० ५ वर्ग ३५ गाथा।

दयासूरि पुं०(दयासूरि) द्रव्यानुयोगार्थोपदेशके तपागच्छप्रधाने स्वनामख्याते सूरौ, द्रव्या०१५ अध्या०।

दर अव्य०(दर) ईषदर्थे, अर्द्धार्थे च। **''दराद्धाऽल्पे'' ॥८।२।२१५॥** दर इत्यव्ययमर्द्धार्थे ईषदर्थे च प्रयोक्तव्यम्। ''दरविअसियं।'' अर्द्धनेषद्वा विकसितमित्यर्थः। प्रा०२ पाद। प्रव०। विशे०। न्यूनतायाम्, दरा द्विविधाः। तद्यथा-पेट्टदराः, धान्यभाजनदराश्च। पेट्टभुदरं,तद्रूपा दराः पेट्टदराः। धान्यभाजनानि कटपल्यादयः, तान्येव दरा धान्यभाजनदराः। बृ०१उ०। नि०चू०। अर्द्धे, दे०ना० ५ वर्ग ३३ गाथा।

दरंदर पुं०(देशी) उल्लासे, दे०ना० ५ वर्ग ३७ गाथा।

दरजिमिअ त्रि०(दरजिमित) अर्द्धभुक्ते, बृ०३ उ०।

दरदिण्ण त्रि०(दरदत्त) ईषद्वितीर्णे, पञ्चा० १० विव०।

दरपट्ठावित त्रि०(दरप्रस्थापित) अर्द्धप्रस्थापिते, नि०चू०१६ उ०।

दरमत्त पुं०(देशी) बलात्कारे, दे०ना० ५ वर्ग ३७ गाथा।

दरवंदिय न०(दरवन्दित) द्वात्रिंशद्वन्दनकदोषे, ''देसीकहवित्तंते, कहेति दरवंदिए कुंचो।'' देशीकथावृत्तान्तान् यत्र करोति तद्धि परिकुञ्चितम्। बृ०३ उ०।

दरविंदर पुं०(देशी) दीर्घे, विरले च। दे०ना०५ वर्ग ५२ गाथा।

दरसण न०(दर्शन) मते, यथा-''आगारमावसंता वा, अरण्णे वा वि एव्वया। इमं दरसणमावन्ना, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥१॥'' अनु०।

दरसणिज्ज त्रि०(दर्शनीय) द्रष्टुं योग्ये, चं०प्र० १८ पाहु०। पश्यचक्षुर्न श्राम्यति तस्मिंश्च। भ०२ श०५ उ०।

दरहिंडिय त्रि०(दरहिण्डित) अर्द्धपर्यटिते, बृ०४ उ०।

दरिअ पुं०(देशी) दृप्ते, दे०ना० ५ वर्ग ३५ गाथा।

दरिद्द त्रि०(दरिद्र) धनविहीने, स्था०४ ठा०३उ०। अनीश्वरे, दुस्थे च। स्था०३ ठा०१उ०।

दरिद्दकुल न०(दरिद्रकुल) अनीश्वरे, स्था०८ ठा०। निर्द्धनकुले च। कल्प० २क्षण।

दरिद्दथेर पुं०(दरिद्रस्थविर) कृताङ्गलानगरीवास्तव्ये समहिले साऽऽरम्भे स्वनामख्याते स्थविरे, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

दरिद्दीहूय त्रि०(दरिद्रीभूत) अदरिद्रे दरिद्रतां गते, स्था०३ ठा०१उ०।

दरिय त्रि०(दृप्त) दृप-क्तः। **''अरिर्दृप्ते'' ॥८।१।१४४॥** दृप्तशब्दे ऋतोऽरिरादेशो भवति। 'दरिओ'। प्राह०१ पाद। **''दृप्ते'' ॥८।२।६६॥** दृप्तशब्दे शेषस्य द्वित्वं न भवति। ''भम धम्मिय! वीसत्थो, सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण। गोदाणईकच्छकुंजवासिणा दरियसीहेण ॥१॥'' (इति गाथासप्तशत्याम्) प्रा०२ पाद। गर्विते, वाच०। औ०। दर्पाऽऽध्माते, रा०। प्रश्न०। ''दरियनागदप्पमहणा।'' दृप्तनागदर्पमथना। प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

दरियमह पुं०(दृप्तमह) विशिष्टे काले दर्पात्पूजायाम्, आचा० २ श्रु० १ अ०१ चू०१ उ०।

दरिस धा०दृश्(ष्) चाक्षुषज्ञाने, भ्या०-पर०-सक०-अनिट्। वाच०। **''वृषाऽऽदीनामरिः'' ॥८।४।२३५॥** इति दृपेररिः। 'दरिसई।' प्रा०४ पाद। पश्यति। अदर्शत्, अद्राक्षीत्। वाच०। ''दर्श दर्श सुरूपां स्त्रीम्।'' आ०क०।

दरिसण न०(दर्शन) **''शर्षतप्तवज्रे वा'' ॥८।२।१०५॥** इति संयुक्तस्यान्त्यव्यजनात्पूर्वं इकारो वा भवति। 'दरिसणं।' 'दंसणं।' प्रा०२ पाद। सम्यक्त्वे, आ०क०। आतु०। आगमे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२उ०। संवेदने, स०१० सम०। प्रकाशने, स०५ अङ्ग। आलोकने, रा०। वाक्ये च। स० ६ अङ्ग।

दरिसणरइय त्रि०(दर्शनरतिक) दर्शने आलोकने रतिर्यस्मिन् स दर्शनरतिकः। दिदृक्षणीये, रा०।

दरिसणावरणिज्ज न०(दर्शनाऽऽवरणीय) दर्शनं सामान्यार्थबोध-रूपमावृणोतीति दर्शनाऽऽवरणीयम्। दर्शनाऽऽवरणकर्मणि, स्था०। उक्तं च-''दंसणसीले जीवे, दंसणथायं करेइ जं कम्मं। तं पडिहारसमाणं, दंसणवरणं भवे जीवे ॥१॥'' इति। स्था० २ ठा० ४ उ०। (अस्य सर्वा वक्तव्यता 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २५६ पृष्ठे द्रष्टव्या)

दरिसणिज्ज त्रि०(दर्शनीय) दर्शनाय चक्षुर्व्यापाराय हितं दर्शनीयम्। औ०। यं पश्यंश्चक्षुषा श्रमं न गच्छति तस्मिन्, स०। ज्ञा०। नि०। विपा०। दर्शनयोग्ये, जं०१ वक्ष०। रा०। प्रज्ञा०। रूपातिशये, आ० म० १अ०१खण्ड। आचा०। रा०। सू०प्र०। औ०। शोभने, सूत्र०२ श्रु० १अ०।

दरिसयंत त्रि०(दर्शयत्) प्रकटयति, स०२ अङ्ग।

दरिसावण न०(दर्शन) कृपायां प्रेरणे, आव० १ अ०।

दरी स्त्री०(दरी) पर्वतकन्दराविशेषे, भ०३ श० २ उ०। ज्ञा०। जं०। आचा०। आव०। शृगालाऽऽद्युत्कीर्णभूमिविशेषेषु, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। भ०। मूषिकाऽऽदिकृतायां लघ्व्यां खड्डायाम्, जं०२ वक्ष०।

दरुम्मिल्ल न०(देशी) घने, दे०ना० ५ वर्ग ३७ गाथा।

दल धा०(दद) दाने, ''दस्यडः, डस्य लः।'' 'दलइ।' सूत्र०१ श्रु०३अ०३उ०। आचा०। अंग०।

***दल** न०। दल-अच्। पत्रे, विशे०। भागे, पं०सं०५ द्वार। उपादान-करणे, पञ्चा०७ विव०। ध०। जिनभवननिष्पत्त्यङ्गके, दर्श० १ तत्त्व। शस्त्रच्छेदे, अपकृष्टद्रव्ये, तमालपत्रे, उन्नतायाम्, पङ्के, अर्द्धे च। वाच०। अण्डे, विशे०। उत्सेधवद्वस्तुनि च। पुं०। वाच०।

दलयित्ता अव्य०(दत्त्वा) दानं कृत्वेत्यर्थे, आचा०२ श्रु०३ चू०।

दलंती स्त्री०(दलयती) घरट्टेन गोधूमाऽऽदिचूर्णयन्त्याम्, पिं०।

दलयमाण त्रि०(ददत्) दानं कुर्वति, स्था०३ ठा०१ उ०। ''हत्थतालं दलयमाणे।'' हस्तेन ताडनं हस्ततालः, तं ''दलयमाणे'' ददद् यष्टिमुष्टिलकुटाऽऽदिभिर्मरणाऽऽदिनिरपेक्ष आत्मनः परस्य वा प्रहरन्निति भावः। स्था०३ ठा०४ उ०। ''अत्थादाणं दलमाणो त्ति।'' अर्थादानं द्रव्योपादानकारण-मष्टाङ्गनिमित्तं ददत् प्रयुञ्जान इत्यर्थः। स्था०३ ठा०४ उ०।

दलागणि पुं०(दलाग्नि) दलानि पत्राणि तेषामग्निरिस्तद्दहनप्रवृत्तो वह्निः तस्मिन्, स्था०८ ठा०।

दलिअ न०(देशी) निकूणिताक्षे, दे०ना० ५ वर्ग ५२ गाथा।

दलिद्द पुं०(दरिद्र) दरिद्रा-अच् आलोपः। वाच०। **'हरिद्राऽऽदौ लः' ॥८।१।२५४॥** इत्यसंयुक्तस्य रस्य लः। प्रा० १ पाद। निर्द्धने, दीने च। वाच०।

दलिय न०(दलिक) यां प्रकृतिं बध्नाति जीवस्तदनुभावेन प्रकृ-त्यन्तरस्थं दलिकम्। तस्मिन्, स्था०४ ठा०२उ०।पं०सं०। पर-माण्वात्मके, पं०सं०५ द्वार। वस्तु दलिकं द्रव्यं, योग्यमर्हमित्य-नर्थान्तरम्। आ०म०१ अ०२खण्ड। विशे०।

दव पुं०(दव) दुनोति-दु-अच्। वने, वाच०। वनानले च। दर्श०१ तत्त्व। प्रव०। उत्त०। भावे-अप्। उपतापे, वाच०।

द्रव पुं०। द्रु-अप्। रसे, वेगे, गतौ, पलायने, परिहासे, वाच०। जले, पिं०। विकृतिविशेषे, आव०६ अ०। सप्तदशविधे संयमे च, कर्म-काठिन्यद्रवणकारित्वाद् विलयहेतुत्वाच्च। आचा०१ श्रु०१ अ०७ उ०। सूत्र०। पानके, बृ०१ उ०। यच्च सौवीरं द्रवाऽऽदिकमलेपकृतं, यच्च दुग्धतैलवसाद्रवघृताऽऽदिकं लेपकृतं तदुभयमपि द्रवमित्युच्यते। बृ०५ उ०। नि०चू०। गद्वदे, दे०ना० ५ वर्ग ३३ गाथा।

दवकर त्रि०(द्रवकर) परिहासकारिणि, भ०६ श०३३ उ०। औ०।

दवकारी स्त्री०(द्रवकारी) परिहासकारिण्याम्, भ०११ श०११ उ०।

दवगंधित्त न०(द्रवगन्धित्व) द्रवस्य गूथस्य कुथितनक्राऽऽदेरिव गन्धो यस्यास्ति। तस्मिन्, ध०१ अधि०।

दवगुड पुं०(द्रवगुड) अपिण्डीकृते आर्द्रगुडे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार। पं०व०।

दवग्गि पुं०द(दा)वाग्नि दवस्य वनस्य अग्निः दवाग्निः। वाच०। **''बाऽव्ययोत्खाताऽऽदावदातः'' ॥८।१।६७॥** इति आदेराकारस्य अद्वा। ''दवग्गी। दावग्गी।'' प्रा०१ पाद। वनोद्भवेऽग्नौ, औ०। प्रश्न०। उत्त०। ''दवग्गि-जालाभिहए।'' जी० १प्रति०। ''दवग्गिणा'' दवाग्निना वह्निज्वालनेन निर्दयं यथा भवति। प्रश्न०१ आश्र०द्वार।

दवग्गिकम्म न०(दवाग्निकर्म) क्षेत्ररक्षानिमित्तं वने दवदाने, यथो-त्तरापथे दग्धे हि तत्र तरुणं तृणमुत्तिष्ठति। पञ्चा० १ विव०।

दवग्गिदाण न०(दवाग्निदान) भूमिषु तरुणतृणरोहणार्थं वने क्रियमाणे दवकर्मणि, ध०२ अधि०।

दवग्गिदावणया स्त्री०(दवाग्निदापनता) दवाग्नेर्दवस्य दापनं दाने प्रयोजकत्वमुपलक्षणत्वाद्दानं च दवाग्निदापनं, तदेव प्राकृतत्वात् ''दवग्गिदावणया।'' कर्मत उपभोगपरिभोगव्रतातिचाररूपाणां पञ्चदश-कर्मादानानामन्यतमे, (भ०८श०५उ०। श्रा०) क्षेत्राऽऽदिशोधनिमित्तं वनाग्नेर्वितरणे, उत्त०१ अ०। आव०।

दवण न०(दवन) याने, सूत्र०१ श्रु०१ अ०।

दवणमग्ग पुं०(दवनमार्ग) दवनमिति यानं, तन्मार्गो दवनमार्गः। तस्मिन्, सूत्र०१ श्रु०१ अ०।

ददप्पसील त्रि०(द्रुतदर्पशील) असमीक्ष्य कारिणि, पं०व० ४ द्वार।

मासइ दुअं दुअं गच्छए अ दरितो व गोविसो सरए।
सव्वद्दुयदुयकारी, फुड्डइ व ठिओ वि दप्पेणं ॥४६६॥

द्रुतं द्रुतम् असमीक्ष्य संभ्रमाऽऽवेशवशाद्यो भाषते, यश्च द्रुतं द्रुतं गच्छति। क इवेत्याह-शरदि दर्पित इव दर्पोद्धुर इव गोवृषो बलीवर्दविशेषः। शरदि हि प्रचुरचारिघ्राणतया, मक्षिकाऽऽद्युपद्रवरहिततया च गोवृषो मदोद्रेकादुच्छृङ्खलः पर्यटतीत्येवमसावपि निरङ्कुशस्त्वरितं त्वरितं गच्छति, यश्च सर्वद्रुतद्रुतकारी प्रत्युपेक्षणाऽऽदीनां सर्वासामपि क्रिया-णामतित्वरितकारी, यश्च दर्पेण तीव्रोद्रेकवशात् स्फुटतीव स्थितोऽपि सन् गमनाऽऽदिकां क्रियामकुर्वन्नपि इत्यर्थः। एष द्रुतदर्पशील उच्यते। बृ०१ उ०।

दवदव अव्य०(द्रुतद्रुतम्) त्वरिते, दश०१ अ०। नि०चू०। बृ०।

दवदवचारि(ण्) पुं०(द्रुतद्रुतचारिन्) द्रुतगमनशीले, दशा० १ अ०। आव०। स०। आ०चू०। ('असमाहिट्ठाण' शब्दे प्रथमभागे ८४२ पृष्ठे प्रतिपादितमस्य स्वरूपम्)

दवदाण न०(दवदान) दवस्य दवाग्नेस्तृणाऽऽदिदहननिमित्तं दानं वितरणं दवदानम्। प्रव०६ द्वार। अरण्ये अग्निप्रज्वालने, ध०२ अधि०। तच्च द्विधा भवति–व्यसनात् फलनिरपेक्षप्रवृत्तिरूपात्, फलापेक्षप्रवृत्तिरूपाद्वा। यथा वनेचरा एवमेव तृणाऽऽदावग्नि प्रज्वालयन्ति, पुण्यबुद्ध्या वा, यथा–मे यदामरणसमयस्तदा इयन्तो मम श्रेयोऽर्थं धर्मदीपोत्सवाः करणीयाः। अथवा–जीर्णतृणदाहे सति नवतृणाङ्कुरोद्भेदाद् गावश्चरन्तीति क्षेत्रे वा सस्यसंपत्ति-निमित्तमग्निं ज्वालयन्तीति। यदुक्तम्– ''वणदवदाणमरन्ने, दवग्गिवाणं तु जीवबहजणये।'' प्रव०६ द्वार। ध०। सूत्र०।

दवर पुं०(देशी) तन्तौ, दे०ना० ५ वर्ग ३५ गाथा।

दवरग पुं०(दवरक) रज्जौ, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। आ०म०। रा०। सूत्र०। दोरके, आ०म०१ अ०२खण्ड।

दवरिया स्त्री०(दवरिका) पलाशाऽऽदित्वग् जनितायां रज्जौ, वलनाऽऽदिसंस्कृतो विशिष्टावस्थां प्राप्तः सन् वल्कलो दवरिकेत्युच्यते। विशे०। सू०प्र०।

दवविरोहे पुं०(द्रवविरोध) काञ्जिकेन सह विरोधे, ओघ०।

दवसील त्रि०(द्रवशील) दर्पद्रुतगमनभाषणाऽऽदौ, स्था०४ ठा०४ उ०। बृ०। (अनुपदमेव 'दवदप्पसील' शब्दे २४५८ पृष्ठे व्याख्यातं चैतत्)

दवहुत्त न०(देशी) ग्रीष्ममुखे, दे०ना० ५ वर्ग ३६ गाथा।

दवावण न०(दापन) दानक्रियायां प्रेरणे, नि०चू०२उ०।

दवावेमाण त्रि०(दापयत्) दानं कारयति, स्था०४ठा०२उ०।

दविड पुं०(द्रविम) अनार्य्यदेशभेदे, तज्ञे मनुष्ये च। प्रश्न०१ आश्र० द्वार। शत्रुञ्जये दशभिः कोटिभिः साकं सिद्धिं गते नृपे, ती०१ कल्प। द्रविडदेशोत्पन्नायां योषिति च। तत्र ङीष्। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

दविण न०(द्रविण) द्रु–इनन्। धने, व्य०१ उ०। षो०। स्था०। काञ्चने, पराक्रमे, बले च। वाच०।

दविणसंहरणाइ पुं०(द्रविणसंहरणाऽऽदि) पितुर्वेश्मनि निक्षेपाऽऽदौ, कल्प०७ क्षण।

दविय पुं०(द्रविक) द्रवः संयमः सप्तदशविधानः कर्मकाठिन्यद्रव–कारित्वात् विलयहेतुत्वात्। आचा०१ श्रु०१ अ०७ उ०। कर्मग्रन्थि–द्रावणो द्रवः संयमः, स विद्यते यस्याऽसौ द्रविकः। सूत्र०२ श्रु०२ अ०। आचा०। सम्यक् संयमोत्थानेनोत्थिते, सूत्र०१ श्रु०२ अ०१उ०। तृणाऽऽदिद्रव्यसमुदाये, भ०१ श०८उ०। सूत्र०।

***द्रव्य** न०(द्रवति) गच्छति तांस्तान् ज्ञानाऽऽदिप्रकारानिति द्रव्यम्। दश०२ अ०। तत्तद् गुणानां भाजने, कल्प०५ क्षण। रागद्वेषरहिते, दश०१० अ०। आचा०। सूत्र०। भव्ये मुक्ति गमनयोग्ये, सूत्र०१ श्रु०२ अ०१उ०। आचा०। ''दविए बंधणं सुक्के, सव्वओ छिण्णबंधणे।'' द्रव्यं भव्यो मुक्तिगमनयोग्यः, ''द्रव्यं च भव्यः'' इति वचनात्। रागद्वेषविरहाद्वा द्रव्यभूतोऽकषायीत्यर्थः। यदि वा–वीतराग इति, वीतरागोऽल्पकषाय इत्यर्थः। तथा चोक्तम्–''किं सक्का वो जुंजे, सरागधम्मम्मि कोइ अकसायी। संते वि जो कसाए, निगिण्हई सो वि तत्तुल्लो॥१॥'' सूत्र०१ श्रु०८ अ०। रागद्वेषकलिकोपद्रवरहि–तत्वाद्वा जातसुवर्णवच्छुद्धद्रव्यभूते, सूत्र०१ श्रु० १६ अ०। धर्माधर्माऽऽकाशपुद्गलजीवकालाऽऽत्मके गुणपर्य्यायाऽऽधारे, सूत्र०२ श्रु०५ अ०।

दवियएक्कय पुं०(द्रव्यैकक) चतुर्विधैकान्यतमे, स्था०४ ठा० २उ०। (एककानां चातुर्विध्यं 'एक्क' शब्दे तृतीयभागे २ पृष्ठे गतम्)

दवियकप्प पुं०(द्रव्यकल्प) कल्पनीयद्रव्ये, पं०भा०।

जेण परिग्गहिएणं, दव्वेणं कप्पो॑ होति णोकप्पे।
तं दव्वमेव कप्पो, कारणकज्जोवयाराओ॥
सो तिविहो बोधव्वो, जीवमजीवे य मीसओ चेव।
एतेसिं तु विभागं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥ पं०भा०।

(जीवकल्पाऽऽदीनां तु व्याख्या स्वस्वस्थाने) प्रव्राजना १–मुण्डापना२–शिक्षापना३–उपस्थापना४–संभोजना५–संवस–ना६–रूपे षट्के, पं०चू०। (एते कल्पाः 'उवट्ठवणाकप्प' शब्दे ८८४ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

दवियकप्पो समहिगतो, ण भणिय जं हिट्ठ तं भणामि त्ति।
सो भन्नती विसेसो, इणमो वोच्छं समासेणं॥
दव्वं तु गिण्हियव्वं, सुद्धंगविमुत्त गविसणा दुविहा।
सविही अविही एया, अविहीऍं इमं मुणेयव्वं॥
दव्वाणि जाणि काणि ति, गहणं लोए उवें ति साहूणं।
तेसिं तु संभवं मग्गमाणे॑ न तु साहते अत्थं॥
अविहीऍं दोस पिंडुव–हिसेज्जसज्झायणिग्गमपवेसो।
णवकहगदुयचउक्के, एते सव्वे ण पावंति॥
साली तुंवीमादी, आहारे फलहिमादि उवहिम्मि।
रुक्खा पुण सेज्जट्ठाए वा वि गमा हु साहूणं॥
होज्जा एताइं पुच्छिऊण कत्थ एयाणि ताहे॑ तहिं॑ गच्छे।
अविहिगवेसण एसा, जह भणिता पिंडणिजुतीए।
आहारोवहिसेज्जाण णाणदव्वेहिं॑ होति निप्फत्ती।
वेसण मिरिए पिप्पलि–अल्लगघततेल्लगुलमादी॥
हिमवंते पिप्पलिओ, मलए मिरिचाण होति उप्पत्ती।
हिंगुस्स रमणुविसए, जीरगमादी य जो जत्थ॥
मा अम्हं अट्ठाए, गावो कीयाह बद्धवच्छा वा।
फलगादी मा रुक्खोऽवरोवितो अम्ह अट्ठाए।
एमादि विमग्गंतो, पभवं णाणादियाण परिहाणी।
तह वत्थपायसेज्जाण मरति सो अंतरा चेव॥
एवं सो हिंडंतो, भत्तं पाणं च ठाणमुवहिं वा।

कह उग्गमेउ कह वा, सज्झायं कुणतु हिंडंतो?॥
जो णिक्खमणपवेसे, कालो भणितो उ वासउदुबद्धे।
दुचउक्कं उदुबद्धे, विहारो हेडंतगिम्हेसु॥
णवमो वासावासे, एसो कप्पो जिणेहिं पन्नत्तो।
एयस्स संखमाणं, वोच्छामि अहं समासेणं॥
दोण्हि सया चत्ताला, उदुबद्धे एत्तिओ विहारे तु।
वासासू पण्णासा, पणगं पणगं हु सति सीयट्ठा॥
पुरपच्छिममज्झाणं, सव्वेसिं एस कालछेदो तु।
णिच्चं हिंडंतेणं, विराहितो होति सो नियमा॥
तम्हा खलु उप्पत्ती, ण एसियव्वा तु तेसिं दव्वाणं।
जस्सट्ठा निप्फन्नं, तं गंतुं एसते मतिमं॥
अतिबहुयदुल्लभट्ठा, णातुं दव्वकुलदेसभावे य।
पुच्छति सुद्धमसुद्धं, ताहे गहणं अगहणं वा॥
अहवा पुट्ठो भणेज्जा, समप्पाहिकयं व अहव निक्खित्तं।
पच्छित्तं वा वि भवे, तत्थ तु दारा इमे होंति॥
समणे समणी सावय, साविय संबंधि इड्ढिमामाए।
रायातु णिक्खेवे, वेया णिक्खेवयं कुज्जा॥
दमए दूभग भट्ठे, समणच्छण्हे वाय तेणे य।
ण य णाम ण वत्तव्वं, पुट्ठे रुट्ठे जहा वयणं॥
एतेसिं दाराणं, विभास भणिता जहा च कप्पम्मि।
सव्वे च निरवसेसा, णायव्वा सव्वदव्वेसु॥
जं पुण जत्था इण्हं, दव्वे खेत्ते य होज्ज काले य।
तेहिं का पुच्छा तू, जह उज्जेणीऐं मंडेसु॥
एमेव माहमासे, किसराए संखडीऐं का पुच्छा?
ठिइ तिण्हेव कुलम्मी, बहुए दव्वम्मि का पुच्छा?॥
तम्हा तु गहणकाले, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।
सो होज्जा दव्वस्स तु, ण मूलओ तस्स उप्पत्ती॥
कीते पाडिच्चे छिज्जए य णिप्फत्तिए य निप्फण्हे।
कज्जं णिप्फत्तिमयं, समाणिते होति निप्फण्हं॥
कंडिनकीताऽऽदीया, तंदुलमादी तु होज्ज समट्ठा।
णिप्फत्ती सा तु भवे, आयट्ठायासु निप्फन्नं॥
तं होति कप्पणिज्जं, जं पुण समणट्ठ होज्ज णिप्फण्णं।
तं तु न कप्पति एत्थं, च चोयए चोदओ इणमो॥
णिप्फत्तिओ य णिप्फ–न्नओ य गहणं तु होज्ज समणस्स।
णिप्फत्तिओ य सुद्धे, कहं णु णिप्फण्णए सोही?
एवं गवेसियव्वं, तं एगट्ठाणगं परिच्चत्तं।
भण्णति अफासुदव्वेण चेव गहणं तु साहूणं॥
तो तेणं साहूणं, किं कज्जं होति तु गविट्ठेणं।
अन्नं पि य एगकुले, ण हु आकरो सव्वदव्वाणं॥
तित्तकडुयमादियाणं, सव्वदव्वाण संभवेगकुले।
ताणि तु गवेसमाणे, हाणी सव्वेव णाणादी॥
तम्हा पप्पं परिहर, अपप्प चिय वज्जतो वि वज्जति हु।
अप्पप्पं साहेंतो, विवज्जति ण तं च साहेति॥
णिप्फत्ती समणट्ठा, समणट्ठा चेव डातु णिप्फण्णं।
गहितं होज्ज जयंतेण तत्थ सोही कहं होति?॥
एवमवि अप्पमत्तो, उवउत्तो उज्जयं गवेसंतो।
सुद्धो जइ चावण्णो, खमओ इव सो असढभावो॥
जो पुण मुक्कधुराओ, णिरुज्जमो जइ वि सो उ णाऽऽवण्णो।
तह वि य आवण्णो चिय, आहाकम्मं परिणाउ व्व॥
एयस्स साहणट्ठं, अहवा अण्णं पि भण्णए एत्थ।
कारगसुत्तं इणमो, तमहं वोच्छं समासेणं॥
एगम्मि वितियऐं तयम्मि जे अत्थकुसलजिणदिट्ठा।
एतेसु जुत्तजोगी, विहरंतो अहाउयं सुज्झे॥
अंगग्गहणं पढमं, आयारो तस्स वितियसुयखंधे।
तस्स वि बीयज्झयणे, उद्देसे तस्स ततियम्मि॥
जइ सुत्तं खलु सेयउ–वस्सेणं होज्ज सुलभे उ।
अहवा वी तइ एत्ती, अज्झयणम्मी तइज्जम्मी॥
तस्स वि तइउद्देसे, आदीसुत्तम्मि जं समक्खायं।
जदि संकमो असुद्धो, ताहे जयणाऐं जुत्तो उ॥
देसूणं पि हु कोडिं, अत्थंतो सो वि सुज्झती णियमा।
तम्हा विसुद्धभावो, सुज्झति णियमा जिणमयम्मि॥
वाहिरकरणे जुत्तो, उवओग महिड्ढिओ सुयधराणं।
जं दोससमावण्णो, विण्णाणं जिणवयणतो सुद्धो॥
दव्वेण य भावेण य, सुद्धासुद्धे य होति चउभंगो।
ततिओ दोसु वि सुद्धो, चउत्थओ उभयह विसुद्धो॥
बीओ भावविसुद्धो, दव्वविसुद्धो य पढमओ होति।
अहवा वि दोसकरणं, दव्वे भावे य दुविहं तु॥
भावविसुद्धा–राहगो, दव्वतो सुद्धो य होतऽसुद्धो य।
जे जिणदिट्ठा दोसा, रागादी तेहिं न उ लिप्पे॥
एतेसामण्णतरं, कीयादी अणुवउत्त जो गिण्हे।
तट्ठाणगावराहे, संवड्ढियमोऽवराहाणं॥
आवण्णे सट्ठाणं, दिज्जति अह पुण बहुं तु आवण्णे।
तहियं किं दायव्वं, भण्णति इणमो सुणह वोच्छं॥
सुज्झइ तवेण दिज्जा, तवु छेदो वा तहेव मूलं वा।
कत्थेदं भणयंती, भण्हति तु णिसीहमाममि॥
वीसतिमे उद्देसे, मास चउमास तह य छम्मासं।
उग्घातमणुग्घातं, भणितं सव्वं जहाकमसो॥
एसो तु दवियकप्पो, जहक्कमं वण्णितो समासेणं।

''अज्ज मए सुयं, गाहा–(दव्वाणि) जाणि पुण साहुस्स आहाराईणि दव्वाणि गहणं एंति, तेसिं जहसंभवे मग्गइ, कओ एस साली उप्पण्णादिघोसणपाहुडियाए(?) नीणियाए? आगारिं

भणति–कओ एयाणि तंदुलाणि आणीयाणि? अत्थाहि ताव जाव पुच्छामि। ताए सिट्ठंवणाओ। अत्थ साविए! मा साहुनिमित्तं साली वाविया होज्जा। एवं फलहीओ वच्छे नीणिए फलहीण उप्पत्तिं गवेसति, तुंवीओ वा गवेसइ तुंवीण उप्पत्तिं लाउए नीणिए, रुक्खा वा सेज्जानिमित्तं! एवं सो पुच्छिऊण कत्थ एयाणि उप्पन्नाणि त्ति, ताहे तहिं गच्छति, जहा पिंडनिज्जुत्तीए, एएसिं आहाराईणं मूलुप्पत्ती, तंदुला वि गवेसमाणो अत्थं न सोहयइ।'' आहाराऽऽदीनां निष्पत्तौ च ज्ञानदर्शन-चारित्रार्थसिद्धिः। ''भत्ते पाणे गाहा–(एवं सो हिंडंतो, भत्तं पाणं च ठाणमुवहिं वा। कह उग्गमेउ कह वा, सज्झायं कुणउ हिंडंतो) सज्जोवहिं वा साहेउ निच्चं हिंडंतो। जे य निक्खमणपवेसणकाला अट्ठओ उवट्ठिया मासा निक्खमणकालो त्ति भणइ, पवेसकालो य वासावासो नवमो, ते तस्स न भवंति हिंडंतस्स। (दुचउक्क त्ति) चत्तारि हेमंतिया, चत्तारि गिम्हिया, एएसु अणुण्णओ विहारो। गाहा–(दोण्हि सया चत्ताला) हेमंतगिम्हासु होंति दिवसाणं मासकप्पेण, वाससु य पंचाला पंचधा दसियट्ठा, तस्स न भवइ निच्चं हिंडंतस्स संवच्छरेण तिण्णि सट्ठाइं दिवससयाइं विहारकाले दुपक्खे वि साहूण साहुणीण य। गाहा–(पुरपच्छिममज्झाणं) पुरच्छिमपच्चच्छिममज्झिमाणं तित्थयराणं सव्वेसिं। गाहा–(एस कालच्छेओ तु) तिविहम्मि वि तिविहे वि आहारोवहिसेज्जाणं अणेगेहिं दव्वेहिं संभवो भवइ, आहारे ताव पिप्पलिघयवसणेहि, ताहे कित्तियस्स हिंडस्सइ जत्थ ताणि निप्फण्णाणि। ''निष्पत्तिरुत्पत्तिरित्यर्थः। ''पिप्पलीओ हिमवंते, मरियाणि मलए, हिंगु रमणेसु, वच्छाणि तामलित्तीए पुंडबद्धण–सिंधुसोरट्ठासु वच्छाणं उप्पत्तीओ, जाव ताणि हिंडइ, ताव णाणाइ परिहाणी, अंतरा चेव मरइ। एवं पाए सेज्जाए या तम्हा नो निप्फत्ती मग्गियव्वा। निप्फत्ती णाम–मूलसंभवो, णिप्फण्णं हि तस्स सयासाओ कडे, तस्स निट्ठिए चउभंगो। एत्थ णिप्फण्णेणाहिगारो। पच्चुप्पण्णो नामतहेव दव्वकुलदेसभावे य गच्छइ, जहा पिंडनिज्जुत्तीए। नोमूलुग्गमं पुच्छइ दव्वाणं, एयं पुच्छइ–किंनिमित्तमुवक्खडियं, एवं पुच्छिऊण गिण्हइ। गाहा–(समणे समणी) भत्तपाणे वत्थपाएसु वा नीणिएसु पुच्छइ–कस्सेयं? सो पुच्छिओ भणेज्जा–तुब्भं चेव निमित्तं उवक्खडियं, कीयं, पामिच्चयं परियट्टियइ, वत्थं वा तूणावियं, कीयं, पामिच्चयं परियट्टियइ, वच्छं वा वुणावियं, पामिच्चियं परियट्टियइ। इयाणिं तुब्भट्ठाए मह कयं, वीयाणि वा अवणीयाणि, कीयमाइ वा, एवं साहेज्जा, समणेण वा समणीए वा सावएण वा सावियाए वा इड्ढिमंतेण वा मामएण वा दमएण वा दूभएण वा रज्जभट्ठेण वा वायाए वा तेणएण वा पक्खेवयाणि छूढाणि, समणं समणी वा लिंगत्था भणंति–अम्हं न गेण्हंति, ते य खंधगं करेज्जा, सावओ वा सावियां वा, तेसिं साहओ न गिण्हंति, आहाराइ ते पक्खेवणं कुज्जा, संबंधिओ संबंधिणी वा, सो तेसिं न गेण्हइ, आहाराइ ते पक्खेवगं कुज्जा, इड्ढिमंतो वा डंडभंडभोइयाइ, तेसिं साहवो न गेण्हंति, ते आहाराइ पक्खेवगं कुज्जा। गामओ नाम–माम कोइ घरे ढुक्कउ, सा लुयत्तणेण भोइया सड्ढी, सा पक्खेवयं कुज्जा। राया मम रायपिंडे न गेण्हति, तो पक्खेवयं कुज्जा आहाराइ। तेणयस्स वा साहवो न गेण्हंति, सो आहाराइ पक्खेवयं कुज्जा। निक्खेवं पुणवत्थं पत्तं वा संविग्गा असंविग्गा वा साहवो असिवाइसु कारणेसु अण्हदेसं गच्छमाणा निक्खेविज्जा। तेहिं भणियं–असुए काले एज्जामो, तो साहूण देज्जाह, संभोइयाणं घेप्पइ, असंभोइयाणं पासत्थाइए व संथरमाणो न गेण्हंति, दमओ दूभगो रज्जभट्ठो वा आहाराइ पुच्छिओ भणेज्जा–कस्सेयं ति? भणेज्जा–सामि! किं मम आहाराइं वत्थपायाइं वि नत्थि। दूभओ–जइ अहं रन्नो अविरइयाए, अविरइया वा भोगियस्स, तो मम वत्थाई णि वि नत्थि। भट्ठो भणेज्जा–जइ अहं रज्जाओ ईसरियाओ भट्ठो, तोऽहं किमाहाराईण पि ताहामि, सेसं जहा पेढियाए। गाहा–(न य नाम न वत्तव्वं, पुट्ठे रुट्ठे जहा वयणं।) अण्णया जत्थ पुण आइण्णं खेत्ते काले वा भवइ, जं जस्स देसे पवत्तइ, पउरं च जहा उज्जेणीए मंडया। तत्थ का पुच्छा? जत्थ पुण दव्वकुलदेसभावे अपुव्वकरणं दट्ठूण पुच्छा–किं निमित्तं एयाणि आहाराईणि कयाणि। मूलगुणउत्तरगु–णेसु आहारोवहिसेज्जाणं गहणं विसोहेयव्वं साहुणा। गाहा–(कीते पामिच्चे) एवं कीयपामिच्चच्छेज्जा अणेसणाईणि निप्पज्जंति, तंदुला वा लाउया वा संजयट्ठाए कीयाणि वा कत्तियाणि वा सुत्ताणि, लाउयाणि वा संजयट्ठाए रुत्ताणि, पच्छा आयट्ठा निप्फण्णाणि कप्पंति, संजयाणं रुक्खो वा संजयट्ठाए रुत्ता, पच्छा आयट्ठाए छिण्णाणि य घराणि य कयाणि, आयट्ठाए निप्फाइयाणि ताहे कप्पंति, जं तं निप्फत्तीतो आयट्ठानिप्फण्णं तं कप्पइ, कज्जं निप्फत्तिमयं ति। कज्जं नाम–आहाराइमयं ति। जहा तंदुलमयं आहारं, सुत्तमयाणि वत्थाणि समाणिए त्ति, तस्स कडं–तस्स निप्फण्णं। गाहा–(णिप्फत्तिओ य) एवं अगवेसणानिप्फण्णं तो गवेसणं, गहणं वा। गाहा–पच्छद्धे, चोदग आह–णिप्फत्तिओ वि निप्फण्णओ व साहुस्स आहाराइं गहणं होज्जा। निप्फत्तिओ असुद्धं कहं निप्फन्नं गेण्हइ? उच्यते–एवं ताव गवेसियव्वं (एगमिति) निप्फण्णं गवेसिज्जइ, न तु मूलनिप्फत्ती दव्वाणं, मूलनिप्फत्तिए गविट्ठाए बहुदोसा। आह–जइ एवं गवेसिज्जइ, जं गेज्झइ निप्फण्णं किं एगट्ठाणं परिच्चयइ? एगट्ठाणयं नाम–उप्पत्ती तंदुलाईणं, वत्थाईणं च। उच्यते–न हु सव्वदव्वा, न हु एगकुले नाणादव्वाणि तित्तकडुयाईणिं संभवंति। किं तु एवं गवेसमाणस्स तुज्झ सव्वदव्वाणं मूलुप्पत्ती आहाराईण सुद्धी चेव न भविस्सइ। मज्झमाईणं च जहा णिद्दोसा हिंडंतस्स। गाहा–(एवमवि अप्पमत्तो) एवमित्यव–धारणे। किमवधारणीयं? एवमप्पमत्तस्स गवेसमाणस्स जइ वि निप्फण्णं संजयट्ठाए न जाणेज्जइ, तओ तं च परिभुंजेज्जा आहारो–वहिसेज्जा, ताहे तम्मि परिभुत्ते विसुज्झइ, जहा सो खमओ सुद्धं गवेसमाणो, जो पुण मुक्कधुराओ। मुक्कधुरो नाम आहाराइ उग्गमा–ईहिं मुक्को तत्तो सो लग्गइ जहा रए। गाहा–(आहाकम्मं परिणउ व्व) अन्नेसु आयारगेसु सेज्जाणं तइए उद्देसए आयाणाए। इह खलु नो सुलभे उवस्सए भवइ, जुत्तजोगी गवेसंतो सुद्धो चेव भवइ, उग्गमाइआसुद्धे वि। अहवा–तइयम्मि अज्झयणे आरियाणं जइ संकमे असुद्धो कओ। अहवा–संकमेण उज्झइ, असिवाइकारणेसु तत्थ वि तहेव देसूणं पि पुव्वकोडिं अत्थमाणो सुज्झइ। एएसु उग्गमाइसु आहाराइसु जुत्तजोगी परिहरंतो आहाउयं पालेमाणो सिज्झइ। गाहा–(बाहिरकरणे) एवं जइ बाहिरकरणेण संपउत्तो उवओगो होइ तो महिड्ढिओ सुयधराणं।'' महर्द्धिक इति महारि–द्धित्वमावहति। ''को दिट्ठंतो, गाहा–(जं दोससमावन्नो वि) खमओ सुद्धो। सुयणाणपमाणेण दोसकारणम्मि दव्वओ नाम एगो सुद्धो, नो भावओ। चउभंगो। तइओ दव्वं भावओ सुद्धो। चउत्थो दोहिं वि असुद्धो। तस्स का कहा? जे पढमबितिया तेसु मग्गणा, विइए भंगे दव्वओ असुद्धो

वि, भावओ सुद्धो। अहवा–दुविहं कारणे दव्वे, भावे य सुद्धो वा। भावओ सुद्धो आराहओ होइ, जे जिणदिट्ठा भावा रागादयो, तेहिं न लेप्पइ जम्हा। गाहा–(एतेसामन्नयरं) एएसिं कीयाईणं आहारा–ईण वा जो (अणुवउत्त जो गिण्हे) तस्साऽऽरोवणपच्छित्तं, जया पुण बहुइआ आलोयणा होज्जा।'' तत्र कथं दातव्यम्? उच्यते–''सव्वत्थ हेउं समक्खिऊण जइ तवेण सुज्झइ तो तवो दिज्जइ, इहरहा छेओ वा, मूलं वा। कह एवंपमाणं भणियं? उच्यते–तिसी–हरस्स वीसइमे उद्देसए। एस ताव दवियकप्पो।'' पं०चू०।

पंचण्हं असणादी–ण पणवीस तिहा भवे विसोही उ।
अहवा वि उ छद्दसिया, एत्तो तिगवड्ढिया सोही॥
असणं पाणं वत्थं, पायं सेज्जा य पंच एतेसिं।
सुद्धी पण वीसति वा, उग्गम तह एसणाए य॥
सुयणाणपमाणेण तु, गहियमसुद्धे वि होति सुद्धो तु।
अहवा वि तु छद्दसिया, सोलस उप्पायणादोसा॥
एएसिं सव्वेसिं, हणपयणकिणादि णवहिँ कोडीहिं।
कयकारिताणुमोदित, एसा तिगवड्ढिता सोही॥पं०भा०॥

तत्थ दव्वकप्पो ताव आहारमाइ। गाहा–(असणं पाणं वत्थं पायं–सेज्जा) एएसिं पंचण्ह वि पंचपंचगविसोहि त्ति। पंचपंचेगा नामपण्णरस उग्गमदोसा, दस एसणादोसा। एए पंचपंचगा पंचवीसं आवेंतो पणवीसाए सुयनाणमाणओ सुद्धा। अहवाछ द्दस य–सोलस उप्पायणा दोसा, एएसिं सव्वेसिं पि तियवड्ढिया सोहि त्ति। ''न हणइ न हणावेइ, हणंतं नाणुजाणइ। न पयइ न पयावेइ, पयंतं नाणुजाणइ॥१॥ न किणइ न किणावेइ, किणंतं नाणुजाणइ।'' एस दव्वकप्पो। पं०चू०।

दवियत्ता स्त्री०, पुं०(द्रव्याऽऽत्मन्) द्रव्यं त्रिकालानुगामि उपसर्जनी–कृतकषायाऽऽदिपर्य्यायं, तद्रूप आत्मा द्रव्याऽऽत्मा। आत्मभेदे, स च सर्वेषां जीवानाम्। भ० १२ श० १० उ०।

दवियरस पुं०(द्रवितरस) द्रवयुक्तनिर्यासे, ओघ०।

दवियाणुओग पुं०(द्रव्यानुयोग) अनुयोगभेदे, स्था०।

तत्स्वरूपम्–

दसविहे दवियाणुओगे पण्णत्ते। तं जहा–दवियाणुओगे, माउयाणुओगे, एगट्ठियाणुओगे, करणाणुओगे, अप्पियाण–प्पिए, भावियाभाविए, बाहिरावाहिरे, सासयासासए, तहणाणे, अतहणाणे॥

(दसविहे इत्यादि) अनुयोजनं सूत्रस्यार्थेन संबन्धनम्, अनुरूपोऽनुकूलो वा योगः सूत्रस्याभिधेयार्थं प्रति व्यापारोऽनुयोगः, व्याख्यानमिति भावः। स च चतुर्द्धा, व्याख्येयभेदात्। तद्यथा– चरणकरणानुयोगो, धर्मकथाऽनुयोगो, गणितानुयोगो, द्रव्यानुयोगश्च। तत्र द्रव्यस्य जीवाऽऽदेरनुयोगो विचारो द्रव्यानुयोगः। स च दशधा। तत्र (दवियाणुओगे त्ति) यज्जीवाऽऽदेर्द्रव्यत्वं विचार्यते स द्रव्यानुयोगः। यथा– द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायान्, द्रूयते वा तैस्तैः पर्यायैरिति द्रव्यम्, गुणपर्यायवानर्थः, तत्र सति जीवे ज्ञानाऽऽदयः सहलायित्वलक्षणा गुणाः, न हि तद्वियुक्तो जीवः कदाचनापि संभवति, जीवत्वहानेः। तथा पर्यायाः अपि मानुषत्वबाल्याऽऽदयः कालकृतावस्थालक्षणाः तत्र सन्त्येवेत्यतो भवत्यसौ गुणपर्याय–वत्वाद्रव्यमित्यादि द्रव्यानुयोगः। स्था० १० ठा०। (मातृकानुयोगाऽऽदीनां शब्दार्थः पृथक् पृथक्)

दवियाऽऽत्ता स्त्री०(द्रव्याऽऽत्मन्) 'दवियत्ता' शब्दार्थे, भ०१२ श०१० उ०।

दव्व न०(द्रव्य) द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्। ''कृद्बहुलम्॥'' इति वचनात्कर्त्तरि यः। आ०म०१अ०१ खण्ड नि०चू०। जं०। अनु०। अनादिभदुत्प्रेक्षितपर्य्यायशृङ्खलाऽऽधारेऽर्थे, विशे०। ल०। स्था०॥

अथ द्रव्यलक्षणमाह–

दवए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण संदावो।
दव्वं भव्वं भावस्स भअभावं च जं जोग्गं॥२८॥

'दु' 'द्रु' गताविति धातुः, ततश्च द्रवति तांस्तान् स्वपर्यायान् प्राप्नोति मुञ्चति वेति तद् 'द्रव्यम्' इत्युत्तरार्द्धादानीव सर्वत्र सम्बध्यते। तथा द्रूयते स्वपर्यायैरेव प्राप्यते मुच्यते चेति द्रव्यं, यान्किन् पर्यायान् द्रव्यं प्राप्नोति, तैस्तदपि प्राप्यते, यांश्च मुञ्चति, तैस्तदपि मुच्यत इति भावः। तथा द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रुः सत्ता, तस्या एवावयवो, विकारो वेति द्रव्यम्। अवान्तरसत्तारूपाणि हि द्रव्याणि महासत्ताया अवयवा विकारा वा भवन्त्येवेति भावः। तथा गुणा रूपरसाऽऽदयः, तेषां, संद्रवणं संद्रावः समुदायो घटाऽऽदिरूपो द्रव्यम्। तथा–(भव्वं भावस्स त्ति) भविष्यतीति भावः, तस्य भावस्य भाविनः पर्यायस्य यद्द्रव्यं योग्यं तदपि द्रव्यम्, राज्यपर्यायार्हकुमारवत्। तथा भूतभावं चेतिभूतः पश्चात्कृतो भावः पर्यायो यस्य तद् भूतभावं, तदपि द्रव्यम्, अनुभूतघृताऽऽधारत्वपर्यायरिक्तघृतघटवत्। चशब्दाद् भूतभविष्यत्पर्यायं च द्रव्यमिति ज्ञातव्यम्। भूतभविष्यद् घृताऽऽधारत्वपर्यायरिक्तघृतघटवदिति। एतदपि भूतभावम्। तथा भूतभविष्यद्भावं च। कथंभूतं सद्द्रव्यम्? इत्याह– यद्योग्यं भूतस्य भावस्य, भूतभविष्यतोश्च भावयोरिदानीमसत्त्वेऽपि यद्योग्यमर्हं तदेव द्रव्यमुच्यते, नान्यत्। अन्यथा सर्वेषामपि पर्यायाणामनुभूतत्वादनुभविष्यमाणत्वाच्च सर्वस्यापि पुद्गलाऽऽदेर्द्रव्यत्वप्रसङ्गात्। इति गाथार्थः॥२८॥ विशे०। स्था०। द्रव्या०। अनु०। स०। नि०चू०। नं०। सूत्र०।आव०।

गुणपर्यायाऽऽधारो द्रव्यम्–

गुणपर्याययोः स्थानमेकरूपं सदाऽपि यत्।
स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं, मध्ये भेदो न तस्य वै॥१॥

गुणपर्याययोर्भाजनं कालत्रये एकरूपं द्रव्यं स्वजात्या निजत्वेन एकस्वरूपं भवति, परं पर्यायवद् न परावृत्तिं लभते, तद् द्रव्यमुच्यते। यथा–ज्ञानाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं जीवद्रव्यम्, रूपाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं पुद्गलद्रव्यम्–सर्वरक्तत्वाऽऽदिघटत्वाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं मृद् द्रव्यम्। यथा वा तन्तवः पटापेक्षया द्रव्यम्, पुनस्तन्तवोऽवयवापेक्षया पर्यायाः। कथम्? यतः पटविचाले पटावस्थाविचाले च तन्तूनां भेदो नास्ति, तन्त्ववयवावस्थायामन्वयवरूपो भेदोऽस्ति, तस्मात् पुद्गलस्कन्धमध्ये द्रव्यपर्यायत्वमापेक्षिकं बोध्यम्। अथ कश्चिदेवं कथयिष्यति–

द्रव्यत्वं तु स्वाभाविकं न जातम्, आपेक्षिकं जातं, तदा तं समाधत्ते – भोः तार्किक ! शृणु। यत् सकलवस्तूनां व्यवहाराऽपेक्षयैव जायते, न तु स्वभावेन, तस्मादत्र न कश्चिद्दोषः । ये च समवायिकारणप्रमुखैर्द्रव्यलक्षणं मन्वते, तेषामप्यपेक्षामनुसर्तव्यैवेति । गुणपर्यायवद्द्रव्यमिति तत्त्वार्थे । विस्तरस्तु द्रव्याणामुद्देशलक्षणपरीक्षाभिस्तत्रैवास्ति, अतस्ततोऽवसेयः ॥१॥ द्रव्या० २ अध्या०।

''सहभावी गुणो धर्मः, पर्यायः क्रमभाव्यथ।
भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधास्त्रिलक्षणयुता इमे ॥२॥
मुक्ताभ्यः श्वेतताऽऽदिभ्यो, मुक्तादाम यथा पृथक्।
गुणपर्यायवद्द्रव्यं तेभ्यः शक्तिस्तथाऽऽश्रिता॥३।'' द्रव्या०२ अध्या०।

गुणाऽऽश्रयो द्रव्यम्–

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खगं पज्जवाणं तु, दुहओ अस्सिया भवे ॥६॥

गुणानां वक्ष्यमाणानामाश्रय आधारो, यत्रस्थास्ते उत्पद्यन्ते, उत्पद्य चाऽवतिष्ठन्ते, प्रलीयन्ते च, तद् द्रव्यम्। अनेन रूपाऽऽदय एव वस्तु, न तद्व्यतिरिक्तमन्यदिति तथागतमतमपास्तम् । तथाहि–यदुत्पादविनाशयोर्न यस्योत्पादविनाशौ, न तत्ततोऽभिन्नम्, यथा घटात्पटः, न भवतः पर्यायोत्पादविनाशयोर्द्रव्यस्योत्पादविनाशौ। न चायमसिद्धो हेतुः, स्थासकोशकुशूलाऽऽद्यवस्थासु मृदादिद्रव्यस्याऽऽनुगामित्वेन दर्शनात्। न चास्य मिथ्यात्वं, कदाचिदन्यथादर्शनासिद्धेः।

उक्तं हि–

''यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः, संख्येय्येतान्यथा पुनः।
स मिथ्या न तु तेनैव, यो नित्यमवगम्यते ॥१॥''

तथैकस्मिन् द्रव्ये स्वाऽऽधारभूते आश्रिताः, के ते? गुणा रूपाऽऽदयः। एतेन च ये द्रव्यमेवेच्छन्ति, तद् व्यतिरिक्ताँश्च रूपाऽऽदीन् अविद्योपदर्शितानाहुः, तन्मतनिषेधः कृतः । संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितयः। न च रूपाऽऽद्युत्कलितरूपं कदाचित् केनचित् द्रव्यमवगतम्, अवगम्यते वा, अतस्तद्विवर्त एव रूपाऽऽदयो, न तु तात्त्विकाः केचन तद्भेदेन सन्ति। नन्वेवं रूपाऽऽदिविवर्तो द्रव्यमित्यपि किं न कल्पते? अथ तथैव प्रतीतिः। एवं सति प्रतीतिरुभयत्र साधारणेत्युभयमुभयाऽऽत्मकमस्तु। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्, पर्यायाणां वक्ष्यमाणरूपाणां तु, विशेषेण उभयोर्द्वयोः प्राकृतत्वाद् द्रव्यगुणयोराश्रिताः (भवे त्ति) भवेयुः स्युः। अनेन च य एवमाहुः–यदाद्यन्तयोरसद्, मध्येऽपि तत्तथैव, यथा मरीचिकाऽऽदौ जलाऽऽदि । न सन्ति च कुशूलकपालाऽऽद्यवस्थयोर्घटाऽऽदिपर्यायाः, ततो द्रव्यमेवाऽऽदिमध्यान्तेषु सत्, पर्यायाः पुनरसन्तो यैराकाशकेशाऽऽदिभिः सदृशा अपि भ्रान्तैः सत्यतया लक्ष्यन्ते । यथोक्तम्–''आदावन्ते च यन्नास्ति, मध्येऽपि हि न तत् तथा। वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥१॥'' ते अपाकृताः । तथाहि–आद्यन्तयोरसत्त्वेन मध्येऽप्यसत्त्वं साधयतामिदमाकूतम्–यद् क्वचिदसत्तत्सर्वस्मिन्नसदिति, ततश्च मृद्द्रव्ये अप्द्रव्यस्यासत्त्वात्सर्वस्मिन्नप्यसत्त्वप्रसङ्गः। अथेष्टमेवैतत्, सत्तामावस्यैव तत्त्वत इष्टत्वात्। उक्तं हि– ''सर्वमेकं सदविशेषात्।'' नन्येवमभावे भावाभावाद्भावस्यापि सर्वत्राभावप्रसङ्गः, तस्माद्बाधकप्रत्ययोदय एवासत्त्वेऽपि निबन्धनमिति न क्वचिदसत्त्वे तस्यावश्यं भावः, ततो द्रव्ययत्पर्यायाणामप्यबाधितबोधविषयत्वे सत्यमस्तु, तथा गुणेष्वपि नवपुराणाऽऽदिपर्यायाः प्रत्यक्षप्रतीताः, एके कियत्कालभाविनः, प्रतिसमयभाविनस्तु पुराणत्वाऽऽद्यन्यथाऽनुपपत्तेरनुमानतोऽवसीयन्ते। ततश्च द्रव्यगुणपर्यायाऽऽत्मकमेकं राबलमणिवच्चित्रपतङ्गाऽऽदिवद्वा वस्त्विति स्थितमिति सूत्रार्थः। उत्त० पाई० २८ अ०। प्रज्ञा०। (''दव्वं पज्जवविजुअं, दव्वविउत्ता य पज्जवा नत्थि। उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ॥१२॥'' इति द्रव्यलक्षिका प्रथमकाण्डस्था सम्मतितर्कग्रन्थगाथा 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८८६ पृष्ठे द्रव्यपर्यायार्थिकप्रस्तावे व्याख्याता) (एष एवार्थो ''दव्वणय'' शब्दे उपपादयिष्यते) द्रव्यगुणपर्यायाश्च यथोत्तरं सूक्ष्माः। आ०म०१ अ०१ खण्ड। (''दव्वं जहा परिणयं, तहेव अत्थित्ति तम्मि समयम्मि। विगयभविस्सेहि उ पज्जएहिँ भयणा विभयणा वा ॥४॥'' (सम्म० ३ काण्ड) इत्यादिगाथोक्तं द्रव्यस्य नित्यत्वाऽऽद्यनेकधर्मान्वितत्वम् 'अणेगंतवाय' शब्दे प्र० भागे ४२६ पृष्ठे उक्तम्) (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति लक्षणमपि 'अणेगंतवाय' शब्दे प्रथमभागे ४२६ पृष्ठे समुक्तम्)

अथ गृह्णीमो गुणानामाश्रयो द्रव्यलक्षणं, तच्चैवंलक्षणं द्रव्यं किमेकम्? उत तस्य भेदा अपि सन्तीति? आह–

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल–जंतवो।
एस लोगो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥७॥

धर्म इति धर्मास्तिकायः, अधर्म्म इति अधर्मास्तिकायः, आकाशमिति आकाशास्तिकायः, कालोऽद्धा समयाऽऽत्मकः, पुद्गलजन्तव इति–पुद्गलास्तिकायः, जीवास्तिकायः । एतानि द्रव्याणीति शेषः। प्रसङ्गतो लोकस्वरूपमप्याह–एष इत्यादि सुगममेव। नवरमेष इति सामान्यतः प्रतीतो, लोक इत्येवंस्वरूपः, कोऽर्थः? अनन्तरोक्तद्रव्यषट्काऽऽत्मकः। उक्तं हि–''धर्म्माऽऽदीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम्। तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाऽऽख्यम्'' ॥१॥ इति सूत्रार्थः ॥७॥

आह–किमेतेऽपि धर्माऽऽदयो भेदवन्तः, उतान्यथा? उभ–

यथाऽपीति क्रमः। तथा चाऽऽह–

धम्मो अहम्मो आगासं, एगं दव्वं वियाहियं।
अणंताणि उ दव्वाइं, कालो पोग्गल–जंतवो ॥८॥

धर्मोऽधर्म आकाशं, द्रव्यमिति धर्माऽऽदिभिः प्रत्येकं योज्यते, एकैकमेकसंख्याया एव,एतेषु भावादाख्यातं तीर्थकृद्भिरिति गम्यते। ततः किं कालाऽऽदिद्रव्याण्यप्येवमेवेत्याह–अनन्तान्यनन्तसंख्यानि, स्वगतभेदानन्त्यात्। चः पुनरर्थे उत्तरत्र योक्ष्यते। कानि द्रव्याणि कतमानि, कालः, पुद्गलं, जन्तवश्चोक्तरूपाः, कालस्य चानन्त्यमतीतानागतापेक्षयेति सूत्रार्थः। उत्त० २८ अ०। आचा०। स०।

षड् द्रव्यनिगमनम्–

एवं समासेन षडेव भेदान्,
द्रव्यस्य विस्तारतयाऽऽगमेभ्यः।
श्रुत्वा समभ्यस्य च भव्यलोकाः !
अर्हत्क्रमाम्भोजयुगं भजन्तु ॥२१॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण समासेन संक्षेपेण च षडेव षट् संख्यावतो जीवधर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलान् भेदान् द्रव्यस्य पदार्थस्य षण्णामपि द्रव्यशब्दः पृथग् युक्तः सन् षड् द्रव्यत्वमापादय–

ति। अतो द्रव्यस्य षडेव भेदान् सूत्रोक्तान् श्रुत्वा विस्तारतया विस्तार-युक्त्या, आगमेभ्यः स्याद्वादसमुद्दिष्टेभ्यः, आकर्ण्य, श्रवणविषयीकरणं श्रवणं, तत्र विस्तारेणैव श्रुतानामवगमो जायतेऽतो विस्तारतया श्रुत्वा, च पुनः, समभ्यस्यं वाचा उद्घोषणद्वारा कण्ठे कृत्वा, मनसि निदिध्यास्य, भो भव्यलोकाः ! सम्यक्त्वप्राणिनः ! अर्हत्क्रमाम्भोजयुगं श्रीजिनचरण-भजनस्थैर्यं भजन्तु, श्रुत्वा समभ्यस्य च श्रीप्रभुस्मृतिरेव साधीयसी, तत्कृत्वा तत्करणं श्रेयो निबन्धनमिति। तथा भोजेति संकेतेन संदर्भकर्तुर्नामनिदर्शनमिति। अत्राध्याये सम्यक्त्वदार्ढ्याय सर्वभेदाऽऽ-ख्यानमिति प्रयोजनं चेति ॥२१॥ द्रव्या०१०अध्या०।

द्रव्यभेदानाह-

कइविहा णं भंते ! दव्वा पण्णत्ता? गोयमा ! दुविहा दव्वा पण्णत्ता। तं जहा-जीवदव्वा य, अजीवदव्वा य। अजीव-दव्वा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-रूवी अजीवदव्वा य, अरूवी अजीवदव्वा य। एवं एएणं अभिलावेणं जहा अजीवपज्जवा० जाव से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-ते णं णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता। जीवदव्वा णं भंते ! किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता? गोयमा ! णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जीवदव्वा णं णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता? गोयमा ! असंखेज्जा णेरइया०जाव असंखेज्जा वाउकाइया, अणंता वणस्सकाइया, असंखेज्जा बेइंदिया, एवं०जाव वेमाणिया, अणंता सिद्धा। से तेणट्ठेणं ०जाव अणंता।

(अजीवपज्जव त्ति) यथा प्रज्ञापनायां विशेषाभिधाने पञ्चमे पदेऽजीवपर्यवाः पठिताः, तथेहाजीवद्रव्यसूत्राण्यध्येयानि। तानि चैवम्-''अरूविअजीवदव्वा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता? गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता। तं जहा-धम्मत्थिकाए०।'' इत्यादि। तथा-''रूविअजीवदव्वा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता? गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता। तं जहा-खंधा०।' इत्यादि। तथा ''ते णं भंते ! किं संखेज्जा, किं असंखेज्जा, अणंता? गोयमा! णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ? गोयमा ! अणंता परमाणू, अणंता दुपएसिया खंधा, अणंता तिपएसिया खंधा० जाव अणंता अणंतपएसिया खंध त्ति।''

द्रव्याधिकारादेवेदमाह-

जीवदव्वा णं भंते ! अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति। अजीवदव्वा णं जीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति? गोयमा! जीवदव्वा णं अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति। णो अजीवदव्वा णं जीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ? से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ०जाव हव्वमागच्छंति। गोयमा ! जीवदव्वा णं अजीवदव्वा परियादियंति, अजीवदव्वा परियादियत्ता ओरालियं वेउव्वियं आहारगं तेयगं कम्मगं सोइंदियं०जाव फासिंदियं, मणजोगं वइजोगं कायजोगं आणापाणुत्तं च णिव्वत्तयंति, से तेणट्ठेणं०जाव हव्वमागच्छंति। णेरइया णं भंते ! अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति, अजीवदव्वा णं णेरइया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ? गोयमा! णेरइया णं अजीवदव्वा परिभोगत्ताए०जाव हव्वमागच्छंति, णो अजीवदव्वा णं णेरइया०जाव हव्वमागच्छंति। से केणट्ठेणं? गोयमा ! णेरइया णं अजीवदव्वे परियादियंति, अजीवदव्वे परियादियंतित्ता वेउव्वियं तेयगं कम्मगं सोइंदियं० जाव फासिंदियं आणापाणुत्तं च णिव्वत्तयंति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-एवं०जाव वेमाणिया, णवरं सरीरइंदियजोगा जाणियव्वा जस्स जं अत्थि ॥

(जीवदव्वा णं भंते ! अजीवदव्वा इत्यादि) इह जीवद्रव्याणि परि-भोजकानि, सचेतनत्वेन ग्राहकत्वात्। इतराणि तु परिभोग्यानि, अचेतनतया ग्राह्यत्वादिति।

द्रव्याधिकारादेवेदमाह-

से णूणं भंते ! असंखेज्जे लोए अणंताइं दव्वाइं आगासे भइय-व्वाइं। हंता ! गोयमा ! असंखेज्जे लोए०जाव भइयव्वाइं। लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे कइदिसिं पोग्गला चिज्जंति? गोयमा ! णिव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं॥

(से णूणमित्यादि) (असंखेज्ज त्ति) असङ्ख्यातप्रदेशाऽऽत्मक इत्यर्थः। (अणंताइं दव्वाइं ति) जीवपरमाण्वादीनि। ''आगासे भइयव्वाइं ति'' काक्वाऽस्य पाठः, सप्तम्याश्च षष्ठ्यर्थत्वादाकाशस्य भक्तव्यानि भर्त्तव्यानि, धारणीयानीत्यर्थः। पृच्छतोऽयमभिप्रायः-कथमसंख्यातप्रदेशाऽऽ-त्मके लोकाऽऽकाशेऽनन्तानां द्रव्याणामवस्थानम् ? हंता ! इत्यादिना तत्र तेषामनन्तानामप्यवस्थानमावेदितम्। आवेदितश्चायमभिप्रायः-यथा प्रतिनियतेऽपवरकाऽऽकाशे प्रदीपप्रभापुद्गलपरिपूर्णेऽप्यपरापर-प्रदीपप्रभापुद्गला अवतिष्ठन्ते, तथाविधपुद्गलपरिणामसामर्थ्यात्, एवम-संख्यातेऽपि लोके तेष्वेव २प्रदेशेषु द्रव्याणां तथाविधपरिणामवशे-नावस्थानात्, अनन्तानामपि तेषामवस्थानमविरुद्धमिति। असंख्याते लोकेऽनन्तद्रव्याणामवस्थानमुक्तं, तच्चैककस्मिन् प्रदेशे तेषां चयापचया-ऽऽदिमद्भवतीत्यत आह-(लोगस्सेत्यादि) (कइ-दिसिं पोग्गला चिज्जंति) कतिभ्यो दिग्भ्य आगत्य एकत्राऽऽकाशप्रदेशे चीयन्ते लीयन्ते।

आकाशप्रदेशे द्रव्याणि-

लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे कइ दिसिं पोग्गला छिज्जंति ? एवं चेव। एवं उवचिज्जंति, एवं अवचिज्जंति॥

(छिज्जंति त्ति) व्यतिरिक्ता भवन्ति (उवचिज्जंति त्ति) स्कन्धरूपाः पुद्गलाः पुद्गलान्तरसंपर्कादुपचिता भवन्ति। (अवचिज्जंति त्ति) स्कन्धरूपा एव प्रदेशविघटनेनापचीयन्ते।

द्रव्याधिकारादेवेदमाह। भाषाऽऽदिरूपेण द्रव्यग्रहणम्-

जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए गे-

ण्हइ, ताइं किं ठियाइं गेण्हइ, अट्ठियाइं गेण्हइ? गोयमा ! ठियाइं पि गेण्हइ, अट्ठियाइं पि गेण्हइ। ताइं भंते ! किं दव्वओ गेण्हइ, खेत्तओ गेण्हइ, कालओ गेण्हइ, भावओ गेण्हइ ? गोयमा ! दव्वओ वि गेण्हइ, खेत्तओ वि गेण्हइ, कालओ वि गेण्हइ, भावओ वि गेण्हइ। ताइं दव्वओ अणंतपए सियाइं दव्वाइं, खेत्तओ असंखेज्जपएसोगाढाइं, एवं जहा पण्णवणाए पढमे आहारुद्देसए०जाव णिव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं। जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं वेउव्वियसरीरत्ताए गेण्हति, ताइं किं ठियाइं० एवं चेव, णवरं णियमं छद्दिसिं, एवं आहारगसरीरत्ताए वि। जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं तेयगसरीरत्ताए गेण्हति पुच्छा? गोयमा ! ठियाइं गेण्हति, णो अट्ठियाइं गेण्हति, सेसं जहा ओरालियसरीरस्स, कम्मगसरीरे एवं चेव, एवं०जाव भावओ गेण्हइ, ताइं किं एगपएसियाइं गेण्हइ, दुपएसियाइं गेण्हइ, एवं जहा भासापदे० जाव आणुपुव्विं गेण्हइ, णो अणाणुपुव्विं गेण्हइ। ताइं भंते ! कइ दिसिं गेण्हइ? गोयमा ! णिव्वाघाएणं जहा ओरालियस्स। जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं सोइंदियत्ताए गेण्हइ, जहा वेउव्वियसरीरं, एवं०जाव जिब्भिंदियत्ताए, फासिंदियत्ताए जहा ओरालियसरीरं, मणजोगत्ताए जहा कम्मगसरीरं, णवरं णियमा छद्दिसिं, एवं वइजोगत्ताए वि, कायजोगत्ताए वि जहा ओरालियसरीरस्स। जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं आणा–पाणुत्ताए गेण्हति, जहेव ओरालियसरीरत्ताए०जाव सिय पंचदिसिं॥

(ठियाइं त्ति) स्थितानि जीवप्रदेशावगाढक्षेत्रस्याभ्यन्तरवर्त्तीनि, अस्थितानि च तदनन्तरवर्त्तीनि। तानि पुनरौदारिकशरीरपरिणामविशेषादाकृष्य गृह्णाति। अन्ये त्वाहुः– स्थितानि तानि यानि नैजन्ते, तद्विपरीतानि त्वस्थितानि, (किं दव्वओ गिण्हइ त्ति) किं द्रव्यमाश्रित्य गृह्णाति, द्रव्यतः किंस्वरूपाणि गृह्णातीत्यर्थः। एवं क्षेत्रतः क्षेत्रमाश्रित्य कतिप्रदेशावगाढानीत्यर्थः। वैक्रियशरीराधिकारे ''नियमं छद्दिसिं ति'' यदुक्तं तत्रायमभिप्रायः–वैक्रियशरीरी पञ्चेन्द्रिय एव प्रायो भवति, स च त्रसनाड्या मध्य एव, तत्र च षण्णामपि दिशामनावृतत्वमलोकेन विवक्षितलोकदेशस्येत्यत उच्यते–(नियमं छद्दिसिं ति) यच्च वायुकायिकानां त्रसनाड्या बहिरपि वैक्रियकरणं भवति, तदिह न विवक्षितमप्रधानत्वात्, तस्य च तथाविधलोकान्तनिष्कुटे वा वैक्रियशरीरी वायुर्न संभवतीति। तैजससूत्रे–(ठियाइं गिण्हइ त्ति) जीवावगाहक्षेत्राभ्यन्तरीभूतान्येव गृण्हाति। (नो अट्ठियाइं गिण्हइ त्ति) न तदनन्तरवर्त्तीनि गृण्हाति, तस्याऽऽकर्षपरिणामाभावात्। अथवा–स्थितानि स्थिराणि गृह्णाति, नोऽस्थितान्यस्थिराणि, तथाविधस्वभावत्वात्। (जहा भासापदेत्ति) यथा, प्रज्ञापनाया एकादशे पदे तथा वाच्यम्। तच्च–(तिपएसियाइं गिण्हइ०जाव अणंतपएसियाइं गिण्हइ इत्यादि) श्रोत्रेन्द्रियसूत्रे–(जहा वेउव्वियसरीरं ति) यथा वैक्रियशरीरद्रव्यग्रहणं स्थितास्थितद्रव्यविषयं षड् दिक्षं च, एवमिदमपि, श्रोत्रेन्द्रियद्रव्यग्रहणं हि नाडीमध्य एव, तत्र च (सिय तिदिसिमित्यादि) नास्ति व्याघातभावादिति (फासिंदियत्ताए जहा ओरालियसरीरं ति) अयमर्थः–स्पर्शनेन्द्रियतया तथा द्रव्याणि गृण्हाति यथौदारिकशरीरं स्थितास्थितानि षड्दिगागतप्रभृतीनि चेति भावः। (मणजोगत्ताए जहा कम्मगसरीरं, नवरं नियमा छद्दिसिं ति) मनोयोगतया तथा द्रव्याणि गृह्णाति यथा कार्मणस्थितान्येव गृह्णातीति भावः। केवलं तत्र व्याघातेनेत्याद्युक्तमिह तु नियमात् षड् दिशीत्येव वाच्यम्, नाडीमध्य एव मनोद्रव्यग्रहणभावात्। अत्रसानां हि तत्रास्तत्तीति। (एवं वइजोगत्ताए त्ति) मनोद्रव्यवद्वाग्द्रव्याणि गृह्णातीत्यर्थः। (कायजोगत्ताए जहा ओरालियसरीरस्स त्ति) काययोगद्रव्याणि स्थितास्थितानि षड्दिगागतप्रभृतीनि चेत्यर्थः। भ०२५ श०२उ०।

दुविहा दव्वा पण्णत्ता। तं जहा–गइसमावन्नगा चेव, अगइसमावन्नगा चेव॥

द्रव्यसूत्रे गतिर्गमनमात्रमेव, शेषं तथैवेति पृथ्वीकायवत्। स्था०१ ठा०। (किं द्रव्यं गुरु, किं वा लघ्विति 'अगुरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५७ पृष्ठे चिन्तितम्। पुद्गलास्तिकायप्रदेशः किं द्रव्यमिति 'पोग्गलत्थिकाय' शब्दे वक्ष्यते) (द्रव्यक्षेत्रकालभावानां परस्परं समावेशः 'अणुओगे' शब्दे प्रथमभागे ३४३ पृष्ठे चिन्तितः) (जीवास्तिकायाऽऽदीनां द्रव्यप्रदेशार्थतयाऽल्पबहुत्वम् 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे ५१४ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) संयमे, आचा०१ श्रु०८अ०८उ०।

वैशेषिकैरित्या द्रव्याणि, तत्र दोषश्च–

पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि। तदत्र पृथिव्यप्तेजोवायूनां पृथग्द्रव्यत्वमनुपपन्नम्। तथाहि–त एव परमाणवः प्रयोगविस्रसाभ्यां पृथिव्यादित्वेन परिणमन्तोऽपि न स्वकीयं द्रव्यत्वं त्यजन्ति, न चावस्थाभेदेन द्रव्यभेदो युक्तः, अतिप्रसङ्गादिति। आकाशकालयोश्चास्माभिरपि द्रव्यत्वमभ्युपगतमेव। दिशस्त्वाकाशावयवभूताया अनुपपन्नं पृथग्द्रव्यत्वम्, अतिप्रसङ्गदोषादेव। आत्मनश्च स्वशरीरमात्रव्यापिन उपयोगलक्षणस्याभ्युपगतद्रव्यत्वमिति। मनसश्च पुद्गलविशेषतया पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भाव इति परमाणुवद्भावान्मनसश्च जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भाव इति। यदपि तैरभिधीयते–यथा पृथिवीत्वयोगात्पृथिवीति, तदपि स्वप्रक्रियामात्रमेव। यतो न हि पृथिव्याः पृथग्भूतं पृथिवीत्वमपि, येन तद्योगात्पृथिवी भवेत्,अपि तु सर्वमपि यदस्ति तत्सामान्यविशेषाऽऽत्मकं नरसिंहाऽऽकारमुभयस्वभावमिति।

तथा चोक्तम्–

''नान्वयः सहभेदत्वान्न भेदोऽन्वयवृत्तितः।
मृद्भेदद्वयसंसर्ग–वृत्ति जात्यन्तरं घटः॥१॥''

तथा–

''नरस्य सिंहरूपत्वान्न सिंहो नररूपतः।
शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि सः॥१॥'' इत्यादि।

अथ रूपरसगन्धस्पर्शा रूपिद्रव्यवृत्तेर्विशेषगुणाः, तथा संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे इत्येते सामान्यगुणाः, सर्वद्रव्यवृत्तित्वात्। तथा–बुद्धिः सुखदुःख–

च्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारा आत्मगुणाः। गुरुत्वं पृथिव्युद-कयोः, द्रव्यस्वभावत्वेन परोपाधिकत्वं पृथिव्युदकाग्निषु, स्नेहोऽम्भस्येव, वेगाऽऽख्यः संस्कारो मूर्तद्रव्येष्वेव, आकाशगुणः शब्द इति। तत्र संख्याऽऽदयः सामान्यगुणा रूपाऽऽदिवद् द्रव्यस्वभावत्वेन परोपाधिकत्वाद् गुणा एव न भवन्ति। अथापि स्युस्तथाऽपि न गुणानां पृथक्त्वव्यवस्था, तत्पृथक्त्वभावे द्रव्यस्वरूपहानेः, गुणपर्यायवद् द्रव्यमिति कृत्वा नान्तरीयकतया द्रव्यग्रहणेनैव ग्रहणं न्याय्यमिति न पृथग्भाव। किं च–तस्स भावस्तत्वमित्युच्यते। भावप्रत्ययश्च यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलावित्यनेन भवति। तत्र घटो रक्त उदकस्याऽऽहारको जलवान् सर्वैरेव घट उच्यते। अत्र च घटस्य भावो घटत्वं, रक्तस्य भावो रक्तत्वम्, आहारकस्य भाव आहारकत्वं, जलवतो भावो जलवत्त्वमित्यत्र घटसामान्यरक्तगुणक्रिया द्रव्यसंबन्धरूपाणां गुणानां सद्भावात्, द्रव्ये पृथुबुध्नाकार उदकाऽऽद्याहारणक्षमे कुटकाऽऽख्ये शब्दस्य घटाऽऽदेरभिनिवेशः, तत्र त्वतलौ, इह च रक्ताऽऽख्यको गुणो, यत्सद्भावात्कतरच्च तद् द्रव्यं यत्र शब्दनिवेशो येन भावप्रत्ययः स्यादिति। किमिदानीं रक्तस्य भावो रक्तत्वमिति न भवितव्यम्? भवितव्यमुपचारेण। तथाहि–रक्त इत्येतद् द्रव्यत्वेनोपचर्य्य तस्य सामान्यं भाव इति रक्तत्वमिति। न चोपचारस्तत्त्वचिन्तायामुपयुज्यते, शब्दसिद्धावेव तस्य कृतार्थत्वादिति। शब्दश्चाऽऽकाशस्य गुण एव न भवति, तस्य पौद्गलिकत्वादाकाशस्य चामूर्त्तत्वादिति। शेषं तु प्रक्रियामात्रं, न साधनदूषणयोरङ्गम्। क्रियाऽपि द्रव्यसमवायिनी गुणवत्पृथगाश्रयितुं न युक्तेति। सूत्र०१ श्रु०१२ अ०। आ०चू०। आ०म०। स्या०। तत्र पृथिव्यप् तेजोवाय्वाकाशकालदिगाऽऽत्ममनांसि नवैव द्रव्याणि। पृथिव्यप् तेजोवायुरित्येतच्चतुः संख्यं नित्यानित्यभेदाद् द्विप्रकारं द्रव्यम्। तत्र परमाणुरूपं नित्यम्, सदकारणवन्नित्यमिति वचनात्। तदारब्धं तु द्व्यणुकाऽऽदिकार्यद्रव्यमनित्यम्। आकाशाऽऽदिकं तु नित्यमेव, अनुत्पत्तिमत्त्वात्। एषां च द्रव्यत्वाभिसंबन्धाद् द्रव्यरूपता। द्रव्यत्वाभिसंबन्धाद् यानि तु नैव, न च तानि द्रव्यत्वाभिसंबन्धवन्ति। यथा गुणाऽऽदिवस्तूनीति केवलव्यतिरेकिहेतुबलात् पृथिव्यादीनि द्रव्याऽऽदिगुणाऽऽदिभ्यो व्यावृत्तरूपाणि सिद्धानि, पृथिव्यादीनामपि भेदवतां पृथिवीत्वाभिसंबन्धाऽऽदिकं लक्षणमितरेभ्यो भेदव्यवहारे तच्छब्दवाच्यत्वे वा साध्ये केवलव्यतिरेकिरूपं द्रष्टव्यम्, अभेदवतां त्वाकाशकालदिग्द्रव्याणामनादिसिद्धतच्छब्दवाच्यता द्रष्टव्या। सम्म०३ काण्ड। (भिक्षायां ग्राह्यद्रव्यविचारो 'गोयरचरिया' शब्दे तृ०भागे ६८६ पृष्ठे उक्तः। पानकसंसक्ताऽऽदिशब्देषु च वक्ष्यते) पित्तले, वित्ते, विलेपनद्रव्ये, भेषजे, भव्ये जन्तुनि, विनये, मद्ये, व्याकरणोक्ते लिङ्गसङ्ख्याऽन्वयिनि पदार्थे, द्रोर्वृक्षस्य विकारः, तस्येदं वा यत् (वृक्षविकारे, तत्संबन्धिनि च। त्रि०। वाच०।पं० देवविजयगणिकृतप्रश्ने, उत्तरम्–कश्चित् श्राद्धः स्वद्रव्येण प्रतिमां, कश्चित्पुस्तकं च कारयति, लिखति वा, तदा प्रतिमाकर्तुर्देवद्रव्यं, पुस्तक–लेखकस्य ज्ञानद्रव्यं च लगति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–उभयोरपि यथाक्रमं ते उभे न लगत इति संभाव्यते। १६७प्र०। सेन०२ उल्ला०। गोमहिष्यजाप्रभृतीनां सर्पिषः, एवं क्षारमिष्टाऽऽदिपयसां, गोमहिष्यादितक्राणां चैकद्रव्यत्वमुत भिन्नद्रव्यत्वं वा? श्राद्धविधौ त्वित्थं प्रोक्तम्–यत्पृथक् पृथक्नामाऽऽस्वादवत्त्वेन द्रव्यत्वम्, परं तेषु तक्राऽऽदिषु पृथक् पृथक् आस्वादवत् त्वं, न तु नामत्वमतस्तत्र कया रीत्या द्रव्यसंख्या गण्यते? इति प्रश्ने, उत्तरम्–गोमहिष्यजाप्रभृतीनां सर्पिष, क्षारमिष्टाऽऽदिपानीयानां च, गोमहिष्यादितक्राणां चैकद्रव्यत्वं गण्यते, यत उभयभिन्नत्वे सति भिन्नद्रव्यत्वं स्यादिति। २०२प्र०। सेन० २ उल्ला०। अहम्मदावादसंघकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च। यथा–आम्लतक्रमधुरतक्रयोः, तथोष्णोदकशीतोदकयोः, तथा मेघजलकूपजलयोरेकद्रव्यत्वं गण्यते पृथग् वेति प्रश्ने, उत्तरम्–आम्लतक्रमधुरतक्रप्रमुखाणामेकद्रव्यत्वं गण्यत इति। १२४ प्र०। सेन०४ उल्ला०। (भाषाद्रव्यस्य अनुतटिकादिभेदाः 'सद्दव्वभेय' शब्दे वक्ष्यन्ते)

दव्वंतर न०(द्रव्यान्तर) एकद्रव्यादन्यस्मिन् द्रव्ये तद् द्रव्यसदृशे, सम्म०। यथा–गोत्वसदृशपरिणतियुक्ताच्छावलेयद्रव्यात्तत्सदृशपरिणतियुक्तं, बाहुलेयाऽऽदिद्रव्यन्तिरम्। सम्म०३ काण्ड। ''पच्चुप्पन्नं भावं, विगयभविस्सेहि जं समाणेइ। एयं पडुच्च वयणं, दव्वंतरणिस्सियं जं च॥३॥'' सम्म०३ काण्ड।

दव्वछक्क न०(द्रव्यषट्क) षडेव षट्कं, द्रव्याणां षट्कं द्रव्यषट्– कम्। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकालस्वभावे षट् द्रव्यसमुदाये, दर्श०१ तत्त्व।

दव्वजाय न०(द्रव्यजात) तथाविधाशनाऽऽदिद्रव्यविशेषे, उत्त० २६ अ०। द्रव्यप्रकारे, प्रश्न०३ संव०द्वार।

दव्वट्ठपएसट्ठया स्त्री०(द्रव्यार्थप्रदेशार्थता) द्रव्यार्थप्रदेशार्थाभ्याऽऽश्रयणे, भ० २५ श०३उ०।

दव्वट्ठया स्त्री०(द्रव्यार्थता) द्रव्यमुपेक्षितपर्यायं वस्तु, तदेवार्थो द्रव्यार्थः, तद् भावस्तत्ता। भ०१० श०४उ०। द्रव्यत्वे, अनु०। द्रव्यं च तदर्थश्चेति द्रव्यार्थः, तस्य भावो द्रव्यार्थता। प्रदेशगुणपर्यायाऽऽधारतायामवयविद्रव्यतायाम्, स्था०१ ठा०। द्रव्यास्तिकनयमते, ''दव्वट्ठयाए सासया, पज्जवट्ठयाए असासया।'' द्रव्यार्थतया द्रव्यास्तिकनयमतेन शाश्वती, द्रव्यास्तिकनयो हि द्रव्यमेव तात्त्विकमभिमन्यते, न पर्यायान्, द्रव्यं ध्रान्वयपरिणामित्वात्। अन्यथा द्रव्यत्वायोगात्, अन्वयित्वाच्च सकलकालभावीति भवति द्रव्यार्थतया शाश्वती। जी०३ प्रति०४ उ०।

दव्वट्ठाणाउय न०(द्रव्यस्थानाऽऽयुष्) द्रव्यं पुद्गलद्रव्य, तस्य स्थानं भेदः परमाणुद्विप्रदेशकाऽऽदि, तस्याऽऽयुः स्थितिः। अथवा–द्रव्यस्याणुव्वाऽऽदिभावेन यत्स्थानमवस्थानं तदूपमायुर्द्रव्यस्थानाऽऽयुः। द्रव्यस्थितौ, भ०५ श०७उ०।

दव्वट्ठिइ स्त्री०(द्रव्यस्थिति) द्रव्याणां वर्तनाकाले, विशे०। भ०। (सा च चतुर्विधा 'काल' शब्दे तृतीयभागे ४७१ पृष्ठे गता) ('उवचय' शब्दे द्वितीयभागे ८८१ पृष्ठे वस्त्रदृष्टान्तेन च)

दव्वट्ठिय पुं०(द्रव्यार्थिक) द्रव्यमेवार्थो यस्य, न तु पर्यायः, स द्रव्यार्थिकः। नयभेदे, आ०म०१अ०२खण्ड।

***द्रव्यस्थित** पुं०। द्रव्ये च वस्तुतत्त्वबुद्ध्या स्थितो, न तु पर्याये इति द्रव्यस्थितः। नयभेदे, आ०म०१अ०२ खण्ड।

***द्रव्यास्तिक** पुं०। अस्तीति मतिरस्य आस्तिकः। ''दृष्टि–

कास्तिकनास्तिक०–।।'' इति निपातनादिकण्, द्रव्ये आस्तिको, न तु पर्याये इति द्रव्यास्तिकः। आ०म०१ अ०२ खण्ड। जं०। द्रव्यमात्रप्ररूपके मूलनयभेदे, रत्ना०७ परि०।

द्रव्यार्थिकमतम्–

द्रव्यार्थिकमते द्रव्यं, तत्त्वं नेष्टमतः पृथक्। (१२)

द्रव्यार्थिकस्य मते द्रव्यं परमार्थतः सत्, अतो द्रव्यात् पृथग् भिन्नं विकल्पसिद्धं गुणपर्यायस्वरूपं तत्त्वं नेष्टम्, सवृत्तिमतोऽपि तस्य परमार्थतोऽसत्त्वादिति भावः। नयो०। (''तित्थयरवणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी। दव्वट्ठिओ य,'' (३ गाथा) इत्यादि–गाथया 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८७६ पृष्ठे द्रव्यार्थिकनयो विवृतः) स च शुद्धाऽशुद्धभेदेन द्विधा : तत्र शुद्धो द्रव्यास्तिको नयग्रहनयाभिमतविषयप्ररूपकः। सर्वमेकं सदविशेषादिति शुद्धद्रव्यास्तिकाभिप्रायः। अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयमतार्थावलम्बी एकान्तनित्यचेतनाचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसाङ्ख्यदर्शनाऽऽश्रितः, अत एव तन्मतानुसारिणः साङ्ख्याः। सम्म०१ काण्ड। वक्ष्यति चाऽऽचार्यः–''जंकाविलं दरिसणं, एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं।'' इति नैगमनयाभिप्रायः। द्रव्यास्तिकः शुद्धाशुद्धतया आचार्येण न प्रदर्शित एष। नैगमस्य सामान्यग्राहिणः संग्रहेऽन्तर्भूतत्वाद्विशेषग्राहिणश्चव्यवहारे इति नैगमाभावादिति द्रव्यप्रतिपादकनयप्रत्ययराशिमूलव्याकरणी द्रव्यास्तिकः शुद्धाऽशुद्धतया व्यवस्थितः, अत्र पर्यायास्तिक ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतन–यप्रत्ययराशिमूलव्याकरणी शुद्धाशुद्धतया व्यवस्थितः। सम्म०१ काण्ड। नयो०। स्या०।

''दव्वट्ठिअनयपयडी''(सम्म०१ काण्ड ४ गाथा) अस्याश्च गाथायाः सर्वमेव शास्त्रं विवरणम्। ''दव्वट्ठिओ अ पज्जवनओ य''(३) इत्यादिपश्चार्द्धकदेशस्य विवरणायाऽऽह सूरिः–

दव्वट्ठिअनयपयडी, सुद्धा संगहपरूवणाविसओ।
पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥४॥

इति गाथासूत्रम्। अत्र च संग्रहनयप्रत्ययः शुद्धो द्रव्यास्तिको, व्यवहारनयप्रत्ययस्त्वशुद्ध इति तात्पर्यार्थः॥ अवयवार्थस्तुद्रव्यास्तिकनयस्य व्यावर्णितस्वरूपस्य, प्रकृतिः स्वभावः, शुद्धेत्यसंकीर्णा विशेषासंस्पर्शवती, संग्रहस्याभेदतया(?) हि नयस्य प्ररूपणाप्ररूप्यते नयेनैव कृत्वोपवर्णना पदसंहतिः, तस्या विषयोऽभिधेयः, विषयाऽऽकारेण विषयिणो वृत्तस्य विषयव्यवस्थापकत्वात्, उपचारेण विषयेण विषयिप्रकथनमेतत्। अन्यथा कः प्रस्तावः शुद्धद्रव्यास्तिके विधातुं प्रक्रान्ते संग्रहप्ररूपणायाः? स च संग्रहप्ररूपणाभिप्रायेण भाव एव। तथाहि–जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषितरूपेण, स्वार्थद्रव्यालिङ्गकर्माऽऽदिप्रकारेण वा सुबन्तस्य योऽर्थः स भावाद् व्यतिरिक्तो वा भवेदव्यतिरिक्तो वा? यदि व्यतिरिक्तस्तदा निरुपाख्यत्वादत्यन्ताभाववत्तिङन्ताऽऽदिरूप इति कथं सुबन्तवाच्य? अव्यतिरिक्तश्चेत्कथं न भावमात्रता सुबन्तार्थस्य, तिङन्तार्थस्यापिक्रियाकालकारकपुरुषोपग्रहवचनाऽऽदिरूपेण परिभाष्यमाणस्य सत्तारूपतैव। तथाहि–पचतीत्यत्र क्रिया विक्लित्तिलक्षणा, काल आरम्भप्रभृतिरपवर्गपर्यन्तो वर्तमानस्वरूपः, कारकः कर्ता, पुरुषः परः, भावाऽऽत्मकैरुपग्रहः परार्थता, वचनमेकत्वं यद्यपि प्रतिपत्तिविषयः, तथाऽपि सत्त्वमेवैतत्। यतः क्रिया ह्यसती चेत्कारकैर्न साध्येत, खपुष्पाऽऽदिवत्, सती चेदस्तित्वमात्रमेव, सा कारकैश्चाभिव्यज्यत इति। एवं कालाऽऽदयोऽप्यसन्तश्चेन्न शशशृङ्गाद्विद्येरन्, सदात्मकाश्चेत्कथं नास्तिवादभिन्नाः(?) इति सत्तैव तिङन्तस्यार्थः, घटोऽस्तीत्यस्यार्थ यद्वाक्यं प्रयुज्यते घटः सन्निति, तत्र भावाभिधायिता पदद्वयस्यापि। तथाहि घट इति विशेषणं, सन्निति विशेष्यम्। अत्र द्वयेनाऽपि वा भावविपरीतेन भाव्यम्। न ह्यन्यथा तद्विशेषणं, नापि तद्विशेष्यं स्याद्, निरुपाख्यत्वात्, अत्यन्ताभाववत्। यदि पुनरभावविपरीतं तदिष्यते, विशेषणविशेष्ययोः कथं न भावरूपता? तेन यदेव घटस्य भावो घटत्वं, तदेव घटः, यच्च सतो भावः, सत्त्वं, तदेव सन्निति सर्वत्र संग्रहाभिप्रायतः प्ररूपणाविषयो भाव एव। उक्तं चैतत् समयसद्भावमभिदधताऽन्येनापि–

''अस्त्यर्थः सर्वशब्दनामिति प्रत्याय्य लक्षणम्।
अपूर्वदेवताशब्दैः समं प्राऽऽहुर्गवादिषु॥१॥
घटाऽऽदीनां न चाऽऽकारा–त्प्रत्यायपयति वाचकः।
वस्तुमात्रनिवेशित्वात्तद्गतिर्नान्तरीयका॥२॥'' इति।

अत एव ''यत्र विशेषक्रिया नैव श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषे प्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते,'' इत्युक्तं शब्दसमयविद्भिरिति। अवगतिश्चैवं युक्ता–यदि सत्ता पदार्थो न व्यभिचरेत्, अव्यभिचरेत्। अव्यभिचारे च तदावेशात्तदात्मकतैव, आसन्नापरित्यागे वा स्वरूपहानमिति न सन्मात्रमेवाध्यक्षस्य, शब्दस्य वा विषयः, निःशेषमशेषपृथक् व्यवस्थापितमधुराऽऽदिरसपानकद्रव्यवत्। भेदप्रतिभासस्तु भेदप्रतिपादकाऽऽगमोपहतान्तःकरणानां तिमिरोपप्लुतदृशामेकशशलाञ्छनमण्डलस्यानेकत्वावभासनवदसदिति सर्वमेदानपन्हुवानः सर्वं सन्मात्रतया संगृह्णन् संग्रहः, शुद्धा द्रव्यास्तिकप्रकृतिरिति स्थितम्। तामेव शुद्धां 'पडिरूवे पुण (४)' इत्यादिगाथापश्चार्द्धेन दर्शयत्याचार्यः–प्रतिरूपं प्रतिबिम्बं, प्रतिनिधिरिति यावत्। विशेषेण घटाऽऽदिना द्रव्येण संकीर्णा सत्ता, पुनरिति प्रकृतिं स्मारयति। तेनाऽयमर्थः–विशेषेण संकीर्णा सत्ता प्रकृतिःस्वभायो वचनार्थनिश्चय इति हेयोपादेयोपेक्षणीयवस्तुविषयनिवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसंपादनार्थम्, उच्यत इति वचनं, तस्य घट इति विभक्तरूपतयाऽस्तीत्यविभक्ताऽऽत्मतया प्रतीयमानो व्यवहारक्षमोऽर्थः, तस्य निश्चयो निर्गतः पृथग्भूतश्च यः परिच्छेदः, तस्येति द्रव्यास्तिकस्य, व्यवहार इति लोकप्रसिद्धव्यवहारप्रवर्तनपरो नयः सोऽभिमन्यते। यदि हि हेयोपादेयोपेक्षणीयस्वरूपाः परस्परतो विभिन्नस्वभावाः सदूषतया शब्दप्रभवे संवेदने भावाः प्रतिभान्ति, ततो निवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षणो व्यवहारस्तद्विषयः प्रवृत्तिमासादयति, नान्यथा। न चैकान्ततः सन्मात्राविशिष्टेषु संग्रहाभिमतेषु प्रथक् स्वरूपतया परिच्छेदो बाधितरूपो व्यवहारनिबन्धन, संभवतीति। तथाहि–यदाद्याऽऽकारे निरपेक्ष–तया स्वग्राहिणो ज्ञाने प्रतिभासमाधत्ते, तत्तथैव सदिति व्यवहर्त्तव्यं, यथा प्रतिनियतं सत्ताऽऽदिरूपम्, सन्निवेशघटाद्याकारनिरपेक्षं च घटाऽऽदिकं स्वावभासिनि ज्ञाने स्वरूपं सन्निवेशयतीति स्वभावहेतुः। घटाऽऽदिनिरपेक्षत्वं च पटाऽऽदेः घटाऽऽद्यभावेऽपि भावादवभासमानाच्च सिद्धम्। यद्वा–प्रतिशब्दो वीप्सायाम्, रूपशब्दश्च वस्तुन्यत्र प्रवर्त्तते। तेनायमर्थः–रूपं रूपं प्रति प्रतिवस्तु, वस्तु प्रति यो वचनार्थनिश्चयः, तस्य प्रकृतिः स्वभावः स व्यवहार इति। तथाहि–प्रतिरूपमेव वचनार्थनिश्चयो व्यवहारहेतुः, न पुनरस्तित्वमात्रनिश्चयः, यतोऽस्तीत्युक्तेऽपि श्रोता शङ्कामुपगच्छन् लक्ष्यते, अतः किमिच्छन् लक्ष्यतेऽस्ती–

त्याशङ् कायां द्रव्यमित्युच्यते, तदपि किम्? पृथिवी, साऽपि का? वृक्षः, सोऽपि कः? चूतः, तत्राप्यर्थित्वे यावत्पुष्पितः फलितः, इत्यादि तावन्निश्चिनोति यावद् व्यवहारसिद्धिरिति। व्यवहारो हि नानारूपतया सत्तां व्यवस्थापयति, तथैव संव्यवहारसंभवात्। अतो व्यवहरतीति व्यवहार इत्यन्वर्थसंज्ञां विभ्रदशुद्धा द्रव्यास्तिकप्रकृतिर्भवति।

विशेषप्रस्तारस्य पर्यायतया मूलव्याकरणी, शब्दाऽऽदयश्च शेषाः पर्यायनयभेदा इति प्रागुक्तं, तत्सम्मर्थनार्थम्–

मूलणिमेणं पज्जवणयस्स उज्जुसुअवयणविच्छेदो।
तस्स उ सद्दाईआ, साहपसाहा सुहुमभेया॥५॥

इति गाथासूत्रम्। अस्य तात्पर्यार्थः–पर्यायनयस्य प्रकृतिराद्या ऋजुसूत्रः, स त्वशुद्धा, शब्दः शुद्धा, शुद्धतरा समभिरूढः, अत्यन्तशुद्धा त्वेवंभूत इति। अवयवार्थस्तु–मूलनिमेणमाधारः, पर्यायो विशेषः, तस्य नय उपपत्तिबलात्परिच्छेदः, तस्य, ऋजु वर्त्तमानसमयं वस्तु, स्वरूपावस्थितत्वात्, तदेव सूत्रयति परिच्छिनत्ति, नातीतानागतं, तस्यासत्त्वेन कुटिलत्वात्। तस्य वचनं पदं वाक्यं वा, तस्य विच्छेदोऽन्तः सीमेति यावत्। ऋजुसूत्रवचनस्येति कर्मणि षष्ठी। तेन ऋजुसूत्रस्यायमर्थो नान्यस्येति प्ररूपयतो वचनं विच्छिद्यमानं यत्तन्मूलनिमेणमत्र गृह्यते। ननु कथं वचनविच्छेदः शब्दरूपः परिच्छेदस्यभावस्य नयस्याऽऽधारः। नैष दोषः, विषयेण विषयिकथनरूपत्वादस्य। न च वचनार्थोऽस्य विषयो, न शब्द इति वक्तव्यं, वचनार्थयोरभेदात् वचनमपि यतो विषयः। अथ विषय एव किन्नोक्त इति न प्रेरणीयम्, शब्दाभिहितस्यैव प्रमाणत्वमिति ज्ञापनार्थत्वादेवमभिधानम्, तस्य च पूर्वापरपर्यायविविक्ते एकपर्याय एव प्ररूपयतो वचनं विच्छिद्यते, एकपर्यायस्य परपर्यायासंस्पर्शात्। उक्तं च तन्मतमर्थं प्ररूपयद्भिः–"पलालं न दहत्यग्निर्दह्यते न गिरिः क्वचित्। नासंयतः प्रव्रजति, भव्यजीवो न सिद्ध्यति॥१॥" पलालपर्यायस्याग्निसाद्भावपर्यायादत्यन्तभिन्नत्वाद् यः पलालो नाऽसौ दह्यते, यश्च भस्मभावमनुभवति, नासौ पलालपर्याय इति। सम्म०१ काण्ड। ("नामं ठवणा दविए, त्ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो।" (६ गाथा सम्म०१ काण्ड) इत्यादिगाथाया 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८८८ पृष्ठे व्याख्यातोऽर्थः)

एतदेवाऽऽह–

तिर्यगूर्द्ध्वप्रचयिनः, पर्यायाः खलु कल्पिताः।
सत्यं तेष्वन्वयि द्रव्यं, कुण्डलाऽऽदिषु हेमवत्॥१३॥

(तिर्यगति) तिर्यक्प्रचयिनः परस्परसमानाधिकरणत्वे सति परस्परसमानकालीना रूपरसाऽऽदय अणुत्वस्थौल्याऽऽदयश्च, ऊर्द्धप्रचयिनः परस्परसमानाधिकरणत्वे सति परस्परभिन्नकालीना रक्तश्यामत्वाऽऽदयः, संयोगविभागाऽऽदयश्च, पर्यायाः खलु निश्चितं, कल्पिता वासनाविशेषप्रभवविकल्पसिद्धा अपारमार्थिका इति यावत्। तेषु कल्पनारूढेषु पर्यायेष्वन्वयि व्यापकतया प्रतीयमानं द्रव्यं सत्यं, कुण्डलाऽऽदिषु नानाकारेषूपनीयमानेषु पर्यायेष्वन्वीयमानं, हेमवत्। अयं भावः–यथा शुक्तौ रजतभ्रान्तौ बाधाऽवतारानन्तरं रजताभावभानेऽपि शुक्तेर्भासमानत्वाद् शुक्तेः सत्यत्वं, रजतस्य चासत्यत्वं, तथा कुण्डलाऽऽद्यभावभानेऽपि हेम्नो भानात् कुण्डलाऽऽदिपर्यायाणामसत्यत्वं हेमद्रव्यस्य सत्यत्वम्। एवमन्यत्रापि भावनीयमिति। नन्वेवं भ्रमाधिष्ठानत्वमेव सत्यत्वं, भ्रमविषयत्वं चासत्यत्वमित्वागतम्, न चासत्यत्वं प्रत्यक्षप्रमीयमानेषु पर्यायेष्वव्यापकम्, एवं तत्र तदसत्त्वरूपसत्यत्वमपि तेष्वव्यापकमिति चेद्, न, सत्यरजतस्याऽपि प्रतिभासकाले सत्ताभानेन कालत्रयसत एवैतन्नये सत्यत्वस्वीकारात्। अत एव कालवृत्त्यत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वमेव परमार्थसत्वत्वमित्यभिप्रेत्याऽऽहैतत्साम्प्रदायिकः॥१३॥

आदावन्ते च यन्नास्ति, मध्येऽपि हि न तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तो–ऽवितथा इव लक्षिताः॥१४॥

(आदाविति) आदावन्ते च यद्वस्तु नास्ति, तन्मध्येऽपि मध्यकालेऽपि न तथा, नास्ति इत्यर्थः। न हि प्रागभावध्वंसानवच्छिन्नकालसंबन्धः सत्य इत्यभ्युपगन्तुं शक्यम्, उत्पत्तिविनश्यत्तासमययोरुत्पत्तिविनाशव्यापारव्यग्र्योरन्वयिव्यवहारात्; न च तद्विवेके मध्यभागः कश्चिदवशिष्यते, इक्षुदण्डस्येव सकलमूलाग्रभागच्छेदे। किं च–पूर्वं पश्चाच्चासत्स्वभावस्य कथं मध्यमक्षणे सत्स्वभावत्वम्, स्वभावविरोधाद्, मध्यमक्षणे सन्नेव पर्यायः पूर्वापरकालयोरसद्– व्यवहारकारीति न स्वभावविरोध इति चेत्, तर्हि पूर्वापरकालयोरसत्स्वभाव एवायं मध्यमक्षणसंबन्धेन सद्व्यवहारकारीत्येव किं न स्वीक्रियते? तस्मान्न निरपेक्षपारमार्थिकसत्ताकं(?) न पर्यायाः, किं तु वितथैः शशविषाणाऽऽदिभिः काल्पनिकत्वेन सदृशाः सन्तोऽनादिलौकिकव्यवहारवासनाबशादवितथा इव लक्षिताः, लोकैरिति शेषः॥१४॥

नन्वेवं द्रव्यार्थिकनये पर्यायाणां शशविषाणप्रायत्वात्तदव–
गाहिज्ञानमलीकविषयत्वेन मिथ्या स्याद्, न च घटाऽऽ–
दिज्ञानविनिर्मुक्तविषयको द्रव्योपयोगः कश्चिदवशि–
ष्यते, इति नामशेषता च तस्य स्यादित्याशङ्क्य
शुद्धाशुद्धान्तरद्रव्यार्थिकभेदेन तस्य द्वैविध्या–
न्नानुपपत्तिरित्यभिप्रायवानाह–

अयं द्रव्योपयोगः स्याद्विकल्पेऽन्त्ये व्यवस्थितः।
अन्तरा द्रव्यपर्याय–धीः सामान्यविशेषवत्॥१५॥

(अयमिति) अयं द्रव्योपयोगी द्रव्यार्थिकनयजन्यो बोधोऽन्त्ये विकल्पे शुद्धसंग्रहाऽऽख्ये व्यवस्थितः पर्यायबुद्ध्या अविचलितः स्यात्, अन्तरा शुद्धसंग्रहशुद्धर्जुसूत्रविषयमध्ये द्रव्यपर्यायधीरेव स्यात्, सामान्यविशेषबुद्धिवत्। यथा हि परेषां द्रव्यत्वाऽऽदिकं द्रव्यापेक्षया सामान्यं सद् गुणाऽऽद्यपेक्षया विशेषाऽऽख्यां लभते, तथाऽस्माकं घटाऽऽदिकं स्वपर्यायापेक्षया सामान्यं सद् गुणाऽऽद्यपेक्षया पर्यायाऽऽख्यां लभते, इति यद्यवगाही अवान्तरद्रव्यार्थिकः पर्यायोपसर्जनतां, द्रव्यमुख्यतां चाऽवगाहमानो न विरुध्यते, असतोऽप्युपसर्जनतया आश्रयणं च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाऽऽकाशस्य शब्दग्राहकतां वदतां तार्किकाणाम्, आनुपूर्वीविशेषविशिष्टस्य शब्दस्य श्रोत्रग्राह्यतां वदतां मीमांसकाऽऽदीनां च दृश्यत एवेति भावः। यद्वा–घटाऽऽदेर्द्रव्यार्थिकेन पर्यायविनिर्मुक्तद्रव्या-ऽऽकारेणैव ग्रहः, पर्यायनयेन तत्र पर्यायत्वाऽऽपादने च पर्यायविशिष्टतया ग्रहणमित्येवं सूक्ष्मेक्षिकायां शुद्धसंग्रहादन्त्यविशेषं यावदव्यवस्थितिः, अन्त्यविशेषविकल्पे च शुद्धर्जुसूत्रलक्षणे कारणाभावादेव द्रव्योपयोगो व्यवस्थितः स्याद्व्युपरतः स्यादिति व्याख्येयम्। न चानयाऽनवस्थयैवैकस्याऽपि बोधस्यानापत्तिः, तत्तदवान्तरभेदप्रवृत्तौ वा विषयान्तरसंचारानुपपत्तिः, पर्यायान्तरजिज्ञासोपरमे तद्बोधविश्रान्तेरिति भावनीयम्। तदिदमुक्तसम्मतौ–

''पज्जवणयवुक्कंतं, वत्थुं दव्वट्ठियस्स वएणिज्जं।
जाव दविओवओगो अपच्छिमविअप्पणिव्वयणो ॥८॥''

(पूर्वं 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८८९ पृष्ठे गाथेयं व्याख्याता) किं त्विहाप्युपयुक्तत्वेन किञ्चिद् विद्रियते न विद्यते पश्चिमे विकल्पनिर्व–चने सविल्पधीव्यवहारलक्षणे यत्र स तथा, संग्रहावसान इति यावत्। ततः परं विकल्पवचनाप्रवृत्तेरीदृशो यावद् द्रव्योपयोगः प्रवर्तते तावद् द्रव्यार्थिकस्य वचनीयं वस्तु, तच्च पर्यायनयेन वि–विशेषेण उद्भूद्भ क्रान्तमेव विषयीकृतमेव पर्यायनयाऽऽक्रान्तं सत्तायां मानाभावादित्येकोऽर्थः।

यद्वा–यद् वस्तु सूक्ष्मतरसूक्ष्मतमाऽऽदिबुद्धिना पर्यायनयेन स्थूलरूपं त्यजता व्युत्क्रान्तंगृहीत्वा मुक्तं, किमिदं मृत्सामान्यं, यद् घटाऽऽदिविशेषानुपरक्तविषयीभवदन्त्यमाकारेण(?) यावच्छुक्लरूपतमोऽन्त्यो विशेषस्तावत्तत्सर्वं द्रव्यार्थिकस्य वचनीयमतो यावदपश्चिमविकल्पनिर्वचनो योऽन्त्यो विशेषस्तावद् द्रव्योपयोगः प्रवर्तते इति द्वितीयोऽर्थः। अत एव द्रव्यपर्यायविषयतया, तदितरविषयतया वा न शुद्धजातीयद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक व्यवस्था, किं तूपसर्जनीकृतानर्थप्रधानीकृतस्वार्थविषयतया। तदुक्तम्–

''दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा, णत्थि णओ नियमसुद्धजाईओ।
ण य पज्जवट्ठिओ णाम को अ भयणाय उ विसेसो ॥९॥''

भजनोपसर्जनप्रधानभावावगाहनादसामान्यसंग्रहेऽपि शुद्धद्रव्यार्थकान्तिको न स्यादिति चेन्न, स्यादेवं पर्यायनयविचारानवतारदशायामेव तस्य शुद्धत्वव्यवस्थितेः, तदवतारे तु पूर्वप्रवृत्तद्रव्यार्थिकाप्रामाण्यनिश्चयेन तदर्थाभावस्यैव निश्चयात्। तदुक्तम्–

''दव्वट्ठिअवत्तव्वं, अवत्थु णियमेण होइ पज्जाए।
तह पज्जववत्थु अव–त्थुमेव दव्वट्ठिअणयस्स ॥१०॥''

(सम्म०१ काण्ड)

अवस्तु इतरनयप्राधान्योपस्थितिजनितं नयाप्रामाण्यनिश्चयकृताऽवस्तुत्वनिश्चयविषयः, तस्मात्पर्यायविनिर्मुक्तप्रकारताकस्य पर्यायनिष्ठोपसर्जनत्वस्य विषयताकस्य वा द्रव्यार्थिकस्य तत्तत्कोपनीतस्वार्थविचारदशायामेव शुद्धत्वं, पर्यायनयाऽऽयातभावाऽऽकाङ्क्षायां चाशुद्धत्वमिति विवेकः। नयो०।

अथ नवसु नयेषु प्रथमो द्रव्यार्थिकनय उक्तः, अतस्तस्या भेदा दश, तेषु प्रथमं भेदं विवरीषुराह–

द्रव्यार्थिकनयस्त्वाद्यो, दशधा समुदाहृतः।
शुद्धद्रव्यार्थिकस्तत्र, ह्यकर्मोपाधितो भवेत् ॥९॥

(द्रव्यार्थिकेति) द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाऽऽदिक्रमेण नया नव वर्तन्ते, तेषु आद्यः प्रथमो द्रव्यार्थिको नयः दशधा दशप्रकारः समुदाहृतः, तत्र च प्रथमो द्रव्यार्थिकनयः शुद्धद्रव्यार्थिक इति अकर्मोपाधितः कर्मणामुपाधितो रहितः शुद्धद्रव्यार्थिकः कथ्यते। सद् द्रव्यम्। लक्षणं त्विदम्–सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्याप्नोतीति सत्, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सद्, अर्थक्रियाकारि च सत्। यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्, यच्च नार्थक्रियाकारि तदेव परतोऽप्यसत्, इति निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्तात्स्वभावविभावपर्यायाद् द्रवति, द्रोष्यति, अदुद्रुवत् इति द्रव्यम्। गुणपर्याय–वद् द्रव्यम, गुणाश्रयो द्रव्यं वा। यदुक्तं विशेषाऽऽवश्यकवृत्तौ–

''दवए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण संदावो। दव्वं भव्वं भावस्स भूअभावं च जं जोगं ॥२८॥'' ('दव्व' शब्देऽनुपदमेवास्याः २४६२ पृष्ठे व्याख्या गता) द्रवति ताँस्तान्पर्यायान् प्राप्नोति मुञ्चति वा १। द्रूयते स्वपर्यायैरेव प्राप्यते मुञ्चते वा २। द्रुः सत्ता, तस्या एवावयवो विकारो वेति द्रव्यम्। ३–४। अवान्तरसत्तारूपाणि द्रव्याणि महासत्तायाः अवयवो विकारो भवत्येवेति भावः। गुणाः रूपरसाऽऽदयः, तेषां संद्रावः समूहो घटाऽऽदिरूपो द्रव्यम् ५। तथा (भव्वं भविस्सति) भविष्यतीति भावः, तस्य भाविनः पर्यायस्य योग्यं यद्द्रव्यं तदपि द्रव्यम्, राजपर्यायार्हकुमारवत् ६। तथा भूतं हि पश्चात्कृतो भावः पर्यायो यस्य तदपि द्रव्यम्। इति दिक्। तदेव द्रव्यमर्थः प्रयोजनं यस्यासौ द्रव्यार्थिकः, अस्त्यर्थे ठक् प्रत्ययः। शुद्धः कर्मोपाधिरहितश्चाऽसौ द्रव्यार्थिकश्च शुद्धद्रव्यार्थिक इति ॥९॥

अथ तस्य द्रव्यार्थिकस्य शुद्धताया विषयं दर्शयन्नाह–

यथा संसारिणः सन्ति, प्राणिनः सिद्धसन्निभाः।
शुद्धाऽऽत्मानं पुरस्कृत्य, भवपर्यायतां विना ॥१०॥
उत्पादव्ययययोर्गौणे, सत्तामुख्यतयाऽपरः।
शुद्धद्रव्यार्थिको भेदो, ज्ञेयो द्रव्यस्य नित्यवत् ॥११॥

प्राणा द्रव्यभावभिन्नाः सन्ति येषां ते प्राणिनः। संसारो गतिचतुष्काऽऽविर्भावः, सोऽस्ति येषां ते संसारिणः। यथा येन प्रकारेण शुद्धाऽऽत्मत्वाऽऽदिलक्षणेन, सिद्धसन्निभाऽष्टकर्मनिर्मुक्तजीवनिभा विद्यन्ते। किं कृत्वा सन्ति? शुद्धाऽऽत्मानं मूलभावं, तथा सहजभावं शुद्धाऽऽत्मनः स्वरूपं, पुरस्कृत्याग्रे कृत्वा, कथम्? विना केन विना? भवपर्यायतां, भवः संसारस्तस्य पर्यायो भावस्तत्ता भवपर्यायता, तां विना। एतावता या चाऽनादिकालिकी जीवस्य संसारावस्था वर्त्तते, सा प्रस्तुताऽपि न गण्यते। अविद्यमानोऽपि बाह्याऽऽकारेण सिद्धाऽऽकारः, तथाऽपि गृह्यतेऽन्तर्विद्यमानत्वात्। तदायमात्मा शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सिद्धसम एवास्तीति भावः। अत्र भावमात्रपरा द्रव्यसंग्रहगाथा–''मग्गणगुणठाणेहि, चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया। विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१॥'' ॥१०॥ (उत्पादेति) उत्पादस्य व्ययस्य च गौणतायां, तथा सत्ताया ध्रुवात्मकतायाश्च मुख्यतायाम्, अपर इति द्वितीयो भेदः शुद्धद्र–व्यार्थिकस्य ज्ञेयः। यतः उत्पादव्ययययोर्गौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको नाम द्वितीयो भेदः२। अस्य मते द्रव्यं नित्यं गृह्यते, नित्यं तु कालत्रयेऽप्यविचलितस्वरूपं, सत्तामादायैवेदं युज्यते, कथम्? पर्यायाणां प्रतिक्षणं ध्वंसिनां परिणामित्वेनानित्यत्वोलब्धेः परं तु जीवपुद्गलाऽऽदिद्रव्याणां सत्ता अव्यभिचारिणी नित्यभावमवलम्ब्य त्रिकालाविचलितस्वरूपाऽवतिष्ठते, ततो द्रव्यस्य नित्यवदिति द्रव्यस्य नित्यत्वेन द्वितीयो भेदः ॥११॥

अथ तृतीयभेदमुपदिशन्नाह–

कल्पनारहितो भेदः, शुद्धद्रव्यार्थिकाऽभिधः।
तृतीयो गुणपर्यायादभिन्नः कथ्यते ध्रुवम् ॥१२॥

भेदः कल्पनया रहितः कल्पनारहितस्तृतीयो भेदः शुद्धद्रव्यार्थिकनामाऽस्ति ३। यथा जीवद्रव्यं, पुद्गलाऽऽदिद्रव्यं च निजनि–

ज गुणपर्यायेभ्यश्चाभिन्नमस्ति, यद्यपि भेदो वर्त्तते द्रव्याऽऽदीनां गुणपर्यायेभ्यः, तथाऽपि भिन्नविषयिण्यर्पणा न कृता, अभेदाख्यैवार्पणा कृता, अतः कारणाद्यद् यद् द्रव्यं तत्तद् द्रव्यजन्यगुणपर्यायाभिन्नं तिष्ठति। यदेव द्रव्यं तदेव गुणो, यदेव द्रव्यं तदेव पर्यायो, महापटजन्यखण्डपटवत्तदात्मकत्वात्। अत्र हि विवक्षावशाद् भिन्नाभिन्नत्वं ज्ञेयमिति ॥१२॥

अथ चतुर्थं भेदमाह–

कर्मोपाधेरशुद्धाऽऽख्यश्चतुर्थो भेद ईरितः।
कर्मभावमयस्त्वात्मा, क्रोधी मानी तदुद्भावात् ॥१३॥

(कर्मेति) कर्मोपाधेः सकाशात् कर्ममिश्रजीवद्रव्यस्याशुद्धत्वं जायते, ततः कर्मोपाधेरशुद्धद्रव्यार्थिकश्चतुर्थो भेदः कथितः। यतः कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति भेदः। अस्य च लक्षणं कथयति–यथा कर्मभावमयः कर्मणां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनां भावाः प्रकृतयस्ते प्रचुरा यत्रेति कर्मभावमयः, आत्मा तादृग् रूपो लक्ष्यते। येन येन कर्मणा आगत्य आत्मा निरुद्ध्यते, तदा तत्तत्कर्मस्वभावतुल्यपरिणतः सन् व्यवह्रियते, यतः कोधोदयाद् जीवः क्रोधीति व्यपदिश्यते, मानकर्मोदयाज्जीवो मानीति व्यपदिश्यते। एवं यदा यद् द्रव्यं येन भावेन परिणमति, तदा तद् द्रव्यं तन्मयं कृत्वा ज्ञेयम्। यथालोहोऽग्निना परिणतो यदा काले प्राप्यते तदा अग्निरूप एतोद्भाव्यते, न तु लोहरूपः। एवमात्माऽपि मोहनीयाऽऽदिकर्मोदयेन यदा क्रोधाऽऽदिपरिणतः स्यात् तदा क्रोधाऽऽदिरूप एव बोद्धव्यः। अत एवाष्टावात्मनो भेदाः सिद्धान्ते व्याख्याता इति।

अथ पञ्चमं भेदमाह–

उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिकोऽग्रिमः।
एकस्मिन्समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक् ॥१४॥

उत्पादव्ययसापेक्षः पञ्चमो भेदोऽशुद्धद्रव्यार्थिको ज्ञेयः। यतः– उत्पादव्ययसापेक्षः सत्ताग्राहकोऽशुद्धद्रव्यार्थिकःपञ्चम इति ।५। यथा एकस्मिन्समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपं कथ्यते। कथं तद्? यः कटकाऽऽद्युत्पादसमयः स एव केयूराऽऽदिविनाशसमयः, परं तु कनकसत्ता कटककेयूरयोः परिणामिन्यावर्जनीयैव। एवं सति त्रैलक्षण्यग्राहकत्वेनेदं प्रमाणवचनमेव स्यान्न तु नयवचनमिति चेन्न। मुख्यगौणभावेनैवानेन नयेन त्रैलक्षण्यग्रहणान्मुख्यनयं स्वस्वार्थग्रहणेन नयानां सप्तभङ्गीमुखेनैव व्यापारात् ॥१४॥

अथ षष्ठभेदमाह–

भेदस्य कल्पनां गृह्णन्नशुद्धः षष्ठ इष्यते।
यथाऽऽत्मनो हि ज्ञानाऽऽदिगुणःशुद्धःप्रकल्पनात् ॥१५॥

(भेदेति) अशुद्धद्रव्यार्थिकः षष्ठो भेदो भेदस्य भेदभावस्य कल्पनां गृह्णन् सन् जायते, यथाहि ज्ञानाऽऽदयो गुणाः शुद्धा आत्मनः कथ्यन्ते, इत्यत्र षष्ठी विभक्तिभेदं कथयति, भिक्षोः पात्रमितिवत्। परमार्थतस्तु गुणगुणिनोर्भेद एव नास्ति, तस्मात् कल्पितो भेदोऽत्र ज्ञेयो, न तु साहजिकः ॥१५॥

अथ सप्तमं भेदं कथयति–

अन्वयी सप्तमश्चैकस्वभावः समुदाहृतः।
द्रव्यमेकं यथा प्रोक्तं, गुणपर्यायभावितम् ॥१६॥

(अन्वयीति) अन्वयद्रव्यार्थिकः सप्तमो भेद एकस्वभाव उक्तः। यथा– द्रव्यं चैकं गुणैः पर्यायैश्च भावितं वर्त्तते, द्रव्यमेकं गुणपर्यायस्वभावमस्ति। गुणेषु रूपाऽऽदिषु पर्यायेषु कम्बुग्रीवाऽऽदिषु द्रव्यस्य घटस्यान्वयोऽस्ति। यतस्तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः। अथवा–सति सद्भावोऽन्वयः। यथा–सति दण्डे घटोत्पत्तिः। अत एव यदा द्रव्यं ज्ञायते तदा द्रव्यार्थाऽऽदेशेन तदनुगतसर्वगुणपर्याया अपि ज्ञायन्ते। यथा–सामान्यप्रत्यासत्त्या परस्य सर्वा व्यक्तिरपि अवगन्तव्या, तथा अत्राऽपि ज्ञेयमित्यन्वयद्रव्यार्थिकः सप्तम इति ॥१६॥

अथाष्टमभेदोत्कीर्त्तनमाह–

स्वद्रव्याऽऽदिकसंग्राही, ह्यष्टमो भेद आहितः।
स्वद्रव्याऽऽदिचतुष्केभ्यः, सन्नर्थो दृश्यते यथा ॥१७॥

(स्वेति) स्वद्रव्याऽऽदिग्राहको द्रव्यार्थिकोऽष्टमो भेदः कथितः। यथा– अर्थो घटाऽऽदिः स्वद्रव्यतः स्वक्षेत्रतः स्वकालतः स्वभावतः सन्नेव प्रवर्तते। स्वद्रव्याद् घटः काञ्चनो, मृन्मयो वा ॥१॥ स्वक्षेत्राद् घटः पाटलिपुत्रो, माथुरो वा ॥२॥ स्वकालाद् घटो वासन्तिको, ग्रैष्मो वा ॥३॥ स्वभावात् घटः श्यामो, रक्तो वा ॥४॥ एवं चतुर्ष्वपि घटद्रव्यस्य सत्ता प्रमाणसिद्धैवाऽस्ति। स्वद्रव्यीऽऽदिग्राहको द्रव्यार्थिकोऽष्टमो भेद इति ज्ञेयम् ॥१७॥

अथ नवमं भेदमाह–

परद्रव्याऽऽदिकग्राही, नवमो भेद उच्यते।
परद्रव्याऽऽदिकेभ्योऽसन्नर्थःसंभाव्यते यथा ॥१८॥

तेषु द्रव्यार्थाऽऽदिषु परद्रव्याऽऽदिग्राहको द्रव्यार्थिको नवमः ॥६॥ यथाऽर्थो घटाऽऽदिः परद्रव्याऽऽदिचतुष्टयेभ्योऽसन् वर्त्तते। घटापेक्षया परद्रव्यं पटः, अतस्तन्त्वादिभ्यो घटोऽसन्नस्ति ॥१॥ परक्षेत्राद् यथा– घटो माथुरो वर्त्तते, न काशीजः, किं तु घटक्षेत्रं मथुरा, तदपेक्षया काशी भिन्ना। अत एव परक्षेत्रात्काशीलक्षणादसन् घटः ॥२॥ परकालाद् यथा– घटो वसन्ते निष्पन्नोऽतो वासन्तिको घटः, वसन्तापेक्षया ग्रैष्मो भिन्नस्ततो ग्रीष्मकालजाद्वासन्तिको घटोऽसन् ॥३॥ परभावाद्– विवक्षितश्यामाऽऽदिभावापेक्षया रक्तो घटोऽसन् वर्त्तते ॥४॥ एवं परद्रव्याऽऽदिग्राहको द्रव्यार्थिको नवमः॥१८॥

अथ दशमभेदोत्कीर्त्तनमाह–

परमभावसंग्राही, दशमो भेद आप्यते।
ज्ञानस्वरूपकस्त्वात्मा, ज्ञानं सर्वत्र सुन्दरम् ॥१९॥

परमभावसंग्राही परमभावग्राहको दशमो भेदः कथितः ॥१०॥ यथा– ज्ञानस्वरूपक आत्मा ज्ञानस्वरूपी कथितः, दर्शनचारित्र–वीर्यलेश्याऽऽदयो ह्यात्मनो गुणा अनन्ताः सन्ति, परं तु तेषु एकं ज्ञानं सारतरं वर्त्तते। अन्यद्रव्येभ्य आत्मनो भेदो ज्ञानगुणेन दर्शयिष्यते। तस्मात्कारणाच्छीघ्रोपस्थितिकत्वेनाऽऽत्मनः परमस्वभावो ज्ञानमेवाऽऽस्ते। इत्थमन्येषामपि द्रव्याणां परमभावा असाधारणगुणा ग्रहीतव्याः। परमभावग्राहको द्रव्यार्थिको दशम इति। अत्रानेकस्वभावानां मध्ये ज्ञानाऽऽख्यः परमस्वभावो गृहीत इति द्रव्यार्थिकस्य दश भेदाः ॥१९॥

द्रव्या०५ अध्या०।

द्रव्यार्थिकभेदानाहुः–

आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रिधा ॥६॥

आद्यो द्रव्यार्थिकः। रत्ना०७ परि०। (तत्र नैगमाऽऽदीनां व्याख्याऽन्यत्र)

दव्वणय पुं०(द्रव्यनय) द्रव्यार्थिकनये, उत्त०।

द्रव्यनय आह–''यथा नामाऽऽदि नाऽऽकारं, विना संवेद्यते तथा। नाऽऽकारोऽपि विना द्रव्यं, सर्वं द्रव्याऽऽत्मकं ततः ॥१॥'' तथाहि–द्रव्यमेव मृदादि निखिलस्थासकोशकुटकपालाऽऽद्याकारानुयायि वस्तु सत्, तस्यैव तत् तदाकारानुयायिनः सद्बोधविषयत्वात्, स्थासकोशाऽऽद्याकाराणां तु मृद्द्रव्यातिरेकिणां कदाचिदनुपलम्भात्, तच्चोत्पादाऽऽदिसकलविकारविरहितं तथातथाऽऽविर्भावतिरोभावमात्रान्वितं संमूर्छितसर्वप्रभेदनिर्भेदबीजं द्रव्यमागृहीततरङ्गाऽऽदिप्रभेदस्तिमितसरः सलिलवत्। उत्त० १ अ०।

आह च–

दव्वपरिणाममित्तं, मोत्तूणाऽऽगारदरिसणं किं तं?
उप्पायव्वयरहियं, दव्वं चिय निव्वियारं तं ॥६६॥

को हि नाम स्थापनानयस्याऽऽकारग्रहः? यस्माद् द्रवतीति द्रव्यमनादिमदुत्प्रेक्षितपर्यायशृङ्खलाऽऽधारं मृदादिपूर्वपर्यायमात्रतिरोभावेऽग्रेतनपर्यायमात्राऽऽविर्भावः परिणामो द्रव्यस्य परिणामो द्रव्यपरिणामः, स एव तन्मात्रं, तदमुक्त्वा किमन्यदाकारदर्शनं, येनोच्यते ''आगारो चिय मइसद्दवत्थु।'' इत्यादि? ननु द्रव्यमेव तत्, किंविशिष्टम्? उत्पादव्ययरहितं, निर्विकारमउत्फणविफणकुण्डलिताऽऽकारसमन्वितसर्पद्रव्यवद् विकाररहितं; किं हि नाम तत्राऽपूर्वमुत्पन्नं, विद्यमानं वा विनष्टं, येन विकारः स्यादिति भावः। इति गाथाऽर्थः ॥६६॥

ननु कथमुत्पादाऽऽदिरहितमुच्यते, यावता सर्पाऽऽदिके
द्रव्ये उत्फणविफणाऽऽदयः पर्याया उत्पद्यमाना
निवर्त्तमानाश्च प्रत्यक्षेणैव दृश्यन्ते? इत्याह–

आविब्भावतिरोभावमेत्तपरिणामकारणमचिंतं।
निच्चं बहुरूवं पि य, नडो व्व वेसंतराऽऽवन्नो ॥६७॥

आविर्भावश्च तिरोभावश्च, तावेव तन्मात्रं, तदेव परिणामः, तस्य कारणं द्रव्यं, यथा सर्प उत्फणविफणाऽवस्थयोरिति; न ह्यत्रापूर्वं किञ्चिदुत्पद्यते, किं तर्हि? छन्नरूपतया विद्यमानमेवाऽऽविर्भवति। नाप्याविर्भूतं सद्विनश्यति, किंतु छन्नरूपतया तिरोभावमेवाऽऽसादयति। एवं च सत्याविर्भावतिरोभावमात्र एव कार्योपचारात्कारणत्वमस्यौपचारिकमेव। तस्मादुत्पादाऽऽदिरहितं द्रव्यमुच्यत इति। आहननु यद्येकस्वभावं निर्विकारं द्रव्यं, तर्ह्यनन्तकालभाविनामनन्तानामप्याविर्भावतिरोभावानामेकहेलयैव कारणं किमिति न भवति? इत्याह–अचिन्त्यमचिन्त्यस्वभावं द्रव्यं, तेनैकस्वभावस्याऽपि तस्य क्रमेणैवाऽऽविर्भावतिरोभावप्रवृत्तिः, सर्पाऽऽदिद्रव्येष्वेकस्वभावेष्वप्युत्फणविफणाऽऽदिपर्यायक्रमप्रवृत्तेः प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति। ननु यद्येवम्, उत्फणविफणाऽऽदिबहुरूपत्वात्पूर्वावस्थापरित्यागेन चोत्तरावस्थाऽधिष्ठानादनित्यता द्रव्यस्य किमिति न भवति?इति चेत् इत्याह–वेषान्तराऽऽपन्ननटवद् बहुरूपमपि द्रव्यं नित्यमेव। इदमुक्तं भवति–यथा नायकविदूषककपिराक्षसाऽऽदिपात्रावसरेषु वेषान्तराण्यापन्नो वेषान्तराऽऽपन्नो नटो बहुरूपः, एवमुत्फणविफणाऽऽदिभावैर्यद्यपि द्रव्यमपि बहुरूपम्, तथाऽपि नित्यमेव, स्वयमविकारित्वात्, आकाशवत्; यथाहि घटपटाऽऽदिसंबन्धेन बहुरूपमप्याकाशं स्वयमविकारित्वाद् नित्यम्, एवं द्रव्यमपीति भावः। इति गाथाऽर्थः ॥६७॥

कारणमेव च सर्वत्र त्रिभुवने विद्यते, न क्वचित् कार्यम्,
यच्च कारणं तत् सर्वं द्रव्यमेव, इति दर्शयन्नाह–

पिंडो कारणमिट्ठं, पयं व परिणामओ तहा सव्वं।
आगाराइ न वत्थुं, निक्कारणओ खपुप्फं व ॥६८॥

मृदादिपिण्डः कारणमिष्टं कारणमात्रमेवाभ्युपगम्यते। कुतः? इत्याह–परिणामित्वात् परिणमनशीलत्वात्, पयोवद् दुग्धवत्। यथा च पिण्डः, तथाऽन्यदपि सर्वं स्थासकोशकुशूलाऽऽदिकं त्रैलोक्यान्तर्गतं वस्तु कारणमात्रमेव, परिणामित्वात्, पथोवत् यद् यत् कारणं तत् सर्वं द्रव्यमेव, इति द्रव्यनयस्य स्वपक्षसिद्धिः। ननु मृत्पिण्डाऽऽदीनां कार्यभूताः स्थासकोशकुशूलघटाऽऽदयः प्रत्यक्षेणैव दृश्यन्ते, संबन्धिशब्दश्च कारणशब्दः सर्वदैव कार्यापेक्ष एव प्रवर्तते, तत् कथं कारणमात्रमेवाऽस्ति, न कार्यम्? इति चेत्। नैवम्, आविर्भावतिरोभावमात्र एव कार्योपचारात्, उपचारस्य चावस्तुत्वात्। इति स्वपक्षं व्यवस्थाप्य परपक्षं दूषयितुमाह–(आगारेत्यादि) द्रव्यमात्रं विहाय स्थापनाऽऽदिनवैर्यदाकाराऽऽदिकमभ्युपगम्यते, तत् सर्वमवस्तु। कुतः? इत्याह–निष्कारणत्वात् कारणमात्ररूपतयाऽनभ्युपगमात्, तदभ्युपगमे त्वस्मत्पक्षवर्तित्वप्रसङ्गात्, इह यत् कारणं न भवति तद् न वस्तु, यथा गगनकुसुमम्, अकारणं च परैरभ्युपगम्यते सर्वमाकाराऽऽदिकम्, अतो वस्तु। इति गाथाऽर्थः ॥६८॥ विशे०।

दव्वणाम न०(द्रव्यनामन्) द्रव्यलक्षणेऽर्थे, अनु०। तच्च ''से किं तं दव्वणामे? दव्वणामे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–धम्मत्थिकाए० जाव अद्धासमए य। सेत्तं दव्वणामे।'' अनु०।

दव्वतो अव्य०(द्रव्यतस्) भावशून्यत्वेनाप्रधानतयाऽयथार्थमित्यर्थे, पञ्चा०१६ विव०।

दव्वत्त न०(द्रव्यत्व) द्रवति ताँस्तान् पर्यायान् गच्छतीति द्रव्यं, तस्य भावस्तत्त्वम्। द्रव्यभावे, द्रव्या०।

द्रव्यत्वं द्रव्यभावत्वं, पर्यायाऽऽधारतोऽन्वयः।
प्रमाणेन परिच्छेद्यं, प्रमेयं प्रणिगद्यते ॥३॥

द्रवति ताँस्तान् पर्यायान् गच्छतीति द्रव्यं, तस्य भावस्तत्त्वम्। द्रव्यभावो हि पर्यायाऽऽधारताऽभिव्यङ्ग्यजातिविशेषः। ''द्रव्यत्वं जातिरूपत्वाद् गुणो न भवति,'' ईदृक् नैयायिकाऽऽदिवासनया आशङ्का न कर्त्तव्या, यतः–''सहभाविनो गुणाः,क्रमभुवः पर्यायाः।'' इदृश्येव जैनशासने व्यवस्थाऽस्तीति। द्रव्यत्वं चेद् गुणः स्याद्रूपाऽऽदिवदुत्कर्षापकर्षभागि स्यादिति तु कुचोद्यम्, एकत्वाऽऽदिसंख्यायाः परमतेऽपि व्यभिचारेण तथा व्याप्त्यभावादेव निरसनीयम् ॥३॥ द्रव्या०११ अध्या०।

दव्वत्थव पुं०(द्रव्यस्तव) द्रव्ये द्रव्यविषयः स्तवः पूजा द्रव्यस्तवः। भावस्तवकारणभूते स्तवभेदे, पञ्चा०। स च–

दव्वे भावे य थओ, दव्वे भावथयरागओ सम्मं।
जिणभवणाऽऽदिविहाणं, भावथओ चरणपडिवत्ती ॥२॥

द्रव्ये द्रव्यविषयः, भावस्तवकारणभूत इत्यर्थः। भावे भावविषयः पारमार्थिकः, परिणामविशेषरूपो वेत्यर्थः। चशब्दः समुच्चये। स्तवः स्तोतव्यपूजनं, भवतीति गम्यम्। तत्राऽऽद्यं तावदाह– द्रव्ये द्रव्य–विषयः स्तवः। क इत्याह–(जिणभवणाऽऽइ–

विहाणं) अर्हद् गृहप्रतिमाऽऽदीनां करणम्, उपलक्षणत्वात्कारणं च। कथं?सम्यगागमनीत्या। कुतः?भावस्तवरागतः सर्वविरतिबहुमानात्। चरणं हि निर्वाणैकहेतुत्वाच्चरणं, ततस्तत्प्राप्त्युपायश्च द्रव्यस्तव इति विधेयोऽसावित्येवंरूपादिति।

अथ भावस्तवस्वरूपमाह–भावस्तवः परमार्थपूजनमध्यात्मपूजा वा। क इत्याह–चरणप्रतिपत्तिः–सर्वविरत्यभ्युपगमः। इति गाथाऽर्थः ॥२॥

अथ द्रव्यस्तवलक्षणं प्रपञ्चयन्नाह–

जिणभवणविंबठावण–जत्तापूजाऽऽइ सुत्तओ विहिणा।
दव्वत्थओ त्ति नेयं, भावत्थयकारणत्तेण ॥३॥

जिनस्यार्हतो भवनं च गृहं, बिम्बं च प्रतिमा, स्थापनं च प्रतिष्ठा, यात्रा चाष्टाह्निका महिमा, पूजा च पुष्पाऽऽद्यर्चनम्, आदिर्यस्य। जिणगुणगानाऽऽदेस्तज्जिनभवनबिम्बस्थापनयात्रापूजाऽऽदि। द्रव्यस्तव इति ज्ञेयमिति योगः। तच्च न यथा–कथञ्चिदित्याह–सूत्रत आगममाश्रित्य, तदपि विधिना। ''जह रेहइ तह सम्मं'' इत्यादिना विधानेन द्रव्यस्तवो भावस्तवकारणभूतपूजा, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः। ज्ञेयं ज्ञातव्यम्। केन हेतुनेत्याह–भावस्तवकारणत्वेन चरणप्रतिपत्तिरूपभावस्तवहेतुत्वात्। द्रव्यशब्दो ह्यत्र कारणपर्यायाः। इति गाथाऽर्थः ॥३॥

कथं पुनरिदं जिनभवनाऽऽदि भावस्तवहेतुतां
प्रतिपद्यत इत्याह–

विहियाणुट्ठाणमिणं, ति एवमेयं सया करें ताणं।
होइ चरणस्स हेऊ, णो इहलोगादवेक्खाए ॥४॥

विहितमाज्ञाऽऽगमे विधेयतयाऽनुमतं यदनुष्ठानं क्रिया तद्विहितानुष्ठानम्, इदं जिनभवनाऽऽदिकरणलक्षणम्, इति अनेनोल्लेखेन, एवमनेन भावस्तवानुरागलक्षणेन स्तवविधिलक्षणेन वा प्रकारेण। एतज्जिनभवनाऽऽदिविधानम्, सदा सर्वकालम्, कुर्वतां विदधताम्, भवति जायते, चरणस्य सर्वविरतिरूपचारित्रस्य, हेतुर्निमित्तम्। एतदेव जिनभवनाऽऽदि। उक्तविपर्यये यद्भवति तदाह–(णो) नैव। इहलोकाऽऽद्यपेक्षया ऐहभविककीर्त्यादिपारभविकदेवत्वराज्याऽऽदिपदार्थावलम्बनेन चरणस्य हेतुर्भवति। एतज्जिनभवनाऽऽदिविधानं निदानदूषितत्वात्। इति गाथाऽर्थः ॥४॥

भावस्तवकारणत्वं तदनुरागश्च द्रव्यस्तवनिबन्धनमुक्तम्, तत्राऽसौ यथा भावस्तवहेतुः स्यात्तथा दर्शितं, न पुनस्तदनुराग इत्याशङ्क्याऽऽह–

एवं चिय भावथए, आणाआराहणा उ रागो वि।
जं पुण इय विवरीयं, तं दव्वथओ वि णो होइ ॥५॥

(एवं चिय) एवमेव विहितानुष्ठानमिदमित्यभिप्रायेणैव, भावस्तवे चरणप्रतिरूपे, रागोऽपि बहुमानोऽपि, न केवलं चरणहेतुत्वमित्यपिशब्दार्थः। कुत एतदेवमित्याह–आज्ञाऽऽराधनादाप्तापदेशानुपालनात्, निर्निदानतामेव हि जिनाः समनुमन्यन्ते। उक्तविपर्ययमाह–यज्जिनभवनाऽऽदिविधानम्, पुनरिति पूर्वोक्तार्थविलक्षणताप्रतिपादनार्थः, इति विपरीतमनन्तरोक्तविधिविपर्ययः, तम्, तज्जिनभवनाऽऽदिविधानम्, द्रव्यस्तवोऽप्युक्तनिर्वचनो न केवलं भावस्तवः, उत्सूत्रत्वात्, न भवति न जायते। इति गाथाऽर्थः ॥५॥

उक्तविधिविपरीततायामपि तद् द्रव्यस्तवो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह–

भावे अइप्पसंगो, आणाविवरीयमेव जं किंचि।
इह चित्ताणुट्ठाणं, तं दव्वथओ भवे सव्वं ॥६॥

भावे च सत्तायां पुनर्द्रव्यस्तवस्योक्तविपरीतत्वेऽपि। किं स्यादित्याह–अतिप्रसङ्गोऽतिव्याप्तिलक्षणानिष्टाऽऽपत्तिरित्यर्थः। अतिप्रसङ्गमेव व्यनक्ति–आज्ञाविपरीतमेव आप्तवचनविपर्यस्तमपि। एवकारस्यापिशब्दार्थत्वाद्, यदित्यनुष्ठानम्, किञ्चिदनियतस्वरूपम्, इह स्तवविचारे, चित्रानुष्ठानं नानाप्रकाराहिंसाऽऽदिक्रिया, तदनुष्ठानम्, द्रव्यस्तवो निर्णीतशब्दार्थो, भवेत् जायेत। सर्वं समस्तम्। आज्ञाविपरीतत्वान्निर्विशेषेण जिनभवनाऽऽदिविधानवदिति गाथाऽर्थः ॥६॥

इहार्थे परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह–

जं वीयरागगामी, अह तं णणु गरहितं पि हु स एवं।
सिय उचियमेव जं तं, आणाआराहणा एवं ॥७॥

यदित्यनुष्ठानम्, वीतरागगामि जिनविषयम्, अथेति परप्रश्नार्थः, तदनुष्ठानमाज्ञाविपरीतमपि द्रव्यस्तवो भवति, न पुनर्यत्किञ्चन हिंसाऽऽदिकम्, अतः कथमतिप्रसङ्ग इति परमतम। एतत्परिहरन्नाह–(नन्विति) परमताक्षमायाम्, गर्हितमपि निन्द्यमपि गालीप्रदानाऽऽदिकम्, आस्तामगर्हितम्। हुशब्दो वाक्यालङ्कृतौ, स इति द्रव्यस्तवः, भवेत्। एवमनेन भवदभ्युपगतन्यायेनाऽऽज्ञाविपरीतमप्यनुष्ठानं वीतरागविषयं द्रव्यस्तव इत्येवंलक्षणेन। पुनः परमतमाशङ्क्यमान आहस्याद्भवेत्, तत्र मतिरिति गम्यम्। यदुत उचितमेव सङ्गतमेव, यदित्याज्ञाविरीतं वीतरागगामि, तदित्यनुष्ठानं द्रव्यस्तवो भवति, न पुनर्गर्हितमपीति नात्रातिप्रसङ्गः। इत्यत्रोत्तरमाह–आज्ञाऽऽराधनाऽऽप्ताऽऽदेशपालनैव। एवमनेनैव प्रकारेणाऽऽज्ञाविपरीतमपि यदुचितमनुष्ठानं तद् द्रव्यस्तव इत्येवंलक्षणेन द्रव्यस्तवाभ्युपगमे आज्ञाऽनुपालनारूपत्वादुचितस्य। नाह्याज्ञातीर्णमप्युचितं भवितुमर्हति। इति गाथाऽर्थः ॥७॥

उचितानुष्ठानस्याऽऽज्ञाऽनुपालनारूपत्वमेव दर्शयन्नाह–

उचियं खलु कायव्वं, सव्वत्थ सया णरेण बुद्धिमता।
इय फलसिद्धी णियमा, एस च्चिय होइ आणं ति ॥८॥

उचितमेव देशकालावस्थाऽऽद्यपेक्षया सङ्गतमेव, खलुरवधारणे, कर्त्तव्यं विधेयम्, सर्वत्र समस्ते देशे, पात्रे वा। सदा सर्वदा, नरेण पुंसेति। नरग्रहणं प्राणिमात्रोपलक्षणम्। धर्मोपदेशे नराणां प्राधान्यात्, बुद्धिमता मतिमता, बुद्धिविकलो हि न तत् कर्त्तुं क्षमते, बुद्धिवैकल्यादेव। अथ कस्मादेवमुपदिश्यत इत्याह–इत्यनेनोचितकरणेन, फलसिद्धिः साध्यनिष्पत्तिः, नियमान्निश्चयेन, साध्यश्च मुख्यवृत्त्या मोक्षार्थः, तत्कारणतया धर्मार्थः, प्रसङ्गतश्चेतराविति। प्रकृतार्थयोजनायाऽऽह–एषैवानन्तरोक्ता उचितक्रिया, भवति वर्त्तते, आज्ञा आप्तोपदेशः, तत उचितकरणमाज्ञाऽऽराधनेति स्थितम्। इतिशब्दः समाप्तावुपप्रदर्शने वा। इति गाथाऽर्थः ॥८॥

उचितकरणं द्रव्यस्तव इत्युक्तम्, अथैतस्यैव विपर्ययमाह–

जं पुण एयविउत्तं, एगंतेणेव भावसुण्णं ति।

तं विसयम्मि वि ण तओ, भावथयाहेउतो णेयं ॥९॥

यदित्यनुष्ठानम्, पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः, एतद्वियुक्तमौचित्यरहितम्। तथा एकान्तेनैव सर्वथैव, भावशून्यं बहुमानशून्यम्, एकान्तग्रहणाद् भावलेशयुक्तस्य कथञ्चिदौचित्यवियुक्तस्यापि द्रव्यस्तवत्वमाह, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थो भिन्नक्रमश्च। तदित्यनुष्ठानम्, विषयेऽपि वीतरागेऽपि, विधीयमानम्, आस्तामविषये। न तको न द्रव्यस्तवो, भवतीति ज्ञेयं ज्ञातव्यम्। कुतः? इत्याह–भावस्तवाहेतुतः, इह भावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनाद्भावस्तवाहेतुत्वाद्भावस्तवाकारणत्वात्। इति गाथाऽर्थः ॥९॥

अथ कस्माद्भावस्तवाहेतुभूतमनुष्ठानं द्रव्यस्तवो न भवतीत्यत्राऽऽशङ्कायामाह–

समयम्मि दव्वसद्दो, पायं जं जोगयाएँ रूढो त्ति।
णिरुवचरितो उ बहुहा, पओगभेदोवलंभाओ ॥१०॥

समये सिद्धान्ते, द्रव्यशब्दो द्रव्यमित्येष ध्वनिः, प्रायो बाहुल्येन, प्रायोग्रहणात् क्वचिद् प्राधान्येऽपि, वर्तत इति सूचनार्थः। यदिति यस्मादर्थे, अयं च ''भावत्थयहेऊ(१२)'' इत्यनेन व्यवहितगाथाऽवयवेन संभत्स्यते। योग्यतायां योग्यतावाचित्वे, रूढः प्रसिद्ध इत्येवं लक्ष्यमाणोदाहरणन्यायेन उपचरितादुपचारान्निष्क्रान्तो निरुपचरितोऽकाल्पनिकः, तुशब्द एवकारार्थः, तेन निरुपचरित एव। कुत एतदेवमित्याह–बहुधा बहुभिः प्रकारैः, प्रयोगभेदोपलम्भात् प्रयुक्तविशेषदर्शनात्। इति गाथाऽर्थः ॥१०॥

प्रयोगभेदानेव दर्शयन्नाह–

मिउपिंडो दव्वघडो, सुसावगो तह य दव्वसाहु त्ति।
साहू य दव्वदेवो, एमाइ सुए जओ भणितं ॥११॥

मृत्पिण्डो मृत्तिकापिण्डो द्रव्यघटो द्रव्यतो योग्यतया घटो द्रव्यघटः, सुश्रावकः शोभनः श्रमणोपासकः, तथा चेति समुच्चये। द्रव्यतो योग्यतया साधुर्द्रव्यसाधुः। इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः। साधुश्च संयतः पुनः, द्रव्यतो योग्यतया देवः सुरो द्रव्यदेवः। (एमाइ त्ति) इह चशब्दलोपः प्राकृतत्वात्, ततश्च एवमादि च इत्यादि प्रयोगजातम्। आदिशब्दाद् द्रव्यनारकाऽऽदिग्रहः। श्रुते प्रवचने, यतो यस्माद्भणितमुक्तम्, ततः प्रयोगभेदोपलम्भाद् द्रव्यशब्दो योग्यतायां रूढः। इति गाथाऽर्थः ॥११॥

यतो योग्यतायां द्रव्यशब्दः–

ता भावत्थयहेऊ, जो सो दव्वत्थओ इहं इट्ठो।
जो उ ण एवंभूओ, स अप्पहाणो परं होति ॥१२॥

तत्तस्माद्भावस्तवहेतुश्चरणप्रतिपत्तिकारणं साक्षात्परम्परया वा यो जिनभवनविधानाऽऽद्यनुष्ठानविशेषः। (सो इति) असौ द्रव्यस्तवः पूर्वोक्तस्वरूपः। इह द्रव्यस्तवाधिकारे, अन्यत्र पुनः स्तवशब्दार्थज्ञः, तत्रानुपयुक्तपुरुषाऽऽदिलक्षणोऽपि, इष्टोऽभिमतो द्रव्यस्तवस्वरूपविदुषाम्। ननु भावस्तवाहेतुरपि द्रव्यस्तवोऽभव्याऽऽदीनामिष्यते, तत्कथमित्याह–यः पुनर्द्रव्यस्तवविशेषः, (न) नैव, एवं–भूतोऽमुं प्रकारं भावस्तवकारणत्वलक्षणं प्राप्तः, स द्रव्यस्तवः, अप्रधानोऽशोभनः, परं केवलम्, भवति जायते, द्रव्यस्तवस्याप्राधान्येऽपि प्रवृत्तेः, अशोभनत्वं चास्य भावस्तवाहेतुत्वादेवेति गाथाऽर्थः ॥१२॥

अप्राधान्यार्थतामेव द्रव्यशब्दस्य दर्शयन्नाह–

अप्पाहण्णे वि इहं, कत्थइ दिट्ठो उ दव्वसद्दो त्ति।
अंगारमद्दगो जह, दव्वायरिओ सयाऽभव्वो ॥१३॥

अप्राधान्येऽप्यप्रधानत्वेऽपि, न केवलं योग्यतायामेव। इह प्रवचने, क्वचित् शब्दविषये, दृष्टस्तु उपलब्ध एव, द्रव्यशब्दो द्रव्य इति ध्वनिः, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। इहैव निदर्शनामाह–अङ्गारमर्दकः प्रवचनप्रतीतः। यथेति दृष्टान्तार्थः। द्रव्याऽऽचार्य आचार्यत्वयोग्यताया अभावादप्रधानाऽऽचार्यः। कियन्तं कालं यावदित्याह–सदा आजन्माऽपीत्यर्थः। अथवा–स च स पुनः, अभव्यो मुक्तेरयोग्यो यत इति गाथाऽर्थः ॥१३॥ (अङ्गारमर्दकसं–विधानकं तु 'अंगारमद्दग' शब्दे प्र०भागे ४३ पृष्ठे गतम्)

''जो उ ण एवंभूतो, स अप्पहाणो परं होइ। (१२)'' इत्येवं पूर्वोक्तमर्थं निगमयन्नाह–

अप्पाहण्णा एवं, इमस्स दव्वत्थवत्तमविरुद्धं।
आणावज्झत्तणओ, न होइ मोक्खंगया णवरं ॥१४॥

अत्राधान्याद्भावस्तवाहेतुत्वेनाशोभनत्वात्, एवमुक्तेन न्यायेनाप्राधान्यार्थे द्रव्यशब्दप्रवृत्तिदर्शनलक्षणेन, (इमस्स त्ति) अस्य भावस्तवाहेतोर्द्रव्यस्तवस्य, द्रव्यस्तवत्वं द्रव्यस्तवता, अविरुद्धं सङ्गतमेव। एवं तर्हि भावस्तवहेतोस्तदहेतोश्च द्रव्यस्तवत्वाविरुद्धतायां सत्यामविशेष एव तयोः। सत्यम्। नवरं केवलम्, न भवति न जायते, मोक्षाङ्गता निर्वाणहेतुता। 'इमस्स' इति वर्त्तते। कुतः? आज्ञाबाह्यत्वादाप्तवचनबहिष्कृतत्वात्। यदाज्ञाबाह्यं तन्मोक्षाङ्गं न भवति, तथाविधहिंसाऽऽदिवत्, आज्ञाबाह्यश्चायं भावस्तवाहेतुर्द्रव्यस्तवः। इति गाथाऽर्थः ॥१४॥

यथाऽस्मादप्रधानान्मोक्षो न भवति, तथा फलान्तरमपि किं नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह–

भोगाऽऽदिफलविसेसो, उ अत्थि एत्तो वि विसयभेदेण।
तुच्छो उ तगो जम्हा, हवति पगारंतरेणावि ॥१५॥

भोगा मनोज्ञशब्दाऽऽदयः, आदिशब्दात्स्वर्गसुकुलप्रत्यायातिशुभशरीराऽऽदिपरिग्रहः। ते एव फलविशेषः साध्यभेदो भोगाऽऽदिकफलविशेषः, पुनरस्ति भवति, इतोऽपि अप्रधानद्रव्यस्तवादपि, न केवलं प्रधानद्रव्यस्तवादेव। अथ कथमाज्ञाबाह्यानुष्ठानस्यैवं फलतेत्याशङ्क्याऽऽह–विषयभेदेन गोचरविशेषेण, निखिलातिशयमाणिक्यमकराऽऽकरभगवीतरागलक्षणेन हेतुना, न हि भगद्विषयमाज्ञाविकलमप्यनुष्ठानम-फलम्, पात्रप्राधान्यादिति। ननु यद्येवं फलमाज्ञाबाह्यानुष्ठानं, तदा कथमस्याप्रधानद्रव्यस्तवतेत्यत्राऽऽह–तुच्छस्त्वल्पः पुनः, तकोऽसौ भोगाऽऽदिफलविशेषो, नाऽसौ विवेकिनां फलतयाऽवभासते। कस्मादेवमित्याह–यस्मात् कारणात्, भवति जायते, तको भोगाऽऽदिफलविशेष ति प्रकृतम्। प्रकारान्तरेणाप्युपायान्तरेणाऽपि, जिनभवनाऽऽदिव्यतिरेकेणाऽपि, बालतपःप्रभृतिभिरपीत्यर्थः। ''दौर्गत्यदोषविच्छेदिमणिप्राप्तिपटीयसः। पारावाराज्जरत्काचखण्डप्राप्तिःफलं किमु? ॥१॥'' इति गाथाऽर्थः ॥१५॥

अथ द्रव्यस्तवस्याऽद्रव्यस्तवतामाशङ्क्य परिहरन्नाह–

उचियाणुट्ठाणाओ, विचित्तजइजोगतुल्ल मो एस।
जं ता कह दव्वथओ, तदारेणऽप्पभावाओ ॥१६॥

(उचियाणुट्ठाणाओ) इह भावप्रत्ययस्य लुप्तत्वेनोचितानुष्ठा–

नत्वादाप्तोपदिष्टत्वेन विहितक्रियारूपत्वाद्विचित्रयतियोगतुल्यो ग्लानप्रतिचरणस्वाध्यायाऽऽदिरूपनानाविधसाधुव्यापारसदृशो-ऽतिशुभ इत्यर्थः । मकारोऽत्र प्राकृतशैलीप्रभवः । एषोऽनन्तरोक्तो, जिनभवनविधानाऽऽदिकोऽनुष्ठानविशेषः । (यदिति) यस्मादेवम्, तत्तस्मात्, कथं केन प्रकारेण, द्रव्यस्तवो भवति । न कथञ्चिदित्यर्थः । भावस्तव एवाऽयमिति हृदयम् ।

अत्रोत्तरमाह–तद् द्वारेण जिनभवनाऽऽदिविधानमुखेन अल्पः साधुयोगापेक्षया स्तोको, भावः शुभाध्यवसायो यस्मात्स तथा, तस्मात्, इह च भावप्रत्ययो दृश्यः, अतोऽल्पभावत्वात् । इति गाथाऽर्थः ॥१६॥

अमुमेव गाथार्थं भावयन्नाह–

जिणभवणाऽऽदिविहाण–द्वारेणं एस होति सुहजोगो ।
उचियाणुट्ठाणं पि य, तुच्छो जइजोगतो णवरं ॥१७॥

जिनभवनाऽऽदिविधानद्वारेण अर्हदाश्रयबिम्बप्रभृतिकरणमुखेन, एष द्रव्यस्तवः, भवति वर्तते, शुभयोगो यतियोगवत् प्रशस्तव्यापारः । तथा–उचितानुष्ठानमपि च विहितक्रियाऽपि च जिनभवनाऽऽदिविधानद्वारेणैव । अपि चेति समुच्चये । यद्यप्येवं तथाऽपि तुच्छोऽसारः, अल्पभावरूपत्वाद्, यतियोगतः साधुव्यापारात्सकाशात्, नवरं केवलम् । यतियोगो हि स्वरूपेणैव शुभः, उचितानु–ष्ठानरूपश्चाय पुनर्जिनभवनाऽऽदिद्वारेणैव, न तु स्वरूपतः, स्वरूपेण तस्य मनागवद्यरूपत्वात् । इति गाथाऽर्थः ॥१७॥ पञ्चा०६ विव० दर्श० आ०म० पं०व० प्रति० तं० दर्श०।('थय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २३८४ पृष्ठे विशेषोऽस्य वीक्ष्यः) (द्रव्यस्तवस्य करणे करणे च श्रावकोऽधिकारीति अनुमोदने च साधुरपीति च 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२२२ पृष्ठे प्रत्यपादि)

अयमिहापि द्रव्यस्तवस्य संक्षिप्तोऽर्थः–

श्रमणानामियं पूर्णा, सूत्रोक्ताऽऽचारपालनात् ।
द्रव्यस्तवाद् गृहस्थानां, देशतस्तद्विधिस्त्वयम् ॥१॥
न्यायार्जितधनो धीरः, सदाचारः शुभाऽऽशयः ।
भवनं कारयेज्जैनं, गृही गुर्वादिसंमतः ॥२॥
तत्र शुद्धां महीमादौ, गृह्णीयाच्छास्त्रनीतितः ।
परोपतापरहितां, भविष्यद्भद्रसन्ततिम् ॥३॥
अप्रीतिर्न व कस्याऽपि, कार्या धर्मोद्यतेन वै ।
इत्थं शुभानुबन्धः स्यादत्रोदाहरणं प्रभुः ॥४॥
आसन्नोऽपि जनस्तत्र, मान्यो दानाऽऽदिना यतः ।
इत्थं शुभाऽऽशयस्फात्या, बोधिवृद्धिः शरीरिणाम् ॥५॥
इष्टकाऽऽदि दलं चारु, दारु वा सारवन्नवम् ।
गवाद्यपीडया ग्राह्यं, मूल्यौचित्येन यत्नतः ॥६॥
भृतका अपि सन्तोष्याः, स्वयं प्रकृतिसाधवः ।
धर्मो भावेन न व्याज्याद्धर्ममित्रेषु तेषु तु ॥७॥
स्वाऽऽशयश्च विधेयोऽत्रानिदानो जिनरागतः ।
अन्याऽऽरम्भपरित्यागाज्ज्वलाऽऽदियतनावता ॥८॥
इत्थं चैषोऽधिकत्यागात्सदारम्भः फलान्वितः ।
प्रत्यहं भाववृद्ध्याऽऽप्तैर्भावयज्ञः प्रकीर्त्तितः ॥९॥
जिनगेहं विधायैवं, शुद्धमव्ययनीवि च ।
द्राक् तत्र कारयेद्बिम्बं, साधिष्ठानं हि वृद्धिमत् ॥१०॥
विभवोचितमूल्येन, कर्त्तुः पूजापुरस्सरम् ।
देयं तदनघस्यैव, यथा चित्तं न नश्यति ॥११॥
द्वा० ५ द्वा०।

दव्वदेवत्त न०(द्रव्यदेवत्व) साध्ववस्थायाम्, भ०१४ श०७उ०।

दव्वधम्म पुं०।न०(द्रव्यधर्म) दानधर्म्मे, यो दानधर्म्मः स द्रव्यधर्मोऽवग-न्तव्य इति। तथा चोक्तम्–''अन्नं पानं च वस्त्रं च, आलयः शयनाऽऽसनम् । शुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः, पुण्यं नवविधं स्मृतम्'' ॥१॥ सूत्र०१ श्रु०६ अ०।

दव्वपिय त्रि०(द्रव्यप्रिय) द्रव्यं परिहासः, तत् प्रिये, औ०।

दव्वपुरिस पुं०(द्रव्यपुरुष) पुरुषत्वेन उत्पत्स्यते यस्तस्मिन्, उत्पन्नपूर्वे च । स्था०। विशेषोऽत्रैन्द्रसूत्राद् द्रष्टव्यः । भवत्यत्र भाष्यगाथा–''आगमओऽणुवउत्तो, इयरो दव्वपुरिसो तिहा तइओ । एगभवियाइ तिविहो, मूलुत्तरणिम्मिओ वा वि'' ॥१॥ मूलगुणनिर्मितः पुरुषप्रा-योग्यानि द्रव्याणि, उत्तरगुणनिर्मितस्तु तदाकारवन्ति तान्यावेति भाव-पुरुषभेदाः । स्था०३ ठा० २उ०।

दव्वपोग्गलपरियट्ट पुं०(द्रव्यपुद्गलपरिवर्त्त) ७ त०। द्रव्यविषयके पुद्गलपरिवर्त्ते, कर्म्म०५ कर्म०। पं०सं०। प्रव०। (तद् व्याख्या 'पोग्गलपरियट्ट' शब्दे वक्ष्यते)

दव्वप्पमाण न०(द्रव्यप्रमाण) द्रव्याणां गणनायाम्, यथा एतावन्तोऽ-त्रौदनभेदाः, एतावन्ति च शाकविधानानि, इयन्तश्च खाद्यविशेषाः, एतावन्ति च द्राक्षापानकाऽऽदीनि पानकानि । व्य०६ उ०। अनु०।

दव्वभावतदुभयकप्प पुं०(द्रव्यभावतदुभयकल्प) द्रव्यभावसंमिलिते कल्पे, पं०भा०।

तदुभयकप्पो अहुणा, एते चिय दव्वभावकप्पा तु ।
दोण्हि वि मिलिया एते, तदुभयकप्पो इमो सो य ॥
आहारे अट्ठविहे, सेज्जोवहि पंचपंचगविसोही ।
दंसणचरित्तगुत्तो, तवसमितिगुणेहिँ सोहेति ॥
असणाऽऽदीतो चउहा, उवकारि चउव्विहो य तस्सेव ।
एसऽट्ठविहाऽऽहारो, परूवणा तस्सिमा होति ॥
असणं तु ओदणाऽऽदी, तदुवकारी उ खीरकुसणाऽऽदी ।
पाणं तु पाणमेव तु, कप्पूराऽऽदी तु उवकारी ॥
खाइम फलाइयं तू, सूताऽऽदी होति तदुवकारी तु ।
साइम तंबोलाऽऽदी, तुण्हाऽऽदी तदुवकारी तु ॥
एतं आहाराऽऽदी, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ।
उप्पाएँ दंसणाऽऽदीहि जुतो अहवा तदट्ठाए ॥पं०भा०।

इयाणिं उभयकप्पो–एए चेव दो दव्वभावकप्पे य मेलिया एगट्ठा य उभयकप्पो भवइ, दव्वियकप्पस्स पुरिमद्धं, भावकप्पस्स पच्छिमद्धं । गाहा–(आहारे अट्ठविहे त्ति) अट्ठविहे

आहारे अस्णे मूलगुणसुद्धे, उत्तरगुणसुद्धे य । एवं पाणे, एवं खाइमे मूलगुणउत्तरगुणसुद्धे, एवं सादिमे सेज्जोवहीणं, एमेव पंचपंचगविसोही, भावओ य दंसणचरित्ततवाइगुणेहिं सोहेइ । एस उभयकप्पो। पं०चू०।

दव्वभूय पुं०(द्रव्यभूत) अनुपयुक्ते, नि०चू०२उ०।

दव्वरासि पुं०(द्रव्यराशि) पुरीषाऽऽदिद्रव्यसमूहे, प्रश्न०५ संव० द्वार।

दव्वलिंग न०(द्रव्यलिङ्ग) भावविकलत्वेनाप्रधानप्रव्रजिताऽऽदिनेपथ्यचरणलक्षणे वेषे, पञ्चा०४ विव०। जी०।

दव्वलिंगधर पुं०(द्रव्यलिङ्गधर) विडम्बकप्राये, पं०व० ४ द्वार। द्रव्यलिङ्गी जानानो यदि स्वयं महाव्रतीभूय विहरति, तदाऽऽराधको भवति, न नेति प्रश्ने, उत्तरम्–गुर्वादिसामग्र्यभावे यदि स्वयं महाव्रतीभूय विहरति, तदाऽऽराधकः, अन्यथा नेति। १२३ प्र०। सेन०१ उल्ला०। द्रव्यलिङ्गिनो द्रव्यजिनप्रासादे वा प्रतिमायां वा जीवदयायां वा ज्ञानकोशे वा क्व कुत्र व्यापार्यते? इति प्रश्ने, उत्तरम्–द्रव्यालिङ्गिनो द्रव्यजिनानां प्रासादे प्रतिमायां च नोपयोगः, जीवदयायां ज्ञानकोशे चोपयोगीति ज्ञातमस्ति १९३ प्र०। सेन०३ उल्ला०।

दव्वलेस्सा स्त्री०(द्रव्यलेश्या) औदारिकशरीराऽऽदिवर्णे, भ०१ श०९ उ०।

दव्वलोय पुं०(द्रव्यलोक) लोकभेदे, भ०११ श०१० उ०। (''लोग'' शब्दे व्याख्यास्यते चैषः)

दव्ववणाऽऽहरण पुं०(द्रव्यव्रणोदाहरण) क्षतज्ञाते, पञ्चा० १६ विव०।

दव्ववय पुं०(द्रव्यव्यय) द्रव्यव्यये, सेन०। सप्तक्षेत्रमुक्तद्रव्यान्तः साधुसाध्वीद्रव्यस्य व्ययः साधुसाध्वीनां कस्मिन् स्थाने योज्यते श्राद्धेरिति प्रश्ने, उत्तरम्–सप्तक्षेत्रीमुक्तद्रव्यस्य व्ययः साधुसाध्वीक्षेत्रयोरापत्त्राणवैद्याऽऽनयनमार्गसाहाय्यकरणाऽऽदिषु श्राद्धैः कार्यत इति। ३७२ प्र०। सेन०३ उल्ला०।

दव्ववेय पुं०(द्रव्यवेद) स्त्रीपुंसोर्नपुंसकस्य च बाह्ये आकारे, कर्म०४ कर्म०।

दव्वसंभारिय न०(द्रव्यसंभारित) द्रव्यैः कर्पूरपाटलाऽऽदिभिः संभारितं वासितं द्रव्यसंभारितम्। कर्पूरपाटलाऽऽदिवासिते जले, बृ०२उ०।

दव्वसंमत्त न०(द्रव्यसम्यक्त्व) अनाभोगवदुचितमात्रे सम्यक्त्वे, ''जिनवयणमेव तत्तं, एत्थ रुई होइ दव्वसम्मत्तं।'' जिनवचनमेव तत्त्वं नान्यदित्यत्र रुचिर्भवतीति द्रव्यसम्यक्त्वम्। पं०व० ४ द्वार। ध०।

दव्वसमय पुं०(द्रव्यसमय) द्रव्यस्य सम्यगयनं द्रव्यचसमयः। द्रव्यपरिणतिविशेषे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०।

दव्वसार पुं०(द्रव्यसार) द्रव्यलक्षणसारे, प्रश्न०५ आश्र० द्वार।

दव्वसिणाण न०(द्रव्यस्नान) बाह्यस्नाने, ध०। द्रव्यस्नानं वपुः पावित्र्यसुखकरत्वाऽऽदिना भावशुद्धिहेतुः। उक्तं चाष्टके–

''जलेन देहदेशस्य, क्षणं यच्छुद्धिकारणम्।
प्रायोऽन्यानुपरोधेन, द्रव्यस्नानं तदुच्यते ॥१॥''

देहदेशस्य त्वङ्मात्रस्यैव, क्षणं न तु प्रभूतकालं, प्रायः शुद्धिहेतुर्न त्वेकान्तेन, तादृग् रोगग्रस्तस्य क्षणमप्यशुद्धेः, प्रक्षालनार्हमलादन्यस्य मलस्य कर्णनासाऽऽद्यन्तर्गतस्यानुपरोधेनाप्रतिषेधेन। यद्वा–प्रायो जलादन्येषां प्राणिनामनुपरोधेनाऽव्यापादनेन द्रव्यस्नानं बाह्यस्नानमित्यर्थः। ध०२ अधि०।

दव्वसील न०(द्रव्यशील) चेतनाचेतनाऽऽदेर्द्रव्यस्य स्वभावे, सूत्र०१ श्रु०७अ०।

दव्वसुद्ध न०(द्रव्यशुद्ध) उद्गमाऽऽदिदोषरहिते द्रव्ये, भ०१५ श०। प्राशुके, विपा०२ श्रु०१ अ०।

दव्वहलिया स्त्री०(द्रव्यहलिका) कुहडाऽऽख्यवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

दव्वहोमा स्त्री०(द्रव्यहोमा) नानाविधैर्द्रव्यैः कणवीरपुष्पाऽऽदिभिर्मधुघृताऽऽदिभिर्वोच्चाटनाऽऽदिकैः कार्यैः होमो हवनं यस्यां सा द्रव्यहोमा तस्याम्, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

दव्वाणंतय न०(द्रव्यानन्तक) जीवद्रव्याणां पुद्गलद्रव्याणां वा यदनन्तकं तस्मिन्, स्था०१० ठा०।

दव्वाणुओग पुं०(द्रव्यानुयोग) षड् द्रव्यविचारे, द्रव्या०१ अध्या०। आचा०। ('दवियाणुओग' शब्दे २४६२ पृष्ठे व्याख्याऽस्य)

दव्वाणुओगतक्कणा स्त्री०(द्रव्यानुयोगतर्कणा) द्रव्यगुणपर्यायविचारे, तत्प्रतिपादके ग्रन्थे च। द्रव्या०।

श्रीयुगाऽऽदिजिनं नत्वा, कृत्वा श्रीगुरुवन्दनम्।
आत्मोपकृतये कुर्वे, द्रव्यानुयोगतर्कणाम् ॥१॥
विना द्रव्यानुयोगोहं, चरणकरणाऽऽख्ययोः।
सारं नेति कृतिप्रेष्ठं, निर्दिष्टं सम्मतौ स्फुटम् ॥२॥

(श्रीयुगाऽऽदीत्यादि) तत्र प्रथममिष्टदेवतानमस्करणेन सप्रयोजनाभिधेयो दर्शितः। आद्यपदद्वयेन मङ्गलाऽऽचरणं, नमस्कारकरणं च १। आत्मार्थिन इहाधिकारिणः२। तेषामर्थबोधो भविष्यतीत्युपकाररूपं प्रयोजनम् ३। द्रव्याणामनुयोगेऽत्राधिकारः४। अथ द्रव्यानुयोग इति कः शब्दार्थः? अनुयोगो हि सूत्रार्थयोर्व्याख्यानम्, तस्य चत्वारो भेदाः। तत्र प्रथमश्चरणानुयोगः, आचारवचनमाचाराङ्गाऽऽदिसूत्राणि १। द्वितीयो गणितानुयोगः संख्याशास्त्रं, चन्द्रप्रज्ञप्त्यादिसूत्राणि२। तृतीयो धर्मकथानुयोगः– आख्यायिकावचनम्, ज्ञाताधर्मकथाऽङ्गाऽऽदिसूत्राणि ३। चतुर्थो द्रव्यानुयोगः षड् द्रव्यविचारः, सूत्रकृताङ्गाऽऽदिसूत्राणि, संमति–तत्त्वार्थप्रमुखप्रकरणानि च महाशास्त्राणि, ततोऽन्यभेदविचारणामहं कुर्वे ॥१॥ (विना द्रव्येति) द्रव्यानुयोगोहं द्रव्यगुणपर्यायवि–चारं विना चरणकरणयोः सारं न, चरणसप्तत्याः करणसप्तत्याश्च सारं केवलं द्रव्यानुयोग एव, इत्ययं निष्कर्षः। सम्मतिग्रन्थे स्फुटं प्रकटं, कृतिप्रेष्ठं बुधजनवल्लभं, निर्दिष्टं कथितं, बुधा एव जानते, न तु बाह्यदृष्टयः। यतः–''चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा। चरणकरणस्स सारं, णिच्चयसुद्धं न याणंति'' ॥६७॥ (सम्म०३काण्ड) इतीयं गाथा सम्मतौ कथिता, अतश्चरणकरणानुयोगमूल इहोपायो द्रव्यानुयोग एव उक्तः। द्रव्या०१अध्या०।

गुणानां हि विकाराः स्युः, पर्याया द्रव्यपर्यवाः।
इत्यादि कथयन् देवसेनो जानाति किं हृदि?॥१७॥

इत्थं पदार्थाः प्रणिधाय मूर्द्धिन,
परीक्षिता ज्ञानगुरोः सदाज्ञाम्।
तुच्छोक्तिमुत्सृज्य विमोहमूला–
महँत क्रमाम्भोजरतेन सर्वे ॥१८॥

गुणविकाराः पर्याया एवं कथयित्वा तेषां भेदाधिकारे पर्याया द्विविधाः–द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्चेति कथयंश्च देवसेनो दिगम्बराऽऽचार्यो नयचक्रग्रन्थकर्त्ता हृदि चित्ते किं जानाति? अपि तु संभावितार्थं न किमपि जानातीत्यर्थः। पूर्वापरविरुद्धभाषणादसत्प्रलापप्नाय एवेदमित्यभिप्रायः। किञ्चद्रव्यपर्यायाया एव कथनीयाः, परं तु गुणपर्याया इति पृथग् भेदोत्कीर्तनं न कर्त्तव्यं, द्रव्ये गुणत्वाधिरोपाद्, गुणे च गुणत्वाभावादिति निष्कर्षः ॥१७॥ इत्थमनया रीत्या पदार्था द्रव्यगुणपर्यायाः परीक्षिताः स्वरूपलक्षणभेदाऽऽदिकथनेन विशदीकृताः। किंकृत्वा? ज्ञानगुरोः परम्पराऽऽगतश्रुताऽऽचार्यस्य, सदाज्ञां सत्यनिदेशं, मूर्द्धि मस्तके, निधाय संस्थाप्य। पुनः किंकृत्वा? विमोहमूलां भ्रमनिबन्धनां, तुच्छोक्तिं तुच्छबुद्धिप्रणीतवचनम्, उत्सृज्यापाकृत्य। कीदृशेन मया? अर्हत् क्रमाम्भोजरतेन वीतरागचरणकमलसेवनरसिकेन, सर्वे पदार्था मया परीक्षिता इत्यर्थः। भोजेति नामनिरूपणं चेति ॥१८॥ द्रव्या०१४ अध्या०।

द्रव्याऽऽदिकानां तु विचारमेवं,
विभावयिष्यन्ति सुमेधसो ये।
प्राप्स्यन्ति ते सन्ति यशांसि लक्ष्म्यः,
सौख्यानि सर्वाणि च वाञ्छितानि ॥१॥
गुरोः श्रुतेश्चानुभवात्प्रकाशितः,
परो हि द्रव्याऽऽद्यनुयोग आन्तरः।
जिनेशवाणीजलधौ सुधाकरः,
सदा शिवश्रीपरिभोगनागरः ॥२॥

एवमनया रीत्या, द्रव्याऽऽदिकानां विचारं ये सुबुद्धयो विभावयिष्यन्ति, ते सुमेधसः, इह सन्ति शोभनानि यशांसि। पुनः लक्ष्म्यः, परत्र सर्वाणि वाञ्छितानि सुखानि प्रास्यन्तीति भावः ॥१॥ गुरोः ज्ञानगुरोः, श्रुतेः सिद्धान्ताद्, अनुभवात् स्वानुभूतेः, आन्तरोऽन्तर्ज्ञानमयः, परः प्रकृष्टो द्रव्यानुयोगः प्रकाशितः। कीदृशः? वीतरागवचनसमुद्रे चन्द्र इव चन्द्रः, निरन्तरं शिवलक्ष्मीविलासे नायक इव नागर इति ॥२॥ द्रव्या० १५ अध्या०।

दव्वादेस पुं०(द्रव्याऽऽदेश) आदेशः प्रकारो द्रव्यरूप आदेशो द्रव्याऽऽदेशः। भ०१४ श०४उ०। द्रव्यप्रकारेण द्रव्यत इत्यर्थे, परमाणुत्वाऽऽद्याश्रित्येति यावत्। स्था०५ ठा०१उ०।

दव्वाभाव पुं०(द्रव्याभाव) निष्परिग्रहत्वेनार्थासत्तायाम्, पञ्चा०६ विव०।

दव्वाभिग्गह पुं०(द्रव्याभिग्रह) लेपकृताऽऽदिद्रव्यविषये, ग०१ अधि०।

दव्वाभिग्गहचरय पुं०(द्रव्याभिग्रहचरक) द्रव्याभिग्रहेण चरति भिक्षामटति द्रव्याऽऽश्रिताभिग्रहं वा चरत्यासेवते यः स द्रव्याभिग्रहचरकः। औ०। भिक्षाचर्य्यावति, भिक्षाचर्य्यायास्तद्वतोश्चाभेदविवक्षणाद् भिक्षायां च। भ०२५ श०७ उ०। ग०

दव्वायरिय पुं०(द्रव्याऽऽचार्य्य) आचार्यत्वयोग्यतायां अभावाद–प्रधानाऽऽचार्य्ये, पञ्चा०६ विव०।

दव्वालंकार पुं०(द्रव्यालङ्कार) स्वनामख्याते ग्रन्थे, यत्र चार्वाकमतखण्डनं कृतम्। स्या०।

दव्वावइ स्त्री०(द्रव्याऽऽपत्) कल्पनीयाऽशनाऽऽदिद्रव्यदुर्लभतायाम्, जीत०।

दव्वावस्सय न०(द्रव्याऽऽवश्यक) द्रव्यरूपमावश्यकं प्रकृतं, तत्राऽऽवश्यकोपयोगाधिष्ठितः साध्वादिदेहाऽवन्दनकाऽऽदिसूत्रोच्चारणलक्षणश्चाऽऽगम आवर्तकाऽऽदिका क्रिया चाऽऽवश्यकमुच्यते, आवश्यकोपयोगशून्यस्तु ता एव देहाऽऽगमक्रिया द्रव्याऽऽवश्यकम्। तस्मिन्, अनु०।

दव्विंद पुं०(द्रव्येन्द्र) इन्द्रभेदे, स्था०३ ठा०१उ०।(व्याख्या तु 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३३ पृष्ठे गता)

दव्विय पुं०(दैविक) देवेन कृतोपद्रवे, व्य०२ उ०।

दव्वी स्त्री०(दर्वी) भाजनविशेषे, आचा०१श्रु०१चू०१अ०६उ०। आव०। पिं०। प्रज्ञा०।

दव्वीअर पुं०(देशी) सर्पे, दे०ना०५ वर्ग ३७ गाथा।

दव्वीकर पुं०(दर्वीकर) दर्वीव दर्वी फणा तत्करणशीलो दर्वीकराः। अहिभेदे, प्रज्ञा०।

दर्वीकरभेदानभिधित्सुराह–

से किं तं दव्वीकरा? दव्वीकरा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा आसीविसा, दिट्ठीविसा, उग्गविसा, भोगविसा, तयाविसा, लालाविसा, उस्सासविसा, णिस्सासविसा, कण्हसप्पा, सेट्ठसप्पा, कउदरा, दब्भपुप्फा, कोलाहा, मेलिमिंदा, सेसिंदा, जे यावण्णे तहप्पगारा। से त्तं दव्वीकरा।

आश्यो दंष्ट्रास्तासु विषं येषां ते आशीविषाः। उक्तं च–''आसी दाढा तग्गय–महाविसा आसीविसा मुणेयव्वा'' इति। दृष्टौ विषं येषां ते दृष्टिविषाः, उग्रं विषं येषां ते उग्रविषाः, भोगः शरीरं, तत्र विषं येषां ते भोगविषाः, त्वचि विषं येषां ते त्वग् विषाः, प्राकृतत्वाच्च 'तयाविसा' इति पाठः। लाला मुखाऽऽस्रावः, तत्र विषं येषां ते लालाविषाः, निःश्वासे विषं येषां ते निःश्वासविषाः, कृष्णसर्पाऽऽदयो जातिभेदा लोकतः प्रतिपत्तव्याः। उपसंहारमाह–''से त्तं दव्वीकरा।'' प्रज्ञा०१ पद।

दव्वोवओग पुं०(द्रव्योपयोग) द्रव्यार्थिकनयजन्यबोधे, नं०।

दव्वोवगाहणा स्त्री०(द्रव्यावगाहना) द्रव्यस्य पर्यायैरवगाहना आश्रयणं द्रव्यावगाहना। अवगाहनाभेदे, स्था०४ ठा०। ('ओगाहणा' शब्दे तृ०भागे ७६ पृष्ठे व्याख्यातेयम्)

दव्वोसह न०(द्रव्यौषध) बहुद्रव्यसमुदायौषधे, नि०चू०२उ०।

दस त्रि०(दश) सङ्ख्याभेदे, दश०।

णामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो खलु निक्खेवो, दसगस्स उ छव्विहो होइ ॥६॥

आह–किमिति द्व्यादीन् विहाय दशशब्द उपन्यस्तः? उच्यते एतत्प्रतिपादनादेव द्व्यादीनां गम्यमानत्वात्। तत्र नामस्थापने सुगमे। द्रव्यदशकं दश द्रव्याणिसचित्ताचित्तमिश्रा–

णे मनुष्यरूपकटकाऽऽदिविभूषितानीति । क्षेत्रदशकं दश क्षेत्रप्रदेशाः, कालदशकंदश काला वर्तनाऽऽदिरूपत्वात्कालस्य दशावस्थाविशेषा इत्यर्थः । वक्ष्यति च– ''बाला किड्डा मंदा'' इत्यादिना । भावदशकं– दश भावाः, ते च सान्निपातिकभावे स्वरूपतो भावनीयाः । अथ चैत एव विवक्षय दशाध्ययनविशेषा इति । एष एवंभूतः खलु निक्षेपो न्यासः, दशशब्दस्य बहुवचनत्वाद्दशानां षड्विधो भवति । तत्र खलुशब्दोऽवधारणार्थः । एष एव प्रक्रान्तोपयोगीति । तुशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि? नाऽयं दशशब्दमात्रस्य, किं तु तद्वाच्यस्याऽर्थस्याऽपीति गाथाऽर्थः ॥६॥ दश०१अ० अनु० कल्प० स्था०।

दसउर न०(दशपुर) साम्प्रतं 'मन्दसोर' इति प्रसिद्धे स्वनामख्याते नगरे, आ०क०।

''आस्तां तावद्रक्षिताऽऽर्यो , वक्ष्ये दशपुरोद्गमम् (२)
अस्त्यत्र कम्पा पुरी चम्पा, तत्राऽऽसीत्स्वर्णहारकः ।
कुमारनन्दिः स्त्रीलोलः, श्रीमान् श्रीद इवापरः ॥३॥
दर्शं दर्शं सुरूपां स्त्रीं, पञ्चस्वर्णशताऽऽहतेः ।
उद्वहन् लम्पटः सोऽभूद्योषित्पञ्चशतीपतिः ॥४॥
अतीर्ष्यालुस्ततः सौधमेकस्तम्भं विधाप्य सः ।
विललास समं ताभिर्देवीभिरिव देवराट् ॥५॥
अथाऽन्यदा पञ्चशैल–द्वीपगं व्यन्तरीयुगम् ।
गच्छन्नन्दीश्वरद्वीप–यात्रायां बृहताऽऽज्ञया ॥६॥
विद्युन्मालीव तत्कान्तः, प्रच्युतः पञ्चशैलराट् ।
ततो विरहदुःखार्तं, शून्यं पश्यदितस्ततः॥७॥
कुमारनन्दिं चम्पायां, दृष्ट्वोद्याने व्यचिन्तयत् ।
एषोऽस्माद्वल्लभो भावी, तत्तस्य स्वमदर्शयत् ॥८॥
के युवामेति तेनोक्ते, ताभ्यां देव्यावितीरितम् ।
ऊचे च यावन्नागच्छेः, पञ्चशैलमथो गते ॥९॥
नृपमुक्त्व स तद्भक्तोऽवादयत् पटहं पुरे ।
कुमारनन्दिं यः पञ्च–शैले नयति तस्य सः ॥१०॥
स्वर्णकोटिं प्रदत्ते तं, दध्रे वृद्धनियामकः ।
पुत्राणां तद्धनं दत्त्वा, तं पोते न्यस्य सोऽचलत् ॥११॥
दूरं गत्वा बभाषे तं, निर्यामः किञ्चिदीक्षसे ।
सोऽभ्यधात्किमपि श्यामं, प्रेक्षे निर्यामकोऽब्रवीत् ॥१२॥
नितम्बेद्रेर्वटोऽस्त्येष, पोतोऽस्याऽधोऽयमेष्यति ।
तत्त्वमत्रावलम्बेथाः, पोतोऽस्याधः स्फुटिष्यति ॥१३॥
गतस्य तव शैलोर्द्ध्वं , भारुण्डाः पञ्चशैलतः ।
द्विज । वास्त्र्यंह्रयो द्व्यास्या, एष्यन्त्येकोदराः खगाः ॥१४॥
तन्मध्यपदलग्नस्त्वं, पञ्चशैले गमिष्यसि ।
इत्युक्तः स तथाऽकार्षीत्, पञ्चशैलं जगाम च ॥१५॥
निर्यामकः पुनः पोत–स्फोटादग्रे गतो मृतः ।
व्यन्तरीभ्यां तु ताभ्यां स, दृष्टः श्रीस्तस्य दर्शिता ॥१६॥
उक्त्वाऽन्न देहेन, भोग्ये आवां न ते ततः ।
हासाप्रहासाक्रान्तःस्यां, पञ्चशैलाऽधिपो मृतः॥१७॥
इत्युक्त्वाऽग्निप्रवेशाऽऽद्यं, कुर्वीथा दानपूर्वकम् ।
तत्कथं गम्यथोद्याने, नीत्वा ताभ्याममोटि सः ॥१८॥
अथाऽऽगत्य जनोऽप्राक्षीत्प्रोक्षितं तत्र किं त्वया?
सोऽवदत्तो मया दृष्टे, व्यन्तर्यौ मर्त्यदुर्लभे ॥१९॥
श्रमणोपासको मित्रं, नागिलस्तत्र तेन सः ।
वारितोऽप्यविशद्वह्नौ, दत्त्वा दानं निदानवान् ॥२०॥
पञ्चशैलाधिपः सोऽभूद्भवात्खिन्नोऽथ नागिलः ।
परिव्रज्याऽच्युते जातः, शक्रसामानिकः सुरः॥२१॥
अथान्यदाऽष्टमद्वीपे, यात्रायां पटहाऽग्रहे ।
पटहोऽक्षेपि शक्रेण, विद्युन्मालिगले बलात् ॥२२॥
वादयन्नथ भीतोऽगात्, ज्ञात्वा तं नागिलोऽवधेः ।
आगाद्र द्टुं स तत्तेजोऽसहमानः पलायत ॥२३॥
तेजः संहृत्य मां वेत्सीत्युक्तोऽवग्वेत्ति को न वः ?
श्राद्धरूपमथाऽऽदर्श्य, ज्ञापितो धर्मबैभवम्॥२४॥
संविग्नःसोऽवदन्मित्र ! कर्त्तव्यमधुना दिश ।
तेनोक्तं कुरु वीरार्चा ,सम्यक्त्वं भावि ते ततः ॥२५॥
महाहिमवतःसोऽथाऽऽदाय गोशीर्षचन्दनम् ।
कृत्वाऽर्चां तेन वरिस्य, न्यक्षिपत्काष्ठसंपुटे॥२६॥
प्रेक्ष्यान्तःसागरं पोतं, षण्मासोत्पातबाधितम् ।
निवर्त्य तेषामुत्पातमार्पयत् तं समुद् गकम् ॥२७॥
उक्तश्चास्तीह देवाधिदेवार्चा भूभुजेऽऽर्प्य ताम् ।
आगत्योऽन्तःपुरे वीत–भये वीतभयस्ततः॥२८॥
उदायनो नृपस्तत्र, भौतभावितमानसः ।
तस्य प्रभावती देवी, प्रेयसी परमाऽऽर्हता ॥२९॥
राज्ञः सर्मपितःपोत–वणिग्भिः स समुद् गकः ।
देवाधिदेवप्रतिमा, मध्येऽस्त्यस्येत्यभाषत ॥३०॥
पर्शुस्तस्येन्द्राऽऽद्यर्चाऽर्थं , वाहितोऽपि हि नाऽवहत् ।
प्रभावत्युक्तदेवाधिदेवश्रीवीरमूर्तये ॥३१॥
स्पर्शेऽपि परशोः प्रादुरासाऽऽर्चा दवनिर्मिता ।
कृतमन्तःपुरे चैत्यं, सदाऽऽनर्च प्रभावती ॥३२॥
देवी तत्रान्यदाऽनृत्यद्राजा वीणामवादयत् ।
देव्याः शीर्षमदृष्ट्वाऽस्य, भ्रष्टं तद्वादनं करात् ॥३३॥
देवी रुष्टाऽवदद् दुष्ठु, नृत्तं किं मे, न सोऽवदत् ।
निर्बन्धात् कथिते देवीं , स्माऽऽहाऽऽर्हत्या न मेऽस्ति भीः॥३४॥
देवी स्नात्वाऽन्यदा चेटीमूचे वासांस्युपानय ।
साऽनयद्र(द्र)क्तवासांसि, देव्यूचे किमिदं हले !॥३५॥
देवार्चाप्रगुणां मां किं, न जानासीति तां क्रुधा ।
करस्थदर्पणेनाहन्मर्माऽऽघाताच्च सा मृता॥३६॥
मृतां तां वीक्ष्य देवीति, दध्यौ हा खण्डितं व्रतम् ।
ततो राजानमापृच्छ्याऽनशनं विदधाम्यहम् ॥३७॥
निर्बन्धेऽमंस्त तद्राजा, बोध्योऽहमिति चाब्रवीत् ।
कृत्वाऽथाऽनशनं मृत्वा, देवी देवोऽभवद्दिवि ॥३८॥
प्रतिमां देवदत्तां च, कुब्जा देव्याज्ञयाऽऽर्चयत् ।
देवी देवेन स्वप्नाऽऽद्यैर्बोधितोऽप्यबुधन्न राट् ॥३९॥
ततः प्रभावती देवी, भौतो भूत्वाऽगमत्सभाम् ।
द्युफलान्यार्पयद्राज्ञे, राजा तान्याद सादरः॥४०॥
सन्ति क्वैतान्यपृच्छच्च, भौतं सोऽवग्मदाश्रमे ।
ततस्तेन समं राजा, तत्कृतेऽगात्तदाश्रमे ॥४१॥
सोऽथ तैर्माष्टमारेभे, नश्यंस्तेभ्यो ययौ वने ।
साधूनालोक्य तत्राऽस्थात्, श्रुत्वा धर्ममबुद्ध च ॥४२॥
ततः प्रभवतीदेवो, दर्शयित्वा स्वमूचिवान् ।
राजन्नितो मे देवर्द्धिस्तत् त्वमत्र दृढो भव ॥४३॥
स्मरेः कार्ये च गाढे मामित्युक्त्वा तत्र जग्मुषी ।
वीक्ष्याऽऽस्थाने तथैव स्वं, सोऽर्हद् धर्मे दृढोऽभवत् ॥४४॥
इतश्च श्राद्धो गान्धारो, नत्वा तीर्थभुवोऽखिलाः ।
नन्तुं वैताढ्यचैत्यानि, तन्मूलेऽस्थादुपोषितः॥४५॥
तत्र शासनदेव्या स, नित्यचैत्यान्यवन्द्यत ।

तोषाद्यास्मै सर्वकाम–गुटिकानां शतं ददौ ॥४६॥
सोऽथ वीतभये दिव्य–प्रतिमां नन्तुमागमत्।
तत्राभूदतिसारोऽस्य, पालितो देवदत्तया ॥४७॥
उल्लाघः सोऽथ तास्तस्यै, दत्त्वा प्रव्रजितः स्वयम्।
वर्णः स्वर्णसमो मे ऽस्त्वित्याशैकां गुटिकामसौ ॥४८॥
तत्प्रभावात्तथाभूता, दध्यौ भोगार्थिनी पुनः।
एष राजा पितृप्रायः, परे चास्य मुखेक्षकाः॥४९॥
प्रद्योतार्थमथ प्राऽऽश, द्वितीयां गुटिकामसौ।
सुवर्णगुटिकारूपं, तस्य तद्देव्यथाऽब्रवीत् ॥५०॥
तेन प्रैष्यत दूतोऽस्यै, प्रेक्ष्ये तं तावदाह सा।
अनलगिरिणाऽथाऽऽगाद्रात्रौ दृष्टोऽरुदच्च सः॥५१॥
अहमेष्यामि यद्येतां, प्रतिमां सह नेष्यसि।
स तत्प्रपद्य तत्पार्श्वं , निशां निर्गम्य जग्मिवान् ॥५२॥
तत्सदृशीं प्रतिमामन्यां, कारयित्वाऽगमत्पुनः।
मुक्त्वैतां तां गृहीत्वा च, सुवर्णगुटिकां च सः॥५३॥
तत्रानलगिरेर्मूत्रोच्चाररगन्धेन बाधिताः।
उदायनगजाः सर्वेऽप्यभूवन्निर्मदास्तदा ॥५४॥
राजपुंभिस्ततो राज्ञो, विज्ञप्तं देव ! दासिका।
हृता प्रद्योतराजेन, रात्रावागत्य चोरवत् ॥५५॥
या त्वसौ प्रतिमा साऽस्ति, तेऽभ्यधुर्देव ! विद्यते।
पूजाकालेऽथ पुष्पाणि, दृष्ट्वा म्लानान्यचिन्तयत् ॥५६॥
प्रतिबिम्बं विमुच्याऽत्र, प्रतिमा सा हृताऽमुना।
प्रतिमां मुञ्च चेट्यस्तु, दूतेनोचेऽथ तं नृपः ॥५७॥
नार्पयत्तां स राजाऽथा–चालीज्ज्येष्ठेऽपि तं प्रति।
दशापि गणराजानस्तस्य तेन सहाचलन् ॥५८॥
तापार्त्ता च मरौ सैन्यं, जलाभावादबाध्यत।
ततः प्रभावतीदेवः, स्मृतोऽकार्षीत्त्रिपुष्करीम् ॥५९॥
आदिमध्यान्तगां सैन्य–सुस्थोऽथोज्जयिनीं ययौ।
पुनर्दूतेन राजोचे, प्रद्योतं को जनक्षयः?॥६०॥
द्वयेऽपि सैनिकः सन्तु, पश्यन्तः पारिपार्श्वकाः।
आरूढयोः पदात्योर्वा, तुल्यस्थित्यो रणोऽस्तु नौ ॥६१॥
ऊचे प्रद्योतराजोऽपि, सावष्टम्भमिदं वचः।
योत्स्यावहे रथेनाऽऽवां, प्रागभ्येत्य रणाङ्गणे ॥६२॥
अथाऽऽरुह्यानलगिरिं, प्रद्योतः प्रातरागतः।
उदायनो रथेनाऽऽगादवन्तीशं जगाद च ॥६३॥
राजन्नसत्यसन्धोऽसि, नास्ति मोक्षस्तथापि ते।
भावी प्रद्योत ! खद्योतस्त्वं मे वाणार्कसङ्गतः॥६४॥
रथं न्यस्याथ मण्डल्यां, प्रद्योतेभमुदायनः।
उत्क्षिप्तोत्क्षिप्तपादान्तः, क्षिप्त्वा बाणानपातयत् ॥६५॥
प्रद्योतो निपतन्नागाद्, बद्धोदायनभूभुजा।
भाले दासीपतिरिति, दत्त्वाऽङ् कं धरणे कृतः ॥६६॥
गत्वा राजा ततोऽवन्त्यां, दद्याऽऽज्ञां सर्वतो निजाम्।
निषिद्धः प्रतिमां गृह्णन्नधिष्ठात्र्याऽचलत्ततः॥६७॥
वर्षाकाले विचालेऽस्थादवस्कन्दभयादथ।
धूलीवप्रं विधायाऽस्थुर्दशाऽपि परितो नृपाः॥६८॥
प्रद्योतो धरणस्थोऽपि, बुभुजे भूभुजा सह।
पृष्टः पर्युषणायां च, भोज्यं सूदेन तेऽस्तु किम्? ॥६९॥
चण्डोऽवादीद्भयान्मृत्योः, का पृच्छा मेऽद्य सूदप!?
स बभाषे पर्युषणा, राजेन्द्रोऽद्यास्त्युपोषितः ॥७०॥
सोऽभ्यधान्मेऽप्यभक्तार्थः, पर्वपर्युषणाऽद्य चेत्।
ममाऽपि मातापितरौ, श्रावकौ यद् बभूवतुः॥७१॥
सूदाध्यक्षो नृपस्याऽऽख्यद्राजोचे धूर्त्त एषकः।
किं पुनर्मम बद्धेऽस्मिन्, प्रतिक्रान्तिर्न सेत्स्यति ॥७२॥
ततः स क्षामितो मुक्त्वा, दत्तास्तस्यैव मालवाः।
ललाटे पट्टबन्धश्च, बद्धोऽङ् कच्छादनाकृते ॥७३॥
नृपा मुकुटबद्धाः प्राक्, बद्धपट्टा इतोऽभवन्।
वर्षाव्यतिक्रमेऽयासीन्निजं पुरमुदायनः ॥७४॥
आगत्याऽऽगत्य यस्तत्र, वसति स्म वणिग्जनः।
सोऽस्थात्तत्रैव तज्ज्ञे, पुरं दशपुरं ततः ॥७५॥''
आ०क०। दश०। विशे०। आ०चू०। आ०म०। उत्त०। नं०।

दसकालिय न०(दशकालिक) कालेन निर्वृत्तं कालिकं, प्रमाणकालेनेति भावः। दशाध्ययनभेदाऽऽत्मकत्वाद्दशप्रकारं कालिकम्, प्रकारशब्दलोपाद्दशकालिकम्। दशवैकालिकाऽऽख्ये ग्रन्थे, दश०१ अ०।

दसगुण पुं०(दशगुण) एकगुणापेक्षया दशाभ्यस्ते, स्था०१० ठा०।

दसगुणकालग पुं०(दशगुणकालक) दशगुण एकगुणकालापेक्षया दशाभ्यस्तः कालो वर्णविशेषो येषां तेषु, स्था० १०ठा०।

दसजाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्स न०(दशजातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्र) दशैव जातौ यानि कुलकोटीनां जातिविशेषलक्षणानां योनिप्रमुखाणि उत्पत्तिस्थानद्वारकाणि शतसहस्राणि लक्षाणि तेषु, स्था०१० ठा०।

दसट्ठाण न०(दशस्थान) दशसु प्रकारेषु, दश स्थानानि नैरयिकाणामनिष्टानि, देवानां चेष्टानि शब्दाऽऽदीनीति। भ०१४ श०५ उ०। ('वीईवयण' शब्दे प्रसंगाद् वक्ष्यन्ते)

दसट्ठाणणिव्वत्तिय पुं०(दशस्थाननिर्वर्तित) दशभिः स्थानैः प्रथमसमयैकेन्द्रियत्वाऽऽदिभिः पर्यायैर्हेतुभिर्यैर्निर्वृत्ता बन्धयोग्यतया निष्पादितास्ताः तेषु, दशभिः स्थानैर्निर्वृत्तिर्वा येषां तेषु च। स्था०१० ठा०।

दसण पुं०(दशन) 'दशनानि च कुन्द कलिकाः स्युः।' है०। दश्यते अनेन। दन्ते, शिखरे च। करणे ल्युट्। कवचे, भावे ल्युट्। दंशने, दन्ताऽऽदिना आघाते च। प्रव०३८ द्वार। वाच०।

दसणाम न०(दशनामन्) दशविधपदार्थनामनि, अनु०।

अथ दशनामाभिधानार्थमाह–

से किं तं दसनामे ? दसनामे दसविहे पण्णत्ते। तं जहा–गोणे, नोगोणे, आयाणपएणं, पडिवक्खपएणं, पहाणयाए, अणाइयसिद्धे, नामेणं अवयवेणं, संजोगेणं, पमाणेणं। अनु०। (टीका सुगमा)

दसण्ण पुं०(दशार्ण) दश ऋणानि दुर्गाणि जलानि वा यत्र। ऋणशब्दे वृद्धिः। वाच०। मृत्तिकावतीपुरीप्रतिबद्धे देशविशेषे, प्रज्ञा०१ पद। सञ्ज्ञ०। उत्त०। प्रव०। आ०म०। नदीभेदे, स्त्री०। वाच०।

दसण्णकूड न०(दशार्णकूट) स्वनामख्याते कूटे, आ०क०। आ० म०। आचा०। आ०चू०। प्रति०। ('गयग्गपय' शब्दे तृतीयभागे ८४२ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

दसण्णपुर न०(दशार्णपुर) स्वनामख्याते नगरे, यत्र दशार्णभद्रो नृपः श्रीभगवन्तं महावीरं दशार्णकूटनगरनिकटसमवसृतं ववन्दे। स्था०१० ठा०। आव०। आ०चू०। आ०म०।

दसण्णभद्द पुं०(दशार्णभद्र) स्वनामख्याते दशार्णपुरराजे, स्था०। दशार्णभद्रो दशार्णपुरनगरनिवासी विश्वम्भराविभुर्यो भगवन्तं महावीरं दशार्णकूटनगरनिकटसमवसृतमुद्यानपालवचनादुपलभ्य यथा न केनापि वन्दितो भगवाँस्तथा मया वन्दनीय इति राज्यसंपदवलेपाद्भक्तितश्च विन्तयामासः ।ततः प्रातः सविशेषकृतस्नानविलेपनाऽऽभरणाऽऽदिविभूषः प्रकल्पितप्रधानद्विपपतिपृष्ठाऽऽरूढो वल्गनाऽऽदिविविधक्रियाकारिसदर्पसर्पच्चतुरङ्ग सैन्यसमन्वितः पुष्यमाणवकसमुद् घुष्यमाणाऽगणितगुणगणः सामन्तामात्यमन्त्रिराजदौवारिकदूताऽऽदिपरिवृतः सान्तःपुरपौरजनपरिवृत आनन्दमयमिव संपादयन्महीमण्डलमाखण्डल इवामरावत्या नगरान्निर्जगाम। निर्गत्य च समवसरणमभिरम्य यथाविधि भगवन्तं भव्यजननलिनवनविबोधनाभिनवभानुमन्तं महावीरं वन्दित्वोपविवेश । अवगतदशार्णभद्रभूपाभिप्रायं च तन्मानविनोदनोद्यतं कृताष्टमुखे प्रतिमुखं विहिताष्टदन्ते प्रतिदन्तं कृताष्टपुष्करिणीके प्रतिपुष्करिणिं निरूपिताष्टपुष्करे प्रतिपुष्करं विरचिताष्टदले प्रतिदलं विरचितद्वात्रिंशद् बद्धनाटके वारणेन्द्रे सारूढं स्वश्रिया निखिलं गगनमण्डलमापूरयन्तममरपतिमवलोक्य कुतोऽस्मादृशामीदृशी विभूतिः? कृतोऽनेन निरवद्यो धर्म इति, ततोऽहमपि तं करोमि, इति विभाव्य प्रवव्राज, जितोऽहमधुना त्वयेति भणित्वा यमिन्द्रः प्रणिपपातेति। सोऽयं दशार्णभद्रः संभाव्यते, परमनुत्तरोपपातिकाङ्गे नाधीतः क्वचित्सिद्धश्च श्रूयत इति। तथा अतिमुक्तक एवं श्रूयते अन्तकृद्दशाङ्गेपलाशपुरे नगरे विजयस्य राज्ञः श्रीनाम्न्या देव्या अतिमुक्तको नाम पुत्रः षड्वार्षिको गौतमं गोचराऽऽगतं दृष्ट्वा एवमवादीत्–के यूयम्? किं पर्यटत? ततो गौतमोऽवादीत्–श्रमणा वयं, भिक्षार्थं च पर्यटामः। तर्हि भदन्ताः! आगच्छत तुभ्यं भिक्षां दापयामीति भणित्वाऽङ्गुल्या भगवन्तं गृहीत्वा स्वगृहमानैषीत्। ततः श्रीदेवी हृष्टा भगवन्तं प्रतिलम्भयामास। अतिमुक्तकः पुनरवोचत्–यूयं क्व वसथ? भगवानुवाचभद्र! मम धर्माऽऽचार्याः श्रीवर्द्धमानस्वामिन उद्याने वसन्ति, तत्र वयं परिवसामः। भदन्ताः! गच्छाम्यहं भवद्भिः सार्द्धं भगवतो महावीरस्य पादान् वन्दितुम्? गौतमोऽवादीत्–यथासुखं देवानां प्रिय! ततो गौतमेन सह गत्वाऽतिमुक्तकः कुमारो भगवन्तं वन्दते स्म। धर्मं श्रुत्वा प्रतिबुद्धो गृहमागत्य पितरावब्रवीत्–यथा संसारान्निर्विण्णोऽहं प्रव्रजामीत्यनुजानीत युवाम्। तावूचतुः–बाल! त्वं किं जानासि? ततोऽतिमुक्तकोऽवादीत्–अम्ब! तात! यदेवाहं जानामि तदेव जानामीति। ततस्तौ तमवादिष्टाम्। कथमेतत्? सोऽब्रवीत्–अम्ब! तात! जानाम्यहं यदुत–जातेनाऽवश्यं मर्तव्यं, न जानामि तु कदा वा कस्मिन् वा कियच्चिराद्वा । तथा न जानामि कैः कर्मभिर्निरयाऽऽदिषु जीवा उत्पद्यन्ते । एतत्युनर्जानामि, यथा–स्वयं कृतैः कर्मभिरिति । तदेवं मातापितरौ प्रतिबोध्य प्रवव्राज, तपः कृत्वा च सिद्ध इति। त्वयमनुत्तरोपपातिकेषु दशमाध्ययनतयोक्तस्तदपर एवाऽयं भविष्यतीति। स्था०१०ठा०। आव०। उत्त०। आ०म०। आ०चू०। आ०क०। तथा च–

''सट्ठिकरिसहस्स'' इति गाथाया व्याख्यानं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्–चतुःषष्टिसंख्या हस्तिसहस्राः, किंलक्षणाः? सहाष्टदन्तैर्यानि तानि साष्टदन्तानि, अष्टसंख्यानि शिरांसि अष्टशिरांसि, साष्टदन्तानि च तानि अष्ट–शिरांसि च साष्टदन्ताष्टशिरांसि चतुःषष्टिगुणीकृतानि साष्टदन्ताष्ट–शिरांसि येषां ते चतुःषष्टिसाष्टदन्ताष्टशिरसः । अत्र मध्यमपदलोपी समासो ज्ञेयः। अष्टानां च चतुःषष्ट्या गणने द्वादशोत्तराणि पञ्चशतानि शिरांसि प्रतिगजं स्युरिति, तथैकैकस्मिन्, दन्तेऽष्टाष्टपुष्करिण्य इति । ५३प्र०। सेन०२ उल्ला०। तथा दशार्णभद्राधिकारे हस्तिमुखाऽऽदिविकुर्वणा किमिन्द्रेण कृता, किमुतैरावणदेवेन वेति प्रश्ने, उत्तरम्–आवश्यकचूर्ण्याद्यनुसारेण हस्तिमुखाऽऽदि सर्वमिन्द्राऽऽदेशादैरावणेन विचक्रे, आवश्यकवृत्त्याद्यनुसारेण तु तत्सर्वं स्वयं विमौजसेति। ११७ प्र०। सेन०२ उल्ला०।

दसतिग न०(दशत्रिक) दशाभ्यस्ते त्र्यवयवे समुदाये, संघा० १ अधि०१ प्रस्ता०। ('चेइयवंदण' शब्दे तृतीयभागे १०९८ पृष्ठे दशत्रिकाणि प्रतिपादितानि)

दसदसमिया स्त्री०(दशदशमिका) दश दशमानि दिनानि यस्यां सा दशदशमिका। दशदशकनिष्पन्नायां भिक्षुप्रतिमायाम्, स्था०।

दसदसमिया णं भिक्खुपडिमा णं राइंदियसएणं अद्धछट्ठेहि य भिक्खासएहिं अहासुत्तं०जाव आराहिया भवइ।

(दसेत्यादि) दश दशमानि दिनानि यस्यां सा दशदशमिका, दशदशकनिष्पन्नेत्यर्थः । भिक्षूणां प्रतिमा प्रतिज्ञा भिक्षुप्रतिमा एकेनेत्यादि दशदशकानि दिनानां शतं भवतीति प्रथमे दशदशभिक्षा । द्वितीये विंशतिः । एवं दशमे शतम् । सर्वमीलने पञ्चशतानि पञ्चाशदधिकानि भवन्तीति। (अहासुत्तेत्यादि) (अहासुत्त) सूत्रानतिक्रमेण, यावत्करणात्–(अहाअत्थ) अर्थस्य निर्युक्त्यादेरनतिक्रमेण(अहातच्चं) शब्दार्थानतिक्रमेण (अहामग्गं) क्षायोपशमिकाभावानतिक्रमेण (अहाकप्पं) तदाचारानतिक्रमेण, सम्यक्कायेन, न मनोरथमात्रेण, (फासिया) विशुद्धपरिणामप्रतिपत्त्या (पालिया) सीमां यावत्तत्परिणामाहान्या, शोधिता, निरतिचारतया शोभिता वा तत्समाप्तावुचितानुष्ठानकरणतः, तारिता तीरं नीता प्रतिज्ञातकालोपर्यप्यनुष्ठानात्, कीर्तिता नामत इदं चेदं च कर्त्तव्यमस्यां तत्कृतं मयेत्येवमिति। आराधिता सर्वपदमीलनात्, भवति जायत इति प्रतिमाऽभ्यासः। स्था०१० ठा०। प्रव०। स०। अन्त०।

दसदसय न०(दशदशक) शते, स्था०१० ठा०।

दसदिट्ठंत पुं०(दशदृष्टान्त) मनुष्यलाभे दशसु दृष्टान्तेषु, आ० म०१ अ०१ खण्ड।(ते च 'मानुसत्त' शब्दे वक्ष्यन्ते)

दसदिवसिय त्रि०(दशदिवसिक) दशाहिके, ''दसदिवसियं ठिइवडियं।'' ज्ञा०१ श्रु०१अ०।

दसधणु पुं०(दशधनुष्) जम्बूद्वीपे द्वीपे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्प्पिण्यामैरवते वर्षे भविष्यति षष्ठे कुलकरे, स०। ति०। जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्प्पिण्यां दशमे कुलकरे च। स्था०१० ठा०।

दसद्धवण्ण त्रि०(दशार्द्धवर्ण) पञ्चवर्णे, स०३४ सम०। रा०।

औ० जी० ''दसद्धवण्णस्स कुसुमस्स जाणुस्सेहपमाणमेत्तं।'' रा०।

दसपएसिय पुं०(दशप्रदेशिक) दशाणुके, स्था०१० ठा०।

दसपएसोगाढ पुं०(दशप्रदेशावगाढ) दशप्रदेशेष्वाकाशस्यावगाढा आश्रिता दशप्रदेशावगाढाः। आकाशस्य दशसु प्रदेशेषु आश्रिते, स्था०१० ठा०।

दसपुव्वि(ण्) पुं०(दशपूर्विन्) अधीतोत्पादाऽऽदिपूर्वदशके, कल्प०।

''महागिरिःसुहस्ती च, सूरिः श्रीगुणसुन्दरः।

श्यामाऽऽर्यः स्कन्दिलाऽऽचार्य्यो , रेवतीमित्रसूरिराट् ॥१॥

श्रीधर्म्मो भद्रगुप्तश्च, श्रीगुप्तो वज्रसूरिराट्।

युगप्रधानप्रवराः, दशैते दशपूर्विणः ॥२॥'' कल्प०८क्षण।

दसबल पुं०(दशबल) **''दशपाषाणे हः''** ॥८।१।२६२॥ इति शकारस्य वैकल्पिको हकारः। 'दसबलो। दहबलो।' प्रा०१ पाद। दश बलानि यस्य सः। बुद्धभगवति, को०। ''दानशीलक्षमावीर्य्यध्यानप्रज्ञाबलानि च। उपायाः प्रणिधिर्ज्ञानं, दश बुद्धबलानि वै'' ॥१॥ वाच०।

दसम त्रि०(दशम) दशानां पूर्णः, डटि मट्। येन दश सङ्ख्या पूर्य्यते तस्मिन्, आचा०१ श्रु०६ अ०४ उ०। पञ्चा०।

दसमभत्तिय पुं०(दशमभक्तिक) दिनचतुष्टयमुपोषिते, प्रश्न० ३ संव०द्वार।

दसमी स्त्री०(दशमी) ङीप्। सा च ''शताऽऽयुर्वै पुरुषः'' इति श्रुतेः पुरुषस्याऽऽयुःकालस्य शतसंख्यकतया दशभिर्विभागः। नवतेरूर्द्ध्वं दशवर्षावच्छिन्ने काले पुरुषावस्थाऽऽदौ, वाच०। द०प०। ज्यो०। ('तिहि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २३३० पृष्ठे दशमीफलान्युक्तानि)

दसमुद्दामंडियग्गहत्थ पुं०(दशमुद्रामण्डिताग्रहस्त) दशभिर्मुद्राभिर्मण्डितौ अग्रहस्तौ येषां तेषु, जी०३प्रति०४उ०।

दसमुद्दियाणंतय न०(दशमुद्रिकानन्तक) हस्ताङ्गुलीमुद्रिकादशके, भ०६ श०३३ उ०।

दसरत्तट्ठिइवडिया स्त्री०(दशरात्रस्थितिपतिता) कुलक्रमादागते पुत्रजन्मानुष्ठाने, विपा०१ श्रु०३ अ०।

दसरह पुं०(दशरथ) जम्बूद्वीपे भारते वर्षेऽस्यामेवोत्सर्प्पिण्यां जाते-ऽष्टमस्य वासुदेवस्य पितरि, स्था०६ ठा०। आव०। ति०। स०। जम्बूद्वीपे भारते वर्षेऽतीतायामुत्सर्प्पिण्यां जाते नवमे कुलकरे, स्था०१०ठा०।स०।

दसविह त्रि०(दशविध) दशप्रकारके, प्रश्न०३ संव० द्वार।

दसविहकप्प पुं०(दशविधकल्प) कल्पविकल्पाऽऽदिके दशप्रकारे कल्पे, प०भा०। (दशविधकल्पाः 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे २२६ पृष्ठे उक्ताः)

दसवेयालिय न०(दशवैकालिक) विकालेनापराह्णलक्षणेन निर्वृत्तं वैकालिकम्, दशाध्ययननिर्माणं च तद्दैकालिकं च मध्यपदलोपाद्दश-वैकालिकम्। पा० नं०। शय्यम्भवसूरिकृते स्वनामख्याते श्रुतग्रन्थे, अस्य दशवैकालिकस्यानुयोगः। तत्रानुयोगव्याख्या स्वस्थाने निरवशेषोक्ता।

इह तु--

एयाइँ परूवेउं, कप्पे वण्णियगुणेण गुरुणा उ।
अणुओगो दसवेयालियस्स विहिणा कहेयव्वो ॥६॥

एतानि निक्षेपाऽऽदिद्वाराणि ('अणुओग' शब्दे) प्ररूप्य व्याख्याय कल्पे वर्णितगुणेन गुरुणा, षट् त्रिंशद् गुणसमन्वितेनेत्यर्थः। अनुयोगो दशवैकालिकस्य, विधिना प्रवचनोक्तेन कथयितव्य आख्यातव्यः। इति गाथाऽर्थः ॥६॥ सम्प्रत्यजानानः शिष्यः पृच्छति--यदि दशकालिक-स्यानुयोगः, ततस्तद्दशकलिकं भदन्त! किमङ्गमङ्गानि, श्रुतस्कन्धः श्रुतस्कन्धाः, अध्ययनम्, अध्ययनानि, उद्देशक उद्देशका इत्यष्टौ प्रश्नाः। एतेषां मध्ये त्रयो विकल्पाः खलु प्रयुज्यन्ते, तद्यथा--दशकालिकं, श्रुतस्कन्धाः, अध्ययनानि, उद्देशकाश्चेति, यतश्चैवमतो दशाऽऽदीनां निक्षेपः कर्तव्यः। तद्यथा--दशानां कालस्य श्रुतस्कन्धस्याध्ययनस्य, उद्देशकस्य चेति।

तथा चाऽऽह निर्युक्तिकारः--

दसकालियं ति नामं, संखाए कालओ य निद्देसो।
दसकालिय सुअखंधं, अज्झयणुद्देस निक्खिविउं ॥६॥

दशकालिकं प्राग्निरूपितशब्दार्थम्, इति एवंभूतं, यन्नाम अभिधानम्। इदं किम्? संख्यानं संख्या, तया, कालतश्च कालेन चायं निदेशः--निर्देशनं निर्देशः, विशेषाभिधानमित्यर्थः। अस्य च निबन्धनं विशेषेण वक्ष्यामः ''मणगं पडुच्च'' इत्यादिना ग्रन्थेन। यतश्चैवमतः--(दसकालियं ति) कालेन निर्वृत्तं कालिकं, दशशब्दस्य कालशब्दस्य च निक्षेपः। निर्वृत्तार्थस्तु निक्षेपः। तथा श्रुतस्कन्धम्, तथाऽध्ययनमुद्देशं तदेकदेश-भूतम्। किम्? निक्षेप्तुमनुयोगोऽस्य कर्त्तव्य इति गाथाऽर्थः। दश० १ अ०। (दशशब्दस्य निक्षेपः 'दस' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४७६ पृष्ठे गतः) (कालशब्दस्य च 'काल' शब्दे तृतीयभागे ४७० पृष्ठादारभ्य विशेषो द्रष्टव्यः)

इह पुनर्दिवसप्रमाणकालेनाऽधिकारः, तत्राऽपि तृतीयपौरुष्या, तत्राऽपि बह्वतिक्रान्तयेति। आह--यदुक्तम्--''पगयं तु भावेणं ति'' तत्कथं न विरुध्यत इति? उच्यते--क्षायोपशमिकभावकाले शय्यंभवेन निर्व्यूढं, प्रमाणकाले चोक्तलक्षणमित्यविरोधः। अथवा--प्रमाणकालोऽपि भावकाल एव, तस्याऽद्धाकालस्वरूपत्वात्, तस्य च भावत्वादिति।

तथा चाऽऽह निर्युक्तिकारः--

सामाइयअणुकमओ, वन्नेउं विगयपोरसीए उ।
निव्वूढं किर सिज्जं--भवेण दसकालियं तेणं ॥१२॥

सामायिकमावश्यकप्रथमाध्ययनं, तस्यानुक्रमः परिपाटीविशेषः, सामायिके वाऽनुक्रमः सामायिकानुक्रमः, ततः सामायिकानुक्रमतः सामायिकानुक्रमेण, वर्णयितुम्, अनन्तरोपन्यस्तगाथाद्वाराणीति प्रक्रमाद्गम्यते। विगतपौरुष्यामेव, तुशब्दस्याऽवधारणार्थत्वाद्, निर्व्यूढं पूर्वगतादुद्धृत्य विरचितम्। किलशब्दः परोक्षाऽऽप्ताऽऽगमवादसंसूचकः। शय्यंभवेन चतुर्दशपूर्वविदा, दशकालिकं प्राग्निरूपिताक्षरार्थं, तन कारणेनोच्यत इति गाथार्थः ॥१२॥ श्रुतस्कन्धयोश्च निक्षेपश्चतुर्विधो द्रष्टव्यः, यथाऽनुयोगद्वारेषु, स्थानाशून्यार्थं किञ्चिदुच्यते--इह नोआगमतः ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यश्रुतं पुस्तकपत्रन्यस्तम् अथवा--

सूत्रमण्डलाऽऽदि । भावश्रुतं त्वागमतो ज्ञाता उपयुक्तः । नोआगमतस्त्विदमेव दशकालिकं, नोशब्दस्य देशवचनत्वात् । एवं नोआ-गमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यश्रुतस्कन्धः सचेतनाऽऽदिः। तत्र सचित्तो द्विपदाऽऽदिः । अचित्तो द्विप्रदेशिकाऽऽदिः । मिश्रः सेनाऽऽदि-र्देशाऽऽदिरिति । तथा-भावस्कन्धस्त्वागमतस्तदर्थोपयोगपरिणाम एव । नोआगमतस्तु दशकालिकश्रुतस्कन्धएवेति, नोशब्दस्य देशवचन-त्वादिति । इदानीमध्ययनोद्देशकन्यासप्रस्तावः । तं चानुयोगद्वारप्रक्रमा-ऽऽयातं प्रत्यध्ययनं यथासंभवमोघनिष्पन्न निक्षेपे लाघवार्थं वक्ष्याम इति । ततश्च यदुक्तम्- ''दसकालियसुयखंधं, अज्झयणुद्देस णिक्खिविउं'' (६) अनुयोगोऽस्य कर्त्तव्य इति तदंशतः संपादितमिति।

साम्प्रतं प्रस्तुतशास्त्रसमुत्थानवक्तव्यताऽभिधित्सयाऽऽह-

जेण व जं व पडुच्चा, जत्तो जावंति जह य ते ठविया ।
सो तं च तओ ताणि य, तहा य कमसो कहेयव्वं ॥१३॥

येन वाऽऽचार्येण, यद्वा वस्तु, प्रतीत्याङ्गीकृत्य , यतश्चाऽऽत्म-प्रवादाऽऽदिपूर्वतो, यावन्ति वाऽध्ययनानि, यथा च येन प्रकारेण, तान्यध्ययनानि, स्थापितानि न्यस्तानि, स चाऽऽचार्यः, तच्च वस्तु, ततस्तस्मात्पूर्वात्, तानि चाध्ययनानि, तथा च तेनैव प्रकारेण, क्रमशः क्रमेणानुपूर्व्या कथयितव्यं इतिपादयितव्यमिति गाथासमासार्थः । अवयवार्थ तु प्रतिद्वारं निर्युक्तिकार एव यथाऽवसरं वक्ष्यति।

तत्राधिकृतशास्त्रकर्तुः स्तवद्वारेणाऽऽद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाऽऽह-

सेज्जंभवं गणहरं, जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं ।
मणगपियरं दसकालियस्स निज्जूहगं वंदे ॥१४॥

सेज्जंभवमिति नाम, गणधरमिति अनुत्तरज्ञानदर्शनाऽऽदि धर्मगणं धारयतीति गणधरस्तम्, जिनप्रतिमादर्शनेन प्रति बुद्धं, तत्र राग-द्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाऽऽदिजेतृत्वाज्जिनः, तस्य प्रतिमा सद्भाव-स्थापनारूपा, तस्याः दर्शनमिति समासः । तेन हेतुभूतेन, प्रतिबुद्धं मिथ्यात्वाज्ञाननिद्राऽपगमेन सम्यक्त्वविकाशं प्राप्तम् । मनकपितरमिति मनकाऽऽख्यापत्यजनकम्, दशकालिकस्य प्राग्निरूपिताक्षरार्थस्य, निर्यूहकं पूर्वगतोद्धृतार्थविरचनाकर्तारं, वन्दे स्तौमि । इति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्- ''एत्थ बद्धमाणसामिस्स चरमति-त्थगरस्स सीसो तित्थसामी सुहम्मो नाम गणधरो आसि । तस्स वि जंबू णामो, तस्स वि य पभवो त्ति । तस्साऽन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तम्मि चिंता समुप्पन्नाको मे गणधरो होज्ज त्ति? अप्पणो गणे य संघे य सव्वओ उवओगो कतो, ण दीसइ कोइ अव्वोच्छित्तिकरो । ताहे गारत्थेसु उवउत्तो, उवओगे कए रायगिहे सेज्जंभवं माहणं जण्णं जयमाणं पासति । ताहे रायगिहं नगरं आगंतूण संघाडयं वावारेति जण्णवामं गंतुं भिक्खट्ठा धम्मं लाहेह, तत्थ तुब्भे अतित्था विज्झिहिह ताहे तुब्भे भणिज्जह-''अहो कष्टं तत्त्वं न ज्ञायते इति।'' तओ गया साहू, अतित्था वियाय तेहिं भणितं-''अहो कष्टं तत्त्वं न ज्ञायते ।'' तेण य सेज्जंभवेण दारमूले ठिएणं तं वयणं सुयं । ताहे सो विचिंतेइ-एते उवसंता तवस्सिणो, असच्चं ण णयंति त्ति काउं अज्झावगसगासं गंतुं भणति-किं तत्तं? सो भणति-वेदा तत्तं । ताहे सो असिं कड्ढिऊण भणतिसीसं ते छिंदामि, जइ मे तुमं तत्तं न कहेसि । तओ अज्झावओ भणतिपुत्ता ! मम समये भणियमेयं वेदत्थे, परं सीसच्छेदे कहियव्व त्ति संपयं कहयामि जं एत्थ तत्तं, एतस्स जूवस्स हेट्ठा सव्वरयणमई पडिमा अरहओ सा धुव्व त्ति आरिहओ धम्मो तत्तं । ताहे सो तस्स पाएसु पडितो । सो य जण्ण-वाडओ वक्खोविउं तस्स चेव दिण्णो । ताहे सो गंतूण ते साहू गवेसमाणे गओ आयरियसगासं । आयरियं वंदित्ता साहुणो य भणति-मम धम्मं कहेह । ताहे आयरिया उवउत्ता-जहा इमो सो त्ति, ताहे आयरिएहिं साहुधम्मो कहिओ । संबुद्धो पव्वइओ सो चउद्दसपुव्वी जाओ । जवा य सो पव्वइओ तया य तस्स गुव्विणी महिला होत्था । तम्मि य पव्वइए लोगो णियल्लओ तं तमरसंति-जहा तरुणाए भत्ता पव्वइतो, अपुत्ताए अवि अत्थि तव किंवि पोट्टे त्ति पुच्छति? सा भणति-उवलक्खेमि भणगं । तओ समएण दारगो जाओ, ताहे णिव्वत्तबारसाहस्स णियलगेहिं जम्हा पुच्छिज्जंतीए मायाए से भणिओ मणगं ति, तम्हा मणओ से णामं कयं ति । जया सो अट्ठवरिसो जाओ ताहे सो मातरं पुच्छति-को मम पिया? सा भणइ-तव पिया पव्वइओ । ताहे सो दारओ गासिऊणं पिउसगासं पट्ठिओ । आयरिया य तं, कालं चंपाए विहरंति । सो वि य दारओ चंपामेवाऽऽगतो । आयरिएण य सण्णाभूमिं गएण सो दारओ दिट्ठो । दारएण वंदिओ आयरिओ । आयरियस्स य तं दारगं पेच्छंतस्स णेहो जाओ । तस्स वि दारगस्स तहेव । आयरिएहिं पुच्छियं-भो दारग ! कुतो ते आगमणं ? सो दारगो भणति-रायगिहातो । आयरिएण भणियं रायगिहे तुमं कस्स पुत्तो, नत्तुओ वा? सो भणइ-सेज्जं भवो नाम बंभणो त्ति तस्साहं पुत्तो, सो य किर पव्वइओ । तेहिं भणियं-तुम केण कज्जेण आगओऽसि? सो भणइ-अहं पि पव्वइस्सं । पच्छा सो दारओ भणति-तो भणह, बंभं तुम्हे जा णह? आयरिया भणंति-जाणेमो । तेण भणियं-सो कहिं ति? ते भणंति-सो मम मित्तो एगसरीरभूतो, पव्वयाहि तुमं मम सगासे । तेण भणियं-एवं करेमि । तओ आयरिया आगंतुं पडिस्सए आलोएंति सचित्तो पडुप्पन्नो । सो पव्वइतो । पच्छा आयरिया उवउत्ता केवतियं कालं एस जिवइ त्ति । णायं-जाव छम्मासा । ताहे आयरियाणं बुद्धी समुप्पन्ना इमस्स थोवगं आउं, किं कायव्वं ति? तं चोद्दसपुव्वी कम्हि वि कारणे समुप्पन्ने णिज्जूहति, दस पुव्वी पुण अपच्छिमो अवस्समेव णिज्जूहति । ममं पि इमं कारणं समुप्पन्नं, तो अहमवि णिज्जूहामि । ताहे आढत्तो निज्जूहिउं । ते उ निज्जूहिज्जंतो वियाले निज्जूढा थोवावसेसे दिवसे । तेण तं दसवेयालियं भणिज्जति ।'' अनेन च कथानकेन न केवलं येन वेत्यस्यैव द्वारस्य भावार्थोऽभिहितः, किं तु यद्वा प्रतीत्यैतस्यापीति ।

तथा चाऽऽह निर्युक्तिकारः-

मणगं पडुच्च सेज्जं-भवेण निज्जूहिया दसऽज्झयणा ।
वेयालियाइ ठविया, तम्हा दसकालियं नामं ॥१५॥

मनकं प्रतीत्य मनकाऽऽख्यमपत्यमाश्रित्य, शय्यंभवेनाऽऽचार्येण, निर्यूढानि पूर्वगतादुद् धृत्य विरचितानि, दशाध्ययनानि द्रुमपुष्पि-काऽऽदीनि । (वेयालियाइ ठविय त्ति) विगतः कालो विकालः, विकलनं वा विकाल इति । विकालः शकलः खण्डश्चेत्यनर्था-न्तरम् । तस्मिन् विकालेऽपराह्णे स्थापितानि न्यस्तानि द्रुमपु-

ष्पिकाऽऽदीन्यध्ययनानि यतः, तस्माद्दशकालिकं नाम। व्युत्पत्तिः पूर्ववत्। दशवैकालिकं वा विकालेन निर्वृत्तम्, संकासाऽऽदिपाठाच्चातुरर्थिकष्ठक्। ''तद्धितेष्वचामादेः'' ॥७।२।११७॥ इत्यादिवृद्धैर्वैकालिकम्। दशाध्ययननिर्माणं च तद्वैकालिकं च दशवैकालिकमिति गाथार्थः।

एवं येन वा यद्वा प्रतीत्येति व्याख्यातम्। इदानीं यतो निर्यूढानीत्येतद्व्याचिख्यासुराह–

आयप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पावायपुव्वा, पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥१६॥
सच्चप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा, नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥१७॥
वीओ वि य आएसो, गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ।
एयं किर निज्जूढं, मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥१८॥

इहाऽऽत्मप्रवाद पूर्वं यत्राऽऽत्मनः संसारिमुक्ताऽऽद्यनेभेदभिन्नस्य प्रवदनमिति, तस्मान्निर्यूढा भवति धर्म्मप्रज्ञप्तिः, षड्जीवनिकेत्यर्थः। तथा–कर्म्मप्रवादपूर्वात्। किम्? पिण्डस्य तु एषणा त्रिविधा निर्यूढेति वर्त्तते। कर्मप्रवादपूर्व नामयत्र ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मणो निदानाऽऽदिप्रवदनमिति। तस्मात् किम्? पिण्डस्यैषणा त्रिविधा गवेषणा–ग्रहणैषणा–ग्रासैषणाभेदभिन्ना। निर्यूढा सा पुनस्तत्राऽमुना संबन्धेन पतति। आधाकर्मोपभोक्ता ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मप्रकृतीर्बध्नाति। उक्तं च– ''आहाकम्मं भुंजमाणे समणे अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ।'' इत्यादि। शुद्धपिण्डोपभोक्ता चाशुभान्न बध्नातीत्यलं प्रसङ्गेन। प्रकृतं प्रस्तुमः। सत्यप्रवादपूर्वाद् निर्यूढा भवति वाक्यशुद्धिस्तु। तत्र सत्यप्रवादं नाम–यत्र जनपदसत्याऽऽदेः प्रवदनमिति। वाक्यशुद्धिर्नामसप्तममध्ययनम्। अव–शेषाणि प्रथमद्वितीयाऽऽदीनि निर्यूढानि नवमस्यैव प्रत्याख्यान–पूर्वस्य तृतीयवस्तुन इति। द्वितीयोऽपि चाऽऽदेशः। आदेशो विध्यन्तरम् गणिपिटकादाचार्यसर्वस्वाद् द्वादशाङ्गादाचाराऽऽदिलक्षणात्, इदं दशकालिकं, किलेति पूर्ववत्, निर्यूढमिति च। किमर्थम्? मनकस्योक्तस्वरूपस्य अनुग्रहार्थमिति गाथात्रयार्थः। एवं यत इति व्याख्यातम् ॥१८॥

अधुना यावन्तीत्येतत्प्रतिपाद्यते–

दुमपुप्फियाइया खलु, दस अज्झयणा सभिक्खुयं जाव।
अहिगारा वि य एत्तो, वोच्छं पत्तेयमेक्केक्के ॥१९॥

तत्र द्रुमपुष्पिकेति प्रथमाध्ययननाम, तदादीनि दशाध्ययनानि। (सभिक्खुयं जाव त्ति) स भिक्ष्वध्ययनं यावत्, खलुशब्दो विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि? तदन्ये द्वे चूडे। यावन्तीति व्याख्यातम्। यथा चेत्येतत् पुनरधिकाराभिधानद्वारेणैव च व्याचिख्यासुः संबन्धकत्वेनेदं गाथादलमाह–अधिकारादपि चातो वक्ष्ये प्रत्येकमे–कैकस्मिन्नध्ययने। तत्राध्ययनपरिसमाप्तेर्योऽनुवर्तते सोऽधिकारः। ति गाथार्थः ॥१९॥

पढमे धम्मपसंसा, सो य इहेव जिणसासणम्मि त्ति।
विइए धिइए सक्का, काउं जे एस धम्मो त्ति ॥२०॥
तइए आयारकहा, उ खुड्डिया आयसंजमोवाओ।
तह जीवसंजमो वि य, होइ चउत्थम्मि अज्झयणे ॥२१॥
भिक्खविसोही तवसंजमस्स गुणकारिया उ पंचमए।
छट्ठे आयारकहा, महई जोग्गा महयणस्स ॥२२॥
वयणविभत्ती पुण सत्तमम्मि पणिहाणमट्ठमे भणियं।
णवमे विणओ दसमे, समाणियं एस भिक्खु त्ति ॥२३॥

प्रथमेऽध्ययने कोऽर्थाधिकारः? इत्यत आह–धर्मप्रशंसा। दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, तस्य प्रशंसा स्तवः, सकलपुरुषार्थानामेव धर्मः प्रधानमित्येवंरूपा। तथाऽन्यैरप्युक्तम्–''धनदोऽर्थार्थिनां प्रोक्तः, कामिनां सर्वकामदः। धर्म्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः ॥१॥'' इत्यादि। स चात्रैव जिनशासने धर्मो, नाऽन्यत्र, इहैव निरवद्यवृत्तिसद्भावात्। एतद्योत्तरत्र न्यक्षेण वक्ष्यामः। धर्माभ्युपगमे च सत्यपि मा भूदभिनवप्रव्रजितस्याधृतेः संमोह इत्यतस्तन्निराकरणार्थाधिकारवदेव द्वितीयाध्ययनम्। आह च–द्वितीयेऽध्ययने अयमर्थाधिकारः। धृत्या हेतुभूतया शक्यते कर्तुम्। 'जे' इति पूरणार्थो निपातः, एष जैनो धर्म्म इति। उक्तं च – ''जस्स धिई तस्स तवो, जस्स तवो तस्स सा गती सुलभा। जे अधितिमंतपुरिसा, तवो वि खलु दुल्लभो तेसिं ॥१॥'' सा पुनर्धृतिराचारे कार्य्या, न त्वनाचारे, इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव तृतीयाध्ययनम्। आह च–तृतीयेऽध्ययने कोऽर्थाधिकारः? इत्यत आह–आचारगोचरा कथा आचारकथा, सा चेहैवाणुविस्तरमेदात्। यत आह–क्षुल्लिका लघ्वी, सा च आत्मसंजमोपायः। संयमनं संयमः, आत्मनः संयम आत्मसंयमस्तदुपायः। उक्तं च–''तस्याऽऽत्मा संयमे यो हि, सदाचारे रतः सदा। स एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव च जिनोदितः ॥१॥'' इति। स चाऽऽचारः षड् जीवनिकायगोचरः प्राय इत्यतश्चतुर्थमध्ययनम्। अथवाऽऽत्मसंयमस्तदन्यजीवपरिपालनमेव तत्त्वतः, इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव चतु–र्थमध्ययनम्। आह च– तथा जीवसंजमोऽपि भवति चतुर्थेऽध्ययनेऽर्थाधिकार इति। अपिशब्दादात्मसंयमोऽपि तद्भाव्येव वर्त्तते। उक्तं च – ''छसु जीवनिकाएसुं, जे बुहे संजए सदा। से चेव होति विण्णये, परमत्थेण संजए ॥१॥'' इत्यादि। एवमेव धर्म्मः, स च देहे स्वस्थे सति पाल्यते, स चाऽऽहारमन्तरेण प्रायः स्वस्थो न भवति, स च सावद्येतरभेद इत्यनवद्यो ग्राह्य इत्यतस्तदर्थाधिका–रवदेव पञ्चममध्ययनमिति। आह च–भिक्षाविशोधिस्तपःसंयमस्य गुणकारिकैव पञ्चमेऽध्ययनेऽर्थाधिकार इति। तत्र भिक्षणं भिक्षा, तस्या विशोधिः सावद्यपरिहारेणेतरस्वरूपकथनमित्यर्थः, तपः प्रधानः संयमस्तपः संयमः, तस्य गुणकारिकैवेयं वर्त्तते इति। उक्तं च–''से संजते समक्खाते, निरवज्जाहार जे विऊ। धम्मकायट्ठिते सम्मं, सुहजोगाण साहए ॥१॥'' इत्यादि। गोचरप्रविष्टेन च सता स्वाचारं पृष्टेन तद्विदाऽपि न महाजनसमक्षं तत्रैवविस्तरतः कथयितव्यः, अपि तु आलये। गुरवो वा कथयन्तीति वक्तव्यम्। अतस्तदर्थाधिकारवदेव षष्ठमध्ययनमिति। आह च–षष्ठेऽध्ययनेऽर्थाधिकारः आचारकथा। साऽपि महती, न क्षुल्लिका, योग्या उचिता, महाजनस्य विशिष्टपरिषद इत्यर्थः। वक्ष्यति च–''गोयरग्गपविट्ठो उ, न निसिज्जइ कत्थइ। कहं च ण पबंधिज्जा, चिट्ठिज्जा णेव संजए ॥१॥'' इत्यादि। आलयगतेनापि तेन, गुरुणा वा वचनदोषगुणाभिज्ञेन निरवद्यवचसा कथयितव्यमिति। अतस्तदर्थाधिकारवदेव सप्तममध्ययनमिति। आह च–''वयणविभत्ती'' इत्यादि। वचनस्य विभक्तिर्वचनविभक्तिः, विभजनं विभक्तिरेवं भूतमनवद्यम्, इत्थं–भूतं च सावद्यमित्यर्थः, पुनः–शब्दः शेषाध्ययनार्थाधिकारेभ्य अस्याधिकृतार्थाधिकारस्य विशेषणार्थ

इति सप्तमेऽध्ययनेऽर्थाधिकार इति। उक्तं च– ''सावज्जणवज्जाणं, वयणाणं जो न याणति विसेसं। वोत्तुं पि तस्स न खमं, किमंग ! पुण देसणं काउं ॥१॥'' इत्यादि। तच्च निरवद्यं वचः स्वाचारे प्रणिहितस्य भवतीत्यतस्तदर्थाधिकारवदेवाष्टममध्ययनमिति। आह च– प्रणिधानमष्टमेऽध्ययनेऽर्थाधिकारत्वेन भणितमुक्तम्। प्रणिधानं नाम– विशिष्टश्चेतोधर्म इति। उक्तं च–''पणिहाणरहियस्सेह, निरवज्जं पि भासियं। सावज्जतुल्लं विण्णेयं, मज्झत्थेणेह संबुडं॥१॥'' इत्यादि। आचारप्रणिहितश्च यथोचितविनयसंपन्न एव भवतीत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव नवममध्ययनमिति। आह च–नवमेऽध्ययने विनयोऽर्थाधिकार इति। उक्तं च– ''आयारपणि–हाणम्मि, से सम्मं वट्टती बुहे। णाणादीणं विणीते जे, मोक्खट्ठा णिव्विगिंछिए ॥१॥'' इत्यादि। एतेष्वेव नवस्वध्ययनार्थेषु यो व्यवस्थितः स सम्यग्भिक्षुरित्यनेन संबन्धेन स भिक्ष्वध्ययनमिति। आह च– दशमेऽध्ययने समाप्तिं नीतमिदं साधुक्रियाऽभिधायकं शास्त्रम्। एतत्क्रियासमन्वित एव भिक्षुर्भवति। अत आह–एष भिक्षुरिति गाथाचतुष्टयार्थः।

स एवंगुणयुक्तोऽपि भिक्षुः कदाचित कर्मपरतन्त्रत्वात्कर्मणश्च बलवत्त्वात्सीदेत्, ततस्तस्य स्थिरीकरणं कर्तव्यमतस्तदर्थाधिकारवदेव चूडाद्वयमित्याह–

दो अज्झयणा चूलिय, विसीययंते थिरीकरणमेगं।
विइए विवित्तचरिया, असीयणगुणाइरेगफला ॥२४॥

द्वे अध्ययने। किम्? चूडा चूडेव चूडा, तत्र प्रमादवशाद्विसीदति सति साधौ संजमे स्थिरीकरणमेकं प्रथमम्, स्थिरीकरणफलमित्यर्थः। तथा च तत्रावधावप्रेक्षिणः साधोर्दुःप्रजीवित्वे नरकपाताऽऽदयो दोषा वर्ण्यन्ते इति। तथा च द्वितीयेऽध्ययने विविक्तचर्या वर्ण्यते। किंभूता? असीदनगुणातिरेकफला, तत्र विविक्तचर्यैकान्तचर्या द्रव्यक्षेत्रकालभावेष्व संबद्धता, उपलक्षणं चैषा नियतचर्याऽऽदीनामिति। असीदन गुणातिरेकः फलं यस्याः सा तथा–विधेति गाथाऽर्थः ॥२४॥

दसकालियसस एसो, पिंडत्थो वन्निओ समासेणं।
एत्तो एक्केक्कं पुण, अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥२५॥

दशकालिकस्य प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य, एषोऽनन्तरोदितः, पिण्डार्थः सामान्यार्थः, वर्णितः प्रतिपादितः, समासेन संक्षेपेण, अत ऊर्द्ध पुनरेकैकमध्ययनं कीर्तयिष्यामि प्रतिपादयिष्यामीति, पुनःशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः। इति गाथाऽर्थः ॥२५॥ दश०१ अ०।

अथ शास्त्रकर्तुः स्तवमाह–

सिज्जंभवं गणहरं, जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं।
मणगपिअरं वि दसकालिअस्स निज्जूहगं वंदे ॥१॥

शय्यंभवम्, अनुत्तरज्ञानाऽऽदिधर्मगणं धारयतीति गणधरस्तं, जिनप्रतिमादर्शनेन प्रतिबुद्धं मिथ्यात्वाविरत्यज्ञाननिद्राऽपगमेन सम्यक्त्वविकाशं प्राप्तं, निर्यूहकं पूर्वगतोद्धृतार्थविरचनाकर्तारं, मनकपितरं दशवैकालिककृतं वन्दे स्तौमीति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः–श्रीसुधर्मशिष्यो हि जम्बूः, तस्य श्रीप्रभवः, तस्य शय्यम्भवः ॥१॥

मणगं पडुच्च सिज्जं–भवेण निज्जूहिआ दसऽज्झयणा।
वेआलिआइ ठविआ, तम्हा दसकालिअं नाम ॥२॥

मनकं प्रतीत्य मनकाऽऽख्यमपत्यमाश्रित्य शय्यंभवेन निर्यूढानि पूर्वगतादुद् धृत्य विरचितानि, दश अध्ययनानि द्रुमपुष्पिकाऽऽदीनि सभिक्ष्वध्ययनप्रान्तानि। विगतः कालो विकालः, विकलनं वा विकालः, शकलः खण्डश्चेति। तस्मिन् विकाले निर्वृत्तं दशाध्ययननिर्माणं च इदं वैकालिकम् ॥२॥

यं प्रतीत्य कृतं तद्गतवक्तव्यतामाह–

छहिँ मासेहिँ अहीयं, अज्झयणमिणं तु अज्जमणगेण।
छम्मासा परिआओ, अह कालगओ समाहीए ॥३॥

षड्भिर्मासैरधीतं पठितमध्ययनमिदं तु अधीयत इत्यध्ययनम्। इदमेव दशवैकालिकाऽऽख्यं शास्त्रम्। केनाऽधीतमित्याह–आर्यमणकेन भावाऽऽराधनयोगात् आराद् यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यः, आर्यश्चासौ मणकश्चेति विग्रहः। तेन, षण्मासाः पर्याय इति। तस्याऽऽर्यमणकस्य षण्मासा एव प्रव्रज्याकालः, अल्पजीवितत्वात्। अत एवाऽऽह–अथ कालगतः समाधिनेति। यथोक्तशास्त्राध्ययनपर्यायानन्तरं कालगत आगमोक्तेन विधिना मृतः, समाधिना शुभलेश्याध्यानयोगेनेति गाथाऽर्थः ॥३॥

अत्र चैवं वृद्धवादः–यथा तेनैतावता श्रुतेनाऽऽराधितमेवमन्येऽप्येतदध्ययनानुष्ठानत आराधका भवन्त्विति।

आणंदअंसुपायं, कासी सिज्जंभवा तहिं थेरा।
जसभद्दस्स य पुच्छा, कहणा य विआलणा संघे ॥४॥

आनन्दाश्रुपातम्– अहो आराधितमनेनेति हर्षाश्रुमोक्षणमकार्षुः कृतवन्तः शय्यंभवाः प्राख्यावर्णितस्वरूपाः, तत्र तस्मिन् काले स्थविराः श्रुतपर्यायवृद्धाः प्रवचनगुरवः, पूजार्थं बहुवचनमिति। यशोभद्रस्य च शय्यंभवप्रधानशिष्यस्य, गुर्वश्रुपातदर्शनेन किमेतदाश्चर्यमिति विस्मितस्य सतः पृच्छा–भगवन्! किमेतदकृतपूर्वमित्येवंभूता? कथना च भगवतः संसारस्नेह ईदृशः सुतो ममाऽयमित्येवंरूपा। चशब्दादनुतापश्च यशोभद्राऽऽदीनाम्। अहो ! गुरावि गुरुपुत्रके वर्तितव्यमिति, न तत् कृतमस्माभिरित्येवंभूतप्रतिबन्धदोषपरिहारार्थम्। न मया कथितं नात्र भवतां दोष इति गुरुपरिसंस्थापनं च। विचारणा सङ् घ इति। शय्यंभवेनाल्पायुषमेनमवेत्य मयेदं शास्त्रं निर्यूढं किमत्र युक्तमिति निवेदिते विचारणा सङ्घे– कालह्रासदोषात् प्रभूतसत्त्वानामिदमेवोपकारकमतस्तिष्ठत्वेदित्येवंभूता स्थापना चेति गाथाऽर्थः। दश०२ चू०। वीरमोक्षात् ''वासाएँ सहस्सेहिं, वरिससहस्सेहिँ नवहिँ वोच्छेदो। दसवेयालियसुत्तस्स दिण्णसाहम्मि बोद्धव्वो ॥८१६॥'' ति०।

दसवेयालियणिज्जुत्ति स्त्री०(दशवैकालिकनिर्युक्ति) दशवैकालिकस्य भद्रबाहुस्वामिरचितनिर्युक्तिग्रन्थे, दश०।

''जयति विजितान्यतेजाः, सुराऽसुराधीशसेवितः श्रीमान्।
विमलस्त्रासविरहितस्त्रिलोकचिन्तामणिर्वीरः ॥१॥''

इहार्थतोऽर्हत्प्रणीतस्य सूत्रतो गणधरोपनिबद्धपूर्वगतोद्धृतस्य शारीरमानसाऽऽदिकटुकदुःखसन्तानविनाशहेतोर्दशकालिकाभिधानस्य शास्त्रस्यातिसूक्ष्ममहार्थगोचरस्य व्याख्या प्रस्तूयते। तत्र प्रस्तुतार्थप्रचिकटयिषैयवेष्टदेवतानमस्कारद्वारेणाऽशेषविघ्नविनायकाऽपोहसमर्थां परममङ्गलाऽऽलयामिमां प्रतिज्ञागाथामाह निर्युक्तिकारः–

सिद्धिगइमुवगयाणं, कम्मविसुद्धाण सव्वसिद्धाणं।

नमिऊणं दसकालिय–णिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि ॥१॥

सिद्धिगतिमुपगतेभ्यो नत्वा दशकालिकनिर्युक्तिं कीर्त्तयिष्यामीति क्रिया। तत्र सिद्ध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्त्यस्यामिति सिद्धिर्लोकाग्रक्षेत्रलक्षणा। तथा चोक्तम्–''इह बोंदि चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झइ। (औ०२गा०)'' गम्यत इति गतिः, कर्म्मसाधनम्। सिद्धिरेव गम्यमानत्वाद्गतिः सिद्धिगतिः, तामुपसामीप्येन गताः प्राप्तास्तेभ्यः सकललोकाग्रक्षेत्रप्राप्तेभ्य इत्यर्थः। प्राकृतशैल्या चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। यथोक्तम्–''छट्ठीविभत्तीए भन्नइ चउत्थी।'' तत्रैकेन्द्रियाः पृथिव्यादयः सकर्मका अपि तदुपगमनमात्रमधिकृत्य यथोक्तस्वरूपा भवन्त्यत आह कर्मविशुद्धेभ्यः। क्रियत इति कर्म ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिलक्षणं, तेन विशुद्धा वियुक्ताः कर्मविशुद्धाः, कर्मकलङ्करहिता इत्यर्थः। तेभ्यः कर्मविशुद्धेभ्यः। आह–एवं तर्हि वक्तव्यं न सिद्धिगतिमुपगतेभ्योऽव्यभिचारात्। तथाहि–कर्मविशुद्धाः सिद्धिगतिमुपगता एव भवन्ति। न। अवियतक्षेत्रविभागोपगतसिद्धप्रतिपादनपरदुर्नयनिरासार्थत्वादस्य। तथाचाहुरेके–''रागाऽऽदिवासनामुक्तं, चित्तमेव निरामयम्। सदा नियतदेशस्थं, सिद्ध इत्यभिधीयते''॥१॥ इत्यलं प्रसङ्गेन। दश०१ अ०।

दससण्णाविक्खंभण न०(दशसंज्ञाविष्कम्भणा) दश च ताः संज्ञाश्च तासां विष्कम्भणं निरोधस्तस्मिन्, षो० ५ विव०।

दससमयट्ठिइय त्रि०(दशसमयस्थितिक) दश समयान् स्थितिर्येषां तेषु, स्था०१० ठा०।

दससय न०(दशशत) सहस्रसङ्ख्यायाम्, स्था०१० ठा०।

दससयसहस्स न०(दशशतसहस्र) दशलक्षाऽऽत्मिकायां संख्यायाम्, अनु०।

दससहस्स न०(दशसहस्र) सङ्ख्याभेदे, अनु०।

दसहा अव्य०(दशधा) दशविधे, उत्त० २३ अ० वाच०।

दसहासामायारी स्त्री०(दशधासामाचारी) दशधेत्याख्याऽभिधानं यस्याः सा। दशप्रकारलक्षणायामिच्छाकाराऽऽदिसामाचार्य्याम्, ध०३ अधि०। (ताश्च दश 'सामायारी' शब्दे वक्ष्यन्ते)

दसा स्त्री०(दशा) दन्–श–अङ्, नि०नलोपः। चरितगतिसिद्धिगमनलक्षणायामवस्थायाम्, नं०। अनुभागेन युक्तो विभागो दशा। नि०चू०११ उ०। वर्षशताऽऽयुष्कापेक्षया वर्षदशकप्रमाणायां कालकृतायां जन्त्ववस्थायाम्, दश०।

साम्प्रतं प्रस्तुतोपयोगित्वात्कालस्य कालदशकद्वारे विशेषार्थप्रतिपिपादयिषयेदमाह–

बाला किड्डा मंदा, बला य पन्ना य हायणि पवंचा।
पब्भार मम्मुही सायणी य दसमा उ कालदसा ॥१०॥

बाला क्रीडा च मन्दा च बला च प्रज्ञा च हायिनी ईषत्प्रपञ्चा प्राग्भारा मृन्मुखी शायिनी। तथाहि एता दश दशा जन्त्ववस्थाविशेषलक्षणा भवन्ति।

आसां च स्वरूपमिदमुक्तं पूर्वमुनिभिः–

''जातमित्तस्स जंतुस्स, जा सा पढमिया दसा।
ण तत्थ सुहदुक्खाइं, बहु जाणंति बालया ॥१॥
बितियं च दसं पत्तो, णाणाकिड्डाहि किड्डइ।
न तत्थ कामभोगेहिं, तिव्वा उप्पज्जई मई ॥२॥
ततियं च दसं पत्तो, पंचकामगुणे नरो।
समत्थो भुंजिउं भोए, जइ से अत्थि घरे बहू ॥३॥
चउत्थी उ बला नाम, जं नरो दसमस्सिओ।
समत्थो बलं दरिसिउं, जइ होइ निरुवद्दवो ॥४॥
पंचमिं, उ दसं पत्तो, आणुपुव्वीएँ जो नरो।
इच्छियत्थं विचिंतेति, कुडुंबं वाऽभिकंखति ॥५॥
कूट्टी उ हायणी नाम, जं नरो दसमस्सिओ।
विरज्जइ य कामेसु, इंदिएसु य हायति ॥६॥
सत्तमिं च दसं पत्तो, आणुपुव्वीइ जो नरो।
निट्ठुहइ चिक्कणं खेलं, खाससति य अभिक्खणं ॥७॥
संकुचियवलीचम्मो, संपत्तो अट्ठमिं दसं।
णारीणमणभिप्पेओ, जराए परिणामितो ॥८॥
णवमी मम्मुही नाम, जं नरो दसमस्सिओ।
जराघरे विणस्संतो, जीवो वसइ अकामओ ॥९॥
हीनभिन्नसरो दीणो, विवरीओ विचित्तओ।
दुब्बलो दुक्खिओ सुवइ, संपत्तो दसमिं दसं ॥१०॥''

दश०१ अ० स्था० नं० नि०चू० दीपवर्त्याम्, ''अपेक्षन्ते न च स्नेहं, न पात्रं न दशाऽन्तरम्। परोपकारनिरताः, मणिदीपा इवोत्तमाः ॥१॥'' इत्युद्भटः। चित्ते कामकृते विरहिणां नेत्ररागाऽऽद्यवस्थादशके, वाच० वस्त्राञ्चले, वाच० दशैव दशसंख्या एव दशा दशाधिकाराभिधायकत्वाद्दशा इति बहुवचनान्तं स्त्रीलिङ्गम्। शास्त्रस्याभिधाने, षा० दशाध्ययनप्रतिबद्धप्रथमवर्गयोगाद्दशाग्रन्थविशेषे, अणु०१ श्रु०१ वर्ग १ अ०।

दस दसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–कम्मविवागदसाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, आयारदसाओ, पण्हावागरणदसाओ, बंधदसाओ, दोगिद्धिदसाओ, दीहदसाओ, संखेवियदसाओ॥

(दस त्ति) दशसख्याः (दसाओ त्ति) दशाधिकाराभिधायकत्वाद्दशा इति बहुवचनान्तं स्त्रीलिङ्गं शास्त्रस्याभिधान इति। कर्मणोऽशुभस्य विपाकः फलं कर्मविपाकः, तत्प्रतिपादिका दशाध्ययनाऽऽत्मकत्वाद् दशाः कर्मविपाकदशाः विपाकश्रुताऽऽख्यस्यैकादशाङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धो, द्वितीयश्रुतस्कन्धोऽप्यस्य दशाध्ययनाऽऽत्मक एव। न चासाविहाभिमतः, उत्तरत्र विवरिष्यमाणत्वादिति। तथा–साधूनुपासते सेवन्त इत्युपासकाः श्रावकाः, तद्गतक्रियाकलापप्रतिबद्धा दशा दशाध्ययनोपलक्षिता उपाशकदशाः सप्तममङ्गमिति। तथा–अन्तो विनाशः, स च कर्मणस्तत्फलभूतस्य वा संसारस्य कृतो यैस्तेऽन्तकृतः, ते च तीर्थकराऽऽदयः, तेषां दशा अन्तकृद्दशाः, इह चाऽष्टमाङ्गस्य प्रथमवर्गे दशाध्ययनानीति तत्संख्ययोपलक्षितत्वादन्तकृद्दशा इत्यभिधानेनाष्टममङ्गमभिहितम्। तथोत्तरः प्रधानो नास्योत्तरो विद्यत इत्यनुत्तर उपपतनमुपपातो जन्मेत्यर्थोऽनुत्तरश्चासावुपपातश्चेत्यनुत्तरोपपातः, सोऽस्ति येषां तेऽनुत्तरोपपातिकाः सर्वार्थसिद्धाऽऽदिविमानपञ्चकोपपातिन इत्यर्थः, तद्वक्तव्यता प्रतिबद्धा दशा दशाध्ययनोपलक्षिता अनुत्तरोपपातिकदशा

नवममङ्गमिति। तथा–चरणमाचारो ज्ञानाऽऽदिविषयः पञ्चधा आचार-प्रतिपादनपरा दशा दशाध्ययनाऽऽत्मिका आचारदशा दशाश्रुतस्कन्ध इति या रूढाः, तथा प्रश्नश्च पृच्छा, व्याकरणानि च निर्वचनानि प्रश्नव्याकरणानि, तत्प्रतिपादिका दशा दशाध्ययनाऽऽत्मिकाः प्रश्नव्याकरणदशा दशममङ्गमिति। तथा–बन्धदशा द्विगृद्धिदशा दीर्घदशाः संक्षेपिकदशाश्चास्माकमप्रतीता इति। स्था०१० ठा०। ध०। पा०। अष्ट०। ''दस उद्देसणकाला, दसाण कप्पस्स हुंति छच्चेव। दस चेव य ववहारस्स हुंति सव्वे वि छव्वीसं ॥४८॥'' आ०चू०१अ०। ''छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं।'' आव०४ अ०। ज्योतिषोक्ते नक्षत्रानुसारेण सूर्याऽऽदिग्रहाणां स्वामित्वेन भोग्यकाले, वाच०।

दसार पुं०(दशार्ह) ''**दशार्हे**'' ॥८।२।८५॥ इति ह्रस्य लुक्। प्रा०२ पाद। हरिवंशकुलोद्भवेषु, सूत्र०२ श्रु०१ अ०। आ०म०। समुद्रविजयाऽऽदिवसुदेवान्ता दश दशाराः। स०। अन्त०। समयभाषया वासुदेवे, स्था०२ ठा०३उ०। वासुदेव कुलीनप्रजासु, स०। बन्धदशानां चतुर्थेऽध्ययने दशाराणां वक्तव्यता उक्ता, सा चेदानीं नोपलभ्यते, बन्धदशानः व्युच्छिन्नत्वात्। स्था०१० ठा०। बलदेवे, आ० म० १ अ० २खण्ड। आ०चू०। ''दसण्हं दसाराणं बलदेवपामोक्खाणं।'' नि०१ श्रु०४ वर्ग ९ अ०।

दसारगंडिया स्त्री०(दशार्हगण्डिका) दशार्हैकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतासु वाक्यपद्धतिषु, यत्र दशार्हाणां पूर्वजन्माऽऽद्यभिधीयते। स०।

दसारचक्क न०(दशार्हचक्र) यादवसमूहे, उत्त०। ''दसारचक्केण य सो, सव्वओ परिवारिओ।'' उत्त०२२ अ०।

दसारमंडण न०(दशार्हमण्डन) दशार्हाणां वासुदेवकुलीनप्रजानां मण्डनाः शोभाकारिणो दशार्हमण्डनाः। दशार्होत्तमपुरुषेषु, स०।

दसारमंडल न०(दशार्हमण्डल) दशार्हाणां वासुदेवानां मण्डलानि दशार्हमण्डलानि, बलदेववासुदेवद्वयलक्षणाः समुदाया दशार्हमण्डलानि। बलदेववासुदेवद्वयलक्षणे समुदाये, स०। (बलदेववासुदेवयोः सर्वा वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२७४ पृष्ठे उक्ता) ('बलदेव-वासुदेव' शब्दयोः भविष्यद् बलदेववासुदेवा वक्ष्यन्ते)

दशार्हप्रसङ्गतः भरतवर्षे भविष्यद् बलदेववासुदेवपितृमातृप्रभृतिनामनिर्देशः–

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए नव बलदेववासुदेवपियरो भविस्संति। नव वसुदेवमायरो भविस्संति, नव बलदेवमायरो भविस्संति। नव दसारमंडला भविस्संति। तं जहा–उत्तमपुरिसा, मज्झिमपुरिसा, पहाणपुरिसा, तेयंसी०एवं सो चेव वण्णओ भाणियव्वो०जाव नीलगपीतमवसणा। दुवे दुवे रामकेसवा भायरो भविस्संति। तं जहा–

''नंदे य नंदमित्ते, दीहबाहू य महबाहू।
अइबले महाबले, बलभद्दे य सत्तमे ॥१॥
तिविट्ठू य दुविट्ठू य, आगमिस्सेण वण्हिणो।
जयंते विजए भद्दे, सुप्पभे य सुदंसणे ॥२॥
आणंदे णंदणे पउमे, संकरिसण अपच्छिमे।''

पूर्वभवनामाऽऽदीनि–

एएसि णं नवण्हं बलदेववासुदेवाणं पुव्वभविया नवणामधेज्जा भविस्संति, नव धम्माऽऽयरिया भविस्संति, नवनियाणभूमीओ भविस्संति, नव नियाणकारणा भविस्संति, नव पडिसत्तू भविस्संति। तं जहा–तिलए य लोहजंघे वइरजंघे य केसरी पल्हाए अपराजिए, भीमसेणे महाभीमे सुग्गीवे य अपच्छिमे।

''एए खलु पडिसत्तू, कित्तीपुरिसाण वासुदेवाणं।
सव्वे वि चक्कजोही, हम्मिं हंता सचक्केहिं ॥१॥''

ऐरवते वर्षे चैषां पितृमातृप्रभृतयः–

जंबुद्दीवे दीवे एरवए वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए नव बलदेववासुदेवपियरो भविस्संति, णव वासुदेवमायरो भविस्संति, णव बलदेवमायरो भविस्संति, णव दसारमंडलाभविस्संति। तं जहा–उत्तमपुरिसा, मज्झिमपुरिसा, पहाणपुरिसा० जाव दुवे दुवे रामकेसवा भायरो भविस्संति, णव पडिसत्तू भविस्संति, णव पुव्वभवणामधेज्जा, णव धम्मायरिया, णव णियाणभूमीओ, णव णियाणकारणा, आयाए एरवए आगमिस्साए भाणियव्वा, एवं दोसु वि आगमिस्साए भाणियव्वा। स०।

दसारवग्ग पुं०(दशार्हवर्ग) दशार्हसमुदाये, दश०१ अ०।

दसारवरवीरपुरिस पुं०(दशार्हवरवीरपुरुष) दशार्हाणां समुद्रविजयाऽऽदीनां दशार्हस्य वा वासुदेवस्य ये वराश्च पुरुषास्ते। ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०। दशार्हाः समुद्रविजयाऽऽदयस्तेषु मध्ये वरास्त एव वा वरा वीरपुरुषास्ते दशार्हवरवीरपुरुषाः। दशार्हश्रेष्ठपुरुषेषु, ज्ञा०१ श्रु०५ अ०।

दसारवंस पुं०(दशार्हवंश) बलदेववासुदेववंशे, ''तीसे णं समाए तओ वंसा समुप्पज्जित्था।'' जं०२वक्ष०। ति०। स०।

दसासुयखंध पुं०(दशाश्रुतस्कन्ध) दशाध्ययनप्रतिपादको ग्रन्थो दशा, स चाऽसौ श्रुतस्कन्धश्च दशाश्रुतस्कन्धः। दशाकल्पापरपर्यायेऽसमाधिस्थानाऽऽद्यर्थाभिधायकतयाऽर्थतो वर्द्धमानस्वाम्युक्ते सूत्रतो द्वादशस्वङ्गेषु गणधरैस्ततोऽपि मन्दमेधसामनुग्रहायातिशायिभिः प्रत्याख्यानपूर्वादुद्धृत्य पृथक् दशाध्ययनत्वेन व्यवस्थापिते ग्रन्थे, दशा०।

''यथास्थिताशेषपदार्थसार्थ–क्रमार्थसन्धानविधिप्रवीणम्।
जिनं जनाऽऽनन्दकरं कृपाऽब्धिं, नमामि भव्याम्बुजबोधसूरम्।१।
स्तुमो महावीरजिनस्य तेजो, भवाख्यनीराऽऽकरपारगस्य।
अनादिदुष्कर्मगणस्य नित्यं, तृणायितं यत्र सुखापमेव(?)।२।
श्रीवसुभूतितनूजं, वन्दे श्रीगौतमाभिधं सदा साधुम्।
सकललब्ध्येकनिलयं, मलयं गुणचन्दनौघस्य ॥३॥
येषां प्रसादमासाद्य, जायते शास्त्रकौशलम्।
श्रीगुरूणामहं तेषां, वन्दे चरणपङ्कजम् ॥४॥
अध्ययनदशकमेतत्, चूर्णिकृता यदपि वर्णितं सम्यक्।
तदपि त्वरयति मामिह, वृत्तिविधौ वाक्यकृद्भक्तिः ॥५॥''
इह रागद्वेषाऽऽद्यभिभूतेनं संसारपारावारसारिजीवेनेन्द्रिया–

ऽऽयतनमानसानेकातिकटुकदुःखोपलिपातपीडितेन तत्परिहाराय हेयोपादेयपदार्थसार्थविज्ञानविधौ यत्नः कर्त्तव्यः, स च न विशिष्टविवेकमृते, विवेकोऽपि न प्राप्ताशेषातिशयकलापाऽऽप्तोपदेशं विना, स चाऽऽप्त आत्यन्तिकदोषप्रक्षयादेव भवितुमर्हति। स च वीतरागस्यैव, अत आरभ्यते अर्हद्वचनानुयोगः। अयं च दशाश्रुतस्कन्धोऽतिगम्भीरोऽल्पाक्षरैर्व्यावर्णितश्चूर्णिकृता, अत एवाऽल्पबुद्धीनामुपकारासमर्थः, तेन तेषामनुग्रहार्थं मया तस्य किञ्चिद्विस्तरतो व्याख्यानमातन्यते–अथ दशाश्रुतस्कन्ध इति कः शब्दार्थः? उच्यते– दशाध्ययनप्रतिपादको ग्रन्थो दशा, स चासौ श्रुतस्कन्धश्चेति दशाश्रुतस्कन्धः, दशाकल्प इति वा पर्यायनाम। अयञ्च ग्रन्थोऽसमाधिस्थानाऽऽदिपदार्थशासनाच्छास्त्रम्। ननु दशाश्रुतस्कन्धप्रारम्भोऽयुक्तः, प्रयोजनाऽऽदिभी रहितत्वात्, कण्टकशास्त्रामर्दनाऽऽदिवदित्याशङ्क्याऽऽह प्रयोजनाऽऽदिकमादावुपन्यसनीयम्। यदुक्तम्–''पूर्वमेवेह संबन्धः, साभिधेयं प्रयोजनम्। मङ्गलं चैव शास्त्रस्य, प्रयोक्तव्यं॥१॥'' दशा०१ अ०। तत्र प्रथमेऽध्ययने विंशतिरसमाधिस्थानानि। द्वितीयेऽध्ययने एकविंशतिः शबलाः। तृतीये त्रयस्त्रिंशदाशातनाः। चतुर्थेऽष्टौ गणिसम्पदः। पञ्चमे दश चित्तसमाधिस्थानानि। षष्ठे एकादशोपासकप्रतिमा। सप्तमे द्वादश भिक्षुप्रतिमाः। अष्टममध्ययनं कल्पसूत्राऽऽख्यं पृथगस्ति, तत्र तीर्थकृच्चरितं, पर्य्युषणाकल्पः, स्थविराऽऽवली चेत्यधिकाराः। नवमे त्रिंशन्मोहनीयस्थानानि। दशमे नव निदानस्थानानि। दशा०१० अ०। ध०। ''भणितो दसाण छेदो, जत्थ सरस–एहिँ होइ सरिसाणं। समणम्मि फग्गुमित्ते, गोयमगोत्ते महासत्ते॥१॥'' ति०।

दसाहिया स्त्री०(दशाहिका) दशदिवसप्रमाणायां पुत्रजन्मक्रियायाम्, भ०११ श०११उ०।

दसाहुस्सव पुं०(दशाहोत्सव) दशादिवसमहे, प्रति०।

दसिया स्त्री०(दशिका) वस्त्राञ्चले, बृ०३ उ०। वर्तिकायां च। दण्डस्याग्रभागे ऊर्णिकादशिका बध्यन्ते। बृ०७उ०।

दसुत्तरा स्त्री०(दशोत्तरा) दशाधिके अष्टौ रेखा दशोत्तरा दशकवृद्ध्या पलपरिमाणसूचिकाः। ज्यो० २ पाहु०।

दसू (देशी) शोके, दे०ना० ५ वर्ग ३४ गाथा।

दसेर पुं०(देशी) सूत्रकनके, दे०ना० ५ वर्ग ३३ गाथा।

दस्सु पुं०(दस्यु) चौरे, आचा०२ श्रु०१ चू०३ अ०१उ०। अदत्ताऽऽहरो वा दस्युर्वाऽपहरति। आचा०१ श्रु०५ अ०३उ०।

दह त्रि०(दशन्) दन्–अ–कनिन्। वाच०। **''दशपाषाणे हः'' ॥८।१।२६२॥** इति दशन् शब्दे शकारस्य हकारः। 'दह। दस।' प्रा०१ पाद। सङ्ख्याविशेषे, वाच०।

द्रह पुं०। ''द्रे रो न वा'' ॥८।२।८०॥ इति रेफस्य वा लुक्। जलाऽऽशये, प्रा०२ पाद।

ह्रद पुं०। **''ह्रदे हदोः''** ॥८।२।१२०॥ इति हकारदकारयोर्व्यत्ययः। प्रा०२ पाद। अगाधजलाऽऽशये, जं०॥ वक्ष०। आचा०। चं०प्र०। नं०। प्रज्ञा०।

जंबू! मंदरस्स उत्तरदाहिणेणं चुल्लहिमवंतसिहरीसु वासहरपव्वएसु दो महद्दहा पन्नत्ता बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अण्णमण्णं नाइवट्टंति आयामविक्खंभउव्वेहसंठाणपरिणाहेणं। तं जहा–पउमद्दहे चेव, पुंडरीयद्दहे चेव। तत्थ णं दो देवयाओ महिड्ढियाओ०जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति। तं जहा–सिरि चेव, लच्छी चेव। एवं महाहिमवंत रुप्पिसु वासहरपव्वएसु दो महद्दहा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला० जाव महापउमद्दहे चेव, महापोंडरीयद्दहे चेव। देवताओहिरि चेव, बुद्धि चेव। एवं निसहनीलवंतेसु तिगिच्छिद्दहे चेव, केसरिद्दहे चेव। देवताओ–धिई चेव, कित्ती चेव।

(जंबू इत्यादि) इह च हिमवदादिषु षट् सु वर्षधरेषु क्रमेणैते पद्माऽऽदयः अडेव ह्रदाः। तद्यथा–''पउमे य महापउमे, तिगिच्छि केसरिदहे चेव। हरएँ महपुंडरीए, पुंडरीए चेव य दहाओ॥१॥'' हिमवत उपरि बहुमध्यभागे पद्मह्रद एव शिखरिणः पौण्डरीकाः, ते च पूर्वापराऽऽयतौ सहस्रपञ्चशतविस्तृतौ चतुष्कोणौ दशयोजनावगाढौ रजतकूलौ वज्रमयपाषाणौ तपनीयतलौ सुवर्णमध्यरजतमणिवालुकौ चतुर्दशमणिसोपानौ स्वभाषतारौ तोरणध्वजच्छत्राऽऽदिविभूषितौ नीलोत्पलपुण्डरीकाऽऽदिचितौ विचित्रशकुनिमत्स्यविरचितरवौ षट् पदपटलोप भोग्याविति। (तत्थ णं ति) तयोर्महाह्रदयोर्द्वे देवते परि वसतःपद्मह्रदे श्रीः, पौण्डरीके लक्ष्मीः। ते च भवनपतिनिकायाभ्यन्तरभूते, पल्योपमस्थितिकत्वात्। व्यन्तरदेवीनां हि पल्योपमार्द्धमेवाऽऽयुरुत्कर्षतो भवति। भवनपतिदेवीनां तूत्कर्षतोऽर्द्धपञ्चपल्योपमान्यायुर्भवति। आह च–''अद्धुट्ठ–अद्धपंचमपलिओवमअसुरजुयलदेवीणं।सेसभवणदेवयाण य, देसूणं अद्धपलियमुक्कोसं॥१॥'' इति। तयोश्च महाह्रदयोर्मध्ये योजनमाने पद्मे अर्द्धयोजनबाहल्ये दशावगाहे जलान्ताद्। द्विक्रोशोच्छ्राये वज्राऽरिष्टवैडूर्यमूलकन्दनाले वैडूर्यजाम्बूनदमयबाह्याभ्यन्तरपत्रे कनककर्णिकते तपनीयकनककेशरे तयोः कर्णिकेऽर्द्धयोजनमाने तदर्द्धबाहल्ये तदुपरि देव्योर्भवने इति। (एवमित्यादि) महाहिमवति महापद्मो, रुक्मिणि तु महापौण्डरीकः, तौ च त्रिसहस्राऽऽयामौ तदर्द्धविष्कम्भौ द्वियोजनमानपद्मन्यासवन्तौ। तयोर्देवते परिवसतः। महापद्मे ह्रीः, पौण्डरीके बुद्धिरिति। (एवमित्यादि) निषधे तिगिच्छिह्रदे धृतिर्देवता, नीलवति केशरिह्रदे कीर्तिर्देवता। तौ च ह्रदौ चतुर्द्विसहस्राऽऽयामविष्कम्भाविति। भवति चात्र गाथा– ''एएसु सुरवहूओ, वसंति पलिओवमट्ठितीआओ। सिरिहिरिधीकित्तीओ, बुद्धीलच्छीसमाणाओ॥१॥'' इति। स्था०२ ठा०३उ०। द्वारवत्यां बलदेवस्य राज्ञः रेवत्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, नि०। स च अरिष्टनेमितीर्थकरानगारस्य वरदत्ताभिधानस्यान्तिके प्रव्रज्यानशनेन मृत्वा देवलोके उत्पन्नः, ततश्च्युत्त्वा महाविदेहे वर्षे सेत्स्यतीति निरयावलिकाऽन्तर्गतवृष्णिदशानां तृतीयेऽध्ययने सूचितए। नि०१ श्रु०४ वर्ग १० अ०।

जंबू! मंदरस्स दाहिणेणं तओ महादहा पण्णत्ता। तं जहा पउमदहे, महापउमदहे, तिगिच्छिदहे। तत्थ णं तओ देवयाओ महिड्ढियाओ० जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति। तं जहा–सिरी, हिरी, धिई। एवं उत्तरेण वि, णवरं केसरि–

दहे महापोंडरीयदहे पोंडरीयदहे देवयाओ–कित्ती, बुद्धी, लच्छी। स्था०३ ठा०४उ०।

षष्ठे स्थाने–

जंबुद्दीवे दीवे छ महद्दहा पण्णत्ता। तं जहा–पउमद्दहे, महापउमद्दहे, तिगिच्छिद्दहे, केसरिदहे, पुंडरीयदहे, महापुंडरीयदहे। तत्थ णं छ देवयाओ महिड्ढियाओ०जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति। तं जहा–सिरि, हिरि, धिइ, कित्ती, बुद्धी, लच्छी। स्था०६ ठा०।

सव्वे वि णं महद्दहा दस जोयणाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता। स्था०।

दहगलण न०(ह्रदगलन) ह्रदस्य मध्ये मत्स्वाऽऽदिग्रहणार्थं भ्रमणे, जलनिःसारणे च। विपा०१ श्रु०८ अ०।

दहण पुं०(दहन) दह–ल्युट्। दहतीति दहनः। अग्नौ, विशे०। आ०चू०। ज्वालाभिर्भस्मीकरणे, प्रश्न०१ आश्र०द्वार। कृत्तिकानक्षत्रे, दहनः कृतिकाया देवता। स्था०२ ठा०३उ० पाटलि पुत्रनगरवास्तव्यस्य हुताशननाम्नः श्रावकस्य ज्वलनशिखायां भार्य्यायां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, आ० क०। चित्रकवृक्षे, भल्लातके, दुष्टचेतसि च। भावे ल्युट्। दाहे, वाच०।

दहणसील पुं०(दहनशील) ज्वालनस्वभावे, तं०। **''पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या, शठं च मित्रं चपलं कलत्रम्। विलाशकालेऽपि दरिद्रता च, विनाऽग्निना पञ्च दहन्ति देहम् ॥१॥''** तं०।

दहप्पवहण न०(ह्रदप्रवहण) ह्रदजलस्य प्रकृष्टे वहने, विपा० १ श्रु०८अ०।

दहफुल्लिया स्त्री०(ह्रदफुल्लिका) वल्लीभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

दहबल पुं०(दशबल) 'दसबल' शब्दार्थे, प्रा०१पाद।

दहमद्दण (ह्रदमर्दन) ह्रदस्य मध्ये पौनःपुन्येन परिभ्रमणे, जले निःसारिते पङ्कमर्दने च। विपा०१ श्रु०८अ०।

दहमद्दल न०(ह्रदमर्दल) 'दहमद्दण' शब्दार्थे, विपा०१ श्रु०८अ०।

दहमह ह्रदस्य(ह्रदमख) विशिष्टे काले पूजायाम्, आचा०२ श्रु०१ चू०१अ०२उ०।

दहमहण न०(ह्रदमथन) ह्रदजलस्य तरुशाखाभिर्विलोडने, विपा०१ श्रु०८अ०।

दहमुह पुं०(दशमुख) **''दशपाषाणे हः'' ॥८।१।२६२॥** इति शकारस्य वैकल्पिको हकारः। 'दहमुहो। दसमुखो।' रावणे, प्रा०१ पाद।

दहवई स्त्री०(ह्रदवती) ''दो दहवईओ।'' स्था०२ ठा०३ उ०। 'दहावई' शब्दार्थे, स्था०६ ठा०।

दहवहण न०(ह्रदवहन) स्वत एव ह्रदाम्बलनिर्गमे, विपा० २ श्रु०८ अ०।

दइवोल्ली स्त्री०(देशी) स्थाल्याम्, दे०ना०५ वर्ग ३६ गाथा।

दहावई स्त्री०(ह्रदावती) ह्रदा अगाधजलाऽऽशयाः सन्त्यस्यामिति ह्रदावती। जं०४ वक्ष०। जम्बूद्वीपे मेरोः पूर्वस्यां दिशिशीताया महानद्याः दक्षिणतः सङ्गतायामन्तर्णद्याम्, स्था०६ ठा०।

तस्स णं दहावईकुंडस्स दाहिणेणं तोरणेणं, दहावई महाणई पव्वूढा समाणी कच्छावई आवत्ते विजए दुहा वि भयमाणी भयमाणी दाहिणेणं सीआ महाणई समप्पेइ। सेसं जहा गाहावईए। जं०४ वक्ष०।

दहावईकुंड न०(ह्रदावतीकुण्ड) ह्रदावतीनाम्न्या अन्तर्णद्या उद्गमकुण्डे, जं०।

कहि णं भंते! महाविदेहे वासे दहावईकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते? गोयमा! आवत्तस्स विजयस्स पच्चच्छिमेणं कच्छगावईए विजयस्स पुरच्छिमेणं णीलवंतस्स दाहिणिल्ले णितंबे एत्थ णं महाविदेहे वासे दहावईकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते। सेसं जहा गाहावईकुंडस्स ०जाव अट्ठो।

ह्रदीवतीकुण्डं प्रज्ञप्तम्। शेषं यथा ग्राहावतीकुण्डस्य रूपाख्यानं ग्राहावतीद्वीपपरिमाणभवनवर्षकनामार्थकथनप्रमुखं तथा ज्ञेयं, नवरं ह्रदावतीद्वीपो ह्रदायतीति नामार्थः समधिगम्यः ह्रदा अगाधजलाऽऽशयाः सन्त्यस्यामिति ह्रदावती। साधनिका प्राग्वत्। जं० ४ वक्ष०।

दहि न०(दधि) दध–इन्। दुग्धविकृतिभेदे, प्रव०४ द्वार। औ०। उक्ष०। प्रज्ञा०। स्था०। प्रश्न०। दधिनवनीतघृतानि यत्वार्यैज गवादिसम्बन्धीनि, यस्मादुष्ट्रीणां तानि दध्यादीनि उ भवन्ति। पं०व०२ द्वार। आ०चू०। आव०। स्था०। दिनद्वयातीते दण्यपि जीवसंसक्तिर्यथा–''जइ मुग्गमासमाई, विहलं कच्चम्मि मोरसे पडइ। ता तसजीवुप्पत्तिं, भणंति दहिए वि दुद्दिणुवरिं ॥१॥'' हारिप्रद्धदशवैकालिकवृत्तावपि–''रसजास्तक्रकारनालदधितीमनाऽऽदिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्तीति।'' ''दध्यहर्द्वितयातीतम्।'' इति हैममपि वचः। ध०२ अधि०। आचा०। वस्त्रे च, धा–कि–द्वित्वम्। धारणकर्त्तरि। वि०। वाच०। ''पदयोः सन्धिर्ना'' ॥८।१।५॥ इति सन्धिविकल्पः। ''दहि ईसरो। दहीसरो।'' प्रा०१ पाद। ''दहिदगरयसंदकुदवासंतियमुजलअच्छिद्दविमलदसणा।'' जी०३ प्रति०४ उ०। निर्विकृतिकदुग्धजं दधि निर्विकृतिकं, विकृतिर्वेति प्रश्ने, उत्तरम्–एवंविधदुग्धजंदध्यपि निर्विकृतिकं स्यात्, परं प्रसङ्गपरम्पराशैथिल्यान्न ग्राह्यमिति वृद्धसंप्रदायः ॥१०६प्र०। सेन०२ उल्ला०। षोडशप्रहरानन्तरं दध्यभक्ष्यं स्यात्, द्वादशप्रहरानन्तरं वेति व्यक्त्या प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्–''आनगोरससंपृक्तं, द्विदलौ पुष्पितौदनम्। दध्यहर्द्वितयातीतं, क्वथिताऽन्नं च वर्जयेत्'' ॥१॥ इति योगशास्त्रतृतीयप्रकाशे। एत–द्व्याख्यालेयो यथा। इह हि इयं स्थितिः–कश्चिद्भावो हेतुगम्येषु त्वाममायं प्रतिपादयन् आज्ञाविराधकः स्यादित्यायगोरससंपृक्तद्विदलाऽऽदौ य हेतुगम्यो जीवसद्भाव; किं त्वागमगम्य एव। तथाहि–''गामगोरससंपृक्ते, द्विदले,'' आदिशब्दात् पुष्पितौदने, अहर्द्वितयातीते च दध्नि, क्वथितान्ने च ये जन्तवस्ते केवलज्ञानिभिर्दृष्टा इत्यामगोरश्वद्वि-इलाऽऽदिभोजनं वर्जवेदिति, तद् भोजनाद् द्विप्राणातिपातलक्षणो दोषः स्यादिति। अहर्द्वितया–

तीतमिति कोऽर्थ? दिनद्वयातिक्रमेऽभक्ष्यम्। दिवसग्रहणेन रात्रिग्रहणं समागतमेव, यथा–त्रिंशद्दिनैर्मासः, पञ्चदशदिनैः पक्ष इत्यर्थः। एतावता रात्रिद्वयातिक्रमे द्वादशाऽऽदिप्रहरातिक्रान्तं दध्यभक्ष्यं, यदा प्रथमदिवसे प्रभाते मेलितं तदा षोडशप्रहरानन्तरमेवाभक्ष्यं भवति; परं षोडशप्रहरमियमो नेति संभाव्यत इति। यतः पूर्वदिने संध्यायां मेलितं द्वादशप्रहरानन्तरमप्यभक्ष्यं भवतीति। ६३ प्र०। सेन०३उल्ला०।

दहिउप्प न०(देशी) नवनीते, दे०ना० ५ वर्ग ३५ गाथा।

दहिघण पुं०(दधिघन) दधिपिण्डे, जं०१ वक्ष०। प्रज्ञा०। जी०। रा०।

दहिट्ठ पुं०(देशी) कपित्थे, दे०ना० ५ वर्ग ३५ गाथा।

दहित्थार पुं०(देशी) दधिसरे, दे०ना० ५ वर्ग ३६ गाथा।

दहिमुहपव्वय पुं०(दधिमुखपर्वत) पर्वतभेदे, स्था०। दधिवत् श्वेतं मुखं शिरो रजतमयत्वाद् येषां ते दधिमुखाः। उक्तं च–"संखदल-विमलनिम्मलदहिघणगोखीरहारसंकासा। गगणतलमणुलिहंता, सोहंते दधिमुहा रम्मा" ॥१॥ इति। स्था०। ४ ठा०३उ०। नन्दीश्वरद्वीपेऽञ्जनपर्वतानां प्रत्येकं चतुर्दिक्षु पुष्करिणीनां मध्यभागस्थेषु स्वनामख्यातेषु पर्वतेषु, स०।

सव्वे वि णं दधिमुहा पव्वया पल्लासंठाणसंठिया सव्वत्थ समा विक्खंभुत्सेहेणं चउसट्ठिं चउसट्ठिं जोयणसहस्साइं पण्णत्ता।

(सव्वे वि णमित्यादि) इतोऽष्टमे नन्दीश्वराऽऽख्ये द्वीपे पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु चत्वारोऽऽजनकपर्वता भवन्ति, तेषां च प्रत्येकं चतसृषु दिक्षु चतस्रः पुष्करिण्यो भवन्ति, तासां च मध्यभागेषु प्रत्येकं दधिमुखपर्वता भवन्ति, ते च षोडश पल्यङ्कसंस्थानसंस्थिताः समानाः सर्वत्र समा विष्कम्भेण मूलाऽऽदिषु दशसहस्रविष्कम्भत्वात्तेषाम्। क्वचित्तु–"विक्खंभुस्सेहेणं" इति पाठः, तत्र तृतीयैकवचनलोपदर्शनाद्विष्कम्भेणेति व्याख्येयम्। तथा–उत्सेधेनोच्चत्वेन चतुष्षष्टिरिति। स०६४ सम०। (अस्य वर्णकस्तु 'अंजणग' शब्दे प्रथमभागे ४८ पृष्ठे उक्तः)

दहिवण्ण पुं०(दधिपर्ण) वृक्षभेदे, स्था०१० ठा०। प्रज्ञा०। स०। औ०। ति०। रा०।

दहिवासुया स्त्री०(दधिवासुका) वनस्पतिविशेषे, जी०। "दहिवासुयामंडवगे।" दधिवासुका नाम वनस्पतिविशेषः, तन्मया मण्डपका दधिवासुकामण्डपकाः। जी०३प्रति०४उ०। जं०।रा०।

दहिवाहण पुं०(दधिवाहन) चेटकमहाराजदुहितुः पद्मावत्याः पत्यौ चम्पाराजे, आ०क०। आ०चू०। स ज स्वभार्यया पद्मावत्या सह पोददपूरणार्थमुद्यानभूमिकां गतः, तत्र मत्तेन हस्तिना उत्पथमानीतो गूढं प्रत्यादूतः, पद्मावती तु वने हृता प्रव्रजिता च पुत्रमेकं जनयित्वा मातङ्गेषु अक्षिपत्, स च कर्कण्युनामा क्रमेण राजा भूत्वा एकस्मै ब्राह्मणाय ग्रामदानार्थं दधिवाहनं प्रचोद्य सुषुत्सुः स्वमात्रा पद्मावत्या निवारितः, क्रमेण प्रावाजीत्, दधिवाहनोऽपि प्रव्रजितः। आ०क०। आ०चू०। आव०। ती०। उत्त०। (इयं कथा 'करकंडु' शब्दे तृतीयभागे ३५७ पृष्ठे उक्ता)

दहिव्वय पुं०(दधिव्रत) न दध्यत्ति दधिव्रतः। दधिप्रत्याख्यान व्रति, आव०४अ०। 'पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः' इत्या०।

दा धा०(दा) जुहो०–उभ०–सक०–सेट्। दाने, वाच०। "स्वराणां स्वराः ॥८।४।२३८॥" इति दाधातोराकारस्यैकारः। "देइ। दाई।" प्रा०४ पाद।

दाअ पुं०(देशी) प्रतिभुवि, दे०ना०५ वर्ग ३८ गाथा।

दाइ अव्य०(दाइ) अभिप्रायाभिदर्शने, नि०चू०२उ०।

दाइज्जमाण पुं०(दर्श्यमाण) चक्षुषा प्रत्यक्षं कारयिष्यमाणे वस्तुनि, कल्प० ५ क्षण।

दाइय पुं०(दायाद) पुत्राऽऽदिषु, भ०६ श०३३उ०।

***दायिक** पुं०। गोत्रिके, कल्प०५ क्षण। "दायिकसुतमाणिक्यः, प्रेरितवानस्मदादिजनान्।" भ०४१ श०१६ उ०।

दाइया स्त्री०(दारिका) बालिकायाम्, आ०म०१ अ०२ खण्ड। "एवं परिवाडीए सुंदरी दाइया।" आ०म०१अ०१ खण्ड।

दाउं अव्य०(दातुं) सकृद्दानं कर्तुमित्यर्थ, उपा०१ अ०। "दाउं वा अणुप्पदाणत्थं रायाभिओगेणं।" प्रति०।

दाकलस पुं०(उदककलश) लघुतरे घटे, भ०१५ श०।

दकुंभ पुं०(उदककुम्भ) महद्घटे, भ०१५श०।

दाघ पुं०(दाह) 'दाह' शब्दार्थ, प्रा०१ पाद।

दाडिम न०(दाडिम) **"डो लः ॥८।१।२०२॥"** स्वरात् परस्यासंयुक्तस्यानादेर्मस्य प्रायो लुग् भवति। 'दालिम। दाडिम।' वाच०। जी०। औ०। आचा०। ज्ञा०। ओघ०। रा०।

दाडिमपुप्फप्पगासपीवराहरा स्त्री०(दाडिमपुष्पप्रकाशपीवरा-धरा) दाडिमपुष्पप्रकाशः पीवरः प्रवरः सुभगोऽधरो यासां ता दाडिमपुष्पप्रकाशपीवराधराः। सुन्दराधरोष्ठासु योषित्सु, जी०३ प्रति० ४उ०।

दाढा स्त्री०(दंष्ट्रा) **"दंष्ट्राया दाढा" ॥८।२।१३६॥** दंष्ट्राशस्य 'दाढा' इत्यादेशो भवति। प्रा०२ पाद। दशनविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। आव०। "वराहं दाढाए।" अनु०। दंष्ट्रार्थं वराहाऽऽदयो व्यापाद्यन्ते। आचा०१ श्रु०१ अ०६उ०।

दाढिकालि स्त्री०(दंष्ट्रिकाऽऽवलि) यमलतन्तुद्वयव्यूतायां पट्याम्, जीत०। यथा मुखमध्ये यमलितोभयदन्तपङ्क्तिरूपा दाढिकाऽऽलिर्दंष्ट्रिकावलिर्निरीक्ष्यते, एवं धौतपोतिकाऽपि द्विजसत्कसदृशवस्त्रपरिधानरूपा दृश्यमाना दाढिकालिरिव प्रतिभातीति कृत्वः दाढिकालिरुच्यते। बृ०३ उ०।

दाढिगालि स्त्री०(दंष्ट्रिकाऽऽवलि) 'दाढिकालि' शब्दार्थ, जीत०।

दाढिया स्त्री०(दंष्ट्रिका) उत्तरोष्ठकेशगुच्छे दशनविशेषे, ओष्ठस्याधोभागे च। ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। भ०। विशिष्टदंष्ट्राशालिनि, त्रि०। अनु०।

दाढियालि स्त्री०(दंष्ट्रिकाऽऽवलि) 'दाढिकालि' शब्दार्थ, जीत०।

दाढुद्धिय त्रि०(दंष्ट्रोद्धृत) उत्खातदंष्ट्रे,दश०१ चू०।

दाण न०(दान) दा–भावे ल्युट्। वितरणे, प्रव० ६ द्वार। पञ्चा०। प्रश्न०। लब्धस्याऽन्नाऽऽदेर्ग्लानाऽऽदिभ्यो वितरणे, प्रश्न०३ संव० द्वार। अशनाऽऽदिप्रदाने, आव०४ अ०। स्वपरानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानम्। सूत्र०१ श्रु०११अ०। उत्त०। कल्प०। कर्म०। याचकाभीप्सितार्थधने, कल्प०५ क्षण। उत्त०। ''दानेन महाभोगो, दैहिनां सुरगतिश्च शीलेन। भावनया च विमुक्तिस्तपसा सर्वाणि सिद्ध्यन्ति'' ॥१॥ सूत्र०१ श्रु०१२ अ०।

''दाणं च तत्थ तिविहं, नाणपयाणं च अभयदाणं च।
धम्मोवग्गहदाणं, च नाणदाणं इमं तत्थ ॥९२॥''
''सरिसे वि मणुयजम्मे, एयं सयलं पि केइ कयपुन्ना।
जं जाणंति जए तं, सुनाणदाणप्पभावेण ॥९४॥
दिंतं य नाणदाणं, भुवणे जिणसासणं समुद्धरइ।
सिरिपुंडरीयगणहर, इव पावइ परमपयमउलं ॥९५॥
ता दायव्वं नाणं, अणुसरियव्वा सुनाणिणो मुणिणो।
नाणस्स सया भत्ती, कायव्वा कुसलकामेहिं ॥९६॥
बीयं तु अभयदाणं, तं इह अभएण सयलजीवाणं।
अभउ त्ति धम्ममूलं, दयाइधम्मो परिसिद्धमिणं ॥९७॥
इक्कं चिय अभयपयाणमित्थ दाऊण सव्वसत्ताणं।
वज्जाउह व्व कमसो, सिज्झंति पहीणजरमरणा ॥९८॥
नाऊण इमं भयभीरुयाण जीवाण सरणरहियाणं।
साहीणं दायव्वं, भविएहिं अभयदाणमिणं ॥९९॥
धम्मोवग्गहदाणं, तइयं पुण असणवसणमाईणि।
आरंभनियत्ताणं, साहूणं हुंति देयाणि ॥१००॥
तित्थयरचक्कवट्टी, बलदेवा वासुदेवमंडलिया।
जायंति जगब्भहिया, सुपत्तदाणप्पभावेण ॥१०१॥
जय भयवं रिसहजिणो, घयदाणबलेण सयलजयनाहो।
जाओ जह भरहवई, भरहो मुणिभत्तदाणेण ॥१०२॥

अवि य–

दंसणमित्तेण वि मुणि–वराण नासेइ दिणकयं पावं।
जो देइ ताण दाणं, तेण जए किं न सुविढत्तं? ॥१०३॥
तं सुपवित्तं भवणं, मुणिणो विहरंति जत्थ समभावा।
न कया वि साहुरहिओ, जिणधम्मो पायडो होइ ॥१०४॥
ता तसिं दायव्वं, सुद्धं दाणं गिहीहिं भत्तीए।
अणुकंपोचियदाणं, दायव्वं नियसत्तीए ॥१०५॥

किं च–

न तवो सुट्ठु गिहीणं, विसयाऽऽसत्ताण होइ न हु सीलं।
सारंभाण न भावो, तो साहीणं सया दाणं ॥१०६॥
इय तिविहं पि हु दाणं, नरवर! संखेवओ तुहऽक्खायं।
वियारयसिवसुहलीलं, सेपइ सीले निसामेसु ॥१०७॥
ध०र०(७०)।

दाणफलं लवितूणं, लावावे तु गिहिअण्णतित्थीहिं।
जो पादं उप्पाए, लवंगविट्ठं तु तं होति ॥२०८॥

दाणफलं अप्पणा कहेति, गिहिअण्णतित्थिएहिं वा कहावेत्ता जो पादं उप्पादेति, एयं लवंगविट्ठं भण्णति।

तस्सिमे विहाणा–

लोइय लोउत्तरियं, दाणफलं तु दुविधं समासेण।
लोइयऽणेगविधं पुण, लोउत्तरियं इमं तत्थ ॥२०९॥

समासतो दुविहं दाणफलं–लोइयं, लोउत्तरियं च। लोइयं अणेगविहं–गोदानं, भूमिदानं, हिरण्णदानं, भत्तप्रदानाऽऽदि। लोउत्तरियं इमं।

गाहा–

अण्णे पाणे भेसज्जपत्तवत्थे य सेज्जसंथारे।
भोज्जविहि पाणऽरोगे, भायणभूसाविविहसयणा ॥२१०॥

पाणाऽऽदियाण सत्तण्हं पच्छद्धेणं जहासंखफला। अण्णदाणे भोज्जविही भवति, पानकदाने द्राक्षापानकविधी, भेसज्जदाणेण आरोग्गो, पत्तदाणेण भायणविधी, वत्थदाणेण विभूसणविधी, सेज्जादाणेण विविहा, संथारगदाणेण अणेगभोगंगादिसेज्जाविहाणा भवंति।

संखेवओ वा फलं इमं–

अहवाऽवि समासेणं, साधूणं पीतिकारओ पुरिसो।
इह य परत्थ य पावति, पीदीओ पीवरतराओ ॥२११॥

अहवासद्दो विगप्पवायगो। समासो संखेवो, साधूणं भत्तपाणेहिं पीतीतो उप्पाणंतो इहलोए परलोए य पीवराओ पीतीओ पावति, पीवरं प्रधानं, तरशब्दः आधिक्यतरकर्म्मवाचकः, सर्वजनाधिक्यतरा प्रीत्यः, प्राप्नोतीत्यर्थः। शेषं पूर्ववत्, णवरं–

एसेव गमो णियमा, दुविधा उवहिम्मि होति णायव्वो।
पुव्वे अवरे य पदे, सेज्जाऽऽहारे वि य तहेव ॥२१२॥

दुविहे उवकरणे–ओहिए, उवग्गहिए य। उस्सग्गाववाएहिं एसेव गमो, सेज्जआहारेसु वि एसेव विही भाणियव्वो। नि०चू०२ उ०।

दशविधं दानम्–

दसविहे दाणे पण्णत्ते। तं जहा–
''अणुकंपा संगहे चेवाऽभया कालुणिए ति य।
लज्जाए गारवेणं च, अधम्मे पुण सत्तमे ॥१॥
धम्मे य अट्ठमे वुत्ते, काहिई य कयंति य।'' स्था०१०ठा०।

(अनुकम्पादानव्याख्या 'अणुकंपादाण' शब्दे प्रथमभागे ३६० पृष्ठे द्रष्टव्या) (संग्रहदानविस्तरः 'संगहदाण' शब्दे वक्ष्यते) (अभयदानव्याख्या 'अभयदाण' शब्दे प्र०भागे ७०६ पृष्ठे प्रतिपादिता) (कारुणिकदानव्याख्या 'कालुणिय' शब्दे तृतीयभागे ५०२ पृष्ठे द्रष्टव्या) (लज्जादानविस्तरः 'लज्जादाण' शब्दे वक्ष्यते) (गौरवदान–व्याख्या 'गारवदाण' शब्दे तृतीयभागे ८७१ पृष्ठे द्रष्टव्या) (अधर्म–दानव्याख्या 'अधम्मदाण' शब्दे प्रथमभागे ५६८ पृष्ठे गता) (धर्मदानव्याख्यानम् 'धम्मदाण' शब्दे वक्ष्यते) (करिष्यतिदानविस्तरस्तु 'काहीइदाण' शब्दे तृतीयभागे ५०६ पृष्ठे द्रष्टव्यः) (कृतदानविषयः 'कयदाण' शब्दे तृतीयभागे ३५४ पृष्ठे समुक्तः)१०॥ शिष्येभ्यो विसर्जने, विशे०। (लोके दानप्रकारश्च प्रथममृषभस्वामिना प्रवर्तित इति 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११२७ पृष्ठे उक्तः) दाने लौकिका आहुः–''वारिदस्तृप्तिमाप्नोति, सुखमक्षयमन्नदः। तिलप्रदः प्रजामिष्टामायुष्कमभयप्रदः'' ॥१॥ अत्र चैकमेव सुभाषितमभयप्रदानमिति, तुषमध्ये कणिकावत्।

आचा०१ श्रु०१ अ०१उ०। ''दाणाण०सेट्ठं अभयप्पयाणं।'' (२३) सूत्र०१ श्रु०६अ०। ''मध्याह्नेऽर्चा तु सत्पात्रदानपूर्वं तु भोजनम्।'' (६५) सत्पात्रं साध्वादि, तस्मिन् दानपूर्वं दानं दत्त्वेत्यर्थः, भोजनमभ्यवहरणं, 'तुः' एवकारार्थः। ततः सत्पात्रदानपूर्वमेव भोजनमिति निष्कर्षः। (६५) ध०२अधि०। (साधुभ्यो दानप्रकारः 'अइहिसंविभाग' शब्दे प्रथमभागे ३३ पृष्ठे उक्तम्)

इह तत्रानुक्तं तत्स्वरूपम्–

आहारवस्त्रपात्राऽऽदेः, प्रदानमतिथेर्मुदा।
उदीरितं तदतिथि–संविभागव्रतं जिनैः ॥४०॥

अतिथेःसाधोः, मुदा हर्षेण, गुरुत्वभक्त्यतिशयेन, न त्वनुकम्पाऽऽदिनेत्यर्थः। प्रदानम्–प्रकर्षेण मनोवाक्कायशुद्ध्या दानं विश्राणनम्। कस्य? आहारवस्त्रपात्राऽऽदेः, तत्राऽऽहारोऽशनाऽऽदिः चतुर्विधः, वस्त्रं प्रतीतम्, कम्बलो वा, पात्रं पतद्ग्रहाऽऽदि, आदिशब्दाद् वसतिपीठफलकशय्यासंस्तारकाऽऽदिग्रहणम्, अनेन हिरण्याऽऽदिदाननिषेधः, तेषां यतेरनधिकारित्वात्। तदतिथि–संविभागव्रतम्। जिनैः–अर्हद्भिः, उदीरितं प्रतिपादितम्। तत्र अतियेः उक्तलक्षणस्य, सङ्गतः–आधाकर्माऽऽदिद्विचत्वारिंशद्दोषरहितो, विशिष्टो भागो विभागः पश्चात्कर्माऽऽदिदोषपरिहारायाशनदानरूपोऽतिथिसंविभागः, तद्रूपं व्रतम्। अतिथिसंविभागव्रतमाहाराऽऽदीनां च न्यायार्जितानां प्रासुकैषणीयानां कल्पनीयानां च देशकालश्रद्धासत्कारक्रमपूर्वकमात्मानुग्रहबुद्ध्या यतिभ्यो दानमित्यर्थः। तत्र शाल्यादिनिष्पत्तिभागो देशः१, सुभिक्षदुर्भिक्षाऽऽदिःकालः२, विशुद्धश्चित्तपरिणामः श्रद्धा३, अभ्युत्थानाऽऽसनदानवन्दनानुव्रजनाऽऽदिः सत्कारः४, यथासंभवं पाकस्य पेयाऽऽदिपरिपाट्या प्रदानं क्रमः५, तत्पूर्वकं देशकालाऽऽद्यौचित्येनेत्यर्थः। यदूचुः–''नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकालसद्धासक्कारकमजुअं पराए भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाणं दाणं अतिहिसंविभागो।''

अनूदितं चैतत् श्रीहेमसूरिभिः–

''प्रायः शुद्धैस्त्रिविधविधिना प्रासुकैरेषणीयैः,
कल्पप्रायैः स्वयमुपहितैर्वस्तुभिःपानकाऽऽद्यैः।
काले प्राप्तान् सदनमसमश्रद्धया साधुवर्गान्,
धन्याः केचित्परमविहिता हन्त ! समानयन्ति ॥१॥
अशनमखिलं खाद्यं स्वाद्यं भवेदथ पानकं,
यतिजनहितं वस्त्रं पात्रं सकम्बलप्रोञ्छनम्।
वसतिफलकप्रख्यं मुख्यं चरित्रविवर्द्धनं,
निजकमनसः प्रीत्याधायि प्रदेयमुपासकैः ॥२॥''

तथा–

''साहूण कप्पणिज्जं, जं न वि दिन्नं कहिंचि किंचि तहिं।
धीरा जहुत्तकारी, सुसावगा तं न भुंजंति ॥३॥
वसहीसयणाऽऽसणभत्तपाणभेसज्जवत्थपायाई।
जइ वि न पज्जत्तधणो, थोवा वि हु थोवयं दिज्जा ॥४॥''

वाचकमुख्यस्त्वाह–

''किञ्चित् शुद्धं कल्प्यमकल्प्यं, स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाऽऽद्यं वा ॥१॥
देशं कालं पुरुषभवस्थामुपयोगशुद्धिपरिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं, नैकान्तात् कल्पते कल्प्यम् ॥२॥''

ननु यथा शास्त्रे आहारदातारः श्रूयन्ते, न तथा वस्त्राऽऽदिदातारः, न च वस्त्राऽऽदिदानस्य फलं श्रूयते, तन्न वस्त्राऽऽदिदानं युक्तम्। नैवम्। भगवत्यादौ वस्त्राऽऽदिदानस्य साक्षादुक्तत्वात्। यथा– ''समणे निग्गंथे फासुयएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पीढफलगसिज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणे विहरति।'' इत्याहारवत्संयमाऽऽधारशरीरोपकारकत्वाद्वस्त्राऽऽदयोऽपि साधुभ्यो देयाः। ध०२अधि०। पञ्चा०। (पोषधं पारयता श्रावकेण नियमात्साधुभ्यो दत्त्वा भोक्तव्यमिति, तद्विधिश्च 'पोसहपारणगविहि' शब्दे वक्ष्यते)

काले देशे कल्प्यं, श्रद्धायुक्तेन शुद्धमनसा च।
सत् कृत्य च दातव्यं, दानं प्रयताऽऽत्मना सद्भ्यः ॥१॥''

तथा–

''दाने सत्पुरुषेषु, स्वल्पमपि गुणाधिकेषु विनयेन।
वटकणिकेव महान्तं, न्यग्रोधं सत्फलं कुरुते ॥२॥

इत्यादि।

''दुःखसमुद्रं प्राज्ञास्तरन्ति पात्रार्पितेन दानेन।
लघुतेव मकरनिलयं, वणिजः सद्यानपात्रेण ॥१॥'' आचा०१ श्रु०८ अ०२उ०।

यदाह–

''पठति पाठयते पठतामसौ, वसनभोजनपुस्तकवस्तुभिः।
प्रतिदिनं कुरुते य उपग्रहं, स इह सर्वविदेव भवेन्नरः ॥१॥''

लिखितानां च पुस्तकानां संविग्नगीतार्थेभ्यो बहुमानपूर्वकं व्याख्यापनं, व्याख्यापनार्थं दानं, व्याख्यायमानानां च प्रतिदिनं पूजापूर्वकं श्रवणं चेति। साधूनां च जिनवचनानुसारेण सम्यक्त्वचारित्रमनुपालयतां दुर्लभं मनुष्यजन्म सफलीकुर्वतां स्वयंतीर्णानां परं तारयितुमुद्यतानामा तीर्थकरगणधरेभ्यः, आ च तद्दिनदीक्षितेभ्यः सामायिकसंयतेभ्यो यथोचितमतिपत्त्या स्वधनवपनं, यथा उपयुज्यमानस्य चतुर्विधाऽऽहारभेषजवस्त्राऽऽश्रयाऽऽदेर्दानम्, न हि तदस्ति यद्द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयाऽनुपकारकं नाम, तत्सर्वस्वस्याऽपि दानं, साधुधर्मोद्यतस्य स्वपुत्रपुत्र्यादेरपि समर्पणं च। ध०२अधि०। भ०। स्था०। दश०। (श्रमणेभ्योऽप्रासुकदानेनाल्पाऽऽयुः, प्रासुकदानेन दीर्घायुरिति 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे ११ पृष्ठे प्रतिपादितम्) ''दानात्कीर्तिः सुधाशुभ्रा, दानात्सौभाग्यमुत्तमम्। दानात्कामार्थमोक्षाः स्युर्दानधर्मो वरस्ततः ॥१॥'' पञ्चा० २ विव०।

''दानेन सत्त्वानि वशभिवन्ति,
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दाना–
त्तस्माद्धि दानं सततं प्रदेयम् ॥१॥'' ध०२०।

न्यायाऽऽत्तं स्वल्पमपि हि, भृत्यानुपरायेतो महादानम्।
दीनतपस्व्यादौ गुर्वनुज्ञया दानमन्यत्तु ॥१३॥

न्यायाऽऽत्तं ब्राह्मणक्षत्रियविट् शूद्राणां स्वजातिविहितन्यायोपात्तम्, स्वल्पमपि हि स्तोकमपि हि, भृत्यानुपरोधतो भृत्यानुपरोधेन पोष्यवर्गाविघातेन, महादानं विशिष्टदानम्, दीनत-पस्व्यादौविषये, गुर्वनुज्ञया पित्रादिकुलपुरुषानुज्ञया, यदेवंविशेषणं तन्ममहादानम्। दानमन्यत्तु न्यायाऽनुपात्तभृत्याद्युप–

रोधाऽऽदिना विपर्ययेण दीयमानमन्यत् पुनर्दानमेव भवति ॥१३॥ षो० ५ विव०।

नाऽऽतुरापथ्यतुल्यं यद्दानं तदपि चेष्यते।
पात्रे दीनाऽऽदिवर्गे च, पोष्यवर्गाऽविरोधतः ॥११॥

यत् आतुरापथ्यतुल्यं ज्वराऽऽदिरोगविधुरस्य घृताऽऽदिदानसदृशं मुशलाऽऽदिदानं दायकग्राहकयोरपकारि न भवति, तद्दानमपि चेष्यते। पात्रे दीनाऽऽदिवर्गे च, पोष्यवर्गस्य मातापित्रादिपोषणीयलोकस्याऽविरोधतो वृत्तेरनुच्छेदात् ॥११॥

लिङ्गिं कृपणाऽऽद्याः पात्रम्–

लिङ्गिनः पात्रमपचाः, विशिष्य स्वक्रियाकृताः।
दीनान्धकृपणाऽऽदीनां, वर्गः कार्यान्तराक्षमः ॥१२॥

(लिङ्गिन इति) लिङ्गिनो व्रतसूचकतथाविधनेपथ्यवन्तः सामान्यतः पात्रमादिधार्मिकस्य। विशिष्य विशेषतोऽपचाः स्वयमपाचकाः, उपलक्षणान्परैरपाचयितारः, पच्यमाननानुमन्तारश्च। स्वक्रियाकृतः स्वशास्त्रोक्तानुष्ठानाप्रमत्ताः। तदुक्तम्–''व्रतस्था लिङ्गिनः पात्रमपचास्तु विशेषतः। स्वसिद्धान्ताविरोधेन, वर्त्तन्ते ये सदैव हि ॥१॥'' दीनान्धकृपणाऽऽदीनां वर्गः समुदायः, कार्यान्तराक्षमो भिक्षाऽतिरिक्तनिर्वाहहेतुव्यापारासमर्थः। यत उक्तम्–''दीनान्धकृपणा येतु, व्याधिग्रस्ता विशेषतः। निःस्वाः क्रियाऽन्तराशक्ताः, एतद्वर्गो हि मीलकः ॥१॥'' इति। दीनाः क्षीणसकलपुरुषार्थशक्तयः, अन्धा नयनरहिताः, कृपणाः स्वभावत एव सतां कृपास्थानम्, व्याधिग्रस्ताः कुष्ठाऽऽद्यभिभूताः, निस्वा निर्द्धनाः ॥१२॥ द्वा०१२ द्वा०। यो०विं०।

अथ दाने कृतपुण्यकथा–

''शालिग्राम इति ग्रामस्तत्रैका स्थविराऽभवत्।
तत्पुत्रो वत्सपालोऽभूत्, सोऽन्यदा पायसोत्सवे ॥१॥
दृष्ट्वा पायसमश्नन्ति, डिम्भरूपाणि सोऽपि च।
ऊचे मातर्ममाप्यर्थमद्य राध्नुहि पायसम् ॥२॥
नास्ति वस्त्वित्यरोदीत्साऽपृच्छन्नुपगृहं स्त्रियः।
निर्बन्धेऽकथयत्ताश्च, कृपया सर्वमापयन् ॥३॥
तयाऽथ पायसं रद्धा, सुतस्य परिवेषितम्।
स्थविराऽन्तर्गता साधुरागतो मासपारणे ॥४॥
तत्त्र्यंशं स ददौ साधोर्दध्यौ स्तोकमिदं ततः।
द्वितीयकं ददौ त्र्यंशं, पुनश्चिन्तयति स्म सः ॥५॥
क्षेप्स्यत्यत्रापरः किञ्चिच्चत्तदेतद्विनङ्क्ष्यति।
तृतीयमप्यदात्त्र्यंशं, स्वर्गस्तेनार्जितस्तदा ॥६॥
ज्ञात्वाऽम्बा जेमितं भूयः, क्षैरेय्याऽभृत भाजनम्।
आकण्ठं बुभुजे ! सोऽथ, विसूच्या मृतवान्निशि ॥७॥
गतः स्वर्गं ततश्च्युत्वाऽत्रैव राजगृहे पुरे।
श्रेणिको यत्र राजेन्दुर–भयो मन्त्रिपुङ्गवः ॥८॥
महाजनस्य मुख्योऽभूत्, तत्र श्रेष्ठी धनावहः।
यद् द्रव्यसंख्या नाज्ञायि, विन्दुसंख्येव वारिधेः ॥९॥
नव्यनव्योल्लसद्भद्रा, भद्रा तस्याभवत्प्रिया।
स तदीयोदरे जीवः, सुतत्वेनावतीर्णवान् ॥१०॥
कृतपुण्योऽयमात्मेति, तत्रोचे गर्भगे जनः।
कृतपुण्याभिधश्चक्रे, जन्मतो द्वादशाह्नि सः ॥११॥
वर्द्धमानः पाठयोग्यो, ग्राहितः सकलाः कलाः।
विवाहितस्ततो मात्रा, क्षिप्तो दुर्ललितेशु सः ॥१२॥
तैः प्रावेशि स वेश्यौकस्तत्रांऽस्थाद् द्वादशाब्दिकाम्।
पिता मृतोऽपि नाज्ञायि, मात्रा मा भूत्सुतोऽसुखी ॥१३॥
वित्तमानायितं नित्यं, प्रैषयत्पुत्रवत्सला।
मृत्यौ तस्याः स्नुषाऽप्येवं, स्वप्रियप्रीतये व्यधात् ॥१४॥
नष्टितेऽथ धने कृत्स्ने, चेटीहस्ते तदङ्गना।
निजमाभरणं प्रैषीद्विवेदाऽक्काऽथ निःस्वताम् ॥१५॥
सदीनारसहस्रं तत्तस्याः प्रत्यर्पितं तया।
अथाऽक्कया सुताऽभाणि, निःस्वो निःसार्यतामयम् ॥१६॥
स नैच्छदथ वञ्चित्वा, गृहमार्जनदम्भतः।
उत्तारितोऽप्यधस्तिष्ठन्नूचे दास्या स्थितोऽसि किम्? ॥१७॥
अशृङ्गः पशुरेवासि, निरस्तोऽपि न यासि यत्।
सोऽथ दध्यौ क्षयायोक्तो, धिग्वेश्यावञ्चितोऽस्म्यहम् ॥१८॥
गृहवर्त्माऽविदन् पृच्छन्नूचे तैःक्वास्ति तद् गृहम्?
वेश्याऽऽसक्तस्तत्सुतोऽभूत्ततः सर्वं क्षयं गतम् ॥१९॥
ततः कथञ्चिद् ज्ञात्वाऽगाज्जीर्णे शीर्णे निजे गृहे।
भार्या च सहसोत्थाय, कुलीना विनयं व्यधात् ॥२०॥
लज्जितो विनयात्तस्याः, मातापित्रोश्च शोकतः।
सर्वस्वहरणाद्याभूद्, दुःखरत्नत्रयाधिपः ॥२१॥
तदेकजीविता साऽपि, गणिकाऽगात्तदन्तिके।
तं शोकदुःखचिन्ताऽऽर्त्तं, प्रिया प्राणेशमब्रवीत् ॥२२॥
अक्काटङ्कसहस्रं तं, निजान्याभरणानि च।
पुरो विमुच्य हे भर्तः! नीवीयं तत्पणाय्यताम् ॥२३॥(युग्मम्)
मासमेकं स तत्रास्थात्प्रियाविनयरञ्जितः।
ततःसाऽऽपन्नसत्त्वाऽभूत्, शुक्तिवद् मौक्तिकोदरा ॥२४॥
सार्थेऽथ प्रस्थितेऽचालीद्, मुक्त्वा तत्तत्कृते धनम्।
कृतपुण्यः पुण्यधनो, धनोपार्जनहेतवे ॥२५॥
उपदेवकुलं सार्थमध्ये पल्यङ्कगं निशि।
प्रियं विमुच्य भार्यां ते, वपुषैव गृहं गते ॥२६॥
श्रेष्ठिन्या चैकया तत्र, भिन्नः पीतः सुतो मृतः।
श्रुत्वेत्यचिन्त्यपुत्रत्वान्मा गाद्राजकुले धनम् ॥२७॥
नाऽऽरोदयन्न चाऽरोदीत्तां वार्त्तामप्यहारयत्।
वार्त्तकृतो धनं दत्त्वा, सोचे माऽऽख्य इदं क्वचित् ॥२८॥
चतस्रोऽपि स्नुषाश्चोक्ताः, कश्चिदानीयते पुमान्।
स्युर्युष्माकं यथा पुत्राः, गृहसर्वस्वरक्षकाः ॥२९॥
ऊचुस्ताः किमिदं श्वश्रु! युज्यते सा जगाद ताः।
अकार्यमपि कार्येण, क्रियते नास्ति दूषणम् ॥३०॥
साऽथागात् सस्नुषा सार्थं, कृतपुण्यं विलोक्य तम्।
सर्वाः सतल्पमुत्पाट्य, सुप्ते स्वगृहमानयन् ॥३१॥
वृद्धा जागरिते तस्मिन्नभ्यधात्कपटे पटुः।
कुलदेवतया नीतो, वत्स! त्वमसि मे सुतः ॥३२॥
एताश्चतस्रस्ते कान्ताः, कान्त्याऽपास्तसुराङ्गनाः।
सौधं जितविमानश्रि, भुङ्क्ष्व भोगान् यथासुखम् ॥३३॥
कृतपुण्योऽखिलं वीक्ष्य, वृद्धोक्तं दध्यिवानिति।
किमेतत्कुलचिन्ताऽऽद्यैर्भजे भोगानुपस्थितान् ॥३४॥
तत्र द्वादशभिर्वर्षैः, क्रीडन् स्वे वेश्मनीव सः।
सर्वासामपि पत्नीनां, पुत्रान् द्वित्रानजीजनत् ॥३५॥
इतस्तत्परिणीतायाः, गुर्व्याः पत्न्याः सुतोऽभवत्।
सोऽप्येकादशवर्षोऽस्ति, पठन् पण्डितसन्निधौ ॥३६॥
द्वादशाब्द्या स एवाऽऽद्यात्सार्थस्तत्रैव चावसत्।

ऊचे स्नुषाः पुनः स्वश्रूर्नीत्वाऽसौ तत्र मुच्यताम् ॥३७॥
ऊचिरेऽथ स्नुषा नैतद्, युज्यते श्वश्रु ! साऽवदत्।
यूयं जाताः सपुत्रिण्यः, कार्यं किमधुनाऽमुना? ॥३८॥
अकृत्यमपि कार्यात्कि, कृत्वा पश्चान्न मुच्यते?
अभक्ष्यं भुक्तमत्यार्त्या, तत्किं भक्ष्यं सदैव तत्?॥३९॥
दुग्धभ्रान्त्या चन्द्रकान्तां, पाययित्वा स शायितः।
तत्कान्ताभिः शम्बलार्थं , मोदका रत्नगर्भिताः ॥४०॥
तस्याक्रियन्त स्नेहेन, मुक्ता उच्छीर्षके च ते।
अथोत्पाट्य यथा नीतो, मुक्तस्तत्र तथैव सः ॥४१॥
प्रबुद्धोऽचिन्तयद्यावत्ततः कथमिहागमम्?
तावत्तत्राऽऽगते पत्न्यौ, तथैव तमपश्यताम् ॥४२॥
ताभ्याम् चेऽथ किं नाथ ! व्योम्नोऽकार्षीर्गताऽऽगतम्।
मार्गच्छाया न काऽप्यत्र, दृश्यतेऽङ्गेषु येन वा (?) ॥४३॥
ददौ शून्यान् स हुङ्कारान्, धृष्टोऽहमिति चिन्तयन्।
अथोत्थाय ययौ गेहं, प्रियाऽऽत्तत्तल्पशम्बलः ॥४४॥
आययौ लेखशालायाः पितरि स्नाति चाऽऽत्मजः।
तस्यादाद्रुदतो वेश्या, शम्बलान्मोदकं करे ॥४५॥
सोऽश्नन्ययौ बहिस्तात्तं, तत्र रत्नं विलोक्य च।
आर्पयत्कान्दविकस्य, प्रत्यहं मोदकाऽऽशये ॥४६॥
जलान्तः क्षेपणाद् ज्ञातं, जलकान्तं च तेन तत्।
भुञ्जाना मोदके भग्ने, दृष्ट्वा रत्नं प्रियाऽवदत् ॥४७॥
रत्नीकृत्य लाघवार्थमर्जनां किं प्रियाऽऽनयः?
हुमित्युक्त्वा प्रविष्टोऽन्तस्तत्प्रियाप्रेम भावयन् ॥४८॥
इतश्च सेचनाऽऽख्येभो, नद्यामग्राहि तन्तुना।
मन्त्रिणा पटहोऽदायि, योऽधुना जलकान्तदः ॥४९॥
तस्य राजा निजां पुत्रीं , राज्यार्द्धं च प्रयच्छति।
तदाऽर्पयन्कान्दविकस्तं तु तेनामुचद्रजम् ॥५०॥
पृष्टः कान्दविको राजाद्ध कुतस्तेऽभूदिदं वद ?
चोर्यादासं स भीत्याऽऽह, ददौ मे कृतपुण्यजः ॥५१॥
राजांचे न चेद् वेद यत्तत्त्वं व्रज निजे गृहे।
अकार्षीत् कृतपुण्यस्य, देशं पुत्रीं च दत्तवान् ॥५२॥
स त्रिभार्योऽभुनग् भोगानन्यदाऽभयमूचिवान्।
प्रियाचतुष्टयोदन्तमप्यपूर्वं यथा तथा ॥५३॥
अचीकरत्ततश्चैत्यं, द्विद्वारमभयो बहिः।
कृतपुण्यसमं तत्र, लेप्ययक्षंन्यवेशयत् ॥५४॥
सापत्याभिः समस्ताभिः, स्त्रीभिर्यक्षोऽयमर्च्यताम्।
भावी रोगोऽन्यथाऽर्भाणामिति चाऽघोषयत्पुरे ॥५५॥
अभयः कृतपुण्यश्च, निविष्टो यक्षमण्डपे।
आयान्तीः पश्यतः पौरीर्यावत्ताः समुपागताः ॥५६॥
यक्षं पतिमिव प्रेक्ष्या--भूवंस्ताः प्रेमसाश्रवः।
यक्षोत्सङ्गेऽपि नृधिया, तदपत्यान्युपाविशन् ॥५७॥
उपलक्ष्याभयो बुद्ध्या, स्थविरां तामतर्जयत्।
कृतपुण्यस्य ताः पत्नीः, सर्वस्वमपि चार्पयन् ॥५८॥
पत्नीभिः सप्तभिः सार्द्धं , संसारसुखमन्वभूत्।
कृतपुण्यो यथार्थाऽऽख्यो, मर्त्यलोकेऽप्यमर्त्यवत् ॥५९॥
अन्यदा समवासार्षीत्, श्रीवीरस्तत्र तीर्थकृत्।
कृतपुण्यो नमस्कृत्य, स्वामिनं पृष्टवान् सुधीः ॥६०॥
संपत्तिश्च विपत्तिश्च, कथमासीन्मम प्रभो !
स्वाम्यूचे हन्त ! ते जो, लक्ष्मीः पायसदानतः ॥६१॥
रेखाद्वयविधानाच्च, बभूवान्तरिकाद्वयम्।
तच्छ्रुत्वा तत्क्षणात्सर्वं, सामायिकमुपाददे ॥६२॥'' आ०क०।

''नो कप्पइ अज्जप्पभिइ'' इत्यारभ्य तेसिं असणं वा दाउं अणुप्पदाउं इति सम्यक्त्वग्रहणसमये प्रत्याख्यायते। अत्राऽऽह–इह पुनः को दोषः स्याद्येनेत्थं तेषामन्ययूथिकानामन्नाऽऽदिदाने प्रतिषेध इति? उच्यते– तेषां तद्भक्तानां च मिथ्यात्वस्थिरीकरणं, धर्मबुद्ध्या ददतः सम्यक्त्वलाञ्छना, तथा आरम्भाऽऽदिदोषाश्च। पुनरायत्नानामनुकम्पया दद्यादपि।

यत उक्तम्–

''सव्वेहिं पि जिणेहिं, दुल्लयजियरागदोसमोहेहिं।
सत्ताणुकंपणट्ठा, दाणं न कहिं वि पडिसिद्धं'' ॥१॥

तथा च भगवन्तस्तीर्थकरा अपि त्रिभुवनैकनाथाः प्रविव्रजिषवः सांवत्सरिकमनुकम्पया प्रयच्छन्ति दानमित्यलं विस्तरेण। आव०६ अ० आचा० उपा०।

से समणुण्णे असमणुण्णस्स असणं पाणं खाइमं साइमं वा णो पाएज्जा, णो णिमंतेज्जा, णो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणा ति बेमि।

(से समणुण्णे इत्यादि) न केवलं गृहस्थेभ्यः कुशीलेभ्यो वाऽकल्प्यमिति कृत्वाऽऽहाराऽऽदिकं न गृह्णीयात्समनोज्ञः, असमनोज्ञाय तत्पूर्वोक्तम् अशनाऽऽदिकं न प्रदद्याद्, नाऽपि परमत्यर्थमाद्रियमाणोऽशनाऽऽदिनिमन्त्रणतोऽन्यथा वा तेषां वैयावृत्त्यं कुर्यादिति। ब्रवीमीतिशब्दावधिकारपरिसमाप्त्यर्थौ।

किंभूतस्तर्हि किंभूताय दद्यादित्याह–

धम्ममायाणह पवेदियं वद्धमाणेण मइमया, समणुण्णे समणुण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पायं वा सेज्जं वा० पाएज्जा, णिमंतेज्जा, कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि।

(धम्मं इत्यादि) धर्मं दानधर्मं जानीत यूयं प्रवेदितं कथितं, केन श्रीवर्द्धमानस्वामिना? किंभूतेन? मतिमता केवलिना। किंभूतं धर्म्ममिति दर्शयति–यथा समनोज्ञः साधुरुद्युक्तविहारी, अपरस्मै समनोज्ञाय चारित्रवते संविग्नाय सांभोगिकायैकसामाचारीप्रविष्टायाशनाऽऽदिकं चतुर्विधं, तथा वस्त्राऽऽदिकमपि चतुर्द्धा, प्रदद्यात् प्रयच्छेत्। तथा तदर्थं च निमन्त्रयेत्, पेशलमन्यद्वा वैयावृत्यमङ्गमर्दनाऽऽदिकं कुर्याद्, नैतद्विपर्यस्तेभ्यो गृहस्थेभ्यःकुतीर्थिकेभ्यः पार्श्वस्थाऽऽदिभ्योऽसंविग्नेभ्योऽसमनोज्ञेभ्यो वेत्येतत् पूर्वोक्तं कुर्यादिति। किं तु समनोज्ञेभ्य एव, परमत्यर्थमाद्रियमाणस्तदर्थसीदने परमुत्तप्यमानःसम्यग् वैयावृत्त्यं कुर्यात्, तदेवं गृहस्थाऽऽदयः कुशीलास्त्याज्या इति निदर्शितम्। अयं तु विशेषः–गृहस्थेभ्यो यावल्लभ्यते तावद् गृह्यते, केवलमकल्पनीयं प्रतिषिध्यते, असमनोज्ञेभ्यस्तु दानग्रहणं प्रति सर्वनिषेधः। आचा०१ श्रु०८ अ०२उ०। ('अण्ण उत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४६३ पृष्ठे तेभ्योऽशनाऽऽदिदानप्रतिषेधपराणि सूत्राणि प्रतिपादितानि)

पार्श्वस्थाऽऽदिभ्योऽशनाऽऽदि न देयम्–

जे भिक्खू पासत्थस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं

का देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८०॥ जे भिक्खू पासत्थस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८१॥ जे भिक्खू पासत्थं वत्थं वापरिग्गहं वा कंवलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८२॥ जे भिक्खू पासत्थं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८३॥

गाहा--

जे भिक्खू पासत्थो–सण्णकुसीलाण नितियवासाणं।
देज्जा अहव पडिच्छे, सो पावति आणमादीणि ॥२७७॥

पासत्थस्स असणं वा पडिच्छइ इत्यादि, एवं ओसण्णे वि दो सुत्ता, संसत्ते वि दो, णितिए वि दो। एतेसिं जो देति, तेसिं वा हत्थाओ पडिच्छति, तस्स आणाऽऽदी।

अहवा–

पासत्थादी पुरिसा, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते।
जे णाणसुविहियाणं, ण हों ति करणेण समणुण्णा ॥२७८॥

कंठा।

किं कारणं तेहिं समाणं दाणग्गहणं पडिसिज्झति? भण्णति–

पासत्थमहाछंदे, कुसीलें ओसण्णमेव संसत्ते।
उग्गमउप्पायणए–सणा य वातालमवराहा ॥२७९॥

जम्हा जयमाणाणं साधूणं ते पासत्थादी करणेणं ति किरियाए समणुण्णा सदृशाः न भवन्ति, तम्हा दाणग्गहणं पडिसिज्झति। अहवा–जम्हा ते करणेणं तुल्ला ण भवंति, तम्हा तेहिं सह समणुण्णया ण भवति, संभोगी ण भवतीत्यर्थः। किं चान्यत्। पासत्थ–गाहाते पासत्थादी उग्गमदोसेसु सोलससु उप्पायणादोसेसु य सोलससु दससु य एसणादोसेसु एतेसु वायालमवराहेसु णिच्चं वट्टति, अतो दें तेण तेसिं ते सातिज्जिता, अणुमोदिता इत्यर्थः। तेसिं हत्था–ओ गेण्हंतेण उग्गमदोसा पडिसेविता भवंति।

गाहा–

उग्गमउप्पायणए–सणा य तिविहेण तिकरणविसोही।
पासत्थें अहाछंदे, कुसीलें नितिए वि एमेव ॥२८०॥

उग्गमाऽऽदियाणं तिण्हं पि तिकरणविसोहि त्ति सयं ण करेति, अण्णं पि ण कारवेति, अण्णं च करेंतं ण समणुजाणंति। एक्केक्कं मणवयणकाएहिं तिविहं। एवं तिकरणविसोहिं ण करेंति त्ति वक्कसेसं। एवं ण करेंति पासत्थादी चउरो अहाछंदपंचमा। णितियवासी पुण किरियकलावं जति वि अल्पेसं करेति, तहा वि णितिवासित्तणओ एवं चेव दट्ठव्वो।

एयाणि गाहा (?)-

''एतहि असुइपडिसे–वया य अविसुद्धें चउ गुरुगा।''

एयाइं सेहाए ते पासत्थादी ठाणासोधिते से मग्गणं करेति त्ति वुत्तं भवति। सो णियचरित्तं विसोहेइ। एएसु पुण असुद्धेसु नियमा चरित्तभेदो, अशुद्धिरित्यर्थः। चरित्तेणं असुद्धेणं मोक्खाभावो, तेण पडिकुट्ठं दाणकरणं एतेसु, जो पुण एतेसु तिकरणविसोहिं करेति सो णियमा चरित्तं विसोहेति।

उग्गमदोसा गाहा (?)–

जम्हा उग्गमाऽऽदिदोसा पासत्थादी ण वज्जंति, तम्हा विसुद्धि त्ति चारित्तविसुद्धी, ते इच्छंतो ते पि पासत्थादी वज्जेज्जा, एस णियमो।

किंच–

सूइज्जइ गाहा (?)-

जो पासत्थादियाण देति तस्स पासत्थादिसु रागो लक्खिज्जइ, जो पुण तेसिं हत्था गेण्हति तस्स तेसु मज्झेणं पीती लक्खिज्जति, तम्हा तेसु जा दाणग्गहणं रागपीती, सा वज्जेयव्वा। कम्हा? जम्हा दुट्ठसंगातो बहू दोसा, अदुट्ठसंसग्गातो य गुणा भवंति। तम्हा ते दुट्ठसंसग्गिकते दोसे परिहरेज्जा।

ण वि रागो गाहा (?)-

सुहसीलजणो पासत्थादी, तेसु ण वि रागो, ण वि दोसो।

अत्थ चोदकः–एवं अत्थावत्तीओ णज्जति, तेसु संसग्गिं पडुच्च णाणुण्णा, णावि पडिसेहो। जति अहापवत्तीए संसग्गी भवति, भवतु णाम, ण दोसो? उच्यते–जति वि तेहिं ण रागो ण दोसो वा, तहा वि तेहिं जा संसग्गी सा वज्जणिज्जा। कहं? उच्यते– वणे सुको वणसुको, वणचरेण वा गहितो सुको वणसुको, तेण कयं उवमं उदाहरणं, तं दट्ठूण जाणिऊण बुधा पंडिता वतिकरो संसग्गी, तं णेच्छंति।

''माताऽप्येका पिताऽप्येको, मम तस्य च पक्षिणः।
अहं मुनिभिरानीतः, स च नीतो गवाशनैः ॥१॥
गवाशनानां स गिरःशृणोति, वयं च राजन्! मुनिपुङ्गवानाम्।
प्रत्यक्षमेतद्भवताऽपि दृष्टं, संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ॥२॥''

अण्णं च पडिसिद्धं तित्थकरेहिं, जहा अकुसीलेण सदा भवियव्वं, पुणो पडिसिज्झति–जो कुसीलो तेण सह संसग्गो ण कायव्वो, एस पडिसेहो। असंविग्गस्स पाहुणस्स तिण्णि वारे देति माइट्ठाणविमुक्को। तस्स आउट्टंतस्स एक्करिंस मासलहुं, दो तिण्णि य वारे वि मासलहुं, ततियवाराओ परं नियमा माइस्स मासगुरुं, विसंभोगे य जीतं अविसुद्धं संभुंजति, तस्स च चउगुरुगा, दूरे सोवारणं काउ त्ति ओतिके अण्णदेसं संभोतिया गता, तत्थ अण्णे गंतुमणा पुच्छेज्जा–ते अम्हं किं संभोतिया? तत्थ आयरिओ जति एगंतेण भणति संभोतिया, तो मासलहुं। अह भणति– असंभोइया, तो वि मासलहुं, असंखमादी दोसा। तम्हा आयरिएण साधारणं कायव्वं, भो सुण–संभोती होइया इदाणिं न णज्जति, तुब्भे णाउं भुंजेज्जह। जम्हा एवमादी दोसगुणा भवंति तम्हा तेसिं ण दायव्वं, णावि तेसिं हत्थाओ पडिच्छियव्वं।

इमो अववादो–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
एएहिं कारणेहिं, देज्ज व गिण्हेज्ज जयणाए ॥२८१॥
अद्धाणम्मि विवित्ता, हिमदेसे सिंधु एव ओमम्मि।
गेलण्ण कोट्ठकंबल–अहिमाइ पमेण ओमज्जे ॥२८२॥

गाहा कंठा।

जइऊण गाहा(?)-

जइऊण मासिएहिं ति। जे उ उद्देसियमादी ठाणा तेसु पुव्वं गिण्हति त्ति वुत्तं भवति, जता तेसु ण लब्भति तदा पासत्थादि उवदिट्ठेसु गिहेसु गिण्हेति, तहा वि असतीए, ताहे पुव्वगतो पासत्थो परिचियघरेसु दवावेति, तहा वि असतीए पासत्थसंघाडेणं हिंडति, एसा तेसिं समीवातो गहणे जयणा, तेसिं वा असंथरे देज्जा, ण दोसो।

जे भिक्खू ओसण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८४॥ जे भिक्खू ओसण्णस्स

असणं वा ४ पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८५॥ जे भिक्खू ओसण्णस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८६॥ जे भिक्खू ओसण्णस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८७॥ जे भिक्खू कुसीलस्स असणं वा ४ देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८८॥ जे भिक्खू कुसीलस्स असणं वा ४ पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८९॥ जे भिक्खू कुसीलस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९०॥ जे भिक्खू कुसीलस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पाय पुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥९१॥ जे भिक्खू णितियवासस्स असणं वा ४ देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९२॥ जे भिक्खू णितियस्स असणं वा ४ पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥९३॥ जे भिक्खू णितियं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९४॥ जे भिक्खू णितियं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥९५॥ जे भिक्खू संसत्तस्स असणं वा ४ देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९६॥ जे भिक्खू संसत्तस्स असणं वा ४ पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥९७॥ जे भिक्खू संसत्तस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९८॥ जे भिक्खू संसत्तस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥९९॥

जे भिक्खू गाहा। पासत्थादी गाहा। पासत्थगाहा। उग्गमगाहा। एताणि गाहा। उग्गमदोसगाहा। सूइज्जइ गाहा। ण वि रागो गाहा। असिवे गाहा। जत्थ सुलभं वत्थं तम्मि विसए, अण्णतरे वा असिवादिकारणे होज्जा, एवमादिकारणेहिं तं विसयमेव गच्छंतो इह अलभंतो पासत्थादिवत्थं गेण्हेज्जा, देज्ज वा तेसिं। अहवा– अद्धाणं गाहा २८२। अद्धाणे वा विवित्ता मुसिया अलभंता पासत्थादि तत्थ गेण्हेज्जा, हिमदेसे वा सीताभिभूता पाडिहारियं गेण्हेज्जा, एमेव सिंधुमादिविसए ओमम्मि उज्जलवत्थो भिक्खं लभति, अप्पणो तम्मि उज्जलवत्थे असंते पासत्थादियाण गेण्हेज्ज, गेलण्णे वा किमिकुट्ठादिए कंबलरयणं पासत्थादियाण देज्ज, गिण्हेज्ज वा, अहिमादिणा डक्के वा सगलवत्थेणं ओमज्झणं कायव्वं, अप्पणो असंते पासत्थवत्थं गेण्हेज्ज वा, देज्ज वा तेसिं। नि०चू०१५ उ०।

जे भिक्खू अइरेगपडिग्गहं खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा थेरगस्स वा थेरियाए वा अहत्थछिण्णस्स अपायछिण्णस्स अकण्ण–छिण्णस्स अनासछिण्णस्स अणोट्ठछिण्णस्स सत्तस्स देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥६॥

हत्था अच्छिण्णा जेसिं ते अहत्थच्छिण्णा भाणियव्वा। एवं सव्वे पदा। सत्तो समर्थः। एतेसिं दिंतस्स चउलहुं।

गाहा–

अब्बालवुड्ढदाणे, इत्थीपुरिसाण जुंगिताणं वा।
सुत्तत्थवीरिएण व, पज्जत्तसकोविताणं वा ॥१३६॥

अबाला बालभावं अतिक्कंता, अवुड्ढा वुड्ढभावं अप्पाप्ता, सरीरेण जातीए वा अजुंगिता, सुत्तं च अधीयं, जेहिं अत्थो वि सुतो, गीयत्था इत्यर्थः। वीर्यं वा उप्पादणशक्तिः, गीयत्थत्तणातो चेव पज्जत्तो, पादकप्पितो त्ति वुत्तं भवति, सकोविता गमणागमणसचेट्ठा, ते य सवीरियत्तणतो चेव सकोविता, एतेसिं जो इत्थीण वा पुरिसाण वा अतिरेगपडिग्गहं देति, अहवा।

गाहा–

अभिणवपुराणगहितं, पातमछिण्णं तहेव छिण्णं च।
निट्ठिट्ठमणिट्ठिट्ठं, पाते दें ताण आणादी ॥१३७॥

अभिणवं पुराणं वा जं तं अच्छिण्णं छिण्णं वा गणिमादियाण णिट्ठिट्ठं वा अणिट्ठिट्ठं वा जो देइ, तस्स आणादिया दोसा। चउलहुं च से पच्छित्तं, जो सुत्तपडिसिद्धाणं देति।

इमाण य अदेंतस्स दोसा। गाहा–

अद्धाणणिग्गयादीणऽदेंतो॑ दोसा तु वन्निता पुव्विं।
रोगभओभेसज्जं, णिरुयस्स कमोसहेहिं तु ॥१३८॥

दिट्ठंतस्स उवसंथारो, जो हत्थपादादिविगलो, तस्स जुत्तं दाणं, समत्थस्स किं दिज्जति? गंतुं सयमेव आणेउ त्ति, सेसं कंठं।

इमेहिं पुण कारणेहिं समत्थस्स दिज्जति–

असिवे ओमोयरिए, रायद्दुट्ठे भए व गेलण्णे।
सेहे चरित्तसावयभए व अद्धाण जयणाए ॥१३९॥

एते असिवादिकारणा दाणभायण भूमीए होज्जा, अंतरदेसे वा अद्धाणे बालवुड्ढादियाण दाणं प्रति जयणा कायव्वा, जत्थ बहुतरा णिज्जरा, जत्थ वा बहुतरा हाणी दीसइ, पुव्वं तस्स दायव्वं, जो वा पादच्छिण्णादिओ कमो भणितो, तेण दायव्वं।

गाहा–

एएहिँ कारणेहिं, सक्काण वि देंतिऽसंसत्ती।
जेसिं होज्जितरे वा, तेसिं पुण सज्ज परिहाणी ॥१४०॥

अच्छिण्णहत्थादिया सक्का, तेसिं देज्ज, जेण तेसिं असंसत्ती। असंसत्ती णाम–भायणवोच्छेदो, अभाव इत्यर्थः। इतरे हत्थपाद–छिण्णादिया, तेसिं परिहाणी होज्ज वा, ण वा, तेसिं पुण सक्काणं भायणाभावे सज्जंति, वट्टते चेव परिहाणी, तम्हा तेसिं दायव्वं।

गाहा–

जे चेव सक्कदाणे, असक्क असतीएँ दोस पावें ति।
असतीए सक्काण वि, ते चेव अदेंति पावेंति ॥१४१॥
जं ते असंथरंता, अणेसणं जं च भाणभूमीए।
पावेंति तहा सावय–तेणादिविराहणा जं च ॥१४२॥

सक्कस्स देंतो जे दोसा भणिता, असक्कस्स य अदेंतो जे दोसा भणिया, ते चेव दोसा सक्काण वि असतीए अदेंतो पावति, तम्हा असिवादिकारणे अवेक्खिउं सक्कस्स वि दायव्वं ॥१४१॥ अह ण देति तो इमे दोसाते अच्छि–

ण्णहत्थादिया असंथरंता जं अणेसणं पेल्लिरसंति, जं च भायण–भूमीए अंतरा असिवादि वा पाविस्संति, भायणभूमीगयाण वा सयणेहिं सेहो उ णिक्खमाविज्जति, भायणाण वा गच्छंता सावएण खज्जंति, तेणेहिं वा ओडज्झंति, जं चऽण्णं किं वि सरीरसंजमविराहणं पावेंति, तं सव्वं पायच्छित्तं अदेंते पावति।

अहवा इमाए जयणाए भायणा दायव्वा। गाहा–

पुव्वं तु असंभोगी, दुगतिगबद्धं तहेव हुंडादी।
तो पच्छा इतराण वि, तेसिं देंतो भवे सुद्धो ॥१४३॥

तेसिं सक्काणं असिवादिकारणेहिं दिज्जंते पुव्वं जं असंतोइयं पादं, तं दिज्जति, दोसु वा तिसु वा ठाणेसु जं बद्धं, तं दिज्जति, हुंडं वा ताइद्धाणि वा अलक्खणजुत्ताणि दिज्जंति, जति ते णत्थि, तो पच्छा इयराण वि संभोइयाणि अभिण्णाणि समचउरंसाभिलक्खणजुत्ताणि य देंतो सुद्धो भवति।

अतिरेकप्रतिग्रहं ददाति–

जे भिक्खू अइरेगपडिग्गहगं खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा थेरगस्स वा थेरियाए वा हत्थछिण्णस्स पायछिण्णस्स कण्णछिण्णस्स णासछिण्णस्स असक्कं ण देइ, ण देयंतं वा साइज्जइ ॥७॥

पुव्विल्लसुत्तातो चेव इमं सुत्तं पडिपक्खभूतं, किं च–पूर्व एते अद्धाणादिया अत्थतो भणिता, इह पुण सुत्ततो चेव भणति।

गाहा–

अद्धाण बालवुड्ढाऽऽउराण दुविहाण जुंगिताणं च।
सुत्तत्थवीरिएणं, अपजत्तऽविकोवितागं वा ॥१४४॥

दुविधा जुंगिता–जातीए, सरीरेण वा। सेसं पूर्ववत्।

गाहा–

अभिणवपुराणगहितं, पायमछिण्णं तहेव छिण्णं च।
णिद्दिट्ठमणिद्दिट्ठं, तेसिँ अदेंताण आणादी ॥१४५॥

कंठा पूर्ववत्।

गाहा–

अद्धाणओमअसिवे, उद्दिट्ठासति अदें तेँ जं पावे।
पायअसब्भावाए, थेरस्स य झत्ति जं कुज्जा ॥१४६॥

पूर्ववत्।

गाहा–

दुविहभयआतुराणं, तप्पडिचरगाण विज्जहाणी य।
जुंगितोँ पुव्वनिसिद्धो, भण्णति देसेतरो पच्छा ॥१४७॥

आसुकारी दीहरोगेण वा, अहवा–आगंतुओ तदुत्थेण वा भायणाणि विणा जा परिहाणी, तं अदेंतो पावति। णणु दुविहो जुंगितो–अणलसुत्तेण पुव्वं णिसिद्धो, ण पच्छद्धो ण विज्जति ? भण्णति–जातिजुंगितो वि देसो पव्वाविज्जति, इतरो त्ति सरीरजुंगिओ पव्वज्जाए ठितो, पच्छा जाते तेसिं इमा विही अत्थियव्वा।

गाहा–

जातीयजुंगितो खलु, जत्थ ण णज्जति तहिं तु सो अत्थ।
अमुगणिमित्तं वि गओ, इतरो जहि णज्जति तहिं तु ॥१४८॥

पूर्ववत्कंठा।

गाहा–

जं लच्चंता कारावेति य जं पि व करेंति उड्डाहं।
किं णु हु गिहिसामण्णे, वि जुंगिता लोकमंका तु ॥१४९॥

कंठा पूर्ववत्।

सरीरविकले दाणं पडुच्च इमो कमो। गाहा–

पादऽच्छिन्नासकरकेण जुंगिते जातिजुंगितो चेव।
वोच्चत्थे चउ लहुगा, सरिसे पुव्वं तु समणीणं ॥१५०॥

पादादिविकलं भणियं कमातो जो वोच्चत्थं देति, तस्स चउलहुं, साहुसाहुणीणं सरिसे विकलभावे दोण्ह वि दायव्वं। असति दोण्ह वि समणीसु पुव्वं दायव्वं।

अदाणे इमो अववातो। गाहा–

वितियपदमणप्पज्झे, देज्ज व अविकोविते य अप्पज्झे।
जाणंतो असतीए, उ मंदधम्मेसु वज्जेज्जा ॥१५१॥

अणप्पज्झो खेत्तवित्तादिगे ण देज्ज, सेहो वा अकोवितो गुणदोसेसु, सो वा ण देज्ज। अप्पज्झो वा जाणंतो वि असतीए भायणस्स ण देज्ज, विज्जमाणं पि पासत्थादिसु वा मंद धम्मेसु ण देज्जा; एवमादिकारणेसु अदेंतो वि सुद्धो। नि०चू०१४उ०।

''अमणुन्नमभत्तीए, पत्ते दाणं भवे अणत्थाय।
जह कडुयतुंबदाणं, नागसिरिभवम्मि दोवइए ॥१॥''

ज्ञा०१ श्रु० १६अ०। (अत्र 'दुवई' शब्दे विशेषो द्रष्टव्यः)

दाने जातिर्न निमित्तम्–''जे वा जाइनाइपक्खवाएण साहूणं दाणाइसु पयट्टंति, न गुणाऽगुणचिंताए, ते वि विपज्जासभायणं। तम्हा गुणा पूयणिज्जा, ते चेव दाणाइसु पयट्टंतेण निमित्तं कज्जंतु, किं जाइनाइपभिईहिं, जओ स जाईए निद्धम्मा वि अत्थि, ता तेसु दाणं महाफलं होज्जा, अह तेसु य गुणा अत्थि, तहा वि ते चिय पवित्तिनिमित्तं दाणाइसु करिंतु, न किंचिं जाइणाइणा।'' दर्श०३ तत्त्व।

तीर्थकृते भिक्षादानं महाफलं, तत्र पञ्च दिव्यानि जायन्ते–

तए णं तस्स विजयस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पडिग्गहसुद्धेणं तिविहं तिकरणसुद्धेणं दाणेणं मए पडिलाभिए समाणे देवाउयणिबद्धं संसारपरित्तीकए गिहंसि य से इमाइं पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं। तं जहा–वसुहारा छुट्ठा १, दसद्धवणे कुसुमे णिवातिले२, चेलुक्खेवे कए३, आहायाओ देवदुंदुभीओ ४, अंतरा वि य णं आगासे अहो दाणे अहो दाणे त्ति घुट्ठे ५। भ०१५ श०।

(श्रमणभाजनेभ्यो दाने फलम् 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे १२ पृष्ठे दर्शितम्)

यच्च तीर्थकृतो दानं तददुष्टम्। अनन्तरं जगद् गुरोर्महादानमुक्तम्। तच्च न युक्तमिति परमतमावेदयन्नाह–

कश्चिदाहास्य दानेन, क इवार्थः प्रसिद्ध्यति।
मोक्षगामी ध्रुवं ह्येष, यतस्तेनैव जन्मना ॥१॥

कश्चिद् दुर्विदग्धमतिः, आह ब्रूते, अस्य जगद् गुरोर्दानेन वितरणेन क इव? न कश्चिदित्यर्थः, अर्थः पुरुषार्थो, धर्मार्थकाममोक्षाणामन्य–

तमः, फलं वा प्रसिद्ध्यति निष्पद्यते, अर्थाऽऽदिषु तस्य निरपेक्षत्वात्। दानधर्मस्य च तत्कारणत्वान्मोक्षार्थः सिद्ध्यतीति चेन्नेत्याह–मोक्षं निर्वाणं गमिष्यति यास्यतीति मोक्षगामी, ध्रुवं निश्चितं, हिशब्दो जिनदानस्य प्रयोजनाभावभावनार्थः। एष जगद् गुरुर्यतो यस्मात्कारणात्, तेनैवाऽकृतेन, यस्मिन् जन्मनि दानं ददाति न जन्मपरम्परया, जन्मना भवेन, दानं हि भवपरम्परया मोक्षफलं, येन च तद्भवेनैवावश्यं निर्वातव्यं, तस्य दानेन न कश्चिदर्थ इति ॥१॥

अथोत्तरमाह–

उच्यते कल्प एवास्य, तीर्थकृन्नामकर्मणः।
उदयात् सर्वसत्त्वानां, हित एव प्रवर्त्तते ॥२॥

उच्यते अनन्तरोदिताऽऽक्षेपस्य समाधिरभिधीयते, कल्पशब्दः करणार्थः। यदाह– ''सामर्थ्ये वर्णनीयां च, छेदने करणे तथा। औपम्ये चाधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः ॥१॥'' करणं च क्रिया, समाचार इत्यर्थः। ततश्च कल्प एव जीतमेव, वक्ष्यमाणे दानाऽऽदिना सर्वसत्त्वहितवर्तनलक्षणेऽस्य जगद् गुरोर्न पुनः फलविशेषं प्रति प्रत्याशा। किंरूपोऽसौ कल्प इत्याह– तीर्थकृतस्तीर्थंकरस्य संबन्धि तीर्थकरत्वनिबन्धनं यन्नामाऽऽख्यं कर्माऽदृष्टं तत्तथा, तस्य तीर्थकृन्नामकर्मण उदयाद्विपाकात् सर्वसत्त्वानां सकलशरीरिणाम्। इह च हितशब्दयोगेऽपि न चतुर्थी, संबन्धस्यैव विवक्षितत्वात्। हिते एवानुकूलविधावेव, इह यदिति शेषो दृश्यः, तेन यदेतत् प्रवर्तते व्याप्रियते भगवानिति ततश्चास्य दानात् कल्पपरिपालनं विना नान्यत् फलमस्तीति भावनेति ॥२॥

परिहारान्तरमाह–

धर्माङ्ग ख्यापनार्थं च, दानस्याऽपि महामतिः।
अवस्थौचित्ययोगेन, सर्वस्यैवानुकम्पया ॥३॥

धर्मस्य कुशलाऽऽत्मपरिणामविशेषस्याङ्गं कारणं वा धर्माङ्गं, तस्य ख्यापनं प्रकाशनं धर्माङ्ग ख्यापनं, तस्मै इदं धर्माङ्ग ख्यापनार्थं, भावप्रत्ययगर्भत्वान्निर्देशस्य धर्माङ्गतां ख्यापनार्थमिति द्रष्टव्यम्। महादानं दत्तवानिति प्रक्रमगम्यम्। धर्माङ्गं दानं भगवता प्रवृत्तत्वाच्छीलवदिति भव्यजनसंप्रत्ययार्थमित्यर्थः। चशब्दः पूर्वोक्तपरिहारापेक्षया परिहारान्तरसमुच्चयार्थः। कस्येत्याह–दानस्याऽपि विश्राणनस्यापि, न केवलं शीलाऽऽदेर्धर्माङ्गतेत्यपिशब्दार्थः। महामतिरव्याहतबोधो भगवान्, किं यथाकथञ्चिदस्य धर्माङ्गतायाः ख्यापनं, नेत्याह– अवस्थाया भूमिकाया औचित्ययोग आनुरूप्यलक्षणधर्मसंबन्धः– अवस्थौ–चित्ययोगः, तेन, स्वभूमिकोचितत्वेनेत्यर्थः। धर्माङ्गता च तस्य किं गृहिणामेव, नेत्याह–सर्वस्यैव, एवशब्दस्याऽपिशब्दार्थत्वान्न केवलं गृहिण एव, निरवशेषस्यापि दातुर्यतेर्गृहिणो वाऽनुकम्पया कृपया, न तु गृहिणामनुकम्पादानमुचितम्, ''अणुकंपादाणं पुण, जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं।'' इति वचनात्। यत् पुनः साधुः साधवे ददाति तदनुकम्पानिमित्तं न भवति, भक्तिनिमित्तत्वात्तस्य। यत् पुनरसंयताय दानं तत् साधोर्न संभवति, ''गिहिणो वेयावडियं, न कुज्जा अभिवायणवंदणपूयणं च।'' इति वचनात्। ततः सर्वस्याऽपि गृहस्थस्यैव व्याख्येयं, नैवम्, यतो विशिष्टपुण्याऽऽलम्बनसद्भावे यतेरप्यनुकम्पादानसंभव इति न दोषः। अमुं चार्थं ग्रन्थकार एव व्यक्तीकरिष्यति। श्रूयते चाऽऽगमे आर्यसुहस्त्याचार्यस्य रङ्कदानं, न चानुकम्पादानं साधुषु न संभवति, ''आयरियऽणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ महाभागो।'' इति वचनादिति ॥३॥

धर्माङ्गमेव दानं यतः–

शुभाऽऽशयकरं ह्येतदाग्रहच्छेदकारि च।
सदभ्युदयसाराङ्गं मनुकम्पाप्रसूति च ॥४॥

शुभं प्रशस्तमाशयं चित्तं कर्तुं शीलमस्येति शुभाऽऽशयकरं, हि इति यस्मादेवं तस्माद्धर्माङ्गता दानस्येति प्रकृतम्। एतदिति दानम्। तथा–आग्रहच्छेदकारि च–वित्तं प्रति ममकारलक्षणाभिनिवेशनाशकर्तृ, चशब्दः समुच्चये। तथा सन् शोभनोऽभ्युदयान्तरानुबन्धित्वेन योऽभ्युदयः कल्याणावासिः, तस्य साराङ्गं प्रधानकारणं सदभ्युदयसाराङ्गम्। आह च– ''दानेन भोगानाप्नोति, यत्र यत्रोपपद्यते। शीलेन भोगान् स्वर्गं च, निर्वाणं चाधिगच्छति ॥१॥'' तथाऽनुकम्पाया दयायाः सकाशात् प्रसूतिः प्रभवो यस्य तदनुकम्पाप्रसूतिः। चशब्दः समुच्चय इति ॥४॥ हा०२ अष्ट०। पञ्चा०। कल्प०। द्वा०। (प्रायश्चित्तदानविधिः 'पच्छित्त' शब्दे वक्ष्यते)

अथ दानं प्रति विधिनिषेधविचारः–

से णाईए, णादियावए, ण समणुजाणति (८७)।

(से णाईए इत्यादि) स भिक्षुस्तद्वा कल्प्यं नाददीत न गृह्णीयान्नाप्यपरमादापयेद् ग्राहयेत्, नाप्यपरमनेषणीयमाददानं समनुजानीयात्। अथवा–सइङ्गालं सधूमं वा नाद्यान्न भक्षयेन्नापरमादयेदददानं वा न समनुजानीयादिति। आचा०१ श्रु०२ अ०५ उ०।

दाणट्ठया य जे पाणा, हणंति तसथावरा।
तेसिं संरक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ॥१८॥

अन्नपानदानार्थमाहारमुदकं च पचनपाचनाऽऽदिकया क्रियया कूपखननाऽऽदिकया चोपकल्पयेत्। तत्र यस्माद्धन्यन्ते व्यापाद्यन्ते त्रसाः स्थावराश्च जन्तवस्तस्मात्तेषां रक्षानिमित्तं साधुरात्मगुप्तो जितेन्द्रियोऽत्र भवदीयानुष्ठाने पुण्यमित्येवं नो वदेदिति ॥१८॥

यद्येवं नास्ति पुण्यमिति ब्रूयात्तदेतदपि न ब्रूयादित्याह–

जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं।
तेसिं लाभंतरायं ति, तम्हा णत्थि त्ति णो वए ॥१९॥

(जेसिमित्यादि) येषां जन्तूनां तदन्नपानाऽऽदिकं किल धर्मबुद्ध्योपकल्पयन्ति, तथाविधं प्राण्युपमर्ददोषदुष्टं निष्पादयन्ति, तन्निषेधे च यस्मात्तेषामाहारपानार्थिनां तल्लाभान्तरायो विघ्नो भवेत्, तदभावेन तु पीडयेरन्, तस्मात्कूपखननसत्राऽऽदिके कर्मणि नास्ति पुण्यमित्येतदपि नो वदेदिति ॥१९॥

एनमेवार्थं पुनरपि समासतः स्पष्टतरं विभणिषुराह–

जे य दानं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करें ति ते ॥२०॥

(जे य दाणमित्यादि) ये केचन प्रपासत्राऽऽदिकं दानं बहूनां जन्तूनामुपकारीति कृत्वा प्रशसन्ति श्लाघन्ते, ते परमार्थानभिज्ञाः, प्रभूततरप्राणिनां तत्प्रशंसाद्वारेण बधं प्राणातिपातमिच्छन्ति, तदानस्य प्राणातिपातमन्तरेणानुपपत्तेः। येऽपि च किल सूक्ष्मधियो वयमित्येवं मन्यमाना आगमसद्भावानभिज्ञाः प्रतिषेधन्ति निषेधयन्ति, तेऽप्यगीतार्थाः, प्राणिनां वृत्तिच्छेदं वर्त्तनोपा–

यविधनं कुर्वन्तीति ॥२०॥ सूत्र०१ श्रु०११ अ०। आचा०। आद०। (कृतप्रत्याख्यानोऽशनाऽऽदिदानं न कुर्यादिति 'पच्चक्खाण' शब्दे वक्ष्यते) (भुञ्जानैः साधुभिर्द्रमकाऽऽदिभ्यो न देयमसंयतपोषणभयादिति 'भोयण' शब्दे विस्तरेण वक्ष्यते) ''ऐन्द्रशर्मप्रदं दानमनुकम्पासमन्वितम्। भक्त्या सुपात्रदानं तु, मोक्षदं देशितं जिनैः ॥१॥'' द्वा०१ द्वा०। (अनुकम्पा०(२) इत्यादिगिर्दशभिः श्लोकैरनुकम्पादानम् 'अनुकंपादाण' शब्दे प्रथमभागे ३६० पृष्ठे व्याख्यातम्)

नन्वेवं ''गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा'' इत्याद्यागमवि-

रोधः? इत्यत आह--

वैयावृत्ये गृहस्थानां, निषेधः श्रूयते तु यः।
स औत्सर्गिकतां बिभ्रद्, नैतस्यार्थस्य बाधकः ॥१२॥

(वैयावृत्य इति) गृहस्थानां वैयावृत्ये तु साधोर्यो निषेधः श्रूयते, स औत्सर्गिकतां बिभ्रन्नैतस्यापवादिकस्यार्थस्य बाधकः। अपवादो ह्युत्सर्गं बाधते, न तूत्सर्गोऽपवादमिति ॥१२॥

सूत्रान्तरं समाधत्ते-

ये तु दानं प्रशंसन्तीत्यादिसूत्रेऽपि संगतः।
विहाय विषयो मृग्यो, दशाभेदं विपश्चिता ॥१३॥

(ये त्विति) ये तु दानं प्रशंसन्तीत्यादिसूत्रेऽपि ''जे उ दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं। जे अण्णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥२०॥'' इति सूत्रकृत् सूत्रेऽपि दशाभेदं विहाय संगतो युक्तो विषयो विपश्चिता मृग्य ऐदम्पर्यशुद्ध्या विचारणीयो, न तु पदार्थमात्रे मूढतया भाव्यम्, अपुष्टाऽऽलम्बनविषयतयैवास्योपपादनात्। आह च-''ये तु दानं प्रशंसन्तीत्यादि सूत्रं तु यत् स्मृतम्। अवस्थाभेदविषयं, द्रष्टव्यं तन्महात्मभिः ॥१॥'' इति ॥१३॥

पुनःशङ्कते-

नन्वेवं पुण्यबन्धःस्यात्, साधोर्न च स इष्यते।
पुण्यबन्धान्यपीडाभ्यां, छन्नं भुङ्क्ते यतो यतिः ॥१४॥

(नन्विति) नन्वेवमपवादतोऽपि साधोरनुकम्पादानेऽभ्युपगम्यमाने पुण्यबन्धः स्यात्, अनुकम्पायाः सातबन्धहेतुत्वात्। न च स पुण्यबन्ध इष्यते साधोः, यतो यस्माद् यतिः पुण्यबन्धान्यपीडाभ्यां हेतुभ्यां छन्नं भुङ्क्ते ॥१४॥

एतदेव स्पष्टयति-

दीनाऽऽदिदाने पुण्यं स्यात्तददानं च पीडनम्।
शक्तौ पीडाऽप्रतीकारे, शास्त्रार्थस्य च बाधनम् ॥१५॥

(दीनाऽऽदीति) प्रकटं भोजने दीनाऽऽदीनां याचमानानां दाने पुण्यं स्याद्, न चानुकम्पावाँस्तेषामदत्त्वा कदापि भोक्तुं शक्तः। अतिधार्ष्टर्यमवलम्ब्य कथञ्चित्तेषामदाने च पीडनं स्यात्तेषां तदानीमप्रीतिरूपं, शासनद्वेषात्परत्र च कुगतिसङ्गतिरूपम्। तदप्रीतिदानपरिणामाभावान्न दोषो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽहशक्तौ सत्यां पीडायाः परदुःखस्याप्रतीकारेऽनुद्धारे च शास्त्रार्थस्य पराप्रीतिपरिहारप्रयत्नप्रतिपादनरूपस्य बाधनं, रागद्वेषयोरिव शक्तिनिगूहनस्यापि चारित्रप्रतिपक्षत्वात्। प्रसिद्धोऽयमर्थः सप्तमाष्टके ॥१५॥

किञ्च दानेन भोगाऽऽप्तिस्ततो भवपरम्परा।
धर्माधर्मक्षयान्मुक्तिर्मुमुक्षोर्नेष्टमित्यदः ॥१६॥

किं च दानेन हेतुना भोगाऽऽप्तिर्भवति, ततो भवपरम्परा मोहधारावृद्धेः, तथा धर्माधर्मयोः पुण्यपापयोः क्षयान्मुक्तिः, इति हेतोरदोऽनुकम्पादानं मुमुक्षोर्नेष्टम् ॥१६॥

सिद्धान्तयति-

नैवं यत्पुण्यबन्धोऽपि, धर्महेतुः शुभोदयः।
वह्नेर्दाह्यं विनाश्येव, नश्वरत्वात् स्वतो मतः ॥१७॥

(नैवमिति) नैवं यथा प्रागुक्तम्, यत् यस्मात्पुण्यबन्धोऽपि शुभोदयः सद्विपाको धर्महेतुर्मतः, तद्धेतुभिरेव दशाविशेषेऽनुषङ्गः, पुण्यानुबन्धिपुण्यबन्धसंभवात्, प्राणातिपातविरमणाऽऽदौ तथाऽवधारणात्। न चायं मुक्तिपरिपन्थी, दाह्यं विनाश्यवह्नेरिव तस्य पापं विनाश्य स्वतो नश्वरत्वान्नाशशीलत्वात्। शास्त्रार्थाबाधेन निर्जराप्रतिबन्धकपुण्यबन्धाभावान्नाव दोष इति गर्भार्थः ॥१७॥

भोगाऽऽप्तिरपि नैतस्मादभोगपरिणामतः।
मन्त्रितं श्रद्धया पुंसां, जलमप्यमृतायते ॥१८॥

(भोगाऽऽप्तिरिति) भोगप्राप्तिरपि नैतस्मादापवादिकादनुकम्पादानात्, अभोगपरिणामतो भोगानुभवोपनायकाध्यवसायाभावात्। दृष्टान्तमाह--मन्त्रितं जलमपि पुंसां श्रद्धया भक्तवाऽऽमृतायतेऽमृतकार्यकारि भवति। एवं हि भोगहेतोरप्यत्राध्यवसायविशेषाद्भोगानुपनतिरुपपद्यत इति भावः ॥१८॥

नन्विदं हरिभद्रसंमत्या भवद्भिर्व्यवस्थाप्यते, तेनैव

चाभिनिवेश्योक्तमित्याशङ्क्याऽऽह-

न च स्वदानपोषार्थमुक्तमेतदपेशलम्।
हरिभद्रो ह्यदोऽभाणीद्, यतः संविग्नपाक्षिकः ॥१९॥

(न चेति) न च स्वदानस्य स्वीयासंयतदानस्य पोषार्थं समर्थनार्थमुक्तमेतदपेशलमसुन्दरम्। यतो यस्मात्संविग्नपाक्षिको हरिभद्रोऽदः प्रागुक्तं, हि निश्चितमभाणीत्। न हि संविग्नपाक्षिकोऽनृतं ब्रूते। तदुक्तं सप्तविंशतितमाष्टकविवरणे-''स्वकीयासंयतदान-समर्थनागर्भार्थकमिदं प्रकरणं सूरिणा कृतमिति केचित्कल्पयन्ति। हरिभद्राऽऽचार्यो हि भोजनकाले शङ्खवादनपूर्वकमर्थिभ्यो भोजनं दापितवानिति श्रूयते। न चैतत्संभाव्यते, संविग्नपाक्षिको ह्यसौ, न च संविग्नस्य तत्पाक्षिकस्य वाऽनागमिकार्थोपदेशः संभवति, तत्त्वहानिप्रसङ्गात्। आह च-

''संविग्गोऽणुवएसं, ण देइ दुब्भासिअं कडुविवागं। जाणंतो
तम्मि तहा, अतहक्कारो उ मिच्छत्तं'' ॥१॥ इति ॥१९॥

भक्तिस्तु भवनिस्तारवाञ्छा स्वस्य सुपात्रतः।
तया दत्तं सुपात्राय, बहुकर्मक्षयक्षमम् ॥२०॥

(भक्तिस्त्विति) भक्तिस्तु इवस्य सुपात्रतो भवनिस्तारवाञ्छा। आराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिः, आराधना च गौरवितप्रीतिहेतुः, क्रिया गौरवितसेवा चेत्येतदपि फलतो नैतल्लक्षणमतिशेते। तया भक्त्या सुपात्राय दत्तं बहुकर्मक्षये क्षमं समर्थं भवति ॥२०॥

तथाहि-

पात्रदानचतुर्भङ्ग्यामाद्यःसंशुद्ध इष्यते।
द्वितीये भजना शेषावनिषृफलदौ गतौ ॥२१॥

(पात्रेति) पात्रदानविषयिणी या चतुर्भङ्गी-संयताय शुद्ध-

दानम्, संयतायाशुद्धदानम्, असंयताय शुद्धदानम्, असंयतायाऽशुद्धदानमित्यभिलापा। तस्यामाद्यो भङ्गः सम्यगतिशयेन शुद्ध इष्यते, निर्जराया एव जनकत्वात्। द्वितीये भङ्गे कालाऽऽदिभेदेन फलभावाऽभावाभ्यां भजना विकल्पाऽऽत्मिका। शेषौ तृतीयचतुर्थभङ्गौ अनिष्टफलदौ एकान्तकर्मबन्धहेतुत्वान्मतौ ॥२१॥

शुद्धं दत्त्वा सुपात्राय, सानुबन्धशुभार्जनात्।
सानुबन्धं न बध्नाति, पापं बद्धं च मुञ्चति ॥२२॥

(शुद्धमिति) सुपात्राय प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मणे शुद्धभन्नाऽऽदिकं दत्त्वा सानुबन्धस्य पुण्यानुबन्धिनः शुभस्य पुण्यस्यार्जनात् सानुबन्धमनुबन्धसहितं पापं न बध्नाति, बद्धं च पूर्वं पापं मुञ्चति त्यजति। इत्थं च पापनिवृत्तौ प्रयाणभङ्गाप्रयोजकपुण्येन मोक्षरौलभ्यमावेदितं भवति ॥२२॥

भवेत्पात्रविशेषे वा, कारणे वा तथाविधे।
अशुद्धस्यापि दानं हि, द्वयोर्लाभाय नान्यथा ॥२३॥

(भवेदिति) पात्रविशेषे वाऽऽगमाभिहितस्वरूपक्षपकाऽऽदिरूपे, कारणे वा तथाविधे दुर्भिक्षदीर्घाध्वग्लानत्वाऽऽदिरूपे आगाढे, अशुद्धस्याऽपि दानं हि सुपात्राय द्वयोर्दातृगृहीत्रोर्लाभाय भवेत्, दातुर्विवेकशुद्धान्तःकरणत्वाद्, गृहीतुश्च गीतार्थाऽऽदिपदवत्त्वात्; नान्यथा पात्रविशेषस्य कारणविशेषस्य वा विरहे ॥२३॥

नन्वेवं संयतायाशुद्धदाने फले द्वयोर्भवतु भजना, दातुर्बहुतरनिर्जराऽल्पतरपापकर्मबन्धभागित्वं तु भगवत्युक्तं कथमपवादाऽऽदावपि भावशुद्ध्या फलाविशेषादित्यत आह–

अथवा यो गृही मुग्धो, लुब्धकज्ञातभावितः।
तस्य तत् स्वल्पबन्धाय, बहुनिर्जरणाय च ॥२४॥

(अथवेति) अथवा पक्षान्तरे, यो गृही मुग्धोऽसत्–शास्त्रार्थो लुब्धकज्ञातेन मृगेषु लुब्धकानामिव साधुषु श्राद्धानां यथाकथञ्चिदन्नाऽऽद्युपढौकनेनानुधावनमेव युक्तमिति पार्श्वस्थप्रदर्शितेन भावितो वासितः, तस्य तत्संयतायाऽशुद्धदानं तु मुग्धत्वादेव स्वल्पपापबन्धाय बहुकर्मनिर्जरणाय च भवति ॥

अल्पाऽऽयुष्कत्वम्–

इत्थमाशयवैचित्र्यादत्राल्पाऽऽयुष्कहेतुता।
युक्ता चाशुभदीर्घाऽऽयुर्हेतुता सूत्रदर्शिता ॥२५॥

(इत्थमिति) इत्थममुना प्रकारेण, आशयवैचित्र्याद्भावभेदात्, अत्र संयताऽशुद्धदाने, अल्पाऽऽयुष्कहेतुताऽशुभदीर्घाऽऽयुर्हेतुता च, सूत्रदर्शिता स्थानाङ्गाऽऽद्युक्ता, युक्ता, मुग्धाभिनिविष्टयोरेतदुपपत्तेः। शुद्धदायकापेक्षयाऽशुद्धदायके मुग्धेऽल्पशुभाऽऽयुर्बन्धसंभवात्। क्षुल्लकभवग्रहणरूपाया अल्पतायाश्च सूत्रान्तरविरोधेनासंभवादिति। व्यक्तमदः स्थानाङ्गवृत्त्यादौ ॥२५॥

यस्तूत्तरगुणाशुद्धं, प्रज्ञप्तिविषयं वदेत्।
तेनात्र भजनासूत्रं, दृष्टं सूत्रकृते कथम् ?॥२६॥

(यस्त्विति) यस्तु आधाकर्मिकस्यैकान्तदुष्टत्वं मन्यमानः प्रकृतेऽर्थे, प्रज्ञप्तिगोचरं भगवतीविषयम्, उत्तरगुणाशुद्धं वदेत्। शक्यपरित्यागबीजाऽऽदिसंसक्तान्नाऽऽदिस्थलेऽप्यप्रासुकानेषणीयपदप्रवृत्तिदर्शनात्। तेन चैवं यूकापरिभवभयात्परिधानं परित्यजता, अत्र विषये, सूत्रकृते, भजनासूत्रम्, कथं दृष्टम्? एवं हि तदनाचारश्रुते श्रूयते–''अहागडाइं भुंजंति, अन्नमन्ने सकम्मुणा। उवलित्ते वियाणिज्जाऽणुवलित्ते त्ति वा पुणो'' ॥१॥ अत्र ह्याधाकर्मिकस्य फले भजनैव व्यक्तीकृता, अन्योऽन्यपदग्रहणेनार्थान्तरस्य कर्तुमशक्यत्वात्, स्वरूपतोऽसावद्ये भजनाव्युत्पादनस्यानतिप्रयोजनत्वाच्चेति संक्षेपः ॥२६॥

शुद्धं वा यदशुद्धं वाऽसंयताय प्रदीयते।
गुरुत्वबुद्ध्या तत्कर्म–बन्धकृन्नाऽनुकम्पया ॥२७॥

(शुद्धं वेति) असंयताय यच्छुद्धं वाऽशुद्धं वा गुरुत्वबुद्ध्या प्रदीयते तदसाधुषु साधुसंज्ञया कर्मबन्धकृत्, न पुनरनुकम्पया। अनुकम्पादानस्य क्वाऽप्यनिषिद्धत्वात्। ''अणुकंपादाणं पुण, जिणेहि न कयाइ पडिसिद्धं।'' इति वचनात् ॥२७॥

दोषपोषकतां ज्ञात्वा, तामुपेक्ष्य ददज्जनः।
प्रज्ज्वाल्य चन्दनं कुर्यात्, कष्टामङ्गारजीविकाम् ॥२८॥
अतः पात्रं परीक्षेत, दानशौण्डः स्वयं धिया।
तत् त्रिधा स्यान्मुनिः श्राद्धः सम्यग्दृष्टिस्तथाऽपरः ॥२९॥
एतेषां दानमेतत्स्थ–गुणानामनुमोदनात्।
औचित्यानतिवृत्त्या च, सर्वसंपत्करं मतम् ॥३०॥

दोषेति स्पष्टः ॥२८॥ अत इति स्पष्टः ॥२९॥ (एतेषामिति) एतेषां मुनिश्राद्धसम्यग्दृशां दानम्, एतत्स्थानामेतद्– वृत्तीनां गुणानामनुमोदनात्तद्दानस्य तद्भक्तिपूर्वकत्वात्। औचित्यानतिवृत्त्या स्वाचारानुल्लङ्घनेन च, सर्वसंपत्करं ज्ञानपूर्वकत्वेन परम्परया महानन्दप्रदं मतम् ॥३०॥

शुभयोगेऽपि यो दोषो, द्रव्यतः कोऽपि जायते।
कूपज्ञातेन स पुनर्नानिष्टो यतनावतः ॥३१॥

(शुभयोगेऽपीति) पात्रदानबद्धबुद्धीनां साधर्मिकवात्सल्याऽऽदौ शुभयोगेऽपि प्रशस्तव्यापारेऽपि यः कोऽपि द्रव्यतो दोषो जायते, स कूपज्ञातेन आगमप्रसिद्धकूपदृष्टान्तेन, यतनावतो यतनापरायणस्य नानिष्टः, स्वरूपतः सावद्यत्वेऽप्यनुबन्धतो निरवद्यत्वात्। तदिदमुक्तम्–''जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ णिज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥१॥'' अत्र हि अपवादपदप्रत्ययाया विराधनाया व्याख्यानात् फलभेदौपयिको ज्ञानपूर्वकत्वेन क्रियाभेद एव लभ्यते। यत्तु वर्जनाभिप्रायजन्यां निर्जरां प्रति जीवघातपरिणामाजन्यत्वेन जीवविराधनायाः प्रतिबन्धकाभावत्वेनैवात्र हेतुत्वमिति कश्चिदाह साहसिकः, तस्यापूर्वमेव व्याख्यानमपूर्वमेव चाऽऽगमतर्ककौशलं, केवलायास्तस्याः प्रतिबन्धकत्वाभावाज्जीवघातपरिणामविशिष्टत्वेन प्रतिबन्धकत्वे च विशेषणाभावप्रयुक्तस्य विशिष्टाभावस्य शुद्धविशेष्यस्वरूपत्वे विशेष्याभावप्रयुक्तस्य तस्य शुद्धविशेषणरूपस्यापि संभवाज्जीवघातपरिणामोऽपि देवानां प्रियस्य निर्जराहेतुः प्रसज्येत। अथ वर्जनाभिप्रायेण जीवघातपरिणामजन्यत्वलक्षणं स्वरूपमेव विराधनायास्त्याज्यतेऽतो नेयमसती प्रतिबन्धिकेति चेत्, किमेतद्विराध-नापदं प्रवृत्तिनिमित्तं, विशेषणं वा? आद्ये प्रवृत्तिनिमित्तं नास्तिपदं चोच्यत इत्ययमुन्मत्तप्रलापः। अन्त्ये चोक्तदोषतादवस्थ्यमिति शिष्यद्वन्धनमात्रमेतत्। अथ यद्धर्म्मविशिष्टं यद्वस्तु निजस्वरूपं जहाति स धर्मस्तत्रोपाधिरिति नियमाद्वर्जना, अभिप्रायविशिष्टा हि जीवविराधना जीवघातपरिणामजन्यत्वं

संयमनाशहेतुं परित्यजतीति भावार्थपर्यालोचनादनुपहितविराधनात्वेन प्रतिबन्धकत्वं लभत इत्युपहितायास्तस्याः प्रतिबन्धकाभावत्वमक्षतमिति चेन्न, प्रकृतविरःधनाव्यक्तौ जीवघातपरिणामान्यत्वस्यासत्त्वेन त्याजयितुमशक्यत्वात् । अत एव तत्प्रकारकप्रमितिप्रतिबन्धरूपस्यापि तद्दानस्थानुपपत्तेः । स्यादेतत् । वर्जनाभिप्रायाभावविशिष्टविराधनात्वेन प्रतिबन्धकत्वे न कोऽपि दोषः, प्रत्युत वर्जनाभिप्रायस्य पृथक्कारणत्वाकल्पनाल्लाघवमिति । मैवम् । विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहाद्, अन्यथा दोषाभावविशिष्टबाधत्वेनैव दुष्टज्ञाने प्रतिबन्धकत्वप्रसङ्गाद्, विशेष्याभावस्थलेऽतिप्रसङ्गाच्च । तस्माद् वर्जनाभिप्रायस्यैव फलविशेषे निश्चयतो हेतुत्वं, व्यवहारेण च तत्तद्व्यक्तीनां भावानुगतानां निमित्तत्वमिति साम्प्रतम् । विपश्चितं चेदमन्यत्रेति नेह विस्तरः ॥३१॥

इत्थं दानविधिज्ञाता, धीरः पुण्यप्रभावकः ।
यथाशक्ति ददद्दानं, परमाऽऽनन्दभाग् भवेत् ॥३२॥

इत्थमिति स्पष्टः ॥३२॥ द्वा०१ द्वा०।

दक्षिणायाम्, सूत्र०२ श्रु०५ अ०। 'दो' अवखण्डने ल्युट् । खण्डने, विशे०। आव०। गजमदे, ज्ञा०१ श्रु० ६अ०। मदकारिणि, ''दाणवासिअकपोलमूलं ।'' कल्प० २ क्षण । तीर्थकृद्दानमभव्याः प्राप्नुवन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्, ते नाप्नुवन्तीति बृद्धवादः, अक्षराणि तु ग्रन्थे दृष्टानि न स्मरन्तीति । १६८ प्र०। सेन०२ उल्ला०। केनापि स्वगृहं जिनगृहे मुक्तं, तत्र श्राद्धः कोऽपि भाटकं दत्त्वा तिष्ठति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–यद्यपि साधिकभाटकप्रदानपूर्वकमवस्थाने दोषो न लगति, तथाऽपि तथाविधकारणमन्तरेदं युक्तिमन्न प्रतिभाति, दत्तद्रव्यभोगाऽऽदौ निःशूकताप्रसङ्गादिति । ४१७ प्र०। सेन०३ उल्ला०। पौषधमध्ये याचकाऽऽदेर्दानं दातुं कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–मुख्यवृत्त्या पौषधमध्ये याचकाऽदेर्दानं दातुं न कल्पते, कस्मिँश्चित्कारणविशेष तथा जिनशासनोन्नतिं ज्ञात्वा कदाचिद्यदि ददाति तदा निषेधो ज्ञातो नास्तीति । ४३३ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

दाणंतराय न०(दानान्तराय) दीयते इति दानं,तद्विषयमन्तरायं दानान्तरायम् । प्रथमायामन्तरायस्योत्तरप्रकृतौ यदुदयवशात् सति विभवेऽपि समागते च गुणवति पात्रे दत्त्वाऽस्मै बहुफलमिति जानन्नपि दातुं नोत्सहते, तद्दानान्तरायम् । तस्मिन्, कर्म०६ कर्म०। पं०सं०। स०।

दाणग्गहण न०(दानग्रहण) प्रदानाऽऽदानयोः, नि०चू०५ उ०।

दाणजुय पुं०(दानयुत) दानरुचौ, कर्म०१ कर्म०।

दाणट्ठ न०(दानार्थ) दानमर्थो यस्य तद्दानार्थम् । दाननिमित्ते, प्रश्न०५ संव०द्वार। सूत्र०।

दाणधम्म पुं०(दानधर्म्म) दानधर्मकर्तव्यतायाम्, ''दानात्कीर्तिः सुधाशुभ्रा, दानात्सौभाग्यमुत्तमम् । दानात्कामार्थमोक्षाः स्युर्दानधर्म्मो वरस्ततः ॥१॥'' पञ्चा०२ विव०।

दाणव पुं०(दानव) दनोरपत्यम्, अण् । ज्ञा०१ श्रु०८अ०। **''कगचजतदपयवां प्रायो लुक्'' ॥८।१।१७७॥** इति प्रायग्रहणात्स्वरात्परस्यानादिभूतस्यासंयुक्तस्यापि वकारस्यालुक् । 'दाणवो ।' प्रा०१ पाद । भवनपतिविशेषे, व्यन्तरभेदे, ज्ञा०१ श्रु०८अ०। असुरे, अनु०। स्था०। उत्त०। आ०म०।

दाणविंद पुं०(दानवेन्द्र) चमराऽऽदौ, आ०म०१अ०१खण्ड।

दाणविप्पणास पुं०(दानविप्रनाश) दत्तापलापे; प्रश्न०३संव० द्वार।

दाणसड्ढ पुं०(दानश्राद्ध) प्रकृत्यैवदानरुचौ, ध०३ अधि०। बृ०।

दाणसूर पुं०(दानशूर) तृतीये शूरभेदे, ''दाणसूरे वेसमणे ।'' दानशूरो वैश्रवण उत्तराशालोकपालस्तीर्थकराऽऽदिजन्मपारणकाऽऽदिरत्नवृष्टिपातनाऽऽदिनेति। उक्तं च–''वेसमणवयणसंचोइया उ ते तिरियजंभगा देवा । कोडिग्गसो हिरण्णं, रयणाणि य तत्थ उवणेंति ॥१॥'' इति । स्था०४ ठा०३उ०। संथा०।

दाणाइ पुं०(दानाऽऽदि) वितरणप्रभृतौ, आदिशब्दाद् गुरुसेवातपःप्रभृतीनां च संग्रहः । पञ्चा०२ विव०।

दाणामा स्त्री०(दानमयी) प्रव्रज्यायाम्, ''दाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए।'' भ०३श०२उ०।

दाणिं अव्य०(इदानीम्) **''इदानीमो दाणिं'' ॥८।४।२७७॥** शौरसेन्यामिदानीमः स्थाने 'दाणि' इत्यादेशः । प्रा०४ पाद। सम्प्रतीत्यर्थे, भ०३श०२उ०।सूत्र०। ''अणंतरकरणीयं दाणिं आणवेदु अय्यो ।'' व्यत्यययात्प्राकृतेऽपि–''अन्नं दाणिं देहि ।'' प्रा०४ पाद। ''शुणध दाणिं हगे ! शक्कावयालतित्थनिवासी धीवले !'' प्रा०४ पाद। वाक्यालङ्कारे, बृ०१उ०।

दाणुवएस पुं०(दानोपदेश) अन्नाऽऽहारप्रदानोपदेशे, आव०६ अ०। पञ्चा०।

दाथालय न०(उदकस्थालक) उदकार्द्रस्थालके, भ०१५ श०।

दादलिआ स्त्री०(देशी) अङ्गुलौ, दे०ना० ५ वर्ग ०३८ गाथा।

दाम न०(दामन्) दो–मनिन् । **''स्नमदामशिरोऽनमः'' ॥८।१।३२॥** इति पर्युदासान्नपुंस्त्वम् । 'दामं । 'प्रा०१ पाद।स्रजि, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। मालायाम्, भ०११ श०११ उ०। कल्प०। प्रज्ञा०। औ०। आ०क०। स्था०। रज्जौ, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। स्त्रियां डाच्। दामा। मनःशिलाकस्य वेलन्धरनागराजस्याऽऽवासपर्वते, स्था०४ ठा०२ उ०। स्त्रियां डाच् । दामा ।दामे। वाच०। पाशकविशेषे, विपा०१ श्रु०३अ०।

दामग न०(दामक) रज्जुमयपादसंयमने, प्रश्न०३ आश्र०द्वार।

दामड्ढि पुं०(दामारिथ) शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराज्ञः स्वनामख्याते वृषभानीकाधिपतौ, स्था०५ ठा०१उ०।

दामण न०(दामन) बन्धने, प्रव० ३८ द्वार।

दामणी स्त्री०(दामनी) गवादीनां बन्धनविशेषभूतायां रज्जौ, भ०१६ श०६उ०। जं०। अष्टादशतमायां तीर्थकरप्रवर्त्तिन्याम्, प्रव०६ द्वार । ''कुन्थुस्स दामणी खलु ।'' ति०। दामन्याकारे स्त्रीणां सुलक्षणविशेषे च । जं०२ वक्ष०। प्रसवे, नयानयोश्च । दे०ना०५ वर्ग ५२ गाथा।

दामण्णग पुं०(दामन्नक) राजगृहनगरवास्तव्यस्य मणिकारश्रेष्ठिनः स्वनामख्याते पुत्रे, आव०६ अ०। आ०चू०। (स च पूर्वभवे मत्स्यमांसप्रत्याख्यानपरिपालनाद् मणिकारश्रेष्ठिनः पुत्रत्वेनोत्पन्नः क्रमेण सागरपतिसार्थवाहस्य गृहस्वामी जातः । ततो

देवलोकं गत्वा ततश्च्युत्वा सेत्स्यतीति 'पच्चक्खाण' शब्दे उदाहरिष्यते)

दामदुग न०(दामद्विक) मालाद्वये, भ०१६ श०६ उ० स्था०।

दामलिवि स्त्री०(दामलिपि) ब्राह्म्या लिपेः सप्तदशे भेदे, स०१८ सम०।

दामिली स्त्री०(द्राविडी) द्रविडदेशोद्भवायां तद्भाषानिबद्धायां मन्त्रविशेषरूपायां विद्यायाम्, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

दामोअर पुं०(दामोदर) **''नादियुज्योरन्येषाम्''** ॥८।४।३२७॥ चूलिकापैशाचिकेऽप्यन्येषामाचार्याणां मतेऽनादौ वर्त्तमानस्य तृतीयो न। दामोदरो। प्रा०४ पाद। जीर्णदुर्गस्योत्तरदिशि गिरिद्वारे पञ्चमवासुदेवस्य प्रतिमायाम्, ती०४ कल्प।

दाय पुं०(दाय) दा–कर्मणि घञ्। ''विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य, पुत्रैर्यत्र प्रकल्पते।'' इत्युक्ते पित्रादिसम्बन्धवति तदुपरमे तत्सम्बन्धवति पुत्राऽऽदिभिर्विभजनीये द्रव्ये, विवाहकाले जामात्रादिभ्यो देये धने च। भावे घञ्। वाच०। पर्वदिवसाऽऽदौ दाने, ज्ञा०१ श्रु०२ अ० कल्प०। सामान्यदाने च। न०। औ०। ज्ञा०। भ०। 'दो' भावे घञ्। खण्डने, 'दैप्' करणाऽऽदौ घञ्। अम्बुनि, स्थाने, लये, सोल्लुण्ठनवाक्ये च। वाच०।

दायग पुं०(दायक) दातरि, आचा०२ श्रु०१चू०१अ०७ उ० प्रश्न०।

दायगदोस पुं०(दायकदोष) ग्रहणैषणायाः षष्ठे दोषे, पिं०।

अथ दायकद्वारं गाथाषट्केनाऽऽह–

बाले वुड्ढे मत्ते, उम्मत्ते वेविए य जरिए य।
अंधेल्लए पगलिए, आरूढे पाउयाहिं च ॥६०३॥
हत्थे दुनियलबद्धे, विवज्जए चेव हत्थपाएहिं।
तेरासि गुव्विणी बालवच्छ भुंजंति घुसुलंती ॥६०४॥
भज्जंती य दलंती, कंडंती चेव तह य पीसंती।
पिंजंती रुंवंती, कत्तंती पमद्दमाणी य ॥६०५॥
छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव।
ते चेवोगाहंती, संघट्टंताऽऽरभंती य ॥६०६॥
संसत्तेण य दव्वेण लित्तहत्था य लित्तमत्ता य।
उव्वत्तंती साहा–रणं व दिंती य चोरियवं ॥६०७॥
पाहुडियं व ठवंती, सपच्चवाया परं च उद्दिस्स।
आभोगमणाभोगेण दलंती वज्जणिज्जा य ॥६०८॥

बालाऽऽदिका वर्जनीया इति क्रियायोगः। तत्र बालो जन्मतो वर्षाष्टकस्यान्तर्वर्ती १वृद्धःसप्ततिवर्षाणां, मतान्तरापेक्षया षष्टिवर्षाणां वा उपरिवर्त्ती २, मत्तः पीतमदिराऽऽदिः ३, उन्मत्तो दृप्तो, ग्रहगृहीतो वा ४, वेपमानः कम्पमानशरीरः ५, ज्वरितो ज्वररोगपीडितः ६, अन्धश्चक्षुर्विकलः ७, प्रगलितो गलत्कुष्ठः८, आरुढः पादुकयोः काष्ठमयोपानहोः ९ ॥६०३॥ तथा हस्तेन्दुना करविषयकाष्ठबन्धनेन निगडेन च पादविषयलोहमयबन्धेन बद्धः १०, हस्ताभ्यां पादाभ्यां वर्जितश्छिन्नत्वात् ११–१२, त्रैराशिको नपुं–सकः १३, गुर्विणी आपन्नसत्त्वा १४, बालवत्सा स्तन्योपजीविशि–शुका १५, भुञ्जाना भोजनं कुर्वती १६, घुसुलन्ती दध्यादि मथ्नती १७ ॥६०४॥ भर्जमाना चुल्ल्यां कमिल्लकाऽऽदि वनीपकादौ स्फोटयन्ती १८, दलन्तीऽरघट्टेन गोधूमाऽऽदि चूर्णवन्ती १९, कण्डयन्ती उदूखले तन्दुलाऽऽदिकं छड्डयन्ती २०, पिषन्ती शिलायां तिलामलकाऽऽदि प्रमृज्नन्ती २१, पिञ्जन्ती पिञ्जनेन रुताऽऽदिकं विरलं कुर्वती २२, रुम्वन्ती कार्पासं लोठिन्या लाठयन्ती २३, कृतन्ती कर्त्तनं कुर्वती २४, प्रमृद्नन्ती रुतं कराभ्यां पौनःपुन्येन विरलं कुर्वती २५ ॥६०५॥ षट् कायव्यग्रहस्ता षट्–काययुक्तहस्ता २६, तथा श्रमणार्थं भिक्षामादाय तानेव षट् कायान् भूमौ निक्षिप्य ददती २७, तानेव षट्कायानवगाहमाना पादाभ्यां वालयन्ती २८, संघट्टयन्ती तानेव षट्कायान् शेषशरीरावयवेन च स्पृशन्ती २९, आरभमाणा तानेव षट्कायान् विनाशयन्ती ३० ॥६०६॥ ससंक्तेन दध्यादिना द्रव्येण लिप्तहस्ता खरण्टितहस्ता ३१, तथा तेनैव द्रव्येण दध्यादिना संसक्तेन लिप्तमात्रा खरण्टितमात्रा ३२, उद्वर्तयन्ती महत्पिठराऽऽदिकमुद्वर्त्य तन्मध्याद्ददती ३३, साधारणं बहूनां सत्कं ददती ३४, तथा चोरितं ददती ३५ ॥६०७॥ अग्निकूराऽऽदिनिमित्तं मूलस्थाल्यामाकृष्य स्थगतिकाऽऽदौ मुञ्चन्ती ३६, सप्रत्यपाया संभाव्यमानापायदात्री ३७, तथा विवक्षितसाधुव्यतिरेकेण परमन्यं साध्वादिकमुद्दिश्य हठात् स्थापितं तद्ददती ३८, तथा–आभोगेन साधूनामित्थं न कल्पत इति परिज्ञाप्याप्यशुद्धं ददती ३९, अथवा–अनाभोगेनाशुद्धं ददती ४०, सर्वसंख्यया चत्वारिंशद्दोषाः ॥ इह प्रक्षिताऽऽदिद्वारेषु–''संसज्जि–मेहि वज्जं, अगारिहिएहिं पि गोरसदवेहिं।'' इत्यादिग्रन्थेन संसक्ता–ऽऽदिदोषाणामभिधानेऽपि यद् भूयोऽप्यत्र ''संसत्तेण य दव्वेण लित्तहत्था य लित्तमत्ता य। (६०७)'' इत्याद्यभिधानं, तदशेषदायकदोषाणामेकत्रोपदर्शनार्थमित्यदोषः।६०८।

संप्रत्येतेषामेव दायकानामपवादमधिकृत्य वर्जनावर्जनविभागमाह–

एएसि दायगाणं, गहणं केसिं वि होइ भइयव्वं।
केसिं वी अग्गहणं, तव्विवरीए भवे गहणं ॥६०९॥

एतेषां बालाऽऽदीनां दायकानां मध्ये केषाञ्चिन्मूलत आरभ्य पञ्चविंशतिसंख्यानां ग्रहणं भजनीयं कदाचित्तथाविधं महत्प्रयोजनमुद्दिश्य कल्प्यते, शेषकालं नेति। तथा केषाञ्चित्षट्कायव्यग्रहस्ताऽऽदीनां पञ्चदशानां हस्तादग्रहणं भिक्षायाः,तद्विपरीते तु बालाऽऽदिविपरीतेषु दातरि भवेद् ग्रहणम्।

संप्रति बालाऽऽदीनां हस्ताऽऽदेर्भिक्षाग्रहणे ये दोषाः संभवन्ति ते दर्शनीयाः, तत्र प्रथमतो बालमधिकृत्य दोषानाह–

का सड्ढिग अप्पाहण, दिन्ने वन्नगगहण पज्जंते।
कंजियमग्गण दिण्णे, उड्डाहपओसचारभडा ॥६१०॥

काचिदभिनवा श्राद्धिका श्रमणेभ्यो भिक्षां दद्या इति निजपुत्रिकां (अप्पाहणं ति) संदिश्य भक्तं गृहीत्वा क्षेत्रं जगाम, गतायां तस्यां कोऽपि साधुसंघाटको भिक्षामागतः, तया च बालिकया तस्मै तन्दुलौदनो वितीर्णः, सोऽपि च संघाटकमुख्यः साधुस्तां बालिकां मुग्धतरामवगत्य लाम्पट्यतो भूयो भूय उवाच–पुनर्देहि पुनर्देहीति। ततस्तया समस्तोऽप्योदनो दत्तः। तत एवमुद्भूत्य धृततक्रदध्यादिकमपि।अपराह्णे च समागता जननी, उपविश्य भोजनाय भणिता च निजपुत्रिकादेहि पुत्रि! मह्यमोदनमिति। साऽवोचत्–दत्ताः समस्तोऽप्योदनः साधवे। साऽब्रवीत्–शोभनं कृतवती, मुद्गान्नं मे देहि। सा प्राहमुद्गा अपि साधवे सर्वे प्रदत्ताः। एवं यद् यत् किमपि सा

याचते, तत्तत्सर्वं साधवे दत्तमिति। ततः पर्यन्ते काञ्जिकमात्रमयाचि। बालिका भणति—तदपि साधवे दत्तमिति। ततः साऽभिनवश्राद्धिका रुष्टा सती पुत्रिकामेवमपवदति—किमिति त्वया सर्वं साधवेदत्तम् ? सा ब्रूते—स साधुर्भूयो भूयो याचते, ततो मया सर्वमदायि। ततः सा साधोरुपरि कोपाऽऽवेशमाविशन्ती सूरीणामन्तिकमगमत्। च अकथच्च सकलमपि साधुवृत्तान्तं, यथा—भवदीयः साधुरित्थमित्थं मत्पुत्रिकायाः सकाशात् याचित्वा याचित्वा सर्वमोदनाऽऽदिकमानीतवानिति। एवं तस्यां महता शब्देन कथयन्त्यां शब्दश्रवणतः प्रातिवेशिकजनोऽन्योऽपि च परम्परया भूयान्मिलितो, ज्ञातश्च सर्वैरपि साधुवृत्तान्तः, ततो विदधति तेऽपि कोपावेशिनः साधूनामवर्णवादम्—नूनममी साधुवेषविडम्बिनश्चारभटा इव लुण्टाकाः, न साधुसद्वृत्ता इति। ततः प्रवचनावर्णवादापनोदाय सूरिभिरतस्याः सर्वजनस्य च समक्षं स साधुर्निर्भर्त्स्यौपकरणं च सकलमागृह्य वसतेर्निष्काशितः, तत एवं तस्मिन्निष्काशिते श्राविकायाः क्षोपः श्रममगमत्। ततः सूरीणामुक्तवतीक्षमाश्रमण ! भगवन् ! मा भन्निमित्तमेष निष्काश्यतां, क्षमस्वैकं ममापराधमिति, ततो भूयोऽपि यथावत्साधुः शिक्षित्वा प्रवेशितः। सूत्रं सुगमं, नवरम् (उड्डाहपओसचारभमा इति) लोके उड्डाहस्ततो लोकस्य प्रद्वेषभावतश्चारभटा इव लुण्टाका अमी न साधव इत्यवर्णवादः। यत एवं बालाद्भिक्षाग्रहणे दोषाः, ततो बालान्न ग्राह्यमिति।

संप्रति स्थविरदायकदोषानाह—

थेरो गलंतलालो, कंपणहत्थो पडिज्ज वा देंतो।
अपहु त्ति य अवियत्तं, एगयरे वा उभयओ वा ॥६११॥

अत्यन्तस्थविरो हि प्रायो गलल्लालो भवति, ततो देयमपि वस्तु लालया खरण्टितं भवतीति तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा। तथा—कम्पमानहस्तो भवति, ततो हस्तकम्पनवशतो तद् वस्तु भूमौ निपतति। तथा च—षड्जीवनिकायविराधना, तथा—स्वयं वा स्थविरो ददत् निपतेत, तथा च सति तस्य पीडा, भूम्याश्रितषड्जीवनिकायविराधना च। अपि च—प्रायः स्थविरो गृहस्याप्रभुरस्वामी भवति, ततस्तेन दीयमानेनाप्रभुरेष इति विचिन्त्य गृहे स्वामित्वेन नियुक्तस्य "अवियत्तं" प्रद्वेषः स्यात्, स च एकतरस्मिन्, साधौ, यद्वा—उभयोरपीति।

मत्तोन्मत्तावाश्रित्य दोषानाह—

अवयास भाणभेओ, वमणं असुइ त्ति लोगगरिहा य।
पंतावणं च मत्ते, वमणविवज्जा य उम्मत्ते ॥ ६१२ ॥

मत्तः कदाचिन्मत्ततया साधोरालिङ्गनं विदधाति, भाजनं वा भिनत्ति। यद्वा—कदाचित् पीतमासवं ददानो वमति, वमँश्च साधुं, साधुपात्रं वा खरण्टयति। ततो लोके जुगुप्साधिगमी साधवोऽशुचयो ये मत्तादपीत्थं भिक्षां गृह्णन्तीति। तथा—कोऽपि मत्तो मदवशविह्वलतयारे मुण्ड ! किमत्राऽऽयात इति ब्रुवन् घातमपि विदधाति, तत एवं यतो मत्तेऽवयासाऽऽदयो दोषाः, तस्मान्न ततो ग्राह्यम्। एत एवाऽऽलिङ्गनाऽऽदयो दोषा वमनवर्जा उन्मत्तेऽपि, तस्मात्ततो पि न ग्राह्यम्।

संप्रति वेपितज्वरितावाश्रित्य दोषानाह—

वेवण परिसाडणया, पासे व छुभेज्ज भाणभेओ वा।
एमेव य जरियम्मि वि, जरसंकमणं व उड्डाहो ॥६१३॥

वेपितात्तु दातुः सकाशाद्भिक्षाग्रहणे देयवस्तुनः परिशाटनं भवति। यद्वा—पार्श्वे साधुभाजनाद् बहिः स वेपितो देयं वस्तु क्षिपेत्। यद्वा—येन स्थाल्यादिना भाजनेन कृत्वा भिक्षामानयति तस्य भूमौ निपाते भेदः स्फोटनं स्यात्। एकमेव ज्वरितेऽपि दोषा भावनीयाः। किं च—ज्वरिताद् ग्रहणे ज्वरसंक्रमणमपि साधोर्भवेत्, तथा जनोड्डाहो यथा—अहो ! अमी आहारालम्पटाः, यदित्थं ज्वरपीडितादपि भिक्षां गृह्णन्तीति।

अन्धगलत्कुष्ठावाश्रित्य दोषानाह—

उड्डाह कायपडणं, अंधे भेओ य पासछुहणं वा।
तद्दोसी संकमणं, गलंतभिसभिन्नदेहे य ॥६१४॥

अन्धाद्भिक्षाग्रहणे उड्डाहः, स चायम् अहो ! अमी औदारिका यदन्धादपि भिक्षां दातुमशक्नुवतो भिक्षां गृह्णन्तीति। तथा—अन्धोऽपश्यन् पादाभ्यां भूम्याश्रितषड्जीवनिकायघातं विदधाति। तथा—लोष्टाऽऽदौ स्खलितः सन् भूमौ निपतेत्। तथा—वसतिभिक्षादानायोत्पाटितहतगृहीतस्थाल्यादिभाजनभङ्गः। तथा—स देयं वस्तु पार्श्वे भाजनबहिस्तात् प्रक्षिपेत्, अदर्शनात्। तस्मादन्धादपि न ग्राह्यम्। तथा त्वग्दोषिणि, किंविशिष्टे ? इत्याह—गलितभृशभिन्नदेहे। अत्राऽऽर्षत्वाद् व्यत्यासेन पदयोजना। सा चैवम्—भृशमतिशयेन गलन् अर्द्धपक्वं रुधिरं च बहिर्वहन् भिन्नश्च स्फुटितो देहो यस्य स तथा तस्मिन्, तदादिसंक्रमणे कुष्ठव्याधिसंक्रान्तिः स्यात्, तस्मात्ततोऽपि न ग्राह्यम्।

संप्रति पादुकाऽऽरूढादिचतुष्टयदोषानाह—

पाउयदुरूहपडणं, बद्धे परियाव असुइखिंसा य।
करछिन्नाऽसुइखिंसा, ते चिय पायम्मि पडणं च ॥६१५॥

पादुकाऽऽरूढस्य भिक्षादानाय प्रचलतः कदाचिद् दुःस्थितत्वात् पतनं स्यात्। तथा—बद्धे दातरि भिक्षां प्रयच्छति परितापो दुःखं तस्य भवेत्। तथा—(असुइ त्ति) तत्राप्युत्सर्गाऽऽदौ जलेन तस्याशौचकरणासंभवात्, ततो भिक्षाग्रहणे लोके जुगुप्सा, यथा—अमी अशुचयो यदेतस्मादप्यशुचिपूतत्वात् भिक्षामाददत इति। एवं छिन्नकरेऽपि भिक्षां प्रयच्छति लोके जुगुप्सा, तथा हस्ताभावेन शौचकरणासंभवात्। एतच्चोपलक्षणम्, तेन हस्ताभावे येन कृत्वा भाजने न भिक्षा ददाति। यद्वा—देयं वस्तु तस्य पतनमपि भवति। तथा च सति षड्जीवनिकायव्याघातः। एत एव दोषाः पादेऽपि छिन्नपादेऽपि दातरि दृष्टव्याः, केवलं पादाभावेन तस्य भिक्षादानाय प्रचलतः प्रायो नियमतः पतनं पातो भवेत्। तथा च सति भूम्याश्रितकीटिकाऽऽदिकसत्त्वव्याघातः।

संप्रति नपुंसकमधिकृत्य दोषानाह—

आयपरोभयदोसा, अभिक्खगहणम्मि खोभणे नपुंसे।
लोगदुगुंछा संका, एरिसया नूणमेए वि ॥ ६१६ ॥

नपुंसके भिक्षां प्रयच्छति आत्मपरोभयदोषाः। तथाहि—नपुंसकाद् भिक्षाग्रहणेऽतिपरिचयो भवति, अतीव परिचयात् तस्य नपुंसकस्य साधोर्वा क्षोभो वेदोदयरूपः समुपजायते। ततो नपुंसकस्य साधुलिङ्गाऽऽद्यासेवनेन द्वयस्यापि मैथुनसेवया कर्मबन्धः, अभीक्ष्णग्रहणशब्दोपादानाच्च कदाचित् भिक्षाग्रहणे दोषाभावमाह, परिचयाभावात्। तथा लोके जुगुप्सा—यथैते नपुंसकादपि निकृष्टाद्भिक्षामाददते इति, साधूनामप्युपरि जनस्य शङ्का भवति तस्माद् यथैतेऽपि साधवो नूनमीदृशा नपुंसकाः।

कथमत्यासन्नेन सह भिक्षाग्रहणव्याजतोऽतिपरिचयं विदधत इति।

संप्रति गुर्विणीबालवत्से आश्रित्य दोषानुपदर्शयति–

गुव्विणी गब्भे संघट्टणा उ उड्डंत–वेसमाणीए।
बालाई मंसें दुग, मज्जाराई विराहिज्जा ॥ ६१७ ॥

गुर्विण्या भिक्षादानार्थमुत्तिष्ठन्त्या भिक्षां दत्त्वा स्थाने उपविशन्त्याश्च गर्भस्य संघट्टनं संवलनं भवति, तस्मान्न ततो ग्राह्यम्। (बालाई मंसें दुग त्ति) अत्राऽऽर्षत्वाद् व्यत्यासेन पदयोजना–बालमिति शिशुं भूमौ, मञ्चिकाऽऽदौ वा निक्षिप्य यदि भिक्षां ददाति, तर्हि तं बालं मार्जाराऽऽदयो विडालसारमेयाऽऽदयो मांसेन्दुकाऽऽदि मांसखण्डं शशकशिशुरिति वा कृत्वा विराधयेत् विनाशयेत्। तथा–आहारखरण्टितौ शुष्कौ हस्तौ भवतः, ततो भिक्षां दत्त्वा पुनर्दात्र्या हस्ताभ्यां गृह्यमाणस्य बालस्य पीडा भवेत्, ततो बालवत्सातोऽपि न ग्राह्यम् ॥ ६१७ ॥ पिं० ॥

किं च–

थणगं पिज्जमाणी य, दारगं वा कुमारियं।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं ॥ ४२ ॥

स्तनं पाययन्ती, कमित्याह–दारकं वा, कुमारिकाम्। वाशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः। अत एव नपुंसकं वा। तद्दारकाऽऽदि, निक्षिप्य रुदद् भूम्यादौ आहरेत् पानभोजनम्। अत्रायं वृद्धसंप्रदायः–''गच्छवासी, जइ थणजीवी पियंतो णिक्खित्तो, तो न गिण्हंति। रोवउ वा, मा वा, अह अन्नं पि आहारेइ, तो जति ण रोवइ, तो गिण्हंति, अह रोवइ, तो न गिण्हंति। अह अपियंतो णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ, तओ ण गिण्हंति। अह न रोवति, तो गिण्हंति। गच्छणिग्गया पुण जाव थणजीवी ताव रोवउ वा, मा वा, पिवंतओ वा, अपिवंतओ वा ण गिण्हंति। जाहे अन्नं पि आहारेउं आढत्तो भवति, ताहे जइ पिवंतओ, तो रोवउ वा, मा वा, ण गिण्हंति। अह अपिवंतओ, तो जइ रोवइ, तो परिहरंति, अरोविए गेण्हंति। सीसो आह–को तत्थ दोसोऽत्थि ? आयरिओ भणइ–तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घिप्पमाणस्स अथिरत्तणेण परितावणा दोसा, मज्जाराऽऽदि वा अवहरेज्ज।'' इति सूत्रार्थः ॥ ४२ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४३ ॥

तद्भवेद् भक्तपानं त्वनन्तरोदितं संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ ४३ ॥ दश० ५अ० १उ०।

भुञ्जानां मथ्नन्तीं चाऽऽश्रित्य दोषानाह–

भुंजंती आयमणे, उदगं वोडी य लोगगरिहा य।
घुसुलंती संसत्ते, करम्मि लित्ते वहे रसगा ॥ ६१६ ॥

भुञ्जाना दात्री भिक्षादानार्थमाचमनं करोति, आचमने च क्रियमाणे उदकं विराध्यते, अथ न करोत्याचमनं, तर्हि लोकेबोटिरितिकृत्वा गर्हा स्यात्। तथा–''घुसुलंती'' दध्यादि मथ्नन्ती यदि तद् दध्यादिसंसक्तं मथ्नाति, तर्हि तेन संसक्तदध्यादिना लिप्ते करे तस्या भिक्षां ददत्या, तेषां रसजीवानां वधो भवति, ततस्तस्या अपि हस्तान्न कल्पते।

संप्रति पेषणाऽऽदिदोषानुपदर्शयति–

दगवीए संघट्टण, पीसणकंडदलभज्जणे डहणं।
पिंजंतं रुवणाई, दिन्ने लित्ते करे उदगं ॥ ६२० ॥

पेषणकण्डनदलनानि कुर्वतीनां हस्ताद्भिक्षाग्रहणे उदकबीजसंघट्टनं स्यात्। तथाहि–पिंषन्ती यदा भिक्षादानायोत्तिष्ठति तदा पिष्यमाणतिलाऽऽदिसत्काः काश्चिन्मक्षिकाः सचित्ता अपि हस्ताऽऽदौ लगिताः संभवन्ति, ततो भिक्षादानाय हस्ताऽऽदिप्रस्फोटने भिक्षां वा दहत्या भिक्षासंपर्कतस्तासां विराधना भवति। भिक्षां वा दत्त्वा भिक्षाऽवयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत्। ततः पेषणे उदकबीजसंघट्टना। एवं कण्डनदलनयोरपि यथायोगं भावनीयम्। तथा–भर्जने भिक्षां ददत्या वेलालग्नेन कडिल्लक्षिप्तगोधूमाऽऽदीनां दहनं स्यात्। तथा–पिञ्जनं, रुञ्जनमादिशब्दात्कर्तनप्रमर्दने वा कुर्वती भिक्षां दत्त्वा भिक्षाऽवयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत्, ततस्तत्राप्युदकं विनश्यतीति न ततो भिक्षा कल्पते।

सम्प्रति षट्कायव्यग्रहस्ताऽऽदिपञ्चकस्वरूपं गाथाद्वयेनाऽऽह–

लोणदगअगणिवत्थी, फलाइ मच्छाइ सजीय हत्थम्मि।
पाएणोगाहणया, संघट्टण सेसकाएणं ॥६२१॥
खणमाणी आरभए, मज्जएँ धोएज्ज सिंचए किंचि।
छेयविसारणमाई, बिंदइ छट्ठे फुरफुरंते ॥ ६२२ ॥

इह सा षट्कायव्यग्रहस्ता उच्यते, यस्या हस्ते सजीवं लवणमुदकमग्निर्वायुपूरितो वा वस्तिः, फलाऽऽदिकं बीजपूराऽऽदिकं मत्स्याऽऽदयो वा विद्यन्ते, ततः सा यद्येतेषां सजीवलवणाऽऽदीनामन्यतमादपि श्रमणभिक्षादानार्थं भूम्यादौ निक्षिप्तः, तर्हि न कल्पते। तथा–अवगाहना नाम यत्तेषां षड्जीवनिकायानां पादेन संघट्टनं शेषकायेन हस्ताऽऽदिना संमर्दनंसंघट्टनमारभमाणा ॥ ६२१ ॥ कुश्यादिना भूम्यादि खनन्ती, अनेन पृथिवीकायाऽऽरम्भ उक्तः। यद्वा–मज्जन्ती शुद्धेन जलेन स्नाती। अथवा–धावन्ती शुद्धेनोदकेन वस्त्राणि प्रक्षालयन्ती। यदि वा किञ्चिद् वृक्षवल्ल्यादि सिञ्चन्ती, एतेनाप्कायाऽऽरम्भो दर्शितः। उपलक्षणमेतत्। ज्वलयन्ती वा फूत्कारेण वैश्वानरं वस्त्यादिकं वा सचित्तवातभृतमितस्ततः प्रक्षिपन्ती, एतेनाग्निवास्तुसमारम्भ उक्तः। तथा–शाकाऽऽदेः छेदविसारणे कुर्वती। तत्र छेदः पुष्पफलाऽऽदेःखण्डनं, विशरणं तेषामेव खण्डानां शोषणायाऽऽतपे मोचनम्। आदिशब्दात्तन्दुलमुद्गाऽऽदीनां शोधनाऽऽदिपरिग्रहः। तथा–छिन्दन्ती षष्ठान् त्रसकायान् मत्स्याऽऽदीन् ''फुरफुरंते'' इति पोस्फूर्यमाणान्, पीडयोद्वेल्लानित्यर्थः। अनेन त्रसकायाऽऽरम्भ उक्तः। इत्थं षड्जीवनिकायानारभमाणाया हस्तान्न कल्पते।

संप्रति षट्कायव्यग्रहस्तेतिपदस्य व्याख्याने मतान्तरमुपदर्शयति–

छक्कायवग्गहत्था, केई कोलाइ कन्नलइयाइ।
सिद्धत्थगपुप्फाणि य, सिरम्मि दिन्नाअ वज्जेंति ॥ ६२३ ॥

केचिदाचार्याः षट्कायव्यग्रहस्तेतिवचनतः कोलाऽऽदीनि बदराऽऽदीनि, आदिशब्दात्करीराऽऽदिपरिग्रहः। (कन्नलइया इति) कर्णे पिनद्धानि। तथा–सिद्धार्थकपुष्पाणि शिरसि दत्तानि वर्जयन्ती।

अन्ने भणंति दससु वि, एसणदोसेसु अत्थि तग्गहणं।
तेण न वज्जं भण्णइ, न तु गहणं दायए गहणे ॥ ६२

अन्ये त्वाचार्यदेशीया भणन्ति। यथा–दशस्वपि शङ्कितादिषु एषणादोषेषु मध्ये तद्ग्रहणं षट्कायव्यग्रहस्तेत्युपादानमस्ति, तेन कारणेन लोकाऽदियुक्तदेशविवक्षाग्रहणं न वर्ज्यं, तदेतत्पापीयो, यत–आह–भण्यते अत्रोत्तरं दीयते, न तु दायकग्रहणादेषणादोषमध्ये षट्कायव्यग्रहस्तेत्यस्य ग्रहणं विद्यते, तत्कथमुच्यते, न तद्ग्रहणमिति।

सम्प्रति संसक्तिमद्द्रव्यदात्र्यादिदोषानाह–

संसज्झिमम्मि देसे, संसज्झिमदव्वलित्तकरमत्ते।
संचारायत्तणओ, उक्खिप्पंते वि ते चेव॥ ६२५॥

संसक्तिमति संसक्तिमद्द्रव्यवति, देशे मण्डले, संसक्तिमता द्रव्येण लिप्तः करो मात्रं वा यस्याः सा तथाविधा दात्री भिक्षां ददती करविलग्नान् सत्त्वान् हन्ति, तस्मात्सा वर्ज्यते। तथा–महतः पिठराऽऽदेरपवर्तने संचारः, सूचनात्सूत्रमिति संचारिमकीटि-कामत्कोटाऽऽदिसत्त्वव्याघातः। इदमुक्तं भवति–महत् पिठरं यदा तदा वा नोत्पाट्यते, नापि यथा तथा वा संचार्यते, महत्त्वादेव, किं तु प्रयोजनविशेषोत्पत्तौ सकृत्, ततस्तदाश्रित्य प्रायः कीटिकाऽऽदयः सत्त्वाः संभवन्ति। ततो यदा तत्पिठराऽऽदिकमुद्वर्त्य किञ्चिद्ददाति तदा तदाश्रितजन्तुव्यापादः। एते च दोषा-उत्पाट्यमानेऽपि महति पिठराऽऽदौ, तत्राऽपि हि भूयो निक्षेपणे हस्तसंस्पर्शतो वा संचारिमकीटिकाऽऽदिसत्त्वव्याघातः। अपि च त्त्या तथाभूतस्य महत उत्पाटने दात्र्याः पीडाऽपि भवति, तस्मान्न तदुत्पाटनेऽपि भिक्षा कल्पते।

सम्प्रति साधारणं चोरितं वा ददत्या दोषानाह–

साधारणं बहूणं, तत्थ उ दोसा जहवे अणिसट्ठे।
चोरियए गहणाई, भयए सुण्हाइ वा दें ते॥ ६२६॥

बहूनां साधारणं यदि ददाति, तर्हि तत्र यथा प्राक् अनिसृष्टे दोषा उक्तास्तथैव द्रष्टव्याः। तथा–चौर्येण भृतककर्मकरे स्नुषाऽऽदौ वा ददति ग्रहणाऽऽदयो ग्रहणबन्धनतामनाऽऽदयो दोषा द्रष्टव्याः, तस्मात्ततोऽपि न कल्पते। पिं०।

विशेषमाह–

गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोयणं।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए॥ ३६॥

गुर्विण्या गर्भवत्या उपन्यस्तमुपकल्पितम्। किं तदित्याह–विविधमनेकप्रकारं, पानभोजनं द्राक्षापानखण्डखाद्यकाऽऽदि। तत्र भुज्यमानं तया विवर्ज्यम्, मा भूत्तस्याल्पत्वेनाऽभिलाषाऽनिवृत्त्या गर्भपतनाऽऽदिदोष इति। भुक्तशेषं भुक्तोद्वरितं, प्रतीच्छेत्, यत्र तस्या निवृत्तोऽभिलाष इति सूत्रार्थः॥ ३६॥

किं च–

सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिया वा निसीएज्जा, निस्सन्ना वा पुणुट्ठए॥ ४०॥

स्याच्च कदाचिच्च, श्रमणार्थं साधुनिमित्तं, गुर्विणी पूर्वोक्ता, कालमासवती गर्भाधानान्नवममासवतीत्यर्थः। उत्थिता वा यथाकथञ्चिन्निषीदेन्निषण्णाददामीति साधुनिमित्तम्। निषण्णा वा स्वव्यापारेण पुनरुत्तिष्ठेत्–ददामीति साधुनिमित्तमेवेति सूत्रार्थः॥ ४०॥

तं भवे भत्तपणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ ४१॥

तद्भवेद् भक्तपानं तु, तथा निषीदनोत्थानाभ्यां दीयमानं संयतानामकल्पिकम्। इह च स्थविरकल्पिकानामनिषीदनोत्थानाभ्यां यथावस्थितया दीयमानं कल्पिकम्। जिनकल्पिकानां त्वापन्नसत्त्वया प्रथमदिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानमकल्पिकमेवेति संप्रदायः। यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मम कल्पते तादृशमित्येतत्पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः॥ ४१॥ दश० ५अ० १उ०। केषुचिद्दायकदोषेषु जीतकल्पानुसारेण निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तम्। जीत०। प्रव०। आचा०। उत्त०। ग०। ध०। ओघ०। दश०। पञ्चा०। आचा०। नि०चू०। स्था०। (नौगतोऽशनाऽऽदि ददाति इत्यत्र 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६६५ पृष्ठे उक्तम्)

दायगसुद्ध त्रि० (दायकशुद्ध) दायकः शुद्धो यत्राऽऽशंसाऽऽदिदोषरहितत्वात्। दायकदोषरहिते, भ० १५ श०। दायकशुद्धं तु यत्र दाता औदार्याऽऽदिगुणान्वितः। विपा० २ श्रु० १ अ०।

दायण न० (दापन) यथा गृहीतभक्तपानयोर्निवेदने, प्रश्न० १ संव० द्वार०।

दायणा स्त्री० (दापना) पृच्छाप्रतिपृष्टस्यार्थस्य व्याख्याने, ''दायणा तयत्थस्स वक्खाणं।'' (२६३२) विशे०। आ०म०। आ०चू०।

दायव्व त्रि० (दातव्य) दातुं योग्ये, आचा० २श्रु० १चू० १अ० २उ०।

दायाद पुं० (दायाद) दायं विभजनीयधनमादत्ते। आ–दा–कः। पुत्रे, सपिण्डे, वाच०। पितृपिण्डोदकदानयोग्ये, आचा० १श्रु० २अ० ३उ०।

दायार पुं० (दायार) दायाय दानार्थमियर्ति आगच्छन्तीति दायाराः। याचके, कल्प० १अधि० ५क्षण।

दार पुं० (दार) ब० व०। दारयन्ति विदारयन्ति पुरुषस्यान्तरङ्गगुणानिति दाराः। आतु०। दारयन्ति भ्रातृस्नेहम्, दृ–णिच्, अप्। पत्न्याम्, सा हि पत्युः भ्रातृस्नेहं भिनत्तीति लोकप्रसिद्धम्। वाच०। कलत्रे, प्रव० ६द्वार। आ०चू०। आव०। स्त्रियाम्, उत्त० २१अ०।

*** द्वार** न० प्रासादभवनदेवकुलाऽऽदीनां (रा०) प्रवेशमुखे, विशे०। प्रव०। भ०। दश०। प्रज्ञा०। नि०चू०। अनु०। रा०। (विजयाऽऽदीनां जम्बूद्वीपद्वाराणां वक्तव्यता 'जंबूदीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३७२ पृष्ठे उक्ता) (सूर्याभविमानद्वारवक्तव्यता 'सूरियाभ' शब्दे द्रष्टव्या) गृहाऽऽदिनिर्गमस्थाने, प्रतीहारे, उपाये, मुखे च। वाच०। कटिसूत्रे, दे०ना० ५वर्ग ३८ गाथा।

दारग पुं० (दारक) दृणाति भिनत्ति उदरं दृ–एवुल्। वाच०। बालके, व्य० २उ०। दश०। रा०। आ०क०। सूत्र०। ज्ञा०। आ०म०। डिम्भदारककुमारकाणामल्पबहुबहुतरकालकृतौ विशेषः। ज्ञा १श्रु २अ०। बालिकायाम्, स्त्री०। टाप्। अत इत्त्वम्। वाच०। आ०म०। प्रश्न०। अन्त०। आचा०। भेदके, ग्रामशूकरे, पुं०। वाच०।

दारनक्खिणी स्त्री० (द्वारयक्षिणी) द्वारस्थायां यक्षिण्याम्, आव० ४अ०।

दारट्ठ पुं० (द्वारस्थ) द्वारपाले, बृ० १उ०।

दारद्धंता स्त्री० (देशी) पेटायाम्, दे०ना० ५वर्ग ३८ गाथा।

दारपडियरग पुं० (द्वारप्रतिचरक) अभ्यन्तरमूलस्थायिनि, प्रव० ७१ द्वार।

दारपिंड पुं० (द्वारपिण्ड) द्वारशाखायाम्, जं० १वक्ष०। जी०।

दारपिहाण न० (द्वारपिधान) द्वारकपारस्थगने, (तत्र द्वारपिधाने दोषाः। कारणे तत्कर्तव्यता च 'वसइ' शब्दे वक्ष्यते)

णो पिहे ण यावपंगुणे,
दारं सुण्णघरस्स संजए।
पुट्ठे ण उदाहरे वायं,
ण समुच्छे णो संथरे तणं॥ १३॥

केनचिच्छ्वयनाऽऽदिनिमित्तेन शून्यं गृहमाश्रितो भिक्षुः, तस्य गृहस्य द्वारं कपाटाऽऽदिना न पिदधीत न स्थगयेन्नापि तच्चालयेत्। यावत् (ण यावपंगुणे त्ति) नोद्घाटयेत, तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद्गमाऽऽदिकं मार्गं वा पृष्टः सन् सावद्यां वाचं नोदाहरेद् न ब्रूयात्। आभिग्रहिको जिनकल्पिकाऽऽदिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात्। तथा न समुच्छिन्द्यात् तृणानि कचवरं वा प्रमार्जनेन नापनयेत, नापि शयनार्थी कश्चिदाभिग्राहिकस्तृणाऽऽदिकं संस्तरेत्, तृणैरपि संस्तारकं न कुर्यात्, किं पुनः कम्बलाऽऽदिनोऽन्यो वा शुषिरतृणं न संस्तरेदिति॥ १३॥ सूत्र० १श्रु० २अ० २उ०।

दारवाल पुं० (द्वारपाल) द्वाररक्षके, आ० म० १अ० १खण्ड।

दारविलजोग पुं० (द्वारविलयोग) स्थगने, पं० व० ४द्वार।

दारमंतभेय पुं० (दारमन्त्रभेद) दाराणां कलत्राणामुपलक्षणत्वान्मित्राऽऽदीनां च मन्त्रो मन्त्रणं तस्य भेदः प्रकाशनं दारमन्त्रभेदः। स्वदारसन्तोषस्य द्वितीयव्रतस्य तृतीयेऽतिचारभेदे, प्रव०। अस्य धानुवादरूपत्वेन सत्यत्वाद् यद्यपि नातिचारत्वं घटते, तथाऽपि विश्रब्धभाषितार्थप्रकटनजनितलज्जाऽऽदितः कलत्रमित्राऽऽदेर्मरणाऽऽदिसंभवेन परमार्थतोऽस्यासत्यत्वात् कथञ्चिद्व्रतभङ्गरूपत्वेनातिचारतैव। रहस्यदूषणं हि रहस्यमाकाराऽऽदिना विज्ञायानधिकृत एव प्रकाशयति, इह तु मन्त्रयितैव स्वयं मन्त्रं भिनत्तीत्यनयोर्भेदः। प्रव० ६द्वार।

दारावती स्त्री० (द्वारावती) सौराष्ट्रदेशप्रतिबद्धायां राजधान्याम्, प्रज्ञा० १ पद।

दारिआ (देशी) वेश्यायाम्, दे० ना० ५वर्ग ३८ गाथा।

दारु न० (दारु) काष्ठे, सूत्र० १श्रु० २अ० ३उ०। स्था०। ज्ञा०। नि० चू०।

दारुग पुं० (दारुक) वासुदेवस्य धारिण्यां देव्यामुत्पन्न पुत्रे, स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां तृतीयवर्गस्य द्वादशेऽध्ययने सूचितम्। अन्त० ३वर्ग १अ०। दारुकोऽनगारो वासुदेवस्य पुत्रो भगवतोऽरिष्टनेमिनाथस्य शिष्योऽनुत्तरोपपाति-कोक्तचरित इति। स्था० ९ठा०। कृष्णसारथौ च। ज्ञा० १श्रु०१६अ०। दारुस्वार्थे कन्। देवदारुवृक्षे, वाच०। काष्ठे न०। आचा० २श्रु० २चू० ३अ०। आ० म०। आव०। उत्त०।

दारुघर न० (दारुगृह) करपत्रस्फाटितदारुफलकमये गृहे, व्य० ४ उ०।

दारुण पुं० (दारुण) 'दृ' भाये उनत्। दारयति विदारयति चित्तमिति दारुणः। चित्तके, वाच०। दारयन्ति जनमनांसि इति दारुणाः। विलपिताऽऽक्रन्दिताऽऽदिषु, उत्त० ९अ०। रौद्ररसे, भयानकरस, वाच०। रौद्रे च। ज्ञा० १श्रु० २अ०। प्रश्न०। दारयन्ति मन्दसत्त्वानां संयमविषयां धृतिमिमि दारुणाः। भाषायाम्, स्त्री०। उत्त० २अ०। भयानके, सूत्र० १श्रु० २अ० २उ०। असह्ये, आचा० १श्रु० ४अ० ४उ०। भयावहे, दुःसहे, भीषणे, भयहेतौ च। वाच०।

दारुणभाव पुं० (दारुणभाव) रौद्राध्यवसाये, बृ० ३उ०।

दारुणमति स्त्री० (दारुणमति) रौद्रमतौ, प्रश्न० १आश्र० द्वार।

दारुणविवाग पुं० (दारुणविपाक) नरकाऽऽदि दुःखकारणत्वेन घोरोदये, पञ्चा० ८ विव०। रौद्रफले, पञ्चा० १५ विव०। तीव्रविपाके कर्मणि, षो० १ विव०।

दारुणसहाव त्रि० (दारुणस्वभाव) दारुणः क्रोधान्वितः स्वभावो यस्याऽसौ दारुणस्वभावः। क्रोधान्वितस्वभावे, व्य० १उ०

दारुदंडय न० (दारुदण्डक) रजोहरणस्य काष्ठमयेऽल्पदण्डे, यत्र दारुमयस्य दण्डस्याग्रभागे ऊर्णिका दशिका वध्यन्ते तद्दारुदण्डकम्। बृ० ५उ०।

दारुपव्वय पुं० (दारुपर्वत) दारुनिर्मापित इव पर्वतविशेषे, जी० ३प्रति० ४उ०। रा०।

दारुपाय न० (दारुपात्र) काष्ठमये पात्रे, स्था० ३ठा० ३उ०। आचा०।

दारुय पुं० (दारुक) वसुदेवस्य धारिण्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, तद्वक्तव्यता गजसुकुमारस्येव। अन्त० २श्रु० ३वर्ग० १अ०।

दारुसंकम पुं० (दारुसंक्रम) जले सेत्वादिकरणे, स्थले गर्तालङ्घनाऽऽदिके च। आचा० १श्रु० ५अ० १उ०।

दालण न० (दारुण) विदारणे, प्रश्न० १आश्र० द्वार।

दालि स्त्री० (दालि) मुद्गाऽऽदिद्विदले, प्रव० ३८ द्वार। उत्त०। ध०।

दालिअ (देशी) चक्षुषि, दे० ना० ५वर्ग ३८ गाथा।

दालिद्द न० (दारिद्र) **''हरिद्राऽऽदौ लः''॥ ८। १। २५४॥** इति असंयुक्तस्य रस्य लः। 'दालिद्दं'। धनराहित्ये, प्रा० १पाद।

दालियंब न० (दालिकाम्ल) दाल्या मुद्गाऽऽदिमय्या निष्पादितेऽम्ले, उपा० १अ०।

दालिमरसिय त्रि० (दामिमरसिक) दामिमरससंसृष्टे, विपा० १श्रु० ८अ०।

दाव पुं० (दाव) दवानले, आव० ४अ०।

दावग्गि पुं० (दावाग्नि) 'दवग्गि' शब्दार्थे, औ०।

दावद्दव पुं० (दावद्रव) समुद्रतटवृक्षविशेषे, ज्ञा० १श्रु० १अ०। स०। प्रश्न०। आव०। आ० चू०। ('आराहग' शब्दे द्वितीयभागे ३७७ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यता)

दावर न० (द्वापर) यदा प्रत्येकस्यापि प्रथमो भङ्गो न प्राप्यते तदा द्वापर इति। समयपरिभाषया द्वितीये, बृ० १उ०।

दावरजुम्म न० (द्वापरयुग्म) द्वाभ्यामादित एव कृतयुग्माद्वोपरिवर्तिभ्यां यदपरं युग्मं कृतयुग्मादन्यत्तन्निपातनविधेर्द्वापरयुग्मे, भ०। ''जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे अ-

वहीरमाणे दुपज्जवसिए। से तं दावरजुम्मे।'' भ० १८ श० ४ उ०। द्विपर्य्यवसिते राशौ च। स्था० ४ ठा० ३ उ०। सूत्र०।

दावाणल पुं० (दावानल) वनहुताशने, आव० ४ अ०।

दावारय न० (उदकवारक) जलपात्रे, भ० १५ श०।

दास पुं० (दास) गृहदास्याः सञ्जाते, दुर्भिक्षाऽऽदिष्वर्थाऽऽदिना वा क्रीते, ऋणाऽऽदिदेयतिरेके वा अवरुद्धे, ग० १ अधि०। ध०। दासा दासीपुत्राऽऽदयः। स्था० ३ ठा० १ उ०। सूत्र०। जी०। बृ०। भृतकविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। चेटके, औ०। प्रश्न०। रा०। पं० भा०। पं० चू०।

गब्भे कीते अणए, दुब्भिक्खे सावराहरुद्धे वा।
समणाण व समणीण व, न कप्पती तारिसे दिक्खा॥ ३८५॥

गब्भे त्ति ओगालिदासो, किणित्ता दासो कतो, रिणं अदेंतो दासत्तणेण पइट्ठो. दुब्भिक्खे ठाति दासत्तणेण पइट्ठो, किमवि कारणे अवराधा दंड अदिंतो रण्णा दासो कतो, बंदिगो णिरुद्धो दविणं अदेंतिदासो कतो। एते दिक्खंतुं ण कप्पंति। नि० चू० ११ उ०।

दासचेडग पुं० (दासचेटक) दासस्य भृतकविशेषस्य चेटकः कुमारकः दासचेटकः। अथवा—दासश्चासौ चेटकश्चेति दासचेटकः। दासकुमारे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

दासत्त न० (दासत्व) गृहदासीपुत्रतायाम्, भ० १२ श० ७ उ०।

दासपोरुस न० (दासपौरुष) चेटकचेटीपतिप्रमुखाऽऽदिके, उत्त० ३ अ०।

दासरहि पुं० (दासरथि) दशरथापत्ये, ''तेयाजुगे य दासरहि रामो सीयालक्खणसंजुओ पिउआणाए वनवासं गओ।'' ती० २५ कल्प।

दासवाय पुं० (दासवाद) दासोऽयमाचार्य्य इति वार्त्तायाम्, स्था० ६ ठा०।

दासी स्त्री० (दासी) चेटिकायाम्, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। औ०। रा०। दास्यो घटयोषितः सर्वापसदाः, ताभिरपि सह सम्पर्कं परिहरेत्। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

दासीखव्वडिया स्त्री० (दासीकर्वटिका) स्थविराद्दोदासन्निर्गतस्य गोदासगणस्य चतुर्थशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण।

दासीचोर पुं० (दासीचौर) चेटीचौरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

दाह पुं० (दाह) **''हो घोऽनुस्वारात्''॥ ८। १। २६४॥** इति सूत्रे क्वचिदननुस्वारादिति वचनाद् हस्य घः। 'दाहो। दाघो।' प्रा० १ पाद। बाह्ये संतापे, आ० म० १ अ० २ खण्ड। भस्मीकरणे, नि० चू० १ उ०। रोगभेदे, जी० ३ प्रति० ४ उ०। विपा०। ज्ञा०। आ० म०। ''अहोत्था विउलो दाहो, सव्वगत्तेसु पत्थिवा!'' (१६) उत्त० २० अ०। गात्र सन्तापे च। वाच०।

दाहवक्कंतिय त्रि० (दाहव्युत्क्रान्तिक) दाहो व्युत्क्रान्त उत्पन्नो यस्याऽसौ दाहव्युत्क्रान्तः, स एव दाहव्युत्क्रान्तिकः। दाहोत्पत्तौ, भ० ६ श० ३३ उ०। ज्ञा०।

दाहा स्त्री० (दाहा) प्रहरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०।

दाहिण त्रि० (दक्षिण) **''दुःखदक्षिणतीर्थे वा''॥ ८। २। ७२॥** एषु संयुक्तस्य हः। 'दाहिणो। दक्खिणो।' प्रा० २ पाद। अवामभागस्थे, वाच०। सू० प्र०। आचा०।

दाहिणगामुय पुं० (दक्षिणगामुक) दक्षिणस्यां दिशि गमनशीले, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

दाहिणड्ढभरह पुं० (दक्षिणार्द्धभरत) भरतक्षेत्रस्य दक्षिणार्द्धे, कल्प० १ क्षण।

दाहिणड्ढभरहकूड न० (दक्षिणार्द्धभरतकूट) दक्षिणार्द्धभरतनाम्नो देवस्याऽऽवासभूते कूटे, जं० १ वक्ष०।

दाहिणड्ढमाणुस्सखेत पुं० (दक्षिणार्द्धमनुष्यक्षेत्र) दक्षिणार्द्धमनुष्यक्षेत्रभवेषु, ''दाहिणड्ढमाणुस्सखेत्ताणं छावट्ठिं चंदा पभासिंसु वा, पभासंति वा, पभाविस्संति वा, छावट्ठिं सूरिया तविंसु वा, तवंति वा, तविस्संति वा।'' स० ६५ सम०।

दाहिणड्ढलोगाहिवई पुं० (दक्षिणार्द्धलोकाधिपति) लोकस्यार्द्धमर्द्धलोको दक्षिणो योऽर्द्धलोको दक्षिणार्द्धलोकस्तस्य योऽधिपतिः। तस्मिन्, उपा० २ अ०। कल्प०।

दाहिणत्त न० (दक्षिणत्व) सरलत्वे, स० ३५ सम०।

दाहिणदारिय न० (दक्षिणद्वारिक) दक्षिणं द्वारं येषमस्ति तानि दक्षिणद्वारिकाणि। अश्विन्यादिषु सप्तनक्षत्रेषु, स्था० ७ ठा०। दक्षिणदिशि येषु गच्छतः शुभं भवति। स० ७ सम०।

दाहिणपच्चच्छिमा स्त्री० (दक्षिणपश्चिमा) नैर्ऋत्यकोणे, रा०। स्था०।

दाहिणभुय पुं० (दक्षिणभुज) दक्षिणहस्ते, रा०। सू० प्र०।

दाहिणवाय पुं० (दक्षिणवात) दक्षिणस्याः दिशः समागच्छति वाते, प्रज्ञा० १ पद। स्था०।

दाहिणा स्त्री० (दक्षिणा) दक्षिणस्यां दिशि, स्था० ६ ठा०।

दाहिणायण पुं० न० (दक्षिणायन) रवेः कर्कसंक्रमादनन्तरं षण्मासाऽऽत्मके समये, सू० प्र० १० पाहु०।

दाहिणावत्त पुं० (दक्षिणाऽऽवर्त) अनुकूलप्रवृत्तावावर्ते, स्था० ४ ठा० २ उ०।

दाहिणिल्ल त्रि० (दाक्षिणात्य) दक्षिणदिग्भवमात्रे, स्था० ४ ठा० २ उ०। प्रज्ञा०।

दि (त्वया) तृतीया। **''भे दि०॥ ८। ३। ३६॥** इत्यादिना त्वया इत्यस्य स्थाने दि इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद०।''

दिअ पुं० (द्विज) द्विर्जायते जन—मः। वृत्तौ संख्याया वारार्थत्वम्। वाच०। **''सर्वत्र लवरामचन्दे''॥ ८। २। ७९॥** इति संयुक्तस्याधः स्थितस्य वकारस्य लुक्। द्विजः। दिओ। प्रा० २ पाद०। **''द्विन्योरुत्''॥ ८। १। ६४॥** इति सूत्रे क्वचिन्नेति वचनाद् न उत्वम्। दिओ। प्रा० १ पाद। ब्राह्मणे, ब्राह्मणाऽऽदिवर्णत्रये, ''जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारैर्द्विज उच्यते।'' दन्ते, अण्डजे विहगाऽऽदौ, तुम्बुरुवृक्षे च। वाच०।

*** दिप** पुं० दाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबति। पा—कः। हस्तिनि, वाच०।

दिअंबर पुं० (दिगम्बर) शिवे, नग्ने, आर्हतभेदे, वाच० । साधुभेदे, आ० म० । ही० । आचा० ।

दिअंबरदंसण न० (दिगम्बरदर्शन) दिगम्बराणां शास्त्रे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दिअज्झ (देशी) सुवर्णकारे, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दिअधुत्त (देशी) काके, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा ।

दिअर पुं० (देवर) देव अरच् । ''एत इद्वा वेदना–वपेटा–देवर– केसरे'' ॥ ८ । १ । १४६ ॥ इति एत इत्वम् । 'दिअरो । देवरो ।' प्रा० १ पाद । पत्युः कनिष्ठभ्रातरि, वाच० ।

दिअलिअ (देशी) मूर्खे, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दिअसिअ (देशी) सदाभोजने, अनुदिने च । दे० ना० ५ वर्ग ४० गाथा ।

दिअह पुं० (दिवस) दय्यित्यत्र दिव–असच् किच्च । षष्टिदण्डाऽऽत्मके समये, ''दिअहा जंति झडप्पडहिँ, पमहिँ मणोरह पच्छि ।'' प्रा० ४ पाद ।

दिअहम् पुं० (दिवस) षष्टिदण्डाऽऽत्मके समये, जे महु दिण्णा दिअहडा, दइए पवसंतेण । ताण गणंतिएँ अङ्गुलिउ, जज्जरिआ उ नहेण । '' प्रा० ४ पाद । पवसता चलता दयितेन ये मम दिवसा दत्तास्तान् गणयन्त्या ममाङ्गुल्यो नखेन जर्जरिताः । प्रा० दुं० ४ पाद ।

''नामीषष्टिमितस्तत्र, सावनो दिवसः स्मृतः ।
त्रिंशद्गोऽर्कराशेस्तु, दिवसः सौर उच्यते ॥ १ ॥
चान्द्रस्तु तिथ्यवच्छिन्नो, भौमो भूपरिधेर्मतः ।''

इत्युक्तेषु सावनाऽऽदिषु दिनेषु च । वाच । ''भमरा एत्थु विलम्बडइ, केवि दि अहमा विलम्बु ।'' प्रा ४ पाद ।

दिअहुत्त (देशी) पूर्वाह्नभोजन, दे० ना० ५ वर्ग ४० गाथा ।

दिआहम (देशी) भासपक्षिणि, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दिइ स्त्री० (दृति) दृ–क्तिन् । जलाऽऽधारे चर्ममये भाजने, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । अनु० ।

दिइआ स्त्री० (दृतिका) चर्मनिर्मितोदकपात्रे, मत्स्यभेदे च । वाच० । अनु० ।

दिक्काण पुं० (द्रेष्काण) मेषाऽऽदीनां लग्नानां दशांशाऽऽत्मके त्रिलवे, ''कूणदिक्काणलोगेसुं, उत्तमट्ठं तु कारए । एवं लग्गाणि जाणिज्जे, दिक्काणेसु ण संसओ ॥१॥'' द० प० ।

दिक्खकाल पुं० (दीक्षाकाल) योगकाले, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दिक्खभाव पुं० (दीक्षाकाल) प्रव्रज्याया भावे, पञ्चा० १८ विव० ।

दिक्खा स्त्री० (दीक्षा) दक्षिणं दिशा । प्रवज्यायाम्, ओघ० । स्था० ।

साम्प्रतं ज्ञानत्रयभावाभावयोर्दीक्षाऽधिकारित्वानधिकारित्वप्रतिपादनायाऽऽह–

अस्मिन् सति दीक्षाया, अधिकारी तत्त्वतो भवति सत्वः ।
इतरस्य पुनर्दीक्षा, वसन्तनृपसन्निभा ज्ञेया ॥ १ ॥

अस्मिन् ज्ञानत्रये, सति विद्यमाने, दीक्षाया विरतिरूपायाः, अधिकारी अधिकारवान्, शास्त्रनयोदितत्वेन तत्त्वतः परमार्थतो भवति, सत्वः पुमान्, इतरस्याऽनधिकारिणः, पुनर्दीक्षा व्रतरूपा, वसन्तनृपसन्निभा विडम्बनाप्राया चैत्रमासपरिहासकृतराजसन्निभा मुख्यनृपदीक्षात्कार्याकरणेन ज्ञेया ज्ञातव्या ॥ १ ॥

अधुना दीक्षाया निरुक्तमुपदर्शयन् ज्ञानिन एव तां नियमयन्नाह–

श्रेयोदानादशिव–क्षपणाच्च सतां मतेह दीक्षेति ।
सा ज्ञानिनो नियोगाद्, यथोदितस्यैव साध्वीति ॥ २ ॥

श्रेयोदानाच्छ्रेयः सुन्दरं तस्य दानं वितरणं तस्मात्, अशिवं प्रत्यवायस्तत्क्षपणाच्च तन्निरसाच्च, सतां मुनीनां मताऽभिप्रेता, इह प्रवचने, दीक्षेति प्रागुक्ता । इत्येवमनया निरुक्तप्रक्रियया, सा दीक्षा, ज्ञानिनो ज्ञातवतो, नियोगान्नियोगेन, यथोदितस्यैवाधिकारिण एव, साध्वीति निरवद्या वर्तते ॥ २ ॥

ननु च यदि ज्ञानिन एव नियमेन साध्वी दीक्षा, ततः कथं पूर्वोक्तज्ञानत्रयविकलानां माषतुषप्रभृतीनां समये सा श्रेयसी श्रूयत इत्याशङ्क्याऽऽह–

यो निरनुबन्धदोषा–च्छ्राद्धोऽनाभोगवान् वृजनभीरुः ।
गुरुभक्तो ग्रहरहितः, सोऽपि ज्ञान्येव तत्फलतः ॥ ३ ॥

य एवंविधो निरनुबन्धदोषाच्छ्राद्धः । निरनुबन्धो व्यवच्छिन्नरान्तानो दोषो रागाऽऽदिर्निरनुबन्धश्चासौ दोषश्च तस्माच्छ्राद्धः श्रद्धावान । यस्तु सानुबन्धदोषान्निरुपक्रमक्लिष्टकर्मलक्षणात् कथञ्चिच्छ्राद्धो भवति, स नेह गृह्यते । अनाभोगवान् अनाभोगोऽपरिज्ञानमात्रमेव केवलं ग्रन्थार्थाऽऽदिषु सूक्ष्मबुद्धिगम्येषु स विद्यते यस्य स तथा वृजिनं पापं तस्माद्भीरुर्वृजिनभीरुः संसारविरक्तत्वेन । गुरवः पूज्यास्तेषु भक्तो गुरुबहुमानात् । ग्रह आग्रहो मिथ्याऽभिनिवेशस्तेन रहितो ग्रह रहितोऽनेन सम्यग्दर्शनवत्त्वमस्याऽऽवेदयति, सोऽपि य एवमुक्तविशेषणवान्, ज्ञान्येव ज्ञानवानेव । तत्फलतो ज्ञानफलसंपन्नत्वेन, ज्ञानस्याऽपि ह्येतदेव फलं संसारविरक्तगुरु-भक्तवाऽऽदि, तदस्याऽपि विद्यत इति कृत्वा ॥ ३ ॥

कथं पुनर्ज्ञानफलं माषतुषाऽऽदेर्गुरुबहुमानमात्रेण तथाविधज्ञानविकलस्य सन्मार्गगमनाऽऽदीत्याशङ्क्याऽऽह–

चक्षुष्मानेकः स्या–दन्धोऽन्तस्तन्मतानुवृत्तिपरः ।
गन्तारौ गन्तव्यं, प्राप्नुत एतौ युगपदेव ॥ ४ ॥

चक्षुरमलमनुपहतं विद्यते यस्य स चक्षुष्मानेक कश्चित् स्याद्वेत्पुरुषो मार्गगमनप्रवृत्तः, अन्धो दृष्टिविकलोऽन्यस्तदपरः, केवलं मार्गानुसारितया विशिष्टविवेकसंपन्नत्वेन च । तन्मतानुवृत्तिपरस्तस्य चक्षुष्मतो मतमभिप्रायो वचनं वा तन्मूलं तदनुवृत्तिपरस्तदनुवर्त्तनप्रधानः शेषानुमतवचनपरित्यागेन । एतौ द्वावपि चक्षुष्मत्सदन्धौ गन्तारौ गमनशीलावनवरतप्रयाणकवृत्त्या गन्तव्यं विवक्षितनगराऽऽदि । प्राप्नुत एतौ युगपदेवैककालमेव । इदमुक्तं भवति–चक्षुष्मान् पुरस्ताद् व्रजत्यन्धस्तु पृष्ठतः, एवमनयोर्व्रजतोरेकपदन्यास एवान्तरं नापरं महत्, यदि वातदपि समानपदन्यासयोः साहित्येन बाहुलग्नयोर्व्रजतोर्नास्तीत्येवमेककालाप्तव्यनगराऽऽदिस्थानप्राप्तर्द्वयोरपीति । यथैवमेतयोर्नान्तरं तथा गुरुमाषतुषकल्पशिष्ययोर्ज्ञान्यज्ञानिनोः फलं प्रति सन्मार्गगमनप्रवृत्तयोर्मार्गपर्यन्तप्राप्तौ मुक्त्यवस्थायां न किञ्चिदन्तरमिति गर्भार्थः ॥ ४ ॥

एवं समानफलत्वं ज्ञान्यज्ञानिनोः प्रतिपाद्य दीक्षार्हत्वं विशेषज्ञानासमन्वितस्यापि दर्शयति--

यस्यास्ति सत्क्रियाया–मित्थं सामर्थ्ययोग्यताऽविकला।
गुरुभावप्रतिबन्धाद्, दीक्षोचित एव सोऽपि किल ॥ ५ ॥

यस्य विशिष्टज्ञानरहितस्याप्यस्ति विद्यते सत्क्रियायां सदाचारे, इत्थमनेन प्रकारेण, सामर्थ्ययोग्यता सामर्थ्येन समानफलसाधकत्वरूपेण योग्यताऽविकला परिपूर्णा, गुरुषु धर्माऽऽचार्याऽऽदिषु भावप्रतिबन्धाद् भावतः प्रतिबद्धत्वेन हेतुना दीक्षोचित एव दीक्षायोग्य एव प्रस्तुतः, किलेत्याप्ताऽऽगमवादः यतः संसारविरक्त एवास्या अधिकारी शेषगुणवैकल्येऽपीत्युक्तम् ॥ ५ ॥

इदानीं दीक्षायाः समानफलतया देयत्वमभिदधानो विषमफलस्य चाऽदेयत्वमुपदर्शयन्निदमाह–

देयाऽस्मै विधिपूर्वं, सम्यक्तन्त्रानुसारतो दीक्षा।
निर्वाणबीजमेषे--त्यनिष्टफलदाऽन्यथाऽत्यन्तम् ॥ ६ ॥

दया दातव्याऽस्मै योग्याय विधिपूर्वं विधानपूर्वं सम्यगवैपरीत्येन तन्त्रानुसारतः शास्त्रानुसारतो दीक्षा व्रतरूपा निर्वाणस्य बीजं मोक्षसुखयोर्हेतुत्वेन । एषेति दीक्षैवाऽनिष्टफलदा विपर्ययफला संसारफलाऽन्यथाऽयोग्याय दीयमानाऽत्यन्तमतिशयेनेति ॥ ६ ॥

का पुनरियं दीक्षेत्याह–

देशसमग्राऽऽख्ययेयं, विरतिर्न्यासोऽत्र तद्वति च सम्यक्।
तन्नामाऽऽदिस्थापन--मन्विद्धुतं स्वगुरुयोजनतः ॥ ७ ॥

देशाऽऽख्या, समग्राऽऽख्या चेयं दीक्षा विरतिरुच्यते, देशविरति-दीक्षा, सर्वविरतिदीक्षा चेत्यर्थः । न्यासो निक्षेपोऽत्र दीक्षायां व्रतन्यास इत्यर्थः । सा विद्यते यस्य तद्वांस्तस्मिंस्तद्वति च पुरुषे देशदीक्षावति, सर्वदीक्षावति च सम्यग् समीचीनं संगतम् । तन्नामाऽऽदिस्थापनं तेषां प्रवचनप्रसिद्धानां नामाऽऽदीनां चतुर्थी स्थापनमारोपणमन्विद्धुतं उपद्रवरहितमनुप्लवमिति यावत् । कथं तन्नामाऽऽदिस्थापनम् ? स्वगुरुयोजनतः स्वगुरुभिरात्मीय-पूज्यैर्योजनं संबन्धनमौचित्येन यत्र तन्नामाऽऽदीनां ततः सकाशात् ॥ ७ ॥

कथं पुनर्विशिष्टनामन्यासस्य स्वगुरुभिः प्रसादीकृतस्य दीक्षानिमित्तत्वमिति मन्यमानं परं प्रत्याह–

नामनिमित्तं तत्त्वं, तथा तथा चोद्धृतं पुरा यदिह।
तत्स्थापना तु दीक्षा, तत्त्वेनान्यस्तदुपचारः ॥ ८ ॥

नामनिमित्तं नामहेतुकं तद्भावरूपतत्त्वं नामप्रतिपाद्यगुणाऽऽत्मकत्वम्, कृतप्रशान्ताऽऽदिनाम्नः प्रशमाऽऽदिस्वरूपोपलम्भात् । तन्नाम्नि च तद्गुणस्मरणाऽऽद्युपलब्धेस्तथा तथा चोद्धृतं तेन तेन स्वरूपेणोद्धृतमुदूढं कृतनिर्वाहम् । पुरा पूर्वं , यद्यस्मादिह प्रवचने, मुनिभिः तत् स्थापना तु तस्यैव नाम्नः स्थापना तु स्थापनैव नामन्यास एव दीक्षा प्रस्तुता, तत्त्वेन परमार्थेनान्यस्तदुपचारोऽन्यक्रियाकलापस्तदुपचारस्तस्या दीक्षाया उपचारो वर्त्तते, विद्योपचारात् ॥ ८ ॥

कस्मात्पुनर्नामाऽऽदिन्यासे महानादरः क्रियत इत्याशङ्क्याऽऽह–

कीर्त्यारोग्यध्रुवपद–संप्राप्तेः सूचकानि नियमेन।
नामाऽऽदीन्याचार्याः, वदन्ति तत्तेषु यतितव्यम् ॥ ९ ॥

कीर्तिः श्लाघा, आरोग्यं नीरुजत्वं, प्राक्तनसहजौत्पातिकरोगविरहेण, ध्रुवं स्थैर्यं भावप्राधान्यान्निर्देशस्य । पदं स्थानं विशिष्टपुरुषावस्थारूपमाचार्यत्वाऽऽदि । कीर्तिश्चारोग्यं च ध्रुवं च पदं च कीर्त्यारोग्यध्रुवपदानि, तेषां संप्राप्तिरपूर्वलाभः, तस्या अप्राप्तिपूर्विकायाः प्राप्तेः सूचकानि गमकानि नियमेनावश्यंतया, नामस्थापनाद्रव्यभावरूपाण्याचार्याः पूज्या वदन्ति ब्रुवते । तत्तस्मात्तेषु नामाऽऽदिषु यतितव्यं यत्नो विधेयः । इह चेदं तात्पर्यमवसेयम्–अन्वर्थनाम्नो हि कीर्त्तनमात्रादेव शब्दार्थप्रतिपत्तेर्विदुषां प्राकृतजनस्य च मनःप्रसादात्कीर्तिरविर्भवति । यथा सुधर्म्मभद्रबाहुस्वामिप्रभृतीनामुत्तमपुरुषाणां प्रवचने कीर्तिरुद्रघादि । स्थापनाऽप्याकारवती रजोहरणमुखवस्त्रिकाऽऽदिधारणद्वारेण भावगर्भप्रवृत्त्या आरोग्यमुपजनयति, द्रव्यमप्याचाराऽऽदिश्रुतं सकलसाधुक्रिया चाभ्यस्यमाना व्रतस्थैर्योपपत्तये प्रभवति, भावोऽपि सम्यग्दर्शनाऽऽदिरूपः पूर्वोक्तपदावाप्तये संपद्यते । न हि विशिष्टभावमन्तरेणाऽऽगमोक्तविशिष्टपदावाप्तिर्भवतो भवति । अथवा सामान्येनैव कीर्त्यारोग्यमोक्षसंप्राप्तेः सूचकानि सर्वाण्येव नामाऽऽदीनीति ॥ ९ ॥

किमिति दीक्षाप्रस्तावे नामाऽऽदिषु यतितव्यमित्याशङ्क्याऽऽह–

तत्संस्कारादेषा, दीक्षा संपद्यते महापुंसः।
पापविषापगमात् खलु, सम्यग्गुरुधारणायोगात् ॥ १० ॥

तत्संस्काराद्यामाऽऽदिसंस्कारादेषा द्विविधा दीक्षा व्रतरूपा संपद्यते संभवति महापुंसो महापुरुषस्य, न ह्यमहापुरुषा व्रतधारिणो भवन्ति । पापं विषमिव पापविषं, तस्यापगमात् खल्वपगमादेव, पापविषयोर्वाऽपगमात् । विषापहारिणी दीक्षेति केषाञ्चित् प्रसिद्धिस्तदनुरोधादिदमुक्तम् । पापविषापगमादेव दीक्षेति सम्यगवैपरीत्येन गुरुश्च धारणा च गुरुधारणे, ताभ्यां योगः संबन्धस्तस्माद् गुरुधारणायोगात् । गुरुयोगात्पापापगमो, धारणायोगादेव विषापगम इति ॥ १० ॥

दीक्षा सम्पद्यते महापुंस इत्युक्तं तत्सम्पतौ सर्वविरतस्य यद्भवति तदाह–

संपन्नायां चास्यां, लिङ्गं व्यावर्णयन्ति समयविदः।
धर्मैकनिष्ठतैव हि, शेषत्यागेन विधिपूर्वम् ॥ ११ ॥

संपन्नायां च संजातायां चास्यां दीक्षायां लिङ्गं लक्षणं व्यावर्णयन्ति कथयन्ति समयविदः आगमवेदिनः, धर्मैकनिष्ठतैव हि धर्मतत्परतैव हि, शेषत्यागेन धर्मादन्यः शेषस्तत्यागेन तत्परिहारेण, विधिपूर्वं शास्त्रोक्तविधानपुरःसरं यथाभवत्येवं शेषत्यागेन धर्मैकनिष्ठता सेवनीया नान्यथेति भावः ।

अस्यामेव सर्वविरतिदीक्षायां क्षान्त्यादियोजनामार्याद्वयेन दर्शयति–

वचनक्षान्तिरिहाऽऽदौ, धर्मक्षान्त्यादिसाधनं भवति।
शुद्धं च तपोनियमाद्, यमश्च सत्यं च शौचं च ॥ १२ ॥
आकिञ्चन्यं मुख्यं, ब्रह्मापि परं सदागमविशुद्धम्।
सर्वं शुक्लमिदं खलु, नियमात्संवत्सरादूर्ध्वम् ॥ १३ ॥

वचनक्षान्तिरागमक्षान्तिरिह दीक्षायामादौ प्रथमं धर्मक्षान्त्यादिसाधनं भवति । आदिशब्दाद्धर्ममार्दवाऽऽदिग्रहः । धर्म्मक्षान्त्यादीनां साधनं वचनक्षान्तिर्भवति, तत्पूर्वकत्वात्तेषाम्, शुद्धं चाकिल

ष्ट च तपो द्वादशभेदं नियमान्नियमेन यमश्च संयमश्च, सत्यं चाविसंवादनाऽऽदिरूपं शौचं च बाह्याभ्यन्तरभेदम् ॥ १२ ॥

अकिञ्चनस्य भाव आकिञ्चन्यं, मुख्यं निरुपचरितम्, ब्रह्मापि ब्रह्मचर्यमपि, परं प्रधानम्, सदागमविशुद्धं सदर्थप्रतिपादक आगमः सदागमः, तेन विशुद्धं निर्दोषं, सर्वं पूर्वोक्तं दशविधमपि क्षान्त्यादिशुक्लमिदं खलु निरतिचारमिदमेव नियमादितरव्यावृत्त्या शुक्लस्याऽशुक्लनिवर्तकत्वात्संवत्सरादूर्ध्वं क्रियामलत्यागेन संवत्सरकालात्ययेन शुक्लं भवतीति ॥ १३ ॥

अस्यैव दीक्षावतः पूर्वोत्तरकालभाविगुणयोगमाह–

ध्यानाध्ययनाभिरतिः, प्रथमं पश्चात्तु भवति तन्मयता।
सूक्ष्मार्थालोचनया, संवेगः स्पर्शयोगश्च ॥ १४ ॥

ध्यानं धर्म्यं शुक्लं च स्थिराध्यवसानरूपं, यथोक्तम्–''एकालम्बनसंस्थस्य, सदृशप्रत्ययस्य च। प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तः, प्रवाहो ध्यानमुच्यते ॥ १ ॥'' अध्ययनं स्वाध्यायपाठः, ध्यानं चाध्ययनं च ध्यानाध्ययने। अध्ययनपूर्वकत्वेऽपि ध्यानस्याल्पाक्षरत्वादभ्यर्हणीयत्वाच्च पूर्वनिपातः, तयोरभिरतिराशक्तिरनवरतप्रवृत्तिः प्रथममादौ दीक्षासंपन्नस्य, पश्चात्तु पश्चात्पुनर्भवति। तन्मयता तन्मयत्वं तत्परता, सूक्ष्मार्थाश्च तेऽर्थाश्च बन्धमोक्षाऽऽदयः, तेषामालोचना, तया सूक्ष्मार्थाऽऽलोचनया, संवेगो मोक्षाऽभिलाषः स्पर्शयोगश्च स्पर्शस्तत्त्वज्ञानं तेन योगः संबन्धः संभवतीति ॥ १४ ॥

स्पर्शयोगश्चेत्युक्तं तत्र स्पर्शलक्षणमाह–

स्पर्शस्तत्तत्त्वाऽऽप्तिः, संवेदनमात्रमविदितं त्वन्यत्।
बन्ध्यमपि स्यादेतत्, स्पर्शस्त्वक्षेपतत्फलदः ॥ १५ ॥

स्पृश्यतेऽनेने वस्तुनस्तत्त्वमिति स्पर्शः, स च कडिगित्याह–तत्तत्त्वाप्तिस्तस्य तस्य वस्तुनो जीवाऽऽदेस्तत्त्वं स्वरूपं तस्याऽऽप्तिरुपलम्भो ज्ञानं स्पर्श उच्यते, संवेदनमात्रं वस्तुस्वरूपपरामर्शशून्यमविदितं त्वन्यत् कथञ्चिद्वस्तुग्राहित्वेऽपि न विदितं वस्तु तदित्यविदितमुच्यते, बन्ध्यमपि विफलमपि स्यादेतत् संवेदनमात्रं, स्पर्शस्तु स्पर्शः पुनरक्षेपतत्फलदोऽक्षेपेणैव तत् स्वसाध्यं फलं ददातीत्ययमनयोः स्पर्शसंवेदनयोर्विशेष इति ॥ १५ ॥

संवेगस्पर्शयोगेन दीक्षायान् यत् करोति, तदाह–

व्याध्याभिभूतो यद्व–न्निर्विण्णस्तेन तत्क्रियां यत्नात्।
सम्यक्करोति तद्व–द्दीक्षित इह साधुसच्चेष्टाम् ॥ १६ ॥

व्याधिना कुष्ठाऽऽदिनाऽभिभूतो ग्रस्तो यद्वद्यथा, निर्विण्णो निर्वेदं गाहितस्तेन व्याधिना तत्क्रियां तच्चिकित्सां व्याधिप्रतीकाररूपां यत्नाद्यत्नेन सम्यक्करोति विधत्ते, तद्वत्तथा दीक्षित इह प्रक्रमे साधूनां सच्चेष्टा विनयाऽऽदिरूपा तां साधुसच्चेष्टाम् ॥ १६ ॥ षो० १२ विव०। अथ वृद्धप० शुभविजयगणितकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च–यथा तीर्थकृद्भिः सह ये दीक्षां गृह्णन्ति ते किं तीर्थकृद्वत्पाठोचाराऽऽदिकं कुर्वन्त्युत भिन्नमिति प्रश्ने, उत्तरम्–तीर्थकरैः सार्द्धं दीक्षाग्रहणं कुर्वद्भिः स्वयं दक्षत्वात्तत्तत्क्षेत्रकालाऽऽद्यनुसारेण तपस्याग्रहणं क्रियते, न तु तीर्थकरवत्, प्रथमतीर्थकृता सार्द्धं तु तीर्थकरवत् पाठोचारं कुर्वन्तीति ज्ञायते ॥ १८७ प्र०। सेन० २ उल्ला०। सिंहाऽऽदिसंक्रान्तित्रयमध्ये तथाऽऽवर्तिकामासमध्ये च कानि कानि धर्म्मकार्याणि शुद्ध्यन्ति, कानि नेति प्रश्ने, उत्तरम्–दिक्षाप्रतिष्ठाऽऽदिकं न शुद्ध्यत्यन्यानि तु शुद्ध्यन्तीति, चतुर्मासकमध्येऽपि उपस्थापनामालारोपणाऽऽदि विना धर्मकार्याणि सर्वाणि शुद्ध्यन्ति, कारणवशात् तदपि विजयदशम्यनन्तरं शुद्ध्यतीति योगोपधानव्रतोच्चाराऽऽदीनां तु दिनशुद्धिरेव विलोक्या न मासवर्षाऽऽदि। १२४ प्र०। सेन० २ उल्ला०। ('पवज्जा' शब्दे दीक्षाविधिर्वक्ष्यते) सर्वसत्त्वाभयप्रदानेन भावसत्रे, पं० व० १ द्वार। योगे, आ० म० १अ० २खण्ड। प्रव०। पञ्चा०। (नपुंसकाऽऽदीनां दीक्षितानां परिष्टापना 'परिट्ठवणा' शब्दे वक्ष्यते)

दिक्खागुण पुं० (दीक्षागुण) जिनदीक्षाधर्मे, जिनसाध्वागमभक्तिप्रभावनाऽऽदौ च। पञ्चा० २ विव०। षो०।

दिक्खादावण न० (दीक्षादापन) प्रौढोत्सवैः सुताऽऽदीना प्रव्राजने, प्रव। तथैव प्रौढोत्सवैः सुताऽऽदीनामादिशब्दात्पुत्रभ्रातृभ्रातृव्यस्वजनसुहृत्परिजनाऽऽदीनां दीक्षादापनम्, उपलक्षणत्वादुपस्थापनाकारणं च, श्रूयतेऽपि कृष्णचेटकनृपयोः स्वापत्यविवाहनेऽपि नियमवतोः स्वपुत्र्यादीनामन्येषां च यावच्चापुत्राऽऽदीनां प्रौढोत्सवैः प्रव्राजना, इयं च महाफला। यतः–''ते धन्ना कयपुन्ना, जणओ जणणी अ सयणवग्गो अ। जेसिं कुलम्मि जायइ, चारित्तधरो महापुत्तो'' ॥ १ ॥ इति। (६६ ध० २ अधि०।)

दिक्खावयपरिणय त्रि० (दीक्षावयःपरिणत) दीक्षावयोभ्यां सम्प्राप्ते, ध० २ अधि०।

दिक्खाविहाण न० (दीक्षाविधान) दीक्षाविधौ, पञ्चा० २ विव०।

दिक्खिऊण अव्य० (प्रेक्षित्वा) दृष्ट्वेत्यर्थे, ती० ३ कल्प।

दिक्खियजिणोमाण त्रि० दीक्षितजिनावमान अधिवासितजिनप्रोङ्क्षणके, पञ्चा० ८ विव०।

दिक्खोवयार पुं० (दीक्षोपकार) भव्यसत्त्वस्य दीक्षादानेनानुग्रहे, पञ्चा० १८ विव०।

दिगंबर पुं० (दिगम्बर) 'दिअंबर' शब्दार्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड।

दिगायरिय पुं० (दिगाचार्य) दिगाचार्यशब्देन किमुच्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्–सचित्ताचित्तमिश्रवस्त्वनुज्ञाया दिगाचार्य इति योगशास्त्रप्रकाशवृत्तौ प्रायश्चित्ते वैयावृत्त्यमिति श्लोकव्याख्याने दिगाचार्यशब्दार्था ज्ञेय इति। १३२ प्र०। सेन० १ उल्ला०।

दिगिंछा (देशी) बुभुक्षायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। स०। भ०।

दिगिंछापरिगय त्रि० (दिगिञ्छापरिगत) क्षुधाव्याप्ते, उत्त० २ अ०। आ० चू०।

दिगिंछापरिसह पुं० [दिगिञ्छापरि(री)षह] इह च दिगिञ्छेति देशीवचनेन बुभुक्षोच्यते, सैवात्यन्तव्याकुलत्वहेतुरुष्यसंयमभीरुतया आहारपरिपाकाऽऽदिवाञ्छाविनिवर्त्तनेन परीति सर्वप्रकारेण सह्यत इति परिषहः। क्षुत्परीषहे, उत्त० २ अ०। भ०। स०। ('खुहा' शब्दे तृतीयभागे ७५५ पृष्ठे व्याख्यात्म्)

दिगिंछापरीसह पुं० (दिगिञ्छापरीषह) 'दिगिंछापरिसह' शब्दार्थे, उत्त० २ उ०।

दिगु पुं० (द्विगु) संख्यापूर्वे समासभेदे, ''संख्यापूर्वो द्विगु'' ॥ २। १। ५२ ॥ इति पाणिनियवचनम्। अनु०।

से किं तं दिगुसमासे ? दिगुसमासे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा–तिण्णि कडुगाणि तिकडुगं, तिण्णि महुराणि तिमहुरं,

तिण्णि गुणाणि तिगुणं, तिण्णि पुराणि तिपुरं, तिण्णि सराणि तिसरं, तिण्णि पुक्खराणि तिपुक्खरं, तिण्णि बिंदुआणि तिविंदुअं, तिण्णि पहाणि तिपहं, पंच नदीओ पंचनदि, सत्त गया सत्तगयं, नव तुरंगा नवतुरंगं, दस गामा दसगामं, दस पुराणि दसपुरं। सेत्तं द्विगुसमासे।

''संख्यापूर्वो द्विगु'' ॥ २। १। ५२॥ त्रीणि कटुकानि समाहृतानि त्रिकटुकम्। एवम् –त्रीणि मधुराणि समाहृतानि त्रिमधुरं, पत्राऽऽदिगणे दर्शनादिह पञ्चमूलीत्यादिषु स्त्रियामीप्रत्ययो न भवति, एवं शेषाण्यप्युदाहरणानि भावनीयानि। अनु०।

दिग्घ पुं० (दीर्घ) दृ–घञ्। घस्य नेत्वम्। ''दीर्घे वा'' ॥ ८॥ २। ६१॥ दीर्घशब्दे शेषस्य घस्य उपरि पूर्वो वा भवति। ''दिग्घो। दीहो।'' प्रा० २ पाद। शाललतावृक्षे, उष्ट्रे, द्विमात्रे स्वरवर्णे च। आयते, वाच०। स्थूले च। त्रि०। जं० २ वक्ष०।

दिच्छा स्त्री० (दित्सा) दातुमिच्छायाम्, अनु०।

दिट्ठ न० (दिष्ट) दिश–क्तः। भाग्ये, ''न दिष्टमिष्टं कुरुते'' इति माघः। काले, पुं०। उपदिष्टे, वाच०। प्रतिपादिते च। त्रि०। नयो०।

*** दृष्ट** न० दृश–क्तः। स्वपरचक्रभये वीक्षिते, वाच०। दर्शने, वृ०१ उ०। नि० चू०। स्था०। अवलोकिते, पञ्चा० ७ विव०। प्रज्ञा०। दर्श०। प्रश्न०। आव०। स्था०। सूत्र०। व्य०। उत्त०। उपलब्धे, हा० ३१ अष्ट०। अभिगते, अनु०। लौकिके च। त्रि०। वाच०।

आगमतत्त्वं ज्ञेयं, तद् दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्यतया॥ (१०)

आगमतत्त्वं ज्ञेयं भवति, तत्कथं ज्ञेयम्? दृष्टं प्रत्यक्षानुमानप्रमाणोपलब्धभिष्टमागमेन स्ववचनैरेवाभ्युपगतं, ताभ्यामविरुद्धानि वाक्यानि यस्मिन्नागमतत्त्वे तद् दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्यम्, तद् भावस्तया। (१०) षो० १ विव०।

दिट्ठंत पु० (दृष्टान्त) दृष्टान्तो नाशोऽवसानं यस्मिन्। मरणे, वाच०। दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्तः अतीन्द्रियप्रमाणदृष्टं संवेदनं निष्ठां नयतीत्यर्थः। दश० १ अ०। आ० म०। दृष्टोऽन्तः परिच्छेदो विवक्षितः साध्यसाधनयोः संबन्धस्याविनाभावरूपस्य प्रमाणेन यत्र ते दृष्टान्ताः। प्रज्ञा० ३० पद। साध्यस्योपमाभूते, नं०। उदाहरणे, विशे०।

दृष्टान्तफलम्–

पुव्वमभिन्ना भिन्ना, य वारिया कहमियाणि कप्पंति ?
सुण आहरणं चोयग ! ण कमति सव्वत्थ दिट्ठंतो॥ १६८॥

पूर्वसूत्रे भवद्भिरभिन्नानि भिन्नानि च वारितानि प्रतिषिद्धानि, कथमिदानीमस्मिन् सूत्रे कल्पन्ते ? इति भणत, न युक्तं पूर्वापरव्याहतमीदृशं वक्तुमिति भावः। अत्राऽऽचार्यः प्राऽऽह–श्रृणु निशमय, आहरणं दृष्टान्तम् हे नोदक ! यथा कल्पते। अत्र नोदको गुरुवचनमनाकर्ण्य दुर्विदग्धतादर्पाऽऽध्यमातः प्रतिवक्ति–आचार्य ! न सर्वत्राप्यर्थे दृष्टान्तः क्रमते, दृष्टान्तमन्तरेणाप्यर्थप्रतिपत्तेः।

तथाहि–

जइ दिट्ठंता सिद्धी, एवमसिद्धी उ आणगेज्झाणं।
अह ते तेसि पसिद्धी, पसाहए किं उ दिट्ठंता॥ १६९॥

यदि दृष्टान्तादर्थानां सिद्धिस्तर्हि आज्ञाग्राह्याणां निगोदभव्याभव्याऽऽदीनामर्थानामसिद्धिः प्रसज्येत, अथ ते तवाऽऽज्ञया तेषां प्रसिद्धिस्ततः किं नुरिति वितर्के। किमेवं दृष्टान्ततोऽर्थसिद्धिः क्रियते।

किं चान्यत्–

कप्पम्मि अकप्पम्मि य, दिट्ठंता जेन होंति अविरुद्धा।
तम्हा न तेसि सिद्धी, विहि अविहि विसोवभोग इव॥ २०॥

दृष्टान्तेन यद्यदात्मन इष्टं तत्सर्वं यदृच्छया प्रसाध्यते, तथा कल्प्यते हिंसा कर्तुं विधिनेति प्रतिज्ञा, निष्प्रत्यपायत्वादिति हेतुः। यथा विधिना विषोपभोगदृष्टान्तः। अस्य च भावना यथा–विधिना मन्त्रपरिगृहीतं विषं स्वाद्यमानमदोषाय भवति, अविधिना पुनः स्वाद्यमानं महान्तमनर्थमुपढौकयति। एवं हिंसाऽपि विधिना विधीयमाना न दुर्गतिगमनाय प्रभवति, अविधिना तु विधीयमाना न दुर्गतिगमनाय प्रवभवति, अविधिना तु विधीयमाना दुर्गतिगमनायोपदिष्टा, यतश्चैवमतो निष्प्रत्यपायत्वात् कल्प्यते कर्तुं हिंसेति निगमनम्। एवं कल्पोऽकल्पो वा येन कारणेन दृष्टान्ता अविरुद्धा भवन्ति, कल्प्यमप्यकल्प्यम्, अकल्प्यमपि कल्प्यम्। यदृच्छया दृष्टान्तबलेन क्रियत इति भावः। तस्मान्न तेभ्यो दृष्टान्तेभ्योऽर्थानां सिद्धिर्भवति। गाथायां पञ्चम्यर्थे षष्ठी। विधिनाऽविधिना च विषोपभोग इवेति।

इत्थं नोदकेन स्वपक्षे स्थापिते सति सूरिराह–

असिद्धी जइ नाएण, नायं किमिह उच्चते ?
अह ते नायतो सिद्धी, नायं किं पडिसिज्झए ?। २०१।

यदि ज्ञातेन दृष्टान्तेनार्थानामसिद्धिः ततस्त्वया ज्ञातं विषदृष्टान्त इह किमुच्यते किमेवमभिधीयते ? अथ ते ज्ञाततो दृष्टान्तसिद्धिः, ततोऽस्माभिरूच्यमानं ज्ञातं किं प्रतिषिध्यते ?

किं च–

अंधकारो पदीवेण, वज्जए न उ अन्नहा।
तहा दिट्ठंतिओ भावो, तेणेव उ विसुज्झति॥ २०२॥

अन्धकारशब्दस्य पुंनपुंसकलिङ्गत्वाद् यथाऽन्धकारो रात्रौ प्रदीपेनैव वर्ज्यते विशोध्यते, न तु नैवान्यथा। विशोधिते च तस्मिन् घटाऽऽदिकं वस्तु परिस्फुटमुपलभ्यते, तथाऽत्रापि दार्ष्टान्तिको दृष्टान्तग्राह्यो भावः पदार्थोऽन्धकारवदतिगहनोऽपि तेनैव दृष्टान्तेन प्रदीपकल्पेन विशुद्ध्यते निर्मलीभवति, विशुद्धे च तस्मिन् परिस्फुटा विवक्षितार्थप्रतिपत्तिर्भवतीति दृष्टान्तोपदर्शनमत्र क्रियते। किञ्चसौख्यप्रीणिता वयं, स्ववाक्येनैव भवता यद् दृष्टान्तेनार्थप्रसाधनमभ्युपगतम्, अस्माकमपि त्वदीय एव दृष्टान्तः सूत्रस्य सार्थकत्वं प्रसाधयिष्यति। बृ० १ उ०। २ प्रक०। आ० चू०। नि० चू०। विशे०। आव०। (न दृष्टान्तमात्रादर्थसिद्धिरिति 'पलंब' वक्ष्यते) शास्त्रे, अलङ्कारोक्तेऽलङ्कारभेदे च। वाच०।

दिट्ठंतपरिणाम पुं० (दृष्टान्तपरिणाम) दृष्टान्तेन श्रद्धापयितव्ये, व्य०।

दृष्टानतपरिणामकमाह–

परोक्खं हेउगं अत्थं, पच्चक्खेण उ साहियं।
जिणेहिं एस अक्खातो, दिट्ठंतपरिणामगो॥ ५७॥

परोक्षं, हेतुकं हेतुना, लिङ्गे न गम्यं हेतुकम्, अर्थं प्रत्येक्षेण प्रत्यक्षप्रसिद्धेन दृष्टान्तेन साधयन् आत्मबुद्धावारोपयन् यो वर्तते एष दृष्टान्तपरिणामको जिनैराख्यातो, दृष्टान्तेन विवक्षितमर्थं परिणामयत्यात्मबुद्धावारोपयतीति दृष्टान्तपरिणामक इति व्युत्पत्तेः। व्य० १० उ०।

दिङ्नागाभास पुं० (दृष्टान्ताऽऽभास) दुष्टदृष्टान्ते, रत्ना०।

अथ दृष्टान्ताऽऽभासन् भासयन्ति–

साधर्म्येण दृष्टान्ताऽऽभासो नवप्रकारः ॥ ६८ ॥

दृष्टान्ता हि प्राग् द्विप्रकारः प्रोक्तः, साधर्म्येण वैधर्म्येण च। ततस्तदाभासोऽपि तथैव वाच्य इति साधर्म्यदृष्टान्ताऽऽभासस्तावत् प्रकारतो दर्शितः ॥५८॥

प्रकारानेव कीर्तयन्ति–

साध्यधर्मविकलः १, साधनधर्मविकलः २, उभयधर्मविकलः ३ संदिग्धसाध्यधर्मा ४, संदिग्धसाधनधर्मा ५, संदिग्धोभयधर्मा ६, अनन्वयः ७, अमदर्शितान्वयः ८, विपरीतान्वयश्च ९ इति ॥ ५९ ॥

इतिशब्दः प्रकारपरिसमाप्तौ, एतावन्त एव साधर्म्यदृष्टान्ताऽऽभासप्रकारा इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

क्रमेणामूनुदाहरन्ति–

तत्रापौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वाद् दुःखवदिति साध्यधर्मविकलः (१) ॥ ६० ॥

पुरुषव्यापाराभावे दुःखानुत्पादेन दुःखस्य पौरुषेयत्वात्। तत्रापौरुषेयत्वसाध्यस्यावृत्तरयं साध्यधर्मविकल इति (१) ॥ ६० ॥

तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्मविकलः (२) ॥ ६१ ॥

परमाणौ हि साध्यधर्मोऽपौरुषेयत्वमस्ति, साधनधर्मस्त्वमूर्तत्वं नास्ति, मूर्तत्वात्परमाणोः (२) ॥ ६१ ॥

कलशवदित्युभयधर्मविकलः (३) ॥ ६५ ॥

तस्यामवे प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव च हेतौ कलशदृष्टान्तस्य पौरुषेयत्वान्मूर्तत्वाच्च साध्यसाधनोभयधर्मविकलता (३) ॥ ६२ ॥

रागाऽऽदिमानयं वक्तृत्वाद्देवदत्तवदिति संदिग्धसाध्यधर्मा (४) ॥ ६३ ॥

देवदत्ते हि रागाऽऽदयः सदसत्त्वाभ्यां संदिग्धाः, परचेतोविकाराणां परोक्षत्वाद्रागाऽऽद्यव्यभिचारिलिङ्गादर्शनाच्च (४) ॥ ६३ ॥

मरणधर्माऽयं रागाऽऽदिमत्त्वान्मैत्रवदिति संदिग्धसाधनधर्मा (५) ६४ ॥

मैत्रे हि साधनधर्मो रागाऽऽदिमत्त्वाऽऽख्यः संदिग्धः (५) ॥ ६४ ॥

नायं सर्वदर्शी रागाऽऽदिमत्त्वान्मुनिविशेषवदिति संदिग्धोभयधर्मा (६) ॥ ६५ ॥

मुनिविशेषे सर्वदर्शित्वरागाऽऽदिमत्त्वाऽऽख्यौ साध्यसाधनधर्मौ संदिह्येते, तदव्यभिचारिलिङ्गादर्शनात् (६) ॥ ६५ ॥

रागाऽऽदिमान्विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वादिष्टपुरुषवदित्यनन्वयः (७) ॥ ६६ ॥

यद्यपीष्टपुरुषे रागाऽऽदिमत्त्वं च वक्तृत्वं साध्यसाधनधर्मौ दृष्टौ, तथाऽपि यो यो वक्ता स स रागाऽऽदिमानिति व्याप्त्यसिद्धेरनन्वयत्वम् (७) ॥ ६६ ॥

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्यप्रदर्शितान्वयः (८) ॥ ६७ ॥

अत्र यद्यपि वास्तवोऽन्वयोऽस्ति तथाऽपि वादिना वचनेन न प्रकाशित इत्यप्रदर्शितान्वयत्वम्। यद्यप्यत्र वस्तुनिष्ठो न कश्चिद्दोषः, तथाऽपि परार्थानुमाने वचनगुणदोषानुसारेण वक्तृगुणदोषौ परीक्षणीयाविति भवत्यस्य वाचनिकं दृष्टत्वम्। एवं विपरीतान्वयाप्रदर्शितव्यतिरेकविपरीतव्यतिरेकेष्वपि द्रष्टव्यम। (८) ॥ ६७ ॥

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यदनित्यं तत्कृतकं घटवदिति विपरीतान्वयः (९) ॥ ६८ ॥

प्रसिद्धानुवादेन ह्यप्रसिद्धं विधेयं; प्रसिद्धं चाव कृतकत्वं हेतुत्वेनोपादानात, अप्रसिद्धं त्वनित्यत्वं साध्यत्वेन निर्देशाद्; इति प्रसिद्धस्य कृतकत्वस्यैवानुवादसर्वनाम्ना यच्छन्देन निर्देशो युक्तः, न पुनरप्रसिद्धस्यानित्यत्वस्य, अनित्यत्वस्यैव च विधिसर्वनाम्ना यच्छब्देन परामर्श उपपन्नो, न तु कृतकत्वस्य (९) ॥ ६८ ॥

अथ वैधर्म्यदृष्टान्ताऽऽभासमाहुः–

वैधर्म्येणाऽपि दृष्टान्ताऽऽभासो नवधा ॥ ६९ ॥

तानेव प्रकारानुद्दिशन्ति–

असिद्धसाध्यव्यतिरेकः १, असिद्धसाधनव्यतिरेकः २, असिद्धोभयव्यतिरेकः ३, संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः ४, संदिग्धसाधनव्यतिरेकः ५, संदिग्धोभयव्यतिरेकः ६, अव्यतिरेकः ७, अप्रदर्शितव्यतिरेकः ८, विपरीतव्यतिरेकश्च ९, ॥ ७० ॥

अथैतान् क्रमेणोदाहरन्ति–

तेषु भ्रान्तमनुगानं प्रमाणत्वाद्यत्पुनर्भ्रान्तं न भवति न तत्प्रमाणं यथा स्वमज्ञानमिति, असिद्धसाध्यव्यतिरेकः स्वप्नज्ञानाद्भ्रान्तत्वस्यानिवृत्तेः (१) ॥ ७१ ॥

निर्विकल्पकं प्रत्यक्ष प्रमाणत्वाद्, यत्तु सविकल्पकं न तत्प्रमाणं यथा लैङ्गिकमित्यसिद्धसाधनव्यतिरेको लैङ्गिकात्प्रमाणत्वस्याऽनिवृत्तेः (२) ॥ ७२ ॥

नित्यानित्यः शब्दः सत्त्वाद्यस्तु न नित्यानित्यः स न संस्त्यथास्तम्म इत्यसिद्धोभयव्यतिरेकः स्तम्भान्नित्यानित्यत्वस्य सत्त्वस्य चाव्यावृत्तेः (३) ॥ ७३ ॥

व्यक्तमेतत्सूत्रत्रयमपि (३) ॥ ७३ ॥

असर्वज्ञोऽनाप्तो वा कपिलोऽक्षणिकैकान्तवादित्वाद्यः सर्वज्ञ आप्तो वा स क्षणिकैन्तवादी यथा सुगत इति संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः सुगतेऽसर्वज्ञतानाप्तवयोः साध्यधर्मयोर्व्यावृत्तेः-संदेहात् (४) ॥ ७४ ॥

अयं च परमार्थतोऽसिद्धसाध्यव्यतिरेक एव क्षणिकैकान्तस्य प्रमाणबाधितत्वेन तदभिधातुरसर्वज्ञतानाप्तत्वप्राप्तेः केवल–

तत्प्रतिक्षेपकप्रमाणमाहात्म्यपरामर्शनशून्यानां प्रमातृणां सेदिग्धसाध्यव्यतिरेकत्वेनाऽऽभास इति तथैव कथितः (४) ॥ ७४ ॥

अनादेयवचनः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागाऽऽदिमत्त्वाद्यः पुनरादेयवचनः स वीतरागः, तद्यथा–शौद्धोदनिरिति संदिग्धसाधनव्यतिरेकः शैद्धोदनो रागाऽऽदिमत्त्वस्य निवृत्तेः संशयात् (५) ॥ ७५ ॥

यद्यपि तद्दर्शनानुरागिणां शौद्धोदनेरादेयवचनत्वं प्रसिद्धं, तथापि रागाऽऽदिमत्त्वाभावस्तन्निश्चायकप्रमाणवैकल्यतः संदिग्ध एव (५) ॥ ७५ ॥

न वीतरागः कपिलः करुणाऽऽस्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वात्, यस्तु वितरागः स करुणाऽऽस्पदेषु परमकृपया समर्पितनिजपिशितशकलः, तद्यथा–तपनबन्धुरिति संदिग्धोभयव्यतिरेक इति तपनबन्धौ वीतरागत्वाभावस्य करुणाऽऽस्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वस्य च व्यावृतेः संदेहात् (६) ॥ ७६ ॥

तपनबन्धुर्बुद्धो वैधर्म्यदृष्टान्ततया यः समुपन्यस्तः स न ज्ञायते किं रागाऽऽदिमानुत वीतरागः, तथा–करुणाऽऽस्पदेषु परमकृपया निजपिशितशकलानि समर्पितवान्न वा, तन्निश्चायकप्रमाणापरिस्फुरणात् (६) ॥ ७६ ॥

न वीतरागः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्ववाद्, यः पुनर्वीतरागो न स वक्ता यथोपलखण्ड इत्यव्यत्तिरेकः (७) ॥ ७७ ॥

यद्यपि किलोपलखण्डादुभयं व्यावृत्तं तथापि व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकत्वम् (७) ॥ ७७ ॥

अनित्य : शब्दः कृतकत्वादाकाशवदित्यप्रदर्शितव्यतिरेकः (८) ॥ ७८ ॥

अत्र यदनित्यं न भवति तत् कृतकमपि न भवतीति विद्यमानोऽपि व्यतिरेको वादिना स्ववचनेन नोद्भावित इत्यप्रदर्शितव्यतिरेकत्वम् (८) ॥ ७८ ॥

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद्यदकृतकं तन्नित्यं यथाऽऽकाशमिति विपरीतव्यतिरेकः (९) ॥ ७९ ॥

वैधर्म्यप्रयोगे हि साध्याभावः साधनाभावाऽऽक्रान्तो दर्शनीयो, न चैवमत्रेति विपरीतव्यतिरेकत्वम् (९) ॥ ७९ ॥ रत्ना० ६ परि० ।

दिङ्नतिय त्रि० (दार्ष्टान्तिक) प्रथमेऽभिनयभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । रा० । आ० म० ।

दिट्ठगुण पुं० (दृष्टगुण) दृष्टाः प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणतोऽनुभूतगुणधर्मा यस्य तस्मिन्, स्या० ।

दिट्ठत्थ पुं० (दृष्टार्थ) दृष्ट उपलब्धोऽर्थः छेदश्रुताभिधेयरूपो येन स दृष्टार्थः । गीतार्थे, बृ० १उ० ।

दिट्ठदोसपतिता स्त्री० (दृष्टदोषपतिता) दृष्टः दोषश्चैर्य्याऽऽदिर्यस्याः सा तथा । सा चासौ पतिता च दृष्टदोषपतिता । जात्यादिबहिस्कृतायाम्, अन्त० ३० वर्ग० ८ अ० ।

दिट्ठधम्म पुं० (दृष्टधर्म) दृष्टोऽवगतो यथावस्थितो धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यो येन स तथा । अवगतधर्मे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

दिट्ठपह पुं० (दृष्टपथ) दृष्टो ज्ञानाऽऽदिको मोक्षस्य पन्था येन स दृष्टपथः । दृष्टमोक्षमार्गे, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

दिट्ठपाठी पुं० (दृष्टपाठी) दृष्टः पाठो येन स दृष्टपाठी । अधीतवैद्यके, नि० चू० ४ उ० ।

दिट्ठफल पुं० (दृष्टफल) दृष्टमेव प्रत्यक्षं फलं पूजाऽऽदिकं फलमर्थः प्रयोजनं यस्याऽसौ दृष्टफलः । अपरोक्षफले, विशे० ।

दिट्ठभय पुं० (दृष्टभय) दृष्टं संसाराद्भयं सप्तप्रकार वा येन स तथा । अवगतसप्तप्रकारभये, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

से हु दिट्ठभए मुणी, जस्स णत्थि ममाइयं ।

शरीराऽऽदेः परिग्रहात्साक्षात्पारम्पर्येण वा पर्यालोच्यमानं सप्तप्रकारमपि भयभापनीपद्यत इत्यतः परिग्रहपरित्यागे ज्ञातभयत्वमवसीयते । अवगतसंसारभये, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

दिट्ठमदिट्ठ न० (दृष्टादृष्ट) वन्दनकभेदे, ''अंतरितो तमसे वा, ण वंदती वंदती उ दीसंतो।'' बहुषु वन्दमानेषु साध्वादिना के नचिदन्तस्तमसि वा सान्धकारप्रदेशे व्यवस्थितो मौनं विधायोपविश्य चाऽऽस्ते, न तु वन्दते, दृश्यमानस्तु वन्दते । एतद् दृष्टादृष्टं वन्दनकम् । बृ० ३ उ० । आव० । आ० चू० । ध० ।

दिट्ठलाभिय पुं० (दृष्टलाभिक) दृष्टस्यैवं भक्ताऽऽदेर्लाभः प्रदृष्टस्यापवरकाऽऽदिमध्यान्निर्गतस्य श्रोत्राऽऽदिभिः कृता-पयोगस्य भक्ताऽऽदिर्लाभस्तेन चरन्ति ये ते दृष्टलाभिकाः । भिक्षाभिग्रहविशेषयुक्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ध० । आ० चू० । स्था० । औ० ।

दिट्ठसार पुं० (दृष्टसार) उपलब्धतत्त्वे, व्य० १० उ० ।

दिट्ठसाहम्भ न० (दृष्टसाधर्म्य) दृष्टं न पूर्वोपलब्धेनार्थेन सह साधर्म्यम् । सामान्यतो दृष्टानुमाने, अनु० ।

दिट्ठाभट्ठ त्रि० (दृष्टाभाषित) कृतदर्शनाऽऽलापे, भ० ३ श० १ उ० ।

दिट्ठि स्त्री० (दृष्टि) दर्शनं दृष्टिः । विशे० । चक्षुर्द्वारोत्पन्नदर्शने, अनु० । स्था० । सूत्र० । विशे० । द्रव्या० । आचा० । आतु० । नं० । समुद्– भूतपदार्थगते सम्यग्दर्शने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । तद्वति, भ० ६ श० ४ उ० । धर्मप्रज्ञापनायाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । जिनप्रणीतवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तौ, प्रज्ञा० ३४ पद । जी० । सूत्र० । स्था० ।

जीवा णं भंते ! सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी ? गोयमा ! जीवा सम्मद्दिट्ठी वि, मिच्छादिट्ठी वि, सम्मामिच्छादिट्ठी वि । एवं णेरइया वि । असुरकुमारा वि एवं चेव० जावं थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! पुढविकाइया नो सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, णो सम्मामिच्छादिट्ठी । एवं० जाव वणस्सकाइया । वेइंदियाणं पुच्छा ? गोयमा ! वेइंदिया सम्मादिट्ठी वि, मिच्छादिट्ठी वि, नो सम्मामिच्छादिट्ठी । एवं जाव चउरिंदिया । पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सवाणमंतरजोइसिय-वेमाणिया सम्मदिट्ठी वि, मिच्छादिट्ठी वि, सम्मामिच्छादिट्ठी, वि । सिद्धाणं पुच्छा? गोयमा ! सिद्धा णं सम्मदिट्ठी, णो मिच्छदिट्ठी, णो सम्मामिच्छदिट्ठी ।

(जीवा णं भंते ! किं सम्मदिट्ठि इत्यादि) सुगममापदपरिसमाप्तेः, नवरं सास्वादनसम्यक्त्वयुक्तोऽपि सूत्राऽभिप्रायेण पृथिव्यादिषु नोत्पद्यते, ''उभयाभावो पुढवाइएसु'' इति वचनात्। द्वीन्द्रियाऽऽदिषु सास्वादनसम्यक्त्वयुक्त उपपद्यते। ततः पृथिव्यादयः सम्यग्दृष्टयः प्रतिषिद्धा द्वीन्द्रियाऽऽदयोऽभिहिताः॥ सम्यग्मिथ्यादृष्टिपरिणामः पुनः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां भवति, न शेषाणां, तथास्वाभाव्यात्। अत उभयेऽपि सम्यग् मिथ्यादृष्टयः प्रतिषिद्धाः। प्रज्ञा० १६ पद। जी०। भ०। (दृष्टिविषयेऽल्पबहुत्वम् 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६७२ पृष्ठे उक्तम्) अन्तःकरणप्रवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। बुद्धौ, उत्त० २ अ०। नेत्रे, ग० १ अधि०।

दिट्ठिआ अव्य० (दिष्ट्या) दिश–यक्–अन्ध्यादि० नि०। वाच०। दिष्ट्या, दिष्ट या इति विश्लेषे **''र्ह–श्री–ह्री–कृत्स्न–क्रिया–दिष्ट्यास्वित्''** ॥ ८। २। १०४॥ इत्यनेन यापूर्व इकारः लोकात् **''ष्टस्यानुष्ट्टेष्टासंदष्टे''॥ ८। २। ३४॥** इति टस्य ठः। **''अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम्''॥ ८। २। ८६॥** इति द्वित्वे **''कगचजतदपयवां प्रायो लुक्''॥ ८। १। १७७॥** इति यलुक्। 'दिट्ठिया।' प्रा० द्वं० २ पाद। मङ्गले, हर्षे, भाग्येनेत्यर्थे च। वाच०।

दिट्ठिकीब पुं० (दृष्टिक्लीब) यश्चिलिमिलिकान्तर्गतः सर्वतः सर्वं करोति तादृशे क्लीबे, ''दिट्ठिकीबो सव्वं चिलिमिलियंतरितो करेति।'' नि० चू० ४ उ०।

दिट्ठिजुद्ध न० (दृष्टियुद्ध) योधप्रतियोधयोश्चक्षुषोर्निर्निमेषावस्थाने, जं० २ वक्ष०।

दिट्ठिणिव्वत्ति स्त्री० (दृष्टिनिर्वृत्ति) निर्वर्त्तनं निर्वृत्तिर्निष्पत्तिः, दृष्टेर्निर्वृत्तिः दृष्टिनिर्वृत्तिः। दृष्टिनिष्पत्तौ, भ०।

कइविहा णं भंते ! दिट्ठिणिव्वत्ती पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा दिट्ठिणिव्वत्ती पण्णत्ता। तं जहा– सम्मदिट्ठिणिव्वत्ती, मिच्छादिट्ठिणिव्वत्ती, सम्मामिच्छादिट्ठिणिव्वत्ती। एवं० जाव वेमाणिया। जस्स जइविहा दिट्ठि। भ० १६ श० ८ उ०।

दिट्ठिदंड पुं० (दृष्टिदण्ड) क्रियास्थानभेदे, आव०।

,दिट्ठिविवज्जासओ इमो होइ।
जो मित्तममित्तं ती, काउं घाइज्ज अहवा वि॥ ४६॥
गामाईघाएसु व, अतेण तेणं ति वावि घाइज्जा।
दिट्ठिविवज्जासे सो, किरिआठाणं तु पंचमयं॥ ५०॥
आव० ४ अ०।

दिट्ठिमं पुं० (दृष्टिमत्) दर्शनं दृष्टिः सदनुष्ठानं वा यस्यासौ दृष्टिमान्। आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। यथावस्थितान् पदार्थान् श्रद्दधाने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। सम्यग् दर्शनिनि, सूत्र० १ श्रु ४ अ० १ उ०।

दिट्ठिया स्त्री० [दृष्टिका(जा)] दृष्टर्जाता दृष्टिजा। अथवादृष्टं दर्शनं वस्तु वा निमित्ततया यस्यामस्ति सा दृष्टिका। दर्शनार्थं या गतिक्रिया, दर्शनाद्वा यत्कर्मेति सा दृष्टिजा, दृष्टिका वा। स्था० २ ठा० १ उ०। आव०।

दिट्ठिराग त्रि० (दृष्टिराग) दिट्ठिरागो असियभियं किरियाणं अकिरियवादीणमाह– ''चुलसी णियसत्तट्ठी, वेणइआणं च बत्तीसं।'' स्वकीयायां स्वकीयायां दृष्टौ रक्ता ह्येते, यतो ''जिणवयणबाहिरमती, मूढा णियदंसणाणुरागेण। सव्वण्णू कहितमेते, मोक्खपहं न तु पवज्जंति'' ॥ १॥ स्वकीयायां स्वकीयायां दृष्टौ रक्ते, आ० चू० १ अ०। ''रागेण'' (४) दृष्टिरागाऽऽदिरूपेण गोविन्दवाचकोक्तमाभ्यामिच। ध० २ अधि०। आ० म०।

दिट्ठिवाय पुं० [दृष्टिपात(वाद)] दृष्टयो दर्शनानि नया वा उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यत्रासौ दृष्टिवादो, दृष्टिपातो वा। प्रवचनपुरुषस्य द्वादशेऽङ्गे, स्था० ४ ठा० १ उ०। दृष्टिर्दर्शनं सम्यक्त्वाऽऽदि, वदनं वादो, दृष्टीनां वादो दृष्टिवादः। प्रव० १४४ द्वार।

दृष्टिवादं पर्यायतो दशधाऽऽह–

दिट्ठिवायस्स णं दस नामधिज्जा पण्णत्ता। तं जहा– दिट्ठिवाएइ वा हेतुवाएइ वा भूयवाएइ वा तच्चावाएइ वा सम्मावाएइ वा धम्मावाएइ वा भासाविजएइ वा पुव्वगएइ वा अणुओगगएइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहेइ वा।

हिनोति गमयति जिज्ञासितमर्थमिति हेतुः, अनुमानोत्थापकं लिङ्गमुपचारादनुमानमेव वा वादो हेतुवादः। तथा–भूताः सद्भूताः पदार्थाः, तेषां वादो भूतवादः। तथा–तत्त्वानि वस्तूनामैदम्पर्याणि, तेषां वादस्तत्त्ववादः, तथ्यो वा सत्यो वादस्तथ्यवादः। तथा–सम्यगविपरीतो वादः सम्यग्वादः। तथाधर्माणां वस्तुपर्यायाणां धर्मस्य वा चारित्रस्य वादो धर्मवादः। तथा–भाषा सत्याऽऽदिका, तस्या विचयो निर्णयो भाषाविचयः, भाषाया वाचो विजयः समृद्धिर्यस्मिन् स भाषाविजयः। तथा–सर्वश्रुतात्पूर्वं क्रियन्त इति पूर्वाणि उत्पादपूर्वाऽऽदीनि चतुर्दश, तेषु गतोऽभ्यन्तरीभूतस्तत्स्वभाव इत्यर्थ इति पूर्वगतः। तथा अनुयोगः प्रथमानुयोगस्तीर्थकराऽऽदिपूर्वभवाऽऽदिव्याख्यानग्रन्थो गण्डिकाऽनुयोगश्च भरतनरपतिवंशजातानां निर्वाणगमनानुत्तर–विमानगमनवक्तव्यताव्याख्यानग्रन्थ इति द्विरूपेऽनुयोगे गतोऽनुयोगगत एतौ च पूर्वगतानुयोगगतौ दृष्टिवादांशावपि दृष्टिवादतयोक्ताववयवे समुदायोपचारादिति। तथा–सर्वे विश्वे, ते च ते प्राणाश्च द्वीन्द्रियाऽऽदयो भूताश्च तरवो जीवाश्च पञ्चेन्द्रियाः सत्त्वाश्च पृथिव्यादय इति द्वन्द्वे सति कर्मधारयः, ततस्तेषां सुखं शुभं वा आवहतीति सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखाऽऽवहः, सुखाऽऽवहत्वं च संयमप्रतिपादकत्वात्सत्त्वानां निर्वाणहेतुत्वाच्चेति। स्था० १० ठा०।

से किं तं दिट्ठिवाए ? दिट्ठिवाए णं सव्वभावपरूवणा आघविज्जइ। से समासओ पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा–परिकम्मे १, सुत्ताइ २, पुव्वगए ३, अणुओग ४, चूलिआ ५।

दृष्टयो दर्शनानि, वदनं वदः, दृष्टीनां वादो यत्र स दृष्टिवादः। अथवा–पतनं पातो, दृष्टीनां पातो यत्र स दृष्टिपातः। तथाहि– तत्र सर्वनयदृष्टय आख्यायन्ते। तथा चाऽऽह सूरिः– ''दिट्ठिवाएणं'' इत्यादि। दृष्टिवादेनः। अथवा–दृष्टिपातेन। यद्वा–दृष्टिवादे, दृष्टिपाते। णमिति वाक्यालङ्कारे। सर्वभावप्ररूपणा आख्यायते, (से समासतो पंचविधे पन्नत्ते इत्यादि) सर्वमिदं प्रायोव्यवच्छिन्नं, तथाऽपि लेशतो यथागतसंप्रदायकं किञ्चि–

व्याख्यायते–स दृष्टिवादो, दृष्टिपातो वा समासतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–परिकर्म्म १, सूत्रा णि २, पूर्वगतम् ३, अनुयोगः ४, चूलिका ५।

से किं तं परिकम्मे ? परिकम्मे सत्तविहे पण्णत्ते। तं जहा–सिद्धसेणियापरिकम्मे १, मणुस्ससेणियापरिकम्मे २, पुट्ठसेणियापरिकम्मे ३, ओगाढसेणियापरिकम्मे ४, उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ५, विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ६, चुयाचुयसेणियापरिकम्मे ७।

से किं तं सिद्धसेणियापरिकम्मे ? सिद्धसेणियापरिकम्मे चउदसविहे पण्णत्ते। तं जहा–माउयापयाइं १, एगट्ठियपयाइं २, पादोट्ठपयाइं ३, आगासपयाइं ४, केउभूयं ५, रासिबद्धं ६, एगगुणं ७, दुगुणं ८, तिगुणं ९, केउभूए १०, पडिग्गहे ११, संसारपडिग्गहे १२, नंदावत्तं १३, सिद्धावत्तं १४। सेतं सिद्धसेणियापरिकम्मे ॥ १ ॥

से किं तं मणुस्ससेणियापरिकम्मे ? मणुस्ससेणियापरिकम्मे च उद्दसविहे पण्णत्ते। तं जहा– ताइं चेव माउयापयाइं १, एगट्ठियपयाइं २, पादाट्ठपयाइं ३, आगासपयाइं ४, केउभूयं ४, रासिबद्धं ६, एगगुणं ७, दुगुणं ८, तिगुणं ९, केतुभूए १०, परिग्गहे ११, संसारपरिग्गहे १२, नंदावत्तं १३, माणुस्सावत्तं १४। सेतं मणुस्ससेणियापरिकम्मे ॥ २ ॥

से किं तं पुट्ठसेणियापरिकम्मे ? पुट्ठसेणियापरिकम्मे इक्कारसविहे पण्णत्ते। तं जहा– आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, परिग्गहे ८, संसारपरिग्गहे ९, नंदावत्तं १०, पुट्ठावत्तं ११। सेतं पुट्ठसेणियापरिकम्मे ॥ ३ ॥

से किं तं ओगाढसेणियापरिकम्मे ? ओगाढसेणियापरिकम्मे इक्कारसविहे पण्णत्ते। तं जहा–आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्तं १०,ओगाढवत्तं ११। सेतं ओगाढसेणियापडिकम्मे ॥ ४ ॥

से किं तं उवसंपज्जण सेणियापरिकम्मे ? उवसंपज्जण सेणियापरिकम्मे इक्कारसविहे पण्णत्ते। तं जहा–आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्तं १०, उवसंपज्जणावत्तं ११। सेतं उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ॥ ५ ॥

से किं तं विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ? विप्पजहणसेणियापरिकम्मे एक्कारसविहे पण्णत्ते। तं जहा–आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्तं १०, विप्पजहणावत्तं ११। सेतं विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ॥ ६ ॥

से किं तं चुयाचुयसेणियापरिकम्मे ? चुयाचुय सेणियापरिकम्मे एक्कारसविहे पण्णत्ते। तं जहा–आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्तं १०, चुयाचुयावत्तं ११। सेतं चुयाचुयसेणियापरिकम्मे ॥ ७ ॥

छ चउक्कनइयाइं, सत्त तेरासियाइं। सेतं परिकम्मे ॥ १ ॥

तत्र परिकर्मनामयोग्यताऽपादनं तद्धेतुः शास्त्रमपि परिकर्म। किमुक्तं भवति ?–सूत्रपूर्वगतानुयोगः, तत्रार्थग्रहणयोग्यतासंपादनसमर्थानि परिकर्माणि, यथा गणितशास्त्रे संकलनाऽऽदीन्याद्यानि षोडश परिकर्माणि शेषगणितसूत्रार्थ ग्रहणयोग्यतासंपादनसमर्थानि। तथाहि–यथा गणितशास्त्रे तद्योग्यषोडशपरिकर्मगृहितसूत्रार्थः सन् शेषगणितशास्त्रग्रहणयोग्यो भवति, नान्यथा, तथा गृहीतविवक्षितपरिकर्मसूत्रार्थः सन् शेषसूत्राऽऽदिरूपदृष्टिवादशुभग्रहणयोग्यो भवति, नेतरथा। तथा चोक्तं चूर्णौ–''परिकम्मं ति योग्यताकरणं, जहा गणियस्स सोलस परिकम्मा, तग्गहियसुत्तत्थो सेसगणियस्स जोग्गो भवति, एवं गहियपरिकम्मसुत्तत्थो सेससुत्ताइं दिट्ठिवासुयस्स जोग्गो भवइ। इति'' तच्च परिकर्म सिद्धश्रेणिकापरिकर्माऽऽदिमूलभेदापेक्षया सप्तविधं, मातृकापदाऽऽद्युत्तरभेदापेक्षया त्र्यशीतिविधं, तच्च समूलोत्तरभेदं सूत्रतोऽर्थतश्च व्यवच्छिन्नं यथागतसंप्रदायतो वाच्यम्, एतेषां सिद्धश्रेणिकापरिकर्माऽऽदीनां सप्तानां परिकर्मणामाद्यानि षट् परिकर्माणि स्वसमयवक्तव्यताऽनुगतानि, स्वसिद्धान्तप्रकाशकानीत्यर्थः। ये तु गोशालकप्रवर्तिता आजीविकाः पाषण्डितः तन्मतेन च्युताच्युतश्रेणिकापरिकर्मसहितानि सप्तापि परिकर्माणि, स्वसमयवक्तव्यता तु प्रज्ञाप्यन्ते। संप्रत्येतेष्वेव परिकर्मसु नयचिन्ता। तत्र–नयाः सप्त नैगमाऽऽदयः। नैगमोऽपि द्विधा–सामान्यग्राही, विशेषग्राही च। तत्र यः सामान्यग्राही स संग्रहं प्रविष्टः, यस्तु विशेषग्राही स व्यवहारम्। आह च भाष्यकृत्–''जो सामन्नगाही, स नेगमो संगहं गओ अहवा। इयरो ववहारमिओ, जो तेण समाणनिहेसो ॥ ३६ ॥'' (विशे०) शब्दाऽऽदयश्च त्रयोऽपि नया एक एव नयः परिकल्प्यते, तत एवं चत्वार एव नयाः, एतैश्चतुर्भिर्नयैराद्यानि षट् परिकर्माणि स्वसमयवक्तव्यतया परिचिन्त्यन्ते। तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्–''इयाणिं परिकम्मनयचिंता, नेगमो दुविहो–संगहिओ, असंगहिओ य। संगहं पविट्ठोसंगहिओ, असंगहिओ ववहारं। तम्हा संगहो, ववहारो, उजुसुओ, सद्दाइ य इक्को, एवं चउरो नया एहिं चउहिं नएहिं ससमयगइपरिकम्मा चिंतिज्जति।'' तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्–''चउक्कं नइयाइं ति।'' आद्यानि षट् परिकर्माणि। चतुर्नयिकानि चतुर्नयोपेतानि। तथा–ते एव गोशालकप्रवर्तिता आजीविकाः पाषण्डिनः त्रैराशिका उच्यन्ते। कस्मादिति चेत् ? उच्यते–इह तेसर्वं वस्तुसात्मकच्छिन्नन्ति। तद्यथा–जीवः, अजीवः, जीवाजीवश्च। लोकः, अलोकः, लोकालोकश्च। सत, असद्,

सदसत्। नयचिन्तायामपि त्रिविधं नयमिच्छन्ति। तद्यथा-द्रव्यास्तिकम्, पर्यायास्तिकम्, उभयास्तिकं च। उक्तं च–ततस्त्रिभी राशिभिश्चरन्तीति त्रैराशिकाः, तन्मतेन सप्तापि परिकर्माणि चिन्त्यन्ते। तथा चाऽऽह सूत्रकृत्–''सत्त तेरासिया।'' इति। सप्त परिकर्माणि त्रैराशिक्यानि त्रैराशिकमतानुसारीणि। एतदुक्तं भवति–पूर्वसूरयो नयचिन्तायां त्रैराशिकमतमवलम्बमानाः सप्तापि परिकर्माणि त्रिविधयाऽपि नयचिन्तया चिन्तयन्ते स्मेति। (सेतं परिकम्मे) तत् एतत्परिकर्म॥ १॥

से किं तं सुत्ताइं ? सुत्ताइं बावीसं पण्णत्ताइं। तं जहा–उजुसुयं १, परिणयापरिणयं २, बहुभंगियं ३, विप्पचइयं ४, अणंतरं ५, परंपरसमाणं ६, संजूहं ७, संभिण्णं ८, अहच्चायं ९, सोवत्थियं १०, घंटं ११, नंदावत्तं १२, बहुलं १३, पुट्ठपुट्ठं १४, वियावत्तं १५, एवंभूयं १६, दुयावत्तं १७, वत्तमाणुप्पयं १८, समभिरूढं १९, सव्वओभद्दं २०, पणुमं २१, दुपडिग्गहं २२। इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं छिन्नछेयनइयाणि ससमयसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं अछिन्नछेयनइयाणि आजीवियसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं तिगनइयाणि तेरासियसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं चउक्कनइयाणि ससमयसुत्तपरिवाडीए, एवामेव सपुव्वावरेणं अट्ठासीइं सुत्ताइं भवंतीति मक्खाइं। सेतं सुत्ताइं॥ २॥

(से किं तं सुत्ताइं ति) अथ कानि सूत्राणि ? सर्वस्य पूर्वगतस्य सूत्रार्थस्य सूचनात्सूत्राणि। तथाहि--तानि सूत्राणि सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां सर्वनयानां सर्वभङ्गविकल्पानां प्रदर्शकानि। तथा चोक्तं चूर्णिकृता–''ताणि य सुत्ताणि सव्वदव्वाणं सव्वपज्जवाणं सव्वनयाणं सव्वभंगविकप्पाण य पदंसगाणि सव्वस्स पुव्वगयस्स सुयस्स अत्थस्स य सूयग त्ति सूयण त्ति सूया भणिया जहाभिहाणत्था।'' इति। आचार्य आह–सूत्राणि द्वाविंशतिः प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–ऋजुसूत्रमित्यादि। एतान्यपि संप्रति सूत्राणि सूत्रतोऽर्थतश्च व्यवच्छिन्नानि यथागतसंप्रदायतो वा वाच्यानि, तानि सूत्राणि नयविभागतो विभज्यमानानि अष्टाशीतिसंख्यानि भवन्ति। कथमिति चेदत आह–(इच्चेयाइं बावीसं सुत्ताइं इत्यादि) इह यो नाम नयसूत्रं छेदेन छिन्नमेवाभिप्रेति न द्वितीयेन सूत्रेण सह संबन्धयति। यथा–''धम्मो मंगलमुक्किट्ठं'' इति श्लोकम् तथा ह्ययं श्लोकः छिन्नच्छेदनयमतेन व्याख्यायमानो न द्वितीयाऽऽदीन् श्लोकानपेक्षते, नाऽपि द्वितीयाऽऽदयः श्लोका अमुम्। अयमत्राभिप्रायः–तथा कथञ्चनाप्यमुं श्लोकं पूर्वसूरयः छिन्नछेदनयमते व्याख्यान्ति स्म, यथा न मनागपि द्वितीयाऽऽदिश्लोकानामपेक्षा भवति, द्वितीयाऽऽदीनपि श्लोकान् तथा व्याख्यानयन्ति स्म, यथा न तेषां प्रथमश्लोकस्यापेक्षा, तथा सूत्राण्यपि यन्नयाभिप्रायेण परस्परं निरपेक्षाणि व्याख्यान्ति स्म, स छिन्नच्छेदनयः। छिन्नो द्विधाकृतः पृथक्कृतः छेदः पर्यन्तो येन सः छिन्नभेदः प्रत्येकं कल्पितपर्यन्त इत्यर्थः। स चाऽसौ नयश्च छिन्नच्छेदनयः, इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि स्वसमयसूत्रपरिपाट्या स्वसमयवक्तव्यतामधिकृत्य सूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायां छिन्नच्छेदनयिकानि, अत्र ''अतोऽनेकस्वरात्''। ७। ३। ६॥ (हेम०) इति मत्वार्थीय इकप्रत्ययः। ततोऽयमर्थः–छिन्नछेदनयवन्ति द्रष्टव्यानि। तथा (इच्चेइयाइं इत्यादि) इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि आजीविकसूत्रपरिपाट्यां गोशालप्रवर्तिताऽऽजीविकपाषण्डिमतेन सूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायामछिन्नच्छेदनयिकानि। इयमत्र भावनाअछिन्नच्छेदनयो नाम यः सूत्रं सूत्रान्तरेण छिन्नमर्थतः सूत्र सूत्रान्तरेण सहाछिन्नमित्यर्थः, तत्संबन्धमभिप्रैति। यथा–''धम्मो मंगलमुक्किट्ठं'' इति श्लोकम्। तथा ह्ययं श्लोकोऽछिन्नच्छेदनयमतेन व्याख्यायमानो द्वितीयाऽऽदीन् श्लोकानपेक्षते, द्वितीयाऽऽदयोऽपि श्लोन एनं श्लोकम्। एवमेतान्यपि द्वाविंशतिसूत्राणि अक्षररचनामधिकृत्य परस्परं विभक्तान्यप्यछिन्नच्छेदनयमतेनार्थसंबन्धमपेक्ष्य सापेक्षाणि वर्त्तन्ते। तदेवं नयाभिप्रायेण परस्परं सूत्राणा संबन्धावधिकृत्य भेदो दर्शितः। संप्रत्यन्यथा नयविभागमधिकृत्य भेद दर्शयन्ति–(इच्चेइयाइं इत्यादि) इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि त्रैराशिकसूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायां त्रिकनयकानि। त्रिकेति प्राकृतत्वात्स्वार्थे कप्रत्ययः। ततोऽयमर्थः–त्रिनयिकानि त्रिनयोपेतानि। किमुक्तं भवति?–त्रैराशिकमतमवलम्ब्य द्रव्यास्तिकाऽऽदिनयत्रिकेण चिन्त्यन्ते इति। तथा इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि स्वसमयसूत्रपरिपाट्यां स्वसमयवक्तव्यतामधिकृत्य सूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायां चतुर्नयिकानि संग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दरूपनयनचतुष्टयोपेतानि संग्रहाऽऽदिनयचतुष्टयेन चिन्त्यन्ते इत्यर्थः। एवमेवोक्तेनैव प्रकारेण (पुव्वावरेणं ति) पूर्वाणि चापराणि च पूर्वापरं, समाहारप्रधानो द्वन्द्वः, पूर्वापरसमुदाय इत्यर्थः। तत एतदुक्तं भवति–नयविभागतो विभिन्नानि पूर्वाणि अपराणि च सूत्राणि समुदितानि सर्वसंख्या अष्टाशीतिसूत्राणि भवन्ति, चतसृणां द्वाविंशतीनामष्टाशीतिमानत्वाद्, इत्याख्यातं तीर्थकरगणधरैः (से तं सुत्ताइं) तान्येतानि सूत्राणि।

से किं तं पुव्वगए ? पुव्वगए च उद्दसविहे पण्णत्ते। तं जहा–उप्पायपुव्वं १, अग्गेणीयं २, वीरियप्पवायं ३, अत्थिनत्थिप्पवायं ४, नाणप्पवायं ५, सच्चप्पवायं, आयप्पवायं ७, कम्मप्पवायं ८, पच्चक्खाणप्पवायं ९, विज्जाणुप्पवायं १०, अवंझं ११, पाणाउं १२, किरियाविसालं १३, लोकबिंदुसारं १४, उप्पायपुव्वस्स णं दस वत्थू चत्तारि चूलयावत्थू पण्णत्ता। अग्गेणीयपुव्वस्स णं चोद्दस वत्थू दुवालस चूलियावत्थू पण्णत्ता। वीरियपुव्वस्स णं अट्ठ वत्थू अट्ठ चूलियावत्थू पण्णत्ता। अत्थिणत्थिप्पवायपुव्वस्स अट्ठारस वत्थू दस चूलियावत्थू पण्णत्ता। नाणप्पवायपुव्वस्स बारस वत्थू पण्णत्ता। सव्वप्पवायपुव्वस्स णं दोण्णि वत्थू पण्णत्ता। आयप्पवायपुव्वस्स णं सोलस वत्थू पण्णत्ता। कम्मप्पवाय पुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता। पच्चक्खाणपुव्वस्स णं वीसं वत्थू पण्णत्ता। विज्जाणुप्पवायपुव्वस्स णं पण्णरस वत्थू पण्णत्ता। अबंभपुव्वस्स णं बारस वत्थू पण्णत्ता। पाणाउपुव्वस्स णं तेरस वत्थू पण्णत्ता। किरियाविसालपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता। लोगबिंदुसारपुव्वस्स णं पणवीसं वत्थू पण्णत्ता। ''दस चोद्दस अट्ठ अट्ठारसेव बारस दुवे य वथूणि।

सोलस तीसा वीसा, पण्णरस अणुप्पवायम्मि ॥ १ ॥
बारस इक्कारसमे, वारसमे तेरसेव वत्थूणि।
तीसा पुण तेरसमे, चोद्दसमे पण्णवीसा उ ॥ २ ॥
चत्तारि दुवालस अ–ट्ठ चेव दस चेव चूलवत्थूणि।
आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि ॥ ३ ॥
सेतं पुव्वगए ३ ॥

(से किं तं इत्यादि) अथ किं तत् पूर्वगतम् ? इह तीर्थकरस्तीर्थप्रवर्तनकाले गणधरान् सकलश्रुतार्थावगाहनसमर्थानधिकृत्य पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थं भाषते, ततस्तानि पूर्वाण्युच्यन्ते, गणधराः पुनस्तत्र रचनां विदधते आचाराऽऽदिक्रमेण विदधति, स्थापयन्ति वा । अन्ये तु व्याचक्षते–पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थमर्हन् भाषते, गणधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्रं विरचयन्ति, पश्चादाचाराऽऽदिकम् । अत्र चोदक आहनन्विदं पूर्वापरविरुद्धं, यस्मादाचारनिर्युक्तावुक्तम्–''सव्वेसिं आयारो पढमो'' इत्यादि । सत्यमुक्तम्, किं तु तत्स्थापनामधिकृत्योक्तम् । अक्षररचनामधिकृत्य पुनः पूर्वं पूर्वाणि कृतानि, ततो न कश्चित्पूर्वापरविरोधः । सूरिराह–(पुव्वगतो इत्यादि) पूर्वगतं श्रुतं चतुर्दशविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा–उत्पादपूर्वमित्यादि । तत्रोत्पादप्रतिपादकं पूर्वमुत्पादपूर्वम् । तथाहि–तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां चोत्पादमधिकृत्य प्ररूपणा क्रियते । आह च चूर्णिकृत्–''पढमं उप्पायपुव्वं, तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जवाण य उप्पायमंगीकाउं वण्णवणा कया ।'' इति । तस्य पद परिमाणमेका पदकोटी । द्वितीयमग्रायणीयम् । अग्रं परिमाणं तस्य अयनं गमनं, परिच्छेद इत्यर्थः । तस्मै हितमग्रायणीयम्, सर्वद्रव्याऽऽदिपरिमाणपरिच्छेदकारीति भावार्थः । तथाहि–तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां सर्वजीवविशेषाणां च परिमाणमुपवर्ण्यते । यत उक्तं चूर्णिकृता–''विइयं अग्गेणीयं, तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जवाण य सव्वजीवाण य अग्गं परिमाणं वन्निज्जइ।'' इति । अग्रायणीयं, तस्य पदपरिमाणं षण्णवतिपदशतसहस्राणि तृतीयं पूर्वं विरचयन्ति । पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् वीर्यप्रवादं तत्र सकर्मेतराणां जीवानाम्–जीवानां च वीर्यं प्रवदन्तीति वीर्यप्रवादं, कर्मणि अण्प्रत्ययः। तस्य पदपरिमाणं सप्ततिपदशतसहस्राणि । चतुर्थम् अस्तिनास्तिप्रवादं, तत्र यद्वस्तु लोकेऽस्ति धर्मास्तिकायाऽऽदि, यच्च नास्ति खरशृङ्गाऽऽदि, तत्प्रवदतीत्यस्तिनास्तिप्रवादम् । अथवा–सर्वं वस्तु स्वरूपेणास्ति, पररूपेण नास्तीति अस्तिनास्तिप्रवादं, तस्य पदपरिमाणं षष्टिः पदशतसहस्राणि । पञ्चमं ज्ञानप्रवादंज्ञानं मतिज्ञानाऽऽदिभेदभिन्नं पञ्चप्रकारं तत्सप्रपञ्चं वदतीति ज्ञानप्रवादं, तस्य पदपरिमाणम्, एका पदकोटी पदेनैकेन न्यूना । षष्ठं सत्यप्रवादं, सत्यं संयमो वचनं वा तत्सत्यसंयमं वचनं वा प्रकर्षेण सप्रपञ्चं वदतीति सत्यप्रवादं, तस्य पदपरिमाणम् एका पदकोटी षड्भिः पदैरधिका । सप्तमं पूर्वम्–आत्मप्रवादमात्मानं जीवमनेकधा नयमतभेदेन यत्प्रवदतीति तदात्मप्रवादं, तस्य पदप्रमाणं षड्विंशतिपदकोटयः । अष्टमं कर्मप्रवादं कर्म ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकमष्टप्रकारं, तत्प्रकर्षेण प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाऽऽदिभिर्भेदैः सप्रपञ्चं वदति कर्मप्रवादं, तस्य पदपरिमाणम् एका कोटी अशीतिश्च षट्सहस्राणि, नवमं (पच्चक्खाणं ति) अत्रापि पदैकदेकदेशे पदसमुदायोपचारात् प्रत्याख्यानप्रवादमिति द्रष्टव्यम् । प्रत्याख्यानं सप्रभेदं यद्वदति तत्प्रत्याख्यानप्रवादं, तस्य पदप्रमाणं चतुरशीतिपदलक्षाणि । दशमं विद्याऽनुप्रवादं, विद्याऽनेकातिशयसंपन्ना अनुप्रवदति साधनानुकूल्येन सिद्धिप्रकर्षेण प्रवदतीति विद्याऽनुप्रवादं, तस्य पदपरिमाणम्, एका पदकोटी दश च पदलक्षाः । एकादशमवन्ध्यं, वन्ध्यं नाम–निष्फलं, न विद्यते वन्ध्यं यत्र तदवन्ध्यम् । किमुक्तं भवति? –यत्र सर्वेऽपि ज्ञानतपःसंयमाऽऽदयःशुभफलाः सर्वे च प्रमादाऽऽदयोऽशुभफला यत्र वर्ण्यन्ते तदवन्ध्यं नाम, तस्य पदपरिमाणं षट्विंशतिपदकोटयः । द्वादशं प्राणायुः, प्राणाः पञ्चेन्द्रियाणि, त्रीणि मानसाऽऽदीनि बलानि, उच्छ्वासनिःश्वासौ च आयुश्च प्रतीतं, ततो यत्र प्राणा आयुश्च सप्रभेदमुपवर्ण्यते, तदुपचारतः प्राणाऽऽयुरित्युच्यते, तस्य पदपरिमाणमेका पदकोटी षट्पञ्चाशच्च पदलक्षाणि । त्रयोदशं क्रियाविशालम्–क्रियाः कायिक्यादयः, संयमक्रियाछन्दःक्रियाऽऽदयश्च, ताभिः प्ररूप्यमाणाभिर्विशालं, तस्य पदपरिमाणं नव पदकोटयः । चतुर्दशं लोकबिन्दुसारम् लोके जगति श्रुतलोके वा अक्षरस्योपरि बिन्दुरिव सारं सर्वोत्तमं सर्वाक्षरसन्निपातलब्धिहेतुत्वाद् लोकबिन्दुसारं, तस्य पदपरिमाणमर्द्धत्रयोदश पदकोटयः । (उप्पायपुव्वस्स णं) इत्यादि कण्ठ्यं, नवरं वस्तु ग्रन्थविच्छेदविशेषः, तदेव लघुतरक्षुल्लकं वस्तु, तानि चाऽऽदिमेष्वेव चतुर्षु पूर्वेषु न शेषेषु । तथा चाऽऽह–''आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि । सेतं पुव्वगए । '' तदेतत् पूर्वगतम् । नं० । (अनुयोगव्याख्या 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४१ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्या) (मूलप्रथमानुयोगः 'मूलपढमाणुओग' शब्दे वक्ष्यते) (गण्डिकानुयोगव्याख्या 'गंडियाणुओग' शब्दे तृतीयभागे ७६१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

से किं तं चूलियाओ ? चूलियाओ आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं, सेसाइं पुव्वाइं अचूलियाइं। सेतं चूलियाओ। दिट्ठिवायस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, सेणं अंगट्ठयाए बारसमे अंगे एगे सुयखंधे, चोद्दस पुव्वाइं, संखिज्जा वत्थू, संखिज्जा चूलवत्थू, संखिज्जा पाहुडा, संखेज्जा पाहुडपाहुडा, संखिज्जाओ पाहुडियाओ, संखिज्जाओ पाहुडपाहुडियाओ, संखिज्जाइं पयसयसहस्साइं पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासया कडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति। एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जंति। सेतं दिट्ठिवाए ॥ १२ ॥

अथ कास्ताश्चूलाः ? इह चूला शिखरमुच्यते। यथा मेरौ चूलाः, तत्र चूला इव चूला दृष्टिवादे परिकर्म्मसूत्रपूर्वानुयोगोक्तानुक्तार्थसंग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयः। तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्–''दिट्ठिवाए जं परिकम्मसुत्त–पुव्वाणुजोगे चूलिअं न भणियं, तं चूलासु भणियं ति।''अत्र सूरिराह–चूला आदिमानां चतुर्णां पूर्वाणाम्, शेषाणि पूर्वाण्य चूलिकानि, ता एव चूलाः, आदिमानां चतुर्णां पू–

वर्णां प्राक् पूर्ववक्तव्यताप्रस्तावे चूलावस्तूनीति भणिताः । आह च चूर्णिकृत्–''ताओ अचूलाओ आइल्लपुव्वाणं चउण्हं चूलावत्थू भणियं ।'' एताश्च सर्वेस्यापि दृष्टिवादस्योपरि किल स्थापिताः । तथैव च पठ्यन्ते, ततः श्रुतपर्वते चूला इव राजन्ते इति चूला इत्युक्ताः । तथा चोक्तं चूर्णिकृता–''ते सव्वुवरि ठिया पढिज्जंति य अतो तेसु य पव्वयचूला इव चूला। '' इति । तासां च चूलानामियं संख्या प्रथमपूर्वसक्ताश्चतस्त्रः, द्वितीयपूर्वसक्ता द्वादश, तृतीयपूर्वसक्ता अष्टौ, चतुर्थपूर्वसक्ता दश । तथा च पूर्वमुक्तं सूत्रे–''चत्तारि दुवालस अट्ठ चेव दस चेव चूलावत्थूणि आइल्लाणं च उण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि।'' सर्वसंख्यया चतुस्त्रिंशत् चूलिकाः (सेतं चूलिय त्ति) अथैताश्चूलिकाः (दिट्ठिवायस्स णं) इत्यादि पाठसिद्धं, नवरम् (संखेज्जा वत्थु त्ति) संख्येयानि वस्तूनि, तानि च पञ्चविंशत्युत्तरे द्वे शते। कथमिति चेत् ? उच्यते–प्रथमे पूर्वे दश वस्तूनि, द्वितीये चतुर्दश, तृतीयेऽष्टौ, चतुर्थे अष्टादश, पञ्चमे द्वादश, षष्ठ द्वे, सप्तमे षोडश, अष्टमे त्रिंशत्, नवमे विंशतिः, दशमे पञ्चदश, द्वादश एकादशे, त्रयोदश द्वादशे, त्रिंशत्त्रयोदशे, चतुर्दशे पञ्चविंशतिः । तथा च सूत्रे प्राक् पूर्ववक्तव्यतायामुक्तम्–

''दस चोद्दस अट्ठ अट्ठा–रसेव बारस दुवे य वन्थूणि।
सोलस तीसा वीसा, पन्नरस अणुप्पवायम्मि ॥ १ ॥
बारस एक्कारसमे, बारसमे तेरसेव वत्थूणि।
तीसा पुण तेरसमे, चउदसमे पण्णवीसाओ ॥ २ ॥''

सर्वसंख्यया चामूनि द्वे शते पञ्चविंशत्यधिके, तथा संख्येयानि चूलावस्तूनि, तानि च चतुस्त्रिंशत्संख्याकानि । नं० । सं० । बृ० । आ० म० । दश० । प्रज्ञा० । सूत्र० । व्य० । कर्म० । अनु० । श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवाऽऽदिभावकथने, ध० १ अधि० । स्था० । सर्वदृष्टीनां तत्र समवतारस्तस्य जनके, पं० चू० ।

ननु स्त्रीणां दृष्टिवादः किमिति न दीयते ? इत्याह–

तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुब्बला धिईए य ।
इय अइसेसऽज्झयणा, भूयावाओ य नो थीणं ॥ ५५२ ॥

यदि हि दृष्टिवादः स्त्रियाः कथमपि दीयेत, तदा तुच्छाऽऽदिस्वभावतया अहो ! अहं या दृष्टिवादमपि पठामीत्येवंगर्वाऽऽध्मातमानसाऽसौ पुरुषपरिभवाऽऽदिष्वपिप्रवृत्तिं विधाय दुर्गतिमभिगच्छेत् । अतो निरवधिकृपानीरनीरधिभिः परानुग्रहप्रवृत्तैर्भगवद्भिः तीर्थकरैस्थानुसमुत्थानश्रुताऽऽदीन्यतिशयवन्त्यध्ययनानि दृष्टिवादश्च स्त्रीणां नानुज्ञातः । अनुग्रहार्थं पुनस्तासामपि किञ्चित् श्रुतं देयमित्येकादशाङ्गाऽऽदिविरचनं सफलमिति गाथाऽर्थः ॥ ५५२ ॥ विशे० । कर्म० । बृ० ।

दिट्ठिवायअक्खेवणी स्त्री० (दृष्टिवादाऽऽक्षेपणी) दिष्टिवादस्य कथाभेदे, स्था० ४ ठा० । ('अक्खेवणी' शब्दे प्रथमभागे १५२ पृष्ठे व्याख्या)

दिट्ठिवायउवएसा स्त्री० (दृष्टिवादोपदेशा) दृष्टिर्दर्शनं सम्यक्त्वाऽऽदि वादो दृष्टीनां वादो दृष्टिवादस्तद्विषय उपदेशः प्ररूपणं यस्याः सा दृष्टिवादोपदेशा इति । तृतीये संज्ञाभेदे, प्रव० १४४ द्वार ।

दिट्ठिविपज्जय पुं० (दृष्टिविपर्यय) मिथ्याऽभिनिवेशे, द्वा० ८ द्वा० ।

दिट्ठिविपरियासदंड पुं० (दृष्टिविपर्यासदण्ड) दृष्टेर्विपर्यासो रज्जुमिव सर्पबुद्धिस्तया दण्डो दृष्टिविपर्यासदण्डः । लेष्टुकाऽऽदिबुद्ध्या शराऽऽद्यभिघातेन चटकाऽऽदिव्यापादने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासिया दंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे माइहिं वा पिइहिं वा भाइहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूताहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमेव मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवइ, दिट्ठिविपरियासिया दंडे ॥ १२ ॥ से जहाणामए केइ पुरिसे गामघायंसि वा णगरघायंसि वा खेडकव्वडमंडवघायंसि वा दोणमुहघायंसि वा पट्टणघायंसि वा आसमघायंसि वा सन्निवेसघायंसि वा निग्गमघायंसि वा रायहाणिघायंसि वा अतेणं तेणमिति मन्नमाणे अतेणं हयपुव्वे भवइ दिट्ठिविपरियासिया दंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ, पंचपे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासिया दंडवत्तिए त्ति आहिए ॥ १३ ॥

अथाऽपरं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यायते । तद् यथानाम कश्चित्पुरुषश्चारभटाऽऽदिको मातृपितृभ्रातृभगिनीभार्यापुत्रदुहितृस्नुषाऽऽदिभिः सार्धं वसंस्तिष्ठन् ज्ञातिपालनकृते मित्रमेव दृष्टिविपर्यासादमित्रोऽऽयमित्येवं मन्यमानो हन्याद् व्यापादयेत्, तेन च दृष्टिविपर्यासवता मित्रमेव हतपूर्वं भवतीति, अतो दृष्टिविपर्यासदण्डोऽयम् ॥ १२ ॥ पुनरप्यन्यथा तमेवाऽऽह–(से जहेत्यादि) तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः पुरुषकारमुद्वहन् ग्रामघाताऽऽदिके विभ्रमे भ्रान्तचेता दृष्टिविपर्यासादचौरमेव चौरोऽयमित्येवं मन्यमानो व्यापादयेत्, तदेवं तेन भ्रान्तमनसा विभ्रमाऽऽकुलेनाचौर एव हतपूर्वो भवति, सोऽयं दृष्टिविपर्यासदण्डः । तदेवं खलु तस्य दृष्टिविपर्यासवत् तत्प्रत्ययिकं सावद्यं कर्माधीयते, तदेवं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासप्रत्ययिकमाख्यातमिति ॥ १३ ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ध० । आ० चू० । स्था०

दिट्ठिविस पुं० (दृष्टिविष) दृष्टौ विषं येषां ते दृष्टिविषाः । दर्वीकरसर्पभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । स्था० ।

दिट्ठिविसभावणा स्त्री० (दृष्टिविषभावना) दृष्टौ विषं येषां ते दृष्टिविषाः, तत्स्वरूपप्रतिपादिका दृष्टिविषया भावना । पा० । अङ्गबाह्यकालिकश्रुतविशेषे, पा० । पं० व० । व्य० ।

दिट्ठिसंचाल पुं० (दृष्टिसंचार) निमेषाऽऽदौ, ध० २ अधि० । आव० । ल० ।

दिट्ठिसंपण्ण पुं० (दृष्टिसंपन्न) सम्यग्दृष्टियुक्ते, ध० ३ अधि० । आव० । स्था० ।

दिट्ठिसंपण्णया स्त्री० (दृष्टिसंपन्नता) समग्दृष्टितायाम्, स्था० १० ठा० ।

दिट्ठिसंबंध पुं० (दृष्टिसम्बन्ध) संयतीनां दृष्टिरात्मीययां दृष्ट्या संबध्नाति । संयते, व्य० ७ उ० ।

दिट्ठिसम्मोह पुं० (दृष्टिसम्मोह) अन्यथादर्शनहेतौ, षो० ।

दृष्टिसंमोहलक्षणम्–

गुणतस्तुल्ये तत्त्वे, संज्ञाभेदाऽऽगमान्यथादृष्टिः ।

भवति यतोऽसावधमो, दोषः खलु दृष्टिसंमोहः ॥ ११ ॥

गुण उपकारफलं, तदाश्रित्य तुल्ये समाने द्वयोर्वस्तुनोः, तद्भावस्तत्त्व तस्मिँस्तुल्ये सति। संज्ञाभेदाऽऽगमान्यथादृष्टिः, आगमेन आगमविषये अन्यथा विपरीता दृष्टिर्मतिरस्येत्यागमन्यथादृष्टिर्बहुव्रीहिसमासः। संज्ञाभेदेन नामभेदेनाऽऽगमान्यथा-दृष्टिरिति पुरुषः परिगृह्यते। भवति जायते, यतो यस्माद्दोषादसौ दोषोऽधमो निकृष्टः खलुशब्दोऽवधारणे, अधम एव दोषो दृष्टिसंमोहाभिधानः। इदमत्र हृदयम्–निदर्शनमात्रेण द्वयोरारम्भयोर्भोगोपभोगलक्षणं फलमाश्रित्य तुल्यमेव तत्त्वम्। तत्रैकस्मिन्नारम्भे प्रवृत्तः पुरुषः तत्फलोपयोगी तमारम्भं सावद्यं मन्यते, अपरस्तु तत्समान एव प्रवृत्तस्तमारम्भं निर्दोषं मन्यते। तत्फलं च स्वयमेवोपभुङ्क्ते, यतो दोषात् स दृष्टिसंमोह इति। अथवा–गुणः परिणामो भावोऽध्यवसाय-विशेषस्तदङ्गीकरणेन तुल्ये तत्त्वे संज्ञाभेदाऽऽगमान्यथादृष्टिः पुरुषो यतो दोषात् प्रवर्तते स दृष्टिसंमोहो नाम दोषो भवति। यत्र तु गुणतो भावाऽऽख्याद् गुणान्न तुल्यं तत्त्वं स्वरूपं द्वयोरारम्भाऽऽत्मनोर्व्यक्तिभेदेन वस्तुनोस्तत्र चैत्याऽऽयतनाऽऽदिविषये क्षेत्रहिरण्यग्रामाऽऽदौ शास्त्रीयाध्यवसायभेदेन प्रवृत्तत्वात् स्वयं च तत्फलस्यानुपभोगात् केवलमागमानुसारितया तत्रोपेक्षापरित्यागेन ग्रामक्षेत्राऽऽद्यारम्भमपरिहरतोऽपि न दृष्टिसमोहाऽऽख्यो दोषः, तत्त्वतस्तस्याऽऽरम्भपरिवर्जनात्। दर्शनमागमो जिनमतं, तत्र संमोहः संमूढता, अन्यथोक्तस्यान्यथाप्रतिपत्तिर्दर्शनसंमोहः। न चैवंविधस्याऽऽगमिकस्य दोषः संभवतीति। तथाचाऽऽगमः–''चोएइ चेइआणं, खेत्तहिरण्णाइ गामगावाइ। लग्गंतस्स उ जइणो, तिकरणसोही कहं नु भवे ? ॥ १ ॥'' अयं च स चोद्यः परिहारोऽवसेयः। यदि वा–अहिंसाप्रशमाऽऽदीनां तन्त्रान्तरेष्वपि तुल्ये तत्त्वे परिभाषाभेदमात्रेणाऽऽगमेष्वन्यथादृष्टिः पुरुषो यतो भवति स दृष्टिसंमोह इति॥ ११ ॥ षो० ४ विव०।

दिट्ठिसार पुं० (दृष्टिसार) दृष्टिसद्भावे, आ० चू० १ अ०।

दिट्ठिसूल न० (दृष्टिशूल) नेत्रशूले, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०।

दिट्ठिसेवा स्त्री० (दृष्टिसेवा) हावभावानुसारेण दृष्टेर्दृष्टिमीलने, प्रव १६६ द्वार। दश०।

दिट्ठेल्लय त्रि० (दृष्ट) चक्षुषा उपलब्धे, आ० म० १ अ० २ खण्ड।

दिण *पुं० (दिन) द्यति तमः सूर्य्यकिरणोपलक्षिते षष्टिदण्डाऽऽत्मके तद्विशिष्टे* वा चतुर्थमाऽऽत्मके काले, वाच०। पञ्चा० ०६ विव। घस्रसूर्याङ्ग–दण्ड–यामेति पर्यायाः, दिन–दिवस–वासराणां पुन्नपुंसकत्वम्। है०।

दिणकय पुं० (दिनकृत) सूर्य्ये, स्था० २ ठा० ३ उ०।

दिणकर पुं० (दिनकर) दिनं करोति स्वोदयेन कृ–टक्। दिने करः किरणो यस्य वा। सूर्य्ये, वाच०। अनु०। दिनकरणशीले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। रा०। सू० प्र०। आ० चू०। आ० म०। स्या०।

दिणकरपण्णत्ति स्त्री० (दिनकरप्रज्ञप्ति) सूर्यप्रज्ञप्तिनामके ग्रन्थे, ज्यो० २१ पाहु०।

दिणकिच्च न (दिनकृत्य) स्वनामख्याते ग्रन्थे, ध० २ अधि०। दिवसकार्य्ये, वाच०।

दिणक्खय पुं० (दिनक्षय) ''एकस्मिन्सावने त्वह्नि, तिथीनां त्रितयं यदा। तदा दिनक्षयः प्रोक्तः'' इत्युक्ते एकसावनदिनवृत्ति-तिथित्रयरूपे काले, वाच०। स्था० ६ ठा०।

दिणबुड्ढि स्त्री० (दिनवृद्धि) अधिकदिने, अतिरात्रोऽधिकदिनवृद्धिरिति यावत्। स्था० ६ ठा०।

दिणरासि पुं० (दिनराशि) अहोरात्रपुञ्जे, व्य० १ उ०।

दिणसूरि पुं० (दिनसूरि) इन्द्रदत्तसूरिशिष्ये सिंहगिरिसूरिगुरौ स्वनामख्याते सूरौ, ग० ४ अधि०।

दिण्ण त्रि० (दत्त) दा–क्तः। विसृष्टे, त्यक्ते, रक्षिते च। द्वादशपुत्रमध्ये (दत्तक) पुत्रभेदे। वाच०। प्रज्ञा० २ पद। औ०। रा०। आचा०। उत्त०। वितीर्णे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। प्रश्न०। आचा०। नमेरेकविंशतितिजिनस्य प्रथममिक्षादायके, स०। आ० म०। निवेशिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। चन्द्रप्रभस्याष्टमजिनस्य प्रथमे शिष्ये, स०। श्रेयांसस्यैकादशमस्य जिनस्य पूर्वभवे जीवे, स०। अष्टापदपर्वतस्थे स्वनामख्याते तापसे च। पुं०। उत्त० १० अ०। आ० म०। भावे क्तः। दाने, ''दत्त सप्तविधं प्रोक्तमदत्तं षोडशाऽऽत्मकम्। पण्यमूल्यं भृतिस्तुष्ट्या, स्नेहात्प्रत्युपकारतः॥ १॥ स्त्रीणां चानुग्रहार्थं च, दत्तं सप्तविधं स्मृतम्'' इत्युक्ते दानभेदे च। न०। वाच०। ''दिण्णभइभत्तवेयणा।'' दत्तं भृतिभक्तलक्षणं द्रव्यं भोजनस्वरूपं वर्तनं मूल्यं येभ्यस्ते तथा। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। पा०। उत्त०।

*** दैन्य** न० दीनस्य भावः ष्यञ्। दीनत्वे, कार्पण्ये च। वाच०। शोके च। स्था० १० ठा०। आव०।

दिण्णगणि(ण्) पुं० (दत्तगणिन्) वीरमोक्षात् सार्द्धद्वादशशते वर्षे जाते स्वनामख्याते प्रसिद्धे गणिनि, ति०।

दिण्णय पुं० (दत्तक) स्वार्थे कन्। ''दद्याद् माता पिता वा यं, स पुत्रो दत्तको भवेत्'' इत्युक्ते स्वनामख्याते पुत्रभेदे, वाच। दत्तकः पुत्रतया वितीर्णो, यथा बाहुबलिनाऽनिलवेगः श्रूयते, स च पुत्रवत्पुत्रः। स्था० १० ठा०।

दिण्णवयण न० (दीप्तवचन) कुपितवचने, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

दित्त पुं (दीप्त) दीप–क्तः। निम्बूके, सिंहे च। स्वर्णे, हिङ्गुनि च। न०। वाच०। जाज्वल्यमाने, चं० प्र० १ पाहु०। जं०। भ०। नं०। नि०। ज्ञा०। उज्ज्वले, न०। कान्तिमति, रा०। ज्वलिते, दग्धे, भासिते, दीप्तिमति, वाच०। भास्वरे च। त्रि०। चं० प्र० १६ पाहु०। ज्ञा०। लाङ्गलिकायाम् अग्निशिखौषधौ, ज्योतिष्मत्यां च। टाप्। वाच०। धातुबलवीर्याऽऽदियुक्ते, ''दित्तं च कामा समभिद्दवंति।'' उत्त० ३४ अ०। प्रसिद्धे, ''अड्ढा दित्ता वित्थिण्णविपुलभवणसयणा–सणजाणवाहणाइण्णा।'' भ० २६ श० ३ उ०। स्था०।

*** दृप्त** त्रि० दृप–क्तः। गर्विते, वाच०। दर्पवति, औ०। दश०। भ०। ज्ञा०। प्रश्न०। स्था०। जं०।

दित्तचित्त पुं०स्त्री० (दीप्तचित्त) हर्षातिरेकेणापहृतचित्ते, बृ० ३ उ०।

दीप्तचित्तस्य चिकित्सा –

दित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेदियस्स निज्जूहित्तए अगिलाए तस्स करणिज्जं वे–

यावडियं जाव ततो रोगातंकातो विप्पमुक्को, ततो पच्छा तस्स अहालहुस्सेगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ ११ ॥

अस्य व्याख्या संक्षेपतः प्राग्वत् ॥ ११ ॥

संप्रति भाष्यकारो विस्तरमभिधित्सुराह–

एसेव गमो नियमा, दित्ताऽऽदीणं पि होति नायव्वो ।
जो होइ दित्तचित्तो, सो पलवति अनिच्छियव्वाइं ॥ १४६ ॥

एष एवानन्तरः क्षिप्तचित्तस्तत्र गमः प्रकारो लौकिक-लोकोत्तरिक-भेदाऽऽदिरूपो, दीप्तानामपि दीप्तचित्तप्रभृतीनामपि नियमाद् वेदितव्यः, यत्पुनर्नानात्वं तदभिधातव्यम्। तदेवाधिकृतसूत्रेऽभिधित्सुराह (जो होइ इत्यादि) यो भवति दीप्तचित्तः सोऽनीप्सितव्यानि बहूनि प्रलपति, बह्वनीप्सितप्रलपनं तस्य लक्षणं, क्षिप्तचित्तस्त्वपहचित्ततया मौनेनाप्यवतिष्ठते, इति परस्परं सूत्रयोर्विशेष इति भावः ॥ १४६ ॥

अथ कथमेष दीप्तचित्तो भवतीति तत्कारणप्रतिपादनार्थमाह–

इति एस असंमाणा, खित्तो सम्माणतो हवति दित्तो ।
अग्गीव इंधणेहिं, दिप्पइ चित्तं इमेहिं तु ॥ १५० ॥

इति प्रागुक्तेन प्रकारेण, एष क्षिप्तः क्षिप्तचित्तोऽसंमानतोऽऽपमानतो भवति, दीप्तो दीप्तचित्तः पुनः सम्मानतो विशिष्टसम्मानावाप्तितो भवति। दीप्तचित्तो नामयस्य दीप्तं चित्तं, तच्च चित्तं दीप्यते, अग्निरिवेन्धनैरेभिर्वक्ष्यमाणैर्लाभमदाऽऽदिभिः ॥ १५०॥

तानेवाऽऽह–

लाभमदेण व मत्तो, अहवा जेऊण दुज्जए सत्तू ।
दित्तम्मि सातवाहणो, तमहं वुच्छं समासेणं ॥ १५१ ॥

लाभमदेन वा मत्तः सन् दीप्तचित्तो भवति, अथवा दुर्जयान् शत्रून् जित्वा, उभयस्मिन्नपि दीप्ते दीप्तचित्ते लौकिको दृष्टान्तः–शातवाहनो राजा, तमहं शातवाहनदृष्टान्तं समासेन वक्ष्ये ॥ १५१ ॥

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति–

महुरा दंडाऽऽणत्ती, निग्गय सहसा अपुच्छियं कयरं ॥
तस्सं य तिक्खा आणा, दुहा गया दो वि पाडेउं ॥ १५२ ॥

गोयावरीए नदीए तडे अ पइट्ठाणं नयरं, तत्थ सालवाहणो राया, तस्स खरगओ अमच्चो, अन्नया सो सालवाहणो राया दंडनायगं आणवेइ–महुरं घेत्तूण सिग्घमागच्छ। सो य सहसा अपुच्छिऊण दंडेहिं सह निग्गतो। ततो चिंता जाया–का महुरा घेत्तव्वा, दक्खिणमहुरा, उत्तरमहुरा वा ? तस्स आणा तिक्खा, पुणो पुच्छिउं न तीरति। ततो दंडा दुहा काऊण दोसु वि पेसिया, गहिया तो दो वि महुराओ। ततो बद्धावगो पेसिओ। तेणाऽऽगंतूण राया बद्धाविओ–देव ! दो वि महुराओ गहियातो, अन्नो आगतो–देव ! अमुगत्थ पदेसे विपुलो निहीपायडो जातो। ततो उवरुवरि कल्लाणनिवेदणेण हरिसवसविसप्पमाणहयहियओ परवसो जातो। ततो हरिसं धरिउमचायंतो सयणिज्जं कुट्टइ, खंभे आहणइ, कुड्डे विद्दवइ, बहूणि य असमंजसाणि पलवति। ततो खरगेणामच्चेणं तमुवाएण पडिबोहिउकामेण खंभा कुड्डा बहु विद्दविया। रण्णा पुच्छियं–केण विद्दवियं ? सो भणइ–तुब्भेहिं। ततो मम सम्मुहमलीयमेवं भणति त्ति रुट्ठेण रन्ना खरगो पाएण ताडिओ। ततो संकेइयपुरिसेहिं उप्पाडितो, अन्नत्थ संगोविओ य। ततो कम्हि पओयणे समावडिए रण्णा पुच्छिओ–कत्थ अमच्चो चिट्ठति ? संकेतियपुरिसेहिं कहियं देव ! तुम्हं अविणयकारि त्ति सो मारितो। राया विसूरिउं पवत्तोदुट्ठु कयं मए, तयाणिं न किंपि वेइयं ति। ततो सभावत्थो जातो, ताहे संकेइयपुरिसेहिं विण्णवितो–देव ! गवेसामि जइ वि कयाइ चंडालेहिं रक्खितो हुज्जा। ततो गवेसिऊण आणीतो, राया संतुट्ठो, अमच्चेण सब्भावो कथितो, तुट्ठेण विउला भोगा दिण्णा।'' साम्प्रतमक्षरार्थो विव्रियते–शातवाहनेन राज्ञा मथुराग्रहणाय दण्डस्य दलस्याऽऽज्ञप्तिः कृता, ते दण्डाःसहसा कां मथुरां गृण्हीम इत्यपृष्ट्वा निर्गताः, तस्य च राज्ञ आज्ञा तीक्ष्णा, ततो भूयः प्रष्टुं न शक्नुवन्ति, ततस्ते दण्डा द्विविधा गता द्विधा विभज्य, एके दक्षिणमथुरायामपरे उत्तरमथुरायां गता इत्यर्थः। द्वे अपि च मथुरे पातयित्वा ते समागताः ॥ १५२ ॥

सुयजम्मम्हुरपाडण–निहिलंभनिवेयणा जुगव दित्तो ।
सयणिज्जखंभकुड्डे, घट्टेइ इमाइँ पलवंतो ॥ १५३ ॥

सुतस्य जन्म, मथुरयोः पातनं, निधेर्लाभस्तस्य च युगपन्निवेदनायां स हर्षवशात् दीप्तचित्तोऽभवत् दीप्तचित्ततया च इमानि वक्ष्यमाणानि प्रलपन् शयनीयस्तम्भकुड्यानि घट्टयति ॥ १५३ ॥

तत्र यानि प्रजपति तान्याह–

सच्चं भण गोयावरि ! पुव्वसमुद्देण साहिया संती ।
सालाहणकुलसरिसं, जति ते कूले कुलं अत्थि ॥ १५४ ॥

हे गोदावरि ! पूर्वसमुद्रेण साधिकृता कृतमर्यादा सती सत्यं भण ब्रूहि, यदि तव कूले शातवाहनकुलसदृशं कुलमस्ति ॥ १५४ ॥

उत्तरतो हिमवंतो, दाहिणतो सालवाहणो राया ।
समभारभरक्कंता, तेण न पल्हत्थए पुहवी ॥ १५५ ॥

उत्तरे उत्तरस्यां दिशि हिमवान् गिरिर्दक्षिणतः शातवाहनो राजा, तेन समभारभराऽऽक्रान्ता सती पृथिवी न पर्यस्यति। अन्यथा यद्यहं दक्षिणतो न स्यां, ततो हिमवद्भराऽऽक्रान्ता नियमतः पर्यस्येत् ॥ १५५ ॥

एयाणि य अन्नाणि य, पलवंतो सो अभाणियव्वाइं ।
कुसलेण अमच्चेणं, खरगेणं सो उवाएणं ॥ १५६ ॥

एतान्यनन्तरोदितानि, अन्यानि च सोऽभणितव्यानि बहूनि प्रलपितवान्, ततः कुशलेन खरकनाम्नाऽमात्येनोपायेन प्रतिबोधयितुकामेन।

किमित्याह–

विद्दवियं केणं ति य, तुब्भेहिं पायतालणा खरए ।
कत्थ त्ति मारितो सो, दुट्ठु त्ति य दंसणे भोगा ॥ १५७ ॥

विद्रवितं विनाशितं समस्तं स्तम्भकुड्याऽऽदि। राज्ञा पृष्टम्–केनेदं विनाशितम् ? अमात्यः संमुखीभूय सरोषं निष्ठुरं च वक्तियुष्माभिः। ततो राज्ञा कुपितेन तस्य पादेन ताडना कृता, तदनन्तरं संकेतितपुरुषैः स उत्पाटितः, संगोपितश्च। ततः समागते कस्मिंश्चित्प्रयोजने राज्ञा पृष्टम्–कृत्रामात्यो वर्त्तते ? संकेतितपुरुषैरुक्तम्–देव ! युष्मत्पादानामविनयकारी मारितः। ततो दुष्ट कृतं मयेति प्रभूतं विस्मरितवान्। स्वस्थाभूतेऽस्मिन् ज्ञाते संकेतितपुरुषैरमात्यदर्शनं कारितम्। सद्भावकथनानन्तरं राज्ञा तस्मै विपुला भोगाः प्रदत्ता इति ॥ १५७ ॥

उक्तौ लौकिको दीप्तचित्तो, लोकोत्तरिकमाह–

महऽज्झयण भत्तखीरे, कंबलगपडिग्गहे फलगसङ्घे ।
पासाए कप्पट्ठे, वायं काऊण वा दित्तो ॥ १५८ ॥

महाध्ययनं पौण्डरीकाऽऽदिकं दिवसेन, पौरुष्या वा समागतम्, अथवा–भक्तमुत्कृष्टं लब्धं, नास्मिन्क्षेत्रे भक्तमीदृशं केनापि लब्धपूर्व, यदि वा–क्षीरं चातुर्जातकसंमिश्रमवाप्तं, नैतादृशमुत्कृष्टं क्षीरं केनापि लभ्यते, यदि वा–कम्बलरत्नमतीवोत्कृष्टम्, अथवा–विशिष्टवर्णाऽऽदिगुणोपेतम्, अपलक्षणहीनं पतद्ग्रहं (फलग त्ति) यद्वा–फलकं चम्पकपट्टाऽऽदिकम् । अथवा–श्राद्धमीश्वरमतिदातारमुपासकत्वेन प्रतिपन्नं लब्धम् । यदि वा–प्रासादे सर्वोत्कृष्टे उपाश्रयत्वेन लब्धे, (कप्पट्ठे इति) ईश्वरपुत्रे रूपवति प्रज्ञानिधाने लब्धे प्रमोदते, प्रमोदभरवशाच्च दीप्तचित्तो भवति । एतेन लाभमदेन वा मत्त इति लोकोत्तरे योजितम् । अधुना दुर्जयान् शत्रुन् जित्वेत्येतद्योजयति–(वायं काऊण व त्ति) वादं वा परप्रवादिना दुर्जयेन सह कृत्वा तं पराजित्यातिहर्षवशतो दीप्तो दीप्तचित्तो भवति ॥ १५८ ॥

साम्प्रतमेनामेव गाथां विनेयजनानुग्रहाय विवरीषुराह–

पुंडरियमाइयं खलु, अज्झयणं कङ्खिऊण दिवसेणं ।
हिरसेण दित्तचित्तो, एवं होज्जाहि कोई उ ॥ १५९ ॥

कश्चित्पौण्डरीकाऽऽदिकमध्ययनं खलु दिवसेन, उपलक्षणमेतत्–पौरुष्यादिना वा, कर्षित्वा पठित्वा, हर्षेण दीप्तचित्तो भवेत्, एवमध्ययनलाभेन दीप्तचित्तता ॥ १५९ ॥

दुल्लहदव्वे देसे, पडिसेविय तं अलद्धपुव्वं वा ।
आहारोवहिवसही, अहुणविवाहो व कप्पट्ठो ॥ १६० ॥

दुर्लभद्रव्ये देशे, तद् दुर्लभद्रव्यं, केनाप्यलब्धपूर्व, वाशब्दः समुच्चये, प्रतिसेव्य लब्ध्वा, दीप्तचित्तो भवति । एवमाहारे भक्तक्षीराऽऽदीके, उपधौ कम्बलरत्नाऽऽदिके, वसतौ प्रासादाऽऽदिरूपायां लब्धायाम् यदि वा–(कप्पट्ठे त्ति) ईश्वरपुत्रोऽधुना कृतविवाहः प्रज्ञानिधानं शिष्यत्वेन लब्ध इति हर्षेण दीप्तचित्तो भूयात् ॥ १६० ॥

तत्रैतेषु दीप्तचित्तेषु यतनामाह–

दिवसेण पोरिसीए, तुमए ठवियं इमेण अद्धेण ।
एयस्स नत्थि गव्वो, दुम्मेहतरस्स को तुज्झं ? ॥ १६१ ॥

दिवसेन, पौरुष्या वा त्वया पौण्डरीकाऽऽदिकमध्ययनं स्थापितं पठितं, तदनेन दिवसस्य, पौरुष्या वा अर्द्धेन, तथाप्येतस्य नास्ति गर्वः, तव पुनर्दुर्मेधसः को गर्वः ? नैव युक्त इति भावः । एतस्मादपि तव हीनप्रज्ञत्वात् ॥ १६१ ॥

तद्दव्वस्स दुगुंछण, दिट्ठंतो भावणा असरिसेणं ।
पगयम्मि पण्णवेत्ता, विज्जाऽऽदि विसोहि जा कम्मं ॥ १६२ ॥

यतो दुर्लभद्रव्यं भक्ष्यं क्षीराऽऽदि तेन लब्धं, तस्य द्रव्यस्य जुगुप्सनं क्रियते, यथा नेदमतिशोभनम्, अमुको वाऽस्य दोष इत्यादि । यद्वा–दृष्टान्तोऽन्येनापीदृशमानीतमिति प्रदर्शनं क्रियते । तस्य दृष्टान्तस्य भावना असदृशेन तस्मात् शतभागेन, सहस्रभागेन वा यो हीनस्तेन कर्तव्या । तथा (पगयम्मि इत्यादि) प्रकृते अवमतरस्य विशिष्टे प्रासादाऽऽदिके संपाद्ये तथाविधं श्रावकमितरं वा प्राप्य तदभावे कस्यापि महर्द्धिकस्य, विद्याऽऽदि, आदिशब्दाद् मन्त्रचूर्णाऽऽदिपरिग्रहः, यावत्कर्मापि प्रयुज्य, ततोऽवमतरस्य विशिष्टप्रासादाऽऽदिसंपादने तस्यापभ्राजना संपादनीया, येन प्रगुणो भवति । ततः पश्चाद्विद्याऽऽदिप्रयोगजनितपापविशुद्धये विशोधिःप्रायश्चित्तं प्रतिपत्तव्येति ॥ १६२ ॥

साम्प्रतमेतदेव विवरीषुराह–

उक्कोसं बहुविहियं, आहारोवगरणफलगमादीयं ।
खड्डेणोमतरेणं, आणीतो मामितो पउणो ॥ १६३ ॥

उत्कृष्टं बहुविधिकं बहुभेदमाहारं भक्तक्षीराऽऽदिकमुपकरणं कम्बलरत्नप्रभृति फलकं चम्पकपट्टतिनिसपट्टाऽऽदिकम्, आदिशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः, तथाविधश्राद्धप्रज्ञापनेन विद्याऽऽदिप्रयोगेण वा संपाद्य क्षुद्रेण क्षुल्लकेन, गुणतोऽवमतरेण शतभागसहस्रभागाऽऽदिना हीनेन आनीतमुपदर्श्य सोऽपभ्राजितः क्रियते, ततः प्रगुणो भवति ॥ १६३ ॥

प्रासादाऽऽदिविषये यतनामाह–

अद्दिट्ठसङ्घकहणं, आउट्टा अभिणवो य पासाओ ।
कयमित्ते य विवाहे, सिद्धादिसुया कइयवेणं ॥ १६४ ॥

यस्तेन श्राद्धो न दृष्टोऽदृष्टपूर्वः, तस्यादृष्टस्य श्राद्धस्य कथनं प्रज्ञापना, उपलक्षणमेतत् अन्यस्य महर्द्धिकस्य विद्याऽऽदिप्रयोगतोऽभिमुखीकरणं वा, ततस्ते आवृताः सन्तस्तस्य लब्धमानिनः समीपमागत्य ब्रुवते–वयमेतेन क्षुल्लकेन प्रज्ञापिताः, ततोऽभिनव एव कृतमात्र एव युष्माकं मे प्रासादो दत्त इति । तथा सिद्धपुत्राऽऽदिकेषु प्रज्ञापनं, विद्याऽऽदिप्रयोगं वा कृत्वा तत्सुतः कृतमात्रधीर्बाह्य एव व्रतार्थतत्समक्षमुपस्थापनीयो, येन तस्यापभ्राजनोपजायते, ततः पश्चाद्दत्तः । तथा कैतवेन कपटेन सिद्धाऽऽदिसुताः सिद्धपुत्राऽऽदिसुताः कृतमात्र एव विवाहे उत्पादनीयाः, शकुनाऽऽदिवैगुण्यमुद्भाव्य मुच्यन्ते, यदि न स्यात् तात्त्वकी व्रतश्रद्धेति ॥ १६४ ॥

''वायं काऊणं'' इत्यत्र यतनामाह–

चरगाऽऽदि पन्नवेउं, पुव्वं तस्स पुरतो जिणावेंति ।
ओमतरगेण तत्तो, पगुणति ओभामिता एवं ॥ १६५ ॥

चरकाऽऽदिकं प्रचण्डं परवादिनमधःकृतसाधोर्वादे वाऽसाध्यं पूर्वं प्रज्ञाप्य प्ररूपितस्याधिकृतस्य वादाभिमानिनः साधोः पुरतोऽवमतरेण चरकाऽऽदिकं जापयन्ति वरवृषभाः, ततः स एवमपभ्राजितः सन् प्रगुणायते प्रगुणो भवति ॥ १६५ ॥ व्य० २ उ० । बृ० ।

दित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ ११ ॥

दीप्तचित्तां निर्ग्रन्थीं गृण्हन्नवलम्बमानो वा नातिक्रामत्याज्ञाम् । तत्र निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा अपि वक्तव्यता वक्तव्या, नवरमेतत्प्रत्यभिलापः कर्तव्यः । बृ० ६ उ० । स्था० । नि० । ओघ० ।

दित्ततव पुं० (दीप्ततपस्) दीप्तं तपो यस्य स दीप्ततपः । हुताशन इव कर्मवनदाहकत्वेन ज्वलत्तेजस्के तपस्विनि, विपा० १ श्रु० १ अ० । ज्ञा० । स्था० । औ० । नि० । भ० ।

दित्तधर पुं० (दीप्तधर) ज्वलितधारके, स्था० १० ठा० ।

*** दृप्तधर** पुं० दर्पवद्धारके, दर्पवर्धक, स्था० १० ठा० ।

दित्ता स्त्री० (दीप्ता) ज्वलन्त्याम्, उत्त० १९ अ० ।

दित्ति स्त्री० [दिति(ती)] दोऽवखण्डने, क्तिच् वा ङीप्। दैत्यमातरि कश्यपपत्न्याम्, भावे क्तिन्। खण्डने, वाच०। पुनर्वसुनक्षत्राधिष्ठातुदेवतायाम्, स्था० २ ठा० ३ उ०। चं० प्र०।

*** दीप्ति** स्त्री० दीप–क्तिन्। कान्तौ, ''कान्तिरेव वयोभोगदेशकालगुणाऽऽदिभिः। उद्दीपिताऽतिविस्तारं, प्राप्ता दीप्तिरिहोच्यते ॥ १ ॥'' इत्युक्ते स्त्रीणां गुणभेदे, वाच। दीपने, ज्ञा० १ श्रु० १० अ०।

दित्तिमं पुं० (दीप्तिमत्) परवादिनामक्षोभ्ये षड्त्रिंशत्सूरिगुणानां चतुस्त्रिंशत्तमे गुणे, ग० १ अधि०। आचा०। प्रव०।

दित्था स्त्री० (दित्सा) दातुमिच्छायाम्, सूत्र० २ श्रु० ४ अ०।

दिदिक्खा स्त्री० (दिदृक्षा) दृष्टुमिच्छा दिदृक्षा। दर्शनेच्छायाम्, नं०। षो०।

दिदृक्षा भवबीजं चा–विद्या चाऽनादिवासना।
भङ्ग यैषैवाऽऽश्रिता साङ्ख्य–शैववेदान्तिसौगतैः ॥ २६ ॥

(दिदृक्षेति) पुरुषस्य प्रकृतिविकारान् द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा सैवेयमिति साङ्ख्याः, भवबीजमिति शैवाः, अविद्येति वेदान्तिकाः, अनादिवासनेति सौगताः ॥ २६ ॥ द्वा० १२ द्वा०।

दिद्ध पुं० (दिग्ध) दिह–क्तः। विषाक्तवाणे, वह्नौ च। भावे क्तः। स्नेहे, लेपने, न०। कर्मणि क्तः। लिप्ते, वाच०। नि० चू० १ उ०।

दिप्प त्रि० (दीप्र) प्रकाशिते, ''दीप्रदीपाड्कुरायते।'' रत्ना० १ परि०।

दिप्पंत त्रि० (दीप्यमान) भासमाने, नि० चू०१ उ०। दीप्यमानविमलग्रहगणसमप्रभाः। दीप्यमानो रजन्यां भास्वान्। विमलोऽत्र धूल्याद्यपगमेन ग्रहगणो ग्रहसमूहस्तेन समा प्रभा यासां ताः। जी० ३ प्रति० ४ उ०। अनर्थे, दे० ना० ५ वर्ग० ३६ गाथा।

दिप्पमाण त्रि० (दीप्यमान) भासमाने, औ०। कल्प०। ''दिप्पमाणसोहं।'' दीप्यमाना शोभा यस्य तम्। कल्प० ३ क्षण।

दीप्पा स्त्री० (दीप्रा) दीपाप्रभासदृश्याम्, ध० १ अधि०। योगदृष्टिभेदे, द्वा०।

प्राणायामवती दीप्रा, योगोत्थानविवर्जिता।
तत्त्वश्रवणसंयुक्ता, सूक्ष्मबोधमनाश्रिता ॥ १६ ॥

प्राणायामवती प्राणायामसहिता दीप्रा दृष्टिः योगोत्थानेन विवर्जिता, प्रशान्तवाहितालाभात्। तत्त्वश्रवणेन संयुक्ता, शुश्रूषाफलभावात्। सूक्ष्मबोधेन विवर्जिता, वेद्यसंवेद्यपदाप्राप्तेः ॥ १६ ॥ द्वा० २२ द्वा०। (प्राणायामव्याख्या 'पाणायाम' शब्दे द्रष्टव्या) (तत्त्वश्रुतिश्च 'तत्तसुइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१८३ पृष्ठे गता)

कर्मवज्रविभेदेना–नन्तधर्मकगोचरे।
वेद्यसंवेद्यपदजे, बोधे सूक्ष्मत्वमत्र न ॥ २३ ॥

(कर्मेति) कर्मैव वज्रमतिदुर्भेदत्वात् तस्य विभेदेनानन्तधर्मके भेदाभेदनित्यत्वानित्यत्वाऽऽद्यनन्तधर्मशबलं यद्वस्तु तद् गोचरे वस्तुनस्तथात्वपरिच्छेदिनि, वेद्यसंवेद्यपदजे बोधे सूक्ष्मत्वं यत्तदत्र दीप्रायां दृष्टौ न भवति. तदधोभूमिकारूपत्वादस्याः। तदुक्तम्–''भवाम्भोधिसमुत्तारात् कर्मवज्रविभेदतः।

ज्ञेयव्याप्तेश्च कात्स्न्येन, सूक्ष्मत्वं नाऽत्यमत्र तु ॥ १ ॥'' ॥ २३ ॥

अवेद्यसंवेद्यपदं, चतसृष्वासु दृष्टिषु।
पक्षिच्छायाजलचर–प्रवृत्त्याभं यदुल्वणम् ॥ २४ ॥

(अवेद्येति) आसु मित्राऽऽद्यासु चतसृषु दृष्टिषु यद्यस्मादवेद्यसंवेद्यपदम् उल्बणमधिकम्। पक्षिच्छायायां जलसंसर्गिण्यां जलधिया जलचरप्रवृत्तिरिवाऽऽभा वेद्यसंवेद्यसम्बन्धिनी यत्र तत्तथा। तत्र हि न तात्त्विकं वेद्यसंवेद्यपदं, किंत्वारोपाधिष्ठानसंसर्गितयाऽतात्त्विकम्, अत एवानुल्वणमित्यर्थः। एतदपि चरमासु चरमयथाप्रवृत्तकरणेन एवेत्याचार्याः। तदिदमभिप्रेत्योक्तम्–''अवेद्यसंवेद्यपदं, यस्मादासु तथोल्वणम्। पक्षिच्छायाजलचरप्रवृत्त्याभमतः परम् ॥ १ ॥'' ॥ २६ ॥

वेद्यं संवेद्यते यस्मि–न्नपायाऽऽदिनिबन्धनम्।
पदं तद् वेद्यसंवेद्य–मन्यदेतद्विपर्ययात् ॥ २५ ॥

(वेद्यमिति) वेद्यं वेदनीयं वस्तुस्थित्या, तथा भावयोगिसाक्षान्येनाविकल्पकज्ञानग्राह्यमित्यर्थः। संवेद्यते क्षयोपशमानुरूपं निश्चयाबुद्ध्या विज्ञायते, यस्मिन्नाशयस्थाने, अपायाऽऽदिनिबन्धनं नरकस्वर्गाऽऽदिकारणं हिंसाऽऽहिंसाऽऽदि तद्वेद्यसंवेद्यपदम्, अन्यदवेद्यसंवेद्यपदमेतद्विपर्ययादुक्तलक्षणव्यत्ययात्। यद्यपि शुद्धं यथावद्वेद्यसंवेदनं माषतुषाऽऽदावसम्भवि, योग्यतामात्रेण च मित्राऽऽदिदृष्टिष्वपि संभवि, तथाऽपि वेद्यसंवेद्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं ग्रन्थिभेदजनितो रुचिविशेष एवेति न दोषः। २५।

अपायशक्तिमालिन्यं, सूक्ष्मबोधविघातकृत्।
न वेद्यसंवेद्यपदे, वज्रतण्डुलसन्निभे ॥ २६ ॥

(अपायेति) अपायशक्तिमालिन्यं नरकाऽऽद्यपायशक्तिमलिनत्वं, सूक्ष्मबोधस्य विघातकृत् अपायहेत्वासेवनक्लिष्टबीजसद्भावात्तत्स्य सद्ज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमाभावनियतत्वात्। न वेद्यसंवेद्यपदे उक्तलक्षणे वज्रतण्डुलसन्निभे, प्रायो दुर्गतावपि मानसदुःखाभावेन तद्वद्वेद्यसंवेद्यपदवतो भावपाकायोगात्। एतच्च व्यावहारिकं वेद्यसंवेद्यपदं भावमाश्रित्योक्तम्। निश्चयतस्तु प्रतिपतितसद्दर्शनानामनन्तसंसारिणां नास्त्येव वेद्यसंवेद्यपदभावः। नैश्चयिक-तद्वति क्षायिकसम्यग्दृष्टौ श्रेणिकाऽऽदाविव पुनर्दुर्गत्ययोगेन तप्तलोहपदन्यासतुल्याया अपि पापप्रवृत्तेश्चरमाया एवोपपत्तेः।

यथोक्तम्–

''अतोऽन्यदुत्तरा स्वस्मात्, पापे कर्माऽऽगतसोऽपि हि।
तप्तलोहपदन्यास–तुल्या वृत्तिः क्वचिद्यदि ॥ १ ॥
वेद्यसंवेद्यपदतः, संवेगातिशयादिति।
चरमैव भवत्येषा, पुनर्दुर्गत्ययोगतः ॥ २ ॥'' इति ॥ २६ ॥

तच्छक्तिः स्थूलबोधस्य, बीजमन्यत्र चाक्षतम्।
तत्र यत्पुण्यबन्धोऽपि, हन्तापायोत्तरः स्मृतः ॥ २७ ॥

(तच्छक्तिरिति) अन्यत्र चावेद्यसंवेद्यपदे तच्छक्तिरपायशक्तिः स्थूलबोधस्य बीजमक्षतमनभिभूतम्। तत्रावेद्यसंवेद्यपदे यद्यस्मात् पुण्यबन्धोऽपि हन्तापायोत्तरो विघ्ननानन्तरीयकः स्मृतः, ततस्तत्पुण्यस्य पापानुबन्धित्वात् ॥ २७ ॥

प्रवृत्तिरपि योगस्य, वैराग्यान्मोहगर्भतः।
प्रसूतेऽपायजननी–मुत्तरां मोहवासनाम् ॥ २८ ॥

(प्रवृत्तिरपीति) तत्रेति प्राक्तनमत्रानुषज्यते। तत्र मोहगर्भतो वैराग्याद् योगस्य प्रवृत्तिरपि सद्गुरुपारतन्त्र्याभावेऽपायजननीमुत्तरां मोहवासनां प्रसूते, मोहमूलानुष्ठानस्य मोहवासनाऽबन्ध्यबीजत्वात्, अतोऽत्र योगप्रवृत्तिरप्यकिञ्चित्करीति भावः ॥ २८ ॥

अवेद्यसंवद्यपदे, पुण्यं निरनुबन्धकम्।
भवाभिनन्दिजन्तूनां, पापं स्यात्सानुबन्धकम् ॥ २९ ॥

(अवेद्येति) अवेद्यसंवेद्यपदे पुण्यं निरनुबन्धकमनुबन्धरहितं स्यात्। यदि कदाचिन्न स्यात् पापानुबन्धि, सानुबन्धे तत्र ग्रन्थिभेदस्य नियामकत्वात्। भवाभिनन्दिनां क्षुद्रत्वाऽऽदिदोषवतां जन्तूनां पापं सानुबन्धकमनुबन्धसहितं स्यात्, रागद्वेषाऽऽदिप्राबल्यस्य तदनुबन्धाबन्धबीजत्वात्॥ २९ ॥

कुकृत्यं कृत्यमाभाति, कृत्यं चाकृत्यमेव हि।
अत्र व्यामूढचित्तानां, कण्डूकण्डूयनाऽऽदिवत् ॥ ३० ॥

(कुकृत्यमिति) कुकृत्यं प्राणातिपाताऽऽदिकृत्यं करणीयमाभाति। कृत्यं चाहिंसाऽऽदि, अकृत्यमेव हि अनाचरणीयमेव। अत्राऽवेद्यसंवेद्यपदे व्यामूढचित्तानां मोहग्रस्तमानसानां, कण्डूलानां कण्डूयनाऽऽदिवत्। आदिना कृम्याकुलस्य कृष्णिनोऽग्निसेवनग्रहः। कण्डूयकाऽऽदीनां कण्डूवादेरिव भवाभिनान्दिनामवेद्यसंवेद्यपदादेव विपर्ययधीरिति भावः ॥ ३० ॥

एतेऽसच्चेष्टयाऽऽत्मानं, मलिनं कुर्वते निजम्।
वमिशाऽऽमिषवत्तुच्छे, प्रसक्ता भोगजे सुखे ॥ ३१ ॥

(एत इति) एते भवाभिनन्दिनोद्धसच्चेष्टया महारम्भाऽऽदिप्रवृत्तिलक्षण्या निजमात्मानं मलिनं कुर्वते, कर्मरजःसम्बन्धात्, बडिशाऽऽमिषवद् मत्स्यगलमांसवत्। तुच्छेऽल्पे रौद्रविपाके प्रसक्ताः भोगजे भोगप्रभवे सुखे ॥ ३१ ॥

अवेद्यसंवेद्यपदं, सत्सङ्गाऽगमयोगतः।
तद्दुर्गतिप्रदं ज्ञेयं, परमाऽऽनन्दमिच्छता ॥ ३२ ॥

(अवेद्येति) यतोऽस्यायं दारुणो विपाकः, तत्तस्मादवेद्यसंवेद्यपदं दुर्गतिप्रदं नरकाऽऽदिदुर्गतिकारणम्, सत्सङ्गाऽऽगमयोगतो विशिष्टसंगमाऽऽगमसम्बन्धात्। परमाऽऽनन्दं मोक्षसुखमिच्छता ज्ञेयम्, अस्यामेव भूमिकायामन्यदा जेतुमशक्यत्वात्। अत एवानुवादपरोऽप्यागम इति योगाऽऽचार्या अयोग्यनियोगासिऽरिति ॥ ३२ ॥ द्वा० २२ द्वा०।

दिय पुं० (द्विज) द्विर्जायते, सुजर्थे वृत्तौ दिशब्दः, जन–डः। संस्कृतब्राह्मणे, वाच०। आचा०। सूत्र०।

*** दिव** न० दिव कः स्वर्ग, दिवोकस्[illegible]। दिवसे, वने च। वाच०। स० ४३ सम०।

*** द्विक** त्रि० दि०ब०। द्विकसंख्यायां, तद्युक्ते च। त्रि०। वाच०।

दियपोय पुं० (द्विजपोत) पक्षिशिशौ, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

दियस पुं० (दिवस) दीव्यन्त्यत्र, दिव असच् किच्च। सूर्य्य किरणोपलक्षिते पञ्चदशमुहूर्त्ताऽऽत्मके काले, तं। ज्यो। मासस्य त्रिंशत्तमे भागे, ज्यो० २ पाहु०।

दियसयर पुं० (दिवसकर) सूर्य्ये, को०।

दियसबंभयारि(ण्) पुं० (दिवसब्रह्मचारिन्) दिवसे ब्रह्म चरतीत्येवंशीलो दिवसब्रह्मचारी। दिवसे मैथुनत्यागिनि, पञ्चा० १० विव०। स०। आ० चू०।

दिया अव्य० (दिवा) दिव–कः। दिवसे, पा०। भ०।

दियाभोयण न० (दिवाभोजन) दिवसभोजने, नि० चू० ११ उ०। (दिवाभोजनस्य अवर्णवादे प्रायश्चित्तम् 'राईभोयण' शब्दे वक्ष्यते)

दियालोगच्चुय त्रि (देवलोकच्युत) ऋषीभूते, ''दियालोकच्चुयाभासिया। '' देवलोकच्युतैः ऋषीभूतैराभाषितानि देवलोकच्युताऽऽभाषितानि। स० ४३ सम०।

दिरअ पुं० (द्विरद) **''द्विन्योरुत्''** ॥ ८। १। ९४ ॥ इत्यत्र बहुलाधिकारात्क्वचिदुत्वं न। प्रा० १ पाद। द्वौ रदौ यस्य सः। हस्तिनि, वाच०।

दिलिवेढय पुं० (दिलिवेष्टक) ग्राहभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

दिलिंदिअ (देशी) बाले, दे० ना० ५ वर्ग ४० गाथा।

दिल्लीपुर न० (दिल्लीपुर) यमुनातटस्थे इन्द्रप्रस्थनामके नगरे, ती० १६ कल्प०।

दिव न० (दिव) स्वर्गे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

दिवड्ढ त्रि० (द्व्यर्द्ध) द्वितीयमर्द्धं यस्य तद् द्व्यर्द्धम्। सार्द्धे, सू० प्र० १० पाहु०। चं० प्र०। आ० म०। ज्यो०। स०।

*** द्व्यपार्द्ध** त्रि० द्वितीयमपार्द्धं यत्र तद् ह्यपार्द्धम्। सार्द्धे, स्था० ६ ठा०।

दिवड्ढखेत्त त्रि० (द्व्यपार्द्धक्षैत्रिक) द्वपार्द्धं क्षेत्रं येषां ते। सार्द्धक्षेत्रिके, स्था० ६ ठा०।

*** द्व्यर्द्धक्षैत्रिक** त्रि० द्व्यर्द्धं क्षेत्रं येषां ते। सार्द्धोपेतक्षेत्रिके, स० ४५ सम०। ज्यो०। सू० प्र०। चं० प्र०। आ० म०।

दिवस पुं० (दिवस) **''दिवसे सः''** ॥ ८। १। २६३ ॥ इति पाक्षिको हः। प्रा० १ पाद। दिवसकराप्रभा प्रकाशितनभः–खण्डरूपे सूर्यकिरणाऽऽस्पृष्टव्योमखण्डरूपे वा चतुःप्रहराऽऽत्मके समये, विशे०। स०। औ०। ध०। प्रश्न०। द्वी०।

ता कहं ते दिवसा आहिय त्ति वएज्जा? ता एगमेगस्स णं पक्खस्स पन्नरस दिवसा पण्णत्ता। तं जहा–पडिवा[illegible], वितियदिवसे, जाव पण्णरसे [illegible]। स णं पण्णरसण्हं दिवसाणं [illegible] पण्णत्ता। तं जहा–
''पुव्वंगे सिद्धमणो–रमे य तत्तो मणोहरे चेव।
जसभद्दे य जसोधरे, सव्वकामसमिद्धे ति य ॥ १ ॥
इंदमुद्धाभिसित्ते, सोमणसं धणंजए य बोधव्वे।
अत्थसिद्धे अभिजिते, अच्चसणे [illegible]जए चेव ॥ २ ॥
अग्गिवेसे उवसमे, दिवसाणं नामधेज्जं।''

(ता कहं ते इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। कथ [illegible] प्रकारेण, केन क्रमेणेत्यर्थः ? भगवन् ! त्वया दिवसा आख्याता इति ?

देत् ? भगवानाह–(एगमेगस्स णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। एकैकस्य, अत्रापान्तरालवर्ती, मकारोऽलाक्षणिकः, णमिति वाक्यालङ्कारे। पक्षस्य पञ्चदश दिवसाः प्रज्ञप्ताः, वक्ष्यमाणक्रमयुक्ताः। तमेव क्रममाह–(तं जहेत्यादि) तद्यथा–प्रतिपत्प्रथमो दिवसो, द्वितीया द्वितीयो दिवसः, तृतीया तृतीयो दिवसः, एवं यावत्पञ्चदशी पञ्चदशो दिवसः। (ता एएसि णमित्यादि) तत्र एतेषां पञ्चदशानां दिवसानां क्रमेण पञ्चदश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–प्रथमः प्रतिपल्लक्षणः पूर्वाङ्गनामा, द्वितीयः सिद्धमनोरमः तृतीयो मनोहरः, चतुर्थो यशोभद्रः, पञ्चमो यशोधरः, षष्ठः सर्वकामसमृद्धः, सप्तम इन्द्रमूर्द्धाभिषिक्तः, अष्टमः सौमनसो, नवमो धनञ्जयो, दशमोऽर्थसिद्धः, एकादशोऽभिजित्, द्वादशोऽत्यसनं, त्रयोदशः शतञ्जयः, चतुर्दशोऽग्निवेशः, पञ्चदश उपशमः। एतानि दिवसानां क्रमेण नामधेयानि। चं० प्र० १० पाहु० १३ पाहु०। द्वादशाऽऽदिमुहूर्तो दिवसः। आ० म० २ अ०। अहोरात्रे, स्था० ५ ठा० ३ उ०। (दिनरात्रिहानिवृद्धि 'सूरमंडल' शब्दे वक्ष्येते)

दिवसतिहि स्त्री० (दिवसतिथि) तिथेः पूर्वभागे, सू० प्र० १० पाहु०। चं० प्र०।

दिवसभयग पुं० (दिवसभृतक) भृयते पोष्यते स्मेति भृतः, स एव भृतकः, कर्म्मकर इत्यर्थः। प्रतिदिवसं नियतमूल्येन कर्मकरणार्थं यो गृह्यते सः। प्रतिदिवसं नियतमूल्येन कर्मकरणार्थं गृहीते भृत्ये, स्था० ४ ठा० १ उ०। पं० चू०। पं० भा०।

दिवसुज्जुत्त त्रि० (दिवसोद्युक्त) प्रतिदिनमुद्यते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

दिवह पुं० (दिवस) 'दिवस' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद।

दिवाकर पुं० (दिवाकर) सूर्य्ये, उत्त० ११ अ०। रा०। ज्ञा०। औ०। ''उत्तिट्ठंते दिवायरे जलंत इव।'' उत्त० ११ अ०।

दिवाकरकूड पुं (दिवाकरकूट) जम्बूमन्दरदक्षिणे रूचकवरपर्वतस्याष्टमे कूटे, स्था० ८ ठा०।

दिवागर पुं० (दिवाकर) 'दिवाकर' शब्दार्थे, उत्त० ११ अ०।

दिवागरकूड पुं० (दिवाकरकूट) 'दिवाकरकूड' शब्दार्थे, स्था० ८ ठा०।

दिविट्ठ पुं० (द्विपृष्ठ) द्वितीये वासुदेवे, ति०। आव०।

दिवे अव्य० (दिवा) **''किलाऽऽथवा–दिवा–सह–नहेः किराहवइ दिवे सहुं नाहिं''** ॥ ८। ४। ४१६ ॥ इति दिवा इत्यस्य 'दिवे' इत्यादेशः। [illegible] प्राच०। ''दिवे दिवे गंग णहाणु।'' प्रा० ४ पाद।

दिव्व त्रि० (दिव्य) दा[illegible]–क्यप्। उत्तमे, सं० १० समo। औ०। प्रधाने, रा०। प्रश्न०। जी०। भ०। आ० [illegible]। स्था०। चं० प्र०। सू० प्र०। प्रज्ञा०। विशिष्टे, सं० १० समo। नं०। स्वर्गगतवस्तुविषये, स्था० ३ ठा० ३ उ०। आ० क०। भ०। सुरनिर्मिते, आ० म० १ अ० २ खण्ड। स्था०। आ० क०। देवोचिते, औ०। कल्प०। देवरमणे, रा०। व्यन्तराद्धहासाऽऽदिविषये पशुभेदे, ध० ३ अधि०। व्यन्तराऽऽदिकृते उपसर्गे, आव० ५ अ०। विशे०। उत्त०। कल्प०। सूत्र०। आ० चू०। देवसम्बन्धिनि, न०। द्यौः स्वर्गस्तद्वासी देवोऽप्युपचाराद् द्यौः, तत्र भवो दिव्यः। वैमानिकाऽऽदिदेवसम्बन्धिनि, स्था० ४ ठा० ३ उ०। ''दिव्वं ठाणं मणनिव्वुकरं।'' ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। ''दिव्वजुयलपरिहिओ।'' उत्त० २२ अ०। मनोहरे, घोलनाऽऽत्मके च। दिवि भवं यत्। लवङ्गे, चन्दने, शपथरूपे, अलौकिकप्रमाणभेदे, गुग्गलौ, तन्त्रोक्ते भावभेदे च। न०। नायकभेदे, पुं०। वाच०।

दिव्वग त्रि० (दिव्यक) व्यन्तराऽऽदिना हास्यप्रद्वेषाऽऽदिजनिते उपसर्गभेदे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

दिव्वजाग पुं० (दिव्ययाग) जिनपूजायाम्, कल्प० ५ क्षण०।

दिव्वतुमिय न० (दिव्यत्रुटित) वेणुवीणामृदङ्गाऽऽद्यातोद्येषु, रा०।

*** दिव्यतूर्य्य** न० वाद्यभेदे, रा०।

दिव्वदेवजुति स्त्री० (दिव्यदेवद्युति) विशिष्टायां शराऽऽीरणाऽऽदिदीप्तौ, स० १० सम०। स्था०।

दिव्वदेवड्ढि स्त्री० (दिव्यदेवर्द्धि) प्रधानपरिवाराऽऽदिरूपायां देवर्द्धौ, स० १० सम०। स्था०।

दिव्वदेवाणुभाव त्रि० (दिव्यदेवानुभाव) उत्तमवैक्रियकरणाऽऽदेप्रभावे, स० १० सम०। स्था०।

दिव्वद्धणि पुं० (दिव्यध्वनि) सर्वप्राणिश्रुतिसुखदायां स्वस्वभाषापरिणामिन्यां संशयतव्यवच्छेत्र्यां योजनव्यापिन्यां भगवद्वाण्याम् दर्श० १ तत्त्व०।

दिव्वाग पुं० (दिव्याक) मकुलिसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

दिव्वायपत्त स्त्री० (दिव्याऽऽतपत्र) शोभने आतपत्रे, रा०।

दिव्वासा स्त्री० (देशी) चामुण्डायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा।

दिसा स्त्री० (दिक्) **''दिक्प्रावृषोः सः''** ॥ ८। १। १६ ॥ इति अन्तव्यञ्जनस्य सः। 'दिसा'। प्रा० १ पाद। दिश् क्विप् वा टाप्। आशायां, ककुभि च। वाच०। दिशतीति दिक्। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। दिश्यते व्यपदिश्यते पूर्वाऽऽदितया वस्त्वनयेति दिक्। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

तां निर्युक्तिकृन्निक्षेपमुमाह–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते तावे य पण्णवगभावे।
एस दिसानिक्खेवो, सत्तविहो होइ नायव्वो ॥ ४० ॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रतापप्रज्ञापकभावरूपः सप्तधा दिग्निक्षेपो ज्ञातव्यः, तत्र सचित्ताऽऽदेर्द्रव्यस्य दिगित्यभिधानं नामदिक्, चित्रलिखितजम्बूद्वीपाऽऽदेर्दिग्विभागस्थापनं स्थापनादिक्।

द्रव्यादिङ् नक्षेपार्थमाह–

तरेसपएसियं खलु, तावइएसुं भवे पएसेसुं।
जं दव्वं ओगाढं, जहण्णगं तं दसदिसागं ॥ ४१ ॥

द्रव्यदिग् द्वेधा–आगमतो, नोआगमतश्च। आगमतो ज्ञातान्युपयुक्तः, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता त्रियम्त्रयोदशप्रदेशिकं द्रव्यमाश्रित्य या प्रवृत्ता, खलुरवधारणे, त्रयोदशप्रदेशिकमेव दिक्, न पुनर्दशप्रदेशिकं यत् कैश्चिदुक्तमिति, प्रदेशाःपरमाणवस्तैर्निष्पादितं कार्यद्रव्यं तावत्स्वेव क्षेत्रप्रदेशेष्वगाढं जघन्यं द्रव्यमाश्रित्य दशदिग्विभागपरिकल्पनातो द्रव्यदिगियमिति। तत्स्थापना (२)। त्रिबाहुकं नवप्रदेशिकमभिलिख्य चतसृषु। दिक्ष्वेकैकगृहिवृद्धिः कार्या।

क्षेत्रदिशमाह-

अट्ठपएसो रुयगो, तिरियं लोयस्स मज्झयारम्मि।
एस पभवो दिसाणं, एसेव भवे अणुदिसाणं ॥ ४२ ॥

तिर्यक्लोकमध्ये रत्नप्रभापृथिव्या उपरि बहुमध्यदेशे मेर्वन्तर्द्वा सर्वक्षुल्लकप्रतरौ, तयोरुपरितनस्य चत्वारः प्रदेशा गोस्तनाऽऽकार-संस्थाना अधस्तनस्यापि चत्वारस्तथाभूता एवेत्येषोऽष्टाकाशप्रदेशाऽऽत्मकश्चतुरस्रो रुचको दिशामनुदिशां च प्रभव उत्पत्तिस्थानमिमि। स्थापना (३)।

आसामभिधानान्याह-

इंदऽग्गेई जम्मा, य नेरई वारुणी य वायव्वा।
सोमा ईसाणा वि य, विमला य तमा य बोधव्वा ॥ ४३ ॥

आसाम इन्द्री विजयद्वारानुसारेण शेशाः प्रदक्षिणतः सप्तावसेयाः, ऊर्द्धं विमला तमा बोद्धव्या इति।

आसामेव स्वरूपनिरूपणायाऽऽह-

दुपएसाइ दुरुत्तर, एगपएसा अणुत्तरा चेव।
चउरो चउरो य दिसा, चउराइ अणुत्तरा दुण्णि ॥ ४४ ॥

चतस्रो महादिशो द्विप्रदेशाऽऽद्या द्विद्विप्रदेशोत्तरवृद्धाः, विदिशश्चतस्र एकप्रदेशरचनाऽऽत्मिकाः, अनुत्तरा वृद्धिरहिताः ऊर्द्धाधो दिगद्वयं त्वनुत्तरमेव चतुःप्रदेशाऽऽदिरचनाऽऽत्मकम्।

किञ्च-

अंतो साईयाओ, बाहिरपासे अपज्जवसियाओ।
सव्वाणंतपएसा, सव्वा य भवंति कमजुम्मा ॥ ४५ ॥

सर्वाऽपयन्तर्मध्ये सादिका रुचकाऽऽद्या इति कृत्वा बहिश्चालोकाऽऽकाशाऽऽश्रयणादपर्यवसिताः, सर्वाश्च दशाप्यनन्त-प्रदेशाऽऽत्मिका भवन्ति। (सव्वा य हवंति कमजुम्म त्ति) सर्वासां दिशां प्रत्येकं ये प्रदेशास्ते चतुष्ककेनापह्रियमाणाश्चतुष्कावशेषा भवन्तीति कृत्वा, तत्प्रदेशाऽऽत्मिकाश्च दिश आगमसंज्ञया ''कडजुम्म त्ति'' शब्देनाभिधीयन्ते। तथा चाऽऽगमः- ''कइ णं भंते ! जुम्मा पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता। तं जहा-कडजुम्मे, तउए, दावरजुम्मे, कलिओए। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! जे णं रासीचउक्कगावहारेणं अवहीरमाणे अवहीरमाणे चउपज्जवसिए सिया, से णं कडजुम्मे। एवं तिपज्जवसिए तेउए, दुगज्जवसिए दावरजुम्मे, एगपज्जवसिए कलिओए त्ति।''

पुनरप्यासां संस्थानमाह-

सगमुद्धिसंठियाओ, महादिसाओ य होंति चत्तारि।
मुत्तावली य चउरो, दो चेव य होंति रुयगनिभा ॥ ४६ ॥

महादिशश्चतस्रोऽपि शकटोर्द्धसंस्थानाः, विदिशश्च मुक्तावलिनिभाः, ऊर्द्धाधोदिग्द्वयं रुचकाऽऽकारिमिति।

तापदिशमाह-

जस्स जओ आइच्चो, उएइ सा तस्स होइ पुव्वदिसा।
जत्तो य अत्थमेइ उ, अवरदिसा सा उ नायव्वा ॥ ४७ ॥
दाहिणसपासम्मि य दा-हिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं।
एया चत्तारि दिसा, तावक्खेत्ते उ अक्खाया ॥ ४८ ॥

तापयतीति ताप आदित्यः, तदाश्रिता दिक् तापदिक्, शेषं सुगमं, केवलं दक्षिणपार्श्वाऽऽदित्यपदेशः पूर्वाऽभिमुखस्येति द्रष्टव्यः।

तापदिगङ्गीकरणेनान्योऽपि व्यपदेशो भवतीति प्रसङ्गत आह-

जे मंदरस्स पुव्वे-ण मणुस्सा दाहिणेण अवरेणं।
जे यावि उत्तरेणं, सव्वेसिं उत्तरो मेरु ॥ ४९ ॥
सव्वेसि उत्तरेणं, मेरु लवणो य होइ दाहिणओ।
पुव्वेणं उइ्वेई, अवरेणं अत्थमइ सूरो ॥ ५० ॥

ये मन्दरस्य मेरोः पूर्वेण मनुष्याः क्षेत्रदिगङ्गीकरणेन, रुचकापेक्षं पूर्वाऽऽदिदित्वं वेदितव्यं, तेषामुत्तरो मेरुर्दक्षिणेन लवण इति तापतदगङ्गीरकणेन, शेषं स्पष्टम्।

प्रज्ञापकदिशमाह-

जत्थ य जो पण्णवओ, कस्स वि साहइ दिसासु य निमित्तं।
जत्तोमुहो य ठाई, सा पुव्वा पच्छओ अवरा ॥ ५१ ॥

प्रज्ञापको यत्र क्वचित् स्थितः दिशां बलात्करिष्यिचिन्निमित्तं कथयति, स यदभिमुखस्तिष्ठति, सा पूर्वा, पृष्ठतश्चापरेति, निमित्तकथनं चोपलक्षणमन्योऽपि व्याख्याता ग्राह्य इति।

शेषदिक्साधनार्थमाह-

दाहिणपासम्मि उ दा-हिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं।
एयासिमंतरेणं, अण्णा चत्तारि विदिसाओ ॥ ५२ ॥
एतासि चेव अट्ठ-ण्हमंतरा अट्ठ होंति अण्णाओ।
सोलस सरीरउस्सय-बाहल्ला सव्वतिरियदिसा ॥ ५३ ॥
हेट्ठा पायतलाणं, अहोदिसा सीसउवरिमा उड्ढा।
एया अट्ठारस वी, पण्णवगदिसा मुणेयव्वा ॥ ५४ ॥
एवं पकप्पियाणं, दसण्ह अट्ठह चेव य दिसाणं।
नामइं वोच्छामी, जहक्कमं आणुपुव्वीए ॥ ५५ ॥
पुव्वा य पुव्वदक्खिण, दक्खिण तह दक्खिणाऽवरा चेव।
अवरा य अवरउत्तर, उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥ ५६ ॥
सामुत्थाणी कविला, खेलेज्जा खलु तहेव अहिधम्मा।
परियाधम्मा य तहा, सावित्ती पण्णवित्ति य ॥ ५७ ॥
हेट्ठा नेरइयाणं, अहोदिया उवरिमा उ देवाणं।
एयाइं नामाइं, पण्णवगस्सा दिसाणं तु ॥ ५८ ॥

एताः सप्त गाथाः कण्ठ्याः, नवरं द्वितीयगाथायां सर्वतिर्यग्दिशां बाहल्यं पिण्डः शरीरोच्छ्रयप्रमाणमिति।

साम्प्रतमासां संस्थनमाह-

सोलस तिरयिदिसाओ, सगडुद्धीसंठिया मुणेयव्वा।
दो मल्लगमूलाओ, उड्ढे य अहे वि य दिसाओ ॥ ५९ ॥

षोडशाऽपि तिर्यग्दिशः शकटोर्द्धसंस्थाना बोद्धव्याः, प्रज्ञापकप्रदेशे संकटा बहिर्विशालाः, नारकदेवाऽऽख्ये द्वे एव ऊर्द्धाऽधोगामिन्यौ शरावाऽऽकारे भवतः, यतः शिरोमूले पादमूले च स्वल्पत्वान्मल्लकबुध्नाऽऽकारे गच्छन्त्यौ च विशाले भवत इति।

आसां सर्वासां तात्पर्यं यन्त्रकादवसेयम्, तच्चेदम् (४)।

भावदिङ्निरूपणार्थमाह-

मणुया तिरिया काया, तहऽग्गवीया चउक्कगा चउरो।

देवा नेरइया वा, अट्ठारस हुंति भावदिसा ॥ ६० ॥

मनुष्याश्चतुर्भेदाः, तद्यथा–संमूर्छनजाः, कर्मभूमिजाः, अकर्मभूमिजाः, अन्तर्द्वीपजाश्चेति । तथा–तिर्यञ्चो द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति चतुर्द्धा, कायाः पृथिव्यप्तेजोवायवश्चत्वारः, तथा–अग्रमूलस्कन्धपर्वबीजाश्चत्वार एव, एते षोडश देवनाकरप्रक्षेपादष्टादश, एभिर्भावैर्भवनाज्ञीवो व्यपदिश्यत इति भावदिगष्टादशभेदोति । अत्र च सामान्यदिग्ग्रहणेऽपि यस्यां दिशि जीवनामविगानेन गत्यागती स्पष्टे सर्वत्र संभवतः, तयैवेहाधिकार इति तामेव निर्युक्तिकृत्साक्षाद्दर्शयति, भावदिक्ताविनाभाविनी सामर्थ्यादधिकृतैव ।

यतस्तदर्थमन्या दिशश्चिन्त्यन्त इत्यत आह–

पन्नवगदिसऽट्ठारस, भावदिसाओ वि तत्तिया चेव ।
एक्केक्कं विंधेज्जा, हवंति अट्ठारसऽट्ठारा ॥ ६१ ॥
पण्णवगदिसाए पुण, अहिगारो एत्थ होइ णायव्वो ।
जीवण पोग्गलाण य, एयासु गयागई अत्थि ॥ ६२ ॥

प्रज्ञापकाक्षेपया अष्टादशभेदा दिशः, अत्र च भावदिशोऽपि तावत्प्रमाणा एव प्रत्येकं संभवन्तीत्यत एकैकां प्रज्ञापकदिशं भावदिगष्टादशकेन विन्ध्येत् ताडयेद्, अतोऽष्टादशाष्टादशकाः, ते च संख्यया त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि भवन्तीति, एतच्चोपलक्षणम्, तापदिगादावपि यथासंभवमायोजनीयमिति। क्षेत्रदिशि तु चतसृष्वेव महादिक्षु संभवो, न विदिगादिषु, तासामेवप्रदेशिकत्वाच्चतुष्प्रदेशिकत्वाच्चेति गाथाद्वयार्थः । अयं च दिक्संयोकलापः–''अण्णयरीओ दिसाओ आगओ अहमंसि'' इत्यनेन परिगृहीतः। सूत्रावयवार्थश्चायम्–इह दिग् ग्रहणात् प्रज्ञापकदिशश्चतस्रः पूर्वाऽऽदिका ऊर्द्धाऽधोदिशौ च परिगृह्यते, भावदिशस्त्वष्टादशाऽपि, अनुदिग्ग्रहणात्तु प्रज्ञापकविदिशो द्वादशेति, तत्रासंज्ञिनां नैषोऽवबोधोऽस्ति, संज्ञिनामपि केषाञ्चिद्भवति, केषाञ्चिन्नेति, यथाऽहममुष्या दिशः समागत इहेति। ''एवमेगेसिं णो णायं भवइ त्ति'' एवमित्यनेन प्रकारेण प्रतिविशिष्टदिग्विदिगागमनं नैकेषां विदितं भवतीत्येतदुपसंहारवाक्यम् ।

एतदेव निर्युक्तिकृदाह–

केसिंचि णाणसण्णा, अत्थी केसिंचि नत्थि जीवाणं ।
कोऽहं परम्मि लोए, आसी कयरा दिसाओ वा ॥ ६३ ॥

केषञ्चिज्जीवानां ज्ञानाऽऽवरणीयक्षयोपशमवतां ज्ञानसंज्ञाऽस्ति, केषाञ्चित्तु तदावृत्तिमतां न भवतीति । यादृग्भूता संज्ञा न भवति तां दर्शयति– कोऽहं परस्मिन् लोके जन्मनि मनुष्याऽऽदिरासम्, अनेन भावदिग् गृहीता, कतरस्या वा दिशः समायातः, इत्यनेन तु प्रज्ञापकदिगुपात्तेति, यथा कश्चिन्मदिरामदघूर्णितलोललोचनोऽव्यक्तमनोविज्ञानो रथ्यामार्गनिपतितस्तच्छद्योकृष्टश्वगणापलिह्यमानवदनो गृहमानीतो मदात्यये न जानाति कुतोऽहमागत इति, तथा प्रकृतो मनुष्याऽऽदिरपीति गाथाऽर्थः ।

न केवलमेषैव संज्ञा नास्ति, अपराऽपि नास्तीति सूत्रकृदाह–

अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी ? के वा इओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि ? । ३ ।

अस्ति विद्यते ममेत्यनेन पञ्चन्तेन शरीरं निर्दिशति, ममास्य शरीरकस्याधिष्ठाता, अतति–गच्छति सततगतिप्रवृत्तः आत्मा–जीवोऽस्तीति, किंभूतः? औपपातिकः, उपपातः–प्रादुर्भावो जन्मान्तरसंक्रान्तिः, उपपाते भव औपपातिक इति, अनेन संसारिणः स्वरूपः दर्शयति, स एवंभूत आत्मा ममास्ति नास्तीति चैवभूता संज्ञा केषाञ्चिदाज्ञानावष्टब्धचेतसां न जायेत इति । तथा–कोऽहं नारकतिर्यग्मनुष्याऽऽदिः पूर्वजनमन्यासम् ? को वा देवाऽऽदिः 'इतो' मनुष्याऽऽदेर्जन्मनः च्युतो विनष्टः, अह संसारे प्रेत्य जन्मान्तरे भविष्यामि उत्पेत्स्ये, एषा च संज्ञा न भवतीति । इह च यद्यपि सर्वत्र भावदिशाधिकारः प्रज्ञापकदिशा च, तथाऽपि पूर्वसूत्रे साक्षात् प्रज्ञापकदिगुपात्ता, अत्र तु भावदिगित्यवगन्तव्यम् । ननु चात्र संसारिणां दिग्विदिगागमनाऽऽदिजा विशिष्टा संज्ञा निषिध्यते, न सामान्यसंज्ञेति, एतच्च संज्ञिनि धर्म्मिण्यात्मनि सिद्धे सति भवति, ''सति धर्म्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते'' इति वचनात्, स च प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणगोचरातीतत्वाद्वरूपपादः, तथाहि–नासावध्यक्षेणार्थसाक्षात्कारिणा विषयीक्रियते, तस्यातीन्द्रियत्वाद्, अतीन्द्रियत्वं च स्वभावविप्रकृष्टतवात्, अतीन्द्रियत्वादेव च तदव्यभिचारिकार्याऽऽदि लिङ्गसम्बन्धग्रहणासंभवान्नाप्यनुमानेन, तस्याप्रत्यक्षत्वे तत्सामान्यग्रहणशक्त्यनुपपत्तेः, नाप्युपमानेन, आगमस्याऽपि विवक्षायां प्रतिपाद्यमानायामनुमानान्तर्भावात् ।अन्यत्र च बाह्येऽर्थे संबन्धाभावादप्रमाणत्वम्, प्रमाणत्वे वा परस्परविरोधित्वान्नाप्यागमेन, तमन्तरेणापि सकलार्थापपत्तेर्नाप्यर्थापत्त्या, तदेवं प्रमाणपञ्चकाऽतीतत्वात् षष्ठप्रामणविषयत्वादभाव एवाऽऽत्मनः । प्रयोगश्चायम्–नास्त्यात्मा, प्रमाणपञ्चकविषयातीतत्वात्, खरविषाणवदिति, तदभावे च विशिष्टसंज्ञाप्रतिषेधाभावसंभवेनानुत्थानमेव सूत्रस्येति, एतत्सर्वमनुपासितगुरोर्वचः । तथाहि–प्रत्यक्ष एवाऽऽत्मा, तद्गुणस्य ज्ञानस्य स्वसंवित्सिद्धत्वात्, स्वसंवित्निष्ठाश्च विषयव्यवस्थितयः, घटपटाऽऽदीनामपि रूपाऽऽदिगुणप्रत्यक्षत्वादेवाध्यक्षत्वमिति, मरणाभावप्रसङ्गाच्च न भूतगुणश्चैतन्यमाशङ्कनीयम्, तेषां सदा सन्निधानसंभवादिति, हेयोपादेयपरिहारोपादानप्रवृत्तेश्चानुमानेन परात्मनि सिद्धिर्भवतीति, एवमनयैव दिशोपमानाऽऽदिकमपि स्वधिया स्वविषये यथासंभवमायोज्यं, केवलं मौनीन्द्रेणाननैवाऽऽगमेन विशिष्टसंज्ञानिषेधद्वारेणाहमिति चाऽऽत्मोल्लेखनाऽऽत्मद्भावः प्रतिपादितः, शेषाऽऽगमानां चानाप्तप्रणीतत्वादप्रामाण्यमेवेति । अत्र चास्त्यात्मेत्यनेन क्रियावादिनः सप्रभेदा नास्तीत्यनेन चाक्रियावादिन एतदन्तःपातित्वाच्चाज्ञानिकवैनयिकाश्च सप्रभेदा उपक्षिप्ताः, ते चामी–''असियसतं किरियाणं, अकिरियवाईण होइ चुलसीई।

अन्नाणि य सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसा '' ॥ १ ॥ तत्र जीवाजीवाऽऽश्रवबन्धपुण्यपापसंवरनिर्जरामोक्षाऽऽख्या नव पदार्थाः स्वपरभेदाभ्यां नित्यानित्यविकल्पद्वयेन च कालनियतिस्वभावेश्वराऽऽत्माऽऽश्रयणादशीत्युत्तरं भेदशतं भवति क्रियावादिनाम्, एते चास्तित्वादिनोऽभिधीयन्ते । इयमत्र भावना–अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः ॥ १ ॥ अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालतः ॥ २ ॥ अस्ति जीवः परतो नित्यः कालतः ॥ ३ ॥ अस्ति जीवः परतोऽनित्यः कालतः ॥ ४ ॥ इत्येवं कालेन चत्वारो भेदा लब्धाः, एवं नियतिस्वभावेश्वराऽऽत्मभिरन्यैकैकेन चत्वारश्चत्वारो विकल्पा लभ्यन्ते, एते च पञ्च चतुष्कका विंशतिर्भवति । इयं च जीवप्रदार्थेन लब्धा, एवमजीवाऽऽदयोऽ–

प्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिभेदा भवन्ति। ततश्च नव विंशतयः शतमशीत्युत्तरं भवति १८०। तत्र स्वत इति स्वेनैव रूपेण जीवोऽस्ति, न परोपाध्यपेक्षया ह्यसत्त्वदीर्घत्वे इव, नित्यःशाश्वतो न क्षणिकः, पूर्वोत्तरकालयोरवस्थिततत्वात्, कालत इति काल एव विश्वस्य स्थित्युत्पत्तिप्रलयकारणम्। उक्तं च–''कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः। कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १ ॥ '' स चातीन्द्रियो युगपच्चिरक्षिप्रक्रियाऽभिव्यङ्ग्यो हिमोष्णवर्षाव्यवस्थाहेतुः क्षणलवमुहूर्तयामाहोरात्रमासत्रयनसंवत्सरयुगकल्पपल्योपडसागरोयमोत्सर्पिण्यवसर्पिणी पुद्गलपरावर्तातीतानागतवर्त्तमानसर्वाद्धाऽऽदिव्यवहाररूपः ॥ १ ॥ द्वितीयविकल्पे तु कालादेवऽऽत्मनोऽस्तित्वमभ्युपेयं, किं त्वनित्योऽसाविति विशेषोऽयं पूर्वविकल्पात् ॥ २ ॥ तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते, कथं पुनः परतोऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते ? नन्वेतत्प्रसिडमेव सर्वपदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदो, यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदो, ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्थेति। एवमेव चानात्मनस्तम्भकुम्भाऽऽदीन् समीक्ष्य तद्व्यतिकरक्ते वस्तुन्यात्मबुद्धिः प्रवर्त्तत इति, अतो यदात्मनः स्वरूपं तत्परत एवावधार्य्यते, न स्वत इति ॥ ३ ॥ चतुर्थविकल्पोऽपि प्राग्वादिति चत्वारो विकल्पाः ॥ ४ ॥ तथाऽन्ये नियतित एवाऽऽत्मनः स्वरूपवधारयन्ति, का पुनरियं नियतिरिति ? उच्यते–पदार्थानामवश्यंतया यद्यथाभावने प्रयोजनकर्त्री नियतिः। उक्तं च–''प्राप्तव्यो नियतिबलाऽश्रयेण योऽर्थः, सोऽवइयं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ १ ॥ '' इयं च मस्करिपरिव्राण्डमतानुसारिणी प्राय इति। अपरे पुनः स्वभावादेव संसारव्यवस्थामभ्युपयन्ति, कः पुनरयं स्वभावः ? वस्तुनः स्वत एव तथापरिणतिभावः स्वभावः।

उक्तं च–

''कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं,
विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं,
न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ? ॥ १ ॥
स्वभावतः प्रवृत्तानां, निवृत्तानां स्वभावतः।
नाहं कर्तेति भूतानां, यः पश्यति स पश्यति ॥ २ ॥
केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गनानां,
कोऽलङ्करोति रुचिराङ्रुहान् मयूरान्।
कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति,
को वा दधाति विनयं कुलजेषु पुंसु ? ॥ ३ ॥ ''

तथाऽन्येऽभिदधते–समस्तमेतज्जीवादीश्वरात्प्रसूतं, तस्मादेव स्वरूपेऽवतिष्ठते, कः पुरयमीश्वरः ? अणिमाऽऽद्यैश्वर्ययोगादीश्वरः। उक्तं च–''अज्ञो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेच्छ्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥ १ ॥ '' तथाऽन्ये ब्रुवतेन जीवाऽऽदयः पदार्थाः कालाऽऽदिभ्यः स्वरूपं प्रतिपद्यन्ते, किं तर्हि ? आत्मनः कः पुनरयात्मा ? आत्माद्वैतवादिनां विश्वपरिणतिरूपः। उक्तञ्च–''एक एव हि भूताऽऽत्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥'' तथा–''पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्'' इत्यादि। एवमस्त्यजीवः स्वतः नित्यः कालत इत्येवं सर्वत्र योज्यम्। तथा–अक्रियावादिनोनास्तित्ववादिनः, तेषमपि जीवाजीवाऽऽश्रवबन्धसंवरनिर्जरामाक्षाऽऽख्याः सप्त पदार्थाः स्वपरभेदद्वेधेन तथा कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वराऽऽत्मभिः षड्भिश्चिन्त्यमानाश्चतुरशीतिविकल्पा भवन्ति। तद्यथा–नास्ति जीवः स्वतः कालतः, नास्ति जीवः परतः कालतः, इति कालेन द्वौ लब्धौ, एवं यदृच्छानियत्यादिष्वपि द्वौ द्वौ भेदौ प्रत्येकं भवतः, सर्वेऽपि जीवपदार्थे द्वादश भवन्ति, एवम जीवाऽऽदिष्वपि प्रत्येकं द्वादशैते सप्त द्वादशकाश्चतुरशीतिरिति ८४। अत्रमत्रार्थः–नास्ति जीवः कालत इति, इह पदार्थानां लक्षणेन सत्ता निश्चीयते, कार्यतो वा ? न चाऽऽत्मनस्तादृगस्ति किञ्चिलक्षणं, येन सत्तां प्रतिपद्येमहि, नाऽपि कार्यमणूनामिव महीध्राऽऽदि संभवति, यच्च लक्षणकार्याभ्यां नाभिगम्यते वस्तु तन्नास्त्येव वियदिन्दीवरत्, तस्मान्नास्त्यात्मेति। द्वितीयविकल्पोऽपि यच्च स्वतो नात्मानं बिभर्ति गगनारविन्दाऽऽदिकं तत्परतोऽपि नास्त्येव, अथ वा सर्वपदार्थानामेव परभागादर्शनात्सर्वाऽर्वाग्भागसूक्ष्मत्वाच्चोभयानुपलब्धेः सर्वानुपलब्धितो नास्तित्वमध्यवसीयते। उक्तं च–''यावद् दृश्यं परस्तावद्भागः स च न दृश्यते '' इत्यादि। तथा ''यदृच्छातोऽपि नास्तित्वमात्मनः, का पुनर्यदृच्छा ? अनभिसन्धिपूर्विकाऽर्थप्राप्तिर्यदृच्छा। ''

''अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं,
चित्रं जनानां सुखदुःखजातम्।
काकस्य तालेन यथाऽभिघातो,
न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमन्युः ॥ १ ॥
सत्यं पिशाचाः स्म वने वसामो,
भेरीं कराग्रैरपि न स्पृशामः।
यादृच्छया सिद्ध्यति लोकयात्रा,
भेरीं पिशाचाः परिताडयन्ति ॥ २ ॥ ''

यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वकं, न काकस्य बुद्धिरस्तिमयि तालं पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्रायः–काकोपरि पतिष्यामि, अथ च तत्तथैव भवति, एवमन्यदप्यतर्कितोपनतमजाकृपाणीयमातुरभेषजीयमन्धकण्टकीयमित्यादि द्रष्टव्यम्, एवं सर्वं जातिजरामरणाऽऽदिकं लोके यादृच्छिकं काकतालीयाऽऽदिकल्पमवसेयमिति। एवं नियतिस्वभावेश्वराऽऽत्मभिरप्यात्मा निराकर्त्तव्यः। तथा–ज्ञानिकानां सप्तषष्टिभेदाः। ते चामीजीवाऽऽदयो नव पदार्थाः, उत्पत्तिश्च दशमी, सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्यः, सदवक्तव्यः, असदवक्तव्यः, सदसदवक्तव्यः, इत्येतैः सप्तभिः प्रकारैर्विज्ञातुं न शक्यन्ते, न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति। भावना चेयम्–सन् जीव को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन ? असन् जीव इति को जानाति ? किं वा ज्ञातेनेत्यादि। एवमजीवाऽऽदिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः, नव सप्तकास्त्रिषष्टिः, अ मी चान्ये चत्वारस्त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते। तद्यथा– सति भावोत्पत्तिरिति को जानाति ? किं वाऽनया ज्ञातया ? एवमसति सदसती अवक्तव्या भावोत्पत्तिरिति को वेत्ति ? किं वाऽनया ज्ञातयेति, शेषविकल्पत्रयमुत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न संभवतीति नोक्तम्, एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात्सप्तषष्टिर्भवन्ति। तत्र सन् जीव इति को वेत्ति ? इत्यस्यायमर्थः– न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति, योऽतीन्द्रियान् जीवाऽऽदीनभोत्स्यते, न च तैर्ज्ञातैः किंचित्फलमस्ति। तथाहि–यदि नित्यः सर्वगतो मूर्त्तो ज्ञानाऽऽदिगु–

णोपेतः, एतद्गुणवयतिरिक्तो वा ? ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति, तस्मादज्ञानमेव श्रेयः । अपि च–तुल्येऽप्यपराधे अकामकरणे लोके स्वल्पो दोषो, लोकोत्तरेऽपि आकुट्टिकानाभोगसहसाकाराऽऽदिषु क्षुल्लकभिक्षुस्थविरोपाध्यायसूरीणां यथाक्रमुत्तरोत्तरं प्रायश्चित्तमित्येवमन्येष्वपि विकल्पेष्वायोज्यम्। तथा वैनयिकानां द्वात्रिंशद्भेदाः, ते चानेन विधिना भावनीयाः, सुरनृपयतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृष्वष्टसु मनोवाक्कायप्रदानचतुर्विधविनयकरणात्। तद्यथा–देवानां विनयं करोति मनसा वाचा कायेन, तथा–देशकालोपपन्नेन दानेनेत्येवमादि। एते च विनयादेव स्वर्गापवर्गमार्गमभ्युपयन्ति, नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकलक्षणो विनयः, सर्वत्र चैवंविधेन विनयेन देवाऽऽदिषूपतिष्ठमानः स्वर्गापवर्गभाग् भवति। उक्तं च–''विणया णाणं णाणा–ओ दंसणं दंसणाहि चरणं च। चरणाहिंतो मोक्खो, मोक्खे सोक्खं अणावाहं। १।'' अत्र च क्रियावादिनामस्तित्वे सत्यपि केषाञ्चित्सर्वगाते नित्योऽनित्यः कर्ताऽकर्ता मूर्त्ताऽमूर्तः श्यामाकतण्डुलमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वमात्रो दीपशिखापडो हृदयाधिष्ठान इत्यादिकः। अस्ति चौषपातिकश्च, अक्रियावादिनां त्वात्मैव न विद्यते, कुतः पुनरौपपातिकत्वम् ? अज्ञानिकास्तु नात्मानं प्रति विप्रतिपद्यन्ते, किंतु तज्ज्ञानमकिञ्चित्करमेषामिति, वैनयिकानामपि नात्माऽस्तित्वं विप्रतिपत्तिः, किंत्वन्यन्मोक्षसाधनं विनयादृते न संभवतीति प्रतिपन्नाः। तत्रानेन सामान्याऽऽत्मास्तित्वप्रतिपादनेनाक्रियावादिनो निरस्ता द्रष्टव्याः। आत्मास्तित्वानभ्युपगमे च–

''शास्ता शास्त्रं शिष्यः, प्रयोजनं वचनहेतुदृष्टान्ताः।
सन्ति न शून्यं ब्रुवत–स्तदभावाच्चाप्रमाणं स्यात् ॥ १ ॥
प्रतिषेद्ध्यप्रतिषेधौ, स्तश्चेच्छून्यं कथं भवत्सर्वम् ?।
तदभावेन तु सिद्धा, अप्रतिसिद्धा जगत्यर्थाः ॥ २ ॥''

एवं शेषाणामप्यत्रैव यथासंभवं निराकरणमुत्प्रेक्ष्यमिति ॥ ३ ॥

गतमानुषङ्गिकम्। प्रकृतमपुस्रियते–तत्रेह ''एवमेगेसिं णो णायं भवइ'' इत्यनेन केषाञ्चिदेव संज्ञानिषेधात्केषाञ्चित्तु भवतीत्युक्तं भवति, तत्र सामान्यसंज्ञायाः प्रतिप्राणि सिद्धत्वात्तत्कारणपरिज्ञानस्य चेहाकिञ्चित्करत्वाद्विशिष्टसंज्ञायास्तु केषाञ्चिदेव भावात् तस्याश्च भवान्तरगाम्यात्मस्पष्टप्रतिपादने सोपयोगित्वात् सामान्यसंज्ञाकारणप्रतिपादनमनादृत्य विशिष्टसंज्ञायाः कारणं सूत्रकृद्दर्शयितुमाह–

से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं अंतिए वा सोच्चा, तं जहा–पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि० जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं जं णायं भवति–अत्थि मे आया उववाइए, जा इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोऽहं ॥ ४ ॥

'से जं पुण जाणेज्ज त्ति' सूत्रं यावत् 'सोऽहमिति।' 'से' इति निर्देशो मागधशैल्या प्रथमैकवचनान्तः, स इत्यनेन च यः प्राग्निर्दिष्टो ज्ञाता विशिष्टक्षयोपशमाऽऽदिमान्स प्रत्यवमृश्यते, यदित्यनेनापि यत्प्राग्निर्दिष्टं दिग्विदिगागमनं, तथा कोऽहमभूवमतीतजन्मनि देवो नारस्तिर्यग्योनो मनुष्यो वा? स्त्री पुमान्नपुंसको वा ? को वाऽमुतो मनुष्यजन्मनः प्रभ्रष्टोऽहं प्रेत्य देवाऽऽदिर्भविष्यामीत्येत्परामृश्यते, जानीयादवगच्छेद्, इदमुक्तं भवति–न कश्चिदनादौ संसृतौ पर्यटन्नसुमान् दिगागमनाऽऽदिकं जानीयात्, यः पुनर्जानीयास्त एवम–(सह सम्मइयाए त्ति) सहशब्दः संबन्धवाची, सदिति प्रशंसायां, मतिः ज्ञानम्। अयमत्र वाक्यार्थः–आत्मना सह सदा या सन्मतिर्वर्तते, तया सन्मत्या कश्चिज्जानीते, सह शब्दविशेषणाच्च सदाऽऽत्मस्वभावत्वं मतेरावेदितं भवति, न पुनर्यथा वैशेषिकाणां व्यतिरिक्ता सती समवायवृत्त्यात्मनि समवेतेति। यदि वा (सम्मइए त्ति) स्वकीयया मत्या स्वमत्येति, तत्र भिन्नमप्यश्वाऽऽदिकं स्वकीयं दृष्टमतः सहशब्दविशेषणं, सहशब्दश्चासमस्त इति, सत्यपि चाऽऽत्मनः सदा मतिसन्निधाने प्रबलज्ञानाऽऽवरणाऽऽवृत्तत्वान्न सदा विशिष्टोऽवबोध इति, सा पुनः सन्मतिः, स्वमतिर्वा अवधिमनः पर्यायकेवलज्ञानजातिस्मरणभेदाच्चतुर्विधा ज्ञेयाः, तत्रावधिमनःपर्यायकेवलानां स्वरूपमन्यत्र विस्तरेणोक्तं, जातिस्मरणं त्वाभिनिबोधिकविशेषः, तदेवं चतर्विधया मत्याऽऽत्मनः कश्चिद्विशिष्टदिग्गत्यागती जानाति, कश्चिच्च परस्तीर्थकृत्सर्वज्ञः, तस्यैव परमाप्तत्वात् परशब्दवाच्यत्वात्परत्वं, तस्य तेन वा व्याकरणम्–उपदेशस्तेन जीवांस्तद्भेदाश्च पृथिव्यादीन् तद्गत्यागती च जानाति, अपरः पुनरन्येषां तीर्थकरव्यतिरिक्तानामतिशयज्ञानिनामन्तिके श्रुत्वा जानातीति, यच्च जानाति तत् सूत्रावयवेन दर्शयति। तद्यथा–पूर्वस्या दिश आगताऽहमस्मि, एवं दक्षिणस्याः पश्चिमायाः उत्तरस्या ऊर्द्धदिशोऽधोदिशोऽन्यतरस्याः दिशोऽनुदिशो वा आगतोऽहमस्मीत्येवमेकेषां विशिष्टक्षयोपशमाऽऽदिमतां तीर्थकरान्यातिशज्ञातनबोधितानां च ज्ञानं भवति, तथा प्रतिविशिष्टदिगागमनपरिज्ञानान्तरमेषामेतदपि ज्ञानं भवति, यथाऽस्ति मेऽस्य शरीरकस्याधिष्ठाता ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण दपपादुको भवान्तरसंक्रान्तिभागसर्वगतो भोक्ता मूर्तिहितसेऽविनाशी शरीरमात्रव्यापीत्यादिगुणवानात्मेति। स च द्रव्यकषाययोगोपयोग-ज्ञानदर्शनचारित्रवीर्याऽऽत्मभेदादष्टधा, तत्रोपयोगाऽऽत्मना बाहुल्येनेहाधिकारः, शेषास्तु तदंशतयोपयुज्यन्त इति उपन्यस्ताः। तथा–अस्ति च ममाऽऽत्मा, योऽमुष्या दिशोऽनुदिशश्च कसशादनुसञ्चरति गतप्रायोग्यकर्माणदानादनु पश्चात् संचरत्यनुसंचरति, पाठान्तरं वा–(अणुसंसरइ त्ति) दिग्विदिशां गमनं भावदिगागमनं वा स्मरतीत्यर्थः। साम्प्रतं सूत्रावयवेन पूर्वसूत्रोक्तमेवार्थमुपसंहरतिसर्वस्या दिशः सर्वस्याश्चानुदिशां य आगतोऽनुसञ्चरति, अनुसंस्मरतीति वा सः, अहमित्यात्मोल्लेखः, अहं प्रत्ययग्राह्यत्वादात्मनः, अनेन पूर्वाऽद्याः प्रज्ञापकदिशः सर्वा गृहीताः, भावदिशश्चेति। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। आ०चू०। स्था०। (अहं कस्या दिश आगत इति विचारः 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १८२ पृष्ठे निदर्शितः)

द्वाभ्यां दिग्भ्यां प्रव्राजनाऽऽदि प्रवर्त्तते–

दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ निग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा पव्वावित्तए पाईणं चेव, उदीणं चेव। एवं मुंडावित्तए १ सिक्खावित्तए २ उवट्ठावित्तए ३ संभुंजित्तए ४ संवसित्तए ५ सज्झायं उद्दिसित्तए ६ सज्झायं समुद्दिसित्तए ७ सज्झायमणुजाणित्तए ८ आलोइत्तए ९ पडिक्कमित्तए १० निंदित्तए ११ गरहित्तए १२ विउट्टि–

त्तए १३ विसोहित्तए १४ अकरणयाए १५ अब्भुट्ठित्तए अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जित्तए १६।

द्वे दिशौ काष्ठे अभिगृह्याऽङ्गीकृत्य, तदभिमुखीभूयेत्यर्थः। कल्प्यते युज्यते, निर्गता ग्रन्थाद्धनाऽऽदेरिति निर्ग्रन्थाः साधवः, तेषां निर्ग्रन्थ्यः साध्व्यः, तासां प्रव्राजयितुं रजोहरणाऽऽदिदानेन प्राचीनां प्राची, पूर्वामिभ्यर्थः। उदीचीनामुदीचीमुत्तरामित्यर्थः। उक्तं च-''पुव्वोमुहो उ उत्तर-मुहो व्व देज्जाऽहवा पडिच्छेज्जा। जाए जिणादओ वा, हवेज्ज जिणचेइयाइं वा॥ १॥'' इति। (एवमिति) यथा प्रव्राजनसूत्रं दिग्द्वयाभिलापेन अधीतम्, एवं मुण्डनाऽऽदिसूत्राण्यापि षोडशाऽध्येतव्यानीति। तत्र मुण्डयितुं शिरोलुञ्चनेन १, शिक्षयितुं ग्रहणशिक्षापेक्षया सूत्रार्थौ ग्राहयितुमासेवनशिक्षापेक्षया तु प्रत्युपेक्षणाऽऽदिशिक्षयितुमिति २, उत्थापयितुं महाव्रतेषु व्यवस्थापितुम् ३, संभोजयितुं भोजनमण्डल्यां निवेशयितुम् ४, संवासयितुं संस्तारकमण्डल्यां निवेशयितुम् ५, सुष्ठु आ मर्यादयाऽधीयत इति स्वाध्यायोद्देशाऽऽदिरस्तमुपदेष्टुं योगविधिक्रमेण सम्यग्योगेनाधीष्वेदमित्येवमुपदेष्टुमिति ६, समुद्देष्टुं योगसमाचार्यैव स्थिरपरिचितं कुर्विदमिति वक्तुमिति ७, अनुज्ञातं तथैव सम्यगेतद्धारयाऽन्येषां च प्रवेदयेत्येवमभिधातुमिति ८, आलोचयितुं गुरवेऽपराधान् निवेदयितुमिति ९, प्रतिक्रामितुं प्रतिक्रमणं कर्तुमिति १०, निन्दितुमतिचारान् स्वसमक्षं जुगुप्सितुम् ११। आह च-''सचरित्तपत्थयाओ।'' निन्दति गर्हितं गुरुसमक्षं तानेव जुगुप्सितुम् १२। आह च-''गरहा वि तहा जातीयमेव, नवरं परप्पयासणय त्ति।'' (विउट्टित्तए त्ति) व्यतिवर्तयितुं विशोटयितुं विकृट्टयितुं वा, अतिचारानुबन्धि विच्छेदयितुमित्यर्थः १३, विशोधयितुमतिचारपङ्कापेक्षयाऽऽत्मानं विमलीकर्तुमिति १४, अकरणतया पुनर्न करिष्यामीत्येवमभ्युत्थातुमभ्युपगन्तुमिति १५, यथार्हमतिचाराऽऽद्यपेक्षया यथोचितं पापच्छेदकत्वात्, प्रायश्चित्तविशोधकत्वाद्वा प्रायश्चित्तम्। उक्तं च-''पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं तु भन्नए तेण। पाएण वा वि चित्तं, विसोहए तेण पच्छित्तं॥ १॥'' इति। तपःकर्म निर्विकृतिकाऽऽदिकं प्रतिपत्तुमभ्युपगन्तुमिति १६।

सप्तदशं सूत्रं साक्षादेवाऽऽह-

दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसियाणं भत्तपाणपडियाइक्खेत्ताणं पाओवगयाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए। तं जहा-पाईणं चेव, उदीणं चेव।

पश्चिमैवापश्चिमा, अपश्चिमा चासौ मरणमेव योऽन्तस्तत्र भवा मारणान्तिकी, सा चासौ संलिख्यतेऽनया शरीरककषायाऽऽदीति संलेखना तपोविशेषः, सा चेति अपश्चिममारणान्तिकसंलेखाना, तस्याः (झूसण त्ति) जोषणा सेवा, तया तल्लक्षणधर्मेणेत्यर्थः। (झूसियाणं ति) सेवितानां, तद्युक्तानामित्यर्थः। तया वा झूषितानां क्षपितानां, क्षपितदेहानामित्यर्थः, तथा भक्तपाने प्रत्याख्याते यैस्ते तथा, तेषां, पादपवदुपगतानामचेष्टतया स्थितानामनशनविशेषं प्रतिपन्नानामित्यर्थः, कालं मरणकालमनवकाङ्क्षिणां तत्रानुत्सुकानां विहर्तुं स्थातुमिति॥ १७॥ स्था० २ ठा० १ उ०। नि० चू०।

तिसृभिर्दिगित्यादि प्रवर्तते-

तओ दिसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-उड्ढा, अहो तिरिया। (स्था०) एवं आगई वक्कंती आहारे वुड्ढी णिवुड्ढी गइपरियाए समुग्घाए कालसंजोगे दंसणाभिगमे णाणाभिगमे जीवभिगमे। तिहिं ठाणेहिं जीवाणं अजीवाभिगमे पण्णत्ते। तं जहा-उड्ढाए, अहोए, तिरियाए। एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं। एवं मणुस्साण वि।

दिङ्निरूपणपूर्वकं तासु गत्यादि निरूपयन ''तओ दिसाओ'' इत्यादि सूत्राणि चतुर्दशानि, सुगमानि च, नवरं दिश्यते व्यपदिश्यते पूर्वाऽऽदितया वस्त्वनयेति दिक्, सा च नामाऽऽदिभेदेन सप्तधा। आह च निर्युक्तिकृत्-''णामं ठवणा दविए, खेत्तदिसा तावखेत्त पण्णवए। सत्तमिया भावदिसा, सा होइऽट्ठारसविहा उ॥ ४०॥'' (आचा० नि०) तत्र द्रव्यस्य पुद्गलस्कन्धाऽऽदेर्दिग् द्रव्यदिक१, क्षेत्रास्याऽऽकाशस्य दिक् क्षेत्रदिक्। सा चैवम्-''अट्ठपएसो रुगयो, तिरियं लोगस्स मज्झयारिम्मि। एस पभवो दिसाणं, एसेव भवे अणुदिसाणं॥ ४२॥'' (आचा० नि०) तत्र पूर्वाऽऽद्या महादिशश्चतस्रोऽपि द्विप्रदेशाऽऽदिकाऽऽद्युत्तरा अनुदिशस्तु एकप्रदेशा अनुत्तरा ऊर्द्धाधोदिशौ तु चतुराऽऽदि अनुत्तरे।

यतोऽवाचि-

''दुपएसाऽदि दुरुत्तर, एगपएसा अणुत्तरा चेव।
चउरो चउरो य दिसा, चउराइ अणुत्तरा दोन्नि॥ ४४॥
सगमुद्दिसंठियाओ, महादिसाओ हवंति-चत्तारि।
मुत्तावली य चउरो, दो चेव य होंति रूयगनिभा॥ ४६॥''

नामानि चासाम्-''इंदऽग्गेयी जम्मा, य नेरई वारुणी य वायव्वा। सोमा ईसाणा वि य, विमला य तमा य बोधव्वा॥ ४३॥'' तापः सविता, तदुपलक्षिता क्षेत्रदिक् तापक्षेत्रदिक्, सा चाऽनियता। यत उक्तम्-''जेसिं जत्तो सूरो, उदेइ तेसिं तई हवइ पुव्वा। तावक्खेत्तदिसाओ, पयाहिणं सेसयाओ सा॥ ४७॥'' इति। (आचा० नि०) तथा प्रज्ञापकस्याऽऽचार्यादेर्दिक् प्रज्ञापक-दिक्। सा चैवम्-''पण्णवओ जो अभिमुहो, सा पुव्वा सेसिया पयाहिणओ। तस्सेवऽणुगंतव्वा, अग्गेयाई दिसा नियमा॥ ५१॥''

भावदिक् चाष्टादशविधा-

''पुढवि-जल-जलण-वाया, मेलो खंधग्गपोरबीया य।
वि ति चउ पंचिंदय-तिरि-य-नारगा देवसंघाया॥ १॥
संमुच्छिम-कम्माक-म्मभूगनरा तहंऽतरद्दीवा।
भावदिसा दिस्सइ जं, संसारी निययमेहोहिं॥ २॥'' इति।

इह च क्षेत्रतापप्रज्ञापकदिग्भिरेवाधिकारः, तत्र च तिर्यग्ग्रहणेन पूर्वाऽऽद्याश्चतस्र एव दिशो गृह्यन्ते, विदिक्षु जीवानामनुश्रेणिगमितया वक्ष्यमाणगत्या गतिव्युत्क्रान्तीनामयुज्यमानत्वात्, शेषपदेषु च विदिशामविवक्षितत्वात्। यतोऽत्रैव वक्ष्यति-''तिहिं दिसाहिं जीवाणं गई पवत्तइ।'' इत्यादि। तथा ग्रन्थान्तरेऽप्याहारमाश्रित्योक्तम् ''निव्वाघाएणं नियमा छद्दिसिं ति।'' तत्र ''तिहिं दिसाहिं ति'' सप्तमी तृतीया पञ्चमी वा यथायोगं व्याख्येयेति, गतिः प्रज्ञापकस्थानापेक्षयामृत्वाऽन्यत्र गमनमेवमिति पूर्वोक्तामिलापसूचनार्थः। आगतिः प्रज्ञापकप्रत्यासन्नस्थाने आगमनमिति, व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिः आहारः प्रतीतः, वृद्धिः शरीरस्य वर्द्धनं, हानिः शरीरस्यैव हानिः, गतिपर्यायश्चलनं जीवत एव, समुद्घातो वेदनाऽऽ-

दिलक्षणः कालसंयोगो वर्तनाऽऽदिकाकाललक्षणानुभूति-र्मरणयोगो वा, दर्शनेनावध्यादिना प्रत्यक्षप्रमाणभूतेनाभिगमो बोधो दर्शनाभिगमः एवं ज्ञानाभिगमः जीवानां ज्ञेयानामवध्यादिनैवाभिगमो जीवाभिगम इति। ''तिहिं दिसाहिं जीवाणं अजीवाभिगमे पन्नत्ते। तं जहा–उड्ढा, अहो तिरिया।'' एवं सर्वत्राभिलापनीयमिति दर्शनार्थं परिपूर्णान्तसूत्राभिधानमिति। एतान्यतीवाभिगमानतनि सामन्यजीवसूत्राणि। चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायां तु नारकाऽऽदिपदेषु दिक्त्रये गत्यादीनां त्रयोदशानामपि पदानां सामस्त्येनासम्भवात्, पञ्चेन्द्रियतिर्थक्ष मनुष्येषु च तत्संभवात्। तदतिदेशमाह–(एवमित्यादि) यथा सामान्यसूत्रेषु गत्यादीनि त्रयोदशपदानि दिक्त्रयेऽभिहितान्येवं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्येषु इति भावः। एवं चैतानि षड्विंशतिसूत्राणि भवन्तीति। अथैषां नारकाऽऽदिषु कथमसम्भव इति? उच्यते–नारकाऽऽदीनां द्वाविंशतेर्जीववि शेषाणां नारकदेवेषूत्पादाभावादूर्द्धाधोदिशोर्विवक्षया गत्यागत्योरभावः, तथा दर्शनज्ञान जीवाजीवभिगमा गुणप्रत्ययया अवध्यादिप्रत्यक्षरूपा दिक्त्रये न सन्त्येव। भवप्रत्ययावधिपक्षे तु नारकजेतिष्कास्तिर्थगवधयो भवनपतिव्यन्तरा ऊर्द्धावधयो वैमानिका अधोऽवधय एकेन्द्रियाविकलेन्द्रियाणां त्वधिर्नास्त्येवेति। स्था० ३ ठा० २ उ०।

षड्भिर्दिग्भिश्च गत्यागती प्रवर्त्तते–

छहिं दिसाहिं जीवाणं गई पवत्तइ। तं जहा–पाईणाए० जाव अहाए, एवमागई वक्कंती आहारे वुड्ढी निवुड्ढी विगुव्वणा गइपरियाए समुग्घाए कालसंजोगं दंसणाभिगम जीवाऽभिगमे अजीवाभिगमे, एवं पंचेंदियतिरिक्खजोणियाण वि, मणुस्साण वि॥

षड्भिर्दिग्भिर्जीवानां गतिरुत्पत्तिस्थानं गमनं प्रवर्त्तते। अनुश्रेणिगमनात्तेषामित्येवमेतानि चतुर्दश सूत्राणि नेयानि। नवरं गतिरागतिश्च। प्रज्ञापकस्थानापेक्षिरायौ प्रसिद्धे एव, व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिस्थानप्राप्तस्योत्पादः, सोऽपि ऋजुगतो षट्स्वेव दिक्षु, तथा आहारः प्रतीतः, सोऽपि षट्स्वेव दिक्षु, एतद्व्यवस्थितपदेशावगाढपुद्गलानामेव जीवेन स्पर्शनात्, स्पृष्टानामेवाऽऽहरणादित्येवं षड्दिक्कता यथासंभवं वृद्ध्यादिष्वप्यूह्येति। तथा बुद्धिः शरीरस्य, निर्वृद्धिर्हानिस्तस्यैव, विकुर्वणा वैक्रियकरणं, गतिपर्यायो गमनमात्रं न परलोकगमनरूपः, तस्य गत्यागतिग्रहणेन गृहीतत्वादिति। समुद्घातो वेदनाऽऽदिकः सप्तविधः, कालसंयोगः समयक्षेत्रमध्ये आदित्याऽऽदिप्रकाशसंबन्धलक्षणः, दर्शनं सामान्यग्राही बोधः, तच्चेह गुणप्रत्ययावध्यादिप्रत्यक्षरूपं, तेनाभिगमो वस्तुनः परिच्छेउस्तप्राप्तिर्वा दर्शनाभिगमः। एवं ज्ञानाभिगमोऽपि, जीवभिगमः सत्त्वाऽभिगमो, गुणप्रत्ययावध्यादिप्रत्यक्षतः। अजीवाभिगमः पुद्गलास्तिकायद्यानिगमः, सोऽपि तथैवेति। एवमिति, तथा–''छहिं दिसाहिं जीवाणं गई पवत्तइ'' इत्यादिसूत्राण्ययुक्तानि। एवं चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तयाम् ''पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं छहिं दिसाहिं गई।'' इत्यादिन्यपि वाच्यानि। तथा मनुष्यसूत्राण्यपि, शेषेषु नारकाऽऽदिपदेषु षट्सु दिक्षु गत्यादीनां समास्त्येनासंभवः। तथाहि–नारकाऽऽदीनां द्वाविंशतेर्जीववि शेषाणां नारकदेवेषूत्पादाभावादूर्द्धाधोदिशोर्विवक्षया गत्यागत्योरभावः, तथा दर्शनज्ञानजीवाऽजीवाभिगमा गुणप्रत्ययावधिलक्षणप्रत्यक्षसन्तानरूपा न सन्त्येव, तेषां भवप्रत्ययावधिपक्ष तु नारकज्योतिष्कास्तिर्यगवधयो, भवनपतिव्यन्ता ऊर्ध्ववधयो, वैमानिकास्त्वधोऽवधयः, शेषा निरवधय एवेति भावना। विवक्षाप्रधानानि च प्रायोऽन्यत्राऽपि सूत्राणिति। स्था० ६ ठा०।

रायगिहे० जाव एवं वयासी–किमियं भंते! पाईणे त्ति पवुच्चइ? गोयमा! जीवा चेव, अजीव चेव। किमियं भंते! पडीणे त्ति पवुच्चइ? गोयमा! एवं चेव। एवं च दाहिणा, एवं च उदीणा, एवं उड्ढा, एवं अहो वि। कइ णं भंते! दिसाओ पण्णत्ताओ? गोयमा! दस दिसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–पुरच्छिमा, पुरच्छिमादाहिणा, दाहिणा, दाहिणपच्चच्छिमा, पच्चच्छिमा, पच्चच्छिमुत्तरा, उत्तरा, उत्तरपुरच्छिमा, उड्ढा, अहो॥

(किमियं भंते! पाइण त्ति पवुच्चइ त्ति) किमेतदस्तु यत्प्राग्व प्राचीनं दिग्विवक्षायां प्राचीना प्राची पूर्वेति प्रोच्यते? उत्तरं तु जीवाश्चैवाऽजीवाश्चैव जीवाजीवरूपा प्राची, तत्र जीवा एकेन्द्रियाऽदयोऽजीवास्तु धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशाऽऽदयः। इदमुक्तं भवति–प्राच्यां दिशि जीवा अजीवाश्च सन्तीति।

एयंसि णं भंते! दसण्हं दिसाणं कइ नामधेज्जा पण्णत्ता? गोयमा! दस नामधेज्जा पण्णत्ता। तं जहा–''इंदा अग्गेयी य जमा, य नेरई वारुणी य वायव्वा। सोमा ईसाणीया, विमला य तमा य बोधव्वा॥ १॥''

(इंदेत्यादि) इन्द्रो देवता यस्याः सैन्द्री, अग्निर्देवता यस्याः सा आग्नेयी, एवं यमो देवता याम्या, निर्ऋतिर्देवता नैर्ऋती, वरुणो देवता वारुणी, वायुर्देवता वायव्या, सोमदेवता सौम्या, ईशानदेवता ऐशानी, विमलतया विमला, तमारात्रिस्तदाकारत्वात्तमाऽन्धकारेत्यर्थः, अत्र ऐन्द्री पूर्वा, शेषाः क्रमेण, विकला तूर्द्ध, तमा पुनरधोदिगिति, इह च दिशः शकटोद्धिसंस्थिताः, विदिशस्तु मुक्तावल्याकाराः, ऊर्द्धाधोदिशौ च रुचकाकारे। आह च–''सगमुद्धिसंठियाओ, महादिसाओ हवंति चत्तारि। मुत्तावली य चउरो, दो चेव य होंति रुयगनिभा।'' (४६) इति (आचा०)

इदां णं भंते! दिसा किं जीवा जीवदेसा जीवप्पएसा; अजीवा, अजीवदेसा, अजीवप्पएसा? गोयमा! जीवा वि, तं चेव० जाव अजीवप्पएसा वि। जे जीवा ते णियमं एगिंदिया वेइंदिया० जाव पंचिंदिया आणिंदिया; जे जीवदेसा ते णियमं एगिंदियदेसा० जाव अणिंदियदेसा, जे जीवप्पएसा ते णियमं एगिंदियप्पएसा० जाव अणिंदियप्पएसा। जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–रूवी अजीवा, अरूवी अजीवा य। जे रूवी अजीवा ते चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा–खंधा, खंधदेसा, खंधप्पएसा, परमाणुपोग्गला।

(जीवा वीत्यादि) ऐन्द्री दिग् जीवाः, तस्यां जीवानामस्तित्वात्। एवं जीवादेशाः, जीवप्रदेशाश्चेति। तथा अजीवानां पुद्गलाऽऽदीनामस्तित्वादजीवाः, धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशानां पुनर–

स्तिवादजीवदेशाः एवजीवप्रदेशा अपीति। तत्र ये जीवास्ते एकेन्द्रियाऽऽदयोऽनिन्द्रियाश्च केवलिनो, ये तु जीवदेशास्ते एकेन्द्रियाऽऽदीनाम् ६, एवं जीवप्रदेशा अपि।

जे अरूवी अजीवा ते सत्तविहा पण्णत्ता। तं जहा–नो धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पएसा; नो अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्थत्थिकायस्स पएसा; नो आगासत्थिकाए, आगासत्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पएसा, अद्धासमए।

(जे अरूवी अजीवा ते सत्तविह त्ति) कथम् ? (नोधम्मत्थिकाए) अयमर्थः– धर्मास्तिकायः समस्त एवोच्यते, स च प्राची दिग्न भवति, तदेकदेशभूतत्वात्तस्याः, किं तु धर्मास्तिकायस्य देशः, सा तदेकदेशभागरूपेति। तथा तस्यैव प्रदेशाः सा भवति, असंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकत्वात्तस्याः २। एवमधर्मास्तिकायस्य देशः, प्रदेशाश्च २। एवमाकाशास्तिकायस्य देशः, प्रदेशाश्च २। अद्धासमयश्चेति। तदेवं सप्तप्रकारा रूप्यजीवरूपा ऐन्द्री दिगिति।

अग्गेयी णं भंते। दिसा किं जीवा, जीवदेसा, जीवप्पएसा पुच्छा ? गोयमा ! णो जीवा, जीवदेसा वि, जीवप्पएसा वि; अजीवा वि, अजीवदेसा वि, अजीवप्पएसा वि; जे जीवदेसा ते णियमा एगिंदियदेसा।

''अग्गेयी णं'' इत्यादि प्रश्नः, उत्तरं तु जीवा निषेधनीया विदिशामेकप्रादेशिकत्वादेकप्रदेशे च जीवानामवगाह्यभावात्, असङ्ख्यातप्रदेशावगाहित्वात् तेषाम्, तत्र ''जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदसे त्ति।'' एकेन्द्रियाणां सकललोकव्यापकत्वादाग्नेय्यां नियमादेकेन्द्रियदेशाः सन्तीति।

अहवा एगिंदियदेसा य, वेइंदियस्स देसे १, अहवा एगिंदियदेसा य, वेइंदियस्स देसा २, अहवा एगिंदियदेसा य, वेइंदियाण य देसा ३, अहवा एगिंदियदेसा, तेइंदियस्स देसे, एवं चेव तिय भंगो भाणियव्वो। एवं जाव० आणिंदियाणं तियभंगो, जे जीवप्पएसा ते णियमा एगिंदियप्पएसा, अहवा एगिंदियप्पएसा य वेइंदियस्स पएसा, अहवा एगिंदियप्पएसा य वेइंदियाण य पएसा, एवं आदिल्लविरहिओ० जाव अणिंदियाणं। जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–रूवी अजीवा य, अरूवी अजीवा य, जे रूवी अजीवा ते चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा–खंधा, खंधदेसा, खंधप्पएसा, परमाणुपोग्गला। जे अरूवी अजीवा ते सत्तविहा पण्णत्ता। तं जहा–नो धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पएसा, एवं अधम्मत्थिकायस्स वि० जाव आगासत्थिकायस्स पएसा, अद्धासमए वि दिसासु नत्थि, जीवा देसे भंगो होइ सव्वत्थ।

जमा णं भंते ! दिसा किं जीवा ? जहा इंदा तहेव णिरवसेसं, ऐरइया जहा अग्गेयी, वारुणी जहा इंदा, वायव्वा जहा अग्गेयी, सोमा जहा इंदा, ईसाणी जहा अग्गेयी, विमलाए जीवा जहा अग्गेयीए, अजीवा जहा इंदाए, एवं तमा वि, एवरं अरूवी छव्विहा अद्धासमओ न भण्णइ॥

(अह वेत्यादि) एकेन्द्रियाणां सकललोकव्यापकत्वादेव, द्वीन्द्रियाणां चाल्पत्वेन क्वचिदेकस्याऽपि तस्य संभवादुच्यते–एकेन्द्रियाणां देशाश्च, द्वीन्द्रियस्य च देश इति द्विकयोगे प्रथमः १। अथवा–एकेन्द्रियपदं तथैव, द्वीन्द्रियपदे त्वेकवचनं, देशपदे पुनर्बहुवचनमिति द्वितीयः, अयं च यदा द्वीन्द्रियो द्व्यादिभिर्देशैस्तां स्पृशति तदा स्यादिति। अथवा एकेन्द्रियपदं तथैव, द्वीन्द्रियपदं देशपदं च बहुवचनान्तमिति तृतीयः। स्थापना–एके० देशाः ३, द्वी १ देशः १। एके० देशाः ३, द्वी १ देशः ३। एके० देशाः ३, द्वी १ देशः ३। एवं त्रिन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियानिन्द्रियैः सह प्रत्येकं भङ्गत्रयं दृश्यम्–एवं प्रदेशपक्षोऽपि वाच्यो, नवरमिह द्वीन्द्रियाऽऽदिषु प्रदेशपदं बहुवचनान्तमेव, यतो लोकव्यापकावस्थानिन्द्रियवर्जजीवानां यत्रैकः प्रदेशस्तत्राङ्ख्यातास्ते भवन्ति, लोव्यापकावस्थानिन्द्रियस्य पुनर्यद्यप्येकत्र क्षेत्रप्रदेशे एक एव प्रदेशस्तथाऽपि तत्प्रदेशपदे बहुवचनमेवाग्नेय्यां तत्प्रदेशानामसङ्ख्यातानामवगाढत्वादतः सर्वेषु द्विकसंयोगेष्वाद्यविरहितं भङ्गकद्वयमेव भवतीत्येतदेवाऽऽह–(आइल्लविरहिओ त्ति) द्विकभङ्ग इति शेषः। (विमलाए जीवा जहा अग्गेयीए त्ति) विमलायामपि जीवानामनवगाहात् (अजीवा जहा इंदाए त्ति) समानवक्तव्यत्वात्, एवं (तमा वि त्ति) विमलावत्तमाऽपि वाच्येत्यर्थः। अथ विमलायामनिन्द्रियसम्भवात्तद्देशाऽऽदयो युक्ताः, तमा यां तु तस्यासम्भवात्कथं त इति ? उच्यते–दण्डाऽऽद्यवस्थं तमाश्रित्य तस्य देशो, देशाः प्रदेशाश्च विवक्षया तत्रापि युक्ता एवेति। अथ तमायां विशेषमाह–(णविरमित्यादि) (अद्धासमओ न भण्णइ त्ति) समयव्यवहारो हि सञ्चरिष्णुसूर्याऽऽदिप्रकाशकृतः, स च तमायां नास्तीति तत्राद्धासमयो न भण्यत इति। अथ विमलायामपि नास्त्यसाविति, कथं तत्र समयव्यवहारः ? इत्युच्यते–मन्दरावयभूतस्फटिककाण्डे सूर्याऽऽदिप्रभासंक्रान्तिद्वारेण तत्र सञ्चारिष्णुसूर्याऽऽदिप्रकाश-भावादिति। भ० १० श० १ उ०।

दिग्विदिकप्रवहद्वारे–

इंदा णं भंते ! दिसा किमादिया, किंपवहा, कइपदेसादिया, कइपदेसुत्तरा, कइपदेसिया, किं पज्जवसिया, किं संठिया पण्णत्ता ? इंदा णं दिसा रुयगादिया रुयगप्पवहा दुपदेसिया दुपदेसुत्तरा, लोगं पडुच्च असंखेज्जपएसिया, अलोगं पडुच्च अणंतपएसिया, लोगं पडुच्च सपज्जवसिया, अलोग पडुच्च सादिया अपज्जवसिया, लोगं पडुच्च मुरजसंठिया, अलोगं पडुच्च सगमुद्धियसंठिया पण्णत्ता। अग्गेयी णं भंते ! दिसा किमादिया, किंपवहा, कइपएसादिया, कइपउसवित्थिण्णा, कइपएसिया, किं पज्जवसिया, किंसंठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! अग्गेयी णं दिसा रुयगादिया रुयगप्पवहा एगपदेसादिया एगपदेसवित्थिण्णा अणुत्तरा, लोगं पडुच्च असंखेज्जपदेसिया, अलोगं पडु अणंतपदेसिया, लोगं पडुच्च सादिया सपज्जवसिया, अलोगं पडुच्च अपज्जव–

सिया छिण्णमुत्तावलिसंठिता पण्णत्ता। जमा जहा इंदा। ऐरई जहा अग्गेयी। एवं जहा इंदा तहा दिसा चत्तारि। जहा अग्गेयी तहा चत्तारि विदिसाओ। विमला णं भंते ! दिसा किमादिया पुच्छा ? गोयमा ! जहा अग्गेयी, विमला णं दिसा रुयगादिया रुयगप्पवहा चउप्पदेसादिया दुपदेसवित्थिण्णा अणुत्तरा, लोगं पडुच्च सेसं जहा अग्गेयी, णवरं रुयगसंठिया। एवं तमा वि।

(किमादिय त्ति) क आदिः प्रथमो यस्याः सा किमादिका, आदिश्च विवक्षया विपर्ययेणाऽपि स्यादित्य आह– (किंपवहत्ति) प्रवहति प्रवर्त्ततेऽस्मादिति प्रवहः, कः प्रवहो यस्याः सा तथा। (कतिपएसाइय त्ति) कति प्रदेशा आदिर्यस्याः सा कतिप्रदेशाऽऽदिका। (कइपएसुत्तर त्ति) कति प्रदेशा उत्तरे वृद्धौ यस्याः सा तथा। (लोगं पडुच्च मुरजसंठिय त्ति) लोकान्तस्य परिमण्डलाऽऽकारत्वेन मुरजसंस्थानता दिशः स्यात्तत्श्च लोकान्तं प्रतीत्य मुरजसंस्थितेत्युक्तम्। एतस्य च पूर्वाऽऽदिदिशमाश्रित्य चूर्णिकारकृतेयं भावना– ''पुव्वुत्तराए एएसहाणी तहा दाहिणपुव्वाए रुयगादेसे मरुयहेडुं दिसि अ ते चउप्पएसा दट्ठव्वा, मज्झे य तुडं हवति त्ति।'' (अलोगं पडुच्च रगमुद्विसंठिय त्ति) रुचके तुण्डं कल्पनीयम्, आदौ सङ्कीर्णत्वात्तत उत्तरोत्तरं विस्तीर्णत्वादिति। भ० १३ श० ४ उ०। ध०। स्था०।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स बहुमज्झदेसभाए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्लेसु खुड्डगपयरेसु एत्थ णं अट्ठपएसिए रुयगे पण्णत्ते, जओ णं इमाओ दस दिसाओ पवहंति। तं जहा–पुरच्छिमा, पुरच्छिमदाहिणा, दाहिणा, दाहिणपच्चच्छिमा, पच्चच्छिमा, पच्चच्छिमुत्तरा, उत्तरा, उत्तरपुरच्छिमा, उड्ढा, अहो। स्था १० ठा।

तुच्छस्य दरिद्रश्रावकस्य दिगाद्यपेक्षया दिश्यते यया शिष्यः सा दिगाचार्योपाध्याया। पञ्चा० ५ विव०।

एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पति इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए, जहा वां तस्स गणस्स पत्तियं सिया।

एकः समानः पक्ष एकपक्षः सोऽस्यास्तीति एकपक्षिकः, प्रव्रज्यया श्रुतेन च स्ववर्गस्य, भिक्षोः, कल्पते इत्वरां कियत्कालभाविनीम्, इत्वरग्रहणमुपलक्षणम्। यावत्कथिकां च। दिशमाचार्यत्वमुपाध्यायत्वं वा, अनुदिशं वा आचार्योऽध्यायपदद्वितीयस्थानवर्त्तित्वं, वाशब्दो विकल्पार्थः। उपदेष्टुं वा, तस्य वा स्वयं धारयितुं, यथा वा तस्य गणस्य प्रीतिकं स्यात्, तथा वा दिशमनुदिशं वा उद्दिशेत्। किमुक्तं भवति ?–भिन्नपक्षिकमप्यपवादपदेन स्वगणप्रीत्याऽऽचार्याऽऽदिपदाध्यारोपितं कुर्यादिति संक्षेपार्थः।

व्यासार्थं तु भाष्यकृद्विवक्षुः प्रथमतः पूर्वसूत्रेण सह संबन्धमाह–

निक्खित्तम्मि उ लिंग, मूलं सातिज्जणाएँ एहाणाऽऽदी।
दिएणेसु य होइ दिसा, दुविधा वि य एस संबंधो ३१९

यदि लिङ्गं रजोहरणं 'निक्खित्त' परित्यक्तं भवति, ततस्तस्मिन्निक्षिप्ते लिङ्गे, यदि वा लिङ्गापरित्यागेऽपि स्मानाऽऽदेः ''साइज्जमाणे'' अनुमनने, मूलं नाम प्रायश्चित्तं, दानेन समस्तपर्यायोच्छेदतः प्रदत्तेषु व्रतेषु द्विविधाऽप्याचार्यत्वमुपाध्यायत्वरूपा दिक् दीयते, ततोऽवधावनासूत्रानन्तरं दिक्सूत्रोपन्यासः, एष पूर्वसूत्रेण सहाऽस्य सूत्रस्य संबन्धः।

साम्प्रतमेकपक्षिकत्वं व्याख्यानयति–

दुविहो य एगपक्खी, पव्वज्ज सुए य होइ नायव्वो।
सुत्तम्मि एगवायण, पव्वज्जाए कुलिव्वाऽऽदी॥ ३२०॥

द्विविधो द्विप्रकार एकपाक्षिको भवति ज्ञातव्यः। तद्यथा–प्रव्रज्यायां, श्रुते च। तत्र सूत्रे सूत्रविषय एकपाक्षिकवाचन एका समाना परस्परं वाचना येभ्यः स तथा, एकगुरुकुलाधीत इत्यर्थः। प्रव्रज्यया चैकपाक्षिक एककुलवर्ती, आदिशब्दादेकगच्छवर्ति-शिष्यसहाध्यायाऽऽदिपरिग्रहः।

एतदेव स्पष्टतरमाह–

सकुलिव्व उ पव्वज्जा, पक्खित्तो एगवायण सुयम्मि।
अब्भुज्जतपरिकम्मे, मोहे रोगे च उत्तरिओ॥ ३२१॥

प्रव्रज्यापाक्षिको नाम (सकुलिव्व उ त्ति) स्वकुलसंभवी, उपलक्षणमेतत्, तेन स्वगणसंभवी स्वशिष्य इत्याद्यपि द्रष्टव्यम्। श्रुते श्रुतपाक्षिकः पुनरेकवाचनः। इह सूत्रे इत्वरदिग्ग्रहणाद् यावत्कथिकयपि दिक् सूचिता। तामुभयीमपि व्याख्या नयति–(अब्भुज्जय इत्यादि) आचार्योऽभ्युद्यतविहारपरिकर्मकामः, उपलक्षणमेतत्, अभ्युद्यतमरणं वा प्रतिपत्तुमनाः। यावत्कथिकमाचार्यमुपाध्यायां वा स्थापयितुमाह–चिकित्सां वा कर्त्तुकाम इत्वरम्। अक्षरयोजना त्वियम–अभ्युद्यतमरणौ वा, यावत्कथिकावाचार्योपाध्यायाविति शेषः। मोहे रोगे चेत्वरः, बहुवचनं द्वित्वेऽपि प्राकृतत्वात्, आचार्यश्च यावत्कथिकाऽऽचार्यस्थापने द्विविधः–सापेक्षो, निरपेक्षश्च।

तथा चात्र राजदृष्टान्तः, तमेवाऽऽह–

दिट्ठंतो जह राया, सावेक्खो खलु तहेव निरवेक्खो।
सावेक्खो जुवनरिंदं, ठवेइ इय गच्छुवज्झायं॥ ३२२॥

दृष्टान्तोऽत्र यथा राजा। तथाहि–राज द्विविधः–सापेक्षो, निरपेक्षश्च। तत्र यः सापेक्षः स जीवन्नेव युवराजं स्थापयति, युवराजश्च स स्थापनीयो यस्मिन्ननुरक्ता परिषत्। ततः कालगतेऽपि राज्ञि न वैराग्यमुपजायते, किं तु तदवस्थमेव राज्यमनुवर्त्तते, यस्तु निरपेक्षः सन् स्थापयति युवराजं, तस्मिंश्च स्थापिते राज्ञि कालगते दायादानां परस्परकलहतो राज्यं विनाशमाविशति एवमाचार्योऽपि द्विविधः सापेक्षो, निरपेक्षश्च। तत्र यो गच्छसापेक्षः स जीवन्नेव गणधरं स्थापयति, तस्मिंश्च स्थापिते कालगतेऽप्याचार्ये गच्छो न सीदति। तथा चाऽऽह–इति एवं सापेक्षराज इव युवनरेन्द्रं, सापेक्ष आचार्यो जीवन्नेवेति वाक्यशेषः, गच्छोपाध्यायं गच्छनायकं स्थापयति। पुनर्गच्छनिरपेक्षः सन् आचार्य जीवन् स्थापयति। तस्मिन् कालगते परस्परकलहभावतो गच्छो विनाशमुपयाति, तस्माद् जीवत्येव गणधरे आचार्य उपाध्यायो वा स्थापयितव्यः।

साम्प्रतं मिथ्यात्वं चाऽऽचार्योपाध्यायस्थापनाविषयमाह–

गणहरपाउग्गासति, पडायअट्ठावितो व कालगते।
थेरेण पगासेंति, जावऽणो न ठावितो तत्थ॥ ३२३॥

गणधरस्य गणधरपदस्य प्रायोग्यो गणधरप्रायोग्यस्तस्यासति अभावे। अथवा–प्रमादतोऽस्थापित एवाऽऽचार्ये काल–

गते इत्वर आचार्य उपाध्यायो वा स्थाप्यते, स च यैः स्थाप्यते, ते स्थविराणां गच्छबृहत्तराणां प्रकाशयन्ति–यावत्तत्र, मूलाऽऽचार्यपदे वाऽन्यो न स्थापितो भवति, तावदेव युष्माकमाचार्य उपाध्यायो वा प्रवर्त्तक इति। इह एकपाक्षिको द्विविध उक्तः– प्रव्रज्यया, श्रुतेन च। अत्र च भङ्गचतुष्टम्। तद् यथा–प्रव्रज्यया एकपाक्षिकश्रुतेन १, प्रव्रज्यया न श्रुतेन २, न प्रव्रज्यया श्रुतेन ३, न प्रव्रज्यया नापि श्रुतेन ४। एतदपि भङ्गचतुष्टयं कुलाऽऽदिष्वपि योजनीयम्।

तथा चाऽऽह–

पव्वज्जाएँ कुलस्स य, गणस्स संघस्स चेव पत्तेयं।
समगं सुएणं भंगा, कुज्जा कमसो दिसाबंधे ॥ ३२४ ॥

दिग्बन्धे आचार्यपदे, उपाध्यायपदे वा स्थाप्यमाने इत्यर्थः, प्रव्रज्यया कुलस्य गणस्य सङ्घस्य च प्रत्येकं श्रुतेन सार्द्धं भङ्गचतुष्टयं प्रत्येकं योजयेदिति भावः। तत्र प्रव्रज्यया भङ्गचतुष्टयमुपदर्शितम्। इदानीं कुलस्योपदर्शयतिकलेनैकपक्षः श्रुतेन च १। कुलेनैकपक्षिका ने श्रुतेन २। कुलने नैकपक्षिकः कि तु श्रुतेन ३। न श्रुतेन नापि कुलेन ४। एवं गणेन सङ्घेन च प्रत्येकं भङ्गचतुष्टयं भावनीयम्। तत्र प्रव्रज्यां कुलं गणं वाऽधिकृत्य यः प्रथमभङ्गवर्त्ती स इत्वरो, यावत्कथिको वा स्थापनीयः, तदभावे तृतीयभङ्गवर्ती यदि पुनर्द्वितीयभङ्गवर्तिनं वा स्थापयति, तदा तस्य स्थापयितुः प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुमासाः, न केवलमेतत् प्रायश्चित्तं, किं चाऽऽज्ञादयोऽपि दोषाः।

तथा चाऽऽह–

आणाऽऽइणो य दोसा, विराहणा होइ–मेहिँ ठाणेहिं।
संकिएँ अभिणएवगहणे, तस्स व दीहेण कालेण ॥ ३२५ ॥

आज्ञाऽऽदय आज्ञाऽनवस्थाप्यमिथ्यात्वविराधनारूपाः, चशब्दोऽनुक्तप्रायश्चित्तसमुच्चये। तच्च प्रायश्चित्तं प्रागेवोपदर्शितम्, तथा विराधना गच्छस्य भेदो भवति, आभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यां स्थानाभ्याम्, तौ एव दर्शयति, शङ्कितेऽभिनवग्रहणे च साधूनां यदि ग्लानावस्था स्थापयितुः दीर्घेण कालेन रोगचिकित्सां वा कृत्वा समागतस्य शङ्कते।

एतेदेव विभावयिषुः प्रथमत इत्वरस्य, यावत्कथिकस्य च स्थापने विषयमाह–

परिकम्मं कुणमाणे, मरणस्सऽब्भुज्जयस्स ववहारे।
मोहे रोगतिगिच्छा, ओहावंते वि आयरिए ॥ ३२६ ॥

अभ्युद्यतस्य मरणस्य पादपोपगमनलक्षणस्य परिकर्म द्वादशसांवत्सरिकसंलेखनारूपं कुर्वाणे, यदि वा अभ्युद्यतविहारस्य जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपत्तिलक्षणस्य परिकर्म्म तपोभावनाऽऽदिलक्षणं कुर्वति, यावत्कथिक आचार्यः स्थापनीयः, मोहे मोहचिकित्सायां, रोगचिकित्सायां, यदि वा अवधात्याचार्ये इत्वर आचार्यः स्थापयितव्यः।

तत्र श्रुतानेकपाक्षिकेत्वराऽऽचार्यस्थापने दोषमाह–

दुविहतिगिच्छं काऊ–ण आगतो संकियम्मि कं पुच्छे ?
पुच्छंतु च कं इयरे, गणभेदो पुच्छणाहेउं ॥ ३२७ ॥

श्रुतवाऽनेकपाक्षिकेत्वराऽऽचार्यस्थापने द्विविधचिकित्सां, मोहचिकित्सां, रोगचिकित्सां चेत्यर्थः। दीर्घकालं कृत्वा समागतः सन् शङ्किते सूत्रे, अर्थे च कं पृच्छेत् ? नैव कञ्चनेति भावः।

स्थापिताऽऽचार्यस्य भिन्नवाचनाकत्वात्, इतरे वा गच्छवासिनि आचार्ये मोहचिकित्सां वा कुर्वन्तः कं पुच्छन्तु, नैव कञ्चन, पूर्वोक्तादेव हेतोः। अतस्ते वाचनाप्रदायकमलभमाना गच्छान्तरमुपसंपद्येरन्, गच्छान्तरोपसंपत्तौ च प्रश्नहेतोर्गणभेदः स्यात्।

संप्रति श्रुतानेकपाक्षिकयावत्कथिकाऽऽचार्यस्थापने दोषमाह–

न तरइ सो संधाउं, अप्पाधारो व पुच्छिउं देइ।
अन्नत्थ व पुच्छंते, सचित्ताऽऽदी उ गेण्हंति ॥ ३२८ ॥

स श्रुतानेकपाक्षिकः स्थापितो यावत्कथिक आचार्यो भिन्नवाचकत्वाद् न शक्नोति संधातुं विस्तृतमालापकं दातुम्। अथवा–श्रुतानेकपाक्षिकोऽल्पश्रुतोऽप्युच्यते, ततरेऽल्पाधारः, अल्पस्य सूत्रार्थस्य वाऽऽश्रय इति पृष्टः सन्नव्यं पृष्टमालापकं ददाति, अन्यत्र च गणान्तरे गत्वा पृच्छति, ते गच्छान्तरवर्तिन आचार्यास्तेनोत्पादितं सचित्ताऽऽदिकं गृह्णन्ति, अगीतार्थानां न किञ्चिदाभाव्यमिति जिनवचनात्तस्य च तेषां समीपे प्रस्थापना च।

उपसंहारमाह–

सुयतो अणेगपक्खिं, एए दोसा भवे ठवेंतस्स।
पव्वज्जाऽणेगपक्खिं, ठवयंते इमे भवे दोसा ॥ ३२९ ॥

श्रुतानेकपक्षिणिमित्वरं, यावत्कथिकं वाऽऽचार्य स्थापयत एते अनन्तरोदिता दोषा भवन्ति, प्रव्रज्याऽनेकपक्षिणं पुनरित्वरं, यावत्कथिकं वा स्थापयत इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति दोषाः।

तानेव प्रतिपिपादयिषुराह–

दोण्ह वि बाहिरभावो, सचित्ताऽऽदीसु भंमणं नियमा।
होइ गणस्स उ भेदो, सुचिरेण न एस अम्हं ति ॥ ३३० ॥

प्रव्रज्यानेकपक्षिक इत्वरयावत्कथिकाऽऽचार्यस्थापने द्वयोरपि, गच्छस्याऽऽचार्यस्य चेत्यर्थः। बहिर्भावो बहिर्भावाध्यवसायो भवति। तथाहि–योऽसौ स्थापयति आचार्यः स गच्छवर्तिनः साधून्समस्तानपि परकीयान्मन्यते, साधवोऽपि गच्छवर्तिनस्तं परिभिमन्यन्ते, एवं परस्परबहिर्भावाध्यवसाये सति स्थापितस्य गच्छवर्तिनां च साधूनामनाभाव्यानि सचित्ताऽऽदीनि गृह्णतां नियमतो भण्डनं कलहो भवति, तथा च सति प्रवचनोड्माहः प्राक्कल्पे व्यावर्णितः, प्रायश्चित्ताऽऽपत्तिश्च अन्यच्च गच्छवर्तिनस्ते साधवो मन्यन्ते सुचिरेणापि प्रभूतेनाऽपि कालेन गच्छता–नास्माकमेव, परकीयत्वात्। उपलक्षणमेतत्, सोऽप्यभिमन्यते सुचिरेणाप्येते परकीया इत्येवं परस्परमध्यव्यवसायभावतो गणस्य गच्छस्य भेदो भवति। तस्मादित्वरो, यावत्कथिको वा प्रथमभङ्गवर्ती स्थापयितव्यः।

अत्रैवापवादमाह–

अन्नयरतिगिच्छाए, पढमासति तइयभंगमित्तरियं।
तइयस्सेव उ असती, वितिओ तस्सासति चउत्थो ३३१।

अन्यतरचिकित्सायां–मोहचिकित्सायां, रोगचिकित्सायां वा। आचार्यमित्वरमुपलक्षणमेतत्, अभ्युद्यतमरणप्रतिपत्तावभ्युद्यतविहारपरिकर्मप्रतिपत्तौ वा यावत्कथिकमाचार्यमुत्सर्गतः प्रथमभङ्गवर्तिनं स्थापयेत्, प्रथमभङ्गवर्तिनोऽसति अभावे, तृतीयंतृतीयभङ्गवर्तिनमित्वरम्, उपलक्षणमेतद्यावत्कथिकं वा स्थापयेत्। तत्र सूत्रेऽर्थे च स शीघ्रं निष्पादयितव्यः। तृतीयस्याऽपि तृतीयभङ्गवर्तिनः, एवशब्दोऽपिशब्दार्थः, अ–

सत्यभावे पुनर्द्वितीयो द्वितीयभङ्गवर्ती, तस्यासति चतुर्थः। तत्र योऽसौ चतुर्भङ्गवर्ती स्थापयितव्यो भवति स एतादृशगुणः–

पयतीएँ मिउसहावं, पगतीए संमतं वि णिययं वा।
नाऊण गणस्स गुरुं, छावेंति अभेन्नपक्खं पि ॥ ३३२ ॥

अनेकपक्षिणमपि प्रव्रज्यापक्षरहिश्रुतसमानपक्षरहितमपि प्रथम-द्वितीयतृतीयभङ्गवर्त्यसंभवे प्रकृत्या, स्वभावेन त्वकपटभावतो मृदुस्व-भावमरोषणस्वभावं, तथा प्रकृत्या स्वभावेन सम्मतमभिमतं, समस्त-स्याऽपि गच्छस्येति गम्यते। स्वजन-संबन्धभावतो वा निजकमात्मीयं ज्ञात्वा गणस्य गुरुः। स्थापयितव्यः।

तस्य चतुर्भङ्गवर्त्तिनः सचित्ताऽऽदिषु य
आभवनव्यवहारस्तमभिधित्सुराह–

साहारणं तु पढमे, विइए खेत्तम्मि तइएँ सहदुक्खे।
अणहिज्जंते सीसे, तेसिं एक्कारस विभागा ॥ ३३३ ॥

प्रथमे वर्षे साधारणम्, किमुक्तं भवति ? यावल्लभते तस्य तद्, द्वितीये वर्षे यत्क्षेत्रे तदीये लभ्यते तद्गच्छवर्त्तिनां साधूनां, शेषं गणधरस्य, तृतीये वर्षे समदुःखोपनता यद् लभन्ते तत्तेषामेव गच्छवर्त्तिनामाभावयति, शेषं गणधरस्य, चतुर्थाऽऽदिषु वर्षेषु सर्वं गणधरस्य, एष आभवनव्यवहारो-ऽनधीयाने शिष्ये। किमुक्तं भवति ? ये स्थापिताऽऽचार्यस्य समीपे न पठन्ति तान् प्रति द्रष्टव्यः, ये पुनराचार्यस्य समीपे न पठन्ति तेषामेकादश विभागाः। तथा चाऽऽहशेषेऽवधाने एकादश विभागाः प्रकारा आभवह्य-वहारस्य।

तानेव प्रतिपिपादयिषुराह–

पुव्वुद्दिट्ठं तस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवाययंतस्स।
संवच्छरम्मि पढमे, पडिच्छए जत्थ सचित्तं ॥ ३३४ ॥

प्रतीच्छिके गच्छान्तरदध्ययनार्थमधिकृतपच्छोपसंपदं प्रपन्नो यत् आचार्यपदस्थापनातः पूर्वमुद्दिष्टं सचित्तम्, उपलक्षणमेतत्–अचित्तकं, वस्त्रपात्रं प्रथमे वर्षे भवति संपद्यते तत्सर्वं तस्य प्रतीच्छकस्य, एष प्रथमो विकल्पः। यत्पुनराचार्यपदस्थापनातः पश्चादुद्दिष्टं प्रथमे वर्षे संपद्यते सचित्ताऽऽदिकं तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतस्थापनाऽऽचार्यस्याध्याप-यितुः, एष द्वितीयो विकल्पः।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, पडिच्छए जं तु होइ सचित्तं।
संवच्छरम्मि वितिए, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥ ३३५ ॥

आचार्यपदस्थापनातः पूर्वं पश्चाद्वा यदुद्दिष्टं सचित्तम, उपलक्षणमेत-दचित्तं वा, द्वितीये संवत्सरे भवति संपद्यते। क्रेत्याह–प्रतीच्छके गच्छान्तरादागत्य सूत्रार्थस्य वा प्रतीच्छनं प्रतीच्छा, तया चरति प्रतीच्छिकस्तस्मिन्, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽध्यापयितुरधिकृतस्थापिता-ऽऽचार्यस्य वेदितव्यम्। एष तृतीयोऽपि विकल्पः।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, सीसम्मि उ जं तु होइ सचित्तं।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं गुरुस्स आभवति ॥ ३३६ ॥

आचार्यपदस्थानापनातः पूर्वं पश्चाद्वा उद्दिष्टं यत् सचित्तम्, उपलक्षणत्वादस्याचित्तं, वस्त्राऽऽदिकं, शिष्ये प्रथमवर्षे भवति संपद्यते तत् सर्वं गुरोराभवति। एष चतुर्थो विभागः।

पुव्वुद्दिट्ठं तस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवाययंतस्स।
संपच्छरम्मि विइए, सीसम्मि उ जं तु सचित्तं ॥ ३३७ ॥

यत्सचित्तमचित्तं वाऽऽचार्यपदस्थापनातः पूर्वमुद्दिष्टं सचित्तमचित्तं वा शिष्ये द्वितीये संवत्सरे भवति संपद्यते, तत्सर्वं तस्य शिष्यस्याऽऽभवति। एष पञ्चमो विभागः। यत्पुनराचार्यपदस्थापनातः पश्चादुद्दिष्टं सचित्तमचित्तं वा शिष्ये तृतीये संवत्सरे भवति संपद्यते, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतगुरोराभवति। एष षष्ठमो विभागः।

पुव्वुद्दिट्ठं तस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवाययंतस्स।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सिस्सिणिए उ सचित्तं ॥ ३३८ ॥

आचार्यपदस्थापनातः पूर्वमुद्दिष्टं सचित्तमचित्तं वा प्रथमे संवत्सरे शिष्यिण्याः शिष्याया आभवति। एषोऽष्टमो विभागः ८। यत्पुनराचार्य-पदस्थापनातः पश्चादुद्दिष्टं सचित्ताऽऽदिकं प्रथमे संवत्सरे शिष्यायाः संपद्यते, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतस्य गुरोराभाव्यम्। एष नवमो विभागः ९।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, सिस्सीए उ जं तु सचित्तं।
संवच्छरम्मि वितिए, एतं सव्वं पवाययंतस्स ॥ ३३९ ॥

पूर्वं पश्चादुद्दिष्टं सचित्तमचित्तं वा द्वितीये संवत्सरे शिष्यायाः संपद्यते, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतस्य गुरोः। एष दशमो विभागः।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, पडिच्छयाए उ जं तु सचित्तं।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥ ३४० ॥

पूर्वं पश्चाद्वा यदुद्दिष्टं सचित्तमुपलक्षणमेतदचित्तं वा प्रथमे वर्षे प्रातीच्छिक्याः शिष्यायाः संपद्यते, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतस्य गुरोः। एवं न्यायेन द्वितीयाऽऽदिष्वपि संवत्सरेषूक्तः। एष एकादशोऽपि विभागः।

साम्प्रतमुपसंहारमाह–

जम्हा एते दोसा, दुविहे वि अ पक्खिए तु ठवियम्मि।
तम्हा उ ठवेयव्वो, कमेणमेणं तु आयरिओ ॥ ३४१ ॥

द्विविधे–अन्यपाक्षिके श्रुतप्रव्रज्यापक्षरहिते वेत्यर्थः। स्थापिते चाऽऽचार्ये यस्मादेते अनन्तरोदिता दोषास्तस्मादनेनानन्तरोदितेन ''पढमासति तइयभगं (३३१) इत्यादिलक्षणेन क्रमेण स्थापयितव्य आचार्य इति।

अथ प्रथमभङ्गवर्त्ती केन विधिना स्थापयितव्यः ? उच्यते–

एयस्सेगदुगादी, निप्फण्णा तेसि बंधइ दिसाओ।
संपुच्छणओलोयण–दाणे मिलिएण दिट्ठंतो ॥ ३४२ ॥

एतस्य प्रथमभङ्गवर्त्तिनः स्थापिताऽऽचार्यस्य एकद्विकाऽऽदय एकद्वित्रिचतुरादयः शिष्या निष्पन्ना यदि भवन्ति, ततस्तेषां, दिश आचार्यत्वमुपाध्यायत्वं चेत्यर्थः। बध्नाति, तथा योऽसावाचार्यः सदिष्टोयथैष सूत्रतोऽर्थतश्च निर्माप्याऽऽचार्यपदे स्थापनीयस्तस्य स्थापितगणधरेणाऽऽचार्यपदे स्थापितस्य शिष्याणां विप्रतारणार्थं संप्रच्छन्नं दानं वस्त्रपात्राऽऽदेः। एतेषां समाहारो द्वन्द्वः, तस्मिन्नपि कृते विपरिणामाभावे मिलितेन गोपालद्वयमिलनेन दृष्टान्तो वक्तव्यो, द्वयोर्गोपालयोर्मिलितयोः प्रभूता धनवृद्धिरभूत्, तथा युष्माकमस्माकं च मिलितानां विहरतां भूयान् ज्ञानाऽऽदिलाभो भवतीति मिलितैर्वि-हर्तव्यमिति।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुरिदमाह–

गीयमगीया बहवा, गीयत्थसलक्खणा उ जे तत्थ।
तेसिं दिसाउ दाउं, वियरति सेसे जहरिहं तु ॥ ३४३ ॥

गच्छे बहवः साधवो (गीयमगीया इति) गीतार्था अगीतार्थाश्च, तत्र ये गीतार्थास्तत्रापि सलक्षणा आचार्यलक्षणोपेताः, तेषां दिश आचार्यपदानि दत्वा शेषान्साधून्यथार्हं यथायोग्यं, तथा केषाञ्चिदनुरत्नाधिकत्वेन केषाञ्चित्सामान्यतः शिष्यत्वेन वितरति प्रयच्छति। एतच्च तदा द्रष्टव्यं यदा प्रत्येकं बहवः शिष्याः प्राप्यन्ते, अन्यथा त्वेक एवाऽऽचार्यः स्थापनीयः, शेषाः समस्ता अपि शिष्यत्वेन संबध्यन्ते, तत्रापि सलक्षणानां देशो ज्ञायते।

एतदेव सुव्यक्तमभित्सुराह–

मूशयरि रायणिओ, अणुसरिसो तस्स होउवज्झाओ।
गीयमगीया सेसा, मज्झिमलया होंति सीसाह ॥ ३४४ ॥

मूलाऽऽचार्यो नाम रात्निको रत्नाधिकः तस्य मूलाऽऽचार्यस्यानुसदृशोऽनुरूप उपाध्यायः शेषास्तु ये गीतागीतार्थास्ते तस्य 'मज्झिमल्लगा' अनुरत्नाधिकाः, हकारोऽलाक्षणिकः, शिष्या भवन्ति।

रायणिया गीयत्था, अलडिया धारयंति पुव्वदिसं।
अपहुच्चंतें सलक्खणें, केवलमेगे दिसाबंधो ॥ ३४५ ॥

ये पुना रात्निका व्रतपर्यायेणाधिकाः, गीतार्थाः श्रुतसंपदुपेता व्रतश्रुतनिष्पन्नाश्च केवलं संग्रहे उपग्रहे चाऽलब्धिकाः, ते पूर्वदिशं पूर्वाऽऽचार्यप्रदत्तं दिशमनुरत्नाधिकत्वलक्षणं धारयन्ति, न त्वाचार्यपदमुपाध्यायत्वं वा तेषामारोप्येते, तल्लब्धिहीनत्वात्। एष विधिः– यावन्तः स्थापिता आचार्यास्तेषां प्रत्येकमनुगन्तव्यम्, एतच्च तदा क्रियते यदा भूयांसः साधवः थाप्यन्ते। (अपहुच्चंते इत्यादि) अप्रभवति प्रत्येकमाचार्याणां साधुपरिवारे भूयस्यप्राप्यमाणे केवलमेकस्मिन् सलक्षणे विशिष्टाऽऽचार्यलक्षणोपेते दिग्बन्ध आचार्यपदाध्यारोपः क्रियते।

एतदेवाऽऽह–

सीसे य पहुच्चंते, सव्वेसिं तेसि होति दायव्वो।
अपहुच्चंतेसुं पुण, केवलमेगे दिसाबंधो ॥ ३४६ ॥

शिष्ये शिष्यवर्गे प्रत्येकं प्रभवति तेषामाचार्यलक्षणोपेतानां सर्वेषामपि देशो दातव्यः। अप्रभवत्सु प्रत्येकं पूर्णतया साधुष्वप्राप्यमाणेषु केवलमेकस्मिन् सलक्षणतरे दिग्बन्धः कर्त्तव्यः, शेषाणां तु सलक्षणानां दिशोऽनुज्ञाप्याः।

साम्प्रतं तेष्वाचार्यपदस्थापितेषूपकरणदानविधिमाह–

अचित्तं व जहरिहं, दिज्जइ तेसुं व बहुसु गीएसु।
एस विही अक्खो अगीएसुं इमो उ विही ॥ ३४७ ॥

तेषु वाऽऽचार्यपदस्थापितेषु बहुषु गीतार्थेषु अचित्तं वस्तु पात्राऽऽदि उपकरणं यथाऽर्हं यो यावन्मात्रार्हस्तस्य तावन्मात्रं दीयते, एष विधिराख्यातो गीतार्थेषु सूत्रार्थनिष्पन्नेष्वाचार्यलणोपेतेषु, अगीतेष्वनधिगतसूत्रार्थेष्वाचार्यलक्षणोपेतेष्वयं वक्ष्यमाणो विधिर्द्रष्टव्यः।

तमेवाऽऽह–

अरिहं व अनिम्मायं, नाउं थेरा भणंति जो ठवितो।
एयं गीयं काउं, दिज्जाहि दिसं अणुदिसं वा ॥ ३४८ ॥

अर्हो नाम लक्षणोपेततयाऽऽचार्यपदयोग्यः, परमद्यापि सूत्रेऽर्थे च न निर्मातस्तमर्हमनिर्मातं ज्ञात्वा यो गणधरस्तत्कालं स्थापितस्तं स्थविरा बृद्धा आचार्या भणन्ति–यथा एनं साधुं गीतं गीतार्थं कृत्वा दद्यात् भवान् दिशमनुदिशं वा।

सो निम्मविय ठवितो, अत्थति जइ तेण सह ठितो लट्ठं।
अह न वि चिट्ठअ तहियं, संघामो ता सें दायव्वो ॥ ३४९ ॥

याऽसावाचार्येण संदिष्टो–यथैतं साधुं निर्माप्य एतस्मै दिशमनुदिशं वा दद्यात स निर्म्मापितो निर्म्माप्याऽऽचार्यपदे स्थापितः ततः स यदि निर्मापितः स्थापितस्तेन सह तिष्ठति विहरति ततो लष्टं समीचीनम्। अथ नैव, अपिशब्द एवकारार्थो, न तिष्ठति तत्र तस्य समीपे तर्हि (से) तस्य सङ्घाटो दातव्यः, यस्य पूर्वाऽऽचार्येण वैयावृत्यकरो दत्तः सोऽपि तेन सार्द्धं विहरति।

तत्र ये स्थापितगणधरेणैको द्वौ त्रयो वा सहाया दत्तश्च पूर्वाऽऽचार्यप्रदत्तो वैयावृत्यकरस्तान् पाठयति, ये चाभिनवशैक्षका उपस्थापिताः प्रव्राजिताः, तेऽप्यात्मनः शिष्यत्वेन संबन्धनीयाः, एवं संजातपृथग्विहारः सन् अन्यत्र विहारेण गतः, तस्य तत्र विहरतः शिष्यान् संस्थापितगणधरो विपरिणमयितुकामो यत् समाचरति तदुपदर्शयति–

पेसेइ गंतुं व सयं व पुच्छे,
संबंधमाणो उवहिं व देती।
सज्झंतिया सिं व समल्लिया वि,
सचित्तमेवं न लभे करें तो ॥ ३५० ॥

यत्र स निर्मापितः स्थापितो विहरति तत्रोदन्तवाहकान्साधून् तच्छिष्याणां प्रेषयति। अथवा–स्वयमनतराऽन्तरा गत्वा तान्पृच्छति। यथा–संस्तरथ यूयं सुखेन, यद् भो भवतां नास्ति तत्कथयत, येनाऽहं ददामीति। तथा तान् शिष्यानात्मनः संबन्धयन् उपधिं चान्तराऽन्तरा ददाति। तथा ये स्वाध्यायनिमित्तं समीपस्थायिनोऽनुरत्नाधिका गीतार्था इत्यर्थः, तान् तेषां निर्माप्यस्थापितानामाचार्याणां मुक्त्वा नात्मनः समालापयति संश्लेषयति, 'लीङ्' संश्लेषणे इतिवचनात्। एवं तेन गीतार्थाः शिष्याश्च विपरिणम्यमाना निर्मापितस्थापितस्य समीपं मुक्त्वा तं स्थापितगणधरमुपसंपद्यन्ते। स वैवं सचित्तं साधुवर्गेलक्षणमात्मसात् कुर्वन् न लभते, व्यवहारतो न ते तस्याऽऽभवन्तीति भावः।

अथैवमपि ते विपरिणम्यमाना न विपरिणमन्ति, नाऽपि तस्य समीपमायान्ति, ततोऽनेन दृष्टान्तेन तावत्संबन्धन्ति, तमेव दृष्टान्तमाह–

गोवलगदिट्ठंतं, करेति जह दोण्णि भाउणो गोवा।
रक्खंती गोणीओ, पिहप्पिहा असहिया दो वि ॥ ३५१ ॥
गेलण्णे एगस्स उ, दिण्ण गोणी उ ताहें अन्नस्स।
इय नाझणं ताहे, सहिया जाया दुवे गोवा ॥ ३५२ ॥

''दोण्णि गोवाला सहोयरभाउगा भंडणं करेत्ता पत्तेयं पत्तेयं वेयणएणं गावीओ रक्खंति, अन्नया तेसिं एगो रोगी जातो, ततो तेण जाव न रक्खियया तो गावीतो परिहीणो जातो, अन्नया विदिओ पडिजग्गो, सो वि तहेव परिहीणो। ततो तेहिं एगागि''

यस्स न सोहणमिति चिंतिऊण परोप्परं पीती कया, तत्तो एको पडिलग्गो तस्स वितिओ गावीओ रक्खइ, एवं इयरस्स वि, एवं तेसिं दव्वपरिवुड्ढी जाया। एवं अम्हं पि वीसुं वीसुं विहरंताणं परिहाणी भवति, तम्हा मिलिया विहरामो, जेणं विउला नाणादीणं वुड्ढी हवइ, जं तुब्भं तं तुब्भं चेव नाहं तं हरामि। एवं समल्लेयावेत्ता सीसे लब्भंति, एवं विपरिणामेइ, तह वि सो न लहइ।''

संप्रत्यक्षरयोजना। गोपलकदृष्टान्तं करोति–यथा द्वौ गोपौ भ्रातृकौ, तौ द्वावप्यसहितौ पृथक् पृथग् वेतनेन गा रक्षतः, अन्यदा एकस्य ग्लानत्वे गा अन्यस्य गोस्वामिना दत्ताः, स वेतनात् परिभ्रष्टः। एवमितरोऽपि ग्लानत्वे वेतनपरिहीणो जातः, तत इति पृथक् असंहतस्थितस्य महती द्रव्यहानिरिति कृत्वा जातौ द्वावपि सहिताविति।

उपसंहारमाह–

एवं दोण्णि वि अम्हे, पिहप्पिहा तह विहरिमो समगं।
वाघाते णऽण्णोण्णे, सीसा उ परं व न भयंति॥ ३५३॥

एवं द्वेऽपि वयं यद्यपि पृथक् पृथक् तिष्ठामः, तथाऽपि समकं संहिततया विहरामो, येन व्याघाते ग्लानत्वाऽऽदिलक्षणे, अन्योऽन्यस्य ज्ञानऽऽदिहानिर्नोपजायते, शिष्या वा परं न भजन्ते, एवमपि सत्कुर्वाणो न लभते शिष्यम्। व्य० २ उ०।

दिग्विपरिणामे–

जे भिक्खू दिसं दिप्परिणामेइ, विप्परिणामंतं वा साइज्जइ॥ १२॥

जे भिक्खू दिसं अवहरइ, अवहरंतं वा साइज्जइ॥ १३॥

दिशेति व्यपदेशः– प्रव्रजनकाले, उपस्थापनाकाले वा य आचार्य्य उपाध्यायो वा व्यपदिश्यते सा तस्य दिशा इत्यर्थः। तस्यापहारः, तं परित्यज्य अन्यमाचार्य्यमुपाध्यायं वा प्रतिपाद्यते इत्यर्थः। संजतीए पवत्तिणी।

अवि य–

रागेण व दोसेण व, दिसावहारं करेति जो भिक्खू।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे॥ १२५॥

रागेण–किंचि णीयल्लगं पासित्ता रागो जातो, ताहे तं दिसं गेण्हति, पुरिल्ले आयरिओवज्झाए उज्झेति। दोसेणको वि कम्हि त्ति कारणे उड्डसद्धो समणो अण्णं आयरियं संदिसंति, तस्स चउगुरुं पच्छित्तं, आणादिणो दोसा भवंति।

अहवा इमो रागेण उद्दिसति–

जातिकुलरूपभासा–धणबलपरिवारजसतवे लाभे।
सत्तवयबुद्धिधारण, उग्गहसीले समायारी॥ १२६॥

मातृपक्खविसुद्धाइ जाती, पियापक्खविसुद्धं इक्खागुमादियं कुलं, सुविभत्तऽंगोवंगअहीणपवेंदियत्तणं रूवं, मियमहुरकडु-अभिहाणा भासा, धणिमं पव्वतियस्स ता तत्थ मेऽत्थि, उववेयमं ससोणिओ बलवं, विरिसंतरायखओवसमेण वा बलवं, ससमयपरसमयविसारत्तणेण लोगुत्तो य जसो, च उत्थादिणा बाहिरब्भंतरेण वा तवेण वा जुत्तो आहारोवकरणलाभसंपण्णे। बिद्धिआवईसु अ अणुस्सुओ अइविक्कमो य सत्तमंतारे, दुरज्झवसाणो वा सत्तमंतो, तीसतिवरिसो तिदरो इव वयवं, उप्पाइयादिचउविहबुद्धिसु वेदो बुद्धिमं, बहुं धरेति, बहुविधं धरेइ, अणिस्सियं धरेति, असंदिद्धं धरेति, दुद्धरं धरेइ, धुवं धरेइ, एवं उग्गहणे वि खमादि, सीलउववेतो सीलवं, चक्कवालसमायारीए जुत्तो कुसलो य।

एवं–

एतेहिं उववेतं, रागेण परं च उद्दिसति कोइ।
जच्चाइविहूणं वा, उज्झति कोई परिभवेणं॥ १२७॥

एतेहिं उववेयं कोइ रागेणं अण्णं आयरियं उद्दिसति, एतेहिं चेव जच्चादिएहिं विहूणं कोइ परिभवेण परिच्चयति, दोषेणेत्यर्थः।

गाहा–

अहवण मेत्ती पुव्वं, पूयालद्धिपरिवारतो रागे।
अहिकरणमसंमाणे, सभावऽणिट्ठं दोसेणं॥ १२८॥

'अहवण' शब्दो विकल्पप्रदर्शने, मित्रभावो, मैत्री, तत्पूर्वं तन्निमित्तं, महायणपूइयं, तेण वा सो पूइतो अड्ढारादिलद्धिसंपण्णं, परिवारसंपण्णं वा, एतेहिं गुणेहिं उववेयं रागेण आयरियं पडिवज्जति, आयरिएण पुण सद्धिं अधिकरणे उप्पण्णे अयरिएण वा असंमाणिओ, सभावेण वा अणिट्ठं आयरियं परिच्चयति एस दोसेण।

पुरिसंतरियपरिच्चाए अण्णमुद्देसेण य इमे दोसा–

आणादिणो य दोसा, विराहणा होति संजमाऽऽताए।
दुल्लभबोहीयत्तं, वितियपयविराहणा चेव॥१२९॥

तित्थकराणं आणाभंगो, आदिसद्दाओ अणवत्थां –जहा एयस्स एयमसच्चं तहा अण्णं पि, एवं मिच्छत्तं जणयति, वितियपदविराहणे संजमविराहणा। अण्णेण भणितो –किमायरियं परिच्चयसि ? उत्तराउत्तरेण अधिकरणं, एत्थ आयसंजमविराहणा, दुल्लीाबोधीयत्तं च णिव्वत्तेति, तम्हा दिसावहारं णो करे।

वितियपदेण अण्णमायरियं उद्दिसिज्जा–

वितियपए आयविए, ओसण्णोवाइए य कालगते।
ओसण्णे छव्विहो खलु, वत्तमवत्तस्स मग्गणया॥ १३०॥

जइ आयरिओ ओसराणो जातो, ओहाइतो वा, कालगतो वा, एए तिण्णि दारा। एत्थ ओसण्णो छव्विहोपासत्थो, ओसन्नो, कुसीलो, संसत्तो, अहाछंदो, णितिओ य। तम्मि गच्छे आयरिओ जो संकप्पिओ वत्तो अवत्तो वा सो वत्तावत्तो कहं णं धरेति ति चउभंगेण मग्गणा कज्जति। सोलसवरिसाऽऽरेण वयसा अवत्तो, परेण वत्तो, अणधीयणिसीहो अगीयत्थो सुत्तेण अत्थतो वा, सुत्तेण गीयत्थो वएण वत्तो, सुत्तेण वि वत्तो वएण वि वत्तो पढमभंगो। वितियओ सुअवत्तोण वएण। ततिओ सुएण अणुवत्तो वएण वत्तो। चउत्थो दोहिं वि अवत्तो।

वत्ते खलु गाहा–

वत्ते खलु गीयत्थे, अव्वत्ते वतेण हवइऽगीयत्थे।
ओसाएणो छव्विहो खलु, अहवोसण्णे य संगमणा १३१

वएण वत्तो गीयत्थो एस पढमभंगो, खलु पादपूरणे, अवत्तो वएण एस वितियभंगो, पढमभंगे हवइ गीयत्थे एस ततियभंगो, पढमभंगिल्लो उभयवत्तो, तस्स

इच्छा–अण्णमायरियं उद्दिसति वा, ण वा, सो वत्तोवमो ओसण्णायरियं सारेति, चोदयतीत्यर्थः। कहं ? अण्णं गीतं पेसति, अहवा–ओसण्णे सयं गंतुं चोदेति तं, एस च सयं वा गच्छति।

गाहा–

एगाह पणग पक्खे, चउमासे वरिसे॑ जत्थ वा मिलति।
चोदेति चोदवेती, अणिच्छे॑ वड्ढावए॑ सयं तु॥ १३२॥

एगाहो त्ति ओसण्णे दिणे दिणे गंतुं सारेति, एगाहो वा एगंतरं पंचण्ह पंचण्हं दिणाण वा सारेति, एवं पक्खे, चाउम्मसे, वरिसंते य, जत्थ वा समोसरणादिसु मिलंति, तत्थ वा सारेति, सव्वहाऽणिच्छंतं णं सयमेव वड्ढावेति।

अण्णं च–

अण्णं च उद्दिसावे, पवेयणट्ठा ण संगहट्ठाए।
जति णाम गारवेण वि, मुएज्जऽणिच्छे सयं ठाति। १३३।

सो उभयवत्तो अणं वा आयरियं उद्दिसति, स्यात्किमर्थ ? पवेयणट्ठा ण गच्छस्स संगहट्ठा वग्गस्स गहणट्ठा, स्वयमेव शक्तत्वात्, मम जीवंते चेव अण्णमायरियं उद्दिसंति, जति णाम एरिसेण गारवेण ओसण्णत्तणं मुएज्ज, तहा वि साधू सव्वहा अणिच्छे, सयमेव आयरियपदे ठायति। गतो पढमभंगो।

इयाणिं वितियभंगो। सुयवत्तो गाहा–

सुयवत्तो वयऽवत्तो, भणति गणं तेऽहं धारिउमसत्तो।
सारेहि सगणमेयं, अण्णं व वयाम आयरियं॥ १३४॥

जो सुत्तेण वत्तो वएण अव्वत्तो सो तं आयरियं भणति एयं ते गणं अहं पडुप्पण्णवयत्तणाओ य धारिउं असत्तो, एहि तुमं एयं सगणं सारेहि, अहवा ण सारेहि तो अम्हे अण्णं आयरियं वयामो इत्यर्थः।

आयरियगाहा–

आयरिय–मुवज्झायं, पुच्छंते अप्पणो य असमत्थे।
तिगसंवच्छरमद्धं, कुलगणसंघे दिसाबंधो॥ १३५॥

आयादुप्पण्णं वयत्तणातो गणं बद्धावेउमसमत्थो अण्णे आयरिय-उवज्झाए उद्दिसिउमिच्छंतो पुव्वायरियं भणति–अम्हे अण्णस्स आयरियस्स णो उवसंपज्जामो, सो णं उवसंपण्णाण अम्हं सचित्तादि हरति, तुमं जति सगणं ण सारेति, तो अम्हे णिसट्ठं चेव आयरियं पडिवज्जामो, कुलिव्वं कुलसमवायं दाउं कुले ओवड्ढयंति, ताहे कुलेण जो दत्तो स तेसिं तिण्णि वरिसाणि सचित्तादि णो हरति, एवं गणे संघेया तिण्हि वरिसाणि।

परतो इमा विधी–

सचित्तादि हरंति ण, कुलं पि णेच्छामो॑ जं कुलं तुज्झं।
वच्चामो अण्णगणं, संघं वा जति तुम ण ठासि॥ १३६॥

पुव्वायरियस्स अग्गतो भणितं–जं तुह कुलं तं कुलिव्वो, अम्हं तिण्ह वरिसाणं उवरि सचित्तादी हरति, जइ तुम्हं अम्हायरियो ण ठासि तो अम्हे अतो विपरतो गणं संघं वा दूरतरं वयामो ताहे गणायरिओ ण ठासि, तो अम्हे अतो परभागेणं संघं वा दूरत्तरं वयामो, तोह गणायरियं उद्दिसावेंति, गणसमवाए वा उवट्ठायंति, सो वि संवच्छरं सचित्तादी ण हरति, एवं संघे उवट्ठायंति, सो वि छम्मासे सचित्तादी ण हरति, एवं वितियपदेण दिसावहारं करेंति।

गाहा–

एवं वि ठायंते, तावेतुं अद्धपंचमे वरिसे।
सयमेव धरेति गणं, अणुलोमवएण सारेइ॥ १३७॥

एवं अद्धपंचमे वरिसे पुव्वायरियं चोदणाहिं तावेउं अवतावेउं जाहे सो ण ठाइ, ताहे अद्धपंचमेहिं वरिसेहिं वयवत्तीभूतो सयमेव गणं धरेति, जत्थ य पासति तत्थ य पुव्वायरियं अणुलोमेहिं वयणेहिं सारोति, चोदयतीत्यर्थः।

गाहा–

अहवा जति अत्थि थेरा, सत्ता परिकड्ढिउं ण तं गच्छं।
पढमभंगसरिस्सओ, तस्स उ गमओ मुणेयव्वो॥ १३८॥

अथवेति विकल्पवाची, अप्पणा गीयत्थे अण्णे य से थेरा गच्छपरिकड्ढणा अत्थि, तो अण्णं आयरियं ण उद्दियंति, कम्हा न उद्दिसंति ? भण्णति–जतो पढमभंगसरिसो चेव एस गमो भवति। गतो वितियभंगो।

इदाणिं ततियभंगो। गाहा–

वत्तव्वयो अगीओ, जति थेरा तत्थ केइ गीतत्था।
तेसंऽतिए पढंतो, चोदंतो असति अण्णत्थ॥ १३९॥

जो पुण वयसा प्राग्यो स वयोवत्तो, अगीयत्थो पुण जइ सगच्छे थेरा, गीयत्थो तो सो तेहिं थेराणं अंतिए समीवे पढंतो गच्छस्स चोदणादि सारणं करेति, ओसण्णायरियं वा चोदेति, तेसिं गीयत्थथेराणं असति गणं घेत्तु अघेत्तु वा अण्णायरियसमीवे उवसंपज्जति, सुत्तट्ठाणं अट्ठा। गतो ततियभंगो।

इदाणिं चउत्थो। गाहा–

जो पुण उभओऽवत्तो, बद्धावगअसति सो उ उद्दिसति।
सव्वे वि उद्दिसंता, मोत्तूण इमे तु उद्दिसति॥ १४०॥

जो सुत्तेण वएण अवत्तो सो गणबद्धावगस्स असति अण्णत्थ आयरियं उद्दिसति, उवसंपद्यतेत्यर्थः। एते चउभंगिल्ला सव्वे वि इमे मोत्तुं उद्दिसंति।

गाहा–

संविग्गमगीयत्थं, असंविग्गं अ गीयत्थं।
आयरियउवज्झाया, उद्दिसमाणस्स चउगुरुगा॥ १४१॥
सत्तरत्तं तवो होति, तओ छेदो पहावति।
छेदेण छिन्नपरियाए, तओ मूलं ततो दुगं॥ १४२॥
छट्ठाणविरहियं वा, संविग्गं वा वि वयति गीयत्थं।
चतुरो य अणुग्घाया, तत्थ वि आणादिणो दोसा॥ १४३॥

संविग्गं अगीयत्थं, असंविग्गं गीयत्थं, एते आयरियउवज्झायत्तेण उद्दिसंतस्स चउगुरुगं भवति॥ १४१॥ अण्णे सत्तदिणे चउगुरु, छेदो, एवं छल्लहु, छग्गुरुगा वि छेदो सत्तदिणे वा, ततो एक्केक्कदिणं मूलं, अणवट्ठा, पारंचिया भवन्ति। अहवा–छग्गुरुगतवो परियरणगदिओ, छेदी सत्तदिणेसु

णेयो, ततो परं मूलं, अणवट्ठपारंचियाए पच्छित्तं वियाणमाणेण संविग्गो गीयत्थो उद्दिसियव्वो ॥ १४२ ॥ छट्ठाणविरहियं सदोसं संविग्गं गीयत्थं सदोसं जति उद्दिसति, तो चउगुरुगा पायच्छित्तं, आणादिया य दोसा भवंति।

'छट्ठाणविरहिय त्ति' (१४३) अस्य व्याख्या-

छट्ठाण जाणि तेहिं, तव्विरहित काहिया चउरो।
ते चिय उद्दिसमाणा, छट्ठाणगयाण जे दोसा ॥ १४४ ॥

पासत्थो, ओसण्णो, कुसीलो, संसत्तो अहाछंदो, णितिओ य, एतेहिं छहिं ठाणेहिं विरहितो सदोसो। को भवति ? भण्णतिकाहियादिया चउरो-कोवाए, ममाए, संपसारए, पासणिए। अहवा-काहिए, पासणिए, मासाए, अकियकिरिए। एते उद्दिसमाणस्स ते चेव दोसा, जे छट्ठाणगते भणिया। ओसण्णेत्ति गयं।

इदाणिं ओहाइयकालगते त्ति दो दारा-

ओहातियकालगते, जाविच्छा ताहें उद्दिसावेति।
अव्वत्ते तिविहे वी, नियमा पुण संगहट्ठाए ॥ १४५ ॥
तीसु वि दीवितकज्जा-सि वज्जिया जति य तस्सं तं णत्थि।
निक्खिविय वयंति दुवे, भिक्खू किं दाणि णिक्खिवितुं १४६
दोण्हऽट्ठाए दोण्ह वि, णिक्खमणा होति उज्जमंतेसु।
सीयंतेसु तु सगणो, वच्चति मा ते विणासेज्जा ॥ १४७ ॥
वत्तम्मि जो गमो खलु, गणवच्छे सो गमो उ आयरिए।
णिक्खमणे तम्मि चत्ता, जमुद्दिसे तम्मि ते पच्छा ॥ १४८ ॥
ओहातियओसण्णे, भणति अणाहा वयं विणा तुज्झं।
कमसीमसागरिए, दुप्पडितरगं जतो तिण्हं ॥ १४९ ॥
जो जेण जम्मि ठाण-म्मि ठाविंतो दंसणे व चरणे वा।
सो तं ततो सुयं त-म्मि चेव काउं भवे णिरिणो। १५० ॥

जति वि आयरिओ ओहातिओ। ओहावणं च दुविधं-सारूवियत्तणेण, गिहत्थत्तणेण वा। कालगते आयरिए जो पढमिल्लेसु तिसु भंगेसु अवत्ता तिण्णि भणिया, तेसिं जाहे इच्छा आयरियउवज्झाएसु इमो विधी ॥ वत्तम्मिगाहा। इह गणावच्छेतितो उवज्झाओ, जया उवज्झाओ आयरिओ वा अण्णं आयरियं उद्दिसति ताहे जो उभयवत्तम्मि भिक्खुम्मि विधी, स चेव गणावच्छेए आयरिए य विधी दट्ठवो, णवरं गणणिक्खेवं काउं वयति सगणे, जे अण्णे आयरियउवज्झाया संविग्गा गीयत्था तेतेसिं गणणिक्खेवं करोंति, असंविग्ग अगीतेसु तेसु जति णिक्खवंति तो तेण णिक्खिवप्पमाणा चत्ता भवंति, तम्हा असंविग्गा गीतेसु णिक्खेवे अण्णभवे सगणा चेव वच्चंति, जमुद्दिसति आयरिओ (तम्मि त्ति) तस्स ते सर्वे शिष्या भवंति, पच्छित्तअणुवसंपण्णकालाओ पच्छा, उवसंपज्जणकालादारभ्य त्यर्थः। ओहाइयगाहा। ओहाइयं ओसण्णं वा आयरियं जत्थ पासति तत्थिमं भणति-तुज्झहिं विणा अणाहा वयं, वयमित्यात्मनिर्देशे। असागरिए पदेस तस्स ओसण्णो धावित्ता आयरियस्स कमेसु पदेसु सीसेण णिवभति, भणइ-एहि पसादेण अब्भुट्ठेहासणादी करेह, अम्हे भो सुयमाउमिंभयं पि व इओ तओ दुलुदुलेमो।

सीसो पुच्छति-तस्स गिहीभूतस्स अचारित्तिणो किं पादेसु णिवडिज्जति ? आयरिओ भणति-दुप्पभितरगं जओ तिण्हंमातु पितु धम्मायरियस्स य, एते परमोवकारिणो, एतेसिं दुक्खेण पच्चुवकारो काउं सक्कति। किं चान्यत्, जो जेण धम्मोवदेसप्पदाणादिणा दंसणे चरणे वा ठाविंतो, सो तं गुरु दंसणचरणेहिंतो चुयंते देवदंसणचरणेसु ठाविउं णिग्गयरिणो भवति, कृत्युपकारेत्यर्थः।

न आयरियउवज्झाया गणपरिवुडा अण्णायरियं उवसंपज्जंति, तदा इमो विधी-

णिक्खिवणे वि य अप्पणो, परे य संतेसु तस्स ते देंति।
संघाड देयऽसंतो, सो वि ण वावारें ऽणापुच्छा ॥ १५१ ॥

जया तेहिं आयरिओवज्झाएहिं आलोयणप्पदाणेण अप्पा उवणिक्खित्तो भवति, तदा भणंति-इमे य भे साहू, एसपरिणिक्खेवो, तेण वि आयरिएण अप्पणो संतेसु साहुसु ण घेत्तव्वा, तस्स चेव ते देंति, अह वत्थव्वायरियस्स असति साहूणं ता सव्वे घेत्तुं पाडिच्छायरियस्स एगसंघामगं कप्पगं देंति, सो वि अ पाडिच्छायरियस्स एगसंघामगं कप्पगं देंति, सो वि अ पाडिच्छायरिओ वत्थव्वायरियस्स अणापुच्छाए ते सिस्से ण वावारेति एसणाऽऽदिसु।

सुत्तं-

जे भिक्खू दिसं विप्परिणामेइ, दिसं विप्परिणामंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

इमो सुत्तस्स सुत्तेण सह संबंधः। गाहा-

सयमेव य अवहारो, होति दिसाए ण मे गुरु तो से।
अहं भणिता विप्परिणा-मणा उ अण्णेसिमा होंति ॥ १५२ ॥

सयमिति स्वयम् अतिक्रान्तसूत्रे विप्परिणामणा आत्मगता अभिहिता। इमा पुण वक्खमाणसुत्ते अण्णे अण्णस्स दिसाविप्परिणामणं करोंति-

रागेण व दोसेण व, विप्परिणामं करेति जो भिक्खू।
दुविहं तिविह दिसाए, सो पावति आणमादीणि। १५३।

दिसं विप्परिणामेति रागेण वा दोसेण वा, रागेणतम्मि सेहे अज्झोववातो गाढं, ताहे तेण रागेण विप्पपरिणमेउं अप्पणो अंते आकड्ढति, दोसेण-मा तस्स सीसो भवइ त्ति वि विप्परिणामेति, आयरिआ उवज्झाया दुविहा दिसा साहूणं, आयरियुवज्झाए वत्तिणी य तिविहा संजतीण दिसा, एया दिसा विप्परिणामें तस्स आणादिया दोसा।

सो पुण इमेहिं विप्परिणामेति। गाहा-

डहरो अकुलीणो त्ति य, दुम्मेहो दमग मंदबुद्धि त्ति।
अवि य सपलाभलद्धी, सीसो परिभवति आयरियं ॥ १५४ ॥
डहरो एस तव गुरु, तुमं च थेरो न जुज्झते जोगो।
अविपक्कबुद्धि एसो, वए करेज्जा वि जं किं वि ॥ १५५ ॥

कोइ सेहो परिणयवओ तरुणायरियस्स समीपे पव्वतितुकामः अण्णेण भण्णति-महरो एस तव गुरु, तुमं च परिणयवओ, ण एस आयरियसीस-संजोगो जुज्जति। कहं पुत्तणंतुअसमाणस्स सीसो भविसस्ससि ? कहं वा विणयं काहिसि ? किं च ते सजणादिजणो भणिहिति त्ति ? अहवा भणाति-सो महरो अविपक्कबुद्धी, अविपक्कबुद्धित्तणेण अकज्जं पि कज्जं वयति, अविपक्कबुद्धित्तणातो किं वि दोसं करेज्जा।

गाहा–

एमेव सेसएसु वि, तं निंदंतो संय परं वाऽवि।
संतेण असंतेण व, पसंसए तं कुलादीहिं ॥ १५६ ॥

सेसा–कुलाऽऽदिया पदा, तेहिं कुलाऽऽदिएहिं पदेहिं तं णिंदेति जस्स उवाट्ठितो, सो पुण सओ परओ वा संतेहिं वा असंतेहिं वा कुलाऽऽदिपणहिं जस्स पदुट्ठो सयं परं वा तं णिंदति, तस्स सेहस्स जमुद्दिसति तम्मि संतेहि वा सयं परयगं वा पसंसतिइमो कुलीणो, सो अकुलीणो, इमो मेहावी, सो दुम्मे हो, इमो ईसरणिक्खंतो, सो दमगो। अहवाइमो वत्थपत्तादिएहिं ईसरो, सो दमगो, इमो सलद्धिमं। इमेहिं कारणेहिं सिस्सो परो वाए परिभवति आयरियं। अहवा–पसंसते कुलाऽऽदीहिं सेहंतं कुलमंतो, सो अकुलजो। एवं सेसपदेसु वि कारणे विप्परिणामेणं पि करेज्ज।

गाहा–

नाऊण य वोच्छेयं, पुव्वगए कालियाणुओगे य।
सुत्तत्थजाणगस्सा, कप्पति विस्सासणा ताहे ॥ १५७ ॥

पूर्ववत्। नि० चू० १० उ०।

''उभे मूत्रपुरीषे च, दिवा कुर्य्यादुदङ्मुखः।
रात्रौ दक्षिणतश्चैव, तथा चाऽऽयुर्न हीयते ॥ १ ॥''

प्रव० १०६ द्वार।

दिक्सिद्धिः–दिग्धर्मोपेतं द्रव्यं प्रमाणतः सिद्धम्। तथाहि–मूर्तेष्वेव द्रव्येषु मूर्त्तं द्रव्यमवधिं कृत्वैतदस्मात्, अतः पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेणापरेणोत्तरेणोत्तरपूर्वेणाधस्तादुपरिष्टादित्यमी दश प्रत्यया यया भवन्ति सा दिगिति। तथा च सूत्रम्–''अत इदमिति यतस्तद्दिशो लिङ्गमिति।'' एते हि विशेषप्रत्यया नाऽऽकस्मिकाः संभवन्ति। तथा च परस्पराऽऽपेक्षमूर्त्तद्रव्यनिमित्तानामितरेतराऽऽश्रयत्वेऽपि प्राच्यादिभेदेन नानात्वं कार्यविशेषाद् व्यवस्थितम्। प्रयोगश्चात्रयदेतत् पूर्वापराऽऽदि ज्ञानं तद् मूर्त्तद्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धनं, तत्प्रत्यविलक्षणत्वात्। सम्म० ३ काण्ड। सूत्र०। ''दिसो दिसिं'' एकस्या दिशोऽन्यां दिशं, पुनस्तस्या अन्यां दिशमित्यर्थः। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। विपा०। भ०। नरकपृथिवीषु देवलोकेषु वाऽष्आसु दिक्षु, चतसृषु वा दिक्षु पङ्क्तिगतनरकाऽऽवासविमानविचारः प्रवर्तते, तत्रनामस्थापना–द्रव्य–क्षेत्र–ताप–प्रज्ञापक–भावदिशामावश्यकाऽद्युक्तानां सप्तानां मध्ये का दिक् प्रवर्तते, एतसां दिशां मध्यवर्त्तिनी का च दिक्, तथा का च देवलोकाऽऽदिषु दिक् प्रवर्त्तते, तत्सहेतुकं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्–पङ्क्तिगत नरकाऽऽवासविमानविचाराधिकारे नामाऽऽदीनां सप्तानां दिशां मध्ये क्षेत्रदिग् ज्ञायत इति। १८ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

दिसाकुमार पुं० (दिक्कुमार) भूषणनियुक्तगजरूपचिह्नधरे भवनवासिदेवेभेदे, प्रज्ञा० २ पद। स०। भ०। स्था०। औ०। प्रव०। (दिक्कुमारसंख्या 'ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०५ पृष्ठे द्रष्टव्या)

दिसाकुमारावासा पुं० (दिक्कुमाराऽऽवास) दिक्कुमाराणां भवनाऽऽवासे, ''छावत्तरिं दिसाकुमाराणं वाससयसहस्सा पण्णत्ता। स० ७५ सम०।

दिसाकुमारिया स्त्री० (दिक्कुमारिका) दिक् कुमारभवनपतिदेवविशेषजातीयादेवीषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड। आ० चू०।

रूपाऽऽद्याश्चतस्रो दिक्कुमारिकाः–

चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा– रूवा, रूवंसा, सुरूवा, रूवावई ॥

''चत्तारि दिसा'' इत्यादि सुगमं, नवरं दिक्कुमार्यश्च ता महत्तरिकाश्च प्रधानतमाः, एतासां वा महत्तरिका दिक्कुमारीमहत्तरिकाः, एता मध्यरूचकवास्तव्या अर्हतो जातमात्रस्य नालकर्तनाऽऽदि कुर्वन्तीति। स्था० ४ ठा० १ उ। चित्राऽऽद्याश्चतस्रो दिक् कुमार्यः। आ० म० १ अ० १ खण्ड। आ० चू०।

रूपाऽऽद्या षड् दिशाकुमारिकाः–

छ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–रूवा, रूवंसा, सुरूवा, रूवावई, रूअकंता, रूवप्पभा। स्था० ६ ठा०।

रिष्टाऽऽदिष्वष्टसु कूटेष्वष्टौ नन्दोत्तराऽऽद्याः दिक्कुमार्य्यः–

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ० जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति। तं जहा–''णंदुत्तरा य णंदा य, आणंदा णंदिवद्धणा। विजया वेजयंती य, जयंती अपराभिवा ॥ १ ॥'' स्था० ८ ठा०। आ० म०। आ० चू०।

कनकाऽऽदिकूटेषु समाहाराऽऽद्यष्टौ दिक्कुमार्य्यः–

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ० जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति। तं जहा–''समाहारा सुप्पइन्ना, सुप्पबुद्धा जसोहरा। लच्छीवई सेसवई, चित्तगुत्ता वसुंधरा ॥ १ ॥'' स्था० ८ ठा०। आ० म०।

स्वस्तिकाऽऽदिकूटेष्विलादेव्याद्या अष्टौ दिक्कुमार्य्यः–

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ० जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति। तं जहा–''इलादेवी सुरादेवी, पुढवी पउमावई एगनासा णवमिया, सीया भद्दा य अट्ठमा ॥ १ ॥'' स्था० ८ ठा०। आ० म०। आ० चू०।

रत्नाऽऽदिकूटेष्वलम्बुषाऽऽद्या अष्टौ दिक्कुमार्य्यः–

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ० जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति। तं जहा–''अलं–बुसा मित्तकेसी, पुंडरी गीयवारुणी। आसा य सव्वगा चेव, उत्तराओ सिरी हिरी ॥ १ ॥'' स्था० ८ ठा०। आ० म०। आ० चू०।

अधोलोकवासिने भोगङ्कराऽऽद्या अष्टौ दिक्कुमार्यः–

अट्ठ अहोलोगवत्थव्वाओ दिसाकु मारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–''भोगंकरा भोगवती, सुभोगा भोगमालिणी। सुवच्छा वच्छमित्ता य, वारिसेणा बलाहगा ॥ १ ॥'' स्था० ८ ठा०। आ० म०।

ऊर्ध्वलोकवासिन्यो मेघङ्कराऽऽद्या अष्टौ दिक्कुमार्यः—

अट्ठ उड्ढलोगवत्थव्वाओ दिसाकु मारीमहत्तारियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—''मेहंकरा मेहवई, सुमेधा मेघमालिनी। तोयधारा विचित्ता य, पुप्फमाला अणिंदिया॥ १॥'' स्था० ८ ठा० । आ० म० ।

(ताश्च तीर्थकृज्जन्ममहोत्सवे आगता इति 'तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२७६ पृष्ठे द्रष्टव्याः) षट्पञ्चाशद्दिक्कन्यकानां कुमारीति संज्ञा कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्—अत्र भवनपतयः सर्वेऽपि प्रायःक्रीडाप्रिया भवन्तीति कुमारा उच्यन्ते, तथा एता दिक्कुमार्योऽपि भवनपतिवर्गे तद्वद्बोध्या इति। ३२५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

दिसागइंद पुं० (दिग्गजेन्द्र) भूमिधारणाय दिक्ष्ववस्थितेषु गजेषु, द्वी०।

जोयणसाहस्सीया, एए कूडा हवेति चत्तारि।
पुव्वाइयाऽऽणुपुव्वी, दिसागइंदाण ते होंति॥ १४१॥
पउमुत्तरे नीलवंतं, सुहत्थिया अंजणागिरी चेव।
एए दिसागइंदा, दिवड्ढपलिओवमट्ठितिया॥ १४२॥
पुव्वेण होइ विमलं, सयंपभे दक्खिणे दिसाभाए।
अवरे पुण पच्छिमओ, णिवुज्झोयं च उत्तरओ॥ १४३॥ द्वी०।

दिसाचक्कवाल न० (दिक्चक्रवाल) दिङ्मण्डले, तपोविशेषे च। एकत्र पारणके पूर्वस्यां दिशि यानि फलाऽऽदीनि तानादृत्य भुङ्क्ते, द्वितीये तु दक्षिणस्यामित्येवं दिक् चक्रवालेन तत्र तपःकर्म्मणि पारणकरणं तत्तपःकर्म दिक् चक्रवालमुच्यते। नि० १ श्रु० ३ वर्ग० ३ अ० । भ० ।

दिसाचर पुं० (दिक्चर) भगवच्छिष्येषु देशाटेषु, पार्श्वापत्तीयेष्वितिचूर्णिकारः। दिशायां चरन्ति यन्ति मन्यन्ते भगवतो वयं शिष्या इति दिक्चराः, देशाटा वा दिक्चरा भगवच्छिष्याः पार्श्वस्थीभूता इति। भ० १५ श०।

दिसाजत्तिय स्त्री० (दिग्यात्रा) देशान्तरगमने, उपा० १ अ०।

दिसाडाह पुं० (दिग्दाह) अन्यतमस्यां दिशि अधोऽन्धकारे उपरि च प्रकाशाऽऽत्मके दह्यमानमाहनगरप्रकाशकल्पे, भ० ३ श० ७ उ०। जी०। नि० चू०। आ० चू०। अनु०। व्य०। स्था०। दिग्दाहा वाच्यादिषु मण्डलेषु भवन् शस्त्राग्नि क्षुत्पीडाविधायी भवति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

दिसाणाग पुं० (दिङ्नाग) स्वनामख्याते बौद्धविदुषि, सम्म० १ काण्ड।

दिसाणुवाय पुं० (दिगनुपात) दिगनुसरणे, प्रज्ञा० ३ पद।

दिसादवेक्खा स्त्री० (दिक्चर) आचार्य्योपाध्यायाऽऽदिपरिवाराऽऽलम्बने, पञ्चा० ५ विव०।

दिसादाह पुं० (दिग्दाह) 'दिसाडाह' शब्दार्थे, भ० ३ श० ७ उ०।

दिसादि पुं० (दिगादि) मेरुमध्यवर्तिनि रुचके, मेरौ च। दिशामादिर्दिगादिः। तथाहि—रुचकाऽऽदिदिशां विदिशां च प्रभवो रुचकश्चाष्टप्रदेशाऽऽत्मको मेरुमध्यवर्ती, ततो मेरुरपि दिगादिरुच्यते। सू० प्र० ५ पाहु० । चं० प्र० ।

दिसापरिमाण न० (दिक्परिमाण) सर्वतोऽमुकदिशि वा इयदवधि गमनाऽऽदीनियमने, ध० २ अधि०।

दिसापोक्खि(ण) पुं० (दिक्प्रोक्षिण्) उदकेन दिशः प्रोक्ष्य ये फलपुष्पाऽऽदि यमुच्चवन्ति तादृशेषु तपस्विवानप्रस्थेषु, औ० नि० भ० आ० चू०।

दिसबंध पुं० (दिग्बन्ध) आचार्यत्वाऽऽदिलक्षणे दिशो बन्धे, ध० २ अधि०।

दिसावाल पुं० (दिक्पाल) दिशामधीश्वरेषु, वाच० । आ० म० ।

दिसामूढ पुं० (दिङ्मूढ) पूर्वस्यामपि पश्चिमा इत्याकारकज्ञानवति, ''दिसामोहो से जातो, अहवा मूढे दिसं पडुच्च।'' नि० चू० १६ उ०।

दिसामोह पुं० (दिङ्मोह) पूर्वस्यामपि पश्चिमा इत्याकारके ज्ञाने, ध० २ अधि० । नि० चू० ।

दिसायरिस पुं० (दिगाचार्य) गुर्वादिषु दिग्वर्तिसाधूनां सारणाऽऽदि कर्तरि, ही० १ प्रका० । पञ्चा० ।

दिसावलोअ पुं० (दिगवलोक) दिग्दर्शने ''सागरयिसरंखणट्ठा उड्ढमहो तिरियं च दिसावलोगो कायव्वो। नि० चू० ४ उ०।''

दिसावेरमण न० (दिग्विरमण) प्रथम गुणव्रतभेद, ध० २ अधि०।

दिसासुद्धि स्त्री० (दिक्शुद्धि) तत्कालोच्छलितशङ्खपणवाऽऽदिनिनादश्रवणपुण्यकुम्भभृङ्गारच्छत्रध्वजचामराऽऽद्यावलोकशुभगन्धाऽऽघ्राणाऽऽदिस्वभावायां स्वनामख्यातायां शुद्धौ, ध० २ अधि०।

दिसासोवत्थिय पुं० (दिक्स्वस्तिक) जम्बूद्वीपे मेरुपूर्वे रुचकपर्वतस्याष्टमे कूटे, स्था० ८ ठा०।

दिक्सौवस्तिक पुं० दिक्प्रोक्षके, दक्षिणाऽऽवर्ते स्वस्तिके च। जी० ३ प्रति० ४ उ० । औ० । जं० ।

दिसासोवत्थियासण न० (दिक्सौवस्तिकाऽऽसन) येषामधोभागे दिक्स्वस्तिका अलिखिताः सन्ति तेष्वासनविशेषेषु, जी० ३ प्रति० ४ उ० । जं० ।

दिसाहत्थिकूड पुं० (दिग्हस्तिकूट) दिक्षु हस्त्याकारेषु कूटेषु, जं०।

दिग्गजकूटवक्तव्यतामाह—

मंदरे णं भंते ! पव्वए भद्दसालवणे कइ दिसाहत्थिकूडा पण्णत्ता ? गोयमा ! अट्ठ दिसाहत्थिकूडा पण्णत्ता। तं जहा—
''पउमुत्तरे णीलवंते, सुहत्थी अंजणागिरी।
कुमुदे अ पलासे अ, वडेंसे रोअणगिरी॥ १॥''
कहि णं भंते ! मंदरे पव्वए भद्दसालवणे पउमुत्तरे णामं दिसाहत्थिकूडे पण्णत्ते ? गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लाए सीआए उत्तरेणं एत्थ णं पउमुत्तरे णामं दिसाहत्थिकूडे पण्णत्ते। पंच जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पंच गाउअसयाइं उव्वेहेणं, एवं विक्खंभपरिक्खेवो भाणियव्वो चुल्लहिमवंतसरिसो, पासायणं तं चेव, पउमुत्तरो देवो, रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं॥ १॥

एवं णीलवंतदिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपुरच्छिमेणं पुरच्छिमिल्लाए सीआए दक्खिणेण, एअस्स वि नीलवंतो देवो, रायहाणी दाहिणपुरच्छिमेणं ॥ २ ॥

एवं सुहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपुरच्छिमेणं दक्खिणिल्लाए सीओआए पुरच्छिमेणं, एअस्स वि सुहत्थी देवो, रायहाणी दाहिण पुरच्छिमेणं ॥३॥

एवं चेव अंजणागिरिदिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपच्चच्छिमेणं दक्खिणिल्लाए सीओआए पच्चच्छिमेणं एअस्स वि अंजणागिरी देवो, रायहाणी पच्चच्छिमेणं ॥ ४ ॥

एवं कुमुदे वि दिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमिल्लाए सीओआए दक्खिणेणं, एअस्स वि कुमुदो, रायहाणी दाहिणपच्चच्छिमेणं ५।

एवं पलासे वि दिसाहत्थिकूडे मंदरस्स उत्तरपच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमिल्लाए सीओआए उत्तरेणं, एयस्स णं वि पलासो देवो, रायहाणी उत्तरपच्चच्छिमेणं ६।

एवं वडेंसे वि दिसाहत्थिकूडे मंदरस्स उत्तरपच्चच्छिमे उत्तरिल्लाए सीआए महाणईए पच्चच्छिमेणं, एअस्स वि वमेंसो देवो, रायहाणी उत्तरपच्चच्छिमेणं ७।

एवं रोअणागिरी दिसाहत्थिकूडे मंदरस्स उत्तरपुरच्छिमेणं उत्तरिल्लाए सीआए पुरच्छिमेणं, एअस्स वि रोअणगिरी देवो, रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं, उत्तरिल्लाए सीआए पुरच्छिमेणं ८।

''मंदरे णं भंते ! पव्वए'' इत्यादि प्रश्नसूत्रे दिक्षु ऐशान्यादि-विदिक्-प्रभृतिषु हस्त्याकाराणि कूटानि दिग्हस्तिकूटानि, कूटशब्दवाच्यानामप्येषां पर्वतत्वव्यवहार ऋषभकूटप्रकरण इव ज्ञेयः। स्थानाङ्गेऽष्टस्थाने तु पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु हस्त्याकाराणि। उत्तरसूत्रे पद्मोत्तरेति श्लोकः। पद्मोत्तरः, नीलवान्, सुहस्ती, अञ्जनागिरिः। ''अञ्जनाऽऽदीनां गिरौ'' ॥ ३। २। ७७॥ (हैम०) इत्यादिना दीर्घः। कुमुदः, पलाशः, अवतंसः, रोचनागिरिः। अन्यत्र रोहणागिरिः, अत्रापि दीर्घत्वं प्राग्वत्। अथैषां दिग्व्यवस्थां पृच्छन्नाह–(कहि णमित्यादि) क्व भदन्त ! मेरोर्भद्रशालवने पद्मोत्तरो नाम दिग् हस्तिकूटः प्रज्ञप्तः ? गौतम ! मन्दरस्यैशान्यां पौरस्त्यायां मेरुतः पूर्वदिग्वर्तिन्याः शीतायाः उत्तरस्याम्। अनेनोत्तरदिग्वर्तिन्याः शीतायाः व्यवच्छेदः कृतः। अत्रान्तरे पद्मोत्तरो नाम दिग्हस्तिकूटोऽपि मेरुतः पञ्चाशद्योजनातिक्रम एव भवति, प्रासादजिनसमश्रेणिस्थितत्वात्। पञ्च योजनशतान्यूर्द्धोच्चत्वेन, पञ्च गव्यूतशतान्युद्वेधेन, एवमुच्चत्वन्यायेन विष्कम्भः। अत्र विभक्तिलोपः प्राकृतः। परिक्षेपश्च भणितव्यः। तथाहि–मूले पञ्चयोजनशतानि, मध्ये त्रीणि योजनशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि, उपरि अर्द्धतृतीयानि योजनशतानीत्येवरूपो विष्कम्भः, तथा मूले पञ्चदश योजनशतानि एकाशीत्यधिकानि, मध्ये एकादश योजनशतानि षडशीत्यधिकानि किञ्चिदूनानि, उपरितः सप्त योजनशतान्येकनवत्यधिकानि किञ्चिदूनानि इति परिक्षेपः। प्रासादाऽऽदीनां च एतद्वर्तिदेवसत्कानां तदेव प्रमाणमिति गम्यं, यत् क्षुद्रहिमवत्कूटपतिप्रासादस्येति। अत्र बहुवचननिर्देशो वक्ष्यमाणदिग्हस्तिकूटवर्त्तिप्रसादेष्वपि समानप्रमाणसूचनार्थम्। पद्मोत्तरदिग्हस्ती पद्मोत्तरोऽत्र देवः, तस्य राजधान्युत्तरपूर्वस्यामुत्तरविदिग्वर्त्तिकूटाधिपत्वादस्येति १। अथ शेषेषूक्तन्यायेन प्रदक्षिणाक्रमेण दर्शयन्नाह–''एवं नीलवंत'' इत्यादि व्यक्तं, नवरम् (एवमिति) पद्मोत्तरन्यायेन नीलवन्नाम्ना दिग्हस्तिकूट। मन्दरस्य दक्षिणपूर्वस्यां पौरस्त्यायाः दक्षिणस्यां, ततोऽयं प्राच्यजिनभवनाऽऽग्नेयप्रासादयोर्मध्ये ज्ञेयः। एतस्यापि नीलवान् देवः प्रभुः, तस्य राजधानी दक्षिणपूर्वस्यामिति २। ''एवं सुहत्थि'' इत्यादि व्यक्तं, नवरं दाक्षिणात्याया मेरुतो दक्षिणदिग्वर्तिन्याः शीतोदायः पूर्वतः। अनेन मेरुतः पश्चिमदिग्वर्त्तिन्याः शीतोदायाः व्यवच्छेदः कृतः, अत्रान्तरे सुहस्तिदिग्हस्तिकूटः। आग्नेयप्रासाददाक्षिणात्यजिनभवनमध्यवर्त्ती त्यर्थः। एतस्याऽपि सुहस्ती देवः, राजधानी तस्य दक्षिणपूर्वस्यां, नीलवतः सुहस्तिनोरेकस्यामेव दिशि राजधानीत्यर्थः ३। एवं समविदिग्हस्तिकूटाधिपयोरेकस्यां विदिशि राजधानीद्वयम् २ अग्रेऽपि भाव्यम्। ''एवं चेव'' इत्यादि व्यक्तं, नवरं दाक्षिणात्यजिनगृहनैर्ऋतप्रासादयोर्मध्ये इत्यर्थः ४। एवमित्यादि व्यक्तं, नवरं पाश्चात्यायाः पश्चिमाभिमुखं वहन्त्याः शीतोदाया दक्षिणस्यामिति नैर्ऋतप्रासादपाश्चात्यजिनभवनयोर्मध्यवर्तीत्यर्थः ५। एवमिति व्यक्तं, पाश्चात्यजिनभवनवायव्यप्रासादयोरन्तरे इत्यर्थः ६। ''एवं वडेंसे वि दिसाहत्थिकूडे'' इत्यादि गतार्थं, नवरमुत्तरायां मेरुत उत्तरदिग्वर्तिन्याः शीतायाः पश्चिमतः, अनेन पूर्वदिग्वर्त्तिन्याः शीताया व्यवच्छेदः कृतः, वायव्यप्रासादोत्तराहिभवनयोर्मध्यवर्तीत्यर्थः ७। ''एवं रोअणागिरी दिसाहत्थिकूडे'' इत्यादि व्यक्तं, नवरम् उत्तरायाः शीतायाः पूर्वतः, उत्तराहिजिनभवनेशानप्रासादयोरन्तरलो इत्यर्थः ८। एषु च बहुभिः पूर्वाऽऽचार्यैः शाश्वतजिनभवस्तोत्रेषु जिनभवनान्युच्यन्ते, इह तु सूत्रकृता नोक्तानि, तेन तत्त्वं केवलिनो विदन्ति। इत एवोक्तं रत्नशेखरसूरिभिः स्वोपज्ञक्षेत्रविचारे–''करिकूडं नइदहं, कुरुकंचण जमलसमपि इट्ठेसु। जिणभवणविसंवाओ, जो तं जाणंति गीअत्था ॥ १ ॥'' इति। अथैषां वापी चतुष्कप्रासादानां जिनभवनानां करिकूटानां च स्थाननियमने। अत्र वृद्धानां संप्रदायः। तथाहि–भद्रशालवने हि मेरोश्चतस्रोऽपि दिशो नदीद्वयप्रवाहैः रुद्धा अतो दिक्ष्वेव भवनानि भवन्ति, किं तु नदीतटनिकटस्थानि भवनानि, गजदन्तनिकटस्थाः प्रासादाः, भवनप्राग्भावित्वात्, शीतायाः, शीतोदाऽन्तरालेष्वष्टसु करिकूटाः, अत एव विशेषतो दर्शयतेमेरोरुत्तरपूर्वस्यामुत्तरकुरूणां बहिः शीताया उत्तरदिग्भागपञ्चाशद्योजनेभ्योऽपरः प्रासादः, तत्परिक्षेपिण्यश्चतस्रो वाप्यः। एवं शेषेष्वपि प्रासादेषु ज्ञेयम्। मेरोः पूर्वस्यां शीतायाः दक्षिणतः ५० योजनेभ्यः परतः सिद्धायतनं, मेरोर्दक्षिणपूर्वस्यां ५० योजनातिक्रमे देवकुरुणां बहिः शीतोदाया दक्षिणतः प्रासादः, पश्चिमायां ५० योजनातिक्रमे शीतोदाया उत्तरतः सिद्धायतनं, मेरोरपरस्यां ५० योजनान्यवगाह्य उत्तरकुरुणां बहिः शातोदायाः पश्चिमतः सिद्धायतनमिति। एतेषां चाष्टस्वन्तरेष्वष्टौ करिकूटा इति। जं० ४ वक्ष०। स्था०।

दिसिदेवया स्त्री० (दिग्देवता) इन्द्रादिषु, पञ्चा० ८ विव० । ध० ।

दिसिव्वय न० (दिग्व्रत) प्रथम गुणव्रतभेदे, आव ६ अ ।

साम्प्रतं तेषामेवाणुव्रतानां परिपालनाय भावभूतानि गुणव्रतान्यभिधीयन्ते। तानि पुनस्त्रीणि भवन्ति। तद्यथा–दिग्व्रतम् १, उपभोगपरिभोगे परिमाणम् २, अनर्थदण्डवर्जनमिति ३ । तत्राऽऽद्यगुणव्रतस्वरूपाभिधित्सयाऽऽह–

दिसिव्वए तिविहे पन्नते । तं जहा–उड्ढदिसिव्वए, अहोदिसिव्वए, तिरिअदिसिव्वए ॥ ३५ ॥

(दिसिव्वए तिविहे इत्यादि) दिशो ह्यनेकप्रकाराः शास्त्रे वर्णिताः, तत्र सूर्योपलक्षिता पूर्वा, शेषाश्च दक्षिणाऽऽदिकास्तनदनुक्रमेण द्रष्टव्याः । तत्र दिशासंबन्धि, दिक्षु वा व्रतम्–एतावत्सु पूर्वाऽऽदिदिग्विभागेषु मया गमनाऽऽद्यनुष्ठेयं, न परत इत्येवंभूतं दिग्व्रतम्। एतच्चोघतस्त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, तीर्थकरगणधरैः । तद्यथेति पूर्ववत् । ऊर्द्धदिक्, तत्संबन्धि तस्या वा व्रतम्–एतावती दिगूर्द्धपर्वताऽऽद्यारोहणावगाहनीया, न परत इत्येवंभूतमिति भावना। अधः दिगधोदिक्, तत्संबन्धि तस्या वा व्रतमधोदिग्व्रतम्–एतावमी दिगधः कूपाऽऽद्यवतरणादवगाहनीया, न परत इत्येवंभूतमिति हृदयम्। तिर्यग्दिशः पूर्वाऽऽदिकाः, तासां संबन्धि तासु वा व्रतं तिर्यग्दिग्व्रतम् एतावती दिक् पूर्वेणावगाहनीया, एतावती दक्षिणेनेत्यादि, न परत इत्येवंभूतेतिभावार्थः । अस्मिंश्च सत्यवगृहीतक्षेत्राद् बहिः स्थावरजङ्गमप्राणिगाचरो दण्डः परित्यक्तो भवतीति गुणः ।

इदमपि चातिचाररहितमनुपालनीयमतोऽस्यैवातिचारानभिधित्सुराह–

दिसिव्वयस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणिअव्वा, न समायरिअव्वा । तं जहा–उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कमे, अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे, तिरिअदिसिप्पमाणाइक्कमे, खेत्तवुड्ढी, सइअंतरधानं ॥ ३६ ॥

(दिसिव्वयस्स समणोवासएणमित्यादि) दिग्व्रतस्योक्तस्वरूपस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चतिधारा ज्ञातव्याः, न समाचरितव्याः । तद्यथा–ऊर्द्धदिग्व्रतप्रमाणातिक्रमः, यावत्प्रमाणं परिगृहीतं तस्यातिलङ्घनमित्यर्थः । एवमन्यत्रापि भावना कार्या । अधोदिक्प्रमाणातिक्रमः, तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रमः, क्षेत्रस्य वृद्धिः क्षेत्रवृद्धिरित्येकतो योजनशतपरिमाणमभिगृहीतमन्यतो दश योजनान्यभिगृहीतानि, तस्यां दिशि समुत्पन्ने कार्ये योजनशतमध्यादपनीयान्यानि दश योजनानि, तत्रैव सुबुद्ध्या प्रक्षिपति संबर्द्धयत्येकत इत्यर्थः । स्मृतेर्भ्रंशोऽन्तर्द्धानं स्मृत्यन्तर्द्धानम्–किं मया परिगृहीतं, कायां मर्यादया व्रतमित्येवमननुस्मरणमित्यर्थः । स्मृतिमूलं नियमानुष्ठानं, भ्रंशे नियमत एव नियमभ्रंश इत्यतिचारः । ''एत्थ य सामायारी–उड्ढं जं पमाणं गहियं, तस्स उवरि पव्वयसिहरे रुक्खे वा मक्कभा य पक्खी वा सावयस्स वत्थं आभरणं वा गेण्हिउं पमाणाइरेगं उवरिभूमिं वच्चेज्जा, तत्थ से न कप्पइ गंतुं, जाहे तं पडियं अन्नेण वा आणीयं ताहे कप्पइ। एयं पुण अट्ठावयहेमकूडसम्मेयसुपइट्ठउज्जंतचित्तकूडअंजणगमंदराऽऽदिसु पव्वएसु भवेज्जा । एवं अहे कूवियाऽऽदिसु विभासा । तिरियं जं पमाणं गहियं, तं तिविहेण वि तिकरणेण णातिक्कमियव्वं । खेत्तबुड्ढी सावगेण न कायव्वा । कहं ? सो पुव्वेण भंमगं गहाय गओ जाव तं परिमाणं, ततो परेण भंडं अग्घइ त्ति काउं अवरेण जाणि जोयणाणि ताणि पुव्वदिसाए संछुहइ, एसा खेत्तबुड्ढी, से न कप्पइ काउं, सिय त्ति बोलीणो होज्जा, णियत्तियव्वं विस्सरिए वा न गंतव्वं, अन्नो वि न विसज्जियव्वो, जे अण्णाणाए को वि गओ होज्जा, जं विसुमरिय खेत्तगत्तेण लद्धं, तन्न गेण्हेज्जति '' ॥ ३६ ॥ आव० ६ अ० । ध० । उपा० । श्रा० । पञ्चा० । ध० २० । आ० चू० ।

दिसिविभाय पुं० (दिग्विभाग) ईशानाऽऽदिषु कोणेषु, सू०प्र०१ पाहु० । रा० ।

दिस्स अव्य० (दृश्य) उत्प्रेक्ष्यत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

दिस्समाण त्रि० (दिश्यमान) उपदिश्माने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

*** दृश्यमान** त्रि० चक्षुषा उपलभ्यमाने, आव० ५ अ० । आचा० ।

दिस्सा अव्य० (दृष्टा) उत्प्रेक्ष्यत्यर्थे, भ० १८ श० ८ उ० ।

दिह धा० (दिह) उपचये, अनु० । अदा–उभ–सक–अनिट् । देग्धि, दिग्धे । अधिक्षत् । अदिग्ध । वाच० ।

दिहागय त्रि० (द्विधागत) **''सर्वत्र लवरामचन्द्र''** ॥ ८ । २ । ७९ ॥ इति वलोपः । धस्य हः । द्विप्रकारं प्राप्ते, प्रा० द्वं० १ पाद ।

दिहि स्त्री० (धृति) 'दिहि' इत्येतदर्थं तु **''धृतेर्दिहिः''** ॥ ८ । २ । १३१ । इति वक्ष्याम इति धृतेर्दिहिः । प्रा' १ पाद । **''धृतेर्दिहि''** ॥ ८ । २ । १३१ ॥ इति धृतिशब्दस्य दिहिरित्यादेशे वा । 'दिहि । धिई ।' प्रा पाद । स्त्री । धृ–क्तिप् । तुष्टौ, धारणे, योगे विष्कम्भावधिके अष्टमे योग, सुखे, धारणायाम् अवसादेऽपि शरीराऽऽदोः स्तम्भनशक्तौ, अष्टादशाक्षरपादके छन्दोभेदे, अष्टादशसङ्ख्यायां च । वाच० ।

दीण त्रि० (दीन) दी–क्त, तस्य नः । दुःखिते, भीते च । वाच० । रङ्के, पञ्चा० ६ विव० । दैन्यवति, विपा० १ श्रु० २ अ० । स्या० । क्षीणसकलपुरुषार्थशक्तौ, द्वा० १२ द्वा० । पं० व० । करुणाऽऽस्पदे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । दुःस्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । प्रश्न० । अणु० । शृगालत्वविहारिणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० । ''दीणाभासं दीणे, गतिं दीणजंपिऊ पुरिसं । कं पेच्छसि नंदंतं, दीणाए दिट्ठिए तत्थ ॥ १ ॥'' व्य० ३ उ० ।

दीणजाइ त्रि० (दिनजाति) दीना वा हीना जातिरस्येति दीनजातिः । हीनजातौ, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणदाण न० (दी॰ दान) कृपणेभ्योऽनुकम्पावितरणे, पञ्चा० ७ विव० ।

दीणदिट्ठि न० (दीनदृष्टि) विच्छायचक्षुषि, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपण्ण पुं० (दीनप्रज्ञ) दीनसूक्ष्मार्थाऽऽलोचने, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपरक्कम पुं० (दीनपराक्रम) हीनपुरुशकारे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपरिणय पुं० (दीनपरिणत) अदीनः सन् दीनतया परिणतो यस्तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपरियाय पुं० (दीनपर्य्याय) दीनस्येव पर्य्यायोऽवस्था प्रव्रज्याऽऽदिलक्षणो यस्य तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ०।

दीणपरिवाल पुं० (दीनपरिवार) दीनः परिवारो यस्य तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ०।

दीणभावया स्त्री० (दीनभावता) प्रत्यनीकापमानाऽऽदौ दैन्ये, दीनो भावो मानसाध्यवसायो यस्यासौ दीनभावो, दीनभावस्य भावो दीनभावता। आतु०।

दीणभासि(ण्) पुं० (दीनभाषिण्) दीनवद् भाषणशीले, दीनवद्दीनं वा भाषते। स्था० ४ ठा० २ उ०।

दीणमण पुं० (दीनमनस्) स्वभावत एवानुद्धचेतसि, स्था० ४ ठा० २ उ०।

दीणया अव्य० (दीनता) दैन्ये, स्था० ४ ठा० २ उ०।

दीणववहार पुं० (दीनव्यवहार) दीनान्योदानप्रतिदानाऽऽदिक्रिये, हीनविवादे च। स्था० ४ ठा० २ उ०।

दीणविति पुं० (दीनवृत्ति) दीनस्येव वृत्तिर्वर्तनं जीविका यस्य तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ०।

दीणविमण(स्) त्रि० (दीनविमनस्) दीनो दैन्यवान् विमनाः शून्यचित्तः, दीनश्चासौ विमनाश्चदीनविमनाः। दैन्यवच्छून्यचित्ते, विपा० १ श्रु० २ अ०।

दीणविमणवयण त्रि० (दीनविमनोवदन) दीनस्येव विमनस इव वदनं यस्य तस्मिन्, भ० ६ श० ३३ उ०। विपा०।

दीणसंकप्प त्रि० (दीनसंकल्प) उत्तमचित्तस्वाभाव्येऽपि कथञ्चिद्दीनविमर्शे, स्था० ४ ठा० २ उ०।

दीणसीलसमायार पुं० (दीनशीलसमाचार) दीनधर्म्मानुष्ठाने, स्था० ४ ठा० २ उ०।

दीणसेवि(ण्) पुं० (दीनसेविन्) दीनं नायकं सेवते यस्तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ०।

दीणाणुकंपण न० (दीनानुकम्पन) निःस्वान्धबधिरपङ्गुरोगाऽऽर्तप्रभृतिष्वनुकम्पाकरणे, ध० २ अधि०।

दीणार पुं०न० (दीनार) दी–अरक् नृट् च। स्वर्णभूषणे, मुद्रायां, सुवर्णकर्षद्वये, निष्कमाने, वाच०। आचा०। आ० क०। औ०। नि० चू०। आ० म०।

दीणारमालिया स्त्री० (दीनारमालिका) दीनाराऽऽकृतिमालायाम्, औ०।

दीणोभासी पुं० [दीनावभासि(षि)न्] दीनवदवभासते प्रतिभाति, अवभाषते वा याचत इत्येवंशीले, स्था० ४ ठा० २ उ०।

दीप्प त्रि० (दीप्र) भास्वरे, स्था० ४ ठा०।

दीप्पा स्त्री० (दीप्रा) दीपप्रभायां, योगदृष्टौ च। द्वा० २० द्वा०। (अस्या व्याख्या 'दिप्पा' शब्देऽनुपदमेव २५२० पृष्ठे गता)

दीव पुं० (दीप) दीप–कः। प्रदीपे, दर्श० १ तत्त्व। षो०। नि० चू०। दश०। तैलाऽऽदिस्नेहयोगेन वर्त्तिकादाहकशिखाऽन्विते, वाच०। प्रकाशके वस्तुनि, स्था० १० ठा०। दीपशिखायाम्, स० १० सम०। दीपनक्रियाविकल्पे च। विशे०। त्रिविधा दीपाः–अवलम्बनदीपाः, शृङ्खलाबद्धा इत्यर्थः। उत्कम्पनदीपा ऊर्द्धदण्डवन्तः। पञ्जरदीपा अभ्रपटलाऽऽदिपञ्जरयुक्ताः। त्रयोऽप्येते त्रिविधाः सुवर्णरूप्यतदुभयत्वादिति। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। 'दीपी' दीप्तौ। दीपयति प्रकाशयतीति दीपः। भावतः श्रुतज्ञानलाभे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। (''संकट्ठसंभवम्मी, अन्नम्मि वि असइ सरिसछारेण। अत्थाइज्जइ पच्छा, सारिस्से दीवगे उ विही॥ २८॥'' इत्यादि 'परिट्ठवण' शब्दे वक्ष्यते) दीपाद्दीपशतं प्रदीप्यते ज्वलति, सोऽपि प्रदीप्यते, दीपो न पुनरन्यान्यदीपोत्पत्तावपि क्षीयते। उत्त० १ अ०। (दीपाऽऽदिभिर्जिनपूजा, तत्फलाऽदिकं च 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२८६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

*** द्वीप** न० द्विर्गता आपोऽत्र। अच् आदेरत इच्च। वाच०। द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां स्थानदातृत्वाहाराऽऽद्युपष्टम्भहेतुलक्षणाभ्यां प्राणिनः पान्तीहज द्वीपाः। जन्त्वावासभूतविशेषे क्षेत्रविशेषे, अनु०। जलवृते भूदेशे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। प्रज्ञा०। द्वीपोऽपि पूर्ववच्चतुर्धातत्र नामद्वीपोयस्य द्वीप इति नाम। स्थापनाद्वीपोया द्वीपस्य स्थापना। यथा –चित्रलिखितजम्बूद्वीपाऽऽदिः। द्रव्यद्वीपो द्विधा–आगमतो, नोआगमतश्च। तत्राऽऽगमतस्तदर्थज्ञातानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरद्रव्यद्वीपौ सुबोधौ। तद्व्यतिरिक्तद्रव्यद्वीपो द्विधासंदीनः, असंदीनश्च। तत्र यो हि पक्षमासाऽऽदावुदकेन प्लाव्यते स संदीनो, विपरीतस्त्वसंदीनः–सिंहलद्वीपाऽऽदिः। भावद्वीपोऽपि द्विधा आगमतो, नोआगमतश्च। तत्राऽऽगमतस्तदर्थज्ञातोपयुक्तः। नोआगमतस्तु साधुः। कथमित्याह–यथाहि नदीसमुद्रबहुमध्यप्रदेशे सांयात्रिका द्रव्यद्वीपमवाप्याऽऽश्वसन्ति, तथा पारातीतसंसारपारावारान्तरचारखेदभेदस्विनो देहिनः परमपरोपकारैकप्रवृत्तं साधुं समवाप्याऽऽश्वसन्ति, अतो भावतः परामार्थतो द्वीपो भावद्वीप उच्यते। सोऽपि संदीनासंदीनभेदाद् द्विधा–तत्र परीषहोपसर्गाऽऽद्यैः क्षोभ्यः संदीनः, तदितरस्त्व-संदीनः। अथवा–भावद्वीपः सम्यक्त्वं, तच्च प्रतिपातित्वा-दौपशमिकं, क्षायोपशमिकं च। संदीनो भावद्वीपः, क्षायिकं चासंदीन इति। ननु क्वचित् तत्पर्यायाऽऽपन्नं वस्तु भावनिक्षेपे निक्षिप्यते, यथाऽत्रैव जम्बूपर्यायमनुभवन् भावजम्बूत्वेन निक्षिप्तः। क्वचित्तदन्यपर्यायाऽऽपन्नं वस्तु भावनिक्षेपे निक्षिप्यते, यथाऽत्रैव भावद्वीपपर्यायमनुभवन् साधुः सम्यक्त्वं चेति परस्परमुदाहरणवैषम्यं कथं युक्तिमदिति ? अत्रोच्यते–वस्तुगत्या तत्पर्यायाऽऽधारतया भवनं भाव इति कृत्वा तत्पर्यायधार्यं वस्तु भावनिक्षेपे निक्षिप्यते। यत्तु तद्वस्तु भावनिक्षेपे निक्षिप्यते तत्तद्गतभावगतगुणाऽऽरोपादौपचारिकमिति न दोषः, विवक्षाया विचित्रत्वादिति। प्रस्तुते च–द्विधा गता लवणोदस्याऽऽपोऽस्मादिति। अत्यर्थवशाद् दीपत्वं, पृथिव्यादिपरिणामरूपत्वाद् द्रव्यद्वीपत्वं, तत्र च द्रव्यद्वीपेनात्राधिकारः, तत्राप्यसंदीनेनेति। अथ वेत्थं नामाऽऽदिभेदाद् द्वीपश्चतुर्द्धानामद्वीपोद्वीप इति नाम, नामनामवतोरभेदोपचारात् स्थापनाद्वीपो द्वीपस्य स्थालवलयाऽऽद्याकारः। द्रव्यद्वीपो–द्वीपोऽऽरम्भकद्रव्याणि पृथिव्यादीनि, तदात्मकत्वाद् द्वीपानाम जं०। भावद्वीपस्तु स्थालाद्याकृतिमत् स्थलाऽऽत्मकं सर्वतः समुद्रजलप्लावितं क्षेत्रखण्डम्। जं० १ वक्ष०। स च द्रव्यभावभेदाद् द्विधा–तत्र द्रव्यद्वीप आश्वासद्वीपः, आश्वास्यतेऽस्मिन्नित्याश्वासः, स चासौ द्वीपश्चाऽऽश्वासद्वीपः। यदिवाश्वसनमाश्वासः, आश्वासाय द्वीप आश्वासद्वीप।, तत्र नदीसमुद्रबहुमध्यप्रदेशे भिन्नबोधिस्थाऽऽदयस्तमवाप्याऽऽश्वसन्ति। असावपि द्वेधा–संदीनो, विपरीतस्त्व संदीनः, सिंहलद्वीपाऽऽदिः यथाहि सांयत्रिकास्तं द्वीपमसंदीनमुद–

न्वदादेरुत्तितीर्षवः समवाप्याश्वसन्त्येवं तं भावसंधानायोत्थितं साधुमवाप्यापरे प्राणिनः समाश्वसन्ति। यदि वा दीप इति प्रकाशदीपः प्रकाशाय दीपः प्रकाशदीपः, स चाऽऽदित्यचन्द्रमण्यादिरसंदीनः, अपरस्तु विद्युदुल्काऽऽदिः संदीनः। यदि वा प्रचुरेनधनतया विवक्षितकालावस्थाय्यसंदीनो, विपरितस्तु संदीन इति। यथा ह्यसौ स्फुटावेदनतो हेयोपादेयहानोपादानवतां निमित्तभावमुपयाति तथा क्षचित्समुद्राऽऽद्यन्तर्वर्तिनामाश्वासकारि च भवति, एवं ज्ञानसंधानायोत्थितः परीषहोपसर्गाक्षोभ्यतयाऽसंदीनः साधुर्विशिष्टोपदेशदानतो ऽपरेषामुपकारायेति। अपरे भावद्वीप, भावदीपं चान्यथा व्याचक्षते। तद्यथा–भावद्वीपः सम्यक्त्वं, तच्च प्रतिपातित्वादौपशमिकं, क्षायोपशमिकं च। संदीनो भावद्वीपः, क्षायिकं त्वसंदीन इति। तं द्विविधमप्यवाप्य परीतसंसारत्वात्प्राणिन आश्वासन्ति। भावदीपस्तु संदीनः श्रुतज्ञानम्, असंदीनस्तु केवलमिति। तच्चावाप्य प्राणिनोऽवश्य-माश्वासन्त्येवेति। आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०। समुद्रान्तः पतितस्य जन्तोर्जलकल्लोलाऽऽकुलितस्य मुमूर्षारतिश्रान्तस्य विश्रामहेतौ, सम्यक्त्वाऽऽदिके संसारभ्रमणविश्रामहेतौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

(जम्बूद्वीपाऽऽदीनां गणना 'आणुपुव्वी' शब्दे द्वितीयभागे १४७ पृष्ठे गता) (जम्बूद्वीपनाम्ना कियन्तो द्वीपा इति 'जंबूद्दीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३७६ पृष्ठे गताः) (अन्तर्द्वीपा 'अंतरदीव' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे उक्ताः)

दीवअ (देशी) कृकलासे, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा।

दीवंग पुं० (द्वीपांग) सुषमसुषमाजाते चतुर्थे कल्पवृक्षभेदे, दीपः प्रकाशकं वस्तु, तत्करणत्वाद्दीपाङ्गः। स्था० १० ठा०। प्रश्न०। यथेह स्निग्धं प्रज्वलन्त्यः काञ्चनमय्यो दीपिका उद्द्योतं कुर्वाणा दृश्यन्ते तद्वद् द्वीपाङ्गो विस्रसापरिणतः प्रकृष्टोद्द्योतेन सर्वमुद्द्योतयन् वर्तते। तं०।

दीवकलिया स्त्री० (दीपकलिका) दीपशिखायाम्, अनु०।

दीवकुमार पुं० (दीपकुमार) भूषणनियुक्तसिंहरूपधरेषु भवनवासिविशेषेषु, प्रज्ञा० २ पद। स्था०। औ०। भ०।

द्वीपकुमाराः सर्वे समाहारा इत्यादिवक्तव्यता–

दीवकुमारां णं भंते ! सव्वे समाहारा, सव्वे समुस्सासनिस्सासा ? णो इणट्ठे समट्ठे। एवं जहा पढमसए वितियनुद्देसए दीवकुमाराणं वत्तव्वया तहेव० जाव समाउया समुस्सासनिस्सासा। एवं णागाऽवि। दीवकुमारा णं भंते ! कइ लेस्साओ पण्णताओ ? गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ पण्णत्ताओ ? तं जहा–कण्हलेस्सा० जाव तेउलेस्सा। एएसि णं भंते ! दीवकुमाराणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिं तो जाव विसेसाहिया ? गोयमा ! सट्ठवत्थोवा दीवकुमारा तेउलेस्सा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा, णीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया। एएसि णं भंते ! दीवकुमाराणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण, य कयरे कयरेहिंतो अप्पड्ढिया वा, महिड्ढिया वा ? गोयमा ! कण्हलेस्सेहिंतो णीललेस्सा महिड्ढिया० जाव सव्वमहिड्ढिया वा तेनुलेस्सा। सेवं भंते ! भंते त्ति जाव विहरइ॥ भ० १६ श० १३ उ०।

दीवकुमारावास पुं० (द्वीपकुमाराऽऽवास) द्वीपकुमाराणां भवनाऽऽवासे, ''छावत्तरिं दीवकुमाराणं वाससयसहस्सा पण्णत्ता।'' स० ७५ सम०।

दीवग पुं० (दीपक) दीप–स्वार्थे कन्। प्रदीपे, आम० १ अ० २ खण्ड। श्येनपक्षिणि, रागभेदे च। वाच०। सम्यक्त्वभेदे, स्वयं तत्त्वश्रद्धानरहित एव मिथ्यादृष्टिः परस्य धर्म्मकथाऽऽदिभिस्तत्त्वश्रद्धानं दीपयति प्रकाशति, तत्सम्बन्धि सम्यक्त्वं दीपकमुच्यते। विशे०।

सयमिह मिच्छदिट्ठि, धम्मकहाईहि दीवइ परस्स।
सम्मत्तमिणं दीवगं, कारणफलभावओ णेयं॥ ५०॥

स्वयमिह मिथ्यादृष्टिरभव्यो भव्यो वा कश्चिदङ्गारमर्दकवत्। अथ च–धर्म्मकथाऽऽदिभिर्धर्मकथया मातृस्थानानुष्ठाननेनातिशयेन वा केनचिद्दीपयतीति प्रकाशयति परस्य श्रोतुः सम्यक्त्वमिदं व्यञ्जकम्। आह–मिथ्यादृष्टेः सम्यक्त्ववमिति विरोधः ? सत्यम्, किं तु कारणफलभावतो ज्ञेयं–तस्य हि मिथ्यादृष्टेरपि यः परिणामः स खलु प्रतिपत्तृसम्यक्त्वस्य कारणभावं प्रतिपद्यते, तद्भावभावित्वात्तस्य, अतः कारण एव कार्योपचारात्सम्यक्त्वाविरोधः, यथाऽऽयुर्घृतमिति॥ ५०॥ श्रा०। स्थवीपुरनामनगराद् बहिःस्थेःसवनामख्याते उद्याने, उत्त० ३ अ०। विशे०। आ० म०। आ० चू०। आ० क०। कुङ्कुमे, अर्थालङ्कार भेदे च। न० वाच०। दीपयति–णिच्–एवुल्। यमान्याम्, स्त्री०। कार्यप्रकाशके, कुशले च। त्रि०। स्त्रियां टाप्, अत इत्वम्। वाच०।

दीवचंद पुं० (दीपचन्द्र) ज्ञानधर्म्माऽऽख्यपाठकशिष्ये स्वनामख्याते पाठके, अष्ट० ३२ अष्ट०।

दीवचंपय न० (दीपचम्पक) दीपस्थगनके, भ० ८ श० ६ उ०। रा०।

दीवचंवग न० (दीपचम्पक) 'दीवचंपय' शब्दार्थे, भ० ८ श० ६ उ०।

दीवण पुं० त्रि० (दीपन) प्रकाशने, वाच। ओघ। दीपनं करोति कथयतीत्यर्थे, बृ० १ उ० २ प्रक०।

दीवणिज्ज त्रि० (दीपनीय) दीपयति जठराग्निमिति दीपनीयः, बाहुलकात्कर्त्तर्य्यनीयप्रत्ययः। अग्निवृद्धिकरे, जी० ३ प्रति० ४ उ०। स्था०। ज्ञा०। प्रज्ञा०।

दीवमं पुं० (दीव्यत्) क्रीमति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

दीवयंत पुं० (दीपयत्) शोभयति, कल्प० २ क्षण०।

दीवय पुं० (द्वीपक) चित्रके, जी० १ प्रति०।

दीववंदिर न० (द्वीपवन्दिर) स्वनामख्याते श्रावकप्रधाने नगरे, पं० व० ४ द्वार।

दीवसमुद्द पुं० (दीपसमुद्र) जम्बूद्वीपाऽऽदिलवणसमुद्राऽऽदिषु, जी०।

द्वीपसमुद्रवक्तव्यातामाह–

कहि णं भंते ! दीवसमुद्दा, केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा, के महालया णं भंते ! दीवसमुद्दा, किंसंठिया णं भंते ! दीवसमुद्दा किमगारभावमायरा णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता ? गोयमा ! जंबुद्दीवा दीवा, ल–

वणादिया समुद्दा, संठाणतो एकविहिविह णा, वित्थारतो अणेगविहिविहाणा–दुगुणा दुगुणा पडुप्पाएमाणा पडुप्पाए–माणा पवित्थरमाणा पवित्थरमाणा ओभासमाणवीइया बहु–उप्पलपउमकुमुदणलिणसुभगसोगंधियपोंडरीयमहापोंडरी–यसतपत्तसहस्सपत्तयफुल्लकेसरोवचिया, पत्तेयं पत्तेयं पउ–मवरवेइया परिक्खित्ता, पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता अस्सिं तिरियलोए असंखेज्जा दीवसमुद्दा सयंभूरमणएज्जव–साणा पण्णत्ता समणाउसो !

(कहि णं भंते ! दीवसमुद्दा इत्यादि) क्व कस्मिन्, णमिति वाक्या–लङ्कारे, भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः? अनेन द्वीपसमुद्राणामवस्थानं पृष्टम् । (केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा इति) कियन्तः किंपरिसंख्याकाः, भदन्त ! द्वीपसमुद्राः? अनेन द्वीपसमुद्राणां संख्यानं पृष्टम् । (के महालया णं भंते ! दीवसमुद्दा इति) किं महानालय आश्रयो व्याप्यक्षेत्ररूपो येषां ते महालयाः, किंप्रमाणा महालयाः, णमिति प्राग्वत् । द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः? किंप्रमाणं द्वीपसमुद्राणां महत्वमिति पाठः । एतेन द्वीपसमुद्राणामायामाऽऽदिपरिमाणं पृष्टम् । तथा–(किंसंठिया णं भंते ! दीवसमुद्दा इति) किं संस्थितं संस्थानं येषां ते किंसंस्थिताः, णमिति पूर्ववत् । भदन्त ! द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः? अनेन संस्थानं पृच्छ । (किमा–गारभावपडोयारा णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता इति) आकारभावः स्वरूपविशेषः, कस्याऽऽकारभावस्य प्रत्यवतारो येषां ते किमाकारभाव–प्रत्यवतारः । बहुलग्रहणाद्वैयधिकरण्येऽपि समासः । णमिति पूर्ववत् । द्वीपसमुद्राः ? किं स्वरूपं द्वीपसमुद्राणामिति भावः । अनेन स्वरूपविशेषविषयः प्रश्नः कृतः । भगवानाह–(गोयमेत्यादि) गौतम ! जम्बूद्वीपाऽऽदयो द्वीपाः, लवणाऽऽदिका लवणसमुद्राऽऽदिकाः समुद्राः, अनेन द्वीपानां समुद्राणां चाऽऽदिरुक्तः । एतच्चापृष्टमपि भगवता कथित–मुत्तरत्रोपयोगित्वात्, गुणवते शिष्यायापृष्टमपि कथनीयमिति ख्यापनार्थं च । (संठाणतो इत्यादि) संस्थानतः संस्थानमाश्रित्य (एगविहिविहाणा इति) एकविधि एकप्रकारं विधानं येषां ते एकविधिविधानाः, एकस्वरूपा इति भावः । सर्वेषां वृत्तसंस्थानसंस्थितत्वात् । विस्तरतो विस्ता–रमधिकृत्य पुनरनेकविधिविधानाः, अनेकविधानि अनेकप्रका–राणि विधानानि येषां ते तथा, विस्तारमधिकृत्य नानारूपा इत्यर्थः । तदेव नानारूपत्वमुपदर्शयति–(दुगुणा दुगुणा पडुप्पाएमाणा पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा पवित्थरमाणा इति) द्विगुणं द्विगुणं यथा भवति एवं प्रत्युत्पद्यमानाः प्रत्युत्पद्यमानाः, गुण्यमाना इत्यर्थः । प्रविस्तरन्तः प्रविस्तरन्तः, प्रकर्षेण विस्तारं गच्छन्तः । तथाहि–जम्बूद्वीप एकं लक्षं, लवणसमुद्रो द्वे लक्षे, धातकीखण्डश्चत्वारि लक्षाणीत्यादि । (ओभास–माणवीइया इति) अवभासमाना वीचयः कलोल्ला येषां तेऽवभासमान–वीचयः । इदं विशेषणं समुद्राणां प्रतीतमेव, द्वीपानामपि वेदितव्यम्, तेष्वपि ह्रदनदीतडागाऽऽदिषु कल्लोलसंभवात् । तथा बहुभिरुत्पलपद्मकुमुदन–लिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रैः (फुल्ल त्ति) प्रफुल्लैर्विकसितैः (केसरे त्ति) केसरोपलक्षितैरुपचिता उपचित–शोभाका बहुत्पलपद्मकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहा–पुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रप्रफुल्लकेसरोपचिताः, तत्र उत्पलं गर्दभकं, पद्मं सूर्यविकाशि, कुमुदं चन्द्रविकाशि, नलिनमीषन्नक्तपद्मं, सुभगं पद्म–विशेषः, सौगन्धिकं कह्लारं, पुण्डरीकं शताम्बुजं, तदेव बृहत् महापुण्ड–रीकं, शतपत्रसहस्रपत्रे पद्मविशेषौ पत्रसंख्याकृतभेदौ । (पत्तेयं पत्तेयमिति) प्रतिशब्दोऽत्राभिमुख्ये, ''लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये'' ॥२।१।१४॥ इति च समासः, ततो वीप्साविवक्षायां प्रत्येकशब्दस्य निर्वचनं, पद्मवरवेदिका परिक्षिप्ताः, प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डपरिक्षिप्ताश्च । (सयंभू–रमणपज्जवसाणा इति) जम्बूद्वीपाऽऽदयो द्वीपाः स्वयंभूरमणद्वीपपर्य–वसानाः– लवणसमुद्राऽऽदयः स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यवसानाः । अस्मिन् तिर्य–ग्लोके यत्र वयं स्थिता असंख्येया द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः । हे श्रमण! हेआयुष्मन् ! इह अस्मिन् ''तिरियलोए'' इत्यनेन संस्थानमुक्तम् असंख्येया इत्यनेन संख्यानम्, ''दुगुणा दुगुणा'' इत्यादिना महत्त्वम्, ''संठाणतो'' इत्यादिना संस्थानम् । जी०३ प्रति०४ उ०।

कियन्ति द्वीपसमुद्राणां नामधेयानीति भगवानाह–

केवतिया णं भंते ! दीवसमुद्दा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता ? गोयमा! जावइया लोगे सुभा नामा सुभा वन्ना०जाव सुभा फासा, एवतिया दीवसमुद्दा णामधेज्जेहिं पण्णत्ता ।

गौतम ! यावन्ति लोके सामान्यतः शुभानि नामानि शङ्ख चक्रस्वस्ति–ककलशश्रीवत्साऽऽदीनि, शुभाः वर्णाः, शुभा गन्धाः, शुभा रसाः, शुभाः स्पर्शाः–शुभवर्णनामानि, शुभगन्धनामानि, शुभरसनामानि, शुभस्पर्श–नामानि च, एतावन्तो द्वीपसमुद्रा नामधेयैः प्रज्ञप्ताः, एतावन्ति द्वीपस–मुद्राणां नामधेयानीति भावः ।

सागरोपमप्रमाणतो द्वीपसमुद्रपरिमाणमाह–

केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा उद्धारसमएणं पण्णत्ता ? गोयमा! जावइया अड्ढाइज्जाइं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया, एवतिया दीवसमुद्दा उद्धारसमएणं पण्णत्ता ।

(केवइया णं भंते ! इत्यादि) कियन्तो भदन्त ! द्वीपसमुद्रा उद्धा–रसमयेन उद्धारपल्योपमसागरोपमप्रामाणेन प्रज्ञप्ता? भगवानाह–गौतम! यावन्तोऽर्द्धतृतीयानामुद्धारसागरोपमाणामुद्धारसमया एकैकसूक्ष्म–बालाग्रापहारसमयाः, एतावन्तो द्वीपसमुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ताः । उक्तं च– ''उद्धारसागराणं, अड्ढाइज्जाण जत्तिया समया । दुगुणा दुगुणपवित्थर–दीवोदहिरज्जु एवइया ॥१॥''

दीवसमुद्दा णं भंते ! किं पुढवीपरिणामा,आउपरिणामा, जीवपरिणामा, पोग्गलपरिणामा ? गोयमा ! पुढविपरिमाणा वि, आउपरिणामा वि, जीवपरिणामा वि, पोग्गलपरिणामा वि ॥

(दीवसमुद्दा णं भंते ! इत्यादि) द्वीपसमुद्राः, णमिति पूर्ववत् । भदन्त ! पृथिवीपरिणामा अप्परिणामाः ? भगवानाह–गौतम ! पृथिवीपरिणामा अपि अप्परिणामा अपि, पृथिव्य एव जीवपुद्–गलपरिणामाऽऽत्मकत्वात् सर्वद्वीपसमुद्राणाम् ।

दीवसमुद्देसु णं भंते ! सव्वपाणा सव्वभूया सव्वजीवा सव्वसत्ता पुढविकाइयत्ताए०जाव तसकाइयत्ताए उववण्ण–पुव्वा? हंता गोयमा ! असति अदुवा अणंतखुत्तो, इति दीव–समुद्दा संमत्ता ।

(दीवसमुद्देसु णं भंते ! सव्वपाणा सव्वभूया इत्यादि) द्वीपसमुद्रेषु, णमिति पूर्ववत्, सर्वेष्विति गम्यते। भदन्त ! सर्वे प्राणा द्वीन्द्रियाऽऽदयः, सर्वे भूताः तरवः, सर्वे जीवाः पञ्चेन्द्रियाः, सर्वे सत्त्वाः पृथिव्यादय उत्पन्नपूर्वाः ? भगवानाह–गौतम ! असकृदुत्पन्नपूर्वाः। अथवा–अनन्तकृत्वः, सर्वेषामपि सांव्यवहारिकराश्यन्तर्गतानां जीवानां सर्वेषु स्थानेषु प्रायोऽनन्तशः उत्पादात्॥ जी०३ प्रति० ४ उ०।

द्वीपसमुद्राणामुच्चत्वम्–

सव्वे वि णं दीवसमुद्दा दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता।

''सव्वे वि'' इत्यादि सुगमं, नवरमुद्वेधम्–''ओंडत्तं ति भणियं होइ।'' द्वीपानाम् ''ओंडत्तणाभावे वि'' अधोदिशि सहस्रं यावद् द्वीपव्यपदेशः, जम्बूद्वीपे तु पश्चिमविदेहे जगतीप्रत्यासत्तौ ''ओंडतमवि अत्थि त्ति।'' स्था०१० ठा०। द्वीपसमुद्रोपपत्ति–प्रतिपादके दीर्घदशानां षष्ठेऽध्ययने, स्था०१० ठा०।

दीवसागरपण्णत्ति स्त्री०(द्वीपसागरप्रज्ञप्ति) द्वीपसागराणां प्रज्ञापनायो यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः। पा० दशमे कालिकश्रुतभेदे, पा० द्वी०।

दीवसिहा स्त्री०(दीपशिखा) ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिभार्य्यायां सागरदत्त–वणिक्सुतायाम्, उत्त०१३ अ०। नि०। ति०।

दीवाइजलणभेय पुं०(दीपाऽऽदिज्वलनभेद) दीपचन्द्रतारकाऽऽदीनां दीपनविशेषे, पञ्चा०२ विव०।

दीवावह त्रि०(दीपापह) दीपविनाशके, द्वा०२४ द्वा०।

दीवायण पुं०(द्वैपायन) द्वीपमयनं जन्मभूमिर्यस्य स द्वीपायनः, स एव प्रज्ञाऽऽद्यण्। ''द्वीपे न्यस्तस्तया बाल–स्ततो द्वैपायनोऽभवत्।'' इत्युक्ते व्यासे, वाच०। सूत्र०१ श्रु०३अ०४ उ०। षष्ठे ब्राह्मणपरिव्राजके, औ०। स्था०। ती०। दश०। आ०म०। स चाऽऽगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां विंशतित–मस्तीर्थकरो भविष्यति। स०।

दीवावली स्त्री०(दीपाऽऽवली) दीपपङ्क्तौ कार्तिकाऽमायां च। ती० २० कल्प। श्रीमहावीरस्य निर्वाणसमये अमावास्या तिथिः, स्वातिनक्षत्रं चाभूताम्, दीपालिकासंबन्धिगुणनसमये च कस्मिंश्चिद्वर्षे ते भवतः, कस्मिंश्चिच्च नेति। एतदुपरि केचनेत्थं कथयन्ति–यद्यदा स्वात्यमावास्यं भवतस्तदा गुणनीयम्। अन्ये च–यस्मिन् दिने ''मेरइया'' इति लोकप्रसिद्धक्रियाविशेषस्तस्मिन् दिने गुणनीयमिति। तत्र ''मेरइया'' करणे भेदो भवति–एतद्देशमध्ये ये गुर्जरलोकाः सन्ति, तैः पाक्षिकदिने तानि कृतानि, एत–द्देशीयैस्तु द्वितीयवासरे, ततः किं स्वस्वदेशानुसारेण ''मेरइया'' करणदिने गणनीयम्, उत गुर्जरदेशानुसारेणेति? प्रश्ने, उत्तरम्–अत्र दीपाऽऽलिकागुणनमाश्रित्य स्वस्वदेशीयलोका यस्मिन् दिने दीपाऽऽलिकां कुर्वन्ति तस्मिन् दिने गुणनीयमिति। ३ प्र०। ही०४ प्रका०। कल्प०।

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए०जाव सव्वदु–क्खप्पहीणे, तं रयणिं च णं नवमल्लई–नवलेच्छई कासीको–सलगा अट्ठारसऽवि गणरायाणो अमावासाए पाराभोअं पोस–होववासं पट्ठविंसु, गए से भावुज्जुए, दव्वुज्जुयं करिस्सामो॥१२८॥

(जं रयणिं च णं इत्यादि) यस्यां रात्रौ श्रमणो भगवान् महावीरः कालगतः, यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणः, तस्यां रात्रौ (नवमल्लई इत्यादि) नवमल्लिकाजातीयाः काशिदेशस्य राजानः, नवलेच्छकाजातीयाः कोशलदेशस्य राजानः, ते च कार्यवशाद् गणमेलापकं कुर्वन्ति इति गणराजानोऽष्टादश, ये चेटकमहाराजस्य सामन्ताः श्रूयन्ते, ते तस्याम–मावास्यायां पारं संसारपारमाभोगयति प्रापयति यस्तमेवंविधं (पोसहो–ववासं ति) पौषधोपवासं कृतवन्तः, आहा–रत्यागपाषधरूपम् उपवासं चक्रुरित्यर्थः। अन्यथा–दीपकरणं न संभवति, ततश्च गतः स भावाद् द्योतः, ततो द्रव्योद् द्योतं करिष्याम इति तैः दीपाः प्रवर्तिताः, ततः प्रभृति दीपोत्सवः संवृत्तः, कार्तिकशुक्लप्रतिपदि च श्रीगौतमस्य केवलमहिमा देवैश्चक्रे, अतस्तत्रापि जनप्रमोदः, नन्दिवर्द्धननरेन्द्रश्च भगवतोऽस्तं श्रुत्वा शोकाऽऽर्त्तः सुदर्शनया भगिन्या संबोद्ध्य सादरं स्ववेश्मनि द्वितीयायां भोजितस्ततो भ्रातृद्वितीयापर्वरूढिः। कल्प०१ अधि० ६ क्षण। ती०। दीपाऽऽलिकाऽऽदिपर्वणि सुखभक्षिकाऽऽदिकरणे मिथ्यात्वमारम्भो वेति प्रश्ने, उत्तरम्–आरम्भो लगतीति ज्ञातमस्ति, न तु मिथ्यात्वमिति॥२२४प्र०। सेन०३उल्ला०।

दीविआ (देशी) उपदेहिकायां, मृगाऽऽकर्षण्यां च। दे०ना० ५ वर्ग ३ गाथा।

दीविय त्रि०(दीपित) कथिते, ओघ०।

***द्वीपिक** पुं०। शाकुनिकपुरुषसंबन्धिपञ्जरस्थतित्तिरौ, ज्ञा०१ श्रु० १७ अ०।

***द्वीपिन्** पुं०। चित्रके, आ०म०१ अ०१ खण्ड। भ०। प्रश्न०। प्रज्ञा०। ज्ञा०। जं०। स्था०। सूत्र०। प्रति०। आचा०।

दीवियग त्रि०(द्वैप्य) द्वीपसम्भवे, ज्ञा०१ श्रु०११ अ०।

दीविया स्त्री०(दीपिका) ह्रस्वो दीपो दीपिका। ह्रस्वे दीपे ज०२ वक्ष०। ''दीवियाचक्कवालविदं।'' दीपिकानां चक्रवालं सर्वपरिमण्डलरूपं वृन्दं दीपिकाचक्रवालवृन्दम्। जी०३ प्रति०४ उ०। जं०।

दीवुस्सव पुं०(दीपोत्सव) दीपमालिकायाम्, अष्ट०३२ अष्ट०।

दीवूसयअमावसा स्त्री०(दीवोत्सवामावास्या) कार्तिकामावास्यायाम्, ती०२० कल्प।

दीसंत त्रि०(दृश्यमान) चक्षुषा प्रत्यक्षे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०४ उ०।

दीह पुं०(दीर्घ) दृ–घञ्, घस्य नेत्वम्। शाललतावृक्षे, उष्ट्रे, द्विमात्रे स्वरवर्णे च। वाच०। ''एगे दीहे।'' आयते, स्था०१ठा०। सूत्र०। विशे०। प्रज्ञा०। औ०। रा०। प्रचुरे, भ०१ श०६ उ०। असंख्यये, त्रि०। विशे०। ''दीहरह–स्सहिमपक्काणि।'' विपा०१ श्रु०८अ०।

दीहकाल त्रि०(दीर्घकाल) दीर्घःसन्तानापेक्षया अनादित्वात् कालः स्थितिबन्धकालो यस्य तद् दीर्घकालम्। दीर्घस्थितिके, आ०म०१ अ०२खण्ड।

दीहकालिगी स्त्री०(दीर्घकालिकी) कालिसंज्ञायाम्, विशे०।

इह दीहकालिगी कालिग त्ति सण्णा जया सुदीहं पि।
संभरइ भूयमेस्सं, चिंतेइ य किह णु कायव्वं ?॥५०८॥

इह दीर्घशब्दस्य लुप्तदर्शनाद् दीर्घकालिकी 'कालिकी' इ–

त्युच्यते, कालिकी चासौ संज्ञा च भूवद्भावात् 'कालिकसंज्ञा' इति द्रष्टव्यम्। यया सुदीर्घमपि कालं भूतमतीतमर्थं स्मरति, एष्यच्च भविष्यद्वस्तु चिन्तयति–कथं नु नाम कर्तव्यम् ? इत्येषा चिन्तामाश्रित्य दीर्घोऽतीताऽनागतवस्तुविषयः कालो यस्यां सा दीर्घकालिकी कालिकसंज्ञोच्यत इत्यर्थः ॥५०८॥ विशे०। ('सण्णी' शब्दे चैतया संज्ञिनो द्रष्टव्याः)

दीहकालिय त्रि०(दीर्घकालिक) दीर्घः कालो विद्यते यस्य स दीर्घकालिकः। स्था०३ ठा०१उ०। चिरन्तने, दशा०७अ०।

दीहकालियउवएस पुं०(दीर्घकालिकोपदेश) दीर्घः कालो दीर्घकालः, सोऽस्यास्तीति *दीर्घकालिकः, स चासावुपदेशश्च, उपदेशो मणनं*, दीर्घकालोपदेशः। दीर्घकालिके, भणने, आ०म०१ अ०६ खण्ड।

दीहखद्ध त्रि०(दीर्घखद्ध) (खद्धशब्देन प्रचुरमभिधीयते। प्रव०२ द्वार।) प्रचुरतरे, व्य०४ उ०।

दीहगोरवपरिणाम पुं०(दीर्घगौरवपरिणाम) यत आयुः स्वभावाद् जीवस्य दीर्घं दीर्घगमनतया लोकान्ताद् लोकान्तं यावद् गमनशक्तिर्भवति स दीर्घगौरवपरिणामः। अष्टमे आयुषः परिणामे, इह गौरवशब्दो गमनपर्य्यायः। स्था०६ ठा०।

दीहजीह (देशी) शङ्खे, दे०ना० ५ वर्ग ४१ गाथा।

दीहडङ्क त्रि०(दीर्घदष्ट) सर्पदष्टे, नि०चू०१उ०।

दीहण पुं०(दृष्टान्त) देशीयशब्दमेतत्। उदाहरणे, दर्श०१ तत्त्व।

दीहणिद्दा स्त्री०(दीर्घनिद्रा) मरणे, चिरकालव्यापिन्यां निद्रायाम्, आचा०१ श्रु०२अ०४उ०। क्षुभ्नाऽऽदित्वान्न णत्वम्। वाच०।

दीहणिव पुं०(दीर्घनृप) काम्पिल्यपुरराजे, यो हि ब्रह्मदत्तेन हतः। उत्त०१३ अ०।

दीहदंत पुं०(दीर्घदन्त) जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति द्वितीये चक्रवर्त्तिनि, स०। ति०। ती०।

दीहइसा स्त्री०(दीर्घदशा) ब०प०। दशाध्ययने ग्रन्थविशेषे, स्था०।

दीहदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा–

''चंदे सूरे य सुक्के य, सिरिदेवी पहावई।
दीवसमुद्दोववत्ती, बहुपुत्ती मंदरे इय॥१॥
थेरे संभूयविजए, पम्ह उस्सासनिस्ससे॥''

दीर्घदशाः स्वरूपतोऽनवगता एव, तदध्ययनानि तु कानिचिन्निरयाऽऽवलिकाश्रुतस्कन्धे उपलभ्यन्ते, तत्र चन्द्रवक्तव्यताप्रतिबद्धं चन्द्रमध्ययनम्। तथाहि–राजगृहे महावीरस्य चन्द्र ज्योतिष्कराजो वन्दनं कृत्वा नाट्यविधि चोपदर्श्य प्रतिगतः, गौतमश्च भगवन्तं तद्वक्तव्यतां पप्रच्छ, भगवाँश्चोवाचश्रावस्त्यामङ्गजिन्नामाऽयं गृह–पतिरभूत्पार्श्वनाथसमीपे च प्रव्रजितो विराध्य च मनाक् श्रामण्यं चन्द्रतयोत्पन्नो, महाविदेहे च सेत्स्यतीति। तथा सूरवक्तव्यता–प्रतिबद्धं सूरं, सूरवक्तव्यता चन्द्रवद्, नवरं सुप्रतिष्ठो नाम्ना बभूवेति। शुक्रो ग्रहः तद्वक्तव्यता चैवम्–राजगृहे भगवन्तं वन्दित्वा शुक्रे प्रतिगते गौतमेन पृष्टे तथैव भगवानुवाच–वाराणस्यां सौमिलनामा ब्राह्मणोऽयमभवत्, पार्श्वनाथं चाऽपृच्छत्– ''तं भंते ! जवणिज्जं,'' तथा– ''सरिसवया मासा कुलत्था य ते भोज्जा,'' तथा– ''एगे भवं दुवे भवं।'' इत्यादि। भगवता चैतेषु विभक्तेष्वाक्षिप्तः श्रावको भूत्वा पुनर्विपर्यासादारामाऽऽदिलौकिकधर्मस्थानानि कारयित्वा दिक् प्रोक्षकतापसत्वेन प्रव्रज्य प्रतिषष्ठपारणकं क्रमेण पूर्वाऽऽदिदिग्भ्य आनीय कन्दाऽऽदिकमभ्यवजहार। अन्यदाऽसौ यत्र क्वचन गर्ताऽऽदौ पतिष्यामि तत्रैव प्राणांस्त्यक्ष्याम इत्यभिग्रहमभिगृह्य काष्ठमुद्रया मुखं बद्धा उत्तराभिमुखः प्रतस्थौ, तत्र प्रथमदिवसे पराह्णसमये अशोकतरोरधो होमाऽऽदिकर्म कृत्वोवास, तत्र देवेन केनाप्युक्तः–अहो सौमिल ब्राह्मण महर्षे ! दुःप्रव्रजितं ते, पुनर्द्वितीयेऽहनि तथैव सप्तपर्णस्याध उषित उक्तः, तृतीयाऽऽदिषु दिनेषु अश्वत्थवटोदुम्बराणामध उषितो भणितो देवेन, ततः पञ्चमदिनेऽवादीदसौकथं नु नाम मे दुःप्रव्रजितम्? देवोऽवोचत्त्वं पार्श्वनाथस्य भगवतः समीपे अणुव्रताऽऽदिकं श्रावकधर्मं प्रतिपद्याधुनाऽन्यथा वर्त्तसे इति दुःप्रव्रजितं तव, ततोऽद्यापि तमेवाणुव्रताऽऽदिकं धर्मं प्रतिपद्यस्व, येन सुप्रव्रजितं तव भवतीति। एवमुक्तः तथैव चकार, ततः श्रावकत्वं प्रतिपाल्यानालोचितप्रतिक्रान्तः कालं कृत्वा शुक्रावतंसके विमाने शुक्रत्वेनोत्पन्न इति। तथा श्रीदेवीसमाश्रयमध्ययनंश्रीदेवीति। तथाहि–रमा राजगृहे महावीरवन्दनाय सौधर्मादाजगाम, नाट्यं दर्शयित्वा प्रतिजगाम च, गौतमस्तत्पूर्वभवं पप्रच्छ। भगवाँस्तं जगोद–राजगृहे सुदर्शन–श्रेष्ठी बभूव; प्रियाभिधाना च तद्भार्या, तयोः सुता भूता नाम बृहत्कुमारिका पार्श्वनाथसमीपे प्रव्रजिता शरीरबकुशा जाता सातिचारा च मृत्वा दिवं गता, महाविदेहे च सेत्स्यतीति। तथा प्रभावती चेटकदुहिता वीतभयनगरनायकोदायनमहाराजभार्या, यया जिनबिम्बपूजाऽर्थं स्नानानन्तरं चेट्या सितवसनार्पणेऽपि विभ्रमाद्रक्तवसनमुपनीतमनवसरमनयेति मन्यमानया मन्युना दर्पणेन चेटिका हता, मृता च, सा ततो वैराग्यादनशनं प्रतिपद्य देवत्वं प्रतिपन्ना, यया चोज्जयनीराजनं प्रति विक्षेपेण प्रस्थितस्य ग्रीष्मे मासि पिपासाऽभिभूतसमस्तसैन्यस्योदायनमहाराजस्य स्वच्छशीतलजलपरिपूर्णत्रिपुष्करकरणेनोपकारोऽकारीत्येवंलक्षणप्रभावतीचरितयुक्तमध्ययनं प्रभावतीति संभाव्यते, न चैवं निरयावलिकाश्रुतस्कन्धे दृश्यत इति पञ्चमम्। तथा बहुपुत्रिकादेवीप्रतिबद्धं सैवाध्ययनमुच्यते। तथाहि–राजगृहे महावीरवन्दनार्थं सौधर्माद् बहुपुत्रिकाभिधाना देवी समवततार, वन्दित्वा च प्रतिजगाम, केयमिति पृष्टे गौतमेन भगवानवादीत्–वाराणस्यां नगर्यां भद्राऽभिधानस्य सार्थवाहस्य सुभद्राऽभिधाना भार्ययं बभूव, सा च बन्ध्या पुत्रार्थिनी भिक्षार्थमागतमार्यासंघाटकं पुत्रलाभं पप्रच्छ। स च धर्ममचीकथत्। प्राव्राजीच्च सा बहुजनापत्येषु प्रीत्याऽभ्यङ्गोवर्त्तनापरायणा सातिचारा मृत्वा सौधर्ममगमत्, ततश्च्युत्वा च विमेलसंनिवेशे ब्राह्मणीत्वेनोत्पत्स्यते, ततः पितृभागिनेयभार्या भविष्यति युगलप्रसवा च, सा षोडशभिर्वर्षैर्द्वात्रिंशदपत्यानि जनयिष्यति, ततोऽसौ तन्निर्वेदादार्याः प्रक्ष्यति, ताश्च धर्मं कथयिष्यन्ति, श्रावकत्वं च सा प्रतिपत्स्यते, कालान्तरे प्रव्रजिष्यति, सौधर्मे चन्द्रसामानिकतयोत्पद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति। तथा स्थविरः संभूतविजयो भद्रबाहुस्वामिनो गुरुभ्राता स्थूलभद्रस्य सगडालपुत्रस्य दीक्षादाता, तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धमध्ययनं स एवोच्यत इति नवमम्। शेषाणि त्रीण्यप्रतीतानि। स्था०१० ठा०।

दीहदिट्ठि पुं०(दीर्घदृष्टि) दीर्घकालभावित्वादस्यार्थस्यानर्थस्य च दृष्टिः पर्य्यालोचनम् । विमृश्यकारित्वे, अविमृश्यकारित्वे हि महादोषसम्भवात् । यत उक्तम्–''सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमाऽऽपदां पदम्। वृणते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥१॥'' इति । ध०१ अधि०। दीर्घा दृष्टिरस्य । पण्डिते, दीर्घा दूरगा दृष्टिर्यस्या। दूरवीक्षणे, जन्त्रभेदे, वाच०।

दीहद्धा स्त्री०(दीर्घाद्धा) पर्य्यासिद्धायाम्, क०प्र०१ प्रक०।

दीहपट्ठ पुं०(दीर्घपृष्ठ) यवराजामात्ये बृ०१ उ०२प्रक०।

दीहपास पुं०(दीर्घपार्श्व) ऐरवते भाविनि षोडशे जिनेन्द्रे, प्र०व० ७ द्वार । ति०।

दीहबाहु पुं०(दीर्घबाहु) ऋषभस्य त्रिसप्ततितमे पुत्रे, कल्प १ अधि०७ क्षण। जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां तृतीये बलदेवे, स०। जम्बूद्वीपे भारते वर्षे अस्यामेवोत्सर्पिण्यां चन्द्रप्रभजिनस्य पूर्वभवे जीवे, स०।

दीहभद्द पुं०(दीर्घभद्र) माठरसगोत्रस्याऽऽर्यसंभूतिविजयस्य स्थविरस्यैकादशे स्वनामख्याते स्थविरेऽन्तेवासिनि, कल्प०२ अधि०८ क्षण।

दीहमद्ध न०। दीर्घाद्ध दीर्घा अद्धा कालो यस्य तद्दीर्घाद्धम् । मकार आगमिकः। दीर्घकालगम्ये, स्था०२ ठा०१उ०। प्रश्न०। भ०। सूत्र०। ज्ञा०।

दीर्घाध्व न०(दीर्घोऽद्धा) मार्गो यस्मिन् तद्दीर्घाध्वम् । दीर्घमार्गगम्ये, स्था०२ ठा०१ उ०। प्रश्न०। भ०। सूत्र०। ज्ञा०। दीर्घमार्गे, स्था०३ ठा०४उ०।

दीहमद्धा स्त्री०(दीर्घाद्धा) दीर्घोऽद्धा कालो यस्यां सा दीर्घाद्धा, मकारस्त्वागमिकः। दीर्घकालगम्यायाम्, स्था०५ ठा०२ उ०।

दीर्घाध्वा स्त्री० । दीर्घोऽध्वा मार्गो यस्यां सा दीर्घाध्वा । दीर्घमार्गगम्यायाम्, स्था०५ ठा०२उ०। औ०।

दीहमाउ न०(दीर्घाऽऽयुष्) चिरजीविते, शुभमितीह विशेषणं दृश्यमिति । स्था०१०ठा०।

दीहर पुं०(दीर्घ) **''रो दीर्घात्''** ॥८।२।१७१॥ इति दीर्घशब्दात्स्वार्थे रः। 'दीहरं। दीहं।' प्रा०२ पाद। **''सर्वत्र लवरामचन्द्रे''** ॥८।२।७९॥ इति रलुक् । **''खघथधभाम्''** ॥८।१।१८७॥ इति घस्य हः । प्रा०दुं०१पाद। आयते, ''अन्ने ते दीहरलोअण अन्नु ते भुअजुअलु।'' प्रा०२ पाद।

दीहराय न०(दीर्घरात्र) यावज्जीवे, आव०४ अ०। आचा०।

दीहलोय पुं०(दीर्घलोक) वनस्पतौ, आचा०। यस्मादसौ कायस्थित्या परिमाणेन शरीरोच्छ्रयेण च शेषैकेन्द्रियेभ्यो दीर्घो वर्तते । तथाहि–कायस्थित्या तावत् ''वणस्सइकाइए णं भंते ! वणस्सइकाए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिअवसप्पिणीओ, खेत्तओ अणंता लोया असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पुग्गलपरियट्ट आवलियाए असंखेज्जइभागे।'' परिमाणतस्तु–''पडुप्पन्न वणस्सकाइया णं भंते ! केवतिकालस्स निल्लेवणा सिया ? गोयमा ! पडुप्पन्नवणस्स–इकाइयाणं नत्थि निल्लेवणा।'' तथा– शरीरोच्छ्रयाच्च दीर्घो वनस्पतिः, ''वणस्सइकाइया णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! साइरेगं जोयणसहस्सं सरीरोगाहणा।'' न तथाऽन्येषामेकेन्द्रियाणाम्, अतः स्थितमेतत्सर्वथा दीर्घलोको वनस्पतिरिति। आचा०१ श्रु०१ अ०४उ०।

दीहलोयसत्थ न०(दीर्घलोकशस्त्र) वनस्पत्युत्सादकेऽग्नौ, आ–चा०। अस्य च शस्त्रमग्निः, यस्यात्स हि प्रवृद्धज्वालाकलापाऽऽकुलः सकलतरुगणप्रध्वंसनाय प्रभवति, अतोऽसौ तदुत्सादकत्वाच्छस्त्रम्। आचा०१ श्रु०१अ०४उ०।

दीहवच्छ पुं०(दीर्घवृक्ष) महति वृक्षे, आचा२ श्रु०१ चू०४ अ०२ उ०।

दीहवेयड्ढ पुं०[दीर्घ(विजयार्द्ध)वैताढ्य] दीर्घे अर्द्धक्षेत्रविभागकारके पर्वतविशेषे, स्था०।

जंबू ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो दीहवेयड्ढपव्वया पण्णत्ता । तं जहा–बहुसमउल्ला०जाव भारहे चेव दीहवेयड्ढे, एरावर चेव दीहवेयड्ढे । भारहे णं दीहवेयड्ढे दो गुहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा–बहुसमउल्लाओ अविसेसमणाणत्ताओ अन्नमन्नं णाइवट्टंति आयामविक्खंभुच्चत्तसंठाणपरिणाहेणं । तं जहा–तिमिसगुहा चेव, खंडगप्पवायगुहा चेव । तत्थ णं दो देवा महड्ढिया०जाव पलिओवमट्ठिइया परिवसंति । तं जहा–कयमालए चेव, णट्टमालए चेव । एरावर णं दीहवेयड्ढे दो गुहा पण्णत्ता । तं जहा–जाव कयमालए चेव, णट्टमालए चेव ।

(दो दीहवेयड्ढ त्ति) वृत्तवैताढ्यव्यवच्छेदार्थं दीर्घग्रहणं, वैताढ्यौ विजयार्द्धौ चेति संस्कारः, तौ च भरतैरवतयोर्मध्यभागे पूर्वापरतो लवणोदधिं स्पृष्टवन्तौ पञ्चविंशतियोजनोच्छ्रितौ तत्पादावगाढौ पञ्चाशद्विस्तृतौ आयतसंस्थितौ सर्वराजतावुभयतो बहिः काञ्चनमण्डनाङ्काविति । आह च–''पणवीसं उव्विद्धो, पण्णासं जोयणाणि वित्थिन्नो । वेयड्ढो रययमओ, भरहक्खेत्तस्स मज्झम्मि ॥१॥'' इति । (भारहे णमित्यादि) वैताढ्ये अपरतस्तमिस्रागुहागिरिविस्ताराऽऽयामा द्वादशयोजनविस्तारा अष्टयोजनोच्छ्राया आयतचतुरस्रसंस्थाना विजयद्वारप्रमाणद्वारा वज्रकपाटपिहिता बहुमध्ये द्वियोजनान्तराभ्यां त्रियोजनविस्ताराभ्यामुन्मग्ननिमग्नजलाभिधानाभ्यां नदीभ्यां युक्ता, तद्वत्पूर्वतः खण्डप्रपातगुहेति । (तत्थ णं ति) तयोस्तमिस्रायां गुहायां कृतमालकः, इतरस्यां नृत्तमालक इति । (एरवए) इत्यादि तथैव । स्था०२ ठा०३उ०।

जंबू !मंदरस्स पुरच्छिमेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा, अट्ठ तिमिसगुहाओ, अट्ठ खंडगप्पवायगुहाओ, अट्ठ कयमालगा देवा, अट्ठ णट्टमालगा देवा, अट्ठ गंगाओ, अट्ठ सिंधूओ, अट्ठ गंगाकुंडा, अट्ठ सिंधुकुंडा, अट्ठ उसभकूडा पण्णत्ता, अट्ठ उसभकूडा देवा पण्णत्ता । जंबू ! मंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ दी

हवेयड्ढा एवं चेव०जाव अट्ठ उसभकूडा देवा पण्णत्ता, नवरमेत्थ रत्तारतवईओ, तासिं चेव कूडा। जंबू! मंदरपच्चच्छिमे णं सीओयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ दहिवेयड्ढा०जाव अट्ठ नट्टमालगा देवा अट्ठ गंगाकुंडा अट्ठ सिंधुकुंडा अट्ठ गंगाओ अट्ठ सिंधूओ अट्ठ उसभकूडपव्वया अट्ठ उसभकूडा देवा पण्णत्ता। जंबू! मंदरपुरच्छिमेणं सीओयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा०जाव अट्ठ णट्टमालगा देवा अट्ठ रत्तकुंडा अट्ठ रत्तावईकुंडा अट्ठ रत्ताओ०जाव अट्ठ उसभकूडदेवा पण्णत्ता। स्था०८ ठा०। स०। भ०।

(तेषां कूटानि 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६१८ पृष्ठे द्रष्टव्यानि)

दीहसद्द पुं०(दीर्घशब्द) दीर्घवर्णाऽऽश्रिते, मेघाऽऽदिशब्ददद् दूरश्राव्ये च। स्था०१८ ठा०।

दीहसुत्त न०(दीर्घसूत्र) बृहत्सूत्रे, नि०चू०।

जे भिक्खू सणकप्पासाओ वा पोडकप्पासाओ वा उण्णकप्पासाओ वा मिलकप्पासाओ वा दीहसुत्ताइं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥२६॥ नि०चू०५ उ०।

('सुत्त' शब्दे व्याख्यास्यते चैतत्)

दीहसेण पुं०(दीर्घसेन) भरतक्षेत्रजचन्द्रप्रभजिनसमकालिके ऐरवतजे जिने, ति०। श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, स च महावीरस्वामिनोऽन्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायः संलेखनया मृत्वा विजये देवलोके उपपद्य ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गस्य प्रथमेऽध्ययने सूचितम्। अणु०१ श्रु०२ वर्ग १अ०। अस्मादन्यः श्रेणिकधारणीसुत एतन्नामा वीरान्तिके प्रव्रज्य द्वादशवर्षपर्यायः संलेखनया मृत्वा सर्वार्थसिद्धे उपपन्नो महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां प्रथमवर्गस्य षष्ठेऽध्ययने सूचितम्। अणु०१ वर्ग १अ०। भरतक्षेत्रजशान्तिनाथजिनसमकालिके ऐरवतजे जिने च। ति०।

दीहाउ न०(दीर्घाऽऽयुष्) **''आयुरप्सरसोर्वा'' ॥८।१।२०॥** इत्यन्त्यव्यञ्जनस्य सो वा। 'दीहाउसो। दीहाऊ।' प्रा०१ पाद। दीर्घसागरोपमपरिमिततया आयुरेषामिति दीर्घाऽऽयुः। उत्त० ५ अ०। चिरजीवित्वे, कल्प०१ क्षण।

दीहाउअत्ता स्त्री०(दीर्घायुष्टा) दीर्घस्थितिकजीवितहेतुकर्मत्वे, स्था०३ ठा०१उ०। (एतत्कारणानि 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे १२ पृष्ठे उक्तानि)

दीहासण न०(दीर्घाऽऽसन) शय्यारूपे आसने, जं०१ वक्ष०। जी०।

दीहिया स्त्री०(दीर्घिका) ऋजुसारिण्याम्, ज्ञा०१ श्रु०१अ०। रा०। जं०। अनु०। आचा०। जी०। प्रज्ञा०। भ०। नि०चू०। औ०।

दु अव्य०(दुर्) अभावे, आचा०१श्रु०२अ०५उ०। जुगुप्सायाम्, आ०म०१ अ०२खण्ड।

दुअं अव्य०(द्रुतम्) त्वरिते, अनु०। आव०।

दुअक्खर (देशी) षण्ढे, दे०ना०५ वर्ग ४७ गाथा।

दुअक्खरय पुं०(द्व्यक्षरक) दासे, भृतकः कर्मकरस्तद्विषयोऽक्षरको द्व्यक्षारकः, द्व्यक्षरकाभिधानो दास इत्यर्थः। पिं०।

दुअक्खरिया स्त्री०(द्व्यक्षरिका) दास्याम्, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

दुअल्ल न०(दुकूल) **''दुकूले वा लश्च द्विः'' ॥८।१।११६॥** इति उकारस्य वैकल्पिकोऽकारः, तत्सन्नियोगे लस्य द्वित्वम्। 'दुअल्लं, दुऊलं।' आर्षे – 'दुमुल्लं' प्रा०१ पाद। वस्त्रे, औ०। दु–ऊलच्–कुक् च। दुष्टं कूलति। 'कूल' आवरणे। क्षौमाम्बरे, श्लक्ष्णवस्त्रे, न०। सूक्ष्मवस्त्रे च। वाच०।

दुआइ पुं०(द्विजाति) **''द्वित्योरुत्'' ॥८।१।६४॥** इति इकारस्य उत्वम्। प्रा०१ पाद। **''सर्वत्र लवरामचन्द्रे'' ॥८।२।७६॥** इति वलुक्। प्रा०२ पाद। वाच०। द्वे जाती जन्मनि यस्य ''ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।'' इति मनूक्ते वर्णत्रये, ''मातुरग्रेऽधिजननं, द्वितीयं मौञ्जीबन्धने'' इत्युक्तेस्तेषां तथात्वम्। वाच०।

दुआइक्ख न०(दुराख्येय) कृच्छ्राऽऽख्येये वस्तुतत्त्वे, स्था०५ ठा०१उ०।

दुआर न०(द्वार) प्रवेशनिर्गममार्गे, ज्ञा०१ श्रु०१८ अ०। प्रतोल्यां च। ज्ञा०१ श्रु०२ अ०।

दुआरिया स्त्री०(द्वारिका) अपद्वारे, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०।

दुआवत्त पुं०(द्विकाऽऽवर्त्त) षोडशेऽच्छिन्नच्छेदनयिके दृष्टिवादस्य सूत्रे, स०१२ अङ्ग।

दुइअ त्रि०(द्वितीय) **''द्वित्योरुत्'' ॥८।१।६४॥** इतीकारस्योकारः। 'दुइओ।' प्रा०१ पाद। **''पानीयाऽऽदिष्वित्'' ॥८।१।१०१॥** इति ईकारस्य इकारः। 'दुइअ।' प्रा०१ पाद। **''सर्वत्र लवरा०–'' ॥८।२।७६॥** इत्यादिना वलुक्। प्रा०२ पाद। **''कगचजत०–'' ॥८।१।१७६॥** इत्यादिना तलोपः। द्वयोः पूरणः द्वितीयः। द्वयोः पूरणे द्वितीये भागे, वाच०।

दुइञ्जित्तए अव्य०(द्रोतुम्) विहर्तुमित्यर्थे, स्था०५ ठा०२उ०।

दुउच्छ धा०(गुप्) भ्वा–आत्म०–अक०–सेट्। कुत्सने, वाच०। ''जुगुप्सेः झुणदुगुच्छदुगुञ्छाः'' ॥८।४।४०॥ इति दुगुच्छाऽऽदेशः। **''कग०–'' ॥८।१।१७७॥** इति गलोपे, ''दुउच्छइ। दुगुंछइ।'' प्रा०४ पाद।

दुउण त्रि०(द्विगुण) **''द्वित्योरुत्'' ॥८।१।६४॥** इतीकारस्योकारः। 'दुउणो। विउणो।' प्रा०१ पाद। द्वाभ्यां गुण्यते, गुणघञर्थे कः। द्वाभ्यां गुणिते, वाच०।

दुऊल न०(दुकूल) 'दुअल्ल' शब्दार्थे, प्रा०१ पाद।

दुओणय न०(द्व्यवनत) अवनतिरवनतमुत्तमाङ्गप्रधानं प्रणमनमित्यर्थः, द्वे अवनते यस्मिन् तद् द्व्यवनतम्। द्विरवनम्य वन्दने, आव०। एवं यदा प्रथममेव ''इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए।'' इत्यभिधाय छन्नच्छोऽनुज्ञापनायाऽवनतमिति द्वितीयं पुनर्यदा कृताऽऽवर्तो निष्क्रान्तः ''इच्छामि'' इत्यादि सूत्रमभिधाय छन्दोऽनुज्ञापनायैधाऽवनतमिति। आव०३ अ०। बृ०। प्रव०।

दुंदमिअ (देशी) गलगर्जिते, दे०ना० ५ वर्ग ४५ गाथा।

दुंदुभग पुं०(दुन्दुभक) अष्टादशे महाग्रहे, ''दो दुंदुभगा।'' स्था०२ ठा०३ उ०। चं० प्र०। कल्प०। जं०। सू०प्र०।

दुंदुभि पुं०(दुन्दुभि) ढक्काविशेषे, भ०६ श०३३उ०। आ० चू०। औ०। रा०। कल्प०। जं०। महत्प्रमाणे मुरजे, नि०चू०१ उ०। भेर्य्याकारे संकटमुखे देवाऽऽतोद्यविशेषे, रा०। भ०। प्रश्न०। जी०। ज्ञा०।

दुंदुभिणी (देशी) रूपवत्याम्, दे०ना० ५ वर्ग ५ गाथा।

दुंदुहि पुं०(दुन्दुभि) 'दुंदुभि' शब्दार्थे, रा०।

दुंबती (देशी) सरिति, दे०ना० ५ वर्ग ४८ गाथा।

दुक्कड न०(दुष्कृत) दुष्टं कृतं दुष्कृतम्। पापे; सूत्र०१ श्रु०५ अ०३ उ०। आचा०। आ०म०। स०। असदनुष्ठाने, असातावेदनीयोदयरूपे पापफले, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०। पापकरणे, सूत्र०१ श्रु०४अ०१उ०। आ०म०। अकर्तव्ये, आव०४ अ०। पापविपाके, सूत्र०२ श्रु०१अ०। दुःखे च। सूत्र०१ श्रु०५ अ०२उ०। ''मिच्छाए मणदुक्कमाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए।'' आव०३अ०। ''दुक्कडं ति वा, सावज्जमणुट्ठितं ति वा, पावकम्ममासेवितं ति वा वितहमाइन्नं ति वा एगट्ठा।'' आ०चू०१अ०।

दुक्कडकम्म न०(दुष्कृतकर्म्म) दुष्टं कृतं दुष्कृतं, तदेव कर्म्मानुष्ठानम्। पापानुष्ठाने, दुष्कृतेन कर्म्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकं तद् दुष्कृतकर्म। सूत्र० १ श्रु० ५ अ०२उ०।

दुक्कडकम्मकारि(ण्) पुं०(दुष्कृतकर्मकारिण्) दुष्कृतं कर्म्म कर्तुं शीलं येषां ते दुष्कृतकर्म्मकारिणः। पापानुष्ठानकरणशीलेषु, सूत्र०१ श्रु०५ अ०२उ०।

दुक्कडकारि(ण्) पुं०(दुष्कृतकारिण्) पापविधायिनि, सूत्र०१ श्रु०८ अ०।

दुक्कडगरहा स्त्री०(दुष्कृतगर्हा) दुष्कृतेष्विहपरभवगतेषु गर्हा। अकर्तव्यबुद्धिसारापरसाक्षिक्याम्, आव०१ अ०।

दुक्कडतावि(ण्) पुं०(दुष्कृततापिन्) दुष्कृतेनातिचाराऽऽसेवनेन तप्यते अनुतापं करोतीत्येवंशीलः दुष्कृततापी। अतिचाराऽऽसेवनानुतापकरणशीले, पञ्चा०१५ विव०।

दुक्कडि(ण्) त्रि०(दुष्कृतिन्) दुष्कृतं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनः। नारकेषु, सूत्र० १ श्रु०५ अ०१उ०। महापापेषु, सूत्र०१ श्रु०५ अ०२उ०।

दुक्कडिय त्रि०(दुष्कृतिक) दुष्कृतमसदनुष्ठानं पापं वा तत्फलं वा असातावेदनीयोदयरूपं तद्विद्यते यस्मिन् स दुष्कृतिकः। असदनुष्ठायिनि, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०।

दुक्कप्प पुं०(दुष्कल्प) पार्श्वस्थाऽऽदीनां प्रवचननिन्दितानां कल्पे, पं०भा०।

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए णिच्चकाल पासत्थो।
णिच्चं च णिंदओ पव–यणम्मि तं जाणसु दुकप्पं ॥
दुक्कप्पविहारीणं, एगंताऽऽसातणाऍ बंधो य।
आसायणाऍ बंधेण य दीहो होतु संसारो ॥पं०भा०।

इयाणिं दुक्कपो तत्थ सो दंसणाईहिं पासत्थो अत्थइ, निच्चं निंदिओ गरहिओ य पवयणम्मि, जेण ताइं ठाणाणि पडिसेवइ। गाहा–(दुक्कप्पविहारीणं) पाठसिद्धं। पं०चू०।

दुक्कय त्रि०(दुष्कृत) पापे, षो० १३ विव०। पापकर्मणि, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

दुक्कर त्रि०(दुष्कर) कृ–खल्। दुष्करमेव दुष्करम्। कष्टसाध्ये, पञ्चा० १३ विव०। कर्त्तुमशक्ये, आव०५ अ०। नि०चू०। ज्यो०। ''अव्वो ! दुक्करकारअ।'' प्रा०२ पाद। ''पगिम्व एइ मणोरहइं, दुक्करु दइउ करेइ।'' प्रा०४ पाद। दुःखेन कीर्य्यते। कृ–खल्। आकाशे, वाच०। माघे, रात्रौ, चतुर्थीय स्नाने, दे०ना० ५ वर्ग ४ गाथा।

दुक्करकरण न०(दुष्करकरण) दुक्करकारितायाम्, व्य०१० उ०। नि०चू०। ''दुक्करकरणं च कहं? उच्यते–ण दुक्करं जं पडिसेवियं तं जीवस्स संफुहाणुकूलं दुक्करं, तओ जं चित्तनिवित्तिकरणं तं दुक्करकरणं ति।'' नि०चू० २० उ०।

दुक्काल पुं०(दुष्काल) धान्यमहर्घताऽऽदिना दुष्टे समये, जं० १ वक्ष०।

दुक्कुक्कणिआ (देशी) पतद्ग्रहे, दे०ना० वर्ग ४८ गाथा।

दुक्कुलजम्मप्पसत्थि स्त्री०(दुष्कुलजन्मप्रशस्ति) दुष्कुलेषु शकयवनशवरबर्बराऽऽदिसंबन्धिषु यज्जन्म असदाचाराणां प्राणिनां प्रादुर्भावस्तस्य प्रशस्तिः प्रज्ञापना। असदाचाराणां प्रादुर्भावप्रज्ञापनायाम्, ध०। तत्र चोत्पन्नानां किमित्याह– ''दुःखपरम्परानिवेदनमिति।'' दुःखानां शारीरमानसाशर्मलक्षणानां या परम्परा प्रवाहस्तस्या निवेदनं प्ररूपणम्। यथा–असदाचारपारवश्याज्जीवा दुष्कुलेषूत्पद्यन्ते, तत्र चासुन्दरवर्णरसगन्धस्पर्शशरीरभाजां तेषां दुःखनिराकरणनिबन्धनस्य धर्मस्य स्वप्नेऽप्यनुपलम्भाद् हिंसाऽनृतस्तेयाशुद्धकर्म्मप्रवणानां नरकाऽऽदिफलः पापकर्म्मोपचय एव संपद्यते, तदभिभूतानामिह परत्र चाऽव्यवच्छिन्नानुबन्धा दुःखपरम्परा प्रसूयते। यदुच्यते– ''कर्मभिरेव स जीवो, विवशः संसारचक्रमुपयाति। द्रव्यक्षेत्राद्वा भावभिन्नमावर्त्तते बहुशः ॥१॥'' ध०१ अधि०।

दुक्कुह (देशी) असहने, दे०ना० ५ वर्ग ४४ गाथा।

दुक्ख न०(दुःख) **''वाऽक्ष्यर्थवचनाऽऽद्याः''** ॥८।१।३३॥ इति पुंसि वा प्रयोगः। 'दुक्खा। दुक्खाइं।' प्रा०१ पाद। **''कगटडतदपसषश ≍क≍ पामूर्द्ध लुक्''** ॥८।२।७७॥ एषां संयुक्तवर्णसंबन्धिनामूर्ध्वस्थितानां लुग् भवति। दुःखम्। प्रा०२ पाद। दुःखं करोति दुःखयति, दुःखयतीति दुःखम्। पापकर्मणि, उत्त०६ अ०। सूत्र०। प्रश्न०। उपा०। महा०। आचा०। औ०। दुष्करे, बृ०६ उ०। क्लेशे, स०६सम०। संसारे, उत्त० ३२ अ०। रोगे, उत्त० २अ०।सूत्र०। अमनोज्ञसमुत्पादे, सूत्र०१ श्रु०१अ०३उ०। दुष्कृतकर्मफले, दश०१ अ०। असातवेदनीयोदये, आचा०२ श्रु०४ चू०१अ०। प्रतिकूलतयाऽवभासमाने राजसे चित्तधर्म्मे, द्वा०२१ द्वा०। उदयेन असातवेदनीयोदयं प्राप्ते (सूत्र०१श्रु०२अ०३उ०) कष्टे, आ०म० १अ०२खण्ड। आचा०। अज्ञाने, मोहनीये, आचा०१ श्रु०५ अ०५ उ०। असुखरूपे, भ०५

श०६उ०। तापानुभवरूपे, दश०१ अ०। असंवेद्ये, सूत्र० १ श्रु०२ अ०३उ०। विविधबाधनायोगरूपे, सूत्र०१ श्रु १२अ०। असातोदयाऽऽदिरूपे कर्म्मफले, सूत्र०१ श्रु०१अ०१उ०। अष्टप्रकारके कर्म्मणि, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। असातोदये, अष्ट०२१ अष्ट०। आचा०। सूत्र०। असातोदयकारणे, आचा०१ श्रु०३ अ०४उ०। भ०। सूत्र०। उत्त०। असातवेदनीयविपाकजनिते, आचा०१ श्रु०५ अ०२उ०। परीषहोपसर्गजनितपीडायां च। सूत्र०१ श्रु०७अ०।

''दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवेद् गर्भवासे नराणां,
बालत्वे चाऽपि दुःखं मललुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम्।
तारुण्ये चाऽपि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,
संसारे रे मनुष्याः ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥''
ध०२०।

तथाहि–

जाणंति अणुहवंति य, अणुजम्म जरामरणसंभवे दुक्खे।
न य विसयेसु विरज्जंति, गोयमा ! दुग्गइगमणपत्थए जीवे ॥
महा०६अ०।

दुक्खमेवमवीसामं, सव्वेसिं जगजंतुणं।
एगं समयं तसभावे, जं सम्मं अहियासियं। महा०२अ०।

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतदुक्तं समासेन, लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१६॥

सर्वं परवशं पराधीनं दुःखं, तल्लक्षणयोगात्। सर्वमात्मवशम्–पराधीनं सुखम्, अत एव हेतोः, एतदुक्तं मुनिना संक्षेपेण समासेन, लक्षणं स्वरूपं सुखदुःखयोः। इत्थं च ध्यानजमेव तत्त्वतः सुखं, न तु पुण्योदयभवमपीत्यावेदितं भवति। तदाह–''पुण्यापेक्षमपि ह्येवं, सुखं परवशं स्थितम्। ततश्च दुःखमेवैतद्, ध्यानजं तात्त्विकं सुखम् ॥१॥'' द्वा०२४ द्वा०।

सूईहिं अग्गिवन्नाहिं, संभिन्नस्स निरंतरं।
जावइयं गोयमा ! दुक्खं, गब्भे अट्ठगुणं तओ ॥
गब्भाओ निप्पडं तस्स, जोणिजंतुनिपीलणे।
कोडीगुणं तयं दुक्खं, कोडाकोडीगुणं पि वा ॥
जायमाणाण जं दुक्खं, मरमाणाण जंतुणो।
तेण दुक्खविवागेणं, जाइं न सरंति अप्पणो ॥ महा०५अ०।

एगे दुक्खे जीवाणं।

(एगे दुक्खे) एकमेवान्तिमभवग्रहणसम्भवं दुःखं यस्य स एकदुःखः। ''एगे अक्खे त्ति'' पाठान्तरे त्वेकधैवाऽऽख्या संशुद्धाऽऽदिर्व्यपदेशो यस्य न त्वसंशुद्धः, संशुद्धासंशुद्ध इत्यादिकोऽपि व्यपदेशान्तरनिमित्तस्य कषायाऽऽदेरभावादिति संभवत्येकधाऽऽख्यः। एकधा अक्षो वा जीवो यस्य स तथेति जीवानां प्राणिनामेकभूत एक इवाऽऽत्मोपम इत्यर्थः। एकान्तहितवृत्तित्वात्। एकत्वं चास्य बहूनामपि समस्वभावत्वादिति। अथवा–पत्तेत्यादिसूत्रान्तरमुक्तरूपसंशुद्धादन्येषां स्वरूपप्रतिपादनापरं, तत्र प्राकृतत्वात् प्रत्येकमेकं दुःखं प्रत्येकैकदुःखं जीवानां स्वकृतकर्मफलभोगित्वात्। किंभूतं तदित्याह–एकभूतमनन्यतया व्यवस्थितं प्राणिषु, न साङ्गत्यानामिव बाह्यमिति। स्था० १ ठा०।

जीवानां दुःखवर्णकः–

कालं गमें ति दुक्खेहिं, मणुया पुन्नेहिँ उज्झिया।
संखित्तमिमं भणियं, सव्वेसिं जगजंतुणं ॥
दुक्खं माणुसजाईणं, गोयम ! जं तं निबोधत।
जमणुसमयमणुभवंताण, सयहा उव्वेइयाण वि ॥
निव्विण्णाणं पि दुक्खेहिं, वेरग्गं न तहा वि भवे।
दुविहं समासओ मुणसु, दुक्खं सारीर माणसं घोरं ॥
एए चंडमहारोद्दं, तिविहं एक्केक्कयं भवे।
घोरं झाणमुहुत्त, घोरपयंडं महारोद्दं ॥
अणुसमयमविस्सामं, मुण .....।
घोरं मणुस्सजाईणं, घोरपयंडे मुणे तिरिच्छासु ॥
घोरपयंडमहारोद्दं, नारयजीवाण गोयमा !।
माणुस्सं तिविहं जाणे, जहन्न मज्झुत्तमं दुहं ॥
नत्थि जहन्नं तिरिच्छाणं, दुहमुक्कोसं तु नारयं।
जं तं जहण्णगं दुक्खं, माणुस्सं तं दुहा मुणे ॥
सुहुमबायरभेएणं, निव्विभागे इतरे दुवे।
संमुच्छिमेसु मणुएसु, सुहुमं देवेसु बायरं ॥
चवणकाले महड्ढीणं, आजम्मं आभिओगियाण उ।
सारीरं नत्थि देवाणं, दुक्खं णं माणुसेण य ॥
अइबलियं मज्झिमं हियय, सयखंडं जहन्न वी फुडे।
णिव्विभागे य जे भणिए, दोन्नि मज्झुत्तमे दुहे ॥
मणुयाणं ते समक्खाए, गब्भवक्कंतियाण उ।
असंखेया उ मणुयाणं, दुक्खं जाणे वि मज्झिमं ॥
संखेयावसाणं तु, दुक्खं चेव उक्कोसगं।
असोक्खं वेयणा, वाही पीडा दुक्खमणिव्वुई ॥
अ(ण) रागमरई केसं, एवमादी एगट्ठिया बहू।
सारीरेयरभेदम्मि, जं भणियचं तं पचक्खइ ॥
सारीरं गोयमा ! दुक्खं, सुपरिफुडं तमवधारय।
बालग्गकोडिलक्खमयं, भागमित्तं ठिवे धुवे ॥
अत्थिरअण्णण्णपदे–ससरं कुंथुमणुहवित्ति खणं।
तेण वि करकत्ति सल्लेउं, हिययमद्धसए तणू ॥
सीयंती अंगमंगाइं, गुरुओ वेइ सव्व...।
सव्वसरीरस्ससऽब्भंतरं, कंपे थरथरस्स य ॥
कुंथुफरसियमेत्तस्स, जं सलसले तणू।
तमेव संभिन्नसव्वंगे, फलए डज्झंतमाणसे ॥
चिंतंतो हा किं किमेयं, बाहे गुरुपीडाकरं।
दीहुण्हमुक्कनीसासे, दुक्खं दुक्खेण नित्थरे ॥
किमेयं किंचिरं वाऽयं, कियचिरेण वा णट्ठिही।
कहं दाऽहं विमुच्चिस्सं, इमाओ दुक्खसंकडा ॥
गच्छं चिट्ठं सुयं उट्ठं, धावणेसं पलामिउं।
कंडुगयं किं च पुरे काउं, किं वा पच्छं करेमि हं ॥
एवं तिवग्गवावारं, छिच्चोरुं दुक्खसंकडं।
पविट्ठो वाढ संखेज्जा, आवलियाउ किलिस्सयं ॥

पुण्णाहिं कंडुपाडेसु, कंडू मे अन्नहा णो उवस्समे ।
ता एयस्सुवसाएणं, गोयम ! णिसुणेसु जं करे ॥
अहंतं कुंथु वावाए, जइ णो अन्नत्थ गयं भवे ।
कंडूयमाणेहि भिन्नादी, अणुपसमं णो किलस्मए ॥
जइ वावाएज्ज तं कुंथुं, कंडुयमाणो व इयरहा ।
तो तं अइरोद्दज्झाणम्मि, पविट्ठं णिच्छयओ मुणे ॥
अह किलामे तओ भयणा, रोद्दज्झाणेयरस्स उ ।
कंडूयमाणस्स उण, देहं सुद्धमट्टज्झाणं मुणे ॥
समज्ञे रोद्दज्झाणट्ठो, उक्कोसं नारगाउयं ।
दुब्भगित्थीपंडतेरिच्छं, अट्टज्झाणं समज्झिणे ॥
कुंथुपदफरिसजणिया—ओ दुक्खाओ उवसमित्थया ।
एत्थ हल्लफलीभूते, जमवत्थंतरं वए ॥
विवण्णमुहलावण्णे, अइदीणविमणदुम्मणे ।
सुन्ने वण्णे य मूढदिसे, मंददरदीहनिस्ससे ॥
अविस्सामं दुक्खहेउयं, असुहं तेरिच्छनारयं ।
कम्मं निबंधइत्ता णं, भमिही भवपरंपरं ॥
एवं खउवसमाओ तं, कुंथुवइरजं दुहं ।
कह कह बहुकिलेसेणं, जइ खणमेकं पि उवसमे ॥
ता मह किलेसमुत्तित्तुं, सुहियं से अठणयं ।
मन्नंतो पमुइओ हिट्ठो, सत्थच्छिन्नो वि चिट्ठइ ॥
चिंतइ किल निव्वुओ मि अहं, निद्दलियं दुक्खं पि मे ।
कंडुयणा—दिहिं सयमेव, न मुणे एवं जहा मए ॥
रोद्दज्झाणगएण इह, अट्टज्झाणे तहेव य ।
संवग्गइत्ता उ तं दुक्खं, अणंताणंतगुणं कडं ॥
जं वाऽणुसमयमणवरयं, जहा राई तहा दिणं ।
दुहमेवाणुभवमाणस्स, वीसामो नो भवेज्ज मे ॥
खणं पि नरयतिरिएसु, सागरोवमसंखया ।
रसरसविलज्जए हिययं, जं वा इत्थं ततो ण वि ॥
अहवा किं कुंथुजणिया, उमुक्को सो दुक्खसंकडा ।
खीणऽट्ठकम्मसरिसा मो, भवेज्ज जणुमेत्तेण वओ ॥
कुंथुमुवलक्खणं इहइं, सव्वं पच्चक्खदुक्खदं ।
अणुभवमाणो वि जं पाणी, ण य संती तेणुवेक्खइ ।
अन्ने वि गुरुयरे दुक्खे, सव्वेसिं संसारिणं । महा०२ अ०।

नारकतिरश्चां दुःखबाहुल्यं प्रतीतमेव—

''अच्छिनिमीलणमित्तं, नत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं ।
नरए नेरइआणं, अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥१॥
जं नरए नेरइआ, दुक्खं पावंति गोयमा ! तिक्खं ।
तं पुण निगोअमज्झे, अणंतगुणिअं मुणेयव्वं ॥२॥''

मानुष्यके गर्भजन्मजरामरणविविधाधिव्याधिदौस्थ्याऽऽद्युपद्रवैर्दुःखितैव, देवत्वेऽपि च्यवनदास्यपराभवेर्ष्याऽऽदिभिः । ऊचे च—

''सूइहिं अग्गिवण्णाहिं, संभिण्णस्स निरंतरं ।
जारिसं गोअमा ! दुक्खं, गब्भे अट्ठगुणं तओ ॥१॥
गब्भाआ नीहरंतस्स, जोणिजंतुनिपीलणे ।
सवसाहारस्सअं दुक्खं, कोडाकोडीगुणं पि वा ॥२॥
चारगनिरोहवहबं—धरोगधणहरणमरणवसणाइं ।
मणसंतावो अजसो, विग्गोवणया य माणुस्से ॥३॥
चिंतासंतावेहि अ, दारिद्दरुआहि दुप्पउत्ताहिं ।
लद्धूण वि माणुस्सं, मरंति केइँ सुनिव्विण्णा ॥४॥
ईसाविसायमयको—हमायुलोहेहिँ एवमाइएिं ।
देवादिसमभिभूआ, तेसिं कत्तो सुहं नाम? ॥५॥''ध०२अधि०।

दुःखत्रयाभिहतस्य पुरुषस्य तदपृघ तहेतुत्वाद् जिज्ञासोत्पद्यते । आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति दुःखत्रयम् । तत्राऽऽध्यात्मिकं द्विविधम्—शारीरं, मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम् । मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम् । सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम् । बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधाआधिभौतिकमाधिदैविकं चेति । तत्राधिभौतिकं मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृयस्थावरनिमित्तम् । आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाऽऽद्यावेशहेतुकम् । अनेन दुःखत्रयेण रजःपरिणामभेदेन बुद्धिवर्त्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतया अभिसंबन्धोऽभिघातः । (१५) स्या०।

दुक्खी भंते ! दुक्खेणं फुडे ? गोयमा ! दुक्खी दुक्खेणं फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेणं फुडे । दुक्खी भंते ! नेरइए दुक्खेणं फुडे, अदुक्खी नेरइए दुक्खेणं फुडे ?गोयमा ! दुक्खी नेरइए दुक्खेणं फुडे, नो अदुक्खी नेरइए दुक्खेणं फुडे, एवं दंडओ० जाव वेमाणियाणं, एवं पंच दंडगा नेयव्वा—दुक्खी दुक्खेणं फुडे, दुक्खी दुक्खं परियाइयइ,दुक्खी दुक्खं उदीरेइ, दुक्खी दुक्खं वेएइ, दुक्खी दुक्खं निज्जरेइ ।

(दुक्खी भंते ! दुक्खेणं फुडे त्ति) दुःखनिमित्तत्वाद् दुःखं कर्म, तद्वान् जीवो दुःखी भदन्त ! दुःखेन दुःखहेतुत्वात् कर्मणा स्पृष्टो बद्धः, (नो अदुक्खी इत्यादि) नो नैवादुःखी अकर्म्मा दुःखेन स्पृष्टः, सिद्धस्यापि तत्प्रसङ्गादिति । (एवं पंच दंडगा णेयव्व त्ति) एवमि—त्यनन्तरोक्ताभिलापेन पञ्च दण्डका नेतव्याः, तत्र दुःखी दुःखेन स्पृष्ट इत्येक उक्त एव । (दुक्खी दुक्खं परियाइयइ त्ति) द्वितीयः, तत्र दुःखी कर्मवान् दुःखं कर्मपर्यायं ददाति, सामस्त्येनोपादत्ते, निधत्ताऽऽदि करोतीत्यर्थः । (उदीरेइ त्ति) तृतीयः । (वेएइ त्ति) चतुर्थः । (निज्जरेइ त्ति) पञ्चमः । उदीरणवेदननिर्जरणानि तु व्याख्यातानि प्रागिति । भ०७श०१उ०।

(जीवेन कृतं दुःखमिति 'किंभय' शब्दे तृतीयभागे ५२६ पृष्ठे प्रतिपादितम्)

जीवा णं भंते ! किं अत्तकडे दुक्खे, परकडे दुक्खे, तदुभयकडे दुक्खे? गोयमा ! अत्तकडे दुक्खे, णो परकडे दुक्खे, णो तदु—भयकडे दुक्खे । एवं०जाव वेमाणियाणं । भ०१७ श०३उ०।

जघने, दे०ना० ५ वर्ग ४२ गाथा।

दुक्खक्खंध पुं०(दुःखस्कन्ध) असातोदयपरम्परायाम्, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२उ०।

दुक्खक्खम त्रि०(दुःखक्षम) दुःखसहे, दुःखमसातवेदनीयोदय-स्तदुदीर्णं सम्यक् क्षमते सहते न वैक्लव्यमुपयाति नापि तदुपशमार्थं वैद्यौषधाऽऽदि मृग्यते। आचा०२ श्रु०४ चू०१ अ०।

दुक्खक्खय पुं०(दुःखक्षय) शारीरमानसानेकक्लेशविलये, पा०।

दुक्खक्खव पुं०(दुःखक्षय) दुःखमसुखं तत्कारणत्वाद्वा कर्म तत् क्षपय-तीति दुःखक्षयः। असुखक्षये, स्था०४ ठा०१उ०।

दुक्खग्गहण न०(दुःखग्रहण) दुःखराङ्कटे, पं०व०१ द्वार।

दुक्खंत त्रि०(दुःखान्त) दुःखानामन्तो दुःखान्तः। दुःखावसाने, षो०१६ विव०।

दुक्खंतकर त्रि०(दुःखान्तकर) असुखस्य तद्धेतुभूतस्य भवस्य कर्मणो वा विनाशकारिणि, पञ्चा० १४ विव०।

दुक्खत्त त्रि०(दुःखाऽऽर्त्त) दुःखपीडिते, प्रव० ६ द्वार।

दुक्खत्तगवेसण न०(दुःखाऽऽर्त्तगवेषण) दुःखाऽऽर्त्तस्य दुःखपीडितस्य गवेषणमौषधाऽऽदिना प्रतिजागरणं दुःखाऽऽर्त्तगवेषणम्। प्रव० ६ द्वार। दुःखितस्य प्रतीकारकरणे, पञ्चा० १६ विव०।

दुक्खपडिकूल त्रि०(दुःखप्रतिकूल) दुःखद्वेषिणि, आचा०१ श्रु०२ अ०३उ०।

दुक्खपरंपरा स्त्री०(दुःखपरम्परा) दुःखजन्ममरणेषु वियोगाऽऽदिरू-पासु संकष्टश्रेणिषु, आतु०।

दुक्खपरंपराणिसवेयण न०(दुःखपरम्परानिवेदन) दुःखानां शारीर-मानसाशर्म्मलक्षणानां प्रवाहप्ररूपणे, आतु०।

दुक्खपालिया स्त्री०(दुःखपालिता) दुःखेन पालयितुं शक्यायां बालावस्थायाम्, तं०।

दुक्खफास पुं०(दुःखस्पर्श) दुःखं स्पृशतीति दुःखस्पर्शः। असातोदय-विपाकिनि, सूत्र०१ श्रु०८अ०।

दुक्खभय त्रि०(दुःखभय) दुःखान्मरणाऽऽदिरूपाद्भयमेषामितिदुःख-भयाः। मरणाऽऽदिभीतेषु, स्था०३ठा०२उ०।

दुक्खमज्जिय पुं०(अर्जितदुःख) अर्जितमुपार्जितं दुःखं यैस्ते अर्जित दुःखाः। मकारोऽलाक्षणिकः, प्राकृतत्वात्परनिपातः। सञ्चितदुःखे, उत्त०६अ०।

दुक्खमत्ता स्त्री०(दुःखमात्रा) दुःखलेशे, आचा०१ श्रु०३ अ०४उ०।

दुक्खमा स्त्री०(दुःषमा) अधमकालाख्यायाम्, दश०१ चू०।

दुक्खमोक्ख त्रि०(दुःखमोक्ष) दुःखानामसातोदयजनितानां विनाशे, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

दुक्खर त्रि०(दुष्कर) दुःखेन क्रियते इति दुष्करः। दुरनुष्ठाने उत्त०३अ०।

दुक्खरक्खिया स्त्री०(दुःखरक्षिता) कष्टेन रक्षणयोग्यायाम्, ''दुक्खर-क्खियाओ।'' तं०। दुःखरक्षिताः कष्टेन रक्षणयोग्या यौवनावस्थायां (स्त्रियः) तं०।

दुक्खरिय पुं०(दुष्करिक) दासे, नि०चू०१६ उ०।

दुक्खरिया स्त्री०(दुष्करिका) दास्याम्, महाश्राद्ध्याम्, नि०चू० १६ उ०। वेश्यायां च। नि०चू०१ उ०।

दुक्खविमोक्ख पुं०(दुःखविमोक्ष) घातिकर्मभवोपग्राहिकमदविमोक्षे, पं०व०४ द्वार।

दुक्खविमोक्खय पुं०(दुःखविमोक्षक) दुःखविमोचके, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२उ०।

दुक्खविमोयग पुं०(दुःखविमोचक) अष्टप्रकारकर्माऽपनेतरि, सूत्र०१ श्रु०६अ०।

दुक्खसंभव पुं०(दुःखसंभव) दुःखस्य संभवो येषु ते दुःखसम्भवः। दुःखभाजनेषु, दुःखं करोति ततो दुःखयतीति वा दुःखं पापकर्म, ततः संभव उत्पत्तिर्येषां ते दुःखसम्भवाः। पापकर्मजेषु, उत्त० ६ अ०।

दुक्खसंभार पुं०(दुःखसम्भार) दुःखबाहुल्ये, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

दुक्खसमुदीरण त्रि०(दुःखसमुदीरण) असुखप्रवर्तके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

दुक्खसह त्रि०(दुःखसह) परीषहोपसर्गकृतं दुःखं सहते इति दुःखसहः। आचा०१ श्रु०८अ०४उ०। परीषहजेतरि, दश०७ अ०।

दुक्खावणता स्त्री०(दुःखापनता) ताशब्दोऽत्र प्राकृतः। मरणलक्षण-दुःखप्रापणायाम्, इष्टवियोगाऽऽदिदुःखहेतुप्रापणायां च। भ०३ श०३उ०।

दुक्खाविज्जंत त्रि०(दुःखाव्यमान) दुःखमनुभाव्यमाने, आ०म०१ अ०२ खण्ड।

दुक्खासिया स्त्री०(दुःखासिका) उपसर्गाऽऽदिसम्पाद्यवेदनायाम्, स्था०३ ठा०४उ०। आचा०।

दुक्खाहड त्रि०(दुःखाऽऽहृत) दुःखेनाऽऽह्रियते इति दुःखाऽऽहृतम्। दुःखोत्पाद्ये, उत्त०७अ०।

दुक्खि(ण्) त्रि०(दुःखिन्) दुःखमसातवेदनीयमुदयेन यत् प्राप्तं तत्कारणं वा दुःखयतीति दुःखं, तदस्यास्तीति दुःखी। दुःखविशिष्टे, सूत्र०१श्रु०२ अ०३उ०। आचा०।

दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विदेज्ज सिलाघ पूयणं।
एवं सहितेऽहिपासए, आयतुलं पालेहि संजए॥१२॥

दुःखमसातवेदनीयोदयेन यत्प्राप्तं तत्कारणं वा, दुःखयतीति दुःखं, तदस्यास्तीति दुःखी सन् प्राणी पौनःपुन्येन मोहं याति सदसद्वि-वेकविकलो भवति। इदमुक्तं भवति– असातोदयाद् दुःखमनुभवन्नार्तो मूढस्तत्करोति येन पुनः पुनः सुखी संसारसागरमनन्तमस्येति तदेवंभूतं मोहं परित्यज्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय निर्वेद्यते जुगुप्सेत परिहरेदात्मश्लाघां स्तुतिरूपाम्, तथा पूजनं वस्त्राऽऽदिलाभरूपं परिहरेत्। एवमनन्तरोक्तरीत्या परिवर्तमानः सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानाऽऽदियुक्तो वा संयतः प्रव्रजितोऽपरप्राणिभिः सुखार्थि-भिरात्मतुलामात्मतुल्यतां दुःखाप्रियत्वसुखप्रियत्वरूपामधिकं पश्येत्,

आत्मतुल्यान् सर्वानपि प्राणिनः पालयेदिति ॥१२॥सूत्र०१ श्रु० २अ०३उ०।

दुक्खिय त्रि०(दुःखित) **''दुःखदक्षिणतीर्थे वा''** ॥८।२।७२॥ इति संयुक्तस्य वा हः। 'दुहं। दुक्खं।' प्रा०२ पाद। **''निर्दुरोर्वा''** ॥८।१।१३॥ इति दुरोऽन्त्यव्यञ्जनस्य वा लुक्। ''दुक्खिओ। दुहिओ।'' प्रा०१ पाद। दुःखमसाताऽऽत्मकं जातमेवामिति दुःखिताः। जातदुःखेषु, उत्त०३अ०। ''परदुक्खेण दुक्खिआ विरला।'' प्रा०२ पाद। रोगाऽऽदिपीडालक्षव्याप्ते, त०।

दुक्खुच्छेयट्ठि(ण्) पुं०(दुःखोच्छेदार्थिन्) संसारक्लेशजिहासुषु, द्वा०२२ द्वा०।

दुक्खुण्णेय त्रि०(दुःखोन्नेय) कृच्छ्रबोध्ये, जीवा०३३ अधि०।

दुक्खुत्त अव्य०(द्विःकृत्वस्) द्वौ वारावित्यर्थे, स्था०५ ठा०२ उ०।

दुक्खुव्वेय पुं०(दुःखोद्वेग) दुःखादुद्वेगो यस्य स दुःखोद्वेगः। दुःखोद्विग्ने, ''दुक्खुव्वेयसुहेसए।'' सुखस्यैषकः सुखैषकः दुःखोद्वेगश्चासौ सुखैषकश्च दुःखोद्वेगसुखैषकः। आचा०१ श्रु०२ अ०३उ०।

दुखुर पुं०(द्विखुर) द्वौ खुरौ प्रतिपदं येषां ते द्विखुराः। प्रज्ञा०१ पद। गोमहिषाऽऽदिषु, सूत्र०२ श्रु०३अ०। उत्त०। स्था०। जी०।

दुग न०(द्विक) द्वैक्रियनिह्नवे, उत्तरपदलोपादेकसमये द्वे क्रिये समुदिते द्विक्रियं, तदधीयते तद्वादिनो वा द्वैक्रियाः। कालभेदेन क्रियानुभयप्ररूपिण इत्यर्थः। आ०म०१अ०२खण्ड। उत्त०। स्था०। द्वौ साधर्म्मिकौ संविग्नसांभोगिकाऽऽदिरूपावेकत एकस्मिन् स्थाने समुदितौ विहरतः, तत्रैकोऽन्यतरत् अकृत्यं स्थाने प्रतिसेव्य आलोचयेत्। यद्यगीतार्थः प्रतिसेवितवान् ततस्तस्मै शुद्धतपो दातव्यम्। अथ गीतार्थस्तर्हि यदि परिहारतपोयोग्यमापन्नस्ततः परिहारतपो दद्यात्, तदनन्तरं स्थाप्यते विवित्तं कृत्वा प्ररूप्यते इति स्थापनीयं परिहारतपोयोग्यमनुष्ठानं तत्। स्थापयित्वा प्ररूप्य य आपन्नः स परिहारतपः प्रतिपद्यते, इतरः कल्पस्थितो भवति, स एव च तस्यानुपारिहारिकस्तातस्तेन तस्य करणीयवैयावृत्त्यमित्येष सूत्रसंक्षेपार्थः।

अधुना निर्युक्तिविस्तरः–

दोसाहम्मिय छव्वारसेव लिंगम्मि होइ चउभंगो।
चत्तारि विहारम्मि उ, दुविहो भावम्मि भेदो उ ॥३॥

द्विशब्दस्य, साधर्म्मिकशब्दस्य च यथाक्रमं षट् द्वादश नामाऽऽदयो निक्षेपाः, द्विशब्दस्य षट्, साधर्म्मिकशब्दस्य द्वादशको निक्षेप इत्यर्थः। लिङ्गे लिङ्ग विषये चतुर्भङ्गी भवति। सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्। तथा विहारे चत्वारो नामाऽऽदयो निक्षेपाः। तत्र भावे द्विविधो भेदः। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः। व्यासार्थं च प्रतिपदमभिधित्सुः प्रथमतो द्विशब्दस्य षट्कनिक्षेपमाह–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य होइ बोधव्वो।
भावे य दुगे एसो, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥४॥

नामद्विकं, स्थापनाद्विकं, द्रव्ये द्रव्यविषयं द्विकम्, एवं क्षेत्रद्विकं कालद्विकं च भवति बोद्धव्यं, तथा भावे च भावविषयं च द्विकम्, एतद् द्विके द्विशब्दस्य षट्को भवति निक्षेपः। तत्र नामद्विकं द्वे नामनी। अथवा यस्य द्विकमिति नाम तन्नामद्विकं, स्थापनद्विकं द्वे स्थापने, द्विकस्य स्थापना वा द्विकम्।

संप्रति द्रव्यक्षेत्रकालद्विकप्रतिपादनार्थमाह–

चित्तमचित्तं एक्के–क्कयस्स जे जत्तिया दुगे भेया।
खेत्ते दुपएसाऽऽदी, दुसमयमादी उ कालम्मि ॥५॥

द्रव्यद्विकं द्विविधम्–आगमतो, नो आगमतश्च। तत्राऽऽगमतो द्विकशब्दार्थज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तः। नोआगमतस्तु त्रिविधम्, ज्ञशरीरभव्यशरीरतद् व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्राग्वत्। तद्व्यतिरिक्तं सचित्तमचित्तं च। एकैकस्य ये यावन्तो द्विकभेदाः संभवन्ति ते सर्वे वक्तव्याः। ते चेमे–सचित्तं द्रव्यं द्विकं द्विधा–संसारस्थं निर्वृत्तं च। संसारस्थं द्विधा–एकेन्द्रियम्, अनेकेन्द्रियं च। तत्रैकेन्द्रियं पञ्चप्रकारम्–पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिभेदात्। एकैकमपि द्विधापर्याप्तम्, अपर्याप्तं च। अनेकेन्द्रियं द्विधाविकलेन्द्रियं, पञ्चेन्द्रियं च। विकलेन्द्रियं त्रिधा–द्वित्रिचतु–रिन्द्रियभेदात् (?) पुनः प्रत्येकं द्विधा–पर्याप्तम्, अपर्याप्तम्। पञ्चेन्द्रियं द्विधा–संख्यातवर्षाऽऽयुष्कम्, असंख्यातवर्षाऽऽयुष्कं च। एकैकं द्विधा–पर्याप्तम्, अपर्याप्तं च। निर्वृत्तमपि द्विधा–अनन्तरसिद्धम्, परम्परसिद्धं च। अथवा–सचित्तं त्रिविधम्। तद्यथा–द्विपदं, चतुष्पदम्, अपदं च। तत्र द्विपदं द्वौ पुरुषावित्यादि। चतुष्पदं द्वौ बलीवर्दावित्यादि। अचित्तं द्वौ परिमाणू द्वौ द्विप्रदेशिकौ, द्वौ त्रिप्रदेशकौ, यावद् द्वौ सङ्ख्यातप्रदेशिकौ, द्वावनन्तप्रदेशिकौ। संख्यातस्य सङ्ख्याता भेदाः। असंख्यातस्य असंख्याताः। अनन्तस्य अनन्ताः। उक्तं द्रव्यद्विकम्। आह–(खेत्ते दुपदेसादी) क्षेत्रे क्षेत्रविषयं द्विप्रदेशाऽऽदि द्वावाकाशप्रदेशावादिशब्दाद् द्विप्रदेशावगाढं वा द्रव्यं क्षेत्रद्विकं, क्षेत्रे द्विके तस्यावस्थानात्। यदिवातस्य द्वे भारते, द्वे ऐरावते इत्यादिपरिग्रहः। उक्तं क्षेत्रद्विकम्। कालद्विकमाह–द्विसमयाऽऽदिकं, द्वौ समयावादिशब्दाद् द्वे आवलिके, द्वौ मुहूर्त्तावित्यादिपरिग्रहः। अथवा–द्विसमयस्थितिकं द्रव्यं कालद्विके अवस्थानात् कालद्विकमादिशब्दाद् द्व्यावलिकास्थिति–काऽऽदिपरिग्रहः। उक्तं कालद्विकम्।

अधुना भावद्विकमाह–

(भावे पसत्थमपसत्थगं च दुविधं दुयं च णायव्वं।
अविरयपमायमेव य, अपसत्थं होति दुविधं तु ॥६॥
भावे पसत्थमियरं, होइ पसत्थं तु नाणे णोनाणे।
केवलछउमत्थ नाणे, नो नाणे दिट्ठि चरणे य ॥६॥

भावद्विकं द्विधा–आगमतो, नोआगमतश्च। तत्राऽऽगमतो द्विकशब्दार्थज्ञाता, तत्र चोपयुक्तः। ''उपयोगो भावनिक्षेपः'' इति वचनात्। नोआगमतो द्विधा। तद्यथा–प्रशस्तम्, इतरच्च। इतरं नामाऽप्रशस्तम्। तच्चेदम्–रागो, द्वेषश्च। प्रशस्तं द्विधाज्ञानं, नोज्ञानं च। तत्र ज्ञाने ज्ञानविषयं द्विकमिदम्। तद्यथा–कैवलिकं, छाद्मस्थिकं च। नो ज्ञाने नोज्ञानविषयं द्विकम्–दृष्टिः, चरणं च। दृष्टिः सम्यक्त्वं, चरणं चारित्रम्।

एतदेव सप्रभेदं प्ररूपयति–

एक्केक्कं पि य तिविहं, सद्धाणे नत्थि खइएँ अइयारो।
उवसामिएसु दोसु अ, अइयारो होज्ज सेसेसु ॥७॥

एकैकमपि दर्शनं, चरणं च, प्रत्येकमित्यर्थः। त्रिविधं त्रिप्रकारम्। तद्यथा–क्षायिकम्, औपशमिकं, क्षायोपशमिकं च। तत्र क्षायिकं सम्यक्त्वं क्षायिकसम्यग्दृष्टावौपशमिकमुपशमश्रेण्यां, शेषकालं क्षायोपशमिकं, चरणमपि क्षायिकं क्षपकनिर्ग्रन्थस्य, औपशमिकमुपशमिकश्रेण्याम्, अन्यदा क्षायोपशमिकं, तत्र क्षायिके ज्ञाने दर्शने चारित्रे च स्वस्थाने नास्त्यतीचारः। तथाहि–केवलिनस्त्रिष्वपि ज्ञानदर्शनचारित्रेषु क्षायिकेषु वर्तमानस्य न तद्विषया काचिदपि विराधना। परस्थानेषु संभवेदपि, तथा श्रुतकेवल्यादेः क्षायिके दर्शने वर्तमानस्य दर्शने नास्ति विराधना, ज्ञानचरणयोस्तु भजनेति। (उवसामिएसु दोसु त्ति) द्वयोर्दर्शनचरणयोरौपशमिके भावे वर्तमानयोः स्वस्थाने चाऽस्त्यतीचारः, औपशमिकं हि दर्शनं चारित्रं नियमादुपशमश्रेण्यां भवति, तत्र कषायाणामुपशान्तत्वान्नास्ति कश्चिदतीचारसम्भवः। ज्ञानविराधनात् सम्भवेदप्यनुयोगतोऽन्यथा प्ररूपणाचिन्तनाऽऽदिसम्भवात्। उपशमश्रेणीतः पाते तु भवत्यतीचारः, औदयिकभावे वर्तमानत्वात्। शेषेषु पुनः क्षायोपशमे स्वस्थाने चातिचारो भवेत्, क्षायोपशमिकत्वात्।

एतदेवाऽऽह–

सट्ठाण परट्ठाणे, खओवसमिएसु तीसु वी भयणा।
दंसणउवसमखइए, परठाणे होति भयणा उ ॥८॥

क्षायोपशमिके भावे वर्तमानेषु त्रिष्वपि ज्ञानाऽऽदिषु स्वस्थाने परस्थाने चातिचारः, कदाचिद् भवति, कदाचिन्न भवतीत्यर्थः। दर्शने, उपलक्षणमेतत्, चरणे च, औपशमिके क्षायिके च स्वस्थानेऽतीचारो भवति, परस्थाने तु भजना।

अत्र येन द्विकेनाधिकारः तदभिधित्सुराह–

दव्वदुए दुपएणं, सच्चित्तेणं च एत्थ अहियारो।
मीसेणोदइएण य, भावम्मि वि होति दोहिं पि ॥९॥

अत्र द्रव्यद्विकेन चाऽधिकारः–तत्र द्रव्यद्विकेन सचित्तेन तेनाऽपि च द्विपदेन साधर्म्मिकद्वयस्य चिन्त्यमानत्वात्, भावे मिश्रेण क्षायोपशमिकेन औदयिकेन चेति द्वाभ्यां भावाभ्यामधिकारः। अनयोरेव द्वयोर्भावयोर्वर्त्तमानस्यातीचारसंभवात्। व्य०२उ०। द्वौ ककारौ यत्रासौ द्विकः। कृतके, पुं०। रत्ना०८परि०।

दुगुंछ धा०(गुप) कुत्सने, भ्वा०–आत्म०–अक०–सेट्। वाच०। **''जुगुप्सेर्ह्रुणदुगुच्छदुगुञ्छाः''** ॥८।४।४॥ इति जुगुप्सेर्दुगुच्छदुगुञ्छावादेशौ। 'दुगुच्छइ। दुगुछइ।' प्रा०४ पाद। जुगुप्सते। अजुगुप्सिष्ट। वाच०।

दुगुंछग पुं०(जुगुप्सक) गर्हके, आव०३ अ०। मुनीनां जुगुप्सां कर्तुं योग्यायां योषिति, तं०।

दुगुंछण न०(जुगुप्सन) गर्हणे, आचा०१ श्रु०१ अ०७उ०।

दुगुंछमाण त्रि०(जुगुप्समान) गर्हमाणे, सूत्र०२ श्रु०६ अ०।

दुगुंछा स्त्री०(जुगुप्सा) लोकविहितायां निन्दायाम्, विशे०। आ०चू०। उत्त०। सूत्र०। आचा०। यत्पुनरस्नानदन्तधावनमण्डलीभोजनाऽऽदिकमपरं मृतकलेवरविष्ठाऽऽदिकं जुगुप्सते सा जुगुप्सा। साध्वाचारनिन्दारूपे आन्तरग्रन्थे, बृ०१ उ०२ प्रक०। ''अण्हाणमाइएहिं, साहुं तु दुगुंछति दुगुंछा।'' उत्त०४अ०। जुगुप्सा प्रवचनखिंसा विकृताङ्गदर्शनेन मा भूदित्येवं प्रत्ययो यत्र तत्तथा। प्रवचननिन्दायाम्, स्था० ठा०३उ०।

दुगुंछाकम्म न०(जुगुप्साकर्म) यदुदयने च विष्ठाऽऽदिवीभत्सपदार्थेभ्यो जुगुप्सते तज्जुगुप्साकर्म। कर्मभेदे, स्था०१० ठा०।

दुगुंछामोहणीय न०(जुगुप्सामोहनीय) यदुदयात्सनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्याशुभवस्तुविषया जुगुप्सा भवति, तज्जुगुप्सामोहनीयम्। कर्म०१ कर्म०। यदुदयवशात्पुनर्जन्तोः शुभाशुभवस्तुविषयं व्यलीकमुपजायते तज्जुगुप्सामोहनीयम्। कर्मभेदे, कर्म०६ कर्म०।

दुगुंछिउं अव्य०(जुगुप्सित्वा) धिग्मां पापकारिणमित्यादिना निन्दां कृत्वेत्यर्थे, ध०२अधि०।

दुगुंछिय त्रि०(जुगुप्सित) गर्हिते, आचा०२ श्रु०१ चू०१अ०१उ०। जुगुप्सितावद्यगर्हिताः समानार्थाः। आ०म०१अ०२खण्ड।

दुगुंछियकुल न०(जुगुप्सितकुल) छिम्पकाऽऽदिकुलेषु, ओघ०। चर्मकारकुलाऽऽदिषु, आचा०२ श्रु० १ चू०१ अ०२उ०।

सूत्रम्–

जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥२६॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वसहिं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥२८॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥२९॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झाइयं उद्दिसइ, उद्दिसंतं वा साइज्जइ ॥३०॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं समुद्दिसइ, समुद्दिसंतं वा साइज्जइ ॥३१॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं अणुजायइ, अणुजायंतं वा साइज्जइ ॥३२॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥३३॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥३४॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं परियट्टेइ, परियट्टंतं वा साइज्जइ ॥३५॥

चउलहुं तेसिं पच्छित्तं।

तेसिं इमे भेदा, सरूवं च। गाहा–

दुविहा दुगुंछिता खलु, इत्तरिया हों ति आवकहिया य।
एएसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥६६१॥
सूयगमातंगकुला, इत्तरिया ते य होंति निज्जूढा।
जे तत्थ जुंगिता खलु, ते होंती आवकहिया य ॥६६२॥

णिज्जूढा जे वण्णकया सलीगपडिय त्ति, आवकहिगाजे जत्थ विसए जात्था दिज्जुंगिता, जहा दक्खिणापहे लोहे लोहकारकल्ला, लाडेसु णडवरुडचम्मकारादि ते आवकहिया।

गाहा–

तेसु असणवत्थादी, वसही अहव वायणादीणि।

जे भिक्खू गिण्हेज्जा, विसेज्ज कुज्जा व आणादी ॥६६३॥

असणवत्थादियाण गहणं, जो वसहीए वा विसेज्ज प्रविसति, वायणादि वा सज्झायं कुज्जा, तस्स आणादियो दोसा।

गाहा–

अयसो पवयणहाणी, विप्परिणामो तह दुगुंछा य।
तेसिं च होति संका, सव्वे एयारिसा समणा ॥६६४॥
असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अद्धाणरोहए वा, अयाणमाणे वि वितियपदं ॥६६५॥

सर्वे साधवो नीचा इत्यादि अयसः, असंभोज्जसंपक्क त्ति कश्चित्प्रव्रजतीति एवं पवयणहानी, अभोज्जे दुभक्तादिग्रहणं दृष्ट्वा धर्म्माभिमुखा पूर्वप्रतिपन्नगा वा विपरिणमंते, स्वपाकादिसमाना इति जुगुप्सा, जेसु वि गेण्हइ तेसु वि संकासव्वे एयलिंगधारिणो एते एयारिस त्ति अहं परिसो। इमो अववादो।

एतेहिं असिवादिकारणेहिं जया घेप्पति तदा पण–

गपरिहाणी, जाहे चउलहुं पत्तो ताहे इमाए

जयणाए गेण्हति। गाहा–

अण्णत्थ व ठावेउं, लिंगविवेगं च काउ पविसेज्जा।
काऊण व उवओगं, अदिट्ठमत्तादिसंवरितो ॥६६६॥

सो दुगुंछितो असणवत्थादी अप्पसारियं अण्णत्थ सुण्णघरादिसु ठवाविज्जति, तं वि पच्छा गेण्हति, अहवा रओहरणादि उवकरणं अण्णत्थ ठवेत्तु सरक्खादि परलिंगं काउं जहा अहसादिदोसा ण भवंति, तहा पविसिउं गेण्हति। अहवा मज्झण्हादिविअणकाले दिग्गावलोयणं काउं अण्णेण अदिस्संतो मेत्तयं पत्तं वा वासकप्पमादिणा सुद्ध आवरेत्ता पविसति, गेण्हइ पच्छा दियं पि जहा अविरुद्धं तहा गेण्हति, वसहिं अन्नत्थ अलभंतो बाहिं सावयतेणभएसु वसहिं गेण्हिज्जइ, जहा ण णज्जति सज्झायं ण करेति, रायदुट्ठादिषु अतिगतो अप्पसागारिसज्झायज्झाणधम्मकहादी वि करेज्ज। नि०चू०१३ उ०।

दुगुण त्रि०(द्विगुण) द्विरावृत्ते, सूत्र०१ श्रु०४ अ०१उ०। आचा०। स०। ''दुगुणं करेइ स पावं।'' सूत्र०१ श्रु०४ अ०१उ०।

दुगुल्ल न०(दुकूल) गौडविषये विशिष्टे कार्पासिके वस्त्रे, आचा०२ श्रु०१ चू०५ अ०१उ०। जी०। दुकूलो वृक्षविशेषस्तस्य वल्कलं गृहीत्वोदूषले जलेन सह कुट्टयित्वा बुसीकृत्य च सूत्रीकृत्य वयते यत्तद् दुकूलम्। जं०२ वक्ष०। प्रश्न०। दुकूलाभिधानवृक्षत्वग्–निष्पन्ने वस्त्रजातविशेषे, भ०११ श०११ उ०। जी०। ज्ञा०। सू०प्र०। आ०म०। दशा०। नि०चू०। ''दुगुल्लपट्टपडिच्छण्णे।'' दुकूलं वस्त्रं तस्य यः पट्टो युगलापेक्षया एकपट्टः, तेन आच्छादितः। कल्प०२ क्षण। रा०।

दुगूल न०(दुकूल) 'दुगुल्ल' शब्दार्थे, आचा०२ श्रु०१ चू०५ अ०१उ०।

दुगोय न०(द्विगोत्र) गोत्रवेदनीयकर्म्मद्विके, कर्म्म०। ''गोयवेयणियं।'' इतिवचनाद्गोत्रवेदनीयस्वरूपं तत्र गोत्रमुच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रभेदाद् द्विधा। सातासातभेदाद्वेदनीयमपि द्विधा, इत्येताश्चतस्रः प्रकृतयो गोत्रद्विकशब्देन गृह्यन्ते। कर्म०५ कर्म०।

दुग्ग त्रि०(दुर्ग) दुःखेन गम्यतेऽसौ कर्मणि–डः। विषमे, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०। गहने, दुर्विज्ञेये, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१ उ०। दर्श०। अपराजितायां नील्यां च। स्त्री०। गुग्गुलौ, पुं०। दुःखेन गच्छत्यत्र। दुर्गमआधारे डः। पर्वताऽऽदिभिर्दुर्गमे पुरे कोट्टे (किला) (गढ) इतिख्याते दुर्गमदेशे, उच्छिन्ने, दुःखेन संस्तरे संसारे, न०। वाच०। खातवलयप्राकाराऽऽदिदुर्गमे, भ०७ श०६ उ०। स्तेनपरचक्राऽऽद्यगम्यस्थाने च। बृ०३ उ०। भ०। जं०। कष्टसाध्ये, भ०६ श० ३उ०। दुःखाऽऽश्रयणीये, भ०५ श०६ उ०। पर्वताऽऽदिदुर्गमिव कथमपिलङ्घयितुमशक्ये, स्था०५ ठा०२उ०। दुर्गमप्रवेशे च। विपा०१ श्रु०३ अ०। दशा०।

तिविहं च होति दुग्गं, रुक्खे सावऐ मणुस्सदुग्गं वा।
निक्कारणम्मि गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥११२॥

त्रिविधं च भवति दुर्गम्। तद्यथा–वृक्षदुर्ग, श्वापददुर्ग, मनुष्यदुर्ग च। यद् वृक्षैरतीव गहनतया दुर्गमं, यत्र वा पथि वृक्षः पतितस्तद् वृक्षदुर्गम्। यत्र व्याघ्रसिंहाऽऽदीनां भयं तत् श्वापददुर्गम्। यत्र म्लेच्छबोधिकाऽऽदीनां मनुष्याणां भयं तन्मनुष्यदुर्गम्। एतेषु त्रिष्वपि दुर्गेषु यदि निष्कारणे निर्ग्रन्थीं गृह्णाति अवलम्बते वा चतुर्गुरु, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः। बृ०६ उ०। दुःखे, कष्टयां च। दे०ना०५ वर्ग ५३ गाथा।

दुग्गइ स्त्री०(दुर्गति) दुष्टा गतिर्दुर्गतिः। दुष्टायां गतौ, स्था०।

तओ दुग्गइओ पण्णत्ताओ। तं जहा–णेरइयदुग्गई, तिरिक्खजोणियदुग्गई, मणुस्सदुग्गई (देवदुग्गई)॥

मनुष्यदुर्गतिर्दुःखितमनुष्यापेक्षया, देवदुर्गतिः किल्विषिकाऽऽद्यपेक्षया इति। स्था०४ ठा०१उ०। आतु०।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुग्गइं गच्छंति। तं जहा–पाणाइवाएणं० जाव परिग्गहेणं। स्था०५ ठा०१उ०।

''तओ जिए सइं होइ, दुविहं दोग्गइं गए। दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिरादवि ॥१८॥'' उत्त०७अ०।

दुग्गइगय त्रि०(दुर्गतिगत) दुर्गतिं प्राप्ते, स्था०४ ठा०३उ०।

दुग्गइगामि(ण्) त्रि०(दुर्गतिगामिन्) दुर्गतिं नारकतिर्यग् रूपामयन्ति प्राणिनमिति दुर्गतिगामिन्यः। दुर्गतिगमनहेतौ, तिस्रो लेश्याः दुर्गतिगमनहेतवः। स्था०३ ठा०४उ०। दुगतो दरिद्रः सन् दुर्गतिं गमिष्यतीति दुर्गतिगामी। दुर्गतिगमनशीले च। पुं०। स्था०४ ठा०३उ०।

दुग्गइपहदायग पुं०(दुर्गतिपथदायक) तिर्यग्नारककुमानुषकुदेवरूपदुर्गतिमार्गप्रापके, ग०२ अधि०।

दुग्गइप्पवाअ त्रि०(दुर्गतिप्रपात) दुर्गतौ नरकाऽऽदिकायां कर्तारं प्रपातयतीति दुर्गतिप्रपातः। दुर्गतौ वा प्रपातो यस्मात् स तथा। दुर्गतिपतनहेतौ, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

दुग्गइफल त्रि०(दुर्गतिफल) दुर्गतिः फलं यस्य स दुर्गतिफलः। सूत्र०१ श्रु०११ अ०। कुदेवत्वाऽऽदिप्रयोजने, पञ्चा०४ विव०।

दुग्गइफलवाइ(ण्) पुं०(दुर्गतिफलवादिन्) दुर्गतिः फलं यस्य स दुर्गतिफलः, तद्वदनशीला दुर्गतिफलवादिनः। दुर्गतिफलमार्गोपदेष्टरि मिथ्यादृष्टौ, सूत्र०१ श्रु०११अ०।

दुग्गइवड्ढण न०(दुर्गतिवर्द्धन) संसारवर्द्धने, दश०६ अ०।

दुग्गउ पुं०(दुर्गो) गलिबलीवर्दे, दश०६अ०२उ०।

दुग्गंध पुं०(दुर्गन्ध) दुष्टो गन्धो दुरभिगन्धो यस्यासौ दुर्गन्धः। दुरभिगन्धयुक्ते, दर्श०३ तत्त्व। दुरभिगन्धे, स्था०३ ठा०६ उ०। भ०। आचा०।

दुग्गग्गहण न०(दुर्गग्रहण) पर्वतवनाऽऽदिदुर्गाऽऽश्रयणे, पञ्चा० ३ विव०।

दुग्गद्दि पुं०(दुर्गाद्रि) विषमपर्वते, अष्ट० २३ अष्ट०।

दुग्गम त्रि०(दुर्गम) दुःखेन गम्यते इति दुर्गमः। कृच्छ्रगतिके, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। गन्तुमशक्ये, अष्ट०२२ अष्ट०। दुस्तरे, सूत्र०१ श्रु०२ अ०२उ०। कृच्छ्रवृत्तौ, स्था०५ ठा०१ उ०। दुःखेन गम्यत इति दुर्गमम्। भावसाधनोऽयम्, कृच्छ्रवृत्तिरित्यर्थः। तद्भवति विनेयानामृजुजडत्वेन, वक्रजडत्वेन च। स्था०५ ठा०१उ०।

दुग्गय त्रि०(दुर्गत) दुर्गतिरेषामस्तीत्यचि प्रत्यये दुर्गतः। दुस्थे, स्था०४ ठा०१उ०। प्रश्न०। दरिद्रे, धनविहीने, ज्ञानविहीने च पुरुषे, स्था०६ठा०३उ०।

तओ दुग्गया पण्णत्ता। तं जहा–णेरइयदुग्गया, तिरिक्ख–जोणियदुग्गया, मणुस्सदुग्गया। स्था०३ठा०३उ०।

''दुग्गयरयणाऽऽयररयणग्गहणतुल्लं (४०)।'' दुर्गतस्य दरिद्रस्य रत्नाकरे विचित्रमाणिक्योत्पादस्थाने प्राप्तस्य यद्रत्नग्रहणं माणिक्योपादनं तेन यत्तुल्यं सदृशमभिलाषोपरमाभावसाधर्म्यात्तद् दुर्गतरत्नाऽऽकररत्नग्रहणतुल्यम्। पञ्चा०१२विव०।

दुग्गयणारी स्त्री०(दुर्गतनारी) दारिद्र्योपहतयोषायाम्, पञ्चा०६ विव०।

दुग्गयभव पुं०(दुर्गतभव) दरिद्रकुलोत्पत्तौ, बृ०६ उ०।

दुग्गयसुय पुं०(दुर्गतसुत) दरिद्रपुत्रे, पं०व०३ द्वार।

दुग्गसामि पुं०(दुर्गस्वामिन्) सिद्धर्षिगुरुभ्रातुर्दैलामहत्तरस्य शिष्ये, सिद्धर्षिकृतस्य उपमितभवप्रपञ्चस्य प्रथमादर्श एतत्साध्वीभिर्लिखितः। जं०इ०।

दुग्गह पुं०(दुर्ग्रह) दुर्गृहीतत्वे, द्वा०१२ द्वा०।

दुग्गा स्त्री०(दुर्गा) महिषाऽऽरूढायामार्य्यायाम्, ग०२ अधि०। आचा०। अनु०।

दुग्गावी स्त्री०(दुर्गादेवी) **''दुर्गादेव्युदुम्बरपादपतनपादपीठे–ऽन्तर्दः''** ॥८।१।२७०॥ इति सस्वरस्य मध्ये वर्त्तमानस्य दकारस्य वा लुक्। 'दुग्गावी।' महिषाऽऽरूढायामार्य्यायाम्, प्रा०१ पाद।

दुग्गूढ त्रि०(दुर्गूढ) दुर्गोपिति, नि०चू०१उ०। प्रच्छन्नप्रदेशाऽऽदिभाविनि च। व्य०७उ०।

दुग्घडघडिय त्रि०(दुर्घटघटित) दुराच्छादनया स्पृष्टे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

दुग्घास पुं०(दुर्ग्रास) दुर्भिक्षे, बृ०३उ०।

दुग्घुट्ट (देशी) हस्तिनि, दे०ना० ५ वर्ग ४४ गाथा।

दुघण पुं०(द्रुघण) द्रुहन्ति अनेन। हन करणे अप्, ह्रस्वः कुत्वं च। मुद्गरे, परश्वधे भूमिकम्पे च। वाच०। अनु०। सूत्र०। चट्टकरे च। प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

दुचक्कमूल न०(द्विचक्रमूल) गन्त्रीसमीपे, औ०।

दुच्चय त्रि०(दुस्त्यज) दुःखेन त्यक्तुं योग्ये, भ०७श०१उ०।

दुच्चर त्रि०(दुश्चर) दुःखेन चर्य्यतेऽस्मिन्निति दुश्चरः। दुःखेन चर्य्यन्त इति दुश्चराणि। ग्रामाऽऽदिषु, आचा०१ श्रु० ६ अ० ३उ०।

दुच्चरलाढचारि(ण्) पुं०(दुश्चरलाढचारिण्) दुश्चरश्चासौ लाढस्तं चीर्णवान् विहृतवान् सः। दुःश्चरे देशे ग्रामे च विहारं कृतवति, आचा०१ श्रु०१ अ०३उ०।

दुच्चिण्ण न०(दुश्चीर्ण) मृषावादनपारदार्य्याऽऽदौ दुश्चरिते, तद्धेतुके कर्म्मणि च। ज्ञा०१ श्रु०१६अ०। विपा०। स्था०। औ०। बृ०।

दुच्चेट्ठिय न०(दुश्चेष्टित) दुष्टं प्रतिषिद्धं धावनवल्गनाऽऽदिकार्यक्रियारूपं चेष्टितं यत्र तत्तथा। प्रतिषिद्धे धावनवल्गनाऽऽदौ कायक्रियारूपे चेष्टिते, तदुद्भवे च। ध०२ अधि०।

दुच्चंडिअ (देशी) दुर्ललिते, दुर्विदग्धे च। दे०ना० ५ वर्ग ५५ गाथा।

दुच्चंबाल (देशी) कलहनिरते, दुश्चरिते, परुषवचने च। दे०ना० ४ वर्ग ५४ गाथा।

दुच्चिंतिय न०(दुश्चिन्तित) दुष्टमार्तरौद्रध्यानतया चिन्तितं यत्र स तथा। आर्त्तरौद्रध्यानतया चिन्तिते, तदुद्भवे च। ध०२ अधि०। जीत०। आ०चू०।

दुच्छक्क त्रि०(द्विषट्क) द्वादशभेदे, ध०२ अधि०।

दुजडि (ण्) पुं०(द्विजटिन्) चतुरशीतितमे महाग्रहे, ''दो दुजडी।'' स्था०२ ठा०३उ०। चं०प्र०। सू०प्र०।

दुजुगल न०(द्वियुगल) द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलम्। हास्य–रत्यरतिशोकलक्षणे नामकर्म्मोत्तरप्रकृतिद्वन्द्वे, कर्म०५ कर्म०।

दुज्जण पुं०(दुर्जन) मिथ्यादृष्टिलोके, बृ०१ उ०३ प्रक०। आ०चू०। ''शकटं पञ्चहस्तेन, दशहस्तेन शृङ्गिणम्। हस्तिनं शतहस्तेन, देशत्यागेन दुर्जनम् ॥१॥'' परिहरेदित्यर्थः। वाच०।

दुज्जणवज्ज त्रि०(दुर्जनवर्ज) दुःशीलरहिते, बृ०१ उ० ३ प्रक०।

दुज्जंत पुं०(दुर्यन्त) स्वनामख्याते आचार्ये, कल्प०। ''कोसिय दुज्जंत कण्हे य।'' कल्प०२ अधि०८ क्षण।

दुज्जय त्रि०(दुर्जय) अभिभावनानर्हे, आ०म०१अ०२ खण्ड। षट्–पञ्चाशत्तमे ऋषभनन्दने च। कल्प०७ क्षण। दुःखेन जीयतेऽभिभूयते इति दुर्जयः। दुस्त्यजे, उत्त० १३अ०।

दुज्जर (दुर्जर) दुःखेन जीर्यते अच्। ''ग्राहिणी वातला रूक्षा दुर्जरा तक्रकूर्चिका।'' वाच०। स्था०४ ठा०४उ०।

दुज्झाय न०(दुर्ध्यात) दुष्टं यातं दुर्ध्यातम्। गमनक्रियागर्हणाम्, आचा०१ श्रु०५ अ०३उ०। व्यसने, दे०ना० ५ वर्ग ४४ गाथा।

दुज्झोहण पुं०(दुर्य्योधन) स्वनामख्याते धृतराष्ट्रपुत्रे, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। आ०म०। सिंहपुरनगरराजस्य सिंहरथाभिधानस्य स्वनामख्याते गुप्तिपाले, स्था०१० ठा०। विपा०।

दुज्झा स्त्री०(दोह्या) दोहार्हायाम्, दश०७अ०।

दुज्झाण न०(दुर्ध्यान) आर्त्तरौद्ररूपे ध्याने, ध०२अधि०।

दुज्झाय त्रि०(दुर्ध्यात) दुष्टो ध्यातो दुर्ध्यातः। एकाग्रचित्ततया आर्त्तरौद्रलक्षणे, ध०२ अधि०। आव०। दुष्टचिन्ताविषयीकृते, ज्ञा०१ श्रु०१६अ०।

दुज्झोस पुं०(दुर्ज्झोष) दुःक्षये, आचा०१ श्रु०५अ०३उ०।

दुट्ठ त्रि०(दुष्ट) दोषवति, प्रति०। बृ०। (स च विषयकषायभेदाद् द्विधेति 'पारंचिय' शब्दे व्याख्यास्यते) प्रद्विष्टे च राजनि, नि०चू०१ उ०। सूत्र०। दुर्मनसि, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

***द्विष्ट** त्रि०। तत्त्वं प्रज्ञापकं वा प्रति द्वेषवति, स्था०३ ठा०४ उ०। द्विष्टो द्वेषवान् अत्युत्कटद्वेषाद्यत्र द्विष्टस्तं प्राणग्राहं विना न मुञ्चति। दर्श०२ तत्त्व।

दुट्ठग्गाह पुं०(दुष्टग्राह) निर्दयमहामकराऽऽदिषु, तं०।

दुट्ठचेय पुं०(दुष्टचेतस्) कलुषान्तःकरणे, आचा०२ श्रु०४ चू०१ अ०२उ०।

दुट्ठट्ठकम्मणिट्ठावग पुं०(दुष्टाष्टकर्म्मनिष्ठापक) दुष्टानामष्टानां कर्म्मणां निष्ठापके विनाशके केवलजिने, पं०सं०१ द्वार।

दुट्ठवाइ(ण्) पुं०(दुष्टवादिन्) प्रत्यक्षग्राहिणि, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

दुट्ठस्स पुं०(दुष्टाश्च) कुलक्षणघोटके, तं०।गर्दभे च। बृ०१ उ०२ प्रक०।

दुट्ठस्सहत्थिमाइ पुं०(दृष्टाश्वहस्त्यादि) मारकतुरगकरिवरप्रभृतौ, पञ्चा०१८ विव०।

दुट्ठसावयसमाहय त्रि०(दुष्टश्वापदसमाहत) दुष्टाः क्षुद्राः श्वापदा व्याघ्राऽऽदयस्तैः समाहतेष्वभिभूतेषु, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

दुट्ठहियय त्रि०(दुष्टहृदय) दुष्टचित्ते, तं०।

दुट्ठाण न०(दुःस्थान) शीताऽऽतपदंशमशकाऽऽदियुक्तेषु कायोत्सर्गाऽऽसनाऽऽद्याश्रयेषु, भ०१६ श०२ उ०।

दुट्ठाणय न०(द्विस्थानक) स्वनामख्याते स्थानाङ्गस्य द्वितीयेऽध्ययने, स्था०२ठा०१उ०।

दुट्ठासण न०(दुष्टासन) पादोपरि पादस्थापनाऽऽदिकेऽनौचित्यो-पदेशने, प्रव० ३८ द्वार। ध०।

दुणाम न०(द्विनामन्) द्विविधं द्विप्रकारकं च तद् नाम द्विनाम। नामभेदे, अनु०।

से किं तं दुनामे ? दुनामे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–एगक्खरिए अ, अणेगक्खरिए अ। से किं तं एगक्खरिए ? एगक्खरिए ह्रीः, श्रीः, धीः, स्त्री। सेतं एगक्खरिए। से किं तं अणेगक्खरिए ? अणेगक्खरिएकन्ना, वीणा, लता, माला। सेतं अणेगक्खरिए।।

(से किं तं दुनामे इत्यादि) यत एवेदं द्विनामात एव द्विविधं द्विप्रकारम्। तद्यथा–एकं च तदक्षरं च तेन निर्वर्त्यमेकाक्षरिकम्, अनेकानि च तान्यक्षराणि च तैर्निवृत्तमनेकाक्षरिकम्। चकारौ समुच्चयार्थौ। तत्रैकाक्षरिकेन्ह्रीर्लज्जा, देवनाविशेषो वा। श्रीर्देवताविशेषः। धीर्बुद्धिः। स्त्री योषिदिति। अनेकाक्षरिका कन्येत्यादि। उपलक्षणं चेदं बलाकापताकाऽऽदीनामाद्यक्षरनिष्पन्ननाम्नामिति। तदेवं यदस्ति वस्तु तत्सर्वमेकाक्षरेण वा नाम्नाऽभिधीयतेऽनेकाक्षरेण वाऽतोऽनेन नामद्वयेन विवक्षितस्य सर्वस्यापि वस्तुजातस्याभिधानाद् द्विनामोच्यते, द्विरूपं तत्सर्वस्य नाम द्विनाम, द्वयोर्वा नाम्नोः समाहारो द्विनामेति।

एतदेव प्रकारान्तरेणाऽऽह–

अहवा दुनामे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–जीवणामे अ, अजीवणामे अ। से किं तं जीवणामे ? जीवणामे–देवदत्तो, जण्णदत्तो, विण्हुदत्तो, सोमदत्तो। सेतं जीवणामे। से किं तं अजीवणामे–घडो, पडो, कडो, रहो। सेतं अजीवणामे।।

(अहवा दुनामे इत्यादि) जीवस्य नाम जीवानाम, अजीवस्य नाम अजीवनाम। अत्रापि यदस्ति, तेन जीवनाम्ना, अजीवनाम्ना वा भवितव्यमिति। जीवाजीवनामभ्यां विवक्षितसर्ववस्तुसंग्रहो भावनीयः। शेषं सुगमम्।

पुनरेतदेवान्यथा प्राऽऽह–

अहवा दुनामे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–विसेसिए, अविसेसिए य। अविसेसिए जीवदव्वे, अजीवदव्वे य। विसेसिए णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे, अविसेसिए णेरइए, विसेसिए रयणप्पभाए सक्करप्पभाए वालुअप्पभाए पंकप्पभाए धूमप्पभाए तमाए तमतमाए, अविसेसिए रयणप्पभाए पुढविणेरइए, विसेसिए पज्जत्तए अ अपज्जत्तए अ, अविसेसिए तिरिक्खजोणिए, विसेसिए एगिंदिए बेइंदिए तेइंदिए चउरिंदिए पंचिंदिए, अविसेसिए पुढविकाइए आउकाइए तेउकाइए वाउकाइए वणस्सइकाइए, विसेसिए, विसेसिए पुढविकाइए, अविसेसिए एगिंदिए, विसेसिए पुढविकाइए सुहुमकाइए अ बादरपुढविकाइए अ, अविसेसिए सुहूमपुढविकाइए, विसेसिए पज्जत्तयसुहुमपुढविकाइए अ, अविसेसिए अ बादरपुढविकाइए, विसेसिए पज्जत्तयबादरपुढविकाइए अ अपज्जत्तयबादरपुढविकाइए। एवं आउकाइए तेउकाइए वाउकाइए वणस्सइकाइए अ विसेसिअभेदेहिं भाणिअव्वा। अविसेसिए बेइंदिए, विसेसिए पज्जत्तयवेइंदिए अ अपज्जत्तयवेइंदिय य। एवं तेइंदिअचउरिंदिआदि भाणिअव्वा। अविसेसिए पंचिंदिअतिरिक्खजोणिए, विसेसिए जलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए थलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए खयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए जलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए, विसेसिए संमुच्छिमजलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ गब्भवक्कंति अजलयर-पंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए संमच्छिमजलयरपंचिंदिअतिरिक्जोणिए, विसेसिए अपज्जत्तयसंमुच्छिमजलय, पंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ अपज्जत्तयसंमुच्छिमजलयरपंचिंदिअ–

तिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए गब्भवक्कंतिअजलयरपंचिं-दिअतिरिक्खजोणिए, विसेसिए पज्जत्तयगब्भवक्कंतिअजल-यरपंचिंदियअतिरिक्खजोणिए अ अपज्जत्तयगब्भवक्कंतिय-जलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए थलयरपं-चिंदिअतिरिक्खजोणिए, विसेसिए चउप्पयथलयरपंचिंदिअ-तिरिकखजोणिए अ परिसप्पथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए चउप्पयथलयर०, विसेसिए संमुच्छिम-चउप्पयथलयरपंचिंदियअतिरिक्खजोणिए अ गब्भवक्कंतिअ-चउप्पयथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए संमुच्छिमचउप्पथलयर०,विसेसिए पज्जत्तयसंमुच्छिमचउप्प-यथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ अपज्जत्तयसंमुच्छिम-चउप्पयथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए गब्भवक्कंतिअचउप्पयथलयरपंचिंदिअ०, विसेसिए पज्जत्तय-गब्भवक्कंतिअचउप्पयथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ अपज्जत्तयगब्भवक्कंतिअचउप्पयथलयरपंचिंदिअतिरिक्ख-जोणिए अ, अविसेसिए परिसप्पथलयर०, विसेसिए उरपरि-सप्पथलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ भुअपरिसप्पथल-यरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, एते वि संमुच्छिमा पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य, गब्भवक्कंतिआ वि पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य भाणिअव्वा। अविसेसिए खहयरपंचिंदिय०विसेसिए संमुच्छि-मखहयरपंचिंदिअतिरिक्खभोणिए अ गब्भवक्कंतिअखहयर-पंचिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए संमुच्छिमखहयरपं-चिंदिअ०विसेसिए पज्जत्तयसंमुच्छिमखहयरपंचिंदिअतिरि-क्खजोणिए अ अपज्जत्तयसंमुच्छिमखहयरपंचिंदिअतिरिक्ख-जोणिए अ, अविसेसिए गब्भवक्कंतिअखहयरपंचिंदिय० विसेसिए पज्जत्तयगब्भवक्कंतिअखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए मणुस्से, विसेसिए संमुच्छिममणुस्से अ गब्भवक्कंति-अमणुस्से अ, अविसेसिए संमुच्छिममणुस्से, विसेसिए पज्जत्तग-संमुच्छिममणुस्से अ अपज्जत्तगसंमुच्छिममणुस्से अ, अविसेसिए गब्भवक्कंतिअमणुस्से, विसेसिए पज्जत्तयगब्भवक्कंतिअमणुस्से अ अपज्जत्तगगब्भवक्कंतिअमणुस्से अ, अविसेसिए देवे, विसेसिए भवणवासी वाणमंतरे जोइसिए वेमाणिए अ, अविसेसिए भवणवासी, विसेसिए असुरकुमारे नागकुमारे सुवण्णकुमारे अग्गिकुमारे दीवकुमारे उदधिकुमारे दिसाकुमारे वाउकुमारे थणियकुमारे, सव्वेसिं पि अविसेसिअविसेसिअअपज्जत्तग-पज्जत्तगभेदा भाणिअव्वा। अविसेसिए वाणमंतरे, विसेसिए पिसाए भूते जक्खे रक्खसे किण्णरे किंपुरिसे महोरगे गंधव्वे, एतेसिं पि अविसेसियविसेसियपज्जत्तगअपज्जत्तगभेदा भाणिअव्वा। अविसेसिए जोइसिए, विसेसिए चंदे सूरे गहगणनक्खत्ते तारारूवे, एतेसिं पि अविसेसियविसेसियअपज्जत्तयपज्जत्तयभेआ भाणिअव्वा। अविसेसिए वेमाणिए, विसेसिए कप्पोवग्गो अ कप्पातीतगे अ, अविसेसिए कप्पोवग्गो, विसेसिए सोहम्मए ईसाणए सणंकुमारए माहिंदए बंभलोअए लंतयए सुक्कए सहस्सारए आणयए पाणयए आरणयए अच्चुयए, एतेसिं अविसेसियविसेसिअअपज्जत्तगपज्जत्तगभेदा भाणिअव्वा। अविसेसिए कप्पातीतए, विसेसिए गेवेज्जए अ अणुत्तरोववाइए अ, अविसेसिए गेवेज्जए, विसेसिए हे ट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जए हेट्ठिममज्झिमगेविज्जए हिट्ठिमउवरिमगेविज्जए अ, अविसेसिए मज्झिमगेविज्जए, विसेसिए हेट्ठिममज्झिमगेवेज्जए मज्झिमम-ज्झिमगेवेज्जए मज्झिमउवरिमगेवेज्जए अ, अविसेसिए उवरिमगेवेज्जए,विसेसिए उवरिमहेट्ठिमगेवेज्जए उवरिममज्झिम-गेवेज्जए उवरिमउवरिमगेवेज्जए अ, एतेसिं पि सव्वेसिं अविसेसिअविसेसिअपज्जत्तगाऽपज्जत्तगभेदा भाणिअव्वा। अविसेसिए अणुत्तरोववाइए, विसेसिए विजयए वेजयंतए जयंतए अपराजिअए सव्वट्ठसिद्धए अ, एतेसिं पि सव्वेसिं अविसेसि-अविसेसिअपज्जत्तगाऽपज्जत्तगभेदा भाणिअव्वा। अविसेसिए अजीवदव्वे, विसेसिए धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगास-त्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अद्धासमए अ, अविसेसिए पोग्गलत्थिकाए, विसेसिए परमाणुपोग्गले दुपएसिए तिपएसिए० जाव अणंतपएसिए अ। सेतं दुनामे॥

(अहवा दुनामे इत्यादि) द्रव्यमित्यविशेषनाम, जीवे अजीवे च सर्वत्र सद्भावात्। जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति च विशेषनाम, एकस्य जीव एवान्यस्य त्वजीव एव सद्भावादिति। ततः पुनरुत्तरापेक्षायां जीवद्रव्य-मित्याद्यविशेषनाम्, नारकस्तिर्यगित्यादि तु विशेषनाम, पुनरप्युत्तरा-पेक्षया नारकाऽऽदिकमविशेषनाम, रत्नप्रभायां भवो रत्नप्रभ इत्यादि तु विशेषनाम, एवं पूर्वमविशेषनाम, उत्तरोत्तरं तु विशेषनाम सर्वत्र भावनीयम्, शेषं सुगमं, नवरं संमूर्च्छन्ति तथा-विधकर्म्मोदयाद् गर्भमन्तरेणैवोत्पद्यन्त इति संमूर्च्छिमाः, गर्भे व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिर्येषां ते गर्भव्युत क्रान्तिकाः,उरसा भुजाभ्यां च परिसर्पन्ति गच्छन्तीति विषधरगोधानकुलाऽऽदयः सामान्येन परिसर्पाः, विशेषतस्तूरसा परिसर्पन्तीत्युरःपरिसर्पाः सर्पाऽऽदय एव, भुजाभ्यां परिसर्पन्तीति भुजपरिसर्पा गोधानकुलाऽऽदय एव, शेषं सुखोन्नेयम्। तदेवमुक्ताः सामान्यविशेषनामभ्यां जीवद्रव्यस्य सम्भविनो भेदाः। साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टमजीवद्रव्यमपि भेदतस्तथैवोदाहर्तुमाह-(अविसेसिए अजीव-दव्वे) इत्यादि गतार्थं, तदेवं यदस्ति वस्तु तत्सर्वं सामान्यनाम्ना विशेषनाम्ना वा अभिधीयतेऽन्यत्रापि द्विनामत्वं भावनीयम्। "सेतं दुनामे" इति निगमनम। अनु०।

दुणावेढ (देशी) अशक्ये, तडागे च। दे०ना० ५ वर्ग ६६ गाथा।

दुण्णय त्रि०(दुर्नय) स्वार्थग्राहिणि इतरांशप्रतिक्षेपिणि, द्रव्या० ५ अध्या० नयाऽऽभासे, आ०म०।यस्तु नयान्तरनिरपेक्षः स दुर्नयो नयाभास इति। तथा चाऽऽहाकलङ्कः–

''भेदाभेदाऽऽत्मके ज्ञेये, भेदाभेदाभिसन्धयः।
ये त्वपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते,ज्ञेयास्ते नयदुर्नयाः॥१॥''

अस्याः कारिकाया लेशतो व्याख्या–भेदो विशेषोऽभेदस्तु सामान्यं तदात्मके, सामान्यविशेषाऽऽत्मके इत्यर्थः। ज्ञेये प्रमाणपरिज्ञेयवस्तुनि, ये भेदाभेदाभिसन्धयः सामान्यविशेषयोः पुरुषाऽभिप्राया अपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते ते यथासङ् ख्यं नयदुर्नया ज्ञातव्याः। किमुक्तं भवति?–विशेषसाकाङ्क्षः सामान्यग्राहकाऽभिप्रायो, विशेषपरिग्राहको वा सामान्यसापेक्षो नयः, इतरेतराकाङ्क्षारहितस्तु दुर्नयः॥ आ०म०१ अ०२ खण्ड। इतरप्रतिक्षेपी तु नयो नयाऽऽभासो, दुर्नयो वेत्युच्यते। मलयगिरिचरणास्तुनयोदुर्नयः, सुनयश्चेति दिगम्बरव्यवस्था, न त्वस्माकं, नयदुर्नययोरर्थाविशेषात्। नयो० परामर्शा अभिप्रेतधर्मावधारणाऽऽत्मकतया शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नयसंज्ञामश्नुवते। स्या०। एते मिथः परस्परं पृथग् भिन्नं भिन्नं पक्षप्रतिपक्षकदर्थिता वादप्रतिवादकद–र्थनाविडम्बिता नयाः दुर्नया इत्यर्थः। अष्ट० ३२ अष्ट०।

''स्वकृतपरिणतानां दुर्नयानां विपाकः,
पुनरपि सहनीयोऽन्यत्र ते निर्गुणस्य।
स्वयमनुभवतोऽसौ दक्षमोक्षाय सद्यो,
भवशतगतिहेतुर्जायतेऽनिच्छतस्ते॥१॥'' आचा०१ श्रु०५ अ०२ उ०।

सर्वे सावधारणाः सन्तो दुर्नयाः, अवधारणविरहितास्ते सुनयाः, सर्वैश्च सुनयैः स्याद्वादः। अनु०।

दुण्णाम पुं०(दुर्नाम) मदाद् दुष्टं नमनं दुर्नाम इति। मानकषायभेदे, भ०१२ श०५उ०।

दुण्णामधिज्ज त्रि०(दुर्नामधेय) पुराणः पतित इति कुत्सितनामधेये, दश०१ चू०।

दुण्णिक (देशी) चूर्णिते, दे०ना० ५ वर्ग ४५ गाथा।

दुण्णिक्कम त्रि०(दुर्निष्क्रम) दुःखेन नितरां क्रमः क्रमणं यत्र तस्मिन्, भ०७ श० ६उ०।

दुण्णिक्खित्त (देशी) दुश्चरिते, दुर्दर्शे, दे०ना० ५ वर्ग ४५ गाथा।

दुण्णिद्द न०(द्विनिद्र) द्वयोर्निद्रयोः समाहारो द्विनिद्रम्। निद्राप्रचलालक्षणे निद्राद्विके, कर्म०५ कर्म०।

दुण्णिय न०(दुर्नीत) दुष्टं नीतं दुर्नीतम्। दुष्कृते, सूत्र०१ श्रु ७ अ०। अप्रावृते, नि०चू० १उ०।

दुण्णियत्थ (देशी) जघनवस्त्रे, जघने च। दे०ना० ५ वर्ग ५३ गाथा।

दुण्णिरिक्खरूप त्रि०(दुर्निरीक्ष्यरूप) दुःप्रेक्ष्ये, कल्प०३ क्षण।

दुण्णिविट्ठ त्रि०(दुर्निविष्ट) विह्वले निर्भरे, नि०चू०११ उ०।

दुण्णिवोह त्रि०(दुर्निबोध) दुष्प्रापके, सूत्र०१ श्रु० १५ अ०।

दुण्णिसीहिया स्त्री०(दुर्निषद्या) दुःखहेतुस्वाध्यायभूमौ, भ० १६ श० २ उ०।

दुण्णेय त्रि०(दुर्ज्ञेय) दुरवगमे, आव०४ अ० आ०म०। दुर्लक्ष्ये, दश०४ अ०।

दुत त्रि०(द्रुत) शीघ्रे, पञ्चा०७ विव०। त्वरिते, स्था०७ ठा०। आशु–इत्यर्थे, षो० ६ विव०।

दुत्तर त्रि०(दुस्तर) दुर्लङ्घ्ये, सूत्र०१ श्रु०३ अ०। उत्त०।

दुत्ति (देशी) शीघ्रे, दे०ना०५ वर्ग ४१ गाथा।

दुत्तितिक्ख त्रि०(दुस्तितिक्ष) परीषहाऽऽदौ दुःसहे, ''पुरिमपच्छिमगाणं जिणाणं दुग्गमं भवइ। तं जहा–दुआइक्खं दुव्विभजं दुत्तितिक्खं दुरणुचरं।'' स्था०५ठा०१उ०। ('तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६२ पृष्ठे व्याख्या)

दुत्तोस त्रि०(दुस्तोष) यस्य तुष्टिः कर्तुं न शक्यते तस्मिन्, दश०५ अ०।

दुत्थ त्रि०(दुस्थ) दुर्गते, स्था०३ उ०। जघने,दे०ना० ५ वर्ग ४२ गाथा।

दुत्थाह (देशी) दुर्भगे, दे०ना० ५ वर्ग ४३ गाथा।

दुत्थुरुहंड (देशी) पुरुषे, कलहशीलायां स्त्रियां च। दे०ना० ५ वर्ग ४७ गाथा।

दुदंसण न०(द्विदर्शन) द्वयोर्दर्शनयोः समाहारो द्विदर्शनम्। चक्षु–र्दर्शनाचक्षुर्दर्शनद्वये, कर्म्म०४ कर्म०।

दुद्दंत त्रि०(दुर्दान्त) दमयितुमशक्ये, उत्त०२७अ०। चक्षुषि, उत्त० ३२ अ०। आ०म०।

दुद्दम त्रि०(दुर्दम) दुर्ज्ञये,उत्त०१अ०। स्वनामख्यातेऽश्वग्रीवराजदूते, आ०क०।

दुद्दम्म (देशी) देवरे, दे०ना० ५ वर्ग ४४ गाथा।

दुद्दसा स्त्री०(दुर्दशा) दीनावस्थायाम्, अष्ट०७ अष्ट०। बृ०।

दुद्दिट्ठ त्रि०(दुर्दृष्ट) दुष्टे दृष्टे, आचा०१ श्रु०४ अ०२उ०।

दुद्दिण न०(दुर्दिन) मेघतिमिरदिने, पिं०।

दुद्दोली (देशी) वृक्षपङ् क्तौ, दे०ना०५ वर्ग ४३ गाथा।

दुद्ध न०(दुग्ध) **''क–ग–ट–ड–त–द–प–श–ष–स ×क× पामूर्ध्वं लुक्''** ॥८।२।७७॥ इति संयुक्तवर्णाऽऽदिभूतस्य गकारस्य लुक्। प्रा०२ पाद। **''अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम्''** ॥८।२।८९॥ इत्यनादौ वर्त्तमानस्य शेषस्य धकारस्य द्वित्वम्। 'दुद्धं।' प्रा०२ पाद। क्षीरे, दुग्धं पञ्च भेदं गोमहिषीकरभीछगलिकागडुरिकासंबन्धित्वेन। प्रव०४ द्वार। उत्त० आ०म०। ''पांसरू'' इति नाम्ना प्रसिद्धस्य दुग्धस्य भक्षणे कोऽपि दोषो, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्– लोकोक्त्या दोषः श्रूयते, नत्वात्मीयशास्त्रानुसारेणेति। ८० प्र०। सेन०२ उल्ला०। अथ पं० नगर्षिगणिकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च। यथा–उत्कालितदुग्धमध्ये प्रक्षिप्तगोधूमाऽऽदिचूर्णचिप्पटिकया तद् दुग्धं निर्विकृतकं स्यान्न वेति प्रश्ने, उत्तरम्– गोधूमाऽऽदिचूर्णे प्रक्षिप्ते सति यद् दुग्धमेकरसं वर्णान्तराऽऽदिप्राप्तं च भवति तन्निर्विकृतिकं भवतीति। १०८ प्र०। सेन०२ उल्ला०।

दुद्धअ (देशी) समूहे, दे०ना०५ वर्ग ४२ गाथा।

दुद्धकाय पुं०(दुग्धकाय) दुग्धघटकाये, परिहरणायां दुग्धघटकाय दृष्टान्तः। आव०३ अ० आ०क०।

दुद्धगंधियमुह (देशी) बाले, दे०ना० ५ वक्ष ४० गाथा।

दुद्धजाइ स्त्री०(दुग्धजाति) आस्वादतः क्षीरसदृश्यां मदिरायाम्, जी०३ प्रति०४ उ०।

दुद्धडी स्त्री०(दुग्धाटी) आम्विलेन युक्ते दुग्धे जातायां किलाटिकायाम्, वलाहिकायामित्यन्ये। प्रव०४ द्वार। ध०।

दुद्धर त्रि०(दुर्द्धर) दुःखेन धर्तुं शक्यं दुर्धरम्। दश०४ अ०। गहने, स्था०६ ठा०। दुर्वहे, स०। धारयितुमशक्ये, व्य०३ उ०। अनुद्धरणीये, प्रज्ञा०१ पद।

दुद्धरधर त्रि०(दुर्द्धरधर) दुर्धराणि प्राणतिपाताऽऽदिनिवृत्तिलक्ष–णानि पञ्च महाव्रतानि धारयतीति दुर्द्धरधरः। पञ्चमहाव्रतिके, प्रज्ञा० १ पाद।

दुद्धरपहकरयेग त्रि०(दुर्द्धरपथकरवेग) दुर्द्धरं दुर्वहं पन्थानं सम्यग्–दर्शनाऽऽदिकं मोक्षमार्गं करोतीति दुर्द्धरपथकरस्तथाविधो वेगः प्रसरो यस्येति तस्मिन्। बृ०१ उ०।

दुद्धरिस पुं०(दुर्द्धष) चतुःपञ्चाशत्तमे ऋषभनन्दने, कल्प०११ अधि०७ क्षण। अनभिभवनीये, त्रि०। नं०।

दुद्धवलेहिया स्त्री०(दुग्धावलेहिका) तन्दुलकचूर्णसिद्धे दुग्धे, प्रव०४ द्वार। ध०२अधि०।

दुद्धसाडिया स्त्री०(दुग्धशाटिका) द्राक्षामिश्रे राद्धे दुग्धे, दुग्धे शटति गच्छतीति व्युत्पत्तेः। प्रव०४ द्वार।

दुद्धसाडी स्त्री०(दुग्धशाटी) द्राक्षासहिते पयसि, ध०२ अधि०।

दुद्धाडी स्त्री०(दुग्धाटी) अम्लयुक्ते दुग्धे, ध०२ अधि०।

दुद्धिणिआ (देशी) स्नेहस्थापनभाण्डे, तुम्ब्यां च। दे०ना०५ वर्ग ५४ गाथा।

दुद्धिणी (देशी) स्नेहस्थापनभाण्डे, तुम्ब्यां च। दे०ना०५ वर्ग ५४ गाथा।

दुद्धोलणी (देशी) या दुग्धाऽपि दुह्यते तस्याम्, दे०ना०५ वर्ग ४६ गाथा।

दुप पुं०(द्विप) द्वाभ्यां मुखेन, करेण चेत्यर्थः। पिबतीति द्विपः। ''मूलविभुजाऽऽदयः'' ॥५।१।१४४॥ इतिकप्रत्ययः। हस्तिनि, जी०३ प्रति०१ उ०। आ०म०।

दुपएस त्रि०(द्विप्रदेश) द्वौ प्रदेशावारम्भकावस्येति द्विप्रदेशः। द्व्यणुके, उत्त०१अ०।

***द्विप्रवेश** त्रि०। द्वौ प्रवेशौ यस्मिंस्तद् द्विप्रवेशम्। द्वौ वारौ प्रवेश्ये, प्रथमो गुरुमनुज्ञाप्य प्रविशतः, द्वितीयः पुनर्निर्गत्य प्रविशत इति। प्रव०२ द्वार।

दुपएसिय त्रि०(द्विप्रदेशिक) प्रदेशद्वयावस्थिते, भ०५ श०७उ०।

दुपक्ख पुं०(दुष्पक्ष) दुष्टः पक्षो दुष्पक्षः। असत्प्रतिज्ञाऽभ्युपगमे, सूत्र०१ श्रु०३अ०३उ०।

***द्विपक्ष** न०। द्वौ पक्षौ समाहृतौ इति द्विपक्षम्। गृहस्थपक्षसंयतपक्षयोः समाहारे, बृ०१उ०। सूत्र०। रागद्वेषाऽऽत्मके पक्षद्वये, सूत्र०१ श्रु०२ अ०२उ०। ''इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं (६)'' द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षम्। सप्रतिपक्षेऽनैकान्तिके पूर्वापरविरुद्धार्थाऽ–भिधायितयाऽविरोधिवचने, (सूत्र०) कर्म्मबन्धनिर्जरणे, सूत्र०१ श्रु०१२ अ०। द्विपक्षं कर्म्म सेवन्ते। तद्यथा–प्रव्रज्यामाधाकर्म्मिकवसत्यासेवनाद् गृहस्थत्वं च, रागं द्वेषं च, ईर्य्यापथं साम्परायिकं चेत्यादि। आचा०२ श्रु०१ चू०२ अ०२उ०।

दुपडोआर त्रि०(द्विपदावतार) द्वयोः स्थानयोः पर्यवसिते, स्था०।

जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपडोआरं। तं जहा–जीवचेव, अजीव चेव, तस चेव, थावर चेव, सजोणिय चेव, अजोणिय चेव, साउय चेव, अणाउय चेव, सइंदिय चेव, अणिंदिय चेव, सवेयग चेव, अवेयग चेव, सरूवि चेव, अरूवि चेव, सपोग्गल चेव, अपोग्गल चेव, संसारसमावन्नग चेव, असंसारसमावन्नग चेव, सासय चेव, असासय चेव। आगासे चेव, नोआगासेचेव, धम्मे चेव, अधम्मे चेव, बंधे चेव, मोक्खे चेव, पुन्ने चेव, पावे चेव, आसवे चेव, संवरे चेव, वेयणा चेव, णिज्जरा चेव॥

(जदत्थीत्यादि) संहिताऽऽदिः पूर्ववत्, यज्जीवाऽऽदिकं वस्तु अस्ति विद्यते, णमिति वाक्यालङ्कारे। क्वचित्पाठः–(जदत्थि च णं ति) तत्रानुस्वार आगमिकश्चशब्दः पुनरर्थः। एवं चास्य प्रयोगः– अस्त्यात्मादि वस्तु, पूर्वाध्ययनप्ररूपितत्वात् यच्चास्ति लोके पञ्चास्तिकायाऽऽत्मके लोक्यते प्रमीयते इति लोक इति व्युत्पत्त्या लोकालोकरूपे वा, तत्सर्वं निरवशेषं द्वयोः पदयोः स्थानयोः पक्षयोर्विवक्षितवस्तुतद्विपर्ययलक्षण–योरवतारो यस्य तद् द्विपदावतारमिति। ''दुपडोयारं'' इति क्वचित्पठ्यते, तत्र द्वयोः प्रत्यवतारो यस्य तद् द्विप्रत्यवतारमिति स्वरूपवत्, प्रतिपक्षव–चेत्यर्थः। तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासे। (जीव चेव अजीव चेव त्ति) जीवाश्चैव अजीवाश्चैव। प्राकृतत्वात् संयुक्तपरत्वेन ह्रस्वः। चकारौ समुच्चयार्थौ। एवकारावधारणे। तेन च राश्यन्तरापोहमाह–नोजीवाऽऽख्यं राश्यन्त–रमस्तीति चेत्, नैवं, सर्वनिषेधकत्वे नोशब्दस्य नोजीवशब्देनाजीव एव प्रतीयते, देशनिषेधकत्वे तु जीवदेश एव प्रतीयते, न च देशो देशिनोऽत्य–न्तान्यतिरिक्त इति जीव एवा–सावितिः। 'चेय' इति वा एवकारार्थः। ''चिय चेय एवार्थे'' इति–वचनात्। ततश्च जीवा एवेति विवक्षितवस्त्व–जीवा एवेति च तत्प्रतिपक्ष इति। एवं सर्वत्र। अथवा यदस्तीति यत् सन्मात्रं यदित्यर्थः। तत् द्विपदावतारं द्विविधं जीवाजीवभेदादिति। शेषं तथैव। अथ त्रसेत्यादिनवसूत्र्या जीवतत्त्वस्यैव भेदान् सप्रतिपक्षानुप–दर्शयति–तत्र त्रसनामकर्मोदयतस्त्रस्यन्तीति त्रसाः द्वीन्द्रियाऽऽदयः, स्थावरनामकर्मोदयात्तिष्ठन्तीत्येवंशीलाः स्थावराः पृथिव्यादयः, सह योन्योत्पत्तिस्थानेन सयोनिकाः संसारिणः, तद्विपर्यासभूता अयोनिकाः सिद्धाः, सहाऽऽयुषा वर्तन्त इति सायुषः, तदन्येऽनायुषः सिद्धाः। एवं सेन्द्रियाः संसारिणः, अनिन्द्रियाः सिद्धाऽऽदयः, सवेदकाः स्त्रीवेदाऽऽद्युदयवन्तः, अवेदकाः सिद्धाऽऽदयः, सह रूपेण मूर्त्या वर्तन्ते इति समासान्ते इत्प्रत्यये सति सरूपिणः संस्थानवर्णाऽऽदिमन्तः, सशरीरा इत्यर्थः। न रूपिणोऽ–

रूपिणो मुक्ताः, सपुद्गलाः कर्माऽऽदिपुद्गलवन्तो जीवाः, अपुद्गलाः सिद्धाः, संसारं भवं समापन्नका आश्रिताः संसारसमापन्नकाः संसारिणः, तदितरे सिद्धाः, शाश्वताः सिद्धाः, जन्ममरणाऽऽदिरहितत्वात् । अशाश्वताः संसारिणस्तद्युक्तत्वादिति । एवं जीवतत्त्वस्य द्विपदावतारं निरूप्याजीवतत्त्वस्य तं निरूपयन्नाह–(आगासे इत्यादि) आकाशं व्योम, नो आकाशं तदन्यद्धर्मास्तिकायाऽऽदिः, धर्मो धर्मास्तिकायो गत्युपष्टम्भगुणः, तदन्योऽधर्मोऽधर्मास्तिकायः स्थित्युपष्टम्भगुणः, सविपक्षबन्धाऽऽदितत्त्वसूत्राणि चत्वारि प्राग्वदिति । स्था०२ ठा०१उ०।

दुपडोयार न०(द्विप्रत्यवतार) द्वयोः प्रत्यवतारो यस्य तद् द्विप्रत्यवतारम्। स्वरूपवति, प्रतिपक्षवति च। स्था०२ ठा० १उ०।

दुपय पुं०(द्विपद) द्वे पदे यस्याऽसौ द्विपदः । मनुष्ये, स० १२ अङ्ग । अनु०। गन्त्र्याम्, ध०२ अधि०। विशे०। सूत्र०। आचा०। आव०। देवे, पक्षिणि, राक्षसे च । ''मिथुनतुलाघटकन्याः, द्विपदाख्याश्चापपूर्वभागश्च।'' इति ज्योतिषोक्ते राशिभेदे च। वाच०। प्रव०। नि० चू०। आ०चू०। उत्त०। ध०२०। ''आसाढे मासे दुपया होइ पोरिसी।'' पादद्वयपरिमिते, त्रि०। उत्त०२६ अ०।

***दुपद** पुं०। स्वनामख्याते काम्पिल्यपुरराजे, ज्ञा०१ श्रु० १६अ०।

दुपयचउप्पयपमाणाइक्कम पुं०(द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम) स्थूलपरिग्रहविरमणलक्षणस्य पञ्चमस्याऽणुव्रतस्य चतुर्थेऽति चारे, ध०२०। तथा द्वे पदे येषां तानि द्विपदानि कलत्रावरुद्धदासीदासकर्मकरपदात्यादीनि, हंसमयूरकुक्कुटशुकसारिकाबकोरपारापतप्रभृतीनि च। चत्वारि पदानि येषां तानि चतुष्पदानि गोमहिषमेषाविककरभरासभतुरगहस्त्यादीनि, तानि यद्गर्भं ग्राहयति सोऽतिचार इति संबन्धः । यथा किल केनाऽपि संवत्सराऽऽद्यवधिना द्विपदचतुष्पदानां परिमाणं कृतं, तेषां च विवक्षितसंवत्सराऽऽद्यवधिमध्य एव प्रसवेऽधिकद्विपदाऽऽदिभावाद् व्रतभङ्गः स्यादिति, तद्भयात्किियत्यपि काले गते गर्भं ग्राहयतोगर्भस्थद्विपदाऽऽदिभावेन बहिश्च तदभावेन कथञ्चिद् व्रतभङ्गाभङ्गरूपोऽतिचार इति चतुर्थः। प्रव६ द्वार। ध०। उत्त०। नि०चू०। आव०।

दुप्पउत्त त्रि०(दुष्प्रयुक्त) दुष्टप्रयोगवति, स्था०१ ठा०। अकुशले, स्था०५ ठा०१उ०।

दुप्पउत्तकायकिरिया स्त्री०(दुष्प्रयुक्तकायक्रिया) दुष्टं प्रयुक्तं प्रयोगो यस्य स दुष्प्रयुक्तस्तस्य कायक्रियायाम्,दुष्टं प्रयुक्तो दुष्प्रयुक्तः, स चाऽसौ कायश्च दुष्प्रयुक्तकायस्तस्य क्रियायां च। भ०३ श०१ उ०।

दुप्पउल्ल त्रि०(दुष्पक्व) अर्द्धस्विन्ने, पञ्चा०१ विव०।

दुप्पएसिय पुं०(द्विप्रदेशिक) ''दुपएसिया खंधा।'' स्कन्धाऽऽदिषु, स्था० २ ठा० ४ उ०।

दुप्पओग पुं०(दुष्प्रयोग) दुष्टे मनोवाक्कायप्रयोगे, द्रोहाभिमानेर्ष्याऽऽदिलक्षणो मनोदुष्प्रयोगः, वाग् दुष्प्रयोगस्तु हिंस्रपरुषाऽऽदिवचनलक्षणः, कायदुष्प्रयोगस्तु धावनवल्गनाऽऽदिः । दश०४अ०।

दुप्पच्चवेक्खिय त्रि०(दुष्प्रत्युपेक्षित) विभ्रान्तचक्षुषा निरीक्षिते, प्रव० ६ द्वार।

दुप्पजीवि(ण्) पुं०(दुष्प्रजीविन्) दुःखेन कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारभोगापेक्षया जीवितुं शीले प्राणिनि, दश०१ चू०।

दुप्पडिक्कंत त्रि०(दुष्परिक्रान्त) दुराक्रान्ते, आचा०।

गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जातं दुप्परिक्कंतं भवति अवियत्तस्स भिक्खुणो ॥१५६॥

ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः, ग्रामादनुपश्चादपरो ग्रामो ग्रामानुग्रामस्तं द्रूयमानस्यानेकार्थत्वाद्धातूनां विहरत एकाकिनः साधोरित्यात्तदर्शयतिदुर्यातं दुष्टं यातं दुर्यातं गमनक्रियाया गर्हां गच्छत एवानुकूलप्रतिकूलोपसर्गसद्भावादर्हर्हन्नकस्येव कृतगतिभेदस्य दुष्टव्यन्तरीजल्पाच्छेदवत्, तथादुष्टे पराक्रान्तमाक्रान्तं स्थानमेकाकिनः भवति स्थूलभद्रेर्ष्योपितोपकोशागृहसाधोरिवेति, यदि वा चतुःप्रोषितभर्तृकागृहोपितसाधोरिव तस्य महाराज्ञतया अक्षोभेऽपि दुष्पराक्रान्तमेवेति । आचा०१ श्रु०५ अ०४उ०। दुःशब्दोऽभावार्थस्तेन प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना अप्रतिक्रान्तानामनिवर्तितविपाकानां कर्म्मणि, विपा०१ श्रु०१अ०।

दुप्पडिगर त्रि०(दुष्प्रतिकर) दुःखेन प्रतिकर्त्तुमशक्ये, बृ०३ उ०।

दुप्पडिग्गह न०(द्विप्रतिग्रह) दृष्टिवादस्य स्वसमयपरिपाट्या स्थित सूत्रविशेषे, स० १२ अङ्ग ।

दुप्पडिपूर त्रि०(दुष्प्रतिपूर) पूरयितुमशक्ये, त०।

दुप्पडिवूहणीय त्रि०(दुष्प्रतिवृंहणीय) प्रतिवृंहणानर्हे, जीवितमायुष्कं तत् क्षीणं सत् दुष्प्रतिवृंहणीयम्, दुरभावार्थो नैव वृद्धिर्नीयते इति यावत् । निष्प्रत्यूहप्रतिपालनार्हे, अथवा–जीवितं संयमजीवितं तद् दुष्प्रतिवृंहणीयं कामानुषक्तजनान्तर्वर्तिना दुखेःन निष्प्रत्यूह संयम प्रतिपाल्य इति। आचा०१ श्रु०२ अ०५ उ०।

दुप्पडियाणंद त्रि०(दुष्प्रत्यानन्द्य) बहुभिरपि संतापकारणैरनुत्पाद्यभानसंतोषे, विपा०१ श्रु०२ अ०। दुःखेन प्रत्यानन्द्यत इति दुष्प्रत्यानन्द्यः । इदमुक्तं भवति–तैरानन्दितेनापरेण केनचित् प्रत्युपकारेण हेतुना गर्वाऽऽध्मातो दुःखेन प्रत्यानन्द्यते। यदि वा– सत्युपकारे प्रत्युपकारभीरुर्नैवानन्द्यते, प्रत्युत शठतया उपकारे दोषमेवोत्पादयति । तथा चोक्तम्–''पतिकर्त्तुमशक्तिष्ठाः, नराः पूर्वोपकारिणाम् । दोषमुत्पाद्य गच्छन्ति, मद् गूनामिव चाग्रतः ॥१॥'' इति। दश०६ अ०।

दुप्पडियार त्रि०(दुष्प्रत्युपकर) दुःखेन कृच्छ्रेण प्रतिक्रियते कृतोपकारेण पुंसा प्रत्युक्रियते इति खल् प्रत्यये दुष्प्रत्युपकरः । प्रत्युपकर्त्तुमशक्ये, स्था०।

तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो ! तं जहा–अम्मापिउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स, संपाओ वि य णं केइ पुरिसे अम्मापियरं सयपागसहस्सपागेहिं तिल्लेहिं अब्भंगेत्ता सुरभिणा गंधवट्टएणं उव्वट्टित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावेत्ता सव्वालंकारविभूसियं करेत्ता मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोअणं भोआवेत्ता जावज्जीवं पिट्ठिवडिंसिया ते परिवहेज्जा, तेणावि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडियारं भवइ ॥

हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! समस्तनिर्देशो वा–हे श्रमणाऽऽयुष्मन्निति भगवता शिष्यः सम्बोधितः। अम्बया मात्रा सह पिता जनकः अम्बापिता, तस्यैकं स्थानम्, जनकत्वेनैकत्वविवक्षणात्। तथा (भट्टिस्स त्ति) भर्त्तुः पोषकस्य, स्वामिन इत्यर्थः। इत द्वितीयम्। धर्मदाताऽऽचार्यो - धर्माऽऽचार्यस्तस्येति तृतीयम्। आह च–''दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन्। तत्र गुरुरिहामुत्र च, सुदुष्करतरप्रतीकारः ॥१॥'' इति। तत्र जनकदुष्प्रतिकार्यतामाह–(संपाओ त्ति) प्रातः प्रभातं तेन संयुतः संप्रातः, संप्रातरपि च प्रभातसमकालमपि च, यदैव प्रातः संवृत्तं तदैवेत्यर्थः। अनेन कार्यान्तराव्यग्रतां दर्शयति, संशब्दस्याऽतिशयार्थत्वाद्वाऽतिप्रभाते, प्रतिशब्दार्थत्वाद् वाऽस्य प्रतिप्रभातमित्यर्थः। कश्चिदिति कुलीन एव, न तु सर्वोऽपि, पुरुषो मानवो, देवतिरश्चोरेवंविधव्यतिकरासम्भवात्। शतं पाकानामौषधिक्काथानां पाके यस्य, औषधिशतेन वा सह पच्यते यत्, शतकृत्वो वा पाको यस्य, शतेन वा रूपकाणां मूल्यतः पच्यते य तच्छतपाकम्, एवं सहस्रपाकमपि, ताभ्यां तैलाभ्याम्। (अब्भिंगित्ता) अभ्यङ्गं कृत्वा। (गंधट्टएणं ति) गन्धाष्टकेन गन्धद्रव्यक्षोदेन, उद्वर्त्योद्वलनं कृत्वा, त्रिभिरुदकैर्गन्धोदकोष्णोदकशीतोदकैर्मज्जयित्वा स्नापयित्वा, मनोज्ञं कलमोदनाऽऽदि, स्थाली पिठरी तस्यां पाको यस्य तत्तथा। अन्यत्र हि पक्वमपक्वं वा न तथाविधं स्यादितीदं विशेषणमिति। शुद्धं भक्तदोषवर्जितं, स्थालीपाकं च तच्छुद्धं, स्थालीपाकेन वा शुद्धमिति विग्रहः। अष्टादशभिर्लोकप्रतीतैर्व्यञ्जनैः शालनकैः सूपाऽऽदिभिर्व्याकुलं सङ्कीर्णं यत्तत्तथा। अथवा–अष्टादशभेदं तद्व्यञ्जनाऽऽकुलं चेति। अत्र भेदपदलोपेन समासः, भोजनं भोजयित्वा।

एते चाष्टादश भेदाः–

''सूवोदणो २जवण्णं३, तिन्नि य मंसाइ६गोरसो७जूसो८। भक्खा९गुललावणिया१०,मूलफला११हरियगं१२सागो १३ ॥१॥

होइ रसालू इ तहा १४, पाणं पाणीय १६ पाणगं चेव १७।

अट्ठारसमो सागो १८, निरुवहओ लोइओ पिंडो ॥२॥''

अस्य व्याख्या–मांसत्रयं जलजाऽऽदिसत्कं, जूषो मुद्गतन्दुलजीरकंकटुमाण्डाऽऽदिरसः, भक्ष्याणि खण्डखाद्याऽऽदीनि, गुललावणिका गुलपर्पटिका लोकप्रसिद्धा, गुडधाना वा, मूलफलान्येकमेव पदं, हरितकं जीरकाऽऽदि, शाको वस्तुलाऽऽदिभर्जिका, रसालू मञ्जिका। तल्लक्षणमिदम्– ''दो घयपला महुपलं, दहिस्स अद्धाढयं मिरियवीसा। दस खंडगुलपलाई, एस रसालू निवइजोगा ॥१॥'' इति। पानं सुराऽऽदि, पानीयं जलं, पानक द्राक्षापानकाऽऽदि, शाकस्तक्रसिद्ध इति।

यावज्जीवं यावत्प्राणधारणं पृष्टो स्कन्धे अवतंस इवावतंसः शेखरस्तस्य करणमवतंसिका पृष्ट्यवतंसिका, तथा परिवहेत, पृष्ट्यारोपितमित्यर्थः। तेनापि परवाहकेन परिवहनेन वा तस्याम्बापितुर्दुष्प्रत्युपकरमशक्यप्रतीकार इत्यर्थः। अनुभूतोपकारतया प्रत्युपकारित्वात्। आह च–''कयउवयारो जोहोइ सज्जणो होउ को गुणो तस्स? उवयारबाहिरा जे, हवंति ते सुंदरा सुयणा ॥१॥'' इति। स्था०३ ठा०१ उ०।

अथ भर्तुर्दुष्प्रतिकार्यतामाह–

समणाउसो ! केइ महच्चे दरिद्दं समुक्कसेज्जा, तए णं से दरिद्दे समुक्किट्ठे समाणे पच्छा पुरं च णं विउलभोगसमिइसमण्णागए यावि विहरेज्जा। तए णं से महच्चे अन्नया कयाइं दरिद्दीहूए समाणे तस्स दरिद्दस्स अंतियं हव्वमागच्छेज्जा। तए णं से दरिद्दे तस्स भट्टिस्स सव्वस्सं वि दलयमाणे तेणावि तस्स दुप्पडियारं भवइ।

कश्चित् कोऽपि, महती ऐश्वर्यलक्षणाऽर्चा ज्वाला पूजा वा यस्य। अथवा– महांश्चासावर्थपतितयाऽर्चश्च पूज्य इति महार्चा, महार्च्यो वा, माहत्यं महत्वं, तद्योगान्माहत्यो वा, ईश्वर इत्यर्थः। दरिद्रमनीश्वरं कञ्चन पुरुषमतिदुःस्थं समुत्कर्षयेत् धनदानाऽऽदिनोत्कृष्टं कुर्यात्, ततः समुत्कर्षणानन्तरं स दरिद्रः समुत्कृष्टो धनाऽऽदिभिः (समाणे त्ति) सन् (पच्छ त्ति) पश्चात् काले (पुरं च णं ति) पूर्वकाले च, समुत्कर्षणकाल एवेत्यर्थः। अथवा पश्चात् भर्त्तुरसमक्षं, पुरश्च भर्त्तुः समक्षं च, विपुलया भोगसमित्या भोगसमुदयेन समन्वागतो युक्तो यः स तथा, सचापि विहरेत् वर्त्तते, ततोऽनन्तरं स महार्चो भर्त्ता। (सव्वस्सं ति) सर्वं च तत् स्वं च द्रव्यं चेति सर्वस्वं, तदपि आस्ताम्, अल्पमिति। (दलयमाण त्ति) ददन्, न कृतप्रत्युपकारो भवेदिति शेषः। अतस्तेनापि सर्वस्वदानेन सर्वस्वदायकेनापि वा दुष्प्रतिकरमेवेति। स्था०३ ठा०१उ०।

अथ धर्माऽऽचार्यदुष्प्रतिकार्यतामाह–

केइ तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतियमेगमवि आरियं धम्मं सोचा निसम्म कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने। तए णं से देवे तं धम्मायरियं दुब्भिक्खाओ वा देसाओ सुभिक्खं देसं साहरेज्जा, कंताराओ वा णिक्कंतारं करेज्जा, दीहकालिएणं वा रोआतंकेण अभिभूयं विमोइज्जा, तेणावि तस्स धम्मायरियस्स दुप्पडियारं भवइ।

(केइ इत्यादि) (आरियं ति) पापकर्मभ्य आराद्यातमिति आर्यमत एव धार्म्मिकमत एव सुवचनं श्रुत्वा श्रोत्रेण निशम्य मनसाऽवधार्य्य, अन्यतरेषु देवलोकेष्वन्यतरदेवानां मध्ये इत्यर्थः। देवत्वेनोत्पन्न इति। दुर्लभा भिक्षा यस्मिन् देशे स दुर्भिक्षस्तस्मात्संहरेत् नयेत्। कान्तारमरण्यं निर्गतः, कान्तारान्निष्क्रान्तो निष्क्रान्तारस्तं, निष्क्रामितारं वा, दीर्घः कालो विद्यते यस्य सःदीर्घकालिकस्तेन रोगः कालसहः कुष्ठाऽऽदिरातङ्कः कृच्छ्रजीवितकारी सद्योघातीत्यर्थः, शूलाऽऽदिः, अनयोर्द्वन्द्वैकत्वे रोगाऽऽतङ्कं, तेनेति धर्मस्थापके न तु भवति कृतोपकारः। शेषं सुगमम्। स्था०३ ठा०१उ०।

दुप्पडिलेह त्रि०(दुष्प्रत्युपेक्ष्य) यच्च सम्यक् न शक्यते प्रत्युपेक्षितुं तस्मिन्, प्रव० ८४ द्वार।

दुप्पडिलेहण त्रि०(दुष्प्रत्युपेक्षण) दुष्टमुद् भ्रान्तचेतसा प्रत्युपेक्षणं दुष्प्रत्युपेक्षणम्। आव० ४ अ०। दुर्निरीक्षणे, आव०४ अ०। आ० चू०।

दुप्पडिलेहिय त्रि०(दुष्प्रत्युपेक्षित) दुर्निरीक्षिते, आचा०१ श्रु० १ चू०।

दुप्पणिहाण न०(दुष्प्रणिधान) प्रणिधानं प्रयोगः, दुष्टं प्रणिधानं दुष्प्रणिधानम्। आव०६ अ०। अशुभमनःप्रवृत्त्यादिरूपे प्रयोगे, स्था०।

तिविहे दुप्पणिहाणे पण्णत्ते। तं जहा–मणदुप्पणिहाणे, व–

यदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे । एवं पंचिंदियाणं०जाव वेमाणियाणं ॥

दुष्प्रणिधानमशुभमनःप्रवृत्त्यादिसामान्यप्रणिधानवत् व्याख्येयमिति। स्था०३ ठा०१उ०। प्रव०। आ०चू०। भ०। ध०।

चउव्विहे दुप्पणिहाणे पण्णत्ते। तं जहा—मणदुप्पणिहाणे० जाव उवगरणदुप्पणिहाणे, एवं पंचेंदियाणं०जाव वेमाणियाणं । स्था०४ ठा०१उ०।

दुप्पणिहिय त्रि०(दुष्प्रणिहित) विश्रोतोगामिनि, दश०८ अ०। स्था०। आचा०।

दुप्पणोल्लिय त्रि०(दुष्प्रणोद्य) दुःखेन प्रणोद्यते इति दुष्प्रणोद्यः। दुरुत्यजे, सूत्र०१ श्रु०३अ०१उ०।

दुप्पण्णवणिज्ज न०(दुष्प्रज्ञाप्य) दुःखेन प्रज्ञप्तुं योग्ये, दुःखेन धर्म-संज्ञोपदेशेनानार्य्यसङ्कल्पान्निवर्त्तन्ते। आचा०१ श्रु०१ चू० ३अ०१ उ०।

दुप्पत न०(दुष्पत) अपतनशीले पात्रविशेषे, ''जं ठविज्जंतं उड्ढं ठायति, चालियं पुण पलोट्टति, तं दुप्पतं।'' नि०चू०१उ०।

दुप्पतर त्रि०(दुष्प्रतर) दुरुत्तरे, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०।

दुप्पधंसग त्रि०(दुष्प्रधर्षक) दुर्धर्ष एव दुर्धर्षकः। उत्त०९ अ०। शत्रुभिर्दुराकलनीये, उत्त०९अ०।

दुप्पमज्जण त्रि०(दुष्प्रमार्जन) अविधिना प्रमार्जने, ध०३ अधि०।

दुप्पमज्जिय त्रि०(दुष्प्रमार्जित) अविधिना अनुपयुक्ततया च रजो-हरणाऽऽदिना विशोधिते, प्रव०६ द्वार। आचा०। आवा०।

दुप्पमज्जियचारि(ण्) पुं०(दुष्प्रमार्जितचारिण्) दुष्प्रमार्जितेऽव-स्थाननिषीदनशयनीयकरनिक्षेपोच्चाराऽऽदिपरिष्ठापनकारके, दश०१अ०। स०। आ०चू०। प्रश्न०।

दुप्पय न०(दुष्पद) पुष्पकमूलेन प्रतिष्ठिते, बृ०३ उ०।

दुप्पयारप्पमद्दण त्रि०(दुष्प्रचारप्रमर्दन) दुष्प्रचाराश्चौराऽऽदयोऽन्याय-कारिणस्तान् प्रमर्दयति यस्तस्मिन्। अन्यायकारिप्रचारनिवारके, कल्प०१ अधि०३क्षण।

दुप्परक्कंत न०(दुष्पराक्रान्त) प्राणिघातादत्तापहाराऽऽदौ कर्म्मणि, ज्ञा०१श्रु०१६अ०।

दुप्परिअल्ल (देशी) अशक्ये दुर्गुणे, अनभ्यस्ते च। दे०ना०५ वर्ग ५५ गाथा।

दुप्परिकम्मतर न०(दुष्परिकर्म्मतर) कष्टकर्त्तव्यतेजोजननमङ्गक-रणाऽऽदिप्रक्रिये, भ०६ श०१उ०।

दुप्परिच्चय त्रि०(दुष्परित्यज) दुःखेन परित्यक्तुं योग्ये, उत्त०। ''दुप्परि-च्चया इमे कामा, नो सुजढा अधीरपुरिसेहिं।''उत्त०८ अ०।

दुप्परियत्तणसील त्रि०(दुष्परिवर्त्तनशील) महता कष्टेन पश्चाद्व-लनशीले, ''मच्छो विव दुप्परियत्तणसीलाओ।'' मत्स्यवत् दुष्परि-वर्त्तनशीला महता कष्टेन परिवर्त्तनं पश्चाद्वालयितुं शीलं स्वभावो यासां तास्तथा स्त्रियः। तं०।

दुप्परिवत्तणसील त्रि०(दुष्परिवर्त्तनशील) 'दुप्परियत्तणसील' शब्दार्थे, तं०।

दुप्परिस त्रि०(दुष्प्रधृष्य) अपरिभवनीये, प्रश्न०५ संब० द्वार।

दुप्पलिओसहिभक्खणया स्त्री०(दुष्पक्वौषधिभक्षणता) भोजनतः परिभोग उपभोगव्रतस्यातिचारविशेषे, ''दुप्पक्कोसहिभक्खणया।'' दुष्पक्वा अग्निना अचित्ता औषधयस्तद्भक्षणता। अतिचारता चास्य पक्वबुद्ध्या भक्षयतः। उपा०१ अ०। ध०। ध०२०। आव०।

दुप्पलितोसहिभक्खणया स्त्री०(दुष्पक्षौषधिभक्षणता) 'दुप्प-लिओसहिभक्खणया' शब्दार्थे, उपा०८अ०।

दुप्पलिय त्रि०(दुष्पक्व) मन्दपक्वे, ध०२ अधि०।

दुप्पवियम त्रि०(दुष्प्रावृत) परिधानवर्जिते, तं०।

दुप्पवेस त्रि०(दुष्प्रवेश) दुरवगाहे, आ०म०१अ०२खण्ड। औ०।

दुप्पवेसतरग त्रि०(दुष्प्रवेशतरक) प्रवेष्टुमशक्ये, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

दुप्पसह पुं०(दुष्प्रसह) कल्किनृपसमकालिके राजोपद्रुतसंरक्षके स्वनामख्याते आचार्य्ये, ती०२० कल्प। ''दूसमपज्जंते वाससयतिसिओ पव्वइय दुहझूसियतणू दसवेयालियागमधरो अट्ठट्ठसिलोगप्पमाणगण-हरमंतजावी छट्ठउक्किट्ठतवो दुप्प सहो नाम आयरिओ चरमजुगप्पहाणो अट्ठ वासाइं सामण्णं पालित्ता वीसवरिसाओ अट्ठमभत्तेणं कयाणसणो सोहम्मे कप्पे पलिओवमाओसरो एगावयारो उप्पिज्जहइ दुप्पसहो सूरी फग्गुसिरी अज्जा, नाइलो सावगो, सव्वसिरी साविया, एस अपच्छिमो संघो।'' ती०२० कल्प। ति०।

दुप्पसहंतं चरणं, जं भणियं भगवया इहं खेत्ते।
आणाजुत्ताणमिणं, न होइ अहुणो त्ति वामोहो ॥५७॥

(दुप्पसहंतमिति) दुःखेन प्रकर्षप्राप्ततया सह्यत इति दुष्प्रसहं, त्द्-गुणयोगादाचार्योऽपि दुष्प्रसहः। यथा दण्डयोगाद्दण्डः पुरुष इति। स एवान्ते पर्यन्ते यस्य तत्तथा, चरणं चारित्रं भणितं प्रतिपादितं भगवता श्रीमन्महावीरेण, इहास्मिन् क्षेत्रे भरताभिधाने यद्यस्मात्कारणात् तस्मादाज्ञायुक्तानामपि, न केवलमाज्ञाबाह्यानामिदं प्रस्तुतं चारित्रं न भवति न जायतेऽधुनेति साम्प्रतं तत्साध्यातिशयदर्शनाच्च इति तेषामसद् ग्राहगृहीतचेतसां व्यामोहो मूढतेति यावत्। मूढता च तेषामागमवच-नान्यथाकरणादिति गाथार्थः ॥५७॥ दर्श० २ तत्त्व। शत्रुञ्जयतीर्थ-स्योद्धारके, ''सुमङ्गलः शूरसेन इत्यस्योद्धारकारकाः। अवक् दुष्प्रस-होदन्त, भावी विमलवाहनः ॥१३॥'' ती०१ कल्प। ''अस्याः पश्चिम-मुद्धारं, राजा विमलवाहनः। श्रीदुष्प्रसहसूरीणामुपदेशाद्विधास्यति ॥१॥'' ती०१ कल्प।

दुप्पस्स त्रि०(दुर्दर्श) दुःखेन दर्श्यत इति दुर्दर्शः। परीषहाऽऽदौ दुर्दर्श, ''मज्झिमगाणं जिणाणं, दुप्पस्सं दुग्गमं भवइ।'' स्था० ५ ठा०१उ०। ('तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६२ पृष्ठे व्याख्या)

दुप्पहंसय त्रि०(दुष्प्रहंस्यक) दुरभिभवे, उत्त०११ अ०।

दुफास त्रि०(द्विस्पर्श) द्वावविरुद्धौ स्निग्धशीताऽऽद्यात्मकौ स्पर्शौ यस्येति द्विस्पर्शः। उत्त०पाई०१ अ०। स्निग्धरूक्षशीता-

ष्णस्पर्शानामन्यतराविरुद्धस्पर्शद्वययुक्ते, भ०१८ श०६ उ० स्था०।

दुवालस पुं०(द्वादशन्) द्वौ च दश च, द्व्यधिका वा दश, आत्वम्। (बारा) सङ्ख्याभेदे, वाच०। प्रश्न०। सू०प्र०। आचा०। द्विरावृत्ता दश। विंशति-सङ्ख्यायाम्, वाच०।

दुवालसंग न०(द्वादशाङ्ग) आर्षे 'दुवालसंगे' इत्याद्यपि। प्रा०१ पाद। परमपुरुषस्याङ्गानीवाङ्गानि द्वादश अङ्गान्याचाराऽऽदीनि यत्र तद् द्वादशाङ्गम्। श्रुते, अनु०।

दुवालसंगं गणिपिडगं। तं जहा–आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ, विवाहपण्णत्ती, नायाधम्मकहाओ, उवासग-दसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइअदसाओ, पण्हावा–गरणाइं, विवागसुअं, दिट्ठिवाओ अ।(४२) अनु० पा० सूत्र० स० नं० स्था०।

दुवालसंगि(ण्) पुं०(द्वादशाङ्गिन्) श्रुतकेवलिनि, ध०३ अधि०।

दुवालसंगी स्त्री०(द्वादशाङ्गी) अङ्गप्रविष्टश्रुते, सूत्र०१ श्रु०१ अ०२उ०।

दुवालससिय त्रि०(द्वादशाश्रिक) द्वादश अश्रयः कोटयो यत्र तस्मिन् द्वादशकोणोपेते, अनु० स्था०।

दुवालसम त्रि०(द्वादशम) द्वादशसङ्ख्यापूर्वके, स्था०६ ठा०।

दुवालसविह त्रि०(द्वादशविध) द्वादशप्रकारे, प्रश्न०२ संव० द्वार। आ०चू०।

दुवालसायतण न०(द्वादशायतन) द्वादशवस्तुषु, सूत्र०।

अथ बौद्धमतं निरूप्यते–

तत्र हि पदार्था द्वादशायतनानि। तद्यथा–चक्षुरादीनि पञ्च, रूपाऽऽदयश्च विषयाः पञ्च, शब्दायतनं, धर्मायतनं च। धर्माःसुखाऽऽदयो, द्वादशायतनपरिच्छेदकत्वे प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रधाने प्रमाणे, तत्र चक्षुरादीन्द्रियाण्यजीवग्रहणेनैवोपात्तानि, भावेन्द्रियाणि तु जीवग्रहणेनेति। रूपाऽऽदयश्च विषया अजीवापादनेनोपात्ता न पृथगुपादातव्याः। शब्दायतनं तु पौद्गलिकत्वाच्छब्दस्थाजीवग्रहणेन ग्रहणम्। न च प्रतिव्यक्ति पृथक् पदार्थता युक्तिसङ्गतेति। धर्माऽऽत्मकं सुखं दुःखं च यद्यसातोदयरूपं, ततो जीवगुणत्वाज्जीवेऽन्तर्भावः। अथ तत्कारणं कर्म, ततः पौद्गलिकत्वादजीव इति। प्रत्यक्षं च तैर्निर्विकल्पकमिष्यते, तच्चानिश्रयाऽऽत्मकतया प्रवृत्तिनिवृत्त्योरनङ्गमित्यप्रमाणमेव। तदप्रामाण्ये तत्पूर्वकत्वादनुमानमपीति। शेषस्त्वाक्षेपपरिहारोऽन्यत्र सुविचारित इति नेह प्रतन्यते। सूत्र०१ श्रु०१३ अ०।

दुविलय पुं०(दुविलक) अनार्यदेशभेदे, प्रव० २७४ द्वार। सूत्र०।

दुवेयग पुं०(द्विवेदक) स्त्रीपुरुषवेदयुक्ते, बृ०४ उ०।

दुव्वद्ध त्रि०(दुर्बद्ध) अविधिना बद्धे, आचा०२ श्रु०१ चू० २अ० ३उ०।

दुव्वल त्रि०(दुर्बल) कृशाङ्गे, दीने, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। सूत्र०। तं०। हीनबले, विपा०१ श्रु०७ अ०। स्था०। भ०। असमर्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। रा०। अविद्यमाननियमे, विपा०१ श्रु०२अ०। व्याधिपीडिते, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। अदृढे, नि०चू०२ उ०। शारीरमानसावष्टम्भरहिते, जी०३ प्रति०२ उ०। धृतिबलविकले, बृ०४उ०। नि०चू०। दुर्बलिकापुष्पमित्रे, आ०चू०१अ०। ग्लानत्वादधुनैवोत्थितेऽसमर्थशरीरे, बृ०३ उ०। न विद्यते बलं गमने यस्मिन् स गाढाऽऽतपासंभवाऽऽदिना दुर्बलो, दुःशब्दोऽभाववाची। जेष्ठा–षाढाऽऽदिके च। व्य०२ उ०।

दुव्वलचारित्त पुं०(दुर्बलचारित्र) दुर्बलश्चारित्रे इति दुर्बलचारित्रः। विनाकारणेन मूलोत्तरगुणपरिषेविनि, नि०चू० १ उ०। व्य०।

संप्रति दुर्बलचारित्रद्वारमाह–

मूलगुणउत्तरगुणे, पडिसेवइ पणगमाइ जा चरिमं।
धिइवीरियपरिहीणो, दुव्वलचरणो अणट्ठाए।

मूलगुणोत्तरगुणविषयानपराधान् यः प्रतिसेवते सेवते। कथमित्याह–पञ्चकाऽऽदि यावच्चरमम्। इह पञ्चकशब्देन यत्र प्रतिसेविते रात्रिन्दिवपञ्चकमापद्यते स सर्वजघन्यश्चरणापराधः परिगृह्यते, आदिशब्दाद् दशरात्रिन्दिवाऽऽदिप्रायश्चित्तस्थानानि याव–च्चरमं सर्वोत्कृष्टचरणापराधलक्षणं पाराञ्चिकप्रायश्चित्तस्थानमिति। कथंभूतः सन् प्रतिसेवते? इत्याह–धृतिवीर्यपरिहीणो मानसिकावष्टम्भबलरहितः सोऽपि यदि पुष्टाऽऽलम्बनतः प्रतिसेवते ततो न दोषभाग् भवेदित्याह–(अणट्ठाए त्ति) अर्थोदर्शनज्ञानाऽऽदिकं प्रयोजनं, तदभावोऽनर्थ, तेन यः प्रतिसेवते स एष दुर्बलचरणः।

एवंविधस्य छेदश्रुतार्थदाने दोषबाहुल्यख्यापनार्थमिदमाह–

पंचमहव्वयभेदो, छक्कायवहो अ तेणऽणुण्णाओ।
सुहसीलवियत्ताणं, कहेइ जो पवयणरहस्सं॥

तेनाऽऽचार्येण पञ्चमहाव्रतभेदः, षट् कायवधश्चानुज्ञातः यः सुखशीलाव्यक्तानां शरीरशुश्रूषाऽऽदिकं शीलयन्तीति सुखशीलाः पार्श्वस्थाऽऽदयः, अव्यक्ताः श्रुतेन,वयसा च, सुखशीलाश्चाव्यक्ताश्चेति द्वन्द्वः। तेषामिति चूर्णिकृतः। निशीथचूर्णिकृतः पुनरयम्–सुखे शरीरसौख्ये शीलं स्वभावो व्यक्तः परिस्पष्टो येषां ते सुखशीलव्यक्तास्तेषाम्। यद्वा–सुखं मोक्षसौख्यं, तद्विषयं तत् शीलं मूलोत्तरगुणानुष्ठानं, ततो विगतो यत्न उद्यम आत्मा वा येषां ते सुखशीलवियत्नाः, सुखशीलव्यापृत्मनो वा, तेषामुभयत्रापि पार्श्वस्थाऽऽदीनामित्यर्थः। प्रवचनरहस्यं छेदयथार्थतत्त्वं कथयति।

कथं पुनस्तेन पञ्चमहाव्रतभेदः, षट्कायवधश्चानुज्ञातो भवतीति? उच्यते–

निस्साणपदं पीहइऽनिस्साणविहारियं न रोएइ।
तं जाण मंदधम्मं, इहलोगगवेसगं समणं॥

निश्राणते मन्दश्रद्धाकैरवलम्बते इति निश्राण तच्च तत्पदं च निश्राणपदम्, अपवादपदमित्यर्थः। तदेव यः स्पृहयति, अनिश्राणविहारितां तु न रोचयति, तमेवंविधं श्रमणं जानीहि मन्दधर्माणमिह–लोकगवेषकं, मनोज्ञभक्तपानाऽऽद्युपभोगेन केवलस्यैवेहलोकस्य चिन्तकं परलोकपराङ्मुखम्, एवंविधस्य च प्रवचनरहस्यप्रदाने विशेषतः पञ्चमहाव्रतभेदः, षट्कायवधश्च भवतीति युक्तमुक्तम्। बृ०१ उ०। १प्रक०।

दुव्वलपच्चवमित्त पुं०(दुर्बलप्रत्यवमित्र) अबलप्रातिवेशिकराजे, स्था०६ ठा०। दुर्बलानामकारणवत्सले, रा०। सूत्र०।

दुव्वलियत्त न०(दुर्बलिकत्व) दुष्टं बलमस्यास्तीति दुर्बलिकस्त–त्वभावो दुर्बलिकत्वम्। दौर्बल्ये, भ०१२ श०२ उ०। नि०चू०।

दुव्वलियापूसमित्त न०(दुर्वलिकापुष्यमित्र) आत्मार्थमेव भिक्षां हिण्डमानो बहूनां दुर्बलिनामाहारं संपादयन् दुर्बलिकापुष्यमित्र इति। आर्यरक्षितसूरिपितरि स्वनामख्याते आचार्य्ये, स चाऽऽर्यरक्षित-त्वामिनि दिवंगते स्वगणं परिपालयन् कर्म्मविषये विन्ध्येन साकं विप्रतिपद्यमानं गोष्ठामाहिलमुद्घाटितवान्। स्था० ७ ठा०। ध०२०। विशे०। आ०म०। आ०चू०।

दुव्विभज न०(दुर्विभज) कष्टविभजनीये, स्था०५ ठा०१उ०। ('तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६२ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

दुब्भ धा०(दुह) अदा०–उभ०–द्विक०–अनिट्। दोहे, ''ब्भो **दुहलिह-वहरुधामुच्चातः**'' ॥८।४।२४५॥ इति दुहेरन्त्यस्य कर्म्मभावे द्विरुक्तो ब्भो वा, तत्सन्नियोगे क्यस्य लुक्। 'दुब्भइ। दुहिज्जइ।' प्रा०४ पाद।

दुब्भग त्रि०(दुर्भग) सर्वैः परित्यक्ते निर्गतिके, सूत्र०१ श्रु०३ अ०१ उ०। अनिष्टे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

दुब्भगणाम न०(दुर्भगनाम) द्विचत्वारिंशन्नामकर्मभेदे, यदुदयवशा–दुपकारकृदपि जनस्याप्रियो भवति तद् दुर्भगनाम। उक्तं च–''उवकार-कारगो वि हु, न रुच्चइ दुभगे उ जरसुदए।'' इति। कर्म०१ कर्म०। प्रव०। पं०सं०। श्रा०।

दुब्भगतिक न०(दुर्भगत्रिक) दुर्भगदुःस्वरानादेयस्वभावरूपे, कर्म० १ कर्म०।

दुब्भगाकरा स्त्री०(दुर्भगाऽऽकरा) सुभगमपि दुर्भगमाकरोति इति दुब्भगाऽऽकरा। सुभगस्य दुर्भगकारके विद्याभेदे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

दुब्भासिय न०(दुर्भाषित) दुष्टं सावद्यवाग्रूपं भाषितं यत्र तत्तथा। ध०२अधि०। अनागमिकार्थोपदेशे, पञ्चा०१२ विव०। असद्–भूतोद्भावे, जीत०। गर्वे, आ०म०२अ०१खण्ड। दुर्वाचा प्रतिक्रान्ते च। आ०म०१ अ०२ खण्ड।

दुब्भि पुं०(दुरभि) दुर्गन्धे वैमुख्यकृति, स्था०१ ठा०। नि० चू०। प्रज्ञा०। आचा०।

दुब्भिक्ख न०(दुर्भिक्ष) सस्योत्पत्त्यभावेन (दर्श०१ तत्त्व) दुर्ल्लभा भिक्षा यस्मिन्देशे स दुर्भिक्षः। अलभ्यभिक्षाके देशे, स्था०३ ठा०१ उ०। भिक्षाभावे, स्था०५ ठा०२उ०। कालविभ्रमे, आव०६अ०। दुष्काले, स०३४ सम०। प्रव०। औ०। अन्नाकाले, दश०१ अ०। वीरात्किंयन्तो दुर्भिक्षा अभवन्, यतः केऽप्येवं कथयन्तिदुर्भिक्षद्वयमभवत्, परिशिष्ट-पर्वाऽऽदौ च बहवः सन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–वीरादर्वाक् दुष्काला भूयांसो बभूवुः, परं साक्षाद् द्वादशाब्दं दुष्कालत्रयं शास्त्रे प्रोक्तं दृश्यते, तत्र परिशिष्टपर्वणि द्वयं, नन्दीबृत्तौ चैक इति। ये तु दुष्कालद्वयमेव कथयन्ति तत्करिस्मन् शास्त्रे वर्तते, तन्नाम ज्ञापनीयं, पश्चात्तदुत्तरविषये ज्ञास्यते इति।३७८प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

दुब्भिक्खभत्त न०(दुर्भिक्षभक्त) यद् भिक्षुकार्थं दुर्भिक्षे संस्क्रियते। भक्तभेदे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। स्था०। ''अनविनिगयाणं भुक्खत्ताणं जं दुब्भिक्खे रायो देति तं दुब्भिक्खडत्तं।'' नि०चू० ६ उ०।

दुब्भिगंध त्रि०(दुरभिगन्ध) दुर्गन्धे, स्था०३ ठा०३उ०। तीव्रतराष्ट-गन्धोपेते, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। कुथितकडेवरकाऽऽदौ, आचा०१ श्रु०६अ०२उ०।रा०। दुरभिगन्धेन कुथितकलेवरातिशायिनि नरके, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०। असह्यगन्धे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। दुष्टगन्धे च। ज्ञा०२ श्रु०६ अ०। ''एगे दुब्भिगन्धे।'' स्था०१ ठा०। दुरभिगन्धपरिणता लसुनाऽऽदिवत्। प्रज्ञा०१ पद।

दुब्भिसद्द पुं०(दुरभिशब्द) दुरीभशुभः मनोज्ञो यो न भवति। ''एगे दुब्भिसद्दे।'' स्था०१ ठा०। अशुभशब्दे, प्रज्ञा०१३ पद।

दुब्भूइ स्त्री०(दुर्भूति) अशिवे, बृ०३उ०।

दुब्भूय त्रि०(दुर्भूत) दुष्टा जनधान्याऽऽदीनामुपद्रवहेतुत्वाद् दुर्भूताः यूकामत्कुणोन्दुरतिड्डप्रभृतिष्वीतिविशेषेषु सत्त्वेषु, भ०३ श०२उ०। अशिवे, जी०३प्रति०४उ०।

दुब्भेय त्रि०(दुर्भेद) दुर्भोचे दुःक्षरणीये, विशे०। रा०।

दुभागपत्त त्रि०(द्विभागप्राप्त) द्विभागोऽर्द्धं तत्प्राप्तो द्विभागप्राप्तः। द्विभागप्राप्ते आहारे, द्विभागो वा प्राप्तोऽनेनेति द्विभागप्राप्तः। द्विभागप्राप्ते साधौ च। भ०७ श०१उ०।

दुम नामधा०(धवलि) श्वेतीकरणे, **''धवलेर्द्रुमः''** ॥८।४।२४॥ इति धवलयतेर्ण्यन्तस्य वा द्रुमाऽऽदेशः। 'दुमइ। धवलइ।' प्रा०१ पा।

दुम पुं०। द्रुः शाखाऽस्त्यस्य द्रुमः। वृक्षे, उत्त०३२ अ०। वाच०। 'दु द्रु' गतावित्यस्य द्रुः, द्रुरस्मिन्देशे विद्यत इति तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुपि प्राप्ते ''दुद्रुभ्यां मः(७४४ उणा०)'' इति मप्रत्ययान्तस्य द्रुम इति भवति। दश०१ अ०।

साम्प्रतं द्रुमनिक्षेपप्ररूपणायाऽऽह–

नामदुमो ठवणदुमो, दव्वदुमो चेव होइ भावदुमो।
एमेव य पुप्फस्स वि, चउव्विहो होइ निक्खेवो ॥३४॥

नामद्रुमो यस्य द्रुम इति नाम अभिधानम्। स्थापनाद्रुमो द्रुम इति स्थापना। द्रव्यद्रुमश्चैव भवति। भावद्रुमः। तत्र द्रव्यद्रुमो द्विधा–आगमतो, नोआगमतश्च। आगमतो ज्ञातानुपयुक्तो, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्य-शरीरोभयव्यतिरिक्तस्त्रिविधः। तद्यथा–एकभविको, बद्धाऽऽयुष्कोऽभि-मुखनामगोत्रश्च। तत्रैकभविको नाम य एकेन भवेनानन्तरं द्रुमेषूत्पत्स्यते। बद्धाऽऽयुष्कस्तु येन द्रुम नामगोवे कर्म्मणी बद्धे इति। अभिमुखनामगोत्रस्तु येतु ते नामगोत्रे कर्म्मणी उदीरणावलिकायां प्रक्षिप्ते इति। अयं च त्रिविधोऽपि भाविभावद्रुमकारणत्वाद् द्रव्यद्रुम इति। भावद्रुमोऽपि द्विविधः–आगमतो, नोआगमतश्च। तत्राऽऽगमतो ज्ञातोपयुक्तः। नोआग-मतस्तु द्रुम एव द्रुमनामगोत्रे कर्म्मणी वेदयन्निति। एवमेव च यथा द्रुमस्य तथा, किम्? पुष्पस्यापि वस्तुतस्तद्विकारभूतस्य, चतुर्विधो भवति निक्षेप इति गाथाऽर्थः ॥३४॥

साम्प्रतं नानादेशजविनेयगणासंमोहार्थमागमे द्रुमपर्याय–

शब्दान् प्रतिपादयन्नाह–

दुमा य पावया रुक्खा, आगमा विडिमा तरू।
कुजा महीरुहा वच्छा, रोवगा रुंजगा वि य ॥३५॥

द्रुमाश्च पादपा वृक्षाः आगमा विटपिनस्तरवः कुजा महीरु–

हा कथा रोपका रुज्जकाऽऽदयश्च। तत्र द्रुमाऽन्वर्थसंज्ञा पूर्ववत्। पद् भ्यां पिबन्तीति पादपा इति। एवमन्येषामपि यथासंभवमन्वर्थसंज्ञा वक्तव्या। रुढिदेशीशब्दा वा एते। इति गाथाऽर्थः ॥३५॥ दश० १ अ०। उत्त०। चमरस्यासुरेन्द्रस्यासुरकुमारराज्ञः स्वनामख्याते पदात्यनीकाधिपतौ, स्था०७ ठा०। श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, स च महावीरस्वामिनोऽन्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायः संलेखनया मृत्वाऽपराजिते देवलोके उपपद्य ततश्चुत्वा महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गस्य सप्तमेऽध्ययने सूचितम्। अणु०१ श्रु०१ वर्ग२ अ०। आरणे कल्पे स्वनामख्याते विमानभेदे, स० ६ सम०। पारिजाते, कुबेरे च। वाच०।

दुमंतअ (देशी) केशबन्धे, दे०ना० ५ वर्ग ४७ गाथा।

दुमगण पुं०(दुमगण) वृक्षसङ्घाते, दश०१ अ०।

दुमण न०(धवलन) सेटिकया स्वेतीकरणे, प्रश्न०३ संव० द्वार।

दुमणी (देशी) सुधायाम्, दे०ना०५ वर्ग ४४ गाथा।

दुमत्त त्रि०(द्विमात्र) ''**द्विन्योरुत्**'' ॥८।१।६४॥ इति द्विशब्दे इकारस्योकारः 'दुमत्तो।' मात्रद्वययुक्ते, प्रा०१ पाद।

दुमपत्तय न०(दुमपत्रक) ष०त०। वृक्षपर्णे, उत्त०।

अथ वृक्षपर्णतया आयुषश्चलत्वमुपदर्शयन्नाह–

दुमपत्तेणोवमियं, अहट्ठिईए उवक्कमेणं च।
एत्थ कयं आइम्मी, तो दुमपत्तं ति अज्झयणं ॥१८॥

द्रुमो वृक्षस्तस्य पत्रं पर्णं द्रुमपत्रं, तेनौपम्यमुपमा, प्रक्रमादायुषः। केन पुनर्गुणेनौपम्यमित्याह–यथास्थित्या स्वकालपरिपाकतः पातरुपपातः, तथा उपक्रमणं दीर्घकालभाविन्याः स्थितेः स्वल्पकालताऽऽपादनमुपक्रमः। कोऽर्थः ?–पाकादारत एव वाताऽऽदिनाऽवस्थितिविनाशनं, तेन च, अत्राध्ययने कृतं विहितमादौ प्रथमं यस्मात्ततो द्रुमपत्रमित्यध्ययनमिदमुच्यते, इति शेषः। इति गाथाऽर्थः।

यथा चास्य समुत्थानं तथा दर्शयंस्त्रयोविंशतिसङ्ख्यं गाथाकदम्बकमाह–

मगहापुरनगराओ, वीरेण विसज्जणं तु सीसाणं।
सालमहासालाणं, पिट्ठीचंपं च आगमणं ॥१९॥
पव्वज्जा गागिलस्स य, नाणस्स य उपयाउ तिण्हं पि।
आगमणं चंपाए, वीरस्स य वंदणं तेसिं ॥२०॥
चंपाएँ पुन्नभद्दम्मि चेइए णायओ पहियकित्ती।
आमंतेउं समणे, कहेइ भगवं महावीरे ॥२१॥
अट्ठविहकम्ममहणस्स तस्स पयईएँ सुद्धलेसस्स।
अट्ठावए नगवरे, निसीहियानिट्ठियट्ठस्स ॥२२॥
उसहस्स भरहपिउणो, तेल्लोक्कपगासनिग्गयजसस्स।
जो आरोढुं वंदइ, चरिमसरीरो य सो साहू ॥२३॥
साहुं संवासेई, असाहुं ण किर संवसावेइ।
अह सिद्धपव्वओ सो, पासे वेयड्ढसिहरस्स ॥२४॥
चरिमसरीरो साहू, आरुहई नगवरं न अन्नोऽत्थ।
एयं तु उदाहरणं, कासी य तहिं जिणवरिंदो ॥२५॥
सोऊण तं भगवओ, गच्छइ तहिँ गोयमो पहियकित्ती।
आरुज्झ तं नगवरं, पडिमाओ वंदइ जिणाणं ॥२६॥
अह आगओ सपरिसो, सव्विड्ढीए तहिं तु वेसमणो।
वंदित्तु चेइयाइं, अह वंदइ गोयमं भयवं ॥२७॥
अह पुंडरीयनामं, कहेइ तहिँ गोयमो पहियकित्ती।
दसमस्स य पारणए, पव्वावे सीयकोडीणं ॥२८॥
तस्स य वेसमणस्स य, परिसाए सुरवरो य तणुकम्मो।
तं पुंडरीयनामं, गोयम ! कहियं निसामेइ ॥२९॥
घेत्तूण पुंडरीयं, वग्गुविमाणाउ सो चुओ संतो।
तुंववणे धणगिरिस्सा, अज्जसुनंदासुओ जाओ ॥३०॥
दिन्ने य कोडिदिन्ने, सेवाले चेव होइ तइएसु।
एक्केक्कस्स य तेसिं, परिवारो पंचपंसया ॥३१॥
हिट्ठिल्लाण चउत्थं, मज्झिल्लाणं तु होइ छट्ठं तु।
अट्ठममुवरिल्लाणं, आहारो तेसिमो होइ ॥३२॥
कंदाई सच्चित्तो, हेट्ठिल्लाणं तु होइ आहारो।
विइयाणं अच्चित्तो, तइयाणं सुक्कसेवालो ॥३३॥
तं पासिऊण इड्ढिं, गोयमरिसिणो तओ तिवग्गा वि।
अणगारा पव्वइया, सप्परिवारा विगयमोहा ॥३४॥
एगस्स खीरभोयणहेउं नाणुप्पया मुणेयव्वा।
एगस्स य परिसा दंसणेण एगस्स य जिणम्मि ॥३५॥
केवलिपरिसं तत्तो, वच्चंता गोयमेण ते भणिया।
इय एह वंदह जिणं, कयकिच्च जिणेण सो भणिओ ॥३६॥
सोऊण तं अरहओ, हियएणं गोयमो विचिंतेइ।
नाणं मे न उपज्जइ, भणिओ य जिणेण सो ताहे ॥३७॥
चिरसंसिट्ठं चिरपरिचियं च चिरमणुगयं च मे जाण।
देहस्स य भेयम्मी, दुन्नि वि तुल्ला भविस्सामो ॥३८॥
जह मन्नेँ एयमट्ठं, अम्हे जाणामोँ खीणसंसारा।
तह मन्नेँ एयमट्ठं, विमाणवासी वि जाणंति ॥३९॥
जाणगपुच्छं पुच्छइ, अरहा किर गोयमं पहियकित्ती।
किं देवाणं वयणं, गज्झं आओ जिणवराणं ॥४०॥
सोऊणं च भगवओ, मिच्छाचारस्स सो उवट्ठाइ।
तन्निस्साएँ भगवओ, सीसाणं देइ अणुसट्ठिं ॥४१॥

उत्त०नि०।

एतच्चाक्षरार्थं प्रति स्पष्टमेव, नवरं मगधापुरनगरं राजगृहं, तस्यैव तत्कालापेक्षया मगधासु प्रधानपुरत्वादविद्यमानकरत्वाच्च, तथा (नायओ पहियकित्ति त्ति) नायकः सकलजगतस्वामी, ज्ञात एव वा ज्ञातक उदारक्षत्रियः, न्यायतो वा प्रथिता सकलजगत्प्रख्याता कीर्त्तिर्यस्य स तथा, प्रकृत्या स्वभावेन शुद्धाऽत्यन्तनिर्म्मला लेश्या यस्य स तथा, (निसीहिय त्ति) निषिध्यन्ते निराक्रियन्ते अस्यां कर्म्माणीति नैषेधिका निर्वाणभूमिः, ''कृत्यल्युटो बहुलम्'' ॥३।३।११६॥ इति बहुलग्रहणबलाद् ल्युट्,

निष्ठितार्थस्य समाप्तसकलकृत्यस्य, यद्वा निषेधे सकलकर्म्मनिराकरणलक्षणे भवा नैषेधिका मुक्तिगतिस्तया निष्ठितार्था यस्तस्य, ऋषभस्य ऋषभनाम्नः। स चान्योऽपि संभवत्यत आह–भरतपितुरिति। वन्दते स्तौति, प्रक्रमान्नैषेधिकां, प्रतिमां वा, तथा साधुं, समिति भृशं वासयति संवासयति; कोऽर्थः? रात्रिन्दिवं व्यवस्थापयति, नोऽसाधुं संहरणाऽऽदिना नीतमपि, किलेति परोक्षाऽऽप्तवादसूचकः, अथेत्युपन्यासे, सिद्धैरुपलक्षितः पर्वतः सिद्धपर्वतः, तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति तदधिष्ठायकदेवताविशेष एवोक्तः। यद्वा–तत्तीर्थानुभाव एवायं यदसाधोस्तत्रावस्थानमेव न संपद्यते। तथा चरमशरीरः साधुरारोहतीत्यत्र पदप्रचारेणेति गम्यते। उदाहरणं कथनं, (कासी य त्ति) अकार्षीत्, अनेन चैवंविधादेव प्रवादोऽस्थानकारणमुक्तम्। ''घित्तूण पुंडरीयं'' इत्यादिना च प्रसङ्गाऽऽगतं वैरस्वामिजन्मोक्तम्, तथा–(पासिऊण इड्ढि त्ति) तामेव प्रतीतामेव भगवति जङ्घाचारणलब्धिरूपां, तथा–(तिवग्गा वि त्ति) त्रयो वर्गा येषां ते त्रिवर्गाः, तेऽपि प्रक्रमाद् दिन्नकोडिदिन्नशैवलिनस्त्रयोऽपि, नैको, द्वौ वेत्यपिशब्दार्थः। (अणगारे त्ति) अविद्यमाऽनगृहाः, ते च तापसाऽऽदयोऽपि स्युरत आह–प्रकर्षेण व्रजिता मिथ्यात्वाऽऽदिभ्यो विनिर्गताः प्रव्रजिताः, तथा–(एगस्स खीरभोयणहेउ त्ति) क्षीरान्नभोजनमेव विशुद्धाध्यवसायविशेषोत्पत्तिनिबन्धनतया हेतुः कारणं क्षीरभोजनहेतुः, मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात्समासः, तमाश्रित्येतिशेषः। (नाणुप्पय त्ति) ज्ञानस्योत्पादनमुत्पत्, संपदादित्वात् क्विप्, ज्ञानोत्पत्। तथा (चिरसंसिट्ठ त्ति) चिरं प्रभूतकालं संसृष्टः स्वस्वाम्यादि संबन्धेन संबद्धो यस्तं, चिरं परिचितः सहवासाऽऽदिना स पूर्वो यस्तम्। उभयत्र विस्पष्टं पटुर्विस्पष्टपटुरितिवत् ''सहसुपा'' ॥२।१।४॥ इत्यत्र सुपेतियोगविभागात्समासः। चिरमनुगतमभिप्रायानुवर्तिनम्, आत्मानमिति शेषः। ममेत्यात्मनिर्देशः। ततः प्रभूतमोहनीयाऽऽच्छादिततया न ते ज्ञानोत्पत्तिरित्यभिप्रायः। देहस्य तु शरीरस्य भेदे विनाशे द्वावप्यावां तुल्यौ मुक्तिपदप्राप्त्या समौ भविष्याव इति। मा त्वमधृतिं कृथा इति भावः। तथा येन प्रकारेण यथा (मन्ने त्ति) आर्षत्वात् पुरुषव्यत्ययः, ततो मन्यसे, त्वमेतं ज्ञानावाप्तिलक्षणमर्थं वस्तु, वयं जानीमोऽवबुद्ध्यामहे, किंवि शिष्टाः सन्त इत्याह–क्षीणः पुनर्भवाभावतः संसारो येषां ते क्षीणसंसाराः, तेन प्रकारेण तथा व्यवच्छेदफलत्वात्तथैव। किमित्याह–(मण्णे त्ति) प्राग्वत्, मन्यसे एतमर्थमनन्तरोक्तं, विमानवासिनोऽपि देवा जानन्त्यवबुद्ध्यन्ते? एवं च यथा क्षीणसंसारा जानन्ति, तथा विमानवासिनोऽपि जानन्तीत्याशयवतः क्षीणसंसारिणां च परिज्ञानं प्रति साम्यमभिमत–मित्यहो तवाविवेकितेत्युपालब्धः! तथा (जाणगपुच्छं ति) ज्ञापकपृच्छया पृच्छति, न हि तस्य भगवतः समस्तज्ञेयविषयविज्ञानचक्षुषः क्वचिदज्ञानमस्ति, किं तु गौतमं प्रतियोधयितुमित्थमुपालभते–यथा, किम्? दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवास्तेषां वचनं वाचो (गज्झं ति) ग्राह्यमुपादेयम्। (आओ त्ति) आर्षत्वात् आहो–स्वित्, जिनानां वराःप्रधाना जिनवरा उत्पन्नकेवलास्तीर्थकृतः, तेषां, तदनेन एकमरमत्परिज्ञानस्य देवपरिज्ञानस्य च साम्याऽऽपादनम्, अपरं तु साम्ये सत्यपि ''देहस्स य भेयम्मि वि, दोण्णि वि तुल्ला भविस्सामो त्ति'' अस्मद्वचनतः शतशोऽपि श्रुतान्न विनिश्चयमपि विहितवान्, देववचनात्तु सकृदनाकर्णिता तथेति प्रतिपद्याष्टापदं प्रति प्रयात इत्यहो ते मोहविजृम्भितमित्युक्तं भवति। श्रुत्वा तदुपालम्भं भगवतः संबन्धि (मिच्छाचारस्स त्ति) आर्षत्वाद् मिथ्यात्वादुक्तरूपाद्गम्यमानत्वात् प्रतिक्रमितुमुपतिष्ठतीत्युद्यच्छति, तन्निश्रयेति गौतमनिश्रया अनुशिष्टिशिक्षाम्। एतद्भावार्थस्तु सम्प्रदायादवसेयः। स चायम्– ''तेणं कालेणं तेणं समएणं पिट्ठिचंपा नाम नयरी, तत्थ सालो राया, महासालो जुवराया, तेसिं साल–महासालाणं भगिणी जसवतीति। से पिढरो भत्तारो, जसवतीए अत्तओ पिढरपुत्तो गागली नाम कुमारो, तत्थ बद्धमाणसामी समोसढो सुभूमिभागे उज्जाणे, सालो निग्गतो, धम्मं सोच्चा जं०णवरं महासालं रज्जे ठावेमि, सो अइगतो, तेण आपुच्छितो महासालो भणइ अहं पि संसारभयउव्विग्गो जहा तुब्भे, इहं मेढीपरिमाणं तहा पव्वइयव्वस्स वि। ताहे गागलिं कंपिल्लाओ सद्दाविऊण पट्टो बद्धो, अभिसित्तो, राया जातो, तस्स माया कंपिल्लपुरे नयरे दिण्णिल्लिया पिढरस्स, तेण तओ सद्दाविता, सो पुण तेसिं दो सिवियाओ कारेति०जाव ते पव्वइया, सा भगिणी समणोपासिया जाया। तते णं ते समणा होंतगा एक्कारस अंगाइं अहिज्जिया, तते णं समणे भगवं महावीरे बहिया जणवयविरं विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहं नाम नयरं, तत्थ सामी समोसढो, ताहे सामी पुणो विनिग्गतो, चंपं पहाविओ, ताहे सालमहासाला सामी आपुच्छंति, अम्हे वि पिट्ठीचंपं वच्चामो, जइ नाम ता ण कोवि वुज्झिज्जा, सम्मत्तं वा लहिज्जा, सामी विजाणइ जहा ताणि संबुज्झिहंति, ताहे सामिणा गोयमसामी सेविज्जाओ दिन्नो, सामी चंपं गतो, गोयमसामी पिट्ठिचंपं गतो, तत्थ समोसरणं, गागलीपितरो जसवती य निग्गयाणि, भगवं धम्मं कहेइ, ताणि य धम्मं सोऊण संविग्गाणि, ताहे गागली भणइ०जं नवरं अम्मापियरो आपुच्छामि, जेट्ठपुत्तं च रज्जे ठवेमि, ताणि आपुच्छियाणि भणंति–जइ तुमं संसारभयउव्विग्गो, अम्हे वि, ता एसो पुत्तं रज्जे ठावित्ता अम्मापीतिहिं समं पव्वतितो, गोयमसामी ताणि घेत्तूण चंपं वच्चइ, तेसिं सालम–हासालाणं पंथं वच्चंताणं हरिसो जाओ, जहा संसारं उत्तारियाणि, एवं तेसिं सुहेण अज्झवसाणेण केवलणाणं उत्पन्नं। इयरेसिं पि चिंता जाया–जहा एएहिं अम्हे रज्जे ठावियाणि, संसाराओ मोइयाणि, एवं चिंतंताणं सुहेण अज्झवसाणेणं तिण्हं पि केवलनाण उप्पन्नं, एवं ताणि उप्पन्ननाणाणि चंपं गयाणि, सामीपयाहिणं करेमाणाणि तित्थं पणमिऊण केवलिपरिसं पहावियाणि। गोयम–सामी भगवं वंदिऊण तिक्खुत्तो पाएसु पडितो उट्ठितो भणइ–कहिं वच्चह, एह तित्थयरं वंदह? ताहे सामी भणइ–मा गोयम! केवली आसाएहि, ताहे आउट्टो खामेइ, संवेगं च गतो। तत्थ गोयमसामिस्स संका जाया–मा हं च णं सिज्झिज्जामि त्ति, एवं गोयमसामी विचिंतेइ। इओ य देवाण संलावो वट्टतिजो अट्ठावयं विलिग्गइ, चेइयाणि य वंदति धरणीगोयरो, सो तेण भवग्गहणेण सिज्झइ, ताहे सामी तस्स चित्तं जाणइ, ताव सयणसंबोहणयं एयस्स वि थिरता भविस्सइ त्ति दो वि कयाणि भविस्संति, एयस्स वि पच्चओ, ते वि संबुज्झिस्संति त्ति। सो वि सामिं आपुच्छति–अट्ठावयं जामि त्ति। तत्थ भगवया भणियंवच्च अट्ठावयं, चेइयाणि वंदह। ते एवं भगवं हट्ठतुट्ठो वंदित्ता गतो, तत्थ य अट्ठावए जणाववायं सोऊण तिन्नि तावसा पंच पंच सयपरिवारा पत्तेयं ते अट्ठावयं विलग्गामो त्ति, तत्थ किलिस्संतिकोडिन्नो, दिन्नो, सेवाली, जो

कोडिन्नो सो चउत्थं काऊण पच्छा मूलकंदाणि आहारेइ सचित्ताणि, सो पढमं मेहलं विलग्गो। दिन्नो य छट्ठं छट्ठेण काऊण परिसडियं पंडुपण्णाणि आहारेइ, सो वि य मेहलं विलग्गो। सेवाली अट्ठमं २ काऊण जो सेवालो सयं म्इल्लओ तं आहारेइ, सो तइयं मेहलं विलग्गो ! एवं ते वि ताव किलिस्संति। भयवं च गोयमे ओरालिए सरीरे अवहितडतडियतरुणर-विकिरणसरिसतेए पत्ते पेच्छिऊण ते भणंति– एस किर एत्थ छुल्लओ समणो विलग्गिहि त्ति, जं अम्हे महातवस्सी सुक्का भुक्खा न तरामो विलग्गिउं, भगवं च गोयमे जंघाचारणलद्धीए लयातंतुपुडगं पि व निरस्साए उप्पयइ०जाव ते य पलोएंति, एस आगओ, एसो अदंसणं गतो त्ति, ताहे ते विम्हिया जाया पसंसंति, अत्थंति य पलोइंता, जइ ओयरइ, तो एयस्स वयं सीसा, एवं ते पडिच्छंता अत्थंति, सामी वि चेइयाइं वंदित्ता उत्तर-पुरच्छिमे दिसीभाए पुढविसिलापट्टए उयट्ठो असोगवरपायवस्स अहे तं रयणीवासाए उवगतो। इतो व सक्कस्स लोगपालो वेसमणो, सो वि अट्ठावयं चेइयं वंदंतो एइ, सो चेइयाणि वंदित्ता गोयमसामिं वंदइ, ताहे सो धम्मं कहेइ, भगवं अणगारगुणे परिकहेउं पवत्तो अंताहारा पंताहारा एवं वण्णइ, वेसमणो चिंतेइ–एस भगवं एरिसो साहुगुणे वण्णेइ, अप्पणो य से इमा सरीरसुकुमारया जारिसा देवा– ण वि नत्थि, भयवं तस्स आकूयं नाउं पुंडरीयं नामऽज्झयणं पन्नवेइ–जहा पोक्खलावइविजए पोंडरीगिणीए नयरीए नलिणवणे उज्जाणे समो सढे, महापउमे निग्गए, धम्मं सोच्चा जं० णवरं देवा–णुप्पिया ! पुंडरीयं कुमारं रज्जे ठवेमि? अहासुहं मा पडिबंधं करेह। एवं ०जाव पुंडरीए राया जाए०जाव विहरइ। तए णं से कंडरीए कुमारे जुवराया जाए। तए णं से पउमे राया पुंडरीयरायं आपुच्छइ, तए णं से पुंडरीए सिवियं नीणेइ०जाव पव्वइए, णवरं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ, बहूहिं छट्ठऽट्ठममहातवोवहाणेहिं बहूणि वासाणि सामन्नं पालिऊण मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताए झोसित्ता०जाव सिद्धे। अन्नया य ते थेरा भगवंता पुव्वाणुपुव्विं विहरमाणे०जाव पुंडरीगि–णीए समोसढे, परिसा णिग्गया। तए णं से पुंडरीए राया कंडरीएणं जुवरन्ना सद्धिं इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठ० जाव गए धम्म–कहा०जाव सो पुंडरीए सावगधम्मं पडिवण्णो० जाव पडिगए सावए जाए। तए णं से कंडरीए जुवराया थेराणं धम्मं सोच्चा हट्ठ० जाव जहेव तुब्भे वदह, जं० नवरं देवाणुप्पिया ! पुंडरीयं आपुच्छामि, तए णं०जाव पव्वयामि? अहासुहं पव्वय। तए णं से कंडरीए०जाव थेरे नमंसइ, नमंसित्ता अंतियाओ पडिनिक्खमइ, निक्खमित्ता तामेव चाउग्घंटं आसरहं दुरुहइ०जाव पच्चोरुहइ, जेणेव पुंडरीए राया तेणेव उवागच्छइ, करयल०जाव पुंडरीयं रायं एवं वयासी–एवं खलु मए देवाणुप्पिया ! थेराणं अंतिए०जाव धम्मे निसंते, से धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अहिरुइए। तए णं अहं देवाणुप्पिया! संसारभओव्विग्गे भीए जम्मणमरणाणं, इच्छामि णं तुब्भेहिं अणुण्णाए समाणे थेराणं अंतिए०जाव पव्वइत्तए ति। तए णं से पुंडरीए राया एवं वयासीमा णं तुमं देवाणुप्पिया ! इयाणिं थेराणं अंतिए०जाव पव्वयाहि। अहं णं तुमं महया २ रायाहिसेएण अभिसिंचिस्सामि। तए णं से कंडरीए पुंडरीयस्स रन्नो एयमट्ठं नो आढाइ, नो परिजाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं से कंडरीए रायं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी–इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! ०जाव पव्वइत्तए त्ति। तए णं से पुंडरीए राया कंडरीयं कुमारं जाहे नो संचाएइ विसयाणुलोमाहिं वहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य सण्णवणाहि य विण्णवणाहि य आघवित्तए वा०४, ताहे विसयपडिकूलाहिं संजमभओव्वेगकरीहिं पण्णवणाहिं पण्णवेमाणे २ एवं वयासी–एवं खलु जाया ! निग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलिए, एवं जहा पडिक्कमणे०जाव सव्व–दुक्खाण अंतं करेइ, किं तु अहीव एगंतदिट्ठी, खुरो इव एगत्तधाराए, लोहमया जवा चावेयव्वा, वालुयाकवले इव निस्सारे, गंगा व महानई पडिसोयं गमणीए, महासमुद्दे इव भुयाहिं दुत्तरे, तिक्खं चंकडियव्वं, असिधारं च तवं चरियव्वं, नो य खलु कप्पइ जाया ! समणाणं निग्गंथाणं पाणाइवाए वा०जाव मिच्छादंसणसल्लेइ वा अहाकम्मेइ वा उद्दिसेइ वा मिस्सजाए वा अब्भावरए पूइं कीए पाडिच्चे अच्छिज्जे अणिसट्ठे अभिहडेइ वा वितियए वा कंतारभत्तेइ वा दुभि-क्खभत्तेइ वा गिलाणभत्तेइ वा पाहुणगभत्तेइ वा सेज्जायरपिंडेइ वा मूलभोयणेइ वा कंदभोयणेइ वा फलभोयणेइ वा वीयभोयणेइ वा हरियभोयणेइ वा भोत्तए वा, पायाए वा, तुमं च णं जाया ! सुहस–मुचिए, णो चेव णं दुहसमुचिए, णालं सीतं णालं उण्हं णालं खुहा णालं पिवासा णालं चोरा णालं वाला णालं दंसा णालं मुसगा णालं वाइयपित्तियसिंभि-यसन्निवाए विविहे रोगायंके उच्चावचे वा गामकंटए वा वावीसं परीसहोवसग्गे उदिण्णे सम्मं अहियासिए त्ति, णो खलु जाया ! अम्हे इच्छामो तुब्भं खणमवि विप्पओगं, तं अत्थाहि ताव जाया ! अणुब्भवाहि रज्जसिरिं पच्छा पव्वइहिसि। तए णं से कंडरीए एवं वयासी–तहेव णं तं देवाणुप्पिया ! जं णं तुब्भे वयह, किं पुण देवाणुप्पिया ! निग्गंथे पावयणे कीवाणं कायराणं किंपुरिसाणं इह–लोयपडिबद्धाणं परलोगपरम्मुहाणं विसयतिसियाणं दुरणुचरे पागयजणस्स, वीरस्स निच्छियस्स अविसियस्स नो खलु एत्थ किंचि दुक्करं करणाए, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया !०जाव पव्वइत्तए त्ति। तए णं कंडरीयं पुंडरीए राया जाहे नो संचाएइ बहूहिं आघवणाहि य०४ आघवित्तए वा०४, ताहे अकामए चेव निक्खमणं अणुमन्नित्था। तए णं से पुंडरीए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी–जहा महग्घं महरिहं निक्खमणमहिमं करेह०जाव पव्वइतो, सामाइयमाइयाइं एगारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थछट्ठऽट्ठमाईहिं तवोभिहाणेहिं०जाव विहरइ, अण्णया तस्स कंडरीयस्स अंतेहि य पंतेहि य०जाव रोगायंके पाउब्भूते० जाव दाहवक्कंतीए यावि विहरंति। तए णं ते थेरा भगवंतो अण्णया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगामं विहरमाणा पुंडरीगिणीए नलिणिवणे समोसढा, तए णं से पुंडरीए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे० जाव पज्जुवासइ। पत्थुया धम्मकहा भगवया। तए णं से पुंडरीए राया धम्मं सोच्चा जेणेव कंडरीए अणगारे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता कंडरीयं वंदइ, नमंसइ, नमंसित्ता कंडरीयस्स सरीरं सव्वावाहं रूवं पासइ, पासेत्ता जेणेव थेरा तेणेव उवागच्छइ, थेरं वंदइ, वंदित्ता एवं वयासी–अहं णं भंते ! कंडरीयअणगारस्स अहापवत्तेहिं तेगिच्छिएहिं फासुएसणिज्जेहिं अहापव्वत्तेहिं ओसहभेसज्जेहिं भत्तपाणेहिं तिगिच्छं आउट्टामि, तुब्भे णं भंते ! मम जाणसालासु समोसरह। तए णं थेरा, पुंडरीयस्स रण्णो एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता जाणसालासु विहरंति। तए णं से

पुंडरीए कंडरीयस्स तेगिच्छं आउट्टेइ, तं मणुन्नं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारितस्स समणस्स से रोगायंके खिप्पामेव उवसंते, हट्ठे जाए, आरोगे पलियसरीरे, ततो रोगायंकामुक्के वि समाणे तेसि मणुण्णंसि असणे०४ मुच्छिए०जाव अज्झोववन्ने विविहे य पाणगंसि, णो संचाएइ बहिया अब्भुज्जएणं विहारेणं विहरित्तए त्ति। तए णं से पुंडरीए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव कंडरीए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कंडरीयं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, वंदइत्ता एवं वयासी– धन्ने सि णं तुमं देवाणु–प्पिया ! एवं संपुण्णे सि णं कयत्थे कयलक्खणं सुलद्धे णं तव देवाणुप्पिया ! माणुस्सए जम्मे जीवियफले जं णं तुमं रज्जं च०जाव अंतेउरं च विछड्डित्ता०जाव पव्वइए; अहं णं अहण्णे अकयपुण्णे, जं णं माणुस्सए भवे अणेगजाईजरामरणरोगसोगसारीरमाणसाए कामदुक्खवेयणवसण-सव्वुपद्दवाभिभूए अधुवे अणितिए असासए संझाइरागसरिसे जलबुब्बु-यसमाणे कुसग्गजलबिंदुसन्निभे सुमिणगदंसणोवमे विज्जुल्लयाचंचले अणिच्चे सडणपडणविद्धंसणधम्मके पुव्विं पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वे इति, तहा माणुस्सयं सरीरयं पि दुक्खाययणं विविहबाहिसय सण्णिकेयं अट्ठियकुदुट्ठियसिराण्हारुजालउव्वद्धं संपिणद्धं मट्टियभंडं व दुब्बलं असुइसंकिलिट्ठं अणिट्ठं पि य सव्वकालसंदप्पयं जराथुणियजज्जरघरं व सडणपडणविद्धंसणधम्मयं पुव्वं वा पच्छा वा अवस्सविप्पजहियव्वं, कामभोगा वि य णं माणुस्सा वा असुई असासया वंतासवा एवं पित्ता खेला सुक्का सोणिया सव्वा उच्चारपासवणखेलसिंघाणग–वंतपित्तसु-क्कसोणियसमुब्भवा अमणुण्णदुरूयमुत्तपूइपुरीस-पुण्णामयगंधुस्सास-असुभनिस्सासउव्विवयणगा वीभेच्छा अप्पकालिया लहुस्सगा कलमलाहिया सुदुक्खा बहुजणसाहारणा परिकिलेसकिच्छदुक्ख-सज्झा अबुहजणनिसेविया सदा साहुगरहणिज्जा अणंतसंसारवड्ढणा कडुगफलविवागचहुलि व्व अमुच्चमाणा दुक्खाणुबंधिणो सिद्धिगमणविग्घा पुव्वं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वा भवंति त्ति। जे वि य णं रज्ज हिरण्णे सुवण्णे य० जाव सावएज्जे, से वि य णं अग्गिसाहिए चोरसाहिए रायसाहिए मच्चुसाहिए दाइयसाहिए अधुवे अणितिए असासए पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वे भविस्सइ त्ति, एवंविहम्मि रज्ज० जाव अंतेउरे य माणुस्सएसु य कामभोगेसु मुच्छिए नो संचाएमि०जाव पव्वइत्तए, तं धण्णे सि णं तुमं०जाव सुलद्धे णं मणुयजम्मे, जं णं पव्वइए। तए णं से कंडरीए पुंडरीएणं एवं वुत्ते तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं से पुंडरीए दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी–धण्णो सि तुमं, अहं अहण्णे। तए णं से दोच्चं तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे अकामए अवसंवसे लज्जाए गारवेण य पुंडरीयं रायं आपुच्छइ, थेरेहिं सद्धिं बहिया जणवयविहारं विहरइ। तए णं से कंडरीए थेरेहिं सद्धिं किंचि कालं आउग्गे आऊगेण विहरित्ता ततो पच्छा समणत्तणनिव्वण्णे समणत्तणनिब्भंछिए समणगुणमुक्कजोगे थेराणंर अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कइ, जेणेव पुंडरीगिणी नयरी जेणेव पुंडरीयस्स रन्नो भवणे जेणेव असोगवणिया जेणेव असोगवरपायवे जेणेव पुढवीसि–लावट्टए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता०जाव सिलापट्टयं दुरूहइ, दुरूहित्ता ओहयमण संकप्पे०जाव झियाइ। तए णं पुंड–रीयस्सा अम्मधाई तत्थाऽऽगच्छइ०जाव तं तहा पासेइ, पासित्ता पुंडरीयस्स साहेइ, से वि य णं अंतेउरपरियालसंपरिवुडे तत्थ गच्छइ, गच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं०जाव धण्णे सि णं सव्वं०जाव तुसिणीए। तए णं पुंडरीए एवं वयासी–अट्ठो भंते ! भोगेहि? हंत ! अट्ठो। तए णं कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता कलिकलुसेणे वाऽभिसित्तो रायाहिसेएणं०जाव रज्जं पसाहेमाणे विहरइ। तए णं से पुंडरीए सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, करेत्ता चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जइ, कंडरीयस्स आयारं भंडगं सध्वसुहसमुदयमित गेण्हइ, गेण्हेत्ता इमं अभिग्गहं गिण्हइ– कप्पइ मे थेराणं अंतिए धम्मं पडिवज्जित्ता पच्छा आहारं आहारित्तए त्ति कट्टु थेराभिमुहे निग्गए कंडरीयस्स उ तं पाणीयं पाणभोयणं आहारि-यस्स नो सम्मं परियणे वेयणा पाउब्भूया उज्जला विउला०जाव दुरहियासा। तए णं से रज्जे य०जाव अंतेउरे य मुच्छिए जाए अज्झोववण्णे अट्टदुहट्टवसट्टे अकामए कालं किच्चा सत्तमपुढवीए तेत्तीससागरोवमट्ठिइए जाते। पुंडरीए वि य णं थेरे पप्प एसिं अंतिए ते दोच्चं पि चाउज्जामे धम्मे पडिवज्जति अट्ठमखमणपारणगंसि अदीणे० जाव माढारेइ, तेण य कालाइक्कंतं सीयललुक्खअरसविरसेण अपरिणएण वेयणा दुरहियासा जाया, तए णं से अधारणिज्जमिइ कट्टु करयलपरिग्गहियं०जाव अंजलिं कट्टु– ''नमोत्थु णं अरहंताणं०जाव संपत्ताणं,'' ''नमोत्थु णं थेराणं भगवंताणं मम धम्मायरियाणं धम्मोवएसाणं पुव्विं पि य णं मए थेराणं अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए०जाव सव्वे अकरिज्जे जोगे पच्चक्खाए, इयाणिं पि य णं तेसिं चेव णं भगवंताणं अंतिए सव्व–पाणाइवायं०जाव सव्वं अकरणिज्जजोगं पच्चक्खामि, जं पि य इमे इमं सरीरगं०जाव एवं पि चरिमेहिं ऊसासनीसासेहिं वोसिरामि त्ति,'' एवं आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे तेत्तीससागरोवमाऊ देवो जातो, ततो चइत्ता महा–विदेहे सिज्झिहि त्ति। तं मा तुमं दुब्बलत्तं बलियत्तं वा गेण्हाहि, जहा सो कंडरीओ तेण दोब्बल्लेणं अट्टदुहट्टवसट्टो सत्तमाए उववन्नो, पुंडरीओ पडिपुण्णग-लकवोलो सव्वट्ठसिद्धे उववण्णो। देवाणुप्पिया! बलितो दुब्बलो वा अकारणं एत्थ झाणनिग्गहो कायव्वो, झाणनिग्गहो परमं पमाणं, तत्थ वेसमणो अहो भगवया अक्खयं नायं ति, एत्थ अईव संवेगमावण्णो त्ति वंदित्ता पडिगतो त्ति, तत्थ वेसमणस्स एगो सामाणितो देवो, तेण तं पुंडरीयज्झयणं ओगाहियं, पंच सयाणि सम्मत्तं च पडिवण्णो त्ति। केइ भणंति–जंभगो सो ताहे भगवं कल्ले चेइयाणि वंदित्ता पच्चोरुहइ, तं तावसा भणंति–तुब्भे अम्हाणं आयरिया, अम्हे तुब्भं सीसा। सामी भणइ–तुब्भं अम्ह य तिलोगगुरू आयरिया। ते भणंति–तुब्भ वि अण्णो आयरिओ ? ताहे सामी भगवंतो गुणसंथवं करेइ, पव्वइया देवया, तेसिं लिंगाणि उवणीयाणि, ताहे ते भगवया सद्धिं वच्चंति, भिक्खावेला य जा–या, भगवं भणइ–किं आणिज्जओ? ते भणंति–पायसो, भगवं च सव्वलद्धिसंपण्णो पडिग्गहगं महुसंजुत्तस्स पायसस्स भरेत्ता आगतो। ताहे भणइ–परिवाडीए ठाह, ते ठिया, भगवं च अक्खीणमहाणसिओ, ते धाया, ते रुट्ठ दुयरं आउट्टा, ताहे सयमाहारेइ, ताहे पुणरवि पडिया, तेसिं च सेबाल-भक्खगाणं जेमित्ताणं चेव नाणं उप्पण्णं, दिण्णस्स वग्गो छत्ताइच्छत्तं पेच्छं–

ताणं, कोंडिण्णवग्गे सामिं दट्ठूण उववण्णं । गोयमसामी पुण पुरतो पकड्ढमाणे सामी पयाहिणीकरेइ । ते वि केवलिपरिसं पहाविया । गोयमसामी भणइ–एह सामिं वंदह । सामी भणइ–मा गोयमा ! केवली आसाएहि। गोयमसामी आउट्टो मिच्छादुक्कडं करेइ। ततो गोयमसामिस्स सुट्ठ दुतरं अधिई जाया । ताहे सामी गोयमं भणइ–किं देवाणं वयणं गज्झं, आतो जिणाणं? गोयमो भणइ–जिण–वराणं । तो कीस अधिई करेसि ? ताहे सामी चत्तारि कडे पण्णवेइ। तं जहा–सुट्ठुकडे, विदलकडे, चम्मकडे, कंबलकडे । एवं सामी वि गोयमसामीतो केवलकडसमाणो । किं च–चिरसंसिट्ठो सि मे गोयमा ! चिरपरिचिओ सि मे गोयमा !०जाव अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो, ताहे सामी 'दुमपत्तयं' नामऽज्झयणं पण्णवेइ । देवो वि सेससमणसामाणिओ ततो चइत्ता णं तुंबवणसण्णिवेसे धणगिरी नाम गाहावई, सो अड्ढो, सो य पव्वइउकामो, तस्स य मायापियरो वारेइ, पच्छा से जत्थ जत्थ वारेंति, तत्थ तत्थ विपरिणामेति, जहा अहं पव्वइतुकामो। तस्स य तयाणुरूवस्स गाहावइस्स सुणंदा नाम धूया । सा भणइ–ममं देह । ताहे सा दिण्णा । तीसे य भाया अज्जसमितो नाम पुव्वपव्वइतो, तीसे य सुणंदाए कुच्छिंसि सो देवो उववण्णो । ताहे भणइ धणगिरी–एस ते गब्भो वितिज्जतो होहिइ, सो सीहगिरिस्स पासे पव्वाइओ । इतो न नवण्हं मासाणं दारओ जातो।'' इत्यादि भगवद्वैरस्वामिकथा आवश्यकचूर्णितोऽवसेये–त्युक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः ।

संप्रति सूत्राऽऽलापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सतीत्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्–

दुमपत्तएँ पंडुयए, जह निवडइ रायगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

द्रुमो वृक्षः, तस्य पत्रं पलाशं, तदेव तथाविधावस्थाप्राप्त्याऽनुकम्पितं द्रुमपत्रकं, (पंडुयए त्ति) आर्षत्वात् पाण्डुरकं, कालपरि–णामतस्तथाविधरोगाऽऽदेर्वा प्राप्तबलक्षभावं, येन प्रकारेण यथा, निपतति शिथिलवृन्तबन्धनत्वाद् भ्रस्यति, प्रक्रमाद् द्रुमत एव रात्रिगणानां, दिनगणाविनाभावित्वादुपलक्षणत्वाद्वा रात्रिन्दिवसमूहानाम्, अत्ययेऽतिक्रमे, एवमित्येवंप्रकारं, मनुष्याणां मनुजानां, शेषजीवोपलक्षणं चैतद्, जीवितमायुः, तदपि हि रात्रिन्दिवगणानामतिक्रमे यथास्थित्या स्थितिखण्डकापहाराऽऽत्मकेनाध्यवसायाऽऽदिजनितेनोपक्रमणेन वा जीवप्रदेशेभ्यो भ्रस्यतीत्येवमुच्यते । यतश्चैवमतोऽत्यन्तनिरुद्धः कालः समयस्तम्, अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् समयमपि, आस्तामावलिकाऽऽदि । गौतमेति गौतमसगोत्रस्येन्द्रभूतेरामन्त्रणम्, मा प्रमादीः मा प्रमादं कृथाः, शेषशिष्योपलक्षणं च गौतमग्रहणम् । उक्तं हि निर्युक्तिकृता ''तन्निस्साए भगवं, सीसाणं देइ अणुसट्ठिं ॥''

अत्र च पाण्डुरकपदाऽऽक्षिप्तं यौवनस्थाप्यनित्यत्वमाविश्चिकीर्षुराह निर्युक्तिकृत्–

परियट्टियलावण्णं, चलंतसंधिं मुयंतविंटागं ।
पत्तं वसणं पत्तं, कालं पत्तं भणइ गाहं ॥४२॥
जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भे वि य होहि य जहा अम्हे ।
अप्पाहेइ पडंतं, पंडुयपत्तं किसलयाणं ॥४३॥
न वि अत्थि न वि य होहि इ, उल्लावो किसलपंडुपत्ताणं ।
उवगा खलु एस कया, भवियजणविबोहणट्ठाए ॥४४॥

परिवर्त्तितं कालपरिणत्याऽन्यथाकृतं, लावण्यमभिरामगुणाऽऽत्मकमस्येति परिवर्त्तितलावण्यं, यतोऽनन्तस्य प्रागिव सौकुमार्याऽऽदि विद्यते । तथा चलन्तः शिथिलीभवन्तः सन्धयो यस्मिंस्तत्तथा, अत एव (मुयंतविंटागं ति) मुञ्चत् त्यजत् सामर्थ्याद् वृक्षं वृन्तं पत्रबन्धनं यस्य तन्मुञ्चद् वृन्तकं, वृन्तस्य च वृक्षमोचने पत्रस्य पतनमेव भवतीत्येतदित्युक्तं भवति, पत्रं पर्ण ,व्यसनमापदं, प्राप्तं व्यसनप्राप्तं, तथा कालः, प्रक्रमात् पतनप्रस्तावः, तं ,प्राप्तं गतं कालप्राप्तं, भणत्यभिधत्ते, गीयत इति गाथा, तां छन्दोविशेषरू–पाम् । तामेवाऽऽह–यथेति सादृश्ये,ततो यथा यूयं संप्रति किशलयभावमनुभवन्तः स्निग्धाऽऽदिगुणैर्गर्वमुद्वहन्तोऽस्मानुपहसप, तथा वयमतीतदशायां, तथा यूयमपि च भविष्यथ यथा वयमिति। जीर्णभावे हि यथा वयमिदानीं विवर्णविच्छायतयोपहास्यान्येवं यूयमपि भावीनीति । (अप्पाहेइ त्ति) उक्तन्यायेनोपदिशति पितेव पुत्रस्य, पतद् भ्रस्यत्पाण्डुकपत्रं जीर्णपर्णं, किशलयानामभिनवपत्राणाम् । ननु किमेवं पत्रकिशलयानामुल्लापाः संभवन्ति,येनेदमुच्यते? अत आह–नैवास्ति नैव विद्यते, नैव भविष्यति, उपलक्षणत्वान्नैव भूतः, कोऽसौ? उल्लापो वचनं, केषाम्? किशलयपाण्डुपत्राणामुक्तरूपाणाम्। आर्षत्वाच्च य लोपः। तदिह किमेवमुक्तमिति? आह–उपमा उपमितिः, खल्वेवकारार्थः, तत उपमैवेषानन्तरोक्ता, कृताऽभिहिता । (भवियजणविबोहणट्ठाए त्ति) प्रतीतमेव । यथेह किशलयानि पाण्डुपत्रेणानुशिष्यन्ते, तथा अन्योऽपि यौवनगर्वितोऽनुशासनीयः । तथा चैतदनुवादिना वाचकेनावाचि–''परिभवसि किमिति लोकं, जरसा परिजर्जरीकृतशरीरम् । अचिरात् त्वमपि भविष्यसि, यौवनगर्वं किमुद्वहसि? ॥१॥'' तदेवं जीवितयौवनयोरनित्यत्वमवगम्य न प्रमादो विधेय इति गाथात्रयार्थः ।

पुनरायुषोऽनित्यत्वं ख्यापयितुमाह–

कूसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

कुशो दर्भसदृशस्तृणविशेषः, तनुकत्वाच्च तस्योपादानं, तस्याग्रं प्रान्तस्तस्मिन्, यथेत्युपमाप्रदर्शकः, अवश्यायः शरत्कालभावी श्लक्ष्णवर्षः, तस्य बिन्दुरेव बिन्दुकोऽवश्यायबिन्दुकः, स्तोकमल्पं, कालमिति गम्यते । तिष्ठत्यास्ते, लम्बमानको मनाग् निपतन्, बद्धाऽऽस्पदो हि कदाचित् कालान्तरमपि क्षमेतेत्येवं विशिष्यते । एवमित्युक्तसदृशं मनुजानां मनुष्याणां, मनुजग्रहणं च प्राग्वत्। (जीविय त्ति) जीवितं, यत एकं, ततः समयं गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नुपदेशमाह–

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥३॥

इतीत्युक्तन्यायेन, इत्वरे अयनशीले, कोऽर्थः? स्वल्पकालभाविनि, एत्युपक्रमहेतुभिरनपवर्त्यतया यथास्थित्यैवानुभवनीयतां गच्छतीत्यायुः, तच्चैवं निरुपक्रममेव, तस्मिन्, तथाऽनुकम्पितं जीवितं जीवितकं, चशब्दस्य गम्यमानत्वात्तस्मिंश्चार्यात् सोपक्रमाऽऽयुषि, बहवः प्रभूताः प्रत्यपाया उपघातहेतवोऽध्यवसाननिमित्ताऽऽदयो यस्मिंस्तत्तथा, अनेन चानुकम्पताहेतुराविष्कृतः, एवं चोक्तरूपद्रुमपत्रोदाहरणतः, कुशाग्रजलबिन्दूदाहरणतश्च मनुजाऽऽयुर्निरुपक्रमं सोपक्रमं चेत्वरम्, अतोऽस्याप्यनित्यतां मत्वा विधुनीहि

जीवात् पृथक् कुरु, रजः कर्म, (पुरे कडं ति) पुरा पूर्वं तत्काला-पेक्षया, कृतं विहितं पुराकृतम्। तद् विधुननोपायमाह-समय मपि गौतम ! मा प्रमादीः। पठन्ति च- ''एवं मणुयाण जीविए, इत्तरिए बहुपच्चवायए।'' इति सुगममेवेति सूत्रार्थः।

स्यात् पुनर्मनुष्यभावावाप्तावुद्यस्याम इत्याह-

दुल्लभे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवागकम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥४॥

दुर्लभो दुरवापः, खलु विशेषणे, अकृतसुकृतानामिति विशेषं द्योतयति। मानुषो मनुष्यसंबन्धी, भवो जन्म, चिरकालेनापि प्रभूतकालेनापि, आस्ताम् अल्पकालेनेत्यपिशब्दार्थः। सर्वप्राणिनां सर्वेषामपि जीवानाम्। ननु मुक्तिगमनं प्रति भव्यानामिव केषाञ्चिन्मनुजभवावाप्तिं प्रति सुलभत्वविशेषोऽस्ति किमेवम्? अत आहगाढाः विनाशयितुमशक्यतया दृढाः, च इति यस्माद् (विवागकम्मुणो त्ति) विपाका उदयाः कर्मणां मनुष्यगतिविघातिप्रकृतिरूपाणां, यत एवमतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः।

कथं पुनर्मनुजत्वं दुर्लभं, यद्वा-यदुक्तं सर्वप्राणिनां दुर्लभं मनुजत्वमिति, तत्रैकेन्द्रियाऽऽदिप्राणिनां तद् दुर्लभत्वं दर्शयितुकामः कायस्थितिमाह-

पुढविक्कायमइगतो, उक्कोसं जीवे उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम! मा पमायए ॥५॥
आउक्कायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥६॥
तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥७॥
वाउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥८॥
वणस्सइकायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणंतदुरंतयं, समयं गोयम! मा पमायए ॥९॥
बेइंदियकायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखेज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०॥
तेइंदियकायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखेज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥११॥
चउरिंदियकायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखेज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१२॥
पंचिंदियकायमइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
सत्तऽट्ठभवग्गहणं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१३॥
देवे नेरइय य मइगतो, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
एक्केक्कभवग्गहणं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१४॥

पृथ्वी कठिनरूपा, सैव कायः शरीरं पृथ्वीकायः, तम्, अतिशयेन मृत्वा मृत्वा तदुत्पत्तिलक्षणेन, गतः प्राप्तोऽतिगतः (उक्कोसं ति) उत्कर्षतो जीवः प्राणी, तुः पूरणे, संवसेत्तद्रूपतयैवावतिष्ठेत, कालं सङ्ख्याऽतीतमसङ्ख्यमित्यर्थः, यत एवमतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति॥ एवमप्काय तेजस्कायतेजस्कायवायुकायसूत्रत्रयमपि व्याख्येयम्॥ तथा वनस्पतिसूत्रं, नवरं कालमनन्तमिति। अनन्तकायिकापेक्षमतेत्, प्रत्येकवनस्पतीनां कायस्थितेरसङ्ख्यातत्वात्। तथा-दुष्टोऽन्तोऽस्येति दुरन्तम्, इदमपि साधारणापेक्षयैव, ते ह्यत्यन्ताल्पबोधतया तत उद्धृता अपि न प्रायो विशिष्टं मानुषाऽऽदिभवमाप्नुवन्ति। इह च कालं सङ्ख्यातीतमिति विशेषानभिधानेऽप्यसङ् ख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानम्, अनन्तमिति चानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणमित्यवगन्तव्यम्। यत्त आगमः- ''असंखोसप्पिणिसप्पिणीओ एगिंदियाण उ चउण्हं। ता चेव अणंताओ, वणस्सइए उ बोधव्वा॥१॥'' तथा द्वे द्विसङ् ख्ये इन्द्रिये स्पर्शनरसनाऽऽख्ये येषां ते द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः, तत्कायमतिगत उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्कालं सङ् ख्येयसंज्ञितं सङ्ख्यातवर्षसहस्राऽऽत्मकम्, अतः समयमपि गौतम! मा प्रमादीः॥ एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्रे अपि भावनीये॥ तथा पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शनाऽऽदीनि येषां ते तथा, ते चोत्तरत्र देवनारकयोरभिधानाद् मनुष्यत्वस्य दुर्लभत्वेन प्रक्रान्तत्वात्तिर्यञ्च एव गृह्यन्ते, तत्कायमतिगतः, तत्कायोत्पन्न इत्यर्थः। उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्सप्त वाऽष्ट वा सप्ताष्टानि तानि च तानि भवग्रहणानि च जन्मोपादानानि सप्ताष्टभवग्रहणानि, यतोऽतः समयमपि गौतम! मा प्रमादीः। तथा देवान् नैरयिकांश्च अतिगत उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् एकैकभवग्रहणं, ततः परमवश्यं नरेषु तिर्यक्षु वोत्पादात्॥ यद्वा-(उक्कोसं ति) उत्कृष्यते तदन्येभ्य इत्युत्कर्षः, तमुत्कृष्टं कालं त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपममानम्, (एक्केक्कभवग्गहणं ति) अपेर्गम्यमानत्वादेकैकभवग्रहणमपि संवसत्यतो जीवः संवसेदतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रदशकार्थः।

उक्तमेवार्थमुपसंहर्तुमाह-

एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहि कम्मेहिं।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१५॥

एवमुक्तप्रकारेण पृथिव्यादिकायस्थितिलक्षणेन, भव एव तिर्यगादिजन्माऽऽत्मकः संस्त्रियमाणत्वात्संसारो भवसंसारस्तस्मिन्संसरति पर्यटति, शुभानि शुभप्रकृत्यात्मकानि, अशुभानि चाशुभप्रकृतिरूपाणि शुभाशुभानि, तैः कर्म्मभिःपृथ्वीकायाऽऽदि भवति बन्धनैर्जीवः प्राणी, प्रमादैः बहुलो व्याप्तः प्रमादबहुलः, यद्वा-बहून् भेदान् लातीति बहुलो मद्याऽऽद्यनेकभेदः प्रमादो धर्म्म प्रत्यनुद्यमाऽऽत्मको यस्य स बहुलप्रमादः, सूत्रे च व्यत्ययनिर्देशः प्राग्वत्। इह चायमाशयः-यताऽयं जीवः प्रमादबहुलः सन् शुभाशुभानि कर्म्माण्युपचिनोति, उपचित्य च तदनुरूपासु गतिष्वाभवं जीवभावमुपगम्य भ्राम्यति, ततो दुर्ल्लभत्वात्पुनर्मानुषत्वस्य, प्रमादमूलत्वाच्च सकलानर्थपरम्परायाः, समयमपि गौतम! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः। एवं मनुजभवदुर्ल्लभत्वमुक्तम्।

इदानीं तदवाप्तावत्युत्तरोत्तरगुणावाप्तिरिति दुरापैवेत्याह-

लद्धूण वि माणुसत्तणं, आयरियत्तं पुणरावि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलक्खुया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१६॥
लद्धूण वि आरियत्तणं, अहीणपंचिंदियता हु दुल्लहा।
विगलिंदियता हु दीसई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥
अहीणपंचिंदियत्तं पि से लभे, उत्तमधम्मसुती हु दुल्लहा।
कुत्तित्थिणिसेवए जणे, समयं गोयम! मा पमायए ॥१८॥
लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।

मिच्छत्तणिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥
धम्मं पि हु सद्दहंतया, दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहिँ मुच्छिया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

लब्ध्वाऽपि प्राप्यापि मानुषत्वमिदं तावदतिदुर्ल्लभमेव कथञ्चिल्लब्ध्वाऽपीत्यपिशब्दार्थः । आर्यत्वं मगधाऽऽद्यार्यदेशोत्पत्तिलक्षणं, पुनरपि भूयोऽपि आकारस्त्वलाक्षणिकः । दुर्लभं दुरवापम् किमित्यत आह-बहवः प्रभूता दस्यवो देशप्रत्यन्तवासिनश्चौराः। (मिलिक्खुय त्ति) म्लेच्छा अव्यक्तवाचो, न यदुक्तमार्यैरवधार्यते, ते च शकयवनशबराऽऽदिदेशोद्भवाः, येऽथवा प्राप्यापि मनुजत्वं जन्तुरुत्पद्यते, ते च सर्वेऽपि धर्म्माधर्म्मगम्यागम्यभक्ष्याभक्ष्याऽऽदिराकलाऽऽर्यव्यवहारबहिष्कृतास्तिर्यञ्च एव वा । इति समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । इत्थमार्यदेशोत्पत्तिरूपमार्यत्वमपि दुर्लभम्। तथाविधमपि लब्ध्वाऽप्यार्यत्वमुक्तरूपमहीनान्यविकलानि पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शनाऽऽदीनि यस्य स तथा तद्भावोऽहीनपञ्चेन्द्रियता । हुरवधारणे भिन्नक्रमश्च, दुर्लभव । यद्वा-हुः पुनरर्थे । अहीनपञ्चेन्द्रियता पुनर्दुर्लभा । इहैव हेतुमाह-विकलानि रोगाऽऽदिभिरुपहतानीन्द्रियाणि येषां तद्भावो विकलेन्द्रियता, हुरिति निपातोऽनेकार्थतया च बाहुल्यसूचकः । ततश्च यतो बाहुल्येन विकलेन्द्रियता दृश्यते, ततो दुर्लभाऽहीनपञ्चेन्द्रियता, तथा च समयमपि गौतम! मा प्रमादीः । तथा कथञ्चिदहीनपञ्चेन्द्रियतामप्युक्तन्यायताऽऽहेदुर्लभामपि स इति जन्तुर्लभेत प्राप्नुयात्, तथाऽप्युत्तमः प्रधानो यो धर्मस्तस्य श्रुतिराकर्णना या सा तथा, हुरवधारणे भिन्नक्रमश्च। ततो दुर्लभव, किमिति, यतः कुत्सितानि च तानि तीर्थानि कुतीर्थानि-शाक्योलूकाऽऽदिप्ररूपितानि, तानि विद्यन्ते येषामनुच्छेदतया स्वीकृतत्वात्ते कुतीर्थिनः, तान्नित्यं सेवते यः कुतीर्थिकनिषेवको जनो लोकः, कुतीर्थिनो हि यशःसत्काराऽऽद्येषिणो यदेव प्राणिप्रियं विषयाऽऽदि, तदेवोपदिशन्ति, ततीर्थकृतामप्येवंविधत्वात् । उक्तं हि-"सत्कारयशोलाभार्थिभिश्च मूढैरिहान्यतीर्थकरैः । अवसादितं जगदिदं, प्रियाप्यपथ्यान्युपदिशद्भिः ॥१॥" इति सुकरैव तेषां सेवा । तत्सेवनाच्च कुत उत्तमधर्मश्रुतिः ? पठ्यते च-"कुत्तित्थणिसेवए जणे" इति स्पष्टम् । एवं तद् दुर्लभत्वमवधार्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । किं च-लब्ध्वाऽपि उत्तमधर्म्मविषयत्वादुत्तमां तां श्रुतिमुक्तरूपां, श्रद्धानं तत्त्वरुचिरूपं पुनरपि दुर्लभं दुरापमपि । इहैव हेतुमाह-मिथ्याभावो मिथ्यात्वम्-अतत्त्वेऽपि तत्त्वप्रत्ययरूपं, तं निषेवते यः स मिथ्यात्वनिषेवको, जनो लोकोऽनादिभवाभ्यस्ततया गुरुकर्मतया च तत्रैव च प्रायः प्रवृत्तेः । यत एवमतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः ॥ अन्यच्च- धर्म, प्रक्रमात्सर्वज्ञप्रणीतम्, अपिर्भिन्नक्रमः, हुर्वाक्यालङ्कारे । ततः श्रद्दधतोऽपि कर्तुमभिलषन्तोऽपि दुर्लभकाः कायेन शरीरेण, उपलक्षणत्वाद् मनसा वाचा च, स्पर्शका अनुष्ठातारः । कारणमाह-इहास्मिन् जगति कामगुणेषु मूर्च्छिता मूढाः, गृद्धिमन्त इत्यर्थः । जन्तव इति शेषः । प्रायेण ह्यपथ्यान्येव विषयेष्वभिष्वङ्गः प्राणिनाम्। यत उक्तम्- "प्रायेण हि यदपथ्यं, तदेव चाऽऽतुरजनप्रियं भवति । विषयाऽऽतुरस्य जगतस्तथाऽनुकूलाः प्रिया विषयाः ॥१॥" पाठान्तरतः कामगुणैर्मूर्च्छिता इव मूर्च्छिता विलुप्त धर्मविषयचैतन्यत्वात्, यतश्चैवमतो दुरापामिमामविकलां धर्मसामग्रीमवाप्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रपञ्चकार्थः ।

अन्यच्च-सति शरीरे तत्सामर्थ्ये च सति धर्मस्पर्शनेति तदनित्यताऽभिधानद्वारेण प्रमादोपदेशमाह-

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सोयबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२१॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से चक्खुबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से घाणबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से जिब्भबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से फासबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२५॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सव्वबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

परिजीर्यति सर्वप्रकारं वयोहानिमनुभवति 'ते' तव, शरीरमेव जराऽऽदिभिरभिभूयमानतयाऽनुकम्पनीयमिति शरीरकम् । यद्वा-(परिजूरइ त्ति) "निन्देर्जूर०-" इति प्राकृतलक्षणात् परिनिन्दतीवाऽऽत्मानमिति गम्यते । यथा धिग्मां, कीदृशं यातमिति ? किमिति, यतः केशाः, शिरसिजाः, उपलक्षणत्वाल्लोमानि च, पाण्डुरा एव पाण्डुरका भवन्ति, पूर्वं जननयनहारिणोऽत्यन्तकृष्णाः, सम्प्रति शुक्लतां भजन्ते, 'ते' तव, पुनस्तेशब्दोपादानं भिन्नवाक्यत्वादुपदेशाधिकाराद्यादुष्टम् । एवमुत्तरत्रापि तथा । (से इति) तद् यत्प्रथममासीत् श्रोत्रयोः कर्णयोर्बलं दूराऽऽदिशब्दश्रवणसामर्थ्यं श्रोत्रबलं, चः समुच्चये। हीयते जरातः स्वयमपैति । यद्वा-शरीरजीर्णताऽवस्थाभाव्येतद् द्वयमपि योज्यं, यथा च परिजीर्यति शरीरकं तथा च सति केशाः पाण्डुरका भवन्ति । (से इति) अथ श्रोत्रबलं हीयते यतः ततः शरीरस्य तत्सामर्थ्यस्य चास्थिरत्वात् समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । एवं सूत्रपञ्चकमपि ज्ञेयम्, नवरमिह प्रथमतः श्रोत्रोपादानं प्रधानत्वात्, प्रधानत्वं च तस्मिन्सति शेषेन्द्रियाणामवश्यंभावात्, पटुतरक्षयोपशमजत्वाच्च तथोपदेशाधिकारादुपदेशस्य च श्रोत्रग्राह्यत्वात् ॥ तथा सर्वबलमिति

सर्वेषां करचरणाऽऽद्यवयवानां स्वस्वव्यापारसामर्थ्यम्। यद्वा–सर्वेषां मनोवाक्कायानां ध्यानाध्ययनचङ्क्रमणाऽऽदिचेष्टाविषयाऽशक्तिरिति सूत्रषट्कार्थः।

जरातः शरीराशक्तिरुक्ता। सम्प्रति रोगतस्तमाह–

अरई गंडं विसूइया।
आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
समयं गोयम! मा पमायए॥२७॥

अरतिर्वाताऽऽदिजनितश्चित्तोद्वेगः, गण्डं गण्डु, विध्यतीव शरीरं सूचिभिरिति विसूचिका अजीर्णविशेषः, आङिति सर्वाऽऽत्मप्रदे–शाभिव्याप्त्याऽऽतङ्कयन्ति कृच्छ्रजीवितमात्मानं कुर्वन्तीत्यातङ्काः सद्योघातिनो रोगविशेषाः, विविधा अनेकप्रकाराः, स्पृशन्ति परामृशन्ति, 'ते' तव, शरीरकमिति गम्यते। ततश्च विपतति विशेषेण बलोपचयादपैति विध्वस्यति जीवं विमुक्तं विशेषेणाधः पतति शरीरकम्। अतः समयमपि गौतम! मा प्रमादीः। सर्वत्र वर्त्तमाननिर्देशः प्राग्वत्। केशपाण्डुरत्वाऽऽदि च यद्यपि गौतमे न सम्भवति तथाऽपि तन्निश्रयाऽशेषशिष्यप्रतिबोधनार्थत्वाददुष्टमिति सूत्रार्थः।

यथा चाप्रमादो विधेयस्तथाऽऽह–

वोच्छिंद सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए,
समयं गोयम! मा पमायए॥२८॥

(वोच्छिंद त्ति) विविधैः प्रकारैरुत्प्राबल्येन छिनत्त्यपनयत्युच्छिन्दकं, स्नेहमभिष्वङ्गं, कस्य संबन्धिनम्? आत्मानं, किमिव? कुमुदमिव चन्द्रोद्द्योतविकाश्युत्पलमिव (सारइयं व त्ति) सूत्रत्वात् शरदि भवं शारदं, वेत्युपमार्थौ भिन्नक्रमश्च प्राग्योजितः। पानीयं जलं, यथा तत्प्रधमं जलमग्नमपि जलमपहाय वर्त्तते, तथा त्वमपि चिरसंसृष्टचिरपरिचितत्वाऽऽदिभिर्मद्विषयस्नेहवशगोऽपि तमपनय, अपनीय वस इति। अथानन्तरं सर्वस्नेहवर्जितः सन्समयमपि गौतम! मा प्रमादीः। इह च जलमपहाय एतावति सिद्धे यच्छारदपदोपादानं तच्छारदजलस्येव स्नेहरयाप्यतिमनोरमत्वख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः।

किं च–

चिच्चा ण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए,
समयं गोयम! मा पमायए॥२९॥

त्यक्त्वा परिहृत्य, णेति वाक्यालङ्कारे। धनं चतुष्पदाऽदि, चशब्दो भिन्नक्रमः। ततो भार्यां च कलत्रं च, प्रव्रजितो गृहान्निष्क्रान्तः, हिरिति यस्मात् (सीति) सूत्रत्वेनाकारलोपादसि भवसि, (अणगारियं ति) अनगारेषु भावभिक्षुषु भवमनगारिकम्, अनुष्ठानं चास्य गम्यमानत्वात्, तच्च, प्रतिपन्नवानसीति शेषः। यद्वाप्रव्रजितं प्रतिपन्नः (अणगारियं ति) अनगारतां, मा 'अमा नो ना' इति निषेधे। वान्तमुद्गीर्णं (पुणो वि त्ति) पुनरपि (आविए त्ति) आपिब, किं तु समयमपि गौतम! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः।

कथं च वान्तपानं भवतीत्याह–

अवउज्झिय मित्तबंधवं,
विउलं चेव धणोहसंचयं।
मा तं विइयं गवेसए,
समयं गोयम! मा पमायए॥३०॥

अपोह्य त्यक्त्वा, मित्राणि सुहृदो, बान्धवाश्च स्वजना इति समाहारः। मित्रबान्धवं, विपुलं विस्तीर्णं, चः समुच्चये भिन्नक्रमश्च। एवेति पूरणे। ततो धनं कनकाऽऽदिद्रव्यं, तस्यौघः समूहस्तस्य संचयो राशीकरणं धनौघसंचयः, तं च, मा, तदिति मित्राऽऽदिकं, द्वितीयं, पुनर्ग्रहणार्थमिति गम्यते। गवेषयान्वेषय, तत्परित्यागाच्छ्रामण्यमङ्गीकृत्य पुनस्तदभिष्वङ्गवान् मा भूः, त्यक्तं हि तद्वान्तोपमं, तदभिष्वङ्गश्च वान्तपानप्राय इत्यभिप्रायः। किं तु समयमपि गौतम! मा प्रमादीः। इति सूत्रार्थः।

इत्थं प्रतिबन्धनिराकरणार्थमभिधाय दर्शनविशुद्ध्यर्थमाह–

न हु जिणे अज्ज दिस्सई,
बहुमएँ दिस्सइ मग्गदेसिए।
संपइ णेआउए पहे,
समयं गोयम! मा पमायए॥३१॥

'न हु' नैव जिनस्तीर्थकृद्यास्मिन् काले, दृश्यते अवलोक्यते, यद्यपीति गम्यते। तथाऽपि (बहुमए त्ति) पन्थाः। स च द्रव्यतो नगराऽऽदिमार्गो, भावतस्तु सातिशयश्रुतज्ञानदर्शनचारित्राऽऽत्मको मुक्तिमार्गः, तत्रेह भावमार्गः परिगृह्यते, दृश्यते उपलभ्यते, (मग्गदेसिए त्ति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य मार्गत्वेनार्थाद् मुक्तेर्देशितो जिनैः कथितो मार्गदेशितः। अयमाशयः–सम्प्रति यद्यपि जिनो न दृश्यते, तदुपदिष्टस्तु मार्गो दृश्यते, न चैवंविधोऽयमती–न्द्रियार्थदर्शिनं जिनं विना संभवति, संदिग्धचेतसो भाविनोऽपि भव्या न प्रमादं विधास्यन्तीति। अतः संप्रति इदानीं, सत्यपि मयि इति भावः। नैयायिके निश्चितमुक्त्याख्यलाभप्रयोजने, पथि मार्गे, समयमपि गौतम! केवलानुत्पत्तितः संशयविधानेन मा प्रमादीः। यद्वा–त्रिकालविषयत्वात्सूत्रस्य भाविभव्योपदेशकमप्येतत्। ततोऽयमर्थः–यथा आद्यमार्गोपदेशकं नगरं वा पश्यन्तोऽपि पन्थानमवलोकयन्तस्तस्याविच्छिन्नोपदेशतस्तत्प्रापकत्वं निश्चिनोति, तथा यद्यप्याद्यजिनः, उपलक्षणत्वाद् मोक्षश्च, नैव दृश्यते, तथाऽपि तद्देशितः पन्था मार्ग्यमाणत्वाद् मार्गो मोक्षस्तस्य (देसिए त्ति) सूत्रत्वाद्देशको मार्गदेशको दृश्यते, ततस्तस्यापि तत्प्रापकत्वं मामपश्यद्भिरपि भाविभव्यैर्निश्चेतव्यं, यतश्चैवं भाविभव्यानामुपदिश्यते, अतः सम्प्रतीत्यादि प्राग्वत्, द्विविधाऽपि चेत्थं व्याख्या, सूचकत्वात् सूत्रस्येति गाथाऽर्थः।

अत्रैवार्थे पुनरुपदिशन्नाह–

अवसोहिय कंटगापहं,
ओइण्णोऽसि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहियं,
समयं गोयम! मा पमायए॥३२॥

(अवसोहिय त्ति) अवशोध्यापसार्य पृथक् कृत्य, परिहृत्येति यावत्। (कण्टगापहं ति) आकारोऽलाक्षणिकः, क–

ण्टकाश्च द्रव्यतो बब्बूलकण्टकाऽऽदयो, भावतस्तु चरकाऽऽदिकुश्रुतयः, तैराकुलः पन्थाः कण्टकपथस्तम्, ततश्चावतीर्णोऽस्यनुप्रविष्टो भवसि (पहं ति) पन्थानं (महालयं ति) महान्तं महतां वा आलय आश्रयो महालयः। स च द्रव्यतो राजमार्गो, भावतस्तु महद्भिस्तीर्थकराऽऽदिभिरप्याश्रितः सम्यग् दर्शनाऽऽदिमुक्तिमार्गस्तम्। कश्चिदवतीर्णोऽपि मार्गं न गच्छेदत आह–गच्छसि मार्गं, न पुनरवस्थित एवासि, सम्यग्दर्शनाऽऽद्यनुपालनेन मुक्तिमार्गगमनप्रवृत्तत्वात्। भवतस्तन्नाप्यनिश्चयेऽपायप्राप्तिरेव स्यादित्याह--विशोध्येति विनिश्चित्य, तदेवं प्रवृत्तः सन् समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः।

एवं च पूर्वेण दर्शनविशुद्धिमनेन च मार्गप्रतिपत्तिमभिधाय ततस्तत्प्रतीतावपि कस्यचिदनुतापसंभव इति तन्निराचिकीर्षयाऽऽह–

अबले जह भारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम! मा पमायए ॥३३॥

अबलोऽविद्यमानशरीरसामर्थ्यो, यथेत्यौपम्ये, भारं वहतीति भारवाहकः। मा निषेधे। (मग्गे त्ति) मार्गं (विसमे त्ति) विषमं मन्दरस्त्वेरतिदुस्तरम्, (अवगाहिय ति) अवगाह्य प्रविश्य, त्यक्ताङ्गीकृतभारः सन्निति गम्यते। पश्चात्तत्कालानन्तरं, पश्चादनुतापकः पश्चात्तापकृत्, अभूदिति शेषः। इदमुक्तं भवति–यथा कश्चिद्देशान्तरगतो बहुभिरुपायैः स्वर्णाऽऽदिकमुपार्ज्य स्वगृहाभिमुखमागच्छन्नतिभीरुतयाऽन्यवस्त्वन्तर्हितं स्वर्णाऽऽदिकं स्वशिरस्यारोप्य कतिचिद्दिनानि सम्यगुद्वहति, अनन्तरं च क्वचिदुपलाऽऽदिसंकुले पथि अहो ! अहमनेन भारेणाऽऽक्रान्त इति तमुत्सृज्य स्वगृहमागतोऽत्यन्तनिर्द्धनतयाऽनुतप्यते, किं मया मन्दभाग्येन तत्परित्यक्तमिति ? एवं त्वमपि प्रमादपरतया त्यक्तसंयमभारः सन्नेवंविधो मा भूः, किं तु समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः।

बह्वि दमद्यापि निस्तरणीयमल्पं च निस्तीर्णमित्यभिसं–

धिनोत्साहभङ्गोऽपि स्यादिति तदपनोदायाऽऽह–

तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ?
अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥३४॥

(तिण्णो हु सि त्ति) तीर्ण एवास्यर्णवमिवार्णवम्, (महं ति) महान्तं गुरुं, किमिति प्रश्ने, पुनरिति वाक्योपन्यासे। ततः किं पुनस्तिष्ठसि तीरं पारमागतः प्राप्तः ? किमुक्तं भवति? भवत उत्कृष्टस्थितीनि च कर्म्माणि भावतोऽर्णव उच्यते, स च द्विविधोऽपि त्वयोत्तीर्णप्राय एवेति केन हेतुना तीरप्राप्तेऽप्यौदासान्यं भजसे? नैवेदं तवोचितमित्याशयः, किं तु अभितरन्ति अभ्याभिमुख्येन त्वरस्व शीघ्रो भव पारं परतीरं भावतो मुक्तिपदम्,(गमेत्तए त्ति) गन्तुम्। अतश्च समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः।

अथापि स्याद् मम पारप्राप्तियोग्यतैव न समस्त्यत आह।

अथवा शेषशिष्यापेक्षया किमस्याप्रमादस्य फलं, यत् पुनरयमुपदिश्यत इत्याह–

अकडेवरसेणिमुस्सिया,
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि।
खेमं च सिवं अणुत्तरं,
समयं गोयम! मा पमायए ॥३५॥

कडेवरं शरीरम्, अविद्यमानं कडेवरडेषामकमेवराः सिद्धाः,तेषां श्रेणिरिव श्रेणिरकडेवरश्रेणिः,ययोत्तरोत्तरशुभपरिणामप्राप्तिरूपया ते सिद्धिपदमारोहन्ति, क्षपकश्रेणिमित्यर्थः। यद्वा–कडेव–राण्येकेन्द्रियशरीराणि, तन्मयत्वेन तेषां श्रेणिः कडेवरश्रेणिः वंशाऽऽदिविरचिता प्रासादाऽऽदिष्वारोहणहेतुः, तथा च या न साऽकडेवरश्रेणिरनन्तरोक्तरूपैव, ताम् (उस्सिय त्ति) उच्छ्रितां गमिष्यसीति संबन्धः। यद्वा–(उस्सिय त्ति) उच्छ्रित्येवोच्छ्रोत्तरसंयमस्थानावाप्त्या तामुच्छ्रितामिव कृत्वा, सिद्धिमिति सिद्धिनामानं, गौतम ! (लोयं गच्छसि त्ति) प्राग्वत्। लोकं गमिष्यसि, संशयव्यवच्छेदफलत्वाच्चास्य गमिष्यस्येव, क्षेमं परचक्राऽऽद्युपद्रवरहितम्। चःसमुच्चये, भिन्नक्रमश्च। शिवमनुत्तरं च, तत्र शिवमशेषदुरितोपशमनेन, अनुत्तरं नास्योत्तरमन्यत्प्रधानमस्तीत्यनुत्तरं, सर्वोत्कृष्टमित्यर्थः। यतश्चैवं ततः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः।

सम्प्रति निगमयन्नुपदेशसर्वस्वमाह–

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे,
गामगए नगरे व संजए।
संतीमग्गं च बूहए,
समयं गोमय ! मा पमायए ॥३६॥

बुद्धोऽवगतहेयाऽऽदिविभागः, परिनिर्वृतः कषायाऽऽद्युपशमतः समन्ताच्छीतीभूतः, चरेरासेवस्व, संयममिति शेषः। (गाम त्ति) सुपो लोपाद् ग्रामे गतः स्थितो, नगरे वा, उपलक्षणत्वादरण्याऽऽदिषु च। किमुक्तं भवति? सर्वस्मिन्नभिष्वङ्गवान् सम्यग्यतः पापस्थानेभ्य उपरतः संयतः, शाम्यन्त्यस्यां सर्वदुरितानीति शान्तिः निर्वाणं, तस्या मार्गः पन्थाः। यद्वा–शान्तिरुपशमः, सैव मुक्तिः तस्या हेतुर्मार्गः शान्तिमार्गो, दशविधधर्मोपलक्षणं शान्तिग्रहणम्। तम्, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततो बृंहयस्व भव्यजनप्ररूपणया वृद्धिं नयेः, ततः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः।

इत्थं भगवदभिहितमिदमाकर्ण्य गौतमो यत् कृतवांस्तदाह–

बुद्धस्स निसम्म भासियं,
सुकहियमट्ठपओवसोहियं।
रागं दोसं च छिंदिया,
सिद्धिगइं गए गोयमे (त्ति बेमि) ॥३७॥

बुद्धस्य केवलाऽऽलोकावलोकितसमस्तवस्तुतत्त्वस्य, प्रक्रमात् श्रीमहावीरस्य, निशम्याऽऽकर्ण्य, भाषितमुक्तं, सुष्ठु शोभनेन नयानुगततत्त्वाऽऽदिना प्रकारेण, कथितं प्रबन्धेन प्रतिपादितं सुकथितम्। अत एवार्थप्रधानानि पदान्यर्थपदानि, तैरुपशोभितं जातशोभमर्थपदोपशोभितम्, रागं विषयाऽऽद्यभिष्वङ्गविषयम्, द्वेषमपकारिण्यप्रीतिलक्षणं चः समुच्चये। छित्त्वाऽपनीय, सिद्धिगतिं गतः प्राप्तो गौतम इन्द्रभूतिनामा भगवत्प्रथमगणधर इति सू–

त्रार्थः । इतिः परिसमाप्तौ । ब्रवीमीति पूर्ववत् । उत्त०पाई० १० अ० आ०म० आ०चू० स० नि०चू०।

दुमपुप्फियज्झयण न०(द्रुमपुष्पिकाध्ययन) द्रुमस्य पुष्पं द्रुमपुष्पम्। अवयवलक्षणः षष्ठीसमासः । द्रुमपुष्पशब्दस्य ''प्राणिवात्कः'' ॥५।३।७०॥ इति वर्त्तमान अज्ञाते कुत्सिते संज्ञायां कनि प्रत्ययेनकारलोपे च कृते द्रुमपुष्पिक इति प्रातिपदिकस्यस्त्रीत्वविवक्षायाम् ''अजाऽऽद्यतष्टाप्'' ॥४।१।४॥ इति टाप् प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे च कृते ''प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः'' ॥७।३।४४॥ इतीत्वे कृते **''अकः सवर्णे दीर्घः''** ॥८।१।१०॥ इति दीर्घत्वे परगमने च द्रुमपुष्पिकेति भवति। द्रुमपुष्पोदाहरणयुक्ता द्रुमपुष्पिकेति। द्रुमपुष्पिका चासौ अध्ययनं चेति समानाऽऽधिकरणस्तत्पुरुषः । द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनमिति।

अस्य चैकार्थिकानि प्रतिपादयन्नाह–

दुमपुप्फिया य आहा–रएसणा गोयरे तया उछो।
मेस जलूगा सप्पे, वणऽक्खइसुगोलपुत्तुदगे ॥३७॥

(एषां पादानामर्थस्तत्तच्छब्देषु) दशवैकालिकस्य द्रुमपुष्पोदाहरणयुक्ते, प्रथमेऽध्ययने, दश०नि०१अ०।

दुमराय पुं०(द्रुमराज) प्रधानवृक्षे, स्था०४ठा०४उ०।

दुमसेण पुं०(द्रुमसेन) नवमवासुदेवबलदेवयोः पूर्वभवे स्वनामख्याते धर्माऽऽचार्ये , स०। श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, स च महावीरस्वामिनोऽन्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायः संलेखनया मृत्वाऽपराजिते देवलोके उपपद्य ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गस्याष्टमेऽध्ययने सूचितम्। अणु०२ वर्ग १अ०।

दुमिय त्रि०(धवलित) श्वेतीकृते, ''दुमियघट्ठमट्ठे।'' 'दुमिए' सुधापङ्कधवलिते घृष्टे पाषाणाऽऽदिना उपरि घर्षिते ततो मृष्टे मसृणीकृते । सू०प्र०२० पाहु०।चं०प्र०। भ०। कल्प०।

दुमिस्स न०(द्विमिश्र) औदारिकमिश्रवैकारिकमिश्रद्विके, कर्म०४ कर्म०।

दुमुह पुं०(द्विमुख) स्वनामख्याते द्वितीये प्रत्येकबुद्धे, उत्त०। काम्पिल्यपुरे जयवर्मराजा, तस्य गुणमाला प्रिया। अन्येद्युर्जयवर्मा राजा स्थपतीनेवमाह–अद्भुतमास्थानमण्डपं कुरुत । वास्तुज्ञैस्तैर्भूमिपूजापुरस्सरं भूमिभागं परीक्ष्य सुमुहूर्ते खातं विरचितं, तत्र खाते पञ्चमदिवसे नानामणिमण्डितः खमणिरिव प्रज्वलन् मुकुटो दृष्टः (मुकुटं किरीटं पुन्नपुंसकमित्यमरः।) तैर्विज्ञप्तो राजा सहर्षं भूमितस्तं मुकुटं जग्राह। त्रिदिवत्रवाचित्रिनिर्घोषपूर्वं महतोत्सवेन त मुकुटं स्वगृहे प्रावेशयत् । वस्त्राऽऽद्यैः सत् कृताः शिल्पिनो विमानसदृशमास्थानमण्डपं सद्यश्चक्रुः। चित्रकरैस्तत् सद्य एव विचित्रतम्। भूयः शुद्धमुहूर्ते तं मुकुटं मस्तके निधाय तस्मिन्नास्थानमण्डपे सुसिंहासने निषण्णः, तस्मिन् मुकुटे मूर्द्धस्थिते सति राज्ञो मुखद्वयं दृश्यते, तदनु स राजा लोके द्विमुखतया विख्यातः।

अथेयं मुकुटकथा–अवन्तीशेन चण्डप्रद्योतेन मुकुटवर्णकं श्रुत्वा स्वदूतः प्रहितः । दूतोऽपि तत्र गत्वा द्विमुखं प्रति एवमवादीत्– राजन् ! तव मुकुटमिमं चण्डप्रद्योतभूपतिर्मार्गयति, यदि तव जीवितेन कार्यं , तदा तस्याऽयं प्रेष्यः। एवं दूतवचः श्रुत्वा द्विमुख–नरेन्द्रः प्रोवाच–रे दूत ! तव स्वामिनो मम मुकुटग्रहणाभिलाषः स्वयस्तुहारणायैव जातोऽस्ति, त्वं तत्र गत्वा स्वस्वामिनं ब्रूयाः–शिवा देवी राज्ञी १, अनलगिरिनामा हस्ती २, अग्निभीरुनामा रथः३, लोहजङ्घ नामा ४ दूतश्चेति वस्तुचतुष्टयं ममाऽप्यस्तामित्युक्त्वा द्विमुखनृपेण स दूतो गले धृत्वा निष्कासितः, उज्जयिनीं गत्वा चण्डप्रद्योताय तद्वचो निवेदयामास। क्रुद्धोऽथ चण्डप्रद्योतनृपतिर्गणनायकतुरगगजेन्द्ररथपदातिदलपरिवेष्टितः स्थाने स्थाने प्राभृतपूर्वकमभ्यागतानेकराजसैन्यवर्द्धमानबलः पञ्चालदेशसीमां प्राप। द्विगुणोत्साहो द्विमुखनृपस्तैः सप्तसुतैः सैनिकलक्षैश्च परिवृतश्चण्डप्रद्योतसंमुखमगात्। तयोर्घोरसंग्रामो बभूव। मुकुटप्रभावाद् द्विमुखराज्ञस्तदा द्विगुणं भुजबलं प्रससार। क्षणेन सकलमपि चण्डप्रद्योतबलं तेन भग्नं नष्टं च चण्डप्रद्योतं रथान्निपात्य बद्ध्वा च स्वपुरं निन्ये द्विमुखनृपः, तं स्वाऽऽवासे भव्यरीत्या रक्षितवान्। अन्यदा चण्डप्रद्योतेन प्रकामस्वरूपां सलावण्यां कन्यां दृष्ट्वा यामिकानामेवमुक्तम्–अस्य द्विमुखराज्ञः कत्यपत्यानि सन्ति? इयमङ्गजा च कस्य ? यामिका ऊचुः–अस्य राज्ञो वनमाला पत्नी सप्त सुतान् सुषुवे, अन्येद्यु तया चिन्तितम्, मम सप्त पुत्रा जाता लालिताश्च, पुत्री तु नैकाऽपि जातेति स्वमनोरथपूर्तये सा मदनयक्षमाराध। अन्यदा सा कल्पद्रुमकलिकां स्वप्ने ददर्श, क्रमेणेमां सुषुवे। यक्षोपयाचितं दत्त्वाऽस्या मदनमञ्जरीति नाम कृतम् । साम्प्रतं सर्वलोकचमत्कारकारी यौवनाऽऽगमे इयं जातेति यामि–कवचनं श्रुत्वा, अप्सरोधिकं तद्रूपं च दृष्ट्वा कामाऽऽर्त्तश्चण्डप्रद्योतश्चिन्तयति–इयं चेन्मम पत्नी स्यात्तदा मम जीवितं सफलं स्यात्, राज्यभ्रंशोऽपि मे कल्याणाय जातः, यदियं दृष्टा, चेद् द्विमुखराजा इमां मह्यं ददातु, तदाऽहमस्य यावज्जीवं सेवको भवामि। चण्डप्रद्योतस्येदृशः परिणामस्तस्य यामिकैर्ज्ञात्वा द्विमुखराज्ञे कथितः। राजाऽऽज्ञया यामिकैश्चण्प्रद्योतः सभायामानीतः। द्विमुखराज्ञाऽभ्युत्थानं कृत्वा चण्डप्रद्योतः स्वार्द्धाऽऽसने निवेशितः स प्राञ्जलीभूय एवं बभाषेमत् प्राणास्तव वशगाः सन्ति, मच्छिय्रस्त्वदायत्ताः सन्ति, त्वं मम प्रभुरसि, अहमतः परं सदैव तव सेवकोऽस्मि। अथ तद्भाववेत्ता द्विमुखराजा चण्डप्रद्योताय तदेव निजां पुत्रीं ददौ, ज्योतिर्विदिभः सुमुहूर्ते दत्ते चण्डप्रद्योतनृपो द्विमुखराजपुत्रीं परिणीतवान्, करमोक्षावसरे च तस्मै घनं द्रव्यं दत्तमवन्तीदेशं च दत्तवान् कन्यासहितं चण्डप्रद्योतं स्वदेशे द्विमुखो विसर्जितवान्। अन्यदा द्विमुखनरेन्द्रस्य पुरे लोकैरिन्द्रस्तम्भोऽद्भुतः कृतः, पूजितश्च, द्विमुखनृपोऽपि तं भृशं पूजितवान्, तस्मिन्महे व्यतीतेऽन्येद्युस्तस्मिन्द्रस्तम्भं विलुप्तशोभममेध्यान्तःपतितं द्विमुखराजा ददर्श, एवं च चिन्तितवान्–जनैर्यः पूजितो, मणिमालाकुसुमाऽऽदिभिश्च शृङ्गारितः सोऽयमिन्द्रस्तम्भः साम्प्रतमीदृशो जातः, यथाऽयं स्तम्भः पूर्वापरावस्थाभेदामाप्तः, तथा सर्वोऽपि संसारो भिन्नां भिन्नामवस्थां प्राप्नोति, अवस्थाभेदकारणं रागद्वेषावेव, तत्प्रलयस्तु समताऽऽश्रयणाद्भवति, समता च ममतापरित्यागाद्भवति, ममतापरित्यागस्तु संयमं विना न भवतीति वैराग्यमापन्नः शासनदेवतासमर्पितवेषः सर्वविरतिसामायिकं द्विमुखराजः स्वयं प्रतिपद्य प्रत्येकबुद्धो बभूव। उक्तञ्च– ''वीक्ष्यार्चितं पौरजनैः सुरेशध्वजं च लुप्तं पतितं परेऽह्नि। भूतिं त्वभूतिं द्विमुखो निरीक्ष्य, बुद्धः प्रपेदे जिनराजधर्मम् ॥१॥'' इति। उत्त०९ अ० व्य० महा०ती०।

दुमोक्ख त्रि०(दुर्मोक्ष) दुःखेन मुच्यते इति दुर्मोक्षः। दुरुत्तरे, सूत्र०१ श्रु०१२ अ०।

दुम्मइ त्रि०(दुर्मति) दुष्टा पापोपादानतया मतिर्यस्य सो दुर्मतिः। सूत्र०१ श्रु०११ अ०। विपर्य्यस्तबुद्धौ, सूत्र०१ श्रु १अ०२उ०।

दुम्मइणी (देशी) कलहशीलायां स्त्रियाम्, दे०ना०५ वर्ग ४७ गाथा।

दुम्मण त्रि०(दुर्मनस्) दैन्याऽऽदिमति, द्विष्ट इत्यर्थः। स्था०३ ठा०२ उ०। ''दुम्मणजणदइयवज्जियं।'' कल्प०१ अधि०१क्षण।

दुम्मणिय न०(दौर्मनस्य) दुष्टमनोभावे, दश०६अ०३उ०।

दुम्मय पुं०(दुर्मद) दुष्टो मदो दुर्मदः। दुष्टे मदे, तद्वति च। त्रि०। आचा०१ श्रु०६ अ०२उ०।

दुम्मुह पुं०(दुर्मुख) वसुदेवस्य धारण्यां जाते पुत्रे, अन्त०३ वर्ग १ अ०। (तद्वक्तव्यता गजसुकुमारस्येव) मर्कटे, दे०ना०५ वर्ग ४४ गाथा।

दुम्मेह पुं०(दुर्मेधस्) दुर्दुष्टा मेधा यस्यासौ दुर्मेधाः। उत्त०७ अ०। दुर्बुद्धौ, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। दश०। विपा०। दुष्टा विपर्य्ययाऽऽदिदोषदुष्टत्वेन मेधा वस्तुरूपाऽवधारणशक्तिर्येषां ते दुर्मेधसः। विषयैर्जितेषु जन्तुषु, उत्त०७अ०।

दुम्मोय त्रि०(दुर्मोच) दुःक्षपणीये, विशे०।

दुय न०(द्रुत) शीघ्रे, स्था०७ ठा०। नि०चू०। तं०। नाट्यभेदे, जं०५ वक्ष०। आ०चू०। आ०म०। गेयदोषे, द्रुतं यत्त्वरितं गीयते, त्वरितगाने हि रागपुष्टिरक्षरव्यक्तिश्च न भवति। जं०१ वक्ष०। जी०। द्रवत्यूर्ध्वम्, द्रुक्तः। वृक्षे, पुं०। शीघ्रतावति, द्रवीभूते, पलायिते च। त्रि०। वाच०।

दुयअ त्रि०(द्विक) द्विपरिमाणे, भ०८श०१उ०।

***द्विपद** त्रि०। द्विपदे, ''एवं दुयओ भेओ।'' पृथिव्यप्कायप्रयोग-परिणतेष्विव द्विको द्विपरिमाणो, द्विपदो वा। भ० ८ श० १उ०।

दुयग्गा (देशी) द्वावपि दम्पती इत्यस्मिन्नर्थे, उत्त०। ''बहुसो परितप्पंती दुयग्गा वि।'' उत्त०१३अ०।

दुयचारित्त न०(द्रुतचारित्व) असमाधिस्थानभेदे, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार।

दुयट्ठाण न०(द्विकस्थान) मूलगुणोत्तरगुणस्थाने, पं० चू०।

दुयविलंविय न०(द्रुतविलम्बित) विलम्बिताभिनये, रा०। आ०म०। छन्दोभेदे, वाच०।

दुयसीलय न०(द्रुतशीलत्य) अपर्य्यालोच्य संभ्रमाऽऽवेशाद् द्रुतं द्रुतं भाषणाऽऽदिषु, ध०। तथाहि–द्रुतशीलत्वं चाऽपर्यालोच्य संभ्रमा-ऽऽवेशाद् द्रुतं द्रुतं भाषणं तथा द्रुतं द्रुतं गमनं द्रुतं द्रुतं कार्यकरणं स्वभावस्थितेनाऽपि तीव्रोद् द्रेकवशाद्दर्पेण स्फुटनमिवेति च। ध०३ अधि०।

दुया स्त्री०(द्विता) द्वयोर्भावे, षो० १६विव०।

दुयाह न०(द्विकाह) दिनद्वये, आचा०२ श्रु०१चू०३अ०१उ०।

दुय्यण पुं०(दुर्जन) **''जद्दयां यः''** ॥८।४।२६२॥ मागध्यां जद्दयां स्थाने यो भवतीति जस्य यः। प्रा०४ पाद। दुष्टो जनो यस्मात्, यदाचरणेन साधुरपि दुष्यति। खले, वाच०।

दुर अव्य०(दुर्) अभावे, व्य०२ उ०।

दुरइक्कम त्रि०(दुरतिक्रम) दुःखेनातिक्रमो लङ्घन विनाशो येषां ते तथा। आचा०१ श्रु०२ अ०५उ०। दुरतिलङ्घनीये, आचा०१ श्रु०५ अ०४उ०।

दुरंत न०(दुरन्त) दुष्टोऽन्तो विनाशः प्रान्तो वा यस्य तद् दुरन्तम्। दुर्विनाशे, दुष्प्रान्ते, तं०। आचा०। दुःखेनान्तः पर्यन्तो यस्य तद् दुरन्तम्। उत्त०५ अ०। दुष्टपर्यन्ते, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। दुरवसाने, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। विपाकदारुणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। ''दुरंतपंतलक्खणो।'' दुरन्तानि दुष्टपर्यवसानानि प्रान्तान्यसुन्दराणि लक्षणानि यस्य स तथा। उपा०२अ०। भ०।

दुरंदर (देशी) दुःखोत्तीर्णे, दे०ना०५ वर्ग ४६ गाथा।

दुरणुचर न०(दुरनुचर) स्था०५ ठा०१उ०। ('तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६२ पृष्ठे व्याख्या) दुःखाऽऽसेव्ये प्रवचने च। भ०६श०३३उ०। ज्ञा०। दुःखेनानुचर्यते सेव्यते यः सं तथा। प्रश्न०३ आश्र०द्वार। दुःखाऽऽसेव्ये संयमे, पञ्चा०१० विव०। मार्गे, संयमानुष्ठानविधौ च। पुं०। आचा०१श्रु०४ अ०४उ०।

दुरणुपालय पुं०(दुरनुपालक) दुःखेनानुपाल्यत इति दुरनुपालः, स एव दुरनुपालकः। दुःखानुपालनीये, उत्त० २३ अ०। पञ्चा०।

दुरत्थ त्रि०(दूरस्थ) ग्रामाऽऽदेर्बहिःस्थे, आचा०१ श्रु०८ अ०२उ०।

दुरप्प(ण्) पुं०(दुरात्मन्) दुष्टाऽऽचारप्रवृत्ते आत्मनि, उत्त० २० अ०। ओघ०। आ०म०। प्रश्न०।

दुरभि पुं०(दुरभि) वैमुख्यकृति, अनु०।

दुरभिगंध पुं०(दुरभिगन्ध) दुरभिः सर्वेषामाभिमुख्येन दुष्टो गन्धो यस्यासौ दुरभिगन्धः। दुर्गन्धयुक्ते, जी०३प्रति०२ उ०। आचा०।

दुरभिगंधणाम न०(दुरभिगन्धनाम) यदुदयात् शरीरेषु गन्धो दुरभिरूप-जायते तद् दुरभिगन्धनाम। गन्धनामकर्मभेदे, कर्म० ६ कर्म०। पं०सं०।

दुरभिगम त्रि०(दुरभिगम) दुःखेनाभिगन्तव्ये, ''तओ पच्छा अहेलोगे णं दुरभिगमे पण्णत्ते।'' स्था०३ ठा०४उ०। अध इत्यधोलोकमभि समेति, एवं च सामर्थ्यात्प्राप्तमधोलोको दुरभिगम, क्रमेण पर्यन्ताभिगम्यत्वादिति। स्था०३ ठा०४उ०। दुरवबोधे च। स०१० अङ्ग०।

दुरवगाह त्रि०(दुरवगाह) दुष्प्रवेशे, **''स्वरेऽन्तरश्च''** ॥८।१।१४॥ इति दुरन्त्यव्यञ्जनस्य स्वरपरे लुक् न। 'दुरवगाहं।' आव०१ अ०। दुष्प्रवेशे, विशे०। आ०म०। दुःखाध्येये च। स०१० अङ्ग।

दुरस न०(द्विरस) रसद्वये, तद्वति च। त्रि०। भ०१ श०७ उ०। स्था०।

दुरहि पुं०(दुरभि) दुर्गन्धे, तं०।

दुरहिगम त्रि०(दुरभिगम) 'दुरभिगम' शब्दार्थे, स्था०३ ठा०४उ०।

दुरहिट्ठिय त्रि०(दुरधिष्ठित) दुराश्रये दुःसेवे, दश०६ अ०।

दुरहियास त्रि०(दुरध्यास) सोढुमशक्ये दुर्विषहे, भ०१५ श०। दुरधिसह्ये, भ०५श०६उ०। उपा०। विपा०।

दुरहियासय त्रि०(दुरध्यासक) दुरधिसहनीये, आचा०१ श्रु०६अ ० २उ०। सूत्र०।

दुरहिसह त्रि०(दुरधिसह) सोढुमशक्ये, स्था०६ठा०।

दुराइ न०(द्विरात्र) द्वयो रात्र्योः समाहारे, स्था०५ ठा०२उ०।

दुराणुवत्त त्रि०(दुरानुवर्त) दुःखेनानुवर्त्ये, व्य०३उ०।

दुराराह त्रि०(दुराराध) दुःखेनाऽऽराध्ये, कल्प०३अधि०६क्षण।

दुरारोह त्रि०(दुरारोह) दुःखेनाऽऽरुह्यतेऽध्यास्यत इति दुरारोहः। दुरध्यासे, उत्त०२३ अ०।

दुरालोअ (देशी) तिमिरे, दे०ना० ५ वर्ग ४६ गाथा।

दुरासय त्रि०(दुराश्रय) दुःखेनाऽऽश्रीयत इति दुराश्रयः। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। दुःखेनाऽऽश्रयन्ति यमतिकोपनत्वाऽऽदिभिरिति दुराश्रयः। उत्त०पाई० १ अ०। क्रूरे, उत्त०१अ०।

***दुरासद** त्रि०। दुःखेनाऽऽसाद्यतेऽभिभूयते इति दुरासदम्। दुरभिभवे, दश०२ अ०। दुःसहे च। उत्त०२२ अ०।

दुरितारि स्त्री०(दुरितारि) श्रीसंभवजिनस्य प्रवचनदेव्याम्, प्रव० २७ द्वार।

दुरिय न०(दुरित) दुष्टमितं गमनं नरकाऽऽदिस्थानमनेनेति। वाच०। पापे, आतु०।

दुरियारि स्त्री०(दुरितारि) 'दुरितारि' शब्दार्थे, प्रव०२७ द्वार।

दुरुक्क न०(दुरुक्त) दुष्टमुक्तम्। दुष्टवचने, वाच०। आचा० २ श्रु०१ चू०१ अ०८उ०।

दुरुत्तर त्रि०(दुरुत्तर) **''स्वरेऽन्तरश्च''** ॥८।१।१४॥ इत्यन्त्यव्यञ्जनस्य स्वरे परे लुक् न। प्रा०१ पाद। दुःखेन उत्तीर्य्यते। दुर्-उत्-तृ-खल्। दुस्तरे, दुष्टमुत्तरम्। प्रा०१पाद। दुष्टे उत्तरे, न०। वाच०। दुर्लङ्घ्ये, सूत्र०१ श्रु०३ अ०२उ०। दुर्गमे च। त्रि०। सूत्र०१ श्रु०२ अ०१उ०।

दुरुत्तार त्रि०(दुरुत्तार) दुःखेनोत्तरणीये, आव०३ अ०।

दुरुद्धर त्रि०(दुरुद्धर) दुःखेनोद्धर्तुं शक्ये, सूत्र०१ श्रु०२ अ०२उ०।

दुरुवचार त्रि०(दुरुपचार) दुष्टे उपचारे, तद्वति च। 'दुरुवचाराओ।' तं०। दुरुपचाराः-दुष्ट उपचार उपचारान्वितवचनाऽऽदिविस्तारो यासां तास्तथा स्त्रियः। तं०।

दुरुवणीय पुं०(दुरुपनीत) दुष्टमुपनीतं निगमितमस्मिन्निति दुरुपनीतम्। उपन्यासहेतुभेदे, दश०१ अ०। स्था०।

दुरुपनीतद्वारं व्याचिख्यासुराह-

अणमिसगिण्हणभिक्खुग, दुरुवणीए उदाहरणं (८२)

अत्रानिमिषा मत्स्याः, तद् ग्रहणे भिक्षुरुदाहरणम्, इदं च लौकिकम्, अनेन चोक्तन्यायाल्लोकोत्तरमप्याक्षिप्तं वेदितव्यमिति गाथादलाक्षरार्थः। भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्- ''किल कोइ तव्वणिओ जालवावडकरो मच्छगवहाए चलिओ। धुत्तेण भण्णइ-आयरिय! अघणा ते कंथा। सो भणइ-जालमेतं।'' इत्यादि श्लोकादवसेयम्-

''कन्थाऽऽचार्याऽघना ते ननु शफरवधे जालमश्नासि मत्स्यान्,
ते मे मद्योपदंशाः पिबसि ननु युतं वेश्यया यासि वेश्याम्।
कृत्वाऽरीणां गलेऽङ्घ्रिं क्व नु तव रिपवो येषु सन्धिं छिनद्मि,
चौरस्त्वं द्यूतहेतोः कितव इति कथं येन दासीसुतोऽस्मि॥१॥''

इदं लौकिकम्। चरणकरणानुयोगे तु-

''इय सासणस्स वण्णो, जायइ जेणं न तारिसं बूया!
वादे वि उवहसिज्जइ, निगमणओ जेण तं चेव॥१॥''

उदाहरणदोषता पुनरस्य स्पष्टैवेति। दश०१अ०।

दुरुवयार त्रि०(दुरुपचार) 'दुरुवचार' शब्दार्थे, तं०।

दुरुव्वूढत्त पुं०(दुरुद्वेष्टक) दुःखेनोद्वेष्टने, व्य०१उ०।

दुरुहमाण त्रि०(दूरोहत्) दुष्टमारोहति, ''सेज्जासंथारए दुरुहमाणे!'' आचा०२ श्रु०१चू०२अ०३उ०। ''से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णावं दुरुहमाणे।'' आचा०२ श्रु०१ चू०३अ०१उ०।

दुरुहियास त्रि०(दुरध्यास) दुःखेनाधिसह्ये, सूत्र०२ श्रु०१अ०। जं०।

दुरूढ त्रि०(दूरूढ) आरूढे, स्था०६ठा०। जं०।

दुरूव त्रि०(दुरूप) दुष्टं रूपं यस्य स दूरूपः। सूत्र०२ श्रु०३ अ०। बीभत्सदेहे, सूत्र०२ श्रु०१अ०। विरूपे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। ''एगे दुरूवे।'' अमनोज्ञरूपे, स्था०१ ठा०। दुःस्वभावे च भ०७श०६ उ०। ''दुरूवे दुव्वन्ने'' भ०१ श०८ उ०। स्था०।

दुरूवताय पुं०(दुरूपताक) दूरूपताहेतुतया परिणमति दूरूपतां करोतीत्यर्थे, भ०७ श०१०उ०।

दुरूवभक्खि(ण्) पुं०(दूरूपभक्षिण्) अशुच्यादिभक्षके, सूत्र०१ श्रु०५ अ०१उ०।

दुरूहण न०(दूरोहण) आरोहणे, नि०चू०१२उ०।

दुरूहित्तु अव्य०(दूरुह्य) समारुह्येत्यर्थे, समारोप्येत्यर्थे च। सूत्र०१ श्रु०५ अ०२उ०।

दुरूहिय अव्य०(दूरुह्य) आरुह्येत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु०११ अ०।

दुरेह पुं०(द्विरेफ) **''द्विन्योरुत्''** ॥८।१।६४॥ इतीत उत्त्वम्। 'दुरेहा।' प्रा०१ पाद। द्वौ रेफौ वाचकनाम्नि यस्य सः। भ्रमरे, तच्छब्दस्य रेफद्वयवत्त्वेन तद्वाच्यमधुकरपदार्थेऽपि द्विरेफत्वम्। वाच०।

दुली (देशी) कूर्मे, दे०ना०५ वर्ग ४२ गाथा।

दुल्ल (देशी) वस्त्रे, दे०ना०५ वर्ग ४१ गाथा।

दुल्लग्ग (देशी) अघटमाने, दे०ना०५ वर्ग ४३ गाथा।

दुल्लभ पुं०(दुर्लभ) दुर्-लभ-खल्। क चूरे, दुरालभायाम्, श्वेतकण्ट- कार्यां च। स्त्री०। वाच०। दुरापे, त्रि०। प्रश्न०३

आश्र० द्वार। पञ्चा०। दश०। उत्त०। सूत्र०। आ०म०। आ०चू०। आतु०। आचा०। भ०। ''जीवियं चयइ, दुच्चयं चयइ, दुक्करं करेइ, दुलहं लहइ, बोहिं बुज्झइ।''(व्याख्याऽस्य 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे १३ पृष्ठे द्रष्टव्या) शतपाकसहस्रपाकाऽऽदिद्रव्ये, नि०चू० १उ०।

दुल्लभदव्वागाढ पुं०(दुर्लभद्रव्यागाढ) दुर्लभद्रव्यालाभेऽनागाढे, ''सतपागसहस्सपागं घयं तेल्लं तेण साहुणो कज्जं, तम्मि अलब्भंते दुल्लभदव्वागाढं।'' नि०चू० ११उ०।

दुल्लभबोहिय पुं०(दुर्लभबोधिक) दुर्ल्लभा बोधिर्भवान्तरे जिनधर्मप्राप्तिर्यस्यासौ दुर्लभबोधिकः। भवान्तरे दुरापजिनधर्मके, प्रति०। स्था०('सुलभबोहिय' शब्दे वर्णकोऽस्य वक्ष्यते)

परिवारपूयहेऊ पासत्थाणं च आणुवत्तीए।
जो न कहेइ विसुद्धं, तं दुल्लहबोहियं जाण ॥२८॥

परिवार आत्मव्यतिरिक्तः, ततः परिवारेण पूजा, परिवारस्य वा पूजा परिवारपूजा। अथवा–परिवारपूजा ह्रस्वस्वप्रीतिप्रभवा, तस्या हेतुर्निमित्तमिति। पार्श्वः सम्यक्त्वं, तस्मिन् ज्ञानाऽऽदिपार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, तेषामनुवृत्तिरनुवर्त्तनं, तया, यो न कथयति न प्रकाशयति, विशुद्धं सर्वविशुद्धं सर्वविदुपदिष्टं यथा–वस्थितं मुक्तिमार्गं, तमाचार्यं साधुं वा दुर्लभबोधिकं जानीहि। अयमत्र भावार्थः–यो हि मनोज्ञसंविग्नोऽपि परिवारापेक्षया सम्यक्त्वसाध्याचारं न कथयति, अयमन्यथा प्रवृत्तः सम्यक्त्वकथनेन प्रकटो भविष्यति, ततोऽयं मयि सरोषो भविष्यति, ततः शरीराऽऽदिस्थितिं न करिष्यति, पूजा वा न भविष्यतीति हेतोः, पार्श्वस्थानुवृत्त्या वा यदुत मामेते सम्यक् कथयतः प्रकोपं यास्यन्त्यतो वरमात्मसाक्षिकं कृतमिति; एते चानुवर्त्तिता भवन्त्विति स्वबुद्ध्या सुन्दरमपि विदधानाः संसारसागरे निपतन्ति।

यत उक्तम्–

''जिणाणाए कुणंताणं, तूणं निव्वाणकारणं।
सुंदरं पि सबुद्धीए, सव्वं भवनिबंधणं॥
जे गयआरंभरया, ते जीवा होंति अप्पदोसयरा।
तउ महपावयरा, जे आरंभं पसंसंति॥''

यत एवमतः परमाऽऽराध्यकालिकसूरिभिरिव प्राणप्रहाणेऽपि पुरानुवृत्त्याऽपि नैवान्यथा भाषणीयमिति गाथार्थः ॥२८॥ दर्श० ३ तत्त्व।

दुल्लभबोहियता स्त्री०(दुर्ल्लभबोहिकता) दुर्ल्लभा बोधिर्जिनधर्म्मो यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता। दुर्ल्लभजिनधर्म्मतायाम्, स्था०५ ठा०२ उ०। प्रति०। रा०। (पञ्चभिः कारणैर्दुर्लभबोधिकताकर्म करोतीत्युक्तम् 'अवण्णवाय' शब्दे प्रथमभागे ७९२ पृष्ठे)

दुल्ललिय न०(दुर्ललित) दुर्– 'लल' ईप्सायाम्, भावे क्तः। वाच०। दुष्टेच्छायाम्, दुर्लभवस्तुवाञ्छायाम्, महा०६ अ०।

दुल्लसिआ (देशी) दास्याम्, दे०ना०५ वर्ग ४६ गाथा।

दुल्लह त्रि०(दुर्लभ) 'दुल्लभ' शब्दार्थ, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

दुल्लहबोहिय पुं०(दुर्लभबोधिक) 'दुल्लभबोहिय' शब्दार्थे, प्रति०।

दुल्लहसेज्जा स्त्री०(दुर्लभशय्या) असुलभवसतौ, पञ्चा०१७ विव०। नि०चू०।

दुवअण न०(द्विवचन) ''**द्विन्योरुत्**'' ॥८।१।६४॥ इति द्विशब्देकारस्योकारः। ''दुवअणं।'' प्रा०१ पाद। उच्यतेऽनेनोक्तिर्वेति वचनम्। द्वयोरर्थयोर्वचनं द्विवचनम्। स्था०३ ठा० ६ उ०। व्याकरणोक्ते औतस् प्रभृतिप्रत्यये, वाच०। वस्तुद्वयप्रतिपादके वचने च। यथा वृक्षौ। आचा०२ श्रु०१चू०४अ०१उ०। आ०म०। प्रज्ञा०।

दुवई स्त्री०(द्रौपदी) द्रुपदराजदुहितरि, ज्ञा०।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं नयरी होत्था। तीसे णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरिच्छिमे दिसीभाए सुभूमिभागे णामं उज्जाणे होत्था। तत्थ णं चंपाए णयरीए कोणिए णामं राया होत्था। महया हिमवंतवण्णाओ। तत्थ णं चंपाए णयरीए तओ माहणा भायरो परिवसंति। तं जहा–सोमे १, सोमदत्ते २, सोमभूई ३, अड्ढा०जाव रिउव्वेय ४०जाव सुपरिणिट्ठिए यावि होत्था। तेसि णं माहणाणं तओ भारियाओ होत्था। तं जहा–नागसिरी, भूतसिरी, जक्खसिरी, सुकुमालपाणिपाया०जाव तेसिं णं माहणाणं इट्ठा कंता पिया मणुण्णा मणामा विउले माणुस्सए कामभोए०जाव विहरंति। तए णं तेसिं माहणाणं अण्णया कयाइं एगयओ समुवागयाण ०जाव इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमे विउलधण०जाव सावएज्जे अलाहि० जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दाउं पकामं भोत्तुं पकामं परिभाएउं, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! अण्णमण्णस्स गिहेसु कल्लाकल्लिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेत्ता परिभुंजेमाणा विहरित्तए अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता कल्लाकल्लिं अण्णमण्णस्स गिहेसु विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावें ति, उवक्खडावेत्ता परिभुंजमाणा विहरंति। तए णं तीसे णागसिरीए माहणीए अण्णया कयाइं भोयणवारए जाए यावि होत्था। तए णं सा णागसिरी विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडेति, उवक्खडेत्ता एगं महं सालइयं तित्तालाउयं बहुसंभारसंजुत्तं णेहावगाढं उवक्खडावेति, उवक्खमावेत्ता एगं विंदुयं करयलंसि आसाएति, तं खारं कडुयं अखज्जं विसभूयं जाणित्ता एवं वयासी–धिरत्थु णं मम णागसिरीए अहण्णाए अपुण्णाए दूभगाए दूभगसत्ताए दूभगनिंबोलियाए, तं जाए णं मए सालइए बहुसंभारसंभिए नेहावगाढे उवक्खडिए सुबहुदव्वक्खए य नेहक्खए य कए, तं जइ णं मम जाउयाओ जाणिस्संति, ताओ णं मम खिंसिस्संति, तं जाव ममं जाउया न जाणंति ताव ममं सेयं एयं सालइयं तित्तालाउयं बहुसंभारनेहकयं एगंते गोवित्तए अण्णं

सालइयं महुरालाउयं०जाव नेहावगाढं उवक्खडियए एवं संपेहेति, संपेहेत्ता तं सालइयं०जाव गोवेति, गोवेत्ता अण्णं सालइयं महुरालाउयं उवक्खडेति, उवक्खडेत्ता तेसिं माहणाणं ण्हायाणं०जाव सुहासणवरगयाणं तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिवेसेइ। तए णं ते माहणा जिमियभुत्तुत्तरागया समाणा आयंता चोक्खा परमसुइभूया सकम्मसंपउत्ता जाया यावि होत्था। तए णं ताओ माहणीओ ण्हायाओ०जाव विभूसियाओ तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारेंति, आहारेत्ता जेणेव सयाइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सकम्मसंपउत्ताओ जायाओ। तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा नामं थेरा०जाव बहुपरिवारा जेणेव चंपा णामं णगरी जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं०जाव विहरंति। परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया। तए णं तेसिं धम्मघोसाणं थेराणं अंतेवासी धम्मरुई नामं अणगारे उराले०जाव तेयलेस्से मासं मासेणं खममाणे विहरइ। तए णं से धम्मरुई णामं अणगारे मासखमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, बीयाए पोरिसीए झाणं झाएइ, तइयाए पोरिसीए जहा गोयमसामी तहेव ओगाहेइ तहेव धम्मघोसं थेरं आपुच्छति, आपुच्छित्ता०जाव जेणेव चंपा नयरी उच्चनीचमज्झिमाइं कुलाइं०जाव अडमाणा जेणेव नागसिरीए माहणीए गिहे, तेणेव अणुप्पविट्ठे। तए णं सा णागसिरी धम्मरुईणामं अणगारं एज्जमाणं पासति, पासित्ता तस्स सालइयस्स तित्तकडुयस्स बहुनेहाए पडिणिट्ठयाए हट्ठतुट्ठा उट्ठाए उट्ठेति, जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तं सालइयं तित्तालाउयं बहुणेहावगाढं धम्मरुइस्स अणगारस्स पडिग्गहए सव्वमेव निस्सरति। तए णं से धम्मरुई अगारे अहापज्जत्तमिति कट्टु नागसिरीए माहणीए गिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता चंपाए नयरीए मज्झं मज्झेणं पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जेणेव धम्मघोसा थेरा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मघोसस्स अदूरसामंते इरिया-बहियं पडिक्कमइ, पडिक्कमित्ता अण्णपाणं पडिलेहेइ, पडिलेहेत्ता अण्णपाणं करयलंसि पडिदंसेति। तए णं ते धम्मघोसा थेरा तस्स सालइयस्स बहुनेहावगाढस्स गंधेणं अभिभूया समाणा ताओ सालइयाओ णेहावगाढाओ एगं बिंदुगं गहाय करयलंसि आसायंति, तित्तगं खारं कडुयं अखज्जं अभोज्जं विसभूयं जाणेत्ता धम्मरुइं अणगारं एवं वयासी-जइ णं तुमं देवाणुप्पिया! एयं सालइयं०जाव बहुणेहावगाढं आहारेइ, तेणं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि, तं मा णं तुमं देवाणुप्पिया! इमं सालइयं०जाव आहारेसि, मा णं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि, तं गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! इमं सालइयं एगंतमणावाए अच्चित्ते थंडिले परिट्ठवेह, परिट्ठवेत्ता अण्णं फासुयं एसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिग्गाहेत्ता आहारं आहारेहि। तए णं से धम्मरुई अणगारे धम्मघोसाणं थेराणं एवं वुत्ते समाणे धम्मघोसस्स थेरस्स अंतियाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता सुभूमिभागाओ उज्जाणाओ अदूरसामंते थंडिले पडिलेहेति, पडिलेहेत्ता तत्तो सालइयाओ एगं बिंदुगं गहाय थंडिलंसि णिस्सरइ। तए णं तस्स सालइयस्स तित्तालाउयस्स बहुनेहावगाढस्स गंधेणं बहूणि पिपीलिगासहस्साणि पाउब्भूया, जं जहा णं पिपी-लिया आहारेति, तं तहा अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जइ। तए णं तस्स धम्मरुइस्स अणगारस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्थाजइ ताव इमस्स सालइयस्स०जाव एगम्मि बिंदुयम्मि पक्खित्तम्मि अणेगाइं पिपीलियासहस्साइं ववरोविज्जंति, तं जइ णं अहं एयं सालइयं थंडलंसि सव्वं णिसिरामि तए णं बहूणं पाणाणं बहूणं भूयाणं बहूणं सत्ताणं बहूणं जीवाणं वहकरणं भविस्सति, तं सेयं खलु ममं तं सालइयं०जाव नेहावगाढं सयमेव आहारेत्तए, ममं चेव एएणं सरीरएणं णिज्जाउ त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता मुहपोत्तियं पडिलेहेति, पडिलेहेत्ता सीसोवरि कायं पमज्जेइ, पमज्जेत्ता तं सालइयं तित्तकडुयं बहुणेहावगाढं विलमिवं पण्णगभूएणं अप्पाणेणं सव्वं सरीरकोट्ठगंसि पक्खिवति। तए णं तस्स धम्मरुइस्स तं सालइयं०जाव णेहावगाढं आहारियस्स समाणस्स मुहुत्तंतरेणं परिणममाणांसि सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला०जाव दुरहियासा, तए णं धम्मरुई अणगारे अथामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्जमिति कट्टु आयारभंडगं एगंते ठवेइ, ठवेत्ता थंडिलं पडिलेहेइ, पडिलेहेत्ता दब्भसंथारगं संथरेइ, संथरेत्ता दब्भसंथारगं दुरूहति, दुरूहित्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियंकणिसण्णे करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी- "णमोऽत्थु णं अरुहंताणं भगवंताणं०जाव संपत्ताणं, णमोऽत्थु णं धम्मघोसाणं थेराणं मम धम्मायरियाणं मम धम्मोवएसगाणं पुव्विं पि य णं मए धम्मघोसाणं थेराणं अंतिए सव्वं पाणाइवाए पच्चक्खा जावज्जीवाए०जाव सव्वं परिग्गहे, इयाणिं पि णं अहं तेसि चेव भगवंताणं

अंतियं सव्वं पाणातिवायं पच्चक्खामि० जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि जावज्जीवाए जहा खंदओ०जाव चरिमेहिं ऊसासेहिं वोसिरामि'' त्ति कट्टु आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालगए। तए णं ते धम्मघोसा थेरा धम्मरुइं अणगारं चिरगयं जाणेत्ता समणे निग्गंथे सद्दावें ति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! धम्मरुई णामं अणगारे मासखमणपारणगंसि सालइयस्स०जाव गाढस्स निसरणट्ठयाए बहिया णिग्गए चिरगए, तं गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! धम्मरुइस्स अणगारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेह। तए णं ते समणा निग्गंथा० जाव पडिसुणें ति। पडिसुणेत्ता धम्मघोसाणं थेराणं अंतियाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमइत्ता धम्मरुइस्स अणगारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणा जेणेव थंडिले तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता धम्मरुइस्स अणगा–रस्स सरीरगं णिप्पाणं णिच्चेट्ठं जीवियाओ विप्पजढं पासंति, पासइत्ता हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु धम्मरुइस्स अणगारस्स परिनिव्वाणवत्तियं काउस्सग्गं करें ति, धम्मरुइस्स अणगारस्स आयारभंडगं गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव धम्मघोसा थेरा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता गमणागमणाए पडिक्कमंति, पडिक्कमइत्ता एवं वयासी–एवं खलु अम्हे तुम्हं अंतियाओ पडिणिक्खमाणा सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स परिपेरंते णं धम्मरुइस्स अणगारस्स सव्वं०जाव करेमाणा जेणेव थंडिले तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ०जाव इहं हव्वमागया, तं कालगए णं भंते ! धम्मरुई अणगारे, इमीसे आयरभंडए। तए णं ते धम्मघोसा थेरा पुव्वमए उवओगं गच्छंति, उवओगं गच्छित्ता समणे निग्गंथे निग्गंथीओ य सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–एवं खलु अज्जो ! मम अंतेवासी धम्मरुई णामं अणगारे पयइ–भद्दए०जाव विणीए मासं मासेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं० जाव णागसिरीए पाहणीए गिहं अणुप्पविट्ठे। तए णं सा णागसिरी माहणी०जाव णिसिरइ। तए णं से धम्मरुई णामं अणगारे अहापज्जत्तमिति कट्टु०जाव कालं अणवकंखमाणे विहरति, से णं धम्मरुई णामं अणगारे बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं सोहम्मे०जाव सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववण्णे। तत्थ णं अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं धम्मरुइस्स वि तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता। से णं धम्मरुई देवे ताओ देवलोगाओ०जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति०जाव अंतं काहिति। तं धिरत्थु णं अज्जो ! नागसिरीए माहणीए अहण्णाए अपुण्णाए०जाव निंबोलियाए जइ णं तहारूवे साहूणं साहुरूवे धम्मरुई णामं अणगारे मासखमणपारणगंसि सालइएणं०जाव णेहावगाढेणं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविए। तए णं ते समणा निग्गंथा धम्मघोसाणं थेराणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म चंपाए णयरीए सिंघाडगतिग०जाव बहुजणस्स एवमाइक्खंति० ४ धिरत्थु णं देवाणुप्पिया ! णागसिरीए माहणीए०जाव निंबोलियाए, जाए णं तहारूवे साहूणं साहुरुवे सालइएणं जीवियाओ ववरोवेति। तए णं तेसिं समणाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खंति०४ धिरत्थु णं णागसिरीए माहणीए०जाव ववरोविए। तए णं ते माहणा चंपाए नयरीए बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ता०जाव मिसमिसेमाणा जेणेव णागसिरी माहणी, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता णागसिरिं माहणिं एवं वयासी–हं भो णागसिरी! अपत्थियपत्थिए दुरंतपंतलक्खणे हीणपुण्णचाउद्दसे धिर–त्थु णं तव अधण्णाए अपुण्णाए निंबोलियाए०जाव णं तुमं तहारूवे साहूणं साहुरूवे मासखमणपारणगंसि सालइएणं० जाव ववरोविए, उच्चावयाहिं अक्कोसणाहिं अक्कोसंति, उच्चा–वयाहिं उद्धंसणाहिं उद्धंसेंति, उच्चावयाहिं निब्भत्थणाहिं निब्भत्थेंति, उच्चावयाहिं निच्छूहणाहिं निच्छूहें ति, उच्चावयाहिं निच्छोडणाहिं निच्छोडें ति, तज्जेंति, तालेति, तज्जित्ता तालित्ता साओ गिहाओ निब्भच्छें ति। तए णं सा नागसिरी माहणी सयाओ गिहाओ निच्छूढा समाणी चंपाए नयरीए सिंघाडग–तिगचउक्कचच्चरचउम्मुहेसु बहुजणेणं हीलिज्जमाणी खिंसिज्ज–माणी निंदिज्जमाणी गरहिज्जमाणी तज्जिज्जमाणी तालिज्जमाणी वहिज्जमाणी पव्वहिज्जमाणी धिक्कारिज्जमाणी थुक्कारिज्जमाणी कत्थइ वि ठाणं वा निलयं वा अलभमाणी दंडिखंडनिवसणा खंडमल्लयखंडघडगहत्थगया फुट्टहडाहडसीमा मच्छिया–चडगरेणं अण्णिज्जमग्गा०जाव गेहे गेहे णं देहंबलियाए वित्तिं कप्पेमाणी विहरति। तए णं तीसे नागसिरीए माहणीए तब्भ–वंसि चेव सोलस रोगायंका पाउब्भूया। तं जहा–''सासे १ खासे २ जरे ३ दाहे ४, कुच्छिसूले ५ भगंदरे ६। अरसा ७ जोणिसूले ८०जाव कोढे १६।'' तए णं सा नागसिरी माहणी सोलसहिं रोगायंकेहिं अभिभूया समाणी अट्टदुहट्टवसट्टा कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं बावीसं सागरो–वमट्ठितीए नेरइयत्ताए उववण्णा। सा णं तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता मच्छेसु उववण्णा। तत्थ णं सत्थवज्झा दाहवक्कंतीए कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईए

नेरइयत्ताए उववण्णा। सा णं तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता दोच्चं पि मच्छेसु उववज्जति। तत्थ वि य णं सत्थवज्झा दाहवक्कंतीए दोच्चं पि अहे सत्तमाए पुढवीए उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु उववज्जति। सा णं तओहिंतो०जाव उव्वट्टित्ता तच्चं पि मच्छेसु उववण्णा। तत्थ वि य णं सत्थवज्झा० जाव कालमासे कालं किच्चा दोच्चं पि छट्ठाए पुढवीए उक्कोसेणं, तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता उरगेसु, एवं जहा गोसालो पुढवीसु तहा नेयव्वं०जाव रयणप्पभाओ सत्तसु उव वण्णा, तओ उव्वट्टित्ता सण्णीसु उववण्णा, तओ उव्वट्टित्ता जाइं इमाइं खहयरविहाणाइं०जाव अदुत्तरं च णं खरबायरपुढविकाइयत्ताएसु अणेगसयसहस्सखुत्तो, सा णं तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चंपाए नयरीए सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स भद्दाए भारियाए कुच्छिंसि दारियत्ताए पयाया।

इदं सर्वं सुगमम्। नवरं (सालइयं ति) शारदिकं, सारेण वा रसेन चितं युक्तम्--सारचितम्, (तित्तालाउयं ति) कटुकतुम्बकम्, (बहुसंभारसंजुत्तं) बहुभिः संभारद्रव्यैरुपरि प्रक्षेपद्रव्यैस्त्वगेलाप्रभृतिभिः संयुक्तं यत्तत्था, स्नेहावगाढं स्नेहव्याप्तम्। (दूभगसत्ताए त्ति) दुर्भगः सत्त्वः प्राणी यस्याः सा तथा। (दूभगनिंबोलियाए त्ति) निम्बगुलिकेव निम्बफलमिव अत्यनादेयत्वसाधर्म्याद् दुर्भगानां मध्ये निम्बगुलिका दुर्भगनिम्बगुलिका। अथवा--दुर्भगानां मध्ये निम्बोलिता निर्गलिता दुर्भगनिम्बोलिता, (जाउयाउ त्ति) देवराणां जाया भार्या इत्यर्थः। (बिलमिवेत्यादि) बिले इव रन्ध्रे इव पन्नगभूतेन सर्पकल्पेन आत्मना करणभूतेन सर्वं तदलाबु शरीरकोष्ठकेन प्रक्षिपति। यथा किल बिले सर्प आत्मानं प्रक्षिपति प्रवेशयति पार्श्वान् असंस्पृशन्, एवमसौ वदनकन्दरपार्श्वान् असंस्पृशन्नाहारेण तदसंचारणतस्तदलाबु जठरबिले प्रवेशितवानिति भावः। (गमणागमणाए पडिक्कमंति त्ति) गमनागमनामीर्यापथिकीम्, (उच्चावयाहिं ति) असमञ्जसाभिः (अक्कोसणाहिं ति) मृताऽसि त्वमित्यादिभिर्वचनैः(उर्द्धसणाहिं ति) दुष्कुलीनेत्यादिभिः कुलाऽऽद्यभिमानपातनार्थैः(निच्छूहणाहिं ति) निःसराऽस्मद्गेहादित्यादिभिः (निच्छोडणाहिं ति) त्यजास्मदीयं वस्त्राऽऽदीत्यादिभिः(तज्जेंति त्ति) ज्ञास्यसि पापे ! इत्यादिभणनतः। (तालिंति त्ति) चपेटाऽऽदिभिः। हील्यमाना जात्युद्घट्टनेन, खिंस्यमाना परोक्षकुत्सनेन, निन्द्यमाना मनसा जनेन, गर्ह्यमाणा तत्समक्षमेव, तर्ज्यमाना अङ्गुलीचालनेन ज्ञास्यसि पापे ! इत्यादिभणनतः। प्रव्यथ्यमाना यष्ट्यादिताडनेन, धिक्कियमाणा धिक् शब्दविषयीक्रियमाणा, एवं थूत्क्रियमाणा, दण्डिकृतसंधानं जीर्णवस्त्रं, तस्य खण्डं निवसनं परिधानं यस्याः सा तथा, खण्डमल्लकं खण्डशरावं भिक्षाभाजनं, खण्डघटकं च पानीयभाजनं, तौ हस्तयोर्गतौ यस्याः सा तथा। (फुट्ठं ति) स्फुटितं स्फुटितकेशसंचयत्वेन विकीर्णकेशं,(हडाहडं ति) अत्यर्थं, शीर्षं शिरो यस्याः सा तथा। मक्षिकाचटकरेण मक्षिकासमुदायेन, अन्वीयमानमार्गा अनुगम्यमानमार्गा, मलाविलं हि वस्तु मक्षिकाभिर्वेष्ट्यत एवेति। देहबलिमित्येतदव्याख्यानं देहबलिका, तया,अनुस्वरो नैपातिकः। (सत्थवज्झ त्ति) शस्त्रवध्या, जातेति गम्यते। (दाह--वक्कंतीए त्ति) दाहव्युत्क्रान्त्या दाहोत्पत्त्या, ''खहयरविहाणाइं०जाव अदुत्तरं च'' इत्यत्र गोशालकाध्ययनसमानं सूत्रं तत एव दृश्यं, बहुत्वात् तु न लिखितम्।

तए णं सा भद्दा सत्थवाही नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं० जाव दारियं पयाया सुकुमालकोमलियगयतालुयसमाणा, तीसे णं दारियाए निव्वत्ताए बारसाहियाए अम्मापियरो इमं एयारूवं गोणं गुणनिप्फन्नं नामधेज्जं करेंति--जम्हा णं एसा दारिया सुकुमालगयतालुयसमाणा, तं होऊणं अम्हं इमीसे दारियाए नामधेज्जं सुकुमालिया। तए णं तीसे दारियाए अम्मापियरो णामधेज्जं करेंति सुकुमालिय त्ति। तए णं सा सुकुमालिया दारिया पंचधाईपरिग्गहिया। तं जहा--खीरधाईए, मज्जणधाईए, मंडणधाईए, अंकधाईए, कीलावणधाईए, गिरिकंदरमल्लीणा इव चंपगलया णिव्वाया निव्वाघायंसि०जाव परिवड्ढइ। तए णं सा सुकुमालिया दारिया उम्मुक्कबालभावा रूवेण य जोव्व--णेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा जाया आवि होत्था। तत्थ णं चंपाए णयरीए जिणदत्ते णामं सत्थवाहे परिवसइ अड्ढे। तस्स णं जिणदत्तस्स भद्दा भारिया सुकुमाला इट्ठा०जाव माणुस्सए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणा विहरति। तस्स णं जिणदत्तस्स पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए सागरए णामं दारए सुकुमाले० जाव सुरूवे। तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे अण्णया कयाइ सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स अदूरसामंतेण वीतीवयति, इमं च णं सुकुमालिया दारिया ण्हाया चेडियासंपरिवुडा उप्पिं आगा--सतलगंसि कणगमइतंदुसएणं कीलमाणी कीलमाणी विहरति। तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे सुकुमालियं दारियं पासइ, पासइत्ता सुकुमालियाए दारियाए रूवेण य जायविम्हए कोडुं--बियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी--एस णं देवाणु--प्पिया! कस्स दारिया, किं णामधेज्जं? तए णं से कोडुंबियपुरिसा जिणदत्तेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ करयल०जाव एवं वयासी एस णं देवाणुप्पिया! सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स धूया भद्दाए अत्तए सुकुमालिया णामं दारिया सुकुमालपाणि०जाव उक्किट्ठा। तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे तेसिं कोडुंबियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा जेणेव सए गेहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ताण्हाए मित्तनातिसद्धिं संपरिवुडे चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहे तेणेव उवाए। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे जिणदत्तं सत्थवाहं

एज्जमाणं पासति, पासइत्ता आसणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेत्ता आसणेणं उवनिमंतेति, उवनिमंतेता आसत्थं वीसत्थं सुहासणवरगयं जिणदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी–भणदेवाणुप्पिया! किमागमणप्पओयणं ? तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे सागरदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी–एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! तव धूयं भद्दाए अत्तयं सुकुमालियं सागरदत्तस्स भारियत्ताए वरेमि, जइ णं जाणह देवाणुप्पिया ! जुत्तं वा पत्तं वा सलाहणिज्जं वा सरिसो वा संजोगो, तो दिज्जउ णं सुकुमालिया दारिया सागरस्स दारगस्स, तए णं देवाणुप्पिया ! भणकिं दलयामो सुक्कं सुकुमालियाए? तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे जिणदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! सुकुमालिया दारिया एगा जाया इट्ठा०५ जाव किमंग ! पुण पासणयाए, तं नो खलु अहं इच्छामि सुकुमालियाए दारियाए खणमवि विप्पओगं, तं जइ णं देवाणुप्पिया ! सागरए दारए ममं घरजामाउए भवइ, तो णं अहं सागरस्स दारगस्स सुकुमालियं दारियं दलयामि ? तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे सागरदत्तेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ते समाणे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सागरं दारयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–एवं खलु पुत्ता? सागरदत्ते सत्थवाहे ममं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! सुकुमालिया दारिया इट्ठा५, तं जइ णं सागरए दारए ममं घरजामाउए भवति०जाव दलयामि । तए णं से सागरए दारए जिणदत्तेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे अण्णया कयाइ सोहणंसि तिहिकरणे विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेति, उवक्खडावेत्ता मित्तनाइं आमंतेति, आमंतेत्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता सागरं दारयं ण्हायं०जाव सव्वालंकारविभूसियं करेति, करेत्ता पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूहावेति, दुरूहावेत्ता मित्तनाइ०जाव परिवुडे सव्विड्ढीए साओ गिहाओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता चंपा नगरिं जेणेव सागरदत्तस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सीयाओ पच्चोरुहेति, पच्चोरुहेत्ता सागरं दारगं सागरदत्तस्स उवणेइ। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेत्ता०जाव सम्माणेत्ता सागरं दारगं सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं पट्टयं दुरूहावेति, दुरूहावेत्ता सेयापीतएहिं कलसेहिं मज्जावेति, मज्जावेत्ता होमं कारावेति, कारावेत्ता सागरदत्तं दारयं सुकुमालियाए दारियाए पाणिं गिण्हावेइ। तए णं सागरए दारए सुकुमालियाए दारियाए इमं एयारूवं पाणिफासं पडिसंवेदेति–से जहाणामए असिपत्तेइ वा०जाव मुम्मुरेइ वा, एत्तो अणिट्ठतराए चेव पाणिफासं संवेदेति। तए णं से सागरदारए अकामए अवसवसे मुहुत्तमेत्तं संचिट्ठेति। तए णं सागरदत्ते सत्थवाहे सागरस्स दारयस्स अम्मापियरो मित्तणाइं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं पुप्फवत्थ०जाव सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ । तए णं सागरए दारए सुकुमालियाए सद्धिं जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छेत्ता सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं तलिमंसि निवज्जइ । तए णं से सागरए दारए सुकुमालियाए दारियाए इमं एयारूवं अंगफासं संवेदेति–से जहाणामए असिपत्तेइ वा०जाव अमणामतराए चेव अंगफासं पच्चणुब्भवमाणे विहरति । तए णं तं सागरदारए अंगफासं असहमाणे अवसवसे मुहुत्तमेत्तं संचिट्ठति। तए णं सागरए दारए सुकुमालियं सुहपसुत्तं जाणेत्ता सुकुमालियाए दारियाए पासाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सयणीयंसि निवज्जइ। तए णं सुकुमालिया दारिया तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धा समाणी पतिव्वया पतिमणुरत्ता पतिं पासे अपासमाणी तलिमाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सागरस्स दारगस्स पासे णिवज्जति। तए णं से सागरए दारए सुकुमालियाए दारियाए दोच्चं पि इमं एयारूवं अंगफासं पडिसंवेदेति–से जहाणामए असिपत्तेइ वा० जाव अमणामतराए चेव अंगफासं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ । तए णं सागरए दारए तं अंगफासं असहमाणे अकाममाणे अवसवसे मुहुत्तमेत्तं संचिट्ठति। तए णं सागरए दारए सुकुमालियं दारियं सुहपसुत्तं जाणेत्ता सयणिज्जाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता वासघरस्स दारं विहाडेति, विहाडेत्ता मारामुक्के विव कागए जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तए णं सुकुमालिया दारिया तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धा पतिव्वया० जाव अपासमाणी सयणिज्जाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता सागरस्स दारयस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणी करेमाणी वासघरस्स दारं विहाडियं पासति, पासेत्ता एवं वयासी–गए णं से सागरए दारए त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पा० जाव झियायति । तए णं सा भद्दा सत्थवाही कल्लं पाउ० दासचेडी सद्दावेति सद्दावेत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! बा मुहधोवणियं उवणेहि। तए णं सा दासचेडी भद्दा एवं वुत्ता समाणी एयमट्ठं तह त्ति पडिसुणेति, प

धोवणियं गिण्हेइ, गिण्हेत्ता जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुकुमालियं दारियं०जाव झियायमाणिं पासेति, पासेत्ता एवं वयासी–किं णं तुमं देवाणुप्पिए ! ओहयमण०जाव झियाहि ? तए णं सा सुकुमालिया दारिया तं दासचेडियं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया!सागरए दारए ममं सुहपसुत्तं जाणित्ता मम पासाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता वासघरदुवारं अवगुणेति, अवगुणेत्ता०जाव पडिगए, तए णं अहं मुहुत्तंतरस्स०जाव दारं विहाडियं पासामि, गए णं से सागरए त्ति कट्टु ओहयमण०जाव झियामि। तए णं सा दासचेडी सुकुमालियाए दारियाए एयमट्ठं सोच्चा जेणेव सागरदत्ते सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सागरदत्तस्स एयमट्ठं निवेदेति। तए णं से सागरदत्ते दासचेडीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते० ५ जेणेव जिणदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जिणदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी–किं णं देवाणुप्पिया ! एवं जुत्तं वा पत्तं वा कुलाणुरूवं वा कुलसरिसं वा, जं णं सागरए दारए सुकुमालियं दारियं अदिट्ठदोसवडियं विप्पजहाय इहमागए, बहूहिं खिज्जणियाहि य रुंटणियाहि य उवालभति। तए णं जिणदत्ते सत्थवाहे सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं सोच्चा जेणेव सागरए दारए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता सागरं दारयं एवं वयासी–दुट्ठु णं पुत्ता ! तुमे कयं, सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहाओ इह हव्वमागए, तेणं तं गच्छह णं तुमं पुत्ता ! एवमवि गए सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहे। तए णं से सागरए जिणदत्तं सत्थवाहं एवं बयासी–अवियाइं अहं ताओ गिरिपडणं वा तरुपडणं वा मरुप्पवायं वा जलप्पवेसं वा जलणप्पवेसं वा विसभक्खणं वा वेहाणसं वा सत्थावाडणं वा गिद्धपट्ठं वा पव्वज्जं वा विदेसगमणं वा अब्भुवगच्छेज्जामि, नो खलु अहं सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहं गच्छेज्जामि। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे कुडुंतरिए सागरस्स एयमट्ठं निसामेति, लज्जिए विले पविट्ठे विव जिणदत्तस्स गिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सए गेहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुकुमालियं दारियं सद्दावेति, सद्दावेत्ता अंके निवेसेति, णिवेसेत्ता एवं वयासी–किं णं तव पुत्ता ! सागरएणं दारएणं मुक्का, अहं णं तुमं तस्स दाहामि, जस्स णं तुमं इट्ठा०जाव मणाभिरामा भविस्ससि त्ति सुकुमालियं दारियं ताहिं इट्ठाहिं० जाव बहूहिं वग्गूहिं समासासेइ, समाससित्ता पडिविसज्जेति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे अण्णया उप्पिं आगासतलगंसि सुहनिसन्ने रायमग्गं अवलोएमाणे अवलोएमाणे चिट्ठति। तए णं सागरदत्ते सत्थवाहे एगं महं दमगपुरिसं पासति दंडखंडनि–वसणं खंडमल्लगखंडघडहत्थगयं मच्छियासहस्सेहिं०जाव अणिज्जमाणमग्गं। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–तुब्भे णं देवाणुप्पिया! एतं दमगं पुरिसं विउलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलोभेह, पडिलोभेत्ता गिहं अणुप्पवेसेह, अणुप्पवेसेत्ता खंडमल्लगं खंडघडगं च से एगंते पाडेह, पाडेत्ता अलंकारियकम्मं करेह, करेत्ता ण्हायं कयवलिकम्मं०जाव विभूसियं करेह, करेत्ता मणुण्णं असणं पाणं खाइमं साइमं भोयावेह, भोयावेत्ता ममं अंतियं उवणेह। तए णं से कोडुंबियपुरिसा०जाव पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता जेणेव से दमगपुरिसे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तं दमगं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलोभेति, सयं गिहं अणुप्पवेसंति, अणुप्पवेसेत्ता तं खंडमल्लगं खंडघडगं च तस्स दमगपुरिसस्स एगंते पाडेंति। तए णं से दमगपुरिसे तंसि खंडमल्लगंसि खंडघडगंसि य पाडिज्जमाणंसि महया महया सद्देणं आरसति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे तस्स दमगपुरिसस्स तं महया महया आरसियसद्दं सोच्चा णिसम्म (तए णं) सागरदत्ते कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी–किं णं देवाणुप्पिया ! एस दमगपुरिसे महया महया सद्देणं आरसति? तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तं सागरदत्तं सत्थवाहं एवं बयासी–एस णं सामी ! तंसि खंडमल्लगंसि खंडघडगंसि य पाडिज्जमाणसि महया महया सद्देणं आरसति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे तं कोडुंबियपुरिसं एवं वयासीमा णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! एयस्स दमगपरिसस्स तं खंडमल्लगं०जाव पाडेइ, पासे ठवेह, जहा णं पत्तियं भवति। ते वि तहेव ठवेंति, ठवेत्ता तस्स दमगस्स पुरिसस्स अंलकारियं कम्मं करेंति, करेत्ता सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भिंगेंति, अब्भिंगिए समाणे सुरभिणा गंधुव्वट्टणएणं गायं उव्वट्टंति, उसिणोदगगंधोदगेणं ण्हाएंति, सीओदगेणं ण्हावेंति, ण्हावेत्ता पम्हलसुकुमालाए गंधकासाइए गायाइं लूहें ति, लूहेत्ता हंसलक्खणपडलामगं परिहिंति, परिहित्ता सव्वालंकारविभूसियं करेंति, करेत्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं भोयावेंति, भोयावेत्ता सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स उवणेंति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे सुकुमालियं दारियं ण्हायं०जाव सव्वालंकारविभूसियं करेत्ता तं दमगपुरिसं एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया ! मम धूया

इट्ठा एयं णं अहं तव भारियत्ताए दलामि, भद्दियाए भद्दं भवेज्जामि। तए णं से दमगपुरिसे सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं वासघरं अणुप्पविसति, सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं तलिमंसि निवज्जति। तए णं से दमग पुरिसे सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं इमेयारूवं अंगफासं पडिसंवेदेति, सेसं जहा सागरस्स०जाव सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेत्ता वासघराओ णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता खंडमल्लगं खंडघडगं च गहाय मारामुक्के विव कागए जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं सा सुकुमालिया दारिया०जाव गए णं से दमगपुरिसे त्ति कट्टु ओहयमण०जाव झियायति। तए णं सा भद्दा कल्लं पाउब्भूया दासचेडिं सद्दावेति, सद्दावेत्ता०जाव सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं निवेदेति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे तहेव संभंते समाणे जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुकुमालियं दारियं अंके निवेसेइ, निवेसेत्ता एवं बयासी–अहो णं तुमं पुत्ता ! पुरा पुराणाणं० जाव पच्चणुब्भवमाणी विहरसि, तं मा णं तुमं पुत्ता ! ओहयमण०जाव झियाहि, तुमं णं पुत्ता ! मम महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं जहा पोट्टिला० जाव परिभाएमाणी विहराहि। तए णं सा सुकुमालिया दारिया एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं० जाव दलमाणी विहरति।

सुकुमालके कोमले काममत्यर्थं गजतालुकसमाना, गजतालुकं ह्यस्यर्थं च सुकुमालं भवतीति। ''जुत्तं वेत्यादि'' युक्तं संगतं (पत्तं ति) प्राप्तं प्राप्तकालं, पात्रं वा गुणानामेष पुत्रः। श्लाघनीयं वा, सदृशो वा संयोगो विवाह्ययोरिति। ''से जहानामए असिपत्तेइ वा'' इत्यत्र यावत्करणादिदं द्रष्टव्यम्– ''करपत्तेइ वा खुरपत्तेइ वा कलंबचीरिकापत्तेइ वा सत्तिअग्गेइ वा कोंतग्गेइ वा तोमरग्गेइ वा भिंडिमालग्गेइ वा सूचिकलावएइ वा विच्छुयकडेइ वा कविकच्छूइ वा इंगालेइ वा मुंमुरेइ वा अचीइ वा जालेइ वा अलाएइ वा सुद्धागणीइ वा भवे एयारूवे। नो इणट्ठे समट्ठे। एत्तो अणिट्ठतराए चेव अकंततराए चेव, अप्पियतराए चेव, अमणुण्णतराए चेव, अमणामतराए चेव त्ति।'' तत्रालिपत्रं खड्गः, करपत्रं ककचं, क्षुरपत्रं छुरः, कदम्बचीरिकाऽऽदीनि लोकरूढ्याऽवसेयानि, वृश्चिककण्टकः, कपिकच्छूः खर्जूकारी वनस्पतिविशेषः, अङ्गारो विज्वरो विज्वालोऽग्निकणः, मुम्मुरोऽग्निकणमिश्रं भस्म, अर्विरिन्धनप्रतिबद्धा ज्वाला, ज्वाला तु इन्धनच्छिन्ना, अलातमुल्मुकं, शुद्धाग्निरयस्पिण्डान्तर्गतोऽग्निरिति। (अकामए त्ति) अकामको निरभिलाषः। (अवसवसे त्ति) अपस्ववशः, अपगतात्मा तन्त्रत्वे इत्यर्थः। (तलिमंसि निवज्जइ ति) तल्पे शयनीये निषद्यते, (पइंवय ति) पति भर्तारं व्रतयति तमेवाभिगच्छामीत्येवं नियमं करोतीति। पतिव्रता पतिमनुरक्ता भर्तारं प्रति रागवतीति। (मारामुक्के विवकागए त्ति) मार्यन्ते प्राणिनो यस्यां शालायां सा मारा शूना, तस्या मुक्तो यः स मारामुक्तो, माराद्वा मरणान्मारकपुरुषाद्वा मुक्तो विच्छुट्टितः, काको वायसः। (बहुवरस्स त्ति) बधूश्च वरश्च वधूवरं, तस्य, (कुलाणुरूवं ति) कुलोचितं, वणिजां वाणिज्यमिव (कुलसरिसं ति) श्रीमद्वणिजां रत्न वाणिज्यमिव (अदिट्ठदोसवडियं ति) न दृष्टे उपलभ्यस्वरूपे दोषे दूषणे पतिता समापन्ना अदृष्टदोषपतिता तां (खिज्जणियाहिं ति) खेदक्रियाभिः, रुण्टनिकाभिः रुदितक्रियाभिः, (मरुप्पवायं व त्ति) निर्जलदेशे प्रपातं (सत्थावाडणं ति) शस्त्रेणावपाटनं विदारणमात्मन इत्यर्थः। (गिद्धपट्ठं ति) गृध्रस्पृष्टं गृध्रैः स्पर्शनं कलेवराणां मध्ये निधत्य गृध्रैरात्मनो भक्षणमित्यर्थः। (अब्भुवगच्छेज्जामि त्ति) अभ्युपैमि। ''पुरापुराणाणं'' इत्यत्र यावत्करणादेवं द्रष्टव्यम्–''दुचिण्णाणं दुप्पडिकंताणं कडाणं पावाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिं विसेसं ति।'' अयमर्थः– पुरा पूर्वं भवे पुराणानामतीतकालभाविनां तथा दुश्चीर्णं दुश्चरितं मृषावादनपारदारिकाऽऽदि, तद्धेतुकानि कर्म्माण्यपि दुश्चीर्णानि व्यपदिश्यन्ते अतस्तेषामेव दुष्पराक्रान्तं प्राणिघातादज्ञापहाराऽऽदिकृतानां प्रकृत्यादिभेदेन, पुराशब्दस्येह संबन्धः पापानामपुण्यरूपाणां कर्म्मणां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनां पापकर्म अशुभं फलवृत्तिविशेषम्, उदयवर्तनभेदं प्रत्यनुभवन्ती विहरसि वर्तसे।

तेणं कालेणं तेणं समएणं गोवालियाओ अज्जाओ बहुस्सुयाओ एवं जहेव तेयलिनाए सुव्वयाओ, तहेव समोसढाओ, तहेव संघाडओ०जाव गिहं अणुप्पविट्ठो, तहेव० जाव सुकुमालिया पडिलाभेइ, पडिलाभेत्ता एवं बयासी–एवं खलु अज्जाओ ! अहं सागरस्स दारगस्स अणिट्ठ०जाव अमणामा, णेच्छइ णं सागरदारए मम नामं वा०जाव परिभोगं वा, जस्स जस्स वि य णं दिज्जामि तस्स तस्स वि य णं अणिट्ठ०जाव अमणामा भवामि, तुब्भे य णं अज्जाओ बहुणायाओ, एवं जहा पोट्टिला० जाव उवलद्धे, जेणं अहं सागरदारगस्स इट्ठा कंता०जाव भवेज्जामि। अज्जाओ तहेव भणंति, तहेव साविया जाया, तहेव चिंता, तहेव सागरदत्तं सत्थवाहं आपुच्छति, आपुच्छित्ता० जाव गोवालियाणं अज्जाणं अंतियं पव्वइया। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा जाया इरियासमिया०जाव गुत्तबंभयारिणी बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठम०जाव विहरति। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा अण्णया कयाइं जेणेव गोवालियाओ अज्जाओ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वंदति, नमंसति, नमंसित्ता एवं बयासी–इच्छामि णं अज्जा ! तुम्हेहिं अब्भणुण्णाया समाणी चंपाए णयरीए बाहिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंतेणं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं सूराभिमुही आयावेमाणी विहरित्तए। तए णं ताओ गोवालि–

याओ अज्जाओ सुकुमालियं अज्जं एवं बयासी–अम्हे णं अज्जो ! समणीओ निग्गंथीओ इरियासमियाओ०जाव गुत्तबंभयारिणीओ, नो खलु अम्हं कप्पति बहिया गामस्स वा०जाव सण्णिवेसस्स वा०जाव छट्ठं छट्ठेणं०जाव विहरित्तए, कप्पति णं अम्हं अंतो उवस्सयस्स वत्तिपरिक्खित्तस्स संघाडिबद्धियाए णं समतलपइयाए आयावित्तए। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा गोवालियाए अज्जाए एयमट्ठं नो सद्दहति, नो पत्तियति, नो रोवेति, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते छट्ठं छट्ठेणं०जाव विहरति। तत्थ णं चंपाए नयरीए ललियनामं गोट्ठी परिवसइ, नरवइदिन्नवियारा अम्मापिई नियगनिप्पिवासा वेसविहारकयणिकेया णाणाविहअविणयप्पहाणा अड्ढा०जाव अपरिभूया। तत्थ णं चंपाए णयरीए देवदत्ता णामं गणिया होत्था सुकुमाला जहा अंडणा। तए णं तीसे ललियए गोट्ठीए अण्णया कयाइ पंच गोट्ठिलगपुरिसा देवदत्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणसिरिं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। तत्थ णं एगे गोट्ठिल्लपुरिसे देवदत्तं गणियं उच्छंगे धरेइ, एगे पुरिसे पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ, एगे पुरिसे पुप्फपूरियं रयति, एगे पुरिसे पाए रएइ, एगे पुरिसे चामरुक्खेवं करेति। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा देवदत्तं गणियं तेहिं पंचहिं गोट्ठिल्लपुरिसेहिं सद्धिं उरालेहिं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी पासति, पासेत्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था–अहो णं इमा इत्थिया पुरा पोराणाणं०जाव विहरति। तं जइ णं मे इमस्स सुचरियस्स तवनियमबंभचेरवासस्स कलाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तो णं अहमवि आगमिस्सेणं भवग्गहणेणं इमेयारूवाइं उरालाइं माणुस्सगाइं०जाव विहरेज्जामि त्ति कट्टु णियाणं करेइ, करेत्ता आयावणभूमीए पच्चोरुहइ। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा सरीरपाउसिया जाया यावि होत्था। अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवेइ, अभि०२ पाए धोवेइ, अभि०२ सीसं धोवेइ, अभि०२ मुहं धोवेइ, अभि०२ थणंतराइं धोवेइ, अभि०२ कक्खंतराइं धोवेति, अभि०२ गुज्झंतराइं धोवेति। जत्थ णं ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ, तत्थ वि य णं पुव्वामेव उदएणं अब्भुक्खित्ता तओ पच्छा ठाणं वा सिज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ। तए णं ताओ गोवालियाओ अज्जाओ सुकुमालियं अज्जं एवं बयासी–एवं खलु अज्जे ! अम्हे समणीओ निग्गंथीओ इरियासमियाओ०जाव बंभचेरधारिणीओ, नो खलु कप्पति अम्हं सरीरपाउसियाए होत्तए, तुमं च णं अज्जे ! सरीरपाउसिया अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवेसि०जाव चेतेसि, तं तुमं णं देवाणुप्पिया ! एयस्स ठाणस्स आलोएहि०जाव पडिवज्जाहि। तए णं सुकुमालिया अज्जा गोवालियाणं अज्जाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा नो आढाइ, नो परियाणइ, अणाढाइमाणा अपरिजाणमाणा विहरति। तए णं ताओ अज्जाओ सुकुमालियं अज्जं अभिक्खणं अभिक्खणं हीलेति०जाव परिभवंति, अभिक्खणं अभिक्खणं एयमट्ठं निवारेति। तए णं तीसे सुकुमालियाए अज्जाए समणीहिं निग्गंथीहिं हीलिज्जमाणीए०जाव वारिज्जमाणीए इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था–जया णं अहं अगारमज्झे वसामि, तया णं अहं अप्पवसा, जया णं अहं मुंडा पव्वइया, तया णं अहं परवसा, पुव्विं च णं मम समणीओ आढंति, इयाणिं तु नो आढंति, तं सेयं खलु ममं कल्लं पाउब्भूया गोवालियाणं अज्जाणं अंतियाओ पडिणिक्खमेत्ता पाडिएक्कं उवस्सयं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता कल्लं गोवालियाणं अज्जाणं अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता पाडिएक्कं उवस्सयं उवसंपज्जित्ता णं विहरति। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा अणाहट्टिया अणिवारिया सच्छंदमई अभिक्खणं अभि–क्खणं हत्थं धोवति०जाव चेएति। तत्थ वि य णं पसत्था पासत्थविहारिणी ओसण्णा ओसण्णविहारिणी कुसीला कुसीलविहारिणी संसत्ता संसत्तविहारिणी बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे अण्णयरंसि विमाणंसि देवगणियत्ताए उववण्णा। तत्थेगइयाणं देवीणं नवपलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता। तत्थ णं सुकुमालियाए देवीए नवपलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता। तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे पंचालेसु जणवएसु कंपिल्लपुरे णामं णयरे होत्था। वण्णओ। तत्थ णं दुवए णामं राया होत्था। वण्णओ। तस्स णं दुवयस्स रण्णो चुलणी णामं देवी होत्था, सुकुमाला०जाव सुरूवा। तस्स णं दुवयस्स रण्णो पुत्ते चुलणीए देवीए अत्तए धट्ठज्जुणे णामं कुमारे जुवराया होत्था। तए णं सा सुकुमालिया देवी ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे पंचालेसु जणवएसु कंपिल्लपुरे नगरे दुवयस्सरण्णे चुलणीए देवी कुच्छिंसि दारियत्ताए पयाया। तए णं सा चुलणी देवी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणं राइंदियाणं वइक्कंताणं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरं दारियं पयाया। तए णं

तीसे दारियाए निव्वत्ते वारसाहिए दिवसे इमं एयारूवं णामं, जम्हा णं एसा दारिया दुवयस्स रण्णो धूया, चुलणीए देवीए अत्तया, तं होऊणं अम्हं इमीसे दारियाए णामधिज्जं दोवई। तए णं तीसे अम्मापियरो इमं एयारूवं गोणं गुणनिप्फन्नं णामधेज्जं करिंति दोवई। तए णं सा दोवई दारिया पंचधाईपरिग्गहिया। तं जहा–खीरधाईए, अंकधाईए, मंडणधाईए, कीलावणधाईए, मज्जणधाईए। गिरिकंदरमल्लीणा इव चंपगलया णिवाया निव्वाघायंसि सुहं सुहेणं परिवड्ढइ। तए णं सा दोवई रायवर-कण्णा उम्मुक्कबालभावा०जाव उक्किट्ठसरीरा जाया यावि होत्था। तए णं सा दोवई रायवरकण्णया अण्णया कयाइं अंतेउरियाओ ण्हायं०जाव विभूसियं करेति, दुवयस्स रन्नो पायवंदियं पेसेइ। तए णं सा दोवई रायवरकण्णा जेणेव दुवए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता दुवयस्स रण्णो पायग्गहणं करेति। तए णं से दुवए राया दोवइं दारियं अंके निवेसेति, दोवईए रायवरकण्णाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य जायविम्हए दोवइं रायवरकण्णं एवं बयासी–जत्थ णं अहं तुमं पुत्ता! रायस्स वा जुवरायस्स वा भारियत्ताए सयमेव दलइस्सामि, तत्थ णं तुमं दुहिया वा सुहिया वा भवेज्जासि? तए णं ममं जावज्जीवाए हिययदाहे भविस्सति; तं णं अहं पुत्ता! अज्जयाइ सयंवरं रयामि, अज्जो! पाएणं तुमं दिण्णसयंवरा, जं णं तुमं सयमेव रायं जुवरायं वा वरेहिसि, से णं तव भत्तारे भविस्सइ त्ति कट्टु ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं०जाव आसासेइ, पडिविसज्जेति। तए णं से दुवए राया दूयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं बयासी–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! बारवइं णगरिं, तत्थ णं तुमं कण्हं वासुदेवं समुद्द-विजयपामोक्खं दसदसारे बलदेवपामुक्खं पंचमहावीरे उग्गसेणपामोक्खे सोलस रायसहस्से पज्जुण्णपामोक्खाओ अद्धट्ठाओ कुमारकोडीओ संबपामोक्खाओ सट्ठिं दुद्दंतसाह-स्सीओ वीरसेणपाडुक्खाओ एक्कवीसं वीरपुरिससाहस्सीओ महसेणपामुक्खाओ छप्पण्णं बलवगसाहस्सीओ अण्णे य बहवे राईसरतलवरमाडंवियकोडुंबियइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाह-प्पभिइओ करयलपरिग्गहियं दसण्हं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं बद्धावेहि, बद्धावेत्ता एवं बयाहि–एवं खलु देवाणुप्पिया! कंपिल्लपुरे नगरे दुवयस्स रण्णो धूयाए चुलणीए देवीए अत्तयाए धट्ठज्जुणकुमारस्स भगिणीए दोवईए रायवर-कण्णाए सयंवरे भविस्सइ, तं णं तुब्भे दुवयं रायं अणुगिण्हमाणा अकालपरिहीणा चेव कंपिल्लपुरे णगरे समोसरह। तए णं से दूए करयल०जाव कट्टु दुवयस्स रण्णो एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं बयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह०जाव उवट्ठवेति। तए णं से दूए ण्हाए०जाव सस्सिरीए चाउग्घंटं आसरहं दुरूहति, दुरूहइत्ता बहूहिं पुरिसेहिं सन्नद्धबद्ध०जाव गहियाउहपहरणेहिं सद्धिं संपरिवुडे कंपिल्लपुरं णगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता पंचालजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव देसप्पंते तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता सुरट्ठजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव बारवती णगरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता बारवइं नगरिं मज्झं मज्झेणं अणुप्पविसति, जेणेव कण्हस्स वासुदेवस्स बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चाउग्घंटं आसरहं ठवेति, ठवेत्ता रहाओ पच्चोरुहेइ, मणुस्सवग्गुरापरिक्खित्ते पायचारविहारेणं जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता कण्हं वासुदेवं समुद्दविजय-पाडुक्खे य दसदसारे०जाव बलवगसा–हस्सीओ करयल०तं चेव०जाव समोसरह। तए णं से कण्हे वासुदेवे तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए तं दूयं सक्कारेइ, सक्कारित्ता संमाणेइ, संमाणित्ता पडिविसज्जेइ। तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! सभाए सुहम्माए सामुदाणियं भेरिं तालेहि। तए णं से कोडुंबियपुरिसे करयल०जाव कण्हस्स वासुदेवस्स एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता जेणेव सभाए सुहम्माए सामुदाणिया भेरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सामुदाणियं भेरिं महया महया सद्देणं तालेइ। तए णं ताए सामुदाणियाए भेरीए तालियाए समाणीए समुद्दविजयपामुक्खा दस दसारा०जाव महसेणपामुक्खाओ छप्पन्नं च बलवगसाहस्सीओ ण्हाया०जाव विभूसिया जहा–विभवं इड्ढिसक्कारसमुदएणं अप्पेगइया हयगयगया, अप्पेगइया ०जाव पायविहारचारेणं जेणेव कण्हे वासुदेव तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल०जाव कण्हं वासुदेवं जएणं विजएणं बद्धावेंति। तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं बयासीखिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! अभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह, हयगय०जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ससुत्तजालाउलाभिरामे०जाव अंजणगिरिकूड सण्णिभं गयवरं नरवई दुरूढेइ। तए णं से कण्हे वासुदेवे समुद्दविजयपाडोक्खेहिं दसदसारेहिं ०जाव अणंगसेणपामो क्खाहिं अणेगाहिं गणिया-साहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्वड्ढीए०जाव रवेणं बारवइं णगरिं म--

ज्झं मज्झेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता सुरट्ठजणवयस्स म-ज्झं मज्झेणं जेणेव देसप्पंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइ-त्ता पंचालजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव कंपिल्लपुरे णगरे तेणेव पहारेत्थगमणाए १। तण णं से दुवए राया दोच्चं दूयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं बयासी–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! हत्थिणापुरं णयरं, तत्थ णं तुमं पंडुरायं सपुत्तयं जुहिट्ठिल्लं भीमसेणं अज्जुणं नउलं सहदेवं दुज्जोहणं भायसयसमग्गं गंगेयं विदुरं दोणं जयद्दहं सउणं कीवं अस्सत्थामं करयल०जाव कट्टु तहेव०जाव समोसरह। तए णं से दूए एवं बयासी जहा वासुदेवे, णवरं भेरी नत्थि०जाव जेणेव कंपिल्लपुरे णगरे तेणेव पहारे-त्थगमणाए २। एएणेव कमेणं तच्चं दूयं चंपं नयरिं, तत्थ णं तुमं कण्णं अंगरायं सल्लनंदिरायं करयल०तहेव ०जाव समोसरह ३। चउत्थं दूयं सोत्थिमइं णगरिं, तत्थ णं तुमं सिसुपालं दमघोससुयं पंचभाइसयं संपरिवुडं करयल०तहेव०जाव समोसरह ४। पंचमं दूयं हत्थिसीसं णयरं, तत्थ णं तुमं दमदंतं रायं करयल०जाव समोसरह ५। छट्ठं दूयं महुरिं नगरिं, तत्थ णं तुमं धरराया करयल०जाव समोसरह ६। सत्तमं दूयं रायगिहं णगरं, तत्थ णं तुमं सहदेवं जरासंधसुयं करयल०जाव समोसरह ७। अट्ठमं दूयं कोडिण्णं णगरं, तत्थ णं तुमं रुप्पिं भीसगसुयं करयल०तहेव ०जाव समोसरह ८। नवमं दूयं विराडं णगरं, तत्थ णं तुमं कीयगं भाउयसयसमग्गंकरयल० जाव समोसरह ९। दसमं दूयं अवसेसेसु गामागरणगरेसु अणेगाइं रायसहस्साइं०जाव समोसरह १०। तए णं से दूए तहेव णिग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता जेणेव गामागरणगर०जाव समोसरइ। तए णं ताइं अणेगाइं रायसहस्साइं तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा तं दूयं सक्कारेति, संमाणेति, संमाणेत्ता पडिविसज्जेति। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा बहवे रायसहस्सा पत्तेयं पत्तेयं ण्हाया सण्णद्धबद्धहत्थिखंधवरगया हयगयर-हभडचडगरपहरक ० सएहिं २ णगरेहिंतो अभिणिग्गच्छंति, अभिणिग्गच्छंतित्ता जेणेव पंचाले जणवए तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तए णं से दुवए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं बयासीगच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! कंपिल्लपुरे णगरे बहिया गंगाए महानदीए अदूरसामंतेणं एगं महयं सयंवरमंडवं करेह अणेगखंभस–यसंनिविट्ठं लीलट्ठियसालि-भंजियागं०जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से दुवए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं बयासी– खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! वासुदेवपामुक्खाणं बहूणं रायसहस्साणं आवासे करेह, ते वि करेत्ता पच्चप्पिणंति। तए णं से दुवए राया वासुदेव पामुक्खाणं बहूणं रायसहस्सा– णं आगमणं जाणेत्ता पत्तेयं पत्तेयं ०जाव हत्थिखंध० जाव सद्धिं संपरिवुडे अग्घं च पज्जं च गहाय सव्वड्ढीए कंपिल्लपुराओ णयराओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता जेणेव ते वासुदेवपामोक्खा बहवे रायसहस्सा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ताइं वासुदेवपामुक्खाइं अग्घेण य पज्जेण य सक्कारेति, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता तेसिं वासुदेवपामुक्खाणं पत्तेयं पत्तेयं आवासे वियरति। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा जेणेव सयाइं सयाइं आवासाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता हत्थिखंधाहिंतो पच्चोरुहंति, पत्तेयं पत्तेयं खंधावारनिवेसं करेंति, करेत्ता सएसु सएसु आवासेसु अणुप्पविसंति, सएसु सएसु आवासेसु य आसणेसु य सण्णिसण्णा य संतुट्ठा य बहूहिं गंधव्वेहि य णाडएहि य उवगिज्जमाणा य उवगिज्जमाणा य विहरंति। तए णं से दुवए राया कंपिल्लपुरं नगरं अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेति, उवक्खडावेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं बयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च मज्जं च मंसं च सीधुं च पसण्णं च सुबहुं पुप्फवत्थ-गंधमल्लालंकारं च वासुदेवपामोक्खाणं रायसहस्साणं आवासेसु साहरह, ते वि साहरंति। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं०जाव पसण्णं च आसाएमाणा०४जाव विहरंति। जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा आयंता चोक्खा०जाव सुहासणवरगया ण बहूहिं गंधव्वेहि य०जाव विहरंति। तए णं से दुवए राया पुव्वावरण्ह-कालसमयंसि कोडुं–बियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं बयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! कंपिल्लपुरं णयरं सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरम–हापहेसु वासुदेवपाडोक्खाण य रायसहस्साणं आवासेसु हत्थिखंधवरगया महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं बयह–एवं खलु देवाणुप्पिया! कल्लं पाउप्पभाए दुवयस्स रण्णो धूयाए चुलणीए देवीए अत्तयाए धट्ठज्जुणस्स भगिणीए दोवईए रायवरकण्णाए सयंवरे भविस्सइ, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया! दुवयं रायाणं अणुगिण्ह-माणा ण्हाया ०जाव विभूसिया हत्थिखंधवरगया सकोरंट-मल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं महया हयगयरह भडचडगरेणं०जाव परिक्खित्ता जेणेव सयंवरे मंडवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पत्तेयं पत्तेयं नामंकेसु आसणेसु निसीयह, दोवइं रायवरकन्नं पडिवालेमाणा पडिवालेमाणा

चिट्ठह, घोसणं घोसेह, मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तहेव पच्चप्पिणंति । तए णं से दुवए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सयंवरमंडवं आसियं संमज्जितोवलित्तं सुगंध–वरगंधियं पंचवण्णपुप्फोवयारकलियं कालागुरुपवरकुंदुरुक्क–तुरुक्क०जाव गंधवट्टियभूयं मंवाइमंचकलियं करेह, करेत्ता वासुदेवपामोक्खाणं बहूणं रायवरसहस्साणं पत्तेयं पत्तेयं नामंकियाइं आसणाइं सेयवत्थपच्चुयाइं रएहि, रएत्ता एयमा–णत्तियं पच्चप्पिणह, ते वि तहेव० जाव पच्चप्पिणंति । तए णं ते वासुदेवपामोक्खा बहवे रायाणो कल्लं पाउप्पभाए ण्हाया० जाव विभूसिया हत्थिखंधवरगया सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणेहिं महया हयगयर–हभडचडगरेणं सद्धिं संपरिवुडा सव्वड्ढीए०जाव रवेणं जेणेव सयंवरमंडवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता सयंवरं अणु–प्पविसंति, अणुप्पविसइत्ता पत्तेयं२ नामंकिएसु आसणेसु निसीयंति, णिसीयंतित्ता दुवयरायवरकण्णं पडिवालेमाणा चिट्ठंति । तए णं से दुवए राया कल्लं पाउप्पभाए ण्हाया०जाव विभूसिए हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्ज–माणेणं सेयवरचामरेहिं उद्धुव्वमाणेहिं महया हयगय०जाव सद्धिं संपडिवुडे कंपिल्लपुरं णगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता जेणेव सयंवरमंडवे जेणेव वासुदेवपामोक्खा बहवे रायवरसहस्सा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेसिं वासुदेवपामोक्खाणं करयल०जाव बद्धावेइ, बद्धावेत्ता कण्हस्स वासुदेवस्स सेयवरचामरं गहाय उववीयमाणे उववी–यमाणे चिट्ठति । तए णं सा दोवई रायवरकण्णा कल्लं पाउप्प–भाए जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मज्जण–वरं अणुपपविसति, अणुप्पविसइत्ता ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पा वेसाइं मंगलाइं पवरव–त्थपरिहिया सव्वालंकारविभूसिया मज्जणघराओ पडिनिक्ख–मइ, पडिनिक्खमेत्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवा–गच्छइत्ता जिणघरं अणुप्पविसति,अणुप्पविसइत्ता जिणपडि–माणं आलोए पणामं करेइ, करेत्ता लोमहत्थगं परामुसइ, परामुसइत्ता एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेति, तहेव भाणियव्वं०जाव धूवं डहति।

(कप्पति णं अम्हं इत्यादि) ''अम्हं ति'' अस्माकं मते, प्रव्रजिताया इति गम्यते। अन्तर्मध्ये उपाश्रयस्य वसतेर्वृत्तिपरिक्षिप्तस्य, परेषामना-लोकनत इत्यर्थः। संघाटी निर्ग्रन्थिकाप्रच्छदविशेषः, सा बद्धा निवेशिता, काये इति गम्यते। यया सा संघाटीबद्धिका, तस्याः, णमित्यलङ्कारे, समतले द्वयोरपि भुवि विन्यस्तत्वात्पदे पादौ यस्याः सा समतलपदिका, तस्याः, आतापयितुमातापनां कर्तुं, कल्पत इति योगः। (ललिय त्ति) क्रीडाप्रधाना (गोट्ठि त्ति) जनस्य समुदायविशेषः। (नरवइदिन्नवियार त्ति) नृपानुज्ञातक्रमचारा (अम्मापीइंनिययनिप्पिवास त्ति) मात्रादि-निरपेक्षा (वेसवि–हारकयनिकेय त्ति) वेश्याविहारेषु वेश्यामन्दिरेषु कृतो निकेतो निवासो यया सा तथा।(णाणाविहअविणयप्पहाणा) इति कण्ठ्यम्। (पुप्फपूरियं रसइ त्ति) पुष्पशेखरं करोति। (पाए रएइ त्ति) पादावलक्तकाऽऽदिना रञ्जयति। पाठान्तरे– ''रोवेइ त्ति'' धूतज–लाभ्यामार्द्रयति। (सरीरवाउसिय त्ति) वकुशः शबलचारित्रः, स च शरीरस्य उपकरणतश्चेत्युक्तं, शरीरवकुशा तद्विभूषाऽनुवर्तिनीति। (ठाणं ति) कायोत्सर्गस्थानं निषदनस्थानं वा शय्यां त्वग्वर्तनं नैषेधिकीं स्वाध्यायभूमिं चिन्तयति करोति। ''आलोएहि० जाव'' इत्यत्र यावत्करणात्–''निंदाहि गरिहाहि पडिक्कमाहि विउट्टाहि विसोहेहि अकरणयाए अब्भुट्ठेहि अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जाहि।'' इति दृश्यमिति। तत्राऽऽलोचनं गुरोर्निवेदनं, निन्दनं पश्चात्तापो, गर्हणं गुरुसमक्षं निन्दनमेव, प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतदानलक्षणम्, अकृत्या-न्निवर्तनं वा। विशोधनं व्रतानां पुनर्नवीकरणं, शेषं कण्ठ्यमिति। (पाडिएक्कं ति) पृथक् (अणाहट्टिय त्ति) अविद्यमा-नोपघट्टको यदृच्छया प्रवर्तमानाया हस्तपादादिना निवर्तको यस्याः सा तथा। तथा नास्ति निवारको मैवं कार्षीरित्येवं निषेधको यस्याः सा तथा। (अज्जयाए त्ति) अद्यप्रभृति (अग्घं व त्ति) अर्घः पुष्पाऽऽदीनि पूजाद्रव्याणि, (पज्जं व त्ति) पादहितं पाद्यं, पादप्रक्षालनस्नेहनो–द्वर्तनाऽऽदि। मद्यमधुप्रसन्नाऽऽख्याः सुराभेदा एव। (जिणपडिमाणं अच्चणं करेइ त्ति) कस्याश्चिद् वाचनायामेतावदेव दृश्यते। वाचनान्तरेऽत्र तु–''ण्हाया०जाव सव्वालंकारविभूसिया मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता जिणघरं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसइत्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता लोमहत्थगं परामुसइ, परामुसइत्ता एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेति, तहेव भाणियव्वं०जाव धूवं डहइ त्ति।'' इह यावत्करणादर्थत इदं दृश्यम्–लोमहस्तकेन जिनप्रतिमां प्रमार्ष्टि, सुरभिणा गन्धोदकेन स्नपयति, गोशीर्षचन्दनेनानुलिम्पति, वस्त्राणि निवासयति, ततः पुष्पाणां माल्यानां, ग्रथितानामित्यर्थः। गन्धानां चूर्णानां, वस्त्राणामाभरणानां वाऽऽरोपणं करोति स्म, मालाकलापाव-लम्बनं पुष्पप्रकरं, तन्दुलैर्दर्पणाऽऽद्यष्ट मङ्गलकाले रचनं करोति।

डहइत्ता वामं जाणुं अंचेति, अंचेत्ता दाहिणं जाणुं धरणि-तलंसि णिसीयइ, णिसीयइत्ता तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ, निवेसेत्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमइत्ता करयल ०जाव कट्टु एव बयासीनमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आदिगराणं तित्थगराणं सयं संबुद्धाणं०जाव ठाणं संपत्ताणं वंदइ, नमंसइ, वंदित्तार णमंसित्ता जिणघराओ पडिणि-क्खमति, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव अंतेउरे तेणेव उवागच्छइ। तए णं तं दोवइरायवरकण्णं अंतेउरियाओ सव्वालंकार–

विभूसियं करेंति, किं ते वरपायपत्तनेउर०जाव चेडियाचक्क-वालमयहरगइंदपरिक्खित्त अंतेउराओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव चाउग्घंटे आभरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता किड्डावि-याए लेहियाए सद्धिं चाउग्घंटं आसरहं दुरूहति। तए णं से धट्ठज्जुणे कुन्पारे दोवईए रायवरकन्नाए सारत्थयं करेति। तए णं सा दोवई रायवरकण्णा कंपिल्लपुरं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सयंवरमंडवे तेणेव उवागच्छइ, उवगच्छइत्ता रहं ठवेइ, ठवेत्ता रहाओ पच्चोरुहति, पच्चोरुहइत्ता किड्डावियाए लेहियाए सद्धिं सयंवरमंडवं अणुप्पविसति, अणुप्पविसइत्ता करयल०तेसिं वासुदेवपामोक्खाणं बहूणं रायवरसहस्साणं पणामं करेति। तए णं सा दोवई रायवरकण्णा एगं महं सिरिदामगंडं, किं ते पाडलमल्लियं चंपय०जाव सत्तच्छयाईहिं गंधड्ढणिम्मुयंतं परमसुहफासं दरिसणिज्जं गिण्हति। तए णं सा किड्डाविया सु-रूवा०जाव वामहत्थेणं चिल्लगं दप्पणं गहेऊण सा सललियं दप्पणसंकंतबिंबदंसिए य से दाहिणेणं हत्थेणं दरिसेइ पवर-रायसीहे फुडविसयविसुद्धरिभियगंभीरमहुरभणिया सा तेसिं सव्वेसिं पत्थिवाणं अम्मापिउणं वंससत्तसामत्थगोत्तविक्कंति-कंतिबहुविहआगममाहप्परूव (जोव्वणगुणलावण्ण) कुल-सीलजाणिया कित्तणं करेति, पढमं च ताव वण्हिपुंगवाणं दसारवरवीरपुरिसाणं तिल्लोक्कबलवगाणं सत्तुसयसहस्साणं माणोवमद्दगाणं भवसिद्धियवरपुंडरीयाणं चिल्लगाणं बलवी-रियरूवजोव्वणगुणलावण्णकित्तिया कित्तणं करेति। ततो पुणो उग्गसेणमाईणं जायवाणं जाणइ य सोहग्गरूवकलियवरेहिं वरपुरिसगंधहत्थीणं जो हु ते होइ हियइच्छिओ। तए णं सा दोवई रायवरकण्णगा बहूणं रायवरसहस्साणं मज्झं मज्झेणं समइत्थमाणी समइत्थमाणी पुव्वकयणियाणेणं चोइज्जमाणी चोइज्जमाणी जेणेव पंच पंडवा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेपंचपंडवे तेणं दसद्धवण्णेणं कुसुमदामेणं आवेढियपरिवेढियं करेति, करेत्ता एवं बयासी-एए णं मए पंच पंडवा वरिया। तए णं ताइं वासुदेवपामोक्खाणि बहूणि णयसहस्साणि महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयंतिसुवरियं खलु भो दोवईए रायवरकण्णाए त्ति कट्टु सयंवरमंडवाओ पडिणि-क्खमंति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सयाइं आवासे तेणेव उवा-गच्छंति। तए णं धट्ठज्जुणे कुमारे पंचपंडवे दोवइं च रायवरकण्णं चाउग्घंटं आसरहं दुरूहेति, दुरूहेत्ता कंपिल्लपुरं मज्झं मज्झेण०जाव सयं भवणं अणुप्पविसति। तए णं दुवए राया पंचपंडवे दोव विं च रायवरकण्णं पट्टे दुरूहति, दुरूहित्ता सेयापीएहिं कलसेहिं मज्जावेति, मज्जावेत्ता अग्गिहोमं करेति, करेत्ता पंचण्हं पंडवाणं दोवईए य पाणिग्गहणं कारावेइ। तए णं से दुवए राया दोवईए रायवरकण्णाए इमं एयारूवं पीइदाणं दलयति। तं जहा-अट्ठ हिरण्णकोडीओ०जाव अट्ठ पेसण-कारीओ, अट्ठ दासीचेडीओ, अण्णं च विपुलं धणकणग०जाव दलयति। तए णं से दुवए राया ताइं वासुदेवपामोक्खाइं विउलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं वत्थगंध०जाव पडिविसज्जेति। तए णं से पंडुए राया तेसिं वासुदेवपामु क्खाणं बहूणं रायसहस्साणं करयल०जाव एवं बयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! हत्थिणा-उरे णगरे पंचण्हं पंडवाणं दोवईए देवीए कल्लाणकरे भविस्सति, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया! ममं अणुगिण्हमाणा समोसरह। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा पत्तेयं पत्तेयं०जाव पहारेत्थगमणाए। तए णं से पंडुए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरे णगरे पंचण्हं पंडवाणं पंच पासायवडिंसए करेह, अब्भुग्गयभूसिय० वण्णओ०जाव पडिरूवे। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा पडिसुणें ति०जाव कारावेंति। तए णं से पंडुए राया पंचहिं पंडवेहिं दोवईए देवीए सद्धिं हयगयरहसंपरिवुडे कंपिल्लपुराओ पडिणिक्ख-मति, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव हत्थिणाउरे तेणेव उवागए। तए णं से पंडुए राया तेसिं वासुदेवपामुक्खाणं आगमणं जाणेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं बयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरस्स णयरस्स बहिया वासुदेवपामु-क्खाण बहूणं रायसहस्साणं आवासे करेह, अणेगखंभसय० तहेव०जाव पच्चप्पिणंति। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा बहवे रायसहस्सा हत्थिणाउरे णयरे तेणेव उवागच्छंति। तए णं से पंडुए राया ते वासुदेवपामु क्खा०जाव आगए जाणेत्ता हट्ठतुट्ठे ण्हाए कयबलिकम्मे जहा दुवए राया जहारिहं आवासे दलयति। तए णं ते वासुदेवपामु क्खा बहवे रायसहस्सा जेणेव सयाइं आवासाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता तहेव०जाव विहरंति। तए णं से पंडुए राया हत्थिणाउरं णयरं मज्झं मज्झेणं अणुप्पविसइ, अणुप्प-विसइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं बयासी-तुब्भे णं देवाणुप्पिया! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं तहेव०जाव उवणेंति। तए णं ते वासुदेव-पामुक्खा बहवे राया ण्हाया कयबलिकम्मा तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं तहेव०जाव विहरंति। तए णं से पंडुए राया ते पंचपंडवे दोवइं च देविं पट्टयं दुरूहति, सेयापीएहिं कलसे-हिं ण्हावेति, कल्लाणकं करेति, करेत्ता ते वासुदेवपामोक्खे

बहवे रायसहस्से विउलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पुप्फवत्थ० सक्कारेति, संमाणेति, सम्माणेत्ता०जाव पडिविसज्जेति। तए णं ताइं वासुदेवपामुक्खाइं बहूइं रायाइं०जाव पडिगयाइं। तए णं ते पंच पंडवा दोवईए देवीए सद्धिं कल्लाकल्लिं वारंवारेणं उरालाइं भोगभोगाइं०जाव विहरंति। तए णं से पंडुए राया अण्णया कयाइ पंचहिं पंडवेहिं कुंती देवी दोवईए देवीए सद्धिं अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडा सीहासणवरगया विहरति। इमं च णं कच्छुल्लए नारए दंसणेणं अइभद्दए विणीए अंतो अंतो य कलुसहियए मज्झत्थउवत्थिए य अल्लीणसोम्मपियदंसणे सुरूवे अमइलसगलपरिहिए कालमियचम्मउत्तरासंगरइयवच्छे दंडकमंडलुहत्थे जडामउडदित्तसिरए जण्णोवइयगणेत्तियभुं-जमेहलवागलधरे हत्थकयकच्छभीए पियगंधव्वे धरणिगो-यरप्पहाणे संवरणावरणि उयवयणुप्पयणिलेसिणीसु य संकामणिआभिओगपण्णत्तिगमणीथंभणीसु य बहुसु विज्जाह-रीसु विज्जासु विस्सुयजसे इट्ठे रामस्स य केसवस्स य पज्जुण्न-पईवसंब अनिरुद्धनिसढउस्सुयसारणगयसुमुहदुम्मुहाईणं जायवाणं अद्धट्ठाण य कुमारकोडीणं हिययदइए संथवए कल-हजुद्धकोलाहलप्पिए भंडणाभिलासी बहुसु अ समरेसु य संपराएसु दंसणरए समंतओ कलहं सदक्खिणं अणुगवेसमाणे असमाहिकरे दसारवरवीर पुरिसतेलोक्कबलवगाणं आमंतेऊणं तं भगवइं एक्कमणिं गगणगमणदच्छं उप्पइणियं आवाहइत्ता गगणतलमभिलंघयंतो गामागरनगरखेडकव्वडमडंबदोणमु-हपट्टणसंवाहसहस्समंडियं थिडियमेइणीयं णिब्भयजणपदं वसुहं ओलोइंतो रम्मं हत्थिणाउरं णयरं उवागए, पंडुरायभव-णंसि अइवेगेणं समोवयइ। तए णं से पंडुराया कच्छुल्लनारयं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता पंचहिं पंडवेहिं कुंतीए देवीए सद्धिं आसणाओ अब्भुट्ठेति, कच्छुल्लनारयं सत्तट्ठपयाइं पच्चुग्ग-च्छइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता महरिहेणं आसणेणं उवनिमंतेति। तए णं से कच्छुल्लनारए उदगपरिपोसियाए दब्भोवरि पव्वत्थयाए भिसियाए निसीयति, निसीयइत्ता पंडुरायं रज्जे य०जाव अंतेउरे य कुसलोदंतं पुच्छति। तए णं से पंडुए राया कुंती देवी पंच य पंडवा कच्छुल्लनारयं आढंति०जाव पज्जुवासंति। तए णं सा दोवई देवी कच्छुल्लनारयं आसंजय अविरय अप्पडि-हयअपच्चक्खायपावकम्मे त्ति कट्टु नो आढाति०जाव णो पज्जु-वासति। तए णं तस्स कच्छुल्लनारयस्स इमेयारूवे अब्भत्थि-ए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था—अहो णं दोवई देवी रूवेण य०जाव लावण्णेण य पंचहिं पंडवेहिं अवदट्ठा समाणी मम णो आढाति०जाव नो पज्जुवासति, तं सेयं खलु ममं दोवईए देवीए विप्पियं करित्तए ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता पंडुराय आपुच्छति, आपुच्छइत्ता उप्पयणियं विज्जं आवाहेइ। ताए उक्किट्ठाए०जाव विज्जाहरगइए लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं पुरत्थाभिमुहे वीईवयइ, उवयत्ते यावि होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं धायईसंडे दीवे पुरच्छिमड्ढदाहिणड्ढभरहवासे अवरकंका नामं रायहाणी होत्था। तत्थ णं अवरकंकाए राय-हाणीए पउमणाभे णामं राया होत्था महया हिमवंतवण्णओ। तस्स णं पउमणाभस्स रण्णो सत्त देवीसयाइं अवरोधे होत्था। तस्स णं पउमनाभस्स रण्णो पुत्ते सुणाभे णामं पुत्ते जुवराया वि होत्था। तए णं से पउमणाभे राया अंतेउरंसि अवरोधे संपरि-वुडे सीहासणवरगए विहरति। तए णं से कच्छुल्लनारए जेणेव अवरकंका रायहाणी जेणेव पउमनाभस्स रण्णो भवणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पउमणाभस्स रण्णो भवणंसि झ त्ति वेगेणं समोवइए। तए णं से पउमनाभे राया कच्छुल्लनारयं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता आसणाओ अब्भुट्ठेति, अग्घेणं० जाव आसणेणं उवनिमंतेइ। तए णं से कच्छुल्लनारए उदग-परिपोसियाए दब्भोवरि पव्वत्थयाए भिसियाए निसीयइ०जाव कुसलोदंतं आपुच्छति। तए णं से पउमनाभे राया णियओरोहे जायविम्हए कच्छुल्लनारयं एवं बयासी—तुमं देवाणुप्पिया! बहूणि गामाणि०जाव गिहाइं अणुप्पविससि, तं अत्थियाइं ते कहिं वि देवाणुप्पिया! एरिसए ओरोधे दिट्ठपुव्वे, जारिसए णं मम अवरोधे? तए णं से कच्छुल्लनारए पउमेणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे ईसिं विहसियं करेति, करेत्ता एवं बयासी—सरिसेणं तुमं पउमनाभा! तस्स अगडदद्दुरस्स। के णं देवाणुप्पिया! से अगडदद्दुरे? एवं बयासी। जहा मल्लिणाए। एवं खलु देवाणु-प्पिया! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे णयरे दुवयस्स रण्णो धूया चुलणीए देवीए अत्तया पंडुस्स सुण्हा पंचण्हं पंडवाणं भारिया दोवई णामं देवी रूवेण य०जाव उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा, दोवईए देवीए छिन्नस्स वि पायंगुट्ठस्स अयं तव अवरोहे सयमं कलं ण अग्घइ त्ति कट्टु पउमणाभं रायं आपुच्छति, आपुच्छइत्ता ०जाव पडिगए। तए णं से पउमणाभे राया कच्छुल्लनारयअंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म दोवईए देवीए रूवे य लावण्णे य जोव्वणे य मुच्छिए गिद्धे जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पोसहसालं०जाव तं पुव्वसंगइयं देवं एवं बयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे णयरे०जाव सरीरा, तं इच्छामि णं देवाणुप्पि-

या ! दोवइं देविं इह हव्वमाणीयं । तए णं पुव्वसंगइए देवे पउमणाभं एवं बयासीनो खलु देवाणुप्पिया ! एयं भूयं वा, एयं भव्वं वा, एयं भविस्सं वा, जं णं दोवई देवी पंचपडवे मोत्तूण अण्णेणं पुरिसेणं सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं०जाव विहरिस्सइ, तहा विय णं अहं तव पीइट्ठाए दोवइं देविं इह हव्वमाणेमि त्ति कट्टु पउमणाभं आपुच्छइ, ताए उक्किट्ठाए०जाव लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं जेणेव हत्थिणाउरे नगरे तेणेव पहारेत्थगमणाए । तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिणाउरे नयरे जुहिट्ठिल्ले राया दोवईए देवीए सद्धिं उप्पिं आगासतलंसि सुहपसुत्ते यावि होत्था। तए णं से पुव्वसंगइए देवे जेणेव जुहिट्ठिल्ले राया जेणेव दोवई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता दोवईए देवीए सोवणिं दलयइ, दलयित्ता दोवइं देविं गेण्हइ, गेण्हइत्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव जेणेव अवरकंका रायहाणी जेणेव पउमणाभस्स भवणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पउमणाभस्स भवणंसि असोगवणियाए दोवइं देविं ठावेइ, सोवणिं अवहरति, जेणेव पउमणाभे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं बयासी– एस णं देवाणुप्पिया ! मए हत्थिणाउराओ णयराओ दोवई देवी इह हव्वमाणीया तव असोगवणियाए चिट्ठति,अओ परं तुमं जाणासि त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं सा दोवई देवी तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धा समाणी तं भवणं असोगवणियं च अपच्चइं जाणमाणी एवं बयासी– नो खलु अम्हं इमे सए पासाए, णो खलु एसा अम्हं सगा असोग–वणिया, तं ण णज्जति णं अहं केणइ देवेण वा दाणवेण वा किण्णरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण वा अण्णस्स रण्णो असोगवणियं साहरिय त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पा० जाव झियायति । तए णं से पउमणाभे राया ण्हाए०जाव सव्वालंकारविभूसिए अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे जेणेव असोग–वणिया जेणेव दोवई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता दोवइं देविं ओहय०जाव झियायमाणिं पासइ, पासइत्ता एवं बयासी– किं णं तुमं देवाणुप्पिए ! ओहय०जाव झियाहि, एवं खलु तुमं देवाणुप्पिया ! ममं पुव्वसंगइएणं देवेणं जंबुद्दीवाओ भारहाओ वासाओ हत्थिणाउराओ णयराओ जुहिट्ठिल्लस्स रण्णो भवणाओ साहरिया, तं मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! ओहय० जाव झियाहि, तुमं णं मए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं०जाव विहराहि । तए णं सा दोवई देवी पउमणाभं रायं एवं बयासी– एवं खलु देवाणुप्पिया ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वारवईए नयरीए कण्हे णामं वासुदेवे मम पियाभाउए परिवसइ, तं जइ णं से छण्हं मासाणं मम कूवं नो हव्वमागच्छति, तए णं अहं देवाणुप्पिया ! जं तुमं वदसि तस्स आणाउवायवयणणिद्देसे चिट्ठिस्सामि । तए णं से पउमणाभे दोवईए देवीए एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता दोवइं देविं कण्णंतेउरे ठवेति । तए णं सा दोवई देवी छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं आयंबिलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणी विहरइ । तए णं से जुहिट्ठिल्ले राया तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धे समाणे दोवइं देविं पासे अपासमाणे सयणिज्जाओ उट्ठेइ, उट्ठेत्ता दोवईए देवीए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ, दोवईए देवीए कत्थइ सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा अलभमाणे जेणेव पंडुराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पंडुरायं एवं बयासी–एवं खलु ताओ ! ममं आगासतलगंसि सुहपसुत्तस्स पासाओ दोवईए देवीए ण णज्जति– केणइ देवेण वा दाणवेण वा किंपुरिसेण वा किन्नरेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण वा हिया वा, णीया वा, उक्खित्ता वा, तं इच्छामि णं ताओ ! दोवईए देवीए सव्वओ समंता मग्गण–गवेसणं करित्तए । तए णं से पंडुराया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं बयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! हत्थि–णाउरे नगरे सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरमहापहपहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं बयह–एवं खलु देवाणु–प्पिया! जुहिट्ठिल्लस्स रण्णो आगासतलगंसि सुहपसुत्तस्स पासाओ दोवई देवी ण णज्जइ केणइ देवेण वा दाणवेण वा किंपुरिसेण वा किन्नरेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण वा हिया वा णीया वा उक्खित्ता वा ।

(वामं जाणुं अंचेइ त्ति) उत्क्षिपतीत्यर्थः । (दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निहट्टु) निहत्य, स्थापयित्वेत्यर्थः । (तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ) निवेशयतीत्यर्थः । (ईसिं पच्चुण्णमति, पच्चुण्णमइत्ता करयल-परिग्गहियं अंजलिं मत्थए कट्टु एवं बयासीनमोऽत्थु णं अरहंताणं०जाव संपत्ताणं वंदति, नमंसइ, णमंसइत्ता जिणघराओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता।'' तत्र वन्दति चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन,नमस्यति पश्चात्प्रणिधानाऽऽदियोगेनेति वृद्धाः । न च द्रौपद्याः प्रणिपातदण्डकमात्रं चैत्यवन्दनमभिहितम्, सूचनात् सूत्र इति सूत्रप्रामाण्यादन्यस्यापि श्रावकाऽऽ-देस्तावदेव तदिति मन्तव्यम्। चरितानुवादरूपत्वादस्य। न च चरितानुवादवचनानि विधिनिषेधसाधकानि भवन्ति, अन्यथा सूर्याभाऽऽ-दिदेववक्तव्यतायां बहूनां शस्त्राऽऽदिवस्तूनामर्चनं श्रूयत इति तदपि विधेयं स्यात्। किं चाविरतानां प्रणिपातदण्डकमात्रमपि चैत्यवंदनं संभाव्यते, यतो वन्दते, नमस्यतीतिपद्वयस्य वृद्धान्तरव्याख्यानमेवमुपदर्शितं जीवाभिग-मवृत्तिकृता । विरतिमतामेव प्रसिद्धचैत्यवन्दनविधिर्भवति, अन्येषां तथाऽभ्युपगमपुरस्सरकायोत्सर्गासिद्धेः। ततो वन्दते सामान्येन, नमस्करोति आशयवृद्धेः प्रीत्युत्थानरूपनमस्कारेणेति। किं च–''समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वयं हवति जम्हा । अंतो अहो निसिस्स य, तम्हा आव–

स्सयं नाम ॥१॥'' तथा– ''जं णं समणो वा समणी वा सावओ वा साविआ वा तच्चित्ते तल्लेस्से तम्मणे उभओ कालं आवस्सए चिट्ठंति, तं णं लोउत्तरियए भावावस्सए।'' इत्यादेरनुयोगद्वारवचनात्। तथा सम्यग्दर्शनसंपन्नः प्रवचनभक्तिमान् षड्विधाऽऽवश्यकनिरतः षट्रथानकयुक्तश्च श्रावको भवतीत्युमास्वातिवाचकवचनात् श्रावकस्य षड्विधाऽऽवश्यकसिद्धावावश्यकान्तर्गतप्रसिद्धं चैत्यवन्दनं सिद्धमेव भवतीति। (सारत्थयं ति) सारथ्यं सारथिकर्म ''तए णं सा किड्डाविया'' इत्यादौ यावत्करणादेवं दृश्यम्– ''साभावियघस्सं चोद्दहजणस्स ऊसुयकरं विचित्तमणिरयणबद्धछरुअं ति।'' तत्र क्रीडापिका क्रीडनधात्री, (साभावियघस्सं ति) स्वाभाविकोऽकैतवकृतो घर्षो घर्षणं यस्य स तथा तं, दर्पणमिति योगः। (चोद्दहजणस्स ऊसुयकरं ति) तरुणलोकस्य औत्सुक्यकरं प्रेक्षणलम्पटत्वकरं (विचित्तमणिरयणबद्धछरुअं ति) विचित्रमणिरत्नैर्बद्धः छरुको मुष्टिग्रहणस्थानं यः स तथा तं (चिल्लगं) दीप्यमानं, दर्पणमादर्शम् (दप्पणसंकंतबिंबसंदंसिए से त्ति) दर्पणे संक्रान्तानि यानि राज्ञां बिम्बानि प्रतिबिम्बानि तैः संदर्शिता उपलम्भिता ये ते तथा ताँश्च (से) तस्याः दक्षिणहस्तेन दर्शयति स्म, द्रौपद्या इति प्रक्रमः। प्रवरराजसिंहान्, स्फुटमर्थतो विशदं, वर्णतः विशुद्धं, शब्दार्थदोषरहितं, रिभितं स्वरघोलनाप्रकारोपेतं, गम्भीरं मेघशब्दवद् मधुरकर्णसुखकरं, भणितं भाषितं यस्याः क्रीडापिकायाः सा तथा तम्, तथा (तेषां) मातापितरौ वंशाऽऽदिकं हरिवंशाऽऽदिकं, सत्त्वमापत्स्यवक्लव्यकरमध्यवसानकरं च। सामर्थ्यं बलं, गोत्रं गौतमगोत्राऽऽदि, विक्रान्तिं विक्रमं, कान्तिं प्रभां, पाठान्तरेण कीर्तिं वा प्रख्यातिं, बहुविधाऽऽगमं नानाविधशास्त्रविशारदतामित्यर्थः, माहात्म्यं महानुभावतां, कुलं वंशस्यावान्तरभेदं, शीलं च स्वभावं जानाति, या सा तथा, कीर्तनं करोतीत्येति। वृष्णिपुङ्गवानां यदुप्रधानानां दशाराणां समुद्रविजयाऽऽदीनां, दशारस्य वा वासुदेवस्य ये वरा वीराश्च पुरुषास्ते तथा, ते च ते त्रैलोक्येऽपि बलवन्तश्चेति विग्रहः। वीरास्तेषां शत्रुशतसहस्राणां रिपुलक्षाणां मानमर्दन्ति ये ते तथा तेषां, तथा भविष्यतीति भवा भाविनी सा सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिकास्तेषां मध्ये वरपुण्डरीकाणीव वरपुण्डरीकाणि ये ते तथा तेषाम् (चिल्लगाणं ति) दीप्यमानानां तेजसा। तथा–बलं शारीरं, वीर्यं जीवप्रभवं, रूपं शरीरसौन्दर्यं, यौवनं तारुण्यं, गुणान् सौन्दर्याऽऽदीन्, लावण्यं च स्पृहणीयतां कीर्तयति या सा तथा, क्रीडापिका कीर्तनं करोतीत्येति पूर्वोक्तमपि किञ्चिद्विशेषाभिधानायाभिहितमिति न दुष्टम्। (समइत्थमाणी ति) समतिक्रामन्ती (दसद्धवण्णेणं ति) इह श्रीदामगण्डेन पूर्वगृहीतेनेति सम्बन्धनीयम्। (कल्लाणकरे त्ति) कल्याणकरणं मङ्गलकरणमित्यर्थः। (इमं च णं ति) इतश्च (कच्छुल्लए नारए त्ति) एतन्नामा तापसः। इह क्वचिद् यावत्करणादिदं दृश्यम्–''दंसणेणं अइभद्दए'' भद्रदर्शनमित्यर्थः। (विणीए अंतो अंतो य कलुसहियए) अन्तराऽन्तरा दुष्टचित्तः, केलीप्रियत्वादित्यर्थः। (मज्झत्थउवत्थिए य त्ति) माध्यस्थ्यं समतामभ्युपगतो, व्रतग्रहणत इति भावः। (अल्लीणसोम्मपियदंसणे सुरूवे) आलीनानामाश्रितानां सौम्यमरौद्रं प्रियं च दर्शनं यस्य स तथा। (अम–इलसगलपरिहिए) अमलिनं सकलमखण्डं, शकलं वा खण्डं, वल्कवास इति गम्यते। परिहितं निवसितं येन स तथा। (कालमियचम्मउत्तरासंगरइयवच्छे) कालमृगचर्म उत्तरासङ्गेन रचितं वक्षसि येन स तथा। (दंडकमंडलुहत्थ जडामउडदित्तसिरए जण्णोवइयगणेत्तियगुज्झगेहलवागलधरे) गणेत्रिका रुद्राक्षकृतं कलाचिकाभरणं, मुञ्जमेखला मुञ्जमयः कटीदवरकः, वल्कलं तरुत्वक् (हत्थकयकच्छभीए) कच्छपिका तदुपकरणविशेषः। (पियगंधव्वे) गन्धर्वप्रियः गीतप्रियः। (धरणिगोयरप्पहाणे) आकाशगामित्वात्। (संवरणावरणिउयवयणुप्पयणिलेसणीसु य संकामणिआभिओगपण्णत्तिगमणीथंभणीसु य बहुसु विज्जाहरीसु विज्जासु विस्सुयजसे) इह संवरण्यादिविद्यानामर्थः शब्दानुसारतो वाच्यः। (विज्जाहरीसु त्ति) विद्याधरसंबन्धिनीषु, विश्रुतयशाः ख्यातकीर्तिः। (इट्ठे रामस्स य केसवस्स य पज्जुन्नपईवसंबअनिरुद्धनिसढउस्सुयसारणगयसुमुहदुम्मुहाईणं जायवाणं अद्धट्ठाणं य कुमारकोडीणं हियययइए) वल्लभ इत्यर्थः (संथवए) तेषां संस्तावकः (कलहजुद्धकोलाहलिप्पिए) कलहो वाग् युद्धं, युद्धं तु आयुधयुद्ध, कोलाहलो बहुलोकगाहाध्वनिः। (भंडणाभिलासी) भण्डनं पिष्टातकऽऽदिभिः (बहुसु य समरसंपराएसु) संग्रामेष्वित्यर्थः। (दंसणरए समंतओ कलहं सदक्खिणं ति) सदानमित्यर्थः। (अणुगवेसमाणे असमाहिकरे दसारवरवीरपुरिसतेलोक्कबलवगाणं आमंतेऊण तं भगवतिं एक्कमणिं गगणगमणदच्छं उप्पइणियं जाव गगणतलमभिलंघयंतो गामागरनगरखेडकव्वडमडंबदोणमुहपट्टणसंवाहसहस्समंडियं थिमियमेइणीयं णिब्भयजणपदं वसुहं ओलोइंतो रम्मं हत्थिणाउरं णगरं उवागए,) (असंजयअविरयअप्पडिहयअप्पच्चक्खायपावकम्मे त्ति कट्टु) असंयतः संयमरहितत्वात्, अविरतो विशेषतपस्यरतत्वान्न प्रतिहतानि न प्रतिषेधितानि अतीतकालकृतानि निन्दनतः न प्रत्याख्यातानि च भविष्यत्कालभावीनि पापकर्माणि प्राणातिपाताऽऽदिक्रिया येन। अथवा–न प्रतिहतानि सागरोपमकोटाकोट्याऽन्तः प्रवेशनेन सम्यक्त्वलाभतः, न च प्रत्याख्यातानि सागरोपमकोटाकोट्या संख्यातसागरोपमैर्न्यूनताकरणेन सर्वविरतिलाभतः पापकर्माणि ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनि येन स तथेति पदत्रयस्य च कर्मधारयः। (कूवं ति) कूजकं व्यावर्त्तकबलमिति भावः।

तं जो णं देवाणुप्पिया ! दोवईए देवीए सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा परिकहेइ, तस्स णं ते पंडुए राया विउलं अत्थसंपयाणं दलइ त्ति कट्टु घोसणं घोसावेह, एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा०जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से पंडुए राया दोवईए देवीए कत्थइ सुइं वा०जाव अलभमाणे कुंतिं देविं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासीगच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! बारवइं णगरिं कण्हस्स वासुदेवस्स एयमट्ठं णिवेदेहि, कण्हे णं परं वासुदेवे दोवईए देवीए मग्गणगवेसणं करेज्जा, अन्नहा न नज्जइ दोवईए देवीए सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा अवलभेज्जा। तए णं सा कुंती देवी पंडुएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणी०जाव पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता ण्हाया कयबलिकम्मा हत्थिखंधवरगया हत्थिणाउरं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता कुरुजणवयं मज्झं मज्झेणं जेणेव सुरट्ठा जणवए जेणेव वार–

वई णयरी जेणेव अग्गुज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता हत्थिखंधाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं बयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! जेणेव बारवई नगरी तेणेव बारवइं णगरिं अणुप्पविसह, अणुप्पविसित्ता कण्हं वासुदेवं करयल०जाव एवं बयह–एवं खलु सामी ! तुब्भं पिउत्था कुंती देवी हत्थिणाउराओ णगराओ इह हव्वमागया तुब्भं दंसणं कंखइ। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा० जाव कहिंति। तए णं कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे हत्थिखंधवरगए हयगय०जाव बारवईए णयरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव कुंती देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता हत्थिखंधाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता कुंतीए देवीए पायग्गहणं करेति, करेत्ता कुंतीए देवीए सद्धिं हत्थिखंधं दुरूहति, दुरूहइत्ता बारवइं नगरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सयं गिहं अणुप्पविसति। तए णं से कण्हे वासुदेवे कुंतिं देविं ण्हायं कयबलिकम्मं जिमियभुत्तुत्तरागयं०जाव सुहासणवरगयं एवं बयासी–संदिसह णं पिउत्था ! किमागमणपओयणं? तए णं सा कुंती देवी कण्हं वासुदेवं एवं बयासी–एवं खलु पुत्ता ! हत्थिणाउरे णयरे जुहिट्ठिल्लस्स रण्णो आगासतलगंसि सुह–प्पसुत्तस्स दोवईए देवीए पासाओ ण णज्जइ केणइ अबहिया वा०जाव उक्खित्ता वा, तं इच्छामि णं पुत्ता ! दोवईए देवीए मग्गणगवेसणं कयं। तए णं से कण्हे वासुदेवे कुंतिं देविं पिउत्थं एवं बयासी–जं नवरं पिउत्था ! दोवईए देवीए कत्थइ सुइं वा ०जाव लभामि, तो णं अहं पायालाओ वा भवणाओ वा अद्धभरहाओ वा समंताओ दुवइं देवि साहत्थिं उवणेमि त्ति कट्टु कुंतिं पिउत्थं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता०जाव पडिविसज्जेइ। तए णं सा कुंती देवी कण्हेणं वासुदेवेणं पडि–विसज्जिया समाणी जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं बयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! बारवइं णयरिं एवं जहा पंडु तहा घोसणं घोसावेति, घोसावेत्ता०जाव पच्चप्पिणंति, पंडुस्स जहा। तए णं से कण्हे वासुदेवे अण्णया कयाइं अंतो अंतेउरगए ओरोहे०जाव विहरति। इमं च णं कच्छुल्लणारए जेणेव कण्हस्स रण्णो गिहं तेणेव०जाव समावेए०जाव णिसीइत्ता कण्हं वासुदेवं कुसलोदंतं पुच्छइ। तए णं से कण्हे। वासुदेवे कच्छुल्लं णारयं एवं बयासी–तुमं णं देवाणुप्पिया ! बहूणि गामाणि०जाव अणुप्पविससि, तं अत्थियाइं ते कहिं वि दोवईए देवीए सुइं वा०जाव उवलद्धा। तए णं से कच्छुल्लए णारए कण्हं वासुदेवं एवं बयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अण्णया कयाइ धायईसंडे दीवेपुरच्छिमिल्लं दाहिणड्ढभरहं वासं अवरकंकं रायहाणिं गए। तत्थ णं मए पउमणाभस्स रण्णो भवणंसि दोवई देवी जारिसिया दिट्ठपुव्वा यावि होत्था। तए णं से कण्हे वासुदेवे कच्छुल्लं णारयं एवं वयासी–तुब्भं चेव देवाणुप्पिया ! एयं पुव्वकम्मं। तए णं से कच्छुल्लनारए कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे उप्पयणियं विज्जं आवाहेति, जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं से कण्हे वासुदेवे दूतं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं बयासी–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! हत्थिणाउरं णयरं पंडुस्स रण्णो एयमट्ठं निवेदेह–एवं खलु देवाणुप्पिया ! धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धे अवरकंकाए रायहाणीए पउमणाभस्स भवणंसि दोवईए देवीए पवत्ती उवलद्धा, तं गच्छंतु पंच पंडवा चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे पुरच्छिमवेयालिसमुद्दाए ममं पडिवालेमाणा चिट्ठंतु। तए णं से दूते०जाव भणइ–पडिवालेमाणा०जाव चिट्ठह, ते वि०जाव चिट्ठंति। तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं बयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सण्णाहियं भेरिं तालेह, ते वि तालेंति। तए णं तीए सण्णाहियाए भेरीए सद्दं सोच्चा समुद्दविजयपामोक्खा दस दसारा०जाव छप्पण्णं बलवगसाहस्सीओ सन्नद्धबद्ध०जाव गहियाउहप्पहरणा अप्पेगइया हयगया अप्पेगइया गयगया०जाव वग्गुरापरिक्खित्ता जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छं ति, उवागच्छइत्ता करयल० जाव बद्धावेंति। तए णं से कण्हे वासुदेवे हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं महया हयगयभडचडगरपहकरेणं बारवतीए नगरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पुरच्छिमवेयालीसमुद्दे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं एगओ मिलति, खंधावारनिवेसं करेति, करेत्ता पोसहसालं कारावेइ, कारावेत्ता पोसहसालं अणुप्पविसति, अणुप्पविसइत्ता सुट्ठियं देवं मणसीकरेमाणे चिट्ठति। तए णं कण्हस्स वासुदेवस्स अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि सुट्ठिओ० जाव आगओ। भण देवाणुप्पिया ! जं मए कायव्वं ? तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं देवं एवं बयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! दोवई देवी०जाव पउमणाभस्स भवणंसि साहरिया, तं णं तुमं देवाणुप्पिया ! मम पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठस्स छण्हं रहाणं लवणसमुद्दे मग्गं वियराहि, जं णं अहं अवरकंकं रायहाणिं दोवईए देवीए कूवं गच्छामि। तए णं से सुट्ठिए देवे

कण्हं वासुदेवं एवं वयासी–किं णं देवाणुप्पिया ! जहा चेव पउमणाभस्स रण्णो पुव्वसंगतिएणं देवेणं दोवईओजाव साहरिया, तह चेव दोवइं देविं धायईसंडाओ दीवाओ भारहा–ओ वासाओओजाव हत्थिणाउरं साहरामि, उदाहु पउमणाभं रायं सपुरबलवाहणं लवणसमुद्दे पक्खिवामि? तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं देवं एवं बयासी–मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! ओजाव साहराहि। तुमं णं देवाणुप्पिया ! लवणसमुद्दे अप्पछ–ट्ठस्स छण्हं रहाणं मग्गं वितराहि, सयमेवाहं दोवईए देवीए कूवं गच्छामि। तए णं से सुट्ठिए देवे कण्हं वासुदेव एवं बयासी–एवं होउ, पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठस्स छण्हं रहाणं लवणसमुद्दे मग्गं वियरइ। तए णं से कण्हे वासुदेवे चाउरंगिणिं सेणं पडिविसज्जेति, पडिविसज्जेत्ता पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे छहिं रहेहिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयति, जेणेव अवरकंकाए रायहाणीए अग्गुज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता रहं ठावेति, ठावेत्ता दारुयं सारहिं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं बयासी–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! अवरकंकं रायहाणिं अणुप्पविसाहि,पउमणाभस्स रण्णो वामेणं पाएणं पायपीढं अवक्कमेत्ता कुंतग्गेणं लेहं पणामेहि, पणामेत्ता तिवलियं भिउडिं, निलाडे साहट्टु आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडक्किए एवं बयाहि–हं भो पउमणाभा ! अप्पत्थियपत्थिया। दुरंतपंतलक्खणा हीण–पुण्णचाउद्दसा सिरिहिरिधिइकित्तिपरिवज्जिया अज्ज न भवसि, किं णं तुमं न याणासि कण्हस्स वासुदेवस्स भगिणिं दोवइं देविं इहं हव्वमाणेसि, तं एयमट्ठं विणएणं पच्चप्पिणाहि–जं दोवइं देविं कण्हस्स वासुदेवस्स पच्चप्पिणाहि, अहवा जुज्झसज्जो णिग्गच्छाहि, एस णं कण्हे वासुदेवे पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे दोवईए देवीए कूवं हव्वमागए। तए णं से दारुए सारही कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्तं समाणे हट्ठतुट्ठे पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता अवरकंकं रायहाणिं अणुप्पविसइ, जेणेव पउमनाभे राया तेणेव उवाग–च्छइ, उवागच्छइत्ता करयलओजाव बद्धावेइ बद्धावेत्ता एवं बयासी–एस णं सामी ! मम विणयपडिबत्ती, इमा अण्णा मम सामिस्स समुहाऽऽणत्ति कट्टु आसुरुत्ते ५ वामपाएणं पायपीढं अवक्कमइ, अवक्कमित्ता कुंतग्गेणं लेहं पणामेइ, पणामेत्ता० जाव कूवं हव्वमागए। तए णं से पउमणाभे राया दारुएणं सारहिणा एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ५ तिवलिमिउडिं निलाडे साहट्टु एवं बयासी– ण अप्पणामि णं अहं देवाणुप्पिया ! कण्हस्स वासुदेवस्स दोवइं देविं। एस णं अहं सयमेव जुज्झसज्जे णिग्गच्छामि त्ति कट्टु दारुयं सारहिं एवं बयासी–केवलं भो रायसत्थेसु दूते अवज्झे त्ति कट्टु असक्कारिय असंमाणिय अवद्दारेणं णिच्छुभावेमि। तए णं से दारुए सारही पउमणाभेणं असक्कारिए असंमाणेओजाव निच्छूढे समाणे जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयलओजाव कण्हं वासुदेवं एवं बयासी–एवं खलु अहं सामी ! तुम्ह वयणेणं ओजाव णिच्छुभावेइ। तए णं से पउमणाभे राया बलवाउयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं बयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह। तयाणंतरं च णं छेयायरियउवदेसमइविगप्पणाविगप्पेहिंओजाव उवणेति। तए णं से पउमणाभे राया सण्णद्धबद्धेओजाव आभिसेक्कं हत्थिरयणं दुरूहति, दुरूहेत्ता हयगयचाउरंगिणीए सेणाए परिकलिए जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव पहारेत्थगमणाए। तए णं से कण्हे वासुदेवे पउमणाभं रायं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता ते पंचपंडवे एवं बयासी–हं भो दारगा ! किं णं तुब्भे पउमणाभेणं सद्धिं जुज्झेह, उयाहु पिच्छेह। तए णं ते पंच पंडवा कण्हं वासुदेवं एवं बयासी–अम्हे णं सामी ! जुज्झामो, तुम्हे पेच्छह। तए णं से पंच पाडवा सन्नद्धबद्धओजाव पहरणा रहे दुरूहंति, दुरूहेत्ता जेणेव पउमणाभे राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता एवं बयासी–अम्हे वा पउमणाभे वा राय त्ति कट्टु पउमणाभेणं सद्धिं संपलग्गे यावि होत्था। तए णं से पउमणाभे राया ते पंच पंडवे खिप्पामेव हयमहियपवरविवडियचिंधद्धयपडागाओजाव दिसो दिसिं पडिसेहेति। तए णं ते पंच पंडवा पउमणाभेणं रन्ना हयमहिय–पवरविवडियओजाव पडिसेहिया समाणा अथामा अबलाओजाव अधारणिज्ज मिति कट्टु जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छंति। तए णं से कण्हे वासुदेवे ते पंच पंडवे एवं बयासी–कहं णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! पउमणाभेणं रन्ना सद्धिं संपलग्गा। तए णं ते पंच पंडवा कण्हं वासुदेवं एवं बयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हे तुम्हेहिं अब्भणुण्णाया समाणा सण्णद्धबद्धा रहे दुरूहामो जेणेव पउमणाभे राया०जाव पडिहए। तए णं से कण्हे वासुदेवे ते पंचपंडवे एवं बयासी–जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! एवं बयंता अम्हे णो पउमणाभे राय त्ति कट्टु पउमणाभेणं सद्धिं संपलग्गा, ततो णं तुब्भे णो पउमणाभे हयमहियपवरओजाव पडिसेहिया। तं पेच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! अहं णो पउमणाभे राय त्ति कट्टु पउमणाभेणं रन्ना सद्धिं जुज्झामि, रहं दुरूहति, दुरूहइत्ता जेणेव पउमणाभे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सेयं गोखीरहारघवलं–

तणुसोल्लियसिंदुवारं कुंदेंदुसन्निगासं नियय्स्स बलस्स हरिसजणणं रिउसेणाविणासकरं पंचजण्णं संखं परामुसति, परामुसइत्ता मुहवाउपूरियं करेति। तए णं तस्स पउमणाभस्स तेणं संखसद्देणं बलतिभाए हए०जाव पडिसेहिए।

(सुइं व त्ति) श्रूयत इति श्रुतिः शब्दस्ताम्, (खुतिं व त्ति) क्षवणं क्षुतिः छीत्काराऽऽदिः शब्दविशेष एव, ताम्, प्रयुक्तिं वार्त्ता, वार्तापर्यायाश्चैत इति। (हिया व ति) हृता प्रदेशान्तरे स्थापिता, नीता नेत्रा स्वस्थानं प्रापिता, आक्षिप्ता आकृष्टेवेति। (इमा अन्नेत्यादि) इयमन्या अपरा मदीयस्वामिनः संबन्धिनी, विनयप्रतिपत्तिरिति वर्तते। (समुहाणत्ति कट्टु) स्वमुखेन स्वकीयवदनेन भणिता आज्ञप्तिरादेशः स्वमुखाऽऽज्ञप्तिरिति कृत्वा, एवमभिधाय (आसुरुत्ते त्ति) क्रुद्धः(बलवाउए त्ति) बलव्यापृतः, सैन्यव्यापारवान्। (आभिसेक्कं ति) अभिषेकमर्हतीत्याभिषेक्यं, मूर्द्धाभिषिक्तमित्यर्थः। (छेयायरियउवएसमइविगप्पणाविगप्पेहिं ति) छेको निपुणो य आचार्यः कलाचार्यः, तस्योपदेशात्तत्पूर्विकायाः मतेर्बुद्धेर्याः कल्पनाविकल्पाः कृतिभेदास्ते तथा तैरिति। इहयावयावत्करणादिदं दृश्यम्–''सुनिउणेहिं ति'' सुनिपुणैर्नरैः (उज्जलनेवत्थहत्थपरिवच्छियं ति) उज्ज्वलनेपथ्येन निर्मलवेषेण (हत्थं ति) शीघ्रं, परिपक्षितः परिगृहीतः परिवृतो यः स तथा। तम्। (सुसज्जं) सुष्ठु प्रगुणं (वम्मियसन्नद्धबद्धकवचिय उप्पीलियकच्छ–वच्छबद्धगेवेज्जगलपवरभूसणविरायंतं) वर्म्मणि नियुक्ता वार्म्मिकास्तैः सन्नद्धः कृतसन्नाहो यः स वार्म्मिकसन्नद्धः, बद्धं कवचं सन्नाहविशेषो यस्य स बद्धकवचः, स एव बद्धकवचिकः। अथवा–वर्म्मितः सन्नद्धो बद्धस्त्वक् त्राणबन्धनात् कवचितश्च यः स तथा, भेदश्चैतेषां लोकतोऽवसेयः। एकार्थाश्चैते शब्दाः, संनद्धता प्रकर्षाभिधानायोक्ता इति। तथा उत्पीडिता गाढीकृता कक्षा हृदयरज्जुर्वक्षसि यस्य स तथा। ग्रैवेयकं ग्रीवाऽऽभरणं बद्धं गले कण्ठे यस्य स तथा। प्रवरभूषणैर्विराजमानो यः स तथा। ततो वर्मिताऽऽदिपदानां कर्म्मधारयोऽतस्तम्। (अहियतेयजुत्तं सललितवरकण्णपुरविराइतं पलंबओचूलमहुयरकयंधगारं) प्रलम्बानि अवचूलानि कटकन्यस्ताधोमुखकूर्चका यस्य स प्रलम्बावचूलः, मधुकरैर्भ्रमरैर्मदजलगन्धाऽऽकृष्टैः कृतमन्धकरं येन स तथा। ततः कर्म्मधारयोऽतस्तम् (चित्तपरिच्छेयपच्छदं) चित्रो विचित्रः परिच्छेको लघुः प्रच्छदो वस्त्रविशेषो यस्य स तथा तम्। (पहरणावरणभरियजुद्ध–सज्जं) प्रहरणानां कुन्ताऽऽदीनामावरणानां च कङ्कटानां भृतो यः स तथा। स च युद्धसज्जश्चेति कर्म्मधारयोऽतस्तम्। (सच्छत्तं सच्छायं सज्झयं सघंटं पंचामेलयपरिमंडियाभिरामं) पञ्चभिरापीडैः शेखरैः परिमण्डितोऽत एवाभिरामश्च रम्यो यः स तथा। (ओसा–रियजमलजुयलघंटं) अवसारितमवलम्बितं यमलं समं युगलं द्वयोर्घण्टयोर्यत्र स तथा तम्। (विज्जुपिणद्धं व कालमेहं) घण्टाप्रहरणाऽऽदीनामुज्ज्वलत्वेनवद्युत्कल्पत्वात्, हस्तिदेहस्य च कालत्वेन महत्त्वेन च मेघकल्पवादिति। (उप्पाइयपव्वयं व चक्कमंतं) चङ् क्रममाणमिवौत्पातिकपर्वतम्। पाठान्तरेण–औत्पातिकं पर्वतमिव (सक्खं ति) साक्षात् (मत्तं ति) मदवन्तं (गुलुगुलुगुलेंतं मणपवणजइणवेगं) मनःपवनजयी वेगो यस्य स तथा तं भीमम्, (संगामिआओग्गं) संग्रामिक आयोगःपरिकरो यस्य स तथा तम्। (आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेति, पडिकप्पेत्ता उवणेति त्ति) (हयमहियपवरविवडियचिंधद्धयपडागे) हतमथिता अत्यर्थं हताः, अथवा हताः प्रहारतो, मथिता मानमथनाद् हतमथिताः, तथा प्रवरा विपतिताश्चिह्नध्वजाः कपिध्वजाऽऽदयः, पताकाश्च तदन्या येषां ते तथा। ततः कर्म्मधारयोऽतस्तान्। यावत्करणात्– ''किच्छोवगयपाणे त्ति'' दृश्यम्। कष्टगतजीवितव्यानीत्यर्थः। (अम्हे वा पउमनाभे वा राय त्ति कट्टु इति) अस्माकं पद्मनाभस्य च बलवत्त्वादिह संग्रामे वयं वा भवामः, पद्मनाभो वा, नोभयेषाम–पीह संयुगे त्राणमस्तीति कृत्वा इति निश्चयं विधाय संप्रलग्नाः, योद्धुमिति शेषः। (अम्हे नो पउमनाभे राय त्ति कट्टु त्ति) वयमेवेह रणे जयामो न पद्मनाभो राजेति यदि स्वविषये विजयनिश्चयं कृत्वा पद्मनाभेन सार्द्धं योद्धुं संप्रालगिष्यथ, ततो न पराजयं प्राप्स्यथ, निश्चयसारत्वात्फलप्राप्तेः। आह च–

''शुभाशुभानि सर्वाणि, निमित्तानि स्युरेकतः।
एकतस्तु मनो याति, तद्विशुद्धं जयाऽऽवहम्॥१॥

तथा–

स्यान्निचयैकनिष्ठानां, कर्यसिद्धिः परा नृणाम्।
संशयक्षुण्णचित्तानां, कार्ये संशीतिरेव हि॥२॥''

शङ् खविशेषणानि क्वचिद् दृश्यन्ते–(सेयं गोखीरहारधवलं तणुसोल्लियसिंदुवारं कुंदेंदुसन्निगासं) (तणुसोल्लिय त्ति) मल्लिका, सिन्दुवारो निर्गुण्डिः (नियय्स्स बलस्स हरिसजणणं रिउसेणाविणासकरं पंचजण्णं ति) पाञ्चजन्याभिधानम्।

तए णं से कण्हे वासुदेवे धणुं परामुसति, वेढो धणुं पूरेइ, पूरेइत्ता धणुसद्दं करेइ। तए णं तस्स पउमणाभस्स दोच्चे बलतिभाए तेणं धणुसद्देणं हयमहिय०जाव पडिसेहेति। तए णं से पउमणाभे राया तिभागबलावसेसे अथामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्ज मिति कट्टु सिग्घं तुरियं चवलं जेणेव अवरकंका रायहाणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अवरकंकं रायहाणिं अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता दुवाराइं पिहेति, रोहसज्जे चिट्ठइ। तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव अवरकंका णयरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता रहं ठवेइ, ठवेइत्ता रहाओ पच्चोरुहेति, पच्चोरुहित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, एगं महं नरसीहरूवं विउव्वति, विउव्वइत्ता महया महया सद्देणं पाददद्दरं करेति। तए णं से कण्हेणं वासुदेवेणं महया महया सद्देणं पाददद्दरेणं कएणं समाणेणं अवरकंका रायहाणी संभग्गपायापुरट्टालयचरियतोरणपल्हत्थियपवरभवणसिरिघराओ सरसरस्स धरणियले सण्णिवाइया। तए णं से पउमणाभे राया अवरकंकं रायहाणिं संभग्गं ०जाव पासित्ता भीए तसिए उव्विग्गे दोवइं देविं सरणं उवेइ। तए णं सा दोवई देवी पउमणाभं रायं एवं बयासी–किं णं तुमं देवाणुप्पिया! ण जाणासि कण्हस्स वासुदेवस्स

उत्तमपुरिसस्स विप्पियं करेमाणे, तं चेवमवि गते गच्छह, णं तुमं देवाणुप्पिया !ण्हाए उल्लपडसाडए ओचूलगवत्थणियत्थे अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे अग्गाइं पवराइं रयणाइं गहाय मम पुरओ काउं कण्हं वासुदेवं करयल०जाव पायपडिए सरणं उवेहि, पणइवच्छला णं देवाणुप्पिया ! उत्तमपुरिसा। तए णं से पउमणाभे राया दोवईए देवीए एयमट्ठं पडिसुणेति,पडिसुणेत्ता ण्हाए०जाव सरणं उवेइ, उवेत्ता करयल०जाव कट्टु एवं बयासी–दिट्ठा णं देवाणुप्पिया ! उत्तमपुरिसाणं इड्ढी०जाव परक्कमे, तं खामेमि णं देवाणुप्पिया ! ०जाव खमंतु णं देवाणुप्पिया ! ०जाव नाहं भुज्जो भुज्जो एवं अकरणयाए त्ति कट्टु पंजलिउडे पायवडिए कण्हस्स वासुदेवस्स दोवइं देविं साहत्थिं उवणेइ। तए णं से कण्हे वासुदेवे पउमनाभं रायं एवं बयासी–हं भो पउमणाभा ! अपत्थियपत्थिया ४ किं णं तुमं न याणासि मम भगिणिं दोवइं देविं इह हव्वमाणेसि। तं एवमवि गए नत्थि ते ममाहिंतो इयाणिं भयमत्थि त्ति कट्टु पउमणाहं रायं पडिवि–सज्जेइ, पडिविसज्जेइत्ता दोवतिं देविं गिण्हति, गिण्हइत्ता रहं दुरूहेति, दुरूहेत्ता जेणेव पंच पंडवा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता पंचपंडवाणं दोवइं देविं साहत्थिं उवणेइ। तए णं से कण्हे वासुदेवे पंचपंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठेहिं रहेहिं लवण–समुद्दं मज्झं मज्झेणं जेणेव जंबुद्दी वे दीवे जेणेव भारहे वासे तेणेव पहारेत्थगमणाए। तेणं कालेणं तेणं समएणं धायईसंडे दीवे पुरच्छिमड्ढे भारहे वासे चंपा नामं नयरी होत्था, पुण्णभद्दे णामं चेइय। तत्थ णं चंपाए णयरीए कपिले णामं वासुदेवे राया होत्था, महया हिमवंतवण्णओ। तेणं कालेणं तेणं समएणं मुणिसुव्वए अरिहंते चंपाए णयरीए जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव समोसढे, कपिले वासुदेवे धम्मं सुणेइ। तए णं से कपिले वासुदेवे मुणिसुव्वयस्स अरहओ धम्मं सुणेमाणे कण्हस्स वासुदेवस्स संखसद्दं सुणेइ। तए णं तस्स कपिलस्स वासुदेवस्स इमेया–रूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था–किं मन्ने धायईसंडे दीवे भारहे वासे दोच्चे वासुदेवे समुप्पन्ने, जस्स य अयं संखसद्दे ममं पिव मुहवायपूरियं वीयं भवइ। तए णं मुणिसुव्वए अरहा कपिलं वासुदेवं एवं बयासी–से णूणं कपिला वासुदेवा ! मम अंतिए धम्मं णिसम्ममाणस्स संखसद्दं आकण्णित्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए किं मन्ने धायईसंडे दीवे०जाव वीयं भवइ,से णूणं कविला वासुदेवा ! अट्ठे समट्ठे हंता अत्थि। तं णो खलु कविला ! एवं भूयं वा, भवियं वा भविस्सं वा, जं णं एगखेत्ते एगजुगे एगसमएणं दुवे दुवे अरिहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जिंति वा, उप्पज्जिस्संति वा, एवं खलु कपिला वासुदेवा ! जंबुद्दीवाओ भारहाओ वासाओ हत्थिणाउराओ णयराओ पंडुस्स रण्णो सुण्हा पंचण्हं पंडवाणं भारिआ दोवई देवी तव पउमनाभस्स रण्णो पुव्वसंगइएणं देवेणं अवरकंकं रायहाणिं साहरिआ। तए णं से कण्हे वासुदेवे पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे छएहिं रहेहिं अवरकंकं रायहाणिं दोवईए देवीए कूवं हव्वमागए। तए णं तस्स कण्हस्स वासुदेवस्स पउमनाभेणं रण्णा सद्धिं संगामेमाणस्स ०जाव अयं संखसद्दे तव मुहवायपूरिए इव वीयं भवइ। तए णं से कविले वासुदेवे मुणिसुव्वयं अरहं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं बयासी–गच्छामि णं अहं भंते! कण्हं वासुदेवं उत्तमपुरिसं सरिसपुरिसं पासामि। तए णं मुणिसुव्वए अरिहा कपिलं वासुदेवं एवं बयासी–णो खलु देवाणुप्पिआ ! एवं भयं वा भव्वं वा भविस्सं वा, जं णं अरिहंता वा अरिहंतं पासंति, चक्कवट्टी वा चक्कवट्टिं पासंति, बलदेवा वा बलदेवं पासंति, वासुदेवा वा वासुदेवं पासंति, तह वि य णं तुमं कण्हस्स वासुदेवस्स लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणस्स सेयापीयाइं धयग्गाइं पासिहिसि। तए णं से कविले वासुदेवे मुणिसुव्वयं अरिहंतं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता हत्थिखंधं दुरूहइ, दुरूहइत्ता सिग्घं जेणेव वेलाउले तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता कण्हस्स वासुदेवस्स लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणस्स सेयापीयाइं धयग्गाइं पासइ, पासइत्ता एवं बयासी–एस णं मम सरिसपुरिसे उत्तमपुरिसे कण्हे वासुदेवे लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयति त्ति कट्टु पंचजण्णं संखं परामुसइ,परामुस–इत्ता मुहवायपूरियं करेइ। तए णं से कण्हे वासुदेवे कविलस्स वासुदेवस्स संखसद्दं आयण्णेइ, आयण्णेइत्ता पंचजण्णं संखं मुहवायपूरियं करेति तए णं दो वि वासुदेवा संखसद्दसामायारिं करेति। तए णं से कविले वासुदेवे जेणेव अवरकंका णयरी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता अवरकंकं रायहाणिं संभग्ग–तोरणं०जाव पासइ, पासइत्ता पउमनाभं रायं एवं बयासी–किं णं देवाणुप्पिआ ! एसा अबरकंका णयरी संभग्गा०जाव सन्नि–वाइया। तए णं से पउमनाभे कविलं वासुदेवं एवं बयासी–एवं खलु सामी ! जंबुद्दीवाओ भरहाओ वासाओ इहं हव्वमागम्म कण्हेणं वासुदेवेणं तुब्भे परिभूय अवरकंका णयरी ०जाव सन्निवाइया। तए णं से कविले वासुदेवे पउमनाहस्स रण्णो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा पउमनाभं रायं एवं बयासी–हं भो पउम–णाभा ! अपत्थियपत्थिया ! किं णं तुमं न जाणासि मम सरिसस्स पुरिसस्स कण्हस्स वासुदेवस्स विप्पियं करेमाणा, कविले वासुदेवे आसुरुत्ते०जाव पउमणाभं

णिव्विसयं आणवेइ, आणवेत्ता पउमनाहस्स पुत्तं अवरकंकाए रायहाणीए महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचइ, अभिसिंचइत्ता०जाव पडिगए। तए णं से कण्हे वासुदेवे लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवइत्ता गंगं उवागए ते पंच पंडवे एवं बयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! गंगं महानइं उत्तरह जाव ताव अहं सुट्ठिय लवणाहिवइं पासामि। तए णं ते पंच पंडवा कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ता समाणा जेणेव गंगा महानई तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता एगट्ठियाए नावाए मग्गणगवेसणं करेंति, करेत्ता एगट्ठियाए नावाए गंगं महानइं उत्तरंति, अन्नमन्नं एवं बयासी–पभू णं देवाणुप्पिया ! कण्हे वासुदेवे गंगं महानइं बाहाहिं उत्तरित्तए, उदाहु णो पभू उत्तरित्तए त्ति कट्टु एगट्ठियणावं मुसंति, मुसंतित्ता कण्हं वासुदेवं पडिबालेमाणा चिट्ठंति। तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं लवणाहिवइं पासइ, पासइत्ता जेणेव गंगा महानई तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एगट्ठियाए नावाए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेति, एगट्ठिअं नावं अपासमाणे एगाए बाहाए रहं सतुरंगमसारहिं गिण्हइ, गिण्हइत्ता एगाए बाहाए गंगं महानइं वासट्ठिं जोयणाइं अद्ध–जोयणं च वित्थिन्नं उत्तरिउं पवत्ते यावि होत्था। तए णं से क–ण्हे वासुदेवे गंगाए महानईए बहुमज्झदेसभाए संपत्ते समाणे संते तंते परितंते बद्धसेए जाए यावि होत्था। तए णं तस्स कण्हस्स वासुदेवस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए०जाव समुप्पज्जि–त्था–अहो णं पंच पंडवा महाबलवगा, जेहिं गंगा महानई वासट्ठिजोयणाइं अद्धजोयणं च वित्थिन्ना बाहाहिं उत्तिण्णा, इच्छंतएहिं णं पंचहिं पंडवेहिं पउमनाभे राया हयमहिय०जाव णो पडिसेहिए। तए णं गंगा देवी कण्हस्स वासुदेवस्स इमं एयारूवं अब्भत्थियं०जाव जाणित्ता थाहं वितरइ। तए णं से कण्हे वासुदेवे मुहुत्तंतरं समासासेइ, समासासेत्ता गंगं महानदिं वासट्ठि०जाव उत्तरइ, जेणेव पंच पंडवा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता पंचपंडवे एवं बयासी– अहो णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! महाबलवगा, जेण तुब्भेहिं गंगा महानई वासट्ठि०जाव उत्तिण्णा, इच्छंतएहिं तुब्भेहिं पउमनाहे०जाव नो पडिसेहिए। तए णंते पंच पंडवा कण्हेणं रासुदेवेणं एवं वुत्ता समाणा कण्हं वासुदेवं एवं बयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे तुब्भेहिं विसज्जिया समाणा जेणेव गंगा महानई तेणेव उवागच्छित्ता एगट्ठिआए णावाए मग्गणगवसणं तं चेव०जाव तुम्हे पडिवा–लेमाणे चिट्ठामो। तए णं से कण्हे वासुदेवे तेसिं पंचण्हं पंडवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसरुते०जाव तिवलियंभिउडिं निलाडे कट्टु एवं बयासी–अहो जया णं मए लवणसमुद्दं दुन्नि जोयणसयसहस्सवित्थिन्नं वीईवइत्ता पउमणाहेणं हयमहिय० जाव पडिसेहित्ता अवरकंका संभग्गा, दोवई देवी साहत्थिं उवणीया, तया णं तुम्हे मम माहप्पं न विण्णायं, इयाणिं जाणिस्सइ त्ति कट्टु लोहदंडं परामुसइ, परामुसइत्ता पंचण्हं पंडवाणं रहं चूरेइ, चूरेत्ता णिव्विसए आणवेइ। तत्थ णं रहमद्दणे णामं कोट्टे निविट्ठे। तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव सए खंधावारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सएणं खंधावारेणं सद्धिं अभिसमन्नागए यावि होत्था। तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव बारवई नयरी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता अणुप्पवि–सति। तए णं ते पंच पंडवा जेणेव हत्थिणाउरे णयरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता जेणेव पंडुए राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता करयल०जाव एवं वयासी–एवं खलु ताओ ! अम्हे कण्हेणं वासुदेवेणं निव्विसया आणत्ता। तए णं पंडुराया तं पंचपंडवं एवं बयासी–कहं णं पुत्ता ! तुब्भे कण्हेणं वासुदेवेणं णिव्विसया आणत्ता। तए णं ते पंच पंडवा पंडुरायं एवं बयासी–एवं खलु ताओ ! अम्हे अवरकंकाओ पडिणियत्ता लवणसमुद्दं दुन्नि जोयणसयसहस्साइं वीईवइता, तए णं से कण्हे वासुदेवे अम्हं एवं बयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! गंगं महानइं उत्तरेहे०जाव चिट्ठइ जाव ताव अहं एवं तहेव० जाव चिट्ठामो। तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं लवणाहिवइं दट्ठूणं तं चेव सव्वं, णवरं कण्हस्स चिंता ण वुच्चइ०जाव निव्विसए आणवेइ। तए णं से पंडुराया ते पंचपंडये एवं बयासीदुट्ठु णं पुत्ता ! कयं कण्हस्स वासुदेवस्स विप्पियं करेमाणेहिं। तए णं से पंडुराया कुंतिं देविं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं बयासी–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! बारवइं णयरिं कण्हस्स वासुदेवस्स निवेएहि–एवं खलु दवाणुप्पिया ! तुभे पंचपंडवा णं निव्विसया आणत्ता, तुमं च णं देवाणुप्पिया ! दाहिणड्ढभरहस्स सामी, तं संदिसतु णं देवाणुप्पिया ! ते पंच पंडवा कयरं देसं वा दिसिं वा विदिसिं वा गच्छंतु णं। तए णं सा कुंती पंडुणा रण्णा एवं वुत्ता समाणी हत्थिखंधं दुरूहति, दुरूहइत्ता जहा हिट्ठा०जाव संदिसतु णं पिउत्था ! किमागमणपओयणं ? तए णं सा कुंती कण्हं वासुदेवं एवं वयासी–एवं खलु तुमं पुत्ता ! पंच पंडवा णिव्विसया आणत्ता, तुमं च णं दाहिणड्ढभरह-सामी०जाव दिसिं वा विदिसिं वा गच्छंतु। तए णं से कण्हे वासुदेवे कुंतिं देविं एवं बयासी–अपूइवयणा

णं पिउत्था ! उत्तमपुरिसा चक्कवट्टी वा वासुदेवा वा बलदेवा वा, तं गच्छंतु णं पंच पंडवा दाहिणल्लं वेयालिं, तत्थ पंडुमहुरं णिवेसंतु, मम अदिट्ठसेवगा भवंतु त्ति कट्टु कुंतिं देविं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता० जाव पडिविसज्जेइ। तए णं सा कुंती देवी०जाव पंडुस्स एयमट्ठं णिवेएइ। तए णं पंडुराया पंचपंडवे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं बयासी–गच्छह णं तुब्भे पुत्ता ! दाहिणिल्लं वेयालिं, तत्थ णं तुब्भे पंडुमहुरं णिवेसेह। तए णं ते पंच पंडवा पंडुस्स रण्णो०जाव तह त्ति पडिसुणंति, पडिसुणेत्ता सबलवाहणा हयगय०जाव हत्थिणाउराओ णयराओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव दक्खिणिल्ला वेयाली तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता पंडुमहुरं निवेसंति, निवेसित्ता तत्थ णं ते विपुलभोगसमिइसमन्नागया वि होत्था। तए णं सा दोवई देवी अन्नया कयाइं आवन्नसत्ता जाया वि होत्था। तए णं सा दोवई णवण्हं मासाणं०जाव सुरूवं दारयं पयाया० जाव सुकुमाले, निव्वत्तवारसाहस्स इमं एयारूवं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करिंति, जम्हा णं अम्हं एस दारए पंचण्हं पंडवाणं पुत्ते दोवईए अत्तए, तं होऊणं अम्हं इमस्स दारगस्स णामधेज्जं पंडुसेणे त्ति, बावत्तरिं कलाओ०जाव अलं भोगसमत्थे जाए जुवराया०जाव विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा थेरा समोसढा, परिसा णिग्गया, पंडवा निग्गया, धम्मं सोच्चा एवं वयासी–जं णवरं देवाणुप्पिया ! दोवइं देविं आपुच्छामो, पंडुसेणं च कुमारं रज्जे ठावेमो, तओ पच्छा देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता०जाव पव्वयामो? अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह। तए णं पंच पंडवा जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता दोवइं देविं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं बयासी–एवं खलु देवाणुप्पिए ! अम्हेहिं थेराणं अंतिए धम्मं णिसंते०जाव पव्वयामो। तुमं देवाणुप्पिए ! किं करेसि? तए णं सा दोवई देवी पंच पंडवे एवं बयासी–जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया! संसारभयउव्विग्गा०जाव पव्वज्जह, मम के अण्णे आलंबे वा० जाव भविस्सइ ? अहं पि य णं संसारभयउव्विग्गा देवाणुप्पिएहिं सद्धिं पव्वइस्सामि। तए णं ते पंच पंडवा पंडुसेणस्स कुमारस्स अभिसेअं०जाव राया जाए०जाव रज्जं पसाहेमाणे विहरइ। तए णं ते पंच पंडवा दोवई देवी य अन्नया कयाइं पंडुसेणं रायं आपुच्छंति। तए णं से पंडुसेणे राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं बयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! णिक्खमणाभिसेयं०जाव उवट्ठवेह, पुरिससहस्सवाहणीओ सिवियाओ उवट्ठवेह ०जाव पच्चोरुहंति, जेणेव थेरा आयरिया आलित्तेणं०जाव समणा जाया चउद्दस पुव्वाइं अहिज्जंति, बहूणि वासाणि०जाव छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं सा दोवई देवी सीयाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता०जाव पव्वइया सुव्वयाए अज्जाए सिस्सणियत्ताए दलयति, एक्कारसंगाइं०जाव अहिज्जइ, अहिज्जइत्ता बहूणि वासाणि छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं ०जाव अप्पाणं भावेमाणा विहरइ। तए णं ते थेरा भगवंतो अन्नया कयाइं पंडुमहुराओ नयराओ सहस्सबवणाओ उज्जा–णाओ पडिनिग्गच्छंति, पडिनिग्गच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरंति। तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी जेणेव सुरट्ठाजणवए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सुरट्ठाजणवयंसि संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ०४–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरिहा अरिट्ठनेमी सुरट्ठाजणवए० जाव विहरइ। तए णं ते जुहिट्ठिल्लपामोक्खा पंच अणगारा बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा अन्नमन्नं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं बयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरहा अरिट्ठनेमी पुव्वाणुपुव्विं०जाव विहरइ, तं सेयं खलु अम्हं थेरा आपुच्छित्ता अरिहं अरिट्ठनेमिं वंदणाए गमित्तए, अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता थेरे भगवंते वंदंति, णमंसंति, णमंसइत्ता एवं बयासी–इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणा अरिहं अरिट्ठणेमि०जाव गमित्तए ? अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह। तए णं ते जुहिट्ठिल्लपाडोक्खा पंच अणगारा थेरेहिं अब्भणुन्नाया समाणा थेरे भगवंते वंदंति, णमंसंति, णमंसइत्ता थेराणं अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता मासं मासेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं गामाणुगामं दूइज्जमाणा०जाव जेणेव हत्थिकप्पे णयरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता हत्थिकप्पस्स बहिया सहस्संबवणे उज्जाणे०जाव विहरंति। तए णं ते जुहिट्ठिल्लवज्जा चत्तारि अणगारा मासखमणपारणए पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेंति, बीयाए एवं जहा गोयमसामी, णवरं जुहिट्ठिल्लं आपुच्छंति०जाव अडमाणा हत्थिकप्पे नयरे बहुजणस्स सद्दं निसामेंति–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरहा अरिट्ठनेमी उज्जंतसेलसिहरे मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं पंचहिं छत्तीसेहिं अणगारसएहिं सद्धिं कालगए०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे। तए णं जुहिट्ठिल्लवज्जा चत्तारि अणगारा बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा हत्थिकप्पाओ णयराओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमइत्ता

जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे जेणेव जुहिट्ठिल्ले अणगारे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भत्तपाणं पच्चक्खंति, गमणागमणं पडिक्कमंति, एसणमणेसणं आलोयंति, भत्तपाणं पडिदंसेंति, पडिदंसेत्ता एवं बयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! ०जाव अरिहा अरिट्ठनेमी कालगए, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! इमं पुव्वगहिअं भत्तपाणं परिट्ठवित्ता सेत्तुंजए पव्वए सणियं सणियं दुरूहित्तए संलेहणाए झोसणाए झुसियाणं कालं अणवकंख–माणाणं विहरित्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता तं पुव्वगहियं भत्तपाणं एगंते परिट्ठवेंति, परिट्ठवेत्ता जेणेव सेत्तुंजए पव्वए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता सेत्तुंजयं पव्वयं सणियं दुरूहंति, दुरूहइत्ता०जाव कालं अणवकंखमाणा विहरंति । तए णं ते जुहिट्ठिल्लपामोक्खा पंच अणगारा सामाइयमाइयाइं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्झित्ता बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता दोमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे०जाव तमट्ठमारा–हें ति, अणंते०जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पण्णे०जाव सिद्धा । तए णं सा दोवई अज्जा सुव्वयाणं अज्जियाणं अंते सामाइयमाइयाइं इक्कारस अंगाइं अहिज्झइ, अहिज्झित्ता बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववण्णा । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं दससा–गरोवमाइं ठिई पन्नत्ता । तत्थ णं दुवयस्स देवस्स दससागरो–वमाइं ठिई पण्णत्ता । से णं भंते ! दुवए देवो ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०जाव संसारस्स अंतं काहिति । एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं सोलसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि ।

(वेढो त्ति) वेष्टक एकवस्तुविषयपदपद्धतिः । स चेह धनुर्विषयो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिप्रसिद्धोऽध्येतव्यः । तद्यथा–''अइरुग्गयबालचंद–ईदधणुसन्निगासं ।'' अचिरोद् गतो यो बालचन्द्रः शुक्लपक्षद्वितीयाचन्द्रः, तेनेन्द्रधनुषा च वक्रतया सन्निकाशं सदृशं यत्तत्तथा । ''वरमहिसदरियदप्पियदढघणसिंगग्गरइयसारं ।'' वरमहिषस्य दृप्तदर्पितस्य संजातदर्पातिशयस्य यानि दृढानि घनानि च शृङ्गाग्राणि तैः रचितं सारं च यत्तत्तथा । ''उरगवरपवरगवलपवरपरहुयभमरकुलनीलिनिद्धातधोयपट्ठं।'' उरगवरो नागवरः, प्रवरगवलं वरमहिषशृङ्गं, प्रवरपरभृतो वरकोकिलो, भ्रमरकुलं मधुकरनिकरो, नीली गुलिका, एतानीव स्निग्धं कालकान्तिमत्, ध्मातमिव ध्मातं च तेजसा ज्वलत्, धौतमिव धौतं च निर्मलं पृष्ठं यस्य तत्तथा । ''निउणोचियमिसिमिसिंतमणिरयण–घंटियाजालपरिक्खित्तं ।''निपुणेन शिल्पिना उपचितानामुज्ज्वालितानां मणिरत्नघण्टिकानां यज्जालं तेन परिक्षिप्तं वेष्टितं यत्तत्तथा । ''तडितरुणकिरणतवणिज्जबद्धचिंधं ।'' तडिदिव विद्युदिव तरुणाः प्रत्यग्राः किरणा यस्य तत्तथा, तस्य तपनीयस्य संबन्धीनि बद्धानि चिह्नानि लाञ्छनानि यत्र तत्तथा । ''दद्दरमलयगिरिसिहरकेसरचामर–बालयद्धचंदचिधं ।'' दर्दरमलयाभिधानौ यौ गिरी, तयोर्यानि शिखराणि, तत्संबन्धिनो ये केसरचामरबालाः सिंहस्कन्धचमरपुच्छकेशा अर्द्धचन्द्राश्च तल्लक्षणानि चिह्नानि यत्र तत्तथा । ''काल–हरियरत्तपीयसुक्किलबहुण्हारुसंपिनद्धजीवं ।'' कालाऽऽदिवर्णा या बहवः स्नायवः शरीरान्तर्बद्धास्ताभिः संपिनद्धा जीवाः प्रत्यञ्चा यस्य स तत्तथा । ''जीवियंतकरणं ति ।'' शत्रूणामिति गम्यते । (संमग्गेत्यादि) संभग्नानि प्राकारो गोपुराणि च प्रतोल्यः, अट्टालकाश्च प्राकारोपरिस्थानविशेषाः, चरिका च नगरप्राकारान्तरेऽष्टहस्तो मार्गः, तोरणानि च यस्यां सा तथा । पर्यस्तितानि पर्यस्तीकृतानि, सर्वतः क्षिप्तानीत्यर्थः । प्रवरभवनानि श्रीगृहाणि च भाण्डागाराणि यस्यां सा तथा । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । (सररसरस्स त्ति) अनुकरणशब्दोऽयमिति । (उल्लपडसाडए त्ति) सद्यः स्नानेन आर्द्रो पटशाटकौ उत्तरीयवस्त्रपरिधाने यस्य स तथा । (ओचूलगवत्थनियत्थे त्ति) अवचूलमधामुखचूलं मुत्कलाञ्चलं यथा भवतीत्येवं वस्त्रं निवसितं येन स तथा । (तं एवमवि गए नत्थि ते ममाहितो इयाणिं भयमत्थि त्ति) तत्तस्मादित्थमपि गते अस्मिन् कार्ये नास्ति अयं पक्षोयदुत ते तव मत्तो भयमस्ति भवति (एगट्ठिय त्ति) तौ (मुसंति त्ति) गोपयन्ति । श्रान्तः खिन्नः, तान्तः सूरकाण्डकाङ्क्षावान् जातः, परितान्तः सर्वथा खिन्नः । एकार्थिकाश्चैते । (इच्छंतएहिं ति) इच्छया कयाचिदित्यर्थः । (वेयालीए त्ति) वेलातटे इति । इहापि सूत्रे उपनयो दृश्यते । एवं चासौ द्रष्टव्यः–

''सुबहू वि तवकिलेसो, नियाणदोसेण दूसिओ संतो ।
न सिवाय दोवतीए, जह किल सुउमालिया जम्मे ॥१॥''

अथवा–

''अमणुन्नमभत्तीए, पत्ते दाणं भवे अणत्थाय ।
जह कडुयतुंबदाणं, नागसिरिभवम्मि दोवहए ॥२॥'' इति ।

ज्ञा०१ श्रु० १६ अ० ती० स्था० प्रश्न० आ०म०ही०प्रति०।

दुवग्ग पुं०(द्विवर्ग) उभयकोटौ, नि०चू०१५ उ० आचा०।

दुवण न०(दुवन) उपतापने, प्रश्न०२आश्र०द्वार।

दुवय पुं०(द्विपद) 'दुपय' शब्दार्थे, स०१२ अङ्ग ।

दुव्वामतरय पुं०(दुर्वाम्यतरक) दुस्त्याज्यतरकलङ्के, भ०६ श०१उ०।

दुवार न०(द्वार) **''पच्छद्धमूर्खद्वारे वा'' ॥८।२।११२॥** इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उद्वा। 'दुवारं।' पक्षे 'वारं।' 'देरं।' 'दारं।' प्रा०२ पाद । प्रतोल्याम्, आ०म०१ अ०१ खण्ड । ग्रामस्य मुखे, बृ०१ उ०३प्रक० प्रासादभवनदेवकुलाऽऽदीनां प्रवेशमुखे च । बृ०१ उ०३ प्रक० प्रज्ञा०। (अपावृतद्वारवसतौ द्वारपिधानं संयतीभिः कर्तव्यमिति 'वसइ' शब्दे वक्ष्यते)

दुवारकम्म न०(द्वारकर्म) द्वारस्य विषमायाः भूमेः समीकरणे, नि० चू० ५ उ०।

दुवारपिहाण न०(द्वारपिधान) कपाटमाश्रित्य द्वारस्थगने, आचा०२ श्रु०१चू०२अ०२उ०।

दुवारवाहा स्त्री०(द्वारवाहा) द्वारभावे, आचा०२श्रु० १चू०१अ० ५उ०।

दुवारसाहा स्त्री०(द्वारशाखा) द्वारपार्श्वस्थकाष्ठाऽऽदौ, आचा० २ श्रु० १ चू० १अ०६ उ०।

दुवारिअ पुं०(दौवारिक) **''उत्सौन्दर्वाऽऽदौ''** ॥८।१।१६०॥ इति औत उत्। ''दुवारिओ।'' प्रा०१ पाद।

***दौवारिक** पुं०। द्वारे नियुक्तः, ठक्। द्वारपाले, वाच०।

दुवालसावत्त न०(द्वादशाऽऽवर्त) ''दुवालसावत्ते कितिकम्मे पण्णत्ते। तं जहा–'' ''दुओणयं जहाजायं, कितिकम्मं वारसाउयं। चउसिरं तिगुत्तं दुपवेसं एगनिक्खमणं॥१॥'' इति सूत्राभिधानगमेषु कायव्यापारविशेषेषु, स०१सम०।

दुविट्ठ पुं०(द्विविष्टप) द्वितीये वासुदेवे, ति०। नवमे भविष्यति वासुदेवे, रा०ती०।

दुविह त्रि०(द्विविध) **''द्विन्योरुत्''** ॥८।१।६४॥ इति द्विशब्देकारस्योकारः। 'दुविहो।' प्रा०१ पाद। द्वे विधे प्रकारावस्येति द्विविधः। आचा०१ श्रु०८अ०८उ०। द्विप्रकारे, सूत्र०१श्रु०८अ०। आचा०। विशे०। उत्त०। स्था०। प्रश्न०।

दुविहभूमिपत्त त्रि०(द्विविधभूमिप्राप्त) वयः (व्यञ्जनजातत्वाऽऽदि) श्रुतपर्याय (यावत्पर्यायस्य यच्छ्रुतं दीयते) रूपश्रुतवाचनायोग्यतां प्राप्ते, नि०चू०१६उ०।

दुव्वण्ण न०(दुर्वर्ण) अशुभवर्णे, नि०चू०। ''पंचवण्णोवणेयं दुव्वण्णं।'' एकस्मिन्नपि पततीत्यर्थः। ''अहवा–प्रवालाङ्कुरसंनिभं सुवण्णं, सेसा सव्वे दुव्वण्णा।'' अनिष्टा इत्यर्थः। नि०चू०१ उ०। भ०। कुरूपे च। त्रि०। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

दुव्वय त्रि०(दुर्व्रत) असम्यग्व्रते, स्था०४ठा०३उ०। दुष्टानि व्रतानि येषां ते तथा। यथा मांसभक्षणं, व्रतकालसमाप्तौ प्रभूततरसत्त्वोपघातेन मांसप्रदानम्, अन्यदपि नक्तभोजनाऽऽदिकं दुष्टव्रतमिति। तथाऽन्यस्मिन् जन्मान्तरे मधुमद्यमांसाऽऽदिकमभ्यवहरिष्यामीत्येवमज्ञानान्धा जन्मान्तरविधिद्वारेण सनिदानमेव व्रतं गृण्हन्ति। सूत्र०२ श्रु०२अ०। व्रतवर्जिते, विपा०१ श्रु०१ अ०। दशा०।

दुव्वलचारित्त पुं०(दुर्वलचारित्र) दुर्बलश्चारित्रे इति दुर्बलचारित्रः। विनाकारणेन मूलोत्तरगुणपरिषेविणि, नि०चू० १उ०। व्य०।

दुव्वसुमुणि पुं०(दुर्वसुमुनि) मोक्षगमनायोग्ये, आचा०।

दुव्वसुमुणी अणाणाए तुच्छए गिलाइ वत्तए, एस वीरे पसंसिए (१००)

(दुव्वसु इत्यादि) वसु द्रव्यम्, एतच्च भव्येऽर्थे व्युत्पादितं, द्रव्यं च भव्य इत्यनेन। भव्यश्च मुक्तिगमनयोग्यः, ततश्च मुक्तिगमनयोग्यं यद् द्रव्यं तद् वसु, दुष्टं वसु दुर्वसु, दुर्वसु चासौ मुनिश्च दुर्वसुमुनिः–मोक्षगमनायोग्यः। स च कुतो भवति? अनाज्ञया तीर्थकरोपदेशशून्यः, स्वैरीत्यर्थः। किमत्र तीर्थकरोपदेशे दुष्करं, येन स्वैरित्वमभ्युपगम्यते? तदुच्यते-उद्देशकाऽऽदेरारभ्य सर्वं यथासंभवमायोज्यम्। तथाहि–मिथ्यात्वमोहितं लोकं सम्बोद्धुं, दुष्करव्रतेष्वात्मानमध्यारोपयितुं, रत्यरती निग्रहीतुं, शब्द (ऽऽदिविषयेष्विष्टानिष्टेषु माध्यस्थतां भावयितुं, प्रान्तरूक्षाणि भोक्तुम्, एवं यथोद्दिष्टया मौनीन्द्राज्ञया असिधारकल्पया दुष्करं सञ्चरितुम्, अनुकूलप्रतिकूलश्चि नानाप्रकारानुपसर्गान् सोढुम्, असहने च कर्मोदयोऽनाद्यतीतकालसुखभावना च कारणं, जीवो हि स्वभा–वतो दुःखभीरुरनिरोधसुखप्रियोऽतो निरोधकल्पायामाज्ञायां दुःखं वसति। अवसंश्च किंभूतो भवतीत्याह–(तुच्छए इत्यादि) तुच्छो रिक्त, स च द्रव्यतो निर्धनो, घटाऽऽदिरिव जलाऽऽदिरहितो, भावतो ज्ञानाऽऽदिरहितः। ज्ञानाऽऽदिरहितो हि क्वचित्संशीतिविषये केनचित्पृष्टोऽपरिज्ञानाद् ग्लायति वक्तुं, ज्ञानसमन्वितो वा चारित्ररिक्तः पूजासत्कारभयाच्छुद्धमार्गप्ररूपणावसरे ग्लायति यथावस्थितं प्रज्ञापयितुम्। तथाहि–प्रवृत्तसन्निधिः संनिधिनिर्दोषतामाचष्टे। एवमन्यत्रापीति। यस्तु कषायमहाविषगरलकल्पभगवदाज्ञोपजीवकः स सुवसुमुनिर्भवत्यरिक्तो न ग्लायति च वक्तुम्, यथावस्थितवस्तुपरिज्ञानादनुष्ठानात्। आह च–(एस इत्यादि) एष इति सुवसुमुनिर्ज्ञानाऽऽद्यरिक्तो यथावस्थितमार्गप्ररूपको वीरः कर्म्मविदारणात्, प्रशंसितस्तद्विदैः श्लाघित इति। आचा०१ श्रु० २अ०६उ०।

दुव्वह त्रि०(दुर्वह) वोढुमशक्ये, उत्त०१६अ०।

दुव्वाइ पुं०(दुर्वाक्) अप्रियवक्तार, दश०२अ०।

दुव्विअड्ढ पुं०(दुर्विदग्ध) ज्ञानबलगर्वोद्धुरे, जीवा०२० अधि०। पण्डितम्मन्ये, स्था०।

दुव्विअड्ढा स्त्री०(दुर्विदग्धा) मिथ्याऽहङ्कारविडम्बितायां पर्षदि, नं०।

दुव्विचिंतिय पुं०(दुर्विचिन्तित) दुष्टो विचिन्तितो दुर्विचिन्तितः। चलचित्ततया अशुभे विचिन्तिते, ''जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।'' इति वचनात्। ध०२अधि०।

दुव्विजाण त्रि०(दुर्विज्ञ) दुर्विज्ञातरि, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

दुव्विण्णाय त्रि०(दुर्विज्ञात) दुष्टं विज्ञातं दुर्विज्ञातम्। दुष्टे विज्ञाते, आचा०१ श्रु०६अ०२उ०।

दुव्विणीय त्रि०(दुर्विनीत) दुर्विनययुक्ते, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। आव०। आ०म०।

दुव्विदड्ढ पुं०(दुर्विदग्ध) 'दुव्विअड्ढ' शब्दार्थे, जीवा०२०अधि०।

दुव्विदद्ध पुं०(दुर्विदग्ध) 'दुव्विअड्ढ' शब्दार्थे, जीवा०२० अधि०।

दुव्विदद्धबुद्धि पुं०(दुर्विदग्धबुद्धि) स्वाभिप्रायेणाऽऽगमानुसारिणि, दर्श०६तत्त्व।

दुव्विभज त्रि०(दुर्विभज) कष्टविभजनीये, ''मज्झिमगाणं दुव्विभजं दुगमं भवइ।'' आख्यातेऽपि तत्र दुर्विभजं कष्टविभजनीयम्, ऋजुजडत्वादेव तद्भवतीति। दुःशकं शिष्याणां वस्तुतत्त्वस्य विभागेनावस्थापनमित्यर्थः। दुर्विभवमित्यत्र पाठान्तरे दुर्विभाव्यम्, दुःशका विभावना कर्तुं तस्येत्यर्थः। स्था०५ठा०१उ०।

दुव्विभाव त्रि०(दुर्विभाव) दुर्लक्ष्ये, विशे०।

दुव्वियड त्रि०(दुर्विवृत) दुष्टविवृतो दुर्विवृतः। परिधानवर्जिते, स्था०५ ठा०१उ०।

दुव्वियद्ध पुं०(दुर्विदग्ध) 'दुव्विअड्ढ' शब्दार्थे, जी०२० अधि०।

दुव्वियड्ढ पुं०(दुर्विदग्ध) 'दुव्विअड्ढ' शब्दार्थे, जीवा०२० अधि०।

दुव्विसह त्रि०(दुर्विषह) दुस्सहे, भ०७श०६उ०।

दुव्विसोज्झ त्रि०(दुर्विशोध्य) दुःखेन शुद्धिप्रकर्षप्रापणीये, पञ्चा० १६विव०।

दुव्विहिय पुं०(दुर्विहित) पार्श्वस्थाऽऽदौ, आव०३अ०।

दुव्वोल (देशी) उपालम्भे, दे०ना०५वर्ग ४२ गाथा।

दुस धा०(दुष) दिवा०-पर०-अक०-अनिट्। वाच०। वैकृत्ये, विशे०। दुष्यति, अदुषत्, अदुक्षत्। वाच०।

दुसंणप्प पुं०(दुःसंज्ञाप्य) दुःखेन कृच्छ्रेण संज्ञाप्यन्ते प्रज्ञाप्यन्ते बोद्ध्यन्त इति दुःसंज्ञाप्याः। स्था०३ठा०४उ०।

तओ दुसण्णप्पा पण्णत्ता। तं जहा-दुट्ठे, मूढे, वुग्गाहिए ॥७॥

अस्य संबन्धमाह-

सम्मत्ते वि अजोग्गा, किमु दिक्खणवायणासु दुट्ठादी?
दुस्सण्णप्पाऽऽरंभो, मा मोहपरिस्समो होज्जा ॥३२७॥

दुष्टाऽऽदयस्त्रयः सम्यक् त्वग्रहणेऽप्ययोग्याः, किं पुनर्दीक्षावाचनयोः? अतस्तेषां प्रज्ञापने मोघो निष्फलः प्रज्ञापकस्य परिश्रमो मा भूदिति दुःसंज्ञाप्यसूत्रमारभ्यते। अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्यात्रयी दुःखेन कृच्छ्रे ण संज्ञाप्यन्ते प्रतिबोद्ध्यन्त इति दुःसंज्ञाप्याः प्रज्ञाः। तद्यथा-दुष्टस्तत्त्वप्रज्ञापकं प्रति द्वेषवान्, स चाप्रज्ञापनीयो द्वेषेणोपदेशाप्रतिपत्तेः। एवं मूढो गुणदोषानभिज्ञः, व्युद्ग्राहितो नाम कुप्रज्ञापकदृढीकृतविपरीतबोधः। एष सूत्रार्थः।

अथ भाष्यविस्तरः-

दुस्समाप्पो तिविहो, दुट्ठाई दुट्ठो वण्णितो पुव्विं।
मूढस्स य णिक्खेवो, अट्ठविहो होइ कायव्वो ॥३२८॥

दुःसंज्ञाप्यो दुष्टाऽऽदिभेदात्त्रिविधः, तत्र दुष्टः पूर्वं पराश्चिकसूत्रे यथा वर्णितस्तथाऽत्रापि मन्तव्यः। मूढस्य पुनरष्टविधो निक्षेपो वक्ष्यमाण-नीत्या कर्तव्यो भवति।

तत्र पदत्रयनिष्पन्नामष्टभङ्गीमाह-

दुट्ठे मूढे वुग्गा-हिते य भयणा उ अट्ठहा होइ।
पढमगभंगे सुत्तं, पढमं बिइयं तु चरिमम्मि ॥३२९॥

दुष्टो मूढो व्युद्ग्राहित इति त्रिभिः पदैरष्टधा भजना भवति, अष्टौ भङ्गा इत्यर्थः। अत्र च प्रथमे भङ्गे प्रथमं सूत्रं निपतति, चरमेऽष्टमे भङ्गेऽदुष्टोऽमूढोऽव्युद्ग्राहित इत्येवंलक्षणे द्वितीयं वक्ष्यमाणं सूत्रमिति। बृ०४उ०।

अथैषां मध्ये के प्रव्राजयितुं योग्याः? के वा नेत्याह-

मोत्तूण वेदमूढं, अप्पडिसिद्धा उ सेसगा मूढा।
वुग्गाहिता य दुट्ठा, पडिसिद्धा कारणं मोत्तुं ॥३३०॥

वेदमूढं मुक्त्वा ये शेषा द्रव्यक्षेत्रमूढाऽऽदयस्तेऽप्रतिषिद्धाः, प्रव्राजयितुं कल्पन्ते इत्यर्थः। ये तु व्युद्ग्राहिता दुष्टाश्च कषायदुष्टाऽऽदयस्ते कारणं मुक्त्वा प्रतिषिद्धाः, कारणे तु कल्पन्ते इति भावः।

किमर्थमेते प्रतिषिद्धाः? इत्याह-

जं तेहिँ अभिग्गहियं, आमरणंता य तं न मुंचंति।
सम्मत्तं पि ण लग्गति, तेसिं कत्तो चरित्तगुणा? ॥३३१॥

यत्तैर्व्युद्ग्राहिताऽऽदिभिः किमपि शाक्याऽऽदिदर्शनमन्यद्वा भारताऽऽदिकं मिथ्याश्रुतमभिगृहीतमाभिमुख्येनोपादेयतया स्वीकृतं तदामरणान्तं न मुञ्चन्ति। अथ चैतेषां सम्यक्त्वमपि न लगति, कुतश्चारित्रगुणा इति ?

कथं पुनरमीषां सम्यक् त्वमपि न लगतीत्याह-

सोयसुयघोररणमुह-दारभरणपेयकिच्चमइएसु।
सग्गेसु देवपूयण-चिरजीवणदाणदिट्ठेसु ॥३३२॥
इच्चेवमाइलोइय-कुस्सुइवुग्गाहणाकुहियकण्णा।
फुडमवि दाइज्जंतं, गिण्हंति न कारणं केइ ॥३३३॥

इह भारताऽऽदौ शौचसुतघोररणमुखदारभरणप्रेतकृत्यमयेषु देवपूजनचिरजीवनदानदृष्टेषु च स्वर्गेषु ये भाविता भवन्ति, तथा हि-शौचविधानाद् पुत्रोत्पादनाद् घोरसमरशिरःप्रवेशाद् धर्मपत्नीपोषणात् पिण्डप्रदानाऽऽदिप्रेतकर्मविधानाद् वैश्वानराऽऽदिदेवपूजनात् चन्द्रसहस्राऽऽदिरूपचिरकालजीवनाद् धनधरित्र्यादिदानात् स्वर्गा अवाप्यन्ते, इत्येवमादिलौकिककुश्रुतिव्युद्ग्राहणाकुथितकर्णाः सन्तस्तस्याः कुश्रुतेरघटनायां स्फुटमपि दर्श्यमानं कारणमुपपत्तिं केचिदुरुकर्माणो प्रतिपद्यन्ते, अतस्ते दुःसंज्ञाप्या मन्तव्याः। बृ०४उ०।

दुसमदुसमा स्त्री०(दुःषमदुःषमा) अवसर्पिण्याः षष्ठे उत्सर्पिण्याश्च प्रथमेऽरके, भ०। "एक्कवीसवाससहस्साइं कालो दुसमदुसमा।" भ०६ श०७उ०। स्था०। ती० ति०। आ०चू०। तं०। ज्यो०। (अस्या वर्णकः "ओसप्पिणी" शब्दे तृ० भागे १२२ पृष्ठे, 'उस्सप्पिणी' शब्दे द्वि०भावे ११६६ पृष्ठे च द्रष्टव्यः)

दुसमय त्रि०(द्विसमय) द्वौ समयौ यत्र स द्विसमयः। समयद्वयजाते, भ०१४श०१उ०।

दुसमयसिद्ध पुं०(द्विसमयसिद्ध) सिद्धत्वसमयात्त्रितीयसमय-वर्तिनि, प्रकारान्तरेण तृतीयसमयवर्तिनि परम्परसिद्धभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

दुसमसुसमा स्त्री०(दुःषमसुषमा) अवसर्पिण्याश्चतुर्थे उत्सर्पिण्या--स्तृतीये चारके, भ०। "एगा सागरोवमकोडाकोडीओ बायालीसए वाससहस्सेहिं ऊणिया कालो दुसमयसुसमा।" भ०६ श०७उ०। जं०। (अस्या वर्णकस्तु 'ओसप्पिणी' शब्दे तृ०भागे १२१ पृष्ठे, 'उस्सप्पिणी' शब्दे द्वि०भागे ११७१ पृष्ठे च द्रष्टव्यः) "एगा दुसमसुसमा।" स्था०१ठा०।

दुसमा स्त्री०(दुःषमा) अवसर्पिण्याः पञ्चमे उत्सर्पिण्या द्वितीये चारके, भ०। "एक्कवीसं वाससहस्साइं कालो दुसमा।" भ०६ श०७उ०। स्था०। ती०। ति०। आ०चू०। ज्यो०। तं०। (अस्या वर्णकस्तु 'ओसप्पिणी' शब्दे तृतीयभागे १२१ पृष्ठे, 'उस्सप्पिणी' शब्दे द्वि०भागे ११६६ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यः) "दसहिं ठाणेहिं ओगाढं दुस्समं जाणेज्जा। तं जहा-- अकाले वरिसइ, काले न वरिसइ, असाहू पूइज्जंति, साहु न

पूइज्जंति, गुरुसु जणो मिच्छं पमिवण्णो अमणुण्णा सद्दा० जाव फासा।'' स्था० १० ठा०। (अस्य वक्तव्यता 'कलिजुग' शब्दे तृ० भागे ३८० पृष्ठे) नवरं ''तओ गोयमसामी जाणगपुव्वं पुच्छइ– भयवं! तुम्हं निव्वाणानंतरं किं किं भविस्सइ? पहुणा भणियं सोम! मम मुक्खगयस्स तिहिं वासेहिं अद्धनवमेहि य मासेहिं पंचम अरओ दूसमा लगिस्सइ। मह मुक्खगमणाओ वाराणं चउसट्ठीए अपच्छिमकेवली जंबूसामी सिद्धिं गमिही। तेणं समएणं पज्जवनाणं, परमोही, पुलायलद्धी, आहारगसरीरखवगसेढी, उवसमगसेढी, जिणकप्पो, परिहारविसुद्धि–सुहुमसंपराय– अहक्खाय-चारित्ताणि, केवलनाणं, सिद्धिगमणं च ति दुवालस ठाणाइं भारहे वासे वुच्छिज्जिहिंति। ''अज्जसुहम्मप्पमुहा, होहिंति जुगप्पहाण-आयरिया। दुप्पसहो जा सूरी, चउरहिया दोण्णि य सहस्सा ॥१॥'' सत्तरिसमाऽहिए धरससए थूलभद्दम्मि सग्गगए चरमाणि चत्तारि पुव्वाणि, सम्मचउरंस-संठाणं, अज्जरिसहनारायं संघयणं, महापाणज्झाणं च वुच्छिज्जिहिइ। वासपंचरूएहिं अज्जवइरे दसमं पुव्वं संघयणं चउक्कं च अवगच्छिही। मह मुक्खगमणाओ पालयनंदचंदगुत्ताइराइसु वोलीणेसु चउसयसत्तरेहिं विक्कमाइच्चो राया होही। तत्थ सट्ठिवरिसाणं पालगस्स रज्जं, पणपण्णसमं नंदाणं, अट्ठोत्तरं सयं मोरियवंसाणं, तीसं पूसमित्तस्स, सट्ठी बलमित्तभाणुमित्ताणं, वालीसं नरवाहणस्स, तेरस गद्दभिल्लस्स, चत्तारि– गस्स, तओ विक्कमाइच्चो। सो साहियसुवण्णपुरिसो पुहविं अरिणं काउं नियसंवच्छरं पवत्तेही। ''तह गद्दभिल्लरज्जस्स छायगो कालिगारियो होही। तेवण्णचउसएहिं, गुणसयकलिओ सुअपउत्तो ॥१॥'' दूसमाए वट्टमाणीए नयराणि गामभूयाणि होहिंति, मसाण रूवा गामा, जसदंडसमा रायाणो, दासप्पाया कुडंबिणो, लंचगहणपरा निओगिणो, सामिदोहिणो भिच्चा, कालरत्तितुल्लाओ सासूओ, सप्पिणीतुल्लाओ बहूओ, णिल्लज्जया कडक्खपिक्खियाईहिं सिक्खिया वेसाचरियाओ कुलंगणाओ, सच्छंदवारिणो पुत्ता य, सीसा य अकालवासिणो कालअवासिणो य, महासुहिया रिद्धि–संमाणभायणा च दुज्जणा, दुहिआ-ऽवमाणपत्ता अप्पिड्ढिया य सज्जणा, परचक्कडमरदुब्भिक्खजुया देसा, खुद्दमत्तबहुला मेइणी, असज्झायपरा अत्थसुत्तु विप्पा, गुरुकुलवासचाइणो मंदधम्मा कसायकलु–सियमणा समणा, अप्पबला सम्मदिट्ठिणो सुरनरा, ते चेव पउरबला मिच्छदिट्ठिणो होहिंति। देवा न दाहिंति दरिसणं, न तहा फुरंतपढावा विज्जामंता, ओसहीणं गोरसकप्पूरसक्करादव्वाणं च रसवण्णगंधहाणी, नराणं बलमेहाआऊणि हाइस्संति, मासकप्पा उ पउग्गाणि खित्ताणि न भविस्संति, पडिमारूवो सावयधम्मो वुच्छिज्जिहइ, आयरिया वि सीसाणं सम्मं सुयं न दाहिंति।

''कलहकरा डमरकरा, असमाहिकरा अनिव्वुइकरा य।
होहिंति इत्थ समणा, दससु वि खित्तेसु सयराइं ॥१॥
ववहारएँ मंताइएँ, मुनिविज्जयाण य मुनीणं।
गलिहिंति आगमत्था, अणत्थलुद्धा य तद्दियहं ॥२॥
उवगरणपत्थपत्ता–इयाण वसहीण सङ्घयाणं च।
उज्झिस्संति काएणं जह नरवइणो कुडुंबीणं ॥३॥''

किं बहुणा– बहवे भंडा अप्पे समणा होहिंति, पुव्वायरियपरंपरागयं सामायारिं मुत्तूण नियगमइविगप्पियं सामायारिं सम्मचारित्तं ति रचावित्ता तहाविहं मुद्धजनं मोहम्मि पामित्ता उस्सुत्तभासिणो अप्पथुइपरनिंदापरा-यणा य केइ होहिंति, बलवंता अनिट्ठनिवा, अप्पबला पूअनिवा भविस्संति।'' ती० २० कल्प।

दुसमाकाल–पुं०(दुःषमाकाल) अवसर्पिण्याः पञ्चमे उत्सर्पिण्या द्वितीये च समये, जं०२ वक्ष०। ''एक्कवीसं वाससहस्साइं कालो दुसमा।'' भ०६ श०७ उ०। आचार्याणामुपाध्यायानां धर्माचार्याणां साधुसाध्वीश्रावक-श्राविकाणां वा दुःप्रसहं यावद् दुःषमायां या संख्या दीपालिकाकल्पाऽऽदिषु उक्ताऽस्ति, सा कया विवक्षया? पञ्चमारके दिनानि स्तोकानि जायन्ते, संख्या च बह्वीति लोकाः पृच्छन्ति, तत्र किमुत्तरं दीयत इति प्रश्ने, उत्तरम्– अत्र भरतक्षेत्रे दुःषमाया अल्पकालत्वेऽपि भूमेः प्राचुर्याद् बहुषु देशेषु साध्वादिसंभवेन दीपालिकाकल्पाऽऽद्युक्तयुगप्रधानाऽऽदि-संख्याऽर्थतः संगच्छते, नत्वात्मज्ञातसाध्वादिनेति बोध्यम्। ३८ प्र०। सेन०२ उल्ला०।

दुसह–पुं०(दुःसह) **''लुकि दुरो वा''।८।१।११५।** दुर उपसर्गस्य रेफलोपे सति उत ऊत्वं वा। ''दूसहो, दुसहो।'' रेफलोपाभावे ''दुस्सहो।'' प्रा०१ पाद। **''निर्दुरावा''।२।१।१३।** इति दुरस्य व्यञ्जनस्य वा लुक्। ''दुरसहो।'' प्रा० १ पाद। चित्राङ्गापरनामके कल्पवृक्षभेदे, ति०।

दुसुमिण–न०(दुःस्वप्न) अशुभसूचके स्वप्ने, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

दुस्संचार–त्रि०(दुःसंचार) दुर्गमार्गे, दशा० १० अ०।

दुस्संबोह–पुं०(दुःसम्बोध) दुःखेन सम्बोध्यते धर्मचरणप्रतिपत्तिः कार्यत इति दुःसम्बोधः। दुःखेन धर्माऽऽचरणं प्रतिपाद्यमाने, बोधयितुमशक्ये च। आचा० १ श्रु० १ अ० १उ०।

दुस्समाण–पुं०(दुष्यमाण) द्वेषं कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

दुस्सरणाम–न०(दुःस्वरनाम) यदुदयवशात्खरः श्रोतृणां कर्णकटुः प्रादुर्भवति तद् दुःस्वरनामा नामकर्मभेदे, कर्म्म० ६ कर्म्म०। पं० सं०। प्रव०। श्रा०। कर्महीनस्वरे, कर्म०१ कर्म०।

दुस्सल–स्त्री०(दुःशल) दुर्ग्रहे, दुर्विनीते, बृ०६उ०।

दुस्सह–पुं०(दुःषह) 'दुसह' शब्दार्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

दुस्सहिय–त्रि०(दुःसहित) दुःखेनाधिसहिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ०१ उ०।

दुस्साहड–त्रि०(दुःसंहृत) दुःखेन संहियते मील्यते स्मेति दुःसंहृतम्। दुर्मिले, उत्त० ७ अ०।

दुस्सिज्जा–स्त्री०(दुःशय्या) विषमभ्रमाऽऽदिरूपायां शय्यायाम्, दश० ८

दुस्सील–त्रि०(दुःशील) दुष्टं रागद्वेषाऽऽदिदोषविकृतं शीलं स्वभावः समाधिराचारो वा यस्यासौ दुःशीलः। उत्त० १ अ०। दशा०। विपा०। शुभस्वभावहीने, विपा० १ श्रु० १ अ०। दुष्टाऽऽचारे, ग०१ अधि०। प्रश्न०। उत्त०। बृ०। दुःसमाधौ च। पिण्डोलके च। ''दुस्सीले णरगाओ ण मुच्चइ।'' सूत्र० १ श्रु० १० अ०। ''दुस्सीलाओ खरो विव।'' खरवद् विष्ठाभक्षकगर्दभवत् दुःशीला दुष्टाचारा निर्लज्जत्वेन यत्र तत्र ग्रामनगराऽऽ–

रण्यमार्गक्षेत्रगृहोपाश्रयचैत्यगृहगर्तावटिकाऽऽदौ पुरुषाणां वाञ्छाकारित्वात् तथाविधवेश्यादुष्टदासीरण्डिकामुण्डिकाऽऽदीनामिव। (स्त्रियः) तं० जिनदासश्रावकस्य भार्यायाम्, सा प्रतिमां प्रतिपन्नस्य स्वपत्युर्देहे लोहकीलकेन व्यथायाश्चकार। आ०क०।

दुस्सुय-त्रि०(दुःश्रुत) दुष्टं श्रुतं श्रवणं यत्राऽसौ दुःश्रुतः। दुष्टश्रुते, प्रश्न०२ आश्र० द्वार। दुष्टं श्रुतं दुःश्रुतम्। दुष्टे श्रुते, न०। आचा०१ श्रु० ४ अ० २ उ०।

दुस्सेज्जा-स्त्री०(दुःशय्या) दुःखोत्पादकवसतौ, भ०१ श०६ उ०।

दुह-न०(दुःख) **"दुःखदक्षिणतीर्थे वा" ।८।२।७२।** इति संयुक्तस्य हः। 'दुहं। दुक्खं।' प्रा० २ पाद। नरके, नरकाऽऽवासे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०१ उ०। नरकाऽऽदियातनास्थाने, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। दुःखहेतुत्वादसदनुष्ठाने, असातवेदनीयोदयात् तीव्रपीडाऽऽत्मके असाते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०१ उ०। असातवेदनीयोदये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। पीडायाम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०१ उ०। शरीरमनसोरननुकूले, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। दुःखोत्पादके च। सूत्र० १ श्रु० १० अ०। "विपुलकक्कसा य गाढा चंडा दुहा तिव्वा दुरहियासा।" इति एकार्थाः विपा० १ श्रु०१ अ०।

***दोह**-पुं०। दुह–कर्म्मणि घञ्। दुग्धे, "संदोहश्चाष्टमेऽहनि।" इति स्मृतिः। आधारे घञ्। दोहनपात्रे, वाच०। भावे घञ्। दोहने, गोदोहनस्थाने च। बृ०३ उ०।

दुहअ-त्रि०(दुर्हत) दुष्टं हतो दुर्हतः। दुष्टहते, आचा० १ श्रु० ३ अ०३ उ०।

***द्विहत**-त्रि०। द्वाभ्यां रागद्वेषाभ्यां हतो द्विहतः। द्वाभ्यां हते, आचा० १ श्रु०३ अ०३ उ०।

***दुर्भग**-त्रि०। अल्पभाग्ये, प्रा०१ पाद।

दुहओ-अव्य०(द्विधा) प्रकारद्वये, आचा०१ श्रु० ३ अ०३ उ०। रा०। सूत्र०। उत्त०।

***द्विधातस्**-अव्य। द्वयोर्भागयोः, भ० १६ श० ६ उ०। उभयत इत्यस्यार्थे च। दशा० १० अ०। आचा०। "दुहओ गुलित्ता।" बहिरन्तश्च गोमयाऽऽदिना लिप्ता। रा०। "दुहतो संविल्लियमाणियत्थाणं।" द्विधातो द्वयोः पार्श्वयोः संवेल्लितानि अग्राणि यस्य तत् द्विधातः संवेल्लितात्रं न्यस्तं सामर्थ्यादुत्तरं यैस्ते तथा तेषाम्। रा०। चूर्णिते, दे० ना० ५ वर्ग।

दुहओउण्णय-त्रि०(द्विधोन्नत) उन्नते, भ० ११ श० ११ उ०। जी०।

दुहओखहा-स्त्री०(द्विधाखा) उभयतोऽङ्कुशाऽऽकारायां श्रेण्याम्, स्था० ७ ज्ञा०। भ०। नाड्या वामपार्श्वाऽऽदेर्नाडीः प्रविश्य तथैव गत्वा अस्या एव दक्षिणपार्श्वाऽऽदौ ययोत्पद्यते सा द्विधाखा नाडी, बहिर्भूतयोर्वामदक्षिणपार्श्वलक्षणयोर्द्वयोराकाशश्रेण्योस्तया स्पृष्टत्वादिति। भ० २५ श० ३ उ०।

दुहओणंतय-न०(द्विधाऽनन्तक) सर्वाद्धायाम्, स्था०१० ठा०।

दुहओलोगासंसप्पओग-पुं०(द्विधालोकाऽऽशंसाप्रयोग) भवेयामन्द्रस्ततश्चक्रवर्त्तीत्येवंरूपेऽर्थे, स्था० १० ठा०। भ०।

दुहओवंका-स्त्री०(द्विधावक्रा) यस्यां वारद्वयं वक्रं कुर्वन्ति सा द्विधावक्रा। इयं चोर्ध्वक्षेत्रादाग्नेयदिशोऽधक्षेत्रे वायव्यदिशि गत्वा य उत्पद्यते तस्य भवति। तथाहि–प्रथमसमये आग्नेयास्तिर्यग्नैर्ऋत्यां याति, ततस्तिर्यगेव वायव्यां, ततोऽधो वायव्यामेवेति। त्रिसमयेयं त्रसनाड्या मध्ये बहिर्वा भवतीति। भ० २५ श० ३ उ०। श्रेणीभेदे, उभयतो वक्रायां स्थापनायाम्। स्था० ७ ठा०।

दुहट्ठ-त्रि०(दुर्घट) दुःस्थगे, उपा० २ अ०। दुरवाप्ये, विपा० १ श्रु० २ अ०।

*** दुःखाऽऽर्त्त**-त्रि०। दुःखपीडिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

दुहट्टिय-त्रि०(दुःखार्तित) दुःखयतीति दुःखं रोगः, तेन आर्त्तः पीडितः क्रियते इति दुःखार्तितः। रोगपीडिते, उत्त० २ अ०।

दुहट्ठ-पुं०(दुःखार्थ) दुःखमेवार्थो यस्मिन् स दुःखार्थः। नरके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०१ उ०।

दुहण-पुं०(द्रुघण) चट्टकरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। मुद्गरे विशेषे च। प्रश्न०१ आश्र० द्वार। उपा०।

*** दोहन**-न०। दोहे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

दुहतोआवत्ता-स्त्री०(द्विधातआवृत्ता) द्वीन्द्रियजीयभेदे, जी० १ प्रति०।

दुहलोगपडिणीय-पुं०(द्विधालोकप्रत्यनीक) यौर्ष्याऽऽदिभिरिन्द्रियार्थसाधनपरे गतिप्रत्यनीके, भ०८ श० ८ उ०।

दुहव-त्रि०(दुर्भग) **"लुकि दुरो वा" ।८।१।११५।** इति दुर उपसर्गस्य रेफलोपे उत ऊत्वं वा। प्रा० १ पाद। **"खघधभाम्" ॥८।४।२४६॥** इति भस्य हः। **"दुर्भगसुभगे वः" ॥८।१।१६२॥** इति गस्य वः। 'दुहवो।' दूहवो। प्रा० दुं० ४ पाद। वाच०। त्रि० दुष्टं भगं भाग्यं यस्य। अल्पभाग्ये, पतिस्नेहशून्यायां स्त्रियाम्, स्त्री०। वाच०।

दुहविमोयणतर-त्रि०(दुःखविमोचनतर) अतिशयेन दुःखविमोच्ये, भ० १६ श०२ उ०।

दुहविवाग-पुं०(दुःखविपाक) पापकर्म्मफले, विपा०।

पढमस्स णं भंते ! सुयखंधस्स दुहविवागाणं समणेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते? तए णं सुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं बयासी– एवं खलु जंबू ! समणेणं आइगरेणं०जाव संपत्तेणं दुह–विवागाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता– "मियउत्ते, उज्झियए, अभग्गे सगडे, बहस्सई, नंदी। उंबरे, सोरियदत्ते, य देवदत्ता य अंजू य ॥१॥"

(मियछत्ते इत्यादिगाथा) तत्र (मियउत्ते त्ति) मृगपुत्राभिधानराजसुतवक्तव्यताप्रतिबद्धमध्ययनं मृगपुत्र एव। एवं सर्वत्र, नवरम् (उज्झियए त्ति) उज्झितको नाम सार्थवाहपुत्रः, (अभग्ग त्ति) सूत्रत्वादभग्नसेनविजयाभिधानचौरसेनापतिपुत्रः। (सगडे त्ति) शकटाभिधानसार्थवाहसुतः। (बहस्सइ त्ति) सूत्रत्वादेव बृहस्पतिदत्तनामा पुरोहितपुत्रः। (नंदी त्ति) सूत्रत्वादेव नन्दिवर्द्धनो राजकुमारः। (उंबर त्ति) सूत्रत्वादेव उम्बरदत्तो नाम सार्थवाहसुतः। (सोरियदत्ते त्ति) सौरिकदत्तो

नाम मत्स्यबन्धपुत्रः। चशब्दः समुच्चये। (देवदत्ता य त्ति) देवदत्ता नाम गृहपतिसुता। चः समुच्चये। अज्जू नाम सार्थवाहसुता। चशब्दः समुच्चये। इति गाथासमासार्थः। विपा० १ श्रु० १ अ०। स०। ''न हि दुक्खविवागाहिं, उववण्णाहिं तहिं तहिं। न य जीवो अजीवो उ, कयपुव्वो उ चिंतए ॥१॥'' द०प०।

दुहवेयणतर-त्रि०(दुःखवेदनतर) अतिशयेन दुःखवेद्ये, भ०१६ श०२ उ०।

दुहसयविवाग-पुं०(दुःखशतविपाक) दुःखशतरूपे कर्म्मफले प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

दुहसिज्जा-स्त्री०(दुःखशय्या) शेरते आस्विति शय्याः दुःखदाः शय्या दुःशय्याः पा०।

चत्तारि दुहसेज्जाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–तत्थ खलु इमा पढमा दुहसेज्जा–से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए निग्गंथे पावयणे संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेयसमावण्णे कलुससमावण्णे निग्गंथं पावयणं णो सद्दहइ, णो पत्तियइ, णो रोएइ, निग्गंथं पावयणं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे मणं उच्चावचं नियच्छइ, विणिवायमावज्जइ, पढमा दुहसेज्जा। अहावरा दोच्चा दुहसेज्जा– से णं मुंडे भक्तिा अगाराओ अणगारियं पव्वइए,एस णं लाभेणं णो तुस्सइ, परस्स लाभपासाएइ, पीहेइ, पत्थेइ, अभिलसइ, परस्स लाभमासाएमाणे० जाव अभिलसमाणे मणं उच्चावयं ति विणिवायमावज्जइ, दोच्चा दुहसेज्जा। अहावरा तच्चा दुहसेज्जा–से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए दिव्वे माणुस्सए कामभोगे आसाएमाणे०जाव अभिलसाणे मणं उच्चावचं णियच्छइ, विणिवायमावज्जइ, तच्चा दुहसेज्जा। अहावरा चउत्था दुहसेज्जासे णं मुंडे भवित्ता०जाव पव्वइए, तस्स णमेवं भवइ–जया णं अहमगारवासमावसामि तथा णमइं संवाहणपरिसहणगाउब्भंगगाउच्छोलणाइं लभामि, जप्पभिइं च णं अहं मुंडे भवित्ता०जाव पव्वइए, तप्पभिइं च ण अहं संवाहण० जाव गाउच्छोलणाइं आसाएमि०जाव अभिलसइ, से णं संवाहण०जाव गाउच्छोलणाइं आसाएमाणे० जाव मणं उच्चावचं नियच्छइ, विणिवायमावज्जइ, चउत्था दुहसेज्जा।

(चत्तारीत्यादि) चतस्रश्चतुःसंख्या दुःखदाः शय्याः दुःखशय्याः, ताश्च द्रव्यतोऽतथाविधखट्वाऽऽदिरूपाः भावतस्तु दुःस्थचितया दुःश्रमणस्वभावाः प्रवचनाश्रद्धानपरलाभप्रार्थनकामाऽऽशंसन-स्नानाऽऽदिप्रार्थनविशेषिताः प्रज्ञप्ताः सूत्रे इति। तासु मध्ये स कश्चिद् गुरुकर्मा, अथार्थी वाऽयम्, स च वाक्योपक्षेपे, प्रवचने शासने, दीर्घत्वं च प्रकटाऽऽदित्वादिति। शङ्कित एकभावविषयसंशये संयुक्तः, काङ्क्षितो मतान्तरमपि साध्वितिबुद्धिः, विचिकित्सतः फलं प्रति शङ्कावान्, भेदसमापन्नो बुद्धेर्द्वैवीभावाऽऽपन्नः– एवमिदं सर्वं जिनशासनोक्तम्? अन्यथा वेति। कलुषसमापन्नो नैतदेवमिति विपर्यस्त इति। न श्रद्धत्ते सामान्येनैवमिदमिति नो प्रत्येति प्रतिपद्यते प्रीतिद्वारेण, नो रोचयति अभिलाषातिरेकेणाऽऽसेवनाभिमुखतयेति। मनश्चित्तमुच्चावचमसमञ्जसं, निर्गच्छति निर्याति, करोतीत्यर्थः। ततो विनिपातं धर्म्मभ्रंशं संसारं वा आपद्यते, एवमसौ श्रामण्यशय्यायां दुःखमास्ते इत्येका। तथा केन स्वकीयेन लभ्यते लम्भनं वेति लाभोऽन्नादिरन्नाऽऽदेर्वा, तेन आशां करोत्याशयति स नूनं मे दास्यतीत्येवमिमि। आस्वादयति वा लभते चेत् तद् भुङ्क्ते। एवं स्पृहयति वाञ्छति, प्रार्थयति याचते, अभिलषति लब्धेऽप्यधिकतरं वाञ्छतीत्यर्थः। शेषमुक्तार्थमेवमप्यसौ दुःखमास्ते इति द्वितीया। तृतीया कण्ठ्या। अगारवासो गृहवासस्तमावसामि,तत्र वर्ते सम्बाधनं शरीरस्थास्थिसुखत्वाऽऽदिना नैपुण्येन मर्दनविशेषः, परिमर्दनं तु पृष्ठाऽऽदेर्मलनमात्रम्, परिशब्दस्य धात्वर्थमात्रवृत्तित्वात्, गात्राभ्यङ्गस्तैलाऽऽदिनाऽङ्गप्रक्षणं, गात्रोत्क्षालनमङ्गधावनमेतानि लभेत कश्चिन्निषेधयतीति। शेषं कण्ठ्यमिति चतुर्थी। स्था० ४ ठा०३ उ०। ध०। आचा०।

दुहसेज्जा-स्त्री०(दुःखशय्या) 'दुहसिज्जा' शब्दार्थः, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

दुहा-स्त्री०(द्विधा) प्रकारद्वये, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ध०। पञ्चा०।

***द्विविध**-त्रि०। द्वे विधे प्रकारावस्येति द्विविधः। द्विप्रकारे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

दुहापडिबद्ध-त्रि०(द्विधाप्रतिबद्ध) ('पवज्जा' शब्देऽस्य व्याख्या) द्विप्रकारेण बद्धे, स्था० ३ ठा० २ उ०।

दुहाव-धा०(छिद) रुधा०–उभ०–सक०–अनिट्। द्वैधीकरणे, वाच०। ''**छिदेर्दुहावणिच्छब्बल्ले**'' ॥८।४।१२४॥ इत्यादिना छिदेर्दु–हावाऽऽदेशे 'दुहावइ।' प्रा० ४ पाद। छिनत्ति। छिन्ते। अच्छैत्सीत्, अच्छिदत्। अच्छित्त। छिदा। वाच०।

दुहावह-त्रि०(दुःखावह) दुःखमावहतीति। दुःखोपार्जके, नि०चू० १उ०। दुःखदायके, उत्त०। ''सव्वे कामा दुहावहा।'' सर्वे कामाः शब्दाऽऽदयो दुःखाऽऽवहाः मृगाऽऽदीनामिव यतो दुःखावाप्तिहेतुत्वान्मत्सरेर्ष्याविषादाऽऽदिभिश्चित्तव्याकुलत्वोत्पादकत्वान्नरकाऽऽदिहेतुत्वाच्चेति। उत्त० पाई० १३ अ०। सूत्र०।

दुहावास-पुं०(दुःखाऽऽवास) नरकाऽऽदिषु, सूत्र०१ श्रु० ८ अ०।

दुहि(ण्)-पुं०(दुःखिन्) दुःखयुक्ते, सूत्र० दी० १ श्रु०१ अ०३ उ०। उत्त०। आ०म०।

दुहिअय-त्रि०(दुःखित) **'स्वार्थे कश्चा वा'** ॥८।२।१६४॥ इति कः। 'दुहिअए, महियअए।' संजातदुःखे, प्रा० २पाद।

दुहिय-त्रि०(दुःखित) दुःखं संजातमस्येति दुःखितः। सजातदुःखे, उत्त० ६ अ०। 'दुक्खिय' शब्दार्थे च। प्रा० २पाद।

दुहिया-स्त्री०(दुहिता) **''स्वस्रादेर्डा''** ॥८।३।३५॥ इति दुहितृशब्दाद् डाप्रत्ययः, 'दुहियाडि।' प्रा०३ पाद। दुहितुः पतिः। अलुक्–समासः। जामातरि, वाच०। आ०म०।

दुहिल-न०(दुहिल) द्रोहस्वभावं द्रुहिलम्।

यथा–

''यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत्।
आकाशमिव पङ्केन, नासौ पापेन युज्यते ॥१॥
कलुषं वा दुहिलं, समता पुण्यपापयोः।'' आ०म० १ अ०२ खण्ड। पुण्यपापलपनाऽऽदौ, बृ०१उ०।

यथा–

''एतावानेव लोकोऽयं, यावानिन्द्रियगोचरः।
भद्रे! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥१॥
पिब खाद च जातु शोभने!, यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते।
न हि भीरु! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥२॥''
इत्यादि वेदवचनाऽऽदिवत्तथाविधयुक्तिरहितम्। अनु०।

दुहोवणीय-त्रि०(दुःखोपनीत) सामीप्येन प्राप्तदुःखे, दश० १ चू०। दुःखेन पीडयोपनीतान्युच्चारितानि दुःखोपनीतानि। पीडयोच्चरितेषु, न०। सूत्र० १ श्रु० ५ अ०१ उ०।

दूअ-पुं०(दूत) अन्येषां गत्वा राजाऽऽदेशनिवेदके, कल्प०१ अधि० ३क्षण।

दूइज्जंत-त्रि०(दूयमान) गच्छति, व्य०८उ०।

***द्रवत्**-त्रि०। ग्रामानुग्रामं गच्छति, ''दूइज्जंता दुविधा, णिक्कारणिगा तहेव कारणिगा। असिवादी कारणिगा, वक्के मूलाइया इतरे ॥१॥'' बृ० ५ उ०।

दूइज्जंतग-पुं०(दूइजन्तक) मोराकसन्निवेशरथेषु स्वनामख्यातेषु पाखण्डिषु, ''तत्थ मोराए दूइज्जंतगा नाम पासंडा, तेसिं तत्थ आवासो।'' स्वनामख्याते तेषामधिपतौ, भगवतो महावीरस्य पितुः सिद्धार्थकस्य वयस्ये, मित्रे च। आ०म०। मोराकसंनिवेशं प्राप्तस्य (तन्निवासी दूइज्जन्तकाभिधानपाखण्डस्थो दूइज्जन्तक एवोच्यते) पितुः सिद्धार्थस्य वयस्यो मित्रं स भगवन्तमभिवाद्य वसतिं दत्तवानिति। आ०म० १अ०२खण्ड। आ०चू०।

दूइज्जमाण-त्रि०(दूयमान) विहरति, धातूनामनेकार्थत्वात्। आचा० २ श्रु० १ चू० १अ० ४ उ०।

***द्रवत्**-त्रि०। गच्छति, औ०।रा०। विपा०। ज्ञा०। आचा०। अ०।

दूइज्जित्तय-अव्य०(द्रोतुम्) विहर्तुमित्यर्थे, स्था०५ ठा० २उ०। ''गामाणुगामं दूइज्जित्तए त्ति।'' ग्रामानुग्रामं हिण्डितुम्। कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

दूइपलासय-न०(दूतिपलाशक) वाणिजकग्रामे स्वनामख्याते चैत्ये, यत्र श्रीमहावीरस्वामी समवसृतः। भ० १० श० ३ उ०। आ०चू०।

दूई-स्त्री०(दूती) परस्परसंदिष्टार्थकथिका दूती। पिं०। द्वितीये उत्पादनदोषे, स्था०३ ठा०४ उ०।

दूतीपिण्डो यथा–

सग्गामे परग्गासे, दुविहा दूई उ होइ नायव्वा।
सा वा सो वा पभणइ, भणई तं छन्नवयणेण ॥

इह दूती द्विधा। तद्यथा– स्वग्रामे, परग्रामे च। तत्र यस्मिन् ग्रामे साधुर्वसति तस्मिन्नेव ग्रामे यदि संदेशककथिका, तार्हि सा स्वग्रामदूती। या तु परग्रामे गत्वा संदेशं कथयति, सा परग्राम दूती। एकैकाऽपि च द्विधा। तद्यथा–प्रकटा, छन्ना च। तत्र सा तव माता, स च तव पिता एवं भणति संदेशं कथयति, सा प्रकटा। या तु तं संदेशं छन्नवचनेन कथयति सा छन्ना।

एनमेवार्थं च सविशेषं व्यक्तीकरोति–

एक्केक्का वि य दुविहा, पागड छन्ना य छन्न दुविहा उ।
लोगुत्तरे तत्थेगा, बीया पुण उभयपक्खे वि ॥

इह दूतीसमाचरणमपि दूती, साऽपि चैकैका स्वग्रामविषया, परग्रामविषया च द्विधा। तद्यथा– प्रकटा, छन्ना च। तत्र छन्ना पुनरपि द्विधा। तद्यथा– एका लोकोत्तरे लोकोत्तर एव, द्वितीयसंघाटकसाधोरपि गुप्ता इत्यर्थः। द्वितीया पुनरुभयपक्षेऽपि लोकोत्तरे वा, पार्श्ववर्तिनो जनस्य संघाटकसत्कद्वितीयसाधोरपि च गुप्तेति भावः।

तत्र स्वग्रामपरग्रामविषयां प्रकटां दूतीमाह–

भिक्खाई वच्चंतो, अप्पाहणि नेइ खंतियाईणं।
सा ते अमुगं माया, सो य पिया ते इमं भणइ ॥

भिक्षाऽऽदौ भिक्षाऽऽदिनिमित्तं चेत्यर्थः, व्रजन्, तस्यैव ग्रामस्य सत्के, संघाटकान्तरे परग्रामे वा (खंतियाईणं) जनन्यादीनाम्। (अप्पाहणिं) संदेशं कथयति। यथा सा ते माता अमुकं भणति, स वा ते पिता इदं भणति।

संप्रति स्वग्रामपरग्रामविषयां लोकोत्तरे छन्नां दूतीमाह–

दूइत्तं खु गरहियं, अप्पाहिउ विइयपच्चया भणइ।
अविकोविया सुया ते, जा इह इमं भणसु खंतिं ॥

कोऽपि साधुः कस्याश्चित् पुत्रिकाया अप्पाहितः संदिष्टः सन् एवं चिन्तयति दूतीत्वं खलु गर्हितं, सावद्यत्वात्, तत एवं विचिन्त्य द्वितीयप्रत्ययाद् द्वितीयसंघाटकसाधुर्मा दूतीदोषदुष्टं सीदयत्येवमर्थं भङ्ग्यन्तरेणेदं भणति–यथा अविकोविदा अकुशला जिनशासने सा तव सुता, या इह इदं भणमदीयां खन्तीं जननीमिति। साऽप्यवगतार्थसंदेशका द्वितीयसंघाटकसाधुचित्तरक्षणार्थमेवं भणितिवारयिष्यामि तां निजसुतां येन पुनरेवं न संदिशतीति।

संप्रति स्वग्रामपरग्रामविषयामुभयपक्षप्रच्छन्नां दूतीमाह–

उभए वि य पच्छन्ना, खंत कहेज्जाहि खंतियाऐं तुमं।
तं तह संजायं ति य, तहेव अह तं करेज्जासि ॥

उभयस्मिन्नपि च लोकलोकोत्तररूपे पक्षे प्रच्छन्ना दूती इयं यथा (खंत त्ति) विभक्तिलोपात् खन्तस्य पितुः, अथवा खन्तिकाया जनन्यास्त्वं कथय–यथा तद्विदितं विवक्षितं कार्यं तथैव संजातम्। अथवा–तद् विवक्षितं तथैव कुर्यात्।

संप्रति प्रकटपरग्रामदूतीमाश्रित्य दोषान् दृष्टान्तेनोपदर्शयति–

गामाण दोण्ह वेरं, सेज्जायरि बूय तत्थ खंतस्स।
बहुपरियणखंतऽब्भ–त्थणं च नाए कए जुद्धं ॥
जामाइपुत्तपतिमा–रणं च केई कहिंति जणवाओ।
जामाइपुत्तपइमा–रणं च खंतेण मे सिट्ठं ॥

विस्तीर्णो नाम ग्रामः, तस्योपकण्ठे गोकुलाभिधो ग्रामः, विस्तीर्णग्रामे च धनदत्तो नाम कुटुम्बी, तस्य भार्या प्रियमती, तस्या दुहिता देवकी, सा च तस्मिन्नेव ग्रामे सुन्दरेण परिणीता, तस्याः

पुत्रो बलिष्ठो, दुहिता रेवती। सा च गोकुलग्रामे संगमेन परिणीता, प्रियमती स्वाऽऽयुःक्षयात् पञ्चत्वमुपगता, धनदत्तोऽपि संसारभयभीतः प्रव्रज्याम-ग्रहीत्, गुरुभिश्च सार्द्धं विहरति। ततः कालान्तरे पुनरपि यथाविहारक्रमं तत्रैव ग्रामे समागतो निजदुहितुर्देवक्या वसतावस्थात्। तदानीं च तयोर्द्वयोरपि ग्रामयोः परस्परं नैरं वर्तते स्म। विस्तीर्णग्रामवासिना च गोकुलेन गोकुलग्रामस्योपरि धाटी सूत्रिता, धनदत्तश्च तन्निवारणाय ग्रामे भिक्षार्थं व्रजितवांस्ततो देवक्या दुहित्र्या शय्यातर्या भणितः यथा हे पितः! त्वं गोकुलग्रामे यास्यसि, ततो निजदौहित्र्या रेवत्याः कथययथा तव जनन्या सदिष्टम्–अयं ग्रामस्योपरि छन्नधाट्या समागमिष्यति, ततः सकलमपि स्वकीयमेकान्ते स्थापयेरिति। ततः साधुना मिव तस्यै कथितं, त्या च निजभर्तुः, तेन च सकलग्रामस्य कथितम्। ततः सर्वोऽपि ग्रामः सन्नद्धबद्धकवचोऽभवत्, आगतश्च द्वितीयदिने धाट्या विस्तीर्णग्रामो, जातं परस्परं महद्युद्धम्, तत्र सुन्दरो बलिष्ठश्च धाट्या सह गतः, संगमश्च गोकुलग्रामे वसति, त्रयोऽपि च युद्धे पञ्चत्वमुपजग्मुः, देवकी च पतिपुत्रजामातृमरणमाकर्ण्य विह्वलितुं प्रावर्तिष्ट, लोकश्च तन्निवारणाय समागतोऽवादीत्–यदि गोकुलग्रामो धाटीमागच्छन्तीं नाज्ञास्यत, ततोऽस–न्नद्धो वायोत्स्यत्। तथा च न पत्यादयो म्रियेरन्। ततः केन दुरात्मना गोकुलग्रामो ज्ञापितः? एतच्च लोकस्य वचः श्रुत्वा संजातकोपा सौवग्गवादीत् मया अजानन्त्या पितादुहितुः संदिष्टं ततस्तेन साधुवेष-विडम्बकेन मत्पतिपुत्रजामातृमारकेण पित्रा ज्ञापितः। ततः स लोके स्थाने स्थाने धिक्कारं लभते, प्रवचनस्य च मालिन्यमुदपादि। सूत्रं सुगगग्। पिं० पञ्चा० । ध० ग० दर्श० नि०चू० दूतनिश्रायां च। व०१ उ०।

दूईपिंड-पुं०(दूतीपिण्ड) कार्यसङ्घटनाय दूत्यं विधत इति दूतीपिण्डः। द्वितीये उत्पादनादोषे, आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ०६उ०।

जे भिक्खू दूईपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥६०॥

गिहिसंदेसगं णेति, आणेति वा, जं तण्णिमित्तं पिंडं लभति, सो दूतीपिंडो।

गाहा–

जे भिक्खू दूतिपिंडं, गेण्हेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१३६॥

अप्पणा गेण्हति, अण्णं वा गेण्हंतं अणुजाणाति, तस्सा आणादिया दोसा, चउलहुं च पच्छित्तं।

(अश्रेतन्पाठस्तु पिण्डनिर्युक्तिपाठतो गतार्थः)

नवरं विसियपदे इमेहिं कारणेहिं करेज्जा–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अद्धाणरोहए वा, कुज्जा तं वा वि जयणाए ॥१४२॥

पूर्ववत् कण्ठ्यः। नि०चू० १३ उ०।

दूण-(देशी) हस्तिनि, दे०ना० ५ वर्ग ४४ गाथा।

दूत-पुं०(दूत) अन्येषां ज्ञात्वा राजाऽऽदेशनिवेदके, औ० रा० कल्प० ज्ञा० भ०।

दूतविज्जा-स्त्री०(दूतविद्या) विद्याभेदे, व्य०१ उ०। काचिद् दूतविद्या भवति, तया च दूतविद्यया यो दूत आगच्छति, तस्य देशस्थानमापद्यते, तेनेतरस्य देशस्थानमुपशाम्यति। व्य०५ उ०।

दूभगसत्ता-स्त्री०(दुर्भगसत्त्वा) दुर्भगः सत्त्वः प्राणी यस्याः सा तथा। दुर्भगप्राणिकायां योषिति, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०।

दूभगनिंबोलिया-स्त्री०(दुर्भगनिम्बगुलिका) निम्बगुलिकेव निम्ब-फलमिव अत्यनादेयत्वसाधर्म्याद् दुर्भगानां मध्ये निम्बगुलिका दुर्भगनिम्बगुलिका। दुर्भगत्वान्निम्बगुलिकावदनादेयायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६अ०।

***दुर्भगनिर्वोलिता**-स्त्री०। दुर्भगानां मध्ये निर्वोलिता निर्मथिता निमज्जिता दुर्भगनिर्वोलिता। दुर्भगानां मध्ये निमज्जितायाम्, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०।

दूमग-त्रि०(दावक) उपतापके, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

दूमण-न०(दवन) उपतापने, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

***धवलन**-न०। श्वेतकिरणे, व्य० ४ उ०।

***दुर्मनस्**-त्रि०।न०। दुष्टमनसि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २उ०।

दूमिअ-त्रि०(धवलित) **''धवलेर्दुमः''** ॥८।४।२४॥ इति धवलयते-र्ण्यन्तस्य दुमादेशे **''स्वराणां स्वरा बहुलम्''** ॥८।४।२३८॥ इति दीर्घत्वम्। 'दूमिअं।' प्रा० ४ पाद। सेट्यादिना श्वेतीकृते, ध० ३ अधि०। कल्प०। ज्ञा०। नि०चू०। दूमिया नाम सुकुमारलेपेन सुकुमारीकृतकुड्या, सेटिकया धवलीकृता वा। बृ०१ उ०।

दूमिय-त्रि०(धवलित) 'दूमिअ' शब्दार्थे, प्रा०४ पाद।

दूय-पुं०(दूत) अन्येषां गत्वा राजाऽऽदेशनिवेदके, भ०७ श० ६उ०। औ०।

दूयकम्म-न०(दूतकर्म) द्वितीये उत्पादनादोषे, उत्त० २४ अ०। यदा गृहस्थगृहे गुप्तप्रकटसमाचारान् स्वजनाऽऽदीनां कथयित्वाऽऽहारं गृह्णाति तदा दूत्तकर्माऽऽख्यो द्वितीयो दोषः। उत्त०। २४ अ०।

दूयपलास-न०(दूतपलाश) वाणिजक ग्रामनगरस्येशानकोणे स्व-नामख्याते चैत्ये, उपा० १अ०।

दूयविज्जा-स्त्री०(दूतविद्या) विद्याभेदे, व्य० १ उ०।

दूर-त्रि०(दूर) विप्रकृष्टे, भ०१ श०१उ०। नि०चू०। अगोचरे च। भ०२ श०१ उ०। विप्रकर्षे, ज्ञा०१ श्रु०१ श्रु० १ अ०। नि०। अत्यर्थे च। स०। दीर्घकाले, दूरवर्तित्वान्मोक्षे च। पुं०। सूत्र० १ श्रु० २अ०२उ०।

दूरगइय-त्रि०(दूरगतिक) सौधर्माऽऽदिगतिकेषु, स्था०८ ठा०।

दूरपाय-न०(दूरपात) दूरात्पतने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

दूरय-त्रि०(दूरग) असमीपवर्तिनि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०२उ०।

दूरसुच्चंत-त्रि०(दूरश्रूयमाण) दूरे श्रूयमाणे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

दूरालइय-त्रि०(दूरालयिक) दूरालयो मोक्षस्तन्मार्गो वा, स विद्यते यस्येति मत्वर्थीयष्ठन्, दूरालयिकः। मोक्षगामिनि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

दूरालय-पुं०(दूरालय) मोक्षे, मोक्षमार्गे च। आचा० १ श्रु० ३ अ०३ उ०।

दूरह्व-त्रि०(दूरवत्) दूरस्थे, आव०४ अ०।

दूरुहइत्ता-अव्य०(दुरारुह्य) दुष्टमारुह्येत्यर्थे, उपा०२ अ०।

दूरुहमाणी-स्त्री०(दुरारोहन्ती) दुष्टमारोहन्त्याम्, दश० ५ अ०१उ०।

दूस-धा०(दुष) दिवा०-पर०-अक०-अनिट्। वैकृत्ये, वाच०। **''रुषाऽऽदीनां दीर्घः''** ॥८।४।२३५॥ इति स्वरस्य दीर्घः। 'दूसइ।' प्रा०४ पाद। दुष्यति। अदुषत्। अदुक्ष्यत्। वाच०।

***दूष्य**-न०। तन्तुसन्तानसम्भवे, जं०२ वक्ष०। वस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। उत्त०। आचा०। आ०म०। नि०चू०। आच्छादनवस्त्रे, औ०। वस्त्रजातौ, जी०३ प्रति०४ उ०। चीवांशुकाऽऽदौ च। सूत्र०२ श्रु०२ अ०। प्रव०।

दूसंतर-न०(दूष्यन्तर) वस्त्ररचितभित्त्यन्तरे, उत्त० १६ अ०।

दूसगणि (ण्)-पुं०(दूष्यगणिन्) नन्द्यध्ययनकर्तुर्देववाचकस्य स्वनामख्याते गुरौ, नं०।

दूसण-न०(दूषण) दूष-णिच्-ल्युट्। कलङ्के, तं०। रावणस्य मातृष्वस्रेये भ्रातरि च। वाच०।

दूसपट्टपरिपूय-न०(दूष्यपट्टपूरिपूत) वस्त्रपट्टगालिते, तं०।

दूसपणग-न०(दूष्यपञ्चक) वस्त्रपञ्चके, दश०।

दुविहं च दूसपणगं, समासओ तं पि होइ नायव्वं।
अप्पडिलेहिय दूसं, दुप्पडिलेहं च विण्णेयं ॥८॥ दश०१अ०।
अप्पडिलेहियदूसे, तूली उवहाणय च णायव्वं।
गंडुवधाणाऽऽलिंगिणि, मसूरए चेव पोत्तमए ॥६८४॥

दूष्यं वस्त्रं तद् द्विविधम्। अप्रत्युपेक्ष्यं, दुष्प्रत्युपेक्षं च। तत्र यत्सर्वथाऽपि न प्रत्युपेक्षितं शक्यते तदप्रत्युपेक्ष्यम्, यच्च सम्यक् न शक्यते प्रत्युपेक्षितुं तद् दुःप्रत्युपेक्ष्यम्। तत्र अप्रत्युपेक्षित-दूष्यपञ्चकं यथा-तूलीसुसंस्कृतो रूतभृतोऽर्कतूलाऽऽदिभृतो वा विस्तीर्णः शयनीयविशेषः। तथा उपधानकं हंसरोमाऽऽदिपूर्णमुच्छीर्षकम्। तथा उपधानकस्योपरि कपोलप्रदेशे या दीयते सा गण्डोपधानिका, गल्लमसूरिकेत्यर्थः। तथा जानुकूर्पराऽऽदिषु या दीयते सा आलिङ्गिनी। तथा वस्त्रकृतं चर्म्मकृतं वा वृत्तं रूताऽऽदिपूर्णमासनं मसूरकः। एतानि सर्वाण्यपि पोतमयानि वस्त्रमयानि प्रायेणेति।

अथ दुष्प्रत्युपेक्षितपञ्चकमाह-

पल्हवि कोयवि पावारग तवए तह य दाढगाली य।
दुप्पडिलेहियदूसे, एयं वीयं भवे पणगं ॥६८५॥

पह्लविः, कोयविः, प्रावारकः, तवकं, तथा दृढगालिश्च, एतद् दुष्प्रत्युपेक्षितदूष्यविषयं द्वितीयं पञ्चकं भवेत्।

अथैतदेव व्याख्यानयन्नाह-

पल्हवि हत्थुत्थरणं, कोयविओ रूयपूरिओ पडओ।
दढगालि धोयपोती, सेस पसिद्धा भवे भेदा ॥६८६॥

पह्लविर्हस्त्यास्तरणं हस्तिनः पृष्ठे यदास्तीर्यते, खरड इत्यर्थः। ये चान्ये आस्तरकाऽऽदयोऽल्परोमयुक्ता बहुरोमयुक्ता वा ते सर्वेऽप्यन्तर्भवति। यदुक्तं निशीथचूर्णौ- ''जे य वड्डा अत्थरगा इच्चाइमाण-भेदा मउरोमा उब्भूतरोमा वा, ते सव्वे इत्थ निवयंति त्ति।'' (वड्डाअत्थरग त्ति) यः किल उष्ट्रोपरि न्यस्यते। तथा कोयविको रुतपूरितः पटः, बूरुढीति यदुच्यते। ये चान्ये उल्लणरोमाणो नेपालकम्बलप्रभृतयस्ते सर्वेऽत्रान्तर्भवन्ति। उक्तं च - ''जे अन्ने एवमाइभेदा उल्लणरोमा कंबलगादि ते सव्वे इत्थ निवयंति।'' तथा-दृढगालिर्धौतिपोतिका ब्राह्मणानां संबन्धि सदशपरिधानवस्त्र-मित्यर्थः। ये चान्ये द्विसरसूत्रपटीप्रभृतयो भेदास्ते सर्वेऽत्र निपतन्ति। उक्तं च - ''विरलिमाई भूरिभेदा सव्वे एत्थ निवयंति त्ति।'' (विरलिमादि त्ति) दोरियाप्रमुखा, शेषौ च प्रावारकतवकलक्षणौ प्रसि-द्धावेव भेदौ। तत्र प्रावरकः सलोमकः पटः। स च माणिकाप्रभृतिकः। अन्ये तु प्रावारको बृहत्कम्बलः परियत्थिर्वेत्याहुः। प्रव०८ द्वार। बृ०। अप्रतिलेखितदूष्यपञ्चके चैकाशनकम्। त्रसवधेऽपि तदेव प्रायश्चित्तम्। जीत०।

दूसमा-स्त्री०(दुःषमा) 'दुसमा' शब्दार्थे, भ०६ श०६ उ०।

दूसमित्त-पुं०(दूष्यमित्र) पाटलिपुत्रे मौर्य्यवंशनाशे सत्यभिषिक्ते स्वनामख्याते राजनि, ती०२० कल्प।

दूसरणाम-न०(दुःस्वरनाम) 'दुसरणाम' शब्दार्थे, कर्म० ६ कर्म०।

दूसरयण-न०(दूष्यरत्न) प्रधानवस्त्रे, द्वा० १ श्रु०१ श०। कल्प०। औ०।

दूसल-(देशी) दुर्भगे, दे०ना० ५ वर्ग ४३ गाथा।

दूसह-पुं०(दुस्सह) 'दुसह' शब्दार्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

दूसासण-पुं०(दुःशासन) **''लुप्तयरवशषसां षसां दीर्घः''** ॥८।१।४३॥ इति प्राकृतलक्षणवशादुपरि लुप्तशकारस्य शस्याऽऽदेः स्वरस्य दीर्घः। 'दूसासणे।' प्रा० १ पाद। सनामख्याते दुर्योधनभ्रातरि, वाच०।

दूसिय-त्रि०(दूषित) दत्तदूषणे, प्राप्तदूषणे, अभिशस्ते, मैथुनापवाद-युक्ते, वाच०। औ०।

दूसियपंडग-पुं०(दूषितपण्डक) पण्डकभेदे, दूषितपण्डको द्विविधः-आसिक्तः, उपसिक्तश्च। बृ०। उपघातपण्डकोऽपि द्विविधोवेदोपघाते, उपकरणोपघाते च।

तत्र दूषितं पण्डकं तावद्व्याख्यानयति-

दूसियवेओ दूसिय, दोसु वि वेएसु सज्जए दूसी।
दूसेति सेसवेदो, दोसु व सेविज्जए दूसी॥

दूषितो वेदो यस्य स दूषितवेदः, एष दूषित उच्यते। द्वयोर्वा नपुंसक-पुरुषवेदयोः, अथवा नपुंसकस्त्रीवेदयोर्यः सज्जयति प्रसङ्गं करोति, स प्राकृतशैल्या दूषी भण्यते। यो वा शेषौ स्त्रीपुरुषवेदौ दूषयति निन्दति स दूषी, द्वाभ्यां वा-आस्यकपोलकाभ्यां यः सेव्यते, सेवते वा स दूषी।

अस्यैव भेदानाह-

आसित्तो ऊसित्तो, दुविहो दूसी उ होइ नायव्वो।

आसित्तो सावच्चो, अणवच्चो होइ ऊसित्तो ॥

स दूषी द्विविधो ज्ञातव्यो भवति– आसिक्तः, उपसिक्तश्च। आसिक्तो नाम–सापत्यो यस्यापत्यमुत्पद्यते, सबीज इति भावः। यस्तु निरपत्योऽपत्योत्पादने सामर्थ्यविकलो, निर्बीज इत्यर्थः। स उपसिक्त उच्यते। बृ० ४ उ० नि०चू०। पं०भा०। पं०चू०।

दूसिया-स्त्री०(दूषिका) दूषयति नेत्रं क्लिन्नं करोति। दूष–णिच्–ण्वुल् वाच०। नेत्रयोर्मले, नि०चू० ३ उ०। स्था०।

दूसहल-(देशी) दुर्भगे, दे०ना० ५ वर्ग ४३ गाथा।

दूहट्ट-(देशी) लज्जादुर्मनसि, दे०ना० ५ वर्ग ४८ गाथा।

दूहव-त्रि०(दुर्भग) **''उत्वे दुर्भगसुभगे वः''** ॥८।२।१६२॥ इति गस्य वः। 'दूहवो।' अल्पभाग्ये, प्रा०१ पाद।

दे-अव्य०(दे) **''दे संमुखीकरणे च।''** ॥८।२।१६६॥ संमुखीकरणं संख्या आमन्त्रणे च दे इति प्रत्युज्यते। ''दे परिअ ताव सुंदरि ! दे आपसिअ निअत्तसु।'' प्रा०२ पाद।

देअर-पुं०(देवर) **''कगचजतदपयवां०–** ॥८।१।१७७॥ इत्यादिना वलुक्। 'देअरो।' प्रा०१ पाद। वाच०। अनु०।

देउल-न०(देवकुल) **''यावत्तावज्जीविताऽऽवर्त्तमानाऽऽवटप्रावार-कदेवकुलैव-मेवैवः''** ॥८।२।२७१॥ इति सव्वरस्य वकारस्यान्तर्वर्त्तमानस्य वा लुक्। 'देउलं।' प्रा०२ पाद। देवस्थाने, आ०म० १ अ० २खण्ड। रा०।

देउलदरिसण-न०(देवकुलदर्शन) देवप्रतिमादर्शने, पिं०।

देउलिया-स्त्री०(देवकुलिका) यक्षाऽऽदीनामावतने, बृ०१ उ०२ प्रक०। देवकुलपरिपालके, न०। ओघ०।

देक्ख-धा०(दृश) भ्वा०–पर०–सक०–अनिट्। चाक्षुषज्ञाने, वाच०। **''दृशो नियच्छपेच्छ०–''** ॥८।४।१८१॥ इत्यादिना देक्खाऽऽदेशः। 'देक्खइ।' प्रा०४ पाद। पश्यति। अदर्शत्। अद्राक्षीत्। वाच०।

देज्ज-त्रि०(देय) दातुं योग्ये, षो० १२ विव०।

देप्पिणु-अव्य०(दत्त्वा) **''एप्प्येप्पिएवेव्येविणवः''** ॥८।४।४४०॥ इत्यपभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्यैपिण्वादेशः। दानं कृत्वेत्यर्थे, 'जेप्पि असेसु कसायबलु, देप्पिणु अभउ जयस्सु।' प्रा०४ पाद। अशेषकषायबलं जित्वा जगतोऽभयं दत्त्वा। प्रा० दुं० ४ पाद।

देयड-पुं०(दृतिकार) शिल्पाऽऽचार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद। ज्ञा०।

देर-न०(द्वार) **''द्वारे वा''** ॥८।१।७६॥ इति द्वारशब्दे आत एट्वा। 'देरं।' वक्षे–दुआरं। दारं। वारं।' निर्गमप्रवेशमुखे, प्रा० १ पाद।

देलमहत्तर-पुं०(देलमहत्तर) सूराऽऽचार्यशिष्ये दुर्गस्वामिगुरौ, अयमाचार्यो ज्योतिर्निमित्तशास्त्रेषु अतिविद्वानासीत्। जै०इ०।

देव-पुं०–न०(देव) **''गुणाऽऽदयः क्लीबे वा''** ॥८।१।३४॥ इति वा क्लीबत्वम्। 'देवाणि।' देवाः। प्रा०१ पाद। दीव्यन्ति निरुपमक्रीडामनुभवन्तीति देवाः। नं०। दश०। स्था०। दिव्यन्ति यथेच्छं क्रीडन्तीति देवाः। आ०म० १अ०१ खण्ड। प्रज्ञा०। स्था०। दीव्यन्ति स्वरूपे इति देवाः। अष्ट०२६अष्ट०।

तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा। तं जहा– माणुस्सगं भवं, आरिए खेत्ते जम्मं, सुकुलपच्चायाइं।

(पीहेज्ज त्ति) स्पृहयेदभिलषेत्। आर्यक्षेत्रमर्द्धमर्द्धषड्विंशतिजनपदानामन्यतरं मगधाऽऽदिसुकुले इक्ष्वाकादौ देवलोकात्प्रति निवृत्तस्याजातिर्जन्म, आयातिर्वा आगतिः, सुकुलप्रत्याजातिः, सुकुलप्रत्यायातिर्वा, तामिति। स्था० ३ ठा० ३ उ०। (देवपरितापः 'परिताव' शब्दे वक्ष्यते)

इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं देवे चइस्सामि त्ति जाणइ– विमाणाभरणाइं णिप्पभाइं पासित्ता, कप्परुक्खगं मिलायमाणं पासित्ता, अप्पणो तेयलेस्सं परिहायमाणं जाणित्ता।

विमानाऽऽभरणानां निष्प्रभत्वमौत्पातिकं, तच्चक्षुर्विभ्रमरूपम्। (कप्परुक्खगं ति) चैत्यवृक्षम्, (तेयलेस्सं ति) शरीरदीप्तिं, सुखासिकां वा। 'इच्चेएहिं इत्यादिनिगमनम्। भवन्ति चैवंविधानि लिङ्गानि देवानां च्यवनकाले। उक्तं च– ''माल्यम्लानिः कल्पवृक्षप्रकम्पः, श्रीह्रीनाशो वाससां चोपरागः। दैन्यं तन्द्रा कामरागाङ्गभङ्गो, दृष्टेर्भ्रान्तिर्वेपथु-श्चारतिश्च ॥१॥'' इति। स्था० ३ ठा० ३ उ०। दीव्यन्ति क्रीडादिधर्मभाजो भवन्ति, दीव्यन्ते स्तूयन्ते ये ते देवाः। स्था० ४ठा० १ उ०। ''दिवु'' क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिष्विति दिवेरच्प्रत्यये देव इति सिद्धम्। दश० १ अ०। भवनपत्यादिषु, आ०म० १ अ०२ खण्ड। आव०। आ०चू०। दर्श०। ओघ०। पिं०। स०। स्था०। द्वा०। प्रज्ञा०। औ०। सूत्र०। उत्त०। विशे०। ज्योतिष्कवैमानिकेषु, उत्त० १६ अ०। अनुत्तरसुरान्तेषु, औ०।

देवानामस्तित्वं, साधयन्सप्तमं गणधरं मौर्यं प्रत्याह भगवादान्महावीरः–

ते पव्वइए सोउं, मोरिओ आगच्छइ जिणसगासं।
वच्चामि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१८६४॥
आभट्ठो य जिणेणं, जाइजरामरविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसी णं ॥१८६५॥

गाथाद्वयमपि प्रकटार्थम् ॥१८६४॥ १८६५॥

आभाष्य ततः किमुक्तः? इत्याह–

किं मण्णे अत्थि देवा, उयाहु नत्थि त्ति संसओ तुज्झ।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो ॥१८६६॥

हे आयुष्मन् मौर्य ! त्वमेवं मन्यसे–किं देवाः सन्ति, न वेति, उभयथाऽपि वेदपदश्रवणात्? तथाहि– ''स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति।'' इत्यादि। तथा– ''अपाम सोममृता अभूम, अगमन् ज्योतिरविदाम देवान्, किं नूनमस्मात्तृणवदरातिः, किमु मूर्त्तिममृतमर्त्यस्य।'' इत्यादि। तथा 'को जानाति मायोपमान् देवान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुबेराऽऽदीन्।' इत्यादि। एतेषां च वेदपदानामयमर्थस्तव बुद्धौ प्रतिभासते, यथा स एष यज्ञ एव दुरितवारणक्षमत्वादायुधं प्रहरणं यस्यासौ यज्ञायुधी, यजमानोऽञ्जसा प्रगुणेन न्यायेन स्वर्गलोकं गच्छति, इति देवसत्ताप्रतिपत्तिः। तथा अपामपीतवन्तः, सोमं लतारसम्, अमृता अमरणधर्माणः, अभूम भूताः स्म, अगमन् गताः, ज्योतिः स्वर्गम्, अविदाम देवान्देवत्वं प्राप्ताः स्म, किं नूनमस्मादूर्द्धं तृणवत्करिष्यति, कोऽसावित्या–

ह–अरातिः व्याधिः, तथा किमु प्रश्ने,मूर्ति जराम्, अमृतमर्त्यस्ये ति–अमृतत्वं प्राप्तस्य मर्त्यस्य, पुरुषस्येत्यर्थः। अमरणधर्मिणो मनुष्यस्य किं करिष्यन्ति जराव्याधय इति भावः। अत्रापि देवसत्ताप्रतिपत्तिः। ''को जानाति मायोपमान्'' इत्यादीनि तु देवाभावप्रतिपादकानि, अतस्तव संशयः। अयुक्तश्चायम्। यतोऽमीषां वेदपदानामर्थं त्वं न जानासि, चशब्दाद्युक्तिं च न वेत्सि। एतेषां हि वेदपदानां नायमर्थो, यस्तवाभिप्रेतः, किं त्वयं वक्ष्यमाणलक्षण इति।

अत्र भाष्यम्–

तं मन्नसि नेरइया, परतंता दुक्खसंपहत्ता य।
न तरंतीहागंतुं, सद्धेया सुव्वमाणा वि ॥१८६७॥
सच्छंदयारिणो पुण, देवा दिव्वप्पभावजुत्ता य।
जं न कयाइ वि दसिण–मुवें ति तो संसओ तेसु ॥१८६८॥

मौर्य! त्वमेवं मन्यसे–नारकाः स्वकृतपापनरकपाला-ऽऽदिपरतन्त्राः पराधीनवृत्तयोऽतीवदुःखसंघातविह्वलाश्च न शक्नुवन्त्यत्राऽऽगन्तुमतः प्रत्यक्षीकरणोपायाभावात् श्रूयमाणा अपि श्रद्धेया भवन्तु, देवास्तु स्वच्छन्दचारिणो दिव्यप्रभावयुक्ताश्च तथाऽपि यस्मान्न कदाचिद्दर्शनपथमवतरन्ति, श्रूयन्ते च श्रुतिस्मृत्यादिषु, अतस्तेषु शङ्केति ॥१८६७॥ १८६८॥

अत्रोत्तरमाह–

मा कुरु संसयमेए, सुदूरमणुयाइभिन्नजाईए।
पेच्छसु पच्चक्खं चिय, चउव्विहे देवसंघाए ॥१८६९॥

मौर्यपुत्र! देवेषु मा संशयं कार्षीस्त्वम्, एतानेव हि सुदूरमत्यर्थं मनुजाऽऽदिभ्यो भिन्नजातीयान् दिव्याऽऽभरणविलेपनवसनसुमनोमालाऽलङ्कृतान् भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकलक्षणांश्चतुर्विधदेवसंघातान् मम वन्दनार्थमिहैव समवसरणाऽऽगतान् प्रत्यक्षत एव पश्येति ॥१८६९॥

अथैतद्दर्शनात्पूर्वं य आसीत्संशयः, स युक्तोऽभवत्।

नैवम्। कुतः ? इत्याह–

पुव्वं पि न संदेहो, जुत्तो जं जोइसा सपच्चक्खं।
दीसंति तक्कया वि य, उवघायानुग्गहा जगओ ॥१८७०॥

इह समवसरणाऽऽगतदेवदर्शनात्पूर्वमपि तवान्येषां च संशयो न युक्तो, यद्यस्माच्चन्द्राऽऽदित्याऽऽदिज्योतिष्कास्त्वया सर्वेणापि च लोकेन स्वप्रत्यक्षत एव सर्वथा दृश्यन्ते, अतो देशतः प्रत्यक्षत्वात् कथं समस्तामरास्तित्वशङ्का? किं च–सन्त्येव देवाः, लोकस्य तत्कृतानुग्रहोपघातदर्शनात्। तथाहि– दृश्यन्ते क्वचित्केचित्त्रिदशाः कस्याऽपि किञ्चिद्विभवप्रदानाऽऽदिनाऽनुग्रहं, तत्प्रहरणाऽऽदिना चोपघातं कुर्वन्तः, ततो राजाऽऽदिवत्कथमेते न सन्तीति ॥१८७०॥

पुनरपि परमाशङ्क्य ज्योतिष्कदेवास्तित्वं साधयन्नाह–

आलयमेत्तं च मई, पुरं व तव्वासिणो तह वि सिद्धा।
जे ते देव त्ति मया, न य निलया निच्चपरिसुण्णा ॥१८७१॥

अथैवंभूता मतिः परस्य भवेत्– आलया एव आलयमात्रं चन्द्राऽऽदिविमानानि, न तु देवाः, तत्कथं ज्योतिष्कदेवानां प्रत्यक्षत्वमभिधीयते? किं तद्यथा आलयमात्रमित्याह– (पुरं ति) यथा पुरं शून्यं लोकानामालयमात्रं स्थानमात्रं, न तु तत्र लोकाः सन्ति, एवं चन्द्राऽऽदिविमानान्यप्यालयमात्रमेव, न तु तत्र देवाः केचित्तिष्ठन्ति, अतः कथं तेषां प्रत्यक्षत्वम्? अत्रोत्तरमाह– तथाऽपि तद्वासिन आलयवासिनः सामर्थ्याद्धि सिद्धास्ते देवा इति मताः संमताः। यो ह्यालयः स सर्वोऽपि तन्निवासिना अधिष्ठितो दृष्टः, यथा प्रत्यक्षोपलभ्यमाना देवदत्ताऽऽद्यधिष्ठिता वसन्तपुराऽऽद्यालयाः, आलयाश्च ज्योतिष्कविमानान्यत आलयत्वान्यथानुपपत्तेर्ये तन्निवासिनः सिद्धास्ते देवा इति मताः। आह– नुन कथं ते देवाः सिद्ध्यन्ति ? यादृशा हि प्रत्यक्षेण देवदत्ताऽऽदयो दृश्यन्ते तेऽपि तादृशा एव स्युरिति। तदयुक्तम्। विशिष्टा हि देवदत्ताद्यालयेभ्यश्चन्द्राद्यालया इत्यतस्तन्निवासिनोऽपि विशिष्टाः सिध्यन्ति, ते च देवदत्ताऽऽदिविलक्षणा देवा इति।

अपरस्त्वाह– नन्वालयत्वादित्ययं हेतुस्तन्निवासिजन-साधनेऽनैकान्तिकः, शून्याऽऽलयैर्व्यभिचारात्। अत्रोत्तरमाह– (न य निलयेत्यादि) न च निलया आलया नित्यमेव शून्या भवन्ति। अयमभिप्रायः– ये केचिदालयास्ते प्राग्, इदानीमेष्यति वा कालेऽवश्यमेव तन्निवासिभिरधिष्ठिता एव भवन्ति, न तु नित्यमेव परिशून्याः। ततो यदा तदा वा चन्द्राऽऽद्यालयनिवासिनो देवाः सिध्यन्ति, इति ॥१८७१॥

पुनरप्यत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहारमाह–

को जाणइ व किमेयं, ति होज्ज निस्संसयं विमाणाइं।
रयणमयनभोगमना– दिह जह विज्जाहराईणं ॥१८७२॥

यदि वा एवंभूता मतिः परस्य भवेद्यदुत– चन्द्राऽऽद्यालयत्वेन यदीयते भवद्भिस्तदिदं को जानाति किञ्चिद्भवेत्किं सूर्योऽग्निमयो गोलश्चन्द्रस्त्वप्बुमयः स्वभावतः स्वच्छः, आहोस्विदेवंभूता एवैते भास्वररत्नमया गोलका ज्योतिष्कविमानान्यतः कथमेतेषामालयत्वंसिद्धिः? अत्र प्रतिविधानमाह– निःसंशयं विमानान्येतानि, रत्नमयत्वे सति न भोगमनात्, पुष्पकाऽऽदिविद्याधरतपः सिद्धिविमानवदिति। अभ्रविकारपवनाऽऽदिव्यवच्छेदार्थं रत्नमयत्वविशेषणमिति ॥१८७२॥

अपरमपि पराभिप्राथमाशङ्क्य परिहरन्नाह–

होज्ज मई माएयं, तहा वि तक्कारिणो सुरा जे ते।
न य मायाइविगारा, पुरं व निच्चोवलंभाओ ॥१८७३॥

अथ परस्य मतिर्भवेन्नैते चन्द्राऽऽदिविमानान्यालयाः, किं तु मायेयं मायाविना केनाऽपि प्रयुक्ता। अत्रोच्यते– मायात्वमसीषामसिद्धं, वाङ्मात्रेणैव भवताऽभिधानात्तथाऽप्यभ्युपगम्योच्यते, ये तत्कारिणः तथाविधमायाप्रयोक्तारस्ते सुराः सिद्धा एव, मनुष्याऽऽदीनां तथाविधवैक्रियकरणादर्शनात्। अभ्युपगम्य च मायात्वममीषामभिहितं, न चैते मायाऽऽदिविकाराः, नित्योपलम्भात्, सर्वेण सर्वदा दृश्यमानत्वादित्यर्थः, प्रसिद्धपाटलिपुत्राऽऽदिपुरवदिति। मायेन्द्रजालकृतानि हि वस्तूनि न नित्यमुपलभ्यतन्त इति नित्यविशेषणोपादानमिति ॥१८७३॥

प्रकारान्तरेणाऽपि देवास्तित्वं साधयन्नाह–

जइ नारगा पवन्ना, पगिट्ठपावफलभोइणो तेणं।
सुबहुगपुण्णफलभुजो, पवत्तियव्वा सुरगणा वि ॥१८७४॥

इह स्वकृतप्रकृष्टपापफलभोगिनस्तावत्क्वचिन्नारकाः प्रतिपत्तव्याः, ते च यदि प्रपन्नाः (तेणं ति) तर्हि तेनैव प्रकारेण स्वोपार्जितसुष्ठु बहुक-पुण्यफलभुजः सुरगणा अपि प्रतिपत्तव्याः। अत्राऽऽह– नन्विहैवातिदुःखितनरास्तिर्यञ्चश्चातिदुःखिताः प्रकृष्ट–

पापफलभुजो भविष्यन्ति, तथा मनुष्या एवातिसुखिताः प्रकृष्टपुण्यफलभुजो भविष्यन्ति, किमदृष्टनारकदेवपरिकल्पनयेति? तदयुक्तम्। प्रकृष्टपापफलभुजां सर्वप्रकारेणापि दुःखेन भवितव्यम्, न चातिदुःखितानामपि नरतिरश्चां सर्वप्रकारं दुःखं दृश्यते, सुखदपवनाऽऽलोकाऽऽदिसुखस्य सर्वेषामपि दर्शनात्। प्रकृष्टपुण्यफलभुजामपि सर्वप्रकारेणापि सुखेन भवितव्यम्, न चेहातिसुखितानामपि नराणां सर्वप्रकारं सुखमवलोक्यते, पूतिदेहोद्भवस्य रोगजराऽऽदिप्रभवस्य च दुःखस्य तेषामपि सद्भावात्, तस्मात्प्रकृष्टपापनिबन्धनसर्वप्रकारदुःखवेदिनो नारकाः, प्रकृष्टपुण्यहेतुकसर्वप्रकारसुखभोगिनो देवाश्चाभ्युपगन्तव्या एवेति ॥१८७४॥

ननु यदि देवाः सन्ति, तर्हि स्वच्छन्दचारिणोऽपि किमित्यत्र ते कदाचिदपि नाऽऽगच्छन्तीत्याह–

संकंतदिव्वपिम्मा, विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा।
अणहीनमणुयकज्जा, नरभवमसुभं न एंति सुरा ॥१८७५॥

नाऽऽगच्छन्तीह सदैव सुरगणाः, संक्रान्तदिव्यप्रेमत्वाद्विषयप्रसक्तत्वात्, प्रकृष्टरूपाऽऽदिगुणकामिनीप्रसक्तरम्यदेशान्तरगतपुरुषवत्, तथाऽसमाप्तकर्तव्यत्वाद्, बहुकर्तव्यताप्रसाधननियुक्तविनीतपुरुषवत्। तथा अनधीनं मनुजानां कार्यं येषां तेऽनधीनमनुजकार्याः, तद्भावस्तत्त्वं, तस्मान्नेहाऽऽगच्छन्ति सुराः, अनभिमतगृहाऽऽदौ निः सङ्गयतिवदिति। तथा अशुभत्वाद् नरभवस्य तद्गन्धासहिष्णुतया नेहाऽऽगच्छन्ति देवाः, स्वपरित्यक्तकलेवरवदिति ॥१८७५॥

तत्किसर्वथा तेऽत्र नाऽऽगच्छन्ति? नैवम्, अत एवाऽऽह–

नवरि जिणजम्मदिक्खा–केवलनिव्वाणमहनिओगेणं।
भत्तीए सोम्म! संसय–विच्छेयत्थं व एज्ज–सुरा ॥१८७६॥
पुव्वाणुरागओ वा, समयनिबंधा तवोगुणाओ वा।
नरगणपीडाऽणुग्गह–कंदप्पाईहिँ वा केइ ॥१८७७॥

नवरं जिनजन्मदीक्षाकेवलनिर्वाणमहोत्सवनियोगेन तत्कर्तव्यतानियमेनेह देवा आगच्छेयुः। तत्र सौम्य! केचिदिन्द्राऽऽदयो निजभक्त्या समागच्छन्ति, केचित्तु तदनुवृत्त्या, अन्ये संशयव्यवच्छेदार्थम्, अपरे तु पूर्वभविकपुत्रमित्राऽऽद्यनुरागात्, समयनिबन्धः प्रतिबोधाऽऽदिनिमित्तः संकेतनिश्चयः, तस्माच्च केचिद्देवा इहाऽऽगच्छन्ति, अन्ये तु महासत्त्वसाध्वादितयोगुणसमाकृष्टाः, केचित्तु पूर्ववैरिकनरगणपीडार्थम्, अपरे तु पूर्वसुहृत्पुत्राऽऽद्यनुग्रहार्थम्, केचिद्देवाः कन्दर्पाऽऽदिभिरिहाऽऽगच्छन्ति। आदिशब्दात्साध्वादिपरीक्षाहेतोरिति द्रष्टव्यमिति। तदेवं निरूपितं देवानामत्राऽऽगमनकारणम्, अनागमनकारणं च ॥१८७६॥ १८७७॥

अथ देवसिद्धावन्यदपि कारणमाह–

जाइस्सरकहणाओ, कासइ पच्चक्खदरिसणाओ य।
विज्जामंतोवायण–सिद्धीओ गहविगाराओ ॥१८७८॥
उक्किट्ठपुण्णसंचय–फलभावाओऽभिहाणसिद्धीओ।
सव्वाऽऽगमसिद्धाओ, य संति देव त्ति सद्धेयं ॥१८७९॥

सन्ति देवा इत्येतत् श्रद्धेयमिति प्रतिज्ञा, जातिस्मरणप्रत्ययितपुरुषेण कथनात्, नानादेशाविचारिप्रत्ययितपुरुषावलोकितकथितविचित्रबृहद्देवकुलाऽऽदिवस्तुवत्। तथा कस्याऽपि तपः प्रभृतिगुणयुक्तस्य प्रत्यक्षदर्शनप्रवृत्तेश्च, केनचित्प्रत्यक्षप्रमाणेनोपलम्भादित्यर्थः। दूरविप्रकृष्टनगराऽऽदिवत्। तथा विद्यामन्त्रोपयाचनेभ्यः कार्यसिद्धेः, प्रसादफलानुमितराजाऽऽदिवत्; तथा (गहविगाराउ त्ति) अत्र प्रयोगःग्रहाधिष्ठितपुरुषदेहो जीवव्यतिरिक्तादृश्यवस्त्वधिष्ठातृकः, पुरुषसंभाव्यविकारवत्क्रियादर्शनात्, संचरिष्णुयन्त्रव्यतिरिक्तमध्यप्रविष्टदृश्यमानपुरुषाधिष्ठितयन्त्रवत्। तथा तपोदानाऽऽदिक्रियासमुपार्जितोत्कृष्टपुण्यसंभारफसद्भावात्, उत्कृष्टपापप्राग्भारफलसद्भावनिश्चितनारकवत्। एतच्च प्रागेव भावितम्। तथा देवा इति यदभिधानं ततोऽपि च देवानां सिद्धिः। एतच्चानन्तरगाथायां व्यक्तीकरिष्यते। तथा सर्वेच ते आगमाश्च सर्वाऽऽगमास्तेष्वविप्रतिपत्त्या सिद्धत्वाच्च सन्ति देवा इति ॥१८७८॥१८७९॥

यदुक्तम्– ''अभिहाणसिद्धीउ (१८७९) त्ति'' तद्भावयन्नाह–

देव त्ति सत्थयमिदं सुद्धत्तणओ घडाभिहाणं व।
अह व मई मणुओ चिय, देवो गुणरिद्धिसंपन्नो ॥१८८०॥
तं न जओ तच्चत्थे, सिद्धे उवयारओ मया सिद्धी।
तच्चत्थसीहसिद्धे, माणवसीहोवयारो व्व ॥१८८१॥

'देवाः' इत्येतत्पदं सार्थकं, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदत्वात्, घटाऽऽदिवत्। तत्र दीव्यन्तीति देवा इति व्युत्पत्तिमत्त्वम्, समासतद्धितरहितत्वेन च शुद्धत्वम्। भावना चात्र प्रागुक्तैव। अथ परस्यमतिर्भवेन्ननु मनुष्य एवेह दृश्यमानो देवो भविष्यति, किमदृष्टदेवकल्पनया? किं सर्वोऽपि मनुष्यो देव इति। नेत्याह– गुणसंपन्नो गणधराऽऽदिः, रिद्धिसंपन्नश्चक्रवर्त्यादिः। अत्रोच्यते– तदेतन्न यस्मात्तथ्ये मुख्ये वस्तुनि क्वचित्सिद्धे सत्यन्यत्रोपचारतस्तत्सिद्धिर्मता, यथा मुख्ये यथार्थे सिंहेऽन्यत्र सिद्धे ततो माणवके सिंहोपचारः सिध्यति, एवमिहापि यदि मुख्या देवाः क्वचित्सिद्धा भवेयुस्तदा राजाऽऽदेर्देवोपचारो युज्यते, नान्यथेति ॥१८८०॥१८८१॥

देवाभावे चाग्निहोत्रक्रियाणां वैफल्यमिति दर्शयन्नाह–

देवाभावे विफलं, जमग्गिहोत्ताइयाण किरियाणं।
सग्गीयं जन्नाण य, दाणाइफलं च तदजुत्तं ॥१८८२॥

वा इत्यथवा, इदं दूषणम्– देवाभावेऽभ्युपगम्यमाने, यदग्निहोत्रादिक्रियाणाम्, ''अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'' इत्यादिना स्वर्गीयं फलमुक्तं, तथा यज्ञानां च यत्फलमभिहितं, दानाऽऽदिफलं च यत्समस्तलोकेप्रसिद्धम्, तत्सर्वमयुक्तं प्राप्नोति। स्वर्गो ह्येतेषां फलमुक्तं, स्वर्गिणां चाभावे कुतः स्वर्ग इति। ''स एष यज्ञायुधी'' इत्यादीनि च वेदवाक्यानि देवास्तित्वप्रतिपादनपराणि वर्त्तन्ते। अतः किं तान् न प्रतिपद्यसे? यद्यपि ''को जानाति मायोपमान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुबेराऽऽदीन्'' इत्यादि वाक्यं, तदपि नदेवानां नास्तित्वाभिधायकं, किन्तु सुराणामपि मायोपमत्वाभिधानेन शेषर्द्धिसमुदायानां सुतरामनित्यत्वप्रतिपादकं बोद्धव्यम्। अन्यथा हि देवास्तित्वप्रतिपादकवाक्यानि, श्रुतिमन्त्रपदैरिन्द्राऽऽदीनामाह्वानं चानर्थकं स्यात् ॥१८८२॥

एतदेवाऽऽह–

जमसोमसूरसुरगुरु– सारज्जाईणि जयइ जन्नेहिं।
मंतावाहणमेव य, इंदाईणं विहा सव्वं ॥१८८३॥

यमेत्यादिपूर्वार्द्धस्यायमर्थः– उक्थषोमशिप्रभृतिक्रतुभिर्यथाश्रुति ''यम–सोम–सूर्य–सुरगुरु–स्वाराज्यानि जयति'' इत्यादीनि देवा–

स्तित्वसूचकानि वेदवाक्यानि देवाभावे वृथैव स्युः। इह चोक्थषोडा-शप्रभृतयो यज्ञविशेषा मन्तव्याः, स यूपो यज्ञ एव हि क्रतुरुच्यते, यूपरहितस्तु दानाऽऽदिक्रियायुक्तो यज्ञ इति। स्वः स्वर्गस्तत्र राज्यानि जवत्युपार्जयतीत्यर्थ इति। तथा मन्त्रैरिन्द्राऽऽदीनामाह्वानं देवास्तित्व एवोपपद्यते, अन्यथा वृथैव स्यात्। इन्द्राऽऽदीनां मन्त्रपदैराह्वानमेवमव-गन्तव्यम्- ''इन्द्र! आगच्छ मेधातिथे मेषवृषण।'' इत्यादि। तस्माद्यु-क्तितो वेदवाक्येभ्यश्च सन्ति देवा इति स्थितम्। तदेवं छिन्नो गौर्यपुत्रस्य भगवता संशयः ॥१८८३॥ विशे०। सूत्र०। स्था०। आ०म०।

देवानां स्वरूपं यथा-

अमिलायमल्लदामा, अणिमिसनयणा य नीरजसरीरा।
चउरंगुलेण भूमिं, न पिसंति सुरा जिणो कहए।

सुरा देवाश्चतुर्निकायभाविनोऽपि अम्लानमाल्यदामानः, तथा न विद्यते निमेषो येषां ते, अनिमेषे नयने येषां ते अनिमेषनयनाः, तथा नीरजा निर्मलं शरीरं येषां ते नीरजशरीराः। चतुरङ्गुलेन चतुर्भिरङ्गुलैर्भूमिं न स्पृशन्ति इति जिनः सर्वज्ञः कथयति। व्य०२ उ०।

देवा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-एगसरीरी चेव, विसरीरी चेव। स्था०२ ठा० २ उ०।

देवाश्चतुर्विधास्तद्यथा-

से किं तं देवा? देवा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-भवणवासी, वाणमंतरा, जोइसिया, वेमाणिया॥

(से किं तमित्यादि) अथ के ते देवाः? सूरिराह- देवाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा- भवनवासिनो, व्यन्तराः, ज्योतिष्काः, वैमानिकाः। प्रज्ञा०१ पद। भ०। स०। जी०। उत्त०।

देवानाह-

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण।
भोमिज्ज वाणमंतर, जोइस वेमाणिया तहा ॥२०३॥

देवा उक्तनिरुक्ताश्चतुर्विधाश्चतुष्प्रकारा उक्ताः, तीर्थकराऽऽदि-भिरिति गम्यते। 'ते' इति तान् देवान् मे मम कीर्तयतः प्रतिपादयतः शृण्वाकर्णय शिष्यं प्रतीदमाह। तत्कीर्त्तनं भवनभेदाभिधानं विनेति। तद्भेदानाह- (भोमिज्ज त्ति) भूमौ पृथिव्यां भवा भौमेयका भवनवासिनः, रत्नप्रभा-पृथिव्यन्तर्भूतत्वाद् भवनानाम्। उक्तं हि- ''इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्समोगाहेत्ता हेट्ठमेगम्मि जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं भवणवासीणं देवाणं सत्तभवण-कोडीओ बावत्तरिं च भवणवास-सयसहस्सा हवंतीति मक्खायं।'' (वाणमंतर त्ति) आर्षत्वाद्विविधान्यन्त-राण्युत्कर्षापकर्षाऽऽत्मकविशेषरूपाणि निवासभूतानि वा गिरिकन्दर-विवराऽऽदीनि येषां तेऽमी व्यन्तराः। उक्तं हि- ''तेह्यधस्तिर्यगूर्द्ध्वं च त्रीनपि लोकान् स्पृशन्तः स्वातन्त्र्यात् पराभियोगाच्च प्रायेण प्रतिपन्न-नियतगतिप्रचारा मनुष्यानपि क्वचिद् भृत्यवदुपचरन्ति तथाविधेषु च शैलकन्दरान्तरवनविवराऽऽदिषु प्रतिवसन्त्यतो व्यन्तरा इत्युच्यन्ते। (जोइस त्ति) द्योतयन्त इति ज्योतींषि विमानानि, तन्निवासित्वाद्देवा अपि ज्योतींषि, ग्रामः समागत इत्यादौ तन्निवासिजनग्रामवत्। विशेषेण मानयन्त्युपभुञ्जन्ति सुकृतिन एतानीति विमानानि. तेषु भवा वैमानिकाः। तथेति समुच्चये, इति सूत्रार्थः।

एषामेवोत्तरभेदानाह-

दसहा उ भवणवासी अट्ठहा वाणमंतरा।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥२०४॥

दशधा त्विति दशधैव (भवणवासि त्ति) भवनेषु वस्तुं शीलमेषामिति भवनवासिनः, अष्टधा अष्टप्रकारा वनेषु विचित्रोपवनाऽऽदिषूपल-क्षणत्वादन्येषु च विविधाऽऽस्यदेषु क्रीडैकरसिकतया चरितुं शीलमे-षामिति वनचारिणो व्यन्तराः, पञ्चविधाः पञ्चप्रकाराः (जोइसिय त्ति) ज्योतिःषु विमानेषु भवा ज्योतिष्काः, ज्योतींष्येव वा ज्योतिष्काः, द्विविधा वैमानिकास्तथेति सूत्रार्थः।

एतानेव नामग्राहमाह-

असुरा नाग सुवन्ना, विज्जू अग्गी विआहिया।
दीवोदहिदिसावाया, थणिया भवणवासिणो ॥२०५॥
पिसाय भूय जक्खा य, रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा।
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमंतरा ॥२०६॥
चंदा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा।
दिसाविचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥२०७॥
वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
कप्पोवगा य बोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥२०८॥
कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा।
सणंकुमारमाहिंद-बंभलोगा य लंतगा ॥२०९॥
महासुक्कसहस्सारा, आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥२१०॥
कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
गेवेज्जाऽणुत्तरा चेव, गेवेज्जा नवविहा तहिं ॥२११॥
हिट्ठिमाहेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमामज्झिमा तहा।
हेट्ठिमाउवरिमा चेव, मज्झिमाहिट्ठिमा तहा ॥२१२॥
मज्झिमामज्झिमा चेव, मज्झिमाउवरिमा तहा।
उवरिमाहिट्ठिमा चेव, उवरिमामज्झिमा तहा ॥२१३॥
उवरिमाउवरिमा चेव, इइ गेवेज्जगा सुरा।
विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया ॥२१४॥
सव्वट्ठसिद्धगा चेव, पंचहाऽणुत्तरा सुरा।
इइ वेमाणिया एए-ऽणेगहा एवमादओ ॥२१५॥

सूत्राण्येकादश प्रायः प्रतीतान्येव, नवरम्, असुरा इत्यसुरकुमाराः। एवं नागाऽऽदिष्वपि कुमारशब्दः संबन्धनीयः। सर्वेऽपि ह्यमी कुमाराऽऽकार-धारिण एव। यथोक्तम्- कुमारवदेव कान्तदर्शनाः कुमाराः मृदुमधुर-ललितगतयः शृङ्गाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभाषा-ऽऽभरणप्रहरणवर्णयानवाहनाः कुमारवच्चोल्लवणरागाः क्रीमनपराश्चेत्यतः कुमारा इत्युच्यन्ते। (तारागणा इति) प्रकीर्णतारकासमूहाः, दिशासु

विशेषेण मेरुप्रादक्षिण्यनित्यचारितालक्षणेन चरन्ति परिभ्रमन्तीत्येवंशीला दिशाविचारिणः तद्विमानानि ह्येकादशभिरेकविंशैर्योजनशतैमेरोश्चतसृष्वपि दिक्ष्वबाधया सततमेव प्रदक्षणं चरन्तीति, तेष्वेवमुक्तेषु ज्योतीष्युक्तन्यायतो विमानान्यालया आश्रया येषां ते ज्योतिरालयाः कल्प्यन्ते इन्द्रसामानिकत्रयस्त्रिंशाऽऽदिदशप्रकारत्वेन विभज्यन्ते देवा एतेष्विति कल्पा देवलोकाः,तानुपगच्छन्त्युत्पत्तिविषयतया प्राप्नुवन्तीति कल्पोपपन्नाः, कल्पानुक्तरूपानतीतास्तदुपरिवर्तिस्थानोत्पन्नतयाऽतिक्रान्ताः कल्पातीताः। (सोहम्मीसाण त्ति) सुधर्मा नाम शक्रस्य सभा, साऽस्मिन्नस्तीति सौधर्म्मः कल्पः, स एषामवस्थितिविषयोऽस्तीति सौधर्मिणः । तथा ईशानोनाम द्वितीयदेवलोकः, तन्निवासिनो देवा अपि ईशानाः, त एवैशानकाः। एवमुत्तरत्रापि व्युत्पत्तिः कार्या । ग्रीवेव ग्रीवा लोकपुरुषस्य त्रयोदशरज्जुपरिवर्तिप्रदेशः, तन्निविष्टतयाऽतिभ्राजिष्णुतया च तदाभरणभूता ग्रैवेयका देवाऽऽवासाः, तन्निवासिनो दे वा अपि ग्रैवेयकाः। न विद्यन्ते उत्तराः प्रधानाः स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्यादिभिरेभ्योऽन्ये देवा इत्यनुत्तराः। (हेट्ठिम त्ति) अधस्तनानुपरितनषट्कापेक्षया प्रथमास्त्रयस्तष्वपि (हेट्ठिम त्ति) अधस्तना अधस्तनाधस्तनाः प्रथमत्रिकाधोवर्तिनः, (हेट्ठिम मज्झिमा तह त्ति) अधस्तनमध्यमाः प्रथमत्रिकमध्यवर्तिनः (हेट्ठिमा-उवरिमा चेव त्ति) अधस्तनोपरितनाः प्रथमत्रिकोपरिवर्तिनां मध्ये भवा मध्यमा मध्यमत्रिकवर्तिनः,तेष्वपि अधस्तनाः । एवं मध्यगमध्यमाः मध्यमोपरितना उपरिवर्तिनस्तेष्वधस्तना उपरितनाधस्तनाः। एवं उपरितनमध्यमा उपरितनोपरितनाः। इतिभेद समाप्तौ । तत एतावद्भेदा एव ग्रैवेयकाः सुराः। अभ्युदयविघ्नहेतून् विजयन्त इति विजयाः, तथैव वैजयन्ताः ''उणादयो बहुलम्'' ॥३।३।१॥ इति बहुलवचनात् कप्रत्यये उपसर्गैकारः । एवं जयन्ताः । अपरैरन्यैरभ्युदयविघ्तहेतुभिरजिता अनभिभूता अपराजिताः, सर्वेऽर्थाः सिद्धा इय सिद्धा येषां ते सर्वार्थसिद्धाः, ते हि विजितप्रायकर्म्माण उपस्थितभद्रा एव तत्रोत्पत्तिभाज इत्यादीनि निगमनम्। अत्र च वैमानिका इति वैमानिकभेदाः सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदनन्यत्वात्, एवमादय इति। आदिशब्दस्य प्रकारवचनत्वादेवंप्रकारा इत्येकादशसूत्रार्थः।

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिया।
एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥२१६॥
संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥२१७॥

क्षेत्रकालाभिधायिसूत्रद्वयं प्राग्वत् सादिसपर्यवसितत्वभावनार्थम्।

साहियं सागरं एक्कं, उक्कोसेणं ठिई भवे।
भोमेज्जाणं जहण्णेणं, दस वाससहस्सिया ॥२१८॥
पलिओवममेगं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे।
वंतराणं जहण्णेणं, दस वाससहस्सिया ॥२१९॥
पलिओवममेगं तु, वाससक्खेण साहियं।
पलिओवमट्ठभागो, जोइसेसु जहण्णिया ॥२२०॥
दो चेव सागराइं, उक्कोसेणं वियाहिया।
सोहम्मम्मि जहण्णेणं, एक्कं च पलिओवमं ॥२२१॥
सागरा साहिया दोन्नि, उक्कोसेणं वियाहिया।
ईसाणम्मि जहण्णेणं, साहियं पलिओवमं ॥२२२॥
सागराणि अ सत्तेव, उक्कोसेणं ठिई भवे।
सणंकुमारे जहण्णेणं, दोण्णिओ सागरोवमा ॥२२३॥
साहिया सागरा सत्त, उक्कोसेणं ठिई भवे।
माहिंदम्मि जहण्णेणं, साहिया दुन्नि सागरा ॥२२४॥
दस चेव सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे।
बंभलोए जहण्णेणं, सत्तओ सागरोवमा ॥२२५॥
चउद्दस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे।
लंतगम्मि जहण्णेणं, दसओ सागरोवमा ॥२२६॥
सत्तरस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे।
महासुक्के जहण्णेणं, चोद्दस सागरोवमा ॥२२७॥
अट्ठारस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे।
सहस्सारे जहण्णेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥२२८॥
सागराऊ अणवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे।
आणयम्मि जहण्णेणं, अट्ठारस सागरोवमा ॥२२९॥
वीसं तु सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे।
पाणयम्मि जहण्णेणं, सागरा अउणवीसई ॥२३०॥
सागरा एक्कवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे।
आरणम्मि जहण्णेणं, वीसई सागरोवमा ॥२३१॥
वावीसा सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे।
अच्चुयम्मि जहण्णेणं, सागरा इक्कवीसई ॥२३२॥
तेवीस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे।
पढमम्मि जहण्णेणं, वावीसं सागरोवमा ॥२३३॥
चउवीस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे।
बिइयम्मि जहण्णेणं, तेवीसं सागरोवमा ॥२३४॥
पणवीस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे।
तइयम्मि जहण्णेणं, चउवीसं सागरोवमा ॥२३५॥
छव्वीस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे।
चउत्थम्मि जहण्णेणं, सागरा पण्णवीसई ॥२३६॥
सागरा सत्तवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे।
पंचमम्मि जहण्णेणं, छव्वीसं सागरोवमा ॥२३७॥
सागरा अट्ठवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे।
छट्ठम्मि जहन्नेणं, सागरा सत्तवीसइं ॥२३८॥
सागरा अऊणवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे।
सत्तमम्मि जहण्णेणं, सागरा अट्ठवीसई ॥२३९॥
तीसं तु सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे।
अट्ठमम्मि जहण्णेणं, सागरा अऊणतीसई ॥२४०॥
सागरा इक्कतीसं तु, उक्कोसेण वियाहिया।
नवमम्मि जहन्नेणं, तीसई सागरोवमा ॥२४१॥

वत्तीस सागराऊ, उक्कोसेणं वियाहिया।
चउसुं पि विजयाईसु, जहन्ना इक्कतीसई ॥२४२॥
अजहण्णमणुक्कोसं, तेत्तीसं सागरोवमा।
महाविमाणे सव्वट्ठे, ठिई एसा वियाहिया ॥२४३॥
जा चेव य आउठिई, देवाणं तु वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई, जहण्णमुक्कोसिया भवे ॥२४४॥

सप्तविंशतिसूत्राणि प्रायो निगदसिद्धान्येव, नवरं (साहियं ति) प्राकृतत्वात् साधिकम्। (सागरं इति) सागरोपममेकम्, उत्कृष्टेन स्थितिर्भवति। भौमेयकानां भवनवासिनाम्, इयं च सामान्योक्ता-वप्युत्तरनिकायाधिपस्य बलेरेवावगन्तव्या। दक्षिणनिकाये त्विन्द्र-स्यापि सागरोपममेव। उक्तं हि-- ''चमरं बलिं सागरमहियं ति।'' जघन्येन दशवर्षसहस्राणि प्रमाणमस्या दशवर्षसहस्रिका। इयमपि सामान्यो-क्तावपि किल्विषाणामेव स्थितिप्रभावाऽऽदीनां देवेषु सहैव ह्रासादित्युर-त्रापि भावनीयम्। तथा पल्योपमवर्षलक्षाधिकमिति। ज्योतिषामुत्कृष्ट-स्थित्यभिधानम्, चन्द्रापेक्षम्, सूर्यस्य तु वर्षसहस्राधिकं पल्योपममायुः। ग्रहाणामपि तदेव नातिरिक्तं, नक्षत्राणां तस्यैवार्द्धं, तारकाणां तच्चतुर्भागः, तथा पल्योपमाष्टभागो ज्योतिःषु जघन्या स्थितिरित्यपि तारकापेक्षमेव। शेषाणां पल्योपमचतुर्थभागस्यैव जघन्यस्थितित्वात्। यत उक्तम्-चतुर्भागः शेषाणामिति। इह च सर्वत्र उक्तरूपयोरुत्कृष्टजघन्यस्थित्योर-पान्तरालवर्तिनी मध्यमा स्थितिरिति द्रष्टव्यं, तथा प्रथम इति प्रक्रमाद् ग्रैवेयके अधस्तनाधस्तने। एवं द्वितीयाऽऽदिष्वपि ग्रैवेयकमितिसंबन्ध-नीयम्। अविद्यमानं जघन्यमिति जघन्यत्वमस्यामित्यजघन्या। तथा अविद्यमानमुत्कृष्टमित्युत्कृष्टत्वमस्यामित्यनुत्कृष्टा, अजघन्या चासावनु-त्कृष्टा च जघन्यानुत्कृष्टा। मकारो लाक्षणिकः। महच्च तदायुः स्थित्याद्य-पेक्षया विमानं च महाविमानं तच्च तत्। सर्वे निरवशेषा अर्थ्यमानत्वादर्था अनुत्तरसुखाऽऽदयो यस्मिंस्तत् सर्वार्थं च महाविमानं सर्वार्थं तस्मिन् स्थितिरिति सर्वत्रायुः स्थितिप्रक्रमाद्देवानां तथा आयुःस्थितिरेव कायस्थितित्वाभिधाने तत्रानन्तरमनुत्पत्तिरेवेत्यभिप्राय इति सप्त-विंशतिसूत्रार्थः। अन्तरविधानाभिधायि च सूत्रद्वयं पूर्ववद्व्याख्येयम्।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं।
विजढम्मि सए काए, देवाणं होज्ज अंतरं ॥२४५॥
एएसिं वण्णत्तो चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणदेसतो वा वि, विहाणाइं, सहस्ससो ॥२४६॥

सूत्रद्वयं प्राग्वद्व्याख्येयम्।

इत्थं जीवानजीवांश्च सविस्तरमुपदर्श्य निगमयितुमाह-

संसारत्था य सिद्धा य, इइ जीवा वियाहिया।
रूविणो चेवऽरूवी य, अजीवा दुविहा वि य ॥२४७॥

संसारस्थाश्च सिद्धाश्च इतीत्येवंप्रकारा जीवा व्याख्याता विशेषेण सकलभेदाऽऽद्यवाप्त्या प्रकथिताः। रूपिणश्चैव (रूवी य त्ति) अकार-प्रश्लेषादरूपिणश्चाजीवा द्विविधा अपि व्याख्याता इति योग इति सूत्रार्थः।

यदुक्तं जीवाजीवविभक्तिं शृणुतैकमनस इति, तत्र जीवाजीवविभक्ति-मभिधाय शृणुतैकमनस इतिवचनात् कश्चिच्छ्रवणश्रद्धानमात्रेणैव कृतार्थतां मन्येत नयतस्तदाशङ्काऽपनोदार्थमाह-

इइ जीवमजीवे, य, सोच्चा सद्दहिऊण य।
सव्वनयाण अणुमए, रमेज्जा संजमे मुणी ॥२४८॥

इतीत्येवंप्रकारान् (जीवमजीव त्ति) जीवाजीवानेतानन्तरोक्तान् श्रुत्वा अवधार्य श्रद्धाय च तथेति प्रतिपद्य सर्वे च ते नयाश्च सर्वनया ज्ञानक्रियानयान्तर्गता नैगमाऽऽदयः, तेषामनुमतोऽभिप्रेतस्तस्मिन्। कोऽर्थः? ज्ञानसहितसम्यक्चारित्र रूपे रमेत रतिं कुर्यात्। क्व? सम्य-क्त्वमनं पृथिव्यादिजीवोपमर्दतस्तृणपञ्चकाऽऽद्यजीवोपादानाऽऽदेश्च उपरमणं संयमः, तस्मिन् मुनिरुक्तरूप इति सूत्रार्थः। उत्त० ३६अ०।

पञ्चविधा देवास्तद्यथा--

कइविहा णं भंते देवा ! पण्णत्ता ? पंचविहा देवा पण्णत्ता। तं जहा-- भवियदव्वदेवा, नरदेवा, धम्मदेवा, देवाधिदेवा, भावदेवा।

(कइविहा णमित्यादि) दीव्यन्ति क्रीडां कुर्वन्ति, दीव्यन्ते वा स्तूयन्ते आराध्यतया ते देवाः (भवियदव्वदेव त्ति) द्रव्यभूता देवा द्रव्यदेवाः, द्रव्यता चाप्राधान्याद् भूतभावत्वाद्वा, भाविभावत्याद्वा। तत्राप्राधान्याद्देवगुण-शून्या देवा द्रव्यदेवाः यथा साध्वाभासा द्रव्यसाधवः। भूतभावपक्षे तु भूतस्य देवत्वपर्यायस्य प्रपन्नकारणभावदेवत्वाच्च्युता द्रव्यदेवः। भाविभावपक्षे तु--भाविनो देवत्वपर्यायस्य योग्या देवतयोत्पत्स्यमाना द्रव्यदेवाः। तत्र भाविभावपक्षपरिग्रहार्थमाह- भव्याश्च ते द्रव्यदेवाश्चेति। नरदेवाः, (धम्मदेव त्ति) धर्मेण श्रुताऽऽदिना देवा धर्मप्रधाना वा देवा धर्मदेवाः (देवाइदेव त्ति)देवान् शेषानतिक्रान्तः पारमार्थिकदेवत्व-योगाद्देवा देवातिदेवाः ''देवाहिदेव त्ति।'' क्वचिद् दृश्यते। तत्र च देवानाम-धिकाः पारमार्थिकदेवत्वयोगाद्देया देवाधिदेवाः (भावदेव त्ति) भावेन देवगत्यादिकर्मोदयजातपर्यायेण देवा भावदेवाः।

भविकद्रव्यदेवा यथा--

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-- भवियदव्वदेवा भवियदव्वदेवा? गोयमा ! जे भवियपंचिंदियतिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा देवेसु उववज्जित्तए, से तेणट्ठेणं गोयमा !एवं वुच्चइ-- भवियदव्वदेवा।

(भविए इत्यादि) इह जातावेकवचनमतो बहुवचनार्थं व्याख्येयं, ततश्च ये भव्या योग्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका वा, मनुष्या वा देवेषूत्पत्तुं ते यस्माद्भाविदेवभावा इति गम्यम्। अथ तेनार्थेन तेन कारणेन हे गौतम ! तान् प्रत्येवमुच्यते-- भव्यद्रव्यदेवा इति।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ--नरदेवा नरदेवा? गोयमा ! जे इमे रायाणो चाउरंतचक्कवट्टी उप्पण्णसम्मत्तचक्करयणप्पहाणा णवणिहिपइणो समिद्धकोसा वत्तीसं रायवरसहस्सा णुयातमग्गा सागरवरमेहलाहिपतिणो मणुस्सिंसदा से तेणट्ठेणं० जाव नरदेवा।

(जे इमे इत्यादि) (चाउरंत चक्कवट्टि त्ति)चतुरन्ताया भर-

ञाऽऽदिपृथिव्या एते स्वामिन इति चातुरन्ताः, चक्रेण वर्त्तनशीलत्वाच्च चक्रवर्त्तिनः, ततः कर्म्मधारयः। चतुरन्तग्रहणेन च वासुदेवाऽऽदीनां व्युदासः, ते यस्मादिति वाक्यशेषः। (उप्पण्णवरनाणदंसणधरा त्ति) आर्षत्वात्त्रैदेशस्य, उत्पन्नं समस्तसरन्तप्रधानं चक्रं येषां ते तथा। (सागरवरमेहलाहिवइणो त्ति) सागर एव वरा मेखला काञ्ची यस्याः सागरवरमेखला पृथ्वी, तस्या अधिपतयो ये ते तथा, सागरमेखलान्तपृथिव्यधिपतय इति भावः। (से तेणट्ठेणं ति) अथ तेनार्थेन तेन कारणेन गौतम! तान् प्रत्येवमुच्यते नरदेवा इति।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ– धम्मदेवा धम्मदेवा? गोयमा ! जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया०जाव गुत्तबंभयारी, से तेण–ट्ठेणं०जाव धम्मदेवा ॥

(जे इमे इत्यादि) य इमेऽनगारा भगवन्तस्ते यस्मादिति।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–देवाधिदेवा देवाधिदेवा? गोयमा ! जे इमे अरहंता भगवंतो उप्पण्णणाणदंसणधरा० जाव सव्वद–रिसी, से तेणट्ठेणं०जाव देवाधिदेवा देवाधिदेवा ॥

(जे इमे इत्यादि) य इमे अर्हन्तो भगवन्तस्ते यस्मादुत्पन्नज्ञानदर्शनधरा इत्यादि। (से तेणट्ठेणं ति) अथ तेनार्थेन तान् प्रति गौतम! एवमुच्यते–देवाधिदेवा–देवाधिदेवा इति।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–भागदेवा भावदेवा? गोयमा ! जे इमे भवणवइवाणमंतरजोइसियवेमाणिया देवा देवगइणामगोयाइं कम्माइं वेदेंति, से तेणट्ठेणं०जाव भावदेवा भावदेवा ॥

(जे इमे इत्यादि) ये इमे भवनपत्यादयस्ते यस्माद्देवगतिनामगोत्रे तदयन्ति अनेनार्थेन तान् प्रत्येवमुच्यते–भावदेवा भावदेवा इति। भ० १२ श० ६ उ०। (भव्यदेवाऽऽदयःकुत उत्पद्यन्त इति 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ६६५ पृष्ठे समुक्तम्) (अष्टविधानां 'लोगंतिय' शब्दे सूत्रपदम्)

चउवीसाए देवेहिं भयण–वाण–जोइस–वेमाणिआणं दसअट्ठपंचएगविहा इअ चउवीसं देवा केइ पुण विंति अरिहंता ॥३०॥आव० ४ अ० आ०चू०। प्रश्न०।

(महर्द्धिकाऽऽदिदेवानां पुद्गलाऽऽदानपूर्वकं गमनाऽऽदि 'पुग्गल' शब्दे वक्ष्यते) (तेषामनुपरिवर्तना 'अणुपरियट्टण' शब्दे प्रथमभागे ३८५ पृष्ठे द्रष्टव्या) (अविशुद्धलेश्यदेवविषकं ज्ञानं 'विभंग' शब्दे [illegible]) (पुरन्दर ऽऽदिदेवानां लोकानि 'लोग' शब्दे प्रदर्शयिष्यन्ते) (देवानां जराभावाभाववक्तव्यता 'जरा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४२५ पृष्ठे [illegible]

शुक्रसहस्रारयोश्चतुर्हस्तदेवाः, अन्यत्र त्वन्यथा। यत आह-

''भवणवणजोइसोहम्मीसाणे सत्त होंति रयणीओ।
एक्केक्काणि सेसे, दुदुगे य दुगे चउक्के य ॥१॥
गेवेज्जेसु य दुन्नि य, एक्का रयणी अणुत्तरसुरेसु ॥'' इति भवधारणीयान्येवमुत्तरवैक्रियाणि तु लक्षमपि संभवन्ति, उत्कर्षतस्तत्, जघन्यतस्त्वङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणान्युत्पत्तिकाले भवधारणीयानि भवन्ति, उत्तरवैक्रियाणि त्वङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणानीति। स्था० ४ ठा० ४ उ०। (देवानामाहारः 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५०६ पृष्ठे गतः) (देवानां [illegible] (देवदुर्गतिः 'दुग्गइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे [illegible] (सदेवाकानामदेवीकानां देवानां परिचारः [illegible] (देवानामाशातना 'आसायणा' शब्दे [illegible] (देवानां धार्मिकत्वसिद्धिः 'चेइय' शब्दे [illegible] (देवानामुद्वेगः 'उव्वेग' शब्दे द्वितीयभागे [illegible] पृष्ठे गतः) (देवानां च्यवन्तो स्तूयन्ते केचित्पूर्वभवपरम्परोपार्जित[illegible] नरेन्द्रत्रिदशेन्द्रपाधिपत्यसुरासुरमर्त्याधिपतिन

असंजयाइ वत्तव्वं सिया? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे णिट्ठुरवयणमेयं देवाणं। देवा णं भंते ! संजयासंजयाइ वत्तव्वं सिया? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे असब्भूयमेयं देवाणं। से किं खाइं णं भंते! देवाइ वत्तव्वं सिया? गोयमा ! देवा णं नोसंजयाइ वत्तव्वं सिया।

(देवा णमित्यादि) (से किं खाइं णं भंते ! देवाइ वत्तव्वं सिय त्ति) ''से'' इति अथार्थः। किमिति प्रश्नार्थः (खाइं ति) पुनरर्थः। णं वाक्यालङ्कारार्थः। (देवाइ त्ति) यद्वस्तु तद्वक्तव्यं स्यादिति। (नोसंजयाइ वत्तव्वं सियत्ति) नोसंयता इत्येतद्वक्तव्यं स्यात्। असंयतशब्दपर्यायत्वेऽपि नोसंयतशब्दस्यानिष्ठुरवचनत्वाद् मृतशब्दापेक्षया परलोकीभूत शब्दवदिति। भ०५ श०४ उ०।

देवई-स्त्री०(देवकी) कृष्णस्य वासुदेवस्य मातरि, स०। आ०क०। आव०। ति०। सा च जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां मुनिसुव्रतो नाम एकादशमो जिनो भविष्यति। स०। ''एक्कारसमो देवईजीवो मुणिसुव्वओ'' ती १६ कल्प। प्रव०।

देवउत्त-त्रि०(देवोप्त) देवेनोप्तो देवोप्तः। देवनिष्पादिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ०३ उ०।

***देवगुप्त**-देवरक्षिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

***देवपुत्र**-पुं०। देवस्य पुत्रो देवपुत्रः। देवसुते, सूत्र० १ श्रु० १ अ०३उ०।

देवउत्तवाइ(ण्)-पुं०(देवोप्तवादिन्) देवेनोप्तो देवोप्तः, कर्षकेणेव वीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्येवंवादिनि परतीर्थिके, सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ०।

इदमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसि आहियं।
देवउत्ते अयं लोए, ———— ॥

इदमिति वक्ष्यमाणं, तुशब्दः पूर्वेभ्यो विशेषणार्थः। अज्ञानमिति मोहविजृम्भणमिहास्मिन् लोके एकेषां न सर्वेषामाख्यातमभिप्रायः। किं पुनस्तदाख्यातमिति तदाह–देवेनोप्तो देवोप्तः कर्षकेणेव वीजपवनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्यर्थः। देवैर्वा गुप्तो रक्षितो देवगुप्तो, देवपुत्रो वेत्यादिकमज्ञानमिति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

देवउपक-(देशी) पक्वपुष्पे, दे०ना० ५ वर्ग ४६ गाथा।

देवउल-(देवकुल) देवस्थाने, आ०म० १अ०२ खण्ड। प्रा०।

देवे-अव्य०(दातुम्) **''तुम एवमणाणहमणहिं च''** ॥८।४।४४१॥ इति तुम एवादेशे 'देवं।' दानं कर्तुमित्यर्थ, प्रा० ४ पाद।

देवंधगार-पुं०(देवान्धकार) देवानामप्यऽन्धकारोऽसौ तच्छरीरप्रभाया अपि तत्राप्रभावनादिति देवान्धकारः। तिमिरकाये, स्था०४ ठा० २उ०। देवानामपि तत्रोद्द्योताभावेनान्धकारभावात्। भ०६ श०५ उ०। (अयं कुत्र भवतीति 'लोगुज्जोय' शब्दे वक्ष्यते)

देवकज्ज-न०(देवकार्य) देवकृत्ये, नि०१ श्रु० ३ वर्ग ३ अ०। तथा चाह–''तं नाणं तं च विन्नाणं, तं कलासु अ कोसलं। सा बुद्धी पोरिसं तं च, देवकज्जेण जं वए॥१॥'' इति। ध०२ अधि०।

देवकम्म(ण्)-न०(देवकर्मन्) देवक्रियायाम्, स्था०५ ठा० २ उ०।

***देवकार्म्मण**-न०। देवश्च कार्म्मणं च। तथाविधद्रव्यसंयोगे, स्था० ५ ठा०२ उ०।

देवकलिया-स्त्री०(देवोत्कलिका) देवानां वातस्येवोत्कलिका देवोत्कलिका। देवलहरौ, स्था०४ ठा०३ उ०। तत्समवाय परिशेषे च। स्था०३ ठा०१ उ०। जी०।

देवकहकहय-पुं०(देवकहकहक) देवानां प्रमोदभरवशतः स्वेच्छावचनैर्वोलः कोलाहलो देवकहकहकः। देवकोलाहले, जी०३ प्रति०५ उ०।आचा०। देवप्रमोदकलकले, स्था०४ ठा०३ उ०। रा०। (अयं कुत्र भवति इति ''लोगुज्जोय'' शब्दे वक्ष्यते)

देवकाम-पुं०(देवकाम) देवसंबन्धिविषये, उत्त०७ अ०।

देवकिव्विस-पुं०(देवकिल्विष) देवकिल्विषभावनाजनिते देवभेदे, स्था० ४ठा० ४ उ०।

कइविहा णं भंते ! देवकिव्विसिया पण्णत्ता? गोयमा ! तिविहा देवकिव्विसिया पण्णत्ता। तं जहा–तिपलिओवमट्ठिईया, तिसागरोवमट्ठिईया, तेरससागरोवमट्ठिईया। कहि णं भंते ! तिपलिओवमट्ठिईया देवकिव्विसिया परिवसंति? गोयमा ! उप्पिं जोइसियाणं हिट्ठिं सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु। एत्थ णं तिपलिओवमट्ठिईया देवकिव्विसिया परिवसंति। कहि णं भंते! तिसागरोवमट्ठिईया देवकिव्विसिया परिवसंति? गोयमा ! उप्पिं सोहम्मीसाणाणं कप्पाणं हिट्ठिं सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु, एत्थ णं तिसागरोवमट्ठिईया देवकिव्विसिया परिवसंति। कहि णं भंते ! तेरससागरोवमट्ठिईया देवकिव्विसिया परिवसंति? गोयमा ! उप्पिं बंभलोगस्स कप्पस्स हिट्ठिं लंतए कप्पे, एत्थ णं तेरससागरोवमट्ठिईया देवकिव्विसिया परिवसंति। देवकिव्विसिया णं भंते ! केसु कम्मादाणेसु देवकिव्विसियत्ताए उववत्तारो भवंति? गोयमा ! जे इमे आयरियपडिणीया उवज्झायपडिणीया कुलपडिणीया गणपडिणीया संघपडिणीया आयरियउवज्झायाणं अयसकरा अवण्णकरा अकित्तिकरा बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिनिवेसेहि य अप्पाणं वा ३ वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा बहूहिं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, पाउणंतित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवकिव्विसिएसु देवेसु देवकिव्वि–

सियत्ताए उववत्तारो भवंति, तं चेव तिपलिओवमट्ठिईएसु वा, तिसागरोवमट्ठिईएसु वा, तेरससागरोवमट्ठिईएसु वा। देवकिव्विसिया णं भंते ! ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छंति, कहिं उववज्जंति? गोयमा ! जाव चत्तारि पंच णेरइयतिरिक्ख-जोणियमणुस्सदेव-भवग्गहणाइं संसारं अणुपरियट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झंति, वुज्झं- ति०जाव अंतं करें ति, अत्थेगइया अणाईयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टंति । भ० ६ श० ३३उ०।

किल्विषिका देवास्त्रिधा। तद्यथा-

तिविहा देवा किव्विसिया पन्नत्ता । तं जहा-तिपलिओवम-ट्ठिईया, तिसागरोवमट्ठिईया, तेरससागरोवमट्ठिईया। कहि णं भंते ! तिपलिओवमट्ठिईया देवा किव्विसिया परिवसंति? उप्पिं जोइसियाणं हिट्ठिं सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु, एत्थ णं तिपलिओवमट्ठिईया देवा किव्विसिया परिवसंति । कहि णं भंवे ! तिसागरोवमट्ठिईया देवा किव्विसिया परिवसंति? उप्पिं सोहम्मीसाणाणं कप्पाणं हेट्ठिं सणंकुमारमाहिं दकप्पेसु, एत्थ णं तिसायरोवमट्ठिईया देवा किव्विसिया परिवसंति। कहि णं भंते ! तेरससागरोवमट्ठिईया देवकिव्विसिया परिवसंति? उप्पिं बंभलोयस्स कप्पस्स हिट्ठिं लंतगे कप्पे, एत्थ णं तेरससागरोवमट्ठिईया देवकिव्विसिया परिवसंति ।।

''तिविहा'' इत्यादि स्फुटम्,केवलं (किव्विसिय त्ति) ''नाणस्स केवलीणं, धम्माऽऽयरियस्स संघसाहूणं। माई अवन्नवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ।।१।।'' इति। एवंविधं भावनोपात्तं किल्विषं पापमुदये विद्यते येषां ते किल्विषिका देवानां मध्ये किल्विषिकाः पापाः। अथवा देवाश्च ते किल्विषि काश्चेति देवकिल्विषिकाः, मनुष्येषु चण्डाला इवास्पृश्याः। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

देवकिव्विसिया-स्त्री०(दैवकिल्विषिकी) देवानां मध्ये किल्विषाः पापाः, अत एवाऽस्पृश्याऽऽदिधर्म्माणश्चाण्डालप्रायाः, तेषामियं दैवकिल्विषिकी। संक्लिष्टभावनाभेदे, बृ० १ उ०। प्रव०। दश०।

अथ दैवकिल्विषिकीं विभावयिषुराह-

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूणं।
माई अवन्नवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ।।

ज्ञानस्य केवलिनां धर्म्माऽऽचार्याणां सर्वसाधूनामेतेषामवर्णवादी, तथा मायी स्वशक्तिगूहनान्मायावान्, एष किल्विषिकां भावनां करोतीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः। बृ० १ उ०।

देवकिव्विसियत्त-नं०(देवकिल्विषिकत्व) देवानां मध्ये किल्विषश्चाण्मालप्रायोऽत एवास्पृश्याऽऽदिधर्म्मको, देवश्चासौ किल्विषश्चेति वा देवकिल्विषः,तस्य भावस्तत्ता। किल्विषिकदेवत्वे, स्था०४ ठा०४ उ०।

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवकिव्विसियाए कम्मे पगरेंति। तं जहा-अरहंताणं अवण्णं वयमाणे, अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वयमाणे, आयरियउवज्झायाणमवण्णं वयमाणे वा, चाउव्वण्ण-स्स संघस्स अवण्णं वयमाणे।

अवर्णोऽश्लाघाऽसद्दोषोद्भावनमित्यर्थः। अयमर्थोऽन्यत्रैवमुच्यते- ''णाणस्सा केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूणं। माई अवन्नवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ।।१।।'' इति। इह कन्दर्पभावना नोक्ता, चतुःस्थानकत्वादित्यवसरश्चायमस्या इति सा प्रदर्श्यते- ''कंदप्पे कुक्कुइए,दवसीले यावि हासणकरे य। विम्हावितो य सपरं, कंदप्पं भावणं कुणइ ।।१।।'' इति। कन्दर्पः कन्दर्पकथावान्, कुकुचितो भण्डचेष्टो द्रवशीलो दर्प्पद्रुतगमनभाषणाऽऽदिः,हासनकरो वेषरचनादिना स्वपरहासोत्पादको, विस्मापक इन्द्रजाली। स्था० ४ ठा०४ उ०।

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे अ जे नरे।
आयारभावतेणे अ, कुव्वई देवकिव्विसं ।।४६।।

तपस्तेनो वाक्स्तेनो रूपस्तेनस्तु यो नरः कश्चित्, आचारभावस्तेनश्च पालयन्नपि क्रियां तथाभावदोषात्, किल्विषं करोति। किल्विषिकं कर्म्म निर्वर्तयतीत्यर्थः। तपस्तेनो नाम क्षपकरूपकतुल्यः कश्चित्केनचित् पृष्टस्त्वमसौ क्षपक इति। स पूजाऽऽद्यर्थमाह- अहम्। अथवा वक्ति-साधव एव क्षपकाः, तूष्णीं वाऽऽस्ते। एवं वाकस्तेनो धर्म्मकथिकाऽऽदितुल्यरूपः कश्चित्केनचित्पृष्ट इति। एवं रूपस्तेनो राजपुत्राऽऽदितुल्यरूपः। एमाचारस्तेनो विशिष्टाऽऽचारवत्तुल्यरूप इति। भावस्तेनस्तु परोत्प्रेक्षितं कथञ्चित् किञ्चित् श्रुत्वा स्वयमनुत्- प्रेक्षितमपि मयैतत्प्रपञ्चेन चर्चितमित्याहेति सूत्रार्थः।

लद्धूण वि देवत्तं, उववन्नो देवकिव्विसे।
तत्थावि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं ।।४७।।

लब्ध्वाऽपि देवत्वं तथाविधक्रियापालनवसेन उपपन्नो देवकिल्विषे देवकिल्विषिकाये इति, तत्राप्यसौ न जानात्यविशुद्धावधिर्ना, किं मम कृत्वा इदं फलं किल्विषिकदेवत्वमिति सूत्रार्थः।

अत्रैव दोषान्तरमाह-

तओ वि से चइत्ता णं, लब्भिही एलमूअयं।
नरगं तिरक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ।।४८।।

ततोऽपि देवलोकादसौ च्युत्त्वा लप्स्यते एलमूकतामजभाषाऽनुकारित्वं मानुषत्वे, तथा नरकं तिर्यग्योनिं वा पारम्पर्येण लप्स्यते, बोधिर्यत्र सुदुर्लभा सकलसंपन्निबन्धना यत्र जिनधर्म्मप्राप्तिर्दुराया। इह च प्राप्नोत्येलमूकतामिति वाच्ये असकृद्भवप्राप्तिख्यापनाय लप्स्यत इति भविष्यत्कालनिर्देश इति सूत्रार्थः।

प्रकृतमुपसंहरति-

एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं।
अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ।।४९।।

एतं च दोषमनन्तरोदितं सत्यपि श्रामण्ये किल्विषिकत्वाऽऽदिप्राप्तिरूपं दृष्ट्वाऽऽगमतः ज्ञातपुत्रेण भगवता वर्द्धमानेन भा-

पितृकम्, अणुमात्रमपि स्तोकमात्रमपि, किन्तु [illegible] मर्यादावर्ती, मायां मृषावादमनन्तरोदितं [illegible] सूत्रार्थः दश० ५ अ० २ उ०।

देवकिव्विसीया-स्त्री०(दैवकिल्बिषिकी) [illegible] बृ० १ उ०।

देवकुमार-पुं०(देवकुमार) देवबालक, [illegible] देवबालिकायाम्, रा०।

देवकुर-पुं०(देवकुरु) जम्बूमन्दरपर्वतस्य [illegible] देशविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ० जं० जम्बूद्वीपे [illegible] स्वनामख्यातेऽन्यतमे क्षेत्रे, स्था० १० ठा० [illegible] दिशि देवकुरुषु देशेषु स्वनामख्याते ह्रदे च। स्था० [illegible] द्वीपे षट्सु अकर्म्मभूमिषु स्वनामख्यातायामकर्म्मभूमौ, स्था० ठा० प्रज्ञ०। रतिकरपर्वते उत्तरस्थायामीशान्यां [illegible] रामरक्षितायाः अग्रमहिष्याः स्वनामख्यातायां राजधान्यां च। स्त्री० स्था० ४ ठा० २ उ० जी० ती०। जम्बूद्वीपे [illegible] स्वनामख्याते चतुर्थे कूटे, स्था० ७ ठा०। जम्बूद्वीपे द्वीपे [illegible] धस्तात्तस्थे स्वनामख्याते तृतीये कूटे, [illegible] जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरपर्वतस्य दक्षिणपश्चिमायां दिशि [illegible] कूटयोर्दक्षिणपश्चिमस्थे स्वनामख्याते कूटे च। [illegible] "दो देवकुराओ।" स्था० २ ठा० ३ उ०।

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे देवकुरा णामं कुरा पण्णत्ता? गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेण विज्जुप्पहस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं सोमणसस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चच्छिमेयं एत्थ णं महाविदेहे वासे देवकुरा णामं कुरा पण्णत्ता, पाईणपडीणायया उदीणदाहिणवित्थिण्णा इक्कारस जोअणसहस्साइं अद्ध य बायाले जोअणसए दुण्णि अ एत्तूणवीसइभाए जोअणस्स विक्खंभेणं जहा उत्तरकुराए वत्तव्वया०जाव अणुसज्जमाणा पम्हगंधा मिगगंधा अमधासहा तेयमूली सणिचारी ॥

(कहि णं भंते ! इत्यादि) क्व भदन्त ! महाविदेहे वर्षे [illegible] देवकुरवो नाम कुरवः प्रज्ञप्ताः? गौतम ! मन्दरगिरेर्दक्षिणतो निषधवर्षधरपर्वतस्योत्तरतो विद्युत्प्रभवक्षस्कारादेर्नैर्ऋतकोणस्थगजदन्तकोगिरिः पर्वतः [illegible] क्षस्कारादेः पश्चिमायाम् अत्रान्तरे देवकुरवो नाम कुरवः प्रज्ञप्ताः [illegible] वत्। इमाश्चोत्तरेकुरूणां यमलजातका इवेति [illegible] पश्चोत्तरकुरूणां वक्तव्यता। कियद्दूरमित्याह– यावन्मन्दरस्य [illegible] यावन्मानमनुवर्त्तमानाः, सन्तीति वर्त्तमानानिर्देशः [illegible] साप्रीते वादनार्थः। के ते इत्याह– पद्मगन्धाः, मृगगन्धाः अमराः, सहाः, तेजसूलिनः, शनैश्चारिणः। एते मनुष्यजातिभेदाः [illegible] व्याख्यानं प्राक् सुषमावर्णनतो ज्ञेयम्। जं० ४ वक्ष०।

देवकुरुमहदुम-पुं०(देवकुरुमहाद्रुम) द्रुमभेदे, "दो देवकुरुमहद्दुमा" [illegible] स्था० २ ठा० ३ उ०।

देवकुरुमहदुमावास-पुं०(देवकुरुमहाद्रुमावास) आवासभेदे, "दो देवकुरुमहद्दुमावासा।" स्था० २ ठा० ३ उ०।

देवकुरुय-पुं०(देवकुरुज) अकर्म्मभूमिकमनुष्यभेदे, अनु० "पंचहिं देवकुरएहिं।" प्रज्ञा० १ पद।

देवकुल-न०(देवकुल) शिखरे देवप्रासादे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। औ० अनु० आचा०।

देवकुलिय-पुं०(देवकुलिक) देवस्थाननियुक्ते देवपूजके, आ०म० १ अ० २ खण्ड।

देवकुलिया-स्त्री०(देवकुलिका) देहल्याम्, सेन०। जिनमन्दिरे भ्रमन्त्यो देहरी इत्यपरपर्यायाः देवकुलिकासम्बन्धिनीविंशतिश्चतुर्विंशतिर्वा कार्या इति प्रश्ने, उत्तरम्– मूलनायकात्पृथक् चतुर्विंशतिदेवकुलिकाः क्रियन्ते इति पञ्चम्या सूत्रधारा वदन्तीति। २८३ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

देवगइ-स्त्री०(देवगति) देवेषु गतिर्यस्यासौ देवगतिः, देवत्व-प्रसाधिका या गतिर्देवगतिः। स्था० ५ ठा० ३ उ०। दीव्यन्तीति देवाः नाकिनः, तेषां गतिर्गम्यमानत्वाद् देवगतिः, नामकर्म्मोदयसंपाद्यो देवत्वलक्षणः पर्यायविशेषो येति देवगतिः। गतिभेदे, स्था० १० ठा०। उत्त० रा०।

देवगय-(देवगत) अर्हत्याश्रिते, दर्श० ५ तत्त्व।

देवगुण-पुं०(देवगुण) वीतरागत्वाऽऽदौ, षो० ५ विव०।

देवगुत्त–पुं० (देवगुप्त) स्वनामख्याते सप्तमे ब्राह्मणपरिव्राजके, औ०। स्वनामख्याते भविष्यत्सु चतुर्विंशतितिर्थकरेष्वन्यतमे तीर्थकरे, ति०।

देवचंद-पुं०(देवचन्द्र) दीपचन्द्रपाठकशिष्ये स्वनामख्यातेऽष्टकग्रन्थटीकाकर्तरि, अष्ट०।

"तच्छिष्येण सुबोधार्थं, देवचन्द्रेण धीमता।
व्याख्याता सुगमा शुद्धा, टीकेयं तत्त्वबोधिनी ॥११॥"
"श्रीस्याद्वादरहस्यानां, ज्ञानात् लब्धोदयेन च।
देवचन्द्रेण बोधार्थं, सटीकेयं विनिर्मिता ॥१७॥" अष्ट० ३२ अष्ट०।

बृहत्क्षेत्रसमासवृत्तिकारकस्य सिद्धसूरेः प्रशिष्ये कक्कसूरेः शिष्यं, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् ११६५ मिते वर्त्तमान आसीत्। द्वितीयो देवचन्द्रसूरिः श्रीहेमचन्द्रसूरेः शिष्यः शान्तिनाथचरित्रस्थानाङ्गवृत्तिग्रन्थयोः कर्त्ताऽऽसीत्। तृतीयाः प्रद्युम्नसूरिशिष्यो मानदेवसूरिपूर्णचन्द्रसूरिणोर्गुरुः, स च विक्रमसंवत् १२६२ मिते वर्त्तमान आसीत्।

देवचंदगणि-पुं०(देवचन्द्रगणिन्) सटीकाष्टकस्तुतेः कर्त्तरि गणिनि, स च विक्रमसंवत् १६४८ मिते विद्यमान आसीत्। जै० इ०।

देवचिंतग-पुं०(दैवचिन्तक) राज्ञां शुभाशुभचिन्तके, व्य० १० उ०।

देवचेइय-न०(देवचैत्य) जिनप्रतिमायाम्, दशा० १० अ०।

देवच्चण-न०(देवार्चन) देवपूजायाम्, "देवगुणपरिज्ञानात्तद्भावानुगतमुत्तमं विधिना। स्यादादराऽऽदियुक्तं, यत्तद्देवार्चनं चेष्टम्॥" षो० ५ विव०।

देवच्छंदग-पुं०(देवच्छन्दक) देवाऽऽसने, जी० ३ प्रति० ४ उ० रा०। आ०चू०।

देवजस-पुं०(देवयशस्) भगवतोऽरिष्टनेमिनः शिष्ये स्वनामख्यातेऽनगारे, आ०म०१ अ०२ खण्ड। आ०चू०।

देवजाण-न०(देवयान) देववाहने, पञ्चा० २ विव०।

देवजाणी-स्त्री०(देवयानी) शुक्रस्य महाग्रहस्य, दुहितरि, ती० २७ कल्प।

देवजिण-पुं०(देवजिन) भारते वर्षे स्वनामख्याते द्वाविंशतितमे भविष्यति जिने, प्रव०७ द्वार।

देवजुइ-स्त्री०(देवद्युति) शरीराऽऽमरणाऽऽदीनां दीप्तियोगे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग४ अ०। रा०।

देवज्जग-पुं०(देवार्जक)देवश्रेष्ठे, आ०म० १अ०२ खण्ड।

देवट्ठाण-न०(देवस्थान) देवभेदे, ''चउवीसं देवट्ठाणा।'' चतुर्विंशतिर्देवस्थानानि देवभेदाः दश भवनपतीनाम्, अष्टौ व्यन्तराणां, पञ्च ज्योतिष्काणाम्, एकं कल्पोपपन्नं वैमानिकानाम्। एवं चतुर्विंशतिः। स०२४ सम०।

देवट्ठिइ-स्त्री०(देवस्थिति) देवमर्यादायाम्, स्था०।

चउव्विहा देवाणं ठिई पण्णत्ता। तं जहा–देवे णामेगे, देवसिणाए णामेगे, देवपुरोहिए णामेगे, देवपज्जलणे णामेगे।

ध्यानाद्देवत्वमपि स्यादतो देवस्थितिसूत्रम्, स्थितिः क्रमो मर्यादा, राजाऽमात्याऽऽदिमनुष्यस्थितिवत्, देवः सामान्यो, नामेति वाक्यालङ्कारे। एकः कश्चित्, स्नातकः प्रधानो देव एव, देवानां वा स्नातक इति विग्रहः। एवमुत्तरत्रापि, नवरं पुरोहितः शान्तिकर्मकारी। (पज्जलणे त्ति) प्रज्वलयति दीपयति वर्णवादकरणेन मागधवदिति प्रज्वलित इति। स्था०४ ठा० १उ०।

देवडुहडुहक-न०(देवदुहदुहेत्येवं) देवदुहदुहेत्येवं शब्दप्रतिपादने, जी० ३प्रति० ४ उ०। रा०।

देवड्ढि-स्त्री०(देवर्द्धि) विमानरत्नाऽऽदिसंपदि, स्था०३ ठा० ३उ०। परिवाराऽऽदिसम्पदि च। नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ०। बन्धदशानां स्वनामख्याते तृतीयेऽध्ययने, स्था० १० ठा०। ('इड्ढि' शब्दे द्वितीयभागे ५८२ पृष्ठे वक्तव्यता गता)

देवड्ढिगणिखमासमण-पुं०(देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण) स्वनामख्याते बालभ्या वाचनायाः कारके आचार्ये, जै०इ०। अयमाचार्यः वीरमोक्षात् ९८० मिते विक्रमसंवत् ५१० मिते विद्यमान आसीत्। अनेन वलभीपुरे सर्वं आगमः पुस्तकाऽऽरूढोऽकारि। एतत्समये एकं पूर्वं व्युच्छेदाऽवशिष्टमासीत्। जै०इ०। ''सुत्तत्थरयण भरिए, खमदममद्दवगुणेहिं संपन्ने। देवड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥१४॥'' कल्प० २ अधि०८ क्षण। श्रीकल्पसूत्रं श्रीमहावीरादनुनवशताशीतिवर्षातिक्रमे देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणैर्लिपितया पुस्तकाऽऽरूढं चक्रे। ततः पुराऽन्यत्किमपि पुस्तकमभून्न वेति प्रश्ने, उत्तरम्– सर्वोऽपि सिद्धान्तो देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणैर्नवशताशीतिवर्षातिक्रमे पुस्तकाऽऽरूढः कृतः, ततः पुराऽन्यपुस्तकानि बहून्यभूवन्निति। २३ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

देवड्ढिपत्त-पुं०(देवर्द्धिप्राप्त) देवर्द्धिविकुर्वणासमर्थेषु, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

देवड्ढिवण्णण-न०(देवर्द्धिवर्णन) देवानामृद्धेर्विभूतिरूपाऽऽदिलक्षणयाः प्रकाशने, ध०। यथा तत्रोत्तमा रूपसंपत्, सत्स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्यायोगो, विशुद्धेन्द्रियावधित्वलक्षणः, प्रकृष्टानि भोगसाधनानि दिव्यो विमाननिवह इत्यादि वक्ष्यमाणमेव, तथा सुकुलाऽऽगमनोक्तिरिति। देवस्थानात् च्युतावपि विशिष्टे देशे विशिष्टे काले निष्कलङ्केऽन्वये उदग्रे सदाचारेणाख्यायिकापुरुषयुक्ते अनेकमनोरथावपूरकमत्यन्तनिरवद्यं जन्मेत्यादिवक्ष्यमाणलक्षणैव, तथा कल्याणपरम्पराऽऽख्यानमिति। ततः सुकुलाऽऽगमनादुत्तरं कल्याणपरम्परायास्तत्र सुन्दरं रूपम्, आदयो लक्षणानां, रहितमामयेनेत्यादिरूपाया अत्रैव धर्मफलाध्याये वक्ष्यमाणाया आख्यानं निवेदनं कार्यमिति। ध०१ अधि०।

देवड्ढिवायग-पुं०(देवर्द्धिवाचक) स्वनामख्याते आचार्ये, यदाहुर्देवर्द्धिवाचकवराः। कर्म्म० ५ कर्म०।

देवणागसूरि-पुं०(देवनागसूरि)कर्मस्तवटीकाकृतो गोविन्दगणिनो गुरौ, जै०इ०।

देवणिकाय-पुं०(देवनिकाय) देवसमानधर्म्मप्राणिसङ्घे, स्था०।

नव देवनिकाया पण्णत्ता। तं जहा–

''सारस्सय माइच्चा, वण्ही वरुणा य गद्दतोया य।
तुसिता अव्वाबाहा, अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य॥१॥''

सारस्वता आदित्या वह्नयो वरुणा गर्दतोयास्तुषिता अव्याबाधा आग्नेय एते कृष्णराज्यन्तरेष्वष्टासु परिवसन्ति, रिष्टस्तु कृष्णराजिमध्यभागवर्त्तिनि रिष्टाभे विमानप्रस्तटे परिवसतीति। स्था०९ ठा०। सूत्र०।

देवतम-न०(देवतमस्) तमःकायभेदे, स्था०४ ठा०२ उ०।

देवता-न०(देवत्व) देवभावे, स्था०४ ठा०४ उ०।

देवताउववण-न०(देवतोपपन) व्यन्तरकानने, पञ्चा०७ विव०।

देवतिग-न०(देवत्रिक) देवगतिदेवानुपूर्वी देवाऽऽयूरूपे, पं० सं०५ द्वार।

देवती-स्त्री०(देवकी) कृष्णस्य वासुदेवस्य मातरि, अन्त०३ वर्ग०८ अ०।

देवथुइ-स्त्री०(देवस्तुति) **''समासे वा''॥८।२।९७॥** शेषाऽऽदेशयोः समासे वा द्वित्वमिति वैकल्पिकं थस्य द्वित्वम्। 'देवथुइ। देवथुई' देवस्तवे, प्रा०२ पाद।

देवदत्त-पुं०(देवदत्त) देवा एनं देयासुरिति देवदत्तः। देवैर्दत्ते, पिं०। ''जावंति देवदत्ता, गिहीव अगिही व तेसि दाहामि।'' (अत्र देवदत्त पदस्य बहवोऽर्थाः 'आधाकम्म' शब्दे द्वितीयभागे २२४ पृष्ठे प्रति पादिताः) उत्तरमथुरावास्तव्ये स्वनामख्याते वणिजि, दर्श०४ तत्त्व। ती०। धातकीखण्डभरते हरिषेणस्य राज्ञः समुद्रदत्तायां भार्य्यायांजाते स्वनामख्याते पुत्रे, उत्त०९

अ०। (तत्कथा 'णमि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८०८ पृष्ठे प्रतिपादिता)

देवदत्ता-स्त्री०(देवदत्ता) चम्पायां नगर्यां स्वनामख्यातायां गणिकायाम्, दश०३ अ०। ती०। ज्ञा०। (तत्कथा 'दक्खत' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४४० पृष्ठे द्रष्टव्या) वीतभयनगरे उदायननृपतेर्महिष्याः प्रभावत्याः स्वनामख्यातायां चेट्याम्, आ०म० १अ०२ खण्ड। आ०क०। प्रश्न०। विपाकश्रुतस्य स्वनामख्याते नवमेऽध्ययने, स्था०। तत्र किल सुप्रतिष्ठे नगरे सिंहसेनो राजा श्यामाभिधानदेव्यामनुरक्तः, तद्वचनादेवैकोनानि पञ्च शतानि देवीनां तां मिमारयिषूणि ज्ञात्वा कुपितः रान् तन्मातृणामेकोनपञ्चशतान्युपनिमन्त्र्य महत्यगारे आवासं दत्त्वा भक्ताऽऽदिभिः सम्पूज्य विश्रब्धानि सदेवीकानि सपरिवाराणि सर्वतो द्वारबन्धनपूर्वकमग्निप्रदानेन दग्धवांस्ततोऽसौ राजा मृत्वा षष्ठ्यां पृथिव्यां च गत्वा रोहितके नगरे दत्तसार्थवाहस्य दुहिता देवदत्ताऽभिधानाऽभवत्। सा च पुष्यनन्दिना राज्ञा परिणीता, स्वमातुर्भक्तिपरतया तत्कृत्यानि कुर्वन्नासामास तया च भोगविघ्नकारिणीति तन्मातुरुर्वल्लोहदण्डस्यापानप्रक्षेपात्सहसा दाहनबधो व्यधायि, राज्ञा चासौ विधिविडम्बनाभिर्विडम्ब्य विनाशितेति विपाकश्रुते देवदत्ताऽभिधानं नवममिति। स्था० १० ठा०।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रोहीडए णामं णयरे होत्था रिद्ध० २, पुढवीवडिंसए उज्जाणे, धरणे जक्खे, वेसमणदत्तो राया, सिरी देवी, पूसणंदी कुमारे जुवराया, रोहीडए णयरे दत्तणामं गाहावई परिवसइ अड्ढे, कण्हसिरी भारिया। तस्स णं दत्तस्स धूया कण्हसिरीए अत्तया देवदत्ता णामं दारिया होत्था, अहीण० जाव उक्किट्ठसरीरा। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे० जाव परिसा णिग्गया। तेणं कालेणं तेणं समएणं जेट्ठे अंतेवासी छट्ठखमण० तहेव०जाव राय मग्गं ओगाढे हत्थी आसे पुरिसे पासइ, तेसिं पुरिसाणं मज्झगयं पासइ एगं इत्थियं अवउडगबंधणं उक्खित्तकण्णणासं० जाव सूलभिज्जमाणं पासइ, इमे अब्भत्थिए ४ तहेव णिग्गए०जाव एवं बयासी-एसि णं भंते ! इत्थिया पुव्वभवे का आसी? एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे सुपतिट्ठे णामं णयरे होत्था रिद्ध० ३, महासेणे राया, तस्स णं महासेणस्स रण्णो धारणीपा-मोक्खं देवीसहस्सं ओरोहे यावि होत्था। तस्स णं महासेणस्स पुत्ते धारिणीए देवीए अत्तए सीहसेणे णामं कुमारे होत्था अहीण-जुवराया, तए णं तस्स सीहसेणस्स कुमारस्स अम्मापियरो अण्णया कयाइं पंच पासायवडिंसयाइं करेइ अब्भुवगए०। तए णं तस्स सीहसेणस्स कुमारस्स अण्णया कयाइ सामापामोक्खाणं पंचण्हं रायवरकण्णगसयाणं एगदिवसेणं पाणिगिण्हावेइ, पंचस-य उदाओ। तए णं सीहसेणस्स कुमारस्स सामापामोक्खेहिं पंचहिं देवीसएहिं सद्धिं उप्पिं० जाव विहरइ। तए णं से महासेणे राया अण्णया कयाइ कालधम्मुणा० णीहरणं राया जाए महया व तए णं से सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिए ४ अवसेसाओ देवीओ णो आढाइ णो परिजाणाइ, अणाढाइमाणे अपरिजाणमाणे विहरइ। तए णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एकूणाइं पंच माईसयाइं इमीसे कहाए लद्धट्ठाइं समाणीयाए, एवं खलु सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिए ४, अम्हं धूयाओ णो आढाइ, णो परिजाणइ, तं सेयं खलु अम्हं सामादेवि अग्गिपओगेण वा विसप्पओगेण वा सत्थप्पओगेण वा जीवियाओ ववरोवित्तए, एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता सामादेवीए अंतराणि य छिद्दाणि य विरहाणि य परिजागर-माणीओ विहरंति। तए णं सा सामादेवी इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणे एवं बयासी-एवं खलु ममं पंचण्हं सवत्तीसयाइं, इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे अण्णमण्णं एवं बयासी-एवं खलु सीहसेणे राया० जाव पडिजागरमाणीओ विहरंति, तं ण णज्जति णं ममं केणइ कुमरणेणं मारेस्सति त्ति कट्टु भीया जेणेव कोवघरे तेणेव उवागच्छइ, ओहय० जाव झियाइ। तए णं से सीहसेणे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव कोवघरए जेणेव सामादेवी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सामादेविं ओहय०जाव पासइ, पासइत्ता एवं वयासी-किं णं तुमं देवाणु-प्पिया ! ओहय०जाव झियाइ। तए णं सामादेवी सीहसेणेणं रण्णा एवं वुत्ता समाणी उप्फेणउप्फेणियं सीहसेणरायं एवं बयासी-एवं खलु सामी ! ममं एकूणं पंच सवत्तीसया इं,पंच सवत्तीसयाणं इमीसे कहाए लद्धट्ठए सवणयाए अण्णमण्णं सद्दावेइत्ता एवं बयासी-एवं खलु सीहसेणे राया सामादेवीए मुच्छिए ४ अम्हं धूयाओ णो आढाइ०जाव अंतराणि य छिद्दाणि य०जाव पडिजागरमाणीओ विहरंति, तं ण णज्जइ णं ममं केणइ कुमरणेणं मारिस्सइ त्ति कट्टु भीया ४ झियामि। तए णं से सीहसेणे राया सामादेविं एवं बयासीमा णं तुमं देवाणुप्पिया ! ओहय० जाव झियाहि ति, अहं णं तहा वत्तिहामि, जहा णं तव णत्थि कतो वि सरीरस्स आवाहे वा पवाहे वा भविस्सइ त्ति कट्टु ताहिं इट्ठाहिं समासासेति, तओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता कोडुंबियपुरिसे, सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं बयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सुपइट्ठियस्स नयरस्स बहिया एगं महं कूडागारसालं करेह, अणेगखंभपासाईयं०४ करेह, करेहत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा करयल०जाव पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता

सुप्पइट्ठियस्स णयरस्स बहिया पच्चच्छिमे दिसिभाए एगं महं कूडागारसालं०जाव करेइ, अणेगखंभपासाइया जेणेव सीहसेणे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणइ। तए णं से सीहसेणे राया अण्णया कयाइ एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणाइं पंच माईसयाइं आमंतेइ। तए णं तासिं एगूणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणं पंच माइसयाइं सीहसेणेणं रण्णा आमंतियाइं समाणाइं सव्वालंकारविभूसियाइं करेइ, जहाविभवेणं जेणेव सुपइट्ठे णयरे जेणेव सीहसेणे राया तेणेव उवागच्छइ, तए णं से सीहसेणे राया एकूणं पंचदेवीसयाणंव एकूणं पंचण्हं माईस–याणं कूडागारसालं आवसहं दलयइ। तए णं से सीहसेणे राया कोडुंबियपुरसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं बयासी– गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवणेह, सुबहुपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं च कूडागारसालं साहरह। तए णं ते कोडुंविय० तहेव०जाव साहरइ। तए णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणपंचण्हं माईसयाइं०जाव सव्वालंकारविभू-सियाइं तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च०६ आसाए–माणा ४ गंधव्वेहिं णाडएहि य उवगीयमाणाइं विहरइ। तए णं से सीहसेणे राया अद्धरत्तकालसमयंसि बहूहिं पुरिसेहिं संपरिवुडे जेणेव कूडागारसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कूडागा–रसालाए दुवाराइं पिहेइ, कूडागारसालाओ समंता अगणिकायं दलयति। तए णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणगाणं पंच माइसयाइं सीहरण्णो आलीवियाइं समाणाइं रोयमाणाइं ३ अत्ताणाइं असरणाइं कालधम्मुणा संजुताइं। तए णं से सीहसेणे राया एयकम्मे ४ सुबहु०जाव समज्जिणित्ता चउतीसं वाससयाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं वावीसं सागरोवमाइं ठिती उववण्णे, से णं ताओ अणंतरं उव्व–ट्टित्ता इहेव रोहीडए णयरे दत्तस्स सत्थवाहस्स कण्हसिरीए भारियाए कुच्छिंसि दारियत्ताए उववण्णे, तेणं सा कण्हसिरी णवण्हं मासाणं०जाव दारियं पयाया सुकुमाल०जाव सुरूवं। तए णं तीसे दारियाए अम्मापियरो णिव्वत्तवारसाहियाए विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं० जाव मित्तणामधेज्जं करेइ, होउ णं दारिया देवदत्ता णामेणं। तए णं सा देवदत्ता पंचधाईपरिग्गाहिया० जाव परिवड्ढइ। तए णं सा देवदत्ता दारिया उम्मुक्कबालभावे जोव्वणेण य रूवेण य लावण्णेण य०जाव अईव २ सरूवा उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा जाया यावि होत्था। तए णं सा देवदत्ता भारिया अण्णया कयाइ ण्हाया०जाव विभूसिया बहूहिं खुज्जाहिं०जाव परिक्खित्ता उप्पिं आगासतलगंसि कणगतिंदूसएणं कीलमाणी विहरइ। इमं च णं वेसमणदत्ते राया ण्हाया०जाव विभूसिए आसं दुरूहइ, बहूहिं पुरिसेहिं संपरिवुडे आसवाहणियाए णिज्जायमाणे दत्तस्स गाहावइस्स गिहस्स अदूरसामंते वीईवयमाणे। तए णं से वेसमणे राया०जाव वीईवयमाणे देवदत्तं दारियं उप्पिं आगास–तलगंसि कीलमाणिं पासइ, पासइत्ता देवदत्ताए दारियाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य०जाव विम्हिए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं बयासी– कस्स णं देवाणुप्पिया ! एसा दारिया, किं वा णामधेज्जेण ? तए णं ते कोडुंबियपुरिसा वेसम–णराय करयल०एवं बयासी–एस णं सामी ! दत्तसत्थवाहस्स धूया कण्हसिरिअत्तया देवदत्ता णामं दारिया रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा। तए णं से वेसमणे राया आसवाहणिओ पडिणियत्ते समाणे अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं बयासीगच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! दत्तस्स धूयं कण्हसिरीअत्तयं देवदत्तं दारियं पूसणंदिस्स जुवरण्णो भारियत्ताए वरेह, जइ वि य सव्वरज्जसुक्का। तए णं से अब्भिंतर–ट्ठाणिज्जा पुरिसा वेसमणरण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठाकरयल० जाव एवं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता ण्हाया०जाव सुद्धप्पावेससं–परिवुडा। तए णं जेणेव दत्तस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, तए णं से दत्ते सत्थवाहे ते पुरिसे एज्जमाणे पासइ, पासइत्ता हट्ठ आसणाओ अब्भुट्ठेइ, सत्तट्ठपयाइं अब्भुग्गए आसणेणं उवणिमंतेइ, उवणि–मंतेइत्ता ते पुरिसे आसत्थे वीसत्थे सुहासणवरगए एवं बयासी– संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पओयणं ? तए णं ते राय–पुरिसा दत्तं सत्थवाहं एवं बयासी– अम्हे णं देवाणुप्पिया ! तव धूयं कण्हसिरीअत्तयं देवदत्तं दारियं पूसणं दिस्स जुवरण्णो भारियत्ताए वरेमो, तं जइ णं सि देवाणुप्पिया ! जुत्तं वा पत्तं वा सलाहणिज्जं वा सरिसो वा संजोगो, दिज्जउ णं देवदत्ता भारिया पूसणदिस्स जुवरण्णो, भण देवाणुप्पिया ! किं दलयामो सुक्कं ? तए णं से दत्ते ते अब्भिंतरठाणपुरिसस्स एवं बयासी–एयं च णं देवाणुप्पिया ! ममं सुक्कं जं णं वेसमणदत्ते राया ममं दारियाणिमित्तेणं अणुगेण्हइ, २ ते ठाणपुरिसे विउलेणं पुप्फवत्थ-गंधमल्लालंकारेणं सक्कारेइ, पडिविसज्जेइ। तए णं से ठाणपुरिसे जेणेव वेसमणे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता वेसमणस्स रण्णो एयमट्ठं णिवेदेइ। तए णं से दत्ते गाहावई अण्णया सोभणंसि तिहिकरणदिवसणक्खत्त–

मुहुत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता मित्तणाइं आमंतेइ, ण्हाए०जाव पायच्छित्ते सुहासणवरगए तेणं मित्तणाइसद्धिं संपरिवुडे तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा ४। एवं च णं विहरइ, जिमियभुत्तुत्तरागए आयंते ३ तं मित्तणाइं विउलं गंधपुप्फ०जाव अलंकारेणं सक्कारेइ, सक्कारेइत्ता देवदत्तं दारियं ण्हायं०जाव विभूसियं सरीरं पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूहेइ, दुरूहिएत्ता सुबहुमित्त०जाव सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए०जाव सव्वरवेणं रोहिडगं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव वेसमणे रण्णो गिहे जेणेव वेसमणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव बद्धावेइ, बद्धावेइत्ता वेसमणे देवदत्तं दारियं उवणेइ। तए णं से वेसमणे देवदत्तं दारियं उवणीयं पासइ, पासइत्ता हट्ठ विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता मित्तणाइं आमंतेइ, ०जाव सक्कारेइ, सम्माणेइ, पूसणंदिकुमारं देवदत्तं दारियं पट्टयं दुरूहेइ, दुरूहेइत्ता सेयापीएहिं कलसेहिं मज्जावेइ, मज्जावेइत्ता वरणेवत्थाइं करेइ, करेइत्ता अग्गिहोमं करेइ, पूसणंदिकुमारं देवदत्ताए पाणिं गिण्हावेइ। तए णं से वेसमणदत्ते राया पूसणंदिस्स कुमारस्स देवदत्तं दारियं सव्वड्ढीए०जाव रवेणं महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं पाणिग्गहणं करेइ, देवदत्ताए भारियाए अम्मापियरो मित्त० जाव परियणं च विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं वत्थगंधमल्लालंकारे य सक्कारेइ०जाव पडिविसज्जेइ। तए णं से पूसणंदिकुमारे देवदत्ताए दारियाए सद्धिं उप्पिंपासायफु ट्टवत्तीसं उपगिज्झइ, उपगिज्झइत्ता ०जाव विहरइ। तए णं तीसे वेसमणे राया अण्णया कयाइ कालधम्मुणा णीहरणं०जाव राया जाए पूसणंदी। तए णं से पूसणंदी राया सिरीए देवीए मायाभत्ते यावि होत्था, कल्लाकल्लिं जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पायपडाणं करेइ, करेइत्ता सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भंगावेइ, अट्ठिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए संवाहणाइं संवाहावेइ, संवाहावेइत्ता सुरभिणा गंधवट्टएणं उव्वट्टावेइ, उव्वट्टावेइत्ता तिहितिण्णिपाणीए, ण्हवरावइ, उदएहिं मज्जावेइ, मज्जावेइत्ता तं जहा उसिणोदएणं, सीओदसणं, गंधोदएणं, विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं भोयावेइ, सिरीए देवीए ण्हायाए०जाव पायच्छित्ताए ०जाव जिमियभुत्तुत्तरागयाए तओ पच्छा ण्हाइ, भुंजेइ वा उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ। तए णं तीसे देवदत्ताए देवीए अण्णया पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं करेइ, करेइत्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए ४ एवं खलु पूसणंदि–राया सिरीए देवीए माइभत्ते० जाव विहरइ, तं एएणं विधाएणं णो संचाएमि अहं पूसणंदिणा रण्णा सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे, एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता सिरीए देवीए अंतराणि य ३ पडिजागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ। तए णं सा सिरी देवी अण्णया कयाइ मज्जावी विरहियसयणिज्जंसि सुत्ताजाया यावि होत्था। इमं च णं देवदत्ता देवी जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सिरीदेविं मज्जावीयं विरहियसयणिज्जंसि सुहपसुत्तं पासइ, पासइत्ता दिसालोयं करेइ, करेइत्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता लोहदंडं परामुसइ, परामुसइत्ता लोहदंडं तावेइ, तावेइत्ता तत्तं समजोइभूयं फुल्ल–किंसुयमाणं संडासएणं गहाय जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सिरीए देवीए अपाणंसि पक्खेवेइ। तए णं सा सिरी देवी महया महया सद्देणं आरसित्ता कालधम्मु–णा०। तए णं से सिरीदेवीए दासचेडीओ आरसियसद्दं सोच्चा णिसम्म जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदत्तं देविं तओ अवकम्ममाणिं पासइ, पासइत्ता जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सिरीदेविं णिप्पाणं णिच्चेट्ठं जीवविप्पजढं पासइ, पासइत्ता हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु रोयमाणी ३ जेणेव पूसणंदी राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पूसणंदिरायं एवं बयासी– एवं खलु सामी! सिरी देवी देवदत्ताए देवीए अकाले चेव जीवियाओ ववरोविया। तए णं से पूसणंदी राया तासि दासचेडीणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म महया माइसोएणं अफुण्णे समाणे फरसुणियत्ते विव चंपगयायवे धसइ धरणीतलंसि सव्वंगेहिं सण्णिपडिए। तए णं से पूसणंदी राया मुहुत्तंतरेणं आसत्थे समाणे बहूहिं राईसर०जाव सत्थवा–हाहिं मित्त० जाव सयणेण य सद्धिं रोयमाणे ३ सिरीए देवीए इड्ढीए णीहरणं करेइ, करेइत्ता आसुरत्ते ६ देवदत्तं देविं पुरसेहिं गिण्हावेइ, गिण्हावेइत्ता एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ। एवं खलु गोयमा! देवदत्ता देवी पुरा०जाव विहरइ। देवदत्ता णं भंते! देवी इओ कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति? गोयमा! असीइवासाइं पर० कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववज्जिहिति, संसारो वणस्सइ, तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता गंगपुरे णयरे हंसत्ताए पच्चायाहिति, से णं तत्थ साउणिएहिं बधिए समाणे तत्थेव गंगपुरे सेट्ठिबोही सोहम्मे महाविदेहेसिज्झिहिति०जाव अंत काहिति।

(अब्भुग्गय त्ति) इदमेवं दृश्यम्– ''अब्भुग्गयमूसियपहसिए विव०।'' अभ्युद्गतोच्छ्रितानि अत्यन्तोद्यानि प्रहसितानीव हसितुमारब्धानीवेत्यर्थः। ''मणिकणगरयणचित्ते।'' इत्यादि। ''एगं च णं महं भवणं करेंति अणेगखंभसयसंनिविट्ठं।'' इत्यादि भवनवर्णकसूत्रं दृश्यम्। (पंचसया उदाउत्ति) हिरण्यकोटिसुवर्णकोटिप्रभृतीनां प्रेषणकारिकान्तानां पदार्थानां पञ्च पञ्च शतानि सिंहसेनकुमाराय पितरौ दत्तवन्तौपित्यर्थः। स च प्रत्येकं स्वजनेभ्यो दत्तवानिति। ''महया'' इत्यनेन ''महयाहिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे'' इत्यादि राज–वर्णको दृश्यः। (भीया जे त्ति) ''भीया तत्था जेणेव।'' इत्यर्थः। इह यावत्करणादिदं दृश्यम्– (ओहयमणसंकप्पा भूमिगयदिट्ठी झकरयलपल्हत्थमुही अट्टज्झाणोवगय त्ति) (उप्पंकेणउप्पंकेणिय त्ति) सकोपोष्मवचनं यथा भवतीत्यर्थः। इतोऽन्तरवाक्यस्यैकैकमक्षरं पुस्तकेषूपलभ्यते, तच्चैवमवगन्तव्यम्– ''एवं खलु सामी! मम एगूणगाणं पंचण्हं सवत्तीसयाणं एगूणं पंचमाईसयाइं इमीसे गहाए लद्धट्ठाइं सवणयाए अन्नमन्नं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–एवं खलु सीहरहेणे राया सामाए देवीए मुच्छिए ४ अम्हं धूवाओ णो आढाइ, नो परियाणइ, अणाढायमाणे अपरियाणमाणे विहरइ जावेति। यावत्करणाच्चेदं दृश्यम्– ''तं सेयं खलु अम्हं सामं देविं अग्गिपओगेण वा विसप्प–ओगेण वा सत्थपओगेण वा जीवियाओ ववरोवित्तए एवं संपेहेंति, संपेहित्ता मम अंतराणि पडिजागरमाणीओ विहरंति, तं न नज्जइ णं सामी! मम केणइ कुमरणेणं मारिस्संतीति कट्टु भीया ४।'' यावत्करणात्– ''तत्थ तरिया उव्विग्गा ओहयमणसंकप्पा भूमिगयदिट्ठिया।'' इत्यादि दृश्यम्। (वत्तिहामि त्ति) यतिष्ये। (नत्थि त्ति) न भवत्ययं पक्षो, यदुत (कत्तो इ त्ति) कुतश्चिदपि शरीरकस्य आबाधो वा प्रबाधो वा भविष्यति, तत्र आबाध ईषत्पीडा, प्रबाधः प्रकृष्टा पीडैव। (इति कट्टु त्ति) एवमभिधाय (अणेगखंभ त्ति) अनेकस्तम्भशत सन्निविष्टमित्यर्थः। ''पासा०'' इत्यनेन ''पासाईयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं'' इति दृश्यम्। (जइ वि य सा सरज्जसुक्क त्ति) यद्यपि सा स्वकीयराज्यशुल्का, स्वकीयराज्यलभ्येत्यर्थः। (जुत्तं व त्ति) संगतम्। (पत्तं व त्ति) पात्रं वा, अवसरवाप्तं वा। (सलाहणिज्जं व त्ति) श्लाघ्यमिदं (सरिसाण व त्ति) उचितः संयोगो वधूवरयोरिति। (आयंत त्ति) आचान्तो जलग्रहात् (चोक्खं ति) शोक्षः सिक्थलेपाऽऽद्यपनयनात्। किमुक्तं भवति (परमसुइभूइ त्ति) अत्यन्तं शुचीभूत इति (एहाय त्ति) यावत्करणादिदं दृश्यम्– ''कयबलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्त'' (सव्वालंकारे त्ति) 'सुवहुमित्त' इत्यत्र यावत्करणात्– ''भित्तणाइणियगसयण-संबंधिपरिजत्तेण।'' इति दृश्यम्। ''सव्विड्ढीए'' इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्– ''सव्वजुईए'' सर्वद्युत्याऽऽभरणाऽऽदिसंबन्धिन्या सर्वयुक्त्या वा उचितेष्वस्तुघटनालक्षणया, सर्वबलेन सर्वसैन्येन सर्वसमुदायेन पौराऽऽदिमीलनेन। (सव्वायरेण) सर्वोचितकृत्यकरणरूपेण। (सव्वविभूईए) सर्वसंपदा। (सव्वविभूसाए) समस्तशोभया। (सव्वसंभमेण) प्रमोदकृत्यौत्सुक्येन (सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारेण सव्वतूरसद्दसंनिनाएण) सर्वतूर्यशब्दानां मीलने यः संगतो नितरां नादो महान् घोषस्तानित्यर्थः। अल्पेष्वपि ऋद्ध्यादिषु सर्वशब्दप्रवृत्तिर्दृष्टा। अत आह– ''महता इड्ढीए महता जुईए महया बलेणं महया समुदएणं महया तूरियजमगसमगपवाइएणं।'' (जमगसमग त्ति) युगपदेतद्विशेषैणाऽऽह– (संखपणवपडह–भेरिझल्लरिखरमुहिदुक्क मुरवमुइंगदुंदुहि निग्घोसनाइयरवेणं) तत्र शङ्खाऽऽदीनां नितरां घोषो निर्घोषोमहाप्रयत्नात्पादितः शब्दः नादितं ध्वनिमात्रमेतद्द्वयलक्षणो यो रवः स तथा तेनेति। (सेया–पीएहिं ति) रजतसुवर्णमयैरित्यर्थः। (सिरीए देवीए मायाभत्ते यावि होत्थ त्ति) श्रिया देव्याः, मातेति बहुमानबुद्ध्या भक्तः मातृभक्तश्चान्यभूदिति। (कल्लाकल्लिं ति) प्रातः २ (गंधवट्टएणं ति) गन्धचूर्णेन (जिमियभुत्तुत्तरागयाए ति) जेमिताया कृतभोजनाया तथा भुक्तोत्तरमागतायां स्वस्थानमिति भावार्थः। उदारान्मनोज्ञान् भोगान् भुञ्जानो विहरति। (पुव्वरत्तावरत्त त्ति) पूर्वरात्रापररात्रकालसमये रात्रेः पूर्वभागे पश्चाद्भागे चेत्यर्थः। (मज्जाइय त्ति) पीतमद्यः (विरहिरसयणिज्जंसि त्ति) विरहिते विजनस्थाने शयनीयं विरहितशयनीयं तत्र (परामुसइ त्ति) गृह्णाति (समजोइभूयं ति) समस्तुल्यो ज्यातिषाऽग्निना भूतो जातो यः स तथा। (रोयमाणीउ त्ति) अश्रुविमोचनात्। इहान्यदपि पदद्वयमध्येयम्। तद्यथा– (कंदमाणिओ) आक्रन्दशब्दं कुर्वन्त्यः (विलवमाणीओ त्ति) विलापान् कुर्वन्त्यः (आसुरुत्ते त्ति) आशु शीघ्रं रुष्टः कोपेन विमोहितः। इहान्यदपि पदचतुष्कं दृश्यम्। तद्यथा (रुट्ठे त्ति) उदितरोषः (कुविए त्ति) प्रवृद्धकोपोदयः (चंडिक्किए त्ति) प्रकटितरौद्ररूपः (मिसिमिसेमाणे त्ति) कोपाग्निः दीप्यमान इव। विपा०६ अ०। ब्रह्मलोकादुपरि किं सम्यग्दृशो देवा अधिका उत मिथ्यादृशोऽधिका इति प्रश्ने, उत्तरम्– पञ्चमदेवलोकात्परतः युक्त्या विचार्यमाणे मिथ्यादृष्टिभ्यः सम्यग्दृष्टयो देवा अधिकाः संभाव्यन्ता इति। २१२ प्र०। सेन०२ उल्ला०। चतुर्भिरङ्गुलैर्देवा भूमिं न स्पृशन्तीति यदुच्यते, तत् कुत्र स्थल इति प्रस्तावमिति प्रश्ने, उत्तरम्– महीतलं कुत्रापि न स्पृशन्तीति संग्रहणीवृत्त्याद्यभिप्रायः। १६७प्र०। सेन०३ उल्ला०। देवानां भवधारणीयेनापि वपुषा कदाचित्कुत्रापि गमनं संभवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्– संगमकसुरसंबन्धाऽऽद्यनुसारेण देवानां भवधारणीयेनापि वपुषा कदाचिदत्राऽऽगमनं ज्ञायत इति। ३५२ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। देवो देवीं मूलशरीरेण भुङ्क्ते, उत वैक्रियेण वेति प्रश्ने, उत्तरम्– उभयथाऽपि भोगो भवतीत्यक्षराणि श्रीभगवतीप्रज्ञापनाजीवाभिगमराजप्रश्नीयप्रमुखग्रन्थेषु सन्तीति। ३५६ प्र०। सेन०३ उल्ला०। देवा मूलशरीरेण नग्नास्तिष्ठन्ति, किं वा वस्त्राणि परिदधतीति प्रश्ने, उत्तरम्– मूलशरीरेण वस्त्रपरिधाननिषेधो ज्ञातो नास्तीति। ३६१ प्र०। सेन०३ उल्ला०।

देवड्ढिनमण–न०(देवर्द्धिनमन) श्रीकल्पसूत्रस्य स्थविरावलीप्रान्ते ''देवड्ढिगणिं नमंसामि।'' इति गाथा पुस्तकाऽऽरूढकालीना, उत प्राक्कालीना? यदि पुस्तकाऽऽरूढकालीना तर्हि देवर्द्धिगणिकृतत्वे स्वस्थनमस्करणमनुचितम्, अन्यकृतत्वे तु सर्वा अपि स्थविरावलीगाथा अन्यकृताः कथं न भवन्ति, इत्यारेका। यदि प्राक्कालीना तदाऽग्रेतनानां नमस्करणं कथमुचितमिति प्रश्ने, उत्तरम्–इयं गाथा देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणशिष्येणान्येन वा पाश्चात्येन केनापि स्थविरेण कृतेति संभाव्यते, तथैवं सर्वाअपि तत्कृताः संभावनीयाः, अनुपपद्यमानत्वाभावात्। गतिस्तु स्थितस्यैव चिन्तनीया, प्रशमरतिवत्, यतस्तत्राप्युमास्वातिवाचककृतायां प्रान्तगाथाकदम्बके तन्नमस्कारो दृश्यते, तेन

तदेवान्यकृतं ज्ञेयं, न च संपूर्णग्रन्थोऽपि, तत्र विप्रतिपत्तेरभावात्, ग्रन्थस्योमास्वातिवाचककृतत्वेन सुप्रतीतत्वादिति। ५६ प्र०। सेन०१ उल्ला०।

देवदव्व-न०(देवद्रव्य) चैत्यद्रव्ये, कर्म० १ कर्म०। ही०। जीवा०।

जिनद्रव्यसाधारणप्रस्तावाऽऽविष्करणद्वारेण भक्षणरक्षणवर्द्धनफलोपदर्शनाय गाथात्रयमाह–

जिणपवयणवुड्ढिकरं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होइ ॥५८॥
जिणपवयणवुड्ढिकरं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
रक्खंतो जिणदव्वं, परित्तसंसारिओ होइ ॥५९॥
जिणपवयणवुड्ढिकरं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वड्ढंतो जिणदव्वं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥६०॥

आसामक्षरार्थः सुगमः। भावार्थस्तु समस्तोऽपि पूर्वकथानकादवसेयः। यथा–अनर्थचूलेनानेकशोऽनेकभवपरम्परासु महद् दुःखमनुभूतं, यथा च कञ्चनरुचिना जिनसाधारणद्रव्यं रक्षता वृद्धिमापादयताऽनेकभवेषु कल्याणमासाद्य तीर्थकृद् भूत्वा शान्तिपदमुपगतः। ततः सर्वथाऽस्मिन्नर्थे यत्नवद्भिर्भाव्यमिति गाथात्रयार्थः। दर्श० १ तत्त्व। दश०। देवद्रव्याधिकारे कथं श्राद्धैर्देवद्रव्यवृद्धिं कर्तुं शक्यते, यदुक्तमागमे– ''भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ भणिओ।'' इति जानन्नप्यात्मव्यतिरिक्तानां यच्छंस्तेषां संसारवृद्धिं प्रति कारणं भवति, न हि विषं कस्यापि विकारकृन्न स्यात्सर्वेषामपायकृदेव स्याद्, ग्रन्थान्तरे आलोचनाधिकारे मूवकाऽऽदीनामपि दोषोत्पत्तिरुक्ताऽस्ति, तदत्र का वृद्धिं प्रति रीतिरिति प्रश्ने, उत्तरम्– स्ववृत्त्या श्राद्धानां देवद्रव्यस्य विनाशन एव दोषो, यथाकालमुचितव्याजदानपूर्वकं ग्रहणे तु न भूयान् दोषः, समधिकव्याजदाने पुनर्दोषाभावोऽवसीयते, तेन तेषां यत्तर्जनं तन्निःशूकताऽऽदिदोषपरिहारार्थं ज्ञेयम्। किञ्च– श्रीजिनशासने देवद्रव्यस्य विनाशे दुर्लभा बोधिता, तद्रक्षाऽऽदिदेशनादानोपेक्षणाऽऽदौ साधोरपि भवदुःखं च शास्त्रे दर्शितम्, ततस्तेन तदभिज्ञानं श्राद्धानां तस्या व्यापारणमेव यौक्तिकं मा कदाचित्प्रमादाऽऽदिना स्वल्पोऽपि तदुपभोगो भवस्थिति सुस्थानस्थापनप्रत्यहसाराऽऽदिकरणपुरस्सरं महानिधानवत्परिपालेन च तेषामपि न कोऽपि दोषः, किं तु तीर्थकृन्नामकर्म्मनिबन्धनाऽऽदिहेतुर्लाभ एवेति, इतरस्य तु तद्भोगदोषानभिज्ञस्य निःशूकताऽऽद्यसंभवाद्वृद्ध्यर्थं ग्रहणकग्रहणपूर्वकं समर्पणे न दोष इति तथा व्यवह्रियमाणमस्तीति संभाव्यते, पूषकाऽऽदिषु तु वृद्ध्याद्यर्थं समर्पणव्यवहाराभावात्तेषां तद्रक्षणे दोष एवेति। १५६ प्र०। सेन०२ उल्ला०। देवद्रव्यस्य वृद्धिकृते श्राद्धैः तत् स्वयं व्याजेन गृह्यते, न वेति, तद्ग्राहकाणां दूषणं किं वा भूषणमिति प्रश्ने, उत्तरम्– श्राद्धानां देवद्रव्यस्य व्याजेन न युज्यते ग्रहणं, निःशूकताप्रसङ्गात्, ननु वाणिज्याऽऽदौ व्यापार–णीयं स्वल्पस्य देवद्रव्यभोगस्य शङ्कासंबन्धाऽऽदिष्यतीवाऽऽयतौ दुष्टविपाकजनकतया दर्शितत्वादिति। ३७४ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। उपाश्रये सांवत्सरिकाऽऽदिप्रतिक्रमणावसरे यद् घुसृण-तैलाऽऽदिकमानीतं तद्देवद्रव्ये साधारणद्रव्ये वा समायातीति प्रश्ने, उत्तरम् यथा–प्रतिज्ञं देवद्रव्ये साधारणद्रव्ये वा तत्समायातीत्यवधेयम्। ४३२ प्र०। सेन०३ उल्ला०। श्राद्धा देवद्रव्यं व्याजेन गृह्णन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्– महत्कारणं विना न गृह्णन्तीति। ४९१ प्र०। सेन०३ उल्ला०। अथ वटपल्लीयसंघकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च यथा–शतदोक्कडकपुष्पाणि मालिकपार्श्वाद् गृहीत्वा जिनप्रतिमायाश्च यज्यते, मालिकस्य तद् द्रव्यस्थाने धान्यवस्त्राऽऽदिकं समर्प्यते, तदर्पणे च दोक्कडकदशकमुद्वरति तद् द्रव्यं देवसत्कं मालिकसंबन्धि वेति प्रश्ने, उत्तरम्– शतदोक्कडकपुष्पाणि गृहीत्वा धान्यादि समर्प्यते, तदर्पणे च कङ्कोशेरकेण यदुद्वरति तद्देवद्रव्यं भवति, न तु मालिकस्य, यतो लोके शतदोक्कडकपुष्पचटापनयशोवादो जायते, तस्मान्न्यूनचटापने दोषो लगति, तदुद्वरितं द्रव्यं देवद्रव्यं प्रक्षिप्यते तदा दोषो न लगतीति। ९१ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

देवदव्वहरण-न०(देवद्रव्यहरण) चैत्यद्रव्यग्रहणे, कर्म० १ कर्म०।

देवदार-न०(देवद्वार) सिद्धाऽऽयतनस्य पूर्वदिक्स्थे स्वनामख्याते द्वारे, स्था०४ ठा०२ उ०।

देवदारु-न०(देवदारु) गन्धाङ्गभेदे, आचा०१ श्रु०१ अ०५ उ०। देवानां प्रियं दारु यस्य तत्काष्ठचन्दनस्य देवप्रियत्वात्। स्वनामख्याते वृक्षे, अयं पुमानप्यत्र– ''अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्।'' वाच०।

देवदाली-स्त्री०(देवदाली) बहुबीजके लताविशेषे, प्रज्ञा०१ पद।

देवदिण्ण-पुं०(देवदत्त) राजगृहे नगरे धनाढ्यः सार्थवाहस्य भद्रायां भार्यायां च जाते स्वनामख्याते पुत्रे, ज्ञा०१ श्रु० २ अ०। देवप्रसादालब्धेषु सुलसाया द्वात्रिंशत्पुत्रेषु, आ०क०।

देवदीव-पुं०(देवद्वीप) स्वनामख्याते द्वीपे, जी०।

देवदीवे दो देवा महिड्ढीया–देवभद्दा, महाभद्दा।

''देवे णं भंते ! दीवे किं समचक्कवालसंठिए, विसमचक्कवालसंठिए? गोयमा! समचक्कवालसंठिए, नो विसमचक्कवालसंठिए। देवे णं भंते! दीवे केवइयं चक्कवालविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पन्नत्ता? गोयमा! असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं परिक्खेवेणं पन्नत्ते, से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं परिविक्खत्ते।'' ''सुगमं, नवरं एकया पद्मवरवेदिकया अर्धयोजनोच्छ्रयजगत्युपरि भाविन्येति द्रष्टव्यम्। एवमेकेन वनखण्डेन च। इदं तु सूत्रं बहुषु पुस्तकेषु न दृश्यते, केषुचित् तदेवोत्पत्तिदेश इति लेखितम्। ''कइ णं भंते'' इत्यादि। कति भदन्त ! देवस्य द्वीपस्य द्वाराणि प्रज्ञप्तानि? भगवानाह– गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–''विजयवैजयन्त-जयन्तमपराजितं।'' ''कहि णं भंते! दीवस्स दीवेत्यादि।'' क्व भदन्त ! देवस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्? भगवानाह– गौतम! देवद्वीपपूर्वार्द्धपर्यन्ते देवसमुद्रपूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि अत्र एतस्मिन्नवकाशे विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, प्रमाणं वर्णकश्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवत्, नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव। ''कहि णं भंते ! इत्यादि।'' क्व भदन्त ! विजयस्य विजया नामं राजधानी प्रज्ञप्ता? भगवानाह– गौतम ! विजयस्य द्वारस्य पश्चिमदिशि तिर्यगसंख्येयानि

योजनशतसहस्राण्यवगाह्य अत्रान्तरे विजयस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता। सा च जम्बूद्वीपविजयद्वाराधिपतिविजयस्य देवस्येव वक्तव्या। एवं वैजयन्तजयन्तापराजितद्वारवक्तव्यताऽपि भावनीया, ज्योतिष्कवक्तव्यता सर्वाऽप्यसंख्येयतया वक्तव्या, नामान्वर्थचिन्तायामपि (दो देव त्ति) भद्रदेवमहाभद्रौ वक्तव्यौ। शेषं सर्वमरुणद्वीपवत् (पुस्तके मूलपाठो नोपलभ्यत।)। जी० ३ प्रति० ४ उ०।

देवदूस-न०(देवदूष्य) जिनवरस्य स्कन्धे संयमग्रहणावसरे सुरपतिर्यत्सुरदूष्यं मुञ्चति, तस्यावस्थानस्य मानं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्- दीक्षासमये देवेन्द्रमुक्तजिनवरस्कन्धस्थदेवदूष्यस्यावस्थानकालनियममाश्रित्य सप्ततिशतस्थानकानुसारेण श्रीवीरस्य साधिकं वर्षं यावच्छेषाणां च तीर्थकृतां जावज्जीवं देवदूष्यावस्थानकालमानं श्रीवीरवदिति ज्ञेयमिति। १३५ प्र०। सेन० १उल्ला०।

देवदूसजुगल-न०(देवदूष्ययुगल) देववस्त्रयुग्मे, जी०३ प्रति० ४उ०।

देवदेव-पुं०(देवदेव) इन्द्रेषु, तीर्थकरेषु च। आ०चू० ५ अ०।

देवदेवमहिय-पुं०(देवदेवाधिक) इन्द्रादप्यधिके तीर्थकराऽऽदौ, आ०चू० ५ अ०।

***देवदेवमहित**-पुं०। देवाधिदेवपूजिते जिने, आ०चू० ५ अ०।

देवदोणी-स्त्री०(देवद्रोणी) स्थल्याम्, ''साधम्मियत्थलीरुं।'' नि० चू०१ उ०।

देवपंचिंदियसंसारसमावन्नजीव-पुं०(देवपञ्चेन्द्रियसंसारसमापन्नजीव) पञ्चेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवभेदे, प्रज्ञा०१ पद।

देवपडिक्खोभ-पुं०(देवप्रतिक्षोभ) तमःकाये, ''देवपडिक्खोभेइ वा।'' देवप्रतिक्षोभ इति वा, तत्क्षोभहेतुत्वात्। भ० ६ श०५ उ०।

देवपरियारण-न०(देवपरिचारण) श्रीविजयराजगणिकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च यथा-शक्राऽऽदयो देवाः संभोगं कर्तुकामाः देवलोकविमाने देवीभिः पारिचाराणं कुर्वन्ति, विमानादन्यत्र वा तदाश्रित्य प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्- शक्राऽऽदयो देवा देवलोके स्वस्वसुधर्मसभायां देवीभिः सह परिचारणं न कुर्वन्ति, तत्र माणवकचैत्यस्तम्भसमुद्गकस्थितजिनदंष्ट्राशातनाभयादित्यभिप्रायः प्रज्ञप्तिदशमशतकपञ्चमोद्देशकेऽस्तीत्युपलक्षणत्वादन्यत्र सिद्धाऽऽयतनव्यतिरिक्तस्थाने परिचारणां कुर्वन्तीति संभाव्यते इति। १०५ प्र०। सेन० १ उल्ला०।

देवपरिसा-स्त्री०(देवपरिषत्) देवपरिवारे, औ०।

देवपव्वय-पुं०(देवपर्वत) जम्बूमन्दरपश्चिमस्थे सीतायाः महानद्या उत्तरकूलस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था०४ ठा०२ उ०। जं०। स्था०। पश्चिमवनखण्डवेदिकान्त्यविजयाभ्यां पूर्वस्थे स्वनामख्याते पर्वतयुगले च। ''दो देवपव्वया।'' स्था० २ ठा० ३ उ०।

देवपुत्थय-न०(देवपुस्तक) देवलोकपुस्तकेषु किंलिपीकृतमस्ति, किमभिधानं तत् शास्त्रमिति प्रश्ने, उत्तरम्- देवलोकपुस्तकेषु लिपीकरणं तत्रत्यव्यवहारमाश्रित्य संभाव्यते, तदभिधानं तु कुत्रापि दृष्टं नास्तीति। ७३ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

देवपूयाइणाय-न०(देवपूजादिज्ञात) देवतार्चनप्रभृत्युदाहरणे, पञ्चा०८ विव०। देवपूजानात्रतश्य(?) तेणानन्तरं श्राद्धय आरत्युतारणमङ्गलप्रदीपाऽऽदिकृत्यं कुर्वन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्- तथाकरणेऽधुना प्रवृत्तिर्न दृश्यते, निषेधस्तु शास्त्रे दृष्टो नास्तीति क्वचिद्देशविशेषे तत्कुर्वन्तीति। १६४ प्र०। सेन० २उल्ला०।

देवप्पहसूरि-पुं०(देवप्रभसूरि) स्वनामख्याते, आचार्ये, दर्श०५ तत्त्व। स च विचारसारप्रकरणकृतः प्रद्युम्नसूरेर्गुरोः पद्मप्रभसूरेर्गुरुः। द्वितीयोऽपि मुनिचन्द्रसूरिशिष्यः ताराचन्द्रगुरुः, तेन च पाण्डवचरित्रमहाकाव्यं मृगावतीचरित्रं चेति ग्रन्थौ रचितौ। तृतीयोऽपि विक्रम-संवत् १२६४ वर्षे मुनिसुव्रतचरित्रकारकस्य पद्मप्रभसूरेर्गुरुरासीत्। जै०इ०।

देवप्पिय-पुं०(देवप्रिय) वसन्तपुरे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ग० २ अधि०। (तत्कथा 'खुल्लक' शब्दे तृतीयभागे ७५४ पृष्ठे द्रष्टव्या)

देवफलिक्खोभ-पुं०(देवपरिक्षोभ) तमस्काये, ''देवपलिक्खोभेइ वत्ति।'' देवानां परिक्षोभहेतुत्वादिति। भ०६ श०५ उ०। स्था०।

देवफलिह-पुं०(देवपरिघ) देवानां परिघ इवार्गलेव दुर्लङ्घ्यत्वाद्देवपरिघ इति। भ० ६ श०५ उ०। तमस्काये, भ०६ श०५ उ०। स्था०।

देवभद्द-पुं०(देवभद्र) देवद्वीपस्थे स्वनामख्याते देवे, चं०प्र० २ पाहु०। सू०प्र०। चैत्रगच्छस्थे भुवनेन्द्रसूरिशिष्ये स्वनामख्याते गणिनि, बृ०।

चैत्रगच्छमधिकृत्य-

''तत्र श्रीभुवनेन्द्रसूरिसुगुरुर्भूभूषणं भासुरं-
ज्योतिः सद्गुणरत्नरोहणगिरिः कालक्रमेणाभवत् (८)
तत्पादाम्बुजमण्डनं रामभवत् पक्षद्वयीशुद्धिमा-
न्क्षीरक्षीरसदृक्षदूषणगुणत्यागग्रहैवाऽऽदृतः।
कालुष्यं च जडोद्भवं परिहरन् दूरेण सन्मानस-
स्थायी राजमरालवद्गणिवरः श्रीदेवभद्रप्रभुः ॥६॥''

बृ० ६ उ०। ध०र०। ग०। द्वितीयोऽप्येतन्नामा रुद्रपालीयगच्छस्थापकस्याभयदेवसूरेः शिष्यः प्रभानन्दसूरेर्गुरुः, स च विक्रमसंवत् १२६६ मिते आसीत्। तृतीयश्च चन्द्रगच्छे भद्रेश्वरसूरिशिष्यः, स विक्रमसंवत् १२४२ वर्षे आसीत्, यच्छिष्येण सिद्धिसेनेन प्रवचन-सारोद्धारटीका रचिता। चतुर्थश्च खरतरगच्छे प्रसन्नचन्द्राचार्यस्य शिष्यः विक्रमसंवत् ११६८ वर्षे विद्यमान आसीत्, येन पार्श्वनाथ-चरित्रं संवेगरङ्गशाला वीरचरित्रं कथारत्नकोशश्चेत्यादयोऽनेके ग्रन्था रचिताः। पञ्चमश्च चन्द्रसूरेः शिष्यस्तत्कृतसङ्ग्रहिणीटीकाकृत्। जै०इ०।

देवमइ-स्त्री०(देवमति) स्वर्गिचातुर्ये, जं० ३ वक्ष०।

देवमहाभद्द-पुं०(देवमहाभद्र) देवद्वीपस्थे स्वनामख्याते देवे, सू०प्र० १६ पाहु०। चं०प्र०। जी०।

देवमहावर-पुं०(देवमहावर) देवसमुद्रस्थे स्वनामख्याते देवे, सू०प्र० १६ पाहु०। चं०प्र०। जी०।

देवय-न०(दैवत) देवतैव दैवतम्। स्था० ३ ठा० १ उ०। देवे, ज्ञा० १ श्रु० १अ०। दशा०। भ०। औ०। आव०। ओघ०। आ०म०। परमदेवतायां च। चं०प्र० १८ पाहु०।

देवया-स्त्री०(देवता) रागाऽऽदिदोषरहिते, (विशे०) जिननायके, धर्माऽऽचार्ये, पञ्चा० १ विव०। प्रति०। इन्द्राऽऽदिदेवेषु, प्रति०। स्था०। ओघ०।

देवयाणाम-न०(देवतानामन्) देवताऽभिधायके नामनि, अनु०।

से किं तं देवयाणामे? देवयाणामे अणेगविहे पण्णते। तं जहा-अग्गिदेवताहिं जाए अग्गिए अग्गिदिण्णे अग्गिसम्मे अग्गिधम्मे अग्गिदेवे अग्गिदासे अग्गिसेणे अग्गिरक्खिए। एवं सव्वनक्खत्त-देवतानामा भाणिअव्वा।

एत्थ पि संगहणीगाहाओ-

"अग्गि पयावइ सोमे, रुद्दो अदिति विहस्सई सप्पे।
पिति भग अज्जम सविआ, तट्ठा वाऊ अ इंदग्गी ॥१॥
मित्तो इंदो निरती, आओ विस्सो अ बंभ विण्हू अ।
वसु वरुण अय विवड्ढि, पूसा अग्गी जमे चेव ॥२॥"

से तं देवतानामे।

(से किं तं देवयाणामे इत्यादि) अग्निदेवतासु जातः- अग्निकः। एवमग्निदत्तादीन्यपि। नक्षत्रदेवतानां संग्रहार्थमग्नीत्यादिगाथाद्वयं, तत्र कृत्तिकानक्षत्रस्याधिष्ठाता अग्निः, रोहिण्याः प्रजापतिः, एवं मृगशिरः क्रमेण-सोमी रुद्रोऽदितिः बृहस्पतिः सर्पः पितृ भगः, अर्यमा सविता त्वष्टा वायुः इन्द्राग्नी मित्रः, इन्द्रः, निर्ऋतिः, अम्भः, विश्वः ब्रह्मा, विष्णुः, वसुः, वरुणः, अजः, विवर्द्धिः। अस्य स्थानेऽन्यत्र अहिर्बुध्नः पठ्यते। पूषाः, अग्निः। यमश्चैवेति। (से तं देवतानामे) अनु०।

देवयाणिओग-पुं०(देवतानियोग) देवताद्देशे, पञ्चा० १६ विव०।

देवयापणिहाण-न०(देवताप्रणिधान) सर्वक्रियाणां फलनिरपेक्ष-तयेश्वरसमर्पणक्षणे ईश्वरप्रणिधाने द्वा० २२द्वा०।

देवयाभिओग-पुं०(देवताभियोग) देवपरतन्त्रतायाम्, उपा० २अ०।

देवयाहिमुत्ति-स्त्री०(देवताधिमुक्ति) बुद्धकपिलाऽऽदिदेवता विशेषभक्तौ, ध०१ अधि०।

देवर-पुं०(देवर) 'देअर' शब्दार्थे, प्रा०१ पाद।

देवरण्ण-न०(देवारण्य) देवानामरण्यमिव बलाद्ग्रयेन नाशनत्वाद्यः स देवारण्यमिति। तमस्काये, स्था०४ ठा०२ उ०।

देवरमण-न०(देवरमण) सौभाञ्जन्या नगर्याः बहिरुत्तर पश्चिमायां दिशि स्थिते स्वनामख्याते उद्याने, विपा०१ श्रु०४ अ०।

देवराय-पुं०(देवराज) देवेषु कान्त्यादिगुणैः राजमाने, कल्प० १ अधि० १ क्षण। उपा०। इन्द्रे, आव०४ अ०। कोशलाविषये कस्मिंश्चिद् ग्रामे स्थिते स्वनामख्याते कुटुम्बिनि परमश्रावके, पिं०।

***देवराट्**-पुं०। देवेन्द्रे, "देवीभिरिव देवराट्।" आ०क०।

देवरायकुंजरवरप्पमाण-पुं०(देवराजकुञ्जरवरप्रमाण) देवराजो देवेन्द्रस्तस्य कुञ्जरो हस्ती तद्वद् वरं शास्त्रोक्तं प्रमाणं देहमानं यस्य स तथा। देवराजहस्तिशरीरप्रमाणसदृश प्रमाणशरीरे, कल्प० ९ अधि० २ क्षण।

देवल-पुं०(देवल) मुनिभेदे, व्यासशिष्ये, धौम्यस्य ज्येष्ठभ्रातरि, देवस्य जीविकार्थं लाति लातीति वा। देवोपजीविनि, स्वार्थे कन्। अत्रैवार्थे, "देवकोषोपजीवी च, नाम्ना देवलको भवेत्।" इत्युक्ते विप्रे, वाच०। सूत्र०।

देवलासुय-पुं०(देवलासुत) उज्जयिनीनृपे, आ०क०। आ०चू०।

देवलोग-पुं०(देवलोक) देवानामिन्द्रादीनां लोकः स्थानम्। सूत्र० १ श्रु० २ अ०३ उ०। सौधर्माऽऽदिषु द्वादशसु लोकेषु, सूत्र० १ श्रु०२ अ०१ उ०। भ०।

कइविहा णं भंते! देवलोगा पण्णत्ता? गोयमा! चउव्विहा देवलोगा पण्णत्ता। तं जहा-भवणवासी, वाणमंतरा, जोइसिया, वेमाणिया। भेएणं भवणवासी दसविहा, वाणमंतरा अट्ठविहा, जाइसिया पंचविहा, वेमाणिया दुविहा। भ०५ श० ६ उ०।

देवलोके मिथ्यात्विदेवदेवीनां क आचार इति प्रश्ने, उत्तरम्- यथा सम्यक्दृशां सिद्धाऽऽयतनेषु जिनार्चनाऽऽदिप्रवृत्तिरूप आचारस्तथा मिथ्यादृशां तत्रैव वर्तमाननागाऽऽदिप्रतिमापूजना-ऽऽदिरूपः स्मर्भाव्यते इति। ६६ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

देवलोगगमण-न०(देवलोकगमन) सुकुलप्रत्यागतौ, स० ७ अङ्ग०।

देवलोगसमाण-त्रि०(देवलोकसमान) देवलोकसदृशे, दश० १चू०।

देवलोय-पुं०(देवलोक) 'देवलोग' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु०२ अ० ३उ०।

देवलोयगमण-न०(देवलोकगमन) 'देवलोगगमण' शब्दार्थे, स० ७ अङ्ग०।

देवलोयसमाण-त्रि०(देवलोकसमान) 'देवलोगसमाण' शब्दार्थे, दश० १चू०।

देववंदणविहि-स्त्री०(देववन्दनविधि) देवस्तवनविधौ, ध०२०। (अस्य व्याख्या 'वंदन' शब्दे) विंशतिस्थानाऽऽदिषु देववन्दनं मुखवस्त्रिकां विना घटते। न वेति प्रश्ने, उत्तरम्- मुख्यवृत्त्या मुखवस्त्रिकां विना देववन्दन न घटते। २०३ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। पदगणनमेकवारदेववन्दनं वा विस्मृतं द्वितीयदिने पारणातः प्राक् तत्करोति यदि तदा शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रथमदिने विस्मृतपदगण न एकशो देववन्दनं वा द्वितीयदिने पारणकरणादवगाधिपूर्व्यादि महत्कारणं विना न शुद्ध्यति, क्रियमाणं तु दृश्यत इति श्राद्धानां, यतीनां तु तन्नियमो ज्ञातो नास्तीति। ३०६ प्र०। सेन०३ उल्ला०। तथा श्रीवीरहीरसूरीणां प्रतिमाऽग्रे यो देवान् वन्दते, स वा-सक्षेपं कृत्वा, अन्यथा वेति प्रश्ने, उत्तरम्- श्रीगुरुप्रतिमाग्रे देवा वन्दिता न शुद्ध्यन्ति, यदि च तीर्थकृत्प्रतिमा चालेखिता भवति पट्टाऽऽदौ, तदा तदग्रे वासक्षेपं कृत्वा देवा व-

न्दिताः शुद्ध्यन्तीति ।१५४प्र० सेन० ४ उल्ला० पौषधिके त्रिसन्ध्यं विस्तरेण देवा वन्द्यन्ते, तदक्षराणि क्व सन्ति, मध्याह्ने देववन्दना तु सामाचारीपौषधविधिकरणाऽऽदिषु दृश्यते इति प्रश्ने, उत्तरम्– यद्यपि पौषधिकश्राद्धानां सामाचार्यादिषु मध्याह्न एव वन्दनं दृश्यते, तथाऽपि ''पडिक्कमओ गिहिणो वि हु, सगवेला पंच वेल इअरस्स। पूआसु तिसंझासु अ,होइ तिवेला जहन्नेणं'' ॥१॥ इत्याद्यक्षरवशात्त्रिकालपूजारथानीयत्वेन परम्परागतत्वेन च त्रिकालं देववन्दनं युक्तिमदेवेति। २६ प्र० सेन० २ उल्ला०।

देववर-पुं०(देववर) देवसमुद्रे, स्वनामख्याते देवे, सू०प्र० १६ पाहु० चं०प्र०। जी०।

देववायग-पुं०(देववाचक) नन्द्यध्ययनकर्त्तरि दूष्यगणिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, नं०।

देवविग्गहगइ-स्त्री०(देवविग्रहगति) देवानां नाकिनां विग्रहान् क्षेत्रविभागानतिक्रम्य गतिर्गमनं देवविग्रहगतिः। स्थितिनिवृत्तिलक्षणायामृजुवक्ररूपायां विहायोगतिकर्म्माऽऽपाद्यायां वा गतौ, स्था० १०ठा०।

देववूह-पुं०(देवव्यूह) देवानां व्यूहः साङ्ग्रामिकव्यूह इव यो दुरधिगमत्वात्स देवव्यूहः। सागराऽऽदौ, स्था० ४ ठा०२ उ०। भ०।

देवसइ-स्त्री०(देवस्मृति) ''नमो वीअरायाणं सव्वण्णूणं तेलोक्कपूइआणं जहट्ठिअवत्थुवाईणं।'' इत्यादिरूपे जिनस्मरणे, ध०२ अधि०।

देवसंघ-पुं०(देवसङ्घ) देवसमुदाये, औ०।

देवसंसारविउस्सग्ग-पुं०(देवसंसारव्युत्सर्ग) संसारव्युत्सर्गभेदे, औ०।

देवसक्खिय-त्रि०(देवसाक्षिक) देवताः साक्षिणो यत्र तद्देवसाक्षिकम्। देवसाक्षिगति प्रत्याख्यानाऽऽदौ, पा०।

देवसण्णत्ति-स्त्री०(देवसंज्ञप्ति) देवसंज्ञप्तेर्देवप्रतिबोधना या सा तथा। प्रव्रज्याभेदे, स्था० १० ठा०। ''उदायणसंबोही पभावाई देवसण्णत्ती।'' पं०भा०। पं०चू०।

देवसण्णिवाय-पुं०(देवसन्निपात) देवानां भुवि समवतारे, ''ति हिं ठाणेहिं देवसन्निवाए सिया। तं जहा– अरहंतेहिं जायमाणे हिं अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं अरहंताणं णाणुप्पयमहिमासु, एवं देवुक्कलियादेवकहकहए।'' स्था०३ ठा०१ उ०। (अर्हतां परिनिर्वाणमहिमासु देवसन्निपातो 'लोगुज्जोय' शब्दे)देवानां सन्निपातः समागमो रमणीयत्वाद्यत्र स तथा। देवसमागमोपेते शिलापट्टकाऽऽदौ, भ० २श० १उ०। देवसङ्घाते च। रा०।

देवसत्त-पुं०(देवशप्त) नपुंसकभेदे, ग०१ अधि०। पं० भा०। ''देवेहिं सत्तो देवसत्तो।'' पं०चू०।

देवसमुद्द-पुं०(देवसमुद्र) स्वनामख्याते समुद्रे, ''जत्थ देवोदे समुद्दे दो देवा महड्ढिया देववरा देवमहावरा।'' देवः समुद्रो वृत्तो वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितो यावत् परिक्षिप्य तिष्ठति, अत्राऽपि समचक्रवालाऽऽदिसूत्राणि तथैव, नवरं देवोदकरय समुद्ररय विजयद्वारं देवोदकसमुद्रपूर्वार्द्धपर्यन्ते नाम द्वीपपूर्वार्द्धपश्चिमदिशि, अत्रेति वक्तव्यम्– राजधानी विजयद्वारस्य पश्चिमदिशि देवं समुद्रं तिर्यगसंख्येयानि योजनशतसहस्राणि अवगाह्य वक्तव्या। एवं वैजयन्तजयन्तापराजितद्वारवक्तव्यताऽपि भावनीया, नामान्यर्थचिन्तायामपि देववरदेवमहावरौ देवौ, शेषं तथैव तथा देवो द्वीपः। जी० ३ प्रति०।

देवसम्मण-पुं०(देवशर्म्मन्) काम्पिल्यनगरासन्ने करिमंक्षिद् ग्रामे स्थिते गौतमप्रतिबोधिते (तं०) स्वनामख्याते ब्राह्मणे, उत्त० १३ अ० आ०चू०। कल्प०। आ०म०। जम्बूद्वीपे ऐरवते वर्षे अस्यामेवोत्सर्पिण्यां जाते देवसेनापरनामके स्वनामख्याते एकादशे तीर्थकरे, स०।

देवसयणिज्ज-न०(देवशयनीय) देवशय्यायाम्, जी०।

तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते, तस्स णं देवसयणिज्जस्स अयमेतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते। तं जहा– नाणामणिमया पेढीपादा सोवण्णिया पादा नाणामणिमया पायसीया जंबूणदमयातिं गत्ताइं वइरामया संधी नानामणिमए वेज्जे रयतामया तूली लोहियक्खमया विव्वोयणा तवणिज्जमई गंडोवहाणिया, से णं देवसयणिज्जे सालिंगणवट्टिए दुहओ विब्बोयणे दुहओ उण्णए मज्झणए गंभीरे गंगापुलिनवालुउद्दालसालिसए उवचितखोमदुगुल्लपट्टपडिच्छयणे सुविरइरयत्ताणे रत्तंसुयसंबुडे सुरम्भे आईणगरुत्तबूरणवणीयतूलफा–समउए पासातीए। जी० ३ प्रति०।

देवसिअ-त्रि०(दैवसिक) दिवसेन निर्वृत्तो दिवसपरिणामो वा दैवासिकः। दिवसभवे, आव४ अ० ध० प्रव० आ०म० आ०चू० स्त्रियां ङीप्। दिवसे भवा दैवसिकी। दिवसभवायाम्, औ०। प्रतिक्रमणभेदे, (तद्वक्तव्यता 'पडिक्कमण' शब्दे वक्ष्यते)

देवसीह-पुं०(देवसिंह) मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते श्रमणोपासके, ती०६ कल्प०।

देवसुंदर-पुं०(देवसुन्दर) सोमतिलकसूरिशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, ग०४ अधि०। स च विक्रमसंवत् १४४७ मिते तपागच्छे विद्यमान आसीत्, विक्रमसंवत्– १३६६ मितेऽस्य जन्म, विक्रमसंवत्– १४०४ मिते दीक्षा, विक्रमसंवत्– १४२० मिते सूरिपदं, ज्ञानसागरकुलमण्डनगुणरत्नसोमसुन्दराश्चेति शिष्यास्तस्याऽऽसन्। जै०इ०।

देवसुय-पुं०(देवश्रुत) जम्बूद्वीपे भारते वर्षे स्वनामख्याते षष्ठे भविष्यति जिने, प्रव० ७ द्वार। तथा षष्ठं देवश्रुतजिनं वन्दे।'' प्रव० ४ द्वार। ती०।

देवसूरि-पुं०(देवसूरि) स्याद्वादरत्नाकर–(रत्ना० १ परि०) जीवानुशासनवृत्तिकारके, जीवा० ३६ अधि०। एतस्य महात्मनः संक्षिप्तमितिवृत्तम्– गुर्जरदेशे महाह्रदग्रामे देवनागगृहपतेर्जिनदेव्यां भार्य्यायां पूर्णचन्द्रस्वप्नसूचितः सुतो जज्ञे, स्वप्नानुसारेण पूर्णचन्द्र इति नाम्ना प्रसिद्धिमगमत्। भृगुकच्छपु–

रे विक्रमसंवत्– ११५२ वर्षे मुनिचन्द्रसूरिपार्श्वे दीक्षां जग्राह। तदानीं रामचन्द्र इति नाम लेभे, पश्चात्तर्कव्याकरण-साहित्याऽऽद्यनेकशास्त्रेषु परिनिष्ठां प्राप्य विक्रमसंवत्– ११७४ सूरिपदं सहैव च तेन देवसूरिरिति नाम लब्धम्। ततः क्रमेण धवलक्कपुरे उदयश्रेष्ठिकारितसीमन्धरस्वामिप्रतिमां प्रातिष्ठिपत्, अणहिल्लपुरपट्टने वाहडश्रावकस्य वीरप्रभुप्रतिमामस्थापयत्। नागपुरराजं सिद्धराजाऽऽक्रान्तगगोचयत्। कर्णाटकदेशे कर्णावत्यां नगर्यां गत्वा कुमुदचन्द्रं नाम वादप्रसिद्धं दिगम्बराऽऽचार्यं वादे आहूय अणहिल्लपुरपट्टने सिद्धराजसमक्षं तं पराजिग्ये। ततः संतुष्टेन सिद्धराजेन तस्मै दीनारलक्षं दातुमुत्सृष्टं, किं तु तेन निष्परिग्रहेण नाङ्गीकृतमिति तत्रैव श्रीऋषभदेवचैत्यं तद्– द्रव्येण कारितम्। विक्रमसंवत्– १२२६ वर्षेऽयं देवसूरिर्देवलोकमगमत्। जै०इ०। जी०। मुनिचन्द्रसूरिशिष्ये रत्नप्रभसूरेर्गुरौ स्वनामख्याते आचार्ये, रत्ना० ८ परि०। ''यैरत्र स्वप्रभया, दिगम्बरस्याऽर्पिता पराभूतिः। प्रत्यक्षं विबुधानां, जयन्तु ते देवसूरयो नव्याः ॥२॥'' निर्जितदुर्जयपरप्रवादाः श्रीदेवसूरिपादाः। स्या०। सामन्तभद्रसूरिशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, ग०। सर्वदेवसूरेर्गुरौ स्वनामख्याते सूरौ, ग०।

वृद्धगच्छमधिकृत्य –

''अभवत्तत्र प्रथमः सूरिः श्री श्रीसर्वदेवाऽऽह्वः॥२१॥

रूपश्रीरिति नृपति–प्रदत्तविरुदोऽथ देवसूरिरभूत।

श्रीसर्वदेवसूरिर्जज्ञे पुनरेव गुरुचन्द्रः ॥२२॥'' ग०४ अधि०।

देवसेण-पुं०(देवसेन) देवा सेना यस्य, देवाधिष्ठिता वा सेना यस्य स देवसेन इति। शतद्वारनगरस्थे महापद्मापरनामके स्वनामख्याते नृपे, ''तस्स महापउमस्स रन्नो दव्वे वि नामधिज्जे भविस्सइ देवसेणे ति।'' स्था० ९ ठा० भ०। (एतद्वक्तव्यता 'महापउम' शब्दे वक्ष्यते) ऐरवतवर्तमानजिनेषु स्वनामख्याते षोडशे जिने, प्रव० ७ द्वार। भारते वर्षे भविष्यज्जिनस्य विमलवाहनस्य पूर्वभवजीवे, ''देवसेणो विमलवाहणो तित्थयरो।'' ती० २० कल्प। नयचक्रग्रन्थकारके स्वनामख्याते दिगम्बराऽऽचार्ये, ''इत्थमेव सगादिष्टं, नयचक्रेऽपि तत्कृता।'' द्रव्या० ८ अध्या०। तज्जन्म विक्रमसंवत्– ९५१ वर्षे रामसेनस्य स शिष्यः, तेन दर्शनसारभावसंग्रहतत्त्वसाराऽऽराधनासारधर्मसंग्रहाऽऽलापपद्धत्यादयो ग्रन्था विरचिताः। जै०इ०। भद्दिलपुरनगरे नागस्य गृहपतेः सुलसानामभार्यायामुत्पन्ने स्वनामख्याते पुत्रे, स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां पञ्चमेऽध्ययने सूचितम्। अन्त० १ वर्ग १ अ०।

देवसेणगणि-पुं०(देवसेनगणिन्) यशोभद्रसूरिशिष्ये पृथ्वीचन्द्रगुरौ, तेन च पर्युषणकल्पटिप्पणो नाम ग्रन्थो विरचितः। जै० इ०।

देवस्सपरिभोग-पुं०(देवस्वपरिभोग) देवस्वस्य जिनबिम्बनिर्म्मापणार्थं कल्पितत्वेन जिनदेवद्रव्यस्य परिभोगो भक्षणं देवस्वपरिभोगः। जिनदेवद्रव्यभक्षणे, उपचारात्तद्धेतुकं कर्म्म देवस्वपरिभोगः। तद्धेतुके कर्म्मणि च। पञ्चा० ५ विव०।

देवा-स्त्री०(देवा) दिव० अच्। पद्मचारिण्यां लतायाम्, अरानपर्ण्यां च। वाच०। प्रा०।

देवाइ-पुं०(देवादि) देवाऽऽदियोगाद्देवाऽऽदिः। जिने, ''देवाइ समणे भगवं महावीरे।'' रा०।

देवाइदेव-पुं०(देवातिदेव) देवान् शेषानतिक्रान्ताः पारमार्थिकदेवत्वयोगाद्देवातिदेवाः। पञ्चविधभव्यद्रव्यदेवा-ऽऽदिदेवभेदे, भ० ९ २ श०९ उ०।

देवाउय-न०(देवाऽऽयुष्) देवानामायुष्कर्म्मणि, ''चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति। तं जहा–पगइभद्दयाए, विणीययाए, सानुक्कोसयाए, अमच्छरियाए।'' स्था०४ ठा० ४उ०।

देवागमण-न०(देवाऽऽगमन) यद्यपि सुराणामचिन्त्यशक्त्या सर्वत्राऽऽगमनशक्तिरस्ति, तथापि सिद्धान्ते सुराणामागमनं प्रायो निर्याणमार्गेणोक्तं दृश्यत इति। ४६ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

देवाजीव-त्रि०(देवाऽऽजीव) देवं देवं प्रतिमाद्रव्यमाजीवति। जीव अण्। पूजादौ, न०।

देवाणंद-पुं०(देवाऽऽनन्द) ऐरवते वर्षे भविष्यति चतुर्विंशतितमे स्वनामख्याते जिने, स०। ''देवाणंदे य अरहा, समाहिं पडिदेसंतु मे।'' ति०।

देवाणंदसूरि(ण्)-पुं०(देवानन्दसूरिन्) जयदेवसूरिशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, ग०४ अधि०।

देवाणंदा-स्त्री०(देवानन्दा) ब्राह्मणकुण्डग्रामे कोडालसगोत्रस्य ऋषभदत्ताभिधानस्य ब्राह्मणस्य जालन्धरायणसगोत्रायां भार्य्यायां महावीरस्वामिनो मातरि, आचा० २ श्रु० ३ चू० १अ०। पुरन्दराऽऽदिष्टेन हरिनैगमोषिदेवेन यदुदरात् त्रिशलाभिधानाया राजपत्न्या उदरसंक्रामणं भगवतो महावीरस्य कृतम्। स्था० १० ठा०। (एतच्च 'महावीर' शब्दे स्फुटीभविष्यति)

इह खलु जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे दाहिणमाहणकुंडपुरसण्णिवेसंसि उसभदत्तस्स माहणस्स कोमालसगोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए जालंधरायणसगोत्ताए सीहब्भवभूएणं अप्पाणेणं कुच्छिंसि गब्भं वक्कंते समणे भगवं महावीरे। आचा०२ श्रु०३ चू०१ अ०। स०। आ०म०। आ०चू०। कल्प०।

(देवानन्दायाः प्रव्रज्याऽऽदिवक्तव्यता 'उसभदत्त' शब्दे द्वितीयभागे ११५३ पृष्ठे द्रष्टव्या) पक्षस्य स्वनामख्यातायां पञ्चदश्यां रात्रौ, जं० ७वक्ष०। चं०प्र०। कल्प०। ''जहा देवाणंदा पुप्फचूलाणं अंतिए।'' नि०१ श्रु०४ वर्ग २ अ०।

देवाणुपुव्वी-स्त्री०(देवानुपूर्वी) एकोनविंशतितमे शुभकर्म्मभेदे, उत्त० ३३ अ०।

देवाणुपुव्वीए पुच्छा? गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागूणं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अवाहा। प्रज्ञा० २१ पद।

देवाणुप्पिय-पुं०(देवानुप्रिय) सरलस्वभावे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। भ०। रा०। विपा०।

देवाणुभाग-पुं०(देवानुभाग) अद्भुतवैक्रियशरीराऽऽदिशक्तियोगे, नि०१ श्रु०३ वर्ग ४ अ०।

देवाणुभाव-न०(देवानुभाव) कोषदण्डाऽऽदिजाते देवानां तेजोविशेषे, सामर्थ्ये च। वाच०। रा०। स्था०।

देवातिदेव-पुं०(देवातिदेव) देवानां मध्येऽतिशयवान् देवातिदेवः। अर्हति, स्था० ५ ठा०१उ०।

देवारण्ण-न०(देवारण्य) देवानां क्रीडास्थाने, ज्यो० ६ पाहु०। तमस्काये, देवारण्यमिति वा बलवद्देवभयान्नश्यतां देवानां तथा-विधाऽऽरण्यमिव शरणभूतत्वात्। भ०६ श०५ उ०।

देवावास-पुं०(देवाऽऽवास) देवानां भवनपत्यादीनां स्थानेषु, भ० १३ श०२ उ०। (तद्वक्तव्यता 'ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०२ पृष्ठे द्रष्टव्या) अश्वत्थवृक्षे, वाच०।

देवावासंतर-न०(देवाऽऽवासान्तर) देवाऽऽवासविशेषे, भ० १० श० ३उ०।

देवावुक्कलिया-स्त्री०(देवोत्कलिका) 'देवकलिया' शब्दार्थे, स्था०४ ठा० ३उ०।

देवासुरसंगाम-पुं०(देवासुरसङ्ग्राम) देवासुरयुद्धे, भ०।

अत्थि णं भंते ! देवा असुरा संगामा देवा असुरा? हंता अत्थि। देवासुरेणं भंते ! संगामेसु वट्टमाणेसु किं णं तेसिं देवाणं पहरणर-यणत्ताए परिणमंति? गोयमा ! जं णं ते देवा तणं वा कट्ठं वा पत्तं वा सक्करं वा परामुसंति, तं णं तेसिं णं देवाणं पहरणरयणत्ताए परिणमंति। जहेव देवाणं तहेव असुरकुमा-राणं? णो इणट्ठे समट्ठे, असुरकुमारा णं देवा णं णिच्चं विउव्विया पहरणरयणा पण्णत्ता।

(जं णं ते देवा तं णं वा कट्ठं वेत्यादि) इह च यद्देवानां तृणाऽऽद्यपि प्रहरणीयं भवति तदचिन्त्यपुण्यसंभारवशात्सुभूमचक्रवर्तिनः स्थालमिव, असुराणां तु यन्नित्यविकुर्वितानि तानि भवन्ति तद्-देवापेक्षया, तेषां मन्दतर-पुण्यत्वात्तथाविधपुरुषाणामिवेत्यव-गन्तव्यमिति। भ० १८श० ७ उ०।

देवाहिदेव-पुं०(देवाधिदेव) देवानामिन्द्राऽऽदीनामधिका देवाः पूज्यत्वाद्देवाधिदेवा इति। अष्टादशदोषरहितेषु, दर्श० १ तत्त्व। तीर्थकरेषु, ते च चतुर्विंशत्। स०२३ सम०। आव०। (तद्वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२७४ पृष्ठे द्रष्टव्या) भायलस्वामिगढस्थायां जिनप्रतिमायां च। भायलस्वामिगढे देवाधिदेवः। ती० ४३ कल्प। आ०क०। नि०चू०।

देवाहिवइ-पुं०(देवाधिपति) देवेषु अधिपतिर्देवाधिपतिः। देवेष्व-धिककान्तिधारिणि, उत्त० ११ अ०। सूत्र०। इन्द्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

देविंद-पुं०(देवेन्द्र) दीव्यन्तीति देवा भवनवास्यादयस्तेषामिन्द्राः प्रभवो देवेन्द्राः। चमराऽऽदिषु, आव०४ अ०। आ० म०। कल्प०। ते च द्वात्रिंशत्। स०। द०प०। उपा०। (तद्वक्तव्यता 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३५ पृष्ठे द्रष्टव्या) (देवानां मनुष्यलोकगमनं 'मणुस्सलोय' शब्दे वक्ष्यते)

देविंदणाय-न०(देवेन्द्रज्ञात) देवेन्द्रोदाहरणे, पञ्चा०।

कायव्वो जहसत्तिं, पवरो देविंदणाएणं ॥८॥

यथा हि भगवतामर्हतां जन्ममहाऽऽदिषु सुरेन्द्रः सर्वविभूत्या सर्वाऽऽदरेण च शरीरसत्कारं विधत्ते, तद्वदन्यैरप्यसौ विधेयः ॥८॥ पञ्चा० ६ विव०।

देविंदत्थव-पुं०(देवेन्द्रस्तव) देवेन्द्रवक्तव्यताप्रतिबद्धे स्वनामख्याते प्रकीर्णकग्रन्थभेदे, द०प०।

देविंदपूइय-पुं०(देवेन्द्रपूजित) देवेन्द्राः शक्राऽऽदयस्तैः पूजितेषु समभ्यर्चितेषु अर्हत्सु, पं०सू० १सूत्र०।

देविंदमुणीसर-पुं०(देवेन्द्रमुनीश्वर) रुद्रपालीयगच्छोद्भवे सङ्क्रति-लकसूरिशिष्ये, स च विक्रमसंवत् १४७० वर्षे विद्यमान आसीत्, तेन च प्रश्नोत्तररत्नमालावृत्तिनामा ग्रन्थो विरचितः। जै०इ०।

देविंदसूरि-पुं०(देवेन्द्रसूरि) जगच्चन्द्रसूरिशिष्ये, धर्म्मरत्नटीका-कारके स्वनामख्याते आचार्य्ये, ध०र०। देवभद्रसूरिशिष्ये च। बृ० ६ उ०। "बालतिणं निच्चं देविंदसूरी जिय मइविहवा जं सुयं गीइनामं झयं ता हुंति।" सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

देविंदाइअणुगिति-स्त्री०(देवेन्द्राऽऽद्यनुकृति) देवाधिपदेवदानव-प्रभृत्याचारानुकरणे, पञ्चा० ६ विव०।

देविंदोग्गह-पुं०(देवेन्द्रावग्रह) अवगृह्यते स्वामिना स्वीक्रियते यः सोऽवग्रहः। देवेन्द्रस्य शक्रस्य ईशानस्य वाऽवग्रहः। दक्षिणलोकार्द्धे, उत्तरे च। प्रति०। भ०। देवेन्द्रस्य लोकमध्यवर्तिरुचकदक्षिणार्द्धमवग्रहः। आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ०१ उ०।

देविंदोववाय-पुं०(देवेन्द्रोपपात) स्वनामख्याते कालिकश्रुतभेदे, पा०।

देविंधयार-न०(देवान्धकार) अन्धकारभेदे, स्था०।

तिहिं ठाणेहिं देविंधयारे सिया। तं जहा-अरिहंतेहिं वोच्छि-ज्जमाणेहिं, अरिहंतपन्नत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे, पुव्वगए वोच्छि-ज्जमाणे ॥

देवानां भवनाऽऽदिष्वन्धकारं देवान्धकारं, लोकानुभावादेवे ति, लोकान्धकारे उक्तेऽपि यद्देवान्धकारमुक्तं तत्सर्वत्रान्धकारसद्भाव-प्रतिपादनार्थमिति। स्था०। ३ ठा० १ उ०।

देविड्ढि-स्त्री०(देवर्द्धि) त्रिधात्रिधा प्रकाराभ्यां षट्धा देवर्धिः। स्था० ३ ठा० ४उ०।

देवित्थी-स्त्री०(देवस्त्री) स्त्रीभेदे, जी०२ प्रति०। (तद्वक्तव्यता 'इत्थी' शब्दे द्वितीय भागे ५६५ पृष्ठे गता)

देविलासुय-पुं०(देविलासुत) अनुरक्तलोचनायाः पत्यौ स्वनामख्याते उज्झयनीनृपे, आव०४ अ०। (तद्वक्तव्यता 'सव्वकामविरत्तया' शब्दे वक्ष्यते)

देवी-स्त्री०(देवी) दीव्यति, दिव अण गौरा०ङीष्। दुर्गायाम्, वाच०। उत्त०। "यत्प्रभावादवाप्यन्ते, पदार्थाः कल्पनां विना। सा देवी संविदे नः स्तादस्तकल्पलतोपमा ॥३॥" उत्त०१ अ०। भूर्वायाम्, स्पृक्कायां च। देवस्य पत्नी ङीप्। देवपत्न्याम्, वाच०। स्था०। "देवीणं ठावणा मुणेयव्वा।" देवीनां सुरव-

धूनाम्। पञ्चा० २ विव०। प्रव०। राजाग्रमहिष्याम्, व्य० ३ उ०। सू० प्र०। प्रश्न०। ''तस्स णं सेणियस्स रण्णो धारणी नामं देवी होत्था।'' ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। (देवीवर्णकः 'राज' शब्दे वक्ष्यते) जम्बूद्वीपे भारते वर्षे अस्यामेवोत्सर्पिण्यां सप्तमस्यारनाम्नश्चक्रवर्तिनः स्वनामख्यातायां मातरि, स०। आव०। अत्रैव दशमस्य हरिषेणचक्रवर्तिनः स्वनामख्यातायां पत्न्याम्, स०। अस्यामेवोत्सर्पिण्यामष्टादशमस्याऽरस्वामिनस्तीर्थकरस्य स्वनामख्यातायां मातरि, स०। प्रव०। आव०। (देवीनामाशातना 'आसायणा' शब्दे द्वितीयभागे ४८३ पृष्ठे द्रष्टव्या) विप्रस्त्रीणामुपधौ च। ''देव्यस्ता विप्रयोषितः।'' इत्युक्ते। वाच०। तथेशाने सौधर्मे ज्योतिश्चक्रे व्यन्तरनिकाये असुराऽऽदिनि–काये च प्रत्येकं देवेभ्यो देवीवर्गो द्वात्रिंशदधिकद्वात्रिंशद्गुण इति प्रज्ञापनायां महादण्डके प्रोक्तमस्त्यन्यत्र तु ''तिगुणातिरूवअहिआ'' इत्यादिवचनात्सर्वसुरेभ्यः सर्वदेवीवर्गो द्वात्रिंशद्रूपाधिकद्वात्रिंशद्गुण इत्यत्रोत्तरवचनं कथं संगच्छते प्रज्ञापनायां सनत्कुमाराऽऽदिदेवेभ्यो देवीनामधिकत्वप्रतिपादनाऽऽदिप्रश्ने, उत्तरम्– ईशानाऽऽदिषु यद्देवापेक्षया देवीनां द्वात्रिंशद्गुणत्वं तदीशानाऽऽदिदेवभोग्यदेव्यपेक्षयाऽवगन्तव्यं, तेनाधिका अपि तत्र देव्यः संभाव्यन्ते, ताश्च सनत्कुमाराऽऽदिदेवापेक्षया गण्यमाना द्वात्रिंशदधिकद्वात्रिंशद्गुणा भवन्तीति न कश्चन प्रज्ञापनोपाङ्गे 'तिगुणा तिरूवअहिअ त्ति' गाथोक्तभावार्थयोर्भेद इति। ४१ प्र०। सेन०१ उ०।

देवीपडिमा-स्त्री०(देवीप्रतिमा) देव्या मूर्तौ, ''तत्थ रण्णो देवीओ य पडिमा कया।'' आ०म० १अ०२ खण्ड।

देवुक्कलिया-स्त्री०(देवोत्कलिका) देवानां वा तस्यैवोत्कलिका देवोत्कलिका। आ०म० १अ०१ खण्ड। प्रश्न०। तत्समवायविशेषे, स्था०३ ठा०१ उ०। रा०। देवलहरौ च। स्था०४ ठा०३ उ०। (देवोत्कलिका कुत्र भवति इति 'लोगुज्जोय' शब्दे वक्ष्यते)

देवज्जोय-पुं०(देवोद्द्योत) देवप्रकाशे, स्था०।

तिहिं ठाणेहिं देवुज्जोओ सिया। तं जहा–अरहंतेहिं जायमाणेहिं, अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं, अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु। स्था० ३ठा० १ उ०। आम०। रा०।

(अर्हतां परिनिर्वाणमहिमासु देवोद्द्योतो भवति इति 'लोगुज्जोय' शब्दे वक्ष्यते)

देवेंदगणि(ण्)-पुं०(देवेन्द्रगणिन्) देवभद्रगणिशिष्ये तपागच्छस्थे स्वनामख्याते गणिनि, देवभद्रगणिमधिकृत्य – ''तेषामुभौ विनेयौ, देवेन्द्रगणीन्द्रविजयचन्द्राह्वौ।'' ग०४ अधि०। वृद्धगच्छीये आम्रदेवसूरिगुरौ, स च विक्रमसंवत्– ११२६ मिते विद्यमान आसीत्। उत्तराध्ययनसूत्रोपरि टीका प्रवचनसारोद्धारग्रन्थ आख्यानमणिकोशश्चेत्यादिका ग्रन्था अनेन चक्रिरे, अयमाचार्यः सैद्धान्तिकशिरोमणिनाम्ना प्रसिद्धः। जै०इ०।

देवेंदवंदिय-पुं०(देवेन्द्रवन्दित) देवानां भुवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामिन्द्राः स्वामिनो देवेन्द्रास्तैर्वन्दितेऽर्हति, कर्म०२ कम०।

देवेंदसीहसूरि-पुं०(देवेन्द्रसिंहसूरि) अञ्चलगच्छीये अजितसिंहसूरिगुरौ, एतेन जैनमेघदूताऽऽद्या ग्रन्था रचिताः। विक्रमसंवत्– १३७१ वर्षेऽयं स्वरगमत्। जै०इ०।

देवेंदसूरि-पुं०(देवेन्द्रसूरिन्) श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरितपागच्छस्थापकशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, कर्म० १ कर्म०। अयमाचार्यः विक्रम-संवत्– १२७०–१३२७ वर्षाणामन्तराले आसीत्, तेन च सटीकः कर्मग्रन्थः, श्राद्धदिनकृत्यटीकावृत्तिः, नव्यकर्मग्रन्थपञ्चाशकवृत्तिः, सिद्धपञ्चाशकवृत्तिः, धर्मरत्नवृत्तिः, सुदर्शनश्रेष्ठिचरित्रं, देववन्दन भाष्यं, गुरुवन्दनभाष्यं, प्रत्याख्यानभाष्यमृषभाऽऽदिवर्द्धमानान्तस्तुतिः, पाक्षिकप्रतिक्रमणसूत्रवृत्तिरित्याद्यनेके ग्रन्था विरचिताः। विक्रमसंवत्– १३२७ वर्षेऽयं स्वर्गतः। जै०इ०। स्वनामख्याते सूरौ च। ''कहं पुण देविंदसूरीहिं चत्तारि विंवाणि अउज्झापुराओ आणीयाणि।'' ती० १२ कल्प।

देवेसरवंदिय-पुं०(देवेश्वरवन्दित) देवेन्द्रवन्दिते, ''देवेसरवंदियं च मरुदेवं।'' स०।

देव्व-पुं०(दैव) चतुर्थे विवाहभेदे, ध०। यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा स दैवः। ध०१ अधि०।

देवोववाय-पुं०(देवोपपात) जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां त्रयोविंशतितमे स्वनामख्याते भविष्यति तीर्थकरे, स०।

देस-पुं०(देश) जनपदे, बृ० ४ उ०। जीत०। स्था०। आव०। नि०चू०। रा०। मण्डले, स्था०५ ठा०३ उ०। जन्मक्षेत्राऽऽदौ, स्था० ३ठा०३ उ०। प्रदेशे, स्था० ३ ठा०३ उ०। भ०। अनु०। प्रकारे, विशे०। स्था०। अवयवविशेषे, स्था० १ ठा०। जी०। अंशे, आतु०। प्रश्न०। पूर्वाऽऽदिदिक्षु, स्था०७ ठा०। एकदेशे, उपा०१ अ०। प्रस्तावे, विशे०। देशः प्रस्तावोऽवसरो विभागः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्। दश० १अ०। आ० म०। विशे०। ग्रामनगराऽऽदौ, हा०१२अष्ट०। देशनं देशः। कथने, विशे०। आ०म०।

देसकहा-स्त्री०(देशकथा) तृतीये विकथाभेदे, ग०१ अधि०।

देसकहा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा–देसविहिकहा, देसविअप्पकहा, देसच्छंदकहा, देसनेवत्थकहा।

तथा देशे मगधाऽऽदौ विधिर्विरचना भोजनमणिभूमिकाऽऽदीनां, भुज्यते वा यद्यत्र प्रथमतयेति देशविधिस्तत्कथा देशविधिकथा। एवमन्यत्रापि, नवरं विकल्पः सस्यनिष्पत्तिः, वप्रकूपाऽऽदिदेवकुलभवनाऽऽदिविशेषश्चेति। छन्दो गम्यागम्यविभागो यथा लाटदेशे मातुलभगिनी गम्या, अन्यत्राऽगम्येति। नेपथ्यं स्त्रीपुरुषाणां वेषः स्वभाविको विभूषाप्रत्ययश्चेति इह दोषाः। स्था०४ ठा०२ उ०। आव०। दर्श०। नि० चू०। औ०। स०। प्रश्न०। आ०चू०।

इयाणिं देसकहा–

छंदं विधी विकप्पं, णेवत्थं बाहुविहं जणवयाणं।
एता कधा कधिंते, चतु जमला सुक्किला चउरो ॥१२५॥

गाहापच्छद्धं तदेव।

अग्गद्धस्स इमा वक्खा–

छंदो गंमं विधि रयणा चेव य भुज्जते य जं पुव्वं।

सारणिकूवविकल्पो, णेवत्थं भोयडादीयं ॥१२६॥

छंदो आयारो, गम्मा जहा लाडाणं माउलदुहिया, माउसस्स धूया वा गम्मा, विहो नाम वित्थरो, रयणा णाम जहा कोसलाविसए आहार–भूमी हरितोवलित्ता कज्जति, पउमिणिपत्ताइएहिं भूमी अत्थरिज्जति, ततो पुण्णोवयारो कज्जति, तओ पत्ती ठविज्जति, ततो पासेहिं करोडगा कट्ठोरगा मंकुया सिप्पीओ य ठविज्जंति, भुज्जते य जं पुव्वं, जहा–कोकणे पया, उत्तरावहे सत्तुया, अन्नेसु वा जं विसएसु दाऊण पच्छा अणेगभवक्खप्पगारा दिज्जंति, सारीणीकूवाईओ विकप्पा भण्णंति, णेवत्थं भोयमादीयं भवति । भोयडा णाम जा लाडाणं कच्छा सा मरहट्ठयाणं भोयमा भण्णंति, तं च बालप्पभितिं इत्थिया ताव बंधंति, जाव परिणीया, जाव य आवण्णसत्ता जाया, ततो भायणं कज्जति, सयणं मेलेऊण पडओ दज्जिति, तप्पभिइं फिट्टइ भोयमा।

इदाणिं देसकहा दोसदरिसणत्थं भण्णति–

रागद्दोसुप्पत्ती, सपक्खपरपक्खओ य अधिकरणं ।
बहुगुण इमो त्ति दोसो, मोत्तुं गमणं व अण्णेसिं ॥१२७॥

देसकहा तं जं देसं वण्णेति, तत्थ रागो, इयरे दोसो, रागदोसओ तं कम्मबंधो, किं च–सपक्खेण वा परपक्खेण वा सह अहिकरणं भवति, कहं? साधू एगं विसयं पसंसति, अवरं णिंदति, ततो सपक्खेण वा परपक्खेण वा भणितो–तुमं किं जाणसि कूवमंडुक्को? तो उत्तरपच्चुत्तरातो अधिकरणं भवति । किं चान्यत्– देसेवण्णिमाणे अण्णो साहू चिंतेति– बहुगुणो इमो देसो वण्णिओ, सो वण्णिओ सोउं तत्थ गच्छति। देसकहि त्ति दारं। नि० चू०१ उ०।

देसकाल-पुं०(देशकाल) देशः प्रस्तावोऽवसरो विभागः पर्याय इत्यनर्थान्तरम् । स देशरूपः कालो देशकालः । अभीप्सितवस्त्ववाप्त्यवसरकालरूपे कालभेदे, विशे०। आतु०। आ०। चू०।

इदानीं देशकालमभिधित्सुस्तत्स्वरूपं विवृण्वन्नाह–

जो जस्स जयावसरो, कज्जस्स सुभासुभस्स सो पायं ।
भण्णइ स देसकालो, देसोऽवसरो त्ति थक्को त्ति ॥२०६३॥

देशः, अवसरः, थक्कमिति पर्यायाः, तद्रूपः कालो देशकालः, स भण्यते । क इत्याह– यो यस्य शुभस्याशुभस्य वा कार्यस्य निश्चितो यदाऽवसरः स देशकालो भण्यते, कथं निश्चितः? इत्याह– सोपायं वक्ष्यमाणोपायत इत्यर्थः । इति गाथार्थः ॥२०६३॥

तत्र शुभस्य साध्वादिभिक्षालक्षणस्य कार्यस्य निश्चयोपायगर्भं प्रस्तावकालमाह–

निद्धूमगं च गामं, मिहिलाथूभं च सुण्णयं दट्ठुं ।
नीयं च काय ओलिं ति जाया भिक्खस्स हरहरा ॥२०६४॥

ओदनाऽऽदिपाकक्रियापरिसमाप्तौ निर्द्धूमकं च ग्रामं, पानीयवाहिकामहिलास्तूभं च, कूपाऽऽदितटं शून्यं दृष्ट्वा तथा नीचं च काकाः, (ओलिंति त्ति) अवलीयन्ते गृहाणि प्रत्यागच्छन्तीत्यादि च चिह्नं दृष्ट्वा जानीयात्, यथा संजाता भैक्षस्य (हरहर त्ति) अतीव भिक्षाप्रस्ताव इति ॥२०६४॥

अथाप्रशस्तस्य कार्यस्य निश्चयोपायपूर्वकं प्रस्तावकालमाह–

निम्माच्छियं महुं पायमो निही खज्जगावणो सुन्नो ।
जा यंगणे पसुत्ता, पउत्थवइया य मत्ता य ॥२०६५॥

निर्म्माक्षिकमपगतसकलमाक्षिकं मधु, तथा प्रकटश्वाकाशीभूतो निधिः, इत्येतद् दृष्ट्वा तद्ग्रहणस्य यःप्रस्तावो ज्ञायते स देशकालः। तथा खाद्यकाऽऽपणः कुल्लूरिकहट्टः शून्य इत्यवलोक्य यस्तद्गत खाद्यानां ग्रहणप्रस्तावो निश्चीयते, तथा या वाङ्गणे प्रस्तुप्ता प्रोषितपतिका च मदिरामत्ता च, तस्या अपि तदानीमतीमदनाऽऽकुलीकृतत्वाद्यो ग्रहणप्रस्तावो विज्ञायते, स सर्वोऽपि देशकालः । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ॥२०६५॥ विशे०।

देसकालजाणण-न०(देशकालज्ञान) देशकालज्ञतायाम्, प्रव० ६ द्वार ।

देसकालजुय-त्रि०(देशकालयुत) क्षेत्रकालोचिते, प्रज्ञा० १ पद।

देसकालण्णया-स्त्री०(देशकालज्ञता) अवसरोचितार्थसम्पादनरूपायां प्रस्तावज्ञतायाम्, भ० २५ श० ७ उ०।

देसकालदाण-न०(देशकालदान) कटकाऽऽदौ विश्लिष्टनृपतेः प्रस्तावदाने, दश० ६ अ०१उ०।

देसकालभावण्ण-पुं०(देशकालभावज्ञ) देशं कालं भावं च जानातीति देशकालभावज्ञः । देशकालभावानां ज्ञातरि, प्रव०। देशं कालं भावं च लोकानां ज्ञात्वा सुखेन विहरति शिष्याणां वाऽभिप्रायान् ज्ञात्वा सुखेनानुवर्त्तयति । प्रव० ६५ द्वार । आचा०।

देसकालावइत्ता-न०(देशकालाव्यतीतत्व) प्रस्तावोचिततारूपे चतुर्दशे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम०। रा०।

देसकालसंवरण-न०(देशकालसंस्मरण) स्मरणभेदे, व्य०१उ०।

देसग-पुं०(देशक) देशयति कथयतीति देशकः । कथके, स० १सम०।

देसग्ग-न०(देशाग्र) देशान्ते, ज्ञा०१ श्रु० १५ अ०।

देसघाइ(ण्)-न०(देशघातिन्) स्वघात्यज्ञानाऽऽदेर्गुणस्य देशं मतिज्ञानाऽऽदिलक्षणं घातयन्तीत्येवंशीलानि देशघातीनि । देशघातिप्रकृतीनां रसस्पर्द्धकभेदे, पं०सं० ५ द्वार । देशघातीनि रसस्पर्द्धकानि भवन्ति । स्वस्य ज्ञानाऽऽदेर्गुणस्य देशमेकदेशं मतिज्ञानाऽऽदिलक्षं घातयन्तीत्येवं शीलानि देशघातीनि । तानि चानेकप्रकारछिद्रशतसङ्कुलानि । तथाहि– कानिचिद् अनेकबृहच्छिद्रशतसंकुलानि, वंशदलनिर्मापितकटवत्। कानिचिन्मध्यमानेकच्छिद्रशतसङ् कुलानि, कम्बलवत्। कानिचित् पुनरतीव सूक्ष्मानेकच्छिद्रशतसङ्कुलानि, तथा विधवस्त्रवत् । तथा तानि स्तोकस्नेहानि विशिष्टनैर्मल्यरहितानि च भवन्ति । तथा चोक्तम्–"देस-विघाइत्तणओ, इयरो कडकंबलं सुसंकासो । विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य" ॥१॥ क०प्र०।

देशघातिस्वरूपमाह–

देसविघाइत्तणओ, इयरो कमकंबलंसुसंकासो ।
विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अवियलो य ॥३८॥

इतरो देशघाती देशघातित्वात् स्वविषयैकदेशघातित्वाद्भवति, स च विविधबहुछिद्रभृतः । तद्यथा– कश्चित् वंशदलनिर्म्मापितकट इवातिस्थूरछिद्रशतसंकुलः, कश्चित्कम्बल इव मध्यमविवरशतसंकुलः, कोऽपि पुनस्तथाविधमसृणवासोवदतीव सूक्ष्मविवरसंवृतः । (कडकंबलंसुसंकास इति) कटो वंशदलनिर्मापितः, कम्बल ऊर्णामयः, अशुकं वस्त्रं, तत्संकाशः, तथा स्वरूपतोऽल्पस्नेहः स्तोकस्नेहाऽविभागसमुदायरूपः, अविमलश्च नैर्म्मल्यरहितश्चेति गाथार्थः ॥३८॥ पं० सं० ३ द्वार। देशघातिरसस्पर्द्धकान्विते प्रकृतिभेदे, स्त्री० ङीप्। पं०सं० ३ द्वार। ''देसग्घाइरसेणं, पगईओ होंति देसघाईओ।'' देशघातिरसेन देशघातिरसस्पर्द्धकसंबन्धेन प्रकृतयो मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपाः पञ्चविंशतिसङ्ख्या देशघातिन्यो व्यवाह्यन्ते । कर्म० ५ कर्म०। पं० सं०। (ताश्चमतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपाः पञ्चविंशतिप्रकृतयः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६६ पृष्ठे उक्ताः)

देसच्चाइ(ण्)-पुं०(देशत्यागिन्) देशस्य जन्मक्षेत्राऽऽदेस्त्यागो देशत्यागः, स यस्मिन्नविनये प्रभुगालीप्रदानाऽऽदावस्ति स देशत्यागी। जन्मक्षत्राऽऽदित्यागवत्यविनये, स्था०३ ठा० ३ उ०। नि०चू०।

देसच्चाय-पुं०(देशत्याग) जन्मक्षेत्राऽऽदित्यागे, स्था०३ ठा० ३ उ०।

देसच्छंद-पुं०(देशच्छन्द) देशविषयके गम्यागम्यविभागे, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

देसच्छंदकहा-स्त्री०(देशच्छन्दकथा) देशकथाभेदे, स्था०३ ठा०३उ०। (व्याख्या 'देसकहा' शब्दे गता)

देसजइ-पुं०(देशयति) ''सव्वेण च देसेण च, तेण जुओ होइ देसजई।'' सर्वेण द्वादशव्रताऽऽत्मकेन देशेन वाऽन्तरव्रतप्रतिपत्तिलक्षणेन युक्ते श्रावके, आतु०। ''सम्मद्दंसणसद्दिओ, गिण्हंतो विरइमप्पसत्तीए। एगव्वयाइचरिमो, अणुमोयइ त त्ति देसजई ॥१॥'' कर्म० २कर्म०।

देसजय-पुं०(देशयत) देशे संकल्पनिरपराधत्रसवधविषये यतं यमनं संयमो यस्य स देशयतः । सम्यग्दर्शनयुते एकाणुव्रताऽऽदिधारिणि अनुमतिमात्रश्रावके, यदाह श्रीशिवशर्मसूरिवरः कर्मकृतौ–''एगव्वयाइ चरमो, अणुमोयइ त त्ति देसजई।'' कर्म०४ कर्म०।

देसजुय-पुं०(देशयुत) षट्त्रिंशत्सूरिगुणानां प्रथमे गुणे , प्रव०। यो मध्यदेशे जातो यो वाऽर्द्धषडविंशतिषु जनपदेषु स देशयुतः, स ह्यार्यदेशभणितं जानाति। ततः सुखेन तस्य समीपे शिष्याः सर्वेऽप्यधीयते। प्रव० ६४ द्वार।

देसड-पुं०(देश) **''एवंपरंसमंधुवंभामनाक् एम्ब पर समाणु धुवु मं मणाउं''** ॥८।४।४१८॥ इत्यत्र प्रायोग्रहणाद् देशस्य देसडाऽऽदेशः। स्थाने, ''माणि पइट्ठइ जइ न तणु, तो देसडा चइज्ज।'' माने प्रणष्टे यदि तनुर्न त्यज्यते ततो देशस्त्यज्यते। प्रा० द्वं० ४ पाद।

देसण-न०(देशन) प्ररूपणे, नं०।

देसणा-स्त्री०(देशना) धर्मकथायाम्, षो० १४ विव०। ध० र०। स्था०। कथने, जी० २७ अधि०। आख्यातं भगवतेदं न कुज्याऽऽदिनिः सृतं, यथा कश्चिदभ्युपगम्यते– ''तस्मिन्ध्यानसमापन्ने, चिन्तारत्नवदास्थिते। निःसरन्ति यथाकामं, कुर वाऽऽदिभ्योऽपि देशनाः ॥१॥'' स्था० ६ ठा०।

देसणिग्गमण-न०(देशनिर्गमन) देशेषु विहारक्रमकरणे, व्य० ३उ०।

देसणिसूदग-त्रि०(देशनिषूदक) देशविनाशके, ''विशाखभूतिर्जीवश्च, भवं भ्रान्त्वाऽथ केसरी । जज्ञे तुङ्गगिरौ शङ्ख पुरादेशनिसूदकः ॥१॥'' आ०क०।

देसणी-स्त्री०(देशनी) प्रज्ञापन्याम्, दश०७ अ०।

देसणेवत्थ-न०(देशनेपथ्य) देशानुकूले स्त्रीपुरुषाणां वेषे, देशकथाभेदे, स्था०४ ठा०२ उ०। (व्याख्या 'देसकहा' शब्देऽनुपदमेव गता)

देसदंसण-न०(देशदर्शन) देशनिरीक्षणे, बृ०।

शिष्यःपृच्छति? तेन जिनकल्पिकपदवीसंपादयितुमिच्छता द्वादश वर्षाणि सूत्रग्रहणं कृतं, द्वादशवर्षैरर्थः समग्रोऽपि गृहीतः,

अतो देशदर्शनेन विना किमिवास्य न सिद्ध्यतीत्युच्यते–

जइ वि पगासोऽहिगओ, देसीभासाजुओ तहा वि खलु।
तदुडुय सिया य वीसुं, परयामाई य पच्चक्खं ॥

यद्यपि तेन प्रकाशोऽर्थः सूत्रस्याधिगतः सम्यग्विज्ञातः, तथापि खलु निश्चयेनासौ विनेयो देशदर्शनेन देशीभाषायुतः कर्तव्यः। कुतः? इत्याह– (उडुय इत्यादि) उडुकमिति स्थानम्, (सिय त्ति) स्यात्शब्दो भवत्यर्थ, आशङ्कायां, भजनायां वा। तत्र भवत्यर्थे सुप्रसिद्धः। आशङ्कायां यथा– ''दव्वथओ भावथओ, दव्वथओ बहुगुणो त्ति बुद्धि सिया।'' भजनायां यथा–''सिय तिभागे सिय तिभागति भागे'' इत्यादि। (वीसु त्ति) विष्वक्, पृथगित्यर्थः। परकागुन्द्रा भद्रमुस्तक इत्यर्थः। एते, आदिग्रहणात् पयः पिच्चं नीरमित्यादयश्च शास्त्रप्रसिद्धाः शब्दाः, तेषु तेषु देशेषु लोकेन तथा तथा व्यवह्रियमाणा देशदर्शनं कुर्वता, प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षत उपलभ्यन्त इति।

आह– यद्यसौ तान् प्रत्यक्षतो नोपलभेत, ततः का नाम

न्यूनता भवेत्? उच्यते–

जो वि पगासो बहुसो, गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो।
जच्चंधस्स व चंदो, फुडो वि संतो तहा स खलु ॥

योऽपि प्रकाशोऽर्थो बहुशो गुणितः स्वभ्यस्तीकृतः, परं न प्रत्यक्षत उपलब्धः, स जात्यन्धस्येव चन्द्रः स्फुटोऽपि सन् खलुरवधारणे, तथैवास्फुट एव मन्तव्यः। इदमत्र हृदयम्– यथा चन्द्रः प्रकटोऽपि साक्षाद्दर्शनं विना जात्यन्धस्य न परिस्फुटाऽऽकारः प्रतिभासते, एवमस्यापि शास्त्रानुसारतः प्रकटा अपि प्रत्यक्षदर्शनमन्तरेण न परिस्फुटा व्यवहारोपयोगिनोऽर्थाः प्रतिभासन्ते।

यतश्चैवं ततः–

आयरियत्तअभविए, भयणा भविओ परीइ नियमेणं।
अप्पतईओ जहन्ने, उभयं किं वाऽऽरियं खेत्तं?॥

आचार्यपदस्याभव्योऽयोग्यस्तस्मिन् भजनाऽर्थग्रहणानन्तरं देशदर्शनं कार्यते वा, न वा, यस्तु भव्य आचार्यपदयोग्यः स नि–

यमेन पर्येति देशदर्शनाय पर्यटति। स चाऽऽत्मतृतीयो जघन्येनावश्यन्तया कृत्वा प्रेषणीयः। किं च–उभयमिति किमृतुबद्धकालप्रायोग्यमिदं क्षेत्रम्, उत वर्षावासयोग्यम्? तथा किमेतदार्यं साऽर्द्धपञ्चविंशतिजनपदमध्यवर्ति, आहोस्विदनार्यम्? एतत्सर्वमपि देशदर्शनं विदधानो जानाति।

अथ देशदर्शनस्यैव गुणान्तराभिधित्सया द्वारगाथामाह–

दंसणसोही थिरकरण, दे स अइसेस जणवयपरिच्छा।
काउ सुयं दायव्वं, अविणीयाणं विवेगो य॥

देशदर्शनं कुर्वतो दर्शनशुद्धिरात्मनः, स्थिरीकरणं चान्येषां भवति। (देस त्ति) नानादेशभाषासु कौशलम्, अतिशेषा अतिशया जनपदपरीक्षा च जायते, तत एतानि दर्शनशुद्ध्यादीनि कृत्वा विनीतेभ्यः श्रुतं दातव्यम्। अविनीतानां विवेकः परित्यागः कर्तव्य इति द्वारगाथासमासार्थः।

अथ विस्तरार्थं विभणिषुराह–

जम्मणनिक्खमणेसु य, तित्थयराणं महाणुभावाणं।
इत्थ किर जिनवराणं, आगाढं दंसणं होइ॥

जन्मनिष्क्रमणशब्दाभ्यां तदाधारभूता भूमयो गृह्यन्ते, जन्मभूमिषु अयोध्याऽऽदिषु, निष्क्रमणभूमिषु जयन्ताऽऽदिषु, चशब्दाज्ज्ञानोत्पत्तिभूमिषु पुरिमतालाऽऽदिषु, निर्वाणभूमिषु सम्मेतशैलचम्पाऽऽदिषु, तीर्थकराणां महानुभावानां सातिशया चिन्त्यप्रभावानां संबन्धिनीषु विहरतोऽत्र किल भगवतां जिनवराणां जन्म जज्ञेऽत्र तु भगवन्तो दीक्षां प्रतिपन्नाः, इह केवलज्ञानमासादितवन्तः, इह पुनः परिवृताः, एवं बहुजनमुखेन श्रुत्वा स्वयं च दृष्ट्वा निःशङ्कितत्वभावादागाढमतीव विशुद्धं दर्शनं सम्यक्त्वं भवतीति। गतं दर्शनद्वारम्।

अथ स्थिरीकरणद्वारमाह–

संवेगं संविग्गण, जणए सुविहिओ सुविहियाणं।
आउत्तो जुत्ताणं, विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं॥

संविग्नानां साधूनां संवेगं जनयति–अहो! अयं भव्याचार्योऽवगाहितसमस्तसिद्धान्तसिन्धुरभ्यस्तचरणकरणसामाचारीक इत्थं देशदर्शनं करोतीति भावनायाः स्थिरीकरणं करोतीत्यर्थः। स्वयं सुविहितानुष्ठानस्तेषामपि सुविहितानां स्वयमायुक्तो विकथानिद्राऽऽदिप्रमादैरप्रमत्तस्तेषामपि युक्तानामप्रमादिनां यश्च विशुद्धलेश्यः तेषामपि सुलेश्यानामिति। गतं स्थिरीकरणद्वारम्। अत्र विशेषश्चूर्णिकृता दर्शनशुद्धिद्वारं विवृण्वतेयं गाथा गृहीता, संवेगस्य सम्यग्दर्शनलक्षणत्वात् संवेगदर्शनेन शुद्धिः कृता भवतीति कृत्वा स्थिरीकरणद्वारं तु मूलत एव नोपात्तं, द्वारगाथायामपि "दंसणसोही देसप्पवेस अइसेस जणवयपरिच्छा।" इत्येष एव पाठो गृहीतः, अतस्तदभिप्रायेण गतं दर्शनशुद्धिद्वारम्।

अथ देशप्रवेशद्वारं व्याचष्टे–

नाणादेसीकुसलो, नाणादेसीकयस्स सुत्तस्स।
अभिलावे अत्थकुसलो, होइ तओऽणेण गंतव्वं॥
कहयति अभासियाण वि, अभासिए आवि पव्वयावेइ।
सव्वे वि तत्थ पीई, बंधंति सभासिओ णे त्ति॥
पियधम्मऽवज्जभीरू, साहम्मियवच्छलो असढभावो।
संविग्गावेइ परं, परदेसपवेसणे साहू॥

नानाप्रकारा मगधमालवमहाराष्ट्रलाटकर्णाटद्रविडगौमविदर्भाऽऽदिदेशभवा या देशी भाषा, तस्यां कुशलः सन् नानादेशीकृतस्य नानादेशभाषानिबद्धस्य सूत्रस्याऽभिलापे उच्चारणेऽर्थकथने च कुशलो भवति, यत एवं ततोऽनेन देशदर्शनार्थं गन्तव्यम्॥ तथा–नञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सिता अव्यक्त वर्णविभागा भाषा येषां तेऽभाषिकास्तेषामप्यसौ धर्मं कथयति, निःशेषदेशभाषानिष्णातत्वात्। अभाषिकाँश्चापि तद्देशभाषया प्रतिबोध्य प्रव्राजयति; सर्वेऽपि च शिष्यास्तत्राऽऽचार्ये प्रीतिं बध्नन्ति, स्वभाषिको "णेअस्माकमयमिति कृत्वा। तथा प्रियधर्मा धर्मश्रद्धालुरवद्यं पापकर्म तस्माद्भीरुरवद्यभीरुः, साधर्मिकाः साधवस्तेषां वत्सलो द्रव्यतो भक्तपानाऽऽदिना, भावतस्तु स्खलिताऽऽदिषु सारणाऽऽदिना, अशठभावो मातृस्थानरहितः, एवंविधोऽसौ साधुः परदेशप्रवेशने वर्तमानः परमन्यं संयमयोगेषु सीदन्तमपि संविग्नयति सदुपदेशदानाऽऽदिना संविग्नं करोतीति। गतं देशद्वारम्, देशप्रवेशद्वारं वा।

अथातिशयद्वारमाह–

सुत्तत्थथिरीकरणं, अइसेसाणं च होइ उवलद्धी।
आयरियदंसणेणं, तम्हा सेविज्ज आयरिए॥

आचार्याणां– दर्शनेन, सेवनेनेति यावत्। सूत्रार्थस्थिरीकरणमतिशयानां च पूर्वाणामुपलब्धिः प्राप्तिर्भवति, यत एवं तस्माद् सेवेत पर्युपासीताऽऽचार्यान्।

एतदेव व्याख्यानयति–

उभय निसंकियाइं, पुव्विं से जाइँ पुच्छमाणस्स।
होइ जओ सुत्तत्थे, बहुस्सुए सेवमाणस्स॥

उभये सूत्रेऽर्थे च यानि पूर्वं (से) तस्य शङ्कितानि पदानि, तानि आचार्याणां समीपे पृच्छतो निःशङ्कितानि जायन्ते। एवं बहुश्रुतान् सेवमानस्य जयः सूत्रार्थविषयेभ्यः सातिशयो भवति, अतो बहुश्रुतपर्युपासनं विधेयम्।

अपि च–

भवियाऽऽरिय देसाणं, दंसणं कुणइ एस इय सोउं।
अन्ने वि उज्जमंते, विणिक्खमंते य से पासे॥

भव्याचार्य एष देशानां दर्शनं करोति इति श्रुत्वाऽन्येऽपि पर्युपास्यमानाचार्यसंबन्धिनः शिष्या उद्यच्छन्ते सूत्रार्थग्रहणाऽऽदावुद्यमं कुर्वन्ति गृहिणोऽपि च तद्गुणग्रामरञ्जितमनसो विनिष्क्रामन्ति दीक्षां प्रतिपद्यन्ते। (से) तस्य भविष्यदाचार्यस्य पार्श्वे इति।

अतिशयानामुपलब्धिः कथं भवतीत्याह–

सुत्तत्थे अइसेसा, सामायारी य विज्जजोगाऽऽई।
विज्जाजोगाइसुए, विसंति दुविहा अओ होंति॥

इहातिशयास्त्रिविधास्तद्यथा– सूत्रार्थातिशयाः, सामाचार्यातिशयाः, विद्यायोगाः। आदिशब्दान्मन्त्राश्चेति त्रयोऽतिशयाः। तत्र विद्या स्त्रीदेवताऽधिष्ठिता, पूर्वसेवाऽऽदिप्रक्रियासाध्या वा, योगाः पादलेपप्रभृतयो गगनगमनाऽऽदिफलाः, मन्त्राः पुरुषदेवताः, पठितसिद्धा वा। यद्वा–विद्यायोगाः, चशब्दान्मन्त्राश्च श्रुते एवं विशन्ति अन्तर्भवन्ति, अतो द्विविधा अति–

शया भवन्ति, तत्र सूत्रार्थातिशयाः सामाचार्यातिशयाश्चेत्येतेषामतिशयानामुपलब्धिरत्राऽऽचार्यपर्युपासनायां भवति।

अथ सामाचार्या अतिशयं विभावयिषुराह–

णिक्खमणे य पवेसे, आयरियाणं महाणुभावाणं।
सामायारीकुसलो, अ होइ गणसंपवेसेणं॥

स देशदर्शनं कुर्वाणस्तेषु तेषु नगराऽऽदिषु बहुश्रुतानामाचार्याणां महानुभावानां संबन्धी यो गणो गच्छस्तन्मध्ये यः सम्यगेकीभावेनैकत्रावस्थानलक्षणेन प्रवेशस्तेन बहुशो गणान्तरेषु निष्क्रमणे प्रवेशे च सामाचारीकुशलो भवति।

कथमित्याह–

आगंतुसाहुभावम्मि अविदिए धन्नसालमाइठिया।
उप्पत्तियाउ थेरा, सामायारीउ ठाविंति॥

आगन्तुकाः प्राघूर्णकाः, उपसंपन्ना वा, तेषां साधूनां भावेऽवेदि तैकीदृशेनाऽभिप्रायेणाऽऽगताः, के वाऽमीत्यपरिज्ञाते केचित् स्थविरा आचार्या धान्यशालायामादिशब्दात् घृतशालाऽऽदिष्ववस्थिता औत्पत्तिकीरनुत्पन्नपूर्वाः सामाचारीः स्थापयन्ति।

कथमित्याह–

सव्वे वि पडिग्गहए, दंसेउं नीह पिंडवायट्ठा।
आहिमरमाइसंका, पडिलेहेउं व पविसंति॥

ते आचार्याः पिण्डपातार्थं भिक्षानिमित्तं साधून् निर्गच्छतो भणन्ति–सर्वेऽपि प्रतिग्रहान् दर्शयित्वा निर्गच्छत, अदर्शितप्रतिग्रहैर्न गन्तव्यम्। कुत इत्थं कुर्वन्तीत्याह– आभिमराऽऽद्याशङ्कया मा कश्चिदभिमर उदायिनृपमारकवत् श्रमणवेषेणाऽऽगतो भवेत्, आदिग्रहणेन चौरो वा मा धान्याऽऽदिमोषणायाऽऽगतो भवेदित्याद्याशङ्कयाऽपूर्वा समाचारीं स्थापयन्ति, भिक्षाप्रतिनिवृत्ता अपि च गुरूणां पुरतः सर्वं प्रत्युपेक्ष्य ततः प्रविशद्भिरेवाभिमराऽऽदिभिः कारणैरिति। गतमतिशयद्वारम्।

अथ जनपदपरीक्षाद्वारमाह–

अब्भे नदी तलावे, कूवे अइपूरए य नावे वाणीए।
मंस फलपुप्फभोगी, वित्थिन्ने खेत्ते कप्पविही।

स देशदर्शनं कुर्वन् जनपदानां परीक्षां करोति–कस्मिन् देशे कथं धान्यनिष्पत्तिः, तत्र क्वचिद्देशेऽभ्रैः सस्यं निष्पद्यते, वृष्टिपानीयैरित्यर्थः। यथा लाटविषये, क्वापि नदीपानीयैर्यथा सिन्धुदेशे, क्वचित्तु तडागजलैर्यथा द्रविडविषये, क्वापि कूपपानीयैर्यथोत्तरापथे, क्वचिदतिपूरकेण, यथा छत्रासायां पूरादतिरिच्यमानायां तत्पूरपानीयभावितायां क्षेत्रभूमौ धान्यानि प्रकीर्यन्ते। (नावे त्ति) यत्र नावमारोप्य धान्यमानीतमुपभुज्यते, यथा काननद्वीपे, (वाणि त्ति) यत्र वाणिज्येनैव वृत्तिरुपजायते, न कर्षणेन, यथा मथुरायाम्, (मंस त्ति) यत्र दुर्भिक्षे समापतिते मांसेन कालोऽति बाह्यते। तथा यत्र पुष्पफलभोगी प्राचुर्येण लोको, यथा कोङ्कणाऽऽदिषु, तथा कानि विस्तीर्णानि क्षेत्राणि, कानि वा संक्षिप्तानि (कप्पे त्ति) कस्मिन् क्षेत्रे कः कल्पो यथा सिन्धुविषयेऽनिमिषाऽऽद्याहारा अगर्हिताः। (विहि त्ति) कस्मिन् देशे कीदृशः समाचारो यथा सिन्धुषु रजकः संभोज्यो, महाराष्टविषये कपल्यपाला अपि संभोज्या इति।

अपि च–

सज्झायसंजमहिए, दाणाइसमाउले सुलभवित्ती।
कालुभयहिए खित्ते, जाण पडिणीयरहिए य॥

स्वाध्यायहितं यत्राखण्डे सूत्रार्थपौरुष्यौ भवतः, संयमहितं स्त्रीदोषरहितमल्पबीजरहिताऽऽदि वा। (दाणाइ त्ति) दानश्राद्धैरादिग्रहणादभिगमश्राद्धैर्वा समाकुलम्। अत एव सुलभा सुप्रापा वृत्तिर्हेतुराहारस्य सपत्तिर्यत्र तत् सुलभवृत्तिकं, तथा किमिदमागन्तुकभद्रकम्, उत वास्तव्यभद्रकमित्याद्युपलक्षणाद् द्रष्टव्यम्। (कालुभयहिए खित्ते त्ति) अमूनि वर्षावासप्रायोग्याणि, अमूनि तु ऋतुबद्धकालयोग्यानि, इत्युभयकालहितानि क्षेत्राणि जानाति, तथा प्रत्यनीकः साध्वादीनामुपद्रवकारी तद्रहितानि च क्षेत्राणि सम्यग् जानातीति। गतं जनपदपरीक्षाद्वारम्। बृ० १ उ०२ प्रक०।

देसधम्म-पुं०(देशधर्म) देशाऽऽचारे, देशधर्मो देशाऽऽचारः। स च प्रतिनियत एव नेपथ्याऽऽदिभेदलिङ्ग इति। दश० १ अ०।

देसप्पंत-पुं०(देशप्रान्त) देशस्य शेषसीमायाम्, विपा० १ श्रु० १अ०।

देसबंध-पुं०(देशबन्ध) देशतो देशापेक्षया बन्धः। बन्धभेदे, भ० ८ श०९उ०।

देसभासा-स्त्री०(देशभाषा) मालवमहाराष्ट्राऽऽदिप्रसिद्धभाषायाम्, बृ०६ उ०। पुरुषद्वासप्ततिकलाभभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

देसय-पुं०(देशक) देशयतीति देशकः। उपदेष्टरि, आ०म० १अ०१ खण्ड। आव०।

देसवासी-पुं०(देशवर्षिन्) देशे आत्मनो वा देशेन वर्षतीति देशवर्षी। एकदेशमात्रे वर्षणशीले, स्था०४ ठा०४ उ०।

देसविअप्पकहा-स्त्री०(देशविकल्पकथा) देशकथाभेदे, स्था०। (व्याख्या 'देसकहा' शब्देऽनुपदमेव गता)

देसविण्णाण-न०(देशविज्ञान) विविधमण्डलेषु सञ्चरतां विचित्रलोककलोकोत्तरव्यवहारज्ञाने, पञ्चा० १७ विव०।

देसवित्थाराणंतय-न०(देशविस्तारानन्तक) एक आकाशप्रतरः सर्वविस्तारानन्तकसर्वाऽऽकाशास्तिकाय इत्येवंरूपेऽनन्तभेदे, स्था० १० ठा०।

देसविरइ-स्त्री०(देशविरति) देशःप्राणातिपाताऽऽदिः, एकदेशस्तु वृक्षच्छेदनाऽऽदिः, तयोर्विरमणं विरतिर्यस्यां निवृत्तौ सा देशविरतिः। विशे०। अणुव्रतातिप्रतिपत्तिपरिणामे, पञ्चा० १० विव०। देशविरतिसम्यक्त्वधारिणो द्वादशदेवलोके याता न वेति प्रश्ने, उत्तरम्– द्वादशदेवलोके याता इत्यक्षराणि पन्नवणासूत्रे वृत्तौ च सन्तीति। ७५ प्र०। सेन०३ उल्ला०।

देसविरइगुणट्ठाण-न०(देशविरतिगुणस्थान) देशविरता एकद्व्याद्यणुव्रतधरभेदाः श्रावकाः, तेषां गुणस्थानम्। आव०४ अ०। श्रावकसम्बन्धिगुणस्थाने, प्रव०। तथा सर्वसावद्ययोगस्य देशे एकप्रतविषयस्थूलसावद्ययोगाऽऽदौ सर्वव्रतविषयानुमतिवर्जलावद्ययोगानो विरतिर्यस्याऽसौ स देशयि–

रतः, सर्वसावद्ययोगविरतिस्त्वस्य नास्ति, प्रत्याख्यानाऽऽवरणकषायोदयात् सर्वविरतिरूपं हि प्रत्याख्यानमावृण्वन्तीतिप्रत्याख्यानाऽऽवरणा उच्यन्ते, इति देशविरतः, तस्य गुणस्थानं देशविरतगणस्थानम्। प्रव० २२ द्वार। कर्म०। पं०। सं०। दर्श०।

देसविरइसामाइय-न०(देशविरतिसामायिक) देशविरतिरुक्तस्वरूपैव सामायिकमिति। सामायिकभेदे, अस्य पर्यायाः- ''विरयाविरई संवुडमसंवुडे बालपडिए चेव देसिक्कदेसविरई अणुधम्मो य।'' विशे०। आ०म० (एषां पदानां व्याख्या तत्तच्छब्दे) (वक्तव्यता सर्वैव 'सामायिय' शब्दे द्रष्टव्या)

देसविराहय-पुं०(देशविराधक) देशं स्तोकमंशं ज्ञानाऽऽदित्रयरूपस्य मोक्षमार्गस्य तृतीयभागरूपं चारित्रं विराधयति। प्राप्तस्य चारित्रस्यापालनादप्राप्तेर्वा देशमात्रस्य विराधके, भ०८ श०६उ०।

देसविरुद्ध-न०(देशविरुद्ध) तत्तद्देशीयशिष्टैरनाचीर्णे, ध०। तत्र यद्यत्र देशे शिष्टजनैरनाचीर्णं तत्तत्र देशविरुद्धम्। यथा-सौवीरेषु कृषिकर्मेत्यादि। अथवा जातिकुलाऽऽद्यपेक्षयाऽनुचितं देशविरुद्धं, यथा ब्रह्मणस्य सुरापानमित्यादि। ध० २ अधि०।

देसविहिकहा-स्त्री०(देशविधिकथा) देशकथाभेदे, स्था०४ ठा०२ उ०। (व्याख्या 'देशकहा' शब्देऽनुपदमेव गता)

देससंका-स्त्री०(देशशङ्का) देशविषये जीवाऽऽद्यन्यतमपदार्थैकदेशगोचरे शङ्काभेदे, प्रव०६ द्वार। यथाऽस्ति जीवः केवलं सर्वगतोऽसर्वगतो वा सप्रदेशोऽप्रदेशो वेति शङ्का देशविषया, जीवाऽऽद्यन्यतमपदार्थैकदेशगोचरेत्यर्थः। प्रव० ६ द्वार। नि०चू०।

देससाहणणबंध-पुं०(देशसंहननबन्ध) देशेन देशस्य संहननलक्षणो बन्धः संबन्धः शकटाङ्गाऽऽदीनामिव। देशसंहननबन्धभेदे, भ०८ श०६ उ०।

देसादायारलंघण-न०(देशाऽऽद्याचारलङ्घन) जनपदग्रामकुलप्रभृतिसमाचारातिक्रमे, पञ्चा० २ विव०।

देसाराहय-पुं०(देशाऽऽराधक) सम्बोधरहितत्वात्क्रियापरत्वाद् देशं स्तोकखंशं मोक्षमार्गस्याऽऽराधयति। देशमात्राऽऽराधके, भ०८ श०६ उ०।

देसावगासिय-न०(देशावकाशिक) देशे दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य विभागोऽवकाशोऽवस्थानमवतारो विषयो यस्य तद्देशावकाशं, तदेव देशावकाशिकम्। दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिनं संक्षेपकरणलक्षणे, सर्वव्रतसंक्षेपकरणलक्षणे वा। स्था०४ ठा०३ उ०।

तयाणंतरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा- आणवणपओगे १, पेसवणपओगे २, सद्दाणुवाए ३, रूवाणुवाए ४, बहिया पोग्गलपक्खेवे ५। उपा०१ अ०। आव०। आ०चू०। सूत्र०। पञ्चा०।

श्रावकस्य द्वितीयशिक्षाव्रते, श्रा०। ध०२०। ध०।

अधुना देशावकाशिकव्रतातिचारानाह-

प्रेषणानयने शब्द-रूपयोरनुपातने।

पुद्गलप्रेरणं चेति, मता देशावकाशिके ॥५६॥

प्रेषणं चाऽऽनयनं चेति प्रेषणानयने, शब्दश्च रूपं चैतयोरनुपातने-ऽवतारणे, शब्दानुपातो रूपानुपातश्चेत्यर्थः। पुद्गलप्रेरणं चेति पञ्चातिचारा देशावकाशिके देशावकाशिकनाम्निव्रते ज्ञेयाः। अयं भावः- दिग्व्रतविशेष एव देशावकाशिकव्रतम्। इयांस्तु विशेषोदिग्व्रतं यावज्जीवं संवत्सरचतुर्मासीपरिमाणं वा, देशावकाशिकं तु दिवसप्रहरमुहूर्त्ताऽऽदिपरिमाणं, तस्य च पञ्चातिचाराः। तद्यथा- प्रेषणं भृत्यादेर्विवक्षितक्षेत्राद् बहिः प्रयोजनाय व्यापारणम्, स्वयं गमने हि व्रतभङ्गः स्यादिति अन्यस्य प्रेषणम्, देशावकाशिकव्रतं मा भूद्गमनागमनाऽऽदिव्यापारजनितप्राण्युपमर्द इत्यभिप्रायेण गृह्यते, स तु स्वयं कृतोऽन्येन वा कारित इति न कश्चित्फले विशेषः, प्रत्युत स्वयं गमने ईर्यापथविशुद्धेर्गुणः, परस्य पुनर-निपुणत्वादीर्यासमित्यभावे दोष इति प्रथमोऽतिचारः ।१। आनयनं विवक्षितक्षेत्राद् बहिः स्थितस्य सचेतनाऽऽदिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रे प्रापणं सामर्थ्यात्प्रेष्येण स्वयं गमने हि व्रतभङ्गः स्यात्, परेण त्वानयने न भङ्ग इति बुद्ध्या यदाऽऽनाययति सचेतनाऽऽदि द्रव्यं तदाऽतिचार इति द्वितीयः ।२। शब्दस्य क्षुत्कासिताऽऽदेरनुपातनं श्रोत्रेऽवतारणं शब्दानुपातनं, यथा विहितस्वगृहवृतिप्राकाराऽऽदिव्यवच्छिन्नभूप्रदेशाभिग्रहः प्रयोजने उत्पन्ने विवक्षितक्षेत्राद् बहिर्व्रतभङ्गभयात्स्वयं गन्तुं बहिः स्थितं चाऽऽह्वातुमशक्नुवन् वृतिप्राकाराऽऽदिप्रत्यासन्नवर्ती भूय कासिताऽऽदिशब्दम् आह्वानीयानां श्रोत्रेऽनुपातयति, ते च तच्छ्रवणात्तत्समीपमागच्छन्तीति शब्दानुपातननामातिचारस्तृतीयः ।३। एवं रूपानुपातनं, यथा रूपं शरीरसंबन्धि उत्पन्नप्रयोजनः शब्दमनुच्चारयन्नाह्वानीयानां दृष्टावनुपातयति, तद्दर्शनाच्च तत्समीपमागच्छन्तीति रूपानुपातनाऽऽख्योऽतिचारश्चतुर्थः ।४। तथा पुद्गलाः परमाणवस्तत्सङ्घातसमुद्भवा बादरपरिणामं प्राप्ता लोष्टाऽऽदयोऽपि तेषां प्रेरणं क्षेपणं विशिष्टदेशाभिग्रहे हि सति कार्यार्थी परगृहगमननिषेधाद्यदा लोष्टकान् परेषां बोधनाय क्षिपति, तदा लोष्टातिपातसमनन्तरमेव तेऽत्समीपमनुधावन्ति, ततश्च तान् व्यापारयतः स्वयमगच्छतोऽप्यतिचारो भवतीति पञ्चमः ।५। इह चाऽऽद्यद्वयमव्युत्पन्नबुद्धित्वेन सहसाकाराऽऽदिना वा, अन्त्यत्रयं तु मायापरतयाऽतिचारतां यातीति विवेकः। इहाऽऽहुर्वृद्धाः दिग्व्रतसंक्षेपकरणमणुव्रताऽऽदिसंक्षेपकरणस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्यं, तेषामपि संक्षेपस्यावश्यंकर्त्तव्यत्वात्। अत्राऽऽहननु अतिचाराश्च दिग्व्रतसंक्षेपकरणस्यैव श्रूयन्ते, न व्रतान्तरसंक्षेपकरणस्य, तत्कथं व्रतान्तरसंक्षेपकरणं देशावकाशिकव्रतमिति? अत्रोच्यते- प्राणातिपाताऽऽदिव्रतान्तरसंक्षेपकरणेषु वधबन्धाऽऽदय एवातिचाराः, दिग्व्रतसंक्षेपकरणे तु संक्षिप्तत्वात्क्षेत्रस्य प्रेष्यप्रयोगाऽऽदयोऽतिचारा भिन्नातिचारसंभवाच्च दिग्व्रतसंक्षेपकरणस्यैव देशावकाशिकत्वं साक्षादुक्तम् ॥६६॥ इत्युक्ता देशावकाशिकव्रतातिचाराः। ध०२ अधि०। संपूर्णदिवसे देशावकाशिकं क्रियते, तत्रोच्चारणपारणविधिर्लिखनीयः, तथा तत्र सामायिकं गृहीतं पारितं च शुद्ध्यति, न वा, तथा देशावकाशिकेन सह सामायिकमुच्चरति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्- देशावकाशिकोच्चारणविधिः- ''दे-

सावगासिअउपभोगं पच्चक्खामि'' इत्यादिको दृश्यते, परं पारणविधिर्ज्ञातो नास्ति, तथा देशावकाशिकमध्ये सामायिकस्य ग्रहणं पारणं च शुद्ध्यति, तेन सह सामायिकग्रहणमपि शुद्ध्यतीति। ४२७ प्र०। सेन०३ उल्ला०।

देसाहिवइ-पुं०(देशाऽधिपति) देशाऽऽरक्षिके, देशव्यापृतिकेवा। बृ०४ उ०। स्था०।

देसि-त्रि०(देशिन्) देशवति, अवयविनि, विशे०।

देसिक्कदेसविरय-पुं०(देशैकदेशविरत) श्रावके, आतु०। षण्णां पृथिव्यादिकायानां षष्ठांशत्वाद् देशस्त्रसकायव्यपरोपणलक्षणः, तस्यापि संकल्पजाऽऽरम्भजत्वेन द्विभेदत्वादेकदेशः संकल्पजत्रसविनाशनिवृत्तिरूपः पुनस्तस्यापि सापराधीनरपराधभेदद्वयेन द्विप्रकारत्वादत्र। नरपराधसंकल्पजत्रसजीवविनाशनिवृत्तिरूपो देशैकदेशस्तेन स्वयं हननघातनाद्विरतो निवृत्तो देशविरतः॥ आतु०।

देसिगणि-पुं०(देशगणि) स्वनामख्याते आचार्ये, ''तत्तो अथिरचरित्तं, उत्तमसम्मत्तसत्तसंजुत्तं। देसिगणिखमासमणं, माढरगुत्तं नमंसामि''॥१॥ कल्प०२ अधि० ८ क्षण।

देसितव-त्रि०(देशितवत्) प्रकाशिते, सूत्र० १ श्रु०६ अ०।

देसिता-अव्य०(देशित्वा) कथयित्वेत्यर्थे, आ०म० १ अ०१ खण्ड।

देसिय-पुं०(देशिक) देशनं देशः कथनं, सोऽस्यास्तीति देशिकः। गुरौ, उपदेष्टरि, आ०म०१ अ०१ खण्ड। विशे०।व्य०। देशयतीति देशिकः। अप्रयायिनि, आस० ५ अ०। बृहत्क्षेत्रव्यापिनि, आचा० २ श्रु०१ चू०१ अ०३ उ०।

***देशित**-त्रि०। उपदिष्टे, कथिते, विशे०। आव०।पा०। जी०।

***दैवसिक**-त्रि०। दिवसयाते, ''देसियं च अईआइं, चिंतिज्ज अणुपुव्वसो।'' उत्त० २६ अ०।

देसिल्लग-त्रि०(देशीय) देशोद्भवे, बृ०३ उ०। यथा पाण्डुवर्द्धनकम्। नि० चू० १६ उ०।

देसीतो-अव्य०(देशीतस्) देशीभाषामाश्रित्येत्यर्थे, बृ०२ उ०।

देसीनाममाला-स्त्री०(देशीनाममाला) देशीभाषानामकोषे, रा०।

देसीपोरपमाण-त्रि०(देशीपर्वप्रमाण) अङ्गुष्टपर्वपरिमितमुष्टिप्रमाणे, देशीशब्दस्याऽङ्गुष्टवाचकत्वात्। व्य०८ उ०। नि०चू०।

देसीभासा-स्त्री०(देशीभाषा) देशप्रसिद्धाऽपभ्रंशभाषायाम्, आ०चू० १ अ०। आचा०।

देसेय-त्रि०(देशैजस्) देशैश्चले (देशैजा देशतश्चलाः) भ० २५ श०४ उ०।

देसोहि-पुं०(देशावधि) देशप्रकाशके अवधिज्ञाने, स०।

देह-पुं०(देह) 'दिह' उपचये, देहः। आहारपरिणामजनितोपचये, शरीरे, अनु०। उत्त०। आव०। विशे०। प्रव०। आ०चू०। आ०म०। स्था०। पिशाचनामभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

देहंवलिया-स्त्री०(देहवलिका) अनुस्वारो नैपातिकः। देहबलमित्यस्याऽऽख्याने, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। भिक्षावृत्तौ, देहंवलिका नाम भिक्षावृत्तिः। आ०म०१ अ०२ खण्ड।

देहणी-(देशी) षड्के, दे०ना० ५ वर्ग ४८ गाथा।

देहदुव्वलदोस-पुं०(देहदुर्बलदोष) संहननदुर्बले, पं०चू०।

देहपरिणाम-पुं०(देहपरिणाम) प्रतिविशिष्टायां शरीरशक्तौ, आचा० १श्रु० १ अ०४ उ०।

देहपलोयण-न०(देहप्रलोकन) आदर्शाऽऽदौ देहदर्शने, दश० ३अ०।

देहबल-न०(देहबल) संहननजनिते शरीरसामर्थ्ये, बृ०३ उ०।

देहबलिया-स्त्री०(देहबलिका) भिक्षावृत्तौ, आ०म०१ अ० २ खण्ड।

देहमाण-त्रि०(प्रेक्षमाण) पश्यति, ''दिट्ठोरा देहमाणो देहमाणो चिट्ठइ।'' भ०६ श०३३ उ०। सूत्र०।

देहली-स्त्री०(देहली) द्वारशाखाप्रोते अधः खण्डे, आ०म०२अ०।

देहविभूसा-स्त्री०(देहविभूषा) स्नानाऽऽदिरूपायां देहपरिष्क्रियायाम्, बृ०१ उ०।

देहविमुक्क-पुं०(देहविमुक्त) सिद्धे, भ०८ श०२उ०।

देहव्वावि-पुं०(देहव्यापिन्) शरीरमात्रव्यापके आत्मनि, दश०४ अ०।

देहसमाहि-पुं०(देहसमाधि) शरीरसमाधाने, पं०व० ४ द्वार।

देहसहाव-पुं०(देहस्वभाव) शरीरस्वरूपे, व्य५ उ०।

देहादिणिमित्त-न०(देहाऽऽदिनिमित्त) शरीरगृहपुत्रकलत्रप्रभृत्यर्थे, पञ्चा० ४ विव०।

देहि-पुं०(देहिन्) आत्मनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १उ०।

दो-पुं०(द्वौ) **''द्वेः दो वे''॥८।३।११९॥** द्विशब्दस्य प्रथमायां द्विवचने संस्कृते–द्वौ। प्राकृते– 'दो' इति। प्रा०३ पाद।

दोआल-(देशी) वृषभे, दे०ना० ५ वर्ग ४९ गाथा।

दोइ-अव्य०(दोइ) 'दो' इति निपातो विकल्पार्थे, ''दोइ सिणेह उवालब्धं।'' बृ०३उ०।

दोकिरिय-पुं०(द्वैक्रिय) द्वे क्रिये समुदिते द्विक्रियं, तदधीयते तद्वेदिनो वा द्वैक्रियाः। कालाभेदेन क्रियाद्वयानुभवप्ररूपेषु गङ्गाचार्य्यप्रवर्तितेषु पञ्चमनिह्नवेषु, स्था० ७ ठा०।

तद्वक्तव्यता–

अट्ठावीसा दो वा–समया 'तइया' सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
दोकिरियाणं दिट्ठी, उल्लुगतीरे समुप्पन्ना॥२४२४॥

अष्टाविंशत्यधिके द्वे वर्षशते तदा सिद्धिं गतस्य श्रीमन्महावीरस्यात्रान्तरे द्वैक्रियनिह्नवानां दृष्टिरुल्लुकातीरे समुत्पन्नेति॥२४२४॥

कथं पुनरियमुत्पन्ना? इत्याह–

नइखेडजणवउल्लुग, महागिरि धणगुत्त अज्जगंगे य।
किरिया दो रायगिहे, महातवोतीरमणिनाए॥२४२५॥

उल्लुका नाम नदी, तदुपलक्षितो जनपदोऽप्युल्लुका। उल्लुकानद्याश्चैकस्मिंस्तीरे धूलिप्राकाराऽऽवृतनगरविशेषरूपं खेटस्थानमासीत्, द्वितीये तु उल्लुकातीरं नाम नगरम्, अन्ये त्वा–

हुः– एतदेवाल्लुकातीरं धूलीप्राकाराऽऽवृतत्वात्खेटमुच्यते, तत्र च महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम, अस्यापि शिष्य आर्यगङ्गो नामाऽऽचार्यः। अयं च नद्याः पूर्वतटे, तदाचार्यास्त्वपरतटे। ततोऽन्यदा शरत्समये सूरिवन्दनार्थं गच्छन् गङ्गो नदीमुत्तरति, स च खल्वाटः। ततस्तस्योपरिष्टादुष्णेन दह्यते खल्वी। अधस्तात्तु नद्याः शीतलजलेन शैत्यमुत्पद्यते, ततोऽत्रान्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोदयादसौ चिन्तितवान्– अहो ! सिद्धान्ते युगपत्क्रियाद्वयानुभवः किल निषिद्धोऽहं त्वेकस्मिन्नेव समये शैत्यमौष्ण्यं च वेदयामि, अतोऽनुभवविरुद्धत्वान्नेदमागमोक्तं शोभनमाभातीति विचिन्त्यगुरुभ्यो निवेदयामास। ततस्तैर्वक्ष्यमाणयुक्तिभिः प्रज्ञापितोऽसौ। यदा च स्वाग्रह–ग्रस्तबुद्धित्वान्न किञ्चित्प्रतिपद्यते, तदा उद्घाट्य बाह्याः कृतो विहरन् राजगृहनगरमागतः, तत्र च महातपस्तीरप्रभवनाम्नि प्रश्रवणे मणिनागनाम्नो नागस्य चैत्यमस्ति। तत्समीपे च स्थितो गङ्गः पर्षत्पुरः सरं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयति स्म। तच्च श्रुत्वा प्रकुपितो मणिनागस्तमवादीत्–अरे दुष्ट शिक्षक ! किमेवं प्रज्ञापयसि? यतोऽत्रैव प्रदेशे समवसृतेन श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिन एकस्मिन् समये एकस्या एव क्रियाया वेदनं प्ररूपितम, तच्चेहस्थितेन मयाऽपि श्रुतम्, तत्किं ततोऽपि लघुतरः प्ररूपको भवान्, येनैवं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयसि? तत्परित्यज चैतां कूटप्ररूपणाम्, अन्यथा नाशयिष्यामि त्वाम्। इत्यादितदुदितभयवाक्यैर्युक्तिवचनैश्च प्रबुद्धोऽसौ मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा गुरुमूलं गत्वा प्रतिक्रान्त इति ॥२४२५॥

अत्र भाष्यम्–

नइमुल्लुगमुत्तरओ, सरए सीयजलमज्जगंगस्स।
सूराभितत्तसिरसो, सीउसिणवेयणोभयओ ॥२४२६॥
लग्गोऽयमसग्गाहो, जुगवं उभयकिरिओवओगो त्ति।
जं दो वि समयमेव य, सीउसिणवेयणाओ मे ॥२४२७॥

गतार्थे, नवरमार्यगङ्गस्य लग्नोऽयमसद्ग्रहो यदुतयुगपत्क्रियाद्वयसंवेदनोपयोगोऽस्ति, यद्यस्मात् मे मम द्वे अपि शीतोष्णवेदने समकालमेवस्तः। प्रयोगश्चात्रयुगपदुभयक्रियासंवेदनमस्ति, अनुभवसिद्धत्वात्, मम पादशिरोगतशीतोष्णक्रियासंवेदनवदिति ॥२४२६॥२४२७॥

एवं गङ्गे नोक्ते किमभूदित्याह–

तरतमजोगेणायं, गुरुणाऽभिहिओ तुमं न लक्खेसि।
समयाइसुहुमयाओ, मणोऽतिचलसुहुमयाओ य ॥२४२८॥

गुरुणाऽभिहितोऽसौ–हन्त ! योऽयं युगपत्क्रियाद्वयानुभवस्त्वया गीयते, स तरतमयोगेन क्रमेणैव भवतः संपद्यते, न युगपत्, परं सदपि क्रमभवनमस्य त्वं न लक्षयसि, समयावलिकाऽऽदेः कालस्य सूक्ष्मत्वात्, तथा मनसश्चातिचलत्वेनातिसूक्ष्मत्वेनाऽऽशुसंचारित्वादिति। तस्मादनुभवसिद्धत्वादित्यसिद्धोऽयं हेतुरिति ॥२४२८॥

हेत्वसिद्धिमेव भावयति–

सुहुमासुचरं चित्तं, इंदियदेसेण जेण जं कालं।
संवज्झइ तं तम्म–त्तनाणहेउ त्ति नो तेण ॥२४२९॥
उवलभए किरियाओ, जुगवं दो दूरभिन्नदेसाओ।
पायसिरोगवसीउ–ण्हवेयणाऽणुभवरूवाओ ॥२४३०॥

सूक्ष्मम् आशुचरं च चित्तं मनः, तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मातीन्द्रियपुद्गलस्कन्धनिर्वृत्तत्वादाशुचरं तु शीघ्रसंचरणशीलत्वात्। ततश्च तदेवंभूतं चित्तं येन २ कायाऽऽद्याकारस्पर्शनाऽऽदिद्रव्येन्द्रियसंबन्धिना देशेन सह यस्मिन् काले संबध्यते संयुज्यते तस्मिन् काले तस्य तन्मात्रज्ञानहेतुर्भवतियेन स्पर्शनाऽऽदिद्रव्येन्द्रियदेशेन संबध्यते तज्जन्यस्यैव शीताऽऽदिविषयस्योष्णाऽऽदिविषयस्य वा एकतरविज्ञानस्य हेतुर्जायते, न तु येनेन्द्रियदेशेन सह तत्काले स्वयं तन्न संबद्धं तज्जन्यज्ञानस्यापि हेतुरित्यर्थः। इतिशब्दो वाक्यसमाप्त्यर्थः। येनैवं, तेन कारणेन नो नैव दूरभिन्नदेशे द्वे क्रिये कोऽपि युगपदुपलभते संवेदयते इति संबन्धः। कथंभूते द्वे क्रिये इत्याह– पादशिरोगतशीतोष्णवेदनयोरनुभवनमनुभवस्तद्रूपे तदात्मके। अत्र प्रयोगः– इह पादशिरोगतशीतोष्णवेदने युगपन्न कोऽपि संवेदयते, भिन्नदेशत्वाद्विन्ध्यहिमवच्छिखरस्पर्शनक्रियाद्वयवदिति, अनुभवसिद्धत्वात्, इत्यसिद्धोऽयं हेतुरिति ॥२४२९॥२४३०॥

किञ्च–

उवओगमओ जीवो, उवउज्झइ जेण जम्मि जं कालं।
सो तम्मओवओगो, होइ जहिंदोवओगम्मि ॥२४३१॥

उपयोगेनैव केवलेन निर्वृत्त उपयोगमयो जीवः। ततः स येन केनापि स्पर्शनाऽऽदीन्द्रियदेशेन करणभूतेन यस्मिन् शीतोष्णाऽऽद्यन्यतरविषये (जं कालं ति) यस्मिन् काले उपयुज्यते सावधानो भवति तन्मयोपयोगो भवति–यत्र शीताऽऽद्यन्यतरार्थ उपयुक्तस्तन्मयोपयोग एव भवति, नान्यथोपयुक्त इत्यर्थः। उदाहरणमाह– (जहिंदो–वओगम्मि त्ति) यथा इन्द्रोपयोगे वर्त्तमानो माणवकस्तन्मयोपयोग एव भवति, न पुनरर्थान्तरमयोपयोगः। इदमत्र तात्पर्यम्– एकस्मिन्काले एकत्रैवार्थे उपयुक्तो जीवः संभवति, न त्वर्थान्तरे, पूर्वोक्तसाङ्कर्याऽऽदिदोषप्रसङ्गात्। ततश्च युगपत्क्रियाद्वयोपयोगानुभवोऽसिद्ध एवेति ॥२४३१॥

एकस्मिन्नर्थ उपयुक्तः किमित्यर्थान्तरेऽपि नोपयुज्यते? इत्याह–

सो तदुव ओगमेत्तो– वउत्तसत्ति त्ति तस्समं चेव।
अत्थंतरोवओगं, जाउ कहं केण वंसेण?॥२४३२॥

स जीवः (तदुवओगमेत्तोवउत्तसत्ति त्ति) तस्य विवक्षितैकार्यस्योपयोगस्तदुपयोगः, स एव तन्मात्रं तत्रोपयुक्ता व्यापृता निष्ठां गता शक्तिर्यस्य स तदुपयोगमात्रोपयुक्तशक्तिरिति कृत्वा कथं तत्समकालमेवार्थान्तर उपयोगं यातु? न कथं चिदित्यर्थः, साङ्कर्याऽऽदिप्रसङ्गात्। किं च– सर्वैरपि स्वप्रदेशैरेकस्मिन्नर्थे उपयुक्तो जीवः केनोद्वरितेनांशेनार्थान्तरोपयोगं व्रजतु? नास्त्येव हि स कश्चिदुद्वरितोऽशो येन तत्समकमेवार्थान्तरोपयोगमसौ गच्छेदिति भावः ॥२४३२॥

यदि समकालमेव क्रियाद्वयोपयोगो न भवति, तर्हि कथं तमहं संवेदयामि? इत्याशङ्क्याऽऽह–

समयाइसुहुमयाओ, मन्नसि जुगवं च भिन्नकालं पि।
उप्पलदलसयवेहं, व जह व तदलायचक्कं ति ॥२४३३॥

समयावलिकाऽऽदिकालकृतविभागस्य सूक्ष्मत्वाद् भिन्नकालमपि कालविभागेन प्रवृत्तमपि क्रियाद्वयसंवेदनमुत्पलपत्रशतवेधवद्युगपत्प्रवृत्तमिव मन्यसे त्वम्। न हि उत्पलपत्रशतमौत्तराधर्येण व्यवस्थापितं सुतीक्ष्णयाऽपि सूच्या छेकेन समर्थेना–

ऽपि च वेधकर्त्रा समकालमेव विध्यते, किं तु कालभेदेन, उपर्युपरितने अविद्धेऽधोऽधोवर्त्तिनः पत्रस्य वेधायोगाद्, अथ च वेधकर्त्ता युगपद्विहितमेव वेधं मन्यते, तद्वेधनकालभेदनस्य सूक्ष्मत्वेन दुर्लक्षत्वात्। यथा वा तत्प्रसिद्धमलातचक्रं कालभेदेन दिक्षु भ्रमदपि भ्रमणकालभेदस्य सूक्ष्मत्वेन दुरवगमत्वान्निरन्तरभ्रमणमेव लक्ष्यते, एवमिहापि शीतोष्णक्रियानुभवकालभेदस्य सूक्ष्मत्वेन दुरवसेयत्वाद्युगपदिव तदनुभवं मन्यते भवानिति ॥२४३३॥

मनोऽपि शिरः पादाऽऽदिभिः स्पर्शनेन्द्रियदेशैरिन्द्रियान्तरैश्च युगपन्न संबध्यते, किं तु क्रमेणैव, केवलमाशुचारित्वेन सूक्ष्मत्वेन च तस्य क्रमसंबन्धो न लक्ष्यत इति दर्शयन्नाह–

चित्तं पि नैंदियाइं, समेइ सममह य खिप्पचारि त्ति।
समयं व सुक्कसक्कुलि–दसणे सव्वोवलद्धि त्ति ॥२४३४॥

चित्तमपि च ,नैवेन्द्रियाणि, सममेव समेति–मनोऽपि नैवेन्द्रियैः सह युगपत्संबध्यते इत्यर्थः। उपलक्षणत्वान्नाऽपि शिरःपादाऽऽदिभिः स्पर्शनेन्द्रियदेशैर्युगपत्संबध्यते, अथ च क्षिप्रचारि शीघ्रसंचरणशीलं तदिति कृत्वा समकमिव युगपदिव सर्वत्र संबद्धं लक्ष्यते इति शेषः। दृष्टान्तमाह– (समयं वेत्यादि) समयं वेत्येतदनन्तरं योजितमप्यावृत्त्या पुनरपीह योज्यते। तत्र वाशब्दो यथार्थे , यथाशब्दश्च दृष्टान्तोपन्यासार्थे। यथा– शुष्कशष्कुलिकादशने सर्वेषामपि शष्कुलिकागतरूपरसगन्धस्पर्शशब्दानामुपलब्धिः सर्वोपलब्धिरसमकं प्रवृत्ताऽपि समकं लक्ष्यते, तथाऽत्रापि मनः शिरः पादाऽऽदिभिस्स्पर्शनेन्द्रियदेशैरिन्द्रियान्तरैश्च क्रमेण संबध्यमानमपि युगपत् संबध्यमानं लक्ष्यत इत्यर्थः । इदमत्र हृदयम्– इह दीर्घां शुष्कां च शष्कुलिकां कस्यचिद्वक्षयतस्तद्रूपं चक्षुषा वीक्ष्यमाणस्य रूपज्ञानमुत्पद्यते, तद्गन्धं च घ्राणेनाऽऽजिघ्रतो गन्धज्ञानम्, तद्रसं च रसनया आस्वादयतो रसज्ञानं, तत्स्पर्शं च स्पर्शनेन वेदयतः स्पर्शज्ञानं, चर्वणोत्थं तच्छब्दं च शृण्वतः शब्दज्ञानमुपजायते । एतानि च पञ्चापि ज्ञानानि क्रमेणैव जायन्ते, अन्यथा साङ्कर्याऽऽदिदोषप्रसङ्गात्, मत्यादिज्ञानोपयोगकाले चावध्याद्युपयोगस्याऽपि प्रसिः, एकं च घटाऽऽदिकमर्थं विकल्पयतोऽनन्तानामपि घटाऽऽद्यर्थविकल्पानां प्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च । न चैतदस्ति । ततः क्रमेण जायमानान्यप्येतानि ज्ञानानि प्रतिपत्ता युगपदुत्पद्यन्ते इति मन्येत, समयाऽवलिकाऽऽदिकालविभागस्य सक्ष्यत्वाद्, एवमिहापि शिरःपादाऽऽदिभिः स्पर्शनेन्द्रियदेशैरिन्द्रियान्तरैश्च क्रमेण संबध्यमानमपि मनः प्रतिपत्ता युगपत्संबध्यमानमध्यवस्यति, न तु तत्त्वतोऽसौ मनसः स्वभावः, तथा चोक्तम्–''युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति।'' यदि चोक्तन्यायेन सर्वेन्द्रियद्वारेणोत्पद्यमान उपलम्भे क्रमेण संचरतो मनसः संचारो दुलक्षस्तर्हि कथमेकस्यैव स्पर्शनेन्द्रियमात्रस्य शीतवेदनोपयोगा–दुष्णवेदनोपयोगरूप उपयोगान्तरे जन्ये तत्संचारः सुलक्षः स्याद्, अलक्ष्यमाणे च तत्क्रमसंचारे शीतोष्णक्रियाद्वयोपयोगविषयौ युगपदध्यवसायौ भवत इति ॥२४३४॥

एतदेवाऽऽह–

सव्विंदियउवलंभे, जइ संचारो मणस्स दुल्लक्खो।
एगेंदिओवओगं–तरम्मि किह होउ य सुलक्खो ॥२४३५॥

व्याख्यातार्थैव ॥२४३५॥

यदि पुनरेकस्मिन्नर्थे उपयुक्तमपि मनोऽर्थान्तरेऽप्युपयोगं गच्छेत्तदा को दोषः स्याद्? इत्याह–

अन्नविणिउत्तमन्न वि–णिओगं लभइ जइ मणो तेणं।
हत्थिं पि ठियं पुरओ, किमन्नचित्तो न लक्खेइ ॥२४३६॥

अन्यस्मिन् शीतवेदनाऽऽदिकेऽर्थे विनियुक्तमुपयुक्तमन्यविनियुक्तम्, मनो यदि (अण्णं ति) अन्य उष्णवेदनाऽऽदिकोऽर्थस्तद्विषय उपयोगोऽन्यस्तमन्यं विनियोगमुपयोगं लभते, (तेणं ति) तर्हि किमित्यन्यचित्तोऽन्यार्थोपयुक्तचित्तो देवदत्ताऽऽदिर्हस्तिनमपि पुरतो व्यवस्थितं न लक्षयति? तस्मादेकस्मिन्नर्थे उपयुक्तं मनो न कदाचिदन्यार्थोपयोगं लभते इति ॥२४३६॥

यदि त्वेकोपयोगे उपयोगान्तरमपीष्यते, तदैतदपि किं नेष्यते? किमित्याह–

विणिओगंतरलाभे, व किं त्थ नियमेण तो समं चेव।
पइवत्थुमसंखेज्जा–णंता वा जं न विणिओगा? ॥२४३७॥

एकोपयोगकाले विनियोगान्तरस्योपयोगान्तरस्य वा लाभे इष्य–माणे (तो त्ति) ततः किमत्र क्रियाद्वयोपयोगलक्षणेन नियमेन (जं ति) यत्प्रतिवस्तु असंख्येया अनन्ता वा सममेव युगपदेव विनियोगा उपयोगा नेष्यन्ते? इदमुक्तं भवति– यदि शीतवेदनोपयोगकाले उष्णवेदनोपयोगोऽपीष्यते, ताहे किमत्रानेन क्रियाद्वयोपयोगनैयत्येन यदसंख्येया अनन्ता वा प्रतिवस्तु युगपदुपयोगा न भवन्ति, यथैककाले द्वितीयोपयोगस्तथा बहवोऽपि भवन्त्विति भावः। इह च ''दव्वाउ असंखज्जे, संखेज्जे आवि पज्जवे लभइ।'' इति वचनादेकस्मिन्नर्थे समकालमवधिज्ञानिनः किलोत्कृष्टतोऽसंख्येया उपयोगाः प्राप्नुवन्ति, शेषज्ञानिनां त्वनन्ता इत्यभिप्रायवता प्रोक्तम्– ''पइवत्थु असंखेज्ज'' इत्यादि ॥२४३७॥

अत्र पराभिप्रायमधिकृत्य परिहारमाह–

बहुबहुविहाइगहणे, नणूवओगबहुया सुएऽभिहिया।
तमणेगग्गहणं चिय, उवओगाणेगया न त्थि ॥२४३८॥

ननु बहुबहुविधक्षिप्राऽनिश्रिताऽसंदिग्धध्रुवसेतरवस्तुग्रहणे पूर्वमिहैवावग्रहाऽऽदीनामनुज्ञाने एकस्मिन्नुपयोगबहुता श्रुतेऽभिहितैवेति । ''पइवत्थुमसंखेज्जे'' इत्यादि सिद्धसाधनमेवेति परेणोक्ते सत्याह– (तमणेगेत्यादि) तद् बहुबहुविधाऽऽदिरूपं वस्तुनोऽनेकपर्यायाणां सामान्यरूपतया ग्रहणमात्रमेव ज्ञाने उपयोगयोग्यतामात्रव्यवस्थापनमेव, एकस्मिंस्तु वस्तुन्येककालमुपयोगानेकता क्वापि नास्ति, क्रमेणैवोपयोगानां भावादिति ॥२४३८॥

यदुक्तं ''तणेगग्गहणं चिय'' इति तदुपजीव्य परःप्राह–

समकमणेगग्गहणं, जइ सीओसिणदुगम्मि को दोसो?
केण व भणियं दोसो, उवाओगदुगे वियारोऽयं ॥२४३९॥

यद्याचार्य! समकं युगपदनेकेषामर्थानां ग्रहणं त्वयाऽप्यनुज्ञायते, तदा शीतोष्णद्वये गृह्यमाणे को दोषः, येन गङ्गाभ्युपगमो दूष्यते? सूरिराह– (केण वेत्यादि) केन पुनर्भणितंहन्त! यत्समकमनेकार्थग्रहणे दोषा गृह्यन्ते युगपदपि सामान्यरूपतया सेनावनग्रामनगरादिवदनेकेऽर्था इत्येतन्न निवारयामः, वयमित्यर्थः, केवलमिहोपयोगद्वये विचारोऽयं प्रस्तुतः। स चोपयोग एकदा एक एव भवति, न त्वनेक इति ॥२४३९॥

पुनरपि परप्रश्नमाशङ्क्योत्तरमाह–

समयमणेगग्गहणे, एगाणेगोवओगभेओ को?
सामन्नमेगजोगो, खंधावारोवओगो व्व ॥२४४०॥
खंधारोऽयं साम–न्नमेत्तमेगोवओगया समयं।
पइवत्थुविभागो पुण, जो सोऽणेगोवओग त्ति ॥२४४१॥

ननु समकं युगपदनेकार्थग्रहणे अभ्युपगम्यमानेकोऽयमेकानेकोपयोगभेदो नाम, येनोच्यते– ''उवओगाणेगया नत्थि।'' इति। अत्रोत्तरमाह– (सामन्नमेगजोगो त्ति) यः सामान्योपयोगः स एकोपयोगोऽभिधीयते, स्कन्धावारोपयोगवदिति दृष्टान्तः। अमुमेवार्थं स्पष्टयति– ''खंधारोऽयमित्यादि।'' समकं युगपदेव स्कन्धावारोऽयमित्येवं यत्सामान्यं सामान्यमात्रग्राहको य उपयोग इत्यर्थः, स एकोपयोगता भण्यते। यः पुनः प्रतिवस्तु एते हस्तिनः, अमी अश्वाः, इमे रथाः, एते पदातयः एते खड्गकुन्ताऽऽदयः, शिरस्त्राणकवचाऽऽदयः, पटकुटिकाः, ध्वजाः, पताकाः, ढक्काशङ्खकाहलाऽऽदयः, करभरासभाऽऽदयश्चेत्यादिको विभागो भेदाध्यवसायः सोऽनेकोपयोग इति ॥२४४०॥२४४१॥

आह– परमेकानेकोपयोगभेदे भवद्भिर्युगपत्किं निषिध्यते? इत्याह–

ते च्चिय न संति समयं, सामन्नाणेगगहणमविरुद्धं।
एगमणेगं पि तयं, तम्हा सामण्णभावेणं ॥२४४२॥

त एवानेकोपयोगाः समकं युगपन्न सन्ति न भवन्तीति निषिध्यन्ते अस्माभिः। यत्तु सामान्येनानेकेषामर्थानां युगपद् ग्रहणं तदविरुद्धमेव। (तम्ह त्ति) तस्माद्युगपदनेकोपयोगनिषेधेन। किमुक्तं भवतीत्याह– (एगमणेगं पीत्यादि) यदिदं स्कन्धावाराऽऽद्युपयोगे युगपदनेकार्थग्रहणमस्माभिरनुज्ञायते, (तयं ति) तदनेकमप्यनेकार्थग्रहणमपि सदित्यर्थः, (एगं ति) एकमेव तत्त्वत एकार्थग्रहणमेवेत्यर्थः, केनेत्याह–(सामन्नभावेणं ति) सामान्यरूपतयेत्यर्थः। अयमत्र तात्पर्यार्थः– यदनेकार्थग्रहणमनुज्ञायते तत् सामान्यमेव रूपमाश्रित्य, विशेषरूपतया त्वनेकार्थग्रहणं नास्त्येव, एकस्मिन् काले एकस्यैव विशेषोपयोगस्य सद्भावादिति ॥२४४२॥

अमुमेवार्थं प्रकृते योजयन्नाह–

उसिणेयं सीएयं, न विभागो नोवओगदुगमित्थं।
होज्ज समं दुगगहणं, सामन्नं वेयणा मे त्ति ॥२४४३॥

उष्णेयं शीतेयं वेदना इत्येवं योऽसौ विभागो भेदोऽसौ नेष्टः शीतोष्णविभागेन शीतोष्णविशेषरूपतया युगपद् ग्रहणं नेष्टमित्यर्थः, अत एव तद्विषयमुपयोगद्वयं युगपन्नेष्टम्। किं युगपद्वस्तुद्वयग्रहणं सर्वथा नेष्टम्? नैवं, कुतः इत्याह– भवेत् समं युगपद्वस्तुद्वयग्रहणम्। किं विशेषरूपतया? नेत्याह –सामान्यं सामान्यरूपतयेत्यर्थः। कथम्? वेदना मे मम वर्तते इत्येवं युगपद द्वयग्रहणं भवेद् न तु शीतोष्णवेदना–विशेषरूपतयेत्यर्थः, युगपदुपयोगद्वयप्रसंगात्, तत्र च दोषाणामुक्तत्वादिति ॥२४४३॥

आहननु यदि वेदनामात्रग्राहकं सामान्यज्ञानं, तदैवं शीतोष्णवेद–नाविशेषग्राहकमपि तत् कस्मान्नेष्यते? इत्याह–

जं सामण्णविसेसा, विलक्खणा तन्निबंधणं जं च।
नाणं जं च विभिन्ना, सुदूरओवग्गहाऽवाया ॥२४४४॥
जं च विसेसं नाणं, सामन्ननाणपुव्वयमवस्सं।
तो सामन्नविसेसं, नाणाइं नेगसमयम्मि ॥२४४५॥

(तो त्ति) तस्मात्सामान्यग्राहकं विशेषग्राहकं च ज्ञानं द्वेऽपि नैक–समये नैककालं भवत इति द्वितीयगाथायां संबन्धः। कुत इत्याह– (जं सामण्णेत्यादि) यद्यस्मात्सामान्यविशेषौ परस्परमतीव विभिन्नलक्षणौ भिन्नजातीयावतः कथं तावेककालमेकज्ञाने प्रतिभासेते? एकत्वप्रसङ्गात्, सामान्यतत्स्वरूपवद्विशेषतत्स्वरूपवद्वा? मा भूत्तत्प्रतिभासस्तथापि तज्ज्ञाने युगपद्भविष्यत इत्याह–यस्माच्च तन्निबन्धनं सामान्यविशेषहेतुकं सर्वमपि ज्ञानं, तत्कथं तत्प्रतिभासमन्तरेणोत्पद्येत? सामान्यविशेषज्ञानयोरेकत्वादेककालं ते भविष्यत इति चेत्, तदयुक्तम्, कुतः? इत्याह– यस्माच्च सुदूरं विभिन्नौ सामान्यविशेषज्ञानरूपौ– अवग्रहावायाविति कथं समकालं भवतः? यद्यस्माच्चवश्यं सामान्यग्राहकज्ञानपूर्वकमेव विशेषग्राहकं ज्ञानं, नानवगृहीतमीहायते, नानीहितं निश्चीयत इत्यादिवचनादतः कथं तयोर्युगपत्संभव इति ॥२४४४॥२४४५॥

पुनरपि परः प्राऽऽह–

होज्ज न विलक्खणाइं, समयं सामन्नभेयनाणाइं।
बहुयाण को विरोहो, समयम्मि विसेसनाणाणं ॥२४४६॥

नन्वाचार्य! एवं तर्ह्यस्तु यदुत सामान्यवेदनामात्रग्राहकं सामान्य–ज्ञानं, शीतोष्णवेदनाविशेषग्राहकं विशेषज्ञानरूपं भेदज्ञानं चेत्येते द्वे अपि सुदूरविलक्षणत्वात्समकं युगपन्न भवतः बहूनां तु शीतोष्णाऽऽदिविशेषज्ञानानां समये एकस्मिन् काले जायमानानां विशेषज्ञानरूपतया तेषां बहूनामपि तुल्यत्वेन वैलक्षण्याभावात्को विरोधः? येन शीतोष्णवेदनाविशेषज्ञाने युगपद् गङ्गस्य निषिध्येते इति ॥२४४६॥

अत्रोत्तरमाह–

लक्खणभेया उ च्चिय, सामण्णं च जमणेगविसयं ति।
तमवेत्तुं न विसेस–न्नाणाइं तेण समयम्मि ॥२४४७॥
तो सामन्नग्गहणा–णंतरमीहियमवेइ तब्भेयं।
इय सामन्नविसेसा–वेक्खो जावंतिमो भेओ ॥२४४८॥

तेन कारणेन समये एकस्मिन् काले बहूनि विशेषज्ञानानि न भवन्ति। कुतः? इत्याह–लक्षणं शीतोष्णाऽऽदिविशेषणस्वरूपं तस्य परस्परं भेदाद्भिन्नत्वात्न तद्ग्राहकाणि ज्ञानानि समकं भवन्ति, यस्माच्चानेकविषयमनेकाधारं सामान्यम्, इत्यतस्तदगृहीत्वा न विशेषज्ञानसम्भूतिरस्तीत्यतोऽपि न युगपद्विशेषज्ञानानि। इदमुक्तं भवति– पूर्वं *वेदनासामान्यं गृहीत्वा तत ईहां प्रविश्य शीतेयं पादयोर्वेदनेति* वेदनाविशेषं निश्चिनेति। शिरस्यपि प्रथमं वेदनासामान्यं गृहीत्वा तत ईहां प्रविश्य उष्णेयमिह वेदनेत्यध्यवस्यति। न हि घटविशेषज्ञानादनन्तरमेव पटाऽऽश्रयसामान्यरूपे गृहीते पटविशेषज्ञानमुपजायते, ''उग्गहो ईहश्रवाओ य'' इत्यमुतैव क्रमेण घटाऽऽदिविशेषज्ञानोत्पत्त्यभिधानात्। एवं च सति विशेषज्ञानादनन्तरमपि विशेषज्ञानं नोत्पद्यते, आस्तां पुनः समकालं, सामास्थनिकविशेषाऽऽश्रयत्वात्। तच्च पूर्वमगृहीत्वा विशेषज्ञानस्याप्रसवादिति।

यतश्चैवं सामान्येऽगृहीते नास्ति विशेषज्ञानं, (तो त्ति) ततः

सामान्यग्रहणानन्तरमीहितं तद्भेदं सामान्यभेदं घटत्वाऽऽदिसामान्याऽऽश्रयं घटाऽऽदिविशेषमित्यर्थः, अवैति घटाऽऽदिरेवायम् इत्येवं निश्चिनोतीत्यर्थः। तत उत्तरभेदापेक्षया घट एव सामान्यम्। तस्मिंश्च गृहीते ईहित्वा धातुजोऽयं न मार्त इत्येवं निश्चिनोति। ततो धातुजोऽप्युत्तरभेदापेक्षया सामान्यम्। तस्मिंश्च गृहीते ईहित्वा ताम्रोऽयं न तु राजताऽऽदिः इतीत्थं निश्चिनोतीति। एवं सामान्यविशेषापेक्षा तावत्कर्तव्या, यावदन्तिमो भेदः स कश्चिद्यदनन्तरमोहा न प्रवर्तते। ततश्चैवं न क्वचिद्विशेषज्ञानानां युगपत्प्रवृत्तिसंभवः, सामान्यरूपतया तु समकालमपि विशेषाणां ग्रहणं भवेत्। यथा–सेना, वनमित्यादि, न तु युग पदुपयोग इत्युक्तमेव। तथा च सति भिन्नकाले एव शीतोष्णविशेषज्ञाने। ततो भ्रान्तमेव समकालं शीतोष्णक्रियाद्वयवेदनं भवत इति ॥२४४७॥२४४८॥

इत्यादियुक्तिशतैः प्रज्ञापितोऽपि न स्वाग्रहं मुक्तवान् गङ्गः,

ततः किमित्याह–

इय पन्नविओ वि जओ न पवज्जइ तो तओ कओ बज्झो।
तो रायगिहे समयं, किरियाओ दो परूवंतो ॥२४४९॥
मणिनागेणारद्धो, भओवत्तिओ पडिबोहिओ वोत्तुं।
इच्छामो गुरुमूलं, गंतूण तओ पडिक्कंतो ॥२४५०॥

व्याख्यातार्थे एवेति ॥२४४९॥२४५०॥ विशे० उत्त० आ०चू० आ०म० औ०।

दोक्खर–न०(द्व्यक्षर) षण्ढे, बृ०।

''गती भवे पच्चवलोइयं च, मिदुत्तया सीयलगत्तया य।
धुवं भवे दोक्खरनामधेज्जा, सकारपच्चंतरिओ ढकारो ॥१॥''

द्व्यक्षरनामधेयो भवेत्, तच्चाक्षरद्वयं सकारप्रत्यन्तरितो ढकार इति प्रतिपत्तव्यम्, प्राकृतशैल्या सण्ढो, संस्कृते तु षण्ढ इति। बृ० ४उ० दासे, व्य०४ उ०।

दोगच्च–न०(दौर्गत्य) दुर्गतिभावे, दारिद्र्ये च। पं०व०४ द्वार। बृ० नि०चू० पञ्चा०।

दोगिद्धिदसा–स्त्री०(द्विगृद्धिदशा) स्वरूपतोऽप्यनवसितायाम्, ''दोगिद्धिदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा–'' ''वाए विवाए उववाए णातीसं महासुविणा बावत्तरिसव्वसुमिणाहारे रामगुत्ते एमेए दस आहिया।'' द्विगृद्धिदशाश्च स्वरूपतोऽप्यनवसिता। स्था०१० ठा०।

दोगुंछि–त्रि०(जुगुप्सिन्) निन्दके, उत्त० जुगुप्सते आत्मानमाहारं विना धर्म्मधुराधरणाक्षममित्येवंशीलो जुगुप्सी। उत्त०६ अ०।

दोग्ग–(देशी) युग्मे, दे०ना० ५ वर्ग ४९ गाथा।

दोग्गइ–स्त्री०(दुर्गति) दुष्टा गतिः दुर्गतिः। अथवा दुर्गा गतिः दुर्गतिः। अथवा–दुःखं वा यत् सेव्यते सा दुर्गतिः। दुर्गती विषमेत्यर्थः। अथवा–कुत्सिता गतिः दुर्गतिः। अनभिलषितार्थे दुःशब्दः। यथा–दुर्गमः। नरकगतौ, तिर्यग्गतौ च। स्था० १ ठा०।

दोग्गुण–न०(दौर्गुण्य) दुर्गुणत्वे, हा० ३१ अष्ट०।

दोच्चंग–न०(द्वितीयाङ्ग) शाकाऽऽदिभाज्याम्, ''दोच्चंग त्ति'' सामयिकी संज्ञा। ओदनाऽऽदिमूलापेक्षया भोजनस्य राद्धशाकरूपाणी द्वितीयाङ्गानि। बृ० १उ०।

दोच्च–त्रि०(दौत्य) दूतकर्मणि, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

***द्वितीय**–द्वित्वसंख्यापूरके, विपा० १ श्रु० ३अ० भ०।उपा०।

दोच्चा–स्त्री०(द्वितीया) द्वितीयसप्तरात्रिन्दिवप्रतिमायाम्, पञ्चा० १५विव०।

दोज्झ–त्रि०(दोह्य) दोहनयोग्ये, ''जहा गावो दोज्झाति वा।'' आचा० २श्रु० १चू०४अ०२उ०।

दोण–पुं०(द्रोण) माने, चत्वारः पुनराढकाः समुदिता एको द्रोणः। ज्यो० २पाहु०। औ०। पलप्रमाणं द्रोणमानम्। तं०। द्रोणाऽऽख्ये सिन्धुवेलावलयिते नगरे, सूत्र० २ श्रु०२ अ०। द्रोणः कियन्मणमान इति प्रश्ने, उत्तरम्–चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थः, प्रस्थैश्चतुर्भिराढकः चतुर्भिराढकैर्द्रोणः अत्र नाममालावृत्तौ कुडवशब्देन प्रसृतिद्वयव्याख्यातमस्ति, तदनुसारेण यद्भवति तद्द्रोणमानमवसेयं, परमियन्मणमानो द्रोण इति तु क्वापि व्यक्तं दृष्टं न स्मरतीति। १८८ प्र० सेन ३ उल्ला०।

दोण्अ–(देशी) आयुक्ते, हालिके च। दे०ना०५ वर्ग ५० गाथा।

दोणक्का–(देशी) सरघायाम्, दे०ना० ५ वर्ग ५१ गाथा।

दोणमुह–न०(द्रोणमुख) द्वयोः पथोर्मुखमस्येति द्रोणमुखम्। जलस्थलनिर्गमप्रवेशने, आचा०१ श्रु०८ अ०६ उ०। पट्टने, रा० प्रश्न०। व्य०। भ०। जी०। बाहुल्येन जलनिर्गमप्रवेशे, दशा०७ अ०। स्था०। ग०। यत्र जलस्थलपथाबुभावपि भवतः। कल्प०१ अधि०४ क्षण। जी०। नि०चू०। जं०१ अनु०। स्था०। उत्त०। ''दोणमुहं जलथलपहेण।'' यस्य तु जलपथेन स्थलपथेन वा द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां भाण्डमागच्छति तद् द्वयोःपथयोर्मुखमिति निरुक्तया द्रोणमुखमुच्यते, तच्च तथा भृगुकच्छं ताम्रलिप्ती वा। बृ०१ उ०। नि०चू०। औ०। जलस्थलपथोपेते नगरे, प्रश्न०३ आश्र०द्वार।

दोणमेह–पुं०(द्रोणमेघ) यावता वृष्टेनाऽऽकाशविन्दुभिर्महती गगरी भ्रियते तावत्प्रमाणजलवर्षिणि मेघे, विशे०।

दोणसूरि–पुं०(द्रोणसूरि) अणहिलपट्टननगरे अभयदेवसूरिसमकालिके स्वनामख्याते विद्वद्वरे, येन नवस्वङ्गेषु स्थानाङ्गाऽऽदिषु अभयदेवसूरिकृतवृत्तेः संशोधनमकारि।

''अणहिलपाटकनगरे संघवरैर्वर्त्तमानबुधमुख्यैः।
श्रीद्रोणचार्याऽऽद्यै–र्विद्वद्भिः शोधिता चेति ॥१॥''
''शास्त्रार्थनिर्णयसुसौरभलम्पटस्य,
विद्वन्मधुव्रतगणस्य सदैव सेव्यः।
श्रीनिर्वृताऽऽख्यकुलसन्नदपद्मकल्पः,
श्रीद्रोणसूरिरवनद्ययशःपरागः ॥२॥'' स्था०१० ठा०।

पञ्चा० भ०। निवृत्तिककुलनभःसूरिमुख्येन पण्डितगणतगणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम्। ज्ञा०१ श्रु०६ वर्ग १अ०।

दोणी–स्त्री०(द्रोणी) नौकायाम्, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। जलपरिपूर्णायां महत्यां कुण्डिकायाम्, अनु०।

दोतिप्पभा–स्त्री०(द्युतिप्रभा) चन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, ज्ञा०१ श्रु० ६ वर्ग १ अ०।

दोद्धिअ-(देशी) चर्मकूपे, दे०ना० ५ वर्ग ४६ गाथा।

दोधार-पुं०(द्विधाकार) द्रव्यस्य द्विधाकरणे, स्था० ५ ठा० ३उ०।

दोभागकर-न०(दौर्भाग्यकर) कलाभेदे, स०७२ सम०।

दोमणंसिया-स्त्री०(दौर्मनसिका) वैमन्यस्ये, स्था०५ ठा० २उ०।

दोमासिय-न०(द्वैमासिक) द्विमासपरिणाममस्येति द्वैमासिकम्। मासद्वयपरिमाणे, नि०चू० २० उ०।

दोमासियपडिमा-स्त्री०(द्वैमासिकप्रतिमा) मासद्वयप्रतिमा निर्वाह्यो साधुप्रतिज्ञाविशेषे, तत्र हि द्वौ मासौ यावद् द्वे दत्ती भक्तस्य, द्वे एव च पानकस्य। औ०।

दोमिलि-स्त्री०(दोमिली) ब्राह्म्या लिपेर्लेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद।

दोरे-स्त्री०(दोर) सूत्रदवरके, रज्जौ, आ०म० १अ०२ खण्ड। कटिसूत्रे, दे०ना० ५ वर्ग ३८ गाथा।

दोरज्ज-न०(द्वैराज्य) राज्यद्वयभावे, स्था०३ ठा०१ उ०।

दोव-पुं०(दोव) अनार्यभेदे, प्रज्ञा०१पद।

दोवारिय-पुं०(दौवारिक) प्रतीहारे द्वारपालके, भ०६ श०५ उ०। नि०चू०। ज्ञा०। रा०। ''दोवारिज्जा तु द्वारिट्ठा दो वारिया दारे चेव (अन्तःपुरस्य) जेसिं मिलेति।'' नि०चू०६ उ०। औ०।

दोधारियभत्त-न०(द्वौवारिकभक्त) द्वारपालस्य कृतवृत्तेः जरापङ्गुलाऽऽदेः पेट्टकाऽऽदिभक्ते, नि०चू० ६ उ०।

दोविह-त्रि०(द्विविध) द्विविध एव द्वैविध्यम्। द्विःप्रकारे, उत्त० २ अ०।

दोवेली-(देशी) सायं भोजने, दे०ना० ५ वर्ग ५० गाथा।

दोस-पुं०(दोष) मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगेषु, सूत्र० १ श्रु०११ अ०। प्रश्न०। मले, ध०३ अधि०। चौर्याऽऽदिके, अन्त०३ वर्ग ०८अ०। आत्मनः परस्य वा दूषणे, भ० १२ श०६उ०। मालिन्यकारिचेष्टायाम्, तं०। कालदोषो दुर्भिक्षाऽऽदिः, क्षेत्रदोषः संयमाननुगुणत्वाऽऽदिः, द्रव्यदोषो भक्ताऽऽदिना शरीराननुकूलता, भावदोषो ग्लानत्वज्ञानाऽऽदिहान्यादिः। पञ्चा० १७विव०।

***द्वेष**- द्विष्यत्यनेनेति द्वेषः। द्वेषवेदनीये कर्म्मणि, यद्वा द्वेषणं द्वेषः वेदनीयकर्म्माऽऽपादिते भावे, अप्रीतिपरिणामे, पं०सू०१ सूत्र०। ''एगे दोसे।'' स्था०१ ठा०। आव०। औ०। आ०चू०। भ०। आ०म०। सूत्र०। ज्ञा०। ति०। नि०चू०। कल्प०। प्रव०। उपशमत्यागाऽऽत्मके, विकारे, उत्त०६ अ०। परद्वेषाध्यवसाये, आतु०। दुःखभिज्ञस्य तदनुस्मृति-पूर्वकविगर्हणे, द्वा०२५ द्वा०। स्वपराऽऽत्मनोर्बाधारूपे, सूत्र० १ श्रु० १६अ०। क्रोधमानकषायाऽऽत्मके, ग०२ अधि०। स्था०। ''दोसे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-कोहे य, माणे य।'' प्रज्ञा० २३ पद।

अथ दोषस्य द्वेषस्य वा व्याख्यामाह-

दूसंति तेण तम्मि व, दूसणमह देसणं व देसो वि।
देसो च सो चउद्धा, दव्वे कम्मेयरवि भिन्नो ॥२६६६॥

''दुष'' वैकृत्ये, दुष्यन्ति विकृतिं भजन्ति तेन तस्मिन् वा प्राणिन इति दोषः, दूषणं वा दोषाः, इति स्वयमेव द्रष्टव्यम्। अथवा ''द्विष'' अप्रीतौ, द्विषन्ति अप्रीतिं भजन्ति तेन तस्मिन् वा प्राणिन इति द्वेषः, द्वेषणं वा द्वेषः। इत्यपि स्वयमेव दृश्यम्। कुतः पुनरिदं दृश्यते इत्याह- (अह देसणं व देसो त्ति) अथवा द्वेषणं द्वेष इति भावसाधनपक्षोपन्यासानन्तरोक्तः स्वयमेव दृश्यते। (देसो व सो चउद्ध त्ति) स च द्वेषो, वाशब्दाद् दोषो वा, नामाऽऽदिभेदाच्चतुर्द्धा द्रष्टव्यः। तत्र ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्ते द्रव्ये विचार्ये (कम्मेयरविभिन्नो त्ति) कर्म्मद्रव्यदोषः, नोकर्म्मद्रव्यदोषश्च भवतीत्यर्थः ॥२६६६॥

अस्य च द्विविधस्यापि स्वरूपमाह-

जुग्गा बद्धा बज्झं-तगा य पत्ता उदीरणावलियं।
अह कम्मदव्वदोसो, इयरो दुट्ठव्वणाईओ ॥२६६७॥

पूर्ववच्चतुर्विधाः पुद्गलाः कर्म्मद्रव्यदोषः, नोकर्म्मद्रव्यदोषस्तु दुष्टव्रणाऽऽदिरिति ॥२६६७॥

भावदोषं भावद्वेषं वा प्राऽऽह-

जं दोसवेयणिज्जं, समुइण्णं एस भावओ दोसो।
वत्थुविकिइस्सहावो-ऽनच्छयमप्पीइलिंगो वा ॥२६६८॥

यद्दोषवेदनीयं द्वेषवेदनीयं वा कर्म्म, समुदीर्णमुदयप्राप्तमेष भावदोषो भावद्वेषो वा। अयं च स्वभावस्थस्य वस्तुनः शरीरदेशाऽऽदेर्विकृतिस्वभावः कार्ये कारणोपचाराद् प्रकृत्यन्यथाभावरूपः। तत्र भावदोषोऽनीप्सितलिङ्गोऽनिष्टदुष्टव्रणाऽऽदिकार्यगम्यः। भावद्वेषस्त्वप्रीतिलिङ्ग इति ॥२६६८॥

अत्र च क्रोधमानयो कोऽपि मिश्रपरिणामोऽप्रीतिजातिसामान्यतः संग्रहमतेन द्वेषः, मायालोभौ तु प्रीतिजातिसामान्यतः, स एव रागमिच्छतीति दर्शयन्नाह-

कोहं माणं वाऽपीइ, जाईओ वेइ संगहो दोसं।
मायालोभे य स पी-इजाइसामन्नओ रागं ॥२६६९॥

गतार्था ॥२६६९॥

व्यवहारनयमाश्रित्याऽऽह-

मायं पि दोसमिच्छइ, ववहारो जं परोवघायाय।
नाओवादाणे च्चिय, मुच्छा लोभो त्ति तो रागो ॥२६७०॥

न केवलं क्रोधमानौ, किन्तु मायामपि द्वेषमिच्छति व्यवहारनयो यस्मादियमपि परोपघाताय परवञ्चनायैव विधीयते। ततो माया द्वेषः, परोपघातहेतुत्वात्, क्रोधमानवदिति। न्यायेन नीत्या मायामन्तरेणोपादीयते उपार्ज्यत इति न्यायोपादानं, तस्मिन् न्यायोपादानेऽपि वित्ते यतो मूर्छा भवति, ततस्तदात्मको लोभो रागः। अन्यायोपात्ते तु वित्ते मायाऽऽदिकषायसंभवेन द्वेष एव स्यादिति न्यायोपादानविशेषणमिति भावः ॥२६७०॥

ऋजुसूत्रमाह-

उज्ज जुसुयमयं कोहो, दोसो सेसाणमयमणेगंतो।
रागो त्ति व दोसो त्ति व, परिणामवसेण उ वसेओ ॥२६७१॥

ऋजुसूत्रनयस्येदं मतम्– क्रोधः प्रथमकषायो द्वेषः, अप्रीत्यात्मकत्वाच्छेषाणां तु मानमायालोभानां रागद्वेषत्वविचारं प्रत्येतत् तस्य मतम्, किमित्याह– अनेकान्तोऽनिश्चयः। एतदेव व्याचष्टेशेषे मानाऽऽदिकषायत्रयवर्गे कोऽपि रागः, कोऽपि वा द्वेषः, इत्ययं परिणामवशेनैवावसेयो निश्चेयो नान्यथेति ॥२६७१॥

कुत इत्याह–

संपयगाहि त्ति नओ, न उवओगदुगमेगकालम्मि।
अप्पीइपीइमेत्तो–वओगओ तं तहा दिसइ ॥२६७२॥

यतः साम्प्रतग्राही वर्तमानैकक्षणवस्तुग्राही तकोऽसौ ऋजुसूत्रः, ततः क्रोधमानौ द्वेषो, मायालोभौ तु राग इत्येवमसौ न मन्यते, मानाऽऽदिक्षणकाले क्रोधाऽऽदिक्षणाभावात्, तदभावश्च तयोः क्रमभावित्वात्, प्राक्तषस्य चोत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादिति। स एव च मानो द्वेषो भवति,कदा? परगुणेषु यो द्वेषोऽप्रीतिस्तदुपयोगे तदध्यवसायपरिणतिकाल इत्यर्थः। अस्तु वा क्रोधमानाऽऽदीनां समकालभाविता, तथाऽप्युपयोगद्वयमसावेककालं न मन्यत इति कथं मिश्रकषायद्वयोपगाद् द्वेषो रागो वा स्यात्? एतदेवाऽऽह– (न उव–ओगदुगमेगकालम्मि त्ति) न च कषायद्वयोपयोगमेककालमसौ मन्यते, येन क्रोधमानौ, द्वेषो, मायालोभौ तु रागः स्यादिति। तर्हि किमसौ मन्यते? इत्याह– (अप्पीईत्यादि) अप्रीतिप्रीतिमात्रोपयोगतस्तं तं मानाऽऽदिकषायं तथा तथाव्यपदिशति ॥२६७२॥

एतदेव भावयति–

माणो रागो त्ति मओ, साहंकारोवओगकालम्मि।
सो चेय होइ दोसो, परगुणदोसोवओगम्मि ॥२६७३॥
माया लोभो चेवं, परोवघाओवओगओ दोसो।
मुच्छोवओगकाले, रागोऽभिस्संगलिंगो त्ति ॥२६७४॥

मानो राग इति ऋजुसूत्रस्य सम्मतः। क्व? साहङ्कारोपयोगकाले– स्वस्मिन्नात्मन्यहोऽहं नमो मह्यमित्येवं योऽसावहङ्कारो निजगुणेषु बहुमानोऽभिष्वङ्गस्तदुपयोगकाले तदुपयोगसमये इत्यर्थः, (स एव च मानो द्वेषो भवति कदा? परगुणेषु यो द्वेषोऽप्रीतिस्तदुपयोगे तदध्यवसायपरिणतिलाभ इत्यर्थः) एवं परोपघाताय व्याप्रियमाणौ मायालोभौ द्वेषः, स्वशरीरस्वधनस्वजनाऽऽदिषु मूर्छाषयोगकाले तु तावेव रागः। कुत? इत्याह–अभिष्वङ्गलिङ्ग इति कृत्वा। अभिष्वङ्गो हि रागो, यश्च स्वशरीराऽऽदिषु मूर्छोपयोगः, स व्यक्तोऽभिष्वङ्ग इति युक्तमस्य रागत्वमिति भावः ॥२६७३॥२६७४॥

अथ शब्दाऽऽदिनयत्रमतमाह–

सद्दाइमयं माणे, मायाए चिय णुणोवगाराय।
उवओगो लोभो चिय, जओ स तत्थेव अवरुद्धो ॥२६७५॥
सें ससा कोहो वि य, परोवघायमइय त्ति तो दोसो।
तल्लक्खणो य लोभो, अह मुच्छा केवलो रागो ॥२६७६॥
मुच्छाणुरंजणं वा, रागो संदूसणं ति तो दोसो।
सद्दस्स व भयणेयं, इयरे एक्केक्कठियपक्खा ॥२६७७॥

शब्दाऽऽदिनयानामिदं मतं, माने मायायां च स्वगुणोपकाराय आत्मन उपकाराय व्याप्रियमाणायां य उपयोगः स लोभ एव, यतः स स्वगुणोपकारोपयोगः स्वात्मनि मूर्छाऽऽत्मकत्वात् तत्रैव लोभेऽवरुद्धोऽन्तर्भूतः। तथा च सति स मानमाययोः स्वगुणोपकारोपयोगः स्वाऽऽत्माने मूर्छाऽऽत्मकत्वाल्लोभ इव राग इत्यभिप्रायः। शेषास्तु परोपघातोपयोगरूपा मानमाययोरंशाः क्रोधश्च सर्वः, एते सर्वे परोपघातमयास्ततो द्वेष इति मन्तव्याः। न केवलमेते तथा लोभोऽपि द्वेषः। किं सर्वः? नेत्याह– यतस्तल्लक्षणः परोपघातोपयोगरूपः। अथ परानुपघातोपयोगरूपो मूर्छोपयोगाऽऽत्मको लोभः पृच्छ्यते, तत्राऽऽह–केवलो राग एवासाविति। अथवा किं बहुनोक्तेन? संक्षिप्य ब्रूमः। किमित्याह– (मुच्छेत्यादि) इह सर्वेष्वपि क्रोधव्यतिरिक्तेषु मानमायालोभकषायेषु यन्मूर्छाऽऽत्मकमनुरञ्जनं यः कश्चिन्मूर्च्छोपयोग इत्यर्थः। स रागो मन्तव्यः। अथ संदूषणमप्रीत्युपयोगस्ततोऽसौ द्वेषो ज्ञातव्यः। शब्दनयस्त्वेयं भजना विकल्पना। वाशब्दात् ऋजुसूत्रसय च। शेषौ तु संग्रहव्यवहारनयौ नैगमस्यान योरेवान्तर्भावादेकैकस्थितपक्षौ–एकैकः स्थितो नियमितः पक्षो ययोस्तावेकैकस्थितपक्षौ। तथाहि– संग्रहनयः क्रोधमानौ द्वेषमेवेच्छति, मायालोभौ तु रागम्। व्यवहारनयोऽपि लोभं रागमेव मन्यते, शेषकषायत्रयं तु द्वेषमेवेति। अतः शब्दाऽऽदिनया भजनाऽभ्युपगमपरत्वादेकैकस्थि–तपक्षवादिभ्यां ताभ्यां भिन्ना इति। तदेवं व्याख्यातौ रागद्वेषौ ॥२६७५॥२६७६॥२६७७॥ विशे०। ''दस दोसे पण्णत्ते। तं जहा– तज्जायदोसे मइभंगदोसे पसत्थारदोसे परिहरणदोसे सलक्खणकारणहेउदोसे संकामणनिग्गहवत्थू दोसे।'' स्था० १० ठा०। (व्याख्या तत्तच्छब्दोपरि)

द्वेषे उदाहरणम्–

''लोकेन बहुना सार्द्धं ,नावा धर्मरुचिं मुनिम्।
गङ्गामुत्तारयामास, नन्दनामकनाविकः ॥१॥
लोकोऽगादातरं दत्त्वा, मुनिस्तेन धृतः पुनः।
भिक्षावेला व्यतिक्रान्ता,स तथाऽप्यमुचन्न तम् ॥२॥
अमुच्यमानो रुष्टः सः, मुनिर्दृग्विषलब्धकः।
आलोक्य क्रूरया दृष्ट्या, तमधाक्षीत् पलालवत् ॥३॥
क्वापि ग्रामे सभायां सो–ऽभवद् मृत्वा गृहोलकः।
सोऽपि साधुर्गतस्तत्रा–विशद्गोक्तुं च तां सभाम् ॥४॥
गृहोलकोऽपि तं दृष्ट्वा, कोपेनाभूज्ज्वलन्निव।
भुञ्जानस्य मुनेरुर्द्धं , चिक्षेप पावकं ततः ॥५॥
स मुनिर्यत्र यत्राऽऽस्ते, तत्र तत्र तथैव सः।
मुनिर्ज्ञात्वा स एवायं, नन्द इत्यदहत्तथा ॥६॥
गङ्गा विशति पाथोधिं, वर्षे वर्षे पराध्वना।
वाहस्तत्र चिरत्यक्तो, मृतगङ्गोते कथ्यते ॥७॥
हंसोऽभून्मृतगङ्गायां, स नन्दाऽऽत्मा गृहोलकः।
कर्म्मधर्मसमायोगात्, सार्थे न सममन्यदा ॥८॥
साधुः संचरमाणः स,महात्मा तेन वर्त्मना।
माघमासे वसंस्तत्र, हंसस्तं प्रेक्ष्य सोऽकुपत् ॥९॥
पक्षौ भृत्त्वाऽथ नीरेण, शीकरैरशित्तन्मुनिम्।
दग्धस्तत्रापि मृत्वा स, सिंहोऽभूदञ्जनाऽचले ॥१०॥
सोऽगात्तत्रापि सार्थेन,सिंहस्तं रुषितोऽभ्यगात्।
दग्धस्तेन तथैवासौ, वाराणस्यामभूद्बटुः ॥११॥
सोऽपि तत्र गतः साधु–र्दृष्ट्वा तं बटुरीर्ष्यया।
जघान लेष्टुभिर्दुष्टं, मत्वा तमपि सोऽदहत् ॥१२॥
अकामनिर्जरायोगा–द्राजा तत्रैव सोऽभवत्।

जातीः सस्मार नन्दाऽऽद्या–स्ततो दध्यौ भयद्रुतः ॥१३॥
कथञ्चिद्यदि जाने तं, क्षमयाम्यधुनाऽपि तत्।
तदज्ञानोपायभूतां, समस्यां स व्यधादिमाम् ॥१४॥
गङ्गायां नाविको नन्दः, सभायां च गृहोलकः।
मृतगङ्गातटे हंसः, सिंहश्चाञ्जनपर्वते ॥१५॥
वटुर्वाराणसीपुर्यां, राजा तत्रैव चाभवत्।
य एतां पूरयेतास्य, राज्यार्धं वितराम्यहम् ॥१६॥
पठन्ति तत्र सर्वेऽपि, समस्यां तामिमां जनाः।
विहरन् सोऽपि तत्रैवा–ऽऽगत्याऽऽरामे मुनिः स्थितः ॥१७॥
तां चाऽऽरामिकपठितां, श्रुत्वा साधुरपूरयत्।
एतेषां घातको यश्च, सोऽप्यत्रैव समागतः ॥१८॥
अधीत्याऽऽरामिकस्तां स, पठति स्म नृपाग्रतः।
राजा मुमूर्छ तत् श्रुत्वा, जघ्नुरारामिकं जनाः ॥१९॥
सोऽवदन्न मयाऽपूरि, स्वस्थो राजा जगाद तम्।
के नेयं पूरिता ब्रूहि, स स्माऽऽहाऽऽगन्तुकसाधुना ॥२०॥
नृपस्तत्र नरान् प्रैषीत्, सुप्रसन्नः स चेन्मयि।
तदेत्य त्वत्पदोपान्तं, नमामि क्षमयामि च ॥२१॥
अनुज्ञातोऽभ्येत्य मत्वा, श्राद्धोऽभूद्देशनाश्रुतेः।
अथाऽऽलोच्य प्रतिक्रान्तो, निर्वृतिं साधुरप्यगात् ॥२॥''
आ०क०।

(रागस्य द्वेषस्य च हेतवः ''चरणविहि'' शब्दे तृतीयभागे ११२८ पृष्ठे दर्शिताः) अर्धे, कोपे च। दे०ना० ५ वर्ग ५१ गाथा।

दोसंझाण-न०(द्वेषध्यान) अप्रीतिमात्रं परद्रोहाध्यवसायो वा द्वेषः, तस्य ध्यानं, मधुदेवपिङ्गलाऽऽदयोरिव धर्म्मरुचिनाविकनन्दयोरिव वंशोत्पत्तौ वीरकदेवस्येव वा दुर्ध्याने, आतु०।

दोसउरिया-स्त्री०(दोषोरिका) ब्राह्मीलेख्यविधाने, स० १८ सम०।

दोसकिरिया-स्त्री०(द्वेषक्रिया) द्वेषजन्यक्रियाभेदे, आ०चू० ४ अ०।

दोसणिग्घायणाविणय-पुं०(दोषनिर्घातनाविनय) क्रुद्धाऽऽदेः क्रोधाऽऽद्यपनयनाऽऽत्मके विनयभेदे, दशा०।

से किं तं दोसनिग्घायणाविणए ? दोसनिग्घायणाविणए चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा– कुद्धस्स कोहं विणएत्ता भवति, दुट्ठस्स दोसं गेण्हिता भवति, कंखियस्स कंखं छिदित्ता भवति, आयासुप्पणिधिते यावि भवति। से तं दोसनिग्घायणाविणए॥

साम्प्रतं दोषनिर्घातनार्थं पिपृच्छिषुरिदमाह– ''से किं तं'' इत्यादि प्रश्नसूत्रं कण्ठ्यम्। गुरुराह– दोषनिर्घातनाविनयश्चतुर्विधश्चतुःप्रकारः प्रज्ञप्तः। तद्यथा– (कुद्धस्सेति) क्रुद्धस्य क्रोधं विनयिता भवति१, दुष्टस्य दोषं निगृहीता भवति २, काङ्क्षितस्य काङ्क्षाव्युच्छेदयिता भवति ३, आत्मसुप्रणिधितश्चापि भवति ४। तत्र क्रुद्धस्य किञ्चिन्निमित्तमासाद्योदीर्णक्रोधं मृदुलक्षणं मृदुवचनाऽऽदिभिर्विनयिता अनेता भवति। क्रोधपरित्यागलक्षणमाचारं वा शिक्षयिता भवति१, दुष्टस्य कषायविषयपरिणामवचः, अहङ्कारद्विष्टस्य वा आचारभावशीलो विनयिता भवति। अथ वा दोषोपनेता भवति २। (कंखित त्ति) काङ्क्षितो नाम भक्तपानपरसमयपाखण्डमतपरिज्ञानान्यद्वस्तुदर्शनसमुत्पन्नाभिलाषस्य काङ्क्षा तत्प्राप्तिरूपां व्युच्छेदयिता तदभिलाषं विनयिता भवति, प्रापयिता इत्यर्थः ३। वस्त्वन्तरदर्शनात् तदभिलाषापनेता वा भवति ४। उक्तं च– ''संपुण्णमेवं तु भवे गणित्तं, जं कंखियाणं पविणेइ कंखं।'' इति। (आयत्ति) आत्मसुप्रणिधितः, कथं संभवतीति चेत्? उच्यते– यदा स्वयमेतेष्वनन्तरोक्तेषु न प्रवर्त्तते, तदा स सुप्रणिधित उच्यते। प्रणिधानं वा प्रणिधिः, शोभना निधिः सुप्रणिधिः, तद्वांश्चापि भवति। आकारान्तत्वं प्राकृतत्वात्। ''सेतं'' इति व्यक्तम्। दशा० ५ अ० व्य०।

दोसणिज्झंत-(देशी) चन्द्रे, दे०ना० ५ वर्ग ५१ गाथा।

दोसणिस्सिय-न०(द्वेषनिःसृत) द्वेषे निःसृतं मत्सरिणां गुणवत्यपि निर्गुणोऽयमित्यादिरूपे मृषावादे, स्था० १० ठा०।

दोसदंसि-त्रि०(दोसदर्शिन्) दोषस्य स्वरूपतो वेत्तरि, आचा० १ श्रु० ३अ० ४उ०।

दोसपडिघायविणय-पुं०(दोषप्रतिघातविनय) दोषाः क्रोधाऽऽदयस्तेषां प्रतिघातो निर्घातना, स एव विनयो दोषप्रतिघातविनयः। दोषनिर्घातनाविनये, प्रव० ६५ द्वार।

दोसपडियारणा-पुं०(दोषप्रतिचारणा) दोषनिषेधे, पञ्चा० १६ विव०।

दोसपडियारण्णाय-पुं०(दोषप्रतिकारज्ञात) रोगचिकित्सोदाहरणे, पञ्चा० १६ विव०।

दोसपडिसेहे-पुं०(दोषप्रतिषेध) निर्दोषतायाम्, पञ्चा० १३ विव०।

दोसबंधण-न०(द्वेषबन्धन) द्विष्यत्यनेनेति वा द्वेषः, द्वेष एव बन्धनं द्वेषबन्धनम्। द्वेषबन्धने, आ०चू० ४ अ०। द्वेषमोहनीयसंबन्धे च। प्रज्ञा०२ पद।

दोसरहिय-पुं०(दोषरहित) दोषा रोगाऽऽदयः, तैः रहितः। रोगाऽऽदिरहिते, सू०प्र०२० पाहु०।

दोसव-त्रि०(दोषवत्) दोषयुक्ते, पञ्चा० ८ विव०।

दोसवत्तिया-स्त्री०(द्वेषप्रत्यया) अप्रीतिकारकायां क्रियायाम्, आव०४ अ०। सा दुविहा पण्णत्ता–कोहणिस्सिया य, माणणिस्सिया य। कोहणिस्सिया अप्पणाकुप्पइ, परस्स कोहं उप्पाएइ। माणणिस्सिया सवं मज्जति, परस्स वा माणं उप्पाएइ।'' आव०४ अ०। मूर्छाभेदे, स्था०२ ठा०४ उ०। क्रियाभेदे, आ०चू० ४ अ०।

दोससयगग्गरी-स्त्री०(दोषशतगर्गरी) दोषा परस्परकलहमत्सरगालिप्रदानमर्म्मोद् घाटनकलङ्कप्रदानजल्पनशापप्रदानस्वपरप्राणाघातचिन्तनादयस्तेषां शतानि तेषां गर्गरिका भाजनविशेषः। दोषशतभृतायां कुम्भ्याम्, तं०।

दोसा-स्त्री०। ब्राह्मीलेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद।

दोसाणिअ-(देशी) निर्मलीकृते, दे०ना० ५ वर्ग ५१ गाथा।

दोसारण-(देशी) कोपे, दे०ना० ५ वर्ग ५१ गाथा।

दोसिणा-स्त्री०(ज्योत्स्ना) चन्द्रलेश्यायाम्, चं०प्र०।

ज्योत्स्नालक्षणम्-

ता कहं ते दोसिणालक्खणे आहिता ति वेदज्जा? ता दोसिणा ति अ चंदलेसा ति अ। दोसिणा ति य किं अट्ठे, किंलक्खणे? ता एगट्ठे एगलक्खणे आहिता। सूरलेस्सा ति य आयवे ति य किं अट्ठे किंलक्खणे? ता एगट्ठे एगलक्खणे। ता छाया ति य अंधकारे ति य किंअट्ठे किंलक्खणे ? ता एगट्ठे एगलक्खणे।

कथं ज्योत्स्नालक्षणमाख्यातमिति? एतदेवंरूपमेव प्रश्नसूत्रमाह- (ता कहं ते इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्, कथं केन प्रकारेण, भगवन्! त्वया ज्योत्स्नालक्षणमाख्यातमिति वदेत्? एवं सामान्यतः पृष्ट्वा विवक्षित-प्रष्टव्यार्थप्रकटनाय विशेषप्रश्नं करोति (ता चंदलेस्साइ इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। चन्द्रलेश्या इति ज्योत्स्ना इति। अनयोः पदयोः। अथवा ज्योत्स्ना इति चन्द्रलेश्या इत्यनयोः पदयोरिहाक्षराणामानुपूर्वीभेदेनार्थ-भेदो दृष्टो, यथा वदनं न दव इति पदानाम्। अपि चानुपूर्वीभेददर्शनादर्थ-भेददर्शनं यथा पुत्रस्य गुरुः, गुरोः पुत्र इतिवत्। इहापि कदाचिदानुपूर्वी-भेदादर्थभेदो भविष्यतीत्याशङ्कावशात् चन्द्रलेश्या इति ज्योत्स्ना इत्युक्त्वा, ज्योत्स्ना इति लेश्या इत्युक्तम्। अनयोः पदयोरानुपूर्व्याऽ-नानुपूर्व्या व्यवस्थितयोः कोऽर्थः, किं परस्परं भिन्ने, उताभिन्ने इति? स च किंलक्षणः किंस्वरूपः, लक्ष्यते तदन्यव्यवच्छेदेन ज्ञायते येन लक्षणमसाधारणं स्वरूपं यस्य स तथा। एवं प्रश्ने कृते भगवानाह- (ता एगट्ठे एगलक्खणे इति) 'ता' इति पूर्ववत्। चन्द्रलेश्या इति ज्योत्स्ना इत्यनयोः पदयोः आनुपूर्व्या अनानुपूर्व्या वा व्यवस्थितयोरेक एवाभिन्न एवार्थः। य एव एकस्य पदस्य वाच्योऽर्थः, स एव द्वितीयस्यापीति भावः। (एगलक्खणे इति) एकमभिन्नमसाधारणं लक्षणं यस्य स तथा। किमुक्तं भवति? यदेव चन्द्रलेश्या इत्यनेन पदेन चान्यस्य साधारणं स्वरूपं प्रतीयते तदेव ज्योत्स्ना इत्यनेनाऽपि पदेन, यदेव च ज्योत्स्ना इत्यनेन पदेन तदेव चन्द्रलेश्या इत्यनेनाऽपि पदेनेति। एवम्- आतप इति सूर्यलेश्या इति। तथाऽन्धकार इति छाया इति। अथवा-छाया इति अन्धकार इति। एतेषु पदेषु विषये प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि भावनीयानि। चं०प्र० २० पाहु०।

ज्योत्स्नावृद्धिहानी-

ता कता ते दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा? ता दोसिणाप-क्खेणं दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा। ता कहं ते दोसिणाप-क्खे दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा? ता अंधकारपक्खातो दोसिणे पक्खे दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा। ता कहं ते अंधकारपक्खातो दोसिणो दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा? ता अंधकारपक्खातो णं दोसिणापक्खं अयमाणे चंदे चत्तारि वायाले मुहुत्तसते छायालीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स जाइं चंदे विरज्जति, तं जहा-पढमाते पढमभागं०जाव पण्णरसीते पण्ण-रसं भागं। एवं खलु अंधकारपक्खातो दोसिणापक्खे दोसिणा बहू आहिता ति वेदज्जा? ता केवतिता णं दोसिणपक्खे दोसिणा आहिता ति वदेज्जा? ता परित्ता असंखेज्जा भागा। ता कता ते अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा? ता अंधकारे पक्खे अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा। ता कहं ते अंधकारे पक्खे अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा? ता दोसिणापक्खातो णं अंधकारपक्खे अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा। ता कहं ते दोसिणापक्खातो अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा? ता दोसिणापक्खातो णं अंधकारपक्खं अयमाणे चंदे चत्तारि वायाले मुहुत्तसते छायालीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स जाइ चंदे रज्जति, तं जहा-पढमाते पढमं भागं०जाव पण्णरसीए पण्णरसं भागं। एवं खलु दोसिणापक्खातो अंधकारपक्खे अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा। ता केवति णं अंधकारपक्खे अंधकारे आहिता ति वदेज्जा? ता परित्ता असंखेज्जा भागा।

(ता कता ते दोसिणा इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। कदा कस्मिन् काले भगवन्! ते त्वया ज्योत्स्ना प्रभूता आख्याता इति वदेत्? भगवानाह- (ता दोसिणमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्, ज्योत्स्नापक्षे ज्योत्स्ना बहुराख्याता इति वदेत्? (ता कहं ते इत्यादि) 'ता' इति प्राग्वत्। कथं केन प्रकारेण भगवन्! त्वया ज्योत्स्नापक्षे ज्योत्स्ना बहुराख्याता इति वदेत्? भगवानाह- (ता अंधकारे) इत्यादि सुगमम्। ''ता कहं ते'' इत्यादि प्रश्नसूत्रं निगदसिद्धम्। निर्वचनमाह- (ता अंधकारपक्खाओ इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। अन्धकारपक्षात् ज्योत्स्नापक्षमयमान-श्चन्द्रमाश्चत्वारि मुहूर्त्तशतानि द्वाचत्वारिंशानि द्विचत्वारिंशदधिकानि षट्चत्वारिंशतं च द्वाषष्टिभागान् मुहूर्त्तस्य यावत् ज्योत्स्ना निरन्तरं प्रवर्द्धते। तथा चाह यानि यावत् चन्द्रो विरज्यते शनैः शनैः राहुविमानेना-ऽऽवृतस्वरूपो भवति, मुहूर्त्तसंख्यागणिते भावना प्राग्वत् कर्त्तव्या। कथमनावृतो भवतीत्याह। तद्यथा-प्रथमायां प्रतिपल्लक्षणायां तिथौ प्रथमपञ्चदशद्वाषष्टिभागसत्कभागचतुष्टय-प्रमाणं यावदनावृतो भवति, द्वितीयस्यां तिथौ द्वितीयं भागं यावत्। एवं तावत् द्रष्टव्यं यावत् पञ्चदश्यां पञ्चदशमपि भागं यावदनावृतो भवति, सर्वाऽऽत्मना राहुविमानेनाऽऽवृतो भवतीति भावः। उपसंहारमाह- (एवं खलु इत्यादि) तत एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चितमन्धकारपक्षात् ज्योत्स्ना बहुतराऽऽख्याता इति वदेत्। इयमत्र भावना- इह शुक्लपक्षे यथा प्रतिपत्प्रथमक्षणादारभ्य प्रतिमुहूर्त्तं यावन्मात्रं शनैः शनैः चन्द्रः प्रकटो भवति, तथा अन्धकार-पक्षे प्रतिपत्प्रथमक्षणादारभ्य प्रतिमुहूर्त्तं तावन्मात्रं शनैः २ चन्द्र आवृत उपजायते। तत एवं सति यावत्येवान्धकारपक्षे ज्योत्स्ना तावत्येव शुक्लपक्षे, या पञ्चदश्यां ज्योत्स्ना साऽन्धकारपक्षादधिकेति। अन्ध-कारपक्षात् शुक्लपक्षे ज्योत्स्ना प्रभूता आख्यातेति। (ता कहं ते इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। कियती ज्योत्स्नापक्षे ज्योत्स्ना आख्याता इति वदेत्? भगवानाह- परीताः परिमिता असंख्येया भागा निर्विभागा भागाः। एवमन्धकारसूत्राण्यप्युक्तानुसारेण भावनीयानि, नवरमन्धकारपक्षे अमावास्यायां योऽन्धकारः स ज्योत्स्नापक्षादधिक इति ज्योत्स्नापक्षा-दन्धकारपक्षे अन्धकारपक्षप्रभूत आख्यात इति। चं०प्र० २० पाहु०। सू०प्र०।

दोसिणाभा-स्त्री०(ज्योत्स्नाभा) ज्योतिषेन्द्रस्य चन्द्रस्याग्रम-हिष्याम्, स्था० ४ ठा० १उ०। जं०। सू०प्र०। जी०।

दोसिणी-(देशी) ज्योत्स्नायाम्, दे०ना० ५ वर्ग ५० गाथा।

दोसिय-त्रि०(दौषिक) दूष्यं परमस्येति दौषिकः। दूषकक्रयविक्रय-कारिणि, अनु०। व्य०।

दोसियण्ण-न०(दोषान्न) रात्रिपर्युषितेऽन्ने, प्रश्न०५ संव० द्वार।

दोह-पुं०(द्रोह) अनिष्टचिन्तने, अष्ट० २२ अष्ट०।

***दोह**-पुं०। दुह-कर्मणि घञ्। दुग्धे, 'सन्दोहश्चाष्टमेऽहनि' इति स्मृति। आधारे घञ्। दोहनपात्रे, भावे घञ्। दोहने, वाच०।

दोहट्टि-पुं०(दोहट्टि) स्वनामख्याते ग्रामे, ''दोहट्टिवसतिवासे, श्रेष्ठिश्री-जासकस्य दानरुवेः। तदुपश्राम्भादपरं, च श्राविकाया वसुन्धर्याः ॥१॥'' जीवा० ३६ अधि०।

दोहणवाडण-न०(दोहनपाटन) यत्र ग्रामिका गाः दोग्धि। गोदोहन-स्थाने, नि०चू० २ उ०।

दोहणहारी-(देशी) जलहारिण्याम्, पारिहारिण्यां च। दे०ना० ५ वर्ग ५६ गाथा।

दोहणी-(देशी) पङ्क्तौ, दे०ना० ५ वर्ग ४८ गाथा।

दोहल-पुं०(दौहृद) गर्भप्रभावोद्भूतेऽन्तर्वत्नीफलाऽऽदावभिलाष-विशेषे, कल्प १अधि० ४ क्षण। सूत्र०। षो०। **''प्रदीपि दोहदे लः''** ॥८।१।२२१॥ इति दस्य लः। 'दोहलोः' प्रा०१ पाद।

दोहा-अव्य०(द्विधा) द्विप्रकारे, **''ओच्च द्विधा कृगः''** ॥८।१।६७॥ द्विधाशब्दे कृगधातोः प्रयोगे इत ओत्वं, चकारादुत्वं च। 'दोहा किज्जइ। दुहा किज्जइ। दोहाइयं। दुहाइअं।' कृग इति किम- 'दिहागअं।' क्वचित्केवलस्याऽपि- ''दुहा वि सो सुरबहूसत्थो।'' प्रा०१पाद।

दोहासल-(देशी) कटोतटे, दे०ना० ५ वर्ग ५० गाथा।

दोहूअ-(देशी) शवे, दे०ना० ५ वर्ग ४६ गाथा।

द्रवक्क-न०(भय) **''शीघ्राऽऽदीनां बहिल्लाऽऽदयः''** ॥८।४।४२२॥ इति सूत्रान्तरपठितभयस्य 'द्रवक्क' इति सूत्रेण भयस्य स्थाने द्रवक्काऽऽदेशः। ''दिवेहिं विढत्तउं खाहि वढ संचि म एक्कुवि द्रम्मु कोवि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु।'' प्रा०४ पाद।

द्रेहि-न०(दृष्ट) **''शीघ्राऽऽदीनां बहिल्लाऽऽदयः''** ॥८।४।४२२॥ इति सूत्रान्तरपठितदृष्टेर्द्रे हिः इति सूत्रेण दृष्ट स्थाने द्रेहि आदेशः। ''एक्कमेक्कउं जइ वि जो, णदिहरिसु दसव्वायरेण तो वि द्रेह। जहि कहिं विराहो को सक्कइ संचरे विदङ्डनयणानेहि पलुटाः।'' प्रा०४पाद।

द्वितवर-पुं०(द्वितवर) काकन्दीनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायो विपुले पर्वते सिद्ध इत्यन्त-कृद्दशायां षष्ठवर्गस्य षष्ठेऽध्ययने सूचितम्। अन्त० ५ वर्ग।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८
श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
दकाराऽऽदिशब्द–सङ्कलनं समाप्तम्।

धकार

ध-पुं०(ध) धे–धा–वा डः। धर्म्मे, कुवेरे, ब्रह्मणि, गुह्ये, गुह्यके, प्रवरे, वह्नौ, वादे, देशभेदे, उपरिभागे, इन्द्रेभकुम्भे, धन्वतरौ, ध्वनौ, विशेषे निनादे, शशिनि च। षण्ढे, पारुष्ये, धूनने, खड्गे, सामर्थ्ये, धने, धान्ये च। न०। आधारभूते, धायके, भृते, भीते च। त्रि०।

''धो विधाता धनं धर्मो, धो गुह्ये गुह्यके स्वरे।
धश्च स्वाधारभूतेऽपि, वह्नौ वादे च धायके॥
देशभेदे भृते भीते, धस्तथोपरि वर्त्तते।
धंचषण्ढेधपारुष्ये, ॥''एक०।

''धः पुंसीन्द्रेभकुम्भे स्याद्, धन्वन्तरि तथा द्वयोः।
स्याद् ध्वनौ च विशेषे च, निनादशशिधातृषु॥५०॥
क्लीवे तु धं धूनने च, खड्गसामर्थ्यदन्तिषु।
धधान्ये ॥५१॥''एक०।

धंखाहरण-न०(ध्वाङ् क्षोदाहरण) काकदृष्टान्ते, ''धंखाहरणेण विण्णेया।'' ध्वाङ्क्षोदाहरणेन काकज्ञातेन। पञ्चा० १२ विव०।

(तत्स्वरूपं 'गुरुकुलवास' शब्दे तृ० भा० ६३६ पृष्ठे दर्शितम्)

धंग-(देशी) भ्रमरार्थे, दे०ना०५ वर्ग ५७ गाथा।

धंत-(देशी) अतिशये, ''धंतं पि दुद्धकंखी, न लभइ दुद्धं अधेणूओ।'' व्याख्या–(धंतं पि त्ति) देशीवचनत्वादतिशयेनाऽपि दुग्धकाङ्क्षी, न लभते दुग्धमधेनोः सकाशादिति। बृ० १उ०।

***ध्वान्त**-न०। ध्वन–क्तः। अन्धकारे, वाच०।

***ध्मात**-त्रि०। ध्मा–क्तः। दग्धे, आ०म० १अ० २ खण्ड। विशे०। अग्निसम्पर्केण निर्मलीकृते, आ०म०१ अ०१ खण्ड। जी०। नं०। रा०। अग्निना तापिते च। औ०। शब्दिते, पिं०। दीर्घश्वासहेतुकशब्दयुक्ते च। वाच०। अग्निसंयोगे, जी०३प्रति०४ उ०। जं०। ज्ञा०। 'ध्मा' शब्दाग्निसंयोगयोरिति वचनात्। आ०म०१ अ० २खण्ड।

धंतधोयकणगरुअगसरिसप्पभ-त्रि०(ध्मातधौतकनकरुचकसदृशप्रभ) ध्यातमग्निना तापितं धौतं जलेन क्षालितं यत्कनकं तस्य यो रुचको वर्णस्तत्सदृशप्रभः। गौराङ्गे, औ०।

धंतधोयरुप्पपट्ट-न०(ध्मातधौतरूप्यपट्ट) ध्मातोऽग्निसम्पर्केण निर्मलीकृतो धौतो भूतिखरण्टितहस्तसंमार्जनेनातितेजितो रूप्यमयः पट्टः विशदीकृतो यो रूप्यपट्टो रजतपत्रम्। जी० ४ प्रति४उ०। विशदीकृतो यो रूप्यपट्टो रजतपत्रकं स ध्मातधौतरूप्यपट्टः। रा०। अन्ये तु व्याचक्षतेध्मातोऽग्निसंयोगेन यो धौतः शोधितो रूप्यपट्टः स ध्मातधौतरूप्यपट्टः। रा०। ज्ञा०। अग्निसम्पर्केण निर्मलीकृते भूतिखरण्टितहस्तसंमार्जनेनातितेजितेऽग्निसंयोगेन शोधिते रजतपत्रके, ''धंतधोयरुप्पपट्टेइ वा'' जी०४ प्रति० ४ उ०। जं०।

धंतधोयरुप्पपट्टअंकसंखचंदकुंदसालिपिट्ठरासिसमप्पभ-त्रि०(ध्मातधौतरूप्यपट्टाङ्कशङ्खचन्द्रकुन्दशालिपिष्टराशिसमप्रभ) ध्मातधौतरूप्यपट्टाङ्कशङ्खचन्द्रकुन्दशालिपिष्टराशिसदृशप्रभे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

धंधा-(देशी) लज्जायाम्, दे०ना०५ वर्ग ५७ गाथा।

धंसण-न०(ध्वंसन) भ्रंशे, ''धंसेइ जो अभूएणं।'' ध्वंसयति मायया भ्रंशयतीति। स०३० सम०। अपनयने, ''सउणी जह पंसुगुंठिया, विहुणिय धंसइ ईसियं रयं।'' ध्वंसयत्यपनयतीति। सूत्र० १ श्रु०२ अ०१ उ०। अधः पतने, गमने, नाशे च, वाच०।

धंसाड-मुच त्यागे, तु०–मुचादि०–उभ०–सक०–अनिट्। **''मुचेश्छड्डावहेड–मेल्लोस्सिक्क–रेअव–णिल्लुञ्छ–धंसाडाः''** ॥८।४।६१॥ इति सूत्रेण मुञ्चतेर्धंसाडाऽऽदेशः। 'धंसाडइ।' पक्षे– 'मुअइ।' प्रा०४ पाद। मुञ्चति, अमुचत्। वाच०।

धंसाडिअ-(देशी) व्यपगते, दे०ना० ५ वर्ग ५६गाथा।

धअ-(देशी) पुरुषे, दे०ना० ५ वर्ग ५७ गाथा।

धगधगंत-त्रि०(धगधगायमान) जाज्वल्यमाने, ''धगधगंतसंदुद्धएणं।'' ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। ''पजलंति जत्थ धगधग–धगस्स गुरुणा वि चोइए सीसा।'' (धगधगधगस्स त्ति) अनुकरणशब्दोऽयम्। धगधगिति धगधगायमानं यथा स्यात्तथेत्यर्थः। प्राकृतत्वाच्चैवं प्रयोगः। ग० २ अधि०।

धगधगाइय-त्रि०(धगधगायित) धगधगिति कुर्वति, ''धगधगाइयजलंतजालुज्जलाभिरामं।'' कल्प० १ अधि० ३ क्षण।

धट्ठज्जुण-पुं०(धृष्टद्युम्न) धृष्टं प्रगल्भं द्युम्नं बलं यस्य। ''धृष्टद्युम्नेणः'' ॥८।२।६४॥ इति प्राकृतसूत्रेण णस्य न द्वित्वम्। प्रा०२ पाद। द्रुपदराजपुत्रे, वाच०।

धडिया-स्त्री०(धटिका) ''मणैर्दशभिरेका च, धटिका कथिता बुधैः। इत्युक्तलक्षणे दशमणाऽऽत्मके मानविशेषे, तं० कल्प०।

***धण**-धा०(धण) ध्वाने, भ्वादि०–पर०–सक०–सेट्। धणति। अधाणीत्। अधणीत्। वाच०।

***ध्रण**-धा०। ध्वाने, भ्वादि०–पर०–अक०–सेट्। ध्रणति। अध्रणीत्। अध्राणीत्। वाच०।

***ध्वण**-धा०। ध्वाने, भ्वादि०–पर०–अक०–सेट्। ध्वणति, अध्वाणीत्। अध्वणीत्। वाच०।

***ध्वन**-धा०। शब्दे, चुरा०–उभ०–सक०–सेट्। ध्वनयति। अदि–ध्वनत्। अध्वनयीत्। वाच०। ध्वन–घञ्। शब्दे, पुं०। वाच०। रवे, भ्वादि०–पर०–अक०–सेट्। वा–घटादिः। ध्वनति। अध्वानीत्। अध्वनीत्। ध्वनयति। ध्वानयति। वाच०।

***धन**-धा० धान्योत्पादने, जुहो०–पर०–अक०–सेट्। दधन्ति, अधानीत्। अधनीत्। वाच०। रव, भ्वादि०–पर०–अक०–सेट्। धनति।

अधानीत् । अधनीत् । वाच० । धन–अच् । वस्तुनि अर्थे, वाच० । हिरण्यरूप्याऽऽदिके, उत्त०६ अ० रा० ''घडयगियरं तु धणं ।'' यद् घटितमितरद् वा अघटितं तद्धनमुच्यते । बृ०१ उ० गोमहिष्यादिके, सूत्र०२ श्रु०१ अ० आव० औ० उत्त० गुडखण्डशर्कराऽऽदिके, धनं गुडखण्डशर्कराऽऽदि, गोमहिष्यजाऽविकाकरभतुरगाऽऽदि वा । आव० ६ अ० भाण्डाऽऽदिके, आ०चू० ६ अ० 'धनम्' गणिम–धरिम–मेय–पारिच्छेद्य–भेदाच्चतुर्धा । यदाह– ''गणिमं जाईफलफोफलाई, धरिमं तु कुंकुमगुडाइं । मेज्जं चोपडलोणाइ, रयणवत्थाइ परिछेज्जं ।'' ॥१॥ (४७ श्लो०) ध०२ अधि० आ०चू० दशा० कल्प० औ० ज्ञा० भ०धनं च न्यायेनैवोपार्जयेदिति गृहिधर्मः । ध० १ अधि० धनार्थिनाऽपि धर्म एव कार्यः । ''धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः ।'' ''तो पडिभणेइ सेट्ठी, धणत्थिणो जइ तुमे तहा वि इमं । धम्मं करेह जं ए–स देइ धणं कामधेणुसमो ॥'' ध०२ ०। अर्थस्यापि पुरुषार्थतया सकलैहिकाऽऽमुष्मिकफलनिबन्धतया च तदुपार्जनं प्रत्यप्रमादो विधेय इति केषाञ्चित्कदाशयः । यत आहुः– ''धनैर्दुष्कुलीनाः कुलीनाः क्रियन्ते, धनैरेव पापात्पुनर्निस्तरन्ति । धनेभ्यो विशिष्टो न लोकेऽस्ति कश्चिद्, वनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम् ॥१॥'' इति ।

तन्मतमपाकर्तुमाह–

जे पावकम्मेहिँ धणं मणूसा,
समाययंती अमतिं गहाय ।
पहाय ते पास पयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवें ति ॥२॥

ये केचनाविवक्षितस्वरूपाः पापकर्मभिरिति पापोपादानहेतु भिरनुष्ठानैर्धनं द्रव्यं मनुष्या मनुजाः, तेषामेव प्रायस्तदर्थोपायप्रवर्तनादित्थमुक्तम् । समाददते स्वीकुर्वन्ति, अमतिमिति प्राग्वत्, नञः कुत्सायामपि दर्शनात्कुमतिम् उक्तरूपां, (गहाय त्ति) गृहीत्वा संप्रधार्य । पठ्यते च– ''अमयं गहाए त्ति ।'' अशोभनं मतममतं नास्तिकाऽऽदिदर्शनम्, अथवा– अमृतमिवाऽमृतम् । आत्मनि परमानन्दोत्पादकतया तच्च प्रक्रमाद्धनम् । (पहाय त्ति) प्रकर्षेण तन्मध्यादल्पस्याप्यग्रहणाऽऽत्मकेन हित्वा त्यक्त्वा, तानिति धनैकरसिकान्, पश्यावलोकय । विनयमेवाह– (पयट्टिए त्ति) आर्षत्वात् स्वत एवाशुभानुभावतः प्रवृत्तान्प्रवर्त्तितान्वा, प्रक्रमात्पाप-कर्मोपार्ज्जितधनेनैव मृत्युमुखमिति भावः । एतच्च गम्यते, नरान् पुरुषान्, पुनरुपादानमादरख्यापकमेकान्तक्षणिकपक्षनिरासार्थं वा। एकान्तक्षणिकपक्षे हि नयैरेवं धनमुपार्जितं तेषामेव प्रवर्तनम् । तथा च बन्धमोक्षाभाव श्चेति भावः । एतच्च पश्य वैरं कर्म ''वेरे वज्झे य कम्मे य'' इतिवचनात् । तेनानुबद्धाः सततमनुगता वैरानुगताः, नरकं रत्नप्रभाऽऽदिकं नारकनिवासं उपयान्ति एतद्भवभावितया सामीप्येन गच्छन्ति, त एव मृत्युमुखप्रवृत्ता इति प्रक्रमः । यदि वा–पाशा इव पाशाः स्त्र्यादयस्तेषु प्रवृत्तास्तैर्वा प्रवर्त्तिताः पाशप्रवृत्ताः पाशप्रवर्त्तिता वा नरकमुपयान्तीति संबन्धः । ते हि द्रव्यमुपार्ज्य स्त्र्यादिष्वभिरमन्ते, तदभिरत्या च नरकगतिभाज एव भवन्तीति भावः । शेषं प्राग्वत् ।

तदनेन सूत्रेण धनमिहैव मृत्युहेतुतया परत्र च नरकप्रापकत्वेन तत्त्वतः पुरुषार्थ एव न भवतीति तत्त्यागतो धर्मं प्रति मा प्रमादीरित्युक्तं भवति । नरकप्राप्तिलक्षणश्चापायो न प्रत्यक्षेणावगम्येतेहैवमृत्युलक्षणापायदर्शनमुदाहरणम् । तत्र वृद्धसंप्रदायः– ''एगम्मि नयरे एगो चोरो, सो रत्तिं विभवसंपन्नेसु घरेसु खत्तं खणियं, सुबहुं दविणजायं घेत्तुं अप्पणो घरेगदेसे कूवं सयमेव खणित्ता तत्थ दविणजायं पक्खिवति, जहच्छियं च सुंकं दाऊण कण्णगं विहेउ पसूयं ति उवट्टवेत्ता तत्थेवागडे पक्खिवइ, मा मे भज्जा चेडरूवाणि परूढपणयाणि होऊण रयणाणि परस्स पगासिंति । एवं काले वच्चति अण्णया तेणेगा कण्णया विवाहिया अतीवरूविणी सा पसूया संता तेण न मारिया । दारगो य सो अट्ठवरिसो जाओ । तेणं चिंतियं– अइचिरकालं विधारिया एयं पुव्वं उट्टवेउं पच्छा दारयं उद्दाविस्सं, तेण सा उट्टवेउं अगडे पक्खित्ता, तेण दारगेण गिहाओ निग्गच्छिऊण हाहाकया, लोगो मिलितो, तेण भण्णति– एएण मे माया मारिय त्ति । रायपुरिसेहिं सुयंतेहिं गहितो, दिट्ठो कूवो दव्वभरिओ, अट्ठियाणि य सुबहूणि, सो बंधेऊण रायसभमुवणीओ, जायणापगारेहिं सव्वं दव्वं दवावेऊण कुमारेणं मारिओ ।'' एवमन्येऽपि धनं प्रधानमिति तदर्थं प्रवर्त्तमानाः तदपहायैहैवानर्थावाप्तितो नरकमुपयान्तीति सूत्रार्थः । उत्त० पाई० ४ अ० (संयमस्थस्यधनेन चेत्प्रयोजनमुत्पद्येत तदा किं कर्तव्य–मिति तद्वक्तव्यता 'अट्ठजाय' शब्दे प्रथमभागे २४१ पृष्ठे उक्ता) स्नेहे, धनिष्ठानक्षत्रे च । वाच० । पार्श्वनाथस्य प्रथमभिक्षादायके, स० राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, आ०म०द्वि० आचू० आचा० (तद्वक्तव्यता 'चिलातीपुत्त' शब्दे तृतीयभागे ११८६ पृष्ठे उक्ता) (''रोहिणी'' शब्दे च दृश्या) देवदत्तदारकस्य पितरि राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा०।

तत्कथा राजगृहवर्णनमधिकृत्य–

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था, णगरस्स वण्णओ । तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था, महया वण्णओ । तत्थ णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए गुणसिलए णामं चेइए होत्था, वण्णओ । तस्स णं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते एत्थ णं महं एगे जिणुज्जाणे यावि होत्था, विणट्ठदेउले पडियतोरणघरे णाणाविहगुच्छगुणलयावल्लिवच्छच्छाइए अणेगबालसयसंकणिज्जे यावि होत्था । तस्स णं जिणुज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे भग्गकूवए यावि होत्था, तस्स णं भग्गकूवस्स अदूरसामंते एत्थ णं महं एगे मालुयाकच्छए यावि होत्था, किण्हे किण्होभासे०जाव रम्मे महामेहनिउरंबभूए बहूहिं रुक्खेहि य गुच्छेहि य गुम्मेहि य लयाहि य वल्लीहि य तणेहि य कुसेहि य कुसुमेहि य खाणुएहि य संछण्णेहि य परिछण्णे अंतो झुसिरे बाहिं गंभीरे अणेगबालसयसंकणिज्जे यावि होत्था । तत्थ णं रायगिहे णयरे धणे णामं सत्थवाहे अड्ढे दित्ते० जाव विउलभत्तपाणे, तस्स णं धणस्स सत्थवाहस्स भद्दा नामं भारिया

होत्था, सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा लक्खणवंजणगुणोववेया माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरगी ससिसोम्माकारकंतपियदंसणा सुरूवा करयल-परिमिवतिवलियमज्झा कुंडलुल्लिहियगंडलेहा कोमुइ यरपणियरपडिपुण्णसोम्मवयणा सिंगारागारचारुवेसा०जाव पडिरूवा बंझा अबियाउरी जाणुकोप्परमाया यावि होत्था। तस्स णं धणस्स सत्थवाहस्स पंथए णामं दासचेडए होत्था, सव्वंगसुंदरंगे मंसोवचिए बालकीलावणकुसले यावि होत्था। तए णं से धणे सत्थवाहे रायगिहे णयरे बहूणं णगरणिगमसेट्ठिसत्थवाहाणं अट्ठारसण्ह य सेणिप्पसणीणं बहुसु कज्जेसु य कूडुंबेसु य ०जाव चक्खुभूए यावि होत्था, णियमस्स वि य णं बहुसु कुडुंबेसु य बहुसु गुज्झेसु य० जाव चक्खुभूए यावि होत्था। तत्थ णं रायगिहे णयरे बहिया विजए णामं तक्करे होत्था, पावे *चंडालरूवे भीमतररुद्दकम्मे आरुसियदित्तरत्तणयणे खरफरुस*-महल्लविगयबीभच्छदाढिए असंपुडियउट्ठे उद्धुयपइण्णलंबंतमुद्धए भमरराहुवण्णे णिरणुक्कोसे णिरनुतावे दारुणे पइभए णिस्संसइए णिरणुकंपे अहीव एगंतदिट्ठीए खुरेव एगधाराए गिद्धेव आमिसत्तलित्ते अगिमिव सव्वभक्खीजलमिव सव्वग्गाही उक्कंचणबंचणमायाणियडकूडकवडमाइसंपओगबहुले चिरगणरविण्हदुट्ठसीलायारचरित्ते जूयपसंगी मज्जपसंगी मंसपसंगी भोज्जपंसगी दारुणहियययदारए माहसिए संधिच्छेयए उवहिए विस्संभघाई आलीवगतित्थभेय लहुहत्थसंपउत्ते परस्स दव्वहरणे णिच्चं अणुबद्धे तिव्ववेरे रायगिहस्स णयरस्स बहूणि अतिगमणाणि य णिग्गमणाणि य दाराणि य अवदाराणि य छिंडिओ य खंडीओ य णगरणिद्धमणाणि य संवदृणाणि य णिव्वदृणाणि य जूयखलयाणि य पाणागाराणि य वेसागाराणि य तक्करठाणाणि य तक्करघराणि य सिंघाडगाणि य तियाणि य चउक्काणि य चच्चराणि य णागघराणि य भूयघराणि य जक्खदेउलाणि य सभाणि य पव्वताणि य पणियसालाणि य सुण्णघराणि य आभोएमाणे मग्गमाणे गवेसमाणे बहुजणस्स छिद्देसु य विसमेसु य विहुरेसु य वसणेसु य अब्भुदएसु य उस्सवेसु य पसवेसु य तिहीसु य छणेसु य जण्णेसु य पव्वणीसु य जुद्धेसु य मत्तपमत्तस्स य वक्खित्तस्स य वाउलस्स य सुहियस्स य दुहियस्स य विदेसत्थस्स य विप्पवसियस्स य मग्गं च छिद्दं च विहरं च अंतरं च मग्गमाणे गवेसमाणे एवं च णं विहरइ, बहिया वि य णं रायगिहस्स णयरस्स आरामेसु य उज्जाणेसु य सुसाणेसु य वावि पोक्खरिणीदीहियागुंजालियासु य सरेसु य सरपंतियासु य सरसरपंतियासु य जिणुज्जाणेसु य भग्गकूवेसु य मालुया-कच्छएसु य सुसाणेसु य गिरिकंदरलयणउवट्ठाणेसु य बहुजणस्स छिद्देसु य० जाव एवं च णं विहरइ। तए णं तीसे भद्दाए भारियाए अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणीए अयमेयारूवे अब्भत्थिए०जाव समुप्पज्जित्था—अहं धणेणं सत्थवाहेणं सद्धिं बहूणि वासाणि सद्दफरिसेरसगंधरूवाणि माणुस्सगाइं कामभोगाइं पच्चणुब्भवमाणी विहरामि। णो चेव णं अहं दारगं वा दारियं वा पयायामि। तं धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ ०जाव सुलद्धेणं माणुस्सए जम्मजीवियफले, तासिं अम्मयाणं जासिं मण्णे णियगकुच्छिसंभूयाइं थणदुद्धलुद्धयाइं महुरसमुल्लावगाइं मम्मणपयंपियाइं थणमूलकक्खदेसभागं अभिसरमाणाइं मुद्धयाइं थणियं पिवंति, तओ य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊणं उच्छंगे णिवेसियाइं देतिं समुल्लावए पिए समहुरे पुणो पुणो मंजुलप्पभणिए, तं णं अहं अधण्णा अपुण्णा अलक्खणा अकयपुण्णा एत्तो एगमवि ण पत्ता, तं सेयं मम कल्लं पाउप्पभाए रयणीए०जाव जलंते धणं सत्थवाहं आपुच्छित्ता धणेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाया समाणी सुबहु विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता सुबहुपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं गहाय बहुमित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडा जाइं इमाइं रायगिहस्स णयरस्स बहिया णागाणि य भूयाणि य जक्खाणि य इंदाणि य खंदाणि य रुद्दाणि य सिवाणि य वेसमणि य, तत्थ णं बहूणं णागपडिमाण य०जाव वेसमण—पडिमाण य महरिहं पुप्फच्चणियं करेत्ता जाणुपायवडिया एवं वइत्तए—जइ णं अहं देवाणुप्पिया! दारगं वा दारियं वा पयायामि, तो णं अहं तुब्भं जायं च दायं च भायं च अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेमि त्ति कट्टु उवाइयं उवयाइत्तए एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं जाव जलंते जेणामेव धणे सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं बयासी—एवं खलु अहं देवाणुप्पिया! तुब्भेहिं सद्धिं बहूणि वासाइं०जाव विहरति समुल्लावए सुमहरे पुणो २ सुमंजु—लप्पभणिए तेणं अहं अधण्णा अपुण्णा अकयलक्खणा एत्तो एगमवि ण पत्तो, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया! तुब्भेहिं अब्भणु—ण्णया समाणी विपुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा०जाव अणुवड्ढेमि उवाइयं करित्तए। तए णं धणे सत्थवाहे भद्दं भारियं एवं बयासीममं पि य णं खलु देवाणुप्पिए! एस चेव मणोरहे, कहं णं तुमं दारगं वा दारियं वा पया—

एज्जसि भद्दाए सत्थवाहीए एयमट्ठं अणुजाणामि। तए णं सा भद्दा सत्थवाही धणेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाया समाणी हट्ठतुट्ठा ०जाव हियया विउलं असणपाणखाइमसइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता सुबहुं पुप्फगंधमल्लालंकारं गिण्हइ, गेण्हइत्ता सयाओ गिहाओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता रायगिहं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहुं पुप्फगंध-मल्लालंकारं ठवेइ, ठवेइत्ता पुक्खरिणिं ओगाहेइ, ओगाहेइत्ता जलमज्जणं करेइ, करेइत्ता जलकीडं करेइ, करेइत्ता ण्हायाकयवलि–कम्मा उल्लपडसाडिया जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हइ, गिण्हइत्ता पुक्खरिणीओ पच्चोरुहइ, तं सुबहुं पुप्फवत्थगंधमल्लं गिण्हइ, गिण्हइत्ता जेणामेव णागघरए य ०जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तत्थ णं णाग–पडिमाण य० जाव वेसमणपडिमाण य आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, लोमहत्थग परामुसइ, णागपडिमाओ य० जाव वेसमणपडिमाओ य लोमहत्थेणं पमज्जइ, पमज्जइत्ता उदगधाराए अब्भुक्खेइ, अब्भुक्खेइत्ता पम्हलसुकुमालए गंधका–साईए गायाइं लूहेइ, लूहेइत्ता महरिहं वत्थारुहणं मल्लारुहणं गंधारुहणं चुण्णारुहणं वण्णारुहणं च करेइ० जाव धूवं डहइ। जाणुपायवडिया पंजलिउडा एवं बयासी–जइ णं अहं दारगं वा पयायामि तो णं अहं तुब्भं जायं०जाव अणुवट्टेमि त्ति कट्टु उवाइयं करेइ, जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता विउलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आसाएमाणी०जाव विहरइ, जिमिय०जाव सुइभूया जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अदुत्तरं च णं भद्दा सत्थवाही चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपु–ण्णमासिणीसु विपुलं असणं०४ उवक्खडेइ, उवक्खडेइत्ता बहवे णागा य०जाव वेसमणा य उववायमाणी णमंसमाणी०जाव एवं च णं विहरइ। तए णं सा भद्दा सत्थवाही अण्णया कयाइं केणइ कालंतरेणं आपण्णसत्ता जाया यावि होत्था। तए णं तीसे भद्दाए सत्थवाहीए दोसु मासेसु विइक्कंतेसु तइए मासे वट्टमाणे इमे एयारूवे दोहले पाउब्भूए– धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ० जाव कयलक्खणाओ ताओ अम्मयाओ जाओ णं विउलं असणं ० ४ सुबहु पुप्फगंधमल्लालंकारं गहाय मित्तणाइणियगसयण-संबंधिपरियणमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडाओ रायगिहं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव ओगाहिंति, ओगाहिंतित्ता ण्हायाओ कयवलिकम्माओ सव्वालंकार विभूसियाओ विपुलं असणं०४ आसाएमाणीओ० जाव परिभुंजमाणीओ दोहलं विणेंति,एवं संपेहेइ,संपेहेतित्ता कल्लं० जाव जलंते जेणेव धणे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता धणं सत्थवाहं एवं बयासी– एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम तस्स गब्भस्स०जाव विणंति, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भुणुण्णाया समाणी०जाव विहरत्तिए? अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह। तए णं सा भद्दा सत्थवाही धणेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाया समाणी हट्ठतुट्ठा०जाव हियया विउलं असणं०४जाव ण्हाया कय०जाव उल्लपडगसाडगा जेणेव णागघरए०जाव धूवं डहेइ, डहेइत्ता पणामं करेइ, करेइत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तए णं ताओ मित्तणाइ०जाव णयरमहिलाओ भद्दं सत्थवाहिं सव्वालंकारविभूसियं करेंति। तए णं सा भद्दा सत्थवाही ताहिं मित्तणाइणिय गसयणसंबंधिपरियणणयरम-हिलियाहिं सद्धिं विपुलं असणं०४ जाव परिभुंजमाणी य दोहलं विणेति, जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। तए णं सा भद्दा सत्थवाही संपुण्णदोहला० जाव तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवहइ। तए णं सा भद्दा सत्थवाही णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणं रायंदियाणं सुकुमालपाणिपायं० जाव दारगं पयाया। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे जाइकम्मं करेंति, तहेव०जाव विपुलं असणं उवक्खडावेंति, तहेव मित्तणाइं भोयावेत्ता अयमेयारूवं गोणं गुणनिप्फण्णं णामधिज्जं करेंति–जम्हा णं अम्हं इमे दारए बहूणं णागपडिमाण य०जाव वेसमणपडिमाण य उवाइयलद्धे, तं होऊणं अम्हं इमे दारए देवदिण्णे णामेणं। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधिज्जं करेंति देवदिण्णे त्ति। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो जायं च भायं च अक्खयणिहिं च अणुवट्टेंति। तए णं से पंथए दासचेडए देवदिण्णस्स दारगस्स बालग्गाही जाए देवदिण्णं दारगं कडीए गिण्हइ, गिण्हइत्ता बहूहिं डिंभएहिं य डिंभियाहि य दारएहि य दारियाहि य कुमारेहि य कुमारियाहि य सद्धिं संपरिवुडे अभिरममाणे अभिरमइ। तए णं सा भद्दा सत्थवाही अण्णया कयाइ देवदिण्णं दारयं ण्हायं कयवलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्तं सव्वालंकारविभूसियं करेइ, पंथयस्स दासचेडयस्स हत्थयंसि दलयइ। तए णं से पंथए दासचेडए भद्दाए सत्थवाहीए हत्थाओ देवदिण्णं दारगं कडीए गिण्हइ, गिण्हइत्ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडि–

णिक्खमइत्ता बहूहिं डिंभएहि य डिंभियाहि य०जाव कुमारियाहिं सद्धिं संपरिवुडे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिण्णं दारयं एगंते ठावेइ, बहूहिं डिंभएहि य०जाव कुमारियाहिं सद्धिं संपरिवुडे पमत्ते यावि विहरइ। इमं च णं विजयतक्करं रायगिहस्स णयरस्स बहूणि दाराणि य अवदाराणि य तहेव ०जाव आभोएमाणे मग्गमाणे गवेसमाणे जेणेव देवदिण्णे दारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिण्णं दारयं सव्वालंकारविभूसियं पासइ, पासतित्ता देवदिण्णस्स दारगस्स आभरणालंकारे संमुच्छिए गढिए गिद्धे अज्झोववण्णे पंथवं दासचेडयं पमत्तं पासइ, पासइत्ता दिसालोयं करेइ, करेइत्ता देवदिण्णं दारगं गिण्हइ, गिण्हइत्ता कक्खंसि अल्लियावेइ, अल्लियावेत्ता उत्तरिज्जेणं पिहेइ, पिहेइत्ता सिग्घं तुरियं चवलं चेइयं रायगिहस्स णयरस्स अवदारेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव जिणुज्जाणे जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिण्णं दारयं जीवियाओ ववरोवेइ, ववरोवेत्ता आभरणालंकारं गिण्हइ, गिण्हइत्ता देवदिण्णस्स दारगस्स सरीरं णिप्पाणं णिच्चेट्ठं०जाव विप्पजढं भग्गकूवए पक्खिवइ, पक्खिवइत्ता जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मालुयाकच्छयं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसइत्ता णिच्चले णिप्फंदे तुसिणीए दिवसं खवेमाणे चिट्ठइ। तए णं से पंथए दासचेडए तओ मुहुत्तंतरस्स जेणेव देवदिण्णे दारए ठविए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिण्णं दारयं तंसि ठाणंसि अपासमाणे रोयमाणे कंदमाणे विलवमाणे देवदिण्णस्स दारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ, करेइत्ता देवदिण्णस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे जेणेव धणे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता धणं सत्थवाहं एवं वयासी–एवं खलु सामी! भद्दा सत्थवाही देवदिण्णं दारयं ण्हायं०जाव मम हत्थंसि दलयइ। तए णं अहं देवदिण्णं दारयं कडीए गिण्हामि, गिण्हइत्ता०जाव मग्गणगवेसणं करेमि। तं ण णज्जइ णं सामी! देवदिण्णे दारए केणइ तेणिए वा अवहरिए वा अक्खित्ते वा पायवडिए धणस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं णिवेएइ। तए णं से धणे सत्थवाहे पंथयस्स दासचेडयस्स एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म तेणेव महया पुत्तसोएणाभिभूए समाणे परसुणियत्ते व चंपगपायवे धसत्ति धरणियलंसि सव्वंगेहिं सण्णिवइए। तए णं से धणे सत्थवाहे तओ मुहुत्तंतरस्स आसत्थे पच्चागयप्पाणे देवदिण्णस्स दारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ, करेइत्ता देवदिण्णस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता महत्थं पाहुडं गिण्हइ, गिण्हइत्ता जेणेव णयरगुत्तिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं महत्थं पाहुडं उवणेइ, उवणेइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! मम पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए देवदिण्णे णामं दारए इट्ठे०जाव उंवरपुप्फं पिव दुल्लहे सवणयाए, किमंग! पुण पासवणयाए। तए णं सा भद्दा देवदिण्णं दारयं ण्हायं सव्वालंकारविभूसियं पंथगस्स दासस्स हत्थे दलयइ०जाव पायवडिए, तं संमं णिवेइ। तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया! देवदिण्णस्स दारयस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करित्तए। तए णं ते णयरगुत्तिया धणेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा सण्णद्धबद्धकवया उप्पीलियसरासणपट्टिया० जाव गहियाउहपहरणा धणेणं सत्थवाहेणं सद्धिं रायगिहस्स णयरस्स बहूणि अइगमणाणि य० जाव पवासु य मग्गणगवेसणं करेमाणा रायगिहाओ णयराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव जिणुज्जाणे जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता, देवदिण्णस्स दारयस्स सरीरं णिप्पाणं निच्चेट्ठं जीवविप्पजढं पासंति, हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु देवदिण्णं दारगं भग्गकूवाओ उत्तारेइ, उत्तारेइत्ता धणस्स सत्थवाहस्स हत्थे दलयंति। तए णं ते णयरगुत्तिया विजयस्स तक्करस्स पयमग्गमणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मालुया कच्छयंसि अणुप्पविसंति, विजयं तक्करं ससक्खं सहोढं सगेवेज्जं जीवग्गाहं गिण्हइ, गिण्हइत्ता अट्ठिमुट्ठिजाणुकोप्परप्पहारसंभग्गमहियगत्तं करेंति, अवउडाबंधणं करेंति, करेंतित्ता देवदिण्णस्स दारयस्स आभरणं गिण्हंति, गिण्हतित्ता विजयस्स तक्करस्स गीवाए बंधइ, बंधइत्ता मालुया-कच्छयाओ पडिणिक्खमंति, जेणेव रायगिहे णयरे तेणेव उवागच्छंति, रायगिहं णयरं अणुप्पविसंति, रायगिहे णयरे सिंघाडगतिगचउक्कचच्चर-महापहपहेसु कसप्पहारेहि य लयाप्पहारेहि य छिवाप्पहारेहि य णिवाएमाणा छारं च धूलिं च कयवरं च उवरि पक्खिवमाणा २ महया २ सद्देणं उग्घोसेमाणा एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया! विजएणामं तक्करे०जाव गिद्धे विव आमिसभक्खी बालघायए य बालकमारए, तं णो खलु देवाणुप्पिया! एयस्स केइ राया वा रायमच्चे वा अवरज्झइ, णऽण्णत्थ अप्पणो सयाइं कम्माइं अवरज्झंति त्ति कट्टु जेणामेव चारगसाला तेणामेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता हडिबंधणं करेंति, भत्तपाणणिरोहं करेंति, तिसंझं कसप्पहारेहि य०जाव णिवाएमाणा विह–

रंति। तए णं से धणे सत्थवाहे मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणेणं सद्धिं रोयमाणेणं०जाव विलवमाणेणं देवदिण्णस्स दारगस्स सरीरस्स महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं णीहरणं करेति, करेत्तिा बहूइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति, केणइ कालंतरेणं अवगयसोए जाए यावि होत्था। तए णं से धणे सत्थवाहे अण्णया कयाइं लहुसयंसि रायावराहंसि संपलित्ते जाए यावि होत्था। तए णं ते णगरगुत्तिया धणं सत्थवाहं गिण्हंति, गिण्हत्तिा जेणेव चारगे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता चारगं अणुप्पविसंति, अणुप्पविसंतित्ता विजएणं तक्करेणं सद्धिं एगओ पडिबंधणं करिंति। तए णं सा भद्दा भारिया कल्लं ०जाव जलंते विउलं असणं० ४ उवक्खडेति, उवक्खडेवित्ता भोयणपिडयं करेइ, भोयणाइं पक्खिवति, लंछियं मुद्दियं करेति, करेत्तिा एगं च सुरभिवारि- पडियुण्णं दगवारयं करेति, करेत्तिा पंथयं दासचेडयं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं बयासी—गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! इमं विउलं असणं०४ गहाय चारगसालाए धणस्स सत्थवाहस्स उवणेहि। तए णं से पंथए भद्दाए सत्थवाहीए एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे तं भोयणपिडयं तं च सुरभिवरवारिपडिपुण्णं दगवारयं गिण्हइ, गिण्हइत्ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता रायगिहं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव चारगसाला जेणेव धणे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भोयणपिडयं ठवेति, ठवेत्तिा उल्लंछेइ, उल्लंछेइत्ता भायणाइं गिण्हइ, गिण्हइत्ता भायणाइं धोवेइ, धोवेइत्ता हत्थसोयं दलयइ, दलयइत्ता धणं सत्थवाहं तेणं विपुलेणं असण०४ परिवेसेइ। तए णं से विजए तक्करे धणं सत्थवाहं एवं बयासी—तुमे णं देवाणुप्पिया! मम एत्तो विपुलाओ असथा०४ संविभागं करेह। तए णं से धणे सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं बयासी—अवियाइं अहं विजया! एवं विपुलं असणं०४ कागाणं वा सुणगाणं वा दलएज्जा, उक्करडयाए वा णं छड्डेज्जा, णो चेव णं तव पुत्तघायगस्स पुत्तमारगस्स अरिस्स वेरियस्स पडिणीयस्स पच्चामित्तस्स एत्तो विपुलाओ असणं०४ संविभागं करेज्जामि। तए णं से धणे सत्थवाहे तं विपुलं असणं० ४ आहारेइ, तं पंथयं विसज्जेइ। तए णं से पंथए दासचेडए तं भोयणपिडगं गिण्हइ, जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए। तए णं तस्स धणस्स सत्थवाहस्स तं विपुलं असणं०४ आहा—रियसमाणस्स उच्चारपासवणेणं उव्वाहित्था। तए णं से धणे सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं बयासी—एहि ताव विजया! एगंत—मवक्कमामो, जेणं अहं उच्चारपासवणं परिट्ठवेमि। तए णं से विजए तक्करे धणं सत्थवाहं एवं बयासी—तुब्भं देवाणुप्पिया! विपुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारियस्स अत्थि उच्चारे वा पासवणे वा, मम णं देवाणुप्पिया! इमेहिं बहूहिं कसप्पहारेहि य०जाव लयाप्पहारेहि य तण्हाए य खुहाए य परिभवमाणस्स णत्थि केइ उच्चारे वा पासवणे वा, तं छंदेणं तुमं देवाणुप्पिया! एगंते अवक्कमित्ता उच्चारपासवणं परिट्ठवेह। तए णं से धणे सत्थ—वाहे विजएणं तक्करेणं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं से धणे सत्थवाहे मुहुत्तंतरस्स बलियतरागं उच्चारपासवणेणं उव्वाहिज्जमाणे विजयं तक्करं एवं बयासी— एहि ताव विजया !० जाव अवक्कमामो! तए णं से विजए धणं सत्थवाहं एवं बयासी—जइ णं तुमं देवाणुप्पिया! ताओ विपुलाओ असणं०४ संविभागं करेह, तओ णं अहं तुज्झेहिं सद्धिं एगंतं अवक्कमामि। तए णं से धणे सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं बयासी— अहं णं ताओ विपुलाओ असणं०४ संविभागं करेस्सामि। तए णं से विजए तक्करे धणस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ। तए णं से विजयए तक्करे धणेणं सद्धिं एगंते अवक्कमइ, उच्चारपासवणं परिट्ठवेइ, आयंते चोक्खे परमसुइभूए तमेव ठाणं उवसंकमित्ता णं विहरइ। तए णं सा भद्दा कल्लं ०जाव जलंते विपुलं असणं ४०जाव परिवेसेइ। तए णं से धणे सत्थवाहे विजयस्स तक्करस्स ताओ विपुलाओ असणं०४ संविभागं करेइ। तए णं से धणे सत्थवाहे पंथयं दासचेडं विसज्जेइ, तए णं से पंथए भोयण पि डयं गहाय चारगसालाओ पडिणिक्ख—मइ, पडिणिक्खमइत्ता रायगिहं णयरं मज्झे मज्झेणं जेणेव सए गिहे जेणेव भद्दा भारिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भद्दं सत्थवाहिणिं एवं बयासी— एवं खलु देवाणुप्पिए! धणे सत्थवाहे तव पुत्तघायस्स ०जाव पच्चामित्तस्स ताओ विउलाओ असणं पाणं खाइमं साइमं संविभागं करेति। तए णं सा भद्दा सत्थावाही पंथयस्स दासचेमस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा आसुरुत्ता रुट्ठा० जाव मिसिमिसेमाणा धणस्स सत्थवाहस्स पओसमावज्जइ। तए णं से धणे सत्थवो अण्णया कथाइ मित्तणाइणियगसयाणसंबंधि-परियणेणं सएण य अत्थसारेणं रायकज्जाओ अप्पाणं मोयावेइ, मोयावेइत्ता चारगसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव अलंकारिसभा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता। अलंकारियकम्मं करोवइ, करावेत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव

उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अह धोयमट्टियं गिण्हइ, गिण्हइत्ता पुक्खरिणिं ओगाहेइ, ओगाहेइत्ता जलमज्जणं करेइ, ण्हाए कयवलिकम्मे०जाव रायगिहं णयरं अणुप्पविसइ। रायगिहस्स णयरस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव पहारेत्थ-गमणाए। तए णं तं धणं सत्थवाहं एज्जमाणं पासित्ता रायगिहे णयरे बहवे णयरणिगमसेट्ठिसत्थवाहपभिओ आढयंति, पडिजाणंति, सक्कारेंति, सम्माणेंति, अब्भुट्ठेंति सरीरकुसलं पुच्छंति। तए णं से धणे सत्थवाहे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जा वि य से तत्थ बाहिरिया परिसा भवइ, तं दास त्ति वा, पेस त्ति वा, भइगा ति वा, भाइल्लेति वा, सा वि य णं धणं सत्थबाहं एज्जमाणं पासइत्ता पायपडियाए खेमकुसलं पुच्छइ, जे वि य से तत्थ अब्भिंतरिया परिसा भवइ, तं माया इय वा पिया इय वा भाया ति वा भइणी ति वा, सा वि य णं धणं सत्थवाहं एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता आसणाओ अब्भुट्ठेइ, कंठाकंठियं अवदासियं वाहप्पमोक्खणं करेइ। तए णं से धणे सत्थवाहे जेणेव भद्दा भारिया तेणेव उवागच्छइ। तए णं सा भद्दा भारिया सत्थवाही धणं सत्थवाहं एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता णो आढाति, णो परियाणाइ, अणाढायमाणी अपरिजाणमाणी तुसिणीया परंमुही संचिट्ठइ। तए णं से धणे सत्थवाह भद्दं भारियं एवं बयासी--किं णं तुमं देवाणुप्पिया! ण तुट्ठा वा ण हरिसा वा णाणंदी वा, जं मए सेएणं अत्थसारेणं रायकज्जाओ अप्पा विमोइए। तए णं सा भद्दा धणं सत्थवाहं एवं बयासी--कहं णं देवाणुप्पिया! मम तुट्ठा वा० जाव आणंदे वा भविस्सइ। जेणं तुमं मम पुत्तघायकस्स० जाव पच्चामित्तस्स ताओ विपुलाओ असणं०४ संविभागं करेसि। तए णं से धणे सत्थबाहे भद्दं सत्थवाहिं एवं बयासी--णो खलु देवाणु--प्पिए! धम्मो त्ति वा तवो त्ति वा कयपडिकइया वा लोगजत्ता ति वा णायए त्ति वा घाडियए ति वा सहाएइ वा सुहि त्ति वा ततो विपुलाओ असणं०४ संविभाए कए, णण्णत्थ सरीरचिंताए। तए णं सा भद्दा सत्थवाही धणेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणी हट्ठ--तुट्ठा०जाव आसणाओ अब्भुट्ठेति, कंठाकंठिअ वतासेति, खेम--कुसलं पुच्छइ, पुच्छइत्ता ण्हाया०जाव पायच्छित्ता विपुलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ। तए णं से विजए तक्करे चारगसा--लाए तेहिं बंधेहि य वहेहि य कसप्पहारेहि य०जाव तण्हाएहि य छुहाएहि य पराभवमाणे कालमासे कालं किच्चा णरएसु णेरइत्ताए उववण्णे, से णं तत्थ णेरइए जाए कालेकालाभासे० जाव वेयणं पच्चणुब्भवमाणा विहरति। से णं तओ उव्वट्टित्ता अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरं तसंसारकंतारं अणुपरियट्टिस्सइ। एवामेव जंबू! जेणं अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरियउव--ज्झायाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे विपुलमणिमुत्तियधणकणगरयणसारेणं लुब्भइ, से वि य एवं चेव। तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा णामं थेरा भगवंतो जाइसंपण्णा० जाव पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा०जाव जेणामेव रायगिहे णयरे जेणेव गुणसिलए चेइए०जाव अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ। तए णं तस्स धणस्स सत्थवाहस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था। एवं खलु भगवंतो जाइसंपण्णा इहमागया, इह संपण्णा, तं इच्छामि णं थेरे भगवंते वंदामि, णमंसामि, ण्हाए०जाव सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिए पायविहारचारेणं जेणेव गुणसिलए चेइए जेणेव थेरे भगवंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता वंदइ, णमंसइ। तए णं थेरा भगवंतो धणस्स सत्थवाहस्स विचित्तं धम्ममाइक्खंति। तए णं से धणे सत्थवाहे धम्मं सोच्चा एवं बयासी-- सद्दहामि णं भंते! णिग्गंथे पावयणे० जाव पव्वइए० जाव बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता भत्तं पच्चक्खाइत्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाइं छेदइत्ता कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववण्णे। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं धणस्स देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। से णं धणे देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं गइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता महाविदेहे वासे सिज्झिहिति० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेहिति, जहा णं जंबू! धणेणं सत्थवाहेणं णो धम्मेइ वा० जाव विजयस्स तक्करस्स ताओ विपुलाओ असणं०४ संविभागे कए, णण्णत्थ सरीरस्स रक्खणट्ठाए, एवामेव जंबू! जो णं अम्हं णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा०जाव पव्वइए समाणे ववगयण्हाणुमद्दणपुप्फगंध-मल्लालंकारविभूसिए इमस्स ओरालियसरीरस्स णो वण्णहेउं वा रूवहेउं वा विसयहेउं वा तं विपुलं असणं०४ आहारमाहारेइ, णण्णत्थ णाणदंसणचरित्ताणं वहणट्ठयाए, से णं इहलोए चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावगाणं बहूणं साविया-ण अच्चणिज्जे०जाव पज्जुवासणिज्जे भवइ, परलोए वि य णं

णो बहूणि हत्थच्छेयणाणि य कण्णच्छेयणाणि य णासाच्छेयणाणि य एवं हियउप्पायपाणि य वसणुप्पाथणाणि य उल्लंठणाणि य पाविहिंति, अणादीयं च णं अणवदग्गं दीहं०जाव वीईवइस्संति जहा व से धणे सत्थवाहे सिवसाहणेसु आहारे विहरिउं तं ण वट्टए साहु देहो तम्हा धणु व्व विजयं साहू, तं तेण पोसिज्जा। एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं०जाव संपत्तेणं दोचस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि॥

एवं खल्वित्यादि तु प्रकृताध्ययनार्थसूत्रं, सुगमं चैतत्सर्वं, नवरं जीर्णोद्यानं चाप्यभूत्, चापीति समुच्चये, अपिचेत्यादिवत्। विनष्टानि देवकुलानि परिशटितानि तोरणानि प्राकारद्वारदेव-कुलसंबन्धीनि गृहाणि च यत्र तत्तथा। नानाविधा ये गुच्छा वृन्ताकीप्रभृतयः, गुल्मा वंशजालीप्रभृतयः, लता अशोकलताऽऽदयः, वल्ल्यस्त्रपुषीप्रभृतयः, वृक्षाः सहकाराऽऽदयः, तैश्छादितं यत्तत्तथा। अनेकैर्व्यालशतैः स्वापदशतैः शङ्कनीयं भयजनकं चाप्यभूत्, शङ्कनीयमित्येतद्विशेषणसंबद्धत्वात्क्रियावचनस्य न पुनरुक्तता। (मालुकाकच्छ इति) एकास्थिककला वृक्षविशेषाः मालुकाः प्रज्ञापनाभिहिताः, तेषां कक्षो गहनं मालुकाकक्षः। चिर्भिटिकाकच्छ इति तु जीवाभिगमचूर्णिकारः। (किण्हे किण्होभासे) इह यावत्करणादिदं दृश्यम्– ''णीले णीलोभासे हरिए हरिओभासे सीए सीओभासे णिद्धे णिद्धोभासे तिव्वे तिव्वोभासे किण्हे किण्हच्छाए णीले णीलच्छाए हरिए हरियच्छाए सीए सीयच्छाए णिद्धे णिद्धच्छाए तिव्वे तिव्वच्छाए घणकडियकडिच्छाए त्ति।'' कृष्णः कृष्णवर्णाञ्जनवत् स्वरूपेण कृष्ण एवावभासते, द्रष्टृणां प्रतिभातीति कृष्णावभासः, किल किञ्चिद्वस्तुस्वरूपेण भवत्यन्यादृशं प्रतिभासते तु सन्निधानविप्रकर्षाऽऽदेः कारणादन्यादृशमिति। एवं क्वचिद सौ नीलो मयूरग्रीववत्, क्वचित् हरितः शुकपिच्छवत्, हरितालाभ इति वृद्धाः। तथा शीतः स्पर्शतः वल्ल्याद्याक्रान्तत्वादिति च वृद्धाः। स्निग्धो न रूक्षः, तीव्रो वर्णाऽऽदिगुणप्रकर्षवान्, तथा कृष्णः सद् वर्णतः, कृष्णच्छायः छाया च दीप्तिरादित्यकरावरणजनिता चेति। एवमन्यत्रापि। (घणकडियकडिच्छाए त्ति) अन्योन्यशाखाऽनुप्रवेशात् यन्निरन्तरच्छायारम्यो महामेघानां निकुरम्बः समूहस्तद्वद्यः स महामेघनिकुरम्बभूतः। वाचनान्तरे त्वेदमधिकं पठ्यते– '' पत्तिए पुप्फिए फलिए हरियगरेरिज्जमाणे।'' हरितकश्चासौ (रेरिज्जमाणे त्ति) भृशं राजमानश्च यः स तथा। (सिरीए अईव २ उवसोभेमाणे चिट्ठइ त्ति) श्रिया वनलक्ष्म्या अतीव २ उपशोभमानस्तिष्ठति। (कुसेहि य त्ति) दर्भैः। क्वचित् ''कूवएहिय त्ति'' पाठः। तत्र कूपिकाभिः लिङ्गव्यत्ययात् (स्थाणुएहि य त्ति) स्थाणुभिश्च। पाठान्तरेण– (खत्तएहिं ति) खातैर्गर्त्तैरित्यर्थः। अथवा– (कूविएहिं ति) चौरगवेषकैः, (खत्तएहिं ति) खानकैः, क्षेत्रस्येति गम्यते। चौरैरित्यर्थः। अयमभिप्रायः–गहनत्वात्तस्य तत्र चौराः प्रविशन्ति तद्गवेषणार्थमितरे चेति संछन्नो व्याप्तः, परिच्छन्नः समन्तात् अन्तर्मध्ये शुश्रूशु सावकाशत्वात् बहि–र्गम्भीरो दृष्टेरप्रक्रमणात् (अड्ढे दित्ते) इह यावत्करणादिदं द्रष्टव्यम्– ''दित्ते विच्छिण्णविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुदासदासीगोमहिसगवेलगप्पभूए बहुधणबहुजायरूवरयए आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियविउलभत्तपाणे त्ति।'' व्याख्या त्वस्य मेघकुमारराजवर्णकवत्, भद्रावर्णकस्य तु धारिणीवर्णकवन्नवरं (करयलय त्ति) अनेन ''करयलपरिमियतिवलियमज्झाइ त्ति'' दृश्यम्। (वंझ त्ति) अपत्यफलापेक्षया निष्फला(अवियाउरि त्ति) प्रसवानन्तरमपत्यमरणेनापि फलवतो बन्ध्या भवतीत्यत उच्यते (अवियाउरि त्ति) अविजननशीला अपत्यानामत एवाऽऽह–जानुकूर्परणामेव माता जननी जानुकूर्परमाता। एतान्येव शरीरांशभूतानि तस्याः स्तनौ स्पृशन्ति, नापत्यमित्यर्थः। अथवा–जानुकूर्परणाण्येव मात्रा परप्राणाऽऽदेः साहाय्यसमर्थ उत्सङ्गनिवेशनीयो वा परिकरो यस्याः न पुत्र–लक्षणः सा जानुकूर्परमात्रा। (दासचेडे त्ति) दासस्य भृतकविशेषस्य चेटः कुमारकः दासचेटः। अथवा दासश्चासौ चेटश्चेति दासचेटः। (तक्करे त्ति) चौरः, पापस्य पापकर्मकारिणः चण्डालस्येव रूपं स्वभावो यस्य स तथा चण्डालकर्मापेक्षया भीमतराणि रौद्राणि कर्माणि यस्य स तथा। (आरुसिय त्ति) आरुष्टस्येव दीप्ते रक्ते नयने यस्य स तथा। खरपरुषे अतिकर्कशे महत्यौ विकृते वीभत्से दंष्ट्रिके उत्तरोष्ठकेशगु–च्छरूपे दशनविशेषरूपे वा यस्य स तथा। असंपतितौ असंपुटितौ असंवृत्तौ वा परस्परालग्नौ तुच्छत्वाद्दशनदीर्घत्वाच्च ओष्ठौ यस्य स तथा, उद्धूता वायुना प्रकीर्णा विकीर्णा लम्बमाना मूर्द्धजा यस्य स तथा, भ्रमरराहुवर्णः कृष्ण इत्यर्थः। निरनुक्रोशो निर्दयो, निरनुतापः पश्चात्तापरहितः, अत एव दारुणो रौद्रः, अत एव प्रतिभयो भयजनकः, निःसंशयिकः शौर्यातिशयादेव तत्साधयिष्याम्येवेत्येवं प्रवृत्तिकः। पाठान्तरेण– ''निसंसे'' नृन्नरान् शंसति हिनस्तीति नृशंसः। निशंसो वा विगतश्लाघः। (निरणुकंपे त्ति) विगतप्राणिरक्षः, निर्गता वा जनानामनुकम्पा यत्र स तथा। अहिरिव एकान्तग्राह्यमेवेदं मयेत्येवमेका निश्चया दृष्टिर्यस्य स तथा। (खुरे व्व एगंतधाराए त्ति) एकत्रान्तरे वस्तुभागेऽपहर्तव्यलक्षणे धारेव धारा परोपतापप्रधानप्रवृत्तिलक्षणा यस्य स तथा। यथा क्षुर एकधार एवमसौ मोषणलक्षणैकप्रवृत्तिक एवेति भावः। (जलमिव सव्वगाहि त्ति) यथा जलं सर्वं स्वविषयाऽऽपन्नमभ्यन्तरीकरोति तथाऽयमपि सर्वं गृह्णातीति भावः। तथा उत्कञ्चनवञ्चनमायानिकृतिकूटकपटैः सह योऽतिसंप्रयोगो गार्द्ध्यं, तेन बहुलः प्रचुरो यः स तथा, तत्र ऊर्द्ध कञ्चनं मूल्याऽऽद्यारोपणार्थमुत्कञ्चनं, हीनगुणस्य गुणोत्कर्षप्रतिपादनमित्यर्थः। वञ्चनं प्रतारणं, माया परवञ्चनबुद्धिः। निकृतिर्वक्रवृत्त्या गलकर्त्तकानामिवावस्थानं, कूटं कार्षापणतुलाऽऽदेः परवञ्चनार्थं न्यूनाधिककरणं, कपटं नेपथ्यभाषाविपर्ययकरणम्, अथवा–एभिरुत्कञ्चनाऽऽदिभिस्सहातिशयेन यः संप्रयोगस्तेन यो बहुलः स तथा। यदि वा–सातिशयेन द्रव्येण कस्तूरिकाऽऽदिना परस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः सातिशयसंप्रयोगः। ततश्चोत्कञ्चनाऽऽदिभिः सातिशयसंप्रयोगेण च यो बहुलः स तथा। उक्तं च– ''सो होइ साइजोगो, दव्वं जं छुहिय अन्नदव्वेसु। दोसगुणा वयणेसु य, अत्थविसंवायणं कुणइ॥१॥'' इति एकीयं व्याख्यानम्। व्याख्यानान्तरं पुनरेवम्– उत्कञ्चनमुत्कोचा, निकृतिर्वञ्चनप्रच्छादनार्थं कर्म, सातिविस्रम्भएतत्संप्रयोगबहुलः, शेषं तथैव, चिरं बहुकालं यावद् नगरे नगरस्य वा विनष्टो विप्लुतः चिरनगरविनष्टः बहुकालीनो यो नगरविनष्टो भवति स किलात्यन्तं धूर्तो भवतीत्येवं–

विशेषितः, तथा दुष्टं शीलं स्वभाव आकार आकृतिश्चरित्रं वाऽनुष्ठानं यस्य स तथा। ततः कर्मधारयः। द्यूतप्रसङ्गी द्यूताऽऽसक्तः। एवमितराणि, नवरं भोज्यानि खण्डखाद्याऽऽदीनि, पुनर्दारुणग्रहणं हृदयदारक इत्यस्य विशेषणार्थत्वात् न पुनरुक्तम्। लोकानां हृदयानि दारयति स्फोटयतीति हृदयदारकः। पाठान्तरेण –(जणहियाकारए) जनहितस्याकर्त्तेत्यर्थः। साहसिको वितर्कितकारी, संधिच्छेदकः क्षेत्रखानकः, औपधिको मायित्वेन प्रच्छन्नचारी, विस्रम्सघाती विश्वासघातकः, आदीपकोऽग्निदाता, तीर्थानि तीर्थभूतदेवद्रोण्यादीनि, भिनत्ति द्विधाकरोति, तद्द्रव्यमोषणाय तत्परिकरभेदनेनेति तीर्थभेदः। लघुभ्यां क्रियासु दक्षाभ्यां हस्ताभ्यां संप्रयुक्तो यः स तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः। परस्य द्रव्यहरणे नित्यमनुबद्धः, प्रतिबद्ध इत्यर्थः। तीव्रवैर अनुबद्धविरोधः, अतिगमनानि प्रवेशमार्गान्, निर्गमनानि निस्सरणमार्गान्, द्वाराणि प्रतोल्यः, अपद्वाराणि द्वारिकाः, ''छिण्डी'' छिण्डिका वृतिछिद्ररूपाः, ''खण्डी'' प्राकारच्छिद्ररूपाः, नगरनिर्द्धमनानि नगरजलनिर्गमक्षालनान् संवर्त्तनानि मार्गमिलनस्थानानि, निवर्त्तनानि मार्गनिवर्त्तनस्था नानि, द्यूतखलानि द्यूतस्थण्डिलानि, पानागाराणि मद्यगेहानि, वेश्यागाराणि वेश्याभवनानि, तस्करस्थानानि शून्यदेवकुलागाराऽऽदीनि, तस्करगृहाणि तस्करनिवासान् शृङ्गाटकाऽऽदीनि प्राग् व्याख्यातानि सभाजनोपवेशनस्थानानि, प्रपा जलदानस्थानानि, लिङ्गव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात्। पणितशालाहट्टान् शून्यगृहाणि प्रतीतानि, आभोगयन् पश्यन् मार्गयन् अन्वयधर्म्मपर्यालोचनतः गवेषयन् व्यतिरेकधर्म्मपर्यालोचनतः, बहुजनस्य छिद्रेषु प्रविरलपरिचारत्वाऽऽदिषु चौरप्रवेशावकाशेषु विषमेषु तीव्ररोगाऽऽदिजनितातुरत्वेषु, विधुरेषु इष्टजनवियोगेषु व्यसनेषुराजाऽऽद्युपप्लवेषु, तथाऽभ्युदयेषु राजलक्ष्म्यादिलाभेषु, उत्सवेषु इन्द्रोत्सवाऽऽदिषु, प्रसवेषु पुत्राऽऽदिजन्मसु, तिथिषु मदनत्रयोदश्यादिषु, क्षणेषु बहुलोकजनदानाऽऽदिरूपेषु, यज्ञेषु नागाऽऽदिपूजासु, पर्वणीषु कौमुदीप्रभृतिषु अधिकरणभूतासु मत्तः पीतमद्यतया, प्रमत्तश्च प्रमादवान् यः स तथा, तस्य बहुजनस्येति योगः। व्याक्षिप्तस्य च प्रयोजनान्तरोपयुक्तस्य, व्याकुलस्य च नानाविधकार्याक्षेपेण सुखितस्य दुःखितस्य च, विदेशस्थस्य च देशान्तरस्थस्य, विप्रोषितस्य च देशान्तरं गन्तुं प्रवृत्तस्य, मार्गं च पन्थानं, छिद्रं च अपद्वारं, विरहं च विजनम्, अन्तरं चावसर-मिति। आरामादिपदानि प्राग्वत्। (सुसाणेसु य त्ति) श्मशानेषु, गिरिकन्दरेषु गिरिरन्ध्रेषु, लयनेषु गिरिवर्त्तिपाषाणगृहेषु, उपस्थानेषु तथाविध–मण्डपेषु, बहुजनस्य छिद्रेष्वित्यादि पुनरावर्त्तनीयम्। (जाव एवं च णं विहरइ त्ति) (कुटुंबजागरियं जागरमाणीए त्ति) कुटुम्बचिन्तायां जागरणं निद्राक्षयः कुटुम्बजागरिका, द्वितीयायास्तृतीयार्थत्वात्। तया जाग्रत्या विशुद्धमानया, अथवा कुटुम्बजागरिकां जाग्रत्याः कुर्वन्त्याः (पयायामि त्ति) प्रजनयामि। ''तासिं मन्ने।'' इत्यत्र तासां सुलब्धं जन्म जीवित-फलम्, अहं मन्ये वितर्कयामि यासां निजककुक्षिसम्भूतानीत्येवम-क्षरघटना कार्या; निजककुक्षिसंभूतानि डिम्भरूपाणि इति गम्यते। स्तनदुग्धलुब्धकानि मधुरसमुल्लापकामि मन्मनं स्खलत्प्रजल्पितं येषां तानि तथा। स्तनमूलात्कक्षादेशभागमभिसरन्ति संचरन्ति, स्तनजं पिबन्ति, ततश्च कोमलकमलोपमाभ्यां हस्ताभ्यां गृहीत्वा उत्सङ्गनिवे-शितानि ददति समुल्लापकान् समधुरान्, (एत्तो एगमवि न पत्त त्ति) इतः पूर्वमेकमपि डिम्भकं न प्राप्ताः। अथवा इत उक्तलक्षणात् डिम्भकविशेषणकलापादेकमपि विशेषणं न प्राप्ता। ''बहिया नागघराणि वा'' इत्यादि प्रतीतम्। (जाणुपायवडिय त्ति) जानुभ्यां पादपतिता जानुपादपतिता, जानुनी भुवि विन्यस्य प्रणति गतेत्यर्थः। ''जाय च'' इत्यादि। योगं पूजां दायं पर्व दिवसाऽऽदौ दानं भागं लाभांशम्। अक्षयनिधिमव्ययं भाण्डागारम्, अक्षयनीवी वा मूलधनं, येन जीणीभूतस्य देवकुलस्योद्धारः करिष्यते। अक्षीणकां वा प्रतीतां बर्द्धयामि, पूर्वकाले अल्पं सन्तं महान्तं करोमीति भावः। (उवायइयं ति) उपयाच्यते मृग्यते स्म यत्तत् उपयाचितमीप्सितं वस्तु याचितुं प्रार्थयितुम्। (उल्लपडसाडिय त्ति) स्नानेनार्द्रंपटशाटिके उत्तरीयपरिधानवस्त्रे यस्याः सा तथा। (आलोए त्ति) दर्शने नागाऽऽदिप्रतिमानां प्रणामं करोति। ततः प्रत्युन्नमति, लोमहस्तकं प्रमार्ज्जनिकां परामृशति गृह्णाति, ततस्तेन ताः प्रमार्ज्जयति। (अब्भुक्खेइ त्ति) अभिषिञ्चति वस्त्राऽरोपणाऽऽदीनि प्रतीतानि। ''चाउद्दसी'' इत्यादौ ''उद्दिट्ठ त्ति'' अमावास्या, (आपन्नसत्त त्ति) आपन्न उत्पन्नः सत्त्वो जीवो गर्भ यस्याः सा तथा। डिम्भदारकुमारकाणामल्पबहुबहुतरकालकृतो विशेषः। मूर्च्छितो मूढो, गतविवेकचैतन्य इत्यर्थः। ग्रथितो लोभतन्तुभिःसन्दर्भितः, गृद्ध आकाङ्क्षावान्, अध्युपपन्नः –अधिकं तदेकाग्रतां गत इति। शीघ्राऽऽदीनि एकार्थिकानि शीघ्रतातिशयख्यापनार्थानि। निःप्राणमुच्छ्वासाऽऽदिरहितं, निश्चेष्टं व्यापाररहितं (जीवविप्पजढं ति) आत्मना विप्रमुक्तो निश्चलो गमनागमनाऽऽदिवर्जितः, निष्पदो हस्ताऽऽद्यवयवचलनरहितः, तूष्णीको वचनरहितः, क्षेपयन् प्रेरयन्, श्रुतिं वार्तामात्रं, क्षुतिं तस्यैव संबन्धिनं शब्दं, तच्चिह्नं वा, प्रवृत्तिं व्यक्त्यन्तरवार्तां नीतो मित्राऽऽदिना स्वगृहे अपहृतश्चौरेण आक्षिप्त उपलोभिताः। (परसुनियत्ते व त्ति) परशुना कुठारेण निकृत्तः छिन्नो यः स तथा तद्वत्। (नगरगुत्तिय त्ति) नगरस्य गुप्तिं रक्षां कुर्वन्तीति नगरगुप्तिका आरक्षिकाः। (संनद्धबद्धवम्मियकवय त्ति) सनद्धाः संहननाभिः कृतसन्नाहाः, बद्धाः कशाबन्धनेन वर्म्मिताश्च अङ्गरक्षीकृताः शरीरारोपणेन कवचाः कङ्कटा यैस्ते तथा। ततः कर्मधारयः। अथवा–धर्मितशब्दः क्वचिन्नधीयत एव। (उप्पी–लियसरा-सणपट्टिया) उत्पीडिता आक्रान्ता गुणेन शराऽऽसनं धनुस्तल्लक्षणा पट्टिका यैस्ते तथा। अथवा–उत्पीडिता बद्धा शरासनपट्टिका बाहुपट्टको यैस्ते तथा। दृश्यते च धनुर्द्धराणां बाहौ चर्मपट्टबन्ध इति। इह स्थाने यावत्करणादिदं दृश्यम्– ''पिणद्धगेवेज्जबद्धआविद्धविमलवरचिंधपट्टा'' पिनद्धानि परिहितानि ग्रैवेयकाणि ग्रीवारक्षाणि यैस्ते तथा। बद्धो गाढीकरणेन आविद्धः परिहितो मस्तके विमलो वरश्चिह्नपट्टो यैस्ते तथा। ततः कर्मधारयः। ''गहिया–उहपहरणा।''गृहीतान्यायुधानि प्रहरणाय प्रहारदानाय यैस्ते तथा। अथवाऽऽयुधप्रहरणयोः क्षेप्याक्षेप्यकृतो विशेषः। (ससक्खं ति) ससाक्षि साक्षिणोऽध्यक्षान् विधायेत्यर्थः। (सहोढं ति) समोषम्, (सगेवेज्जं ति) सह ग्रैवेयकेन ग्रीवाबन्धनेन यथा भवति तथा गृह्णन्ति। (जीवग्गाहं गिण्हंति त्ति) जीवतीति जीवस्तं जीवं जीवन्तं गृह्णन्ति अस्थिमुष्टिजानुकूपरैस्तेषु वा ये प्रहारास्तैः संभग्नं मथितं मोटितं जर्जरितं गात्रं शरीरं यस्य स तथा, तं कुर्वन्ति। (अवउग्गबंधणं ति) अवकोटनेनावमोटनेन कृकाटिकाया बाह्वोश्च

पश्चाद्भागे नयनेन बन्धनं यस्य स तथा तं कुर्वन्ति। (कसप्पहारे य त्ति) वध्रतामनानि, (छिव त्ति) श्लक्ष्णः कशः लता कम्बा, बालघातकः प्रहारदानेन बालमारकः प्राणवियोजनेन, (रायमच्चे त्ति) राजामात्यः (अवरज्झइ त्ति) अपराध्यति अनर्थं करोति, (नण्णत्थ त्ति) न त्व-न्यवेत्यर्थः। वाचनान्तरे त्विदं नाधीयत एव, स्वकानि निरुपचरितानि नोपचारेणाऽऽत्मनः संबन्धीनि, (लहुस्सगंसि त्ति) लघुः स्व आत्मा स्वरूपं यस्य स लघुस्वकः अल्पस्वरूपः, राज्ञि विषये अपराधो राजापराधस्तत्र संप्रज्ञप्तः प्रतिपादितः, पिशुनैरिति गम्यते। (भोयणपिडयं ति) भोजनस्थाल्याधारभूतं वंशमयं भाजनं पिटकं, तत्करोति सज्जीकरोतीत्यर्थः। पाठान्तरेण- (भरेइ त्ति) पूरयति। पाठान्तरेणभोजनपिटकैः करोति- अशनाऽऽदीनि लाञ्छितं रेखाऽऽदि-दानतो मुद्रितं कृतमृदादिमुद्रम्, (उल्लंछेइ त्ति) विगतलाञ्छनं करोति (परिवेसयति) भोजयति (अवियाइं ति) अपिः संभावने। (आइं ति) भाषायाम्। अरेः शत्रोर्वैरिणः सानुबन्धशत्रुभावस्य, प्रत्यनीकस्य प्रतिकूलवृत्तेः, प्रत्यमित्रस्य वस्तु वस्तु प्रति अमित्रस्य, (धणस्स त्ति) कर्म्मणि षष्ठी, उच्चारप्रस्रवणं कर्तृ, णमि-त्वलङ्कारे। (डव्वाहित्थ त्ति) उद्वाधवति स्म (एहि तावेत्यादि) एहि आगच्छ तावदिति भाषामात्रे। हे विजय ! एकान्तं विजनयपक्रमामो यामः (जेणं ति) येनाहमुच्चाराऽऽदि परिष्ठापयामीति। (छुं देणं ति) अभिप्रायेण, यथारुचीत्यर्थः। (अलंकारियसह त्ति) यस्यां नापिताऽऽदिभिः शरीरसत्कारो विधीयते, अलंकारिककर्म्म नखखण्डनाऽऽदि, दासा गृहदासीपुत्राः, प्रेष्वा ये तथाविधप्रयोजनेषु नगरान्तराऽऽदिषु प्रेष्यन्ते भृतका ये आवालत्या-त्पोषिताः। (भाइल्लग त्ति) ये भागं लाभस्य लभन्ते, ते क्षेमकुशलमनर्था-मुद्भवानर्थप्रतिघातरूपं, कण्ठे च गृहीत्वा कण्ठाकण्ठि। यद्यपि व्याकरणे युद्धविषय एवैवंविधोऽव्ययीजाप इष्यते, तथापि योगविभागाऽऽदिभि-रेतस्य साधुशब्दता दृश्येति। (अवयासिय त्ति) आलिङ्ग्य, वाष्पप्रमो-क्षणमानन्दाश्रुजलप्रमोचनम्। (नायए चेत्यादि) नायकः प्रभुः, न्यायदो वा न्यायदर्शी, ज्ञातको वा स्वजनपुत्रकः। इति रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे। (घाडियए त्ति) सहचारी, सहायः साहाय्यकारी, सुहृन्मित्रम्, (बंधेहि य त्ति) बन्धो रज्ज्वादिबन्धनं, वधो यष्ट्यादिताडनं, कशप्रहाराऽऽदयस्तु तद्विशेषाः (काले कालोभास इत्यादि) कालः कृष्णवर्णः काल एवावभासते द्रष्टृणां, कालो वा अवभासो दीप्तिर्यस्य स कालावभासः। इह यावत्करणादिदं दृश्यम्- ''गंभीरलोमहरिसे भीमे उत्तासणए परमकण्हे वण्णेणं, से णं तत्थ निच्चं भीए निच्चं तत्थे निच्चं तसिए निच्चं परमसुहसंबद्धं नरग त्ति।'' तत्र गम्भीरो महान् रोमहर्षो भयसंभूतो रोमाञ्चो यस्य यतो वा सकाशात् स तथा। किमित्येयमित्याह- भीमो भीष्म· अत एवोत्त्रास-कारित्वादुत्त्रासनकः। एतदपि कुत इत्याह- परमकृष्णो वर्ण्णेनेति, परां प्रकृष्टां अशुभसंबद्धां पापकर्म्मणोपनिताम्, (अणाइय-मित्यादि) अनादिकम्। (अणवदग्गं त्ति)अनन्तम् (दीहमद्धं ति) दीर्घाद्धं दीर्घकालं, दीर्घाध्वं वा दीर्घमार्गम्, चातुरन्तं चतुर्विभागं संसार एव कान्तारमरण्यं संसारकान्तारमिति। अतोऽधिकृतं ज्ञानं ज्ञापनीये योजयन्नाह- (एवामेवेत्यादि) एवमेव विजयचौरवदेव, (सारेणं ति) सारे, णमित्यलङ्कारे करणे तृतीया वेयम्। लुभ्यति लोभीभवति। (से वि एवं चेव त्ति) सोऽपि प्रव्रजितो विजयवदेववन्नरकादिकमुक्तरूपं प्राप्नोति। ''जहा णं'' इत्यादिनाऽपि ज्ञातमेव विज्ञापनीये नियोजितम् (नण्णत्थ सरीरसारक्खणट्ठाए त्ति) न शरीररक्षणार्थादन्यत्र तदर्थमेवेत्यर्थः। (जहा से धणे त्ति) दृष्टान्तनिमगनम्। इह पुनर्विशेषयोजनामिमामभिदधति बहुश्रुताः। इह राजगृहनगरस्थानीयं मनुष्यक्षेत्रं, धनसार्थवाहस्थानीयः साधुजीवः, विजयचौरस्थानीयं शरीरं, पुत्रस्थानीयो निरुपमनिरन्तरा-ऽऽनन्दनिबन्धनत्वेन संयमो भवति। असत्प्रवृत्तिकशरीरात्संयमविघातः। आभरणस्थानीयाः शब्दाऽऽदिविषयाः, तदर्थप्रवृत्तं हि शरीरं संयम-विघाते प्रवर्त्तते, हडिबन्धनस्थानीयं जीवशरीरयोरविभागेनावस्थानं, राजस्थानीयः कर्म्मपरिणामः राजपुरुषस्थानीयाः कर्मभेदाः, लघुस्व-कासराधस्थानीयाः मनुष्याऽऽयुष्कबन्धहेतवः मूत्राऽदिमलपरिष्ठापन-स्थानीषाः प्रत्युपेक्षणाऽऽदयो व्यापाराः, यतो भक्ताऽऽदिदानाभावे यथाऽसौ विजयः प्रश्रवणाऽऽदिव्युत्सर्जनाय न प्रवृत्तवान्, एवं शरीरमपि निरशनं प्रत्युपेक्षणाऽऽदिषु न प्रवर्त्तते। पान्थस्थानीयो मुग्धसाधुः, सार्थवाहस्थानीया आचार्याः, ते हि विवक्षितसाधुं भक्ताऽऽदिभिः शरीरमुपष्टम्भयन्तं साध्वन्तरादुपश्रुत्योपालम्भयन्ति विवक्षितसाधुनैव निवेदिते वेदनावैयावृत्यादिके भोजनकारणे परितुष्यन्ति वेति। पठ्यते च-

''सिवसाहणेसु आहा-रविरहिओ जं न वट्टए देहो।
तम्हा धणो व्व विजयं, साहू तं तेण पोसेज्जा॥१॥''

एवं खल्वित्यादि निगमनम्, इतिशब्दः समाप्तौ। ब्रवीमीति पूर्ववदेवेति। ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। कौशाम्बीनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०। (तत्कथा आतङ्क शब्दे द्वितीयभागे १५७ पृष्ठे दृश्या) चम्पानगरीवास्तव्ये सार्थवाहे, ''चंपाए परममाहेसरो धणो णाम सत्थवाहो।''आ०म०१ अ०२ खण्ड। आ०चू०। (तद्वक्तव्यता 'चक्खिदिय' शब्दे तृतीयभागे ११०५ पृष्ठे द्रष्टव्या) चम्पानगरीवास्त-व्येऽहिच्छत्रासंप्रस्थिते स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा०१ श्रु० १५ अ०। (तत्कथा ''णंदिफल'' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७५३ पृष्ठे द्रष्टव्या) वसन्त-पुरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, आ०म० १अ०२ खण्ड। पाटलिपुत्र-नगरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, तस्य दुहिता भगवतो महावीरस्य सकाशे प्रव्रजिता। आ०चू०१अ०। अपरविदेहस्थक्षितिप्रतिष्ठितनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, स च त्रयोदशे भवे ऋषभनामा तीर्थकर आसीत्। आ०म० १ अ०१ खण्ड। आ०चू०। कस्मिंश्चित् सन्निवेशे स्थिते ग्रामाधिपतिसुते धनवतीपतौ स्वनामख्याते सार्थवाहे, पुं०। स च तीर्थकरनामकर्मोदयादरिष्टनेमिस्तीर्थकरोऽभूत्। उत्त० २२ अ०।

धणंजय-पुं०(धनञ्जय) धनं जयति जि-स्वच् मुम् च। अर्जुने, वह्नौ, नागभेदे, पोषणकरे देहव्यापिवायौ, ककुभवृक्षे, चित्रकवृक्षे च। वाच०। अपरविदेहस्थमूकाराजधानीभवे स्वनामख्याते नृपे, यस्य पुत्रः प्रियमित्रो विंशतिभिस्तीर्थकरत्वकारणैस्तीर्थकरत्वमवाप। आ०म०१ अ०१ खण्ड। आ० क०। आ०चू०। कल्प०। सौर्यपुर-नगरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, आव०४ अ०। आ०क०। आ०चू०। (तत्कथा शौचेन योगसंग्रहावसरे 'सुइ' शब्दे दृश्या) पक्षस्य पञ्चदशसु दिवसेषु नवमे दिवसे, ज्यो०४ पाहु०। जं०। कल्प०। स्वनामख्याते

गोत्रे च। ''उत्तरापोट्ठपदा णक्खत्ते किं गोत्ते पण्णत्ते? धणंजयसगोत्ते पण्णत्ते।'' सू०प्र० १० पाहु०। जं०। धनञ्जयमालाद्विसन्धानमहाकाव्याऽऽदिकृति जैनकवौ, अयं कविः विक्रमसंवत् ८८४ मिते विद्यमान आसीत्। जै०इ०।

धणकंता-स्त्री०(धनकान्ता) कलिङ्गदेशस्थकाञ्चनपुरनगरस्थधनवहश्रेष्ठिपत्न्याम्, दर्श० १ तत्त्व।

धणक्खय-पुं०(धनक्षय) धनहानौ, व्य०३ उ०। धनक्षय इति वा। जी० ३ प्रति०४ उ०।

धणगिरि-पुं०(धनगिरि) अवन्तीजनपदस्य तुम्बवनसन्निवेशे स्थिते स्वनामख्याते इभ्यपुत्रे, आ०म० १ अ०२ खण्ड। कल्प०। आ०क०। (तद्वक्तव्यता 'अज्जवइर' शब्दे प्रथमभागे २१६ पृष्ठे गता) आर्य्यसिंहगिरिस्थविरस्य शिष्ये स्वनामख्याते स्थविरे, (कल्प०)आर्य्यफल्गुमित्रस्य शिष्ये स्वनामख्याते वसिष्ठसगोत्रे स्थविरे च। ''थेरस्स णं अज्जफग्गुमित्तस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जधणगिरी थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगोत्ते।'' (कल्प०) ''धणगिरिं च वासिट्ठं।'' कल्प० २अधि० ८ क्षण।

धणगुत्त-पुं०(धनगुप्त) कस्मिँश्चिन्नगरे स्थिते स्वनामख्याते आचार्य्ये, आ०चू०४ अ०। (तद्वक्तव्यता 'पच्छित्त' शब्दे वक्ष्यते)''आचार्य्या धनगुप्ताख्याः, एकत्र नगरेऽभवन्।'' (१) आ०क०। उल्लुकातीरनगरस्थे आचार्य्यमहागिरिशिष्ये द्वैक्रियपञ्चमनिह्नवधर्माचार्य्यस्य गङ्गाचार्य्यस्य स्वनामख्याते गुरौ, आ०म० १ अ०२ खण्ड। विशे०। स्था०।

धणगोव-पुं०(धनगोप) राजगृहनगरस्थधनसार्थवाहस्य पुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०।

धणणंदि (दी)-पुं०। स्त्री(धननन्दि (न्दी) द्विगुणे देवद्रव्ये, ''देवदव्वं दुगुणं धणणंदी भण्णइ।'' दर्श० १ तत्त्व।

धणणिहि-पुं०(धननिधि) कोशे, तदात्मके लौकिके निधिभेदे च। स्था०५ ठा० ३ उ०।

धणतोसग-त्रि०(धनतोषक) धनेन तुष्यतीति धनतोषकः। चौराऽऽदिके, ''धणतोसगा गहिया य जे नरगणा।'' प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

धणत्थि(ण्)-त्रि०(धनार्थिन्) धनाभिलाषिणि, ''तो पडिभणेइ सेट्ठी, धणत्थिणो जइ तुमे तहा वि इमं।'' ध०र०।

धणदत्त-पुं०(धनदत्त) राजगृहनगरस्थे धनापरनामधेये स्वनाम-ख्याते सार्थवाहे, नं०। आ०क०। आ०म०। आ०चू०। (तत्कथा 'चिलाईपुत्त' शब्दे तृतीयभागे ११८८ पृष्ठे गता) वसन्तपुरस्थे तिलकश्रेष्ठिपुत्रे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, पिं०। (तत्कथा 'परावट्टिए' शब्दे वक्ष्यते) विस्तीर्णग्रामस्थे स्वनामख्याते कुटुम्बिनि च। पिं०।

धणदेव-पुं०(धनदेव) मण्डिकगणधरस्य पितरि,आ०म०१ अ०२ खण्ड। आ०चू०। अस्थिकग्रामापरनामधेये वर्द्धमानकनगरस्थे स्वनाम-ख्याते वणिजि, आ०चू० १ अ०। आ०म०। कल्प०। स्था०। (तद्वक्तव्यता 'वीर' शब्दे) ''धनदेवो वणिक् तत्राऽऽयातः प्रेक्ष्य महानदीम्।'' (१३) आ०क०। द्वारवतीवास्तव्ये कमलामेलायाः पत्यौ उग्रसेनस्य नप्तरि, आ०म० १अ०१ खण्ड। आ०चू०। काम्पिल्यपुरस्थे स्वनामख्याते वणिजि,उत्त० १३ अ०। (तद्वक्तव्यता 'बंभदत्त' शब्दे)कौशाम्बीनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, ध०र०। (तद्वक्तव्यता 'बंभसेण' शब्दे) राजगृहनगरस्थधनसार्थवाहस्य स्वनामख्याते पुत्रे,ज्ञा० १ श्रु०७ अ०।

धणधण्णदव्वजाय-न०(धनधान्यद्रव्यजात) धनधान्यरूप्यकारे, ''निक्खित्ताणि य हरंति धणधण्णदव्वजायाणि।'' प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

धणधण्णपमाणाइक्कम-पुं०(धनधान्यप्रमाणातिक्रम) धनधान्ययोः प्रमाणस्य बन्धनतोऽतिक्रमोऽतीचारः धनधान्यप्रमाणातिक्रमः। ध०र०। इच्छापरिमाणस्य पञ्चमाणुव्रतास्यातिचारभेदे, धनधान्यस्य प्रमाणप्राप्तस्याऽऽगमार्णाऽऽदिभ्योऽधिकलाभेसमुपस्थिते यावन्नाग्रेतनं विक्रीणीते तावद् गृह एव तत्स्थापयतः सत्यकारेण वा स्वीकुर्वतः स्थूलमूढकाऽऽदिबन्धनेन वा धनधान्यतिक्रमरूपः प्रथमोऽतिचार इति। ध०२ अधि०। ध० र०। आव०। उपा०।

धणधण्णसंचय-पुं०(धनधान्यसंचय) धनं हिरण्याऽऽदि, धान्यं शाल्यादि,तयोः संचयो राशिर्धनधान्यसंचयः। धनधान्ययो राशौ, उत्त० ६ अ०।

धणपाल-पुं०(धनपाल) राजगृहनगरस्थधनसार्थवाहसुते स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा०१ श्रु० ७ अ०। कौशाम्बीनगरस्थे स्वनामख्याते नृपे, ''कोसंबी णयरी, धणपालो राया, वेसमणभद्दे अणगारे पडिलाभिए इहं०जाव सिद्धे।'' विपा० २श्रु०४अ०। अवन्तीजनपदस्थतुम्बवनसन्निवेशस्थे स्वनामख्याते इभ्ये च। आ०म०१अ० २खण्ड। सर्वदेवब्राह्मणपुत्रे चन्द्रगच्छीयमहेन्द्र-सूरिशिष्येण शोभनाचार्येण प्रतिबोधिते श्रावके, अयं च धनपालो भोजराजसमकलिको महाकविरासीत्। जै०इ०।

धणप्पभा-स्त्री०(धनप्रभा) कुण्डलवरद्वीपस्थवैश्रमणप्रभनगरस्योत्तरपार्श्ववर्त्तिन्यां राजधान्याम्, ''धणप्पभा उत्तरे पासे।'' द्वी०।

धणवद्धण-पुं०(धनवर्द्धन) धनवृद्धिकारके, स्था० १० ठा०।

धणमण-त्रि०(धनवत्) **''आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणामतोः''** ॥८।२।१५६॥ इति प्राकृतसूत्रेण मतोरेते आदेशाः। प्रा०२ पाद। धनिनि, व्य०।

अधुना धनवतां स्वरूपमाह-

कोडिग्गसो हिरण्णं, मणिमुत्तसिलप्पवालरयणाइं।
अज्जयपिउपज्जागय,एरिसया होंति धणमंता॥३३०॥

येषामार्यापिता पिता प्रतीतः,पर्यायः प्रपितामहः, तेभ्य आगतं कोट्यग्रशः कोटिसंख्यया हिरण्यं मणिमुक्ताशिलाप्रवालरत्नानि च, मणयश्चन्द्रकान्ताऽऽद्याः, मुक्ताफलानि विद्रुमाणि, रत्नानि कर्केतनाऽऽदीनि, ते ईदृशा भवन्ति धनवन्तः। व्य० १उ०३ प्रक०।

धणमंत-त्रि०(धनवत्) 'धणमण' शब्दार्थे, प्रा०२ पाद।

धणमित्त-पुं०(धनमित्र) विनयपुरस्थे वसुश्रेष्ठिसुते स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ध०र०।

धनमित्रचरित्रं पुनरेवम्–

''गुरुसत्तगणसमेयं, गाहाइमदलमिवऽत्थि विणयपुरं।
तत्थाऽऽसि वसु सिट्ठी, भद्दा नामेण से भज्जा ॥१॥
ताण सुओ धणमित्तो, बालस्स वि तस्स उवरया पियरो।
पुन्ने घणे पणट्ठे, नट्ठो विहवो नइरवु व्व ॥२॥
परिवड्ढिओ दुहेणं, सो कमसो परियणेण वि विमुक्को।
परिणयणत्थं अधणु–त्ति को वि न य देइ से कन्नं ॥३॥
तो लज्जिंतो नयराउ णिग्गओ दविणअज्जणसयण्हे।
पिच्छइ कत्थ वि मग्गे, पारोहं किंसुयतरुम्मि ॥४॥
तो सरइ खत्तवायं, सो सुयपुव्वं जहा अखीरदुडे।
जइ दीसइ पारोहो, ता तस्स अहे धणं मुणसु ॥५॥
विल्लपलासेसु धुवं, पारोहे थूलए बहुं दव्वं।
तणुए थोवं तह निसि, जलरे बहु थोवमियरम्मि ॥६॥
विद्धे पुण पारोहे, रत्तरसे निग्गयम्मि रयणाइं।
सेए रययं पीए, कणगं न हु नीरसे किं पि ॥७॥
जत्तियमित्ते देसे, पारोहो उच्चओ भवे उवरिं।
तत्तियमित्ते देसे, अहे वि निहियं धणं मुणसु ॥८॥
तणुए उवरि परोहे, हिट्ठा पिहुले धुवं धणं मुणसु।
विवरीए तयभावो, इय निच्छेऊण धणमित्तो ॥९॥❊

''नमो धनदाय नमो धरणेन्द्राय नमो धनपालाय'' इति मन्त्रं पश्च खनति स्म तं प्रदेशम्।

किं तु अपुन्नवसेणं, केवलअंगारपूरियं नियइ।
तं बमयकलसजुयलं, तओ हमो चिंतइ विसन्नो ॥१०॥
पारोहपीयरसदंसणेण कणयम्मि निच्छिए वि धुवं।
इंगाल चिय पिच्छेसि केवलेही विगयपुन्नो ॥११॥
दविणत्थिणा नरेणं, न हु कायव्वो तहा वि निव्वेओ।
जं सव्वत्थ वि गिज्झइ, सिरीइ मूलं अनिव्वेओ ॥१२॥
इय चिंतिय पुरओ वि हु, बहुभुभागे खणेइ दविणकए।
न य पावइ काणवराडियं पि कत्थइ अपुन्नवसा ॥१३॥
सिक्खेइ धाउवायं, मुत्तु किलेसं लहेइ न हु अन्नं।
होउं वणिओ तो चडइ, पवहणे भज्जइ तयं तो ॥१४॥
अह थलमग्गवणिज्जं, करेइ अज्जेइ कहंवि किं पि धणं।
तं पि नरेसरतक्कर–पमुहेहिं घिप्पए तस्स ॥१५॥
तो सव्वपयत्तेणं, ओलग्गं कुणइ निवइपभिईणं।
तह वि तदपुन्नवसओ, न ते वि किं पि हु पसीयंति ॥१६॥
एवं दुहं सहंतो, परिभमिरो महियले कया पि इमो।
केवलकलियं गुणसायरं गुरुं गयउरे नियइ ॥१७॥
संजायकम्मविवरो, बहुबहुमाणेण नमइ गुरुचरणे।
तो कहइ मुणिवरो तस्स समुचियं धम्मकहमेवं ॥१८॥
धम्मेण धणसमिद्धी, जम्मो धम्मेण उत्तमकुलम्मि।
धम्मेण दीहमाउं, धम्मेण उदग्गमारुग्गं ॥१९॥
सयलचउज्जलहिवलयम्मि निम्मला भमइ धम्मओ कित्ती।
हरिसियरइरमणरूवं, रूवं धम्माउ इह होइ ॥२०॥
जं भुंजंति सुहाइं, मणिरयणपहापहारिसयदिसेसु।
भवणेसु भवणवइणो, तं सव्वं धम्ममाहप्पं ॥२१॥
जं हरिसभरुब्भंतं, निवचक्कं चक्किणो नमइ चलणे।
तं सुद्धधम्मकप्पट– दुमस्स कुसुमुग्गमं मन्ने ॥२२॥
सरहससुरसुंदरिकर–चालियचलचारुचामरुप्पीलो।
सुरलोए सुरनाहो, हवेइ धम्मप्पभावेण ॥२३॥
किं बहुणा भणिएणं,–धम्मेण हवंति सयलसिद्धीओ।
धम्मेण विमुक्काण उ, जियाण न कया वि फलसिद्धी ॥२४॥
तं सोउं धणमित्तो, कयंजली जंपए नमिय सूरिं।
एवमिणं मुणिपुंगव ! जं तुब्भेहिं समाइट्ठं ॥२५॥
जम्माउ वि मह दुक्खं, मुणह चिय पहु ! तुमे सनाणेण।
को होऊ पुण इहयं, तो कहइ गुरू सुणसु भद्द ! ॥२६॥
इह भरहे विजयपुरम्मि गंगदत्तु त्ति गिहवई आसि।
मगहा से दइया सो–उ धम्मनामं पि न हु मणइ ॥२७॥
धम्मकरणुज्जुयाणं, अन्नेसिं पि हु करेइ बहुविग्घे।
मज्झरभरिओ कस्स वि, लाभं न हु सक्कए दट्ठुं ॥२८॥
जइ पुण कहं पि से पिच्छिरस्स ववहरइ कोइ बहुलाभं।
एइ जरो सत्तमुहे–हि तस्स इय वासरा जंति ॥२९॥
अन्नदिणे करुणाए, सुंदरनामेण सावएण इमो।
नीओ मुणीण पासे, कहिओ तेहिं पि इय धम्मो ॥३०॥
उवसमविवेगसवंर–सारो जहसत्ति नियमतवपवरो।
जिणधम्मो कायव्वो, अतुच्छलच्छीइ कुलभवणं ॥३१॥
इय सुणिय किंचि भावेण किं पि दक्खिन्नओ वि गिण्हेइ।
सो पइदिणचिइवंदण–करणजुएऽभिग्गहे के वि ॥३२॥
मुणिणो नमित्तु पत्तो, सगिहम्मि पमायपरवसो धणियं।
भंजइ अभिग्गहे के, वि के वि अइयरइ मूढमणो ॥३३॥
इक्कं पुण चिइवंदण–अभिग्गहं पालए निरइयारं।
कालक्कमेण मरिउं, संपइ सो एस तं जाओ ॥३४॥
पुव्वकयदुक्कयवसा, तए इमं एरिसं फलं पत्तं।
जिणवंदणप्पभावा, जायं निहिदंसणाईयं ॥३५॥
इय सोउं धणमित्तो, संवेयगओ नमित्तु मुणिनाहं।
बहुदुक्खलक्खदलणं, गिहिधम्मं गिण्हए सम्मं ॥३६॥
दिवसनिसिपढमपहरे, मुत्तुं धम्मक्खणं अहं सेसं।
सहसाणाभोगेणं, विणा पओसं च वज्जिरस्सं ॥३७॥
एवं गिण्हिय घोरं, अभिग्गहं वंदिउं च गुरुचरणे।
पुरमज्झे कस्सइ रा–वगस्स गेहम्मि उत्तरइ ॥३८॥
सूरुदए भोगेणं, उच्चिणिउं मालिणा समं कुसुमे।
घरजिणहरजिणपडिमाउ निच्चमच्चेइ भत्तीए ॥३९॥
बीए पहरे लोयागमाविरोहेण कुणइ ववसायं।
संपज्जइ अकिलेसेण तेण खलु भोयणं तस्स ॥४०॥
जह जह धम्मम्मि थिरो, हवेइ तह तह पवड्ढए विहवो।
विच्चेइ बहुं धम्मे, बीसुं गिण्हेइ तो गेहं ॥४१॥
एगेण महिड्ढियसा–वएण दिन्ना य तस्स नियधूया।
अइधम्मिउ त्ति काउं, दुन्नि वि चिट्ठंति धम्मपरा ॥४२॥
पत्तो, कया वि सोगो, उलम्मि गुलतिल्लमाइ विक्किणिउं।
तं बेलं पुण तं गुमन्नगिहं गंतुमुच्चलियं ॥४३॥
तं मेहरो य निहिलविय तंबकलसे तओ गहिउकामो।
उज्झावइ इंगाले, तं कणयं नियइ धणमित्तो ॥४४॥
किमिणं उज्झाविज्जइ,इय पुट्ठे तेण मेहरो भणइ।
कणगं ति कहिय पिउणा, पवंचिया इच्चिरं अम्हे ॥४५॥
संपइ उज्झावेमो, एए इंगालए निएऊणं।
तो सुट्ठी सुद्धमणो, भणेइ भो भद्द ! सुवन्नमिणं ॥४६॥
जंपेइ मेहरो दढ–विमूढ ! किं वाउलो सि मत्तो सि।
धत्तूरिओ सि अहवा, सव्वं सुन्नं दरिद्दस्स ॥४७॥
जइ कणगमिणं ता मज्झ दाउ गुलतिल्लमाइयं किं पि।
गिण्हसु इमं तुमं चिय, तह चेव करेइ सिट्ठी वि ॥४८॥

तं खिविउं नियजाणे, सगिहे पत्तो नमित्तु जिणबिंबं।
जा संभालइ ता तीस सहसमाणं तयं जायं ॥४६॥
तेणं धम्मपरेणं, अन्नं पि समज्जियं बहुं दविणं।
जाओ जणप्पवाओ, उअह अहो धम्ममाहप्पं ॥५०॥
इत्तो तत्थेव पुरे, सुमित्तनामा वसेइ महइब्भो।
रयणाबलिं स विरए, कोडिमुल्लेहि रयणेहिं ॥५१॥
केण वि गुरुकज्जेणं, तस्स वि वत्तद्वियस्स पासम्मि।
एगागी संपत्तो, धणमित्तो तह निसन्नो य ॥५२॥
उचियालावं सह तण काउ इब्भो पओयणवसेण।
पत्तो गिहमज्झे काउ कज्जमह एइ जा तत्थ ॥५३॥
ता रयणाबलिमनिए, वि भणइ जा विरइओ मए मुक्का।
सा कत्थ गया रयणाबलि त्ति भो कहसु धणमित्त !॥५४॥
न तुमं ममं च मुत्तुं, को वि इहासी तओ तुमे चेव।
सा गहिया अप्पसु तं, मा चिरकालं विलंबेसु ॥५५॥
तो चिंतइ धणमित्तो, अहह अहो ! कम्मविलसियं निवह।
जं अकए वि य दोसे,इय वयणिज्जाइँ लब्भंति ॥५६॥
इत्तु च्चिय पडिसिद्धं, परगिहगमणं जिणेहि सद्धाणे।
जं परगिहगमणाओ, कलंकमाई जियाण धुवं ॥५७॥
ता परगेहे गेहो, अणज्जवयणिज्जयाइ दोसेण।
गुरुकज्जे वि कया वि हु, एगागी नेव वच्चिस्सं ॥५८॥
इय चिंतिय भणइ अहं, इब्भ ! तुमं पि व न किंचि जाणेमि।
सो आह न छुट्टिज्जइ, एरिसवयणेहि धणमित्त !॥५९॥
काउं ववहारं राउले वि तं लेमि तुह सयासाओ।
इयरो वि पडिभणेई, जं जुत्तं कुणसु तं इब्भ ! ॥६०॥
तो धणमित्तो चारु त्ति साहिओ निवइणो सुमित्तेणं।
न इमं इमम्मि संभवइ कह वि इय चिंतइ निवो वि ॥६१॥
एस पुण निच्छएणं, कहेइ ता पुच्छिमो तयं चेव।
अह हक्कारिय पुट्ठो, धणमित्तो कहइ जह वित्तं ॥६२॥
पभणइ निवो वि विम्हियहियाओ भो इब्भ ! किमिह कायव्वं?।
सो आह देव ! इमिणा,गहिया रयणावली नूणं ॥६३॥
अह जंपइ धणमित्तो, देव ! कलंकं इमं न हु सहेमि।
पभणेह जेण दिव्वेण तेणिमं पत्तियावेमि ॥६४॥
भणइ निवो इब्भ ! तुमं, होसु सिरे जं गहेइ फालमिमो।
आमंतितेण भणिए, ठविओ दिवसो तओ रन्ना॥६५॥
सगिहेसु दो वि पत्ता, अह धणमित्तो विसेसधम्मपरो।
चिट्ठइ सुविसुद्धमणो, पत्तो पुण दिव्वदिवसम्मि ॥६६॥
काउं सिणाण अट्ठप्पयारपूवाइ पूइऊ जिणे।
तह काउ काउसग्गं, सम्मद्दिट्ठीण देवाणं ॥६७॥
फाले धम्मिज्जमाणे, पुरो निविट्ठे निवम्मि लोए य।
बहुपउरजुओ पत्तो, धणमित्तो दिव्वठाणम्मि ॥६८॥
इब्भो वि तत्थ पत्तो, धणमित्तो जाव गिण्हिही फालं।
इब्भस्स उट्ठियाओ, पडिया रयणाबली ताव ॥६९॥
तो भणियं नरवइणा, इब्भ ! किमेयं ति सो वि खुद्धमणो।
जा देइ उत्तरं न हु, ता पुट्ठो तेण धणमित्तो ॥७०॥
जीइ रयणावलीए, कए विवाओ तुमाण सा किमियं।
होइ न व त्ति इमो वि हु, जंपइ सा चेव देव ! इमा ॥७१॥
परमत्थमित्थ नवरं,मुणंति सव्वन्नुणो तओ राया।
नियभंडारियहत्थे स--विम्हओ तं समप्पेइ ॥७२॥
सम्मं संमाणेउं, सुद्धं ति पमुत्तु सिट्ठिधणमित्तं।
नियपुरिसाणं अप्पिय, इब्भं च गओ निवो सगिहं ॥७३॥
अह धणमित्तो नियमित्त--पउरसावयगणेण परियरिओ।
तित्थुन्नइं कुणंतो, संपत्तो नियगेहम्मि ॥७४॥
इत्तो य तत्थ वत्तो, गुणसायरकेवली तयं नमिउं।
धणमित्तो नयरजणो, अपरिजणो नरवई वि गओ ॥७५॥
रन्ना गब्भो वि तहिं, आहूओ निसुणिउं च धम्मकहं।
समए जं वुत्तंतं, पुट्ठो नाणी कहइ एवं ॥७६॥
इह विजयपुरे नगरे, गेहवई आसि गंगदत्त त्ति।
मुद्धला मायाबहुला, मगहा नामेण तस्स पिया ॥७७॥
संवोसियाभिहाए, ईसरवणिणो पियाइ वररयणं।
पविसिय कहमवि तग्गिह--मवहरए लक्खमुल्लं सा ॥७८॥
नाउ इमा तं मग्गइ, न य कइरी मन्नए वयइ विरसे।
तो देइ उवालंभं, वणिभल्ला गंगदत्तस्स ॥७९॥
भज्जानेहषिमोहिय--मणो इमो भणइ गिहमणुस्सेहिं।
तुह चेव तं अवहडं, मा अलियं देसु णेआलं ॥८०॥
इय सुणिय वणिवदइया, नियवररयणोवलंभतुट्ठा सा।
काऊण तावसवयं, उववन्ना वंतरत्तेण ॥८१॥
विहियतहाविहकम्मा, जाया मगहा वि एस इब्भु त्ति।
मरिऊण गंगदत्तो, धणमित्तो एस उववन्नो॥८२॥
कुविएण तेण वंतर--सुरेण नियरयणवइयरे तम्मि।
इब्भस्स तिन्नि पुत्ता, निहणं गमिया कमेणित्थ ॥८३॥
तो रन्ना इब्भमुहे, पलोइए सो भणेह एवं ति।
कि तु मरणम्मि तेसिं, हेऊ इण्हिं मए नाओ ॥८४॥
पुण भणइ गुरु रयणावली वि, तेणेव अवहडा एसा।
पत्तं धणमित्तेणं, आलं किल आलदाणाओ ॥८५॥
धणमित्तधम्मथिरभावरिंजिएहिं सुद्दिट्ठिअमरेहिं।
तं वंतरडक्कमिउ, रयणावलि मोइया तइया ॥८६॥
आह निवो किं अज्ज वि, इमस्स काही सुरो भणइ जाणी।
रयणावलीइ सहियं, विहवं हरिही सुमित्तस्स ॥८७॥
तो अट्ठवसट्ठ गओ मरिउं इब्भो भवे बहुं भमिही।
वंतरसुरजीवो वि हु, बहुहा निज्जाइही वेरं ॥८८॥
इय सोउं संविग्गो, राया रयणाबलिं सुमित्तस्स।
अप्पित्तु ठवित्तु, सुयं, रज्जे गिण्हेइ चारित्तं ॥८९॥
धणमित्तो वि हु जिट्ठं, पुत्तं ठविऊण नियकुडुंबम्मि।
गिण्हिय केवलिपासे, दिक्खं कमलो गओ मुक्खं ॥९०॥''

''इत्यवेत्य धनमित्रवृत्तकं,
शुद्धवृत्तजनहर्षकारकम्।
अन्यगेहगमनं यथा तथा,
संत्यजन्तु भविनो हि सत्पथाः ॥९१॥''

इति धनमित्रचरित्रम्॥ ध० २०।

दन्तपुननगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, आव०४ अ०। नि०चू० आ०क०। आ०चू०। (तद्वक्तव्यता 'णिरवलाव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१११ पृष्ठे द्रष्टव्या) उज्जयिनीनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, ग० २अधि०। (तद्वक्तव्यता 'आउकाय' शब्दे द्वितीयभागे २४ पृष्ठे गता) (तद्वक्तव्यता 'पिवासापरीसह' शब्देऽपि अस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्या) चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे, आव०४ अ०। आ०क०। (तद्वक्तव्यता 'संवेग' शब्दे) शत्रुञ्जयशैलस्थशान्तिमरुदेवयोश्चैत्यस्योद्धरकारके श्रावके, ती०१ कल्प। अवसर्पिण्यां जायमानस्य स्वयंभुवासुदेवस्य पूर्वभव--

नामधेये, ति०। स०। व्यक्तगणधरस्य स्वनामख्याते पितरि च। आ०म०१ अ०२ खण्ड।

धणरक्खिय-पुं०(धनरक्षित) राजगृहनगरस्थस्य धनसार्थवाहस्य पुत्रे, ज्ञा०१ श्रु०७ अ०।

धणराइ-स्त्री०(धनराजि) सिन्धुदत्तसुतायां काम्पिल्यपुरस्थस्य ब्रह्मदत्तस्यान्तःपुरप्रधानायां महिष्याम्, उत्त० १३ अ०।

धणवइ-पुं०(धनपति) ६त०। कुबेरे, वाच० द्वारावतीवर्णनमधिकृत्य–''धणवइमइणिम्मिया।'' धनपतिर्वैश्रवण इति। ज्ञा० १ श्रु०४ अ०। जयपुरनगरस्थे धनावहश्रेष्ठिनो भ्रातरि, दर्श० ४ तत्त्व। वसन्त–पुरनगरस्थे धनावहश्रेष्ठिनो भ्रातरि, आ०म०१ अ०२ खण्ड। काञ्चीनगरनिवासिनि कस्मिंश्चित्सांयात्रिके, येन समुद्रविजयदशार्ह–प्रतिष्ठापिता द्वारावतीस्थिता पार्श्वनाथप्रतिमा द्वारावतीदाहानन्तरं रामुद्रप्लावितायां द्वारावत्यां समुद्रे स्थिता निजयानपात्रे देवताति–शयेन स्खलितेऽत्रैव जिनबिम्बं तिष्ठतीति दिव्यवाचा निश्चिते नावि–कैरुद्धारिता स्वपुरमानीय प्रासादे स्थापितेति। ती० ५२ कल्प। कनकपुरनगरस्थस्य वैश्रवणकुमारस्य युवराजस्य स्वनामख्याते पुत्रे, सुखविपाकाध्ययनेषु षष्ठेऽध्ययने, विपा०२ श्रु० ६ अ०।

कणगपुरं णयरं, सेयासेए उज्जाणे, वीरभद्दो जक्खो, पियचंदो राया, सुभद्दा देवी, वेसमणे कुमारे जुवराया, सिरीदेवीपामोक्खाणं पंचसया, तित्थगरागमणं, धणवई जुवरायपुत्तो० जाव पुव्वभवे मणिभया णयरी, मित्तो राया संभूतिविजए अणगारे पडिलाभिए० जाव सिद्धे॥ विपा० २ श्रु० ६ अ०।

धणवई-स्त्री०(धनवती) कलिङ्गविषयस्थकाञ्चनपुरस्थस्य धनावह–श्रेष्ठिनः सुतायाम्, दर्श० १ तत्त्व। एकस्मिन् सन्निवेशे स्थितस्य कस्यचिद् ग्रामाधिपतिसुतस्य धननाम्नो नवमे भवे भविष्यदरिष्टनेमितीर्थकरस्य भार्यायाम्, उत्त० २२ अ०। कल्प०।

धणवसु-पुं०(धनवसु) उज्जयिनीनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, आव० ४अ०। (वक्तव्यता 'आवई' शब्दे द्वितीयभागे २४५ पृष्ठे गता) ''उज्जयिन्यां धनवसुश्चम्पां गन्तुमना वणिक्।'' आ०क०। आ०चू०।

धणवह-पुं०(धनवह) कलिङ्गविषयस्थकाञ्चनपुरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ''तत्थ धणवहो णाम सेट्ठी।'' दर्श०१ तत्त्व। जयपुरनगरस्थे धनपतिश्रेष्ठिभ्रातरि, ''जयउरं नाम नयरं, जियसत्तू नाम राया, धणवइधणावहा दुवे भायरो सेट्ठी।'' दर्श० ४ तत्त्व। वसन्तपुरनगरस्थे धनपतिश्रेष्ठिभ्रातरि, ''वसंतपुरं नगरं जियसत्तू राया, धणवई–धणावहा भायरो सेट्ठी।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड। राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ''रायगिहे नयरे पहाणस्स धणावहस्स सेट्ठिस्स।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड। कौशाम्बीनगरवास्तव्ये मूलायाः पत्यौ स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, आ०चू० १अ०। ''आसीद्धनावहः श्रेष्ठी, मूला तस्य च गेहिनी।'' आ०क०। ''तत्थेव णयरे धणवहो सेट्ठी, मूला भारिया।'' आ०म०१अ०२ खण्ड। ऋषभपुर स्वस्तूपकरण्डकोद्यानस्थे स्वनामख्याते नृपे, विपा०२ श्रु०२ अ०। (तत्कथा विपाकश्रुतस्य द्वितीये श्रुतस्कन्धे द्वितीयाध्ययने 'भद्दणंदि' शब्दे वक्ष्यते)

धणविजय-पुं०(धनविजय) लोकनालिकासूत्रभाषावृत्तिकृति आचार्ये, अयं विक्रमसंवत् ११४१ मिते विद्यमान आसीत्। जै०इ०।

धणसमिद्ध-त्रि०(धनसमृद्ध) धनेन समृद्धे, ''धणसमिद्धे सत्थवाह–कुलजाओ।'' आव०४ अ०। प्रश्न०।

धणसम्म(ण्)-पुं०(धनशर्म्मन्) उज्जयिनीनगरस्थे धनमित्रवणिक्–सुते स्वनामख्याते वणिजि, ग०२ अधि०। उत्त०।

धणसिरी-स्त्री०(धनश्री) जयपुरनगरस्थयोर्धनपतिधनावह-श्रेष्ठिनोः स्वनामख्यातायां भगिन्याम्, दर्श० ४ तत्त्व। वसन्तपुरस्थयोर्धनपतिधनावहश्रेष्ठिनोर्भगिन्याम्, आ०म० १अ०२ खण्ड। श्रेणिकस्य भार्य्यायाम्, तं०। दन्तपुरनगरस्थस्य धनमित्रसार्थवाहस्य भार्यायाम्, आव४ अ०। आ०क०। आ०चू०। नि०चू०। चम्पानगरीस्थस्य धनसार्थवाहस्य भार्य्यायाम्, आव०४ अ०। चम्पानगरीमधिकृत्य–''धनमित्रसार्थवाहो, धनश्रीस्तस्य वल्लभा।'' आ०क०। हेमपुरस्थस्य सुरदत्तश्रेष्ठिनः सुताया जिनमत्याः स्वनामख्यातायां सख्याम्, दर्श०१ तत्त्व।

धणसेट्ठि(ण्)-पुं०(धनश्रेष्ठिन्) राजगृहनगरस्थे श्रेष्ठिनि, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। (तत्कथा 'धण' शब्देऽनुपदमेव गता) श्रावस्तीवास्तव्ये श्रेष्ठिनि, उत्त०८अ०। (तत्कथा 'कविल' शब्दे तृतीयभागे ३८७ पृष्ठे गता) पाटलिपुत्रनगरस्थे श्रेष्ठिनि; यस्य दुहिता भगवतः सकाशे प्रव्रजिता। आ०म०१ अ०२ खण्ड। कस्मिंश्चिन्नगरे स्थिते धनप्रियायाः पत्यौ स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि च। पिं०।

धणसेण-पुं०(धनसेन) द्वारावतीवास्तव्ये कमलामेलायाः पितरि स्वनामख्याते नृपे, दर्श०४ तत्त्व। आ०म०। आ०चू०।

धणहाणि-स्त्री०(धनहानि) धनक्षये, तत्कारणीभूते राज्यस्यापलक्षणभेदे च। यतः सर्वत्र धनक्षयः सम्भवति। व्य०३उ०।

धणहारि(ण्)-त्रि०(धनहारिण्) धनं हरतीति धनहारी। धनहरण–शीले, प्रश्न०३ आश्र० द्वार।

धणावह-पुं०(धनावह) 'धणवह' शब्दार्थे, दर्श०१ तत्त्व।

धणि-पुं०(ध्वनि) ध्वन इन्। शब्दे, स्था० १ ठा०। विशे०। आव०। तूर्य्यनिनादे, आ०म०१ अ०२ खण्ड। अव्यक्ते मृदङ्गाऽऽदिशब्दे, अलङ्कारोक्ते उत्तमकाव्ये च। वाच०।

*** धणिन्**-पुं०। धनवति, प्रा०२ पाद।

धणिअ-(देशी) गाढे, दे०ना० ५ वर्ग ५८ गाथा।

धणिआ-(देशी) प्रियायाम्, दे०ना०५ वर्ग ५८गाथा।

धणिओज्जालिय-त्रि०[धनितो(को) ज्ज्वालित] अत्यर्थमुज्ज्वालिते, जी० ३ प्रति० ४ उ०।

धणिट्ठा-स्त्री०(धनिष्ठा) अतिशयेन धनवती इष्ठन् इनेर्लुक्। वसुदेवताके स्वनामख्याते नक्षत्रभेदे, वाच०। ज्यो०। स्था०। अनु०। चं०प्र०। जं०। सू०प्र०। स०।

धणिट्ठासंवच्छर-पुं०(धनिष्ठासंवत्सर) यस्मिन्संवत्सरे धनिष्ठानक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपादत्ते स धनिष्ठासम्वत्सरः। इत्युलक्षणे शनैश्चरसंवत्सरभेदे, जं०७ वक्ष०।

धणिय-न०(धणिय) अत्यर्थे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार। ''धणियं अप्पा निजो तच्चो।'' धणियमत्यर्थमिति। व्य०२ उ०। आव०। ''धणियं पि समत्थचित्तेन।'' धणियमत्यर्थमिति। आतु०। अत्यन्ते, उत्त०१ अ०।

***धनिक**-न० अत्यर्थे, ''धीइधणियणिप्पकंपे'' धनिकमत्यर्थमिति। औ०। ''धणियमाणपहाणो य।'' धनिकमत्यर्थम्। ध०२ अधि०। धनिवत् कायति-कै-कः। धन्याके, पु०। न०। धने, पुं०। धनं विद्यतेऽस्त्यस्य ठन्। धनस्वामिनि, वाच०। स०६ अङ्ग। उत्तमर्णे च। त्रि०। ''धनिकस्य यथारुचि।'' इति स्मृतिः। स्त्रियां टाप्। प्रियङ्गुवृक्षे, वध्वां च। वाच०।

***धनित**-न०। अत्यर्थे, ''धीइधणियबद्धकच्छा।'' संथा।

***ध्वनित**-त्रि०। शब्दिते, वाच०।

धणी-(देशी) भार्याप्रामिबद्धे, निःशङ्के च। दे०ना०५ वर्ग ६२ गाथा।

धणु-न०(धनुष्) धन्-उस्। **''धनुषो वा''** ॥८।१।२२॥ प्राकृतसूत्रेण धनुः शब्दस्यान्त्यव्यञ्जनस्य वा हः। कार्मुके, प्रा०१ पाद। भियाल-वृक्षे, धनुर्द्धरे, त्रि०। वाच०। भ०। चापे, आ० म०१ अ०२ खण्ड। स०। जं०। विपा०। ''जावं च णं से पुरिसे धणुं परामुसइ।'' धनुर्दण्डगुणाऽऽदिसमुदायः। भ०५ श०६ उ०। चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्ने अवमानविशेषे, अनु०। ''दंडं धणू य जूबं, नालिया य अक्खो मुसलं च चउहत्थं।'' ज्यो०२ पाहु०। प्रव०। जी०। प्रज्ञा०। तं०। जं०। स्था०। ''छण्णउइअंगुलाणि से एगे दंडेइ वा धणूइ वा जूएइ वा नालियाइ वा अक्खेइ वा मुसलेइ वा।'' भ०६ श०७ उ०। स०। ''धणुं च पंथंम्मि।'' पथि मार्गविधौ धनुरेव मानं मार्गगव्यूताऽऽदिपरिच्छेदो धनुःसंज्ञाप्रसिद्धेनैवावमानविशेषेण क्रियते, न तु दण्डाऽऽदिभिरिति। अनु०। मेषावधिके नवमे राशौ च। न०। वाच०। यो धनुर्विमुक्तार्द्धचन्द्राऽऽदिभिर्बाणैः कर्णाऽऽदीनां च्छेदनभेदनाऽऽदि करोति स धनुः। नारकाणां कदर्थके दशमे परमाधार्मिकभेदे, पुं०। प्रव० १८० द्वार। भ०। अनु०। सम०। ('असिपत्त' शब्दे प्रथमभागे ८४६ पृष्ठे ७६ गाथा गता)

धणुकुमल-न०(कुटिलधनुष्)कुटिले धनुषि, ''धणुकुडिलबंकपागारपरिक्खित्ता।'' धनुष्कुटिलं कुटिलं धनुः। ततोऽपि वक्रेण प्रकारेण परिक्षिप्ता या सा तथा। रा०। ज्ञा०।

धणुक्क-न०(धनुष्क) चापे, स०। चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्ने अवमानविशेषे च। न०। अनु०। पा०। पाञ्चालदेशस्थकाम्पिल्यपुरनृपतेर्ब्रह्मदत्तपितुर्ब्रह्मराजस्य स्वनामख्याते सेनापतौ, उत्त० १३ अ०। आ०क०। (तद्वक्तव्यता 'बंभदत्त' शब्दे वक्ष्यते)

धणुग्गह-पुं०(धनुर्ग्रह) वातव्याधिविशेषे, धनुर्ग्रह इति वा। जी०३ प्रति०४ उ०। धनुर्ग्रहोऽपि वातविशेषो, यः शरीरं कुब्जीकरोति। बृ० ३उ०। व्य०।

धणुत्तासणा-स्त्री०(धनुस्त्रासना) धनुषा भयजनने, ''सद्दोवओगो धणुत्तासणा य।'' धानुष्कैर्वा पाषाणैर्वा पक्षिणस्त्रासनां कुर्वन्ति भयमुपजनयन्तीत्यर्थः। बृ०२ उ०।

धणुद्धय-पुं०(धनुर्ध्वज) भविष्यदुत्सर्पिण्यां महापद्मस्य प्रथमतीर्थकरस्य सकाशे प्रव्रजिष्यति स्वनामख्याते नृपे, स्था० ८ ठा०।

धणुद्धर-पुं०(धनुर्धर) धनुर्धारयति धृ-अच्। धानुष्के, वाच०। धनुर्द्धराः कोदण्डप्रहरणा इति। स०।

धणुपिट्ठ-न०(धनुष्पृष्ठ) मण्डलखण्डाऽऽकारे क्षेत्रे, स०५७ सम०। जम्बूद्वीपलक्षणवृत्तक्षेत्रस्य हैमवतैरण्यवताऽऽदिवर्षावच्छिन्नस्याऽऽरोपितज्याधनुष्पृष्ठाकारे परिधिखण्डे च। हैमवतैरण्यवतोरधिकारे जम्बूद्वीपलक्षणवृत्तक्षेत्रस्य हैमवतैरण्यवताभ्यां द्वितीयषष्ठवर्षाभ्यामवच्छिन्नस्याऽऽरोपितज्याधनुष्पृष्ठाकारे परिधिखण्डे धनुष्पृष्ठे, उच्यते, तत्पर्य्यन्तभूते सरलप्रदेशपङ्क्ती तु जीवे इव जीवे इति। स० ३७ सम०। (तच्च कस्य वर्षस्य वर्षधरपर्वतस्य कियत्प्रमाणमिति 'वासहर' शब्दे वक्ष्यते)

धणुपुहत्तिया-स्त्री०(धनुष्पृथक्त्विका) गव्यूते, ''धणुपुहत्तिया वि गाउयं वि।'' गव्यूतं द्विधनुः सहस्रप्रमाणमिति। प्रज्ञा० १पद।

धणुबल-न०(धनुर्बल) धनुर्द्धरबले, ''धणुबलं वा आलिंगति।'' भ० ३श० २ उ०।

धणुय-न०(धनुष्क) 'धणुक्क' शब्दार्थ, स०।

धणुव्वेय-पुं०(धनुर्वेद) धनुष उपचारात् तत्प्रक्षेपणीयास्त्र-प्रयोगाऽऽदेरुपयोगी वेदः। यजुर्वेदस्योपवेदे, शस्त्रास्त्रप्रयोगोप-संहारप्रतिपादकमन्त्रसहिते शास्त्रभेदे, वाच०। धनुःशास्त्रे, जं०२ वक्ष०। इषुशास्त्रे, तच्च भगवत ऋषभदेवस्य समये आसीत्। ''इसुसत्थं धणुव्वेओ।'' इषुशास्त्रं नाम धनुर्वेदः, स च तदैव राजधर्मे सति प्रावर्तत। आ०म० १ अ०१ खण्ड। शिक्षाशास्त्रे, ''कुलपुत्रक एकोऽत्र, धनुर्वेदविशारदः। कस्यापि धानिनःपुत्रान्, धनुर्वेदमशिक्षयत्॥१॥'' आ०क०। आ० म०। तदात्मके द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाभेदे, औ०। स०। ज्ञा०। सूत्र०। तदात्मके पापश्रुतभेदे च। आव०४ अ०।

धणुस्संड-न०(धनुःखण्ड) धनुःशकले, **''सषोः संयोगे सोऽग्रीष्मे''** ॥८।४।२८६॥ इति सूत्रेण मागध्यां संयोगे वर्तमानयोः सकारषकारयोरुर्द्धलोपाऽऽद्यपवादः सः। प्रा०४ पाद।

धणुस्सग्ग-पुं०(धनोत्सर्ग) धनसम्पत्तौ, स्था०३ ठा०३ उ०।

धणुह-पुं०(धनुष्) 'धणु' शब्दार्थ, प्रा०१ पाद।

धणेसर-पुं०(धनेश्वर) भरुकच्छस्थे स्वनामख्याते वणिजि, ती० ६ कल्प। कान्तीनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे, येन द्वारावत्यां कृष्णवासुदेवेन प्रतिष्ठापिता पार्श्वनाथप्रतिमा द्वारावतीदाहानन्तरं समुद्रेण द्वारावत्यां प्लावितायां समुद्रमध्ये स्थिता सिंहलद्वीपगमने स्वयानपात्रे स्तम्भिते पद्मावतीदेव्या वाक्येन समुद्रमध्यादुद्धृत्य स्वनगरप्रासादे स्थापितेति। ती०

१ कल्प। भद्रबाहुस्वामिविरचितबृहत्कल्पभाष्यवृत्तिकर्तुः क्षेमकीर्ति-सूरेर्गुरुपरम्परायां जाते स्वनामख्याते आचार्य्ये, बृ०।

''श्रीजैनशासननभस्तलतिग्मरश्मिः,
श्रीपद्मचन्द्रकुलपद्मविकाशकारी।
पूज्यो निरावृतदिगम्बरडम्बरोऽभूत्,
श्रीमान् धनेश्वरगुरुःप्रथितः पृथिव्याम् ॥७॥
श्रीमच्चैत्रपुरैकमण्डनमहावीरप्रतिष्ठाकृत-
स्तस्माच्चैत्रपुरप्रबोधतरणिः श्रीचैत्रगच्छोऽजनि।
तत्र श्रीभुवनेन्द्रसूरिसुगुरुर्भूभूषणं भासुर-
ज्योतिः सद्गुणरत्नरोहणगिरिः कालक्रमेणाऽभवत् ॥६॥''

बृ० ६ उ०। द्वितीयोऽप्येतन्नामा विशालगच्छीयो जिनवल्लभसूरिर-चितसार्द्धशतकग्रन्थोपरि टीकाया रचयिताऽयमाचार्यः विक्रमसंवत्-११७१ वर्षे आसीत्। अपरोऽप्यतिप्राचीनः शिलाऽऽदित्यराजस्य वलभीपुरराजस्यार्थे शत्रुञ्जयमाहात्म्यग्रन्थकृद्धनेश्वरसूरिः। जै०इ०।

धणोहसंचय-पुं०(धनौघसंचय) धनस्यौघः समूहो धनौघस्तस्य संचयो राशीकरणम्। कनकाऽऽदिद्रव्यसमूहस्य राशीकरणे, उत्त० १० अ०।

धण्ण-त्रि०(धन्य) धनं लब्धा, धने साधुः, धनमर्हति। भ०२ श० १ उ०। अन्त०। स्था०। नि०। धनाय हितं धनस्य निमित्तं संयोग उत्पातो, धनं प्रयोजनमस्य वा यत्। वाच० धनलम्भिनि, ज्ञा० १ श्रु० १अ०। कल्प०। भ०। ''धण्णाओ अणंताओ अंवगाओ।'' आ०म०१ अ०२ खण्ड। ''अहो एयस्स धण्णया।'' आ०म०१ अ० २ खण्ड; ''धण्णेसि णं तुमं जाया!'' धनं लब्धासि। भ० ६श० ३३ उ०। धनावहे, ज्ञा० १ श्रु०१ अ०। सौभाग्याऽऽदेयताऽऽदिना धनार्हे, द्वा० १४ द्वा०। धनलाभयोग्ये, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। धनसाधौ पुण्यवति, पञ्चा० २ विव०। पं०व०। ''धण्णणमेयजोगो, धण्णा चेट्ठंति एवणीतिए। धण्णा वहु मण्णंते, धण्णा जे णऽप्पदूसंति'' ॥१॥ धन्यानां भावधनलब्धृणां तत्साधूनां वा सत्त्वानामिति गम्यते, तद्योगेऽपि धन्याः पुण्यवन्तश्चेष्टन्ते प्रवर्त्तन्त इति। पञ्चा० २ विव०। श्रेयस्करे, आव०४ अ०। श्लाघ्ये, ''तेधण्णा सप्पुरिसा।'' पञ्चा० ६ विव०। अश्वकर्णवृक्षे, कृतार्थे, धनोपयोगिन्यर्थशास्त्रे, धनाय हिते, धनकारणे च। वाच०। धनं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणमर्हन्तीति धन्याः। साध्वादिषु ज्ञानदर्शन-चारित्रधनेषु, ''धन्ना णाणाइधणा।'' विशे०। ''धण्णा आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति।'' धन्या धर्मधनं लब्धारः। पञ्चा० ११ विव०। भ०। पार्श्वनाथस्य प्रथमभिक्षादायके स्वनामख्याते श्रावके, आ०म०१ अ०१खण्ड। काकन्दीवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे च। पुं०। तत्कथाऽनुत्तरोपपातिकदशाया-स्तृतीयवर्गस्य प्रथमेऽध्ययने। सा च 'धण्णग' शब्दे तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धेऽनुत्तरोपपातिकदशायास्तृतीय-वर्गस्य प्रथमेऽध्ययने च। अनु०। आमलक्याम्, धन्याके, वाच०। वाराणस्यां नगर्यां कोष्ठचैत्यवास्तव्यस्य सुरादेव गृहपतेर्भार्य्यायां च। स्त्री। उपा० ४ अ०। (तत्कथा ''सुरादेव'' शब्दे वक्ष्यते)

***धन्व**-न०। धन्व-अच्। चापे, वाच०।

***धन्वन्**-न०। धन्व०-कनिन्। धनुषि, मरुदेशे च। वाच०।

***धान्य**-न०। धाने पोषणे साधु-यत्। सतुषे तण्डुलाऽऽदौ, सबीजे शालितिलयवाऽऽदौ च। दश० ६ अ०। वाच०। उत्त०। सूत्र०। धान्यं व्रीहिकोद्रवमुद्गमाषतिलगोधूमयवाऽऽदि। आव०६ अ०। तच्च सप्तदश-विधम्- ''सणसत्तरसावीया भवे धण्णं।'' शणं सप्तदशं येषां तानि शणसप्तदशानि बीजानि धान्यं भवेदिति। तानि चामूनि- ''तानि चामूनि- ''व्रीहिर्यवो मसूरो, गोधूमो मुद्गमाषतिलचणकाः। अणवः प्रियङ्गुकोद्रवमकुष्टकाः शालिराढक्यः ॥१॥ किं च कलायकुलत्थौ, शणसप्तदशानि बीजानि।'' बृ०१ उ०२ प्रक०। आ०म०।

कुत्रचिद् धान्यानां चतुर्विंशतिभेदा यथा-

सणसत्तरसादीणं, धण्णकाणं तु कोडिकोडीणं।
जेसिं तु भायणट्ठा, एरिसया होंति णिइईया ॥३३१॥

गणः सप्तदशो येषां तानि शणसप्तदशानि। तानि चामूनिशालिः, यवः, कोद्रवः, व्रीहिः, रालकः, तिलाः, मुद्गाः, माषाः, चवलाः, चणकाः, तुवरी, मसूरकः, कुलत्थाः, गोधूमाः, निष्पावाः, अतसी, शणश्च। उक्तं च- ''सालिजवकोद्दवतीहि-रालगतिलमुग्गमासचवलचणा। तुवरिमसूर-कुलत्था, गोहुमनिप्फावअयसिसणा ॥१॥'' व्य० १ उ०।

धन्नाइं चउवीसं, जव गोहुम सालि वीहि सट्ठी य।
कोद्दव अणुया कंगू, रालय तिल मुग्ग मासा य ॥१०१८॥
अयसि हरिमंथ तिउगउ, निप्फावसिलिंद राय मासा य।
इक्खू मसूर तुबरी, कुलत्थ तह धन्नय कलाया ॥१०१९॥

धान्यानि चतुर्विंशतिर्भवन्ति। यथा-जवाः, गोधूमाः, शालयो, व्रीहयः, षष्टिकाः, कोद्रवाः, अणुकाः, कङ्गुः, रालकः, तिलाः, मुद्गा माषाश्च। तथा अतसी, हरिमन्थाः, त्रिपुटका निष्पावा शिलिन्दा राजमाषाः, इक्षवः, मसूराः, तुबरी, कुलत्थाः, तथाधान्यकं, कलाय इति। एतानि च प्रायेण लोकप्रसिद्धानि प्रागुक्तानि, नवरं षष्टिकाः शालिभेदाः, ये षष्टिरात्रेण पच्यन्ते। अणुका जुगन्धरी, बृहच्छिरा कङ्गुः, अल्पतरशिरा रालकः, हरिमन्थाः कृष्णचणकाः, शिलिन्दा मकुष्टाः, राजमाषाश्च-वलकाः, धान्यं कुस्तुम्भरी, कलाया अत्र वृत्तचणका इति। प्रव० १५६ द्वार। केचन भूकटिका वदन्ति यथा श्रीमतां त्रिफलाऽऽद्युत्कट-द्रव्यनिष्पन्नचूर्णप्रक्षेपे प्रासुकं पानीयं तथाऽस्माकमप्युत्कटद्रव्य-जनितचूर्णप्रक्षेपे धान्यादि प्रासुकीभवतीति किमत्र बाधकमिति प्रश्ने, उत्तरम्- भूकटिककृताशङ्कामाश्रित्य यथा त्रिफलाप्रक्षेपादुदके वर्णाऽऽदिपरावर्तो भवति तथा यदि धान्यफलाऽऽदावपि भवेत्तदोदकवद् धान्यादि प्रासुकं भवति न च तस्मात्तत्कथं प्रासुकं तदिति। २१ प्र०। रोन०३ उल्ला०। पञ्चदशकर्माऽऽदाननिषेधवता धान्यनालिकेराऽऽदि-फलगुलीहरितालपशूनां विक्रये भङ्गोऽभङ्गो वा? तथा सद्दालपुत्राऽऽदीनां श्राद्धानां कर्माऽऽदानस्य संभवो, निषेधो वेति प्रश्ने, उत्तरम्- धान्याऽऽदीनां कृतपरिमाणादूर्द्ध क्रयादिकरणे भङ्गोऽन्यथा न चेति, तथा सद्दालपुत्राऽऽदीनां परिमितत्वादङ्गीलादिकर्म्मकरणेऽपि न कर्माऽऽ-दानसंज्ञेति वृद्धोक्तिः ।७९। प्र०। सेन०३ उल्ला०।

धण्णंतरि-पुं०(धन्वन्तरि) धन्वन् शिल्पशास्त्रं तस्यान्तमियर्त्ति ऋ इन् शक०। ''नारायणांशो भगवान्, स्वयं धन्वन्तरिर्महान्।

पुरा समुद्रमथने, समुत्तस्थौ महोदधेः ॥१॥'' इत्युक्ते स्वर्गवैद्यभेदे, दिवोदासे काशिराजे, विक्रमाऽऽदित्यसभासदे पण्डितभेदे, ''धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्ट'' इत्यादि। वाच०। वैद्यकशास्त्रप्रणेतरि स्वनामख्याते योगिनि, ''जोगीव जहा महावेज्जो।'' योगी धन्वन्तरिः, तेन च विभङ्गज्ञानबलेनाऽऽगामिनि काले प्राचुर्य्येण रोगसंभवं दृष्ट्वाऽष्टाङ्गाऽऽयुर्वेदरूपं वैद्यकशास्त्रं चक्रे। बृ० १ उ०२ प्रक०। विजयपुरराजस्य कनकरथस्य स्वनामख्याते वैद्ये, तत्कथा विपाकश्रुतस्याष्टमेऽध्ययने इति। स्था० १० ठा०। (सा च 'उउंबरदत्त' शब्दे द्वितीयभागे ६८३ पृष्ठे दृश्या) जमदग्निपरीक्षार्थं मनुष्यलोकमुपागते देवलोकस्थे स्वनामख्याते तापसे, ''इतश्च जैनमाहेशावभूतां द्वौ सुरौ दिवि। स्वं स्वं धर्मं प्रशंसन्ता– वूचतुः साधु तापसौ ॥१॥'' आ०क०। आ०चू० ''इतो य दो देवा वेसानरो सङ्खो धणंतरी तावसभत्तो।'' इति। आ०म०१ अ०२ खण्ड। द्वारावतीवास्तव्ये कृष्णवासुदेवस्य स्वनामख्याते वैद्ये, आ०क०।

''बारवई वेअरणी, धन्नंतरि भविअ अभविए विज्जे।
कहणा य पुच्छिअम्मी, गइनिद्देसे असंबाही'' ॥१॥ आ०क०।
''नगरी द्वारवत्यासीदुपकण्ठं पयोनिधे।
भोगावतीव पातालादागता क्ष्मापुरेक्षया ॥१॥
रत्नान्यतो गृहीत्वैव सर्वरत्नमयी कृता।
पुरीयं वेधसाऽथोऽभूदब्धेरेवाब्धिरेष सः॥२॥
नाम्ना कृतो नृपस्तत्र, चरित्रैर्धवलः पुनः।
अहिमांशुः प्रतापेन, हिमांशुश्च प्रसत्तितः॥३॥
विद्येते तत्र वैद्यौ द्वौ, वैद्यविद्याविशारदौ।
भव्यो वैतरणीनामा, धन्वन्तरिरभव्यकः॥४॥
चिकित्सां ग्लानसाधूनां, भव्यः प्रासुकभेषजैः।
विदधाति प्रदत्ते च, स्युश्चेत्तानि स्ववेश्मनि ॥५॥
अभव्यो ग्लानसाधूनामाख्यत्सावद्यभेषजम्।
प्रासुकं ब्रूहि नः किञ्चिदित्युक्ते साधुभिः पुनः॥६॥
स ऊचे न मयाऽधीतं, वैद्यकं भवतां कृते।
एवं तौ द्वौ महारम्भां, चिकित्सां कुरुतः पुरि॥७॥
प्रभुं कृष्णोऽन्यदाऽप्राक्षी–द्वैद्ययोः क्वाऽनयोर्गतिः?।
जीवांशौषधिदानेन, जीवहिंसाविधायिनोः ॥८॥
स्वाम्यूचे सप्तमीं पृथ्वीं, पापो धन्वन्तरिर्गमी।
भव्यो वैतरणीजीवो, गङ्गामिन्ध्यान्तरे हरिः ॥९॥
स च तत्र वयः प्राप्तो, भावी यूथपतिः स्वयम्।
गमिष्यन्त्यन्यदा तत्र, सार्थेन सह साधवः॥१०॥
तत्रैकस्य मुनेः पादे, मग्नं शल्यं दुरुद्धरम्।
ततस्तदर्थं सर्वेऽस्थुः, सशल्यांहिर्मुनिर्जनौ॥११॥
मदर्थं वो मृतिर्मा भूत्, शल्यमेतन्ममान्तकृत्।
तच्छल्योद्धरणाशक्ताः, निर्बन्धात्तेन नोदिताः ॥१२॥
मुक्त्वा तं स्थण्डिले शुद्धे, सच्छायस्य तरोस्तले।
तेऽपि जग्मुः कथमपि, शोकशल्येन शल्यिताः॥१३॥
तदा च तत्र स भ्राम्यन्नागाद् वानरयूथपः।
पुरोगैस्तुमुलश्चक्रे, साधुं तं वीक्ष्य वानरैः ॥१४॥
यूथपस्तमथोऽपश्यन्नूहापोहेन तत्क्षणात्।
जातजातिस्मृतिः सर्वं, प्राग्भवं स्मरति स्म सः ॥१५॥
दृष्ट्वा शल्यं मुनेः शल्यो द्धरणीं शल्यरोहणीम्।
गिरौ गत्वाऽनयत्साधुं, निःशल्यं विदधेऽचिरात् ॥१६॥
साधोरग्रे लिखित्वाऽऽख्यत्सोऽथ प्राग्भववैद्यताम्।
धर्ममाख्यन्मुनिः सोऽथानशनेन मृतस्त्र्यहात् ॥१७॥''

अथ किं तस्याभूदित्याह–

''सो वानरजूहवई, कंतारे सुविहिआणुकंपाए।
भासुरवरबुंदिधरो, देवो वेमाणिओ जाओ ॥१८॥''
अनुकम्पा भक्तिः। वैमानिकः सहस्रारे।
''प्रयुज्यावधिमद्राक्षीत्तद्भवपुस्तं मुनिं च सः।
द्रागेत्यादर्शयद्दिव्यां, देवर्द्धिं तां निजां मुनेः ॥१९॥
ऊचे च त्वत्प्रसादने, प्राप्यत श्रीरियं प्रभो!
तेनाथोत्पाट्य स मुनिर्नीतः स मुनिसन्निधौ॥२०॥
दृष्टास्तेऽस्माहुरागास्त्वं, कथं शल्यमगाच्च ते।
सोऽथ वानरवैद्यस्योदन्तं तेषामचीकथत्॥२१॥
वानरः साधुभक्त्यैवं, लेभे सामायिकव्रतम्।
अन्यथोपात्तदुःकर्मा, स्याद् वराकः स नारकः॥२२॥''
आ०क०।

धण्णंतरिकूव-पुं०(धन्वन्तरिकूप) अहिच्छत्रानगरीस्थे स्वनाम-ख्याते कूपे, ''धण्णंतरिकूवस्स यावि पिंजरवण्णए मट्टियाए गुरूवएसा कंचण उप्पज्जइ।'' ती०६ कल्प।

धण्णमण्ण-त्रि०(धन्यमन्य) आत्मानं धन्यं मन्यमाने, ''धन्यंमन्योऽतिभक्तितः।'' आ०क०।

धण्णय-पुं०(धन्यक) शालिभद्रभगिनीपतौ, स्था० १० ठा०। काकन्दीनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे, तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धेऽनुत्तरोपपातिकदशायास्तृतीयवर्गस्य द्वितीयेऽध्ययने च। स्था०१० ठा०।

दृश्यते तु प्रथमेऽध्ययने–

जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं काकंदी णाम नयरी होत्था, रिद्धित्थिमियसमिद्धा। सहसंबवणे उज्जाणे, सव्वोवरिय, जियसत्तू राया। तत्थ णं काकंदीए नयरीए भद्दा नामं सत्थवाही परिवसइ अड्ढा०जाव अपरिभूता। तीसे णं भद्दाए सत्थवाहीए पुत्ते धण्णे नामं दारए होत्था, अहीण० जाव सुरूवे पंचधाइपरिगहितो। तं जहा–खीरधातीए० जहा महाबलो०जाव बावत्तरिकलाओ अहीने० जाव अलंभोगसमत्थे जाते यावि होत्था। तते णं सा भद्दा सत्थवाही धण्णं दारयं उम्मुक्कबालभावं०जाव भोगसमत्थं विजाणित्ता बत्तीसं पासायवडंसिए कारेति, अब्भुग्गय भूमीए०जाव अणेगसंभसयसण्णिविट्ठं०जाव वत्तीसाए इब्भवरकण्णयाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हावेति, वत्तीसओ दाओ० जाव उप्पिं पासाय फुट्टंति०जाव विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे, परिसा निग्गया, राया जहा कोणिओ तहा निग्गतो। तते णं तस्स धण्णस्स दारगस्स तम्मि महे जहा जमाली तहा निग्गते, नवरं पायचारेणं० जाव नवरं अम्मयं भद्दं सत्थवाहिं आपुच्छामि। तते णं अहं

देवाणुप्पिए ! अंतिए० जाव पव्वयामि० जाव जहा जमाली तहा आपुच्छति, पुच्छित्ता वुत्तं पडिवुत्तिया जहा महाबले० जाव जाहे नो संचाएति जहा थावच्चापुत्तस्स जियसत्तू आपुच्छति, छत्तचामराओ सयमेव जितसत्तू निक्खमणं करेति, जहा थावच्चापुत्तस्स कण्हे०जाव पवइए अणगारे जाए इरियासमिते०जाव गुत्तबंभयारी । तते णं से धण्ण अणगारे जं चेव दिवसं मुंडे भवित्ता० जाव पव्वइत्तए, तं चेव दिवसं समणं भगवं महावीरं वंदति, नमंसति, नमंसतित्ता एवं बयासी– एवं खलु इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणा जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं आयंबिलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स विहरित्तए, छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि कप्पति से आयंबिलं पडिग्गहित्तए नो चेव णं अणायंबिलं, तं पि य संसट्ठं नो चेव णं असंसट्ठं, तं पि य णं उज्झियधम्मियं नो चेव णं अणुज्झिय–धम्मियं, तं पि य णं जं अण्णे बहवे समणमाहण-अतिहिकिवण–वणीमगा नावकंखति अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तते णं से धण्णे अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णति समाणे हट्ठ० जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरति । तते णं से धण्णे अणगारे पढमछट्ठसमणपारणयम्मि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेति, जहा गोयमसामी तहेव आपुच्छति, जेणेव काकंदी नगरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता काकंदीए नगरीए उच्चनीच० जाव अडमाणे आयंबिलं णो अणायंबिलं०जाव नावकंखति । तते णं से धण्णे अणगारे ताए अब्भुज्जतपवत्ताए परिगाहियत्ताए एसणाए एसमाणे जति णं भत्तं लभति, तो पाणं न लभति जति पाणं लभति, तो भत्तं न लभति । तते णं से धण्णे अणगारे अदीणे अदीणमणे अकलुसे अविसाई अपरितंतयोगी जयणघडणजोगचरित्ते अहापज्जत्तसमुदाणं पडिगाहिति, पडिगाहितित्ता काकंदीनगरीतो पडिनिक्खमति जहा गोयमो तहा पडिदंसेति । तते णं से धण्णे अणगारे समणेणं भगवया अब्भणुण्णाते समाणे अमुच्छिए०जाव अणज्झोववण्णे विलमिव पण्णगभूएणं अप्पाणं आहारं आहारेति, आहारेतित्ता संजमेणं तवसा०जाव विहरति । तए णं से समणे भगवं महावीरे अण्णया कया वि काकंदीनयरीतो सहसंबवणाओ पडिनिक्कमति, बहिया जणवयविहारं विहरति । तए णं से धण्णे अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जति, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति । तए णं से धण्णे अणगारे जहा खंदओ० जाव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठति, धण्णस्स णं अणगारस्स पाणं अयमेयारूवे तवरूवला–वण्णे होत्था–से जहानामए रुक्खछल्ली ति वा कट्ठपाओया ति वा जरग्गाओ वा णहेति वा एवामेव धण्णस्स अणगारस्स पाया सुक्का निम्मंसा अट्ठिचम्मविरत्ता ते पणायंति नो चेव णं मंससोणि–यत्ताए धण्णं अणगारयं ति पायं अयमेयारूवे से जहानामए कलसंगलिया ति वा मुग्गमाससंगलिया ति वा तरुणिया छण्णा उण्हे दिन्ना सुक्का समाणा गिलायमाणी चिट्ठति, एवामेव धण्णस्स पायंगुलिआए सुक्काओ०जाव सोणियत्ताए धण्णस्स जंघाणं अयमेयारूवे से जहाणामए कक्कजंघा ति वा केकइजंघा ति वा डिणियाति वा जंघायं ति वा०जाव सोणियत्ताए, धण्णस्स जाणूणं अयमेयारूवे, से जहानामए कालिपोरेइ वा मउरपोरेइ वा डिणियालिया पोरेति वा०जाव सोणियत्ताए,धण्णस्स उरू अयमेयारूवे, से जहानामए सामकरिइल्लेइ वा वोरिकरिइल्लेइ वा सल्लइसामलितरूवं ते छिण्णिऊणि०जाव चिट्ठति, एवामेव धण्णस्स उरू वा सोणियत्ताए, धण्णस्स कडिपट्टस्स इमेयारूवे, स जहानामए उट्टयाए ति वा उरूगपाए ति वा महिसपादेइ वा० जाव सोणियत्ताए, धण्णस्स उदरभाणयस्स इमेयारूवे, से जहा–नामए सुक्कवलदित्तेइ वा भज्जणयकवल्लेइ वा कट्ठकोलंबथोमे व उदरं सुक्कं, धण्णस्स पांसुलियकंडयाणं इमेयारूवे, से जहानामए कंसयावली ति वा पाणावली ति वा रूडावली ति वा, धण्णस्स पिट्ठकरंडयाणं इमेयारूवे, से जहा–नामए चित्तय-कडरेति वा वायणीघत्तेइ वा तालीयटपत्तेइ वा, एवामेव धण्णस्स बाहाणं इमेयारूवे, से जहानामए समिसंगलियाइ वा पहाया-संगलिया ति वा अगच्छियसंगलिया ति वा, एवामेव धण्णस्स हत्थाणं अयमेयारूवे, से जहानामए सुक्कछगणियाइ वा वडपत्तेइ वा पलासपत्तेइ वा, एवामेव धण्णस्स हत्थंगुलीयाणं अयमेया-रूवे, से जहानामए कुलसंगलियाति वा मुग्गमासतरुणियाच्छिए आय–वेदिणा सुक्का समाणी, एवामेव धण्णस्स गीवा, से जहानामए करगगीवाइ वा कुंडियागीवाइ वा उवत्थवणाए वा, एवामेव धण्णस्स हणुयाए से जहानामए लाउफलेइति वा हओवफलेइ वा अंबगट्ठियाए वा, एवामेव धण्णस्स उट्ठाणं से जहाणामए सुक्कजलोया ति वा सेलेसुगुलिया ति वा अलत्तंग-गुलिया ति वा, एवामेव धण्णस्स जिब्भाए, से जहा वडपत्तेति वा उंवरपत्तेति वा सागपत्तेति वा, एवामेव धण्णस्स नासियाए, से जहाणामए अंवडगपेसियाए वा माउलुंगपेसियाइ वा तरुणिया , एवामेव धण्णस्स अच्छीणं, से जहानामए वीणाछिद्द त्ति वा पभाइयतारगा ति वा, एवामेव धण्णस्स कण्णाणं, से जहाणामए सीस-गूला छल्लियाति वा वालुकछल्लीइ वा करेल्लयाछल्लियाइ वा

एवामेव धण्णस्स (?) से जहा णामए तरुणगलाओ ति वा तरुणगएलालुय त्ति वा सिल्हलए त्ति वा तरुणए०जाव चिट्ठति, एवामेव धण्णस्स अणगारस्स सीसं लुक्खं निम्मंसं अट्ठिचम्मछिरत्ताए पणायंति, नो चेव णं मंससोणियत्ताए, एवं सव्वत्थमेव नवरं उदरभायणा कण्णा जिब्भा ओट्ठा एएसिं अट्ठी न भवति चम्मछिरत्ताए पणाइतं भणंति, धण्णेणं अणगारेणं मुखपायजंधोरुहणादिगतं तम्मिक्करालणं ककडाहेणं पिट्ठमंसिएणं उदरभायणेणं वीतिज्झमाणेहिं पांसुलिकडएहिं अक्खसुत्तमाला विव गणिज्झमाणेहि पिट्ठकरंडगसंधीहिं गंगातरंगभूतेणं उक्खंडगदेसभायणेणं सुक्कसप्पसाणेहिं बाहाहिं सिढिलकडाली बिव लंबंतेहि य अग्गिदहेहिं कंपणाईओ बिब वेयमाणीए सीसघडीए पच्चातवदन–कमले ओज्झगघडामुहे ओछड्डणयकोले जीवंजीवेणं गच्छंति जीवंजीवेणं चिट्ठंति, भासं भासिस्सामि, विगलाइ से जहानामए इंगालसगडियाति वा जहा खंदओ तहा०जाव हुतासणाइभासरासिपालिछिण्णे तवेण तए णं तवतेयं सिरीसउव्व सोभेमाणे सोभेमाणे चिट्ठति । तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे गुणसिले चेइए सेणिए राया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसढे, परिसा निग्गया, सेणिओ निग्गओ, धम्मकहा, परिसा निग्गया तए णं से सेणिए राया समणस्स०अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म समणं भगवं वंदति, नमंसति, नमंसतित्ता एवं बयासी–इमेसि णं भंते ! इंदभूतिपामोक्खाणं चउदसण्हं समणसाहस्सीणं कयरे अणगारे महादुक्करकारए चेव महानिज्जराए चेव? एवं खलु सेणिया ! इमासिं इंदभूतिपामोक्खाणं चउदसण्हं समणसाहस्सीणं धण्णे अणगारे महादुक्करकारए चेव महानिज्जराए चेव । से केसि णं भंते ! एवं बुच्चति–इमासिं०जाव साहस्सीणं धण्णे णं अणगारे णं महादुक्करकारए चेव महानिज्जराए चेव? एवं खलु सेणिया ! तेणं कालेणं तेणं समएणं काकंदीनामं नयरी होत्था; उप्पिं पासायवडिंसए विहरति । तते णं अहं अण्णया कयाइ पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव काकंदी नयरी जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे तेणेव उवागए अहापडिरूवं उग्गहं संजमेणं ०जाव विहरामि,परिसा निग्गया तहेव०जाव पव्वतिते०जाव विलमिव ०जाव अहारेति । धण्णस्स णं अनगारस्स पदाइसरीरवण्णतो सव्वो०जाव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठति, से तेणट्ठेणं सेणिया ! एवं वुच्चति– इमासिं च चउद्दससहस्साणं धम्मे अणगारे महादुक्करकारए महानिज्जराए चेव । तते णं से सेणिए राया समणस्स भगवओ अंतिए एअमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० समणं भगवं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, करेतित्ता वंदति, नमंसति, णमंसित्ता जेणेव धण्णे अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता धण्णं अणगारं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, वंदति, नमंसति, णमंसित्ता एवं बयासी–धण्णेसि णं तुमं देवाणुप्पिए ! संपुण्णे सुकयत्थे कंतलक्खणे सुलद्धे णं देवाणुप्पिया ! तव माणुस्सए जम्मजीवियफले त्ति कट्टु वंदति, नमंसति, णमंसतित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं तिक्खुत्तो वंदति, नमंसति, णमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तते णं तस्स धण्णस्स अणगारस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणे इमेयारूवे अब्भत्थिए–एवं खलु अहं इमेणं उरालेणं जहा खंदओ तहेव चिंता आपुच्छणं थेरेहि सद्धिं विपुलं दुरूहति मासियाए संलेहणाए नवमासपरियाओ०जाव कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिम० जाव नवगेविज्जयविमाणपत्थडे उड्ढं दूरं वीतीवयति, वीतीवतित्ता सव्वट्ठसिद्धे विमाणे देवत्ताए उववण्णे थेरा तहेव उत्तरंति०जाव इमीसे आयारभंडेति भंते त्ति भगवं गोयमे तहेवपुच्छति, पुच्छतित्ता जहा खंदयस्स भगवं वागरेति०जाव सव्वट्ठसिद्धे विमाणे उववण्णे । धण्णस्स णं भंते ! देवस्स केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! तेत्तीसं सागरोवमा ठिती पण्णत्ता । से णं भंते ! ततो देवलोगाओ कहिं गच्छहिति० कहिं सिज्झिहिति? गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०५, एवं खलु जंबू ! समणेणं० जाव संपत्तेणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते । अणु०३ वर्ग१ अ०।

***धान्यक**–न० । कुस्तुम्भरीनामके धान्यभेदे, दश० ६अ०।

धण्णगर–न०(धान्यकर) स्वनामख्याते पुरे, यत्र विमलजिनेन प्रथमभिक्षा लब्धेति । आ०म०१ अ०१ खण्ड ।

धण्णजक्ख–पुं०(धन्ययक्ष) ऋषभपुरस्थकरण्डकोद्यानस्थे यक्षे, विपा० २ श्रु०२ अ०। (तत्कथा 'भद्दणंदि' शब्दे वक्ष्यते)

धण्णणिहि–पुं०(धान्यनिधि) कोष्ठागारे लौकिके निधिभेदे स्था०५ ठा०३उ०।

धण्णपत्थय–न०(धान्यप्रस्थक) धान्यमानविशेषे, व्य०१ उ०।

धण्णपिडक–न०(धान्यपिटक) धान्यप्रस्थके, व्य०१ उ०।

धण्णपुंजियसमाणा–स्त्री०(पुञ्जितधान्यसमाना) खले लूनपूतविशुद्धपुञ्जीकृतधान्यसमाना सकलातिचारकचवरविरहेण लब्धस्वस्वभावत्वात् पुञ्जितस्य धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् (स्था०) प्रव्रज्याभेदे, स्था०४ ठा०४ उ०।

धण्णप्पमाण–न०(धान्यप्रमाण) मानमये प्रमाणं, धान्यविषयं मानं प्रमाणं धान्यप्रमाणम् । मानप्रमाणभेदे, अनु०। (धान्यप्रमाणं 'माण' शब्दे वक्ष्यते)

धण्णमाण-न०(धान्यमान) धान्यप्रमाणे, नि०चू०१ उ०।

धण्णमासफल-न०(धान्यमाषफल) षोडशश्वेतसर्षपाऽऽत्मके हिरण्याऽऽदिपरिमाणभेदे, स्था०८ ठा०।

धण्णय-पुं०(धन्यक) 'धण्णग' शब्दार्थे, स्था० १० ठा०।

धण्णविक्खित्तसमाणा-स्त्री०(विक्षिप्तधान्यसमाना) यद्विकीर्णं गोखुरक्षुण्णतया विक्षिप्तं धान्यं तत्समाना विक्षिप्तधान्यसमाना, विक्षिप्तस्य धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्। स्था० ४ ठा० ४उ०। या हि सहसमुत्पन्नातिचारकचवरयुक्तत्वात् सामग्र्यन्तरापेक्षितया कालक्षेपलभ्यस्वस्वभावा सा धान्यविकीर्णसमानोच्यते। इत्युक्तलक्षणे प्रव्रज्याभेदे, स्था०४ ठा० ४उ०।

धण्णविरल्लियसमाणा-स्त्री०(विरल्लितधान्यसमाना) खलके एव द्विरल्लितं विसारितं वायुना पूतपुञ्जीकृतं धान्यं तत्समाना, विरल्लितस्य धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्। स्था०४ ठा०४ उ०। या हि लघुनाऽपि यत्नेन स्वस्वभावं लप्स्यत इत्युक्तलक्षणे प्रव्रज्याभेदे, स्था०४ ठा०४ उ०।

धण्णसंकड्ढियसमाणा-स्त्री०(संकर्षितधान्यसमाना) यत्संकर्षितं क्षेत्रादाकर्षितं खलमानीतं धान्यं तत्समाना। संकर्षितस्य धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्। स्था०४ ठा०४ उ०। या हि बहुतरातिचारोपेतत्वाद् बहुतरकालप्राप्तव्यस्वस्वभावा सा धान्यसङ्कर्षितसमाना। इत्युक्तलक्षणे प्रव्रज्याभेदे, स्था०४ ठा० ४उ०।

धण्णहाणि-स्त्री०(धान्यहानि) राज्यापलक्षणभेदे, यत्प्रभावाद् वृष्टेऽपि मेघे शस्यनिष्पत्तिस्तादृशी नोपजायते। व्य० १० उ०।

धण्णाउस-(देशी) कथ्यमानाऽऽशीर्वादे, दे०ना० ५ वर्ग ५८ गाथा।

धण्णागार-न०(धान्यागार) कोष्ठागारे, नि०चू० ८ उ०।

धण्णावत्ति-स्त्री०(धान्यावाप्ति) शस्यलाभे, ''फलमिह धान्यावाप्तिः।'' षो० ७ विव०।

धण्णावह-पुं०(धान्यावह) राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते प्रधानश्रेष्ठिनि, आ०चू० १अ०। ऋषभपुरस्थस्तूपकरण्डकोद्यानवास्तव्ये नृपे, विपा० २ श्रु० २अ०। ध०२०। (तत्कथा 'भद्दणंदि' शब्दे)

धत्त-पुं०(धत्त) बहुबीजके वनस्पतिभेदे, जी०१ प्रति०। निहिते, त्रि०। आ०म०१ अ०२ खण्ड। ननु **''दधातेर्हिः''** ॥७।४।४२॥ इतिहिशब्दाऽऽदेशस्तर्हि हितमिति भवितव्यं, कथं धत्तमित्युच्यते? प्राकृते देशीपदस्याविरुद्धत्वान्न दोषः। अथवा-धत्त इति मित्थवदव्युत्पन्न एव यदृच्छाशब्दः। आव०१ अ०।

***धात्त**-त्रि०। दधातीति धः, ध आत्तो यस्मिन् स धातः, निष्ठान्तस्य **''जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः''** ॥६।२।१७०॥ इति परनिपातः अथवा धेनाऽऽत्तो गृहीतो धात्तः। निहिते, आव०१ अ०।

धमण-पुं०(धमन) धम्यतेऽनेनधमल्युः। नले भस्त्राध्मापके, क्रूरे च। त्रि०। अग्निसंयोगे, न०। ''वीयणधमणाहिधारणा।'' आचा० नि०१ श्रु०१ अ०७ उ०।

धमणि-स्त्री०(धमनि) धम-अनि वा ङीप्। नाड्याम्, उत्त० २ अ०। वाच०। ज्ञा०। प्रश्न०। भ०।''नव धमणीओ।'' धमन्यो रसवहा नाड्यः। तं०। शिरायाम्, उत्त० पाई०२ अ०। कोष्ठकहृद्यन्तरे, नाडीमधिकृत्य-''दुवे दुवे धमणि-अंतरेसु'' धमन्यः कोष्ठकहृद्यन्तराणीति। विपा० १ श्रु० १ अ०। हट्टविला सिन्याम्, ग्रीवायाम्, हरिद्रायां च। वाच०।

धमणिसंतय-त्रि०(धमनिसंतत) धमनीभिर्नामीभिः संततो व्याप्तः। उत्त० २ अ०। नाडीव्याप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १अ०। ''किं से धमणिसंतए।'' धमनीसंततो नाडीव्याप्तो, मांसक्षयेण दृश्यमाननाडीकत्वात्। भ०२ श०५ उ०। यस्य शरीरं नशाभिर्व्याप्तं दृश्यत इत्यर्थः। उत्त०२ अ०। धमनयः शिरास्ताभिः संततो व्याप्तो धमनिसंततः। शिरभिर्व्याप्ते, उत्त० पाई०२ अ०।

धमणी-स्त्री०(धमनी) 'धमणि' शब्दार्थे, उत्त० २ अ०।

धमधमेंत-त्रि०(धमधमायमान) धमधमेति वर्णव्यक्तिमिवोत्पादयति, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०।

धमधमेंतघोस-त्रि०(धमधमायमानघोष) धमधमायमानो धमधमेति वर्णव्यक्तिमिवोत्पादयन् घोषः शब्दो यस्य स तथा। धमधमेति वर्णव्यक्त्युत्पादकशब्दोपेते, ज्ञा०१ श्रु०६ अ०।

धममहिसी-(देशी) नीहारार्थे, दे०ना० ५ वर्ग ६१ गाथा।

धमास-पुं०(धमास) वृक्षभेदे, ल०प्र०। कपोतलेश्यायां वर्णक्रमधिकृत्य ''धमाससासरेइ वा।'' प्रज्ञा० १७ पद।

धम्म-पुं०(धर्म) धृ-मन्। दश०१ अ०। स्वभावे, दर्श०१ तत्त्व। स्था०। आचा०। दश०। दशा०। ज्ञा०। विशे०। सूत्र०। उत्त०। ''धम्मस्सभावो त्ति एगट्ठा धम्मो त्ति वा सभावो त्ति वा दो वि एगट्ठा।'' नि०चू० २० उ०। परिणामः स्वभावः शक्तिर्धर्म्म इतिपर्य्यायाः। स्था० ६ ठा०। धर्माःसहभाविनः, क्रमभाविनश्च पर्य्याया इति। स्था० २ ठा० १ उ०। ''सव्वं धम्मं जाणित्तए। धर्म्मं जीवाऽऽदिद्रव्यस्वभावमुपयोगोत्पत्त्यादिकं श्रुताऽऽदिरूपं वा। स० १० सम०।'' ''लोहो सुयस्स धम्मो।'' विशे०। विशेषे, आचा०१ श्रु०८ अ०८उ०।

(१) धर्मधर्मिणोरेकान्तेन भेदेऽभ्युपगम्यमाने धर्मिणो निःस्वभावताऽऽपत्तिः, स्वभावस्य धर्म्मत्वात्तस्य च ततोऽन्यत्वात्, स्वो भावः स्वभावः, तस्यैवाऽऽत्मीया सत्ता, न तु तदर्थान्तरं धर्म्मरूपं, ततो न निःस्वभावताऽऽपत्तिरिति चेत्, न, इत्थं स्वरूपसत्ताऽभ्युपगमे तदपरसत्तासामान्ययोगकल्पनाया वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अपि च-यद्येकान्तेन धर्मधर्मिणोर्भेदस्ततो धर्मिणो ज्ञेयत्वाऽऽदिभिर्धर्मैरननुवेधात्तस्य सर्वथाऽनवगमप्रसङ्गः, न ह्यज्ञेयस्वभावं ज्ञातुं शक्यते इति। तथा च सति तदभावप्रसङ्गः, कदाचिदप्यवगमाभावात्, तथाऽपि तत्सत्त्वाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गोऽन्यस्यापि यस्य कस्यचित्कदाचिदप्यनवगतषष्ठभूताऽऽदेर्भावाऽऽपत्तेः। एवं च धर्म्मभावे धर्माणामपि ज्ञेयत्वप्रमेयत्वाऽऽदीनां निराश्रयत्वादभावाऽऽपत्तिः। न हि धर्म्याधाररहिताः क्वापि धर्माः संभवन्ति, तथाऽनुपलब्धेः। अन्यच्च परस्परमपि तेषां धर्म्माणामेकान्तेन भेदाभ्युपगमे सत्त्वाऽद्यननुवेधात्कथं भावाभ्युपगमः? तदन्यसत्त्वाऽऽदिधर्म्माभ्युपगमे च धर्मित्वप्रसक्तिरनवस्था च, तन्नैकान्तभेदपक्षे धर्म्मधर्म्मिभावः, नाऽप्येकान्तभेदपक्षे, यतस्तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने धर्ममात्रं वा स्यात्, धर्मिमात्रं वा? अन्यथैकान्तभेदानुपपत्तेः, अन्यतराभावा वा अन्यतरस्याप्यभावः, परस्परनान्तरीयकत्वात्। धर्म्मनान्तरीयको हि धर्मी, धर्मिनान्तरीयकाश्च धर्माः, ततः कथमेकाभावे पररूपावस्थानमिति? कल्पितो

धर्म्मधर्म्मिभावः, ततो न दूषणमिति चेत्तर्हि वस्त्वभावप्रसङ्गः। न हि धर्मधर्मिस्वभावरहितं किञ्चिद्वस्त्विति, धर्मधर्मिभावश्च कल्पित इति तदभावप्रसङ्गः। धर्मा एव कल्पिता न धर्मः, तत्कथमभावप्रसङ्ग इति चेत्, न, धर्माणां कल्पनामात्रभावत्वाभ्युपगमेन परमार्थतोऽसत्त्वाभ्युपगमात्, तदभावे च धर्मिणोऽप्यभावाऽऽपत्तिः। अथ तदेवैकं स्वलक्षणं सकलसजाती। यविजातीयव्यावृत्त्येकस्वभावाः धर्मिव्यावृत्तिनिबन्धनाश्च या व्यावृत्तयो भिन्ना इव विकल्पितास्ता धर्मास्ततो न कश्चिद्दोषः। तदप्ययुक्तम्। एवं कल्पनायां वस्तुनोऽनेकान्तात्मकताप्रसक्तेः। अन्यथा सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्तयोगान्न हि येन निजस्वभावेन घटाद् व्यावर्तते पटस्तेनैव स्तम्भादपि, स्तम्भस्य घटरूपताप्रसक्तेः। तथाहि–घटाद् व्यावर्तते घटव्यावृत्तिस्वभावतया स्तम्भादपि चेत् घटव्यावृत्तिस्वभावतयैव व्यावर्तते, तर्हि बलात् स्तम्भस्य घटरूपताप्रसक्तिः। अन्यथा–ततः तत्स्वभावतया व्यावृत्त्ययोगात्। तस्माद्यतो यतो व्यावर्तते तत्तद्व्यावृत्तिनिमित्तभूताः स्वभावा अवश्यमभ्युपगन्तव्याः, ते चानेकान्तेन धर्मिणो भिन्नाः, तदभावप्रसङ्गात्। तथा च–तदवस्थ एव पूर्वोक्तो दोषः, तस्माद्भिन्ना अभिन्नाश्च। भेदाभेदोऽपि धर्मधर्मिणोः कथमिति चेत्? उच्यते–इह यद्यपि तादात्म्यतो धर्मिणा धर्माः सर्वेऽपि लोलीभावेन व्याप्ताः, तथाऽप्ययं धर्मी, एते धर्मा इति परस्परं भेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तद्भावानुपपत्तिः। तथा च सति प्रतीतिबाधा, मिथो भेदेऽपि च विशिष्टान्योन्यानुवेधेन सर्वधर्म्माणां धर्मिणा व्याप्तत्वाद्भेदोऽप्यस्ति। अन्यथा तस्य धर्मा इति प्रसङ्गानुपपत्तेः। नं० सम्म०।

(२) अथ चैतन्याऽऽदयो रूपाऽऽदयश्च धर्म्मा आत्माऽऽदेर्घटाऽऽदेश्च धर्मिणोऽयन्तं व्यतिरिक्ता अपि समवायसबन्धेन संबद्धाः सन्तो धर्मिधर्म्मव्यपदेशमश्नुवते, तन्मतं दूषयन्नाह–

न धर्म्मधर्मित्वमतीव भेदे,
वृत्त्याऽस्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ,
न गौण भेदोऽपि च लोकबाधः ॥७॥

धर्म्मधर्मिणोरतीव भेदेऽतीवेत्यत्रेवशब्दो वाक्यालङ्कारे। तं च प्रायोऽतिशब्दात्किंवृत्तेश्च प्रयुञ्जते शाब्दिकाः। यथा–''आवर्ज्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्।'' उदवृतः क इव सुखावहः परेषाम्'' इत्यादि। ततश्चैकान्तभिन्नत्वेऽङ्गीक्रियमाणे धर्म्मधर्मित्वं न स्यात्। अस्य धर्मिण इमे धर्म्माः, एषां च धर्माणामयमाश्रयभूतो धर्म्मीत्येवं सर्वप्रसिद्धो धर्म्मधर्म्मिव्यपदेशो न प्राप्नोति, तयोरत्यन्तभिन्नत्वेऽपि तत्कल्पनायां पदार्थान्तरधर्म्माणामपि विवक्षितधर्म्मधर्मित्वाऽऽपत्तेः। एवमुक्ते सति परः प्रत्यवतिष्ठतेवृत्त्याऽस्तीति अयुतसिद्धामाधार्याऽऽधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुः संबन्धः समवायः। स च समवयनात्समवाय इति। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद्वृत्तिरिति चाऽऽख्यायते। तया वृत्त्या समवायसंबन्धेन तयोर्धर्म्मधर्म्मिणोरितरेतरविनिर्लुण्ठितत्वेऽपि धर्म्मधर्म्मिव्यपदेश इष्यते। इति नान्तरोक्तो दोष इति। अत्राऽऽचार्यः समाधत्तेयेदिति। यद्येवं तव मतिः, सा प्रत्यक्षप्रतिक्षिप्ता, यतो न त्रितयं चकास्तिअयं धर्म्मी, इमे चास्य धर्म्माः, अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धनं समवाय इत्येतत्त्रितयं वस्तुत्रयं न चकास्ति, ज्ञानविषयतया न प्रतिभासते। यथा किल शिलाशकलयुगलस्य मिथोऽनुसंधायक रालाऽऽदिद्रव्यं तस्मात्पृथक् तृतीयतया प्रतिभासते, नैवमत्र समवायस्याऽपि प्रतिभानम्। किन्तु द्वयोरेव धर्म्मधर्म्मिणोः। इति शपथप्रत्यायनीयोऽयं समवाय इति भावार्थः। किं चायं तेन वादिना एको नित्यः सर्वव्यापको मूर्तश्च परिकल्प्यते, ततो यथा घटाऽऽश्रिताः पाकजरूपाऽऽदयो धर्म्माः समवायसंबन्धेन समवेतास्तथा किं न पटेऽपि? तस्यैकत्वनित्यत्वव्यापकत्वैः सर्वत्र तुल्यत्वात्। यथाऽऽकाश एको नित्यो व्यापकः, अमूर्तश्च सन्सर्वैः संबन्धिभिर्युगपदविशेषेण संबध्यते, तथा किं नायमपीति विनश्यदेकवस्तुसमवायाभावे च समस्तवस्तुसमवायाभावः प्रसज्यते। तत्तदवच्छेदकभेदान्नायं दोष इति चेदेवमनित्यत्वा-ऽऽपत्तिः। प्रतिवस्तु स्वभावभेदादिति। अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिभासनं, यतस्तस्येहेतिप्रत्ययः सावधानं साधनम्। इहप्रत्ययश्चानुभवसिद्ध एव। इह तन्तुषु पटः, इहाऽऽत्मनि ज्ञानमिह घटे रूपाऽऽदय इति प्रतीतेरुपलम्भात्। अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्म्यनालम्बनत्वादस्ति समवायाऽऽख्यं पदार्थान्तरं तद्धेतुः, इति पराशङ्कामभिसंधाय पुनराह–इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्ताविति। इहेदमिति इहेदमिति आश्रयाऽऽश्रयिभावहेतुक इहप्रत्ययो वृत्तावप्यस्ति समवायसंबन्धेऽपि विद्यते, चशब्दोऽपिशब्दार्थः, तस्य च व्यवहितसंबन्धः, तथैव च व्याख्यातम्। इदमत्र हृदयम्– यथा त्वन्मते पृथिवीत्वाभिसंबन्धात्पृथिवी, तत्र पृथिवीत्वं पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वाख्यं, नापरं वस्त्वन्तरं, तेन स्वरूपेणैव समं योऽसावभिसंबन्धः पृथिव्याः, स एव समवाय इत्युच्यते, ''प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः'' इति वचनात्। एवं समवायत्वाभिसंबन्धात्समवाय इत्यपि किं न कल्प्यते? यतस्तस्यापि यत्समवायत्वं स्वस्वरूपं, तेन सार्द्धं संबन्धोऽस्त्येव। अन्यथा निःस्वभावत्वात् शशविषाणवदवस्तुत्वमेव भवेत्। ततश्च इह समवाये समवायित्वमित्युल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायेऽपि युक्त्या घटत एव। ततो यथा पृथिव्यां पृथिवीत्वं समवायेन समवेतम्, समवायेऽपि समवायत्वमेवं समवायान्तरेण संबन्धनीयं, तदप्यपरेणेत्येवं दुस्तराऽनवस्थामहानदी। एवं समवायस्याऽपि समवायत्वाभिसंबन्धे युक्त्या उपपादिते साहसिक्यमालम्ब्य पुनः पूर्वपक्षवादी वदतिननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वाऽऽदिसंबन्धनिबन्धनं समवायो मुख्यस्तत्र त्वतलाऽऽदिप्रत्ययाभिव्यङ्ग्यस्य सगृहीतसकलान्तरजातिलक्षणव्यक्तिभेदस्य सामान्यस्योद्भवात्। इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिभेदाऽभावे जातेरनुद्भूतत्वाद्गौणोऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवायत्वाभिसंबन्धः, तत्साध्यश्च समवाय इति। तदेतन्न विपश्चिच्चेतश्चमत्कारकारणम्। यतोऽत्रापि जातिरुद्भवन्ती केन निरुध्येत? व्यक्तेरभेदेनेति चेत्। न तत्तदवच्छेदकवशात्तद्भेदोपपत्तौ व्यक्तिभेदकल्पनाया दुर्निवारत्वात्। अन्यो हि घटसमवायोऽन्यश्च पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्तिभेद इति। तत्सिद्धौ सिद्ध एव जात्युद्भवस्तस्मादन्यत्राऽपि मुख्य एव समवायः, इहप्रत्य–यस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्। तदेतत्सकलं सपूर्वपक्षं समाधानं मनसि निधाय सिद्धान्तवादी प्राऽऽह– न गौण इति योऽयं भेदः स नास्ति, गौणलक्षणाभावात्। तल्लक्षणं चेत्थमाचक्षते– ''अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च। विपरीतो गौणोऽर्थः, सति मुख्ये धीः कथं गौणे? ॥१॥'' तस्माद्धर्मधर्मिणोः संबन्धेन मुख्यः समवायः, समवाये च समवायत्वाभिसबन्धे गौण इत्ययं भेदो नानात्व नास्तीति

भावार्थः। किं च–योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात्सम-वायसाधनमनोरथः, स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम्, इह तन्तुषु पट इत्यादिव्यवहारस्यालौकिकत्वात्पांशुलपादानामपि इह पटे तन्तव इत्येव प्रतीतिदर्शनात्। इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात्। अत एवाऽऽह–अपि च लोकबाध इति। अपि चेति दूषणाभ्युच्चये। लोकः प्रामाणिकलोकः सामान्यलोकश्च, तेन बाधो विरोधो लोकबाधस्तदप्रतीतव्यवहार-साधनात् बाधशब्दस्य ''ईहाऽऽद्याः प्रत्ययभेदतः'' इति पुंस्त्रीलिङ्गता। तस्माद्धर्मधर्मिणोरविष्वग्भावलक्षण एव संबन्धः प्रतिपत्तव्यो नान्यः समवायाऽऽदिः। इति काव्यार्थः ॥७॥ स्या०।

(३) धर्मानुरूपो हि सर्वत्रापि धर्मी। यथा काठिन्यं प्रति पृथिवी, यदि पुनरनुरूपत्वाभावेऽपि धर्म्मधर्म्मिभावो भवेत् ततः काठिन्यजलयोरपि स भवेत्, तन्न भवति, तस्मादचेतनाः पुद्गलाः। तथा चोक्तम्–

''वाहसभावममुत्तं, विसयपरिच्छेयगं च चेयन्नं।
विवरीयसहावाणि य, छूढाणि जगप्पसिद्धाणि ॥१॥
ता धम्मधम्मिभावो, कहमेएसिं अणुभवं गाहे।
अणुरूवत्ताभावे, काठिन्नजलाण किं न भवे? ॥२॥'' आ०म०१ अ०२ खण्ड।

जीवपुद्गलानां गतिपर्यायेण धारणाद् धर्म्मः। धर्मास्तिकाये, भ०२० श०२ उ०। अनु०। ''एगे धम्मे।'' धर्मो धर्मास्तिकायः। स०१ सम०। स्था०। धर्मो धर्मास्तिकायो गत्युपष्टम्भगुणः। स्था०२ ठा० १ उ०। (वक्तव्यता 'धम्मत्थिकाय' शब्दे द्रष्टव्या) मर्यादायाम्, धर्मः, स्थितिः, समयो, व्यवस्था, मर्यादेत्यनर्थान्तरमिति। आ०चू० २ अ०। प्रति०। आचारे, बृ०१ उ०१ प्रक०। उत्त०। धर्म्मो यतिश्राद्धाचारलक्षण इति। ध०२ अधि०। दुर्गतौ प्रपततो जीवान् धारयति सुगतौ च तान्स्थापयतीति धर्मः। स्था० १ ठा०। ''दुर्गति–प्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते पुनः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः ॥१॥'' नं०। आ०चू०। आव०। ओघ०। आ०म०। ल०। दश०। पञ्चा०। पा०। सूत्र०। इत्युक्तलक्षणे दुर्गतिगर्तनिपतज्जन्तुजातधरणप्रवणपरिणामपूर्वके (पञ्चा० १विव०) कुशलानुष्ठाने, पञ्चा० ४ विव०। सूत्र०। दुर्गतिगर्तानिपतज्जन्तुजातत्राणदानक्षमे, दर्श० १ तत्त्व। संसारोद्धरणस्वभावे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। स्वर्गापवर्गमार्गभूते, आचा० १ श्रु० ३ अ०१ उ०। दर्श०। ध०२०। आव०। अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिसाधने, (ध०१ अधि०) पुण्यलक्षणे आत्मपरिणामे, धर्माधर्म्मौ पुण्यपापलक्षणौ स्वानुभवत्वादात्मपरिणामरूपाविति। आव०४ अ०। सूत्र०। (पुण्यभङ्गास्तद्वक्तव्यता च 'पुण्ण' शब्दे द्रष्टव्या) सम्यग्दर्शनाऽऽदिके कर्मक्षयकारणे आत्मपरिणामे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। सम्यग्दर्शनमूलोत्तरगुणसंहतिस्वरूपो धर्म इति। नं०। धर्मः सम्यग्ज्ञानदर्शनचरणाऽऽत्मक इति। तं०। सम्यग्दर्शनभावज्ञानचारित्राऽऽत्मकं धर्ममिति। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। श्रुतचारित्राऽऽख्याऽऽत्मके कर्मक्षयकारणे जीवस्याऽऽत्मपरिणामे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। धर्मो भावतश्चारित्रधर्मो, धर्महेतुत्वात् श्रुतधर्मश्चेति। दश०१ अ०। स०। आ०चू०। धर्मो द्विविधः– श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्चेति। आव०५ अ०। स०। भ०। प्रति०। तं०। पं०सू०। औ०। स्था०। जं०। संथा०। प्रश्न०। सूत्र०। आचा०। उत्त०। पा०। धर्मः संसारोद्धरणस्वभावः, जिनप्रणीतं वा श्रुतचारित्राऽऽख्यमिति। सूत्र०१ श्रु०६ अ०। उत्त०। स०। धर्मः क्षायिकचारित्राऽऽदिरिति। स्था०३ ठा०१ उ०। सूत्र०। दुर्गतिनिषेधेन शोभनगतिधारणाद् धर्म श्रुतचारित्राऽऽख्यमिति। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। स्था०। आव०। ''धम्माणं कासवो मुहं।'' धर्माणां श्रुतधर्माणां चारित्रधर्माणां च काश्यप आदीश्वरो मुखं वर्तते, धर्माः सर्वेऽपि तेनैव प्रकाशिता इत्यर्थः। उत्त० २५ अ०। सर्ववित्प्रणीतेऽहिंसाऽऽदिलक्षणे सम्यक्त्वे, दर्श०१ तत्त्व। सूत्र०। दश०। क्षान्त्यादिके श्रमणधर्मे, दश० ६ अ०। प्रव०। ''न ते धम्मविऊ जणा।'' क्षान्त्यादिको दशविधो धर्म इति। सूत्र० १ श्रु० १अ० १उ०। प्रति०। उत्त०। पा०। स्था०। आव०। प्राणातिपातविरमणाऽऽदिके श्रावकधर्म, दश० ६ अ०। सूत्र०। दानाऽऽदिके श्रावकधर्मे च। संथा०। धर्मास्तित्वं विशेषावश्यके यथा– ''समासु तुल्यं विषमासु तुल्यं, सतीष्वसद्भाप्यसतीषु सद्भ। फलं क्रियास्वित्यथ यन्निमित्तं, तद्देहिनां सोऽस्ति नु कोऽपि धर्मः? ॥१॥'' विशे०। (१६१८ गाथाटी०) (विस्तरेणानुमानाऽऽदिना तत्सिद्धिः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २५२ पृष्ठे दृश्या) (एकान्तेन धर्माधर्मयोरस्तित्वनास्तित्वे नाभ्युपेये इति 'अणेगंतवाय' शब्दे प्रथमभागे ४२६ पृष्ठे प्रोक्तम्)

(४) अथ धर्मपदवाच्यमाह–

वचनादविरुद्धाद्य–दनुष्ठानं यथोदितम्।
मैत्र्यादिभावसंमिश्रं, तद्धर्म इति कीर्त्यते ॥३॥

उच्यते इति वचनमागमः, तस्माद्वचनमनुसृत्येत्यर्थः, ल्वब्लोपे पञ्चमीयं, यदनुष्ठानमिहलोकपरलोकावपेक्ष्य हेयोपादेययोरर्थयोरिहैव शास्त्रे वक्ष्यमाणलक्षणयोर्हानोपादानलक्षणा। प्रवृत्तिरिति तद्धर्म इति कीर्त्यते इत्युत्तरेण योगः। कीदृशाद्वचनादित्याह– अविरुद्धात् कषच्छेदतापेषु अविघटमानात्, तत्र विधिप्रतिषेधयोर्बाहुल्येनोपवर्णनं कषशुद्धिः, पदे पदे तद्योगक्षेमकारिक्रियोपदर्शनं छेदशुद्धिः, विधिप्रतिषेधतद्विषयाणां जीवाऽऽदिपदार्थानां च स्याद्वादपरीक्षया यथात्म्येन समर्थनं तापशुद्धिः। तदुक्तं धर्मविन्दौ– ''विधिप्रतिषेधौ कषः। तत्संभवपालनाचेष्टोक्तिश्छेदः। उभय-निबन्धनभावबादस्ताप इति।'' तद्यावि रुद्धं वचनं जिनप्रणीतमेव, निमित्तशुद्धेः, वचनस्य हिवक्ता निमित्तमन्तरङ्ग, तस्य च रागद्वेष–मोहपारतन्त्र्यमशुद्धिस्तेभ्यो वितथवचनप्रवृत्तेः, न चैषा शुद्धिर्जिने भगवति, जिनत्वविरोधात्, जयति रागद्वेषमोहरूपान्तरङ्गान् रिपू–नितिशब्दार्थानुपपत्तेः, तपनदहनाऽऽदिशब्दवदन्वर्थतया चास्याभ्युपगमाद्, निमित्तशुद्ध्य तावान्नाजिनप्रणीतवचनविरुद्धं, यतः कारणस्वरूपानविधायि कार्यं, तन्न दुष्टकारणाऽऽरब्धं कार्यमदुष्टं भवतिमर्हति निम्बबीजादिवेक्षुयष्टिरिति। अन्यथा– कारणव्यवस्थोपरमप्रसङ्गात्, यच्च यदृच्छाप्रणयनप्रवृत्तेषु तीर्थान्तरीयेषु रागाऽऽदिमत्स्वपि घुणाक्षरोत्किरणव्यवहारेण क्वचित्किञ्चिदविरुद्धमपि वचनमुपलभ्यते, मार्गानुसारिबुद्धौ वा प्राणिनि क्वचित्, तदपि जिनप्रणीतमेव, तन्मूलत्वात्तस्य। तदुक्तमुपदेशपदे– ''सव्वप्पवायमूलं, दुवालसंगं जओ जिणक्खायं। रयणागरतुल्लं खलु, तो सव्वं सुंदरं तम्मि'' ॥१॥ इति। कीदृशमनुष्ठानं धर्म इत्याह– ''यथोदितम्'' यथा येन प्रकारेण कालाऽऽद्यारा धनानुसाररूपेण उदितं प्रतिपादितं, तत्रैवाविरुद्धे वचने इति गम्य–

म्, अन्यथाप्रवृत्तौ तु तद् द्वेषित्वमेवाऽऽपद्यते न तु धर्म्मः। यथोक्तम्– ''तत्कारी स्यात्स नियमात्तद्द्वेषी चेति यो जडः। आगमार्थे तमुल्लङ्घ्य, तत एव प्रवर्त्तते '' ॥१॥ इति। धर्म्मदासक्षमाश्रमणैरप्युक्तम्– ''जो जहवायं न कुणइ, मिच्छादिट्ठी तओ उ को अन्नो? वड्ढेई मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो'' ॥१॥ इति। पुनरपि कीदृशमित्याह– मैत्र्यादिभावसंमिश्रम्। मैत्र्यादयः मैत्रीमुदिताकरुणामाध्यस्थ्यलक्षणा ये भावा अन्तःकरणपरिणामाः तत्पूर्वकाश्च बाह्यचेष्टाविशेषाः सत्त्वगुणाऽधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु तैः संमिश्रं संयुक्तं, मैत्र्यादिभावानां निःश्रेयसाभ्युदयफलधर्मकल्पद्रुममूलत्वेन शास्त्रान्तरेषु प्रतिपादनात्, तत्र समस्तसत्त्वविषयः स्नेहपरिणामो मैत्री १, नमनप्रसादाऽऽदिभिर्गुणाधिकेष्वभिव्यज्यमानाऽन्तर्भक्तिरनुरागः प्रमोदः२, दीनाऽऽदिष्वनुकम्पा करुणा : अरागद्वेषभावो माध्यस्थ्यमिति ४। तदेवंविधमनुष्ठानं धर्म्म इति दुर्गतिप्रपतज्जन्तुजातधारणात्स्वर्गाऽऽदिसुगतौ धानाच्च धर्म इत्येवंरूपत्वेन कीर्त्यते शब्द्यते सकलाकल्पितभावकल्पना-कल्पनकुशलैः सुधीभिरिति। नन्वेवं वचनानुष्ठानं धर्म इति प्राप्तं, तथा च प्रीतिभक्त्यसङ्गानुष्ठानेष्वव्याप्तिरिति चेन्न, वचनव्यवहारक्रियारूपधर्मस्यैवात्र लक्ष्यत्वेनाव्याप्त्यभावादिति। वस्तुतः प्रीतिभक्तित्वे इच्छागतजातिविशेषौ, तद्ज्ञन्यत्वेन प्रीतिभक्त्यनुष्ठानयोर्भेदः, वचनानुष्ठानत्वं वचनस्मरणनियतप्रवृत्तिकत्वम्, एतत्त्रितयभिन्नानुष्ठानत्वम् असङ्गानुष्ठानत्वं निर्विकल्पस्वरसवाहिप्रवृत्तिकत्वं वा। इह तु वचनादित्यत्र वेदात्प्रवृत्तिरित्यत्रेव प्रयोज्यत्वार्थिका पञ्चमी, तथा च वचनप्रयोज्यप्रवृत्तिकत्वं लक्षणमिति न कुत्राप्यव्यामिदोषावकाशः, प्रीतिभक्त्यसङ्गानुष्ठानानामपि वचनप्रयोज्यत्वानपायात्।

''धर्मश्चित्तप्रभवो, यतः क्रियाऽधिकरणाऽऽश्रयं कार्यम्।
मलविगमेनैतत् खलु, पुष्ट्यादिमदेष विज्ञेयः ॥२॥
रागाऽऽदयो मलाः ख–ल्वागमसद्योगतो विगम एषाम्।
तदयं क्रियात एव हि, पुष्टिश्चित्तस्य शुद्धस्य ॥३॥
पुष्टिः पुण्योपचयः, शुद्धिः पापक्षयेन निर्मलता।
अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन्, क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया ॥४॥'' (षो० ३ विव०।)

इत्यादि षोडशकग्रन्थानुसारेण तु पुष्टिशुद्धिमच्चित्तं भावधर्मस्य लक्षणं, तदनुगता क्रिया च व्यवहारधर्मस्येति पर्यवसन्नम्। प्रतिपादितं चेत्थमेव महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिभिरपि स्वकृतद्वात्रिंशिकायाम्। इत्थं च शुद्धानुष्ठानजन्या कर्ममलापगमलक्षणा सम्यग्दर्शनाऽऽदिनिर्वाणबीजलाभफला जीवशुद्धिरेव धर्मः। यच्चेहाऽविरुद्धवचनानुष्ठानं धर्म इत्युच्यते, तत्तूपचारात्। यथा–नम्बुलोदकं पादरोगः। एतेन व्यवहारभावधर्मयोरुभयोरपि लक्षणे उपपादिते भवतः, भावलक्षणस्य द्रव्ये उपचारेणैव संभवात्, अन्योऽन्यानुगतत्वं च तयोरस्तत्र तत्र प्रसिद्धमिति ?॥३॥

प्रदर्शितं धर्मलक्षणम्। अमुमेव धर्मं भेदतः प्रभेदतश्च विभणिषुराह–

स द्विधा स्यादनुष्ठातृ–गृहिव्रतिविभागतः।
सामान्यतो विशेषाच्च, गृहिधर्मोऽप्ययं द्विधा ॥४॥

स यः पूर्वं प्रवक्तुभिष्टो धर्मो द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां स्याद् भवेत्। कुत इत्याह– ''अनुष्ठातृगृहिव्रतिविभागत इति।'' अनुष्ठातारौ धर्मानुष्ठायकौ यौ गृहिव्रतिनौ तयोर्विभागतो विशेषात्, गृहस्थधर्मो यतिधर्मश्चेति भावः। तत्र गृहमस्यास्तीति गृही, तद्धर्मश्च नित्यनैमित्तिकानुष्ठानरूपः. व्रतानि महाव्रतानि विद्यन्ते यस्मिन् स व्रती, तद्धर्मश्च चरणकरणरूपः। तत्र च गृहिधर्मं विशिनष्टि– 'गृहिधर्मोऽपीति।' साक्षादेव हृदि वर्तमानतया प्रत्यक्षो गृहिधर्मं उक्तलक्षणः, किं पुनः सामान्यधर्म इत्यपिशब्दार्थः। द्विधा द्विभेदः, द्वैविध्यं दर्शयति– सामान्यतो विशेषाच्चेति। तत्र सामान्यतो नाम सर्वविशिष्टजनसाधारणानुष्ठानरूपः, विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुव्रताऽऽदिप्रतिपत्तिरूपः, चकार उक्तसमुच्चय इति ॥४॥ ध०१ अधि०। (गृहिधर्मः 'गिहिधम्म' शब्दे तृतीयभागे ८६८ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

(५) अथ लोकोत्तरमाह–

धम्मो बावीसविहो, अगारधम्मोऽणगारधम्मो य।
पढमो य वारसविहो, दसहा पुण बीयओ होइ ॥१२॥

धर्म्मो द्वाविंशतिविधः सामान्येन द्वाविंशतिप्रकारः, अगारधर्मो गृहस्थधर्मः, अनगारधर्मश्च साधुधर्मः। प्रथमश्चागारधर्मो द्वादशविधः। दशधा पुनर्द्वितीयोऽनगारधर्म्मो भवतीति गाथासमासार्थः ॥१२॥ दश० ६ अ० उपा० पञ्चा० स्था०। (यतिधर्मः 'जइधम्म' शब्दे-ऽस्मिन्नेव भागे १३६४ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

(६) व्यासार्थं चाह–

सम्मत्तमूलमणुवय–पणगं तिन्नि उ गुणव्वया होंति।
सिक्खावयाइँ चउरो, बारसहा होइ गिहिधम्मो ॥२॥

तत्र सम्यक्त्वं निःसङ्केऽपि देशबलाऽऽयातमिथ्यात्वमोहनीयकर्म्ममलपरिणामः तन्मूलमाद्यं प्रथमं यस्य तत्सम्यक्त्वमूलम्, अणूनि लघूनि व्रतानि अणुव्रतानि, महाव्रतापेक्षया तेषामतिसूक्ष्मत्वात्। यदि वा–अनु पश्चात् महाव्रतकथनापेक्षया कथनीयत्वेन व्रतानि अनु-व्रतानि, तेषां पञ्चकमणुव्रतपञ्चकमनुव्रतपञ्चकं वा। (तिण्णि त्ति) संख्ययैतानि, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् त्रीण्येव न तु पञ्च चत्वारि वा, तेषामन्यथारूढत्वात्। किम्? गुणव्रतानि, प्राकृतत्वात् पुँल्लिङ्गता, व्रतानि गुणव्रतानि भवन्ति जायन्ते, श्रावकधर्म्म इत्यध्याहारः। चतुश्चत्वारि शिक्षाऽभ्यासस्तद्रूपाणि व्रतानि चतुःशिक्षाव्रतानि,तैः सहितः समन्वितः, इतिशब्दस्येह लुप्तदर्शनाद् व्रत इति श्रावकधर्म्मो द्वादशधा द्वादशप्रकारः। इदमत्र हृदयम्– सम्यक्त्वमूलमणुव्रतपञ्चकं श्रावकधर्म्मो भवति, त्रीणि गुणव्रतानि च चतुःशिक्षापदसहितश्च श्रावकधर्म्मो भवति। यद्वा– सम्यक्त्वं मूलमस्य सम्यक्त्वमूलः नपुंसकता तु प्राकृतप्रभवा। अणुव्रतानां पञ्चकं यत्र सोऽणुव्रतपञ्चकः, प्राकृतवशाच्चान्यथानिर्देशः। ततः पञ्चाणुव्रतिकः, शेषं पूर्ववदिति गाथार्थः। दर्श० २ तत्त्व।

तथा च–

पाणे य णाइवाएज्जा, अदिन्नं पि य णादए।
सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥१६॥

प्राणप्रियाणां प्राणिनां प्राणान्नातिपातयेत्। तथा परेणाऽदत्तं दन्तशोधनमात्रमपि, नाददीत न गृण्हीयात्। तथा– सहाऽऽदिना मायया वर्त्तत इति सादिकं समायम्, मृषावादं न ब्रूयात्। तथाहि– परवञ्चनार्थं मृषावादोऽधिक्रियते, स च न मायामन्तरेण भवतीत्यतो मृषावादस्य माया आदिभूता वर्त्तते। इदमुक्तं भवति– यो हि परवञ्चनार्थं समायो मृषावादःस परिह्रियते। यस्तु

संयमगुप्त्यर्थं न मया मृगा उपलब्धा इत्यादिकः स न दोषायेति। एष यः प्राक् निर्दिष्टो धर्मः, श्रुतचारित्राऽऽख्यस्वभावो वा (बुसीमउ त्ति) छान्दसत्वान्निर्देशार्थस्त्वयम्। वस्तूनि ज्ञानाऽऽदीनि, तद्वतो ज्ञाना-ऽऽदिमत इत्यर्थः। यदि वा (वुसीमउ त्ति) वश्यस्य आत्मवशगस्य, वश्येन्द्रियस्येत्यर्थः ॥१६॥

अपि च–

अतिक्कमं ति वायाए, मणसा वि न पत्थए।
सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥२०॥

(अइक्कमंतीत्यादि) प्राणिनामतिक्रमं पीडाऽऽत्मकं, महाव्रतातिक्रमं वा *मनोऽवष्टब्धतया परतिरस्कारं वा, इत्येवंभूतमतिक्रमं वाचा मनसाऽपि न प्रार्थयेत्। एतद्वचनिषेधे च कायातिक्रमो दूरत एव निषिद्धो भवति।* तदेवं मनोवाक्काय-कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेनातिक्रमं न कुर्यात्। तथा इन्द्रियदमनेन तपसा वा दान्तःसन् मोक्षरयाऽऽदानमुपादानं सम्यग्दर्शनाऽऽदिकं सुष्ठुद्युक्तः सम्यग्विस्रोतसिकारहित आहरेत् आददीत, गृण्हीयादित्यर्थः ॥२०॥ सूत्र० १ श्रु० ८अ०।

(७) अधुना यतिधर्मस्यावसरः। यद्वा–सम्यगभ्यस्तश्रावकधर्म-स्यातितीव्रस्यैकान्ततो भवभ्रमणविमुखस्य संयतातिशिवसुखाभि-लाषातिरेकस्य यतिधर्मकरणश्रद्धोत्पद्यते, अतस्तत्स्वरूपनिरूपणा-यैदमाह-

खंती य मद्दवऽज्जव, मुत्ती तवसंजमे य बोधव्वे।
सच्चं सोयं आकिं–चणं च बभं च जइधम्मो ॥४॥

प्रायः प्रतीतार्थैव, नवरमाद्यपदचतुष्टयेन कषायजयः प्रतिपादितः। तपः पुनर्द्वादशप्रकारं, तच्चान्यतोऽवसेयम्। संयमश्च सप्तदशविधः। यत उक्तम्– ''पञ्चाऽऽश्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः। दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥१॥'' सत्यं सर्वथाऽलीकपरिहरणं, शौचं वचनक्रिययोरविसंवादेन सदाचारता, आकिञ्चन्यं किञ्चनं द्रव्यमुच्यते, ततो न किञ्चनमकिञ्चनमकिञ्चनस्य भाव आकिञ्चन्यमद्रव्यतेत्यर्थः। यतिधर्मो भवतीति सर्वत्र योजनीयम्। मुक्तिपदोपादानेऽप्याकिञ्चनस्य लब्धत्वादाकिञ्चनपदोपादानं विशेषद्योतनार्थम्। विशेषश्चात्र संयमोपष्ट-म्भनिमित्तं किञ्चित्प्राशुकैषणीयमुपकरणं धारयन्नपि मुक्ततोपेत एव भवति। ननु पुनरतिजडताऽवष्टब्धमना दिगम्बरपरिकल्पनया मुक्तिभान्, तस्या असंयमाऽऽदिदोषदुष्टत्वेनाभिमतत्वात् तर्हि संयमोपकारायैव सकिञ्चनताऽपि भविष्यति मुक्तता, नेत्याह– सर्वथैव संयमोपघातकत्वे-नातिदुष्टत्वादिति। चशब्दः समुच्चयार्थः। ब्रह्म च ब्रह्मचर्य, स्त्रीसेवापरिहार इति गाथार्थः। दर्श० २ तत्त्व। स्था०।

तिविहे धम्मे पण्णत्ते। तं जहा– सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थि-कायधम्मे।

(तिविहे धम्मे इत्यादि) श्रुतमेव धर्म्मः श्रुतधर्म्मः स्वाध्यायः, एवं चारित्रधर्म्मः क्षान्त्यादिश्रमणधर्मः। अयं च द्विविधोऽपि द्रव्यभावभेदे धर्म्म भावधर्म्म उक्तः। यदाह– ''दुविहो उ भावधम्मो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य। सुयधम्मे सज्झाओ, चरित्तधम्मे समणधम्मो ॥१॥'' इति। अस्तिशब्देन प्रदेशा उच्यन्ते, तेषां कायो राशिरस्तिकायः, स वासौ संज्ञया धर्म्मश्चेत्यस्तिकायधर्म्मो, गत्युपष्टम्भलक्षणो धर्म्मास्ति-काय इत्यर्थः। अयं च द्रव्यधर्म्म इति। स्था०३ ठा०३ उ०।

प्रकारान्तरेण धर्म्मभेदानाह–

तिविहे भगवया धम्मे पण्णत्ते। तं जहा– सुअहिज्झिए, सुज्झाइए, सुतवस्सिए। जया सुअहिज्झियं भवइ तदा सुज्झाइयं भवइ, जया सुज्झाइयं भवइ तया सुतवस्सियं भवइ। से सुअहिज्झिए सुज्झा–इए सुतवस्सिए सुयक्खाए णं भगवया धम्मे पण्णत्ते ॥

''तिविहे'' इत्यादि स्पष्टं, केवलं भगवता महावीरेणेत्येवं जगाद सुधर्म्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्रतीति, सुष्ठु कालविनयाऽऽद्याराध-नेनाधीतं गुरुसकाशात् सूत्रतः पठितं स्वधीतं तथा सुष्ठु विधिना तत एव *व्याख्यानेनार्थतः श्रुत्वा ध्यातमनुप्रेक्षितं श्रुतमिति गम्यं सुध्यातम्, अनुप्रेक्षणाभावे तत्त्वानवगमेनाध्ययनश्रवणयोः प्रायोऽकृतार्थत्वादिति।* अनेन भेदद्वयेन श्रुतधर्म उक्तः। तथा सुष्ठु इहलोकाऽऽद्याशंसारहितत्वेन तपसितं तप्तस्यनुष्ठानं सुतपसितमिति चारित्रधर्म उक्त इति त्रयाणामप्ये-वमुत्तरोत्तरतोऽविनाभावं दर्शयति– ''जया'' इत्यादि व्यक्तं, परं निर्व्याघाध्ययनं विना श्रुतार्थाप्रतीतेः सुध्यातं न भवति, तदभावे ज्ञानविकलतया सुतपसितं न भवतीति भावः। यदेतत् स्वधीताऽऽदित्रयं भगवता वर्द्धमानस्वामिना धर्मः प्रज्ञप्तः (से त्ति) स स्वाख्यातः सुष्ठूक्तः सम्यग्ज्ञानक्रियारूपत्वात् तयोश्चैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकसुखाबन्ध्यो-पायत्वेन निरुपचरितधर्मत्वात् सुगतिधारणाद्वि धर्म इति। उक्तं च– ''नाणपगासयं सो–हओ तओ संजमो य गुत्तिकरो। तिण्हं पि समाओगो, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥१॥'' इति। णमितिवाक्यालङ्कारे, सुतपसितमिति। स्था०३ ठा०४उ०।

(८) द्रव्यभावभेदेन द्विविधं धर्मं प्रतिपिपादयिषुराह–

दुह दव्वभाव धम्मो, दव्वे दव्वस्स दव्वमेवं वा।
तित्ताइसभावो वा, गम्मादित्थी कुलिंगो वा ॥

धर्मो द्विविधः। तद्यथा– द्रव्यधर्मो, भावधर्मश्च। तत्र द्रव्ये इति द्वार-परामर्शः। द्रव्यविषयो धर्म उच्यते– द्रव्यस्यानुपयुक्तस्य धर्मो मूलो-त्तरगुणानुष्ठानं द्रव्यधर्मः, ''इह अनुपयुक्तो द्रव्यम्'' इति वचनात्। द्रव्यमेव वा धर्मो द्रव्यधर्मः धर्मास्तिकायः (तित्ताइ सहावो वा इति) तिक्ताऽऽदिर्वा द्रव्यस्य स्वभावो द्रव्यधर्मः। (गम्मादित्थी कुलिंगो व त्ति) गम्याऽऽदिर्धर्मः स्त्रीविषयो द्रव्यधर्मः, तत्र केषाञ्चित् मातुलदुहिता गम्या केषाञ्चिदग-म्येत्यादि। तथा कुलिङ्गो वा कुतीर्थिकधर्मो द्रव्यधर्मः।

पाठान्तरम्–

दुविहो उ होइ धम्मो, दव्वधम्मो य भावधम्मो य।
धम्मत्थिकायदव्वे, दव्वस्स व जस्स जो भावो ॥

सुगमा।

भावधर्मप्रतिपादनार्थमाह–

दुह होइ भावधम्मो, सुयचरणे वा सुयम्मि सज्झातो।
चरणम्मि समणधम्मो, खंती मुत्ती भवे दसहा ॥

द्विविधो भवति भावधर्मः। तद्यथा–श्रुतः चरणप्रकारः क्षान्त्यादिः।

पाठान्तरम्–

भावम्मि होइ दुविहो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य।
सुयधम्मो सज्झातो, चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥

सुगमा । आ०म० २अ० आ०चू०। धर्म्मो दुर्गतिगर्तानिपतज्जन्तुजातत्राणदानक्षमः, सोऽपि नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाद्विद्यमानश्च–तुर्धा संभवति । तत्र नामधर्मो यथा–कस्यचित्पुरुषाऽऽदेः सचेतनस्य धर्म इति नाम प्रदीयते। स्थापनाधर्मो यथा–कस्यचिद्वस्तुनो धर्म इति स्थापना विधीयते–एष मया धर्मः पुनः समस्तान्यधार्मिकैर्धर्मबुद्ध्या परप्रतारणबुद्ध्या वा विधीयमानः सर्वोऽपि ध्यानाध्ययनाऽऽदिः द्रव्यधर्म एव । तथा–स्वदर्शनप्रतिपन्नानां श्रमणाऽऽदीनां चतुर्णामपि यच्चैत्यवन्दनप्रतिक्रमणस्वाध्यायाऽऽद्यनुष्ठानसेवनमविधिनाऽनुपयोगे न तथा–परोपरोधपरचित्तरञ्जनवतां पार्श्वस्थाऽऽदीनां च यदनुष्ठानं तदपि द्रव्यधर्म एव, विवक्षितार्थसाधकत्वादिति । (विशेषश्चाऽत्र 'दव्वधम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४७४ पृष्ठे द्रष्टव्यः) भावधर्मस्तुश्रुतचारित्ररूपः साधुश्रावकाऽऽदिभिः सम्यगुपयोगपूर्वकं विधीयते। यच्च ग्रामदेशकुलराजधर्मभेदाच्चतुर्विधः, तत्र ग्रामधर्मो ग्रामाऽऽचारः, एवं देशाऽऽदिष्वप्यायोजनीयम् । दानाऽऽदिभेदेन वा चातुर्विध्यम् । तच्च प्रतीतमेवातो नेह प्रतन्यते। दर्श० ४ तत्त्व।

तथा च सूत्रकृताङ्गे निर्युक्तौ धर्मस्य नामाऽऽदिनिक्षेपं दर्शयितुमाह-

णामं ठवणा धम्मो, दव्वधम्मो य भावधम्मो य।
सचित्ताचित्तमीसग–गिहत्थदाणे दवियधम्मे ॥२॥

(नामं ठवणेत्यादि) नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धा धर्मस्य निक्षेपः। तत्राऽपि नामस्थापनेऽनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो धर्मः-सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा । तत्राऽपि सचित्तस्य जीवच्छरीरस्योपयोगलक्षणो धर्मः स्वभावः। एवमचित्तानामपि धर्मास्तिकायानां यो यस्य स्वभावः स तस्य धर्म इति। तथाहि– ''गइलक्खणओ धम्मो, ठाणलक्खणओ अहम्मो य। भायणं सव्वदव्वाणं, तह अवगाहलक्खणं ॥१॥'' पुद्गलास्तिकायोऽपि ग्रहणलक्षण इति मिश्रद्रव्याणां च क्षीरोदकाऽऽदीनां यो यस्य स्वभावः स तद्धर्मतयाऽवगन्तव्य इति । गृहस्थानां च यः कुलनगरग्रामाऽऽदिधर्मो , गृहस्थेभ्यो गृहस्थानां वा यो दानधर्मः स द्रव्यधर्मः (सूत्र०)।

भावधर्मस्वरूपनिरूपणायाऽऽह–

लोइयलोउत्तरिओ, दुविहो पुण होति भावधम्मो उ।
दुविहो वि दुविहतिविहो, पंचविहो होति णायव्वो ॥३॥

(लोइय इत्यादि) भावधर्म्मो नोआगमतो द्विविधः। तद्यथा–लौकिको, लोकोत्तरश्च । तत्र लौकिको द्विविधः– गृहस्थानां, पाखण्डिकानां च। लोकोत्तरस्त्रिविधः–ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात्। तत्राऽप्याभिनिबोधिकं ज्ञानं पञ्चधा । दर्शनमप्यौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकवेदकक्षायिकभेदात् पञ्चविधम् । चारित्रमपि सामायिकाऽऽदिभेदात् पञ्चविधम् । गाथाक्षराणि त्वेवं नेयानि । तद्यथा–भावधर्मो लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विधा, द्विविधोऽपि चाऽयं यथा–संख्येन द्विविधस्त्रिविधः। तत्रैव लौकिको गृहस्थपाखण्डिकभेदाद्–द्विविधः । लोकोत्तरोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्राभेदात् त्रिविधः। ज्ञानाऽऽदीनि प्रत्येकं त्रीण्यपि पञ्चधैवेति। सूत्र० १ श्रु० ६अ०।

(६) धर्मपदमधिकृत्यसूत्रस्पर्शिक निर्युक्तिप्रतिपादनाया

णामं ठवणा धम्मो, दव्वधम्मो अ भावधम्मो उ।
एएसिं णाणत्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥३६॥

(णाम ठवणा धम्मो त्ति) अत्र धर्म्मशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । नामधर्म्मः, स्थापनाधर्म्मो, द्रव्यधर्म्मो, भावधर्म्मश्च । एतेषां नानात्वं भेदं वक्ष्ये अभिधास्ये, यथानुपूर्व्या यथानुपरिपाट्येति गाथार्थः ॥३६॥

साम्प्रतं नामस्थापने क्षुण्णत्वादागमतो नोआगमतश्च ज्ञात्रनुपयुक्तज्ञशरीरेतरभेदौ श्चानादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यधर्माऽऽद्यभिधित्सयाऽऽह–

दव्वं च अत्थिकाओ, पयारधम्मो य भावधम्मो य।
दव्वस्स पज्जवा जे, ते धम्मा तस्स दव्वस्स ॥४०॥

इह त्रिविधोऽधिकृतो धर्म्मः। तद्यथा–द्रव्यधर्म्मः, अस्तिकायधर्म्मः, प्रचारधर्म्मश्चेति । तत्र द्रव्यं चेत्यनेन धर्म्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदाद्–द्रव्यधर्म्ममाह । तथाऽस्तिकाय इत्यनेन तु सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा उपलक्षणत्वादवयवे समुदायशब्दोपचारादस्तिकायधर्म्म इति । प्रचारधर्म्मश्चेत्यनेन ग्रन्थेन द्रव्यदेशमाह । भावधर्म्मश्चेत्यनेन तु भावधर्मस्य स्वरूपमाह। साम्प्रतं प्रथमोद्दिष्टद्रव्यधर्म्मस्वरूपाभिधित्सयाऽऽह-द्रव्यस्य पर्याया ये उत्पादविगमाऽऽदयस्ते च धर्म्मास्तस्य द्रव्यस्य, ततश्च द्रव्यस्य धर्म्मा द्रव्यधर्मा इत्यनासंसक्तैकद्रव्यधर्म्माभावप्रदर्शनार्थो बहुवचननिर्देश इति गाथार्थः ॥४०॥

इदानीमस्तिकायाऽऽदिधर्म्मस्वरूपप्रतिपिपादयिषयाऽऽह–

धम्मत्थिकायधम्मो, पयारधम्मो य विसयधम्मो उ।
लोइय कुप्पावणिओ, लोगुत्तरलोगिणेगविहो ॥४१॥

धर्म्मग्रहणाद्धर्म्मास्तिकायपरिग्रहः। ततश्च धर्म्मास्तिकायएव गत्युपष्टम्भकोऽसंख्येयप्रदेशात्मकोऽस्तिकायधर्म्म इति। अन्ये तु व्याचक्षते-धर्मास्तिकायाऽऽदिस्वभावोऽस्तिकायधर्मइत्येतच्चायुक्तम् । तत्र धर्म्मास्तिकायाऽऽदीनां द्रव्यत्वेन तस्य द्रव्यधर्म्माव्यतिरेकादिति। तथा–प्रचारधर्मश्च विषयधर्म एव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्। तत्र प्रचरणं प्रचारः, प्रकर्षगमनमित्यर्थः। स एवाऽऽत्मस्वभावत्वाद्धर्म्मः प्रचारधर्मः। स च किं विषीदन्त्येतेषु प्राणिन इति विषया रूपाऽऽदयः तद्धर्म एव। तथा च वस्तुतो विषयधर्म्म एवाऽयं यद्रागाऽऽदिमान् सत्त्वस्तेषु प्रवर्त्तत इति। चक्षुरादीन् द्रव्यवशतो रूपाऽऽदिषु प्रवृत्तिः प्रचारधर्म्म इति हृदयम्। प्रधानसंसारनिबन्धनत्वेन चास्य प्राधान्यख्यापनार्थं द्रव्यधर्मात्पृथगुपन्यासः। इदानीं भावधर्म्मः, स च लौकिकाऽऽदिभेदभिन्न इति। आह च–लौकिकः कुप्रावचनिकः । लोकोत्तरस्त्वत्र–(लोगो णेगविहो त्ति) लौकिकोऽनेकविध इति गाथाऽर्थः ॥४१॥

तदेवानेकविधत्वमुपदर्शयन्नाह–

गम्मपसुदेसरज्जे, पुरवरगामगणगोट्ठिराईणं।
सावज्जो उ कुतित्थिय–धम्मो न जिणेहिँ उ पसत्थो ॥४२॥

तत्र गम्यधर्म्मो यथा दक्षिणापथे मातुलदुहिता गम्या, उत्तरापथे पुनरगम्यैव । एवं भक्ष्याभक्ष्यपेयापेयविभाषा कर्त्तव्येति । पशुधर्म्मो मात्रादिगमनलक्षणः । देशधर्म्मो देशाचारः; स च प्रतिनियत एव नेपथ्याऽऽदिलिङ्गभेद इति । राज्यधर्म्मः प्र–

तिराज्य भिन्नः स च कराऽऽदिः पुरवरधर्मः प्रतिपुरवरं भिन्नः, क्वचित् किञ्चिद्विशिष्टोऽपि पौरभाषाप्रतिपादनाऽऽदिलक्षणः। सद्वितीया योषिद्देहान्तरं गच्छतीत्यादिलक्षणो वा। ग्रामधर्म्मः प्रतिग्रामं भिन्नः। गणधर्मो मल्लाऽऽदिगणव्यवस्था यथा रामपदपातेन विषमग्रह इत्यादि। गोष्ठीधर्म्मो गोष्ठीव्यवस्था। इह च समवयःसमुदायो गोष्ठी। तद्व्यवस्था पुनर्बसन्ताऽऽदावेवंकर्त्तव्यमित्यादिलक्षणा। राजधर्मो दुष्टेतरनिग्रहपरिपालनाऽऽदिरिति। भावधर्म्मता चाऽस्य गम्याऽऽदीनां विवक्षया भावरूपत्वाद् द्रव्यपर्यायत्वाद्वा तस्यैव च द्रव्यानपेक्षस्य विवक्षितत्वाद् लौकिकैर्वा भावधर्मत्वेनेष्टत्वात्। देशराज्याऽऽदिभेदश्चैकदेश एवानेकराज्य-संभव इत्येवं सुधिया भाव्यम्। इत्युक्तो लौकिकः। कुप्रावचनिक उच्यते– असावपि सावद्यप्रायो लौकिककल्प एव। यत आह– (सावज्जो उ इत्यादि) अवद्यं पापं सहावद्येन सावद्यः। तुशब्दरत्वेवकारार्थः। स चावधरणे। सावद्य एव, कः? कुतीर्थिकधर्मश्चरकपरिव्राजकाऽऽदिधर्म्म इत्यर्थः। कुत एतदित्याह– **न जिनैरर्हद्भिस्तुशब्दादन्यैश्च प्रेक्षापूर्वकारिभिः प्रशंसितः स्तुतः।** सारम्भपरिग्रहत्वाद्। अत्र बहुवक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्रफलत्वात्प्रस्तुतव्यापारस्येति गाथार्थः ॥४२॥ उक्तः कुप्रावचनिकः।

साम्प्रतं लोकोत्तरं प्रतिपादयन्नाह–

दुविहो लोगुत्तरिओ, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य।
सुयधम्मो सज्झाओ, चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥४३॥

द्विविधे द्विप्रकारो, लोकोत्तरो लोकप्रधानो, धर्म इति वर्त्तते। तथा चाऽऽह– श्रुतधर्म्मः, खलु चारित्रधर्म्मश्च। तत्र श्रुतं द्वादशाङ्गं तस्य धर्म्मः श्रुतधर्म्मः। खलुशब्दो विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि। स हि वाचनाऽऽदिभेदाच्चित्र इति। आह च–श्रुतधर्म्मः स्वाध्याय-वाचनाऽऽदिरूपस्तत्त्वचिन्तायां धर्म्महेतुत्वाद् धर्म्म इति। तथा चारित्रधर्म्मश्च तत्र 'चर' गतिभक्षणयोरित्यस्य **''अर्तिलूधूसूखन-सहचर इत्रः''** ॥३।२।१८४॥ इति इत्रप्रत्ययान्तस्य चरित्रमिति भवति। चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रं क्षयोपशमरूपं, तस्य भावश्चारित्रमशेषकर्मक्षयाय चेष्टेत्यर्थः। ततश्चारित्रमेव धर्मश्चारित्रधर्म इति। चःसमुच्चये। अयं च श्रमणधर्म एवेत्याह– चारित्रधर्म्मः श्रमणधर्म्म इति। तत्र श्राम्यतीति श्रमणः **''कृत्यल्युटो बहुलम्''** ॥३।३।११३॥ इति वचनात् कर्त्तरि ल्युट् श्राम्यतीति तपस्यतीति। एतदुक्तं भवतिप्रव्रज्यादिवसादारभ्य सकलसावद्ययोगविरतौ गुरूपदेशादनशनाऽऽदि यथाशक्त्या प्राणोपरमान्तपश्चरतीति। उक्तं च– ''यः समः सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च। तपश्चरति शुद्धात्मा, श्रमणोऽसौ प्रकीर्त्तितः ॥१॥'' इति। तस्य धर्म्मः स्वभावः। श्रमणधर्म्मश्च क्षान्त्यादिलक्षणो वक्ष्यमाण इति गाथार्थः ॥४३॥ दश०१ अ०।

धर्मभेदान् सामान्येन निरूपयन्नाह–

दसविहे धम्मे पण्णत्ते। तं जहा–गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे, पाखंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे। स्था० ० ठा०।

(कस्य दर्शने कति धर्म्मभेदा इति 'वाद' शब्दे वक्ष्यते)

(१०) धर्मस्य स्वलक्षणाभित्सया सम्बन्धमुपरचयति प्रकरणकारः–

अस्य स्वलक्षणमिदं, धर्म्मस्य बुधैः सदैव विज्ञेयम्।
सर्वाऽऽगमपरिशुद्धं, यदादिमध्यान्तकल्याणम् ॥१॥

(अस्येत्यादि) अस्य धर्म्मस्य स्वलक्षणं लक्ष्यते तदितरव्यावृत्तं वस्त्वनेनेति लक्षणम्। स्वं च तल्लक्षणं चेति स्वलक्षणमिदं वक्ष्यमाणं बुधैर्विद्वद्भिः सदैव सर्वकालमेव विज्ञेयम्। सर्वकालव्याप्त्या लक्षणस्याऽन्यथात्वाभावमुपदर्शयति सर्वैरागमैः परिशुद्धं निर्दोषं यदादिमध्यान्तकल्याणमादिमध्यावसानेषु सुन्दरमिति योऽर्थः ॥१॥

किं पुनर्धर्मस्य स्वलक्षणमित्याह–

धर्म्मश्चित्तप्रभवो, यतः क्रियाऽधिकरणाऽऽश्रयं कार्यम्।
मलविगमेनैतत् खलु, पुष्ट्यादिमदेष विज्ञेयः ॥२॥

(धर्म्म इत्यादि) प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः। चित्तरूपत्वाच्चित्तहेतुकत्वाच्चरित्रं, चित्तं स चाऽसौ प्रभवश्च चित्तप्रभवः स धर्म्मो विज्ञेयः। विशेषणसमासाङ्गीकरणाद्यच्छब्देन चित्तमेव परामृश्यते, यतश्चित्तात्क्रिया प्रवर्त्तते विधिनिषेधविषया। सा च क्रिया कार्यं चित्तनिष्पाद्यत्वात्। तच्च स्वरूपेण क्रियालक्षणं कार्यं कीदृशं यच्चित्तात्प्रवर्त्तत इत्याह– अधिकरणाऽऽश्रयमिह यद्यप्यधिकरणशब्दः सामान्येनाऽऽधारवचनस्तथापि प्रक्रमात् चित्तस्याधिकरणमाश्रयः शरीरं, चित्तस्य शरीराऽऽधारत्वात्। क्रियालक्षणं कार्यमधिकरणाऽऽश्रयं शरीराऽऽश्रयं यतः प्रवर्त्तते चित्तात्तच्चित्तं धर्म्म इत्युक्तम्। चित्तात्प्रभवतीति पुनरुच्यते चित्तस्य। एतत्पुष्ट्यादिमदित्यनेन सह संबन्धो न स्यात्। यत् इत्यनेनापि केवलमेव चित्तं न गृह्येत। तथा धर्म्मस्यैव विशेष्यत्वं स्यान्न चित्तस्य, ततश्च चित्तस्य विशेषणपदैरभिसंबन्धो न स्यादिति दोषः। एतदेव चित्तं मलविगमेन रागाऽऽदिमलापगमेन पुष्ट्यादिमत् पुष्टिशुद्धिद्वयसमन्वितमेष धर्मो विज्ञेय इति ॥२॥

मलविगमेनैतत्खलु पुष्टिमदित्युक्तं, तत्र के मलाः कथं च पुष्ट्यादिमत्त्वं चित्तस्येत्येवं वक्तुकामनायां श्रोतुरिदमाह–

रागाऽऽदयो मलाः ख–ल्वागमसद्योगतो विगम एषाम्।
तदयं क्रियात एव हि, पुष्टिः शुद्धिश्च चित्तस्य ॥३॥

(रागाऽऽदय इत्यादि) इह मलाः प्रक्रमाच्चित्तस्यैव संबन्धिनः परिगृह्यन्ते। ते च रागाऽऽदयो रागद्वेषमोहा जातिसंग्रहीताः। व्यक्तिभेदेन तु भूयांसः। खलुशब्दावधारणाद्रागाऽऽदय एव नान्ये। आगमनमागमः सम्यक्परिच्छेदस्तेन सद्योगः सद्व्यापारः आगमसहितो वा यः सद्योगः सत्क्रियारूपः। ततः सकाशाद्विगम एषां रागाऽऽदीनां मलापगमः संजायते। तत् तरमादयमागमसद्योगः क्रिया वर्त्तते सर्वाऽपि शास्त्रोक्ता विधिप्रतिषेधाऽऽत्मिका। अत एव ह्यागमसद्योगात् क्रियारूपात् पुष्टिर्वक्ष्यमाणस्वरूपा शुद्धिश्च चित्तस्य संभवति ॥३॥

पुष्टिशुद्ध्योर्लक्षणं दर्शयति–

पुष्टिः पुण्योपचयः, शुद्धिः पापक्षपेण निर्मलता।
अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन्, क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया ॥४॥

(पुष्टिरित्यादि) उपचीयमानपुण्यता पुष्टिरभिधीयते, शुद्धिः पापक्षयेण निर्म्मलता, पापं ज्ञानावरणीयाऽऽदि च सम्यग्ज्ञानाऽऽदिगुणविघातहेतुर्घातिकर्म्माच्यते। तत्क्षयेण यावती काचिद्देशतोऽपि निर्मलता संभवति सा शुद्धिरुच्यते, अनुबन्धः सन्तानः

प्रवाहोऽविच्छेद इत्यनर्थान्तरम्। स विद्यते यस्य द्वयस्य तदिदमनुबन्धि तस्मिन् पुष्टिशुद्धिद्वयेऽस्मिन् प्रत्यक्षीकृते सति क्रमेणाऽऽनुपूर्व्या पुण्योपचयपापक्षयाभ्यां प्रवर्द्धमानाभ्यां तस्मिन् जन्मनि भवान्तरेषु वा प्रकृष्यमाणवीर्यस्य जीवस्य मुक्तिः परा तात्त्विकी सर्वकर्मक्षयलक्षणा ज्ञेयेति ॥४॥

कथं पुनरिदमनुबन्धिद्वयं न भवतीत्याह–

न प्राणिधानाऽऽद्याशय–संविद्व्यतिरेकतोऽनुबन्धि तत्।
भिन्नग्रन्थेर्निर्मल–बोधवतः स्यादितं च परा ॥५॥

(नेत्यादि) (प्राणिधानाऽऽद्याशयसंविद्व्यतिरेकत इति) प्रणिधानाऽऽदयश्च ते आशयाश्च वक्ष्यमाणाः पञ्चाध्यवसायस्थानविशेषास्तेषां संवित्संवित्तिः संवेदनमनुभवस्तस्याव्यतिरेकोऽभावस्तस्मात्तदाशयसंविद्व्यतिरेकेणैतद्द्वयं पुष्टिशुद्धिरूपं नानुबन्धि भवति, तस्मादेतद्द्वयमनुबन्धिकर्तुकामेन प्रणिधानाऽऽदिषु यतितव्यम्। इयं च कस्येत्याह– भिन्नग्रन्थेरपूर्वकरणबलेन कृतग्रन्थिभेदस्य तत्प्रभावादेव निर्मलबोधवतो विमलबोधसंपन्नस्य स्याद्भवेदियं च प्रस्तुता प्रणिधानाऽऽद्याशयसंवित् परा प्रधाना ॥५॥

प्रणिधानाऽऽदिराशय उक्तस्तमेव संख्याविशिष्टं नामग्राहमाह–

प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नन–यसिद्धिविनियोगभेदतः प्रायः।
धर्मज्ञैराख्यातः, शुभाऽऽशयः पञ्चधाऽत्र विधौ ॥६॥

प्रणिधिश्च प्रवृत्तिश्च विघ्नजयश्च सिद्धिश्च विनियोगश्च एत एव भेदास्तानाश्रित्य कर्मणिल्यब्लोपे पञ्चमी। प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजयसिद्धिविनियोगभेदतः (प्राय इति) प्राचुर्येण शास्त्रेषु धर्म्मज्ञैर्धर्म्मवेदिभिराख्यातः कथितः शुभाऽऽशयः शुभपरिणामः पञ्चधा पञ्चप्रकारः। अत्र प्रक्रमे विधौ कर्त्तव्योपदेशे प्रतिपादिताऽऽशयपञ्चकव्यतिरेकेण। पुष्टिशुद्धिलक्षणं द्वयमनुबन्धि न भवतीति ॥६॥

तत्र प्रणिधानलक्षणमाह–

प्रणिधानं तत्समये, स्थितिमत्तदधः कृपानुगं चैव।
निरवद्यवस्तुविषयं, परार्थनिष्पत्तिसारं च ॥७॥

(प्रणिधानमित्यादि) प्रणिधानं विशेष्यं, शेषपदानि विशेषणानि। तत्समये प्रतिपन्नविवक्षितधर्मस्थानमर्य्यादायां स्थितिमत्प्रतिष्ठितमविचलितस्वभावं तदधः कृपानुगं चैव स्वप्रतिपन्नधर्म्मस्थानस्याधोऽधस्ताद्ये वर्त्तन्ते जीवा न तावती धर्म्मपदवीमाराधयन्ति, तेषु कृपया करुणया अनुरागमनुगतं तेषु करुणापरम्। न तु गुणहीनत्वात्तेषु द्वेषसमन्वितं निरवद्यवस्तुविषयं, निरवद्यं सावद्यपरिहारेण यद्वस्तु धर्म्मगतं तद्विषयो यस्य परार्थनिष्पत्तिसारं च परोपकारनिष्पत्तिप्रधानं चैवंरूपं प्रणिधानमवसेयम् ॥७॥

इदानीं प्रवृत्तिमाह–

तत्रैव तु प्रवृत्तिः, शुभसारोपायसद्गतात्यन्तम्।
अधिकृतयत्नातिशया–दौत्सुक्यविवर्जिता चैव ॥८॥

(तत्रैवेत्यादि) तत्रैव तु विवक्षितप्रतिपन्नधर्म्मस्थाने प्रवृत्तिरेवंस्वरूपा भवति। सा च न क्रियारूपा किं त्वाशयरूपा, शुभसारोपायसंगताऽत्यन्तं बाह्यक्रियाद्वारेण विशेषणं सर्वं योजनीयम्। शुभः सुन्दरः सारः प्रकृष्टो नैपुण्यान्वितो य उपायस्तेन संगता युक्ता, अधिकृते धर्म्मस्थाने यत्नातिशयः प्रयत्नाऽऽशयस्तस्मात् सा संपद्यते, औत्सुक्यविवर्जिता चैव औत्सुक्यं त्वराभिलाषातिरेकस्तेन विवर्जिता विरहिता प्रयत्नातिशयमेव विधत्ते न त्वौत्सुक्यमिति भावः ॥८॥

अधुना विघ्नजयमाह–

विघ्नजयस्त्रिविधः खलु, विज्ञेयो हीनमध्यमोत्कृष्टः।
मार्ग इह कण्टकज्वर–मोहजयसमः प्रवृत्तिफलः ॥९॥

(विघ्नजयस्त्रिविधः खलु विज्ञेय इति) विघ्नस्य धर्मान्तरायस्य जयः पराभवो निराकरणं स त्रिविधस्तिस्रो विधा अस्येति त्रिविधस्त्रिभेदः। खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे। त्रैविध्यमेवाऽऽहहीनमध्यमोत्कृष्टः हीनमध्यमाभ्यां सहित उत्कृष्ट एको हीनो विघ्नजयोऽपरो मध्यमोऽपरस्तूत्कृष्ट इति। त्रैविध्यमेव निदर्शनेन साधर्म्यगर्भमाहमार्ग इह कण्टकज्वरमोहजयसम इति। मार्गे प्रवृत्तस्य पुंसः कण्टकविघ्नजयसमो ज्वरविघ्नजयसमोमोहविघ्नजयसमः। इदमत्र तात्पर्यम्–यथा नाम कस्यचित्पुरुषस्य प्रयोजनवशान्मार्गप्रवृत्तस्य कण्टकाऽऽकीर्णमार्गावतीर्णस्य कण्टकविघ्नो विशिष्टगमनविघातहेतुर्भवति। तद्रहिते तु पथि प्रवृत्तस्य गमनं निराकुलं संजायते। एवं कण्टकविघ्नजयसमः प्रथमो विघ्नजयः। कण्टकाश्चेह सर्वे एव प्रतिकूलाः शीतोष्णाऽऽदयो धर्म्मस्थानविघ्नहेतवस्तैरभिद्रुतस्य धर्म्मार्थिनोऽपि निराकुलप्रवृत्त्यसिद्धेः। आशयभेदश्चायं बाह्यकण्टकविघ्नजयेनोपलक्ष्यते। तथा–तस्यैव ज्वरवेदनाऽभिभूतशरीरस्य विह्वलपादन्यासस्य निराकुलं गमनं चिकीर्षोरपि, कर्तुमशक्नुवतः कण्टकविघ्नादभ्यधिको ज्वरविघ्नस्तज्जयस्तु विशिष्टगमनप्रवृत्तिहेतुर्निराकुलशरीरत्वेन परिदृश्यते। इहापि ज्वरकल्पाः शारीरा एव रोगाः परिगृह्यन्ते। तदभिभूतस्य विशिष्टधर्मस्थानाऽऽराधनाऽक्षमत्वात्। ज्वरकल्पशारीरदुःखविघ्नजयस्तु सम्यग्धर्मस्थानाऽऽराधनाय प्रभवति। तस्यैवाध्वनि जिगमिषोः पुरुषस्य दिग्मोहकल्पो मोहविघ्नस्तेनाभिभूतस्य पुनः पुनः प्रेर्यमाणस्याप्यध्वनीनैर्न गमनोत्साहः कथञ्चित् प्रादुर्भवति। मोहविघ्नजयस्तु स्वयमेव मार्गसम्यक्कुपरिज्ञानात् परैश्चोच्यमानमार्गश्रद्धानान्मन्दोत्साहतापरित्यागेन गमनप्रवृत्तिहेतुर्भवति। इहापि दिङ्मोहगमनविघ्नकल्पो मिथ्यात्वाऽऽदिजनितो मनोविभ्रमः परिगृह्यते। तज्जयस्तु मिथ्यात्वाऽऽदिदोषनिराकरणद्वारेण। मनोविभ्रमापसारकत्वेन प्रस्तुतधर्ममार्गेऽनवरतप्रयाणकप्रवृत्त्या गमनाय संपद्यते। एवं कण्टकज्वरमोहविघ्नजयसमस्त्रिविधो विघ्नक्षय उक्तः। स एव विशिष्यतेप्रवृत्तिफलः प्रवृत्तिर्धर्मस्थानविषया फलमस्याऽऽशयविशेषस्य विघ्नजयसंज्ञितस्येति प्रवृत्तिफलः ॥९॥

एवं तृतीयमाशयभेदं प्रतिपाद्य सिद्धिरूपमाशयमाह–

सिद्धिस्तत्तद्धर्म–स्थानावाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया।
अधिके विनयाऽऽदियुता, हीने च दयाऽऽदिगुणसारा ॥१०॥

(सिद्धिरित्यादि) सिद्धिर्नामाऽऽशयभेदः, सा च स्वरूपतः कीदृशी? तत्तद्धर्मस्थानावाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया तस्य तस्य विवक्षितस्य धर्मस्थानस्याऽहिंसाऽऽदेरवाप्तिः सिद्धिरुच्यते। सा च तात्त्विकादं च विशेषणं तत्तद्धर्मस्थानावाप्तेरतात्त्विकत्वपरिहारार्थम्। न ह्यतात्त्विकी सा सिद्धिर्भवितुमर्हति। सा च सिद्धिरधिके पुरुषविशेषे सूत्रार्थोभयवेदिन्यभ्यस्तभावनामार्गे तीर्थकल्पे गुरौ विनयाऽऽदियुक्ता विनयवैयावृत्त्यबहुमानाऽऽदिसमन्विता हीने च स्वप्रतिपन्नधर्मस्थानापेक्षया हीनगुणे निर्गुणे वा,

सामान्येनैव प्राणिगणे दयाऽऽदिगुणसारा दयादानव्यसनपति-तदुःखापहाराऽऽदिगुणप्रधानाधिकहीनगुणग्रहणाद् मध्यमोपकार-फलवत्यपि सा सिद्धिरित्युक्तं भवति ॥१०॥

एवं सिद्धिमभिधाय तत्फलभूतमेव विनियोगमाह-

सिद्धेश्चोत्तरकार्यं , विनियोगेऽवन्ध्यमेतदेतस्मिन् ।
सत्थद्वयसंपत्त्या, सुन्दरमिति तत्परं यावत् ॥११॥

सिद्धेश्चोत्तरकार्यं विनियोगः सिद्धेरुत्तरकालभावि । कार्यं विनियोगो नामाऽऽशयभेदो विज्ञेय इति संबन्धनीयम् । अवन्ध्यं सफलं, न कदाचिन्निष्फलमेतद्धर्मस्थानमहिंसाऽऽदि, एतस्मिन् विनियोगे सति संजातेऽन्वयसंपत्त्याऽविच्छेदसंपत्त्या हेतुभूतया सुन्दरमेतत्पूर्वोक्तं धर्मस्थानम् । इतिशब्दो भिन्नक्रमः । परमित्यनेन संबन्धनीयो यावत् (तत्परमिति) तद्धर्मस्थानं परं प्रकृष्टं यावत्संपन्नमनेन विनियोग-स्याऽनेकजन्मान्तरसन्तानक्रमेण प्रकृष्टधर्मस्थानावाप्तिहेतुत्वमावेदयति । इदमत्र हृदयम्-अहिंसाऽऽदिलक्षणधर्मस्थानावाप्तौ सत्यां स्वपरयोरुप-कारायाऽविच्छेदेन तस्यैव धर्मस्थानस्य विनियोगो व्यापारः स्वात्मतु-ल्यपरफलकर्तृत्वमभिधीयते । एवं हि स्वयं सिद्धस्य वस्तुनो विनियोगः सम्यक्कृतो भवति । यदि परस्मिन्नपि तत्संपद्यते विशेषेण नियोगो नियोजनमध्यारोपणमिति कृत्वा आशयभेदत्वाच्च विनियोगस्याऽब-न्ध्यत्वाप्रतिपादनप्रक्रियया स्वरूपोपकारहेतुत्वं दर्शयति सूत्रकारः ॥११॥

एवमेतान्प्राणिधानाऽऽदीनभिधाय कथञ्चित् क्रियारूपत्वप्राप्ता-वपि आशयविशेषत्वसमर्थनायाऽऽह--

आशयभेदा एते, सर्वेऽपि हि तत्त्वतोऽवगन्तव्याः ।
भावोऽयमनेन विना, चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा ॥१२॥

आशयभेदा आशयप्रकारा एते पूर्वोक्ताः सर्वेऽपि हि सर्व एव कथञ्चित् क्रियारूपत्वेऽपि तदुपलक्ष्यतया तत्त्वतः परमार्थेनावगन्तव्या विज्ञेयाः परिणामविशेषा एते इति । शुभाऽऽशयः पञ्चधा त्रिविधो वेत्युक्तं स किं भावादपरोऽथ भाव एवेत्याशङ्कायामिदमाह- (भावोऽयमिति) अयं पञ्चप्रकारोऽप्याशयो भाव इत्यभिधीयते । अनेन भावेन विना चेष्टा व्यापाररूपा कायवाङ्मनः सङ्गताः द्रव्यक्रिया तुच्छा भावविकला क्रिया द्रव्यक्रिया तुच्छा असारा स्वफलाऽसाधकत्वेन ॥१२॥

कस्मात्पुनर्द्रव्यक्रियायास्तुच्छत्वाऽऽपादनेन भावप्राधान्य-माश्रीयत इत्याह-

अस्माच्च सानुबन्धा- च्छुद्धयन्तोऽवाप्यते द्रुतं क्रमशः ।
एतदिह धर्म्मतत्त्वं,परमा योगो विमुक्तिरसः ॥१३॥

(अस्माच्चेत्यादि) अस्मात् पूर्वोक्ताद्भावादाशयपञ्चकरूपात् सानुबन्धात् अनुबन्धः सन्तानस्तेन सह वर्त्तते यो भावः स सानुबन्धस्तदविनाभूतः, स चाव्यवच्छिन्नसन्तानस्तस्मादेवं-विधाद्भावाच्छुद्धे रन्तःप्रकर्षः शुद्धयन्तोऽवाप्यते प्राप्यते द्रुतमविलम्बितं प्रभूतकालात्ययविगमेन क्रमशः क्रमेणाऽनुपूर्व्या तस्मिन् जन्मन्यपरस्मिन्वा कर्म्मक्षयप्रकर्षो-लभ्यते । ननु चैष एव भावो धर्म्मपरमार्थ आहोस्विदन्यद्धर्म्मतत्त्व-मित्यारेकायां परस्य निर्वचनमाह-एतदिह धर्मतत्त्वम् । अत्र यद्यपि भावस्य प्रस्तुतत्वादेतदित्यत्र पुँल्लिङ्गतायामेष इति निर्देशः प्राप्नोति तथाऽपि धर्म्मतत्त्वमित्यस्य पदस्य प्रधानापेक्षया नपुंसकनिर्देशोऽर्थस्तु एतदिह प्रस्तुतं भावस्वरूपं धर्म्मतत्त्वं नान्यत् परमो योग इति । अयं भावः-परमो योगो वर्त्तते, स च कीदृग्? विमुक्तिरसः विशिष्टा मुक्तिर्वि-मुक्तिरस्तद्विषयो रसः प्रीतिविशेषो यस्मिन् योगे स विमुक्तिरसः विमुक्तौ रसोऽस्येति वा गमकत्वात् समासः । अथवा-पृथगेव पदान्तरं न विशेषेणं, तेनाऽयं भावोविमुक्तौ रसः प्रीतिविशेषो विमुक्तिरस उच्यते एतदुक्तं भवतिभाव एव धर्म्मतत्त्वं भाव एव च परमो योगो भाव एव च विमुक्तिरस इति ॥१३॥

ननु च भावाच्छुद्धयन्तोऽवाप्यते इत्युक्तं, शुद्धिश्च पापक्षयेण प्रागुक्ता कथं पुनः पापमतीतेऽनादौ काले यद् भूयो आसेवितं तत्त्यक्त्वा भावमेवाभिलषति न पुनः पापं बहु मन्यते इत्याह-

अमृतरसाऽऽस्वादज्ञः, कुभक्तरसलालितोऽपि बहुकालम् ।
त्यक्त्वा तत्क्षणमेनं, वाञ्छत्यचिरेणामृतमेव ॥१४॥

(अमृतेत्यादि) अमृतरसस्याऽऽस्वादस्तं जानातीत्यमृतरसाऽऽ-स्वादज्ञः कुभक्तरसलालितोऽपि कुभक्तानां कदशनानां यो रसस्तेन लालितोऽप्यभिरमितोऽपि पुरुषो बहुकालं प्रभूतकालं नैरन्तर्यवृत्त्याऽत एव "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" ॥२।३।५॥ इति द्वितीया । त्यक्त्वा परित्यज्य तत्क्षणं तस्मिन्नेव क्षणे, शीघ्रमेनं कुभक्तरसममृतरसज्ञत्वेन वाञ्छत्यभिलषत्यचिरेणामृतमेव सुरभोज्यममृतमभिधीयते । तद्धि सर्वरससंपन्नत्वात् स्पृहणीयमतितरां भवति ॥१४॥

एवं त्वपूर्वकरणात्, सम्यक्त्वामृतरसज्ञ इह जीवः ।
चिरकालाऽऽसेवितमपि, न जातु बहु मन्यते पापम् ॥१५॥

(एवं त्वित्यादि) एवं त्वपूर्वकरणात् । एवमेवापूर्वकरणादपूर्वपरिणामात् सम्यक्त्वामृतरसज्ञ इह जीवः सम्यक्त्वामृतरसमनुभवद्भावेन जानातीति तज्ज्ञ उच्यते । चिरकालाऽऽसेवितमपि प्रभूतकालाभ्यस्तमपि न जातुचित् न कदाचित् बहु मन्यते बहुमानविषयीकरोति पापं मिथ्यादर्शन-मोहनीयं तत्कार्यं वा प्रवचनोपघाताऽऽदि । इह च कुभक्तरसकल्पं पापमिथ्यात्वाऽऽदि । अमृतरसाऽऽस्वादकल्पो भावः सम्यक्त्वाऽऽ-दिरवसेय इति ॥१५॥

सम्यक्त्वामृतरसज्ञो जीवः पापं न बहु मन्यते इत्युक्तम् । तत्र सम्यग्-दृष्टिरपि विरतेरभावात् पापं कुर्वन् दृश्यते एवेत्याशङ्क्याऽऽह-

यद्यपि कर्म्मनियोगात्, करोति तत्तदपि भावशून्यमलम् ।
अत एव धर्म्मयोगात्, क्षिप्रं तत्सिद्धिमाप्नोति ॥१६॥

यद्यपि कथञ्चित् कर्म्मनियोगात् कर्म्मव्यापारात् करोति विदधाति तत् पापं तद्भावशून्यमलं तदपि क्रियमाणं पापं भावशून्यमिह पापवृत्ति-हेतुर्भावः विलष्टाध्यवसायस्तेन शून्यमलमत्यर्थं सम्यग्दृष्टिर्हि पापं कुर्वाणोऽपि न भावतो बहु गन्यते । यथेदमेव साध्यिति । अत एव पापाऽ-बहुमानद्वारेण । धर्म्मयोगाद्धर्म्मोत्साहाद्धर्म्मसंबन्धाद्वा क्षिप्रमचिरेण तत् सिद्धिमाप्नोति धर्मनिष्पत्तिमवाप्नोतीति ॥१६॥ षो० ३ विव०।

(११) अस्य स्वलक्षणमिदं धर्म्मस्येत्युक्तं प्राक् तत्रास्यैव धर्म्मतत्त्वस्य विस्तरेण लिङ्गान्याह-

सिद्धस्य चास्य सम्यग्, लिङ्गान्येतानि धर्म्मतत्त्वस्य ।
विहितानि तत्त्वविद्भिः, सुखावबोधाय भव्यानाम् ॥१॥

सिद्धस्य च निष्पन्नस्य चास्य प्रत्यक्षीकृतस्य सम्यगवैपरीत्येन प्रशस्तानि वा लिङ्गानि लक्षान्येतानि वक्ष्यमाणानि धर्म्मतत्त्वस्य धर्म्मस्वरूपस्य विहितानि शास्त्रेऽभिहितानि तत्त्व विद्भिः परमार्थवेदिभिः सुखावबोधाय सुखपरिज्ञानाय येन तानि सुखेनैव बुद्ध्यन्ते भव्यानां योग्यानाम् ॥१॥

तान्येन लिङ्गानि स्वरूपतो ग्रन्थकारः पठति–

औदार्यं दाक्षिण्यं, पापजुगुप्साऽथ निर्मलो बोधः।
लिङ्गानि धर्मसिद्धेः, प्रायेण जनप्रियत्वं च ॥२॥

उदारस्य भाव औदार्यं वक्ष्यमाणलक्षणं, दक्षिणोऽनुकूलस्तद्भावो दाक्षिण्यं निर्देक्ष्यमाणस्वरूपं पापजुगुप्सा पापपरिहारः। अथ निर्मलो बोधोऽभिधास्यमानस्वरूपः, लिङ्गानि चिह्नानि धर्मसिद्धेर्धर्मनिष्पतेः प्रायेण बाहुल्येन जनप्रियत्वं च लोकप्रियत्वं च ॥२॥

साम्प्रतमौदार्यलक्षणमाह–

औदार्यं कार्पण्य–त्यागाद्विज्ञेयमाशयमहत्त्वम्।
गुरुदीनाऽऽदिष्वौचि–त्यवृत्ति कार्ये तदत्यन्तम् ॥३॥

औदार्यं नाम धर्मतत्त्वलिङ्गं, कार्पण्यत्यागात् कृपणभावपरित्यागादतुच्छवृत्त्या विज्ञेयमाशयमहत्त्वमाशयस्याध्यवसायस्य महत्त्वं विपुलत्वम्। तदेव विशिष्यते–गुरुदीनाऽऽदिष्वौचित्यवृत्ति गुरुषु गौरवार्हेषु तदधिकारे। यथोक्तम्– ''माता पिता कलाऽऽचार्यः, एतेषां ज्ञातयस्तथा। वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः ॥१॥'' दीनाऽऽदिषु चानाधारेषु यदौचित्यवृत्ति औचित्येन वृत्तिरस्मिन्नौदार्यं आशयमहत्त्वे वा तदौचित्यवृत्ति, कार्ये कार्यविषये तदौदार्यमाशयमहत्त्वं वा अत्यन्तमतिशयेन औचित्यवृत्तिकारि वा, एतद् गुर्वादिषु ॥३॥ षो०४ विव०। (दाक्षिण्यम् [४] इत्यादिना दाक्षिण्यलक्षणं 'दक्खिण्ण' शब्दे २४४१ पृष्ठेऽत्रैव भागे गतम्) (पापजुगुप्सा [५] इत्यादिना पापजुगुप्सालक्षणं 'पावदुगुंछा' शब्दे वक्ष्यते) (निर्मल [६] इत्यादिना निर्मलबोधलक्षणं 'णिम्मलबोहवंत' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०८४ पृष्ठे गतम्) (युक्तम् [७] इत्यादिना जनप्रियत्वलक्षणं 'जणप्पियत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३८८ पृष्ठे सामुक्तम्)

एवं धर्म्मतत्त्वलिङ्गान्यौदार्याऽऽदीनि विधिमुखेन प्रतिपाद्य धर्म्मतत्त्वव्यवस्थितानां पुंसां व्यतिरेकमुखेन विषयतृष्णाऽऽदीनां स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुर्दृष्टान्तपूर्वकं विकाराभावमाविर्भावयितुमाह–

आरोग्ये सति यद्व–द्व्याधिविकारा भवन्ति नो पुंसाम्।
तद्वद्धर्म्माऽऽरोग्ये, पापविकारा अपि ज्ञेयाः ॥८॥

(आरोग्ये इत्यादि) आरोग्ये रोगाभावे सति जायमाने यद्वदिति यथा व्याधिविकारा रोगविकारा भवन्ति नो पुंसामारोग्यवतां तद्वदिति। तथा धर्म्माऽऽरोग्ये धर्मरूपमारोग्यं तस्मिन् सति पापविकारा अपि वक्ष्यमाणा न भवन्तीति विज्ञेयाः ॥८॥

पापविकारा ये न भवन्ति तान् विशेषतो निर्दिशति–

तन्नास्य विषयतृष्णा, प्रभवत्युच्चैर्न दृष्टिसंमोहः।
अरुचिर्न धर्म्मपथ्ये, न च पापा क्रोधकण्डूतिः ॥९॥

तदेवं स्थिते धर्मतत्त्वयुक्तस्य नास्य पुरुषस्य विषयतृष्णा वक्ष्यमाणलक्षणा प्रभवति जायते उच्चैरत्यर्थं न दृष्टिसंमोहो वक्ष्यमाणलक्षण एव अरुचिरभिलाषाभावो न धर्मपथ्ये न धर्मपथ्यविषये, न च पापा स्वरूपेण पापहेतुर्वा क्रोधकण्डूतिः क्रोध एव कण्डूतिः, कण्डूशब्दः कण्ड्वादिषु पठ्यते, तस्य क्तिन्नन्तस्य रूपमेतत् ॥९॥ षो० ४ विव०। (विषयतृष्णालक्षणं 'विसयतण्हा' शब्दे वक्ष्यते) (दृष्टिसंमोहश्च 'दिट्ठिसंमोह' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५१७ पृष्ठे गतः)

एवं दृष्टिसंमोहमभिधाय तदनन्तरं
धर्मपथ्यविषयाया अरुचेर्लिङ्गमाह–

धर्मश्रवणेऽवज्ञा, तत्त्वरसाऽऽस्वादविमुखता चैव।
धार्मिकसत्त्वाऽऽसक्ति–श्च धर्मपथ्येऽरुचिर्लिङ्गम् ॥१२॥

(धर्मेत्यादि) धर्मस्य श्रवणमविपरीतार्थमाकर्णनं तत्राऽव ज्ञाऽनादरस्तत्त्वे परमार्थे रस आसक्तिहेतुः तस्याऽऽस्वादस्तस्मिन् विमुखता वैमुख्यं तत्त्वरसाऽऽस्वादविमुखता चैव, धार्मिका ये सत्त्वास्तैरसक्तिरसंयोगोऽसंपर्को धार्मिकसत्त्वासक्तिश्च। धर्मपथ्ये धर्मः पथ्यमिव तस्मिन्नरुचेर्लिङ्गमिति प्रत्येकमभिसंबन्धः करणीयः ॥१२॥

न च पापा क्रोधकण्डूतिरिक्युक्तं तस्याश्चिह्नमाह–

सत्येतरदोषश्रुति–भावादन्तर्बहिश्च यत् स्फुरणम्।
अविचार्य्य कार्यतत्त्वं, तच्चिह्नं क्रोधकण्डूतेः ॥१३॥

(सत्येत्यादि) सत्यदोषश्रुतिभावादसत्यदोषश्रुतिभावाच्चान्तर्बहिश्चाभ्यन्तरपरिणाममाश्रित्यान्तर्बहिर्गताऽप्रसन्नताऽऽद्याकारद्वारेण बहिश्च यत् स्फुरणं वा वृद्धिश्चलनं वा अविचार्यानालोच्य कार्य्यतत्त्वं कार्यपरमार्थं तच्चिह्नं लक्षणं क्रोधकण्डूतेः क्रोधकण्ड्वाः ॥१३॥

एवमेते विषयतृष्णाऽऽदयो व्यतिरेकमुखेनोक्तास्तद-भावमुपदर्शयन् मैत्र्यादिगुणसंभवमाह–

एते पापविकाराः, न प्रभवन्त्यस्य धीमतः सततम्।
धर्मामृतप्रभावा–द्भवन्ति मैत्र्यादयश्च गुणाः ॥१४॥

(एते इत्यादि) एते पापविकाराः पूर्वोक्ता न प्रभवन्ति न जायन्तेऽस्य पुरुषस्य धीमतो बुद्धिमतः सततमनवरतं धर्मामृतप्रभावाद्धर्म्म एवामृतं धर्मामृतं तत्प्रभावाद्भवन्ति संपद्यन्ते मैत्र्यादयश्च गुणा वक्ष्यमाणस्वरूपाः ॥१४॥

मैत्र्यादीनामेव लक्षणमाह–

परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥१५॥

(परेत्यादि) परेषां प्राणिनां हितचिन्ता हितचिन्तनं मैत्री, ज्ञेयेति सर्वत्र वाक्यशेषः। परेषां दुःखं तद्विनाशिनी तथा करुणा कृपा, परेषां सुखं तेन तस्मिन् वा तुष्टिः परितोषोऽप्रीतिपरिहारो मुदिता, परेषां दोषा अविनयाऽऽदयः प्रतिकर्तुमशक्यास्तेषामुपेक्षामवधीरणमुपेक्षा, संभवत्प्रतीकारेषु तु दोषेषु नोपेक्षा विधेया ॥१५॥

एवं मैत्र्यादिगुणान् भावनारूपानभिधाय धर्मतत्त्वलक्षणोपसंहारं चिकीर्षुराह–

एतज्जिनप्रणीतं, लिङ्गं खलु धर्म्मसिद्धिमज्ञन्तोः।
पुण्याऽऽदिसिद्धिसिद्धेः, सिद्धं सद्धेतुभावेन ॥१६॥

(एतदित्यादि) एतत् पूर्वोक्तं सर्वमेवौदार्याऽऽदिविधि-प्रतिषेधविषयं जिनप्रणीतं जिनोक्तं लिङ्गं लक्षणं, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, धर्म्मासिद्धिमतः धर्म्मनिष्पत्तिमज्ञन्तोः प्राणिनः पुण्याऽऽदिसिद्धिसिद्धेः पुण्य ऽऽद्यु-पायनिष्पत्तेः, सिद्धं प्रतिष्ठितं, सद्धेतुभावेन सत्का-

रणत्वेनाबन्ध्यहेतुत्वेनेति यावत्। पुण्योपायाश्चत्वारः। यथोक्तम्–''दया भूतेषु वैराग्यं, विधिदानं यथोचितम्। विशुद्धा शीलवृत्तिश्च। पुण्योपायाः प्रकीर्त्तिताः ॥१॥'' आदिग्रहणात् ज्ञानयोगपरिग्रहः, ज्ञानयोगोपायपरिनिष्पत्तेश्च सद्धेतुत्वेन सिद्धमेतल्लिङ्गमिति।१६। षो० ४ विव०।

(१२) धर्मद्रुममूलप्रतिपादनपरां गाथामाह–

जीवदय सच्चवयणं, परधणपरिवज्जणं सुसीलं च।
खंती पंचिंदियनि–ग्गहो य धम्मस्स मूलाइं ॥१॥

जीवाश्चेतनाऽऽदिलिङ्गव्यङ्ग्या एकेन्द्रियाऽऽदयः, तेषां दया रक्षणं जीवदयेति। ह्रस्वत्वं प्राकृतप्रभवम्। धर्ममूलं भवतीति सर्वत्र क्रियाऽध्याहारः कार्यः। सत्यं यथार्थं वचनं सत्यवचनं, तदपि परे आत्मव्यतिरिक्ता जनास्तेषां धनं वित्तं परधनं तस्य परि समन्ताद्वर्जनं परिहरणं परधनपरिवर्जनं, सुष्ठु शोभनं शीलं सदाचारश्चतुर्थव्रतं वा सुशीलं, भावप्रधानत्वान्निर्द्देशस्य। सदाचारत्वं चतुर्थव्रतनिः कलङ्कता चेत्यर्थः। क्षान्तिः कषायोपशमः, पञ्चेति पञ्चसंख्यानीन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्राऽऽख्यानि, तेषां निग्रहः, सविषयग्रहणत्यजतावपि रागद्वेषाकरणं व्याघुट्टनं धर्ममूलं भवति। यद्वा–तानि सर्वाण्यपि धर्ममूलक्षणवृक्षस्य मूलानीव मूलानि। अयमत्र भावार्थः–चकारस्यैवकारार्थस्येह संबन्धादेतानि च प्रत्येकं समुदितानि धर्ममहाद्रुमस्य नरसुरशिवसौख्यकुसुमफलप्रदस्य मूलानि, न तु पुनः परपरिकल्पितयागपञ्चाग्नितपःशून्यारण्यनिवासकृतकारिसङ्घभक्ताऽऽदिदानप्रभृतीनि तेषां जीवघातनिष्पाद्यत्वेनाधर्मरूपत्वादिति गाथार्थः। दर्श० २ तत्त्व। ''भक्ष्याभक्ष्यविवेकाच्च, गम्यागम्यविवेकतः। तपोदयाविशेषाच्च, स धर्मो व्यवतिष्ठते ॥१॥'' द्वा० ७ द्वा०। धर्मावलम्बनानि– ''धम्मं णं चरमाणस्स पंच निस्साठाणा पण्णत्ता। तं जहा– छक्काया गणो राया गाहावई सरीरं।'' (अस्य व्याख्या 'णिस्साठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१४८ पृष्ठे द्रष्टव्या) ''दोहिं ठाणेहिं आया केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए।'' स्था०२ ठा०४ उ०। (विशेषः 'खओवसमिय' शब्दे तृतीयभागे ६६० पृष्ठे गतः) (आरम्भपरिग्रहाभ्यां विरताऽविरतस्य धर्मलाभालाभौ 'आरंभ' शब्दे द्वितीयभागे ३७१ पृष्ठे द्रष्टव्यौ)

(१३) धर्मानधिकारिण आह–

सुत्तेण चोइओ जो, अप्पं उद्दिसिअ तं ण पडिवज्जे।
सो तत्तवायबज्झो, न होइ धम्मम्मि अहिगारी ॥६॥

सूत्रेण चोदित इदमित्थमुक्तमेवं यः सत्त्वः अन्यं प्राणिनमुद्दिश्याऽऽत्मतुल्यमुदाहरणतया तत्र प्रतिपद्यते सौत्रमुक्तं, स एवंभूतस्तत्त्ववादबाह्यः परलोकमङ्गीकृत्य परमार्थवादबाह्यो न भवति धर्मे सकलपुरुषार्थहेतावधिकारी, सम्यग्विवेकाभावादिति गाथार्थः। पं०व० ४ द्वार। अथ कलिकालिमामलिनान्तराऽऽत्मानः सन्तः सन्तोऽपि किमेवंविधश्रावकश्रमणगुणगणं श्रोतुं श्रद्धां कर्तुं वा शक्नुवन्ति न सर्वेऽपीत्याह– (रयणत्थिणो वीत्यादि) अथवा– किमिदंयुगीनमानवाः सर्वथैकान्ततो निराकाङ्क्षतामवलम्ब्येथंभूतगुणगणमदातुं दातुं समर्था भवन्ति। दर्श०३ तत्त्व।

(१४) अथ सद्धर्मग्रहणयोग्यतामाह–

संविग्नस्तच्छ्रुतेरेवं, ज्ञाततत्त्वो नरोऽनघः।
दृढं स्वशक्त्या जातेच्छः, संग्रहेऽस्य प्रवर्तते ॥२०॥

एवमुक्तनीत्या (तच्छ्रुतेः) तस्याः धर्मदेशनायाः श्रुतेः श्रवणान्नरः श्रोता पुमान् अनघो व्यावृत्ततत्त्वप्रतिपत्तिबाधकमिथ्यात्वमालिन्यः सन्नत एव ज्ञाततत्त्वः करकमलतलाऽऽकलितनिस्तलास्थूलामलमुक्ताफलवच्छास्त्रलोचनबलेनाऽऽलोकितसकलजीवाऽऽदिवस्तुवादः, तथा– (संविग्नः) संवेगमुक्तलक्षणं प्राप्तः सन् जातेच्छो लब्धचिकीर्षापरिणामोऽर्थाद्धर्मे (दृढम्) अतिसूक्ष्माऽऽभोगपूर्वं यथा स्यात्तथा स्वशक्त्या स्वसामर्थ्येन हेतुभूतेन अस्य धर्मस्य संग्रहे सम्यग् वक्ष्यमाणयोगवन्दनाऽऽदिशुद्धिरूपविधिपूर्वं ग्रहे प्रतिपत्तौ (प्रवर्तते) प्रवृत्तिमाधत्ते। अदृढमयथाशक्ति च धर्मग्रहणप्रवृत्तौ भङ्गसंभवेन प्रत्युतानर्थसंभव इति दृढस्वशक्त्योर्ग्रहणं कृतमिति विशेषगृहिधर्मग्रहणयोग्यताप्रतिपादिता भवति शास्त्रान्तरे चैकविंशत्या गुणैर्द्धर्मग्रहणार्हो भवतीति प्रतिपादितम्। ध०१ अधि०। (ते च गुणा 'धम्मरयण' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(१५) धर्माधिकारिणः–

जे पुव्वुट्ठाई णो पच्छा णिवाती, जे पुव्वुट्ठाई पच्छा णिवाती, जे णो पुव्वुट्ठाई णो पच्छा णिवाती, सेऽवि तारिसिए सिया, जे परिण्णाय लोगमण्णे सयंति ॥१५२॥

यः कश्चिद्विदितसंसारस्वभावतया धर्मचरणैकप्रवणमनाः पूर्वं प्रव्रज्यावसरे संयमानुष्ठानेनोत्थातुं शीलमस्येति पूर्वोत्थायी, पश्चाच्च श्रद्धासंवेगतया विशेषेण वर्द्धमानपरिणामो नो निपाती, निपतितुं शीलमस्येति विगृह्य णिनिः। निपतनं वा निपातः, सोऽस्यास्तीति निपाती, सिंहतया निष्क्रान्तः सिंहतया विहारी च गणधराऽऽदिवत्प्रथमो भङ्गः। द्वितीयभङ्गं सूत्रेणैव दर्शयन्नाह– पूर्वमुत्थातुं शीलमस्येति पूर्वोत्थायी, पुनर्विचित्रत्वात्कर्म्मपरिणतेस्तथाविध-भवितव्यतानियोगात्पश्चान्निपाती स्यात्, नन्दिषेणवत्। कश्चिद्दर्शनतोऽपि गोष्ठामाहिलवदिति। तृतीयभङ्गस्य चाभावादनुपादानं, स चायम्– (जे णो पुव्वुट्ठायीत्यादि) नो पूर्वोत्थायी पश्चान्निपातीति। तथा ह्युत्थाने सति निपातोऽनिपातो वा चिन्त्यते, सति धर्म्मिणि धर्म्मचिन्ता, तदुत्थानप्रतिषेधे च दूरोत्सादितैव निपातचिन्तेति। चतुर्थभङ्गं दर्शयन्नाह यो हि नो पूर्वोत्थायी न च पश्चान्निपाती सोऽविरत एव गृहस्थः सन्नोत्थायी भवति, सम्यग्विरतेरभावान्नापि पश्चान्निपाती, उत्थानाविनाभावित्वान्निपातस्य, शाक्याऽऽदयो वा चतुर्थभङ्गापतिता द्रष्टव्याः, तेषामप्युभयासद्भावादिति। ननु च गृहस्था एव चतुर्थभङ्गापतिता युक्ता वक्तुं, तथाहि– तेषां सावद्ययोगानुष्ठानेनानुत्थानतया प्रतिज्ञामन्दराऽऽरोपाभावान्निपाताभावः, शाक्याऽऽदिरपि चतुर्थभङ्गपतित इत्यत आह– (सेऽवि इत्यादि) सोऽपि शाक्याऽऽदिर्गणः पञ्चमहाव्रतभाराऽऽरोपणाभावेन सावद्ययोगानुष्ठानतया नो पूर्वोत्थायी, निपातस्य च तत्पूर्वकत्वान्नो पश्चान्निपातीत्यतस्तादृश एव गृहस्थतुल्य एव स्यात्, आश्रवद्वाराणामुभयेषामप्यसंवृतत्वात्, उदायिनृपमारकवत्। अन्येऽपि ये सावद्यानुष्ठायिनस्तेऽपि तादृक्षा एवेति दर्शयन्नाह– (जे परिण्णाय इत्यादि) येऽपि स्वयूथ्याः पार्श्वस्थाऽऽदयो द्विविधयाऽपि परिज्ञया लोकं परिज्ञाय पुनः पचनपाचनाऽऽद्यर्थं तमेव लोकमन्वाश्रिता अन्वेषयन्ति वा तेऽपि गृहस्थतुल्या एव भवेयुः ॥१५२॥

स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह–

एयं णियाय मुणिणा पवेदितं, इह आणाकंखी पंडिते अणिहे, पुव्वावररायं जयमाणे, सया सीलं संपेहाए सुणिया भवे अकामे अझंझे, इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ?॥१५३॥

(एयं इत्यादि) एतद् यदुत्थाननिपाताऽऽदिकं प्रागुपन्यस्तं तत्के-वलज्ञानावलोकनेन (णियाय त्ति) ज्ञात्वा मुनिना तीर्थकृता प्रवेदितं कथितम्। इदं चान्यत्प्रवेदितमित्याह– (इह इत्यादि) इहास्मिन्मौनीन्द्रे प्रवचने व्यवस्थितः सन् आज्ञां तीर्थकृतोपदेशमाकाङ्क्षितुं शीलमस्ये-त्याज्ञाकाङ्क्षी आगमानुसारप्रवृत्तिकः, कश्चैवंभूतः?– पण्डितः सदसद्विवेकज्ञोऽस्निहः स्नेहरहितो रागद्वेषविप्रमुक्तोऽहर्निशं गुरुनिर्देश-वर्त्ती यत्नवान् स्यादित्येतदाह– (पुव्वावर इत्यादि) पूर्वरात्रं रात्रेः प्रथमो यामोऽपररात्रं रात्रेः पाश्चात्य एतद्यामद्वयमपि यतमानः सदाचारमाचरेत्, मध्यवर्त्तियामद्वयमपि यथोक्तविधिना स्वपन् वैरात्रादिकं विध्यात्, रात्रियतनाप्रतिपादनेन चाह्न्यपि प्रतिपादितैव भवति, आद्यन्तग्रहणे मध्यग्रहणस्या-वश्यभावित्वात्। किञ्च– (सया सीलं इत्यादि) सदा सर्वकालं 'शीलम्' अष्टादशभेदसहस्रसङ्ख्यं, संयमं वा। यदि वा चतुर्धा शीलम्– महाव्रतसमाधानं तिस्रो गुप्तयः पञ्चेन्द्रियदमः कषायनिग्रहश्चेत्ये-तच्छीलं संप्रेक्ष्य मोक्षाङ्गतयाऽनुपालयेत नाक्षिनिमेषमात्रमपि कालं प्रमादवशगो भूयात्। कश्च शीलसंप्रेक्षकः स्यादित्याह– यो हि श्रुत्वा शीलसंप्रेक्षणफलं निःशीलनिर्वतानां च नरकाऽऽदिपातविपाकमाकर्ण्या-ऽऽगमात्, 'भवेत्' स्याद् अकाम इच्छामदनकामरहित इति। तथा नास्य झंझा माया, लोभेच्छा विद्यत इत्यझंझः, कामझंज्ञाप्रतिषेधाच्च मोहनीयोदयः प्रतिषिद्धः, तत्प्रतिषेधाच्च शीलवान् स्यादिति, एतदुक्तं भवति– धर्म्मं श्रुत्वा स्याद् अकामोऽझञ्झश्चेत्यनेन चोत्तरगुणा गृहीताः, उपलक्षणार्थत्वाच्च मूलगुणा अपि गृहीताः, ततः स्याद् अहिंसकः सत्यवादीत्याद्यपि द्रष्टव्यम्। ननु चान्यज्जीवाच्छरीरमित्येवं भावनायुक्त-स्यानिगूहीतबलवीर्यस्य पराक्रममाणस्याऽष्टादशशीलाङ्गसहस्रधा-रिणोऽपि मे यथोपदेशं प्रवर्त्तमानस्यापि नाशेषकर्म्ममलापगमोऽद्यापि भवतीत्यतस्तथाभूतमसाधारणकारणमाचक्ष्व, येनाहमाश्वेवाशेष-मलकलङ्करहितः स्याम्, अहं च भवदुपदेशादपि सिंहेनापि सह युद्ध्ये, न मे कर्म्मक्षयार्थं प्रवृत्तस्य किञ्चिदशक्यमस्तीत्यत्रोत्तरं सूत्रेणैवाऽऽह– (इमेण चेव इत्यादि) अनेनैवौदारिकेण शरीरेणेन्द्रियनोइन्द्रियाऽऽत्मकेन विषयसुखपिपासुना स्वैरिणा सार्द्धं युध्यस्व, इदमेव सन्मार्गावतारणतो वशीकुरु, किमपरेण बाह्यतस्ते युद्धेन? अन्तरारिषड्वर्गकर्मरिपुजवाद्वा सर्वं सेत्स्यति भवतो, नातोऽपरं दुष्करमस्तीति॥१५३॥

किं त्वियमेव सामग्री अगाधसंसारार्णवे पर्यटतो भवकोटि–

सहस्रेष्वपि दुष्प्रापेति दर्शयितुमाह–

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं जहित्थकुसलेहिं परिण्णाविवेगे भासिते, चुते हुबाले गब्भातिसु रज्जति, अस्सिं चेयं पवुच्चति, रूवंसि वा छणंसि वा, से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अण्णहा लोगमुवहेमाणे, इय कम्म परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति, संजमती णो पगब्भती, उवेहमाणो पत्तेयं सायं, वण्णाएसी णारभे कंचणं सव्वलोए एगप्पमुहे विदिसपतिण्णे णिव्विण्णचारी अरए पयासु ॥१५४॥

(युद्धारिहं इत्यादि) एतदौदारिकं शरीरं भावयुद्धार्हं, खलुरवधारणे। स च भिन्नक्रमो, दुर्लभमेव दुष्प्रापमेव, उक्तं च– ''ननु पुनरिदमति दुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम्। मानुष्यं यखोतक–तडिल्लता–विलसितप्रतिमम्'' ॥१॥ इत्यादि। पाठान्तरं वा– ''युद्धारियं च दुल्लहं।'' तत्रानार्यं संग्रामयुद्धं, परीषहाऽऽदिरिपुयुद्धं त्वार्यं, तद् दुर्लभमेव तेन युध्यस्व, ततो भवतोऽशेषकर्म्मक्षयलक्षणो मोक्षोऽचिरादेव भावीति भावार्थः। तच्च भावयुद्धार्हं शरीरं लब्ध्वा कश्चित्तेनैव भवेनाशेषकर्म्मक्षयं विधत्ते, मरुदेवीस्वामिनीव, कश्चित् सप्तभिरष्टभिर्वा भवैर्भरतवत्, कश्चिपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तेन, अपरो न सेत्स्यत्येव, किमित्येवं यत आह– (जहाकुसलेहिं इत्यादि) यथा येन प्रकारेणात्रास्मिन् संसारे कुशलैस्ती-र्थकृद्भिः परिज्ञा विवेकः परिज्ञानविशिष्टता, कस्यचित्कोऽप्यध्यवसायः संसारवैचित्र्यहेतुर्भाषितः प्रज्ञापितः– स च मतिमता तथैवाभ्युपगन्तव्य इति। तदेव परिज्ञाननानात्वं दर्शयन्नाह– (चुए इत्यादि) लब्ध्वाऽपि दुर्लभं मनुजत्वं प्राप्य च मोक्षैकगमनहेतुं धर्म्मं पुनरपि कर्मोदयात् तस्मात् च्युतो बालः अज्ञः गर्भाऽऽदिषु रज्यते, गर्भ आदिर्येषां कुमारयौवनावस्था-विशेषाणां ते गर्भाऽऽदयः, तेष्वेव गार्ध्यमुपयाति, यथैभिः सार्द्धं मम वियोगो मा भूत् इत्येतदध्यवसायी भवति। यदि वा–धर्मात् च्युतस्त-त्करोति येन गर्भादिषु यातनास्थानेषु सङ्गमुपयाति। ''रिज्जइ त्ति'' वा क्वचित्पाठः, रीयते गच्छतीत्यर्थः। स्यात्– क्वोक्तमिदम्? यत्प्राग् व्यावर्णितमित्याह– (अस्सिं चेयं पवुच्चइ रूवंसि वा छणंसि वा से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अन्नहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्मं परिन्नाय सव्वसो से ण हिंसति संजमती णो पगब्भइ) अस्मिन्निन्यार्हते प्रवचने एतत्पूर्वोक्तं प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते। एतच्च वक्ष्यमाणमत्रैवोच्यते इति दर्शयन्नाह– रूपे चक्षुरिन्द्रियविषये अध्युपपन्नो, वाशब्दादन्यत्र वा स्पर्शरसाऽऽदौ क्षणे प्रवर्त्तते, 'क्षणु' हिंसायां, क्षणनं क्षणो हिंसा, तस्यां प्रवर्त्तते, वाशब्दादन्यत्र चानृतस्तेयाऽऽदाविति, रूपप्रधानत्वाद्विषयाणां रूपित्वाच्च रूपोपा-दानम्, आश्रवद्वाराणां च हिंसाप्रधानत्वात्तदादित्वाच्च तदुपादानमिति। बालो रूपाऽऽदिविषयनिमित्तं धर्माच्चयुतः सन् गर्भाऽऽदिषु रज्यते, अत्राऽऽर्हते मार्गे इदमुच्यते, यस्तु पुनर्गर्भाऽऽदिगमनहेतुं ज्ञात्वा विषयसङ्गं धर्मादच्युतो हिंसाद्याश्रवद्वारेभ्यो निवर्त्तते स किंभूतः स्यादित्याह– स जितेन्द्रियो, हुरवधारणे, स एवैक अद्वितीयो मुनिर्ज्ञातसंयमान्तरयमन्ता संविद्ध-पथः सम्यग्विद्धस्ताडितः क्षुण्णः पन्था मोक्षमार्गो ज्ञानदर्शन-चारित्राऽऽख्यो येन स तथा। (संविद्धभए त्ति) वा पाठः। संविद्धभयो दृष्टभय इत्यर्थः, यो ह्याश्रवद्वारेभ्यो हिंसादिभ्यो निवृत्तः स एव मुनिः क्षुण्णमोक्ष-मार्गः इति भावार्थः। किञ्च– अन्येन प्रकारेणान्यथा विषयकषायाभिभूतं हिंसाऽऽदिकर्मसु प्रवृत्तं लोकम्गृहस्थं लोकं वा पाखण्डिलोकं वा, पचनपाचनौद्देशिकसचित्ताऽऽहाराऽऽदिप्रवृत्तमु-त्प्रेक्ष्यमाणोऽन्यथा वाऽऽत्मानं निवृत्ताशुभव्यापारमुत्प्रेक्ष्यमाणः संविद्धपथो मुनिः स्यादिति। लोकं चान्यथोत्प्रेक्ष्य किं कुर्यादित्याह– इति पूर्वोक्त-हेतुभिर्यद्बद्धं कर्म तदुपादानं च सर्वतः परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यान-परिज्ञयाऽपि सर्वतः परिहरेत्। कथं परिहरतीत्याह– (से ण हिंस–

ति) स कर्मपरिहर्त्ता कायवाङ्मनोभिर्न हिनस्ति जन्तून्, न घात-यत्यपरैर्नाप्यनुमन्यते। किञ्च-पापोपादानप्रवृत्तमात्मानं संयमयति, सप्तदशप्रकारं वा संयमं करोति संयमयति, आचारक्विबन्तं वैतत्-संयम इवाऽऽचरति संयमयति। किं च- (नोपगब्भइ) 'गल्भ' धार्ष्ट्ये, असंयम-कर्मसु प्रवृत्तः सन् नप्रगल्भत्वमायाति, रहस्यप्यकार्यप्रवृत्तो जिह्रेति न धृष्टतामवलम्बते इति, उपलक्षणार्थत्वादस्य क्षुण्णमोक्षपथो मुनिर्न क्रुध्यति न जात्यादिमानमुद्वहति, न वञ्चानां विधत्ते, न लुभ्यति। किमाकलय्यैतत् कुर्यादित्याह- (उवेहमाणे त्ति) उत्प्रेक्षमाणोऽवगच्छन् प्रत्येकं प्राणिनां सातं मनोऽनुकूलं नान्यसुखेनान्यः सुखीति नाऽपि परदुःखेन दुःखी, अतः प्राणिनो न हिंस्यात्। इति प्राणिनां प्रत्येकं सातमुत्प्रेक्षमाणश्च किं कुर्यादित्याह- वर्ण्यते प्रशस्यते येन स वर्णः साधुकारस्तदादेशी वर्णाऽऽदेशी वर्णाभिलाषी सन्नारभते कञ्चन पापाऽऽ-रम्भं सर्वस्मिन्नपि लोके, यदि वा-तपः संयमाऽऽदिकमप्यारम्भं यशः कीर्त्यर्थं नाऽऽरभते, प्रवचनोड्डावनार्थं त्वारभते।

तदुड्डावकाश्चामी-

''प्रावचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च।
विद्यासिद्धः ख्यातः, कविरपि चोड्डावकास्त्वष्टौ ॥१॥''

यदि वा वर्णो-रूपं तदादेशी-तदभिलाषुकः, नोर्द्धतनाऽऽदिकाः क्रिया आरभेत्, किंभूतः सन्नेतत् कुर्यादित्याह- (एगप्पमुहे) एको मोक्षोऽशेषमलकलङ्करहितत्वात् संयमो वा रागद्वेषरहितत्वात्तत्र प्रगतं मुखं यस्य स तथा, मोक्षे तदुपाये वा दत्तैकदृष्टिर्न कञ्चन पापाऽऽरम्भमारभेत इति। किञ्च-मोक्षसंयमाभिमुखा दिक् ततोऽन्या विदिक् तां प्रकर्षेण तीर्णो विदिक्प्रतीर्णः, स चैवंभूतः सन्नारम्भी स्यात्, कुमार्गपरित्यागेन न पापारम्भान्वेषी भवतीत्यर्थः। किञ्च- (निव्वि-ण्णचारी) चरणं चारः अनुष्ठानं, निर्विण्णस्य चारो निर्विण्णचारः, सोऽस्यास्तीति निर्विण्णचारी, कुत इति चेत्? यतः प्रजास्वरतः प्रजायन्त इति प्रजाः प्राणिनः, तत्रारतः तदारम्भाद् निवृत्तो निर्ममत्वो वा, यश्च शरीराऽऽदिष्वपि ममत्वरहितः स निर्विण्णचार्येव भवति, यदि वा प्रजाः स्त्रियस्तास्वरत आरम्भेऽपि निर्वेदमागच्छति, कारणाभावे कार्यस्याप्यभावादिति।

यश्च प्रजास्वरक्त आरम्भरहितः, स किंभूतः स्यादित्याह-

से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं तं णो अण्णेसी, जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा, ण इमं सक्कं सिढिलेहिं अदिज्जमाणेहिं, गुणासाएहिं वंकसमायारेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं, मुणी मोणं समायाए धुणे सरीरगं, पंतं लूहं च सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो, एस ओहंतरे मुणी, तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति वेमि ॥१५५॥

(से वसुमं) वसु द्रव्यं, स चात्र संयमः, तद्विद्यते यस्य स निवृत्ताऽऽ-रम्भो मुनिर्वसुमान् (सव्वसमन्नागय त्ति) सर्वं सम्यगन्वागतं प्रज्ञानं पदार्थाऽऽविर्भावकं यस्याऽऽत्मनस्तेनाऽऽत्मना सर्वसमन्वागत-प्रज्ञानरूपाऽऽपन्नेन यदकर्त्तव्यं पापं कर्म तन्नो कदाचिदप्यन्वेषति, उपलब्धपरमार्थरूपेणाऽऽत्मना न सावद्यानुविधायी स्यादिति भावार्थः। यदेव सम्यग्प्रज्ञानं तदेव पापकर्मवर्जनं, यदेव पापकर्मवर्जनं तदेव च सम्यग्प्रज्ञानमित्येतद्व्रतप्रत्यागतसूत्रेणैव दर्शयितुमाह- सम्यगिति सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वं वा तत्सहचरितम्, अनयोः सहभावादेकग्रहणे द्वितीयग्रहणं न्याय्यं, यदिदं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वं वेत्येतत्पश्यत तन्मुनेर्भावो मौनंसंयमानुष्ठान-मित्येतत्पश्यत्, यच्च मौनमित्येतत् पश्यत तत्सम्यग्ज्ञानं नैश्चयिकं सम्यक्त्वं वा पश्यत, ज्ञानस्य विरति-फलत्वात् सम्यक्त्वस्य चाभिव्यक्तिकारणत्वात् सम्यक्त्वज्ञानचरणानामेकता-ऽध्य-वसेयेति भावार्थः। एतच्च न येन केनचिच्छक्यमनुष्ठातुमित्याह- नैतत्सम्यक्त्वाऽऽदित्रयं सम्यगनुष्ठातुं शक्यं, कैः? शिथिलैः अल्पपरि-णामतया मन्दवीर्यैः संयमतपसोर्धृतिद्रढिमरहितैरिति। किञ्च- (आदिज्जमाणेहिं) आर्द्रैः पुत्रकलत्राऽऽद्यनुषङ्गजनितस्नेहादार्द्रीक्रिय-माणैरेतत् पूर्वोक्तमशक्यमिति संबन्धः, किञ्च-(गुणासाएहिं) गुणाः शब्दाऽऽदयस्तेषु आस्वादो येषां ते गुणाऽऽस्वादास्तैरिति। किञ्च- (वंकसमायारेहिं) वक्रः- समाचारो येषां ते तथा, तैर्मायाविभिरित्यर्थः। (पमत्तेहिं) विषयकषायाऽऽदिप्रमादैः प्रमत्तैरिति। (गारमावसंतेहिं) अगारं गृहं तदाद्याक्षरलोपाद्गारमित्युक्तं तदागारमावसद्भिः सेवमानैः पापकर्म-वर्जनरूपं मौनमनुष्ठानमशक्यमिति सर्वत्र योज्यम्। कथं तर्हि शक्य-मित्याह- (मुणी मोणं समायाए धुणे सरीरगं पंतं लूहं च सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो) (मुणी मोणं ति) मुनिर्जगत्त्रयस्य मन्ता मौनं मुनित्वम-शेषसावद्यानुष्ठानवर्जनरूपं समादाय गृहीत्वा धुनीयाच्छरीरकमौदारिकं कर्मशरीरं वा। कथं च तस्य धुननमित्याह- प्रान्तं पर्युषितं वल्लचण-काद्यल्पं वा तदपि रूक्षं विकृतेरभावात्तत् सेवन्ते तदभ्यवहरन्ति, के ते? वीराः कर्मविदारणसहिष्णवः, किंभूताः? सम्यक्त्वदर्शिनः, समत्व-दर्शिनो वा। यश्च प्रान्तरूक्षसेवी सकिंगुणः स्यादित्याह- (एस ओहंतरे मुणी) एषोऽनन्तरोक्तविशेषणविशिष्टः ओघो भावौघः संसारस्तं तरतीति। कोऽसौ? मुनिः ''वर्तमानसमीप्ये वर्तमानवद्वा'' ॥३।३।१३१॥ इति तीर्ण एवासौ, स बाह्याभ्यन्तरसङ्गाभावान्मुक्तः, कश्चैवंभूतो? यः सावद्या-नुष्ठाना-द्विरत इत्येवं व्याख्यातः। इतिरधिकारसमाप्तौ। ब्रवीमीति पूर्ववत्। आचा० १ श्रु० ५ अ०३ उ०।

इह त्रीणि वयांसि-युवा मध्यवया वृद्धश्चेति, तत्र मध्यवयाः परिपक्वबुद्धित्वाद् धर्मार्ह इत्येतद्दर्शयति-

मज्झिमेणं वयसा एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिता सोच्चा मेधावी वयणं पंडियाणं णिसामित्ता समयाए धम्मे आयरिएहिं पवेदिते ते अणवकंखमाणा अणतिवाएमाणा अपरिग्गहमाणा णो परिग्गहावंति सव्वावंति च णं लोगंसि णिहाय दंडं पाणेहिं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए॥

युवा मध्यवया वृद्धश्चेति। तत्र मध्यमवयाः परिपक्वबुद्धित्वाद्धर्मार्ह इत्यतो दर्शयति- मध्यमेन वयसाऽऽयेके संबुद्ध्यमाना धर्मचरणाय सम्यगुत्थिता इति, सत्यपि प्रथमचरमवयसोरुत्थाने यतो बाहुल्याद्योग्यत्वाच्च प्रायो विनिवृत्तभोगकुतूहलइति निष्प्रत्यूहधर्मा-धिकारीति मध्यमवयोग्रहणम्। कथं संबुद्धमानाः समुत्थिता इत्याह- (सोच्चा इत्यादि) इह विविधाः संबुद्ध्यमानका भवन्ति। तद्यथा- स्वयंबुद्धाः, प्रत्येकबुद्धाः, बुद्धबोधिताश्च। तत्र बुद्धबोधितेनेहाधिकार इति दर्शयति-मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः पण्डितानां तीर्थकृदादीनां वचनं हिताहितप्राप्तिपरिहारप्रवर्तकं श्रुत्वाऽऽकर्ण्य पूर्वं पश्चान्निशम्याऽऽ-

वधार्य समतामालम्बेत । किमिति? यतः समतया माध्यस्थ्येनार्थस्तीर्थकृद्भिर्धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यः प्रवेदित आदौ प्रकर्षेण वा कथित इति। ते च मध्यमे वयसि श्रुत्वा धर्मसंबुद्ध्यमानाः समुत्थिताः सन्तः किं कुर्युरित्याह– (ते अभिकंखमाणा इत्यादि) ते निष्क्रान्ता मोक्षमभिप्रस्थिताः कामभोगानभिकाङ्क्षन्तस्तथा प्राणिनोऽनतिपातयन्तः परिग्रहमपरिगृह्णन्त आद्यन्तयोर्ग्रहणे मध्योपादानमपि द्रष्टव्यम्। तथा मृषावादमवदन्त इत्याद्यपि वाच्यमेवंभूताश्च देहेऽप्यममत्वाः (सव्वावंति त्ति) सर्वस्मिन्नपि लोके, चः समुच्चये, स च भिन्नक्रमः णमितिवाक्यालङ्कारे। नोपरिग्रहवन्तश्च भवन्तीति यावत्। किञ्च– (णिहाय इत्यादि) प्राणिनो दण्डयतीति दण्डः परितापकारी तं दण्डं प्राणिषु प्राणिभ्यो वा निधाय क्षिप्त्वा त्यक्त्वा पापं पापोपादानं कर्माष्टादशभेदभिन्नं तदकुर्वाणोऽनाचरन्नेष महान्न विद्यते ग्रन्थः स बाह्याभ्यन्तरोऽस्येत्यग्रन्थः व्याख्यातस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिः प्रतिपादित इति । आचा०१ श्रु० ८ अ० ३उ०। इह हि दुरन्तानन्त चतुरन्तासारविसारिसंसारापारपारावारे निमज्जता भव्यजन्तुना जिनप्रवचनप्रतीतचोल्लकाऽऽदिदशनिदर्शनदुष्प्रापां कथमपि प्रशस्तसमस्तमनुजजन्माऽऽदिसामग्रीमवाप्य भवजलधिसमुत्तरण-प्रवणप्रवहणस्वधर्मसद्धर्मविधाने प्रयत्नो विधेयः। यदवादि– ''भवकोटीदुष्प्रापामवाप्य नृभवाऽऽदिसकलसामग्रीम् । भवज-लधियानपात्रे, धर्मे यत्नः सदा कार्यः ॥१॥'' सङ्घ०१ अधि० १ प्रस्ताव०। कामार्थयोस्तु बाधायां धर्मो रक्षणीयः, धर्ममूलत्वादर्थकामयोः। उक्तं च–''धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनापि जीवतः। आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः ॥१॥'' (१३) ध०१ अधि०। (धर्मविषये तेतलिपुत्रकथा 'तेतलिसुय' शब्दे २३५२ पृष्ठे गता) ''जाव न दुक्ख पत्ता, माणब्भंसं च पाणिणो पायं। ताव न धम्मं गेण्हंति भावाओ तेयलिसुउं व्व'' ॥१॥ ज्ञा०१ श्रु० १४ अ०। ''नेह लोके सुखं किञ्चिच्छादितस्यांहसा भृशम्। मितं च जीवितं नृणां, तेन धर्मे मतिं कुरु'' ॥१॥ आ०म०१ २ खण्ड।

प्रक्रान्तमेव समर्थयन्नाह–

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥३६॥

जरा वयोहानिलक्षणा यावन्न पीडयति, व्याधिः क्रियासामर्थ्यशत्रुर्यावन्न वर्द्धते। यावदिन्द्रियाणि क्रियासामर्थ्योपकारीणि श्रोत्रादीनि न हीयन्ते तावदत्रान्तरे प्रस्ताव इति कृत्वा धर्मसमाचरेत् चारित्रधर्ममिति सूत्रार्थः ॥३६॥ दश० ८ अ०।

पापाद्विरम्य धर्ममेवाऽऽश्रयेत् तथा च–

वेराणुगिद्धे णिचयं करेति,
इओ चुए सुदुहमट्ठदुग्गं।
तम्हा उ मेधावि समिक्ख धम्मं,
चरे मुणी सव्वओ विप्पमुक्के ॥६॥

येन केन कर्मणा परोपतापरूपेण वैरमनुबध्यते जन्मान्तरशतानुयायि भवति, तत्र गृद्धो वैरानुगृद्धः। पाठान्तरं वा ''आरम्भसत्तो त्ति'' आरम्भे सावद्यानुष्ठानरूपे सक्तो लग्नो निरनुकम्पो निचयं द्रव्योपचयं तन्निमित्ताऽऽपादितकर्मनिचयं स्थानात् च्युतो जन्मान्तरं गतः सन् वा करोत्युपादत्ते, स एवंभूत उपात्तवैरः कृतकर्मोपचय इत्यतोऽस्मात्स्थानाच्च्युतो जन्मान्तरं गतः सन् दुःखयतीति दुःखं नरकाऽऽदिकं यातनास्थानमर्थतः परमार्थतो दुर्गं विषमं दुरुत्तरमुपैति। यत एवं तत्तस्मान्मेधावी विवेकी मर्यादावान् वा संपूर्णसमाधिगुणं जानानो धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं समीक्ष्याऽऽलोच्याऽङ्गीकृत्य मुनिः साधुः सर्वतः सबाह्याभ्यन्तरात्सङ्गाद्विप्रमुक्तोऽपगतः संयमानुष्ठानं मुक्तिगमनैकहेतुभूतं चरेदनुतिष्ठेत रक्ष्यारम्भाऽऽदिसङ्गाद्विप्रमुक्तो निश्रितभावेन विहरेदिति यावत् ॥६॥ सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

(१६) तथा च–

दियहाइं दो व तिन्नि च, अद्धाणं होइ जं तु लग्गेण।
सव्वायरेण तस्स वि, संवलयं लेइ पविसंतो ॥
जो पुण दीहपवासो, चुलसीइजोणिलक्खनियमेणं।
तस्स तवसीलमइयं, संवलयं न चिंतेह ॥
जहजह पहरे दियहे, माससंवस्सरे ति वोलिंति।
तह तह गोयम ! जाणसु, दुक्के आसन्नमरणं च।
जस्स न नज्जइ कालं, न य वेला नेव दियहपरिमाणं।
नाए वि णत्थि कोइ वि, जगम्मि अजरामरो एत्थ ॥
पावो पमायवसओ, जीवो संसारकज्जमुज्जुत्तो।
दुक्खेहिँ न निव्विन्नो, मुक्खेहिँ न गोयमा ! तिप्पे ॥
जीवेण जाणिउं वि, सज्जयाणि जो इ सएसु देहाणि।
थेवेहिँ तओ सयलं, पि तिहुयणं होज्ज पडिहत्थं ॥
नहदंतमुद्धभमुह–क्खिकेसजीवेण विप्पमुक्केसु।
तह वि हविज्ज कुलसे–लमेरुगिरिसन्निभे कूडे ॥
हिमवंतमलयमंदर–दीवोदहिधरणिसरिसरासीओ।
अहियारो आहारो, जीवेणाहारिओ अणंतहुतो ॥
गुरुदुक्खभरक्कंत–स्स अंसुनिवाएण जं जलं गलियं।
तं अगडतलायणई–समुद्दमाईसु ण वि होज्जा ॥
आवीयं घणछीरं, सागरसलिलाउ बहुयरं होज्जा।
संसारम्मि अणंते, अविलाजोणीए एक्काए ॥
सत्ताहविवन्नसुकुहिय–साणं जोणीए देसम्मि।
किमियत्तणकेवलए–ण जाणि मुक्काणि देहाणि ॥
तेसिं सत्तमपुढवी–ए सिद्धिखेत्तं च पावओ कुरुडं।
चोद्दसरज्जुं लोगं, अणंतभागेण विभरेज्जा ॥
एते य कामभोगे, कालमणंतं इहं सओवभोगे य।
अप्पुव्वं वि य मन्नइ, जीवो तह वि य विसयसोक्खं ॥
जह कछुलो तुयमाणो, दुहं मुणेइ सोक्खं।
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुहं सुहं वेंति ॥
जाणंति अणुहवंति य, अणुजम्मजरामरणसंभवे दुक्खे।
न य विसएसु विरज्जं–ति गोयम ! दुग्गइगमाणपत्थिए जीवे ॥
सव्वगहाणं पभवो, महागहो सव्वदोसपायट्टी।
कामग्गहो दुरप्पा, जेणभिभूयं जगं सव्वं ॥

तस्स वसं जे गया पाणी–
जाणंति जह भोगिड्डि–संपयासव्वमेव धम्मफलं।
तह वि दढमूलहियए,
पावं काऊण दोग्गइं जंति ॥
वच्चइ खणेण जीवो, पंतानिलधाउसिंभखोभेहिं।
उज्जमह मा विसीयह,तरतमजोगो इमो दुलहो ॥
पंचिंदियत्तणं मा–णुसत्तणं आरिए जणे सुकुलं।
साहुसमागमसुणणा,सद्दहणा भोगपव्वज्जा ॥
सूलअहिविसविसूइय–पाणियसत्थग्गिसंभमेहिं च।
देहंतरसंकमणं, करेइ जीवो मुहुत्तेण ॥
जावाउसावसेसं, जाव य थोवो वि अत्थि ववसाओ।
ताव करेज्जऽप्पहियं, मा तप्पिह हा पुणो एत्थ ॥
सुरधणुविज्जूखणदि–ट्ठनट्ठसंझाणुरागसिमिणसमं।
देहं इंति सुविपुलसं–मयं भंडवजं भरिउं ॥
इय जाव ण चुक्कसि ए–रिसस्स खणभंगुरस्स देहस्स।
उग्गं कट्ठं घोरं, चरसु तवं नत्थि परिवाडी ॥
वाससहस्सं पि जई, काऊणं संजमं सुविउलं पि।
अंते किलिट्ठभावो, न विसुज्झइ कंडरीय व्व ॥ महा० ६ अ०॥

(१७) ते धन्ना जे धम्मं, चरिउं जिणदेसियं पयत्तेणं।
गिहिपासबंधणाओ, उम्मुक्का सव्वभावेणं ॥ द०प०।

धर्ममुपदिशन् भगवानादितीर्थकरो भरततिरस्काराऽऽगत-संवेगान् स्वपुत्रानुद्दिश्येदमाह। यदि वा सुरासुरनरोरगतिरश्चः समुद्दिश्य प्रोवाच यथा–

संवुज्झह किं न वुज्झह,
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ,
नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥१॥

संबुध्यध्वं यूयं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणे धर्मे बोधं कुरुत। यतः पुनरेवंभूतोऽवसरो दुरापः। तथाहि– मानुषं जन्म, तत्राऽपि कर्मभूमिः पुनरार्यदेशः, सुकुलोत्पत्तिः, सर्वेन्द्रियपाटवं, श्रवणश्रद्धाऽऽदिप्राप्तौ सत्यां स्वसंवित्त्यवष्टम्भेनाह– किं न बुध्यध्वमित्यवश्यमेवंविधसामग्र्यावाप्तौ सत्यां सकर्णेन तुच्छान् भोगान् परित्यज्य सद्धर्मबोधो विधेय इति भावः।

तथाहि–

''निर्वाणाऽऽदिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते,
लब्धे स्वल्पमचारु कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते।
वैडूर्याऽदिमहोपलौघनिचिते प्राप्तेऽपि रत्नाकरे,
लातुं स्वल्पमदीप्ति काचशकलं किं चोचितं सांप्रतम्'' ॥१॥

अकृतधर्मचरणानां तु प्राणिनां संबोधिः सम्यक्दर्शनज्ञान-चारित्राऽवाप्तिलक्षणा प्रेत्य परलोकगतानां, खलुशब्दस्याऽवधारणार्थत्वात् सुदुर्लभैव। तथाहि– विषयप्रमादवशात् सकृत् धर्माऽऽचरणाद् भ्रष्टस्याऽनन्तमपि कालं संसारे पर्यटनमभिहितमिति। किं च हुरित्यवधारणे। नैवाऽतिक्रान्ता रात्रय उपनमन्ति पुनर्ढौकन्ते। न ह्यतिक्रान्तो यौवनाऽऽदिकालः पुनरावर्त्तत इति भावः। तथाहि– ''भवकोटिभिरसुलभं, मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे। न च गतमायुर्भूयः, प्रत्येत्यपि देवराजस्य'' ॥१॥ नो नैव संसारे सुलभं सुप्रापं संयमप्रधानं जीवितम्। यदि वा–जीवितमायुम्त्रुटितं सत् तदेव संधातुं न शक्यत इति वृत्तार्थः। सूत्र० १ श्रु० २ अ०१ उ०।

अथ शतवर्षायुष्कस्य जीवस्यान्यस्यापि धर्मोपदेशं ददाति–

जो वाससयं जीवइ, सुही भोगे य भुंजई।
तस्स वि सेवि उं सेओ, धम्मो य जिणदेसिओ ॥२२॥

यो जीवो वर्षशतं जीवति, प्राणान् धरतीत्यर्थः। च पुनः सुखी भोगान् भुनक्ति, तस्यापि जीवस्य सेवितुं सदा कर्तुं श्रेयो मङ्गलं धर्मो दुर्गतिपतज्जीवाधारः, जिनदेशितः केवलिना भाषितः ॥२२॥

किं पुण सपच्चवाए, जो नरो निच्चदुक्खिओ।
सुट्ठयरं तेण कायव्वो, धम्मो य जिणदेसिओ ॥२३॥

किं पुनः सप्रत्यपाये संकटे आयुषि काले वा सति इति शेषः। यो नरो नित्यदुःखितः सदा दुःखाऽऽकुलो भवेत् तेन दुःखितजीवेन जिनदेशितो धर्मः सुष्ठुतरं विशेषतः कर्त्तव्यो नन्दिषेणपूर्वभव-ब्राह्मणवदिति ॥२३॥

नंदमाणो चरे धम्मं, वरं मे लट्ठतरं भवे।
अनंदमाणो वि चरे, मा मे पावतरं भवे ॥२४॥

नन्दमानः सौख्यं भुञ्जन् धर्म्मं जिनोक्तं चरेत्, कुर्यादित्यर्थः, किंभूतं धर्म्मम्? वरं श्रेष्ठं शिवप्रापकत्वात्, कया भावनया धर्म्मं कुर्यादित्याह– मे ममात्र भवे परभवे च लष्टतरमतिकल्याणं भवेदिति भावनयेति। अनन्दमानोऽपि सौख्यमभुञ्जन्नपि धर्म्मं कुर्यात्, कया भावनयेत्याह– मे मम पापतरं मा भवतु ममातिपापं मा भवतु, एकं तावदहं पापफलं भुनज्मि, पुनर्धर्म्माकरणे मा भवतु मेऽतिपापमिति भावनयेति ॥२४॥

किञ्च–

न वि जाई कुलं वा वि, विज्जा नावि सुसिक्खिया।
तारेइ नरं व नारिं वा, सव्वं पुन्नेहिँ वड्ढई ॥२५॥

नरं पुरुषं, वाशब्दाद्बालाऽऽदिभेदभिन्नं, नारीं स्त्रियं, वाशब्दा-त्क्लीवं, जातिर्मातृपक्षः ब्राह्मणादिका जातिर्वा, कुलं पितृपक्षः उग्रभोगादिकं कुलं वा, विद्या वा सुक्षिता वा सदभ्यस्ता वा, नापीति नैव तारयति भवाब्धितीरं प्रापयति सर्वं स्वर्गापवर्गाऽऽदिसौख्यं पुण्यैः संविग्नसाधुदानाऽऽदिभिर्वर्द्धते प्राप्यते इत्यर्थः। अत्राऽन्यत्राऽपि चकारवकाराऽऽदिशब्दा यथायोगं पूरणसमुच्चयाऽऽदिकेऽर्थे ज्ञातव्या इति ॥२५॥

पुन्नेहिं हीयमाणेहिं, पुरिसागारो वि हायई।
पुन्नेहिं वड्ढमाणेहिं, पुरिसायारो वि वड्ढई ॥२६॥

पुण्यैरन्नपानवस्त्रपीठफलकौषधाऽऽदिभिःसाधुदानाऽऽदिभिरुपार्जितशुभफलैः हीयमानैः क्षयं गच्छद्भिः पुरुषकारः पुरुषाभिमानः, अपिशब्दादन्यदपि यशःकीर्त्तिस्फीतिलक्ष्म्यादिकं हीयते, शनैः क्षयं यातीत्यर्थः पुण्यैर्वर्द्धमानैः पुरुषकारोऽपि वर्द्धते ॥२६॥

पुणाइं खलु आउसो ! किच्चाइं करिणिज्जाइं पीइकराइं

वण्णकराइं धण्णकराइं जसकराइं कित्तिकराइं, नो खलु आउसो! एवं चिंतियव्वं–एसंति खलु बहवे समया आवलिया खणा आणापाणू थोवा लवा मुहुत्ता दिवसा अहोरत्ता पक्खा मासा उऊ अयणा संवच्छरा जुग्गा वाससया वाससहस्सा वाससयसहस्सा वासकोडीओ वासकोडाकोडीओ जत्थ णं अम्हे बहूइं सीलाइं वयाइं सुणाइं वेरमणाइं पच्चक्खाणाइं पोसहोपवासाइं पडिवज्जिस्सामो पट्ठविस्सामो करिस्सामो, तो किमत्थं आउसो ! नो एवं चिंतेयव्वं भवइ अंतरायबहुले खलु अयं जीविए, इमे बहवे वाइयपित्तियसिंभियसण्णिवाइया विविहा रोगायंका फुसंति जीवियं ॥

''पुन्नाइं'' इत्यादि गद्यम् । खलु निश्चये, हे आयुष्मन् ! पुण्यानि शुभप्रकृतिरूपाणि कृत्यानि कार्याणि करणीयानि कर्तुं योग्यानि (पीतिकराणि त्ति) मित्राऽऽदिना सह स्नेहोत्पादकाऽऽनि, वर्णकराणि एकदिग्व्यापिसाधुवादकराणीत्यर्थः । धनकराणि सद्रत्नसमृद्धिकराणि, कीर्तिकराणि सर्वदिग्व्यापिसाधुवादकराणीत्यर्थः, नैव च खलु एवार्थत्वात्, हे आयुष्मन् ! एवं वक्ष्यमाणं चिन्तितव्यं मनसा विकल्पनीयम् (एसंती ति) एष्यन्ति, आगमिष्यन्ति, खलुनिश्चये, बहवः समयाः बहवे इत्यग्रेऽपि योज्यम् । तं० यत्र समयावलिकाऽऽदौ, णं वाक्यालङ्कारे (अम्हे त्ति) वयं बहूनि प्रभूतानि, शीलानि समाधानानि, व्रतानि महाव्रतानि (गुणाइं ति) गुणान् विनयाऽऽदीन् । अत्र ''गुणाद्याः क्लीबे वा'' ॥८।१।३४॥ इति क्लीवत्वम् । (वेरमणाइं ति) असंयमाऽऽदिभ्यो निवर्तनानि प्रत्याख्यानानि, नमस्कारस–हितपौरुष्यादीनि, पौषधः पर्वदिनमष्टम्यादि, तत्रोपवासा अभक्तार्थकरणानि पौषधोपवासास्तान् प्रतिपत्स्यामहे आचार्याऽऽदिपार्श्वेऽङ्गीकरीष्यामः (पट्ठ विस्सामो त्ति) प्रस्थापयिष्यामः अङ्गीकरणानन्तरं प्रथमतया कर्तुमारप्स्यामः, करिष्याम इति साक्षात्कारेण सततं निष्पादयिष्यामः । (त त्ति) तावदादौ किमर्थं नैव चिन्तयितव्यम् । हे आयुष्मन् ! त्वं शृणु, यतो भवति, अन्तरायबहुलं विघ्नप्रचुरमिदं, खलु निश्चये, जीवितमायुर्जीवानां, तथा इमे प्रत्यक्षा बहव वातिका वातरोगोद्भवाः पैत्तिकाः पित्तरोगजाः (सिंभिए त्ति) श्लेष्मभवाः सान्निपातिकाः सन्निपातजन्याः विविधा अनेकप्रकाराः रोगा व्याधयस्ते च ते आतङ्काश्च कृच्छ्रजीवितकारिण इति रोगातङ्का जीवितं स्पृशन्तीति ॥

अथ किं सर्वे मनुजा एवंविधा भवन्ति, नेति दर्शयति इत्याह–

आसित खलु आउसो ! पुव्विं मणुया ववगयरोगायंका बहुवाससयसहस्सजीविणो । तं जहा–जुयलधम्मिया अरिहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा चारणा विज्जाहरा; ते णं मणुया अईव सोमचारुरूवा भोगुत्तमा भोगलक्खणधरा सुजायसव्वंगसुंदरंगा रत्तुप्पलपउमकरचरणकोमलंगुलितला नगनगरमगरसागरचक्कंकवरलक्खणंकियतला सुपइट्ठिय-कुम्मचारुचलणा आणुपुव्विं सुजाययीवरंगुलिया उन्नयतणुतंव-निद्धनहा संठियसुडिलिट्ठगूढगुफा एणीकुरुवंदावत्तवट्टाणु-पुव्वजंघा समुग्गनिमग्गगूढजाणू गयसुंमादंडसुजायसन्निभोरू वरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलासगई सुजायवरतुरयगुज्झदेसा आइण्णहय व्व निरुवलेवा पमुइयवरतुरयसीहअइरेग-वट्टियकडीसाहयसोणंदमुसलदप्पणनिवारियवरकणगच्छरुसरि-सवरवइर-वलियमज्झा, गंगावत्तप्पयाहिणावत्ततरंगभंगुरर-विकिरण-वोहियकोसायपउमगंभीरविडयनाभी उज्जुयसम-सहियसुजायजच्चतणुकसिणनिद्धआइज्जलमहसुकुमालमउयर-मणिज्झरोमराई झसविहगसुजायपीणकुच्छी झसोयरा पम्हवियमनाभी संगयपासा सन्नयपासा सुंदरपासा सुजायपासा मियमाईयपीणरईयपासा, अकम्मुयकणगरुयगनिम्मलसुजाय-निरुवहयदेहधारी पसत्थवत्तीसलक्खणधरा कणगसिलायलुज्ज-लपसत्थसमतला उवचियवित्थिन्नपिहुलवच्छा सिरिवच्छंकिय-वच्छा पुरवरफलिहवट्टियभूया भूयंगीसरविउलभोगआयाण-फलिहउच्छूढदीहबाहू जुगसंनिभपीणरइयपीवरपउट्ठसंठियउ-वचिय (धण) थिरसुवट्टसुसिलिट्ठपव्वसंधी रत्तुप्पवलोचि-यमउयमंसलसुजायलक्खणपसत्थअच्छिद्दजालपाणी पीवरव-ट्टिय-सुजायकोमलवरंगुलिया तंवतलिणसुइरुइरनिद्धनखा चंदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा सोत्थियपाणिलेहा ससि१ रवि २ संख३ चक्क४ सोत्थिय५ विभत्तसुविरइयपाणिलेहा वरमहिसवराहसीह-सद्दूलउसभनाग-वरविउलउन्नयमउयक्खंधा चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरस-रिसगीवा अवट्टियसुविभत्तचित्तमंसूमंसलसंठियपसत्थस-द्दूलविउलहणुया उवचिय-सिलप्पवालबिंबफलसंनिभाधरुट्ठा पंडुरससिसगलविमलसंखगोखीरकुंददगरयमुणालिया-थवलदंतसेढी, अखंडदंता, अफ्फोडियदंता अविरलदंता, सुनिद्धिदंता, सुजायदंता, एगदंतसेढी विव अणेगदंता, हुयवह-निद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा सारदनवथणियमहुर-गंभीरकुंचनिग्घोसदुंदुहिसरा गरुलाययउजुतुंगनासा अवदारि-यपुंडरीयनयणा कोकासियधवलपुंडरीयपत्तलच्छी, आनामिय-चावरुइलकिन्ह चिहुरराइसुसंठियसंगय-आययसुजायमुहा अलीणपमाणजुत्तसवणा, सुसवणा, पीणमंसलकपोलदेसभागा, अइरुग्गयसमग्गसुद्धचंदद्धसंठियनिडाला, उडुवइपडिपुन्न-सोम्मवयणा, छत्तागारुत्तमंगदेसा, घणनिचियसुद्धलक्ख-णुन्नयकूडागारनिभनिरुवमपिंडियग्गसिरा, हुयवहनिद्धंत-धोयतत्तत-वणिज्जके संतके सभूमी, सामलियचूडघण-निचियछोडियमिउविसयसुहुमलक्खणपसत्थसुगंधिसुंदरभुय-मोयगभिंगनीलकज्जलपहट्ठभमरगणनिउरंबभूए निचिय-कुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसिरया लक्खणवंजणगुणो–

ववेया, माणुम्माणपमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगा, ससिसोम्मागारकंतपियदंसणा, सब्भावसिंगारचारुरूवा, पासाईया, दरसणिज्जा, अभिरूवा, पडिरूवा, ते णं मणुया ओहस्सरा मेहस्सरा हंसस्सरा कोंचस्सरा नंदिस्सरा नंदिघोसा सीहस्सरा सीहघोसा, मंजुस्सरा मंजुघोसा सुस्सरा सुस्सरघोसा अणुलोमवाउवेगा कंकग्गहणी कवोयपरिणामा, सउणीपासपिट्ठंतरोरुपरिणया पउमुप्पलसुगंधसरिस-नीसाससुरभिवयणा छवीनिरायंका, उत्तमपसत्थअइसेस-निरुवमतणू, जल्लमल्लकलंकसेयरययदोसवज्जियसरीरा, निरुवलेवा, छाया उज्जोवियंगमंगा, वज्जरिसहनारायसंघयणा, समचउरंससंठाणसंठिया, छधणुसहस्साइं, उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता, ते णं मणुया दोण्हछप्पण्णगपिट्ठिकरंडगसया पण्णत्ता, समणाउसो ! ते णं मणुया पगइभद्दया पगइविणीया पगइउवसंता पगइपयणुकोहमाणमायलोभा मिउ-मद्दवसंपन्ना अल्लीणा भद्दया विणीया अप्पिच्छा असंनिहिसंचया अचंडा असिमसिकिसि-वाणिज्जविवज्जिया, विडिमंतर-निवासिणो, इच्छियकाम-कामिणो, गेहाकाररुक्खकयनिलया, पुढवीपुप्फफलाहारा ते णं मणुयगणा पण्णत्ता, आसीय समणाउसो ! पुव्विं मणुयाणं छव्विहे संघयणे पण्णत्ते । तं जहा–वज्जरिसहनारायसंघयणे १ रिसहनारायसंघयणे २ नारायसंघयणे ३ अद्धनाराय संघयणे४ कीलियासंघयणे ५ छेवट्ठसंघयणे ६ संपइ खलु आउसो ! मणुयाणं छेवट्ठे संघयणे वट्टइ, आसिय आउसो ! पुव्विं मणुयाणं छव्विहा संठाणा पण्णत्ता, तं जहा–समचउरंसे निग्गोहे साए वामणे खुज्जे वामणे हुंडे संपइ खलु आउसो ! मणुयाणं हुंडे संठाणे वट्टइ ।

(१८) अथोपदेशं ददातीत्याह–

संघयणं संठाणं, उच्चत्तं आउयं च मणुयाणं ।
अणुसमयं परिहायइ, ओसप्पिणिकालदोसेणं ॥१॥

संहननं संस्थानं शरीराऽऽदेरुच्चत्वमुच्छ्रयमानमायुश्च मनुजानां चकारादन्येषां च अनुसमयं समयं समयं प्रति परिहीयते अवसर्पिणी-कालदोषेणेति ॥१॥

कोहमयमाणलोभा, ओसन्नं वड्ढए य मणुयाणं ।
कूडतुलकूडमागा, तेऽण्णुमाणेण सव्वं ति ॥२॥

क्रोधमानमायालोभाश्च (ओसन्नं) प्रवाहेण वर्द्धन्ते पूर्वमनुष्या–पेक्षया विशेषतो वर्द्धयन्ति, मनुष्याणां कूटतुलानि कूटतोलनाऽऽद्युपकरणानि कूटमानानि कूटकुडवप्रस्थादिमानानि च वर्द्धयन्ति, तेन कूटतुलाऽऽ-दिनाऽनुमानेनानुसारेण (सव्वं ति) क्रयाणकवाणिज्याऽऽदिकं कूटं वर्द्धते इति ॥२॥

विसमा अज्ज तुलाओ, विसमाणि य जणवएसु माणाणि ।
विसमा रायकुलाइं, जेण उ विसमाइँ वासाइँ ॥३॥

विषमा अर्प्पणायान्यग्रहणायान्याश्च अद्य दुःखमा काले तुला तथा जनपदेसु मगधाऽऽदिदेशेषु मानानि कुडवसेतिकाऽऽदिप्रमाणानि विषमाणि असमानि जातानि, चशब्दादनेकप्रकारवञ्चनानि । तथा–विषमाणि अनेकान्यायकारकाणि राजकुलानि वर्त्तन्तेऽद्य तेन कारणेन तुशब्दोऽप्यर्थः । वर्षाण्यपि संवत्सराण्यपि विषमाणि दुःखरूपाणि जातानीति ॥३॥

विसमेसु य वासेसुं, हुंति असाराइँ ओसहिबलाइँ ।
ओसहिदुब्बलेण य, आऊ परिहायइ नराणं ॥४॥

विषमेषु वर्षेषु सत्सु भवन्तीति असाराणि सारवर्जितानि औषधि-बलानि गोधूमाऽऽदिवीर्याणि औषधिदुर्बलत्वेन नराणामन्येषामपि आर्युजीवितं परिहीयते क्षीयते इति ॥४॥

एवं परिहायमाणे, लोए चंदु व्व कालपक्खम्मि ।
जे धम्मिया मणुस्सा, सुजीवियं जीवियं तेसिं ॥५॥

एवमुक्तप्रकारेण परिहायमाने लोके कृष्णपक्षे चन्द्रवद् ये धार्मिका धर्म्मयुक्ता मनुष्यास्तेषां जीवितं जीवितकालः सुजीवितं सुष्ठु जीवितं ज्ञातव्यमिति ॥५॥ तं०।

एवं निस्सारे मा–णुसत्तणे जीविए अ विहडंति ।
न करेइ चरणधम्मं, पच्छा पच्छाणुतप्पिह हा ॥२४॥

एवम् उक्तप्रकारेण निस्सारे असारे मानुषत्वे मनुजत्वे, तथा जीविते आयुषि रत्नकोटिकोटिभिरपि अप्राप्ये अधिपतति समये समये क्षयं गच्छतीत्यर्थः, न कुरुत यूयं चरणधर्म्मं ज्ञानदर्शनपूर्वकं देशसर्वचारित्रं हा इति महत्खेदे, पश्चादायुः– क्षयानन्तरम् आयुः क्षयचरमक्षणे वा पश्चात्तापं कायवाङ्मनोभिर्महाखेदं करिष्यथ, नरकस्थशिराजवदिति ॥२४॥

भव्याः प्रश्नयन्ति कथं वयं नात्मस्वरूपं जानीमः, इत्युक्ते गुरुराह–

घुट्ठम्मि सयं मोहे, जिणेहिँ वरधम्मतित्थमग्गस्स ।
अत्ताणं च न याणह, इह जाए कम्मभूमीए ॥२५॥

धर्म्मस्य जिनोक्तरूपस्य, तीर्थं पवित्रकरणस्थानकं, तस्य मार्गो ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः, वरश्चाऽसौ धर्म्मः तीर्थमार्गश्च संघः, तथा तस्मिन् प्राकृतत्वाद्विभक्तिपरिणामः । जिनैः रागाऽऽदिजेतृभिः स्वयमात्मना ''घुट्ठम्मीति'' कथिते निरूपिते सति आत्मानं न यूयं जानीत, क्व सति? मोहे सति तीव्रमिथ्यात्वमिश्रमोहनीय-कर्मोदये सतीत्यर्थः । इह कर्म्मभूमौ जाता अपि, अपेर्गम्यमानत्वादिति । अस्या अर्थोऽन्योऽपि सद्गुरुप्रसादात्कार्य इति ॥२५॥ तं०।

एवं खु जरामरणं, पक्खिवइ वग्गुरं च मियजूहं ॥
नयणं पिच्छह मिच्छं, संमूढा मोहजालेणं ॥२७॥

एतज्जरामरणं, खु निश्चये, जीवमृगयूथं परिक्षपति परिवेष्टयति, च इवार्थे, यथा वागुरा मृगयूथं परिक्षपति, न च पश्यत यूयं प्राप्तं जरामरणं मोहजालेन संमूढा मोहं गताः श्रीगौतमप्रतिबोधितदेवशर्मद्विजवदिति ॥२७॥ तं०।

अथोपदेशान्तरं ददातीत्याह–

जड्डाणं वड्डाणं, निव्विन्नाणं च निव्विसेसाणं ।
संसारसूयराणं, कहियं पि निरत्थयं होइ ॥६॥

जड्डानां द्रव्यभावमूर्खाणां, वड्डानां केषाञ्चिन्मठपारापतसदृशानां वृद्धानां निर्विज्ञानां विशिष्टज्ञानरहितानां निर्विशेषाणामप-वादोत्सर्गज्येष्ठतराऽऽदिविशेषरहितानां संसारशूकराणामेवंवि–

धानां गृहस्थानां साध्वाभासानामपि कथितमपि उक्तं वक्ष्यमाणं निरर्थकं भवति, ब्रह्मदत्तोदायिनृपमारकाऽऽदिवत् ॥९॥

किं पुत्तेहिँ पियाहि य, अत्थेण वि पिंडिएण बहुएणं ।
जो मरणदेसकाले, न होइ आलंबणं किंचि ॥१०॥

पुत्रैरङ्गजैः किं न किञ्चित्, पितृभिर्वा किमर्थेनापि पिण्डितेन मीलितेन बहुकेन प्रभूतेन किं नन्दमम्मणादिनेव योऽङ्गजाऽऽदिकलापः मरणदेशकाले मरणप्रस्तावे न भवति आलम्बनमाधाररूपं किञ्चिदिति ॥१०॥

पुत्ता चयंति मित्ता, चयंति भज्जा विणंऽमयं चयइ ।
तं मरणदेसकाले, न चयइ सुविअज्जिओ धम्मो ॥११॥

मातापितरं पुत्रास्त्यजन्ति, मित्रं मित्रास्त्यजन्ति, सहजमित्र पूर्वमित्रवत्, भार्य्याऽपि इमं प्रत्यक्षं जीवन्तमित्यर्थः, मृतं वा स्वकान्तं त्यजति । यद्वा भार्या, णमिति वाक्यालङ्कारे, आर्षत्वादकारविश्लेषे, (अमयमिति) अमृतं जीवन्तं त्यजति, जीवन्तमेव स्वकान्तं मुक्त्वाऽन्यत्पुरुषान्तरं भर्तृत्वेन प्रतिपद्यते, वनमालावत् । यस्मिन् प्रस्तावे ते पुत्राऽऽदयः त्यजन्ति (तमिति) तस्मिन् प्रस्तावे मरणदेशकाले च न त्यजति (सुइ त्ति) जिनाऽऽज्ञापूर्वकदृढभावेन (वि त्ति) विशेषेण निरन्तरकरणेनार्जितः धर्म्मः श्रुतचारित्ररूप इति ॥११॥

अथ गाथाचतुष्टयेन धर्ममाहात्म्यं वर्णयतीत्याह–

धम्मो ताणं धम्मो, सरणं धम्मो गई पइट्ठा य ।
धम्मेण सुचरिएण य, गम्मइ अजरामरं ठाणं ॥१२॥

धर्म्मः सम्यग्ज्ञानदर्शनचरणाऽऽत्मकः त्राणमनर्थप्रतिहननमर्थसंपादनं च तद्धेतुत्वात्, धर्म्मः शरणं, रागाऽऽदिभयभीरुकजनपरिरक्षणं, धम्मो गम्यते, दुःस्थितैः सुस्थितार्थमाश्रीयत इति गतिः धर्म्मः प्रतिष्ठानं संसारगर्त्तापतत्प्राणिवर्गस्याऽऽधारः, धर्मेणि सुचरितेन सुष्ठासेवितेन, चशब्दादनुमोदनेन, साहाय्यदानाऽऽदिना गम्यते, अवश्यं प्राप्यते, अजरामरं स्थानं मोक्षलक्षणमित्यर्थः, देवकुमारवत्॥१२॥

पीइकरो वन्नकरो, भासकरो जसकरो रइकरो य ।
अभयकरो निवुइकरो, परत्त वी अज्जिओ धम्मो ॥१३॥

प्रीतिकरः परमप्रीत्युत्पादकः, वर्णकर एकदिग्व्यापी कीर्तिकरः, यद्वा वपुषि गौरवत्वाऽऽदिवर्णकरः । यद्वा क्षुराऽऽत्मकज्ञानकरः, भास्करः कान्तिकरः, यद्वा भाषाकरः वचनपटुत्वमाधुर्याऽऽदिगुणकर इत्यर्थः । यशःकरः सर्वदिग्व्यापिकीर्तिकरः, चशब्दात् श्लाघाशब्दकरः, तत्र श्लाघा तत्स्थान एव साधुवादः । अभयकरो निर्भयकरः। निर्वृतिकरः सर्वकर्मक्षयभावकरः । (परत्त वि अज्जिओ त्ति) परत्र द्वितीये जीवानां परलोके द्वितीय इत्यर्थः धर्मः ॥१३॥

अमरवरेसु अणोवम–रूवं भोगोवभोगरिद्धी य ।
विन्नाण नाणमेव य, लब्भइ सुकएण धम्मेण ॥१४॥

अमरवरेषु महामहर्द्धिकदेवेषु अनुपमरूपं भोगोपभोगकृद्द्वयं विज्ञानं ज्ञानमेव च लभ्यते, सुकृतेन धर्मेण प्रदेशीराजमेघकुमारधन्यागाराऽऽनन्दादिनेव । तत्र भोगाः गन्धरसस्पर्शाः, उपभोगाः शब्दरूपविषयाः, यद्वा–सकृद्भोगा उपभोगाः, ते चान्नपाननुलेपनाऽऽदिरूपाः ऋद्धयो देवदेव्यादिपरिवारभूताः, विज्ञानमनेकप्रकार-रूपाऽऽदिकरणं, ज्ञानं मतिश्रुतावधिरूपम् । यद्वा–देवेषु रूपाऽऽदयः प्राप्यन्ते, इह च (विन्नाण त्ति) केवलज्ञानं (नाणं ति) ज्ञानचतुष्कं त्रिकं द्विकं चेति ॥१४॥

देविंदचक्कवट्टि–त्तणाइँ रज्जाइँ इच्छिया भोगा ।
एयाइँ धम्मलाभो, फलाइँ जं चावि निव्वाणं ॥१५॥

देवेन्द्रचक्रवर्तित्वानि राज्यानि गजाश्वरथपदातिभाण्डागारकोष्ठागारवप्रलक्षणानि, यद्वा–स्वाम्यमात्य २ जनपद ३ दुर्ग ४ बल ५ शस्त्र ६मित्राणि ७, ईप्सिता भोगाः । एतानि धर्मलाभात् फलानि भवन्ति, यच्चापि निर्वाणमिति ॥१५॥ तं०।

तथा च महानिशीथे–

**धम्मे य णमिट्ठे पिए कंते परमत्थसुही सयणजणमित्तबंधूपरिवग्गो धम्मे य णं दिट्ठिकरे धम्मे य णं पुट्ठिकरे धम्मे य णं बलकरे धम्मे य णं उच्छाहगरे धम्मे य णं निम्मलजसकित्तिपसाइगे धम्मे य णं माहप्पजणगे धम्मे य णं सुट्ठु सोक्खपरंपरादायगे, से य णं सेवणिज्जे, से य णं आराहणिज्जे, से य णं पोसणिज्जे, से य णं पालणिज्जे, से य णं कारणिज्जे, से य णं चरणिज्जे, से य णं अणुट्ठिज्जे, से य णं उवइसणिज्जे, से य णं कहणिज्जे, से य णं भणणिज्जे, से य णं पण्णवणिज्जे, से य णं कारवणिज्जे, से य णं धुवे सासए अक्खए अचए सयलसोक्खनिही धम्मे, से य णं अलज्झणिज्जे से य णं अउलवलवीरिए पुरिससतपरक्कमे संजुए पवरवरे इट्ठे पिए कंते दइए सयलसोक्खदालिद्दसंतावुद्देवग-अयसदुक्खणलंभजरामरणाइअसेसभयनिन्नासगे अणण्णसरिससहाए तेलोक्केक्कसामिसाले, ता अलं सुहीसयणजणमित्तबंधुगणधणधण्णसुवन्नहिरण्णरयणोहनिही कोससंवयाइसक्कवाविविज्जुलयाऽऽडोवचंचलाए सुमुणिंदजालपरिसाए खण्णदिट्ठणट्ठभंगुराए अधुवाए असासयाए संसारवुड्ढिकारगाए निरयावयारहेउभूयाए सुगइमग्गविग्घदायगाए अणंतदुक्खपयायगाए रिद्धीए सुदुल्लहा हुवे लाभा धम्मस्स साहणी सम्मद्दंसणनाणचरित्ताराहिणी निरुवयाइसामग्गी अणवरयमहन्निसाणसमएहि णं खंडखंडेहिं तु परिसडइ, आदड्ढघोरनिट्ठुरा अचंडा जरासणिसण्णिवायसंचुण्णिए सहजज्जरभंडणे इव अकिंचिकरे भवइ, उदिहाणुदियहेण इमे तणुकिसलयदलगपरिसंठियं जलविंदुमिवाकंडे निमिसब्भंतरेण बलिफुंडलइज्जीविए अविढत्तपरलोगपत्थयणाणं तु निप्फले चेव मणुयजम्मे तो भो ण खमे तणुतणुयतरे वि ईरिं पियमाए, जओ णं एत्थ खलु सव्वकालमेव समसत्तुमित्त-भावेहिं भवियव्वं, अप्पमत्तेहिं च पंचमहव्वयं धारेयव्वं । तं जहा–कसिणपाणइवायविरती, अणलीयभासित्तं, दंतसोहणमित्तस्स वि अदिन्नस्स वज्जणं मणोवयकायजोगेहिं तु अखंडियअविराहियणवु–

त्तिपरिवेढियस्स णं परमपवित्तस्स सव्वकालमेव दुद्धरबंभचेरस्स धारणं वत्थपत्तसंजमोवयरणेसुं पि णिम्ममतया असणपाणाईणं तु चउव्विहेणेव राईभोयणच्चाओ उग्गमुप्पाय-णेसणाईसु णं विसुद्धपिंडग्गहणं संजोयणाइपंचदोसविरहिएणं परमिएणं काले भिन्ने पंचसमितिविसोहणं तिगुत्तिगुत्तिया इरियाससमिइमाईओ भावणाओ अणसणाइतवोवहाणुट्ठाणं सामाइमिक्खूपडिमाओ विवित्ते दव्वाइअभिग्गहे, अहो णं भूमीसयणे केसलोए निप्पडिकम्मसरीरया सव्वकालमेव गुरुनिओगकरणं खुप्पिवासाइपरीसहाहियासणं दिव्वाइउव-सग्गाविजयलद्धावलद्धवित्तिया, किं बहुणा अच्चंतदुव्वहे भो वहियव्वे अवीसमंतेहिं चेव सिरिमहापुरिसछूढो अट्ठारससीलंगसहस्सभारे तरियव्वे य भो वाहाहि महाहिसमुद्दे अविसाईहिं व णं भो भक्खियव्वे णिरासाए वालुयाकवलोपरि सक्केयव्वं च भो णिसियसुतिक्खदारुणकरवालधाराए पाणच्चायणं भो सुहुयवहजालावलीभरियव्वे णं भो सुहुमपवणकोच्छलगे गमियव्वं च णं भो गंगापवाहपडिसोएणं तोलेयव्वं भो साहसतुलाए मंदरगिरिं जेयव्वे य णं भो एगागिएहिं चेव धीरताए सुदुज्जए चाउरंगे वले विंधेयव्वा णं भो परोप्परविवरीयभमंतअट्ठचक्कोवरिं वामच्छिमिउडी उल्लिया गहेयव्वा णं भो सयलतिहुयणविजयाणिं णिम्मलजसकित्तीजयपभागा, ता भो भो जणा !-

''एयाओ धम्माणु-ट्ठाणाउ सुदुक्करं णत्थि किंचि मन्नंति।
बुज्झंति नामभारा, ते चिय बुज्झंति वीसमंतेहिं ॥
सीलभरो अइगुरुओ, जावज्जीवमविस्सामो।
ता उज्झिऊण पेम्मं, घरसारं पुत्तदवेण ॥
माईयं णीसंगा, अविसाई पयरहसव्वुत्तमं धम्मं।
णो धम्मस्स भडुक्का-उक्कंचण वंचणा य ववहारो ॥
निद्धम्मो भो धम्मो, मायादीसल्लरहिओ य।
भूएसु जंगमंतं, तेसु वि पंचिंदियत्तमुक्कोसं ॥
तेसु वि चिय माणुसत्तं, मणुयत्ते आरिए देसे।
देसे कुलं पहाणं, कुले पहाणेइ जाइमुक्कोसा ॥
तीए रूवसमुद्दे, रूवे य बलं पहाणवरं।
होइ बले वि य जीवं, जीए य पहाणयं तु विन्नाणं ॥
विन्नाणे सम्मत्तं, सम्मत्ते सीलसंपत्ती।
सीले खाइयभावो, खाइयभावे य केवलं नाणं ॥
केवलिए पडिपुन्ने, पत्ते अयरामरो मोक्खो।
ण य संसारम्मि सुहं, जाइजरामरणदुक्खगहियस्स।
जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मोक्खोववाए उ ॥
आहिंडिऊण सुइरं, अणंतहुत्तो हु जोणिलक्खेसु।
तस्साहणसामग्गी, पत्ता भो भो बहू इण्हिं ॥
तो एत्थ जं ण पत्तं, तदत्थ भो उज्जमं कुणह तुरियं।
विवुहजणणिंदियमिणं, उज्झह संसारअणुबंधं ॥
लहिउं भो धम्मसुइं, अणेगभवकोडिलक्खेसु।
विउलद्धं जइ णाणुट्ठह, सम्मं ता णवरि दुल्लहं होही ॥
महा०२ चू०।

तथा च पञ्चसूत्रे-

जायाए धम्मगुणपडिवत्तिसद्धाए भाविज्जा एएसिं सरूवं पयइसुंदरत्तं अणुगामित्तं परोवयारित्तं परमत्थहेउत्तं, तहा दुरणुवरत्तं भंगे दारुणत्तं महामोहजणगत्तं भूओ दुल्लहत्तं ति, एवं जहा-सत्तीए उचियविहाणेणं अच्चंतभावसारं पडिवज्जिज्जा। तं जहा-थूलगपाणाइवायविरमणं, थूलगमुसावायविरमणं, थूलगअदत्तादाणविरमणं, थूलगमेहुणविरमणं, थूलगपरिग्गहविरमणमिच्चाइ पडिवज्जिऊण पालणे जइज्जा सयाणागाहगे सिआ सयाणाभावगे सिआ सयाणापरतंते सिआ आणा हि मोहविसपरममंतो जलं रोसाइजलणस्स कम्मवाहितिगिच्छासत्थं कप्पपायवो सिवफलस्स वज्जिज्जा अधम्ममित्तजोगं चिंतिज्जाऽभिणवपावि ए गुणे अणाइभवसंगए अ अगुणे उदग्गसहकारित्तं अधम्ममित्ताणं उभयलोगगरहिअत्तं असुहजोगपरंपरं च, परिहरिज्जा सम्मं लोगविरुद्धे करुणापरे जणाणं न खिंसाविज्जा धम्मं संकि-लेसो खु एसा परमबोहिबीअमबोहिफलमप्पणो त्ति, एवमालोएज्जा न खलु इत्तो परो अणत्थो अंधत्तमेयं संसाराडवीए जगमणिट्ठावायाणं अइदारुणं सरूवेणं असुहाणुबंधमच्चत्थं सेविज्ज धम्ममित्ते विहाणेणं अंधो विवाणुकट्टए वाहिए विव विज्जे दरिद्दो विव ईसरे भीओ विव महानायगे नइओ सुंदरमन्नंति बहुमाणजुत्ते सिआ आणाकंखी आणापडिच्छगे आणाअविरहगे आणानिप्फायगे त्ति, पडिवण्णधम्मगुणारिहं च वट्टिज्जा गिहिसमुचिएसु गिहिसमायारेसु परिसुद्धाणुट्ठाणे परिसुद्धमकिरिए परिसुद्धवइकिरिए परिसुद्धकायकिरिए वज्जिज्जा अणेगोवघायकारगं गरहिणिज्जं बहुकिलेसं आयइविराहगं समारंभं, न चिंतिज्जा परपीडं, न भाविज्जा दीणयं, न गच्छिज्जा हरिसं, न सेविज्जा वितहाभिनिवेसं, उचिअमणपवत्तगे सिआ, न भासिज्जा अलियं, न फरुसं न पेसुन्नं नानिबद्धं, हिअमि अभासगे सिआ, एवं न हिंसिज्जा भूआणि, न गिण्हिज्ज अदत्तं, न निरिक्खिज्ज परदारं, न कुज्जा अणत्थदंडं, सुहकायजोगे सिआ, तहा लाहोचिअदाणे लाहोचिअभोगे लाहोचिअपरिवारे लाहोचि-

अनिहिकरे सिआ असंतावगे परिवारस्स गुणकरे जहासतिं अणुकंपापरे निम्ममे भावेणं, एवं खु तप्पालणे वि धम्मो जह अन्नपालणे त्ति। सव्वे जीवा पुढो पुढो ममत्तं बंधकारणं, तहा तेसु तेसु समायारेसु सइसमण्णागए सिआ अमुगोऽहं अमुगकुले अमुगसिस्से अमुगधम्मट्ठाणट्ठिए न मे तव्विराहणा न मेत्तदारंभो वुड्ढी ममेअस्स एअमित्य सारं एयमायभूयं एअं हिअं असारमन्नं सव्वं विसेसओ अविहिगहणेणं एवमाह तिलोगबंधू परमकारुणिगे सम्मं संबुद्धे भगवं अरहंते त्ति, एवं समालोचिअ तदविरुद्धेसु समायारेसु सम्मं वट्टिज्जा भावमंगलमेअं तन्निप्फत्तीए तहा जागरेज्ज धम्मजागरिआए, को मम कालो किमेअस्स उचिअं, असारा विसया नियमगामिणो विरसाबसाणा, भीसणो मच्चू सव्वाभावकारी अविन्नायागमणो अणिवारणिज्जो पुणो पुणोऽणुबंधी, धम्मो एअस्स ओसहं एगंतविसुद्धो महापुरिससेविओ सव्वहिअकारी निरइआरो परमाणं-दहेऊ, नमो इमस्स धम्मस्स नमो एअधम्मप्पगासगाणं, नमो एअधम्मपालगाणं, नमो एअधम्मपरूवगाणं, नमो एअधम्मपवज्जगाणं, इच्छामि अहमिणं धम्मं पडिवज्जित्तए सम्मं मणवयणकायजोगेहिं, होउ ममेअं कल्लाणं परमकल्लाणाणं जिणाणमणुभावओ, सुप्पणिहाणमेवं चिंतिज्जा पुणो पुणो एअधम्मजुत्ताणमववायकारी सिआ, पहाणं मोहच्छे-अणमेअं, एवं विसुज्झमाणे भावणाए कम्मापगमेणं उवेइ एअयस्स जुग्गयं, तहा संसारविरत्ते संविग्गो भवइ, अममे अपरोवतावी विसुद्धे विसुद्धमाणभावे त्ति।

जातायां धर्मगुणप्रतिपत्तिश्रद्धायां भावतस्तथाविधकर्मक्षयोपशमेन भावयेदेतेषां स्वरूपं धर्मगुणानाम्। प्रकृतिसुन्दरत्वं जीवसंक्लेशविशुद्ध्या, आनुगामुकत्वं भवान्तरवासनानुगमेन, परोपकारित्वं तथापीडाऽऽदिनिवृत्त्या, परमार्थहेतुत्वं परम्परया मोक्षसाधनत्वेन, तथा दुरनुचरत्वं सदैवानभ्यासात्, भङ्गे दारुणत्वं भगवदाज्ञाखण्डनतः, महामोहजनकत्वं धर्मदूषकत्वेन, भूयो दुर्लभत्वं विपक्षानुबन्धपुष्टयेति भाव इति। एवमुक्तेन प्रकारेण यथाशक्ति शक्त्यनुरूपं, न तद्धान्याधिक्याभ्यामुचितविधानमेव शास्त्रोक्तेन विधिना, अत्यन्तभावसारं महता प्रणिधानबलेन, प्रतिपद्येत धर्मगुणान्न राभसिकया प्रवृत्त्या, अस्या विपाकदारुणत्वात्। किंभूतांस्तानित्याह- (तं जहा इत्यादि) तद्यथा- स्थूरप्राणातिपातविरमणं, स्थूरमृषावादविरमणं स्थूरादत्तादानविरमणं, स्थूरमैथुनविरमणं, स्थूलपरिग्रहविरमणमित्यादि। आदिशब्दाद्दिग्व्रताऽऽद्युत्तरगुणपरिग्रहः। आदावुपन्यासश्चैषां भावत इत्थमेव प्राप्तेरिति।

उक्तं च-

''सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहत्तेणा सावओ होज्जा।
चरणोवसमखयाणं, सागरसंखंतरा होंति॥१॥
एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु।
अण्णतरसेढिवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं॥२॥''

इत्यादि। (पडिवज्जिऊण इत्यादि) प्रतिपद्य पालने यतेत, अधिकृतगुणानाम्। कथमित्याह- सदाज्ञाग्राहकः स्यात्, अध्ययनश्रवणाभ्याम्। आज्ञा आगम उच्यते, सदाज्ञाभावकः स्यात्, अनुपेक्षाद्वारेण, सदाज्ञापरतन्त्रः स्यादनुष्ठानं प्रति। किमेवमित्याह-आज्ञा हि मोहविषपरममन्त्रः तदपनयनेन, जलं, द्वेषाऽऽदिज्वलनस्य तद्विध्यापनेन। कर्मव्याधिचिकित्साशास्त्रं, तत्क्षयकारणत्वेन, कल्पपादपः शिवफलस्य, तदवन्ध्यसाधनत्वेन। तथा (वज्जेज्जा इत्यादि) वर्जयेत् अधर्ममित्रयोगम्। अकल्याणमित्रसंबन्धं, चिन्तयेत् अभिनवप्रापान् गुणान् स्थूरप्राणातिपातविरमणाऽऽदीन् अनादिभवसङ्गतांश्च अगुणान्, सदैवाविरतत्वेन, उदग्रसहकारित्वमधर्ममित्राणाम्, अगुणान्प्रति-उभयलोकगर्हितत्वं तत्पापानुमत्यादिना, अशुभयोगपरम्परा च अकुशलानुबन्धतः। तथा (परिहरेज्जा इत्यादि) परिहरेत्सम्यग्लोकविरुद्धानि तदशुभाध्यवसायाऽऽदिनिबन्धनानि, अनुकम्पापरो जनानां मा भूत्तेषामधर्मः, न खिंसयेद् धर्मम्, न गर्हयेज्जनैरित्यर्थः, संक्लेश एवैषा खिंसाऽशुभभावत्वेन, परमबोधिबीजं, तत्प्रद्वेषेण। अबोधिफलमात्मन इति। जनानां तन्निमित्तभावेन, तथा एवमालोचयेत्सूत्रानुसारेण, न खल्वतः परोऽनर्थोऽबोधिफलात्, तत्कारणभावाद्वा लोकविरुद्धत्वादिति। अन्धत्वमेतत्संसाराटव्यां हितदर्शनाभावेन, जनकमनिष्टपातानां, नरकाऽऽद्युपपातकारणतया, अतिदारुणं स्वरूप संक्लेशप्रधानत्वात्। अशुभानुबन्धमत्यर्थं परम्परोपघातभावेनेत्यत एवोक्तम्- ''लोकः ख्यल्वाधारः, सर्वेषां धर्मचारिणां यस्मात्। तस्माल्लोकवि-रुद्धं, धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम्॥१॥'' इत्यादि। तथा (सेवेज्ज इत्यादि) सेवेत धर्ममित्राणि विधानेन सत्प्रतिपत्त्यादिना, अन्ध इवानुकर्षकान्, पाताऽऽदिभयेन व्याधित इव वैद्यान् दुःखभयेन दरिद्र इवेश्वरान्, स्थितिहेतुत्वेन। भीत इव महानायकान् आश्रयणीयत्वेन। तथा न इतो धर्ममित्रसेवनात्। सुन्दरतरमन्यदिति कृत्वा बहुमानयुक्तः स्यात् धर्ममित्रेषु। आज्ञाकाङ्क्षी अदत्तायामस्यां तेषाम्, आज्ञाप्रतीच्छकः प्रदानकाले तेषामेव, आज्ञाविराधकः प्रस्तुतायां तेषामेव, आज्ञानिष्पादक इत्यौचित्येन तेषामेव। (पडिवण्णेत्यादि) प्रतिपन्नधर्मगुणार्ह च वर्त्तेत सामान्येनैव गृहिसमुचितेषु गृहिसमाचारेषु नानाप्रकारेषु परिशुद्धनुष्ठानः सामान्येनैव, परिशुद्धमनः क्रियः शास्त्रानुसारेण, परिशुद्धवाक्क्रियोऽनेनैव, परिशुद्धकायक्रियोऽनेनैव। एतद्विशेषणाभिधातुमाह- वर्जयेदनेकोपघातकारकं सामान्येन, गर्हणीयं प्रकृत्या, बहुक्लेशं प्रवृत्तौ, आयतिविराधकं परलोकपीडाकरं, समारम्भमङ्गारकर्माऽऽदिरूपम्। तथा न चिन्तयेत् परपीडां सामान्येन। न भावयेद् दीनतां कस्यचिदसं प्रयोगे, न गच्छेद्धर्षं कस्यचित्संप्रयोगे, न सेवेत वितथाभिनिवेशम्, अतत्त्वाध्यवसायं, किन्तु उचितमनः प्रवर्त्तकः स्याद्वचनानुसारेण, एवं न भाषेतानृतमभ्याख्यानाऽऽदि, न परुषं निष्ठुरं, न पैशून्यं परप्रीतिहारि, नानिबद्धं विकथाऽऽदि, किं तु हितमितभाषकः स्यात् सूत्रनीत्या। एवं न हिंस्याद् भूतानि पृथिव्यादीनि, न गृण्हीयाददत्तं स्तोकमपि, न निरीक्षेत परदारान्, रागतः। न कुर्यादनर्थदण्डं अपध्यानाऽऽचरिताऽऽदि, किं तु शुभकाययोगः स्यादागमनीत्या। तथा (लाभोचियदाणेत्यादि) तथा लाभोचितदानः- अष्टभागाऽऽद्यपेक्षया तथा, लाभोचितभो-

गः—अष्टभागाऽऽद्यपेक्षया, लाभोचितपरिवारः चतुर्भागाऽऽदिभर्तव्यपरिमाणेन, लाभोचितनिधिकारः स्यात्, चतुर्भागाऽऽद्यपेक्षयैव। उक्तं चात्र लौकिकैः—

''पादमायान्निधिं कुर्या—त्पादं वित्ताय वर्द्धयेत्।
धर्मोपभोगयोः पादं, पादं भर्त्तव्यपोषणे ॥१॥''

तथाऽन्यैरप्युक्तम्—

''आयादर्द्धं नियुञ्जीत, धर्मे यद्वाऽधिकं ततः।
शेषेण शेषं कुर्वीतः, यत्नतस्तुच्छमैहिकम् ॥१॥'' इत्यादि।

तया असंतापकः परिजनस्य स्यादिति वर्त्तते शुभप्रणिधानेन। गुणकरो यशाशक्ति भवस्थितिकथनशीलत्वेन, अनुकम्पापरः प्रतिफलनिरपेक्षतया, निर्ममो भावेन भवस्थित्यालोचनात्। क एवंगुणः स्यादित्याह—एवं यस्मात्तत्पालनेऽपि धर्मः, जीवोपकारभावात्, तथाऽन्यपालन इति जीवाविशेषेण। किमित्येतदेवमित्याह—सर्वे जीवाः पृथक्पृथग् वर्त्तन्ते स्वलक्षणभेदेन, किं तु ममत्वं बन्धकारणं लोभरूपत्वात्। उक्तं च—

''संसाराम्बुनिधौ सत्त्वाः, कर्मोर्मिपरिघट्टिताः।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते, तत्र कः कस्य बान्धवः ? ॥१॥''

तथा—

''अत्यायतेऽस्मिन् संसारे, भूयो जन्मनि जन्मनि।
सत्त्वो नैवास्त्यसौ कश्चिद्, यो न बन्धुरनेकधा ॥२॥'' इत्यादि।

सर्वथा परिभावनामात्रमेतत्स्वजनो न स्वजन इति। (तहा तेसु तेसु इत्यादि) तथा तेषु तेषु समाचारेषु गृहिसमुचितेष्विति वर्त्तते, स्मृतिसमत्वाऽऽगतः स्यात् आभोगयुक्तः। कथमित्याह— अमुकोऽहं देवदत्ताऽऽदिनामा अमुककुले इक्ष्वाक्वाऽऽद्यपेक्षया, अमुकशिष्यो धर्मतः तत्तदाचार्यापेक्षया, अमुकधर्मस्थानस्थितः अणुव्रताऽऽद्यपेक्षया, न मम तद्विराधना साम्प्रतम्, न मम तदारम्भो विराधनाऽऽरम्भः। तथा वृद्धिर्ममैतस्य धर्मस्थानस्य, एतदत्र सारं धर्मस्थानगेतदात्मभूतमानुगामुकत्वेन, एतद्धितं सुन्दरपरिणामत्वेन, असारमन्यत्सर्वमर्थजाताऽऽदीति, विशेषतोऽविधिग्रहणेन विपाकदारुणत्वात्। यथोक्तम्—

''पापेनैवार्थरागान्धः, फलमाप्नोति यत् क्वचित्।
वडिशामिषवत्तत्तु, विना नाशं न जीर्यति ॥१॥'' इति।

एतदेवमेवेत्याह— एवमाह त्रिलोकबन्धुः, समुपचितपुण्यसंभारः परमकारुणिकः, तथाभव्यत्वनियोगात्। सम्यक्संबुद्धोऽनुत्तरबोधिबीजतः, भगवान्नर्हन् सत्त्वविशेष इति। एवं रामालोच्य तदविरुद्धेषु अधिकृतधर्मस्थानाविरुद्धेषु समाचारेषु विचित्रेषु सम्यग् वर्त्तेत सूत्रनीत्या भावमङ्गलमेतद्विधिना वर्तनम्, तन्निष्पत्तेरधिकृतसमाचारनिष्पत्तेरिति। (तहा जागरिज्जेत्यादि) तथा जागृयात् भावनिद्राविरहेण, धर्मजागरया तत्त्वाऽऽलोचनरूपया, को मम कालः वयोऽवस्थारूपः? किमेतस्योचितं धर्म्माऽऽद्यनुष्ठानम्? असारा विषयाः, तुच्छाः शब्दाऽऽदयो, नियमगामिनो वियोगान्ताः, विरसावसानाः परिणामदारुणाः, तथा भयानकोमृत्युः, महाभयजननः, सर्वाभावकारी तत्साध्यार्थक्रियाभावात्। अविज्ञाताऽऽगमनः, अदृश्यस्वभावत्वात् मृत्योः। अनिवारणीयः, स्वजनाऽऽदिबलेन। पुनः पुनरनुबन्धी, अनेकयोनिभावेन। धर्म एतस्यौषधं, मृत्योर्व्याधिकल्पस्य। किंविशिष्ट? इत्याह— एकान्तविशुद्धः निवृत्तिरूपः, महापुरुषसेवितस्तीर्थकराऽऽदिसेवितः सर्वहितकारी मैत्र्यादिरूपतया। निरतिचारो तथागृहीतपरिपालनेन, परमानन्दहेतुः निर्वाणकारणमित्यर्थः। नम एतस्मै धर्माय अनन्तरोदितरूपाय, नम एतद्धर्म्मप्रकाशकेभ्योऽर्हद्भ्यः, नम एतद्धर्म्मपालकेभ्यो यतिभ्यः, नमस्तद्धर्म्मप्ररूपकेभ्यो यतिभ्य एव, नम एतद्धर्म्मप्रतिपत्तृभ्यः श्रावकाऽऽदिभ्यः, इच्छाम्यहं—मेतं धर्मं प्रतिपत्तुम्, अनेनैतत्पक्षपातमाह— सम्यग्मनोवाक्काययोगैः। अनेन तु सम्पूर्णप्रतिपत्तिरूपं प्रणिधिविशेषमाह— भवतु ममैतत् कल्याणम्, अधिकृतधर्मप्रतिपत्तिरूपं परमकल्याणानां जिनानामनुभावतः, तदनुग्रहेणेत्यर्थः। सुप्रणिधानमेवं चिन्तयेत् पुनःपुनः। एवं हि स्वाऽऽशयादेव तन्निमित्तोऽनुग्रह इति। तथा एतद्धर्म्मयुक्तानां यतीनामवपातकारी स्यात्, आज्ञाकारीति भावः। प्रधानं मोहच्छेदनगेतत्। तदाज्ञाकारित्वं तन्मोहच्छेदनयोगनिष्पत्त्यङ्गतयेति हृदयम्। एवं कुशलाभ्यासेन विशुद्ध्यमानो विशुद्ध्यमान एतत्सेवक इति प्रक्रमः। भावनयोक्तरूपया कर्मापगमेन हेतुना, उपैत्यैतस्य धर्मस्य योग्यताम्। एतदेवाऽऽह -तथा संसारविरक्तस्तद्दोषभावनया, संविग्नो भवति मोक्षार्थी, अममो ममत्वरहितः, अपरोपतापी परपीडापरिहारी, विशुद्धो ग्रन्थ्यादिभेदेन विशुद्ध्यमानभावः शुभकण्डकवृद्ध्येति पं०सू० २ सूत्र०।

(श्रुतधर्ममधिकृत्य धर्मस्तुतिः 'काउस्ससग्ग' शब्दे तृ०भा० ४१६ पृष्ठे ''तमतिमिर'' इत्यादिगाथाभिर्भाविता)

(१६) साम्प्रतं पदार्थ उच्यते—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

''धर्मो मङ्गलमुत्कृष्ट—महिंसा संयमस्तपः।
देवा ऽपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ॥१॥''

तत्र 'धृ' धारणे, इत्यस्य धातोः मप्रत्ययान्तस्येदं रूपं धर्म इति। मङ्गलरूपं पूर्ववत्। तथा— 'कृष्' विलेखने, इत्यस्य धातोरुत्पूर्वस्य निष्ठान्तस्येदं रूपमुत्कृष्टमिति। तथा— 'तृह्' 'हिंसि' हिंसायाम्, इत्यस्य ''इदितो नुम् धातोः ॥७।१।५८॥ इति नुमि कृते स्त्र्यधिकारे टाबन्तस्य नञ्पूर्वस्येदं रूपम्, यदुताहिंसेति। तथा— 'यमु' उपरमे, इत्यस्य धातोः संपूर्वस्याच्प्रत्ययान्तस्य संयम इति रूपं भवति। तथा— 'तप' सन्तापे, इत्यस्य धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्य तप इति। तथा— 'दिवु' क्रीडाविजिगी-षाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, इत्यस्य धातोरच्प्रत्य-यान्तस्य जसि देवा इति भवति। अपिशब्दो निपातः, तदित्येतस्य सर्वनाम्नः पुंस्त्वविवक्षायां द्वितीयैकवचनं तमिति भवति। तथा— नमसित्यस्य प्रातिपदिकस्य ''नमो वरिवश्चित्रङः क्यच् ॥३।१।१९॥'' इति क्यजन्तस्य लट् क्रियान्तादेशः, ततश्च नमस्यन्तीति भवति। यदिति सर्वनाम्नः षष्ठ्यन्तस्य यस्येति भवति, धर्मः पूर्ववत्। सदेति सर्वस्मिन् काले ''सर्वैकान्य—किंयत्तदः काले दा'' ॥५।३।१५॥ इतिदाप्रत्ययः, ''सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि'' ॥५।३।६॥ इति स आदेशः सदा। तथा— 'मन' ज्ञाने इत्यस्य धातोरसुन् प्रत्ययान्तस्य मन इति भवति। इति पदानि। साम्प्रतं पदार्थ उच्यते— तत्र दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः। तथा चोक्तम्— ''दुर्गतिप्रसृतान् जीवान्, यस्माद्धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्मा—

द्धर्म इति स्मृतः ॥१॥'' मङ्गयते हितमनेनेति मङ्गलमित्यादि पूर्ववत्। उत्कृष्टं प्रधानम्, न हिंसा अहिंसा, प्राणातिपातविरतिरित्यर्थः। संयम आश्रवद्वारोपरमः, तापयन्त्यनेकभवोपात्तमष्टप्रकारं कर्म इति तपः, अनशनाऽऽदि। दीव्यन्तीति देवाः, क्रीडन्तीत्यादिभावार्थः। अपिः संभावने, देवा अपि, मनुष्यास्तु सुतराम्। तमित्येवंविशिष्टं जीवं नमस्यन्तीति प्रकटार्थम्। यस्य जीवस्य किम्? धर्म्मे प्रागभिहितस्वरूपे, सदा सर्वकालं मन इत्यन्तःकरणम्। अयं पदार्थ इति। पदविग्रहस्तु परस्परापेक्षसमासभाक्त्वेनेह निबन्धनाभावान्न प्रदर्शित इति चालना-प्रत्यवस्थाने तु प्रमाणचिन्तायां यथावसरमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः।

(२०) प्रवृत्तिः पुनस्तयोरनुपायेनेति प्रदर्शयन्नाह–

कत्थइ पुच्छइ सीसो, कहिँ वि अपुट्ठा कहंति आयरिआ।
सीसाणं तु हियट्ठा, विपुलतरागं तु पुच्छाए ॥३८॥

क्वचित् किञ्चिदनवगच्छन् पृच्छति शिष्यः कथमेतदितीयमेव चालना, गुरुकथनं प्रत्यवस्थानम्, इत्थमनयोः प्रवृत्तिः। तथा क्वचिदपृष्टा एव सन्तः पूर्वपक्षमाशङ्क्य किञ्चित्कथयन्त्याचार्याः तत् प्रत्यवस्थानमिति गम्यते। किमर्थं कथयन्त्यत आह–शिष्याणामेव हितार्थं, तुशब्द एवकारार्थः, तथा विपुलतरं तु प्रभूततरं तु कथयन्ति। (पुच्छाए त्ति) शिष्यप्रश्ने सति पटुप्रज्ञोऽयमित्यवगमादिति गाथार्थः। ''एवं तावत्समासेन, व्याख्या लक्षणयोजना। कृतेयं प्रस्तुते सूत्रे, कार्यंवभपरेष्वपि ॥१॥'' ग्रन्थविस्तरदोषान्न वक्ष्यामः, उपयोगे तु वक्ष्यामः प्रति सूत्रं, यतः सूत्रस्पर्शकोऽधुना प्रोच्यते। अनुगमनिर्युक्तिविभागश्च विशेषतः सामायिकबृहद्भाष्याज्ज्ञेयः तत्रोदितं यतः–

''होइ कयत्थो वोत्तुं, सपयच्छेअं सुअं सुआणुगमे।
सुत्तालावगनासो, णामादिण्णासविणियोगं ॥१॥
सुत्तप्फासियणिज्जु–त्तिणिओगा सेसओ पयत्थाइ।
पायं सो चिय णेगम–णयाइमयगोथरो होइ ॥२॥
एवं सुत्ताणुगमो, सुत्तालावगकओ अनिक्खेवो।
सुत्तप्फासियणिज्जु–त्तिणया अ वच्चंति समगं तु ॥३॥''

इत्यलं प्रसङ्गेन गमनिकामात्रमेतत्। दश० १अ०।

धर्म्मो मङ्गलमुत्कृष्टमित्यादौ धर्म्मग्रहणे सति अहिंसासंयमतपोग्रहणमयुक्तं, तस्याऽहिंसासंयमतपोरूपत्वाव्यभिचारित्वादिति। उच्यते, नाहिंसाऽऽदीनां धर्म्मकारणत्वाद्धर्म्मस्य च कार्यत्वात्कार्यकारणयोश्च कथञ्चिद् भेदात्, कथञ्चिदभेदश्चेति, तस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वात्। उक्तं च– ''णत्थि पुढवीविसिट्ठो, घडो त्ति जं तेण जुच्चइ अणण्णं। जं पुण घडु त्ति पुव्वं, नासी पुढवी इतो अन्नो ॥१॥'' इत्यादि। गम्यादिधर्मव्यवच्छेदेन तत्स्वरूपज्ञापनार्थं वा, अहिंसाऽऽदिग्रहणमदुष्टमित्यलंविस्तरेण। आह– अहिंसासंयमतपोरूपो धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमित्येतद्वचः किमाज्ञासिद्धम्, आहोस्विद्युक्तिसिद्धमपि? अत्रोच्यते– उभयसिद्धम्, कुतः? जिनवचनत्वात्, तस्य च विनेयसत्त्वापेक्षयाज्ञाऽऽदिसिद्धत्वात्।

आह च निर्युक्तिकारः–

जिणवयणं सिद्धं चे–व भण्णई कत्थई उदाहरणं।
आसज्जउ सोयारं, हेऊ वि कहिं वि भण्णेज्जा ॥४६॥

जिनाः प्राग्निरूपितस्वरूपाः, तेषां वचनं तदाज्ञया सिद्धमेव सत्यमेव प्रतिष्ठितमेव, अविचार्यमेवेत्यर्थः, कुतः जिनानां रागादिरहितत्वाद्रायाऽऽदिमतश्च सत्यवचनासंभवात्। उक्तं च– ''रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥१॥'' इत्यादि। तथापि तथाविधश्रोत्रपेक्षया तत्रापि भण्यते क्वचिदुदाहारणं, तथाऽऽश्रित्य तु श्रोतारं हेतुरपि क्वचिद्भण्यते, न तु नियोगतः, तुशब्दः श्रोतृविशेषणार्थः। किंविशिष्टं श्रोतारम्? पटुधियं, मध्यमधियं च, न तु मन्दधियमिति। तथाहि– पटुधियो हेतुमात्रोपन्यासादेव प्रभूतार्थावगतिर्भवति, मध्यमधीस्तु तेनैव बोध्यते,न त्वितर इत्यर्थः। तत्र साध्यसाधनान्वयव्यतिरेकप्रदर्शनमुदाहरणमुच्यते दृष्टान्त इत्यर्थः। साध्यधर्म्मान्वयव्यतिरेकलक्षणश्च हेतुः। इह च हेतुडुल्लङ्घ्य प्रथममुदाहरणाभिधानं, न्यायानुगतत्वात्तद्बलेनैव हेतोः साध्यार्थसाधकत्वोपपत्तेः। क्वचिद्धेतुमनभिधाय दृष्टान्त एवोच्यत इति न्यायप्रदर्शनार्थं वा। यथा गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भको धर्म्मास्तिकायश्चक्षुष्मतो ज्ञानस्य दीपवत्। उक्तं च–

''जीवानां पुद्गलानां च, गत्युपष्टम्भकारणम्।
धर्म्मास्तिकायो ज्ञानस्य, दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥१॥''

तथा क्वचिद्धेतुरेव केवलोऽभिधीयते, न दृष्टान्तः, यथा मदीयोऽयमश्वो, विशिष्टचिह्नोपलब्ध्यन्यथानुपपत्तेरित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥४६॥

तथा–

कत्थइ पंचावयवं, दसहा वा सव्वहा न पडिसिद्धं।
न य पुण सव्वं भण्णइ, हंदी सविआरमक्खायं ॥५०॥

श्रोतारमेवाङ्गीकृत्य क्वचित्पञ्चावयवं,दशधा वेति क्वचिद्दशावयवं, सर्वथा गुरुश्रोत्रपेक्षया, न प्रतिषिद्धमुदाहरणाद्यभिधानमिति वाक्यशेषः। यद्यपि च न प्रतिषिद्धं तथाप्यविशेषेणैव, न च पुनः सर्वं भण्यते, उदाहरणाऽऽदि। किमित्यत आह– (हंदी सवियारमक्खायं ति) हन्दीत्युप्रदर्शने, किमुपदर्शयति–यस्मादिहान्यत्र च शास्त्रान्तरे सविचारं सप्रतिपक्षमाख्यातं, साकल्यत उदाहरणाऽऽद्यभिधानमिति गम्यते। पञ्चावयवाश्च प्रतिज्ञाऽऽदयः। यथोक्तम्– ''प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनाः। अवयवा दश पुनः प्रतिज्ञाविभक्तयादयः। वक्ष्यति च– ''ते उ पइण्णविहत्ती'' इत्यादि। प्रयोगांश्चैतेषां लाघवार्थमिहैव स्वस्थाने दर्शयिष्यामीति गाथार्थः। दश० १ अ०।

''धम्मो मंगलं'' इत्यादिलक्षणमधिकृत्य निर्दिश्यते–अहिंसासंयमतपोरूपो धर्मो मङ्गलभुत्कृष्टमिति प्रतिज्ञा, इह च धर्म्म इति धर्म्मनिर्देशः, अहिंसा संयमतपोरूप इति धर्मविशेषणमुत्कृष्टं मङ्गलमिति साध्यो धर्मः धर्म्मिधर्म्मसमुदायः प्रतिज्ञा, इयं च श्लोकार्द्धेनोक्तेति। देवाऽऽदिदेवपूजितत्वादिति हेतुः, आदिशब्दात्सिद्धविद्याधरनरपतिपरिग्रहः। अयं च श्लोकतृतीयपादेन खलूक्तोऽवसेयः, अर्हदादिवदिति दृष्टान्तः। अत्रापि चाऽऽदिशब्दाद्गणधराऽऽदिपरिग्रहः। अयं च श्लोकचरमपादेनोक्तो वेदितव्य इति। न च भावमनोऽधिकृत्यार्हद्–दृष्टान्ते अस्ति कश्चिद्विरोध इति। इह यो यो देवाऽऽदिपूजितः स स उत्कृष्टं मङ्गलं यथाऽर्हदादयस्तथा च देवाऽऽदिपूजितो धर्म्म इत्युपनयः तस्माद्देवाऽऽदिपूजितत्वादुत्कृष्टं मङ्गलमिति निगमनम्। इदं चावयवद्वयं सूत्रोक्तावयवत्रयाविनाभूतमिति कृत्वा तेन सूचितमवगन्तव्यमित्यत्रं विस्तरेण।

साम्प्रतमेतानेवावयवान् सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या प्रतिपादयन्नाह–

धम्मो गुण अहिंसा–इया उ ते परममंगलपइन्ना ।
देवा वि लोगपुज्जा, पणमंति सुधम्ममिइ हेऊ ॥९९॥

धर्म्मः प्राग्निरूपितशब्दार्थः, स च क इत्याह–गुणा अहिंसाऽऽद–यः, आदिशब्दात्संयमतपःपरिग्रहः । तुरेवकारार्थः । अहिंसाऽऽदय एव ते परममङ्गलं प्रधानमङ्गलमिति प्रतिज्ञा; तथा देवा अपि, अपिशब्दात्सिद्धविद्याधरनरपतिपरिग्रहः । लोकपूज्या लोकपूजनीयाः, प्रणमन्ति नमस्कुर्वन्ति, कम्? सुधर्म्माणं शोभनधर्म्मव्यवस्थितमित्ययं हेतुरर्थसूचकत्वाद्धेतुरिति गाथाऽर्थः ।

दिट्ठंतो अरहंता, अणगारा य बहवो उ जिणसीसा ।
वत्तणुवत्ते नज्जइ, जं नरवइणो वि पणमंति ॥९०॥

दृष्टान्तः प्राग्निरूपितशब्दार्थः, स चाशोकाऽऽद्यष्टमहाप्रातिहार्याऽऽदिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः, तथाऽनगाराश्च बहव एव जिनशिष्या इति । न गच्छन्तीत्यगा वृक्षास्तैः कृतमगारं गृहं तद्येषां विद्यत इत्यर्शाऽऽदेराकृतिगणत्वादप्रत्ययः । अगारा गृहस्थाः, न अगारा अनगाराः, चशब्दः समुच्चयार्थः, तुरेवकारार्थः, ततश्च बहव एव नाल्पाः, रागाऽऽदिजेतृत्वाज्जिनाः, ताच्छिष्यास्तद्विनेया गौतमाऽऽदयः । आह–अर्हदादीनां परोक्षत्वाद् दृष्टान्तत्वमेवायुक्तम् । कथं चैतद्विनिश्चीयते यथा ते देवाऽऽदिपूजिता इति? उच्यते– यत्तावदुक्तम्–परोक्षत्वादिति तद् दुष्टम्, सूत्रस्य त्रिकालगोचरार्थत्वात् । कदाचित्प्रत्यक्षत्वाद्देवाऽऽदिपूजिता इति चैतद्विनिश्चयायाऽऽह–वृत्तमतिक्रान्तमनुवर्त्तमानेन साम्प्रतकालभाविना ज्ञायते, कथमित्यत आह–यद्यस्मात् नरपतयोऽपि राजानोऽपि प्रणमन्तीदानीमपि भावसाधुं ज्ञानाऽऽदिगुणयुक्तमिति गम्यते । अनेन गुणानां पूज्यत्वमावेदितं भवतीति गाथार्थः ।

उवसंहारो देवा, जइ तह राया वि पणमइ सुधम्मं ।
तम्हा धम्मो मंगल–मुक्किट्ठमिइ अ निगमणं ति ॥९१॥

उपसंहार उपनयः, स चायम्– देवा यथा तीर्थंकराऽऽदींस्तथा राजाऽप्यन्योऽपि जनः प्रणमतीदानीमपि सुधर्म्माणमिति, यस्मादेवं तस्माद् देवाऽऽदिपूजितत्वाद्धर्म्मो मङ्गलमुत्कृष्टमिति च निगमनं, प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचनं निगमनमिति गाथार्थः ।

उक्तं पञ्चावयवमेतदभिधानाचार्याधिकारोऽपि धर्म्मप्रशंसा । साम्प्रतं दशावयवं, तथा च चैहैव जिनशासन इत्यर्थाधिकारं चोपदर्शयति, इह च दशावयवाः प्रतिज्ञाऽऽदय एव प्रतिज्ञाऽऽदिशुद्धिसहिता भवन्ति । अवयवत्वं च तच्छुद्धीनामधिकृतवाक्यार्थोपकारकत्वेन प्रतिज्ञाऽऽदीनामिव भावनीयमित्यत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्रत्वात्प्रारम्भस्येति ।

साम्प्रतमधिकृतदशावयवप्रतिपादनायाऽऽह–

विइयपइन्ना जिणसा–सणम्मि साहेंति साहवो धम्मं ।
हेऊ जम्हा सब्भा– विएसु हिंसाइसु जयंति ॥९२॥

द्वितीयापञ्चावयवोपन्यस्तप्रथमप्रतिज्ञापेक्षया प्रतिज्ञा पूर्ववत्, द्वितीया चाऽसौ प्रतिज्ञा च द्वितीयप्रतिज्ञा, सा चेयं जिनशासने जिनप्रवचने, किम्? साधयन्ति निष्पादयन्ति, साधवः प्रव्रजिताः, धर्म्मं प्राग्निरूपितशब्दार्थम् । इह च साधव इति धर्म्मीनिर्देशः, शेषस्तु साधुधर्म्म इत्ययं प्रतिज्ञानिर्देशः । हेतुनिर्देशमाह–हेतुर्यस्मात्सद्भाविकेषु पारमार्थिकेषु निरुपचरितेष्वर्थेष्वित्यर्थः । अहिंसाऽऽदिष्वादिशब्दान्मृषावादाऽऽदिविरतिपरिग्रहः । अन्ये तु व्याचक्षते (सब्भा–विएहिं ति) सद्भावने निरुपचरितसकलदुः खक्षयायैवेत्यर्थः । यतन्ते प्रयत्नं कुर्वन्तीति गाथार्थः ।

साम्प्रतं प्रतिज्ञाशुद्धिमभिधातुकामः आह–

जह जिणसासणनिरया, धम्मं पालेंति साहवो सुद्धं ।
न कुतित्थिएसु एवं, दीसइ परिपालणोवाओ ॥९३॥

यथा येन प्रकारेण जिनशासननिरता निश्चयेन रता धर्म्मं प्राग्निरूपितशब्दार्थं पालयन्ति रक्षन्ति, साधवः प्रव्रजिताः, षड्जीवनिकायपरिज्ञानेन कृताकारिताऽऽदिपरिवर्जनेन च शुद्धमकलङ्कं, नैवं तन्त्रान्तरीयाः, यस्मान्न कुतीर्थिकेष्वेवं यथा साधुषु दृश्यते परिपालनोपायः, षड्जीवनिकायपरिज्ञानाऽऽद्यभावात्, उपायग्रहणं च साभिप्रायकं, शास्त्रोक्तः खलूपायोऽत्र चिन्त्यते, न पुरुषानुष्ठानं, कापुरुषा हि वितथकारिणोऽपि भवन्त्येवेति गाथार्थः ।

अत्राऽऽह–

तेसु वि य धम्मसद्दो, धम्मं नियय च ते पसंसंति ।
नणु भणिओ सावज्जो, कुतित्थिधम्मो जिणवरेहिं ॥९४॥

तेष्वपि च तन्त्रान्तरीयधर्मेषु, किम्? धर्म्मशब्दो लोके रूढः, तथा धर्म्मं निजं चाऽऽरभीयमेव यथातथं ते प्रशंसन्ति स्तुवन्ति, ततश्च कथमेतदित्यत्रोच्यतेनन्वित्यक्षमायां, भणित उक्तः, पूर्वं सावद्यः सपापः, कुतीर्थिकधर्म्मश्चरकाऽऽदिधर्म्मः, कैः? जिनवरैस्तीर्थकरैः, ''जिणेहिं उ पसत्थो'' इति वचनात्, षड्जीवनिकायपरिज्ञानाऽऽद्यभावादेवेत्यत्रापि बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः ।

तथा–

जो तेसु धम्मसद्दो, सो उवयारेण निच्छएण इहं ।
जह सीहसद्दु सीहे, पाहण्णुवयारओऽणत्थ ॥९५॥

यस्तेषु तन्त्रान्तरीयधर्म्मेषु धर्मशब्दः, स उपचारेणापरमार्थेन, निश्चयेनात्र जिनशासने, कथम्? यथा सिंहाशब्दः सिंहे व्यवस्थितः, प्राधान्येन, उपचारत उपचारेणान्यत्र माणवकाऽऽदौ, यथा सिंहो माणवकः, उपचारनिमित्तं च शौर्यक्रौर्याऽऽदयः, धर्मे त्वहिंसाऽऽद्यभिधानाऽऽदय इति गाथाऽर्थः ।

एस पइन्नासुद्धी, हेऊ अहिंसाइएसु पंचसु वि ।
सब्भावेण जयंती, हेउविसुद्धी इमा तथ्य ॥९६॥

एषा उक्तस्वरूपा प्रतिज्ञायाः शुद्धिः प्रतिज्ञाशुद्धिः हेतुरहिंसाऽऽदिषु पञ्चस्वपि सद्भावेन यतन्त इत्ययं च प्राग् व्याख्यात एव, शुद्धिमभिधातुकामेन च भाष्यकृता पुनरुपन्यस्त इत्यत एवाऽऽह– हेतोर्विशुद्धिर्हेतुविशुद्धिर्विषयविभाषाऽवस्थापनं विशुद्धिः, इमा इयं, तत्र प्रयोग इति गाथार्थः ।

जं भत्तपाणउवगर– णवसहिसयणाऽऽसणाइसु जयंति ।
फासुयअकयअकारिय–अणणुमयाणुद्दिट्ठभो ई य ॥९७॥

यद्यस्माद्भक्तं च पानं चोपकरणं च वसतिश्च शयनाऽऽसनाऽऽदयश्चेति समासस्तेषु । किम्? यतन्ते प्रयत्नं कुर्वन्ति कथमेतदेवमित्यत्राऽऽह यस्मा प्रासुकं चाकृतं चाकारितं चाननुमतं चानुद्दिष्टं च तद्भोक्तुं शीलं येषां ते तथाविधाः, तत्राऽऽसवः प्राणाः,

प्रगता असवः प्राणा यस्मादिति प्रासुकं निर्जीवम् । तच्च स्वकृतमपि भवत्यत आह– अकृतं, तदपि कारितमपि भवत्यत आह– अकारितम्, तदप्यनुमतमपि भवत्यत आह–अननुमतम् । तदप्युद्दिष्टमपि भवति यथावदर्थिकाऽऽदि, न च तदिष्यत इत्यत आह– अनुद्दिष्टमिति, एतत्परिज्ञानोपावश्चोपन्यस्तसकलप्रदानाऽऽदिलक्षणस्तत्रावगन्तव्य इति गाथार्थः ।

तदन्ये पुनः किमित्यत आह–

अप्फासुयकयकारिय–अणुमयउद्दिट्ठभोइणो हंदि ।
तसथावरहिंसाए, जणा अकुसला उ लिप्पंति ॥९८॥

अप्रासुककृतकारितानुमोदितोद्दिष्टभोजिनश्चरकाऽऽदयः, हन्दी–त्युपप्रदर्शने, किमुपप्रदर्शयति–त्रसन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियाऽऽदयः, तिष्ठन्तीति स्थावराः पृथिव्यादयः, तेषां हिंसा प्राणव्यपरो पणलक्षणा, तया जनाः प्राणिनः, अकुशला अनिपुणा स्थूलमतयश्चरकाऽऽदयो लिप्यन्ते संबध्यन्त इत्यर्थः । इह च हिंसाक्रियाजनितेन कर्मणा लिप्यन्त इति भावनीयं, कारणे कार्योपचारात्, ततश्च ते शुद्धधर्मसाधका न भवन्ति, साधव एव भवन्तीति गाथार्थः ।

एसा हेउविसुद्धी, दिट्ठंतो तस्स चेव य विसुद्धी ।
सुत्ते भणिया उ फुडा, सुत्तप्फासे उ इयमन्ना ॥९९॥

एषा अनन्तरोक्ता, हेतुविशुद्धिः प्राग्निरूपितशब्दार्था, अधुना दृष्टान्तः प्राग्निरूपितशब्दार्थः, तथा तस्यैव च दृष्टान्तस्य विशुद्धिः, किम्? सूत्रे भणितोक्तैव, स्फुटा स्पष्टा ।

तच्चेदं सूत्रम्–

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥२॥

अत्राऽऽह– अथ कस्माद्दशावयवनिरूपणायां प्रतिज्ञाऽऽदीन् विहाय सूत्रकृता दृष्टान्त एवोक्त इति? उच्यते– दृष्टान्तादेव हेतुप्रतिज्ञे अभ्यूह्ये, इति न्यायप्रदर्शनार्थम् । कृतं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः । तत्र यथा येन प्रकारेण द्रुमस्य प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य, पुष्पेषु प्राग्निरूपितशब्दार्थष्वेव, असमस्तपदाभिधानमनुमेयगृहिद्युमाणामाहाराऽऽदिषु पुष्पाण्यधिकृत्य विशिष्टसंबन्धप्रतिपादनार्थमिति । तथा चान्यायोपार्जितवित्तदानेऽपि ग्रहणं प्रतिषिद्धमेव, भ्रमरश्चतुरिन्द्रियविशेषः, किम्? आपिबति, मर्यादया पिबत्यापिबति, कम्? रस्यत इति रसस्तं निर्यासं, मकरन्दमित्यर्थः । एष दृष्टान्तः। अयं च तद्देशादोहरणमधिकृत्य वेदितव्य इत्येतच्च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तौ दर्शयिष्यति। उक्तं च–सूत्रस्पर्शे त्वियमन्येति ।

अधुना दृष्टान्तविशुद्धिमाह– न च नैव, पुष्पं प्राग्निरूपितस्वरूपं, क्लामयति पीडयति, स च भ्रमरः प्रीणाति तर्पयत्यात्मानमिति सूत्रसमुदायार्थः । अवयवार्थ तु निर्युक्तिकारो महता प्रपञ्चेन व्याख्यास्यति ।

तथा चाऽऽह–

जह भमरो त्ति य एत्थं, दिट्ठंतो होइ आहरणदेसे ।
चंदमुहि दारिगेयं, सोम्मत्तवहारणं ण सेसं ॥१००॥

यथा भ्रमर इति चात्र प्रमाणे दृष्टान्तो भवत्युदाहरणदेशमधिकृत्य, यथा चन्द्रमुखी दारिकेयमित्यत्र सौम्यत्वावधारणं गृह्यते, न शेषं कलङ्काङ्कितत्वाऽनवस्थितत्वाऽऽदीति गाथार्थः ।

एवं भमराऽऽहरणे, अणिययवित्तित्तणं न सेसाणं ।
गहणं दिट्ठंतविसु–द्धि सुत्ते भणिया इमा चन्ना ॥१०१॥

एवं भ्रमरोदाहरणे अनियतवृत्तित्वं, गृह्यत इति शेषः, न शेषाणाम्–विरत्यादीनां भ्रमरधर्माणां ग्रहणं दृष्टान्त इति । एषा दृष्टान्तविशुद्धिः सूत्र भणिता, इयं चान्या सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ताविति गाथार्थः ।

एत्थ य भणिज्ज कोई, समणाणं कीरए सुविहियाणं ।
पागोवजीविणो त्ति य, लिप्पंतारंभदोसेण ॥१०२॥

अत्र चैवं व्यवस्थिते सति ब्रूयात्कश्चिद्, यथा– श्रमणानां क्रियते सुविहितानामिति । एतदुक्तं भवति--यदिदं पाकनिर्वर्तनं गृहिभिः क्रियते, इदं पुण्योपादानसंकल्पेन श्रमणानां क्रियते सुविहितानामिति तपस्विनां, गृह्णन्ति च ते ततो भिक्षामित्यतः पाकोपजीविन इति कृत्वा लिप्यन्ते, आरम्भदोषेणाऽऽहारकरणक्रियाफलेनेत्यर्थः। तथा च लौकिका अप्याहुः– ''क्रयेण क्रायको हन्ति, उपभोगेन खादकः । घातको बधचित्तने, इत्येष त्रिविधो वधः ॥१॥'' इति गाथार्थः ।

साम्प्रतमेतत्परिहरणाय गुरुराह–

वासइ न तणस्स कए, न तणं वड्ढइ कए मयकुलाणं ।
न य रुक्खा सयसाला, फुल्लंति कए महुयराणं ॥१०३॥

वर्षति न तृणस्य कृते, न तृणार्थमित्यर्थः । तथा न तृणं वर्द्धते कृते मृगकुलानामर्थाय, तथा न च वृक्षाः शतशाखाः पुष्यन्ति क्रतेऽर्थाय मधुकराणाम्, एवं गृहिणोऽपि न साध्वर्थं पाकं निर्वर्तयन्तीत्यभिप्राय इति गाथार्थः ।

अत्र पुनरप्याह–

अग्गिम्मि हवी हूयइ, आइच्चो तेण पीणिओ संतो ।
वरिसइ पयाहियाए, तेणोसहिओ परोहंति ॥१०४॥

इह यदुक्तं वर्षति न तृणार्थमित्यादि, तदसाधु, यस्मादग्नौहविर्हूयते, आदित्यस्तेन हविषा घृतेन प्रीणितः सन् वर्षति, किमर्थम्? प्रजाहितार्थं लोकहिताय, तेन वर्षितेन किम्? औषध्यः प्ररोहन्त्युद्गच्छन्ति । तथा चोक्तम्– ''अग्नावाज्याऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥१॥'' इति गाथार्थः ।

अधुनैतत्परिहारायेदमाह–

किं दुब्भिक्खं जायइ, जइ एवं अह भवे दुरिट्ठं तु ।
किं जायइ सव्वत्था, दुब्भिक्खं अह भवे इंदो ॥१०५॥

किं दुर्भिक्षं जायते यद्येवं कोऽभिप्रायः? तद्धविः सदा हूयत एव, ततश्च कारणाविच्छेदेन कार्यविच्छेदोऽयुक्त इति । अथ भवेद् दुरिष्टं तु दुर्नक्षत्रं दुर्यजनं वा, अत्राप्युत्तरम्, किं जायते सर्वत्र दुर्भिक्षम्? नक्षत्रस्य दुरिष्टस्य वा नियतदेशविषयत्वात्, सदैव सद्यज्वनां भावात्? उक्तं च– ''सदैव देवाः सद्भावो, ब्राह्मणाश्च क्रियापराः । यतयः साधवश्चैव, विद्यन्ते स्थितिहेतवः ॥१॥'' इत्यादि ।

अथ भवेदिन्द्र इति किम्?–

वासइ तो किं विग्घं, निग्घायाईहिँ जायए तस्स ।
अह वासइ उउसमए, न वासई तो तणट्ठाए ॥१०६॥

वर्षति ततः किं विघ्नोऽन्तरायः निर्घाताऽऽदिभिर्जायते, आदिशब्दाद्दिग्दाहाऽऽदिपरिग्रहः। तस्येन्द्रस्य, परमैश्वर्ययुक्तत्वेन विघ्नानुपपत्तेरिति भावना। अथ वर्षति ऋतुसमये गर्भसङ्गात इति वाक्यशेषः। न वर्षति ततस्तृणार्थं, तस्येत्थमभिसंधेरभावादिति गाथाद्वयार्थः।

किं च दुमा पुप्फंती, भमराणं कारणा अहासमयं
मा भमरमहुयरिगणा, किलामएज्जा अणाहारा ॥१०७॥

किं च द्रुमाः पुष्यन्ति भ्रमराणां कारणात् कारणेन यथासमये यथाकालं, मा भ्रमरमधुकरिगणाः क्लामेयुः ग्लानिं प्रतिपद्येरन्, अनाहारा अविद्यमानाऽऽहाराः सन्तः, काक्वा नैवैतदित्थमिति गाथार्थः।

साम्प्रतं पराभिप्रायमाह–

कस्सइ बुद्धी एसा, वित्ती उवकप्पिया पयावइणा।
सत्ताणं तेण दुमा, पुप्फंती महुयरिगणट्ठा ॥१०८॥

अथ कस्यचिद् बुद्धिः कस्यचिदभिप्रायः स्याद्यदुत एषा वृत्तिरुपकल्पिता, केन? प्रजापतिना, केषाम्? सत्त्वानां प्राणिनां, तेन कारणेन द्रुमाः पुष्यन्ति, मधुकरिगणार्थमेवेति गाथार्थः।

अत्रोत्तरमाह–

तं न भवइ जेण दुमा, नामागोयस्स पुव्वविहियस्स।
उदएणं पुप्फफलं, निवत्तइंती इमं चन्नं ॥१०९॥

यदुक्तं परेण तन्न भवति, कुत इत्याह– येन द्रुमा नामगोत्रस्य कर्मणः पूर्वविहितस्य जन्मान्तरोपात्तस्य, उदयेन विपाकानुभवलक्षणेन, पुष्पफलं निर्वर्त्तयन्ति कुर्वन्त्यन्यथा सदैव तद्भावप्रसंग इति भावनीयम्। इदं चान्यत्कारणं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः।

अत्थि बहू वणसंडा, भमरा जत्थ न उवेंति न वसंति।
तत्थ वि पुप्फंति दुमा, पगई एसा दुमगणाणं ॥११०॥

सन्ति बहूनि वनखण्डानि, तेषु तेषु स्थानेषु भ्रमरा यत्र नोपयान्ति अन्यतो न वसन्ति, तेष्वेव, तथाऽपि पुष्यन्ति द्रुमाः, अतः प्रकृतिरेषा स्वभाव एषां द्रुमगणानामिति गाथार्थः।

अत्राऽऽह–

जइ पगई कीस पुणो, सव्वं कालं न देंति पुप्फफलं।
जं काले पुप्फफलं, दयंति गुरुराह अत एव ॥१११॥

यदि प्रकृतिः किमिति पुनः सर्वकालं न ददति न प्रयच्छन्ति, किम्? पुष्पफलम्, एवमाशङ्क्याऽऽह–यद्यस्मात् कालेनियत एव पुष्पफलं ददति, गुरुराह– अत एवास्मादेव हेतोः।

पगई एस दुमाणं, जं उउसमयम्मि आगए संते।
पुप्फंति पायवगणा, फलं च कालेण बंधंति ॥११२॥

प्रकृतिरेषा द्रुमाणां यदृतुसमये वसन्ताऽऽदावागते सति पुष्यन्ति पादपगणा वृक्षसंघातास्तथा फलं च कालेन बध्नन्ति, तदर्थानभ्युपगमे तु नित्यप्रसङ्ग इति गाथार्थः।

साम्प्रतं प्रकृतेऽप्युक्तार्थयोजनां कुर्वन्नाह–

किं नु गिही रंधंती, समणाणं कारणा अहासमयं।
मा समणा भगवंतो, किलामएज्जा अणाहारा ॥११३॥

किं नु गृहिणो राध्यन्ति पाकं निर्वर्त्तयन्ति श्रमणानां कारणेन, यथाकालं, मा श्रमणा भगवन्त अक्लामन्ननाहारा इति पूर्ववदिति गाथार्थः। नैवैतदित्थमित्यभिप्रायः।

अत्राऽऽह–

समणणुकंपनिमित्तं, पुण्णनिमित्तं च गिहनिवासीओ।
कोइ भणिज्जा पागं, करेंति सो भन्नइ न जम्हा? ॥११४॥

श्रमणेभ्योऽनुकम्पा श्रमणानुकम्पा तन्निमित्तं, न ह्येते हिरण्यग्रहणाऽऽदिना अस्माकमनुकम्पां कुर्वन्तीति मत्वा भिक्षादानार्थं पाकं निर्वर्तयन्त्यतः श्रमणानुकम्पानिमित्तं, तथा सामान्येन पुण्यनिमित्तं च गृहनिवासिन एव कश्चित् ब्रूयात्, पाकं कुर्वन्ति, स भण्यते, नैतदेवं, कुतो? यस्मात् –

कंतारे दुब्भिक्खे, आयंके वा महइ समुप्पन्ने।
रत्तिं समणसुविहिया, सव्वाहारं न भुंजंति ॥११५॥

कान्तारेऽरण्याऽऽदौ, दुर्भिक्षेऽन्नाकाले, आतङ्के वा ज्वराऽऽदौ, महति समुत्पन्ने सति, रात्रौ श्रमणाः सुविहिताः शोभनानुष्ठानाः, किम्? सर्वाहारमोदनाऽऽदि न भुञ्जते,

अह कीस पुण गिहत्था, रत्तिं आयरतरेण रंधंति।
समणेहिँ सुविहिएहिं, चउब्विहाहारविरएहिं ॥११६॥

अथ किमिति पुनर्गृहस्थास्तत्रापि रात्रौ आदरतरेणात्यादरेण राध्यन्ति श्रमणैः सुहितैश्चतुर्विधाऽऽहारविरतैः सद्भिरिति गाथात्रयार्थः।

किञ्च–

अत्थि बहुगामनगरा, समणा जत्थ न उवेंति न वसंति।
तत्थ वि रंधंति गिही, पगई एसा गिहत्थाणं ॥११७॥

सन्ति बहूनि ग्रामनगराणि तेषु तेषु देशेषु श्रमणाः साधवो यत्र नोपयान्ति, अन्यतो न वसन्ति, तत्रैव, अथ च तत्रापि राध्यन्ति गृहिणः, अतः प्रकृतिरेषा गृहस्थानामिति गाथार्थः।

अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह–

पगई एस गिहीणं, जं गिहिणो गामनगरनिगमेसु।
रंधंति अप्पणो परि–यणस्स कालेण अट्ठाए ॥११८॥

प्रकृतिरेषा गृहिणां वर्त्तते यद् गृहिणो ग्रामनगरनिगमेषु, निगमः स्थानविशेषः, राध्यन्ति आत्मनः परिजनस्यार्थाय निमित्तं कालेनेति योग इति गाथार्थः।

तत्थ समणा तवस्सी, परकडपरनिट्ठियं विगयधूमं।
आहारं एसंती, जोगाणं साहणट्ठाए ॥११९॥

तत्र श्रमणाः तपस्विन इत्युद्यतविहारिणो नेतरे, परकृतपरिनिष्ठितमिति कोऽर्थः ? परार्थं कृतमारब्धं परार्थं च निष्ठितमन्तं गतं विगतधूमं धूमरहितम्, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्याया द्विगताङ्गारं च, रागद्वेषमन्तरेणेत्यर्थः। उक्तं च– ''रागेण सइंगालं, दोसेण सधूमगं वियाणाहि।'' आहारमोदनादिलक्षणमेषन्ते गवेषन्ते, किमर्थमत्राऽऽह– योगानां मनोयोगाऽऽदीनां संयमयोगानां वा साधनार्थं, न तु वर्णाऽऽद्यर्थमिति गाथार्थः।

नवकोडीपरिसुद्धं, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं।
छट्ठाणरक्खणट्ठा, अहिंसअणुपालणट्ठाए ॥१२०॥

इयं च किल भिन्नकर्तृकी, अस्या व्याख्यानवकोटिपरि–

शुद्धं, तत्रैता नवकोट्यः, यदुत– ''ण हणइ ण हणावेइ, हणं तं नाणुजाणइ। एवं–न किणइ ३, एवं–न पयइ ३।'' एताभिः परिशुद्धं, तथा उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धमित्येतद्वस्तुतः सकलोपाधिविशुद्धकोटि-ख्यापनमेव, एवंभूतमपि किमर्थं भुञ्जते? षट्स्थानरक्षणार्थम्? तानि चामूनि– ''वेयणवेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए। तह पाणवित्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए'' ॥१॥ अपि च– भवान्तरे प्रशस्तभावनाभ्यासाद-हिंसानुपालनार्थम्। तथा चाऽऽह– नाहारत्यागतो भावितमते देहत्यागो भवान्तरेऽप्य-हिंसायैव भवतीति गाथार्थः।

दिट्ठंतसुद्धि एसा, उवसंहारो य सुत्तनिद्दिट्ठो।
संती विज्जंति त्ति य, संतिं सिद्धिं च साहेंति ॥१२१॥

दृष्टान्तशुद्धिरेषा प्रतिपादिता, उपसंहारस्तु उपनयस्तु सूत्रनिर्दिष्टः सूत्रोक्तः।

तच्चेदं सूत्रम्–

एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥३॥

एवमनेन प्रकारेण एते ये अधिकृताः प्रत्यक्षेण वा परिभ्रमन्तो दृश्यन्ते, श्राम्यन्तीति श्रमणास्तपस्यन्तीत्यर्थः। एते च तन्त्रान्तरीया अपि भवन्ति। यथोक्तम्– ''निग्गंथसक्कतावसगेरुयआजीव पंचहा समणा।'' अत आह–मुक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन, ये लोके अर्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रपरिमाणं, सन्ति विद्यन्ते, अनेन समयक्षेत्रे सदैव विद्यन्त, इत्येत-दाह- साधयन्तीति साधवः, किं साधयन्ति? ज्ञानाऽऽदीनि गम्यते। अत्राऽऽह– ये मुक्तास्ते साधव एवेत्यत इदमयुक्तम्। अत्रोच्यते–इह व्यवहारेण निह्नवा अपि मुक्ता भवन्त्येव, न च ते साधव इति तद्व्यव-च्छेदार्थत्वान्न दोषः। आह –न च ते सदैव सन्तीत्यनेनैव व्यवच्छिन्ना इत्युच्यन्ते, वर्तमानतीर्थापेक्षयैवेदं सूत्रमिति न दोषः। अथवाऽन्यथा व्याख्यायते– ये लोके सन्ति साधव इत्यत्र य इत्युद्देशः, लोक इत्यनेन समयक्षेत्र एव नान्यत्र, किम्? शान्तिः सिद्धिरुच्यते, तां साधयन्तीति शान्ति साधवः। तथा चोक्तं निर्युक्तिकारेण– ''संती विज्जंति त्ति य, संतिं सिद्धिं च साहेंति।'' इदं व्याख्यातमेव, विहङ्गमा इव भ्रमरा इव पुष्पेषु, किम? दानभक्तैषणासु रताः, दानग्रहणाद्दत्तं गृह्णन्ति नादत्तं, भक्तग्रहणेन तदपि भक्तं प्रासुकं, न पुनराधाकर्म्माऽऽदि, एषणाग्रहणेन गवेषणाऽऽ-दित्रयपरिग्रहः, तेषु स्थानेषु रताः सक्ता इति सूत्रसमासार्थः। दश० १अ०।

(२१) विहङ्गमानां निक्षेपाऽऽद्युक्त्वा इत्थमनेकप्रकारं विहङ्ग म-मभिधाय प्रकृतोपयोगमुपदर्शयति–

इहइं पुण अहिगारो, विहासगमणेहिं भमरेहिँ (१२७)

इह सूत्रे, पुनः शब्दोऽवधारणे, इहैव, नान्यत्र, अधिकारः प्रस्तावः प्रयोजनम्। कैरित्याह– विहायोगमनैराकाशगमनैः, भ्रमरैः षट्पदैरिति गाथार्थः।

दाणेति दत्तगिण्हण, भत्ते भण सेव फासुगेण्हणया।
एसणतिगम्मि निरया, उवसंहारस्स सुद्धि इमा ॥१२८॥

दानेति सूत्रे दानग्रहणं दत्तग्रहणप्रतिपादनार्थम्, दत्तमेव गृण्हन्ति नाऽदत्तम्। भक्तग्रहणं भज सेवायामित्यस्य निष्ठान्तस्य भवति। अर्थश्चास्य प्रासुकग्रहणं प्रासुकमाधाकर्म्माऽऽदिरहितं गृह्णन्ति, नेतरदिति। (एसण त्ति) एषणाग्रहणमेषणात्रितये गवेषणाऽऽदिलक्षणे, निरताः सक्ताः, उपसंहारस्योपनयस्य, शुद्धिरियं वक्ष्यमाणलक्षणेति गाथार्थः।

अवि भमरमहुयरिगणा, अविदिन्नं आवियंति कुसुमरसं।
समणा पुण भगवंतो, नादिन्नं भोत्तुमिच्छंति ॥१२९॥

अपि भ्रमरमधुकरिगणाः, मधुकरीग्रहणमिहापि स्त्रीसंग्रहणार्थम्। जातिसंग्रहार्थमिति चान्ये। अविदत्तं सन्तं, किम्? आपिवन्ति, कुसुमरसं कुसुमाऽऽसवं, श्रमणाः पुनर्भगवन्तो नादत्तं भोक्तुमिच्छन्तीति विशेषः। इति गाथार्थः।

साम्प्रतं सूत्रेणैवोपसंहारविशुद्धिरुच्यते–कश्चिदाह– ''दाणभत्तेसणे रया ''इत्युक्तम्, यत एवमत एव लोको भक्त्याकृष्टमानसस्तेभ्यः प्रयच्छत्या-धाकर्माऽऽदि। तस्य ग्रहणे सत्त्वोपरोधः, अग्रहणे च स्ववृत्त्यलाभ इति। अत्रोच्यते–वयं चेत्यादि सूत्रम्–

वयं च वित्तिं लब्भामो, न य काइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरो जहा ॥४॥

वयं च वृत्तिं लप्स्यामः प्राप्स्यामस्तथा यथा न कश्चिदुपहन्यते। वर्त्तमा-नैष्यत्कालोपन्यासस्त्रैकालिकन्यायप्रदर्शनार्थः। तथा चैते साधवः सर्वकालमेव यथाकृतेषु आत्मार्थमभिनिर्वर्तिष्वाहाराऽऽदिषु, रीयन्ते गच्छन्ति, वर्त्तन्त इत्यर्थः। पुष्पेषु भ्रमरा यथा। इत्येतच्च पूर्वं भावितमेवेति सूत्रार्थः।

यतश्चैवमतो महुगारसमेत्यादि सूत्रम्–

महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणा पिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो, त्ति वेमि ॥५॥

मधुकरसमा भ्रमरतुल्याः, बुद्ध्यन्ते स्म बुद्धाः, अधिगततत्वा इत्यर्थः। एवंभूता इत्यत आह– ये भवन्ति वा अनिश्रिताः कुलाऽऽदिष्वप्रतिबद्धा इत्यर्थः।

अत्राऽऽह–

अस्संजएहिँ भमरे– हिँ जइ समा संजया खलु भवंति।
एवं उवमं किच्चा, नूणं अस्संजया समणा ॥२३०॥

असंयतैः कुतश्चिदप्यनिवृत्तैः, भ्रमरैः षट्पदैः, यदि समास्तुल्याः, संयताः साधवः खल्विति समा एव भवन्ति। ततश्चासंज्ञिनोऽपि, ते अत एवैनामित्थंप्रकारामुपमां कृत्वा इदमापद्यते नूनमसंयताः श्रमणा इति गाथार्थः।

एवमुक्ते सत्याहाऽऽचार्यः, एतच्चायुक्तम्, सूत्रोक्तविशेषणतिरस्कृ-तत्वात्, तथा च बुद्धग्रहणादसंज्ञिनो व्यवच्छेदः, अनिश्चितग्रहणात् त्वसंयतत्वस्येति।

निर्युक्तिकारस्त्वाह–

उवमा खलु एस कया, पुव्वुत्ता देसलक्खणोवणया।
अणियतवित्तिनिमित्तं, अहिंसअणुपालणट्ठाए ॥१३१॥

उपमा, खल्वेषा, मधुकरसमेत्यादिरूपा, कृता, पूर्वोक्तात् पूर्वोक्तेन, देशलक्षणोपनयात् देशलक्षणोपनयेन, यथा चन्द्रमुखी कन्येति, तृतीयार्था चेह पञ्चमी। इयं चानियतवृत्तिनिमित्तं कृता अहिंसाऽनुपाल-नार्थमिदं च भावयत्येवेति गाथार्थः।

जह दुमगणा उ तह नग–रजणवया पयणपायणसहावा।
जह भमरा तह मुणिणो, नवरि अदत्तं न भुंजंति ॥१३२॥

यथा द्रुमगणा वृक्षसंघाताः, स्वणवत एव पुष्पफलन-स्वभावा-स्तथैव नगरजनपदा नगराऽऽदिलोकाः, स्वयमेव पचनपाच–

नस्वभावा वर्त्तन्ते, यथा भ्रमरा इति भावार्थं वक्ष्यति । तथा मुनयो, नवरमेतावान्विशेषः–अदत्तं स्वामिभिर्न भुञ्जत इति गाथार्थः ।

अमुमेवार्थं स्पष्टयति–

कुसुमे सहावफुल्ले, आहारंति भमरा जह तद्वा उ ।
भत्तं सहावसिद्धं, समणसुविहिया गवेसंति ॥१३३॥

कुसुमे पुष्पे, स्वभावफुल्ले प्रकृतिविकसिते, आहारयन्ति कुसुमरसं पिबन्ति, भ्रमरा मधुकराः, यथा येन प्रकारेण कुसुमपीडामनुत्पादयन्तः, तथा तेनैव प्रकारेण, भक्तमोदनाऽऽदि, स्वभावसिद्धमात्मार्थं कृतम्, उद्गमाऽऽदिदोषरहितमित्यर्थः । श्रमणाश्च ते सुविहिताश्च श्रमणसुविहिताः, शोभनानुष्ठानवन्त इत्यर्थः । गवेषयन्ति अन्वेषयन्तीति गाथार्थः ।

साम्प्रतं पूर्वोक्तो यो दोषो मधुकरसमा इत्यत्र, एतत्परिजिहीर्षयैव यावतोपसंहारः क्रियते तदुपदर्शयन्नाह–

उवसंहारो भमरा, जह तह समणा वि अवहजीवंति ।
दंत त्ति पुण पयम्मी, नायव्वं वक्कसेसमिणं ॥१३४॥

उपसंहार उपनयः, भ्रमरा यथा अवधजीविनः, तथा श्रमणा अपि साधवोऽप्येतावतैवांशेनेति गाथादलार्थः । इतश्च भ्रमरसाधूनां नानात्वमवसेयम् । यत आह सूत्रकारः– ''नानापिण्डरया दता'' इति । नानाऽनेकप्रकाराभिग्रहविशेषात्प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिण्ड आहारपिण्डः, नाना चाऽसौ पिण्डश्च नानापिण्डः, अन्तप्रान्ताऽऽदिर्वा, तस्मिन् रता अनुद्वेगवन्तः । दान्ता इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन । अनयोश्च स्वरूपमधस्तात्प्रतिपादितमेव; अत्र चोपन्यस्तगाथा–चरमदलस्थावसरः। दान्ता इति पुनः पदे सौत्रे किम्? ज्ञातव्यो वाक्यशेषोऽयमिति गाथार्थः ।

किंविशिष्टो वाक्यशेषः, दान्ता ईर्याऽऽदिसमिताश्च–

तथा चाऽऽह–

जह इत्थ चेव इरियाइ– एसु सुव्वम्मि दिक्खियपयारे ।
तसथावरभूयहियं, जयंति सब्भावियं साहू ॥१३५॥

यथाऽत्रैवाधिकृताध्ययने भ्रमरोपमयैषणासमितौ यतन्ते, तथा ईर्याऽऽदिष्वपि । तथा सर्वस्मिन् दीक्षितप्रचारे साध्वाचरितव्य इत्यर्थः। किम्? त्रसस्थावरभूतहितम्, यतन्ते सद्भाविकं पारमार्थिकं साधव इति गाथार्थः ।

अन्ये पुनरिदं गाथादलं निगमने व्याख्यानयन्ति, न च तदतिचारु, यत आह–

उवसंहारविसुद्धी, एस समत्ता उ निगमणं तेणं ।
वुच्चंति साहुणो त्ती, जेणं ते महुगरसमाणा ॥१३६॥

उपसंहारविशुद्धिरेषा समाप्ता तु, अधुना निगमनावसरः, तच्च सौत्रमुपदर्शयति, निगमनमिति द्वारपरामर्शः । तेनोच्यन्ते साधव इति, येन कारणेन ते मधुकरसमाना उक्तन्यायेन भ्रमर तुल्या इति गाथार्थः।

निगमनार्थमेव स्पष्टयति–

तम्हा दयाऽऽइगुणसु–ट्ठिएहिँ भमरो व्व अवहवित्तीहिं ।
साहूहिं साहिओ त्ती, उक्किट्ठं मंगलं धम्मो ॥१३७॥

तस्माद्दयाऽऽदिगुणसुस्थितैरादिशब्दात्सत्याऽऽदिपरिग्रहः । भ्रमर इवावधवृत्तिभिः। कैः? साधुभिः साधितो निष्पादितः, उत्कृष्टं मङ्गलं प्रधानं मङ्गलं, धर्मः प्राङ् निरूपितशब्दार्थः । इति गाथार्थः ॥१३७॥

इदानीं निगमनविशुद्धिमभिधातुकाम आह–

निगमणसुद्धी तित्थं–तरा वि धम्मत्थमुज्जुया विहरे ।
भन्नइ कायाणं ते, जयणं न मुणंति न करेंति ॥१३८॥

निगमनशुद्धिः प्रतिपाद्यते । अत्राऽऽह–तीर्थान्तरीयाः चरकपरिव्राजकाऽऽदयः किम्? धर्मार्थं धर्मायोद्यता उद्युक्ता विहरन्ति, अतस्तेऽपि साधव एवेत्यभिप्रायः । भण्यतेऽत्र प्रतिवचनम्– कायानां पृथिव्यादीनां ते चरकाऽऽदयः, किम्? यतनां प्रयत्नकरणलक्षणां, न मन्यन्ते न जानन्ति, न मन्वते वा, तथाविधाऽऽगमाऽऽश्रवणान्न कुर्वन्ति परिज्ञानाभावाद्भावित–मेवेदमधस्तादिति गाथाऽर्थः ॥१३८॥

किं च–

न य उग्गमाइसुद्धं, भुंजंती महूयरा वणुवरोही ।
नेव य तिगुत्तिगुत्ता, जह साहू निच्चकालं पि ॥१३९॥

न चोद्गमादिशुद्धं भुञ्जते, आदिशब्दादुत्पादनाऽऽदिपरिग्रहः । मधुकरा इव भ्रमरा इव सत्त्वानामनुपरोधिनः सन्तो नैव च त्रिगुप्तिगुप्ता यथा साधवो नित्यकालमपि । एतदुक्तं भवति–यथा साधवो नित्यकालं त्रिगुप्तिगुप्ता एवं तेन कदाचिदपि तत्परिज्ञानशून्यत्वात्तस्मान्न एते साधवः । इति गाथार्थः ॥१३९॥

साधव एव तु साधवः, कथम्? यतः–

कायं वायं च मणं, इंदियाइं च पंच दमयंति ।
धारेंति बंभचेरं, संजमयंती कसाए य ॥१४०॥

कायं, वाचं, मनश्च, इन्द्रियाणि च पञ्च दमयन्ति । तत्र कायेन सुलमाहितपाणिपादास्तिष्ठन्ति, गच्छन्ति वा । वाचा निष्प्रयोजनं न ब्रुवते, प्रयोजनेऽप्यालोच्य सत्त्वानुपरोधेन । मनसा अकुशलमनोनिरोधं, कुशलमनउदीरणं च कुर्वन्ति । इन्द्रियाणि पञ्च दमयन्ति, इष्टानिष्टविषयेषु रागद्वेषाकरणेन । पञ्चेति साङ्ख्यपरिकल्पितैकादशेन्द्रियव्यवच्छेदार्थम् । तथा च–वाक्पाणिपादपायूपस्थमनांसीन्द्रियाणि तेषामिति । धारयन्ति ब्रह्मचर्यम्, सकलगुप्तिपरिपालनात् । तथा संयमयन्ति कषायांश्च, अनुदयेनोदयविफलीकरणेन च । इति गाथार्थः ॥१४०॥

जं च तवे उज्जुत्ता, तेणेसिं साहुलक्खणं पुन्नं ।
तो साहुणो ति भन्नं–त्ति साहवो निगमणं चेयं ॥१४१॥

यच्च तपसि प्राग्वर्णितस्वरूपे, किम्? उद्युक्ताः तेन प्रकारेणैतेषां साधुलक्षणं पूर्णमविकलम्, कथम्? अनेन प्रकारेण साधयन्त्यपवर्गमिति साधवः। यतश्चैवं ततः साधव एव भण्यन्ते साधवो, न चरकाऽऽदय इति। निगमनं चैतत् । इति गाथार्थः ॥१४१॥ इत्थमुक्तं दशावयवम् । प्रयोगं त्वेवं वृद्धा दर्शयन्ति–अहिंसाऽऽदिलक्षणधर्मसाधकाः साधव एव, स्थावरजङ्गमभूतोपरोधपरिहारित्वात्, तदन्यैवंविधपुरुषवत् । विपक्षो दिगम्बरभिक्षुमौताऽऽदिवत्। इह ये स्थावरजङ्गमभूतोपरोधपरिहारिणस्ते उभयप्रसिद्धैवंविधपुरुषवदहिंसाऽऽदिलक्षणधर्मसाधका दृष्टाः । तथा च साधवः स्थावरजङ्गमभूतोपरोधपरिहारिण इत्युपनयः तस्मात्स्थावरजङ्गमभूतोपरोधपरिहारित्वात्ते अहिंसाऽऽदिलक्षणधर्मसाधकाः साधव एव इति निगमनम् । पक्षाऽऽदिशुद्धयस्तु निदर्शिता

एवेति न प्रतन्यन्ते एवमर्थाधिकारद्वयवशात्पञ्चावयवदशावयवाभ्यां वाक्याभ्यां व्याख्यातमध्ययनम्। दश०१ अ०।

''पडिपुण्णधम्मवियल–त्तणेण इह अंतरायविवराओ।
जीवा ण हुंति नियमा, तो जत्तो तत्थ कायव्वो॥
जन धम्माउ सोहग्गं, धम्मेणं हुंति सयलरिद्धीओ।
धम्मेण पवररूवं, तत्तो संविग्गए भणियं॥''

दर्श० १ तत्त्व।

''भद्दा सयलं किरियं, कुणंति मुणिणो सिवत्थमेव सया।
तं पुण लब्भइ गयसय–लरागदोसेण धम्मेण॥१३॥
धम्मेण सरागेण उ, लब्भइ सग्गाइयं फलं सो वि।
जायइ परंपराए, नियमेणं सुक्खहेउ त्ति॥१४॥
धम्माओ धणलाभो, त्ति जं पि वुत्तं तयं पि न हु जुत्तं।
सव्वो वि हु पुरिसत्थो, धम्माउ च्चिय जओ भणिया॥१५॥''

उक्तं च–

''धनदो धनार्थिनां धर्मः, कामदः सर्वकामिनाम्।
धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः॥१६॥'' ध०२०।

''धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमथवा पुत्रार्थिनां पुत्रद।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमपरं नानाविकल्पैर्नृणां,
तत्किं यन्न ददाति किं च तनुते स्वर्गापवर्गावपि॥५४॥'' ध०२०।

''धर्माऽऽख्यः पुरुषार्थोऽयं, प्रधान इति गीयते।
पापसत्कं पशोस्तुल्यं, धिग्धर्मरहितं नरम्॥१॥''

स्था० ३ ठा०३ उ०।

(२२) धर्मस्य मोक्षकारणत्वं यथा–

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे।
उवसग्गेऽहियासित्ता, आमोक्खाए परिव्वए॥२२॥

संख्यायेति सम्यक् ज्ञात्वा स्वसंमत्या, अन्यतो वा श्रुत्वा (पेसल त्ति) मोक्षगमनं प्रत्यनुकूलं, किं तद्? धर्म श्रुतचारित्राऽऽख्यं, दृष्टिमान् सम्यक्दर्शनी, परिनिर्वृत इति कषायोपशमाच्छीतीभूतः परिनिर्वृतकल्पो वा। उपसर्गाननुकूलप्रतिकूलान्, सम्यङ् नियम्या–धिसह्याऽऽमोक्षाय मोक्षं यावत् परि समन्ताद् व्रजेत् संयमानुष्ठानेन गच्छेदिति॥२२॥ सूत्र० १ श्रु०३ अ०४ उ०।

अपि च–

धम्मस्स य पारए मुणी, आरंभस्स य अंतए ठिए।
सोयंति य णं ममाइणो, णो लब्भंति णियं परिग्गहं॥६॥

धर्मस्य श्रुतचारित्रभेदभिन्नस्य, पारं गच्छतीति पारगः सिद्धान्तपारगामी, सम्यक् चारित्राऽनुष्ठायी वेति। चारित्रमधिकृत्याऽऽह–आरम्भस्य सावद्यानुष्ठानरूपस्यान्ते पर्यन्ते तदभावरूपे, स्थितो मुनिर्भवति। ये पुनर्नैवं भवन्ति, ते अकृतधर्माः मरणे दुःखे वा समुत्थिते आत्मानं शोचन्ति। णमिति वाक्यालङ्कारे। यदि च इष्टमरणाऽऽदावर्थनाशे वा (ममाइणो त्ति) ममेदमहमस्य स्वामीत्येवमध्यवसायिनः शोचन्ति। शोचमाना अप्येते निजमात्मीयं परि समन्ताद् गृह्यते आत्मसात्क्रियत इति परिग्रहो हिरण्याऽऽदिरिष्टस्वजनाऽऽदिर्वा, नष्टं मृतं वा, न लभन्ते न प्राप्नुवन्तीति। यदि वा धर्मस्य पारगं मुनिमारम्भस्याऽन्ते व्यवस्थितमनमागत्य स्वजना मातापित्रादयः शोचन्ति समत्वयुक्ताः स्नेहालयः, न च ते लभन्ते निजमप्यात्मीयपरिग्रहबुद्ध्या गृहीतमिति। अत्रान्तरे नागार्जुनीयास्तु पठन्ति–

''सोऊण तयं उवट्ठियं, केइ गिही विग्घेण उट्ठिया।
धम्मम्मि अणुत्तरे मुणी, तं पि जिणिज्ज इमेण पंडिए॥१॥''

किं चान्यत्–

जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुण्णमणेलिसं।
अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्मकहा कओ? ॥२९॥

ये महापुरुषा वीतरागाः करतलाऽऽमलकवत्सकलजगद्द्रष्टारस्त एवंभूताः परहितैकरताः शुद्धमवदातं सर्वोपाधिविशुद्धम्, धर्माख्यान्ति प्रतिपादयन्ति, स्वतः समाचरन्ति च। प्रतिपूर्णमायतचरित्रसद्भावात्संपूर्णं यथाख्यातचारित्ररूपं वा। अनीदृशमनन्यसदृशं धर्माख्यान्त्युपतिष्ठन्ति। तदेवमनीदृशस्यानन्यसदृशस्य ज्ञानचारित्रोपेतस्य यत् स्थानं सर्वद्वन्द्वोपरमरूपं तदवाप्तस्य कुतो जन्मकथा–जातो मृतो वेत्येवंरूपा कथा, स्वप्नान्तरेऽपि तस्य कर्मबीजाभावात् कुतो विद्यत इति। तथोक्तम्–''दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः॥१॥ इत्यादि॥१९॥

किञ्चान्यत्–

कओ कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहागया।
तहागया अप्पडिन्ना, चक्खू लोगस्सऽणुत्तरा॥२०॥

कर्मबीजाभावात्कुतः कस्मात्कदाचिदपि मेधाविनो ज्ञानाऽऽत्मकास्तथा पुनरावृत्त्याऽऽगतास्तथागताः पुनरस्मिन् संसारेऽशुचिगर्भाधाने समुत्पद्यन्ते, न कथञ्चित्कदाचित्कर्मोपादानाभावादुत्पद्यन्त इत्यर्थः। तथा तथागतास्तीर्थकृद्गणधराऽऽदयो न विद्यन्ते प्रतिज्ञानिदानबन्धनरूपा येषां ते प्रतिज्ञानिदाना निराशंसाः सत्यहितकरणोद्यता अनुत्तरज्ञानत्वादनुत्तरलोकस्य जन्तुगणस्य सदसदर्थनिरूपणकारणतश्चक्षुर्भूता हिताहितप्राप्तिपरिहारं कुर्वन्तः सकललोकलोचनभूतास्तथागताः सर्वज्ञा भवन्तीति॥२०॥ सूत्र० १ श्रु०१५ अ०। (आपत्सु दृढधर्मता योगसंग्रहायेति 'आवई' शब्दे द्वितीयभागे २४५ पृष्ठे गता) धर्माऽऽख्याने तु यथा पित्रादीनामुपकारस्तथा नान्यथा। '(लोगंतिय' शब्दे चेदं वक्ष्यते) केवलिप्रज्ञप्तधर्मस्य श्रवणता दुर्लभा। यतोऽवाचि–''सुलहा सरलोयसिरी, रयणायरमेहला मही सुलहा। निव्वुइसुहजणियरुई, जिणवयणसुई जए दुलहा॥१॥'' इति। श्रुतस्य वा श्रद्धानता दुर्लभा। उक्तं च– ''आहच्च सवणलद्धं सद्धा परमदुल्लहा। सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सइ''॥१॥ इति। स्था० ६ ठा०।

उक्तं च–

''लब्भइ सुरसामित्तं, लब्भइ पहुअत्तणं न संदेहो।
इक्को नवरि न लब्भइ, जिणिंदवरदेसिओ धम्मो॥१॥
धम्मो पवित्तिरूवो, लब्भइ कइयावि निरयदुक्खभया।
जो निअवसुस्सहावो, सो धम्मो दुल्लहो लोए॥२॥
नियवत्थुधम्मसवणं, दुल्लह वुत्तं जिणिंदआणा य।
अंतप्फासणमेग–त्त हुंति केसिंचि धीरत्तं॥३॥'' अष्ट० २ अष्ट०।

''एसो य असइ दोसा–सेवणओ धम्मवज्झचित्ताणं।
ता धम्मे जइयव्वं, सम्मं सइ धीरपुरिसेहिं '' ॥१॥ इति।
स्था० ६ ठा०।

(२३) मनुजभवदुर्लभत्वमुक्त्वा तदवाप्तावनुत्तरोत्तरगुणावाप्ति–रति दुरापैवेत्याह–

अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे,
उत्तमधम्मसुती हु दुल्लहा।
कुत्तित्थणिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥
लद्धूण वि उत्तमं सुइं,
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तणिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥
धम्मं पि हु सद्दहंतया,
दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहिँ मुच्छिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

कथञ्चिदहीनपञ्चेन्द्रियतामप्युक्तन्यायतोऽतिदुर्लभामपि स इति जन्तुर्लभेत प्राप्नुयात्, तथाऽप्युत्तमः प्रधानो यो धर्म्मस्तस्य श्रुतिराकर्णना या सा तथा, हुरवधारणे, भिन्नक्रमश्च। ततो दुर्लभैव, किमिति?, यतः कुत्सितानि च तानि तीर्थानि च कुतीर्थानि शाक्योलूकाऽऽदिप्ररूपितानि, तानि विद्यन्ते येषामनुष्ठेयतया स्वीकृतत्वात्ते कुतीर्थिनः, तान्नितरां सेवते यः कुतीर्थिनिषेवको जनो लोकः, कुतीर्थिनो हि यशः सत्काराऽऽद्योषिणो यदेव प्राणिप्रियं विषयाऽऽदि, तदेवोपदिशन्ति, तत्तीर्थकृतामप्येवं-विधत्वात्। उक्तं हि– ''सत्कारयशोलाभार्थिभिश्च मूढैरिहान्यतीर्थकरैः। अवसादितं जगदिदं, प्रियाण्यपथ्यान्युपदिशद्भिः ॥१॥'' इति सुकरैव तेषां सेवा, तत्सेवनाच्च कुत उत्तमधर्म्मश्रुतिः? पठ्यते च–''कुत्तित्थणिसेवए जणे'' इति स्पष्टम्। एवं तद्दुर्लभत्वमवधार्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः। किं च– लब्ध्वाऽपि उत्तमधर्मविषयत्वादुत्तमां तां श्रुतिमुक्त–रूपां, श्रद्धानं तत्त्वरुचिरूपं, (पुणरावि त्ति) पुनरपि दुर्लभं दुरापमपि। इहैव हेतुमाह– मिथ्याभावो मिथ्यात्वम्–अतत्त्वेऽपि तत्त्वप्रत्ययरूपं, तन्निषेवते यः स मिथ्यात्वनिषेवकः, जनो लोकोऽनादिभवाभ्यस्ततया गुरुकर्म्मतया च तत्रैव च प्रायः प्रवृत्तेः। यत एवमतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः। अन्यच्च धर्म्मं प्रक्रमात् सर्वज्ञप्रणीतम्, अपिर्भिन्नक्रमः। दुर्वाक्यालङ्कारे। ततः श्रद्दधतोऽपि कर्तुमभिलषन्तोऽपि दुर्लभकाः कायेन शरीरेण, उपलक्षणत्वान्मनसा वाचा च स्पर्शका अनुष्ठातारः। कारणमाह– इहास्मिन् जगति कामगुणेषु मूर्च्छिता मूढाः, गृद्धिमन्त इत्यर्थः। जन्तव इति शेषः। प्रायेण ह्यपथ्येष्वेव विषयेष्वभिष्वङ्गः प्राणिनाम्, यत उक्तम्– ''प्रायेण हि यदपथ्यं, तदेव चाऽऽतुरजनप्रियं भवति। विषयाऽऽतुरस्य जगतस्तथाऽनुकूलाः प्रिया विषयाः ॥१॥'' पाठान्तरतः– कामगुणैर्मूर्च्छिता इव मूर्च्छिताः विलुप्तधर्मविषयचैतन्यत्वात् यतश्चैवमतो दुरापामिमामविकलां धर्म्मसामग्रीमवाप्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति। उत्त० पाई० १० अ०। स्था०।

(२४) पर्यायच्युतस्यैहिकं दोषमाह–

धम्माओ भट्ठं सिरिओववेअं,
जण्णग्गि विज्झायमिवऽप्पतेअं।
हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला,
दाढद्विअं घोरविसं व नागं ॥१२॥

धर्मात् श्रमणधर्म्मतः, भ्रष्टं च्युतं, श्रियाऽपपेतं तपोलक्ष्म्या अपगतं, यज्ञाग्निमग्निष्टोमानिलं, विध्यातमिव यामावसानेऽल्पतेजसम्, अल्पशब्दो भावतेजःशून्यं भस्मकल्पमित्यर्थः, हीलयन्ति कदर्थयन्ति, पतितस्त्वमिति पङ्क्त्याऽपसारणाऽऽदिना, एनमुन्निष्क्रान्तं, दुर्विहितमुन्निष्क्रमणादेव दुष्टानुष्ठायिनं, कुशीलास्तत्सङ्कोचिता लोकाः, स एव विशेष्यते– (दाढद्विअं ति) प्राकृतशैल्या उद्धृतदंष्ट्रमुत्खातदंष्ट्रं, घोरविषमिव रौद्रविषमिव, नागं सर्पं यज्ञाग्निसर्पोपमानं, लोकनीत्या प्रधानभावादप्रधानभाव-ख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥१२॥

एवमस्य भ्रष्टशीलस्यौघतयैहिकं दोषमभिधाय ऐहिका-ऽऽमुष्मिकमाह–

इहेव धम्मो अयसो अकित्ती,
दुण्णामधिज्जं च पिहज्जणम्मि।
चुअस्स धम्माओ अहम्मसेविणो,
संभिण्णवित्तस्स य हिट्ठओ गई ॥१३॥

इहैवेहलोके एवाधर्म इत्ययमधर्मफलेन दर्शयति, यदुतायशः अपराक्रमकृतं न्यूनत्वं, तथा–अकीर्तिरदानपुण्यफलप्रवाहरूपा– तथा–दुर्नामधेयं च 'पुराणः पतितः' इति कुत्सितनामधेयं च। क्रेत्याह– पृथग्जने सामान्यलोकेऽप्यास्तां विशिष्टलोके, कस्येत्याह–च्युतस्य धर्मात्, उत्प्रव्रजितस्येति भावः। तथाऽधर्मसेविनः कलत्राऽऽदिनिमित्तं षट्कायोपमर्दकारिणः, तथासंभिन्नवृत्तस्य चाखण्डनीयखण्डितचारित्रस्य च क्लिष्टकर्मबन्धनात् अधस्ताद्गतिर्नरकेषूपपात इति सूत्रार्थः ॥१३॥

अस्यैव विशेषप्रत्यपायमाह–

भुंजित्तु भोगाइँ पसण्णचेअसा,
तहाविहं कटटु असंजमं बहुं।
गइं च गच्छे अणभिज्झिअं दुहं,
बोही अ से नो सुलभा पुणो पुणो ॥१४॥

स उत्प्रव्रजितो भुक्त्वा भोगान् शब्दाऽऽदीन्, प्रसन्नचेतसा धर्मनिरपेक्षतया प्रकटेन चित्तेन, तथाविधमज्ञोचितधर्मफलं, कृत्वाऽभिनिर्वृत्य, असंयमं कृष्याद्यारम्भरूपं, बहुमसन्तोषात् प्रभूतं, सइत्थं भूतो मृतः सन्, गतिं च गच्छत्यनभिध्यात्वा अभिध्यात्वा, इष्टानिष्टामित्यर्थः। काचित् सुखाऽप्येवंभूता भवत्यत आह– दुःखां प्रकृत्यैवासुन्दरां दुःखजननीं, बोधिश्चासौ जिनधर्मप्राप्तिश्चास्योन्निष्क्रान्तस्य न सुलभा पुनः पुनः प्रभूतेष्वपि जन्मसु दुर्लभैव, प्रवचनविराधकत्वादिति सूत्रार्थः ॥

यस्मादेवं तस्मादेवं तदुत्पन्नदुःखोऽप्येतदनुचिन्त्य नोत्प्रव्रजे-दित्याह–

इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो,
दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो।

पलिओवमं छिज्झइ सागरोवमं,
किमंग ! पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥१५॥

अस्य तावदित्यात्मन एव निर्देशः, नारकस्य जन्तोः नरकमनुप्राप्तस्येत्यर्थः। दुःखोपनीतस्य सामीप्येन प्राप्तदुःखस्य, क्लेशवृत्तेः एकान्तक्लेशवेष्टितस्य सतो, नरक एव पल्योपमं क्षीयते, सागरोपमं च यथाकर्मप्रत्ययम्, किमङ्ग ! पुनर्ममेदं संयमरतिनिष्पन्नं मनोदुःखं तथाविधक्लेशदोषरहितम्, एतत्क्षीयत एवैतत्चिन्तनेन नोत्प्रव्रजितव्यमिति सूत्रार्थः ॥१५॥

विशेषेणैतदेवाऽऽह–

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई,
असासया भोगापिवास जंतुणो।
न चे सरीरेण इमेणऽवस्सई,
अवस्सई जीविअपज्जवेण मे ॥१६॥

न मम चिरं प्रभूतं कालं दुःखमिदं संयमारतिलक्षणं भविष्यति। किमित्यत आह– अशाश्वती प्रायो यौवनकालावस्थायिनी, भोगपिपासा विषयतृष्णा, जन्तोःप्राणिनः। अशाश्वतीत्वे एव कारणान्तरमाह–न चेच्छरीरेणानेनापयास्यति न यदि शरीरेणानेन करणभूतेन वृद्धस्यापि सतोऽपयास्यति, तथाऽपि किमाकुलत्वं यतोऽपयास्यति जीवितपर्यायेण जीवितस्यापगमेन, मरणेनेत्येवंनिश्चितः स्यादिति सूत्रार्थः ॥१६॥

अस्यैव फलमाह–

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिआ,
उवेंति वाया व सुदंसणं गिरिं ॥१७॥

यस्येति साधोः, एवमुक्तेन प्रकारेण, आत्मा, तुशब्दस्यैव-कारार्थत्वात् आत्मैव, भवेन्निश्चितो दृढः, स त्यजेद्देहं क्वचिद्विघ्ने उपस्थिते, न तु धर्मशासनं न पुनर्धर्मज्ञानमिति, तं तादृशं धर्मनिश्चितं, न प्रचालयन्ति संयमस्थानान्न कम्पयन्तीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि। निदर्शनमाह–उत्पतद्वाता इव संपतत्पवना इव सुदर्शनं गिरिं मेरुम्। एतदुक्तं भवति–यथा मेरुं वाता न चालयन्ति तथा तमपीन्द्रियाणीति सूत्रार्थः ॥१७॥

उपसंहरन्नाह–

इच्चेव संपस्सिअ बुद्धिमं नरो,
आयं उवायं विविहं विआणिआ।
काएण वाया अदु माणसेणं,
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिजासि ॥१८॥

इत्येवमध्ययनोक्तं दुष्प्रजीवित्वाऽऽदि संप्रेक्ष्याऽऽदित आय यथावद् दृष्ट्वा बुद्धिमान्नरः सम्यक् बुद्ध्युपेतः, आयमुपायं विविधं विज्ञाय, आयः सम्यग्ज्ञानाऽऽदेः, उपायस्तत्साधनप्रकारः कालविनयाऽऽदिर्विविधोऽनेकप्रकारस्तं ज्ञात्वा, किमित्याह– कायेन, वाचा, अथमनसा, त्रिभिरपि करणैर्यथाप्रवृत्तैः त्रिगुप्तिगुप्तः सन् जिनवचनमर्हदुपदेशमधितिष्ठेत् यथाशक्ति तदुक्तैकक्रियापालनपरो भूयात्, भवाय सिद्धौ तत्ततो मुक्तिसिद्धेरिति सूत्रार्थः ॥१८॥ दश० १ चू०।

(२५) किमभिसन्ध्य धर्ममाचक्षीतेति दर्शयति–

दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे विभए किट्टे वेदवी से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए संतिं विरतिं उवसमंणिव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणइवत्तियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा।

दयां कृपां लोकस्य जन्तुलोकस्योपरि द्रव्यतो ज्ञात्वा, क्षेत्रतः प्राचीनं, प्रतीचीनं दक्षिणमुदीचीनम्, अपरानपि दिग्विभागानभिसमीक्ष्य सर्वत्र दयां कुर्वन् धर्ममाचक्षीत, कालतो यावज्जीवं, भावतोऽरक्तोऽदिष्टः कथमाचक्षीत? तद्यथा– सर्वे जन्तवो दुःखद्विषः सुखलिप्सव आत्मोपमया सदा द्रष्टव्या इति। उक्तं च– ''तत्तत्परस्य संदध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः। एष संग्रहिको धर्मः, कामादन्यत् प्रवर्त्तते ॥१॥'' इत्यादि। तथा धर्ममाचक्षाणो विभजेद् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदैराक्षेपिण्यादिकथाविशेषैर्वा प्राणातिपातमृषावादादत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहरात्रिभोजनविरतिविशेषैर्वा धर्मं विभजेत्, यदि वा कोऽयं पुरुषः कं नतो देवताविशेषमभिगृहीतोऽनभिगृहीतो वा एवं विभजेत, तथा कीर्त्तयेद् व्रतानुष्ठानफलं, कोऽसौ कीर्त्तयेद्? वेदविदागमविदिति। नागार्जुनीयास्तु पठन्ति– ''जे खलु भिक्खू बहुस्सुए बज्झागमे आहरणहेउकुसले धम्मकहालद्धिसंपन्नो खेत्तं कालं पुरिसं समासज्ज कहेयं पुरिसे कं वा दरिसणमभिसंपन्नो एवं पुण जातीए पभू धम्मस्स आघवित्तए।'' इति कण्ठ्यम्। स पुनः केषु निमित्तभूतेषु कीर्तयेदि–त्याह– (से उट्ठिएसु वा इत्यादि) स आगमवित् स्वसमयपरसमयज्ञ उत्थितेषु वा भावोत्थानेन यतिषु, वाशब्द उत्तरपिक्षया पक्षान्तरद्योतकः। पार्श्वनाथशिष्येषु चतुर्यामोत्थितेष्वेव, वर्द्धमानतीर्थाऽऽचार्याऽऽदिः पञ्चयामं धर्मं प्रवेदयेदिति स्वशिष्येषु वा सदोत्थितेष्वज्ञातज्ञापनाय धर्मं प्रवेदयेदिति। अनुत्थितेषु वा श्रावकाऽऽदिषु शुश्रूषमाणेषु धर्मं श्रोतुमिच्छत्सु गुर्वादिः पर्युपास्तिं कुर्वत्सु वा संसारोत्तरणाय धर्मं प्रवेदयेत्। तत्किंभूतं प्रवेदयेदित्याह– ''संतिं'' इत्यादि, यावत् ''भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा'' शमनं शान्तिरहिंसेत्यर्थः। तामाचक्षीत, तथा विरतिम्, अनेन च मृषावादाऽऽदिशेषव्रतसंग्रहः। तमुपशमं क्रोधजयाद्, अनेन चोत्तरगुणसंग्रहः, तथा निर्वृतिर्निर्वाणं मूलगुणोत्तरगुणयोरैहिकाऽऽमुष्मिक-फलभूतमाचक्षीत। तथा शौचं सर्वोपाधिशुचित्वं निर्वाच्यव्रतधारणं, तथा आर्जवं मायावक्रतापरित्यागात्, तथा मार्दवं मानस्तब्धतापरित्यागात्, तथा लाघवं सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थिपरित्यागात्। कथमाचक्षीतेति दर्शयति–अनतिपत्त्य। यथावस्थितं वस्त्वागमाभिहितं, तथाऽनतिक्रम्येत्यर्थः, केषां कथयति? सर्वेषां प्राणिनां,दशविधाः प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिनस्तेषां सामान्यतः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां, तथा सर्वेषां भूतानां मुक्तिगमनयोग्येन भव्यत्वेन भूतानां व्यवस्थितानां, तथा सर्वेषां जीवानां जिजीविषूणां च, तथा सर्वेषां सत्त्वानां तिर्यङ्नराभराणां संसारे क्लिश्यमानतया करुणाऽऽस्पदानाम्, ए–

कार्थिकानि चैतानि प्राणाऽऽदीनि वचनानीत्यतस्तेषां क्षान्त्यादिकं दशविधं धर्मं यथायोगं प्रागुपन्यस्तं शान्त्यादिपदाभिहितमनु विचिन्त्य स्वपरोऽयं भिक्षणशीलो भिक्षुर्धर्मकथालब्धिमानाचक्षीत प्रतिपादयेदिति।

यथा च धर्मं कथयेत्तदाह–

अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसाइज्जा, णो परं आसाएज्जा, णो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं आसाएज्जा, से अणासायए अणासायमाणे वज्झमाणाणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे, एवं से सरां भवति महामुणी।

''अणुवीइ भिक्खू'' इत्यादि यावत् ''सरणं भवति महामुणि त्ति''। सभिक्षुर्मुमुक्षुरनुविचिन्त्य पूर्वापरेण धर्मं पुरुषं वाऽऽलोच्य यो यस्य कथनयोग्यस्तं धर्ममाचक्षाणः, आङिति मर्यादायां, यथाऽनुष्ठानं सम्यग्दर्शनाऽऽदेः शातना आशातना, तमात्मानं नो आशातयेत्, तथा धर्ममाचक्षीत, यथाऽऽत्मन आशातना न भवेत्। यदि वा आत्मन आशातना द्विधा–द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतो यथाऽऽहारोपकरणाऽऽदेर्द्रव्यस्य कालातिपाताऽऽदि-कृताऽऽशातना बाधा न भवति तथा कथयेत्, आहाराऽऽदिद्रव्यबाधया च शरीरस्यापि पीडाभावाऽऽशातनारूपा स्यात्, कथयतो वा यथा गात्रभङ्गरूपा भावाऽऽशातना न तस्य स्यात्तथा कथयेदिति। तथा न परं शुश्रुषुराशातयेत्, यतः परो हीलनया कुपितः सन्नाहारोपकरणशरीरान्यतरपीडायै प्रवर्तेताऽतस्तदाशातनां वर्जयन् धर्मं ब्रूयादिति। तथा नान्यान् वा–सामन्येन प्राणिनो भूतान् जीवान् नो आशातयेद् बाधयेत्, तदेवं स मुनिः स्वतोऽनाशातकैरनाशातयन् तथा परानाशातयतोऽननुमन्य–मानोऽपरेषां वध्यमानानां प्राणिनां भूतानां सत्त्वानां जीवानां यथा पीडा नोत्पद्यते तथा धर्मं कथयेदिति। तद्यथा यदि लौकिककुप्रावचनिकपार्श्वस्थाऽऽदिदानानि प्रशंसत्यवदतडागाऽऽदीनि वा, ततः पृथिवीकायाऽऽदयो व्यापादिता भवेयुः, अथ दूषयति–ततोऽपरेषामन्तरायाऽऽपादनेन तत्कृतो बन्धविपाकानुभवः स्यात्। उक्तं च– ''जे उ दाणं पसंसंति, वहमिच्छं ति पाणिणं। जे उ णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥१॥'' तस्मात्तदवदतडागाऽऽदिविधिप्रतिषेधव्युदासेन यथाऽवस्थितं दानं शुद्धं प्ररूपवेदसावद्यानुष्ठानं चेति। एवं च कुर्वन्नुभयदोषपरिहारी जन्तूनामाश्वासभूमिर्भवतीत्येतद् दृष्टान्तद्वारेण दर्शयति– यथाऽसौ द्वीपोऽसंदीनः शरणं भवत्येवमसावपि महामुनिः तद्रक्षणोपायोपदेशतो वध्यमानानां बधकानां च तदध्यवसायान्निवर्तने, न विशिष्टगुणस्थानाऽऽपादनाच्छरण्यो भवति। तथाहि यथोद्दिष्टेन कथाविधानेन धर्मकथां कथयन् काँश्चन प्रव्राजयति, कांश्चन श्रावकान्विधत्ते, काँश्चन सम्यग्दर्शनयुतान् करोति, केषाञ्चित्प्रकृतिभद्रतामापादयति। आचा० १ श्रु० ६ अ०५ उ०।

किञ्चान्यत्–

सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा,
भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा,
ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥१६॥

स्वयमात्मना परोपदेशमन्तरेण समेत्य ज्ञात्वा चतुर्गतिकं संसारं, तत्कारणानि च मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपाणि, तथाऽशेषकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं, तत्कारणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, एतत्सर्वं स्वत एवावबुद्ध्यान्यस्माद्वाऽऽचार्याऽऽदेः सकाशात् श्रुत्वाऽन्यस्मै मुमुक्षवे धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं भाषेत। किंभूतम्? प्रजायन्त इति प्रजाः स्थावरजङ्गमा जन्तवः, तेभ्यो हितं सदुपदेशदानतः सदोपकारिणं धर्मं ब्रूयादिति। उपादेयं प्रदर्श्य हेयं प्रदर्शयति–ये गर्हिता जुगुप्सिता मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः कर्मबन्धहेतवः, सह निदानेन वर्तन्त इति सनिदानाः, प्रयुज्यन्त इति प्रयोगा व्यापाराः, धर्मकथाप्रबन्धा वा ममास्मात्सकाशात्पूजालाभसंस्काराऽऽदिकं भविष्यतीत्येवंभूतनिदानाऽऽशंसारूपांस्तांश्चारित्रविघ्नभूतान् महर्षयः सुधीरधर्माणो न सेवन्ते नानुतिष्ठन्ति। यदि वा–ये गर्हिताः सनिदानाः वाक्प्रयोगाः, तद्यथा–कुतीर्थिकाः सावद्यानुष्ठानाविरता निःशीला अनिर्वृताः कुटिलवेण्टलकारिण इत्येवंभूतान् परदोषोद्– घाटनया मर्मवेधिनः, सुधीरधर्माणो वाक्कण्टकान् न सेवन्ते न ब्रुवत इति ॥१६॥

किं चान्यत्–

केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भावं,
खुद्दं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे।
आउस्स कालाइचरं वधाए,
लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥२०॥

केषाञ्चिन्मिथ्यादृष्टीनां कुतीर्थिकभावितानां स्वदर्शनाग्राहिणां, तर्कयावितर्केण स्वमतिपर्यालोचनेन, भावमभिप्रायं दुष्टान्तःकरणवृत्तित्वमबुध्वा कश्चित्साधुः श्रावको वा स्वधर्मस्थापनेच्छयातीर्थिकतिरस्कारप्रायं वचो ब्रूयात्, स च तीर्थिकस्तद्वचोऽश्रद्दधानोऽरोचयन्नप्रतिपाद्यमानोऽतिकटुकं भावयेत्, क्षुद्रत्व मपि गच्छेद्विरूपमपि कुर्यात्, पालकपुरोहितवत् स्कन्दकाऽऽचार्यस्येति। क्षुद्रत्वगमनमेव दर्शयति–स निन्दावचनकुपितोऽपि वक्तुर्यदायुरस्तस्याऽऽयुषो व्याघातरूपं परिक्षयस्वभावं कालातिचारं दीर्घस्थितिकमप्यायुः संवर्तेत। एतदुक्तं भवति–धर्मदेशना हि पुरुषविशेषं ज्ञात्वा विधेया। तद्यथा– कोऽयं पुरुषो राजाऽऽदिः कञ्चन देवताविशेषं गतः कतरद्वा दर्शनमाश्रितोऽभिगृहीतोऽनभिगृहीतो वाऽयमित्येवं सम्यक् परिज्ञाय यथार्हं धर्मदेशना विधेया। यश्चैतदबुद्ध्वा किञ्चिद्धर्म-देशनाद्वारेण परविरोधकृद्वचो ब्रूयात् स परस्मादैहिकाऽऽमुष्मि-कयोर्मरणाऽऽदिकमपकारं प्राप्नुयादिति। यत एवं ततो लब्धमनुमानं येन पराभिप्रायपरिज्ञाने स लब्धानुमानः परेषु प्रतिपाद्येषु यथायोगं यथार्हप्रतिपत्त्याऽर्थान् सद्धर्मप्ररूपणाऽऽदिकान् जीवाऽऽदीन् स्वपरोपकाराय ब्रूयादिति ॥२०॥ सूत्र ०१ श्रु० १३ अ०।

जे भिक्खू मायन्ने अन्नयरं दिसं अणुदिसं वा पडिवन्ने धम्मं आइक्खे विभए किट्टे उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेइए संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवातियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं ०जाव सत्ताणं अणुवाइं किट्टिए धम्मं ॥५७॥

स भिक्षुराहारोपधिशयनस्वध्यायाऽऽदीनां मात्रां जानातीति तद्विधिज्ञः सन् अन्यतरां दिशमनुदिशं वा प्रतिपन्नः समाश्रितो धर्माख्यापयेत्, यद्येन विधेयस्तद्यथाभोगं विभजेद्धर्मफलानि च कीर्तयेदाविर्भावयेत्, तच्चैकार्थप्रवृत्तेन साधुना सम्यगुपस्थितेषु वा कौतुकाऽऽदिप्रवृत्तेषु शुश्रूषमाणेषु श्रोतुं प्रवृत्तेषु स्वपराभिप्रायं वेद–येदावेदयेत्प्रकथये दिति यावत्। श्रोतुमुपस्थितेषु यत्कथयेत्तद्दर्शयितुमाह– (संतिविरइं इत्यादि) शान्तिरुपशमः क्रोधजयस्तत्प्रधाना प्राणातिपातिभ्यो विरतिः शान्तिविरतिः। यदि वा–शान्तिरशेषक्लेशापगमरूपा तस्यैतदर्थं विरतिस्तां कथयेत्, तथौपशममिन्द्रियोपशगरूपं रागद्वेषा भावजनितम्। तथा– निर्वृतिं निर्वाणमशेषद्वन्द्वोपरमरूपं, तथा (सोयवियं ति) शौचं, तदपि भावशौचं, सर्वोपाधिशुद्धता व्रतामालिन्यम्। (अज्जवियं ति) आर्जवमायित्वं, तथा–मार्दवं मृदुभावं सर्वत्र प्रश्रयवत्त्वं विनयनम्रतेति यावत्। तथा– (लाघवियं ति) कर्मणां लाघवाऽऽपादनं कर्मगुरोर्वाऽऽत्मनः कर्मापनयनतो लघ्ववस्थासंजननम्। साम्प्रतमुपसंहार द्वारेण सर्वशुभानुष्ठानानां मूलकारणमाह– अतिपतनमतिपातः प्राण्युपमर्दनं, तद्विद्यते यस्यासावतिपातिकस्तत् प्रतिषेधादनतिपातिकस्तं, सर्वेषां प्राणिनां भूतानां यावत्सत्त्वानां धर्ममनुविचिन्त्य वा कीर्तयेत्कथयेत्। इदमुक्तं भवति–सर्वप्राणिनां रक्षाभूतं धर्मं कथयेदिति ॥५७॥

साम्प्रतं धर्मकीर्तनं यथानिरूपितमधिभवति तथा दर्शयितुमाह–

से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो लोणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो अण्णेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा, नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा ॥५८॥

स भिक्षुः परकृतपरिनिष्ठिताऽऽहारभोजी यथाक्रियाकुलाऽनुष्ठायी शुश्रूषन् सुधर्मं कीर्तयन्नान्नस्य हेतोर्मायमीश्वरो धर्मकथाप्रश्रवणे विशिष्टमाहारजातं दास्यतीति, एतन्निमित्तं न धर्ममाचक्षति, तथा पानवस्त्रलयनशयननिमित्तं न धर्ममाचक्षीत। नान्येषां विरूपरूपाणामुच्चविचानां कार्याणां कामभोगानां वा निमित्तं तथा धर्ममाचक्षीत, ग्लानिमुपगच्छन् न धर्ममाचक्षीत। कर्मनिर्जरायाश्चान्यत्र न धर्मं कथयेदपरप्रयोजननिरपेक्ष एवं धर्मं कथयेदिति ॥५८॥

धर्मकथाश्रवणफलदर्शनद्वारेणोपसंजिघृक्षुराह–

इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया जे ते एवं सव्वोवगता ते एवं सव्वोवरता ते एवं सव्वोवसंता ते एवं सव्वताए परिनिवुडे त्ति बेमि ॥५९॥

इहास्मिन् जगति, खलुवाक्यालङ्कारे। तस्य भिक्षोर्गुणवतोऽन्तिके समीपे पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं धर्मं श्रुत्वा निशम्यावगम्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय धी (वी) राः कर्मविदारणसहिष्णवो, ये चैवंभूतास्ते एवं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टानुष्ठानतया सर्वस्मिन्नपि मोक्षकारणसम्यग्दर्शनाऽऽदिके उप सामीप्येन गताः सर्वोपगतास्तथैवं सर्वेभ्य उपरताः सर्वोपरताः, तथा त एवं सर्वोपशान्ता जितकषायतया शीतलीभूताः, तथा एवं सर्वाऽऽत्मतया सर्वसामर्थ्येन सदनुष्ठानेनोद्यमं कृतवन्तो, ये चैवंभूतास्तेऽशेषकर्मक्षयं कृत्वा परि समन्तान्निर्वृत्ता अशेषकर्मक्षयं कृतवन्त इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥५९॥ सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

(२६) इह भवजलधिनिमग्नसत्त्वाभ्युज्झिहीर्षाऽभ्युद्यतेन स्वहितसंपादननिपुणेन गुरुलाघवचिन्तावता प्रश्नार्थव्याकरणसमर्थेन विदुषा सद्धर्मपरीक्षायां यत्नो विधेयः, सा च परीक्षकमन्तरेण न संभवति, तदविनाभावित्वात्परीक्षायाः सद्धर्मपरीक्षकाऽऽदिभावप्रतिपादनार्थं च आर्य्यांषोडशाधिकारप्रतिबद्धं प्रकरणमारेभे हरिभद्रसूरिः, तस्य चाऽऽदावेव प्रयोजनाभिधेयसम्बन्धप्रतिपादनार्थमिदमार्य्यासूत्रं जगाद–

प्रणिपत्य जिनं वीरं, सद्धर्मपरीक्षकाऽऽदिभावानाम्।
लिङ्गाऽऽदिभेदतः खलु, वक्ष्ये किञ्चित्समासेन ॥१॥

प्रणिपत्य नमस्कृत्य, जिनं जितरागद्वेषमोहं सर्वज्ञं वीरं सदेवमनुष्यासुरलोके श्रमणो भगवान् महावीर इत्यागमप्रसिद्धनामानमनेनेष्टदेवतास्तवद्वारेण मङ्गलमाह। सद्धर्मपरिक्षकस्त्रिविधो वक्ष्यमाणस्तदादयो ये भावास्तेषां किञ्चिदित्यस्य स्वल्पमात्राभिधायित्वाल्लेशं वक्ष्ये लिङ्गाऽऽदिभेदतः खल्विति लिङ्गवृत्ताऽऽदिविशेषप्रतिपादनद्वारेण यद्यप्यपरैरेव पूर्वाचार्यैः सद्धर्मपरिक्षाऽऽदयो भावाः स्फुटमेवाभिहितास्तथाऽप्यहं समासेनैवाभिधास्यामीति (१)॥

सद्धर्मपरीक्षकस्य त्रिविधस्य व्यापारमुपदर्शयति–

बालः पश्यति लिङ्गं, मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तम्।
आगमतत्त्वं तु बुधः, परीक्षते सर्वयत्नेन ॥२॥

बालो विशिष्टविवेकविकलो लिङ्गं वेषमाकारं बाह्यं पश्यति, प्रधानेन धर्मार्थिनोऽपि तस्य तत्रैव भूयसा रुचिप्रवृत्तेः। मध्यमबुद्धिर्मध्यमविवेकसंपन्नो, विचारयति मीमांसते, वृत्तं वक्ष्यमाणस्वरूपं प्राधान्येन समाश्रयति, तत्रैवाभिलाषत्वात्। आगमतत्त्वं त्वागमपरमार्थमेदंपर्यरूपं, बुधो विशिष्टविवेकसंपन्नः, परीक्षते समीचीनमवलोकयति। सर्वयत्नेन सर्वाऽऽदरेण धर्माधर्मव्यवस्थाया आगमनिबन्धनत्वात्। यत उक्तम्– ''धर्माधर्मव्यवस्थायाः, शास्त्रमेव नियामकम्। तदुक्ताऽऽसेवनाद्धर्मस्त्वधर्मस्तद्विपर्ययात् ॥१॥'' ॥२॥

इदानीं पूर्वोक्तानां बालाऽऽदीनामेव लक्षणमाह–

बालो ह्यसदारम्भो, मध्यमबुद्धिस्तु मध्यमाऽऽचारः।
ज्ञेय इह तत्त्वमार्गे, बुधस्तु मार्गानुसारी यः ॥३॥

बालो हि पूर्वोक्तः असन्नसुन्दर आरम्भोऽस्येत्यसदारम्भोऽविद्यमानं वा यदागमे व्यवच्छिन्नं तदारभत इत्यसदारम्भः, न सदा न सर्वदा स्वशक्तिकालाऽऽद्यपेक्ष आरम्भोऽस्येति वा, मध्यमबुद्धिस्तु पूर्वोक्तो मध्यमाऽऽचार आगमैदंपर्यविकलत्वात् प्रावचनिककार्याप्रवृत्तेः ज्ञेय इह प्रक्रमे तत्त्वमार्गे परमार्थमार्गे प्रवचनोक्त–

तिनिगित्ते, बुधस्तूतलक्षण एव मार्गानुसारी ज्ञानाऽऽदित्रयानुसारौ स्वपरयोस्तद्वृद्धिहेतुत्वेन यः स विज्ञेय इति ॥३॥

कथं पुनर्बाह्यलिङ्गं प्राधान्यदर्शिनो बालत्वमित्याह–

बाह्यं लिङ्गमसारं, तत्प्रतिबद्धा न धर्म्मनिष्पत्तिः ।
धारयति कार्यवशतो, यस्माच्च विडम्बकोऽप्येतत् ॥४॥

बाह्यं बहिर्वर्त्ति दृश्यम्, लिङ्गमाकारो वेषस्तदसारम् यतस्तत्प्रतिबद्धात तदविनाभाविनी, न धर्म्मनिष्पत्तिर्न धर्मसंसिद्धिर्विदुषां मता। धारयति कार्यवशतः कार्याङ्गीकरणेन स्वाभिप्रेतफलसिद्धये, यस्माच्च विडम्बकोऽप्येतद्धर्मनिष्पत्त्यभावविवक्षया यस्माच्चेति हेत्वन्तरसूचनम् । एको हेतुर्बाह्यलिङ्गाद्धर्मनिष्पत्तेरभावो, द्वितीयस्तु कुतश्चिन्निमित्ताद्विडम्बकस्याऽपि तद्धारणमाभ्यां बाह्यलिङ्गमसारम्। स तु बालस्तदेव प्राधान्येन मन्यत इति ॥४॥

ननु च बाह्यलिङ्गस्य कथमप्राधान्यं भवद्भिरुच्यते, यतस्तत्परिग्रहत्यागरूपमित्याशङ्क्याऽऽह–

बाह्यग्रन्थत्यागात्, न चारु न त्वत्र तदितरस्यापि ।
कञ्चुकमात्रत्यागा–न्न हि भुजगो निर्विषो भवति ॥५॥

(बाह्येत्यादि) बाह्यग्रन्थत्यागाद्धनधान्यस्वजनवस्त्राऽऽदित्यागात् न चारु न शोभनं बाह्यलिङ्गं, ननु निश्चितमेतदत्र लोके। तद् बाह्यलिङ्गमितरस्यापि मनुष्यतिर्यक्प्रभृतेः संभवति । एनमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया दर्शयति– कञ्चुकमात्रत्यागादुपरि-वर्तित्वङ्मात्रपरित्यागान्न हि नैव भुजगः सरीसृपः कथञ्चिन्निर्विषो भवति।५।

प्रस्तुतमेवार्थं तन्त्रान्तरसंवादेनाऽऽह–

मिथ्याऽऽचारफलमिदं, ह्यपरैरपि गीतमशुभभावस्य ।
सूत्रेऽप्यविकलमेत–त्प्रोक्तममेध्योत्करस्यापि ॥६॥

मिथ्या अलीको विशिष्टभावशून्य आचारो मिथ्याऽऽचारः, तस्य फलं कार्यमिदं बाह्यलिङ्गं केवलमेव, हिर्यस्मादपरैरपि तन्त्रान्तरीयैर्गतिं कथितमशुभभावस्याऽऽन्तरशुभभावरहितस्य पुंसः । मिथ्याऽऽचारस्वरूपं चेदम्– ''बाह्येन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याऽऽचारः स उच्यते ॥१॥'' जन्मान्तरोपार्जिताकुशलकर्मविपाकः एवैष यद्भोगोपभोगाऽऽदिरहितेन प्रेक्षावत्पुरुषपरिनिन्दनीयं क्लिष्टं जीविकाप्रायं तथाविधबाह्यलिङ्गधारणमिति । तन्त्रान्तरप्रसिद्धमिममर्थमङ्गीकृत्यापरैरपि इत्युक्तम् । न केवलं तन्त्रान्तरेषु, सूत्रेऽप्यागमेऽपि स्वकीयेऽविकलं परिपूर्णमेतद्बाह्यलिङ्गं स्वकीयमेव प्रोक्तं प्रतिपादितमैहभाविकपारभाविकलिङ्गान्याश्रित्यामेध्योत्करस्याप्युच्चारनिकरकल्पस्यापि, प्रवचनोदिताशेषगुणशून्यस्येति यावत्। यत उक्तम्– ''अणंतसो दव्वलिंगाइ।'' ॥६॥

मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तमित्युक्तम् तत्र किं तदित्याह–

वृत्तं चारित्रं ख–ल्वसदारम्भविनिवृत्तिमत्तच्च ।
सदनुष्ठानं प्रोक्तं, कार्ये हेतूपचारेण ॥७॥

वृत्तं वर्त्तनं विधिप्रतिषेधरूपं, तच्च चारित्रमेव, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, तच्चेह सदनुष्ठानं प्रोक्तम् । तत्कीदृशम्? असदारम्भविनिवृत्तिमत, असदारम्भोऽशोभनाऽऽरम्भः प्राणातिपाताऽऽद्याश्रवपञ्चकरूपः, ततो विनिवृत्तिमद्धिंसाऽऽदिनिवृत्तिरूपमहिंसाऽऽद्यात्मकम्, ननु कथं सदनुष्ठानं चारित्रमभिधीयते । यतश्चारित्रमान्तरपरिणामरूपम्, सदनुष्ठानं तु बाह्य सत्क्रियारूपं, तदनयोः स्वरूपभेदः परिस्फुट एवास्तीत्याशङ्क्याऽऽह– कार्ये हेतूपचारेण कार्ये सदनुष्ठानरूपे हेतूपचारेण भावोपचरेण तत्पूर्वकत्वात् सत्क्रियायाः, यच्चाऽऽन्तरपरिणामविकलं तत् सदनुष्ठानमेव न भवतीति भावार्थः॥७॥

एतच्च सदनुष्ठानं शुद्धाशुद्धभेदं तद्द्वयमप्याह–

परिशुद्धमिदं नियमा–दान्तरपरिणामतः सुपरिशुद्धात् ।
अन्यदतोऽन्यस्मादपि, बुधविज्ञेयं त्वचारुतया ॥८॥

परिशुद्धं सर्वप्रकारशुद्धमिदं सदनुष्ठानं नियमान्नियमेनान्तरपरिणामतस्तथाविधचारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमाऽऽदिजन्यात् सुपरिशुद्धाच्छास्त्रानुसारेण सम्यक्त्वज्ञानमूलादिति भावः । अन्यदित्यपरिशुद्धमतोऽन्यस्मादान्तरपरिणामाद्योऽन्यः कश्चिद्धेतुर्लाभपूजाख्यात्यादिस्ततोऽन्यस्मादपि प्रवर्त्तते । ननु परिशुद्धाऽपरिशुद्धयोः सदनुष्ठानयोः स्वरूपं तुल्यमेवोपलभामहे, तत्कथं प्रतिनियतस्वरूपतया ज्ञायत इत्याह– (बुधविज्ञेयं त्वचारुतया) बुधैस्तत्त्वविद्भिरेवाचारुतया असुन्दरत्वेनेतररूप-विविक्तं तद्विज्ञायते यथा–अचार्विति न पुनरितरैस्तेषां तद्गतविशेषानुपलम्भादिति ॥८॥

कः पुनर्विशेषो यदुपलम्भात् सदनुष्ठानासदनुष्ठानयोरिदमवधार्य्यते, परिशुद्धमेतदिति

तदुपदर्शनार्थमाह–

गुरुदोषाऽऽरम्भितया, तेष्वकरणयत्नतो निपुणधीभिः ।
सन्निन्दाऽऽदेश्च तथा, ज्ञायत एतन्नियोगेन ॥९॥

गुरून् दोषान् प्रवचनोपघातकारिण आरब्धुं शीलमस्येति गुरुदोषाऽऽरम्भी, तद्भावस्तया । लघुषु सूक्ष्मेषु दोषेष्वकरणयत्नः परिहाराऽऽदरस्तस्माच्च निपुणधीभिः कुशलबुद्धिभिस्तथा सतां सत्पुरुषाणां साधुश्रावकप्रभृतीनां निन्दाऽऽदिर्निन्दागर्हाप्रद्वेषाऽऽदिस्तस्माच्च ज्ञायत एतदपरिशुद्धानुष्ठानं, नियोगेनाऽऽवश्यंतया, यो हि गुरुदोषाऽऽदिषु प्रवर्त्तते, तस्यान्तः करणशुद्धेरभावादसदनुष्ठानमेतदिति निश्चीयते ॥९॥

''आगमतत्त्वं तु बुधः परीक्षते (२)'' इत्युक्तं किंपुनस्तदित्याह–

आगमतत्त्वं ज्ञेयं, तद्दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्यतया ।
उत्सर्गाऽऽदिसमन्वित–मलमैदम्पर्यशुद्धं च ॥१०॥

आगमतत्त्वं ज्ञेयं भवति, तत्कथम्? ज्ञेयं, दृष्टं प्रत्यक्षानुमानप्रमाणेनोपलब्धमिष्टमागमेन स्ववचनैरेवाभ्युपगतं ताभ्यामविरुद्धानि वाक्यानि यस्मिन्नागमतत्त्वे तत् दृष्टेष्टाऽविरुद्धवाक्यं तद्भावस्तया योऽर्थः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परिच्छिद्यते तस्मिन् यथाऽऽगमतत्त्वमप्यविरोधि भवति, तद्विरुद्धस्य ताभ्यामेव निराकरणात्, प्रत्यक्षानुमानविरुद्धस्याऽऽगमस्याप्रमाणत्वात्, स्ववचनैरेवाऽऽगमेनाभ्युपगतेऽर्थे प्रदेशान्तरवर्तिनाऽस्यैवाऽऽगमस्य वचनं यदि विरोधि न भवेदित्यर्थतस्तत आगमतत्त्वमिष्टाविरोधिवाक्यं भवति, परस्परविरोधि वचनमित्यर्थः, तदेव विशिनष्टि उत्सर्गाऽऽदिसमन्वितमुत्सर्गसामान्यं यथा– ''न हिंस्याद् भूतानि'' आदिशब्दादपवादो विशेषो ग्लानाऽऽदिप्रयोजनगतस्ताभ्यां युक्तम्। अलमत्यर्थमैदम्पर्यशुद्धं

च, इदं परं प्रधानमस्मिन्वाक्य इतीदंपरं तद्भाव ऐदम्पर्यम्, वाक्यस्य तात्पर्य शक्तिरित्यर्थस्तेन शुद्धं यदागमतत्त्वं तदिह ज्ञेयमिति ॥१०॥

तदेवाऽऽगमतत्त्वमुपन्यस्यति ग्रन्थकारः–

आत्माऽस्ति स परिणामी, बद्धः सत्कर्मणा विचित्रेण।
मुक्तश्च तद्वियोगा–द्धिंसाऽहिंसाऽऽदि तद्धेतुः ॥११॥

(आत्माऽस्तीत्यादि) आत्मा जीवः, सोऽस्ति लोकायतमतनिरासेनैव यत्र प्रतिपाद्यते, तदागमतत्त्वमित्येवं पदान्तरेष्वपि सम्बन्धनीयम्। स परिणामी, स पूर्वप्रस्तुत आत्मा परिणामी परिणामसहितः, पञ्चस्वपि गतिष्वन्वयी चैतन्यस्वरूपः पुरुषः, परिणामलक्षणं चेदम्– ''परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्। न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥१॥'' स च परिणामी जीवो बद्धः सत्कर्म्मणा विचित्रेण वस्तु सत्कर्म न काल्पनिकं वासनाऽऽदिस्वभावं, तेन बद्धो जीवप्रदेशकर्म्मपुद्गलान्योन्यानुगतिपरिणामेन। यथोक्तं बन्धाधिकारे– ''तत्र पौद्गलमात्मस्थमचेतनमतीन्द्रियम्। बन्धं प्रत्यादि सत्कर्म, संततिं प्रत्यनादिकम् ॥१॥'' (युक्तश्च तद्वियोगात्) कर्मवियोगात्, आत्यन्तिककर्मपरिक्षयात् (हिंसाऽहिंसाऽऽदितद्धेतुरिति) हिंसा आदिर्यस्य तद्धिंसाऽऽदि, प्राणातिपाताऽऽदिपञ्चकम्। अहिंसा आदिर्यस्थ तदहिंसाऽऽदि, महाव्रतपञ्चकम्, तयोर्बद्धमुक्तयोरर्थतो बन्धमोक्षयोर्वा हेतुर्वर्त्तते हिंसाऽहिंसाऽऽदि चेति ॥११॥

ऐदम्पर्य्यशुद्धं चेत्युक्तम्। का पुनरैदम्पर्य्यशुद्धिरित्याह–

परलोकविधौ मानं, वचनं तदतीन्द्रियार्थदृग् व्यक्तम्।
सर्वमिदमनादि स्या–दैदम्पर्यस्य शुद्धिरिति ॥१२॥

परलोकविषयो विधिः कर्त्तव्योपदेशस्तस्मिन्, मानं प्रमाणं, वचनमागमः, कीदृशमित्याह– तद्वचनमतीन्द्रियानर्थान् पश्यतीत्यतीन्द्रियार्थदृक्, सर्वज्ञः सर्वदर्शी, तेन व्यक्तमभिव्यक्तार्थं प्रतिपादितार्थमिति यावत्। सर्वमिदं वचनमनादि स्यात् प्रवाहतः सर्वक्षेत्राङ्गीकरणेनेयमैदम्पर्यस्य शुद्धिरित्येवंप्रकाराऽवसेयेति ॥१२॥ षो० १ विव०।

अन्यत्राप्युवाचि–

''तं शब्दमात्रेण वदन्ति धर्म्मं,
विश्वेऽपि लोका न विचारयन्ति।
स शब्दसास्येऽपि विचित्रभेदै–
र्विभिद्यते क्षीरमिवार्जुनीयम् ॥१॥
लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं,
सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनम्।
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः,
सुवर्णबद्धं च न भीतचित्ताः ॥२॥'' इति।

परीक्षोपायमेवाऽऽह– कषाऽऽदिप्ररूपणेति। यथा सुवर्णमात्रसाम्येन तथाविधमुग्धलोकेष्वविचारेणैव शुद्धाशुद्धरूपस्य सुवर्णस्थ प्रवृत्तौ कषच्छेदतापाः परीक्षणाय विचक्षणैराद्रियन्ते, छथाऽत्रापि श्रुतधर्मे परीक्षणीये कषाऽऽदीनां प्ररूपणेति। कषाऽऽदीनेवाऽऽह– ''विधिप्रतिषेधौ कष इति।'' ''विधिरविरुद्धकर्त्तव्यार्थोपदेशकं वाक्यम्।'' यथा– स्वर्गकिवलार्थिना तपोध्यानाऽऽदि कर्त्तव्यं, समितिगुप्तिशुद्धा क्रिया इत्यादि। प्रतिषेधः पुनः– ''न हिंस्यात्सर्वभूतानि'' ''नानृतं वदेत्'' इत्यादि। ततो विधिश्च प्रतिषेधश्च विधिप्रतिधौ, किमित्याह– कषः सुवर्णपरीक्षायामिव कषपट्टके रेखा। इदमुक्तं भवति– यत्र धर्मे उक्तलक्षणो विधिः, प्रतिषेधश्च पदे पदे सुपुष्कल उपलभ्यते स धर्म्मः कषशुद्धः। न पुनः– ''अन्यधर्मस्थिताः सत्त्वाः, असुरा इव विष्णुना। उच्छेदनीयास्तेषां हि, वधे दोषो न विद्यते ॥॥'' इत्यादिकवाक्यगर्भ इति। छेदमाह– ''तत्संभवपालना चेष्टोक्तिश्छेद इति ''। तयोर्विधिप्रतिषेधयोरनाविर्भूतयोः संभवः, प्रादुर्भूतयोश्च पालना रक्षारूपा, ततस्तत्संभवपालनार्थं या चेष्टा भिक्षाऽटनाऽऽदिबाह्यक्रियारूपा, तस्या उक्तिश्छेदः। यथा कषशुद्धावप्यन्तरामशुद्धिमाशङ्कमानाः सौवर्णिकाः सुवर्णगोलिकाऽऽदेः छेदमाद्रियन्ते, तथा कषशुद्धावपि धर्म्मस्य छेदमपेक्षन्ते। स च छेदो विशुद्धबाह्यचेष्टारूपो, विशुद्धा च चेष्टा सा यत्रासन्तावपि विधिप्रतिषेधावबाधितरूपौ स्वात्मानं लभेते, लब्धाऽऽत्मानौ चातीचारलक्षणापचारविरहितौ, उत्तरोत्तरां वृद्धिमनुभवतः, सा यत्र धर्म्मे चेष्टा सप्रपञ्चा प्रोच्यते स धर्म्मश्छेदशुद्ध इति। यथा कषच्छेद शुद्धमपि सुवर्ण तापमसहमानं कालिकोन्मीलनदोषान्न सुवर्णभावमश्नुते, एवं धर्म्मोऽपि सत्यामपि कषच्छेदशुद्धौ तापपरीक्षायामनिर्वहमाणो न स्वभावमासादयत्यतस्तापं प्रज्ञापयन्नाह– ''उभयनिबन्धनभाववादस्ताप इति।'' उभयोः कषच्छेदयोरनन्तरमेवोक्तरूपयोर्निबन्धनं परिणामि, किमित्याह– तापोऽत्र श्रुतधर्म्मपरीक्षाऽधिकारे। इदमुक्तं भवतियत्र शास्त्रे द्रव्यरूपतयाऽप्रच्युतानुत्पन्नः पर्यायात्मकतया च प्रतिक्षणमपरापरस्वभावाऽऽस्कन्दनेनानित्यस्वभावो जीवाऽऽदिरवस्थाप्यते स्यात्तत्र तापशुद्धिः। यतः परिणामिन्येवाऽऽत्मादौ तथाविधाशुद्धपर्यायनिरोधेन ध्यानाध्ययनाऽऽद्यपरशुद्धपर्याय-प्रादुर्भावादुक्तलक्षणः कषो बाह्यचेष्टाशुद्धिलक्षणश्च छेद उपपद्यते, न पुनरन्यथेति। एतेषां माध्यात्को बलीयानितरो वेति प्रश्ने यत्कर्त्तव्यं तदाह–''अमीषामन्तरदर्शनमिति।'' अमीषा त्रयाणां परीक्षाप्रकाराणां परस्परमन्तरस्य विशेषस्य समर्थासमर्थरूपस्य दर्शनं कार्यमुपदेशकेन, तदेव दर्शयति– ''कषच्छेदयोरयत्न इति ''। कषच्छेदयोः परीक्षाक्षमत्वेनाऽऽदरणीयतायामयत्नो ऽतात्पर्यं मतिमतामिति। कुत इत्याह– ''तदभावेऽपि तापाभावेऽभाव इति।''तयोः कषच्छेदयोर्भावः सत्ता तद्भावस्तस्मिन्, किं पुनरतद्भावे इत्यपिशब्दार्थः। किमित्याह– 'तापाभावे' उक्तलक्षणतापविरहे अभावः परमार्थतोऽसत्तैव परीक्षणीयस्य, न हि तापे विघटमानं हेम कषच्छेदयोः सतोरपि स्वं स्वरूपं प्रतिपत्तुमलं, जातिसुवर्णत्वात्तस्य। एतदपि कथमित्याह– ''तच्छुद्धौ हि तत्साफल्यमिति।'' तच्छुद्धौ तापशुद्धौ, हिर्यस्मात्तत्साफल्यं तयोः कषच्छेदयोः सफलभावः। तथाहि– ध्यानाध्ययनाऽऽदिकोऽर्थो विधीयमानः प्रागुपात्तकर्मनिर्जरणफलः हिंसाऽऽदिकश्च प्रतिषिद्ध्यमानो नवकर्म्मोपादाननिरोधफलः, बाह्यचेष्टाशुद्धिश्चानयोरेवानाविर्भूतयोर्योगेनाऽऽविर्भूतयोश्च परिपालनेन फलवती स्यात्, न चापरिणामि आत्मन्युक्तलक्षणौ कषच्छेदौ स्वकार्यं कर्त्तुं प्रभविष्णू स्यात तत्, तयोस्तापशुद्धावेव सफलत्वमुपपद्यते न पुनरन्यथेति। ननु फलविकलावपि तौ भविष्यत इत्यत आह– ''फलवन्तौ च वास्तवाविति।'' उक्तलक्षणफलभाजौ सन्तौ पुनस्तौ कषच्छेदौ वास्तवौ कषच्छेदौ भवतः, स्वसाध्यक्रियाकारिणो हि वस्तुनो वस्तुत्वमुशन्ति सन्तः, विपक्षे बाधामाह– ''अन्यथा याचितकमण्डनमिति।''

अन्यथा फलविकलौ सन्तौ वस्तुपरीक्षाधिकारे समवतारितावपि तौ याचितकमण्डनम्, द्विविधं ह्यलङ्कारफलं, निर्वाहे सति परिशुद्धाभिमानिकसुखजनिका स्वशरीरशोभा, कथञ्चिन्निर्वहणाभावे च तेनैव निर्वाहः, न च याचितकमण्डने एतद्द्वितीयमप्यस्ति, परकीयत्वात्तस्य, ततो याचितकमण्डनमिव याचितकमण्डनम्। इदमुक्तं भवति–द्रव्यपर्यायोभयस्वभावे जीवे कषच्छेदौ निरुपचरिततयोपस्थाप्यमानौ स्वफलं प्रत्यबन्ध्यसामार्थ्यविव स्यातां, नित्याऽऽद्येकान्तवादे तु स्ववादशोभार्थं तद्वादिभिः कल्प्यमानावप्येतौ याचितकमण्डनाऽऽकारौ प्रतिभासेते, न पुनः स्वकार्यकराविति। ध० १ अधि०।

(२७) कषाऽऽदिस्वरूपमाह–

पाणावहाइआणं, पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो।
झाणज्झयणाऽऽईणं, जो अ विही एस धम्मकसो ॥२१॥

प्राणवधाऽऽदीनां पापस्थानानां सकललोकसम्मतानां यस्तु प्रतिषेधः शास्त्रे, ध्यानाध्ययनाऽऽदीनां यश्च विधिस्तत्रैव, एष धर्म्मकषो वर्त्तत इति गाथाऽर्थः ॥२१॥

वज्झाणुट्ठाणेणं, जेण न बहिज्जई तयं नियमा।
संभवइ अपरिसुद्धं, सो उण धम्मम्मि छेउ त्ति ॥२२॥

बाह्यानुष्ठानेन इतिकर्त्तव्यतारूपेण येन न बाध्यते तद्विधिप्रतिषेधद्वयं नियमात् संभवति चैतत्परिशुद्धं निरतिचारं, स पुनस्तादृशः प्रक्रमादुपदेशोऽर्थो बाह्यधर्म्मच्छेद इति गाथाऽर्थः।

जीवाऽऽइभाववाओ, बंधाइपसाहगो इहं तावो।
एएहिँ सुपरिसुद्धो, धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥२३॥

जीवाऽऽदिभाववादः पदार्थवादः बन्धाऽऽदिप्रसाधको बन्धमोक्षाऽऽदिगुण इह ताप उच्यते। एभिः कषाऽऽदिभिः सुपरिशुद्धः स धर्मः श्रुतानुष्ठानरूपः धर्मत्वमुपैति, सम्यग् भवतीति गाथार्थः ॥२३॥

एएहिँ जो न सुद्धो, अन्नयरम्मि उ ण सुट्ठु निग्घडिओ।
सो तारिसओ धम्मो, नियमेण फले विसंवयइ ॥२४॥

एभिः कथाऽऽदिभिर्यो न शुद्धस्त्रिभिरपि अन्यतरस्मिन् वा कथाऽऽदौ न सुष्ठु निर्घटितः, न व्यक्त इत्यर्थः। स तादृशो धर्म श्रुताऽऽदिर्नियमादवश्यंतया फले स्वसाध्ये विसंवदति, न तत्साधयतीति गाथार्थः। पं०व०४ द्वार।

णाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि,
इच्छापणीता वंकाऽऽणिकेया।
कालगहिता णिचए णिविट्ठा,
पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति ॥१३१॥

इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवति अहोववाइए फासे पडिसंवेदयंति, चिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं चिट्ठं परिचिट्ठति, अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं णो चिट्ठं परिचिट्ठति, एगे वदंति अदुवा वि णाणी णाणी वयंति, अदुवा वि एगे ॥१३२॥ आवंती केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवादं वदंति, से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सुप्पडिलेहियं च णे सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परियावेयव्वा किलामेयव्वा, परिघेतव्वा, उद्दवेयव्वा, एत्थं पि जाणह णत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं, तत्थ जे आरिया ते एवं बयासी– से दुद्दिट्ठं च भे दुस्सुयं च भे दुम्मयं च भे दुव्विण्णायं च भे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वतो दुप्पडिलेहियं च भे, जं णं तुब्भे एवमाइक्खह एवं भासह एवं पण्णवेह एवं परूवेह सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेयव्वा, परितावेयव्वा, किलामेयव्वा परिघेतव्वा, उद्दवेतव्वा, एत्थं पि जाणह णत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं, वयं पुण एवमाइक्खामो एवं भासामो एवं परूवेमो एवं पण्णवेमो सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण किलामेयव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा, एत्थं वि जाणह णत्थित्थ दोसो, आरियवयणमेयं, पुव्वं णिकायसमयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामिहं भो पवाइया! किं भे सायं दुक्खं, उयाहु असायं, समिया पडिवण्णे यावि एवं बूयासव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि ॥१३३॥

(णाणागमो इत्यादि) न ह्यनागमो मृत्योर्मुखस्य कस्यचिदपि संसारोदरवर्तिनोऽस्तीति। उक्तं च–

''वदत यदीह कश्चिदनुसन्तत–सुखपरिभोगलालितः।
प्रयत्नशतपरोऽपि विगतव्यथ–मायुरवाप्तवान्नरः ॥१॥
न खलु नरः सुरौघसिद्धा–सुरकिन्नरनायकोऽपि यः।
सोऽपि कृतान्तदन्तकुलि–शाऽऽक्रमेण कृशितो न नश्यति ॥२॥''

तथोपायोऽपि मृत्युमुखप्रतिषेधस्य न कश्चिदस्तीति।

उक्तं च–

''नश्यति नौति याति वितनोति करोति रसायनक्रियां,
चरति गुरुव्रतानि विवराण्यपि विशति विशेषकातरः।
तपति तपांसि खादति मितानि करोति च मन्त्रसाधनं,
तदपि कृतान्तदन्तयन्त्रकृकचक्रमणैर्विदार्यते ॥१॥''

ये पुनर्विषयकषायाऽभिष्वङ्गात् प्रमत्ता धर्म्मं नावबुध्यन्ते, ते किं–भूता भवन्तीत्याह– (इच्छा इत्यादि) इन्द्रियमनोविषयानुकूला प्रवृत्तिरिहेच्छा, तया विषयाऽभिमुखमभिकर्मबन्धं संसाराभिमुखं वा प्रकर्षेण नीता इच्छाप्रणीताः, ये चैवंभूतास्ते 'वंकाऽऽनिकेता' वङ्कस्यासंयमस्य आमर्यादया संयमावधिभूतया निकेतभूता आश्रया वङ्काऽऽनिकेताः, वङ्को वा निकेतो येषां ते वङ्कानिकेताः, पूर्वपदस्य दीर्घत्वम्। ये चैवंभूतास्ते कालगृहीताः कालेन मृत्युना गृहीताः कालगृहीताः, पौनःपुन्यमरणभाज इत्यर्थः, धर्मचरणाय वा गृहीतः–अभिसंधितः कालो यैस्ते कालगृहीताः आहिताग्निदर्शनादार्षत्वाद्वा निष्ठान्तस्य परनिपातः। तथाहि– पाश्चात्ये वयसि परुत्परारि वा अपत्यपरिणयनोत्तरकालं वा धर्मं करिष्याम इत्येवं गृहीतकालाः, ये चैवंभूतास्ते निचये निविष्टा निचये कर्मनिचये तदुपादाने वा सावद्याऽऽरम्भनिचये निविष्टा अध्युपपन्नाः, ये चेच्छाप्रणी–

ता वङ्कानिकेताः कालगृहीता निचये निविष्टास्ते तद्धर्माणः किमपरं कुर्वन्तीति दर्शयितुमाह– (पुढो पुढो इत्यादि) पृथक् पृथगकेन्द्रिय–द्वीन्द्रियाऽऽदिकां जातिमनेकशः प्रकल्पयन्ति प्रकुर्वन्ति। पाठान्तरं वा– ''एत्थ मोहे पुणो पुणो'' अत्र अस्मिन्निच्छाप्रणीताऽऽदिके हृषीकानुकूले मोहे कर्मरूपे वा मोहे निमग्नाः पुनः पुनस्तत्कुर्वन्ति येन तदप्रच्युतिः स्यात्। तदप्रच्युतौ च किं स्यादित्याह– (इहमेगेसिं इत्यादि) इहास्मिंश्च-तुर्दशरज्ज्वात्मके लोके एकेषां मिथ्यात्वविरतिप्रमादकषायवतां तत्र तत्र नरकतिर्यग्गत्यादिषु यातनास्थानकेषु संस्तवः परिचयो भूयो भूयो गमनाद्भवति। ततः किमित्याह– (अहो–ववाइए इत्यादि) त एवमिच्छया प्रणीतत्वादिन्द्रियवशगास्तद्वशित्वात्तदनुकूलमाचरन्तो नरकाऽऽदि-यातनास्थानजातसंस्तवास्तीर्थिका अप्यौद्देशिकाऽऽदिनिर्दोषमाच-क्षाणाः। (अहोववाइए त्ति) अध औपपातिकान्नरकाऽसदिभवान् स्पर्शान् दुःखानुभवान् प्रतिसंवेदयन्ति अनुभवन्ति। तथाहि– लौकायतिका ब्रुवते– ''पिव खाद च चारुलोचने ! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते। न हि भीरु ! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥१॥'' वैशेषिका अपि सावद्ययोगाऽऽरम्भिणः, तथाहि ते भाषन्ते–''अभिषेचनोपवास-ब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानमौ(प्रो) क्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्र-कालनियमाः'' इत्यादि, अन्येऽपि सावद्ययोगानुष्ठायिनोऽनया दिशा वाच्याः, स्यात् किं सर्वोऽपीच्छाप्रणीताऽऽदिर्यावत्तत्र तत्र कृतसंस्तवोऽध औपपातिकान् स्पर्शान् प्रतिसेवदयत्याहोस्विदत्कश्चिदेव तद्योग्यकर्म्म-कार्ये वाऽनुभवति? न सर्व इति दर्शयति– (चिट्ठं इत्यादि) 'चिट्ठं' भृशमत्यर्थं, क्रूरैर्वधबन्धाऽऽदिभिः कर्म्मभिः क्रियाभिः (चिट्ठमिति) भृशमत्यर्थमेव विरूपां दशां वैतरणीतरणासिपत्रवनपत्रपाताभिघात-शाल्मलीवृक्षाऽऽलिङ्गनाऽऽदिजनितामनुभवंस्तमस्तमाऽऽदिस्थानेषु परितिष्ठति, यस्तु नात्यर्थं हिंसाऽऽदिभिः कर्म्मभिर्वर्त्तते सोऽत्यन्तवेद-नानिचितेष्वपि नरकेषु नोत्पद्यते। स्यात् क एवं वदतीत्यत आह– (एगे वयंतीत्यादि) एके चतुर्दशपूर्वविदादयो वदन्ति ब्रुवते। अथवाऽपि ज्ञानी वदति, ज्ञानं सकलपदार्थाऽऽविर्भावकमस्यास्तीति ज्ञानी, स चैतद् ब्रवीति–यद्दिव्यज्ञानीकेवली भाषते, श्रुतकेवलिनोऽपि तदेव भाषन्ते, यच्च श्रुतकेवलिनोऽपि भाषन्ते निरावरणज्ञानिनोऽपि तदेव वदन्ती-त्येतद्गतप्रत्यागतसूत्रेण दर्शयति– (णाणी इत्यादि) ज्ञानिनः केवलिनो यद्वदन्ति, अथवाऽप्येके श्रुतकेवलिनो यद्वदन्ति तद्यथार्थभावित्वादेक-मेव, एकेषां सर्वार्थप्रत्यक्षत्वादपरेषां तदुपदेशप्रवृत्तेरिति वक्ष्यमाणेऽप्येक-वाक्यतेति। तदाह– (आवंतीत्यादि) यावन्तः, (केआवंती ति) केचन लोके मनुष्यलोके श्रमणाः पाषण्डिका ब्राह्मणा द्विजाऽऽदयः पृथक् पृथग् विरुद्धो वादो विवादस्तं वदन्ति। एतदुक्तं भवति– यावन्तः केचन परलोक ह्रीप्सवस्ते आत्मीयदर्शनानुरागितया पारार्क्यं दर्शनमपवदन्तो विवदन्ते। तथाहि भागवता ब्रुवते– ''पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मोक्षः, सर्वव्याप्यात्मा निष्क्रियो निर्गुणश्चैतन्यलक्षणो, निर्विशेषं सामान्यं तत्त्वमिति।'' वैशेषिकास्तु भाषन्ते– द्रव्याऽऽदिषट्पदार्थपरिज्ञाना-न्मोक्षः, समवायिज्ञानगुणेनेच्छाप्रयत्नद्वेषाऽऽदिभिश्च गुणैर्गुणवानात्मा, परस्परनिरपेक्षं सामान्यविशेषाऽऽत्मकं तत्त्वमिति।'' शाक्यास्तु वदन्ति– ''यथा–परलोकानुयाय्यात्मैव न विद्यते, निः–सामान्यं वस्तु क्षणिकं चेति''। मीमांसकास्तु मोक्षसर्वज्ञाभावेन व्यवस्थिता इति। तया केषाञ्चित् पृथिव्यादय एकेन्द्रिया जीवा न भवन्त्यपरे वनस्पतीनामप्यचे-तनतामाहुः, तथा द्वीन्द्रियाऽऽदीनामपि कृम्यादीनां न जन्तुस्वभावं प्रतिपद्यन्ते, सद्भावे वा न तद्वधे बन्धोऽल्पबन्धता वेति। तथा– हिंसायामपि भिन्नवाक्यता। तदुक्तम्– ''प्राणी प्राणिज्ञानं, घातकचित्तं च तद्वता चेष्टा। प्राणैश्च विप्रयोगः, पञ्चभिरापद्यते हिंसा ॥१॥'' इत्येवमादिक औद्देशिकपरिभोगाभ्यनुज्ञाऽऽदिकश्च विरुद्धो वादः स्वत एवाभ्यूह्यः। यदि वा–ब्रह्मणाः श्रमणा धर्मविरुद्धं वादं यद्वदन्ति तत् सूत्रेणैव दर्शयति– ''से दिट्ठं च णं'' इत्यादि यावत्– ''णत्थिऽत्थ दोसे त्ति।'' 'से त्ति' तच्छब्दार्थे, यदहं वक्ष्ये तद् दृष्टमुपलब्धं, दिव्यज्ञानेनास्माभिर-स्माकं वा संबन्धिना तीर्थकृता आगमप्रणायकेन, चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, श्रुतं चास्माभिर्गुर्वादेः सकाशात्, अस्मद्गुरुः शिष्यैर्वा तद-न्तेवासिभिर्वाऽभिमतं युक्तियुक्तत्वादस्माकमस्मत्तीर्थकराणां वा विज्ञानं च तत्त्वभेदपर्यायैरस्माभिरस्मत्तीर्थकरेण वा स्वतो न परोपदेशदानेन। एतद्यौर्द्ध्वास्तिर्यक्षु दशस्वपि दिक्षु सर्वतः सर्वैः प्रत्यक्षानुमानोपमानाऽऽ-गमार्थापत्त्यादिभिः प्रकारैः सुष्ठु प्रत्युपेक्षितं च पर्यालोचितं च, मनःप्रणिधानाऽऽदिनाऽस्माभिरस्मत्तीर्थकरेण वा। किं तदित्याह– सर्वे प्राणाः सर्वे जीवाः सर्वे भूताः सर्वे सत्त्वा हन्तव्या आज्ञापयितव्याः-वलामयितव्याः परिगृहीतव्याः परितापयितव्या अपद्रावयितव्याः (पुस्तके मूलटीकयोः पाठव्यत्यास उपलभ्यते।)। अत्रापि धर्मचिन्तायामप्येवं जानीथाः, यथा–नास्त्यत्र यागार्थं देवतोपयाचितकतया वा प्राणिहन-नाऽऽदौ 'दोषः' पापानुबन्ध इति। एवं यावन्तः केचन पाषण्डिका औद्देशिकभोजिनो ब्राह्मणा वा धर्मविरुद्धं परलोकविरुद्धं वा वादं भाषन्ते। अयं च जीवोपमर्दकत्वात् पापानुबन्धी अनार्यप्रणीत इति। आह च– (अणारिय इत्यादि) आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यास्तद्विपर्यासाद-नार्याः क्रूरकर्माणस्तेषां प्राण्युपघातकारीदं वचनम्। ये तु तथा–भूता न ते किंभूतं प्रज्ञापयन्तीत्याह– (तत्थ इत्यादि) तत्रेति वाक्योपन्यासार्थे, निर्द्धारणे वा। ये ते आर्या देशभाषाचारित्रार्यास्त एवमवादिषुर्यथायत्तद-नन्तरोक्तं दुर्दृष्टमेतद् दुष्टं दृष्टं दुर्दुष्टं (भे) युष्माभिर्युष्मत्तीर्थकरेण वा, एवं यावद् दुःप्रत्युपेक्षितमिति। तदेवं दुर्दृष्टाऽऽदिकं प्रतिपाद्य दुःप्रज्ञापनानु-वादद्वारेण तदभ्युपगमे दोषाऽऽविष्करणमाह– (जंणमित्यादि) णमिति वाक्यालङ्कारे। यदेतद्वक्ष्यमाणं यूयमेवमाचक्षध्वमित्यादि। यावदत्रापि यागोपहाराऽऽदौ जानीथ यूयम्–यथा नास्त्येवात्र प्राण्युपमर्दानुष्ठाते दोषः पापानुबन्ध इति, तदेवं परवाद दोषाऽऽविर्भावनेन धर्मविरुद्धतामा-विर्भाव्य स्वमतवादमार्या आविर्भावयन्ति, (वयमित्यादि) पुनःशब्दः पूर्वस्माद्विशेषमाह– वयं पुनर्यथा धर्मविरुद्धवादो न भवति तथा प्रज्ञापयाम इति, तान्येव पदानि सप्रतिषेधानि तु हन्तव्यादीनि यावन्न केवलमत्रास्मदीये वचने नास्ति दोषोऽत्राप्यधिकारे जानीथ यूयं यथाऽत्र हननाऽऽदिप्रतिषेधविधौ नास्ति दोषः पापानुबन्धः, सावधारण-त्वाद्वाक्यस्य नास्त्येव दोषः, प्राण्युपघात-प्रतिषेधाचार्यवचनमेतत्। एवमुक्ते सति ते पाषण्डिका ऊचुः– भवदीयमार्यवचनमस्मदीयं त्वनार्यमित्येतन्निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, युक्तिविकलत्वात्, तदत्राऽऽचार्यो यथा परमतस्यानार्यता स्यात्तथा दिदर्शयिषुः स्ववाग्यन्त्रिता वादिनो न विचलयिष्यन्तीति कृत्वा प्रत्येकमतप्रच्छना–

र्थमाह– (पुव्वमित्यादि) पूर्वमादावेव समवम्– आगमं यद्यदीयाऽऽगमेऽभिहितं तन्निकाच्य व्यवस्थाप्य पुनस्तद्विरूपाऽऽपादनेन परमतानार्यता प्रतिपाद्येत्यतस्तदेव परमतं प्रश्नयति, यदि वा पूर्वं प्राश्निकान्निकाच्य ततः पाषण्डिकान् प्रश्नयितुमाह– (पत्तेयमित्यादि) एकमेकं प्रति प्रत्येकं, भो प्रावादुकाः ! भवतः प्रश्नयिष्यामिः, किं (भे) युष्माकं सातं मन आह्लादकारि, दुःखमसातं मनःप्रतिकूलम्? एवं पृष्टाःसन्तो यदि सातमित्येवं ब्रूयुस्ततः प्रत्यक्षाऽऽगमलोकबाधा स्यात्, अथासातमित्येवं ब्रूयुस्ततः 'समिया' सम्यक् प्रतिपन्नाँस्तान् प्रावादुकान् स्ववाग्यन्त्रितानप्येवं ब्रूयात्, अपिः संभावने, संभाव्यत एतद्वचनं यथा न केवलं भवतां दुःखमसातं, सर्वेषामपि प्राणिनां दुःखमसातं, मनसोऽनभिप्रेतमपरिनिर्वाणमनिर्वृत्तिरूपमहद्भयं दुःखमित्येतत् परिगणय्य सर्वेऽपि प्राणिनो न हन्तव्या इत्यादि वाच्यं, तद्हनने च दोषः। यस्त्वदोषमाह तदनार्यवचनम्। इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्। तदेवं प्रावादुकानां स्ववाग्नियन्त्रणयाऽनार्यता प्रतिपादिता, अत्रैव रोहगुप्तमन्त्रिणा विदिताऽऽगमसद्भावेन माध्यस्थ्यमवलम्बमानने तीर्थिकपरीक्षाद्वारेण यथा निराकरणं चक्रे तथा निर्युक्तिकारो गाथाभिराचष्टे–

खुड्डगपायसमासं, धम्मकहं पि य अजंपमाणेण।
छण्णेण अण्णलिंगी, परिच्छिया रोहगुत्तेणं ॥२२७॥

अनया गाथया संक्षेपतः सर्वं कथानकमावेदितम्– क्षुल्लकस्य पादसमासो गाथापादसंक्षेपस्तमजल्पता धर्मकथां च छद्मनाप्रकटेनान्यलिङ्गिनः प्रावादुकाः परीक्षिता निरूपिता रोहगुप्तेन रोहगुप्तनाम्ना मन्त्रिणेति गाथासमासार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्चेदम्– चम्पायां नगर्यां सिंहसेनस्य राज्ञो रोहगुप्तो नाम महामन्त्री, स चाऽऽर्हद्दर्शनभावितान्तः करणो विज्ञातसदसद्भावः, तत्र च कदाचिद्राजाऽऽस्थानस्थो धर्म्मविचारं प्रस्तावयति स्म, तत्र यो यस्याभिमतः स तं शोभनमुवाच, सच तूष्णींभावं भजमानो राज्ञोक्तः– धर्म्म–विचारं प्रति किमपि न ब्रूते भवान्? स त्वाह– किमेभिः पक्षपातवचोभिर्विमर्शामः, स्वत एव धर्मं परीक्षामहे तीर्थिकानित्यभिधाय राजानुमत्या ''सकुंडलं वा वदनं न व त्ति।'' अयं गाथापादो नगरमध्ये आललम्बे, संपूर्णा तु गाथा भाण्डागारिता,न गर्य्या चोद्घुष्टम्–यथा य एवं गाथापादं पूरयिष्यति, तस्य राजा यथेप्सितं दानं दास्यति, तद्वक्तृश्च भविष्यतीति। तं च गाथापादं सर्वेऽपि गृहीत्वा प्रावादुका निर्जग्मुः, पुनः सप्तमेऽह्नि राजानमास्थानस्थमुपस्थितास्तत्राऽऽदावेव परिव्राड्व्रतीति–

भिक्खं परिट्ठेण मएऽज्ज दिट्ठं,
पमदाणुहं कमलविलासनेत्तं।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं,
सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥२२८॥

सुगमा, नवरमपरिज्ञाने व्याक्षेपः कारणमुपन्यस्तं, न पुनर्वीतरागतेति पूर्वगाथाविसंवादादसौ तिरस्कृत्य निर्द्धाटितः।

पुनस्तापसः पठति–

फलोदएणम्मि गिहं पविट्ठो,
तत्थाऽऽसणत्था पमदा मे दिट्ठा।
वक्खित्तचित्तेण ण सुट्ठु नायं
सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥२२९॥

''फलोदएणं'' इत्यादि सुगमं पूर्ववत्।

तदनन्तरं शौद्धोदनिशिष्यकः प्राऽऽह–

मालाविहारम्मि मएऽज्ज दिट्ठा,
उवासिया कंचणभूसियंगी।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं,
सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥२३०॥

पूर्ववत्, एवमनया दिशा सर्वेऽपि तीर्थिका वाच्याः। आर्हतस्तु पुनर्न कश्चिदागत इति राज्ञाऽभाणि, मन्त्रिणा त्वार्हतक्षुल्लकोऽप्येवंभूतपरिणाम इत्येवं संप्रत्यय एषां स्यादित्यतो भिक्षार्थं प्रविष्टः प्रत्यूषस्येव क्षुल्लकः समानीतः, तेनापि गाथापादं गृहीत्वा गाथां बभाषे।

तद्यथा–

खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स,
अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स।
किं मज्झ एएण विचिंतिएणं,
सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥२३१॥

सुगमा। अत्र च क्षान्त्यादिकमपरिज्ञाने कारणमुपन्यस्तं, न पुनर्व्यक्षेप इत्यतो गाथासंवादात् क्षान्तिदमजितेन्द्रियत्वाध्यात्मयोगाधिगतेश्च कारणाद्राज्ञो धर्म्मं प्रति भावोल्लासोऽभूत, क्षुल्लकेन च धर्म्मप्रश्नोत्तरकालं पूर्वगृहीतशुष्केतरकर्द्दमगोलकद्वयं भित्तौ निक्षिप्य गमनमारेभे, पुनर्गच्छन राज्ञोक्तम्–किमिति भवान् धर्मं पृष्टोऽपि न कथयति? स चावोचत्– हे मुग्ध ! ननु कथित एव धर्मो भवतः शुष्केतरगोलकदृष्टान्तेन।

एतदेव गाथाद्वयेनाऽऽह–

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवाडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽय लग्गई ॥२३२॥
एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥२३३॥

(एवं लग्गंति) अयमत्र भावार्थः–ये ह्यङ्गप्रत्यङ्गनिरीक्षणव्यासङ्गात् कामिनीनां मुखं न पश्यन्ति, तदभावे तु पश्यन्ति, ते कामगृध्नुतया सार्द्राः, सार्द्रत्वाच्च संसारपङ्के कर्मकर्दमे वा लगन्ति, ये तु पुनः क्षान्त्यादिगुणोपेताः संसारसुखपराङ्मुखाः काष्ठमुनयः ते शुष्कगोलकसन्निभा न क्वचिल्लगन्तीति गाथाद्वयार्थः। आचा० १ श्रु० ४ अ०२उ०।

तथा च–

बहुजणणमणम्मि संवुडो,
सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए।
दह एव सया अणाविले,
धम्मं पादुरकासि कासवं ॥७॥

(बहुजणनमणम्मीत्यादि) बहून् जनान् आत्मानं प्रति नामयति प्रह्वीकरोति, तैर्वा नम्यते स्तूयते बहुजननमनो धर्मः।

स एव बहुभिर्जनैरात्मीयाऽऽत्मीयाऽऽशयेन यथाऽभ्युपगमप्रशंसया स्तूयते प्रशस्यते। कथम्? अत्र कथानकम्– ''राजगृहे नगरे श्रेणिको महाराजः, कदाचिदसौ चतुर्विधबुद्ध्युपेतेन पुत्रेण अभयकुमारेण सार्धमास्थान-स्थितस्ताभिस्ताभिः कथाभिरा-साञ्चके, तत्र कदाचि-देवंभूता कथाऽभूत्, तद्यथा–इहलोके धार्मिका बहवः, उताऽधार्मिका इति? तत्र समस्तपर्षदाऽभिहितम्–यथाऽत्राऽधार्मिका बहवो लोकाः धर्मं तु शतानामपि मध्ये कश्चिदेवैको विधत्ते, कदाकर्ण्याऽभयकुमारेणोक्तम् यथा प्रायशो लोकाः सर्व एव धार्मिकाः, यदि न निश्चयो भवतां, परीक्षा क्रियते। पर्षदाऽप्यभिहितम्– एवमस्तु। ततोऽभयकुमारेण धवलेतरं प्रासादद्वयं कारितं, घोषितं च डिण्डिमेन नगरे, यथा यः कश्चिदिह धार्मिकः स सर्वोऽपि धवलप्रासादं गृहीतबलिः प्रविशतु, इतरस्त्वितर-मिति। ततोऽसौ लोकः सर्वोऽपि धवलप्रासादमेव प्रविष्टः। निर्गच्छश्च कथं त्वं धार्मिक इत्येवं पृष्टः कश्चिदाचष्टे–यथाऽहं कर्षकोऽनेकशकु-निगणो मद्धान्यकणैरात्मानं प्रीणयति, खलकसमागतधान्यकणभिक्षा-दानेन च मम धर्म इति। अपरस्त्वाह– यथाऽहं ब्राह्मणःषट्कर्माऽभिर-तस्तथा बहुशौचस्नानाऽऽदिभिर्वेदविहितानुष्ठानेन पितृदेवाँस्तर्पयामि। अन्यः कथयति–यथा वणिक्कुलोपजीवी भिक्षादानाऽऽदिप्रवृत्तः। अपरस्त्वेवदमाह–यथाऽहं कुलपुत्रको न्यायाऽऽगतं निर्गतिकं कुटुम्बं पालयाम्येव। तावत् श्वपाकोऽपीदमाहन्यथाऽहं कुलक्रमाऽऽगतं धर्ममनु-पालयामीति, मदाश्रिताश्च बहवः पिशितभुजः प्राणान् धारयन्तीत्येवं सर्वोऽप्यात्मीयमात्मीयं व्यापारमुद्दिश्य धर्मे नियोजयति। तत्राऽपरम-सितप्रासादं श्रावकद्वयेन प्रविष्टं, तच्च किमधर्माऽऽचरणं भवद्भ्यामकारी-त्येवं पृष्टं सकृन्मद्यनिवृत्तिभङ्गव्यलीकमकथयत्। यथा–साधव एवाऽत्र परमार्थतो धार्मिका यथा गृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहणसमर्थाः। अस्माभिस्तु–

''अवाप्य मानुषं जन्म, लब्ध्वा जैनं च शासनम्।
कृत्वा निवृत्तिं मद्यस्य, सम्यक् साऽपि न पालिता ॥१॥
अनेन व्रतभङ्गेन, मन्यमाना अधार्मिकम्।
अधमाधममात्मानं, कृष्णप्रासादमाश्रिताः ॥२॥''

तथाहि–

''लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्या–
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाः।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति,
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥३॥
वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं,
न वापि भग्नं चिरसंचितव्रतम्।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धचेतसो,
न वाऽपि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥४॥''

तदेवं सर्वोऽप्यात्मानं धार्मिकं मन्यत इति कृत्वा ''बहुजननमनो धर्मः'' इति स्थितम्। तस्मिंश्च संवृतः समाहितः सन् नरः पुमान् सर्वार्थैर्बाह्या-भ्यन्तरैर्धनधान्यकलत्रममत्वाऽऽदिभिरनिश्रितोऽप्रतिबद्धः सन् धर्म प्रकाशितवानित्युत्तरेण सह संबन्धः। निदर्शनमाह– ह्रद इव स्वच्छाम्भसा भृतः सदाऽनाविलोऽनेकमत्स्याऽऽदिजलचरसंक्रमेणाऽप्यनाकुलोऽ कलुषो वा क्षान्त्यादिलक्षणं धर्मं प्रादुरकार्षीत् प्रकटं कृतवान्। यदि वा–एवंविशिष्ट एव काश्यपं तीर्थकरसंबन्धिनं धर्मं प्रकाशयेत्, छान्दसत्वात् 'वर्तमाने भूतनिर्देश इति' ॥७॥

स बहुजननमने धर्मे व्यवस्थितो यादृग् धर्मं प्रकाशयति तद्दर्शयितु-माह। यदि वोपदेशान्तरमेवाऽधिकृत्याऽऽह–

बहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समतं उवेहिया।
जे मोणपदं उवट्ठिते, विरतिं तत्थ अकासि पंडिए ॥८॥

(बहवे इत्यादि) बहवोऽनन्ताः, प्राणा दशविधप्राणभोक्तृत्वात्तद-भेदोपचारात् प्राणिनः, पृथगिति पृथिव्यादिभेदेन सूक्ष्मबादरपर्या-प्तकापर्याप्तकनरकगत्यादिभेदेन वा संसारमाश्रितास्तेषां च पृथगा-श्रितानामपि प्रत्येकं समतां दुःखद्वेषित्वं सुखप्रियं च समीक्ष्य दृष्ट्वा, यदिवा–समतां माध्यस्थ्यमुपेक्ष्य यो मौनीन्द्रपदमुपस्थितः संयमाऽऽश्रितः स साधुस्तत्राऽनेकभेदभिन्नप्राणिगणे दुःखद्वेषि-सुखाभिलाषिणि सति तदुपघाते कर्तव्ये विरतिमकार्षीत् कुर्याद्विति, पापाद्धीनः पापानुष्ठानात् दवीयान् पण्डित इति ॥८॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ०२उ०।

(२८) सूत्रकृताङ्गस्य श्रुतस्कन्धीयनवमाध्ययनोक्तः साधूनामा-चरणीयानाचरणीयो धर्मो यथा–

कयरे धम्मे अक्खाए, माहणेण मतीमता।
अंजु धम्मं जहातच्चं, जिणाणं *तं सुणेह मे ॥१॥

(कयरे इत्यादि) जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमुद्दिश्येदमाह। तद्यथा–कतरः किंभूतो दुर्गतिगमनलक्षणो धर्म आख्यातः प्रतिपादितः (माहणेणं ति) मा जम्बून् व्यापादयेत्येवं विनेयेषु वाक् प्रवृत्तिर्यस्याऽसौ माहनो भगवान् वीरवर्धमानस्वामी तेन, तमेव विशिनष्टि–मनु–तेऽवगच्छति जगत्त्रयं कालत्रयोपेतं यया सा केवलज्ञानाऽऽख्या मतिः, सा अस्याऽ-स्तीति मतिमान्, तेनोत्पन्नकेवलज्ञानेन भगवतेति पृष्टे सुधर्मस्वाम्याह–रागद्वेषजितो जिनास्तेषां संबन्धिनं धर्मम्। (अंजु–मिति) ऋजुं मायाप्रपञ्चरहितत्वादवक्रं, तथा– (जहातच्चमिति) यथावस्थितं मम कथयतः शृणुत यूयं, न तु यथाऽन्यैस्तीर्थिकैर्दम्भ–प्रधानो धर्मोऽभि-हितस्तथा भगवताऽपीति। पाठान्तरं वा– (* जणगा * तं सुणेह मे) जायन्त इति जना लोकास्त एव जनकास्तेषामामन्त्रणम्– हे जनकाः! तं धर्मं शृणुत यूयमिति ॥१॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सूक्तो भवतीत्यतो यथोद्दि-ष्टप्रतिपक्षभूतोऽधर्मस्तदाश्रितांस्तावद्दर्शयितुमाह–

माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदु बोक्कसा।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभणिस्सिया ॥२॥

(माहणेत्यादि) ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्तथा चाण्डालाः, अथ बोक्कसा अवान्तरजातीयाः। तद्यथा–ब्राह्मणेन शूद्र्यां जातो निषादो, ब्राह्मणेनैव वैश्यायां जातोऽम्बष्ठः, तथा निषादेनाम्बष्ठ्यां जातो बोक्कसः, तथा एषितुं शीलमित्येषिका मृगलुब्धिका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एष्यन्ति, तथा कन्दमूलफलाऽऽदिकं च। तथा ये चाऽन्ये पाषण्डिका नानाविधैरुपायैर्भक्ष्यमेष्यन्त्यन्यानि वा विषयसाधनानि, ते सर्वेऽप्येषिका इत्युच्यन्ते। तथा वैशिका वणिजो मायाप्रधानाः कलोपजीविनः, तथा शूद्राः कृषीबलाऽऽदयः। आभीर-जातीयाः क्रियन्तो वा वक्ष्यन्त इति दर्शयति। ये चाऽन्ये वर्णा-पसदा नानारूपसावद्याऽऽरम्भनिश्रिता यन्त्रपीडननिर्लाञ्छन–

कर्माङ्गारदाहाऽऽदिभिः क्रियाविशेषैर्जीवोपमर्दकारिणस्तेषां सर्वेषामेव जीवापकारिणां वैरमेव प्रवर्धत इत्युत्तरश्लोके क्रियेति ॥२॥

परिग्गहनिविट्ठाणं, पावं तेसिं पवड्ढइ ।
आरंभसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा ॥३॥

(परिग्गह इत्यादि) परि समन्ताद् गृह्यत इति परिग्रहो द्विपदचतुष्पदधनधान्यहिरण्यसुवर्णाऽऽदिषु मसीकारः, तत्र निविष्टानामध्युपपन्नानां गार्द्ध्यं गतानां, पापमसातवेदनीयाऽऽदिकं, तेषां प्रागुक्तानामारम्भनिःश्रितानां परिग्रहे निविष्टानां, प्रकर्षेण वर्द्धते वृद्धिमुपयाति जन्मान्तरेष्वपि दुर्मोचं भवति। क्वचित्पाठः ''वेरं तेसिं पवड्ढइ त्ति।'' तत्र येन यस्य यथा प्राणिन उपमर्दः क्रियते स तथैव संसारान्तर्वर्ती शतशो दुःखभाग् भवति, जमदग्निकृतवीर्याऽऽदीनामिव पुत्रपौत्रानुगं वैरं प्रवर्द्धत इति भावः। किमित्यवेम्? यतस्ते कामेषु प्रवृत्ताः कामाश्चाऽऽरम्भैः साध्यभूता आरम्भपुष्टा आरम्भाश्च जीवोपमर्दकारिणोऽतो न ते कामसंभृता आरम्भनिःश्रिताः परगृहे निविष्टा दुःखयतीति दुःखमष्टप्रकारं कर्म, तद्विमोचका भवन्ति, तस्याऽपनेतारो भवन्तीत्यर्थः ॥३॥

किं चान्यत्-

आघायकिच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो ।
अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहिँ किच्चती ॥४॥

(आघायमित्यादि) आहन्यन्ते अपनयन्ति विनाश्यन्ते प्राणिनां दशप्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातो मरणं, तस्म तत्र वा कृतमग्निसंस्कारजलाञ्जलिप्रदानपितृपिण्डाऽऽदिकमाघातकृत्यं तदाधातुमादाय कृत्वा पश्चात् ज्ञातयः स्वजनाः पुत्रकलभ्रातृव्याऽऽदयः। किंभूताः ? विषयानन्वेष्टुं शीलं येषां तेऽन्येऽपि विषयैषिणः सन्तस्तस्य दुखार्जितं वित्तं द्रव्यजातमपहरन्ति स्वीकुर्वन्ति । तथा चोक्तम्-

''ततस्तेनार्जितैर्द्रव्यैर्दारैश्च परिरक्षितैः । क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन् ! हृष्टास्तुष्टा ह्यलङ् कृताः ॥१॥'' स तु द्रव्यार्जनपरायणः सावद्यानुष्ठानकर्मवान् पापी स्वीकृतैः कर्मभिः संसारे कृत्यते छिद्यते, पीड्यत इति यावत् ॥४॥

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते तव ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥५॥

(माया पिया इत्यादि) माता जननी, पिता जनकः, स्नुषा पुत्रवधूः भ्राता सहोदरः, तथा भार्या कलत्रं, पुत्राश्च औरसाः स्व-निष्पादिताः, एते सर्वेऽपि मात्रादयो, ये चान्ये श्वशुराऽऽदयः, ते तव संसारचक्रवाले स्वकर्मभिर्विलुप्यमानस्य त्राणाय नालं समर्था भवन्तीति । इहाऽपि तावत्रैते त्राणाय किमुतामुत्रेति । दृष्टान्तश्चात्र कालसौकरिकसुतः सुलसनामा अभयकुमारस्य सखा। तेन महासत्वेन स्वजनाऽभ्यर्थितेनापि न प्राणिष्वपकृतमपि त्वात्मन्येवेति ॥५॥

किं चान्यत्-

एयमट्ठं स पेहाए, परमट्ठाणुगामियं ।
निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाऽऽहियं ॥६॥

(एयमट्ठमित्यादि) धर्मरहितानां स्वकृतकर्मविलुप्यमानानामैहिकाऽऽमुष्मिकयोर्न कश्चित्त्राणायेति, एनं पूर्वोक्तमर्थं स प्रेक्षापूर्वकारी प्रत्युपेक्ष्य विचार्याऽवगम्य च, परमः प्रधानभूतो मोक्षः संयमो वा, तमनुगच्छतीति तच्छीलश्च परमार्थानुगामुकः सम्यग्दर्शनाऽऽदिः, तं च प्रत्युपेक्ष्य, क्त्वाप्रत्ययान्तस्य पूर्वकालवाचितया क्रियान्तरसव्यपेक्षत्वात् । तदाह- निर्गतं ममत्वं बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु यस्मादसौ निर्ममः। तथा-निर्गतोऽहङ्कारोऽभिमानः पूर्वं श्वयेजात्यादिमदजनितः, तथा-तपः-स्वाध्यायलोभाऽऽदिजनितो वा यस्मादसौ निरहङ्कारो, रागद्वेषरहित इत्यर्थः । स एवंभूतो भिक्षुर्जिनैराहितः प्रतिपादितोऽनुष्ठितो वा यो मार्गो, जिनानां वा संबन्धी योऽभिहितो मार्गस्तं चरेदनुतिष्ठेदिति ॥६॥

चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं ।
चिच्चा ण अंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए ॥७॥

(चिच्चा इत्यादि) संसारस्वभावपरिज्ञानपरिकर्मितमतिर्विदितवेद्यः सम्यक् त्यक्त्वा परित्यज्य, किं तद्? वित्तं द्रव्यजातं, तथा पुत्रांश्च त्यक्त्वा पुत्रेष्वधिकस्नेहो भवतीति पुत्रग्रहणम् । तथा-ज्ञातीन् स्वजनांश्च त्यक्त्वा, तथा-परिग्रहं चाऽऽन्तरं ममरूपत्वं, णकारो वाक्यालङ्कारे। अन्तं गच्छतीत्यन्तगो, दुष्परित्यज इत्यर्थः। अन्तको विनाशकारीत्यर्थः। आत्मनि वा गच्छतीत्यात्मगः, आन्तर इत्यर्थः। तं तथाभूतं शोकं त्यक्त्वा परित्यज्य, श्रोतो वा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायाऽऽत्मकं कर्माऽऽश्रवद्वारभूतं परित्यज्य । पाठान्तरं वा-''चिच्चा णऽणंतगसोयं।'' अन्तं गच्छतीत्यन्तगं, न अन्तगमनन्तगं, श्रोतः शोकं परित्यज्य निरपेक्षः पुत्रदारधनधान्यहिरण्याऽऽदिकमनपेक्ष्यमाणः सन् मोक्षाय परि समन्तात् संयमानुष्ठाने व्रजेत् परिव्रजेदिति। तथा चोक्तम्-

''छलिया अवयक्खंता, निरावयक्खा गया अविग्घेणं।
तम्हा पवयणसारे, निरावयक्खेण होयव्वं ॥१॥
भोगे अवयक्खंता, पडंति संसारसागरे घोरे।
भोगेहिँ निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं ॥२॥'' इति।

स एवं प्रव्रजितः सुव्रतावस्थिताऽऽत्माऽहिंसाऽऽदिषु व्रतेषु प्रयतेत ॥७॥

तत्राऽहिंसाप्रसिध्यर्थमाह-

दुढवीआउऽगणिवाऊ-तणरुक्खसबीयगा ।
अंडया पोयजराउ-रससंसेयउब्भिया ॥८॥
एतेहिँ छहिँ काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।
मणसा कायवक्केणं , णारंभी ण परिग्गही ॥९॥

''पुढवीआउ'' इत्यादि श्लोकद्वयम् । तत्र पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नाः, तथाऽप्कायिका अग्निकायिका वायुकायिकाश्चैवंभूता एव। वनस्पतिकायिकान् लेशतः सभेदा-नाह-तृणानि कुशवच्चकाऽऽदीनि, वृक्षाश्चूताशोकाऽऽदिकाः। सह बीजैर्वर्तन्त इति सबीजानि, सबीजानि तु शालिगोधूमयवाऽऽदीनि, एते एकेन्द्रियाः पञ्चापि कायाः। षष्ठत्रसकायनिरूपणायाऽऽह-अण्डजाः शकुनिगृहकोकिलकसरीसृपाऽऽदयः। तथा पोता एव पोतजा हस्तिशरभाऽऽदयः । तथा जरायुजा ये जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते गोमनुष्याऽऽदयः । त-

था रसाद् दधिसौवीरकाद् जाता रसजाः, तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा यूका मत्कुणाऽऽदयः। उद्भिज्जाः खञ्जरीटकदर्दुराऽऽदय इति। अज्ञातभेदा हि दुःखेन रक्ष्यन्त इत्यतो भेदेनेपन्यास इति ॥८॥ एभिः पूर्वोक्तैः षड्भिरपि कायैस्त्रसस्थावररूपैः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नैर्नारम्भी नापि परिग्रही स्यादिति संबन्धः। तदेतद् विद्वान् सश्रुतिको ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया मनोवाक्कायकर्मभिर्जीवोपमर्दकारिणमारम्भं परिग्रहं च परिहरेदिति ॥९॥

शेषव्रतान्यधिकृत्याऽऽह–

मुसावायं वहिद्धं च, उग्गहं च अजाइयं।
सत्था दाणाइँ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥१०॥

(मुसावायमित्यादि) मृषा असद्भूतो वादो मृषावादः, तं विद्वान् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्, तथा–(अवहिद्धमिति) मैथुनम्, अवग्रहं परिग्रहम्, अयाचितमदत्ताऽऽदानम्। यदि वा– ''अवहि–द्धमिति।'' मैथुनग्रहोऽवग्रमयाचितमित्यनेनादत्ताऽऽदानं गृहीतम्। एतानि च मृषावादाऽऽदीनि प्राण्युपतापकारित्वात् शस्त्राणीव शस्त्राणि वर्त्तन्ते। तथा–दीयते गृह्यतेऽष्टप्रकारं कर्मोभिरिति कर्मोपादानकारणानि, अस्मिन् लोके तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१०॥

किं चाऽन्यत्–

पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि य।
धूणा दाणाइँ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥११॥

(पलिउंचणमित्यादि) पञ्चमहाव्रतधारणमपि कषायिणो निष्फलं स्यादतस्तत्साफल्याऽऽपादनार्थं कषायनिरोधो विधेय इति दर्शयति। परि समन्तात् कुञ्च्यन्ते वक्रतामापद्यन्तेक्रिया येन मायाऽनुष्ठानेन तत्परिकुञ्चनं मायेति भण्यते। तथा–भज्यते सर्वत्राऽऽत्मा ग्रह्णीक्रियते येन स भजनो लोभस्तम्, तथा–यदुदयेन ह्यात्मा सदसद्विवेकविकलत्वात् स्थण्डिलवद्भवति, स स्थण्डिलः क्रोधः। यस्मिंश्च सत्यूर्ध्वं श्रय ति जात्यादिना दर्पाऽऽध्मातः पुरुष उत्तानीभवति स उच्छ्रायो मानः, छान्दसत्वान्नपुंसकलिङ्गता। जात्यादीनामेतत्स्थानानां बहुत्वात् तत्कार्यस्याऽपि मानस्य बहुत्वमतो बहुवचनम्। चकाराः स्वगतभेदसंसूचनार्थाः, समुच्चयार्था वा। धूनयेति प्रत्येकं क्रिया योजनीया। तद्यथा–परिकुञ्चनं मायां धुनय, धूनीहि वा। तथा–भजनं लोभं, तथा–स्थण्डिलं क्रोधं, तथा–उच्छ्रायं मानं, विचित्रत्वात् सूत्रस्य, क्रमोल्लङ्घननिर्देशो न दोषायेति। यदि वा–रागस्य दुस्त्यजत्वात् लोभस्य च मायापूर्वकत्वादित्यादावेव मायालोभयोरुपन्यास इति। कषायपरित्यागे विधेये पुनरपरं कारणमाह–एतानि परिकुञ्चनाऽऽदीनि अस्मिन् लोके आदानानि वर्त्तन्ते तदेतद्विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत ॥११॥

पुनरप्युत्तरगुणानधिकृत्याऽऽह–

धोयणं रंयणं चेव, वत्थीकम्मं विरेयणं।
वमणंऽज्जणपलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥१२॥

(धोयणमित्यादि) धावनं प्रक्षालनं हस्तपादयोर्वस्त्राऽऽदेरञ्जनमपि, (?) तथा–विरेचनं निरूहाऽऽत्मकमधोविरेको वा। वमनमूर्ध्वविरेकः। तथा अञ्जनं नयनयोरिति। एवमादिकमन्यदपि शरीरसंस्काराऽऽदिकं यत् संयमपरिमन्थकारि संयमोपघातरूपं, तदेतद्विद्वान् स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाय प्रत्याचक्षीत ॥१२॥

अपि च–

गंधमल्लसिणाणं च, दंतपक्खालणं तहा।
परिग्गहित्थि–कम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१३॥

(गंधमल्ल इत्यादि) गन्धाः कोष्टपुटाऽऽदयः, माल्यं जात्यादिकम्, स्नानं च शरीरप्रक्षालनं देशतः, सर्वत्रश्च। तथा–दन्तप्रक्षालनं कदम्बकाष्ठाऽऽदिना, परिग्रहः सचित्ताऽऽदेः स्वीकरणम्। तथा–स्त्रियो दिव्यमानुषतैरश्चः। तथा–कर्म हस्तकर्म, सावद्यानुष्ठानं वा। तदेतत्सर्वं कर्मोपादानतया संसारकार–णत्वेन परिज्ञाय विद्वान् परित्यजेदिति ॥१३॥

किं चाऽन्यत्–

उद्देसियं कीयगडं पामिच्चं चेव आहडं।
पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥२४॥

(उद्देसियमित्यादि) साध्वाद्युपदेशेन यद्दानाय व्यवस्थाप्यते तदुद्देशिकम्। तथा–क्रीतं क्रयस्तेन क्रीतं गृहीतं क्रीतं गृहीतं क्रीतक्रीतं, (पामिच्चं ति) साध्वर्थमन्यत उद्यतकं यद् गृह्यते तत्तदुच्यते, चकारः समुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणार्थः। साध्वर्थं यद् गृहस्थेन नीयते तदाहृतम्। तथा–(पूयमिति) आधाकर्मावयवसंपृक्तं शुद्धमप्याहारजातं भवति। किं बहुनोक्तेन ?–यत् केनचिद्दोषेणानेषणीयमशुद्धं तत्सर्वं विद्वान् परिज्ञाय संसारकारणतया निस्पृहः सन् प्रत्याचक्षीतेति ॥१४॥

किं च–

आसूणिमक्खिरागं च, रसगिद्धूवघायकम्मगं।
उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१५॥

(आसूणि इत्यादि) येन घृतपानाऽऽदिना आहारविशेषेण रसायनक्रियया वा अशूनः सन् आ समन्तात् शूनीभवति बलवानुपजायते, तदाशूनीत्युच्यते। यदि वा–(आसूणि त्ति) श्न घायतःश्लाघया क्रियमाणया आसमन्तात् शूनश्छूनो लघुप्रकृतिः कश्चिद्दर्पाऽऽध्मातत्वात् स्तब्धो भवति। तथा–अक्ष्णां रागो रञ्जनं सौवीराऽऽदिकमञ्जनमिति यावत्। एवं रसेषु शब्दाऽऽदिषु विषयेषु वा गृद्धिं गार्द्धर्यं तात्पर्यमासेवा, तथोपघातकर्मेत्युच्यते। तदेव लेशतो दर्शयति–(उच्छोलणं ति) अयतनया शीतोदकाऽऽदिना हस्तपादाऽऽदिप्रक्षालनम्, तथा–कल्कं लोध्राऽऽदिद्रव्यसमुदायेन शरीरोद्वर्तनकं, तदेतत्सर्वं बन्धनायेत्येवं विद्वान् पण्डितो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१५॥

अपि च–

संपसारा य कयकिरिए, पसिणाऽऽयतणाणि य।
सागारियं च पिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१६॥

(संपसारा य इत्यादि) असंयतैः सार्धं संप्रसारणं पर्यालोचनं, परिहरेदिति वाक्यशेषः। एवं संयमानुष्ठानं प्रत्युपदेशदानम्। तथा–'कयकिरिए' नाम कृता शोभना गृहकरणाऽऽदिक्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवमसंयतानुष्ठानप्रशंसनम्। तथा–प्रश्नस्याऽऽदर्शः प्रश्नाऽऽदेरायतनमाविष्करणं कथनं यथावस्थित-प्रश्ननिर्णयनानि। यदि वा–प्रश्नाऽऽयतनानि लौकिकानां

परस्परव्यवहारे मिथ्याशास्त्रगतसंशये वा प्रश्ने सति यथावस्थिताथंकथनद्वारेणाऽऽयतनानि निर्णयनानीति । तथा–सागारिकः शय्यातरः, तस्य पिण्डमाहारम् । यदि वा–सागारिकपिण्डमिति सूतकगृहपिण्डं, जुगुप्सितं वर्णापसदपिण्डं च। चशब्दः समुच्चये। तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१६॥

किं चान्यत्–

अट्ठावयं न सिक्खिज्जा, वेहाईयं च णो वए ।
हत्थकम्मं विवायं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१७॥

(अट्ठावयमित्यादि) अर्थ्यते इत्यर्थो धनधान्यहिरण्याऽऽदिकः, पद्यते गम्यते येनार्थस्तत् पदं शास्त्रम्, अर्थार्थं पदमर्थपदं चाणक्याऽऽदिकमर्थशास्त्रं, तन्न शिक्षयेन्नाभ्यसेन्नाप्यपरप्राण्युपमर्दकारि शास्त्रं शिक्षयेत्, यदि वा अष्टापदं द्यूतक्रीडाविशेषस्तं न शिक्षयेत, नापि पूर्वशिक्षितमनुशीलयेदिति । तथा–वेधो धर्मानुवेधस्तस्मादतीतमधर्मप्रधानं वचो नो वदेत्। यदि वा–वेध इति वर्धवेधो द्यूतविशेषः, तद्गतं वचनमपि नो वदेत्, आस्तां तावत्क्रीडनमिति। हस्तकर्म प्रतीतम्। यदि वा–हस्तकर्म हस्त–क्रिया परस्परं हस्तव्यापारप्रधानः कलहस्तं, तथा विरुद्धवादं, शुष्कवादमित्यर्थः । चः समुच्चये । तदेतत्सर्वं संसारभ्रमणकारणं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत ॥१७॥

किं च–

पाणहा उ य छत्तं च, णालीयं बालवीयणं ।
परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१८॥

(पाणहा उ इत्यादि) उपानहौ काष्ठपादुके च, तथा–आतपाऽऽदिनिवारणाय छत्रम् । तथा–नालिका द्यूतक्रीडाविशेषः । तथा–बालैर्मयूरपिच्छैर्वा व्यजनकं, तथा–परेषां संबन्धिनीं क्रियामन्योऽन्यां *परस्परतोऽन्यनिष्पाद्यामन्यः करोत्यपरनिष्पाद्यां चापर इति । चः* समुच्चये । तदेतत्सर्वं विद्वान् पण्डितः कर्मोपादानकारणत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१८॥

तथा–

उच्चारं पासवणं, हरिएसु ण करे मुणी ।
वियडेण वावि साहट्टु, णाऽऽचमे य कयाइ वि ॥१९॥

(उच्चारमिति) उच्चारप्रस्रवणाऽऽदिकां क्रियां हरितेषूपरि बीजेषु वा स्थण्डिले वा मुनिः साधुर्न कुर्यात्, तथा–विकटेन विगतजी–वेनाप्युदकेन संहृत्यापनीय बीजानि हरितानि वा, नाऽऽचमेत न निलेपनं कुर्यात्, किमुताविकटेनेति भावः ॥१९॥

किं च–

परमत्ते अन्नपाणं, ण भुंजेज्ज कयाइ वि ।
परवत्थं अचेलो वि, तं विज्जं परिजाणिया ॥२०॥

(परमत्ते इत्यादि) परस्य गृहस्थस्यामत्रं भाजनं परामत्रं, तत्र पुरःकर्म पश्चात्कर्म, तद्भयाद् हृतनष्टाऽऽदिदोषसंभवाच्चात्र पान च मुनिर्न कदाचिदपि भुञ्जीत। यदिवा–पतद्–ग्रहधारिणाऽच्छिद्रपाणेः पाणिपात्रं परपात्रं, यदि वा–पाणिपात्रस्याच्छिद्रपाणेर्जिन–कल्पिकाऽऽदेः पतद्ग्रहः परपात्रं, तत्र संयमविराधनाभयान्न भुञ्जीत, तथा–परस्य गृहस्थस्य वस्त्रं परवस्त्रं तत् साधुरचेलोऽपि सन् पश्चात्कर्माऽऽदिदोषभयाद्, हृतनष्टाऽऽदिदोषसंभवाच्च न विभृयात् । यदि वा–जिनकल्पिकाऽऽदिकोऽचेलो भूत्वा सर्वमपि वस्त्रं परवस्त्रमिति कृत्वा न विभृयात्, एतत्सर्वं परपात्रभोर्जनाऽऽदिकं संयमविराधकत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥२०॥

आसंदी पलियंके य, णिसिज्जं च गिहंतरे ।
संपुच्छणं व सरणं वा, तं विज्जं परिजाणिया ॥२१॥

आसन्दीति आसनविशेषः । अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्सर्वोऽप्यासनविधिर्गृहीतः । तथा–पर्यङ्कः शयनविशेषः । तथा गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्यां वाऽऽसनं वा संयमविराधनाभयात् परिहरेत्। तथा चोक्तम्– ''गंभीरझुसिरा एते, पाणा दुप्पडिलेहगा। अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वा वि संकणा ॥१॥'' इत्यादि । तथा–तत्र गृहस्थगृहे कुशलाऽऽदिप्रच्छनमात्मीयशरीरावयवप्रच्छनं वा । तथा–पूर्वक्रीडितस्मरणं चेत्येतत्सर्वं विद्वान् विदितवेद्यः सन्ननर्थयेति ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् ॥२१॥

अपि च–

जसं कित्तिं सलाघं च, जा य वंदणपूयणा ।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ॥२२॥

(जसं कित्तिमित्यादि) बहुसमरसंघट्टनिर्वहणशौर्यलक्षणं यशः, दानसाध्या कीर्तिः, जातितपोबहुश्रुत्यादिजनिता श्लाघा, तथा–या च सुराऽसुराधिपतिचक्रवर्तिबलदेववासुदेवाऽऽदिभिर्वन्दना, तथा–तैरेव सत्कारपूर्विका वस्त्राऽऽदिना पूजना । तथा–सर्वस्मिन्नपि लोके इच्छामदनरूपा ये केचन कामाः, तदेतत्सर्वं यशः कीर्तिमपकारितया परिज्ञाय परिहरेदिति ॥२२॥

किं चान्यत्–

जेणेह णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं ।
अणुप्पयाणमन्नेसिं, तं विज्जं परिजाणिया ॥२३॥

(जेणेहमित्यादि) येनान्नेन पानेन वा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन, कारणापेक्षया त्वशुद्धेन वा, इहास्मिन् लोके, इदं संयमपात्राऽऽदिकं दुर्भिक्षरोगाऽऽतङ्काऽऽदिकं वा भिक्षुर्निर्वहेन्निर्वाहयेद्वा, यदन्नं पानं वा तथाविधं द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया शुद्धं कल्प्यं गृह्णीयात्, तथैतेषामन्नाऽऽदीनामनुप्रदानमन्यस्मै साधवे संयममात्रान्निर्वहणसमर्थमनुतिष्ठेत् । यदि वायेन केनचिदनुष्ठितेन संयमं निर्वहेन्निर्वाहयेदसारतामापादयेत् । तथाविधमशनं पानं वा, अन्यद्वा तथावि–धमनुष्ठानं न कुर्यात् । तथा–एषामशनाऽऽदीनामनुप्रदानं गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातकं नानुशीलयेदिति। तदेतत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेदिति ॥२३॥

यदुपदेशेनैतत्कुर्यात्तद्दर्शयितुमाह–

एवं उदाहु निग्गंथे, महावीरे महामुणी ।
अणंतनाणदंसी से, धम्मं देसितवं सुतं ॥२४॥

(एवं उदाहु इत्यादि) एवमनन्तरोक्तया नीत्या उद्देशकाऽऽदेरारभ्य (उदाहु त्ति) उदाहृतवानुक्तवान्, निर्गतो बाह्याभ्यन्तरो ग्रन्थो यस्मात्स निर्ग्रन्थो, महावीर इति श्रीमद्वर्धमानस्वामी, महाँश्चासौ मुनिश्च महामुनिः, अनन्तं ज्ञानं दर्शनं च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शी, स भगवान्, धर्मं चारित्रलक्षणं सं

सारोत्तरणसमर्थं वा। तथा–श्रुतं च जीवाऽऽदिपदार्थसूचकं, देशितवान् प्रकाशितवान् ॥२४॥

किं चान्यत्–

भासमाणो न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुचिंतिय वियागरे ॥२५॥

(भासमाणो इत्यादि) यो हि भाषासमितः स भाषमाणोऽपि धर्मकथा-संबन्धभाषक एव स्यात्। उक्तं च–''वयणविहत्तीकुसलो, वओगइं बहुविहं वियाणंतो। दिवसं पि भासमाणो, साहू व गुरुत्तयं पत्तो ॥१॥'' यदि वा–यत्रान्यः कश्चिद्रत्नाऽऽदिको भाषमाणस्तत्राऽन्तर एव सश्रुतिकोऽहमित्येवमभिमानवान् न भाषेत। तथा–मर्म गच्छतीति मर्मगं वचो न (वंफेज्ज त्ति) नाभिलपेत्। यद्वचनमुच्यमानं तथ्यमतथ्यं वा सद् यस्य कस्यचिन्मनः पीडामाधत्ते, तद्विवेकी न भाषेतेति भावः। यदि वा–मामकं ममीकारः पक्षपातस्तं भाषमाणो (न वंफेज्ज त्ति) नाभिलपेत्। तथा–मातृस्थानं माया–प्रधानं वचो विवर्जयेत्। इदमुक्तं भवति–परवञ्चनबुद्ध्या गूढाऽऽचाररप्रधानो भाषमाणोऽभाषमाणो वाऽन्यदा वा मातृस्थानं न कुर्यादिति। यदा तु वक्तुं कामो भवति, तदा नैतद्वचः परमात्मनोरुभयोर्वा बाधकमित्येवं प्राग्विचिन्त्य वचनमुदाहरेत्। तदुक्तकम्– ''पुव्वं बुद्धीएँ पेहित्ता, पच्छा वक्कमुदाहरे।'' इत्यादि ॥२५॥

अपि च–

तत्थिमा तइया भासा, जं वदित्ताऽणुतप्पति।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा णियंठिया ॥२६॥

(तत्थिमेत्यादि) सत्या–असत्या–सत्यामृषा–असत्यामृषेत्येवंरूपासु चतसृषु भाषासु मध्ये तत्रेयं सत्यामृषेत्येतदभिधानात् तृतीया भाषा, सा च किञ्चिन्मृषा किञ्चित्सत्या इत्येवंरूपा। तद्यथा–दश दारका अस्मिन्नगरे जाता मृताः, तदत्र न्यूनाधिकसंभवे सति संख्यायाः व्यभिचारात्सत्यामृषात्वमिति। यां चैवंरूपां भाषामुदित्वा अनु पश्चाद्भाषणाज्जन्मान्तरे वा तज्जनितेन दोषेण तप्यते पीड्यते क्लेशभाग्भवति। यदि वा–अनुतप्यते, किं ममैवंभूतेन भाषितेनेत्येवं पश्चात्तापं विधत्ते। ततश्चेदमुक्तं भवति–मिश्राऽपि भाषा दोषाय, किं पुनरसत्या, द्वितीया समस्ताऽर्थविसंवादिनी। तथा–प्रथमाऽपि भाषा सत्या, या प्राण्युपतापेन दोषानुषङ्गिणी सा न वाच्या। चतुर्थाऽप्यसत्यामृषा भाषा बुधैरनाचीर्णा सा न वक्तव्येति। सत्याया अपि दोषानुषङ्गित्वमधिकृत्याऽऽह–यद्वचः (छन्नं ति) क्षणु हिंसायां, हिंसाप्रधानम्। तद्यथा–बध्यतां चौरोऽयं, लूयन्तां केदाराः, दम्यन्तां गोरथका इत्यादि। यदि वा–(छन्नं ति) प्रच्छन्नं यल्लोकैरपि प्रच्छाद्यते तत्सत्यमपि न वक्तव्यमिति। एषाऽऽज्ञा अयमुपदेशो निर्ग्रन्थो भगवांस्तस्येति ॥२६॥

किं च–

होलावायं सहीवायं, गोयावायं च नो वदे।
तुमं तुमं ति अमणुन्नं, सव्वसो तं ण वत्तए ॥२७॥

(होलावायमित्यादि) होलेत्येवं वादो होलावादः। तथा–स खेत्येवं वादः सखिवादः, तथा–गोत्रोद्घाटनेन वादो गोत्रवादः, यथा–काश्यपसगोत्रो, वासिष्टसगोत्रो वेति इत्येवंरूपं वादं साधुर्नो वदेत्। तथा–''तुमं तुमं'' तिरस्कारप्रधानमेकवचनान्तं बहुवचनोच्चारणयोग्येऽमनोज्ञं मनःप्रतिकूलरूपमन्यदप्येवंभूतमपमानाऽऽपादकं सर्वशः सर्वथा तत् साधूनां वक्तुं न वर्तत इति। यदाश्रित्योक्तं निर्युक्तिकारेण। तद्यथा–''पासत्थोसन्नकुसीलसंथवो ण किल वट्टए काउं। तदिदं'' इत्यादि ॥२७॥

अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसग्गियं भए।
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिबुज्झेज्ज ते विऊ ॥२८॥

(अकुसीलेत्यादि) कुत्सितं शीलमस्येति कुशीलः, स च पार्श्वस्थाऽऽदीनामन्यतमः, न कुशीलोऽकुशीलः, सदा सर्वकालं, भिक्षणशीलो भिक्षुः, कुशीलो न भवेन्न चापि कुशीलैः सार्धं संसर्गं साङ्गत्यं, भजेत सेवेत। तत्संसर्गदोषोद्भिावयिषयाऽऽह– ''सुखरूपाः सातागौरवस्वभावाः, तत्र तस्मिन् कुशीलसंसर्गे संयमोपघातकारिण उपसर्गाः प्रादुःष्यन्ति। तथाहि–कुशीलवक्तारो भवन्ति–कः किल प्रासुकोदकेन हस्तपाददन्ताऽऽदिके प्रक्षाल्यमाने दोषः स्यात्। तथा–नाशरीरो धर्मो भवतीत्यतो येन केनचित्प्रकारेणाऽऽधाकर्मसान्निध्याऽऽदिना, तथा–उपानच्छत्राऽऽदिना च शरीरं धर्माऽऽधारं वर्तयेत्। उक्तं च–''अप्पेणं बहुमेसेज्जा, एयं पंडियलक्खणं।'' इति। ''शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः। शरीरात्स्रवते पापं, पर्वतात्सलिलं यथा ॥१॥'' तथा साम्प्रतमल्पानि संहननानि, अल्पधृतयश्च संयमे जन्तव इत्येवमादि कुशीलोक्तं श्रुत्वा अल्पसत्त्वास्तत्रानुषज्जन्त्येवं विद्वान् विवेकी प्रतिबुद्ध्येव जानीयात्, बुद्ध्वा चाऽपायरूपं कुशीलसंसर्गं परिहरेदिति ॥२८॥

नन्नत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए।
गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ॥२९॥

(नन्नत्थेत्यादि) तत्र साधुर्भिक्षाऽऽदिनिमित्तं ग्रामाऽऽदौ प्रविष्टः सन् परो गृहस्थस्तस्य गृहं परगृहं तत्र न निषीदेन्नोपविशेत्, उत्सर्गतोऽस्यापवादं दर्शयति–नान्यत्रान्तरायेणेति। अन्तरायः शक्त्यभावः, स च जरसा रोगाऽऽतङ्काभ्यां स्यात्तस्मिंश्चान्तराये सत्युपविशेत्। यदि वा–उपशमलब्धिमान् कश्चित्सुसहायो गुर्वनुज्ञातः कस्यचित्तथाविधस्य धर्मदेशनानिमित्तमुपविशेदपि। तथा–ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामियं ग्रामकुमारिकाऽसौ क्रीडा हास्यकन्दर्पहस्तसंस्पर्शनाऽऽदिलिङ्गनाऽऽदिका। यदि वा–वट्टकन्दुकाऽऽदिका, तां मुनिर्न कुर्यात्; तथा वेला मर्यादा तामतिक्रान्तमतिवेलं न हसेन्मर्यादामतिक्रम्य मुनिः साधुर्ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽद्यष्टविधकर्मबन्धभयान्न हसेत्। तथा चाऽऽगमः– ''जीवे णं भंते ! हसमाणे उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा।'' इत्यादि ॥२९॥

किं च–

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥३०॥

(अणुस्सुओ इत्यादि) उराला उदाराः शोभना मनोज्ञा ये चक्रव–र्त्यादीनां शब्दाऽऽदिषु विषयेषु कामभोगा वस्त्राऽऽभरणगीतगन्धर्वयानवाहनाऽऽदयः, तथा–आज्ञैश्वर्याऽऽदयश्चैतेषूदारेषु दृष्टेषु श्रुतेषु वा नोत्सुकः स्यात्। पाठान्तरं वा–न निश्रितोऽनिश्रितोऽप्रतिबद्धः स्यात्। यतमानश्च संयमानुष्ठाने, परि समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यमं कुर्वन् व्रजेत्संयमं गच्छेत्। तथा–चर्यायां भिक्षाऽऽदिकायामप्रमत्तः स्यात्, नाऽऽहाराऽऽदिषु रसगार्ध्यं विदद्ध्या–

दिति। तथा–स्पृष्टश्चाभिद्रुतश्च परीषहोपसर्गैस्तत्रादीनमनस्कः कर्मनिर्जरां मन्यमानो विवहेत सम्यक् सह्यादिति ॥३०॥

परीषहोपसार्गाधिसहनमेवाधिकृत्याऽऽह–

हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले।
सुमणे अहियासिज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥३१॥

(हम्ममाणो इत्यादि) हन्यमानो यष्टिमुष्टिलकुटाऽऽदिभिरपि न कुप्येन्न कोपवशगो भवेत्। तथा–दुर्वचनान्युच्यमान आक्रुश्यमानो निर्भर्त्स्यमानो न संज्वलेन्न प्रतीपं वदेन्न मनागपि मनोऽन्यथात्वं विदध्यात्, किंतु सुमनाः सर्वं कोलाहलमकुर्वन्नधिसहेतेति ॥३१॥

किं चान्यत्–

उद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए।
आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥३२॥

(लद्धे कामे इत्यादि) लब्धान् प्राप्तानप्राप्तानपि कामानिच्छामदनरूपान् गन्धालङ्कारवस्त्राऽऽदिरूपान् वा वैरस्वामिवन्न प्रार्थयेन्नानुमन्येत, च गृह्णीयादित्यर्थः। यदि वा–यत्र कामावसायितया गमताऽऽदि लब्धिरूपान् कामांस्तपोविशेषलब्धानपि नोपजीव्यान्नाप्यनागतान् ब्रह्मदत्तवत्प्रार्थयेत्, एवं च कुर्वतो भावविवेक आख्यात आविर्भावितो भवति। तथा–आर्याण्यार्याणां कर्तव्यानि अनार्यकर्तव्यपरिहारेण। यदि वा–आचर्याणि मुमुक्षूणां यान्याचरणीयानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि तानि बुद्धानामाचार्यायामन्तिके समीपे सदा सर्वकालं शिक्षेताभ्यसेदिति। अनेन हि शीलवता नित्यं गुरुकुलवास आसेवनीय इत्यावेदितं भवतीति ॥३२॥

यदुक्तं बुद्धानामन्तिके शिक्षेत्तत्स्वरूपनिरूपणायाह–

सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं।
वी (वी) रा जे अत्तपन्नेसी, धितिमंता जिइंदिया ॥३३॥

(सुस्सूसमाण इत्यादि) गुरोरादेशं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा, गुर्वादेर्वैयावृत्त्यमित्यर्थः। तां कुर्वाणो गुरुमुपासीत सेवेत। तस्यैव प्रधानगुणद्वयद्वारेण विशेषणमाह–सुष्ठु शोभना वा प्रज्ञाऽस्येति सुप्रज्ञः स्वसमयपरसमयवेदी गीतार्थ इत्यर्थः। तथा–सुष्ठु शोभनं वा सबाह्याभ्यन्तरं तपोऽस्यास्तीति सुतपस्वी, तमेवंभूतं ज्ञानिनं सम्यक् चारित्रवन्तं गुरुं परलोकार्थी सेवेत। तथा चोक्तम्– ''नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धन्ना आवक–हाए, गुरुकुल वासं न मुंचंति ॥१॥'' (ग०) य एवं कुर्वन्ति तान् दर्शयति। यदि वा के ज्ञानिनस्तपस्विन इत्याह–वीराः कर्मविदारणसहिष्णावो, वीरा वा परीषहोपसर्गाक्षोभ्याः, धिया बुद्ध्या राजन्तीति वा धीरा ये केचनाऽऽसन्नसिद्धिगमनाः आप्तो रागाऽदिवि–प्रमुक्तस्तत्य प्रज्ञा केवलज्ञानाऽऽख्या तामन्वेष्टुं शीलं येषां ते आप्तप्रज्ञान्वेषिणः, सर्वज्ञोक्तान्वेषिण इति यावत्। यदि वा–आत्मप्रज्ञान्वेषिण आत्मनःप्रज्ञा ज्ञानमात्मप्रज्ञा तदन्वेषिण आत्मज्ञत्वान्वेषिण आत्महितान्वोषिण इत्यर्थः। तथा–धृतिः संयमे रतिः, सा विद्यते येषां ते धृतिमन्तः। संयमधृत्या हि पञ्चमहाव्रतभारोद्वहनं सूत्रार्थ– भवतीति। –साध्या च सुगतिर्हस्तप्राप्येति। तमुक्तम्– तस्स तधिई, तस्स तवो, जस्स तक्के तस्स सग्गई सुलहा। जे अधिइमंतपुरिसा, तवो वि खलु दुल्लहो तेसिं ॥१॥'' तथा–जितानि वशीकृतानि स्वविषयरागद्वेषविजयेनेन्द्रियाणि स्पर्शनाऽऽदीन यैस्ते जितेन्द्रियाः शुश्रूषमाणा यथोक्तविशेषणविशिष्टा भवन्तीति ॥३३॥

तदभिधित्सुराह–

गिहे दीवमपासंता, पुरिसाऽऽदाणिया नरा।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥३४॥

(गिहे दीवमित्यादि) गृहे गृहवासे गृहपाशे वा, गृहस्थभाव इति यावत्। (दीवं ति) दीपी दीप्तौ, दीपयति प्रकाशयतीति दीपः, स च भावदीपः श्रुतज्ञानलाभः। यदि वा–द्वीपः समुद्राऽऽदौ प्राणिनामावासभूतः, स च भावद्वीपः संसारसमुद्रे सर्वज्ञोक्तचारित्रलाभः, तदेवंभूतं दीपं द्वीपं वा गृहस्थभावेऽपश्यन्तोऽप्राप्नुवन्तः सन्तः सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थिता उत्तरोत्तरगुणलाभेनैवंभूता भवन्तीति दर्शयतिनराः पुरुषाः पुरुषोत्तमत्वाद्धर्मस्य नरोपादानम्, अन्यथा स्त्रीणामप्येतद्गुणभाक्त्वं भवति, अथवा देवाऽऽदिव्युदासार्थमिति। मुमुक्षूणां पुरुषाणामादानीया आश्रयणीयाः पुरुषाऽऽदानीयाः महतोऽपि महीयांसो भवन्ति। यदि वा–आदानीयो हितैषिणां मोक्षस्तन्मार्गो वा सम्यग्दर्शनाऽऽदिकः पुरुषाणां मनुष्याणामादानीयः, स विद्यते येषामिति विगृह्य मत्वर्थीयः 'अर्श आदिभ्योऽच्' ॥५।२।१२७॥ इति। तथा य एवंभूतास्ते विशेषेणेरयन्त्यष्टप्रकारं कर्मेति वीराः। तथा बन्धनेन सबाह्याभ्यन्तरेण (पुत्रकलत्राऽऽदि) स्नेहरूपेणोत्प्राबल्येन मुक्ता बन्धनोन्मुक्ताः सन्तो जीवितमसंयमजीवितं, प्राणधारणं वा नाभिकाक्षन्ति नाभिलषन्तीति ॥३४॥

किं चान्यत्–

अगिद्धे सद्दफासेसु, आरंभेसु अणिस्सिए।
सव्वं तं समयातीतं, जमेतं लवियं बहु ॥३५॥

(अगिद्धे इत्यादि) अगृद्धोऽनध्युपपन्नो मूर्छितः। क्व? शब्दस्पर्शेषु मनोज्ञेषु, आद्यन्तग्रहणान्मध्यग्रहणमतो मनोज्ञेषु रूपेषु गन्धेषु रसेषु वा अगृद्ध इति द्रष्टव्यम्। तथेतरेषु वाऽद्विष्ट इत्यपि वाच्यः।तथा– आरम्भेषु सावद्यानुष्ठानरूपेष्वनिः श्रितोऽसंबद्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थः। उपसंहर्तुकाम आह–सर्वमेतदध्ययनाऽऽदेरारभ्य प्रतिषेध्यत्वेन यल्लपितमुक्तं म या बहु, तत्समयादार्हतादागमादतीतमतिक्रान्तमितिकृत्वा प्रतिषिद्धम्। यदपि च विधिद्वारेणोक्तं तदेतत्सर्वं कुत्सितसमयातीतं लोकोत्तरं प्रधानं वर्तते ॥३५॥

यदपि च तैः कुतीर्थिकैर्बहु लपितं तदेतत्सर्वं समयातीतमिति कृत्वा नानुष्ठेयमिति प्रतिषिध्य प्रधाननिषेधद्वारेण मोक्षाभिसंधानेनाऽऽह–

अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए।
गारवाणि य सव्वाणि, णिव्वाणं संधए मुणी ॥३६॥

(अइमाणं चेत्यादि) अतिमानो महामानस्तं, चशब्दात्सहचरितं क्रोधं च, तथा–मायां, चशब्दात्तत्कार्यभूतं लोभं च, तदेतत्सर्वं पण्डितो विवेकी ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्। तथा–सर्वाणि गारवाणि ऋद्धिरससातरूपाणि सम्यक् ज्ञात्वा संसारकारणत्वेन परिहरेत्परिहृत्य च मुनिः साधुर्निर्वाणमशेषकर्मक्षयरूपं, विशिष्टाऽऽकाशदेशं वा संधयेदभिसंदध्यात्, प्रार्थयेदिति यावत् ॥३६॥ सूत्र० १श्रु०

६ अ०। (कदा पुनरुत्पन्ननिरावरणज्ञानानां तीर्थकृतां वाग्योगो भवति येनासावाकर्ण्यते? उच्यते–धर्मकथावसरे। किंभूतस्तैः पुनर्धर्मः प्रवेदितस्तद् वक्ष्यते 'लोगसार' शब्दे)

केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

केवलिप्रज्ञप्तः, कोऽसौ? धर्मः श्रुतधर्मः, चारित्रधर्मश्च मङ्गलम्, अनेन कपिलाऽऽदिप्रज्ञप्तधर्मव्यवच्छेदमाह। आव०४ अ०।

अपि च–

कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसले हि दीवयं।
कडमेव गहाय णो कलिं, नो तेयं नो चेव दावरं ॥२३॥

कुत्सितो जयोऽस्येति कुजयो द्यूतकारः, महतोऽपि द्यूतजयस्य सद्भिर्निन्दितत्वादनर्थहेतुत्वाच्च कुत्सितत्वमिति। तमेव विशिनष्टि–अपराजितो दीव्यन् कुशलत्वादन्येन न जीयते। अक्षैर्वा पाशकैर्दीव्यन् क्रीडंस्तत्पातज्ञः कुशलो निपुणः यथा असौ द्यूतकारोऽक्षैः पाशकैः कपर्दकैर्वा रममाणः (कडमेव त्ति) चतुष्कमेव गृहीत्वा तल्लब्धजयत्वात् तेनैव दीव्यति। ततोऽसौ तल्लब्धजयः सन्न कलिमेककं, नाऽपि त्रैकं त्रिकं च, नापि द्वापरं द्विकं गृह्णातीति ॥२३॥

दार्ष्टान्तिकमाह–

एवं लोगम्मि ताइणा,
बुइए जे धम्मे अणुत्तरे।
तं गिण्हह जंऽतिउत्तमं,
कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ॥२४॥

यथा द्यूतकारः प्राप्तजयत्वात् सर्वोत्तमं दीव्यं चतुष्कमेव गृह्णात्येवमस्मिंल्लोके मनुष्यलोके तायिना त्रायिणा वा सर्वज्ञेनोक्तोऽयं धर्मः क्षान्त्यादिलक्षणः श्रुतचारित्राऽऽख्यो वा नाऽस्योत्तरोऽधिकोऽस्तीत्यनुत्तरः, तमेकान्तहितमपि कृत्वाऽत्युत्तमं सर्वोत्तमं च गृहाण विस्रोतसिकारहितः स्वीकुरु। पुनरपि निगमनार्थं तमेव दृष्टान्तं दर्शयति–यथा कश्चिद् द्यूतकारः कृतं कृतयुगं, चतुष्कमित्यर्थः, शेषमेकाऽऽद्यपहाय त्यक्त्वा दीव्यन् गृह्णाति, एवं पण्डितोऽपि साधुरपि, शेषं गृहस्थकुप्रावचनिकपार्श्वस्थाऽऽदिभावमपहाय संपूर्णं महान्तं सर्वोत्तमं धर्मं गृह्णीयादिति भावः ॥२४॥

उत्तर मणुयाण आहिया,
गामधम्मा इइ मे अणुस्सुयं।
जंसी विरता समुट्ठिया,
कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२५॥

(उत्तरेत्यादि) उत्तराः प्रधानाः, दुर्जयत्वात्। केषाम्? उपदेशार्हत्वान्मनुष्याणाम्। अन्यथा सर्वेषामेवेति। के ते? ग्रामधर्म्माः शब्दाऽऽदिविषया मैथुनरूपा वेति। एवं ग्रामधर्म्मा उत्तरत्वेन सवज्ञैराख्याताः, मयैतदनुपश्चाच्छ्रुतम्। एतच्च सर्वमेव प्रागुक्तं, यच्च वक्ष्यमाणं तन्नाभेयेनाऽऽदितीर्थकृता पुत्रानुदिश्याभिहितं सत् पाश्चात्यगणधराः सुधर्मस्वामिप्रभृतयः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयन्त्यतो मयैतदनुश्रुतमित्यनवद्यम्। यस्मिन्निति कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी, सप्तमी वेति। यान् ग्रामधर्मानाश्रित्य ये विरताः, पञ्चम्यर्थे वा सप्तमी। येभ्यो वा विरताः सम्यक् संयमरूपेणोत्थिताः समुत्थितास्ते काश्यपस्यर्षभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा संबन्धी यो धर्मस्तदनुचारिणस्तीर्थकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिनो भवन्तीत्यर्थः ॥२५॥

किं च–

जे एयं चरंति आहियं,
नाएणं महया महेसिणा।
ते उट्ठिय ते समुट्ठिया,
अन्नोन्नं सारंति धम्मओ ॥२६॥

(जे एयं इत्यादि)। ये मनुष्या एनं प्रागुक्तं धर्मं ग्रामधर्मविरतिलक्षणं, कुर्वन्ति चरन्ति। आख्यातं ज्ञातेन ज्ञात पुत्रेण, (महयेति) महाविषयस्य ज्ञानस्याऽनन्यभूतत्वाद् महान् तेन तथाऽनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुत्वान्महर्षिणा श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिना आख्यातं धर्मं ये चरन्ति, ते एव संयमोत्थाने कुतीर्थिकपरिहारेणोत्थिताः। तथा–निह्नवाऽऽदिपरिहारेण त एव सम्यक्त्वमार्ग–देशनाऽपरित्यागेनोत्थिताः समुत्थिता इति, नाऽन्ये कुप्रावचनिका जमालिप्रभृतयश्चेति भावः। त एव च यथोक्तधर्मानुष्ठायिनोऽन्योऽन्यं परस्परं धर्मतो धर्ममाश्रित्य धर्मतो वा भ्रश्यन्तं सारयन्ति चोदयन्ति, पुनरपि सद्धर्मे प्रवर्तयन्तीति ॥२६॥

मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवहिं धुणित्तए।
जे दूमण तेहिं णो णया, ते जाणंति समाहिमाहियं ॥२७॥

(मा पेहेत्यादि) दुर्गतिं संसारं वा प्रणामयन्ति प्रह्वीकुर्वन्ति प्राणिनां प्रणामकाः शब्दाऽऽदयो विषयास्तान् पुरा पूर्वं भुक्तान् मा प्रेक्षस्व मा स्मर। तेषां स्मरणमपि यस्मान्महतेऽनर्थाय, अनागताँश्च नोदीक्षेत नाऽऽकाङ्क्षेदिति। तथा–अभिकाङ्क्षेत् अभिलषेदनारतं चिन्तयेदनुरूपमनुष्ठानं कुर्यात्। किमर्थमिति दर्शयति–उपधीयते ढौक्यते दुर्गतिं प्रत्यात्मा येनाऽसावुपधिर्माया; अष्टप्रकारं वा कर्म; तद्धुननायाप्यनयनायाऽभिकाङ्क्षेदिति सम्बन्धः। दुष्टधर्मं प्रत्युपनताः कुमार्गानुष्ठायिनस्तीर्थिकाः। यदि वा–(दूमण त्ति) दुष्टमनःकारिण उपतापकारिणो वा शब्दाऽऽदयो विषयास्तेषु ये महासत्त्वाः न नताः प्रह्वीभूतास्तदाचारानुष्ठायिनोन भवन्ति, ते च सन्मार्गानुष्ठायिनो जानन्ति विदन्ति समाधिं रागद्वेषपरित्यागरूपं धर्मध्यानं च आहितमात्मनि व्यवस्थितम्। आसमन्ताद्धितं वा त एव जानन्ति, नाऽन्य इति भावः ॥२७॥

तथा–

णो काहिए होज्ज संजए,
पासणिए ण य संपसारए।
नच्चा धम्मं अणुत्तरं,
कयकिरिए ण यावि मामए ॥२८॥

(णो कहिए इत्यादि) संयतः प्रव्राजितः कथया चरति काथिको गोचराऽऽदौ न भवेत्। यदि वा–विरुद्धां पैशुन्याऽऽपादनीं स्त्र्यादिकथां वा न कुर्यात्। तथा–प्रश्नेन राजाऽऽदिकिंवृत्तरूपेण, दर्पणाऽऽदिप्रश्ननिमित्तरूपेण वा चरतीति प्राश्निको न भवेत्। नापि च संप्रसारको देववृष्ट्यनर्थकाण्डाऽऽदिसूच–

कक्षाविस्तारको भवेदिति । किं कृत्वेति दर्शयति–ज्ञात्वाऽवबुध्य नास्योत्तरो विद्यत इत्यनुत्तरस्तं श्रुतचारित्राऽऽख्यं धर्मं सम्यगवगम्य, तस्य हि धर्मस्यैतदेव फलं यदुत विकथानिमित्तपरिहारेण सम्यक् क्रियावान् स्यादिति तद्दर्शयतिकृता स्वभ्यस्ता क्रिया संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियस्तथाभूतश्च, न चाऽपि मामको ममेदमहमस्य स्वाम्मीत्येवं परिग्रहाऽऽग्रही भवेदिति ॥२८॥

छन्नं च पसंस णो करे, न य उक्कोस पगास माहणे ।
तेसिं सुविवेगमाहिए, पणया जेहिँ सुजोसिअं धुयं ॥२९॥

(छन्नमित्यादि) 'छन्नं ति' माया, तस्याः स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात्, तां न कुर्यात् । चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः । तथा–प्रशस्यते सर्वैरप्यविगानेनाऽऽद्रियत इति प्रशस्यो लोभः, तं च न कुर्यात् । तथा–जात्यादिभिर्मदस्थानैर्लघुप्रकृतिं पुरुषमुत्कर्षयतीत्युत्कर्षको मानः, तमपि न कुर्यादिति सम्बन्धः । तथा–अन्तर्व्यवस्थितोऽपि मुखदृष्टिभङ्गविकारैः प्रकाशीभवतीति प्रकाशः क्रोधः, तं च (माहणे त्ति) साधुर्न कुर्यात् । तेषां कषायाणां यैर्महात्मभिर्विवेकैः परित्याग आहितो जनितस्त एव धर्मं प्रति प्रणता इति । यदि वा–तेषामेव सत्पुरुषाणां सुष्ठु विवेकः परिज्ञानरूप आहितः प्रथितः प्रसिद्धिं गतः, त एव च धर्मं प्रति प्रणताः, यैर्महासत्त्वैः सुष्ठु जुष्टं सेवितं, धूयतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तद्धूतं संयमानुष्ठानम् । यदि वा–यैः सदनुष्ठायिभिः (सुजोसिअं ति) सुष्ठु क्षिप्तं धूतनार्हत्वाद् धूते कर्मेति ॥२९॥

अपि च–

अणिहे सहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।
विहरेज्ज समाहिइंदिए, अत्तहिअं खु दुहेण लब्भइ ॥३०॥

(अणिहे इत्यादि) स्निह्यत इति स्निहः। न स्निहाः–अस्निहः, सर्वत्र ममत्वरहित इत्यर्थः । यदि वा–परीषहोपसर्गैर्निहन्यते इति निहः, न निहोऽनिहः उपसर्गैरपराजित इत्यर्थः । पाठान्तरं वा–''अणहे त्ति ।'' नास्यघमस्तीत्यनघो, निरवद्यानुष्ठायीत्यर्थः । सह हितेन वर्तत इति सहितः, सहितो युक्तो वा ज्ञानाऽऽदिभिः, स्वहित आत्महितो वा सदनुष्ठानप्रवृत्तेः । तमेव दर्शयति–सुष्ठु संवृत इन्द्रियनोइन्द्रियैर्विस्रोतसिकारहित इत्यर्थः । तथा–धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थः प्रयोजनं, स एवार्थः, तस्यैव सद्भिरर्ज्यमाणत्वाद् धर्मार्थः, स यस्याऽस्तीति स धर्मार्थी । तथापेधानं तपः, तत्र वीर्यवान्, स एवम्भूतो विहरेत् संयमानुष्ठानं कुर्यात् । समाहितेन्द्रियः संयतेन्द्रिय एव । यत आत्महितं दुःखेनाऽसुमता संसारे पर्यटता अकृतधर्मानुष्ठानेन लभ्यते अवाप्यत इति । तथाहि–''न पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥१॥'' तथाहि–युगसमिलाऽऽदिदृष्टान्तनीत्या मनुष्यभव एव तावद् दुर्लभः, तत्राऽप्यार्यक्षेत्राऽऽदिकं दुरापमित्यत आत्महितं दुःखेनाऽवाप्यत इति मन्तव्यम् ।

अपि च–

भूतेषु जङ्गमत्वं, तस्मिन् पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टम् ।
तस्मादपि मानुष्यं, मानुष्येऽप्यार्यदेशश्च ॥१॥
देशे कुलं प्रधानं, कुले प्रधाने च जातिरुत्कृष्टा ।
जातौ रूपसमृद्धी, रूपे च बलं विशिष्टतमम् ॥२॥
भवति बले चाऽऽयुष्कं, प्रकृष्टमायुष्कतोऽपि विज्ञानम् ।
विज्ञाने सम्यक्त्वं, सम्यक्त्वे शीलसंप्राप्तिः ॥३॥
एतत्पूर्वश्चाऽयं, समासतो मोक्षसाधनोपायः ।
तत्र च बहु संप्राप्तं, भवद्भिरल्पं च संप्राप्यम् ॥४॥
तत्कुरुतोद्यममधुना, मदुक्तमार्गे समाधिमाधाय ।
त्यक्त्वा सङ्गमनार्यं, कार्यं सद्भिः सदा श्रेयः ॥५॥'' इति ।॥३०॥

एतच्च प्राणिभिर्न कदाचिदवाप्तपूर्वमित्येतद्दर्शयितुमाह–

ण हि णूण पुरा अणुस्सुतं,
अदुवा तं तह णो समुट्ठियं ।
मुणिणा सामाइआऽऽइहितं,
नाएणं जगसव्वदंसिणा ॥३१॥

यदेतन्मुनिना जगतः सर्वभावदर्शिना ज्ञातपुत्रीयेण सामायिकाऽऽद्याहितमाख्यातं तन्नूनं निश्चितं न हि नैव पुरा पूर्वं जन्तुभिरनुश्रुतं श्रवणपथमायातम् । अथवा–श्रुतमपि तत् सामायिकाऽऽदि यथाऽवस्थितं तथा नाऽनुष्ठितम् । पाठान्तरं वा–''अवितह त्ति'' अवितथं यथावन्नानुष्ठितमतः कारणादसुमतामात्महितं सुदुर्लभमिति ॥३१॥

पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याऽऽह–

एवं मत्ता महंतरं, धम्ममिणं सहिया बहू जणा ।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा, विरया तिन्न महोघमाहितं ॥३२॥

(एवं मत्ता इत्यादि) एवमुक्तरीत्या आत्महितं सुदुर्लभं मत्वा ज्ञात्वा धर्माणां च गहदन्तरं धर्मविशेषं कर्मणो वा विवरं ज्ञात्वा । यदि वा–(महंतरं ति) मनुष्याऽऽर्यक्षेत्राऽऽदिकमवसरं सदनुष्ठानस्य ज्ञात्वा एनं जैनं धर्मं श्रुतचारित्राऽऽत्मकं, सह हितेन वर्तत इति सहिता ज्ञानाऽऽदियुक्ता बहवो जना लघुकर्माणः समाश्रिताः सन्तो गुरोराचार्याऽऽदेस्तीर्थकरस्य वा छन्दानुवर्तकास्तदुक्तमार्गानुष्ठायिनो, विरताः पापेभ्यः कर्मभ्यः सन्तस्तीर्णा महौघमपारं संसारसागर–मेवमाख्यातं मया भवतामपरैश्च तीर्थकृद्भिरन्येषाम् ॥३२॥ सूत्र०१ श्रु० २अ०२उ०।

किं च–

संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे ।
उवहाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं न पत्थए ॥३५॥

(संधए इत्यादि) साधूनां धर्मः क्षान्त्यादिको दशविधः, सम्यग्दर्शनचारित्राऽऽख्यो वा, तमनुसंधयेद् वृद्धिमापादयेत् । तद्यथा–प्रतिक्षणमपूर्वज्ञानग्रहणेन ज्ञानम् । तथा शङ्काऽऽदिदोषपरिहारेण, सम्यग्जीवाऽऽदिपदार्थाधिगमेन च सम्यग्दर्शनमस्खलितमूलोत्तरगुणसंपूर्णपालनेन प्रत्यहमपूर्वज्ञानग्रहणेन चारित्रं वृद्धिमापादयेदिति । पाठान्तरं वा–''राद्धहे साधुधम्मं च'' पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं साधुधर्मं मोक्षमार्गत्वेन श्रद्दधीत निःशङ्कतया गृह्णीयात्, चशब्दात्सम्यगनुपालयेच्च । तथा–पापं पापोपादानकारणं धर्मं प्राण्युपमर्दनं प्रवृत्तं, निराकुर्यात् । तथा–उपधानं तपः, तत्र यथाशक्त्या वीर्यं यस्य स भवत्युपधानवीर्यः, तदेवंभूतो भिक्षुः, क्रोधं, मानं च न प्रार्थयेन्न वर्धयेद्वेति ॥३५॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं,
समाहितं अट्ठपदोवसुद्धं।
तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ,
इंदा व देवाहिव आगमिस्सं ॥२६॥

(सोच्चा य इत्यादि) श्रुत्वा च दुर्गतिधारणाद् धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यमर्हद्भिर्भाषितं सम्यगाख्यातमर्थपदानि युक्तयो हेतवो वा तैरुपशुद्धमवदातं सद्युक्तिकं सद्धेतुकं वा, यदि वा अर्थैरभिधेयैः पदैश्च वाचकैः शब्दैरुप सामीप्येन शुद्धं निर्दोषम्। तमेवंभूतमर्हद्भिर्भाषितं धर्मं श्रद्दधानाः। तथा–अनुतिष्ठन्तो जना लोका अनायुषोऽनपगतायुष्कर्माणः सन्तः सिद्धाः सायुषश्चेन्द्राऽऽद्याः देवाधिपा आगमिष्यन्तीति ॥२६॥ सूत्र०१ श्रु०७ अ०।

(२६) धर्माधर्मविचारश्च सूक्ष्मबुद्ध्या कर्तव्यः, धर्मविचारे सूक्ष्मबुद्धेराश्रयणीयतामुपदिशन्नाह–

सूक्ष्मबुद्ध्या सदा ज्ञेयो, धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः।
अन्यथा धर्मबुद्ध्यैव, तद्विघातः प्रसज्ज्यते ॥१॥

(सूक्ष्मेति) सूक्ष्मबुद्ध्या निपुणमत्या, सदा सर्वकालं, ज्ञेयो ज्ञातव्यः, कोऽसावित्याह– धर्मो दुर्गतिप्रपातरक्षणे हेतुः, कैरित्याह–धर्मार्थिभिर्धर्मश्रद्धालुभिर्नरैर्मानवैः, अन्यथा स्थूलबुद्ध्या धर्मविवेचने कुतीर्थिकानामिव धर्मबद्ध्यैव धर्माभिप्रायेणापि, तद्विघातो धर्मव्याहतिः। प्रसज्ज्यते प्राप्नोतीति ॥१॥

एतदेव दर्शयन्नाह–

गृहीत्वा ग्लानभैषज्य–प्रदानाभिग्रहं यथा।
तदप्राप्तौ तदन्तेऽस्य, शोकं समुपगच्छतः ॥२॥

गृहीत्वा आदाय, ग्लानायाशक्ताय, भैषज्यप्रदाने औषधवितरणविषये, योऽभिग्रहः प्रतिज्ञा, ग्लानाय मया भैषज्यं दातव्यमित्येवंरूपः स तथा तं, यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, तस्य ग्लानत्वाभावेन ग्लानभैषज्यप्रदानस्याप्राप्तिरसंभवस्तदप्राप्तिस्तस्यां, तस्य ग्लानभैषज्यप्रदानाभिग्रहस्यान्तःकालावधिपूर्त्या पर्यवसानतस्तत्र, शोकमुद्वेगं, समुपगच्छतो व्रजतोऽभिग्रहीतुर्धर्मबुद्ध्याऽप्यधर्मो भवति। तथा सर्वत्रेति प्रकृतमिति ॥२॥

शोकमेव दर्शयति–

गृहीतोऽभिग्रहः श्रेष्ठो, ग्लानो जातो न च क्वचित्।
अहो मेऽधन्यता कष्टं, न सिद्धमभिवाञ्छितम् ॥३॥

गृहीत आत्तोऽभिग्रह उक्तरूपा प्रतिज्ञा, श्रेष्ठोऽतिप्रशस्यः, ग्लानो रोगवान् जातो भूतो वा, मे मम, धनं लब्धुं धनं वार्हतीति धन्यस्तद्भावस्तत्ता, तन्निषेधोऽधन्यता, कष्टमिति खेदवचनं, न सिद्धं न निष्पन्नमभिवाञ्छितमभिमतमिति ॥३॥

प्रकृतयोजनायाऽऽह–

एवं ह्येतत्समादानं, म्लानभावाभिसन्धिमत्।
साधूनां तत्त्वतो यत्तद्, दुष्टं ज्ञेयं महात्मभिः ॥४॥

एवमनेन प्रकारेणाभिग्रहविषयाप्राप्तौ शोकगमनलक्षणेन, हिशब्दोऽधिकृताभिग्रहस्य धर्मव्याघातरूपताभावनार्थः। एतस्य ग्लानभैषज्यप्रदानाभिग्रहस्य समादानं ग्रहणमेतत् समादानं, यच्छब्दोऽत्र द्रष्टव्यो, यद्यस्मात् ग्लानभावे रोगवत्त्वेऽभिसन्धिरभिप्रायो यदि कश्चित् साधुर्ग्लानो भवति तदा शोभनं स्यादस्मदभिग्रहस्य सफलत्वप्राप्तेरित्येवं लक्षणो विद्यते यत्र तत् ग्लानभावाभिसंधिमत् साधूनां मुनीनामेतत्समादानमिति योगः। अथवा–साधूनां ग्लानभावाभिसन्धिमदिति योगः। तत्त्वतः परमार्थवृत्त्या तदिति तस्मात्कारणाद् दुष्टं दोषवत्, ग्लानभावाभिसन्धिमत्त्वेन कर्मबन्धहेतुत्वात्, ज्ञेयं ज्ञातव्यं, महात्मभिः प्रशस्यस्वभावैरिति ॥४॥

एवमर्थापत्त्या दोषप्राप्तिरन्यैरप्युपलब्धेति दर्शयन्नाह–

लौकिकैरपि चैषोऽर्थो, दृष्टः सूक्ष्मार्थदर्शिभिः।
प्रकारान्तरतः कैश्चि–द्यत एतदुदाहृतम् ॥५॥

लोके विदिता लौकिका वाल्मीकिप्रभृतयः, तैरपि च न केवलं जैनैरेव, एषोऽनन्तरोदितोऽर्थोऽर्थापत्तिजनितदोषलक्षणो, दृष्ट उपलब्धः। किंभूतैरित्याह–सूक्ष्मार्थदर्शिभिः पटुदृष्टिभिर्ज्ञे यवस्तुविवेचकैर्न वै ह्यतिस्थूलबुद्धयोऽर्थापत्तिगम्यानेवंविधानर्थान् ज्ञातुमलं भवन्ति, ननु मिथ्यादृशां कथं सूक्ष्मार्थदर्शित्वम्? उच्यते–मत्यज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिक्षयोपशमविशेषात् अज्ञानं, तर्हि तेषां कथम्? तत्राऽप्युच्यतेसदसतोरविशेषात् आह च– ''सयसय-विसेसणाओ गाहा।'' प्रकारान्तरतः– अस्मदुक्तप्रकाराद् ग्लानभैषज्यदानाभिग्रहलक्षणादन्येन प्रकारेण कैश्चिद्वाल्मीक्यादिभिरेव, न सर्वैः, कथं तैर्दृष्टोऽयमित्यवसितमित्याह– यतो यस्मा–देतद् वक्ष्यमाणमुदाहृतमभिहितमिति ॥५॥

अङ्गेष्वेव जरा यातु, यत्त्वयोपकृतं मम।
नरःप्रत्युपकाराय, विपत्सु लभते फलम् ॥६॥

किल सुग्रीवेण ताराऽऽवासौ रामदेव एवमुक्तः–अङ्गेष्वेव मदीय–गात्रेष्वेव जरा जरणपरिणामं यातु गच्छेतु, मा प्रत्युपकारद्वारेण प्रतियातनीयं भवत्वित्यवधारणार्थं, किं तत्? यद्वालेः सकाशात् तारां विमोच्य मन तदर्पणेन त्वया भवता उपकृतमुपकारः कृतः, ममेत्यात्मानं सुग्रीवो निर्दिशति। तस्मात् किमित्येवमित्याह–नर उपकारकारिमानवः उपकारं प्रतीत्याऽऽश्रित्योपकारः प्रत्युपकारः तस्मै प्रत्युपकाराय उपकृतनरेण क्रियमाणाय संपद्यते यत्फलं विपत्सु व्यसनेषु सत्सु लभते प्राप्नोति तत्फलमुपकारकारिक्रिया–याः साध्यम्। अयमभिप्रायः–उपकारको व्यसनगत एव उपकार–क्रियायाः फलमुपकृतेन कृतं लभते, न पुनरन्यदा व्यसनाभावे, निरवसरत्वेन तदसंभवादिति। किमुक्तं भवति?–मा त्वमापदं प्राप, यस्यामहं भवन्तमुपकरोमीति। अन्ये त्वाहुः नर उपकृतमानवः, प्रत्युपकारार्थं विपत्सूपकारकारि व्यसनेषु लभते फलं, फलहेतुत्वादवसरमिति ॥६॥

एवं तावद्धर्मार्थप्रवृत्तावपि धर्मव्याघातो भवत्यनिपुणबुद्धीनां ग्लानभैषज्याभिग्रहप्रवृत्ताविवेति समर्थितम्, अधुनैवमेव सर्वास्वपि प्रवृत्तिष्विति दर्शयन्नाह–

एवं विरुद्धदानाऽऽदौ, हीनोत्तमगतेः सदा।
प्रव्रज्याऽऽदिविधाने च, शास्त्रोक्तन्यायबाधिते ॥७॥
द्रव्याऽऽदिभेदतो ज्ञेयो, धर्मव्याघात एव हि।
सम्यग् माध्यस्थ्यमालम्ब्य, श्रुतधर्मव्यपेक्षया ॥८॥

यथा ग्लानभैषज्यदानाभिग्रहे धर्मबुद्ध्या कृतेऽपि धर्मबुद्धिदोषाद् धर्मव्याघातः प्रसज्जत्येवमनेनैव न्यायेन विरुद्धस्य शास्त्रविनिवारितस्य जीवोपघातहेतुत्वाद्वे यद्रव्यस्याऽऽधाकर्माऽऽदिदोषदूषितस्य मांसतिलाऽऽदेर्वा विरुद्धाय वा सदोषत्वेन शास्त्रनिरा

कृताय मात्राय, दानं वितरणं विरुद्धदानं, तदादिर्यस्य शीलतपोभावना-धर्मस्य गुरुविनयऽऽदेवतापूजनाऽऽदेर्वा सविरुद्धदानाऽऽदिस्तत्र द्रव्याऽऽदिभेदतो धर्म्मव्याघात एव, ज्ञेय इति योगः। कुत इत्याह—हीनस्य गुणविमुक्तस्य, देयद्रव्यपात्रस्य वा उत्तमं प्रधानमेतदिति गतिरवगमो बोधो हीनोत्तमगतिः, ततो हीनोत्तमगतेः सदा सर्वदा, शास्त्रनिराकृतत्वेन हि हीनमपि देयं पात्रं चोत्तममिति बोधविपर्ययादनवगच्छन् यदा दाने प्रवर्तते, तदा धर्म्मस्य व्याघातः स्फुट एवेति। दातव्यद्रव्यविरुद्धता च— ''अन्नाईणं सुद्धाण कप्पणिज्जाण देसकालजुयं। दाणं जईणमुचियं, गिहीण सिक्खावयं भणियं ॥१॥'' इत्येतद्दानविशेषणविपर्ययादवसेया। पात्रविरुद्धता पुनरेवम्— ''सीलव्वयरहियाणं, दाणं जं दिज्जई कुपत्ताणं। तं खलु धोवइ, वत्थं, रुहिरकयं लोहितेणेव ॥१॥'' तथा प्रव्रज्याऽऽदीनां सर्वविरतिप्रतिपत्तिप्रभृतीनां विधानं करणं प्रव्रज्याऽऽदिविधानम्, आदिशब्दाद्देशविरत्यादिसंग्रहः। तत्र च न केवलं विरुद्धदानाऽऽदावेव, किंभूते प्रव्रज्याऽऽदिविधाने? इत्याह— शास्त्रोक्तन्यायबाधिते आगमाभिहितन्यनिराकृते, हीनोत्तमगतेरिति हेतुरिहापि वर्तते, धर्म्मव्याघातो ज्ञेय इत्यतदत्रापि संबन्धनीयं, तत्र प्रव्रज्याऽऽदिविधाने शास्त्रोक्तोऽयं न्यायः—

''नियनियसहावलोयण—जणवायावगमजोगसुद्धीहिं।
उचियत्तं नाऊणं, निमित्तओ सइ पइट्ठेज्जा ॥१॥''

तथा—

''पव्वज्जाए जोग्गा, आरियदेसम्मि जे समुप्पन्ना।
जाइकुलेहिँ विसिट्ठा, तह खीणप्पायकम्ममला ॥१॥''

इत्यादौ।

देशविरतौ पुनः—

''गुरुम्लेसु य धम्मो, संविग्गो इत्तरं व इयरं वा।
वज्जेत्तु तओ सरमं, वज्जेइ इमे अईयारे ॥१॥''

जिनदीक्षायां तु—

''दिक्खाएँ चेव रागो, लोगविरुद्धाण चेव चागो त्ति।
सुंदरगुरुजोगो विय, जस्स तओ एत्थ उचिओ त्ति ॥१॥''

एतद् बाधा चैतद्विपर्ययादिति द्रव्याऽऽदिभेदतो द्रव्यक्षेत्रकालभावविशेषानाश्रित्य विरुद्धदानाऽऽदौ प्रव्रज्याऽऽदिविधाने च ज्ञेयो ज्ञातव्यो धर्म्मव्याघातः। एवं च धर्मबाधैव, न तु धर्माऽऽराधनं, तत्र विरुद्धदाने द्रव्यतो धर्म्मव्याघातो, यथैषणी यत्नेना विरुद्धद्रव्ये कूराऽऽदौ साधुरांस्तरणहेतौ सत्यपि अनेषणीयतया विरुद्धम्, अत एव हीनमुत्तममिति बुद्ध्या ददतः। एवं क्षेत्रतोऽकान्ताराऽऽदिक्षेत्रे, कालतः सुभिक्षकाले, भावतस्त्वग्लानावस्थायाम्। उक्तं च— ''संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गिण्हंतदेंताण हियं। आउरहिट्ठं तेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥१॥'' तथा— प्रव्रज्याऽऽदिविधाने औत्सर्गिकशास्त्रबाधिते द्रव्यतो धर्म्मव्याघातो यथा— शास्त्रनिराकृतं नपुंसकाऽऽदिकं जीवद्रव्यं प्रव्राजयतः, क्षेत्रतोऽकान्ताराऽऽदिक्षेत्रे, कालतः सुभिक्षकाले, भावतः स्वस्थावस्थायामिति। हिशब्दः स्फुटार्थः। कथं धर्म्मव्याघातो ज्ञेय इत्याह— सम्यगविपरीतं, माध्यस्थ्यमनाग्रहत्वमालम्ब्याऽऽश्रित्य, तदपि न स्वरुच्या, किं तु श्रुतधर्म्मव्यपेक्षया आगमापेक्षया, न तु तदनपेक्षयेति ॥८॥ हा० २१ अष्ट०।
(अथ कस्य धर्मानुष्ठानत्वं, कस्य नेति 'धम्माणुट्ठाण' शब्देऽग्रे वक्ष्यते)

(३०) संयतविरतप्रतिप्रत्याख्यातपापकर्माऽऽदीनां धर्मस्थि—

तत्वाधर्म्मस्थितत्वाऽऽदि यथा—

से नूणं भंते ! संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे धम्मे ठिए, असंजयअविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मए अहम्मे ठिए, संजयासंजए धम्माधम्मे ठिए? हंता ! गोयमा ! संजय—विरय०जाव धम्माधम्मे ठिए। एएसि णं भंते ! धम्मंसि वा अहम्मंसि वा धम्माधम्मंसि वा चक्किया केइ आसइत्तए वा० जाव तुयट्टित्तए वा? णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं खाइअट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ०जाव धम्माधम्मे ठिए? गोयमा ! संजयविरय०जाव पावकम्मे धम्मट्ठिए धम्मं चेव उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, असंजयपावकम्मे अहम्मे ठिए अहम्मं चेव उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, संजयासंजए धम्माधम्मे ठिए धम्माधम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०जाव ठिए।

(से नूणं भंते ! इत्यादि) (धम्म त्ति) संयमे (चक्किया केइ आसइत्तए वेति) धर्म्माऽऽदौ शक्नुयात्कश्चिदासयितुम्? नायमर्थः समर्थो, धर्माऽऽदेरमूर्त्तत्वात्। मूर्त्त एव चाऽऽसनाऽऽदिकरणस्य शक्यत्वादिति। भ० १७ श०२ उ०।

''तिविहे धम्मे पण्णत्ते। तं जहा—सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे।'' स्था०३ ठा०३ उ०। (व्याख्या स्वस्वशब्दे द्रष्टव्या)

अथ धर्मस्थितत्वाऽऽदिक दण्डकेन निरूपयन्नाह—

जीवा णं भंते ! किं धम्मे ठिया, अहम्मे ठिया, धम्माधम्मे ठिया? गोयमा ! जीवा धम्मे वि ठिया, अहम्मे वि ठिया, धम्माधम्मे वि ठिया। णेरइया णं भंते ! पुच्छा? गोयमा ! णेरइया णो धम्मे ठिया, अहम्मे ठिया, णो धम्माधम्मे ठिया। एवं०जाव चउरिंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा? गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णो धम्मे ठिया, अहम्मे ठिया, धम्माधम्मे वि ठिया। मणुस्सा जहा जीवा, वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया। भ० १७ श०२ उ०।

धर्मप्रतिपादकसूत्रकृताङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य नवमेऽध्ययने च। सं० २१ सम०। प्रश्न०। आव०। (तदधिकारार्थवक्तव्यता 'धम्मज्झयण' शब्दे वक्ष्यते) धर्मसारभूतत्वात् षड्जीवनिकायाऽऽख्यदशवैकालिकस्य चतुर्थेऽध्ययने, दश०४ अ०। (तदधिकारार्थवक्तव्यता ''छज्जीवणिकाय'' शब्दे तृ०भा० १३५४ पृष्ठगता) धर्मभावंगतो धर्म्मः। आ० चू०४ अ०। चरणश्रुतधर्मानुगते ध्यानभेदे, आव०४अ०। ''धम्माणुरंजियं धम्मं।'' आ० चू०४अ०। आव०। उत्त०। (एतद्वक्तव्यता 'धम्मज्झाण' शब्दे वक्ष्यते) आत्मनि, देहधारणाद् जीवे, वस्तुगुणरूपे, उपमायाम्, न्याये, उपनिषदि, यमे, सोमाध्यायिनि, सत्सङ्गे च। वाच०। दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसङ्घातं धारयतीति धर्म्मः।

पञ्चदशे जिने, आ०म०२अ०। स०। आ०चू०। प्रव०। ती०।ध०। अनु०। (एतद्वक्तव्यता 'धम्मजिण' शब्दे वक्ष्यते) आचार्य्यसिंहस्य शिष्ये शाण्डिल्यस्य गुरौ काश्यप गोत्रोत्पन्ने स्वनामख्याते आचार्ये, ''थेरस्स णं अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते।'' कल्प०२अधि०८ क्षण। ''धम्मं पि अ कासवं वंदे।'' कल्प० २ अधि० ८ क्षण। आचार्य्यहस्तिनः शिष्ये आचार्य्यसिंहस्य गुरौ सुव्रतगोत्रे स्वनामख्याते आचार्य्ये, ''थेरस्स णं अज्जहत्थिस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी सुव्वयगोत्ते।'' कल्प० २अधि०८ क्षण। ''वंदामि अज्जधम्मं, सुव्वयं सीललद्धिसंपन्नं।'' कल्प०२ अधि०८ क्षण। विराटविषयस्थ–सिंहपुरनगरस्थे स्वनामख्याते ग्रामचौरे च। पुं०। दर्श० २ तत्त्व। धनुषि, ''कोयंडं गंडीवं,धम्मं धणुयं सरासणं चावं।'' को०। ज्योतिषोक्ते लग्नान्नवमस्थाने च। न०। वाच०।

विषयसूची–

(१) धर्मधर्मिणोरेकान्तभेदस्वीकारे विप्रतिपत्तिः।
(२) आत्मघटाऽऽदेश्चैतन्यरूपाऽऽदयो धर्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता अपि समवायेन संबद्धाः सन्तो धर्मधर्मिव्यपदेश इति परमतनिराकरणम्।
(३) धर्मानुरूपो धर्मीति प्रतिपादम्।
(४) धर्मशब्दार्थनिरूपणम्।
(५) लोकोत्तरधर्मप्ररूपणम्।
(६) तद्व्याख्यार्थनिर्देशः।
(७) यतिधर्मनिरूपणम्।
(८) द्रव्यभावभेदेन धर्मस्य द्वैविध्यम्।
(९) नामस्थापनाद्रव्यभावधर्माणां नानात्वनिरूपणम्।
(१०) धर्मस्य स्वलक्षणाभिधित्सा,
(११) धर्मतत्त्वस्य लिङ्गानि।
(१२) धर्मद्रुममूलप्रतिपादनम्।
(१३) ये धर्मानधिकारिणस्तेषां विचारः।
(१४) सद्धर्मग्रहणयोग्यताप्ररूपणम्।
(१५) धर्माधिकारिणां प्ररूपणम्।
(१६) ये प्रमाद्यन्ति तेषां दुःखप्रतिपादनम्।
(१७) धर्माभिमुखीकरणम्।
(१८) उपदेशदानम्।
(१९) धर्मपदार्थनिर्वचनम्।
(२०) धर्मपदार्थे गुरुशिष्ययोः प्रवृत्तिर्येनोपायेन भवति तन्निरूपणम्।
(२१) भ्रमरदृष्टान्तेनादत्तग्रहणं प्रतिपाद्य तन्निराकरणम्
(२२) धर्मस्य मोक्षकारणत्वम्।
(२३) दुर्लभमनुजदेहावाप्तावुत्तरगुणप्राप्तेरावश्यैतावर्णनम्।
(२४) धर्मभ्रष्टस्यैहिकाऽऽमुष्मिकदोषाभिधानम्।
(२५) यदभिसन्ध्य धर्माऽऽख्यानं तन्निरूपणम्।
(२६) सद्धर्मपरीक्षकाऽऽदिभावप्रतिपादनम्।
(२७) धर्मकषाऽऽदिस्वरूपनिरूपणम्।
(२८) साधूनामाचरणीयानाचरणीयधर्मप्ररूपणम्।
(२९) धर्मविचारे सूक्ष्मबुद्धिराश्रयणीया।
(३०) संयतविरतप्रतिप्रख्यातपापकर्माऽऽदीनां धर्मस्थितत्वाधर्मस्थितत्वाऽऽदिप्रतिपादनम्।

*** धर्म्य**–त्रि० धर्मादनपेतः, धर्मेण प्राप्यो वा यत्। धर्म्मयुक्ते, धर्मलभ्ये च। वाच०। उत्त०। धर्म्मः क्षमाऽऽदिलक्षणः, तस्मादनपेतं धर्म्यम्। प्रव० ६ द्वार। जिनप्रणीतभावश्रद्धानाऽऽदिलक्षणे ध्यानभेदे, न०। आव० ४ अ०।

धम्मउर–न०(धर्मपुर) स्वनामख्याते पुरभेदे, दर्श० १ तत्त्व।

धम्मंग–न०(धर्माङ्ग) धर्मस्य कुशलाऽऽत्मपरिणामविशेषस्याङ्गमवयवः कारणं वा धर्माङ्गम्। धर्मस्यावयवे, धर्मस्य कारणे च। ''धर्माङ्गख्यापनार्थं च, दानस्यापि महामतिः। (३)'' हा० २७ अष्ट०।

धम्मंतराइय–त्रि०(धर्मान्तरायिक) अन्तरायो विघ्नः, सोऽस्ति येषु तान्यन्तरायिकाणि,धर्मस्य चारित्रप्रतिपत्तिलक्षणस्यान्तरायिकाणि धर्मान्तरायिकाणि। वीर्यान्तरायचारित्रमोहनीयभेदे, ''धम्मंतराइयाणं कम्माणं।'' भ०९ श० ३१ उ०।

धम्मंतराय–पुं०(धर्मान्तराय) धर्मविघ्ने, ग०।

अथ धर्मान्तरायमाश्रित्य प्रस्तुतमेव निरूपयति–

सीलतवदाणभावण–चउविहधम्मंतरायभयभीए।
जत्थ बहू गीयत्था, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥१००॥

दानं शीलं तपो भावना, एतेषां द्वन्द्वः, ता एव चतस्रो विधाः प्रकारा यस्य दानशीलतपोभावनाचतुर्विधः। सूत्रे च बन्धानुलोम्याद् व्यत्ययनिर्देशः। एवंविधो धर्मः, तस्यान्तरायो विघ्नः, तस्माद्यद्भयं तेन भीताः साशङ्का यत्र गच्छे बहवो गीतार्था भवन्ति, हे गौतम ! स गच्छो भणितः। इति गाथाछन्दः ॥१००॥ ग०२ अधि०।

धम्मंतेवासि(ण्)–पुं०(धर्मान्तेवासिन्) अन्ते समीपे वस्तुं शीलमस्येत्यन्तेवासी, धर्मार्थमन्तेवासी धर्मान्तेवासी। शिष्ये, स्था० १० ग०। धर्मप्रतिबोधनतः शिष्यो धर्मार्थितयोपपन्नो वा शिष्यो धर्मान्तेवासी। शिष्यभेदे, स्था०४ ठा०३ उ०। ''अहं णं तुब्भं धम्मंतेवासी।'' शिल्पार्थग्रहणार्थमपि शिष्या भवन्तीत्यत उच्यते धर्मान्तेवासी। भ० १५ श०।

धम्मकंखिय–त्रि०(धर्मकाङ्क्षित) धर्मे काङ्क्षा संजाताऽस्येति धर्मकाङ्क्षितः। धर्मेच्छावति, तं०।

धम्मकत्ता–त्रि०(धर्मकर्ता) धर्मानुष्ठानविधायके, दर्श०।

गुरोः स्वरूपमाविष्कुर्वन्नाह–

धम्मन्नु धम्मकत्ता य, सया धम्मपरायणो।
सत्ताणं धम्मसत्तत्थ–देसओ भयए गुरू ॥४२॥

धर्मज्ञो धर्मकर्ता च सदा धर्मानुष्ठानविधायकः, एवंविधो हि स्वपरोपकारकरणक्षमो विशेषेण भवति। यत उक्तम्–''गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयमहुसित्तो व्व पायओ भाइ। गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहीणो जह पईवो ॥१॥'' सदा सर्वकालं धर्मपरायणो धर्मानुष्ठायी, तच्चैकदा क्वापि द्रष्टारमपेक्ष्य प्रवर्तते यस्तस्योभयलोकविरोधकत्वात्। उक्तं च–''से दिया

वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा।'' तथा सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थोपदेशको गुरुरुच्यत इति गाथार्थः ॥४२॥ दर्श० ४ तत्त्व।

धम्मकरण-न०(धर्मकरण) कुशलानुष्ठानाऽऽसेवने, पञ्चा० २ विव०।

धम्मकस-पुं०(धर्मकष) ''पाणबहाईआणं, पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो। झाणज्झयणाईणं, जो अ विही एस धम्मकसो ॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे सम्यग्धर्मपरिशोधनोपायेषु कषच्छेदतापेषु प्रथमे उपाये, पं०व०४ द्वार। (तद्वक्तव्यता धर्मपरीक्षाऽवसरे 'धम्म' शब्देऽनुपदमेव गता)

धम्मकहा-स्त्री०(धर्मकथा) दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसङ्घातं धारयतीति धर्मः, तस्य कथनं कथा धर्मकथा। ओघ०।ध०। धर्मसम्बद्धाया वार्त्तायाः कथनं धर्मकथा। उत्त० २९अ०।धर्मदेशनाऽऽदिलक्षणवाक्यप्रबन्धरूपे कथाभेदे ग०३ अधि०। अहिंसाऽऽदिधर्मप्ररूपणा धर्मकथेति। औ०। यत् पुनः--इह परत्र च स्वयं च कर्मविपाकोपदर्शनं सा धर्मकथति। बृ०१ उ०३प्रक०। धर्मकथा धर्मोपायकथा। उक्तं च –''दयादानक्षमाऽऽद्येषु, धर्माङ्गेषु प्रतिष्ठिता। धर्मो पादेयतागर्भाः, बुधैर्धर्मकथोच्यते ॥१॥'' इयं चोत्तराध्ययता–ऽऽदिरूपाऽवसेयेति। स्था०३ठा०३उ०।

धर्मकथामेव दर्शयति–

अत्थि लोए, अत्थि य अलोए, एवं जीवा, अजीवा , बंधे, मोक्खे, पुण्णे, पावे, आसवे, संवरे, वेयणा, णिज्जरा, अरिहंता, चक्कवट्टी, बलदेवा, वासुदेवा, नरका, णेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, माया, पिया, रिसओ, देवा, देवलोआ, सिद्धी, सिद्धा, परिणिव्वाणं, परिणिव्वुया, अत्थि पाणाइवाए, मुसावाए, अदिण्णादाणे,मेहुणे परिग्गहे। अत्थि कोहे, माणे, माया, लोभे० जाव मिच्छादंसणसल्ले। अत्थि पाणाइवायवेरमणे, मुसावायवेरमणे, अदिण्णादाणवेरमणे, मेहुणवेरमणे, परिग्गहवेरमणे०जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे। सव्वं अत्थिभावं अत्थि त्ति वयति, सव्वं णत्थिभावं णत्थि त्ति वयति, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति, दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवंति, फुसइ पुण्ण पावे, पच्चायंति जीवा, सफल कल्लाणपावए। औ०।

तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ। तं जहा–अगारधम्मं, अणगारधम्मं च। अणगारधम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वयइ सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिन्नादा--णाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं, राईभोअणाओ वेरमणं; अयमाउसो ! अणगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराहए भवति। अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ। तं जहा–पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणवयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं। पंच अणुव्वयाइं। तं जहा–थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे। तिण्णि गुणव्वयाइं। तं जहा–अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्वयं, उवभोगपरिभोगपरिमाणं। चत्तारि सिक्खावयाइं। तं जहा–सामाइअं देसावगासियं, पोसहोववासे, अतिहिसंविभागे, अपच्छिमा मारणंतिआ संलेहणा झूसणाराहणा, अयमाउसो ! अगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते। औ०। भ०। उपा०।

भेदतो धर्मकथामाह–

धम्मकहा बोधव्वा, चउव्विहा धीरपुरिसपन्नत्ता।
अक्खेवणि विक्खेवणि, संवेगे चेव निव्वेए ॥९९॥

धर्मविषया कथा धर्मकथा, असौ बोद्धव्या चतुर्विधा धीरपुरुषप्रज्ञप्ता, तीर्थकरगणधरप्ररूपितेत्यर्थः। चातुर्विध्यमेवाऽऽह– आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगश्चैव, निर्वेद इति। सूचनात् सूत्रमिति न्यायात् संवेजनी, निर्वेदनी चैवेत्युपन्यासगाऽथाक्षरार्थः ॥९९॥ दश० ३अ०।

आसां कथानां या यस्य कथनीयेत्येतदाह–

वेणइयस्स पढमया, कहा उ अक्खेवणी कहेयव्वा।
तो ससमयगहियत्थे, कहिज्ज विक्खेवणी पच्छा ॥१०॥

विनयेन चरति वैनयिकः शिष्यस्तस्मै प्रथमतया आदिकथनेन, कथा तु आक्षेपणी उक्तलक्षणा कथयितव्या। ततः स्वसमयगृहीतार्थे सति तस्मिन् कथयोद्विक्षेपणीमुक्तलक्षणामेव पश्चादिति गाथार्थः ॥१०॥

किमित्येतदेवमित्याह–

अक्खेवणिअक्खित्ता, जे जीवा ते लभंति संमत्तं।
विक्खेवणीऍ भज्जं, गाढतरागं च मिच्छत्तं ॥११॥

आक्षेपण्या कथया आक्षिप्ता आवर्जिता आक्षेपण्याक्षिप्ता ये जीवास्ते लभन्ते सम्यक्त्वम्। तथा–आवर्जनशुभभावस्य मिथ्यात्वमोहनीयक्षयोपशमोपायत्वात्। विक्षेपण्यां भाज्यं सम्यक्त्वं कदाचिल्लभन्ते, कदाचिन्नेति, तच्छ्रवणात्तथाविधपरिणामभावात् गाढतरं वा मिथ्यात्वं जडमतेः पररामयदोषानवबोधाद् निन्दाकारिण एतेन द्रष्टव्या इत्यभिनिवेशेनेति गाथार्थः ॥११॥ दश०३अ०।

धर्मकथाकर्तुः किं फलं स्यादतस्तत्फलमाह–

धम्मकहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ? धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ, आगामिस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ ॥२३॥

धर्मकथया व्याख्यानरूपया निर्जरां जनयति। पाठान्तरं–तश्चप्रवचनं प्रभावयति प्रकाशयति। उक्तं हि– ''पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य। विज्जासिद्धो य कवी, अट्ठेव पभावया भणिया ॥१॥'' (आगमिस्स भद्दत्ताए त्ति) सूत्रत्वादागमिष्यदित्यागमिकालभावि भद्रं कल्याणं यस्मिंस्तथा तस्य भावस्तत्ता, यदि वा–आगमिष्यतीत्यागम आगामिकालस्तस्मिन्

शश्वद्भद्रतया अनवरतकल्याणतयोपलक्षितं कर्म निबध्नाति शुभानुबन्धि शुभमुपार्जयतीति भावः ॥२३॥उत्त० २९ अ०।

''गयरागदोसमोहा, धम्मकहं जे करेंति समयन्नू।
अणुदियहमवीसंता, सव्वपावाण मुच्चंति।'' महा०३ अ०।

तथा च–

संखाइ धम्मं च वियागरंति,
बुद्धा हु ते अंतकरा भवंति।
ते पारगा दोण्ह वि मोयणाए,
संसोधितं पण्हमुदाहरंति ॥१८॥

सम्यक् ख्यायते परिज्ञायते यया सा संख्या, सदबुद्धिरतया स्वतो धर्मं परिज्ञायाऽपरेषां यथावस्थितं धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं व्यागृणन्ति प्रतिपादयन्ति। यदि वा–स्वपरशक्तिं परिज्ञाय पर्षदं वा प्रतिपाद्य वार्थं सम्यगवबुध्य धर्मं प्रतिपादयन्ति, ते चैवंविधा बुद्धाः कालत्रयवेदिनो जन्मान्तरसंचितानां कर्मणामन्तकरा भवन्ति। अन्येषां च कर्मापनयनसमर्था भवतीति दर्शयति–ते यथावस्थित–धर्मप्ररूपकाद् द्वयोरपि पराऽऽत्मनोःकर्मपाशविमोचनया स्नेहाऽऽदिनिगडविमोचनया वा करणभूतया संसारसमुद्रस्य पारगा भवन्ति। ते चैवंभूताः सम्यक् बोधितं पूर्वोत्तराविरुद्धं प्रश्न शब्दमुदाहरन्ति। तथाहि–पूर्वं बुद्धा पर्यालोच्य कोऽयं पुरुषः कस्य चार्थस्य ग्रहणसमर्थोऽहं वा किंभूतार्थप्रतिपादनशक्त इत्येवं सम्यक् परीक्ष्य व्याकुर्यादिति। अथवा–परेण किञ्चिदर्थं पृष्टस्तं प्रश्नं सम्यक् परीक्ष्योदाहरेत् सम्यगुत्तरं दद्यादिति। तथा चोक्तम्–
''आवरियसयधारिएणं अत्थेण सरियमुणिएणं। तो संघमज्झयारे, ववहरिउं जे सुहं होंति ॥१॥'' गीतार्था। यथावस्थितं धर्मं कथयन्तः स्वपरतारका भवन्तीति॥१८॥ सूत्र०१ श्रु० १४ अ०। (''लोगविजय'' शब्दे विस्तरतो वक्ष्यते)

दुव्वसुमुणी अणाणाए तुच्छए गिलाइवत्तए एस वीरे पसंसिए अब्बे तिलोगसंजोगं पसणाए पवुच्चति–जं दुक्खं पवेदितं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इति कम्मं परिण्णाय सव्वओ जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे जे अण–ण्णारामे से अणण्णदंसी, जहा पुण्णस्स कत्थति तहा तुच्छस्स कत्थति जहा तुच्छस्स कत्थति तहा पुण्णस्स कत्थति, अवि य हणे अणाइयमाणे, एत्थं पि जाण सेयंति णत्थि, केयं पुरिसे कं च णए? एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए, उड्ढं अहं, तिरियं दिसासु, से सव्वओ सव्वपरिण्णाचारी ण लिप्पई छण–पदेण, वीरे से मेहावी जे अणुग्घायणस्स खेयण्णे, जे य बंधपमोक्खमण्णेसी कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के ॥१०२॥ से जं च आरभे जं च णारंभे, अणारद्धं च ण आरभे, छणं छणं परिण्णाय लोगसण्णं च सव्वसो ॥१०३॥ उद्देसो पासगस्स णत्थि बाले पुण णिहे कामसमणण्णे असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ त्ति वेमि। आचा०१ श्रु०२ अ०६उ०।

धर्मकथा यतीनां कीदृशीत्याह–

सज्झायाईसंतो, तित्थयरकुलाणुरूवधम्माणं।
कुज्जा कहं जईणं, संवेगविवड्ढणिं विहिणा॥

स्वाध्यायाऽऽदिश्रान्तः संस्तीर्थकरकुलानुरूपधर्म्माणां महात्मनाम्, किमित्याह–कुर्यात् कथां यतीनां संवेगविवर्द्धनीं विधिनाऽऽसनचलनाऽऽदिनेति गाथार्थः। पं०व०३ द्वार।

पुरुषेण केवलस्त्रीणां स्त्रिया च केवलपुरुषाणामग्रे धर्मकथा न कर्त्तव्या तथा चोक्तम्–

बुड्ढाणं तरुणाणं, रत्तिं अज्जा कहेइ जा धम्मं।
सा गणिणी गुणसागर! पडिणीया होइ गच्छस्स ॥११६॥

वृद्धानां स्थविराणां, तरुणानां यूनां पुरुषाणां केवलानामकेवलानां वा (रत्तिं ति) ''सप्तम्या द्वितीया'' ॥८।३।१३७॥ इति प्राकृतसूत्रेण सप्तमीस्थाने द्वितीयाऽऽदिविधानात् रात्रौ या आर्या गणिनी (धम्मं ति) धर्म्मकथां कथयति, उपलक्षणत्वाद्दिवसेऽपि या केवलपुरुषाणां धर्म्मकथां कथयति, हे गुणसागर! हे इन्द्रभूते! सा गणिनी गच्छस्य प्रत्यनीका भवति। अत्र च गणिनीग्रहणेन शेषसाध्वीनामपि तथाविधाने प्रत्यनीकत्वमवसेयमिति। ननु कथं साध्व्यः केवलपुरुषामग्रे धर्मकथां न कथयन्ति? उच्यते–यथा साधवः केवलानां स्त्रीणां धर्म्मकथां न कथयन्ति, तथा साध्व्योऽपि केवलानां पुरुषाणामग्रे धर्मकथां न कथयन्ति। यत उक्तंश्रीउत्त–राध्ययने– ''नो इत्थीणं कहं कत्ता हवइ, से निग्गंथे, तं कहमिति च आयरियाऽऽह–निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखावा विगिच्छा वा समुप्पज्जेज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणेज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं भवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा, तम्हा खलु नो इत्थीणं कहं कहेज्ज त्ति।''(नो इत्थीणं ति) नो स्त्रीणामेकाकिनीनां कथां कथयिता भवति, यथेदं दशब्रह्मचर्यसमाधिस्थानमध्ये द्वितीयं ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानं साधूनामुक्तं, तथा साध्वीनामप्येतद् युज्यते। तच्च साध्वीनां पुरुषाणामेव केवलानां कथाया अकथने भवतीति। तथा स्थानाङ्गेऽपि– ''नो इत्थीणं कहं कहेत्ता हवइ'' इदं नवब्रह्मचर्यगुप्तीनां मध्ये द्वितीयगुप्तिसूत्रम्। अस्य वृत्तिः– नो स्त्रीणां, केवलानामिति गम्यते। कथां धर्म्मदेशनाऽऽदिलक्षणवाक्यप्रतिबन्धरूपामित्यादि। यथा च–द्वितीयां गुप्तिं साधवः पालयन्ति तथा साध्व्योऽपि पालयन्ति, सा च साध्वीनां पुरुषाणामेव केवलानामग्रे कथाया अकथने भवत्यतः प्रोच्यते न केवलपुरुषा–णां साध्व्यो धर्म्मकथां कथयन्तीति गाथाछन्दः ॥११६॥ ग०३ अधि०।

तथा च–

मुद्धजणखेत्तसुभवो–हसस्सविद्दवणदक्ख समणीओ।
ईईओ वि य काउ वि, अडंति धम्मं कहंतीओ॥

मुग्धजनः। स्वल्पबुद्धिलोकास्त एव क्षेत्राणि बीजवपनभूमयस्तेषु शुभबोधः प्रधानाऽऽशयः स एव सस्यं धान्यं, तस्य विद्रवणं विनाशकरणं, तत्र दक्षाः पट्व्यः, प्राकृतत्वाच्चात्र विभक्तिलोपः। श्रमण्य आर्यिका ईतय इव यथा तिड्डाद्याः काश्चन न सर्वा अटन्ति ग्रामाऽऽदिषु चरन्ति धर्म्मदानाऽऽदिकं कथयन्त्यो ब्रुवाणा इति गाथार्थः।

एतदपि निराकर्तुमाह–

एगंतेणं चिय तं, न सुंदरं जेण ताण पडिसेहो ।
सिद्धंतद्देसणाए, कप्पट्ठियए व गाहाए ॥

एकान्तेनैव सर्वथा, तद्धर्म्मकथनं, नैव सुन्दरं भव्यं, येन तासां साध्वीनां, प्रतिषेधो निराकरणं, सिद्धान्तदेशनाया आगमकथनस्य, यथा प्रतिषेधः कल्पस्थितयैव गाथयेत्यर्थः ।

कल्पगाथामेवाऽऽह–

कुसमयसुईण महणो, विबोहओ भवियपुंडरीयाणं ।
धम्मो जिणपन्नत्तो, पकप्पजइणा कहेयव्वो ॥

कुसमयश्रुतीनां कुसिद्धान्तमतीनां, मथनो विनाशको, विबोधको विकाशको, भव्यपुण्डरीकाणां मुक्तियोग्यप्राणिशतपत्राणां, धर्मो दानाऽऽदिको, जिनप्रज्ञप्तो मुनीन्द्रगदितः, प्रकल्पयतिना निशीथज्ञ-साधुना, कथयितव्यो वक्तव्यो, न पुनः साध्व्येति हृदयमिति गाथार्थः ।

ननु यदि तासां स दीयतेऽतो निन्द्यते तद्धर्मकथनमित्याह–

संपइ पुणो न दिज्जइ, पकप्पगंथस्स ताण सुत्तत्थो ।
जइया वि य दिज्जंतो, तइया वि य एस पडिसेहो ॥

साम्प्रतमधुना, पुनर्नैव दीयते वितीर्यते, प्रकल्पग्रन्थस्य निशीथस्य, तासामार्यिकाणां, सूत्रार्थः–सूत्रेण पद्धत्या सहितोऽर्थोऽभिधेयं सूत्रार्थः, उभयमिति हृदयम् । यदाऽपि वा दीयते वितीयते स्म, तदापि च तस्मिन्नपि काले, एष व्याख्यानकरणलक्षणः, प्रतिषेधो निवारणमिति गाथार्थः ॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तपूर्वकं दर्शयन्नाह–

हरिभद्दधम्मजणणी–ऍं किं च जाइणिपवत्तिणीए वि ।
एगो वि य गाहत्थो, नो सिट्ठो तु मुणियतत्ताए ॥

सूचनात्सूत्रस्य हरिभद्रसूरिधर्म्मजनन्याऽपि धर्म्मदात्रीत्वेन प्रतिपन्न-मात्रा, किं चाभ्युच्चये, याकिनीप्रवर्तिन्या एतन्नाममहत्तरया, न केवलम-न्याभिरित्यपिशब्दार्थः । एकोऽपि च गाथार्थोऽभिधेयम्, आस्तां प्रभूत इत्यपेरर्थः, नो नैव शिष्टः कथितो मुणिततत्त्वया ज्ञातपरमार्थया । तथा च किल–''चक्किदुगं हरिपणगं ।'' इत्यादि–गाथायाः स्वार्थं पृष्टा हरिभद्रभट्टे ण तया च कथित इति सुप्रतीतोऽयमर्थ इति गाथार्थः ।

एवं ज्ञातजीवोपदेशमाह–

बहु मन्नसु मा चरियं, अमुणिततत्ताण तासिं ता ।
जीव ! जइ वा निवारिया, ता वारसु महुरवक्केण ॥

बहु मन्यस्व भव्यमिदमिति मंस्थाः, मेति निषेधे, चरितं धर्म्मक-थनलक्षणम्, अमुणिततत्त्वानामविदितपरमार्थानां, तासामार्यि–काणां, तस्माज्जीवाऽऽत्मन् ! यदि वा विकल्पार्थः, तिष्ठन्ति । निवारिता निषिद्धास्ततो वारय निषेधय, मधुरवाक्येन कोमलवचसेति गाथार्थः । जीवा० २७ अधि०।

अमुणिय मुणीण चरणा, केई मज्झण्हकालसमयम्मि ।
इत्थीण केवलीणं, कहिंति धम्मं भवाभिरया ॥

मुनीनाममुणितचरणा अविदिततयतीशचारित्राः, केऽप्येके, मध्याह्न-कालसमये प्रहरद्वयोर्ध्वं , स्त्रीणां श्राविकाणां, केवलानां श्रावकाऽ-मिश्रितानां, कथयन्ति धर्मं श्रुतधर्माऽऽदिकं, किं विशिष्टाः ? भवाभिरताः संसाराऽऽसक्ता इति गाथार्थः ।

एतदपि न संगतमित्याह–

सिद्धंतामयपडिपु–न्नकन्नपुडयाण संमयं जम्हा ।
न इय धम्मकहणम्मी, एए दोसा पसज्जंति ॥

सिद्धान्तामृतप्रतिपूर्णकर्णपुटकानामागमसुधासंभृतश्रवणच्छदपत्राणां संमतमभिप्रेतं, नेति निषेधे, इदमित्थं धर्मकथनं, यस्मादित्येवं कथने प्रतिपादने, एते वक्ष्यमाणा दोषा दूषणानि प्रसज्यन्ते प्रादुर्भवन्तीति गाथार्थः ।

तानेवाऽऽह–

इत्थिकहा उ अगुत्ती, मज्झण्हे वस्सयाऽऽगमे संका ।
पलिमंथो दसवेका–लियम्मि अन्नं इमं भणियं ॥

स्त्रीषु केवलनारीषु कथा धर्म्मकथनम्, इदं चोत्तराध्ययने द्वितीय–व्याख्याने कथितम् । तुः समुच्चयते । अगुप्तिः प्रत्यहं तदिन्द्रियदर्शनतो ब्रह्मचर्यारक्षा, अकालचारित्वप्रस्तावाऽऽगमनत्वेन हि तासां मध्याह्ने केवलानां यत्युपाश्रये आगमे आगमनमवस्थानतया शङ्काकिमप्यकार्य-मेताभिः करिष्यन्तीत्येवं मन्दमतिरूपा, पलिमन्थः स्वकायव्याघातः साधूनां, तथा दशवैकालिके समयप्रसिद्धे अन्यदपरमिदं वक्ष्यमाणं भणितं तूक्तमिति गाथार्थः ।

तदेव श्लोकपञ्चकेनाह–

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥
जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुललओ भयं ।
एवं तु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥
हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पियं ।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥
अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥
चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पि व दट्ठूण, दिट्ठिं पडिसमाहारे ॥

सर्वा अपि प्रकटार्थाः ।

यत एवमत आह–

एत्तो चिय केई पु–व्वसूरिणो मोक्खसोक्खतल्लिच्छा ।
आसीसं पि हु दिंता, ते अहोमुहाऍं दिट्ठीए ॥

एतस्मादेव कारणात् केऽपि पुण्यभाजः, पूर्वसूरयश्चिरन्तनाऽऽचार्याः, मोक्षसौख्यलिप्सवो निर्वाणसुखाभिलाषनिष्ठा, आशिषमपि धर्म्मलाभ-मपि, न केवलधर्म्मकथामित्यपिशब्दार्थः, हुः पूर्ववत् । अदुर्दत्तवन्तः, श्राविकाणामिति शेषः । अधोमुखया न्यग् स्ववक्रया दृष्ट्या लोचनेनेति गाथार्थः ।

अत्रापि जीवानुशिक्षामाह–

सिद्धिवधूवरसुहसं–गलालसो जीव ! जइ तुमं ता मा ।
कहसु तुमं जिणधम्मं, इत्थीसु अकालचारीसु ॥

सिद्धिवधूवरसुखसङ्ग लालसो मुक्तिकान्ताप्रधानाभिष्वङ्ग-लम्पटो, जीव ! प्राणिन ! यदि त्वं भवान्, तस्मान्मा निषेधे, कथय

वद च, भवान् जिनधर्मं सर्वज्ञवृषम्, अकालचारिणीषु प्रस्तावादागतासु स्त्रीषु नारीषु इति गाथार्थः। जीवा २४ अधि०। (यस्यां वसतौ धर्म्मकथाशब्दः संयतीभिःश्रूयते, तत्र वस्तव्यं न वेति 'वसइ' शब्दे वक्ष्यते) (अन्तर्गृहे धर्म्मकथा न कर्त्तव्येति 'अंतरगिह' शब्दे प्रथमभागे ८५ पृष्ठे गतम्) ननु श्रावकस्य धर्मकथनेऽधिकारोऽस्ति? अस्तीति ब्रूमः, गीतार्थादधिगतसूत्रार्थस्य गुरुपरतन्त्रवचनस्य तस्यैव सूत्रार्थस्य कथने को नाम नाधिकारः? ''पढइ सुणेइ गुणेइ य, जणस्स धम्मं परिकहेइ'' इत्यादिवचनात्। तथा चूर्णिः–''सो जिणदाससावओ अट्ठगिचउद्दसीसु उववासं करेइ, पुत्थयं च वाएइ।'' इत्यादि। ध० २अधि०। धर्मस्य श्रुतरूपस्य कथा व्याख्या धर्मकथा। स्वाध्यायभेदे, स्था० ५ ग०३ उ०। प्रव०। उत्त०। औ०। धर्मकथा ह्येवं स्वरूपतः ''सुद्धं धम्मुवएसं, गुरुप्पसाएण सम्ममवबुद्धं। सपरोवयारजणणं, जो मग्गस्स कहिज्ज धम्मत्थी।'' इति। ध०३ अधि०। धर्म्मप्रधाना कथा धर्म्मकथा। ज्ञानाधर्म्मकथाऽऽख्यस्य षष्ठस्याङ्गस्य द्वितीये श्रुतस्कन्धे, ज्ञा०१ श्रु०१अ०।

तस्याधिकारार्थो यथा–

दोच्चस्स णं भंते ! सुयक्खंधस्स धम्मकहाणं समएणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते? एवं खलु जंबू ! धम्मकहाणं दस वग्गा पण्णत्ता। ज्ञा०२ श्रु०१ वर्ग १ अ०।

('अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे ? पृष्ठे धर्म्मकथायाः सर्वे वर्गाः)

धम्मकहि(ण्)-पुं०(धर्म्मकथिन्) धर्म्मकथा प्रशस्ताऽस्यास्तीति धर्मकथी, शिखाऽऽदित्वादिन्। आक्षेपणीविक्षेपणीसंवेगजननीनिर्वेदनीलक्षणां चतुर्विधां जनितजनमनः प्रमोदां धर्म्मकथां कथयति, ध० २ अधि०। प्रव०। प्रवचनप्रभावकभेदे, संथा०। नि०चू०। दश०। पिं०।

आयपरसमुत्तारो, तित्थविवड्ढी य होइ कहयंते।
अन्नन्नाभिगमेण य, पूयाथिरया य बहुमाणो॥

क्षीराश्रवाऽऽदिलब्धिसंपन्न आक्षेपणीविक्षेपणीसंवेगजननीनिर्वेदनीभेदाचतुर्विधां धर्मकथां कथयन् धर्मकथीत्युच्यते, तस्मिन् धर्म कथयति आत्मनः परस्य च संसारसागरात् समुत्तारो निस्तरणं भवति, तीर्थविवृद्धिश्च, भवति, प्रभूतलोकस्य प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः। तथा देशनाद्वारेण पूजाफलमुपवर्ण्यान्यान्याभिगमेन अन्यान्यश्रावकबोधनेन पूजायां स्थिरता, बहुमानश्च कृतो भवति। बृ०१ उ०। धर्म्मकथाकथके, पिं०।

धम्मकाम-त्रि०(धर्मकाम) धर्मे श्रुतचारित्रलक्षणे कामो वाञ्छा यस्य स धर्म्मकामः। धर्म्मवाञ्छावति, त०।

धम्मकाय-पुं०(धर्मकाय) धर्म्मसाधने शरीरे, ''सुसिलिट्ठा धम्मकायपीडा वि।'' धर्मसाधनशरीरवेदनेति। पञ्चा० १८ विव०।

धम्मकित्ति-पुं०(धर्म्मकीर्त्ति) स्वनामख्याते आचार्य्ये, नं०। ''विबुधवरधर्मकीर्त्तिश्रीविद्याऽऽनन्दसूरिमुख्यबुधैः।'' कर्म०२ कर्म०। ''पण्डितवरधर्म्मकीर्त्तिमुख्यबुधैः।'' ध०२०। स्वनामख्याते बौद्धसूरौ, ''वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्त्तृवादः, स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः। सन्तापाऽऽरम्भः पापहानाय चेति, ध्वस्तप्रज्ञाने पञ्चलिङ्गानि जाड्ये॥१॥'' इति च तद्वाक्यम्। आ०म० १अ०१खण्ड।

धम्मकिरिया-स्त्री०(धर्म्मक्रिया) धर्म्मानुष्ठाने, यो०बिं०।

धम्मकुमार-पुं०(धर्मकुमार) नागेन्द्रगच्छीये विबुधप्रभसूरिशिष्ये, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १३३४ मिते विद्यमान आसीत्। शालिभद्रचरित्रनामग्रन्थमरीरचत्। जै०इ०।

धम्मक्खाइ(ण्)-पुं०(धर्माऽऽख्यायिन्) धर्म्माख्याति भव्यानां प्रतिपादयतीति धर्म्माऽऽख्यायी। धर्मप्रतिपादके, औ०। सूत्र०। ज्ञा०।

धर्मख्याति-त्रि०। धर्माद्वा ख्यातिः प्रसिद्धिर्यस्य सः। धर्मेण प्रसिद्धे, औ०।

धम्मगुज्झ-न०(धर्मगुह्य) धर्मरहस्ये, ''इदमत्र धर्मगुह्यं, सर्वस्वं चैतदेवास्य।'' षो०२ विव०।

धम्मगुरु-पुं०(धर्मगुरु) दीक्षाऽऽचार्य्ये, ''स धर्मगुरुपूजकः।'' हा० २५ अष्ट०।

धम्मघोस-पुं०(धर्मघोष) मथुरास्थे पार्श्वनाथस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्य्ये, ती०८कल्प। दक्षिणमथुरास्थे स्वनामख्याते आचार्य्ये, आ० चू० १अ०। महावीरस्वामिनः शिष्ये स्वनामख्याते आचार्य्ये, आ०चू०४ अ०। आव०। विमलगणिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्य्ये, विमलगणिमधिकृत्य ''शिष्यो गच्छपतिः प्रतापतरणिः श्रीधर्मघोषः प्रभुः।'' दर्श० ५ तत्त्व। कौशाम्बीनगरस्थे धर्मवसोराचार्य्यस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्य्ये, आव०४ अ०। आ०चू०। आ०क०। आतुरप्रत्याख्यानप्रकीर्णकवृत्तिकारकस्य महेन्द्रसूरेर्गुरौ स्वनामख्याते आचार्य्ये, आतु०। स चाश्वलगच्छीयो जयसिंहसूरिशिष्यः। येन विक्रमसंवत् १२६३ मिते शतपदिका नाम ग्रन्थो विरचितः। अस्य जन्म १२०८ वर्षे मरुदेशे आसीत्। जै०इ०। अन्योऽपि धर्मघोषसूरिर्नागेन्द्रगच्छे हेमप्रभसूरेः शिष्यः, सोमप्रभसूरेश्च गुरुः। अन्योऽप्येतन्नामा ऋषिमण्डलस्तोत्रकर्ता। जै० इ०। चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते स्थविरे, ज्ञा०१ श्रु १६ अ०। तपागच्छस्थे देवेन्द्रसूरेः शिष्ये स्वनामख्याते आचार्य्ये, ग०४ अधि०। अयमाचार्यः सङ्घाऽऽचारकालसप्ततिनामानौ ग्रन्थौ व्यधात्, विक्रमसंवत् १३२७ मितेऽयं सूरिपदमाप। जै०इ०। मगधजनपदस्थवसन्तपुरनगरस्थे स्वनामख्याते आचार्य्ये, सूत्र०२ श्रु०६ अ०। आ०क०। वाराणसीनगरस्थे स्वनामख्यातेऽनगारे, आ०चू०४अ०। आ०क०। ती०। आव०। चम्पानगरीनृपतेर्मित्रप्रभस्य स्वनामख्यातेऽमात्ये, आव०४ अ०। उज्जयिनीवास्तव्ये स्वनामख्यातेऽनगारे, आव०४ अ०। आ०क०। विमलजिनस्य प्रपौत्रके शिष्ये स्वनामख्याते स्थविरे, भ०।

तद्वक्तव्यता यथा–

तेणं कालेणं तेणं समएणं विमलस्स अरहओ पओप्पए धम्मघोसे णामं अणगारे जाइसंपण्णे। वण्णओ जहा केसिसामिस्स, ०जाव पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिबुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव

हत्थिणाउरे णयरे जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइ त्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हइ, उग्गिण्हइत्ता, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे,०जाव विहरइ । भ०११ श०११ उ०।

धम्मचक्क-न०(धर्मचक्र) तीर्थकृतां धर्म्मप्रकाशकं चक्रं धर्मचक्रम्। तीर्थकृतां पुरः पद्मप्रतिष्ठिते स्फुरत्किरणचक्रे धर्मप्रकाशक्रे चक्रे, तच्च यत्र यत्र जगद्गुरुर्विहरति तत्र तत्र देवैर्नीयमानं गगनगतं गच्छतीति। प्रव०४० द्वार। आ०म०। आ०चू०। तक्षशिलायां बाहुबलिना कारिते भगवत ऋषभदेवस्य धर्मप्रकाशके चक्रे च, आव०। भगवतस्तक्षशिलागमनमधिकृत्य ''कल्लं सव्विड्ढीए, पूए मह दट्ठु धम्मचक्कं तु।'' आव०१ अ०। ''बाहुबलिना चिंतियं–कल्ले सव्विड्ढीए वंदिस्सामि त्ति निग्गओ, पभाए सामी गतो विहरमाणो अदिट्ठे, अधितिं काऊण जहिं भगवं बुच्छो, तत्थ धम्मचक्कचिंधं कारियं, तं सव्वरयणामयं जोयणपरिमंडलं पंचजोणयुस्सियदंडं।'' आ०म०१अ०१ खण्ड। आव०। आ०चू०। ''गयग्गपयाए य धम्मचक्के य।'' तक्षशिलायां धर्मचक्रे। आचा०२ श्रु०३ चू० १५ अ०। प्रति०। तक्षशिलायां बाहुबलिविनिर्मितं धर्मचक्रम्। ती० ४३ कल्प।

धम्मचक्कवट्टि(ण्)-पुं०(धर्मचक्रवर्तिन्) तीर्थकरे, आ०चू० १अ०।

धम्मचरण-न०(धर्मचरण) क्षान्त्याद्यासेवने, पं०व०१ द्वार। ''धम्मचरणं पडुच्च।'' जी०१प्रति०।

धम्मचिंतग-पुं०(धर्मचिन्तक) धर्मशास्त्रपाठके सभासदे, औ०। ''धम्मचिंतए वा।'' धर्मचिन्तको धर्मसंहितां परिज्ञातवान् सभासदः। ज्ञा०१ श्रु० १४ अ०। याज्ञवल्क्यप्रभृत्यृषिप्रणीतधर्म्मसंहिताश्चिन्तयन्ति, ताभिश्च व्यवहरन्ति ये ते धर्म्मचिन्तकाः। अनु०।

धम्मचिंता-स्त्री०(धर्मचिन्ता) धर्मा जीवाऽऽदिद्रव्याणामनुष्योगोत्पादाऽऽदयः स्वभावास्तेषां चिन्ताऽनुप्रेक्षा, धर्मस्य वा श्रुतचारित्राऽऽत्मकस्य सर्वज्ञभाषितस्य हरिहराऽऽदिनिगदितधर्मेभ्यः प्रधानोऽयमित्येवं चिन्ता धर्मचिन्ता। स० १० सम०। दशा०। सूत्रार्थानुचिन्तनाऽऽदिलक्षणशुभचित्तप्रणिधाने, ''छट्ठं पुण धम्मचिंताए।'' ग०२ अधि०। स्था०।

धम्मच्छेय-पुं०(धर्मच्छेद) ''बज्झाणुट्ठाणेणं, जेणं न बहिज्जई तयं नियमा। संभवइ अपरिसुद्धं, सोऊणं धम्ममिच्छेओ।'' इत्युक्त-लक्षणे धर्मपरिशोधनोपायभेदो, पं०व०४द्वार।

धम्मजणणी-स्त्री०(धर्मजननी) धर्मदातृत्वेन प्रतिपन्नमातरि, यथा हरिभद्रसूर्याकिनी महत्तरिका ''हरिभद्दधम्मजणणी ऐ, किं च जाइणिपवत्तिणीए वि।'' जीवा० २७ अधि०। पञ्चा०।

धम्मजस-पुं०(धर्मयशस्) कौशाम्बीवास्तव्यस्य धर्मवसोराचार्य्यस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्य्ये, आ०क०। आव०। आ० चू०। महावीरस्वामिनः स्वनामख्याते शिष्ये, आव०४ अ०। आ० चू०। वाराणसीनगरस्थे स्वनामख्यातेऽनगारे, आव०४ अ०। आ० चू०। ती०

धम्मजागरिया-स्त्री०(धर्मजागरिका) धर्मचिन्तायाम्, ''सो पुव्वावरकाले, जागरमाणो उ धम्मजागरियं।'' पं०व० ४ द्वार। धर्मध्यानेन जागरिका धर्मजागरिका। कल्प०३ अधि०६ क्षण। धर्मध्यानानुस्मरणे, ''धम्मं जागरित्तए वा।'' धर्मध्यानलक्षणं जागरितुं, धातूनामनेकार्थत्वात्, ''झाणं वा झाइत्तए'' धर्मध्यानमनुस्मर्तव्यम्। बृ०१ उ०१प्रक०। धर्माय धर्मचिन्तायां वा जागरिका जागरणं धर्मजागरिका। भ० १२ श०१उ०। धर्मप्रधाना जागरिका। निद्राक्षयेण बोधो धर्मजागरिका। भावप्रत्युपेक्षायाम्, सा च–

''किं कय किं वा सेसं, किं करणिज्जं तवं च न करेमि।
पुव्वावरत्तकाले, जागरओ भावपडिलेहो ॥१॥''

''अहवा को मम कालो, किमेयस्स उचियं, असारा विसया नियमगामिणो विररसावसाणा, भीसणो मच्चू'' इत्यादिरूपा। ''पुव्वावरत्तकालसमयंसि नो धम्मजागरियं जागरित्ता भवइ।'' स्था०४ ठा० २ उ०। धर्मेण कुलधर्मेण षष्ठ्यां रात्रौ जागरणं धर्मजागरिका। जन्मतः षष्ठे दिने जागरणमहोत्सवे, ''छट्ठे दिवसे धम्मजागरियं जागरेति।'' कल्प०१ अधि०५ क्षण।

धम्मजिण-पुं०(धर्मजिन) दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसंघातं धारयतीति धर्मः। तथा–गर्भस्थे जननी दानाऽऽदिधर्मपरा जातेति धर्मः, स चाऽसौ जिनश्च धर्मजिनः। पञ्चदशे स्वनामख्याते जिने, ध०२ अधि०। तत्र सर्वेऽपि भगवन्त ईदृशास्ततो विशेषमाह– ''गब्भगए जं जणणी, जायसुधम्म त्ति तेण धम्मजिणो।'' भगवति गर्भगते येन कारणेन विशेषतो जननी जातसुधर्मा दानदयाऽऽदिरूपशोभनधर्मपरायणा, तेन नामतो धर्मजिनः। आ०म०२अ०। स०। कल्प०। (एतद्वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६१ पृष्ठे द्रष्टव्या) ''धम्मेणं अरहा दसवाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे० जाव पहीणे''। स्था० १० ठा०।

धम्मजीवि(ण्)-पुं०(धर्मजीविन्) संयमैकजीविनि, ''णिग्गंथा धम्मजीविणो।'' दश०६अ०।

धम्मजुव्वणकाल-पुं०(धर्मयौवनकाल) अन्त्यपुद्गलपरावर्तकाले, अन्त्यपुद्गलपरावर्तकालो धर्मयौवनकालश्च कथ्यते। उक्तं च– ''तुल्या परिणतिर्भिन्नव्यक्तिषु यत्तदुच्यते। तिर्यक्सामान्यमित्येव, घटत्वं तु घटेष्विव॥५॥'' द्रव्या० २अध्या०।

धम्मजोग-पुं०(धर्मयोग) धर्मोत्साहे, धर्मसम्बन्धे च। ''अत एव धर्मयोगात्, क्षिप्रं तत्सिद्धिमाप्नोति।'' षो०३ विव०।

धम्मज्जिय-त्रि०(धर्मार्जित) धर्मेण क्षान्त्यादिरूपेणार्जितमुपार्जितम्। धर्मेणोत्पादिते, ''धम्मज्जियं च ववहारं।'' धर्मेण साधुधर्मेणोत्पादितः। उत्त० १अ०।

धम्मज्झय-पुं०(धर्मध्वज) धर्मचक्रवर्तित्वसूचके केतौ, महेन्द्रध्वजे। रा०। ऐरवते भविष्यति स्वनामख्याते जिने, ति०। प्रव०। स०।

धम्मज्झयण-न०(धर्माध्ययन) सूत्रकृताङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य धर्मप्रतिपादके नवमेऽध्ययने, सूत्र०।

तथा च निर्युक्तिकृदाह–

धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो, भावधम्मेण एत्थ अहिगारो।
एसेव होइ धम्मं, एसेव समाहिमग्गो त्ति ॥१॥

(धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो इत्यादि) दुर्गतिगमनधारणलक्षणो धर्मः, पूर्वं प्राग् दशवैकालिकश्रुतस्कन्धषष्ठाऽध्ययने धर्मार्थकामाऽऽख्ये उद्दिष्टः प्रतिपादितः। इह तु भावधर्मेणाधिकारः। एष एव च भावधर्मः परमार्थतो धर्मो भवति। अमुमेवार्थमुत्तरयोरप्यध्य–यनयोरतिदिशन्नाह–एष एव च भावसमाधिर्भावमार्गश्च भवतीत्यवगन्तव्यमिति। यदि वा–एष एव च भावधर्म एष एव च भावसमाधिरेष एव च तथा भावमार्गो भवति, न तेषां परमार्थतः कश्चिद्भेदः। तथाहि–धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यः क्षान्त्यादिलक्षणो वा दशप्रकारो भवेद्, भावसमाधिरप्येवंप्रकार एव। तथाहि–सम्यगाधानमारोपणं गुणानां क्षान्त्यादीनामिति समाधिः, तदेव मुक्तिमार्गोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽख्यो भावधर्मतया व्याख्यातयितव्य इति ॥१॥ सूत्र०१ श्रु० ६ अ०।

धम्मज्झाण–न० धर्म(र्म्य)ध्यान धर्ममाज्ञाऽऽदिपदार्थस्वरूपपर्य्यालोचनैकाग्रता। स०१ सम०। धर्मभावं गतो धर्म्यः। आ०चू०४ अ०। धर्मः क्षमाऽऽदिदशलक्षणस्तस्मादनपेतं धर्म्यं सर्वज्ञाऽऽज्ञाऽनुचिन्तनम। प्रव० ६ द्वार। श्रुतचरणधर्मादनपेतं धर्म्यम्। स्था०४ ठा०१ उ०। बाह्याऽऽध्यात्मिकभावानां याथात्म्यं धर्म्यस्तस्मादनपेतं धर्म्यम्। सम्म०३ काण्ड। तदेव ध्यानं धर्म्म (र्म्य) ध्यानम्। ध्यानभेदे, औ०। ग०।

तस्वरूपं यथा–

''सूत्रार्थसाधनमहाव्रतधारणेषु,
बन्धप्रमोक्षगमनाऽऽगमहेतुचिन्ता।
पञ्चेन्द्रियव्युपरमश्च दया च भूते,
ध्यानं तु धर्म्यमिति संप्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥१॥'' दश०१ अ०।

तच्चतुर्विधम्–

धम्मज्झाणे चउव्विहे पन्नत्ते। तं जहा–आणाविजए, अवायविजए, विवागविजए, संठाणविजए।

अथ धर्म चतुर्विधमिति स्वरूपेण चतुर्षु पदेषु स्वरूपलक्षणाऽऽलम्बनानुप्रेक्षालक्षणेष्ववतारे विचारणीयत्वेन यस्य तच्चतुष्पदावतारं चतुर्विधस्यैव पर्यायोऽयमिति। क्वचित् ''चउप्पडोयारं'' इति पाठः। तत्र चतुर्षु पदेषु प्रत्यवतारो यस्येति विग्रह इति। स्था०४ ठा० १उ०। ('झाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६६३ पृष्ठे व्याख्यातम्) उक्तं च– ''आगमउवएसेणं, निसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं। भावाणं सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥१॥'' इति। तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यक्त्वं धर्मस्य लिङ्गमिति हृदयम्। (स्था०)। अथ धर्मस्याऽऽलम्बनान्युच्यते– ''धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता। तं जहा–वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा।'' (स्था०) अथानुप्रेक्षा उच्यते– ''धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पन्नत्ताओ। तं जहा–एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा।'' स्था०४ ठा०१उ०। औ०। भ०। प्रव०। आव०। तच्च द्विविधम्– बाह्यम्, आध्यात्मिकं च। सूत्रार्थपर्यालोचनं, दृढव्रतता, शीलगुणानुरागो, निभृतकायवाग्व्यापाराऽऽदिरूपं बाह्यम्। आत्मनः स्वरसंवेदनाग्राह्यमन्येषामनुमेयमाध्यात्मिकं तत्त्वार्थसंग्रहाऽऽदौ चातुर्विध्येन प्रदर्शितं संक्षेपतोऽन्यत्र दशविधम्। तद्यथा– ''अपायोपायजीवाजीवविपाकविरागभवसंस्थानाऽऽज्ञाहेतुविचयानि चेति।'' लोकसंसारविचययोः संस्थानभवविचययोरन्तर्भावान्नोद्दिष्टदशभेदेभ्यः पृथगभिधानम्। तत्रापाये विचारो यस्मिंस्तदपायविचयम्; एवमन्यत्रापि योज्यम्, दृष्टमनोवाक्कायव्यापारविशेषाणामपायः कथमनुमानं स्यादित्येवंभूतः संकल्पप्रबन्धो दोषपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वादपायविचयम्। तेषामेव कुशलानां स्वीकरणमुपायः स कथमनुमेयः स्यादिति संकल्पप्रबन्ध उपायविचयम्। असंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकस्याकाशानाकारोपयोगलक्षणाऽनादिस्वकृतकर्मफलोपभोगित्वाऽऽदि जीवस्वरूपानुचिन्तनं जीवविचयम्। धर्माधर्माऽऽकाशकालपुद्गलानामनन्तपर्यायाऽऽत्मकानामजीवानामनुचिन्तनमजीवविचयम्। मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नस्य पुद्गलाऽऽत्मकस्य मधुरकटुफलस्य कर्मणः संसारिसत्त्वविषयविपाकविशेषानुचिन्तनं विपाकविचयम्। कुत्सितमिदं शरीरकं शुक्रशोणितसमुद्भूतमशुचिभूतघटोपममनित्यमपरित्राणं गदाशुचि, न च छिद्रतया सुशुचि, आधेयाशौचं न किञ्चिदत्र कमनीयतरं समस्ति, किम्पाकफलोपभोगोपमाः प्रमुखरसिका विपाककटवः प्रकृत्या भङ्गुराः पराधीनाः सन्तोषमृताऽऽस्वादपरिपन्थिनः सद्भिर्निन्दिता विषयाः, तदुद्भवं च सुखं दुःखानुषङ्गि दुःखजनकं च नातोभोगिनां तृप्तिः। न चैतदात्यन्तिकमिति नात्राऽऽस्था विवेकेनाऽऽधातुं युक्तेति विरतिरेवातः श्रेयस्करिणीत्यादिविरागहेतुचिन्तनं वैराग्यविचयम्। प्रेत्य स्वकृतकर्मफलोपभोगार्थं पुनः प्रादुर्भावो भवः। स चारघट्टघटीयन्त्रवन्मूत्रपुरीषान्त्रतन्त्रनिबद्धदुर्गन्धजठरपुरकोटराऽऽदिष्वजस्रमावर्त्तनं, न चात्र किं चिद् जन्तोः स्वकृतकर्मफलमनुभवतश्चेतनमचेतनं वा सहायभूतं शरणतां प्रतिपद्यत इत्यादि भवसंक्रान्तिदोषपर्यालोचनं भवविचयम्। भवनवननगसरित्समुद्रभूरुहाऽऽदयः पृथ्वीव्यवस्थिताः, साऽपि घनोदधिघनवाततनुवातप्रतिष्ठा, तेऽप्याकाशप्रतिष्ठाः, तदपि स्वात्मप्रतिष्ठं, तच्चाधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्ण्यन्त्यधोलोकमित्यादि संस्थानानुचिन्तनं संस्थानविचयम्। अतीन्द्रियत्वाद्धेतूदाहरणाऽऽदिसद्भावेऽपि बुद्ध्यतिशयशक्तिविकलैः परलोकबन्धमोक्षधर्माधर्माऽऽदिभावेष्वत्यन्तदुःखबोधेष्वाप्तप्रामाण्यात् तद्विषयं तद्वचनं तथैवेत्याज्ञाविचयम्। आगमविषयप्रतिपत्तौ तर्कानुसारिबुद्धेः पुंसः स्माद्वादप्ररूपकाऽऽगमस्य कषच्छेदतापशुद्धिसमाश्रयणीयत्वगुणानुचिन्तनं हेतुविचयम्। एतच्च सर्वं धर्मध्यानं, श्रेयोहेतुत्वात्। एतच्च ''संवररूपमशुभाश्रवप्रत्यनीकत्वात्'' आश्रवनिरोधः संवर'' इति वचनात्। गुप्तिसमिति धर्मानुप्रेक्षाऽऽदीनां चाऽऽश्रवप्रतिबन्धकारित्वात्। अयमपि जीवाजीवाभ्यां कथञ्चिदभिन्ना एव, एकान्त दोषोपपत्तेः। न चायमेकान्तवादिनां घटते, मिथ्याज्ञानान्मिथ्याज्ञानस्य निमित्तमनुपपत्तेः। संवरशुद्धिस्तुः सर्वदेशभेदोत्पातपद्मलेश्याबलाऽऽधानमप्रमत्तसंयतस्यान्तर्मुहूर्त्तं कालप्रमाणं स्वर्गसुखनिबन्धनमेतद्धर्मध्यानं प्रतिपत्तव्यम्। सम्म० ३ काण्ड। आ०चू०। (विस्तरतो वक्तव्यता 'झाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६६१ पृष्ठे)

धम्मज्झाणि(ण्)–पुं०(धर्मध्यानिन्) धर्मध्यानवति, ''जिणसाहुगुणुक्कित्तणपसंसणादाणविणयसंपन्नो। सुअसीलसंजमरओ, धम्मज्झाणी मुणेअव्वो ॥१॥'' आव०४ अ०।

धम्मज्झाणोवगय-त्रि०(धर्मध्यानोपगत) धर्मध्यानयुक्ते, दर्श० ४ तत्त्व।

धम्मट्ठ-पुं०(धर्मार्थ) धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थः प्रयोजनम्। धर्महेतुके प्रयोजने, सूत्र०१ श्रु०२अ०२उ०। धर्मनिमित्ते, आचा०२ श्रु०५ अ०१ उ०। हा०। धर्मश्चार्थः, परमार्थतोऽन्यस्थानर्थरूपत्वात्। सूत्र०१ श्रु० २ अ०३उ०। तस्यैव सद्भिरर्ज्यमाणत्वात् (सूत्र० १ श्रु०२अ०२उ०) धर्मार्थः। सूत्र०१ श्रु० १६ अ०। धर्मरूपेऽर्थे, ''जे धम्मट्ठं वियागरे।'' जन्तूनां धर्मरूपमर्थं व्याकुर्वन्ति ये धर्मप्रतिपत्तियोग्या इत्यर्थः। सूत्र०१ श्रु० १५ अ०।

धम्मट्ठकाम-पुं०(धर्मार्थकाम) धर्मः चारित्रधर्मादिस्तस्यार्थः प्रयोजनं मोक्षः, तं कामयतीच्छति विशुद्धविहितानुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामः। मुमुक्षौ, दश०६ अ०। धर्मार्थकामेषु, दश०६ अ०।

धम्मट्ठचिंतेहा-स्त्री०(धर्मार्थचिन्तेहा) धर्मनिमित्तकद्रव्योपार्जनचेष्टायाम्, ''धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम्॥६॥'' हा०४ अष्ट०। प्रति०।

धम्मट्ठाण-न०[धर्म(र्म्य)स्थान] धर्मश्चासौ स्थानं धर्मस्थानम्। धर्मरूपे आलये, ''धम्मट्ठाणे ठिया उ जं परगे।'' दश० १अ०। धर्मादनपेतं धर्म्यम्, तदेव स्थानम्। उपशमप्रधाने द्वितीये क्रियास्थानभेदे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। तथा च क्रियास्थानस्याधर्मस्थानधर्मस्थानधर्माधर्मस्थान भेदेषु। द्वितीयं धर्मोपादानभूतं पक्षमाश्रित्य पुरुषविजयविभङ्गाद् वक्ष्यति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

धम्मट्ठि(ण्)-पुं०(धर्मार्थिन्) धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थो धर्मार्थः। सूत्र०२ श्रु०१ अ०। धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थः प्रयोजनं, स एवार्थस्तरयैव सद्भिरर्ज्यमाणत्वाद् धर्मार्थः, स यस्यास्तीति धर्मार्थी। सूत्र० १ श्रु० २अ०२उ०। धर्मेणार्थो, धर्म्म एव वाऽर्थः परमार्थतोऽन्यरयानर्थरूप वाद् धर्मार्थः, स विद्यते यस्याऽसौ धर्मार्थः। धर्मप्रयोजनवति, सूत्र०१ श्रु०२ अ०३उ०। जी०। ''धम्मट्ठी धम्मविऊ।'' धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थः, स एवार्थोधर्मार्थः, स विद्यते यस्याऽसौ धर्मार्थी। न पूजाऽऽद्यर्थं क्रियासु प्रवर्त्तते, अपि तु धर्मार्थम्। सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। ''धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।'' सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ०। शिवसुखाभिलाषितया पक्षपातपरिहारेण पूर्वापरपर्य्यालोचके, दर्श०५ तत्त्व। परलोकभीरौ च। पं०व०।

धर्मार्थितायाः फलम्-

धम्मत्थी दिट्ठत्थे, दढो व्व पंकम्मि अपडिबंधाओ।
उत्तारिज्जंति सुहं, धन्ना अण्णाणसलिलाओ॥७६॥

धर्मार्थिनः प्राणिनः, दृष्टार्थे ऐहिके, दृढ इव वनस्पतिविशेषः, इव पङ्केऽप्रतिबन्धात्कारणादुत्तार्यन्ते पृथक् क्रियन्ते, सुखं धन्याः पुण्यभाजः, कुतः? अज्ञानसलिलान्मोहादिति गाथार्थः। पं० व०४ द्वार।

धम्मणायग-पुं०(धर्मनायक) धर्मस्य क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्राऽऽत्मकस्य नायकः स्वामी, यथावत्पालनाद् धर्मनायकः। स० १ सम०। तद्वशीकरणात् तत्फलपरिभोगाच्च धर्मनायकः। जी० ३ प्रति०। तीर्थकरे, कल्प० १अधि० १ क्षण। रा०। ''धम्मणायगाणं २२।'' इह धर्म्माऽधिकृत एव, तस्य (नायकाः) स्वामिनः, तल्लक्षणयोगेन, तद्यथा-तद्वशीकरणभावात् तदुत्तमावाप्तेरतत्फलपरिभोगात्तद्विघातानुपपत्तेः। तथाहि-एतद्वशिनो भगवन्तो विधिसमासादनेन विधिनाऽयमासो भगवद्भिः, तथा निरतिचारपरिपालनतया पालितश्चातिचारविरहेण, एवं यथोचितदानतो दत्तश्च यथाभव्यम्, तथा तत्रापेक्षाभावेन नामीषां दाने वचनापेक्षा, एवं च तदुत्तमावाप्तयश्च भगवन्तः प्रधानक्षायिकधर्मावाप्त्या तीर्थकरत्वात्प्रधानोऽयं भगवतां, तथा परार्थसंपादनेन सत्त्वार्थकरणशीलतया, एवं हीनेऽपि प्रवृत्तेः, अश्वबोधाय गमनाऽऽकर्णनात्। तथा तथाभव्यत्वयोगात् अत्युदारमेतदेतेषाम्। एवं तत्फलपरिभोगायुक्ताः सकलसौन्दर्यण निरुपमं रूपाऽऽदि भगवतां तथा प्रातिहार्ययोगात् नान्यषामेतत्, एवमुदारर्द्धयनुभूतेः समग्रपुण्यसंभारजेयं, तथा तदाधिपत्यतो भावात् न देवानां स्वातन्त्र्येण, एवं तद्विघातरहिता अबन्ध्यपुण्यबीजत्वात् एतेषां स्वाश्रयपुष्टमेतत्, तथा अधिकानुपपत्तेर्नातोऽधिकं पुण्यं, एवं पापक्षयभावाद् निर्दग्धमेतत्, तथाऽहेतुकविघातासिद्धेः सदा सत्त्वाऽऽदिभावेन। एवं धर्मस्य नायका धर्मनायका इति॥२२॥ ल०।

धम्मणाह-पुं०(धर्मनाथ) पञ्चदशे स्वनामख्याते जिने, ''श्रीधर्मनाथमानम्य, रत्नवाहपुरे स्थितम्। तस्यैव पुररत्नस्य, कल्पं किञ्चिद् ब्रवीम्यहम्॥१॥'' ती० १६ कल्प।

धम्मणिप्फत्ति-स्त्री०(धर्मनिष्पत्ति) धर्मसिद्धौ, षो०३ विव०।

धम्मणिरुच्छाह-पुं०(धर्मनिरुत्साह) सदनुष्ठाननिरुद्यमे, ''णहु धम्मणिरुच्छाहो, पुरिसो सूरो सुवलिओ वि।'' सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०।

धम्मण्णु-पुं०(धर्मज्ञ) धर्मवेदिनि, षो०२ विव०। सकलशास्त्रार्थवेदिनि च। दर्श० ४ तत्त्व।

धम्मतत्त-न०(धर्मतत्त्व) धर्मपरमार्थ, ''एतदिह धर्मतत्त्वम्।'' षो० ३ विव०। धर्मस्वरूपे, षो०३ विव०। ''लिङ्गान्येतानि धर्मतत्त्वस्य।'' षो०३ विव०। 'प्रतिषिद्धो धर्मतत्त्वज्ञैः' धर्मस्वरूपवेदिभिः। षो० ६ विव०।

धम्मतित्थ-न०(धर्मतीर्थ) तीर्यते संसारसागरोऽनेनेति तीर्थं, धर्म एव धर्मप्रधानं वा तीर्थ धर्मतीर्थम्। धर्मरूपे तीर्थे, धर्मप्रधाने तीर्थे च। आ०म० २अ०।ध०। ल०।

धम्मतित्थयर-पुं०(धर्मतीर्थकर) तीर्यतेऽनेनेति तीर्थ, धर्मप्रधानं तीर्थ धर्मतीर्थ, धर्मग्रहणाद् द्रव्यतीर्थस्य नद्यादेः शाक्याऽऽदिसम्बन्धिनश्चाधर्मप्रधानस्य परिहारः। तत्करणशीलो धर्मतीर्थकरः। सदेवमनुजासुरायां पर्षदि सर्वभाषापरिणामिन्यां धर्मतीर्थप्रवर्तके जिने, ध०२अधि०। आ०म०। ल०। ''अह तेणेव कालेणं, धम्मतित्थयरे जिणे।'' उत्त० २३ अ०।

धम्मतोलण-न०(धर्मतोलन) धर्माधिकरणिकनीतिशास्त्रप्रसिद्धे धर्मतोलने, व्य०२ उ०। ('अहुजाय' शब्दे प्रथमभागे २४३ पृष्ठे साधुभिर्धर्मतोलने यथा विद्याऽऽदि उपयोक्तव्यं तथोक्तम्)

धम्मत्थकाम-पुं०(धर्मार्थकाम) धर्मार्थं कामयतीति। साधौ, दश०६ अ०। धर्मश्चारित्रधर्माऽऽदिस्तस्यार्थः प्रयोजनं मोक्षः,

तं कामयन्ते इच्छन्ति विशुद्धवेदानुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामाः। मुमुक्षुषु, दश०६अ०।

धम्मत्थिकाय-पुं०(धर्मास्तिकाय) जीवानां पुद्गलानां च स्वभावत एव गतिपरिणामपरिणतानां तत्स्वभावधारणात् तत् स्वभावघोषणाद्धर्मः, अस्तयश्चैह प्रदेशः, तेषां कायः सङ्घातः, ''गणकाए य निकाए, खंधे वग्गे तहेव रासी य।'' इति वचनात्। अस्तिकायः प्रदेशसङ्घात इत्यर्थः, धर्मश्चासौ अस्तिकायश्च धर्मास्तिकायः। प्रज्ञा०१ पद। जी०। कर्म०। अनु०। ''जीवानां पुद्गलानां च गत्युपग्रहकारणम्। धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य, दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे, आव०४अ०। दर्श०। श्रा०। सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकामूर्तः। अजीवद्रव्यविशेषे, अनु०। दर्श०। (धर्मास्तिकायस्यास्तित्वम् 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे ५१६ पृष्ठे गतम्)

अथ धर्मास्तिकायस्य लक्षणमाह-

परिणामी गतेर्धर्मो, भवेत्पुद्गलजीवयोः।
अपेक्षाकारणाल्लोके, मीनस्येव जलं सदा ॥४॥

गतेर्गमनस्य, परिणामी अर्थाद्गतिपरिणामी, पुद्गलजीवयोर्धर्मो धर्मास्तिकायो, भवेत्। कस्माल्लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मकाऽऽकाशखण्डे, अपेक्षाकारणात् परिणामव्यापाररहितादधिकरणरूपौदासीन्यहेतोश्च। तत्र दृष्टान्तमाह- ''मीनस्येव जलं सदेति।'' सदा निरन्तरं, जलं यथा मीनस्य मत्स्यरय गतिपरिणामि अस्ति, अपेक्षाकारणात्-गमनाऽऽगमनाऽऽदिक्रियापरिणतस्य मत्स्यस्य जलमपेक्षाकारणमस्ति, तथैव धर्मद्रव्यमपि ज्ञेयम्। निष्कर्षस्त्वयम्- स्थले झषक्रिया व्याकुलतया चेष्टाहेत्विच्छाभावादेव न भवति, न तु जलाभावादिति गत्यपेक्षाकारणे मानाभाव इति चेत्? न। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां लोकसिद्धव्यवहारादेव तद्धेतुत्वसिद्धेरन्यथाऽन्यकारणेनेतराखिलकारणासिद्धिप्रसङ्ग।-दिति दिक्॥४॥ द्रव्या०१० अ०।

धम्मत्थिकाएणं भंते ! जीवाणं किं पवत्तइ? गोयमा ! धम्मत्थिकाएणं जीवाणं आगमणगमणभासुम्मेसमणजोगवइजोगकायजोगा जे यावण्णे तहप्पगारा चलसभावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तंति, गतिलक्खणेणं धम्मत्थिकाए॥

(आगमणगमणेत्यादि) आगमनगमने प्रतीते, भाषा व्यक्तवचनम्, 'भाष' व्यक्तायां वाचीति वचनात्। उन्मेषोऽक्षिव्यापारविशेषः, मनोयोगवाग्योगकाययोगाः प्रतीता एव। एतेषां च द्वन्द्वः। ततस्ते इह च मनोयोगाऽऽदयः सामान्यरूपाः, आगमनाऽऽदयस्तु तद्विशेषा इति भेदेनोपात्ताः। भवति च सामान्यग्रहणेऽपि विशेषग्रहणं तत्स्वरूपोपदर्शनार्थमिति। (जे यावण्णे तहप्पगारे त्ति) ये चाप्यन्ये आगमनाऽऽदिभ्योऽपरे तथाप्रकारा आगमनाऽऽदिसदृशा भ्रमणवलनाऽऽदयः। (चलसभाव त्ति) चलस्वभावाः पर्यायाः, सर्वे ते धर्मास्तिकाये सति प्रवर्त्तन्ते। कुतः? इत्याह- ''गतिलक्खणेणं धम्मत्थिकाय त्ति।'' भ० १३ श०४ उ०। तथा च- ''एगे धम्मे।'' एकः प्रदेशार्थतया संख्यातप्रदेशाऽऽत्मकत्वेऽपि द्रव्यार्थतया तस्यै-कत्वात् जीवपुद्गलानां स्वाभाविके क्रियावत्त्वे सति परिणतानां तत्स्वभावधारणाद्धर्मः। स वास्तीनां प्रदेशानां सङ्घाऽऽत्मकत्वात् कायोऽस्तिकाय इति। स्था० १ ठा०। न यतो धर्मास्तिकायविचारः-कोऽसौ धर्मो धर्मास्तिकायः। आह-सिद्धे सति वस्तुनोऽस्तित्वे इदमनेन लक्ष्यते इति वक्तुं युक्तम्, अस्य तु सत्त्वमेवासिद्धम्। अत्रोच्यते-यद्यशुद्धपदवाच्यं तत्तदस्ति। यथा स्तम्भाऽऽदिशुद्धपदवाच्यभावात् प्रमाणान्तरबाधितविषयत्वाख्यादोषरहितत्वेन, न च सिद्धत्वात्, न च खपुष्पाऽऽदिषु संकेततैः स्वादिशुद्धपदैरनेकान्तो वृद्धपरम्पराऽऽयातसंकेतविषयाणामेव शुद्धपदानां वाच्यत्वस्येह हेतुत्वेनेष्टत्वान्निपुणेन प्रतिपन्ना भाव्यम्, अन्यथा धूमाऽऽदेरपि गोपालघटिकाऽऽदिष्वन्यथाभावदर्शनादेष प्रसङ्गो दुर्निवारः स्यात्। उक्तं च- ''अत्थि त्ति नियविगप्पो, जीवो नियमाउ सद्दतो सिद्धी। कम्मा सुद्धपयता, घडखरसिंगाणुमाणाओ ॥१॥'' इत्याद्यलं प्रसङ्गेन। उत्त० पाई २८ अ०। (धर्मास्तिकायस्य वर्णाऽऽदिद्रव्याऽऽदिभेदतः स्वरूपं च 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे ५१६ पृष्ठे गतम्) धर्मास्तिकायविषये हीरप्रश्ने नगर्षिगणिकृतप्रश्नो यथा-सम्पूर्णो धर्मास्तिकायो द्रव्यमुच्यते, स्कन्धो वेति? अत्रोत्तरम्- सम्पूर्णो धर्मास्तिकायो द्रव्यमुच्यते, कुत्रचित् स्कन्धोऽप्युपचारात्, नात्र किमपि बाधकं ज्ञायते। ही०३ प्रका०।

सकलमेव धर्मास्तिकायरूपमवयविद्रव्यमाह-

अवयवी नाम अवयवानां तथारूपसंघातपरिणामविशेष एव, न पुनरवयवद्रव्येभ्यः पृथगर्थान्तरं द्रव्यं, तथाऽनुपलम्भात्। तन्तव एव हि आतानवितानरूपं संघातपरिणामविशेषमापन्ना लोके पटव्यपदेशभाज उपलभ्यन्ते, न तदतिरिक्तं पटाऽऽख्यं नाम। उक्तं चान्यैरपि- ''तन्त्वादिव्यतिरेकेण, न पटाऽऽद्युपलम्भनम्। तन्त्वादयो विशिष्टा हि, पटाऽऽदिव्यपदेशिनः ॥१॥'' प्रज्ञा० १पद।

धर्मास्तिकायस्यैकार्थिकान्याह-

धम्मत्थिकायस्स णं भंते ! केवइया अभिवयणा पण्णत्ता? गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता। तं जहा-धम्मे त्ति वा, धम्मत्थिकाएइ वा, पाणाइवायवेरमणे ति वा, मुसावायवेरमणेति वा, एवं०जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगेति वा०जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगेति वा, इरियासमिए ति वा, भासासमिए ति वा, एसणासमिए ति वा, आदाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए ति वा, उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपारिट्ठावणियासमिई ति वा, मणगुत्ती ति वा, वइगुत्ती ति वा, कायगुत्ती त्ति वा, जे यावण्णे तहप्पगारा, सव्वे ते धम्मत्थिकायस्स अभिवयणा।

(अभिवयण त्ति) अभि इत्यभिधायकानि वचनानि शब्दा अभिवचनानि, पर्यायशब्दा इत्यर्थः। (धम्मेइ व त्ति) जीवपुद्गलानां गतिपर्याये धारणाद्धर्म्मः, इती रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे। (धम्मत्थिकाए व त्ति) धर्म्मश्चासावस्तिकायश्च प्रदेशराशिरिति धर्म्मास्तिकायः। (पाणाइवायवेरमणेइ वा इत्यादि) इह धर्म्मश्चारित्रलक्षणः, स च प्राणातिपातविरमणाऽऽदिरूपः, ततश्च धर्मशब्दसाधर्म्यादस्तिकायरूपस्यापि धर्मस्य प्राणातिपातविरमणाऽऽदयः पर्यायतया प्रवर्त्तन्त इति। (जे यावण्णेत्यादि) ये चान्येऽपि तथा-प्रकाराश्चारित्रधर्माभिधायकाः सामान्यतो विशेषतो वा शब्दाः। ते सर्वेऽपि धर्मास्ति-

कायस्याभिवचनानीति । भ०२० श०२ उ०। (अस्तिकायानामस्तिकायत्वम् 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे ५१६ पृष्ठे गतम्)

धम्मत्थिकायदेस-पुं०(धर्मास्तिकायदेश) धर्मास्तिकायस्य बुद्धिकल्पितो द्व्यादिप्रदेशाऽऽत्मको विभागो धर्मास्तिकायदेशः। अजीवद्रव्यभेदे, प्रज्ञा०१ पद। दर्श०। जी०।

धम्मत्थिकायप्पएस-पुं०(धर्मास्तिकायप्रदेश) धर्मास्तिकायस्य प्रकृष्टो देशःप्रदेशः, निर्विभागो निरंशो भागो धर्मास्तिकायप्रदेशः। प्रज्ञा०१ पद। अजीवद्रव्यभेदे, दर्श०५ तत्त्व। जी०। ''अदु धम्मत्थिकायमज्झप्पएसा पण्णत्ता।'' स्था०८ ठा०।

धम्मद-पुं०(धर्मद) धर्मं चारित्ररूपं ददातीति धर्मदः। जी०३ प्रति०। चारित्रधर्मदायके तीर्थकरे, कल्प०१ अधि०१ क्षण।

धम्मदत्त-पुं०(धर्मदत्त) स्वनामख्याते कल्किराजसुते, कल्प० १ अधि०६ क्षण। ती०। ''कल्किपुत्रो धर्मदत्तो, भावी स परमाऽऽर्हतः। दिने दिने जैनबिम्बं, प्रतिष्ठाप्यावभोक्ष्यते ॥१॥'' ती०१ कल्प०।

धम्मदय-पुं०(धर्मदय) धर्मं श्रुतचारित्राऽऽत्मकं दुर्गतिप्रपतज्जन्तुधारणस्वभावं दयते ददातीति धर्मदयः। स०१ सम०। चारित्रधर्मदायके तीर्थकरे, भ०१ श० १उ०।

धम्मदाण-न०(धर्मदान) धर्मकारणं दानं, धर्म एव वा दानम्। ''समतृणमणिमुक्ताभ्यो, यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्यः। अक्षयमतुलमनन्तं, तद्दानं भवति धर्माय ॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे दानभेदे, स्था०१० ठा०।

धम्मदार-न०(धर्मद्वार) धर्मस्य चारित्रलक्षणस्य द्वारमिव द्वारं धर्मद्वारम्। क्षान्त्यादिके धर्मोपाये, ''चत्तारि धम्मदारा पण्णत्ता। तं जहा–खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे।'' धर्मस्य चारित्रलक्षणस्य द्वाराणीव द्वाराण्युपायाः क्षान्त्यादीनि धर्मद्वाराणि। स्था०४ ठा०४उ०।

धम्मदासगणि-पुं०(धर्मदासगणि) स्वनामख्याते आचार्ये, दर्श०४ तत्त्व। ध०। अनेन भगवता उपदेशमाला नाम ग्रन्थो रचितः। अयमाचार्यो वीरप्रभोरपि पूर्वं बभूवेति प्रसिद्धिः। जै०इ०। तथा चाहुः– ''प्रतिहतसकलव्यामोहतमिस्रा धर्मदासगणिमिश्राः।'' ध०२०। तथा चाऽऽह– भगवान् धर्मदासगणिः। दर्श०४ तत्त्व।

धम्मदिवस-पुं०(धर्मदिवस) चतुर्दश्यष्टम्याऽऽदिके धर्मदिने, सूत्र०२ श्रु०७ अ०।

धम्मदुम-पुं०(धर्मद्रुम) धर्मवृक्षे, संथा०।

धम्मदूअ-पुं०(धर्मदूत) वृद्धावस्थासूचके पलिताऽऽदिके, तस्या धर्मकरणयोग्यावस्थोपदेशकत्वात्तथात्वम्। आव०४ अ०।

धम्मदेव-पुं०(धर्मदेव) धर्मेण श्रुताऽऽदिना देवो धर्मप्रधानो वा देवो धर्मदेवः। भ० १२ श० ६ उ०। चारित्रवद्रूपे देवभेदे, स्था० ५ ठा०१उ०।

धम्मदेसग-पुं०(धर्मदेशक) धर्मं श्रुतचारित्राऽऽत्मकं देशयतीति धर्मदेशकः। भ०१ श०१उ०। धर्मोपदेशदायके, कल्प०१ अधि०१ क्षण। ल०। ध०। रा०।

धम्मदेसणा-स्त्री०(धर्मदेशना) कुशलानुष्ठानप्ररूपणायाम्, हा० ३१ अष्ट०।

तत्प्रदानविधिमाह–

सा च संवेगकृत् कार्या, शुश्रूषोर्मुनिना परा।
बालाऽऽदिभावं संज्ञाय, यथाबोधं महात्मना ॥१६॥

सा च देशना संवेगकृत्संवेगकारिणी, संवेगलक्षणं चेदम्– ''तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे, देवे रागद्वेषमोहाऽऽदिमुक्ते। साधौ सर्वग्रन्थसंदर्भहीने, संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥१॥'' मुनिना गीतार्थेन साधुना, अन्यस्य धर्मोपदेशेऽनधिकारित्वात्।

यथोक्तं निशीथे–

''संसारदुक्खमहणो, विबोहणो भवियपुंडरीयाणं।
धम्मो जिणपण्णत्तो, पकप्पजइणा कहेअव्वो '' ॥१॥ इति।

(प्रकल्पयतिनेति) अधीतनिशीथाध्ययनेन।

(परा) शेषतीर्थान्तरीयधर्मातिशायितया प्रकृष्टा कार्या प्रज्ञापनीया। कीदृशस्य पुरतः सा कार्येत्याह– शुश्रूषोः श्रोतुमुपस्थितस्य, मुनिना च किं ज्ञानपूर्वमाख्येयेत्याह– (बालाऽऽदिभावमित्यादि) बालाऽऽदीनां त्रयाणां धर्मपरीक्षकाणाम्, आदिपदेन मध्यबुद्धिबुधयोर्ग्रहणात्, भावं परिणामविशेषं स्वरूपं वा संज्ञाय सम्यगवैपरीत्येन ज्ञात्वाऽवबुद्ध्य। ध०१ अधि०। (बालाऽऽदीनां धर्मपरीक्षकाणां स्वरूपं 'धम्म' शब्दे धर्मपरीक्षाऽवसरे २६७४ पृष्ठे गतम्) कथं सा कार्येत्याह– (यथाबोधमिति) बोधानतिक्रमे ण, अनवबोधे धर्माऽऽख्यानस्योन्मार्गदेशनारूपत्वेन प्रत्युतानर्थसंभवात्। न ह्योमान्धः समाकृष्यमाणः सम्यगध्वानं प्रतिपद्यत इति। मुनिना कीदृशेन? महात्मनातदनुग्रहैकपरायणतया महान् आत्मा यस्य स तेन इति संक्षेपतो धर्मदेशनाप्रधानविधिः, विस्तरतस्तु धर्मबिन्दौ (२प्रक०) उक्तः।

स चायम्– ''इदानीं तद्विधिमनुवर्णयिष्याम इति।'' इदानीं संप्रति तद्विधिं सद्धर्मदेशनाक्रमं वर्णयिष्यामो निरूपयिष्यामो वयमिति। तद्यथा– ''तत्प्रकृतिदेवताधिमुक्तिज्ञानमिति।'' तस्य सद्धर्मदेशनार्हस्य जन्तोः प्रकृतिः स्वरूपं गुणवत् सङ्ग लोकप्रियत्वाऽऽदिका, देवताधिमुक्तिश्च बुद्धकपिलाऽऽदिदेवताविशेषभक्तिः, तयोर्ज्ञानं प्रथमतो देशकेन कार्यम्। ज्ञातप्रकृतिको हि पुमान् रक्तो द्विष्टो मूढः पूर्वं व्युद्ग्राहितश्च चेन्न भवति, तदा कुशलैस्तथा तथाऽनुवर्त्य लोकोत्तरगुणपात्रतामानीयते। विदितदेवताविशेषाधिमुक्तिश्च तत्तद्देवताप्रणीतमार्गानुसारिवचनोपदर्शनेन दूषणेन च सुखमेव मार्गेऽवतारयितुं शक्य इति। तथा–''साधारणगुणप्रशंसेति।'' साधारणानां लोकलोकोत्तरयोः सामान्यानां गुणानां प्रशंसा पुरस्कारो देशनाऽर्हस्याग्रतो विधेया। यथा– ''प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संभ्रमविधिः, प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः। अनुत्सेको लक्ष्म्यां निरभिभवसाराः परकथाः, श्रुते चासन्तोषः कथमनभिजाते निवसति? ॥१॥'' तथा– ''सम्यक् तदधिकाऽऽख्यानमिति।'' सम्यगविपरीतरूपतया तेभ्यः साधारणगुणेभ्योऽधिका विशेषवन्तो ये गुणाः तेषामाख्यानं कथनम्। यथा– ''पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम्। अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥१॥'' इति। तथा– ''अबोधेऽप्यनिन्देति।'' अबोधेऽप्यनवगमेऽपि सामान्यगुणानां, विशेषगुणानां वा व्याख्यातानामपि अनिन्दा अहो मन्दबुद्धिर्भवान् य इत्थमाचक्षाणेष्वप्यस्मासु न बुध्यते वस्तुतत्त्वमित्येवं श्रोतुरस्तिरस्कारपरिहाररूपा, निन्दितो हि श्रोता किञ्चिद् बुभुत्सुरपि सन् दूरं विरज्यत इति। तर्हि किं कर्तव्यमित्याह– ''शुश्रूषाभाव

करणमिति ।'' धर्मशास्त्रं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा, तल्लक्षणो भावः परिणामः, तस्य करणं निर्वर्त्तनं श्रोतुस्तैस्तैर्वचनैरिति। शुश्रूषामनुत्पाद्य धर्म्मकथने प्रत्युतानर्थसंभवः। पठ्यते च– ''स खलु पिशाचकी वातकी वा, यः परेऽनर्थिनि वाचमुदीरयति।'' ''भूयो भूय उपदेश इति।'' भूयो भूयः पुनः पुनरूपदिश्यत इत्युपदेशः। उपदेष्टुमिष्टो वस्तुविषयः कथञ्चिदनवगमे सति कार्यः। किं न क्रियते दृढसन्निपातरोगिणां पुनः पुनः क्रियेतिक्ताऽऽदिक्वाथपानोपचार इति। तथा–''बोधे प्रज्ञोपवर्णनमिति।'' बोधे सकृदुपदेशेन भूयो भूय उपदेशेन वोपदिष्टवस्तुनः परिज्ञाने तस्य श्रोतुः प्रज्ञोपवर्णनं बुद्धिप्रशंसनं, यथा–नाऽलघुकर्म्माणिः प्राणिन एवंविधसूक्ष्मार्थबोद्धारो भवन्तीति। तथा–''तन्त्रावतार इति।'' तन्त्रे आगमेऽवतारः प्रवेश आगमबहुमानोत्पादनद्वारेण तस्य विधेयः। आगम-बहुमानश्चैवमुत्पादनीयः–

''परलोकविधौ शास्त्रात्, प्रायो नान्यदपेक्षते।
आसन्नभव्यो मतिमान्, श्रद्धाधनसमन्वितः ॥१॥
उपदेशं विनाऽप्यर्थ–कामौ प्रति पटुर्जनः।
धर्मस्तु न विना शास्त्रा–दिति तत्राऽऽदरो हितः ॥२॥
अर्थाऽऽदावविधानेऽपि, तदभावः परं नृणाम्।
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः, क्रियोदाहरणात्परः ॥३॥
तस्मात्सदैव धर्मार्थी, शास्त्रयत्नः प्रशस्यते।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन्, शास्त्राऽऽलोकः प्रवर्तकः ॥४॥''

(शास्त्रयत्न इति) शास्त्रे यत्नो यस्येति समासः।

''पापाऽऽमयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥५॥
न यस्य भक्तिरेतस्मिं–स्तस्य धर्म्मक्रियाऽपि हि।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या, कर्मदोषादसत्फला ॥६॥
यः श्राद्धो मन्यते मान्या–नहङ्कारविवर्जितः।
गुणरागी महाभाग–स्तस्य धर्मक्रिया परा ॥७॥
यस्य त्वनादरः शास्त्रे, तस्य श्रद्धाऽऽदयो गुणाः।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वा–न्न प्रशंसाऽऽस्पदं सताम् ॥८॥
मलिनस्य यथाऽत्यन्तं, जलं वस्त्रस्य शोधनम्।
अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥९॥
शास्त्रभक्तिर्जगद्बन्धौ–र्मुक्तिदूती परोदिता।
अत्रैवेयमतो न्याय्या, तत्प्राप्त्यासन्नभावतः ॥१०॥''

(अत्रैवेति) मुक्तावेव (इयमिति) शास्त्रभक्तिः, ''तत्प्राप्त्यासन्नभावत इति'' मुक्तिप्राप्तिसमीपभावादिति। तथा– ''प्रयोग आक्षेपण्या इति।'' प्रयोगो व्यापारणं धर्मकथाकाले आक्षिप्यन्ते आकृष्यन्ते मोहात्तत्वं प्रति भव्यप्राणिनोऽनयेति आक्षेपणी। (तस्याः कथायाश्चातुर्विध्यम् 'अक्खेवणी' शब्दे प्रथमभागे १५२ पृष्ठे गतम्) तथा–''ज्ञानाऽऽद्या-चारकथनमिति'' ज्ञानस्य श्रुतलक्षणस्य, आचारो ज्ञानाऽऽचारः, आदिशब्दाद्दर्शनाऽऽचारश्चारित्राऽऽचारस्तपआचारो वीर्याऽऽचारश्चेति। ततो ज्ञानाऽऽद्याचाराणां कथनं प्रज्ञापनमिति समासः। ध०१ अधि०। अनन्तरोक्तषट्- त्रिंशद्विधे ज्ञानदर्शनाऽऽद्याचारे यथाशक्ति प्रतिपत्तिलक्षणं पराक्रमणं, प्रतिपत्तौ च यथाबलं पालनेति। तथा– ''निरीहशक्यपालनेति।'' निरीहेणैहिकपारलौकिकफलेषु राज्यदेवत्वाऽऽदिलक्षणेषु व्यावृत्ताभिलाषेण शक्यस्य ज्ञानाऽऽचाराऽऽदेर्विहितमिदमिति बुद्ध्या पालना कार्या इति च कथ्यत इति। तथा– ''अशक्ये भावप्रतिपत्तिरिति।'' अशक्ये ज्ञानाऽऽचाराऽऽदिविशेष एव, कर्त्तुमपार्यमाणे कुतोऽपि धृतिसंहननकालबलाऽऽदिवैकल्यात् भावप्रतिपत्तिः। भावेनान्तःकरणेन प्रतिपत्तिरनुबन्धः, न पुनस्तत्र प्रवृत्तिरपि, अकालौत्सुक्यस्य तत्त्वत आर्त्तध्यानत्वादिति। तथा–''पालनोपायोपदेश इति।'' एतस्मिन् ज्ञानाऽऽद्याचारे प्रतिपन्ने सति पालनाय उपायस्याधिकगुणतुल्यगुणलोकमध्यसंवासलक्षणस्य निजगुणस्थानकोचितक्रियापरिपालनानुस्मारणस्वभावस्य चोपदेशो दातव्य इति। तथा– ''फलप्ररूपणेति।'' अस्याऽऽचारस्य सम्यक् परिपालितस्य सतः फलमिहैव तावदुपप्लवहासो भावैश्वर्यवृद्धिर्जनाप्रियत्वं च, परत्र च सुगतिजन्मोत्तमस्थानलाभः परम्परया निर्वाणावाप्तिश्चेति यत्कार्यं तस्य प्ररूपणा प्रज्ञापना विधेयेति। ध०१अधि०। (देवर्द्धिवर्णनं 'देवड्ढिवण्णण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६१७ पृष्ठे गतम्) (असदाचारगर्हा 'असदायार' शब्दे प्रथमभागे ८४० पृष्ठे प्रतिपादिता) (नारकदुःखोपवर्णनम् ''णारयदुक्खोववण्णण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१२ पृष्ठे गतम्) (दुष्कुलजन्मप्रशस्ति, ''दुक्कुलजम्मप्पसत्थि'' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५४८ पृष्ठे प्रोक्ता) (मोहनिन्दां 'मोहनिंदा' शब्दे प्रतिपादयिष्यामि) (धर्मबीजं च 'धम्मबीय' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव वक्ष्यामि) (संज्ञानप्रशंसनं 'सण्णाणप्पसंसण' शब्दे प्रतिपादयिष्यते) ''वीर्यर्द्धिवर्णनमिति।'' वीर्यर्द्धेः प्रकर्षरूपायाः शुद्धाऽऽचारबलभ्यायास्तीर्थकरपर्यवसानाया वर्णनमेति। यथा– ''मेरुं दण्डं धरां छत्रं, यत्केचित्कर्त्तुमीशते। तत्सदाचारकल्पद्रुफलमाहुर्महर्षयः ॥१॥'' तथा-परिणते गम्भीरायाः पूर्वदेशनापेक्षयाऽत्यन्तसूक्ष्माया आत्मास्तित्वतद्बन्धमोक्षाऽऽदिकाया देशनायायोगो व्यापारः कार्यः। इदमुक्तं भवति– यः पूर्वं साधारणगुणप्रशंसाऽऽदिरनेकधोपदेशः प्रोक्त आसीत्, स यदा तदाचारककर्महासातिशयादङ्गाङ्गिभावलक्षणं परिणाममुपागतो भवति तदा जीर्णे भोजनमिव गम्भीरदेशनायामसौ देशनार्होऽवतार्यत इति। ध० १अधि०।

इत्थं देशनाविधिं प्रपञ्च्योपसंहरन्नाह– ''एवं संवेगकृद्धर्म्म, आख्येयो मुनिना परः। यथाबोधं हि शुश्रूषोर्भावितेन महात्मना ॥१॥'' इति व्याख्यातप्रायम्। आह– धर्म्माख्यापनेऽपि यदा तथाविधकर्म्मदोषान्नावबोधः श्रोतुरुत्पद्यते, तदा किंफलं धर्माऽऽख्यानमित्याह– ''अबोधेऽपि फलं प्रोक्तं, श्रोतृणां मुनिसत्तमैः। कथकस्य विधानेन, नियमाच्छुद्धचेतसः ॥१॥'' इति सुगमम्। आह– प्रकारान्तरेणापि देशनाफलस्य संभाव्यमानत्वादलमिहैव यत्नेनेत्याशङ्क्याह–

''नोपकारो जगत्यस्मिं–स्तादृशो विद्यते क्वचित्।
यादृशी दुःखविच्छेदा–द्देहिनो धर्म्मदेशना ॥१॥'' इति।

(न) नैवोपकारोऽनुग्रहो, जगति भुवने, अस्मिन्नुपलभ्यमाने, तादृशो विद्यते समस्ति, क्वचित्काले क्षेत्रे वा, यादृशी यादृग्रूपा, दुःखविच्छेदात् शारीरमानसदुःखपनयनात्, देहिनां देशनार्हाणां, (धर्म्मदेशनेति) धर्म्मदेशनाजनितो मार्गश्रद्धानाऽऽदिर्गुणः तस्य निःशेषक्लेशशैलशकलङ्कमोक्षाऽऽक्षेपं प्रत्यबन्ध्यकारणत्वात्। इति निरूपितो धर्म्मबिन्दौ सद्धर्मदेशनाप्रदानविधिः।ध०१ अधि०। सङ्ग्रा०।

बालाऽऽदीनां सद्धर्म्मपरीक्षाकाणां सप्रपञ्चं लक्षणमभिधाय तद्वत्तदेशनाविधिमाह–

बालाऽऽदिभावमेवं, सम्यग् विज्ञाय देहिनां गुरुणा।

सद्धर्मदेशनाऽपि हि, कर्त्तव्या तदनुसारेण ॥१३॥

बालाऽऽदीनां भावः परिणामविशेषः, स्वरूपं वा, तमेवमुक्तनीत्या सम्यगवेपरीत्येन, विज्ञायाऽवबुध्य, देहिनां जीवानां, गुरुणा शास्त्राभिहितस्वरूपेण । यथोक्तम्– ''धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मप्रवर्त्तकः । सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थदेशको गुरुरुच्यते ॥१॥'' सद्धर्मस्य देशनाऽपि हि प्रेक्षापूर्वा कर्त्तव्या । तदनुसारेण बालाऽऽदिपरिणामानुरूपेण यस्य यथोपकाराय संपद्यते देशना, तस्य तथा विधेयेति ॥१३॥

अत्रैव हेतुद्वारेण व्यतिरेकमाह–

यद्भाषितं मुनीन्द्रैः, पापं खलु देशना परस्थाने ।
उन्मार्गनयनमेत–द्भवगहने दारुणविपाकम् ॥१४॥

यद्यस्माद्भाषितमुक्तम्, मुनीन्द्रैः समययुक्तैः, पापं खलु वर्त्तते । देशना परस्थाने बालसंबन्धिनी मध्यमबुद्धेस्तत्संबन्धिनी बुधस्य स्थाने । किमित्याह– उन्मार्गनयनमुन्मार्गप्रापणमेतद्विपरीतदेशनाकरणम् । भवगहने संसारगहने, दारुणविपाकं तीव्रविपाकम्। ते हि विपरीतदेशनया अन्यथा वान्यथा च प्रवर्त्तन्त इति कृत्वा ॥१४॥

कथं पुनर्देशनास्वरूपेण समयोक्तत्वेन सुन्दराऽपि सती परस्थानेऽपायमित्याह–

हितमपि वायोरौषध–महितं ततश्लेष्मणो यथाऽत्यन्तम् ।
सद्धर्मदेशनौषध–मेवं बालाऽऽद्यपेक्षमिति ॥१५॥

हितमपि योग्यमपि, वायोः शरीरगतस्य वातस्यौषधं स्नेहपानाऽऽदि अहितं, तदेवौषधं श्लेष्मणो यथाऽत्यन्तं भवति । तत्प्रकोपहेतुत्वेन सद्धर्मस्य देशनौषधं स्वरूपेण सुन्दरमपि तदवज्ञाहेतुत्वेन एवमहितं भवति । (बालाऽऽद्यपेक्षमिति) बालमध्यमबुद्धिबुधापेक्षं तस्मात्तदपायभीरुणातद्धितप्रवृत्तेन च गुरुणा तेषां भावं विज्ञाय, देशना विधेयेति शास्त्रोपदेशः ॥१५॥ षो० १ विव०।

गुरुर्बालाऽऽदीनां देशनां विदधातीत्युक्तम्, तत्र विधिमाह–

बालाऽऽदीनामेषां, यथोचितं तद्विदो विधिर्गीतः।
सद्धर्मदेशनाया–मयमिह सिद्धान्ततत्त्वज्ञैः ॥१॥

बालाऽऽदीनामेषां पूर्वोक्तानां, यथोचितं यथार्हम्, तद्विदो बाला–ऽऽदिस्वरूपविदः, विधिर्गीतः कथितः । सद्धर्मदेशनायां विषये, अयमिह वक्ष्यमाणः, सिद्धान्ततत्त्वज्ञैरागमपरमार्थनिपुणैरिति ॥१॥

तत्र बालस्य परिणाममाश्रित्य हितकारिणीं देशनामाह–

बाह्यचरणप्रधाना, कर्त्तव्या देशनेह बालस्य ।
स्वयमपि च तदाचार–स्तदग्रतो नियमतः सेव्यः ॥२॥

बाह्यचरणप्रधाना बाह्यानुष्ठानप्रवरा, कर्त्तव्या विधेया, देशना प्ररूपणा, इह प्रक्रमे बालस्याऽऽद्यस्य धर्मार्थिनः, स्वयमपि चाऽऽत्मनाऽपि च, तदाचारः–स चासावाचारश्चोपदिश्यमानाऽऽचारस्तदग्रतो बालस्याऽग्रतो, नियमतो नियमेन, सेव्यो भवत्याचरणीयः। यदि पुनः स्वयमन्यथा सेव्यते, अन्यथा चोपदिश्यते, तदा तद्वितथाशङ्कतं जनयति, अतस्तद्भावबृद्धये समुपदिश्यमानं तथैवाऽऽसेव्यमिति ॥२॥

तामेव बालस्य देशनामाह–

सम्यग् लोचविधानं, ह्यनुपानत्कत्वमथ धरा शय्या ।
प्रहरद्वयं रजन्याः, स्वापः शीतोष्णसहनं च ॥३॥

सम्यग् लोचविधानं लोचकरणं, कथनीयं भवतीति योगः । हिशब्दश्चार्थे सर्वत्राभिसंबन्धनीयः। अनुपानत्कत्वं च–न विद्यते उपानहौ यस्य सोऽयमनुपानत्कस्तद्भावस्तत्त्वम्।अथ धरा शय्या–धरा पृथ्वी सैव शय्या शयनीयं, नान्यत्पर्यङ्काऽऽदि, प्रहरद्वयं रजन्याः स्वापः–प्रथमयामे स्वाध्यायकरणं सामान्येनैव साधूनां, द्वितीयतृतीयप्रहरयोस्तु स्वापः स्वपनं, चतुर्थे पुनः स्वाध्यायकरणं, समयनीत्या शीतोष्णसहनं च–शीतोष्णयोः सहनं स्वसामर्थ्यापि–क्षमार्त्तध्यानाऽऽदिपरिहारेण ॥३॥

षष्ठाष्टमाऽऽदिरूपं, चित्रं बाह्यं तपो महाकष्टम् ।
अल्पोपकरणसंधा–रणं च तच्छुद्धता चैव ॥४॥

षष्ठाष्टमाऽऽदिरूपं समयप्रसिद्धं, चित्रं नानाप्रकारं, बाह्यं तपो महाकष्टं दुरनुचरम्, अल्पसत्त्वैर्दुर्बलसंहननैश्चेति कृत्वा, अल्पोपकरणसंधारणं च अल्पमेवोपकरणम् (संधारणीयं) तच्छुद्धता चैव उद्गमाऽऽदिदोषविशुद्ध्या ॥४॥

गुर्वी पिण्डविशुद्धि–श्चित्रा द्रव्याऽऽद्यभिग्रहाश्चैव ।
विकृतीनां संत्याग–स्तथैकसिक्थाऽऽदिपारणकम् ॥५॥

गुर्वी पिण्डविशुद्धिराधाकर्माऽऽदित्यागेन चित्रा द्रव्याऽऽद्यभिग्रहाश्चैव द्रव्यक्षेत्रकालभावाभिग्रहाः समयप्रसिद्धाः। विकृतीनां संत्यागः क्षीराऽऽदीनाम्, तथैकशिक्थाऽऽदिपारणकम् । एकं सिक्थं भोजनं पारणके । आदिशब्दादेककवलाऽऽदिग्रहः ॥५॥

अनियतविहारकल्पः, कायोत्सर्गाऽऽदिकरणमनिशं च ।
इत्यादि बाह्यमुच्चैः, कथनीयं भवति बालस्य ॥६॥

अनियतविहारकल्पोऽनियतश्चासौ विहारश्च नैकक्षेत्रवासित्वम्, तस्य कल्पः समाचारः, कायोत्सर्गाऽऽदिकरणमनिशं च–कायोत्सर्गस्याऽऽदिशब्दान्निषद्याकरणमासेवनमित्यादि बाह्यमुच्चैर्बाह्यमनुष्ठानं प्रतिश्रयप्रत्युपेक्षणप्रमार्जनकालग्रहणाऽऽदि कथनीयं भवति बालस्य सर्वथोपदेष्टव्यं हितकारीति ॥६॥

इदानीं मध्यमबुद्धेर्देशनाविधिमाह–

मध्यमबुद्धेस्त्वीर्या–समितिप्रभृति त्रिकोटिपरिशुद्धम् ।
आद्यन्तमध्ययोगै–र्हितदं खलु साधुसद्वृत्तम् ॥७॥

मध्यमबुद्धेस्तु मध्यमबुद्धेः पुनरीर्यासमितिप्रभृति ईर्यासमित्यादिकम्, प्रवचनमातृरूपं साधुसद्वृत्तं, समाख्येयमिति योगः । तच्च कीदृशं साधूनां सद्वृत्तम् ?त्रिकोटिपरिशुद्धं रागद्वेषमोहत्रयपरिशुद्धम् । अथवा तिस्रः कोट्यो हननपचनक्रयणरूपाः कृतकारितानुमतिभेदेन श्रूयन्ते, ताभिः परिशुद्धम् । अथवा–कषच्छेदतापकोटित्रयपरिशुद्धं, प्रवचनमात्रन्तर्गतत्वात् सकलप्रवचनस्य । तस्य च कषच्छेदतापपरिशुद्धत्वेनाभिधानात्तदेव च वचनमनुष्ठीयमानम्, सद्वृत्तम्, साधुसद्वृत्तमेव विशिष्यते–आद्यन्तमध्ययोगैर्हितदं खल्विति। आदियोगेन, मध्ययोगेनान्तयोगेन वा, वयसो जीवितव्यस्य वा, हितदमुपकारि। अथवा–आदियोगेन प्रथमवयोऽवस्थागतेनाध्ययनाऽऽदिना, मध्ययोगेन द्वितीयवयोऽवस्थाभाविनाऽर्थश्रवणाऽऽदिना, अन्तयोगेन चरमवयोऽवस्थाभाविना धर्मध्यानाऽऽदिना । भावनाविशेषरूपेण, हितदं हितकारि हितफलमेवेति ॥७॥

एतदेवाऽऽह–

अष्टौ साधुभिरनिशं, मातर इव मातरः प्रवचनस्य ।
नियमेन न मोक्तव्याः, परमं कल्याणमिच्छद्भिः ॥८॥

अष्टौ साधुभिरनिशं प्रवचनस्य मातरो न मोक्तव्या इति संबन्धः । ताश्च मातर इव, पुत्रस्येति गम्यते । प्रवचनस्य प्रसूतिहेतुत्वेन, हितकारित्वेन च मातृत्वमवरोयम् । नियमेनावश्यंभावेन । कीदृशैः साधुभिः? परमं कल्याणमिच्छद्भिरैहलौकिकपारलौकिकपरमकल्याणकामैः ॥८॥

एतच्च समाख्येयम्–

एतत्सचिवस्य सदा, साधोर्नियमान्न भवभयं भवति ।
भवति च हितमत्यन्तं, फलदं विधिनाऽऽगमग्रहणम् ॥९॥

एतत्सचिवस्य प्रवचनमातृसहितस्य, सदा सर्वकालं, साधोर्यतेर्नियमान्नियमेन, न भवभयं भवति संसारभयं न जायते, निःश्रेयसविषयेच्छानिष्पत्तेः। भवति च संपद्यते च । प्रवचनमातृविधानसंपन्नस्य हितं भाव्यपायपरिहारसारत्वेनात्यन्तं प्रकर्षवृत्त्या फलदं फलहेतुर्विधिना विनयबहुमानाऽऽदराऽऽदिना, आगमग्रहणं वाचनाऽऽदिरूपेणेति ॥९॥

आगमग्रहणस्य गुर्वधीनत्वात् तद्गतमप्युपदेष्टव्यमित्याह–

गुरुपारतन्त्र्यमेव च, तद्बहुमानात्सदाशयानुगतम् ।
परमगुरुप्राप्तेरिह, बीजं तस्माच्च मोक्ष इति ॥१०॥

गुरुपारतन्त्र्यमेव च गुर्वायत्तत्वम्, तद्बहुमानादुरुविषयाऽऽन्तरप्रीतिविशेषात् । (न तु दृष्टिमात्रज्ञानात्) सदाशयानुगतम्– सदाशयः संसारक्षयहेतुर्गुरुरयं ममेत्येवंभूतः कुशलपरिणामः, तेनानुगतं गुरुपारतन्त्र्यम् । परमगुरुप्राप्तेरिह सर्वज्ञप्राप्तेर्बीजम्, गुरुबहुमानाज्जन्मान्तरे तथाविधपुण्योपादानेन सर्वज्ञदर्शनसंभवाद् गुरुपारतन्त्र्यं सर्वज्ञप्राप्तिबीजं भवति । तस्माच्चैवं विधादुरुपारतन्त्र्यान्मोक्षः (इति हेतोर्गुरुपारतन्त्र्यं साधुनाऽवश्यं विधेयमिति) ॥१०॥

पूर्वोक्त एव वस्तुनि सद्वृत्ताऽऽदौ क्रियासंबन्धं दर्शयति–

इत्यादि साधुवृत्तं, मध्यमबुद्धेः सदा समाख्येयम् ।
आगमतत्त्वं तु परं, बुधस्य भावप्रधानं तु ॥११॥

मध्यमबुद्धेरेवमादि साधुवृत्तं प्रस्तुतम्, सदा समाख्येयं प्रकाशनीयम्, आगमतत्त्वं तु पूर्वोक्तं परं केवलमेव, बुधस्य प्राङ्निरूपितस्य, भावप्रधानं तु परमार्थसारं समाख्येयमिति ॥११॥

कृतसंबन्धमेव बुधोपदेशमाह–

वचनाऽऽराधनया खलु, धर्मस्तद्बाधया त्वधर्म इति ।
इदमत्र धर्मगुह्यं, सर्वस्वं चैतदेवास्य ॥१२॥

वचनाऽऽराधनया आगमाऽऽराधनयैव, खलुशब्द एवकारार्थः । धर्मः श्रुतचारित्ररूपः, संपद्यते । तद्बाधया तु वचनबाधया त्वधर्म इति । इदमत्र विधिप्रतिषेधरूपं वचनमागमाऽऽख्यं धर्मगुह्यं धर्मरहस्यम्, सर्वस्वं चैतदेवाऽस्य धर्मस्य, एतद् वचनमेव सर्वस्वं सर्वसारो वर्त्तत इति ॥१२॥

अथ किमर्थं बुधस्यैवमुपदेशः क्रियते सकलानुष्ठाभोपसर्जनीभावाऽऽपादानद्वारेणेत्याशङ्क्य तन्मूलत्वं सकलानुष्ठानानामुपदर्शयन्नाह–

यस्मात्प्रवर्त्तकं भुवि, निवर्त्तकं चान्तराऽऽत्मनो वचनम् ।
धर्मश्चैतत्संस्थो, मौनीन्द्रं चैतदिह परमम् ॥१३॥

यस्मात् प्रवर्त्तकं स्वाध्यायध्यानाऽऽदिषु विधेयेषु, भुवि भव्यलोके, निवर्त्तकं च हिंसाऽनृताऽऽदिभ्यः सकाशादन्तराऽऽत्मनो मनसो वचनमागमरूपं, धर्मश्चैतत्संस्थो वचनसंस्थो वचने संतिष्ठत इति कृत्वा मौनीन्द्रं चैतद्वचनमिह प्रक्रमे परमं प्रधानम् । एतदुक्तम्– ''सर्वज्ञोक्तेन शास्त्रेण, विदित्वा योऽत्र तत्त्वतः । न्यायतः क्रियते धर्मः, स धर्मः स च सिद्धये ॥१॥'' ॥१३॥

किमेवं वचनमाहात्म्यं ख्याप्यत इत्याह–

अस्मिन् हृदयस्थे सति, हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति ।
हृदयस्थिते च तस्मिन्–नियमात्सर्वार्थसंसिद्धिः ॥१४॥

अस्मिन् प्रवचने आगमे, हृदयग्रन्थे सति हृदयप्रतिष्ठिते सति, हृदयस्थश्चित्तस्थरत्तत्त्वतः परमार्थेन, मुनीन्द्रः सर्वज्ञ इति कृत्वा, हृदयस्थिते च तस्मिन् भगवति मुनीन्द्रे नियमान्नियमेन, सर्वार्थसंसिद्धिः सर्वार्थनिष्पत्तिः ॥१४॥

किमेवं सर्वप्रयोजनसिद्धिद्वारेण भगवान् संस्तूयत इत्याह–

चिन्तामणिः परोऽसौ, तेनैवं भवति समरसाऽऽपत्तिः ।
सैवेह योगिमाता, निर्वाणफलप्रदा प्रोक्ता ॥१५॥

चिन्ता रत्नं चिन्तामणिः, परः प्रकृष्टोऽसौ भगवान् सर्वज्ञस्तेन भगवतैवागमबहुमानद्वारेण, भवति जायते, समरसाऽऽपत्तिः समताऽऽपत्तिः । आगमाभिहितसर्वज्ञस्वरूपोपयोगोपयुक्तस्य तदुपयोगाऽनन्यवृत्तेः परमार्थतः सर्वज्ञरूपत्वाद् बाह्याऽऽलम्बनाऽऽकारोपरक्तत्वेन मनसः समापत्तिर्ध्यानविशेषरूपा, तत्फलभूता वा समरसाऽऽपत्तिरित्यभिधीयते । यथोक्तं योगशास्त्रे ''क्षीणवृत्तेरभिजात्यस्येव मणेर्ग्राह्यग्रहीतृग्रहणेषु तत्स्थतदनुगता समापत्तिः।'' सैषेह प्रस्तुता समापत्तिरभिसंबध्यते योगिमाता योगिजननी, योगी चेह सम्यक्त्वाऽऽदिगुणः पुरुषः । यथोक्तम्– ''सम्यक्त्वज्ञानचारित्रयोगः सद्योग उच्यते । एतद्योगाद्वियोगी स्यात्परमब्रह्मसाधकः ॥१॥'' सैव विशिष्यते–निर्वाणफलप्रदा निर्वाणकार्यप्रसाधनी प्रोक्ता तद्वेदिभिराचार्यैः ॥१५॥

बालाऽऽदीनां सद्धर्मदेशनाविधिरधिकृतः, तमेव निगमयन्नाह–

इति यः कथयति धर्मं, विज्ञायौचित्ययोगमनघमतिः ।
जनयति स एनमतुलं, श्रोतृषु निर्वाणफलदमलम् ॥१६॥

इति यः कथयति धर्ममेवमुक्तनीत्या यो गुरुर्धर्मं कथयति, विज्ञाय ज्ञात्वा, औचित्ययोगमौचित्यव्यापारं, तत्संबन्धं वा, अनघमतिर्निर्दोषबुद्धिर्जनयति स गुरुरेनं धर्ममतुलमनन्यसदृशं श्रोतृषु शुश्रूषाप्रवृत्तेषु, निर्वाणफलदं मोक्षफलप्रदम्, अलमत्यर्थमिति ॥१६॥ षो०२ विव०। श्रीवीरतीर्थङ्करे देशनां दत्त्वा देवच्छन्दान्तः प्राप्ते सति एकादशगणधरमध्याद् ज्येष्ठत्वाद्गौतम् एव धर्मदेशनां ददाति, पट्टधारित्वेन स्थापितत्वात् । सुधर्मस्वामी वा, अन्यो वा यः कश्चिद् गणधरो वेति? प्रश्ने, उत्तरम्– दीक्षया ज्येष्ठत्वात्सति गौतमस्वामिनि गौतमस्वाम्येव धर्मदेशनां विधत्ते, असति च तस्मिन्नन्योऽपि यो ज्येष्ठो भवति, स विधत्ते इति । २७७ प्र०। सेन०३ उल्ला०।

धम्मदेसणाजोग्ग-त्रि०(धर्मदेशनायोग्य) लोकोत्तरधर्मप्रज्ञापनाऽर्हे, ''स धर्मदेशनायोग्यो, मध्यस्थत्वाज्जिनैर्मतः।'' ध०१ अधि०।

धम्मधण-न०(धर्मधन) धर्माऽऽत्मके द्रव्ये, जीवा० १२ अधि०। ''दावेऊण धणणिहिं, तेसिं उप्पाडिआणि अच्छीणि । नाऊण

वि जिणवयणं, जे इह विहलंति धम्मधणं ॥१॥'' संघा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

धम्मधरोद्धरणमहावराह-पुं०(धर्मधरोद्धरणमहावराह) धर्मः सर्वज्ञप्रणीतः, स एव जीवाऽऽदिपदार्थाऽऽधारत्वेन धरा पृथिवी, तस्या यदुद्धरणं स्वरूपभ्रंशरक्षणाद् यथाऽवस्थितत्वेनावस्थापनम्, तद्विषये महावराह आदिवराहो धर्म्मधरोद्धरणमहावराहः। धरायां महावराहवद् धर्मस्यावस्थापके, ''धम्मधरोद्धरणमहावराहजिणचंदसूरिसिस्साणं।'' प्रव० २७६ द्वार।

धम्मधम्मिपत्ति-स्त्री०(धर्मधर्मिप्राप्ति) धर्माणां धर्मिरूपेण प्राप्तिः धर्मधर्म्मिप्राप्तिः। धर्माणां धर्मिरूपेण प्राप्तौ, अने०१अधि०।

धम्मधम्मिभाव-पुं०(धर्मधर्मिभाव) धर्मधर्मितायाम्, आ०म० १अ० १खण्ड। (धर्मधर्मिणोर्भेदाभेदविचारो 'धम्म' शब्देऽनुपदमेव २६६३ पृष्ठगतः)

धम्मधुरा-स्त्री०(धर्मधुरा) धर्म एवातिसात्त्विकैरुह्यमानतया धूरिव धूर्धर्मधुरा। उत्त०१४ अ०। धर्माऽऽत्मिकायां धुरि, ''धणेण किं धम्मधुराहिगारे।'' धर्मधुराधिकारे दशविधयतिधर्मधूर्वहनाधिकारे। उत्त० १४ अ०। धर्मचिन्तायाम्, बृ०१ उ०।

धम्मपइण्ण-त्रि०(धर्मप्रतिज्ञ) धर्मकरणाभ्युपगमपरे, व्य०१उ०।

धम्मपक्खिय-त्रि०(धर्मपाक्षिक) पुण्योपादानभूते, सूत्र० २ श्रु०२ अ०।

धम्मपडिमा-स्त्री०(धर्मप्रतिमा) धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः, तद्विषया प्रतिमा प्रतिज्ञा, धर्मप्रधानं शरीरं वा धर्मप्रतिमा। धर्मविषयकप्रतिज्ञायाम्, धर्मप्रधाने शरीरे च। स्था०१ठा०।

तत्स्वरूपमाह–

''एगा धम्मपडिमा, जं से आया पज्जवजाए।'' प्राग्वन्नवरम्– पर्यवा ज्ञानाऽऽदिविशेषा जाता यस्य स पर्यवजातो, भवतीति शेषः, विशुद्ध्यतीत्यर्थः। आहितान्यादित्वाच्च जातशब्दस्योत्तरपदत्वमिति। अथवा– पर्यवान्, पर्यवेषु वा यातः प्राप्तः पर्यवयातः। अथवा–पर्यवः परिरक्षा, परिज्ञानं वा। शेषं तथैवेति। स्था०१ ठा०।

धम्मपण्णत्ति-स्त्री०(धर्मप्रज्ञप्ति) धर्मप्ररूपणायाम्, धर्मप्ररूपणावति दर्शने च। उपा० ६ अ०। ''महावीरस्संतिए धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।'' उपा०१ अ०। धर्मप्रज्ञप्तिर्यथावस्थितधर्मप्रज्ञापनात्। दशवैकालिकस्य षड्जीवनिकायाऽऽख्येऽध्ययने च। दश०४ अ०। ''आयप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ धम्मपण्णत्ती।'' दश० १अ०।

धम्मपण्णवणा-स्त्री०(धर्मप्रज्ञापना) धर्मस्य क्षान्त्यादिदशलक्षणोपेतस्य प्रज्ञापना प्ररूपणा धर्मप्रज्ञापना। धर्मप्ररूपणायाम्, ''धम्मपण्णवणा जा सा।'' सूत्र०१श्रु० १अ०२ उ०।

धम्मपत्थ-त्रि०(धर्मपथ्य) धर्माय पथ्यमिव। धर्माय हिते, धर्मश्रवणतत्त्वरसाऽऽस्वाद–धार्मिकसत्त्वसंसर्गादिरूपे, षो० ४विव०।

धम्मपय-न०(धर्मपद) धर्मफलके सिद्धान्तपदे, ''जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे।'' दश०६ अ०१ उ०। क्षान्त्यादिके च। ''विऊण ते धम्मपयं अणुत्तरं।'' आचा०१ श्रु० ५ अ०४ उ०।

धम्मपरंपरा-त्रि०(परम्पराधर्म) परम्परया धर्मो यस्य स परम्पराधर्मः। प्राकृतत्वाच्च परम्पराशब्दस्य परनिपातः। परम्परया धर्मं प्राप्ते, उत्त० १४ अ०।

धम्मपरायण-त्रि०(धर्मपरायण) धर्मानुष्ठायिनि, दर्श० ४अ०। धर्मध्यानतत्परे, उत्त० १४ अ०। धर्मैकनिष्ठे, उत्त० १४ अ०। ''एवं ते कमसो बुद्धा, सव्वे धम्मपरायणा।'' उत्त० १४ अ०। ''सया धम्मपरायणो।'' दर्श०४ तत्त्व।

धम्मपरूवणा-स्त्री०(धर्मप्ररूपणा) धर्मविषयायां प्ररूपणायाम्, श्रीविमलनाथप्रपौत्रश्रीधर्मघोषस्थविरपार्श्वे प्रव्रज्य महाबलकुमारः पञ्चमकल्पे दशाब्धिस्थितिमनुपाल्यानन्तरं श्रीवीरपार्श्वे प्रव्रज्य सिद्ध इति भगवत्येकादशशतैकादशोद्देशकाऽऽदावुक्तम्, तथा सति श्रीविमलनाथवीरयोः श्रीकल्पसूत्राऽऽदिग्रन्थे महदन्तरं दृश्यते, तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्– भगवतीवृत्तौ द्वितीयवृत्तौ द्वितीयव्याख्यानप्रपौत्रके शिष्यसन्ताने इत्युक्तमस्ति, तेन कल्पसूत्रोक्तकालमानमाश्रित्य न काऽप्यनुपपत्तिरिति।२५३प्र०। सेन० ३उल्ला०।

धम्मपाढग-त्रि०(धर्मपाठक) धर्माध्यापके, आ०म० १अ० १ खण्ड।

धम्मपारग-त्रि०(धर्मपारग) धर्मस्य श्रुतचारित्राऽऽत्मकस्य पारगः सम्यग् वेत्ता धर्मपारगः। धर्मस्य सम्यग् वेत्तरि, ''बुद्धा धम्मस्स पारगा।'' आचा०१ श्रु०८ अ०८उ०।

धम्मपाल-पुं०(धर्मपाल) कौशाम्बीवास्तव्यस्य धनयक्षस्य श्रेष्ठिनः स्वनामख्याते पुत्रे, हा० २३ अष्ट०।

धम्मपिवासिय-त्रि०(धर्मपिपासित) पिपासेव पिपासा, प्राप्तेऽपि धर्मेऽतृप्तिः, धर्मपिपासा संजाताऽस्येति धर्मपिपासितः। धर्मप्राप्तावतृप्ते, तं०। भ०।

धम्मपुरिस-पुं०(धर्मपुरुष) अर्हति, स्था०। ('पुरिस' शब्दे व्याख्या वक्ष्यते) धर्मः क्षायिकचारित्राऽऽदिः, तदर्जनपरः पुरुषो धर्मपुरुषः। ''धम्मपुरिसो तदज्जणवावापरो जहा साहू।'' इत्युक्तलक्षणे पुरुषभेदे, स्था०३ ठा०१ उ०। विशे०। आ०म०। आ०चू०। ''सुहावहं धम्मपुरिसाणं।'' धर्मपुरुषाणां धर्मप्रधाननराणाम्। पञ्चा०६ विव०।

धम्मप्पएस-पुं०(धर्मप्रदेश) धर्मशब्देन धर्मास्तिकायो गृह्यते, तस्य प्रकृष्टो देशः प्रदेशो निर्विभागो भागो धर्मप्रदेशः। धर्मास्तिकायस्य निर्विभागे भागे, अनु०।

धम्मप्पभ-पुं०(धर्मप्रभ) अञ्चलगच्छीये सिंहतिलकसूरिगुरौ, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १३३१ मिते जातः, १३६३ मिते स्वर्गतः। जै० इ०।

धम्मप्पलज्जण-त्रि०(धर्मप्ररञ्जन) धर्मे प्ररज्यते आसज्यते इति धर्मप्ररञ्जनः। औ०। धर्मप्रायेषु कर्मसु प्रकर्षेण रज्यत इति धर्मप्ररञ्जनः। 'रलयोरैक्यमिति' कृत्वा रस्य स्थाने लकारः। धर्माऽऽसक्ते, ज्ञा०१ श्रु० १८ अ०।

धम्मप्पलोइ(ण्)-पुं०(धर्मप्रलोकिन्) धर्मं प्रलोकयत्युपादेयतया प्रेक्षते पाखण्डिषु वा गवेषयतीति धर्मप्रलोकी। धर्मरयापादयतया प्रेक्षके, पाखण्डिषु धर्मगवेषके च। औ०। ज्ञा०।

धम्मप्पवाइ(ण्)-पुं०(धर्मप्रवादिन) धर्मं प्रवदितुं शीलं यस्य स धर्मप्रवादी। धर्मप्रावादुके, आचाराङ्गचतुर्थाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकार्थाधिकारमधिकृत्य– ''विइए धम्मप्पवाइयपरिक्खा।'' धर्मं प्रवदितुं शीलं येषां ते धर्मप्रवादिनः, त एव धर्मप्रवादिकाः, धर्मप्रावादुका इत्यर्थः। तेषां परीक्षा युक्तायुक्तविचारणम्। आचा०१ श्रु०४ अ०२उ०।

धम्मप्पसंसा-स्त्री०(धर्मप्रशंसा) दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, तस्य प्रशंसा धर्मप्रशंसा। सकलपुरुषार्थानामेव धर्मः प्रधानमित्येवंरूपे धर्मस्य स्तवे, तथाऽन्यैरप्युक्तम्– ''रैदो धनार्थिनां धर्मः कामिनां सर्वकामदः। धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्य्येण साधकः'' ॥१॥ दश०१ अ०। षो०।

धम्मप्पावाउय-पुं०(धर्मप्रावादुक) धर्मप्रवादिनि, आचा०१ श्रु० १४अ०१उ०।

धम्मप्पिय-त्रि०(धर्मप्रिय) धर्ममित्रे, आचा०२ श्रु० १ चू० ४ अ०१ उ०।

धम्मफल-न०(धर्मफल) धर्मस्य फलं धर्मफलम्, धर्मेण वा फलं धर्मफलम्। धर्मप्रयोजने, दश०१अ०।

धर्मफलमाह–

जया जीवमजीवा य, दो वि एए वियाणइ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥१४॥

यदा यस्मिन् काले, जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति विविधं जानाति, तदा तस्मिन् काले, गतिं नरकगत्यादिरूपां, बहुविधां स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारां, सर्वजीवानां जानाति। यथा–ऽवस्थितजीवाजीवपरिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात् ॥१४॥

उत्तरोत्तरां फलवृद्धिमाह–

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ।
तया पुन्नं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ ॥१५॥

यदि गतिं बहुविधां सर्वजीवानां जानाति, तदा पुण्यं च पापं च बहुविधगतिनिबन्धनं, तथा बन्धं जीवकर्मयोगदुःखलक्षणं, मोक्षं च तद्वियोगसुखलक्षणं जानाति ॥१५॥

जया पुन्नं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ।
तया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥१६॥
जया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरं च बाहिरं ॥१७॥

यदा पुण्यं च पापं च बन्धं मोक्षं च जानाति, तदा निर्विन्ते मोहाभावात्सम्यग्विचारयत्यसारदुःखरूपतया भोगान् शब्दाऽऽदीन् यान् दिव्यान् याँश्च मानुषान्, शेषास्तु वस्तुतो भोगा एव न भवन्ति ॥१६॥ (जया इत्यादि) यदा निर्विन्ते भोगान् यान् दिव्यान्, यांश्च मानु–षान्, तदा त्यजति संयोगं संबन्धं द्रव्यतो भावतः साभ्यन्तरं बाह्यं क्रोधाऽऽदिहिरण्याऽऽदिसंबन्धमित्यर्थः ॥१७॥

जया चयइ संजोगं, सब्भिंतरं च बाहिरं।
तया मुंडे भवित्ता णं, पव्वइए अणगारियं ॥१८॥

यदा त्यजति संयोगं साभ्यन्तरं बाह्यम्, तदा मुण्डो भूत्वा द्रव्यतो भावतश्च प्रव्रजति प्रकर्षेण व्रजत्यपवर्गं प्रत्यनगारं द्रव्यतो भावतश्चाविद्यमानागारमिति भावः ॥१८॥

जया मुंडे भविता णं, पव्वइए अणगारियं।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥१९॥

यदा मुण्डो भूत्वा प्रव्रजत्यनगारम् (तया संवरमुक्किट्ठं ति) प्राकृतशैल्या उत्कृष्टं संवरं धर्मं सर्वप्राणातिपाताऽऽदिविनिवृत्तिरूपं, चारित्रधर्ममित्यर्थः। स्पृशत्यनुत्तरं सम्यगासेवत इत्यर्थः ॥१९॥

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धूणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ॥२०॥

यदोत्कृष्टसंवरं धर्मं स्पृशत्यनुत्तरं तदा धुनाति–अनेकार्थत्वात्पातयति कर्म्मरजः कर्म्मैवाऽऽत्मरञ्जनाद्रज इव रजः। किंविशिष्ट–मित्याह–अबोधिकलुषं कृतम्–अबोधिकलुषेण मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः ॥२०॥

जया धूणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥२१॥

यदा धुनाति कर्मरजः अबोधिकलुषं कृतम्, तदा सर्वत्रगं ज्ञानम–शेषज्ञेयविषयं, दर्शनं चाशेषदृश्यविषयम्, अधिगच्छत्यावरणाभावादाधिक्येन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२१॥

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥२२॥

यदा सर्वत्रगं ज्ञानं दर्शनं चाधिगच्छति, तदा लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकमलोकं चानन्तं जिनो जानाति केवली, लोकौ च सर्वं, नान्यतरमेवेत्यर्थः ॥२२॥

जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥२३॥

यदा लोकमलोकं च जिनो जानाति केवली, तदोचितसमयेन योगान्निरुध्य मनोयोगाऽऽदीन् शैलेशीं प्रतिपद्यते भवोपग्राहिकर्माशक्षयाय ॥२३॥

जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ता णं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥२४॥

यदा योगान्निरुध्य शैलेशीं प्रतिपद्यते, तदा कर्म्म क्षपयित्वा भवोपग्राह्यपि सिद्धिं गच्छति लोकान्तक्षेत्ररूपां, नीरजाः सकलकर्म्मरजोविनिर्मुक्तः ॥२४॥

जया कम्मं खवित्ता णं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥२५॥

यदा कर्म्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः, तदा लोकमस्तकस्थः त्रैलोक्योपरिवर्त्ती, सिद्धो भवति शाश्वतः कर्मबीजाभावादनुत्पत्तिधर्मेति भावः। उक्तो धर्मफलाऽऽख्यः षष्ठोऽधिकारः॥२५॥

साम्प्रतमिदं धर्मफलं यस्य दुर्लभं तमभिधित्सुराह–

सुहसायगस्स समण–स्स सायाउलस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणापहाविस्स, दुलहा सुगइ तारिसगस्स ॥२६॥

सुखाऽऽस्वादकस्याभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखमोक्तुः, श्रमणस्य द्रव्यप्रव्र–

जितस्य, साताऽऽकुलस्य भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य, निकामशायिनः सूत्रार्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयानस्य, उत्सोलनाप्रधाविन उत्सोलनयोदकाऽयतनया प्रकर्षेण धावति पादाऽऽदिशुद्धिं करोति यः स तथा तस्य। किम्? इत्याह-दुर्लभा दुष्प्रापा, सुगतिः सिद्धिपर्यवसाना, तादृशस्य भगवदाज्ञालोपकारिण इति गाथार्थः ॥२६॥

इदानीमिदं धर्मफलं यस्य सुलभं तमाह-

तवगुणपहाणयस्स य, उज्जुमई खंतिसंजमरयस्स।
परिसहे जिणंतस्स, सुलहा सुगइ तारिसगस्स ॥२७॥
पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं।
जेसिं पिओ तवो सं-जमो य खंती य बंभचेरं च ॥२८॥

तपोगुणप्रधानस्य षष्ठाष्टमाऽऽदितपोधनवतः, ऋजुमतेर्मार्गप्रवृत्तबुद्धेः, क्षान्तिसंयमरतस्य क्षान्तिप्रधानसंयमाऽऽसेविन इत्यर्थः। परीषहान् क्षुत्पिपासाऽऽदीन्, जयतोऽभिभवतः, सुलभा सुगतिरुक्तलक्षणा, तादृशस्य भगवदाज्ञाकारिण इति गाथार्थः ॥२७॥ पश्चादपि वृद्धावस्थायामपि, ते प्रयाताः प्रकर्षेण याता अविराधितसंयमा अपि सन्मार्गं प्रपन्नाः, शीघ्रं गच्छन्ति अमरभवनानि देवविमानानि। ते के? इत्याह-येषां प्रियं तपः संयमः, क्षान्तिः, ब्रह्मचर्यं च ॥२८॥ दश०४अ०।

धम्मभट्ठ-त्रि०(धर्मभ्रष्ट) धर्मच्युते, दश०१ चू०।

धम्ममइ-स्त्री०(धर्ममति) धर्मबुद्धौ, ''इहजणविप्पओगे, आवइँ पडियस्स रोगघत्थस्स। वइपरिणामेय तहा, धम्ममई होइ पाएण ॥१॥'' दर्श० १ तत्त्व।

धम्ममग्ग-पुं०(धर्ममार्ग) परलोकगामिनि मार्गे, पं० व० ४ द्वार।

धम्ममाण-त्रि०(ध्मायमान) भस्त्रावातेनोद्दीप्यमाने, ''लोहगर-धम्ममाणधमधमिंतघोसं।'' उपा०२ अ०। अग्निना तप्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

धम्ममित्त-पुं०(धर्ममित्र) धर्मसुहृदि, षो० ६ विव०। पद्मप्रभजिनस्य पूर्वभवनामधेये, स०।

धम्ममुत्ति-स्त्री०(धर्ममूर्त्ति) अञ्चलगच्छीये शिवसिंहसूरिशिष्ये जयकीर्त्तिसूरिगुरौ, जै० इ०।

धम्ममुह-न०(धर्ममुख) धर्माणां मुखमिव मुखमुपायो धर्ममुखम्। धर्मोपाये, ''धम्माणं कासवो मुहं।'' उत्त० पाई० २५ अ०।

धम्ममूल-न०(धर्ममूल) धर्मलक्षणवृक्षस्य मूलमिव मूलम्। धर्ममूलभूते जीवदयाऽऽदिके, दर्श०२ तत्त्व। (तानि च 'धम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६७३ पृष्ठे दर्शितानि)

धम्ममेह-पुं०(धर्ममेघ) यावत्तत्त्वभावनेन फलमलिप्सोः सर्वथा विवेकख्यातौ, धर्ममशुक्लकृष्णं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः, प्रसंख्याने कुशीदस्य सर्वथा विवेकख्यातौ, धर्ममेघः समाधिरित्युक्तलक्षणे असंप्रज्ञातापरनामधेये समाधिभेदे, द्वा० २० द्वा०।

धम्मय-पुं०(धर्मद) 'धम्मद' शब्दार्थे, स० १ सम०।

धम्मरय-त्रि०(धर्मरत) चारित्रधर्माऽऽसक्तचित्ते, पञ्चा० ५ विव०। उद्युक्तविहारिणि, ''धम्मरयपुव्वसूरीणं।'' उद्युक्तविहारिचिरन्तनाऽऽचार्याणाम्। जीवा१ अधि०।

धम्मरयण-न०(धर्मरत्न) धर्म एव रत्नं धर्मरत्नम्। दर्श० २ तत्त्व। धर्माणां मध्ये यो रत्नमिव वर्तते जिनप्रणीतो देशविरतिसर्वविरतिरूपो धर्मो धर्मरत्नम्। ध० १ अधि०। जिनप्रणीतदेशविरतिसर्वविरत्यात्मकधर्मरूपे सकलैहिकाऽऽमुष्मिकसम्पत्तिजनकेऽचिन्त्यचिन्तामणौ, दश० ४अ०।

इह हि हेयोपादेयाऽऽदिपदार्थसार्थपरिज्ञानप्रवीणस्य जन्मजरामरणरोगशोकाऽऽदिदुर्गदौर्गत्यनिपीडितस्य भव्यसत्त्वस्य स्वर्गापवर्गाऽऽदिसुखसंपत्संपादनाबन्ध्यनिबन्धनं सद्धर्मरत्नमुपादातुमुचितं, तदुपादानोपायश्च गुरूपदेशमन्तरेण न सम्यग् विज्ञायते, न चानुपायप्रवृत्तानामभीष्टार्थसिद्धिरित्यतः कारुण्यपुण्यचेतस्तया धर्मार्थिनां धर्मोपादानपालनोपदेशं दातुकामः सूत्रकारः शिष्टमार्गानुगामितया पूर्वं तावदिष्टदेवतानमस्काराऽऽदि- प्रतिपादनार्थमिमां गाथामाह-

नमिऊण सयलगुणरय-णकुलहरं विमलकेवलं वीरं।
धम्मरयणत्थियाणं, जणाण वियरेमि उवएसं ॥१॥

इह पूर्वार्द्धेनाऽभीष्टदेवतानमस्कारद्वारेण विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलमभिहितम्, उत्तरार्द्धेन, चाभिधेयमिति। सबंन्धप्रयोजने पुनः सानर्थ्यगम्ये। तथाहि- संबन्धस्तावदुपायोपेयलक्षणः, साध्यसाधनलक्षणो वा, तत्रेदं शास्त्रमुपायः, साधनं वा; साध्यमुपेयं वा शास्त्रार्थपरिज्ञानमिति। प्रयोजनं तु द्विविधम्-कर्तुः, श्रोतुश्च। पुनरनन्तर-परम्परभेदादेकैकं द्वेधा। तत्रानन्तरंकर्तुः सत्त्वानुग्रहः। परम्परम्-अपवर्गाऽऽदिप्राप्तिः। तथा चोक्तम्- ''सर्वज्ञोक्तोपदेशेन, यः सत्त्वानामनुग्रहम्। करोति दुःखतप्तानां, स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम् ॥१॥'' इति। श्रोतुः पुनरनन्तरंशास्त्रार्थपरिज्ञानं, परम्परंतस्याप्यपवर्गप्राप्तिः। उक्तं च- ''सम्यक् शास्त्रपरिज्ञानाद्विरक्ता भवतो जनाः लब्ध्वा दर्शनसंशुद्धिं, ते यान्ति परमां गतिम् ॥१॥'' इति। साम्प्रतं सूत्रव्याख्यानत्वा प्रणम्य, कम्? वीरं कर्मविदारणात्तपसो विराजनाद्वर्यबीर्ययुक्तत्वाच्च जगति यो वीर इति ख्यातः। यदवादि- ''विदारयति यत्कर्म, तपसा तद् विराजते। तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥१॥'' तं वीरं श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिनम्। किंविशिष्टम्-सकलगुणरत्नकुलगृहम्-सकलाः समस्ता ये गुणाः क्षमामार्दवाऽऽर्जवाऽऽदयः, त एव रौद्रदारिद्र्यमुद्राविद्रावकत्वात्सकलकल्याणकलापकारणत्वाच्च रत्नानि सकलगुणरत्नानि, तेषां कुलगृहमुत्पत्तिस्थानं, तं सकलगुणरत्नकुलगृहम्। पुनः किंविशिष्टम्? विमलकेवलम्- विमलं सकलतदावारककर्मणुरेणुसंपर्कविकलत्वेन निर्मलं केवलं केवलाऽऽख्यं ज्ञानं यस्य स विमलकेवलस्तं, कृत्वाप्रत्यस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह- वितरामि प्रयच्छामि, कम् ? उपदेशम्-उपदिश्यते इत्युपदेशो हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तवचनरचनाप्रपञ्चस्तम्, केभ्यो? जनेभ्यो लोकेभ्यः। कथंभूतेभ्यः? धर्मरत्नार्थिभ्यो दुर्गतिप्रपतन्तं प्राणिगणं धारयति, सुगतौ धत्ते चेति धर्मः। उक्तं च- ''दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः ॥१॥'' इति। स एव रत्नं प्राग्व्यावर्णितशब्दार्थ, तदर्थयन्ते मृगयन्ते इत्येवं शीला ये ते धर्मरत्नार्थिनस्तेभ्यः, सूत्रे च षष्ठी चतुर्थ्यर्थे प्राकृतलक्षणवशात्। यदाहुः प्रभु-श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः स्वकृतप्राकृतलक्षणे- ''चतुर्थ्याः षष्ठी ॥८।३।१३१॥'' इति गाथाक्षरार्थः॥ भावार्थः पुनरयम्-नत्वेति पूर्वकालाभिधायिना क्षिप्तोत्तरकालक्रियेण स्यादवा-

दशार्दूलनादसंवादिना पदेनैकान्तनित्यानित्यवस्तुविस्तारवादि-प्रवादिमृगयोर्मुखबन्धो व्यधायि, यतोऽनैकान्तेन नित्योऽनित्यो वा कर्त्ता क्रियाद्वयं कर्तुमीष्टे, क्रियाभेदे कर्तृभेदात्; ततो द्वितीयक्रियाक्षणे कर्तुरनित्यवाभावप्रसङ्गाभ्यां द्वयोरप्यपाकृतिरिति । सकलगुणरत्नकुलगृहमित्यनेन भगवतः श्रीमत्पश्चिमतीर्थाधिनाथस्य पूजातिशयः प्रकाश्यते । तथा च पूज्यन्त एवाहंप्रथमिकाविधीयमानावनामवशसमुत्पन्नशिरः कोटीरकोटीविघट्टसंघट्टैः सुरासुरनरनिकरनायकैरपि गुणवन्तः ।

उक्तं च–

''सव्वो गुणेहिँ गण्णो, गुणाहियस्स जह लोगें वीरस्स ।
संभंतमउडविउओ, सहस्सनयणो सययमेइ ॥१॥'' इति ।

विमलकेवलमित्यमुना तु ज्ञानातिशयसंपन्नतया प्रसिद्धसिद्धार्थपार्थिवकुलविमलनभस्तलनिशीथिनीनाथस्य जिननाथस्य वचनातिशयः प्रपञ्च्यते । यतः केवलज्ञाने सत्यवश्यंभाविनी भगवतां तीर्थकृतां सद्देशनाप्रवृत्तिः, तीर्थकरनामकर्मण इत्थमेव वेद्यमानत्वात् । यदुक्तं श्रीभद्रबाहुस्वामिपादैः– ''तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाईहिं ।'' इत्यादि । वीरमिति सान्वयपदेन च भगवतः समूतकाषंकषितनिःशेषापायनिबन्धनकर्मशत्रुसङ्घातस्य चरमजिनेश्वरस्यापायापगमातिशयः प्रस्पष्टं निष्टङ्क्यते, यतोऽपायभूतं भवभ्रमणकारणत्वात्सर्वमपि कर्म । तथा चाऽऽगमः– ''सव्वं पावं कम्मं, भामिज्जइ जेण संसारे ।'' इति । धर्मरत्नार्थिभ्य इत्यनेन श्रवणाधिकारिणामर्थित्वमेव मुख्यं लिङ्गमित्यभाणि । यदुक्तं परोपकारभूरिभिः श्रीहरिभद्रसूरिभिः–''तत्थऽहिगारी अत्थी, समत्थओ जो न सुत्तपडिकुट्ठो । अत्थी उ जो विणीओ, समुट्ठिओ पुच्छमाणो य'' ॥१॥ इति । जनानामित्यनेन बहुवचनान्तेनेदमुदितं भवति–यथा नैकमेवेश्वराऽऽदिकमाश्रित्योपदेशदाने प्रवर्तितव्यं, किं तु सामान्येन सर्वसाधारणतया । तथा चाऽऽह भगवान् सुधर्मस्वामी– ''जहा पुन्नस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ । जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुन्नस्स कत्थई ॥१॥'' इति । वितराग्युपदेशमितीहायमाशयः–न निजप्रज्ञाभिमानेन, न परपरिभवाभिप्रायेण, न कस्यचिदुपार्जनीय प्रवर्तते, किं तर्हि कथं नु नामाऽमी जन्तवः सद्धर्ममार्गमासाद्यपूर्यवसितं महानन्दामन्दाऽऽनन्दसंदोहमवाप्स्यन्तीत्यनुग्रहबुद्ध्या परेषामात्मनश्च ।

यदभाणि–

''शुद्धमार्गोपदेशेन, यः सत्त्वानामनुग्रहम् ।
करोति नितरां तेन, कृतः स्वस्याप्यसौ महान् ॥१॥''

तथा–

''न भवति धर्मः श्रोतुः, सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् ।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या, वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति'' ॥१॥
इत्युक्तः सभावार्थः सकलोऽपि गाथार्थः ॥१॥

अथ यथाप्रतिज्ञातं विभणिषुः प्रस्तावयन्नाह–

भवजलहिम्मि अपारे, दुलहं मणुयत्तणं पि जंतूणं ।
तत्थ वि अणत्थहरणं, दुलहं सद्धम्मवररयणं ॥२॥

भवन्त्यस्मिन् नारकतिर्यङ्नरामररूपेण कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिन इति भवः संसारः, स एव जन्मजरामरणादिजलधारणाज्जलधिः, तस्मिन्ननादिनिधनतयाऽपारेऽदृष्टपर्यन्ते, वम्भ्रम्यमाणानामिति शेषः । दुर्लभं दुरापं, मनुजत्वमपि मनुष्यभावोऽपि, दूरे तावद्देशकुलजातिप्रभृतिसामग्रीत्यपेरर्थः । यज्जगदे जगदेकबन्धुना श्रीवर्द्धमानस्वामिनाऽष्टापदादागतं श्रीगौतममहामुनिं प्रति–

''दुलहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विवागकम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥४॥''

इति । ध०२० (अस्या अर्थः 'दुमपत्तय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५७० पृष्ठे उक्तः)

अन्यैरप्युक्तम्–

''संसारकान्तारमपास्तपारं, बम्भ्रम्यमाणो लभते शरीरी ।
कृच्छ्रेण नृत्वं सुखसस्यबीजं, प्ररूढदुष्कर्मशमेन (भूतम्) नूनम् ॥ १ ॥
नरेषु चक्री त्रिदशेषु वज्री, मृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु ।
मतो महीभृत्सु सुवर्णशैलो, भवेषु मानुष्यभवःप्रधानः ॥२॥''

तथा–

''अनर्घ्याण्यपि रत्नानि, लभ्यन्ते विभवैः सुखम् ।
दुर्लभ रत्नकोट्याऽपि, क्षणोऽपि मनुजाऽऽयुषः ॥१॥'' इति ।

जन्तूनां प्राणिनां, तत्रापि मनुजत्वे सत्यपि । अनर्थहरणमितिनार्थ्यन्ते नाभिलष्यन्ते ये दारिद्र्यक्षुद्रोपद्रवाऽऽदयोऽपायास्ते ह्रियन्ते विध्वस्यन्ते येन तदनर्थहरणं दुर्लभं दुष्प्रापं, किं तदित्याह–सन् साधुः पूर्वापराविरोधप्रभृतिगुणगणालङ्कृतत्वेन परप्रावादुकपरिकल्पितधर्मापेक्षया शोभनो धर्मः सद्धर्मः सम्यग्दर्शनाऽऽदिकः, स एवैहिकार्थमात्रप्रदायीतररत्नापेक्षया शास्वतानन्तमोक्षार्थदातृत्वेन वरं प्रधानं रत्नं सद्धर्मवररत्नमिति ।

अथामुमेवार्थं दृष्टान्तविशिष्टं स्पष्टयन्नाह–

जह चिंतामणिरयणं, सुलहं न हु होइ तुच्छविहवाणं ।
गुणविहववज्जियाणं, जियाण तह धम्मरयणं पि ॥३॥

यथा येन प्रकारेण, चिन्तामणिरत्नं सुप्रतीतं, सुलभं सुप्रापम्, (न हु) नैव भवति जायते, तुच्छविभवानाम्–तुच्छः स्वल्पो विभवः–कारणे कार्योपचाराद्विभवकारणं पुण्यं येषां ते तुच्छविभवाः, स्वल्पपुण्या इत्यर्थः, तेषान्, तथाविधपशुपालवत् । तथा गुणा अक्षुद्रताऽऽदयो वक्ष्यमाणस्वरूपास्तेषां विशेषेण भवनं सत्ता गुणविभवः । अथवा–गुणा एव विभवो विभूतिर्गुणविभवः, तेन वर्जितानां रहितानां, जीवानां पञ्चेन्द्रियप्राणिनाम् । उक्तं च – ''प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ताः, भूतानि तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः ॥१॥'' अपिशब्दस्य वक्ष्यमाणस्येह संबन्धादेवं भावना कार्याएकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां तावद्धर्मप्राप्तिर्नास्ति, पञ्चेन्द्रियजीवानामपि तत्तदयोग्यताहेतुगुणसामग्रीविकलानां तथा तेन प्रकारेण धर्मरत्नं सुलभं न भवतीति प्रकृते संबन्ध इति ।

पूर्वसूचितपशुपालदृष्टान्तश्चायम्–

''बहुविबुधजनोपेतं, हरिरक्षितमप्सरःशतसमेज्झम् ।
इह अत्थि हत्थिणउरं, पुरं पुरन्दरपुरं व वरं ॥१॥
तत्र श्रेष्ठिगरिष्ठः, पुन्नागो नागदेवनामाऽऽसीत् ।
निम्मलसीलगुणधरा, वसुंधरा गेहिणी तस्स ॥२॥
तत्तनयो विनयोज्ज्वल–मतिविभवभरो बभूव जयदेवः ।
दक्खो रयणपरिक्खं, सिक्खइ सो वारस समा उ ॥३॥
विजितान्यहासममलं, वित्रासं चिन्तितार्थदानपटुम ।
चिन्तामणिं पमुत्तुं, सेसमणी गणइ उवलसमे ॥४॥
चिन्तामणिरत्नाकृते, सुकृती स कृतोद्यमः पुरे सकले ।
हट्टं हट्टेण घरं, घरेण भमिओ अपरितंतो ॥५॥

न च तमवाप दुरापं, पितरावूचेऽथ यद् मयाऽत्र पुरे।
चिंतामणी न पत्तो, तो जामि तयत्थमन्नत्थ ॥६॥
ताभ्याममणि वत्स! स्वच्छमते! कल्पनैव खल्वेषा।
अन्नत्थ वि कत्थइ न–त्थि एस परमत्थओ भवणे ॥७॥
तद्रत्नैरसपत्नै–र्यथेष्टमन्यैरपि व्यवहरच्च।
निम्मलकमलाकलियं, भवणं ते होइ जेणमिणं ॥८॥
इत्युक्तोऽपि स चिन्ता–रत्नाऽऽप्तौ रचितनिश्चयश्चतुरः।
वारिज्झंतो पियरे–हिँ निग्गओ हत्थिणापुरओ ॥९॥
नगरगणग्रामाकर–कर्वटपत्तनपयोधितीरेषु।
तम्मग्गणपवणमणो, सुइरं भंतो किलिस्संतो ॥१०॥
तमलभमानो विमनाः, दध्यौ किं नास्ति सत्यमेवेदम्?
अहव न तस्सऽत्थित्तं, न अन्नहा होइ सत्थुत्तं ॥११॥
इति निश्चित्य स चेतसि, निपुणं बम्भ्रमितुमारभत भूयः।
पउराओ मणिखणीओ, पुच्छीपुच्छिं नियच्छंतो ॥१२॥
वृद्धनरेणैकेन च, सोऽभाणि यथा मणीवतीहास्ति।
खाणी मणीण तत्थ य, पवरमणी पावइ सपुन्नो ॥१३॥
तत्र च जगाम मणिगण–ममलमनारतमथो मृगयमाणः।
एगो य तत्थ मिलिओ, पसुवालो बालिसो अहियं ॥१४॥
जयदेवेन निरैक्ष्यत्, वर्तुल उपलश्च करतले तस्य।
गहिओ परिच्छिओ तह, नाओ चिंतामणि त्ति इमो ॥१५॥
सोऽयाचि तेन स मुदा, पशुपाल प्राह किममुना कार्यम्?।
भणइ वणी सगिहगओ, बालाण कीलणं दाहं ॥१६॥
सोऽजल्पदीदृशा इह, ननु बहवः सन्ति कि न गृह्णासि ?।
सिट्ठिसुओ भणइ अहं, समुरस्सुओ नियगिहगमणे ॥१७॥
तद्देहि मह्यमेनं, त्वमन्यमपि भद्र! लप्स्यसे ह्यत्र।
अपरोवयारसील–त्तणेण तह वि हु न सो देइ ॥१८॥
तत एतस्यापि च वर–मयमुपकर्त्ताऽस्तु मा स्म भूदफलः।
इय करुणारसियमई, सिट्ठिसुओ भणइ आभीरं ॥१९॥
यदि भद्र! मम न दत्से, चिन्तामणिमेनमात्मनाऽपि ततः।
आराहसु जेण तुहं, पि चिंतियं देइ खलु एसो ॥२०॥
इतरः प्रोचे यदि स–त्यमेष चिन्तामणिर्मयाऽचिन्ति।
ता वोरकरिरकव्वर–पमुहं मह देउ लहु बहुयं ॥२०॥
अथ हसितविकसितमुखः, श्रेष्ठिसुतः स्माऽऽह चिन्त्यते नैवम्।
किं तुववासतिगंतिम–रयणिमुहे लितमहिपीढे ॥२२॥
शूचिपट्टनिहितसिचये, स्नपितविलिप्तं मणिं निधायोच्चैः।
कप्पूरकुसुममाई–हि पूइउं नमिय विहिपुव्वं ॥२३॥
तदनु विचिन्त्यत इष्टं, पुरोऽस्य सर्वमपि लभ्यते प्रातः।
इय सोउं गोवालो, वि छागियागाममभिचलिओ ॥२४॥
न स्थास्यति हस्ततले, मणिरत्नं नूनमिदमपुण्यस्य।
इय चिंतिय सिट्ठिसुओ, वि तस्स पुट्ठिं न छड्डेइ ॥२५॥
गच्छन् पथि पशुपालः, प्राह मणे! छागिका इमा अधुना।
विछिणिय किणिय घणसा–रमाइ काहामि तुह पूयं ॥२६॥
मच्चिन्तितार्थपूर्त्था, सान्वयसंज्ञो भवेस्त्वमपि भुवने।
एवमणिमुल्लवंते ण तेण भणियं पुणो एयं ॥२७॥
दूरे ग्रामस्ताव–न्मणे! कथां कथय काञ्चन ममाग्रे।
अह न मुणसि तोऽहं तुह, कहेमि निसुणेसु एगमणो ॥२८॥
देवगृहमेकहस्तं, चतुर्भुजो वसति तत्र देवस्तु।
इय पुणरुत्तं वुत्तो, वि जंपए जाव नेव मणी ॥२९॥

तावदुवाच स रुष्टो, यदि हुङ् कृतिमात्रमपि न मे दत्से।
ता चिंतियत्थसंपा–यणम्मि तुह केरिसी आसा?॥३०॥
तच्चिन्तामणिरिति ते, नाम मृषा सत्यमेव यदि चेदम्।
जं तुह संपत्तीए, वि न मह फिट्टइ मणे! चिन्ता ॥३१॥
किं च क्षणमपि योऽहं, रब्धातक्रैर्विना न हि स्थातुम्।
सत्तो सोहं कहमिह, उववासतिगेण न मरामि? ॥३२॥
तन्मे मारणहेतो–र्वणिजारे! वर्णितोऽसि तद्गच्छ।
जत्थ न दीससि इय भणि–य लंखिओ तेण सो सुमणी ॥३३॥
जयदेवो मुदितमनाः, संपूर्णमनोरथः प्रणतिपूर्वम्।
चिंतामणिं गहित्ता, नियनयराभिमुहमह चलिओ ॥३४॥
मणिमाहात्म्यादुल्लसि–तवैभवः पथिमहा पुरे नगरे।
रयणवइनामधूयं, परिणीयं सुबुद्धिसिट्ठिस्स ॥३५॥
बहुपरिकरपरिकलितो, जननिवहर्गीयमानसुगणगणः।
हत्थिणपुरम्मि पत्तो, पणओ पियराण चलणेसु ॥३६॥
अभिनन्दितः स ताभ्यां, स्वजनैः संमानितः स बहुमानैः।
थुणिओ सेसजणेणं, भोगाणं भायणं जाओ ॥३७॥
ज्ञातस्यास्योपनयो–ऽयमुच्चकैरमरनरकतिर्यक्षु।
इयरमणीण खणीसु व, परिब्भमंतेण कह कह वि ॥३८॥
जीवेन लभ्यत इयं, मनुजगतिः सन्मणीवतीतुल्या।
तत्थ वि दुलहो चिंता–मणि व्व जिणदेसिओ धम्मो ॥३९॥
पशुपालोऽत्र यथा खलु, मणिं न लेभेऽनुपात्तसुकृतधनः।
जह पुण्णचित्तजुत्तो, वणिपुत्तो पुण तयं पत्तो ॥४०॥
तद्वदतगुणविभवो, जीवो लभते न धर्मरत्नमिदम्।
अविकलनिम्मलगुणगण–विहवभरो पावइ तयं तु ॥४१॥
दृष्टान्तमेनं विनिशम्य सम्यक्, सद्धर्मरत्नग्रहणे यदीच्छा।
अमुद्रदारिद्र्यविनाशदक्षं, तत्सदुपद्रव्यमुपार्जयध्वम्॥४२॥''
इति पशुपालकथेतिगाथार्थः।

कतिगुणसंपन्नःपुनस्तत्प्राप्तियोग्य इति प्रश्नमाशङ्क्याऽऽह–

इगवीसगुणसमेओ, जुग्गो एयस्स जिणमए भणिओ।
तदुवज्जणम्मि पढमं, ता जइयव्वं जओ भणियं ॥४॥

एभिरेकविंशतिगुणैर्वक्ष्यमाणैः समेतो युक्तः। पाठान्तरेणसमृद्धः सम्पूर्णः, समिद्धो वा देदीप्यमानो, योग्य उचितः, एतस्स प्रस्तुतधर्मरत्नस्य, जिनम तेऽर्हच्छासने, भणितः प्रतिपादितः, तदभिज्ञैरिति शेषः। ततः किम्? इत्याह–(तदुवज्जणम्मि त्ति) तेषां गुणानामुपार्जने ग्रहणे, प्रथममादौ, तस्माद्धेतोर्यतितव्यम्। इहायमाशयः–यथा प्रसादार्थिनः शल्योद्धारपीठबन्धाऽऽदावादियन्ते, तदविनाभावित्वाद्विशिष्टप्रासादस्य, तथा धर्मार्थिभिरेते गुणाः सम्यगुपार्जनीयाः, तदधीनत्वाद्विशिष्टधर्मसिद्धेरिति यतो यस्माद्भणितं गदितं, पूर्वसूरिभिरिति गम्यत इति। ध०र०१अधि०।

धम्मरयणस्स जोग्गो, अक्खुद्दो रूववं पगइसोम्मो।
लोयप्पिओ अकूरो, भीरू असढो सुदक्खिन्नो ॥३७०॥
लज्जालुओ दयालू, मज्झत्थो सोम्मदिट्ठि गुणरागी।
सक्कह–सपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नू ॥३७१॥
बुड्ढाणुगो विणीओ, कयन्नुओ परहिअत्थकारी अ।
तह चेव लद्धलक्खो, ऍगवीसगुणो हवइ सड्ढो ॥३७२॥

परतीर्थिकप्रणीतानां सर्वेषामपि धर्माणां मध्ये प्रधानत्वेन यो रत्नमिव वर्त्तते स धर्मरत्नम्, जिनोदितो देशविरत्यादिरूपः समाचारः। तस्य योग्य उचितः, ईदृक् स्वरूप एव श्राव–

को भवति। तद्यथा–अक्षुद्र इत्यादि। तत्र यद्यपि क्षुद्रस्तुच्छः, क्षुद्रः क्रूरः, क्षुद्रो दरिद्रः, क्षुद्रो लघुरित्यनेकार्थः क्षुद्रशब्दस्तथाऽपीह तुच्छार्थो गृह्यते, तस्यैव प्रस्तुतोपयोगित्वात्। ततः क्षुद्रस्तुच्छोऽगम्भीर इत्यर्थः। तद्विपरीतोऽक्षुद्रः। स च सूक्ष्ममतित्वात्सुखेनैव धर्ममवबुध्यते १। रूपवान् संपूर्णाङ्गोपाङ्गतया मनोहराऽऽकारः, स च तथारूपसंपन्नः सदाचारप्रवृत्त्या भविकलोकानां धर्मे गौरवमुत्पादयन्प्राभावको भवति। ननु नन्दिषेणहरिकेशबलप्रभृतीनां कुरूपाणामपि धर्मप्रतिपत्तिः श्रूयते, अतः कथं रूपवानेव धर्मेऽधिक्रियते। सत्यम्। इह द्विविधं रूपम्–सामान्यम्, अतिशायि च। तत्र सामान्यं संपूर्णाङ्गत्वाऽऽदि। तच्च नन्दिषेणाऽऽदीनामप्यासीदेवेति न विरोधः। प्रायिकं चैतत्, शेषगुणसद्भावे कुरूपत्वस्याप्यदुष्टत्वात्। एवमग्रेऽपि। अतिशायि पुनर्यद्यपि तीर्थकराऽऽदीनामेव संभवति, तथाऽपि येन क्वचिद्देशे काले वयसि वा वर्त्तमानो रूपवानयमिति जनानां प्रतीतिमुपजनयति तदेवेहाधिकृतंम मन्तव्यम्। २। प्रकृत्या स्वभावेन, सौम्योऽभीषणाऽऽकृतिर्विश्वसनीयरूप इत्यर्थः। एवंविधश्च प्रायेण न पापव्यापारे व्याप्रियते, सुखाऽऽश्रयणीयश्च भवति ३। लोकस्य सर्वजनस्येह परलोकविरुद्धविवर्जनेन दानशीलाऽऽदिगुणैश्च प्रियो वल्लभो लोकप्रियः, सोऽपि सर्वेषां धर्मे बहुमानं जनयति ४। अक्रूरोऽक्लिष्टाध्यवसायः, क्रूरो हि परच्छिद्रान्वेषणस्य लम्पटः कलुषमनाः स्वानुष्ठानं कुर्वन्नपि फलभाग्भवतीति ५। भीरुरैहिकाऽऽमुष्मिकापायेभ्यस्त्रसनशीलः। स हि कारणेऽपि सति न निःशङ्कमधर्मे प्रवर्त्तते ६। अशठः सदऽनुष्ठाननिष्ठः, शठे हि वञ्चनप्रपञ्चचतुरतया सर्वस्याप्यविश्वसनीयो भवति७। सदाक्षिण्यः स्वकार्यपरिहारेण परकार्यकरणैकरसिकान्तःकरणः, स च कस्य नाम नानुवर्त्तनीयो भवति ८॥३७॥ (लज्जालुओ त्ति) प्राकृतशैल्या लज्जावान् स खल्वकृत्याऽऽसेवनवार्त्तयाऽपि व्रीडति, स्वयमङ्गीकृतमनुष्ठानं च परित्यक्तुं न शक्नोति ९। दयालुर्दयावान्, दुःखितजन्तुजातत्राणाभिलाषुक इत्यर्थः। धर्मस्य हि दया मूलमिति प्रतीतमेव १०। मध्यस्थोरागद्वेषत्यक्तधीः, स हि सर्वत्रारक्तद्विष्टतया विश्वस्याऽपि वल्लभो भवति ११॥ सौम्यदृष्टिः–कस्याप्यनुद्वेजकः, स हि दर्शनमात्रेणाऽपि प्राणिनां प्रीतिं पल्लवयति १२। गुणेषु गाम्भीर्यस्थैर्यप्रमुखेषु रज्यतीत्येवं शीलो गुणरागी, स हि गुणपक्षपातित्वादेव सगुणान् बहु मन्यते, निर्गुणांश्चोपेक्षते १३। सकथनरुचय उत्कथाः सदाचारचारित्वाऽऽदिचर्या ये सपक्षा सहयोजनास्तैर्युक्तोऽन्वितो धर्माविबन्धकपरिवार इति भावः। एवंविधश्च न केनिचिदुन्मार्गो गन्तुं शक्यते १४। अन्ये तु सत्कथः, सपक्षयुक्तश्चेति पृथक् गुणद्वयं मन्यते, मध्यस्थः सौम्यदृष्टिश्चेति द्वाभ्यामप्येकमेवेति। तथा सुदीर्घदर्शी सुपर्यायाऽऽलोचितपरिणामपेशलकार्यकारी, स किल परिणामिक्या बुद्ध्या सुन्दरपरिणामत्वैहिकमपि कार्यमारभते १५। विशेषज्ञः सदितरवस्तुविभागवेदी। अविशेषज्ञस्तु दोषानपि गुणत्वेन गुणानपि दोषत्वेनाध्यवस्यति १६ ॥३७१॥ वृद्धान् परिणतमतीननुगच्छति, गुणार्जनबुद्ध्या सेवत इति वृद्धानुगः। वृद्धजनानुगत्या हि प्रवर्त्तमानः पुमान् न जातुचिदपि विपदः पदं भवति १७। विनीतो गुरुजनगौरवकृत्, विनयवति हि सपदि संपदः प्रादुर्भवन्ति। स्वल्पमप्युपकारमैहिकं पारत्रिकं चापरेण कृतं जानाति, न निह्नुते इति कृतज्ञः। कृतघ्नो हि सर्वत्राप्यमन्दानिन्दां समासादयति १९। परेषामन्येषां हितानर्थान्प्रयोजनानि कर्तुं शीलं यस्य स परहितार्थकारी, सदाक्षिण्योऽभ्यर्थित एव करोत्ययं पुनः स्वत एव परहिताय प्रवर्त्तते इत्यनयोर्भेदः। यश्च प्रकृत्यैव परहितकरणे नितरां निरतो भवति, स निरीहचित्ततयाऽन्यानपि सद्धर्मे स्थापयति २०। तथा–लब्धमिव लब्धलक्षं शिक्षणीयानुष्ठानं येन स लब्धलक्षः, पूर्वभवाभ्यस्तमिव सर्वमपि धर्मकृत्यं करोत्येवाधिगच्छतीति भावः। ईदृशो हि वन्दनप्रत्युपेक्षणाऽऽदिकं धर्मकर्म्म सुखेनैव शिक्षयितुं शक्यते। तदेवमेकविंशतिगुणसम्पन्नश्राद्धः श्रावको भवतीति। प्र० २६६ द्वार। ध०। दर्श०। (१–अक्षुद्रत्वे भीमसोमकथा 'भीमसोम' शब्दे) (२-रूपवत्त्वे सुजातकथा 'सुजाय' शब्दे) (३-प्रकृतिसौम्यत्वे विजयश्रेष्ठिकथा 'विजय–सेट्ठि' शब्दे) (४-लोकप्रियत्वे विनयंधरकथा 'विणयंधर' शब्दे) (५-अक्रूरत्वे कीर्तिचन्द्रकथा 'अक्कूर' शब्दे प्रथमभागे १२६ पृष्ठे प्रतिपादिता) (६-भीरुत्वे विमलदृष्टान्तः 'विमल' शब्दे) (७-अशठभावे चक्रदेवचरित्रम् 'असढ' शब्दे प्रथमभागे ८३५ पृष्ठे गतम्) (८-सुदाक्षिण्ये क्षुल्लककुमारकथा 'अलोभया' शब्दे प्रथमभागे ७८५ पृष्ठे गता) (९-लज्जालुत्वे विजयकुमारकथा 'विजयकुमार' शब्दे) (१०-दयालुत्वे यशोधरवृत्तम् 'सुरिंददत्त' शब्दे) (११-माध्यस्थत्वे सोमवसुवृत्तं 'सोमवसु' शब्दे) (१२-गुणानुरागित्वे पुरन्दरराजचरित्रं 'पुरंदर' शब्दे) (१३-सत्कथायां रोहिणीज्ञातं 'रोहिणी' शब्दे) (१४-सुपक्षगुणे भद्रनन्दिवृत्तं 'भद्दणंदि' शब्दे) (१५-सुदीर्घदर्शित्वे धनमित्रश्रेष्ठिवृत्तं 'धणमित्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६५५ पृष्ठे गतं, 'भद्दा' शब्दे च) (१६-विशेषज्ञत्वे सुबुद्धि–मन्त्रिवृत्तं 'सुबुद्धि' शब्दे) (१७-बृद्धानुगत्वे मध्यमबुद्धिचरित्रं 'मज्झिमबुद्धि' शब्दे) (१८-विनीतत्वे भुवनतिलकवृत्तं 'भुवणतिलय' शब्दे) (१९-कृतज्ञत्वे विमलकुमारकथा 'विमलकुमार' शब्दे) (२०-परहितकारित्वे भीमकुमारकथा 'भीमकुमार' शब्दे) (२१-लब्धलक्ष्यत्वे नागार्जुनकथा 'णागज्जुण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६३५ पृष्ठेगता)

साम्प्रतमेतन्निगमनायाह–

एए इगवीसगुणा, सुयाणुसारेण किंचि वक्खाया।
अरिहंति धम्मरयणं, घित्तुं एएहिँ संपन्ना ॥२९॥

एते पूर्वोक्तस्वरूपाः, एकविंशतिसंख्या गुणाः श्रुतानुसारेण शास्त्रान्तरोपलम्भद्वारेण, किञ्चिन्न सामस्त्येन, व्याख्याताः स्वरूपतः फलतश्च प्ररूपिताः। किमर्थम्? इत्याह–यतोऽर्हन्ति योग्यतासारं धर्मरत्नं ग्रहीतुं, न पुनर्वसन्तनृपवद्राजलीलामिति भावः। के? इत्याह–एभिरनन्तरोक्तैः गुणैः संपन्नाः संगताः संपूर्णा वेति।

आह–किमेकान्तेनैतावद्गुणसम्पन्ना धर्माधिकारिण उताऽपवादोऽप्यस्तीति प्रश्ने सत्याह–

पायऽद्धगुणविहीणा, एएसिं मज्झिमावरा नेया।
इत्तो परेण हीणा, दरिद्दपाया मुणेयव्वा ॥३०॥

इहाधिकारिणस्त्रिधा चिन्त्याः–उत्तमा मध्यमा जघन्याश्च। तत उत्तमाः सम्पूर्णगुणा एव, पादश्चतुर्थांशोऽर्द्धं दलं, गुणशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् पादप्रमाणैरर्द्धप्रमाणैश्च गुणैर्ये विही–

ना विकलाः, एतेषामुक्तगुणानां मध्याद् ते यथाक्रमं मध्यमावरा ज्ञेयाः, चतुर्थांशविहीना मध्यमाः, अर्द्धविहीना जघन्या इति भावः, तेभ्योऽपि हीनतरेषु का वार्त्ता? इत्याह–(इत्तो परेणं ति) एतेभ्योऽपि, परेणार्द्धादप्यधिकैर्हीना रहिताः, दरिद्रप्राया अकिञ्चनकजनकल्पाः, 'मुणितव्या' वेदितव्याः। यथाहि दरिद्रा उदरकन्दराभरणचिन्ताव्याकुलत्वा न रत्नक्रयमनोरथमपि कुर्वन्ति, तथैतेऽपि न धर्माभिलाषमपि विदधतीति।

एवं च स्थिते यद्विधेयं तदाह–

धम्मरयणत्थिणा तो, पढमं एयज्जणम्मि जइयव्वं।
जं सुद्धभूमिगाए, रेहइ चित्तं पवित्तं पि ॥३१॥

धर्मरत्नमुक्तस्वरूपं, तदर्थिना तल्लिप्सुना, तत्तस्मात् कारणात्, प्रथममादावेषां गुणानामर्जने विढपने यतितव्यं, तदुपार्जनं प्रति यत्नो विधेयः, तदविनाभावित्वाद्धर्मप्राप्तेः। अत्रैव हेतुमाह–यस्मात्कारणाच्छुद्धभूमिकायां प्रमसचित्रकरपरिकर्मितभूमाविवाकलङ्काधारे (रेहइ त्ति) राजते, चित्रं चित्रकर्म, पवित्रमपि प्रशस्तमप्यालिखितं सदिति। ध०२०। (प्रभासचित्रकरकथा 'पभासचित्तगर' शब्दे वक्ष्यते)

श्रावकसाधुसम्बन्धभेदाद् द्विधा धर्मरत्नं प्रतिपाद्योदानीं कः कीदृगिदं कर्तुं शक्नोतीत्येतदाह–

दुविहं वि धम्मरयणं, तरइ नरो घित्तुमविगलं सो उ।
जस्सेगवीसगुणरय–णसंपया सुट्ठिया अत्थि ॥१४०॥

द्विविधमपि द्विप्रकारमपि, न पुनरेकतरमेवेत्यपिशब्दार्थः। धर्मरत्नं पूर्वोक्तशब्दार्थम्, (तरइ त्ति) शक्नोति "शकेश्चयतरतीरपाराः" ॥८।४।८६॥ इति वचनात्। नर इति जातिनिर्देशान्नरो नरजातीयो जन्तुर्न पुनः पुमानेवेति, ग्रहीतुमुपादातुमविकलं सम्पूर्णं, स एव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्। यस्य किमित्याह– यस्य श्रीप्रभमहाराजस्यैवैकविंशतिगुणरत्नसम्पत् "अक्खुद्दो रूववं पगइसोमो।" इत्यादिशास्त्रपद्धतिप्रतिपादिता गुणमाणिक्यविभूतिः, सुस्थिता दुर्बोधाऽद्यदूषितत्वान्निरुपद्रवाऽस्तिविद्यते इति। ननु पूर्वमुक्तमेवैकविंशतिगुणसमृद्धो योग्यो धर्मरत्नस्येति तत्किं पुनरिदमुच्यते? सत्यम्, पूर्वं योग्यतामात्रमुक्तम्, यथा–बालत्वेऽपि वर्तमानो राजपुत्रो राज्यार्ह उच्यते, संप्रति करणशक्तिरप्यस्याभिधीयते, यथा–प्रौढीभूतो राजपुत्रः कर्तुं शक्नोत्येव राज्यमिति। ध०२०। (श्रीप्रभमहाराजकथा 'सिरिप्पभ' शब्दे) धर्मरत्नवक्तव्यताप्रतिबद्धे शान्तिसूरिविरचिते स्वनामख्याते प्रकरणग्रन्थाविशेषे च, ध० २०।

तत्र चैकविंशतिगुणैर्धर्मरत्नयोग्यो भवतीत्यभिधाय विशेषतः पूर्वाचार्याणां श्लाघ्यमाह–

ता सुट्ठु इमं भणियं, पुव्वाऽऽयरिएहिँ परहियरएहिं।
इगवीसगुणोवेओ, जोग्गो मइ धम्मरयणस्स ॥१४१॥

यत एभिर्गुणैर्युक्तो धर्मं कर्तुं शक्नोति, ततः सुष्ठु शोभनमिदं भणितमुक्तं पूर्वाऽऽचार्यैः पूर्वकालसंभवसूरिभिः, परहितरतैरन्यजनोपकारकरणतालसैः, किं तत्? इत्याह–एकविंशतिगुणैरूपेतो युक्तो, योग्य उचितः, (सइ त्ति) सदा, धर्मरत्नस्य पूर्वव्यावर्णितस्वरूपस्येति।

अथ प्रकृतशास्त्रार्थमनुवदन्नुपसंहारगाथायुगलमाह–

धम्मरयणुच्चियाणं, देसचरित्तीण तह चरित्तीणं।
लिंगाइ जाइँ समए, भणियाइँ मुणियतत्तेहिं ॥१४२॥

तेसिँ इमो भावत्थो, नियमइ विहवाणुसारओ भणिओ।
सपराणुग्गहहेउं, समासओ संतिसूरीहि ॥१४३॥

धर्मरत्नोचितानामुक्तस्वरूपाणां, देशचरित्रिणां श्रमणोपाशकानां, तथा चरित्रिणां साधूनां, लिङ्गानि चिह्नानि, यानि समये सिद्धान्ते, भणितान्यभिहितानि, मुणिततत्तैरवबुद्धसिद्धान्ततत्त्वैरिति प्रथमगाथार्थः ॥१४२॥ तेषामयमुक्तस्वरूपो, भावार्थस्तात्पर्यं, निजमतिविभवानुसारतः स्वबुद्धिसंपदनुरूपं भणितः, सिद्धान्तमहाम्भोधेः पारस्य लब्धुमशक्यत्वाद्यावदवबुद्धं तावद्भणितमिति भावः। किमर्थः पुनरियान् प्रयासः कृतः? इत्याह–स्वपरयोरनुग्रह उपकारः, स एव हेतुः कारणं यस्य भणनस्य तत्स्वपरानुग्रहहेतु, क्रियाविशेषणमेतत्, स्वपरानुग्रहोऽप्यागमादेव भविष्यतीति चेन्न, तत्राऽऽगमे कोऽप्यर्थः। क्वापि भणितस्तमल्पायुषोऽल्पमेधसश्चैदंयुगीना नावगन्तुमीशा इति समासतोऽल्पग्रन्थेन भणितः। कैः? इत्याह–शान्तिसूरिभिर्जिनप्रवचनावदातमतिभिः परोपकारैकरसिकमानसैश्चन्द्रकुलविमलनभस्तलनिशीथिनीनाथैरिति द्वितीयगाथार्थः ॥१४३॥

अथ शिष्याणामर्थित्वोत्पादनायोक्तशास्त्रार्थ–परिज्ञानस्य फलमुपदर्शयन्नाह–

जो परिभावइ एयं, सम्मं सिद्धंतगब्भजुत्तीहिं।
सो मुत्तिमग्गलग्गो, कुग्गहगत्तेसु न हु पडई ॥१४४॥

यः कश्चिद् लघुकर्मा, परिभावयति सम्यगालोचयत्येनं पूर्वोक्तं धर्मलिङ्गभावार्थं, सम्यग् मध्यस्थभावेन, सिद्धान्तगर्भाभिरागमसाराभिर्युक्तिभिरुपपत्तिभिः, स प्राणी, मुक्तिमार्गे निर्वाणनगराध्वनि लग्नो गन्तुं प्रवृत्तः, कुग्रहा दुःषमाभाविनो मतिमोहविशेषाः, त एव गर्त्ता अवटा गतिविघातहेतुत्वादनर्थजनकत्वाच्च, तेषु नैव पतति, हुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्। अत एव सुखेन सन्मार्गेण गच्छतीति।

उक्तं प्रकरणार्थपरिभावनस्यानन्तरफलम्, अधुना परम्परफलमाह–

इय धम्मरयणपगरण–मणुदियहं जे मणम्मि भावंति।
ते गलियकलिलपंका, निव्वाणसुहाइँ पावंति ॥१४५॥

इत्यनन्तरोक्तं, धर्मरत्नमुक्तशब्दार्थं, तत्प्रतिपादकं प्रकरणं शास्त्रविशेषो धर्मरत्नप्रकरणम्, अनुदिवसं प्रतिदिनम्, उपलक्षणत्वात्प्रतिप्रहरमित्याद्यपि द्रष्टव्यम्। ये केचिदासन्नमुक्तिगमना मनसि हृदये, भावयन्ति विवेकसारं चिन्तयन्ति, ते शुभतराध्यवसायभाजो गलितोऽपेतः कलिलपङ्कः पातकमलोत्करो येभ्यस्ते गलितकलिलपङ्काः। (निव्वाणसुहाइं ति) निर्वाणं सिद्धिस्तत आधारे आधेयोपचारादिह निर्वाणशब्देन निर्वाणगता जीवा उच्यन्ते, सिद्धा इत्यर्थः। तेषां सुखानि प्राप्नुवन्ति। ध०२०। धर्मरत्न प्रकरणस्य वृत्तिकारो देवेन्द्रसूरिः। "श्रीधर्मरत्नशास्त्रं, बह्वर्थं स्वल्पशब्दसंदर्भम्। स्वपरोपकारहेतोर्विवृणोमि यथाश्रुतं किञ्चित्" ॥१॥ध० २०।

"स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा।
धर्मरत्नस्य टीकेयं, सुखबोधा विनिर्ममे ॥८॥
प्रथमां प्रतिमाप्रतिमां, बिभ्राणो गुरुजनेषु भक्तिभरम्।
विद्वान् विद्याऽऽनन्दः, सानन्दमना लिलेखास्याः ॥६॥
श्रीहेमकलशवाचक–पण्डितवरधर्मकीर्तिमुख्यबुधैः।

स्वपरसमयैककुशलै–स्तदैव संशोधिता चेयम् ॥१०॥
यद्वदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥११॥
बह्वर्थमल्पशब्दं, शास्त्रमिदं रचयता मया कुशलम् ।
यदवापि धर्मरत्न–प्राप्तिर्जगतोऽपि तेनाऽस्तु ॥१२॥'' ध०२०।

धम्मरहस्स-न०(धर्मरहस्य) धर्मसर्वस्वे,दर्श०१ तत्त्व। कुशल–कर्मगुह्ये, ''एयं धम्मरहस्सं, विण्णेयं बुद्धिमंतेहिं।'' पञ्चा० ७ विव०।

धम्मराग-पुं०(धर्मराग) धर्मे चारित्रलक्षणे रागो धर्मरागः। ध०२ अधि०। कुशलानुष्ठानानुरागे, ''कंतारे भिन्नहिओ, धयपुन्ने भोत्तुमिच्छइ च्छुहिओ। जह तह सदणुट्ठाणे, अणुराओ धम्मराओ त्ति ॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे (संथा०) कुशलानुष्ठानानुरागे, पञ्चा० ३ विव०। धर्मरागश्चारित्रधर्मस्पृहेति। द्वा० १५ द्वा०। यो० विं०।

धम्मरागि(ण्)-पुं०(धर्मरागिन्) श्रुतचारित्रलक्षणधर्मानुरक्ते, पञ्चा० ७ विव०।

धम्मरुइ-स्त्री०(धम्मरुचि) धर्म्मपदमात्रश्रवणजनितप्रीतिसहिता धर्मपदवाच्यविषयिणी रुचिर्धर्मरुचिः। ध०२ अधि०। धर्मश्रद्धायाम्, न चैवं ग्राम्यधर्माऽऽदिपदवाच्यविषयिण्यपि रुचिस्तथा स्यादिति वाच्यम्, निरुपपदधर्मपदवाच्यत्वेऽस्यैव ग्रहणात्। न चैवं चारित्रधर्माऽऽदिपदवाच्यविषयिण्यामव्याप्तिः, निरुपपदत्वस्य वास्तवधर्मातिप्रसञ्जकोपपदराहित्यस्य विवक्षणादिति दिक्। ध० २ अधि०। धर्मे श्रुताऽऽदौ रुचिर्यस्य स तथा। स्था० १० ठा०। धर्मेण श्रुतधर्मेण रुचिर्यस्य स धर्मरुचिः। श्रुतधर्माभ्यासरुचिके, त्रि०। उत्त० २८ अ०। यो हि धर्मास्तिकायं श्रुतधर्मं चारित्रधर्मं च जिनोक्तं श्रद्धते चारित्रधर्मं च जिनोक्तं श्रद्धते स धर्मरुचिरिति। स्था०१० ठा०। धर्मधर्मिणोरभेदाद् धर्मश्रद्धाऽऽत्मके सम्यक्त्व–भेदे च।

अथ धर्मरुचेः स्वरूपमाह–

जो अत्थिकायधम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥२७॥

योऽस्तिकायानां धर्माऽऽदीनां धर्मो गत्युपष्टम्भादिरस्तिकायधर्मस्तम्, जातावेकवचनम्, श्रुतधर्ममङ्गप्रविष्टाऽऽद्यागमस्वरूपं, खलुर्वाक्यालङ्कारे। चरित्रधर्मं वा सामायिकाऽऽदि, चस्य चार्थत्वात् श्रद्दधाति, तथेति प्रतिपद्यते, जिनाऽभिहितं तीर्थकृदुक्तं, स धर्मरुचिरिति ज्ञातव्यो धर्मेषु पर्यायेषु धर्मे वा श्रुतधर्माऽऽदौ रुचिरस्येति। उत्त० पाई० २८ अ०। प्रव०। स्था०। दर्श०। वाराणसीस्थे स्वनामख्यातेऽनगारे, ओघ०। (तत्कथा 'णंद' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७४८ पृष्ठे गता) रोहितकनगरस्थे स्वनामख्याते साधौ, आ० चू० ४अ०। (तत्कथा 'वेदना' शब्दे, परिट्ठावणियासमिइ शब्दे च) मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते मुनौ, ती०८ कल्प। चम्पानगरीस्थे धर्मघोषस्याऽऽचार्यस्य स्वनामख्याते शिष्ये, ज्ञा०१ श्रु० १८ अ०। (तत्कथा 'दुवई' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५७८ पृष्ठे गता) वसन्तपुरस्थस्य जितशत्रोर्नृपस्य स्वनामख्याते पुत्रे, आ०क०।

तथाऽनवद्ये धर्मरुचिकथा–

''धात्रीक्रोडे सदा सक्तं, वसन्तपुरमभवत्।
जितशत्रुर्नृपस्तत्र, धारणी सहचारिणी ॥१॥
आसीद्धर्मरुचिः सूनु–र्यथार्थाऽऽख्यः सुधांशुवत्।
सुवासनः पुष्पमिव, ऋजुः कमलनालवत् ॥२॥
वृद्धत्वादन्यदा राजा, जिघृक्षुस्तापसव्रतम्।
दातुकामस्तनूजस्य, राज्यं संविग्रमानसः ॥३॥
सोऽथ मातरमप्राक्षी–द्राज्यं तातः किमुज्झते?
तमूचे जननी वत्स! राज्यं संसारवर्द्धनम् ॥४॥
पुत्रोऽऽप्युवाच तर्ह्येवं, कार्यं तेन ममाऽपि न।
उभावपि ततो जातौ, तापसौ तापसाऽऽश्रमे ॥५॥
चतुर्दश्यामथाश्रावि, घोषणा सर्वतोमुखीम्।
अमावास्येत्यनाकुट्टिः, प्रभाते भविता ततः ॥६॥
अद्यैव तत्प्रभातार्थं, कार्यः कन्दाऽऽदिसंग्रहः।
अचिन्तयद्धर्मरुचि–रनाकुट्टिर्वरं सदा ॥७॥
अमावास्यां च दृष्ट्वा स, साधून् यातोऽन्तिकाध्वना।
अप्राक्षीदद्य वः किं ना–कुट्टिर्याऽथमहद्धनम् ॥८॥
यावज्जीवमनाकुट्टि–रस्माकं भद्र! तेऽभ्यधुः।
ऊहापोहं प्रपन्नोऽथ, जातिस्मरणमाप सः ॥९॥
ततः प्रत्येकबुद्धोऽभू–द्वेषं शासनदेव्यदात्।
सस्मारैकादशाङ्गानि, सिद्धः कृत्वा चिरं व्रतम्'' ॥१०॥

एतदेवाऽऽह–

''सोऊण अणाउट्टिं, अणभीओ वज्जिऊण अणगं तु।
अणवज्जिअं उवगओ, धम्मरुई नाम अणगारो ॥११॥''

आ०क०। आ०म०। आचा०। विशे०। वाराणसीस्थे स्वनामख्याते नृपे, आ०म०। आ०चू०। न०। आ०क०। (तत्कथा ''पारिणामिया'' शब्दे) काम्पिल्यपुरस्थे स्वनामख्याते नृपे, ती० २४ कल्प। (तत्कथा 'कंपिल्ल' शब्दे तृतीयभागे १७६ पृष्ठे गता)

धम्मलद्ध-त्रि०(धर्मलब्ध) धर्मेण सुधिकया लब्धं धर्मलब्धम्, उद्देशकक्रीतकृताऽऽदिदोषरहिते भक्ताऽऽदौ, ''ते धम्मलद्धं मिणिहाय भुंजे'' (२१) सूत्र०१ श्रु० ११ अ०। (इयं गाथा अस्या अर्थश्च 'कुसील' शब्दे तृतीयभागे ६११ पृष्ठे गतः)

धम्मववत्था-स्त्री०(धर्मव्यवस्था) धर्मस्य प्रमाणप्रसिद्धौ, द्वा० ७ द्वा०। साधुसामग्र्यं धर्मव्यवस्था चानिर्वाह्यत इतीयमत्राभिधीयते। ''भक्ष्याभक्ष्यविवेकाच्च, गम्यागम्यविवेकतः। तपोदयाविशेषाच्च, सद्धर्मो व्यवतिष्ठते ॥१॥'' द्वा०६ द्वा०।

विदित्वा लोकमुत्क्षिप्य, लोकसंज्ञां च लभ्यते।
इत्थं व्यवस्थितो धर्मः, परमाऽऽनन्दकन्दभूः ॥३२॥

(विदित्वेति) विदित्वा ज्ञात्वा, लोकं स्वेच्छाकल्पिताऽऽचारसक्तं जनम्, उत्क्षिप्य निराकृत्य, लोकसंज्ञां बहुभिर्लोकैराचीर्णमेवास्माकमाचरणीयमित्येवंरूपां च लभ्यते प्राप्यते। इत्थमुक्तरीत्या, व्यवस्थितः प्रमाणप्रसिद्धो, धर्म्मः परमानन्द एव कन्दस्तस्य भूरुत्पत्तिस्थानम् ॥३२॥ द्वा० ७ द्वा०।

धम्मवं-त्रि०(धर्मवत्) धर्मोपेते, आचा०१ श्रु०३ अ०१ उ०।

धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टि(ण्)-पुं०(धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्तिन्) धर्म्म एव वरं प्रधानं चतुरन्तहेतुत्वात् चतुरन्तं चक्रमिव चातुरन्तचक्रम्, तेन वर्तितुं शीलं यस्य सः धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्त्ती। जी० ३ प्रति०४उ०। त्रयः समुद्राश्चतुर्थो हिमवानिति चत्वारोऽन्तास्तेषु प्रभुतया भवाश्चातुरन्ताश्चतुरन्तरवामिनः,

एवंविधा ये चक्रवर्त्तिनः ते चातुरन्तचक्रवर्तिनः,धर्म्मस्य वराः श्रेष्ठाः चातुरन्तचक्रवर्तिनः धर्म्मवरचातुरन्तचक्रवर्तिनः । कल्प०१अधि० २ क्षण । त्रयः समुद्राश्चतुर्थो हिमवान्, एते चत्वारोऽन्ताः पृथिव्याः पर्यन्ताः, तेषु स्वामितया भवतीति चातुरन्तः, स चासौ चक्रवर्ती चातुरन्तचक्रवर्ती, वरश्चासौ चातुरन्तचक्रवर्ती चेति वरचातुरन्तचक्रवर्ती राजातिशयः, धर्मविषये वरचातुरन्तचक्रवर्ती धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्ती । स०१ सम० औ० भ० धर्म एव वरमितरचक्रापेक्षया, कपिलाऽऽदिधर्मचक्रापेक्षया वा चातुरन्त, दानाऽऽदिभेदेन चतुर्विभागश्चतसृणां वा नरकाऽऽदिगतीनामन्तकारित्वाच्चतुरन्तं, तदेव चातुरन्त चक्रं भवारातिच्छेदात् तेन वर्तितुं शीलं यस्य स तथा । भ०१ श०१ उ० धर्म एव त्रिकोटिपरिशुद्धत्वेन सुगताऽऽदिप्रणीतधर्मचक्रापेक्षया। उभयलोकहितत्वेन, चक्रवर्त्यादिचक्रापेक्षया च वरं प्रधानं चतसृणां गतीनां नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणानामन्तो यस्मात्तच्चतुरन्तचक्रमिव चक्रं रौद्रमिथ्यात्वाऽऽदिभावशत्रुलवनात् तेन वर्तत इत्येवंशीलो धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्ती । ''चाउरंते त्ति'' समृद्ध्यादित्वादात्वम् । ध०२ अधि० शेषधर्मप्रणेतृणां मध्ये सातिशयत्वादतिशायिनि धर्मनायके तीर्थंकरे, कल्प०१अधि०२ क्षण । तीर्थंकरवर्णकमधिकृत्य ''धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं।'' यथाहि पृथिव्यां शेषराजातिशायी वरचातुरन्तचक्रवर्ती भवति, तथा भगवान् धर्मविषयेशेषप्रणेतृणां मध्ये सातिशयत्वात् तथोच्यते । स०१ सम० इदमत्र हृदयम्--यथोदितधर्म एव वरं प्रधानं चक्रवर्त्तिचक्रापेक्षया लोकद्वयोपकारित्वेन कपिलाऽऽदिप्रणीतधर्मचक्रापेक्षया वा त्रिकोटिपरिशुद्धतया चत्वारो गतिविशेषा नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणाः, तदुच्छेदेन तदन्तहेतुत्वाच्चतुरन्तं, चतुर्भिर्वाऽन्तो यस्मिंस्तच्चतुरन्तम्, कैश्चतुर्भिः? दानशीलतपोभावनाऽऽख्यैर्धर्मैः, अन्तः प्रक्रमाद्भवान्तोऽभिगृह्यते। चक्रमिव चक्रमतिरौद्रमहामिथ्यात्वाऽऽदिलक्षणभावशत्रुलवनात् । तथा च लूयन्त एवानेन भावशत्रवो मिथ्यात्वाऽऽदय इति प्रतीते, दानाऽऽद्यभ्यासादाग्रहनिवृत्त्यादिसिद्धेः, महात्मनां स्वानुभवसिद्धमेतत् । एतेन च प्रवर्त्तन्ते भगवन्तः। तथा भव्यत्वनियोगतो वरबोधिलाभाभ्यं तथा तथौचित्येन असिद्धिप्राप्तेः, एवमेव वर्त्तनादिति। तदेवमेतेन वर्तितुं शीला धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्त्तिनः ॥२४॥ ल०।

धम्मवररयणमंडियचामीयरमेहलाग-पुं०(धर्मवररत्नमण्डितचामीकरमेखलाक) दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, स एव वररत्नमण्डिता चामीकरमेखला यस्य सः धर्मवररत्नमण्डितचामीकरमेखलाकः। ''शेषाद्वा'' ॥७।३।१७५॥ इति कप्प्रत्ययः। उत्तरगुणरूपरत्नमण्डितमूलगुणरूपधर्माऽऽत्मकचामीकरमेखलोपेते संघमेरौ, तथा च - सङ्घस्य मेरुरूपकेण स्तवमधिकृत्य-''धम्मवररयणमंडियचामीयरमेहलागस्स।''नं०। इह धर्मो द्विधामूलगुणरूपः, उत्तरगुणरूपश्च। तत्रोत्तरगुणरूपो रत्नानि, मूलगुणरूपस्तु मेखला, न खलु मूलगुणरूपधर्माऽऽत्मकः चामीकरमेखलाविशिष्टोत्तरगुणरूपवररत्नविभूषणविकलः शोभते। नं०।

धम्मवसु-पुं०(धर्मवसु) कौशाम्बीनगरस्थे धर्मघोषधर्मयशसोर्गुरौ स्वनामख्याते गुरौ, ''कोसंबिअजियसेणो, धम्मघोसधम्मजसे।'' आव० ४ अ० आ०क०। (तत्कथा 'अण्णायया' शब्दे प्रथमभागे ४६४ पृष्ठगता)

धम्मवाय-पुं०(धर्मवाद) धर्मप्रधानो वादो धर्मवादः। ''ज्ञातः स्वशास्त्रतत्त्वेन, मध्यस्थेनाघभीरुणा । कथाबन्धस्तत्त्वधिया, धर्मवादः प्रकीर्त्तितः ॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे वादभेदे, द्वा०७ द्वा०। अष्ट०। (धर्मवादस्वरूपं 'वाद' शब्दे) धर्माणां वस्तुपर्यायाणां धर्मस्य वा चारित्रस्य वादो धर्मवादः। दृष्टिवादे, स्था०१० ठा०। (अस्य स्वरूपम् 'दिट्ठिवाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५१२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

धम्मवावार-पुं०(धर्मव्यापार) क्षान्तिप्रत्युपेक्षाऽऽदौ, षो० १० विव०।

धम्मविउ-त्रि०(धर्मवित्) दुर्गतिप्रसृतजन्तुधारणस्वभावं स्वर्गापवर्गमार्गं वेत्तीति धर्मवित्। आचा०१ श्रु०३ अ०१उ०। धर्मं चेतनद्रव्यस्वभावं श्रुतचारित्ररूपं वा वेत्तीति धर्मवित्। आचा०१ श्रु०३ अ०१उ०। धर्मं यथावत्तत्फलानि च स्वर्गावाप्तिलक्षणानि सम्यग् वेत्तीति धर्मवित्। सूत्र०१ श्रु० १६ अ०। यथावस्थितं परमार्थतो धर्मं सर्वाणाधिविशुद्धं जानातीति धर्म्मवित्। सूत्र०२ श्रु०१ अ०। धर्मपरिच्छेदकरणनिपुणे, ''न ते धम्मविऊ जणा।'' ते सम्यग्धर्म्मपरिच्छेदे कर्त्तव्ये विद्वांसो निपुणाः। तथाहि--क्षान्त्यादिको दशविधो धर्मस्तमज्ञात्वैवान्यथा च धर्मं प्रतिपादयन्तीति। सूत्र०१ श्रु०१ अ०१उ०।

धम्मविज्ज-पुं०(धर्मवैद्य) आचार्य्ये, पं०व०१ द्वार।

धम्मविणिच्छय-पुं०(धर्मविनिश्चय) ''धनदो धनार्थिनां धर्म्मः, कामदः सर्वकामिनाम् । धर्म एवाऽपवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः ॥१॥'' इत्यादिरूपे धर्मस्वरूपपरिज्ञानाऽऽत्मके विनिश्चयभेदे, स्था० ३ ठा०३उ०।

धम्मवित्त-न०(धर्मवित्त) धर्मधने, ''धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनापि जीवतः। आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः ॥१॥'' ध०१ अधि०।

धम्मवित्तिय-त्रि०(धर्मवृत्तिक) धर्मेणैव चारित्राविरोधेन, श्रुताविरोधेन वा वृत्तिर्जीविका यस्य। धर्माविरुद्धजीविके, ''धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा।'' औ०।

धम्मविरुद्ध-त्रि०(धर्मविरुद्ध) धर्मद्वेषिणि, ''धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम्।'' पं०सू०२सूत्र०।

धम्मवीमंसय-पुं०(धर्मविमर्शक) धर्मविचारके, प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

धम्मवीय-न०(धर्मबीज) धर्मकारणे, ''तस्मिन् प्रायः प्ररोहन्ति, धर्मबीजानि गेहिनि । विधिनोप्तानि बीजानि, विशुद्धायां यथा भुवि ॥१६॥''ध०। ('गिहिधम्म' शब्दे तृतीयभागे ८६६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

''धर्मबीजं परं प्राप्य, मानुष्यं कर्मभूमिषु।
न सत्कर्मकृषावस्य, प्रयतन्तेऽल्पमेधसः ॥२॥''

अस्येति धर्मबीजस्य। ध०१ अधि०।

''विधिनोप्तात् यथा बीजा-दङ्कुराऽऽद्युदयः क्रमात्।
फलसिद्धिस्तथा धर्म-बीजादपि विदुर्बुधाः ॥१॥
वपनं धर्मबीजस्य, सत्प्रशंसाऽऽदि तद्वतम्।
तच्चिन्ताऽऽद्यङ् कुराऽऽदिः स्या-त्फलसिद्धिस्तु निर्वृत्तिः ॥२॥

चिन्तासच्छ्रुत्यनुष्ठानं, देवमानुषसंपदः।
क्रमेणाऽकुररसत्काण्ड–नालपुष्पसमा मताः ॥३॥
फलं प्रधानमेवाऽऽहु–र्नानुषङ्गिकमित्यपि।
पलालाऽऽदिपरित्यागात्, कृषौ धान्याऽऽसिवद् बुधाः ॥४॥
अत एव च मन्यन्ते, तत्त्वभावितबुद्धयः।
मोक्षमार्गक्रियामेकां, पर्यन्तफलदायिनीम् ॥५॥'' ल०।

धम्मवीरिय-पुं०(धर्म्मवीर्य) सुपार्श्वजिनसमकालिके स्वनामख्याते चक्रवर्तिनि, ति०।

धम्मवुड्ढि-स्त्री०(धर्मवृद्धि) धर्मसमृद्धौ, पञ्चा० २विव०।

धम्मसंगह-पुं०(धर्मसंग्रह) संगृह्यतेऽनेनेति संग्रहः, धर्मस्य संग्रहो धर्मसंग्रहः। यद्वा–धर्मस्य संग्रहो यत्र स धर्मसंग्रहः। मानविजय–गणिविरचिते स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, तथाच ग्रन्थकृत्प्रथमं श्लोकद्वयेन मङ्गलं समाचरन् श्रोतृप्रवृत्तये स्वाभिधेयं प्रतिजानीते–

''प्रणम्य प्रणताशेष–सुरासुरनरेश्वरम्।
तत्त्वज्ञं तत्त्वदेष्टारं, महावीरं जिनोत्तमम् ॥१॥
श्रुताब्धेः सम्प्रदायाच्च, ज्ञात्वा स्वानुभवादपि।
सिद्धान्तसारं ग्रथ्नामि, धर्मसंग्रहमुत्तमम् ॥२॥''
ध०१ अधि०।

साम्प्रतं सकलशास्त्रार्थपरिसमाप्तिमुपदर्शयन्नाह–

''इत्थेष यतिधर्मोऽत्र, द्विविधोऽपि निरूपितः।
तत्कात्स्न्र्येन हि धर्मस्य, सिद्धिमाप निरूपणम् ॥८४॥''

इति पूर्वोक्तप्रकारेण, अत्र शास्त्रे, एष प्रत्यक्षः द्विविधः–सापेक्ष–निरपेक्षभेदवान्, न पुनरेक एवेत्यपिशब्दार्थः। यतिधर्म उक्तलक्षणो निरूपितो निरूपणविषयीकृतः, ततो द्विविधयतिधर्मनिरूपणाद् द्विविधगृहिधर्मस्य च प्रागेव निरूपणात्कात्स्न्र्येन सर्वप्रकारेण धर्मस्य निरूपणं शास्त्राऽऽदौ प्रतिज्ञातं सिद्धिमाप सम्पूर्णतां प्राप। ध०४अधि०। (विशेषस्त्वत्र 'अणगारधम्म' शब्दे प्रथमभागे २७६ पृष्ठे गतः)

''प्रत्यक्षरं गणनया, ग्रन्थेऽत्र स्युरनुष्टुभाम्।
चतुर्दशसहस्राणि, षट्शती चाष्टकोत्तरा ॥१॥'' ध०।

इत्थं शान्तिविजयसूरिवर्णनं प्रतिपाद्य–

''तेषां विनेय उदिताऽऽदरतो विबुद्ध्रे,
ग्रन्थं च मानविजयाभिधवाचकोऽमुम्।
क्षूणं यदत्र मतिमन्दतया भवेत्–
न्मेधाविभिर्मयि कृपां प्रणिधाय शोध्यम् ॥६॥
सत्तर्ककर्कशधियाऽखिलदर्शनेषु,
मूर्द्धन्यतामधिगतास्तपगच्छधुर्याः।
काश्यां विजित्य परयूथिकपर्षदोग्याः,
विस्तारितप्रवरजैनमतप्रभावाः ॥१०॥
तर्कप्रमाणनयमुख्यविवेचनेन,
प्रोद्बोधिताऽऽदिममुनिश्रुतकेवलित्वाः।
चक्रुर्यशोविजयवाचकराजिमुख्याः,
ग्रन्थेऽत्र मप्युपकृतिं परिशोधनाऽऽद्यैः ॥११॥
बाल इव मन्दगतिरपि, सामाचारीविचारदुर्गम्ये।
अत्राभूवं गतिमा–स्तेषां हस्तावलम्बेन ॥१२॥
वर्षे दिग्गजमुनिरस–चन्द्र १६७८ प्रमिते च माधवे मासे।
शुद्धतृतीयादिवसे, यत्नः सफलोऽयमजनिष्ट ॥१३॥
अहम्मदावादपुरे रसाग्रे,
देशे स्फुरद्गूर्जरदेशमण्डने।
श्रीवंशजन्मा मनिआऽभिधानो,
वणिग्वरोऽभूच्छुभकर्मकर्त्ता ॥१४॥
नित्यं गेहे दानशाला विशाला,
प्रौढोन्नत्या तीर्थराजाऽऽदियात्रा।
सप्तक्षेत्र्यां वित्तवापश्च यस्य,
ख्यातुं प्रायो ह्यस्मदाद्यैरशक्यः ॥१५॥
साधुः श्रीशान्तिदासः प्रवरगुणनिधिस्तत्सुतोऽभूदुदारो,
धात्र्यां विख्यातनामा जगदुसमधिकानेकसत्कृत्यकर्मा।
रङ्कानामन्नवस्त्रौषधसुवितरणाद्यैन दुष्कालनाम्,
विध्वस्तं शस्तभूत्या बहुविधि महिता ज्ञातिसाधर्म्मिकाश्च ॥१६॥
पुत्रन्यस्तसमस्तगेहकरणीयस्य स्फुटं वार्द्धके,
सिद्धान्तश्रवणाऽऽदिधर्मकरणे बद्धस्पृहस्यानिशम्।
सद्धर्मद्वयसंविधानरचनाशुश्रूषणोत्कण्ठिन–
स्तस्य प्रार्थनयाऽस्य गुम्फनविधौ जातः प्रयत्नो मम ॥१७॥
ज्ञानाऽऽराधनमतिना, ज्ञानाऽऽदिगुणान्वितेन वृत्तिरियम्।
प्रथमाऽऽदर्शे लिखिता, गणिना कान्त्यादिविजयेन ॥१८॥
धात्री संपद्विधात्री भुजगपतिधृता सार्णवा यावदास्ते,
प्रोद्यैः सौवर्णशृङ्गोल्लिखितसुरपथो मन्दराद्रिश्च यावत्।
विश्वे विद्योतयन्तौ तमनु शशिरवी भ्राम्यतश्चेह यावत्,
ग्रन्थो व्याख्यायमानो विबुधजनवरैर्नन्दतादेष तावत् ॥१९॥
ये ग्रन्थार्थविभावनातिनिपुणाः सम्यग्गुणग्राहिणः,
सन्तः सन्तु मयि प्रसन्नहृदयास्ते किं खलैस्तैरिह।
येषां शुद्धसुभाषिताभृतरसासिक्तेऽपि चित्ते भृशं,
ग्रीष्मर्त्तौ मरुभूमिकास्विव परं लेशो न संलक्ष्यते ॥२०॥
विलोक्यानेकशास्त्राणि, विहिताद् ग्रन्थतस्त्विह।
प्रेत्यापि बोधिलाभोऽस्तु, परमानन्दकारणम् ।२१।''ध० ४अधि०।

धम्मसंहिया-स्त्री०(धर्मसंहिता) धर्मवृद्ध्यर्थं संहिता बद्धा रचिता। सम्–धाक्तः। मनुयाज्ञवल्क्यप्रभृतिप्रणीते धर्मप्रतिपादनार्थे शास्त्रे, वाच०। अनु०।

धम्मसद्धा-स्त्री०(धर्मश्रद्धा) धर्मः श्रुतधर्माऽऽदिस्तत्र तत्करणाभिलाषरूपा श्रद्धा धर्मश्रद्धा। धर्मकरणाभिलाषे, उत्त० २९ अ०।

धर्मश्रद्धैव सकलकल्याणनिबन्धनमिति तामाह–

धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ? धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ, अगारधम्मं च णं चयइ। अणगारे णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयणसंजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं निवत्तेइ ॥३॥

धर्मश्रद्धयोक्तरूपया, सातं सातवेदनीयं, तज्जनितानि सौख्यानि सातसौख्यानि। प्राग्वन्मध्यपदलोपी समासः, तेषु, वैषयिकसुखेष्विपि यावत्। रज्यमानः पूर्वं रागं कुर्वन् विरज्यते विरक्तिं गच्छति। अगारधर्म्मं च गृहाऽऽचारं, गार्हस्थ्यमिति यावत्। चशब्दश्चेह वाक्यालङ्कारे। त्यजति परिहरति। तदत्यागस्य वैषयिकसुखानुरागनिबन्धनत्वात्। ततश्च ''अणगारे त्ति'' प्राकृतत्वादनगारो यतिः सन् शारीरमानसानां दुःखानाम्, किंरूपाणा मित्याह– छेदनभेदनसंयोगाऽऽदीनामिति, छेदनं खड्गादिना द्विधा करणं, भेदनं कुन्ताऽऽदिना विदारणम्, आदिशब्दस्येहापि संब–

न्धात् ताडनाऽऽदयश्च गृह्यन्ते; ततश्छेदनभेदनाऽऽदिना शारीरदुःखानां संयोगः प्रस्तावादनिष्टसंबन्धः, आदिशब्दादिष्टवियोगाऽऽदिग्रहः, ततः संयोगाऽऽदीनां मानसदुःखानां विशेषेण पुनरसंभवलक्षणेनोच्छेदोऽभावो व्युच्छेदः, तं करोतीति तन्निबन्धनकर्मोच्छेदेनेनेति भावः। अत एव व्याबाधमुपरतसकलपीडं मोक्षमिति यावत्। यः पुनरर्थो भिन्नक्रमः, ततः सुखं पुनर्निर्वर्तयति जनयति। पूर्वं संवेगफलाभिधानप्रसङ्गेन धर्मश्रद्धायाः फलनिरूपणमिह तु स्वातन्त्र्येणेत्यपौनरुक्त्यमिति भावनीयम्। उत्त० पाई० २९अ०।

धर्मश्रद्धाया एव महत्फलमुपदर्शयति–

निसग्गुस्सग्गकारी य, सव्वतो छिन्नबंधणा।
एगो वा परिसाए वा, अप्पाणं सोऽभिरक्खइ॥

यः तीव्रधर्मश्रद्धाभावतो निसर्गत एव स्वभावत एव उत्सर्गकारी, सर्वतश्छिन्नबन्धनः, सर्वत्र ममत्वरहित इत्यर्थः। स एको वा एकाकी वा, पर्षदि वा व्यवस्थित आत्मानमभिरक्षति। व्य०१ उ०।

धम्मसड्ढालु-त्रि०(धर्मश्रद्धालु) धर्मलिप्सौ, सूत्र०२ श्रु०१ अ०।

धम्मसण्णा-स्त्री०(धर्मसंज्ञा) धर्मश्रद्धायाम्, भ०७ श०६ उ०। मोहनीयक्षयोपसमाज्जायमाने क्षमाऽऽद्यासेवनरूपे संज्ञाभेदे, आचा० १श्रु० १ अ०१ उ०।

धम्मसण्णास-पुं०(धर्मसंन्यास) गृहस्थधर्मत्यागे, "धर्मसंन्यास-वान् भवेत्।३।" अष्ट० ८ अष्ट०। क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिक-क्षान्त्यादिधर्मनिवृत्तिरूपे सामर्थ्ययोगभेदे, द्वा० १९ द्वा०। (एतद्वक्तव्यता 'जोग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६२६ पृष्ठे गता)

धम्मसत्थ-न०(धर्मशास्त्र) धर्मप्रतिपादकं शास्त्रं धर्मशास्त्रम्। मन्वादिप्रयुक्ते स्मृतिशास्त्रे, वाच०। जीवदयाऽऽदिविचारप्रति-पादके शास्त्रे च। दर्श०३ तत्त्व। "धम्मसत्थस्स देसओ।" दर्श०४ तत्त्व। "विसेसओ धम्मसत्थकुसलमई।" धर्माभिधायिग्रन्थनिपुणबुद्धिः। पञ्चा० १३ विव०।

धम्मसमुयायार-पुं०(धर्मसमुदाचार) धर्मरूपश्चारित्राऽऽत्मकः समुदाचारः सदाचारः, सप्रमोदो वाऽऽचारो यस्य स धर्मसमुदाचारः। चारित्रधर्माऽऽत्मकसदाचारोपेते, श्रद्धया चारित्रधर्माऽऽत्मकाऽऽचारोपेते च। औ०।

धम्मसरण-न०(धर्मशरण) धर्माऽऽत्मके शरणे, द०प०।

पडिवन्नसाहुसरणो, सरणं काउं पुणो वि जिणधम्मं।
पहरिसरोमंचपवं–चकंचुअंचियतणू भणइ॥४१॥
पवरसुकएहिं पत्तं, पत्तेहि वि नवरि केहि वि न पत्तं।
तं केवलिपण्णत्तं, धम्मं सरणं पवन्नोऽहं॥४२॥
पत्तेण अपत्तेण य, पत्ताणि य जेण नरसुरसुहाइं।
मुक्खसुहं पुण पत्ते–ण नवरि धम्मो स मे सरणं॥४३॥
निद्दालियकलुसकम्मो, कहलुसुहजम्मो(?)खलीयकअहम्मो।
पमुहपरिणामरम्मो, सरणं मे होउ जिणधम्मो॥४४॥
कालत्तए वि नमयं, जम्मणजरमरणवाहिसयसमयं।
अमयं व बहुमयं जिण–मयं च सरणं पवन्नोऽहं॥४५॥
पसमियकामपमोहं, दिट्ठादिट्ठेसु न कलियविरोहं।
सिवसुहफलयममोहं, धम्मं सरणं पवन्नोऽहं॥४६॥
नरयगइगमणरोहं, गुणसंदोहं पवाइनिक्खोहं।
निहणियअबम्हजोहं, धम्मं सरणं पवन्नोऽहं॥४७॥
भासुरसुवन्नसुंदर–रयणालंकारगारवमहप्पं।
निहिमिव दोगच्चहरं, धम्मं जिणदेसियं वंदे॥४८॥ द०प०।

धम्मसवण-न०(धर्मश्रवण) दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः श्रुतचारित्ररूपः, तस्य श्रवणमाकर्णनमर्णतो धर्मश्रवणम्। अर्थतो धर्माऽऽकर्णने, णो० १६ विव०। ध०। धर्मशास्त्राऽऽकर्णने च। पञ्चा०१० विव०। तस्माच्च धर्मश्रवणाद् मनःखेदापनोदाऽऽदिगुणः स्यात्। यदाह–
"क्लान्तमपोहति खेदं, तप्तं निर्वाति बुद्ध्यते मूढम्। स्थिरतामेति व्याकुलमुपयुक्तसुभाषितं चेतः॥१॥" प्रत्यहं धर्मश्रवणं चोत्तरोत्तरगुण-प्रतिपत्तिराधनत्वात्प्रधानमिति॥२२॥ ध०१ अधि०।

धर्मश्रवणे यत्नः, सततं कार्यो बहुश्रुतसमीपे।
हितकाङ्क्षिभिर्नृसिंहै–र्वचनं ननु हारिभद्रमिदम्॥१७॥

दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः श्रुतचारित्ररूपः, तस्य श्रवणमाकर्णनमर्थतः, तस्मिन् धर्मश्रमणे यत्नः प्रयत्न आदरः, सततम-नवरतं, कार्यः कर्त्तव्यो, बहुश्रुतसमीपे बहुश्रुतसन्निधाने, हितकाङ्क्षिभि-र्हिताभिलाषिभिर्नृसिंहैः पुरुषसिंहैः, पुरुषोत्तमैरिति यावत्। वचनं प्रार्थनारूपं, नन्विति वितर्के। एवं वितर्कयत यूयं, हरिभद्रस्येदं हारिभद्र-मिदमेवंविधं यदुत बहुश्रुतसमीपे धर्मश्रवणे यत्नो विधेयः। अथवा–वचनमागमरूपं, ननु निश्चितं हारि मनोहारि, भद्रमिदं कल्याणमिदं यतो वर्त्तते, अतो वचनमतधर्मश्रवणे बहुश्रुतसमीपे एव यत्नः श्रेयान्, अबहुश्रुतेभ्यो धर्मश्रवणेऽपि विपरीतार्थोपपत्तेः प्रत्यवायसंभवात्। अथवा–हरिभद्रसूरेः स्तुतिं कुर्वाणोऽपर एव कश्चिदिदमाह– 'वचनं ननु हारिभद्रमिदम्।' हरिभद्रसूरेरिदं धर्मगतं वचनं प्रकरणाऽऽश्रयं, तस्माद्धर्मश्रवणे बहुश्रुतसमीपे एव यत्नो विधेयोऽबहुश्रुतेभ्यो हरिभद्राऽऽ-चार्यवचनार्थानुपलम्भादेवं वचनमाहात्म्यद्वारेण संस्तौति॥१७॥ षो० १६ विव०।

धम्मसागर-पुं०(धर्मसागर) कल्पसूत्रोपरि किरणावलिकारके आचार्ये, अनेन च कुमतिकुद्दालाऽऽदयोऽनेके ग्रन्था रचिताः। ते तीव्रभाषानिबद्धा इत्याचार्याणामरुचिपात्रतां गताः। जै०इ०।

धम्मसार-पुं०(धर्मसार) धर्मोत्कर्षे, "जयणा उ धम्मसारो, जं भणिया वीयरागेहिं।" पञ्चा० ७ विव०। धर्मसामर्थ्ये, "धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं।" आव०५ अ०। धर्मस्य सारः परमार्थो धर्मसारः। धर्मस्य परमार्थे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। धर्मस्य सारः चारित्रं धर्मसारः। चारित्रे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

धम्मसारहि-पुं०(धर्मसारथि) धर्मरथस्य प्रवर्त्तकत्वेन सारथिरिव धर्मसारथिः। यथा–रथस्य सारणी रथं रथिकमश्वाँश्च रक्षति, एवं भगवान् चारित्रधर्माङ्गानां संयमाऽऽत्मप्रवचनाऽऽख्यानां रक्षणोपदेशाद् धर्मसारथिः। भ०१ श०१ उ०। जी०। स०। रा०। धर्मस्य स्वपरापेक्षया सम्यक् प्रवर्त्तनपालनदमनयोगतः सारथित्वम्। तद्यथा–सम्यक् प्रवर्त्तनयोगेन परिपाकापेक्षणात्, प्रवर्त्तकज्ञानसिद्धेरपुनर्बन्ध-कत्वात्, प्रकृत्याऽऽभिमुख्योपपत्तेः। तथा–गाम्भीर्ययोगात्साधुसहका–

रिप्राप्तेरनुबन्धप्रधानत्वादतीचारभीरुत्वोपपत्तेः । एतेन पालनायोगः प्रत्युक्तः, सम्यक्प्रवर्त्तनस्य निर्वहणफलत्वात्, नान्यथा सम्यक्त्वमिति समयविदः । एवं दमनयोगेन दान्तो ह्येवं धर्मः कर्मवशितया कृतो व्यभिचारी अनिवर्त्तकभावेन नियुक्तः स्वकार्ये स्वाङ्गोपचयकारितया नीतः स्वात्मीभावं तत्प्रकर्षस्याऽऽत्मरूपत्वेन। भावधर्मासौ हि भवत्येवैतदेवं, तदाद्यस्थानस्याप्येवं प्रवृत्तेरबन्ध्यबीजत्वात् सुसंवृत्तकाञ्चनरत्नकरण्डकप्राप्तितुल्या हि प्रथमधर्मस्थानप्राप्तिरित्यन्यैरप्यभ्युपगमात्, तदेवं धर्मस्य सारथयो धर्मसारथयः ॥२३॥ ल० ध० धर्ममार्गप्रवर्त्तयितरि तीर्थकरे, ''धिइमं धम्मसारही ।''(१५) उत्त० १६अ० कल्प० यथा सारथिरुन्मार्गे गच्छन्तं रथं मार्गमानयति, एवं भगवन्तोऽपि मार्गभ्रष्टं जनं मार्गे आनयन्ति। अत्र च मेघकुमारदृष्टान्तः। कल्प०१ अधि० १ क्षण। (मेघकुमारकथा 'मेघकुमार' शब्दे)

धम्मसासण-न०(धर्मशासन) धर्मज्ञाने, दश० १ चू०। धर्मशास्त्रे च। दश०।

''साहित्यस्य विशारदो यदि परं जानाति सल्लक्षणं,
तर्के कर्कशमानसोऽतिविभुता यद्यस्ति सा ज्योतिषि।
किञ्चानेककलाऽऽलयोऽपि विकलः प्राणी परं गीयते,
यो जानाति न स्वर्गमोक्षसुखदं धर्मानुगं शासनम्।१।'' दश० ६अ०।

धम्मसाहण-न०(धर्मसाधन) धर्मस्य कर्मानुपादाननिर्जरणलक्षणस्य साधनं हेतुरहिंसाऽऽदिर्धर्मसाधनम्। धर्महेतावहिंसादिके, हा० १२ अष्ट०।

धम्मसिद्धि-स्त्री०(धर्मसिद्धि) धर्मनिष्पत्तौ, ''लिङ्गानि धर्मसिद्धेः।'' षो०४ विव०।

धम्मसिरी-पुं०(धर्मश्री) अस्याश्चतुर्विंशतिकायाः प्रागनन्तकालेनातीतायां चतुर्विंशतिकायां भवे चरमतीर्थकरे, ग०। अस्याः ऋषभाऽऽदिचतुर्विंशतिकायाः प्रागनन्तकालेन याऽतीता चतुर्विंशतिका तस्यां मत्सदृशः सप्तहस्ततनुर्धर्मश्रीनामा चरमतीर्थकरो बभूव। ग०१ अधि०। (तत्कथा 'सावज्जायरिय' शब्दे)

धम्मसील-त्रि०(धर्मशील) धर्मःशीलं सततमनुष्ठेयं यस्य स धर्मशीलः। धार्मिके, वाच०। धर्मस्वभावे च। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

धम्मसीलसमुयायार-त्रि०(धर्मशीलसमुदाचार) धर्मशीलो धर्मस्वभावो धर्माऽऽत्मकः समुदाचारो यत्किञ्चनानुष्ठानं यस्य सः। धर्मस्वभावाऽऽत्मकानुष्ठाने, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

धम्मसीह-पुं०(धर्मसिंह) अभिनन्दनजिनस्य पूर्वभवनामधेये, स०। पाटलिपुत्रस्थे स्वनामख्याते क्षत्रियमुनौ, संथा०।

पाडलिपुत्तम्मि पुरे, चंदयपुत्तस्समे य आसी य।
नामेण धम्मसीहो, चंदसिरी सो पइहिऊणं ॥६६॥

पाटलिपुत्रे नगरे (चन्दयपुत्तस्समे य त्ति) चन्द्रगुप्तपुत्रस्य समः सबन्धुः सुहृत्, समः सुहृदभिधानेषु दर्शनात्। अथवा–चन्द्रगुप्तसमः मान्यत्वादासीदभूद् नाम्ना धर्मसिंह इति। कथंभूतः? (चंदसिरी सो पइहिऊणं) चन्द्रगुप्तश्रीः चन्द्रगुप्तलक्ष्मीकः, (पइ–हिऊणं ति) प्रस्तावात् तामेव लक्ष्मीं परित्यज्य, चारित्रं गृहीत्वे–त्यर्थः।

ततः किं कृतवानित्याह–

कुल्लयरम्मि पुरवरे, अह सो अब्भुट्ठिओ ठिओ धम्मे।
कासी य गद्धपिट्ठं, पच्चक्खाणं विगयसोगो ॥७०॥

अथ कोल्लयरपुरे स धर्मसिंहाभिधानः क्षत्रियमुनिः, अभ्युत्थितोऽभ्युद्यतः मरणाय, स्थितश्च धर्मे पर्यन्ताऽऽराधनाकृत्यरूपे, (कासी य त्ति) अकार्षीत्, (गद्धपिट्ठं ति) गृद्धपृष्ठाभिधानमनाथपतितगोकलेवराऽऽदिमध्ये निपतनरूपं (पच्चक्खाणं विगयसोगो त्ति) प्रत्याख्यानमनशनाङ्गीकाररूपं, विगतशोको विगतदैन्य इति गाथार्थः ॥७०॥

अह सो वि चत्तदेहो, तिरियसहस्सेहिँ खायमाणो य।
सो वि तह खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥७१॥

अथ स त्यक्तदेहो व्युत्सृष्टशरीरस्तिर्यक्सहस्रैः श्ववृकशृगालगृद्धाऽऽदिभिः खाद्यमानश्च, सोऽपि तथा खाद्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थं सम्यगाराधनामित्यर्थः ॥७१॥ संथा०। धर्मजिनस्य प्रथमभिक्षादायके च। स०।

धम्मसुअक्खायभावणा-स्त्री०(धर्मस्वाख्यातभावना) भावनाभेदे, सा यथा–

''स्वाऽऽख्यातः खलु धर्मोऽयं, भगवद्भिर्जिनोत्तमैः।
यं समालम्बमानो हि, न मज्जेद्भवसागरे ॥१॥''

स्वाख्याततामेवाऽऽह–

''संयमः सूनृतं शौचं, ब्रह्माकिञ्चनता तपः।
क्षान्तिर्मार्दवमृजुता, क्षान्तिश्च दशधा ननु ॥२॥''

अत्रायं भावः–संयमाऽऽदिदशविधधर्मप्रतिपादनप्रकारेण भगवतामर्हतां स्वाख्यातधर्मत्वानुप्रेक्षणमेवेति। धर्माणां गुणभावना तदाख्यातॄणां भगवतामनुप्रेक्षानिमित्तं स्तुतिरिति। तथा च धर्मकथकोऽर्हन्निति भावनेत्येव प्रत्यासन्नम्। तथा–

''पूर्वापरविरुद्धानि, हिंसाऽऽदेः कारकाणि च।
वचांसि चित्ररूपाणि, व्याकुर्वद्भिर्निजेच्छया ॥३॥
कुतीर्थिकैः प्रणीतस्य, सद्गतिप्रतिपन्थिनः।
धर्मस्य सकलस्यापि, कथं स्वाख्याततां भवेत्? ॥४॥
यच्च तत्समये क्वापि, दर्पात्सत्याऽऽदिपोषणम्।
दृश्यते तद्वचोमात्रं, बुधैर्ज्ञेयं न तत्त्वतः ॥५॥
यत्प्रोद्दाममदान्धसिन्धुरघटं साम्राज्यमासाद्यते,
यन्निःशेषजनप्रमोदजनकं संपद्यते वैभवम्।
यत्पूर्णेन्दुसमद्युतिर्गुणगणः संप्राप्यते यत्परं,
सौभाग्यं च विजृम्भते तदखिलं धर्मस्य लीलायितम् ॥६॥
यन्न प्लावयति क्षितिं जलनिधिः कल्लोलमालाऽऽकुलो,
यत्पृथ्वीमखिलां धिनोति सलिलाऽऽसारेण धाराधरः।
यच्चन्द्रोष्णरुची जगत्युदयतः सर्वान्धकारच्छिदे,
तन्निःशेषमपि ध्रुवं विजयते धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥७॥
अर्हता कथितो धर्मः, सत्योऽयमिति भावयन्।
सर्वसंपत्करे धर्मे, धीमान् दृढतरो भवेत् ॥८॥'' ध०३ अधि०।

धम्मसुइ-स्त्री०(धर्मश्रुति) अर्हत्प्रणीतधर्माऽऽकर्णने, उत्त० ३अ०। ''किन्नरगेयश्रवणादधिको धर्मश्रुतौ रागः।'' षो० ११ विव०। आ०क०।

धम्मसेण-पुं०(धर्मसेन) भगवत ऋषभदेवस्य शतपुत्रेषु स्वनामख्यातेऽन्यतमे पुत्रे, कल्प०१ अधि०७क्षण०। नन्दनस्य सप्तमबलदेवस्य पूर्वभवनामधेये, स०। ति०।

धम्मसेणगणिमहत्तर-पुं०(धर्मसेनगणिमहत्तर) वसुदेवहिण्डीग्रन्थस्य द्वितीयतृतीयखण्डयोः कर्त्तरि, जै०इ०।

धम्महिय-त्रि०(धर्महित) धर्माय हितमुपकारकं धर्महितम् । धर्मोपकारके, उत्त० पाई० २अ०।

धम्माइगर-पुं०(धर्माऽऽदिकर) धर्मो द्विभेदः-श्रुतधर्मश्चारित्रधर्म्मश्च । श्रुतधर्मेणेहाधिकारः, तस्य करणशीलो धर्मादिकरः । आव०५ अ० श्रुतधर्मस्य सूत्रतः प्रथमकरणशीले तीर्थकरे, ध०२ अधि० प्रसङ्गे, न० आव०५ अ० आ०चू० । ल०।

धम्माणुओग-पुं०(धर्मानुयोग) धारयति दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वमिति धर्मः, तस्मिन् धर्मे धर्मविषयेऽनुयोगो धर्मानुयोगः । उत्तराध्ययनाऽऽदिप्रकीर्णकरूपेऽनुयोगभेदे, ओघ०। धर्मकथानुयोग उत्तराध्ययनाऽऽदिक इति । आचा०१ श्रु०१ अ०१ उ०।

धम्माणुट्ठाण-(धर्मानुष्ठान) कुशलानुष्ठाने, ध०१अधि०।

''अन्ने भणंति तिविहं, सययाविसयभावजोगओ णवरं।
धम्मम्मि अणुट्ठाणं, जहुत्तर पहाणरूवं तु ॥१॥
एअं च णऽणुत्तिखमं, णिच्छयणयजोगओ जओ विसए।
भावेण य परिहीणं, धम्माणुट्ठाणमो किह णु ? ॥२॥
ववहारओ उ जुज्जइ, तहा तहा अपुणबंधगाईसुं ॥'' इति।

एतदर्थो यथा-अन्ये आचार्या भणन्ति, त्रिविधं त्रिप्रकारं, सतत-विषयभावयोगतः, योगशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् सततताऽऽदिपदानां सततताभ्यासाऽऽदौ लाक्षणिकत्वात् सततताभ्यासविषया-भ्यासभावाभ्यासयोगादित्यर्थः । नवरं केवलं, धर्मेऽनुष्ठानं यथो-त्तरं प्रधानरूपं, तुरेवकारार्थः । यद्यदुत्तरं तदेव ततः प्रधानमित्यर्थः। तत्र सततताभ्यासो नित्यमेव मातापितृविनयाऽऽदिवृत्तिः । विषया-भ्यासो मोक्षमार्गनायकेऽर्हल्लक्षणे पौनःपुन्येन पूजनाऽऽदिप्रवृत्तिः। भावाभ्यासो भावानां सम्यग्दर्शनाऽऽदीनां भावाद्वेगेन भूयो भूयः परि शीलनम् ॥१॥ एतच्च द्विविधमनुष्ठानं न युक्तिक्षमं नोपपत्तिसहं, निश्चयनययोगेन निश्चयनयाभिप्रायेण यतो मातापित्रादिविनयस्वभावे सततताभ्यासे सम्यग्दर्शनाऽऽद्यनाऽऽराधनारूपे धर्मानुष्ठानं दूरापास्तमेव, विषय इत्थनन्तरमपिगम्यः, विषयेऽपि अर्हदादिपूजालक्षणे विषयाभ्यासेऽपि, भावेन भववैराग्याऽऽदिना परिहीणं धर्मानुष्ठानं, कथं नु? न कथञ्चि-दित्यर्थः । ओकारः प्राकृतत्वात्। परमार्थोपयोगरूपत्वाद्धर्मानुष्ठानस्य, निश्चयनयमते भावाभ्यास एव धर्मानुष्ठानं, नान्यद् द्वयमिति निगर्वः ॥२॥ व्यवहारतस्तु व्यवहारनयादेश तु, युज्यते द्वयमपि, तथा तथा तेन तेन प्रकारेणापुनर्बन्धकाऽऽदिषु अपुनर्बन्धकप्रभृतिषु, तत्रापुनर्बन्धकः पापं न तीव्रभावात्करोतीत्याद्युक्तलक्षणः । आदिशब्दादपुनर्बन्धकस्यैव विशिष्टोत्तरावस्थाविशेषभाजौ मार्गाभिमुखमार्गपतितौ अविरत-सम्यग्दृष्ट्यादयश्च गृह्यन्त इति। ध०१अधि०।

धम्माणुण्ण-त्रि०(धर्मानुज्ञ) धर्मे श्रुतचारित्रलक्षणेऽनुज्ञाऽनुमोदनं यस्य स धर्मानुज्ञः। दशा०६ अ०।धर्मे कर्त्तव्येऽनुज्ञाऽनुमोदनं यस्य स धर्मानुज्ञः। ज्ञा०१ श्रु० १८ अ०। धर्मानुमोदितरि, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

धम्माणुय-त्रि०(धर्मानुग) धर्मं श्रुतचारित्ररूपमनुगच्छतीति धर्मानुगः। धर्मानुयायिनि, दशा०६अ०। ज्ञा०। औ०। सूत्र०।

धम्माणुराग-पुं०(धर्मानुराग) धर्मबहुमाने, भ०१श०७ उ०।

धम्माणुरागरत्त-त्रि०(धर्मानुरागरक्त) धर्मानुरागो धर्मबहुमानः, तेन रक्त इव यः स तथा । धर्मबहुमानानुरागिणि, भ०१ श०७ उ०।

धम्माणुरागि(ण्)-पुं०(धर्मानुरागिण्) श्रुतचारित्रलक्षणधर्मानुरक्ते, पञ्चा०७ विव०। धर्माभिलाषिणि च। दर्श० १ तत्त्व।

धम्माधम्मट्ठाण-न०(धर्माधर्मस्थान) उपशमप्रधानानुपशमप्रधाने क्रियास्थानस्य तृतीये भेदे, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। (धर्माधर्मयुक्तं तृतीयं स्थानमाश्रित्य 'पुरिसविजय विभंग' शब्दे वक्ष्यते)

धम्मायरण-न०(धर्माऽऽचरण) धर्मानुष्ठाने, आचा०१श्रु० ५अ०२उ०।

धम्मायरिय-पुं०(धर्माऽऽचार्य्य) श्रुतचारित्रधर्माऽऽचारसाधौ, ध०२ अधि०। धर्मः श्रुतधर्मस्तत्प्रधानः प्रणायकत्वेनाऽऽचार्य्यो धर्माचार्य्यः । मतोपदेष्टरि, स्था०७ ठा०। ''धम्मायरियं धम्मोवदेसयं समणं भगवं महावीरं वंदामो ।'' भ०२ श०१ उ०। धर्मदाताऽऽचार्य्यो धर्माचार्य्यः । स्था०३ठा०१उ०। धर्मदातर्य्याचार्य्ये, ध०२अधि०। धर्मप्रतिबोधके, स्था०४ ठा० ३उ०। बोधिलाभहेतुभूते गुरौ च। पञ्चा०१ विव०। ''धम्मो जेणुवइट्ठो, सो धम्मगुरू गिही व समणो वा।'' स्था० ४ठा०३उ०।

धम्मायार-पुं०(धर्माचार) स्त्रीणां चतुषःष्टिकअन्तर्गते कलाभेदे, कल्प०७अधि०१क्षण।

धम्माराम-पुं०(धर्माराम) धर्मे श्रुतधर्माऽऽदावाडित्यभिव्याप्त्या रमते रतिमान् भवतीति धर्मारामः। उत्त०२ अ०। धर्मविषयकरतिमति साधौ, उत्त० १६अ०। धर्म एव सततमानन्दहेतुतया प्रतिपाल्यतया चाऽऽरामो धर्मारामः। उत्त०२अ०। धर्मआराम इव पापसंतापोपतप्तानां जन्तूनां निर्वृतिहेतुतया अभिलषितफलप्रदानतश्च धर्माऽऽरामः। धर्माऽऽत्मके आरामे, ''धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही । धम्मारामे रए दंते, बंभचेरसमाहिए ॥१॥'' उत्त० १६ अ०।

धम्मारामरय-त्रि०(धर्माऽऽरामरत) धर्माऽऽरामे रत आसक्तिमान् धर्मारामरतः । धर्माऽऽरामाऽऽसक्ते, उत्त०१६ अ०। धर्म आ समन्तात् रमन्त इति धर्मारामाः साधवस्तेषु रतो धर्माऽऽरामरतः। साधुभिः सह युक्ते च। उत्त० १६ अ०।

धम्माराहग-पुं०(धर्माऽऽराधक) धर्मानुकूलवर्त्तिनि, स्था०२ ठा०४ उ०। सूत्र०।

धम्माराहण-न०(धर्माराधन) धर्माऽऽसेवने, स्था०२ ठा०४ उ०। ''जे केइ महापुरिसा, धम्माराहणसहा इहं लोए।'' चारित्राऽऽराधनसमर्थाः। पं०व०३ द्वार।

धम्मावाय-पुं०(धर्मवाद) धर्माणां वस्तुपर्यायाणां धर्मस्य वा चारित्रस्य वादो धर्मवादः। दृष्टिवादे, स्था० १० ठा०।

धम्माहिगारि(ण्)-पुं०(धर्माधिकारिण्) धर्मग्रहणयोग्ये धार्मिके, ध०१ अधि०। पञ्चा०। पं०व०।

धम्मि (ण्) त्रि०(धर्मिन्) धर्मोऽस्ति यस्याऽसौ धर्म्मी । औ० । धर्म अस्त्यर्थ इतिः । पुण्यवति, वस्तुगुण स्वरूपधर्मयुक्ते, वाच० । आचा० ।

धम्मिट्ठ त्रि०(धर्मिष्ठ) अतिशयेन धर्मी । इष्ठन इनेर्लुक् । अत्यन्त-धर्मवति, वाच० । रा० । धर्मबहुले, सूत्र० २ श्रु० २ उ० । धर्मोऽस्ति यस्य स धर्मी, स एवान्येभ्योऽतिशयवान् धर्मिष्ठः । औ० ।

***धर्मेष्ट** त्रि० । धर्मः श्रुतरूप एवेष्टो बल्लभः पूजितो वा यस्य स धर्मेष्टः । प्रियधर्मे, औ० ।

***धर्मीष्ट** त्रि० धर्मिणामिष्टो धर्मीष्टः । धर्मिणां वल्लभे, औ० ।

धम्मिड्ढि स्त्री०(धर्मर्द्धि) ऋद्धिभेदे, ''सा भण्णइ धम्मिड्ढी, जा मण्णइ धम्मकज्जेसु । '' ध० २ अधि० ।

धम्मिपरिणाम पुं०(धर्मिपरिणाम) धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तावुत्तर-धर्मोत्पत्तिर्धर्मिपरिणामः । परिणामभेदे, यथा–मृल्लक्षणस्य धर्म्मिणः पिण्डरूपधर्मपरित्यागेन घटरूपार्थान्तरस्वीकारः । द्वा० २४ द्वा० ।

धम्मिय त्रि०(धार्मिक) धर्मं चरति सततमनुशीलयति ठक् । धर्मशीले, वाच० । ''धम्मियमाहणभिक्खुए सिया ।'' धार्मिका धर्माऽऽचारशीलाः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । धर्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरति धार्मिकः । साधौ, स्था० २ ठा० ४ उ० । ज्ञा० । सूत्र० । रा० । औ० । भ० । धर्मे श्रुतचारित्राऽऽत्मके भवः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । धर्मनिरते, द्वा० ३ द्वा० । ''न हिंस्यात्सर्वभूतानित्वाचराणि चराणि च । आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स धार्मिकः ॥१॥'' अनु० । ''एवं परिहायमाणां , लोगे यदो व्व कालपक्खम्मि । जे धम्मिया मणुस्सा, सुजीवियं जीवियं तेसिं ॥१॥'' ति० । धर्मः प्रयोजनमस्येति धार्मिकः । स्वा० ३ ठा० १ उ० । धर्मार्थे, दशा० १० अ० । धर्मे नियुक्तो धार्मिकः । औ० । धर्माय नियुक्तं धार्मिकम् । धर्मप्रतिबद्धे, धार्मिको धर्मप्रतिबद्धत्वान् , नि० १ श्रु० १ वर्ग१ अ० । धार्मिकस्य संयतस्येद धार्मिकम् । धार्मिकसम्बन्धिनि च । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

***धर्मित** त्रि० । अतिशयेन सन्नद्धे, ''धम्मियसण्णद्धबद्धकवइय–उप्पीलियकच्छवच्छगेवेयबद्धगलवरभूसण्णविराइयं ।'' धर्मिताऽऽदयः शब्दा एकार्थो एव सन्नद्धताप्रकर्षख्यापनार्थाः । भेदो यश्चैषामस्ति स च रूढितोऽवसेयः । औ० ।

धम्मियकरण न०(धार्मिककरण) धार्मिकस्य संयतस्येदं धार्मिकम्, कृतिः करणमनुष्ठानम् । धार्मिककरणभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

धम्मियजाण न०(धार्मिकथान) धर्मार्थगमनसाधने याने, ''धम्मियं जाणवचरं उवट्ठवेह ।'' धर्मार्थं वानं गमनं येन तद्धर्मयानं, तन्मध्ये प्रवरं श्रेष्ठं शीघ्रगमनत्वाऽऽदिगुणोपेतमिति । दशा० १० अ० । ज्ञा० । अन्त० ।

धम्मियजायणा स्त्री०(धार्मिकयाचना) धर्मकथापूर्वके याचने, आचा० । ''धम्मियाए जायणाए जाएज्जा ।'' धर्मकथनपूर्वकं गच्छान्निर्गतो याचेत । आचा०२ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ० ।

धम्मियणाडय न०(धार्मिकनाटक) जिनजन्माभ्युदयभरतनि-ष्क्रमणाऽऽदिधर्मसम्बद्धे नाटके, पञ्चा० ६ विव० ।

धम्मियववसाय पुं०(धार्मिकव्यवसाय) व्यवसायभेदे, प्रति० ।

धम्मियाधम्मियकरण न०(धार्मिकाधार्मिककरण) धार्मिकस्य संयतस्येदं धार्मिकमेवमितरन्नवरमधार्मिकोऽसंयतस्तस्य करणम् । अथवा धर्मे भवं धर्मो वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकम् । विपर्यस्तमितरत्कर-णं धार्मिकाधार्मिककरणम् । करणभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

धम्मियाधम्मियोवक्कम पुं०(धार्मिकाधार्मिकोपक्रम) धार्मिकश्चासौ देशतः संयमरूपत्वादधार्मिकश्च तथैवासंयमरूपत्वाद् धार्मिकाधार्मिकः । उपक्रम उपायपूर्वक आरम्भो धार्मिकाधार्मिकोपक्रमः । देशविरताऽऽ-रम्भरूपे उपक्रमभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धम्मियाराहणा स्त्री०(धार्मिकाऽऽराधना) आराधनमाराधना ज्ञानाऽऽ-दिवस्तुनोऽनुकूलवर्तित्वं, निरतिचारज्ञानाऽऽद्यासेवनेति यावत् । धर्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्मिकाः स्राधवस्तेषामियं धार्मिकी । सा चासावाराधना चेति निरतिचारज्ञानाऽऽदिपालना धार्मिकाऽऽराधना । आराधनाभेदे, स्था०२ ठा० ४ उ० । ''धम्मियाराहणा कुविहा पण्णत्ता । तं जहा–सुयधम्माराहण चेव, चरित्तधम्माराहणा चेव । '' स्था०२ ठा० ४उ० । विषयभेदेनाऽऽराधनाभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

धम्मियोवक्कम पुं०(धार्मिकोपक्रम) धर्मं श्रुतचारित्राऽऽत्मके भवः, स वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकः उपक्रमणमुपक्रम उपायपूर्वक आरम्भो धार्मिकोपक्रमः । श्रुतचारित्राऽऽद्यर्थकाऽऽरम्भाऽऽत्मके उपक्रमभेदे, (स्था०) धार्मिकस्य संयतस्य य चारित्राऽऽद्यर्थं द्रव्यक्षेत्रकालभावाना-मुपक्रमः स धार्मिक एवोपक्रमः । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धम्मिल्ल पुं०(धम्मिल्ल) संयतेषु केशेषु, वाच० । ''धम्मिल्लो केसहत्थओ मउली'' (५७) को० ५७ गाथा । स्वनामख्याते साधौ, आव० ६ अ० । तं० । (तत्कथा धम्मिल्लहिण्ड्यां समासतः 'पचक्खाण' शब्देऽपि) कुल्लागसन्निवेशस्थे सुधर्म्मस्वामिनः पितरि, स्वनामख्याते विप्रे च । कल्प २ अधि० ८ क्षण । आ०म० । आ० चू० । विपरिणाममापन्ने य त्रि० । 'अकविलसु-सिणिद्धसुगंधदीहधम्मिल्लसिरवा । ' धम्मिल्ला विपरिणामम । पन्नाः संयमविज्ञानाभावात् शिरोजा इति । जं० २ वक्ष० ।

धम्मीसर पुं०(धर्मेश्वर) भारतवर्षेऽतीतोत्सर्पिण्यां भवे जिनेश्वर-परपर्य्याये विंशतितमे जिने, प्रव० ७ द्वार ।

धम्मुज्जय त्रि०(धर्मोद्यत) धर्मस्पृहावति, जीवा० १२ अधि० ।

धम्मुत्तर त्रि०(धर्मोत्तर) धर्मैर्गुणैरुत्तरो धर्म्मोत्तरः । आ०चू० ५ अ० । धर्मः प्रशमाऽऽदिरूपस्तदुत्तरस्तत्प्रधानो धर्मोत्तरः । षो० १० विव० । धर्मप्रधाने सम्यग्दर्शनाऽऽदिके, धर्मप्राधान्ये, न० । ''धम्मुत्तरं वद्धउ ।'' धर्मोत्तरं चारित्रधर्मोत्तरं चारित्रधर्मप्राधान्यं यथा स्यात् । ध० २ अधि० । ल० । आव० । न्यायबिन्दुटीकाकारके बौद्धाऽऽचार्य्ये, अयं सौगतः वीरसंवत् ८८४ वर्षे आसीत् । जै० इ० ।

धम्मुत्तरखंति स्त्री०(धर्मोत्तरक्षन्ति) धर्मः प्रशमाऽऽदिरूपस्तदुत्तरा तत्प्रधाना क्षान्तिर्धर्मोत्तरक्षान्तिः । क्षान्तिभेदे, षो० १० विव० ।

धम्मेक्कणिट्ठ त्रि०(धर्मैकनिष्ठ) धर्मतत्परे, षो० १२ विव०।

धम्मोवएस पुं०(धर्मोपदेश) धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः, तस्योपदेशो देशना। धर्मदेशनायाम्, 'धर्मोपदेशश्रवणम्'। ध० २ अधि०। आचाराङ्गलोकसाराध्ययनपञ्चमोद्देशकाऽऽदिमसूत्रे ह्रदोपमेनाऽऽचार्येण भाव्यमित्यत्र वृत्तौ धर्ममाश्रित्य चतुर्भङ्ग्यां प्रत्येकबुद्धास्तूभयाभावाच्चतुर्थभङ्गस्था इत्युक्तप्रकारेण सर्वेऽपि प्रत्येकबुद्धा धर्मोपदेशं न ददत्येतत्कथं संजाघटीति ? यतः – ऋषिमण्डल–सूत्रे–''पत्तेअबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिइं सिवं पत्ता। पणयालीसं इसिभासियाइँ अज्झयणपवराइं''॥१॥ इति–गाथायां प्रत्येकबुद्धानामध्ययनमुक्तमिति किमत्र तत्त्वमिति प्रश्ने ? उत्तरम्–आचाराङ्गवृत्त्यनुसारेण प्रत्येकबुद्धाः समाप्रबन्धेन धर्मोपदेशं न ददतीत्यवसीयते। ऋषिमण्डले तु तेषामध्ययनप्रणयनरूपधर्मोपदेश इति न किमप्यनुपपन्नम्, इति। ३८३ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

धम्मोवएसय त्रि०(धर्मोपदेशक) धर्मदेशकेग, ध० २ अधि०।

धम्मोवओग पुं०(धर्मोपयोग) धर्मस्योतिकर्त्तव्यताबोधे, पं० सू० ४ सूत्र०।

धम्मोवगरण न०(धर्मोपकरण) संयमोपकरणे, आचा०।

धर्मोपकरणस्य च न परिग्रहत्वम् –

परिग्गहाओ अप्पाणं अवक्कसेज्जा। (९०)

परिगृह्यत इति परिग्रहो धर्मोपकरणातिरिक्तमुपकरणं, तस्मादात्मानमवष्वष्केदपसर्पयेत्। अथवा–संयमोपकरणमपि मूर्च्छ–या परिग्रहो भवति; ''मूर्च्छा परिग्रहः''(तत्त्वा० ७ अ० १७ सूत्र) इति वचनात्। तत आत्मानं परिग्रहादसर्पयन्नुपकरणे तुरगवन्मूर्छा न कुर्यात्। ननु च यः कश्चिद्धर्मोपकरणाऽऽद्यपि परिग्रहो, न स चित्तकालुष्यमृते भवति। तथाहि–आत्मीयोपकारिणि रागः, उपघातकारिणि च द्वेषः, ततः परिग्रहे सति रागद्वेषौ नेदिष्ठौ, ताभ्यां कर्मबन्धः, तत्कथं न परिग्रहो धर्मोपकरणम् ? उक्तं च – ''ममाहमिति चैव या–वदभिमानदाहज्वरः, कृतान्तमुखमेव ता–वदिति न प्रशान्त्युन्नयः। यशः सुखपिपासितैरयमसावनर्थात्तरैः, परैरपसदैः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते ॥१॥'' नैष दोषः, न हि धर्मोपकरणे ममेदमिति साधूनां परिग्रहग्रहयोगोऽस्ति। तथा ह्यागमः– अवि अप्पणो वि देहम्मि, णायरंति ममाइउं।'' यदिह परिगृहीतं कर्मबन्धायोपकल्प्यते, स परिग्रहो, यत्तु पुनः कर्मनिर्जरणार्थं प्रभवति, तत्परिग्रह एव न भवतीति।

आह च –

अण्णहा णं पासए परिहरिज्जा ,
एस मग्गे आरिएहिं पवेइए ॥९१॥

(अण्णहा णं इत्यादि) णमिति वाक्यालङ्कारे अन्यथेत्यन्येन प्रकारेण, पश्यकः सन्, परिग्रहं परिहरेत्। यथाहि –अविदितपरमार्था गृहस्थाः सुखसाधनाय परिग्रहं पश्यन्ति, न तथा साधुः। तथाहि– अयमस्याऽऽशयः– आचार्यसत्कमिदमुपकरणं, न ममेति रागद्वेषमूलत्वात्परिग्रहग्रहयोगोऽत्र निषेध्यो, न धर्मोपकरणं, तेन विना संसारार्णवपारागमनादिति। उक्तं च – ''साध्यं यथाकथञ्चित्, स्वल्पं कार्यं महच्च न तथेति। प्लवनमृते नहि शक्यं, पारं गन्तुं समुद्रस्य ॥१॥'' अत्र चाऽऽर्हताऽऽभासैर्वोटिकैः सह महान् विवादोऽस्तीत्यतो विवक्षितमर्थं तीर्थकराभिप्रायेणापि सिसाधयिषुराह–(एस मग्गे इत्यादि) धर्मोपकरणं न परिग्रहायेत्यनन्तरोक्तो मार्गः, आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यास्तीर्थकृतः, तैः प्रवेदितः कथितो, न तु यथा बोटिकैः कुण्डिकातद्विकालवणिकाऽश्वबालधिबालाऽऽदिस्वरुचिविरचितो मार्ग इति। न वा यथा मौद्गलिस्वातिपुत्राभ्यां शौद्धोदनिं ध्वजीकृत्य प्रकाशितः। इत्यनया दिशा अन्येऽपि परिहार्या इति। इह तु स्वशास्त्रगौरवमुत्पादयितुमार्थैः प्रवेदितः। (९१) आचा०१ श्रु० २ अ० ५ उ०।

धम्मोवग्गहदाण न०(धर्मोपग्रहदान) ज्ञानाभयप्रदातृणामाहाराऽऽद्यैरुपग्रहः। दत्तैर्यैर्जायते शुद्धस्तद्धर्मोपग्रहं स्मृतम्''॥१॥ इत्युक्तलक्षणे दानभेदे, ग० २ अधि०।

धम्मोवाय पुं०(धर्मोपाय) प्रवचने, तदस्तरेण धर्मस्यासम्भवात्। चतुर्दशसु पूर्वेषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड। सामायिकाऽऽदिके च, आ० म० १ अ० १ खण्ड। (धर्मोपायव्याख्या 'तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६१ पृष्ठे गता)

धम्मोवायदेसग पुं०(धर्मोपायदेशक) दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, तस्योपायो द्वादशाङ्गः प्रवचनम्। अथवा–पूर्वाणि देशयतीति देशकः, धर्मोपायस्य देशको धर्मोपायदेशकः। गणधरे, चतुर्दशपूर्ववित्सु, आ० म० १ अ० १ खण्ड। चतुर्विंशतिसंख्याकेषु जिनेषु, आ०म०। ''धम्मोवाओ पवयण–महवा पुव्वाइँ देसया तस्स। सव्वजिणाण गणहरा, चोद्दसपुव्वी उ जे जस्स॥१॥'' आ० म० १ अ० १ खण्ड। (अस्य गाथाया व्याख्या 'तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६१ पृष्ठे गता)

***धय** ध्वज 'झय' शब्दार्थे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। को०।

धयण (देशी) गृहे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा।

धयरट्ठ पुं०(धार्तराष्ट्र) हंसे, ''धयरट्ठा कायंबा।'' को० ४० गाथा।

धर धृ० पतने, भ्वादि०आ०–अक० –अनिट्। ''ऋवर्णस्यारः'' ॥८।४।२३४॥ इति प्राकृतसूत्रेण धातोरन्त्यस्य ऋवर्णस्य अरा–ऽऽदेशः। 'धरइ।' प्रा० ४ पाद। धरते। अधृत। वाच०। स्थितौ अक०। धृतौ सक० –भ्वादि० –उभ० –अनिट्। धरति, ते, अधार्षीत् अधृत। वाच०। तूले, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा।

***धर** त्रि०। ध्रियतोधरतीति वा धरः, ''लिहाऽऽदिभ्यः'' ॥५।१।५०॥ इत्यचप्रत्ययः। नं०। धारके, औ०। 'धरइ।' प्रा० ४ पाद। प्रज्ञा०। पर्वते, कूर्मराजे, वसुभेदे, कार्पाससूत्रे च। वाच०। पद्मप्रभस्य षष्ठस्य जिनस्य पितरि कौशाम्बीवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, आव० १ अ०। स०। स्था०। अस्यामवसर्पिण्यामैरवतवर्षभवे विंशतितमे जिने, स०। पर्वते, को० ५० गाथा।

धरग (देशी) कार्पासे, दे० ना० ५ वर्ग ५८ गाथा।

धरण पुं०(धरण) धृ–युच्। पर्वतभेदे, लोके, गुणे, धान्ये, दिवाकरे, सेतौ च। वाच०। दक्षिणनागकुमारनिकायेन्द्रे, स्था० ४ ठा० १ उ०। ति०। द्वी०। प्रज्ञा०। भ०। शलिलावतीविजयस्थवीतशोकाराजधानीस्थस्य महाबलस्य राजपुत्रस्य स्वनामख्याते सवयस्ये मित्रे, ज्ञा०१ श्रु० ८ अ०। द्वारवतीवास्तव्येषु समुद्रविजयाऽऽदिषु दशसु दशार्हेष्वन्यतमे दशार्हे, अन्त० १ श्रु०१ वर्ग १ अ०। स०। अनिक्षेपे, ओघ०। षोडशरूप्यमा–

षकाऽऽत्मके धरिमप्रमाणभेदे, षोडशरूप्यमाषका एकं धरणमिति। ज्यो०२ पाहु०। अधमर्णाऽऽदिभ्यो लभ्यद्रव्यग्रहणार्थं लङ्घनपूर्वके उपवेशने च। न०। धरणं लभ्यद्रव्यग्रहणार्थं लङ्घनपूर्वकमुपवेशनम्। ध०२ अधि०। नागकुमारेन्द्रे, स्था०।

धरणस्स णं णागकुमारिंदस्स णागकुमाररण्णो धरणप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दसगाउसयाइं उव्वेहेणं मूले, दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं धरणस्स णं०जाव णागकुमाररण्णो कालवालस्स महारण्णो कालप्पभे उप्पाय-पव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एवं चेव०जाव संकवा-लस्स भूसणंदस्स वि,एवं लोगपालस्स वि, से जहा धरणस्स। स्था०१० ठा०।

धरणग-न०(धरणक) रोधने, धरणकं रोधनमपकारिणामधमर्णाऽऽदीनां च। प्रव०३८ द्वार। ध्रियते येन तद्धरणम्, धरणमेव धरणकम्। येन धृत्वा तोल्यते तस्मिन् तोलनसाधने वस्तुनि, ज्यो०२ पाहु०।

धरणप्पभ-पुं०(धरणप्रभ) धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य स्वनामख्याते उत्पातपर्वते, स्था० १० ठा०।

धरणा-स्त्री०(धरणा) मगधदेशस्थायां स्वनामख्यातायां राजधान्याम्, यत्राला देवी। ज्ञा०२ श्रु०३वर्ग १अ०।

धरणिंद-पुं०(धरणेन्द्र) नागराजे, ''नागेसु वा धरणिंदमाहु संट्ठे।'' सूत्र०१ श्रु० ६अ०। विश्वपुरस्थे स्वनामख्याते राजनि, ग०२ अधि०। (तत्कथा 'फासिंदिय' शब्दे वक्ष्यते)श्रीपार्श्वनाथप्रसा-दात्सर्पजीवो नमस्कारं श्रुत्वा मौलो धरणेन्द्रो जातः, किं वा सामानिकः, तथोपसर्गावसरे समागात्स मौलः, किं वाऽन्य इति प्रश्ने,उत्तरम्-सर्वत्राक्षरानुसारेण मौलो धरणेन्द्रो ज्ञातो नास्तीति। १४८ प्र०। सेन०३ उल्ला०।

धरणि-स्त्री०(धरणि) धृ-अनि०-वा ङीप्। भूमौ, स० ३१ सम०। संथा०। सु०प्र०। चं०प्र०। ''मही मेइणी धरा धरणी।'' को०। वासुपूज्य(१२) जिनस्य प्रथमाऽऽर्थिकायाम्, प्रव०६ द्वार। स०। ''धरणी य वासुपुज्जे।'' ति०। कन्दविशेषे, कन्दालौ, वनकन्दे च। वाच०।

धरणिखील-पुं०(धरणिकील) धरण्याः पृथिव्याः कीलक इव धरणिकीलकः। मेरौ, सू०प्र०५ पाहु०। चं०प्र०।

धरणितल-न०(धरणितल) महीपीठे, संथा०। सूत्र०। ज्ञा०।

धरणितलगमणतुरितसंजणितगमणप्पयार-त्रि०(धरणितलग-मनत्वरितसंजनितगमनप्रचार) धरणितलगमनाय भूतलप्राप्तये त्वरितः शीघ्र संजनित उत्पादितो गमनप्रचारो गतिक्रियाप्रवृत्तिर्येन स तथा। भूतलप्राप्तये शीघ्रोत्पादितगतिक्रियाप्रवृत्तौ, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

धरणितलगमणतुरितसंजणितमणप्पयार-त्रि०(धरणितलग-मनत्वरितसंजनितमनःप्रचार) भूतलप्राप्तये शीघ्रोत्पादितमनः प्रवृत्तो, ज्ञा०२ श्रु०१ अ०।

धरणितलवेणिभूय-त्रि०(धरणितलवेणिभूत) धरणितलस्य वेणिभूतो वनिताशिरसः केशबन्धविशेष इव यः कृष्णत्वदीर्घत्वश्लक्ष्णत्वपश्चाद्-भागत्वाऽऽदिसाधर्म्यात् स धरणितलवेणिभूतः। धरण्याः केशबन्धविशेष इव प्रतीयमाने सर्पाऽऽदौ, उपा०२ अ०। भ०।

धरणिधर-पुं०(धरणिधर) धरणिं धरति। धृ-अच्। पर्वते, विष्णौ, कच्छपे च। वाच०। विमल(१३) जिनस्य स्वनामख्यातायां प्रथमाऽऽर्यिकायाम्, स्त्री०। स०। प्रव०।

धरणिसिंग-पुं०(धरणिशृङ्ग) धरण्याः शृङ्गमिव धरणिशृङ्गः। मेरौ, चं०प्र०५ पाहु०। सू०प्र०।

धरणी-स्त्री०(धरणी) 'धरणि' शब्दार्थे, स०।

धरणीखील-पुं०(धरणीकील) 'धरणिसील' शब्दार्थे, सू०प्र०५ पाहु०।

धरणीतल-न०(धरणीतल) 'धरणितल' शब्दार्थे, संथा०।

धरणीधर-पुं०(धरणीधर) 'धरणिधर' शब्दार्थे, स०।

धरा-स्त्री०(धरा) धृ-अच्। पृथिव्याम्, गर्भाऽऽशये जरायौ, मेदोवहायां नाड्यां च। वाच०। को० २६ गाथा।

धराहर-पुं०(धराधर) धरां धारयति धृ-अच्। पर्वते, वराहरूपे विष्णौ च। वाच०। वराटविषयस्थे स्वनामख्याते पुरे, न०। यत्र वसन्तसेनो गृहपतिः। दर्श०२ तत्त्व। (तत्कथा ''राम'' शब्दे वक्ष्यते)

धरिज्जंत-त्रि०(ध्रियमाण) धारणविषयीक्रियमाणे, ''छत्तेणं धरिज्जमाणेणं।'' प्रश्न०४ आश्र० द्वार। औ०।

धरिज्जमाण-त्रि०(ध्रियमाण) 'धरिज्जंत' शब्दार्थे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

धरिणी-स्त्री०(धरिणी) पृथिव्याम्, को० २६ गाथा।

धरिम-न०(धरिम) तृणद्रव्ये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। विपा०। उन्मान-प्रमाणभेदे, ज्यो०२ पाहु०। स्था०। धरिमं मञ्जिष्ठादीनि। आ० चू० ६ अ०। ज्ञा०। उत्त०। धरिमं यत्तुलाधृतं सद् व्यवहियते इति। ज्ञा०१ श्रु०८अ०।

धरिसप्पमाण-न०(धरिमप्रमाण) प्रमाणभेदे, ज्यो०।

धरिमप्रमाणमाह-

चत्तारि य मधुरत्तण-फलाणि सो मे (से)असरिसवो एक्को।
सोलस य सरिसवा पुण, हवंति मासयफलं एगं॥
गुंजा फलाणि दोन्नि उ, रुप्पियमासो हवइ एक्को।
सोलस य रुप्पिमासो, एक्को धरणो हवेज्ज संखित्तो॥
अड्ढाइज्जा धरणा, य सुवण्णो सो य पुण करिसो।
करिसा चत्तारि पलं, पलाणि पुण अद्धतेरस उ पत्थो॥
भारो य तुला वीसं, एस विही होइ धरिमस्स॥

चत्वारि मधुरतृणफलानि मधुरतृणतन्दुलाः स मेयविषये सकल-जगत्प्रसिद्ध एकः श्वेतसर्षपो भवति। षोडश च श्वेतसर्षपा एकं माषफलं धान्यमाषफलं, द्वे धान्यमाषफले एकं भवति गुञ्जाफलं, द्वे च गुञ्जाफले एको रूप्यमाषः, कर्षमाष इत्यर्थः। षोडश च रूप्यमाषका एकं धरणम्। अर्द्धतृतीयानि धरणानि एकः सुवर्णः, स एव

चैकः सुवर्णः कर्ष इत्युच्यते। चत्वारः कर्षाः पलम्, अर्द्धत्रयोदश पलानि साद्धानि द्वादशपलानि प्रस्थः, पलशतिका तुला, विंशतितुला भारः, एष पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शितो धरिमप्रमाणविषयो विधिः। तदेवमुक्तो धारेमप्रमाणविधिः। ज्यो०२ पाहु०।

धरिस-(धृष्) संहतौ अक०। हिंसायां सक०-भ्वादि०-पर०-सेट्। ''धृषाऽऽदीनामरिः'' ॥८।४।२३५॥ इति प्राकृतसूत्रेण ऋवर्ण-स्यारिः। प्रा०४ पाद। 'धरिसइ।' धर्षति। प्रागल्भ्ये, स्वादि०-पर०-अक०-सेट्। धृष्णोति। अधार्षीत्। संबन्धने, चुरा०-आत्म०-अक०-सेट्। धर्षयते। अदीधृषत। अदधर्षत। क्रोधे, अभिभवे च। चुरा०-उभ०। पक्षे०भ्वा०दे०-सक०-सेट्। धर्षयति, ते। धर्षति गा अदीधृषत्। अदधर्षत्। अधार्षीत्। वाच०।

धर्ष-पुं०। धृष्-घञ्। प्रागल्भ्ये, अमर्ष, शक्तिबन्धने, संहतौ, हिंसायां च। वाच०।

धरिसण-न०(धर्षण) धृष्-भावे ल्युट्। परिभवे, रमणे, धर्षशब्दार्थे च। नि० चू०१ उ०। वांच०।

धव-पुं०(धव) धवति, धुनोति, धुनाति वा धु-धू-वा अच्। पत्यौ, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। व्य०। पं०व०। वाच०।

वेधवाशब्दव्याचिख्यासुर्धवशब्दस्य भाष्यकारो व्याख्यानमाह-

विगयधवा खलु विधवा, धवं तु भत्तारमाहु नेरुत्ता।
धारयति वीयते वा, दधाति वा तेण उ धवो त्ति॥

विगतधवा खलु विधवा, विगतो धवोऽस्या इति व्युत्पत्तेः। धवं तु भर्तारमाहुर्नैरुक्ता निरुक्तिशास्त्रविदः। कया व्युत्पत्त्येत्याह- धारयति तां स्त्रियं, धीयते वा तेन पुंसा सा स्त्री दधाति सर्वात्मना पुष्णाति तां, तेन कारणेन निरुक्तिवशाद् धव इत्युच्यते। व्य०७ उ०। स्वनामख्याते बहुबीजके वृक्षविशेषे, आव०५ अ०। रा०। ल० प्र०। जं०। प्रज्ञा०। ति०। धूर्ते नरे च। भावे अप्। कम्पने, वाच०।

धवल-पुं०(धवल) धवं कम्पं लाति, ला-कः। धववृक्षे, वीरणवृक्षे, श्वेतमरिचे, वृषश्रेष्ठे, चीनकर्पूरे, श्वेतवर्णे च। वाच०। को० ६२ गाथा। रा०। ओप०। ज्ञा०। तं०। ''धवलकमलपत्तपयराइरेगरूवप्पभं।'' कल्प०१ अधि०२ क्षण। तं०। तद्वति सुन्दरे च। त्रि०। शुक्लवर्णायां गवि, स्त्री० टाप्। गौरा० ङीष्। वाच०। अयोध्यानगरस्थे स्वनामख्याते श्रावके च। पुं०। दर्श०३ तत्त्व। स्वस्वजात्युत्तमे, दे०ना० ५ वर्ग ५७ गाथा।

धवलक्कपुर-न०(धवलार्कपुर) वीरधवलनृपस्य पुरभेदे, ती० ४१ कल्प।'' धवलधवकपुरे वसतो-र्धनपत्योर्वंकुलबन्दिकयोः।'' पञ्चा० १६ विव०।

धवलगिरि-पुं०(धवलगिरि) कैलासापरनामधेयेऽष्टापदपर्वते, ती० ४७ कल्प। (तद्वक्तव्यता 'अट्ठावय' शब्दे प्रथमभागे २५३ पृष्ठे गता)

धवलपुप्फदंत-त्रि०(धवलपुष्पदन्त) धवलपुष्पवत् सामर्थ्यात् कुन्दकलिकावद् दन्ता यस्य स धवलपुष्पदन्तः। कुन्दकलिका-सदृशदन्ते, जी०३ प्रति०४ उ०।

धवलराय-पुं०(धवलराज) वर्द्धमाननगरस्थे विमलकुमारजनके, स्वनामख्याते नृपे, ध० २०। (तत्कथा 'विमलकुमार' शब्दे वक्ष्यते)

धवलसउण-(देशी) हंसे, दे०ना० ५ वर्ग ५६ गाथा।

धवलिय-त्रि०(धवलित) धवलवर्णीकृते, स्था०५ ठा०२उ०।

धव्व-(देशी) वेशे, दे०ना० ५ वर्ग ५७ गाथा।

धसत्ति-अव्य०(धसदिति) धसधसेत्यस्यानुकरणे, ''कुट्ठिमत-लंसि छव्वंगेहिं धसत्ति पडिगया।'' धसत्तीत्यनुकरणे, ज्ञा० १ श्रु०४ अ०।

धसल-(देशी) विस्तीर्णे, दे०ना० ५ वर्ग ५८ गाथा।

धाई-स्त्री०(धात्री) धीयते पीयतेऽसौ, धा-ष्ट्रन्, षित्वाद् ङीष्। ''धात्र्याम्'' ॥८।२।८१॥ इति प्राकृतसूत्रेण धात्रीशब्दे रस्य मुग् वा। 'धत्ती।' ह्रस्वात्प्रागेव रलोपे 'धाई।' पक्षे 'धारी।' प्रा०२ पाद। मातरि, वाच०। धयन्ति पिबन्ति बालकास्तामिति, धीयते धार्यते वा बालकानां दुग्धपानाऽऽद्यर्थमिति वा धात्री बालपालिका। प्रव०६७ द्वार। पञ्चा०। स्तनदायिन्यां जननीकल्पायां बालपालिकायाम्, सूत्र० १ श्रु०४ अ०१ उ०। सा च रूढ्या क्षीरमज्जनमण्डनक्रीडनाङ्कभेदात्पञ्चधा। पञ्चा० १३ विव०। आचा०। अनु०। ग०। अन्त०। ध०। रा०। उत्त०। ज्ञा०।

तद्भेदानाह-

खीरे य मज्जणे वि य, मंडणे कीलावणंकधाई य।
एक्केक्का वि य दुविहा, करणे कारावणे चेव॥

क्षीरविषया एका धात्री, या स्तन्यं पाययति। द्वितीया मज्जनविषया। तृतीया मण्डनविषया। चतुर्थी क्रीडनधात्री पञ्चमी अङ्कधात्री। एकैकाऽपि च द्विधा। तद्यथा-स्वयं करणे, कारणे च। तथाहि-या स्वयं स्तन्यं पाययति बालकं सा स्वयं करणे क्षीरधात्री। या त्वन्यया पाययति सा कारणे। एवं मज्जनधात्र्योऽपि भावनीयाः।

संप्रति धात्रीशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह-

धारेइ धीयए वा, धयंति वा तमिति तेण धाई उ।
जहविहवं आसि पुरा, खीराई पंचधा ता उ॥

धारयति बालकमिति धात्री। यद्वा-धीयते भाटकप्रदानेन पोष्यते इति धात्री। अथवा-धयन्ति पिबन्ति बालकास्तामिति धात्री। धात्रीति निपातेन तादृप्यनिष्पत्तिः। ताश्च धात्र्यः पुरा पूर्वस्मिन् काले, यथाविभवं विभवानुसारेण, क्षीराऽऽदिविषया बालकयोग्या आसन्, संप्रति तथारूपविभवाभावे ता न दृश्यन्ते। पिं०। आमलक्यां च। स्वार्थे कन्। वाच०।

धाईपिंड-न०(धात्रीपिण्ड) ''धाईदूईनिमित्ते।'' (५७४गा०) धयन्ति पिबन्ति बालकास्तामिति, धीयते धार्य्यते बालकानां दुग्धपानाऽऽद्यर्थमिति वा धात्री बालपालिका। सा च पञ्चधाक्षीर धात्री मज्जनकधात्री, मण्डनधात्री, क्रीडनधात्री, उत्सङ्गधात्री च। इह धात्रीत्वस्य करणं कारणं वा तद्धात्रीशब्देनोक्तं द्रष्टव्यम्, तथा-विवक्षणात्। ततो धात्र्याः पिण्डो धात्रीपिण्डो धात्रीत्वस्य करणेन कारणेन च य उत्पाद्यते पिण्डः स धात्रीपिण्डः। प्रव० ६७ द्वार। बालस्य क्षीरमज्जनमण्डनक्रीड-

नाङ्कधात्र्यः पञ्च। तासां कर्म धात्रीत्वं, तेन लब्धः पिण्डो धात्री-पिण्डः। जीत०। उत्पादनादोषभेदे, पिं०। दर्श०। पञ्चा०। आचा०। ग०। स्था०। बालस्य क्षीरमज्जनमण्डनक्रीडनालङ् काराऽऽरोपणकर्मकारिण्यः पञ्च धात्र्यः, एतासां कर्म्म भिक्षार्थं कुर्वतो मुनेर्धात्रीपिण्डः, ध०३अधि०। अशनाऽऽद्यर्थं दातुरपत्योपकारे वर्त्तते इति धात्रीपिण्डः। आचा०२ श्रु० १ चू०१अ०६उ०।

तत्र यथा स्तन्यदापनधात्रीत्वं साधुः करोति तथा दर्शयति--

खीराहारो रोवइ, मज्झ कयासाय देहि णं पेज्जे।
पच्छा वि मज्झ दाही, अलं व भुज्जो व एहामि॥

पूर्वपरिचिते गृहे साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सम् रुदन्तं बालकं दृष्ट्वा तज्जननीमेवमाह--एव बालोऽद्यापि क्षीराऽऽहारः, ततः--क्षीरमन्तरेणावसीदन् आरटति, तस्मान्मह्यं कृताऽऽशाय विहितभिक्षाला-भमनोरथाय, झटित्येव भिक्षां देहि, पश्चात् (णं) एनं बालकं (पेज्जे) पाययस्तन्यम्। यद्वा--प्रथमत एनं स्तन्यं पाययः, पश्चान्मह्यं भिक्षां देहि। यदि वा--अलं मे संप्रति भिक्षया, पाययः स्तन्यं बालकमहं पुनर्भूयोऽपि भिक्षार्थमेष्यामि।

तथा--

मइमं आरोगी दी--हाउ य होइ अवमाणिओ बालो।
दुल्लभयं खु सुयमुहं, पिज्जेहि अहं व से देमि॥

अविमानितोऽनपमानितो बालो मतिमान् अरोगी दीर्घायुश्च भवति, विमानितः पुनर्विपरीतः। तथा--दुर्लभं खलु लोके सुतमुखं पुत्रमुखदर्शनं, तस्मात्सर्वाण्यप्यन्यानि कर्माणि मुक्त्वा त्वमेनं बालकं स्तन्यं पाययः। यदि त्वं नो पाययसि तर्ह्यहं वा ददाम्यस्मै क्षीरं बालकाय, अन्यस्या वा स्तन्यं पाययामि। अत्र ''अहं व से देमि'' इत्यनेन स्वयंकरणधात्रीत्वं साधौ दर्शितं, शेषपदैः कारणेन।

अत्र दोषमाह--

अहिगरणमह प्पंता, सकम्मुदयगिलाणए य उड्डाहो।
चडुकारीइ अवन्नो, नियगो वऽन्नं व णं संके॥

यदि बालकजननी भद्रा धर्माभिमुखी भवति, तर्हि प्राक्तनैः साधुवचनैराबर्जिता सती अधिकरणमाधाकर्माऽऽदि करोति। अथ प्रान्ता धर्मानभिमुखी, तर्हि प्रद्वेषं यातीति शेषः। तथा यदि स्वकर्मोदयात्कथमपि स बालो ग्लानो भवति, तर्हि उड्डाहः प्रवचनमालिन्यम्, यथा साधुना तदानीमालपितः, क्षीरं वा पायितोऽन्यत्र वा नीत्वा कस्या अपि स्तन्यं पायितस्तेन ग्लानो जातः। तथाऽतीव चाटुकारीति लोकेऽवर्णोऽश्लाघा, तथा निजको वा भर्त्ता, अन्यद्वा मैथुनाऽऽदिकं, णमिति वाक्यालङ्कारे, तथारूपसाधुवचनश्रवणतः शङ्कते संभावयति।

अथवा प्रकारान्तरेण धात्रीकरणे दोषस्तं दर्शयति--

अयमवरो उ विकप्पो, भिक्खायरि सङ्कि अद्धिई पुच्छा।
दुक्खसहायविभासा, हियं मे धाइत्तणं अज्जो।
वयगंडयथुल्लतणु--त्तणेहिं तं पुच्छिउं अयाणंते।
तत्थ गओ तस्समक्खं, भणाइ तं पासिउं बालं॥

अयमपरो विकल्पो धात्रीकरणे, तमेवाऽऽह--भिक्षाचर्याप्रविष्टेन साधुना काचिच्छ्राद्धिका अधृतिर्धृतिरहिता दृष्टा, ततः पृष्टा साकिमद्य त्वं सशोका दृश्यसे, तत एवमुक्ता सती सा प्राह--यो दुःखसहायो भवति तस्मै दुःखं निवेद्यते, दुःखसहायश्च स उच्यते, यो दुःखप्रतीकारसमर्थः। ततः साधुराह--अहं दुःखसहायः, तस्मान्निवेद्यतां मे दुःखम्। ततः सा प्राह--अद्य मे मम धात्रीत्वममुकस्मिन्नीश्वरगृहे हृतं स्फेटितं, ततोऽहं विषण्णा। ततः साधुराहमा त्वं विषादं कार्षीः, अहमवश्यं त्वां तत्राऽचिरेण धात्रीं स्थापयिष्यामीति प्रतिज्ञां विधाय तस्याः पार्श्वे अभिनवस्थापिताया धात्र्या वयःप्रभृतिकमजानानः पृच्छति; यथा किं तस्या वयः? तारुण्यं परिणतं न वा? गण्डावपि स्तनाऽपरपर्यायौ किंकूर्पराऽऽकारवन्तौ दीर्घौ, यद्वाऽतिशयेन स्थूलौ, शरीरेऽपि तस्याः किं स्थूलत्वं, किं वा कृशत्वं, तत एवं पृष्ट्वा तत्रेश्वरगृहे गतः सन् तत्समक्षं ते बालकं दृष्ट्वा भणति।

किं तद्भणतीत्यत आह--

अहुणुट्ठियं च अणव--क्खियं च एयं कुलं तु मन्नामि।
पुन्नेहि जहिच्छाए, धरई बालेण सूचामो॥

अहमिदं मन्ये--इदं युष्मदीयं कुलमधुनोत्थितं संप्रत्येवेश्वरीभूतं, यदि पुनः परम्परागतलक्ष्मीकमिदमभविष्यत्, तर्हि कथं न परम्परया धात्रीलक्षणकुशलमप्यभविष्यदिति भावः। तथा अनवेक्षितमपरिभावितं महत्तरपुरुषैः, तत एव या वा सा वा धात्री धियते, एतच्च बालेनासंगतधात्रीस्तन्यपानविच्छायेन सूचयामो लक्षयामः। तत एवंभूतधात्रीयुक्तमपीदं कुलं धरते क्षेमेण वर्तते, तन्मन्ये पुण्यैः प्राक्तनजन्मकृतैः, यदि वा--यदृच्छया एवमेव, तत एवमुक्ते सति ससंभ्रमं बालकस्य जननी जनको वा साधुं प्रत्याह--भगवन्! के धात्र्या दोषाः?

ततः साधुर्धात्रीदोषान् कथयति--

थेरा दुव्वलखीरा, चिमिढो पिल्लियमुहो अइथणीए।
तणुई उ मंदखीरा, कुप्परथणियाएँ सूइमुहो॥

या किल धात्री स्थविरा सा अयलक्षीरा अबलस्तन्या भवति। ततो बालो न बलं गृह्णाति। या त्वतिस्तनी तस्याः स्तन्यं पिबन् स्तनेन प्रेरितमुखश्चम्पितमुखावयवौष्ठनासिकश्चिपिटश्चिपिटनासिको भवति। या तु शरीरेण कृशा मन्दक्षीरा अल्पक्षीरा, ततः परिपूर्णं तस्याः स्तन्यं बालो न प्राप्नोति, तदभावाच्च सीदति। तथा या कूर्परस्तनी, तस्याः स्तन्यं पिबन् बालः सूचीमुखो भवति। स हि मुखं दीर्घतया प्रसार्य तस्याः स्तन्यं पिबति, ततस्तथारूपाभ्यासतस्तस्य मुखं सूच्याकारं भवति।

उक्तं च--

निस्थामा स्थविरां धात्रीं, सूच्यास्यः कूर्परस्तनीम्।
चिपिटः स्थूलवक्षोजां, धयँस्तन्वीं कृशो भवेत्॥१॥
जाड्यं भवति स्थविरा--यास्तनुक्यास्त्वबलंकरम्।
तस्मान्मध्यबलस्थायाः, स्तन्यं पुष्टिकरं स्मृतम्॥२॥
अतिस्तनी तु चिपिटं, खरपीना तु दन्तुरम्।
मध्यस्तनी महाछिद्रा, धात्री साऽस्य सुखंकरी॥३॥''

इत्यादि। एषा चाऽभिनवस्थापिता धात्री उक्तदोषदुष्टा, तस्मान्न युक्ता, किं तु चिरन्तन्यैवेति भावः।

तथा--

जा जेण होइ वन्ने--ण उक्कडा गरहए य तं तेण।
गरहइ समाण तिव्वं, पसत्थमियरं च दुव्वन्नं॥

या अभिनवस्थापिता धात्री, येन वर्णेन कृष्णाऽऽदिना उत्कृष्टा भवति, तां तेन वर्णेन गर्हते निन्दति। यथा--''कृष्णा भृंशयते वर्णं गौरी तु बलवर्जिता। तस्मात् श्यामा भवेद्धात्री, बलव--

र्णैः प्रशंसिता ॥१॥'' इत्यादि। तथा यामभिनवस्थापितां गर्हते, तस्याः समाना समानवर्णा चेत् चिरन्तनी स्थाप्यमाना भवति, तर्हि तां तीव्रातिशयेन प्रशस्यां प्रशस्तवर्णां श्लाघते, इतरां त्वभिनवस्थापितां दुर्वर्णाम्। एवं चोक्ते सति गृहस्वामी साध्वभिप्रेतां धात्रीं धारयति, इतरां तु परित्यजति।

तथा सति यो दोषस्तमाह--

उव्वट्टिया पओसं, छोभग उब्भामओ य से जं तु।
होज्जा मज्झ वि विग्घो, विसाइ इयरी वि एमेव ॥

या अभिनवस्थापिता धात्री उद्वर्तिता धात्रीत्वात् च्यावितो, सा साधोरुपरि प्रद्वेषं कुर्यात्। तथा सति छोभकं दद्यात्, यथा--व्यामुह्--भ्रामको जारोऽनया धात्र्या सह तिष्ठतीति। तथा (से) तस्य साधो--यत्प्रद्वेषवशात्कर्तव्यं बधाऽऽदि, यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् तदपि कुर्यात्। याऽपि चिरन्तनी सांप्रति स्थापिता कदाचिदेवं चिन्तयति यथैव तस्या धात्रीत्वात् च्यावनं कृतम्, एवमेव कदावित् रुष्टेन ममापि विघ्नो धात्रीच्यावनरूपोऽन्तरायः करिष्यते, तत एवं विचिन्त्य मारणाय विषाऽऽदि गरप्रभृति प्रयुञ्जति। उक्ता क्षीरधात्री।

साम्प्रतं शेषधात्रीराश्रित्य दोषानतिदेशेनाऽऽह--

एमेव सेसियासु वि, सुयमाइसु करण कारणं सगिहे।
इड्ढीसु य धाईसु य, तहेव उव्वट्टियाण गमो ॥

अत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी। ततोऽयमर्थः--एवमेता यथा क्षीरधात्र्यस्तथा शेषिकास्वपि शेषाणामपि मज्जनाऽऽदिधात्रीणां, सुतमातृकल्पानां यत् स्वयं करणं मज्जनाऽऽदेः, यच्चान्यया कारणं, तत् स्वगृहे गतः सन् साधुर्यथा करोति तथा वाच्यं, तथा च सति ''अहिगरण-भद्दपंता'' इत्यादिगमोक्ताः दोषा वक्तव्याः यथा तथैव क्षीरगतेनैव प्रकारेण ऋद्धिषु ऋद्धिमत्सु ईश्वरगृहेषु, अभिनवस्थापितानां मज्जनाऽऽदिधात्रीणां (धाईसु य त्ति) भावप्रधानोऽयं निर्देशः, पञ्चम्यर्थे च सप्तमी। ततोऽयमर्थः--धात्रीत्वेभ्य उद्वर्तितानां च्यावितानां, यो गमः-- ''उव्वट्टिया पओसं'' इत्यादिरुपः, स सकलोऽपि तथैव वक्तव्यः।

अतिसंक्षिप्तमिदमुक्तमतो विशेषत एतद्विभाषयिषुः प्रथमतो मज्जनधात्रीत्वस्य करणं कारणं च, तथा अभिनवधात्र्या दोषप्रकटनं च यथा साधुः कुरुते तथा भावयति--

लोलइ महीऍ धूली--ऍ गुंडिओ ण्हाहि अह व णं मज्जे।
जलभीरु अबलनयणो, अइउप्पिलणे अ रत्तच्छो ॥॥

एष बालो मह्यां लोलति लोडते, ततो धूल्या गुण्डितो वर्तते, तस्मात् स्नापय। एतद् मज्जनधात्रीत्वस्य करणम्। अथवा--यदि पुनरस्त्रं न स्नपयसि, तर्हि अहं मज्जामि स्नापयामि। एतत् स्वयं मज्जनधात्रीत्वस्य करणम्। क्वापि ईश्वरगृहे काऽपि मज्जनधात्री धात्रीत्वात् स्फेटिता, साधुश्च तस्या गृह भिक्षार्थं प्रविष्टः, तां च धात्रीत्वात्परिभ्रंशेन विषण्णां दृष्ट्वा पूर्वप्रकारेण च पृष्ट्वा कृत्वा च प्रतिज्ञामीश्वरगृहे च गत्वा अभिनवमज्जनधात्र्या दोषप्रकटनायाऽऽह--(जलभीरु इत्यादि) अतिशयेन उत्प्लावनेन प्रभूतजलप्लावनेन गुप्यमानो बालो गुरुरपि जातो नद्यादौ जलभीरुर्भवति। तथा निरन्तरं जलेनोत्प्लाव्यमानोऽबलनयनोऽप्रबलनयनो रक्ताक्षश्च। यदि पुनः सर्वथाऽपि न मज्ज्यते, तर्हि न शरीरं बलमादत्ते नापि कान्तिभाग्, दृष्ट्या चाऽबलो जायते। एषा च धात्री बालगतिजलोत्प्लावनेन मज्जयति, ततो जलभीरुताऽऽदयो दोषा बालस्य भविष्यन्ति, तस्मान्नैषा मज्जनधात्री युक्ता। तत एवमुक्ते सति तामभिनवस्थापितां मज्जनधात्रीं गृहस्वामी स्फेटयति, चिरन्तनीमेव कुरुते। तथा च सति त एव प्राक्तना ''उव्वट्टिया पओसं'' इत्यादिरूपा दोषा द्रातव्याः। एवमुत्तरत्रापि प्रतिगाथा भावनीया।

अथ च मज्जनधात्री कथंभूतं बालं कृत्वा मण्डनधात्र्याः समर्पयति, तत आह--

अब्भंगिय संवाहिय, उव्वट्टिय मज्जियं च तो बालं।
उवणेइ मज्जधाई, मंडधाईऍ सुइदेहं ॥

स्नानधात्री प्रथमतः स्नेहेनाभ्यङ्गितं, ततो हस्ताभ्यां संबाधितं, तदनन्तरं पिष्टकाऽऽदिना उद्वर्तितं, ततो मज्जितं, शुचिभूतं वा देहं बालस्य कृत्वा मण्डनधात्र्याः समर्पयति। उक्ता मज्जनधात्री।

संप्रति मण्डनधात्रीत्वस्य कारणं, करणं च, तथा अभिनवस्थापिताया धात्र्या दोषप्रकटनं च यथा साधुः कुरुते तथा दर्शयति--

उसुयाइएहिँ मंडे--हि ताव णं अह व णं विभूसेमि।
हत्थव्वगा व पाए, कया गलिव्वा व पाए वा ॥

इषुका इषुकारमाभरणम्, अन्ये तिलकमित्याहुः। आदिशब्दात् क्षुरिकाऽऽकासऽऽद्याभरणपरिग्रहः। इह भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् श्राद्धिकाचित्ताऽऽवर्जनार्थं बालकमनाभरणमवलोक्य तज्जननीमेवमाह--इषुकाराऽऽद्याभरणविशेषैस्तावदेनं बालकं मण्डय विभूषय। एतन्मण्डनधात्रीत्वस्य कारणम्। अथवा--यदि पुनः त्वं न प्रपारयसि, तर्हि अहं विभूषयामि। एतत्स्वयं मण्डनधात्रीत्वस्य करणम्। पूर्वधात्री स्थापनीयेत्यभिनवस्थापिताया मण्डनधात्र्या दोषानाह--(हत्थव्वग त्ति) हस्तयोग्यानि आभरणानि पादे कृतानि। अथवा--(गलिव्व त्ति) गलसत्कानि आभरणानि पादे कृतानि, तस्मान्नेयं मण्डनधात्री मण्डनेऽभिज्ञा, ततस्तस्या मण्डनधात्रीत्वाच्च्यावनमित्यादि पूर्ववद्भावनीयम्। उक्ता मण्डनधात्री।

संप्रत्यभिनवस्थापितायाः क्रीडनधात्र्या दोषप्रकटनं, क्रीडन--धात्रीत्वे च करणं कारणं च यथा विदधाति साधुस्तथाऽऽह--

दढयरसर वुन्नमुहो, मउयगिरा मउय मम्मणालावो।
उल्लावणगाईहिँ व, करेइ कारेइ वा किड्डं ॥

एषा अभिनवस्थापिता क्रीडनधात्री दृढतरस्वरा, ततस्तस्याः स्वरमाकर्णयन् बालो वुन्नमुखः क्लीबमुखो भवति। अथवा-- मृदुगीरेषा ततोऽनया रम्यमाणो बालो मृदुगीर्भवति। यदि वा मृदुगीः स्वयं क्रीडां कारयति। उक्ता क्रीडनगीः। मन्मनोल्लापोऽव्यक्तवाक्, तस्मान्नैषा शोभना, किं तु चिरन्तनैवेत्यादि प्रागिव। तथा भिक्षार्थं प्रविष्टः श्राद्धिकाचित्तावर्जनार्थं बालमुल्लापनाऽऽदिभिः स्वयं क्रीडां करोति, अन्यैः कारयति वा। उक्ता क्रीडनधात्री।

संप्रत्यङ्गधात्र्या अभिनवस्थापितायाः स्फेटनाच्च सामान्यतो दोषप्रकटनं यथा साधुः करोति तथा दर्शयति--

थुल्लाऍ वियमपाओ, भग्गकडीसुक्खडीऍ दुक्खं च।
निम्मंसकक्खडकरे--हिँ भीरू उ होइ घेप्पंतो ॥

इह स्थूलया गोरालया धात्र्या कट्या धियमाणो बालो विकटपादः परस्परबहन्तरालपादो भवति। भग्नकट्या, शुष्ककट्या वा

ध्रियमाणो दुःखं तिष्ठति । निर्मांसकर्कशकराभ्यां वा ध्रियमाणो बालो भीरुर्भवति। एषा चाऽभिनवस्थापिता धात्री अन्यतमदोषदुष्टा, तस्मान्त युक्ता, किं तु प्राक्तनैवेत्यादि प्रागिव । अङ्कधात्रीत्वस्य कारणं, स्वयं करणं स्वयमेव भावनीयम् । तच्चैवम्–कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टो बालं रुदन्तमवलोक्य तज्जननीमेवमाह–अङ्के गृहाणेदं बालकं येन न रोदिति, यदि पुनस्त्वं न प्रपारयसि तर्हि अहं गृह्णामि ।

संप्रति क्रीडनधात्रीत्वस्य करणे दोषं दृष्टान्तेन भावयति–

कोल्लइरे वत्थव्वो, दत्तो आहिंडउं गओ सीसो ।
अवहरइ धाइपिंडं, अंगुलिजलणे य सा दिव्वं ॥

कोल्लकिरे नगरे वार्द्धके वर्त्तमानाः परिक्षीणजङ्घाबलाःसंगम–स्थविरा नाम सूरयः, तैश्चान्यदा दुर्भिक्षे जाते सति सिंहाभिधानः स्वशिष्यं आचार्यपदे स्थापयित्वा गच्छं च सकलं तस्य समर्प्य अन्यत्र सुभिक्षे देशे विहारक्रमेण प्रेषितः, स्वयं चैकाकी तत्रैव तस्थौ, ततः क्षेत्रं नवभिर्भागैर्विभज्य तत्रैव यतनया मासकल्पान्, वर्षारात्रं च कृतवान् । यतना च चतुर्विधा । तद्यथा–द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतः–पीठफलकाऽऽदिषु, क्षेत्रतोवसतिपाटकेषु, कालतः–एकत्र च पाटके मासं स्थित्वा द्वितीयमासे अन्यत्र वसतिगवेषणा । भावतः सर्वत्र निर्ममत्वम् । ततश्च किञ्चिदूने मासकल्पे व्यतिक्रान्ते सिंहाचार्यस्तेषां प्रवृत्तिनिमित्तं दत्तनामानं शिष्यं प्रेषितवान् । स चाऽऽगतोऽस्मिन्नेव विभागे पूर्व मुक्ताः सूरयस्तस्मिन्नेव स्थिता दृष्टाः । ततः स स्वचेतसि चिन्तयामास । अहो भावतोऽप्यमी मासकल्पं न व्यदधुः, तस्मान्न शिथिलैः सहैकत्र वस्तव्यमिति परिभाव्य वसतेर्बहिः मण्डपिकायामुत्तीर्णस्ततो वन्दिताः सूरयः, पृष्टाः कुशलवार्त्ताम्, कथितं सिंहाचार्यसंदिष्टम्। ततो भिक्षावेला–यामाचार्यैः सह भिक्षार्थं प्रविवेश, अन्तप्रान्तेषु गृहेषु ग्राहितो भिक्षां जानतो विच्छायमुखः । ततः सूरिभिस्तस्य भावमुपगम्य कस्मिँश्चिदीश्वरगृहे प्रविष्टम् । तत्र च व्यन्तर्याधिष्ठितः सदैव बालको रोदिति। ततः सूरयस्तं दृष्ट्वा चप्पुटिकापुरस्सरमालापयामासुर्यथा वत्स ! मा त्वं रोदीरिति । तत एवमालिप्तसूरिप्रभावतः सा पूतना व्यन्तरी प्राणेशत्, स्थितो रोदितुं बालको, जातः प्रहृष्टो गृहनायकः, ततो दापितास्तेन भूयांसो मोदकाः तांश्च ग्राहितो दत्तः सूरिभिः, अजा–यत प्रहृष्टः, ततो मुत्कलितो वसतौ, ते सूरयः स्वशरीरनिः– स्पृहा यथागमविधिना प्रान्तकुलत्थमदित्वा वसतावुपाजग्मुः । प्रतिक्रमणवेलायां च दत्तो भणितोवत्स ! धात्रीपिण्डं चिकित्सापिण्डं चाऽऽलोचय । स त्वाह–युष्माभिरेव सहाऽहं विहृतः, ततः कथं मे धात्रीपिण्डाऽऽदिपरिभोगः । सूरयोऽवोचन्–लघुबालकक्रीडनधात्रीपिण्डः चप्पुटिकाकरणतः, पूतनातो मोचितत्वात् चिकित्स-पिण्डः । स प्रद्विष्टः स्वचेतसि चिन्तयति–स्वयं भावतोऽपि मासकल्पं न विदधाति, एतादृशं च पिण्डं दिने दिने गृह्णाति, मां पुनरेकदिनगृहीतमप्यालोचयति । तत एवं विचिन्त्य प्रद्वेषतो वसतेर्बहिः स्थितः । ततस्तस्य सूरिविषयप्रद्वेषदर्शनतः कुपितया सूरिगुणा–ऽऽवर्जितया देवतया तस्य शिक्षार्थं वसतावन्धकारं सवातं वर्षं विकुर्वितम् । ततः स भयभीतः सूरीनाह–भगवन् ! कुत्राहं व्रजामि ? ततस्तैः क्षीरोदजलबदतिनिर्मलहृदयैरभाणिवत्स ! एहि वसतौ प्रविशेति । दत्त आह–भगवन् ! न पश्याम्यन्धकारेण द्वारमिति। ततोऽनुकम्पया स्वोष्मणा सूरिभिः निजाङ्गुलिरुद्धृत्य ऊर्ध्वीकृता , सा च दीपशिखेव ज्वलितुं प्रवृत्ता । ततः स दुरात्मा दत्तोऽचिन्तयत्–अहो एतस्य परिग्रहे वह्निरप्यस्ति । एवं चिन्तयन् देवतया निर्भर्त्सितः–हा दुष्ट शिष्याधम ! एतादृशानपि सर्वगुणरत्नाऽऽकरान् सूरीनन्यथा चिन्तयसि । ततो मोदकलाभाऽऽदिको वृत्तान्तः सर्वोऽपि यथावस्थितो देवतयाऽभाणि । मासे जाते तस्य भावतः प्रत्यावृत्तिः । क्षामिताः सूरयः, आलोचितं सम्यक्।

सूत्रं सुगमम्, नवरं 'सा दिव्वं' देवताप्रातिहार्यम्, एतदेव गाथाद्वयेन भाष्यकृद् विवृणोति ।

पाउसें संगमथेरा, गच्छ विसज्जंति जंघबलहीणा ।
नवभागखेत्तवसही, दत्तस्स य आगमो ताहे ॥
उवसयबाहिरठाणं, अंताओ छण्णसंकिलेसो य ।
पूयण बाले मा रुय, पडिलाभण वियडणा सम्मं ॥

सुगमं नवरं (पूयणवाले त्ति) पूतना दुष्टव्यन्तरी, तया गृहीते धातृबालके रोदिति विकाटना आलोचनम् । उक्तं धात्रीद्वारम् । पिं० प्रव०।

जे भिक्खू धाईपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥५६॥

गाहा–

जे भिक्खु धातिपिंडं, गेण्हेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥११५॥

सातिज्जणा–अण्णं करेंतं अणुमोदति, सेसं कंठं। नि०चू०१३उ०।

अववादे कारणे गेण्हंतो अदोसो । गाहा–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोधए वा, जयणागहणं तु गीयत्थे ॥१३५॥

असिवाऽऽदिकारणेहिं गीयत्थो पणगपरिहाणिजयणाए गेण्हंतो सुद्धो । नि०चू० १३ उ०।

धाउ-पुं०(धातु) धा–तुन् । ''धारणाद् धातवस्ते स्युर्वातपित्तकफास्त्रयः'' इत्युक्तेषु वाताऽऽदिषु, ''रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जा शुक्राणि धातवः।'' इत्युक्तेषु रसाऽऽदिषु, वाच० सूत्र० धारकत्वपोषकत्वाच्च पृथिव्यादिके, ''पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ। चत्तारि धाउणो रूवं।'' सूत्र०१ श्रु० १अ० १उ ०। गैरिके, लोहाऽऽदिके, प्रश्न०२ आश्र० द्वार । उत्त०। ''अयतंबतउयसीसगरुप्पसुवण्णे य वइरे य । हरियाले हिंगुलए, मणोसिला सीसगंजणप्पवाले ॥१॥ अब्भपडलकवालुया ।'' उत्त० ३६ अ०। व्याकरणोक्ते गणपठिते क्रियावाचके भूप्रभृतौ, नामभेदे च। धातवो भ्वादयः क्रियाप्रतिपादकाः। प्रश्न०२ संव० द्वार। (तद्वक्तव्यता 'धाउय' शब्दे २७४३ पृष्ठे द्रष्टव्या) जीवाभिगमे विजयदेववक्तव्यतायां हरितालहिङ्गुलाऽऽदयः पदार्थाः सन्ति, तेषां प्रयोजने सति व्ययादुत्पत्तिःकुतः? इति प्रश्ने, उत्तरम्–हरितालाऽऽदीनामुत्पत्तिर्विस्रसात इति। १४७प्र०।सेन०२ उल्ला०।

धाउकम्म-न०(धातुकर्मन्) पुरुषद्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाभेदे, कल्प०१ अधि०७ क्षण।

धाउक्खोभ-पुं०(धातुक्षोभ) धातुवैषम्ये, औ०।

धाउपाग-पुं०(धातुपाक) द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, स०७२ सम०।

धाउप्पावेयण-न०(धातुप्रावेदन) धातुदर्शने, नि०चू० १३ उ०। (धातुप्रावेदने मयूराङ्कनृपदृष्टान्तः 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४६७ पृष्ठेगतः)

धाउय-न०(धातुज) वस्त्रभेदे, पं०भा०।

तत्स्वरूपं पञ्चकल्पभाष्ये यथा–

छुब्भति वंसकरिल्लो, कम्मि वि देसे तरुणतो घडए।
वड्ढंतो पूरयंती, तं घडयं तिप्पिए तम्मि ॥
संकोहे तूणयतो, तेसि तु ण्हारूहिँ पच्चए सुत्तं।
तेण तुयं जं वत्थं, भन्नइ तं धातुयं णाम। पं०भा०।

धातुयं नाम जहा कम्मि देसे वंसकरिल्लो उदेतो चेव घडएण पिहिज्जइ, ताहे सो सुकमालओ तत्थेव आउंडलीगओ वड्ढइ, पच्छा पिच्चइ, तओ किच्चइ, तं सुत्तं विज्जइ, तं धाउयं। पं० चू०। भावप्रमाणनिष्पन्ननामभेदे, अनु०।

से किं तं धाउए? भू सत्तायां, (परस्मैभाषा) एध वृद्धौ, स्पर्ध संघर्षे। सेत्तं धाउए।

भूत्यं परस्मैपदी धातुः सत्तालक्षणस्यार्थस्य वाचकत्वेन धातु–जं नामेति। एवमन्यत्रापि। अनु०।

धाउरत्त-त्रि०(धातुरक्त) गैरिकोपरञ्जिते, ''धाउरत्ताओ य गिण्हइ।'' भ०२ श०१उ०। धातुरक्ता गैरिकोपरञ्जिता, शाटिका इति गम्यम्। औ०।

धाउवाइ(ण्)-पुं०(धातुवादिन्) वादिभेदे, स्था०६ ठा०।

धामण-न०(धाटन) प्रेरणे, ''धाडेंति य हाडेंति य।'' 'धाडेंति' प्रेरयन्ति। सूत्र०१ श्रु०४ अ०२उ०। ''वज्झपुरिसेहिं धाडियंता।'' बध्यपुरुषैर्धाट्यमानाः प्रेर्यमाणाः। प्रश्न०३ आश्र० द्वार। आ०म०। नाशने, औ०।

धाडिअ-पुं०(देशी) आरामे, दे०ना० ५ वर्ग ५६ गाथा।

धाडी-(देशी) निरस्ते, दे०ना० ५ वर्ग ५६ गाथा।

धाण-न०(घ्राण) सुभिक्षे, विभवे च। उत्त० ३अ०।

धाणूरिअ-न०(देशी) फलभेदे, दे०ना० ५ वर्ग ६० गाथा।

धाय-पुं०(धाय) पणपन्नव्यन्तरविशेषनिकायेन्द्रे, स्था०२ ठा० ३उ०।

*** धात**-न०। सुभिक्षे, दश०७ अ०। ''धाए पुण संखडीपुरओ।'' धातं सुभिक्षमिति चैकोऽर्थः। बृ०५उ०।

धायइ-स्त्री०(धातकी) धातुं करोति णिच्, टिलोपः, ण्वुल्। ''धातकी कटुकाशीता।'' गौरा०–ङीष्। एकास्थिके वृक्षविशेषे, स०। प्रज्ञा०। अनु०। स्था०।

धायइखंड-पुं०(धातकीखण्ड) धातकीनां वृक्षविशेषाणां खण्डो वनसमूहो धातकीखण्डः। धातकीवने, तद्युक्तो यो द्वीप स धातकीखण्ड एवोच्यते, यथा दण्डयोगाद्दण्डः। स्था०२ ठा०३ उ०। धातकीनां खण्डानि वनानि यस्मिन् स धातकीखण्डो द्वीपः। ध०२अधि०। आव०। धातकीवृक्षखण्डोपलक्षितो द्वीपो धातकीखण्डः। लवणसमुद्रं परिक्षिप्य स्थिते कालोदसमुद्रपरिक्षिप्ते द्वीपभेदे, अनु०। (एतद्वक्तव्यता 'धायइसंमदीव' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते)

धायइरुक्ख-पुं०(धातकीवृक्ष) एकास्थिके वृक्षविशेषे, स्था०८ ठा०।

धायइवण-न०(धातकीवन) धातकीसमूहे, ''धवइवणंसि वा।'' आचा० २ श्रु० २ चू० १० अ०। जी०।

धायइसंमदीव-पुं०(धातकीखण्डद्वीप) धातकीनां वृक्षविशेषाणां खण्डो वनसमूह इत्यर्थो धातकीखण्डस्तद्युक्तो यो द्वीपः स धातकीखण्ड एवोच्यते। यथा दण्डयोगाद्दण्ड इति धातकी खण्डश्चासौ द्वीपश्चेति धातकीखण्डद्वीपः। लवणसमुद्रं परिक्षिप्य स्थिते कालोदसमुद्रपरिक्षिप्ते द्वीपभेदे, स्था०२ ठा०३उ०।

सम्प्रति धातकीखण्डद्वीपवक्तव्यतामाह–

लवणे णं समुद्दे धायइसंडे नाम दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता णं चिट्ठति॥

(लवणसमुद्द इत्यादि) लवणसमुद्रे धातकीखण्डो नाम द्वीपो वृत्तो बलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः सर्वासु दिक्षु समंततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्य तिष्ठति।

धायतिसंडे णं भंते! किं समचक्कवालसंठिते, विसमचक्कवालसंठिए? गोयमा! समचक्कवालसंठिते, नो विसमचक्कवालसंठिते॥

(धायइसंडे णं दीवे किं समचक्कवालसंठिए'' इति सूत्रं लवणसमुद्रवद् भावनीयम्।

धायतिसंडे णं भंते! दीवे केवतिए चक्कवालविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते? गोयमा! चत्तारि जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं एगयालीसं जोयणसतसहस्साइं दसजोयणसहस्साइं णव य एगसट्ठे जोयणसते किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं पण्णत्ते, से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता दोण्ह वि वण्णओ दीवसमिया परिक्खेवेणं।

''धायइसंडे णं'' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह– गौतम! चत्वारि योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन एकचत्वारिंशद्योजनशतसहस्राणि दशसहस्राणि नव च एकषष्ठानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषोनानि परिक्षेपेण। उक्तं च–''एयालीसं लक्खा, दसस–यसहसाइं जोयणाणं तु। नव य सया इगसट्ठा, किंचूणा परिरओ तस्स ॥१॥'' (से णमित्यादि) स धातकीखण्डद्वीप एकया पद्मवरवेदिकया, अष्टयोजनोच्छ्रयजगत्यु परिभाविन्येति सामर्थ्याद् गम्यते। एकेन वनखण्डेन पद्मवरवेदिकाबहिर्भूतेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः द्वयोरपि वर्णकः प्राग्वत्।

धायतिसंडस्स णं भंते! दीवस्स कति दारा पण्णत्ता? गोयमा! चत्तारि दारा पण्णत्ता। तं जहा–विजए, वेजयंते, जयंते, अपराजिए।

(धायइसंडस्स णमित्यादि) धातकीखण्डस्य भदन्त! द्वीपस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि? भगवानाह– गौतम! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–विजयं, वैजयन्तं, जयन्तमपराजितं च।

कहि णं भंते! धायतिसंडस्स दीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते? गोयमा! धायइसंडपुरच्छिमपेरंतं कालोयसमुद्दपुरच्छिमद्धस्स पच्चच्छिमेणं सीयाए महाणदीए उप्पिं एत्था णं धायतिसंहस्स दीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते। तं चेव पमा–

णं रायहाणी य अण्णम्मि धायइसंडे दीवे सा वत्तव्वया भाणियव्वा। एवं चत्तारि वि दारा भाणियव्वा।

(कहि णं भंते! इत्यादि) क्व भदन्त! धातकीखण्डस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्? भगवानाह–गौतम! धातकीखण्डस्य द्वीपस्य पूर्वपर्यन्ते कालोदसमुद्रपूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि शीताया महानद्या उपरि अत्र एतस्मिन्नन्तरे धातकीखण्डस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्। तच्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवदविशेषेण वेदितव्यम्, नवरमत्र राजधानी अन्यस्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे वक्तव्या। ※ ''कहि णं भंते!'' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह– धातकीखण्डद्वीपदक्षिणपर्यन्ते कालोदसमुद्रदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र धातकीखण्डस्य द्वीपस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्। तदपि जम्बूद्वीपवैजयन्तद्वारवदविशेषेण वक्तव्यम्, नवरमत्रापि राजधानी अन्यस्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे। ''कहि णं भंते!'' इत्यादि प्रश्नसूत्रं गतार्थम्। भगवानाह– गौतम! धातकीखण्डद्वीपपश्चिमपर्यन्ते कालोदसमुद्रपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः शीतोदाया महानद्या उपरि अत्र धातकीखण्डस्य द्वीपस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्। तदपि जम्बूद्वीपजयन्तद्वारवद्वक्तव्यम्। नवरं राजधानी अन्यस्मिन् धातकीखण्डद्वीपे। ''कहि णं भंते!'' इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्रतीतम्। भगवानाह– गौतम! धातकीखण्डद्वीपोत्तरार्द्धपर्यन्ते कालोदसमुद्र उत्तरार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र धातकीखण्डस्य द्वीपस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्। तदपि जम्बूद्वीपगतापराजितद्वारवद्वक्तव्यम्। नवरं राजधानी अन्यस्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे।

धायइसंडस्स णं भंते! दीवस्स दारस्स य दारस्स य एस णं केवतियं अवाहाए अंतरे पण्णत्ते? गोयमा! दस जोयणसतसहस्साइं सत्तावीसं च जोयणसहस्साइं सत्त य पणतीसे जोयणसते तिण्णि य कोसे दारस्स य दारस्स य अवाहाए अंतरे पण्णत्ते।

(धायइसंडस्स णं भंते! इत्यादि) धातकीखण्डस्य भदन्त! द्वीपस्य द्वारस्य च द्वारस्य च परस्परमेतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमबाधया अन्तरितत्वाद् व्याघातेन प्रज्ञप्तम्? भगवानाह– गौतम! दशयोजनशतसहस्राणि सप्तविंशतिसहस्राणि सप्तशतानि पञ्चत्रिंशानि योजनशतानि त्रयः कोशा द्वारस्यच द्वारस्य च परस्परमन्तरमबाधया प्रज्ञप्तम्। तथाहि–एकैकस्य द्वारस्य द्वारशाखाकस्य जम्बूद्वीपद्वारस्येव पृथुत्वं सार्द्धानि चत्वारि योजनानि। ततश्चतुर्णा द्वाराणामेकत्र पृथुत्वपरिमाणमीलने जातान्यष्टादशयोजनानि, तान्यनन्तरोक्तात्परियपरिमाणात् ४११०१६१ शोध्यन्ते। शोधितेषु च तेषु जातं शेषमिदम्–एकचत्वारिंशल्लक्षा दशसहस्राणि नवशतानि त्रिचत्वारिंशदधिकानि ४११०९४३। एतेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरम्। उक्तं च– ''पणतीसा सत्त सया, सत्तावीसा सहस्स दसलक्खा। धायइसंडे दारंतरं तु अवरं च कोसतियं ॥१॥''

धायइसंडस्स णं भंते! दीवस्स पदेसा कालोयणं समुद्दं पुट्ठा? हंता पुट्ठा। ते णं भंते! किं धायइसंडे दीवे कालोयणे समुद्दे? गोयमा! धायइसंडे नो खलु ते कालोयणसमु०। एवं कालोयस्स वि धायइसंडे दीवे जीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता कालोयणे समुद्दे पव्वायंति? गोयमा! अत्थेगइया पव्वायंति, अत्थेगइया नो पव्वायंति। एवं कालोयणे वि अत्थेगतिया पव्वायंति, अत्थेगतिया नो पव्वायंति।

''धायइसंडस्स णं भंते! दीवस्स पएसा'' इत्यादीनि चत्वारि सूत्राणि प्राग्वद्भावनीयानि।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति–धायइसंडे दीवे, धायइसंडे दीवे? धाइयसंडे णं दीवे तत्थ तत्थ देसे तस्स तस्स देसस्स तहिं तहिं पदेसे बहवे धायइरुक्खा धायइवणा धायइसंडा णिच्चं कुसुमिया० जाव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति। धायइमहाधायइरुक्खे सुदंसणे पियदंसणे पियदेवा महिड्ढिया०जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ, अदुत्तरं च णं गोयमा ०जाव णिच्चं।

(से केणट्ठेणं भंते) इत्यादि! अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते–धातकीखण्डो द्वीपो धातकीखण्डो द्वीप इति? भगवानाह– धातकीखण्डे द्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो धातकीवृक्षाः, बहूनि धातकीवनानि बहवो धातकीखण्डाः। वनखण्डयोः प्रतिविशेषः प्रागेवोक्तः। ''निच्चं कुसुमिया।'' इत्यादि प्राग्वत्। (धायइमहाधायइरुक्खे इत्यादि) पूर्वार्द्धे उत्तरकुरुषु नीलवद्गिरिसमीपे धातकीनामा वृक्षोऽवतिष्ठते। पश्चिमार्द्धे उत्तरकुरुषु नीलवद्गिरिसमीपे धातकीवृक्षः, तौ च प्रमाणाऽऽदिना जम्बूवृक्षवद् वेदितव्यौ। तयोरत्र धातकीखण्डेद्वीपे यथाक्रमं सुदर्शनप्रियदर्शनौ द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः। ततो धातकीखण्डोपलक्षितो द्वीपो धातकीखण्डद्वीपः। तीव्रा चाऽऽह–(से तेणट्ठेणमित्यादि) गतार्थम्।

संप्रति चन्द्राऽऽदिवक्तव्यतामाह–

धाइयसंडे णं भंते! दीवे कइ चंदा पहासिंसु वा पहासंति वा पहासिस्संति वा? कति सूरिया तवइंसु वा, तवंति वा, तवइस्संति वा? कइ महग्गहा चारं चारिंसु वा, चरिंति वा, चरिस्संति वा? कइ णक्खत्ता जोगं जोएइंसु वा, जोएंति वा, जोइस्संति वा? कइ तारागणकोडिकोडीओ सोभं सोभिंसु वा, सोभें ति वा, सोभिस्संति वा? गोयमा! बारस चंदा पभासेंसु वा, पहासंति वा, पहासिस्संति वा एवं।

''चउवीसं ससिरविणो, णक्खत्तसता य तिण्णि छत्तीसा।
एगं च सयसहस्सं, छप्पण्णं धायईसंडे ॥१॥
अट्ठेव सयसहस्सा, तिन्नि सहस्साइँ सत्त य सयाइं।
धायइसंडे दीवे, तारागणकोडकोडीणं ॥२॥''
सोभं सोभिंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा।

''धायइसंडे णं भंते! दीवे कइ चंदा।'' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह– गौतम! धातकीखण्डे द्वादश चन्द्राः प्रभासितवन्तः, प्रभासन्ते, प्रभासिष्यन्ते। द्वादश सूर्यास्तापितवन्तः तापयन्ति, तापयिष्यन्ति। त्रीणि नक्षत्रशतानि षट्त्रिंशानि योगं चन्द्रमसा सूर्येण च सार्द्धं युक्तवन्तो, युञ्जन्ति, योक्ष्यन्ति। तत्र त्रीणि

※ ''एवं चत्तारि दारा भाणियव्वा।'' इत्यनेन गतार्थत्वात् मूलपाठे मूले नोक्तः, टीकायामुपन्यस्तः।

षट्त्रिंशानि नक्षत्राणां शतानि, एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां भावात्, एकं षट्पञ्चाशदधिकं महाग्रहसहस्रं चारं चरितवन्तः, चरन्ति, चरिष्यन्ति । एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाशीतेर्महाग्रहाणां भावात् । अष्टौ शतसहस्राणि त्रीणि सहस्राणि सप्तशतानि तारागणकोटिकोटीनां शोभितवन्तः, शोभन्ते शोभिष्यन्ते । एतदपि एकशशितारापरिमाणं द्वादशभिर्गुणयित्वा भावनीयम् । उक्तं च--

''बारस चंदा सूरा, नक्खत्तसया य तिन्नि छत्तीसा ।
एगं च गहसहस्सं, छप्पन्नं धायईसंडे ॥१॥
अट्ठेव सयसहस्सा, तिन्नि सहस्सा य सत्त य सया उ ।
धायइसंडे दीवे, तारागणकोडिकोडीओ ॥२॥''जी० ३ प्रति० ४उ०।

धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धे णं धायइरुक्खे अट्ठ जोयणाइं उड्ढमुच्चत्तेणं पण्णत्ते, बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते । धायइसंडदीवपच्चच्छिमद्धे णं धायइरुक्खे अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ते, बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते । एवं धायइरुक्खाओ आढवित्ता सव्वेव जंबुद्दीववत्तया भाणियव्वा०जाव मंदरचूलिय त्ति । एवं पच्चच्छिमद्धे वि । महाधायइरुक्खाओ आढवित्ता०जाव मंदरचूलिय त्ति । स्था०८ठा०।

सम्प्रति धातकीखण्डवक्तव्यतानन्तरं ''धायइसंडे'' इत्यादिना वेदिकासूत्रान्तेन ग्रन्थेनाऽऽह--

धायइसंडे णं दीवे पुरच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला०जाव भरहे चेव, एरवए चेव । एवं जहा जंबुद्दीवे तहा एत्थ भाणियव्वं०जाव दोसु वासेसु मणुया छव्विहं पि कालं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तं जहा--भरहे चेव, एरवए चेव, णवरं कूडसामली चेव, धायईरुक्खे चेव, देवागरुले चेव, वेणुदेवे पियसुदंसणे चेव । धायईसंडदीवपच्चच्छिमद्धे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला०जाव भरहे चेव, एरवए चेव,०जाव छव्विहं पि कालं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तं जहा--भरहे चेव, एरवए चेव, णवरं कूडसामली चेव, महाधायईरुक्खे चेव, देवागरुले चेव, वेणुदेवे पियदंसणे चेव ।।

कण्ठ्यम् ; नवरं--चक्रवालस्य विष्कम्भः पृथुत्वं चक्रवालविष्कम्भस्तेनेति । समुद्रवेदिकासूत्रं जम्बूवेदिकासूत्रवद्वाच्यमित्यर्थः । क्षेत्रप्रस्तावाल्लवणसमुद्रवक्तव्यताऽनन्तरं धातकीखण्डवक्तव्यतां ''धायइसंडे'' इत्यादिना वेदिकासूत्रान्तेन ग्रन्थेनाऽऽह । कण्ठ्यश्चायम्, नवरं धातकीखण्डप्रकरणमपि--जम्बूद्वीपलवणसमुद्रमध्यं वलयाकृतिं धातकीखण्डमालिख्य हिमवदादिवर्षधरान् जम्बूद्वीपानुसारेण चोभवतः पूर्वापरविभागेन भरतहैमवताऽऽदिवर्षाणि च व्यवस्थाप्य पूर्वापरदिशोर्वलयविष्कम्भमध्ये मेरुं च कल्पयित्वाऽवबोद्धव्यम् । अनेनैव क्रमेण पुष्करवरद्वीपार्द्धमपीति । तत्र धातकीनां वृक्षविशेषाणां खण्डो वनसमूह इत्यर्थो धातकीखण्डः, तद्युक्तो यो द्वीपः स धातकीखण्ड एवोच्यते । यथा दण्डयोगाद् दण्ड इति । धातकीखण्डश्चासौ द्वीपश्चेति धातकीखण्डद्वीपः, तस्य (पुरच्छिमं ति) पौरस्त्यं, पूर्वमित्यर्थः । यदर्द्धविभागस्तद्धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धं, पूर्वापरार्द्धता च लवणसमुद्रवेदिकातो दक्षिणत उत्तरतश्च धातकीखण्डवेदिकां यावत् गताभ्यामिषुकारपर्वताभ्यां धातकीखण्डस्य विभक्तत्वादिति ।

उक्तं च--

''पंचसयजोयणुच्चा, सहस्समेगं च होंति वित्थिन्ना ।
कालोयणलवणजले, पुट्ठा ते दाहिणुत्तरओ ॥१॥
दो उसुयारनगवरा, धायइसंडस्स मज्झयारठिया ।
तेण दुहा निद्दिस्सइ, पुव्वद्धं पच्छिमद्धं च ॥२॥'' इति ।

तत्र णमिति वाक्यालङ्कारे, मन्दरस्य मेरोरित्येवं धातकीखण्डपूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धप्रकरणे प्रत्येकमेकोनसप्ततिसूत्रप्रमाणे जम्बूद्वीपप्रकरणवदध्यतेव्ये, व्याख्येये च । अत एवाऽऽह--(एवं जहा जंबुद्दीवे तहेत्यादि) नवरं वर्षधराऽऽदिस्वरूपमायामाऽऽदिसमता चैवं भावनीया--

''पुव्वद्धस्स य मज्झे, मेरुस्स पुणो वि दाहिणुत्तरओ ।
वासाइं तिण्णि तिन्नि य, विदेहवासं च मज्झम्मि ॥१॥
अरविवरसंठियाइं, चउरो लक्खाइँ ताइँ खेत्ताइं ।
अंतो संखित्ताइं, रुंदयराइं कमेण पुण पुट्ठो ॥२॥
भरहे मुहविक्खंभो, छावट्ठिसयाइँ चोद्दसऽहियाइं ।
अउणत्तीसं च सयं, बारसऽहियदुसयभागेणं ॥३॥
अट्ठारस य सहस्सा, पंचेव सया हवंति सीयाला ।
पणवन्नं अंससयं, बाहिरओ भरहविक्खंभो ॥४॥
चउगुणियभरहवासो, (व्यास इत्यर्थः)
हेमवए तं चउगुणं तइयं । (हरिवर्षमित्यर्थः)
हरिवासं चउगुणियं, महाविदेहस्स विक्खंभो ॥५॥
जह विक्खंभो दाहिण--दिसाएँ तह उत्तरे वि वासतिए ।
जह पुव्वद्धेसु तओ, तह अवरद्धे वि वासाइं ॥६॥
सत्ताणउइ सहस्सा, सत्ताणउयाइँ अट्ठ य सयाइं ॥
तिन्नेव य लक्खाइं, कुरूण भागा य वाणउई ॥७॥(विष्कम्भ इति)
अउवन्नसयं तेवी--ससहस्सा दो य लक्खजीवाओ ।
दोण्ह गिरीणाऽऽयामो, संखित्तो तं धणुकुरूणं ॥८॥
वासहरगिरी वक्खा--रपव्वया पुव्वपच्छिमद्धेसु ।
जंबुद्दीवगदुगुणा, वित्थरओ उस्सए तुल्ला ॥९॥
कंचणगजमगसुरकुरु--नगा य वेयड्ढदीहा य ।
विक्खंभुव्वेहसमु--स्सएण जह जंबुदीवि व्व ॥१०॥
लक्खाइँ तिन्नि दीहा, विज्जुप्पहगंधमायणा दो वि ।
छप्पण्णं च सहस्सा, दोन्नि सया सत्तवीसा य ॥११॥
अउणट्ठा दोण्णि सया, उणसत्तरिसहस्सलक्खा य ।
सोमणसमालवंता, दीहा रुंदा दस सयाइं ॥१२॥
सव्वाओ वि नईओ, विक्खंम्भोव्वेहदुगुणमाणाओ ।
सीयासोओयाणं, वणाणि दुगुणाणि विक्खंभो ॥१३॥
वासहरकुरूसु दहा, नईण कुंडाइं तेसु जे दीवा ।
उव्वेहुस्सयतुल्ला, विक्खंभायामओ दुगुणा ॥१४॥

जम्बूद्वीपकापेक्षयेति । कियद्दूरं जम्बूद्वीपप्रकरणं धातकीख--

ण्डपूर्वार्द्धाभिलापेन वाच्यमित्याह। (जाव दोसु मणुयेत्यादि) एतस्माद्धि सूत्रात्परतो जम्बूद्वीपप्रकरणे चन्द्राऽऽदिज्योतिषां सूत्राण्यधीतानि, तानि च धातकीखण्डपुष्करार्द्धपूर्वार्द्धाऽऽदिप्रकरणेषु न सम्भवन्ति, द्विस्थानकत्वादस्याध्ययनस्य, धातकीखण्डाऽऽदौ च चन्द्राऽऽदीनां बहुत्वादिति। आह च- ''दो चंदा इह दीवे, चत्तारि य सायरे लवणतोये। धायइखंडे दीवे, बारस चंदा य सूरा य॥१॥'' इति। चन्द्राणां द्वित्वेन नक्षत्राऽऽदीनामपिद्वित्वं न स्यात्, ततो द्विस्थानेनावतार इति। जम्बूद्वीपप्रकरणादस्य विशेषं दर्शयन्नाह-(नवरमित्यादि) नवरं केवलमयं विशेष इत्यर्थः, कुरुसूत्रानन्तरं तत्र-''कूडसामली चेव, जंबू चेव सुदंसणे त्ति।'' उक्तम्। इह तु जम्बूस्थाने ''धायई रुक्खे चेव त्ति'' वक्तव्यं, प्रमाणं च तयोर्जम्बूद्वीपशाल्मल्यादिवत्, तयोरेव देवसूत्रेण ''अणाढिए चेव जंबुद्दीवाहिवई'' इत्यत्र वक्तव्यत्वे ''सुदंसणे चेव त्ति'' इह वक्तव्यमिति। ''धायइसंडे दीवे'' इत्यादि पश्चिमार्द्धप्रकरणं पूर्वार्द्धवदनुसर्तव्यम्। अत एवाऽऽह- (जाव छव्विहं पि कालमित्यादि) विशेषमाह-(नवरं कूडसामलीत्यादि) धातकीखण्डपूर्वार्धोत्तर-कुरुषु धातकीवृक्ष उक्तः, इह तु महाधातकीवृक्षोऽध्येतव्यो, देवसूत्रे द्वितीयः सुदर्शनसूत्राधीतः, इह तु प्रियदर्शनोऽध्येतव्य इति।

पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धमीलनेन धातकीखण्डद्वीपं सम्पूर्णमाश्रित्य द्विस्थानकं ''धायइखंडे णं'' इत्यादिनाऽऽह-

धायइसंडपच्चच्छिमद्धे मंदरस्स पव्वयस्स धायइसंडे णं दीवे दो भरहाइं, दो एरवयाइं, दो हिमवंताइं, दो हेरण्णवयाइं, दो हरिवासाइं, दो रम्मगवासाइं, दो पुव्वविदेहाइं, दो अवरविदेहाइं, दो देवकुराओ, दो देवकुरुमहदुमा, दो देवकुरुमहदुमावासा देवा, दो उत्तरकुराओ, दो उत्तरकुरुमहदुमाओ, दो उत्तरकुरुमहदुमावासा देवा,दो चुल्लहिमवंता, दो महाहिमवंता, दो निसहा, दो नीलवंता, दो रुप्पी, दो सिहरी, दो सद्दावई, दो सद्दावईवासी साई देवा, दो वियडावई, दो वियडावइवासी पभासी देवा,दो गंधावइवासी अरूणा देवा, दो मालवंतपरियारगा, दो मालवंतपरियारगवासी पउमा देवा, दो मालवंता, दो चित्तकूडा, दो पउमकूडा, दो नलिनकूडा, दो एगसेला, दो तिकूडा, दो वेसमणकूडा, दो अंजणा, दो मातंजणा, दो सोमणसा, दो विज्जुप्पभा, दो अंकावई, दो पम्हावई, दो आसीविसा, दो सुहावहा, दो चंदपव्वया, दो सूरपव्वया, दो णागपव्वया, दो देवपव्वया, दो गंधमायणा, दो उसुगारपव्वया, दो चुल्लहिमवंतकूडा, दो वेसमणकूडा, दो महाहिमवंतकूडा, दो वेरुलियकूडा, दो निसहकूडा, दो रुयगकूडा, दो नीलवंतकूडा, दो उक्दंसणकूडा, दो रुप्पिकूडा, दो मणिकंचणकूडा, दो सिहरिकूडा, दो तिगिच्छिकूडा, दो पउमद्दहा, दो पउमद्दहवासिणीओ देवीओ सिरीओ, दो महापउमद्दहा, दो महापउमद्दहवासिणी हिरीओ देवीओ, एवं०जाव दो पुंडरीयद्दहा, दो पुंडरीयद्दहवासिणीओ लच्छीओ देवीओ, दो गंगप्पवायद्दहा० जाव दो रत्तवईपवायद्दहा, दो रोहियाओ० जाव दो रुप्पकूला। स्था०।

(अन्तर्णदीवक्तव्यता 'अंतरणई' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे गता)

दो कच्छा, दो सुकच्छा, दो महाकच्छा, दो कच्छगावई, दो आवत्ता, दो मंगलावत्ता, दो पुक्खला, दो पुक्खलावई, दो वच्छा, दो सुवच्छा, दो महावच्छा, दो वच्छगावई, दो रम्मा, दो रम्मगा, दो रमणिज्जा, दो मंगलावई, दो पम्हा, दो सुपम्हा, दो महापम्हा, दो पम्हगावई, दो संखा, दो नलिणा, दो कुमुदा, दो नलिणावई, दो वप्पा, दो सुवप्पा, दो महावप्पा, दो वप्पगावई, दो वग्गु, दो सुवग्गु, दो गंधिला, दो गंधिलावई, दो खेमाओ, दो खेमपुराओ, दो रिट्ठाओ, दो रिट्ठपुराओ, दो खग्गीओ, दो मंजूसाओ, दो ओसहीओ, दो पुंडरीगिणीओ, दो सुसीगाओ, दो कुंडलाओ, दो अपराइयाओ, दो पभंकराओ, दो अंकावईओ, दो पम्हावईओ, दो सुभाओ, दो रयणसंचयाओ, दो आसपुराओ, दो सीहपुराओ, दो महापुराओ, दो विजयपुराओ, दो अवराजियाओ, दो अवराओ, दो असोयाओ, दो विगयसोगाओ, दो विजयाओ, दो वेजयंतीओ, दो जयंतीओ, दो अपराजियाओ, दो चक्कपुराओ, दो खग्गपुराओ, दो अवज्झाओ, दो अओज्झाओ, दो भद्दसालवणा, दो णंदणवणा, दो सोमणसवणा, दो पंडगवणा, दो पंडुकंबलसिलाओ, दो अतिपंडुकंबलसिलाओ, दो रत्तकंबलसिलाओ, दो अइरत्तकंबलसिलाओ, दो मंदरा, दो मंरचूलियाओ, धायइसंडस्स णं दीवस्स वेइया दो गाउयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।

''धायइसंडं'' इत्यादिनाऽऽह-द्वे भरते पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धयोर्दक्षिणदिग्भागे तयोर्भावादित्येवं सर्वत्र भरताऽऽदीनां स्वरूपं प्रागुक्तम्। (दो देवकुरुमहादुम त्ति) द्वौ कूटशाल्मलीवृक्षावित्यर्थः। द्वौ तद्वासिदेवौ वेणुदेवावित्यर्थः। (दो उत्तरकुरुमहादुम त्ति) धातकीवृक्षमहाधातकीवृक्षाविति। तद्देवौ सुदर्शनप्रियदर्शनाविति। चुल्लहिमवदादयः षट् वर्षधरपर्वताः, शब्दापातिविकटापातिमाल्यवत् पर्यायाख्यवृत्तवैताढ्याश्च तन्निवासिस्वातिप्रभासारुणपद्मनाभदेवानां द्वयेन द्वयेन सहिताः क्रमेण द्वौ द्वौ वुक्ताः। (दो मालवंत त्ति) मालवन्तावुत्तरकुरुतः पूर्वदिग्वर्तिनौ गजदन्तकौ स्तः, ततो भद्रशालवनतद्वेदिकाविजयेभ्यः परौ शीतोत्तरकूलवर्तिनौ दक्षिणोत्तरायतौ चित्रकूटौ वक्षष्कारपर्वतौ, ततो विजयेनान्तरनद्याविजयेन चान्तरितावन्यौ तथैवान्यौ पुनस्तथैवान्याविति पुनः पूर्ववन्नखण्डवेदिकाविजयाभ्यामर्वाक्शीतादक्षिणकूलवर्तीनि तथैव त्रिकूटाऽऽदीनां चत्वारि द्वयानि, ततः सौमनसौ देवकुरुपूर्वदिग्वर्तिनौ गजदन्तकौ, ततो गजदन्तकावेव देवकुरुप्रत्यग्भागवर्तिनौ विद्युत्प्रभौ, ततो भद्रशालवनतद्वेदिकाविजयेभ्यः परतस्तथैवाङ्कावत्यादीनां चत्वारि द्वयानि शीतोदादक्षिणकूलवर्तीनि पुनरन्यानि पश्चिमवनखण्डवेदिकान्त्यविजयाभ्यां पूर्वतः क्रमेण त-

चैव चन्द्रपर्वताऽऽदीनां चत्वारि द्वयानि, ततो गन्धमादनावुत्तरकुरुपश्चिमभागवर्तिनौ गजदन्तकाविति । एते धातकीखण्डस्य पूर्वापरार्द्धपश्चिमार्द्धे च भवन्तीति द्वौ द्वावुक्ताविति इषुकारौ दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः धातकीखण्डविभागकारिणाविति । (दोचुल्लहिमवंतकूडा इत्यादि) हिमवदादयः षड् वर्षधरपर्वताः, तेषु ये द्वे द्वे कूटे जम्बूद्वीपप्रकरणे अभिहिते ते पर्वतानां द्विगुणत्वादेकैकशः स्याताभिति वर्षधराणां द्विगुणत्वात् पद्माऽऽदिह्रदा अपि द्विगुणाः, तद्देव्योऽप्येवमिति चतुर्दशानां गङ्गाऽऽदिमहानदीनां पूर्वपश्चिमार्द्धापेक्षया द्विगुणत्वात् तत्प्रपातह्रदा अपि द्वौ द्वौ स्युरित्याह-(दो गंगप्पवाय-इत्यादि) ''दो रोहियाओ'' इत्यादौ नद्यधिकारे गङ्गाऽऽदिमहानदीनां सदपि द्वित्वं नोक्तं, जम्बूद्वीपप्रकरणोक्तस्य ''महाहिमवंता-ओ वासहरपव्वयाओ महापउमद्दहाओ दो महानईओ पवहंति ।'' इत्यादि सूत्रक्रमस्याऽऽश्रयणात् । तत्रहि रोहिताऽऽदय एवाष्टौ श्रूयन्त इति चित्रकूटपद्मकूटवक्षस्कारपर्वतयोरन्तरे नीलवर्षधरपर्वतनितम्बव्यवस्थितत्वात् । ग्राहवतीकुण्डाद्दक्षिणतोरणनिर्गताः अष्टाविंशतिनदीसहस्रपरिवारा शीताधिगामिनी सुकच्छमहाकच्छविजययोर्विभागकारिणी ग्राहवती नदी । एवं यथायोगं द्वयोर्द्वयोर्वक्षस्कारपर्वतयोर्विजययोरन्तरे क्रमेण प्रदक्षिणया द्वादश्यप्यन्तरनद्यो योज्याः, तद्द्वित्वं च पूर्ववदिति । पङ्कवतीत्यत्र वेगवतीति ग्रन्थान्तरे दृश्यते, क्षारोदेत्यत्र क्षीरोदेत्यन्यत्र, सिंह स्रोता इत्यत्र, शीतस्रोता इत्यपरत्र, फेनमालिनी गम्भीरमालिनी चेति, इह व्यत्ययश्च दृश्यत इति माल्यवद्गजदन्तकभद्रशालवनाभ्यामारभ्य कच्छाऽऽदीनि द्वात्रिंशद्विजयक्षेत्रयुगलानि प्रदक्षिणतोऽवगन्तव्यानीति । तथा कच्छाऽऽदिषु क्रमेण क्षेमाऽऽदिपुरीणां युगलानि द्वात्रिंशदवगन्तव्यानीति । भद्रशालाऽऽदीनि मेरोश्चत्वारि वनानि, ''भूमीए भद्दसालं, मेहलजुयलम्मि दोन्नि रम्माइं। णंदणसोमणसाइं, पंडगपरिमंडियं सिहरं ॥१॥'' इति वचनात् । मेर्वोर्द्वित्वे वचनानां द्वित्वमिति शिलाश्चतस्रो मेरौ षण्डकवनमध्ये चूलिकायाः क्रमेण पूर्वाऽऽदिषु । अत्र गाथे-

''पंडगवणम्मि चउरो, सिलाओ चउसु वि दिसासु चूलाए।
वउजोयणूसियाओ, सव्वजुणकंचणमयाओ ॥१॥
पंच सयायामाओ, मज्झे दीहत्तणद्धरुंदाओ।
चदद्धसंठियाओ, कुमदोयरहारगोराओ ॥२॥'' इति ।

मन्दरे मेरौ चूलिकाशिखरविशेषः। स्वरूपमरयाः- ''मेरुस्स उवरि चूला, जिणभवणविभूसिया दुवी सुचा। वारस अट्ठ य चउरो, मूले मज्झुवरि रुंदा य ॥१॥'' इति वेदिकासूत्रं जम्बूद्वीपवत्। स्था०२ ठा०३ उ०।

धायइसंडदीवग-त्रि०(धातकीखण्डद्वीपग) धातकीखण्डद्वीपगते, ''धायइसंडदीवगाणं चंदाणं।'' जी०३प्रति०४उ०।

धायइसंडदीवपच्चच्छिमद्ध-न०(धातकीखण्डद्वीपपश्चिमार्द्ध) धातकीखण्डद्वीपस्य पश्चिमेऽर्द्धभागे, स्था०७ ठा०।

धायइसंडदीवपच्चच्छिमद्धग-पुं०(धातकीखण्डद्वीपपश्चिमार्द्धग) धातकीखण्डद्वीपपश्चिमार्द्धगते मनुष्यभेदे, स्था०६ ठा०।

धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धग-पुं०(धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धग) धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धगते मनुष्यभेदे, स्था०६ ठा०।

धार-न०(धार) धाराभिर्निर्वृत्तम्, अण्। ''धाराभिः पतितं तोयं, गृहीतं स्फीतवासरा । शिलायां वसुधायां, शीतायां पतितं च यत् ॥१॥'' इत्युपक्रम्य, ''भाजने मृण्डये वाऽपि, स्थापितं धारमुच्यते।'' इत्युक्ते शिलाऽऽदिभाजनधृते वर्षोद्भवेजले, धारके, त्रि०। वृ०३उ०। उत्त०। वाच०। लघौ, न०। दे०ना०५ वर्ग ५६ गाथा।

धारण-न०(धारण) पालने, स्था०३ठा०३उ०। अप्रतिस्खलने, ''अरती तत्थ किं विहारए।'' विहारयेत् प्रतिस्खलेत्। आचा०१ श्रु०६अ०३उ०। ''धरंति राइणिया इह।'' धारयन्ति बिभ्रति। सूत्र०१ श्रु०२ अ०३उ०। वस्त्राऽऽदीनां परिग्रहणे, उपभोगे च। स्था०३ ठा०३उ०।

धारणा-स्त्री०(धारणा) धृ-युच्। ''यमाऽऽदिगुणसंयुक्ते, मनसः स्थितिरात्मनि। धारणा प्रोच्यते सद्भिर्योगशास्त्रविशारदैः॥१॥'' इत्युक्तायामात्मनि चित्तस्य स्थितौ, वाच०। विषयान्तरपरिहारेण स्थिरीकरणात्मा हि चित्तस्य धारणा । यदाह-'देशबन्धश्चित्तस्य धारणेति ।' द्वा० २४ द्वार। मर्य्यादायाम्, न्याय्यपथस्थितौ, अवधारणे, आ०म०१अ०१ खण्ड। वाच०। पूर्वश्रुतदृष्टाऽऽदिविषयावधारणं धारणेति। दर्श०५ तत्त्व। गृहीतस्याविस्मरणे, विशे०। आव०। ध०। आ०म०। नि०चू०। आ०चू०। अवगतार्थविशेषधा-रणं धारणा। भ० ८ श०२उ०। स्था०। निश्चितस्यैव वस्तुनो व्युत्पत्त्यादिरूपेण धारणं। विशे०। निश्चितस्यैवाविच्युतिस्मृतिवासनारूपं धारणं धारणा। प्रव०२१६ द्वार। ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मक्षयोपशमसमुत्थायामविद्योत्पादभेदवत्यां प्रज्ञातवस्तवानुपूर्वीगोचरायां चित्तपरिणतौ, ल०। तदात्मके मतिज्ञानभेदे च। स्था०८ ठा०। दश०। सम्म०। नं०। आ०चू०। ''धरणं पुण धारणं विंति।'' धृतिर्धारणमर्थानामिति वर्त्तते। परिच्छिन्नस्य वस्तुनोऽविच्युतिवासनास्मृतिरूपं धरणं पुनर्धारणां ब्रुवते। आ०म०१अ०१ खण्ड। नं०।

तथा च मतिज्ञानस्य तृतीयभेदमवायं प्रतिपादयन्ति-

स एव दृढतमावस्थाऽऽपन्नो धारणा ॥१०॥

स इति अवायः, दृढतमावस्थाऽऽपन्नः विवक्षितविषयावसाय एव सादरस्य प्रमातुरत्यन्तोपचितः कश्चित्कालं तिष्ठन् धारणेत्यभिधीयते। दृढतमावस्थाऽऽपन्नो ह्यवायः स्वोपढौकिताऽऽत्मशक्तिविशेषरूपसंस्कारद्वारेण कालान्तरे स्मरणं कर्त्तुं पर्याप्नोतीति ॥१०॥ रत्ना०२परि०। नं०। तस्याऽर्थस्य निर्णयरूपोऽध्यवसायोऽवायः शाङ्ग एवायं, शार्ङ्ग एवायमित्यादिरूपोऽवधारणाऽऽत्मकप्रत्ययोऽवाय इत्यर्थः । तस्यैवार्थस्य निर्णीतस्य धारणं धारणा । सा च त्रिधा-अविच्युतिः, वासना, स्मृतिश्च। तत्र तदुपयोगादविच्यवनमविच्युतिः, सा चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा। ततस्तया आहितो यः संस्कारः सा वासना। सा च संख्येयमसंख्येयं वा यावत्कालं भवति । ततः कालान्तरे कुतश्चित्तादृशार्थदर्शनाऽऽदिकात् कारणात् संस्कारस्य प्रबोधे यद् ज्ञानमुदयतेतदेवेदं यन्मया प्रागुपलब्धमित्यादिरूपं सा स्मृतिः। उक्तं च- ''तदनंतरं तदत्थाविच्चवणं जो य वासणाजोगो। कालंतरे य जं पुण, अणुसरणं धारणा सा उ ॥२९१॥'' (विशे०) एताश्चाविच्युतिवासनास्मृतयो धारणलक्षणसामान्यात्तथ्योगाद्धारणाशब्द वाच्याः। नं०। आ०म०। विशे०।

अथ चतुर्थो मतिज्ञानभेदो धारणा, इयं चाविच्युतिवासनास्मृति-भेदात्त्रिधा भवति। अतः सभेदामपि तामाह-

तयणंतरं तयत्था-ऽविच्चवणं जो य वासणाजोगो।
कालंतरे य जं पुण, अणुसरणं धारणा सा उ ॥२९१॥

तस्मादपायादनन्तरं तदनन्तरं, यत् तदर्थादविच्यवनम्-उपयोगमाश्रित्याप्रंशः। यश्च वासनया जीवेन सह योगः संबन्धः। यच्च तस्यार्थस्य कालान्तरे पुनरिन्द्रियैरुपलब्धस्य, अनुपलब्धस्य वा एवमेव मनसाऽनुस्मरणं स्मृतिर्भवति, सेयं पुनस्त्रिविधाऽप्यर्थ-स्यावधारणरूपा धारणा विज्ञेयेति गाथाऽक्षरघटना। भावार्थस्त्व-यम्-अवायेन निश्चितेऽर्थे तदनन्तरं यावदद्यापि तदर्थोपयोगः सातत्येन वर्त्तते, न तु तस्मान्निवर्त्तते, तावत्तदर्थोपयोगादविच्युतिर्नाम, सा धारणायाः प्रथम-भेदो भवति। ततस्तस्यार्थोपयोगस्य यदावरणं कर्म तस्य क्षयोपशमेन जीवो युज्यते मेम कालान्तरे इन्द्रियव्यापाराऽऽदिसामग्रीवशात् पुनरपि तदर्थोपयोगः-स्मृतिरूपेण समुन्मीलति, सा चेयं तदावरणक्षयोपशम-रूपा वासना नाम द्वितीयस्तद्भेदो भवति। कालान्तरे च वासनावशात्त-दर्थस्येन्द्रियैरुपलब्धस्य, अथवा तैरनुपलब्धस्याऽपि मनसि या स्मृतिराविर्भवति, सा तृतीयस्तद्वद इति। एवं त्रिभेदा धारणा विज्ञेया। तुशब्दोऽवग्रहाऽऽदिभ्यो विशेषद्योतनार्थः। विप्रतिपत्तयस्त्वेतद्विषया अपि प्रागेव निराकृता इति गाथाऽर्थः ॥२९१॥ विशे०। साऽपि मनः-सहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात्षोढा। प्रव० २१६ द्वार।

से किं तं धारणा? धारणा छव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-सोइंदियधारणा, चक्खिंदियधारणा, घाणिंदियधारणा, जिब्भिंदियधारणा, फासिंदियधारणा, नोइंदियधारणा॥ नं०।

प्रकारान्तरेण धारणायाः षड् भेदानाह-

छव्विहा धारणा पण्णत्ता। तं जहा-बहुं धारेइ, बहुविहं धारेइ, पोराणं धारेइ, दुरुद्धरं धारेइ, अनिस्सडं धारेइ, असंदिद्धं धारेइ। सेत्तं धारणा। स्था०६ ठा०।

बहु धारयति १ बहुविधं धारयति २ पुराणं धारयति ३ दुर्द्धरं धारयति ४ अनिश्चितं धारयति ५ असंदिग्धं धारयति ६ इति षडपि पदानि व्यक्तानि, नवरम् (पोराणं ति) पुराणं जीर्णं प्रभूतकालसंचितं, तदपि यथाश्रुतं धारयति, यदा पृच्छ्यते, तदा धारणासमर्थत्वात् सर्वं वदति। (दुरुद्धरं ति) दुर्द्धरं दुःखेन धर्तुं शक्यं नयाऽऽगमभङ्गगुपिलं (धारय त्ति) "सेत्तं" इत्यादि निगमनवाक्यं व्यक्तम्। दशा०५ अ०।

धारणाया एकार्थिकान्याह-

तीसे णं इमे एगट्ठिया णाणाघोसा, णाणावंजणा, पंच नामधिज्जा भवंति। तं जहा-धरणा, धारणा, ठवणा, पइट्ठा कोट्ठे। सेत्तं धारणा।

अत्रापि सामान्यत एकार्थिकानि, विशेषचिन्तायां पुनर्भिन्नार्थानि, तत्रापायानन्तरमवगतस्यार्थस्याविच्युत्या अन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् धरणं धरणा, ततस्तमेवार्थमुपयोगाद् युतं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तादुत्कर्षतोऽ-संख्येयात्कालात्परतो यत्स्मरणं सा धारणा। तथा स्थापनं स्थापना, अपायावधारितस्याऽर्थस्य हृदि स्थापनं वासनेत्यर्थः। अन्ये तु धारणास्थापनायोर्व्यत्यासेन स्वरूपमाचक्षते। तथा च प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा, अपायावधारितस्यैवार्थस्य हृदि प्रभेदेन प्रतिष्ठापनमित्यर्थः। कोष्ठ इव कोष्ठः, अविनष्टसूत्रार्थधारणमित्यर्थः। (सेत्तं धारणा) सेयं धारणा। नं०। न विधेयमित्येवंरूपे (स्था० ५ ठा०१उ०।) निषेधविषयके आदेशे, "आणं वा धारणं वा सम्मं पउंजित्ता भवइ।" स्था०७ ठा०। धारणा विधेयेषु निवर्त्तनलक्षणेति। स्था० ५ ठा०२उ०। बहुशो निवेदितातिचारलब्धशुद्धीनामवधारणाऽऽत्मके व्यवहारभेदे, पञ्चा० १६ विव०। प्रव०। स्था०। (तद्वक्तव्यता 'धारणाववहार' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) बलहरणाऽऽधारभूते स्थूणे गृहावयवविशेषे, "अगारस्स णं झियायमाणस्स किं धारणा झियाइ।" भ०८ श०६उ०। धृ-णिच्-ल्युट्। नञ्झाम्, श्रेणौ च। स्त्री०। वाच०।

धारणाबल-न०(धारणाबल) प्रतिवादिनः शब्दतदर्थावधारणबले, व्य०१उ०।

धारणाववहार-पुं०(धारणाव्यवहार) गीतार्थसंविग्नेन द्रव्याऽऽद्यपेक्षया यत्रापराधे यथा या विशुद्धिः कृता, तामवधार्य यदन्यस्त-त्रैव तथैव तामेव प्रयुङ्क्ते सा धारणा, वैयावृत्यकराऽऽदेर्वा गच्छोपग्रहकारिणोऽशेषानु-चितस्योचितप्रायश्चित्तपदानां प्रदर्शितानां धरणं धारणेति। स्था०५ ठा० २उ०। सा एव व्यवहारो धारणाव्य-वहारः। पञ्च व्यवहाराणां मध्ये चतुर्थे व्यवहारभेदे, भ०८ श०८ उ०। पञ्चा०। जीत०। व्य०। धारणाव्यवहारो नामगीतार्थेन संविग्नेनाऽऽचार्येण द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषान् प्रतिसेवना-श्चावलोक्य यस्मिन्नपराधे यत्प्रायश्चित्तमदायि तत्सर्वमन्यो दृष्ट्वा तेष्वेव द्रव्याऽऽदिषु तादृश एवापराधे तदेव प्रायश्चित्तं ददाति। एष धारणाव्य-वहारः। अथवा-वैयावृत्यकरस्य गच्छोपग्राहिणः स्पर्द्धकस्वामिनो वा देशदर्शनसहायस्य वा संविग्नस्योचितप्रायश्चित्तदानं धारणमेष धारणा-व्यवहारः। व्य०१उ०।

अथ धारणाव्यवहारमाह-

गीयत्थेणं दिन्नं, सुद्धिं अवराहिऊण तह चेव।
दिंतस्स धारणा तह, उद्धियपयधरणरूवा वा ॥८६५॥

इह गीतार्थेन संविग्नेनाऽऽचार्येण कस्याऽपि शिष्यस्य क्वचिदपराधे द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषान् प्रतिसेवनाश्चावलोक्य या शुद्धिः प्रदत्ता, सा शुद्धिः तथैवावधार्य सोऽपि शिष्यो यदाऽन्यत्रापि तादृश एवापराधे च द्रव्यादिषु तथैव प्रायश्चित्तं ददाति, तदाऽसौ धारणा नाम चतुर्थो व्यवहारः। उद्धृतपदधरणरूपा वा धारणा। इदमुक्तं भवति-वैयावृत्यकरणाऽऽदिना कश्चिद् गच्छोपकारी साधुरद्याप्यशेषच्छेदश्रुतयोग्यो न भवति, ततस्तस्यानुग्रहं कृत्वा यदा गुरूद्धृतान्येव कानिचित्प्रायश्चित्तपदानि कथयति, तदा तस्य तेषां पदानां धरणं धारणाऽभिधीयत इति ॥८६५॥ प्रव० १२६ द्वार।

धारणववहारो पुण, वत्तव्वो तं जहक्कमं वुच्छं ॥६४२॥

अत उर्द्ध धारणाव्यवहारो वक्तव्यः, तद्यथाक्रममसुं वक्ष्ये इति शृणु।

उद्धारणा विधारण, संधारण संपधारणा चेव।
नाऊण धीरपुरिसा, धारणववहार तं विंति ॥६४३॥

धारणायाश्चत्वार्येकार्थिकानि। तद्यथा-उद्धारणा, विधार-

धा, सन्धारणा, संप्रधारणा च। तया छेदश्रुतार्थावधारणलक्षणया यः सम्यक् ज्ञात्वा व्यवहारः प्रयुज्यते, तं धारणाव्यवहारं धीरपुरुषा ब्रुवते।

सम्प्रति तेषामेव चतुर्णामेकार्थिनां शब्दव्युत्पत्तिमाह--

पाबल्लेण उवेच्च व, उद्धियपयधारणा उ उद्धारा।
विविहेहिँ पगारेहिं, धारे अत्थं विधारा सा ॥६४४॥
सम एक्कीभावम्मी, उद्धरणे ताणि एक्कभावेण।
धारे तत्थ पयाणि उ, तम्हा संधारणा होइ ॥६४५॥
जम्हा उ संपहारेउं, ववहारं पउंजती।
तम्हा उ कारणे तेण, नायव्वा संपहारणा ॥६४६॥

उत् प्राबल्येन उपेत्य वा धृतानामर्थपदानां धारणा उद्धारा उद्धारणा। विविधैः प्रकारैर्विशिष्टं वाऽर्थमुद्धृतमर्थपदं यया धारणया स्मृत्या धार्यते सा विधारा विधारणा। तथा--समशब्द एकीभावे, धृता तु धारणा ता-यर्थपदानि आत्मना सहैकभावेन यस्माद्धार--यति तस्मात् धारणा संधारणा भवति। तथा यस्मात्संप्रधार्य्य सम्यक्प्रकर्षेणाऽवधार्य व्यवहारं प्रयुङ्क्ते, तस्मात्कारणात्तेन शिष्येणेयं प्रधारणा भवति ज्ञातव्या।

धारणववहारो सो पउंजियव्वो उ केरिसे पुरिसे?।
भन्नति गुणसंपन्ने, जारिसए तं सुणेहि त्ति ॥६४७॥

एष धारणाव्यवहारः कीदृशे पुरुषे प्रयोक्तव्यः? सूरिराह-- भण्यते--यादृशे गुणसम्पन्ने प्रयोक्तव्यस्तद्वक्ष्यमाणं शृणु?

तमेवाऽऽह--

पवयणजसम्मि पुरिसे, अणुग्गहविसारए तवस्सिम्मि।
सुस्सुयबहुस्सुयम्मि य, विवक्कपरिपागसुद्धम्मि ॥६४८॥

प्रवचनं द्वादशाङ्गं, श्रमणसङ्घो वा तस्य यः कीर्तिमिच्छेत् स प्रवचनय-शस्तस्मिन् तपस्विनि, तथा श्रुतं शोभनमाकर्णितं, बहुश्रुतं च येन स सुश्रुतबहुश्रुतः। किमुक्तं भवति--यस्य बह्वपि श्रुतं न विस्मृतिपथमुपयाति स सुश्रुतबहुश्रुतः। अथवा बहुश्रुतोऽपि सन् यस्तरयोपदेशेन वर्तते स मार्गानुसारिश्रुतत्वात् सुश्रुतबहुश्रुतः, तस्मिन्, तथा विशिष्टे विनयोचि-त्यान्विते वाक्परिपाके विशुद्धिर्यस्मिन्पुरुषे तस्मिन् प्रयोक्तव्यः।

एतदेवाऽऽह--

एएसु धीरपुरिसा, पुरिसज्जाएसु किंचि खलिएसु।
रहिए वि धारइत्ता, जहारिहं देंति पच्छित्तं ॥६४९॥

एतेष्वनन्तरोदितगुणसम्पन्नेषु पुरुषजातेषु किञ्चिदत्र मनाक् प्रमादवशाद् मूलगुणविषये उत्तरगुणविषये वाक्स्खलितेषु रहितेऽपि असत्यष्यादिगे व्यवहारज्ञये धीरपुरुषा अर्थपदानि कल्पप्रकल्पव्यवहारगतानि कानिचित् धारयित्वा यथार्हं ददति प्रायश्चित्तम्।

साम्प्रति ''रहिए वि धारयित्ता'' (६४९) इत्यस्य

व्याख्यानमाह--

रहिए णाम असंते आइल्लम्मि ववहारतियगम्मि।
ताहे वि धारइत्ता, वीमंसेऊण जं भणियं ॥६५०॥

रहितनाम असति अविद्यमानकेव्यवहारत्रिकेसति ततोविधाय यद् भणितं भवति। किमुक्तं भवति? विमृश्य पूर्वापरपर्यालोचनेन देशकालाऽऽद्यपेक्षया सम्यक् छेदश्रुतार्थं परिभाव्य।

किमित्याह--

पुरिसस्स उ अइयारं, वियारइत्ता ण जस्स जं जोग्गं।
तं देंति उ पच्छित्तं, केणं देंती उ तं सुणह ॥६५१॥

पुरुषस्यातिचारं द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च विचार्य यस्य यदर्हं प्रायश्चित्तं तत् केन दीयते। आचार्यः प्राहयेन दीयते तत् शृणु।

तदेवाऽऽह--

जो धारितो सुतत्थो, अणुओगविहीएँ धीरपुरिसेहिं।
आलीणपलीणेहिं, जयणाजुत्तेहिँ दंतेहिं ॥६५२॥

यो नाम धीरपुरुषैरालीनप्रलीनैर्यतनायुक्तैर्दान्तैश्चानुयोगविधौ व्याख्यानवेलायां श्रुतस्य भेदश्रुतस्यार्थो धारितोऽविस्मृतीकृतस्तेन दीयते।

साम्प्रतमालीनाऽऽदिपदानां व्याख्यानमाह--

अल्लीणा णाणाऽऽदिसु, पदें पदें लीणा उ होंति पल्लीणा।
कोहाऽऽदी वा पलयं, जेसिँ गया ते पलीणाओ ॥६५३॥
जयणाजुतो पयत्तव, दंतो जो उवरतो उ पावेहिं।
अहवा दंतो इंदिय-दमेण नोइंदिएणं च ॥६५४॥

ज्ञानाऽऽदिषु आ समन्तात् लीना आलीनाः। पदें पदे लीना भवन्ति प्रलीना अथवा--येषां क्रोधाऽऽदयः प्रलयं गताः ते प्रलीनाः, प्रकर्षेण लीना लयं विनाशं गताः क्रोधाऽऽदयो येषामिति व्युत्पत्तेः। यतनायुक्तो नाम सूत्रानुसारतः प्रयत्नवान्, दान्तो यः पापेभ्य उपरतः। अथवा--दान्तो नाम इन्द्रियदमेन, नोइन्द्रियेण नोइन्द्रिय--दमेन चान्यतः। तदेवं छेदश्रुतार्थधारणावशतो धारणाव्यवहार उक्तः।

साम्प्रतमन्यथा धारणाव्यवहारमाह--

अहवा जेणऽण्णइया, दिट्ठा सोही परस्स कीरंती।
तारिसयं चेव पुणो, उप्पण्णं कारणं तस्स ॥६५५॥
सो तम्मि चेव दव्वे, खेत्ते काले य कारणे पुरिसे।
तारिसयं अकरें तो, न हु सो आराहओ होइ ॥६५६॥
सो तम्मि चेव दव्वे, खेत्ते काले य कारणे पुरिसे।
तारिसयं चिय भूयो, कुव्वं आराहगो होइ ॥६५७॥

अथवेति प्रकारान्तरे, येनान्यदा परस्य शोधिः क्रियमाणा दृष्टा, स तमर्थं स्मरति--यथा एवंभूतेषु द्रव्याऽऽदिष्वेवंभूते कारणे जाते एवंभूतं प्रायश्चित्तं दत्तमिति। पुनरन्यदाऽस्य पुरुषस्य उपलक्षणमेतत्--अन्यस्य वा तादृशमेव पुनः कारणं समुत्पन्नं ततो यदि तस्मिन्नेव, तादृश एवेत्यर्थः। द्रव्ये क्षेत्रे काले, चशब्दाद्भावे च तादृश एव कारणे तस्मिन्नेव तादृशे वा पुरुषे तादृशमकुर्वन्, रागेण वा अन्यं प्रायश्चित्तं ददानो वर्तते, तदा स (न हु) नैव आराधको भवति। अथ यः तस्मिन्नेव द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च कारणे पुरुषे च तादृशं करोति, स तदा आराधको भवति।

धारणाव्यवहारस्यैव पुनरन्यथाप्रकारमाह--

वेयावच्चकरो वा, सीसो वा देसहिंडगो वा वि।
दुम्मेहत्ता न तरइ, ओहारेउं बहुं जो उ ॥६५८॥
तस्स उ उद्धरिऊणं, अत्थपयाइं तु देंति आयरिया।
जेहिँ न करेति कज्जं, ओहारेत्ता उ सो देसं ॥६५९॥

यथा आचार्याणां वैयावृत्यकरो, यो वा संमतः शिष्यो, यस्तु वा देशहिण्डको देशदर्शनं कुर्वतः सहाय आसीत्, स समस्तं छेदश्रुतार्थं दुर्म्मेधस्त्वाद् नावधारयितुं शक्नोति, ततस्तस्योद्धृत्यानुग्रहाय कानिचिदर्थपदान्याचार्या ददति, यैः स छेदश्रुतस्य देशमवधार्य न कार्यं करोति। एष धारणाव्यवहारः।

उपसंहारमाह–

धारणववहारेसो, अहक्कमं वण्णितो समासेणं ॥ (६६०)

एष धारणाव्यवहारो यथाक्रमं समासेन वर्णितः। व्य०१० उ०।

धारणिज्ज-त्रि०(धारणीय) धारयितुं योग्ये, भ० १५ श०। आचा०। धारयितुं शक्ये, यापनीये च। ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

धारणी-स्त्री० |धा(र)रिणी| सकलगुणधारणाद्धा (र)रिणी। सू०प्र०१ पाहु०। एकादशजिनस्य प्रथमार्य्यिकायाम्, स०। ''सिज्जंसजिणस्स धा (र)रिणी पढमा।'' ति०। द्वारवतीवास्तव्यस्य वसुदेवस्य स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, ''वसुदेवे राया धारणी देवी।'' अन्त०१ श्रु० १ वर्ग १अ०। द्वारवतीवास्तव्यस्यान्धकवृष्णेः स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, ''अंधगविण्हिस्स रण्णो धारणी नाम देवी।'' अन्त०१ श्रु०१ वर्ग १अ०। हस्तिशीर्षनगरस्थस्यादीनशत्रोः राज्ञः स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, ''हत्थिसीसणयरे अदीणसत्तुरण्णो धारणीपामोक्खाणं देवीसहस्साणं।'' विपा०२ श्रु०१अ०। अपरविदेहस्थपूतायां राजधान्यां स्थितस्य धनञ्जयस्य भार्यायाम्, आ०चू०१अ०। मथुरानगरीवास्तव्यस्य जितशत्रोः राज्ञो भार्यायाम्, आ०म०१अ०२ खण्ड। कौशाम्बीवास्तव्यस्याऽजितसेनस्य राज्ञो भार्यायाम्, आव०४अ०। आ०चू०। राजगृहनगरस्थस्य श्रेणिकस्य राज्ञो भार्यायाम्, ज्ञा०१ श्रु० १अ०। अणु०। चम्पानगरीस्थस्य मित्रप्रभस्य राज्ञो भार्यायाम्, आव०४ अ०। चम्पानगरीस्थस्य दधिवाहनस्य राज्ञः स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, आ०म०१अ०२खण्ड। पोतनपुरनगरस्थस्य सोमचन्द्रस्य राज्ञो भार्यायाम्, आ०म०१ अ०२ खण्ड। आ०चू०। राजगृहनगरस्थस्य विश्वनन्दिनृपस्य भ्रातुर्विशाखभूतेर्भार्यायाम्, आ०म०१ अ०१खण्ड। मगधनन्दिग्रामस्थस्य गौतमस्य कणवृत्तिकस्य भार्यायाम्, ''मगधे नन्दिग्रामे, गौतमः कणवृत्तिकः। तत्पत्नी धारणी तस्याः।'' आ०क०। आव०। कस्मिंश्चिन्नगरे स्थितसय वज्रसेनस्य राज्ञः स्वनामख्यातायां मङ्गलावत्यपरनामधेयायां भार्यायाम्, आ०चू०१ अ०। मिथिलास्थस्य जितशत्रोः स्वनामख्यातायां भार्यायां च। सू०प्र०१ पाहु०। चं०प्र०।

धारय-त्रि०(धारक) धारणसमर्थे, कल्प०१ अधि०१ क्षण। धारको धारयितुं क्षमः। औ०। प्रवर्तके च। नि०१ श्रु०३ वर्ग१ अ०।

धारा-स्त्री०(धारा) धृ–णिच्–अङ्। खड्गाऽऽदेर्निशिताग्रे, भ० १३ श०६ उ०। वाच०। ''खुरो इव एगंतधाराए।'' ज्ञा०१श्रु० १अ०। जं०। उत्त०। घण्टाऽऽदिच्छिद्रे, सन्ततौ, द्रवद्रव्यस्य सन्तत्या पतने, उत्कर्षे, यशसि, अतिवृष्टौ, समूहे, मेघस्याऽऽसारवर्षणे, वाच०। भ०। कल्प०। सदृशे, पुरीभेदे, ''अश्वानां तु गतिर्धारा, विभिन्ना सा च पञ्चधा।'' इत्युक्तेऽश्वानां गतिपञ्चके, ''इतीव धारामवधीर्य।'' इति नेषधम्। सैन्याग्रिमस्कन्धे च। वाच०। हस्तिनापुरस्थस्य शिवस्य राज्ञो भार्यायां च। आ०म० १अ०२ खण्ड। रणमुखे, दे० ना० ५ वर्ग ५६ गाथा।

धारावारि-न०(धारावारि) धाराप्रधाने जले, भ०१३ श०६उ०।

धारावारिय-त्रि०(धारावारिक) धाराप्रधानं वारि जलं यस्मिन्। धाराप्रधानजलोपेते, ''धारावारियलेणाइ वा।'' भ० १३ श०६उ०।

धारावास-(देशी) मेघे, मेके च। दे०ना० ५ वर्ग ६३ गाथा।

धाराहय-त्रि०(धाराहत) मेघजलधारासिक्ते, ''धाराहयकयंब–पुप्फगं पि व समुस्ससिअरोमकूवे।'' कल्प०१ अधि०१क्षण। भ०।

धारि(ण्)-पुं०(धारिन्) धारयतीत्येवंशीलः। प्रज्ञा०२ पद। धृणिनिः। धारणशीले, पीलुवृक्षे, धारणकर्त्तरि, त्रि०। वाच०।

धारिणी-स्त्री०(धारिणी) 'धारिणी' शब्दार्थे, सू०प्र०१ पाहु०।

धारित्तए-अव्य०(धारयितुम्) पालयितुमित्यर्थे, स्था०६ ठा०। परिग्रहीतुमित्यर्थे, उपभोक्तुमित्यर्थे च। ''धारित्तए वा परिहरित्तए वा।'' धारयितुं परिग्रहे परिहर्तुमासेवितुमिति। अथवा–''धारणया उवभोगो, परिहरणा होइ परिभोगो।'' स्था०५ ठा०३उ०।

धारिय-त्रि०(धारित) सम्यग्धारणाविषयीकृते, ''धारियगणिय–समीहिय–निज्जवणाविउलवायणसमिद्धो।'' धारितं सम्यग् धारणाविषयीकृतं, न विनष्टमिति भावः। व्य०३उ०।

धारी-स्त्री०(धात्री) 'धाई' शब्दार्थे, प्रा०२ पाद।

धारोदग-न०(धारोदक) गिरिनिकरजले, बृ०२उ०।

धाव-जवे(धाव) सक०–शुद्धौ च। भ्वादि०–आत्म०–शीघ्रगतौ, अक० सेट्। धावते। अधाविष्ट। वाच०। ''खादधावोर्लुक्'' ॥८।४।२२८॥ इति प्राकृतसूत्रेणान्त्यस्य लुक्। प्रा०४ पाद ''स्वरादनतो वा'' ॥८।४।२४०॥ इति प्राकृतसूत्रेणाकारान्तवर्जितात्स्वरान्ताद्धातोरन्ते अकाराऽऽगमो वा। प्रा०४ पाद। धाइ। धाअइ। धाहिइ। धाओ। बाहुलकाधिकाराद् वर्त्तमानाभविष्यद्विध्याऽऽद्येकवचन एव भवति, तेनेह न। धावन्ति। क्वचिन्न भवति। ''धावइ पुरओ।'' प्रा०४ पाद। ''कुलाइं जे धावइ साउगाइं।'' धावति गच्छति। सूत्र०१ श्रु०७ अ०।

धावण-न०(धावन) धाव–ल्युट्। शीघ्रगमने, सूत्र०१ श्रु०७ अ०। वाच०। धावनमिति वेगेन गमनम्। जीत०। महा०। ज्ञा०। धावनं निष्कारणमतित्वरितमविश्रामं गमनम्। जीत०। शोधने, वाच०। अभ्यङ्गोद्वर्त्तनस्नाने, नि०चू०११ उ०। वस्त्राऽऽदीनां प्रक्षालने, प्रव० १ द्वार। सूत्र०। नि०चू०। व्य०। ग०। प्रश्न०। पात्राऽऽदीनां कल्पप्रदाने च। जीत०। बृ०। मुखनयनाऽऽदिधावने, व्य०६ उ०। (गुणा आचार्य्यातिशयवर्णनप्रस्तावे 'अट्ठसेस' शब्दे प्रथमभागे २८ पृष्ठे प्रतिपादिताः) ''जे धोयती लूसयतीव वत्थं, अहा हु से णागणियस्स दूरे।'' सूत्र०१ श्रु०७अ०। वस्त्राण्यधिकृत्य– ''णो धोवेज्जा णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धरेज्जा।'' नो धावयेत्प्रासुकोदकेनाऽपि न प्रक्षालयेद्, गच्छवासिनो ह्यपामवर्षाऽऽदौ ग्लानावस्थायां वा प्रासुकादकेन यतनया धावनमनुज्ञातं, न तु जिनकल्पिकस्येति।

तथाहि--न च धौतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत्पूर्वं धौतानि पश्चाद्रक्तानीति। आचा०१श्रु०८अ०४उ०। धावनं च संयतानां वर्षाकालादर्वाक् कल्पते, न शेषकाले, अनेकदोषसम्भवात्। पिं०।

तानेव दोषान् दर्शयति--

उउबद्धे धुवणे वउसं, बंभविणासो अठाणठवणं च।
संपाइमवाउवहो, पावणभूओवघाओ य ॥२६॥

वर्षाकालस्य प्रत्यासन्नं कालमपहाय शेषे ऋतुबद्धे काले, चीवरस्य धावने चरणं वकुशं भवति, उपकरणवकुशत्वात्। तथा--ब्रह्मविनाशो मैथुनप्रत्याख्यानभङ्गः, प्रक्षालितवासः परिधानभूषितशरीरो हि विरूपोऽपि रमणीयत्वेन प्रतिभासमानो रमणीनां रमणयोग्योऽयमिति प्रार्थनीयो भवति, किं पुनः शरीरावयवरमणीयकोपशोभितः; ततः समस्तकामिनीनां प्रार्थ्यमानानां सलीलदर्शिततिर्यग्वलिताक्षिनिरीक्षणाङ्गमोटनव्याजोपदर्शितकक्षामूलसद्वृत्ततारमणीयपीनकठिनपयोधरविस्तारगम्भीरनाभिप्रदेशपरिभावनतोऽवश्यं ब्रह्मचर्यादिपभ्रंशमाश्रयते। तथा--अस्थानस्थापनम्। इयमत्र भावना--यदि नाम कथञ्चित्तत्त्वं वेदितया संयमविषयनिःप्रकम्पधृत्यवष्टम्भतो न ब्रह्मचर्यादिपभ्रश्यति, तथाऽपि लोकेन सोऽस्थाने स्थाप्यते--यथा नूनमयं कामी, कथमन्यथाऽऽत्मानमित्थं भूषयति, न खल्वकामी मण्डनप्रियो भवति। तथा संपातिमानां मक्षिकाऽऽदीनां प्रक्षालनजलाऽऽदिषु निपततां, वायोश्च वधो विनाशो भवति। तथा प्लावनेन प्रक्षालनजलपरिष्ठापनेन पृथिव्यां रेल्लणेन भूतोपघातः पृथिव्याश्रितकीटिकाऽऽदिसत्त्वोपमर्दो भवति। तस्मान्न ऋतुबद्धकाले वस्त्रं प्रक्षालनीयम्। नन्वेते दोषा वर्षाकालादर्वागपि धावने संभवन्ति, ततस्तदानीमपि न चीवराणि प्रक्षालनीयानि, तन्न, तदानीं चीवराप्रक्षालनेऽनेकदोषसंभवात्।

अइभारवुडणपणए, सीयलपाउरणऽजिण्णगेलण्णे।
ओहावणे कायवहो, वासासु अधोवणे दोसा ॥२७॥

इह वर्षाकालादर्वागपि यदि वासांसि न प्रक्षाल्यन्ते तदानीमतिभारो गुरुत्वं वस्त्राणां भवति। तथा वासांसि मलविद्धानि यदा जलकणानुषक्तसमीरणमात्रेणापि स्पृष्टानि भवन्ति, तदाऽपि स मलः क्लिन्नीभूय दृढतरं वस्त्रेषु संबन्धमापद्यते, किं पुनर्वर्षासु सर्वतः सलिलमयीषु। ततो वर्षासु क्लिन्नमलसंपर्कतो वासांसि गुरुतरभाराणि भवन्ति। तथा (वुडणं ति) वाससां वर्षाकालादर्वागप्यधावने वर्षासु जीर्णता भवति, शाटो भवतीत्यर्थः। किमुक्तं भवति?--यदि नाम वर्षाकालादर्वागपि वस्त्राणि न प्रक्षाल्यन्ते, ततो वर्षासु तेषां मलक्लिन्नतया जीर्णताभवनेन शाटो भवति। न च वर्षास्वभिनववस्त्रग्रहणं, नचाधिकः परिग्रहः, ततो ये वस्त्राभावे दोषाः समये प्रसिद्धास्ते सर्वेऽपि यथायोगमुपढौकन्त इति। तथा मलक्लिन्नेषु वस्त्रेषु शीतलजलकणसंस्पर्शतो मलस्याऽऽर्द्रीभवतः पनको वनस्पतिविशेषः प्राचुर्येणोपजायते, तथा च सति प्राणिव्यापादनप्रसक्तिः। तथा निरन्तरं सर्वतः प्रसरेण निपतति वर्षे शीतले च मारुते वाति मलस्याऽऽर्द्रीभवतः शीतलीभूतानां वाससां प्रावरणे भुक्ताऽऽहारस्याजीर्णतायामपरिणतौ ग्लानता शरीरमान्द्यमुत्तम्भते, तथा च सति प्रवचनस्यापभ्राजना। यथा--अहो! बठरशिरोमणयोऽमी-तमस्विनो, न परमार्थतस्तत्त्ववेदिनो, ये नाम, वर्षास्वप्रक्षालितानां वाससां परिभोगे मान्द्यमुपजायते, इत्येतदपि नावबुध्यन्ते; ते पृथग्जनाऽपरिच्छेद्यं स्वर्गापवर्गमार्गमवगच्छन्तीति दुःश्रद्धेयम्। तथा वर्षास्वप्रक्षालितानि वस्त्राणि प्रावृत्य भिक्षाऽऽद्यर्थं विनिर्गतस्य साधोर्मेघवृष्टौ मलिनवस्त्रकम्बलसंपर्कतोऽप्कायविराधना भवति। एते वर्षास्विति वर्षाकालप्रत्यासन्नोऽपि कालो वर्षा इत्युच्यते, तत्सामीप्यात्। भवति च तत्सामीप्यात्तच्छब्दव्यपदेशः। यथा--गङ्गायां घोष इत्यत्र। ततो वर्षासु वर्षाप्रत्यासन्ने काले वस्त्राऽऽदीनामप्रक्षालने दोषास्तस्माद वश्यं वर्षाकालादर्वाग् वासांसि प्रक्षालनीयानि। ये च संपातिमसत्त्वोपघाताऽऽदयो दोषाश्चीवरप्रक्षालने प्रागुक्ताः, तेऽपि सूत्रोक्तनीत्या यतनया प्रवर्त्तमानस्य न संभवन्तीति वेदितव्यम्। यो हि सूत्राज्ञामनुसृत्य यतनया सम्यक् प्रवर्त्तते, स यद्यपि कथञ्चित्प्राण्युपमर्दकारी, तथापि नासौ पापभाग्भवति, नाऽपि तीव्रप्रायश्चित्तभागी, सूत्रबहुमानतो यतनया प्रवर्त्तमानत्वात्। वक्ष्यति च सूत्रम्-- ''अप्पत्ते चिय वासे, सव्वं उवहिं धुवंति जयणाए।'' इति। ततो न कश्चिद्दोषः। नापि तदा वस्त्रप्रक्षालनं वकुशं चरणं, सूत्राज्ञया प्रवर्त्तमानत्वात्। नाप्यस्थाने स्थापनदोषो, लोकानामपि वर्षासु वाससामप्रक्षालने दोषपरिज्ञानभावात्। नचैतेऽनन्तरोक्ता अतिभाराऽऽदयो दोषा ऋतुबद्धेकाले वाससामप्रक्षालने संभवन्ति, तस्मान्न तदा प्रक्षालनं युक्तमिति स्थितम्।

सम्प्रति वर्षाकालादर्वागपि यावानुपधिरुत्कर्षतो, जघन्यतश्च प्रक्षालनीयो भवति, तावत्तमभिधित्सुराह--

अप्पत्ते चिय वासे, सव्वं उवहिं धुवंति जयणाए।
असईए उ दवस्स य, जहन्नओ पायनिज्जोगो ॥२८॥

अप्राप्ते एव अनायाते एव, वर्षे वर्षाकाले, वर्षाकालादर्वागपि काले इत्यर्थः। जलाऽऽदिसामग्र्यां सत्यामुत्कर्षतः सर्वमुपधिकरणं यतनया यतयःप्रक्षालयन्ति। द्रवस्य जलस्य च असति अभावे, जघन्यतोऽपि पात्रनिर्योगोऽवश्यं प्रक्षालनीयः। इह निस्पूर्वो युजिरुपकारे वर्त्तते। तथा चोक्तम्-- ''पातोदूसलेन निज्जोगो ढवयारो।'' इति। ततो निर्युज्यते उपक्रियतेऽनेनेति निर्योग उपकरणम्। ''अकर्त्तरि०'' ॥३।३।१६॥ इत्यनेन घञ्प्रत्ययः। पात्रस्य निर्योगः पात्रनिर्योगः, पात्रोपकरणं पात्रकबन्धाऽऽदिः। उक्तं च -- ''पत्तं पत्तबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया। पडलाइँ रयत्ताणं, तह गोच्छउ पायनिज्जोगो ॥१॥'' इति।

आह--किं सर्वेषामेव वस्त्राणि वर्षाकालादर्वागेव प्रक्षाल्यन्ते, किं वाऽस्ति केषाञ्चिद्विशेषः? अस्तीति ब्रूमः। केषामिति चेत्? अत आह--

आयरियगिलाणाण य, मइला य पुणो वि धोवंति।
मा हु गुरूण अवण्णो, लोगम्मि अजीरणं इयरे ॥२९॥

इह ये कृतपूर्विणो भगवत्प्रणीतवचनानुगताऽऽचाराऽऽदिशास्त्रोपधानानि अधीतिनः स्वसमयशास्त्रेषु ज्ञानिनः सकलस्वपरसमयशास्त्रार्थेषु कृतिनः, कारयितारश्च पञ्चविधेष्वाचारेषु प्रवचनार्थव्याख्याधिकारिणः सद्धर्मदेशनाभियुक्ताः सूरयस्ते आचार्याः, आचार्यग्रहणमुपलक्षणम्--तेनोपध्यायाऽऽदीनां प्रभूणां परिग्रहः। तेषां तथा ग्लाना मन्दास्तेषां च पुनर्मलिनानि वस्त्राणि धाव्यन्ते प्रक्षाल्यन्ते। मलिनानीत्यत्र नपुंसकत्वे प्राप्तेऽपि सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतलक्षणवशात्। तथाऽऽह पाणिनिः

स्वप्राकृतलक्षणे– ''लिङ्गं व्यभिचार्यपीति।'' प्रस्तुतेऽर्थे कारणमाह मा भवतु, दुर्निश्चितं, गुरूणां मलिनवस्त्रपरिधाने लोकेऽवर्णोऽश्लाघा–यथा निराकृतयोऽमी मलदुरभिगन्धोपदिग्धदेहाः, ततः किमेतेषामुपकण्ठं गतैरस्माभिरिति? तथा इतरस्मिन् ग्लाने मा भवत्वजीर्णमिति भूयो भूयो मलिनानि तेषां प्रक्षाल्यन्ते।

सम्प्रति ये उपधिविशेषा न विश्रम्यन्ति तन्नामग्राहं गृहीत्वा तेषां धावने विधिमाह–

पायस्स पडोयारी, दुनिसिज्ज तिपट्ट पोत्ति रयहरणं।
एए उ न वीसामे, जयणा संकामणा धुवणं ॥३०॥

प्रत्यवतीर्यते पात्रमस्मिन्निति प्रत्यवतार उपकरणम्, पात्रस्य प्रत्यवतारः पात्रप्रत्यवतारः पात्रनिर्योगः षड्विधः, तथा रजोहरणेऽस्य सत्के द्वे निषद्ये। तद्यथा–बाह्याऽभ्यन्तरा च। इह संप्रति दशिकाऽऽदिभिः सह यादण्डिका क्रियते, सा सूत्रनीत्या केवलैव भवति, न सदशिका, तस्या निषद्यात्रयम्, तत्र या दण्डिकाया उपरि एकहस्तप्रमाणाऽऽयामा तिर्यग्वेष्टकत्रयपृथुत्वा कम्बलीखण्डरूपा सा आद्या निषद्या, तस्याश्चाग्रे दशिकाःसंबध्यन्ते, तां च सदशिकामग्रे रजोहरणशब्देनाऽऽचार्यो ग्रहीष्यति। ततो नासाविह ग्राह्या। द्वितीया त्वेनामेव निषद्यां तिर्यक् बहुभिर्वेष्टकैरावेष्टयन्ती किञ्चिदधिकहस्तप्रमाणाऽऽयामा हस्तप्रमाणमात्रपृथुत्वा वस्त्रमयी निषद्या सा अभ्यन्तरा निषद्योच्यते। तृतीया तु तस्या एवाऽऽभ्यन्तरनिषद्यायास्तिर्यग्वेष्टकान् कुर्वती चतुरङ्गुलाधिकैकहस्तमाना चतुरस्रा कम्बलमयी भवति। सा च उपवेशनोपकारित्वादधुना पादप्रोञ्छनकमिति रूढा, सा बाह्या निषद्येत्यभिधीयते। मिलितं च निषद्यात्रयं दण्डिकासहितं रजोहरणमुच्यते। ततो रजोहरणस्य सत्के द्वे निषद्ये, इति न विरुद्ध्यते। तथा त्रयः पट्टाः, तद्यथा–संस्तारपट्टः, उत्तरपट्टः, चोलपट्टश्च। एते च सुप्रतीताः। तथा (पोत्ति त्ति) मुखपोतिकामुखपिधानाय पोतं वस्त्रं मुखपोतम्, मुखपोतमेव ह्रस्वं चतुरङ्गुलात्मिकावितस्तिमात्रप्रमाणत्वात् मुखपोतिका, मुखवस्त्रिकेत्यर्थः। ''अतिवर्त्तन्ते स्वार्थिकप्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानि।'' इति वचनाच्च प्रथमतो नपुंसकत्वेऽपि प्रत्यये समानीते स्त्रीत्वम्। तथा–(रयहरण त्ति) दण्डिका वेष्टकत्रयप्रमाणपृथुत्वा एकहस्ताऽऽयामा हस्तत्रिभागाऽऽयामदशापरिकलिता प्रथमा या निषद्या प्रागुक्ता सा रजोहरणम्। तथा च भाष्यकृद्वक्ष्यति– ''एगनिसेज्जं च रयहरणं।'' बाह्याऽऽभ्यन्तरनिषद्यारहितमेकनिषद्यं सदशं रजोहरणमिति। एतानुपधिविशेषान्न विश्रमयेत् नापरिभोग्यान् स्थापयेत्। कस्मादिति चेत्? उच्यते–प्रतिवासरमवश्यमेतेषां विनियोगभावात्। ततो यतनया वस्त्रान्तरितेन हस्तेन ग्रहणरूपया संक्रमणा षट्पदिकानामप्रक्षालनीयेषु वस्त्रेषु संक्रमणं ततो धावनं प्रक्षालनमिति।

एतामेव गाथां भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति–

पायस्स पडोयारो, पत्तगवज्जो य पायनिज्जोगो।
दोन्नि निसिज्जाओ पुण, अब्भिंतर बाहिरा चेव ॥३२॥
संथारुत्तरचोलग, पट्टा तिन्नि य हवंति नायव्वा।
मुहपोत्ति त्ति पोत्ती, एगनिसिज्जं च रयहरणं ॥३३॥
एए उ न वीसामे, पइदिणमुवओगओ य जयणाए।
संकामिऊण धावं–ति छप्पंया तत्थ विहिणाए ॥३४॥

एतास्तिस्रोऽपि व्याख्यातार्थाः, नवरं (संकामिऊण इत्यादि) तत्र विश्रामाभावे सति यतनया षट्पदिका अन्यत्र संक्रमय्य विधिना धावयन्ति प्रक्षालयन्ति। तदेवमविश्रमणीय उपधिरुक्तः, तद्वर्णनाच्च शेषो विश्रमणीयोपधिर्गम्यते।

ततस्तस्य विश्रमणे विधिं बिभणिषुरिदमाह–

जो पुण वीसामिज्जइ, तं एवं वीयरायआणाए।
पत्ते धावणकाले, उवहिं वीसामए साहू ॥३५॥

यः पुनरुपधिः प्राप्ते धावनकाले प्रक्षालनकाले, अनेन अकालप्रक्षालनेन भगवदाज्ञाभङ्गलक्षणं दोषमुपदर्शयति, विश्रम्यते निःशेषषट्पदिकाविशोधनार्थमपरिभुक्तो धियते, तमुपधिं वीतरागाऽऽज्ञया सर्वज्ञोपदेशेन, सर्वज्ञोक्तमित्यवधार्येति भावः। एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण साधुर्विश्रमयेत्।

विश्रमणाप्रकारमेवाऽऽह–

अब्भिंतरपरिभोगं, उवरिं पाउणइ नाइदूरे य।
तिन्नि य तिन्नि य एगं, निसिं तु काउं परिच्छिज्जा ॥३३॥

इह साधूनां द्वौ कल्पौ क्षौमौ। एकः कम्बलमयः। तत्र यदा तौ प्राव्रियन्ते, तदा एकः क्षौमोऽभ्यन्तरं प्राव्रियते, शरीरलग्नः प्राव्रियते इत्यर्थः। द्वितीयः क्षौमस्तस्योपरि कम्बलमयः तस्याऽप्युपरि। ततः प्रक्षालनकाले विश्रमणाविधिप्रारम्भे रात्रौ स्वपने अभ्यन्तरपरिभोगं सदैव शरीरेण सह संलग्नं परिभुज्यमानं क्षौमं कल्पमुपरि शेषकल्पद्वयाद् बहिस्त्रीणि दिनानि यावत् प्रावृणोति। येन तत्स्थाः षट्पदिकाः क्षुधा पीड्यमाना आहारार्थम्, अथवा शीताऽऽदिना पीड्यमानास्तं बहिः प्राव्रियमाणं कल्पमपहायाऽऽन्तरे कल्पद्वये शरीरे वा लगन्ति। एष प्रथमो विश्रमणाविधिः। एवं त्रीणि दिनानि प्रावृत्य ततस्त्रीण्येव च दिनानि यावत् रात्रौ स्वापकाले नातिदूरे स्थापयति। किमुक्तं भवति? स्वापकाले संस्तारकतट एव स्थापयति, येन प्रथम विश्रमणविधिना या न निःसृताःषट्– पदिकास्ता अपि क्षुधा पीड्यमाना आहारार्थं ततो विनिर्गत्य संस्तारकाऽऽदौ लगन्ति। एष द्वितीयो विश्रामणाविधिः। तत एकां निशां रात्रिम्, तुः समुच्चये। स्वापस्थानस्योपरि लम्बमानमधोमुखं शरीरलग्नप्रायं पर्यन्ते प्रसारितं कृत्वा स्थापयेत्। संस्थाप्य च पश्चात्परीक्षेत, दृष्ट्या, प्रावरणेन च षट्पदिकां निभालयेत्। तद्यथा–प्रथमं तावद् दृष्ट्या, निभालयेत्, दृष्ट्या निभालिता अपि यदि न दृष्टास्ततः सूक्ष्मषट्पदिकारक्षणार्थं भूयः शरीरे प्रावृणोति; येन ता आहारार्थं शरीरे लगन्ति। एवं परीक्षणे कृते यदि ता न स्युस्तदा प्रक्षालयेत्। अथ स्युस्तर्हि पुनः पुनर्निभाल्य यदा न सन्तीति निश्चितं भवति तदा प्रक्षालयेत्। एवं सप्तभिर्दिनैः कल्पशोधना। एतदनुसारेण शेषस्याप्युपधेः शोधना भावनीया। इह विश्रमणा प्रक्षालनीयस्यापरिभोगरूपा उक्ता, ततो यस्तस्य बहिः प्रावरणाऽऽदिरूपः परिभोगः स परमार्थतोऽपरिभोग इति न तदापि विश्रमणा विरुद्ध्यते।

एतामेव गाथां भाष्यकृद्व्याख्यानयति–

धोवत्थं तिन्नि दिणे, उवरिं पाउणइ तह य आसन्नं।
धारेइ तिन्नि दियहे, एगदिणं उवरि लंबंतं ॥

इयं व्याख्यातार्था।

अत्रैव विश्रमणाविधौ मतान्तरमाह–

केई एक्केक्क–निसिं, संवासेउं तिहा परीच्छंति।

पाउणिएँ जइ न लग्गं–ति छप्पया ताहें धोवंति ॥३७॥

केचिदेके सूरय एवमाहुः–एकैकां निशां रात्रिं त्रिधा त्रिभिः प्रकारैः पूर्वोक्तैः संवास्य। तद्यथा–एकां निशां शोधनीयं कल्पं बहिः प्रावृणोति, द्वितीयां निशां संस्तारकतटे स्थापयति, तृतीयां तु निशां स्वपन् स्थापस्थानस्योपरि लम्बमानमधोमुखं प्रसारितं शरीरलक्ष्मप्रायपर्यन्तं स्थापयति। एवं त्रिधा। संवास्य परीक्षन्ते दृष्ट्या निभालयन्ति। निभालिताश्चेन्न दृष्टाः, ततः सूक्ष्मषट्पदिकाविशोधनार्थं प्रावृण्वन्ति, प्रावृताश्च यदि न लगन्ति–न लग्नाः प्रतिभासन्ते षट्पदिकास्ततः प्रक्षालयन्ति, लगन्ति चेत्तर्हि भूयो भूयस्तावद् दृष्ट्या, शरीरप्रावरणेन च परीक्षन्ते, यावन्न सन्तीति निश्चितं भवति ततः प्रक्षालयन्तीति। एषोऽपि विधिरदूषणात्समीचीन इवाऽऽचार्यस्य प्रतिभासत इति मन्यामहे।

वस्त्रप्रक्षालनं च जलेन भवत्यतो जलग्रहणे विशेषमाह-

तिव्वोदगस्स गहणं, केई भाणेसु असुइपडिसेहो।
गिहिभायणेसु गहणं, ठिऐं वासे मीसगं छारो ॥३८॥

वर्षासु गृहच्छादनप्रान्तगलितं जलं तीव्रोदकं, तस्येह यदि वर्षाकालादर्वाक् सर्वोऽप्युपधिः कथञ्चित्सामाग्र्यभावतो न प्रक्षालितस्तर्हि प्राप्ते वर्षे सति साधुभिस्तीव्रोदकस्य गृहपटलान्तोत्तीर्णस्य जलस्य वस्त्रप्रक्षालनार्थं ग्रहणमादानं कर्त्तव्यम्। तद्धिरजोगुण्ठितधूमधूम्रीकृतदिनकरतापसंपर्कसोष्मतीव्रसंस्पर्शतः परिणतत्त्वादचित्तम्, अतस्तद्ग्रहणे न काचिद्विराधना। तीव्रोदकस्य ग्रहणे केचिदाहुर्भाजनेषु स्वपात्रेषु *तीव्रोदकस्य ग्रहणं कर्तव्यमिति। अत्राऽऽचार्य आह–(असुइपडिसेहो)* 'असुइ त्ति' भावप्रधानोऽयं निर्देशः। ततोऽयमर्थः–अशुचित्वादपवित्रत्वात्परोक्तविधिना तीव्रोदकस्य प्रतिषेधः। तीव्रोदकं हि न मलिनत्वात् शुचि, ततः कथं येषु पात्रेषु भोजनं विधीयते, तेषु तस्य ग्रहणमुपपन्नं भवति। मा भूत् लोके प्रवचनगर्हा, यथाऽमी अशुचय इति। ततो गृहीभाजनेषु गृहिसत्केषु कुण्डिकाऽऽदिषु, तस्य तीव्रोदकस्य ग्रहणम्। तच्च तीव्रोदकग्रहणं स्थिते निवृत्ते वर्षे वृष्टावन्तर्मुहूर्त्तादूर्द्धमिति गम्यते। अन्तर्मुहूर्त्तेन सर्वाऽऽत्मना परिणमनसंभवात्। अस्थिते किमित्याह–(मीसगं ति) मिश्रकं निपतति वर्षे तत्तीव्रोदकं मिश्रं भवति। तथाहि–पूर्वनिपतितमचित्तीभूतं, तत्कालं तु निपतत्सचित्तमिति मिश्रम्। ततः स्थिते वर्षे तत्प्रतिग्राह्यं तस्मिंश्च प्रतिगृहीते तन्मध्ये (छारो त्ति) क्षारः प्रक्षेपणीयो, येन भूयः सचित्तं न भवति। जलं हि केवलं प्रासुकीभूतमपि भूयः प्रहरत्रयादूर्द्धं सचित्तीभवति। ततः तन्मध्ये क्षारः प्रक्षिप्यते। अपि च–क्षारप्रक्षेपे सममलमपि जलं प्रसन्नतामामजति, प्रसन्नेन च जलेन प्रक्षाल्यमानानि आचार्याऽऽदिवासांसि सुतेजांसि जायन्ते। तत एतदर्थमपि क्षारप्रक्षेपो न्याय्यः।

संप्रति धावनगतमेव क्रमविशेषमाह–

गुरुपच्चक्खाणिगिला–णसेहमाईण धोवणं पुव्वं।
तो अप्पणो पुव्वमहा–कडे य इयरे दुवे पच्छा ॥३९॥

गुरुप्रत्याख्यानिग्लानशैक्षाऽऽदीनां पूर्वं प्रथमं धावनं कुर्यात्ततः पश्चादात्मनः। इयमत्र भावना–इह साधुभिः परमहितमात्मनः समीक्षमाणैरवश्यं गुर्वादिषु विनयः प्रयोक्तव्यः, विनयबलादेव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवृद्धिसंभवात्। अन्यथा दुर्विनीतस्य सतो गच्छवासस्यैवासभवतः सकलमूलहानिप्रसक्तेः। ततो धावनप्रवृत्तेन साधुना प्रथमतो गुरूणामाचार्याणां वासांसि प्रक्षालनीयानि, ततः प्रत्याख्यानिनां क्षपकप्रवृत्तीनां तदनन्तरं ग्लानानां, ततोऽप्यनन्तरं शैक्षकाऽऽदीनाम्। तत्र शैक्षाअभिनवप्रव्रजिताः। आदिशब्दाद् बालाऽऽदिग्रहः सूत्रे च–''सेहमाईण'' इत्यत्र मकारोऽज्ञाक्षणिकः। ततस्तदनन्तरमात्मनः। इह सर्वेषामपि गुर्वादीनां यथायोगं त्रिविधान्यपि प्रक्षालनीयवस्त्राणि संभवन्ति। तद्यथा–यथाकृतानि, अल्पपरिकर्माणि, बहुपरिकर्माणि च। तत्र यानि परिकर्मरहितान्येव तथारूपाणि लब्धानि, तानि यथाकृतानि। यानि चैकं वारं खण्डित्वा सीवितानि, तान्यल्पपरिकर्माणि। यानि च बहुधा खण्डित्वा सीवितानि, तानि बहुपरिकर्माणि। ततस्तत्रापि धावनक्रममाह–(पुव्वमहागडे य त्ति) पूर्वं प्रथमं सर्वेषामपि यथाकृतानि वासांसि धावयेत्। पश्चात्क्रमेण इतरे द्वे। किमर्थमिति चेत्? उच्यते–विशुद्धाध्यवसायस्फीतिनिमित्तम्। तथाहि–यान्यल्पपरिकर्माणि तानि बहुकर्मापेक्षया स्तोकं संयमव्याघातकारीणि भवन्तीति। तदपेक्षया शुद्धानि। तेभ्योऽपि यथाकृतान्यतिशुद्धानि, मनागपि पलिमन्थदोषकारित्वाभावात्। ततो यथा पूर्वं पूर्वं शुद्धानि प्रक्षाल्यन्ते, तथा संयमबहुमानवृद्धिभावतो विशुद्धाध्यवसायस्फीतिरिति पूर्वं यथाकृतानीत्यादिक्रमः।

संप्रति प्रक्षालनक्रियाविधिमुपदर्शयति–

अच्छो डपिट्ठ णासु य न धुवे धोए पयावणं न करे।
परिभोग अपरिभोगे, छायाऽऽतवे च पेह कल्लाणं ॥४०॥

इह वस्त्राणि धावत आच्छोटपिट्टनाभ्यां न धावेत्। तत्राऽऽच्छोटनं–रजकैरिव शिलायामास्फालनम्। पिट्टनं धनहीनरण्डारमणीभिरिव पुनः पुनः पानीयप्रक्षेपपुरस्सरमुद्वर्त्योत्पिट्टनेन कुट्टनम्। सूत्रे च सप्तमी तृतीयार्थे। यथा–''तिसु अलंकिया पुहवी'' इत्यादौ। चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। स च पाणिपादेन प्रमृज्य प्रमृज्य यतनया प्रक्षालयेदिति समुच्चिनोति। ततो धौते प्रक्षालिते धावनजलस्पर्शजनितशीतोदायाऽऽत्मनो वस्त्रस्य वा शीघ्रताय अग्नेः प्रतापनं न कुर्यात्। मा भूद्धावनक्षारजलाऽऽर्द्रीभूतहस्ताऽऽदितो वस्त्रतो वा कथञ्चिद्विन्दूपनिपातेनाग्निकायविराधना। यद्येवं तर्हि कथं वस्त्रस्य शोषणं कर्तव्यमिति। शोषणविधिमाह–परिभोग्यानि, अपरिभोग्यानि च यथाक्रमं छायाऽऽतपयोः शोषयेत्। सूत्रे च विभक्तिलोप आर्षत्वात्। परिभोग्येषु हि वस्त्रेषु तथा पूर्वशोधितेष्वपि कथञ्चित् षट्पदिका संभवति। सा च प्रक्षालनकाले तथोपमर्दिताऽपि कथञ्चिज्जीविता सती दिनकराऽऽतपसंपर्के म्रियते, ततस्तद्रक्षणार्थं तानि छायायां शोषयेत्। इतराणि त्वातपे, दोषाभावात्। तानि छायायामातपे च शोषार्थं विशारितानि निरन्तरं (पेह त्ति) प्रेक्षेत, येन परास्कन्दिनो नापहरन्ति। इह पूर्वोक्तविधिना यतनापुरःसरमपि धाव्यमानेषु वस्त्रेषु कथञ्चिद्वायुविराधनारूपः, षट्पदिकोपमर्दाऽऽदिरूपो वाऽसंयमोऽपि संभाव्यते। ततस्तच्छुद्ध्यर्थं तस्य साधोर्गुरुणा कल्याणसंज्ञं प्रायश्चित्तं देयम्। पिं०। ओघ०। नि०चू०।

सचित्तेण उ धुवणे, मुहणंतगमादिए वि चउलहुया।
अचित्तें, धोवणम्मि वि, अकारणे उवधिणिप्फण्णं ॥१८२॥

सचित्तेण उदगेण जइ वि मुहणंतगं धुवति, तदा वि चउलहुयं।

अह अचित्तेण उदगेण अकारणे धुवति, तओ उवहिणिप्फण्णं भवति। जहण्णोवकरणे पणगं, मज्झिमे मासलहुं, उक्कोसे चउलहुं। सचित्तेणाभिक्खणं धोवणे अट्ठहिं सपदं, मीसे दसहिं सपदं, अचित्तेण वि णिक्कारणे अभिक्खं धोवणे उवहिणिप्फण्णे सट्ठाणा उवरिमं णायव्वं। नि० चू० उ० शुभाध्यवसायान्मिथ्यात्वपुद्गलानां सम्यक्त्वभावसंजननरूपे कर्मणोऽवस्थाभेदे च। आचा०१ श्रु० ६ अ०१उ०।

धाविय-त्रि०(धावित) धावितुं प्रवृत्ते, कल्प०१ अधि०३ क्षण।

धि(क)-अव्य०(धिक्) धा०-धक्क वा डिकिः। अनिष्टशब्दैर्भयजनने, निर्भर्त्सने, निन्दायाम्, स्था०७ ठा० वाच० व्य० जं०। ''धिगत्थु ते जसोकामी।'' धिक्शब्दः कुत्सायाम्। दश०२ अ०। निन्दनीये च। वाच०।

धिइ-स्त्री०(धृति) धरणं धृतिः। आ०म०१अ०१खंड। धृ-क्तिन्। ''इत्कृपाऽऽदौ'' ॥८।१।१२८॥ इति प्राकृतसूत्रेणेकारः। प्रा० १ पाद। धारणे, आ०म०१ अ०१ खंड। पतनप्रतिबन्धकसंयोगे, द्वा०४ द्वा० धारणारूपे मतिज्ञानभेदे, विशे०। सन्तोषे, कल्प०१ अधि०५ क्षण। धृतिर्येन केनचिद्वसनभोजनाऽऽदिना निर्वाहमात्र-निमित्तेन सन्तोषः। यो०बिं०। अष्ट०। धैर्य्ये, कल्प०१अधि०५ क्षण। धृतिर्धैर्य्यं चित्तस्यैकाग्र्यम्। उत्त०३२ अ०। धृतिः संयमे धैर्य्यं चित्तसमाधानम्। सूत्र०१ श्रु०८ अ०। रागद्वेषानाकुलतया मनःप्रणिधाने, आव०५ अ०। धृतिर्वज्रकुड्यवदच्छेद्यं प्रणिधानम्। बृ०६उ०। ज्ञा०। स्था०। ध०। पा०। संथा०। ग०। धृतिरुद्वेगाऽऽदिदोषपरिहारेण चित्तस्वास्थ्यम्। पञ्चा०४ विव०। स०। बृ०। प्रव०। चं०प्र०। धृतिश्चित्तदाढ्येमिति। प्रश्न०१ सम्ब० द्वार। सू० प्र०। विपा०। धरणं धृतिः। सम्यग्दर्शनचारित्रावस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। उत्त०। ''भद्दं धिइवेलापरिगयस्स।'' धृतिर्मूलोत्तरगुणविषयः प्रतिदिवसमुत्सहमान आत्मपरिणामविशेषः। नं०। तत्परिपालनीयत्वादहिंसायाम्। प्रश्न०१ सम्ब०द्वार। न रागाऽऽद्याकुलतया धृतिर्मनःप्रणिधानं, विशिष्टा प्रीतिः। इयमप्यत्र मोहनीयकर्मक्षयोपशमाऽऽदिसंभूता, रहिता दैन्यौत्सुक्याभ्यां, धीरगम्भीराऽऽशयरूपा अबन्ध्यकल्याणनिबन्धना वस्त्वाप्त्युपशया। ल०। ''धितौ तु मोहस्स उवसमे होइ।'' मोहक्षयोपशमाद् धृतिर्भवति। नि०चू०१ उ०। ''होइ धितीयऽहिगारो, विसेसओ खित्तकालेसु।'' आचा०१ श्रु०५ अ०१उ०। द्रव्ये तावदरसविरसप्रान्तरूक्षाऽऽदिके धृतिर्भावयितव्या, क्षेत्रेऽपि कुतीर्थिकभाविते प्रकृत्यभद्रके वा नोद्वेगः कार्य्यः, कालेऽपि दुष्कालाऽऽदौ यथालाभसन्तोषिणा भाव्यम्, भावेऽप्याक्रोशोपहसनाऽऽदौ नोदीपितव्यम्। विशेषस्तु क्षेत्रकालयोरवमयोरपि धृतिर्भाव्या, द्रव्यभावयोरपि प्रायशस्तन्निमित्तत्वात्। आचा० १ श्रु० ५ अ०२उ०। धैर्य्या धिष्ठात्र्यां देवतायाम्, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। जम्बूमन्दरदक्षिणस्यां दिशि स्थितस्य निषधवर्षधरपर्वतस्य तिगिच्छद्रदाधिष्ठाभ्यां धृतिकूटस्थायां देवतायान्, स्था०३ ठा०४उ०। जं०। धृतिस्तिगिच्छद्रदसुरीति। स्था०६ ठा०। निरयावलिकोपाङ्गस्य पुष्पचूलाऽऽख्यचतुर्थवर्गस्य तृतीयाध्ययनेप्रतिबद्धवक्तव्यतायां स्वनामख्यातायां देव्याम्, नि०१ श्रु०४ वर्ग १ अ०। विष्कुम्भावधिकेऽष्टमे योगे, अष्टादशाऽक्षरपादके छन्दोभेदे, अष्टादशसंख्यायां च। वाच०।

धिइकंद-पुं०(धृतिकन्द) धृतिश्चित्तस्वास्थ्यं, स एव कन्दः स्कन्धाधोभागरूपो यस्य स तथा। चित्तस्वास्थ्यरूपस्कन्धाधोभागयुते संवरपादपे, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार।

धिइकूड-न०(धृतिकूट) धृतिस्तिगिच्छह्रदसुरी तस्याः कूटं धृतिकूटम्। जम्बूमन्दरदक्षिणस्यां दिशि स्थितस्य निषधवर्षधरपर्वतस्य तिगिच्छह्रदाधिष्ठात्र्या धृतिदेव्याऽधिष्ठिते स्वनामख्याते कूटे, जं० ४ वक्ष०। स्था०।

धिइजुत्त-त्रि०(धृतियुक्त) धृतिश्चित्तस्वास्थ्यं तद्युक्तो धृतियुक्तः। चित्तस्वास्थ्यापेते, पञ्चा० १८ विव०।

धिइजुय-त्रि०(धृतियुत) धृतिश्चित्तावष्टम्भस्तद्युतो धृतियुतः। मानसावष्टम्भयुते, स हि नातिगहनेष्वप्यर्थेषु भ्रममुपयाति। ठा० १ अधि०। प्रव०।

धिइधणिय-पुं०(धृतिधनिक) धृतेर्मनःस्वास्थ्यस्य धनिकःस्वामी धृतिधनिकः। मनःस्वास्थ्यस्वामिनि, स० ६ अङ्ग।

धिइधणियणिप्पकंप-त्रि०(धृतिधनिकनिष्प्रकम्प) धृतिरज्जुबन्धनेन धनिकमत्यर्थं निष्प्रकम्पोऽविचलो यः स मध्यमपदलोपाद् धृतिधनिकनिष्प्रकम्पः। धृतिरज्जुबन्धनेनात्यर्थमविचले, औ०।

धिइधणियबद्धकच्छ-त्रि०(धृतिधनिकबद्धकक्ष) धृतिरेव धनिकमत्यर्थं बद्धा कक्षा येन स तथा। भ०६श०३३ उ०। धृतौ सन्तोषे, धैर्ये वा ''धणियं ति'' अत्यर्थं बद्धकक्षः धृतिधनिकबद्धकक्षः। कल्प०१ अधि०५ क्षण। धृत्या चित्तस्वास्थ्येन ''धणियं ति'' अत्यर्थं बद्धा कक्षा येन स तथा। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। संथा०। धृतिश्चित्तसमाधानं, तद्रूपा ''धणियं ति'' अत्यर्थं बद्धा निष्पीडिता कक्षा बन्धविशेषो यत्र तत्तथा। धृतिबलयुक्ते, स०११ अङ्ग। ''धिइधणियबद्धकच्छा।'' धृत्या चित्तस्वास्थ्येन धनिकमत्यर्थं बद्धा कृता आराधनारूपा कक्षा प्रतिज्ञा परिकरो वा यैस्ते धृतिधनिकबद्धकक्षाः। संथा०।

धिइबल-न०(धृतिबल) धृतेश्चित्तसमाधेर्बलमवष्टम्भो धृतिबलम्। चित्तसमाधेरवष्टम्भे, ध०३ अधि०। धृतिश्चित्तसमाधिर्बलमवष्टम्भो धृतिबलम्, तत्कारणत्वान्महाव्रतमपि धृतिबलम्। चित्तसमाधिलक्षणे सामर्थ्ये, पा०। पञ्चा०।ध०। तत्कारणत्वान्महाव्रताऽऽदौ च। पा०। सात्त्विके, कातरे च। त्रि०। बृ०१उ०।

धिइबलय-न०(धृतिबलक) स्वार्थे कः। चित्तसमाधिलक्षणे सामर्थ्ये, तत्कारणत्वान्महाव्रताऽऽदौ च। पा०।

*** धृतिबलद**-त्रि०। चित्तसमाधिलक्षणसामर्थ्यदायके महाव्रताऽऽदौ, पा०।

धिइबलिय-त्रि०(धृतिबलिक) धृतिर्वज्रकुड्यवदच्छेद्यं प्रणिधानं, तया बलिको बलवान्। बृ०६उ०। अतिशयेन धृतिमति, दर्श०१ तत्त्व। चित्तसमाधानलक्षणसामर्थ्ययुक्ते च। पञ्चा० ७ विव०। ध०।

धिइमइ-स्त्री०(धृतिमति) धृतौ मतिर्धृतिमतिः। आव०४ अ०। धृतिप्रधाना मतिर्धृतिमतिः। आव०४ अ०। स०। योगसंग्रहभेदे, आ० चू० ४ अ०। प्रश्न०।

धृतिमतिद्वारमाह-

''नगरी य पंडुमहुरा, पंडववंसे मई अ सुमई अ।
वारीवसभाऽऽहरणे, उप्पाइअ सुट्ठु एअ पव्वज्जा ॥१॥''

वारिवृषभः प्रवहणम्।

''नगरी च पाण्डुमथुरा, तत्राऽऽसन् पञ्च पाण्डवाः।
स्थापितः प्रव्रजद्भिस्तै-र्निजराज्ये निजः सुतः ॥२॥
नेमिनं तु दधावुस्ते (?), हस्तिकल्पपुरेऽन्तरा।
भिक्षागताः प्रभुं काल-गतं श्रुत्वा विषादिनः ॥३॥
आत्तं भक्तं परित्यज्य, गत्वा शत्रुञ्जयाचले।
विधायानशनं प्राप्य, केवलं निर्वृतिं ययुः ॥३॥
तद्वंशे पाण्डुसेनोऽभू-न्नृपस्तस्य सुताद्वयम्।
मतिश्च सुमतिश्चैव, ते द्वे अपि च रैवते ॥४॥
नन्तुं चैत्यानि पोतेन, प्रस्थिते सागराध्वना।
उत्पाते तत्र संजाते, रुद्राऽऽदीन् जनताऽस्मरत् ॥५॥
ताभ्यां पुनर्भृशं स्वात्मा, संयमे विनियोजितः।
भिन्नप्रवहणे प्राप्य, ज्ञानं मुक्तिरलम्यत ॥६॥
सुस्थितो लवणाधीशो-ऽकार्षीत्पूजां तदङ्गयोः।
दिव्योद्द्योतेन तत्तीर्थ, प्रभासाभिधयाऽभवत् ॥७॥'' आ०क०।

धिइमइववसायदुब्बल-त्रि०(धृतिमतिव्यवसायदुर्बल) धृतिमतिव्यवसाया दुर्बला यस्य स तथा। धृतिमतिव्यवसायेषु दुर्बलो धृतिमतिव्यवसायदुर्बलः। दुर्बलधृतिमतिव्यवसाये, धृतिमतिव्यवसायेषु दुर्बले च। स०४२ सम०।

धिइमंत-त्रि०(धृतिमत्) धैर्य्यवति, उत्त० २६ अ०। चित्तस्वास्थ्ययुक्ते, अरतिरत्यनुलोमप्रतिलोमोपसर्गसहे, स्था०८ ठा०। असह्यपरीषहाभिद्रुतोऽपि चारित्रधृतिमानिति। सूत्र०१ श्रु०६ अ०। धृतिः समाधानं संयमे यस्य स धृतिमान्। आचा०२ श्रु० ४ चू० १६ अ०। सूत्र०। संयमस्वस्थे, ध०३ अधि०। दश०। ''धितिमंता जिइंदिया।'' धृतिः संयमे रतिः, सा विद्यते येषां ते धृतिमन्तः। संयमधृत्या हि पञ्चमहाव्रतभारोद्वहनं सुसाध्यं भवतीति। सूत्र०१ श्रु०६ अ०। दश०। (एतच्च 'धम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७०५ पृष्ठे समुक्तम्)

धिइवीरियपरिहीण-त्रि०(धृतिवीर्यपरिहीण) मानसिकावष्टम्भबलरहिते, बृ०२उ०।

धिक्कय-त्रि०(धिक्कृत) धिक् निन्दनीयः कृतः। कृ-क्तः। धिक्कारं प्राप्ते, व्य०१ उ०। भावे तु धिक्कारे, न०। बृ०६ उ०।

धिक्करण-न०(धिक्करण) धिक्शब्दविषयीकरणे, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०।

धिक्कार-पुं०(धिक्कार) धिक्-कृ-घञ्। तिरस्कारे, वाच०। धिग्धिक्षेपार्थ एव, तस्य करणमुच्चारणं धिक्कारः। स्था०७ ठा०। धिक्-कृ-घञ्। तिरस्कारे, वाच०। तदात्मके दण्डनीतिभेदे, स्था० ७ ठा०। जं०। आ०म०। कल्प०। ति०।

धिज्ज-न०(धैर्य्य) धीरस्य भावे ष्यञ्। ''ईद् धैर्य्ये'' ॥८।१।१५५॥ इतिप्राकृतसूत्रेण धैर्य्यशब्दे ऐत ईः। प्रा०१ पाद। ''धैर्य्ये वा'' ॥८।२।६४॥ धैर्य्ये यस्य रो वा। 'धीरं। धिज्जं।' प्रा० १ पाद। ''स्याद्भव्य-चैत्य-चौर्य्य-समेषु, यात्'' ॥८।२।१०७॥ इतिप्राकृतसूत्रेण चौर्य्यसमेषु शब्देषु संयुक्तस्य यात्पूर्व इद् भवति। 'धीरियं।' प्रा०२ पाद। ''स्थिरचित्तोन्नतिर्या तु, तद्धैर्य्यमिति गीयते।'' इत्युक्ते मनसः स्थैर्य्ये, वाच०। 'धैर्य्यं चित्तसमाधानम्।' सूत्र०१ श्रु०८ अ०। ''पत्तियाइं धिज्जाइं।'' प्रीतौ दाने वा स्थैर्य्यवन्ति। कल्प०३ अधि०६ क्षण। षो०। सत्त्वे, प्रश्न०२ संव० द्वार। ''मनसो निर्विकारत्वं, धैर्य्यं सत्स्वपि हेतुषु।'' इत्युक्ते मनसो विकाराभावे, अव्याकुलत्वे, विघ्नाऽऽद्युपस्थितावपि प्रारब्धापरित्यागहेतौ चित्तवृत्तिभेदे च। वाच०।

✱ **धेय**-त्रि०। धारणीये, पालनीये, ज्ञा०१ श्रु० १अ०।

✱ **ध्येय**-त्रि०। हृदि धारणीये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

धिज्जाइय-त्रि०(धिग्जातिक) धिग्जातिमति, आव०२अ०। नि० चू०। 'तत्थ भद्दा नाम धिज्जाइणी।' आ०म०१ अ०२ खण्ड।

धिज्जाईय-त्रि०(धिग्जातीय) धिग्जात्युत्पन्ने, आव०३ अ०। नि०चू०। आ० म०।

धिज्जीविय-न०(धिग्जीवित) कुत्सितजीविते, सूत्र०२ श्रु०२अ०।

धिट्ठ-त्रि०(धृष्ट) धृष्-क्तः। ''मसृण-मृगाङ्क-मृत्यु-शृङ्ग-धृष्टे वा'' ॥८।१।१३०॥ इति प्राकृतसूत्रेण ऋत इद्वा। प्रा०१ पाद। निर्लज्जे, प्रगल्भे, नायकभेदे च। वाच०।

धिप्प-धा०(दीप) दीप्तौ, दिवा०-आत्म०-सेट्। ''दीपौ धो वा'' ॥८।१।२२३॥ दीप्यतौ दस्य धो वा। 'धिप्पइ। दिप्पइ।' प्रा०१ पाद। दीप्यते। अदीपि। अदीपिष्ट। दीपू-णिच्। अदीदीपत्-त। अदीदिपत्-त। वाच०।

धिम्मल-न०(धिङ्मल) निन्द्यमले, तं०।

धिसण-पुं०(धिषण) बृहस्पतौ, को० ६७ गाथा।

धी-स्त्री०(धी) ध्यै-क्विप्, सम्प्रसारणं च। बुद्धौ, धीर्बुद्धिरित्यनर्थान्तरम्। पं० चू०। आचा०। गा०। ''धी मई बुद्धी।'' को० ३१ गाथा। आतु०। गा०। सूत्र०। अनु०। आचा०। तत्त्वावगमे च। धीर्बुद्धिस्तत्त्वावगमः। धिय-ई-श्रीःधीः। बुद्धिसम्पत्तौ च। गा०। धीश्चित्तं, तत्र यईः कामः स धीः। चित्तस्य कामे, गा०। अभेदोपचारात् पण्डिते च। पुं०। गा०।

धीउ-त्रि०(धीयु) धीर्बुद्धिर्विज्ञानं, तस्या युरपृथग्भूतः धीयुः। बुद्धियुते, गा०।

धीधण-त्रि०(धीधन) बुद्धिधने, ''नियमेन धीधनैः पुंभिः।'' षो० १६ विव०।

धीम-पुं०(धीम) धीर्बुद्धिरस्तत्त्वतस्तन्मिमीते शब्दयति प्ररूपयति धीमः। बुद्धितत्त्वप्रतिपादके मनवति कपिले, गा०। धियं ज्ञानमेव मिमीते शब्दयति प्रापयति धीमः। बहिरर्थाऽऽकाराणामविद्यादर्शितत्वादविद्यमानत्वेन ज्ञानाद्वैतप्रतिपादके बुद्धे, गा०। ज्ञानत्रयाभिरामत्वे, कल्प०१ अधि०३ क्षण।

धीमह-त्रि०(धीमह) अभेदोपचाराद् धियः पण्डिताः महन्तीति महः पूजका आराधकाः, महेः क्विप्। धियां महः धीमहः। विद्वज्जनपर्युपासकेषु, गा०।धियः पण्डिता महः पूजका यस्य स तथा। विद्वज्जनपर्युपासिते, गा०।

धीमंत-पुं०(धीमत्) धीः प्रज्ञाऽस्त्यस्य मतुप्। बृहस्पतौ, बुद्धिमति, पण्डिताऽऽदौ च। त्रि०।वाच०। द्वा० १६ द्वार। यो० बिं०। कल्प०। ज्ञानचतुष्टययोगाद् महाप्रज्ञे च। हा० २७ अष्ट०।

धीर-त्रि०(धीर) धियं बुद्धिं राति ददातीति धीरः। रा–कः। उत्त०७ अ०। आतु०। धिया औत्पत्यादिकया बुद्ध्या राजत इति धीरः। ग० १अधि०। व्य०। आचा०। सूत्र०। उत्त०। नं०। आव०। आतु०। धियमीरयति धी ईर अण्, धी क्रन्वा। वाच०। तीर्थकरे, गणधरे च। आचा०१ श्रु०५ अ०२उ०। आव०। आतु०। बुद्ध्या विराजिते, ध०२ अधि०। आचा०। धीरो विशुद्धबुद्धिमानिति। आतु०। 'धीरः सद्बुद्ध्यलङ्कृतः।' सूत्र०१ श्रु० १३ अ०। बुद्धिमति, प्रश्न०५ संब० द्वार। दश०। व्य०। पञ्चा०। सूत्र०। उत्त०। विवेकिनि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। विदुषि, आतु०। धीरा विदितवेदितव्याः। सूत्र०१ श्रु० १३अ०। आतु०। साहसिके, सूत्र० १श्रु० १ अ०४ उ०। दृढचित्ते, दर्श० ५तत्त्व। पं०चू०। परीषहोपसर्गाऽऽदिभिरक्षोभ्ये, अष्ट० ३० अष्ट०। प्रश्न०। सूत्र०। उत्त०। पिं०। स्था०। आचा०। बृ०। औ०। धीराः कर्मविदारणसहिष्णवः। सूत्र० १ श्रु०३अ०४ उ०। स्थिरे, आ०म०१अ०१ खण्ड। उत्त०। नं०। महासत्त्वे, पञ्चा० ४ विव०। सूत्र०। स०। धैर्यान्विते, विनीते, बलिराजे, बुद्धिप्रेरके बुद्धिसाक्षिणि परमेश्वरे च। पुं०। कुङ्कुमे, न०। नायिकाभेदे, काकोल्याम्, महाज्योतिष्मत्याम् स्थिरायां चित्तवृत्तौ च। स्त्री०। वाच०।

✱ **धैर्य**-न०। 'धिज्ञ' शब्दार्थे। प्रा० १ पाद।

धीरकरण-न०(धीरकरण) धीरत्वोत्पादने, धीरकरणकारणानि। स० ६ अङ्ग।

धीरकित्तिपुरिस-पुं०(धीरकीर्तिपुरुष) धीराणां सतां या कीर्तिस्तत्प्रधानः पुरुषो धीरकीर्तिपुरुषः। सत्कीर्तिप्रधाने पुरुषे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

धीरत्त-न०(धीरत्व) परीषहोपसर्गाक्षोभ्यतायाम्, सूत्र०१ श्रु०८ अ०। ''धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो।'' उत्त० ७ अ०।

धीरपुरिस-पुं०(धीरपुरुष) धीर्बुद्धिस्तया राजत इति धीरः, स चाऽसौ पुरुषश्च धीरपुरुषः। प्रज्ञा०१ पद। एकान्ततो वीर्यान्तरायकर्मापगमात् तीर्थकरे, धिया राजितत्वाद् गणधरे च। आव०४ अ०। व्य०। दश०। महासत्त्वे, महाबुद्धौ, ''धीरपुरिसपण्णत्तं।'' महासत्त्वमहाबुद्धितीर्थकरगणधरप्ररूपितम्। आव०६अ०। बुद्धिमति नरे, अक्षोभ्यनरे च। पञ्चा०४ अ०।

धीरवणा-स्त्री०(धीरापना) दुःखेन परिताप्यमानस्य धीरो भव धीरो भव, अहं तवैतद् दुःखं विश्रामणाऽऽदिनाऽपनेष्यामि, अपि च–पुण्यभागिन्! सहस्वैतद् दुःखं सम्यग्, अत एव तत्सहनानन्तरमचिरात्सर्वदुःखप्रहीणो भविष्यसीत्यादिके आश्वासने, ''धीरवणं चेव धम्मकहणा य।'' व्य०१ उ०।

धीरिय-न०(धैर्य्य) 'धिज्ञ' शब्दार्थे, प्रा०१ पाद।

धुअगाअ-न०(देशी) भ्रमरार्थे, दे०ना०५ वर्ग ५७ गाथा।

धुक्कुधुअ-न०(देशी) उल्लसिते, दे०ना०५ वर्ग ६० गाथा।

धुक्कुधुगिअ-न०(देशी) उल्लसिते, दे०ना० ५ वर्ग ६० गाथा।

धुंधुमार-पुं०(धुन्धुमार) सुंसुमारपुरस्थे स्वनामख्याते नृपे, ''सुंसुमारधुंधुमारे, अंगारवई य पज्जोए।'' आ०चू० ४ अ०। आ० क०। इन्द्राण्याम्, दे०ना०५ वर्ग ६० गाथा। (तत्कथा 'संवेग' शब्दे वक्ष्यते)

धुण-धा०(धुव) धूग् कम्पने, भ्वादि०–उभ०–सक०–वेट्। ''धूणोर्धुवः'' ॥८।४।५६॥ इति प्राकृतसूत्रेण धुव इत्यादेशो वा। 'धुवइ।' प्रा०४ पाद। ''चि–जि–श्रु–हु–स्तु–लू–पू–धूगां णो ऱ्हस्वश्च'' ॥८।४।२४१॥ एषामन्ते णकाराऽऽगमो, ऱ्हस्वश्च। 'धुणइ।' प्रा०४ पाद। धावति–ते। अधावीत्। अधविष्ट। अधोष्ट। वाच०। धू कम्पने, स्वा० उभ०–सक०–वेट्। धूनोति। धुनीते। धुनाति। धुनीते। अधावीत्। अधविष्ट। अधोष्ट। ''धूनोति चम्पकवनानि धुनात्यशोकम्।'' इति। ''वायुर्विधूनयति।'' इति च कविरहस्यम्। वाच०। भावकर्म्मणोः ''नवा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक् ॥८।४।२४२॥ इति प्राकृतसूत्रेण क्यस्य लुक्, द्विरुक्तो व्वकाराऽऽगमः। ''धुव्वइ। धुणिज्जइ।'' प्रा०४ पाद।

धुणण-न०(धूनन) अपनयने, सूत्र०। कृशीकरणे, आचा०१ श्रु० ४अ० ४उ०। परित्यागे, आचा०१ श्रु०६अ०१उ०। स्था०। भिन्नग्रन्थेरनिवृत्तिकरणेन सम्यक्त्वावस्थानरूपे कर्म्मणोऽवस्थाभेदे, आचा०१श्रु०६ अ०१उ०।

धुणित्तए-अव्य०(धूनयितुम्) अपनेतुमित्यर्थे, सूत्र०१ श्रु०२ उ०। ''उवहिं धुणित्तए।'' धूननायापनयनाय। सूत्र०१ श्रु०२ अ०२उ०।

धुणिया-अव्य०(धूत्वा) क्षपयित्वेत्यर्थे, दश०६ अ०३उ०। सूत्र०।

धुणेज्ज-न०(धूननीय) पापकर्मणि, आ०चू० १अ०।

धुण्ण-(धून्य) पापे, दश०६ अ०१ उ०।

धुण्णबहुल-न०(धून्यबहुल) धूयते इति धून्यं प्राग्बद्धं कर्म तत्प्रचुरे, दशा०६ अ०।

धुण्णमल-न०(धून्यमल) पापमले, दश०६ अ०१ उ०।

धुतोवाय-पुं०(धुतोपाय) अष्टप्रकारकर्मधूननोपाये संयमाऽऽदिके, आचा०१ श्रु० ६ अ०१उ०।

धुत्त-पुं०(धूर्त्त) धुर्व–धुर–वा–क्तः। ''र्त्तस्याऽधूर्त्ताऽऽदौ'' ॥८।२।३०॥ इति प्राकृतसूत्रेणाधूर्त्ताऽऽदाविति निषेधात् र्तस्य टो न। प्रा०२ पाद। धुस्तूरवृक्षे, चोरकवृक्षे, नायकभेदे, ''धूर्त्ताऽपरां चुम्बति।'' लौहकीटे, विड्लवणे च। वञ्चके, द्यूतकारके च। त्रि०। ''धुत्तेव कलिणा जिए।'' उत्त० ५अ०। विस्तीर्णे, दे०ना० ५ वर्ग ५८ गाथा।

धुत्तक्खाण-न०(धूर्त्ताऽऽख्यान) धूर्तकथानके, ग०। तद्यथा–''अवंतीजणवए उज्जेणी णाम णगरी। तीसे उत्तरपासे जिण्णुज्जाणं नाम उज्जाणं। तत्थ बहवे धुत्ता समागया। तेसिं अहिबइणो इमे–सगो १, एलासाढो २, मूलदेवो ३, खंडपाणा य इत्थिया ४। एक्केक्कस्स पंच पंच धुत्तसता। धूत्तीण य पंच सता खंडपाणाए। अहण्णया पाउसकाले सत्ताहबद्दले भुक्खत्ताणं इमेरिसी कहा संवुत्ताको अम्हं देज्ज भत्तं ति? मू–

लदेवो भणति–जं जेण अणुभूयं,सुयं वा, सो तं कहयतु, जो तं ण पत्तियइ तेण सव्वधुत्ताणं भत्तं दायव्वं । जो पुण भारहरामायणसु–इसमुत्थाहिं उवणयउववत्तीहिं पत्तीहिति, सो मा किंचि दलयतु । एवं मूलदेवेण भणिए सव्वेहिं वि भणियं–साहु साहु त्ति । ततो मूल–देवेण भणियं–को पुव्वं कहयति? एलासाढेण भणियं–अहं भे कहयामि । ततो सो कहिउमारद्धो–अहयं गावीओ गहाय अडविं गओ । पेच्छामि चोरे आगच्छमाणे, तो मे पावरणिं कंबलिं पत्थ–रिऊण तत्थ गावीओ छुभिऊणाऽहं पोट्टलयं बंधिऊण गाममागओ, पेच्छामि य गाममज्झयारे गोंदहे रममाणे । ताऽहं गहियगावो पत्थिउमारद्धो(?) खणमेत्तेण य ते चोरा कलयलं करेमाणा तत्थेव णिवइता । सो य गामो सदुपदचउप्पदो, एकं वालुंकं एगाए अजियाए गसियं, साऽवि अजिया चरमाणी अजगरेण गसिया । सोवि अजगरो एगाए ढेंकाए गहिओ, सा उड्डिउं वमपायवे णिलीणा । तीसे य एगो पाओ पलंबति । तस्स य वडपायवस्स अहे खंधायारो ठिओ । तम्मि वटे ढेंकाए गयवरो आगलितो । सा उड्डिउं पयत्ता, आगस्सिओ पाओ, गयवरे कड्ढितुमारद्धे डोवेहिं कलयलो कओ । तत्थ सद्दवेहिणो गहियचावा पत्ता । तेहिं सा जमगसमगस–रेहिं पूरिया । सा मया । रण्णा तीए पेट्टं फाडावियं, अयगरो दिट्ठो । सो वि फाडाविओ, अजिया दिट्ठा । सा वि फाडाविया, वालुंकं–दिट्ठं रमणिज्जं । एत्थंतरे ते गोंदहा उपरता पतंगसेणा इव भूमिलाओ, सो गामो वालुंकाओ णिग्गंतुमारद्धो । अहं पि गहियगावो णिग्गओ, सव्वो सो जणो सद्दाणा णिग्गओ । अहं पि अवउज्झिय गावो इहमागतो । तं भणह कहं सच्चं? सेसगा भणंतिसव्वं सच्चे । एला–साढो भणति–कहं गावीओ कंवलीए मायाओ? गामो वा वालुंके? सेसगा भणंति–भारहसुतीए सुच्चतिजहा पुव्वं आसी एगण्णवं जगं सव्वं, तम्मि य जले अंडमासी । तम्मि अ अंडगे ससेलवणकाणणं जगं सव्वं जइ मायं तो कहं तुह कंबलीए गावो, वालुंके वा गाममा–णमाहिति । जं भणसि जहा–ढेंकुदरे अयगरो, तस्स य अजिया, तीए वालुंकं, एत्थ वि भण्णइ उत्तरं–ससुरासुरं सनारकं ससेलव–णकाणणं जगं सव्वं जइ वि पहुस्स उदरे मायं, सो वि य देवईउदरे माओ, सा वि य सयणिज्जे माया जइ एयं सव्वं तो तुह वयणं कहं असच्चं भविस्सति? ॥१॥

ततो सगो कहितुमारद्धो–अम्हे कुडुंविपुत्ता । कयाइं च करिस–णाणि अहं सरयकाले छेत्तुं अतिगओ । तम्मि अ खेत्ते तिलो वुत्तो । सो य एरिसो जातो, जो परं कुढाढेहिं छेत्तव्वं, तं समंता परिब्भ–माडि, पेच्छामि य गआयवरं रण्णं, तणमिओ छिन्नो पलाओ(?) पेच्छामि य अइप्पमाणं तिलरुक्खं । तम्मि वि लगो, पत्तो य गय–वारो सोमं अपावंते कुलालचक्कं व तं तिलरुक्खं परिब्भमति । चालेइ य तं तिलरुक्खं, तेण य चालिओ जलहरो विवतिलोऽतिवुट्ठिं मुंचति । तेण य समंतेण चक्कतिला विव ते तिला पीलिया । तओ तेल्लोदा णाम णदी छूढा, सो य गओ तत्थेव, तिलचलणीए खुत्तो मओ य, मया वि से चम्मं गहियं । दतिओ कओ, तेल्लस्स भरिओ, अहं पि खुधिओ खलभारं भक्खयामि । दस य तेल्लघडा तिसिओ पिबामि, तं च तेल्लपडिपुन्नं दइयं घेत्तुं गामं पट्ठिओ, गामबहिया रुक्खसा–लए णिक्खिविउ तं दइयं गिहमतिगओ, पुत्तो य मे दइयस्स पेसिओ, सो तं जाहे ण पावइ, ताहे रुक्खं पाडेउं गहिय हत्थे अहं पि गिहाओ उट्ठिओ परिब्भमंतो इहमागओ । एयं पुण मे अणुभूयं, जो ण पत्ति–यति, सो देउ भत्तं । सेसगा भणंति–अत्थि एसो य भावो, भारह–रामायणे सुई सुणिज्जति– ''तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः। प्रावर्त्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥१॥'' जं भणिसि कहं एमहंतो तिलरुक्खो भवति? एत्थ भण्णइ–पाडलिपुत्ते किल मासपादवे भेरी णिम्मविया, तो किह तिलरुक्खो एमहंतो न होज्जाहि? ॥२॥

ततो मूलदेवो कहिउं मारद्धो । सो भणति–तरुणत्तणे इत्थियसु–हाभिलासी धाराधरणद्धपाए सामिगिहं पट्ठिओ छत्तकमंडलुहत्थो, पेच्छामि य वणगजं मम वहाए एज्जमाणं, ततोऽहं भीतो अत्ताणो असरणो किंचि णिलुक्कणट्ठाणं अपासमाणे जलछड्डणणालएणं कमंडलुं अतिगउम्मि । सो वि य गयवरो मम वहाए तेणेवंतेण अति–गओ । ततो मे सो गयवरो छम्मासं अंतो कुंडियाए वामोहिओ । तओऽहं छट्ठमासंते कुंडियगीवाए णिग्गओ । सो वि गयवरो तेणेवं–तेण णिग्गओ । णवरं बालग्गेण गीवाए लग्गो । अहमवि पुरओ पेच्छामि अणोरयारं गंगं, सा मे गोपयामिव तिण्णा गओम्हि सामिगिहं, तत्थ मे तण्हा छुहा समे अगणेमाणेण गंगाओ पडंती मत्थए छम्मासा धारिया धारा । तओ पणमिऊण महासेणं पयाउं संपत्तो उज्जेणिं, तुज्झं च इहं मिलिओ इति । तं जइ सच्चं एयं तो मे हेऊहि पत्तिया–वेह । अहमन्नहा अलियं, तो धुत्ताणं देहउ भत्तं । तेहिं भणियं सच्चं । मूलदेवो भणइ–कहं सच्चं । ते भणंति–सुणेह, पुव्वं बंभणरस्स मुहाओ विप्पा णिग्गया, बाहाओ खत्तिया, ऊरूसु वइस्सा, पादेसु सुद्दा । जइ इत्तिओ जणवओ तस्सुदरे माओ, तो तुमं हत्थी य कुंडियाए किं ण माहिह । अण्णं च किल बंभणो विण्डू य उड्डाहं कुणंतो धावंता गता, दिव्वं वाससहस्सं तहा वि लिंगस्संऽतो णं पत्तो, तं जइ एमहं तं लिंगं उमाए सरीरे मायं तो तुहं हत्थी य कुंडियाए ण माहिह । जं भणसि–वालग्गे हत्थी कहं लग्गो? तं सुणसु–विण्हू जग्गस्स कत्ता, एगण्णवे तप्पति तवं जलसयणगतो, तस्स य णाभीओ बंभो पउम–गब्भणिभो णिग्गओ, णवरं पंकयं णाभीए लग्गो, एवं जइ तुमं हत्थी य वि णिग्गता, हत्थी वालग्गे लग्गो, को दोसो? जं भणसि–गंगा कहमुत्तिण्णा? रामेण किल सीताए पवित्तिहेउं सुग्गीवो, तेणावि हणूमंतो, सो बाहाहि समुद्दं तरिउं लंकापुरिं पत्तो । सीयाए पुच्छिओ–कहं समुद्दो तिण्णो?भण्णति–''तव प्रसादात् वचसः प्रसादा–द्वर्तुश्च ते देवि ! गुरुप्रसादात्। साधुप्रसादाच्च पितुः प्रसादा–त्तीर्णो मया गोष्पदवत्समुद्रः ॥१॥'' जइ तेण तिण्णो समुद्दो बाहाहिं, तेण तुमं कहं गंगं ण तरिस्ससि? जं भणसि–कह छम्मासे धारा धरिता । एत्थ वि सुणसु–दिव्वं वाससहस्सं तवं कुणमाणं भगीरहं दट्ठं तत्थागयमाणेहिं लोगहियत्था सुरगणेहिं गंगा अब्भत्थिता–अवतराहि मणुयलोगं । तीए भणियं–को मे धरेहि ति णिवमिंतिं? पसुवइणा भणियं–अहं ते एगजडाए धारयामि । तेण सा दिव्वं वास–सहस्सं धरिया । जइ तेण सा धरिया । तुमं कहं छम्मासं ण धरिस्स सि? ॥३॥

अह पत्ता खंडपाणा, कहितुमारद्धा । सा य भणति–

''उल्लंघितं ति अम्हे–हि भणह जइ अंजलिं करिय सीसे ।
उवसप्पह जइ अ ममं, तो भत्तं देमि सव्वेसिं ॥१॥
तत्तो भणंति धुत्ता, अम्हे सव्वं जगं तुलेमाणा ।
कह एवं खलु वयणं, तुज्झ सगासे भणीहामो?'' ॥२॥

ततो ईसिं हसिऊण खंडपाणा कहयति–अहं रायरयगस्स धूया,

अह अण्णया सह पिउणा वत्थाणं महासगडं भरेऊण पुरिससहस्सेण समं णदिं सलिलपुण्णं पत्ता । धोयाइं वत्थाइं, तो आयवे दिण्णाणि उव्वायाणि, आगतो महावाओ । तेण ताणि सव्वाणि वत्थाणि अवहरियाणि । ततोऽहं रायभया गोहारूवं काऊण रयणीए णगरुज्झाणं गया । तत्थाहं रत्तासोगपासं चूयलया जाता । अण्णया य सुणेमि–जहा रयगा उम्मिलंतु, अभयघोसं पडहसद्दं सोऊण पुणण्णवसरीरा जाया, तस्स सगडस्स णाडगवरत्ता य जंबुएहिं भक्खियाओ । तओ मे पिउणा णाडगवरत्ताओ अण्णिस्स–माणेण महिसछिप्पा लद्धा । तत्थ भणह किमेत्थ सच्चं? ते भणंति–बंभकेसवा अंतं ण गया लिंगस्स वाससहस्सेण जति तं सच्चं तुह वयणं कहमसच्चं भविस्सइ त्ति? रामायणे वि सुणिज्जइजं हणुमंत–स्स पुच्छं महंतमासी, तं च किल अणेगेहिं वत्थसहस्सेहिं वेढिऊण तेल्लघडसहस्सेहिं सिंचिऊण पलीवियं, तेण किल लंका पूरी दड्ढा । एवं जइ महिसस्स वि महंतपुच्छेण णाडगवरत्ताओ जायाओ कोदोसो? अण्णं च इमं सुई सुच्चई–जहा गंधारो राया, रणे कुवत्तणं पत्तो, अवरो वि राया किमस्सो (?) णाम महाबलपरक्कमो, तेण य सक्को देवराया समरे णिज्जिओ । ततो तेण देवराइणा सावयसतो–ऽरण्णे अयगरो जाओ । अन्नया य पंडुसुआ रज्जभट्ठाऽरण्णे निग्गया, अन्नया य रआहराय निग्गओ भीमो, तेण य अयगरेण गसिओ, धम्मसुतो य अयगरं पत्तो, ततो सो अयगरो माणुसीए वायाए तं धम्मसुयं सत्त पुच्छातो पुच्छेइ । तेण यं कहियाओ सत्त पुच्छातो । ततो भीमं णिग्गिलइ, तस्स य सावस्स अंतो जाओ । जातो पुणरवि राया, जइ एयं सच्चं तो तुमं पि सब्भूतं गोहाभूय सभावं गंतूण पुणण्णवा जाया । तो खंडपाणा भणइ–एवं गते वि मज्झ पणाडं करेह । जइ कहंचि न जिप्पह, तो काणा वि कवड्डिया तुब्भं मुल्लं ण भवति । ते भणंति– को अम्हे सत्तो णिज्जिणिउं? तो सा हसिऊण भणति–तेसिं–वा तहरियाणं वत्थाणं गवेसणाय निग्गयाणं पुच्छि–ऊण, अण्णं च मम दासचेडा णट्ठा, तयं अण्णेसामि, ताहे गामण–गराणि अडमाणी इहं पत्ता । तं ते दासचेडा तुम्हे, ताणि वत्थाणि इमाणि,जाणि,तुब्भं परिहिआणि । तं जइ सच्चं तो देह वच्छा । अह अलिअं तो देहि । भत्तं । ✲ (एतच्च निशीथपुस्तकाद् लिखितमित्यग्रे लिखितमस्ति ।) ग०२ अधि० नि०चू०।

धुत्तसंवलय–न०(धूर्तशम्बलक) पुरुषद्वात्रिंशत्कलाऽन्तर्गते कलाभेदे, कल्प०१ अधि०७ क्षण।

धुत्ति–स्त्री०(धूर्ति) जरायाम्, आ०म०१अ०२ खण्ड। प्रा०।

धुत्तिमा–पुं०(धूर्तिमा) धूर्तत्वे, ''वेमाऽज्जल्याद्याः स्त्रियाम्'' ॥८।१।३५॥ इति वा स्त्रीत्वम्। प्रा०१ पाद।

धुम्म–पुं०(धूम्र) धूमं तद्वर्णं राति। रा–कः–पृषो०। कपोतवर्णे, स्था०१ ठा०। सिह्लके, वाच०।

धुय–न० [धु(धू)त] त्यजने, स्था०६ ठा०। संयमे, सूत्र० १ श्रु०७ अ०। धूयतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तद् धूतम्। संयमानुष्ठाने, धूननार्हत्वाद् धूतम्। सूत्र०१ श्रु०२ अ०२उ०। धूयते इति धूतम्। प्राग्बद्धे कर्मणि, सूत्र०२ श्रु०२ अ०। बृ०। अष्टप्रकारके कर्मणि, आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०। मोक्षे, सूत्र० १श्रु०७ अ०। धूतं सङ्ज्ञानात्यजनम्, तत्प्रतिपादकमध्ययनं धूतम्। स्था० ६ ठा०। आचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य षष्ठेऽध्ययने च। न०। आचा० १ श्रु० ६ अ०१ उ०। स०। (तद्वक्तव्यता 'धुयज्झयण' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) कम्पिते, स्फेटिते, नं०। बृ०। क्षिप्ते, आतु०। दश०। अपनीते, सूत्र० १ श्रु०४ अ०२उ०। त्यक्ते, ''धुतकेसमंसु लोमनहेहिं।'' प्रश्न० १ संब० द्वार। भर्त्सिते, तर्किते, वाच०। अपगते च। त्रि०। बृ०६ उ०।

संप्रति निक्षेपः, स च चतुर्द्धा, तत्रापि नामस्थापने सुगमत्वाद–

नादृत्य द्रव्यभावधूतप्रतिपादनाय गाथाशकलमाह–

दव्वधुतं वत्थादी, भावधुयं कम्ममट्ठविहं (२५१)

(दव्वधुतमित्यादि) द्रव्यधूतं द्विधा–आगमतो, नोआगमतश्च। आगमतो ज्ञाता, तत्र चोपयुक्तः। नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यधूतम्। द्रव्यं च तद्वस्त्राऽऽदि, धूतं च रजोऽपनयनार्थं द्रव्यधूतम्। आदिग्रहणाद् वृक्षाऽऽदिफलार्थं, भावधूतं कर्म्माष्टविधं तद्विमोक्षार्थं धूयत इति गाथाशकलार्थः।

पुनरप्येतदेवार्थं विशेषतः प्रतिपादयितुमाह–

अहियासेत्तुवसग्गे, दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य।
जो विहुणइ कम्माइं, भावधुयं तं वियाणाहि ॥२५२॥

अधिकमासह्यात्यर्थं सोढा, कानतिसह्य?, उपसर्गान्, किंभूतान्? दिव्यान्मानुषाँस्तिरश्चश्च, यः कर्माणि संसारतरुबीजानि, विधूनयत्यपनयति, तद्भावधूतमित्येवं जानीहि। क्रियाकारकयोरभेदाद्वा कर्मधूननं भावधूतं जानीहीति भावार्थः॥ आचा० १ श्रु० ३अ०१उ०।

धुयकिलेस–त्रि० [धु(धू)तक्लेश] क्षिप्तसप्तभयक्लेशे, आतु०। धूता अपनीताः क्लेशाः कर्माणि येनासाविति। क्षीणाष्टकर्मणि, बृ०१ उ०।

धुयचारि(ण्)–धु(धू)तचारिन् धुनातीति धुतं, संयमो मोक्षो वा, तं चरतीति। संयमाऽऽदिचरणशीले, आचा०१ श्रु०२ अ०३उ०।

धुयज्झयण–न० धु(धू)ताध्ययन आचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य–षष्ठेऽध्ययने, आचा०।

तस्योद्देशार्थाधिकारं निर्युक्तिकारो विभणिषुराह–

पढमे नियगविहुणणा, कम्माणं वितिएँ तइयम्मि।
उवगरणसरीराणं, चउत्थए गारवतियस्स ॥२५०॥
उवसग्गा सम्माणा, य विहुणया पंचमम्मि उद्देसे (२५१)

प्रथमोद्देशके निजकाः स्वजनास्तेषां विधूननेत्ययमर्थाधिकारः, द्वितीये कर्म्मणां, तृतीये उपकरणशरीराणां, चतुर्थे गौरवत्रिकस्य, विधूननेति सर्वत्र सम्बन्धनीयम्। उपसर्गाः सम्माननानि च यथा साधुभिर्विधूतानि तथा पञ्चमोद्देशके प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। आचा०१ श्रु० ६ अ०१ उ०।

धुयपाव–त्रि० [धु(धू)] तपाप अपनीतपापे, ''नमोत्थु धुयपावाणं।'' आतु०।

धुयबहुल–त्रि० [धु(धू)तबहुल] धूयते इति धूतं, प्राग् बद्धं कर्म्म, तत्प्रचुरे, सूत्र०२ श्रु० २अ०।

धुयमोह–त्रि० [धु(धू)तमोह] धूतो मोहरागद्वेषरूपो येन सः। सूत्र०१ श्रु०४ अ०२उ०। धूतो मोहोऽज्ञानं येन सः। विक्षिप्तमोहे, दश०१ अ०।

✲ एतच्च निशीथपुस्तकाद् लिखितमित्यग्रे लिखितमस्ति।

धुयरय-त्रि० [धु(धू)तरज्] धूतमपनीतं रजः कर्म येन स धूतरजाः। सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ अ०। धूतं कम्पितं स्फोटितं रजो बध्यमानं कर्म येन स धूतरजाः। नं०। अपगतपापकर्मणि, बृ०६ उ०।

धुयरागमग्ग-पुं० [धु(धू)तरागमार्ग] धूतोऽपनीतो रागमार्गो रागपन्था यस्मिन्। अपनीतरागपथे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२उ०।

धुयवाय-पुं० [धु(धू)तवाद] धूतमष्टप्रकारं कर्म, धूननं ज्ञातिपरित्यागो वा, तस्य वादो धूतवादः। कर्मपरित्यागकथने, आचा०।

आयाण भो, सुस्सूस भो, धुयवायं पवेदइस्सामि। इह खलु अत्तत्ताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएणं अभिसंभूता, अभिसंजाता, अभिणिव्वट्टा, अभिसंवुड्ढा, अभिसंबुद्धा, अभिणिक्खंता, अणुपुव्वेणं महामुणी ॥१७६॥

भोरिति शिष्याऽऽमन्त्रणे, यदहमुत्तरत्राऽऽवेदयिष्यामि भवतस्तद् आजानीहि अवधारय, शुश्रूषस्व श्रवणेच्छां विधेहि, भोरिति पुनरप्यामन्त्रणमर्थगरीयस्त्वख्यापनाय, नाऽत्र भवता प्रमादो विधेयो, धूतवादं कथयिष्याम्यहम्। धूतम्–अष्टप्रकारकर्मधूननं ज्ञातिपरित्यागो वा तस्य वादो धूतवादः, तं प्रवेदयिष्यामि, अवहितेन च भवता भाव्यमिति। नागार्जुनीयास्तु पठन्ति–(धूतोवायं पवेऐंति त्ति) अष्टप्रकारकर्मधूननोपायं, निजधूननोपायं वा प्रवेदयन्ति तीर्थङ्कराऽऽदयः। कोऽसावुपायः? इत्यत आह– इहास्मिन् संसारे, खलुर्वाक्यालङ्कारे। आत्मनो भाव आत्मता–जीवास्तित्ता, स्व-कृतकर्मपरिणतिर्वा, तयाऽभिसंभूताः–संजाताः, न पुनः पृथिव्यादिभूतानां कायाऽऽकारपरिणामतया, ईश्वरप्रजापतिनियोगेन वेति। तेषु तेषूच्चावचेषु कुलेषु यथास्वकर्मोदयाऽऽपादितेष्वभिषेकेण शुक्रशोणितनिषेकाऽऽदिक्रमेणेति। तत्राऽयं क्रमः– ''सप्ताहं कललं विद्यात्, ततः सप्ताहमर्बुदम्। अर्बुदाज्जायते पेशी, पेशीतोऽपि घनं भवेत्'' ॥१॥ इति। तत्र यावत् कललं तावदभिसंभूताः, पेशी यावदभिसंजाताः, ततः साङ्गोपाङ्गस्नायुशिरोरोमाऽऽदिक्रमाभिनिर्वर्त्तनादभिनिर्वृताः, ततः प्रसूताः सन्तोऽभिसंवृद्धा धर्मश्रवणयोग्यावस्थायां वर्त्तमाना धर्मकथाऽऽदिकं निमित्तमासाद्योपलब्धपुण्यपापतयाऽभिसंबुद्धाः, ततः सदसद्विवेकं जानाना अभिनिष्क्रान्ताः, ततोऽधीता चाराऽऽदिशास्त्रास्तदर्थभावनोपबृंहितचरणपरिणामा आनुपूर्व्येण शिक्षक–गीतार्थ–क्षपक–परिहारवि–शुद्धिकैककिविहारिजिनकल्पिकावसाना मुनयोऽभूवन्निति ॥१७६॥

अभिसंबुद्धं च प्रव्रजिषुमुपलभ्य यन्निजाः कुर्युस्तद्दर्शयितुमाह–

तं परिक्कमंतं परिदेवमाणा मा णे चयाहि इति ते वयंति छंदोवणीया अज्झोववण्णा अक्कंदकारी जणगा रुदंति, अतारिसे मुणी, ण ओहं तरए जणगा जेण विप्पजढा, सरणं तत्थ णो समेति, कहं णु णाय से तत्थ रमति? एयं णाणं सया समणुवासिज्जासित्ति बेमि ॥१८०॥

तमवगतत्तत्त्वं गृहवासपराङ् मुखं महापुरुषसेवितं पन्थानं पराक्रममाणमुपलभ्य मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदयः परिदेवमाना माऽस्मान् परित्यज, इत्येतत्ते कृपामापादयन्तो वदन्ति, किं चापरं वदन्तीत्याह– छन्देनोपनीताः छन्दोपनीताः, तवाभिप्रायाऽनुवर्त्तिनः, त्वयि चाभ्युपपन्नाः, तदेवंभूतानस्मान्मान्माऽद्यमंस्था इत्येवमाक्रन्दकारिणो जनकाः मातापित्रादयो, जना वा रुदन्ति। एवं च वदेयुरित्याह– न तादृशो मुनिर्भवति, न वौघं संसारं तरति, येन पाषण्डविप्रलब्धेन जनका मातापित्रादयोऽपोढाः त्यक्ता इति। स चावगतसंसारस्वभावो यत्करोतीति तदाह–न ह्यसावनुरक्तमपि बन्धुवर्गं तत्र तस्मिन्नवसरे शरणं समेति, न तदभ्युपगमं करोतीत्यर्थः। किमित्यसौ शरणं नैतीत्याह–कथं नु नामाऽसौ तत्र तस्मिन् गृहवासे सर्वनिकाराऽऽस्पदे नरकप्रतिनिधौ शुभद्वारपरिधे रमते? कथं गृहवासे द्वन्द्वैकहेतौ विघटितमोहकपाटः सन् रतिं कुर्यादिति। उपसंहरन्नाह–एतत् पूर्वोक्तं ज्ञानं सदा आत्मनि सम्यगनुवासयेः व्यवस्थापथेः, 'इति' अधिकारपरिसमाप्तौ, धूताध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः परिसमाप्तः। उक्तः प्रथमोद्देशकः।

साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते। अस्य चायमभिसंबन्धः–इहानन्तरोद्देशके निजकविधूनना प्रतिपादिता, सा चैवं फलवती स्याद्यदि कर्मविधूननं स्यादतः कर्मविधूननार्थमिदमुपक्रम्यत इत्येनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्याऽऽदिसूत्रम्–

आउरं लोयमायाए चइत्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसित्ता बंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा तहा अहेगे तमचाइंति कुसीला ॥१८१॥

(आउरं इत्यादि) लोकं मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदिकं तमातुरं स्नेहानुषङ्गतया वियोगात्कार्यावसादेन वा, यदि वा जन्तुलोकं कामरागाऽऽतुरम्, आदाय ज्ञानेन परिगृहीत्वा परिच्छिद्य, तथा त्यक्त्वा च पूर्वसंयोगं मातापित्रादिसंबन्धं, तथा हित्वोपशमम्। उषित्वाऽपि ब्रह्मचर्ये, किंभूतः सन्निति दर्शयति–वसु द्रव्यं, तद्भूतः कषायकालिकाऽऽदिमलापगमाद् वीतराग इत्यर्थः, तद्विपर्ययेणानुवसुः, सराग इत्यर्थः। यदि वा–वसुः साधुः, अनुवसुः श्रावकः। तदुक्तम्–''वीतरागो वसुर्ज्ञेयो, जिनो वा संयतोऽथवा। सरागो ह्यनुवसुः प्रोक्तः, स्थविरः श्रावकोऽपि वा ॥१॥'' तथा ज्ञात्वा धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं यथा तथावस्थितं धर्मं प्रतिपद्याप्यथैके मोहोदयात्तथाविधभवितव्यतानियोगेन तं धर्मं प्रतिपालयितुं न शक्नुवन्ति। किंभूताः? कुत्सितं शीलं येषां ते कुशीला इति। यत एव धर्मपालनाशक्ता अत एव कुशीलाः ॥१८१॥

एवंभूताश्च सन्तः किं कुर्युरित्याह–

वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं विउसेज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स इयाणिं वा मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेदो, एवं से अंतराइएहिं कामेहिं अकेवलिएहिं अवितिण्णा चेए ॥१८२॥

(वत्थं इत्यादि) केचिद्भवशतकोटिदुरापमवाप्य मानुषं जन्म समासाद्य-लब्धपूर्वां संसारार्णवोत्तरणप्रत्यलां बोधिद्रोणीमङ्गीकृत्य मोक्षतरुबीजं सर्वविरतिलक्षणं चरणं पुनर्दुर्निवारतया मन्मथस्य, पारिप्लवतया मनसो, लोलुपतयेन्द्रियग्रामस्यानेकभवाभ्यासाऽऽपादितविषयमधुरतया प्रबलमोहनीयोदयादशुभवेदनीयोदयाऽऽसन्न प्रादुर्भावादयशः कीर्त्युत्कटतया अविगणय्यमतिमविचार्य कार्याकार्यमुररीकृत्य महाव्यसनसागरं साम्प्रतेक्षितया अधः कृतकुलक्रमाऽऽ–

चारास्तत्त्यजेयुः। तत्त्यागश्च धर्मोपकरणपरित्यागाद्भवतीत्यतस्तद्दर्शयतिवस्त्रमित्यनेन क्षौमिककल्पो गृहीतः, तथा पतद्ग्रहः पात्रं, कम्बलमौर्णिकं कल्पं, पात्रनिर्योगं वा। पाद प्रोञ्छनकं रजोहरणम्। एतानि निरपेक्षतया व्युत्सृज्य, कश्चिद्देशविरतिमभ्युपगच्छति, कश्चिद्दर्शनमेवाऽऽलम्बते, कश्चित्ततोऽपिभ्रस्यति, कथं पुनर्दुर्लभं चारित्रमवाप्य पुनस्तत्त्यजेदित्याह– परीषहान् दुरधिसहनीयाननुक्रमेण परिपाट्या योगपद्येन वोदीर्णानविसहमानाः परीषहैर्भग्नभोहपरवशतया पुररुकृतदुर्गतयो मोक्षमार्गं परित्यजन्ति। भोगार्थं त्यक्तवतामपि पापोदयाद्यत्स्यात्तदाह– (कामे इत्यादि) कामान् विरूपानपि (ममायमाणस्स त्ति) स्वीकुर्वतो भोगाध्यवसायिनोऽन्तरायोदयादिदानीं तत्क्षणमेव प्रव्रज्यापरित्यागानन्तरमेव, भोगप्राप्तिसमनन्तरमेवान्तर्मुहूर्त्तेन वा, कण्डरीकस्येवाहोरात्रेण वा, ततोऽप्यूर्द्धं शरीरभेदो भवत्यपरिमाणाय, एवंभूत आत्मना सार्द्धं विवक्षितशरीरभेदो भवति। येनानन्तेनापि कालेन पुनः पञ्चेन्द्रियत्वं नावाप्नोति। एतदेवोपसंजिहीर्षुराह–एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, स भोगाभिलाषी, आन्तरायिकैः कामैर्बहुप्रत्यपातैर्न केवलं तत्र भवा अकेवलिकाः सद्वन्द्वाः सप्रतिपक्षा इति यावदसंपूर्णा वा, तैः सद्भिरवितीर्णाः संसारं तीर्त्वा, द्वितीयार्थे तृतीया। चः समुच्चये। एत इति भोगाभिलाषिणः कामैरतृप्ता एव शरीरभेदमवाप्नुवन्तीति तात्पर्यार्थः ॥१८२॥

अपरे त्वासन्नतया मोक्षस्य कथञ्चित् कुत्रचित्कदाचिदवाप्य चरणपरिणामं प्रतिक्षणं लघुकर्मतया प्रवर्द्धमानाध्यवसायिनो भवन्तीति दर्शयितुमाह–

अहेगे धम्ममादाय आदाणप्पभितिसु पणिहिए चरे अपलीयमाणे दढे ॥१८३॥

सव्वं गिद्धिं परिण्णाय एस पणते महामुणी ॥१८४॥

अइयच्च सव्वतो संगं ण महं अत्थि त्ति इति एगो अहमस्सिं जयमाणे एत्थ विरते, अणगारे, सव्वसो मुंडे रीयंते, जे अचेले परिवुसिए संचिट्ठति ओमोयरियाए ॥१८५॥

से आकुट्ठे वा, हए वा, लुंचिते वा, पलियं पकंथे, अदुवा पकंथे, अतहेहिं सद्दफासेहिं इति संखाए एगतरे अण्णतरे अभिण्णाय तितिक्खमाणे परिव्वए। जे य हिरी जे य अहिरीमाणे चिच्चा सव्वं विसोत्तियं फासे समियदंसणे ॥१८६॥

(अहेगे इत्यादि) अथानन्तरमेके विशुद्धपरिणामतया आसन्नापवर्गतया धर्म श्रुतचारित्राऽऽख्यमादाय गृहीत्वा वस्त्रपतद्ग्रहाऽऽदिधर्मोपकरणसमन्विता धर्मकरणेषु प्रणिहिताः परीषहसहिष्णवः सर्वज्ञोपदिष्टं धर्मं चरेयुरिति। अत्र च पूर्वाणि प्रमादसूत्राण्यप्रमादाभिप्रायेण पठितव्यानीति। उक्तं च– ''यत्र प्रमादेन तिरोऽप्रमादः, स्याद्वाऽपि यत्नेन पुनः प्रमादः। विपर्ययेणाऽपि पठन्ति तत्र, सूत्राण्यधीकारवशाद्विधिज्ञाः ॥१॥'' किंभूताः पुनर्धर्मं चरेयु रित्याह–(अपलीय इत्यादि) कामेषु मातापित्रादिके वा लोके न प्रलीयमाना अप्रलीयमाना अनभिसक्ता धर्मचरणे दृढास्तपः– संयमाऽऽदौ द्रढिमानमालम्बमाना धर्मं चरन्तीति ॥१८३॥ किञ्च– (सव्वं इत्यादि) सर्वां गृद्धिं भोगकाङ्क्षां दुःखरूपतया, परिज्ञाय, प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत्, परित्यागं गुणमाह–(एस इत्यादि) (एस इति) कामपिपासापरित्यागी, प्रकर्षेण नतः प्रह्वः संयमे, कर्मधूननायां वा महामुनिर्भवति नापर इति १८४॥ किञ्च– (अइयच्च इत्यादि) अतिगत्याऽतिक्रम्य सर्वतः सर्वैः प्रकारैः सङ्गसंबन्धं पुत्रकलत्राऽऽदिजनितं, कामानुषङ्गं वा, किं भावयेदित्या–ह–(ण महं अत्थि इत्यादि) न मम किमप्यस्तीति यत्संसारे एतत् आलम्बनाय स्यादिति, तदभावाच्चेत्युक्तक्रमेणैकोऽहमस्मिन् संसारोदरे, न चाहमन्यस्य कस्यचिदित्येतद्भावनाभावितश्च यत् कुर्यात्तदाह– (जयमाणे इत्यादि) अत्राऽस्मिन्मौनीन्द्रे प्रवचने विरतः सन् सावद्यानुष्ठानाद्दशविधचक्रवालसामाचार्यां यतमानः, कोऽसावनगारः प्रव्रजितः, एकत्वभावनां भावयन्नवमौदर्यं सन्तिष्ठत इत्युत्तरसूत्रेण संबन्धः। इयमेव क्रियाऽनन्तर सूत्रेष्वपि लगयितव्येति। किञ्च–(सव्वओ इत्यादि) सर्वतोद्रव्यतो भावतश्च मुण्डो रीयमाणः संयमानुष्ठाने गच्छन्, किंभूत इत्याह–(जे इत्यादि) योऽचेलोऽल्पचेलो जिनकल्पिको वा पर्युषितः संयमे उद्युक्तविहारी अन्तप्रान्तभोजी तदपि न प्रकाममित्याह।(संचिट्ठइ) संतिष्ठते अवमौदर्ये न्यूनोदरतायां वर्त्तमानः सन् ॥१८५॥ कदाचित्प्रत्यनीकतया ग्रामकण्टकैस्तुद्येतेत्येतद्दर्शयितुमाह–(से इत्यादि) स मुनिर्वाग्भिराकुष्टो वा, दण्डाऽऽदिभिर्हतो वा, लुञ्चितो वा केशोत्पाटनतः, पूर्वकृतकर्मपरिणत्युदयादेतदवगच्छन् सम्यक् तितिक्षमाणः परिव्रजेदित्येतच्च भावयेत्। तद्यथा– ''पावाणं च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्परिक्कंताणं वेइयत्ता मोक्खो णत्थि अवेयइत्ता तवसा वा झोसइत्ता।'' इत्यादि। कथं पुनर्वाग्– भिराक्रुश्यत इत्याह–(पलियं इत्यादि) पलियं त्ति) कर्म जुगुप्सितमनुष्ठानं, तेन पूर्वाऽऽवरितेन कुविन्दाऽऽदिना प्रकथ्य जुगुप्स्यते। तद्यथा–भोः कोलिक ! प्रव्रजत त्वमपि मया सार्द्धमेवं जल्पसीति? अथवा–जकारचकाराऽऽदिभिरपरैः प्रकारैर्निन्दां विधत्ते एभिर्वा वक्ष्यमाणैः प्रकारैरित्याह– (अतहेहिं इत्यादि) अतथ्यैर्वितथैरसद्भूतैः शब्दैश्चौरस्त्वं पारदारिक इत्येवमादिकैः, स्पर्शैश्च असद्– भूतैः साधोः कर्तुमयुक्तैः करचरणच्छेदनाऽऽदिभिः, स्वकृतादृष्टफलमित्येतत् संख्याय ज्ञात्वा तितिक्षमाणः परिव्रजेदिति। यदि वैतत् संख्याय (अत्रस्थः पाठः परीसहोपसर्गसहनविषयः 'परीसह' शब्दे द्रष्टव्यः) परीषहाश्चानुकूलप्रतिकूलतया भिन्ना इत्येतद्दर्शयितु–माह–(एगयरे इत्यादि) एकतराननुकूलानन्यतरान् प्रतिकूलान् परीषहानुदीर्णानभिज्ञाय, सम्यक् तितिक्षमाणः परिव्रजेदिति। यदि वा–अन्यथा परीषहाणां द्वैविध्यमित्याह–(जे इत्यादि) ये च परीषहाः सत्कारपुरस्काराऽऽदयः साधोर्हारिणो मनआह्लादकारिणो, ये तु प्रतिकूलतया अहारिणो मनसोऽनिष्टाः। यदि वा–हीरूपा याचनाऽचेलाऽऽदय अह्रीमनसश्चालज्जाकारिणः शीतोष्णाऽऽदय इत्येतान् द्विरूपानपि परीषहान् सम्यक् तितिक्षमाणः परिव्रजेदिति। किञ्च–(चिच्चा इत्यादि) त्यक्त्वा सर्वां परीषहकृतां विश्रोतसिकाम्। परीषहाऽऽपादितान् स्पर्शान् दुःखानुभवान् स्पृशेदनुभवेत् सम्यगतिसहेत। स किंभूतः? सम्यगितं गतं दर्शनं यस्य स समितदर्शनः, सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः ॥१८६॥

तत्सहिष्णवश्च किंभूताः स्युरित्याह–

एते भोणगिणा वुत्ता, जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो ॥१८७॥

(एए भो इत्यादि) भोरित्यामन्त्रणे, एते परीषहसहिष्णवो निष्किञ्चना निर्ग्रन्था भावनग्राः, उक्ता अभिहिताः। यस्मिन् मनुष्यलोके, अनागमनं धर्मो येषां ते अनागमनधर्माणः, यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभारवाहित्वान्न पुनर्गृहं प्रत्यागमनेप्सव इति ॥१८७॥

किञ्च–

आणाए मामगं धम्मं (?) एस उत्तरवादे इह माणवाणं वियाहिते ॥१८८॥

(आणाए इत्यादि) आज्ञाप्यतेऽनयेत्याज्ञा, तया मामकं धर्मं सम्यगनुपालयेत्तीर्थङ्कर एवमाहेति। यदि वा–धर्मानुष्ठानेऽप्येवमाह–धर्म एवैको मामकोऽन्यत्तु सर्वं पारक्यमित्यतस्तन्महमाज्ञया तीर्थङ्करोपदेशेन सम्यक् करोमीति। किमित्याज्ञया धर्मोऽनुपाल्यत इत्यत आह–(एस इत्यादि) एषोऽनन्तरोक्त उत्तरवाद उत्कृष्टवाद इह मानवानां व्याख्यात इति ॥१८८॥

किञ्च–

एत्थोवरए तं झोसमाणे आयाणिज्जं परिण्णाय परियाएणं विगिंचइ ॥१८९॥

(एत्थोवरए इत्यादि) अत्राऽस्मिन् कर्मधूननोपाये संयमे उप सामीप्येन रत उपरतः, तदष्टप्रकारं कर्म शोषयन् क्षपयन् धर्मं चरेदिति। किञ्चापरं कुर्यादित्याह–(आयाणिज्जं इत्यादि) आदीयत इत्यादानीयं कर्म, तत्परिज्ञाय मूलोत्तरप्रकृतिभेदतो ज्ञात्वा, पर्यायेण श्रामण्येन विवेचयति, क्षपयतीत्यर्थः। अत्र वा शेषकर्मधूननासमर्थं तपस्तद् बाह्यमधिकृत्य व्याख्यातम् ॥१८९॥

इहमेगेसिं एगचरिया होति। तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए सो मेहावी परिव्वए। सुब्भिं अदुवा दुब्भिं। अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति। ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासिज्जासि त्ति बेमि ॥१९०॥

(इहमेगेसिं इत्यादि) इहास्मिन् प्रवचने, एकेषां शिथिलकर्मणामेकचर्या भवत्येककाकिविहारप्रतिमाऽभ्युपगमो भवति। तत्र च नानारूपा अभिग्रहविशेषास्तत्पश्चरणविशेषाश्च भवन्तीत्यतस्तावत्प्राभृतिकामधिकृत्याऽऽह–(तत्थियरा इत्यादि) तस्मिन्नेककाकि–विहारे, इतरे सामान्यसाधुभ्यो विशिष्टतरा इतरेष्वन्तप्रान्तेषु कुलेषु शुद्धैषणया दशैषणादोषरहितेनाऽऽहाराऽऽदिना, सर्वैषणयेति, सर्वा याऽऽहाराऽऽद्युद्गमोत्पादनग्रासैषणरूपा, तया सुपरिविशुद्धेन विधिना संयमे परिव्रजन्ति। बहुत्वेऽप्येक देशतामाह–(सो मेहावी इत्यादि) स मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः संयमं परिव्रजेदिति। किञ्च–(सुब्भिं इत्यादि) स आहाररतेष्वितरेषु कुलेषु सुरभिर्वा स्याद् अथवा–दुर्गन्धः। न तत्र रागद्वेषौ विदध्यात्। किञ्च–(अदुवा इत्यादि) अथवा तत्रैककाकिविहारित्वे पितृवनप्रतिमाप्रतिपन्नस्य सतो भैरवा भयानका यातुधानाऽऽदिकृताः शब्दाः प्रादुर्भवेयुः। यदि वा–भैरवा बीभत्साः प्राणाः प्राणिनो दीप्तजिह्वाऽऽदयोऽपरान् प्राणिनः क्लेशयन्त्युपतापयन्ति, त्वं तु पुनस्तैः स्पृष्टस्तान् स्पर्शान् दुःख विशेषान् धीरोऽक्षोभ्यः सन्नतिसहस्व। इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववद्धूताध्ययनद्वितीयोद्देशकः परिसमाप्तः ॥१९०॥ उक्तो द्वितीयोद्देशकः। आचा०१ श्रु० ६ अ०२उ०। तदेवं संसारश्रेणिं विश्लेषयित्वा यः संसारसागरं तीर्णवत्तीर्णो मुक्तवन्मुक्तो विरतो व्याख्यातस्तं च तथाभूतं किमरतिरभिभवेदुत न वेति अचिन्त्यसामर्थ्यात्कर्मणोऽभिभवेदित्यतदेवाऽऽह–

विरयं भिक्खुं रीयंतं चिररातोसियं अरती तत्थ किं विधारए? संधेमाणे समुट्ठिए, जहा से दीवे असंदीणे ॥१९६॥

(विरयं इत्यादि) विरतमसंयमाद्विक्षणशीलं भिक्षुं, रीयमाणं निश्चरन्तमप्रशस्तेभ्योऽसंयमस्थानेभ्यः प्रशस्तेष्वपि गुणोत्कर्षादुपर्युपरि वर्त्तमानं चिररात्रं प्रभूतकालं संयमे उषितश्चिररात्रोषितस्तमेवं गुणयुक्तमरतिः संयमोद्विग्नता, तत्र तस्मिन् संयमे वर्त्तमानं किं धारयेत् किं प्रतिस्खलेत ? किंशब्दः प्रश्ने, किं तथाभूतमपि मोक्षप्रस्थितं प्रणाय्यविषयमरतिर्विधारयेत्? ओमित्युच्यते। तथाहि– दुर्बलान्यविनयवन्ति चेन्द्रियाण्यचिन्त्या मोहशक्तिर्विचित्रा कर्मपरिणतिः किं न कुर्यादिति। उक्तं च–"कम्माणि णूण घणचि–क्कणाइ गरुआइ वइरसाराइं णाणड्ढियं पि पुरिसं, पंथाओ उप्पहंती णे ॥१॥" यदि वा किं क्षेपे किं तथाभूतं विधारयेदरतिनैव विधारयेदित्यर्थः। तथा ह्यसौ क्षणे क्षणे विशुद्धतरचरणपरिणामतया विष्कम्भितमोहनीयोदयत्वाल्लघुकर्म्मा भवतीति कुतस्तमरतिर्विधारयेदित्याह–(संधेमाणे इत्यादि) क्षणे क्षणेऽव्यवच्छेदेनोत्तरोत्तरं संयमस्थानकण्डकं संदधानः स सम्यगुत्थितः समुत्थित उत्तरोत्तरगुणस्थानकं वा संदधानो यथाख्यातचारित्राभिमुखः समुत्थितोऽसावतस्तमरतिं कथं विधारयोदिति। स चैवंभूतो न केवलमात्मनस्त्राता, परेषामप्यरतिविधारकत्वात् त्राणायेत्येतद्दर्शयितुमाह–(जहा से इत्यादि) द्विर्गता आपोऽस्मिन्निति द्वीपः, स द्रव्यभावभेदाद् द्विधा, तत्र द्रव्यद्वीप आश्वासद्वीपः, आश्वास्यतेऽस्मिन्निति आश्वासः, स चासौ द्वीपश्चाऽऽश्वासद्वीपः। यदि वा–आश्वसनमाश्वासः, आश्वासाय द्वीप आश्वासद्वीपस्तत्र नदीसमुद्रबहुमध्यप्रदेशे भिन्नबोधिस्थाऽऽदयस्तमवाप्याऽऽश्वसन्त्यसावपि द्वेधासंदीनोऽसंदीनश्चेति यो हि पक्षमासावुदकेन प्लाव्यते स संदीनो, विपरीतस्त्वसन्दीनः सिंहलद्वीपाऽऽदिः। यथा हि सांयात्रिकास्तं द्वीपमसन्दीनमुदन्वदादेरुत्तितीर्षवः समवाप्याऽऽश्वसन्त्येवं तं भावसंधानायोत्थितं साधुमवाप्यापरे प्राणिनः समाश्वसन्ति। यदि वा–दीप इति प्रकाशद्वीपः, प्रकाशाय दीपः प्रकाशदीपः, स चादित्यचन्द्रमण्यादिरसन्दीनोऽपरस्तु विद्युदुल्काऽऽदिः संदीनः। यदि वा प्रचुरेन्धनतया विवक्षितकालावस्थाय्यसन्दीनो, विपरीतस्तु संदीन इति। यथा ह्यसौ स्फुटावेदनतो हेयोपादेयहानोपादानवतां निमित्तभाव-मुपयाति, तथा क्वचित्समुद्राऽऽद्यन्तर्वर्त्तिनामाश्वासकारी च भवत्येवं ज्ञानसन्धानायोत्थितः परीषहोपसर्गाक्षोभ्यतयाऽसन्दीनः साधुर्विशिष्टोपदेशदानतोऽपरेषामुपकारायेत्यपरे भावद्वीपं भावदीपं वाऽन्यथा व्याचक्षते। तद्यथा–भावद्वीपः सम्यक्त्वं, तच्च प्रतिपातित्वादौपशमिकं, क्षायोपशमिकं च सन्दीनो भावद्वीपः, क्षायिकं त्वसंदीन इति। तं द्विविधमप्यपरतिसवसारत्वात्प्राणिन आश्वासन्ति, भावदीपस्तु सन्दीनः श्रुतज्ञानम्, असन्दीनस्तु केवलमिति, तच्चावाप्य प्राणिनोऽवश्यमाश्वासन्त्येवेति। अथवा–धर्मं संदधानः समुत्थितः रात्नरतेर्दुष्प्रधृष्यो भवतीत्युक्ते कश्चिच्चादयेत्–किंभूतोऽसौ धर्मो

यत्सन्धानाय समुत्थित इति? अत्रोच्यते–यथाऽसौ द्वीपोऽसन्दीनः सलिलप्लुतो वरुगूवहनानामितरेषां च बहूनां जन्तूनां शरण्यतयाऽऽश्वासहेतुर्भवति ॥१६६॥

एवं से धम्मे आरियपदेसिए ॥१६७॥

एवमसावपि धर्म आर्यप्रदेशितस्तीर्थङ्करप्रणीतः कषतापच्छेदनैर्वण्टितोऽसन्दीनः, यदि वा कुतर्काप्रधृष्यतया संदीनोऽक्षोभ्यः प्राणिनां त्राणायाऽऽश्वासभूमिर्भवति, तस्य चाऽऽर्यदेशितस्य धर्मस्य किं सम्यगनुष्ठायिनः केचन सन्ति? ओमित्युच्यते ॥१६७॥

यदि सन्ति, किंभूतास्त इत्यत आह–

ते अणवकंखमाणा पाणे अणातिवातेमाणा दतिआ मेहाविणो पंडिया ॥१६८॥ एवं तेसिं भगवओ अणुट्ठाणे जहा से दियपोए। एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेणं वाइय त्ति बेमि ॥१६६॥

(ते इत्यादि) ते साधवो भावसंधानोद्यताः संयमारतेः प्रणोदका मोक्षनेदिष्टाभोगाननवकाङ्क्षन्तो धर्मे सम्यगुत्थानवन्तः स्युरित्येतदुत्तरत्रापि योज्यम् । तथा प्राणिनोऽनतिवातयन्त उपलक्षणार्थत्वाच्छेषमहाव्रतग्रहणमायोज्यम् । तथा कुशलानुष्ठानप्रवृत्तत्वाद्दयिताः सर्वलोकानाम् । तथा मेधाविनो मर्यादाव्यवस्थिताः, पण्डिताः पापोपादानपरिहारतया सम्यक् पदार्थज्ञा धर्मचरणाय समुत्थिता भवन्तीति ॥१६८॥ ये पुनस्तथाभूतज्ञानाभावात्सम्यग् विवेकविकलतया नाद्यापि पूर्वोक्तसमुत्थानवन्तः स्युस्ते तथाभूता आचार्याऽऽदिभिः सम्यगनुपाल्य यावद्विवेकिनोऽभूवन्नित्येतद्दर्शयितुमाह–(एवं इत्यादि) एवमुक्तविधिना तेषामपरिकर्मितमतीनां भगवतो वीरवर्द्धमानस्वामिनो धर्मे सम्यगनुत्थाने सति तत्परिपालनतस्तथा सदुपदेशदानेन परिकर्मितमतित्वं विधेय–मिति। अत्रैव दृष्टान्तमाह–(जहा से इत्यादि) द्विजः पक्षी, तस्य पोतः शिशुर्द्विजपोतः, स यथा तेन द्विजेन गर्भप्रसवात्प्रभृत्यण्डकोच्छूनोच्छूनतरभेदाऽऽदिकारणवस्थासु यावन्निष्पन्नपक्षस्ताव–त्पाल्यते, एवमाचार्येणापि शिष्यकः प्रव्रज्यादानादारभ्य सामाचार्युपदेशदानेनाध्यापनेन तावदनुपाल्यते यावद्गीतार्थोऽभूत् । यः पुनराचार्योपदेशमतिलङ्घ्य स्वैरित्वाद्यथाकथञ्चित्क्रियामनुप्रवर्त्तत स उज्जयिनीराजपुत्रवद्विनश्येदिति। तद्यथा–उज्जयिन्यां जितशत्रो राज्ञो द्वौ पुत्रौ, तत्र ज्येष्ठो धर्मघोषाऽऽचार्यसमीपे संसारासारतामवगम्य प्रवव्राज, क्रमेण चाधीताऽऽचाराऽऽदिशास्त्रोऽवगततदर्थश्च जिनकल्पं प्रतिपत्सुर्द्वितीयां सत्त्वभावनां भावयति। सा च पञ्चधातत्र प्रथमोपाश्रये, द्वितीया तद्बहिः, तृतीया चतुष्के चतुर्थी शून्यगृहे, पञ्चमी श्मशाने। तत्र पञ्चमी भावनां भावयतः स कनिष्ठो भ्राता तदनुरागादाचार्यान्तिकमागत्योवाच–मम ज्यायान् भ्राता क्वाऽऽस्ते? साधुभिरभाणि–किं तेन?ः स आह–प्रव्रजाम्यहम्। आचार्येणोक्तोगृहाण तावत् पुनर्द्रक्ष्यसि। स तु तथैव चक्रे। पुनरप्यपृच्छत् । आचार्याऊचुः–किं तेन दृष्टेन? नासौ कस्य चिदुल्लापमपि ददाति जिनकल्पं प्रतिपत्तुकाम इति । असावाह–तथापि पश्यामि तावदिति निर्बन्धे दर्शितस्तूष्णीं भावस्थित एव वन्दितः, तदनुरागाच्च निषिद्धोऽप्याचार्येण निवार्यमाणोऽप्युपाध्यायेन ध्रियमाणोऽपि साधुभिरसाम्प्रतमेतद्भवतो दुष्करं दुरध्यवसेयमित्येवं कथ्यमानेऽप्यहमपि तेनैव पित्रा जात इत्यवष्टम्भेन मोहात्तथैव तस्थौ, यथा ज्येष्ठ भ्रातेति। इतरो देवतयाऽऽगत्य वन्दितः। शिक्षकस्तु न वन्दितः। ततोऽसावपरिकर्म्मितमतित्वात् कुपितः। अविधिरिति कृत्वा देवताऽपि तस्योपरि कुपिता सती तलप्रहारे–णाक्षिगोलकौ बहिर्निश्चिक्षेप । ततस्तद्ज्यायान् हृदयेनैव देवातामाह–किमित्ययमन्यस्त्वया कदर्थितः, तदस्याक्षिणी पुनर्नवी कुरु । सा त्ववादीज्जीवप्रदेशैर्मुक्ताविमौ गोलकौ, न शक्यौ पुनर्नवीकर्तुम् । इत्युक्त्वा ऋषिवचनमलङ्घनीयमित्यवधार्य तत्क्षणश्च पाकव्यापादितैलाक्षिगोलकौ गृहीत्वा तदक्षिणी चकारेति । एवं सदुपदेशप्रवर्त्तनं सापायमित्यवधार्य शिष्येण सदाऽऽचार्योपदेशवर्त्तिना भाव्यम्, आचार्येणाऽपि सदा स्वपरोपकारवृत्तिना सम्यक् स्वशिष्या यथोक्तविधिना प्रतिपालनीया इति स्थितमिति ॥१६८॥ तदेवोपसंहरन्नाह–(एवं इत्यादि) यथा द्विजपोतो मातृपितृभ्यामनुपाल्यते, एवमाचार्येणापि शिष्या अहर्निशमनुपूर्वेण क्रमेण वाचिताः पाठिताः, शिक्षां ग्राहिताः, समस्तकार्यसहिष्णवः संसारोत्तरणसमर्थाश्च भवन्तीति । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । आचा०।

साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते। अस्य चायमभिसंबन्धः–इहानन्तरोद्देशके शरीरोपकरणधूननाऽभिहिता, सा च परिपूर्णा, न गौरवत्रि–करसमन्वितस्येत्यतस्तं धूननार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्यास्खलिताऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम्। तच्चेदम्–

एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेणं वाइया तेहिं महावीरेहिं पण्णाणमंतेहिं, तेसंतिए पण्णाणमुवलब्भहेच्चा उवसमं फारुसियं समादियंति ॥१००॥ वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं णो त्ति मण्णमाणा ॥१०१॥

(एवं ते सिस्सा इत्यादि) एवमिति द्विजपोतसंवर्द्धनक्रमेणैव, ते शिष्याः स्वहस्तप्रव्राजिता उपसंपदागताः प्रातीच्छकाश्च, दिवा च रात्रौ चानुपूर्वेण क्रमेण वाचिताः पाठितास्तत्र कालिकमहः प्रथमचतुर्थपौरुष्योरवाप्यते, उत्कालिकं तु कालवेलावर्जं सकलमप्यहोरात्रमिति। तथाऽध्यापनाऽऽचाराऽऽदिक्रमेण क्रियते । आचारश्च त्रिवर्षपर्यायोऽध्याप्यत इत्यादि क्रमेणाध्यापिताः शिष्याश्चारित्रं ग्राहिताः, तद्यथा–युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यम् कूर्मवत्संकुचिताङ्गेन भाव्यमित्यादि। एवं शिक्षां ग्राहिता वाचिता अध्यापिताः। कैरिति दर्शयतितैर्महावीरैस्तीर्थकरगणधराऽऽचार्याऽऽदिभिः। किम्भूतैः ? प्रज्ञावद्भिर्ज्ञानिभिरेवोपदेशाऽऽदि दत्तं लगतीत्यतो विशेषणम्, ते तु शिष्या द्विप्रकारा अपि प्रेक्षापूर्वकारिणस्तेषामाचार्याऽऽदीनामन्तिके समीपे, प्रकर्षेण ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञानं श्रुतज्ञानं, तस्यैवापरस्मादवाप्तिसद्भावादित्यतस्तदुपलभ्य लब्धबहुश्रुतीभूताः प्रबलमोहोदयापनीतसदुपदेशोत्कटमदत्वात्। त्यक्तोपशमम् । स च द्वेधाद्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्योपशमः–कतकफलाऽऽद्यापादितः कलुषजलादेः भावोपशमस्तुज्ञानाऽऽदित्रयात् । तत्र यो येन ज्ञानेनोपशाम्यति स ज्ञानोपशमस्तद्यथा–आक्षेपण्याद्यन्यतरया धर्मकथया कश्चिदुपशाम्यतीत्यादि । दर्शनोपशमस्तु–यो हि शुद्धेन सम्यग्दर्शनेनोपरमुपशमयति, यथा श्रेणिके नाश्रद्दधानी देवः प्रतिबोधित इति, दर्शनप्रभावकैर्वा संमत्यादिभिः कश्चिदुपशाम्यति । चारित्रोपशमस्तुक्रोधाऽऽद्युपशमो विनयनम्रतेति । तत्र केचन क्षुद्रका ज्ञानोदन्चतोऽद्याप्युपर्येव प्लवमानास्तमेवंभूतमुपशमं त्यक्त्वा ज्ञानलवोत्तम्भितगर्वाऽऽध्माताः पारुष्यं परुषतां समाददति गृह्णन्ति। तद्यथा–

परस्परगुणनिकायां, मीमांसायां वा। एकोऽपरमाहत्वं न जानीषे, न चैषां शब्दानामयमर्थो यो भवताऽभाणि। अपि च कश्चिदेव मादृशः शब्दार्थनिर्णयायालं न सर्व इत्युक्ते च पृष्टा गुरवः स्वयमपि परीक्षितं निश्चितं पुनरिदं न वा वादिनि च मल्लमुख्ये च मादृगेवान्तरं गच्छेत्। द्वितीयस्त्वाह– नन्वस्मदाचार्या एवमाज्ञापयन्तीत्युक्ते पुनराहसोऽपि वाक्कुण्ठो बुद्धिविकलः किं जानीते, त्वमपि च शुकवत्पाठितो निरूहापोह इत्यादीन्यन्यान्यपि, दुर्गृहीतकतिचिदक्षरो महोपशमकारणं ज्ञानं विपरीततामापादयन् स्वौद्धत्यमाविर्भावयन् भाषते। उक्तं च–

''अन्ये स्वेच्छारचिता–नर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय।
कृत्स्नं वाङ्मयमिति, खादन्त्यङ्गानि दर्पेण ॥१॥
क्रीडनकगीश्वराणां, कुक्कुटलावकसमानवाल्लभ्यः।
शास्त्राण्यपि हास्यकथां, लघुतां वा क्षुल्लको नयति ॥२॥''

इत्यादि। पाठान्तरं वा– ''हेच्चा उवसमं अहेगे फारुसियं समारुहंति।'' त्यक्त्वोपशमम्, अथानन्तरं बहुश्रुतीभूता एके, न सर्वे, परुषतामालम्बते, ततश्चालपिता शब्दिता वा तूष्णीं भावं भजन्ते, हुङ्कारशिरः कम्पनाऽऽदिना वा प्रतिवचनं ददति। किञ्च–(वसित्ता इत्यादि) एके पुनर्ब्रह्मचर्यं संयमः, तत्रोषित्वा, आचारो वा ब्रह्मचर्यं, तदर्थोऽपि ब्रह्मचर्यमेव, तत्रोषित्वा आचारार्थानुष्ठायिनोऽपि तद्भक्तिसितास्तामाज्ञां तीर्थकरोपदेशरूपां नो मन्यमानाः, नोशब्दो देशप्रतिषेधे, देशतस्तीर्थकरोपदेशं न बहु मन्यमानाः सातगौरवबाहुल्याच्छरीरवाकुशिकतामालम्बन्ते। यदि वा–अपवादमालम्ब्य प्रवर्तमाना उत्सर्गचोदनाचोदिताः सन्तो नैषा तीर्थकराऽऽज्ञेत्येवं मन्यन्ते। दर्शयन्ति चाऽपवादपदानि– ''कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहियं।'' इत्यादि। ततश्च यो येन ग्लायति तस्य तदपनयनार्थमाधाकर्माऽऽद्यपि कार्यं स्यादेतत्किं तेषां नाख्याताः कुशीलानां प्रत्यपायाः, यथा–आशातनाबहुलानां दीर्घः संसार इति ॥१०१॥

तदुच्यते–

अग्घा(क्खा)यं तु सोच्चा णिसम्म समणुण्णा जीविस्सामो, एगे णिक्खम्म ते असंभवं ता वि मज्झमाणा कामेहिं गिद्धा अज्झोववण्णा समाहिमाघायमजुसंता सत्थारमेव फरुसं वदंति ॥१०२॥

(अग्घायं ति) तुरवधारणे। आख्यातमेवैतत् कुशीलविपाकाऽऽदिकं श्रुत्वा निशम्यावबुद्ध्य चाऽऽशास्तारमेव परुषं वदन्तीति सम्बन्धः। किमर्थं तर्हि शृण्वन्तीति चेत्तदाह– ''समणुण्णा'' इत्यादि। समनोज्ञाः लोकसम्मताः, जीविष्याम इति कृत्वा प्रश्नव्याकरणार्थं शब्दशास्त्राण्यधीयते। यदि वा–अनेनोपायेन लोकसम्मता जीविष्याम इति कृत्वैके निष्क्रम्याऽथ वा समनोज्ञा उद्युक्तविहारिणः सन्तो जीविष्यामः संयमजीवितेनेत्येवं निष्क्रम्य पुनर्मोहोदयादसम्भवन्तस्ते गौरवत्रिकान्यतरदोषा ज्ञानाऽऽदिके मोक्षमार्गे न सम्यग् भवन्तो नोपदेशे वर्तमाना विविधं दह्यमानकामैर्गृद्धा गौरवत्रिकेऽध्युपपन्ना विषयेषु समाधिमिन्द्रियप्रणिधानमाख्यातं तीर्थकृतादिभिर्यमावेदितं तमजुषन्तः सेवमाना दुर्विदग्धा आचार्याऽऽदिना शास्त्राभिप्रायेण चोद्यमाना अपि तच्छास्तारमेव परुषं वदन्तिनास्मिन् विषये भवान् किञ्चन जानाति, यथाऽहं सूत्रार्थं शब्दं गणितं निमित्तं वा जाने तथा कोऽन्यो जानीते, इत्येवमाचार्याऽऽदिकं शास्तारं हीलयन्ति परुषं वदन्ति। यदि वा–शास्तृतीर्थकृताऽऽदिस्तमपि परुषं वदन्ति। तथाहि–क्वचित् स्खलितचोदिता जगदुः–केमन्यदधिकं तीर्थकृद्वक्ष्यत्यस्मद्बलकर्तनादपीति। इत्यादिभिरपाचीनैरालापैरलीकविद्यामदावलेपाच्छास्त्रकृतामपि दूषणानि वदेयुः ॥१०२॥

न केवलं शास्तारं परुषं वदन्त्यपरानपि साधूनपवदेयुरित्येत-दाह–

सीलमंता उवसंता (संखाए) रीयमाणा असीला अणुवयमाणस्स वितिया मंदस्स बालया ॥१०३॥

(सीलमंता इत्यादि) शीलमष्टादशशीलाङ्गसहस्रसंख्यम्। यदि– वा–महाव्रतसमाधानं, पञ्चेन्द्रियजयः, कषायनिग्रहस्त्रिगुप्तिगुप्तता चेत्येतच्छीलं विद्यते येषां ते शीलवन्तः। तथोपशान्ताः कषायापेशान्ताः कषायोपशमात्। अत्र शीलवद्ग्रहणेनैव गतार्थत्वादुपशान्ता इत्येतद्विशेषणं कषायनिग्रहप्राधान्यख्यापनार्थम्। सम्यक् ख्याप्यते प्रकाश्यतेऽनयेति संख्या प्रज्ञा, तया रीयमाणाः संयमानुष्ठाने पराक्रममाणाः सन्तः कस्यचिद्विश्रान्तभागधेयतयाऽशीला एत इत्येवमनुवदतोऽनुपश्चाद्वदतः पृष्ठतोऽपृष्ठतोऽपवदतोऽन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना कुशीला इत्येवमुक्तेऽनुवदतः पार्श्वस्थाऽऽदेर्द्वितीयैषा मन्दस्यान्यस्य बालता मूर्खता, एकं तावत् स्वतश्चारित्रापगमः, पुनरपरानुद्युक्तविहारिणोऽपवदत इत्येषा द्वितीया बालता। यदि वा–शीलवन्त एते उपशान्ता वेत्येवमन्येनाभिहिते, केषां प्रचुरोपकरणानां शीलवत्तोपशान्तता वा इत्येवमनुवदतो हीनाऽऽचारस्य द्वितीया बालता भवतीति ॥१०३॥

अपरे च वीर्यान्तरायोदयात् स्वतोऽवसीदन्तो पामरसाधुप्रशंसाऽन्विता यथाऽवस्थितमाचारगोचरमावेदयेयुरित्येतद्दर्शयितुमाह–

णियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति ॥१०४॥ णाणभट्ठा दंसणलूसिणो णममाणा एगे जीवितं विप्परिणामंति ॥१०५॥ पुट्ठा वेगे णियट्टंति जीवियस्सेव कारणा णिक्खंतं पि तेसिं दुण्णिक्खंतं भवंति ॥१०६॥

(णियट्टमाणा इत्यादि) एके कर्मोदयात्संयमान्निवर्त्तमाना लिङ्गाद्वा, वाशब्दादनिवर्त्तमाना वा यथावस्थितमाचारगोचरमाचक्षतेवयं तु कर्तुमसहिष्णव आचारस्त्वेवं भूतमित्येषां द्वितीया बालता न भवत्येव, न पुनर्वदन्त्येवम्भूत एवाऽऽचारो योऽस्माभिरनुष्ठीयते, साम्प्रतं दुःषमाऽनुभावेन बलाऽऽद्यपगमान्मध्यभूतैव वर्त्तिनी श्रेयसी, नोत्सर्गावसर इति। उक्तं हि–

''नात्यायतं न शिथिलं, यथा युञ्जीत सारथिः।
यथा भद्रं वहन्त्यश्वाः, योगः सर्वत्र पूजितः ॥१॥''

अपि च–

''जो जत्थ होइ भग्गो, उवसासं सो परं अविंदंतो।
गंतुं तत्थ वयंतो, इमं पहाणं ति घोसेइ'' ॥१॥ इत्यादि।

॥१०४॥ किम्भूताः पुनरेतदेव समर्थयेयुरित्याह–(णाणभट्ठा) सदसद्विवेको ज्ञानं, तस्माद् भ्रष्टाः। तथा–(दंसणलूसिणो त्ति) सम्यग्दर्शनविध्वंसिनोऽसदनुष्ठानेन स्वतो विनष्टा अपरानपि शङ्कोत्पादनेन सन्मार्गाद् च्यावयन्ति। अपरे पुनर्बाह्यक्रियोपेता

अप्यात्मानं नाशयन्तीत्याह–(णममाणा इत्यादि) नमन्तोऽप्याचार्याऽऽदेर्द्रव्यतः श्रुतज्ञानार्थं ज्ञानाऽऽदिभावविनयाभावात्कर्मोदयादेके, न सर्वे संयमजीवितं विपरिणामयन्त्यपनयन्ति, सच्चरितादात्मानं ध्वंसयन्तीत्यर्थः ॥१०५॥ किं चापरमित्याह–(पुट्ठा वेगे इत्यादि) एके अपरिकर्मितमतयो गौरवत्रिकप्रतिबद्धाः स्पृष्टाः परीषहैर्निवर्त्तन्ते संयमाल्लिङ्गाद्वेति, किमर्थम्? जीवितस्यैवासंयमाऽऽख्यस्य, कारणान्निमित्तात्, सुखेन वयं जीविष्याम इति सावद्यानुष्ठानतया संयमान्निवर्त्तन्ते । तथा–भूतानां च यत्स्यात्त–दाह–(णिक्खंतं पि इत्यादि) तेषां गृहपाशान्निष्क्रान्तमपि ज्ञानदर्शनचारित्रमूलोत्तरगुणान्यतरोपघातान्निष्क्रान्तं दुर्निष्क्रान्तं भवति ॥१०६॥

तद्धर्माणां च यत्स्यात्तदाह–

बालवयणिज्जा हु ते णरा, पुणो पुणो जातिं पगप्पंति, अहे संभवंता विद्दायमाणा अहमस्सि विउक्कसे, उदासीणे फरुसं वदंति पलियं पगंथे, अदुवा पगंथे अतहेहिं, तं मेहावी जाणिज्जा धम्मं ॥१०७॥

(बाल इत्यादि) हुर्हेतौ । यस्मादसम्यगनुष्ठानाद्दुर्निष्क्रान्तास्तस्माद् बालानां प्राकृतपुरुषाणामपि वचनीया गर्ह्या बालवचनीयाः। (ते णरा इति) किञ्च–(पुणो पुणो इत्यादि) पौनः–पुन्येनारहट्टघटीयन्त्रन्यायेन जातिरुत्पत्तिस्तां कल्पयन्ति । किम्भूतास्त इत्याह–(अहे इत्यादि) अधः संयमस्थानेषु सम्भवन्तो वर्तमाना विद्यया वाऽधो वर्तमानाः सन्तो विद्वांसो वयमित्येवं मन्यमाना लघुतयाऽऽत्मानं व्युऽऽत्कर्षयेयुरात्मनः श्लाघां कुर्वते, यत् किञ्चित् जानानोऽपि मानोत्तम्भितत्वाद्रससातागौरवबहुलोऽहमेवात्र बहुश्रुतो यदाचार्यो जानाति तन्मयाऽल्पेनैव कालेनाधीतमित्येवमात्मानं व्युत्कर्षयेदिति । नात्मा श्लाघ्यतयैवाऽऽसते परानप्यपवदेयुरित्याह–(उदासीणे इत्यादि) उदासीना रागद्वेषरहिता मध्यस्था बहुश्रुतत्वे सत्युपशान्ताः, तान् स्खलितान् चोदनोद्यतान् परुषं वदन्ति । तद्यथा–स्वयमेव तावत्कृत्यमकृत्यं वा जानीहि, ततोऽन्येषामुपदेक्ष्यसीति । यथा च परुषं वदन्ति तथा सूत्रेणैव दर्शयितुमाह–(पलियं इत्यादि) (पलियं ति) अनुष्ठानं, तेन पूर्वाऽऽचरितेनानुष्ठानेन तृणाऽऽहाराऽऽदिना प्रकथयेदेवम्भूतस्त्वमिति । अन्यथा वा कुण्टमण्टाऽऽदिभिर्गुणैर्मुखविकाराऽऽदिभिर्वा प्रकथयेदिति । किम्भूतैरतथ्यैरविद्यमानैरित्युपसंहरन्नाह–(तं इत्यादि) तद्वाच्यमवाच्यं वा, तं वा धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं, मेधावी मर्यादाव्यवस्थितो, जानीयात्सम्यक् परिच्छिन्द्यादिति ॥१०७॥

सोऽसभ्यवादप्रवृत्तो बालो गुर्वादिना यथाऽनुशास्यते, तथा दर्शयितुमाह–

अहम्मट्ठी तुमं सि णाम बाले, आरंभट्ठी, अणुवयमाणे हणमाणे घायमाणे, हणओ यावि समणुजाणमाणे, घोरे धम्मे उदीरिए उवेहइ, णं अणाणाए एस विसण्णे वितद्दे वियाहिए ति बेमि ॥१०८॥

(अहम्मट्ठी इत्यादि) अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थी, अधर्मणार्थी, यतो नाम त्वमेवम्भूतोऽनुशास्यते, कुतोऽधर्म्मार्थी , यतो बालोऽज्ञः, कुतो बालो यत आरम्भार्थी सावद्याऽऽरम्भप्रवृत्तः, कुत आरम्भार्थी , यतः प्राण्युपमर्दवादाननुवदन्नेतद् ब्रूषे । तद्यथा–जहि प्राणिनोऽपरैरेवं घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानासि गौरवत्रिकानुबद्धः पचनपाचनाऽऽदिक्रियाप्रवृत्तस्तत्पिण्डतर्की तत्समक्षं तानननुवदसिकोऽत्र दोषो? न ह्यशरीरैर्धर्मः कर्त्तुं पार्यते, अतो धर्म्माऽऽधारं शरीरं यत्नतः पालनीयमिति । उक्तं च – ''शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः। शरीराच्छ्रवते धर्मो , यथा बीजात्सदङ्कुरः ॥१॥'' इति। किञ्चैवं ब्रवीषि त्वं, तद्यथा– घोरो भया–नको धर्मः सर्वाऽऽश्रवनिरोधाद् दुरनुचर उत्प्राबल्येनेरितः कथितः प्रतिपादितस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिरित्येवमध्यवसायी भवान्तरमनुष्ठानत उपेक्षते उपेक्षां विधत्ते, णमिति वाक्यालङ्कारे । नाना–ज्ञया तीर्थकरगणधरानुपदेशेन, स्वच्छया प्रवृत्त इति, क एवम्भूत इति दर्शयति–एष इत्यनन्तरोक्तोऽधर्म्मार्थी बाल आरम्भार्थी प्राणिनां हन्ता घातयिता घ्नतोऽनुमन्ता धर्मोपेक्षक इति विषण्णः कामभोगेषु विविधं तद्दर्शयतीति वि तर्दो हिंसकः, 'तर्द' हिंसायामित्यस्मात्कर्तरि पचाऽऽद्यत् । संयमे वा प्रतिकूलो वितर्द इत्येवंरूपस्त्वमेष व्याख्यात इत्यतोऽहं ब्रवीमि, त्वं मेधावी धर्मं जानीया इति ॥१०८॥

एतच्च वक्ष्यमाणमहं ब्रवीमीत्यत आह–

किमणेण भो जणेण करिस्सामि त्ति मण्णमाणा एवं एगे विदित्ता, मातरं पितरं हिच्चा णाइओ य परिग्गहं वीरायमाणे समुट्ठाय अविहिंसा सुव्वया दंता पास दीणे उप्पइए पडिवयमाणे ॥१०९॥ वसट्टा कायरा य जणा लूसगा भवंति ॥११०॥ अहमेगेसिं सिलोए पावए भवति, से समणविब्भंते समणविब्भंते ॥१११॥

(किमणेणं इत्यादि) केचन विदितवेद्या धीरायमणाः सम्यगुत्थानेनोत्थाय पुनः प्राण्युपमर्दका भवन्तीति कथमुत्थाय किमहमनेन, भो इत्यामन्त्रणे, जनेन मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदिना स्वार्थपरेण परमार्थतोऽनर्थरूपेण करिष्यामीति, न ममायं कस्यचिदपि कार्यस्य रोगापनयनाऽऽदेरलमित्यनेन किमहं करिष्ये ? यदि वा–प्रव्रजिष्युः केनचिदभिहितः किमनया सिकताकवलसन्निभया प्रव्रज्यया करिष्यति भवान्, अदृष्टवशाऽऽयातं तावद्भोजनाऽऽदिकं भुङ् क्ष्वेत्यभिहितो विरागतामापन्नो ब्रवीतिकिमहमनेन भोजना–ऽऽदिना करिष्ये, भुक्तं मयाऽनेकशः संसारे पर्यटता, तथापि तृप्तिर्नाभूत्किमिदानीमनेन जन्मना भविष्यतीत्येवं मन्यमाना एके विदितसंसारस्वभावा विदित्वाऽप्येवं ततो मातरं जननीं पितरं जनयितारं हित्वा त्यक्त्वा, ज्ञातयः पूर्वापरसंबन्धिनः स्वजना वा, परिगृह्यत इति परिग्रहो धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदाऽऽदिस्तं, किम्भूताः ? धीरमिवात्मानमाचरन्तो धीरायमणाः, सम्यक् संयमानुष्ठाननेनोत्थाय समुत्थाय विविधैरुपायैः, न विद्यते विहिंसा येषां ते अविहिंसाः, तथा शोभनं व्रतं येषां ते सुव्रताः, दान्ता इन्द्रियदमनाद्दान्ता इत्येवं समुत्थाय । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति– ''समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू अहिंसगा सुव्वया दंता परदत्तभोइणो पावं कम्मं ण करेस्सामो समुट्ठाए।'' सुगमत्वान्न विव्रियत इति। एवं समुत्थाय पूर्वं पश्चात्पश्य निभालय दीनान् शृगालत्वविहारिणो व्रतं जिघृक्षून् पूर्वमुत्पतिता न संयमाऽऽरोहणात्पश्चात्पापोदयात् प्रतिपतत इति ॥१०९॥ किमिति दीना भवन्तीति दर्शयतियतो वशा इन्द्रिय–

विषयकषायाणां तत आर्त्ता वशाऽऽर्त्ताः, तथाभूतानां च कर्मानुषङ्गः। तदुक्तम्– ''सोइंदियवसट्टे णं भंते ! कति कम्मपगडीओ बंधइ? गोयमा ! आउवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ० जाव अणुपरियट्टइ। कोहवसट्टे णं भंते ! जीवे किं ? एवं ते चेव।'' एवं मानाऽऽदिष्वपीति। तथा कातराः परीषहोपसर्गोपनिपाते सति विषयलोलुपा वा कातराः। के ते ? जनाः, किं कुर्वन्ति? ते प्रतिभग्नाः सन्तो लूषका भवन्तिको ह्यष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि धारयिष्यतीत्येवमभिसंधाय द्रव्यलिङ्गं, भावलिङ्गं वा परित्यज्य प्राणिनां विराधका भवन्ति ॥११०॥ तेषांव च पश्चात्कृतलिङ्गानां यत्स्यात्तदाह–(अहमेगेसिं इत्यादि) अथाऽऽनन्तर्ये, एकेषां भग्नप्रतिज्ञानां सुप्रव्रजितानां तत्समनन्तरमेवान्तर्मुहूर्त्तेन वा पश्चत्वाऽऽपत्तिः स्यात्, एकेषां तु श्लोकः श्लाघारूपः पापको भवेत् स्वपक्षात्परपक्षाद्वा महत्ययशः कीर्तिर्भवति। तद्यथा–स एव पितृवनकाष्ठसमानो भोगाभिलाषी व्रजति तिष्ठति वा, नास्य विश्वसनीयं, यतो नास्याकर्त्तव्यमस्तीति। उक्तं च– ''परलोकविरुद्धानि, कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत्। आत्मानं यो न सन्धत्ते, सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः ॥१॥'' इत्यादि। यदि वा सूत्रेणैवाश्लाघतां दर्शयितुमाह–(से समण इत्यादि) सोऽयं श्रमणो भूत्वा विविधं भ्रान्तो भग्नः श्रमणविभ्रान्तः श्रमणविभ्रान्तः। वीप्सयाऽत्यन्तजुगुप्सामाह ॥१११॥

किञ्च–

पासहेगे समणागएहिं असमणागए णममाणेहिं अणममाणे विरतेहिं अविरते दविएहिं अदविए अभिसमेच्चा पंडिए मेहावी णिट्ठियट्ठे धीरे आगमेणं सया परक्कमेज्जासि त्ति वेमि ॥११२॥

पश्यत यूयं कर्मसामर्थ्यमेके विश्रान्तभागधेयाः समन्वागतैरुद्युक्तविहारिभिः सह वसन्तोऽप्यसमन्वागताः शीतलविहारिणः, तथा नममानैः संयमानुष्ठानेन विनयवद्भिरनममाना निर्घृणतया सावद्यानुष्ठायिनो, विरतैरविरता द्रव्यभूतैरद्रव्यभूताः पापकलङ्कितत्वादैवंभूतैरपि साधुभिः सह वसन्तोऽप्येवम्भूतानभिसमेत्य ज्ञात्वा, किं कर्त्तव्यमिति दर्शयतिपण्डितस्त्वं ज्ञातज्ञेयो मेधावी मर्यादाव्यवस्थितो निष्ठितार्थो विषयसुखनिष्पिपासो धीरः कर्मविदारणसहिष्णुर्भूत्वाऽऽगमेन सर्वज्ञप्रणीतोपदेशानुसारेण, सदा सर्वकालं परिक्रामयेत्, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, धूताध्ययनस्य चतुर्थोद्देशकः समाप्तः। उक्तश्चतुर्थोद्देशकः।

साम्प्रतं पञ्चम आरभ्यते–अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके कर्मविधूननार्थं गौरवत्रयविधूननाऽभिहिता, सा च कर्मविधूननोपसर्गविधूननाव्यतिरेकेण न संपूर्णभावमनुभवति, नापि सत्कारपुरस्कारात्मिकां समानधूननामन्तरेण गौरवविधूनना सम्पूर्णतामियादित्यत उपसर्गसमानविधूननार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्यास्खलिताऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम्। तच्चेदम्–

से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा गामेसु वा गामंतरेसु वा णगरेसु वा णगरंतरेसु वा जणवएसु वा जणवयंतरेसु वा संतेगतिया जणा लूसगा संति, अदुवा फासा फुसंति, ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासए ओए समियदंसणे ॥११३॥ ''से गिहेसु वा इत्यादि, ०जाव धीरो अहियासए।'' (से ति)

स पण्डितो मेधावी निष्ठितार्थो धीरः सदा सर्वज्ञप्रणीतोपदेशानुविधायी गौरवत्रिकाप्रतिबद्धो निर्ममो निष्किञ्चनो निराशि एकाकिविहारितया ग्रामानुग्रामं रीयमाणः क्षुद्रतिर्यग्नरामरकृतोपसर्गपरीषहाऽऽपादितान् दुःखस्पर्शान्निर्जरार्थी सम्यगधिसहेत। क्व पुनर्व्यवस्थितस्य के परीषहोपसर्गा अभिपतेयुरिति दर्शयति– आहाराऽऽद्यर्थं प्रविष्टस्य गृहेषु वा, उच्चनीचमध्यमावस्थासंसूचकं बहुवचनम्। तथा गृहान्तरेषु प्रसन्ति बुद्ध्यावीन् गुणानिति त्रामाः, तेषु वा तदन्तरातेषु वा। नैतेषु करोऽतीति नकराणि, तेषु वा, तदन्तरालेषु वा। जनानां लोकानां पदान्यवस्थानानि येषु ते जनपदा यवन्ह्यादयः साधुविहरणयोग्या अर्द्धषड्विंशतिः, तेषु वा, तदन्तरालेषु वा, ग्रामनगरान्तरे वा, ग्रामजनपदान्तरे वा, नगरजनपदान्तरे वा, उद्याने वा, तदन्तरे वा, विहारभूमिमागतस्य वा गच्छतो वा तदेवं तस्य भिक्षोर्ग्रामाऽऽदीनधिशयानस्य कायोत्सर्गाऽऽदि वा कुर्वत एके कालुष्योपहताऽऽत्मानो ये जना लूषका भवन्ति, 'लूष' हिंसायामित्यस्माद् ल्युडन्ते रूपम्। सन्ति विद्यन्ते, तत्र नारकाभावादुपसर्गकरणं प्रत्यवस्तु (?) तिर्यगमरयोरपि कादाचित्कत्वान्मे तूष्णीमेवानुकूलप्रतिकूलवद्भावाज्जनग्रहणम् (?) यदि वा–जायन्त इति जनाः तिर्यग्नरामरा एव जनशब्दाभिहिताः, ते च जना अनुकूलप्रतिकूलान्यतरभयोपसर्गाऽऽपादनेनोपसर्गयेयुरिति। तत्र दिव्याश्चतुर्विधाः। तद्यथा–हास्यात्, प्रद्वेषाद्विमर्शात्, पृथग्विमात्रातो वा। तत्र केलीकिलः कश्चित् व्यन्तरो विविधानुपसर्गान् हास्यादेव कुर्यात्– यथा भिक्षार्थं प्रविष्टैः क्षुल्लकैर्भिक्षालाभार्थं पललविकटतर्पणाऽऽदिनोपयाचितकं व्यन्तरस्य प्रपेदे, भिक्षाऽवासौ च तज्ज्ञायमानस्य कुतश्चिदुपलभ्य विकटाऽऽदिकं तैर्ढौके, तेनापि केल्यैव ते क्षुल्लकाः क्षीवा इव व्यध्यायिषत प्रद्वेषण–यथा भगवतो माघमासरजन्यां तापसीरूपधारिण्या व्यन्तर्योदकजटाभारवल्कलविप्रुड्भिः सेचनमकारि विमर्शार्थं मया दृढधर्मा न वेत्यनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैः परीक्षयेत्। तथा संविग्नः साधुर्भावितया कयाचिद् व्यन्तर्या स्त्रीवेषधारिण्या स्तन्यदेवकुलिकावासितः साधुरनुकूलोपसर्गरूपमर्दितो दृढधर्मेति च कृत्वा वन्दित इति। तथा पृथग्विधा मात्रा येषूपसर्गेषु ते पृथग्विमात्रा हास्याऽऽदित्रयान्यतराऽऽरब्धा अन्यतरावसायिनो भवन्ति। तद्यथा–भगवति संगमकेनेव विमर्शाऽऽरब्धः प्रद्वेषेण पर्यवसिता इति मानुषा अपि हास्यप्रद्वेषविमर्शकुशीलप्रतिषेधनाभेदाच्चतुर्धा। तत्र हास्याद्देवसेना गणिका क्षुल्लकमुपसर्गयन्ती दण्डेन ताभिता राजानमुपस्थिता, क्षुल्लकेन तथाभूतेन श्रीगृहोदाहरणेन राजा प्रतिबोधित इति। प्रद्वेषाद्वजसुकुमारस्येवश्वशुरभूतेनेति विमर्शाच्चन्द्रगुप्तो राजा चाणक्यचोदितो धर्मपरीक्षार्थमन्तःपुरिकाभिर्धर्ममावेदयन्तं साधुमुपसर्गयति, साधुना च प्रत्यायता श्रीगृहोदाहरणं राज्ञे निवेदितमिति। तत्र कुत्सितं शीलं कुशीलं, तस्य प्रतिसेवनं कुशीलप्रतिसेवनं, तदर्थं कश्चिदुपसर्गं कुर्याद्यथेर्ष्यालुगृहपर्युषितः साधुश्चतसृभिः सीमन्तिनीभिः प्रोषितभर्तृकाभिः सकलां रजनीमेकैकया प्रतिमया उपसर्गितो, न चाऽसौ तासु लुलुभे, मन्दरवन्निष्प्रकम्पोऽभूदिति तैर्यथैता अपि भवप्रद्वेषाऽऽहारापत्यसंरक्षणभेदाच्चतुर्द्धैव। तत्र भवात् सर्पाऽऽदिभ्यः प्रद्वेषाद्यथा गगनतश्चण्डकौशिकात् आहारात् सिंहव्याघ्राऽऽदिभ्यः अपत्यसंरक्षणात्काक्यादिभ्य इति। तदेवमुक्तविधिनोपसर्गाऽऽपादकत्वाज्जना लूषका भवन्ति। अथवा तेषु ग्रामाऽऽदिषु स्थानेषु तिष्ठ–

तो गच्छतो वा स्पर्शान् दुःखविशेषान् आत्मसंवेदनीयाः स्पृशन्त्यभिभवन्ति। ते चतुर्विधाः। तद्यथा–घट्टनताऽक्षिकणुकाऽऽदिना, पतनता भ्रमिमूर्च्छाऽऽदिना, स्तम्भनता घाताऽऽदिना, श्लेषणता तालुतः पातादङ्गुल्यादेर्वा स्यात् (?)। यदि वा–वातपित्तश्लेष्माऽऽदिक्षोभात् स्पर्शाः स्पृशन्ति। अथवा–निष्किञ्चनतया तृणस्पर्शदंशमशकशीतोष्णाऽऽदितापिताः स्पर्शा दुःखविशेषाः कदाचित् स्पृशन्त्यभिभवन्ति, तैश्च स्पृष्टपरीषहैस्तान् स्पर्शान् दुःखविशेषान् धीरोऽक्षोभ्योऽधिसहेत, नरकाऽऽदिदुःखभावनयाऽबन्ध्यकर्म्मोदयाऽऽपादितं पुनरपि मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य सम्यक् तितिक्षेदिति। कीदृक्षोऽधिसहेत? इत्यत आह– यदि वा स एवम्भूतो न केवलमात्मनस्त्राता, तदुपदेशदानतः परेषामपीति दर्शयितुमाह–(ओए इत्यादि) ओज एको रागाऽऽदिविरहात् सम्यगितं गतं दर्शनमस्येति समितदर्शनः, सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः। यदि वा शमितमुपशमं नीतं दर्शनं दृष्टिर्ज्ञानमस्येति समितदर्शनः, उपशान्ताध्यवसाय इत्यर्थः। अथवा–समतामितं गतं दर्शनं दृष्टिरस्येति समितदर्शनः समदृष्टिरित्यथः। एवम्भूतः स्पर्शानधिसहेत यदि वा धर्ममाचक्षीतेत्युत्तरक्रियया सह सम्बन्धः ॥११३॥ आचा०।

(किमभिसन्ध्य धर्म्ममाचक्षीतेति 'धम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६६२ पृष्ठे दर्शितम्)

किंगुणश्चाऽसौ द्वीप इव शरण्यो भवनीत्याह–

एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिलेस्से परिव्वए ॥११६॥ संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिणिव्वुडे ॥१२०॥ तम्हा संगं ति पासहा गंथेहिं गंथिया णरा विसण्णा कामक्कंता, तम्हा लूहाओ णो परिवित्तसेज्जा ॥१२१॥

(एवं इत्यादि) एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारेण, स शरण्यो महामुनिर्भावोत्थानेन संयमानुष्ठानरूपेण, उत्प्राबल्येन स्थित उत्थितः, तथा स्थितो ज्ञानाऽऽदिके मोक्षाध्वन्यात्मा यस्य स स्थिताऽऽत्मा, तथा स्निह्यतीति स्निहो, न स्निहोऽस्निहः रागद्वेषरहितत्वाद प्रतिबद्धः, तथा च न चलतीत्यचलः परीषहोपसर्गवातेरितोऽपीति। तथा चलोऽनियतविहारित्वात्तथा संयमाद्बहिर्निर्गता लेश्याऽध्यवसायो यस्य स बहिर्लेश्य, यो न तथा सोऽबहिर्लेश्यः, स एवम्भूतः परि समन्तात्संयमानुष्ठाने व्रजेत्परिव्रजेत्, न क्वचित्प्रतिबध्यमान इति यावत्॥११६॥ स च किमिति संयमानुष्ठाने परिव्रजेदित्याह–(संखाय इत्यादि) सङ्गच्चायाऽवधार्य्य पेशलं शोभनं धर्ममविपरीतार्थं, दर्शनं दृष्टिः, सदनुष्ठानं वा यस्यास्त्यसौ दृष्टिमान्, स कषायोपशमात् क्षयाद्वा परि समन्तान्निर्वृतः शीतीभूतः ॥१२०॥ यस्त्वसङ्ग यातवान् पेशलं धर्मं मिथ्यादृष्टिरसौ न निर्वातीति दर्शयितुमाह–(तम्हा इत्यादि) इतिहेतोर्यस्माद्विपरीतदर्शनो मिथ्यादृष्टिः सङ्गवान्न निर्वाति तस्मात्सङ्गं मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदिजनितं, धनधान्यहिरण्याऽऽदिजनितं वा सङ्गं, विपाकं वा पश्यत यूयं विवेकेनावधारयत। सूत्रेणैव सङ्गमाह–(गंथेहिं इत्यादि) त एव सङ्गिनो नराः सबाह्याभ्यन्तरैर्ग्रन्थैर्ग्रथिता अवबद्धा विषण्णा ग्रन्थसङ्गे निमग्नाः कामैरिच्छामदनरूपैराक्रान्ता अवष्टब्धा न निर्वान्ति यद्येवं ततः किं कर्तव्यमित्याह–(तम्हा इत्यादि) यस्मात्कामद्वयाऽऽसक्तचेतसः स्वजनधनधान्याऽऽदिमूर्च्छिता। कामजैः शारीरमानसाऽऽदिभिर्दुःखैरुपतापितास्तस्मात् रूक्षात्संयमात् निःसङ्गाऽऽत्मकान्नो परिवित्रसेन्न संयमानुष्ठानाद्बिभियात्। यतः प्रभूतनरदुःखानुषङ्गिणो हि सङ्गिन इति ॥१२१॥

कस्य पुनः संयमान्न परिवित्रसनं सम्भाव्यत इत्याह–

जस्सिमे आरंभा सव्वतो सव्वत्ताए सुपरिण्णाया भवंति, जेसिमे लूसिणो णो परिवित्तसंति, से वंता कोहं च माणं च मायं च लोहं च, एस तुट्टे वियाहिए त्ति बेमि ॥१२२॥ कायस्स वि वाघाए स संगामसीसे वियाहिए, से हु पारंगमे मुण अविहम्ममाणे फलगावतट्ठी कालोवणीए कंखेज्ज कालं ०जाव सरीरभेदो त्ति बेमि ॥१२३॥

(जस्सिमे इत्यादि) यस्य महामुनेरवगतसंसारमोक्षकारणस्येमे सङ्गा आरम्भा अनन्तरोक्तत्वादतिजानतः सर्वजनाऽऽचरितत्वात्प्रत्यक्षाऽऽसन्नवाचिनेदमभिहतः सर्वतः सर्वाऽऽत्मकतया सुपरिज्ञाता भवन्ति। किम्भूता आरम्भाः? येष्विमे ग्रन्थग्रथिताः विषण्णाः कामभराऽऽक्रान्ता जना लूषिणो लूषणशीला हिंसका अज्ञातमोहोदयान्न परिवित्रसन्ति न बिभ्यति, यो ह्येवंभूतांश्चाऽऽरम्भान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरति तस्यैते सुपरिज्ञाता भवन्ति। यश्चाऽऽरम्भाणां परिज्ञाता स किमपरं कुर्यादित्याह–(से वंता इत्यादि) स महामुनिः पूर्वव्यावर्णितस्वरूपो वान्त्वा त्यक्त्वा क्रोधं च मानं च मायां च लोभं चेति स्वगतभेदसंसूचनार्थो व्यस्तनिर्देशः, सर्वानुयायित्वात् क्रोधस्य प्रथमोपादानम्, तत्सम्बन्धत्वान्मानस्य लोभार्थं नायोपादीयत इत्यतस्तत्कारणत्वान्मायाया लोभस्याऽऽदावुपन्यासः, ततः स च दोषाऽऽश्रयत्वात् सर्वगुरुत्वाच्च सर्वोपरि लोभस्य क्षपणाक्रमं वाऽऽश्रित्यायमुपन्यास इति। चकारो हीतरेतरापेक्षया समुच्चयार्थः। स एवं क्रोधाऽऽदीन्वान्त्वा मोहनीयं त्रोटयति, स चैष अपगतमोहनीयः संसारसन्ततेः, 'तुट्ठो' अपसृतो व्याख्यातस्तीर्थकृतादिभिः, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ। ब्रवीम्येतत्पूर्वोक्तम्। यदि वैतद्वक्ष्यमाणमित्याह–(कायस्स इत्यादि) काय औदारिकाऽऽदित्रयं, घातिचतुष्टयं वा, तस्य व्याघातो विनाशः। अथ वा चीयत इति कायस्तस्य विशेषेणाङ्मऽऽर्यादयाऽऽयुष्ककक्षयाबधिलक्षणया, घ तो व्याघातः शरीरविनाश एव सङ्ग्रामशीर्षरूपतया व्याख्यातः। यथा हि–सङ्ग्रामशिरसि परानीकनिशाताऽऽकृष्टकृपाणनिर्यत्नप्रभासं चलितोद्यत्सूर्यत्विहुद्भूतविद्युन्नयनचमत्कृतिकारिणि कृतकरणोऽपि सुभटश्चित्तविकारं विधत्ते, एवं मरणकालेऽपि समुपस्थिते परिकर्मितमतेरप्यन्यथाभावः कदाचित्स्यादतो यो मरणकाले न मुह्यति, स पारगामी मुनिः संसारस्य कर्मणो वा उत्क्षिप्तभारस्य वा पर्यन्तयायीति। किञ्च–(अविहम्ममाणे इत्यादि) विविधं परीषहोपसर्गैर्हन्यमानो विहन्यमानो, न विहन्यमानोऽविहन्यमानः, न निर्विण्णः सर्वहानसंगर्द्धे (?) पृष्टमन्यद्वा बालमरणं प्रतिपद्यत इति। यदि वा–हन्यमानोऽपि सबाह्याभ्यन्तरतया तपःपरीषहोपसर्गैः फलक–वदवतिष्ठते न कातरीभवति। तथा कालेनोपनीतः कालोपनीतो मृत्युकालेनाऽऽत्मवशतां नीतः सन् द्वादशवर्षसङ्लेखनयाऽऽत्मानं संलिख्य गिरिगह्वराऽऽदिस्थण्डिलपादपोपगमनेङ्गितमरणभक्तपरिज्ञान्यतरावस्थोपगतः कालं मरणकालमायुष्कक्षयं यावच्छरीरस्य जीवेन सार्द्धं भेदो भवति, ता–

वदाकाङ्क्षेत्, अयमेव च मृत्युकालो यदुत शरीरभेदो, न पुनर्जीवि-स्याऽऽत्यन्तिको विनाशोऽस्तीति । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ । ब्रवीमीत्यादिकं पूर्ववदिति पञ्चमोद्देशकः। तत्समाप्तौ च सप्राप्तं धुताऽऽख्यं षष्ठाध्ययनमिति। आचा०१ श्रु०६ अ०५ उ०।

धुर-पुं०(धुर) अष्टाशीतिमहाग्रहेष्वन्यतमे स्वनामख्याते ग्रहे, ''दो धुरा।'' स्था०२ ठा०३ उ०। कल्प०।

धुरा-स्त्री०(धुरा) धुर्व-क्विप्। ''रो रा'' ॥८।१।१६॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्त्रियामन्त्यरेफस्य रा इत्यादेशः। प्रा०१पाद। चिन्तायाम्, रथाग्रभागे, यानमुखे, भारे च। टाप्। धुराऽप्यत्र। वाच०।

धुरी-स्त्री०(धुरी) अक्षे, अनु०।

धुव-पुं०(ध्रुव) शङ्खौ, विष्णौ, हरे, उत्तानपादनृपपुत्रे, वसुभेदे, ज्यौतिषोक्ते योगभेदे, नासाग्रे, स्थाणौ, ललाटस्थे आवर्त्तभेदे, भूगोल-स्योत्तरदक्षिणकेन्द्रद्वयोपरि स्थिते स्थिरे ताराभेदे च। वाच०। भगवत ऋषभदेवस्य भरताऽऽदिशतपुत्रेष्वन्यतमे स्वनामख्याते पुत्रे, कल्प०१ अधि०७ क्षण। शाश्वतत्वाद् मोक्षे, तदुपाये संयमे च। सूत्र०१ श्रु०२ अ०१उ०। ''धुवमग्गमेव पवयंति।'' ध्रुवो मोक्षः संयमो वा तन्मार्गमेव प्रवदन्ति। सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०। आचा०। मोक्षकारणीभूते ज्ञानाऽऽदिके, आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ०। कर्मणि, तत्फलभूते संसारे, अनु०। स्थैर्य्ये, षो० १२ विव०। अत्यन्ते, विशे०। ''धुवमोगिण्हइ।'' ध्रुवमत्यन्तं, सर्वदेत्यर्थः। स्था०६ ठा० अवश्यमिर्थे, आ० तर्के, आकाशे, उत्तरात्रयरोहिणीनक्षत्रेषु च। न०। वाच०। अर्थतो ध्रुवत्वाच्छाश्वतत्वाद् ध्रुवम्। आवश्यके, विशे०। त्रिकालभावित्वाद् ध्रुवः। नित्ये, ''धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे।'' (स्था०) इन्द्रशक्राऽऽदिवत्पर्याय-शब्दा ध्रुवाऽऽदयोनानादेशजविनेयप्रतिपत्त्यर्थमुपन्यस्ताः। स्था०५ ठा०३ उ०। विशे०। आचा०। ग०। आ०म०। ध्रुवोऽप्रच्यु-तानुत्पन्नस्थिर-स्वभावः। सूत्र०२ श्रु०४ अ०। अप्रतिहार्य्ये, नि० चू० ५ उ०। ''धुवा जे अविणासधम्मिणो।'' आ०चू०१ अ०। त्रिकालावस्थायित्वाद् ध्रुवं, मेर्वादिवदचले, जी०३ प्रति०४ अधि०। भ०। ध्रुवोऽवश्यंभावित्वात्। स्था०५ ठा०३ उ०। अवश्यं भाविनि, सूत्र०२ श्रु० १अ०। विशे०। आव०। निश्चिते, विशे०। आचा०। उत्त०। ध्रुवं नियतं नैत्यिकमिति त्रयोऽप्येकार्थाः। व्य० १ उ०। द्वा०। बृ०। अव्यभिचारिणि च। सूत्र०१ श्रु० २ अ०१ उ०। आचा०। सन्नते, अपरिणामिनि नित्ये, स्थिरे च। त्रि०मूर्वायाम्, शालपर्ण्यां च। स्त्री०। शरारिपक्षिणि, पुं०। स्त्री०। संज्ञायां कन्। गीतिभेदे, न०। वाच०।

धुवकम्मिय-पुं०(ध्रुवकर्मिक) लोहकाराऽऽदौ, व्य०१ उ०। कल्प०। ओघ०।

धुवचारि(ण्)-पुं०(ध्रुवचारिन्) ध्रुवो मोक्षस्तत्कारणं च ज्ञानाऽऽदि ध्रुवं, तदाचरितुं शीलं यस्य। मोक्षचरणशीले, मोक्षकारणज्ञानाऽऽद्याचरण-शीले च। आचा०१ श्रु०२अ०२उ०।

धुवजोगि(ण्)-पुं०(ध्रुवयोगिन्) नित्ययोगवति, दश०१० अ०।

धुवणिग्गह-पुं०(ध्रुवनिग्रह) प्रवाहतोऽनादिकालीनत्वाद् ध्रुवं कर्म, तन्निगृह्यतेऽनेनेति ध्रुवनिग्रहण विशे०। अनादित्वात् क्वचिदप्यपर्य्य-वसितत्वाद् ध्रुवं कर्म, तत्फलभूतः संसारो वा, तस्य निग्रहहेतु-त्वान्निग्रहो ध्रुवनिग्रहः। आवश्यके, अनु०।

धुवपगडि-स्त्री०(ध्रुवप्रकृति) ध्रुवकर्मप्रकृतौ, आचा०। ध्रुवकर्म-प्रकृतयश्चैमाः--पञ्चधा ज्ञानाऽऽवरणीयं, नवधा दर्शनाऽऽवरणीयं; मिथ्यात्वं कषायषोडशकं, भयं, जुगुप्सा, तैजसकार्मणशरीरवर्ण-गन्धरसस्पर्शाः, गुरुलघूपघातनिर्माणानां पञ्चधाऽन्तरायः। एताः सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवप्रकृतयः। आचा०१ श्रु०२अ०१ उ०। (अस्या भेदाः 'णाणावरणिज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६६५ पृष्ठे प्रतिपादिताः) (दर्शनाऽऽवरणीयभेदाः 'दंसणावरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४३७ पृष्ठे गताः) (मिथ्यात्वभेदवर्णनं 'मिच्छत्त' शब्दे) (कषायषोडशकस्वरूपं 'कसाय' शब्दे तृतीयभागे ३६४ पृष्ठे गतम्) (भयस्वरूपं 'भय' शब्दे विस्तरतो वर्णयिष्यामि) (जुगुप्सालक्षणं 'दुगुंछा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५५३ पृष्ठे गतम्) (तैजसकार्मणश-रीरवर्णनम् 'अगुरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५७ पृष्ठे गतम्) (वर्णस्वरूपं 'वण्ण' शब्दे वर्णयिष्यामि) (गन्धविस्तरः 'गंध' शब्दे तृतीयभागे ७६४ पृष्ठे गतः) (रसविभागः 'रस' शब्दे स्पष्टी भविष्यति) (स्पर्शविवेचनं 'फास' शब्दे वक्ष्यते) (गुरुलघुस्व-रूपं 'अगुरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५७ पृष्ठे गतम्) (उपघातभेदाः 'उवघाय' शब्दे द्वितीयभागे ८८० पृष्ठे विस्तरतो गताः) (निर्माण-नामस्वरूपम् 'णिम्माणणाम (ण्)' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०८४ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (सर्वेऽप्यन्तरायप्रकृतिभेदाः 'अंतरा (य) इय' शब्दे प्रथमभागे ६८ पृष्ठे प्रदर्शिताः)

धुवबंध-पुं०(ध्रुवबन्ध) यःपुनरग्रेऽपि नव्यः कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति, सोऽभव्यसंबन्धी बन्धो ध्रुवबन्धः। कर्मबन्धभेदे, क०प्र० २प्रक०।

धुवबंधिणी-स्त्री०(ध्रुवबन्धिनी) ध्रुवो बन्धो विद्यते यस्यां सा ध्रुवबन्धिनी। कर्मप्रकृतिभेदे, पं० सं० ३ द्वार। निजहेतुसद्भावे यासां प्रकृतीनां ध्रुवोऽवश्यंभावी बन्धो भवति, ता ध्रुवबन्धिन्यः कर्मप्रकृतः। कर्म०५ कर्म०। (ताश्च सप्तचत्वारिंशत्संख्याकाः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे)

धुवमग्ग-पुं०(ध्रुवमार्ग) ध्रुवो मोक्षः संयमो वा, तस्य मार्गः। मोक्षमार्गे, संयममार्गे च। ''धुवमग्गमेव पवयंति।'' सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ०।

धुवराहु-पुं०(ध्रुवराहु) सदैव चन्द्रविमानस्याधस्तात् संचरति राहुभेदे, सू०प्र०२० पाहु०। चं०प्र०। (तद्वक्तव्यता 'राहु' शब्दे-ऽवधार्या)

धुववग्गणा-स्त्री०(ध्रुववर्गणा) ध्रुवा नित्या लोकव्यापितया सर्वकालाव-स्थायिनी वर्गणा ध्रुववर्गणा। वर्गणाभेदे, आ०म० १अ०१ खण्ड। (तद्वक्तव्यता 'वग्गणा' शब्दे)

धुववण्ण-पुं०(ध्रुववर्ण) ध्रुवोऽव्यभिचारी, स चाऽसौ वर्णः संयमो मोक्षो वा ध्रुववर्णः। अव्यभिचारिणि संयमे, मोक्षे च। ध्रुवो वर्णो यशः कीर्तिर्वा ध्रुववर्णः। शाश्वते यशसि, शाश्वत्यां कीर्त्यां च। ''धुववण्णं स पेहिया।'' आचा०१ श्रु० ६ अ०१उ०।

धुवसंतकम्म-न०(ध्रुवसत्कर्म) यत्सर्वसंसारिणामनवाप्तोत्तर-गुणानां सातत्येन भवति तद् ध्रुवसत्कर्म्म। कर्मभेदे, पं०सं०

३ द्वार। (ध्रुवसत्कर्मप्रकृतयः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

धुवसंतकम्मिया-स्त्री०(ध्रुवसत्कर्मिका) ध्रुवं सत्कर्म यस्याः सा ध्रुवसत्कर्मिका। कर्मप्रकृतिभेदे, क०प्र०२ प्रक०।

धुवसत्तागा-स्त्री०(ध्रुवसत्ताका) ध्रुवा अव्यवच्छेदकालादर्वाक्काऽलाविनी सत्ता यस्याः सा ध्रुवसत्ताका। कर्मप्रकृतिभेदे, पं० सं०३ द्वार। या सर्वसंसारिणामप्राप्तसम्यक्त्वाऽऽद्युत्तरगुणानां सातत्येन भवन्ति ता ध्रुवसत्ताकाः। कर्म०५ कर्म०। (ताश्च त्रिंशदुत्तरशतसंख्याः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे द्रष्टव्याः) ध्रुवसत्ताकत्वं तासां सम्यक्त्वलाभादर्वाक् सर्वजीवेषु सदैव सद्भावात्। कर्म०५ कर्म०।

धुवसेण-पुं०(ध्रुवसेन) वीरनिर्वाणान्नवशताशीतिवर्षष्वतीतेषु जाते स्वनामख्याते नृपे, यस्य पुत्रमरणाऽऽर्त्तस्य शोकापहारार्थं कल्पसूत्रस्य वाचनाऽऽरब्धेति। कल्प०१ अधि०६ क्षण।

धुवोदया-स्त्री०(ध्रुवोदया) ध्रुव आ उदयकालव्यवच्छेदादर्वाक्कालावस्थायी उदयो विपाकानुभवनलक्षणो यस्याः सा ध्रुवोदया। "अवुच्छिण्णो उदओ, जाणं पयडीण ता धुवोदइया।" यासामव्यवच्छिन्नाऽनुसन्ततः स्वोदयव्यवच्छेदकालं यावत्। पं०सं०३ द्वार। कर्म०। उदयास्ता ध्रुवोदयाः, ('कम्म शब्दे विवृतमेतत्)

धूआ-स्त्री०(दुहितृ) अङ्गजायाम्, "धूआ दुहिआ।" को० २५२ गाथा।

धूअरायमग्ग-पुं०(धूतराजमार्ग) धूतोऽपनीतो राजमार्गो राजपन्था यस्मिन्। अपनीतराजपथे, सूत्र०१ श्रु०४अ०२उ०।

धूओवाय-पुं०(धूतोपाय) 'धुओवाय' शब्दार्थे, आचा०१ श्रु० ६अ०१ उ०।

धूण-(देशी) गजे, दे०ना० ५ वर्ग ६० गाथा।

धूम-पुं०(धूम) धू-मक्। आर्द्रकाष्ठजाते मेघकज्जलयोः कारणे वह्निध्वजे पदार्थे, वाच०। "अंतो धूमेण नारेइ।" धूमेन वह्निलिङ्गेन। स० ३० सम०। व्याधिशमनाय धूमश्चायोगर्भः। पं०व०४ द्वार। औ०। धूमो मनःशिलाऽऽदिसम्बन्धीभूतत्रासनाऽऽदिकः। उत्त० १५ अ०। द्वेषे, "इंगालधूमपरिसुद्धं उवहिं धारए स भिक्खू जो इंगालो त्ति रागो धूमो त्ति दोसो तेहिं, परिसुद्धं न तेहिं।" परिभुञ्जतीत्यर्थः। नि०चू०१६ उ०। द्वेषाग्निना दह्यमानस्य निन्दाऽऽत्मके कलुषभावे च। धूमो द्विधा। तद्यथा- द्रव्यतो, भावतश्च। तत्र द्रव्यतो योऽर्द्धदग्धानां काष्ठाऽऽदीनां सम्बन्धी। भावतो द्वेषाग्निना दह्यमानस्य सम्बन्धी कलुषभावो निन्दाऽऽत्मकः। पिं०। चरणेन्धनस्य द्वेषेण धूमवत इव करणं मतुप्प्रत्ययलोपाद् धूमः। ग०१ अधि०। चारित्रेन्धनस्य धूमवत इव करणमिति विग्रहे कारिते मतुब्लोपे च धूमः। चारित्रेन्धनस्य धूमायमानतारूपे ग्रासैषणादोषभेदे, पञ्चा० १३ विव०।

धूमंग-(देशी) भ्रमरार्थे, दे०ना० ५ वर्ग ५७ गाथा।

धूमकेउ-पुं०(धूमकेतु) धूम इव केतुः। उत्पातरूपेऽशुभसूचके, वाच०। अष्टाशीतिमहाग्रहाणामन्यतमे महाग्रहे, चं०प्र०२० पा० हु० १ पाहु०पाहु०। प्रज्ञा०। प्रश्न०। स्था०। कल्प०। सू०प्र०। अग्नौ, "पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।" धूमकेतोरग्नेर्ज्यातिर्ज्वालां प्रस्कन्देत। उत्त० २२ अ०। धूमकेतुं धूम चिह्नं धूमध्वजं नोल्काऽऽदिरूपम्। दश०२अ०। "दो धूमकेऊ।" स्था०२ ठा० ३उ०।

धूमचारण-पुं०(धूमचारण) चारणभेदे, धूमवर्तितिरश्चीनामूर्द्धगां वाऽवलम्ब्यास्खलितगमनाऽऽस्कन्दिनो धूमचारणाः। ग०२ अधि०। प्रव०।

धूमजोणि-पुं०(धूमयोनि) धूमो योविरस्य। मेघे, मुस्तके च। ६ त०। वह्नौ, आर्द्रकाष्ठे च। वाच०। "अब्भाइँ धूमजोणी।" को० २७ गाथा।

धूमज्झय-पुं०(धूमध्वज) वह्नौ, धूमचिह्ने वह्नौ, दश०२अ०। एकार्थिकानि- "धूमज्झओ हुयवहो, विहावसू पावओ सिही वण्ही। अणलो जलणो दुहणो, हुआसणो हव्ववाहो य॥६॥" को०६ गाथा।

धूमण-न०(धूमन) अनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपाने, दश०३ अ०। नापि काशाऽऽद्यापनयनार्थं तं धूमं योगवर्ति निष्पादित मापिबेत्। सूत्र०२ श्रु०१अ०।

धूमदोस-पुं०(धूमदोष) अन्तप्रान्ताऽऽदाबाहारे द्वेषाच्चारित्रस्यापि धूननाद्धूमदोषः। आचा०२ श्रु०१ अ०३उ०। निन्दन् पुनः पुनश्चारित्रेन्धनम्, दहन् धूमकरणाद् धूमदोषः। ग्रासैषणादोषभेदे, ध०३ अधि०। द्वेषेण भुञ्जानस्य धूमदोषः। जीत०। उत्त०। "दोसेण सधूमगं मुणेयव्वं।" पिं०। द्वेषेणाऽऽध्मातस्य यद् भोजनं तत्सधूमं, निन्दाऽऽत्मककलुषभावरूपधूमसंमिश्रत्वात्। पिं०।

धूमद्दार-(देशी) गवाक्षे, दे०ना०५ वर्ग ६१ गाथा।

धूमद्धअ-(देशी) तटाके, महिषे च। दे०ना०५ वर्ग ६३ गाथा। वह्नौ, को०६ गाथा।

धूमद्धयमहिसी-स्त्री०(देशी) कृत्तिकासु, दे०ना०५ वर्ग ६२ गाथा।

धूमपलीयाम-पुं०(धूमप्रदीप्ताम) आमभेदे, नि०चू०। "धूम-पलियामं णाम जहा खड्डे खणित्ता तत्थ करीसो छुब्भति, तीसे खड्डाए परिपेरंतेहिं अण्णाओ खड्डाओ खणित्ता तासु तेदुआदीणि फलाणि छुभिता जा, सा करीसगखड्डगा, तत्थ अग्गी छुब्भति सा तेसिं च तेंदुगखड्डाणं मिलिया, ताहे धूमो तेहिं पविसित्ता ताणि फलाणि पावति, तेणं ते पचंति, तत्थ जे अपक्काते धूमपलियामा भण्णंति॥" नि०चू०१५ उ०।

धूमप्पभा-स्त्री०(धूमप्रभा) धूमस्य प्रभा यस्यां सा धूमप्रभा। धूमाऽऽभद्रव्योपलक्षितायां स्वनामख्यातायामपरिष्टापरनामधेयायां पञ्चम्यां पृथिव्याम्, प्रव०१७ द्वार। स्था०। अनु०। भ०। प्रज्ञा०। सम०। (धूमप्रभायां कियदकाशे नैरयिकानां वास इति 'ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०१ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

धूममहिसी-स्त्री०(धूममहिषी) धूमस्य महिषीव। कुज्झटिकायाम्, वाच०। "धूममहिसी य।" को० ५५ गाथा।

धूमरी-(देशी) नीहारार्थे, दे०ना० ५वर्ग ६१ गाथा।

धूमवण्ण-पुं०(धूमवर्ण) पाण्डुरे, ज्ञा०१ श्रु० १७ अ०।

धूमसिहा-स्त्री०(धूमशिखा) धूमाग्रभागे, ''चत्तारि धूमसिहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा–वामा णाममेगा वामावत्ता, वामा णाममेगा दाहिणावत्ता, दाहिणा णाममेगा वामावत्ता, दाहिणाणाममेगा दाहिणावत्ता''। स्था०४ ठा०२ उ०। नीहारार्थे, दे०ना०५ वर्ग ६१ गाथा।

धूमा-स्त्री०(धूमा) धूमिकायाम्, स्था०१० ठा०।

धूमिआ-(देशी) नीहारार्थे, दे०ना०५ वर्ग ६१ गाथा।

धूमिय-त्रि०(धूमित) धूमयुते, ''अप्पत्तियधूमधूमितं चरणं।'' पिं०।

धूमिया-स्त्री०(धूमिका) मिहिकाभेदे, धूमिका मिहिकाभेदः, वर्णतो धूमिका धूमाऽऽकारा, धूम्रेत्यर्थः । स्था०१० ठा०। धूमिका–मिहिकयोर्वर्णकृतो भेदः। धूमिका धूम्रवर्णा, धूसरेत्यर्थः । मिहिका त्वापाण्डुरेति। भ०३ श०७ उ०। दे०ना०। ''धूमिया य मिहिया य।'' को ३८ गाथा। धूमिका रूक्षा प्रविरलाधूमाभा प्रतिपत्तव्या। अनु०। जी०। स्था०। तदात्मके आन्तरिक्षेऽस्वाध्यायभेदे, स्था० १० ठा०।

धूय-न०(धूत) 'धुय' शब्दार्थे, स्था०९ ठा०।

धूयकिलेस-त्रि०(धूतक्लेश) 'धुयकिलेस' शब्दार्थे, आतु०।

धूयचारि(ण्)-पुं०(धूतचारिन्) 'धुयचारि(ण्)' शब्दार्थे, आचा०१ श्रु० २अ०३उ०।

धूयज्झयण-न०(धूताध्ययन) 'धुयज्झयण' शब्दार्थे, आचा०१ श्रु०८ अ०४उ०।

धूयपाव-त्रि०(धूतपाप) 'धुयपाव' शब्दार्थे, आतु०।

धूयबहुल-त्रि०(धूतबहुल) 'धुवबहुल' शब्दार्थे, सूत्र०२ श्रु०२ उ०।

धूयमोह-त्रि०(धूतमोह) 'धुयमोह' शब्दार्थे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०। दश०।

धूयरय-त्रि०(धूतरजस्) 'धुयरय' शब्दार्थे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२उ०।

धूयरागमग्ग-पुं०(धूतरागमार्ग) 'धुयरागमग्ग' शब्दार्थे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०२उ०।

धूयवाय-पुं०(धूतवाद) 'धुयवाय' शब्दार्थे, आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०।

धूया-स्त्री०(दुहितृ) दोग्धि च केवलं जननीं स्तन्यार्थमिति दुहिता। ततश्च ''दुहितरि धो हिलोपश्च।'' इति वचनादादेर्धत्वे हिलोपे च ''ऊदुत्सु पुष्पोत्सवोत्सुकदुहितृषु।'' इति वचनात् उत ऊत्वे च ''धूया।''(५७) उत्त० १ अ०। ''दुहितृभगिन्योर्धूया–वहिण्यौ'' ॥८।२।१२५॥ इति प्राकृतसूत्रेण दुहितृशब्दस्य वा धूयाऽऽदेशः। ''धूया। दुहिआ।' प्रा०२ पाद। सुतायाम्, वाच०। जं०। उत्त०। ''ताणं धूयाणं।'' आचा० १ श्रु०२अ०५उ०। नि०चू०। आ०म०।

धूरिअ-न०(देशी) दीर्घे, दे०ना०५ वर्ग ६२ गाथा।

धूलडिअआ-स्त्री०(धूलिका) ''धूलि–कः।'' ''अ–डड–डुल्लाः स्वार्थिककलुक् च'' ॥८।४।४२६॥ इति सूत्रेणापभ्रंशे स्वार्थे धूलिशब्दाद् डडप्रत्ययः। डिति परे इकारलोपे ''धूलड'' इति। ''योगजश्चैषाम्'' ॥८।४।४३०॥ इतित सूत्रेणापभ्रंशे ग–डड–डुल्लानां योगे डडप्रत्ययान्ताद् अप्रत्ययः। प्रा०४ पाद। आन्तान्ताद् डाः'' ।८।४।४३२॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे स्त्रियां वर्त्तमानादप्रत्ययान्तप्रत्ययान्तात् डाप्रत्ययः। 'धूलडअआ' इत्यवस्थायाम् ''अस्येदे'' ॥८।४।४३३॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे स्त्रियां वर्त्तमानस्य नाम्नो योऽकारस्तस्याकारे प्रत्यये परे इकारः। प्रा०४ पाद। धूल्याम्, वाच०।

धूलि-स्त्री०(धूलि) धू–लि–कः,वा ङीप्। रजसि, परागे च। जी०३ प्रति०४ अधि०।

धूलिजंघ-त्रि०(धूलिजङ्घ) धूल्या धूसरे जङ्घे यस्य स धूलिजङ्घः। शाकपार्थिवाऽऽदिदर्शनान्मध्यमपदलोपी समासः। पादलग्नधूलिके, व्य०१० उ०। नि०चू०।

धूलिणाय-न०(धूलिज्ञात) चिक्खिल्लज्ञाते, तीर्थकराऽऽचार्य-गणधर-शिष्याणां समीपे स्वाध्यायमधिकृत्य ''इति उदिए धूलिणायमाहंसु।'' यथा धूलिरेकत्र स्थापिता, तत उद्धृत्यान्यत्र यत्राऽऽस्तीर्यते तत्रावश्यं किञ्चित्परिशटति, ततोऽप्यन्यत्र प्रस्तीर्यमाणा भूयो भूयः परिशटति, यथा वा प्रासादे लिप्यमाने मनुष्यपरम्परया चिक्खिल्लः प्रत्यर्प्यमाणो बहु परिशटितः स्तोकमात्रवशेष एव सर्वान्तिममनुष्यस्य हस्तं प्राप्नोति। बृ०१ उ०२प्रक०।

धूलिधूसर-त्रि०(धूलिधूसर) लग्नधूलिके, ''धूलिधूसरसर्वाङ्गौ।'' आ० क०। आचा०।

धूलिबहुल-त्रि०(धूलिबहुल) प्रचुरपांशुके, भ०७श०६उ०।

धूलिवरिस-पुं०(धूलिवर्ष) पांशुवृष्टौ, ''धूलीवरिसं वरिसइ।'' आ० म० १ अ०२ खण्ड।

धूली-स्त्री०(धूली) 'धूलि' शब्दार्थे ,जी०३प्रति०४उ०।

धूलीवट्ट-(देशी) अश्वे, दे०ना०५ वर्ग ६१ गाथा।

धूव-पुं०(धूप) ''पो वः'' ॥८।१।३३१॥ स्वरात्परस्याऽसंयुक्तस्यनादेः पस्य प्रायो दन्तोष्ठस्थानीयो वकारः। 'धूवो।' प्रा०१ पाद। धूपयति रोगान् दोषान् वा। धूप अच्। गुग्गुलप्रभृतिगन्धद्रव्योत्थे धूपे, तत्साधनद्रव्ये च। वाच०। ''कप्पूरमलयचंदणकालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंत–सुरभिमघमघंतगंधुद्धयाभिरामे।'' धूपश्च दशाङ्गाऽऽदिगन्धद्रव्यसंयोगजः। जं०१ वक्ष०। एतेषां सम्बन्धी यो धूपस्तस्य दह्यमानस्य सुरभिर्यो मघमघायमानोऽतिशयवान् गन्ध उद्धुत उद्भूतः, तेनाभिराममभिरमणीयं यत्तत्तथा। ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। नि०चू०। आ०म०। प्रज्ञा०। प्रश्न०। जं०। अनु०।

धूवघडी-स्त्री०(धूपघटी) ''पो वः'' ॥८।१।२३१॥ इति पस्य वकारः प्रा०१ पाद। धूपभृतघटिकायाम्, ''ताओ णं धूवघडीओ कालगुरुप-वरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुआभिरामाओ सुगंधवरगंधिआओ गंधवट्टिभूआओ उरालेणं मणुण्णेणं घाणमणणिव्वुइकरेणं गंधेणं ते पएसे सव्वओ समंता आपूरेमाणीओ सिरीए अईव उवसोभेमाणा चिट्ठंति।'' जं०१ वक्ष०। जी०।

धूवण-पुं०(धूपन) धूप–ल्युः। यक्षधूपे, वाच०। धूपप्रदाने, न०। ''अण्णयरेण धूवणजाएण धूवेज्ज वा।'' आचा०२

श्रु०२ चू०१३ अ०। धूपनमित्यात्मवस्त्राऽऽदेः, तद्यानाचरितम्। ज्ञा०१ श्रु० १७ अ०। नो शरीरस्य स्वीयवस्त्राणां वा धूपनं कुर्यात्। सूत्र०२ श्रु० १ अ०।

धूवणजाय-न०(धूपनजात) धूपनप्रकारे, आचा० २ श्रु०२ चू० १३अ०।

धूवणविहि-पुं०(धूपनविधि) धूपदानप्रकारे, ''धूवणविहिपरिमाणं करेइ णण्णत्थ अगुरुतुरुक्कधूवमाइएहिं।'' उपा०१ अ०। (विशेषस्तु 'आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

धूवधूम-पुं०(धूपधूम) अगुर्वादिगन्धद्रव्योत्थे धूमे, दर्श०१ तत्त्व।

धूवपूया-स्त्री०(धूपपूजा) धूपप्रदानरूपे पूजाभेदे, दर्श०१ तत्त्व।

धूविय-त्रि०(धूपित) धूप-क्त-वा आयाभावः। अध्वादिगमनेन श्रान्ते, सन्तापिते च। वाच०। अगुर्वादिसुगन्धिद्रव्यैः सुगन्धीकृते च। ''दुग्गंध त्ति काउं अगुरुमाईहिं सुगंधीकयं।''ग०१ अधि०। दुर्गन्धाऽऽद्यपनयनार्थं धूपाऽऽदिना धूपित इति। आचा०२ श्रु०१ चू०२ अ०१उ०।

धूसर-पुं०(धूसर) गर्दभे, उष्ट्रे, कपोते, तैलाऽऽकारे ईषत्पाण्डुवर्णे, कृष्णश्वेतवर्णे, शुक्लपीतवर्णे च। तद्वर्णवति, त्रि०। वाच०। ''धूलिधूसरसर्वाङ्गौ।'' आ०क०। आचा०।

धूसरिअ-त्रि०(धूसरित) ''गुंडिअं उद्धूलिअं च धूसरिअं।''को० १६२ गाथा।

धे-धा०(ध्यै) चिन्तने, भ्वा-पर०-सक०-अनिट्। ध्यायति। अध्यासीत्। वाच०। भ०१ श०१ उ०।

*** धै**-धा०। तृप्तौ, भ्वा-पर०-अक०-अनिट्। धावति। अधासीत्। वाच०।

धेज्ज-त्रि०(धेय) धारणीये, पालनीये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०।

*** ध्येय**-त्रि०। हृदि धारणीये, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। विपा०।

धेणु-स्त्री०(धेनु) धयति सुतान् धे-नु-इच्च। नवप्रसूतायां गवि, वाच०। बृ०१ उ० २प्रक०। प्रा०। आचा०।

धेवय-पुं०(धैवत) अतिसंधयते अनुसंधयति शेषस्वरानिति निरुक्तिवशाद् धैवतः। ''अनुसंधयते यस्मा-देतान् पूर्वोत्थितान् स्वरान्। तस्मादय स्वरस्यापि, धैवतत्वं विधीयते ॥१॥'' इत्युक्तार्थकैरैवतापरनामधेये, स्या०७ ठा०। अनु०। गत्वा नाभेरधोभागं, वस्तिं प्राप्योर्ध्वगः पुनः। धावन्निव च यो याति, कण्ठदेशं स धैवतः ॥१॥'' इत्युक्तलक्षणे कण्ठोक्ते स्वरभेदे, वाच०। ''धेवयस्सरसंपण्णा, भवंति कलहप्पिया।'' स्था०७ ठा०।

धोज्ज-त्रि०(धुर्य) धौरेये, ''धोज्जेहिं हुंति उवणीया।'' धुर्य्यै धौरेयैः। व्य०१ उ०।

धोय-त्रि०(धौत) धाव-क्त-ऊठ्। अतिनिर्मलीकृते, जी०३ प्रति०४ उ०। आ०म०। ज्ञा०। जलाऽऽदिना प्रक्षालिते, भ०६ श०३ उ०। प्रभूतजलक्षालनक्रियया धौतं मलिनं सत् प्रक्षालितम्। बृ०१ उ०२ प्रक०। औ०। ''कहं देहो धोइउं सक्को।'' धोतुं क्षालयितुं शक्यम्। तं०। अतिनिशितीकृते, रा०। प्रज्ञा०। धौतं 'चोक्खं' कृतमिति। बृ० ३उ०। शोधिते, ज्ञा०१ श्रु० १अ०। रा०। जी०। शुभ्रे च। रजते, न०। वाच०।

धोयरत्त-त्रि०(धौतरक्त) पूर्वं धौते पश्चाद्रक्ते वस्त्राऽऽदौ, ''णो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारएज्जा।'' पूर्वं धौतानि पश्चाद्रक्तानि। आचा०१ श्रु०८ अ०४उ०।

धोवण-न०(धावन) 'धावण' शब्दार्थे, प्रव०१ द्वार।

धुव-(धुग) व्यक्तायां वाचि, ''ब्रु(ब्रू)गो धु(ब्रु)वो वा'' ॥८।४।३६१॥ अपभ्रंशे ब्रु(ब्रू)गो धातोर्धु (ब्रु) व आदेशो वा भवति। ''धुवह सुहासिउ किं पि'' पक्षे-''इत्तउं ब्रोप्पिणु सउणिठिउ, पुणु दूसासणु ब्रोप्पि। तो हउं जाणउं एहो हरि, जइ महुअग्गइँ ब्रोप्पि ॥१॥'' दुर्योधनोक्तिरियम्-शकुनिर्नाम मातुल इयद् ब्रूक्त्वा स्थितः पुनर्दुःशासनो ब्रूत्वा स्थितः। अहं ततस्तर्हि जाने यदि एष हरिर्ममाग्रे ब्रुत्वा तिष्ठति शेष इत्यर्थः। पक्षे-ब्रूत्वा। प्र०। ''एप्पयेप्पिण्वेव्येविणवः'' ॥८।४।४४०॥ क्त्वास्थाने एप्पिणु। ''स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे'' ॥८।४।३२६॥ इति एकारेण सहऋकारस्य उकारः। ब्रोप्पिणु। ब्रूप्पिणु। क्त्वा प्र०। ''एप्पेप्पिणु०'' ॥८।४।४४०॥ इति क्त्वास्थाने एप्पि। शेषं पूर्ववत्। ब्रोप्पि। प्रा०दुं० ४ पाद। यथाऽत्र भरते मेरुदिशि ध्रुवो वर्तते, तथा महाविदेहेष्वैरव ते वर्तते न वा? तथा-जम्बूद्वीपे कति ध्रुवास्सन्ती? इति प्रश्ने, उत्तरम्-भरतवदन्यत्रापि ध्रुवाः संभाव्यन्ते, परमेतत्प्रतिपादकान्यक्षराणि तु न दृश्यानि स्मरन्तीति। २२२ प्र०। सेन०३ उल्ला०।

धुवु-न०(ध्रुवम्) ''एवं-परं-समं-ध्रुवं-मा-मनाक् एम्व-पर-समाणु-धुवु-मं-मणाउं'' ॥८।४।४१८॥ इति प्राकृतसूत्रेण ध्रुवमो धुवुः। नित्यमित्यर्थ, प्रा०४ पाद। ''चंचल जीविउ धुवु मरणु, पिइ रूसिज्जइ काइँ। होसइँ दिअहा रूसणा दिव्वइँ वरिससयाइं॥१॥'' जीवितं चञ्चलं, मरणं ध्रुवं, हे प्रिये! रुष्यते कथं? रोषण-स्य दिवसा अपि दिव्यानि वर्षशतानि भविष्यन्तीत्यर्थः। प्रा०४ पाद।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८
श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
धकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

नकार

न-पुं०(न) न इति तवर्गस्य पञ्चमो वर्णः स्पर्शसंज्ञो नासिकादन्तस्थानीयः। ''नो नरे च सनाथेऽपि, नोऽनाथेऽपि प्रदृश्यते। (७६) एका०।''''नशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, पठ्यते भिन्नसूक्ष्मयोः ॥५३॥'' एका०। ''नः पुंसि वह्नौ हेरम्बे (५२)'' ''नकारस्तु स्त्रियां नाभौ (५३)।'' नशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, पठ्यते भिन्नसूक्ष्मयोः ॥५३॥'' एका०२०।

न-अव्य०। निषेधे, ''वाऽऽदौ'' ॥८।१।२२९॥ असंयुक्तस्याऽऽदौ वर्तमानस्य नस्य णो वा भवति। णत्वपक्षेण। प्रा० १ पाद। ''नात्पुनर्यादाइ वा''॥८।१।६५॥ नञः परे पुनः शब्दे आदेरस्य आ आइ इत्यादेशौ वा भवतः। 'न उणा, न उणाइ।' पक्षे 'न उण, न उणो' प्रा०१ पाद।

नअ-पुं०(नग) क–ग–च–ज–त–द–प–य–वां प्रायो ''लुक् ॥८।१।१७७॥ इति गलुक्। पर्वते, प्रा०१ पाद।

नअण-न०(नयन) ''क–ग–च–ज–त–द–प–य–वां प्रायो लुक्'' ॥८।१।१७७॥ इति यलुक्। प्रा०१ पाद। चक्षुषि, प्रा०१ पाद।

नअर-न०(नगर) 'क–ग–च०' ॥८।१।१७७॥ इत्यादिना गलुक्। ''अवर्णो यश्रुतिः'' ॥८।१।१८०॥ इति अकारो यश्रुतिकः। क्वचिन्नअरं। पुरे, प्रा०१ पाद।

नई-स्त्री०(नदी) सरिति, सूत्र०१ श्रु०१ अ०५ उ०। ''वाऽऽदौ'' ॥८।१।२२९॥ असंयुक्तस्याऽऽदौ वर्तमानस्य नस्य णो वा भवति। 'नई।'पक्षे–णई। प्रा०१ पाद। भ०। प्रश्न०। ''सरिया तरंगिणी निण्णया नई आवया सिंधू।''को० २८ गाथा। (अत्र विशेषवक्तव्यता 'णई'शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७३८ पृष्ठे गता)

नउ-अव्य०(नउ) ''इवार्थे नं–नउ–नाइ–नावइ–जणि–जणवः'' ॥८।४।४४४॥ इति इवार्थे नउ इत्यादेशः। ''रविअत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु। चक्किं खण्डु मुणालिअहे, नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥१॥'' सूर्यास्तमने समाकुलेन चक्रवाकेन कण्ठे वितीर्णं दत्तं स्थापितं सत् मृणालिकायाः कमलिन्याः खण्ड न छिन्नं न भक्षितं, 'नउ' उत्प्रेक्ष्यते, जीवस्य निर्गच्छतोऽर्गला दत्ता॥ प्रा०४ पाद।

नं-अव्य०(नं) ''इवार्थे नं–नउ–नाइ–नावइ–जणि–जणवः'' ॥८।४।४४४॥ इति इवार्थे नं इत्यादेशः। ''मुख–कबरी–बन्ध–तहे, सोह धरहि, नं मल्ल–जुज्झु ससि–राहु करंहि। तहें सोह–हिँ कुरल भभरउलतुलिअ, नं तिमिरर्मिभ खेलंति मिलिअ।'' तस्या मुखकबरीबन्धौ वदनवेणबिन्धौ शोभां धरतः 'नं' उत्प्रेक्षते–शशिराहू मल्लयुद्धं कुरुतः। तस्याः कुरलाः केशाः शोभन्ते। किंभूताः। भ्रमरकुलतुलिता मधुकरयूथसमानाः, 'नं' उत्प्रेक्ष्यते–तिमिरडिम्भा अन्धकारबालका मिलित्वा क्रीडन्तीत्यर्थः। प्रा०४ पाद। ''नं ब्रह्मणि तथाऽनन्ते, सानन्दे नं च नन्दने ॥७६॥'' एका०। ''नमाढ्यज्ञानयोर्भवेत्।''(५३) एका०।

नंदण-न०(नन्दन) देववने, ''नंदणं अमरुज्जाणं।'' को० ९७ गाथा। (अस्य बहवोऽर्थाः 'णंदण' शब्देसस्मिन्नेव भागे १७४९ पृष्ठे दर्शिताः)

नंदणा-स्त्री०(नन्दना) तनयायाम्, ''अंगया नंदणा सुआ, तणया।'' को० १०२ गाथा।

नंदी-स्त्री०(नन्दी) हर्षे, ज्ञानपञ्चके, ज्ञाते, आ०म०१ अ०१ खण्ड। ''नंदी मंगलहेउं।''बृ०१ उ०। गवि,''नंदी तंबा बहुला, गिट्ठी गोला य रोहिणी सुरही।'' को० ४५ गाथा। (नन्द्याः परिपूर्णतया व्याख्या 'णंदि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७५१ पृष्ठे प्रतिपादिता)

नकर-न०(नगर) नगा वृक्षाः पर्वता वा सन्त्यस्मिन्निति नगरम्। पुरभेदे, ''चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ'' ॥८।४।३२॥ इति गस्य कः। 'नगरं। नकरं।'प्रा०४ पाद।

*** नक्कसिरा**-स्त्री०(नासिकाशिरा) घ्राणशिरायाम्, ''खुंखुणओ नक्कसिरा।'' को० ११४ गाथा।

नक्ख-पुं०(नख) कररुहे, ''सेवाऽऽदौ वा'' ॥८।२।९९॥ इति खद्वित्वम्। प्रा०२ पाद। जी०। औ०। दे०ना०। ''नक्खा नहा कररुहा।'' को० १०९ गाथा।

नक्खत्त-न०(नक्षत्र) ज्योतिष्कभेदे, द०प०। स्था०। जं०। ''रिक्खं ऽडु नक्खत्तं।'' को० ९६ गाथा। सू०प्र०। चं०प्र०। (विस्तरतो व्याख्या 'णक्खत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७६० पृष्ठे गता)

नग्गोह-पुं०(न्यग्रोध) वटे, प्रज्ञा०१ पद। नि०चू०। ''नग्गोहं वडरुक्खं।'' को० २५७ गाथा।

नट्ट-न०(नाट्य) नृत्ते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। बृ०। जं०। रा०। ''नट्टं लासं तंडवं।'' को० १६९ गाथा। (अस्य द्वात्रिंशद्भेदाः 'णट्ट' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७९८ पृष्ठे दर्शिताः)

नढ-पुं०(नट) नाटकानां नाटयितरि, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। ''नडो कुसीलओ।''को० २७२ गाथा। (अस्य भेदौ 'णड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८०४ पृष्ठे दर्शितौ)

नडिअ-न०(नटित) विडम्बिते, ज्ञा०१ श्रु०९ अ०। ''जूरिअं उत्तम्भिअं नडिअं।'' को० १९६ गाथा।

नत्तंचर-पुं०(नक्तञ्चर) नक्ते नक्तं वा चरतीति नक्तञ्चरः। राक्षसे, चौरे, विडाले च। ''क–ग–च–ज–त–द–प–य–वां प्रायो लुक्'' ॥८।१।१७७॥ इति कलुक्। ''नत्तंचरो'' प्रा०१ पाद।

नद्धून-अव्य०(नष्ट्वा) नश्–क्त्वा। ''द्धून–त्थूनौ ष्टः'' ॥८।४।३१३॥ इति ष्ट्वा इत्यस्य स्थाने द्धूनादेशः। अदृश्यीभूयेत्यर्थे, प्रा०४ पाद।

नम्म-न०(नर्मन्) हास्ये, ''केली नम्मं च परिहासो।'' को० १६६ गाथा। ''स्नमदामशिरोऽनभः'' ॥८।१।६२॥ इति प्राकृते वा पुंस्त्वम्। ''नम्मो।'' परिहासे, केलौ च। प्रा०४ पाद।

नम्मया-स्त्री०(नर्मदा) विन्ध्याद्रिनिर्गतायां प्रसिद्धनद्याम्, ''मेअलकन्नाय नम्मया रेवा।'' को० १३० गाथा। आवा०।

*** नम्रता**-स्त्री०। औचित्ये, नमनशीलतायाम्,द्वा० १२ द्वा०।

नयण-न०(नयन) प्रापणे, आ०म०१अ०१ खण्ड। निवेशने, पं० सं०५ द्वार। नेत्रे, ''अच्छिं नयणं च लोअणं नित्तं।'' को० १११ गाथा।

नयणजल-न०(नयनजल) नेत्रजले, ''वप्फं वाहो य नयणजलं।''को० ११२ गाथा।

नयणा-स्त्री०(नयन) ''वाऽक्ष्यर्थवचनाऽऽद्याः'' ॥८।१।३३॥ इति नयनशब्दस्य प्राकृते स्त्रीत्वमपि। 'नयणा–नयणाइं।' प्रा०१ पाद।

नर-पुं०(नर) पुरुषे, प्रा०१ पाद। आचा०। आ०म०। ''मणुआ नरा मणुस्सा, मच्चा तह माणवा पुरिसा।'' को० ६० गाथा। (नराणां भेदाः ''णर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६०३ पृष्ठे उक्ताः)

नरणाह-पुं०(नरनाथ) राजनि, ''नरनाहो पत्थिओ निवो राया।'' को० १०० गाथा।

नल-(नर) ''रसोर्लशौ'' ॥८।४।२८८॥ इति मागध्यां रस्य लः। नले, प्रा०४ पाद।

नलय-न०(नलक) कमलतन्तौ, ''नलयं लामंजयं उसीरं च।'' को० १४६ गाथा।

नलिण-न०(नलिन) कमले, ''अंबुरुहं सयवत्तं, सरोरुहं पुंडरीअमरविंदं। राईवं तामरसं, महुप्पलं पंकयं नलिणं॥१०॥'' को० १० गाथा। (अस्य बहवोऽर्थाः 'णलिण'शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६२८ पृष्ठे दर्शिताः)

नलिणी-स्त्री०(नलिनी) कमलिन्याम् ,''भिसिणी नलिणी कमलिणी य।''को० १४६ गाथा। पद्मिन्याम्, ज्ञा०१ श्रु० १अ०।

नवरंग-त्रि०(नवरङ्ग) ''रग्गयं च नवरंगं।'' को० २६१ गाथा।

नवरि-अव्य० । शीघ्रे, ''सयराहं नवरि य दु–त्ति झत्ति सहसत्ति इक्कसरिअं च। अविहाविअं–मिक्कवए, अतक्किअं तक्खणं सहसा ॥१७॥'' को० १७ गाथा।

नवसिअ-त्रि०(नमस्थित) नमस्कारकर्तरि, ''ओवाइअं नवसिअं।'' को० १५६ गाथा।

नह-पुं०(नख) पाणिपादजे,प्रव० ४० द्वार। ''नक्खा नहा कररुहा।'' को० १०६ गाथा।

*** नभस्**-न०। आकाशे, एकार्थिकानि–''खं अब्भं अंतरिक्खं, वोमं नह–मंवरं गयणं। ''को० २७ गाथा।

नाअ-पुं०(नाक) स्वर्गे , ''तिविट्ठपं तह सुरालओ नाओ।'' को० ६५ गाथा।

*** ज्ञात**-त्रि०। अवबुद्धे,प्रा०४ पाद।

नाइ-अव्य०(नाइ) ''इवार्थे नं–नउ–नाइ–नावइ–जणि–जणवः'' ॥८।४।४४४॥ इति इवार्थे 'नाइ' आदेशः। ''वलया-वलिनिवडणभए–ण धण उद्धब्भुअ जाइ। वल्लहविरहमहादहउ, थाह–गवसेइ नाइ॥१॥'' नायिका वलयावलिनिपतनभयेन ऊर्ध्वभुजा याति । ''नाइ'' उत्प्रेक्ष्यते–वल्लभविरहमहाह्रदस्य स्तांघ गवेषयतीत्यर्थः। प्रा०४ पाद।

नाम-न०(नामन्) अन्यबोधाय कृते पदार्थानां संज्ञायाम्, ''सन्ना गुत्तं च नाम अभिहाणं।'' को० १६१ गाथा। (नाम्नो भेदा 'णाम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६७ पृष्ठे दर्शिताः)

नारी-स्त्री०(नारी) नरस्त्रियाम्, बृ०४ उ०। ''पुरिसाणां नो अन्नो एरिसो अरी अत्थि त्ति नारी उ।'' तं०। (व्याख्या 'णारी' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१३ पृष्ठे गता)

एकार्थिकानि–

''रामा रमणी सीमं–तिणी बहू वामलोअणा विलया।
महिला जुवई अबला, निअंविणी अंगणा नारी ॥१२॥''

तद्भेदेऽप्येकार्थिकानि–

''सच्छंदा उद्दामा, निरग्गला मुक्कला विसंखलया।
निरवग्गहा य सइरा, निरंकुसा हुंति अप्पवसा॥१३॥''

को० १२-१३–गाथा।

नारुट्ट-पुं०(नारुट्ट) कूसारे, को० १३२ गाथा। दे०ना०।

नालिअ-त्रि०(मूढ) ''शीघ्राऽऽदीनां बहिल्लाऽऽदयः'' ॥८।४ ।४२२॥ इत्यन्तर्गणसूत्रेण मूढस्य नालिआऽऽदेशः। मूर्खे, बाले, जडे, प्रा०। ''जो पुणु ममणि जि खसफसिहूअत्त, चिंतइ देइ न दम्मु न रूअउ। रइ–वस–भमिरू करग्गुल्लालिउ, धरहिं जि कोंतु गुणइ सो नालिउ ॥१॥'' यः पुनर्मनस्येव (खसफसिहूअउ) व्या–कुलीभूतः सन् चिन्तयतिद्रम्मं न ददाति न रूपकम्, स मूढो रतिवशेन भ्रमणशीलः सन् कराग्रोल्लालितं कुन्तं भल्लं गृहे एव गुणयति, चालयतीत्यर्थः। प्रा०४ पाद।

नालिआ-स्त्री०(नाडिका) समयनियामके यन्त्रविशेषे, ''नालिया घडिआ।''को० २७२ गाथा। ज्यो०। अनु०। (नालिका किंप्रमाणेत्यादि सर्वा वक्तव्यता 'णालिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१४ पृष्ठे गता)

नालिका-स्त्री०। ताम्राऽऽदिमयघटिकायाम्, अनु०।

नावइ-अव्य०(नावइ) इवार्थे, ''इवार्थे नं–नउ–नाइ–नावइजणि–जणवः'' ॥८।४।४४४॥ इति इवार्थे नावइ आदेशः। ''पेक्खेविणु मुहु जिणवरहो, दीहरनयण सलोणु। नावइ गुरुमच्छरभरिउ, जलणि पवीसइ लोणु॥१॥'' 'नावइ' उत्प्रेक्ष्यते, गुरुमत्सभृतं लवणं ज्वलने प्रविशति, किं कृत्वा? जिनवरस्य दीर्घनयनं सलवणं सलावण्यं मुखं प्रेक्ष्येत्यर्थः। प्रा०४ पाद।

नास-पुं०(नाश) अभावे, द्रव्या० ६ अध्या०। (अस्य भेदप्रतिपादनं 'णास' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१५ पृष्ठे गतम्) ''पलयो निहणं नासो।'' को० १६७ गाथा।

*** नाशि**-धा०(नश) णिच्–विघाते, ''स्वराणां स्वराः'' ॥८।४।२३८॥ इति ह्रस्वाकारस्थाने दीर्घाऽऽकारः। प्रा०४ पाद।

नासइ-धा०(नश्यति) ''नशेर्विउड–नासव–हारव–विप्पगाल–पलावाः'' ॥८।४।३१॥ इति नशेर्ण्यन्तस्य नासाऽऽदेशः। 'नासइ।' नाशयति। प्रा०४ पाद।

नासा-स्त्री०(नासा) घ्राणग्रहणेन्द्रिये, ''नासा घाणं घोणा।'' को० १११ गाथा।

निअंब-पुं०(नितम्ब) कटिपश्चाद् भागे, कटके च। वाच०। ''रमणंतियं निअंबो।'' को० ११५ गाथा।

निअंबिणी-स्त्री०(नितम्बिनी) स्त्रियाम्, को० १२ गाथा। (अस्यैकार्थिकानि 'नारी' शब्दे गतानि)

निअंसण-न०(निवसन) परिधाने, औ०। जीवा०। उत्त०। कटीवस्त्रे, ''जाण सिचयं कडिल्लं, निअंसणं साहुली य परिहणयं।''को० ६६ गाथा।

निअक्कल-त्रि०(निअक्कल) गोलाऽऽकारे, ''पेढाल-निअक्कल-वट्टुलाइं परिमंडलत्थम्मि।''को० ८४ गाथा। दे०ना०।

निअगुणसलाहा-स्त्री०(निजगुणश्लाघा) स्वगुणप्रशंसायाम्, ''विगत्थणं निअगुणसलाहा।'' को० २४७ गाथा।

निअत्त-त्रि०(निवृत्त) ''निवृत्तवृन्दारके वा'' ।८।१।१३२॥ इति ऋत उद्वा। 'निवृत्तं। निअत्तं।' विरते, प्रा०१ पाद।

निअय-त्रि०(नियत) नियमिते, ''निच्चं निअयं सासयं।'' को० १६० गाथा। सूत्र०। बृ०। ('**निच्च**' शब्देऽस्य बहून्येकार्थिकानि (१५३) गाथार्द्धेन प्रतिपादितानि)

*** निजक**-त्रि०। स्वकीये, ''अप्पुल्लयं निअयं।'' को० २३१ गाथा। आव०।

निअर-पुं०(निकर) समुदाये, को० १८-१९-गाथा। (अस्यैकार्थिकानि 'निउरंब' शब्दे वक्ष्यते)

निअलिअ-त्रि०(निगडित) बद्धे, ''बद्धं संदाणिअं निअलिअं च।'' को० १९७ गाथा।

निआण-न०(निदान) आदिकारणे, को० १७६ गाथा। (अत्र विशेषः 'णियाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०९४ पृष्ठे गतः)

निउंचिअ-त्रि०(निकुञ्चित) संकुचिते, ''संकोडिअं निउंचिअं।'' को० १८६ गाथा।

निउण-त्रि०(निपुण) कुशले, ''चउरा निउणा कुसला, छेआ विउसा बुहा य पत्तट्ठा।'' को० ६० गाथा। (अस्य शब्दस्य बहवोऽर्थाः 'णिउण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१७ पृष्ठे दर्शिताः)

*** निगुण**-त्रि०। नियतगुणे, विशे०।

निउरंब-पुं०(निकुरम्ब) समूहे, एकार्थिकानि- ''उप्पंको उप्पीलो, उक्केरो पहयरो गणो पयरो। ओहो निवहो संघो, संघाओ संहरो निअरो ॥१८॥संदोहो निउरंबो, भरो निहाओ।'' को० १८-१९-गाथा। औ०। रा०।जी०।

निक्किव-त्रि०(निष्कृप) निर्दये, ''निद्धंधसा निसंसा, निद्धुड्डा निक्किवा अकरुणा य।'' को० ७३ गाथा। पं०व०। (अस्य लक्षणं 'णिक्किव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०२२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

निक्खय-त्रि०(निक्षत) 'णिक्खय' शब्दार्थे, को० २४० गाथा। दे०ना०।

निक्खित्त-त्रि०(निक्षिप्त) ''णिक्खित्त' शब्दार्थे, ''निमिअं निहिअं च निक्खित्तं।'' को० १९३ गाथा।

निग्गहट्ठाण-न०(निग्रहस्थान) वादकाले वादी प्रतिवादी येन निग्रह्यते तन्निग्रहस्थानम्। सूत्र०१ श्रु० १२ अ०। वादिवश्चनार्थके प्रतिज्ञाहान्यादौ, स्था०१ ठा०। विप्रतिपत्तिः, अप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति। अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं, दूषणस्य चानुद्धरणम्। तच्च-निग्रहस्थानं द्वाविंशतिविधम्। तद्यथा-प्रति-ज्ञाहानिः १, प्रतिज्ञाऽन्तरम् २, प्रतिज्ञाविरोधः ३, प्रतिज्ञासन्यासः ४, हेत्वन्तरम् ५, अर्थान्तरम् ६, निरर्थकम् ७, अविज्ञातार्थकम् ८, अपार्थकम् ९, अप्राप्तकालम् १०, न्यूनम् ११, अधिकम् १२, पुनरुक्तम् १३, अननुभाषणम् १४, अज्ञानम् १५ अप्रतिभा १६, विक्षेपः १७, मतानुज्ञा १८, पर्यनुयोज्योपेक्षणम् १९, निरनुयोज्यानुयोगः २०, अपसिद्धान्तः २१, हेत्वाभासाश्च २२। तत्र १-हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपग-च्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानम्। यथा- अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन् परेण सामान्यमैन्द्रियकत्वमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते यद्येवं ब्रूयात्-सामान्यवद् घटोऽपि नित्यो भवत्विति। स एवं ब्रुवाणः शब्दाऽनित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात् १।२-प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयम-भिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति। अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे चोदिते यदि ब्रूयाद्युक्तं सामान्यमैन्द्रियकं नित्यम्, तद्धि सर्वगतम्, असर्वगतस्तु शब्द इति। तदिदं शब्दे अनित्यत्वलक्षणपूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञाऽन्तरमसर्वगंतः शब्द इति निग्रहस्थानम्। अनया दिशा शेषाण्यपि विंशतिर्ज्ञेयानि २। स्या०। (३-प्रतिज्ञाविरोधविवेचनम्- 'पइण्णाविरोह' शब्दे)। (४-प्रतिज्ञा-संन्यासविवरणम्- 'पइण्णासंण्णास' शब्दे पञ्चमभागे दर्श-यिष्यते)। (५-हेत्वन्तरव्याख्या- 'हेउअंतर' शब्दे द्रष्टव्या)। ६-''प्रकृतादर्था-दप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ७''। गौ०सू०। यथोक्त-लक्षणे पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां ब्रूयात्- नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वादिति हेतुः। हेतुर्नाम हिनोतेर्धातोस्तुनि प्रत्यये कृदन्तपदं, पदं च नामाऽऽख्या-तोपसर्गनिपाताः। अभिधेयस्य क्रियाऽन्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो नाम, क्रियाकारकसमुदायः कारकसंख्याविशिष्टक्रियाकालयोगा-भिधाय्याख्याते, धात्वर्थमात्रं च कालाभिधानविशिष्टं, योगेष्वर्थादभिद्य-मानरूपा निपाताः, उपसृज्यमानाः क्रियावद् द्योतका उपसर्गा इत्येव-मादि, तदर्थान्तरं वेदितव्यमिति। भा०। (अस्य 'अत्थंतर' शब्देऽपि, प्रथमभागे ५०७ पृष्ठे किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति)(७-निरर्थकविवेचनम्- 'निरत्थय' शब्देऽग्रे २७७५ पृष्ठे वक्ष्यते) ८-''परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ९।'' गौ०सू०। यद्वाक्यं परिषदा, प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायते श्लिष्टशब्दमप्रतीतप्रयोग-मतिद्रुतोच्चारितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातमविज्ञातार्थमसाम-र्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानम्। भा०। (सूत्रस्याऽस्य वृत्तिर्ग्रन्थ-तोऽवसेया)। (९-''पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबद्धार्थमपार्थकम् १०।'' गौ०सू०। यत्रानेकस्य पदस्य, वाक्यस्य वा पौर्वापर्येणान्वययोगो नास्तीत्य-सम्बद्धार्थकत्वं गृह्यते, तत्समुदायोऽर्थस्यापायादपार्थकम्। यथा-दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः, अथ रौरुकमेतत् कुमार्याः पाय्यं, तस्याः पिता अप्रतिशीन इति। भा०। (ग्रन्थादेव वृत्तिर्विलोक्या)

१०-''अवयवविपर्य्यासवचनमप्राप्तकालम् ११'' गौ०सू०। प्रतिज्ञाऽऽदीनामवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः, तत्रावयवविपर्यासेन वचनमप्राप्तकालसम्बन्धार्थकालं निग्रहस्थानमिति। भा०। अप्राप्तकालं लक्षयति अवयवस्य कथैकदेशस्य विपर्यासो वैपरित्यम्। तथा च समयबन्धविषयीभूतकथ। क्रमविपरीतक्रमेणाऽभिधानं पर्ययसन्नम्, तत्रायं क्रमःवादिना साधनमुक्त्वा सामान्यतो हेत्वाभास उद्धरणीय इत्येकः पादः। प्रतिवादिनश्च तत्रापालम्भो द्वितीयः पादः। प्रतिवादिनः स्वपक्षसाधनं, तत्र हेत्वाभासोद्धरणीयश्चेति तृतीयः पादः। जयपराजयव्यवस्था चतुर्थः पादः। एवं प्रतिज्ञाहेत्वादीनां क्रमः। तत्र सभाक्षोभव्यामोहाऽऽदिना व्यत्यस्ताभिधानमप्राप्तकालमिति वृत्तिः ॥११॥ (न्यूनव्याख्या 'नून' शब्देऽनुपदमेव २७७७ पृष्ठे करिष्यते) (१२-अधिकव्याख्या 'अहिय' शब्दे प्रथमभागे ८८७ पृष्ठे गता) (१३-पुनरुक्तविषयः 'पुणरुत्त' शब्दे द्रष्टव्यः)। १४ ''विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणमननुभाषणम् १७''। गौ० सू०। विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना विरभिहितस्य यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानमिति, अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात्। भा०। अननुभाषणं लक्षयतिपरिषदा विज्ञातस्य विशिष्य बुद्धार्थस्य वादिना विभिरभिहितस्य तथा च प्रथमवचनेऽननुभाषणे वादिना वारत्रयं वाक्यमिति दर्शितम्, तथा च त्रिभिरभिधानेऽपि यत्रानुभाषणविरोधी व्यापारः, तत्राननुभाषणं निग्रहस्थानमित्यर्थः। (अत्रत्याऽवशिष्टा वृत्तिस्तु ग्रन्थतोऽवसेया) १५-''अविज्ञातं चाऽज्ञानम् १८''। गौ० सू०। विज्ञातार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदविज्ञानं तदज्ञानं निग्रहस्थानमिति। अयं खल्वविज्ञाय कस्य प्रतिषेधं ब्रूयादिति। (पुनरस्य वक्तव्यं 'अण्णाण' शब्दे प्रथमभागे ४८७ पृष्ठेऽप्यस्ति) १६-उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा १९''। गौ० सू०। परपक्षप्रतिषेधः उत्तरं तद् यदा न प्रतिपद्यते तदा निगृहीतो भवति। भा०। अप्रतिभां लक्षयति-उत्तरार्हेण परोक्तं बुध्वाऽपि यत्रोत्तर समये उत्तरं न प्रतिपद्यते तत्राप्रतिभा निग्रहस्थानम्। न चात्राननुभाषणस्याऽऽवश्यकत्वात्। तदेव दूषणमस्त्विपि वाच्यम्। परोक्ताऽवनुवादे हि तत् यत्र परोक्तमनूद्यापि नोत्तरं प्रतिपद्यते तत्रासाङ्कर्य्यात् स्वसूचनश्लोकपाठाऽऽद्युन्नेया चेयमिति वृत्तिः ।१९। (१७-विक्षेपो 'विक्खेव' शब्दे)। (१८-मतानुज्ञा-'मयाणुण्णा' शब्दे)। (१९-पर्यनुयोज्योपेक्षणं- 'पज्जणुजुजुपेक्खण' शब्दे)।(२०-निरनुयोज्यानु योगः 'निरणुजु-ज्ञाणुओग' शब्देऽग्रे वक्ष्यते) २१-''सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः २४।'' गौ०व सू०। कस्यचिदर्थस्य तथाभावं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातार्थविपर्य्ययादनियमात् कथां प्रसञ्जयतोऽपसिद्धान्तो वेदितव्यः यथा न सदात्मानं जहाति, न सतो विनाशो, नासदात्मानं लभते, नासदुत्पद्यत इति सिद्धान्तमभ्युपेत्य स्वपक्षं व्यवस्थापयति। एकप्रकृतीदं व्यक्तं विकाराणामन्वयदर्शनाद् मृदन्वितानां शरावाऽऽदीनां दृष्टमेकप्रकृतिकत्वम्। तथा चायं व्यक्तभेदः सुखदुःखमोहान्वितो दृश्यते, तस्मात् समन्वयदर्शनात् सुखाऽऽदिभिरेकप्रकृतीदं शरीरमिति एवमुक्तवाननुयुज्यते-अथ प्रकृतिविकार इति कथं लक्षितव्यमिति ? यस्यावस्थितस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरं प्रवर्त्तते सा प्रकृतिः, यच्च धर्मान्तरं प्रवर्त्तते स विकार इति। सोऽयं प्रतिज्ञातार्थविपर्यासादनियमात् कथां प्रसञ्जयति प्रतिज्ञातं खल्वनेन नासदाविर्भवति सत् तिरोभवतीति। सदसतोश्च तिरोभावाऽऽविर्भावमन्तरेण न कस्यचित्प्रवृत्तिः प्रवृत्युपरमश्च भवति, मृदि खल्ववस्थितायां भविष्यति शरावाऽऽदिलक्षणं धर्मान्तरमिति प्रवृत्तिर्भवति अभूदिति च प्रवृत्युपरमः तदेतन्मृद्धर्माणामपि न स्यात्। एवं प्रत्यवस्थितो यदि सतश्चाऽऽत्म-हानमसतश्चाऽऽत्मलाभमभ्युपैति, तदस्यापसिद्धान्तो निग्रहस्थानं भवति। अथ नाभ्युपैति पक्षोऽस्य न सिद्ध्यति। भा०। (वृत्तिर्ग्रन्थादेवावसेयेति) (२२-हेत्वाभासा 'हेउआभास' शब्दे द्रष्टव्याः) गौ० सू०वा०भा० वि० वृ०।

निग्गिण्ण-त्रि०(निर्गीर्ण) निर्गीर्णे, ''नीहरिअं निग्गिण्णं।'' को० १९७ गाथा।

निग्घत्तिअ-त्रि०(निक्षिप्त) निक्षिप्ते, ''खित्तं निग्घत्तिअं च आइद्धं।''को० १८९ गाथा।

निच्च-त्रि०(नित्य) 'णिच्च' शब्दार्थे, ''सइ अविरय अविरामं, अणुवेलं संतयं सया निच्चं।'' को० ८७ गाथा।

निच्चुड्ड-त्रि०(निच्चुड्ड) 'निक्किव' शब्दार्थे, को० ७३ गाथा।

निच्छुढ-त्रि०(उद्वृत्त) ''क्तेनाप्फुण्णाऽऽदयः'' ॥८।४।२५८॥ इति उद्वृत्तस्थाने निच्छूढाऽऽदेशः। 'निच्छूढं। उद्वृत्तम्'। उत्क्षिप्ते, प्रा०४ पाद।

निज्झर-न०(निर्झर) उदकप्रस्रवणे, भ०५ श०७ उ०। ''ओज्झरं निज्झरं।'' को० २१६ गाथा। क्षि-धातोस्तु 'णिज्झर' एव। स च णकाराऽऽदिसंकलने गतः। ''क्षेर्णिज्झरो वा''॥८।४।२०॥ इति णकाराऽऽक्रान्त एव। प्रा० ४ पाद।

निज्झाय-धा०(दृश) प्रेक्षणे, ''दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छा-वयज्झ-वज्ज-सव्ववदेक्खौ अक्खावक्खावअक्ख-पुलोए-पुलएनिआवआस-पासाः ॥८।४।१८१॥'' इति दृशेः 'निज्झाय' आदेशः। 'निज्झाअइ।' पश्यति। प्रा०४ पाद।

निट्टुइअ-त्रि०(क्षरित) क्षरिते, ''निट्टुइअं खरिअं छिप्पिअं च नीसंदिअं च पज्झरिअं।'' को० ८० गाथा।

निट्टुर-त्रि०(निष्ठुर) 'णिट्ठुर' शब्दार्थे, ''कढिणा य कक्कसा निट्टुरा खरा खप्पुरा फरुसा।'' को० ७४ गाथा।

निडाल-न०(निडाल) ''कपाले, भालं अलिअं निडालं। को० ११२ गाथा। केचिदव्युत्पन्नमपि वदन्ति। ललाटशब्दस्य तु ''ललाटे च'' ॥८।१।२५७॥ इति सूत्रेण ललाटस्य णकाराऽऽदिरेवाऽऽदेशः। ''णिडालं'' प्रा०१ पाद।

निड्ड-न०(नीड) ''नीडं निड्डं कुलायं च।''को० १२६ गाथा। पक्षिणां निलये, वाच०।

निण्णया-स्त्री०(निम्नगा) नीचैर्गामिनि नद्याम्, को० २८ गाथा। प्रज्ञा०। ('नई'शब्देऽनुपदमेव विशेषो गतः)

नित्त-न०(नेत्र) नयने, स्था०१० ठा०। ''अच्छी नयणं च लोअणं नित्तं।''को० १११ गाथा।

नित्थाम-त्रि०(निःस्थामन्) बलहीने, ''ओलुग्गो नित्थामो।'' को० १७० गाथा।

निद्दलिअ-त्रि०(निर्दलित) मर्दिते, ''उच्छुण्णं मद्दिअं च निद्दलिअं।'' को० २०१ गाथा।

निद्देस-पुं०(निर्देश) आज्ञायाम्, ''आएसो सासणं च निद्देसो।'' को० १७३ गाथा। (अत्र बहु वक्तव्यं 'णिद्देस' शब्देऽस्मिन्नेव

भागे २०७२ पृष्ठे गतम्) (निर्देशनिक्षेपः, तत्स्वरूपं च 'उद्देस' शब्दे द्वितीयभागे ७९६ पृष्ठे गतम्)

निद्धंधस-त्रि०(निर्धन्धस) निर्दये, को० ७३ गाथा। (अस्यैका–र्थिकानि ''निक्किव'' शब्देऽनुपदमेव गतानि)

निद्धाडिअ-त्रि०(निर्धाटित) निर्गते, ''निद्धाडिअं नीणिअं।'' को० १७६ गाथा।

निबंधण-न०(निबन्धन) कारणे, ''निबंधणं कारणं निआणं च।'' को० १७६ गाथा। विशे०। वाच०।

निब्भर-त्रि०(निर्भर) अतिशयपूरिते, ''निब्भर–मइसयभरियं।'' को० २१४ गाथा। वाच०। आ०म०।

निब्भिण्ण-त्रि०(निर्भिन्न) विदारिते, ''कप्परिअं दारियं च नब्भिण्णं।'' को० १९६ गाथा।

निमिअ-त्रि०(स्थापित) 'णिक्खित्त' शब्दार्थे, ''क्तेनाप्फुण्णाऽऽदयः'' ॥८।४।२५८॥ इति स्थापितस्य 'निमिअ' आदेशः। प्रा०४ पाद। (अस्यैकार्थिकानि 'निक्खित्त' शब्दे गतानि)

निम्मल्ल-न०(निर्माल्य) देवार्चाद्रव्ये, वाच०। ''उम्मालो निम्मल्लं।'' को० १४१ गाथा। पिं०।

निम्महिअ-त्रि०(निर्मथित) निराकृते, ''गंधुग्गिरणम्मि निम्म–हिअं।'' को० १९९ गाथा।

निम्माण-धा०(निरमा) विरचने, ''निर्मो निम्माण–निम्मवौ'' ॥८।४।१९॥ निर्पूर्वस्य मिमेतेरेतावादेशौ वा। निम्माणइ। निम्मइ। विरचयति। प्रा० ४ पाद।

निम्माय-त्रि०(निर्मात) निष्पन्ने, बृ०६ उ०। ''निव्वडिअं निम्मायं।'' को० २०० गाथा।

नियच्छिअ-त्रि०(निदर्शित) मिलिते, ''सच्चविअ–दिट्ठलइअ–नियच्छियाइं निहालिअ–ऽत्थम्मि।'' को० ७८ गाथा।

नियड-त्रि०(निकट) समीपे, अस्यैकार्थिकानि– ''अब्भासं अब्भण्णं, आसन्नं सीवहमतिअं निअडं।'' को० ९१ गाथा।

निरंकुसा-स्त्री०(निरङ्कुशा) स्वतन्त्रस्त्रियाम्, को० १३ गाथा। (अस्यैकार्थिकाः 'नारी' शब्दे गताः)

निरग्गला-स्त्री०(निरर्गला) स्वच्छन्दनार्याम्, को० १३ गाथा। (एतत् पर्यायाः 'नारी' शब्दे गताः)

निरणुजुज्जाणुओग-पुं०(निरनुयोज्यानुयोग) विंशतितमे निग्रह–स्थानभेदे, स्था०। ''अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्या-नुयोगः।'' २३। गौ०सू०। निग्रहस्थानलक्षणस्य मिथ्याध्यवसायाद-निग्रहस्थाने निगृहीतोऽसि परं ब्रुवन् निरनुयोज्यानुयोगान्निगृहीतो वेदितव्य इति। भा०। निरनुयोज्यानुयोगं लक्षयति–अवसरे यथार्थनि-ग्रहस्थानोद्भावनाऽतिरिक्तं यन्निग्रहस्थानोद्भावनं तदित्यर्थः। एतेनावसरे निग्रहस्थानोद्भावने एकनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानान्तरोद्भावने च नाव्याप्तिः। सोऽयं चतुर्धाबलं, जातिः, आभासोऽनवसरग्रहणं च। आभासो व्यभिचाराऽऽदावसिद्ध्याद्युद्भावनम्। अनवसरग्रहणञ्चाकाले एवोद्भावनम्। यथात्यक्ष्यसि चेत् प्रतिज्ञाहानिः विशेषयसि चेत् हेत्वन्तरम्। एवमवसरमतीत्य कथनमपि यथा उच्यमानग्राह्यस्यापशब्दाऽऽदेः परिसमाप्तौ एवमनुक्तग्राह्याज्ञानाऽऽद्यननुभाषणावसरेऽनुद्भाव्य बोधाऽऽविष्करणानुभाषणप्रवृत्ते वादिनि तदुद्भावनमित्यादिकमूह्यमिति वृत्तिः। २३। गौ० सू० वा० भा० वि० वृ०।

निरत्थ(ग)य-पुं०(निरर्थक) सप्तमे निग्रहस्थानभेदे, स्था०। ''वर्णक्रम-निर्देशवन्निरर्थकम्।'' ८ गौ०सू०। यथा–नित्यः शब्दः कचटतपाः जवगडदशत्वात् झभञ्घढधष्वदिति एवं प्रकारं निरर्थकम्। अभिधाना-भिधेयभावानुपपत्तौ अर्थगतेरभावाद् वर्णा एव क्रमेण निर्दिश्यन्त इति। भा०। निरर्थकं लक्षयति–वर्णानां क्रमेण निर्देशो जवगडेत्यादिप्रयोगः, तत्तुल्यो निर्देशो निरर्थकं निग्रहस्थानम्, अवाचकपदप्रयोग इति फलितार्थः। वाचकत्वं शक्त्या, निरूढलक्षणया, शास्त्रपरिभाषया वा बोध्यम्। समयबन्धव्यति–रेकेणेति विशेषणीयं, तेन यत्रापभ्रंशेन विचारः कर्त्तव्य इति समय–सम्बन्धस्तत्रापभ्रंशे न दोषः, झटिति संवरणे तु न दोष इत्युक्तप्रायम्। अस्य सम्भवः प्रमादादित्यवधेयमिति वृत्तिः। ८। गौ० सू० वा० भा० वि०वृ०। बृ०। उत्त०। विशे०।

निरवग्गहा-स्त्री०(निरवग्रहा) स्वच्छन्दविहारिण्यां रमायाम्, को० १३ गाथा। (पर्यायाश्चास्य 'नारी' शब्दे गताः)

निराय-त्रि०(निराय) सरले, ''पउणं निरायं उजुयं।'' को० १७५ गाथा।

निरोह-पुं०(निरोध) तापे, ''धम्मो तावो डाहो, उम्हा उण्हं निरोहो य।'' को० ४६ गाथा। (अस्यान्येऽप्यर्थाः 'णिरोह' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २११६ पृष्ठे गताः)

निलय-पुं०(निलय) गृहे, उत्त० ३२ अ०। को०। (अस्यैकार्थिकाः 'निहेलण' शब्दे वक्ष्यन्ते)

निलीण-त्रि०(निलीन) लीने, ''परिलीणं च निलीणं।'' को० १९९ गाथा।

निव-पुं०(नृप) ''इत्कृपाऽऽदौ'' ॥८।१।१२८॥ इति आदेर्ऋत इत्त्वम्। 'निवो।' प्रा०१ पाद। राजनि, को० १०० गाथा। नि०चू०। आचा०। बृ०। (अस्य पर्यायाः 'नरणाह' शब्दे द्रष्टव्याः)

निवह-पुं०(निवह) सङ्घाते, को० १९ गाथा। (अस्य पर्यायाः 'निउरंब' शब्दे)(गम–नशोस्तु णकाराऽऽक्रान्त एवादेशः 'णिवह' इति) (निवह–णिवह–शब्दयोस्तुल्यार्थत्वम्)

निव्व-न०(नीव्र) पटले, ''निव्वं पडलं।'' को० २११ गाथा। ककुदे, दे०ना० ५ वर्ग ४८ गाथा।

निव्वडिअ-त्रि०(निष्पतित) कृते, को० १९९ गाथा। (अत्र पर्यायविषये 'निम्माय' शब्दो विलोकनीयः)

निव्वल-त्रि०(निर्बल) निर्गतं बलं सामर्थ्यं यस्येति निर्बलम्, ''निरः पदेर्वलः'' ॥८।४।१२८॥ निर् पूर्वस्य पदेर्बल इत्यादेशः। 'निव्वलइ।' पक्षे निप्पज्जइ निस्सारे, प्रा०४ पाद।

निव्वाण-न०(निर्वाण) मोक्षे, पर्यायाः–''लोअग्गं परमपयं, मुत्ती सिद्धी सिवं च निव्वाणं।'' को० २० गाथा। (अत्र विशेषः 'णिव्वाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१२१ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्य एवास्ति)

निव्विट्ठ-त्रि०(निर्विष्ट) उपभुक्ते, ''निव्विट्ठं उवहुत्तं।'' को० १७७ गाथा। अनुपारिहारिके, स्था०३ ठा०४उ०। उचिते, दे०ना० ४ वर्ग ३४ गाथा।

निसंस-त्रि०(नृशंस) ''शषोः सः'' ॥८।१।२६०॥ इति शस्य सः। 'निसंसो।' श्लाघारहिते, प्रा०१ पाद। क्रूरे, को० ७३ गाथा। (अस्य पर्यायाः 'निक्किव' शब्दे गताः)

निसा-स्त्री०(निशा) रात्रौ, हरिद्रायाम्, बृ०५ उ० वाच० निशा-शब्दपर्यायाः-''रयणी विहावरी सव्वरी निसा जामिणी राई।'' को० ४७ गाथा।

निसाअर-पुं०(निशाचर) रात्रिचरे, ''इः सदादौ वा'' ॥८।१।७२॥ इति इत्वपक्षे- 'निसिअरो।' प्रा०१ पाद। वाच०। ''अवर्णो यश्रुतिः'' ॥८।१।१८०॥ इति यश्रुतौ 'निसायरो।' अस्य प्रायिकत्वपक्षे- 'निसाअरो।' प्रा०१ पाद।

निसामिअ-त्रि०(निशामित) श्रविते, को० १८४ गाथा।

निसामिअय-त्रि०(निशामितक) आकर्णिते, ''निसुअं आयण्णिअं निसामिअयं।'' को० १८४ गाथा दे०ना०।

निसायंत-न०(निशातान्त) तीक्ष्णधारविशिष्टे, ''अच्छायंतं निसायंतं।'' को० २७० गाथा।

निसाय-त्रि०(निशात) तीक्ष्णीकृते, ''तिक्खालिअं निसाअं।'' को० २०० गाथा।

निसायर-पुं०(निशाकर) चन्द्रे, ''इंदू निसायरो ससु-हरो विहू गहवई रयणिनाहो। मयलंछणो हिमयरो, रोहिणिरमणो ससी चंदो ॥५॥'' को०५ गाथा। रात्रिचरे, वाच०। ''कगच०-'' ॥८।१।१७७॥ इत्यादिना कलोपे ''अवर्णो यश्रुतिः'' ॥८।१।१८०॥ इति यश्रुतिः। 'निसायरो।' प्रा०१ पाद।

निसीढ-पुं०(निशीथ) ''निशीथपृथिव्योर्वा'' ॥८।१।२१६॥ इति थस्य ढो वा। 'निसीढो निसीहो।' अर्द्धरात्रे, रात्रिमात्रे च। प्रा०१ पाद।

निसुअ-त्रि०(निश्रुत) आकर्णिते, ''निसुअं आयण्णिअं निसामि-अअं।'' को० १८४ गाथा। दे०ना०।

निसुढिअ-त्रि०(नत) भारनम्रे, ''निसुढिअं अक्कंतभरोणयं।'' को० १६४ गाथा।

निसुद्ध-त्रि०(निशुद्ध) शुद्धे, ''ओसद्धं पाडिअं निसुद्धं च।'' को० १६४ गाथा।

निसेह-पुं०(निषेध) ''निषेधेर्हक्कः'' ॥८।४।१३४॥ इति निषेधेर्हक्कादेशो वा। 'हक्कइ, निसेहइ।' प्रतिषेधे, प्रा०४ पाद।

निस्स-त्रि०(निःस्व) निर्धने, ''रोरो अकिंचणो दुव्विहो दरिद्दो य दुग्गओ निस्सो।'' को०३५ गाथा।

निस्सेणि-स्त्री०(निःश्रेणि) अधिरोहण्याम्, ''अधिरोहणिआ य निस्सेणी।'' को० १२० गाथा।

निह-न०(निभ) छले, ''छलं अवएसो निहं च मिसं।'' को० १४२ गाथा। सदृशे, आ०म०१ अ०। मायिनि, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। क्रोधाऽऽदिभिः पीडिते, सूत्र०१ श्रु०२ अ०१उ०। आघातस्थाने, सूत्र०१ श्रु०५ अ०२ उ०।

*** स्निह**-त्रि०। रागवति, आचा०१ श्रु०४ अ०३उ०। रागद्वेषयुक्ते, आचा०१ श्रु०५ अ०३उ०। ममत्वसहिते, सूत्र०१ श्रु०२ अ०२उ०।

निहण-न०(निधन) प्राणत्यागे, ''पलयो निहणं नासो।''को० १६७ गाथा।

निहय-त्रि०(निहत) मारिते, उत्त० १२ अ०। भावरिपुभिरिन्द्रिय-कषायकर्मभिर्हन्यमाने, आचा०१ श्रु० ४ अ०३उ०। ''निहयं निक्खयं।'' को० २४० गाथा।

निहस-पुं०(निकष) ''निकष-स्फटिक-चिकुरे हः'' ॥८।१।१८६॥ इति कस्य हः। प्रा०१ पाद। ''शषोः सः'' ॥८।१।२६०॥ इति षस्य सः। प्रा०१ पाद। कषपट्टरेखायाम्, प्रज्ञा० १७ पद २ उ०। ''निहसो कसो।'' को० २६३ गाथा।

निहाअ-(निघात) समूहे, को० १६ गाथा। दे०ना०। (अस्यपर्यायाः 'निउरंब' शब्दे गताः)

निहालिअ-त्रि०(निभालित) दृष्टे, ''सच्चविअ-दिट्ठ-पुलइअ-निअच्छिआइं निहालिअ-ऽत्थम्मि।'' को० ७८ गाथा।

निहिअ-त्रि०(निहित) स्थापिते, ''निमिअं निहिअं च निक्खित्तं।'' को० १६३ गाथा। नि-धा-क्तः। ''सेवाऽदौ या'' ॥८।२।१६६॥ इति तद्वित्वं वा। निहित्तं। पक्षे-तो लोपः। प्रा०२ पाद। निक्षिप्ते, पञ्चा० १० विव०।

निहिनाथ-पुं०(निधिनाथ) कुबेरे, ''वेसमणो निहिनाहो, जक्खाहिवई कुबेरो य।'' को० २४ गाथा।

निहुअ-त्रि०(निभृत) ''उदृत्वादौ'' ॥८।१।१३१॥ ऋतु इत्यादिषु शब्देषु आदेर्ऋत उत्त्वम्। प्रा०१ पाद। तदर्थमनुद्युक्ते, सूत्र०१ श्रु० ८ अ०। निर्व्यापारे, बृ०३उ०। निश्चले, उत्त० १६अ०। असंभ्रान्ते, कायस्थित्या उचितधर्मे, दश०६ अ०। ''मसिणं सणिअं मट्ठं, मंदं अलसं जडं मरालं च। खेलं निहुअं सइरं, वीसत्थं मंथरं थिमिअं॥१५॥'' को० १५ गाथा।

निहेलण-पुं०(निलय) ''गोणाऽऽदयः'' ॥८।२।१७४॥ इति निलयस्थाने 'निहेलण' आदेशः। गृहे, प्रा० २ पाद। ''भवणं घर-मावासो, निलयो वसही निहेलणमगारं।'' को० ४६ गाथा।

नीअ-त्रि०(नीत) गते, ''हिअं नीअं।'' को० २६७ गाथा।

*** नीच**-त्रि०। अत्यन्तावनतकन्धरे, उत्त०१ अ०। उच्चविपरीते, स्था०३ठा०४उ०। अपूज्ये, भ०३ श०१ उ०। निम्ने, नि०चू० १उ०। नीचैः स्थाने, मालाऽऽदौ, उत्त०१ अ०। ''अहमा इयरा य पायया नीआ।'' को० १०३ गाथा।

*** नित्य**-त्रि०। सदाऽवस्थायिनी, स्था० १० ठा०।

नीचअ-अव्य०(नीचैस्) नीचे, ''उच्चैर्नीचैसि अअः'' ॥८।१।१५४॥ इति ऐतो अअ इत्यादेशः। 'नीचअं।' अल्पल्पे, क्षुद्रे च। प्रा०१ पाद।

नीड-न०(नीड) कुलाये, ''निडुं नीडं कुलायं च।''को० १२६ गाथा। प्रा०।

नीणिअ-त्रि०(नीणित) गते, ''निद्धाडिअं नीणिअं।'' अव्युत्पन्न एवायं शब्दः। व्युत्पत्तिपक्षे तु-''णीणिअ'' इत्येव णकाराऽऽक्रान्तो भविष्यतीति विशेषः। को० १७६ गाथा। स्वस्थानं प्रापिते, ज्ञा०१ श्रु० १६ अ० उत्त०। सूत्र०।

नीरंगी-स्त्री०(नीरङ्गी) शिरोऽवगुण्ठने, ''नीरंगी अंगुट्टी।'' को० ११६ गाथा। दे०ना०।

नीमी-स्त्री०(नीवी) ''स्वप्ननीव्यार्वा ॥८।१।२५६॥ इति वस्य मो वा। 'नीमी, नीवी।' मूलधने, वस्त्रे च। प्रा०१ पाद।

नीर-न०(नीर) जले, ''अंबु सलिलं वणं वारि, नीरं उदयं दयं पयं तोयं।'' को० २८ गाथा। दर्श०।

नीलकंठ-पुं०(नीलकण्ठ) मोरे, ''मोरो सिही बरहिणो, सिहंडी नीलकंठो य।'' को० ४२ गाथा। शक्रस्य देवेन्द्रस्य महिषानीकाधिपतौ, स्था०४ ठा०२ उ०।

नीलुप्पल-न०(नीलोत्पल) नीलकमले, ''नीलुप्पलं वियाणह, कुवलयं इंदीवरं च कंदुट्टं।'' को० ३६ गाथा। कुवलये, जं० १ वक्ष०। उपा०।

नीव-पुं०(नीप) ''पो वः'' ॥८।१।२३१॥ स्वरात्परस्यासं युक्तस्यानादेः पस्य प्रायो वो भवति। 'कासवो पावं। उवमा।' प्रा०१ पाद। ''कलंवो, नीवो।'' को० २५५ गाथा।

नीवी-स्त्री०(नीवी) वस्त्रग्रन्थौ, ''उअट्टी उच्चओ नीवी।'' को० १७५ गाथा। मूलधने, वाच०।

नीसंदिअ-त्रि०(निःष्यन्दित) निष्पतिते, ''निट्टुअ खिरिअं छिप्पिअं, च नीसंदिअं च पज्झरिअं।'' को० ८० गाथा।

नीसामन्न-पुं०(निःसामान्य) गाम्भीर्य्ययुक्ते, ''नीसामन्ना गरुआ।'' को० १०३ गाथा।

नीहरिअ-त्रि०(निःसृत) निर्गीर्णे, ''नीहरिअं निग्गिण्णं'' १६७ गाथा। दे०ना०।

नीहार-पुं०(नीहार) मूत्रपुरीषोत्सर्गे, स० ३४ सम०। ''धूमिका-याम्,'' ''सिण्हा नीहारो धू-मिआ य-महिआ य धूममहिसी य।'' को० ३८ गाथा।

नु-स्त्री०(नु) स्तुतौ, ''प्रस्तुते वा परिश्निष्टे, शुद्धे निर्णेतरि स्मृतः। नुः स्त्रियां नु स्तुतौ।'' एका० ५४ श्लोक। नुः स्तुतौ दीर्घ ह्रस्व स्त्री। वारिणि, पृच्छायां, वितर्के, एका० ७८ श्लोक।

नुन्न-त्रि०(नुन्न) मिश्रयुतार्थे, ''नुन्नशब्दस्त्रिलिङ्गः स्यान्मिश्रयुतार्थस्य वाचकः।'' एका० ५५ श्लोक।

नू-पुं०(नू) दर्पे, ''नूदर्पेऽपि तथ्मेदितः।'' एका० ७७ श्लोक। ''नूशब्दः पातके पुंसि, वायौ क्लीबे।'' एका० ७६ श्लोक।

नून-न०(न्यून) एकादशे निग्रहस्थानभेदे, स्था०। ''हीनमन्यतमेना-प्यवयवेन न्यूनम्'' १२। गौ०सू०। प्रतिज्ञाऽऽदीनामवयवानामन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं निग्रह स्थानं, साधानाभावे साध्यासिद्धिरिति। भा०। न्यूनं लक्षयति-अवयवेन स्वशास्त्रसिद्धेन तेन सौगतस्य द्वयस्यवाभिधानेऽपि न न्यूनत्वम् नन्ववयवहीनत्वम्-अवयवत्वावच्छिन्नाभावः, तथा चाकथनमेव स्यादत आह-अन्यतमेनापीति। तथा च-यत्किञ्चिदवयवशून्यावयवाभिधानं फलितम्। नचायमपसिद्धान्तः, सिद्धान्तविरुद्धानभ्युपगमात्, अपि तु सभाक्षोभाऽऽदिनाऽनभिधानादिति वृत्तिः ॥१२॥ गौ० सू० वा० भा० वि० वृ०।

नूमिअ-त्रि०(छादित) प्रच्छादिते, ''पच्छाइअ-नूमिआइँ वइआइं।'' को० १७६ गाथा। ''छदेर्णुम नूमसन्नुम-ढक्कौम्बाल-पव्वालाः'' ॥८।४।२१॥ इति छदेर्ण्यन्तस्यैतं षडादेशा वा भवन्ति। 'नूमइ।' पक्षे-'छायइ।' प्रा०४ पाद।

नेउर-न०(नूपुर) स्त्रीणां पादाऽऽभरणे, ''हंसयं नेउरं च मंजीरं।'' को० ११२ गाथा।

नेलच्छ-पुं०(पण्डक) षण्ढे, वृषभेऽपि, ''नेलच्छो पंडओ।'' को० २३५ गाथा। ''गोणाऽऽदयः'' ॥८।२।१७४॥ इति पण्डकशब्दस्य नेलच्छाऽऽदेशः। ''नो णः'' ॥८।१।२२८॥ इत्यस्य वैकल्पिकत्वात् णत्वाभावपक्षे रूपम्। प्रा०१ पाद।

नेवत्थ-न०(नेपथ्य) वेषे, ''वेसो नेवत्थं।'' को० २३३ गाथा। स्त्रीपुरुषाणां वेषे, स्था०४ ठा०२ उ०। परिधानाऽऽदिरचने, ज्ञा०१ श्रु०१अ०। केशचीवरसमारचने, दर्श०४ तत्त्व। नि०। औ०। निर्मलवेषे, ज्ञा०१ श्रु० १६अ०। स्था०।

नेह-पुं०(स्नेह) ''क-ग-च-ज-त-द-प-य वां प्रायो लुक्'' ॥८।१।१७७॥ इति सलुक्। प्रा०१ पाद। मोहोदयजे प्रीतिविशेषे, पुत्राऽऽदिष्वत्यन्तानुरागे, आतु०। जीत०।

नो-पुं०(नो) स्तुतौ, एका०।

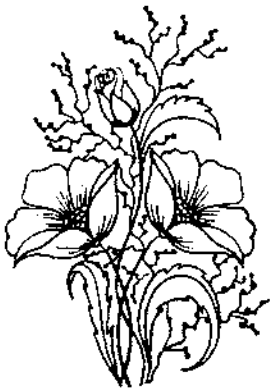
*** नौ**-(स्तुतौ) पुं०। स्त्री०। एका०। 'नौश्चरणोऽस्त्रियाम्।' एका०।

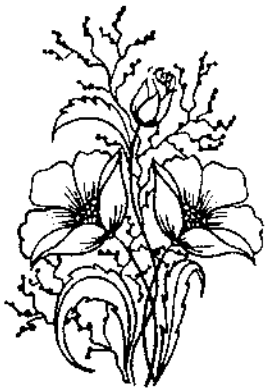
नोमालिया-स्त्री०(नवमालिका) ''ओत् पूतर-वदर-नव-मालिका-नवफलिका-पूगफले'' ॥८।१।१७०॥ इति ओत्वम्। प्रा०१ पाद। 'नेवार' इति ख्याते सुगन्धपुष्पप्रधाने वृक्षभेदे, जं० १ वक्ष०। ज्ञा०। जी०। (प्रायः णकाराऽऽदयः सर्वे शब्दाः ''वाऽऽदौ''॥८।१।२२६॥ इत्यस्य वैकल्पिकत्वाद् नकाराऽऽदिषु बोध्याः)

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्पप्रभु-श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे' नकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं चतुर्थो भागः ॥४॥

॥ श्रीः ॥





दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी–
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनश्रुतः ।
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः,
कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ॥

